२ | तांत्रिक योग-साधना

तंत्र अपने आपमें एक पूर्ण योग है। तांत्रिक सिद्धियों के लिए योगाभ्यास अनिवार्य है। ध्यान, धारणा, आसन, प्राणायाम, मुद्रा आदि के अतिरिक्त राजयोग, लययोग, हठयोग, भक्तियोग, मंत्रयोग आदि नानाविध योगों का समावेश तंत्रसाधना में पाया जाता है।

पातञ्जलयोगशास्त्र **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** कह कर चित्त-वृत्तियों के निरोध को ही 'योग' मानता है, किन्तु तंत्र शास्त्र **योगमेकत्व-मिच्छन्ति वस्तुनोऽन्येन वस्तुना** कहकर एक वस्तु को दूसरी वस्तु में मिला देना ही 'योग' मानता है। मात्र इन्द्रियों तथा चित्त वृत्तियों से निरोध की भर्त्सना करते हुए अभिनवगुप्त ने 'मालिनीविजयवार्तिक में लिखा है—

अनादर विरक्त्यैव गलतीन्द्रिय वृत्तयः।

यावत्तु विनियम्यन्ते तावत्तावद् विकुर्वते ॥२।११२॥

—'यदि गृहस्थ गार्हस्थ्य जीवन बिताते हुए, लौकिक सुखों का अनुभव करते हुए शास्त्रविधि से भोग और वासनाओं को तृप्त करते हुए माहेश्वर आगम द्वारा बताए गए योग का अभ्यास करता है तो वह आत्मानन्द कला का रसास्वादन करता है। उस पर निर्भर रह कर वह अभ्यास करता रहे तो सभी सांसारिक भोगों से उसे विरक्ति हो जाती है। उसके मन में यह विचार पैदा होता है, कि **किमेतैर्क्षणिकैर्भोगैः**—इन क्षणभंगुर भोग-सुखों में क्या धरा है। इस प्रकार का निरादर भाव उत्पन्न होने पर साधक इन्द्रियों के कार्यव्यापार, विषय-भोगों की तृष्णा से विरत हो जाता है।'

तंत्रशास्त्र का मत है कि 'बलात् इन्द्रिय निग्रह करने से अनेक प्रकार से विकार उत्पन्न हो जाते हैं और कभी न कभी इस प्रकार का व्यक्ति महामोहमय विषमगर्त में गिरता है।'

समावेशयोग

शैवागम में बलात् इन्द्रिय-निग्रह को अच्छा नहीं माना गया है। वह सुखपूर्वक योगसाधना का उपदेश देता है। शैवागमयोग पातंजल आदि योगशास्त्रों से विशिष्ट महत्त्व रखता है। शैवागम 'समावेश-योग' का उपदेश देते हुए कहता है कि यह 'समावेश योग' दृढ़तर भावनावश सिद्ध होता है अथवा दृढ़ इच्छाशक्ति के प्रयोग से सिद्ध होता है।

'समावेश' की साधना करने से पूर्व साधक को यह अभ्यास करना चाहिए कि 'मैं सर्वत्र हूँ, सब में मैं ही हूँ, मुझ में ही सब कुछ है, मेरा ही सब कुछ है, मेरी ही शक्ति का विस्तार सर्वत्र व्याप्त है, यह विश्व मेरी ही शक्ति से प्रसारित और प्रचलित है।'

ऐसी भावना और विकल्प ज्ञानरूप से ज्ञानाभ्यास में क्रियांश एवं इच्छांश के गुणीभूत होने से इसका नाम 'ज्ञानयोग' पड़ा है। इसी को

आगमशास्त्रों के आचार्य 'शाक्तोपाय' कहते हैं । तंत्रशास्त्र का मत है कि 'शाक्तोपाय' के अभ्यास की प्रक्रिया सद्‌गुरु से सीखनी चाहिए' । अन्यत्र यह भी बताया गया है कि गुरु के वाक्य से या शास्त्र के वचन से अपने स्वभाव का वास्तविक ज्ञान करके तीव्रतर इच्छाशक्ति के प्रयोगाभ्यास का बल पाए भावनाभ्यास के बिना भी शिवभाव का समावेश प्राप्त हो जाता है । सद्यः समावेश-अभ्यास ही 'शाम्भवोपाय' कहा जाता है । माहेश्वर आगम इसे 'इच्छोपाय' अथवा 'इच्छायोग' भी कहता है । इस योग की साधना में जो परिपक्वता है , उसमें तो इच्छाशक्ति प्रयोग के बिना और प्रारम्भिक चित्त सम्बोधि के बिना भी किसी परिपूर्ण शिवभाव-समावेश सम्पन्न योगी के दर्शन, संस्पर्श मात्र से ही साधक में शिवता का समावेश हो जाता हैं । अत्यल्प उपाय प्रधान होनेसे स्वल्प अर्थ में 'नञ्' का प्रयोग होने से इस योग को ' अनुपाययोग' भी कहा जाता है ।

'शाम्भवोपाय' योग तो 'उपाय' और 'अनुपाय' प्राप्त करता हुआ साक्षात् शिवता—प्रत्यभिज्ञा का 'उपाय' कहा जाता है । 'शाम्भव उपाय'-योग निर्विकल्प होता है और 'शाक्तोपाय' योग शुद्ध विकल्पात्मक होता है । शाक्त साधकगण तो अपने लिए ही विकल्प बुद्धि का अवलंबन करते हैं, उनका और कोई प्रमेय नहीं रहता है । जो भी प्रमेयांश अपने लिए प्रयुक्त होते हैं, वे सामान्यतया 'यही सब कुछ है' इसी भाव से न कि विशेषतः इस स्थण्डिल या प्रतीक के लिए ।

जिस उपाय योग में बाह्य विशेष प्रमेयों का उपयोग होता है, उसे माहेश्वर आगम 'आणवोपाय' कहता है । इस 'आणवोपाय' में ध्यातृ-ध्येय-ध्यान संघट्ट को, प्राणोच्चार को, प्राणोच्चार ध्वनि को, प्राणवायु को, देहको, लिङ्गादि को, कलातत्त्व भुवनों को, मंत्र के वर्णों और पदों को विकल्प आलंबन एवं दृढ़तर भावना बल से अपने आप को भगवती परमाशक्ति में लय करके उस परमशक्ति को साधक प्राप्त कर

लेता है। वह साधक तत्काल परिपूर्ण शिव भावसमावेश प्राप्त कर लेता है।

भावना-योग

तंत्र-साधना पद्धति में मानसिक वृत्तियों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। मन और बुद्धि के आपसी संघर्ष को मिटा कर उन्हें साधक भावनायोग द्वारा एक ही लक्ष्य की ओर प्रवृत्त करता है। भावना-योग की साधना से साधक का व्यक्तित्व शक्तिशाली बन जाता है।

जिस विचार या विश्वास को लेकर साधक भावना करता है, वह वहीं बन जाता है। भावना-योग के अभ्यास और विकास से शक्ति, ज्ञान और आनन्द के स्रोत उमड़ने लगते हैं। भावना न केवल मानसिक संस्कार करती हैं, बल्कि इससे शरीरगत असाध्य से असाध्य रोग भी दूर हो जाया करते हैं। शरीर की शुद्धि, चित्त की शुद्धि के लिए भावनायोग सर्वोत्तम माना गया है।

कुण्डलिनी योग

शक्ति, ईश्वरी, कुटिलांगी, भुजंगी, अरुन्धती आदि अनेक नाम कुण्डलिनी के हैं। तंत्रशास्त्र इसे मानव शरीर की सर्वोच्च शक्ति मानता है। सभी शक्तियाँ केन्द्रीभूत होकर कुण्डलिनी में निवास करती हैं और विभिन्न रूपों में प्रकट हुआ करती हैं काम शक्ति भी कुण्डलिनी की एक महती शक्ति है। जो व्यक्ति मैथुन-संभोगरत रहते हैं, ब्रह्मचर्य की साधना से विरत रहते हैं, उनकी कुण्डलिनी क्षीण हो जाती है। ब्रह्मचर्यरत रहने से कुण्डलिनी जागृत होकर उर्ध्वगमन करती है। जाग्रत कुण्डलिनी आध्यात्मिक उत्थान करती है और प्राणों के साथ शिव में मिल जाती है।

तन्त्रशास्त्र और योगशास्त्र दोनों के मत से कुण्डलिनी का स्थान मनुष्य शरीर में मलेन्द्रिय से दो अंगुल ऊपर और मूत्रेन्द्रिय से दो अंगुल नीचे माना गया है। यही स्थान मूलाधार चक्र का भी है कुण्डलिनी

नागिन की तरह साढ़े तीन वलय बनाकर कुण्डली मारकर मूलाधार चक्र में सोयी रहती है, वह सुषुम्णा के द्वार बन्द रखती है।

भूलोक (मूलाधार चक्र) में स्थित कुण्डलिनी प्रकृति को वहन करती है, इसलिए उसे प्रकृति का वाहन कहा जाता है। वह प्रकृति—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार—इन आठ भागों में विभक्त है। कुण्डलिनी के दो रूप हैं। एक कुण्डलिनी और दूसरी कुल-कुण्डलिनी, इसे महाकुण्डलिनी या ब्रह्माण्ड कुण्डलिनी भी कहते हैं। यह सहस्रार चक्र में रहती है। मूलाधार चक्र में स्थित कुण्डलिनी नीचे से कुल कुण्डलिनी का संचालन करती है और ऊपर से सत्यलोक (सहस्रार-चक्र) में स्थित महाकुण्डलिनी मूल प्रकृति का संचालन करती है। दो रूपों वाली कुण्डलिनी ने मूलाधार और सहस्रारचक्र दोनों स्थानों पर अपने फन द्वारा पुरुष शक्ति को स्तम्भित कर रखा है। यह समस्त विश्व को लपेटे हुए पूँछ को मुँह के अन्दर दबाए हुए है। कुण्डलिनी के घेरे में अधोमुख त्रिकोण ▽ है। यह त्रिकोण अर्धनारीश्वर का प्रतीक है। इसी त्रिकोण को प्रतीक रूप में योगी अरविन्द ने और थिओसो-फिकल सोसायटी ने अपनी साधना के लिए स्वीकार किया है।

तन्त्रशास्त्र में कुण्डलिनी एक पारिभाषिक शब्द है। जिसका अर्थ शब्द ब्रह्म अथवा परावाक् शक्ति है। सभी मन्त्र, देवता कुण्डलिनी की अभिव्यक्ति हैं। मन्त्रों की रचना करने वाले अक्षर **मातृका** कहलाते हैं। मातृका से ही विश्व की रचना होती है। कुण्डलिनी महाशक्ति परमेश्वरी है, वही नादशक्ति है, वही सर्वशक्ति सम्पन्न कला है। निर्गुण ब्रह्म से प्रस्रावित होने वाला अमृत स्रोत कुण्डलिनी ही है। कुण्डलिनी ही नित्य चेतना को जाग्रत करती है।

तन्त्र शास्त्र का मत है कि कुण्डलिनी ब्रह्म है, उसी में सभी अक्षर समाए हुए हैं। कुण्डलिनी चित् शक्ति है जो वर्ण और शब्दों के रूप में प्रकट होती है। वर्णमाला के अक्षर शाश्वत ब्रह्म के यन्त्र हैं। अक्षरों की

शक्ति जब मन्त्र शक्ति से मिलती है, तब साधक को साधना द्वारा उसका साक्षात्कार होता है। शक्ति का सूक्ष्म रूप कुण्डलिनी है, जब वह स्थूल रूप में प्रकट होती है, तो विभिन्न देवताओं का आकार ग्रहण करती है। कुण्डलिनी का यह स्थूल रूप ही मन्त्र का अधिष्ठातृ देवता कहा जाता है।

मन्त्र और देवता ब्रह्म के दो रूप हैं। तन्त्र-साधना में इन्हें **शिव** और **शक्ति** कहा जाता है। स्तुतियों और प्रार्थनाओं में उपासक अपनी कामना अपने इष्टदेव के समक्ष प्रस्तुत करता है। स्तुति और प्रार्थना को मन्त्र नहीं कहा जा सकता है, इस लिए कि मन्त्रकामना रहित होते हैं, उनकी भाषा स्तुतियों की भाषा की भाँति साधक की निजी भाषा नहीं होती है। मन्त्रों की भाषा स्थिर और शाश्वती होती है। स्तुति, प्रार्थना में दास्य-भाव रहता है, उनमें दिव्य भाव नहीं रहता है और मन्त्र तो स्वयमेव देवता होते हैं। मन्त्रों के अक्षर- विन्यास का एक निश्चित क्रम होता है। मन्त्रों का उच्चारण वर्ण और स्वर के अनुसार होता है, यदि मन्त्रों का अनुवाद कर दिया जाय तो मन्त्र का मंत्रत्त्व और दिव्यत्व समाप्त हो जाता है।

कुण्डलिनी विद्युत के समान भास्वर है। उसकी ध्वनि मधुमक्खियों के गुंजार की तरह है। श्वास, प्रश्वास के द्वारा कुण्डलिनी ही समस्त प्राणियों को जीवन देती है। मूलाधारपद्म में स्थित कुण्डलिनी आलोक-मण्डल के समान प्रकाशित होती है। कुण्डलिनी वर्णमातृका शब्दों की जननी है। वही मन्त्रों को जन्म देती है। मन्त्रों की सिद्धि कुण्डलिनी को जाग्रत करने के लिए की जाती है। कुलार्णव तन्त्र का कहना है कि कुण्डलिनी प्रत्येक जीव के मूलाधार चक्र में सोई रहती है, जब वह जाग्रत होकर षट्चक्रों का भेदन करती है, तभी अपने शुद्ध रूप में प्रस्फुटित होती है। समस्त वेद, मन्त्र और तन्त्र उसी के रूपान्तर है। कुण्डलिनी शब्द ब्रह्म है। सूर्य, चन्द्र और अग्नि के रूप में तीन शक्तियों

का मूल कारण है। मानव-देह में सर्वाधिक प्रबल सर्जना-शक्ति कुण्डलिनी है।'

आसन, प्राणायाम, बन्ध, मुद्रा द्वारा कुण्डलिनी को जाग्रत किया जाता है। आसन, प्राणायाम आदि के अभ्यास से प्राण इड़ा और पिंगला नाड़ियों से निकलकर सुषुम्णा नाड़ी में प्रविष्ट होते हैं तब कुण्डलिनी ऊपर की ओर उठती है। ऊर्ध्वगमन करती हुई कुण्डलिनी जब ब्रह्मरन्ध्र में पहुंच जाती है, तब साधक शुद्ध अवस्था को प्राप्त करता है फिर उसके लिए कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता है।

कुण्डलिनी को जाग्रत कर उसे सहस्रार चक्र तक पहुँचने के लिए, अनेक वर्षों का समय लग जाता है, किन्तु ऐसे भी उदाहरण हैं कि पूर्व जन्म के संस्कारों से अथवा सुयोग्य गुरु की कृपा से अल्पकालीन प्रयास से ही कुण्डलिनी जाग्रत होकर सहस्रार चक्र तक पहुँच जाती है। प्रारम्भ में कुण्डलिनी उठ कर एक निश्चित विन्दु पर ठहरती है, फिर धीरे धीरे ऊपर की ओर बढ़ती है। जिस चक्र पर कुण्डलिनी पहुँचती है, उस चक्र के अनुसार साधक को विशेष प्रकार के आनन्द की अनुभूति होती है। जब कुण्डलिनी सहस्रार चक्र तक पहुँच जाती है तो योगी को उस समय मोक्ष का-सा आनन्द प्राप्त होता है।

आसन, प्राणायाम, बन्ध और मुद्राओं के अभ्यास से प्राण जब सुषुम्णा में प्रवेश करते हैं तो सुषुम्णा काल को निगल जाती है, उस समय न दिन रहता है, न रात। प्राणों को सुषुम्णा में प्रवेश कराने के लिए अनेक उपाय तन्त्र-साधना के अन्तर्गत हैं। अपान वायु को ऊपर की ओर और प्राण वायु को नीचे की ओर खींचने से प्राण सुषुम्णा में प्रवेश करते हैं।

जालन्धर और मूल बन्ध के द्वारा प्राण जब सुषुम्णा से मिलते हैं तो अग्नि प्रदीप्त हो उठता है। अग्नि की यह उष्णता सोई हुई कुण्डलिनी को जगा देती है, वह आवाज करती हुई कुण्डली त्याग कर सीधी हो

जाती है और सुषुम्णा में प्रविष्ट हो जाती है। फिर प्रयास पूर्वक एक के बाद एक चक्र में क्रमशः उसे ले जाया जाता है। इसी को षट्चक्र भेदन कहते हैं।

कुण्डलिनी-जागरण की प्रक्रिया

योग-क्रिया शुद्धि से पूर्व मल शुद्धि की जाती है। कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करने के लिए पहले **अश्विनी मुद्रा** का प्रयोग करना चाहिए। गुदा को बार-बार संकुचित और प्रसारित्त करना **अश्विनी मुद्रा** है। इस मुद्रा का प्रयोग षट् चक्र भेदन में अपान वायु के अवरोध के रूप में किया जाता है।

अश्विनी मुद्रा के बाद **शक्ति चालन** मुद्रा करनी चाहिए। उदर को अन्दर खींच कर दाहने और बाएँ हिलाने से शक्ति **संचालन मुद्रा** बनती है। इस मुद्रा के द्वारा प्राण वायु को सुषुम्णा में प्रविष्ट कराया जाता है। इस मुद्रा के साथ सिद्धासन में बैठ कर पूरक प्राणायाम किया जाता है। और प्राण तथा अपान को मिला दिया जाता है।

शक्ति संचालन मुद्रा के साथ **योनि मुद्रा** की जाती है। योनिमुद्रा सिद्धासन पर बैठ कर की जाती है। दोनों हाथ की दसों अँगुलियों से कान (अँगूठों से), आँखें (तर्जनी अंगुलियों से), नाक के दोनों छिद्र (मध्यमा अंगुलियों से) और मुख (अनामिका और कनिष्ठा अंगुलियों से) बंद कर लिए जाते हैं। इस मुद्रा से कान, आँख, नाक और मुख इन्द्रियों पर वाह्य प्रभाव नहीं पड़ता है। सिद्धासन में बैठने का भी यही तात्पर्य है। इस आसन में बाएँ पैर की एँड़ी से गुदा द्वार को दबाया जाता है और दाहने पैर की एँड़ी बाएँ पैर पर रख कर मूत्रेन्द्रिय को ढाक लिया जाता है। योनि मुद्रा कर के योगी **काकिनी** मुद्रा द्वारा प्राण-वायु को खींचता है और उसे अपानवायु से जोड़ देता है। दोनों ओठों को कौवे की चोंच की तरह सिकोड़ कर साँस अन्दर खींचना काकिनी मुद्रा है।

इसके बाद योगी षट्चक्रों का क्रमशः ध्यान करता है और सोऽहं हंसः इस बीज मन्त्र का अजपाजप करते हुए कुण्डलिनी को जाग्रत करता है। कुण्डलिनी जाग्रत करने के लिए **खेचरी मुद्रा** की जाती है, इससे ध्यान परिपक्व होता है। महामुद्रा तथा महावेध का अभ्यास महाबंध के साथ किया जाता है। इसमें साधक बाएँ पैर की एँड़ी को मूलाधार चक्र पर जमा कर दाएँ पैर को सीधा फैला देता है और दोनों हाथों से दाएँ पैर का पंजा पकड़ लेता है। तत्पश्चात् जालन्धर बंध लगा कर फैले हुए पैर के घुटने पर सिर को रख देता है, इससे प्राण सुषुम्णा में प्रवेश कर कुण्डलिनी को जाग्रत करता है।

षट्चक्र

तन्त्र-साधना में साधना को दृष्टिगत रखते हुए शरीर को दो भागों में बाँटा गया है। १–कमर से ऊपर का हिस्सा, २–कमर से नीचे का हिस्सा। इन दोनों भागों के मध्य में शरीर का केन्द्र है। शरीर का ऊपरी भाग मेरुदंण्ड पर अवलंबित है और मेरुदण्ड पूरे शरीर से संबंध रखता है। पीठ की रीढ़ को **मेरुदण्ड** कहा जाता है। जैसे मेरु पर्वत को पृथ्वी की धुरी माना गया हैं, उसी प्रकार मेरुदण्ड पूरे शरीर की धुरी है। कमर और गर्दन के बीच का हिस्सा 'धड़' कहलाता है। यह भाग मस्तिष्क पर अवलंबित रहता है। रीढ़ में श्वेत और रक्त वर्ण के तत्त्व हैं और मूर्द्धा तथा धड़ में श्वेत-रक्त शिराएँ हैं। मस्तिष्क तथा मेरुदण्ड में श्वेत तथा रक्त वर्ण की शिराएँ हैं, किन्तु परस्पर एक दूसरे से विपरीत रहती हैं।

तन्त्रशास्त्र का सिद्धान्त है, कि **यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे** जो शरीर में है, वही ब्रह्माण्ड में भी है। तदनुसार कमर से नीचे के भाग में सात लोकों की स्थिति की कल्पना की गई है। शरीरगत ये सात लोक विश्व की शक्तियों पर आधारित हैं। कमर से ऊपर का जो भाग है, उसमें मस्तिष्क और मेरुदण्ड के द्वारा चेतना प्रवाहित रहती है। इस ऊपरी भाग में भी

भूः, भुवः, स्वः, तपः, जनः, महः और सत्य ये सात चक्र हैं, जिन्हें सात लोक कहा जाता है। इनमें पाँचवाँ (लोक) मेरुदण्ड में स्थित हैं, छठा मस्तिष्क के नीचे और सातवाँ मस्तिष्क के ऊपर स्थित है। इसी सातवें लोक पर शिव और शक्ति का निवास है। शिव-शक्ति की साधना कर शिवत्व प्राप्त करने के लिए साधक षट्चक्रों की साधना उनका भेदन करके करता है।

षट् चक्रों के स्वरूप और स्थान

१. **मूलाधार** चक्र—यह मेरुदण्ड के मूल में स्थित है। इसका स्थान मूत्रेन्द्रिय और मलेन्द्रिय के मध्य का स्थान है।

२. **स्वाधिष्ठान चक्र**—इसका स्थान मूत्रेन्द्रिय के ऊपर है।

३. **मणिपूर चक्र**—इसका स्थान नाभि है।

४. **अनाहत चक्र**—इसका स्थान हृदय है।

५. **विशुद्धि चक्र**—इसका स्थान कण्ठ के मूल में है।

६. **आज्ञा चक्र**—इसका स्थान दोनों भौंहों के मध्य में है।

इन छह चक्रों को छह लोक कहा गया है, इन सबसे ऊपर मस्तिष्क के ऊपरी भाग में **सहस्रार चक्र** है, जिसे सातवाँ लोक कहा जाता है चेतना की सर्वोच्च अभिव्यक्ति का केन्द्र सहस्रार चक्र है। यहीं पर परमशिव और शक्ति का निवास है। ये सभी चक्र पद्म (कमल) की तरह हैं।

इन पद्मों के स्थान, दल और वर्ण इस प्रकार हैं—

क्रम	चक्र	स्थान	दल	वर्ण
१	मूलाधार	गुदा	चार	व, श, ष, स
२	स्वाधिष्ठान	लिङ्ग	छह	ब, भ, म, य, र, ल,
३	मणिपूर	नाभि	दस	ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ

४	अनाहत	हृदय	बारह	क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ
५	विशुद्धि	कण्ठ	सोलह	अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ ॠ, लृ, लॄ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः
६	आज्ञा	भ्रूमध्य	दो	ह, क्ष

मूलाधार से आज्ञा चक्र ४+६+१०+१२+१६+२ वर्णों को जोड़ने से कुल योग ५० होता है। संस्कृत वर्णमाला के इन पचास वर्णों का श्रेणी-विभाजन कर इन्हें छह भागों में बाँट दिया गया है। साधना में चक्रों के इन्हीं वर्णों का ध्यान किया जाता है।

चक्रों और उन पर विन्यस्त वर्णों का समवाय संबंध है। जिस चक्र के अक्षर का उच्चारण किया जाता है, उस अक्षर के चक्र में एक प्रकार का स्पन्दन होता है, फिर वहीं से उस प्रकार की प्रथम स्फूर्ति होती है।

तन्त्र शास्त्र के मत से 'कुण्डलिनी सगुण ब्रह्म रूप हैं, वह मूलाधार चक्र में सोई हुई है, उसे कुण्डलिनी योग के द्वारा जगाया जाता है। जागने पर वह ऊपर की ओर उठती है। जब कुण्डलिनी ऊपर उठती है, तो प्रत्येक चक्र से सम्बद्ध तन्मात्रा और उससे बनी हुई इन्द्रिय उत्तरोत्तर अपने ऊपर वाले केन्द्र में लय हो जाती है जैसे—

मूलाधार चक्र पृथ्वी तत्त्व से बना है वहाँ से जाग्रत होकर कुण्डलिनी जब जल तत्त्व से बने हुए स्वाधिष्ठान चक्र में प्रवेश करती है तो पृथ्वी महाभूत, उसकी तन्मात्रा तथा उससे बनी हुई प्राण इन्द्रिय, जल तत्त्व से बनी हुई रूप इन्द्रिय में विलीन हो जाती है। स्वाधिष्ठान चक्र के ऊपर मणिपूर चक्र है, यह नाभिस्थान में है और अग्नि-तत्त्व से बना है। जब कुण्डलिनी मणिपूर चक्र में पहुँचती है तो स्वाधिष्ठान चक्र का जल-तत्त्व मणिपूर चक्र के—अग्नि-तत्त्व में विलीन हो जाता है और रसना

इन्द्रिय चक्षुइन्द्रिय में विलीन हो जाती है। मणिपूर चक्र के ऊपर हृदय-स्थान में अनाहत चक्र है, यह वायुतत्त्व से बना है। जाग्रत कुण्डलिनी जब अनाहत चक्र में पहुँचती है तो मणिपूरचक्र का अग्नितत्त्व अनाहत चक्र के वायुतत्त्व में विलीन हो जाता है और जब कुण्डलिनी कण्ठस्थ विशुद्धि चक्र में पहुँचती है तो आकाशतत्त्व से बने हुए विशुद्धि चक्र के आकाशतत्त्व में अनाहतचक्र का वायुतत्त्व विलीन हो जाता है। भ्रूमध्य स्थित आज्ञा चक्र में कुण्डलिनी के पहुँचने पर सभी चक्रों के तत्त्व प्राण में विलीन हो जाते हैं। मस्तिष्क के तालु स्थान में स्थित सहस्रार चक्र पर जब कुण्डलिनी पहुँचती है तो प्राणतत्त्व प्रकृति में विलीन हो जाता है, और तभी ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। सहस्रार चक्र में कुण्डलिनी के पहुँचने पर शिव और शक्ति का संगम होता है।

प्राणविद्या

तांत्रिक-साधना में मन, मस्तिष्क और चित्तवृत्तियों को शान्त सुस्थिर बनाने के लिए तथा शरीर को निर्विकार, पवित्र बनाए रखने के लिए प्राण विद्या की साधना कीजाती है, इसमें आसन और मुद्राओं के रूप में पहले शारीरिक संशोधन किया जाता है, तत्पश्चात् प्राणायाम द्वारा मन को एकाग्र किया जाता है, फिर शरीर का शोधन किया जाता है—

१ शोधन—षट्कर्मों द्वारा शरीर की शुद्धि करना षट्कर्म में पहला कर्म है **धौति**। धौति का अर्थ है धोना। अन्तरधौति, दन्त धौति, हृद् धौति और मूल धौति, इनमें से अन्तर धौति तीन प्रकार की होती है—

१. **वातसार**, अर्थात् वायु पेट में ले जाकर उसे बाहर निकालना।

२. वारिसार, शरीर में पानी भर कर फिर उसको वायु-मार्ग से निकालना।

३. **वह्निसार** इसमें नाभिग्रंथि को मेरुदंड से स्पर्श कराते हैं और इस प्रकार संघर्ष से उष्णता उत्पन्न करते हैं। इसके बाद बाहर निकालने की क्रिया की जाती है। इस क्रिया में साधक **काकिनी** मुद्रा द्वारा शरीर

में वायु भर लेता है और आधे पहर तक वायु को रोके रखता है, तदनन्तर सारे शरीर से वायु को निकाल कर उसे स्वच्छ कर देता है। इसी प्रकार अन्य धौतियों की पद्धति है।

२. वस्तिकर्म

यह क्रिया शुष्कवस्ति और जलवस्ति के रूप में दो प्रकार की होती है। जो जलवस्ति है, उसमें साधक नाभिपर्यन्त पानी में खड़ा हो कर **उत्कटासन** में बैठता है और अश्विनी मुद्रा से मलमार्ग का संकोचन और प्रसारण करता है या फिर वह पश्चिमोत्तान आसन में बैठ कर नाभि के नीचे मल को नाना-भाव से संचालित करता है।

नेति एक प्रकार की वस्ति है, जिसे नाक के रंध्रों में लगा कर नाक के छिद्रों की सफाई की जाती है। **लौकिकी** में साधक पेट को एक ओर से दूसरी ओर चलाता है। **त्राटक** में साधक किसी एक बिन्दु की ओर टकटकी लगाये, बिना पलकें झपाये देखता है, वह तब तक देखता रहता है जब तक आँखों से आँसू नहीं निकलते हैं। त्राटक से दिव्य-दृष्टि प्राप्त होती है। **वातक्रमण** में वायु को अन्दर खींच कर रोका जाता है और फिर उसे बाहर निकाला जाता है। **व्युत्क्रम** में नासिका से पानी लेजाकर नासान्ध्र से बाहर किया जाता है। इन्हीं क्रियाओं से साधक शरीर को शुद्ध करता हैं। षट्कर्म के बाद आसन की साधना की जाती है।

३. आसन

आसन तो बहुत बताए गए हैं। ८४ लाख योनियों की संख्या के आधार पर आसनों की संख्या ८४ लाख है, उनमें १६०० उत्तम माने गए हैं, किन्तु तांत्रिक-साधना में पद्मासन, सिद्धासन, वज्रासन, शवासन, चितासन और मुंडासन मुख्य माने गये हैं।

कुण्डलिनी जाग्रत करने के लिए सिद्धासन तथा ऐसी मुद्राओं का प्रयोग किया जाता है, जिनमें एक पैर की एड़ी गुदाद्वार को दबाती हैं और दूसरे पैर की एड़ीलिङ्गेन्द्रिय को दबाती है। योनि मुद्रा द्वारा कान,

नाक, आँख और मुख-छिद्र अँगुलियों से ढाक दिएजाते हैं। दाहने पैर की एड़ी गुदा पर जमा दी जाती है और बाएँ पैर की एड़ी लिङ्गेन्द्रिय पर जमा दीं जाती है और लिङ्गेन्द्रिय को संकुचित कर के दोनों के बीच इस प्रकार दबाया जाता है कि वह दिखाई न पड़े। साथ ही खेचरी मुद्रा द्वारा जीभ को उलट कर कण्ठ द्वार रोक दिया जाता है।

मुंडासन, चितासन, शवासन, प्राय: क्षुद्र भौतिक इच्छा की पूर्ति में सहायक होते हैं। मुंडासन में नरमुंडों पर बैठ कर साधना की जाती है। चितासन में चिताभूमि पर बैठ कर साधना की जाती है और शवासन में मृतशरीर पर बैठ कर साधना की जाती है। आध्यात्मिकक्षेत्र में इनका महत्त्व नहीं है, किन्तु फिर भी इन आसनों द्वारा की गई साधना से साधक भय और घृणा से मुक्त हो जाता है और निरन्तर साधना द्वारा शव को शिव बनाने की क्षमता प्राप्त करता है।

तांत्रिक योग-साधना का मुख्य लक्ष्य आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त करना है, इसलिए साधना के लिए एकान्त, निर्वातगुफा, पर्वत-शिखर, निर्जन स्थान, श्मसान नदी-तट आदि स्थान उपयुक्त माने गए हैं। तांत्रिक-साधना में श्मसान दो तरह के हैं—१-बाह्य श्मसान २-अभ्यन्तर श्मसान। बाह्यश्मसान वह है जहां मुरदे जलाये या दफ़नाए जाते हैं और अभ्यन्तर श्मसान हृदय में है जहां पर समस्त कामनाओं, वासनाओं, विषय-प्रपंचों का दहन किया जाता है।

वस्तुत: जिस अवस्था में सुखपूर्वक बैठा जा सके वह आसन है। विचारों को विशुद्ध बनाये रखने के लिए आसन की स्थिरता आवश्यक होती है। यदि किसी ऐसे आसन को लगाया जाए, जिससे शरीर स्थिर ना हो पाए, हिलना, डुलना बना रहे तो शारीरिक अस्थिरता और उस की हलचल से मन डाँवाडोल चंचल और अस्थिर रहता है। ध्यान-भंग हो जाता है। इसलिए साधक को यह स्वयं निर्णय करना चाहिए कि उसके लिए कौन- सा आसन सुखकर और शरीर तथा मन को स्थिरत

देने वाला है। यदि कोई व्यक्ति स्थूलकाय है तो वज्रासन में बैठना उस के लिए संभव नहीं है, इसी तरह पद्मासन भी उसके लिए विपत्ति जनक है, फिर भला ऐसा व्यक्ति कैसे सिद्धि प्राप्त कर सकता है। इसलिए साधक को चाहिए कि वह मंत्र-साधना, योग-साधना प्रारम्भ करने से पहले आसन और मुद्राओं का अभ्यास करे। एक आसन पर जब तीन घंटे तक सुखपूर्वक बैठने का अभ्यास हो जाए तो समझना चाहिए कि वह आसन सिद्ध हो गया है। आसनों और मुद्राओं का नियमित अभ्यास करते रहने से कुछ ही दिनों में वह सहज हो जाते हैं। जब साधक को आसन सिद्ध हो जाता है तो रजोगुण से उत्पन्न होने वाली मानसिक चंचलता दूर हो जाती है और मन, मस्तिष्क तथा शरीर सब में संतुलन आ जाता है।

आसनों की सिद्धि में मुद्राएं और बन्ध अभेद सम्बन्ध रखते हैं। कुछ आसन ऐसे होते हैं, जिनका सीधा सम्बन्ध प्राणवायु से रहता है। ऐसे आसन प्राणायाम की सिद्धि में सहायक होते हैं। इस प्रकार के आसनों में **सिद्धासन** बहुत ही उपयुक्त और उत्कृष्ट आसन है। 'हठयोगप्रदीपिका' में बताया गया है कि—

'जैसे यमों में अहिंसा, नियमों में मिताहार मुख्य है। वैसे ही आसनों में **सिद्धासन** मुख्य है।'

सिद्धासन का अभ्यास करते रहने से कुछ ही दिनों में **उन्मनी** अवस्था प्राप्त हो जाती है और तीन बंध अपने आप लगने लगते हैं।

४. मुद्रा

मुद्राएं प्रदर्शित करने से साधक पाप-निवृत्त होकर इष्टदेवता का सान्निध्य प्राप्त करता है। मुद्राओं के स्वरूप समझने के साथ उसकी पारिभाषिक शब्दावली को समझना आवश्यक होता है।

दोनों हाथ की अंगुलियों, मुट्ठियों को जोड़ने, मोड़ने और खोलने

से सारी मुद्राएँ बनती हैं। इसलिए हाथ, अंगुली और मुट्ठी की भेद-संज्ञा को इस प्रकार जानना चाहिए।

मणिबन्ध (हाथ की कलाई) से कनिष्ठा (छिगुरी) तक का अंग हाथ है। हाथ का अग्रभाग पंच शाख, शय और पाणि कहलाता है। इसमें जो अंगुलियाँ हैं, वे करपल्लव या करशाख कहलाती हैं। अंगुलियाँ पाँच होती हैं—अंगुष्ठ (अंगूठा) इसे ज्येष्ठा, वृद्धा और भ्रूपूजक कहते हैं। दूसरी अंगुली को तर्जनी, प्रदर्शिनी, प्रदेशिका, पितृपूजिका कहते हैं। बीच की तीसरी अंगुली को मध्या, मध्यमा और जपकरणी कहते हैं। चौथी अंगुली को अनामा, अनामिका और प्रान्तवासिनी कहते हैं। पाँचवी कनिष्ठा को अन्त्यमा, लध्वी, स्वल्पा, रत्नी और अन्त्यजा कहते हैं। इन पाँचों अंगुलियों को बन्द कर लेने से मुष्टि (मुट्ठी) बनती है और खोल देने से करतल बनता है। मुष्ठि दो प्रकार की होती है, जिसमें रत्नी (कनिष्ठा) शामिल रहती है, वह मुष्टि (मुट्ठी) और जिसमें रत्नी न संलग्न हो वह अरत्नी कहलाती है।

हाथ में तीर्थ और देवताओं का वास

हाथ के आरम्भ में अंगूठे के नीचे **आत्मतीर्थ**, हाथ के अन्त में अंगुलियों के ऊपर **परमार्थतीर्थ**, हाथ के उत्तर भाग में कनिष्ठा से कुछ नीचे **देवतीर्थ** और हाथ के दक्षिण भाग तर्जनी और अंगुष्ठ के बीच में **पितृतीर्थ** रहता है। स्नान, दान, संकल्प, तर्पण आदि कर्मों और उन-उन कर्मों के स्थानीय तीर्थ के ऊपर होकर त्यागने में महाफल होता है। हाथ के मूल में ब्रह्मा, मध्यमें विष्णु और हाथ के अग्रभाग में शिव का वास रहता है।

नित्य-साधना में उपयोगी मुद्राएँ

प्रार्थना-मुद्रा—दोनों हाथ की दसों अंगुलियों को आमने-सामने परस्पर मिला देने के बाद हृदय के समीप रखने से प्रार्थना मुद्रा बनती है।

देने वाला है। यदि कोई व्यक्ति स्थूलकाय है तो वज्रासन में बैठना उस के लिए संभव नहीं है, इसी तरह पद्मासन भी उसके लिए विपत्ति जनक है, फिर भला ऐसा व्यक्ति कैसे सिद्धि प्राप्त कर सकता है। इसलिए साधक को चाहिए कि वह मंत्र-साधना, योग-साधना प्रारम्भ करने से पहले आसन और मुद्राओं का अभ्यास करे। एक आसन पर जब तीन घंटे तक सुखपूर्वक बैठने का अभ्यास हो जाए तो समझना चाहिए कि वह आसन सिद्ध हो गया है। आसनों और मुद्राओं का नियमित अभ्यास करते रहने से कुछ ही दिनों में वह सहज हो जाते हैं। जब साधक को आसन सिद्ध हो जाता है तो रजोगुण से उत्पन्न होने वाली मानसिक चंचलता दूर हो जाती है और मन, मस्तिष्क तथा शरीर सब में संतुलन आ जाता है।

आसनों की सिद्धि में मुद्राएं और बन्ध अभेद सम्बन्ध रखते हैं। कुछ आसन ऐसे होते हैं, जिनका सीधा सम्बन्ध प्राणवायु से रहता है। ऐसे आसन प्राणायाम की सिद्धि में सहायक होते हैं। इस प्रकार के आसनों में **सिद्धासन** बहुत ही उपयुक्त और उत्कृष्ट आसन है। 'हठयोगप्रदीपिका' में बताया गया है कि—

'जैसे यमों में अहिंसा, नियमों में मिताहार मुख्य है। वैसे ही आसनों में **सिद्धासन** मुख्य है।'

सिद्धासन का अभ्यास करते रहने से कुछ ही दिनों में **उन्मनी** अवस्था प्राप्त हो जाती है और तीन बंध अपने आप लगने लगते हैं।

४. मुद्रा

मुद्राएं प्रदर्शित करने से साधक पाप-निवृत्त होकर इष्टदेवता का सान्निध्य प्राप्त करता है। मुद्राओं के स्वरूप समझने के साथ उसकी पारिभाषिक शब्दावली को समझना आवश्यक होता है।

दोनों हाथ की अंगुलियों, मुट्ठियों को जोड़ने, मोड़ने और खोलने

से सारी मुद्राएँ बनती हैं। इसलिए हाथ, अंगुली और मुट्ठी की भेद-संज्ञा को इस प्रकार जानना चाहिए।

मणिबन्ध (हाथ की कलाई) से कनिष्ठा (छिगुरी) तक का अंग हाथ है। हाथ का अग्रभाग पंच शाख, शय और पाणि कहलाता है। इसमें जो अंगुलियां हैं, वे करपल्लव या करशाख कहलाती हैं। अंगुलियाँ पाँच होती हैं—अंगुष्ठ (अंगूठा) इसे ज्येष्ठा, वृद्धा और भ्रूपूजक कहते हैं। दूसरी अंगुली को तर्जनी, प्रदर्शिनी, प्रदेशिका, पितृपूजिका कहते हैं। बीच की तीसरी अंगुली को मध्या, मध्यमा और जपकरणी कहते हैं। चौथी अंगुली को अनामा, अनामिका और प्रान्तवासिनी कहते हैं। पाँचवी कनिष्ठा को अन्त्यमा, लघ्वी, स्वल्पा, रत्नी और अन्त्यजा कहते हैं। इन पाँचों अंगुलियों को बन्द कर लेने से मुष्टि (मुट्ठी) बनती है और खोल देने से करतल बनता है। मुष्ठि दो प्रकार की होती है, जिसमें रत्नी (कनिष्ठा) शामिल रहती है, वह मुष्टि (मुट्ठी) और जिसमें रत्नी न संलग्न हो वह अरत्नी कहलाती है।

हाथ में तीर्थ और देवताओं का वास

हाथ के आरम्भ में अंगूठे के नीचे **आत्मतीर्थ**, हाथ के अन्त में अंगुलियों के ऊपर **परमार्थतीर्थ**, हाथ के उत्तर भाग में कनिष्ठा से कुछ नीचे **देवतीर्थ** और हाथ के दक्षिण भाग तर्जनी और अंगुष्ठ के बीच में **पितृतीर्थ** रहता है। स्नान, दान, संकल्प, तर्पण आदि कर्मों और उन-उन कर्मों के स्थानीय तीर्थ के ऊपर होकर त्यागने में महाफल होता है। हाथ के मूल में ब्रह्मा, मध्यमें विष्णु और हाथ के अग्रभाग में शिव का वास रहता है।

नित्य-साधना में उपयोगी मुद्राएँ

प्रार्थना-मुद्रा—दोनों हाथ की दसों अंगुलियों को आमने-सामने परस्पर मिला देने के बाद हृदय के समीप रखने से प्रार्थना मुद्रा बनती है।

अंकुश मुद्रा—दाहने हाथ की मुट्ठी बाँध कर तर्जनी को अंकुश के समान मोड़ने पर त्रैलोक्य को आकृष्ट करने वाली अंकुश मुद्रा बनती है।

कुन्तमुद्रा—मुट्ठी को खड़ी करके तर्जनी को सीधी करे और उसके अग्रभाग में अंगूठा लगाने से सर्वरक्षाकारी कुन्त मुद्रा बनती है।

कुम्भमुद्रा—दाहने अंगूठे को बाएँ अंगूठे में लगाकर शेष अंगुलियों को मुट्ठी बाँध कर नीचे-ऊपर लगादे और मुट्ठी को पोली रखे तो कुम्भ-मुद्रा बनती है।

तत्त्वमुद्रा—अंगूठा और अनामिका के अग्रभाग को मिलाने से तत्त्व मुद्रा बनती है।

सन्ध्योपासना की मुद्राएं—१ सम्मुखी, २ संपुटी, ३ वितत, ४ विस्तृत, ५ द्विमुखी, ६ त्रिमुखी, ७ चतुर्मुखी, ८ पंचमुखी, ९ षड्मुखी, १० अधोमुखी, ११ व्यापक, १२ आञ्जलिक, १३ शकट, १४ यमपाश, १५ ग्रथित १६ सम्मुखोन्मुख, १७ प्रलय, १८ मुष्टिक, १९ मत्स्य, २० कूर्म, २१ वराह, २२ सिंहक्रान्त, २३ विक्रान्त और २४ मुद्गर। ये २४ मुद्राएँ सन्ध्याकाल में की जाती हैं।

सन्ध्याकाल-समाप्ति के बाद की मुद्राएँ—१ सुरभि, २ ज्ञान, ३ वैराग्य, ४ योनि, ५ शंख, ६ पंकज, ७ लिंग ८ निर्वाण ये आठ मुद्राएँ सन्ध्याकाल बीतने पर की जाती हैं।

ध्यानकाल की वासुदेवी मुद्रा—दोनों हाथों की अंजलि बाँधने पर यह मुद्रा बनती है। इसे ध्यान प्रारम्भ करने से पूर्व करनी चाहिए।

जपमुद्रा—अंगूठा और मध्यमा अंगुली के पोरों से मणियाँ चलाकर माला फेरने से जपमुद्रा बनती है। इसे करमाला भी कहते हैं।

शाम्भवी मुद्रा—मूल बन्ध और उड्डीयान बन्ध के साथ सिद्धासन या पद्मासन से बैठकर नासिका के अग्रभाग अथवा भ्रूमध्य में दृष्टि को स्थिर करके ध्यान जमाना शाम्भवी मुद्रा है। इस मुद्रा से मन सर्वथा वृत्ति शून्य हो जाता है।

५. बन्ध—बन्धों का अन्तर्भाव भी मुद्राओं के अन्तर्गत किया जाता है। बन्धों से प्राणों का निरोध होता है। तीन बन्ध मुख्य है—

मूलबन्ध, उड्डीयान और जालन्धर।

६. **मूलबंध**—मूल (गुदा) और लिंग स्थान के रन्ध्र को बन्द करने का नाम मूल बन्ध है। बाएँ पैर की एड़ी को गुदा और लिंग के मध्यभाग में दृढ़तापूर्वक जमाकर गुदा को सिकोड़ कर योनिस्थान अर्थात् गुदा और लिंग एवं कंद के बीच के भाग को दृढ़तापूर्वक संकोचन द्वारा अधोगत अपान वायु को धीरे-धीरे ऊपर की ओर खींचने को मूलबन्ध कहते हैं। यह बन्ध सिद्धासन के साथ लगाया जाता है। इससे कुंडलिनी उठकर ऊपर की ओर चढ़ने लगती है।

उड्डीयान बंध—दोनों जानुओं को मोड़कर पैरों के तलुओं को आपस में भिड़ाकर पेट के नाभि के नीचे और ऊपर आठ अंगुल हिस्से को बल-पूर्वक खींच कर मेरुदण्ड (रीढ़) से ऐसा लगादे कि पेट के स्थान पर गड्ढा-सा दिखे। जितना पेट के अन्दर की ओर अधिक खींचा जाएगा उतना ही अच्छा होगा। इस बन्ध से प्राण सुषुम्णा की ओर पक्षी की तरह उड़ने लगता है।

जालंधर बंध—कंठ को सिकोड़ कर ठोडी को दृढ़तापूर्वक कंठ रूप में स्थापित करे हृदय से ठोड़ी का अन्तर केवल चार अंगुल रहे। सीना आगे की ओर तना रहे। यह बन्ध कंठ के नाड़ीजाल को बाँधे रहता है। इस बन्ध से कंठ-स्वर मधुर-आकर्षक बनता है और कंठ के संकुचित हो जाने से इडा-पिंगला नाड़ियाँ बन्द हो जाती हैं तब प्राण सुषुम्ण में प्रवेश करता है।

लगभग सभी आसन और मुद्राएँ मूलबन्ध और उड्डीयान बन्ध के साथ किए जाते हैं।

५. महाबंध—महाबन्ध के द्वारा इडा, पिंगला और सुषुम्णा—इन

तीनों नाड़ियों के प्रवाह को एक ही दिशा में परिवर्तित कर अन्य क्रियाओं के साथ मन को आज्ञाचक्र पर स्थिर करना होता है ।

विधि—बाएँ पैर की एड़ी को गुदा और लिंग के मध्यभाग में जमा कर बायीं जंघा के ऊपर दाहने पैर को रख समसूत्र में हो, वाम अथवा जिस नासारन्ध्र से वायु चल रहा हो, उससे ही पूरक करके जालन्धर-बन्ध लगाए । फिर मलद्वार से वायु का ऊपर की ओर आकर्षण करके मूलवन्ध लगाए । मन को मध्य नाड़ी में लगाए हुए यथाशक्ति कुम्भक करे । इसके बाद पूरक की विपरीत वाली नासिका से धीरे-धीरे रेचन करे । इस प्रकार दोनों नासिकाओं से अनुलोभ-विलोम रीति से प्राणायाम करे ।

इस महाबन्ध से प्राण ऊर्ध्वगामी होता है और इडा-पिंगला सुषुम्णा का संगम होता है ।

आसन, प्राणायाम, वन्ध और मुद्राओं से कुंडलिनी जाग्रत की जाती है । इनके करने से प्राण इडा और पिंगला से निकलकर सुषुम्णा में प्रविष्ट होता है तब कुंडलिनी ऊर्ध्वगामी होती है ।

ध्यान योग—हर देश, जाति, धर्म और सम्प्रदाय की आध्यात्मिक परम्परा में 'ध्यान' आध्यात्मिकसाधना, आत्मसाक्षात्कार और परमात्म ज्ञान का मुख्य तत्त्व माना गया है । ध्यान की साधना और सिद्धि सदैव एकान्त और मौन की रही है । ध्यान की साधना पुस्तकें पढ़कर नहीं करनी चाहिए ध्यान एक योगविद्या है जो गुरू-शिष्यपरम्परा प्रधान है । जिस प्रकार एक दीपक दूसरे दीपक से प्रकाश प्राप्त करता है, उसी प्रकार ध्यान-सिद्धि-आलोक को शिष्य गुरु से रहस्य के रूप में प्राप्त करता है ।

आत्मा को आत्मा के द्वारा प्रज्वलित करने की यह प्रक्रिया वैदिक काल से अब तक निर्वाधरूप से चली आ रही है । ध्यान-योगी मौन होकर एकान्तवास करता है । वह ध्यानस्थ होकर अपने चारों ओर योग

और क्षेम का वितरण करता है। ध्यान में अद्भुत शक्ति निहित रहती है। ध्यान द्वारा विश्रृंखल मन को एकाग्र किया जाता है। दूषित-विचारों और दूषित वृत्तियों को ध्यान की तरंगे बहा ले जाती हैं। ध्यान चेतना-शक्ति को जाग्रत करता है और जाग्रत-चेतना में समस्त अनुभूतियाँ समा जाती हैं। ध्यान से विचारों में सामंजस्य उत्पन्न होता है। भेद-दृष्टि समाप्त हो जाती है। जब संकुचित जीवात्मा विराट् सत्ता में लीन हो जाता है तो वही ध्यान सिद्धि कहलाती है।

ध्यान के अभ्यास के लिए उतावली नहीं करनी चाहिए दीर्घकाल तक संयम, नियमपूर्वक ध्यान करते रहने मे ध्यान-सिद्धि प्राप्त होती है। एक निश्चित समय पर, शुद्ध, एकान्त स्थान में ध्यानाभ्यास करना चाहिए। ध्यान का समय अर्धरात्रि या ब्राह्मवेला उत्तम होता है। बैठने केलिए ऊन, कुशासन या मृग चर्म का आसन होना चाहिए। पूर्व या उत्तर की ओर मुँह करके ध्यान करना चाहिए। सामान्यतया सिद्धासन लगाकर बैठना चाहिए।

ध्यान से पूर्व संकल्प-निरोध—ध्यान करने मे पूर्व संकल्पों का निरोध किया जाना चाहिए। मनुष्य के ही नहीं बल्कि प्राणिमात्र के जीवन में दो प्रकार के संकल्प हुआ करते हैं—एक 'तात्कालिक संकल्प' और दूसरा 'महासंकल्प'। तात्कालिक संकल्प नित्य प्रति के कार्यकलाप एवं जीवन निर्वाह के लिए हुआ करते हैं और महासंकल्प अमर्यादित कामनाओं, वासनाओं की पूर्ति के लिए हुआ करते हैं। इन दोनों प्रकार के संकल्पों में प्रथम तात्कालिक संकल्पों को सीमित करना चाहिए अधिक आवश्यकताएँ आकांक्षाएँ न बढ़ने देनी चाहिए। वासनापूर्ति के लिए उत्पन्न महासंकल्पों को मैत्रीभाव, भक्तिभाव और वैराग्यभाव से निवृत्त करना चाहिए।

संकल्प-निरोध की विधि—१. स्थिरचित्त होकर एकान्त में बैठ कर जिह्वा को मुख-विवर में ऐसी दशा में स्थापित किया जाय कि

वह ऊपर, नीचे और दाँतों, ओठों को छू न सके। दाँतों को परस्पर न मिलाकर उन्हें खुला रखा जाए और मुँह को बंद कर लिया जाए। ऐसा करने से जीभ का हिलना-डुलना बंद हो जाता है और मन में कोई संकल्प नहीं उठता है।

इस विधि का रहस्य-विज्ञान यह है कि शब्दों पर आरूढ़ होकर संकल्प अन्तर्देश में प्रकट हुआ करते हैं। हर शब्द के साथ कोई न कोई संकल्प संलग्न रहता है। शब्दों का उच्चारण वाणी से हुआ करता है। वागिन्द्रिय का अधिष्ठातृ देवता 'अग्नि' है। अग्नि को प्रज्ज्वलित करने के लिए अरणि-मंथन किया जाता है। जिह्वा के नीचे का अधर अरणि और जिह्वा के ऊपर का ओठ उत्तर अरणि का जब जिह्वारूप मंथन-काष्ठ से आलोडन नहीं होगा तब अग्नि नहीं उत्पन्न होगा। अग्नि न उत्पन्न होने से शब्द नहीं होगा और शब्द न होने से संकल्प का भी उदय न होगा।

२. सुस्थिर होकर सिद्धासन या सुखासन (फालथी) में बैठ कर आँखों की दोनों पुतलियों का संचरण रोक कर उन्हें अचल बना दिया जाए। इससे मन में किसी भी रूप की कल्पना नहीं आती है। रूप का निरोध होने से संकल्प का निरोध होता है।

इसका रहस्य यह है कि संकल्प किसी न किसी रूप में उत्पन्न हुआ ही करते हैं। जितने भी विषय हैं, उन सब के आकार होते हैं और संकल्प निर्विषयक नहीं होते हैं। नेत्रों की पुतलियों का निरोध होने से रूप का निरोध होता और रूप का निरोध होने से संकल्पों का निरोध होता है।

३. मूलाधार चक्र से लम्बी घड़घड़ाहट, ध्वनि के साथ प्रणव (ॐ) का उच्चारण करने से संकल्प स्वतः निवृत्त हो जाते हैं।

४. जो व्यक्ति जिस किसी भी धर्म, सम्प्रदाय का हो वह उसी के अनुसार अपने इष्टदेव का नाम या इष्ट मंत्र अथवा प्रार्थना का मन ही मन उच्चारण करे तो संकल्प क्षीण होते हैं।

न्यास—न्यास का अर्थ है, स्थापना। अपने शरीर के अंग-अंग में अभीष्ट मंत्र अथवा देवता को स्थापित करना न्यास है। ध्यान से पूर्व न्यास करने से शरीर पवित्र हो जाता है, दिव्यशक्तियाँ नस-नस से प्रवाहित होने लगती हैं। साधक का शरीर देवतामय अथवा मंत्रमय हो जाता है। मन और इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं। न्यास दो प्रकार का होता है—अन्तर्न्यास और वहिर्न्यास। दोनों प्रकार के न्यास भी मंत्र-न्यास और देवता न्यास के रूप में भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं, जिन्हें तत्त्व न्यास, व्यापक, किरीट-न्यास, ऋषि, छन्द और देवता न्यास, व्याहृति न्यास और मंत्रन्यास, मातृका न्यास कहा जाता है। आसन शुद्धि से लेकर न्यास पर्यन्त कर्म करने से साधक का बाह्य और अन्तर पवित्र हो जाता है।

एकाग्रता—न्यास के बाद एकाग्रता को ध्यान में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। मन, चित्त, इन्द्रियों को एकाग्र बनाने के लिए ही शान्त, एकान्त, शुद्ध स्थान ध्यान के लिए बताया गया है। एकाग्रता क्या है? इसे समझने के लिए बताया गया है कि मनुष्य की चेतना चारों ओर छितरी हुई रहती है और इधर-उधर विषयों, वस्तुओं की ओर दौड़ा करती है। जब कोई स्थायी स्वभाव का काम करना होता है, तो मनुष्य सबसे पहले छितरी हुई चेतना को समेट कर उसे एकाग्र करता है। एकाग्र-चेतना की पहचान तब की जा सकती है, जब छितरी हुई चेतना किसी एक स्थान और किसी एक कार्य, विषय या वस्तु पर एकाग्र होने के लिए बाध्य हो जाती है। जैसे, जब कोई वैज्ञानिक किसी पुष्प विशेष का अध्ययन करने में मग्न होता है तो उसकी चेतना उस पुष्प पर एकाग्र हो जाती है। इससे सिद्ध होता है कि एकाग्रता का ध्यान मस्तिष्क पर होता है। जैसे कोई शिकारी अपने शिकार पर निशाना साधता है तो उसकी चेतना सिमट कर उस शिकार के अंग विशेष पर एकाग्र हो जाती है। ऐसे ही कोई साधक किसी विन्दु विशेष पर त्राटक करता है तो उस की एकाग्रता उसी विन्दु पर टिक कर एकाग्र हो जाती है। उस समय साधक

केवल विन्दु को ही देखता है, इधर-उधर की न कोई वस्तु देखता है और न उसके मन में इधर-उधर के विचार पैदा होते हैं।

ध्यान के भेद—ध्यान कई प्रकार के हैं। ज्ञान प्राप्त करने के लिए, आत्म-साक्षात्कार प्राप्त करने के लिए महाशक्ति का ज्योति रूप से ध्यान किया जाता है। इसके अलावा विभिन्न प्रयोजनों के लिए **पदस्थ-ध्यान, रूपस्थ-ध्यान, पिण्डस्थ-ध्यान, शक्तिवर्द्धक-ध्यान** आदि अनेक प्रतीक ध्यान योग के माध्यम हैं। किन्तु तांत्रिक-साधना में ध्यान करने से पूर्व अंगन्यास, करन्यास, हृदयन्यास करने का विधान है। हृदयन्यास में हृदय-कमल पर द्वादशकलात्मकसूर्य, षोडशकलात्मक चन्द्र और दशकलात्मक अग्नि तत्त्व का न्यास किया जाता है, इसे तत्त्वन्यास कहते हैं। तत्त्व-न्यास के बाद पीठन्यास किया जाता है, जिसमें क्रमशः आधार शक्ति, प्रकृति, कूर्म, अनन्त, पृथिवी, क्षीर समुद्र, श्वेत द्वीप, मणिमण्डल, कल्पवृक्ष, मणिवेदिका और रत्नसिंहासन का ध्यान किया जाता है। पीठन्यास में आधार शक्ति की स्थापना नित्यप्रति अंगों में करने से साधक को अलौकिक आनन्द प्राप्त होता हैं। वह वाह्य स्मृति रहित होकर अपने इष्टदेव की अनुभूति में मग्न हो जाता है।

ध्यान की पूर्णता—ध्यान-योग का एक विधान हैं—दोनों भौहों के बीच ध्यान को एकाग्र करना। दोनों भौहों के बीच के स्थान को त्रिपुटी कहा जाता है, उसी पर अन्तर्मन, गुह्य-दर्शन और संकल्प का केन्द्र है। यही कारण है कि ध्यान के समय जिसका चिन्तन त्रिपुटी में एकाग्र किया जाता है, उसकी प्रतिमूर्ति देखने का अनुभव होता है। अनुभूति ही ध्यान की पूर्णता है। जब तक अनुभूति नहीं होती है, तब तक ध्यान में सफलता नहीं मिलती है।

आनापान स्मृति—बौद्ध योग-साधना में 'आनापान स्मृति ध्यान' को बहुत महत्त्व प्रदान किया गया है। श्वास-प्रश्वास पर ध्यान करने की प्रक्रिया को 'आनापान स्मृति' कहा गया है। इस ध्यान के अभ्यास में न

तो क्रियायोग है और न प्राणों का निरोध है। केवल श्वासों की गति पर मन को स्थिर कर उसका निरीक्षण किया जाता है। वस्तुतः आनापान स्मृति एक प्रकार का मानसिक ध्यान है। इस ध्यान के अभ्यास से सूक्ष्मता की वृद्धि होती है। इस ध्यान का अभ्यास करने के लिए 'स्मृति' और 'प्रज्ञा' का निर्मल होना आवश्यक है। स्मृति की निर्मलता के अनुसार ही निरीक्षण की स्पष्टता बढ़ती है। स्मृति जितनी दृढ़ होगी निरीक्षणता उतनी ही स्थायी बनती है। आनापान स्मृति के लिए शुद्ध एकान्त स्थान और पद्मासन को उपयोगी बताया गया है और शवासन को भी प्रधानता दी गई है। रात में चित लेट कर शव की तरह निश्चेष्ट बनकर इसका अभ्यास किया जाता है।

आनापान स्मृति में श्वासों पर ध्यान जमाया जाता है। श्वास-प्रश्वास अपनी स्वाभाविक गति के चलते रहते हैं, साधक केवल उनका निरीक्षण करता है। श्वास कहाँ से उठा, कैसे उठा, किस प्रकार धीर-धीरे बाहर निकला और फिर किस प्रकार लौट कर उसने प्रवेश किया—इन्हीं का सूक्ष्म निरीक्षण करते हुए साधक के मन में जब और कोई भावना या संकल्प नहीं रहता है, तो वह निरीक्षण करता हुआ गहरी नींद में सो जाता है। यह ध्यान थकावट, चिन्ता और क्लान्ति मिटाने तथा अनिद्रा-रोग, मानसिक रोग दूर करने में सहायक बनता है।

ध्यान विधि—आनापान स्मृति ध्यान की विधि यह है कि पद्मासन पर बैठ कर या शवासन से लेट कर श्वास की गति को स्वाभाविक बनाने के लिए श्वास के साथ मन को लगा देना चाहिए। मन को श्वास के साथ संलग्न कर देने से श्वास की गति में कोई बाधा नहीं आ पाती। जब श्वास अपनी स्वाभाविक गति से चलने लगे तो साधक को चाहिए कि वह यह निरीक्षण करे कि श्वास कहाँ से उठता है, किस रास्ते से जा रहा है, कहाँ जा रहा है, किस रास्ते से बाहर निकलता है, और कहाँ तक बाहर जाता है, फिर किस प्रकार खिच कर वापस लौटता है और भीतर जाता है। प्राण-वायु के इस खेल को साक्षी बनकर साधक

देखता रहे किन्तु देखने के लिए श्वास-प्रश्वास की गति से छेड़-छाड़ न करे। उसे अपनी गति से चलने देना चाहिए। हाँ, इतना ध्यान बराबर रखे कि मन श्वास की गति से लगा रहे तनिक भी हटे नहीं। कदाचित् मन हटने लगे या हट जाए तो तुरन्त उसे श्वास की गति के साथ लगा दे।

श्वास की गति देखना ही आनापानस्मृति का मुख्य उद्देश्य है। साधक इस ध्यान-योग में पहले बहुत भटकता और बहकता है, उसे यह ज्ञात ही नहीं हो पाता कि श्वास कहाँ से उठता है, किस रास्ते से चलता है, कैसे बाहर निकलता है, किन्तु यदि साधक हताश और निराश नहीं होता है और निरन्तर क्रियारत रहता है तो श्वास स्वयं उसे अपनी गति और गन्तव्य बता देते हैं और साधक को श्वास की गति का पूरा बोध हो जाता है। यह ध्यान-साधना भूत, भविष्य का ज्ञान कराती है शरीर, मन, बुद्धि को निर्मल बनाती है और अन्त में उद्देश्य की सिद्धि होती है।

जपध्यान-योग इस ध्यान में किसी मन्त्र का जप भी सिद्धि प्रदान करता है। जप पूर्वक ध्यान की पद्धति दो प्रकार की होती है—

एक मानसिक पद्धति, दूसरी भाव प्रधान पद्धति।

१. यदि मन्त्र का जप मन्त्र के अर्थ पर ध्यान रख कर किया जाता है, तो साधक के मन में ऐसी कोई चीज होती है जो उस मन्त्र के देवता के स्वभाव, शक्ति, सौन्दर्य पर एकाग्र होती है, जिसे जप का मन्त्र व्यक्त करता हैं। जप के मन्त्र के द्वारा देवता की शक्ति को चैतन्य के अन्दर ले आना **मानसिक ध्यान पद्धति** का अभीष्ट होता है।

२. और यदि जप हृदय से उठता है, अथवा मन्त्र का बोधार्थ हृदय को झंकृत करता है तो यह **भावप्रधान ध्यान पद्धति** कही जाती है।

यदि साधक किसी मन्त्र का जप करते हुए मंत्रार्थ या मन्त्र के देवता का ध्यान करता है, तो उस जप को मन या प्राण का सहारा अवश्य

मिलता है। यदि जप करते हुए मन में नीरसता आ जाए, प्राणों में चंच-लता आ जाए तो समझना चाहिये कि जप को मन का सहारा नहीं मिल पाता है।

जब कोई साधक नियमित रूप से किसी मन्त्र का जप करता है तो कभी-कभी अथवा बहुधा जप स्वयं प्रस्फुटित होने लगता है। जब इस प्रकार मन्त्र-जप का प्रस्फुरण स्वतः होने लगता है तो समझना चाहिए कि आन्तरिकसत्ता के द्वारा जप होने लगा है, इस ढंग का जप अत्यधिक फलदायक होता है। इससे शीघ्र सिद्धि मिलती है।

यह प्रत्यक्ष और अनुभूत है कि यदि कोई साधक किसी मन्त्र का जप किए बिना ध्यान में निरत रहता है तो उसे ध्यानावस्था में ही मन्त्र प्राप्त हो जाता है। जिस प्रकार ध्यान के द्वारा ध्येय वस्तु का अन्तर्दर्शन होता है, उसी प्रकार मन्त्र भी प्राप्त होता है।

संतों, योगियों ने 'ॐ' मन्त्र का जप और ध्यान करने का आग्रह किया है। यह बहुत ही उपयोगी ध्यान-साधना मन्त्र है। 'ॐ' मन्त्र है, यह ब्रह्म चैतन्य के तुरीय से लेकर भौतिक स्तर तक के चारों लोकों को अभिव्यक्त करने वाला शब्द-प्रतीक है। साधक जब किसी मन्त्र का जप करते हुए ध्यान करता है तो मन्त्र की शब्द शक्ति, ध्वनिशक्ति और अर्थ-शक्ति उसकी चेतना में प्रकम्पन पैदा करती है और चेतना को उस वस्तु की सिद्धि के लिए तैयार करती है, जिसका प्रतीक वह मन्त्र होता है। स्वयं वह मन्त्र उसे अपने अन्दर वहन करता है।

ॐ मन्त्र का जप करते हुए जब ध्यान किया जाता है तो 'ॐ' मन्त्र चेतना के सभी स्तरों, सभी परतों का उद्घाटन करता है। वह सभी स्थूल, भौतिक वस्तुओं में आन्तरिक सत्ता और अतिभौतिक जगत् में साधक को चेतन का अनुभव कराता है। 'ॐ' मन्त्र का जप-ध्यान करने वाले साधकों का मुख्य लक्ष्य अंतिम अनुभूति ही हुआ करती है।

●

पञ्चमोऽधिकारः

*** नेत्रोद्योतः ***

अभिषिञ्चति भुक्तिमुक्तये महतो यत् स्ववपुःपरिस्रुतैः ।
परमामृतनिर्झरैरिदं शिवयोर्नेत्रमुपास्महे परम् ॥

अथ शास्त्रान्तराभिहितैतच्छास्त्रसूचितसबीजदीक्षादीक्षितान् श्रुतशीलसमाचारानाचार्यान् साधकांश्चाभिषेचयितुं श्रीभगवानुवाच—

अभिषेकं प्रवक्ष्यामि यथा यस्येह दीयते ।

यथेति ययेतिकर्तव्यतया, यस्येति आचार्यस्य साधकस्य वा दीयते, तथा तस्याभिषेकं प्रवक्ष्यामीति प्रतिज्ञा ॥

तत्र—

अष्टभिः कलशैर्देय आचार्यस्य विधानतः ॥ १ ॥

*** ज्ञानवती ***

यमवाप्य परस्य निग्रहं भ्रमते जीव भवार्णवे पुनः ।
मनुसाधनासिद्धियोगतो लभते सिद्धिमहं नतोऽस्मितम् ॥

जो महान् (साधकों) को अपने शरीर से निःसृत परम अमृतरूपी झरनों से सिञ्चित करता है ऐसे शिवशिवा के इस नेत्र की हम उपासना करते हैं ।

अब दूसरे शास्त्रों में उक्त और इस ग्रन्थ में संकेतित सबीजदीक्षादीक्षित श्रुतशील सदाचारसम्पन्न आचार्यों और साधकों का अभिषेक करने के लिये श्रीभगवान् ने कहा—

(अब मैं) जिसको जिस प्रकार दिया जाता है वह अभिषेक कहूँगा ॥

यथा = जिस इतिकर्तव्यता के द्वारा । जिसको = आचार्य या साधक को । उस प्रकार के उसके अभिषेक को कहूँगा—यह प्रतिज्ञा है ।

विधानमीशानदिशि स्वस्तिकादिमण्डलगतश्रीपर्णाद्यासनोपविष्टस्य विहित-न्यासस्य अमृतेशतयार्चितस्य काञ्चिकौदनमृद्गोमयदूर्वासिद्धार्थकादिपूर्णदीपकल-शनिर्भर्त्सनतः शमितविघ्नस्य परमन्त्रस्फारावेशनिःष्यन्दिपरामृतधारासारचिन्तनेन सह शिरसि कलशाम्भःक्षेपात्मकम् ॥ १ ॥

ये च ते कलशाः—

ते च विद्येश्वराः प्रोक्ताः समुद्राश्च सगर्भगाः ।

समुद्राष्टकाम्भोभृतः श्रीमदमृतेशभैरवस्फाराविष्टानन्तादिविद्येश्वराधिष्ठिता भाव्या इत्यर्थः । सगर्भगा इति रत्नौषध्यक्षतादियुक्ताः । एतच्चोपलक्षणम् । तेनाश्रित-मन्त्रैः प्रत्येकं साष्टशतमूलमन्त्राभिमन्त्रितैः, इत्यागमिकमभिषेकविषयमभिषिक्तस्य ज्ञानयोगस्फारोपायप्रकाशनोष्णीष-संहिता-च्छत्रपादुका-करणी-कर्तर्यादिप्रदानाद्या-गमोक्तं सर्वमनुसर्तव्यम् ॥

कलशविषयं पक्षान्तरमाह—

उसमें—

आचार्य का अभिषेक आठ कलशों से विधानपूर्वक किया जाना चाहिये ॥ १ ॥

विधान बतलाते हैं—ईशान दिशा में स्वस्तिक आदि मण्डल के अन्तर्गत पलाश आदि के आसन पर बैठे हुए, न्यास सम्पन्न किये हुये, अमृतेश्वर (= भैरव के) रूप में पूजित, काञ्चिक (स्वर्ण आदि रत्न) ओदन मिट्टी गोबर दूर्वा पीलीसरसों आदि से पूर्ण कलश के निर्भर्त्सन (कुशा के द्वारा जोर से जल के छीटे मारने) के द्वारा जिसका विघ्न शान्त कर दिया गया है—ऐसे (आचार्य के) शिर पर, परमन्त्र के स्फार के आवेश से क्षरित होने वाले परामृत धारा के चिन्तन के साथ कलश के जल का गिराना—विधान है ॥ १ ॥

वे कलश—

समुद्रजल और उसके गर्भस्थ (= रत्नों) से पूरित होने पर विद्येश्वर (माने जाते) हैं ॥ २- ॥

ये कलश, आठ समुद्रों के जल से पूर्ण, श्रीमान् अमृतेश्वर भैरव के स्फार से आविष्ट तथा अनन्त आदि विद्येश्वरों से अधिष्ठित हैं—ऐसी भावना करनी चाहिये । सगर्भगाः = रत्न ओषधि अक्षत आदि से युक्त । यह (कथन) उपलक्षण है । इसलिये आश्रित मन्त्रों के साथ-साथ प्रत्येक कलश १०८ बार मूलमन्त्रों से अभिमन्त्रित होना चाहिये—ऐसा आगमिक अभिषेक होता है । अभिषिक्त (आचार्य को) ज्ञानयोगस्फार के उपाय के प्रकाशक पगड़ी, संहिता (= धारण करने या पहनने का वस्त्र) छाता, पादुका, करणी, कर्त्तरी आदि देना चाहिये ॥

पञ्चभिर्भूतसंख्यैर्वा त्रिभिर्वा तत्त्वरूपकैः ॥ २ ॥
आत्मविद्याशिवाख्यैस्तु एकेनापि शिवात्मना ।

भूतानां पृथिव्यादिव्योमान्तानां सम्यक् ख्यानं निवृत्त्यादिकलाव्याप्त्यनुसन्धिना प्रकाशो येषाम्, तत्त्वैरात्मादिभी रूपकं रूपणा निरूपणं येषाम्, आत्मविद्याशिवैः आ समन्तात् ख्यानं तन्मयतया प्रथा येषाम् ॥ २ ॥

एष चाभिषेकः—

अधिकारार्थमाचार्ये साधके सिद्धिकामतः ॥ ३ ॥

आचार्यविषयः परानुग्रहैकप्रयोजनः कार्यः, मन्त्राराधनेन स्वात्मविषया सिद्धिरस्य स्यादित्याशयेन साधकविषयः कार्यः । अत्रापि श्रीस्वच्छन्दाद्युक्ता सर्वा प्रक्रियानुसरणीया ॥ ३ ॥

अथायं साधकः—

अभिषिक्तो ह्यनुज्ञातः प्रकुर्यान्मन्त्रसाधनम् ।

कलशविषयक पक्षान्तर को कहते हैं—

(पञ्च) महाभूत की संख्या के अनुसार पाँच अथवा आत्मा विद्या शिव नामक तत्त्वों के रूप वाले तीन अथवा शिवात्मक एक (कलश) से (भी अभिषेक होता है) ॥ -२-३- ॥

भूत = पृथिवी से लेकर आकाश तक का सम्यक् ख्यान = निवृत्ति आदि कलाओं की व्याप्ति की अनुसन्धि से प्रकाश है जिनका वे (पाँच कलश) । तत्त्व = आत्मा आदि के द्वारा रूपण = निरूपण है जिनका, वे (तीन कलश)। आत्मा विद्या एवं शिव के द्वारा—आ = सर्वतः, ख्यान = तन्मयतया प्रथा, है जिनकी वे, उनके द्वारा ॥ २ ॥

यह अभिषेक—

आचार्य के विषय में अधिकार के लिये और साधक के विषय में सिद्धि की इच्छा से किया जाना चाहिये ॥ -३ ॥

आचार्य का विषय है—परानुग्रहमात्र । मन्त्र के आराधन से साधक की स्वात्मविषया सिद्धि होती है—इस आशय से यह साधकविषयक किया जाना चाहिये । यहाँ भी स्वच्छन्दतन्त्र आदि में उक्त समस्त प्रक्रियाओं का अनुसरण करना चाहिये ॥ ३ ॥

यह साधक—

अभिषिक्त होने के बाद आज्ञा प्राप्त कर मन्त्र की साधना करे ॥ ४- ॥

न तु उदासीत ॥

तेनायम्—

तद्व्रतस्तत्समाचारस्तद्भक्तस्तत्परायणः ॥ ४ ॥
पवित्राहारनिरतो लघ्वाशी संयतेन्द्रियः ।
एकान्ते पुण्यक्षेत्रे तु तीर्थायतनगोचरे ॥ ५ ॥
सर्वसंयोगोज्झितमनाः साधको जपमारभेत् ।

तत्रैव व्रतं वाक्चित्तसंयमः, पूजाहोमात्मकस्तु समाचारो यस्य । स्पष्ट-मन्यत् ॥ ५ ॥

तत्र—

लक्षमेकं जपेन्मन्त्री पूर्वसेवासमन्वितः ॥ ६ ॥
तेन सामान्यकर्माणि सिद्ध्यन्ते साधकस्य तु ।

पूर्वसेवायां च मीनोदयात् प्रभृत्यधिकविश्रान्त्या जपः कार्य इति श्रीस्वच्छन्देऽस्ति, तथा जपाद् दशमांशेनोत्तमादिद्रव्यैर्होम इति । सामान्यकर्माणि वश्याकर्षणादीनि ॥ ६ ॥

किं च—

भौमीं सिद्धिमवाप्नोति दशलक्षजपेन तु ॥ ७ ॥

न कि उदासीन होकर बैठ जाय ॥

इस कारण यह—

(साधक) उसी के अनुसार व्रत, आचार, भक्ति करे अर्थात् तत्परायण हो जाय । पवित्र आहार ले, थोड़ा भोजन और इन्द्रियों पर संयम रखे । एकान्त पवित्र क्षेत्र, तीर्थ अथवा देवालय में बैठकर समस्त आसक्तियों से मन को हटा कर जप का प्रारम्भ करे ॥ ४-६- ॥

व्रत = वाणी और मन पर नियन्त्रण । समाचार = पूजा होम । शेष स्पष्ट है ॥ ५ ॥

पूर्व सेवा से समन्वित मन्त्री यदि एक लाख जप करे तो उससे साधक के सामान्य कर्म सिद्ध हो जाते हैं ॥ -६-७- ॥

पूर्व सेवा में—मीन के सूर्य का उदय होने से लेकर अधिक विश्रान्ति के साथ जप करना चाहिये—ऐसा स्वच्छन्दतन्त्र में है । जप का दशमांश होम उत्तम द्रव्यों से करना चाहिये । सामान्य कर्म = वशीकरण आदि ॥ ६ ॥

और भी—

आन्तरिक्षीं च लभते.........

पातालाकाशगतिमाप्नोतीत्यर्थः ।

..............लक्षपञ्चाशता ध्रुवम् ।
दिव्यां सिद्धिमवाप्नोति साधको नात्र संशयः॥ ८ ॥

दिव्यां भुवनेश्वरप्राप्तिरूपाम् ।

तथा कोटिकृते जप्य ऐश्वरीं सिद्धिमाप्नुयात् ।
व्यापकस्तु शिवो भूत्वा निग्रहानुग्रहक्षमः॥ ९ ॥
यथेच्छं कुरुते सर्वं धारयेत् संहरेद् भृशम् ।
सर्वगः सर्वकर्ता च सर्वज्ञो भवति ध्रुवम् ॥ १० ॥

व्यापक इत्यादिना ऐश्वरी सिद्धिः स्फुटीकृता । सर्वगः सर्वात्मा । एतच्च सर्वं साधक एतद्देहस्थ एव लभते, इति शिवम् ॥

कमलजकृष्णरुद्रतनुभिर्वितनोति पृथक्
शिवसुशिवेशमूर्तिभिरथाप्यपृथङ् निखिलम् ।

दश लाख जप से साधक पृथिवी और अन्तरिक्ष सम्बन्धी सिद्धि प्राप्त करता है ॥ -७-८- ॥

पाताल और आकाश में गति प्राप्त करता है ॥

साधक पचास लाख जप से दिव्यसिद्धियाँ प्राप्त करता है—इसमें सन्देह नहीं है ॥ -८ ॥

दिव्य = भुवनेश्वर की प्राप्ति रूप ।

एक करोड़ जप करने पर ईश्वरसम्बन्धी सिद्धि प्राप्त करता है । व्यापक होकर शिव हो जाता है और निग्रह तथा अनुग्रह में समर्थ हो जाता है । वह इच्छानुसार सब कुछ सृष्टि स्थिति संहार करता है । वह सर्वगामी, सर्वकर्त्ता और सर्वज्ञ हो जाता है ॥ ९-१० ॥

इस प्रकार मृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के पञ्चम अधिकार की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदी कृत ज्ञानवती नामक हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ५ ॥

'व्यापक' इत्यादि कथन के द्वारा ऐश्वरी सिद्धि स्पष्ट की गयी है । सर्वग = सर्वात्मा । साधक यह सब इसी देह से प्राप्त करता है ।

यदिह परामृतैः समभिषिञ्चति भक्तजनं
जयति समस्तसिद्धिकृदिदं नयनं शिवयोः ॥

॥ इति श्रीनेत्रतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचित-नेत्रोद्योतेऽभिषेकविधिर्नाम पञ्चमोऽधिकारः ॥ ५ ॥

जो ब्रह्मा विष्णु और शिव के शरीरों के द्वारा (अपने को) अलग-अलग करते हैं पुनः ईश्वर सदाशिव और शिव के द्वारा सम्पूर्ण विश्व को एक कर लेते हैं, समस्त सिद्धियों को देने वाले शिव शिवा के वे नयन सर्वोत्कृष्ट है ।

जो इस संसार में स्थित भक्तजनों का परामृत से सिञ्चन करते हैं ।

॥ इस प्रकार श्रीमदमृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के पञ्चम अधिकार की आचार्यवर्य श्रीक्षेमराजविरचित 'नेत्रोद्योत' नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ५ ॥

षष्ठोऽधिकारः

*** नेत्रोद्योतः ***

व्याध्यादिदौर्गत्यजरादिदोषहुताशशान्तिं परमामृतैर्यत् ।
अर्चाहुतिध्यानजपादि सिञ्चत् करोति तन्नौमि हरोर्ध्वनेत्रम् ॥

पूर्वपटलाधिगतार्थानुवादेन अन्यदेवतारयितुं श्रीदेव्युवाच—

श्रुतो मया महादेव मृत्युजित् सिद्धिमोक्षदः ।
अधुना श्रोतुमिच्छामि सिद्धित्रयसमन्वितम् ॥ १ ॥
अमृतेशं महात्मानं सर्वप्राणिषु जीवितम् ।
यथा सिद्धिप्रदं लोके मानवानां हितङ्करम् ॥ २ ॥
पूर्वोक्तदुष्टशमनमपमृत्युविनाशनम् ।
आप्यायनं शरीरस्य शान्तिपुष्टिप्रदं शुभम् ॥ ३ ॥

*** ज्ञानवती ***

यागो होमो जपादिश्च कृपया यस्य वर्ण्यते ।
अधिकारे रसाख्येऽस्मिन् नुमस्तं वह्निचक्षुषम् ॥

जो परम अमृत के द्वारा सिञ्चन करते हुए व्याधि आदि दुर्गति और जरा आदि दोष रूपी अग्नि को शान्त करते हैं तथा अभिषिक्त करते हुए अर्चन आहुति ध्यान जप आदि करते हैं, भगवान् शङ्कर के उस ऊर्ध्व नेत्र को मैं प्रणाम करता हूँ ।

पूर्व पटलों के द्वारा ज्ञात विषय का अनुवाद कर अन्य विषय को अवतारित करने के लिये श्री देवी ने कहा—

हे महादेव ! मैंने सिद्धि और मोक्ष को देने वाला मृत्युञ्जय मन्त्र सुना । अब मैं उस (आत्म तत्त्व) को सुनना चाहती हूँ जो तीनों सिद्धियों से युक्त, समस्त प्राणियों का जीवन, लोक में सिद्धिदायक, मनुष्यों का हितकारी, पूर्वोक्त दुष्टों का शामक, अपमृत्यु का नाशक, शरीर का पोषक, शान्तिपुष्टि को देने वाला शुभ अमृतेश और महान् है ॥ १-३ ॥

अथ प्रथमद्वितीयाधिकारोक्तवाच्यवाचकात्ममन्त्ररूपो मृत्युजित्, तृतीयचतुर्थाधिकारोक्तनित्यनैमित्तिककर्मणा मोक्षदः, पञ्चमाधिकारोक्तकाम्यकर्मतः सामान्येन सिद्धिप्रदश्च मया श्रुतः । इदानीं तु तमेव भौमदिव्यान्तरिक्षसिद्धिप्रदममृतेशं विश्वजीवनं महान्तमात्मानं या या सिद्धिर्यथा सिद्धिस्तत्प्रदं लोके सर्वत्र भूतसर्गो द्वितीयाधिकारोक्तदृशा विशेषतो व्याध्यादिबाधितानां मनुष्याणां हितङ्करं श्रोतुमिच्छामि । हितङ्करत्वं पूर्वोक्तेत्यादिना स्फुटीकृतम् । शान्तिर्ग्रहादिदोषनिवृत्तिः । आप्यायः शुष्कस्य सरसीभावः । पुष्टिः पूर्णाङ्गता । शुभं दौर्गत्यादिहरम् ॥ ३ ॥

एवं पृष्टः श्रीभगवानुवाच—

श्रूयतां संप्रवक्ष्यामि रहस्यं परमाद्भुतम् ।
यथा तरन्ति मनुजा दुःखोदधिपरिप्लुताः ॥ ४ ॥
अपमृत्युशताक्रान्ता जना दारिद्र्यसंयुताः ।
आधिव्याधिभयोद्विग्नाः पापौघैर्विनिपीडिताः ॥ ५ ॥
मुच्यन्ते च यथा सर्वे पूर्वोक्तैर्दारुणैः प्रिये ।
त्रिविधं तदुपायं तु स्थूलं सूक्ष्मं परं च तत् ॥ ६ ॥

मनुजा इति कृपास्पदसातिशयत्वेन चोदिता यथा तरन्ति न दुःखादिभाजो भवन्ति, दारुणैर्भूतादिभिश्च यथा मुच्यन्ते त्यज्यन्ते, तथा प्रोक्तवीर्यसारमृत्यु-

---

मैंने प्रथम द्वितीय अधिकारों में उक्त वाच्यवाचकात्मक मन्त्ररूप मृत्युञ्जय, तृतीय चतुर्थ अधिकार मे उक्त नित्यनैमित्तिक कर्म के द्वारा मोक्षप्रद, पञ्चम अधिकार में उक्त काम्य कर्म से सामान्यतः सिद्धिप्रद को सुना । अब उसी भौम दिव्य अन्तरिक्ष की सिद्धियों को देने वाले, अमृतेश, विश्वजीवन, जो-जो सिद्धि जिस प्रकार से मिलती है उसको देने वाले, सर्वत्र भूतसृष्टि, द्वितीय अधिकार में उक्त रीति से विशेषतया व्याधि आदि से पीड़ित मनुष्यों के हितकारी महान् आत्मा को जानना चाहती हूँ । (उस आत्मा का हितकर होना पूर्वोक्त दुष्टशमन...) इत्यादि के द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है । शान्ति = ग्रह आदि जन्य दोषों की निवृत्ति । आप्यायन = शुष्क को सरस बनाना । पुष्टि = पूर्णाङ्गता । शुभ = दुर्गति आदि को दूर करने वाला ॥ ३ ॥

इस प्रकार पूछे गये श्री भगवान् ने कहा—

हे प्रिये ! सुनो । मैं तुमको परम अद्भुत रहस्य बतलाऊँगा जिसके द्वारा दुःखसागर में डूबे हुये, सैकड़ों अपमृत्यु से आक्रान्त, दारिद्र्ययुक्त, आधि व्याधि भय से उद्विग्न, पापसमूह से पीड़ित मनुष्य समस्त पूर्वोक्त दारुण विषयों से मुक्त हो जाते हैं । वह उपाय तीन प्रकार का है—स्थूल, सूक्ष्म और पर ॥ ४-६ ॥

मनुज = अतिशय कृपापात्र होने से प्रेरित । जिस कारण पार हो जाते हैं =

जित्परमार्थरहस्यं तत्रोपायरूपं वस्तु यत्तत् संप्रवक्ष्यामि ॥ ६ ॥

तत्र—

स्थूलं तु यजनं होमो जपो ध्यानं समुद्रकम् ।
यन्त्राणि मोहनादीनि मन्त्रराट् कुरुते भृशम् ॥ ७ ॥

मन्त्रराट् यजनादि कुरुते स्ववीर्येणापि तिष्ठति । मुद्रा अत्र पूर्वोक्ताः ॥ ७ ॥

सूक्ष्मं चक्रादियोगेन कलानाड्युदयेन च ।

सप्तमाधिकारभाविषट्चक्रषोडशाधारादौ यो योगस्तेन, तथा कलानाड्युदयेनेति कला कालावयवमुहूर्ताद्युपलक्षणपरा तत्प्रधानो यो नाड्युदयस्तेन श्रीस्वच्छन्दाद्युक्त-बाह्यान्तररौद्रेतरादिकालैकीकारेण प्रयुक्तो मन्त्रराट् स्ववीर्यस्फारणेन सूक्ष्ममुपायं व्याध्यादिनाशनं करोतीत्यर्थः ॥

परं सर्वात्मकं चैव मोक्षदं मृत्युजिद् भवेत् ॥ ८ ॥

महासामान्यमन्त्रवीर्यरूपत्वाद् मृत्युजिन्नाथस्येत्थं निर्देशः । सर्वात्मकं परमाद्वयम् । एतच्चाष्टमाधिकारे निर्णेष्यते ॥ ८ ॥

दुःख आदि के पात्र नहीं बनते । दारुण = भूत आदि से । मुक्त होते हैं = छोड़ दिये जाते हैं । उस प्रकार के उक्तवीर्य वाले मृत्युञ्जयी परमार्थ रहस्य के उपायभूत वस्तु को कहूँगा ॥ ४-६ ॥

वहाँ—

यह मन्त्रराट् स्थूल याग, होम, जप, ध्यान, मुद्रायें, यन्त्र सम्मोहन आदि करता है ॥ ७ ॥

मन्त्रराट् यजन आदि करता है और अपने वीर्य के साथ रहता है । यहाँ मुद्रायें—जो पहले कही गयीं (= उनको समझना चाहिये) ॥ ७ ॥

सूक्ष्म उपाय चक्र आदि की साधना और कला-नाड़ी के उदय से होता है ॥ ८- ॥

सप्तम अधिकार में बतलाया जाने वाला षट्चक्र, सोलह आधार आदि विषयों वाला जो योग उससे, तथा कला = काल के अवयव मुहूर्त्त आदि उसका सहायक जो नाडी का उदय उस स्वच्छन्दतन्त्र आदि ग्रन्थों में उक्त बाह्य आभ्यन्तर रौद्र शान्त आदि काल को एक करने से प्रयुक्त मन्त्रराट् स्ववीर्यस्फारण के द्वारा सूक्ष्म उपाय वाले व्याधि आदि का नाश करता है ॥

पर उपाय सर्वात्मक है जो कि मोक्षप्रद और मृत्युजित् होता है ॥ -८ ॥

मृत्युजित्नाथ के महासामान्यमन्त्रवीर्य रूप होने से ऐसा (= पर मोक्षद आदि) निर्देश है । सर्वात्मक = परम अद्वय । इसे अष्टम अधिकार में बतायेंगे ॥ ८ ॥

तत्र स्थूलोपायं वक्तुमुपक्रमते—

यदा मृत्युवशाघ्रातः कालेन कलितः प्रिये।
दृष्टस्तत्प्रतिघातार्थममृतेशं यजेत्तदा ॥ ९ ॥
सर्वश्वेतोपचारेण पूर्वोक्तविधिना ततः।

मृत्युरपमृत्युः । कालो महामृत्युः । विधानं तृतीयाधिकारोक्तं यागादि ॥ ९॥

एवं च—

यस्य नाम समुद्दिश्य पूजयेन्मृत्युजिद्विभुम् ॥ १० ॥
मृत्योरुत्तरते शीघ्रं सत्यं मे नानृतं वचः।

असावित्यर्थात् । सत्यमित्युक्त्या नात्र मायाप्रमातृतया सन्देग्धव्यम् निश्चयस्यैव सिद्धिनिमित्तत्वात् ॥ १० ॥

सितशर्करया युक्तैर्घृतक्षीरप्लुतैस्तिलैः ॥ ११ ॥
पुण्यदार्विन्धने वह्नौ कुण्डे वृत्ते त्रिमेखले।
महारक्षाविधानेन जुहुयाद्यस्य नामतः ॥ १२ ॥
महाशान्तिर्भवेत् क्षिप्रं गतस्यापि यमक्षयम्।

(उन तीनों प्रकार के उपायों में से) स्थूल उपाय को बतलाने का उपक्रम करते हैं—

हे प्रिये ! मनुष्य जब अकालमृत्यु या स्वाभाविक मृत्यु से ग्रसित हो जाय तो उसके प्रतिघात के लिये उस समय अमृतेश का पूजन करना चाहिये। यह पूजन पूर्वोक्त विधि से समस्त श्वेत वस्तुओं के द्वारा (होता है) ॥ ९-१०- ॥

मृत्यु = अकालमृत्यु । काल = महामृत्यु । विधान = तीसरे अधिकार में वर्णित याग आदि ॥ ९- ॥

(अनुष्ठाता) जिसका नाम लेकर मृत्युञ्जय भगवान् की पूजा करता है (वह आदमी) शीघ्र ही मृत्यु को पार कर जाता है। यह मेरा वचन सत्य है असत्य नहीं ॥ -१०-११- ॥

'यह'—इतना अपनी ओर से समझना चाहिये । सत्यम् कहने से 'मायाप्रमाता' होने के कारण इस विषय में सन्देह नहीं करना चाहिये क्योंकि निश्चय ही सिद्धि का निमित्त बनता है—यह समझना चाहिये ॥ १० ॥

सफेद शक्कर से युक्त घृत दूध से मिश्रित (सफेद) तिल से पवित्र लकड़ी वाली अग्नि में हवन करे । उसके पहले तीन मेखला वाला कुण्ड बनाना चाहिये । महारक्षाविधानपूर्वक जिसके नाम से हवन

पुण्यं पलाशादिदारु इन्धनं दीपनं यस्य । महारक्षाविधानमस्त्रप्राकारादिचिन्तनम्, यागहर्म्ये च दुष्टप्रवेशरक्षणम् । नामत इति मन्त्रान्तोच्चारितेन । यमक्षयं यमगेहम् ॥ १२ ॥

अथवा शर्करायुक्तपयसा केवलेन तु ॥ १३ ॥
होमान्मृत्युं जयेच्छीघ्रं मृत्युजिन्नात्र संशयः ।

स्पष्टम् ॥ १३ ॥

सुगन्धिघृतहोमेन क्षीरवृक्षमयेऽनले ॥ १४ ॥
तर्पितो नाशयेन्मृत्युं मृत्युजिन्नात्र संशयः ।

यस्य नाम्ना तस्येत्यर्थात् ॥ १४ ॥

क्षीरवृक्षसमिद्धोमाज्ज्वरं नाशयते क्षणात्॥ १५ ॥

प्रादेशमात्राः सत्वचः कनिष्ठाङ्गुलिमानाः सरसाः शाखाः समिधः ॥ १५ ॥

तिलतण्डुलमाक्षीकमाज्यक्षीरसमन्वितम् ।
एष पञ्चामृतो होमः सर्वदुष्टनिवर्हणः ॥ १६ ॥

किया जायेगा यमपुर में गये हुये भी उस व्यक्ति को महाशान्ति प्राप्त होती है ॥ -११-१३- ॥

पवित्र = पलाश आदि की लकड़ी, इन्धन = जलाने वाली है जिसकी । महारक्षा-विधान = अस्त्रप्राकार आदि का ध्यान तथा यागगृह में दुष्ट प्राणी के प्रवेश से रक्षा । नाम लेकर = मन्त्र के अन्त में नाम का उच्चारण कर । यमक्षय = यमगृह (= यमलोक) ॥ १२ ॥

अथवा केवल शर्करायुक्त दूध से हवन करने पर (यह) मृत्युञ्जय (मन्त्र या देवता) शीघ्र ही मृत्यु को जीत लेता है, इसमें सन्देह नहीं ।।-१३-१४-॥

क्षीरवृक्ष (= पाकड़, पीपल, गूलर, बरगद आदि) की लकड़ी वाली आग में सुगन्धित घृत का होम करने पर मृत्युजित् मृत्यु का निःसन्देह नाश करते हैं ॥ -१४-१५- ॥

जिसके नाम से होम होगा उसकी (मृत्यु का) ॥ १४ ॥

क्षीरवृक्ष की समिधा से होम करने पर (यह मन्त्र) एक क्षण में ज्वर को नष्ट कर देता है ॥ -१५ ॥

कनिष्ठा जितनी मोटी एक बालिस्त लम्बी छिलकेसहित गीली लकड़ी समिधा कहलाती है ॥ १५ ॥

तिल, चावल, मधु, घी और दूध इन (पाँच द्रव्यों) के द्वारा पञ्चामृत होम होता है जो समस्त दोषों को दूर करता है ॥ १६ ॥

मन्त्रराजप्रसादात् ॥ १६ ॥

गुग्गुलोर्गुलिकाभिश्च त्र्यक्ताभिश्चणमात्रया ।
होमात् पुष्टिर्भवत्याशु क्षीणदेहस्य सुव्रते ॥ १७ ॥

चणकप्रमाणाभिर्गुग्गुलुधूपगुलिकाभिराज्यक्षीरक्षौद्रात्मत्रिमध्वक्ताभिर्होमात् पुष्टि-र्भवति ।

'वषडाप्यायने शस्तः' (६।९६)

इति स्वच्छन्दोक्तनीत्या सर्वत्रात्र वषट्जातिः प्रयोज्या ॥ १७ ॥

यदा व्याधिशताकीर्णो ह्यबलो दृश्यते नरः ।
तदास्य सम्पुटीकृत्य नाम जप्त्वा विमुच्यते ॥ १८ ॥

मूलमन्त्रेणेत्यर्थात् ॥ १८ ॥

किं च—

यं यं मन्त्रं जपेद् विद्वानमृतेशेन संपुटम् ।
तस्य सिद्ध्यति स क्षिप्रं भाग्यहीनोऽपि यो भवेत् ॥ १९ ॥

जपोऽत्र स्वकल्पोक्तविधिना ॥ १९ ॥

मन्त्रराज की प्रसन्नता होने पर ही (= निवर्हण होता है) ।

तीन वस्तुओं से उपलिप्त चने के बराबर गुग्गुलु की गोली से होम करने पर क्षीणदेह व्यक्ति शीघ्र पुष्टि को प्राप्त करता है ॥ १७ ॥

चने के बराबर गुग्गुलुधूप की गोली, जो कि घी दूध और मधु रूप त्रिमधु में सिक्त हो, से होम करने पर पुष्टि होती है ॥

'आप्यायन के लिये' वषट् का उच्चारण उत्तम कहा गया है' ।

इस स्वच्छन्दोक्त नीति के अनुसार सर्वत्र 'वषट्' जाति का प्रयोग करना चाहिये ॥ १७ ॥

मनुष्य जब सैकड़ों रोगों से युक्त और दुर्बल दिखाई दे तो उसके नाम को इस मन्त्रराट् से सम्पुटित कर जप करने से वह (रोग) मुक्त हो जाता है ॥ १८ ॥

और भी—

भाग्यहीन भी विद्वान् अमृतेश से सम्पुटित जिस किसी मन्त्र को जपे तो वह मन्त्र उसको शीघ्र सिद्ध हो जाता है ॥ १९ ॥

यह जप स्वकल्पोक्त विधि के अनुसार होना चाहिये ॥ १९ ॥

एतत्प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रकृतमाह—

क्षीणगात्रस्य देवेशि भेषजं मन्त्रसंपुटम् ।
दीयते तत्क्षणाद्देवि स पुष्टिं लभते बली ॥ २० ॥

भेषजमौषधम्, मन्त्रसंपुटमिति मन्त्रसंपुटीकारेण प्रयुक्तमित्यर्थः ॥ २० ॥

हृत्पद्ममध्यगं जीवं चन्द्रमण्डलमध्यगम् ।
साद्यर्णरोधितं कृत्वा मृत्योरुत्तरते भृशम् ॥ २१ ॥

साद्यर्णैः सविसर्गसकारहोमबीजप्रणवैर्जीवनिकटात् क्रमात्क्रमं बहिर्निःसृतैः रोधितम् । अष्टासु दिक्षु ध्यातैराक्रान्तं चन्द्रबिम्बसंनिविष्टमात्मन परस्य वा जीवं यः करोति ध्यायति, स मृत्युमुत्तरति । कृत्वेति अन्तर्भावितणिजर्थोऽपि ॥ २१ ॥

साद्यर्णरोधितं कृत्वा ध्यायेद्देहे तु योगवित् ।
सर्वव्याधिविनिर्मुक्तः स भवेन्नात्र संशयः ॥ २२ ॥

जीवद्देहस्यायं रोधनप्रयोगः ॥ २२ ॥

क्षीरोदपद्ममध्यस्थममृतोर्मिभिराकुलम् ।

प्रसङ्गतः प्राप्त इसका कथन कर प्रस्तुत को कहते हैं—

हे देवेशि ! क्षीणशरीर वाले को यदि मन्त्र से संपुटित औषधि दी जाय तो वह पुष्टि को तत्क्षण प्राप्त करता है और बलवान् होता है ॥ २० ॥

भेषज = औषध । मन्त्रसम्पुट = (पहले) मन्त्र के द्वारा सम्पुटित कर (बाद में) प्रयोग में लायी गयी ॥ २० ॥

हृदयकमल के मध्यवर्ती जीव को चन्द्रमण्डल के मध्य में ले जाकर साद्यर्ण से रोधित कर (साधक) भयङ्कर मृत्यु से पार हो जाता है ॥ २१ ॥

साद्यर्ण = विसर्ग से युक्त सकार, होमबीज एवं प्रणव (= ॐ जूं सः) । इनके द्वारा जीव के निकट से क्रमशः बाहर निकले हुए के द्वारा रोधित । आठ दिशाओं में ध्यात के द्वारा आक्रान्त तथा चन्द्रबिम्ब में सन्निविष्ट अपने या पर के जीव का जो ध्यान करता है वह मृत्यु को पार कर जाता है । 'कृत्वा' पद में अन्तर्भावित णिच् है (अतएव इसका अर्थ होगा—कारयित्वा = करा कर) ॥ २१ ॥

जो योगवित् साद्यर्ण से रोधित (= सम्पुटित) कर देह में इसका ध्यान करता है । वह समस्त व्याधियों से मुक्त हो जाता है इसमें सन्देह नहीं ॥ २२ ॥

यह प्रयोग जीवित देह वाले के लिये है ॥ २२ ॥

क्षीरसमुद्र के मध्यस्थ कमल के बीच में स्थित अमृतलहरों से व्याप्त,

ऊर्ध्वाधःशशिरुद्धं तु साद्यर्णैः संपुटीकृतम् ॥ २३ ॥
ध्यायते सुप्रहृष्टात्मा आत्मनोऽपि परस्य वा ।
स बाह्याभ्यन्तरं शुभ्रं सुधापूरितविग्रहम् ॥ २४ ॥
अनुद्विग्नमनायासं सर्वरोगैः प्रमुच्यते ।

क्षीराब्धिमध्यस्थसितसरोरुहकर्णिकागतेन्दूपविष्टम्, ऊर्ध्वस्थेन्द्वमृतैः सिच्यमानमैन्दवप्रभाभरोच्छलत्क्षीरोदतरङ्गैरन्तर्बहिश्चापूरितम्, सुशुभ्रं च प्रोक्तयुक्त्या ध्यातमन्त्रराजसंपुटीकृतं यस्य शरीरं भृशं ध्यायते स नीरोगो भवति ॥

रोचनाकुङ्कुमेनैव क्षीरेण च समन्वितः ॥ २५ ॥
सितपद्मेऽष्टपत्रे तु मध्ये साद्यर्णरोधितः ।
सर्वव्याधिसमाक्रान्तश्चन्द्रमण्डलवेष्टितः ॥ २६ ॥
चतुष्कोणपुराक्रान्तो वज्रभृद्वज्रलाञ्छितः ।
मुच्यते नात्र संदेहः सर्वव्याधिनिपीडनात् ॥ २७ ॥

गोरोचनाकुङ्कुमक्षीरैर्भूर्जादौ सितकमलमालिख्य प्रतिपत्रमुक्तयुक्त्योल्लिखितमन्त्रेण रोधितोऽर्थात् कर्णिकायां नामद्वारोल्लिखितः साध्यो बहिः षोडशकलेन्दुबिम्बवेष्टितः सवज्रकचतुरश्रपुरस्थो व्याध्याक्रान्तोऽपि सर्वव्याधिपीडनान्मुच्यते । वज्रभृद्वज्रेत्युक्ते

नीचे एवं ऊपर चन्द्रमा से रुद्ध, साद्यर्णों (= सकार आदि वर्णों अर्थात् ॐ जूं सः) के द्वारा सम्पुटित, बाहर और भीतर शुभ्र, सुधा से आपूरित जिस शरीर का ध्यान करता है वह सुप्रसन्न आत्मा वाला साधक अपने या पर शरीर को अनुद्विग्न और अनायास रूप से सब रोगों से मुक्त करा देता है ॥ २३-२५- ॥

(साधक द्वारा) क्षीरसागर के मध्य में स्थित श्वेत कमल की कर्णिका में वर्त्तमान चन्द्रमा के ऊपर बैठे हुये, ऊर्ध्वस्थ चन्द्रमा के अमृत से सींचे जाते हुए, क्षीर सागर की तरङ्गों से भीतर एवं बाहर आपूरित, सुशुभ्र उक्त युक्ति से ध्यात मन्त्रराज से सम्पुटीकृत जिस (= रुग्ण व्यक्ति) के शरीर का ध्यान किया जाता है वह नीरोग हो जाता है ॥

गोरोचन कुंकुम एवं दूध को मिलाकर उससे बनाये गये सफेद अष्टदल कमल के मध्य में साद्यर्ण से सम्पुटित नामवाला साध्य रोगी, यदि (अपने को) चन्द्रमण्डल से वेष्टित, चतुष्कोण पुर से आक्रान्त, वज्रभृत् (= इन्द्र) के वज्र से लाञ्छित हुआ ध्यान करे तो समस्त व्याधि से समाक्रान्त वह व्याधियों की पीड़ा से मुक्त हो जाता है इसमें सन्देह नहीं ॥ -२५-२७ ॥

गोरोचन कुंकुम दूध के द्वारा भोजपत्र आदि पर सफेद कमल बनाकर उसके हर एक पत्ते (= पंखुड़ी) पर उक्त युक्ति से उल्लिखित मन्त्र से रोधित अर्थात् कर्णिका में नाम के द्वारा उल्लिखित साध्य (= रोगी अपने को) बाहर षोडश कला

समधिष्ठितानि वज्राणि ध्यायेदिति शिक्षयति ॥ २७ ॥

षोडशारे महाचक्रे षोडशस्वरभूषिते ।
आद्यन्तमन्त्रयोगेन मध्ये नाम समालिखेत् ॥ २८ ॥
जीवान्तः सान्तमध्यस्थं वर्णान्तेनाभिरक्षितम् ।
प्रत्यर्णममृतेशेन संपुटित्वा तु सर्वतः ॥ २९ ॥
मध्ये दलेषु सर्वेषु शशिमण्डलमध्यगम् ।
बाह्ये तु द्विगुणं पद्मं कादिसान्तक्रमेण तु ॥ ३० ॥
पूर्ववत्तु लिखेन्मन्त्री प्रति साद्यर्णरोधितम् ।
वर्णं तदन्तः साध्यस्य नाम बाह्येऽर्कमण्डलम् ॥ ३१ ॥
पुरन्दरपुरेणाधः समन्तात् परिवारयेत् ।
सितचन्दनसंयुक्तं रोचनाक्षीरयोगतः ॥ ३२ ॥
लिखित्वा मन्त्रराजं तु कर्पूरक्षोदधूसरम् ।
महारक्षाविधानं तु पुष्टसौभाग्यदायकम् ॥ ३३ ॥
एतच्चक्रं महादेवि सितपुष्पैः प्रपूजयेत् ।
सर्वश्वेतोपचारेण मधुमध्ये निधापयेत् ॥ ३४ ॥
अनेनैव विधानेन सप्ताहान्मृत्युजिद् भवेत् ।

वाले चन्द्रमा से वेष्टित तथा चारो कोने पर वज्र अङ्कित हूँ—ऐसा ध्यान करे, तो व्याधि से आक्रान्त भी वह सब व्याधियों की पीड़ा से मुक्त हो जाता है । वज्रभृत् वज्र ऐसा कहने पर समधिष्ठित वज्र का ध्यान करे—यह बतलाते हैं ॥ २७ ॥

मन्त्रवेत्ता सोलह अरों वाले महाचक्र में जो कि (अ आ—इत्यादि) सोलह स्वर से भूषित हो उसमें (रोगी के नाम के) आदि और अन्त में मन्त्र को जोड़ कर नाम लिखे । अन्त में जीव (= सकार) मध्य में सान्त (हकार) हो और वर्णान्त (क्षकार) से सम्पुटित हो । प्रत्येक वर्ण को अमृतेश से सर्वतः सम्पुटित कर सभी दलों के मध्य में चन्द्रमण्डल-मध्यवर्त्ती (स्वरों) को मन्त्रवेत्ता लिखे । (षोडशदल कमल के) बाहर दो गुना (= बत्तीस) दलों को लिखे जिसमें 'क' से लेकर 'ह' तक वर्ण हों । प्रत्येक वर्ण साद्यर्ण से रोधित होना चाहिये । उसके भीतर साध्य का नाम और बाहर सूर्य मण्डल बनाये। नीचे चारों ओर पुरन्दरपुर के द्वारा घेर दें। सफेद चन्दन गोरोचन दूध मिलाकर उससे मन्त्रराज को लिखकर उसपर कर्पूर का चूर्ण छिड़क दें। यह महारक्षा विधान पुष्टि और सौभाग्यदायक है। हे महादेवी ! इस चक्र की श्वेत पुष्प आदि से पूजा कर मधु के बीच में रख दे । इसी प्रकार एक सप्ताह तक करने से साधक मृत्युञ्जयी हो जाता है ॥ २८-३५- ॥

षोडशदलकमलकर्णिकायां मन्त्रसंपुटितं साध्यनाम जीवस्य सकारस्यान्तः कृत्वा, सान्तस्य हकारस्यान्तर्विधाय वर्णान्तेन क्षकारेणान्तर्बहिः संस्थितेन रक्षितं कुर्यात् । प्रतिमन्त्रं च अमृतेशसंपुटितं नाम ठकारवेष्टितं क्रमेणाकारादिस्वरमध्यगं कृत्वा मध्यस्थमन्त्रसांमुख्येन लिखेत् । षोडशपत्रस्य पद्मस्य बहिर्द्वात्रिंशद्दल-मुल्लिखेत्, तत्र च कादिसान्तान् द्वात्रिंशद्वर्णान् न्यसेत् । तेषु च प्रतिवर्णं पूर्ववत् साद्यर्णरोधितमित्युक्तयुक्त्या मन्त्रसंपुटितम्, तदिति पूर्वन्यस्तं साध्यनामान्तर्मध्ये लिखित्वा सर्वस्यास्य बहिरर्कमण्डलमिति ठकारम्, तद्बहिः पुरन्दरपुरमिति वज्रलाञ्छितं चतुरश्रसंनिवेशं कुर्यात् । प्रति साद्यर्णरोधितमित्यत्र 'व्यवहिताश्च' इति व्यवहितेन प्रतिना वर्णशब्दस्य संबन्धः । एतत्सर्वं चक्रं सितचन्दन-गोरोचनाक्षीरैर्लिखित्वा, सितकुसुमकर्पूरादिभिरभ्यर्च्य माक्षिकमध्यस्थं पुष्टिसौभाग्य-कृत्, सप्ताहं मधुमध्ये निहितं च मृत्युजित् ॥ ३४ ॥

किं चेदम्—

राजरक्षाविधानं तु भूभृतां तु प्रकाशयेत् ॥ ३५ ॥
संग्रामकाले वरदं रिपुदर्पापहं भवेत् ।
शिवादिनवतत्त्वानि प्रत्येकं शशिमण्डलम् ॥ ३६ ॥
मध्यात् पूर्वादि ऐश्यन्तममृतेशेन मन्त्रिणा ।
यदा व्याधिशताकीर्णमपमृत्युशतेन वा ॥ ३७ ॥

सोलह पंखुड़ी वाले कमल की कर्णिका में मन्त्र से सम्पुटित साध्य का नाम जीव = सकार के भीतर करके, सान्त = हकार के भीतर रख कर भीतर एवं बाहर स्थित क्षकार से उसे रक्षित कर दे । प्रत्येक मन्त्र के साथ अमृतेश (= मृत्युञ्जयबीज) से सम्पुटित नाम ठकार से वेष्टित क्रमशः अकारादि स्वरों का मध्यगामी बनाकर मध्यस्थ मन्त्र के समुख लिखे । षोडशदल कमल के बाहर बत्तीस दलों वाला कमल बनाये । उसमें 'क' से लेकर 'स' तक ३२ वर्णों को लिखे । उनमें प्रतिवर्ण पूर्व की भाँति साद्यर्णरोधितम् इस उक्त युक्ति के अनुसार मन्त्र से सम्पुटित पूर्णन्यस्त साध्य के नाम भीतर मध्य में लिखकर इन सब के बाहर अर्कमण्डल = ठकार, उसके बाहर पुरन्दरपुर = वज्र, से अङ्कित चौकोर सन्निवेश बनाये । 'प्रति साद्यर्णरोधितम्' यहाँ पर 'व्यवहिताश्च' (पा० सू० १.४.८२) सूत्र के अनुसार व्यवहित प्रति के साथ वर्ण शब्द का सम्बन्ध है । इस सब चक्र को सफेद चन्दन गोरोचन दूध से लिखकर, सफेद फूल कपूर आदि से उसकी पूजा करने के बाद यदि मधु के बीच रखा जाय तो पुष्टि और सौभाग्य देता है । एक सप्ताह तक मधु के बीच में रखने पर (मृत्यु) मृत्यु को जीत लेता है ॥ ३४ ॥

इस राजरक्षा विधान को राजाओं को बतलाना चाहिये क्योंकि यह संग्रामकाल में वरदायी और शत्रु के मद को नष्ट करने वाला होता है । मध्य कोष्ठ से प्रारम्भ कर पूर्व से लेकर ईशान कोण पर्यन्त अमृतेश के

तदा श्वेतोपचारेण पूज्यं क्षीरघृतेन वा ।
तिलैः क्षीरसमिद्भिर्वा होमाच्छान्तिं समश्नुते ॥ ३८ ॥

आतानवितानविन्यस्तरेखाचतुष्ककलितकोष्ठनवके प्रत्येकं चन्द्रमण्डललाञ्छिते मध्यकोष्ठकात् प्रभृति प्रागादिक्रमेण ऐश्यन्तं शिव-सदाशिव-ईश्वर-विद्या-माया-काल-नियति-प्रकृति-पुरुषतत्त्वानि नामत उल्लिख्य, सितोपचारेणानेन मन्त्रेण मन्त्रिणा यदा पूजा क्षीरघृताभ्यां क्षीराक्तैस्तिलैः क्षीराक्तसमिद्भिर्वा होमो यथाशक्ति क्रियते, तदा व्याध्याद्यपमृत्युशताकीर्णमपि साध्यशरीरं स्वस्थतामेति ॥ ३८ ॥

एवं संपूज्य कुम्भे तु सर्वौषधिसमन्विते ।
सितपद्ममुखोद्गारे रत्नगर्भाम्बुपूरिते ॥ ३९ ॥
सर्वमङ्गलघोषेण शिरसि ह्यभिषेचयेत् ।
स मुच्यते न संदेहः सर्वव्याधिप्रपीडितः ॥ ४० ॥

एवमिति शिवादिनवतत्त्वान्युक्तयुक्त्या कुम्भे ध्यात्वा संपूज्य, तेन योऽभिषिच्यते शिरसि स सर्वव्याधिभिः पीडितोऽपि मुच्यते । सितपद्मैर्मुखे उद्गार आमोदो यस्येति समासः ॥

ध्यात्वा परामृतं नित्यं नित्योदितमनामयम् ।

द्वारा यदि मन्त्री श्वेतोपचार से पूजन करे तथा दूध घी अथवा तिल दूध अथवा दूध में डूबी समिधा से होम करे तो शान्ति मिलती है ॥ ३५-३८॥

लम्बाई एवं चौड़ाई में खींची गयी चार रेखाओं से बने नव कोष्ठ, जिनमें प्रत्येक चन्द्रमण्डल से लाञ्छित हो, में मध्यकोष्ठ से लेकर पूर्व आदि के क्रम से ईशान दिशा तक शिव, सदाशिव, ईश्वर, शुद्धविद्या, माया, काल, नियति, प्रकृति और पुरुष तत्त्वों का नाम लिखकर श्वेत उपकरणों से इस मन्त्र के द्वारा मन्त्री यदि दूध घी, दूधमिश्रित तिल, दूध में डुबोई गयी समिधा से यथाशक्ति होम करता है तो व्याधि आदि सैकड़ों अपमृत्यु से घिरा हुआ भी साध्य का शरीर स्वस्थ हो जाता है ॥ ३८ ॥

इस प्रकार समस्त औषधियों से युक्त, मुख पर श्वेत कमल रखे गये, अन्दर रत्न डालकर पानी से भरे हुए कुम्भ से सर्वमङ्गल घोष के साथ (= साध्य के) शिर पर अभिषेक करना चाहिये । (ऐसा करने पर) समस्त व्याधियों से प्रपीड़ित भी व्यक्ति मुक्त हो जाता है इसमें सन्देह नहीं ॥ ३९-४० ॥

इस प्रकार = शिव आदि नव तत्त्वों का उक्त युक्ति से कुम्भ में ध्यान कर और पूजा कर उस कुम्भ से जो मनुष्य शिर पर अभिषिक्त होता है वह समस्त व्याधियों से पीड़ित हुआ भी मुक्त हो जाता है । यहाँ सितपद्मों से उद्गार = सुगन्ध है मुख में जिसके—यह (बहुव्रीहि) समास है ॥

प्रक्रियान्तस्थममृतमवतार्य पराच्छिवात् ॥ ४१ ॥
चतुर्नवामृताधारं नवधा नवपूरितम् ।
शतार्धक्षोभितं नित्यं षट्पञ्चैकसमन्वितम् ॥ ४२ ॥
अनन्ताधारगम्भीरमष्टात्रिंशद्विभूषितम् ।
पञ्चभिर्वा प्रसिद्ध्यर्थं पूर्णं तेन निरन्तरम् ॥ ४३ ॥
एवं ध्यानपरो यस्तु सबाह्याभ्यन्तरामृतम् ।
विक्षोभ्य कलशं मूर्ध्नि दैशिको मन्त्रतत्परः ॥ ४४ ॥
अनुग्रहपदावस्थो ह्यभिषिञ्चेत् प्रयत्नतः ।
स मुच्यते न सन्देहः संसाराद् दुरतिक्रमात्॥ ४५ ॥

प्रक्रियान्तस्थं समनान्ताध्वपर्यन्तगमुन्मनापरतत्त्वामृतम्, नित्यमुदितमनावृत-चिज्ज्योतीरूपम्: नित्यमविनाशि, न विद्यते आमयो माया यतस्तादृक्, ध्यात्वा समावेशयुक्त्या विमृश्य, तत एव परमशिवात्, अमृतमिति शाक्तानन्दम्, अवतार्य शिष्यशिरोऽवतीर्णं विचिन्त्य, तन्मन्त्रपूजितं परामृतपूर्णं कलशमुल्लास्य, एवमित्यु-भयामृतध्यानासक्तो मन्त्रराजपरामर्शपरोऽनुजिघृक्षुराचार्यो यस्य मूर्ध्नि सबाह्याभ्यन्तर-मेतदमृतं विकिरेत्, स मोक्षमाप्नोत्येव । कीदृगमृतमित्याह—चतुर्ये नव षट्त्रिंश-दर्थात् तत्त्वानि तान्येव—

'एकैकत्र च तत्त्वेऽपि षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपता ।'

प्रक्रियान्त में स्थित, नित्य, नित्योदित अनामय अमृत परम अमृत को पर शिव से (शिष्य के शिर में) उतार कर चार × नव = छत्तीस तत्त्वों के अमृत आधार को नव बार नव तत्त्वों अर्थात् ८१ तत्त्वों से पूरित पचास (अक्षरों) से क्षोभित, छह पाँच एवं एक से युक्त, अनन्त आधार के कारण गम्भीर सिद्धि के लिये ३८ वक्त्रों से अथवा पाँच (कलाओं) से विभूषित कलश को ध्यानस्थ अनुग्रहपद पर स्थित आचार्य बाहर और भीतर क्षोभित कर यदि साध्य का प्रयत्नपूर्वक अभिषेक करे तो निःसन्देह दुरतिक्रम संसार से मुक्त हो जाता है; इसमें सन्देह नहीं ॥ ४१-४५ ॥

प्रक्रियान्तस्थ = समनापर्यन्त पहुँचने वाला, उन्मनापरतत्त्व अमृत वाला; नित्योदित = अनावृत चिद्ज्योति रूप, नित्य = अविनाशी, अनामय = मायारहित शिवतत्त्व का ध्यान कर = समावेशयुक्ति से विमर्श कर, उसी परम शिव से, अमृत को = शाक्तानन्द को,उतार कर = शिष्य के शिर पर उतरा हुआ ध्यान कर, उस मन्त्र से पूजित परम् अमृत से पूर्ण कलश को उल्लासित कर, इस प्रकार दोनो अमृत के ध्यान में लगा हुआ, मन्त्रराज के परामर्श में लगा हुआ अनुग्रहेच्छु आचार्य जिसके शिर पर बाहर और भीतर इस अमृत का विकिरण करता है वह मोक्ष को प्राप्त करता ही है । वह अमृत कैसा है ?—यह कहते हैं—

इति च स्थित्याऽमृतानि तेषामाधारमाश्रयम्, तथा नवधा यानि नवनवात्म-व्योमव्याप्त्यादिप्रक्रियया एकाशीतिः पदानि तैः पूरितं संपूर्णं व्याप्तम्, तथा शतार्धेन पञ्चाशता आदिक्षान्तैर्वर्णैः क्षोभितं व्याप्तिं भावितम्, तथा षड्भिरङ्गैः पञ्चभिर्वक्त्रैरेकेन च मूलेन सम्यगन्वितं श्रीस्वच्छन्दाद्युक्तसाध्यमन्त्रसंहिता-पूर्णम्, तथा अनन्तैः कालाग्न्याद्यनाश्रितान्तैराधारैर्भुवनैरन्तर्ध्यातैर्गम्भीरमपरिच्छेद्यम्, तथा अष्टात्रिंशता वक्त्रपञ्चककलाभिर्विभूषितम्, तेनेत्यनेन षड्विधेनाध्वना निरन्तरं पूर्णम्, अत एव प्रसिद्धिः प्रकृष्टा भुक्तिमुक्तिलक्षणा सिद्धिरर्थः प्रयोजनं यस्य ॥ ४५ ॥

अतश्च योऽनेनाभिषिच्यते—

आयुर्बलं जयः कान्तिर्धृतिर्मेधा वपुः श्रियः ।
सर्वं प्रवर्तते तस्य............

प्रकर्षेण वर्तते पुष्यतीत्यर्थः ॥

तथा—

................भूभृतां राज्यमुत्तमम् ॥ ४६ ॥

प्रवर्तते ॥ ४६ ॥

'एक-एक तत्त्व ३६ तत्त्वों के रूप वाले होते हैं ।'

इस नियम के अनुसार अमृतों का आधार = आश्रय, है । नव प्रकार के जो नव नवात्म व्योमप्रक्रिया (अर्थात् ९×९ वाली प्रक्रिया) के अनुसार इक्यासी पद उनसे पूरित = पूर्ण = व्याप्त है । तथा शतार्द्ध = पचास 'अ' से लेकर 'क्ष' तक तथा एक मूल से सम्यक्तया युक्त अर्थात् स्वच्छन्दतन्त्र आदि में उक्त साध्यमन्त्र संहिता से पूर्ण है । अनन्त कालाग्निरुद्र भुवन से लेकर अनाश्रित शिवपर्यन्त आधारों = अन्तर्ध्यात भुवनों, से गम्भीर = अपरिच्छेद्य, है । अड़तीस = पाँचमुख और कलाओं से विभूषित हैं । उससे = छह प्रकार के अध्वा से, निरन्तर पूर्ण है । इसलिये प्रसिद्धि = प्रकृष्ट भुक्तिमुक्तिलक्षण वाली, सिद्धि = प्रयोजन वाला, है ॥ ४५ ॥

इसलिये जो इसके द्वारा अभिषिक्त होता है—

उसको आयु, बल, जय, कान्ति, धैर्य, मेधा, शरीर, शोभा सब कुछ मिल जाता है ॥ ४६- ॥

तथा राजाओं को उत्तम राज्य मिलता है ॥ ४६ ॥

प्रवर्तित होता है ॥ ४५ ॥

---

१. द्रष्टव्य—तत्त्वप्रकाश के पाँचवें श्लोक की व्याख्या ।

किं च—

दुःखार्दितो विदुःखस्तु व्याधिमान् गतरुग्भवेत् ।
वन्ध्या तु लभते पुत्रं कन्या तु पतिमावहेत् ॥ ४७ ॥

एतत्कलशाभिषेकात् सर्वोऽभीष्टफलमाप्नोतीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

यदाह—

यान् यान् समीहते कामाँस्तान् सर्वान् ध्रुवमाप्नुयात् ।

तदित्थम्—

अभिषेकस्य माहात्म्यं विधानविहितस्य तु ॥ ४८ ॥
कथितं ते मया देवि प्रजानां हितकाम्यया ।
अन्यशास्त्रोपचारेण...........

शास्त्रान्तरव्यवहारेण ॥ ४८ ॥

तदित्थमभिषेकात् साध्यः

...........सर्वशान्त्यरहो भवेत् ॥ ४९ ॥

और भी—

दुःख से पीड़ित व्यक्ति दुःखरहित तथा रोगी नीरोग हो जाता है । वन्ध्या स्त्री पुत्र एवं कन्या पति प्राप्त करती है ॥ ४७ ॥

तात्पर्य यह है कि इस कलश से अभिषेक होने पर सब लोग अभीष्टफल की प्राप्ति करते हैं ॥ ४७ ॥

जैसा कि कहते हैं—

साधक जिन-जिन इच्छाओं को करता है उन-उन इच्छाओं की पूर्त्ति निश्चित होती है ॥ ४७- ॥

तो इस प्रकार—

हे देवि ! प्रजाओं के हित की इच्छा से मैंने अन्यशास्त्र के व्यवहार के अनुसार विहित अभिषेक की महिमा तुमको बतला दी ॥ ४८- ॥

शास्त्रान्तर व्यवहार से ॥ ४८ ॥

तो इस प्रकार अभिषेक के कारण साध्य—

समस्त शान्ति के योग्य होता है ॥ -४९ ॥

'अर्ह' शब्द के स्थान पर 'अरह' पाठ ईश्वरीय है ॥ ४९ ॥

अर्हशब्दस्थाने अरह इति शब्द ऐशः ॥

एतदुपसंहरन् अन्यदवतारयति—

एवं स्थूलं विधानं तु सूक्ष्मं चैवाधुना शृणु ॥ ५० ॥

अनेनाधिकारेण स्थूलध्यानमुक्तम्, भाविना तु सप्तमेन सूक्ष्ममुच्यते, इति शिवम् ॥ ५० ॥

समस्तदुःखदलनं सर्वसंपत्प्रवर्तनम् ।
परनिर्वाणजननं नयनं शाङ्करं नुमः ॥

॥ इति श्रीनेत्रतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचित-नेत्रोद्योते साधनविधिः षष्ठोऽधिकारः ॥ ६ ॥

—※—

इसका उपसंहार करते हुए अन्य को अवतारित करते हैं—

इस प्रकार स्थूल विधान कहा गया । अब सूक्ष्म को सुनो ॥ ५० ॥

इस प्रकार मृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के षष्ठ अधिकार की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदी कृत ज्ञानवती नामक हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ६ ॥

इस अधिकार के द्वारा स्थूल ध्यान कहा गया । भावी सप्तम अधिकार से सूक्ष्म कहा जायगा ॥

समस्त दुःखों का नाश करने वाले समस्त सम्पत्ति को देने वाले और परिनिर्वाण के जनक शाङ्कर नेत्र को हम नमस्कार करते हैं ।

॥ इस प्रकार श्रीमदमृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के षष्ठ अधिकार की आचार्यवर्य श्रीक्षेमराजविरचित 'नेत्रोद्योत' नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ६ ॥

सप्तमोऽधिकारः

*** नेत्रोद्योतः ***

चक्राधारवियल्लक्ष्यग्रन्थिनाड्यादिसंकुलम् ।
स्वामृतैर्देहमासिञ्चत् स्मराम्यूर्ध्वेक्षणं विभोः ॥

अथ सूक्ष्मध्यानं निर्णेतुं भगवानुवाच—

अतः परं प्रवक्ष्यामि ध्यानं सूक्ष्ममनुत्तमम् ।

न विद्यते उत्तममन्यत् सूक्ष्मध्यानं यतः, परं त्वतोऽप्युत्तमं भविष्यति ॥

तदुपक्रमते—

ऋतुचक्रं स्वराधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ॥ १ ॥

*** ज्ञानवती ***

षट्चक्रं रविग्रन्थिलक्ष्यत्रितयं धामत्रयादीनि यः
सम्यम् वेत्ति सुयोगविच्च सततं यो वेत्ति नाडीगणम् ।
तं योगप्रवणं विशुद्धवपुषं यन्मोचयेद् बन्धना-
न्नेत्रं नित्यमनन्तशक्ति शिवयोर्मोक्षप्रदं तन्नुमः ॥

चक्र, आधार, व्योम, लक्ष्य, ग्रन्थि, नाडी आदि से व्याप्त देह को अपने अमृत से सिञ्चित करने वाले, परमात्मा के नेत्र का हम स्मरण करते हैं ।

अब सूक्ष्म ध्यान का निर्णय करने के लिये भगवान् ने कहा—

इसके बाद (मैं) उत्तमोत्तम सूक्ष्म ध्यान को कहूँगा ॥ १- ॥

अनुत्तम का अर्थ है—जिससे बढ़कर कोई दूसरा सूक्ष्म ध्यान नहीं है । पर ध्यान तो इससे भी उत्तम होगा ॥

उसका उपक्रम करते हैं—

ग्रन्थिद्वादशसंयुक्तं शक्तित्रयसमन्वितम् ।
धामत्रयपथाक्रान्तं नाडित्रयसमन्वितम् ॥ २ ॥
ज्ञात्वा शरीरं सुश्रोणि दशनाडिपथावृतम् ।
द्वासप्तत्या सहस्रैस्तु सार्धकोटित्रयेण च ॥ ३ ॥
नाडिवृन्दैः समाक्रान्तं मलिनं व्याधिभिर्वृतम् ।
सूक्ष्मध्यानामृतेनैव परेणैवोदितेन तु ॥ ४ ॥
आप्यायं कुरुते योगी आत्मनो वा परस्य च ।
दिव्यदेहः स भवति सर्वव्याधिविवर्जितः ॥ ५ ॥

ऋतवः षट् जन्म-नाभि-हृत्-तालु-विन्दु-नादस्थानानि नाडिमायायोगभेदनदीप्ति-शाण्ताख्यानि नाडिमायादिप्रसराश्रयत्वात् चक्राणि यत्र, स्वराः षोडश अङ्गुष्ठ-गुल्फ-जानु-मेढ्र-पायु-कन्द-नाडि-जठर-हृत-कूर्मनाडी-कण्ठ-तालु-भ्रूमध्य-ललाट-ब्रह्म-रन्ध्रद्वादशान्ताख्या जीवस्याधारकत्वादाधारा यत्र, यदि वा सर्वसहत्वादस्य नयस्य कुलप्रक्रियया—

'मेढ्रस्याधः कुलो ज्ञेयो मध्ये तु विषसंज्ञितः ।
मूले तु शाक्तः कथितो बोधनादप्रवर्तकः ॥
अग्निसंज्ञस्ततश्चोर्ध्वमङ्गुलानां चतुष्टये ।

हे सुन्दरनितम्बों वाली ! इस शरीर को ऋतुचक्र, स्वराधार, तीन लक्ष्य, पाँच आकाश, बारह ग्रन्थियों, तीन शक्तियों, तीन धामपथों, तीन नाडियों, दश नाडीपथों, बहत्तर हजार और साढ़े तीन करोड़ नाडियों से युक्त, व्याधियों से पीड़ित और मलिन समझकर योगी पर उदित सूक्ष्म ध्यानामृत से सींचता है तो चाहे अपना शरीर हो या दूसरे का, (वह) समस्त व्याधियों से रहित दिव्य हो जाता है ॥ -१-५ ॥

यह शरीर ऋतु = छह, चक्रों वाला है । वे चक्र जन्मस्थान (= मूलाधार), नाभि, हृदय, तालु, बिन्दु और नाद में रहते हैं । उनके नाम हैं—नाडी, माया, योग, भेदन, दीप्ति और शान्त । यतो हि वे जन्मस्थान आदि नाडी माया आदि के प्रसरस्थान हैं इसलिये चक्र हैं । स्वरों की संख्या सोलह है—पैर का अङ्गूठा, टखना, जाँघें, मेढ्र (= नाभि और लिङ्ग के बीच का भाग) पायु (= मलद्वार), कन्द (= मेढ्र के ऊपर और नाभि के नीचे पक्षी के अण्डे के समान वह अवयव जहाँ से ७२००० नाड़ियाँ निकलती हैं), नाडी, पेट, हृदय, कूर्म नाडी, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट, ब्रह्मरन्ध्र और द्वादशान्त । ये जीव के आधार के होने के कारण आधार कहे जाते हैं । अथवा यह शास्त्र सब के सिद्धान्तों को मानने वाला है इसलिये कौल मत के अनुसार—

'मेढ्र के नीचे कुल (१) मध्य में विष (२) मूल में बोधनाद का प्रवर्त्तक (३)

नाभ्यधः पवनाधारे नाभावेव घटाभिधः ॥
नाभिहृन्मध्यमार्गे तु सर्वकामाभिधो मतः ।
सञ्जीवन्यभिधानाख्यो हृत्पद्मोदरमध्यगः ॥
वक्षःस्थले स्थितः कूर्मो गले लोलाभिधः स्मृतः ।
लम्भकस्य स्थितश्चोर्ध्वे सुधाधारः सुधात्मकः ॥
तस्यैव मूलमाश्रित्य सौम्यः सोमकलावृतः ।
भ्रूमध्ये गगनाभोगे विद्याकमलसंज्ञितः ॥
रौद्रस्तालुतलाधारो रुद्रशक्त्या त्वधिष्ठितः ।
चिन्तामण्यभिधानाख्यश्चतुष्पथनिवासि यत् ॥
ब्रह्मरन्ध्रस्य मध्ये तु तुर्याधारस्तु मस्तके ।
नाड्याधारः परः सूक्ष्मो घनव्याप्तिप्रबोधकः ॥
इत्युक्ताः षोडशाधाराः............................ ॥' इति ।

त्रीण्यन्तर्बहिरुभयरूपाणि लक्ष्याणि लक्षणीयानि यत्र । निरावरणरूपत्वात्

'खमनन्तं तु जन्माख्यं ।' (७।२७)

इति वक्ष्यमाणानां जन्म-नाभि-हृद्-बिन्दु-नादरूपाणां व्योम्नां पञ्चकं विद्यते यत्र,

'जन्ममूले तु मायाख्यो ।' (७।२७)

इत्यभिधास्यमानाश्चैतन्यावृतिहेतुत्वाद् ग्रन्थयो माया-पाशव-ब्रह्म-विष्णु-रुद्र-ईश्वर-

---

उसके चार अंगुल ऊपर अग्नि (४) नाभि के नीचे पवनाधार नाभि में ही घट नामक आधार है (५) नाभिहृदय के मध्यमार्ग में सर्वकाम (६) हृदयकमल के बीच सञ्जीवनी (७) वक्षःस्थल में कूर्म (८) गले में लोल (९) लम्बिका के ऊपर सुधापूर्ण सुधाधार (१०) उसके मूल में सोमकला से युक्त सौम्य (११) गगन के समान विस्तृत भ्रूमध्य में विद्याकमल (१२) तालु के तल में रुद्रशक्ति से समन्वित रौद्र (१३) चतुष्पथ में रहने वाला चिन्तामणि (१४) ब्रह्मरन्ध्र के मध्य में तुर्याधार (१५) मस्तक में नाड्याधार (१६) है जो कि पर सूक्ष्म और घनव्याप्ति का प्रबोधक है । इस प्रकार सोलह आधार कहे गये ॥'

तीन लक्ष्य = अन्दर-बाहर और उभय रूप लक्षणीय है जिसमें वह । आवरणरहित होने के कारण—

'जन्म नामक आकाश अनन्त है ।' (७-२७)

इस प्रकार वक्ष्यमाण जन्मस्थान, नाभि, हृदय, बिन्दु और नादरूप पाँच आकाश उस शरीर में हैं ।

'जन्म के मूल में माया नामक ग्रन्थि है ।' (७-२७)

सदाशिव-इन्धिका-दीपिका-बैन्दव-नाद-शक्त्याख्या ये पाशास्तैः संयुक्तम् । इच्छादिना शक्तित्रयेण सम्यगन्वितमेषणीयादिविषये प्रवर्तमानम् । सोम-सूर्य-वह्निरूप-धामत्रयपथैः सव्यापसव्यपवनैर्मध्यमपवनेन चाधिष्ठितम् । इडापिङ्गलासुषुम्नाख्येन पवनाश्रयेण नाडित्रयेण युक्तम् । गान्धारी-हस्तिजिह्वा-पूषा-यशा-अलम्बुसा-कुहू-शङ्खिनीभिश्च युक्तत्वाद् दश नाडयः पन्थानो येषां प्राणापानसमानोदानव्याननाग-कूर्मकृकरदेवदत्तधनञ्जयाख्यास्तैः आ समन्ताद् वृतमोतप्रोतम् । दिग्दशकावस्थित-नाडिदशकप्रपञ्चभूताभिर्द्वासप्तत्या सहस्रैर्मध्यव्याप्त्या सार्धकोटित्रयेण च महा-व्याप्त्या नाडिवृन्दैः समाक्रान्तम् । आणवमायीयकार्ममलयोगान्मलिनम् । योगिना-मपि—

'येनेदं तद्धि भोगतः ।'

इति स्थित्यावश्यंभाविक्रोडीकृतं शरीरं ज्ञात्वा योगी यस्य आत्मनः परस्य वा, परेणैवेति पररूपतामनुज्झतापि समनन्तरभाविना सूक्ष्मध्यानामृतेनोदितेन स्फुटीभूतेनाप्यायं करोति, स गतव्याधिर्दिव्यदेह इति सूक्ष्मध्यानामृतोन्मिषच्छाक्त-मूर्तिर्भवति ॥ ५ ॥

इस प्रकार आगे कही जाने वाली, चैतन्य का आवरक होने से ये ग्रन्थियाँ हैं, जिनके नाम हैं—माया, पाशव, ब्रह्म, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव, इन्धिका, दीपिका, वैन्दव, नाद और शक्ति, इन पाशों से युक्त, इच्छा आदि (= ज्ञान और क्रिया) इन तीन शक्तियों से युक्त अर्थात् एषणीय आदि विषय में प्रवर्त्तमान सोम सूर्य वह्नि रूप तीन तेजरूपी रास्ते अर्थात् दायें बायें तथा बीच के पवन से अधिष्ठित है । वायु के आधार इडा पिङ्गला सुषुम्ना नामक तीन नाडियों से (यह शरीर) युक्त है । (इडा आदि के सहित) गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशा, अलम्बुसा, कुहू और शंखिनी इन दश नाडी रूपी पथ वाले प्राण, अपान, समान, उदान व्यान तथा नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय नामक वायु से ओत-प्रोत है । ये दशों नाडियाँ शरीर की दशों दिशाओं में व्याप्त हैं । इन्ही का विस्तार ७२ हजार नाडियाँ हैं और साढ़े तीन करोड़ नाडियाँ भी महाव्याप्ति कर इस शरीर में वर्त्तमान हैं । यह शरीर आणव मायीय और कार्ममल से युक्त होने के कारण मलिन है ।

योगियों का भी शरीर

'जिससे यह (शरीर) है वह भोग के कारण ।'

इस स्थिति के कारण अवश्यभवनीयता के द्वारा आक्रान्त है । शरीर को उक्त प्रकार से जानकर जब योगी अपने या दूसरे के शरीर की पररूपता को न छोड़ते हुए भी समनन्तरभावी उदित = स्फुटीभूत, सूक्ष्म ध्यानामृत के द्वारा (इसका) आप्यायन करता है तो वह (अपना या दूसरे का शरीर) व्याधिरहित दिव्य देह हो जाता है अर्थात् सूक्ष्म ध्यान के अमृत से उन्मिषत् शाक्त शरीर वाला हो जाता

'सूक्ष्मध्यानामृतेनैव परेणैवोदितेन ।'

इति यदुक्तं तत्सोपक्रमं स्फुटयति—

यत्स्वरूपं स्वसंवेद्यं स्वस्थं स्वव्याप्तिसंभवम् ।
स्वोदिता तु परा शक्तिस्तत्स्था तद्गर्भगा शिवा॥ ६ ॥
तां वहेन्मध्यमप्राणे प्राणापानान्तरे ध्रुवे ।
अहं भूत्वा ततो मन्त्रं तत्स्थं तद्गर्भगं ध्रुवम् ॥ ७ ॥
स्वोदितेन वरारोहे स्पन्दनं स्पन्दनेन तु ।
कृत्वा तमभिमानं तु जन्मस्थाने निधापयेत् ॥ ८ ॥
भावभेदेन तत्स्थानान्मूलाधारे नियोजयेत् ।
नादसूच्या प्रयोगेन वेधयेत् सूक्ष्मयोगतः ॥ ९ ॥
आधारषोडशं भित्त्वा ग्रन्थिद्वादशकं तथा ।
मध्यनाडिपथारूढो वेधयेत् परमं ध्रुवम् ॥ १० ॥
तत्प्रविश्य ततो भूत्वा तत्स्थोऽसौ व्यापकः शिवः ।
सर्वामयपरित्यागान्निष्कलाक्षोभशक्तितः ॥ ११ ॥
पुनरापूर्य तेनैव मार्गेण हृदयान्तरम् ।
तत्र प्रविष्टमात्रं तु ध्यायेल्लब्धं रसायनम् ॥ १२ ॥

है ॥ ५ ॥

'सूक्ष्म ध्यानामृत से उदित पर से'—

यह जो कहा गया उसी को उपक्रम के साथ स्पष्ट करते हैं—

जो स्वरूप स्वसंवेद्य स्वस्थ और स्वव्याप्ति से उत्पन्न है पराशक्ति शिवा उसमें स्थित उसके गर्भ में वर्त्तमान तथा स्वयं उदित है । उस (= शिवा) को प्राण और अपान के बीच वर्त्तमान ध्रुव मध्यम प्राण में ले जाना चाहिये । हे वरारोहे ! इसके बाद उसके गर्भ में वर्त्तमान ध्रुवमन्त्र को अहं के रूप में होकर स्वोदित स्पन्दन से स्पन्दित कर उस अभिमान (= वीर्य) को जन्मस्थान में स्थापित कर देना चाहिये । भाव का भेदन कर उसे मूलाधार में जोड़ देना चाहिये । फिर सूक्ष्म योग से नादरूपी सूची के द्वारा प्रयोग कर उसका वेधन करे । तत्पश्चात् षोडशाधार एवं द्वादशग्रन्थियों का भेदन कर मध्य नाडीपथ पर आरुढ़ होकर परम ध्रुव का भेदन करे । पुनः उसमें प्रवेश कर उसमें स्थित हुआ यह (= साधक) समस्त रोग का परित्याग करने के कारण निष्कल अक्षोभ शक्ति के कारण व्यापक शिव हो जाता है । तत्पश्चात् उसी मार्ग से हृदय के मध्य को आपूरित कर उसमें प्रविष्ट होकर रसायन को प्राप्त हुआ ध्यान करे । विश्राम का अनुभव

विश्रामानुभवं प्राप्य तस्मात् स्थानात् प्रवाहयेत् ।
सर्वं तदमृतं वेगात् सर्वत्रैव विरेचयेत् ॥ १३ ॥
अनन्तनाडिभेदेन अनन्तामृतमुत्तमम् ।
अनन्तध्यानयोगेन परिपूर्य पुरं स्वकम् ॥ १४ ॥
अजरामरस्ततो भूत्वा सबाह्याभ्यन्तरं प्रिये ।
एवं मृत्युजिता सर्वं सूक्ष्मध्यानेन पूरितम् ॥ १५ ॥
ततोऽसौ सिद्ध्यति क्षिप्रं सत्यं देवि न चान्यथा ।

यदिति प्रथमाधिकारनिर्दिष्टपरधामात्मवीर्यम्, स्वरूपमिति विशेषानिर्देशात् सर्वस्य, स्वसंवेद्यं स्वप्रकाशम् न तु स्वसंवेदनान्यप्रमाणप्रमेयम्,

'तस्य देवातिदेवस्य परापेक्षा न विद्यते ।
परस्य तदपेक्षत्वात् स्वतन्त्रोऽयमतः स्थितः ॥'

इति कामिकोक्तनीत्याऽस्य भगवतः प्रमाणागोचरत्वात् अत एव स्वतन्त्रात्मन्यवतिष्ठते न त्वन्यत्र तद्विविक्तस्यान्यस्याभावात्, प्रत्युतान्यद्विश्वं तद्व्याप्तत्वात्तन्मयमेव संभवतीत्याह—स्वव्याप्तिसंभवम्, स्वव्याप्त्या संभवो विश्वरूपतयोन्मज्जनं यस्य । अस्य च भगवतः परा स्वातन्त्र्यात्मा शक्तिः स्वा अव्यभिचारिणी चासौ उदिता प्रस्फुरद्रूपा, तत्रैव च भगवद्रूपे स्थिता, न चाधाराधेयभावेन, अपि तु सामरस्येने-

---

कर उस स्थान से समस्त अमृत को वेग के साथ सर्वत्र शरीर में प्रवाहित करे। अनन्त ध्यान के साथ अनन्त नाडी के भेद से अनन्त उत्तम अमृत से अपने शरीर को पूरित करे। हे प्रिये ! इसके बाद बाहर भीतर सर्वत्र अजर अमर होकर मृत्युजित् के द्वारा सब कुछ सूक्ष्म ध्यान से पूरित करे । इस प्रकार यह (= साधक) शीघ्र सिद्ध हो जाता है । यह कथन अन्यथा नहीं है ॥ ६-१६- ॥

जो = प्रथम अधिकार से निर्दिष्ट पर तेज रूप वीर्य । स्वरूप = विशेष का निर्देश न होने से सबका रूप । स्वसंवेद्य = स्वप्रकाश न कि स्वसंवेदन से भिन्न प्रमाण से प्रमेय ।

'उस देवातिदेव को दूसरे की अपेक्षा नहीं होती । (इसके विपरीत) दूसरे को उसकी अपेक्षा होने से यह स्वतन्त्ररूप में स्थित है ।'

कामिक तन्त्र में कथित इस नीति के अनुसार यह भगवान् दूसरे किसी भी प्रमाण के विषय नहीं होते हैं । इसलिये ये स्वतन्त्र अपने में ही स्थित रहते हैं न कि अन्य में, क्योंकि उनसे भिन्न कोई दूसरा नहीं होता है । उल्टे अन्य विश्व उनसे व्याप्त होने के कारण तन्मयरूप में उत्पन्न होता है—यह कहते हैं—स्वव्याप्तिसम्भव । स्वव्याप्ति से, सम्भव = विश्व के रूप में उन्मज्जन, है जिसका (वह परधाम) । इस भगवान् की परा = स्वातन्त्र्यरूपा शक्ति स्वा = अव्यभिचारिणी

त्याह—तद्गर्भगा । अतश्च शिवा परमार्थशिवाभिन्नरूपत्वात् शिवा । एवं परं रूपं भित्तिभूतत्वेन प्रकाश्य सूक्ष्मध्यानं वक्तुमुपक्रमते—तामित्यादिना । तां परां चितिशक्तिम्, मध्यमप्राणे सुषुम्नास्थोदानाख्यप्राणब्रह्मणि, वहेत् निमज्जितप्राणापान-व्याप्तिं उन्मग्नतया विमृशेत् । कथम् ? अहं भूत्वा, देहादिप्रमातृताप्रशमनेन पूर्णाहन्तामाविश्येत्यर्थ: । तत उक्तवक्ष्यमाणवीर्यव्याप्तिकं मूलमन्त्रं तत्स्थं तद्गर्भ-गमिति पराशक्तिसामरस्यमयम्, अत एव स्पन्दनमिति सामान्यस्पन्दरूपं कृत्वा कथं ? स्वोदितेन स्पन्दनेन अप्राणाद्यवष्टम्भेन । एवं मन्त्रवीर्यसारमामृश्य तमभि-मानं तदसामान्यचमत्कारमयं स्वं वीर्यं जन्माधारे आनन्दचक्रे निधापयेत् प्रतिष्ठा-पयेत् । कथम् ? भावस्य देहप्राणादिमिताभिमानमयस्य भेदेन प्रशमनेन । ततोऽपि मूलाधारे कन्दे तमभिमानं भावभेदेनैव नियोजयेद् निरूढं कुर्यात् । ततोऽपि स्फुरत्तोन्मिषत्तारूपमन्त्रनाथप्राणसूच्या हेतुना कृतो य: प्रकृष्ट: क्रमात्क्रम-मूर्ध्वारोहात्मा योगस्तेन । तथा सूक्ष्मयोगत इति—उन्मिषत्स्फुरत्तोत्तेजनप्रकर्षेण । मध्यनाडीपथमारूढ: पूर्वोद्दिष्टकुलशास्त्रादिष्टमाधारषोडशकं तथोपक्रान्तनिर्णेष्यमाणं ग्रन्थिद्वादशकं च भित्त्वा परमं ध्रुवं द्वादशान्तधाम वेधयेदाविशेत् । तच्च प्रविश्य,

---

तथा उदित = नित्य प्रस्फुरद् रूपा होती है । यह उसी भगवत् रूप मे स्थित होती है वह भी आधाराधेय भाव से नहीं बल्कि समरसता के साथ होती है । 'तद्गर्भगा' पद से यही कहा गया । इसलिये परमार्थ शिव से अभिन्नरूपा होने के कारण वह शिवा है । इस प्रकार पररूप को आधार के रूप में प्रकाशित कर सूक्ष्म ध्यान को बतलाने का उपक्रम करते हैं—उसको इत्यादि । उसको = परा चिति शक्ति को । मध्यमप्राण में = सुषुम्ना मे स्थित उदान नामक प्राणब्रह्म में । वहन करे = निमज्जित प्राणअपान व्याप्ति का उन्मग्न के रूप में विमर्श करना चाहिए । कैसे ?—अहं होकर = देहादिप्रमातृता को शान्त कर पूर्ण-अहन्ता में आविष्ट होकर । इसके बाद उक्त वक्ष्यमाण व्याप्ति वाले मूल मन्त्र और उसमें स्थित उसके गर्भ में वर्त्तमान पराशक्तिसामरस्यमय इसीलिये स्पन्दन = सामान्य स्पन्दन रूप बनाकर । यह कैसे होगा (इसके उत्तर में कहते हैं—) स्वोदित स्पन्दन से अप्राण आदि के अवष्टम्भन से । इस प्रकार मन्त्रवीर्य के सामरस्य का आमर्शन कर उस अभिमान को = उस असामान्य चमत्कारमय अपने वीर्य को, जन्माधार = आनन्दचक्र, में, स्थापित करना चाहिए । कैसे ?—देह प्राण आदि परिमित अभिमानमय भाव के भेदन = प्रशमन से । इसके बाद मूलाधार में = कन्द में, उस अभिमान को भावभेद के द्वारा ही नियोजित करे = निरूढ़ बनाये । इसके बाद स्फुरत्ता उन्मिषत्ता रूप मन्त्रनाथप्राणसूची के द्वारा किया गया जो प्रकृष्ट = क्रमश: ऊर्ध्वारोहण रूप, योग उससे तथा सूक्ष्म योग से = उन्मिषत् स्फुरत्तोत्तेजन प्रकर्ष के द्वारा, मध्यनाडीपथ पर आरूढ़ (साधक) पूर्व में वर्णित कुलशास्त्र में कथित सोलह आधारों तथा उपक्रान्त निर्णेष्यमान बारह ग्रन्थियों का भेदन कर परम ध्रुव द्वादशान्त धाम का वेध करना चाहिए = उसमें आविष्ट हो जाय । और उसमें प्रविष्ट होकर

सर्वस्यामयस्य महामायापर्यन्तस्य बन्धस्य परित्यागात्, तत्रैव ध्रुवपदे स्थितः सन्, व्यापको नित्योदितपराशक्तिसमरसः परमशिवैकरूपो भूत्वा, तेनैव द्वादशान्तादन्तःप्रसृतेन मध्यमेन मार्गेण हृदयमध्यमापूर्य परानन्दप्रसरणाच्छुरितं कृत्वा, तत्र हृदि प्रविष्टमात्रं तत् परमानन्दरूपं रसायनमासादितं ध्यायेद्विमृशेत् तावद्यावत्तत्र विश्रान्तिमेति. ततस्तस्माद्धृदयादुच्छलितं तदमृतं प्रवाहयेत् नानाप्रवाहाभिमुखं कुर्यात् । ततस्तेनैवामृतेन अनन्तनाडीप्रवाहप्रसृतेन बहलध्यानध्यातेन सबाह्याभ्यन्तरं स्वं पूरं देहं परिपूर्य तदनन्तरं सर्वममृतं वेगाद् द्रुतप्रवाहेन सर्वरोमरन्ध्रैः सर्वत्र गोचरे रेचयेद् अव्युच्छिन्नप्रवाहं प्रेरयेत् । एवं परवीर्यात्मना भगवता मृत्युजिता प्रोक्तसूक्ष्मशाक्तानन्दध्यानेन यदा सर्वमापूरितं चिन्तयति योगी तदासौ अजरामरो भूत्वा क्षिप्रं सिद्ध्यति मृत्युजिद्भट्टारकतामाप्नोति । नात्र प्रमातृसुलभः संशयः कार्यः ॥ १५ ॥

एवं शाक्तानन्दमार्गावष्टम्भात्मककौलिकप्रक्रियोक्ताधारादिभेदेन सूक्ष्मध्यानमुक्त्वा, स्थूलयुक्तिक्रमेण तन्त्रप्रक्रियोक्ताधारादिभेदेन पूर्णासितामृतकल्लोलचिन्तनात्मसूक्ष्मध्यानं वक्तुमुपक्रमते—

जन्मस्थाने समाश्रित्य स्पन्दस्थां मध्यमां कलाम् ॥ १६ ॥

सब आमय के = महामाया पर्यन्त बन्ध के, परित्याग से उसी ध्रुवपद में स्थित हुआ व्यापक = नित्योदित, परा शक्ति से समरस परशिव के साथ एक रूप होकर उसी = द्वादशान्त, से अन्तः फैले हुए मध्यमार्ग से हृदय के मध्य को पूरित कर = परानन्द के प्रसरण से अलङ्कृतकर, वहाँ = हृदय में, प्रविष्टमात्र उस = परम आनन्द रूप, रसायन को तब तक प्राप्त हुआ ध्यान करना चाहिए जब तक विश्रान्ति न मिल जाय । उसके बाद उस = हृदय, से उच्छलित उस अमृत को प्रवाहित करना चाहिए = अनेक दिशा में प्रवाहाभिमुख करना चाहिए । इसके बाद अनन्तनाडीप्रवाह से फैले हुए बहल (= दृढ़) ध्यान के द्वारा ध्यात उस अमृत से अपने शरीर को बाहर और भीतर पूरित कर बाद में समस्त अमृत को वेग से = द्रुत प्रवाह के साथ, समस्त रोमकूपों से सभी विषयों पर रेचन करना चाहिए = अव्युच्छिन्न प्रवाह के रूप में प्रेरित करना चाहिए । इस प्रकार योगी जब परवीर्यात्मक भगवान् मृत्युञ्जय के द्वारा प्रोक्त सूक्ष्म शाक्त आनन्द के ध्यान से सबको आपूरित चिन्तन करता है तब यह अजर अमर होकर शीघ्र सिद्ध हो जाता है = मृत्युञ्जयभट्टारक बन जाता है । इस विषय में प्रमातृसुलभ संशय नहीं करना चाहिये ॥ १५ ॥

इस प्रकार शाक्तानन्दमार्गावष्टम्भात्मक कौलिक प्रक्रिया में उक्त आधार आदि भेद से सूक्ष्म ध्यान का कथन कर स्थूल युक्ति के क्रम से तन्त्रप्रक्रियोक्त आधार आदि के भेद से पूर्ण असितामृतकल्लोलचिन्तनात्मक सूक्ष्म ध्यान को बतलाने का उपक्रम करते हैं—

तत्स्थं कृत्वा तदात्मानं कालाग्निं तु समाश्रयेत् ।
गत्वा गृहीतविज्ञानं वीर्यं तत्रैव निक्षिपेत् ॥ १७ ॥
तद्वीर्यपूरिता शक्तिः क्रियाख्या मध्यमोत्तमा ।
विज्ञानेनोर्ध्वतो भित्त्वा ग्रन्थिभेदेन चेच्छया ॥ १८ ॥
मूलस्पन्दं समाश्रित्य त्यक्त्वा वाहद्वयं ततः ।
मध्यमार्गप्रवाहिन्या सुषुम्नाख्यां समाश्रयेत् ॥ १९ ॥
तामेवाश्रित्य विरमेत्तत्सर्वेन्द्रियगोचरात् ।
तदा प्रत्यस्तमायेन विज्ञानेनोर्ध्वतः पुनः ॥ २० ॥
ब्रह्मादिकारणानां तु त्यागं कृत्वा शनैः शनैः ।
षण्णां शक्तिमतां प्राप्य कुण्डलाख्यां निरोधिकाम्॥ २१ ॥
मायादिग्रन्थिभेदेन हृदादिव्योमपञ्चकम् ।

पूर्वं जन्मस्थानमानन्देन्द्रियमुक्तम् इह तु कन्दः, तत्र स्पन्दस्थामिति स्पन्दाविष्टाम्, मध्यमां कलां प्राणशक्तिमाश्रित्य मत्तगन्धस्थानसङ्कोचविकासाभ्यां शतश उन्मिषितां सूक्ष्मप्राणशक्तिमध्यास्य, आत्मानं मनस्तदवसरे तत्स्थं तन्निभालनैकाविष्टं कृत्वा, कालाग्निमिति पादाङ्गुष्ठाधारं गत्वा, समाश्रयेत् भावनयाध्यासीत । तत्रैव

जन्मस्थान में स्पन्दस्थ मध्यमा कला का आश्रयण कर, उसमें अपने को स्थित कर कालाग्नि का आश्रयण कर लेना चाहिये । वहीं पर गृहीत-विज्ञान वाले वीर्य का प्रक्षेप करना चाहिए । उस वीर्य से आपूरित क्रिया नामक शक्ति उत्तम (अतिशय से निर्गत होकर) मध्यमा हो जाती है । इच्छा और विज्ञान के द्वारा ऊपर से ग्रन्थिभेद से भेदन कर मूल स्पन्द में जाकर दोनों वाह (= इडा पिंगला) को छोड़कर मध्यमार्गप्रवाहिनी के द्वारा सुषुम्ना में पहुँचना चाहिये । उसका आश्रयण कर समस्त इन्द्रिय विषयों से विराम ले लेना चाहिये । फिर शान्तमाया वाले विज्ञान के द्वारा ऊपर से ब्रह्मा आदि कारणों का धीरे-धीरे त्याग कर (ब्रह्मा आदि) छह शक्तिमानों की कुण्डल नामक निरोधिका शक्ति को प्राप्त कर माया आदि ग्रन्थियों का भेदन कर हृदय आदि पाँच आकाश का त्याग कर विराम करना चाहिये ॥ -१६-२२- ॥

पहले श्लोकों में जन्मस्थान का अर्थ था—उपस्थेन्द्रिय, यहाँ जन्मस्थान का अर्थ है—कन्द । उसमें स्पन्दस्थ = स्पन्द से आविष्ट, मध्यमा कला = प्राण शक्ति का आश्रयण कर, मत्तगन्ध (= गुदा) के संकोचविकास के द्वारा सैकड़ों बार उन्मिषित सूक्ष्म प्राणशक्ति को अध्यासित कर, अपने को = अपने मन को, उस अवसर में तत्स्थ = उसके निभालन से आविष्ट, कर कालाग्नि = पैर के अंगूठे रूपी आधार, के पास जाकर, समाश्रयण करे = भावना से वहाँ स्थित हो । उसी

च गृहीतविज्ञानं वीर्यमिति कन्दभूम्यासादितं शाक्तस्पन्दात्म वीर्यं निक्षिपेद् भावना-प्रकर्षेण स्फुटयेत् । इत्थं तद्वीर्येत्युक्तवीर्येणापूरिता लब्धोदया, प्राणस्पन्दात्मा क्रियाशक्तिरुत्तमातिशयेनोद्गता सती मध्यमा भवति, समस्तदेहस्य नाभिर्मध्यं तत्र प्राप्ता जायते । कथम् ? इच्छया सङ्कोचक्रमोत्थोर्ध्वारोहणप्रयत्नेन, विज्ञानेन च भावनया, ऊर्ध्वत इत्युपरितनगुल्फजानुमेढ्रकन्दनाभ्याख्यानां ग्रन्थीनां भेदेन वेधन-व्यापारेण भित्त्वा, अर्थात् तान्येवोर्ध्वस्थानान्याक्रम्य 'भेदिता माण्डलिका भूभुजा,—इतिवदद्भिः (वद् भिदिः) स्वीकारार्थः । अथ मूलस्पन्दं समाश्रित्येति मत्तगन्धस्थानं विकासाकुञ्चनपरम्परापुरःसरं निरोध्य । एतच्च श्रीस्वच्छन्दोक्तदिव्य-करणोपलक्षणपरम् । अत एव वाहद्वयं पार्श्वनाड्यौ त्यक्त्वा परिहृत्य, तत इति प्रोक्तेच्छाज्ञानावष्टम्भयुक्त्या, मध्यमार्गप्रवाहिण्या प्रोक्तया मध्यप्राणब्रह्मशक्त्या सुषुम्नाख्यां नाडीं सम्यगाश्रयेत् । तामाश्रित्य तत इत्यभ्यस्तात् सर्वेन्द्रिय-गोचराद्विरमेद् अन्तर्मुखीकृतसर्वेन्द्रियस्तिष्ठेत् । तदा च प्रत्यस्ता प्रतिक्षिप्ता माया प्राणादिप्रधानतात्माख्यातिर्येन तादृशा, प्रकाशानन्दात्मना ज्ञानेन हृत्कण्ठादिगत-सृष्ट्यादिसंवित्स्वभावब्रह्मादिकारणानि क्रमात् त्यक्त्वा, वक्ष्यमाणमायादिग्रन्थिभेदेन सह हृदादिव्योमपञ्चकं च त्यक्त्वा, षण्णां ब्रह्मविष्णुरुद्रेश्वरसदाशिवशिवाख्यानां कारणानामूर्ध्वत ऊर्ध्वे स्थितां कुण्डलाख्यां शक्तिं शून्यातिशून्यान्तमशेष-

---

में गृहीतविज्ञान = कन्दभूमि से प्राप्त शाक्तस्पन्दात्मक वीर्य, का निक्षेप करे = भावना के प्रकर्ष से स्फुट करें । इस प्रकार उस = उक्त वीर्य, से आपूरित = उदय को प्राप्त, प्राणस्पन्दात्मक क्रियाशक्ति उत्तम अतिशय से उद्गत होती हुई मध्यमा हो जाती है = समस्त देह का मध्य जो नाभि, उसमें पहुँच जाती है । कैसे ? इच्छा के द्वारा संकोच क्रम से उठे हुए । ऊर्ध्वतः = (पादाङ्गुष्ठ के) ऊपर गुल्फ, जानु, मेढ्र, कन्द, नाभि नामक ग्रन्थियों के भेदन = वेधनव्यापार के द्वारा भिन्न कर, अर्थात् उन-उन ऊर्ध्व स्थानों को आक्रान्त कर । यहाँ भिद् धातु स्वीकार अर्थ में है । जैसे कि—'राजा के द्वारा माण्डलिक लोग भेदित (= स्वीकृत) हुए ।' इसके बाद मूलस्पन्द का आश्रयण कर = मत्तगन्धस्थान का विकास एवं संकोच परम्परा के द्वारा निरोध कर । यह स्वच्छन्दतन्त्र में वर्णित दिव्यकरण का उपलक्षण है । इसलिये दोनों वाह (इडा पिङ्गला) वाली = पार्श्वनाडी, को छोड़कर उक्त इच्छा ज्ञान के अवष्टम्भ की युक्ति से मध्यमार्ग में बहने वाली उक्त मध्यप्राण ब्रह्मशक्ति के द्वारा सुषुम्ना नाड़ी का आश्रयण करे । इसका आश्रयण कर पूर्व में अभ्यस्त समस्त इन्द्रियविषयों से विराम कर ले । अर्थात् समस्त इन्द्रियों को अन्तर्मुखी कर ले । इसके बाद माया अर्थात् प्राण आदि को आत्मा मानने के अज्ञान को नष्ट करने वाले प्रकाशानन्दरूप ज्ञान के द्वारा हृदय कण्ठ आदि में रहने वाले संवित्स्वभाव रूप ब्रह्मा विष्णु आदि कारणों को क्रमशः त्यक्त कर वक्ष्यमाण माया आदि ग्रन्थियों को भिन्न करने के साथ-साथ हृदय आदि पाँच आकाशों को छोड़कर, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव और अनाश्रित शिव

विश्वगर्भाकारात्मककुण्डलरूपतयावस्थितां समनाख्यां शक्तिं प्राप्य, विज्ञानेनोर्ध्वं विरमेद् उन्मनापरतत्त्वात्मतामाविशेदिति दूरेण संबन्धः । विरमेदिति पूर्वस्थमिहापि योज्यम् ॥

तत्र निर्भेद्यग्रन्थ्यादीनां स्वरूपं तावत्क्रमेणादिशति—

जन्ममूले तु मायाख्यो ग्रन्थिर्जन्मनि पाशवः ॥ २२ ॥
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः ।
कारणस्थास्तु पञ्चैवं ग्रन्थयः समुदाहृताः ॥ २३ ॥
इन्धिकाख्यस्तु यो ग्रन्थिर्द्विमार्गाशमनः शिवः ।
तदूर्ध्वे दीपिका नाम तदूर्ध्वे चैव बैन्दवः ॥ २४ ॥
नादाख्यस्तु महाग्रन्थिः शक्तिग्रन्थिरतः परः ।

जन्ममूलमानन्देन्द्रियम् तच्छरीरोत्पत्तिहेतुर्मायारूपतया मायाख्यो ग्रन्थिः, जन्मनि कन्दे पाशवः पशूनां संकुचितदृक्शक्तित्वात् पाश्यानामयमाधारनानानाडी-प्राणादीनां प्रथमोद्भेदकल्पः । हृत्कण्ठतालुभ्रूमध्यललाटस्थानां ब्रह्मादीनां कारणानां पशुं प्रति सृष्ट्यादिकर्तृत्वेन निरोधकत्वाद् ग्रन्थिरूपकत्वात् तत्स्थाः पञ्च ग्रन्थयः निरोधिकोर्ध्वे—

कारणों के ऊपर स्थित कुण्डल नामक शक्ति = शून्यातिशून्यपर्यन्त समस्त विश्वगर्भाकारात्मक कुण्डलरूप में स्थित समना नामक शक्ति, को प्राप्त कर विज्ञान के साथ ऊपर विराम करे = उन्मना रूपी परतत्त्व रूप हो जाय । इतना दूर से सम्बन्ध है ।

अब निर्भेद्य ग्रन्थि आदि के स्वरूप को क्रम से दिखलाते हैं—

जन्म के मूल में माया नामक ग्रन्थि और जन्म में पाशव नामक ग्रन्थि रहती है । ब्रह्मा विष्णु रुद्र ईश्वर सदाशिव ये पाँच ग्रन्थियाँ कारणों में रहती हैं । इन्धिका नामक जो ग्रन्थि है वह द्विमार्ग के सम्पूर्ण शमन का हेतु है इसीलिये शिव है उसके ऊपर दीपिका उसके ऊपर बैन्दव ग्रन्थि है । नाद नामक महाग्रन्थि है और इसके बाद शक्ति ग्रन्थि है ॥ -२२-२५- ॥

जन्ममूल = आनन्द देने वाली इन्द्रिय अर्थात् उपस्थ । वह शरीर की उत्पत्ति का कारण है । माया रूप होने के कारण मायाग्रन्थि ही जन्म के कन्द में पाशव ग्रन्थि है । (यह) संकुचित ज्ञान शक्ति होने के कारण पशु अर्थात् पाश में बाँधने योग्य जीवों का आधार रूप अनेक नाड़ी प्राण आदि का प्रथम उद्भेद रूपी है । हृदय, कण्ठ तालु, भ्रूमध्य और ललाट में रहने वाले क्रमशः ब्रह्मा आदि (= विष्णु रुद्र, ईश्वर और सदाशिव) कारणों का सृष्टि आदि के कर्त्ता के रूप में निरोधक होने से पशु के प्रति ग्रन्थिरूप होने के कारण उनमें स्थित पाँच ग्रन्थियाँ हैं । निरोधिका के ऊपर—

'इन्धिका दीपिका चैव रोचिका मोचिकोर्ध्वगा ।' (१०।१२२६)

इति श्रीस्वच्छन्दे नादशक्तयो या उक्ताः, ता एवेह परचित्प्रकाशावारकरूपत्वाद् ग्रन्थय उक्ताः । तत्रेन्धिकाख्यो यो ग्रन्थिरसौ द्विमार्गाशमन इति निरोधिकास्पृष्टवामदक्षिणवाहनिःशेषप्रशमनहेतुः, अत एव शिव ऊर्ध्वैकमार्गारोहकत्वात् श्रेयोरूपः । तदूर्ध्वे किंचिद्दीप्तिहेतुत्वाद् दीपिकाख्यो ग्रन्थिः, अतोऽपि किंचिदधिकप्रकाशहेतुत्वाद् बैन्दवः । रोचिकेत्यन्यत्र योक्ता शक्तिस्तद्रूपो ग्रन्थिः । तदुपरि नादाख्यो महाग्रन्थिरिति । मोचिकोर्ध्वगेत्यन्यत्र यच्छक्तिद्वयमुक्तं तत्रोर्ध्वगा नादान्तेति तत्रैव योक्ता सैवेहान्तर्भावितमोचिका नादाख्यो महाग्रन्थिरित्युक्तः । महत्त्वं चास्य ग्रन्थ्यन्तर्भावादेव । अतः परः शक्तिस्थानस्थो ग्रन्थिः शक्तिग्रन्थिः ॥

यदेवं निर्णीतं तत्—

ग्रन्थिद्वादशकं भित्त्वा प्रविशेत् परमे पदे ॥ २५ ॥

उन्मनापरतत्त्वात्मनि धाम्नि ॥ २५ ॥

अत्र ब्रह्मादिकारणग्रन्थिभेदनादेव तदधिष्ठितहृदादिस्थानानि शक्तिग्रन्थिभेदेन च शक्तिस्थानं तदुपरि च व्यापिनीधामशिवस्थाने दलयेदित्याह—

'इन्धिका दीपिका रोचिका और मोचिका—ये ऊर्ध्वगामी है ।'

इस प्रकार स्वच्छन्दतन्त्र (१०.१२२६) में जो नादशक्तियाँ कही गयी हैं वे ही पर चैतन्यरूप प्रकाश का आवरक होने के कारण ग्रन्थि कही गयी हैं । उनमें इन्धिका नामक जो ग्रन्थि है वह द्विमार्गाशमन = निरोधिका से स्पृष्ट बायीं दायीं नाडी (= इडा पिङ्गला) के प्रवाह का आ = (पूर्णरूप से) प्रशमन करने का कारण हैं इसलिये शिव = ऊर्ध्वमार्ग, का आरोहक होने से श्रेयोरूप है । उसके ऊपर कुछ प्रकाश का कारण होने से दीपिका नामक ग्रन्थि है । इससे भी थोड़ा अधिक प्रकाशक होने से बैन्दव ग्रन्थि है । जो अन्यत्र शक्ति कही गयी है वह यहाँ रोचिका ग्रन्थि है । उसके ऊपर नाद नामक महाग्रन्थि है । मोचिका और ऊर्ध्वगा ये दोनों शक्तियाँ जो कि अन्यत्र कही गयी है, उनमें ऊर्ध्वगा को अन्यत्र नादान्त कहा गया है वही यहाँ अन्तर्भावित मोचिका नाद नामक महाग्रन्थि कही गयी है । दूसरी ग्रन्थियों का अपने अन्दर अन्तर्भाव करने से यहाँ 'महा' ग्रन्थि है । इसके ऊपर शक्तिस्थान में स्थित ग्रन्थि शक्तिग्रन्थि कही जाती है ।

जो कि ऐसा कहा गया इसलिये—

इन बारह ग्रन्थियों का भेदन कर परमपद में योगी प्रवेश करे ॥ २५॥

(परमपद =) उन्मना परतत्त्वरूप स्थान में ॥ २५ ॥

ब्रह्मा आदि कारण ग्रन्थि के भेदन से ही उनके द्वारा अधिष्ठित हृदय आदि

ब्रह्माणं च तथा विष्णुं रुद्रं चैवेश्वरं तथा ।
सदाशिवं तथा शक्तिं शिवस्थानं प्रभेदयेत् ॥ २६ ॥

अन्ते स्थानशब्दो ब्रह्मादिशब्दानामपि तत्स्थानप्रतिपादकत्वसूचनाय ॥ २६ ॥

अथ पूर्वोद्दिष्टं शून्यपञ्चकं षट्चक्रं च प्रदर्शयति—

खमनन्तं तु जन्माख्यं नाभौ व्योम द्वितीयकम् ।
तृतीयं तु हृदि स्थाने चतुर्थं बिन्दुमध्यतः ॥ २७ ॥
नादाख्यं तु समुद्दिष्टं षट्चक्रमधुनोच्यते ।
जन्माख्ये नाडिचक्रं तु नाभौ मायाख्यमुत्तमम् ॥ २८ ॥
हृदिस्थं योगिचक्रं तु तालुस्थं भेदनं स्मृतम् ।
बिन्दुस्थं दीप्तिचक्रं तु नादस्थं शान्तमुच्यते ॥ २९ ॥

अनन्तवद्विश्वाश्रयत्वादनन्तम् । नादाश्रयत्वाद् नादाख्यम् । नाडिप्रसरहेतुत्वात्,

'नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ।' (पा०यो० ३।२५)

इति नीत्या समस्तमायाप्रपञ्चख्यातिहेतुत्वात्, योगिनां चित्तैकाग्र्यप्रदत्वात्,

---

स्थान और शक्तिग्रन्थि के भेदन से शक्तिस्थान और उसके ऊपर व्यापिनी धाम जो शिवस्थान है उसका भी भेदन करना चाहिये—यह कहते हैं—

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव, शक्ति के स्थानों तथा शिवस्थान का भेदन करना चाहिये ॥ २६ ॥

अन्त में पठित 'स्थान' शब्द को ब्रह्मा आदि के साथ जोड़ना चाहिये—इस प्रकार ब्रह्मस्थान विष्णुस्थान आदि बतलाने के लिये 'स्थान' शब्द का प्रयोग है ॥ २६ ॥

अब पूर्वोद्दिष्ट पाँच शून्यों और छह चक्रों को बतलाते हैं—

जन्मस्थान पहला शून्य है । नाभि में दूसरा शून्य है । तीसरा हृदय स्थान में, चौथा बिन्दु के मध्य में है । पाँचवा नाद कहा गया है । अब षट्चक्र को कहते हैं । जन्मस्थान में नाड़ीचक्र, नाभि में मायाचक्र, हृदय में योगीचक्र, तालु में भेदन, बिन्दु में दीप्ति एवं नाद में शान्त चक्र स्थित कहा जाता है ॥ २७-२९ ॥

अनन्त की भाँति विश्व का आश्रय होने से शून्य का नाम अनन्त है । नाद का आश्रय होने से इसका नाद नाम है । नाड़ियों के विस्तार का कारण होने से,

'नाभिचक्र में (धारणा ध्यान समाधि लगाने से) कायव्यूह (= शरीरसंरचना) का ज्ञान होता है ।' (पा०यो०सू० ३.२५)

प्रयत्नेन भेदनीयत्वात्, दीप्तिरूपत्वात्, शान्तिप्रदत्वादिति क्रमेण नाडिचक्रादौ हेतवः । एतानि शून्यानि सौषुप्तावेशप्रदत्वात्, चक्राणि तु भेदप्रसरहेतुत्वात् हेयानीति कृत्वा ॥ २९ ॥

तैः सह—

पूर्वोक्तानि च सर्वाणि ज्ञानशूलेन भेदयेत् ।

पूर्वोक्तनीत्याधारग्रन्थ्यादीनि । ज्ञानशूलं मन्त्रवीर्यभूतचित्स्फुरत्ता ॥

ज्ञानशूलोत्तेजनं युक्तिमाह—

आक्रम्य जन्माधाराख्यं तन्मूलं पीडयेच्छनैः ॥ ३० ॥

चित्तप्राणैकाग्र्येण कन्दभूमिमवष्टभ्य, तन्मूलमिति मत्तगन्धस्थानम्, शनैरिति सङ्कोचविकासाभ्यासेन, शक्त्युन्मेषमुपलक्ष्य पीडयेद् यथा शक्तिरूर्ध्वमुखैव भवति ॥ ३० ॥

अथ प्रसङ्गान्नानाशास्त्रप्रसिद्धान् पर्यायान् जन्माधारस्याह—

नियम के अनुसार समस्त मायाप्रपञ्च के ज्ञान का हेतु होने के कारण (इसे नाडीचक्र कहा जाता है । इसी प्रकार) योगियों को चित्त की एकाग्रता देने के कारण, प्रयत्नपूर्वक भेदनीय होने के कारण, दीप्तिरूप होने के कारण, शान्तिप्रद होने के कारण क्रमशः योगीचक्र आदि कहे जाते है । चूंकि ये शून्य (शरीर के अन्दर) सौषुप्त आवेश उत्पन्न करते हैं तथा चक्रभेद की भावना को बढ़ाते हैं, इसलिये हेय हैं ॥ २७-२९ ॥

उनके साथ—

(योगी को चाहिये कि वह) पूर्वोक्त सभी (ग्रन्थि आदि) का ज्ञानशूल से भेदन करे ॥ ३०- ॥

पूर्वोक्त नीति से आधारग्रन्थि आदि का (भेदन करे)। ज्ञानशूल = मन्त्र की वीर्यभूत चित्स्फुरत्ता ॥

ज्ञानशूल की उत्तेजना में युक्ति बतलाते हैं—

जन्माधार को आक्रान्त कर उसके मूल का धीरे-धीरे पीड़न करना चाहिये ॥ -३० ॥

चित्त और प्राण को एकाग्र कर कन्दभूमि को अवष्टम्भित (= स्थिर) करे । उसके मूल को = मत्तगन्धस्थान (= गुदामार्ग) को । धीरे-धीरे = संकोच विकास के अभ्यास से । शक्ति के उन्मेष को ध्यान में रख कर पीड़ित करे ताकि कुण्डलिनी शक्ति का मुख ऊपर होने लगे ॥ ३० ॥

जन्माधारस्य सुश्रोणि पर्यायान् शृण्वतः परम् ।
जन्मस्थानं तु कन्दाख्यं कूर्माख्यं स्थानपञ्चकम्॥ ३१ ॥
मत्स्योदरं तथैवेह मूलाधारस्तथोच्यते ।

मरुदुद्भवहेतुत्वात्, मध्यनाडीकन्दरूपत्वात्, कूर्माकारत्वात्, पृथिव्यादिव्योमान्ततत्त्वपञ्चकस्थानत्वात्, मत्स्योदरवत् स्फुरणात्, मूलभूतत्वाच्च जन्मादि आख्यायते ॥

एवं महामाहात्म्याच्छास्त्रेषु निरुच्यते या कन्दभूः—

तत्स्थां वै खेचराख्यां तु मुद्रां विन्देत योगवित् ॥ ३२ ॥
मुद्रया तु तया देवि आत्मा वै मुद्रितो यदा ।
तदा चोर्ध्वं तु विसरेद्विज्ञानेनोर्ध्वतः क्रमात् ॥ ३३ ॥

तत्स्थामिति कन्दभूमिविस्फुरितां शक्तिम्, मुदो हर्षस्य राणात् पाशमोचनभेदद्रावणात्मत्वात् परसंविद्द्रविणमुद्रणाच्च मुद्राम्, खे बोधगगने चरणात् खेचर्याख्यां योगी लभेत । लब्धया तु तया यदा आत्माणुर्मुद्रितः तद्वशः संपन्नः, तदामन्त्र-

---

अब प्रसङ्गात् अनेक शास्त्रों में प्रसिद्ध जन्माधार के पर्यायवाची शब्दों को बतलाते हैं—

हे सुश्रोणि ! इसके बाद जन्माधार के पर्यायों को सुनो । इसे जन्मस्थान, कन्द, कूर्म, स्थानपञ्चक, मत्स्योदर और मूलाधार कहा जाता है ॥ ३१-३२- ॥

वायु की उत्पत्ति का कारण होने से, मध्यनाडी का कन्दरूप होने से, कछुये के आकार का होने से, पृथ्वी से लेकर आकाश तक पाँच का (मूल) स्थान होने से, मछली के पेट के समान स्फुरण वाला होने से, मूल होने से यह जन्माधार आदि कहा जाता है ॥

इस प्रकार महामाहात्म्य के कारण शास्त्रों में जो यह कन्दभूमि कही जाती है—

योगी उसमें स्थित हुई खेचरी मुद्रा को प्राप्त करता है । हे देवि ! जब उस मुद्रा से आत्मा मुद्रित (= वशीभूत) होता है तब विज्ञान के द्वारा योगी क्रमशः ऊपर-ऊपर चलने लगता है ॥ -३२-३३ ॥

उसमें स्थित को = कन्द भूमि में विस्फुरित शक्ति को । मुद के = हर्ष के, राण (= दान) से, पाशमोचन भेदद्रावण रूप होने से, परसंवित् रूप धन के मुद्रण के कारण (इसका मुद्रा नाम पड़ा है) । ख = बोधगगन में, चरण = सञ्चरण करने से—खेचरी नामक मुद्रा को योगी प्राप्त करता है । उपलब्ध उस मुद्रा के द्वारा जब यह आत्मा = अणु (= जीव) मुद्रित होता है = उसके वश में होता है,

वीर्यस्फुरत्तात्मना विज्ञानेनोर्ध्वं द्वादशान्तं यावद्विसरेत् प्रसरेत् ॥ ३३ ॥

एतदेव स्फुटयति—

भिन्द्याद्भिन्द्यात् परं स्थानं यावत् स्वरवरार्चिते ।
तत्स्थानं चैव संप्राप्य योगी समरसो भवेत् ॥ ३४ ॥
निष्कलं भावमापन्नो व्यापकः परमः शिवः ।

परं स्थानं द्वादशान्तम् । भिन्द्यादिति वीप्सया क्रमादित्युक्तिः स्फुटीकृता । समरस इति सर्वस्याधस्तनस्याध्वनस्तन्मयीभावप्राप्तेः । परमः शिव इति, न तु भेदवाद्युक्तव्यतिरिक्तमुक्तशिवरूपः ॥

अथ श्लोकार्धेन परमशिवाभेदव्याप्तिमनुवदन् शक्तेरवरोहक्रमेण व्याप्तिमादेष्टुमुपक्रमते—

एवं भूत्वा समं सर्वं निःस्पन्दं सर्वदोदितम् ॥ ३५ ॥
ततः प्रवर्तते शक्तिर्लक्ष्यहीना निरामया ।
इच्छामात्रविनिर्दिष्टा ज्ञानरूपा क्रियात्मिका ॥ ३६ ॥
एका सा भावभेदेन तस्य भेदेन संस्थिता ।

भूत्वेत्यन्तर्भावितणिजर्थः । तेन सर्वं समनान्तम्, एवं द्वादशान्तारोहणेन, समं

तब (वह) मन्त्रवीर्य की स्फुरत्ता रूप विज्ञान के द्वारा ऊर्ध्व = द्वादशान्त तक, प्रसरण करता है ॥ ३३ ॥

इसी को स्पष्ट करते हैं—

हे श्रेष्ठस्वरों से पूजित ! पर स्थान का बार-बार तब तक भेदन करना चाहिये जब तक उस स्थान को प्राप्त करने के बाद योगी निष्कल भाव को प्राप्त कर समरस, व्यापक परम शिव न हो जाय ॥ ३४-३५- ॥

पर स्थान = द्वादशान्त । भेदन करे—इसको दो बार कहने का अर्थ है—क्रमशः । समरस = समस्त अधस्तन अध्वा के तन्मयीभाव की प्राप्ति के कारण । परम शिव—न कि भेदवादियों के द्वारा उक्त भिन्न मुक्त शिवरूप (परम शिव) ॥ ३४ ॥

अब श्लोकार्द्ध के द्वारा परमशिव के साथ अभेदव्याप्ति को कहते हुए शक्ति के अवरोहक्रम से व्याप्ति को बतलाने का उपक्रम करते है—

इस प्रकार सबको सम निःस्पन्द और सर्वदा उदित सम्पादित करने के बाद लक्ष्यहीन, निरामय, इच्छाज्ञानक्रियारूपा शक्ति प्रवृत्त होती है । यद्यपि वह एक है फिर भी उसके (= परम शिव के) भावभेद के कारण वह भेदपूर्वक स्थित है ॥ ३५-३७- ॥

समरसम्, नि:स्पन्दं प्रशान्तकल्लोलम्, सर्वदोदितं प्राप्तपरचित्प्रकाशैक्यम्, भावयित्वा संपाद्य, तत एव द्वादशान्तधाम्नो लक्ष्यहीना परस्फुरत्तात्मा, निष्क्रान्त आमयो महामाया यस्यास्तादृशी महामायाद्युल्लासिका परा शक्ति:, प्रवर्तते समुन्मिषति इच्छा-ज्ञान-क्रियारूपतया क्रमेण स्फुरतीत्यर्थ: । तत एवैका, तस्येति परमशिवस्य, संबन्धिना भावभेदेन एषणीयज्ञेयकार्यावभासनोदयवैचित्र्येण हेतुना, भेदेन संस्थिता गृहीतेच्छादिनानात्वा ।

यत एवं परमशिवाच्छक्ति: स्वयं प्रवर्तते, तेन—

खेचरीमुद्रयापूर्य शक्त्यन्तं तत्र सर्वत: ॥ ३७ ॥
यावच्च नोदितश्चन्द्रस्तावत् सूक्ष्मं निरञ्जनम्।
भावग्राह्यमसंदिग्धं सर्वावस्थोज्झितं परम् ॥ ३८ ॥
व्यापकं पदमैशानमनौपम्यमनामयम् ।
भवन्ति योगिनस्तत्तु तदारूढौ वरानने ॥ ३९ ॥

तत्र—

'बद्ध्वा पद्मासनं योगी नाभावक्षेश्वरं न्यसेत् ।
दण्डाकारं तु तावत्तन्नयेद्यावत् कखत्रयम् ॥

भूत्वा—यहाँ अन्तर्भावित 'णिच्' प्रत्यय है (= इससे 'भूत्वा' का अर्थ है—भावयित्वा = सम्पादित कर) । सब = समना पर्यन्त । इस प्रकार द्वादशान्त तक आरोहण के द्वारा सबको समरस नि:स्पन्द = कल्लोलरहित, सर्वदा उदित = पर संवित् की प्रकाशैकता को प्राप्त, बनाकर, उसी से = द्वादशान्तधाम से, लक्ष्यहीन = परस्फुरत्तारूप, निरामया = निकल गया है आमय = महामाया जिससे वह अर्थात् महामाया आदि की उल्लासिका परा शक्ति, प्रवृत्त होती है = समुन्मिषित होती है = इच्छा-ज्ञान-क्रिया रूप में क्रम से स्फुरित होती है । इसीलिये वह एक होते हुए भी, उसके = परमशिव के, भावभेद से = एषणीय ज्ञेय कार्य के अवभासन के उदयवैचित्र्य के कारण, (वह शक्ति) भेदपूर्वक स्थित है = इच्छा आदि नानारूप धारण किये है ॥

चूँकि परमशिव से शक्ति स्वयं प्रवृत्त होती है; इस कारण—

खेचरी मुद्रा के द्वारा शक्तिपर्यन्त सब प्रकार से आपूरण कर जब तक चन्द्र का उदय नहीं होता तब तक उस (= शक्ति) पर आरूढ़ होने पर सूक्ष्म, निरञ्जन, भावग्राह्य, असन्दिग्ध, सब अवस्था से परे, पर, व्यापक, उपमारहित, अनामय (जो परधाम उपलब्ध होता है) योगिजन वैसे ही हो जाते हैं ॥ -३७-३९ ॥

योगी पद्मासन लगाकर नाभि में अक्ष के स्वामी (= क्षकार) का न्यास करे ।

निगृह्य तत्र तत्तूर्णं प्रेरयेत् खत्रयेण तु ।
एतां बद्ध्वा महायोगी खे गतिं प्रतिपद्यते ॥' (७।१५-१७)

इति श्रीमालिनीविजयलक्षितया पूर्वोद्दिष्टखेचरीमुद्रया शक्त्यन्तं यावत्, सर्वतः सर्वप्रकारेणापूर्य, यावत् तत्र चन्द्र इत्यपानो नोदितो भवेत् तावत् तदारूढौ तच्छक्तिपदारोहे सति, योगिनः, सूक्ष्ममतीन्द्रियम्, निरञ्जनमनावरणम्, भावग्राह्यं स्वप्रकाशम्, असन्दिग्धं स्वविमर्शसारम्, सर्वाभिर्जागराद्यवस्थाभिरुज्झितम् सर्वसामरस्यावस्थानात्परम्, दिग्देशाद्यनवच्छेदाद् व्यापकम्, परमेशानं स्वतन्त्रम्, अद्वितीयत्वाद् अनौपम्यम्, न विद्यते आमयो महामायावच्छेदो यतो भक्तिभाजां तदनामयम्, यत् परं धाम तद्भवन्ति तन्मया जायन्त इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

एवं प्राप्तपरतत्त्वाभेदस्य योगिनः 'तत् प्रवर्तते शक्तिः' इत्यनेन योन्मिषन्ती परा शक्तिरुक्ता—

सा योनिः सर्वदेवानां शक्तीनां चाप्यनेकधा ।
अग्नीषोमात्मिका योनिस्तस्याः सर्वं प्रवर्तते ॥ ४० ॥
तत्र संग्रथिता मन्त्रास्त्राणवन्तो भवन्ति हि ।
सर्वेषां चैव संहारस्तदेव परमं पदम् ॥ ४१ ॥

उसे दण्डाकार में तब तक ले जाय जब तक क ख त्रय (= क = शिर में, ख त्रय = शक्ति व्यापिनी और समना) का निग्रह कर ख तीन (= शक्ति व्यापिनी और समना) से उसे प्रेरित करे । इसका बन्धन कर महायोगी आकाश में गति प्राप्त करता है । (मा०वि०तं० ७।१५-१७)

इस मालिनीविजयतन्त्र से लक्षित पूर्वोद्दिष्ट खेचरी मुद्रा के द्वारा शक्तिपर्यन्त, सर्वतः = सब प्रकार से, (नाडी समूह को) आपूरित कर जब तक चन्द्र = अपान, उदित नही होता तब तक उसके आरूढ़ होने पर = (योगी के) उस शक्ति पद पर आरूढ़ होने पर, योगी लोग सूक्ष्म = अतीन्द्रिय, निरञ्जन = आवरणरहित, भावग्राह्य = स्वप्रकाश, असन्दिग्ध = स्वविमर्शमात्र तत्त्व वाले, सब = जाग्रत स्वप्न आदि, अवस्थाओं से उज्झित, सब के साथ समरस होने से पर, दिशा देश आदि से अवच्छिन्न न होने से व्यापक, परमेश्वर = स्वतन्त्र, अद्वितीय होने से अनुपम, भक्त लोगों के लिये जहाँ महामाया अवच्छेद रूपी आमय नही है ऐसा अनामय जो परमधाम, उसके रूप वाले या तन्मय = वही हो जाते हैं ॥ ३९ ॥

इस प्रकार परतत्त्व से अभेद को प्राप्त योगी की 'उसके प्रति शक्ति प्रवृत्त होती है' उक्ति के द्वारा जो उन्मिषन्ती पराशक्ति कही गयी है—

वह समस्त देवों की कारण है; शक्तियों की अनेक प्रकार है, अग्नि और सोमरूपी योनि है । उसी से सब उत्पन्न होता है । उसमें संग्रथित मन्त्र त्राण करते हैं । सबकी संहारस्थली वह परम पद है । परमशिव को

तस्मात् प्रवर्तते सृष्टिर्विक्षोभ्य परमं शिवम् ।
अनौपम्यामृतं प्राप्य बिन्दुं विक्षोभ्य लीलया ॥ ४२ ॥
चन्द्रोदये तदा ख्याते परमामृतमुत्तमम् ।
बहलामृतकल्लोलमनन्तं तत्र संस्मरेत् ॥ ४३ ॥
तस्मात् प्राप्यामृतं शुद्धं स्वशक्त्या चैव कर्षयेत्।
मध्यमार्गेण सुश्रोणि कारणादि प्रभेदयेत् ॥ ४४ ॥
आप्यायनं प्रकुर्वीत् स्थाने स्थाने ह्यनुक्रमात् ।
यावद् ब्रह्मपदं प्राप्तं तस्मादाप्याययेदधः ॥ ४५ ॥
जन्मस्थानपथाच्चैव कालाग्नौ तु प्रवर्तयेत् ।
तदापूर्य समन्तात्तु परिपूर्णं स्मरेत् पुरम् ॥ ४६ ॥
सुषुम्नामृतेनाखिलं परिपूर्णं विभावयेत् ।
अनन्तनाडिभिस्तत्र रोमकूपैः समन्ततः ॥ ४७ ॥
निष्क्रम्य व्यापको भूत्वा ह्यमृतोर्मिभिराकुलम् ।
अमृतार्णवसंरूढं मज्जन्तममृतार्णवे ॥ ४८ ॥
तदूर्ध्वे ह्यमृतार्णं तु प्रद्रुतं व्यापकं शिवम् ।
एवं समरसीभूतं ह्यमृतं सर्वतोमुखम् ॥ ४९ ॥
इच्छाज्ञानक्रियारूपं शिवमात्मस्वरूपकम् ।
निरामयमनुप्राप्य स्वानुभूत्या विभावयेत् ॥ ५० ॥
अमृतेशपदं सूक्ष्मं संप्राप्यैवामृतीभवेत् ।

विक्षुब्ध कर उसी से सृष्टि होती है । योगी (को चाहिये कि वह) अनुपम अमृत को प्राप्त कर, बिन्दु को लीला के द्वारा क्षुब्ध कर चन्द्रोदय होने पर बहल (= प्रचुर) अमृत कल्लोलवाले अनन्त उत्तम परम अमृत का वहाँ स्मरण करे ॥ ४०-४३ ॥

उससे शुद्ध अमृत प्राप्त कर अपनी शक्ति से उसे मध्यमार्ग से (नीचे) ले जाय । तत्पश्चात् कारण आदि का भेदन करे । तात्पर्य यह है कि स्थान-स्थान पर क्रम से तब तक आप्यायन करे जब तक कि ब्रह्मपद न प्राप्त हो जाय । उससे नीचे-नीचे आप्यायन करे । जन्मस्थान पथ से कालाग्नि में प्रवर्त्तित करे । उस (अमृत) से अपने शरीर को सब ओर से परिपूर्ण होता हुआ ध्यान करे । सुषुम्ना के अमृत से सबको परिपूर्ण ध्यान करे । इसके बाद अनन्त नाड़ियों अर्थात् रोमकूपों से सब ओर से निकल कर व्यापक होकर अमृतकिरणों से व्याकुल अमृतसमुद्र में संरूढ़ उसमें डूबते हुए तथा उसके बाद अमृतवर्ण को प्रद्रुत व्यापक शिव के साथ समरसीभूत सब दिशाओं में प्रसृत इच्छा ज्ञान क्रिया रूप

तदासावमृतीभूय मृत्युजिन्नात्र संशयः ॥ ५१ ॥
कालजित् सुभगो धीरो मृत्युस्तं च न बाधते।

सर्वदेवानामित्यनाश्रितसदाशिवेश्वरानन्तरुद्रादीनाम्, शक्तीनामिति वामाज्येष्ठादीनां च, यतश्च सा शक्तिरग्नीषोमात्मिका योनिस्तत एव सोमप्रधाना, यतस्तस्याः सर्वं प्रवर्तते उद्भवति, अत एवाग्नीषोमात्मशक्तिप्रकृति विश्वमग्नीषोममयमेव । तथा चाग्निरप्याह्लादयति हिममपि च दहति, इति तत्त्वविद आहुः । किं च, तत्राग्नीषोमात्मशक्तिधाम्नि संग्रथितास्तद्वीर्यसारत्वेनोच्चारिता मन्त्रास्त्राणवन्तः सिद्धिमुक्तिदाः, इति शक्तेः स्थितिहेतुत्वमुक्तम् । तदेवेत्यग्नीषोमात्मनः शक्तेरग्निरूपत्वात् संहर्तृत्वं च । एवं सृष्टिस्थितिसंहारहेतुत्वं शक्तेः प्रदर्श्य प्रकृतमाह-तस्मादिति । यत एवंभूतैषा शक्तिस्तस्मात्परं शिवं विक्षोभ्य समनापदावरोहणेन सृष्ट्युन्मुखं कृत्वा, तत्रानौपम्यमिति परमानन्दमयममृतं प्राप्य, बिन्दुमिति महाप्रकाशात्म समनारूढं धाम, लीलया स्वातन्त्र्यक्रीडया, विक्षोभ्य सृष्टिप्रसरोन्मुखं विधाय, तदा चन्द्रोदयेऽपानोल्लासे ख्याते सति, तत एव शाक्ताद्धाम्न उदितं परमामृतमुत्तममानन्दरसप्रधानं बहला अमृतकल्लोलाः सुसितसुधाप्रसारा यस्य तादृक्, अनन्त-

---

शिव का निरापद आत्मस्वरूप में चिन्तन करे । इस प्रकार सूक्ष्म अमृतेश पद को प्राप्त कर अमृत हो जाय । इस प्रकार यह (साधक) अमृत, मृत्युजित्, कालजयी, सुभग और धीर हो जाता है । मृत्यु उसको बाधित नहीं करती ॥ ४४-५२- ॥

सब देवों का = अनाश्रित शिव, सदाशिव ईश्वर अनन्तेश रुद्र आदि का । शक्तियों का = वामा ज्येष्ठा तथा ब्राह्मी आदि का । चूँकि वह शक्ति अग्नीषोमरूपा योनि है इसीलिये सोमप्रधान है । चूँकि उससे सब प्रवृत्त = उत्पन्न होता है इसलिये अग्निसोमरूप शक्तिवाला विश्व अग्निसोममय ही है । इस प्रकार अग्नि भी आनन्द देती है हिम भी दाह करता है—ऐसा तत्त्ववेत्ता लोग कहते हैं । उस अग्निसोमात्मक शक्तिधाम में संग्रथित = उसके वीर्यसार के रूप में उच्चारित, मन्त्र त्राण करते हैं = भोग और मोक्ष देते हैं । इस प्रकार शक्ति ही स्थिति का कारण है—यह कहा गया । वही—अग्नीषोमात्मक शक्ति के अग्निरूप होने के कारण वह संहर्त्री भी है । इस प्रकार शक्ति को सृष्टि स्थिति संहार का कारण बतलाकर प्रस्तुत को कहते हैं—इस कारण । यतो हि यह शक्ति इस प्रकार की है इस कारण योगी को चाहिये कि वह परशिव को विक्षोभित कर समना स्तर पर उतर कर सृष्टि के प्रति (उन्हें) उन्मुख बनाये । वहाँ पर अनौपम्य—परमानन्दमय अमृत, को प्राप्त कर बिन्दु अर्थात् महाप्रकाशरूप समनारूढ़ धाम को लीला अर्थात् स्वातन्त्र्यवश विक्षोभित कर अर्थात् सृष्टिप्रसर की ओर प्रवृत्त करे उसके बाद चन्द्र अर्थात् अपान का उल्लास होने पर उसी शाक्तधाम से उदित परम अमृत = उत्तम आनन्द रसप्रधान बहल अमृतलहरियों = सुसित सुधारसप्रसर वाले अनन्त अनवच्छिन्न का स्मरण

मनवच्छिन्नम्, तत्र स्मरेद् ध्यायेत् । तस्मात् चन्द्रोदयाच्छुद्धममृतं प्राप्यान्तर्मुखीभूतया स्वशक्त्या मध्यमार्गेण कर्षयेदधोऽधः प्रवर्तयेत् । तेन च कारणादीति कारणानि ब्रह्मादीनि, आदिशब्दात्, पूर्वोक्तं चक्राधारादि सर्वं प्रभेदयेद् निषिञ्चेत् । एतदेवाप्यायनमित्यादिनानेन स्फुटीकृतम् । ब्रह्मस्थानं हृद्धाम यावत्तदमृतं प्राप्तं भवति, ततोऽप्यधो नाभेरधःस्थाने निषिच्य कालाग्न्यन्तमापूर्य समन्तात् परिपूर्णं देहं स्मरेत् । ततः सर्वरोमकूपैः प्रसृत्यान्तर्बहिरासादितव्याप्ति सर्वदिक्कममृतार्णवप्लावनसमरसीभूतपरमामृतरूपम्, इच्छाज्ञानक्रियाशक्तिकचितं परमशिवरूपं निरामयमात्मानं चिन्तयेत् । एवं सूक्ष्मध्यानाद्विजितमृत्युरासादितपरमसौभाग्योऽमृतेशतुल्यो भवति ॥ ५१ ॥

उपसंहरति—

कालस्य वञ्चनं सूक्ष्मं मया ते प्रकटीकृतम् ॥ ५२ ॥
न कस्यचिन्मयाख्यातं त्वदृते भक्तवत्सले ॥ ५३ ॥

तवैव परानुग्रहैकव्रताया एवं प्रकटीकृतम् ॥ ५३ ॥

अर्थात् ध्यान करे । उस चन्द्रोदय से शुद्ध अमृत को प्राप्त कर अन्तर्मुखीभूत अपनी शक्ति से मध्यमार्ग से (उस अमृत को) नीचे-नीचे ले जाय । उसके द्वारा कारण आदि = ब्रह्मा आदि कारणों एवं चक्र आधार आदि सबका, प्रभेदन = सिञ्चन, करे । यही बात 'आप्यायन' इत्यादि के द्वारा ग्रन्थकार ने स्पष्ट किया है । जबतक वह अमृत ब्रह्मस्थान = हृदयधाम को प्राप्त होता है तबतक उसको और नीचे = नाभि के नीचे, स्थान से गिराकर कालाग्नि तक पूरित कर समस्त शरीर को उससे परिपूर्ण चिन्तन करे । इसके बाद उस अमृत को समस्त रोम कूपों के माध्यम से बाहर निकाल कर समस्त दिशाओं में व्याप्त होकर अमृत-समुद्र के प्लावन जैसा, इच्छा ज्ञान क्रिया शक्ति वाले परमशिव रूप अपने को निरामय सोचे। इस प्रकार सूक्ष्मध्यान से योगी मृत्यु को जीत कर परम सौभाग्य वाला एवं अमृतेश के समान हो जाता है ॥ ५१ ॥

(अधिकार का) उपसंहार करते हैं—

हे भक्तवत्सले ! मेरे द्वारा तुम्हें काल का सूक्ष्म वञ्चन (= परिचय) बतलाया गया। इसे तुम्हारे अतिरिक्त मैंने किस को नहीं कहा ॥५२-५३॥

इस प्रकार मृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के सप्तम अधिकार की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदी कृत ज्ञानवती नामक हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ७ ॥

परानुग्रह का नियम रखने वाली तुम्हीं को बतलाया ॥ ५३ ॥

सूक्ष्मध्यानसमुल्लासिसुधाकल्लोलकेलिभिः ।
प्लावयन्निखिलं नौमि नेत्रमुच्चैर्महेशितुः ॥

॥ इति श्रीनेत्रतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचिते-
नेत्रोद्योते सूक्ष्मध्याननिरूपणं नाम सप्तमोऽधिकारः ॥ ७ ॥

सूक्ष्मध्यान को समुल्लसित करने वाले, अमृत लहरियों की लीला के द्वारा समस्त विश्व को प्लावित करने वाले, परमेश्वर के उच्च नेत्र को मैं (उच्च रूप से) प्रणाम करता हूँ ।

॥ इस प्रकार श्रीमदमृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के सप्तम अधिकार की आचार्यवर्य श्रीक्षेमराजविरचित 'नेत्रोद्योत' नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ७ ॥

अष्टमोऽधिकारः

*** नेत्रोद्योतः ***

अमन्दानन्दसन्दोहि स्पन्दान्दोलनसुन्दरम् ।
स्वज्योतिश्चिन्महाज्योतिर्नेत्रं जयति मृत्युजित् ॥

सूक्ष्मध्यानानन्तरं परध्याननिर्णयाय श्रीभगवानुवाच—

अथ मृत्युञ्जयं नित्यं परं चैवाधुनोच्यते ।
यत्प्राप्य न प्रवर्तेत संसारे त्रिविधे प्रिये ॥ १ ॥

अथशब्दः सूक्ष्मध्यानानन्तर्यप्रथनाय, नित्यमेव च यन्मृत्युञ्जयं कालग्रासि, परमनुत्तरं परमेशस्वरूपम् । त्रिविध इति मायान्तसदाशिवान्तशिवान्तभवाभवातिभवरूपे ॥ १ ॥

*** ज्ञानवती ***

यमाद्यष्टाङ्गयोगेन साकमावेशलक्षणम् ।
वर्णयज्जयते नेत्रमुपायानां विवेचकम् ॥

अमन्द आनन्द की राशि वाला, स्पन्द के आन्दोलन से सुन्दर, स्वयं प्रकाश, चैतन्य की महाज्योतिरूप मृत्युजित्नेत्र सर्वोत्कृष्ट है ।

सूक्ष्म ध्यान के बाद पर ध्यान के निर्णय के लिये श्री भगवान् ने कहा—

हे प्रिये ! इसके बाद अब नित्य पर मृत्युञ्जय ध्यान को बतलाता हूँ जिसको प्राप्त कर (योगी) इस त्रिविध संसार में नहीं आता ॥ १ ॥

(श्लोकोक्त) 'अथ' शब्द सूक्ष्म ध्यान के आनन्तर्य को बतलाने के लिये है । नित्य जो मृत्युञ्जय = काल को निगलने वाला, पर = अनुत्तर परमेश्वररूप, त्रिविध = मायान्त, सदाशिवान्त तथा शिवान्त जो कि क्रमशः भव, अभव और अतिभव रूप है, (में योगी प्रवेश नहीं करता) ॥ १ ॥

किं च—

योगी सर्वगतो भाति सर्वदृक् सर्वकृच्छिवः ।
तदहं कथयिष्यामि यस्मादन्यन्न विद्यते ॥ २ ॥
यत्प्राप्य तन्मयत्वेन भवति ह्यजरामरः ।

परयोगिनोऽस्य देहादिप्रमातृताऽस्पर्शाद् जरामरणादिकथैव न काचिदस्तीत्यर्थः॥

तदेतद्वक्तुमुपक्रमते—

यन्न वाग्वदते नित्यं यन्न दृश्येत चक्षुषा ॥ ३ ॥
यच्च न श्रूयते कर्णैर्नासा यच्च न जिघ्रति ।
यन्नास्वादयते जिह्वा न स्पृशेद्यत् त्वगिन्द्रियम् ॥ ४ ॥
न चेतसा चिन्तनीयं सर्ववर्णरसोज्झितम् ।
सर्ववर्णरसैर्युक्तमप्रमेयमतीन्द्रियम् ॥ ५ ॥
यत्प्राप्य योगिनो देवि भवन्ति ह्यजरामराः ।
तदभ्यासेन महता वैराग्येण परेण च ॥ ६ ॥
रागद्वेषपरित्यागाल्लोभमोहक्षयात् प्रिये ।
मदमात्सर्यसंत्यागान्मानगर्वतमःक्षयात् ॥ ७ ॥
लभ्यते शाश्वतं नित्यं शिवमव्ययमुत्तमम् ।

साथ ही—

(उसको प्राप्त कर) योगी सर्वगामी, सर्वद्रष्टा और सर्वकर्त्ता रूप शिव हो जाता है । मैं उस (तत्त्व) को बतलाऊँगा जिससे भिन्न और कुछ नहीं है । जिसको प्राप्त कर तन्मय होने के कारण योगी अजर अमर हो जाता है ॥ २-३- ॥

देहादिप्रमातृता का स्पर्श न होने के कारण जरा मरण आदि की कोई बात ही नहीं है ॥

उसको कहने का उपक्रम करते हैं—

जिस नित्य को वाणी नहीं बताती; जो आँखों से देखा नहीं जाता, जिसको कानों से सुना नहीं जाता, नासिका जिसको सूँघ नहीं सकती; जिह्वा जिसका आस्वादन नहीं करती, त्वगिन्द्रिय जिसका स्पर्श नहीं करती, चित्त जिसका चिन्तन नहीं कर सकता, जो समस्त वर्ण रस (आदि) से रहित होकर भी समस्त वर्ण रसों से युक्त है; जिसको प्राप्त कर योगीजन अजर और अमर हो जाते हैं । हे प्रिये ! शाश्वत नित्य उत्तम अव्यय शिवस्वरूप वह (तत्त्व) अत्यन्त महान् अभ्यास, परवैराग्य, रागद्वेष के

पश्यन्त्यादित्रिरूपापि वाग् यत्र भाषते, यच्च बहिरन्तःकरणागोचरः, वर्णयन्तीति वर्णा वाचकाः, वर्ण्यन्त इति वर्णा वाच्याः, सर्वे च ते वर्णास्तेषां रसाः प्रसरास्तैरुज्झितमवाच्यवाचकात्मेत्यर्थः । अथ च तैः सर्वैर्युक्तं विश्वात्मकत्वात्, अतश्चातीन्द्रियत्वान्न प्रमेयमपि तु परप्रमात्रेकरूपमिति पर्यवसितम्, यदेवंभूतं तत्त्वं प्राप्य समाविश्य,

'योगमेकत्वमिच्छन्ति ।' मा० वि० (४।४)

इति स्थित्या योगिनः परतत्त्वैकशालिनस्तत्त्वतो जरामृत्युरहिता भवन्ति । तन्महताभ्यासेन—

'मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।' (भ गी० १२।२)

इति सततसमावेशप्रयत्नेन परेण वैराग्येण दृष्टागमिकधराद्यनाश्रितान्तसमस्तभोगवैतृष्ण्येन, अत एव रागद्वेषादिसर्वदोषप्रशमाच्च लभ्यते, मानाच्छङ्करपूजातो तस्य क्षयात् शाश्वतमविवर्तात्मकम्, नित्यं लोकोत्तरं शिवं परश्रेयोरूपमव्ययमपरिणामि, अतश्चोत्तमं सर्वोत्कृष्टम् ॥

परित्याग, लोभ मोह के सम्यक् नाश, मदमात्सर्य के सन्त्याग, मान गर्व अज्ञान के क्षय से प्राप्त होता है ॥ ३-८- ॥

पश्यन्ती आदि तीनों प्रकार की वाणी जिसको नहीं बतलाती । जो बाह्य और आभ्यन्तर इन्द्रियों का विषय नहीं बनता । जो वर्णन करे वह वर्ण (कहलाता है) अर्थात् वाचक । जो वर्णित किया जाय वह भी वर्ण (कहलाता है) अर्थात् वाच्य । वे सभी (= वाचक वाच्य) वर्ण हैं । उनका रस = प्रसार, उनसे त्यक्त अर्थात् अवाच्य अवाचकरूप । वह उन सबसे युक्त है क्योंकि वह विश्वरूप है । इसलिये अतीन्द्रिय होने के कारण वह प्रमेय नहीं है वरन् परप्रमातामात्र है । इस प्रकार के तत्त्व को प्राप्त कर = उससे समविष्ट होकर,

'योग का अर्थ है—एकत्व—(ऐसा विद्वान्) मानते हैं ।' (मा०वि० ४.४)

उस स्थिति से परतत्त्व से ऐक्य को प्राप्त योगी जरामृत्यु से रहित हो जाते हैं । वह तत्त्व महा अभ्यास से—

'जो लोग मन को मुझ में आविष्ट कर नित्य योग में लगे हुये मेरी उपासना करते हैं' (भ०गी० १२।२)

इस प्रकार सतत समावेश रूपी प्रयत्न से तथा परवैराग्य = प्रत्यक्ष एवं आगमवर्णित पृथ्वी से अनाश्रित शिव पर्यन्त प्राप्य समस्त भोगों के प्रति अनिच्छा, के कारण, इसीलिये राग द्वेष आदि समस्त दोषों के प्रशमन के कारण प्राप्त होता है । मान = शङ्कर पूजा के कारण जो गर्व—मेरे जैसा कोई नहीं है इस प्रकार का—वही तम अर्थात् अनात्मा में आत्माभिमानरूप अज्ञान, उसके क्षय से, शाश्वत = विवर्त्तरहित, नित्य = लोकोत्तर, शिव = पर श्रेयोरूप, अव्यय = अपरिणामी,

इयांश्चास्य स्फारोऽयम्—

निमेषोन्मेषमात्रेण यदि चैवोपलभ्यते ॥ ८ ॥
ततः प्रभृति मुक्तोऽसौ न पुनर्जन्म चाप्नुयात् ।

केनचिदिति मध्येऽध्याहार्यम् । उपलभ्यते समाविश्यते । ततःप्रभृति न तु कालान्तरे । मुक्तः स्थितैरपि देहप्राणैरगुणीकृतः । न च तद्देहत्यागे पुनर्जन्म देहान्तरसंबन्धमाप्नोति, अपि तु परमशिव एव भवति ॥

ततश्च योगी—

अष्टाङ्गेन तु योगेन प्राप्नुयान्नान्यतः क्वचित् ॥ ९ ॥

तमष्टाङ्गयोगमन्यशास्त्रप्रतिपादितरूपवैलक्षण्येन क्रमेणादिशति देवः—

संसाराद्विरतिर्नित्यं यमः पर उदाहृतः ।
भावना तु परे तत्त्वे नित्यं नियम उच्यते ॥ १० ॥

स्पष्टम् ॥ १० ॥

मध्यमं प्राणमाश्रित्य प्राणापानपथान्तरम् ।

इस कारण उत्तम = सर्वोत्कृष्ट (शिव तत्त्व प्राप्त होता है) ॥

यदि कोई निमेष या उन्मेष मात्र से उसे प्राप्त कर ले तो उसके बाद वह मुक्त हो जाता है और पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता ॥ ८-९- ॥

बीच में, 'केनचित्' का अध्याहार कर लेना चाहिये । (तब अन्वय होगा— 'किसी के द्वारा') उपलब्ध किया जाता हैं = समाविष्ट किया जाता है । तब से— न कि कालान्तर में, मुक्त = देह प्राण के रहते हुए भी उनसे असम्बद्ध । उस शरीर का त्याग होने पर पुनर्जन्म = दूसरे देह से सम्बन्ध, नहीं होता वरन् वह परम शिव ही हो जाता है ॥ -८-९- ॥

इसके बाद योगी—

अष्टाङ्ग योग से ही उसे प्राप्त करता है अन्य किसी साधक से नहीं ॥ -९ ॥

देव (= परमेश्वर) प्रकृत अष्टाङ्ग योग को अन्य शास्त्रों में प्रतिपादित अष्टाङ्ग योग से भिन्न रूप में बतलाते हैं—

संसार से शाश्वत विरति को पर (= उत्कृष्ट) यम कहा गया है । पर तत्त्व में नित्य भावना नियम कहा जाता है ॥ १० ॥

कारिकार्थ स्पष्ट है ॥ १० ॥

प्राण और अपान मार्गों के बीच में उपस्थित मध्य प्राण को आधार

आलम्ब्य ज्ञानशक्तिं च तत्स्थं चैवासनं लभेत ॥ ११ ॥

प्राणापानमार्गयोः सव्यापसव्ययोरान्तरं मध्यनाड्यां भवं प्राणमित्यूर्ध्वगामिनमुदानमाश्रित्य, ततश्च प्राणीयव्याप्तिनिमज्जनेन चिद्व्याप्त्युन्मज्जनाद् ज्ञानशक्तिमुन्मिषत्स्फुरत्तारूपां संविदमालम्ब्यावष्टभ्य, तत्स्थमेवासनं योगी लभते निजज्ञानशक्त्यासनासीनश्चिन्महेशरूपो भवतीत्यर्थः ॥ ११ ॥

प्राणादिस्थूलभावं तु त्यक्त्वा सूक्ष्ममथान्तरम् ।
सूक्ष्मातीतं तु परमं स्पन्दनं लभ्यते यतः ॥ १२ ॥
प्राणायामः स उद्दिष्टो यस्मान्न च्यवते पुनः ।

प्राणादौ प्राणापानसमानेषु यः स्थूलो रेचकपूरकादिर्भावः स्वभावस्तं त्यक्त्वा उज्झित्वा, अथेत्येतत्स्थूलप्राणायामानन्तरभावि, सूक्ष्ममान्तरमिति मध्यपथेन रेचनाचमनादिरूपं च तं त्यक्त्वा, यतो यस्मात् सूक्ष्ममप्यतीतं परममिति प्राणाद्यचित्स्फुरत्तात्म स्पन्दनं लभ्यते, तस्मात्तदेव परं स्पन्दनं यत् स एव स्थूलसूक्ष्मभेदभाजां प्राणानामायामः प्रशमितप्राधान्यावभासात्मा नियम उत्कृष्टतयादिष्टो निरूपितः । यस्मादिति यं प्राणायाममासाद्य न पुनश्च्यवते चित्प्रमातृमयतां न कदाचिज्जहाति ॥

बनाकर ज्ञानशक्ति के आलम्बन के द्वारा उसी में स्थित होना आसन है ॥ ११ ॥

प्राण अपान (= इड़ा पिङ्गला) ये ही सव्यापसव्य (= बाँयाँ-दाँयाँ) मार्ग हैं, इन दोनों के बीच मध्यनाड़ी (= सुषुम्ना) है । उसमें उत्पन्न होने वाले प्राण = ऊर्ध्वगामी उदान का आश्रयण कर, उसके बाद प्राणीय व्याप्ति के निमज्जन से चिद्व्याप्ति का उन्मज्जन होने के कारण उन्मिषित स्फुरत्तारूपा ज्ञानशक्ति = संविद् का आलम्बन कर उस पर स्थित हुआ योगी आसन प्राप्त करता है अर्थात् अपनी ज्ञानशक्तिरूपी आसन पर आसीन हुआ वह चिन्महेश्वर रूप हो जाता है ॥ ११ ॥

प्राण आदि स्थूल भाव का तत्पश्चात् सूक्ष्मभाव का त्याग कर जिसके द्वारा सूक्ष्मातीत पर स्पन्दन प्राप्त किया जाता है वह प्राणायाम कहा गया है जिसको प्राप्त कर योगी च्युत नहीं होता ॥ १२-१३- ॥

प्राण आदि = प्राण अपान और समान में जो स्थूल रेचक पूरक आदि भाव = स्वभाव, उसको छोड़कर, इसके बाद = इस स्थूल प्राणायाम के बाद होने वाले भीतरी सूक्ष्म = मध्यमार्ग से रेचन आचमन (= ग्रहण) आदि रूप उसका त्याग कर, जिस कारण सूक्ष्म से भी परे पर अर्थात् प्राण आदि अचित्स्फुरत्ता वाला स्पन्दन उपलब्ध होता है, वही पर स्पन्दन स्थूल सूक्ष्म भेदवाले प्राणों का आयाम = प्रशमित प्राधान्यावभासरूप नियम उत्कृष्ट रूप से कहा गया है । जिसकारण = जिस प्राणायाम को प्राप्त कर, (साधक) पुनः च्युत नहीं होता = चित्प्रमातृमयता को कभी भी नहीं छोड़ता ॥

शब्दादिगुणवृत्तिर्या चेतसा ह्यनुभूयते ॥ १३ ॥
त्यक्त्वा तां प्रविशेद्धाम परमं तत्स्वचेतसा ।
प्रत्याहार इति प्रोक्तो भवपाशनिकृन्तकः ॥ १४ ॥

शब्दस्पर्शादीनां गुणानां सत्त्वादिरूपाणां या काचिद्वृत्तिर्दशा चेतसा संविदाऽनुभूयते, तां त्यक्त्वानादरेणापहस्त्य, स्वचेतसा विकल्पसंवित्परामर्शेनैव परचिद्धामप्रवेशो हीति यस्माच्चितिभूमेः प्रसृतस्य चित्तस्य तत्प्रतीपप्रापणात्मा प्रत्याहारोऽतश्च भवपाशानां निकृन्तकः ॥ १४ ॥

धीगुणान् समतिक्रम्य निर्ध्येयं चाव्ययं विभुम् ।
ध्यात्वा ध्येयं स्वसंवेद्यं ध्यानं तच्च विदुर्बुधाः ॥ १५ ॥

धियो बुद्धेः सत्त्वादिगुणान् समतिक्रम्य समावेशेन प्रशमय्य, निर्ध्येयमिति ध्येयेभ्यो नियत्याकृत्यादिरूपेभ्यो निष्क्रान्तं, निष्क्रान्तानि च तानि यस्मात् तम्, विभुं व्यापकमव्ययं नित्यम्, स्वसंवेद्यं स्वप्रकाशम्; ध्येयं ध्यानार्हमथ चाध्येयमध्येतव्यम् विम्रष्टव्यं स्मर्तव्यं च, अर्थाच्चिदानन्दघनं परमेश्वरं ध्यात्वा विमृश्य ये बुधास्तत्त्वज्ञास्ते, तच्चेति तद्विमर्शात्मैव, ध्यानं विदुरविच्छिन्नेन पारम्पर्येण जानन्ति । च एवार्थे ॥ १५ ॥

चित्त के द्वारा शब्द आदि गुणों की जिस वृत्ति का अनुभव किया जाता है (योगी) उस (वृत्ति) को छोड़कर अपने चित्त से उस परम धाम में प्रवेश करे । संसारबन्धन का नाशक यही प्रत्याहार कहा गया है ॥ -१३-१४ ॥

सत्त्व आदि रूप वाले शब्द स्पर्श आदि गुणों की जो कोई वृत्ति = दशा, चित्त के द्वारा = संविद् के द्वारा अनुभूत होती है, उसका त्यागकर = अनादर के साथ अपसारण कर, अपने चित्त से = विकल्प संवित् परामर्श के द्वारा, परचित् धाम में प्रवेश ही प्रत्याहार है । प्रत्याहार शब्द को स्पष्ट करते हैं—क्योंकि चिति भूमि से (बाहर) फैले हुए चित्त का पुनः उल्टी दिशा में (चिति की ओर) आहरण प्रत्याहार होता है इसलिये वह संसार के पाशों का छेदक होता है ॥ १४ ॥

बुद्धि के गुणों का अतिक्रमण कर निर्ध्येय अव्यय व्यापक स्वसंवेद्य ध्येय के ध्यान को विद्वानों ने ध्यान माना है ॥ १५ ॥

धी के = बुद्धि के, सत्त्व आदि गुणों को अतिक्रान्त कर = समावेश के द्वारा शान्त कर, निर्ध्येय = नियति आकृति आदि रूप ध्येयों से निष्क्रान्त अथवा वे ध्येय निष्क्रान्त हैं जिससे, उसको; विभु = व्यापक, अव्यय = नित्य, स्वसंवेद्य = स्वप्रकाश, ध्येय = ध्यान के योग्य, (ध्यात्वा ध्येयं में ध्यात्वाऽध्येयं ऐसी पूर्वरूप सन्धि मान कर व्याख्या करते हैं—) अध्येय = अध्ययन विमर्श स्मरण के योग्य, अर्थात् चित् आनन्दघन परमेश्वर का ध्यान = विमर्श, कर जो बुध = तत्त्वज्ञ हैं, वे

धारणा परमात्मत्वं धार्यते येन सर्वदा ।
धारणा सा विनिर्दिष्टा भवबन्धविनाशिनी ॥ १६ ॥

येन योगिना सर्वदा परमात्मत्वं चैतन्यं धार्यते समावेशेनावलम्ब्यते, तस्य या धारणा चैतन्यविमर्शनात्मा वृत्तिः, सा भवबन्धविनाशहेतुर्धारणान्यधारणा-वैलक्षण्येन विनिर्दिष्टा ॥ १६ ॥

एवं यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारध्यानधारणा लोकोत्तरदृष्ट्या प्रतिपाद्य, समाधिमपि परस्वरूपविषयमाणवशाक्तशाम्भवोपायप्राप्यमनुपायं चादिशति श्लोक-चतुष्केण—

समं सर्वेषु भूतेषु आधानं चित्तनिग्रहः ।
समाधानमिति प्रोक्तमन्यथा लोकदाम्भिकम् ॥ १७ ॥

सर्वप्राणिषु चित्तस्य समं वैषम्यप्रतिपत्तिनिग्रहात्म आधानं चित्तनिग्रहः समाधानमिति चोक्तम् । स्वात्मतुल्यताचिन्तनं यत्तत्समाधानं प्रोक्तम् । अन्यथा लोचननिमीलनादिप्रकारेणैतद्विपरीतं यत् समाधानं तत् लोकदम्भैक-प्रयोजनम् ॥ १७ ॥

उस = विमर्शस्वरूप को ध्यान मानते हैं अर्थात् अविच्छिन्न परम्परा से जानते हैं । 'च' का प्रयोग 'एव' अर्थ में है ॥ १५ ॥

धारणा का अर्थ है—जिसके द्वारा सर्वदा परमात्मता का धारण किया जाय वह धारणा कही गयी है । यह भी संसाररूपी बन्धन की विनाशिनी है ॥ १६ ॥

जिस = योगी, के द्वारा सर्वदा परमात्मत्व = चैतन्य, धारण किया जाता है = समावेश के द्वारा जिसका अवलम्बन किया जाता है उस (= योगी) की जो धारणा = चैतन्य का विमर्शन रूप वृत्ति, वह भवरूपीबन्ध के विनाश का कारण होने से धारणा कही गयी है । यह अन्य धारणाओं से विलक्षण है ॥ १६ ॥

इस प्रकार यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार ध्यान धारणा का लोकोत्तर दृष्टि से प्रतिपादन कर, आणव शाक्त और शाम्भव उपायों से प्राप्य परस्वरूपविषयक अनुपाय रूप समाधि को चार श्लोकों के द्वारा बतलाते हैं—

(समाधि शब्द का विग्रहार्थ—सम + आधि =) समस्त प्राणियों में चित्त का आधान = निग्रह ही समाधान (= समाधि) कहा गया है । इसके विपरीत (लोक प्रचलित समाधि) लोकदम्भ है ॥ १७ ॥

सब प्राणियों के विषय में चित्त का सम = वैषम्यज्ञान का निग्रहरूप जो आधान = चित्त का निग्रह, वह समाधान कहा गया है । जो स्वात्मतुल्यता का चिन्तन है वह समाधान कहा गया है । अन्यथा अर्थात् आँख बन्द करना आदि

एतद्ध्यानोपायकमाणवं समाधानम्, शुद्धविकल्पोपायं शाक्तम् । तदाह—

स्वपरस्थेषु भूतेषु जगत्यस्मिन् समानधीः ।
शिवोऽहमद्वितीयोऽहं समाधिः स परः स्मृतः ॥ १८ ॥

सर्वमिदमहमेव, इत्यहन्तेदन्तासामानाधिकरण्यात्मशुद्धविद्योत्थाध्यवसायरूपः परः समाधिः स्मृतः पारम्पर्यतः प्रसिद्धः ॥ १८ ॥

अथैकवारोपायप्राप्यमपि पुनरुपायानपेक्षतयानुपायं सततोदितं समाधिमादिशति—

सम्यक्स्वरूपसंवेद्यं संविद्रूपं स्वभावजम् ।
स्वसंवेद्यस्वरूपं च समाधानं परं विदुः ॥ १९ ॥

सम्यगेकवारोपायतः संवेद्यं स्फुरितं यत्स्वाभाविकं संविद्रूपं चकासच्चिद्धाम, तत् स्वसंवेद्यस्वरूपमिति स्वप्रकाशं नित्योदितत्वेनाव्युत्थानं समाधानम् ॥ १९ ॥

अविकल्पोपायं शाम्भवं समाधिमाह—

जो कि पूर्वोक्त के विपरीत समाधान है वह लोक में प्रदर्शन के लिये पाखण्ड करना है ॥ १७ ॥

इस प्रकार के ध्यान से आणवोपाय समाधि होती है । शुद्ध विकल्प के द्वारा शाक्त (समाधि होती है) । वह कहते हैं—

अपने या दूसरे प्राणियों में यहाँ तक कि इस संसार के विषय में भी समान बुद्धि रखना, जिसका स्वरूप है—'मैं शिव हूँ' 'मैं ही एकमात्र हूँ', (इत्यादि), पर समाधि मानी गयी है ॥ १८ ॥

'यह सब मैं ही हूँ' इस प्रकार अहन्ता इदन्ता के समानाधिकरण्यरूप शुद्धविद्या से उत्पन्न निश्चय ही परसमाधि स्मृत है = परम्परया प्रसिद्ध है ॥ १८ ॥

अब सतत् उदित उस समाधि का वर्णन करते हैं जो एक बार उपाय के द्वारा प्राप्त हो जाने पर फिर उपाय की अपेक्षा नहीं रखती अत एव अनुपाय कही जाती है—

जो सम्यक्स्वरूपसंवेद्य, स्वभाव से उत्पन्न संविद्रूप तथा स्वसंवेद्य रूप है, उसे (विद्वान् लोग) पर समाधि मानते हैं ॥ १९ ॥

सम्यक् = एक बार उपाय के द्वारा, संवेद्य = स्फुरित, जो स्वाभाविक संविद्रूप = प्रकाशमान चित् धाम, वह स्वसंवेद्यस्वरूप = स्वप्रकाश = नित्योदित होने के कारण व्युत्थानरहित होता है, समाधान है ॥ १९ ॥

विकल्पोपाय से रहित शाम्भव समाधि को बतलाते हैं—

राशिभ्यां चिज्जडाभ्यां च विचार्य निपुणं पदम्।
यन्नित्यं शाश्वतं रूपं समाधानं तु तद्विदुः ॥ २० ॥

जडराशिर्भुवनभावदेहादिः । चिद्राशिः सकलप्रलयाकलविज्ञानाकलमन्त्रमन्त्रेश-मन्त्रमहेशशिवाख्यः प्रमातृवर्गः । ततो मध्यात् पदं विश्वप्रतिष्ठास्थानं निपुणं विचार्य बाढं विमृश्य यन्नित्यमविनाशि शाश्वतं विवर्तपरिणामशून्यं सदा स्वप्रकाशं च रूपमर्थात् स्फुरति, तत्समाधानं विदुस्तत्त्वज्ञाः ॥ २० ॥

'अष्टाङ्गेन तु योगेन' इत्युपक्रान्तमुपसंहरन् प्रकृते योजयति—

एवमष्टाङ्गयोगेन स्वभावस्थं परं ध्रुवम् ।
दृष्ट्वा वञ्चयते कालममृतेशं परं विभुम् ॥ २१ ॥
मृत्युजित् स भवेद्देवि न कालः कलयेच्च तम् ।

एवमित्युक्तरूपेण न त्वन्यशास्त्रोक्ताहिंसासत्याद्यात्मना, परममृतेशं चिन्नाथं परं विभुमनाश्रितान्ताशेषकारणस्वामिनम्, दृष्ट्वा कालं वञ्चयति, अकालकलितचिदानन्दैकघन एव जायते । अत एव तत्त्वतोऽयमेव सङ्कोचात्ममृत्युविदलनाद् मृत्युजित् । सुचिरमपि स्थिरीकृतदेहस्तु न वस्तुतो मृत्युजिदित्याशयशेषः ॥

चित्राशि एवं जडराशि के बीच से पद का भली भाँति विचार कर जो नित्यशाश्वत रूप है वह समाधि है ॥ २० ॥

जड राशि = भुवन, पदार्थ, शरीर आदि । चिद्राशि = सकल, प्रलयाकल, विज्ञानाकल, मन्त्र, मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर, शिव नामक प्रमातृवर्ग । इनके मध्य से पद = विश्वप्रतिष्ठा का स्थान, का निपुण = भली-भाँति, विचार कर जो नित्य = अविनाशी, शाश्वत = विवर्त्त अथवा परिणाम से शून्य, सदा स्वप्रकाशरूप है अर्थात् स्फुरण करता है उसे तत्त्वज्ञ लोग समाधि कहते है ॥ २० ॥

श्लोक सं० ९ में 'अष्टाङ्गेन तु योगेन' कथन के द्वारा प्रारम्भ किये गये का उपसंहार करते हुए प्रस्तुत से उसको जोड़ते हैं—

हे देवि ! इस प्रकार अष्टाङ्गयोग के द्वारा स्वभावस्थ, पर, ध्रुव, व्यापक परम अमृतेश का साक्षात्कार कर योगी काल को दूर हटा देता है और मृत्युजित् हो जाता है । काल उसको प्रभावित नहीं करता ॥ २१-२२- ॥

इस प्रकार = उक्तरूप से, न कि अन्य शास्त्रों में उक्त अहिंसा सत्य आदि से, पर अमृतेश = चित् के स्वामी, पर विभु = (ब्रह्मा से लेकर) अनाश्रित शिवपर्यन्त अशेष कारणों के स्वामी को देखकर (योगी) काल का वञ्चन करते हैं = अकालकलित चिदानन्दैकघन हो जाते हैं । इसलिये वस्तुतः यही संकोचरूपी मृत्यु का विदलन करने से मृत्युजित् है । बहुत काल तक देह को स्थिर रखने वाला वस्तुतः मृत्युजित् नहीं है ॥

किं च—

तत्त्वषट्त्रिंशतस्त्यागाद् भुवनानन्त्यवर्जनात् ॥ २२ ॥
एकाशीतिपदोर्ध्वं वै वर्णपञ्चाशतः परम् ।
व्यापकं सर्वमन्त्रेषु सर्वेष्वेव हि जीवनम् ॥ २३ ॥
अष्टात्रिंशत्कलोर्ध्वं तु सर्वान्तः सर्वमध्यगम् ।
आदिर्मध्यं न चैवान्तो लभ्यते यस्य केनचित्॥ २४ ॥
तदप्रमेयमतुलं प्राप्य सर्वं न लभ्यते ।

पृथ्व्यादिशिवान्तानि तत्त्वानि, कालाग्न्याद्यनाश्रितान्तानि भुवनानि च त्यक्त्वा नवात्मादिप्रक्रियया प्रणवादिपदानामकारादिवर्णपञ्चाशत ईशानपुरुषाघोरादिकलाष्टात्रिंशतश्चोर्ध्वं सर्वमन्त्रव्यापकम्, एवं च षड्विधाध्वोत्तीर्णम्, अतश्च सर्वजीवितभूतं सर्वेषामन्तः पूर्वापरकोट्यात्म, तन्मयत्वादेव च विश्वस्य सर्वमध्यगतम्, न चास्य केनाप्यादिमध्यान्ता लभ्यन्ते दिक्कालादिकथोत्तीर्णत्वात्, अतश्चाप्रमेयम्, अद्वितीयत्वादतुलम्, प्राप्य षड्विधाध्वमयदेहप्राणाद्युल्लङ्घनेन योगिभिरासाद्य, सर्वमित्यध्वप्रपञ्चात्म निखिलं न लभ्यते न प्राप्यते तेन प्राग्वत् नाव्रियते, अथ च काक्वा

और भी—

छत्तीस तत्त्वों के त्याग से, अनन्त भुवनों का निषेध करने से, इक्यासी पदों एवं पचास वर्णों के परे जो सब मन्त्रों में व्यापक और सबका जीवन है, जो अँड़तीस कलाओं से ऊपर, सबके भीतर और सबके मध्य में है और जिसका आदि मध्य और अन्त किसी के द्वारा प्राप्त नहीं होता उस अतुल अप्रमेय को प्राप्त कर क्या सब कुछ प्राप्त नहीं हो जाता? ॥ २२-२५- ॥

(छत्तीस) तत्त्व = पृथिवी से लेकर शिवपर्यन्त, भुवन = कालाग्नि से लेकर अनाश्रित शिव पर्यन्त, इनका छोड़ कर नव आत्मा आदि की प्रक्रिया से प्रणव आदि (९ × ९ = ८१) पदों तथा 'अ' से लेकर 'क्ष' तक पचास वर्ण, उसी प्रकार ईशान तत्पुरुष अघोर आदि अँड़तीस कलाओं से ऊपर सब मन्त्रों में व्यापक रूप से रहने वाले, षट्प्रकार के अध्वाओं से उत्तीर्ण इसलिये सबका जीवनभूत, सबके अन्तः = पूर्वापर कोटिरूप, और तन्मय होने के कारण विश्व = सबके मध्य में वर्त्तमान तत्त्व, जिसका कि आदि मध्य और अन्त किसी के द्वारा प्राप्त नहीं होता क्योंकि वह दिक् काल आदि से परे हैं, इसलिये अप्रमेय है । तथा अद्वितीय होने से अतुल है, उसको प्राप्त कर अर्थात् छह प्रकार के अध्वा वाले देहप्राण आदि का उल्लङ्घन के द्वारा योगियों के द्वारा प्राप्य होकर, सब = अध्वप्रपञ्चरूप समस्त विश्व, प्राप्त नहीं किया जाता = उस (योगी) के द्वारा पूर्व की भाँति आवृत नहीं होता । अथवा काकुध्वनि के द्वारा-क्या सब कुछ नहीं प्राप्त

सर्वं न लभ्यते, अपितु लभ्यते (एव), सर्वसर्वात्मामृतेशभैरवता विद्यत इत्यर्थः ॥

तथा—

येनैकेन जगत् सर्वमप्रमेयेन पूरितम् ॥ २५ ॥
तज्ज्ञात्वा मुच्यते क्षिप्रं घोरात् संसारबन्धनात् ।

ज्ञात्वा दार्ढ्येन निश्चित्य ॥

अपि च—

तत्त्वत्रयविनिर्मुक्तं शाश्वतं चाचलं ध्रुवम् ॥ २६ ॥
दिव्येन योगमार्गेण दृष्ट्वा भूयो न जायते ।
सर्वेन्द्रियविनिर्मुक्तमवेद्यं चाप्यनामयम् ॥ २७ ॥

तत्त्वत्रयं नरशक्तिशिवाख्यम् । शाश्वतं विवर्तवाद इव नासत्यविभक्तान्यरूपोपग्राहि, अचलमपरिणामि, ध्रुवं नित्यम्, इन्द्रियविनिर्मुक्तमनामयमिति मायेन्द्रियानावृतम्, अवेद्यं च, दिव्येन योगमार्गेण विकल्पहानोन्मिषदविकल्पविमर्शावष्टम्भोपायेन, दृष्ट्वा साक्षात्कृत्य, न पुर्जन्मैति ॥ २७ ॥

एवमाणवेन शाक्तेन शाम्भवेन चोपायेनासादितं परं तत्त्वं मुक्तिदं न

किया जाता ? अर्थात् प्राप्त किया ही जाता है अर्थात् वह सर्वसर्वात्मा अमृतेश भैरव हो जाता है ॥

तथा—

जिस एक अप्रमेय तत्त्व के द्वारा समस्त जगत् व्याप्त है उसको जानकर (योगी) शीघ्र ही संसारबन्धन से मुक्त हो जाता है ॥ २५-२६- ॥

जानकर = दृढ़तापूर्वक निश्चय कर ॥

और भी—

तीन तत्त्वों से रहित, शाश्वत, अचल, ध्रुव, समस्त इन्द्रियों से विनिर्मुक्त अवेद्य और अनामय (पर तत्त्व) को दिव्य योगमार्ग से देखकर योगी पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होता ॥ -२६-२७ ॥

तीन तत्त्व = नर शक्ति और शिव । शाश्वत = न कि विवर्त्तवाद के समान असत्य पृथक् रूप का ग्रहण करने वाला । अचल = अपरिणामी । ध्रुव = नित्य । इन्द्रिय विनिर्मुक्त अनामय = माया और इन्द्रियु से अनावृत एवं अवेद्य तत्त्व को, योगमार्ग से = विकल्पों का त्याग कर उन्मिषित होते हुए निर्विकल्प विमर्श के उपाय से, देखकर = साक्षात् कर, पुनर्जन्म नहीं होता ॥ २७ ॥

इस प्रकार आणव शाक्त और शाम्भव उपायों से प्राप्त हुआ पर तत्त्व मोक्ष

केवलमिहैवोपादेयमुक्तम्, यावत् सर्वशास्त्रेषु इत्याह—

परमात्मस्वरूपं तु सर्वोपाधिविवर्जितम् ।
चैतन्यमात्मनो रूपं सर्वशास्त्रेषु कथ्यते ॥ २८ ॥

यत् सर्वैः समनान्तैरुपाधिभिरवच्छेदकैर्विशेषेण वर्जितं तत्सङ्कोचासंकुचितं चैतन्यमात्मनो ग्राहकस्य रूपम्, तदेव परमात्मनः परमशिवस्य स्वरूपम्, न तु व्यतिरिक्तं यथा भेदवादिनो मन्यन्ते । अत एव शिवोऽहमद्वितीयोऽहमिति तात्त्विकसमाधिनिर्णयावसरे उक्तम् । सर्वशास्त्रेषु चैतत्कथ्यते, न तु क्वचि-देवेत्यनेन सिद्धान्तानामपि रहस्याद्वयसारता अन्तःसंभवन्त्यपि गाढप्ररूढसांसारिक-द्वैतवासनानां न स्फुटीकृता । यथोक्तं श्रीकुलपञ्चाशिकायाम्—

'यत्रास्ति सर्वलोकस्य तदस्तीति विरुध्यते ।
निगद्यते यदा देवि हृदये न प्ररोहति ॥
एतस्मात् कारणाद्देवि देवताभिः प्रगोपितम् ।
तेन सिद्धेन देवेशि किं न सिद्ध्यति भूतले ॥' इति ।

तत एव समस्तशैवशास्त्रसारसंग्रहरूपेषु शिवसूत्रेषु 'चैतन्यमात्मा' इति प्रारम्भ एवोक्तम् ॥ २८ ॥

प्रदान करता है इसलिये केवल इसी शास्त्र में नहीं बल्कि सब शास्त्रों में उसे उपादेय कहा गया—यह कहते हैं—

समस्त उपाधियों से रहित जो आत्मा का चैतन्य रूप है वही समस्त शास्त्रों में परमात्मा का रूप कहा जाता है ॥ २८ ॥

जो सभी = समनापर्यन्त उपाधियां अर्थात् अवच्छेदकों से विशेष रूप से रहित है = उनके संकोच से असंकुचित चैतन्य, आत्मा का = ग्राहक (प्रमाता) का रूप है वही परमात्मा = परमशिव, का स्वरूप है । न कि भिन्न, जैसा कि भेदवादी लोग मानते हैं । इसीलिये तात्त्विक समाधि के निर्णय के अवसर पर 'मै शिव हूँ', 'मै अद्वितीय हूँ',—ऐसा कहा गया । यह सब शास्त्रों में कहा जाता है न कि किसी-किसी शास्त्र में । इसलिये सिद्धान्तों का रहस्य अथवा सार अद्वयतत्त्व ही है—यह धारणा हृदय में उत्पन्न हो सकती है किन्तु गाढ़ एवं दृढ सांसारिक द्वैतवासना वालों के लिये यह स्पष्ट नहीं होती । जैसा कि कुलपञ्चाशिका में कहा गया है—

'हे देवि ! जब सब लोगों के बीच 'वह नहीं है', 'वह है'—इस प्रकार का विरोधी वर्णन होने लगता है (तब वह तत्त्व हृदय में परिलक्षित नहीं होता) इसलिये देवताओं ने (संशयात्मा लोगों से) उसे छिपाये रखा । हे देवेशि ! उसके सिद्ध होने पर भूतल पर क्या सिद्ध नहीं होता अर्थात् सब कुछ मिल जाता है ।'

इसीलिये समस्त शैवशास्त्र के सार के संग्रहरूप शिवसूत्रों में पहले ही

एवंभूतमपि चैतदात्मनो रूपम्—

निर्मलं न भवेद्देवी यावच्छक्त्या न बोधितम् ।

'शैवी मुखमिहोच्यते ।' (२०)

इति श्रीविज्ञानभट्टारकादिष्टनीत्या परमेश्वरस्यैव शक्त्यां शक्त्याभासात्मनोऽणोः स्वस्फुरत्ताप्रवेशनयाऽणुत्वं निमज्ज्य, परमशिवत्वमुन्मील्यते ॥

ननु दीक्षयाभिव्यक्तशिवत्वा अपि मुक्तशिवा भिन्ना एव परमशिवात्, तत्कथं परमात्मस्वरूपैक्यमात्मचैतन्यस्योक्तम् ?—इत्याशङ्कां शमयति—

दीक्षाज्ञानादिना शोध्यमात्मानं चैव निर्मलम् ॥ २९ ॥
ये वदन्ति न चैवान्यं विन्दन्ति परमं शिवम् ।
त आत्मोपासकाः शैवे न गच्छन्ति परं पदम्॥ ३० ॥

दीक्षाज्ञानयोगचर्याभिः शोध्यमात्मानं निर्मलमन्यमेव परमशिवाद् व्यक्तिरिक्तमेव वदन्ति, न तु परमशिवं विन्दन्ति परमशिवरूपं नासादयन्ति, ते आत्मोपासकाः शुद्धात्मतत्त्वाराधकाः शैवे यत् परं पदं परमशिवत्वम्, तत्र गच्छन्ति नाप्नुवन्ति ।

'चैतन्यमात्मा' कहा गया ॥ २८ ॥

आत्मा का इस प्रकार का भी रूप—

हे देवि ! जब तक शक्ति के द्वारा बोधित नहीं होता तब तक निर्मल नहीं होता ॥ २९- ॥

'(यह शक्ति) इस शास्त्र में शिव का मुख कही जाती है ।' (२०)

इस विज्ञानभट्टारक (= विज्ञानभैरव) की नीति के अनुसार परमेश्वर की ही शक्ति में शक्त्याभास रूप अणु का अणुत्व जब स्वस्फुरत्ताप्रवेश के कारण तिरोहित हो जाता है तब परम शिवत्व का उन्मीलन होता है ॥

प्रश्न है कि दीक्षा के द्वारा जिनका शिवत्व अभिव्यक्त हो गया है ऐसे मुक्त शिव परमशिव से भिन्न ही होते हैं तो फिर आत्म चैतन्य को परमात्मस्वरूप से अभिन्न कैसे कहा गया?—इस शङ्का को दूर करते हैं—

जो लोग आत्मा को दीक्षा ज्ञान आदि के द्वारा शोध्य अत एव निर्मल एवं भिन्न कहते हैं, वे परमशिव को प्राप्त नहीं करते । वे आत्मोपासक शिव स्थानीय पर पद को नहीं प्राप्त करते (अथवा शैवविधि के द्वारा ही पर पद को प्राप्त करते हैं)॥ -२९-३० ॥

जो लोग दीक्षा ज्ञान योग चर्या के द्वारा शोध्य आत्मा को निर्मल अत एव परमशिव से भिन्न कहते हैं, वे परमशिव का लाभ नहीं प्राप्त करते = परमशिवरूप को नहीं प्राप्त करते । आत्मोपासक = शुद्ध आत्म तत्त्व की आराधना करनेवाले वे

यदि तु कदाचित् तीव्रशक्तिपाताद् गच्छन्ति, तच्छैवेन शिवादिष्टाद्वयज्ञानेनैव न त्वन्येन ज्ञानेनेति सप्तमीतृतीये तन्त्रेण योज्ये । तदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे समनान्तस्थशुद्धात्मनिर्णयावसरे—

अविदित्वा परं तत्त्वं शिवत्वं कल्पितं तु यैः ।
त आत्मोपासका शैवे न गच्छन्ति परं शिवम् ॥' (४।३९२)

इति ॥ ३० ॥

एतदेव भङ्ग्यन्तरेण स्फुटयति—

यद्वा तु परमाशक्तिः सर्वज्ञादिगुणान्विता ।
आपादादिविकासिन्या न विकास्येत निर्मला ॥ ३१ ॥
तावन्न निर्मलो ह्यात्मा बद्धः शैवे तदोच्यते ।

तावच्छब्दापेक्षया यावच्छब्दोऽध्याहार्यः । तेनापादादि पाङ्गुष्ठात्प्रभृति विकासिन्या प्राणप्राधान्यनिमज्जनेन चित्प्राधान्यमुन्मज्जयन्त्या दीक्षाज्ञानादिरूपया अनुग्रहिकया शक्त्या यावत् सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वस्वतन्त्रताद्यात्मा परमा शक्तिर्न विकास्येत नोन्मिष्येत, न तावदात्मा जीवो निर्मलः । यदा चैवं तदा

लोग शैव में जो परमपद = परमशिवत्व उसको नहीं प्राप्त होते और यदि कदाचित् तीव्र शक्तिपात से (परम शिव के पास) जाते भी हैं तो वह भी शैवेन = शिवादिष्ट अद्वय ज्ञान के द्वारा । (इस प्रकार 'शिव' शिव पद में सप्तमी विभक्ति लगाकर 'न' को अलग कर 'शैवे न' गच्छन्ति ऐसा अन्वय करना चाहिये अथवा 'शैवेन' इस प्रकार शैव शब्द से तृतीया विभक्ति जोड़कर 'शैवेन गच्छन्ति' ऐसा अन्वय करना चाहिये) । वही स्वच्छन्द तन्त्र में समनान्तस्थशुद्धात्मनिर्णय के अवसर पर कहा गया—

'जिन लोगों ने शिवतत्त्व को जाने बिना शिवत्व की कल्पना की है वे शुद्ध आत्मोपासक हैं तथा शिवतत्त्ववर्ती परशिवरूपता को नहीं प्राप्त करते' ॥ ३० ॥

इसी को दूसरे ढंग से स्पष्ट करते हैं—

जब तक पैर से लेकर (शिरपर्यन्त) विकासवाली शक्ति के द्वारा सर्वज्ञत्व आदि गुणों वाली निर्मल परमाशक्ति विकसित नहीं होती यह निर्मल आत्मा शैवशास्त्र के अनुसार बद्ध कहा जाता है ॥ ३१-३२- ॥

'तावत्' शब्द को दृष्टि में रखकर 'यावत्' शब्द को अपनी ओर से जोड़ना चाहिये । पैर से लेकर = पैर के अंगूठे से लेकर, विकास करने वाली = प्राण की प्रधानता को दूर कर चित् के प्राधान्य का आहरण करने वाली, दीक्षा ज्ञानादिरूपा अनुग्राहिका शक्ति के द्वारा जब तक सर्वज्ञत्व सर्वकर्तृत्व स्वतन्त्रत्व आदि रूप परमशक्ति का विकास = उन्मेष, नहीं होता तब तक आत्मा = जीव, निर्मल

शैवेऽसावात्मा जीवन्मुक्तेरनासादाद्बद्ध एवोच्यते ॥

विकासितायाः शक्तेः स्वरूपं दर्शयति—

यत्रस्थः पुरुषः सर्वं वेत्त्यतीतमनागतम् ॥ ३२ ॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तत्तत्त्वं शक्तिलक्षणम्।

इन्द्रियाण्यन्तर्मुखीकृत्य यत्र तुटिपातात्मनि आद्योन्मेषस्थितौ लब्धावस्थिति-र्योगी, अतीतानागतादि सर्वं वेत्ति, तत् प्रतिभात्म तत्त्वं शक्तिलक्षणम् ॥

तथा—

यत्र यत्र भवेदिच्छा ज्ञानं वापि प्रवर्तते ॥ ३३ ॥
क्रियाकृत्यस्वरूपा वा तत्तत्त्वं शक्तिलक्षणम्।

न कृत्यं निष्पाद्यं स्वरूपं यस्यास्तादृश्यकृत्रिमा निर्विकल्पा इच्छा ज्ञप्तिः स्फुरत्तात्मा क्रिया वा यत्र यत्रावसरे प्रवर्तते, तत्र तत्र तद् एषणीयाद्यनारूषित-शुद्धेच्छादिमात्रात्मतत्त्वं शक्तिलक्षणम् ॥

तथा—

नहीं होता । जब ऐसा होता है तब शैवशास्त्र के अनुसार यह आत्मा जीवन्मुक्ति को न प्राप्त करने के कारण बद्ध ही कहा जाता है ॥

विकसित शक्ति का स्वरूप दिखलाते हैं—

जिसमें स्थित (= जिससे सम्पन्न) पुरुष इन्द्रियसमूह का नियमन कर अतीत अनागत सब को जान लेता है वह तत्त्व शक्ति है ॥ -३२-३३- ॥

इन्द्रियों को अन्तर्मुख कर जहाँ तुटिपात रूप प्रथम उन्मेष की स्थिति में रहकर योगी अतीत अनागत आदि (= दूरस्थ अतीन्द्रिय) सब को जान लेता है वह प्रतिभारूपी तत्त्व शक्तिपद का वाच्य है । (पातञ्जल योगसूत्र 'प्रातिभाद्वा सर्वम्' ३।३३—से यही अर्थ निकलता है) ॥

तथा—

जिस-जिस विषय की अकृत्यस्वरूपा इच्छा होती है या जिस-जिस विषय का (= वैसा) ज्ञान होता है अथवा (उस प्रकार की) क्रिया जहाँ प्रवृत्त होती है । वह तत्त्व शक्ति है ॥ -३३-३४- ॥

नहीं है कृत्य = निष्पादन के योग्य स्वरूप जिसका वैसी अकृत्रिमा = निर्विकल्पा इच्छा, ज्ञान अथवा स्फुरत्ता रूपा क्रिया जिस-जिस अवसर पर प्रवृत्त होती है उस-उस अवसर पर वह = एषणीय आदि से अनारूषित शुद्ध इच्छा ज्ञान क्रिया तत्त्व ही शक्ति है ॥

व्यापकस्य यतो देवि चिद्रूपस्यात्मनः शिवात् ॥ ३४ ॥
प्रसरत्यद्भुतानन्दा सा शक्तिः परमा स्मृता ।

व्यापकचिन्मात्रमयतामात्मनो भावयतो योगिनो या आश्चर्यरूपा आनन्दात्मा शक्तिः शिवात् प्रसरत्युन्मिषति, सा परमा स्मृता तत्तत्त्वं शक्तिलक्षणमित्यर्थः ॥

एवं लक्षितशक्त्यवष्टम्भविस्फारेण—

विप्रसार्य तमात्मानं सर्वज्ञादिगुणैर्गुणी ॥ ३५ ॥
साभासः कथ्यते देवि शिवः परमकारणम् ।

सर्वज्ञादिगुणैरिति तद्विमर्शनेनात्मानं विप्रसार्य—

'बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा यतः प्रकाशावरणक्षयः' (यो०सू० ३।४३) इति स्थित्या विकास्य यो योगी तैरेव सर्वज्ञत्वादिगुणैर्गुणी संपन्नः, स सर्वज्ञत्वाद्याभासविमर्शनादेव साभासः शिवः कथ्यते ॥

एतदेव स्फुटयति—

सर्वज्ञः परितृप्तश्च यस्य बोधो ह्यनादिमान् ॥ ३६ ॥
स्वतन्त्रो ह्यप्रलुप्तश्च यश्च वानन्तशक्तिकः ।

तथा—

हे देवि ! व्यापक एवं चिद्रूप (योगी) के जिस आत्मा रूपी शिव से जो अद्भुत आनन्दस्वरूपा शक्ति प्रसृत होती है वह परमा (शक्ति) मानी गयी है ॥ -३४-३५- ॥

अपनी व्यापक चिन्मात्रमयता की भावना करने वाले योगी के अन्दर जो आश्चर्यमयी आनन्दरूपा शक्ति शिव से उन्मिषित होती है वह परमाशक्ति मानी गयी है । वह तत्त्व (या उसका तत्त्व) शक्ति है ॥

हे देवि ! गुणवान् (साधक) सर्वज्ञत्व आदि गुणों से अपना विकास कर परमकारण साभास शिव कहा जाता है ॥ -३५-३६- ॥

सर्वज्ञता आदि गुणों के विमर्शन से अपने को—

'(शरीर के) बाहर (मन की) अकल्पिता वृत्ति महाविदेहा (धारणा) होती है । इसके बाद प्रकाश के आवरण का नाश हो जाता है ।' (पा०यो०सू० ३।४३)

इस स्थिति से विकसित कर जो योगी उन्हीं सर्वज्ञत्व आदि गुणों से गुणी हो जाता है वह सर्वज्ञत्व आदि आभासों का विमर्शन करने से साभास शिव कहा जाता है ॥

उसी को स्पष्ट करते हैं—

शक्तिमान् गुणभेदेन स्वगुणान् विन्दते गुणी ॥ ३७ ॥
पृथग्भेदविभेदेन नानात्वं विमृशेदिह ।
स साभास इति प्रोक्तो निराभासस्तु कथ्यते ॥ ३८ ॥

परितृप्तो नैराकांक्ष्येण चिदानन्दघनः, अनादिमान् न तु भावनोत्थः, स्वतन्त्रो न तु भेदेश्वरवत् कर्ममलपरिपाकाद्यपेक्षः, अप्रलुप्तो न तु ब्रह्मादिवत् स्वापाद्यावृतः, अनन्तशक्तिकः

'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नम् ।'

इति स्थित्या मरीचिरूपाशेषविश्वशरीरः, शक्तिमानिति समुत्पन्नयथालक्षितपरशक्तिस्वरूपः, गुणानां सत्त्वरजस्तमसां भेदेन चिद्भुवि देहादिप्रमातृतानिमज्जनोत्थेन विदारणेन, स्वगुणान् सर्वज्ञत्वादीन् लभते । तैरेव च गुणैर्गुणी, भेदानां सर्वज्ञत्वादिविशेषाणां व्याख्यातदृशा व्यावृत्तिकृतो यः पृथग्विभेदस्तेन नानात्वं विचित्राभासरूपतां य आत्मनो विमृशेत्, स साभास इत्युक्तः । निराभासस्तु उच्यते ॥

तमाह—

जो सर्वज्ञ, परितृप्त है; जिसका बोध अनादि है; जो स्वतन्त्र, अलुप्त और अनन्त शक्तिवाला है; शक्तिमान्, सत्त्वादि गुणों के भेद से अपने गुणों को प्राप्त करता है वही गुणी है । पृथक् भेद विभेद के कारण जो यहाँ नानात्व का विमर्श करता है । वह साभास शिव कहा जाता है । आगे निराभास का वर्णन कर रहे हैं ॥ -३६-३८ ॥

परितृप्त = निराकाङ्क्ष होने के कारण चिदानन्दघन । अनादिमान् न कि भावना से उठा हुआ । स्वतन्त्र, न कि भेदवादियों के ईश्वर की भाँति कार्म मल के परिपाक आदि की अपेक्षा वाला । अप्रलुप्त, न कि ब्रह्मा आदि की भाँति निद्रा आदि से आवृत । अनन्त शक्तिवाला—

'इसकी शक्तियाँ ही सम्पूर्ण संसार है ।'

इस स्थिति से मरीचिरूप समस्त विश्वशरीर वाला, शक्तिमान् = समुत्पन्न यथालक्षित परशक्तिरूप । गुणों = सत्त्व रजस् तमस्, के भेद से चिद्भूमि में देहादिप्रमातृता के निमज्जन से उत्पन्न विदारण से, अपने गुणों = सर्वज्ञत्व आदि, को प्राप्त करता है । उन्हीं गुणों के कारण वह गुणी है । भेदों अर्थात् सर्वसत्त्व आदि विशेषों का ऊपर व्याख्यात रीति से व्यावृत्ति करने वाला जो पृथक् विभेद उससे जो अपनी अनेकरूपता = विचित्राभासरूपता, का विमर्श करता है वह साभास कहा जाता है । निराभास का कथन करते हैं ॥ ३६-३८ ॥

उसी (= निराभास) को कहते है—

नाहमस्मि न चान्योऽस्ति निराभासस्तदा भवेत् ।
सावस्था परमा प्रोक्ता शिवस्य परमात्मनः ॥ ३९ ॥

आभासेभ्यो ग्राह्यग्राहकविमर्शात्मकेभ्यो निष्क्रान्तः चिद्विमर्शैकपरमार्थः । तदुक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्—

'सर्वथा त्वन्तरालीनानन्ततत्त्वौघनिर्भरः ।
शिवश्चिदानन्दघनः परमाक्षरविग्रहः ॥' (४।१।१४)

इति ॥ ३९ ॥

एतद्दशासमापन्नस्य च योगिन ईदृशी स्फुरत्तेत्याह—

नाहमस्मि न चान्योऽस्ति ध्येयं चात्र न विद्यते ।
आनन्दपदसंलीनं मनः समरसीगतम् ॥ ४० ॥

अहमिति देहादिर्ग्राहकः । अन्यो मद्व्यतिरिक्तो नीलादिः । ध्येयमित्यनुग्राहकत्वेन बुद्ध्योपस्थापितम् ॥ ४० ॥

एतत्पदलाभाय शाम्भवोपायमादिशति देवः—

नोर्ध्वे ध्यानं प्रयुञ्जीत नाधस्तान्न च मध्यतः ।
नाग्रतः पृष्ठतः किञ्चित् पार्श्वयोरुभयोरपि ॥ ४१ ॥

'न मैं हूँ, न कोई दूसरा है' (जब इस प्रकार की चेतना प्रस्फुरित होती है तब वह) निराभास शिव होता है । वह परमात्मा शिव की परम अवस्था कही गयी है ॥ ३९ ॥

ग्राह्यग्राहक के विमर्शरूप आभासों से ऊपर उठकर जो केवल चिद्विमर्शमात्र हो जाता है (वह निराभास कहलाता है) । ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में कहा गया है—

अनन्त तत्त्वों के समूह को जो सर्वथा भीतर लीन कर लेता है वही परमाक्षर विग्रह चिदानन्दघन शिव है (४.१.१४) ॥ ३९ ॥

इस दशा को प्राप्त योगी की ऐसी स्फुरत्ता होती है—यह कहते हैं—

'न मैं हूँ', 'न कोई दूसरा है'; यहाँ कोई ध्येय (= ध्यान करने योग्य वस्तु) नहीं है; आनन्दपद में संलीन मेरा मन समरस (= एकरूप) हो गया है ॥ ४० ॥

मैं = देह आदि प्रमाता रूप ग्राहक । अन्य = मुझसे भिन्न लीन सुख आदि (ग्राह्य)। ध्येय = अनुग्राहक के रूप में बुद्धि के द्वारा उपस्थापित ॥ ४० ॥

इस पद के लाभ के लिये भगवान् शाम्भवोपाय को बतलाते हैं—

न ऊपर ध्यान करना चाहिये न नीचे और न मध्य में, आगे-पीछे

नान्तःशरीरसंस्थाने न बाह्ये भावयेत् क्वचित् ।
नाकाशे बन्धयेल्लक्ष्यं नाधो दृष्टिं निवेशयेत् ॥ ४२ ॥
न चाक्ष्णोर्मीलनं किञ्चिन्न किञ्चिद् दृष्टिबन्धनम्।
अवलम्बं निरालम्बं सालम्बं न च भावयेत् ॥ ४३ ॥
नेन्द्रियाणि न भूतानि शब्दस्पर्शरसादि यत् ।
सर्वं त्यक्त्वा समाधिस्थः केवलं तन्मयो भवेत्॥ ४४ ॥

ऊर्ध्वे द्वादशान्ते, अधः कन्दादौ, मध्ये हृदादौ, अग्रतः पृष्ठतः पार्श्वयोः. तत्पुरुषसद्योजातादिरूपम् । अन्तःशरीर इति—

'आमूलात्किरणाभासां सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरात्मिकाम्।
चिन्तयेत्तां द्विषट्कान्ते शाम्यन्तीं भैरवोदयः ॥' (वि०भै० २८)

इतिवत् । न बाह्य इति—

'वस्त्वन्तरे वेद्यमाने सर्ववेद्येषु शून्यता ।
तामेव मनसा ध्यायन् विदितोऽपि प्रशाम्यति ॥'(वि०भै० १२२)

इतिवत् । नाकाश इति—

अगल-बगल भी नहीं । न शरीरसंस्थान के भीतर न कहीं बाहर भावना करनी चाहिये । न आकाश में लक्ष्यबन्ध करना चाहिये और न दृष्टि को कहीं स्थिर करना चाहिये । न आखों को थोड़ा बन्द करे न दृष्टिबन्धन (= करना चाहिये)। अवलम्ब, सालम्ब, निरालम्ब भावना नहीं करनी चाहिये । इन्द्रिय पञ्चमहाभूत और शब्द स्पर्श आदि भी नहीं है—ऐसा समझना चाहिये । इस प्रकार सब को छोड़ कर समाधिस्थ होकर केवल तन्मय होना चाहिये ॥ ४१-४४ ॥

ऊर्ध्व में = द्वादशान्त में । नीचे = कन्द आदि में । मध्य = हृदय आदि में। आगे पीछे दोनों पार्श्वों में, तत्पुरुष सद्योजात आदि रूप की भावना भी नहीं करनी चाहिये । शरीर के भीतर—

'किरण के समान सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर मूलाधार से लेकर द्विषट्कान्त (द्वादशान्त) तक पहुँचकर शान्त होने वाली प्राण वायु का चिन्तन करना चाहिये । इससे भैरव (स्वरूप) का उदय होता है ॥' (वि०भै०२८)

के समान (चिन्तन करना चाहिये)। बाहर नहीं—

'किसी एक वस्तु का ज्ञान होते समय दूसरी समस्त वेद्यवस्तुओं में शून्यता की भावना करनी चाहिये । उस (= शून्यता) का ही मन से ध्यान करता हुआ योगी ज्ञान से भी ऊपर हो जाता है अर्थात् शान्त ब्रह्मरूप हो जाता है ।' (वि०भै० १२२)

तेजसा सूर्यदीपादेराकाशे शबलीकृते ।
दृष्टिं निवेश्य तत्रैव स्वात्मरूपं प्रकाशते ॥ (वि०भै० ७६)

इतिवत् । नाध इति—

कूपादिके महागर्ते स्थित्वोपरि निरीक्षणात् ।
अविकल्पमतेः सम्यक् सद्यश्चित्तलयः स्फुटम् ॥ (वि०भै० ११५)

इतिवत् । न चाक्ष्णोर्मीलनमिति—

एवमेव निमील्यादौ नेत्रे कृष्णाभमग्रतः ।
प्रसार्य भैरवं रूपं भावयंस्तन्मयो भवेत् ॥ (वि०भै० ८८)

इतिवत् । न दृष्टिबन्धनमिति—

निर्वृक्षगिरिभित्त्यादिदेशे दृष्टिं विनिक्षिपेत् ।
निलीने मानसे भावे वृत्तिक्षीणः प्रजायते ॥ (वि०भै० ६०)

इतिवत् । अवलम्ब्यत इति अवलम्बो ध्येय आकारस्तम्—

भावे त्यक्ते निरुद्धा चिन्नैव भावान्तरं व्रजेत्।

के समान । आकाश में नहीं—

'सूर्य दीपक आदि के तेज से आकाश के चित्रित होने पर उसमें दृष्टि लगाकर (= देखने से) उसी में अपना रूप प्रकाशित होता है ।' (वि०भै० ७६)

के समान । नीचे नहीं—

'कूप आदि किसी बड़े गहरे गड्ढे में खड़ा होकर ऊपर देखने से निर्विकल्पक बुद्धि वाले (व्यक्ति) का तत्काल पूर्णतया स्पष्ट चित्तलय हो जाता है ।' (वि०भै०११५)

के समान । आँखों का बन्द करना भी नहीं—

'इस प्रकार पहले दोनों आँखों को बन्द कर सामने काले रंग के भैरव के रूप को उपस्थापित कर उस रूप की भावना करने वाला तन्मय हो जाता है ।' (वि०भै० ८८)

के समान । दृष्टिबन्धन नहीं—

'वृक्ष, पर्वत, दीवाल आदि (आधार) से रहित शून्य आकाश में दृष्टि स्थित करनी चाहिये । मन में उत्पन्न भाव के विलीन होने पर (साधक की) वृत्तियाँ क्षीण हो जाती है ॥' (वि०भै० ६०)

के समान । जिसका अवलम्बन किया जाय वह अवलम्बन है अर्थात् ध्येय आकार, उसको—

'भाव का त्याग करने पर निरुद्धा चित् किसी दूसरे भाव पर स्थित नहीं

तदा तन्मध्यभावेन विकसत्यतिभावना ॥ (वि०भै० ६२)

इतिवत् । निरालम्ब इति—

उभयोर्भावयोर्ज्ञाने ज्ञात्वा मध्यं समाश्रयेत् ।
युगपच्च द्वयं त्यक्त्वा मध्ये तत्त्वं प्रकाशते॥ (वि०भै० ६१)

इतिवत् । सहालम्बेन वर्तते सालम्बं साकारं ज्ञानम्—

'इच्छायामथवा ज्ञाने जाते चित्तं निवेशयेत् ।
तत्र बुद्ध्यानन्यचेतास्ततः स्यादात्मदर्शनम् ॥' (वि०भै० ९८)

इतिवत् । नेन्द्रियाणि न भूतानीति तत्तद्धारणापटलोक्तनीत्या सर्वं त्यक्त्वा समाधिस्थ इति अकिञ्चिच्चिन्तकत्वेन स्वस्वरूपविमर्शनप्रवणस्तन्मय इत्यानन्दपद-संलीनसमरसज्ञानमयः ॥ ४४ ॥

या चैवंभूता दशा—

सावस्था परमा प्रोक्ता परस्य परमात्मनः ।
निराभासं पदं तत्तु तत्प्राप्य विनिवर्तते ॥ ४५ ॥

सांसारिकीं स्थितिमुज्झति ॥ ४५ ॥

होती । तब उस (= व्यक्ताव्यक्त भाव) के मध्य में भावना करने पर अतिक्रान्त-भावना विकसित होती है ।' (वि०भै० ६२)

के समान । निरालम्ब—

'दोनों (भावों) का ज्ञान होने पर मध्य का आश्रयण करना चाहिये, फिर दोनों का एक साथ त्याग करने पर मध्य में आत्मतत्त्व प्रकाशित होता है ॥' (वि०भै० ६१)

के समान । जो आलम्बन के साथ हो वह सालम्ब होता है अर्थात् साकार ज्ञान—

'इच्छा अथवा ज्ञान के उत्पन्न होने पर चित्त को वहाँ लगाये । बुद्धि के द्वारा एकाग्रचित होने पर आत्मदर्शन हो जाता है ॥' (वि०भै० ९८)

के समान । न इन्द्रियाँ हैं न भूत हैं अर्थात् तत्तद् धारणापटल में कथित नीति के अनुसार सब कुछ छोड़ कर समाधिस्थ = किसी का चिन्तन किये बिना केवल अपने स्वरूप का विमर्श करने वाला, आनन्दपद में संलीन समरस ज्ञानमय हो जाता है ॥ ४४ ॥

इस प्रकार की जो दशा है—

वह परमात्मा की परम अवस्था कही गयी है । वही निराभास पद है । उसको प्राप्त कर (योगी) विनिवृत्त हो जाता है ॥ ४५ ॥

अतश्च यः—

भावयेदेवमात्मानमात्मनो भावनाबलात् ।
स गच्छेत् परमं शान्तं शिवमत्यन्तनिर्मलम् ॥ ४६ ॥

आत्मनो निर्विकल्पसंवेदनस्य या भावना विकल्पहानेन संपादना, तस्या यद्बलं विमर्शदाढर्यं तेन भावयेत् ॥ ४६ ॥

किं च—

तत्तत्त्वमेकं सर्वत्र भवति(ते) मृत्युजिच्छिवम् ।
तच्चामृतेशं परमं तृतीयं पदमुत्तमम् ॥ ४७ ॥
आख्यातं तव देवेशि किमन्यत् कथयामि ते ।

सर्वत्र क्षित्याद्यनाश्रितान्ते, तदेवैकमद्वितीयम्, तत्त्वं पारमार्थिकं स्वरूपम्, शिवं श्रेयोरूपम्, मृत्युजिद्भवति । तृतीयमिति प्रोक्तस्थूलसूक्ष्मज्ञानद्वयापेक्षया, तवेत्यनुग्रहैकपरायाः, किमन्यत् कथयामीति नातोऽन्यद्रहस्यं कथनीयं किञ्चिदस्तीत्यर्थः ॥

एतदुपसंहरति—

(विनिवृत्त हो जाता है =) सांसारिक स्थिति को छोड़ देता है ॥ ४५ ॥

इसलिये जो (साधक)—

अपने भावना के बल से आत्मा की इस प्रकार भावना करता है । वह अत्यन्त निर्मल परम शान्त शिवभाव को प्राप्त हो जाता है ॥ ४६ ॥

अपने निर्विकल्पक संवेदन की जो भावना = विकल्प के परित्याग से सम्पादना, उसका जो बल = विमर्श की दृढ़ता, उसके द्वारा भावना करनी चाहिये ॥ ४६ ॥

और भी—

वही एक तत्त्व जो कि सर्वव्यापी और शिव है, मृत्युञ्जय (के नाम से ज्ञात) होता है । वही परम अमृतेश और उत्तम तृतीय पद है । हे देवेशि ! (मैंने उसको) तुम्हें बतलाया, तुमको और क्या बतलाऊँ ॥ ४७-४८- ॥

सर्वत्र = पृथिवी से लेकर अनाश्रित शिवपर्यन्त; वही एक = अद्वितीय; तत्त्व = पारमार्थिक स्वरूप; शिव = कल्याणकारी, मृत्युजित् होता है । तीसरा = उपर्युक्त स्थूल सूक्ष्म दो ज्ञानों की अपेक्षा । तुमको जो कि अनुग्रहपरायणा हो; दूसरा क्या कहूँ—इसके अतिरिक्त कोई और रहस्य कथनीय नहीं है ॥

इसका उपसंहार करते हैं—

एवं मृत्युजिता सर्वं ध्यात्वा व्याप्तं विमुच्यते ॥ ४८ ॥

योगी ॥ ४८ ॥

एतच्च—

सर्वकालं तु कालस्य वञ्चनं कथितं प्रिये ।

अकालकलितचिद्धामसमावेशोपदेशात् ॥

प्रकृतमुपसंहृत्य पूर्वप्रस्तुतमुपसंहरति—

एवं तु त्रिविधं देवि मया ते प्रकटीकृतम् ॥ ४९ ॥
कालस्य वञ्चनं नाम..........

एष च—

................योगः परमदुर्लभः ।

किं च—

अनेनाभ्यासयोगेन मृत्युजिद् भवति(ते) नरः ॥ ५० ॥

न केवलमात्मनः, यावत्—

इस प्रकार योगी सब कुछ को मृत्युञ्जय से व्याप्त हुआ ध्यान कर मुक्त हो जाता है ॥ ४८ ॥

योगी (मुक्त हो जाता है) ॥ ४८ ॥

और यह—

हे प्रिये ! काल का अपसारक सर्वकाल तुमको बतलाया गया ॥४९-॥

अकालकलित चिद्धाम के समावेश के उपदेश के कारण (यह कहा गया) ॥

प्रस्तुत का उपसंहार कर पूर्वप्रस्तुत को उपसंहृत करते हैं—

हे देवि ! इस प्रकार मैंने तुम्हें काल का तीन प्रकार का वञ्चन (= त्याग) बतलाया ॥ -४९-५०- ॥

यह—

योग परम दुर्लभ है ॥ -५०- ॥

और भी—

इसके अभ्यासयोग से मनुष्य मृत्युजित् हो जाता है ॥ -५० ॥

न केवल अपनी मृत्यु बल्कि—

अनेनैव तु योगेन लोकानुग्रहकाम्यया।
भवते मृत्युजिद्योगी सर्वप्राणिषु सर्वदा ॥ ५१ ॥

एतज्ज्ञाननिष्ठो विश्वानुग्रहकरणक्षम इत्यर्थः ।

यत्त्वत्राधिकारे परं ज्ञानमुक्तम्—

एष मृत्युञ्जयः ख्यातः शाश्वतः परमो ध्रुवः ।
अस्मात् परतरो नास्ति सत्यमेतद्वदाम्यहम् ॥ ५२ ॥

शिष्याणामत्रार्थे दृढ आश्वासो जायतामित्याशयेनादरादुक्तमर्थमत्युपादेयत्वात् पुनः पुनरादिशति—

यत्परामृतरूपं तु त्रिविधं चोदितं मया ।
तदभ्यासाद् भवेज्जन्तुरात्मनोऽथ परस्य वा ॥ ५३ ॥
अमृतेशसमो देवि मृत्युजिन्नात्र संशयः ।

किञ्चेमं मृत्युजिन्नाथम्—

येन येन प्रकारेण यत्र यत्रैव संस्मरेत् ॥ ५४ ॥
तेन तेनैव भावेन स योगी कालजिद् भवेत् ।

संसारी लोगों के ऊपर कृपा करने की इच्छा से इस योग के द्वारा योगी सभी प्राणियों के विषय में सर्वदा मृत्युजित् होता है । (अर्थात् अन्य प्राणियों को भी मृत्यु से छुटकारा दिला सकता है) ॥ ५१ ॥

इस ज्ञान में परिनिष्ठित योगी विश्व के ऊपर अनुग्रह करने में सक्षम होता है ॥

इस अधिकार जो पर ज्ञान कहा गया—

वह शाश्वत परम ध्रुव मृत्युञ्जय कहा गया है । इससे बढ़कर कुछ नहीं है । यह मैं सत्य कह रहा हूँ ॥ ५२ ॥

इस विषय में शिष्यों को दृढ़ विश्वास उत्पन्न हो इस आशय से आदरपूर्वक कहे गये अर्थ को, अत्यन्त ग्राह्य होने के कारण, बार-बार कह रहे हैं—

जो तीन प्रकार का पर अमृत मैंने (तुमको) बतलाया उसके अभ्यास से मनुष्य अपने और दूसरे के लिये अमृतेशतुल्य होकर मृत्युजित् हो जाता है । हे देवि ! इसमें संशय नहीं है ॥ ५३-५४- ॥

इस मृत्युञ्जयभट्टारक का—

योगी जिस-जिस प्रकार से जहाँ-जहाँ (उसका) स्मरण करता है उसी-उसी भाव से वह कालजयी हो जाता है ॥ -५४-५५- ॥

येन येनेत्याणवेन शाक्तेन शाम्भवेन वा । यत्र यत्रेति नात्र देशकालावस्थादि-नियम इत्यर्थः ॥

अयं च योगी—

यत्र यत्र स्थितो वापि येन येन व्रतेन वा॥ ५५ ॥
येन येन च योगेन भावभेदेन सिद्ध्यति ।

येन येन योगेन तत्तत्संहितासु योगपादोक्तेन, भावभेदेनेत्येतत्तत्त्वनिष्ठभावना-विशेषेण ॥

यच्चेदममृतेशनाथाख्यं परं तत्त्वम्—

तदेकं बहुधा देवि ध्यातं वै सिद्धिदं भवेत्॥ ५६ ॥
द्वैताद्वैतविमिश्रे वा एकवीरेऽथ यामले ।
सर्वशास्त्रप्रकारेण सर्वदा सिद्धिदं भवेत् ॥ ५७ ॥

एकमिति पराद्वयस्वतन्त्रचित्सतत्त्वम्, अत एव बहुधेत्येतत्स्वातन्त्र्यावभासित-भाविपटलवक्ष्यमाणश्रीसदाशिवतुम्बुरुभैरवकुलेश्वरादिरूपतया ध्यातं सिद्धिं ददात्येवे-त्यर्थः । परमाद्वैतरूपत्वाच्चास्य नाथस्य द्वैताद्वैतादिसर्वप्रकारक्रोडीकारित्वं न विरुध्यते । वक्ष्यति चैकविंशाधिकारे—

जिस-जिस = आणव, शाक्त अथवा शाम्भव उपाय से । जहाँ-जहाँ = इस विषय में देश काल अवस्था का नियम (= प्रतिबन्ध) नहीं है—यह तात्पर्य है ॥

और यह योगी—

जहाँ-जहाँ, जिस-जिस व्रत से तथा जिस-जिस योग से स्थित होता है, भावना के भेद से (वहाँ-वहाँ) उसे (वह) सिद्धि मिलती है ॥ ५५-५६- ॥

जिस-जिस योग से = भिन्न-भिन्न संहिताओं में योगपाद में कथित (योग) से । भाव के भेद से = इस तत्त्व में स्थित भावनाविशेष के द्वारा ॥

जो यह अमृतेशनाथ नामक पर तत्त्व है—

एक होने पर भी अनेक प्रकार से ध्यात होने पर यह सिद्धिदाता हो जाता है । द्वैत, अद्वैत, विमिश्र (= द्वैताद्वैत), एकवीर, यामल, सब में सब शास्त्रों के प्रकार में यह सिद्धि प्रदान करता है ॥ -५६-५७ ॥

एक = पर अद्वय स्वतन्त्र चित्तत्त्व । इसीलिये बहुधा = स्वातन्त्र्य के कारण अवभासित भावी पटल में वक्ष्यमाण सदाशिव तुम्बुरु भैरव कुलेश्वर आदि के रूप में ध्यात होने पर सिद्धि को देता ही है । यतो हि यह अमृतेशनाथ परम अद्वैत रूप है इसलिये इनके यहाँ द्वैत अद्वैत आदि सभी भेदों का क्रोडीकारित्व (= सङ्क्रम)

'अद्वैतं कल्पनाहीनं चिद्घनम् ।' (२१।२३) इति ॥ ५७ ॥

किं च—

चिन्तारत्नं यथा लोके चिन्तितार्थफलप्रदम् ।
तथैव मन्त्रराजस्तु चिन्तितार्थफलप्रदः ॥ ५८ ॥

अत्रत्य इत्यर्थः ॥ ५८ ॥

किं च—

मन्त्राणां सप्तकोटीनामालयः परमो बली ।

तेषामपि पराद्वयैकवीर्यत्वात् ॥

अपि च—

भावहीनास्तु ये मन्त्राः शक्तिहीनास्तु कीलिताः ॥ ५९ ॥
वर्णमात्राविहीनास्तु गुर्वागमविवर्जिताः ।
भ्रष्टाम्नायविहीना ये आगमोज्झितविघ्निताः ॥ ६० ॥
न सिद्ध्यन्ति यदा देवि जप्ता इष्टाः सहस्रशः ।
असिद्धा रिपवो ये च सर्वांशकविवर्जिताः ॥ ६१ ॥
आद्यन्तसंपुटेनैव साद्यर्णेन तु रोधिताः ।
मन्त्रेणानेन देवेशि अमृतेशेन जीविताः ॥ ६२ ॥

परस्पर विरुद्ध नहीं होता । इक्कीसवें अधिकार में कहेंगे भी—

'वह तत्त्व अद्वैत कल्पनाहीन और चिद्घन है' ॥ ५७ ॥

और भी—

संसार में जिस प्रकार चिन्तामणिरत्न चिन्तितविषयक फल देता है उसी प्रकार यह मन्त्रराज चिन्तित अर्थरूपी फल को देने वाला है ॥ ५८ ॥

और भी—

यह सात करोड़ मन्त्रों का आलय है अत एव परम बली है ॥ ५९-॥

क्योंकि वे (सात करोड़ मन्त्र) भी परमवीर्य वाले हैं ॥

और भी—

जो मन्त्र भावहीन, शक्तिहीन, कीलित, वर्णमात्राविहीन, गुरु की परम्परा से रहित, भ्रष्ट आम्नाय के कारण नष्ट, आगम से त्यक्त, विघ्नित हैं तथा इष्टरूप में हजारों बार जप किये जाने पर भी सिद्ध नहीं होते, उसी प्रकार जो असिद्ध शत्रु हैं सर्वांश से रहित है आदि वर्ण के सहित आद्यन्त सम्पुट

सिद्ध्यन्ति ह्यप्रयत्नेन जप्ता इष्टा न संशयः ।
ध्याताः सर्वप्रदा देवि भवन्ति न वचोऽनृतम् ॥ ६३ ॥

भावहीना अज्ञातवीर्याः, शक्तिहीनाः साञ्जनाः । यथोक्तम्—

'साञ्जनास्तेऽण्डमध्यस्थाः सात्त्वराजसतामसाः ।' इति ।

कीलिता व्यत्यस्तवर्णपदाः, गुर्वाम्नायविवर्जिताः शिष्यैः स्वयमेव पुस्तकाद् गृहीताः, भ्रष्टाम्नाया अज्ञातसंहितोत्थानाः, तत एव विनष्टाः, आगमोज्झितैर्विघ्निता नित्यं क्षुद्रसिद्धिविनियोगेन विघ्नाभिभूताः कृताः । असिद्धा रिपवो ये इति नामाक्षरान्मन्त्राक्षरं मातृकाक्रमेणाङ्गुलिपर्वचतुष्टये पुनःपुनरावर्तनया गण्यमानं यदि (प्रथमं पर्व स्पृशति तदा सिद्धं भवति यदि) द्वितीयं पर्व स्पृशति, तदा सिद्धं साध्यं तदुच्यते । यदि तृतीयं पर्व स्पृशति, तदा सुसिद्धं भवति । अथ चतुर्थं पर्व स्पृशति, तदास्य विरुध्यते । सर्वे अंशका भावस्वभावपुष्पपाताद्याख्याः । एवमादि च श्रीस्वच्छन्दादेर्ज्ञेयम् । एवमीदृशा अपि मन्त्रा नेत्रनाथसंपुटीकारेण इष्टा ध्याता जप्ताश्च सर्वसिद्धिप्रदा भवन्ति । न संशय इति, न वचोऽनृतमिति

होने से रोधित हैं, हे देवेशि ! वे सब इस अमृतेशमन्त्र से जीवित होने पर यथेष्ट जाप किये जाने पर बिना प्रयत्न के सिद्ध हो जाते हैं—इससे सन्देह नहीं । हे देवि ! ध्यान किये जाने पर ये सर्वप्रद होते हैं यह वचन झूठा नहीं है ॥ -५९-६३ ॥

भावहीन = जिनकी शक्ति ज्ञात नहीं है अर्थात् शक्तिरहित, मलिन । जैसा कि कहा गया—

'वे (जीव) साञ्जन है जो अण्ड (= ब्रह्माण्ड) के मध्य में स्थित हैं और सत्त्व रजस् तमस् से युक्त है ।'

कीलित = अक्षरों को या पदों को उलट-पलट कर बनाये गये । गुरु आम्नाय से रहित = शिष्यों के द्वारा स्वयं पुस्तक से गृहीत । भ्रष्टाम्नाय = अज्ञात संहिता से प्राप्त, इसी कारण विनष्ट । आगम के उज्झित होने से विघ्नित = सदा छोटी सिद्धियों में प्रयुक्त होने के कारण विघ्नाभिभूत । असिद्ध रिपु = असिद्ध मन्त्र एवं रिपुमन्त्र । साधक का नाम और मन्त्रों के अक्षरों को मातृका के क्रम से स्वर एवं व्यञ्जन को अलग-अलग कर चारो अंगुलियो के पर्वों से आवर्त्तन के साथ गणना करने पर यदि (पहले पर्व का स्पर्श करता है तो सिद्ध होता है); दूसरे पर्व को छूता है तो सिद्धसाध्य कहा जाता है । यदि तृतीय पर्व का स्पर्श करता है तो सुसिद्ध होता है । चतुर्थ को छूता है तो इसका विरोधी होता है । सर्वांश = भावस्वभाव = मन्त्रों के छह प्रकार के भाव स्वभाव पुष्पपात आदि सभी अंशक मन्त्रनाथ के जप से दूर हो जाते हैं । इस सबको स्वच्छन्द[1] आदि से जानलेना

---

१. द्रष्टव्य—स्व०तं० अष्टमपटल

चोक्त्यानाश्वस्तानामप्याश्वासं रोहयति ॥ ६३ ॥

उपसंहरति—

इति सर्वं समाख्यातं रहस्यं परमं प्रिये ॥ ६४ ॥

प्रथमाधिकारे यत् परमं रहस्यं प्रश्नितम्, तदित्युक्तदृशा सर्वं समाख्यातमिति शिवम् ॥ ६४ ॥

चिदानन्दघनं धाम शाङ्करं परमामृतम् ।
मृत्युजिज्जयति श्रीमत् स्वावेशेनोद्धरज्जगत् ॥

॥ इति श्रीनेत्रतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचित-नेत्रोद्योते अष्टमोऽधिकारः ॥ ८ ॥

चाहिये । ऐसे भी मन्त्र नेत्रनाथ से सम्पुटित कर इष्ट ध्यात और जप्त होने पर सर्व सिद्धिप्रद होते हैं । 'संशय नहीं हैं' 'वचन झूठा नहीं है' इन वचनों से अविश्वासी लोगों के मन में भी विश्वास उत्पन्न करते हैं ॥

उपसंहार करते हैं—

हे प्रिये ! इस प्रकार समस्त परम रहस्य कहा गया ॥ ६४ ॥

इस प्रकार मृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के अष्टम अधिकार की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदी कृत ज्ञानवती नामक हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ८ ॥

प्रथम अधिकार में जो परम रहस्य पूछा गया था वह उक्त रीति से सब का सब कह दिया गया ॥ ६४ ॥

चिदानन्दघन, परमअमृत, श्रीमान् तथा अपने आवेश से जगत् का उद्धार करने वाला शाङ्कर तेज सबसे बढ़कर है ।

॥ इस प्रकार श्रीमदमृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के अष्टम अधिकार की आचार्यवर्य श्रीक्षेमराजविरचित 'नेत्रोद्योत' नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ८ ॥

नवमोऽधिकारः

* नेत्रोद्योतः *

स्वच्छस्वच्छन्दचिन्नेत्रं चित्रानुग्रहहेतुतः।
सदाशिवादिभी रूपैः प्रस्फुरज्जयति प्रभुः ॥

अथाधिकारसङ्गतिं कुर्वती श्रीदेव्युवाच—

श्रुतं देव मया सर्वं माहात्म्यं मन्त्रनायके[1] ।
अधुना श्रोतुमिच्छामि यदुक्तं विभुना मम ॥ १ ॥
सर्वागमविधानेन भावभेदेन सिद्धिदम् ।
वामदक्षिणसिद्धान्तसौरवैष्णववैदिके ॥ २ ॥
यथेष्टसिद्धिदं देवं यथेष्टाचारयोगतः ।
तदाख्याहि सुरेशान चिन्तारत्नफलोदयम् ॥ ३ ॥

---

* ज्ञानवती *

अधिकार इहाङ्गके प्रभोर्वामाद्यं ह्यनुसृत्य पूजनम् ।
सुशिवस्य समर्चनं ब्रुवन् जयतात् कोऽपि मणेः फलप्रदः ॥

प्रभु (= समर्थ) एवं स्वच्छ-स्वच्छन्द चित् नेत्र विचित्र अनुग्रह के कारण सदाशिव आदि रूपों से स्फुरित होते हुए सर्वोत्कृष्ट हैं ।

अब अधिकार की सङ्गति बैठाती हुयी देवी ने कहा—

हे देव ! मैंने मन्त्रनायक (= अमृतेश मन्त्र) का सम्पूर्ण माहात्म्य सुना । अब मैं, जैसा कि विभु आपने मुझसे कहा—समस्त आगमों के विधान से भावभेद के अनुसार सिद्धि देने वाले देव, वाम, दक्षिण, सिद्धान्त, सौर, वैष्णव एवं वैदिक प्रक्रियाओं में यथेष्ट आचारद्वारा यथेष्ट सिद्धि देने वाले हैं, हे सुरेशान ! उस चिन्तामणिरत्न के समान फल देने वाले को बतलाइये ॥ १-३ ॥

---

१. यहाँ षष्ठी अर्थ में सप्तमी का प्रयोग आर्ष है ।

अथ योगदीक्षाचिन्तामणौ पातञ्जलयोगः ।

एवं सांख्यं वेदान्तानुकूलतया प्रतिपाद्येदानीं मलिनान्तःकरणानां जिज्ञासूनां सांख्योक्ते जीवात्मैक्यासंगलक्षणपुरुषे चित्तस्थितिर्न स्यादिति तदन्तःकरणमलनिरासकनिरोधाख्ययोगेन चित्तशुद्धौ विवेकाविर्भावेन तत्रैव चित्तस्थैर्यं स्यादिति तदर्थं योगं निरूपयितुं योगदीक्षाचिन्तामण्याख्यमेकोत्तरशतश्लोकं प्रकरणमारभते, तत्र चावांतरप्रकरणे द्वे पातञ्जलाख्यं शैवाख्यं चेति; तत्रापि पातञ्जलस्यैकविध्यादाद्यमेव षड्विंशतिश्लोकं भवति, इतरस्य च चातुर्विध्यात्तत्र चत्वारि प्रकरणानि मन्त्रयोग हठयोग शिवशक्तिपराक्रम लययोगाख्यानि क्रमेण चतुःश्लोकैकोनविंशतिश्लोक षोडशश्लोक षट्त्रिंशच्छ्लोकानि सन्ति, तान्यनुक्रमतो व्याख्यास्यामः । तत्रादौ पातञ्जलं योगं निरूपयति, तत्र तावद्योगप्रतिपादकस्यास्य प्रकरणस्य योगदीक्षाचिन्तामणिनाम्नोर्थे तत्र प्रवृत्तिं जनयितुं सफलं दर्शयति ।

अथातो योगदीक्षायाश्चिन्तामणिरुदीर्यते ।
तत्प्राप्त्याऽबोधदारिद्र्यं सर्वमेव विनश्यति ॥ १ ॥

अथेति । अथ सांख्यप्रतिपादनानन्तरं सांख्योक्ते तत्त्वे मलिनान्तःकरणानां मुमुक्षूणां केन चित्प्रतिबिन्धेन चित्तस्थैर्यं न भवति यतोऽत इति हेतोरित्यर्थः, योगदीक्षाया योगस्य निरोधाख्यस्य दीक्षा संस्कारस्तस्याश्चिन्तामणिः कल्पितफलप्रदत्वाच्चिन्तामणिरिव कल्पितधारणाजन्यफलप्रदत्वाच्चिन्तामणिरिति नाम प्रकरणस्य स उदीर्यते निरूप्यते तत्त्वं शृणु, ननु चिन्तामणिप्राप्त्या दारिद्र्यं नश्यत्यनेन किं स्यादित्यत आह तदिति, तत्प्राप्त्या तस्य

योगदीक्षाचिन्तामणेः प्राप्त्या लाभेनाऽबोधदारिद्र्यमबोधोऽज्ञानं तदेव सर्वदारिद्र्यमूलत्वाद्दारिद्र्यं दरिद्रत्वं तत्सर्वमेव समस्तमपि विनश्यति निवर्ततेऽतोऽस्य योगदीक्षाचिन्तामणिरिति नामेति भावः ॥ १ ॥

अस्य च संप्रदायतः प्रामाण्यं वक्तुं योगप्रवर्त्तकान्द्वाभ्यामाह ।

महायोगेश्वरः शम्भुः महायोगेश्वरो हरिः ।
महायोगेश्वरो ब्रह्मा भवानी सिद्धयोगिनी ॥ २ ॥

महायोगेश्वर इति । शम्भुः शं सुखं भवत्यस्माल्लोकानामिति स शम्भुः शङ्कर इत्यर्थः, महायोगेश्वरो महाञ्छ्रेष्ठो योगानां मन्त्रादियोगानामीश्वरः प्रवर्त्तक आचार्य इत्यर्थः, तथा हरिर्हरति सर्वं दुःखं भक्तानां स हरिर्विष्णुर्महायोगेश्वरो महान्सर्वमान्यो योगेश्वरो योगप्रवर्त्तकोऽस्ति तथा ब्रह्मा परमेष्ठी महायोगेश्वरो महाञ्जगत्पूज्यो योगेश्वरो योगप्रवर्त्तकोऽस्ति तथा भवानी सर्वजगज्जीवयित्री चिच्छक्तिः सिद्धयोगिनी स्वतःसिद्धयोगवत्यस्ति, एतेषां सर्वजगच्छ्रेष्ठत्वं योगफलमेव योगानां प्रवृत्तिरपि तेभ्य एवेति भावः ॥ २ ॥

तदितरेषामपि योगेन सिद्धिप्राप्तिमपि तदितरेषां तत्र रुचिं जनयितुं प्रदर्शयति ।

सनकाद्याः वसिष्ठाद्याः कचदत्तशुकादयः ।
अरुन्धतीप्रभृतयो योगात्सिद्धिमुपागताः ॥ ३ ॥

सनकेति । सनकाद्याः सनक आद्यो मुख्यो येषु ते नैष्ठिका, वसिष्ठाद्या वसिष्ठ आद्यो मुख्यो येषां पुलस्त्यादीनां ते सर्वे गृहिणः, तथा कचदत्तशुकादयः कचो बृहस्पतेः पुत्रो

दत्तो ह्यत्रेः पुत्रः शुको व्यासपुत्र एत आद्यो मुख्या येषामार्षभादीनां ते सर्वेपि परमहंसाः, तथाऽरुन्धतीप्रभृतयोऽरुन्धती वसिष्ठपत्नी प्रभृतिरादिर्यासां देवहूत्यादीनां ताः स्त्रियः, एते सर्वे योगाच्चित्तवृत्तिनिरोधलक्षणयोगात्सिद्धिमणिमादिरूपां मुक्तिमपि उपागता प्राप्ता अतो मुमुक्षुभिर्योगः साध्य एवेति भावः ॥ ३ ॥

ननु योगशब्दवाच्यार्थानां मतभेदेन बहुत्वप्रतीतेर्मुख्यो योगशब्दार्थः को विवक्षित इत्याशङ्कायामाह ।

आत्मज्ञानेन यो योगो जीवात्मपरात्मनोः ।
स योगस्तस्य हेतुत्वाद्योगा बहुविधा मताः ॥४॥

आत्मज्ञानेनेति । यो वेदान्तेषु प्रसिद्ध आत्मज्ञानेन आत्मस्वरूपयथार्थज्ञानेन तत्त्वमसीत्यादिवाक्यजन्याहंब्रह्मेत्याकारेण जीवात्मपरमात्मनोर्जीवस्य प्राणोपाधिकस्य साधिष्ठानबुद्धिस्थचिदाभासस्यात्मा शोधितस्त्वंपदार्थः कूटस्थः, परमश्चासावात्मा च परमात्मा शोधितस्तत्पदार्थो जगदारोपाधिष्ठानं ब्रह्मेत्यर्थः, तयोरुभयोर्योग एकत्वं यत्पारमार्थिकं स स एवेत्यर्थः, योगो योगशब्दवाच्यो मुख्यो भवति, तत्र तर्हि कुतो बहुत्वं दृश्यते तत्र तत्र शास्त्रेषु तत्राह तस्य, योगस्य हेतुत्वात्साधनत्वात्तेपि योगा योगशब्दवाच्यार्था भवन्ति, अतस्ते बहुविधा अनेकप्रकारा मता मुनिभिस्तत्तच्छास्त्रेषु निर्णीताः, याथार्थ्यात्मज्ञानस्यैव योगशब्दमुख्यार्थत्वमितरेषां तु तत्साधनभूतत्वाद्गौणं योगशब्दार्थत्वमिति भावः ॥ ४ ॥

एवं मुख्यं योगशब्दार्थं प्रतिपाद्येदानीं भगवत्प्रतिपादितं योगशब्दार्थं दर्शयति ।

विरोधिलक्षणान्यायादभद्रा भद्रिका यथा ।
सर्वदुःखवियोगस्तु योग इत्याह केशवः ॥ ५ ॥

विरोधीति । केशवः सर्वान्तर्यामी श्रीकृष्णः सर्वदुःखवियोगस्तु सर्वेषामाध्यात्मिकादीनां दुःखानां वियोगो विश्लेषः स्वस्मिन्दुःखासत्त्वप्रतीतिः स एव योगो योगशब्दवाच्योर्थोऽस्तीति एवं प्राहोक्तवान् 'तं विद्यादुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितमि'त्यादिष्विति ज्ञेयं, ननु आत्मनस्तत्त्वतो योगवियोगयोरसम्भवात्तस्मिन्योगशब्दवाच्यार्थो माऽस्तु दुःखवियोगे तु तदभाववति कथं योगत्वमुच्यत इत्याशङ्क्य योगत्वं तत्र सम्भावयितुं न्यायमाह विरोधीति, विरोधिलक्षणान्यायाद्यत्र यद्विरोधोस्ति तत्र तद्वाचकशब्दप्रयोगो विरोधिलक्षणान्यायो तदभाववति तद्भाववचन इत्युक्तलक्षण इत्यर्थः, तत्रोदाहरणमभद्रेति, यथा यद्वदभद्रा स्वरूपतोऽकल्याणरूपापि भद्रिका भद्रिकेति कल्याणवाचकशब्देनोच्यते लोके तथा वियोगोपि योगशब्देनोक्त इति भावः ॥ ५ ॥

ननूक्तलक्षणस्य योगस्य किं फलं तत्सदृष्टान्तमाह ।

अत्यन्तचपलस्यापि मनसो योगशक्तितः ।
निश्चलत्वं प्रजायेत विन्ध्यस्येव महागिरेः ॥ ६ ॥

अत्यन्तेति । अत्यन्तचपलस्यापि निरन्तरचञ्चलस्वभावस्यापि मनसश्चित्तस्य योगशक्तितो योगाभ्यासजन्यसामर्थ्येन निश्चलत्वं स्थिरत्वं प्रजायेत स्यात्तत्र दृष्टान्तो महागिरेरतीवऋद्धस्य विन्ध्यस्येव विन्ध्यनाम्नः पर्वतस्येव यथा विन्ध्यप-

र्वेतस्याचलत्वं त्यक्त्वा वृद्धिरूपं चाञ्चल्यं वृद्धं तदगस्त्यमुनिकृतयोगेन चाञ्चल्यं परित्याज्य स्थावरत्वं स्थापितं स्वकृतयोगेन वागस्त्याज्ञानुल्लङ्घनाय स्थिरत्वं सम्पादितं तद्वद्योगेन योगी स्वत आत्मरूपत्वादचञ्चलस्यापि मनसोऽचाञ्चल्यं त्यक्त्वा चञ्चलत्वं गृहीतं तत्परित्याज्य स्थिरत्वमात्मस्वरूपभूतं सम्पादयतीत्याशयः ॥ ६ ॥

योगस्य मनश्चाञ्चल्यनिवर्त्तकत्वे भुशुण्डसम्मतिरस्तीत्याह ।

तथा च भुशुण्डः ।

तथेति । भुशुण्डश्च भुशुण्डोपीत्यर्थः, तथाच तमेवार्थमाह । केन वाक्येनेत्याशङ्क्य तद्वाक्यं पठति ।

नाभसीं धारणां बद्ध्वा तिष्ठामि विगतज्वरः ।
यावत्पुनः कमलजः सृष्टिकर्मणि तिष्ठति ॥ ७ ॥

नाभसीमिति । अहं भुशुण्डनामा काको वायोरपि लय आसन्ने नाभसीं सर्ववाय्वादिभूतभौतिकरहितं नभ एवाहमित्येवं नभसम्बन्धिनीं धारणां भावनां बद्ध्वा सन्धार्य तया च विगतज्वरो वाय्वादिनाशेन स्वनाशभीतिरहितः सन्नाकाशमात्ररूपस्तिष्ठामि स्थिरो भवामि, कियत्पर्यन्तमित्यत आह यावदिति, कमलजो ब्रह्मा कमलेन सह सम्भूय वर्त्तमानो यावद्यावता कालेन पुनर्भूयः सृष्टिकर्मणि सृज्यतेनया सा सृष्टिस्तद्रूपे कर्मणि क्रियायां तिष्ठति संस्थितो भवति तावत्कालपर्यन्तमित्यर्थः ॥ ७ ॥

एवं योगफलं प्रदर्श्येदानीं पातञ्जलं योगं वक्तुं मुख्यं पातञ्जलयोगलक्षणमाह ।

चित्तवृत्तिनिरोधस्तु मुख्यः पातञ्जलो मतः ।

प्राणवृत्तिनिरोधस्तु गौणस्तत्साधनत्वतः ॥ ८ ॥

चित्तेति। पातञ्जलः पतञ्जलिना प्रोक्तः पातञ्जलः 'तेन प्रोक्तमि'ति तद्धितोऽण्,मुख्यः प्रधानो योगस्तु हठादिभ्यो विलक्षणश्चित्तवृत्तिनिरोधश्चित्तस्यान्तःकरणस्य वृत्तीनां बाह्यादिविषयाकाराणां निरोधोऽवरोध एव मत इष्टः, तत्र भगवतः पतञ्जलेः सूत्रं 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध' इति, प्राणवृत्तिनिरोधस्तु प्राणस्य शरीरावच्छिन्नस्य वायोर्वृत्तयः प्राणापानादयस्तासां निरोधोऽवरोधः प्राणायामादिना स्थैर्यसम्पादनं हठिनां प्रधानभूतोपि पातञ्जलानां तत्साधनत्वतस्तस्य चित्तवृत्तिनिरोधनाम्नोः योगस्य साधनरूपत्वाद्गौणो न प्रधानत्वेन संमत इत्यर्थः ॥ ८ ॥

एवं पातञ्जलयोगस्वरूपं प्रदर्श्येदानीं तत्साधनानि दर्शयितुं तत्प्रतिपादकं सूत्रं प्रमाणयति।

तत्र सूत्रं 'यमनियमासनप्राणायाम—
प्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोष्टावङ्गानि' ॥ ९ ॥

तत्रेति। तत्र योगाङ्गेषु सूत्रं पतञ्जलेः सूत्रमस्तीत्यर्थः, तदेवोदाहरति यमेति, यमाः पञ्च, नियमाः पञ्च, आसनानि सुखासनप्रभृतीनि, प्राणायाम आभ्यन्तरबाह्यभेदेन द्विविधोपि, प्रत्याहार इन्द्रियाणां स्वस्वविषयेभ्यो व्यावृत्तिरूपो, धारणा देशविशेषसम्बन्धश्चित्तस्य, ध्यानं विजातीयप्रत्ययानन्तरितध्येयसजातीयप्रत्ययवृत्तिप्रवाहः, समाधिः सविकल्पकापरपर्यायः संप्रज्ञातः; एतान्यष्टौ योगस्याङ्गानि सन्ति ॥ ९ ॥

एवं योगाष्टाङ्गप्रतिपादकं पातञ्जलसूत्रमुपन्यस्येदानीं यमादीन्यङ्गानि दर्शयितुमुपक्रमते चतुर्भिः।

यमोऽस्तेयऋताहिंसाब्रह्मचर्यापरिग्रहाः ।
नियमः शौचसन्तोषतपःपाठेश्वरार्पणम् ॥ ९ ॥

यम इति । अस्तेयं चौर्याभाव ऋतं सत्यवक्तृत्वादि अहिंसा हिंसातः सदा निवृत्तिर्ब्रह्मचर्यमष्टाङ्गमैथुननिवृत्त्युपलक्षितं नैष्ठिकादि ।

'स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।
एकान्तवासो रमणं स्पर्शोऽष्टविधमैथुनमि'ति ।

एतन्निवृत्तिर्ब्रह्मचर्यं, अपरिग्रहो योगाननुकूलविषयासंग्रहः, एते पञ्च यमो जातित्वादेकवचनं यमा ज्ञेया, यमयन्ति निवर्त्तयन्ति हिंसादिभ्यः पुरुषविशेषं ते यमा इत्यर्थः; तत्र पतञ्जलेः सूत्रम्, 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा' इति । यमानुक्त्वा नियमानाह नियम इति, शौचसन्तोषौ शौचं बाह्यं स्नानादि आन्तरं रागत्यागादीत्येवं द्विविधं, सन्तोषो यथालब्धे विषयेऽलंबुद्धिस्तपः स्वस्ववर्णाश्रमधर्मनिष्ठापूर्वकक्लेशसहिष्णुत्वं, पाठेश्वरार्पणं पाठश्च स्वाध्याय ईश्वरार्पणं च यद्यत्क्रियते स्वयं तत्तदीश्वरेणैव कृतमिति निश्चय, एते पञ्च नियमाः; अत्रापि जातित्वादेकवचनं, जन्मप्रदकर्मभ्यो व्यावर्त्य मोक्षकारणे निष्कामकर्मणि नियमयन्तीति नियमनाम्नोक्ता ज्ञातव्याः, अत्रापि पातञ्जलं सूत्रं 'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा' इति । यमनियमफलान्यपि कानि चित्सूत्रितानि तान्यपि प्रदर्शयामः, यमेषु तावदहिंसाफलप्रतिपादकं सूत्रम्, 'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः' । सत्यफले सूत्रं, 'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वं' । अस्तेयफले सूत्रं, 'अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानं' ब्रह्मचर्यफले सूत्रं, ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः,। अपरिग्रहफले सूत्रं

'अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोध' इति क्रमेणज्ञेयानि । नियमफलान्यपि सूत्रैर्दर्शितानि, तत्र शौचफलप्रतिपादके सूत्रे 'शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः, सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च' । सन्तोषफलमाह 'सन्तोषादनुत्तमसुखलाभ' इति । तपः फलमाह 'कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपस' इति । स्वाध्यायफलमाह 'स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोग' इति । ईश्वरप्रणिधानफलमाह 'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानादि'ति ॥ ९ ॥

आसनप्राणायामावाह ।

आसनं सुखरूपेण शरीरस्थिरता मता ।
प्राणायामः प्राणदण्डः कुम्भपूरकरेचकैः ॥ १० ॥

आसनमिति । सुखरूपेण पद्मकस्वस्तिकादीनि आसनानि प्रोक्तानि, तत्र यादृशेन देहस्थापनरूपेणासनेन यस्य पुरुषस्यावयवेषु व्यथानुत्पत्तिस्तदेव सुखरूपमासनं तेन शरीरस्थिरता देहेऽचाञ्चल्यं स्यादित्यध्याहार्यं, तदेवासनमास्यतेस्मिन्नित्यासनं मतमिष्टं ज्ञेयम्; अत्रापि पतञ्जलेः सूत्रं 'स्थिरसुखमासनमि'ति । अस्योपायप्रतिपादकं पतञ्जलेः सूत्रमपि 'प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्यामि'ति । अस्यार्थः, प्रयत्नशैथिल्यं प्रयत्नस्य लौकिकवैदिकस्य गमनागममैथुनगृहकृत्यव्यापारादिरूपस्य तीर्थयात्रास्नानयागहोमादिरूपस्यच मानसोत्साहरूपस्य शैथिल्यं कर्त्तव्यं तेन, तदभावे च मानस उत्साहो बलाद्देहमुत्थाप्यान्यत्र चालयेदेवेत्यर्थः; अनन्तसमापत्तिश्च फणासहस्रेण पृथिवीं धृत्वा स्थिरः स्थितोनन्त एवाहमस्मीति दृढधारणाऽनन्तसमापत्तिः स्वस्मिन्ननन्तत्वापादनं स्थिरत्वहेतुस्तेन चोपायेनासनसिद्धिर्जायत इत्यर्थः । आसनसिद्धिफलमपि सूत्रांशेनाह भगवान्पतञ्जलिः, 'ततो द्वन्द्वानभिघात' इति । अस्यार्थ आसने

सिद्धे ततोऽनन्तरं द्वन्द्वैः सुखदुःखादिलक्षणैरनभिघातो न पराभवो जायते योगिन इत्यर्थः । प्राणायाममाह प्राणायाम इति, कुम्भपूरकरेचकैः कुम्भकेन द्विविधेनान्तरेण बाह्येन चेति, कुम्भकस्य द्वैविध्यं वसिष्ठ आह ।

'अपानेऽस्तङ्गते प्राणो यावन्नाभ्युदितो हृदि ।
तावत्सा कुम्भकावस्था योगिभिर्याऽनुभूयते ॥
बहिरस्तं गते प्राणे यावन्नापान उद्गतः ।
तावत्पूर्णां समावस्था बहिष्ठं कुम्भकं विदुरि'ति ॥
तेनोक्तलक्षणेन कुम्भकेन, पूरकेण=
'वक्रेणोत्पलनालेन तोयमाकर्षयेन्नरः ।
एवं वायुर्गृहीतव्यः पूरकस्येति लक्षणम्' ॥
इत्युक्तलक्षणेन पूरकेण, रेचकेन च=
'उत्क्षिप्य वायुमाकाशं शून्यं कृत्वा निरात्मकम् ।
शून्यभावेन युञ्जीत रेचकस्येति लक्षणम् ॥

इत्युक्तलक्षणेन रेचकेन यः प्राणदण्डः प्राणस्य शारीरावच्छिन्नवायोर्दण्डो नियमनं स प्राणायामः प्राणायामनाम्नोक्तो मुनिभिरिति शेषः । आसनानन्तरमेव प्राणायामप्रतिपादकं पतञ्जलेः सूत्रं, 'तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायाम' इति । तस्यैतस्याभ्यासप्रतिपादकमपि पतञ्जलेः सूत्रं, 'बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसङ्ख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्म' इति। अस्यार्थः, बाह्यवृत्ती रेचक, आभ्यन्तरवृत्तिः पूरकः, स्तम्भवृत्तिः कुम्भकः, तत्रैकैको देशकालसङ्ख्याभिः परीक्ष्यः । तथाहि, स्वाभाविकरेचके हृदयदेशान्निर्गतस्य वायोः नासाग्रसमदेशाद्बहिर्द्वादशाङ्गुलपर्यन्तं श्वासस्य समाप्तिर्भवति अभ्यासे च तस्य क्रमेण नाभेर्वा मूलाधाराद्वायुनिर्गमे च-

तुर्विंशत्यङ्गुलिपर्यन्ते समाप्तिर्भवति अस्मिंश्च प्रयत्नाधिक्ये जाते नाभेर्वा मूलाधारस्य क्षोभेणान्तर्निश्चयो भवति, बहिरपि सूक्ष्मं सूत्रादि धृत्वा तच्चाञ्चल्येन परीक्ष्यो भवति, इयमेव देशपरीक्षा। कालतोपि परीक्षा यथा, रेचककाले प्रणवस्यावृत्तयो दश वा विंशतिर्वा त्रिंशद्वेत्येवं कालतः परीक्षा। अस्मिन्मासे दश नित्यमग्रिममासे विंशतिर्विंशतिः, तदुत्तरे मासे च त्रिंशत्त्रिंशदित्येवं सङ्ख्या परीक्षा। एवं त्रिविधपरीक्षा पूरकेपि ज्ञेया। कुम्भके तु कालसङ्ख्याभ्यां द्विविधा परीक्षा स्पष्टा, परन्तु यथा तूलपिण्डः प्रसार्यमाणो विरलः सूक्ष्मश्च भवति तद्वत्प्राणो देशकालसङ्ख्याधिक्येनाभ्यस्यमानो, दीर्घो दुर्लक्ष्यत्वात्सूक्ष्मश्च भवति। एवं पूर्वोक्तरेचककुम्भकपूरकेभ्योन्यं प्राणायाममपि पतञ्जलिः सूत्रयामास 'बाह्याभ्यन्तरपूर्वत्रयापेक्षोपि चतुर्थ' इति। अस्यार्थः, यथाशक्ति सर्वं विरिच्य ततः कृतः कुम्भको बाह्यः, तथान्तर्वायुमापूर्य ततः कृतः कुम्भकः आन्तरः, एवं च रेचकपूरकापेक्षया कुम्भकस्तृतीयः, एतत्त्रयापेक्षया रेचकपूरकौ त्यक्त्वा केवलकुम्भकश्चतुर्थो भवति। निद्रालस्यादिबलवद्दोषवतां पूर्वत्रिकं निर्दोषाणां चतुर्थ इति ज्ञेयम्। प्राणायामफलमप्याह पतञ्जलिः सूत्राभ्यां 'ततः क्षीयते प्रकाशावरणमि'ति। 'धारणासु च योग्यता मनस' इति च। अनयोरर्थः, प्रकाशस्य सत्त्वस्यावरणं तमो निद्रालस्यादिकारणं तस्य नाशो भवति, प्राणायामान्मनसस्तमोनाशे धारणासु योग्यताधिकारित्वं जायत इत्यर्थः॥१०॥

प्रत्याहारधारणे प्राह।

प्रत्याहारस्त्विन्द्रियाणां चलानां प्रतिरोधनम्।
क्वचित्प्रदेशे चित्तस्य स्थापनं धारणा मता॥११॥

प्रत्याहार इति। चलानां चञ्चलानामिन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां प्रतिरोधनं स्वस्वविषयाच्छब्दादेर्निवर्त्तनं प्रत्याहारस्तु स प्रत्याहारोपि ज्ञेयः, अत्रापि पतञ्जलेः सूत्रं 'स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहार' इति। अस्यार्थः, शब्दस्पर्शादिविषयेभ्यो निवर्त्तिताः श्रोत्रादयश्चित्तस्वरूपमनुकुर्वन्तीवावतिष्ठन्ते स प्रत्याहार इत्यर्थः,। श्रुतिश्च;

'शब्दादिविषयान्पञ्च मनश्चैवातिचञ्चलम्।
चिन्तयेदात्मनो रश्मीन्प्रत्याहारः स उच्यते' इति॥

प्रत्याहारफलमप्याह पतञ्जलिः 'ततः परमावश्यतेन्द्रियाणामि'ति। धारणामाह क्वचिदिति, क्वचित्कुत्रचित्प्रदेशे आधारस्वाधिष्ठानादिचक्रे क्वचिद्बाह्ये प्रतिमादौ सौन्दर्यवत्स्त्रीपुरुषयोर्वा चित्तस्य मनसः स्थापनं स्थैर्यसंपादनं धारणा धारणापदवाच्या प्रतेष्टत्वेन गृहीता योगिभिरिति शेषः, तथा चात्र पतञ्जलेः सूत्रं 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणे'ति॥ ११॥

ध्यानसमाधी आह।

निरन्तरश्चित्प्रवाहो ध्येयस्य ध्यानमीरितम्।
समाधिरष्टमो ज्ञेयस्तदात्मकतया स्थितिः॥ १२॥

निरन्तर इति। ध्येयस्य ध्यानगोचरस्य ध्येयस्य विषयत्वात्तत्सम्बन्धवानित्यर्थः, निरन्तरो ध्येयविजातीयविषयप्रत्ययैरनन्तरितश्चित्प्रवाहश्चितां वृत्तीनां प्रवाहो जलप्रवाह इव सातत्यं तद्ध्यानं ध्याननाम्नेरितमुक्तम्, अत्र च पतञ्जलेः सूत्रं 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानमि'ति। समाधिमाह समाधिरिति, चित्तस्येत्यपकर्षः पूर्वश्लोकात्, चित्तस्य मनसस्तदात्मकतया तद्ध्येयमेवात्मा स्वरूपं यस्य तस्य भावस्तत्ता तया ध्येयाकार प-

रिणामेनेत्यर्थः, स्थितिः स्थानं समाधिः समाधिनामको ज्ञेयः, स चोक्तेषु योगाङ्गेषु अष्टमः, अयं च सविकल्पक एव सम्प्रज्ञातापरपर्यायो ज्ञेयः। अत्रैव पतञ्जलेः सूत्रं 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिरि'ति, अयं च ध्यानपरिणामरूपत्वाद्ध्यानभेद एव ॥ १२ ॥

इदानीं योगाङ्गभूतं योगाख्यं च समाधिं विवेक्तुं समाधिभेदमाह ।

संप्रज्ञातस्तदन्यश्च समाधिर्द्विविधो हि सः ।
यमादिपञ्चबहिरङ्गमन्तरङ्गमथापरम् ॥१३॥

संप्रज्ञात इति । स उक्तलक्षणः समाधिर्ध्येयाकारपरिणामरूपो द्विविधो द्वे विधे प्रकारौ यस्य स तथोक्तः। हि तौ द्वौ प्रकारौ प्रसिद्धौ पातञ्जल इत्यर्थः । तावेव प्रकारौ दर्शयति संप्रज्ञात इति, संप्रज्ञातः संप्रज्ञातनामकः, तदन्यश्च तस्मात्संप्रज्ञातादन्य इतरश्चासंप्रज्ञात इत्यर्थः । एतत्समाधिद्वयप्रतिपादके पतञ्जलेः सूत्रे, 'शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणाम' इति 'सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः' इति च । एतयोरर्थः, शान्तो ह्यतीत उदित उत्पन्नो वर्तमान इत्यर्थः, प्रत्ययः प्रतीतिरनुभव इत्यर्थः, तावुभौ तुल्यप्रत्ययावेकविषयौ प्रत्ययौ चित्तस्य मनसो यदि स्तस्तदैकाग्रता परिणाम एकाग्रतयैकविषयतयापरिणामः समाधिः संप्रज्ञातनामा जायत इत्यर्थः । सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ स्वाभाविकी या रजोगुणेन जायमाना चित्तस्य सर्वार्थता तस्या रजोगुणरोधकप्रयत्नेन योगिकृतेन क्षयो भवति, ततश्च चित्तस्यैकाग्रताया ऐकाग्र्यलक्षणस्य स्थैर्यस्यो-

दयो भवति, तदा चित्तैकाग्र्यस्य परिणामोऽतिस्थैर्यं समाधिरित्यभिधीयते, सोऽसंप्रज्ञात इत्यर्थः । अस्य समाधेर्यमादीनि पञ्च बहिरङ्गसाधनानि पराण्यन्तरङ्गानि ज्ञेयानि ॥ १३ ॥

एवं द्विविधं समाधिं प्रतिपाद्येदानीं तयोराद्यस्य सहेतुकान्भेदानाह ।

वितर्केण विचारेणानन्देनास्मितया तथा ।
अनुस्यूतः समाधिस्तु संप्रज्ञातश्चतुर्विधः ॥ १४ ॥

वितर्केणेति । संप्रज्ञातस्तु संप्रज्ञातनामा समाधिरपि ध्येयाकारपरिणामरूपो वितर्केण परोक्षतया विशिष्टतर्केण ध्येयं गोचरीकृत्य तदाकारपरिणाम एकः, विचारेण विवेकेन ध्येयं गोचरीकृत्य तदाकारपरिणामः समाधिर्द्वितीयः, आनन्देन स्वानन्दप्रतीत्याविर्भावे तदाकारपरिणामस्तृतीयः, अस्मितयाऽऽत्मसत्त्वप्रतीत्या तदाकारपरीणामरूपः समाधिश्चतुर्थः । तदेव स्पष्टमाह अनुस्यूत इति । एतैश्चतुर्भिरनुस्यूतोऽन्वित इति हेतुगर्भं विशेषणमत एव स समाधिश्चतुर्विधश्चतुःप्रकारोऽस्तीति शेषः ॥ १४ ॥

इदानीमसंप्रज्ञातभेदं वक्तुमसंप्रज्ञातलक्षणमाह ।

यत्र न ज्ञायते किञ्चित्सोऽसंप्रज्ञात उच्यते ।
द्विधा भवप्रत्ययवानुपायप्रत्ययश्च सः ॥ १५ ॥

यत्रेति । यत्र समाधौ किञ्चिद्ध्यातृ ध्यानं वा ध्येयं वा किमपीत्यर्थः, न ज्ञायते न प्रतीयते सोऽसंप्रज्ञातोऽसंप्रज्ञातनामा समाधिरुच्यते कथ्यत इत्यर्थः, तस्यापि भेदमाह द्विधेति, सोऽसंप्रज्ञातनामा समाधिर्भवप्रत्ययवान्भवत्यस्मादिति भवः प्रकृतिर्वा महत्तत्त्वं वा तस्य प्रत्ययोऽनुभवः स प्रत्ययो वि-

ध्यते यत्र सूक्ष्मरूपेण स तथोक्त एकः, उपायप्रत्ययस्तूपैति अनेनेत्युपायः स्वप्रापकः स च प्रत्ययोऽनुभवो यत्र स तथोक्त आत्मस्वरूपप्रापकानुभववानित्यर्थः, सोपि एवं द्विधा द्विप्रकारो ज्ञेय इति शेषः ॥ १५ ॥

तयोराद्यमुदाहृत्य स्पष्टं दर्शयति।

मूढानामपि जायेत तपोदार्ढ्यान्मनोलयः।
प्रकृतौ वा महत्तत्त्वे भवप्रत्यय एव सः ॥१६॥

मूढानामिति। मूढानामपि अज्ञानिनामपि तपोदार्ढ्यात्तपसो दार्ढ्यं निरन्तराचरणेन दृढता ततः प्रकृतौ गुणसाम्यावस्थारूपायां महत्तत्वे वा सत्वगुणवति प्रकृतिविकारे वा मनोलयो मनसोन्तःकरणस्य लयो नाशो जायेतोत्पद्येत स भवप्रत्यय एव भवप्रत्यनामा समाधिरसम्प्रज्ञात एव ज्ञेयः ॥ १६ ॥

नन्वयं समाधिः कस्य जात इत्याशङ्क्यात्रोदाहरणं दर्शयति।

त्रैलोक्यराज्यकामस्य हिरण्यकशिपोर्यथा।
शरीरं क्रिमिभिर्भुक्तं वल्मीकेनापि संवृतम् ॥१७॥

त्रैलोक्येति। त्रैलोक्यराज्यकामस्य त्रैलोक्यस्य यद्राज्यं तस्मिन्काम इच्छा यस्य तस्य हिरण्यकशिपोर्दैत्यस्य यथा येन समाधिप्रकारेण शरीरं देहः क्रिमिभिः कीटकैः भुक्तं भक्षितं वल्मीकेन संवृतमपि अवरुद्धं च तत्तेन न ज्ञातं स तस्य समाधिर्भवप्रत्ययनामाऽसंप्राज्ञात इति भावः ॥ १७ ॥

एवं भवप्रत्ययनामानमसंप्रज्ञातसमाधिं प्रदर्श्येदानीमुपायप्रत्ययमसंप्रज्ञातं दर्शयति।

श्रद्धावीर्यस्मृतिप्रज्ञाकामवर्जनपूर्वकम्।

मनोलयो मुनीन्द्राणामुपायप्रत्ययस्तु सः ॥१८॥

श्रद्धेति । श्रद्धावीर्यस्मृतिप्रज्ञाकामवर्जनपूर्वकं श्रद्धा च गुरुवेदान्तवाक्येषु विश्वासः, वीर्यमिन्द्रियदमन उत्साहः प्रापञ्चिकसुखमतीतावपि अनुद्वेगश्च शीतादि सहिष्णुत्वमपि, स्मृतिर्गुरुमुखाच्छ्रुतस्य श्रुतिस्मृत्युदितार्थस्याविस्मरणं, प्रज्ञा वैराग्यादि संस्कारपूर्विका शुद्धा महावाक्यार्थनिष्ठा बुद्धिः, कामवर्जनं चात्मज्ञानं वा समाधाने कामनापूर्वकामितरकामनिवृत्तिरित्यादि पूर्वं साधनभूतं यस्य स मनोलयो मुनीन्द्राणां श्रेष्ठमुनीनां मनसोन्तःकरणस्य लयो नाशो यो भवति स तूपायप्रत्यय उपायप्रत्ययनामा समाधिर्ज्ञेयः ॥ १८ ॥

एवं षड्विधं समाधिं प्रदर्श्येदानीं समाध्युत्थितानां पुनः समाधिं प्रविविक्षतां तत्सिद्ध्यर्थमुपायमाह ।

उक्तं व्युत्थितचित्तानां समाधानमभीप्सताम् ।
तपश्च वेदपाठश्च सर्वकर्मार्पणं हरौ ॥ १९ ॥

उक्तमिति । व्युत्थितचित्तानां वासनोद्बोधेन समाधितो व्युत्थितमागतं संसारे चित्तं मनो येषां तेषां समाधानं निरोधापरपर्यायमसंप्रज्ञातसमाधिमीप्सतामिच्छितवतां तपश्च विचारोपि एकः 'तप आलोचन' इत्यनुशासनादुपायोस्तीति भावः, तथा वेदपाठश्चोपनिषदादीनामर्थविचारपूर्वकं पठनमपि द्वितीय उपायः, तथा हरौ सर्वद्वैतहरणस्वभावे ब्रह्मणि सर्वकर्मार्पणं सर्वेषां समर्पणसहितानां समर्पणं 'नान्योतोस्ति द्रष्टा नान्योतोस्ति श्रोते'त्यादिश्रुतिदर्शितदृशा कर्तृत्वादित्रिपुटीबाधरूपं तृतीय उपायः, एतैरुपायैः पुनश्चित्तस्थैर्यं स्यादिति भावः॥१९॥

एवं पुनः समाधिप्रवेशोपायं प्रदर्श्येदानीं पुरुषस्य ध्येयं द-र्शयितुं पुरुषादीश्वरे वैलक्षण्यमाह सपादेन ।

क्लेशकर्मविपाकैश्च चित्ररूपैस्तदाशयैः ।

अपरामृष्ट एवैकः कश्चित्पुरुष ईश्वरः ॥ २० ॥

क्लेशेति । क्लेशकर्मविपाकैः क्लेशाः पञ्चाविद्यास्मितारागद्वे-षाभिनिवेशाः । कर्माणि सञ्चितप्रारब्धक्रियमाणाख्यानि अशुक्ल-कृष्णानि योगिनामितरेषां शुक्लकृष्णलोहितानि वा; अस्मिन्नर्थे-पतञ्जलेः सूत्रं, 'कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषा'मिति । विपाका आयुर्जातिभोगाख्याः कर्मफलरूपास्तैः सर्वैः । चित्ररूपै-स्तदाशयैर्विषयवैचित्र्येण चित्राणि परस्परं विलक्षणानि रू-पाणि येषां तैस्तदाशयैस्तेषां क्लेशकर्मविपाकानामाशया वासनास्तैरपि अपरामृष्टोऽस्पृष्टः कश्चित्कोपि वस्तुतःपुरुषा-द्भिन्नत्वेनाभिन्नत्वेन वा भिन्नाभिन्नत्वेन वा वैलक्षण्याभावान्नि-र्देशानर्हः पुरुष एव विशेषः पुरुष एवेत्यर्थः । ननु पुरुषत्वावै-शिष्ट्ये कुतो विशेषत्वं तदभावे च कुतो ध्येयत्वं सामान्यपु-रुषे च ध्यातृत्वं चेत्याशङ्क्य तमेव विशेषं दर्शयति एक इत्या-दिविशेषणैः, एकः पुरुषस्तु व्यवहारेऽनेकोऽयं ध्येयो विशिष्ट-पुरुषो एक भेदरहितः । ननु ध्यातृरूपः पुरुषस्तत्तो भिन्न ए-वेत्याशङ्क्याह स ईश्वरो नियन्ता सर्वेषां पुरुषाणामीशनादिश-क्तिमानित्यर्थः, अयं पुरुषस्तस्य नियम्य इति भावः ॥ २० ॥ नन्वेतस्यापि नियम्यत्वं न वास्तवमित्याशङ्क्य विशेषान्तरमाह ।

स सर्वज्ञः स्वभावेन प्रणवस्तस्य वाचकः ।

तदयं भावनापूर्वं तज्जपो मोक्षसाधनम् ॥ २१ ॥

स इति । स विशिष्टः पुरुषः स्वभावेन स्वत एव सर्वज्ञः

सर्वं सामान्यतो विशेषतश्च जानातीति सर्वज्ञः, तस्य स्वतः सर्वज्ञत्वमेतस्य तु साधनसाध्यमित्ययं भेदोस्तीति स एवात्र योगेषु ध्येयो विषय इति भावः, एवं ध्येयस्वरूपं निर्णीय तदर्थप्रतिपादकं मन्त्रं जपायाह।

प्रणव इति, तस्य ध्येयतया विशिष्टपुरुषस्येश्वरस्य वाचको नाम प्रणव ओङ्कारस्तदयं प्रणवो मन्त्रो ज्ञेयः, तज्जपस्तस्य प्रणवस्य जप उपांश्वावृत्तिरूपो भावनापूर्वं तदर्थविचारपूर्वं प्रेम्णा यथा तथा कार्य इति शेषः, स च मोक्षसाधनं मोक्षस्य प्रपञ्चनिवृत्तिरूपाया मुक्तेः साधनमुपायोस्ति, ततो मोक्षः स्यादिति भावः ॥ २१ ॥

इदानीं योगोपदेशकशास्त्रस्य चातुर्विध्यं दर्शयितुं दृष्टान्तमाह।

यथा रोगस्तन्निदानं भेषजं चाप्यरोगता।
विवेचनीयभेदेन चिकित्सास्ति चतुर्विधा ॥ २२ ॥

यथेति। यथा यादृग्रोगो रोगस्वरूपनिर्णायकप्रकरणविभागः, तन्निदानं तस्य रोगस्य निदानं मूलकारणं तत्प्रतिपादको ग्रन्थविभागो, भेषजं च तन्निवर्त्तकमौषधं तत्प्रतिपादकमपि, अरोगता फलं तत्प्रतिपादकं प्रकरणम्। एवं विवेचनीयभेदेन विवेक्तुं पृथक्कृत्य दर्शयितुं योग्यस्य विषयस्य भेदेन भिन्नत्वेन चिकित्सा चिकित्साशास्त्रं चतुर्विधा चतुःप्रकाराऽस्ति वर्त्तते॥२२॥

दार्ष्टान्तिकमाह।

जन्मदुःखं तथा मोहो विज्ञानं च विमुक्तता।
विवेचनीयभेदेन योगशास्त्रं चतुर्विधम् ॥ २ ॥

जन्मेति। तथा तद्वज्जन्मदुःखं जन्मनो दुःखरूपत्वप्रतिपादकं

योगप्रकरणं, मोहो मूलाज्ञानं तत्स्वरूपप्रतिपादकं प्रकरणं च, विज्ञानं च विज्ञानप्रतिपादकं तत्साधनप्रतिपादकं च प्रकरणजातं, विमुक्तिता विमुक्तिः स्वस्वरूपेणावस्थानं तस्य प्रतिपादकं शास्त्रम्, एवं विवेचनीयभेदेन चतुर्विधत्वेन योगशास्त्रं चतुर्विधं योगप्रतिपादकं शास्त्रं चतुःप्रकारं ज्ञेयमिति शेषः ॥ २३ ॥

इदानीं मोहस्वरूपं तस्य दुःखफलत्वं च तन्निवर्त्तकज्ञान स्वरूपं तत्फलभूतां दुःखनिवृत्तिं च क्रमेण दर्शयति ।

अविवेकः पुंप्रकृत्योः स मोहो दुःखकारणम् ।
समत्वपुरुषान्यत्वख्यातिबोधेन नश्यति ॥ २४ ॥

अविवेक इति । यः पुंप्रकृत्योः पुरुषस्य प्रकृतेश्चाविवेकः पृथगज्ञानं स स एव मोहयति स्वाधीनं पुरुषमिति मोहोऽज्ञानं स एव दुःखकारणं जन्ममरणस्वरूपभूतस्य दुःखस्य कारणं हेतुरस्ति, स च मोहः समत्वपुरुषान्यत्वख्यातिबोधेन समत्वं गुणसाम्यरूपत्वं प्रकृतेस्तस्य, पुरुषोऽसङ्गाद्वयनित्यानन्दस्वरूपस्तस्य चान्यत्वं वैलक्षण्येन पृथक्त्वं तस्य ख्यातिः ख्यायते प्रकथ्यते ऽनया सा ख्यातिरुभयोर्भिन्नत्वप्रतिपादिका सांख्ययोगस्मृतिवाग्वेदान्ताविरोधिनी तस्या बोधेन ज्ञानेन नश्यति नष्टा भवति, ततो दुःखमपि नश्यति छत्रापाये छायापायन्यायेनेति भावः ॥ २४ ॥

एवं ससाधनं योगं सफलं प्रतिपाद्येदानीं तदभ्यासिनां विघ्नरूपासु सिद्धिषु नादरः कार्य इत्याह ।

योगाभ्यासप्रसक्तस्य सिद्धयो भोगदायिकाः ।
आयान्ति नादरः कार्यो ह्यन्तराया मता यतः॥२५॥

---

१ तन्निवर्तकविज्ञानप्रतिपादकं तत्साधन प्रतिपादकञ्च ।

योगेति । योगाभ्यासप्रसक्तस्य मुक्तीच्छयोक्तलक्षणस्य योगस्याभ्यासः पुनः पुनरावृत्तिस्तस्मिन्प्रसक्तः सस्नेहस्तस्य पुरुषस्य भोगदायिका भोगं दत्वा तल्लोभेन योगभ्रंशहेतुभूताः सिद्धयः दूरश्रवणदूरदर्शनाकाशगमनादय आयान्ति प्राप्नुवन्ति, तासु योगिनाऽऽदरः प्रीतिर्न कार्यो न कर्त्तव्यः, कुत इत्यत आह हीति, यतो हेतोरन्तराया योगस्य विघ्नरूपा मता ज्ञाता योगिभिरिति शेषः । अत्र पतञ्जले सूत्रं 'ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धय' इति ॥ २५ ॥

ननु ताः सिद्धयो लक्षणतः कारणतः कार्यतश्च निरूपितव्या इत्याशङ्क्यानुपयोगान्न निरूपणं तासामत्र क्रियते इत्याह ।

धारणाध्यानवैचित्र्यात्सिद्धिभेदो य ईरितः ।
अत्यन्तानुपयोगित्वात्स तु नात्र निरूपितः ॥२६॥

इतिपातञ्जलो योगः ॥

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे योगदीक्षाचिन्तामणौ पातञ्जलयोगः ॥

धारणेति । यः पातञ्जले धारणाध्यानवैचित्र्याद्धारणानां ध्यानानां च यद्वैचित्र्यं वैलक्षण्यं तस्मात्सिद्धिभेदः सिद्धीनामाकाशगमनादीनां भेदः पार्थक्यमीरित उक्तः, स तु स चात्यन्तानुपयोगित्वादत्यन्तं निरन्तरमनुपयोगित्वादुपयोगाभाववत्वेनात्रास्मिन्ग्रन्थे न निरूपितो न प्रोक्तः ॥ २६ ॥

इतीति पातञ्जलः पतञ्जलिना प्रोक्तो योग इति संपूर्ण इत्यर्थः ॥

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ योगदीक्षाचिन्तामण्यर्थप्रकाशे पातञ्जलयोगार्थप्रकाशः प्रथमः ॥ १ ॥

एवं पातञ्जलं योगं निरूप्येदानीं शैवयोगनिरूपणं प्रति जानीते।

अथ शैवयोगः।

योगः शैवो निरूप्यते
मन्त्रो लयो हठो राजयोगो योगश्चतुर्विधः ॥ १ ॥

अथ मन्त्रयोगः।

योग इति। हे शिष्य शैवः शिवेन प्रोक्तः 'तेन प्रोक्तमि'ति तद्धितोऽण्, योगो योगसाधनप्रतिपादकं शास्त्रं निरूप्यते कथ्यते त्वं शृणु, एतस्य भेदानाह मन्त्रो मन्त्रयोगः, लयो लययोगः, हठो हठयोगः, राजयोगः। एवं योगो योगसाधनं चतुर्विधश्चतुःप्रकारमित्यर्थः ॥ १ ॥

एवं शैवयोगान्नामभेदेन चतुरः प्रदर्श्य तत्र तावत्प्रथमं प्रधानमन्त्रोदाहरणेन दर्शयति त्रिभिः।

नारायणाष्टाक्षरवासुदेवद्वादशाक्षरौ।
नृसिंहरामगोपालमन्त्रास्ते तापिनीस्तुताः ॥ २ ॥

नारायणेति। नारायणाष्टाक्षरवासुदेवद्वादशाक्षरौ नारायणस्य जलशायिनो जीवान्तर्यामिणो वा सर्वजगत्साक्षिणो वाऽष्टाक्षरोऽष्टावक्षराणि वर्णा यस्मिन्स नारायणाष्टाक्षर ॐनमो नारायणायेत्येवं रूप एको मन्त्रः, तथा वासुदेवस्य वसुदेवपुत्रस्य सर्वभूतनिवासस्य यद्वा वा विकल्पेनासून्प्राणाद्युपाधीन्दीव्यति प्रकाशयतीति वासुदेवो जगतोऽसत्वादप्रकाशकस्तत्सत्वेन प्रकाशकश्चेत्यर्थः, तस्य जगत्प्रकाशकत्वाप्रकाशकत्वाभ्यां लक्षितस्य परमात्मनो वा द्वादशाक्षरो द्वादशाऽक्ष-

राणि वर्णा यत्रेति स तथोक्त ॐनमो भगवते वासुदेवायेति मन्त्रो द्वितीयः, तथा नृसिंहरामगोपालमन्त्रा नृसिंहस्य रामस्य गोपालस्य च मन्त्रा ये सन्ति ते तापिनीस्तुतास्तापिनीषु स्तुताः प्रोक्तास्तापनीयोपनिषत्सु प्रतिपादिता इत्यर्थः ॥ २ ॥

शैवानपि प्रधानान्मन्त्रानाह ।

शिवपञ्चाक्षरी श्रेष्ठा दक्षिणामूर्त्तिरुत्तमा ।
यतीनां तु महावाक्यं केवलः प्रणवस्तथा ॥ ३ ॥

शिवेति । शिवस्य परमानन्दरूपस्य पञ्चाक्षरी पञ्चानामक्षराणां वर्णानां समाहारः पञ्चाक्षरी नमः शिवायेति विद्या मन्त्ररूपा श्रेष्ठोत्तमा शैवमन्त्रेष्वित्यर्थः, तथा तेष्वेव दक्षिणामूर्त्तिर्दक्षिणामूर्त्तेरुपासना मन्त्रावृत्तिरूपोत्तमा श्रेष्ठेत्यर्थः, उक्तेषु मन्त्रेषु सर्वाधिकारः, नियमितानाह यतीनां तु संन्यासिनामेव केवलं महावाक्यं तत्त्वमसीत्यादिरूपं मन्त्रः, तथा केवल एकः प्रणव ॐकार एव मन्त्रः ॥ ३ ॥

एवं मन्त्रान्प्रदर्श्येदानीं तदुपसंहारपूर्वकं तत्फलं चाह ।

इत्यादयो महामन्त्राः पुरश्चर्यादिभिः क्रमैः ।
सिद्धा देवप्रसादेन सद्यो मुक्तिप्रदा मताः ॥ ४ ॥

इति श्रीनरहरिविरचिते बोधसारे योगदीक्षाचिन्तामणौ मन्त्रयोगः ।

इत्यादय इति । इत्यादय इति एवं निरूपिता मन्त्रा आदयः प्रमुखा येषां ते सर्वे सात्विका अतो महामन्त्राः श्रेष्ठामन्त्रास्ते पुरश्चर्यादिभिः क्रमैः पुरश्चर्याः पुरश्चरणानि आदीनि येषां ध्यानादीनां तैश्च क्रमैरनुष्ठानैः सिद्धाः स्वाधीनीभूताः सन्तः देवप्रसादेन देवस्याराध्यस्य कृपया सद्यस्तत्क्षणं मुक्ति-

प्रदा मोक्षदा भवन्तीति मता अङ्गीकृता मुनिभिरिति शेषः ॥ ४ ॥

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ योगदीक्षाचिन्तामण्यर्थप्रकाशे मन्त्रयोगार्थप्रकाशो द्वितीयः ॥ २ ॥

अथ हठयोगः ।

एवं मन्त्रयोगं प्रतिपाद्येदानीं हठयोगाख्यमेकोनविंशति-श्लोकं प्रकरणमारभते, तत्र तावद्धठयोगमुख्यक्रियां तत्फलं चाह ।

गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरण्डां तपस्विनीम् ।
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ १ ॥

गङ्गेति । गङ्गायमुनयोर्गङ्गात्रेडानाम्नी नाडी वामनासा-पुटवर्त्तिनी वायुसञ्चरणाय सूक्ष्मा धमनीव स्थिता, यमुना च पिङ्गलानाम्नी नाडी दक्षिणनासापुटवर्त्तिनी वायुप्रचाराय सूक्ष्मा धमनीव स्थिता, तयोर्मध्ये मध्यदेशवर्त्तिनीं तपस्विनीं-प्रकाशबहुलां बालरण्डां बालः केशः स इव सूक्ष्मां रण्डां वा-युसञ्चारवतीं सुषुम्णां नाडीमित्यर्थः, बलात्कारेण प्राणाया-माद्यभ्यासेन गृह्णीयाद्वशीकुर्यात्तत्तस्या वशीकरणमेव वि-ष्णोर्व्यापनलक्षणस्य परमात्मनः परमं केवलं मायातत्कार्याभ्या-मस्पृष्टं पदं स्वरूपं ज्ञेयं, सुषुम्णावशीकार एव फलं हठयोग-स्येति भावः ॥ १ ॥

तदेतस्मिन्योगे गोरक्षसंमतिमाह ।

तत्रगोरक्षः ।

तत्रेति । तत्रोक्ते हठयोगे गोरक्षो गोरक्षोप्याहेत्यर्थः, त-च्छ्लोकं पठति ।

एतद्विमुक्तिसोपानमेतत्कालस्य वञ्चनम् ।
यद्व्यावृत्तं मनो भोगादासक्तं परमात्मनि ॥ २ ॥

एतदिति । यन्मनोऽन्तःकरणं भोगाद्विषयजन्यसुखाद्व्यावृत्तं निवृत्तं सत्परमात्मनि कार्यकारणाभ्यामतीत आत्मनि-आसक्तं स्थिरं जातं तदित्यध्याहार्यं, तदेतदिदं, विमुक्तिसोपानं विमुक्तेर्मोक्षस्य सोपानमारोहणमार्गः, तथैतदिदं कालस्य मृत्योर्वञ्चनं जयसाधनमेतेनोपायेन मृत्युरपि निवृत्तः स्यादिति भावः ॥ २ ॥

इदानीं साधनान्याह ।

परमं यदि वैराग्यमाहारस्तु यथोदितः ।
नित्यमेकान्तवासश्चेद्धठयोगो न दुर्लभः ॥ ३ ॥

परममिति । परमं ब्रह्मपदान्ते वैषयिकसुखे काकविष्ठायामिव वैतृष्ण्यं वैराग्यमरुचिर्यदि स्यात्तर्हि, किञ्चाहारश्च यथोदित आहारो भोजनमपि यथोदितो यादृगुक्तः शास्त्रेष्विति शेषः, तच्चोक्तं 'द्वौ भागौ पूरयेदन्नैर्जलेनैकं प्रपूरयेत । शेषं वायोः प्रचारार्थं भागं शिष्येत वै बुध' इति, तथा नित्यं निरन्तरमेकान्तवासो जनसम्बाधरहितस्थाने वासः स्थितिर्यदि स्यात्तर्हि हठयोगो दुर्लभो लब्धुमशक्यो न न भवति ॥ ३ ॥

मुख्यं साधनमाह ।

परन्तु गुरुदीक्षाभिर्लभ्यते नान्यथा स्वयम् ।
व्यतिक्रमे महान्दोषः क्रमलाभे महान्गुणः ॥४॥

परं त्विति । परन्तु वैराग्यादिसाधनेषु सत्स्वपि अयं हठ-

योगो गुरुदीक्षाभिर्गुरुभिः कृता दत्ता दीक्षा गुरुदीक्षा म-ध्यमपदलोपी समासः, ताभिः कृत्वा लभ्यते प्राप्यतेऽन्यथा तु गुरुदीक्षां विना न न प्राप्यते इत्यर्थः, व्यतिक्रम उक्ताहारा-दिवैपरीत्ये सति महान्दोषो मरणान्तोनर्थः स्यात्,क्रमलाभ उक्तसाधनक्रमेण लाभे हठस्य प्राप्तौ सत्यामित्यर्थः, महान्गुणः सर्वदुःखनिवृत्तिरूपः श्रेष्ठो गुणः स्यात् ॥ ४ ॥

अस्य प्रामाण्यसिद्धये संप्रदायज्ञानाय चाचार्यमाह ।

अनन्तविस्तारमयो हठः प्रोक्तः पुरारिणा ।
सारं तु बन्धत्रितयं तावता सिद्धिराप्यते ॥ ५ ॥

अनन्तेति । पुरारिणा त्रिपुरशत्रुणा त्रिपुटीलक्षणत्रिपुर-नाशकेन वा स्थूलसूक्ष्मकारणाख्यत्रिपुरसंहर्त्रा वोक्तलक्ष-णत्रिपुरनाशायैवानन्तविस्तारमयो न विद्यतेन्तः पारो यस्य स विस्तारस्तेन प्रचुरो हठो हठयोगः प्रोक्तो वर्णितः, तत्र तु सारं मुख्यं बन्धत्रितयं बध्यन्ते रोध्यन्ते प्राणा एभिस्ते ब-न्धास्तेषां त्रितयं त्रयं प्रोक्तं तावता तु तावन्मात्रेणैव सिद्धि-र्मुक्तिरथवा यस्य येप्सिताऽऽकाशगमनादिका सापि आ-प्यते प्राप्ता भवति ॥ ५ ॥

तदेव बन्धत्रितयं स्थानतो नामतश्च दर्शयति ।

मूले तु मूलबन्धः स्यान्मध्ये स्यादुडियानकः ।
कण्ठे जालन्धरस्तेन सिद्धो भवति मारुतः ॥६॥

मूलेत्विति । मूलबन्धस्तु मूलं मूलाधारं बध्यते रोध्यते-नेनेति मूलबन्धः स च मूले मूलाधारे स्याद्भवेद्, उडियानक एतन्नामको बन्धो मध्ये स्वाधिष्ठानादौ स्याद्भवेत्, कण्ठे वि-

शुद्धिचक्रादिस्थाने जालन्धरो जालं मुखनासानेत्रकर्णच्छिद्राणां जालमिव प्राणवायोः सञ्चारद्वारं धरति अवरोधयतीति जालन्धर एतन्नामा बन्धः स्याद्भवेद्, एतेषां फलमाह तेन बन्धत्रयेण मारुतो वायुः सिद्धः स्वाधीनो भवति जायते ॥ ६ ॥

इदानीं स्वाधीनीभूतवायोर्ब्रह्मरन्ध्रं नीतस्य फलंदर्शयति ।

कुण्डलिन्याः सुषुम्णायां प्रविष्टो ब्रह्मरन्ध्रतः ।
मूलस्थाने स्थिता शक्तिर्ब्रह्मस्थाने सदाशिवः ॥७॥

कुण्डलिन्या इति । स एव मारुतो कुण्डलिन्याः कुडलिनीं प्रविश्यानन्तरं सुषुम्णायां सुषुम्णाख्यनाड्यां प्रविष्टः प्रवेशं कृत्वा ब्रह्मरन्ध्रतः ब्रह्मरन्ध्राख्ये सप्तमे चक्रे प्रविष्टो भवति; तस्मिंश्च तत्र स्थिरे सति किं फलं तत्राह मूलेति, शक्तिः कुण्डलिनी मूलस्थाने मूलाधारे स्थिता तिष्ठति, ब्रह्मस्थाने ब्रह्मरन्ध्रस्थाने सदाशिवः सर्वदा सुखरूपः कूटस्थः परमात्माऽस्ति, तयोः समायोगो वायोः स्थैर्यफलमिति भावः ॥ ७ ॥

शिवशक्तिसमायोगहेतुत्वेनाजपाजपं विधत्ते ।

अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी ।
तस्याः सङ्कल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ८ ॥

अजपेति । अजपा नाम स्वयमेवोच्छ्वासनिश्वासरूपेण प्रयत्नं विना प्रवर्त्तमानत्वादजपेति प्रसिद्धा गायत्री हंसः सोहमित्येवं सकारेण शक्तिवाचकेन हकारेण शिववाचकेन चोभयोः सामानाधिकरण्येन शिवशक्त्यैक्यमनुसन्धाय गायन्तमुच्चरन्तं त्रायते रक्षतीत्यतो गायत्री, यद्वा गायत्री प्रकृतित्वादपि गायत्रीव जपार्हा सा जप्ता चेद्योगिनां योगाभ्यासवतां योगसिद्धिं दत्वा मोक्षदायिनी संसारान्मुक्तिदायिनी मुक्तिदात्री

स्यादतस्तस्या अजपाया सङ्कल्पमात्रेण केवलं सङ्कल्पेनैव सर्वपापैः समस्तपातकै रागद्वेषादिरूपैः कर्तृभिः सङ्कल्पकर्त्ता मुच्यतेऽत्यन्तं त्यज्यते किं पुनस्तस्या अनुसन्धानपूर्वकजपेन मुच्यत इति वक्तव्यमिति भावः ॥ ८ ॥

इदानीं प्राणस्थैर्यार्थं द्वारभूतानि चक्राण्याह द्वाभ्याम् ।

आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं तथैव च ।
मणिपूरं तृतीयं स्याच्चतुर्थकमनाहतम् ॥ ९ ॥

आधारमिति । आधारमेतन्नामकं चक्रं स्थानं प्रथममाद्यं भवति, स्वाधिष्ठाननामकं स्थानं च तथैव द्वितीयमित्यर्थः, तथा मणिपूरमेतन्नामकं स्थानं तृतीयं स्याद्भवेद्, अनाहतमनाहतसंज्ञं चक्रं चतुर्थकं तुरीयं भवति ॥ ९ ॥

विशुद्धिः पञ्चमं चक्रमाज्ञाचक्रं तु षष्ठकम् ।
सप्तमं ब्रह्मरन्ध्रं स्याद्भ्रमरस्य गुहा हि सा ॥१०॥

विशुद्धिरिति । विशुद्धिनामकं चक्रं स्थानं पञ्चमं भवति, आज्ञाचक्रं तु आज्ञाचक्रनामकं स्थानं च षष्ठकं षष्ठं भवति, ब्रह्मरन्ध्रं ब्रह्मरन्ध्रनामकं स्थानं सप्तमं स्याद्भवेत्, तस्यैव ग्रन्थभेदे नामान्तरमाह भ्रमरस्येति, सा हि भ्रमरस्य सैव भ्रमं राति मोहमादत्ते जीवभावेनेति भ्रमरः परमात्मा तस्य गुहा गुहत आवृणुते परमात्मा शुद्धजीवस्त्वंपदलक्ष्यो यस्यां सा गुहा स्थानं तदित्यर्थः ॥ १० ॥

इदानीं सत्स्वन्येष्वासनेषु मुख्यत्वेन सिद्धासनं लक्षयति ।

योनिस्थानकमङ्घ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसे-
न्मेढ्रे पादमथैकमेव नियतं कृत्वा समं विग्रहम् ।

स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्यन्भ्रुवोरन्तरं
ह्येतन्मोक्षकपाटभेदनकरं सिद्धासनं प्रोच्यते॥ ११॥

योनीति । अङ्घ्रिमूलघटितं पादमूलेनामर्दितं योनिस्थानकं शिश्नस्थानं कृत्वाऽऽवध्य, अथानन्तरं मेढ्रे वृषणमूल एकं द्वितीयं पादं चरणं नियतमेव नित्यमेव दृढं गाढं यथा भवति तथा विन्यसेत्संस्थापयेत्, ततश्च विग्रहं शरीरं समं समानग्रीवाद्यवयवं कृत्वा संयमितेन्द्रियो नियमितबाह्येन्द्रियः स्थाणुः स्थाणुश्छिन्नवृक्षमूलं तद्वत्स्थिरश्च भूत्वा, अचलदृशा स्थिरतारया दृष्ट्या भ्रुवोर्भ्रूकुट्योरन्तरं मध्यं पश्यन्सन्, एतदित्यादिलक्षणैर्लक्षितं हि प्रसिद्धमेतद्धठयोग इत्यर्थः, मोक्षकपाटभेदनकरं मोक्षस्य मुक्तेः कपाटमिवावरकमज्ञानं यद्वा मोक्षस्य शिवशक्तिसमायोगाख्यस्य साम्यस्थितिरूपस्य च कपाटानि मूलाधारादि ब्रह्मरन्ध्रान्तानि चक्राणि तेषां पूर्वोक्तकपाटसहितानां भेदनं भेद उद्घाटनं तस्य करं कर्तृ सिद्धासनं सिद्धासननामकं प्रोच्यते कथ्यते योगिभिरिति शेषः ॥ ११ ॥

एवमासनं प्रदर्श्येदानीं शक्तिप्रबोधनप्रकारं निरूपयति द्वाभ्यां।

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढतरं बध्वा तु सिद्धासनं
गाढं वक्षसि सन्निधाय चुबुकं ध्यानं ततश्चेतसि ।
वारं वारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोत्सार्य सन्धारय-
न्प्राणं मुञ्चति बोधयंश्च शनकैः शक्तिप्रबोधो भवेत्॥ १२॥

कृत्वेति । पूर्वमुक्तलक्षणमेव सिद्धासनं दृढतरमतिगाढं बध्वा प्रसाध्य करौ हस्तौ ततोनन्तरं सम्पुटितौ सम्पुटाकारौ कृत्वा चुबुकं तु मुखाधोगलादूर्ध्वमवयवश्चुबुकस्तमपि वक्षसि

कण्ठादधोभागे वक्षोमध्ये गाढं दृढं सन्निधाय संस्थाप्य ततस्तदनन्तरं चेतसि चित्ते ध्यानं ध्येयानुसन्धानं सन्निधाय कृत्वाऽपानमनिलधोवर्त्तिनमपाननामानं वायुमुपरितने देशे वारं वारं पुनः पुनः प्रोत्सार्य प्रचार्य प्राणं प्राणवायुं सन्धारयन्नवरुन्धन्सञ्छनकैश्चिरेण शक्तिं कुण्डलिनीं प्रबोधयन्व्युत्थापयन्सन्, एवं शक्तिप्रबोधः शक्तेः कुण्डलिन्याः प्रबोधो व्युत्थानं भवेत्स्यात्, एवं कृते सा मुञ्चति स्थानं मूलाधारमित्यर्थः ॥१२॥

पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तां प्रबोधयेत्सुधीः ।
निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते बलात् ॥ १३ ॥

पुच्छ इति । सुधीर्गुरुशिक्षया स्वतश्च कुशलमतिः सुप्तां निद्रितां संसारस्वप्नवतीमविद्यानिद्रावतीं वा पुच्छे मूलाधारस्थितपुच्छे प्रगृह्य सन्धार्य प्रबोधयेत्संसारविमुखत्वं सम्पाद्य शिवसंमुखत्वं सम्पादयेत्, ततः सा शक्तिः कुण्डलिनी निद्रां प्रपञ्चसंमुखतां स्वरूपाज्ञानतां वा विहाय त्यक्त्वा बलाद्वेगेनोर्ध्वं ब्रह्मरन्ध्रप्रदेशमुत्तिष्ठत ऊर्ध्वमुखी भूत्वा चलति ॥ १३ ॥

ननु वायुलयस्य किंफलं तत्राह ।

ऊर्ध्वं निलीनप्राणस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः ।
योगेन सहजावस्था स्वयमेव प्रजायते ॥ १४ ॥

ऊर्ध्वमिति । ऊर्ध्वं ब्रह्मरन्ध्रे निलीनप्राणस्य निःशेषं लीनो नष्टः प्राणो यस्य तस्याऽत एव त्यक्तनिःशेषकर्मणस्त्यक्तानि निःशेषाणि समस्तानि कर्माणि येन स तथोक्तस्तस्य योगेन शिवशक्तिसमायोगेन सहजावस्था सहजास्थितिर्जीवन्मुक्तिरित्यर्थः, स्वयमेव स्वत एवेत्यर्थः, प्रजायत उत्पद्यते प्राप्ता भवेदित्यर्थः ॥ १४ ॥

ननु 'ज्ञानादेव तु कैवल्यं प्राप्यते येन मुच्यते' इत्यादिश्रुत्या मोक्षस्य ज्ञानसाध्यत्वमुक्तं किं शिवशक्तिसमायोगेन तत्साधनभूतहठयोगेन वेत्याशङ्क्य मनोनाशस्य हठयोगजत्वात्तेन विना तन्नाशाभावे ज्ञानाभावान्मोक्षो न स्यादित्याशयेन शिवपार्वतीसम्वादश्लोकमुदाहरति ।

ज्ञानं कुतो मनसि जीवति देवि याव-
त्प्राणो न नश्यति मनो म्रियते न तावत् ।
प्राणो मनो द्वयमिदं प्रलयं प्रयाति
मोक्षं स गच्छति नरो न कदाचिदन्यः ॥ १५ ॥

ज्ञानमिति । हे देवि हे पार्वति मनसि अन्तःकरणे जीवति विद्यमाने सति ज्ञानं जीवब्रह्मैक्यज्ञानं कुतो न कुतोपि स्यादित्यर्थः, तर्हि मनो नाशः कदा स्यात्तत्राह प्राणा इति, यावत्प्राणो जीवोपाधिभूतो मनसश्चाञ्चल्यहेतुवायुर्न नश्यति नष्टो न भवति तावत्तावत्कालं मनोन्तःकरणं न म्रियते नैव नश्यतीत्यर्थः, अतः प्राणो मनश्चाञ्चल्यहेतुः पवन मनश्च प्राणजीवनहेतुभूतमधिष्ठानसहितमन्तःकरणप्रतिबिम्बितं चैतन्यं सङ्कल्पधर्मीदं द्वयमेतद्युग्मं यस्य योगाभ्यासवतो हठेन प्रलयं प्रयाति नाशं प्राप्नोति स नरः स पुरुषो मोक्षं मुक्तिसाधनभूतं ज्ञानं गच्छति प्राप्नोति अन्य उभयलयरहितः पुरुषः कदाचित्कस्मिन्नपि काले न ज्ञानं न प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ १५ ॥

समस्तमुद्रासु शाम्भव्याः श्रैष्ठ्यात्तामेव सलक्षणामाह ।

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्त्तते
दृष्ट्यानिश्चलतारया बहिरिदं पश्यन्नपश्यन्नपि ।

मुद्रेयं किल शाम्भवी भगवती या स्यात्प्रसादाद्गुरोः
शून्याशून्यविलक्षणं मृगयते तत्त्वं पदं शांभवम्॥ १६॥

अन्तरिति । योगी योगाभ्यासी यदा यस्मिन्कालेऽन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनोन्तरभ्यन्तरे यल्लक्ष्यं शिवशक्तिसमायोगरूपं जीवब्रह्मैक्यं च तस्मिँल्लीनौ चित्तपवनौ चित्तं मनः पवनः प्राणश्च यस्य तथोक्तः स सन्निश्चलतारया स्थिरकनीनिकया दृष्ट्या दृशा बहिर्बाह्यमिदं दृश्यं जगत्पश्यन्नालोकयन्नपि स न पश्यन्नालोकयन्सन्वर्त्तते वर्त्तमानो भवति, सेयं प्रत्यक्षा भगवती भगमणिमाद्यैश्वर्यमस्यामस्तीति भगवती शांभवी शम्भुना पार्वत्यै प्रोक्ता तस्येदमित्याणि च शम्भुसम्बन्धिनी वा साधकानां शम्भवत्यस्याः सा शाम्भवी वा सर्वसाधकानां सुखदात्रीत्यर्थः, मुद्राऽवस्थारूपा या गुरोर्देशिकस्य प्रसादाद्गुरुकृपातः स्याद्भवेत्, किं फलं तस्या इत्यत आह शून्येति, ययेत्यध्याहार्यं, यया मुद्रया शून्याशून्यविलक्षणं जगतोऽसत्वं शून्यं तत्सत्त्वंचाशून्यं ताभ्यामसतः सत्ताप्रदत्वाच्छून्याज्जगतोऽशून्यरूपादपि विलक्षणमुभयलक्षणहीनं शाम्भवं शम्भुः शिवस्तत्सम्बन्धि तत्स्वरूपभूतमित्यर्थः, भेदव्यपदेशस्तुराहोः शिरोवत्, तत्त्वमनारोपितं पदं स्वरूपं मृगयते शोध्यत इदमेव फलमेतस्या इत्यर्थः ॥ १६ ॥

उक्तं सफलं हठमुपसंहरति ।

प्राणवृत्तौ विलीनायां मनोवृत्तिर्विलीयते ।
शिवशक्तिसमायोगो हठयोगेन जायते ॥ १७ ॥

प्राणवृत्ताविति । हठयोगेन हठाख्ययुक्त्या प्राणवृत्तौ प्रा-

णाख्यवायोर्वृत्तिः श्वासोच्छ्वासरूपा तस्यां विलीनायां लयं प्राप्तायां सत्यां मनोवृत्तिर्मनसोन्तःकरणस्य वृत्तिः संकल्पविकल्परूपा विलीयते नष्टा भवति, ततश्च शिवशक्तिसमायोगो ब्रह्मरन्ध्रस्थितस्य शिवस्य मूलाधारस्थितायाः शक्तेश्च समायोगः संयोग ऐक्यमित्यर्थः, जायते भवति ॥ १७ ॥

उक्तहठप्ररोचनायावान्तरफलप्रदर्शनपूर्विकामाचार्यपरिपाटीमाह ।

गोरक्षचर्पटिप्राया हठयोगप्रसादतः ।
वञ्चयित्वा कालदण्डं ब्रह्माण्डं विचरन्ति हि॥१८॥

गोरक्षेति । गोरक्षचर्पटिप्रायाः प्रायःशब्दोत्र प्रभृतिवाचको गोरक्षश्च चर्पटी चैतौ द्वौ प्रायावादी येषां ते तथोक्तास्ते हठयोगप्रसादत उक्तहठयोगस्य हठाख्ययुक्तेः प्रसादतस्तत्साधनेनैव सार्वविभक्तिकस्तासिरत्र, कालदण्डं कालस्य जगत्कलयितुरीश्वररूपस्य दण्डो मृत्युरूपस्तं वञ्चयित्वाऽनादृत्य ब्रह्माण्डं मृत्युक्रीडास्थानं ब्रह्माण्ड इत्यर्थः, विचरन्ति प्रारब्धभोगान्भुञ्जते गच्छन्ति च हि प्रसिद्धमेतदित्यर्थः ॥ १८ ॥

एवं सफलां हठक्रियां निरूप्य तस्याः वेदान्तानुकूल्याय मनसो गुणसाम्ये गुणसाम्यस्य च स्फुरणविषयत्वसम्पादने च तयोर्लयलक्षणं शिवशक्तिसमायोगं कुर्यादित्याशयेनाह ।

शक्तिमध्ये मनः कृत्वा शक्तिं मानसमध्यगाम् ।
शिवशक्तिसमायोगं कुर्वन्ति हठयोगिनः ॥ १९ ॥

इति श्रीनरहरिविरचिते बोधसारे योगदीक्षाचिन्तामणौ हठयोगः॥३॥

शक्तीति। मनः साम्यस्फुरणरूपं तत्संकल्पविकल्परूपावृत्तिः

शक्तिमध्ये साम्यकारणभूतायां चिच्छक्तौ कृत्वा शक्त्यभिन्नमनुभूय शक्तिं साम्यस्फूर्त्तिकारणरूपां चिच्छक्तिं मानसमध्यगां साम्यसंकल्पविकल्परूपमनःकल्पितत्त्वात्तन्मध्ये विद्यमानां तदभिन्नामित्यर्थः, कृत्वाऽनुभूय हठयोगिनो हठाख्यक्रियाभ्यासिन एवं शिवशक्तिसमायोगं शिवस्यात्मनः शक्तेर्गुणसाम्यरूपप्रकृतेश्च समायोगमैक्यानुभवरूपं कुर्वन्ति विदधतीत्यर्थः ॥१९॥

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ योगदीक्षाचिन्तामण्यर्थप्रकाशे हठयोगार्थप्रकाशस्तृतीयः ॥ ३ ॥

अथ शिवशक्तिपराक्रमः ।

एवं सफलं हठं प्रतिपाद्यानन्तरं लये क्रमानुरोधेन निरूपितव्ये तं त्यक्त्वा व्युत्क्रमेण शैवमतं राजयोगं निरूपयितुं शिवशक्तिसमायोगप्रसङ्गेन शिवशक्तिपराक्रमाख्यं चतुर्दशश्लोकं प्रकरणमारभते, तत्र तावच्छिवशक्तिपराक्रमनिरूपणं प्रतिजानीते।

अथ वक्ष्ये स्तुतिव्याजाच्छिवशक्तिपराक्रमम् ।
शोधिते सूक्ष्मया दृष्ट्या यस्मिन्निर्विस्मयो भवेत्॥ १ ॥

अथेति । अथ हठयोगनिरूपणानन्तरं तत्प्रसङ्गेनैव स्तुतिव्याजात्स्तवनमिषेणैव शिवशक्तिपराक्रमं शिवस्य परमानन्दरूपस्य परमात्मनो या शक्तिर्जगज्जननसामर्थ्यं तस्याः पराक्रमं प्रतापं चरित्रमित्यर्थः, वक्ष्ये कथयिष्यामि त्वं शृण्विति शेषः, नन्वेतच्छ्रवणस्य किंफलं तत्राह शोधित इति, सूक्ष्मया विचारसंस्कारेण सूक्ष्मीभूतया दृष्ट्या बुद्ध्या यस्मिञ्छिवशक्तिपराक्रमे शोधिते विचारिते सति विचारको निर्विस्मयः शक्तेरघटितघटनापटीयस्त्वज्ञानादाश्चर्यभूतबुद्धिरहितो गर्वर-

अनुसंधानं स्फुरणं स्वात्मस्फुरणमित्यर्थः, न खण्डितं न भग्नं यदि तर्हि सा स्वात्मानुसंधानरूपा संध्येति प्रपञ्चसाक्षिणः प्रपञ्चोद्भवस्य च सन्धिभवत्वात्स्वात्मानुसन्धानवृत्तेः सन्ध्यात्वमित्येवं बुधैर्विवेकिभिरुच्यते कथ्यते ॥ ४ ॥

इति श्रीन० मुनी० मुनीन्द्रप्रात सन्ध्यानिर्णयार्थप्रकाशो नवमः ॥ ९ ॥

अथ प्राणायामनिर्णयः ।

एवं मुनीन्द्राणां सन्ध्यां निर्णीयेदानीं तेषामेव प्राणायामं निर्णेतुं प्राणायामनिर्णयाख्यं षोडशश्लोकं प्रकरणमारभमाण माह

अथ प्राणायामनिर्णयः ।

अथेति । अथ प्रातःसन्ध्यानिरूपणानन्तरं प्राणायामो मुनीन्द्राणां प्राणायामो निर्णीयत इति शेषः । तमेव निर्णयमाह ।

शरीराभ्यन्तरो वायुः प्राणापान इतीरितः ।
स एव गतिभेदेन संज्ञादशकमागतः ॥ १ ॥

शरीरेति । शरीराभ्यन्तरः शरीरस्य वपुषोऽभ्यन्तरः शरीरावच्छिन्नो वायुर्मारुतः प्राणापानः प्रकर्षेणानिति जीवयति देहेन्द्रियादिसंघातं स प्राणोऽपानिति निःसृत्य बहिः पारयति[1] देहेन्द्रियादिसंघात सोऽपान इत्येवं नाम्नेरितः कथितः, ननु शारीरस्य वायोर्दशविधत्वं तत्र तत्र शास्त्रेषु दृष्टं तत्कथमत्र द्वैविध्यमेवोच्यते तत्राह स एवेति, स एव प्राणापानाख्यः शारीरो वायुरेव गतिभेदेन गतिर्गमनं तस्या भेदेनोर्ध्वाध इत्यादिस्थानैश्चलनभिन्नत्वेन संज्ञादशकं संज्ञानां नाम्नां दशकं दशत्वमागतः प्राप्तः प्राणापानव्यानोदानसमाननागकू-

---

१ मारयतीति वा पाठः ।

मेकृकरदेवदत्तधनंजयाख्यां प्राप्त इत्यर्थः ॥ १ ॥

ननु तर्ह्यत्र द्वैविध्यमेव कुत उक्तं तत्राह ।

ऊर्ध्वाधोगतिमुख्यं द्विरूपं तस्य गतिद्वयम् ।

ऊर्ध्वं गच्छन्भवेत्प्राणस्त्वपानः स्यादधश्चलन्॥ २॥

ऊर्ध्वाध इति । तस्य शारीरस्य वायोरूर्ध्वं चाधश्चोर्ध्वाध ऊर्ध्वाधश्च ते गती च गमने ते मुख्ये प्रधाने यस्य तत्तथोक्तं गतिद्वयं गत्योर्गमनयोर्द्वयं युग्मं द्विरूपं द्वयो रूपयोः समाहारो द्विरूपमस्तीति शेषः, ननु कया गत्या किं नाम तस्येत्यत आहोर्ध्वमिति, ऊर्ध्वमुपरि गच्छश्चलन् सन् स शारीरो वायुः प्राणः प्राणनामा भवेदुपरितनभागे नासाग्रसमवर्तिषोडशान्तस्थाने चलन्प्राणो भवेदित्यर्थः, तथा स एव शारीरो वायुरधः षोडशान्तादधो हृदयकमलान्तं चलन्गच्छन्सन्नपानोऽपाननामा स्याद्भवेत ॥ २ ॥

ननु प्राणरूपेणापानरूपेण वा शरीर एव कुतस्तिष्ठति बहिः कुतो न गच्छति तत्राह ।

अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति ।

अनयोः शृङ्खला देहे तेन जीवो न निश्चलः॥ ३॥

अपान इति । अपानोऽधोगत्युपलक्षितः शारीरो वायुविशेषः प्राणमूर्ध्वगमनशीलं शारीरं वायुं कर्षति आकर्षति ततः प्राणः प्राणनामा वायुरपानमपाननामानं वायुं चापि कर्षति आकर्षति, नन्वधऊर्ध्वगतिमतोर्वाय्वोः परस्परमाकर्षणं परस्परकृतं कथं सम्भवतीत्याशङ्क्याहानयोरिति, अनयो प्राणापानयोर्देहे शरीरे शृङ्खला शृङ्खलेव परस्परं बन्धनं ग्रन्थिरि-

त्यर्थः, अस्तीति शेषः; तयोः परस्परं शृङ्खलासत्त्वे चिन्हमाह तेनेति, तेन प्राणापानशृङ्खलासत्त्वेन जीवो जीवोपाधिश्चित्तं न-निश्चलो न स्थिरो भवति अतः प्राणापानयोर्बन्धनमस्तीति निश्चेतव्यमिति भावः, अतः प्राणापानावरोधं विना चित्तस्थैर्यं न स्यादिति भावः ॥ ३ ॥

तत्रापि मतभेदमाह ।

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत् ।
चित्ते चले चलः प्राणो निश्चले निश्चलो भवेत्॥४॥

चल इति । वाते प्राणवायौ चले चञ्चले सति चित्तमन्तःकरणं जीवोपाधिभूतं चलं चञ्चलं भवेत्स्यात्तस्मिन्नेव प्राणवायौ निश्चले स्थिरे सति चित्तमन्तःकरणं निश्चलं स्थिरं भवेत्स्यादिति केषांचिन्मतं । तथा केषांचिन्मते चल इति, चित्ते जीवोपाधिभूतेऽन्तःकरणे चले संकल्पविकल्परूपेण चलायमाने सति प्राणः शरीरावच्छिन्नो वायुश्चलश्चञ्चलो भवेत्स्यात्तस्मिन्नेव जीवोपाधिभूतेऽन्तःकरणे निश्चले संकल्पविकल्पत्यागेन स्थिरीभूते सति स एव शारीरो वायुर्निश्चलः स्थिरो भवेत्स्यादित्येवं केषांचिन्मतं ज्ञेयम् ॥ ४ ॥

मतभेदमेव किंचित्स्पष्टीकुर्वन्नाह ।

कश्चित्प्राणजयेनैव मनोनिश्चलतां भजेत् ।
कश्चिन्मनोजयेनैव प्राणनिश्चलतां भजेत् ॥ ५ ॥

कश्चिदिति । कश्चित्कोपि हठयोगीत्यर्थः, प्राणजयेनैव प्राणः शरीराभ्यन्तरो वायुस्तस्य जयः स्थैर्येण स्वाधीनीकरणं तेनैव केवलं मनोनिश्चलतां मनसोन्तःकरणस्य निश्चलतां स्थैर्यं भजेत्प्राप्नुयात्तथाऽन्यः सांख्यः पातञ्जलश्चेत्यर्थः, मनोजयेनैव मनसो

ऽन्तःकरणस्य जयः स्थैर्यसम्पादनं तेनैव केवलं प्राणनिश्चलतां प्राणस्य शरीरावच्छिन्नस्य वायोर्निश्चलतां स्थिरत्वं भजेत्प्राप्नुयात् ॥ ५ ॥

अन्यदपि मतमाह ।

कश्चिद्द्वयजयेनैव मनोनिश्चलतां भजेत् ।
इति योगगतिज्ञानां त्रिविधा योगिनां गतिः ॥६॥

कश्चिदिति । कश्चित्कोपि मुनिर्मननवान्वेदान्तीत्यर्थः, द्वयजयेनैव द्वयं मनःप्राणयोर्द्वयं युग्मं तस्य जयः स्वाधीनीकरणं स्थैर्यसम्पादनमित्यर्थः, तनैव निश्चलतां स्वात्मनि स्थैर्यं भजेत्प्राप्नुयाद्, उक्तं मतभेदमुपसंहृत्य निगमयतीतीति, इत्येवं प्रकारा योगगतिज्ञानां योगस्य जीवब्रह्मैक्यज्ञानस्य गतिः प्राप्तिस्तां जानन्ति विदन्ति ते तथोक्तास्तेषां योगिनां योगवतां गतिर्गमनं योगप्रापकं साधनमित्यर्थः, त्रिविधा त्रिप्रकाराऽस्तीति शेषः, अन्तःकरणशुद्धिद्वारा जीवब्रह्मैक्यकारणं त्रिप्रकारं ज्ञेयमिति भावः ॥ ६ ॥

नन्वेतानि केषां मतानीति ज्ञानापेक्षायामाह ।

प्राणद्वारा मनः साध्यं मतं हि हठयोगिनाम् ।
मनसैव मनः साध्यमिति विज्ञानयोगिनाम् ॥७॥

प्राणद्वारेति । प्राणद्वारा प्राणावरोधनद्वारभूतेन प्राणायामादिरूपेण हठेन मन स्वान्तं साध्यं स्थिरत्वेन स्वाधीनं कार्यं हि एतद् हठयोगिनां हठयोगवतां मतं निश्चितमस्तीति शेषः, तथा मनसैव विवेकरूपेण मनोंशेनैव केवलं मनः संकल्पविकल्परूपो मनोंशः साध्यं संकल्पविकल्पलयेन स्थिरं कार्यमिति एवं रूपं मतं निश्चितं विज्ञानयोगिनां पातञ्जलसांख्यादीनामस्ति । तत्र

केवलविवेकेनैव मनःस्थैर्यं न भवति किन्तु प्राणावरोधेनैव योगिष्वेत्र तत्स्थैर्यस्य दृश्यमानत्वादिति हठमतं, केवलप्राणायामादिना कृतेपि प्राणावरोधे मनोमौढ्यात्वशेषाद्बीजरूपेण मनोवशिष्टमिति सुप्तिमूर्छादिष्विव न मनोलयरूपः पुरुषार्थः सिद्ध्यतीति विवेकेनैव केवलं मन्तव्यमिथ्यात्वप्रतीतौ दृढतरायां सत्यां मनसः शैथिल्येन क्रमाल्लयरूप पुरुषार्थः सिद्ध्येदिति ज्ञानिनां मतमिति विवेक. ॥ ७ ॥

वेदान्तमतमाह ।

मनःप्राणद्वययुजस्ते तु श्रेष्ठतराः स्मृताः ।
चेच्छुष्कहठिनो मूढास्ते भण्डा न तु योगिनः॥८॥

मन·प्राणेति । ये तूक्तोभयविलक्षणा इति तुपदार्थ, तदेव वैलक्षण्यमाह मन इति, मनश्चान्तःकरणं प्राणश्च शारीरो वायुस्तयोर्द्वयं युग्मं तद्युञ्जन्ति लीनं स्वात्मनि कुर्वन्तीति ते तथोक्तास्ते श्रेष्ठतरा अतिश्रेष्ठा इत्यर्थः, स्मृता उक्ता मुनिभिरिति शेष·, विनैव गुरुदीक्षां स्वबुद्ध्या हठे प्रवृत्तान्निन्दति चेदिति, मूढा हठक्रियाज्ञानशून्या गुरुशिक्षारहिता इत्यर्थ·, अत एव शुष्कहठिनो निष्फलहठाभ्यासरताश्चेद्यदि भवन्ति तर्हि ते शुष्कहठाभ्यासिनो भण्डा हठक्रियाविनोदिन एव ज्ञेया, तु पुनस्ते योगिनो हठयोगाभ्यासिनो न न भवन्ति हठमिषेण ते लोकवञ्चका ज्ञेया इति भाव· ॥ ८ ॥

इदानीं सिद्ध्यनादरेण मुक्तावादरं विधातुं सिद्धिकामेन हठेप्रवृत्तानां क्षुद्रत्वं दर्शयति ।

ते त्वर्धयोगिनः प्रोक्ताः क्षुद्रसिद्ध्यर्थयोगिनः ।
पिङ्गलेडा सुषुम्णा च मुख्यास्तिस्रस्तु नाडिषु॥९॥

ते त्विति । ये तु तुपदेन गुरुशिक्षया हठाभ्यासिषु पूर्वेभ्यः श्रैष्ठ्यं सूचितं, क्षुद्रसिद्ध्यर्थयोगिनः क्षुद्रास्तुच्छाः परकायप्रवेशाकाशगमनादिका मोक्षविघ्नभूता याः सिद्धयस्ता एवार्थः प्रयोजनं तस्मै तत्प्राप्तुं योगिनो योगाभ्यासिनो भवन्ति तेऽन्ययोगिनोऽलौकिकसिद्धिकारणयोगवत्त्वाद्योगिनोऽपि प्रधानफलभूतमोक्षाभावात्तेषां क्षुद्रत्वाच्चाधियोगिनः प्रोक्ताः कथिता मुमुक्षुभिस्तत्रादरो न कर्तव्य इति भावः, अत्र पतञ्जलिरप्याह 'ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धय' इति । अस्यार्थः, याः सिद्धयोऽन्तर्धानादयस्ते समाधौ मुक्तावुपसर्गा विघ्नभूता भवन्ति, ननु समाधावन्तःकरणलये सति कथं सिद्ध्यनुभवस्तत्राह व्युत्थान इति, समाधिनो व्युत्थानेन प्रपंचोद्भवे सति य एव सिद्धयः सिद्धिशब्दवाच्योऽर्थ इत्यर्थः, स एव विघ्नभूतो ज्ञेय इति, अतः सिद्ध्यादरं परित्यज्य मुक्तिहेतुक योगमभ्यसितुं योगाङ्गभूतं प्राणायामं निरूपयिष्यन्तदुपोद्घातत्वेन नाडीभेदमाह पिंगलेति, नाडिषु द्वासप्ततिसहस्रसंख्यासु देहान्तर्वर्तिनीषु नाडिषु मध्ये मुख्याः प्रधानास्तिस्रस्तु त्रिसंख्याका नाड्यो भवन्ति तदधीनत्वात्सर्वासामिति भाव, तुपदेन द्वासप्ततिसहस्रनाडीभ्यस्तिस्रोऽतिविलक्षणा इति सूचितं, ता एव नामतो निर्दिशति पिङ्गलेति, पिङ्गला पिङ्गलानाम्न्येकेडेडानाम्नी द्वितीया सुषुम्णा-च सुषुम्णानाम्न्यपि तृतीया भवति ॥ ९ ॥

स्थानतोपि ता निर्दिशति ।

इडा वामा पिङ्गलान्या सुषुम्णा मध्यवर्तिनी ।
वामदक्षिणमार्गेण सदा वहति मारुतः ॥ १० ॥

इडेति । वामा वामभागे प्रवर्तमानेडेडानाम्नी ज्ञेया, अन्या दक्षिणा दक्षिणभागे प्रवर्तमाना नाडी पिङ्गला पिङ्गला-

नाम्नी भवति, तथा मध्यवर्तिनी मध्ये प्रवर्तमाना नाडी सुषुम्णा सुषुम्णानाम्नी ज्ञेया, यदर्थं नाडीभेद उक्तस्तमाह वामेति, मारुतः शारीरो वायुर्वामदक्षिणमार्गेण वाम सव्यो दक्षिणोऽपसव्यो मार्गो नाडीच्छिद्रं तेनेडापिङ्गलानाडीभ्यामित्यर्थं, सदा नित्य वहति चलति ॥ १० ॥

तर्हि सुषुम्णायां कदा चलतीत्यत आह ।

यदा द्वावपि रुध्येते प्राणमार्गौ सुयोगिना ।

तदान्यत्सर्पवत्प्राणो रन्ध्रमाविशति स्वयम् ॥ ११ ॥

यदेति । सुयोगिना सम्यग्योगाभ्यासवता पुरुषेण द्वावपीडापिङ्गलानामानावुभावपि प्राणमार्गौ प्राणस्य शारीरावच्छिन्नस्य वायोर्मार्गौ पन्थानौ रुध्येते रुद्धौ भवतो यदा यस्मिन्काले तदा तस्मिन्काले प्राणः शारीरो वायुः सर्पवद्यथा सर्पः सर्वेषु च्छिद्रेषु रुद्धेषु सत्सु तदन्यत्सूक्ष्ममपि च्छिद्रं प्रविशति तद्वदन्यदिडापिङ्गलाभ्यां भिन्नं रन्ध्रं छिद्रं तृतीयं सुषुम्णाख्यं स्वयं स्वत एवाविशति प्रविशति, इडापिङ्गलारोधनमेवापेक्षितं न तु ततोन्यः सुषुम्णायां वायोः प्रवेशने प्रयत्नोऽपेक्षित इति भावः ॥ ११ ॥

सुषुम्णाप्रवेशनक्रममेवाह ।

स्थिता कुण्डलिनी मूले जीवशक्तिरनुत्तमा ।

तामुत्थाप्य तया सार्धं सुषुम्णां प्राण आविशेत् ॥ १२ ॥

स्थितेति । मूले मूलाधाराख्यचक्रे गुदस्थान इत्यर्थः, अनुत्तमा न विद्यत उत्तमा श्रेष्ठा यस्याः सा तथाभूताऽतिश्रेष्ठेत्यर्थः, जीवशक्तिर्जीवस्य साधिष्ठानबुद्धिस्थचिदाभासस्येत्यर्थः, शक्तिः सामर्थ्यरूपा कुण्डलिनी कुण्डलिनीनाम्नी

जाग्रदादिमोक्षपर्यन्तजीवसंसारजनयित्रीत्यर्थः, स्थिता वर्तमाना-ऽस्तीति शेषः, अस्तु किं तत इत्यत आह तामिति, प्राणः शारीरो वायुः प्राणायामाभ्यासेनावरुद्धस्तां कुण्डलिनी-मुत्थाप्यान्तर्मुखीं कृत्वा जीवस्य यत्पारमार्थिकं शिवस्वरूपं तदभिमुखीं कृत्वेत्यर्थः, तया जीवशक्त्या सार्धं सह सुषु-म्णां ब्रह्मनाडीमाविशेत्प्रवेशं कुर्यादेवं प्राणस्य सुषुम्णा-प्रवेशक्रमो ज्ञेयः ॥ १२ ॥

ततः किमित्यत आह ।

सुषुम्णावाहिनि प्राणे ब्रह्मरन्ध्रं गते सति ।
तत्र निश्चलतां याते मनो निश्चलतां व्रजेत् ॥१३॥

सुषुम्णेति । प्राणे प्राणवायौ सुषुम्णावाहिनि सुषुम्णा ब्रह्मनाडी तस्यां वाहिनि प्रवेशवति सति ततस्तया नाड्या ब्र-ह्मरन्ध्रं भ्रमरगुहानामकं स्थानं प्रति गते प्राप्ते सति ततश्च तत्र ब्रह्मरन्ध्रे निश्चलतां स्थिरतां याते प्राप्ते सति ततो मनः सङ्क-ल्पविकल्पात्मकं जीवोपाधिभूतमन्तःकरणं निश्चलतां स्थैर्यं व्रजेत्प्राप्नुयात् ॥ १३ ॥

एवं हठक्रमेण मनोलयप्रकारमुक्त्वेदानीं ज्ञानक्रमेणापि तमाह ।

मनो यदि निरुध्येत केवलं ज्ञानयोगिना ।
प्राणापानौ नश्यतस्तु मनोनाशेन तत्क्षणात् ॥ १४ ॥

मन इति । ज्ञानयोगिना ज्ञानयोगाभ्यासवता केवलं प्रा-णोपाधितो विविक्तं सद्यदि यर्हि विवेकेन मनः सङ्कल्पवि-कल्पात्मकमन्तःकरणं सङ्कल्पविकल्परूपांशं संत्याज्य निरुध्येता-वरुध्यात्तर्हि तदा मनोनाशेन सङ्कल्पविकल्पांशमनसो नाशेन क्षयेन तत्क्षणात्सद्य एव प्राणापानौ प्राणापाननामानौ वायू

नश्यतो नष्टौ भवतो निद्रामूर्च्छादौ मनोलये सति प्राणापान-प्रवाहस्य विद्यमानत्वेपि बाधादर्शनादिति मनोलयेनैव तयोर्नाश इति भावः ॥ १४ ॥

एवमुभयमतं निरूप्येदानीं मुमुक्षुग्राह्यं वेदान्तमतमाह ।

तस्मात्सिद्धान्त एवैको हठविज्ञानयोगिनोः ।
शास्त्रोक्तमिति विज्ञाय निर्णयं प्राणचेतसोः ॥ १५ ॥

तस्मादिति । हठविज्ञानयोगिनोर्हठयोगज्ञानयोगाभ्यासवतोस्तस्मान्मनोलयस्यैवोभयत्र साध्यत्वाद्धेतोः सिद्धान्तो निश्चय एक एव सम एव भवतीत्येवं शास्त्रोक्तं वेदान्तशास्त्रोक्तं प्राणचेतसोः शरीरावच्छिन्नस्य वायोर्मनसश्च निर्णयं सिद्धान्तं विज्ञाय ज्ञात्वा ॥ १५ ॥

प्राणायामं मुनिः कुर्यान्मनोलयसमन्वितम् ॥ १६ ॥

इतिश्रीन० बो० मुनीन्द्र० प्राणायामनिर्णयो दशमः ॥ १० ॥

मुनिर्मननवान् सन् विवेकपूर्वकमित्यर्थः, प्राणायामं प्राणानां शारीरवायूनामायाममवरोधनं मनोलयसमन्वितं मनसः सङ्कल्पविकल्पात्मकवृत्तेर्लयो नाशस्तेन समन्वितं सहितं यथा भवति तथा कुर्यात्क्रियतामित्यर्थः, केवलप्राणायामेन प्राणस्थैर्येपि विवेकाभावेन बीजनाशाभावान्मनोनाशाभावः केवलविवेकेन मनोनिरोधे प्राणायामाभावात्पुनः पुनस्तदुदयान्मनोनाशाभाव इति मनोमलनिवृत्त्यै प्राणायामोपेक्षितस्ततो विवेकेनोत्पन्नेन मनोलयो भवतीति निश्चयोयं मुमुक्षुभिर्ग्राह्य इति भावः ॥ १६ ॥

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाक० बो० मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशे प्राणायामनिर्णयार्थप्रकाशो दशमः ॥ १० ॥

किञ्च तेषां मते कल्पनालाघवं साध्यते तदपि तेषां कल्पनागौरवमेव सिध्यति, वेदान्ते तु मायाङ्गीकारे कल्पनालाघवं सिध्यत्यतस्तेषामपि मायातत्त्वाङ्गीकार इष्टएवेति वेदान्ताङ्गीकारः कर्त्तव्य इत्याशयेनाह ।

कल्पनागौरवं दोषः कल्पनालाघवं गुणः ।
इति यत्तार्किकैरुक्तं तदेव मम रोचते ॥ ७ ॥

इति० बो० मु० अष्टा० वैशेषिकनिर्णय ॥ ३ ॥

कल्पनेति । कल्पनागौरवं कल्पनानां गौरवमाधिक्यं दोषोऽचातुरी कल्पनालाघवं कल्पनानां लाघवं न्यूनत्वं गुणश्चातुर्यमित्येवं यत्प्रसिद्धं तार्किकैरुक्तं न्यायशास्त्रविद्भिः कथितमेव केवलं न तु अङ्गीकृतं मायाङ्गीकारं विना तत्र न सिध्यतीति भावः, मम तु मायातत्त्वाङ्गीकर्तुस्तदेव कल्पनालाघमेव रोचत [illegible] भवति अतस्तर्कवैशेषिकमतादरं परित्यज्य वेदान्त एवादरो विधेय इति भावः ॥ ७ ॥

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ
मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशेऽष्टादशविद्यास्थाननिर्णयार्थ-
प्रकाशान्तर्गतो वैशेषिकनिर्णयार्थप्रकाश
स्तृतीय. ॥ ३ ॥

अथ सांख्यनिर्णय ।

एवं वैशेषिकनिर्णयमभिधायेदानीं प्रसङ्गप्राप्तं सांख्यनिर्णयाख्यं चतुःश्लोकं प्रकरणमभिदधान आह ।

अथ सांख्यनिर्णयः ।

अथेति । अथ वैशेषिकनिर्णयानन्तरं सांख्यनिर्णयः सांख्यस्य सांख्याभिधशास्त्रस्य निर्णयो विचारः क्रियत इति शेषः, तत्र

तावत्प्रथमं संख्यातीतस्य ब्रह्मणः केवलतत्त्वसंख्यामात्रनिर्णायकसांख्यविषयत्वाभावात्सांख्यस्य निष्फलश्रमत्वं दर्शयति ।

असंख्याः सांख्य तत्त्वानां संख्याः संख्यातवानसि ।
किं सांख्य सख्यया ब्रह्म संख्यातीतं विचिन्तय ॥१॥

असंख्या इति। हे सांख्य सम्यक्ख्यायन्ते प्रकथ्यन्ते तत्त्वान्यस्मिन्तत्सांख्यं तद्वेत्ति अधीते वा सांख्यस्तस्य सम्बोधने हे सांख्य त्वं तत्त्वानां प्रकृतिपुरुषादीनामसङ्ख्या नविद्यन्ते सङ्ख्या गणना यासां तास्तथोक्ताः सङ्ख्या गणनाः पञ्चविंशतिषड्विंशत्यादिरूपाः सङ्ख्यातवान्निरूपितवानसि विद्यसे तर्हि साङ्ख्यसङ्ख्यया साङ्ख्यशास्त्रनिरूपितया सङ्ख्यया गणनया किमस्माकं मुमुक्षूणां किं फलं न किमपि फलमित्यर्थः, अतः साङ्ख्यस्यापि निष्फलश्रमत्वात्साङ्ख्यादरं परित्यज्य ब्रह्मचिन्तने प्रवर्तितव्यमिति साङ्ख्यं प्रेरयति ब्रह्मेति, त्वं ब्रह्म देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदरहितमात्मवस्तु विचिन्तय स्मर, ननु साङ्ख्यविचारेणापि ब्रह्मैव चिन्त्यत इति चेन्नेत्याह सङ्ख्यातीतमिति, सङ्ख्यातीतं साङ्ख्योक्तसङ्ख्यया विषयीकृतं न भवति ब्रह्माऽतः साङ्ख्यस्य निष्प्रयोजनश्रममात्रत्वात्तत्त्यक्त्वा परं ब्रह्मैव चिन्तनीयमिति भावः ॥ १ ॥

ननु तत्त्वज्ञानं मोक्षसाधनत्वेन भवतामपीष्टं साङ्ख्यं च तत्त्वज्ञानप्रतिपादकं तत्कुतः साङ्ख्यं नाङ्गीक्रियते भवद्भिरित्याशङ्क्याह ।

तत्त्वज्ञानं त्वया प्रोक्तं तत्त्वज्ञानं मतं मम ।
तत्त्वातीतस्य विज्ञानं तत्त्वज्ञानं हि मुक्तये ॥२॥

तत्त्वज्ञानमिति । हे साङ्ख्य त्वया भवता तत्त्वज्ञानं तत्त्वानां

प्रकृतिपुरुषादीनां ज्ञानं बोधनं प्रोक्तं कथितं मम मे मुमुक्षो-
स्तत्त्वज्ञानं तत्त्वबोधनमेव मतमिष्टं तथापि त्वत्प्रतिपादितं त-
त्त्वज्ञानं न मोक्षसाधनं तर्हि तत्कीदृशं मोक्षसाधनं तत्त्वज्ञानं
तत्राह तत्त्वातीतस्येति, तत्त्वातीतस्य तत्त्वेभ्यो भवदुक्तप्रकृतिपु-
रुषादितत्त्वेभ्योऽतीतस्य भिन्नस्य तत्त्वास्पृष्टस्येत्यर्थः, विज्ञा-
नमनुभवस्तत्त्वज्ञानं तत्त्वस्यानारोपितस्वरूपस्य जीवब्रह्मैक्यल-
क्षणस्य ज्ञान बोधनमस्माकमिष्टं तदेव मुक्तये मुक्त्यर्थं भवति
न त्वत्प्रोक्तं मुक्तये तत्त्वज्ञानं भवतीत्यर्थः, अतस्तन्नाङ्गीक्रियते-
ऽस्माभिरिति भाव· ॥ २ ॥

ननु तत्त्वविवेचन पुरुषज्ञानार्थमस्माभिः कृतमित्याशङ्क्या-
ङ्गीकरोति ।

पुरुषस्य परीक्षार्थं मया संख्या निरूपिता ।
सांख्य एवं यदि प्राह तर्हीदं मम संमतम् ॥ ३ ॥

पुरुषस्येति । पुरुषस्य प्रकृतिविकृतिविलक्षणस्यासङ्गस्या-
त्मनः, तदुक्तं ।

'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः' इति ॥

परीक्षार्थं ज्ञानार्थं मया साङ्ख्यशास्त्रप्रणेत्रा सङ्ख्या तत्त्वानां
प्रकृत्यादीनां पञ्चविंशतिषड्विंशत्याद्या निरूपिता प्रतिपादिते-
वमनेन प्रकारेण यदि यर्हि साङ्ख्यः साङ्ख्यशास्त्रप्रणेता
कपिलस्तदध्ययनवान्तज्ज्ञो वाऽन्यः कोपि प्राह वक्ति तर्हि
तदेदं वचनं साङ्ख्यापसिद्धान्तापातेन त्वंपदार्थशोधनमात्रो-
पयोगितया च मम मुमुक्षोः संमतमिष्टं भवति भवान्साङ्ख्यासि-
द्धान्त परित्यज्य वेदान्त आगत इति भावः ॥ ३ ॥

तर्हि तत्त्वसङ्ख्यायाः पुरुषपरीक्षामात्रोपयोगित्वाङ्गीकारे

तत्रैवाभिनिवेशो न कर्त्तव्य इत्याह ।

पुरुषान्नपरं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ।
पुरुषं पश्य रे सांख्य संख्यया किं प्रयोजनम् ॥ ४ ॥

इ० बो० मु० अष्टा० सांख्यनिर्णयश्चतुर्थे ॥ ४ ॥

पुरुषादिति । पुरुषादसङ्गसच्चिदानन्दपरिपूर्णरूपादात्मनः परं श्रेष्ठं किञ्चित्किमपि न न विद्यते सैव काष्ठा सर्वसुखावधिरूपा सोक्तलक्षणा परोत्कृष्टा गतिः स्थितिर्ज्ञेया, अरे साङ्ख्य सङ्ख्यायामभिनिवेशित्वान्नीचसम्बोधनं त्वं पुरुषं परिपूर्णरूपमात्मानं पश्यावलोकय तं त्यक्त्वा सङ्ख्यया तत्त्वानां गणनया किं प्रयोजनं किं फलं न किमपीत्यर्थः, अतः सङ्ख्याभिनिवेशेन व्यर्थश्रमो न कर्त्तव्य इति भावः ॥ ४ ॥

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीपौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशेऽष्टादशविद्यास्थाननिर्णयार्थप्रकाशान्तर्गत साङ्ख्यनिर्णयार्थप्रकाशश्चतुर्थः ॥४॥

अथ पातञ्जलनिर्णयः ।

एवं साङ्ख्यनिर्णयमभिधायेदानीं पातञ्जलयोगं निर्णेतुं पातञ्जलनिर्णयाख्य नवश्लोक प्रकरणमभिदधान आह ।

अथ पातञ्जलनिर्णयः ।

अथेति । अथ साङ्ख्यनिर्णयानन्तरं पातञ्जलनिर्णयः पतञ्जलिना प्रोक्त पातञ्जल शास्त्रं तस्य निर्णयो विचारः क्रियत इति शेषः, पातञ्जलमित्यत्र 'तेन प्रोक्तमि'तिसूत्रेणाण्, तत्रादौ योगसिद्धिप्रसक्त्या श्रमहेतुत्वे मुमुक्षूणामादरं आजयितुं पातञ्जलस्य दर्शयति ।

योगसिद्धिप्रसक्तोयं पातञ्जलपरिश्रमः ।
कलाकौशलमेवेदं न स्वरूपस्थितिर्हि सा ॥ १ ॥

योगसिद्धीति । अयं पतञ्जलिप्रोक्तो योगाख्यः परिश्रमः सर्वकालं श्रम एव यतो योगसिद्धिप्रसक्तो योगानां धारणाविशेषाणां सिद्धय आकाशगमनाद्यास्तासु प्रसक्तोऽत्यासक्तोऽतः पातञ्जलपरिश्रमः पातञ्जले पतञ्जलिप्रोक्ते शास्त्रे परिश्रम एव केवलं ज्ञेयो न तत्रोक्तसाधनैर्मोक्ष इति भावः, तर्हि किं तत्रत्यसाधनैर्भवतीत्याशङ्क्याह कलेति, इदं पातञ्जलं कलाकौशलमेव कलासु योगसिद्धिषु कौशलं कुशलत्वं चातुर्यमात्रं केवलमित्यर्थः, सा कुशलता न स्वरूपस्थितिः स्वस्यात्मनो रूपे तस्य स्थितिस्तदाकारा स्थितिरित्यर्थः, न न भवति हि एतद्विवेकिनां प्रसिद्धम् ॥ १ ॥

कायव्यूहसिद्धिप्रसक्त्या योगाभ्यासप्रसक्तं प्रत्याह ।

रे योगसिद्ध जीवानां कायव्यूहो न दुर्लभः ।
विदेहमुक्तता सिद्धिः कायव्यूहो न सिद्धये ॥२॥

रे योगसिद्धेति । रे योगसिद्ध रे इति नीचसम्बोधनं योगसिद्धिप्रसक्तत्वान्नीचत्वं हे योगसिद्ध्यासक्त जीवानां जीवत्वं प्राप्तानां कायव्यूहः कायानां देहानां व्यूहः समूहो न दुर्लभो न दुःप्रापः किन्तु सुलभ एवेत्यर्थः, ननु योगाभ्यासेन विना जीवानां कायव्यूहो दुर्लभ एवेति चेन्न भ्रमजन्यस्वाप्नमानोरथिकप्रपञ्चादावुक्तदेहानां तदीयत्वेन दर्शनाज्जाग्रत्प्रपञ्चस्यापि विचारदृष्ट्या हिरण्यगर्भस्वप्नत्वात्तैजसहिरण्यगर्भयोरभिन्नत्वस्य पारमार्थिकत्वात्स्वप्नत्वस्य तुल्यत्वे कायव्यूहत्वसिद्धेः सुलभत्वं कायव्यूहस्य जीवानामिति भावः,

ननु तर्हि तत्र तत्र वेदान्ते तत्त्वज्ञानात्सिद्धिरवाप्यत इत्युच्यते तत्कथं सिद्धिर्निन्द्यते भवद्भिरिति चेत्तत्राह त्रिदेहेति, विदेहमुक्तता देहराहित्येन ब्रह्मरूपतया स्थितिरेव सिद्धिः सिद्धिशब्देनाभिहिता वेदान्ते कायव्यूहः शरीरसमूहधारणेनानेकभोगभोगो न सिद्धये मुक्तये न भवतीति तत्र तत्र वेदान्ते निश्चितमिति भावः ॥ २ ॥

एवं कायव्यूहसिद्धिं विदूष्येदानीं परकायप्रवेशरूपां सिद्धिं दूषयन्परकायप्रवेशसिद्धीच्छया योगाभ्यासासक्तं प्रत्याह ।

हे योगसिद्ध जानासि परकायप्रवेशनम् ।
परं तु नैव जानासि परकायप्रवेशनम् ॥ ३ ॥

हे योगसिद्धेति । हे योगसिद्ध हे योगधारणया सिद्धंमन्य त्वं परकायप्रवेशनं परेषामन्यप्राणिनां कायेषु देहेषु प्रवेशनं प्रवेशयुक्तिं जानासि वेत्सि तथाप्ययमभिमान एव तव परकायप्रवेशनं नैव वेत्सि कुत इत्यत आह परं त्विति, परन्तु तथापि त्वं परकायप्रवेशनं परं परमात्मानं कायति वक्ति भागलक्षणयोपदिशतीत्यर्थः, तत्परकायं महावाक्यजातं तत्त्वमस्यादिरूपं तस्मिन्दृढमोक्षेच्छया प्रवेशनं तदर्थावगाहनं, यद्वा परकायेन महावाक्योपदेशेन प्रवेशनं प्रवेशोऽर्थादात्मनीत्यवगन्तव्यं तन्नैव जानासि नैव वेत्सीति मन्येहम् ॥ २ ॥

ननु मास्तु महावाक्यद्वारात्मनि प्रवेशनमन्यशरीरप्रवेशरूपा सिद्धिस्तु वर्त्तत एव ममेत्याशङ्क्याह ।

भूतादयोपि जानंति परकायप्रवेशनम् ।
सा सिद्धिर्नैव बन्धः सा यद्धि कायप्रवेशनम् ॥२॥

भूतादय इति । भूतादयो भूताः पिशाचा आदयो मुख्या येषां ते रोगज्वरादयोऽप्यादिशब्देन ग्राह्यास्ते परकायप्रवेशनं परेषामन्यप्राणिनां कायेषु प्रवेशनं प्रवेशयुक्तिं जानन्ति विन्दन्ति तद्योनिप्रापकेन क्षुद्रकर्मणापि तादृशयोनिप्राप्त्या सा स्यादेवाऽतस्तदर्थं महांश्चित्तावरोधयोगरूपः प्रयासो नैवापेक्षितोऽतस्तयैव न कृतार्थतेति भावः, ननु परकायप्रवेशरूपा सिद्धिर्योगफलमेवातः कुतो भवद्भिर्निन्द्यत इति चेत्तत्राह सेति, यत्प्रसिद्धं कायप्रवेशन काये शरीरे प्रवेशनं प्रवेश इति सा कायप्रवेशरूपा नैव सिद्धिर्नैव मुक्तिर्भवति किन्तु सा परकायप्रवेशरूपा बन्धो बन्धनमेव भवति हि प्रसिद्धमिदं सर्वशास्त्रेषु विवेकिषु चातः परकायप्रवेशसिद्धिसाधनभूतयोगधारणासक्तिं परित्यज्य मोक्षसाधनभूते वेदान्तश्रवणादावेव प्रवर्त्तितव्यमिति भावः ॥ ३ ॥

एव परकायप्रवेशादरं परित्याज्य चिरजीवितसिद्धिकारणभूतयोगधारणासक्तं प्रत्याह ।

अवश्य मरणं तर्हि कीदृशी चिरजीविता ।
जन्ममृत्युजराध्वंसि त्वं विज्ञानामृतं पिब ॥ ५ ॥

अवश्यमिति । हे योगसिद्ध यत्र चिरजीवनेऽवश्यं निश्चयेन मरणं मृत्युर्भवति तर्हि तदा सा चिरजीविता बहुकालं जीवनता कीदृशी कथं सिद्धा न कथमपीत्यर्थः, यथा जन्मतो मरणान्त रुग्णस्य समाशतं जीवनमपि न तज्जीवनत्वेन गृह्यते विवेकिभिरैहिकपारलौकिकभोगसाधनकर्माचरणाशक्त्या मरणतुल्यत्वात्तथा मरणभीत्या योगधारणायां स्थितः सन् चिरजीवित्वं साधितं तत्राप्यन्तेऽवश्यं मरणे सिद्धे निरन्तरं

तत्प्रतीत्या तद्भयेन निरन्तरं धारणायामेव स्थितस्यैहिकभोगसाधनव्यवहारे प्रवृत्त्ययोगेन भोगाभावाद्योगधारणायाश्च चिरजीवित्वसिद्धिफलकत्वे चरितार्थत्वात्तस्या अन्यलोकभोगफलकत्वाभावाच्च तदन्यधर्मादिसाधनाचरणासिद्धेश्च पारलौकिकभोगाभाववत्त्वं तस्या मोक्षसाधनश्रवणाद्यनुष्ठानासिद्धेश्चैतादृशचिरजीवित्वस्य चिररुग्णत्वसाम्याच्चिरमरणमेव तदिति ज्ञात्वा तस्मिंस्तद्धारणायां चानादरो मुमुक्षुभिः कर्त्तव्य इति भावः, ननु तर्हि मरणनिवृत्तेरेव मोक्षत्वान्मोक्षस्य च भवतामपीष्टत्वाच्चिरजीवित्वं भवतामपीष्टमतः कुतो निन्द्यते तत्राह जन्मेति । त्वं भवाञ्जन्ममृत्युजराध्वंसि जन्म सदद्वैतानृतद्वैतयोरन्योन्यस्मिन्नन्योन्याारोपरूपमन्योन्यधर्मारोपरूपं चेति लक्षितं जन्म तथा मृत्युरपि विवेकेन सदद्वैतानृतद्वैतयोर्विवेचनेन पृथक्त्वावलोकनरूपं मरणमिति लक्षितो मृत्युर्लोकप्रसक्षे जन्ममरणे वा जरा वार्धक्य तेषां विध्वंसि नाशकं विज्ञानामृत विज्ञानं जीवब्रह्मैक्यसाक्षात्काररूपं तदेवोभयलक्षणमरणनिवर्त्तकत्वादमृतमिवामृतं मोक्षरूपं तदेवास्माकमिष्टं तत्त्वं पिब माशयाङ्गीकुर्वित्यर्थः, मुमुक्षूणामिष्टो मरणनिवृत्तिरूपो मोक्षो ज्ञानेनैव साध्यः स एवात्यन्तमरणनिवृत्तिरूपः परमपुरुषार्थरूपः, ननु एकदेशिकया कयाचिद्योगधारणया चिरजीविताऽतस्तदादरं परित्यज्य मुमुक्षुभिर्वेदान्तश्रवणादिष्वेवादरः कर्तव्य इति भावः ॥ ५ ॥

एवं चिरजीवनसाधनभूतयोगधारणां विदूष्येदानीं परचितस्थितवस्तुज्ञतारूपसिद्धिसाधनधारणारतं प्रत्याह ।

परचित्तस्थितं वस्तु त्वया ज्ञातं ततश्च किम् ।

स्वचित्तसंस्थितं वस्तु परं ब्रह्म विलोकय ॥ ६ ॥

परेति । त्वया हे योगिन्भवता धारणावता परचित्तस्थित परेषामन्यप्राणिनां चित्तान्यतःकरणानि तेषु स्थितं चिन्त्यतया वर्त्तमानं वस्तु पदार्थजात ज्ञातमवबुद्ध तनश्च ततो ज्ञानादपि तत्र किं किं फलं न किमपीत्यर्थः, परमात्मनोऽन्यत्कल्पितं चित्तं तत्रस्थं वस्त्वपि कल्पितमतस्तत्सर्वेषामप्यस्ति अतस्तावन्मात्रेण कृतार्थता नैवं मंतव्या तदर्थं महान्योगरूपः प्रयासश्च नैव कर्त्तव्य इति भावः, तर्हि किंकर्त्तव्यमित्यत आह स्वेति, स्वचित्तसस्थितं स्वस्य चित्तमन्तःकरणं तत्र संस्थित वस्तु सत्यरूप परं ब्रह्म कार्यकारणत्वरहितं देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यमात्मस्वरूपं विलोकय साक्षात्पश्य स्वतः पृथक्तया भ्रान्तिसिद्धं समष्टिव्यष्ट्यन्तःकरणं तत्र स्थितभ्रमरूपजगद्विषयकज्ञानस्यापि भ्रमरूपत्वादस्माकं तेनापि प्रयोजन नास्ति तर्हि तदेकदेशव्यष्ट्यन्तःकरणस्थपरचित्तस्थितवस्तुज्ञानरूपसिद्ध्या प्रयोजनं नास्तीति किं वक्तव्यमतस्तत्रादरं परित्यज्य स्वचित्तबोधेन स्वचित्तस्थितब्रह्मसाक्षात्कारसाधनेषु वेदान्तश्रवणादिष्वेवादरो मुमुक्षुभिः कर्त्तव्य इति भावः ॥ ६ ॥

इदानीं दूरश्रवणदर्शनाख्यसिद्धिसाधनभूतधारणाभ्यासरतं प्रत्याह ।

निकटस्थस्यात्मनश्चेन्न स्याच्छ्रवणदर्शनम् ।
का सिद्धिः सा तु या सिद्धिर्दूरश्रवणदर्शनम् ॥७॥

निकटेति । अत्यन्ताव्यवहितत्वान्निकटस्थस्यातिसमीपवर्तिन आत्मनः स्वात्मनः स्वात्मवस्तुनः श्रवणदर्शनं श्रवणमित्युपलक्षण मननिदिध्यासनयोः, तद्द्वारा दर्शनं च साक्षा-

त्कारस्तयोः समाहार एकवद्भावः, न स्याच्चेन्न भवेद्यदि तर्हि या तु योगशास्त्रे प्रसिद्धा दूरश्रवणदर्शनं दूरस्थपुरुषाद्युच्चारितशब्दानां श्रवणं तथा दूरस्थितपदार्थानां दर्शनमवलोकनं चेति सिद्धिर्विभूतिरस्ति सा का न सा सिद्धिर्गणनार्हेत्यर्थः, दूरश्रवणदर्शनरूपसिद्ध्योरनात्मविषयत्वेन मिथ्यात्वात्तदभ्यासस्य च व्यर्थश्रमत्वात्तदादरं परित्यज्यात्मविषयकवेदान्तश्रवणमनननिदिध्यासनेष्वेव प्रयत्नः कर्त्तव्यो नान्यत्रेति भावः ॥ ७ ॥

एवं दूरश्रवणदर्शनाख्ये सिद्धी प्रत्याख्यायेदानीमाकाशगमनाख्यसिद्धीच्छया तत्साधनभूतयोगधारणाभ्यासासक्तं प्रत्याह ।

भवन्ति वायसादीनामपि खेचरतादयः ।
सिद्धिभिर्नैव सिध्येत सिद्धिभिः किं प्रयोजनम् ॥८॥

भवन्तीति । खेचरतादयः खेचरताऽऽकाशगतित्वमादिर्येषामन्तर्धानप्रभृतीनां तास्तथोक्तास्ताः सिद्धयो वायसादीनामपि वायसः काक आदिर्येषां श्येनभासगरुडादीनां तेषामपि विना योगधारणां भवन्ति प्राप्नुवन्ति काकादीनामपि विना योगधारणमाकाशगमनसिद्धेरपिशब्दाद्भूतादीनामपि विना योगधारणामन्तर्द्धानादिसिद्धेः प्रत्युत तेषां योनिप्राप्तेरविहितकर्मफलत्वेन तुच्छत्वान्न तत्रादरो मुमुक्षुभिर्विधेय इति भावः एवमेव सर्वसिद्धीनामपि निष्प्रयोजनत्वं दर्शयति सिद्धिभिरिति, सिद्धिभिः पातञ्जलोक्ताभिराकाशगमनादिरूपसिद्धिभिर्नैव सिद्ध्येत नैव निश्चयेन मुच्येत तर्हि मुमुक्षूणामस्माकं सिद्धिभिः परकायप्रवेशादिरूपाभिः सिद्धिभिः किं प्रयोजनं किं फलं न किमपीत्यर्थः ॥ ८ ॥

ननु योगसिद्धिरेव मुक्तिः सा तु भवतामपीष्टातः कुतः सा निन्द्यत इत्याशङ्क्याह ।

न सिद्धिर्योगसिद्धिर्हि बलवीर्यादिसिद्धिकृत् ।

एतेन योगः प्रत्युक्त इति वेदान्तभाषितम् ॥९॥

नेति । हि यस्मात्कारणाद्योगसिद्धिर्योगधारणाभिर्या सिद्धिर्जायते सा न सिद्धिर्न मुक्तिर्वेदान्ते मुक्तिरेव सिद्धिपदेनोक्ता नाकाशगमनादिरूपोक्ता सिद्धिशब्देनेत्यर्थः, सा योगसिद्धिस्तु योगधारणया या सिद्धिर्जाता सा बलवीर्यादिसिद्धिकृद्बलं च शरीरदार्ढ्यं वीर्यं च शुक्रभूयस्त्वं मतापभूयस्त्वं च ते आदिनी येषामन्तर्धानोर्ध्वरेतस्त्वादीनां तेषां सिद्धिः प्राप्तिस्तस्याः कृत्कर्त्री भवति नतु मुक्तिकृदित्यर्थः, अतो मुमुक्षुभिस्तत्रासक्तिर्नैव कार्येति भावः, ननु योगमत्याख्यानं स्वकपोलकल्पितत्वादप्रमाणमित्याशङ्क्य तत्र श्रीबादरायणसूत्रं प्रमाणयति एतेनेति, 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' एतेन साङ्ख्यप्रत्याख्यानेन योगो योगसिद्धान्तः प्रत्युक्तः प्रत्याख्यातो न पृथक्प्रयासः कर्त्तव्य इति भावः, इति एवं वेदान्तभाषितं वेदान्त उपनिषदर्थसंग्राहके शारीरकसूत्रेषु मध्ये भाषितं कथितमस्तीति शेषः, अतो योगमतखण्डनमिदं मुमुक्षुभिः प्रमाणपूर्वमस्तीति ज्ञेयमिति भावः ॥९॥

नन्वात्मज्ञानमेव सिद्धिपदवाच्यं योगशास्त्रे प्रतिपादितमन्यसिद्धयस्तत्साधनभूतधारणाविशेषाश्च तत्तज्ज्ञानपूर्वकं तत्त्यागायैवेत्याशङ्क्यैतच्च मतं वेदान्तानुकूल्यादस्माकमिष्टमेवेति योगसिद्धान्तापहतिरित्याशयेनाह ।

सिद्धिरात्मपरिज्ञानमन्तरायास्तु सिद्धयः ।

इति चेद्योगवित्प्राह मतमस्माकमेव तत् ॥ १० ॥

इ० बो० मु० पु० अष्टा० पातञ्जलनिर्णय पञ्चमः ॥ ५ ॥

सिद्धिरिति । आत्मपरिज्ञानमात्मनो ब्रह्माभिन्नस्य प्रत्यगात्मनः परिज्ञानं बोधः स एव सिद्धिः सिद्धिशब्देनोक्तः सिद्धयस्तु तदन्याऽऽकाशगमनादिरूपाः सिद्धयोऽन्तराया आत्मज्ञानस्य विघ्नरूपाः सन्ति अतस्तास्तत्र तज्ज्ञानपूर्वं तत्त्यागायैवाभिहिता इति भावः, इत्येवं योगवियोगतात्पर्यवेत्ता कश्चित्प्राह वक्ति चेद्यदि तर्हीदं तदिदं मतं मम वेदान्तिनः संमतमिष्टं न तु योगसिद्धान्तः स इति भावः ॥ १० ॥

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशे पुराणश्रवणनिर्णयेऽष्टादशविद्यास्थाननिर्णयप्रकाशान्तर्गतः पातञ्जलनिर्णयार्थप्रकाशः पञ्चम ॥ ५ ॥

अथ मीमांसानिर्णयः ।

एवं पातञ्जलनिर्णयमभिधायेदानीं मीमांसानिर्णयमभिधातुं मीमांसानिर्णयाख्यं सप्तश्लोकं प्रकरणमभिधास्यन्नाह ।

अथ मीमांसानिर्णयः ।

अथेति । अथ पातञ्जलनिर्णयानन्तरं मीमांसानिर्णयो मीमांसाया निर्णयो विचारः क्रियत इति शेषः, तत्र तावत्प्रथमं तन्मताग्राह्यत्वज्ञापनाय तन्मौढ्यं दर्शयति ।

कष्टं कर्मेत्ययं न्यायो मतो मीमांसकस्य चेत् ।
आत्मनः क्लेशभागित्वं तेनैवांगीकृतं तदा ॥ १ ॥

कष्टमिति । कष्टं कर्मेत्यय कर्म क्रिया कष्टं दुःखरूपमस्तीति शेषः, अयमुक्तः प्रत्यक्षो न्यायः सिद्धान्तो मीमांसकस्य मीमांसाशास्त्रज्ञस्य जैमिनेर्मत इष्टश्चेद्यदि भवेत्तदा तर्हि आत्मनः स्वस्य कर्मकर्तृत्वाभिनिवेशेन क्लेशभागित्वं दुःखभोक्तृत्वं तेनैव मीमांसकेनैव कोशकारकृमिन्यायादिनेवाङ्गीकृतं भवेदिति भो

बुद्धिरहङ्कारश्चितं चेत्यन्तः करणानि चत्वारि । तेरैव व्यवहारः "स्वप्नः" । तज्जनकः प्रकाश स्तृतीय हृल्लेखास्थकामकलया बोध्यः ॥'

द्वितीय कूट के लकार को भी वैसा ही समझना चाहिए । 'स्वप्नावस्था' की केन्द्रीय शक्ति है 'ह्रीं' में स्थित ईकार स्वरूप 'कामकला' ॥ ३८ ॥

आन्तरवृत्तेर्लयतो लीनप्रायस्य जीवस्य ।
वेदनमेव सुषुप्तिश्चिन्त्या तार्तीयबिन्दौ सा ॥ ३९ ॥

(सुषुप्ति का स्वरूप)

तृतीयकूट के बिन्दु में उस सुषुप्ति की भावना करनी चाहिए जो कि सुषुप्ति का कारण है और जिसमें समस्त अन्तःकरण एवं जीव निद्रामग्न हैं ॥ ३९ ॥

*** प्रकाश ***

विवरणमत आत्मसुखाज्ञानविषयिकास्तिस्रोऽविद्यावृत्तयः स्वीकृता इत्यत आह— आन्तरवृत्तेरिति । अन्तःकरणपरिणामरूपवृत्तेरित्यर्थः । वार्त्तिकमते वृत्तिसामान्याभाव एव सुषुप्तिः । तार्तीयबिन्दौ ललाटस्थाने ॥ ३९ ॥

*** सरोजिनी ***

'सुषुप्ति'—जिस समय अपने व्यापार-सहित बुद्धि अपने कारण अज्ञान में विलीन हो जाती है उसी को विज्ञ पुरुषों ने 'निद्रा' कहा है ।[1] सुषुप्ति-काल में घोर निद्रा में सकल इन्द्रियाँ एवं मन, बुद्धि इत्यादि तथा इनकी वृत्तियाँ अपने उपादान कारण अविद्या में विलीन हो जाती हैं और उस समय आत्मा की जाग्रत-स्वप्न अवस्थाओं के अभाव होने के कारण विश्व तैजस आदि संज्ञा नहीं रहती, उस समय तो वह तमावृत अपने स्वरूप सुख का बिना किसी साधन की सहायता के ही स्वयं भोग करता है ।[2]

वृत्तियाँ एवं सुषुप्ति—

(१) विवरणकार का मत—आत्मसुख के अज्ञानविषयिक तीन अविद्या वृत्तियाँ हैं । अन्तःकरण का परिणाम रूप ही वृत्तियाँ हुआ करती हैं ।
(२) वार्तिककार का मत—वृत्ति सामान्य का अभाव ही सुषुप्ति है ।

तुर्यावस्था चिदभिव्यञ्जकनादस्य वेदनं प्रोक्तम् ।
तद्भावनार्धचन्द्रादिकं त्रयं व्याप्त कर्तव्यः ॥ ४० ॥

(तुरीयावस्था का स्वरूप)

चैतन्य को अभिव्यक्त करने वाली जो नादावस्था है (वह अवस्था जिसमें 'नाद' पूर्ण चैतन्य को अभिव्यक्त करता है) 'तुरीयावस्था' कहलाती है । उसकी

१. वराहोपनिषद

भावना अर्द्धचन्द्र एवं (उसके आगे के) वर्णत्रय तक की जानी चाहिए ॥ ४० ॥

*** प्रकाश ***

अर्धचन्द्ररोधिनीनादेषु व्याप्तस्तुर्यावस्थाप्रकाशो भाव्यः ॥ ४० ॥

*** सरोजिनी ***

ज्ञान की सात भूमिकायें

शुभेच्छा | विचारणा | तनुमानसा | सत्वापत्ति | असंसक्ति | पदार्थ भावना | तुरीयगा

ज्ञान की सात भूमिकायें हैं। उनमें अन्तिम भूमिका है 'तुरीयगा'। 'शुभेच्छा प्रथमा भूमिका भवति। विचारणा द्वितीया तनुमानसी तृतीया। सत्वापत्तिस्तुरीया। असंसक्तिः पञ्चमी। पदार्थ भावना षष्ठी। तुरीयगा सप्तमी ॥'

(१) अकार, उकार, मकार एवं अर्धमात्रा वाली प्रणवात्मिका भूमिका होती है।

(२) उन अकार, उकारादि चार मात्राओं के प्रत्येक के स्थूल, सूक्ष्म कारण एवं साक्षी भेद से चार-चार प्रकार के होते हैं। उसमें भी अकारादि के जो स्थूलादि चार भेद हैं उनके प्रत्येक के जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय—ये चार भेद से अवस्थायें होती हैं। आत्मा के भी चार भेद हैं—विश्व, तैजस, प्राज्ञ, तुरीय। 'तदवस्था जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ति तुरीयाः।'

अकार का स्थूल अंश में—जाग्रत-विश्व, उनके सूक्ष्म अंश में जाग्रत तैजस, उसके बीज अंश में जागृत-प्राज्ञ एवं उसके साक्षी अंश में जागृत-तुरीय है।

उकार के स्थूल अंश में स्वप्न-विश्व, उसके सूक्ष्म अंश में स्वप्न-तैजस, उसके बीजांश में स्वप्न-प्राज्ञ एवं उसके साक्षी अंश में स्वप्न-तुरीय है। प्रणव की तृतीय मात्रा मकार के स्थूल अंश में सुषुप्ति-विश्व, उसके सूक्ष्म अंश में सुषुप्ति-तैजस उसके बीजांश में सुषुप्ति-प्राज्ञ एवं उसके साक्षी अंश में सुषुप्ति-प्राज्ञ और उसके साक्षी अंश में सुषुप्ति-तुरीय हैं। प्रणव की चौथी अर्धमात्रा के स्थूल अंश में तुरीय-विश्व उसके सूक्ष्म अंश में तुरीय तैजस, उसके बीज अंश में तुरीय-प्राज्ञ एवं उसके साक्षी अंश में तुरीय-तुरीय है।

(३) अकार के स्थूलांश से तुरीयांश तक जो चार अवस्थायें हैं, उनमें तीन भूमिकायें हैं—प्रथमा—'शुभेच्छा', द्वितीय—'विचारणा', तृतीय—'तनुमानसा'।

उकार के स्थूलांश से लेकर तुरीय तक—चौथी 'सत्त्वापत्ति' भूमिका होती है। मकार के स्थूलांश से लेकर तुरीयांश तक पाँचवी अंससक्ति नामक भूमिका होती है। अर्धमात्रा के स्थूलांश से लेकर उसके तुरीयांश तक छठवीं 'पदार्थभावना' नामक 'भूमिका' होती है। इन समस्त भूमिकाओं के अनन्तर जो अवस्था होती है। वही सप्तमी 'तुरीयगा' भूमिका है।

'ज्ञानभूमिः शुभेच्छास्यात्प्रथमा समुदीरिता ।
विचारणा द्वितीया तु, तृतीया तनुमानसा ।
सत्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसाक्तिनामिका ।
पदार्थभावना षष्ठी सप्तमी तुर्यगास्मृता ॥'

'तुरीयगा' का स्वरूप क्या है?

यत्र नासन्त सद्रूपो, नाहं नाप्य न हंकृतिः ।
केवलं क्षीणमनन आस्तेऽद्वैतेडित निर्भयः ॥

अन्तः शून्यो बहिः शून्यः शून्य कुंभइवाम्बरे ।
अन्तः पूर्णो बहिः पूर्णः पूर्ण कुंभ इवार्णवे ॥ १८ ॥

मा भव ग्राह्यभावात्मा ग्राहकात्मा च मा भव ।
भावना मखिलां त्यक्त्वा यच्छिष्टं तन्मयो भव ॥

द्रष्टृदर्शनदृश्यानि त्यक्त्वा वासनया सह ।
दर्शन प्रथमाभासमात्मानं केवल भज ॥[1]

अवस्था		बिन्दु		
तुर्यातीतावस्था	महाबिन्दु	ई रं ह	स्वप्न जागर	
	उन्मनी			
	समना	ल क स	भूमि विष्णु भारती	
	व्यापिका			
	शक्ति	ह्रीं		
	नादान्त	ल ह	ब्रह्मा भूमि	स्वप्न
तुर्यावस्था	नाद	क स ह	विष्णु भारती ब्रह्मा	
	रोधिनी			
	अर्धचन्द्र			
सुषुप्ति	बिन्दु	ह्रीं	मिथुनम् रुद्राणी रुद्र	
		ल ई	विष्णु भूमि	
		ए क	भारती ब्रह्मा	

कुण्डलिनी

वह्नि कुण्डलिनी | सूर्य कुण्डलिनी | सोम कुण्डलिनी

अवस्था	
तुर्यातीतावस्था	महाबिन्दु → उन्मनी → समना → व्यापिका → शक्ति → नादान्त
तुर्यावस्था	→ नाद → रोधिनी → अर्धचन्द्र
सुषुप्ति	→ बिन्दु

१. वराहोपनिषद
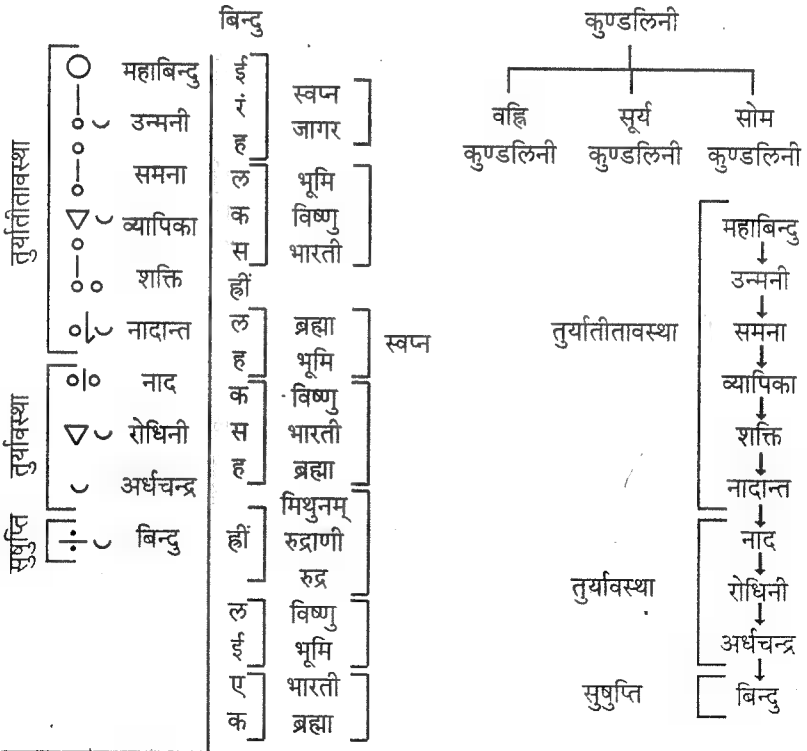
चक्र

'वाग्भवकूट'	'कामराजकूट'	'शक्तिकूट'
१) त्रैलोक्यमोहन	१) सर्वसौभाग्यदायक	१) सर्वरोगहर
२) सर्वाशापरिपूरकम्	२) सर्वार्थसाधक	२) सर्वसिद्धिप्रद
३) सर्वसंक्षोभण भूपुर षोडशदल, अष्टदल	३) सर्वारक्षाकर	३) सर्वानन्दमय सर्वानन्दमय
	४) चतुर्दशार, बहिर्दशार, अन्तर्दशार	४) अष्टार, त्र्यश्र, बिन्दु

वाक्चतुष्टय (मातृका)

'परा'	'पश्यन्ती'	'मध्यमा'	'वैखरी'
(मूला)	(नाभि)	(हृदय)	(कण्ठ)
(धार चक्र)	(मणिपूरक चक्र)	(अनाहत चक्र)	(विशुद्ध चक्र)

आनन्दैकघनत्वं यद्वाचामपि न गोचरो नृणाम् ।
तुर्यातीतावस्था सा नादान्तादिपञ्चके भाव्या ॥ ४१ ॥

(तुर्यातीतावस्था का स्वरूप)

(वह) आनन्दैकघन अवस्था जो मनुष्यों की वाणी से परे है 'तुर्यातीतावस्था' (कहलाती) है । उसकी 'नादान्त' आदि पञ्चवर्णों में भावना करनी चाहिए ॥ ४१ ॥

*** सरोजिनी ***

इस श्लोक में 'तुर्यातीतावस्था' के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है ।

(१) 'तुर्यातीतावस्था' आनन्दैकघन, अवांमनसगोचर अवस्था है ।

(२) 'तुर्यातीतावस्था' नादान्त आदि पाँच वर्णों में स्थित है ।

अवस्थापञ्चकं निरूप्य शून्यषट्कं निरूपयति—

तार्तीयीके रेफस्थाने बिन्दो च रोधिन्याम् ।
नादान्तव्यापिकयोश्चन्द्रकतुल्यानि पञ्च शून्यानि ॥ ४२ ॥
उन्मन्यां नीरूपं षष्ठं चिन्त्यं महाशून्यम् ।

क्रमात् प्राप्तानि सप्त विषुवन्त्याह—

प्राणात्ममानसानां संयोगः प्राणविषुवाख्यः ॥ ४३ ॥

(बिन्दु एवं पञ्चशून्य-अन्तर्संबंध)

तृतीयकूट के रेफ, बिन्दु, रोधिनी, नादान्त एवं व्यापिका स्थानों में पञ्च शून्यों की, मयूर के पङ्ख में स्थित चन्द्र के रूप में, भावना करनी चाहिए ॥ ४२ ॥

(महाशून्य की भावना एवं 'प्राणविषुव' का स्वरूप)

'उन्मनी' में रूप शून्य छठे (शून्य) महाशून्य की भावना करनी चाहिए । प्राण, आत्मा एवं मन के संयोग का नाम 'प्राणविषुव' है ॥ ४३ ॥

*** प्रकाश ***

चन्द्रको मयूरपिच्छाग्रगतं चन्द्राकारं शून्यम् । तदुक्तं स्वच्छन्दसंग्रहे—

'शिखिपक्षचित्ररूपैर्मण्डलैः शून्यपञ्चकम् ।
ध्यायतो ऽनुत्तरे शून्यं परं व्योम तनुर्भवेत् ॥'

इति । यद्यपि

'अग्न्यादिद्वादशान्तेषु त्रींस्त्रींस्त्यक्त्वा वरानने ।

शून्यत्रयं विजानीयादेकैकान्तरितं प्रिये ।
शून्यत्रयात् परे स्थाने महाशून्यं विभावयेत् ॥'

इति पूजासङ्केते रेफादिमहाबिन्द्वन्तेषु द्वादशसु स्थानेषु मध्ये त्रयं त्रयं त्यक्त्वा, एकैकमन्तरितं मध्यस्थितं शून्यत्रयं विजानीयादित्यर्थादर्धचन्द्रशक्तिमहाबिन्दुषु शून्यत्रयं तदूर्ध्वं चतुर्थमित्यर्थः; अथ वा, आदावन्ते च त्रयं त्रयं त्यक्त्वा मध्यस्थे ऽर्धचन्द्रादि-व्यापिकान्तषट्क एकैकव्यवधानेन शून्यत्रयं तत्परे चतुर्थमित्यर्धचन्द्रनादशक्तिषु त्रीणि शून्यानि व्यापिकायां महाशून्यमिति वार्थः स्पष्टं प्रतीयते; तथापि

'शून्यषट्कं सुरेशानि अवस्थापञ्चकं पुनः ।
विषुवत्सप्तरूपं च भावयन्मनसा जपेत् ॥'

इत्युपक्रमविरोधादन्यथार्थः । तथा हि—अग्न्यादीति भिन्नं पदं शून्यत्रये ऽन्वेति । अन्तशब्दश्चरमावयववाची । अर्थाच्चरमहल्लेखासंबन्धिषु द्वादशस्ववयवेषु हकारा-द्युन्मनान्तेषु, अग्न्यादि रेफमारभ्य शून्ययोस्त्रयं शून्यषट्कं विजानीयात् । तच्च न रेफादिसांतत्येन, किं त्वेकैकव्यवधानेनेति । अत आह—एकैकान्तरितमिति । प्रथम-शून्यस्य रेफस्थानीयत्वे कथिते व्यवधानमर्थाद्धकारेकारार्धचन्द्रनादशक्तिसमनाभिः षड्भिरिति सिध्यति । तदेवाह—त्रींस्त्रीनिति । द्विगुणतांस्त्रींस्त्यक्त्वेत्यर्थः । शून्यत्रयात् शून्ययोस्त्रयस्य, तत्षट्कस्येत्यर्थः । 'सुपां सु—' इति सुपो ङस आदादेशः । निर्धारणे षष्ठी । तेषां मध्ये परे चरम उन्मन्यां महाशून्यमिति । एतद्विभावनस्य परमरहस्यत्वादित्थं क्लेशेनोक्ति- रित्यन्वयितव्यम् ॥ ४२ ॥

क्रमात् प्राप्तानि सप्त विषुवन्त्याह—

ककारात्मकवायुः प्राणः । आत्मा प्राणा मनश्चेत्येतेषामैक्यं प्राणविषुवसंज्ञमिति केचित् । यथाश्रुतमन्ये ॥ ४३ ॥

* सरोजिनी *

पञ्चदशाक्षरी मन्त्र के तृतीय कूट—'स क ल ह्रीं' के रेफ, बिन्दु, रोधिनी, नादान्त एवं व्यापिका में पाँच शून्य अवस्थित हैं । ये उसी प्रकार स्थित हैं जैसे कि मोर के पङ्खों में चन्द्राकार आकृति ॥

'स क ल ह्रीं' के 'रेफ', 'बिन्दु', 'रोधिनी', 'नादान्त' एवं 'व्यापिका' में ५ शून्यों की अवस्थिति ।

महानाद या नादान्त—ये ब्रह्म का प्रथम क्रियात्मक विकास कहा जा सकता है। 'नाद' वह स्वरूप है जो सारे विश्व को नादान्त से भरे हुए हैं । यह नादान्त की पूर्णावस्था है । निरोधिनी नाद की वह अवस्था है जिसमें बिन्दु को विकसित करने की क्षमता रहती है । नाद की सूक्ष्मावस्थायें भी हैं—इनमें निष्कल उन्मनी अन्तिम है—

नाद की अवस्थायें

प्रथमावस्था	द्वितीयावस्था	तृतीयावस्था	चतुर्थ अवस्था	पञ्चम अवस्था	छठवीं अवस्था	सातवीं अवस्था	आठवीं अवस्था	नवीं अवस्था
'बिन्दु'	'अर्धचन्द्र'	'रोधिनी'	'नाद'	'नादान्त'	'शक्ति'	'व्यापिका'	'समना'	'उन्मना'

बिन्दु के बाद शक्तियाँ सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप धारण करती चली जाती हैं और अन्त में उन्मनी अवस्था (अनुत्पन्न निस्पंद वाक्) आ जाती है । 'उन्मनी' = कारणरूपा शक्ति की अवस्था है । इस अवस्था में—काल, कला, देवता आदि किसी का भी आभास नहीं रह जाता । यह 'स्वनिर्वाणपदं' है—निर्विकल्प निरञ्जन शिवशक्ति है ।[१] "Unmani is Nirākār and Nirucchār soundless and without ulterance defined by any adjective, being beyond mind and speech and universe"[2] यह अवाङ्मनसगोचरा, निराकार, निरुच्चार, निरूप अवस्था है ।

कुछ तांत्रिकों ने बिन्दु से भी ३ नादों की उत्पत्ति बतायी है—ये निम्न है—(१) 'सूक्ष्मवाद' (२) 'अक्षरनाद' (३) 'वर्णनाद' । (क) 'सूक्ष्मनाद' = अचिन्त्य, अभिधेय बुद्धिका कारण एवं बिन्दु का प्रथम प्रसार है । (ख) 'अक्षरनाद' = यह सूक्ष्मनाद का कार्य है और परामर्श ज्ञान समन्वित है । (ग) 'वर्णनाद' = इसकी उत्पत्ति आकाश एवं वायु से होती है । कुण्डलिनी भी नादरूपा है । नाद-बिन्दु । बिन्दु = वेदान्त का ईश्वर । 'नाद' शक्ति का एक रूप है । बिन्दु भी शक्ति का एक रूप है । नाद-बिन्दु में क्रिया शक्ति है ।

१-२. गारलैण्ड ऑफ लेटर्स (आर्थर एवेलॉन)

नाद-बिन्दु—जगत् की सृष्टि ।[1]

नाद, बिन्दु और कला—'बिन्दु' शिवात्मक है और 'बीज' शक्त्यात्मक है तथा 'नाद' दोनों (बिन्दु एवं बीज) के समवाय से उत्पन्न होने के कारण उभयात्मक हैं। नादोत्पत्ति—बिन्दु + बीज—'नाद'

'सच्चिदानन्द विभवात् सकलात् परमेश्वरात'—(१) आसीच्छक्तिः (२) ततो नादो (३) नादाद् बिन्दुसमुद्भवः ।। सच्चिदानन्द सकल परमेश्वर—शक्ति—नाद—बिन्दु ।।

'शक्ति' क्या है? परमेश्वर का 'स्पन्द' ही 'शक्ति' है । इसी 'बिन्दु' से (१) बिन्दु (२) बीज (३) नाद उत्पन्न होते हैं । 'बिन्दु' का फटना—बिन्दु, बीज एवं नाद ।। 'बिन्दु'—रौद्री । 'नाद'—ज्येष्ठा । 'बीज'—वामा ।। 'बिन्दु नाद कला ब्रह्मन् विष्णु महेश देवताः ।।'' (योगशिखोपनिषद ६-७०) । विष्णु = 'बिन्दु' । ब्रह्मा = 'नाद' । रुद्र (ईश) = 'कला' ।।

'श्रीचक्र' = भगवती का स्थूल शरीर । पञ्चदशाक्षरी मन्त्र' = भगवती का सूक्ष्मशरीर 'बीज' = शक्त्यात्मिका कला ।।

शिव (पर बिन्दु)—शक्ति—सदाख्यशिव (नाद)—ईश्वर (बिन्दु)—शुद्धविद्या (बिन्दु) ।।

शुद्धविद्या	नाद-ज्येष्ठा ।।	ब्रह्मा-इच्छा ।।	ब्राह्मी-क्रिया ।।	सूर्य-प्राण ।।
	बीज-वामा ।।	विष्णु-क्रिया ।।	वैष्णवी-ज्ञान ।।	अग्नि-चिति ।।
	बिन्दु-रौद्री ।।	रुद्र-ज्ञान ।।	गौरी-इच्छा ।।	चन्द्र-मन ।।

बिन्दु—रौद्री । नाद—ज्येष्ठा । बीज—वामा । बिन्दु—ज्ञान । बीज—क्रिया । नाद—इच्छा ।। नाद = सूर्य । बीज = अग्नि ।। बिन्दु = चन्द्रमा ।। इच्छा, क्रिया एवं ज्ञान = गौरी, ब्राह्मी वैष्णवी ।। बीज = शक्त्यात्मिका कला ।।

हल्लेखा के उच्चारण होने पर अनुनासिक ध्वनि उक्त ९ स्तरों से होती हुई उन्मनी में समाप्त हो जाती है । नौ स्तर निम्न हैं—

शिव (पर बिन्दु)
↓
शक्ति
↓
सदाख्यशिव (नाद)
↓

---

१. गारलैण्ड ऑफ लेटर्स (राघव भट्ट : 'शारदातिलक')—नाद-बिन्दु शक्ति की वे अवस्थाएँ हैं जो सृष्टि को जन्म देने के लिए उत्सुक रहती हैं । 'बिन्दु' एक घनावस्था है । बिन्दु में शून्यता + गुण दोनों की प्रतिष्ठा है । (कालीचरण : ष.च.नि. की टीका)

ईश्वर (बिन्दु)
↓
शुद्ध विद्या (बिन्दु)

नाद्र-ज्येष्ठा	बीज-वामा	बिन्दु-रौद्री
↓	↓	↓
ब्रह्मा-इच्छा	विष्णु-क्रिया	रुद्र-ज्ञान
↓	↓	↓
ब्राह्मी-क्रिया	वैष्णवी-ज्ञान	गौरी-इच्छा
↓	↓	↓
सूर्य-प्राण	अग्नि-चिति	चन्द्र-मन
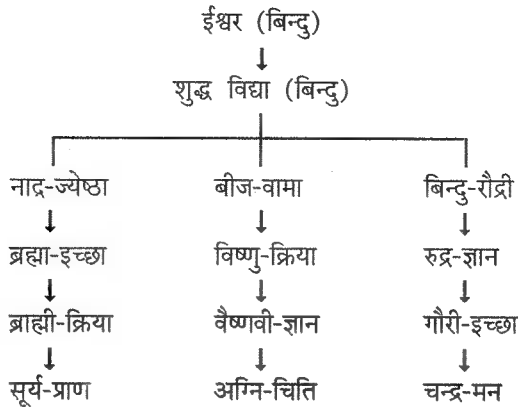
(१) ब्रह्म को बिन्दु, शक्ति को कला एवं जीव को नाद समझकर ५ प्रकार का ऐक्य भी स्थापित किया जाता है।

(क) जीव—ब्रह्मैक्य भाव ।
(ख) ब्रह्म—सृष्टि-प्रभव ।
(ग) तृतीय—देहाध्यास ।
(घ) चतुर्थ—प्रलय ।
(ङ) पञ्चम—जीवोत्पत्ति ।

बिन्दु से नाद का सम्बंध न बताने का अभिप्राय यह है कि ब्रह्म कभी जीव नहीं बनता, आत्मा सदा ब्रह्मस्वरूप है, जीवभाव एक मिथ्या प्रतीति मात्र है ।

(१) हल्लेखा के उच्चारण होने पर जो अनुनासिक ध्वनि उक्त ९ स्तरों से होती हुई उन्मनी में समाप्त हो जाती है । उसके उच्चारण काल की मात्रा उत्तरोत्तर आधी होती जाती है ।

(२) सभी के योग का काल १/२ मात्रा होता है जो बिन्दु की आधी मात्रा सहित पूरी एक मात्रा बनती है अर्थात्—

$$\frac{१}{२} + \frac{१}{४} + \frac{१}{४} + \frac{१}{१६} + \frac{१}{३२} + \frac{१}{६४} + \frac{१}{१२८} + \frac{१}{२५६} + \frac{१}{२५६} = १ \text{ मात्रा}$$

(३) पञ्चदशी के ३ अनुस्वार ३ बिन्दु हैं ।

(४) हल्लेखा, नाद एवं १५ अक्षर १५ कलायें हैं ।

(५) नाद, बिन्दु, कला = 'त्रिबिन्दु'

(६) श्रीचक्र त्रिधा विभक्त—नाद । बिन्दु । कला ।

(७) बिन्दु को शिवशक्ति भेद से दो प्रकार का माना जाय तो शक्त्यात्म बिन्दु ही 'बीजि' है । दोनों से शब्दब्रह्म, नादोत्पत्ति एवं शब्द से कला (अर्थात्मक सृष्टि) की उत्पत्ति होती है ।। ४२ ।।

'प्राणविषुवाख्य:'—प्राणविषुव नामक ।। 'प्राणविषुव' क्या है?

प्राण, आत्मा एवं मन के पारस्परिक योग को 'प्राणविषुव' कहते हैं । 'योग: प्राणात्ममनसां विषुव प्राणसंज्ञितम् ।।'[१]

अमृतानन्दनाथ इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—'प्राणस्य हकारात्मनो वाटवात्मनो यष्टुर्मनसश्च संयोग: प्राणविषुवमित्युच्यते ।।[२] 'शैवतन्त्र' में कहा गया है—'शिष्यात्म प्राणमनसां संयोगं प्राणकं बिन्दु: ।।' आचार्य भास्कर इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—'वस्तुतस्तुमूलाधारे ब्रह्मेति प्रसिद्धस्य खस्य वायु कुण्डली संयोगात्तदव्युत्पत्ति: स एव खो नाभिपर्यन्तमागत्य पवनेन मनसा च युज्यते । स एव हृदयमागत: पवनेन बुद्धया च संयुज्यते । अत: स एव स्थानत्रये परा-पश्यन्ती-मध्यमेति नामत्रयं क्रमेण मजत इति सौभाग्यभास्करे कर्णितमस्माभि: । इदमेव प्राण-विषुवपद वाच्यमिति स्थानत्रये मिलित्वैका भावनेति ज्ञेयम ।।'

'उन्मन्यां नीरूपं षष्ठं चिन्त्यं महाशून्यम्'[३]—उन्मनी षष्ठ शून्य है । यह 'महाशून्य' कही जाती है ।

स्वच्छान्दागम के मतानुसार शून्यों की स्थिति इस प्रकार है—(१) 'ऊर्ध्व शून्य'—शक्तिप्रद जहाँ नादान्त तक नि:शेष पाश प्रशान्त हो गए हैं । (२) 'अध: शून्य' = हृदयक्षेत्र; जहाँ अभी तक प्रपञ्चोल्लास नहीं हुआ है । (३) 'मध्यशून्य' = कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट एवं ब्रह्मरंध्र ही शक्तिस्थान है । व्यापिनी चतुर्थ शून्य है । तीन शून्य चल एवं हेय है । 'समना' में पञ्चम शून्य एवं 'उन्मना' में षष्ठ् शून्य है । ये भी चल एवं हेय हैं । उन्मना में भी यत्किंचित चलत्व है । परमशिवाधिष्ठित होने से सभी शून्य सिद्धिप्रद है । स्वच्छन्द शास्त्र के अनुसार ६ शून्यों का त्याग करके सातवें में प्रवेश आवश्यक है । वही वास्तविक परमपद है । ६ शून्य अवस्थायें हैं—सातवाँ ही योगियों का लक्ष्य है—'अशून्यं शून्यमित्युक्तं शून्यं चाभाव उच्यते । अभाव: स समुद्दिष्ट: यत्र भावा: परं गता: ।।' यह सप्तम शून्य ही अखण्ड महासत्ता महाशून्य है ।

मन्त्रविषुवमाह—

प्राथमिककूटनादे त्वनाहताद् ब्रह्मरन्ध्रान्ते ।
व्यष्टिसमष्टिविभेदाद् बीजचतुष्कस्य च स्वस्य ।। ४४ ।।
ऐक्येन नादमयताविभावनं मन्त्रविषुवाख्यम् ।

('मन्त्रविषुव' का स्वरूप)

प्रथम कूट के नाद एवं व्यष्टि-समष्टि के भेद से अनाहत से आरंभ करके ब्रह्मरंध्र तक उत्पन्न होने वाला नाद एवं चारों बीज तथा आत्मा के नादमय विभावना की 'मन्त्रविषुव' संज्ञा है ।। ४४, ४४- ।।

---

१. योगिनीहृदय (१८२) २. दीपिका

३. सेतुबन्ध (श्लो० १८५)

*** प्रकाश ***

प्राथमिककूटनादे बीजचतुष्कस्यैक्यम्, स्वस्यात्मनस्त्वाधारोत्थितनादेन सहैक्यं न प्राथमिकेनानाहतादारब्धेन सह,

'आधारोत्थितनादे तु लीनं बुद्ध्वात्मरूपकम् ।
संयोगेन वियोगेन मन्त्रार्णानां महेश्वरि ॥
अनाहताद्याधारान्तं नादात्मत्वविचिन्तनम् ।
विषुवम् .... ॥'

इति कादिमतीयवचनात् । संयोगेन समष्ट्या । वियोगेन व्यष्ट्या । चतुर्विधानामिति शेषः । आधाराणामन्तो ब्रह्मरन्ध्रम् । आधारान्तान्तमिति तन्त्रेणान्तपदद्वयसत्त्वाद्-ब्रह्मरन्ध्रान्तमित्यर्थकत्वेन व्याचक्षते । आ आधारान्तादित्यर्थक आङ्प्रश्लेषे तु सर्वं सुस्थम् ॥ ४४, ४४- ॥

*** सरोजिनी ***

मन्त्र सङ्केत एवं मन्त्र के विविध अर्थ—'योगिनीहृदय' के 'मन्त्र-सङ्केत' नामक द्वितीय पटल में 'मन्त्रसङ्केत' के नाम से मत्रार्थों का निरूपण किया गया है। 'मन्त्रसङ्केत' के ६ प्रकार हैं—

(१) मन्त्रसङ्केतस्तस्या नानाकारो व्यवस्थितः ।

(२) षड्विधस्तं तु देवेशि कथयामि तवानघे ।

(३) (क) भावार्थ (ख) सम्प्रदायार्थ (ग) निगर्मार्थ (घ) कौलिकार्थ (ङ) सर्वरहस्यार्थ (च) महातत्त्वार्थ ॥ योगिनीहृदय (मन्त्रसङ्केत निरूपणम्)

मन्त्रविषुव का तात्पर्य है अभिव्यज्यमान नाद को जापक की अपनी आत्मा मानकर भावना करना ॥

'योगिनीहृदय दीपिकाकार' कहते हैं—मूलाधारस्थित वाग्भव शिखरवर्तिनं नादं हृदयपर्यन्तमुच्चार्य तत्र स्वयं लीनो भूत्वा स्वात्मनस्तन्मयतानुनुसंधानं मन्त्रविषुव-मित्यर्थः ॥'[1] मूलाधारस्थित वाग्भवशिखरवर्ती नाद को हृदयपर्यन्त उच्चारित करके वहीं स्वयं लीन होकर अपनी आत्मा की उसके साथ की गई तन्मयता का अनुसन्धान करना 'मन्त्रविषुव' है ।[2] 'शैवतन्त्र' में कहा भी गया है—

आत्मना नादमध्ये तु लयं सञ्चार्य तत्त्वतः ।
अकारोकार वर्णादिसंयोगेन वियोगतः ।
हृदयादि बिलान्तं च विषुवमन्त्र संशकम् ॥[3]

हृदय से ब्रह्मरंध्रपर्यन्त इसकी व्याप्ति है—"हृदयाद ब्रह्मरंध्रान्तं विषुवमन्त्र संज्ञकम् ॥" भास्कराचार्य कहते हैं—'नादं वाग्भवान्त्यस्थानमारभ्य हृदयस्थं कामराज-

---

१-२. अमृतानन्द योगी—'दीपिका' ३. शैवतन्त्र

कूटान्त्याक्षरपर्यन्त मुद्गतं विभाव्य तस्मिन् स्वजीवात्मनो लयं विचिन्त्य ततः कवलित जीवात्मानं नादमूर्ध्वमुदगमय्य ब्रह्मरंध्रान्तं प्राप्तं विचिन्तयेत् । तदिदं मन्त्र विषुव-मुच्यते ॥'[1]

नाडीविषुवमाह—

आधारोत्थितनादस्योच्चाराद् ब्रह्मरन्ध्रान्तम् ॥ ४५ ॥
षट्चक्राणां ग्रन्थीन् द्वादश भिन्दन् सुषुम्णयैव पथा ।
नाडीनादार्णानां संयोगो नाडिकाविषुवम् ॥ ४६ ॥

(नाडिकाविषुव' का स्वस्वरूप)

मूलाधार चक्र से उठने वाले नाद के उच्चारण से ब्रह्मरंध्रपर्यन्त षट्चक्रों की द्वादश ग्रन्थियों को सुषुम्णा के पथ से ही ग्रन्थि उद्भेदन करता हुआ नाड़ी नाद एवं वर्णों के संयोग की 'नाड़िका विषुव' कहते हैं ॥ -४५, ४६ ॥

*** प्रकाश ***

मूलाधारादिचक्रषट्कस्याप्यध ऊर्ध्वं चैकैको ग्रन्थिरिति द्वादश ग्रन्थयः । तद्-भेदनमार्गेणैव सुषुम्णानाडी मूलाधाराद् ब्रह्मरन्ध्रं व्याप्नोति । तेनैव मार्गेण नादस्य वर्णपङ्क्तेश्च नाडीसंयुक्तत्वेन भावनयोच्चारणं नाडीविषुवमित्यर्थः ॥ -४५, ४६ ॥

*** सरोजिनी ***

'नाड़ीविषुव' किसे कहते है? 'मूलाधारोत्पन्न' नाद का सुषुम्णा नाड़ी में प्रवेश करके द्वादशग्रन्थियों का भेदन करते हुए मन्त्र के वर्णों के साथ संयोग होना ही 'नाड़ी-विषुव' कहलाता है । मूलाधार से ब्रह्मरंध्र तक बीज शिखरवर्ती नाद के उच्चारित होने से नाड़ीविषुव स्पर्श उद्भूत होता है । 'योगिनीहृदय' में इसका स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—'आधारोत्थित नादे तु लीनं बुद्ध्यात्मरूपकम् । संयोगेन वियोगेन मन्त्रार्णानां महेश्वरि ॥ १८३ ॥ अनहताद्या-धारान्त नादात्मत्वविचिनम् । नादसंस्पर्शना-तस्यनाड़ी विषुवमुच्यते । द्वादशग्रन्थिभेदने वर्णानामन्तरे प्रिये ॥[2]

शैवतन्त्र में कहा गया है—'मूल मन्त्रत्रिशूलेन भित्वा ग्रन्थीननुक्रमात् । नादनाड़ीसमायोगान्नाड़ीविषुव भावनम् ॥ (१८३-८५) अमृतानन्दयोगी इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—'वर्णाद बीजत्रयशिखरवर्तिनो नादस्य कामकलाक्षराद् द्वादशग्रन्थि भेदेन मूलादिषट्चक्र द्वादश ग्रन्थीन् भित्वा तेन नाड्यन्तरे सुषुम्ना मध्यमार्गे नाद संस्पर्शात् त्रिबीजशिखरवर्तिनो नादस्य मूलादि ब्रह्मरंध्रान्तमुच्चारतः 'संस्पर्शोम्नाडी-विषुवमुच्यते ॥'

श्रीभास्कराचार्य कहते हैं कि इस प्रकार के नाद का द्वादशग्रन्थिभेदन पूर्वक जो

१. सेतुबन्ध (श्लो० १८५) २. योगिनीहृदयदीपिका (श्लो० १८४)

यह सुषुम्णा नाड़ी में प्रवेश हैं वही नाड़ी विषुव है—'अथेदृशस्य नादस्य द्वादशग्रन्थिभेदनपूर्वकं योऽयं सुषुम्णानाड़ी-प्रवेशः स एव नाड़ी विषुवमुच्यते ।।[१]

'आधारोत्थित' = आधार चक्र से ऊपर उठने वाले ।। 'आधार' क्या है—आधार पद्मं सुषुणास्य लग्नं, ध्वजाधोगुदोर्द्ध्वं चतुःशोणपत्रम् । अधोवक्त्रमुद्यत्सुवर्णा-भवर्णैर्वकारादि सान्तैर्युतं वेदवर्णैः ।। अमुष्मिन धरायाश्चतुष्कोण चक्रं समुदभासित शूलाष्टकैरावृतं वत् । लसत्पीतवर्णां तडित्कोमलागे तदङ्के समास्ते धरायाः स्वबीजम् ।।[२]

'नाद'—समस्त प्राणियों के मूल चक्र में विद्यमान कुण्डलिनी शब्द ब्रह्म के रूप में अवतरित होकर वर्णों के रूप में प्रकट होती है और अव्यक्त ओङ्कार ध्वनि करती है वही नाद है—

तत्प्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां मूलचक्रगम् ।
वर्णात्मनाविर्भवति गद्यपद्यादिभेदतः ।। २७ ।।[३]

'नाद'—नाडयाधास्तु नादो वै भित्वा सर्वमिदं जगत् ।
अधः शक्त्या विनिर्गत्य ऊर्ध्वशक्त्यवसानकः ।।[४]

'नाडीनादवर्णानां संयोगो'—नाड़ी में उद्भूत अनाहत नाद एवं पञ्चदशी मन्त्र के वर्णों का संम्मिलन ।

उपरोक्त नादतत्त्व को आगे पृष्ठ १९४ पर चित्रित किया गया है ।

'षट्चक्राणां'—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत विशुद्धाख्य एवं आज्ञाचक्र नामक ६ चक्रों की । पिण्डस्थ ६ चक्र एवं उनकी स्थिति पृ० १९५ पर चित्रित है ।

'षट्चक्राणां ग्रन्थीन्'—६ चक्रों के ग्रन्थियों को ।

(१) **'अनाहत चक्र'**—'ब्रह्मग्रन्थि'—ब्रह्मग्रन्थि का भेदन—हृदयाकाशरूप शून्य में भूषणों के कणन की अनाहत ध्वनि का प्रवण—दिव्यदेह, दिव्यगंध, आरोग्य ।।

(२) **'विशुद्धाख्य चक्र'**—'विष्णु गंन्थिः'—परमानन्द (ब्रह्मानन्द)—कण्ठाकाश में भेरी का नादोत्थान ।

(३) **'आज्ञाचक्र'**—'रुद्रग्रन्थि'—वेणु के शब्द के तुल्य ध्वनि ('हठयोग प्रदीपिका'—स्वात्माराम मुनीन्द्र)

प्रथम—प्राण का ब्रह्मरंध्र में प्रवेश—समुद्र, मेघ, भेरी, झर्झरी

मध्य में—प्राण का सुषुम्णा में प्रवेश—मर्दल, शङ्ख, घण्टा, काहल

अन्त में—प्राण का सुषुम्णा में प्रवेश—किंकिणी, वंशी, वीणा, भ्रमट के समान नादोत्थान ।

---

१. सेतुबन्ध (पृ० ३२२, श्लो० १८५) २. श्रीतत्त्वचिन्तामणि (६।७)
३. चक्रकौमुदी ४. स्वच्छन्दतन्त्र

नाद तत्व
सामरस्य → शिव (प्रकाश)

प्रकाश + विमर्श

प्रकाशांश
अम्बिका वामा ज्येष्ठा रौद्री

विमर्शांश
शान्ता इच्छा ज्ञान क्रिया

प्रकाशांश और विमर्शांश का सामरस्य → वाणी

प्रकाशांश / विमर्शांश — अम्बिका शान्ता → परावाक्

प्रकाशांश / विमर्शांश — वामा इच्छाशक्ति → पश्यतीवाक्

प्रकाशांश / विमर्शांश — ज्येष्ठा ज्ञानशक्ति → मधयमावाक्

प्रकाशांश / विमर्शांश — रौद्री क्रियाशक्ति → वैखरीवाक्

परब्रह्म
शब्दब्रह्म ॐ
परावाक्
पश्यन्ती
मध्यमा
वैखरी
जगत

निःशब्द परब्रह्म
→ वैखरी
→ मधयमा
→ पश्यती
→ परा
→ शब्दब्रह्म

निःशब्द→परा→पश्यन्ती→मध्यमा→वैखरी

शिव
प्रकाशांश विमर्शांश

(१) अम्बिका और (१) शान्ता का सामरस्य → 'परावाक्'
(२) वामा और (२) इच्छाशक्ति का सामरस्य → 'पश्यन्तीवाक्'
(३) ज्येष्ठा और (३) ज्ञानशक्ति का सामरस्य → 'मध्यमावाक्'
(४) रौद्री और (४) क्रियाशक्ति का सामरस्य → 'बैखरीवाक्'

षट्चक्रमूर्त्तिः
(THE NATURE OF THE SIX PLEXUS)
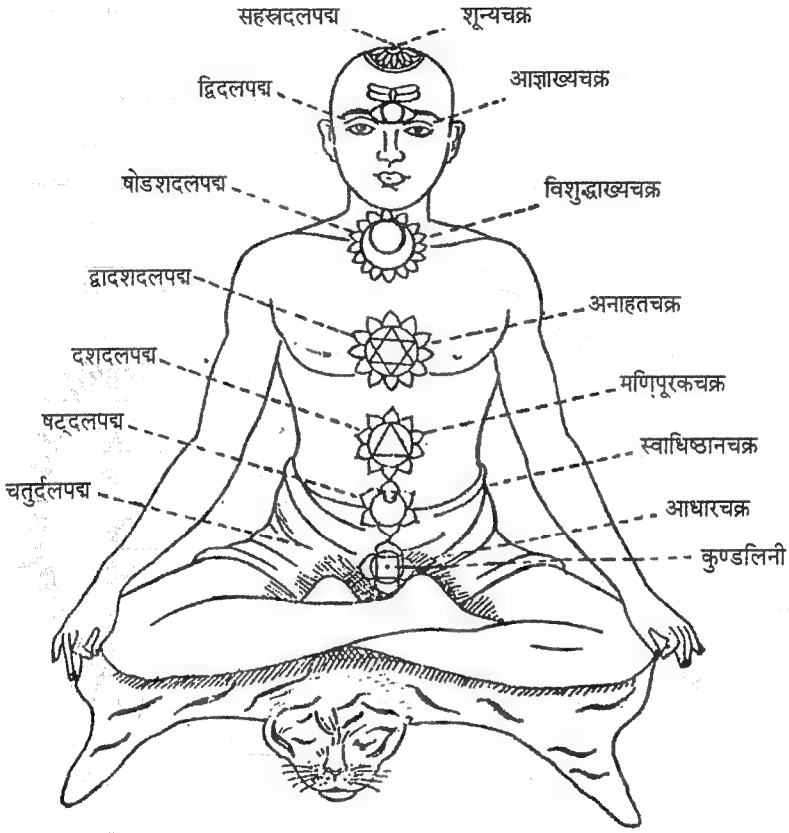
१२ **ग्रन्थियाँ : 'ग्रन्थीन् द्वादश'**—माया, पाशव, ब्रह्म, विष्णु रुद्र, ईश्वर, सदाशिव, इन्धिका, दीपिका, **बैन्दव**, नाद, शक्ति—(ये पाश भी हैं।)—(नेत्रतन्त्र)

"मूलाधारादिचक्रषट्कस्याप्यध ऊर्ध्व चैकैको ग्रन्थिरिति द्वादश ग्रन्थयः । तद्भेदनमार्गेणैव सुषुम्णानाड़ी मूलाधाराद् ब्रह्मरन्ध्र व्यापनोति । तेनैव मार्गेण नादस्यवर्ण पंक्तेश्च नाडीसंयुक्तत्वेन भावनयोच्चारणं नाड़ी विषुवमित्यर्थः ।।" (भास्कराचार्य—'प्रकाश') ।।

'ब्रह्मरंध्र'—सुषुम्ण के मध्य-वज्रा, वज्रा के मध्य चित्रिणी, चित्रिणी के मध्य ब्रह्मनाड़ी, ब्रह्मनाड़ी का मुख द्वार 'ब्रह्मद्वार' । सहस्रार में ब्रह्मरंध्र है—महावायुं ततो ध्यायेत ब्रह्मरंधन्ततः परम् ।।

* पिण्डस्थ चक्र श्री चक्र एवं अधिष्ठात्री देवी *

चक्र	स्थान	दल	श्रीचक्र	अधिष्ठात्रीशक्ति
अकुल (अरुण सहस्रदल कमल)	सुषम्नामूल	१००० दल	त्रैलोक्यमोहन चक्र	त्रिपुरा
मूलाधार चक्र	वह्निआधार	चतुर्दल ४ दल	सर्वाशा परिपूरक चक्र	त्रिपुरेशी
स्वाधिष्ठान चक्र	शक्ति	छ दल	सर्वसंक्षोभण चक्र	त्रिपुरसुन्दरी
मणिपूरक चक्र	नाभि	१० दल	सर्वसौभाग्य दायक	त्रिपुर वासिनी
अनाहत चक्र	हृदय	१२ दल	सर्वार्थसाधकचक्र	त्रिपुराश्री
विशुद्ध चक्र	—	१६ दल	सर्वरसाकरचक्र	त्रिपुरमालिनी
—	लम्बिकाग्र	८ दल	सर्वरोगहरचक्र	त्रिपुरासिद्धि
आज्ञा चक्र	भ्रूमध्य	२ दल	सर्वसिद्धिप्रदचक्र	त्रिपुराम्बिका
(इन्दु में ललाट के बिन्दु में स्थित चक्र		—	सर्वानन्दमय चक्र	महात्रिपुरसुन्दरी

"अकुलादिषु पूर्वोक्त स्थानेषु परिचिन्तयेत् । चक्रेश्वरी समायुक्तं नवचक्रं पुरोदितम् ॥"[१]

'सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद' के तृतीयखण्ड में (१) आधारचक्र (२) स्वाधिष्ठानचक्र (३) नाभिचक्र (४) हृदयचक्र (५) कण्ठचक्र (६) तालुचक्र (७) भ्रूचक्र (८) ब्रह्मरंध्रचक्र (९) आकाशचक्र—९ चक्र बताए गए हैं ।

आधार-स्वाधिष्ठान-मणिपूर-अनाहत-विशुद्धि-आज्ञाचक्र से 'श्रीचक्र' युक्त है—'आधार स्वाधिष्ठान मणिपूरानाहतविशुद्ध्याज्ञाचक्रात्मकं श्रीचक्रं त्रिखण्डं सामसूर्य नलात्मकम् ॥' 'श्रीचक्र' त्रिखण्डात्मक है—(क) 'सोमखण्ड' (ख) 'सूर्यखण्ड' (ग) 'अनलखण्ड'

(१) प्रथमखण्ड — मूलाधार-स्वाधिष्ठान : २ चक्र ।
(२) द्वितीयखण्ड — मणिपुर-अनाहत : २ चक्र ।
(३) तृतीयखण्ड — विशुद्धि-आज्ञा : २ चक्र ।

१. योगीअमृतानन्द—योगिनीहृदयदीपिका

प्रथमखण्ड के ऊपर — अग्निस्थान : 'रुद्रग्रन्थि'
द्वितीयखण्ड के ऊपर — सूर्यस्थान : 'विष्णुग्रन्थि'
तृतीयखण्ड के ऊपर — चन्द्रस्थान : 'ब्रह्मग्रन्थि'

प्रथम खण्ड के ऊपर—वह्नि अपनी ज्वालाओं से प्रथम खण्ड को ढके हुए हैं ।

द्वितीय खण्ड के ऊपर—स्थित सूर्य—अपनी किरणों से द्वितीय खण्ड को ढके हुए है ।[1]

तृतीय खण्ड के ऊपर—स्थित चन्द्रमा अपनी कलाओं से तृतीय खण्ड को ढके हुए है ।

परा वाक या शब्द ब्रह्म की विभिन्न रूपा— म— अभिव्यक्ति

अव्यक्त नाद

घोष, राव, स्वन, शब्द, स्फोट, ध्वनि, झणर, ध्वंकृति

चिणि नाद, चिणि चिणि, घण्टा नाद, शंख नाद, तन्त्री नाद, ताल नाद, वेणु नाद, भेरी नाद, मृदंग नाद
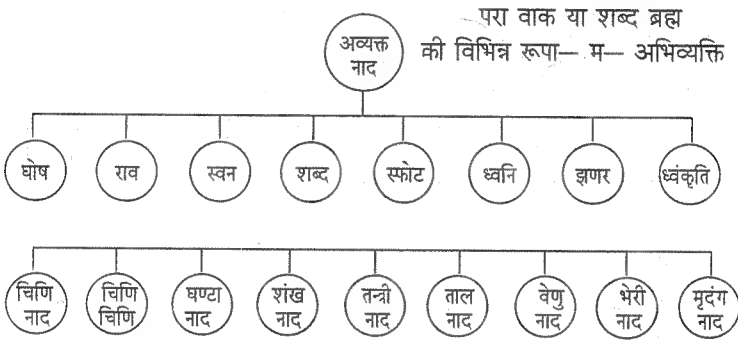
स्वात्माराम मुनीन्द्र के मतानुसार नादों के अनेक स्तर हैं और उनमें स्तरानुकूल सूक्ष्मता की कोटि बढ़ती जाती है । इसीलिए स्वात्माराम कहते हैं—'तत्र सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत् ।।' (हठयोग प्रदीपिका) ।।

प्राथमिक अवस्था में श्रूयमाण नाद—जलधि-जीमूत-भेरी-झर्झर । मध्यमावस्था में श्रूयमाण नाद—मर्दल, शङ्ख, घण्टा काहल । अन्तिमावस्था में श्रूयमाण नाद—किंकिणी, वंश, वीणा, भ्रमरनिःस्वनः

"आदौ जलधि भीमूत भेरी झर्झर संभवाः । मध्ये मर्दल शङ्खोत्था घण्टाकाहलास्तथा । अन्ते तु किंकिणीवंशवीणा भ्रमरनिःस्वनाः । इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते देहमध्यगाः ।।"

योग की आरंभावस्था—ब्रह्मग्रन्थि का भेदन—हृदयाकाशरूप शून्य में 'क्वणक' (आभूषणों की ध्वनि) की अनाहत ध्वनि ।।

योग की घटावस्था—विष्णु ग्रन्थि का भेदन—अतिशून्य रूप कण्ठाकाश में विमर्द एवं भेरी की ध्वनि ।।

---

१. स्वच्छन्दतन्त्र

योग की निष्पत्ति अवस्था—वेणु के समान ध्वनि ॥[१]

"झिञ्झी नाद-वंशीनाद-मेघ, झर्झर, भ्रमरी, घण्टा, कांस्य नाद—तुरी, भेरी, मृदङ्ग, आनक, दुंदुभी नाद[२]

'प्रथमं झिञ्झीनादं च वंशीनादं ततः परम् । मेघझर्झरभ्रमरीघंटाकांस्यं ततः परम् । तुरीभेरीमृदङ्गादिनिनादानकदुंदुभिः ॥" एवं नानाविधं नादं जायते नित्यमभ्यसात् ॥"

'आधारोत्थित नादस्य'—मूलाधार चक्र से निःसृत नाद का ॥ यहाँ 'नाद' का क्या अर्थ है? भास्कराचार्य का कथन है कि 'नाद' ९ हैं और उनका स्वरूप निम्नांकित है—

बिन्दु	अर्द्धचन्द्र	रोधिनी	नाद	नादान्त	शक्ति	व्यापिका	समना	उन्मना

"बिन्द्वादीनां नवानां तु समष्टिर्नाद उच्यते"[१]

नादबिन्दु—तन्त्रशास्त्र में 'नाद-बिन्दु' शब्द अहं + इदं के अर्थों में भी गृहीत है ।[३] कुछ तन्त्रों में 'नाद'—सृष्टि-विधायिनी विराट शक्ति कहा गया है ।[४] कुछ तांत्रिकों के अनुसार—सच्चिदानन्द विभव सकल परमेश्वर से 'शक्ति' एवं उससे नाद—बिन्दु का आविर्भाव हुआ । कुछ तांत्रिकों (भेदवादी तांत्रिकों) के मतानुसार—दो तत्त्व हैं (क) शिव (ख) शक्ति । 'शिव' विमर्श शक्ति में प्रवेश करता है और बाद में बिन्दु का रूप धारण कर लेता है । बिन्दु का प्रथम विकास ही 'नाद' है ।[५] कुछ भेदवादी तांत्रिक शिवशक्ति को समवाय रूप से परिव्याप्त एक तत्त्व मानते हैं एवं बिन्दु को दूसरा तत्त्व मानते हैं ।[६] बौद्ध तन्त्रों में = 'बिन्दु' = अपरिवर्तनीय ज्ञान का प्रतीक है ।[७] उनसे 'बिन्दु' = हठयौगिक ज्योति के अर्थ में भी प्रयुक्त किया गया है ।[८] शैवतन्त्रों में 'नाद-बिन्दु' = शिव-शक्ति के प्रतीक भी माने गए हैं ।[९] बौद्धतन्त्रों में नाद-बिन्दु = प्रज्ञा + उपाय के प्रतीक माने गए हैं ।

---

१. हठयोगप्रदीपिका (प्राण के ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचने पर वेणु की ध्वनि श्रुतिगोचर होती है ।)

२. घेरण्ड संहिता

३. सर्पेण्ट पावर—जान वुॅडरफ

४. तन्त्राज़—देयर फिलासफी एण्ड आकल्ट सीक्रेट्स

५. कलेक्टेड वर्क्स आफ आर०जी०भण्डारकर

६. गोपीनाथ कविराज—'तान्त्रिक दृष्टि' : 'साधनांक'

७-८. इन्ट्रोडक्शन टू तान्त्रिक बुद्धिज़्म

९. प्रिंसिपल्स आफ तन्त्र—आर्थर ऍवेलान

तन्त्रों एवं हठयौगिक ग्रन्थों में—'बिन्दु' शब्द के अर्थ में—रसना, सूर्य, रवि, प्राण, शमन, काली, यमुना, रज, पुरुष, नाद, व्यञ्जन शब्दों का, 'नाद' शब्द के अर्थ में—ललना, चन्द्रा, शशि, अपानु, धमन, अली, गङ्गा, शुक्रा, तमस्, अभाव, प्रकृति, ग्राहक एवं स्वर शब्दों का प्रयोग मिलता है ।[१]

'ध्यानबिन्दूपनिषद' आदि में—'हठयोग प्रदीपिका' में नाद बिन्दु का प्रयोग—'नाद' = परब्रह्म + अनाहत नाद ॥ 'बिन्दु' = जीवात्मा + वीर्य ॥ (४।७२;४।१०५)

तन्त्र मन्त्र के अनुसार शिव-शक्ति का प्रथम विकास 'नाद' के रूप में मिलता है ।[२] शिव-शक्ति का संयोग एवं उन दोनों का पारस्परिक संबंध नाद है ।[३] 'नाद' क्रिया रूप है । तात्विक क्षेत्र का सदाख्य तत्त्व ही मन्त्र क्षेत्र में—'नाद' है ।[४] अतंरात्मा 'नाद' के रूप में प्रस्फुटित होती है वही जीवों में प्राणवायु से पैंरित होकर अक्षरों का रूप धारण कर लेती है ।[५]

प्रशान्तविषुवमाह—

रेफे कामकलार्णे हार्दकलायां च बिन्द्वादौ ।
नादान्तावधि नादः सूक्ष्मतरो जायते तत्र ॥ ४७ ॥
शक्तेर्मध्ये तल्लयचिन्तनमुदितं प्रशान्तविषुवाख्यम् ।

(प्रशान्तविषुव' का स्वरूप)

रेफ में कामकला (ई) एवं बिन्द्वारब्ध तथा ह्रीं के नादान्त में समाप्त (अवयवों में) एक सूक्ष्मतर 'नाद' उत्पन्न होता है । वहाँ इस सूक्ष्मनाद की शक्ति में लय होने के चिन्तन का नाम 'प्रशान्तविषुव' है ॥ ४७, ४७- ॥

*** प्रकाश ***

तृतीयकूटस्थरेफादिषु सप्तसु स्थानेष्वाधारादारब्धस्य नादस्य तत्र सूक्ष्मतरतादशा, अभिघातादुत्तरोत्तरक्षणेषु कांस्यतालध्वनिवत् । तस्य शक्तौ लयो भाव्य इत्यर्थः ॥ ४७, ४७- ॥

*** सरोजिनी ***

'प्रशान्त विषुव'—नादान्त पर्यन्त मन्त्रावयवों की शक्ति से लय भावना 'प्रशान्तविषुव' है ।[६]

---

१. इन्ट्रोडक्शन टू तान्त्रिक बुद्धिज्म़
२. तन्त्राज़—देयर फिलासफी एण्ड आकल्ट सीक्रेट्स
३. भास्कराचार्य—'वरिवस्यारहस्यम्'
४. गारलैण्ड्स आफ लेटर्स—आर्थर एवेलॉन
५. प्रयोगसार
६. योगिनीहृदय

तृतीयकूट में स्थित रेफ आदि वर्णों में, सात स्थानों में, मूलाधार चक्र से प्रारंभ होने वाले नाद की सूक्ष्मतर दशा है । रेफ एवं कामकला (ई) एवं बिन्दु से आरंभ करके ह्रीं के नादान्त तक एक सूक्ष्मतर नाद उत्पन्न होता है । इस सूक्ष्मनाद का शक्ति के साथ विलय 'प्रशान्तविषुव' कहा जाता है ।

रेफ (र), कामकला (ई) एवं बिन्द्वारब्ध एवं हार्धकला के नादान्त में पर्यवसित बिन्दु के उच्चारण से एक अत्यन्त सूक्ष्म नाद उत्पन्न होता है ।

'योगिनीहृदय' में 'प्रशान्तविषुव' का स्वरूप इस प्रकार निरूपित किया गया है—'नादयोग: प्रशान्तं तु प्रशान्तेन्द्रियगो चरम् । वह्निं मायां कलां चैव चेतनामर्धचन्द्रकम् । रोधिनी नादनादान्तान् शक्तौ लीनान् विभावयेत् ॥'[१]

'शैवतन्त्र' में भी इसकी परिभाषा इसी प्रकार दी गई है—

अकारोकारवर्णौ च मकारो बिन्दुरेव च ।
नादनादान्त संज्ञे तु त्यक्त्वा ब्रह्मादिभि: क्रमात् ।
सप्तमे शक्तिमध्ये तु शिष्यात्मानं विचिन्तयेत् ॥
प्रशान्तं तद्विजानीयात् प्रशान्तेन्द्रियगोचरम् ॥[२]

'शक्ति' के मध्य सञ्चरित नाद 'समना' तक सञ्चार करता है—'शक्तिमध्यगतो नाद: समनान्तं प्रसर्पति ।'

भास्कराचार्य प्रशान्तविषुव की परिभाषा देते हुए कहते हैं—'नादयोगो नाड़ी सम्बद्धो नादो यस्मात् कारणाच्छक्तौ प्रशान्तो लीनो भवति तत्तस्मात् करणादिदं—'प्रशान्तविषुवमित्युचते ॥[३] अमृतानन्दनाथ कहते हैं—अर्धचन्द्र-निरोधिनी-नाद-नादान्तांश्चा पूर्वोक्तलक्षणायांशक्तौ लीनान् विभावयेत् । यतोऽयं नादो यष्टुस्तदीतशक्ति-लयलक्षण:, अत: प्रशान्तेन्द्रियगोचरं सकलेन्द्रियातीत विषये, तत्प्रशान्ते विषुव-मित्यनुषङ्ग: ॥'[४] 'प्रशान्तविषुवं प्रशान्तेद्रियाणां नियमितेन्द्रियाणां गोचरो विषय:' ॥

अन्य सम्प्रदायों से तुलनीय नाद-प्रपञ्चीकरण आगे पृ० २०१ पर चित्रित है ।

शक्तिविषुवमाह—

शक्त्यन्तर्गतनादं समनायां भावयेल्लीनम् ॥ ४८ ॥
समनागतमुन्मन्यामेत द्वे शक्तिकालविषुवाख्ये ।

('शक्तिविषुव' एवं 'कालविषुव' का स्वस्वरूप)

शक्ति के अन्तर्गत स्थित नाद की समना में लय होने की भावना करनी चाहिए । समना एवं उन्मनी में लयीभूत नाद की इन दोनों अवस्थाओं की क्रमश: 'शक्तिविषुव' एवं 'कालविषुव' संज्ञा है ॥ ४८, ४८- ॥

---

१. शैवतन्त्र २. सेतुबन्ध (श्लो० १८५)
३. अमृतानन्दनाथ—'योगिनीहृदयदीपिका' ४. सेतुबन्ध

विस्तार और व्यापकता की दृष्टि से शब्द-स्तर (नाद-स्तर)

जीव और मन का शब्द
वैराट पुरुष का शब्द
माया और ब्रह्म शब्द
ब्रह्म शब्द
पारब्रह्म का शब्द
सोहं पुरुष का शब्द
सत्त पुरुष का शब्द
अननुमेय, अत्यन्त गुप्तशब्द

सृष्ट्युन्मुखीशब्द धारा—

(केन्द्र से बाहर की ओर प्रवाहित)

बन्धन क्रम

भीतर से बाहर की ओर प्रवाहित
→ → → → →
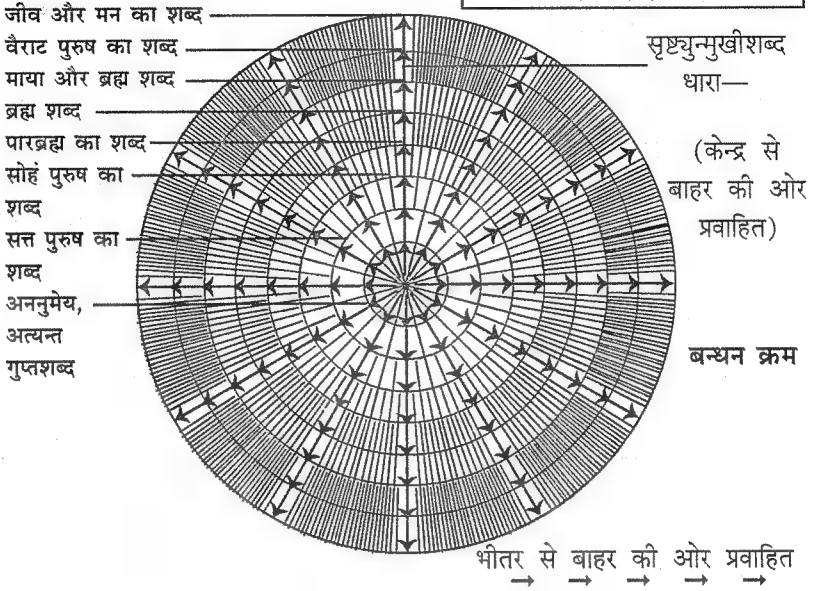
सूक्ष्मता और अन्तर्मुखता की दृष्टि से शब्द-स्तर (नाद-स्तर)

जीव और मन का शब्द
वैराट पुरुष का शब्द
माया और ब्रह्म शब्द
ब्रह्म शब्द
पारब्रह्म का शब्द
सोहं पुरुष का शब्द
सत्त पुरुष का शब्द
अननुमेय, अत्यन्त गुप्तशब्द

प्रलयोन्मुखीशब्द धारा—

(केन्द्र की ओर प्रवाहित)

मुक्ति-क्रम

बाहर से भीतर की ओर प्रवाहित
← ← ← ← ←
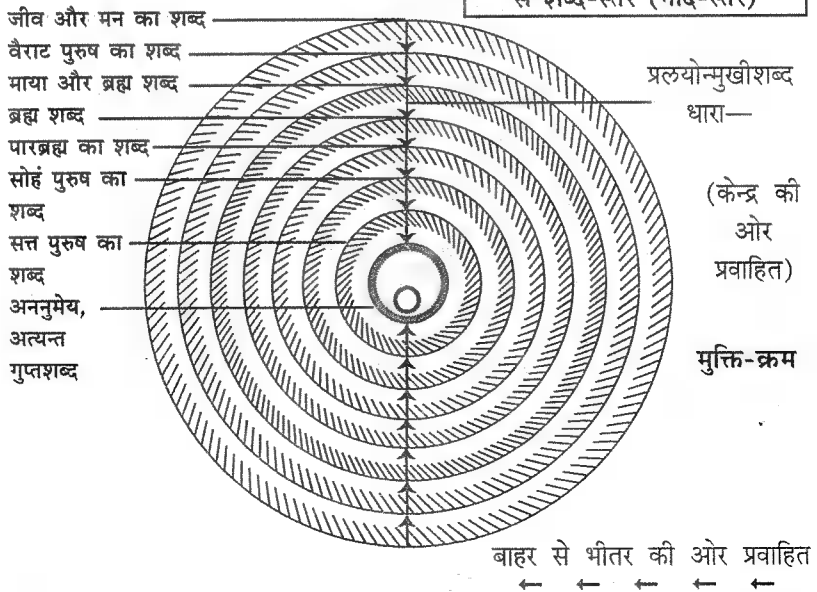
*** प्रकाश ***

शक्तिस्थानादूर्ध्वं पुनरुज्जीवितस्य नादस्य सूक्ष्मतमस्य व्यापिकामुल्लङ्घ्य समनायां लयः शक्तिविषुवमित्यर्थः ॥ ४८ ॥

*** सरोजिनी ***

शक्तिविषुव काल विषुव—प्राण, आत्मा एवं मन के परस्पर योग को 'प्राणविषुव' एवं नाद को अपनी निजी आत्मा समझकर भावना करना 'मन्त्रविषुव' कहलाता है । शक्तिमध्यागत नाद के समना पर्यन्त चिन्तन को 'शक्तिविषुव' कहते हैं । शक्ति में नादान्त पर्यन्त मन्त्रावयवों की लय भावना 'प्रशान्तविषुव' है । कालातीत उन्मनापर्यन्त नाद के चिन्तन को 'कालविषुव' कहते हैं ।

'शैवतन्त्र' में 'शक्तिविषुव' एवं 'कालविषुव' की व्याख्या करते हुए कहा गया है—'शक्तिमध्यगतो नादः समनान्तं प्रसर्पति । तच्छक्तिविषुवं प्रोक्तमुन्मन्यां काल-संज्ञितम् ॥'[1]

आचार्य भास्कर 'शक्तिविषुव' एवं 'कालविषुव' को इस प्रकार परिभाषित करते हैं—'अथ लीयमानस्य दीपादेः सूक्ष्मीभूय पुनः स्थूलीभावदर्शनान्तदनुसारेण शक्तौ लीनस्य नादस्य पुनरुज्जीवनेन व्यापिकामुत्क्रम्य समनायां लय चिन्तनं शक्तिविषुवम् । ततः पुनरुज्जीव्योन्मन्यांलयः 'कालविषुवः' ।[2]

आचार्य अमृतानन्दनाथ 'शक्तिविषुव' एवं 'कालविषुव' को परिभाषित करते हुए कहते हैं—तदूर्ध्वं शक्तेरुर्ध्वं समनान्तं नादस्य विचिन्तनं 'शक्तिविषुवं । तदूर्ध्वं समनाया अप्यूर्ध्वम् । 'नात्र काल कलाभानम्' इति स्वच्छन्दसंग्रहोक्तरीत्या कालातीतो-न्मनान्तं नादस्य विचिन्तनं कालविषुवं ॥[3]

'योगिनीहृदय' में 'शक्तिविषुव'—'कालविषुव' की इस प्रकार परिभाषा दी गई है—

> 'विषुवंशक्तिसंज्ञं तुदूर्ध्वं नाद चिन्तनम् ।
> तदूर्ध्वं कालविषुवमुन्मनान्तं महेश्वरि ॥'[4]

शक्ति के मध्यगत नाद से समनापर्यन्त चिन्तन को 'शक्ति विषुव' कहते हैं । यहाँ तक काल की क्रीड़ा है क्योंकि समना तक ही काल की सीमा है उसके आगे 'उन्मना' में नहीं ।

कालविषुव के बाद 'तत्त्वविषुव' अङ्गीकृत होता है । नाद ही तत्त्व का अभिव्यञ्जक है । लेकिन जब तक नाद का वास्तविक अन्त नहीं होता तब तक तत्त्व बोध नहीं होता । नादान्त तो दूर की बात शक्ति में या समना में भी नाद का अन्त नहीं होता । शाक्त योगी उन्मना को भी नाद का अन्त स्वीकार नहीं

---

१. शैवतन्त्र
२. भास्कराचार्य—सेतुबन्ध श्लो० १८७
३. अमृतानन्दनाथ—'योगिनीहृदयदीपिका'
४. योगिनीहृदय

करते । उन्मना के ऊपर—उन्मना को भेद करने के साथ-साथ नाद लीन होता है। उस स्थिति में तत्त्वबोध या आत्मसाक्षात्कार स्वभावत: होता है । अत: 'तत्त्वविषुव' को ही चैतन्य का अभिव्यक्ति स्थान कहना सङ्गत है । ६ शून्यों, ५ अवस्थाओं एवं ६ विषुवों से परे है—विश्व की परम विश्रान्ति या परम शिव की अवस्था । उन्मना तक सभी मन्त्रावयव १०८१७ बार उच्चरित होने से नाद का अन्त एवं तत्त्वज्ञान का उदय होकर परमपद की प्राप्ति होती है ।

समनोर्ध्वं पुनरुज्जीवितसयात्यन्तं सूक्ष्मतमस्य नादस्योन्मन्यां लयः कालत्रिषुवमित्याह—

समनागतमुन्मन्यामेते द्वे शक्तिकालविषुवाख्ये ।
श्रीविद्याकूटावयवेषु ककारादिषून्मनान्तेषु ॥ ४९ ॥

अकुलादिकोन्मनान्तप्रदेशसंस्थेषु सकलेषु ।
अध्युष्टनिमेषोत्तरसप्तदशाधिकशतत्रयत्रुटिभिः ॥ ५० ॥

उच्चरिते नादे सति तस्यान्ते तत्त्ववेदनं भवति ।
तदिदं चैतन्याभिव्यक्तिनिदानं तु तत्त्वविषुवाख्यम् ॥ ५१ ॥

('तत्त्वविषुव' का स्वरूप)

समना एवं उन्मनी में लयीभूत नाद की इन दोनों अवस्थाओं की आख्या क्रमशः 'शक्तिविषुव' एवं 'कालविषुव' है । ककार से लेकर उन्मना तक एवं अकुल से लेकर उन्मना तक प्रदेशों में विद्यमान श्रीविद्याकूटों के भागों (अङ्गों) को व्याप्त करके समस्त ३१७ त्रुटियों एवं साढ़े तीन निमेषों को व्याप्त करता हुआ नाद तत्त्वज्ञान का कारण होता है । वह यह शुद्ध चैतन्य की अभिव्यक्ति का मूल हेतु 'तत्त्वविषुव' नाम वाला है ॥ ४९-५१ ॥

*** प्रकाश ***

उक्तेषु द्वात्रिंशत्पद्मष्वधस्तनद्वयं चरमं चाकुलपद्मानि । शेषाणि कुलपद्मानि । तेषु यद्यपि मूलाधाराख्यात् कुलपद्मादेव विद्याक्षराणामारम्भः, तथापि चक्रराजस्य सकलाख्यभावनाया अधस्तनसहस्रदलकमलमारभ्यैव 'अकुले विषुसंज्ञे च' इत्यादिना चतुःशत्यामुक्तत्वात् कुलाकुलविद्ययोरभेदेन श्रीविद्याया अपि तत आरम्भोक्तिस्तन्त्रेषु । अध्युष्टं सार्धत्रयम् । निमेषो लोचनस्पन्दकालः । तस्य त्रिसहस्रतमो ऽशस्त्रुटिः,

'स्वस्थे नरे समासीने यावत् स्पन्दति लोचनम् ।
तस्य त्रिंशत्तमो भागस्तत्परः परिकीर्तितः ।
तत्परस्य शतांशस्तु त्रुटिरित्यभिधीयते ॥'

इति वचनात् । एवं च (१०८१७) अयुतोत्तराष्टशतोत्तरसप्तदशत्रुटिपर्यन्तं विद्यावयवस्थानसंलग्नतापूर्वकं नादोच्चारणे कृते सति, तत्त्वस्य स्वसंविदभेदस्य बोधो भवति । तदिदमुच्चारणं तत्त्वविषुवम् ॥ -४९-५१ ॥

* सरोजिनी *

'योगिनीहृदय' में 'तत्त्वविषुव' इस प्रकार व्याख्या है—'मुनिचन्द्राष्टदशभिस्त्रुटितभिर्नादवेदनम् । चैतन्यव्यक्तिहेतुश्च विषुवं तत्त्वसंज्ञितम् ॥ १८८ ॥ परं स्थानं महादेवि निसर्गानन्दसुन्दरम् ॥'[१]

आचार्य अमृतानन्द 'तत्त्वविषुव' की व्याख्या करते हुए कहते हैं—अनन्तरोक्तरीत्या चैतन्यस्य स्वात्मतत्त्वस्य व्यक्तेः प्रकाशस्य हेतुस्तत्त्वविषुवम् ।[२] कोऽर्थः । उन्मनोर्ध्वेऽनन्तरोक्तसंख्यावत्त्रुटिभिर्नादलयात् स्वात्मामनुसन्धानं तत्त्वविषुवम् ॥[३]

'शैवतन्त्र' में कहा गया है—'स्वाधिकारे परे धाम्निविषुवं तत्त्वसंज्ञकम् ॥'[४]

आचार्य भास्कर की व्याख्यानुसार 'तत्त्वविषुव' का स्वरूप इस प्रकार है—'अथायमेव नादो यद्यविच्छिन्नतया सार्धनिमेषत्रयोत्तरं सप्तदशाधिक शत त्रय त्रुटि परिमित काल पर्यन्तश्चेत्तदन्ते चैतन्याभिव्यक्तिर्भवति । तदिदं तत्त्वविषुवं तत्त्वव्याप्तिकारित्वात् ॥'[५]

कालविषुव के बाद 'तत्त्वविषुव' अङ्गीकृत होता है । नाद ही तत्त्व का अभिव्यञ्जक है । लेकिन जब तक नाद का वास्तविक अन्त नहीं होता तब तक तत्त्व बोध नहीं होता । नादान्त तो दूर की बात शक्ति में या समना में भी नाद का अन्त नहीं होता । शाक्त योगी उन्मना को भी नाद का अन्त स्वीकार नहीं करते । उन्मना के ऊपर—उन्मना को भेद करने के साथ-साथ नाद लीन होता है । उस स्थिति में तत्त्वबोध या आत्मसाक्षात्कार स्वभावतः होता है । अतः 'तत्त्वविषुव' को ही चैतन्य का अभिव्यक्ति स्थान कहना सङ्गत है । ६ शून्यों, ५ अवस्थाओं एवं ७ विषुवों से परे है—विश्व की परम् विश्रान्ति या परम् शिव की अवस्था । उन्मना तक सभी मन्त्रावयव १०८१७ बार उच्चरित होने से नाद का अन्त एवं तत्त्वज्ञान का उदय होकर परम्पद की प्राप्ति होती है ।

उपसंहारपूर्वकं जपं लक्षयति—

एवमवस्थाशून्यविषुवन्ति चक्राणि पञ्च षट् सप्त ।
नव च मनोरर्थांश्च स्मरतोऽर्णोच्चारणं तु जपः ॥ ५२ ॥

(जप का लक्षण)

(मन्त्रगत) वर्णों की अवस्थाओं (अर्थात् ५), शून्यों (अर्थात् ६) विषुवों (अर्थात् ७) एवं चक्रों (अर्थात् ९) का स्मरण रखते हुए, (जो कि संख्या में क्रमशः) पाँच, छः, सात एवं नौ हैं—एवं मन्त्र के अर्थ का चिन्तन करते हुए (मन्त्रगत) वर्णों का उच्चारण करना 'जप' (कहलाता) है ॥ ५२ ॥

---

१. योगिनीहृदय
२-३. अमृतानन्द—'दीपिका'
४. शैवतन्त्र
५. भास्कराचार्य—'सेतुबन्ध'

*** प्रकाश ***

अवस्थादिचतुष्टये संख्याचतुष्टयस्य क्रमादन्वयः । नादत्रयस्य चक्रत्रयात्मकत्व-भावनं प्रागुक्तम् । चक्रसङ्केते त्वन्यदपि त्रयमुक्तम्—चक्रभावनं त्रिविधं सकलं निष्कलं सकलनिष्कलं चेति । अकुलसहस्रारं मूलाधारादिपञ्चकं सूक्ष्मजिह्वा भ्रूमध्यं बिन्दुस्थानं चेति नवसु स्थानेषु त्रैलोक्यमोहनादिचक्रनवकभावनं सकलम्, बिन्द्वाद्युन्मन्यन्तं तद्भावनं द्वितीयम्, महाबिन्दावेव तद्भावनं तृतीयमिति । मनोर्मन्त्रस्यार्थाननुसंदधानस्य विद्याया अर्णानामक्षराणामष्टपञ्चाशतो मध्य आद्यकूटद्वितयबिन्द्वादिनवकद्वयप्रहाणेना-वशिष्टानां चत्वारिंशतोऽक्षराणामुच्चारणं जपो जपपदवाच्यमित्यर्थः ॥ ५२ ॥

*** सरोजिनी ***

'अवस्था'—अवस्थायें पाँच हैं—(१) जाग्रत (२) स्वप्न (३) सुषुप्ति (४) तुरीय, (५) तुरीयातीत । **'शून्य'**—प्रणव रूप मन्त्र के बारह अङ्गों में प्रति द्वितीय अङ्ग शून्य कहलाता है । **'विषुवन्ति'**—सात विषुव हैं । यथा—'प्राणविषुव', 'मन्त्रविषुव', 'नाड़ीविषुव', 'प्रशान्तविषुव', 'शक्तिविषुव', 'कालविषुव' एवं 'तत्त्व-विषुव' । 'चक्र' नौ हैं—(१) त्रैलोक्यमोहन (२) सर्वाशापरिपूर्ण (३) सर्वसंक्षोभण (४) सौभाग्यदायक (५) सर्वार्थसाधक (६) सर्वरक्षाकर (७) सर्वरोगहर (८) सर्वसिद्धिप्रद (९) सर्वानन्दमय चक्र ॥

'चक्राणि' = १. 'सकल' २. 'निष्कल' ३. 'सकलनिष्कल' ॥ अकुल सहस्रार, मूलाधारादिपञ्चक, सूक्ष्मजिह्वा, भ्रूमध्य बिन्दु स्थान—नौ स्थानों में—त्रैलोक्यमोहनादि चक्र नवक भावन तो 'सकल' हैं । बिन्द्वादि उन्मन्यन्त चक्रों में उनका भावन 'निष्कल' है । महाबिन्दु में उनका भावन 'सकलनिष्कल' है । मन्त्रार्थानुसंधानपूर्वक 'वर्णों' (अक्षरों), का उच्चारण 'जप' कहलाता है किन्तु उसके साथ अवस्था, शून्य, विषुव एवं चक्रों का भी ध्यान रखना, आवश्यक होता है ।

'अर्थांश्च'—मन्त्रार्थ के प्रकार पन्द्रह हैं—(१) प्रतिपाद्यार्थ (२) भावार्थ (३) संप्रदायार्थ (४) निगर्भार्थ (५) कौलिकार्थ (६) रहस्यार्थ (७) महातत्वार्थ (८) नामार्थ (९) शब्दरूपार्थ (१०) नामैकदेशार्थ (११) शाक्तार्थ (१२) सामरस्यार्थ (१३) समस्तार्थ (१४) सगुणार्थ (१५) महावाक्यार्थ ॥

'जप'—'योगिनीहृदय' में भी जप-विधान है—'पुष्पाञ्जलिं ततः कृत्वा जपं कुर्यात् समाहितः ॥[१] इस 'जप' का लक्षण क्या है? 'समाहितो नियतेन्द्रियो नादरूपमन्त्रोच्चारणलक्षणं जपं कुर्यात् ॥' 'मन्त्र' नादरूपात्मक है । अतः नादोत्थानपूर्वक मन्त्राक्षरों का उच्चारण ही 'जप' है ।[२]

'योगिनीहृदय' में जप-विधान में भी शून्यषट्क, अवस्थापञ्चक एवं विषुव सप्तक के योग को महत्व दिया गया है—

---

१. योगिनीहृदय   २. अमृतानन्द—'दीपिका'

॥ श्रीः ॥

अथ श्रीक्रमः

ब्राह्ममुहूर्तकृत्यम्

मन्त्रमहार्णवश्रीविद्यार्णवनित्योत्सवादिषु प्रतिपादितम् ।

ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय निद्रास्थानाद्बहिर्निर्गत्य हस्तौ पादौ मुखं च प्रक्षाल्याचम्य रात्रिवस्त्रं परित्यज्य शुद्धवस्त्रं परिधाय शुद्धासन उपविश्याज्ञाचक्रे कोटीन्दुप्रकाशे स्वगुरुं ध्यायेत्—

ओं आनन्दमानन्दकरं प्रसन्नं ज्ञानस्वरूपं निजबोधरूपम् ।
योगीन्द्रमीड्यं भवरोगवैद्यं श्रीमद्गुरुं नित्यमहं भजामि ॥

'ऐं ह्रीं श्रीं ह्स्ख्फ्रें हसक्षमलवरयूं स ह क्ष म ल व र यीं ह्सौः स्हौ स्वरूपनिरूपणहेत्वमुकाम्बासहितश्रीगुरुपादुकां पूजयामि'

'स्वच्छप्रकाशविमर्शहेत्वमुकाम्बासहितश्रीपरमगुरुपादुकां पूजयामि'

'स्वात्मारामपञ्जरविलीनचेतस्कामुकाम्बासहित श्रीपरमेष्ठिगुरुपादुकां पूजयामि' इति गुरुपरमगुरुपरमेष्ठिगुरुपादुकां पूजयेत् ।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुस्साक्षात्परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

प्राणानायम्य तच्चरणयुगलविगलदमृतरस-विसरपरिप्लुताखिलाङ्गमात्मानं भावयेत् ।

ततश्च सर्वचैतन्यात्मिकां जाग्रदाद्यवस्थात्रयावभासिकां सर्वाधिष्ठानरूपां प्रत्यक्चैतन्याभिन्नब्रह्मात्मिकां सर्वचैत्यविवर्जितामखण्डां चितिं भावयेत् ।

आमूलाधारादा ब्रह्मबिलं विलसन्तीं तडिल्लतासदृशाकृतिं तरुणारुणपिञ्जरां तैजसीं ज्वलन्तीं कुण्डलिरूपां सर्वाधिष्ठानभूतां परां संविदं भावयेत् ।

नियमितपवनस्पन्दो मूलाधारे चतुर्दलपद्मे त्रिकोणात्मकं पीठस्थितज्योतिर्लिङ्गमावेष्ट्यावस्थितां सार्धत्रिवलयां ओं हूं बीजेनोत्थिताम् 'ऐं ह्रीं श्रीं' इति मन्त्रं च जपन् कुण्डलिनीं ध्यायेत् ।

कुण्डलिनीमन्त्रः

वाग्भवं भुवनेशी च श्री बीजन्तु तथैव च ।
त्र्यक्षरो मन्त्र आख्यातः कुण्डलिन्यास्सुसिद्धिदः ।।१।।

ऋषिश्शक्तिस्समाख्यातो गायत्रीच्छन्द ईरितम् ।
चेतना कुण्डली शक्तिर्देवतात्र समीरिता ।।२।।

वाग्भवं बीजमाम्नातं शक्तिः श्रीबीजमुच्यते ।
हृल्लेखाकीलकं प्रोक्तं कुण्डलिन्यास्तु चिन्तने ।।३।।

विनियोगस्समाख्यातः सर्वागमविशारदैः ।
बीजत्रयद्विरावृत्या षडङ्गन्यास ईरितः ।।४।।

ध्यानं वक्ष्यामि कुण्डल्यास्सावधानतया शृणु ।
मूलाधारे त्रिकोणे तु सूर्यकोटिसमत्विषि ।।५।।

प्रसुप्तभुजगाकारां सार्धत्रिवलयस्थिताम् ।
नीवारशूकवत्तन्वीं तडित्कोटिसमप्रभाम् ।।६।।

सूर्यकोटिप्रभां दीप्तां चन्द्रकोटिसुशीतलाम् ।
शिवशक्तिमयीं देवीं शंखावर्तक्रमात्स्थिताम् ।।७।।

सुषुम्नामध्यमार्गेण यान्तीं परशिवावधि ।
ह्रींकारबीजरूपेण चिन्तयेद्योगवर्त्मना ।।८।।

सिन्दूरारुणविग्रहां त्रिनयनां माणिक्यमौलिस्फुर-
त्तारानायकशेखरां स्मितमुखीमापीनवक्षोरुहाम् ।
पाणिभ्यां मणिपूर्णरत्नचषकं रक्तोत्पलं बिभ्रतीं
सौम्यां रत्नघटस्थसव्यचरणां ध्यायेत्परामम्बिकाम् ।।

कुण्डलिनीस्तुतिः

मूलोन्निद्रभुजङ्गराजसदृशीं यान्तीं सुषुम्नान्तरं
भित्वाधारसमूहमाशु विलसत्सौदामिनीसन्निभाम् ।
व्योमाम्भोजगतेन्दुमण्डलगलद्दिव्यामृतौघैः पतिं
सम्भाव्य स्वगृहागतां पुनरिमां सञ्चिन्तयेत्कुण्डलीम् ।।

हंसं नित्यमनन्तमद्वयगुणं स्वाधारतो निर्गता
शक्तिः कुण्डलिनी समस्तजननी हस्ते गृहीत्वा च तम् ।
याता शम्भुनिकेतनं परसुखं तेनानुभूय स्वयं
यान्ती स्वाश्रममर्ककोटिरुचिराध्येया जगन्मोहिनी ।।

अव्यक्तं परबिम्बमञ्चितरुचिं नीत्वा शिवस्यालयं
शक्तिः कुण्डलिनी गुणत्रयवपुर्विद्युल्लतासन्निभा ।
आनन्दामृतकन्दगं पुरमिदं चन्द्रार्ककोटिप्रभं
संवीक्ष्य स्वगृहं गता भगवती ध्येयानवद्या गुणैः ।।

मध्ये वर्त्म समीरणद्वयमिथस्सङ्घट्टसंक्षोभजं
शब्दस्तोममतीत्य तेजसि तडित्कोटिप्रभाभास्वराम् ।
उद्यन्तीं समुपास्महे नवजपासिन्दूरसान्द्रारुणां
सान्द्रानन्दसुधामयीं परशिवं प्राप्तां परां देवताम् ।।

गमनागमनेषु जाङ्घिकी सा
तनुताद्योगफलानि कुण्डली ।
मुदिता कुलकामधेनुरेषा
भजतां वाञ्छितकल्पवल्लरी ।।

आधारस्थितशक्तिबिन्दुनिलयां नीवारशूकोपमां
नित्यानन्दमयीं गलत्परसुधावर्षैः प्रबोधप्रदैः ।
सिक्त्वा षट्सरसीरुहाणि विधिवत्कोदण्डमध्योदितां
ध्यायेद्भास्वरबन्धुजीवरुचिरां संविन्मयीं देवताम् ।।

हृत्पङ्केरुह भानुबिम्बनिलयां विद्युल्लतामन्थरां
बालार्कारुणतेजसा भगवतीं निर्भर्त्सयन्तीं तमः ।
नादाख्यं परमर्धचन्द्रकुटिलं संविन्मयीं शाश्वतीं
यान्तीमक्षररूपिणीं विमलधीर्ध्यायेद्विभुं तेजसाम् ।।

भाले पूर्णनिशाकरप्रतिभटां नीहारहारत्विषा
सिञ्चन्तीममृतेन देवममितेनानन्दयन्तीं तनुम् ।
वर्णानां जननीं तदीयवपुषा संव्याप्य विश्वं स्थितां
ध्यायेत्सम्यगनाकुलेन मनसा संविन्मयीमम्बिकाम् ।।

मूले भाले हृदि च विलसद्वर्णरूपा सवित्री
पीनोत्तुङ्गस्तनभरनमन्मध्यदेशा महेशी ।
चक्रे चक्रे गलितसुधया सिक्तगात्री प्रकामं
दद्यादद्य श्रियमविकलां वाङ्मयी देवता नः ॥

आधारबन्धप्रमुखक्रियाभिः समुत्थिता कुण्डलिनी सुधाभिः ।
त्रिधामबीजं शिवमर्चयन्ती शिवाङ्गना वः शिवमातनोतु ॥

निजभवननिवासादुच्चलन्ती विलासैः
पथि पथि कमलानां चारु हासं विधाय ।
तरुणतपनकान्तिः कुण्डली देवता सा
शिवसदनसुधाभिः दीपयेदात्मतेजः ॥

सिन्दूरपुञ्जनिभमिन्दुकलावतंसमानन्दपूर्णनयनत्रयशोभिवक्त्रम् ।
आपीनतुङ्गकुचनम्रमनङ्गतन्त्रं शम्भोः कलत्रममितां श्रियमातनोतु ॥

वर्णैरर्णवषट्दिशा रविकलाचक्षुर्विभक्तैः क्रमा-
त्सान्तैरादिभिरावृतान् क्षहयुतैष्षट्चक्रमध्यानिमान् ।
डाकिन्यादिभिराश्रितान् परिचितान् ब्रह्मादिभिर्दैवतैः
भिन्दाना परदेवता त्रिजगतां चित्तेषु दत्तां मुदम् ॥

आधाराद्गुणवृत्तशोभिततनुं निर्गत्वरीं सत्वरं
भिन्दन्तीं कमलानि चिन्मयघनानन्दप्रबोधोद्धुराम् ।
संक्षुब्धध्रुवमण्डलामृतकरप्रस्यन्दमानामृत-
स्रोतःकन्दलिताममन्दतडिदाकारां शिवां भावये ॥

मूलाधारे त्रिकोणे तरुणतरणिभाभास्वरे विभ्रमन्तं
कामं बालार्ककालानलजरठकुरङ्गांककोटिप्रभाभम् ।
विद्युन्मालासहस्रद्युतिरुचिरलसद्बन्धुजीवाभिरामं
त्रैगुण्याक्रान्तबिन्दुं जगदुदयलयैकान्तहेतुं विचिन्त्य ॥

तस्योर्ध्वे विस्फुरन्तीं स्फुटरुचिरतटित्पुञ्जभाभास्वराङ्गी-
मुद्गच्छन्तीं सुषुम्नामनु सरणिशिखामा ललाटेन्दुबिम्बम् ।
चिन्मात्रां सूक्ष्मरूपां जगदुदयकरीं भावनामात्रगम्यां
मूलं या सर्वधाम्नां स्फुरति निरुपमा हूँकृतोदञ्चितोरः ॥

नीता सा शनकैरधोमुखसहस्राराराुणाब्जोदरे
च्योतत्पूर्णशशांकबिम्बमधुनः पीयूषधारास्रुतिम् ।
रक्तां मन्त्रमयीं निपीय च सुधानिःष्यन्दरूपा विशे-
द्भूयोऽप्यात्मनिकेतनं पुनरपि प्रोत्थाय पीत्वा विशेत् ।।

योऽभ्यस्यत्यनुदिनमेवमात्मनोऽन्त-
र्बीजांशं दुरितजरापमृत्युरोगान् ।
जित्वासौ स्वयमिव मूर्तिमाननङ्गः
सञ्जीवेच्चिरमातिनीलकेशजालः ।।

इति तद्रश्मिनिकरभस्मितसकलकश्मलजालो मूलं मनसा दशवारमावर्तयेत् ।

अथ षट्शताधिकैकविंशतिसाहस्रिकां निःश्वासोच्छ्वासरूपिणीं मूलाधारादिब्रह्मरन्ध्रान्तसप्तचक्रनिवासिनीभ्यो देवताभ्यो निवेदयामि, तथा——

मूलाधारे चतुर्दलपद्मे वं शं षं सं चतुरक्षरे चतुष्कोणयन्त्रे ऐरावतवाहने लं बीजे स्थिताय शुद्धबुद्धिसहिताय कुंकुमवर्णाय महागणपतये षट्सहस्रमजपागायत्रीजपं निवेदयामि,

बं भं मं यं रं लं षडक्षरे स्वाधिष्ठानचक्रे षट्दलपद्मेऽर्धचन्द्रे मकरवाहने वं बीजे स्थिताय सरस्वतीशक्तिसहिताय सिन्दूरवर्णाय ब्रह्मणे षट्सहस्रमजपाजपं निवेदयामि,

मणिपूरकचक्रे दशदलपद्मे डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं दशाक्षरे त्रिकोणयन्त्रे मेषवाहने रं बीजे स्थिताय लक्ष्मीशक्तिसहिताय नीलवर्णाय विष्णवे षट्सहस्रमजपाजपं निवेदयामि ।

अनाहतचक्रे द्वादशदलपद्मे कं खं गं घं ङं चं छं जं झं ञँ टं ठं द्वादशाक्षरे षट्कोणयन्त्रे हरिणवाहने स्थिताय पार्वतीशक्तिसहिताय हेमवर्णाय परमशिवाय षट्सहस्रमजपाजपं निवेदयामि ।

विशुद्धिचक्रे षोडशदलपद्मे अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं लृं लॄं एं ऐं ओं औं अं अः षोडशाक्षरे शून्ययन्त्रे हस्तिवाहने स्थिताय प्राणशक्तिसहिताय शुद्धस्फटिकसंकाशाय जीवाय सहस्रमेकमजपाजपं निवेदयामि,

आज्ञाचक्रे द्विदलपद्मे श्वेतवर्णे हं क्षं द्व्यक्षरे लिङ्गयन्त्रे नरवाहने स्थिताय ज्ञानशक्तिसहिताय विद्युद्वर्णाय गुरवे सहस्रमेकमजपाजपं निवेदयामि,

ब्रह्मरन्ध्रे सहस्रदलपद्मे चित्रवर्णे अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं लृं लॄं एं ऐं ओं औं अं अः कं खं गं घं ङं चं छं जं झं ञँ टं ठं डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं बं भं मं यं रं लं वं शं षं सं हं लं क्षं इति विंशतिवारोच्चारिते सहस्राक्षरे विसर्गयन्त्रे बिन्दुवाहने पूर्णचन्द्रमण्डले आनन्दमहासमुद्र-मध्ये चिन्मयमणिद्वीपे चित्सारचिन्तामणिमयमन्दिरे कल्पवृक्षाधस्तले अव्याकृतब्रह्ममहासिंहासने स्थिताय नानावर्णाय वर्णातीताय चिच्छक्ति-सहिताय परमात्मने सहस्रमेकमजपाजपं निवेदयामि इति निवेदयेत्।

अथ कतिचित् क्षणान् हंसः सोऽहमिति श्वासोच्छ्वासेषु भावयेत्।

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।
हंसोऽतिपरमं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा।।

इति ध्यात्वा मानसैरुपचारैस्सर्वान् देवान् पूजयेत्।

लं पृथिव्यात्मकं गन्धं समर्पयामि (कनिष्ठिकांगुष्ठाभ्याम्)।

हं आकाशात्मकं पुष्पं -(अंगुष्ठतर्जनीभ्याम्)।

यं वाय्वात्मकं धूपमाघ्रापयामि (तर्जन्यंगुष्ठाभ्याम्)।

रं वन्ह्यात्मकं दीपं दर्शयामि (अंगुष्ठमध्यमाभ्याम्)।

वं अमृतात्मकं नैवेद्यं निवेदयामि (अंगुष्ठानामिकाभ्याम्)।

सं सर्वात्मकं ताम्बूलादिसर्वोपचारान् समर्पयामि। (साङ्गुष्ठा-भिस्सर्वाभिः)।

आमूलाधारादाब्रह्मबिलं विलसन्त्यां बिसतन्तुतनीयस्यां विद्युत्पुं-जपिंजरायां विवस्वदयुतप्रकाशायां कुण्डलिन्यामेव निम्नांकितेषु चक्रेषु श्रीचक्रस्थितां देवतां भावयन् पूजयेत्।

तद्यथा——मूलाधारादधोगते अकुलसहस्रारे देहश्रीचक्रयोरभेदेन भूपुरस्थिताः अणिमादिदेवीः पूजयामि। तदुपरि स्थिते विषुवन्नाम्नि रक्तवर्णषड्दलषोडशदलगतकामाकर्षिण्यादिदेवीः पूजयामि।

मूलाधारे चतुर्दलेऽष्टदलगतानङ्गकुसुमादि देवीःपूजयामि।

स्वाधिष्ठाने षट्दले चतुर्दशारगतसर्वसंक्षोभिण्यादिदेवीः पूजयामि ।

मणिपूरे दशदले बहिर्दशारगतसर्वसिद्धिप्रदादिदेवीः पूजयामि ।

अनाहते द्वादशदलेऽन्तर्दशारगतसर्वज्ञादिदेवीः पूजयामि ।

विशुद्धे षोडशदलेऽष्टारगतवशिन्यादिदेवीः पूजयामि ।

लम्बिकाग्रे रेखात्रये त्रिकोणगतमहाकामेश्वर्यादिदेवीश्च पूजयामि ।

आज्ञायां द्विदले बिन्दुगतश्रीत्रिपुरामहात्रिपुरसुन्दरीं कामेश्वरांकनिलयां देवीं पूजयामि इति ।

श्रीमहात्रिपुरसुन्दर्यां सचक्रावयवान्यावरणानि विलीनानि विभाव्य मध्यत्र्यश्राग्रे स्थितजीवात्मना सहितां देवीं हृदयं नीत्वा स्वाञ्जलिगतकुसुमैस्तां सम्पूज्य ततोऽकुलेन्दुगलितामृतधारारूपिणीः चन्दनकुसुमधूपदीपनैवेद्यशालिकरकमलाःपीतासितश्यामरक्तशुक्लवर्णाः भूवियदनिलानलजललक्षणाः पञ्चभूतमयीः सर्वावयवसुन्दरीः पञ्च देवता देव्यग्रे संस्मृत्य ताभिः चन्दनधूपाद्युपचारान् देव्यै समर्पितान् स्मारंस्मारं पञ्चोपचारमुद्राश्च प्रदर्शिता भावयेत् ।

ततो देव्या नासायां गन्धदेवता, श्रोत्रे पुष्पदेवता, नाभौ धूपदेवता, नयने दीपदेवता, जिह्वायां नैवेद्यदेवता इति क्रमेण ता विलीना विभाव्य मूलविद्यामुच्चरन् जीवात्मानं देवीपादमूले लीनं विभाव्य हृदयगतदेवीरूपं मध्यत्र्यस्रसहितं तथैव केवलं ज्योतिर्मयतामापन्नं ध्यायन् संक्षोभिण्यादिमुद्रा भावयित्वा क्षणं न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ।

रश्मिमालामन्त्राः

ततो रश्मिमालाप्रवर्तनम् । रश्मिमालामन्त्रेषु वैदिकान्मन्त्रान् सस्वरान् पठेत् ।

'ओं भूर्भुवस्स्वः, तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि, धियो यो नः प्रचोदयात्' इति गायत्री मूलाधारे ॥१॥

(सावित्र्या विश्वामित्र ऋषिः नृचिद्गायत्रीच्छन्दः सविता देवता, तत्प्रीत्यर्थे जपे विनियोगः । ध्यानम्––

मुक्ताविद्रुमहेमनीलधवल छायैर्मुखैस्त्रीक्षणै-
र्युक्तामिन्दुनिबद्धरत्नमकुटां तत्त्वार्थवर्णात्मिकाम् ।

[नवमः पटलः]

[आत्मसंक्रान्तिः][1]

अथ विद्याव्रतविद्धीरः शिवाग्निगुरुपूजकः । निमित्तमशुभं दृष्ट्वा गजवाजिरथादिषु ॥ १ ॥
अस्त्राणामप्रसादं वा भृशं वा शत्रुवीक्षितः । दीर्घानरोग्यसंतप्तो [2]गृहीतो वाथ भूभृता ॥ २ ॥
तथा पञ्चात्मकं देहं विद्यामन्त्रात्मसंस्कृतम् । महाभूतानि ज्ञानाग्नौ जुहुयादस्त्रसंभवे ॥ ३ ॥
महीतले शुचिर्भूत्वा मन्त्रयुक्तेन चेतसा । शरदर्भान्परिस्तीर्य रुद्रं ध्यात्वाम्रविग्रहम् ॥ ४ ॥
जगत्संहारकर्तारं ब्रह्मात्मपराजितम् । ध्यानी विज्ञानयोगेन [3]चास्त्रं ध्यात्वा विचक्षणः ॥ ५ ॥
आसनं रुचिरं बध्वा स्वस्तिकं पद्ममेव वा । ऊर्ध्वकाय ऋजुग्रीवो बध्वाधः करकच्छपम् ॥ ६ ॥
दन्तान्न पीडयेद्दन्तैर्नेत्रे [4]चार्धनिमीलिते । विषयोरगसंरुद्धां विगृह्येन्द्रियवाहिनीम् ॥ ७ ॥
निरुद्धप्राणसंचारो नाभेरूर्ध्वं वितस्तितः । बालसूर्यप्रतीकाशं हृदयं संप्रकाशते ॥ ८ ॥
मण्डलं तत्र सूर्यस्य तन्मध्ये सोममण्डलम् । सोममण्डलमध्ये तु विमलं वह्निमण्डलम् ॥ ९ ॥
वह्निमण्डलमध्यस्थं शुद्धस्फटिकसन्निभम् । य . . . . . . कं विद्याद्रक्षार्थं तु महेश्वरम् ॥ १० ॥
तस्मिन्साधकचैतन्यं विद्यात्स्वपदगोचरम् । ततोत्यस्त्रमय वह्निदग्धां वेगेन हृद्गुहाम् ॥ ११ ॥
अस्त्रं शिरः कपालं च भित्त्वा सूर्यं प्रपद्यते । निश्चलं मूर्ध्नि [5]देवस्य ज्योतिः परममन्त्रवित् ॥ १२
अस्त्रमायासमाकृष्टो रौद्रीशक्त्येकवीरयोः । मूर्ध्नि सन्धानयेद्योगधारणाभिश्च निष्क्रमेत् ॥ १३ ॥
निष्क्रम्य पादयोरग्निः पुनर्मूर्धानमाश्रयेत् । [6]मूर्धनि तु ततो लोकालोकं बध्वा प्रभिद्य च ॥ १४
प्रकृतिं पुरुषं चैव सूक्ष्मतेजोमयो महान् । सर्वभूतात्मको भूत्वा विशेत्सूक्ष्मं महेश्वरम् ॥ १५ ॥
देहस्य [7]देहि दर्भाख्यं वस्त्रेणाप्यथवासनम् । संहारायेति भूतानि हिरण्येति शिरः स्पृशेत् ॥ १६
विद्याधिपेन होमे च ध्यायीत विधिरात्मकः । एवमस्त्रसमायोगान्मुच्यते नात्र संशयः ॥ १७ ॥

इति रौरवसूत्रसंग्रहे आत्मसंक्रान्तिपटलो नवमः[8]

---

[1] Voir *Niśśvāsakārikā*, *paṭala* 33 pour les détails du *ātmasaṅkrānti*.

[2] गृहीत्वा—ms.

[3] अस्त्रं pour चास्त्रं— ms.

[4] चार्धं निमीलिते—ms.

[5] देहस्य—ms.

[6] मूर्धनि —ms.

[7] देवदत्तास्त्रं ?—ms.

[8] समाप्तः pour नवमः—ms.

[सप्तमः पटलः]

[धारणाविधिः][1]

अथातः संप्रवक्ष्यामि ध्यानमार्गविधिक्रमम् । सकलो निष्कलश्चैव द्विविधस्तु शिवः स्मृतः ॥ १ ॥
सद्यो वामश्च घोरश्च पुरुषेशान एव च । कला ह्येताः समाख्याता निधनेशस्य सूरिभिः ॥ २ ॥
निष्कलस्तु परो देवो व्योमव्यापी महेश्वरः । प्रधानपुरुषेशानः परात्परतरः स्थितः ॥ ३ ॥
सर्वज्ञः सर्वकर्ता च सर्वगः सर्वतोमुखः । सर्वभूतात्मभूतस्थः शिवो ध्येयोऽथ शाश्वतः ॥ ४ ॥
[2]प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा । तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते ॥ ५ ॥

[आग्नेयी]

[3]प्रथमा धारणाग्नेयी नाभिमध्ये तु धारयेत् । तस्यां वै धार्यमाणायां पापं निर्दहति क्षणात् ॥ ६ ॥

[सौम्या]

[4]हृदये धारयेद्विद्वान् सौम्यां सोमसुतां कलाम् । तस्यां वै धार्यमाणायां सर्वत्राप्यायनं भवेत् ॥ ७ ॥

---

[1] Pour *dhāraṇāvidhi* voir *Kiraṇa, yogapāda, paṭala* 1 et *Svāyambhuva, yogapā[da]*, *paṭala* 36.

[2] cf. *Mataṅga, yogapāda*, p. 208, *Kiraṇa*, IV, 1, 3, et *Niśśvāsakārikā*, ms. p. 2[…]

[3] cf. *Kiraṇa*, IV, 1, 18-21:

संसिद्धयोगिनो मुख्यं धारणानां चतुष्टयम् । वह्निसौम्यामृता वाक्या पराख्या धारणास्तु ताः ॥
मूलं रेफपुटान्तस्थं पञ्चमस्थं च बिन्दुगम् । ज्वलार्णसंयुता दीप्ता धारणा पावका मता ॥
सर्वोद्वारेऽरिहिंसादिपापः प्रागेव संक्षयेत् । त्रिकोणमण्डलस्थोऽयं कूटो वह्निस्स्वयं भवेत् ॥
वायुवेष्टितसर्वाङ्गो बीजदाहादिकृत्परः ॥

[4] cf. *Svāyambhuva*, 36, 3:

हृदये धारयेत्सौम्यां सदा सोमसमप्रभां । आप्याययति सर्वाणि यथा योगपदस्थितः ॥

cf. *Kiraṇa*, IV, 22-23*a*:

पूर्वोक्तवारिसंयुक्तस्सौम्ये बिन्दुयुतस्स्वयम् । तोयमण्डलमध्यस्थः परितस्तेन वेष्टितः ॥
शान्तिपुष्टिकरी चैवमुपसर्गविसर्जनी ॥

[ऐशानी]

[1]ऐशानीं धारयेन्मूर्ध्नि सर्वसिद्धिकरीं नृणाम्। यया प्रयान्ति वै क्षिप्रं शिवस्य परमं पदम् ॥ ८ ॥

[अमृता]

[2]अमृता धारणा या तु व्यापिनी तु शिवंकरी। आप्याययति सर्वत्र सर्वं ज्ञानामृतेन च ॥ ९ ॥
ओंकारपूर्विका ह्येता नाभीहृदयसंस्थिताः। मूर्धन्या च तथा चान्या चामृता सर्वगा शुभा १० ॥

[धारणामन्त्राः]

ओं ज्वलद्दीप्तमहसे ज्वालामालिनि वम स्वैरं दीप्य दीप्य पशुपतिः। आग्नेयीधारणामन्त्रः ॥

ओं श्री ओं नमः शिवाय प्लावय अमृतायामृतयोनये। सत्ये सत्ये शान्तब्रह्मण्ये वरिष्ठयोगं धर धर प्लावयामृतेन। सौम्यां हृदि धारयेत् ॥

ओं ओं श्रीयोगरूपायानाश्रिताय सर्वप्रभवे ज्योतीरूपाय नमः ठ ठ। ऐशानीं शिरसि धारयेत् ॥

ओं नमः शिवाय अमृताय पशुतत्त्वानुग्रहकरायामृतायामृतरूपिणे अमृतीकुरु स्वाहा। अमृता सर्वव्यापिनी ॥

इति रौरवसूत्रसंग्रहे [धारणापटलः सप्तमः]

---

[1] cf. *Svāyambhuva*, 36, 4-5:

धारयेन्मूर्ध्नि चैशानीं सर्वेशानीं विचक्षणः। यथा तु योगिनः सर्वे प्रयान्ति परमं पदम् ॥

cf. *Kiraṇa*, IV, 1, 25-26:

अकारबिन्दुसंयुक्तो नादशक्तिसमन्वितः। बिन्दुः शिवसर्वाङ्गो ललाटस्थानसंस्थितः ॥
तदा तत्स्थितो योगी भवेन्मृत्युबहिष्कृतः ॥

[2] cf. *Svāyambhuva*, 36, 5:

अमृता धारणा या तु सा सर्वत्र व्यवस्थिता ॥

cf. *Kiraṇa*, IV, 1, 23b-24:

स एवामृतसंयुक्तः प्रणवेनोर्ध्वयोजितः। बिन्दुगो बीजदाहादित्रिस्वरेण निवेदितः ॥
अमृतेयं सदा मूर्ध्नि व्यापिनी नीरुकाहृच्यता ॥

४७ब्)

त्रैलोक्य रक्षणरतां मंगलां प्रणमाम्यहं ॥

गुह्यकाली मंगला च सिद्धिकाली जयेश्वरी ।
चर्चिका त्रिपुरेशी च कालि च भुवनेश्वरी ॥

श्रीमंगलामहाकाली निर्वाण पददायिनी ।
राज्यदा धनदा नित्यं दशवक्त्रां परां भजेत् ॥

इति श्रीहाहारावमहामंत्रे षत्त्रिंशत् साहस्रे महाथर्वणसंहितायां
शिवपार्वती सामरस्ये श्रीगुह्यकालिका देव्याः सहस्रनामपटलः ॥

अथ तुरीयभावना ॥

पार्वत्युवाच ॥

देवदेव महादेव भक्तानाम भयप्रद ।
तुरीयं तु न जानामि भक्तानां हितकाम्य या ॥

श्रीशिव उवाच ॥

धन्यासि कृत पुण्यासि तुरीया भक्त पार्वति ।
यथा श्रुत्वा मयादेवि कथयामि तवाग्रतः ॥

चतुर्दश भूपर्यन्त स्थावरं जंगमाचरं ।
ब्रह्मविष्णुमहेशानं न पूजां तं चराचरं ॥

वरुणश्चानलं वायुं चन्द्रसूर्य हुताशनं ।
पृथ्वंतरीक्ष आकाशं प्रलयं गतधारिणं ॥

तुंरी रूपा महादेवि स्वयं तेजो ज्योतिर्मयं ।
एकाकिनी जगन्मूर्तिर्द्वितीयं परमं गता ॥

दृष्ट्वा लोमशं महादेवि मार्कण्डे यस्ततो गता ।

मार्कण्डेय प्रतिलोमश उवाच ॥

व्यक्ताव्यक्त स्वरूपाय नमस्ते पुंजरूपिणे ।

तुरीयायै नमस्तेस्तु नमः पुरुषवर्जिता ॥

परमतुरीय उवाच ॥

वरं शृणुष्व भद्रं ते यत्ते मनसि वर्त्तते ।
योगलक्ष्मीं यदीच्छेत ददामि तेन संशयः ॥

ऋषिरुवाच ॥

नमस्तैस्तु महामूर्तिं कथयामि जुषस्वते ।

तुरीयोवाच ॥

मुनिवर्ग महाभाग सावधानं शृणुष्वहि ।
अस्मद्विभूति वक्ष्यामि उत्पत्ति प्रकृते स्वयं ॥

मल्ललाटाश्ते?ब्रह्मा श्रवणात्पंचदेवता ।
नासाग्रात्सलिलं चैव मुखादग्निरजायत ॥

रसनात् सरस्वती देवी नेत्राभ्यां ह्यमराव्रजन्।
कंठान्नीला महादेवी भुजे दुर्गारिमर्दिनी॥

स्तन मध्ये कंदर्पं च कुक्षौ सप्तसमुद्रकं।
करमध्येन्य देवं च पापपुण्यं वक्षस्थले॥

४८अ)

हृदये चन्द्रमा देवां नाभौ च गरुडध्वजः।
वामपार्श्वे स पितरं दक्षिणे शक्र राजकं॥

गुह्ये गणपतिर्देव उरौ च कालमृत्युकं।
पृष्ठे नक्षत्र देवं च लिङ्गे चैव सदाशिवं॥

रुर्मेशमनसादेवी अस्थि च शिरपां तथा।
रुधिरं पर्वतो देवो जंघौ च धर्मदेवता॥

गुदेशं त्वेक देवं च ऋषि उरुदेशयोः।
दैत्यराक्षसनरयो जिह्वा यावन्तं देवता॥

देहमध्ये कुबेरदेवं ते विभूति मुनिवर्गः।
एवं विभूति योगं गोपनीयं प्रयत्नतः॥

ऋषि पार्वत्युवाचः॥

शृणु देव जगन्नाथ संसारार्णवतारकं।
तव वासः कुतस्तेषां कथयामि तवाग्रतः॥

तुरीय उवाच॥

साधु साधु महादेवि प्रसन्नोस्मि तव प्रिये।
रहस्यं कथयिष्यामि गोपनीयं प्रयत्नतः॥

सकलजीवमहं तुरीयं स्थावरं स चराचरं।
नाभि पश्चिम मार्गे च पाताललोक शेषकं॥

नाभ्यग्रं कंठपर्यन्तं मर्त्यलोक समुद्रकं।
कंठाग्राच्छीर्षपर्यन्तं स्वर्गलोकं महेश्वरि॥

पार्वत्युवाच ॥

कूटस्थानं कूटचक्रं नादबिन्दुश्च गोचरं।
उन्मनेः कुत्र संस्थानं न अगोचरं कुत्र व्यापि ॥

कुत्र ब्रह्मा कुत्र विष्णुः कुत्र देवस्सदाशिवः।
त्रयोदश कमलं च कुत्र शांभवि निर्वणं ॥

निरंजनः सदाशिवो महाविष्णुर्महेश्वरी।
इडापिंगला सुषुम्ना षट्चक्रं कुत्रस्थितिः ॥

कुंडली हंस अजपा निराकारस्य पद्मकं।

तुरीय उवाच ॥

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि सावधानश्च ब्राह्मण।
प्रथमे अरूचक्रं च द्वादशपद्मसंयुतं ॥

प्रणवक्षस्थि तिष्टःअन्तु शक्तितिष्ठति नित्यशः।

द्वितीयं नाभिचक्रं तु षोडशनिर्वाणं तथा ॥

तन्मध्ये विष्णु देवं च लक्ष्मी शक्तिः सुमंडितं ।
कुण्डली तत्र तिष्ठंति सर्पाकारांग शापिनी ॥

तृतीये हृदयं चक्रं पंचाशत् कोणसंयुतं ।
तन्मध्यसंस्थितं ब्रह्मा सावित्री शक्ति शोभितं ॥

चतुर्थे कंठचक्रं च वर्गा देवी विभूषितं ।
तन्मध्ये भास्करं देवं स्वनक्षत्रो परिस्थितं ॥

पंचमे जिह्वाचक्रं च षट्दलपद्मसंयुतं ।
मध्ये तु शांभवी देवी महाविष्णुर्निरंजनं ॥

हंसनिर्वाण शिवं च उन्मनि स्थान एव च ।
एते षट्दल पद्मं च देवशांभवि संयुतं ॥

तदूर्ध्वं तालुचक्रं च अष्टदलं तु मंडितं ।
पृथिवी आपतेस्तेजो वायुराकाशमेव च ॥

४८ब्)

न ज्ञातविवयं मध्ये स्वर्णपंकजशोभितं ।
तन्मध्ये भावयेद् देवीं कोटीसूर्यसमप्रभां ॥

तस्य शब्दस्य अजयासोहं हंस इत्युच्यते ।
पूर्वभागे त्रिप्रवाहं हंसं गमं प्रणववीजगं ॥

इडा च वामभागे च रक्तरूपं जलोदरं ।
गंगा चैव इडादेवि यमुना पिङ्गला तथा ॥

कृष्णरूपी यमुना च मत्स्यकच्छप पूरितां ।
सुषुम्ना सूक्ष्मवर्ण च सरस्वतीं च भावयेत् ॥

पुण्यजलस्नानं नित्ययोगेश्वरेण भावयेत् ।
अष्टदलं तन्मध्ये च षट्दलमध्ये तुरीयका ॥

तन्मध्ये पद्मकोणे च षडाम्नायो परिस्थितिः ।
पूर्वपत्रे पूर्णदेवी उत्तरे दक्षिणकालिका ॥

पश्चिमे कुब्जिका देवी दक्षिणे च सरस्वती।
अध्वश्च वडवादेवी ऊर्ध्वं त्रिपुरसुन्दरी॥

स्ववाहनं स्वशक्तिश्च षडाम्नायेन पूरितम्।
ततः परं सहस्रं च पद्मं चैव सुशोभितम्॥

निराकारजवीजं च रन्ध्रे दशमद्वारके।
सहस्रदल पद्मं च अग्रे फणि विवेष्टितम्॥

अष्टपत्रं सहस्राक्षं ब्रह्मविष्णवीन्द्र सेवितम्।
मध्ये ज्योतिः पंकजं चांगुष्ठ प्रमाणपूरुषम्॥

तन्मध्ये ध्यायते देवि योनि लिंगविवर्जितम्।
ज्योतिरूपं महा उग्रं त्रिगुणं च विवर्जितम्॥

एतेद् ध्यानं तुरी ब्रह्म स्थूलध्यान प्रकाशितम्।
षट्पत्रं च षडाम्नायं यस्य देवस्य रूपकम्॥

पार्वत्युवाच ॥

शृणु शिवमहावाक्यं कथयामि य देवतम् ।
तस्य लक्षणं ब्रवीत् ममानुग्रहकारक ॥

शिव उवाच ॥

पर्वते ग्रहणे गुहायां एकान्ते देव सन्निधौ ।
तत्रवासं प्रकुर्वन्ति साधकः स्थिरमानसः ॥

भैरवं स्थापयेत् तत्र त्रिसन्ध्यं नियतः शुचिः ।
दृढबुद्धिर्जितेन्द्रियोमकारपञ्चकं प्रिये ॥

एकसन्ध्या भोजनं च बहुजल्पनता श्रुतम् ।
उच्चशब्दं ततः कृत्वा अल्पनिद्राद्युभोजनम् ॥

पद्मासनं साधयामि इष्टदेवं च भावयेत् ।
नासाग्रे चिन्तयेन्नित्यं शिखापर्यन्तभावना ॥

षण्मासाज्जायते सिद्धिः सत्यं सत्यं न संशयः।

ऋषिरुवाच ॥

किं सिद्धिर्यंत्रमंत्रं किं जापं जपति नित्यशः ॥

४९अ)

तुरीय उवाच ॥

कुमारीमंत्रं मया प्रोक्तं विदिध्यानेन संयुतम्।
विशेषं ब्रह्मयामले सिद्धि लक्षणं वक्ष्यामि ॥

तुरीया सिद्धिदानीया साधकः शिवतां व्रजेत्।
अन्ते ब्रह्ममयं यान्ति तदन्ते विष्णुदैवतम् ॥

महाप्रलयमासाद्य तुरीयोपासनाकरः।
मंत्रश्रवणमात्रेण योनिद्वारं न पश्यति ॥

तीर्थयाग व्रतं पुण्यं साधकस्य तु दर्शनात्।

अन्तध्यानं तुरीयं च विप्रं गच्छति निजालयम् ॥

इति ते कथितं देवि रहस्यं सारमुत्तमम् ।
गुह्याद्गुह्यतरं देवि तव प्रीत्या प्रकीर्तितम् ॥

गोपनीयं गोपनीयं गोपनीयं प्रयत्नतः ।
शिष्याय भक्तियुक्ताय साधकाय प्रकाशयेत् ॥

खलाय भ्रष्टशिष्याय देवीपद्विमुखाय च ।
पुस्तकं योनरोदद्यान् मृत्युरेव न संशयः ॥

इति श्रीहाहारावतंत्रे अथर्वणसंहितायां गुह्यकालीप्रस्तारे अष्टमखण्डे तुरीयं पटलं सम्पूर्णम् ॥

४९ब्)

भैरव उवाच ॥

सृणु देवी प्रवक्ष्यामि कालिकायाः सुपूजितं ।
महाकर्मार्चणं वक्ष्ये दुर्लभं भुवनत्रये ॥

देव्युवाच

कालोदयं मयाज्ञातं अंशकानि विशेषतः।
अधुनाश्रोतुमिछामि वंच(ध)नं च यथा भवेत्॥

विपरीत न चारयोगे आत्मानं संक्रमते यथा।
चक्रस्थं तं बीजानीयाद् ध्यानधारणयोगतः॥

p. 38b)

श्रीभैरव उवाच

यत्नात् पूर्वं मयाख्यातं शक्त्योर्द्ध्वं अंशकत्रयं।
महानिलयं तस्योर्द्धे (तस्योर्द्धे तु महानीलं) त्रिपथं वरवर्णिनि॥

पच्य(ख)ते तत्र मध्ये तु विष्णुरुद्रप्रजापतिः।
उत्पन्नं तत्र मध्ये तु बीजभूतं वरानने॥

पृथिव्यायस्तथा तेजो वायुराकाश निष्कलं।
बीजमध्ये स्थिता ह्येते पृथग् भिन्ना क्रमेण तु॥

यदासौ निर्मले क्षेत्रे पतितं बीज रोहणं।

तदाभिद्यन्ति भूतानि स्वकीयगुणपञ्चकैः ॥

तत्रत्रिपथमध्ये तु सूक्ष्मभूताव्यवस्थिताः ।
ऊर्णातन्तु निभाकारा गतासानाभि मण्डले ॥

चतुरङ्गुलमानेन अष्टधा कुटिलं गताः ।

प्रसूता नाभि मध्ये तु शाखैः शाखमनेकधा ।
दशनाद्यावृ(धृ)तं चक्रं नाभिस्थाने प्रतिष्ठितम् ॥

इडा च पिंगला चैव सुषुम्ना च तृतीयका ।
उर्द्धभागे स्थिता ह्येता त्रिभिर्देवैर्व्यवस्थिता ॥

गान्धारि हस्ति जिह्वा च पूषा चैव वरानने ।
अधोमार्ग गता ह्येता वृहत् शाखा प्रलम्बिता ॥

यथा(जया) अलंवुषा चैव दक्षिणस्था भवन्ति हि ।
वाममार्ग प्रयोगेन संस्थिता कुहुशंखिनी ॥

नाभेरूर्द्ध गतानाडी एकात्रितयरूपिणी ।

सा प्रसूता वरारोहे ब्रह्मावर्तेनसंस्थिता ॥

नाडी संचारयोगेन संस्थितं पद्मया दृशम् ।
तमहंसंप्रवक्ष्यामि शृणुष्वेकाग्रमानसः ॥

पंचपंच पुनः पंच पंचपुनः पुनः पञ्च ।
पंचमालासमाख्याता संस्थिता पंचविंशकम्(तिः) ॥

p. 39a)

ग्रन्थिस्थानप्रयोगेन नाडीसंचारसंथिता ।
पूर्वमालादि उत्पन्नं द्वितीयस्य द्वितीयके ॥

विश्रान्ता तत्र मध्ये तु गतापूर्व तृ(द्वि)तीयके ।
पूर्वबिन्दु द्वितीयस्य प्रथमस्य द्वितीयकं ॥

ग्रन्थितं नाडियोगेन तृतीयस्य द्वितीयकम् ।
द्वितीयस्य द्वितीयेन तृतीयादि विभेदयेत् ॥

तृतीयस्य्य द्वितीयेन चतुर्थे आदियोजितम् ।
तृतीयादिं चतुर्थस्य द्वितीयं ग्रन्थितं कुरु ॥

चतुर्थस्य द्वितीयेन पंचमादिन्नियोजयेत्।
(पंचमस्य द्वितीयेन चतुर्थापि योजयेत्॥)

चतुर्थस्य द्वितीयेन पंचमस्य तृतीयकम्।
ग्रंथितं पूर्वयोगेन नाडीसंचारभेदितम्॥

चतुर्थस्य तृतीयं च पंचमस्य द्वितीयकम्।
पंचमस्य चतुर्थे च चतुर्थे पञ्च योजितम्॥

चतुर्थस्य चतुर्थेन पंचमं तु प्रयोजितम्।
पंचमान्त चतुर्थस्य चतुर्थस्थान योजितम्॥

(पञ्चमस्य चतुर्थेन चतुर्थान्तं नियोजयेत्।
वरानने पूर्वे चतुर्थ योगेन द्वितीयान्ते विभेदितम्।
द्वितीयस्य चतुर्थेन द्वय(पंच)मस्य तृतीयकम्।
भेदितं नात्रसंदेहो यथा पूर्वन्तथैव च॥
तृतीयेन द्वितीयस्य)?????

चतुर्थान्तं तृतीयस्य चतुर्थस्थान योजितम्।
चतुर्थस्य चतुःस्थानं तृतीयान्तेनसंयुतम्॥

तृतीयान्तं द्वितीयस्य चतुर्थस्थानसंस्थितम्।

तृतीयस्य चतुर्थेन द्वितीयान्तं नियोजयेत् ॥

पूर्वान्तेन चतुर्थं च द्वितीयस्य प्रथमस्य चतुर्थकं ।
ग्रंथितं पूर्ववद्देवि अत उर्द्धमतः शृणु ॥

प्रथमस्य द्वितीयेन द्वितीयस्य तृतीयकम् ।
एकत्र ग्रंथितं कुर्याद् ये चान्ये द्वे तथैव हि ॥

p. 39b)

नाडीचक्रमिदं शूक्ष्मं मष्ट(सप्त)पत्रं व्यवस्थितम् ।
शून्यरूपं स्थितं तत्र मध्यस्थं परमेश्वरम् ॥

तद्वाह्ये षोडशाकारं षोडशकलसंयुतम् ।
चन्द्रादित्यमयं सर्वं नाडीचक्रं व्यवस्थितम् ॥

एषा प्रकृतिराख्याता पंचविंशसमुद्भवा ।
अत्रमध्ये स्थितं देवं जीवाख्यं परमेश्वरम् ॥

सत्वंरजस्तमैश्चैव वेष्टितं त्रिविधेन तु ।
अष्टपत्रस्य मध्यस्थं दलेषु यादृशं शृणु ॥

इन्द्रो अग्निर्यमश्चैव नैर्-ऋत्यं वरुणानिलं।
कौबेरमीशपर्यन्तं दलेषुसंस्थितानि च॥

शब्दस्पर्शश्च रूपं च रसोगंधं च पंचमः।
मनोबुद्धिरहंकारो दलेधः संस्थितानि च॥

कामं क्रोधन्तथा लोभं मदं मात्सर्यमेव च।
मोहं दंभं च पैशून्यं एकैकस्य पृथक् पृथक्॥

यो सौ अचिंत्यमित्याहुः सर्वज्ञः परमेश्वरः।
मध्यस्थं तं विजानीयाद् रूपमव्यक्तसंस्थित॥

प्रेरकन्तस्य देवेशि मनोनामकमात्मनः।
येन येन हि भावेन मनः संयुज्यते नृणां॥

तस्य तन्मयतां याति विश्वरूपो मणिर्यथा।
चतुर्विंशति तत्त्वानि पत्रे पत्रे व्यवस्थिताः॥

प्रकृतिं च विजानीयात् पुरुषे बन्धनात्मिकां।
मुक्तिन्तेन विना देवि निष्कलं च तदा भवेत्॥

सकलं तत्र मध्यस्थं निष्कलं तेन वर्जितम् ।
अत्र मध्य गतं विद्यात् कालं कालोदयानि च ॥

प्रकृतिं योन जानाति चतुर्विंशात्मरूपिणीं ।
वृथापरिश्रमं तस्य मुक्तिस्थानं न गच्छति ॥

p. 40a)

अथातः संप्रवक्ष्यामि तिथिसंख्या यथा भवेत् ।
दिनमेकेन देवेशि ये दिनाः काय संभवाः ॥

प्राणा पानस्य चारेण दिनं रात्रिर्विधीयते ।
एकविंशसमाख्याताः सहस्राः षट्च्छताधिकाः ॥

सप्तविंशोत्तराज्ञेया संक्रान्तिषु शतानि च ।
विषुवाः षष्टि समाख्याता(विज्ञेया) अमावस्या च पूर्णिमा ॥

यो सौ त्रिकालरूपेन अष्टसंग्रहसंस्थितम् ।
विंशोत्तरशतं यावद् भ्रमते चन्द्रमण्डलम् ॥

यदाजानाति तत्त्वज्ञः सोमग्रहमुपागतम् ।

अमृताशनस्थितो योगी पूजयेत् तत्त्वनायकम् ॥

सर्वदेव मयंशंभुं सर्वविश्वेश्वरं प्रभुं ।
ज्योतिरूपं परंशातं अव्यक्तं निम्र्मलं च यत् ॥

जीवाख्यं परमं शुद्धं निर्मले मलनाशनं ।
तस्य पूजाप्रकर्त्तव्या प्लावितममृतेन तु ॥

येगता(पशुयो)तिर्यग्योनीषु * नरके चाति दारुणो ।
उद्धरेत् तत् कुलं सर्वं दशपूर्वं दशापरम् ॥

रस्मिज्वाला कुले दीप्तं भानुविवंसुनिर्मलं ।
ग्रंथि(ग्रसि)तं पंचवाराणि अहोरात्रेण दृश्यते ॥

पितृयानस्य पूर्वेण या कलादैविकी मृता ।
तां कलां तर्पयेद् देवि सूर्यग्रहसु पा गते ॥

देवया तस्य पूर्वेण पितृयानस्य चोत्तरे ।
सेतुबंधस्य मध्ये तु भूत्वा भूयो न जायते ॥

पूजितव्यं प्रयत्नेन हृदिस्थं परमेश्वरं ।
दिव्यधारामृतेनैव भानुग्रासं यदा भवेत् ॥

p. 40b) देवदानवसिद्धानां गन्धर्वो रगराक्षसां ।
तृप्यन्ति सर्वभूतानि विकला तर्पिता यदि ॥

यदा भवति संक्रान्तिर्विषु वा पिण्डमध्यतः ।
तुर्यस्थानसमारूढः पूजयेत् तत्त्वनायकम् ॥

गुरुपदेशयोगेन स्थानं परमुदुर्ल्लभं ।
त्वरितं तद्विजानीयाच्छीघ्रं सिद्धयति मानवः ॥

येनज्ञातं सुरेशानि तूर्यस्थानस्य तर्पणं ।
अश्वमेधस्य यागस्य क्षिप्रलभति तत्फलम् ॥

न योगात् सदृशं मन्त्रं न योगात् सदृशं तपः ॥

न योगात् सदृशं तीर्थं त्रिषुलोकेषु दृश्यते ।
ब्रह्माविष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः ॥

तद्भावभावितात्मानं चिन्तयन्ति परापरं।
इन्द्राद्या देवताः सर्वे चन्द्रसूर्यादयोग्रहाः॥

महर्षयः सप्तपूर्वं मवादय अशेषतः।
अष्टाशीति सहस्राणि वा लखित्पादयोपि च॥

अनेनैव तु योगेन सिद्धास्ते वरवर्णिनी।
इतिखलुपुङ्गलाकारं नाडीसञ्चारमण्डले॥

मुख्यं कथितमिहसिद्धि हेतोर्बोद्धव्यं यत्नतः।
सिद्धिः एत देवि परंगुह्यं निर्वाणं परमं पदम्॥

शरीरस्थं परं दिव्यं न देयं यस्य कस्यचित्।

देव्युवाच

नैव जानाम्यहं नाथ उदयास्त मनं यथा।
विषुवं नैवजानामि ग्रहणं चन्द्रसूर्ययोः॥

राशिसंक्रमणं चैव सकलं निष्कलं कथं।

को वेत्ति अत्रमध्यस्थः सुखदुःखानि यानि च ॥

कस्य धर्म्मञ्च पापं च को गतः कोत्र तिष्ठति।
p. 41a) चन्द्रसूर्यादि भेदेन कथमात्माप्रतिष्ठितः ॥

ज्ञायते केन योगेन इन्द्रियं विषयानि च।
अनीता नागतं चैव वर्त्तमानार्थमेव च(बोधकम्) ॥

अनिमादि गुणोपेतं साधनं च कथं भवेत्।
निर्वाणं मोक्षमार्ग च विविधं कालवंचनम् ॥

अनेनैव शरीरेण यथाभवति तद्वद।

श्रीभैरव उवाच

यो सौ देवि मयाख्यातं चक्रं प्रकृति संभवं ॥

तत्रमध्यगतं देवं सर्वज्ञं परमेश्वरम्।
तद्ब्रह्म च महादेवं तद्विष्णुं परमं पदं ॥

तच्चन्द्रसूर्यमित्याहुरिन्दु वरुणमेव च।
तं कालं भवमित्युक्तं तं वायुं तं खगेश्वरम्॥

सर्वदेवमया सो हि तत् शून्यं भरितं स्थितम्।
चैतन्यं सर्वगं नित्यं सर्वप्राणि हृदि स्थितम्॥

विषयस्थमतीतं च वायुसंयोगसंस्थितम्।
भ्रमते चक्रमध्यस्थं मनः पवनसंयुतम्॥

दक्षिणचारुयोगेन पिंगलं भानुमारुतम्।
प्राणापाणप्रयोगेन नीयते च शनैः शनैः।

यस्य पत्रस्थ मध्यस्थं तिष्टते परमात्मनः।
तस्यतन्मयतां भावं धारयेन्नात्रसंशयः॥

अन्य पत्रस्य मध्यस्थं यदासंक्रमते तु सः।
संक्रान्तिं तद्विजानीयात् तैः षड्भिश्चोत्तरायणं॥

विषुवं द्वादशं चैव या राशिं संक्रमेषु च।
अब्दैर्द्वादभिश्चैव ग्रहणो भास्करस्य च॥

षण्मासदिनयोगेन चन्द्रस्य ग्रहणं भवेत्।
p. 41b) समाधिस्थो महायोगी रविचन्द्रस्य मध्यगः(त) ॥

प्रत्यक्षं दृश्यते ग्रा(श्वा)संस्थानभेदेन या दृशां।
चन्द्रमण्डलमध्यस्थं आत्मानं कुरुते यदा ॥

ग्रहणं तस्य जानामि सोमस्थं पश्यते ध्रुवं।
चन्द्रसूर्यस्य चक्राणि सृष्टिसंहारकारकाः ॥

पारंपर्यक्रमेणैव गुरुवक्त्रात्तु लभ्यते।
यस्य चक्रस्य मध्यस्थं आत्मानं क्रमते लयं ॥

चन्द्रसूर्यप्रयोगेन ज्ञायते नात्रसंशयः।
धर्माधर्मं च मोक्षं च ज्ञानं वैराग्यमेव च ॥

कामं क्रोधं च लोभं च यत्र(चक्र)स्थं कुरुते ध्रुवम्।
मरुतस्थं विजानाति संयोगे वामदक्षिणे ॥

प्राणापानस्य मध्यस्थं नासिकाग्रे व्यवस्थितम्।

ऊर्द्धं ह्यग्नि दधश्चापतिर्यगश्च प्रभञ्जनः॥

मध्ये तु पृथिवीं विंद्यान्नभश्चैव तु सर्वगः।
भूतान्ते विषुवं चारं सुषुम्नाभिन्नमस्तकं॥

यदा भवति मध्यस्थ मात्मानं वरवर्णिनि।
वहतिनात्रसंहेहो योगं विषुवमूत्तमम्॥

कोलचिह्नानि सर्वाणि उक्तानि यन्मया पुरा।
वंचनं तेषु देवेशि यथा भवति तच्छृणु॥

चन्द्रादित्य मयं सर्वं त्रैलोक्यं स चराचरम्।
मार्गं च तद्विजानीयाद मार्गन्तेषु वर्जितम्॥

संचारं कथयिष्यामि प्रकृतिस्तस्य चात्मनः।
वृषभं तत्र मध्ये तु मैथुनस्थं च वायसं॥

रुद्रमानं सदातिष्ठेत् महाशब्दमनाहतम्।
सत्वंरजस्तमश्चैव तस्य वंधत्रयं भवेत्॥

p. 42a)

सोमसूर्याग्नि चारेण त्रिपादास्तत्रसंस्थिताः।
अधस्तात् तु विजानीयाद् ब्रह्मादि अंशकेषु च ॥

पृथिव्यापस्तथा तेजश्चतुर्थं वायुसंस्थितम्।
ऊर्द्धभागे स्थिता ह्यते(क्षेत्रे) शृंगाश्चत्वारि यानि च ॥

सार्द्धं त्रीणि स्थिता वामे पुनरेत्तानि दक्षिणे।
नाडीसञ्चारभेदेन अस्थिरूपा व्यवस्थिताः ॥

एतानि सप्तहस्तानि द्वौशीर्षौ चन्द्रसूर्ययोः।
यो सौ मध्यगतो देवि रचते च अनाहतम् ॥

मैथुनेन विना तस्य नशब्दो नैव जीवितम्।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन मैथुनस्थं सदाकुरु ॥

मैथुने मोक्षमाप्नोति मैथुनमायुवर्द्धनम्।
सर्वसिद्धिकरं देविमैथुनं परिपठ्यते ॥

तस्य देवाधि देवस्य प्रकृतिस्थस्य सुन्दरि।
मोचनं संप्रवक्ष्यामि आत्मनो वंचनस्य च ॥

उत्पत्तिस्तत्रमध्ये तु कालं कालोदयेषु च ।
एते त्रीणि समाख्याता वृषपादांशकेषु च ॥

तत्रस्थं कारणं योज्यं नीयते च शनैः शनैः ।
संकोच्य सप्तहस्तानि नाडीस्थं यत्समीरणं ॥

द्वे शीर्षे चतुःशृङ्गानि त्रिबन्धं प्रकृतिता सह ।
गुरुवक्र शते नैव करणे वरवर्णिनि ॥

सव्यस्थं क्रमयोगेन चतुर्विंशात्मकं कुरु ।
संकोचमिति विख्यातं पिण्डस्थं च तदा भवेत् ॥

हृदि ह्याकाशमध्यस्थं दीपाकारं व्यवस्थितम् ।
दह्यते हृदिमध्यस्थं इन्द्रिया विषयानि च ॥

p. 42b)

सावित्री यस्य कायस्थाः कालानलसमप्रभा ।
यक्षदीप्ति गतो वह्निः शुष्कमार्द्रं च निर्दहेत् ॥

तथा दहति कर्माणि योगिशो अत्र संस्थितः ।

यदा सौ शिखिरूपेण सर्वं संकोच्यतिष्ठति ॥

तदामुक्तं समाख्यातं सर्वमार्गेषु गच्छति ।
पितृयानस्य पूर्वेण देवयानस्य चोत्तरे ॥

सेतुबन्धपूर्वे तु नीयते च शनैः शनैः ।
या सा वायु(म) कलासूष्मात्रिभिर्देहैर्व्यवस्थिता ॥

एकासंवरणीनाम द्वितीया च विसर्जनी ।
कला चैव तृतीया च अन्तेष्टिर्नामविश्रुता ॥

विसर्जनीं समाश्रित्य अभ्यासेन मुहुर्मुहुः ।
नीयते बंधयोगेन सा च संवरणी कला ॥

अन्तेष्टि पद(क्ष)मध्यस्थं विलोमेन प्रवेशयेत् ।
ब्रह्मस्थानं परित्यज्य विष्णुरुद्रेश्वरं पदम् ॥

शंखिणी द्वारभेदं च कुंचिको दद्याटयेद्विलम् ।
या सा नाडी परासूक्ष्मा सुषुम्ना नामविश्रुता ॥

विभिद्य मूर्द्धिर्नमार्गन्तु प्रतिष्ठा तत्र मध्यतः।
मार्गेन तेन गन्तव्यं स्थानं चैव निरामयं॥

प्रथमं च द्वितीयं च सुशिरमस्थिमध्यगम्।
तृतीयं च समाश्रित्य लयं कृत्वा सुयत्नतः॥

वंचनं च समाख्यातं कालस्य वरवर्णिनि।
न तत्र भिद्यते जन्म न कालक्षयमेव च॥

धर्माधर्मौ परित्यज्य लीयते परमे पदे।
तत्रस्थाने यदालीनं प्राणापानः क्षयं गतः॥

आगतं च गतं चैव नोस्वासं स्वासमेव च।
p. 43a) न शृणोति च शब्दानि मुक्ता चैव मनाहतम्॥

रूपं चैव नज्जानाति वर्णानि यादृशानि च।
नवसंसा ते जिह्वा शीतोष्णं स्पर्शमेव च॥

घ्राणश्चैव न गृह्णाति गन्धं दुर्गन्धमेव च।
बुद्धि दृश्यमिदं सर्वं त्रैलोक्यम् स चराचरम्॥

य स? चाह्य?मनेबुद्धिस्तदा द्वैतं न विद्यते।
एकीभूतं यदात्मानं सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्॥

चैतन्यं चेतनं चेता न कालक्षयमेव च।
एतद्देवि परंब्रह्म निर्वाणं परमाक्षरम्॥

ज्ञायते गुरुवक्रस्थं मुक्तिस्थानं सुनिर्मलम्।
अन्यत्पुरप्रवेशं च कुरुते साधकेश्वरः॥

या सा देविमयाख्याता कलानामविव(स)र्ज्जनी।
हस्तमात्रप्रमाणेन पुष्पं करतले स्थितम्॥

अन्ते वंधं प्रकुर्वीत कलासंवरणी तु या।
नीतं पुष्पस्य मध्यस्थं मारुतं च शनैः शनैः॥

तं पुष्पं चलितं दृष्ट्वा द्विगुणं च समभ्यसेत्।
द्विहस्तमात्रयोगेन पुष्पसंक्रमणं यदा॥

सिधयते नात्रसंदेहः पंचहस्तप्रमाणतः।

पुष्पं च चलितं दृष्ट्वा वज्रक्षीरं विभेदयेत् ॥

विभेदिते वज्रवृक्षे परकायलयं कुरु ।
परस्य हृदिमध्ये तु पंकजस्थं यदा भवेत् ॥

तदा भिद्यन्ति भूतानि स्वकीय गुणपंचकैः ।
रूपे रूपं विजानाति श्रवणे शब्दं शृणोति च ॥

नासिकाग्रस्थितो वायुः प्राणं गृह्णाति या दृशाम् ।
सर्वं जानाति चैतन्यः शीतोष्णं स्पर्शमेव च ॥

p. 43b)

स्थाने स्थाने विसर्पन्ति इन्द्रिया विषयानि च ।
पूर्वोक्ता यादृशी विद्या तत्सर्वं वदते ध्रूवम् ॥

परकायप्रवेशश्च उक्तं देवि सुदुर्ल्लभं ।
द्विपदे चतुष्पदे चैव अपदे पदसंकले ॥

संक्रमेन्नात्रसंदेहो अस्य योगप्रभावतः ।
अथ उत्क्रान्तिमिच्छन्ति वैराग्यो पहता नराः ॥

तसहं संप्रवक्ष्यामि सद्य उत्क्रमणं यथा।
पूर्वं संकोचयोगेन लयं याति परे पदे॥

उत्क्रमेन्नात्रसंदेहः पुनर्जन्म न विद्यते।
सर्वं देविमयाख्यातं यत्सुरैरपि दुर्ल्लभं॥

आत्मसंविन्निभेदेन किमन्यत् परिपृच्छसि।

इति पारमेश्वरीमते गुह्ये आत्मसंवित्तिभेदश्चतुस्त्रिंशतिमः पटलः॥

देव्युवाच

अत्रैव मेरुमध्ये तु या स्थिता कुलनायिका।
त्रिपुरामन्त्रविख्याता वक्रांशाबान(गादिषु)संयुता॥

सप्तविंशति योगिन्यः पंचमुद्रा तथैव च।
वक्तुमर्हसि देवेश सामर्थं पूजने विधिं॥

चतुष्के च महातन्त्रे उत्तरे षट्ककेषु च।
रुद्रयामलमध्ये च पूर्वोक्तं तन्मया श्रुतम्॥

ज्ञानं भूतागारं च द्विरद तत्त्वमैश्वर्यं मीने कृष्णम् ॥

न ए ञ पूर्वन्तु जयतु दिशि चित्राणि गात्रपीठानि ।
सर्वेषु मन्त्रविद्यासु न्यासोऽयं कामदायकः ॥

मातृकां विन्यसेद्देहाभान्तरे विधिनामुना ।
अन्तर्यागं तथा योगं वायुं कुर्याद्विचक्षणः ॥

भूतशुद्धिं पुराकुर्यात् विधिनानेन दोहकः ।
यादिवान्तैर्विधानेन पूरककुम्भकरेचकैः ॥

इडया पुरयेद्वायुं श्वासनाड्याः शनैः शनैः ।
मात्रया षोडशेनैव ततः कुर्याच्च कुम्भकम् ॥

यंमन्त्रेण चतुःषष्ट्या यथा कुम्भं ततः परम् ।
सुषुम्नायां कुम्भयित्वा पिङ्गलायान्तु रेचयेत् ॥

चतुर्धाचन्द्र सह जप्त्वा रंवीजेनैव प्लावनी ।
श्वाससंहरणा नाड्या त्यजेद्वायुं शनैः शनैः ॥

पुरा कुक्षिगतः पापं चिन्तनीयो मनीषिभिः।
(p. 10) ब्रह्महत्या शिरङ्कञ्च स्वर्णस्तेय भुजद्वयम्॥

सुरापानहृदा युक्तं गुरुतल्पकटिद्वयम्।
तत् संसर्गात् पदद्वन्य्द्व मङ्गप्रत्यङ्गपातकम्॥

उपपातकरोमाणं रक्तश्मश्रुविलोचनम्।
खड्गचर्मधरं वामाङ्गुष्ठपरिमाणकम्॥

अधोमुखः कृष्णवर्णं वामकुक्षौ विचिन्तयेत्।
एषु ये ऋषयः प्रोक्तास्तान् प्रवक्ष्याम्यनुक्रमात्॥

पुरकादिषु देवेशि ऋषयः सर्वसम्मताः।
किस्कन्दः कश्यपश्चैव हिरण्यगर्भस्ततः परम्॥

अस्य पापस्य देहस्य अन्तर्यामी ऋषिः स्मृतः।
एवं द्यात्वा वह्निनाडी दाहयेत् सकलां तनुम्॥

प्राणायामं ततः कुर्यात् भूतशुद्धिरनन्तरम्।
भूतानां शोधनं कृत्वा भावना तु तथा दिशेत्॥

आपादमुर्द्धिर्न पर्यान्तं भावयेद्देहमात्मनः।
पञ्चाशद्वर्णबीजाढयं महाभूतादिसंयुतम्॥

गन्धं रसं तथा स्पर्शं रूपं शब्दं ततः परम्।
भावयेदात्मनो देहं सहस्रं कमलं यतः॥

सहस्रारे महापद्मे ध्यायेद्देवीं सनातनीम्।
सदाशिवेन संयुक्तां विपरीतरतस्थिताम्॥

भूतानि च महापूर्वसंलीनानि विधानतः।
स्थापयेत् तत् पदाम्भोजे तदा वर्णादि चिन्तयेत्॥

क्षकारादि अकारान्तं प्रतिलोमेन देशिकः।
संहारचक्रं समुद्दिष्टं सर्वतन्त्र समन्वितम्॥

षट्चक्रं चिन्तयेद्देहे विधिनानेन देशिकः।
मूलाधारं स्वाधिष्ठानं मणिपूरमनाहतम्॥

आज्ञा विशुद्धं शुद्धाख्यं क्रमेणैव स्वदेहके।

सहस्रारं महापद्मं विशुद्धाख्यं प्रकीर्तितम् ॥

मूलाधारं तथोपस्तं नाभिदेशं ततः परम् ।
हृदयं कण्ठदेशञ्च भ्रूयुग्मं तदनन्तरम् ॥

सहस्रारान्तकं प्रोक्तं सप्तचक्रं सदेहके ।
डाकिनी हाकिनी चैव राकिनी लाकीनि तथा ॥

काकिनी शाकिनी चैव षट्चक्रस्य च देवताः ।
हाकिनी देवता प्रोक्ता सहस्रारे सुरेश्वरी ॥

पत्रवर्णात्मकं तत्र क्रमेण चिन्तयेद्धिया ।
चतुःपत्रं मूलाधारं वादिसान्तं महेश्वरी ॥

वादिलान्तञ्च षट्चक्रं स्वाधिष्ठानं विचिन्तयेत् ।
मूलाधारं गुदे चैव स्वाधिष्ठानञ्च लिङ्गके ॥

दशपत्रं डादिफान्तं नाभिदेशं विचिन्तयेत् ।
मणिपूरं महाचक्रं शब्दब्रह्मविभूषितम् ॥

विशुद्धं द्विदलं प्रोक्तं हक्षवर्णविभूषितम्।
सर्ववर्णात्मकं पत्रं पद्मना परिकीर्तितम्॥

दक्षिणावर्तयोगेन लिखनं चिन्तयेद्धिया।
अनुलोमः सृष्टिकाले संहारे प्रतिलोमकः॥

एवं विचिन्त्य स्वदेहं जीवात्मानं विचिन्तयेत्।
मूलाधारे स्थितं जीवं कुण्डलीरूपसंस्थितम्॥

बिद्युदग्निसमुद्भूतं तडित्कोटिसमप्रभम्।
हूङ्कारेण समुच्चार्य मूलाधारात् तदा पुनः॥

निर्वात् इव दीप्तोऽपि यथा देहसमन्वितः।
सोऽहं मन्त्रमयं देहं जीवात्मानं विचिन्तयेत्॥

(p. 10b) ध्यानेन ध्यानयोगेन चिन्तयेच्च शनैः शनैः।
एवं विचिन्त्य स्वदेहं प्राणायामं ततः परम्॥

देवता च तथा जीवं समभारं विचिन्त्य च।
अकारादिक्षकारान्तं पुरकं कुम्भ(क) रेचकम्॥

वारत्रयं ततः कुर्यात् विधिनानेन देहिकः।
अकारादि क्षकारान्तं पुरयेदिडया शनैः॥

एवं विचिन्त्य स्वदेहं प्राणायामः ततः परम्।
कादिमास्तैः कुम्भयेच्च सुषुम्नायां विधानतः॥

पिङ्गलायां रेचयेच्च यादिफान्तैः शनैः।
प्राणायाममिदं प्रोक्तं सर्वतन्त्रसमन्वितम्॥

त्रिः पठेदायतः प्राणः प्राणायामः प्रकीर्तितः।
कुम्भयित्वा समातृका मातृका चानुलोमतः॥

पञ्चभूतं महाभूतं स्वजीवञ्च विचिन्तयेत्।
स्वजीवं गुणसंयुक्तं विन्यस्य प्राणमुच्चरेत्॥

संपुट्य स्वरवर्णेन सर्वगेण हृदादिषु।
प्राणप्रतिष्ठां कूर्ध्वीत हृदये तनुसंयुतम्॥

दक्षस्य तनुसंयुक्तं कथितं मन्त्रवेदिना।

आननं बिन्दुसंयुक्तं अर्द्धचन्द्रविभूषितम् ॥

लज्जाबीजमिदं प्रोक्तमक्षोभ्येन सुरेश्वरि ।
ब्रह्मा बिन्दुसमायुक्तं वह्निबीजसमन्वितम् ॥

एषोदशस्वरेणाद्यं अङ्कुशं परिकीर्तितम् ।
प्राणप्रतिष्ठामन्त्रस्य देवता ब्राह्मणादयः ॥

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ऋषयः परिकीर्तिताः ।
ऋग्यजुश्चैव सामानि च्छन्दांसि च तदा भवेत् ॥

याद्याः सप्तसकारान्ता अत्रिमेत्रसमन्विताः ।
शिरोऽर्द्धदन्तसंयुक्तं हंसमन्त्रसमन्वितम् ॥

कुण्डलीं तां समानीय तेन मार्गेण साधकः ।
मूलाधारे स्थापयित्वा हंसमन्त्रं जपेद्बुधः ॥

पञ्चाशद्वर्णबीजानि बिन्दुयुक्तानि चिन्तयेत् ।
मम प्राणा इह प्राणा मम जीव इह स्थितः ॥

सर्वेन्द्रियाणि धातुनि सत्वानि परिचिन्तयेत्।
भूतानि चैव तत्वानि विचिन्त्य विधिनामुना॥

इहागत्य सुखं चिरं तिष्ठस्तु वह्निसुन्दरी।
एष प्राणमनुः प्रोक्तः सर्वतन्त्रसमन्वितः॥

नृसिंहस्य च बीजेन प्राणप्रवेशनं स्मृतम्।
तदा प्राणस्य ध्यानञ्च संम्मरेत् प्रयतः शुचिः॥

वाह्यदेवतायाः प्राणमन्त्रं दिशेच्च सुन्दरी॥॥

इति श्रीविश्वसारतन्त्रे देहोत्पत्तिर्नाम प्रथमः पटलः॥ १॥

द्वितीयः पटलः।

अथ योगं प्रवक्ष्यामि शृणुष्व कमलानने।
ब्रह्मणा भाषितं पूर्वे नारदाय कृते युगे॥

तत् शृणुष्व महेशानि मन्त्रमूर्तिविशुद्धये।
पञ्चभूतस्य विज्ञानं प्रधानं योगमुत्तमम्॥

तेषां गतिं विचिन्त्याथ इष्टदेवीं विचिन्तयेत्।
भूतानाञ्च गतिं वक्ष्ये स्वदेहे शृणु पार्वति॥

(p. 11) तदा तत् कालकालदासा गतिः शुभदायिनी।
योगशास्त्रं महेशानि साङ्गं मोक्षप्रदायकम्॥

जीवात्मपरमात्मनोरैक्यं सञ्चिन्तयेद्धिया।
समाधिः परमं योगं सर्वतन्त्रसमन्वितम्॥

विशुद्धं निर्मलं नित्यं सदसद्भाववर्जितम्।
मनसा वचसा चैव कायिकेन विचिन्तयेत्॥

तदेव परमं योगं शिवेन भावितं पुरा।
शुद्धं शुद्धगुणं देवं चिन्तयेत् तमहर्निशिम्॥

सदाशिवं शक्तियुक्तं सहस्रदलसस्थितम्।
मनसा भावशुद्धेन समाधौ चिन्तयेत् सदा॥

मन्त्रवर्णात्मकं देवं मन्त्रवर्णात्मिकां शिवाम्।

मनसाभ्यासयोगेन चिन्तयेत् साधकः सदा ॥

निश्चेष्टो निरहङ्कारो निर्द्वन्द्वा निस्परिग्रहः।
गो-काक-मृग-चर्चायां यदाचरति देशिकः ॥

भावयेद्विधिनानेन सर्वकालेषु सर्वदा।
सर्वतत्वेषु तं देवं तां देवीं सुरपूजिताम् ॥

नित्यां विशुद्धां शुद्धाद्यां सदसद्भाववर्जिताम्।
सर्वकालक्षयकरीं सर्वमन्त्रेषु संस्थिताम् ॥

अस्त्रविद्यात्मिकां नित्यां नानास्वर निवासिनीम्।
न जरा मरणं तत्र चिन्तयेद्दक्षजात्मिकाम् ॥

ज्योतिर्ब्रह्मात्मिकां देवीं चिन्तयेद्ध्यानयोगतः।
जित्वा दारात्मनः शत्रुन् कामक्रोधादिकं प्रिये ॥

कामं क्रोधं तथा मोहं लोभहिंसादयस्तथा।
इन्द्रादयश्च तान् सर्वान् ध्यानेन विधिना मुना ॥

ध्यायेन्मानसपद्मस्थां शक्तिं शिवसमन्विताम्।
नानालङ्कारसंयुक्तां नानागुणसमन्विताम्॥

षडुर्मयन्तदा जिह्वा चिन्तयेज्जगदम्बिकाम्।
कामादयन्तु देवेशि दुःखानि कथितानि ते॥

योगाष्टाङ्गैरिमां जित्वा योगिनो युगमाप्नुयात्।
अपश्यदात्मनो देहे सहस्रारे शिवं स्मरेत्॥

तदेवं पुरुषं पूर्णं मायाञ्च तदपाश्रयाम्।
एवं चिन्तयित्वाथ समाधिं योगमभ्यसेत्॥

दाहशक्तिं यथाङ्गारे आश्रयं वाप्य तिष्ठति।
यमाद्यागमसस्पग्ने स एव श्रीसदाशिवं॥

तस्य चाङ्गविभागेन शास्त्रमेतत् प्रकीर्त्यते।
यमं नियममासनं प्राणायामस्तत परम्॥

प्रत्याहारं धारणञ्च ध्यानञ्चैव समाधिकम्।
अष्टाङ्गयोगमित्युक्तं सर्वतन्त्रसमन्वितम्॥

अहिंसा सत्यमन्तयं ब्रह्मचर्यकृपार्जवम्।

क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचञ्च दमनं तथा॥

एते यमा महेशानि सर्वतन्त्रसमन्विताः।

तपः सन्तोषमास्तिक्यं दानं देवस्य पूजनम्॥

सिद्धान्तश्रवणं नित्यं ह्रीर्मतिश्च जपो हृदम्।

दशैते नियमाः प्रोक्ताः सरतन्त्रसमन्विताः॥

पद्मासनं स्वस्तिकाख्यं तथा।

बीरासनमिदं प्रोक्तं पञ्चकं क्रमतः सुधीः॥

उर्वो भद्रवज्रासनं रुपरि विन्यस्य सम्यक् पादयुगं प्रिये।

अङ्गुष्ठौ च निबद्धयात् व्युत्प्रमेणैव पृष्ठके॥

पद्मासनमिदं प्रोक्तं सर्वतन्त्रसमन्वितम्।

(p. 11b) जानुनोरन्तरे सम्यक् कृत्वा पादतले पुनः॥

ऋजुकायो विशेद्योगी स्वस्तिकासनमीरितम्।

सीमान्याः पार्श्वयोर्न्यसेद् गुल्फयुग्मं सुनिश्चितम् ॥

वृषाधः पार्श्वपादौ तु पाणिभ्यां परिलाञ्छयेत् ।
भद्रासनमिदं प्रोक्तं योगिनां हृदयङ्गमम् ॥

उर्वाः पादौ क्रमान्नस्य जान्वोः प्रत्यङ्मूखेऽङ्गुली ।
करौ निदध्याद्देवेशि वज्रासनमुदाहृतम् ॥

एकपादमधः कृत्वा विन्यस्योरौतथेतरम् ।
ऋजुकायो विशेद्योगी वीरासनमुदाहृतम् ॥

आसनानि वहुन्येव सन्ति वेदेषु पार्व्ति ।
सर्वेषां श्रेष्ठमित्युक्तं स्वस्तिकाख्यं सुखावहम् ॥

इडया पुरयेड्वायुं यं जप्त्वा षोडशमात्रया ।
धारयेच्च सुषुम्नायां चतुःषष्ट्या तु तं स्मृतम् ॥

पिङ्गलायां त्यजेद्वायुं द्वात्रिंशत्तेन मात्रया ।
भूतशुद्धयात्मकं प्राहूः सर्वतन्त्रविदो जनाः ॥

रंमन्त्रंअ प्रितलोमेन पूरककुम्भकरेचकम्।
तेनैव विधिना कृत्वा ठंमन्त्रं प्रज्पेत् ततः॥

तेनैव विधिना जम्वा पापे भष्मनि संत्यजेत्।
लंमन्त्रे चिन्तयेद्देहं पञ्चाशद्वर्णसंयुतम्॥

धराबीजेन तं देहं दृढीकृत्य स्वयं ततः।
मात्रावृद्धिक्रमेणैव जपेद् द्वादश षोडश॥

जपेन्न्यासादिकं कृत्वा सर्वसिद्धिं लभेन्नरः।
क्रमादभ्यसतस्तस्य न्वोदगमा * * * धमः॥

मध्यमं कल्पसंयुक्तो भूमित्यागं ततः परम्।
उत्तमस्य गुणावाप्तिर्यावत् शीलनमीष्यते॥

इन्द्रियाणां विचरतं विषयेषु द्विधा कृताम्।
वलादाहरणं तेभ्यः प्रत्याहारः समहृतः॥

अङ्गुष्ठगुलफजानुरुर्मनसि लिङ्गनाभिषु।
हृच्छिरः कण्ठदेशेषु लम्बिकायास्तथ नसि॥

भ्रूमध्ये मस्तके मूर्ध्नि द्वादशान्ते तथा विधिः।
धारणं प्राणमरुतो धारणा परिकीर्तिता॥

समाहितेन मनसा चैतस्यान्तरवर्तिना।
आत्मन्यभीष्ठदेवानां ध्यानं ध्यानविदो विदुः॥

समत्वभावनानित्यं जीवात्मपरमत्मानोः।
समाधिः कथितो देवि सर्वतन्त्रसमन्वितः॥

ध * * * वत्यङ्गुलायां शरीरमुभयात्मकम्।
गुदधवान्ते तु * स्कन्धमुत्सेधं द्वाङ्गुलं विदुः॥

तस्य द्विगुणविस्तारं वृत्ताकारेण संस्थिताम्।
नाड्यन्तत्र समुद्भूता मुख्यान्तिस्त्रः समीरिताः॥

इडा वामे स्थिता नाडी चित्र सा योगिनां शुभा।
ब्रह्मरन्ध्रं विदुस्तस्यां पद्मसुत्रनिभं प्रिये॥

आधारञ्च विदुस्तत्र सर्वतन्त्रसमन्वितम्।

दिव्यमग्र्मिदं प्राहरमृतानन्दलक्षणम् ॥

इडायां चिन्तयेच्चन्द्रं पिङ्गलायां दिवाकरम् ।
सुषुम्नायान्तु देवेशि तावुभौ चिन्तयेत् तनौ ॥

अग्निसोमात्मिका नाडी सुषुम्ना तन्त्रसम्मता ।
आधारपद्ममध्यह्लं? त्रिकोणमतिसुन्दरम् ॥

ज्योतिषां निलयं तच्च कथितं पद्मयोनिना ।
तत्र विद्युल्लताकारा कुण्डली परदेवता ॥

परिष्कृरति देहेऽस्मिन् सुप्ताहिसदृशाकृतिः ।
(p. 12) विभर्ति कुण्डली देहमात्मानं हंसमन्त्रतः ॥

हङ्कारवर्णसम्भूता कुण्डली कुलनायिका ।
गमनागमने मन्त्रं हङ्कारं लङ्करेण च ॥

कथितं बीजमन्त्रस्य कुण्डस्यास्तत्र सम्मतम् ।
हंसप्राणाश्रयो नित्यं प्राणनाडी पथाश्रयं ॥

आधाराद्वहते वायुर्यथावत् सर्वदेहिनाम् ।
देहं प्राप्य सुनाडीभिः प्रयाणं कुरुते वहिः ॥

द्वादशङ्गुलमात्रेण प्राणस्य पुरुषस्ततः ।
वायुरूपेण जीवोऽसौ सर्वज्ञो व्यापकः स्मृतः ॥

मुलाधारात् सहस्रारं व्याप्य तिष्ठति कुण्डली ।
सुषुम्ना मध्यदेहे च सुक्ष्मात् सुक्ष्मस्वरूपिणी ॥

वायुस्वरूपा सहिता वायुमास्थाय तिष्ठति ।
आयाति याति सततं कुण्डली परदेवता ॥

रम्ये मृद्वासने पुण्ये पटाजिनकुशोत्तरे ।
स्वस्तिकासनमास्थाय योगमार्गपरो भवेत् ॥

ज्ञात्वा भूतोदयं देहे यथावत् प्राणवायुना ।
शक्तिरूपां ध्यायेद्वामे पार्श्वे नाभौ सदा प्रिये ॥

पिङ्गलाया महेशानि शम्भुरूपं दिवाकरम् ।
चन्द्ररूपां वामनाड्यां शिवानीं चिन्तयेद्धिया ॥

भूतात्मके तु देहेऽस्मिन् सर्वभूतोदयं शृणु ।
चिन्तयेद्वायुनानेन सर्वसिद्धाप्तये सुधीः ॥

किं राज्यैरसदालापैर्षत्रायुर्वायतामियात् ।
श्वाससंहरणान्नाड्या गतिं तेषां विचिन्तयेत् ॥

ध्यात्वात्मकमिदं देहं पोषयेच्छम्बुगेहिनी ।
दण्डाकारगतिर्भूमेस्तोस्वस्य पु* कामता ॥

ऊर्द्धगतिः पावकस्य वायोतिर्यक् गतिः स्मृता ।
गतिर्व्योम्नोर्भवेन्मध्या सर्वतन्त्रसमन्विता ॥

ध्यात्वात्मकमिदं देहं पोषयेद्वायुरूपिणी ।
त्वचि स्थिता महामावा असृक् स्थिता शिवा शुभा ॥

तथा मांस स्थितां देवी तथा मेदं स्थिता सती ।
अस्थि स्थिता शिवपत्नी सा मज्जारां शम्भुसुन्दरी ॥

शुक्रस्था वायुरूपा च तथा प्राणात्मिका स्मृता ।

जीवप्रापात्मिका नित्या सर्वक्षेत्रेषु संस्थिता ॥

मारणादिं प्रकूर्वीत भूतानामुदये सुधीः ।
विचिन्त्य चात्मानो देहे गतिस्तस्य प्रिये सदा ॥

वरणेरुदये कुर्यात् स्तम्भनं सर्वसम्मतम् ।
शान्तिकं पौष्टिकं तोयस्य समये प्रिये ॥

मारणं कुरुते शत्रोरग्नेरुदययोगतः ।
वायोस्तु उदये कुर्यात् स्तम्भनं सर्वसम्मतम् ॥

अथ उच्चाटनं कुर्यात् सर्वतन्त्रसमन्वितम् ।
क्षेत्रादिनाशनं कुर्यात् आकाशस्योदये सुधीः ॥

आसुर्योदयमारभ्य यावद्वै घटिकाद्वयम् ।
एवं क्रमेण विज्ञाय षट्कर्मषु विचिन्तयेत् ॥

आधाय वायुनक्षत्रं योगमेवं विचिन्तयेत् ।
मारुतं चिन्तयेद्देहे ध्यानयोगेन देहिकः ॥

ध्यात्वा वायुं स्वदेहे तु चिन्तयेत् परदेवताम् ।
नादः संजायते क्षेत्रे वायुना परमेश्वरि ॥

मत्तभृङ्गसमश्चादौ तथा वंशीधवनिं श्रुतः ।
तदा घण्टास्वनो जातस्तदा मेघस्वनन्ततः ।

(p. 12b) एवमभ्यसतस्तस्य नास्ति शोकादिदोषजम् ।
भयं तस्य भवेत् सिद्धिः सर्वसिद्धिरनुत्तमा ॥

नादो भवेत् ततो बिन्दुश्चन्द्रसुर्यात्मकः स्मृतः ।
बिन्दुं नादात्मकं केचिद्वदन्ति मुनिमत्तमाः ॥

बिन्दुनादात्मकं सर्वं चराचरमिदं जगत् ।
बिन्दुः पुमान् भवेन्नादः स्त्रीरूपः सर्वसम्मतः ॥

जगतां कारणं नादः कथितः पद्मयोनिना ।
बिना मैथुनधर्मेण न सिद्धिः स्यात् कथञ्चन ॥

हंसौ तत्र समुद्भूतौ पुंस्त्रियौ तन्त्रसम्मतौ ।
हंमन्त्रे पुरुषः प्रोक्तः सकारः प्रकृतिः स्मृता ॥

तविमौ सकलं विश्वं व्याप्तौ तत् कुण्डकेन च।
तदा तद्भावमाप्नोति तदा सोऽहमिति स्मृतः॥

स एव परमं ब्रह्म कुटस्थो जगदङ्कुरः।
सर्वे देवास्तथावेदा दिग्वाताद्यादरन्तथा॥

त्रुट्यादिकालकल्पाश्च तत्तद्देवस्तदात्मकः।
यस्मिंश्च प्रणयं यान्ति विनाशं जगदीश्वरि॥

यस्मिन् सृष्टिः सदोद्भूतिर्यस्मिन्नद्यापि जायते।
स एवं परमं ब्रह्मसोऽहस्तावेन जायते॥

सहवर्णो बिन्दुपाथसक्तिवर्णं दिशेस्मुदा।
प्रणवं सर्वतन्त्रेषु कथितं पद्मयोनिना॥

परानन्दमयं ब्रह्म शब्दब्रह्मविभूषितम्।
आत्मनो देहमध्ये तु सर्वतन्त्रात्मकं प्रिये॥

चिन्तयेद्विधिनानेन ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम्।

जगतां कारणं प्रोक्तं वेदमन्त्रस्य कारणम्॥

गायत्री प्रणवञ्चैव सर्वतन्त्रेष्वयं विधिः।
गायत्री प्रणवस्याथ मन्त्रार्थं ब्रह्मणा पुरा॥

चतुर्वेदेषु शास्त्रेषु न निष्ठातः पुरोगतः।
समाधियोगमेतद्धि कथितं पद्मयोनिना॥

समाधौ चिन्तयेद्देवीं भूतशुद्ध्यादिकं दिशेत्।
न्यासजालं विधायाथ समाधौ पूजयेत् सदा॥

समाधौ यादृशं कुर्यात् पूजनं जलतर्पणम्।
वाह्ये तु तादृशं कुर्यात् शङ्करेण च भाषितम्॥ ॥

अतः परं कर्मयोगं वक्ष्यामि शृणु शङ्करि।
आश्रमं विविधं तत्र कथितं पद्मयोनिना॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः सर्वतन्त्राधिकारिणः।
कर्माधिकारिणस्ते तु सर्व तन्त्राधिकारिणः॥

तत्प्रसादाद्भवेन्मुक्तिः संसारभवबन्धनात् ॥ ८६ ॥

इति निश्वासकारिकायां दीक्षोत्तरे तन्त्रावतारः चतुर्थः पटलः ।

देवी -

भगवन् श्रोतुमिच्छामि किञ्चित्कौतूहलान्विता ।

तत्वमाचक्ष्व देवेश यदि स्याद्वरदो मम ॥ १ ॥

बिन्दुनादं तथा शक्तिनाडीत्रयमिदं शुभम् ।

यत्र तत्वञ्च देवेश उत्क्रान्तिसिद्धिसाधनम् ॥ २ ॥

पृ। ८३८)

एकादशविधञ्चैव नवात्मे सर्वमाश्रितम् ।

तेन सर्वमिदं कार्यं तेन सर्वमिदं ततम् ॥ ३ ॥

दृश्यते च कथं बिन्दुः कतिरक्षरयोजितः ।

कस्मिन् कस्मिन् प्रदेशे तु द्रष्टव्यं बिन्दुमीश्वरम् ॥ ४ ॥

करण एव कथं तस्य येन दृश्यते तत्वतः ।

नादश्चैव तथा शक्तिः हृल्लक्षस्य च दर्शनम्॥ ५॥

सर्वमेतद्यथा न्यायं कथयस्व प्रसादतः।

ईश्वरः -

शृणु देवि परं गुह्यं रहस्यमिदमुत्तमम्॥ ६॥

तदहं संप्रवक्ष्यामि साधकानां हितावहम्।

पृ। ८३९)

नवात्मकेन सर्वेशि यथा भवति तच्छृणु॥ ७॥

वर्णाष्टकं धृवं देवि बिन्दुर्व्यापक उच्यते।
नादं तस्य शिखा प्रोक्ता शक्तिस्तु परमं स्थिता॥ ८॥

एकादश पदार्थन्तु कारणं परमस्ति च।
गुरुवक्राच्च लभ्येत यथा तेनैव चोदितः॥ ९॥

अकार उकार भेदेन मकारेण तथैव च।

यथा कर्माणि कुरुते कथयामि तवाखिलम्॥ १० ॥

सर्वज्ञानपरं सूक्ष्मं सर्वज्ञानं सुदुर्लभम्।
अनादिपरमं ज्ञानं अनादि परमव्ययम्॥ ११ ॥

बिन्दुनादं तथा शक्तिं सूक्ष्मं परमव्ययम्।

पृ। ८४०)

यथा प्राप्स्यसि तन्नादं बिन्दुश्च भुवि दुर्लभम्॥ १२ ॥

न मया कस्यचित्ख्यातं तत्ते वक्ष्यामि सुव्रते।
भ्रुवोर्मध्ये समाख्यातं देवदेवं महेश्वर॥ १३ ॥

शुद्धस्फटिकसङ्काशं सर्वतत्वप्रकाशकम्।
वर्जितं दर्शतत्वैश्च दर्शतत्वप्रकाशकम्॥ १४ ॥

दृश्यते च तदा तेजो ज्वलन्तं स्वेन तेजसा।
दीपौ तस्य समाख्यातौ उभौ तौ शशि भास्करौ॥ १५ ॥

अवस्था स्थिता चेताख्यातयन्तौ सन्ततः।

इडा दृश्यति वामेन सुषुम्ना दक्षिणेन तु॥ १६॥

ताभ्यां मध्ये परं स्थानं यत्र बिन्दुर्व्यवस्थितः।

पृ। ८४१)

घटमध्ये यथा दीपः तद्धटं वै प्रकाशते॥ १७॥

उपदेशविहीनस्तु परं तत्वं न दृश्यते।

यथादर्शो मलैर्ग्रस्तः प्रतिबिंबं न दृश्यते॥ १८॥

तद्वद्योगविहीनस्य प्रत्यक्षं न च दृश्यते।

उभयोरपि पाणिभ्यां धारसंस्थाप्य बुद्धिमान्॥ १९॥

उपदेशसमायोगात् दृश्यते बिन्दुरीश्वरः।

नासा श्रोत्रं तथा चक्षुः उभयोरपिच्छादयेत्॥ २०॥

षड् द्वाराणि च संस्थाप्य पश्यते बिन्दुमीश्वरम्।

छादनात् त्यज्यते बिन्दुः शुद्धस्फटिकनिर्मलः॥ २१॥

विधुं निर्मलं बिन्दुं स बिन्दुं तेजसान्वितम्।

पृ। ८४२)

शब्दनादविनिर्मुक्तं ध्यातव्यं परमं शिवम्॥ २२॥

बिन्दुलीनमनः कृत्वा ध्यायेद्बिन्दुसुयन्त्रितः।
यथा सर्वगतो वायुं पीठस्थो न च दृश्यते॥ २३॥

एवं सर्वगतो बिन्दुः योगहीनो न दृश्यते।
अरणिस्थो यथा वह्निः विद्यमानो न दृश्यते॥ २४॥

योगहीनस्तथा बिन्दुः न तु दृश्यति सुन्दरि।
संयोगेन तथा बिन्दुः प्रत्यक्षो दृश्यते तदा॥ २५॥

सर्पिः क्षीरे यथाव्यक्तं विद्यमानं न दृश्यते।
तद्वत् सर्वगतो बिन्दुः योगहीनो न दृश्यते॥ २६॥

यथा सर्पि च अग्निश्च प्रयोगेण तु सुन्दरि।

पृ। ८४३)

प्राप्यते च तथा बिन्दुः योगिनाञ्च महात्मनाम्॥ २७॥

तोयकान्तो मणिर्यद्वत् प्रक्षिप्तोपि महाहृदे।
प्रकाशयति तत्तोयं आत्मक्रीडेन तेजसा॥ २८॥

उद्धृतेन मणिर्यद्वत् जलमग्नौ प्रकाशके।
तद्वद्योगविहीनस्य बिन्दुश्चैव न दृश्यते॥ २९॥

ध्यानात्सा जायते बिन्दुः संयोगाद्दृश्यते पुनः।
ध्यानं योगं समाख्याय पश्यते बिन्दुमीश्वरम्॥ ३०॥

योगिनां प्रत्ययो बिन्दुः प्रत्ययात्प्राप्यते परम्।
परत्वादपरं नास्ति नित्ययुक्तं सदा भवेत्॥ ३१॥

कारणेन तु संप्राप्तिः प्रयोगाच्चैव सुन्दरि।

पृ। ८४४)

कथितं स रहस्यन्तु ज्ञातव्यं योगिभिस्सदा ॥ ३२ ॥

दृष्ट्वा बिन्दुर्ज्वलन्तं तु नेत्र मध्ये व्यवस्थितः ।
विज्ञेया च सदा देवि शिखा तस्यैव मध्यतः ॥ ३३ ॥

दृश्यते तत्परं सूक्ष्मं बिन्दुकोटिसमप्रभम् ।
तल्लयस्सततं योगी लक्षयेत्सुसमाहितः ॥ ३४ ॥

शृणुष्वावहिता देवि नादञ्च बिन्दुदुर्लभम् ।
नव तत्वानि देवेशि यान्युक्तानि नवात्मके ॥ ३५ ॥

तेषां मध्ये यकाराद्याः सप्तबीजाः समाहिताः ।
आदिहुङ्कारसंयुक्तः सप्तैते भुविदुर्लभाः ॥ ३६ ॥

फट्कारेण समायुक्ताः सद्योद्भ्रमण विश्रुताः ।

पृ। ८४५)

सद्यस्सङ्क्रामणन्त्येते एकमेव नियोजिताः ॥ ३७ ॥

षष्ठञ्च यत्परं बीजं वर्गान्ते च व्यवस्थितः ।

हाकाररूपसंयोगात् चिन्त्यमानस्तु सोत्क्रमात् ॥ ३८ ॥

एवमन्ये समाख्याताः पञ्चबीजं समासतः ।

अकारादिमकारान्ता मकारोकारयोजिताः ॥ ३९ ॥

सद्योत्क्रामकराह्येते कथितास्तव शोभने ।

एतास्सप्तसमाख्याताः क्षुरिकाः प्राणहारिकाः ॥ ४० ॥

लक्षञ्जपेन्न सन्देहः सत्यं देवि वदाम्यहम् ।

सप्तानान्तु समाख्यातमष्ट ओङ्कार उच्यते ॥ ४१ ॥

हुंफट्कारसमायुक्ताः सद्य उत्क्रामयेत्प्रभुः ।

पृ। ८४६)

ओङ्कारं सर्वदेवत्यं सर्वव्यापी परश्शिवः ॥ ४२ ॥

त्र्यक्षरञ्च त्रिदेवत्यं त्रिमात्राद्यधिकं तथा ।

तत्र चोत्पद्यते शंभुः शब्दातीतस्तु निष्कलः ॥ ४३ ॥

परस्सूक्ष्मतरो देवः सर्वपाशविमोचकः।

नानामार्गस्थितो व्यापी सर्वलोकस्य दुर्लभः॥ ४४॥

त्रीणि स्थानानि देहेस्मिन् यत्र नादो व्यवस्थितः।

हृदये चैव कर्णे च भ्रुवोर्मध्ये तथैव च॥ ४५॥

यत्र सूत्राकृतिः सूक्ष्मं शुद्धस्फटिकसप्रभम्।

तुर्यद्वारमिति प्रोक्तं देवयानमिति स्मृतम्॥ ४६॥

मार्गत्रयमिति प्रोक्तं नाडीत्रयमिति स्मृतम्।

पृ। ८४७)

देवतानां त्रयश्चैव शक्तित्रयमिति स्मृतम्॥ ४७॥

फलत्रयमिति ख्यातं देहेस्मिन् परमेश्वरि।

सर्वगः सर्वतो व्यापी सर्वमापूर्यतिष्ठति॥ ४८॥

अकारं हृदि मध्ये तु जागर्तीत्यवस्थितः।

पद्मस्य कर्णिकामध्ये ब्रह्मा तत्र व्यवस्थितः॥ ४९॥

उकारं कर्णमाश्रित्य ब्रह्मस्थानं तदुच्यते।
तालुजिह्वमिति ख्यातं द्वितीयं स्थानमुच्यते॥ ५०॥

अकारन्नेत्रमाध्ये तु सुषुप्तपदमुच्यते।
लवं कस्य तु तत्स्थानं कथितं तव शोभने॥ ५१॥

अर्धमात्रपदे तस्य तुर्यब्रह्मपदे स्थितः।

पृ। ८४८)

मूर्ध्नि स्थानं परं सूक्ष्मं मोक्षमार्गप्रदायकम्॥ ५२॥

तुर्यातीतं परं देवि सुसूक्ष्मपदमव्ययम्।
तं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुः भवेत्संसारबन्धनात्॥ ५३॥

तुर्यातीतमिति प्रोक्तं यत्र गत्वा न शोचति।
एवं व्याप्तमिदं सर्वं वाङ्मयं स चराचरम्॥ ५४॥

एतेषां नादमध्ये तु शिवं तत्र व्यवस्थितः।
हृदयं देहमध्ये तु तत्र पद्मं व्यवस्थितम्॥ ५५॥

कर्णिकापद्ममध्ये तु अकारं तस्य मध्यतः।
तस्य मध्ये विनिष्क्रान्तं नादं परमदुर्लभम्॥ ५६॥

उकारञ्च मकारञ्च भित्वा नादो विनिर्गतः।

पृ। ८४९)

तुर्यद्वारविनिष्क्रान्तं द्वयन्तस्य विचिन्तयेत्॥ ५७॥

अकारे तु समुत्थाय ब्रह्मद्वारसमुद्गतम्।
एष शब्दस्समाख्यातो मोक्षमार्गप्रदायकम्॥ ५८॥

एतद्ध्यानवरं दिव्यं सेवितव्यं प्रयत्नतः।
ध्यानेन तु किमन्येन तपसोग्रेण वा पुनः॥ ५९॥

किं तीर्थगमनैर्वापि ध्यानैर्वापि सुपुष्कलैः।
विदन्ते नादसद्भावे बिन्दुदेवे च शोभने॥ ६०॥

यद्येकं विदितं नादं सूक्ष्ममेकं परापरम्।
अथापि दीपदेहस्तु आकाशे तु यथा शिवा॥ ६१॥

लीना सर्वगता तद्वत् न दृश्यति चांबरम्।

पू। ८५०)

एवं सूक्ष्माति सूक्ष्मस्य नादतत्वस्य निर्णयः॥ ६२॥

एष नादः समुद्दिष्टः सर्वतन्त्रेषु चोत्तमः।
सूर्यरश्मिसहस्राभा मध्ये नाडी प्रकीर्तिता॥ ६३॥

सहिता सर्वतत्वैश्च शक्तिना सह संयुता।
सा नाडी सर्वशब्दानां तत्वानाञ्चैव शोभने॥ ६४॥

सङ्गृह्य समुदायेन शिवतत्वे तु लीयते।
सूक्ष्मा च सर्वगा चैव ज्ञात्वा ज्ञानी विमुच्यते॥ ६५॥

हित्वा सूर्यञ्च सोमञ्च सर्वगः स शिवो भवेत्।
* * * * * * * * * * * * ?

तु लीयते ॥ ६६ ॥

* * * * * * ? सा तु नादं तस्यां तु लीयते ।

पू। ८५१)

सूर्यमण्डलमध्ये तु अकारस्तु व्यवस्थितः ॥ ६७ ॥

तत्र चोत्पद्यते शब्दो विश्रमेच्छशिमण्डले ।

स्वयं विष्णुस्समुत् * * * * * * * * *

* ? ॥ ६८ ॥

* * * * ? परं स्थानं वह्निमण्डलमुत्तमम् ।

मकारेति च विख्यातो भित्वा नादो लयं स्थितः ॥ ६९ ॥

पिङ्गलामार्गमापन्ना तुर्यद्वारेति विश्रुता ।

अर्धमात्रा तु * * * * * * * * * *

* ? ॥ ७० ॥

ध्यायेत्तु परमं नादं तुर्यद्वारेण योगवित् ।

लयं तस्य तु देवेशे यत्रासौ परमश्शिवः ॥ ७१ ॥

तदेव निष्कलं तत्वं चिन्त्यते मोक्षवादिभिः ।

पृ। ८५२)

* * * * * * * ? न्ते शिवतत्वविदो जनाः ॥ ७२

॥

देव्युवाच -

मण्डलानाञ्च देवानां तत्वानाञ्च महेश्वर ।

हृल्लक्षः परमो ज्ञेयो योगिनाञ्च तथैव हि ॥ ७३ ॥

तस्मिन् प्रवर्तते सिद्धिः योगञ्च भु * * * * ? ।

* * * * * * * * * * * *

* ? महंसि ॥ ७४ ॥

ईश्वरः -

सबीजनिर्बीजविभागेन नवमात्मा परिकीर्तितः ।

ह्रासह्रासविभागेन नानासिद्धिफलप्रदा ॥ ७५ ॥

षडक्षरपरञ्चैव पञ्चाक्षरपरं शुभम् ।

पृ। ८५३)

चतुरक्षरं विजानीयात् * * * * * * * ? ॥ ७६ ॥

* * * * * ? देवेश अङ्गानि कथितानि तु ।
संपूर्णः शिव इत्युक्तः स एव परमेश्वरि ॥ ७७ ॥

एकैकह्रसिता ये तु बिन्दुरुकारयोजिता ।
हृदयादि समुद्दिष्टा ज्ञातव्यास्तु वरानने ॥ ७८ ॥

* * * * ? एते सर्वे उद्य उत्क्रमणा स्मृताः ।
हृल्लक्षदर्शनं देवि अचिरादेव जायते ॥ ७९ ॥

इदमन्यत्परं देवि कथिताम्यनु * * * ? ।
* * * * * * * * * * * ?
श्च तथैव च ॥ ८० ॥

यकार उकारसंयुक्तं वर्णत्रयविवर्जितम्।

पृ। ८५४)

ध्यायमानो वरारोहे बीजदीपेन बोधितः॥ ८१॥

सप्तरात्रेण पश्येत हृल्लक्षं परमेश्वरि।

विष्णुलिङ्गानि सङ्का * * * * * * * * *

? ॥ ८२॥

* * * * * ? ते योगी पीतनीलान्यनेकशः।

कृष्णशुक्लांस्तथा चान्यान् पश्यते रक्तवर्णकान्॥ ८३॥

निजैर्दीपितहृल्लक्षं संहरेत्सप्तमेहनि।

ज्वलते हृदि पद्मे तु निजदीपसुबो * * ?॥ ८४॥

* * * * * * * * * * * * * ?

स पश्यति।

ज्वलते दीप्तवद्देवि हृदयं निजदीपितम्॥ ८५॥

हृल्लक्षमेवं विख्यातं ज्ञातव्यं योगिभिस्सदा।

पृ। ८५५)

नाभेरूर्ध्वं वितन्तुकम् * * * * * * * *

? ॥ ८६ ॥

* * * * * * * * * * * *

* * * * ? ।

कर्णिकापद्ममध्ये तु बिन्दुस्तस्यैव मध्यतः।

ज्वलते भगवान् बिन्दुः दीपस्योर्ध्वशिखोपमः॥ ८७ ॥

हृदयं षडक्षरं प्राप्तं बीजं परमदुर्लभम्।

* * * * * * * * * * * ? त्तो

यथा कविः॥ ८८ ॥

एवमन्येपि ये प्रोक्ता वेदितव्या हितैषिभिः।

कथितं ते महाज्ञानं सर्वज्ञानेषु चोत्तमम्॥ ८९ ॥

इदं तत्परमं * * * * * * * * *

* ? ।

सुवर्णेन सहैकत्वं गच्छते नात्र संशयः ॥ ९० ॥

पृ। ८५६)

ज्ञानसिद्धिस्तथा देवि पशुर्याति परं पदम्।
शिवेन च सहैकत्वं गच्छते * * * * * ? ॥ ९१ ॥

* * * * ? दशाहाद्वा पश्यते नात्र संशयः।
दशाहान्नपरं लङ्घेत् पश्यते नात्र संशयः ॥ ९२ ॥

एतल्लक्षपरं दिव्यं सेवितव्यं प्रयत्नतः।
हिताय स * * * * * * * ? तव शोभने ॥ ९३ ॥

नवशक्तिसमायुक्तं धर्मज्ञानसमन्वितम्।
आसनं कल्प्य देवेशि तत्र न्यासन्तु कारयेत्॥ ९४ ॥

पूजयेत्सकलं देवि पञ्चब्रह्म समन्वितम्।
एकनावरणेनैव पूजनीयो महेश्वरः ॥ ९५ ॥

पृ। ८५७)

सर्वसिद्धिकरो देवः पूज्यमानो दिने दिने।

एवं पूज्य यथा न्यायं जपेध्यायेत्प्रयोगवित्॥ ९६॥

दशलक्षेण देवेशि मनसा यद्यदीप्सितम्।

तत्तत्प्राप्नोत्ययत्नेन साधको नात्र संशयः॥ ९७॥

इति निश्वासकारिकायां दीक्षोत्तरे बिन्दुनादयोगप्रकरणे पञ्चमः पटलः

-

देव्युवाच -

भगवन् श्रोतुमिच्छामि यजनञ्चानुपूर्वशः।

येन विज्ञातमात्रेण सिध्यते नात्र संशयः॥

प्। ८५८)

ईश्वरः -

प्रकृतिश्चादितः कृत्वा शिवतत्वमपश्चिमम्।

आद्यमध्ये तु ये तत्वाः कथयामि यथाक्रमम्॥ २॥

आदिवक्रं लिखेत्पद्मं केसरालं स कर्णिकम्।

सर्वसंहितसामान्यं कथितन्तु तवाखिलम्।

इति निश्वासकारिकायां दीक्षोत्तरे दशमः पटलः।

देव्युवाच -

भगवन् श्रोतुमिच्छामि मातृकाध्वानमुत्तमम्।
निस्संशयकरञ्चैव निर्वाणफलसाधनम्॥ १॥

ईश्वरः -

पृ। ९६६)

शृणु देवि परं गुह्यं कथयामि तवाखिलम्।
तेन विज्ञातमात्रेण प्राप्नोति परमं पदम्॥ २॥

मातृकायान्तु होतव्यमध्वानन्तु यथाक्रमम्।
षकारं शतरुद्रे तु दशधा परिकल्पयेत्॥ ३॥

पञ्चाष्टके शकारन्तु वकारो योनिरष्टके।
योगाष्टके यकारस्तु सुशिवेरं प्रभुस्मृतः॥ ४॥

पङ्क्तित्रये यकारस्तु मकारं पञ्चविंशके।
भकारस्संहितस्साध्ये बकारश्शिवसङ्करे॥ ५॥

असाध्ये तु फकारो वै वकारो हरिरुद्रके।
दशघाते नकारस्तु पञ्चशिष्ये च य स्मृतः॥ ६॥

पृ। ९६७)

महादेवे दकारस्तु थकारो गोपति स्मृतः।
शिवब्रह्मपदे तन्तु णकारो नन्दहेमके॥ ७॥

ढकारस्याद्दृषिकुले महामाया दृढप्रभुः।
वागेशान्ते ठकारस्तु टकारः प्रतिपाधिपः॥ ८॥

साधुस्थाने तृकारस्तु झकारो विमले स्थितः।
ध्यानाहारे झकारो वै विज्ञेयं साधकोत्तमैः॥ ९॥

दमने फस्तु विज्ञेयं चकारश्चैव रुद्रके।
धातारो वै दकारश्च घकारं भस्ममीश्वरे॥ १०॥

प्रणवाष्टगकारन्तु महविद्याष्टके च खम् ।
ककारो मूर्तिरष्टासु ओष्ठान्तो रूपकं विदुः ॥ ११ ॥

पृ । ९६८)

शक्तित्रये बिन्दुयुतं द्वे विद्ये औ तु कीर्तितम् ।
ओङ्कारोप्यस्त्रमित्युक्तमैङ्कारं कवचं विदुः ॥ १२ ॥

ए शिखा तु समाख्याता शिरं ॡकार उच्यते ।
हृदयन्तु ॡ विज्ञेयं ॠ सावित्री निगद्यते ॥ १३ ॥

गायत्री तु ऋकारन्तु धर्मादि ऊ प्रकीर्तितम् ।
आसने उ इति ज्ञेयं विज्ञेयं ई ति कर्णिका ॥ १४ ॥

इकारः शक्तिसंसक्तः आकारं पञ्चमीश्वरे ।
सदाशिवं विजानीयादकारः परमश्शिवः ॥ १५ ॥

पञ्चाशदक्षरैर्ह्येतैः अध्वानं यस्तु विन्दति ।
स ज्ञानात् स शिवस्साक्षात् स योगी स शिवं विदुः ॥ १६ ॥

पृ। ९६९)

पञ्चपञ्चभिराहुत्यैर्दशभिर्दशभिस्तथा।
विंशविंशतिभिश्चैव पञ्चविंशतिभिस्तथा॥ १७॥

पञ्चाशच्च शतञ्चैव ज्ञात्वा शक्तिबलाद्बलम्।
दीक्षाकार्या तु मन्त्रज्ञः पशूनाञ्च यथेच्छया॥ १८॥

निष्कले चतुराहुत्या शून्ये चैव त्रयं पुनः।
प्रशान्तेन द्वयं दद्यात् तत्तु एकाहुतिं हुनेत्॥ १९॥

सर्वाध्वानमशेषस्य एष एव विधिस्मृतः।
एतद्रहस्यं परमं गोपितं न प्रकाशितम्॥ २०॥

दीक्षिताय प्रशान्ताय अभिषिक्ताय धीमते।
गुरुप्रियाय दातव्यं शिवभक्तिरताय च॥ २१॥

पृ। ९७०)

अन्यथा नैव दातव्यं शिवभक्तिरताय च।

अन्यथा नैव दातव्यं दीक्षाज्ञानमिदं शुभम्॥ २२॥

सर्वसंहितसामान्यं सर्वतन्त्रेषु चोत्तमम्।
विदित्वा ज्ञानविज्ञानं मोचयेन्मुच्यतेति च॥ २३॥

विस्तरं कथितं यत्तु सकलेन तु होमयेत्।
वर्णमन्त्रपदेनैव कलया च चतुर्विधम्॥ २४॥

भुवनाध्वा कलाध्वा च तत्वाध्वा च वरानने।
ज्ञानाध्वा च पदाध्वा च वर्णाध्वा च यथा पुनः॥ २५॥

षट् प्रकारमिदं देवि अध्वानं परिकीर्तितम्।
एषामेकदशं शोध्यं देशिकेन महात्मना॥ २६॥

पृ। ९७१)

पूर्णाहुतिस्तु दातव्या योजनाय परे शिवे।
वसोर्धारप्रयोगेन दातव्यं देशिकेन तु॥ २७॥

मन्त्रद्रव्यप्रयोगेन युज्यते पशु तत्पदे।

तस्मान्मन्त्रञ्च तत्वञ्च महिमानञ्च शोभने ॥ २८ ॥

देवतानां परित्यागं स्वशरीरे यथाक्रमम् ।
बिन्दुनादलयञ्चैव लयातीतं परं पदम् ॥ २९ ॥

एवं क्रमेण देवेशि योजयेत्परमं पदम् ।
अतः संक्षेपतो देवि कथयामि तवाखिलम् ॥ ३० ॥

न रजो नाधिवासञ्च न भूक्षेत्रपरिग्रहः ।
यत्र यत्र प्रदेशे तु पूजयित्वा महेश्वरम् ॥ ३१ ॥

पृ। ९७२)

अध्वानं मनसा ध्यात्वा आचार्यस्तन्त्रपारगः ।
भुवनाध्वा तु यः प्रोक्तो मया तु तव सुवृते ॥ ३२ ॥

तं ध्यात्वाह्यात्मदेहे तु पशुदेशे तथैव च ।
होमयेत्तन्त्रवित्प्राज्ञः तत्वमार्गविचक्षणः ॥ ३३ ॥

आहुतीनां सहस्रन्तु अमनस्केन देशिकः ।

सहस्रेण तु युध्येत अमनस्केन शोभने ॥ ३४ ॥

भुवनाध्वैष विख्यातः शिवेन परमात्मना ।
स्रुवानुपूरणं यावत्तावत्कालं समादिशेत् ॥ ३५ ॥

अमनस्केन संयुक्तो देशिकः परमेश्वरि ।
सर्वमन्त्रमयः प्रोक्तः सर्वतत्वमयस्तथा ॥ ३६ ॥

पृ। ९७३)

सर्वदेवमयश्चैव सर्वभूतमयस्सदा ।
एतं हुत्वा तु पातव्यं पूर्णाहुत्या तु शोभने ॥ ३७ ॥

अन्ते तु योजनं कृत्वा शिवसायुज्यमिच्छता ।
एवं हुत्वा महादेवि लभते शाश्वतं शिवम् ॥ ३८ ॥

सर्वदीक्षामयं सारं शोभनं गोपितं मया ।
अन्याया कथिता दीक्षा एकाहुत्या तु शुध्यति ॥ ३९ ॥

एकाहुत्यापि देवेशि नियुज्येत्परमे पदे ।

किं पुनर्बहुधा हुत्या शुध्यतेति किमद्भुतम् ॥ ४० ॥

आहुतीनां सहस्रेण शुध्यते नात्र संशयः ।
अत एवं पुनर्वक्ष्ये संक्षेपं शृणु सुव्रते ॥ ४१ ॥

पृ। ९७४)

परमाक्षरेण होतव्यं सर्वाध्वानमशेषतः ।
पूर्णाहुतिशतेनैव शुध्यते च शिवाध्वरे ॥ ४२ ॥

एवं विधेन देवेशि दीक्षा निर्वाणगामिनी ।
निष्कलेन मया ख्यातं शून्येनैव तथा पुनः ॥ ४३ ॥

प्रशान्तेन समाख्यातं तत्वेनैव तथैव च ।
अकथ्येयमिदं शुद्धं गोपनीयं प्रयत्नतः ॥ ४४ ॥

एवं वै यो न जानाति न हि मोचयते पशुम् ।
न चासौ देशिकः प्रोक्तो न च योज्यः शिवाध्वरे ॥ ४५ ॥

इति निश्वासकारिकायां दीक्षोत्तरे शिवयागपटलः एकादशः ।

तेन तुष्टेन तुष्टास्तु अशेषभुवनाधिपाः ।
शिववत्पूजयेद्देवि आचार्यं तत्वपारगम् ॥ १२९ ॥

यथाहं तादृशस्सोहि गुरुस्तत्वविशारदः ।

इति निश्वासकारिकायां दीक्षोत्तरे अधिवासनः पटलः चतुर्दशः ।

पू । १०४१)

ईश्वरः -

शरीरं सर्वजन्तूनां सर्वदेवमयं स्मृतम् ।
वेदितव्यं प्रयत्नेन साधकैस्तत्वचिन्तकैः ॥ १ ॥

तत्वानि चोदितान्यादौ मया तु तव शोभने ।
शरीरे तानि सर्वाणि ज्ञातव्यानि विपश्चितैः ॥ २ ॥

इडा चैव सुषुम्ना च पिङ्गला च तथैव हि ।
नासां सञ्चारयोगं वै ज्ञातव्यं तत्ववेदिभिः ॥ ३ ॥

कलानाञ्चैव सर्वासां नाडीनां वायुभिस्सह ।
सञ्चारं ह्येष तत्वानां भोक्ता भोज्यं तथैव च ॥ ४ ॥

पृ। १०४२)

कालवेलविभागानि सङ्क्रमानि तथैव हि ।
ज्ञात्वा सर्वमशेषेण साधकस्सविधीयते ॥ ५ ॥

दक्षिणेन सुषुम्ना तु यदा वहति सुवृते ।
विज्ञेयस्स सदा तज्ज्ञो उत्तरायणमुत्तमम् ॥ ६ ॥

इडायान्तु यदा देवि तिष्ठते परमेश्वरः ।
दक्षिणायनमित्येव कथितं तव सुवृते ॥ ७ ॥

मध्यस्थन्तु यदा देवि पिङ्गलायां व्यवस्थितः ।
विषुवं स तु विज्ञेयं योगकालः प्रकीर्तितः ॥ ८ ॥

सुषुम्नायां स्थितो ब्रह्मा अकाराक्षरसंयुतः ।
आदित्यः स तु विज्ञेयो ज्येष्ठा शक्तिः प्रकीर्तिता ॥ ९ ॥

पृ। १०४३)

ज्ञानशक्तिरिति ज्ञेया सत्वस्थं तं विनिर्दिशेत्।
सांग्रत्स्थानं स विज्ञेयं दक्षिणेन व्यवस्थितः॥ १०॥

इडायां संस्थितो विष्णुरीकाराक्षरसंयुतः।
सोमस्य तु स तु ज्ञेयो वामा शक्तिः प्रकीर्तिता॥ ११॥

क्रियाशक्तिः स विज्ञेयो राजसं गुणलक्षणम्।
स्वप्नस्थानं स विज्ञेयं वामतस्तु व्यवस्थितम्॥ १२॥

मध्यमं रुद्रमित्याहुः उकारः परिकीर्तितः।
रौद्री तन्तु विजानीयादिच्छाशक्तिः प्रकीर्तिताः॥ १३॥

वह्निस्थानं हि यत्प्रोक्तं सुषुप्तं परिकीर्तितम्।
तामसन्तु विजानीयात् मध्यमे तु व्यवस्थितम्॥ १४॥

पृ। १०४४)

त्रिकालविषयं ज्ञानमेभ्यो देवि प्रकीर्त्यते।
भूतं ब्रह्म विजानीयात् भविष्यं वैष्णवे पदे॥ १५॥

वर्तमानं हि रुद्रत्वे सर्वशास्त्रे प्रतिष्ठिते।
त्रिकालमेकतो देवि बिन्दुदेवं व्यवस्थितम्॥ १६॥

सार्वकालं स*? वोक्तं ज्ञानकालस्वत स्मृतः।
तस्यातीतं भवोन्नादं देवदेवं सदाशिवम्॥ १७॥

त्रिकालज्ञानसंयुक्तं ज्ञात्वा भवति साधकः।
पञ्चधा पञ्चदेवत्यं सकलं व्याप्य संस्थितम्॥ १८॥

अनन्तमादितः कृत्वा प्रधानान्ते तु सुवृते।
ब्रह्माणमाधिपत्येन वेदितव्यं प्रयत्नतः॥ १९॥

पृ। १०४५)

पौरुषमादितः कृत्वा कालतत्वमपश्चिमम्।
ज्ञातव्यं हि तत्वज्ञैः विष्णुस्तत्राधिदैवतम्॥ २०॥

ग्रन्थिन्तु आदितः कृत्वा विद्यातत्वमपश्चिमम्।
विज्ञेयं तत्सदा तज्ज्ञैः रुद्रस्तत्राधिदैवतम्॥ २१॥

ईश्वरमादितः कृत्वा यावत्तत्वं सदाशिवम्।
ज्ञातव्यन्तु वरारोहे ईशस्तत्राधिदैवतम्॥ २२॥

उपरिष्टाच्छिवं तत्वं तत्र देवं सदाशिवम्।
एतत्सर्वमशेषेण ज्ञातव्यं देशिकेन तु॥ २३॥

सर्वेषामेव तत्वानां शिवो व्याप्य व्यवस्थितः।
ज्ञात्वा सर्वमशेषेण आचार्यस्स विधीयते॥ २४॥

पृ। १०४६)

निवृत्तिः कथितो ब्रह्मा प्रतिष्ठा विष्णुरुच्यते।
विद्या रुद्रस्समाख्यातः शान्तिरीश्वर उच्यते॥ २५॥

शान्त्यतीतन्तु देवेशि देवदेवं सदाशिवम्।
नादस्यैव क्रमेणैव देवता कथिता मया॥ २६॥

इण्डिका दीपिका चैव रेचिका मोचिका तथा।
*? नास्तु पञ्चमो ज्ञेयो निष्कलस्तु सदाशिवः॥ २७॥

ब्रह्माणमादितः कृत्वा ज्ञातव्यानि वरानने।
सूक्ष्मान्यायेन मया प्रोक्ता देवता ते प्रकीर्तिताः॥ २८॥

एताः कलाः समाख्याताः देवता नाडयस्तथा।
ज्ञातव्यं तत्वतो देवि साधकेन महात्मना॥ २९॥

पृ। १०४७)

कलानां देवतानाञ्च व्यापयित्वा व्यवस्थितः।
सञ्चारं कुरुते देवि स तु आत्मा विजानतः॥ ३०॥

अष्टतत्वा स्मृता देवि यैर्व्याप्तमखिलं जगत्।
तस्मिंस्तैस्तु समायुक्तसञ्चरेत् परमेश्वरः॥ ३१॥

तिर्यङ्मृगनराख्येषु तत्वभावेन्द्रियेषु च।
इष्टसेत्सर्वभूतेषु तत्वैर्युक्तो न संशयः॥ ३२॥

गमागमं ततो देवि विदित्वा साधको भवेत्।
अविदित्वा न सिध्येत न च याति परं पदम्॥ ३३॥

भोज्यं भोक्ता च दाता च तत्वैर्युक्तः करोति यः।

देव्युवाच -

पू। १०४८)

भगवन् श्रोतुमिच्छामि भोक्ता भोज्यञ्च शङ्कर॥ ३४॥

पानं पिबति कस्तत्र स्वादं गृह्णाति कः पुनः।
को वा क्षिपति गर्भे तु ग्रासं गृह्णाति कः प्रभो॥ ३५॥

रसानां विविधानान्तु विचारयति कः पुनः।
एतत्सर्वमशेषेण कथयस्व प्रसादतः॥ ३६॥

ईश्वरः -

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि समासात्साधकस्य तु।
येन विज्ञातमात्रेण अन्नदोषे न लिप्यते॥ ३७॥

दाता भोक्ता च मन्ता च सादाख्यपदमाप्नुयात्।
अन्नं ब्रह्मा रसो विष्णुर्भोक्ता देवो महेश्वरः॥ ३८॥

पृ। १०४९)

स्थितस्सर्वशरीरेषु भुङ्क्ते चैव ददाति च।
यो विजानाति कर्तारं भोक्ता भोज्यञ्च हे प्रिये॥ ३९॥

श्वपचेष्वपि भुञ्जानो न स पापे न लिप्यते।
तत्वानि मनसा चिन्त्य स्वशरीरे यथाक्रमम्॥ ४०॥

कर्णौ च चक्षुषी चैव नासायां वदने तथा।
दक्षिणे श्रवणे चैव खमलः परिकीर्तितः॥ ४१॥

वामे चैव कलाढ्यन्तु श्रवणे परिचिन्तयेत्।
सकलं निष्कलञ्चैव नासायां परिकल्पयेत्॥ ४२॥

क्षपणं क्षयमन्तञ्च चक्षुषी तौ विचिन्तयेत्।
शून्येन पश्यते चान्नं वेदितव्यं प्रयत्नतः॥ ४३॥

पृ। १०५०)

ग्रासं गृह्णाति देवेशो कण्ठोष्ठः परमेश्वरः।

ब्रह्मा च विष्णुश्श्रवणे रुद्रमीश्वरचक्षुषी॥ ४४॥

घ्राणे वक्त्रे स्थितो नित्यमुक्तिश्चैव सदाशिवः।

नासाशक्तिं विजानीयाद्वक्त्रे देवं सदाशिवम्॥ ४५॥

षण्मुख एककरणं कथितं तव शोभने।

एवं तत्वमयं ध्यात्वा शिवं परमकारणम्॥ ४६॥

शिवोहमिति सञ्चिन्त्य भुञ्जमानो न लिप्यते।

षण्मुखेनैव यागेन भुञ्जते सततं प्रभुः॥ ४७॥

त्रिविधेन प्रयोगेन सलिलं पिबते सदा।

खण्डखाद्यैश्च भुञ्जानः क्षपणे गृह्णते सदा॥ ४८॥

पृ। १०५१)

बध्यते सकलेनैव निष्कलेन तु स्वाद्विति।

ऊर्ध्वमुत्क्षिपते ग्रासन्न विद्यात्खमलं कृतम्॥ ४९॥

अन्तस्थो मुच्यते ग्राहिं नात्र कुर्याद्विचक्षणः।
शून्येनैव अन्नाद्य ग्रन्थेते सततं पुनः॥ ५० ॥

भोजनञ्चैव अन्नस्थो अन्नञ्चैव विचारति।
लेह्यं शोष्यञ्च पेयञ्च अन्नानि विविधानि च॥ ५१ ॥

कण्ठोष्ठं परमेशानो वेदितव्यं प्रयत्नतः।
एवं तत्वमयं दिव्यमाचार्यैच्छिन्नसंशयः॥ ५२ ॥

सकृद्भोजितमात्रेण कोटिर्भवति भोजितः।
अथ तत्वविदश्चैव एवं भुञ्जते प्रिये॥ ५३ ॥

पृ। १०५२)

परिसंख्या न विद्येत इत्याह भगवान् शिवः।
अतत्वप्रतिबुद्धस्य ज्ञानिने कोटिरुच्यते॥ ५४ ॥

ज्ञानितत्वविदश्चैव परिसंख्या न विद्यते।
द्विजानां वेदविदुषां कोटिं संभोज्य यत्फलम्॥ ५५ ॥

ज्ञानिने शान्तिचित्ताय सकृत् भुङ्क्ते तु तत्फलम् ।
भोज्यं मायात्मकं सर्वं कर्ता देवो महेश्वरः ॥ ५६ ॥

भोक्ता चैव शिवस्साक्षात् एवमेव न संशयः ।
एवं वै यो विजानाति देशिकस्तत्वपारगः ॥ ५७ ॥

तं दृष्ट्वा गृहमायान्तं क्रीडन्त्योषधयो गृहे ।
एवं भोज्यविधिं सम्यक् न तु सर्वत्र व्यापयेत् ॥ ५८ ॥

पू। १०५३)

पुत्रस्यापि न दातव्यं ये नराः पापबुद्धयः ।
एवं वै यो विजानीयादज्ञानीचान्यथा भवेत् ॥ ५९ ॥

आभुङ्क्ते सततं देवि अन्नपाने न संशयः ।
ऊर्ध्वेन वहते प्राण आपानोधः प्रवर्तते ॥ ६० ॥

एवं ज्ञात्वा तु भोक्तव्यं मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ।
तेन भुक्तेन देवेशे दातरोऽस्य कुलानि तु ॥ ६१ ॥

मुच्यन्ते यातना क्षिप्रं सुचिरं नरकार्णवात्।

इति निश्वासकारिकायां दीक्षोत्तरे देवतातत्वभोज्यविधिः पञ्चदशः पटलः।

पृ। १०५४)

देव्युवाच -

पुर्यष्टकसमायुक्त आत्मा सर्वत्र युज्यते।
तदहं श्रोतुमिच्छामि भगवन् वक्तुमर्हसि॥ १॥

सुकृते कर्मभोक्तृत्वे दुष्कृते च तथैव हि।
पुर्यष्टके यदाह्यात्मा वायुभूतो व्यवस्थितः॥ २॥

विद्यमानेपि तद्देहे प्रत्यक्षेण तु दृश्यते।
श्रूयते यातना तस्य नरकेषु अनेकधा॥ ३॥

स्वर्गे च विविधं भोगमणिमाद्या महेश्वर।
तनुभूतश्शरीरात्मा भोगान् भुञ्जति शङ्कर॥ ४॥

सर्वाज्ञा लङ्घने चैव अन्त्येष्टि होमयेत्ततः ॥ ३७ ॥

ज्ञानविज्ञानसंपन्नः आचार्यस्तत्वपारगः।
कालचक्रविधानज्ञः कालज्ञस्स विधीयते ॥ ३८ ॥

स वै मोचयतेजन्तु द्वारज्ञो नात्र संशयः।

इति निश्वासकारिकायां दीक्षोत्तरे षोडशः पटलः।

१०६२)

देव्युवाच -

भगवन् श्रोतुमिच्छामि कालचक्रमनुत्तमम्।
कस्मात्प्रवर्तते कालः कथं कालो निगद्यते ॥ १ ॥

किमर्थं वर्तते कालः कः कालः प्रेरकस्तु कः।
येन सञ्चोद्यमानस्तु कालः कलयते प्रभो ॥ २ ॥

कस्मिन् कस्मिन् प्रदेशे तु चरते काल ईश्वरः।
लौकिकाध्यात्मिकञ्चैव कथं विज्ञायते प्रभो ॥ ३ ॥

गृहारिक्षास्तथांशाश्च होरादेक्काणधस्तथा ।
विनाविनावयश्चैव मुहूर्तानां तथैव च ॥ ४ ॥

वायव्यो नाडयश्चैव स्वराश्चैव कलास्तथा ।

पृ। १०६३)

घटिकानां समाख्या हि तत्वानाञ्च यथाक्रमम् ॥ ५ ॥

दक्षिणोत्तरसङ्क्रान्त्यो अयनं विषुवं तथा ।
लौकिकाध्यात्मिकञ्चैव कथयस्व प्रसादतः ॥ ६ ॥

शृणु देवि परं गुह्यं यत्त्वया परिपृच्छितम् ।
तदहं संप्रवक्ष्यामि यत्सुरैरपि दुर्लभम् ॥ ७ ॥

लौकिकाध्यात्मिकञ्चैव यथा वै कालसञ्चरः ।
यथा वै ज्ञायते देवि लौकिकं कालमुत्तमम् ॥ ८ ॥

आध्यात्मिकं यथा कालं कथयामि विशेषतः ।

एतत्कालविधानज्ञो लभते शाश्वतं पदम्॥ ९॥

सिध्यते नात्र सन्देहः कालज्ञस्तु महामते।

पृ। १०६४)

लौकिकाध्यात्मिकं कालं यो वेत्ति निखिलेन तु॥ १०॥

स कालज्ञस्मृतो देवि लौकिके ख्यातिं च गच्छति।
शुभाशुभञ्च देवेशो लोकस्यैव हिताहितम्॥ ११॥

कथयेत्सर्ववृत्तान्त आश्चर्य अनेकधा।
कालचक्रं समाख्यातमादित्यात् संप्रवर्तते॥ १२॥

मुहूर्ता तिथयश्चैव अहोरात्रायनानि च।
ऋतुर्मासस्तथा पक्षो गृहऋक्षाथराशयः॥ १३॥

सर्वमेतन्महादेवि आदित्यात् संप्रवर्तते।
अंशास्सन्ध्यस्तथा तारा होराद्रेक्काणयस्तथा॥ १४॥

उदिते भास्करे चैव सर्वमेतत्प्रवर्तते ।

पृ। १०६५)

स एष कथितः कालः लौकिकः परमेश्वरि ॥ १५ ॥

लौकिकेन तु कालेन यथा नाम व्यवस्थितम् ।
तथा ते कथयिष्यामि शृणुष्वायतलोचने ॥ १६ ॥

भास्करे उदिते चैव गृहचक्रं प्रवर्तते ।
भास्करेण समास्सर्वे राशयश्च न संशयः ॥ १७ ॥

भास्करः प्रथमः प्रोक्तः केतुरन्ते व्यवस्थितः ।
ग्रहान् पत्रेषु संस्थाप्य पूर्वादिदलसंस्थितान् ॥ १८ ॥

सोममादिक्रमेणैव केतुरन्ते वरानने ।
गृहचक्रं स्मृतो ह्येष ज्ञातव्यं कालवेदिना ॥ १९ ॥

सोमस्तु पूर्वदिग्भागे भौममाग्नेयदिग्दले ।

पृ। १०६६)

रजपुत्रं न्यसेद्देवि दक्षिणे सुसमाहितः॥ २०॥

शनैश्चरन्तु नैऋत्यां विन्यसेत यथाक्रमम्।
बृहस्पतिं न्यसेन्नित्यं पश्चिमे सुसमाहितः॥ २१॥

राहुं वायव्यतस्थाप्य शुक्रमुत्तरतो न्यसेत्।
केतुमीशानस्थाप्य ततो मन्त्राः प्रकल्पयेत्॥ २२॥

ब्रह्मस्थानन्तु यत्प्रोक्तं भास्करं तत्र विन्यसेत्।
सकलं निष्कलञ्चैव शून्यतत्वं तथैव च॥ २३॥

कलाढयं खमलञ्चैव क्षपणं क्षयमन्तकम्।
कण्ठोष्ठ्यञ्चैव देवेशे गृहाह्येते प्रकीर्तिताः॥ २४॥

सकलञ्चादितः कृत्वा यो जप्यानि वरानने।

पृ। १०६७)

पराक्षरं परं देवं ब्रह्मस्थानेन विन्यसेत्॥ २५॥

ब्रह्मस्थाने स्थितो नित्यं भास्करं सुरसुन्दरि।

कर्णिके देवतान्यासं कर्तव्यं कालवेदिना॥ २६॥

एवं गृहाणि विन्यस्य तत्र चारं समभ्यसेत्।

सकलादिक्रमेणैव कथयामि समासतः॥ २७॥

अयुते द्वे सहस्रञ्च षट्शतानि यथाक्रमम्।

एते प्राणा स्मृता देवि विभजेत यथाक्रमम्॥ २८॥

एकैकस्य तु कालज्ञस्सहस्रद्वयमेव च।

शतानि सप्तविज्ञेयमेकैकस्य वरानने॥ २९॥

गृहचारं समाख्यातं संक्षेपान्न तु विस्तरात्।

पृ। १०६८)

पत्रे पत्रे तु संस्थाप्य गृहान् सर्वान् वरानने॥ ३०॥

तत्क्रमानि तथा देवि कालज्ञः प्रविचारयेत्।

दीप्ताङ्गारिणि धूमा च स्थानत्रयमुदाहृतम् ॥ ३१ ॥

कर्णिकास्थस्थितस्सूर्यः त्रीणि पत्राणि लोकयेत् ।
आत्मना सह संयुक्तः कर्णिकास्थः प्रभु स्मृतः ॥ ३२ ॥

पूर्वे होमं विजानीयात् सौम्यं कर्म समारभेत् ।
रौद्रमाग्नेयदिग्भागे शान्तिं वै दक्षिणेन तु ॥ ३३ ॥

नैरृत्योच्चाटनार्थाय श्रीकामः पश्चिमेन तु ।
वायव्यां क्षिप्रनाशाय धनलाभाय चोत्तरे ॥ ३४ ॥

ईशान्यां ज्ञानलाभाय कथितं कालवेदिना ।

पृ। १०६९)

शान्तिके पौष्टिके चैव एवमादिक्रमेण तु ॥ ३५ ॥

ये च रन्ध्रोपरन्ध्राश्च पत्रान्ते च व्यवस्थिताः ।
अशुभमेकतः प्रोक्तं द्वितीयस्मिन् शुभं वदेत् ॥ ३६ ॥

यद्विरोधायते देवि साधकस्य गृहोत्तमः।
तद्गृहं पूजयेन्नित्यं कर्णिकास्थं यदा बुधः॥ ३७॥

तदा सौनुग्रहं याति स गृहो नात्र संशयः।
एकैकस्य गृहो देवि होरात्राणि प्रकीर्तिताः॥ ३८॥

तत्रापि चरते ह्यात्मा कथयामि समासतः।
एकैकस्य तु होरायां शतानि नवसंख्यया॥ ३९॥

प्राणानां देवदेवेशि ज्ञातव्यं कालवेदिना।

पृ। १०७०)

एतत्ते चारमाख्यातं शिवेन परमात्मना॥ ४०॥

एतच्चारविधानज्ञः कालज्ञो नावसीदति।
गृहहोरबलेनैव वक्तव्यन्तु शुभाशुभम्॥ ४१॥

पापे पापमतिं विद्यात् शुभेन शुभमादिशेत्।
एवं बलाबलं ज्ञात्वा आत्मनस्य परस्य वा॥ ४२॥

कथनात्पुण्यमाप्नोति कालज्ञो नात्र संशयः।

देहस्थं कथितं देवि होरचारमनुत्तमम्॥ ४३॥

अतः परतरं वक्ष्ये राशिसञ्चारमुत्तमम्।

राशौ राशौ यदाह्यात्मा चरते कथयाम्यहम्॥ ४४॥

संवत्सरमयञ्चेति द्वादशारं सुशोभने।

पृ। १०७१)

अकारः प्रथमो देवि मेषराशिः प्रकीर्तितः॥ ४५॥

एवमादिक्रमेणैव वेदितव्यं प्रयत्नतः।

तत्रस्थश्चरते ह्यात्मा यथावत्तन्निबोधमे॥ ४६॥

एकैकस्य तु देवेशि शतान्यष्टादश क्रमात्।

एष चारः समाख्यातः राशौ राशौ न संशयः॥ ४७॥

योगमुत्पद्यते तस्य कालयोगविदस्य तु।

यत्पत्रे पश्यते दोषं तन्मासे दोषमादिशेत् ॥ ४८ ॥

शस्त्रापातसुभिक्षञ्च दुर्भिक्षं नरकं तथा ।
क्षेममारोग्यार्थलाभं वदते कालयोगवित् ॥ ४९ ॥

राशौ राशौ पुनस्सर्वं द्रेक्काणन्तु समासतः ।

पृ । १०७२)

तद्रेक्काणे नवे राशौ चारं तेषां ददाम्यहम् ॥ ५० ॥

एकैकस्य तु द्रेक्काणे शतानि षट् प्रकीर्तिताः ।
एकैकोदयस्थावज्ञः सिध्यते नात्र संशयः ॥ ५१ ॥

योगमुत्पद्यते तस्य अचिरादेव योगिने ।
उत्तिष्ठे चादधाने च पादलेपेञ्जने तथा ॥ ५२ ॥

सिध्यते नात्र सन्देहः कालज्ञानविदस्य तु ।
गृहोपरागवन्मासे हृत्पद्मे तु स पश्यति ॥ ५३ ॥

चन्द्रसूर्योपरागे च सर्वं पश्यति योगिनः ।
शुभाशुभन्तु द्रेक्काणैः कथयेत वरानने ॥ ५४ ॥

अंशास्त्रयस्तु पञ्चैक एकैकस्य समासतः ।

पृ। १०७३)

अंशाद्रेक्काणहोरैश्च एकैकस्य समासतः ॥ ५५ ॥

अंशाद्रेक्काणहोरैश्च ग्रहराश्यादयो नव ।
तारचन्द्रबलेनैव शुभाशुभं न संशयः ॥ ५६ ॥

ताराचन्द्रबलेनैव शुभाशुभं न संशयः ।
वदते योगिनः श्रीमान् लोकस्यैव हिताहितम् ॥ ५७ ॥

एतेषु चरतेह्यात्मा तन्मे निगदतः शृणु ।
सहस्रद्वयं विज्ञेयं शतानि चतुरेव तु ॥ ५८ ॥

ताराणाञ्चारमाख्यातमंशानान्तु यथा शृणु ।
ताराणां यावती संख्या अंशानां तावती स्मृताः ॥ ५९ ॥

एष ते चारमाख्यातं चक्रे संवत्सरात्मिके ।

पृ। १०७४)

ज्ञानेन मुच्यते देवि नात्र कार्या विचारणा ॥ ६० ॥

एवं वै यो न जानाति कालज्ञानीत्थं भवेत् ।
आत्मा तु कथितः काल ईश्वरस्स तु कथ्यते ॥ ६१ ॥

तेन ज्ञातेन देवेशि कालज्ञो नावसीदति ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि कालचक्रमनुत्तमम् ॥ ६२ ॥

नाडीवायुकलैस्साधं स्वरैश्वरससंयुतम् ।
तदहं संप्रवक्ष्यामि याथातथ्येन मे शृणु ॥ ६३ ॥

द्वात्रिंशमंशकां कृत्वा लिखेच्चक्रं समासतः ।
कला तु देवदेवेशे षोडशैव तु विन्यसेत् ॥ ६४ ॥

पूषा यशा च सुमना प्रीतितुष्टिरिति धृतिः ।

पू। १०७५)

तथा चक्रधृतिकरी सौमरी चिच्छुभं तथा ॥ ६५ ॥

शशिनीत्वङ्गिरा चैव छाया संपूर्णमण्डला।
दशपञ्च कला ज्ञेया अमृता चैव षोडशी ॥ ६६ ॥

कलाह्येतास्समाख्याता नाड्यो वै शृणु सांपृतम्।
ज्वालिनी तु शमा धूम्रा कामदा विजया तथा ॥ ६७ ॥

अमृता य हुला पक्षित्वचवाहात्यलंबुषा।
तालुजिह्वोपजिह्वा च तथा जिह्वावहा च या ॥ ६८ ॥

बुद्धिवाहा प्राणवाहा तथा चामृतवाहिनी।
षोडशैतास्समाख्याताः मरुतादिरलङ्कृता ॥ ६९ ॥

कृकरो देवदत्तश्च पौण्डरीको धनञ्जयः।

पू। १०७६)

वेपथुस्संभ्रमश्चैव विभ्रमो भ्रम एव च ॥ ७० ॥

प्राणोपानसमानश्च उदानो व्यान एव च ।

ऋषयो नागकूर्मश्च षोडशैते महानिलाः ॥ ७१ ॥

अकाराद्या स्वरा देवि ते त्वया विदिताः पुरा ।

बिभज्य कथयेत्प्राणान् कलादीनां यथाक्रमम् ॥ ७२ ॥

सहस्रैकं समाख्यातमेकैकस्य वरानने ।

शतत्रयञ्च ज्ञातव्यं प्राणाः पञ्चाशदेव तु ॥ ७३ ॥

कलाध्वरं तथा वायुः नाडयश्च समासतः ।

एकोदयेन ज्ञातव्यं देशिकेन महात्मना ॥ ७४ ॥

नाडीवायुकलैस्सार्धं कथितं तव शोभने ।

पृ। १०७७)

अतः परं प्रवक्ष्यामि ऋक्षेषु चमरे यथा ॥ ७५ ॥

तथा ते कथयिष्यामि तन्मे निगदतः शृणु।

शतानि सप्त विज्ञेयाः * *? प्राणास्तथैव च॥ ७६॥

प्राणमेकादशश्चैव निमेषैकं तथैव च।

लवमेकञ्च ज्ञातव्यं कालज्ञेन महात्मना॥ ७७॥

तृटिश्च सप्तभागेन नक्षत्रे कथितं तव।

अंशाध्वा दशमाख्याता ऋक्षाणां वरवर्णिनी॥ ७८॥

शतमेकञ्च ज्ञातव्यं कालज्ञेन महात्मना।

एभ्यश्चरति आत्मा तु कथयामि समासतः॥ ७९॥

ऋक्षे ऋक्षे वरारोहे अंशाश्चत्वारि कीर्तिताः।

पृ। १०७८)

यथा चरति विश्वात्मा शृणुष्व कथयामि ते॥ ८०॥

प्राणाश्शतं समाख्यातं प्राणायतिस्तथैव च।

प्राणा द्वादश विज्ञेया निमेषद्वय संयुतम्॥ ८१॥

लवद्वयं तथैवोक्तं शिवेन परमात्मना।

द्वा नवति शतैकन्तु प्राणसंख्या प्रकीर्तिताः॥ ८२॥

निमेषत्रयञ्च विख्यातं त्रिभागेन तृटिद्वयम्।

तृटे शृङ्गाग्रमाख्यातं ज्ञातव्यं सुसमाहितैः॥ ८३॥

सप्तविंशति नक्षत्रां शाह्यष्टोत्तरं शतम्।

अशीति चतुरंशन्तु सर्वत्र परिकीर्तितम्॥ ८४॥

कालं मध्यन्दिने देवि अवीची परिकीर्तिताः।

पृ। १०७९)

कृत्तिकादिषु रत्नेषु ज्ञातव्यं कालवेदिना॥ ८५॥

सर्वेषु सिद्धिदा देवी ची **? परिकीर्तिता।

यस्यै तच्छुभऋक्षेण वीचायां व्रजते नरः॥ ८६॥

सर्वसिद्धिमवाप्नोति धनिको नात्र संशयः।

न तस्य अशुभं किञ्चित् व्याभीच्यां व्रजते तु यः ॥ ८७ ॥

एष ते चारमाख्यातं कालचक्रमुपासिनाम्।

अहोरात्रेण ज्ञातव्यं कालज्ञेन महात्मना ॥ ८८ ॥

एतच्चारविभागज्ञो लभते शाश्वतं पदम्।

दिने दिने स्थिरेद्यस्तु इदं चक्रं समाधिना ॥ ८९ ॥

स लोके पूज्यतां याति परत्र च शिवान्तिकम्।

पृ। १०८०)

नैव पुण्यं भवेत्तस्य नैव पापं कथञ्चन ॥ ९० ॥

दर्शनात्तस्य कर्तव्यं ये केचित्पापकर्मिणः।

अतः परं प्रवक्ष्यामि फलसंख्या यथैव च ॥ ९१ ॥

तत्परा कथिता षष्टिं विदुषः परिकीर्तिताः।

विदुषाणि तथा षष्टिं बिन्दुरेकं प्रचक्षते ॥ ९२ ॥

षष्टिबिन्दुफलं प्रोक्तं कथितं तव शोभने।

फलस्य एषा संख्योक्ता कालं वै लौकिकस्य तु ॥ ९३ ॥

पुनरेव प्रवक्ष्यामि अध्यात्मेन वरानने।

तरुणस्य प्रधानस्य निरुद्धः प्राणिनः स तु ॥ ९४ ॥

षट् प्राणास्तु समाख्याता विना प्रीतिं समादिशेत्।

पू। १०८१)

षष्टिभिर्वी नाड्येका घटिका कथिता तु सा ॥ ९५ ॥

घटिकास्तु तथा षष्टि अहोरात्रं प्रचक्षते।

मुहूर्ता स्त्रिंशदाख्याता अहोरात्रविदो विदुः ॥ ९६ ॥

अहोरात्रेण मर्त्यानां मुहूर्तास्त्रिंशत्कीर्तिताः।

एतान्येकैव संख्यातं मातस्य सुरसुन्दरि ॥ ९७ ॥

मुहूर्ता नवशता ज्ञेयं कालज्ञेन महात्मना।

द्वादशे गणितं मासं संवत्सरमिहोच्यते ॥ ९८ ॥

संवत्सरे मुहूर्तानि यावन्ति कथयामि ते।

सहस्राणि दशप्रोक्ता स्तथाह्यष्टशतानि तु॥ ९९॥

मुहूर्तानि वरारोहे मया ते कथितानि तु।

पृ। १०८२)

मुहूर्ते नवये देवि तथैव कथयामि ते॥ १००॥

शतानि सप्तदेवेशे विंशतिश्च न संशयः।

एषचारं मया प्रोक्तं वेदितव्यं हितैषिभिः॥ १०१॥

अनेन क्रमयोगेन जपसिद्धिमवाप्नुयात्।

त्रिकालविषयं तस्य जायते जापिनस्य तु॥ १०२॥

घटिका पञ्चदेवेशे राशौ राशौ न संशयः।

घटिका पञ्चदेवेशे अकारस्योदयस्मृतः॥ १०३॥

एवमादिक्रमेणैव वेदितव्यं प्रयत्नतः।

लौकिकं प्रहरश्चैव षट्भागं परिकीर्तितम् ॥ १०४ ॥

षण्मासास्तु समाख्याता उत्तरस्तु प्रचक्षते ।

पृ। १०८३)

दक्षिणे तावती ज्ञेया कालज्ञेन महात्मना ॥ १०५ ॥

यद्राशौ वर्तते कालः तस्यैव कथयामि ते ।
उदयं प्रथमो देवि राशिभिः कथितस्तव ॥ १०६ ॥

यस्मिन् राशौ स्थितो ह्यात्मा मासमादि करोति सः ।
मकरः कुंभमीनश्च मेषश्च वृषभस्तथा ॥ १०७ ॥

मिथुनः कथितो षष्ठो राश्यः षण्मासकीर्तिताः ।
कर्कटस्सिंह कन्यश्च तुलावृश्चिकमेव च ॥ १०८ ॥

धनुषी च समाख्यातो दक्षिणे ऋतवास्त्रियः ।
मासि मासि समाख्यातो यथावच्छृणु सुव्रते ॥ १०९ ॥

शतानि चैव चत्वारि प्राणाः पञ्चदशैव तु ।

पृ। १०८४)

मासि मासि समाख्यातो यथावत्तव शोभने ॥ ११० ॥

उत्तरे वर्तमानस्तु यदा दक्षिणतो व्रजेत् ।
यावन्तं क्रमते देवि मध्ये तु विषुवं स्मृतम् ॥ १११ ॥

एषा सङ्क्रान्तिराख्याता दक्षिणोत्तरतस्थिता ।
इन्द्रियार्थं परित्यज्य व्योमावस्थो भवेद्यदा ॥ ११२ ॥

विषुवन्तं विनिर्दिष्टं वेदितव्यं हितैषिभिः ।
यदा ऊर्ध्वत्वमायाति देवदेवो जगद्गुरुः ॥ ११३ ॥

अह एवं विनिर्दिष्टं सर्वतन्त्रेषु भाषितम् ।
अधोभागे स्मृता रात्रिः मध्ये तु अयनं भवेत् ॥ ११४ ॥

निश्चलोर्ध्वमधश्चैव मध्यस्थन्तु विजृंभिभिः ।

पृ। १०८५)

हिक्कामुदाहृता चिक्का अष्टधा तु क्रमेण तु ॥ ११५ ॥

ऊनरात्रं भवेद्धिक्का अधिमास्यो विजृंभिका।
ऋणस्तु भवते कस्सो निश्वासो धन उच्यते ॥ ११६ ॥

एष चारः समाख्यातः कालचक्रमुपासिनाम्।
एवञ्चारविधानज्ञो लभते शाश्वतं पदम् ॥ ११७ ॥

प्रेरितः शक्तिना देवि नाना चेष्टानि कारयेत्।
चारसंयोगयोगेन आत्मानमुपचर्यते ॥ ११८ ॥

एतच्चारमिति प्रोक्तं शिवेन परमात्मना।
सकालं कल्पनामन्तु शक्तिनां परमेश्वरि ॥ ११९ ॥

विकारित्वमुपायाति स चारैरुपचर्यते।

पृ। १०८६)

अकालकलमित्युक्तं वादिनोपि द्विधोद्धृतम् ॥ १२० ॥

स्वयं साक्षात् स्मृतः कालो देवदेवस्सदाशिवः।

नित्यावस्थमिदं कालं ब्रह्मादीनां वरानने॥ १२१॥

तदेव चारयोगेन सञ्चारैरुपचर्यते।

नित्यावस्थोन्यथा कालः केन तदुपचर्यते॥ १२२॥

अनेन उपचारेण कालमेवमुपास्यते।

चारेण ज्ञायते कालं चारात् सिद्धिर्न संशयः॥ १२३॥

चारे भुक्तिश्च मुक्तिश्च चारज्ञो नावसीदति।

तस्माच्चारमिदं देवि वेदितव्यं प्रयत्नतः॥ १२४॥

स बाह्याभ्यन्तरं कालं यो विजानाति कालवित्।

पू। १०८७)

न कालज्ञस्स विज्ञेयो भवेन्नक्षत्र सूचकः॥ १२५॥

ज्योतिर्ज्ञानमिदं देवि मया ख्यातं समासतः।

वेदितव्यं प्रयत्नेन कालज्ञैस्स तु वेदिभिः ॥ १२६ ॥

अहर्वृद्धिक्षयं रात्रौ रात्रौ वृद्धिक्षयेहनि ।
अनेन उपचारेण लौकिकमुपचर्यते ॥ १२७ ॥

न रात्रिर्न दिवा यस्य अयनं विषुवं तथा ।
नित्यं नित्यस्थितो देवि स्वयं साक्षान्महेश्वरः ॥ १२८ ॥

इच्छा तस्य महादेवि उपचारैरुपचर्यते ।
एवं कालमिति प्रोक्तं सर्वतः संप्रवर्तते ॥ १२९ ॥

इति निश्वासकारिकायां दीक्षोत्तरे कालचक्रप्रकरणं नाम सप्तदशः
पटलः ।

पृ । १०८८)

देव्युवाच -

भगवन् श्रोतुमिच्छामि प्रसादात्कथयस्व मे ।
त्वन्मुखामृतसारन्तु पीतं ज्ञानामृतं मया ॥ १ ॥

कलाकलितसन्तानं जगज्जन्मलयोद्भवम् ।

श्रुतमेतन्मया सर्वं त्वत्प्रसादात् सुदुर्लभम् ॥ २ ॥

अधुना श्रोतुमिच्छामि प्रसादं कुरु शङ्कर ।

आयुः प्रमाणं यद्भोगं मनुजानां महेश्वर ॥ ३ ॥

विज्ञानं मरणं तेषां कथं ज्ञास्यन्ति मोहिताः ।

उत्पन्नस्य विनाशोस्ति कृतिरेषा तु कीर्तिताः ॥ ४ ॥

तद्विनाशे तु किं रूपं छिन्नं कालक्रमं यतः ।

पृ। १०८९)

अत्र मृत्युसमीपस्थं कथं विज्ञायते प्रभो ॥ ४ ॥

एतत्सर्वं समासेन कथयस्व प्रसादतः ।

ईश्वरः -

साधु साधु पुनस्साधु प्रश्नमेतत्सुदुर्लभम् ॥ ५ ॥

पृष्टोस्मित्वत्प्रसन्नार्थं श्रूयतान्तु वरानने।
यथा चासन्नमृत्युस्तु जायते तु परस्य तु॥ ६॥

दिवसमुदासिदाद्वन्तु मुहूर्तं सद्य एव च।
येन येन च चिह्नेन लक्ष्यते तु शृणुष्व मे॥ ७॥

स च वै द्विविधो लक्ष्यो बहिरभ्यन्तरे नृणाम्।
ऋक्षाचक्रं गृहैश्चैव अङ्गारिष्टा विपर्ययात्॥ ८॥

पृ। १०९०)

बहिर्लिङ्गन्तु विज्ञेयं अन्तर्लिङ्गन्तु नादजम्।
बहिर्लिङ्गानि वक्ष्यामि समासात्तु वरानने॥ ९॥

नवकोष्ठं कृतं चक्रं कृत्वा तु गणयेद्बुधः।
तत्रैव कोष्ठे कोष्ठे तु लिखेन्नक्षत्रमण्डलम्॥ १०॥

कृत्तिकादि भरण्यन्तं लक्षयेत गृहा हितम्।
रिक्षात्रयस्मृतो जन्म तथा संपद्विपर्ययौ॥ ११॥

क्षेमञ्च प्रत्यरञ्चैव साधनं नैधनं तथा ।
मैत्रं परममैत्रञ्च ताराचक्रं शुभाशुभम् ॥ १२ ॥

तं वै क्रूरग्रहाक्रान्तं जन्मादौ लक्षयेद्बुधः ।
आधानं कर्म जन्मैस्तु भौमादित्यशनैश्चरैः ॥ १३ ॥

पृ। १०९१)

एते क्रूरग्रहा देवि यस्य तिष्ठन्ति सो हतः ।
एते ग्रहा विरुद्धास्तु स नरो हि हतोद्ध्रुवम् ॥ १४ ॥

एकोपि सौम्यसंपृक्तो भवते कृच्छ्रजीवनः ।
सौम्यद्वये कपालस्थ संपदस्तु पदे पदे ॥ १५ ॥

सौम्यत्रयेपि सुमना नित्यतुष्टो भवेन्नरः ।
यथा जन्मत्रये देवि क्रूरास्सौम्यशुभाशुभाः ॥ १६ ॥

वदन्त्येवं तथान्येपि वद्यन्तां तारसङ्गमम् ।
पापघ्नास्संपदस्थास्स्युपीपत्स्था पदकारकाः ॥ १७ ॥

क्षेमघ्ना क्षेमदाश्चैव प्रत्यरे बहुदोषजाः ।
विद्यासिद्धिञ्च कार्यञ्च साधकस्य भवन्ति ते ॥ १८ ॥

पृ। १०९२)

देहनाशं प्रकुर्वन्ति निधनस्थान संस्थिताः ।
मैत्रे तु मैत्रतां कुर्युः यद्यस्यान्यापि क्रौर्यता ॥ १९ ॥

गृहा हिंसन्ति भार्याञ्च गृहाः परममैत्रगाः ।
सौम्याः शुभं प्रयच्छन्ति एकद्वित्रिगुणोदयाः ॥ २० ॥

गुणक्रमाच्छुभं क्रूरा प्रयच्छन्ति गृहा यदा ।
एवं गृहगतिं बुध्वा आत्मनश्च परस्य वा ॥ २१ ॥

प्रबुध्यन्ति नरा देवि आत्मनश्च शुभाशुभम् ।
अङ्गारिष्टं प्रवक्ष्यामि शृणु देवि यथा स्फुटम् ॥ २२ ॥

शुष्ककण्ठोष्ठतालुश्च अकस्माद्रुधिरच्छविः ।
स्कन्धोपि वक्रतामेति विनाशं वत्सरान्तिके ॥ २३ ॥

पृ। १०९३)

अग्निलमण्डलं व्योम्नि पश्यते च दिने दिने।

सितं हरितकृष्णञ्च वत्सरार्धायुषो हि सः॥ २४॥

यदादित्यं विरश्मिञ्च चन्द्रं लाञ्च्छनवर्जितम्।

सुषुम्णान्तारकाज्योति सोपि षाण्मासिकायुषः॥ २५॥

हिरण्यवर्णं पुरुषं स्वप्ने वा कृष्णपिङ्गलम्।

पश्यते वा शिरच्छायां ऋतुत्रयं स जीवति॥ २६॥

तैलपानं तथाभ्यङ्गरक्तमाल्यांवरस्रजा।

खरोष्ट्र्यानमासीनगृध्रकाकशिवादिभिः॥ २७॥

पश्येत्प्रेतपिशाचांश्च उद्वाहश्चाङ्गभक्षणम्।

स्वप्ने च लप्स्यते चैव सो दैकं यदि जीवति॥ २८॥

पृ। १०९४)

शङ्खावर्तभुजे नृत्तज्ञोममेधा गुल्फसन्धिषु।

यदा निष्पन्दतां याति सोवश्यं वधमाप्नुयात्॥ २९॥

अरुन्धतिधृवश्चैव सोमार्कज्योतिमण्डलम्।
न पश्य* * *? धानं सोवश्यं म्रियते नरः॥ ३०॥

अरुन्धती भवेज्जिह्वा न पश्येद्वर्षायुषः।
अल्पायुर्नैव पश्येत नासिकाग्रन्थि वा स्मृतम्॥ ३१॥

दु**? पाणिजैः कान्तै वक्ष्यले ज्योतिमण्डले।
पश्येदर्कसोममण्डलं चतुर्मासायुषो हि सः॥ ३२॥

तालुरन्ध्रगतं धूमं तन्म **? न मुच्यते।
न तु पश्यति मूढात्मा ऋतुमेकं स जीवति॥ ३३॥

पृ। १०९५)

अकस्माज्जायते स्थूलो अकस्माच्च कृशो भवेत्।
अतिभीतोति सं* * *? र्षमेकायुषो हि सः॥ ३४॥

लोहदण्डेन पाणिं कृष्णं कृष्णांबरच्छदम्।

पुरुषञ्चाभिमुखं स्वप्ने ऋतुध्या * * * *? ॥ ३५ ॥

*? यं वै स्नातमात्रस्य हृदयञ्चैव शुष्यति ।
अनुष्णञ्च भवेद्गात्रं द्वौमासायुर्गतायुषः ॥ ३६ ॥

अमेघविद्युदं पश्येद्दि * * * *? नुर्निशि ।
दृष्टे देशेपि दिग्दाहो मासत्रयपरायुषः ॥ ३७ ॥

न शृणोति स्फुटं शब्दं चक्षुषी श्रूयते सकृत् ।
गन्धमाघ्राति चाण्धान्य * * *? विगतायुषः ॥ ३८ ॥

पू। १०९६)

पश्य जिह्वा भवेत्कृष्णा रक्तपद्मोत्पलं मुखम् ।
वर्णञ्च विविधाङ्गेषु उदयं रुदते सकृत् ॥ ३९ ॥

नाभिकंपो **? शोश्च सोर्धमासाद्विपद्यते ।
नाभिज्ञाय श्रीजिह्वं दीपमाघ्रानि पाषिषा *? ॥ ४० ॥

काकैश्च कृतमासीन चतुर्मासायुषो नरः ।

हिक्का * * *? ते नित्यं वक्ररन्ध्रानुगो मरुत्॥ ४१॥

लंबकर्णैव पश्येत मासार्धे विगतायुषः।
एवं विधैर्बहुलिङ्गैः बोद्धव्यं मृत्युचोदितैः॥ ४२॥

अधुनान्तर्गता देवि योगिनां नादजं शृणु।
इदं त्रिनेत्र संप्रोक्तं योगिनो भास्करोदये॥ ४३॥

पू। १०९७)

तत्काले चात्मनो मृत्युं जीवितव्यं विचारयेत्।
ततो योगी शुचिर्भूत्वा धीरो योगासने स्थितः॥ ४४॥

बुध्यमानोत्मजन्नादं सुषुम्नान्तर्गतं बुधः।
अप्रमत्तस्सदा तिष्ठेत् युक्तो नादैकतां गतः॥ ४५॥

एकैकस्य तु नाड्यायाः प्राणान्नव शतं वहेत्।
नवशक्तीति सङ्क्रान्ति काले वै कलयेत्सदा॥ ४६॥

नाड्यावस्थः स्थितोह्यात्मा प्रकृत्या वहतीश्वरः।

ये तु सङ्क्रान्तिके प्राणा सुषुम्ना तु स्थितो वहेत्॥ ४७॥

विषु *? प्रवहे नाथ बुध्वा कालं समादिशेत्।
अहोरात्रेण चाब्दैकं योगी जीवितुमिच्छमि॥ ४८॥

पृ। १०९८)

अहोरात्रद्वयेनैव जीवेत्संवत्सरद्वयम्।
**? रब्दन्तु विज्ञेयश्चतुर्भिश्चतुरब्दिकम्॥ ४९॥

भवेत् पञ्चाब्दिकं मृत्युर्यस्य पञ्चाहनिर्गमम्।
षट्सप्ताष्टदिने व्यूढे तावद्वर्षाणि जीवति॥ ५०॥

अहोरात्रेणैव कालः कलयतेश्वरः * *?।
कदाचिच्छकलेशानः सप्तप्रहरनिर्गमम्॥ ५१॥

षण्मासायुर्भवेद्देवि त्रिमासं षट्प्रहारिकम्।
पञ्चकोह्यर्ध * * *? चतुर्भिर्मासजीविनः॥ ५२॥

अर्धमासायुषो मन्त्री प्रहरत्रयनिर्गमम्।

प्रहरद्वयं तथा व्यूढं दिनान्यष्टौ स जीवति ॥ ५३ ॥

पृ। १०९९)

व्युढं प्रहरमेकन्तु जीवेत् * *? चतुष्टयम् ।
प्रहरार्धं वहेद्यस्य स जीवति दिनद्वयम् ॥ ५४ ॥

सद्यो मृत्युमवाप्नोति यस्य द्वित्रिपथं गतः ।
यं वा कालं समारुह्य प्रवहेत् * * * * ? यम् ॥ ५५ ॥

मासार्धाह्वसमालक्ष्येत्तत्काले निश्चयो भवेत् ।
उत्तरायणजे काले कथितं तव शोभने ॥ ५६ ॥

अथवान्योपि देवेशि * * * ? योगिभिस्सदा ।
श्रोत्रमार्गकृताङ्गुष्ठौ घोषं न शृणुते नरः ॥ ५७ ॥

षण्मासाभ्यन्तरे देवि मारणं तस्य निर्दिशेत् ।
घोरमध्ये * * * * * * * *? न
कारवम् ॥ ५८ ॥

पृ। ११००)

न शृणोति सदा तस्य प्राप्यमासं म्रियेत सः।

उत्पाद्यञ्च तथाकर्ण्य मृत्युयोगं तथैव च॥ ५९॥

लक्ष्येत्सततयुक्तन्तु यो * * *? स्य चिन्तकः।

योगी वक्रान्तनिवहं कालसङ्क्रान्तिपञ्चकम्॥ ६०॥

उत्पाद्यमानमपर * * * * * ? रन्नयेत्।

द्रव्यहानिर्मनोद्वेगं कुर्याद्रोगविवर्धनम्॥ ६१॥

गृहभेदं सुहृन्नाशं तेजोहानिर्विवर्धनम्।

नासिकादक्षिणपुटे दक्षिणायनजीविते॥ ६२॥

सङ्क्रान्त्यष्टौ यदा याति करणयोगोदयो हि सः।

कानल * * * * * * ? न ग्रन्थिभङ्गन्दरम्॥

६३॥

पृ। ११०१)

स्फोटिका शूलरोगांश्च उरो दोषः प्रकोपनम्।

वामघ्राणपुटान्तस्थं सङ्क्रान्त्याह्यष्टपञ्चकम् ॥ ६४ ॥

ज्वररोगशिरोर्तिं वा शूलसंस्तंभनोरिषा ।
नीरोग प्रमेहञ्च मूत्रकृच्छ्रकापयेत् ॥ ६५ ॥

श्रेष्मलाव्याधिमर्धासंस्थो महेश्वरः * * *? ।
यत्काले वहते वायुः तत्काले दिवसे परे ॥ ६६ ॥

व्याधिभिः पीड्यते जन्तुर्वामयामे त *? नरे ।
अतोर्ध्वस्पर्शभं लक्षं नासाधस्तात्तु **? रि ॥ ६७ ॥

ऊर्ध्वेन ऊर्ध्वं विशशे तरुदोषाः पूर्वचोदिताः ।
दक्षिणे दक्षिणे स्पर्शि वा *? क्रोशपराभवम् ॥ ६८ ॥

पृ। ११०२)

मध्ये मध्यस्फुटस्पर्शि पराभिभवनं ययुः ।
साङ्क्रान्त्येको बहुधा प्रवहन्ते इतस्ततः ॥ ६९ ॥

तस्य ला * * * * * * * * * ? पू

जनितम्।

यदा तु मन्दं चारिस्यान्निबीजस्था समाश्रितः॥ ७०॥

धर्मैश्वर्याभिलाभं कुर्यात्प्रियसमागमम्।

यदा द्वादश * * * * * * * * *?

द्वये॥ ७१॥

संवत्सरेण म **? प्राप्तवान्योगिनस्सदा।

* *? रकविच्छेदान्मासैकैकन्तु छन्द * * ?॥ ७२॥

नवशीति तु * * * * * ? प्राणक्षयो भवेत्।

दिवसैकैकविच्छेदाद्यावत्त्रिंशत्समागताः॥ ७३॥

पृ। ११०३)

यदा पूर्वेद्यु वेलायां मृत्युः प्रवर * * *?।

* * * * * * * * * ? लमृत्युं

समादिशेत्॥ ७४॥

इडा सुषुम्नगेत्येवं बोद्धव्यं कालसञ्चरम्।

दक्षिणायनजं कालं क* * * * * * * ? ॥

७५ ॥

**? नां योगकाले तु शुद्धस्सप्राणगश्शिवः ।

सुषम्ना दक्षिणे प्राणे तद्वहे चैव * * *? ॥ ७६ ॥

* * * * * * * * * * * ?

मयनस्मृतम् ।

त्रिरुच्छ्वासव *? ताभ्यां ते चैव विषुवायनम् ॥ ७७ ॥

मकरं कुंभमीनञ्च मेषञ्च मिथुनं तथा ।

सुषुम्ना * * * * * * *? यचोत्तरायणा ॥ ७८

॥

पू। ११०४)

कर्कसिंहकन्या च तुलावृश्चिर्धनुस्तथा ।

इडयान्तर्महादेवि राशयो दि * * * * ? ॥ ७९ ॥

**? नाड्योदये देवि तत्कर्कपरिकीर्तितः ।

मकरमादिसङ्क्रान्त्यै कैकेया बुधः ॥ ८० ॥

आदित्यादि भवे * * * * * * ? चतुर्दश ।

विज्ञेयः प्राणविक्षेपः प्रबुध्यन्ते च ते क्रमात् ॥ ८१ ॥

दिवाचारो भवेद्यस्य वेत्ता तस्य द्वयं भवेत् ।

प्र* * * ? मतिकालं समीपरार्धकल्पितम् ॥ ८२ ॥

पूर्वोदयात्समारभ्य प्राणसप्तदश क्रमात् ।

प्राणाष्षष्टिस्समाख्याता प्राणाश्चैकादशं पुनः ॥ ८३ ॥

पृ। ११०५)

निमेषैकं लवं ह्येकं तृटिमेकादश न्यूनकम् ।

कृत्तिकाद्या भवेच्चारं भरण्यान्तानि मोदिताः ॥ ८४ ॥

एवं शरीरजञ्चाररिक्षेषु कथितं तव ।

ज्ञात्वा योगी जपेन्मृत्युं ध्यात्वा दे* *? लक्षरम् ॥ ८५ ॥

स एव भगवान् काल अजयः कृष्णपिङ्गलः ।

नाडिकाग्रहसंस्थो हि कालः कलयते प्रभुः ॥ ८६ ॥

तत्र चित्तं समाधाय कालबीजं विचिन्तयेत्।
शंभुमम्बुजपादञ्च बीजं कालेश्वरं स्थितम्॥ ८७॥

नाडिकाग्रहसंस्थाने वृध्या तन्तु जपेत्कलम्।
तदा प्रवर्तते तस्य त्रिकालज्ञानमुत्तमम्॥ ८८॥

प्।११०६)

भूतं कथयते योगी भविष्यद्वर्तमानकम्।
षण्मासाभ्यन्तरे युक्तः कालज्ञानं प्रवर्तते॥ ८९॥

त्रिकालज्ञानसंसिद्धिः जायते योगिनस्य तु।
कालात्मा जपतो देवि यतो वा वा महेश्वरि॥ ९०॥

न तस्य कलयते कालः काले स्वच्छां वृजेत् *?।
हतमृत्युजरारोहि सर्वरोगविवर्जितः॥ ९१॥

दूराच्छ्रवणविज्ञानं मननञ्चावलोकनम्।
जायते नात्र सन्देहो योगी कालजयेषिणः॥ ९२॥

एकचित्तस्समापन्नो नासिकारन्ध्रमाश्रितः।
जायते योगिनस्सर्वं कालमृत्युर्महद्भयम्॥ ९३॥

पृ। ११०७)

जपते ध्यायते योगी नात्र कुर्याद्विचारणाम्।
मन्त्रं वा जपते यस्तु पञ्चाक्षरं महामतिः॥ ९४॥

शतञ्च विंशतिं वापि पञ्चाष्टकशतानि च।
जपतो मन्त्रराजानः ओं जूंसश्शिवाय नमः॥ ९५॥

एतन्मृत्युजयं श्रेष्ठं सर्वदुःखापहं परम्।
नानेन सदृशो मन्त्रः त्रिषु लोकेषु विद्यते॥ ९६॥

इदं पञ्चाक्षरं मन्त्रं सर्वदेवनमस्कृतम्।
पूजितं त्रिदशैह्येतं मन्त्रराजं सुदुर्लभम्॥ ९७॥

तस्यादौ तु त्रयो देवाश्चतुर्थमीश्वरं परम्।
पञ्चमं देवदेवेशं सदाशिवं परं पदम्॥ ९८॥

पृ। ११०८)

एतत्पञ्चात्मकं देवं जपितं सर्वदेवतैः।

हुतञ्च सततं तैस्तु मृत्युजित् स तु ते सुराः॥ ९९॥

अस्य मन्त्रप्रसादेन देवैर्मृत्युर्जितः पुरा।

जरारोगविनिर्मुक्ताः परमैश्वर्यसमन्विताः॥ १००॥

सर्वकामसमृद्धास्तु पाशानुग्रहकारकाः।

निर्द्वन्द्वा निरहंकाराः प्रलये भिन्नदेहजाः॥ १०१॥

न तेषां पुनरावृत्तिः गतास्तु परमां गतिम्।

एतन्मन्त्रवरं प्राप्यात्मानं पठते सदा॥ १०२॥

त्रिधा चैव बहुधा चैव पशुज्ञानाभिमानिनः।

आत्मानं प्राकृतं तत्वं अन्तरात्मा तु पौरुषम्॥ १०३॥

पृ। ११०९)

परमात्मा भवेद्विष्णुः योगी नारायणेश्वरः।

आत्मा तु कर्मणः कर्तान्तरात्मा तु कारकः॥ १०४॥

परमात्मेत्वुदासीनं धृवं ते गुणयोगिनः।
अणिमादिगुणैर्युक्तः परमात्मा महेश्वरः॥ १०५॥

ध्यायन्ति नित्ययुक्ता वै सनकाद्यास्तु योगिनः।
मोक्षं जानन्ति योगीनां व्याख्यातं तव शोभने॥ १०६॥

वेदवादिनमप्येवं सकलस्यमुपासिनः।
ओङ्कारवाक्यरूपेण ब्रह्मविद्यावदन्ति हि॥ १०७॥

ब्रह्मविष्णुस्तथा रुद्रः त्रयो देवास्समेकतः।
सत्वं रजस्तमश्चैव गुणत्रयमुदाहृतम्॥ १०८॥

पृ। १११०)

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तञ्च पदत्रयमुदाहृतम्।
ऋग्यजुस्सामवेदाश्च त्रयो वेदास्स एव तु॥ १०९॥

एष वै परमोङ्कारस्सर्वदेवमयं विदुः।

आनन्दं परमं ब्रह्म साम्यावस्थं तमोमयम् ॥ ११० ॥

अग्निरग्नौ यदा क्षिप्तं तोये तोयमिव स्थितम् ।
मृत्पिण्डदण्डपाषाणन्निस्सुखं निष्प्रचेतनम् ॥ १११ ॥

निर्वाणं परमानन्दमेवं वेदविदो धृवम् ।
अधुना संप्रवक्ष्यामि सादरं शृणु सुवृते ॥ ११२ ॥

उपास्यते यथा देवं सकलं सर्वतो मुखम् ।
प्रद्युम्नमनिरुद्धञ्च तथा सङ्कर्षणो महान् ॥ ११३ ॥

पृ। ११११)

वासुदेवेति भगवान् सर्वावासो नरो हरिः ।
प्रद्युम्नकारको नाम कामो वै कामरूपिणः ॥ ११४ ॥

अनिरुद्धो निरुद्धा अहङ्कारः प्रपठ्यते ।
सङ्कर्षणो भवेद्बुद्धिः प्राणापानमयी पुरी ॥ ११५ ॥

वासुदेवेति प्रकृतिः गुणसाम्ये तमोमयी ।

गुणसाम्ये स्थिता यस्मात् निर्विकल्पे निरामयः ॥ ११६ ॥

* * * *? क्षेत्रज्ञानां तत्परं वास उच्यते ।
प्रधानकिमहोरात्रमुषित्वा प्राणिनस्तथा ॥ ११७ ॥

भूय एव व्रजन्त्ययं सृष्टिसंहारचोदिताः ।
वसन्ते सर्वभूतेषु स्वभावगुणवासना ॥ ११८ ॥

पृ। १११२)

वासनाद्वासना चैव वासुदेवेति गीयते ।
नासौ देवदेवेति पठ्यते पाञ्चरात्रके ॥ ११९ ॥

अकारोकारभेदेन मकारं माररूपिणम् ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताख्यैः सत्वराजसतामसैः ॥ १२० ॥

रूपैरेतैस्समाख्याता वेदयोगमनीषिणः ।
तेषां यस्तुर्यनामानं तस्याधः प्रकृतिस्थिता ॥ १२१ ॥

सांख्यानां पुरुषस्यैव प्रागेवोक्तं मयानघे ।

एतत्ते कथितं सर्वं किं भूयः परिपृच्छसि ॥ १२२ ॥

वैमलाकारकाश्चैव तथा पाशुपता च ये ।
वैमलानां ध्रुवं देवं कारकाणां ततोपरि ॥ १२३ ॥

प्। १११३)

ग्रन्थिध्रुवं मायीनां शिवसृष्टेरवस्थिता ।
तेषां तत्परमं स्थानं दीक्षाध्वानविशोधितम् ॥ १२४ ॥

ईश्वरं पाशुपत्यानां स्थानञ्चैवमुदाहृतम् ।
चर्याध्वानविशुद्धात्मा गच्छते नात्र संशयः ॥ १२५ ॥

अस्ति नास्ति तथास्तीति अर्हन्ता पुद्गलेति च ।
जीवाख्ये नियतं देवमुपास्यन्ते नात्र संशयः ॥ १२६ ॥

एष देवि समाख्यातं साक्याचारहतैस्सह ।
न्यायवैशेषिकाश्चैव नैश्रेयपदवादिनः ॥ १२७ ॥

पुराणपुरुषेत्येवमितिहासेषु गीयते ।

पुराणे कविरित्येवं पुरुषं परमेश्वरम्॥ १२८ ॥

पृ। १११४)

देवं विश्वपतिं शुद्धमीश्वरं विश्वतोमुखम्।
एकधा बहुधा चैव तथा शतसहस्त्रधा॥ १२९॥

गीयते येतितत्वज्ञा देवदेवं महेश्वरम्।
बहुभिर्नामभेदैस्तु ऋषिभिः परिगीयते॥ १३०॥

जीवं केचिद्वदन्त्येवं पुरुषेति तथा परे।
प्राणिनः केचिदित्येवं पुद्गलं पशुरेव हि॥ १३१॥

सूक्ष्मं सर्वगतेत्येवमजमन्ये मनीषिणः।
आत्मानमन्तरात्मानं परमात्मा तथा परे॥ १३२॥

* * * * * * * ? नमनन्ये धृतिकीर्तिताः।
अतः परतरेणैव पातालानि यथाक्रमम्॥ १३३॥

पृ। १११५)

कथयामि समासेन तन्निबोध वरानने ।

आभासतालसुतालञ्च श्रीतालञ्चगभस्तिकम् ॥ १३४ ॥

शिलोच्चयं समाख्यातं पातालं हेमसंज्ञकम् ।

एतेषामुपरिष्टात्तु भुवनास्सप्त कीर्तिताः ॥ १३५ ॥

भूलोकः प्रथमः प्रोक्तः यस्मिन् संस्कारमिष्यते ।

चतुर्दशविधश्चैव यस्मिन् संसारमण्डलम् ॥ १३६ ॥

उद्धरेत वरारोहे तथैव कथयामि ते ।

ब्रह्माणमादितः कृत्वा पैशाचान्तन्तु शोभने ॥ १३७ ॥

पशुस्तु प्रथमः प्रोक्तो मृगश्च तदनन्तरम् ।

पक्षिणश्च तथा प्रोक्ता तथा चैव सरीसृपः ॥ १३८ ॥

पृ। १११६)

स्थावरं पञ्चमं प्रोक्तं मानुष्यञ्च तथा पुनः ।

चतुर्दशविधं देवि ज्ञेयं संसारमण्डलम् ॥ १३९ ॥

एभ्यस्संसारतोह्यात्मा संसारी तेन स स्मृतः।
मानुष्येषु पुनः पश्चात् जातिरुद्धरणं स्मृतः॥ १४० ॥

अन्त्यजः प्रथमः प्रोक्तः शूद्रत्वं तदनन्तरम्।
वैश्यक्षत्रं तथा ब्रह्मजातिरुद्धरणं कुरु॥ १४१ ॥

ब्रह्मत्वे तु तथा योज्य कुर्यात् संस्कारकर्मणि।
गर्भाधानादितः कृत्वा अन्त्येष्टिन्तु पश्चिमम्॥ १४२ ॥

पूर्वमेव मया प्रोक्तं भूलोके चैव कारयेत्।
क्रतुभिश्शुद्धदेहे तु भूलोके तु नियोजयेत्॥ १४३ ॥

पृ। १११७)

भूलोकोथ भुवर्लोको स्वर्लोकोथ महत्तथा।
जनस्तपस्तथा सत्यं क्रमेण पुनरुद्धरेत्॥ १४४ ॥

लोकैश्शुद्धैस्तथा देवि ब्रह्मविष्णवासने तथा।
रुद्रासनं तथा प्रोक्तं ब्रह्माण्डाभ्यन्तरे तथा॥ १४५ ॥

नागाश्च गरुडाश्चैव सुराः किं पुरुषास्तथा।
अग्निकुमारकाश्चैव मयश्चैव बलिस्तथा ॥ १४६ ॥

सप्तैते कथिता देवि पातालेषु व्यवस्थिताः।
बलोह्यतिबलश्चैव बलवान् बलविक्रमः ॥ १४७ ॥

बलश्च बलनन्तश्च बलोग्रश्चैव कीर्तिताः।
एतैस्सप्त समाख्याताः भुवनीशा महाबलाः ॥ १४८ ॥

पू। १११८)

एतैश्शुद्धैरिमे शुद्धाः पातालास्सप्त एव तु।
शर्वो रुद्रस्तथा भीमो भव उग्रस्तथैव च ॥ १४९ ॥

महादेवस्तथैशानो रुद्रलोकाधिपास्त्विमे।
कापालीशोप्यजो बुद्धो वज्रदेहप्रमर्दनः ॥ १५० ॥

विभूतिरव्ययः शास्ता पिनाकी त्रिदशाधिपः।
दशरुद्रास्समाख्याता पूर्वायाः दिशि संस्थिताः ॥ १५१ ॥

अग्निरुद्रो हुताशी च पिङ्गलो खादको हरः।
ज्वलनो दहनो बभ्रुः भस्मान्तकः क्षयान्तकः॥ १५२॥

आग्नेय्यां दिशि रुद्रास्तु कथितास्तव शोभने।
यो धूम्रहरो धाता विधाता कर्त एव च॥ १५३॥

पृ। १११९)

कालरुद्रश्च विख्यातो धर्मो धर्मपतिस्तथा।
संयोक्ता च वियोक्ता च इत्येते कथिता मया॥ १५४॥

याम्यायां दशरुद्रास्तु कथिताह्यनुपूर्वशः।
नैऋतो मारणो हन्ता क्रूरदृष्टिर्भयानकः॥ १५५॥

ऊर्ध्वकेशो विरूपाक्षो धूम्रलोहितदृष्टवान्।
नैऋते दशरुद्रास्तु कथिताह्यनुपूर्वशः॥ १५६॥

बलोह्यति बलश्चैव पाशहस्तो महाबलः।
श्वेतोथ जयभद्रश्च दीर्घबाहुर्जलान्तकः॥ १५७॥

बडवामुखो भीषणेशो वरुणराज्ञा सुपूजिताः ।
वारुण्यां दशरुद्रास्तु कथिता ह्यनुपूर्वशः ॥ १५८ ॥

पृ। ११२०)

शीघ्रो लघुर्वायुवेगः सूक्ष्मस्तीक्ष्णः क्षयान्तकः ।
पञ्चान्तकः पञ्चशिखः कपर्दी मेघवाहनः ॥ १५९ ॥

वायव्यां दशरुद्रास्तु कथिताह्यनुपूर्वशः ।
निधीशो रूपवान्धन्यः सौम्यदेहो जटाधरः ॥ १६० ॥

लक्ष्मीधृक् रत्नधृक् श्रीधृक् प्रसादश्च प्रकाशनः ।
उत्तरां दिशमाश्रित्य दशरुद्रा महाबलाः ॥ १६१ ॥

विद्याधिपोथ सर्वज्ञो ज्ञानभुक् वेदपारगः ।
सुरेश्वरश्च सर्वेशो भूतपालो बलिप्रियः ॥ १६२ ॥

सर्वविद्या विधाता च सुखदुःखकरस्तथा ।
ईशान्यां दशरुद्रास्तु कथिता ह्यनुपूर्वशः ॥ १६३ ॥

प्। ११२१)

वृषो वृषधरोनन्तो क्रोधनो मरुताशनः।

उग्रसेनोधिवीरश्च फणीन्द्रो वज्रदंष्ट्रवान्॥ १६४॥

अधस्ताद्दशरुद्रास्तु कथिताह्यनुपूर्वशः।

शंभुर्विभुर्गुणाध्यक्षः स्त्र्यक्षस्त्रिदशवन्दितः॥ १६५॥

संवाहश्च विवाहश्च नभोलिप्सुर्विचक्षणः।

ऊर्ध्वां दिशं समाश्रित्य दशरुद्रा महाबलाः॥ १६६॥

भूर्लोके तु यदा प्राप्य कुर्यात् संस्कारकर्मणि।

स्थावरं प्रथमं शोध्यं ततश्शोध्यं सरीसृपम्॥ १६७॥

पक्षिणश्च मृगाश्चैव पशवश्चेत्यनुक्रमात्।

देवयोनिर्पुनश्शोध्य एवमेव विपश्चितैः॥ १६८॥

प्। ११२२)

संसारोद्धरणं कृत्वा जातिरुद्धरणं कुरु।

अन्त्यजः प्रथमं प्रोक्तश्शूद्रश्च तदनन्तरम्॥ १६९॥

वैश्यक्षत्रक्रमेणैव ब्रह्मान्तमुद्धरेत् क्रमात्।
सद्यादिवक्रपर्यन्तैश्शोधयेत यथाक्रमम्॥ १७०॥

अन्त्यजस्थमीशमन्त्रेण गायत्र्या देवयोनयः।
ध्येयञ्च विविधं यत्तद्विद्याङ्गैश्शोधयेत् क्रमात्॥ १७१॥

ब्रह्मत्वे योजयित्वा तु कुर्यात् संस्कारकर्मणि।
गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तं जातकर्मणि॥ १७२॥

नामनिष्क्रमणञ्चैवान्नप्राशनमेव च।
चूडोपनयनञ्चैव वृतबन्धं तथैव च॥ १७३॥

पृ। ११२३)

मेखलादन्तकाष्ठञ्च अजिनञ्च त्रियायुषम्।
**? मग्निरुपासञ्च व्रतानि पुनरेव तु॥ १७४॥

भूतेशं पाशुपत्यञ्च गणञ्चैव तृतीयकम्।
गणेश्वरं चतुर्थन्तु उत्तमञ्चाधिसाककम्॥ १७५॥

सप्तं * * * * * *? अपूर्वेण प्रकीर्तिताः।

ऐष्टिकं दार्थकश्चैव भौतिकं सौमिकं तथा॥ १७६॥

देवव्रतास्समाख्याताश्चत्वारोह्यनुपूर्वशः।

गोदानन्तु ततः कृत्वा पत्नीसंयोजनं तथा॥ १७७॥

अष्टकापर्वणि श्राद्धं श्रावण्याश्रयणी तथा।

चैत्री चाश्वयुजी चैव पाकयज्ञाः प्रकीर्तिताः॥ १७८॥

पृ। ११२४)

आधेयञ्चाग्निहोत्रञ्च दर्शश्चैव ततः पुनः।

पौर्णमासीति विज्ञेया सौत्रामणी ततः परम्॥ १७९॥

हविर्यज्ञा स्मृता ह्येते ज्ञातव्यास्तु यथाक्रमम्।

अग्निष्टोमोत्यग्निष्टोममुथ्ययज्ञक्तृतीयकः॥ १८०॥

चतुर्थी षोडशी ज्ञेया वाजपेयोथ पञ्चमः।

त्रिरात्रं षष्टमित्युक्तं अप्तोर्यामञ्च सप्तमः॥ १८१॥

सोमसंस्थास्समाख्याताः सप्तचैव क्रमेण तु।
हिरण्यपादः प्रथमो हिरण्यगुह्यमतः परम्॥ १८२॥

हिरण्यमेढ्रं तृतीयन्तु हिरण्यपाणिश्चतुर्थकम्।
हिरण्यगर्भस्तथा प्रोक्ता पञ्चमः परमेश्वरि॥ १८३॥

पृ। ११२५)

हिरण्यश्रोत्रं तथा देवि षष्ठमेतत् प्रकीर्तितम्।
हिरण्यत्वक् समाख्यातं हिरण्याक्षं तथाष्टमम्॥ १८४॥

हिरण्यजिह्वो नवमो दशमोथ हिरण्यधृक्।
आसहस्रस्य यज्ञस्य दशयज्ञाः परः स्मृताः॥ १८५॥

एकैस्तु परिवारास्तु शतेन परिवारिताः।
दशयज्ञोपरिष्टात्तु अश्वमेधन्तु होमयेत्॥ १८६॥

एवं गृहस्थो भवति वानप्रस्थं तथा पुनः।
पारिव्राज्यं ततो योज्य अन्त्येष्टिन्तु ततो हुनेत्॥ १८७॥

अन्त्येष्टिन्तु ततो हुत्वा ऊर्ध्वं कृत्वा तु योजयेत्।

पुर्यष्टकसमायुक्तं पश्चात्तत्वेषु योजयेत्॥ १८८॥

पृ। ११२६)

जलानलानिलव्योम अहङ्कारं तथैव च।

बुद्धिर्गुणस्तथाव्यक्तं क्रमशः कथयामिते॥ १८९॥

अमरेशं प्रभासञ्च नैमिषं पुष्कलं तथा।

अषडिञ्चैव दण्डिञ्च भारभूतिञ्च लाकुलम्॥ १९०॥

गुह्याष्टकमिदं प्रोक्तं शिवेन परमात्मना।

हरिश्चन्द्रश्श्रीशैलं जल्पेश्वरमतः परम्॥ १९१॥

आम्रातिकेशं महाकालं तथा मध्यमकेश्वरम्।

केदारं भैरवञ्च अतिगुह्याष्टकं स्मृतम्॥ १९२॥

गयाञ्चैव कुरुक्षेत्रं खलं नाखलं तथा।

विमलञ्चाट्टहासञ्च महेन्द्रं भीममष्टमम्॥ १९३॥

पृ। ११२७)

गुह्याद्गुह्यतरं ह्येतत् कथितन्तु मया तव।
वस्त्रापदं रुद्रकोटिमविमुक्तं महालयम्॥ १९४॥

गोकर्णं भद्रकर्णञ्च स्वर्णाक्षं स्थाणुमष्टकम्।
पवित्राष्टकमेतद्धि कथितं ह्यनुपूर्वशः॥ १९५॥

फटलञ्च द्विरण्डञ्च माकोटं मण्डलेश्वरम्।
कालञ्जरवनञ्चैव शङ्कुकर्णं स्थलेश्वरम्॥ १९६॥

स्थूलेश्वरं तथा प्रोक्तं सर्वेषामुपरि स्थितम्।
स्थानाष्टकमिदं ज्ञेयं अहङ्कारे व्यवस्थितम्॥ १९७॥

पैशाचं राक्षसं याक्षं गान्धर्वञ्चैन्द्रमेव च।
सौम्यन्त्वथ प्रजेशञ्च ब्राह्मञ्चैवाष्टमं स्मृतम्॥ १९८॥

पृ। ११२८)

देवयोन्यष्टकं ह्येतत् बुध्यावरणमाश्रितम्।

संवर्त एकवीरश्च कृतान्तो जननाशनः॥ १९९॥

मृत्युहन्ता च रक्ताक्षो महाक्रोधश्च दुर्जयः।
एते क्रोधेश्वराः प्रोक्ताः अनुपूर्वं यथाक्रमम्॥ २००॥

तेजोष्टकं पुनर्वक्ष्ये कथ्यमानं मया शृणु।
लोकाध्यक्षगणाध्यक्षं त्रिदशे त्रिपुरान्तकम्॥ २०१॥

सर्वरूपश्च शान्तश्च निमेषो मेषणस्तथा।
तेजोष्टकं समाख्यातं अनुपूर्वेण ते मया॥ २०२॥

तेजोष्टकोपरिष्टात्तु स्थितं योगाष्टकं पुनः।
अकृतश्च कृतश्चैव भैरवं ब्राह्ममेव च॥ २०३॥

प्।११२९)

वैष्णवन्त्वथ कौमारभौमं श्रैकण्ठ्यमेव च।
योगिनः कथिता ह्येते यथावदनुपूर्वशः॥ २०४॥

एतेषामुपरिष्टात्तु सु शिवा द्वादश स्मृताः।

वामो भीमस्तथा रुद्र भवे * * * * * *? ॥ २०५

॥

*? व एक विराट् चैव प्रचण्डश्च तथैव च ।

ईश्वरोथ अजेशश्च अनन्तैकशिवस्तथा ॥ २०६ ॥

सुशिवा द्वादशा ह्येते अनुपूर्वेण कीर्तिताः ।

सुशिवादुपरिष्टात्तु वीरभद्रः प्रकीर्तितः ॥ २०७ ॥

मण्डलाधिपतिश्चैव * * * * * * * * ?

।

वामदेवोद्भवश्चैव तथा चैव भवोद्भवः ॥ २०८ ॥

पृ। ११३०)

एकपिङ्गेक्षणेशान कथिता अनुपूर्वशः ।

अङ्गुष्ठमात्रसहिता महादेवाष्टकं स्मृतम् ॥ २०९ ॥

एतेषामुपरिष्टात्तु गुरुपङ्क्तित्रयं स्मृतम् ।

शिवप्रभु * * * * * * * ? व प्रतापनः ॥

२१० ॥

प्राणदः शिवभीमञ्च करालः पिङ्गलस्तथा ।
महेन्द्रो दिनकृच्चैव प्रदोदक्षण एव च ॥ २११ ॥

करेवरं तथा प्रोक्तं अनुपूर्वे यथाक्रमम् ।
कण्ठघण्टा बृहन्ता च नादाश्वेत एव च ॥ २१२ ॥

यजुर्वेदसमा * * * * * * * * * *

? ।

आचार्यश्शिवरूपश्च ज्येष्ठे नारायणस्तथा ॥ २१३ ॥

पृ। ११३१)

विप्रगण्डे दरश्चैव मयमाली तथैव च ।
गहनेशः पीडनश्चैव * *? पङ्क्तिरिष्यते ॥ २१४ ॥

श्वेतदामस्सुदामश्च लोका * * * * * * ।
अक्षसूत्र एकपादञ्च तथा गृध्रशिवेश्वरः ॥ २१५ ॥

* * * * * * * * * * * ?

हुस्तथैव च।

ऋषभश्चैव गोकर्णः तथा देवो गुहेश्वरः॥ २१६॥

गुहावासी शिखण्डी च तथा च जटमायिनः।

उग्रो भस्मशिखी शूली सुगीतिश्च तथैव हि॥ २१७॥

सुफलोत् गहासश्च कारको लाङ्गविस्तरः।

तथा त्रिदण्डी शवनं साज्यं लकुलीशं तथैव च॥ २१८॥

पृ। ११३२)

द्वितीया पङ्क्तिराख्याता अनुपूर्वं यथाक्रमम्।

देवा चरणा दीर्घं वा हरिभूश्चैव यथाक्रमम्॥ २१९॥

रितिभूतिस्समाख्याता स्थाणुश्चैवमतः परम्।

सद्योजातस्तथा रुण्डी षण्मुखश्चतुराननः॥ २२०॥

चक्रपाणिस्तथा कूर्म अर्धनारीश्वरस्तथा।

मेषसंवर्तकश्चैव भस्मेशः कामनाशनः॥ २२१॥

कपाली भूर्भुवश्चैव वषट्कारस्तथैव च ।

बुध्या घ्राणेन्द्रियः प्रोक्तो पृथिव्यान्ते ॥ २२२ ॥

* * * * * * * * * * * * ?

तु शोधयेत् ।

आपे तु रसतन्मात्रं विषयं रसमेव च ॥ २२३ ॥

पृ। ११३३)

कर्मेन्द्रियं ततः पायु बुध्य जिह्वेन्द्रिय स्मृतः ।

आपे तु शोधनीया तु अनुपूर्वं यथाक्रमम् ॥ २२४ ॥

तेजे तु रूपतन्मात्रं विषयं रूपसंज्ञकम् ।

कर्मेन्द्रिय स्मृतः पादः बुध्या चक्षुः प्रकीर्तितः ॥ २२५ ॥

तेजोवारणमेतत्तु शोधनीयं यथाक्रमम् ।

वायौ तु स्पर्शतन्मात्रं विषयं स्पर्शसंज्ञितम् ॥ २२६ ॥

कर्मेन्द्रियः स्मृतं पाणि बुध्या चैव त्वगीन्द्रियम् ।

वायुतत्वे तु संशोध्या अनुपूर्वेण देशिकः ॥ २२७ ॥

आकाशे शब्दतन्मात्रं विषयं शब्दसंज्ञितम्।
कर्मेन्द्रियं स्मृतो वाचा बध्वा श्रोत्रेन्द्रिय स्मृतः॥ २२८॥

पू। ११३४)

आकाशे शोधनीयास्तु अनुपूर्वेण मन्त्रवित्।
रोमाणि लोहितं मांसं मातृकर्तृक उच्यते॥ २२९॥

मज्जास्थिशुक्लसङ्घातं पैतृकं तृक उच्यते।
अन्नपानं मनश्चैव क्रमेण परिकीर्तिताः॥ २३०॥

पृथिव्यादिषु तत्वेषु एकैकेषु यथाक्रमम्।
शोधनीयं यथान्यायं प्रकृत्यायान्तु या विधी॥ २३१॥

एवं हुत्वा यथान्यायं हुनेद्योगाष्टकं पुनः।
गुरुपङ्क्तित्रयं हुत्वा प्रधानन्तु ततो हुनेत्॥ २३२॥

अतः परतरञ्चैव श्रूयतां सुरसुन्दरि।
पौरुषे चैव तत्वे तु कथयाम्यनु पूर्वशः॥ २३३॥

पृ। ११३५)

अंभा च सलिला चैव तुषावृष्टिस्तथैव च।
सुतारा च सुपारा च सुनेत्रा च तथैव हि॥ २३४॥

सुमारी उत्तमांभा चतुष्टयः परिकीर्तिताः।
ताराद्या अधुना वक्ष्ये प्राप्यमान निबोधमे॥ २३५॥

तारा चैव सुतारा च तरयन्ती तथैव च।
प्रमोदा प्रमुदिता चैव मोदमाना तथैव च॥ २३६॥

रम्यका च समाख्याता सदा प्रमुदिता च या।
सिद्धिरष्टविधा ख्याता ज्ञातव्या देशिकेन तु॥ २३७॥

अणिमा लघिमा चैव महिमा प्राप्तिरेव च।
प्राकाम्यमीशितत्वञ्च वशित्वञ्च तथैव हि॥ २३८॥

पृ। ११३६)

सर्वकामावसायित्वमैश्वर्यं कथितं मया।
एतेषामुपरिष्टात्तु नाड्यो विद्याष्टकं हुनेत्॥ २३९॥

इडा च चन्द्रिणी चैव गौरी शान्तिकरी तथा।
माला च मालिनी चैव स्वहा चैव स्वधा तथा॥ २४० ॥

नाडी विद्या समाख्यातं वेदितव्यं प्रयत्नतः।
अत एव उपरिष्टात्तु कथितं विग्रहाष्टकं॥ २४१ ॥

अनुग्रहार्थं लोकानां संस्थितं सर्वदेहिषु।
कार्यञ्च कारणञ्चैव सुखं दुःखं तथैव च॥ २४२ ॥

पुरुषत्वं स्मृता ह्येते ज्ञातव्यास्तु विचक्षणैः।
अन्ये ये कथिता देवि भुवनाध्वेन ये पुरा॥ २४३ ॥

पू। ११३७)

देहपाशाह्यनेकानि वेदितव्यानि देशिकैः।
पौरुषस्योपरिष्टात्तु * * * * * * * * ?॥
२४४ ॥

* * * * ? भवेत्पाशं नियन्तं परमेश्वरि।

सुखपाशो दुःखपाशन्तु शुक्लकृष्णावुभावपि ॥ २४५ ॥

अस्य तत्वे तु ये रुद्रा कथयामि निबोध मे ।
वामदेवोद्भवश्चैव तथा चैव भवोद्भवः ॥ २४६ ॥

* * * * * * * * * * * *
* ? व स्मृतः ।
धातारः क्रमशश्चैव विक्रमश्च तथैव च ॥ २४७ ॥

प्रभेशानस्समाख्यातस्सुप्रभेशान एव च ।
नियत्यां संस्थिता ह्येते दशरुद्रास्समासतः ॥ २४८ ॥

पू। ११३८)

अतोर्ध्वं संस्मृतः काल येस्मि रुद्र * * * *? ।
* * * * * * * * * * * *
रमाक्षरः ? ॥ २४९ ॥

शिवश्च सुशिवश्चैव ध्रुवमक्षरमेव च ।
दशैते तु समाख्याता अनुपूर्वं यथाक्रमम् ॥ २५० ॥

कालतत्वे स्थिता * * * * * * * * * *

? ।

मातृका प्रक्षेपः विद्यते * * * * * * * ?

॥ २५१ ॥

* * * * * * * ? ह्येते ममान्यत्पलालवत् ।

नाडीत्रयमिदं देवि या प्रोक्तास्तत्र योक्षराः ॥ २५२ ॥

इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना च त्रय स्मृताः ।

इच्छाज्ञानक्रिया चैव परं शक्तित्रयं स्मृतम् ॥ २५३ ॥

पृ। ११३९)

वामा ज्येष्ठा च रौद्री च अधिकारात्मिका त्रयः ।

गार्हपत्यो दक्षिणाग्निराहवनीयं तृतीयकम् ॥ २५४ ॥

यज्ञाधिकारिका ह्येते अग्नयस्त्रीणि कीर्तिताः ।

गुणत्रयन्तु त्रैरेव पदत्रयमुदाहृतम् ॥ २५५ ॥

त्रैलोक्यं व्यापितं तैस्तु ब्रह्मविष्णुमहेश्वरैः ।

ईश्वरं हि चतुर्थन्तु पञ्चमन्तु सदाशिवम्॥ २५६॥

नमस्कारं भवेच्छक्तिः सर्वमन्त्रप्रबोधिनी।
एष सर्वमयो देवि मन्त्रं परमदुर्लभम्॥ २५७॥

जपतस्सिद्धिमायाति कालमृत्युजयो भवेत्।
जपतस्तृप्तिमायाति अमृतीशसमो भवेत्॥ २५८॥

पू। ११४०)

एतद्देवि समाख्यातं कालमृत्युजयेषिणः।
कथितं सरहस्यन्तु कालचक्रं समासतः॥ २५९॥

सततं जपमानस्तु न मृत्युवशगो भवेत्।
ध्यायते सततं यस्तु अमृतं मृत्युनाशनम्॥ २६०॥

अचिरेणैव कालेन सि मृत्युं विजयिष्यति।

इति निश्वासकारिकायां दीक्षोत्तरे अष्टादशः पटलः -
ईश्वर उवाच -

दशद्वादशभिष्षड्भिः त्रिभिर्वर्णामनुत्तरात्।
अथवा सत्य एव स्यात् विदितारार्धि तोर्यदा॥ १७०॥

पृ। ३७)

* * * * * * * * शिववत्वं विनिर्दिशेत्।
न लिखेत्पुण्यपापेभ्यो सत्यं देवि उदाहृतम्॥ १७१॥

चिच्छत्त्यागमेचोक्तं विधिनानेन सुवृते।
सर्वे ते प्रणवा ज्ञेयाः काममुक्तिफलप्रदाः॥ १७२॥

एष ते मातृकायागः कथितस्तव शोभने।
येन इष्टो इष्टं वा अ * * * * * * * * ॥ १७३॥

इति निश्वासकारिकायां ज्ञानकाण्डप्रकरणे द्वादशः पटलः।

ईश्वरः

हृत्पद्मं संप्रवक्ष्यामि दशग्रन्थिष्ववस्थितम्।

यथा सा साधना तत्र मातृका * * * * * * ॥ १ ॥

पृ। ३८)

* * * * मसद्भावं सर्वव्यापीति विश्रुतम्।
स एवं संस्थितो नित्यं देही देहत्वमागतः॥ २॥

आपादतलमूर्धान्तं स्वेच्छया यः प्रवर्तते।
स एव नालमित्युक्तं आधारं सर्वदेहिनाम्॥ ३॥

अष्टपत्रं भवेत्पद्मं षोडशाच्छदमेव वा।
अभयोरेव जानीयात् संपुटं परमं महत्॥ ४॥

पूर्वपत्रात्समारभ्य आदिवर्गन्तु विन्यसेत्।
एकैकमक्षरं विद्यात् पत्रे पत्रे यथाक्रमम्॥ ५॥

ककारादिभकारान्तान् केसरान्तान् विनिर्दिशेत्।
मकारं कर्णिका ज्ञेया तस्य पद्मस्य मध्यतः॥ ६॥

पृ। ३९)

यकारादि क्षकारान्तान् पुष्करान्तान् विनिर्दिशेत्।
एष पद्मविधिप्रोक्तो हृत्पद्मस्य विशेषतः॥ ७॥

अङ्गुष्ठाद्यावन्मूर्धान्तमेवमेव विधिस्मृतः।
विधिमेव सकृत् ज्ञात्वा न भूयो जन्मतां व्रजेत्॥ ८॥

षट्पदास्वादलोभेन यथा पुष्पाणि जिघ्रति।
एवं सर्वेषु पद्मेषु हृदिस्थो याति नित्यशः॥ ९॥

यदेतद्धृतिपद्मन्तु अधोमुखमवस्थितम्।
तस्य मध्ये तु चात्मानमधश्चोर्ध्वमवस्थितम्॥ १०॥

अहर्निशास्तु देवेशि मध्यस्य क्रीडते प्रभुः।
भुङ्क्ते तु विविधान् भोगान् धर्माधर्मेष्ववस्थितः॥ ११॥

पृ। ४०)

घटीयन्त्री यथा कश्चित् एकत्स्थः पूरयेद्बहून्।
तद्वद्देहस्थितो देही पूरके रेचकेपि च॥ १२॥

योसौ ज्ञेयमिति प्रोक्तं सर्वेषां श्रूयते महत्।
स एव चेतनात्मस्थः चेष्टा ह्येतानि कारयेत्॥ १३॥

स जीव इति विज्ञेयस्सर्वेषाञ्च व्यवस्थितः।
प्रेरकः सर्वभूतेषु इन्द्रियैश्च विशेषतः॥ १४॥

शुभाशुभेषु सर्वत्र उभयोरपि धावति।
धर्मिष्ठानान्तु धर्मिष्ठः पापिष्ठानान्तु पापकृत्॥ १५॥

अविज्ञातः पशुस्सोहि विज्ञातः पति रेव सः।
एवं पशुपतिश्चायं सर्वप्राणिषु संस्थितः॥ १६॥

प्।४१)

शुद्धस्फटिकसंकाशं तारकेण तु लक्षयेत्।
खद्योतमिव नाभाति प्रमाणमिच्छया स्मृतम्॥ १७॥

स जीवः स पशुश्चैव स शिवो ज्ञेयमेव च।
मनश्च चेतनश्चैव स एव परिगीयते॥ १८॥

देव्युवाच

जीवं कथय देवेश पशुञ्च शिवमेव च।
ज्ञेयं मनश्च चेता च कथयस्व विभागतः॥ १९॥

ईश्वर उवाच

शुभाशुभेषु सर्वेषु जीवः संयुज्यते यदा।
जीवन्ते सर्वभूतानि जीवस्तेनेह कीर्तितः॥ २०॥

पृ। ४२)

तमादि कालरुद्रान्तं पाशानैकस्तु पाशितम्।
भ्रमते भ्रममाणस्तु पशुस्तेनैव कीर्तितः॥ २१॥

अविज्ञातः पशुस्सोहि विज्ञातश्शिव एव हि।
ध्यायते पूज्यते यस्मात् तस्माच्छिव इति स्मृतः॥ २२॥

अगृह्यस्सर्वभूतेषु नामभिश्च विवर्जितः।
अस्तीति भावना यस्मात् तस्मात् ज्ञेयमिति स्मृतम्॥ २३॥

शुभाशुभेषु कर्मेषु सङ्कल्पं कुरुते सदा ।
मानयोन्द्रे यान्यस्ता * * * * * * * * * ॥
२४ ॥

* * * * इति स * * * भावे व्यवस्थिता ।
प्रेरकस्तेषु सर्वेषु मनस्थः परमेश्वरः ॥ इति ॥ २५ ॥

पृ । ४३)

चितिस्वरूपपिण्डेषु चेतना भावमानतिः ।
स्पर्शितं वेदते यस्मात्तस्माच्चेता इति स्मृतः ॥ २६ ॥

देव्युवाच

अधोमुखन्तु यत्पद्मं कथमूर्ध्वमुखं भवेत् ।
अङ्गुष्ठाद्यावमूर्धान्तं नीत्वा शिवपदं व्रजेत् ॥ २७ ॥

तदहं श्रोतुमिच्छामि यथावत्त्वत्प्रसादतः ।

ईश्वरः

अष्टमेन हि तत्वेन जातवेदो द्वयेन च ॥ २८ ॥

अधोर्ध्वगतसंयुक्तमायतेन शिवं व्रजेत् ।
अधोमुखन्तु यत्पद्मं वर्तते नित्यमेव हि ॥ २९ ॥

पृ। ४४)

अभेद्यं सर्वयोगीनां गुरुवाक्य बहिष्कृतम् ।
यथा च भेदमायान्ति अधः पद्मो वरानने ॥ ३० ॥

तदहं संप्रवक्ष्यामि भेदामृतमनुत्तमम् ।
दशग्रन्थि विभेदन्तु क्षुरिकातो यदा भवेत् ॥ ३१ ॥

अथ ते कथयिष्यामि भेदं तस्य परापरम् ।
भास्करप्रभवे मार्गे ध्यातव्यं ज्योतिमण्डलम् ॥ ३२ ॥

तदेव संमुखो मन्त्री मरणं परिकीर्तितम् ।
तत्तेजोन्तर्हितं कृत्वा स्वमार्गं पूरकेण तु ॥ ३३ ॥

मुखनासापुटे कर्णौ चतुष्टौ तु निमित्तकौ ।
शिखापञ्चसमोपेतं ध्यातव्यं योगिभिस्सदा ॥ ३४ ॥

पृ। ४५)

स्रवन्तममृतं दिव्यं शिखामध्ये विचिन्तयेत् ।
निर्धूमाग्नौ पतत्येव शिष्यते च मुहुर्मुहुः ॥ ३५ ॥

एवं ते शोषमायान्ति अधः पद्मसमन्ततः ।
आपूर्य कुंभकेनैव चित्राकारं विचिन्तयेत् ॥ ३६ ॥

सुषिरं दृश्यते तत्र बीजं दीपस्य बोधिता ।
ततस्तेनैव मार्गेण शनैरेचक सुव्रते ॥ ३७ ॥

ततस्तु प्रथमां ग्रन्थिच्छेदयेच्छेदकेन तु ।
एवं क्रमेण देवेशि यावन्मूर्ध्नि समाहतम् ॥ ३८ ॥

ततो हुंकारं कुर्वीत ऊर्ध्वं वायुं सुरेचयेत् ।
वेगेनाक्षिपतस्तत्र मूर्छा कंपश्च जायते ॥ ३९ ॥

पृ। ४६)

पतते मोहमापन्नो लब्धचेताश्च योगवित्।
पुनराप्यायनं कुर्यात् मूर्छाकंपं विनाशयेत्॥ ४० ॥

अमृतस्यन्दिनी बिन्दुरीढायाः प्रवहेन तु।
चिन्तयेत्प्लावयत्येवं तत आप्यायतेद्ध्रुवम्॥ ४१ ॥

अधोमुखेन पद्मेन परिवृत्या च दीपिकाः।
सिध्यते येन यो भिन्नं मार्गविद्विजचिन्तकः॥ ४२ ॥

अधोमुखेन तत्वेन सकलेन वरानने।
एवमभ्यासतो देवि द्विमार्गं प्रवहेन तु॥ ४३ ॥

एवमभ्यसतः शोष एवमाप्यायकेन तु।
यदा निर्वेदमापन्नो दृष्ट्वा चञ्चलमात्मनः॥ ४४ ॥

पृ। ४७)

अनेकेन प्रकारेण आयामान्ते तु च्छेदयेत्।

तदा निर्वाणमभ्येति छिन्नपाशनिबन्धनः ॥ ४५ ॥

इदं देवि न दातव्यं प्रयोगामृतमुत्तमम् ।
सप्ताहात्तु क्रमेद्वश्यं नात्रकार्या विचारणा ॥ ४६ ॥

निश्चितेन तु देवेशि शतायुरपि मुत्क्रमेत् ।
हृच्छिकारसमायुक्त उत्क्रमन्नात्रसंशयः ॥ ४७ ॥

कर्णान्निष्पीड्य हिक्कायां जिह्वा च परिवर्तयेत् ।
एष अन्ते प्रकुर्वीत अन्यथा न कदाचन ॥ ४८ ॥

अभ्यासं पूर्ववत्कृत्वा ज्ञात्वा उपरमेत्ततः ।
मृत्युलिङ्गं यदा ज्ञातं तदा एतत्प्रयोजयेत् ॥ ४९ ॥

पृ। ४८)

क्रुद्धलब्धावमानेन कुर्या * * * * * * ।
विद्याभावाथ गच्छेताः स * * * * वर्तयेत् ॥ ५० ॥

पद्मसूत्राणि सूक्ष्मन्तु नालं तस्य विचिन्तयेत् ।

अङ्गुष्ठाद्यावन्मूर्धान्तं तावत्पदमनामयम् ॥ ५१ ॥

ईश्वरेण सहायेन गन्तव्यं शङ्कितेन तु ।
मूर्तिध्यानं समाश्रित्य त्वा * * * * * * * ॥ ५२ ॥

प्र * * * यदा प्राप्तं सखायं परमं महत् ।
जीवन्तमयतां स्थाप्य गच्छेत्पदमनामयम् ॥ ५३ ॥

सूत्रेणेव मणिर्यद्वत् वेधयेत्कश्चिन्मानवः ।
तद्वत्तदात्मको योगी बिन्दुर्मणिरिव ग्रथेत् ॥ ५४ ॥

पृ । ४९)

यत्तद्वित्रामितं सूक्ष्मं हृत्पद्मन्तु अधोमुखम् ।
पूरितं कुंभकेनैव तदा चोर्ध्वमुखं भवेत् ॥ ५५ ॥

ऊर्ध्ववत्वं भावयेद्योगी शिखातालुप्रभेदिनी ।
सूर्यमण्डलमध्यस्था सोमश्चाग्नेश्च मध्यगाः ॥ ५६ ॥

स्थूलास्सूक्ष्मास्सुसूक्ष्माश्चान्तः करणवर्जिताः ।

स्थूलञ्चाक्षररूपेण सूक्ष्मं बिन्दुसमाश्रितम् ॥ ५७ ॥

सुसूक्ष्मं नादमित्युक्तं स नादोयं त्रिधा स्थितः ।
नादान्तर्निहिता शक्तिः शक्त्यतीतस्तु निष्कलः ॥ ५४ ॥

क्षरतेक्षरभोगेन बीजसृष्टिरनेकधा ।
अक्षरप्रकृतिर्ज्ञेया तदतीतस्तु निष्कलः ॥ ५९ ॥

पृ। ५०)

या सा कुण्डलिनी प्रोक्ता मया पूर्वमुदाहृता ।
निपतन्ति त्रिधाभूता प्रकृतिः सा परा परा ॥ ६० ॥

साणुमात्रा हृदिस्थाने कर्णस्था द्विरणुस्मृता ।
जिह्वाग्रे त्रिरणं विद्धि निसृतां मातृकां विदुः ॥ ६१ ॥

चतुर्विधा या देवेशि लिख्यते याग्रकुण्डली ।
लिख्यते पठ्यते नैव अणुनादेन वेष्टितः ॥ ६२ ॥

स्वरार्द्धस्पर्शार्धञ्च शक्तिनाथोथ बिन्दुकम् ।

शिवतत्वन्तु बोद्धव्यं वर्णे वर्णे व्यवस्थितम्॥ ६३॥

चारणात्स्पर्शनाच्चैव स्वस्वरं समनादितम्।
शक्तिश्च शान्तता चैव बोद्धव्यमनुपूर्वशः॥ ६४॥

पू। ५१)

उच्चारे कथितो ब्रह्मा अक्षरक्षरसंभवः।
आत्मतत्त्वागतो येन आकरस्तेन चोच्यते॥ ६५॥

स्पर्शे विष्णुस्समाख्यातो विद्यातत्वसमाश्रितः।
मायया मोहयत्येष मकारस्तेन चोच्यते॥ ६६॥

सकलस्तु भवेद्रुद्रो वर्णरूपीह्यधस्थितः।
प्राणो भूत्वा हरत्यूर्ध्वं हकारस्तेन चोच्यते॥ ६७॥

मदलोलेर्पहीनस्तु झर्झरत्वं प्रपद्यते।
बिन्दुहीनास्तथा वर्णा सुस्वरन्न प्रकाशयेत्॥ ६८॥

हृत्कर्णतालुमूर्धान्तं नादस्थानं प्रकीर्तितम्।

तत्रस्थं चिन्तयेद्योगी शिखां तालुप्रभेदिनीम् ॥ ६९ ॥

प्। ५२)

बिन्दुमध्यगतो नादः स तु नादः परापरः।
शिवतेजोद्भवा शक्तिः वर्णे वर्णे व्यवस्थिता ॥ ७० ॥

तेन दीप्तप्रभावञ्च वर्णा सिद्धिस्तु कामिकी।
तत्वेन विततास्सर्वे तन्तुभिस्तु यथा परः ॥ ७१ ॥

क्षीरभूते भवेद्वर्णा बिन्दुर्घृतमिव स्थितम्।
घृतमध्यसमो नादः शक्तिर्वीर्यमिव स्थितः ॥ ७२ ॥

तेजो भूतं परं तत्वं सर्वदोषविवर्जितम्।
व्यापकस्सर्व * *? नां गुरुवक्त्रात्तु लभ्यते ॥ ७३ ॥

देवी स्वरार्धं स्पर्शार्धं सुस्वरं समनादितम्।
अनया देवि विज्ञातं परेण सह संयुतम् ॥ ७४ ॥

प्। ५३)

देवतानान्तु यत्स्थानं वर्णे वर्णे व्यवस्थितम्।
तदहं श्रोतुमिच्छामि तत्वतो ज्ञातुमर्हसि॥ ७५॥

ईश्वर उवाच

स्वरार्धे कथितो ब्रह्मा स्पर्शार्धेन तु केशवः।
सुस्वरे च समाख्यातः तत्र रुद्रो व्यवस्थितः॥ ७६॥

समशब्दे स्थितो गीशः स तु बिन्दुरुदाहृतः।
आयते देवदेवेशि नादाख्यः स सदाशिवः॥ ७७॥

शक्तिः परतरस्तस्य परेण सह संयुता।
भागमेकं शिवस्थाने अङ्गेष्वेव द्वितीयकम्॥ ७८॥

तृतीयं निष्ठमं तस्य येन वर्णास्फुटो भवेत्।

पृ। ५४)

चतुर्थन्तु ततो बाह्ये पञ्च षष्ठं तथैव च॥ ७९॥

वर्णा देहं समाख्यातं यत्र सर्वे प्रतिष्ठिताः।
अधुना देहगं देवि कथयामि यथा स्थिता॥ ८०॥

स्वरोहं हृदयो देवि स्पर्शः कण्ठे समाश्रितः।
तालुमध्ये समाख्यातं सुस्वराख्यं वरानने॥ ८१॥

समत्वं यन्मया ख्यातं ललाटान्ते महेश्वरी।
तस्योपरि शिखा व्योम नादाख्यस्स सदाशिवः॥ ८२॥

स्वशक्तिकिरणैर्देवः परस्सर्वत्र संस्थितः।
स्वदेहे देवि ज्ञातव्या देवता भवनाशना॥ ८३॥

अर्धार्धेन विभागेन ज्ञात्वा मुह्यति बन्धनात्।

पृ। ५५)

एवं षट् त्रिविधं ज्ञात्वा पञ्च व्योमा परा स्थिता॥ ८४॥

परस्तु परतो देव शक्तिभावं प्रकाशकम्।
तस्य स्थानं न वक्तव्यं स सर्वत्र व्यवस्थितः॥ ८५॥

त्यक्त्वा सर्वमिदं भावं संस्थितो गुरुवर्त्मनि।
पञ्चव्योमपदातीतं यदा प्राप्यति तत्पदम्॥ ८६॥

तदा व्याप्ता च भोक्ता च तेषां देवि भविष्यति।
यदा गुरुमुखाद्देवि विज्ञातं पारमेश्वरम्॥ ८७॥

तदा वर्णाश्च देवाश्च न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।
चिन्ताहीनश्च यो देवि स सर्वत्र व्यवस्थितः॥ ८८॥

तेन युक्ताश्च देवाश्च नानासिद्धिफलप्रदा।

पृ। ५६)

तेन हीना न सिध्यन्ति न च यान्ति परं पदम्॥ ८९॥

तस्मात्तन्तु वरारोहे वेदितव्यं प्रयत्नतः।
न च तेन विना सिद्धिः पूजयाध्वरकर्मणि॥ ९०॥

एवं सिद्धिप्रदो देवः स एव मुक्तिदस्सदा।

पञ्च व्योमात्मके देहे शक्तिरूपेण भाव्यते ॥ ९१ ॥

देवी

पञ्चव्योमेति देवेश न मया यच्च धारितम् ।
तदहं श्रोतुमिच्छामि भगवन् वक्तुमर्हसि ॥ ९२ ॥

ईश्वरः

बीजयोनिसमायोगात् वर्ण इत्यभिशब्द्यते ।

पृ । ५७)

योनिः पृथक् पृथक् बीजं व्योम इत्यभिधीयते ॥ ९३ ॥

पृथक् पृथक् स्वरूपेण व्याप्य स्वस्थानमात्मनि ।
स्थितास्ते व्योमवद्देवि तेन व्योमेति कीर्तिताः ॥ ९४ ॥

सर्वेषां व्याप्य देवेशि बहिरन्तश्च संस्थिताः ।
तेन सा देवि आख्याता व्योमव्यापी परश्शिवः ॥ ९५ ॥

एवं ते ज्ञानिनः सर्वे परेण सह संयुताः।

(एवं ते ज्ञानिनस्सर्वे परेण सह संयुताः॥)

तादृशं वर्णरूपेण देवदेवमुपास्यते॥ ९६॥

तेन ते देवतास्सर्वे काममुक्तिफलप्रदाः।

वर्णयोगं यदा ख्यातं तत्स्थानालय भोगभुक्॥ ९७॥

पृ। ५८)

सदेवावययुक्तस्तु विलयं दैवतैस्सह॥ ९७ १/२॥

इति निश्वासकारिकायां ज्ञानकाण्डे हृत्पद्मप्रकरणे त्रयोदशः पटलः॥

देव्युवाच

भगवन् श्रोतुमिच्छामि मन्त्रस्यानित्यनित्यताम्।

संयोगात्मैकमन्त्रेण कथं मोक्षो विधीयते॥ १॥

ईश्वरः

अर्धनारी विभक्ताङ्गो तदा ते सकलस्मृतः।
लीनांशनात्मयोगेन तदा सा निष्कलस्मृतः॥ १५६॥

इति निश्वासकारियां पञ्चदशः पटलः

देव्युवाच

भगवन् श्रोतुमिच्छामि नादशब्दस्य निर्णयम्।
स्थूलसूक्ष्मविभागेन द्विप्रकारं प्रकीर्तितम्॥ १॥

कथं स्थूलं भवेन्नादस्सूक्ष्मं वापि महेश्वर।
कथं शरीरे ज्ञातव्यं तत्वतः कथयस्व मे॥ २॥

ईश्वरः

शृणु देवि परं गुह्यं यत्त्वया परिपृच्छितम्।
तदहं ते प्रवक्ष्यामि नादज्ञानमनुत्तमम्॥ ३॥

योसौ घोषस्सुसंपूर्णः श्रूयते देहमध्यतः ।
प्रकृतिस्तत्र संभूता महाजालपरिच्छदा ॥ ४ ॥

तस्य घोषस्य मध्ये तु स्थितं तत्र निवेदयेत् ।

पृ । ९८)

पुरुषस्तत्र सञ्जातो गुणातीतो निरञ्जनः ॥ ५ ॥

तृतीयन्तु महच्छब्दं स्थितं घण्टानिनादवत् ।
तस्मिन् रुद्रस्समुत्पन्नः प्रभुस्त्रैलोक्यनायकः ॥ ६ ॥

योसौ शान्तस्समाख्यातश्शब्दः परमकारणम् ।
कोपिप्रदण्डप्रतीकाशा ज्योत्स्नाकरमिव स्थितः ॥ ७ ॥

तस्मिन्नीशस्समुद्भूतस्तेजो राशिर्महात्मनः ।
योसौ सिद्धः शिवस्सूक्ष्मः सुशान्तस्सर्वतोमुखः ॥ ८ ॥

अप्रमेयोह्यनुच्चार्यो नादात्मा स तु कीर्तितः ।
लयस्थानन्तु तत्त्वज्ञैः स एव परिकीर्तितः ॥ ९ ॥

लयातीतं परो देवो निरूपाख्यो निरामयः।

पृ। ९९)

ज्ञात्वैवं मुच्यते ज्ञानी भुञ्जानो विषयानपि ॥ १० ॥

एतत् ज्ञानं परं गुह्यं नाख्यातं यस्य कस्यचित्।

देव्युवाच

कोसौ नादः किं प्रमाणः किं रूपः क्षरितः कुतः ॥ ११ ॥

किमर्थं केन चैवायं ईरितः संप्रवर्तते।

ईश्वर उवाच

ममैषा परमा मूर्तिः नादसंज्ञा वरानने ॥ १२ ॥

चिन्त्यते योगिभिर्नित्यं अपुनर्भवकाङ्क्षिभिः।

नास्य प्रमाणं व्यापित्वान्मुक्तेः समुपलभ्यते ॥ १३ ॥

अनादित्वात्संभवश्च नित्यत्वान्नियतिर्न च ।

पृ। १००)

यथा संवेत्यनुच्चार्य शब्दाक्षरविवर्जितम् ॥ १४ ॥

संप्राप्यते सुखेनैव तदुपायं ब्रवीमि ते ।
अङ्गुष्ठाभ्यां छादयित्वा साधकश्रवणावुभौ ॥ १५ ॥

ततश्शृणोति तन्नादमंबुदप्रतिमस्वनम् ।
अस्य संश्रवणाद्देवि नादस्यायतलोचने ॥ १६ ॥

परमभ्येति निर्वाणं छिन्न पाशनिबन्धनः ।
ममात्मीयमिदं सूक्ष्मं शरीरं नादसंज्ञितम् ॥ १७ ॥

पशोः पाशोपनोदाय प्रकाशीकृतमद्भुतम् ।
ततः परतरध्येयं योन्यः प्रत्युपदिश्यते ॥ १८ ॥

न चैतदप्रसन्ने तु मयि देव्युपलभ्यते।

पृ। १०१)

परमेतस्य वीर्यं यत् अनुच्चार्यमनामयम्॥ १९॥

सम्यक् यस्संविजानाति तन्मयत्वं स गच्छति।
एष ते कथितः सम्यक् नादः परमदुर्लभः॥ २०॥

सांप्रतं शृणु यत्रायं लयमायात्यनिन्दितम्।
पदमेतदतिक्रम्य चतुर्थं तुर्यसंज्ञितम्॥ २१॥

पञ्चमं पदमाकाशं लक्षयेत्समवस्थितम्।
तच्चाचलमनिर्देश्यमनन्तमजमव्ययम्॥ २२॥

अनादिमध्यनिधनमेकमप्रतिवृत्तिमत्।
निष्प्रपञ्चमनस्वान्तमतीन्द्रियमनामयम्॥ २३॥

विस्तीर्णमव्यवच्छिन्नमध्यान्तं सर्वतोमुखम्।

पृ। १०२)

निष्तूयं विमलं वृत्तमुत्तुङ्गव्यापिनद्ध्रुवम्॥ २४॥

सदाशिवाख्यमाकाशमीदृग्गुणमुदाहृतम्।
जगद्बीजमिदं सूक्ष्मं परमाकाशमव्ययम्॥ २५॥

नादोत्र लयमायाति निवृत्तं कार्यसंक्षये।
पदमेतीच्छान्तिलयं गतोह्यत्रापि संख्ययः॥ २६॥

तदिच्छया भवन्त्येते पुनश्शब्दशरीरिणः।
ततस्ते शब्दतनवोश्चक्रवर्ति पदे स्थिताः॥ २७॥

लोकानुग्रहकर्तृत्वं प्रकुर्वन्ति पतीच्छया।
तेधिकारं ततः कृत्वा कालस्यास्य परिव्ययात्॥ २८॥

अप्राप्यमात्मकं भावं यान्ति शून्यमदं पुनः।

पृ। १०३)

इति निश्वासकारिकायां षोडशः पटलः॥

न चैवावाप्यते कश्चिन्न च कश्चिन्निवेश्यते ॥ ६७ ॥

निरुध्यते न देवेशि सान्निध्यं क्रियते न च ।
व्यापी मन्त्रस्वरूपेण चिन्तयन्ति परं शिवम् ॥ ६८ ॥

तदा वाहनमित्युक्तं क्षमस्वेति विसर्जनम् ।

इति निश्वासकारिकायां एकत्रिंशत्पटलः ।

देव्युवाच

मनो हि चलते नित्यं प्रवह्वञ्चलते बलात् ।
समाधिस्थोपि देवेश कथं तिष्ठति निश्चलः ॥ १ ॥

ईश्वरः

प् । २१९)

कर्मसन्यासयोगञ्च मतियोगं महत्तथा ।
योगः पञ्चविधः प्रोक्तः पुनरावृत्तिलक्षणः ॥ २ ॥

पुनरावृत्तियोगेन ये सत्ता वरवर्णिनी ।

तेषां हि चलते नित्यं कर्मासक्तमनस्सदा ॥ ३ ॥

देव्युवाच

कर्मयोगञ्च संयासं मतियोगं महत्तथा ।

एतेषां श्रोतुमिच्छामि भगवन् वक्तुमर्हति ॥ ४ ॥

ईश्वरः

अभिमानात्मकं योग कर्मशब्दाभिशब्दितम् ।

तदेवं कृतकृत्यः सन् न्यस्ते सन्यास उच्यते ॥ ५ ॥

पृ। २२०)

सह तैश्चैव वैराग्यं संयोगः प्रकृतेर्जयः ।

अतीत्य प्रकृतौह्यष्टौ वर्तन्ते पुरुषेश्वरा ॥ ६ ॥

चत्वारः कथिता योगा महद्योगं यथा भवेत् ।

उपर्युपरि वर्तन्ते योगिनो योगवर्धनौ ॥ ७ ॥

तथैव च प्रलीयन्ते योगधर्मास्वकर्मसु ।
द्वैतभावार्थसंसिद्धा पुनः सृष्टिं व्रजन्ति ते ॥ ८ ॥

अणिमादिगुणा लक्षाद्रूपादिग्रहणात्मिकाः ।
निरोधाद्योगसंसिद्धिः मोक्षस्तेषां न विद्यते ॥ ९ ॥

अणिमादिगुणान् प्राप्य अङ्गविङ्कान् महेश्वरान् ।
नासौ सायुज्यमाप्नोति न भवेद्यावदेकता ॥ १० ॥

प्। २२१)

ओंकारतत्पराधे तु रेचके पूरके स्थिताः ।
न तेषां तु परं स्थानं आत्मेन्द्रियनिषूदनात् ॥ ११ ॥

प्रणवो वायुरधो नाडी उदानोर्ध्वं व्यवस्थितम् ।
एतत्संशययोगीनां गतानां पुनरागमः ॥ १२ ॥

गमागमनसंयुक्त निरुद्धाग्रन्थिपञ्जरे ।

विद्या योगात्मिका देवि विद्याभावाधिगच्छतः ॥ १३ ॥

भवान्तरयुगापेक्षि सविद्यस्योपजायते ।

अवश्यावेश्ययोगित्वात्ते तु व्याप्यमुदाहृतम् ॥ १४ ॥

ये केचित्कारणाभावान्न ते मुक्तास्तदात्मकाः ।

न योगी युञ्जकः कश्चिन्न च चक्षुर्निमीलितम् ॥ १५ ॥

पृ। २२२)

नासाग्रवीक्षणञ्चैव न तु योगं प्रशस्यते ।

देव्युवाच

सावलंबेह्यनित्यत्वं निरालंबेपि शून्यता ॥ १६ ॥

पक्षद्वयेपि दोषोस्ति किं तद्ध्यायन्ति योगिनः ।

ईश्वरः

यथा शिशुरकिञ्चिज्ज्ञो मूढोप्युक्ता न शायितः ॥ १७ ॥

परतत्त्वमजानन्तः पुरुषा बालकोपमाः ।
अज्ञायमाने तज्ज्ञानं ज्ञाते सत् ज्ञेयमिष्यते ॥ १८ ॥

ज्ञेयोद्भवश्च विज्ञानं विज्ञानं तत्तदात्मकम् ।

देवी

पृ । २२३)

यथा तज्ज्ञेययोगेन मनस्थास्यति निश्चलम् ॥ १९ ॥

एतन्मे निश्चितं ब्रूहि अत्र मे संशयो महान् ।

ईश्वरः

मनस्तु कथयिष्यामि चतुर्भेदसमायुतम् ॥ २० ॥

यन्न कस्यचिदाख्यातं तदद्य कथयामि ते ।

सात्विकं राजसञ्चैव तामसञ्च विशेषतः॥ २१॥

कथयामि समासेन योगभेदक्रमेण तु।
चतुर्थन्तु महद्योगं अनौपम्यमनामयम्॥ २२॥

तानि प्रवक्ष्यामि मनसं मनसे चेष्टितानि तु।
येन विज्ञातमात्रेण उन्मनत्वं स गच्छति॥ २३॥

पृ। २२४)

संशिष्टश्च स्वलीनश्च विक्षिप्तो गतिरागतिः।
मनश्चतुर्विधं प्रोक्तं भेदं तस्य इमं शृणु॥ २४॥

न मनो नापि मन्तव्यो नमन्ता च न विभाव्यते।
स्वलीनो विषयैर्मुक्ता एकीभूतस्सुषुप्तवत्॥ २५॥

विषयान् गृह्णमानोपि ज्ञेयत्वमधिगच्छति।
न च तैर्युज्यते ज्ञातस्सं शिष्टस्स तु उच्यते॥ २६॥

अज्ञानात् गच्छते ज्ञानं ज्ञानादज्ञानमेव च।

चलते यस्य दौर्बल्यात् तस्यासौ गतिरागतिः ॥ २७ ॥

ज्ञानेन शिष्यते यस्मात् इन्द्रियार्थ परायणः ।
त्रिकालमातलो नित्यं स तु विक्षिप्त उच्यते ॥ २८ ॥

पृ। २२५)

स्वलीनश्चोत्तमस्तत्र गुणातीतो निरामयः ।
मध्यमस्स तु विज्ञेयो संश्लिष्टस्सात्विकः स्मृतः ॥ २९ ॥

अधमश्च फलक्षुद्रो राजसो गतिरागतिः ।
तामसः स तु विक्षिप्तः चतुर्थोह्यधमो मतः ॥ ३० ॥

गुणात्मकः समुद्दिष्टो मनः प्रायश्च देहिनाम् ।
निर्गुणत्वेधिकत्वेन यत्र लीनो भविष्यति ॥ ३१ ॥

एकीभावगतश्शान्ते स्वकालेनैव गृह्यते ।
सुषुप्तादधिकत्वेन चेति नात्र विशेषणम् ॥ ३२ ॥

न शक्यन्ते तदाख्यातुं न च तस्य तु धारणा ।

न चान्यो ज्ञापकस्तत्र यावन्नस्वतस्वयम्॥ ३३॥

पृ। २२६)

मनसश्च सुलीनश्च यत्सुखं ह्यात्मसाक्षिकम्।
योगावस्था परा ह्येषा प्राहुर्योगविदो जनाः॥ ३४॥

यदा मनः परे तत्वे लब्धलक्षो निलीयते।
तदाह्यशेषविज्ञानं विनाशमुपगच्छति॥ ३५॥

यस्य सर्वगतो भावः स बाह्याभ्यन्तरे स्थितः।
चलितोपि मनस्तस्य चलित्वा यास्यते कुतः॥ ३६॥

ज्ञानं तत्वार्थसंबोध आत्मध्यानप्रकाशता।
ज्ञेयं सर्वसमत्वञ्च ध्यानान्निर्विषयं मनः॥ ३७॥

निराधारो निर्विकल्पः सर्वालयविवर्जितः।
निर्गुणो लक्ष्य रहितः शिवयोगः प्रकीर्तितः॥ ३८॥

पृ। २२७)

मतः कोष्ठिणतो यस्य अन्तस्थः सुसमाहितः।

यथा वायुः सुशीघ्रोपि मुक्त्वाकाशं न गच्छति॥ ३९॥

ज्ञेयं विक्षिप्तचित्तस्य विषस्थोपि निश्चलः।

भुङ्क्ते तु विषयान् सर्वान् नासौ लेह्यलेपकः॥ ४०॥

यस्य सर्वगतो भावो ज्ञेयावस्थो निरन्तरः।

कायानुबन्धिचलिते नासौ चलति निश्चलः॥ ४१॥

यस्या ज्ञेयमिदं सर्वं मनस्त्वभ्यस्य निश्चलः।

एवं योनिर्जितो धीरैस्स गत्वा किं करिष्यति॥ ४२॥

क्षीरक्षये यथा वत्सः स्तनान्मातुर्निवर्तते।

रागक्षये तदा पुंसां मनश्शीघ्रं निवर्तते॥ ४३॥

पृ। २२८)

चलाचलशरीरार्थं चित्तवृत्तिरपेक्ष्यते।

स च त्यागी शरीरस्य सुरुद्धो न भविष्यति॥ ४४॥

इच्छाद्वेषौ सुखं दुःखं विरागो ज्ञानमेव च।
त्रयोदश विधस्तेन करणं निश्चलीकृतम्॥ ४५॥

स्वभावाच्चलमन्यत्तु चलं वा केन चाल्यते।
निश्चलं न कदाचित् स्यात् अयुतस्य युतस्य वा॥ ४६॥

देव्युवाच

प्राणाद्या वायवः पञ्च (देहस्था) मनः पञ्च च देवताः।
पुर्यष्टकं च तन्मात्रं बुध्यहंकारमेव च॥ ४७॥

एभिस्तु व्याकुली भूत्वा वायवो मनसा युताः।

पृ। २२९)

चलते तु सदा देवि सुखदुःखेन मोहिताः॥ ४८॥

सुखदुःखमयो मोह अनेन चलते मनः।
यस्य तुल्यसुखं दुःखं मनस्तस्य सुनिश्चलम्॥ ४९॥

देव्युवाच

अक्ष्णान्निमीलनञ्चैव नासाग्रस्य तु वीक्षणम्।
न योगी युञ्जकश्चैवार्थतस्तु त्वया विभो ॥ ५० ॥

सावलंबं निरालंबं न योगमुभयात्मकम्।
कथं योगं महादेव ज्ञेयस्य कथयस्व मे ॥ ५१ ॥

ईश्वरः

न योगकरणञ्चात्र आधारालंबनं न च।

पृ। २३०)

हृच्चातिनासिकाग्रस्य वीक्षणान्न निमीलनम्॥ ५२ ॥

किञ्चिदाभासमात्रन्तु ज्ञात्वा तु परमां तनुम्।
प्रतिपूरितवद्वायुः सूक्ष्मेण सुषिरेण तु ॥ ५३ ॥

गता न ज्ञायते यद्वत् ज्ञेययोगं तथैव हि।

देव्युवाच

वायुपूर्णशरीरन्तु दृतिवल्लक्ष्यते प्रभो ॥ ५४ ॥

कृतकेन तु कर्तव्यं किं बाह्यकृतकात्मकम् ।
कृतकस्य तु अध्वानं ज्ञातव्यं सर्वथा विभो ॥ ५५ ॥

ज्ञेयस्य कृतकं नास्ति अध्वानं न च कल्पना ।
एतन्मे संशयं देव यत्त्सत्यं तद्ब्रूवीहि मे ॥ ५६ ॥

पृ। २३१)

ईश्वरः

अनाख्ये यस्य तत्त्वस्य निर्गुणस्य यशस्विनी ।
गुणवद्ग्रहणं कृत्वा कथयेत्परमेश्वरम् ॥ ५७ ॥

किञ्चिदाभासमात्रन्तु क्रतू कथयेच्छिवम् ।
प्रक्रमाध्वानमार्गन्तु उच्चारकरणानि च ॥ ५८ ॥

स्थातव्यन्तु वरारोहे परित्याज्यमशेषतः।
एवं स निर्जितो तिष्ठेत् मनो दुर्जयचञ्चलम्॥ ५९॥

चलते न कदाचित् स्यात् ज्ञेयावस्थो भवेत्सदा।
अनिर्जितो यथा मल्लो दर्पणीकुरुते बहून्॥ ६०॥

निजितं तिष्ठते धीरः तथा ज्ञेयविदां मनः।

पृ। २३२)

न हि गन्ता भवेत्कश्चित् गन्तव्यञ्च न विद्यते॥ ६१॥

गमागमननिर्मुक्तो घटाकाशेव तिष्ठति।
घटसंवृतमाकाशं नीयमानमितस्ततः॥ ६२॥

घटो निर्याति नाकाशं शिवोह्येवं नभोपमः।
कदलीसारवद्देहं वृतं तत्वदलैस्स्थितम्॥ ६३॥

तस्मात्तत्वदलत्यागी व्ययवद्भवते तदा।

निराकारात्मविज्ञाने भावनागतचेतसः॥ ६४॥

मोक्षोल्पीयस्य नोत्कण्ठः स मोक्षमधिगच्छति।
मोक्षो नाम स विख्यातो स शरीरो निराकृतिः॥ ६५॥

अचिन्त्यो निर्गुणो मोक्षो न तु मोक्षो लयान्वितः।

पृ। २३३)

न मोक्षस्य भवेत्तस्मात् न चाध्वानं कदाचन॥ ६६॥

सर्वत्र विगता दृष्टिः स मोक्षो मोक्षवादिनाम्।
बाहुशो यस्तु वैराग्यं आत्मा निर्व्यापितस्तु यैः॥ ६७॥

तेषामन्योपि नास्त्यत्र गत्वा निरुपपत्तिकम्।
एवमन्येपि ये केचित् निर्वाप्यन्ते विरागिताम्॥ ६८॥

तथा तेपि गमिष्यन्ते निर्वाणं प्रथमं यथा।
यथा शिलाश्रितं तोयं क्षपितं सूर्यरश्मिभिः॥ ६९॥

तथा निर्वापितोह्यात्मा गतो निरुपपत्तिकम्।
न तत्तोयगतं भूम्या न च तत्रैव तिष्ठति॥ ७०॥

न च तत् केनचित् पीतं गतो निरुपपत्तिकम्।

पृ। २३४)

एवं ग्राह्यात्मवैराग्यं यदुक्तं गुरुणा हितम्॥ ७१॥

गताध्वानमयं भावं तदेकन्तु सनातनम्।
का ह्याशा मोक्षवादीनां यत्र सर्वे क्षयं गताः॥ ७२॥

एतदत्यन्तवैराग्यमपि सत्वसुखावहम्।
यन्नास्ति तत्र सन्तोषं प्रायः कश्चित्करिष्यति॥ ७३॥

स मुक्तो निर्विकल्पस्तु स विकल्पस्तु बध्यते।
नदीनां सागरं प्राप्य नामरूपं निवर्तते॥ ७४॥

ते तत्र न विजानन्ति परस्परविशेषणम्।
न चान्यो जायते तत्र उदकस्य विशेषणम्॥ ७५॥

तत्र क्षयं गता नद्यस्सदप्येको महोदधिः।

पृ। २३५)

एवं नद्युपमो देही निर्वाणं सागरोपमम्॥ ७६॥

निर्म्ममास्ते तु तिष्ठन्ति सागराश्रित सिन्धवः।
तिष्ठते निश्चलत्वं हि तृप्तिस्थं तस्य जायते॥ ७७॥

सुखदुःखं न संवेत्ति गृह्णाति शिवजान् गुणान्।
अभावे भावमालंब्य भावं कृत्वा निराश्रयम्॥ ७८॥

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।
अभावे भावमाश्रित्य भावलीनोप्यशङ्कितः॥ ७९॥

विभुरिति समन्तव्यो नात्र कार्या विचारणा।
अभावस्य कुतो भावः निष्कलस्य महात्मनः॥ ८०॥

अमने अव्यवस्थानं निर्वाणं तस्य तत्पदम्।

पृ। २३६)

यस्य जाग्रे प्रलीयन्ते सर्वे भावास्सुषुप्तवत्॥ ८१॥

पर्याप्तं तस्य विज्ञानं त्रिपदं ते न लङ्घितम्।
पूर्वकोह्यक्षरो ज्ञेयः सुरेचितमनक्षरम्॥ ८२॥

कुंभकेन तदा ज्ञेयं क्षराक्षरपरश्शिवः।
सर्वं त्यक्त्वा समाधिस्थ अन्तःकरणगोचरम्॥ ८३॥

ततस्तु पश्यते नित्यं योगिभिस्तदुपास्यते।
गुरूपदेशनिर्दिष्टं संप्रदायं यथा स्थितम्॥ ८४॥

स बाह्याभ्यन्तरे सूक्ष्म अनादि शिव अव्ययः।

देव्युवाच

पितृयानपथं देव देवयानं तथैव च॥ ८५॥

पृ। २३७)

निश्चयं श्रोतुमिच्छामि पथद्वय विशेषणम्।

ईश्वरः

पितृयानेन गच्छन्ते इष्टापूर्तरता दिवि ॥ ८६ ॥

ते तत्र अनुभुंजन्ते यदत्र सुकृतं कृतम्।
कृतक्षये निवर्तन्ते पुनर्जायन्ति भूतले ॥ ८७ ॥

पानरोधक्षये पत्रं यथा गत्वा निवर्तते।
पथं चान्द्रमसं सर्वं मिडा तस्य तु सारथिः ॥ ८८ ॥

पितृयानेति विज्ञेयं स पथे यज्ञयाजिनाम्।
क्षीयते वर्धते चन्द्र अस्थिरो विषमश्चलः ॥ ८९ ॥

पितृयानप्रपन्नस्य गतिस्तस्यापि ईदृशी।

पृ। २३८)

देवयानपथे सूर्यः सुषुम्ना तस्य सारथिः ॥ ९० ॥

तं भित्वा गच्छते योगी दक्षिणेनानिवर्तकः ।
सर्वभूतात्मभूतानां साधूनां तत्वदर्शिनाम् ॥ ९१ ॥

सर्वकामान्निवृत्तानां स पथोभ्यासयोगिनाम् ।
न ते भूयो निवर्तन्ते देवयानेन योगिनः ॥ ९२ ॥

तस्मात्सर्वं परित्यज्य दक्षिणेन प्रपद्यथा ।
एवं पथं विदुर्देवि पितृयानं समासतः ॥ ९३ ॥

देवयानात्पथो नास्ति श्रूयतां येन हेतुना ।
पथेन गम्यते यत्र यत्किञ्चित्परिकल्पितः ॥ ९४ ॥

अत्र धातामनिर्देश्यं पथो भवति कीदृशः ।

पृ। २३९)

यथाध्वानञ्च योगञ्च सर्वतन्त्रं न विद्यते ॥ ९५ ॥

शिष्यप्रबोधनार्थाय एवं शास्त्रेषु चोदितम्।

तन्मानार्थमिदं वाक्यं देवयाने यथा तथा॥ ९६॥

सर्वव्यापित्वगमनं पथ्या भवति कीदृशः।

यत्र गम्यति तन्नास्ति न च तत्र पथा क्वचित्॥ ९७॥

नास्ति योगगतिस्तत्र सर्वलक्षात्परं पदम्।

गतिर्नावर्तते वश्यं सुदूरेष्वपि योगतः॥ ९८॥

देवयाने पथे नास्ति तेनासौ न निवर्तते।

यः कश्चित्पितृयानेन पथेन तु गतो नरः॥ ९९॥

निवर्तते सुदूरोपि यत्र यानं समाश्रितः।

पृ। २४०)

देवयानेन सो गत्वा सर्वपापैर्विवर्जितः॥ १००॥

भोक्तव्यञ्चैवमैश्वर्यमाशापाशविवर्जितम्।

करणञ्चैव संज्ञा च अहङ्कारं तथैव च॥ १०१॥

निवर्तते यतस्सर्वं कथं तत्र विभज्यते।
ऐश्वर्यं चोदितं शास्त्रे अल्पसत्वमनौपमम्॥ १०२॥

निराभासे तथैश्वर्यं न कदाचिद्भविष्यति।
यस्येश्वरोपि नैराश्यं निराशं संप्रशस्यते॥ १०३॥

त्यक्तं येन जगत्सर्वं आत्मा भोक्तव्य एव च।
आत्मार्थे सर्वकार्याणि आशाभूतः प्रवर्तते॥ १०४॥

आत्मत्यागः कृतो येन तस्याशा कस्य कारणे।

पृ। २४१)

तावद्बध्यति संसारे यावदाशा न मुञ्चति॥ १०५॥

आशाच्छेदः कृतो येन स मुक्तः सर्वबन्धनैः।
अतीतानागतञ्चैव वर्तमानं तथैव च॥ १०६॥

अथात्मा स्थावरान्तत्वसर्वज्ञानादि कृत्रिमम्।

जातं नास्ति तथावश्यं अजातञ्च विशेषतः ॥ १०७ ॥

एवं नैराश्यभावेन महामोहं त्यजिष्यति ।

अजातत्वादजो नास्ति जातं नास्त्यविनाशकम् ॥ १०८ ॥

चतुर्विधञ्च यज्ज्ञानं तदेव कृतकं स्मृतम् ।

काममूलो महावृक्षः संसारस्तीक्ष्णकण्टकः ॥ १०९ ॥

सिच्यते रागतोयेन फलग्राहेण वर्धते ।

पृ। २४२)

कामरागन्न * * * * स जिष्यति पण्डितः ॥ ११० ॥

वृक्षोपमन्तु संसारं सर्वमुन्मूलयिष्यति ।

प्रागुक्ताङ्गबलं सर्वं विद्युद्दर्शनसन्निभम् ॥ १११ ॥

योह्यज्ञः पर्युपासीत स मृत्युः पर्युपास्यते ।

तस्माच्छिद्रं पवित्रञ्च क्षेममङ्गुलमेव च ॥ ११२ ॥

स्वस्ति शान्ति शिवं तस्य हृदयं यस्य निष्प्रभम्।
पातालस्सप्तलोकान्तः सर्वमेतद्विभीषिका॥ ११३॥

भगनाशा शून्यमंत्रेण ते स्मृता मन्त्रवादिनः।
न हुतं न च वा दत्तन्न परत्र नचैहिकम्॥ ११४॥

नचात्र बध्यते कश्चित् न च कश्चिद्विमुच्यते।

पृ। २४३)

बन्धव्यो बन्धनञ्चैव तथा चैवान्यबन्धकः॥ ११५॥

दाता प्रतिगृहीता च तथा दातव्यमेव च।
अग्निदर्भाश्च मन्त्राश्च होता होतव्यमेव च॥ ११६॥

यत्र शून्यन्निराभासं कुतस्तत्र इमे स्मृताः।
अग्निहोत्रादयो यज्ञा वेदाश्च ऋषयस्तथा॥ ११७॥

असुराः पितरो देवाः सर्वेह्यपरमार्थिकाः।
सर्वे मन्त्रात्मका देवा देवो मन्त्रगणस्मृतः॥ ११८॥

दैवं पैत्रञ्च यज्ञाश्च सर्वे तिष्ठन्ति मन्त्रतः ।
तत्र मन्त्राणि वर्तन्ते तत्र ज्ञेयं सुनिष्कलम् ॥ ११९ ॥

तस्मात् मन्त्रोदितं सर्वं विद्यादपरमार्थिकम् ।

पृ। २४४)

सर्वे धर्मा विरुध्यन्ते परमार्थस्य निश्चयात् ॥ १२० ॥

नैतद्ग्राह्यं गृहस्थानां ज्ञानमेतत्तु नैष्ठिकम् ।
न च नास्ति क्रिया यज्ञा अस्तित्वे च फलप्रदाः ॥ १२१ ॥

फलश्चात्मा प्रियैस्त्यक्तः तेषां तेनास्ति सुन्दरी ।
ना पृष्टः कस्यचिद्ब्रूयात् न चान्यायेन पृच्छितः ॥ १२२ ॥

अन्यायैः पृच्छिते यस्तु न ब्रूयात्तस्य पृच्छतः ।
विदितो योगसद्भावे तदाक्षमपुनर्गृही ॥ १२३ ॥

अपुनर्गृह्ववासेति येनोक्तं तस्य भाषयेत् ।

विरागे निश्चयो यस्य ज्ञेयस्य प्राङ् निवेदयेत्॥ १२४ ॥

पुत्रदारकुटुंबेषु सक्तं सर्वमिदं जगत्।

पृ। २४५)

तस्य त्यागः कृतो येन तद्विरागस्य लक्षणम्॥ १२५ ॥

अनैष्ठिकेन वक्तव्यं गोष्ठिकामे कुटुंबिने।
सस्पृहे चावरक्ते च दुष्टचित्तेजितेन्द्रिये ॥ १२६ ॥

तव देवि मम ख्यातं मम भक्तेति सुन्दरि।
तस्मात्सन्यासिनं मुत्तवा नाख्येयं कस्यचित्त्वया ॥ १२७ ॥

देयुवाच

मत्सरीत्वं महादेव समत्वं यन्न पश्यति।
सिद्धान्ते ब्रूहि को दोषो गृहस्थानां प्रकाशते ॥ १२८ ॥

श्रुतिस्मृत्युदितो मार्गो धर्मकामार्थसंयुतः।

सिद्धान्ते केवलं ज्ञानं धर्मकामार्थवर्जितम् ॥ १२९ ॥

पृ। २४६)

धर्माद्यास्तत्र हीयन्ते तेषाञ्चैव प्रकाशते।
न सिध्यते च तत्कार्यं तस्यारंभो निरर्थकः ॥ १३० ॥

दद्याद्यो विमलं वेद्या अदत्त्वामलशोधनम्।
ओषधीन्नैव सिध्येत मतिग्रस्तस्य देहिनः ॥ १३१ ॥

तद्वद्दोषो भवेद्देवि गृहस्थानां प्रकाशते।
न दोषोयमियद्ब्रूहि श्रूयतां केन हेतुना ॥ १३२ ॥

ऐहिकामुष्मिकान् भोगान् यो भुङ्क्ते तु वरानने।
कदाचिद्यजते यज्ञं तेन यज्ञो विदूषितः ॥ १३३ ॥

अभोज्यं भोक्तुकामस्य अनर्थकमिदं भवेत्।
विधियज्ञ प्रमाणस्तु सस्पृहस्य न युज्यते ॥ १३४ ॥

पृ। २४७)

त्यागात्संसिध्यते ज्ञेयः सस्पृहस्तु न सिध्यति।
गृहस्थस्य परित्यागो न कदाचिद्भविष्यति॥ १३५॥

ऐहिकामुष्मिकान् तृष्णान् त्यक्त्वा त्यागी भविष्यति।
गृहस्थोपि परित्यक्तुं ऐहिकं नैव शक्यते॥ १३६॥

वित्तहीने गृहस्थत्वं न कदाचित्प्रसिध्यति।
उपादानन्तु वित्तस्य सर्वोपायेन कारणम्॥ १३७॥

तृष्णाञ्चाशेषतः त्यक्त्वा वैराग्येन यदा स्थितः।
पञ्चसु नादृतैर्दोषैः गृहीणां गृह्यते तदा॥ १३८॥

गृहस्थत्वं भयं घोरं लोभा * * * जेष्यति।
न स त्यजति संसारलोभमोहतमो व्रतः॥ १३९॥

पृ। २४८)

यथा सर्वं परित्यज्य तथेदं श्रुतिरब्रवीत्।
ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगतां जगत्॥ १४०॥

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा माहृथाः कस्यविद्धनम्।

तद्गृहस्थस्य किं बाह्यमस्मिन् लोकेप्यवस्थितम्॥ १४१॥

यत्रासक्तो दयां त्यक्त्वा भूतग्रामं जिघांसति।

तस्मात्सुन्दरि तस्यापि गृहे मुक्तिर्न दृश्यते॥ १४२॥

न च संयासयोगेन इच्छाद्वेषस्य वर्जनात्।

न माया मत्सराद्युक्तो गृहस्थोपि न सिध्यति॥ १४३॥

त्यागहीना न सिध्यन्ति पक्षद्वयविडंबकाः।

प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च द्विविधं कर्म कीर्तितम्॥ १४४॥

पृ। २४९)

अन्तःकरणहीनस्य न किञ्चिदपि सिध्यति।

लोकस्य सर्वतो मौनी समश्शान्तः समाहितः॥ १४५॥

सर्वमात्मवशं पश्येत् भूतग्रामे चतुर्विधे।

देव्युवाच

नोपकाराय यत्किञ्चित् न चान्यो जायते गुणः ॥ १४६ ॥

मौनभावेन देवेश तस्मान्मौनं निरर्थकम्।

ईश्वरः

उपकारकृतस्तेन परेषां हितकाम्यया ॥ १४७ ॥

येन निर्वापितो ह्यात्मा वैराग्यं गृह्यते यतः।
अनेन हेतुना दुःखं शरीराद्विनिवर्तते ॥ १४८ ॥

येन निर्वापितो ह्यात्मा वैराग्यं गृह्यते यतः।
अनेन हेतुना दुःखं शरीराद्विनिवर्तते ॥ १४९ ॥

पू। २५०)

परेभ्यः कुरुते दुःखं यं यं वाचा समीहते।

देव्युवाच

अस्य वैराग्ययोगस्य किं भवेत्सिद्धि वा न वा ॥ १५० ॥

एतदिच्छामि विज्ञातुं भगवन् वक्तुमर्हसि ।

ईश्वरः

शृणु देवि परं गुह्यं तस्यसिद्धिमनौपमाम् ॥ १५१ ॥

न रूपं न च वर्णञ्च न च तस्यैव भावना ।
सकलं निष्कलञ्चैव करणाधारवर्जितम् ॥ १५२ ॥

न चोच्चारविभक्तिश्च वर्णरूपविवर्जितः ।
अमनस्थ महायोगं सर्वसिद्धिप्रदायकः ॥ १५३ ॥

पृ । २५१)

गुरुप्रसादमात्रन्तु पारंपर्यं वरानने ।
तं लब्ध्वा लब्धमात्रस्तु यथा सिद्धिं लभेन्नरः ॥ १५४ ॥

समुदायमिदं ज्ञानं न पृथत्त्वं कदाचन।
स्वरवर्णविहीनस्तु सर्वसिद्धिप्रदं शुभम्॥ १५५॥

तेन ज्ञेयमिति प्रोक्तं यस्माद्भ्रान्तिर्न जायते।
भ्रान्ति निर्नाशनं ह्येतत् सर्वज्ञानार्थ साधकम्॥ १५६॥

सर्वज्ञानमिति ज्ञेयं सर्ववर्णप्रसाधकम्।
एतद्देवि महाज्ञानं विज्ञानं शून्यमव्ययम्॥ १५७॥

बिन्दुमात्रा विनिर्मुक्तस्वरवर्णविवर्जितम्।
ज्ञेयमेतत्समाख्यातं जरामृत्युविनाशनम्॥ १५८॥

पृ। २५२)

सर्वव्याधिहरश्चैव सर्वपापान्तकं तथा।
अचिन्त्यं सूक्ष्ममाकाशमशेषव्यापकं परम्॥ १५९॥

ईषत्प्रसार्य वक्त्रन्तु जिह्वाकाशे नियोजयेत्।
तस्मिंस्थाने तु यत्किञ्चित् स्पर्शमीषद्विभावयेत्॥ १६०॥

भवितव्यन्तु योगीभिः सिध्यर्थमिदमुत्तमम्।
अस्यैव कथयेद्देवि योगस्य विधिमुत्तमम्॥ १६१ ॥

विज्ञप्तेन तु कुर्वीत सत्यं देवि वदाम्यहम्।
न देवा नासुरा यक्षा न नागा न च राक्षसाः॥ १६२ ॥

किन्नराप्सरसश्चैव पिशाचा न च भूतले।
न वसुः न च विद्या च विद्याधरगणेन च॥ १६३ ॥

पृ। २५३)

लोकपालान नक्षत्रा चन्दसूर्यौ न चैव हि।
न वायुस्सलिलश्चैव न वृक्षा न च पर्वताः॥ १६४ ॥

न मेरुर्गिरिराजानो न चैव विषयस्तथा।
न ब्रह्मा न च वै विष्णुः नाहं देवि त्वया सह॥ १६५ ॥

अनन्तं सर्वमेतत्तु स किञ्चिदपि चिन्तयेत्।
एवं यो भावयेद्योगी विततं शून्यमव्ययम्॥ १६६ ॥

न यमो मयतो वापि न कार्यं तस्य वर्तते।
दष्टो यदि महानागैरनन्तगुलिकादिभिः॥ १६७॥

न विषं क्रमते तस्य यस्तु शून्यं विचिन्तयेत्।
अपरञ्च परञ्चैव सर्वमस्मिन् प्रतिष्ठितम्॥ १६८॥

पृ। २५४)

शून्यध्यानमिदं देवि मयोक्तं विधिवत्त्वया।
धर्माधर्मक्षयं कर्म जन्मव्याधि विनाशनम्॥ १६९॥

ईदृशज्ञानसद्भावं न दद्याद्यस्य कस्यचित्।
दीक्षयित्वा महादेवि दातव्यं सुपरीक्षिते॥ १७०॥

इदञ्चारमिदञ्चारमिह देहस्यगोचरे।
इदं तत्वमिदं तत्वमिदं ज्ञानमिदं सर्वज्ञमेव च॥ १७१॥

इदन्नाडीसुसञ्चारमेवं ज्ञात्वा विमुच्यते।
एवं वदन्ति बहव अन्योन्यज्ञानगर्विताः॥ १७२॥

एवञ्च निश्चितं ज्ञात्वा न तु तत्वं प्रकाशयेत्।
ब्रह्मचारीति वक्तव्यमहो शान्तेति वा पुनः ॥ १७३ ॥

पृ। २५५)

एवं वा तोषयित्वा तु तूष्णीं भूतस्समाचरेत्।
शृणु देवि परं गुह्यं स मुद्राभिनयमुत्तमम्॥ १७४ ॥

एतद्विज्ञानमात्रेण अभावं पदमाप्नुयात्।
सव्यहस्तेन कर्तव्यं मुद्राबन्धमनुत्तमम्॥ १७५ ॥

सर्वेषां ज्ञानिनामेतत् सर्वदर्पापहं महत्।
यदि स्यात् ज्ञानिनः कश्चित् ज्ञानिनो गृहमागतः ॥ १७६ ॥

दर्शयेभिनयं देवि येन विज्ञायते श्रमम्।
एवं ज्ञानी यदा ज्ञानं पृष्टव्यं पुनरेव हि ॥ १७७ ॥

कथयेद्यस्य मुद्राया देवतामनुपूर्वशः।
तदा तस्य पुनर्देवि पृष्टव्याः गुरवः क्रमात्॥ १७८ ॥

पृ। २५६)

गुरू शास्त्रक्रमञ्चैव ज्ञात्वा तद्वद्विशारदः।

तदा तत्पूजयेद्देवि शिववच्छिवसंमतः॥ १७९॥

तस्य लक्षणतो ब्रूहि मुद्राया वरवर्णिनी।

येन विज्ञातमात्रेण न पुनर्जन्म चाप्नुयात्॥ १८०॥

कनिष्ठायां स्थितो ब्रह्मा अनामायाञ्च केशवः।

मध्यमायां स्थितो रुद्रः तर्जन्यामजमीश्वरः॥ १८१॥

सदाशिवस्थितोऽङ्गुष्ठे कथितन्तु समासतः।

तर्जन्यङ्गुष्ठकौ लग्नौ नीतोर्ध्वं विसृजेत्पुनः॥ १८२॥

संमुखेन तु देवेशि सकृतत्वप्रकीर्तितः।

मध्यमानामिका चैव कनिष्ठाया समन्वितः॥ १८३॥

पृ। २५७)

प्रसृतादि सदा देवि मुद्रयाभिनयं शुभम्।

ज्ञातेनानेन मुद्राया मुच्यते पाशबन्धनात्॥ १८४॥

कुलकोटिशतं साग्रं नरकात्तार इष्यति।

इति निश्वासकारिकायां द्वात्रिंशत्पटलः॥

देव्युवाच

ज्ञात्वा ज्ञानं परं दिव्यं योगसद्भावमुत्तमम्।
कृताञ्जलि पुटाभूत्वा देवी वचनमब्रवीत्॥ १॥

देव्युवाच

तत्वविज्ञानयोगञ्च शक्तिनादन्तथैव च।
बिन्दुदेवस्य विज्ञानमष्टभेदस्य शङ्कर॥ २॥

पृ। २५८)

योगसद्भावविज्ञानं ज्ञातं मे त्वत्प्रसादतः।
न यत्र सूत्रे देवेश पतिसद्भावमुत्तमम्॥ ३॥

एकस्मिन् कथितास्सर्वे विदितास्त्वत्प्रसादतः।
पुनश्च श्रोतुमिच्छामि भगवन् वक्तुमर्हसि॥ ४॥

प्रकृतिमादितः कृत्वा नाडीं वायु समन्विताम्।
कथयस्व महेशान प्रश्नं गुह्यतरं प्रभो॥ ५॥

ईश्वर उवाच

शृणु देवि परं गुह्यं योगसद्भावमुत्तमम्।
सर्वसंहितसामान्यं कथयामि महाफलम्॥ ६॥

प्रत्याहुस्तथा ध्यानं प्राणायामोथ धारणा।

पृ। २५९)

तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते॥ ७॥

चित्तं चेता तथा चिन्ता पञ्चधा कथितं मया।
योगस्य करणान्येते कथितानि मया तव॥ ८॥

एवमुत्पद्यते योगो धारणा सुकृतश्रमः।

देव्युवाच

ध्यानधारणचिन्ताभिः योगारंभक्रियादिभिः॥ ९॥

कालेन यदि सिध्येत भगवन् किं कृतं त्वया।
यदात्मपीडारहितं विना क्लेशैरवाप्यते॥ १०॥

ज्ञानं कथय देवेश सद्यः फलविभूतिदम्।
पुराणे सांख्ययोगे च यादृशं कथितं प्रभो॥ ११॥

पृ। २६०)

अत्रापि तादृशं प्रोक्तं किं विशेषमुदाहृतम्।
योगधारणसंयुक्ता वेदाद्याः परमेश्वर॥ १२॥

महाज्ञानं विनैव किंमत्र भवता कृतम्।
अनाख्येयमनिर्देश्यं भगवन् कथितन्तु यत्॥ १३॥

तन्मया विदितं देव गृहीतजीवितं दृढम्।
प्रकृतिं पुरुषञ्चैव नियतिं कालमेव च॥ १४॥

मायाविद्येशमीशञ्च सद्योगं कथयस्व मे।
विना तु करणैर्देवो ध्यानधारणवर्जितः॥ १५॥

तदहं श्रोतुमिच्छामि भगवन् वक्तुमर्हसि।

ईश्वरः

पृ। २६१)

अहं ते कथयिष्यामि योगसद्भावमुत्तमम्॥ १६॥

यत् ज्ञात्वा तत्क्षणादेव कृतार्थो जायते नरः।
येतदत्यन्तसुखदमशेषफलभूषितम्॥ १७॥

देवतानामृषीणाञ्च ज्ञानञ्चैतत्प्रकाशितम्।
यदेतदमृतं ब्रह्म जनस्सर्वोधिगच्छति॥ १८॥

तदा विमुच्यते लोके शून्या च पृथिवी भवेत्।
सर्वे धर्माः प्रलीयन्ते वेदयज्ञतपः क्रियाः॥ १९॥

नश्यन्ति चाग्निहोत्राणि मर्यादाश्च पृथग्विधाः।
यान्ति देवा अदेवत्वमध्या तप विवर्जिताः॥ २०॥

एतस्मात्कारणाद्देवि गोपितं कथितं मया।

पृ। २६२)

योगधर्मार्थ शास्त्राणि विस्तीर्णगहनानि च॥ २१॥

दृष्टान्योन्यविरोधीनि तेषु निष्ठा न विद्यते।
विदेहचक्रमारूढमेवं भ्राम्यति वै जगत्॥ २२॥

परस्परविरोधेन वर्तन्ते सर्वयोगिनः।
त्वया दुर्ललितेनाहं पृष्टो भक्त्या प्रचोदितः॥ २३॥

ग्राहेणैव गृहीतोस्मि अवश्यं कथयामि ते।
न ब्रह्मा न च वै विष्णुः उतान्ये सुरसत्तमाः॥ २४॥

वक्तुमेवं विधं प्रश्नं त्वदृते तु वरानने।

तस्माच्छृणुष्व सद्भावं निस्संदिग्धमविस्तरम्॥ २५॥

दि लक्षणगुणावाप्तिं क्षणादायासवर्जिताः।

पृ। २६३)

सिद्धिदा मोक्षदा चैव तुष्टिदा पुष्टिवर्धना॥ २६॥

ज्ञानदा प्रीतिदा चैव आयुरारोग्यदा तथा।

घोषिणी पिङ्गला चैव वैद्युती बिन्दुमालिनी॥ २७॥

चान्द्री मनोनुगा चैव सुकृता च तथा परा।

सौम्या निरञ्जना चैव निरालंबा च कथ्यते॥ २८॥

नाड्यस्त्वेता विनिर्दिष्टा मरुतादितृलंकृता।

पूर्वमात्मा तु मेधावी शिवेन परमेण तु॥ २९॥

कृत्वा पूर्वमशेषन्तु पश्चाद्ध्यानं समारभेत्।

एकाग्रमनसो भूत्वा जितक्रोधा जितेन्द्रियाः ॥ ३० ॥

चतुर्विंशति मे तत्वे मात्रा नाम्ना तु घोषिणी ।

पृ। २६४)

द्वितीया पिङ्गला नाम्ना सा तत्वे पञ्चविंशके ॥ ३१ ॥

षड्विंशके समाश्रित्य संस्थिता वैद्युती सदा ।
सप्तविंशति मे तत्वे विज्ञेया बिन्दुमालिनी ॥ ३२ ॥

अष्टाविंशति मे तत्वे मात्रा तिष्ठति चन्द्रिणी ।
एकोनत्रिंशतितमे मात्रा तिष्ठेन्मनोनुगा ॥ ३३ ॥

ततस्त्रिंशति मे तत्वे तामाहुः सुकृतेति च ।
एकविंशत् समाश्रित्य सौम्या मात्रा व्यवस्थिताः ॥ ३४ ॥

द्वित्रिंशके समाश्रित्य स्थिता मात्रा निरञ्जना ।
त्रयस्त्रिंशे निरालंबा तस्या लक्षं न विद्यते ॥ ३५ ॥

त्रयस्त्रिंशतिकः पुरुषे नवमात्रावलंबकः।

पृ। २६५)

तेषु लक्षणदिन्यानि लक्षितव्या विपश्चितैः॥ ३६॥

देव्युवाच

यान्येतानि च तत्वानि नवमात्राश्रयाणि तु।

तेषामवाप्तिं गमयन् कथं सद्योपलभ्यते॥ ३७॥

सामान्ययोगशास्त्रेषु अनेकाकारवागुरैः।

सीदन्त्यायासबहुलैः मृगाः कूटेव संस्थिताः॥ ३८॥

वायुरोधं विना देव ध्यानधारणवर्जितम्।

सद्योपलब्धिसुखदं तन्मे ब्रूहि महेश्वर॥ ३९॥

ईश्वरः

शृणुष्वावहिता देवि अश्राव्यमकृतात्मनाम्।

पृ। २६६)

यं प्राप्य सद्यश्शिवतां लभन्त्यायासवर्जिताः ॥ ४० ॥

यत्र तत्राश्रमरताः यत्र तत्र निवासिनः।
लीयन्ते तु यथा लक्षे निमेषाध्ये तु ? ॥ ४१ ॥

स्त्रोत्रराद्धौ तथाङ्गुष्ठौ घ्राणमङ्गुलिभिस्तथा।
ततोस्य सर्वतो व्यापी ध्वनिरूर्ध्वं विजृम्भते ॥ ४२ ॥

भुक्तं भुक्तं पचत्यग्निः शरीरेषु शरीरिणाम्।
तस्य तेन प्रयोगेन शब्दमाहुरकृत्रिमम् ॥ ४३ ॥

चतुर्विंशति तत्वस्य स्तुत्वा पापैः प्रमुच्यते।
तस्मात् षड्जादयस्सप्त स्वयंभुरसृजत्पुरा ॥ ४४ ॥

यैरिदं सततं सर्वं सदेवासुरमानुषम्।

पृ। २६७)

सप्त स्वरास्तु संभूता ध्वनिमभ्यसतस्सदा ॥ ४५ ॥

ततोस्य मासमात्रेण * क पिण्डीकृतो नलः ।

रजस्तमं ततो भित्वा ज्योतिरन्ते प्रकाशते ॥ ४६ ॥

बाह्यतोपि यथा दृष्टं पश्यत्यन्ते तथैव सः ।

त्रिभिर्मासै स्वतन्त्रश्च शिवत्वं तस्य जायते ॥ ४७ ॥

एषा ते प्रथमा मात्रा कथिता देवि घोषिणी ।

लक्षेस्मिन् मनसा ज्ञानं नावज्ञां कर्तुमर्हसि ॥ ४८ ॥

एवं वै यो विजानाति स पापेन न लिप्यते ।

श्वपचेष्वपि भुञ्जानाः पद्मपत्रमिवांभसि ॥ ४९ ॥

इति ते कथिता देवि प्रथमा त्रातु घोषिणी ।

पृ। २६८)

अतः परं प्रवक्ष्यामि लयमायासवर्जितम् ॥ ५० ॥

स्वदेहादुत्थितां सद्य शृणुमात्रान्तु पिङ्गलाम्।

सूर्यातपे बहिस्स्थित्वा किञ्चित् भक्तिसमाश्रितः॥ ५१॥

लक्षयेदात्मनो धूमं तालुं भित्वा विनिर्गतम्।

यथा यथा तु चैतस्मिन् मनो लक्षे समादधे॥ ५२॥

तथा तथास्य महती वर्त्ति धूमस्य वर्द्धते।

एवं मासप्रयोगेन मूर्ध्निचारमपावृतम्॥ ५३॥

तुर्यान्ते पिङ्गला मात्रं लयं तस्योपलक्षयेत्।

देवयानपथं दृष्ट्वा पश्यतात्मानमात्मनि॥ ५४॥

लोकालोकांश्च सकलान् सहाह्याभ्यन्तरे स्थितान्।

पृ। २६९)

धूमानुमार्गाञ्ज्योतींषि तां दृष्ट्वा न भृतं पदम्॥ ५५॥

विमुक्तस्सर्वपापेभ्यो निर्द्वन्द्वं पदमाप्नुयात्।

एवं ते पिङ्गलालक्षं मनसा परिलक्षितम्॥ ५६॥

आत्मानं पश्यते तत्र शिवञ्चैव परापरम्।
अनेन विधिना देव तेजसा परिसंवृतः॥ ५७॥

सतताभ्यासयोगेन षण्मासेनैव सिध्यति।
चिन्तितं मनसा सर्वं संपादयति लीलया॥ ५८॥

देहपाते व्रजत्याशु शिवस्य परमं पदम्।
पञ्चविंशति मे तत्वे लक्षमेतत्प्रकीर्तितम्॥ ५९॥

कथितन्तु रहस्यन्तु मोक्षमार्गविशोधनम्।

पृ। २७०)

पञ्चविंशतिमं लक्षं कथितं तव शोभने॥ ६०॥

अथ षड्विंशके तत्वे वैद्युतीं शृणु सुवृते।
योगारंभं विनायामं लीलामार्गोपशोभितम्॥ ६१॥

रात्रौ शयनकाले तु प्रविश्याभ्यन्तरं विना।

विना दीपान्धकारे तु उद्धृत्य नयने स तु ॥ ६२ ॥

ततस्तान् नेत्रजान् दीप्तिं तटद्वलयसन्निभाम् ।
सौदामिनीव चपलां दृष्ट्वा द्रष्टृ प्रणश्यति ॥ ६३ ॥

प्रयोगमेतत् सततं कृत्वा कृत्वा तु विश्रमेत् ।
स्थित्वा कालान्तरं किञ्चित् तान्येवाभ्यसतः पुनः ॥ ६४ ॥

यथा यथा तु चाभ्यासं कुरुते साधको निशि ।

पृ। २७१)

तथा वर्धति तत्तेजस्तैलबिन्दुरिवांभसि ॥ ६५ ॥

पश्यतेन्यावृतं व्योम स्फुलिङ्गा इव काञ्चने ।
तानेव तु गृहान् विद्वान् पश्यते च न संशयः ॥ ६६ ॥

दशार्धमासयोगेन ज्योतिरन्ते प्रकाशते ।
दृष्ट्वा ज्वलनं सर्वत्र दिव्यं चक्षुःप्रवर्तते ॥ ६७ ॥

तत स्वतन्त्रतामेति विशते च परे शिवे।
एतत्ते कथितं लक्षं सुषुम्नायां व्यवस्थितम्॥ ६८॥

कथितं ते यथा न्यायं गूढं सङ्गोपितं मया।
ततस्वच्छन्दतामेति शिवतत्वेन संशयः॥ ६९॥

सप्तविंशति मे तत्वे या स्थिता बिन्दुमालिनी।

पृ। २७२)

तस्योपलब्धिं तस्यापि लक्षन्तु कथयामि ते॥ ७०॥

शुचिर्भूत्वा बहिर्ग्रामात् तरुच्छायां समाश्रितः।
किञ्चिदुन्नम्य वक्रन्तु शुद्धमालोक्येन्नभः॥ ७१॥

तस्मिन् स लाय चैतन्यं पश्यत्याकाशसातपम्।
ज्योतिस्फटिकसंकाशा निपतन्त्युत्पतन्ति च॥ ७२॥

इडयास्तद्भवेद्रूपं देवानान्ते च विद्युषा।
यथा यथा हि योगेन तस्मिन् लक्षं स सन्दधे॥ ७३॥

तथा तथा दिशस्सर्वा बहिः पूर्णैरिवा वृताः।
अनेकाकारवश्ये तु स बाह्याभ्यन्तरे स्थिताः॥ ७४॥

दृष्ट्वात्मना तदा योगी पुण्यपापैर्न लिप्यते।

पृ। २७३)

त्रैलोक्ये सर्वभूतानां सुभगः प्रियदर्शनः॥ ७५॥

जायते नात्र सन्देहः ततो नामाधि गच्छति।
एष ते कथिता मात्रा सौम्याख्या बिन्दुमालिनी॥ ७६॥

मुच्यते सर्वरोगैश्च देहपाते शिवं व्रजेत्।
सप्तविंशति मे तत्वे लक्ष्मायासवर्जितम्॥ ७७॥

अष्टाविंशति मे तत्वे मात्रा नाम्ना तु चान्द्रिणी।
योगारंभं विनायासं मन्त्रोच्चारविवर्जितम्॥ ७८॥

यत्र यत्र स्थितो देशे यत्र तत्राश्रमे रतः।

पूर्वमध्या परा हेतुः अभ्यसेल्लक्षमुत्तमम् ॥ ७९ ॥

श्वेता रक्ता तथा पीता कृष्णा चैव यथाक्रमम् ।

पृ। २७४)

वर्चसं स्फटिकाभन्तु लक्षयेत्परमाणवम् ॥ ८० ॥

किञ्चिदुन्नम्य वक्रन्तु निर्मले तु नभस्थले ।
एकैकाभ्यासयोगेन सिध्यते साधकेश्वरः ॥ ८१ ॥

वायव्याः कृष्णवर्णास्तु आद्ये शेषविनाशने ।
उच्चाटने यथोन्मत्ते योजयेद्योगवित्सदा ॥ ८२ ॥

एवमादीनि चान्यैस्तु ताडनं स्तंभनादि च ।
आप्यायनञ्च पुष्टिश्च शान्तिकादि क्रमेण च ॥ ८३ ॥

कुरुते योगविच्छ्रीमान् एकैकाभ्यासयोगतः ।
प्रतिमासप्रयोगेन एभिः कर्माणि कारयेत् ॥ ८४ ॥

षण्मासा ध्यानयोगेन त्रैलोक्यं यत्प्रवर्तते ।

पृ। २७५)

प्रत्यक्षं जायते तस्य सिध्यन्ते च शिवो भवेत्॥ ८५॥

पञ्चमः सर्वकर्माणि कुरुते परमाणवः ।
पञ्चरूपधरं ह्येतत् पञ्चमं यत्प्रकीर्तितम्॥ ८६ ॥

ध्यात्वात्मैवं विधं योगी सर्वकर्माणि कारयेत्।
तेषां मध्ये पुनर्योगी पश्यते ऊर्मिसङ्कुलाम्॥ ८७ ॥

वीचीतरङ्गकुटिलां विद्युद्रेखासमप्रभम्।
सभोग भोगिसङ्काशामिन्द्रायुधसमप्रभाम्॥ ८८ ॥

यथा यथा तु चैतन्यस्तस्मिन् लक्षे समादधे।
तथा तथा तु संपश्य ऊर्मिरेवतिरन्तरम्॥ ८९॥

एतां दृष्ट्वा तु योगीन्द्र पुण्यपापक्षयो भवेत्।

पृ। २७६)

सतताभ्यासयोगेन सिध्यते नात्र संशयः॥ ९० ॥

द्वादशार्धार्धमासेन क्षुत्तृष्णा परिवर्जितः।
दिव्यदृष्टितनुर्दिव्या जायते नात्र संशयः॥ ९१ ॥

संवत्सरेण युक्तात्मा योगीन्द्रः सुसमाहितः।
दूराच्छ्रवणविज्ञानं मनश्चावलोकनम्॥ ९२ ॥

प्रत्यक्षं जायते तस्य त्रैलोक्यं यत्प्रवर्तते।
अन्तर्धानो तथा कर्षो पादचारे तथैव च॥ ९३ ॥

वायव्येन च कर्तव्यं के च वैहायसादयः।
आग्नेयैः शोषणं कुर्यात् ताडनं मारणानि च॥ ९४ ॥

स्तंभनं मूकताञ्चैव पार्थिवेन तु कारयेत्।

पृ। २७७)

आप्यायनादितः कृत्वा वारुणेन तु कारयेत्॥ ९५ ॥

पञ्चमं सर्वकार्येषु प्रयोज्यं योगिना सदा।

अष्टाविंशति मात्रस्य लक्षह्येताः प्रकीर्तिताः॥ ९६॥

एकोनत्रिंशके तत्वे मात्रा तत्र मनोनुगा।

लक्षितव्या प्रयत्नेन यदिच्छेत्सिद्धिमात्मनः॥ ९७॥

एकान्ते विजने गत्वा दिव्ये चाक्ष्णौ निमीलयेत्।

आत्मा तु काञ्चनच्छाया अक्ष्णी आवृत्य तिष्ठति॥ ९८॥

तस्मिन् सन्धाय चैतन्यं निनादस्संप्रविश्यति।

सितरक्तपीतकृष्णमिन्द्रायुधसमप्रभम्॥ ९९॥

अन्योन्यवेधिनां वर्णा दृष्ट्वा दृष्ट्वा पुनः पुनः।

पृ। २७८)

लक्षयीत पुनस्तान्तु राजिकापरिवर्त्तुलाम्॥ १००॥

छायामध्ये तु लक्ष्यन्ते चित्रास्सर्वगताश्शुभाः।

सर्वदेवमयो देवि देवानाञ्च पृथक् पृथक् ॥ १०१ ॥

तानि रूपाणि पश्यन्ते बिन्दुरूपाणि सुन्दरी ।
तयोर्योगी दिवारात्रौ नान्यं पश्यति चक्षुषा ॥ १०२ ॥

मासेनाल्पपुरीषत्यं क्षुत्तृष्णापरिवर्जितः ।
सुगन्धास्य तनुर्दिव्या जायते तृप्तिरेव च ॥ १०३ ॥

मासद्वयानुबन्धेन दिव्यचक्षुः प्रजायते ।
नश्यन्ति पुण्यपापानि तमः सूर्योदये यथा ॥ १०४ ॥

सतताभ्यासयोगेन त्रिभिः मासैर्न संशयः ।

एकोनत्रिंशके तत्वे तुल्यमेतद्वरानने ॥ १०५ ॥

नाडी वै सुकृता नानामा महापातकनाशिनी ।
तस्य लक्षमिदं देवि शृणु एकमना मम ॥ १०६ ॥

अप्रयोगमनायास मात्रा बिन्दुविनाकृतिः।
कण्ठताल्वोष्ठरहितं मन्त्रोच्चारविवर्जितम्॥ १०७॥

सुनिष्णातो नरस्तस्मिन् अमृतत्वाय कल्पते।
अप्रयोगमनारंभमनायासोपलक्षितम्॥ १०८॥

येन सर्वमिदं पूर्णमाकाशं सर्वगेन तु।
तस्य यत्नात् शृणु देवि आकाशे मनसं दधेत्॥ १०९॥

यत्र तत्र स्थितो वापि शुचिवाप्यथवाशुचिः।

पृ। २८०)

चित्तं श्रोत्र समाधाय बाह्यशब्दविवर्जितम्॥ ११०॥

निवाते स्वल्पवाते वा घण्टानामिव ताडिता।
यवनिकाकर्णयेद्देवि पुण्यपापक्षयङ्करीम्॥ १११॥

कांसस्य सुविशुद्धस्य सुप्रभारहितस्य च।
सदृशं शब्द आकर्ण्य अमृतत्त्वाय कल्पते॥ ११२॥

तेन सर्वमिदं पूर्णं आकाशं सर्वगेन तु।

तस्याभ्यासेन सततं चिद्रा पश्यति मेदिनीम्॥ ११३॥

मासार्धं येन योगीन्द्रो व्याधिभिश्च न पीड्यते।

प्राप्नोति सुभगत्वञ्च देहपाते शिवं व्रजेत्॥ ११४॥

आदितस्त्र्यक्षरो योसौ त्रिविधो यः प्रकीर्तितः।

पृ। २८१)

शिवस्य वै स विज्ञेयः सामान्यत्वात्प्रकाशकः॥ ११५॥

द्वितीयः प्रणवो देवि हंसाकारसमन्वितः।

बिन्दुना सहितेनैव रुद्राकारः प्रकीर्तितः॥ ११६॥

अकामाद्याः प्रवर्तन्ते व्यापकत्वोपलक्षिताः।

स्वच्छन्दवृत्तिः सूक्ष्मोयं निधानोङ्कार उच्यते॥ ११७॥

हकारा उकारसंयुक्तमोंकारेण समन्वितः।

बिन्दुना सहितो देवि तृतीयः परिकीर्तितम्॥ ११८॥

आब्रह्मपथमोंकारस्स तु सूतिः प्रकीर्तितः।
श्रीकण्ठादिमनन्तान्तं रुद्रोङ्कारस्स उच्यते॥ ११९॥

तस्योपरिष्ठाद्विज्ञेयं तृतीयं प्रणवस्मृतम्॥

पृ। २८२)

शान्तिविद्याधिका सिद्धिः निधने निधनान्तिका॥ १२०॥

शब्दाकाशे व्यतीता तु गतिस्तस्यैरनुत्तमा।
त्रिभिन्नमेतत्सकलमध्वानं परिकीर्तितम्॥ १२१॥

सकलः पञ्चतत्त्वस्तु त्रयस्सकलनिष्कलः।
उच्चारेण यदा हीनो बिन्दुं निष्कलतां गतः॥ १२२॥

शिवेच्छयानुगृह्णाति साधको मुक्तिमिच्छति।
सौम्यनाडीति विख्याता महापातकनाशिनी॥ १२३॥

किं स स्वरादतिक्रम्य घण्टाशब्दादिलक्षणः।
यश्शब्दः श्रूयते देवि रुद्रोंकारस्स उच्यते॥ १२४॥

सर्वकर्मकरं दिव्यं अणिमादिफलप्रदम्।

पृ। २८३)

एकत्रिंशद्विजानीयात् शिवोङ्कारस्तु तत्परः॥ १२५॥

द्वात्रिंशत् तत्समाख्यातं तन्मात्रगुणवर्जितम्।
व्यापकेन समायुक्ता नाडी प्रोक्ता नरञ्जना॥ १२६॥

शिवोङ्कारा परं दिव्यं ओङ्कारममलं विदुः।
सतताभ्यासयोगेन साधकानां प्रयच्छति॥ १२७॥

मासार्ध दशभिश्चैव अणिमादि गुणाष्टकम्।
दूरश्रवणविज्ञानं सर्वलोकेषु भाषितम्॥ १२८॥

पश्यते च महातेजः सर्वत्र समवस्थितम्।
व्याप्नोति कामरूपित्वं सर्वज्ञत्वं तथैव हि॥ १२९॥

देहपातो व्रजन्त्याशु शिवस्य परमं पदम्।

पृ। २८४)

घण्टानादविरामान्ते शिवोङ्कारं निगद्यते ॥ १३० ॥

शिखा सा लक्षणेनोक्ता विमला परिकीर्तिता।
कालतत्वः स एवोक्तो नाडीप्रोक्ता निरञ्जना ॥ १३१ ॥

विमलाख्या वरारोहे परमाक्षरसंयुता।
निरालंबं प्रवक्ष्यामि नवतत्वफलप्रदम् ॥ १३२ ॥

पराक्षरपरोच्चार्यं बिन्दुतत्वमनुस्मरेत्।
पश्चात्तु परमेतत्तु न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ १३३ ॥

त्रयस्त्रिंशत् स्मृतं तत्वं विमलन्तु वरानने।
द्वात्रिंशकस्समाख्यातो निरालंबे परे स्थितः ॥ १३४ ॥

त्रयस्त्रिंशत् परो यस्तु निर्देश्यो नाम वर्जितः।

पृ। २८५)

तं ज्ञात्वा देवि सिद्ध्यन्ते लक्षैतत्परिकीर्तितम्॥ १३५॥

एवं बहुविधं प्रोक्तं तत्वमेकं शिवेन तु।
सिद्धिदं मोक्षदञ्चैव दिष्टन्तत्तु विचिन्तयेत्॥ १३६॥

ज्ञात्वैवं ज्ञानसर्वस्वं विचरस्व यथा सुखम्।
एतन्न कस्यचिद्देयं ज्ञानामृतमिदं शुभम्॥ १३७॥

एतत्सर्वं समाख्यातं तत्वध्यानं सुनिर्मलम्।
परं तावदिदं देवि तत्त्वानां परिकीर्तितम्॥ १३८॥

एतेषां यदपरो निरूपाख्यो निरामयः।
सर्वेषान्धारकस्सोहि स वै चाधार वर्जितः॥ १३९॥

न च तस्येदृशं ध्यानं तव देवि प्रकीर्तितम्।

पृ। २८६)

इति निश्वासकारिकायां त्रयस्त्रिंशत्पटलः।

देवि

आचार्यः शिवतन्त्रन्तु शिवज्ञानं शिवस्य च।
वेत्तिसर्वमशेषेण लोकहेतु विवर्जितः॥ १॥

विरक्तो लौकिके शास्त्रे शिवज्ञानैक रागवान्।
तेषाञ्च उत्तरं वाच्यं येनोपायेन ईश्वरम्॥ २॥

तदहं श्रोतुमिच्छामि त्वत्प्रसादान्महेश्वर।

ईश्वर उवाच

यो ब्रूयात् कश्चित् कश्शब्दो विनाशित्वेन पठ्यते॥ ३॥

पृ। २८७)

इतस्तस्य पुनर्ब्रूयात् तच्छृणुष्व वरानने।
त्रिगुणः पुद्गलो वायुराकाशस्याथ वा गुणः॥ ४॥

आशापाशैर्विमुक्तोयं अमृतं पर्युपासते।

इति निश्वासकारिकायां ज्ञानकाण्डे

सर्वज्ञार्चनसिद्धान्तज्ञानज्ञेयलक्षणन्नाम चत्वारिंशत्पटलः।

देव्युवाच

पञ्चभूतात्मके पिण्डे कस्मिन् के देवता स्थिताः।

पादौ च जानौ जङ्घायां ऊरुयुग्मे च के स्थिताः॥ १॥

पृ। ३६०)

लिङ्गे च देवदेवेश स्फिजौ कटिके स्थिताः।

नाभिःप्रदेशपार्श्वे च पृष्ठवंशे तथैव च॥ २॥

आन्त्रे मज्जे च देवेश रुधिरे कफपित्तयोः।

रोमकूपे च के चोक्ता हस्तौ पादौ * * * *॥ ३॥

* * * * * * * * * * * * च के

स्थिताः।

चुबुके चक्षुषोश्चैव ललाटे मस्तके चके॥ ४॥

वाचां नाडी देवेश अहङ्कारे च के स्थिताः।

इन्द्रियाणां च के देव विदिते यत्फलं भवेत्॥ ५॥

एतन्मे देवदेवेश प्रसादाद्वक्तुमर्हसि।

ईश्वर उवाच

पृ। ३६१)

शृणु देवि परं गुह्यं यत्त्वया परिपृच्छितम्॥ ६॥

तदहं संप्रवक्ष्यामि त्वत्प्रियार्थं वरानने।

सत्त्वञ्च आदितः कृत्वा प्रवक्ष्यामि निबोधत॥ ७॥

सत्त्वं प्रधानमित्युक्तं स ब्रह्मा तु निगद्यते।

रजो विष्णुस्तमो रुद्रो बुद्धिरष्टगुणाः शृणु॥ ८॥

धर्मज्ञानञ्च वैराग्यमैश्वर्यञ्च तथा परा ।
अधर्मश्चैव विज्ञेयं अज्ञानञ्च तथैव हि ॥ ९ ॥

अवैराग्यमनैश्वर्यं योगीशानां क्रमेण तु ।
ब्रह्मादि देवता बुद्धेर्धर्माद्याश्शक्रदेवताः ॥ १० ॥

अहङ्कारे स्थितो रुद्रः शून्ये शब्दः प्रतिष्ठितः ।

पृ। ३६२)

स्पर्शो वायुस्समाख्यातो रूपे वह्निः प्रकीर्तितः ॥ ११ ॥

तस्य तन्मात्रे वरुणो गन्धे तु पृथिवी स्थिता ।
प्रजापतिः पृथिव्यां वै द्रवे सोमः प्रतिष्ठितः ॥ १२ ॥

सूर्यस्तु संस्थितस्तेजे मारुतस्पर्शने स्थितः ।
शिवतत्वं परं गुह्यमाकाशे संप्रतिष्ठितम् ॥ १३ ॥

श्रोत्रेन्द्रिये महादेवि दिशः सर्वाः प्रतिष्ठिताः ।
त्वगिन्द्रिये तु मरुतः चक्षुभ्यां हुतभुक् स्थितः ॥ १४ ॥

जिह्वेन्द्रिये सदा देवि भुवशक्तिः सरस्वती।
घ्राणेन्द्रिये तु वै ज्ञानं पादयोर्विष्णुरेव हि॥ १५॥

क्रियाशक्तीति निर्दिष्टा मित्रो वायुश्च गृह्यते।

पृ। ३६३)

ज्येष्ठा प्रजापतिर्लिङ्गे वामा रौद्री च वचया॥ १६॥

जलेन्दुर्मनसि ज्ञेया वाक् सवित्री हृदि स्थिता।
गौरी वागीश्वरी कर्णे ललाटे विमलारि तु॥ १७॥

स्नायुवर्गे स्थितोनन्तः सूक्ष्मः शुक्ले व्यवस्थितः।
शिवोत्तमोत्तमो देवः स्थितोस्थि निचये सदा॥ १८॥

एकनेत्रस्थितो मांसे एकरुद्रस्तथापरे।
रुधिरे संस्थितो नित्यं त्रिमूर्तिः कफपित्तयोः॥ १९॥

श्रीकण्ठो रोमसङ्घाते मूत्रेषु च सदा स्थितः।

शिखण्डी च परो रुद्रो नखेषु सर्वतस्थितः ॥ २० ॥

तन्महेशस्थितो देहे ऋषयश्चापि सन्धिषु ।

पृ। ३६४)

पृष्ठवंशे च चण्डीशः पार्श्वेषु च संस्थितः ॥ २१ ॥

अङ्गुलीषु स्थिता नागा बाहौ पितरस्संस्थिताः ।
नाभौ वह्नि स्थितः साक्षात् सर्वेषामेव देहिनाम् ॥ २२ ॥

विद्याधरास्तथा यक्षाः रोमकूपेषु संस्थिताः ।
हस्तयोरिन्दुदेवत्यो जानुजङ्घे तथाश्विनौ ॥ २३ ॥

ऊरुयुग्मौ स्थितौ देवौ मित्रावरुणविश्रुतौ ।
नेत्रयोर्गन्धयोश्चैव ग्रीवायां चिबुके स्थिताः ॥ २४ ॥

सप्तगृहास्ससपस्संस्थिताश्चाधिदैवताः ।
नक्षत्रमण्डलं दिव्यं मुक्तनानु केनु संस्थिताः ॥ २५ ॥

एवं वै यो विजानाति सर्वदेवैरधिष्ठितम्।

पृ। ३६५)

शरीरं सर्वजं ज्ञानं न पापेन विलिप्यते॥ २६॥

एतन्न्यासपरं देवि योभ्यसेत दिने दिने।
स श्रियं लभते देवि ईश्वरेण समो भवेत्॥ २७॥

न पापं न च वै पुण्यं न भयेषु भयं भवेत्।
मुच्यते किल्बिषैर्घोरैः सप्तजन्मकृतैरपि॥ २८॥

सेवितव्यं प्रयत्नेन योगिनां मुक्तिमिच्छता।
नवोपायं मयाचोक्तं तेन त्वामृतसंस्थिताः॥ २९॥

सर्वेषां यः परो देवः सर्वव्यापी व्यवस्थितः।

इति निश्वासकारिकायां ज्ञानकाण्डे सर्वदेवशरीरन्यासे
एकचत्वारिंशत्पटलः॥

नारौ जयस्तु विज्ञेय सारे सिद्धिर्न संशयः।

इति निश्वासकारिकायां एकपञ्चाशत्पटलः।

देव्युवाच

विज्ञप्ते किं प्रमाणन्तु ज्ञातव्यं देशिकेन तु।
निस्सते किं प्रमाण स्यात् प्रविशेपि महेश्वर ॥ १ ॥

अन्तरे चायनस्यैव एतदिच्छामि वेदितुम्।

ईश्वरः

महत्पुण्यमिदं देवि न पृष्टं केनचित्पुरा ॥ २ ॥

तदहं संप्रवक्ष्यामि साधकानां हितावहम्।
प्राणस्यैव निरोधेन स्थातव्यं देशिकेन तु ॥ ३ ॥

एवं क्रमेण देवेशि अविच्छिन्नस्तु साधकः।
तावत्तक्षणमात्रेण स सिद्धेनैव साधकः॥ ४॥

पू। ६०७)

भवते नात्र सन्देहः सत्यं देवि वदाम्यहम्।
यदा प्राणनिरोधस्तु भवते साधकस्य तु॥ ५॥

तदासौ ज्ञातविज्ञेया ज्ञेयं तस्य कृतो भवेत्।
ऊर्ध्वभागे चरे यावदधश्शून्यं विनिर्दिशेत्॥ ६॥

ऊर्ध्वशून्यमधश्शून्यं मध्ये तु जयनं भवेत्।
उत्कर्षणी कला सूक्ष्मा सु सूत्रे च द्वितीयका॥ ७॥

अधोभागे स्थिते चैते ज्ञातव्ये तत्ववेदिना।
ऊर्ध्वं सञ्चरतस्तस्य कले दक्षिणतः स्थिते॥ ८॥

तदहस्संप्रबुद्धस्तु सर्वसिद्धिप्रदश्शुभः।
अधोमुखे प्रयातस्य कले द्वे वामतस्थिते॥ ९॥

पृ। ६०८)

निशान्तन्तु विजानीयाच्चारङ्गे कथितं तव।
यावद्दक्षिणतो याति तावद्वामेन शोभने॥ १०॥

तावच्छून्यं विजानीयात्त्रीण्येव वरवर्णिनी।
मध्ये तु निश्चलं शून्यमयनं तं विनिर्दिशेत्॥ ११॥

तस्य संस्पर्शभावेन यदा युज्यति साधकः।
तदा निर्वाणतां याति नात्र कार्या विचारणा॥ १२॥

तस्य संस्पर्शभावस्तु कथितस्तव शोभने।
शून्यस्थानानि वक्ष्यामि शृणुष्वावहिता प्रिये॥ १३॥

येन विज्ञातमात्रेण अभावपदमाप्नुयात्।
निवृत्तिमध्यभागे तु प्रतिष्ठा तिर्यगुत्तरे॥ १४॥

पृ। ६०९)

विद्या दक्षिणतः प्रोक्ता शान्तिः पूर्वदिगाश्रिता।
नादस्तु पञ्चमो ज्ञेयः स शिवः परिकीर्तितः॥ १५॥

कलाश्चतस्रो या प्रोक्ता नादसञ्चरणात्मकाः ।

पञ्चमस्तु शिवः प्रोक्तः सुसूक्ष्मः कथितस्तव ॥ १६ ॥

नादपूजां करोत्येवमनुध्यानेन सुवृते ।

जीवस्तु नाद इत्युक्तः स्पर्शशक्तिमयस्मृतः ॥ १७ ॥

जीवस्पर्शविनिर्मुक्तो गुरुवक्त्रे प्रतिष्ठितः ।

द्विविधेन तु देवेशि कर्तव्योनुग्रहस्सदा ॥ १८ ॥

एतद्देवि न दातव्यं ज्ञानं ज्ञेयमिदं शुभम् ।

देयञ्च गुरुभक्ताय शिवभक्ताय धीमते ॥ १९ ॥

पृ । ६१०)

अन्यथा दुष्टमर्त्यानां श्रेयस्सिद्धि निपातयेत् ।

इति निश्वासकारिकायां द्विपञ्चाशत्पटलः ॥

देव्युवाच

शीघ्रगं सलिलं यद्वत् जलं दहति पावकः।

मारुतः प्रवहं ब्रूते मन्त्रिणं मोक्षकस्तथा॥ १॥

केन मात्राविभागेन येन च च्छिवकृद्भवेत्।

एतदिच्छामि विज्ञातुं भगवन् वक्तुमर्हसि॥ २॥

ईश्वरः

त्रिभेदं कथयिष्यामि अक्षरस्यैव सुवृते।

पृ। ६११)

येन विज्ञातमात्रेण मुच्यते नात्र संशयः॥ ३॥

एकारेण यदा सान्तं संभिन्नं वरवर्णिनी।

बिन्दुनादेन ज्ञातव्यं शीघ्रगं सलिलं नदेत्॥ ४॥

श्रुत्वा पापैः प्रमुच्यन्ते नात्र कार्या विचारणा।

तेन विज्ञातमात्रेण अमृतत्वाय कल्पते॥ ५॥

ह सुकारसमायुक्तो ज्वलन्निव समं नदेत्।

आकारेण यदा भिन्नं देवदेवं सदातने॥ ६॥

मारुतः प्रवहं ब्रूते मया पूर्वमुदाहृतम्।

सीतकंपेन ह्रस्वेन मुखेनैव करोति यः॥ ७॥

एवं वेद्यस्वदेहे तु ज्ञात्वा पापक्षयो भवेत्।

पृ। ६१२)

ढ उकारविभागेन श्रुत्वा पापैर्विमुच्यते॥ ८॥

ह आकारविभागेन ज्ञात्वा मुच्येत बन्धनात्।

आकारेण तु विन्यस्य ध्यानादुत्क्रमते ध्रुवम्॥ ९॥

संहतप्राणिकरणं संमुखं पर्यवस्थितम्।

अधस्ताद्वायुना दीप्तमीकारं वह्निदेवतम्॥ १०॥

सप्ताहमभ्यसेद्देवि ज्योत्स्ना भावं स पश्यति।

शृणोति विविधान् नादान् मासादभ्यन्तरेण तु ॥ ११ ॥

सिद्धगन्धर्वदेवांश्च तिर्यग्वायुपथे स्थितः ।
त्रिभिर्मासैस्स पश्येत प्रत्यक्षं सर्वतः स्थितम् ॥ १२ ॥

यदा संहरते मानं योगी प्राणमशेषतः ।

पृ। ६१३)

अभ्यासेन तु देवेशि निश्चलः संप्रजायते ॥ १३ ॥

एष ते कथितो देवि आदिभिन्नस्य सुवृते ।
षण्मासानभ्यसेद्यस्तु उच्चामरपुरं व्रजेत् ॥ १४ ॥

इच्छया संहरेत्प्राणानिच्छया विकिरेत्पुनः ।
संवत्सरेण मुक्तात्मा भवेत्स्वच्छन्दमृत्युकः ॥ १५ ॥

उत्तिष्ठमादितः कृत्वा सर्वं सिद्ध्यति नान्यथा ।
ह्रस्वकारविभिन्नस्य शृणुष्व सुरसुन्दरि ॥ १६ ॥

रश्मिनाकर्षणं कुर्यात् स्वदेहेनैव योगवित्।
उदरे रक्तवर्णन्तु मध्याह्ने तेजमालिनम्॥ १७॥

तृतीये शीतरश्मिञ्च ध्यायेन्नित्यं स्वदेहतः।

पृ। ६१४)

अहन्यहनि चाभ्यासं कर्तव्यं योगिना प्रिये॥ १८॥

अभ्यासमासमात्रेण पश्यते त्रिविधं पुटम्।
योगमुत्पद्यते तस्य अचिरादेव योगिनः॥ १९॥

रक्तेनाकर्षणं कुर्याद्देवदैत्यवराङ्गनाः।
एवमादीनि चान्यानि कुर्यादाकर्षणानि च॥ २०॥

चित्तमाकर्षणञ्चैव सालभक्षास्तथैव हि।
चित्तगृहाणि रम्याणि वाहिनीश्च तथैव च॥ २१॥

शरीरव्याधि निर्नाशकुष्ठव्याधिक्षयं महत्।
षण्मासयोगयुक्तस्य इत्येतत्समुदाहृतम्॥ २२॥

संवत्सरेण योगीन्द्र उच्चावचपरा वपुः।

पृ। ६१५)

स्थूलात्स्थूलतरो भूत्वा सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरः पुनः॥ २३॥

स तनुर्वितनुश्चैव जायते नात्र संशयः।
ह्रस्वका विभिन्नस्य कथितं तव शोभने॥ २४॥

षड्वर्णेन विभिन्नस्य शृणु देवि वदाम्यहम्।
सकृत्प्रभावविशदं चन्द्रार्कग्रहणं स्थितम्॥ २५॥

विमनस्कं परं शान्तं केवलं तच्छिवात्मकम्।
शून्यमाकाशभूतन्तु जरामृत्युविनाशनम्॥ २६॥

अभ्यासमासमात्रेण शृणु देवि वदाम्यहम्।
क्षुत्पिपासा विनिर्मुक्तो निर्द्वन्द्वच्छिन्न संशयः॥ २७॥

देवगन्धर्वसिद्धाश्च त्रिभिर्मासैः स पश्यति।

पृ। ६१६)

देवैश्च सततं याति षण्मासाभ्यन्तरेण तु ॥ २८ ॥

संवत्सरेण युक्तात्मा योगिनस्सुसमाहितः।
पश्यते देवि भूतेशं गणेशपरिवारितम् ॥ २९ ॥

स्वभावस्मरणाद्देवि कालक्षेपस्समुक्तिदः।
ध्यानर्निर्मथनाद्देवि सिद्धिरुत्पद्यते ततः ॥ ३० ॥

एतत्त्रिभेदभिन्नस्य ज्ञानसिद्धिर्न संशयः।

देव्युवाच

दूरस्थश्च समीपस्थः पीठस्थः पीठवर्जितः ॥ ३१ ॥

मलिनो निर्मलश्चेति त्वया पूर्वमुदाहृतः।
किं दूरमन्तिको वापि दूराद्दूरतरन्तु किम् ॥ ३२ ॥

पृ। ६१७)

सन्निकृष्टं ततो देव भेदानि कथयस्व मे।

ईश्वरः

अतिगुह्यतरं प्रश्नं केनचिन्नापि पृष्टवान्॥ ३३॥

तदहं संप्रवक्ष्यामि साधकानां हिताय वै।
दूरस्थं कथयिष्यामि सर्वयोगिहितावहम्॥ ३४॥

येन विज्ञातमात्रेण आत्मा वै योग्यतां व्रजेत्।
दशरूपा मया ख्याता सर्वे दृश्यन्ति शोभने॥ ३५॥

विद्यातत्वेन ते प्रोक्ता बिन्दुतत्वे वरानने।
खड्गेन गच्छतस्तस्य द्रष्टव्यं लक्षमुत्तमम्॥ ३६॥

शीतरश्मिर्यथा सौम्यमभ्यासाज्जायते प्रिये।

पृ। ६१८)

बीजद्वयसमायोगाज्जायते नात्र संशयः ॥ ३७ ॥

रूपं तत्र मया देवि पूर्वन्तु कथितं तव ।
एतद्वारं मया ख्यातं ज्ञातव्यं तत्वचिन्तकैः ॥ ३८ ॥

समीपं दीपदृष्ट्या तु व्याख्यातं तव शोभने ।
तत्त्वया विदितं सर्वं मयापि कथितं तव ॥ ३९ ॥

पीठस्थं चक्षुषा ख्यातं मयापि कथितं पुरा ।
त्वया देवि तथा ज्ञातं किमन्यत्कथयामि ते ॥ ४० ॥

दूरस्थं दिव्यमित्याहुः समीपं दिव्यसंज्ञितम् ।
पीठस्थं नयनं प्रोक्तं बिन्दुतत्वं समासतः ॥ ४१ ॥

देहस्थं मलिनं प्रोक्तं सर्वतत्वेषु शोभने ।

प्। ६१९)

ज्ञातव्यं योगिभिर्नित्यं अधमं योगिसिद्धिदम् ॥ ४२ ॥

निर्मलो देहहीनस्तु ज्ञाते सिद्धिर्न संशयः।

सर्वकर्माणि कर्तव्याण्याशु सिद्धिमवेप्सता ॥ ४३ ॥

निर्मलन्तु विनिर्दिष्ट सर्वतन्त्रेषु शोभने।

शक्तिचेष्टाविकाराणि कुरुते नित्यमेव च ॥ ४४ ॥

सकलस्तु स विज्ञेयः शक्तिचेष्टा अदेहतः।

दृश्या शक्तिरिति ख्याता त्वयापि विहिता तथा ॥ ४५ ॥

विज्ञानमपि शो ब्रूयान्नशोभमुपयात्यसौ।

यथा बिन्दुर्मया ख्यातः शक्तिस्तु विदिता तथा ॥ ४६ ॥

प्रत्यक्षं भवते सूक्ष्मं सुसूक्ष्मं दिव्यमुच्यते।

पृ। ६२०)

उच्चारं दूरमित्युक्तं कथितं तव शोभने ॥ ४७ ॥

दूराध्यातमिति प्रोक्तं कथितन्तु मया तव।

एतत्तस्मिन् मया ख्यातं परस्यैवापरस्य च ॥ ४८ ॥

त्वयापि विदितास्सर्वे सकलाः परमेश्वर ।

एतद्देवि रहस्यन्तु मया ख्यातं समासतः ॥ ४९ ॥

वेदितव्यं प्रयत्नेन गुरुमाराध्य यत्नतः ।

एतत्प्रश्नपरं देवि सर्वेषामपि चोत्तमम् ॥ ५० ॥

परीक्षा पूर्वमेवोक्तं दातव्यं तादृशाय तु ।

देव्युवाच

शक्तिचेष्टाविकारे तु यत्त्वयोक्तं महेश्वर ॥ ५१ ॥

पृ। ६२१)

तेन युक्तानि चेष्टानि कुरुते कथयस्व मे ।

ईश्वरः

एतत्प्रश्नं परं देवि सर्वेषामपि चोत्तमम् ॥ ५२ ॥

तदहं संप्रवक्ष्यामि तदेकाग्रमनाः शृणु ।

आधारो नाद इत्युक्तः स जीवः परिकीर्तितः ॥ ५३ ॥

तेजस्पर्शमृता शक्ति नादं व्याप्य व्यवस्थिता ।

स नादो बिन्दुमाश्रित्य शक्तिना प्रेरितो यदा ॥ ५४ ॥

तदा तत्क्षोभमायाति बिन्दुशक्त्या प्रचोदितः ।

बिन्दोर्वर्णाः समुद्भूताः यतः शास्त्रञ्च वाङ्मयम् ॥ ५५ ॥

शक्ता समरसी भूत्वा बिन्दुनादे व्यवस्थिताः ।

प्। ६२२)

सुषुप्त इव चात्मानं सुखदुःखं न बाधते ॥ ५६ ॥

बिन्दुदेवं तथैवेह ज्ञातव्यश्चैव देहिना ।

सर्वज्ञानता शुद्धा शिवकायाद्विनिर्गता ॥ ५७ ॥

बिन्दुनादस्तत्वेषु चेष्टते परमेश्वरि ।

बिन्दुनादस्य या चेष्टा तत्वानाञ्चैव सुवृते ॥ ५८ ॥

ज्ञातव्या सा सदा तज्ज्ञैः शिवशक्तिसमन्विता ।
शक्तेः समरसो देवि कथितश्चानुपूर्वशः ॥ ५९ ॥

बिन्दो रूपप्रकाशस्तु नादशब्दस्तु यत्स्मृतः ।
तत्सर्वं शक्तिना व्याप्तं वेदितव्यं प्रयत्नतः ॥ ६० ॥

बिन्दुनादो वरारोहे यदा शक्तिसमन्वितः ।

पृ। ६२३)

त्रिभिरेव तु संयुक्तः स जीव इति कीर्तितः ॥ ६१ ॥

शिवशब्दो वरारोहे त्रिभिरेभिः प्रकीर्तितः ।
ईषत्स्पर्शसमायुक्त मुखनासापुटस्य तु ॥ ६२ ॥

सा शक्तिः कथिता देवि शिवतत्वे प्रकीर्तिताः ।
इति ते कथितं देवि शक्तेस्समरसं तथा ॥ ६३ ॥

परीक्षा पूर्वमेवोक्ता दातव्या तादृशाय तु ।

देव्युवाच

प्रणवत्त्रयन्तु देवेश योगाध्याये यदुक्तवान् ॥ ६४ ॥

तदहं श्रोतुमिच्छामि भगवन् वक्तुमर्हसि ।

ईश्वरः

पृ। ६२४)

देहस्थं यजातान्तेषां व्योमस्थञ्च तथैव हि ॥ ६५ ॥

योगकाले च देवेशि प्रणवेन यजेत्सदा ।
अधस्तात्पञ्चतत्वानि ब्रह्मोङ्कारेण पूजयेत् ॥ ६६ ॥

विद्यातत्वे स्थिता ये तु रुद्रोङ्कारेण पूजयेत् ।
शिवतत्वे स्थिता ये तु निधनेन प्रपूजयेत् ॥ ६७ ॥

मानसं योगकाले तु पूजनीयः परः शिवः ।
शिवपूजाविधौ पश्चाद्योगं सेवेत योगवित् ॥ ६८ ॥

तत्वाद्या मया प्रोक्ता ब्रह्माद्यैश्च समायुताः ।
तेषां स्थलं पवित्राद्यं प्रणवेन तु दापयेत् ॥ ६९ ॥

देव्युवाच

पू। ६२५)

रूपस्पर्शादिशब्देभ्यः स्थिरकालास्सर्वतस्थिताः ? ।
यस्मिन् पूर्वाणि देवेश कस्मिन् स्पर्शः प्रतिष्ठितः ॥ ७० ॥

शब्दं कथय देवेश एतदिच्छामि वेदितुम् ।

ईश्वरः

जीवस्य भूतसंस्थस्य त्रिस्थाने शृणु दर्शनम् ॥ ७१ ॥

येन ज्ञातेन दृष्टेन श्रुतेन वरवर्णिनी ।

मुच्यते नात्र सन्देहः सिद्धिश्चैव न संशयः॥ ७२॥

शुद्धस्फटिकसङ्काशं हृत्पद्मे तु विचिन्तयेत्।
अङ्गुष्ठपर्वमात्रन्तु पञ्चवक्त्रं महेश्वरम्॥ ७३॥

पूर्वोक्तविविधा रूपाः शिवस्य कथिता मया।

पृ। ६२६)

एतद्रूपं मया ख्यातं सर्वतन्त्रेषु सुव्रते॥ ७४॥

स्पर्शं च शृणु देवेशि कथयामि न संशयः।
दिवारात्रविभागेन अयने विषुवे तथा॥ ७५॥

सङ्क्रान्त्यादिषु देवेशि स्पर्शस्तु समुदाहृतः।
उच्चारं स्पर्शमित्येते केचिदाहुर्मनीषिणः॥ ७६॥

स्पर्शमन्ये वदन्त्येवं बिन्दुमन्ये तथैव च।
इदं तेनाभिजानन्ते विवदन्ति परस्परम्॥ ७७॥

शब्दाशयमिति ज्ञेयं तस्मिन् पक्षास्तु ये स्मृताः।
तस्मिन् स्थितः शिवस्साक्षात् कथितं तव सुवृते ॥ ७८ ॥

एतत्ते पूर्वमाख्यातं त्रिभेदमनुपूर्वशः।

पृ। ६२७)

ना शिष्याय प्रदातव्यं रहस्यमिदमुत्तमम् ॥ ७९ ॥

देव्युवाच

व्योमनाभदिशापत्रं न मया च न धारितम्।
तदहं श्रोतुमिच्छामि भगवन् वक्तुमर्हसि ॥ ८० ॥

ईश्वरः

व्योमेत्याकाशमित्युक्तं व्योमसूर्यः प्रकीर्तितः।
व्योमपद्ममिति प्रोक्तं व्योमप्रोक्तः सदाशिवः ॥ ८१ ॥

कलाश्चतस्रो याः प्रोक्ताः कण्टकास्ते प्रकीर्तिताः।

व्योमनालस्मृताकाशं दिशा पत्राः प्रकीर्तिताः ॥ ८२ ॥

कर्णिकास्तु स्मृतास्सूर्यः कर्णिकास्थः सदाशिवः ।

पृ। ६२८)

दिशा पत्रेषु देवेशि विद्येशान् परिकल्पयेत् ॥ ८३ ॥

नवकालाग्निरुद्रस्तु अधस्रोते व्यवस्थितः ।

शिखादूर्ध्वमुखास्तस्य व्यापकन्ति व्यवस्थिताः ॥ ८४ ॥

जलबुद्बुदसङ्काशं तत्र देवस्सदाशिवः ।

स्वच्छं सुनिर्मलं तेजः सुषिरज्योतिरुत्तमः ॥ ८५ ॥

पुष्करास्तु मया ख्यातां केसरास्तु तत्तैव च ।

एतच्च बिन्दुयोगन्तु कथितं तव शोभने ॥ ८६ ॥

पुरुषत्रयविज्ञानं तत्क्रियादर्शनं तथा ।

अत्र पद्मे तु विज्ञेयं योगिभिस्तत्र चिन्तकैः ॥ ८७ ॥

शिवशास्त्रस्य सद्भावमस्मिन् पद्मे प्रकीर्तितम्।

पृ। ६२९)

प्रत्यक्षं दृश्यते देवि तत्वा ये पूर्वचोदिताः॥ ८८॥

स्वेन स्वेन तु रूपेण सर्वतन्त्रे व्यवस्थिताः।

तां दृष्ट्वा योगविच्छ्रीमान् सर्वज्ञत्वं प्रपद्यते॥ ८९॥

लीयते तस्य मध्ये तु स्वशरीरेण योगिनः।

एतद्रहस्यं परमं कथितं तव शोभने॥ ९०॥

सुपरीक्ष्य च दातव्यं न च नास्तिकनिन्दिते।

इदं ते कथितं देवि तारकं ज्ञानमुत्तमम्॥ ९१॥

देव्युवाच

चिन्ताध्यानमिदं देव न मया वेदितं पुरा।

एतदिच्छामि विज्ञातुं भगवन् वक्तुमर्हसि॥ ९२॥

पृ। ६३०)

ईश्वरः

यदद्दश्यध्यानमित्युक्तं चिन्ता मानस उच्यते।
मानसं मनसालोक्य यद्दलं प्रतिपादयेत्॥ ९३॥

चित्तचैतन्यसंयोगात् स वै मानस उच्यते।
ध्यायेल्लक्षवरं दिव्यं पूर्वदृष्टं वरानने॥ ९४॥

चैतन्यं तद्गतेनैव ध्यानमेतत्प्रकीर्तितम्।
एतद्देवि समाख्यातं ध्यानमानसमेव तु॥ ९५॥

द्विविधोत्पाद्यमर्थन्तु सदा तेनैव युज्यते।
तदा योगमिति प्रोक्तं युक्तस्य वरवर्णिनी॥ ९६॥

देव्युवाच

पृ। ६३१)

सन्धानं श्रोतुमिच्छामि भगवन् वक्तुमर्हसि।

कस्मिन् सन्ध्या कथं संज्ञो भगवन् कथयस्व मे ॥ ९७ ॥

ईश्वरः

साधु पृष्टं त्वया भद्रे तथा ते कथयाम्यहम् ।
त्वदीयं पद्मकं देवि न दृष्टं केनचित्पुरा ॥ ९८ ॥

केचित्त्रितत्वसन्धानमिच्छन्ति वरवर्णिनी ।
अन्येव पशुसन्धानं कथयन्ति वरानने ॥ ९९ ॥

तादृशं तत्वसन्धानं वदन्ति गुरवो बहुः ।
ईदृशं तत्वसन्धानं न विज्ञातन्तु देशिकाः ॥ १०० ॥

पूर्वमात्मनि मेधावी शिखां कृत्वा स्वकां तनुम् ।

पृ। ६३२)

तदा कर्मसमर्थन्तु भवते साधकेश्वरः ॥ १०१ ॥

आत्मनञ्च पशुञ्चैव एकीकृत्य विचक्षणः ।

तदा तत्वे तु संयोज्य विधिं कुर्यादशेषतः॥ १०२॥

पूर्वाहुत्या तु दातव्या तदन्ते चोद्धरेत्क्रमात्।
उद्धृत्यचात्मसंस्थन्तु कृत्वा तत्वविदं शुभम्॥ १०३॥

पृथिवीं तु तथोद्धृत्य आप्येन सह योजयेत्।
विलीनामापमध्ये तु आप भूतां विचिन्तयेत्॥ १०४॥

एवमभ्यस्तथा तेजो वायुरा * * * तथा।
एवं वै सर्वतत्वानि कर्म कृत्वानु संशयेत्॥ १०५॥

तत्वसन्धानमित्युक्तं अस्मिन् तन्त्रे वरानने।

प्।६३३)

एवं संस्थितस्तत्र पशुनालोक्येत्तदा॥ १०६॥

सर्वध्यानसमाप्तौ तु शृणु देवि यथा पुनः।
तत्वनीलं नयेत्तत्वं तत्वे तत्वे नियोजयेत्॥ १०७॥

तत्वसिद्धिं यदा तत्वं दीक्षानिर्वाणगामिनी ।
सर्वतन्त्रेषु सामान्यं विधिमेतत्समारभेत् ॥ १०८ ॥

एवं वै यो न जानाति न हि नोच्छ्रयते पशून् ।

देव्युवाच

किं तत्वं प्रथमं देव द्वितीयञ्च तथैव च ॥ १०९ ॥

तत्वे लीनतु कर्तृत्वं तत्वसिद्धिस्तु क स्मृतः ।

ईश्वरः

पृ । ६३४)

तत्वन्तु प्रथमाचार्यः तव देवि उदाहृतः ॥ ११० ॥

तत्वनीलन्तु यत्प्रोक्तं पशुतत्वं समासतः ।
पशुतत्वेषु संयोज्य पृथिव्यादिष्वनुक्रमात् ॥ १११ ॥

त्रितत्वापरशुद्धिन्तु आचार्यस्तत्वपारगः।
विद्यातत्वास्पदं कृत्वा योजयेत्परमे पदे ॥ ११२ ॥

युक्ते यद्धर्मसंज्ञो वै स धर्मः कथितस्तव।

देव्युवाच

भूतात्मा तत्र बाह्यात्मा अन्तरात्मा तु इन्द्रियः ॥ ११३ ॥

परमात्मा स्थिता देवि मनोहङ्कारबुद्धिषु।
भूतात्मा इन्द्रियात्मा च परमात्मा तथैव च ॥ ११४ ॥

पृ। ६३५)

चतुर्थश्चैव देवेशि एतेषां व्यापकश्शिवः।
भूतात्मा संस्थितो भूतैः इन्द्रियात्मा तथेन्द्रियैः ॥ ११५ ॥

परमात्मा स्थितो देवि मनोहङ्कारबुद्धिभिः।
त्रिरात्मानं विनिर्मुक्तं चतुर्थं परमेश्वरि ॥ ११६ ॥

निरात्मा स तु विज्ञेयः स जीवः परिकीर्तितः।

तस्य सादात्मकं देहं कृत्वा चैव विभागतः॥ ११७॥

तदात्त्वनुग्रहं कुर्याद्योगं स्थाप्य शिवं तथा।

एतत्समासतो देवि रहस्यं कथितं तव॥ ११८॥

इति निश्वासकारिकायां त्रिपञ्चाशत्पटलः॥

निर्विकल्पां तृतीयां वाशां कारणमन्त्यमः ॥ २० ॥

पृ। १५)

ज्ञान सिद्ध्यागमः।

मध्याद्भवं सूक्ष्मं कारेकः पश्यन्ति सम्भवम्।
उकारे मध्योत्पन्नमकारे वैखर्योदितम्॥ २१ ॥

ग्रर्तिसंयुक्तं हंकारोकारमकारम्।
बिन्दुतत्व प्रतीकाशं बैन्दवस्तत्व रूपकम्॥ २२ ॥

बिन्दुमध्योद्भवं सूक्ष्ममकारे पश्यन्ती संभवम्।
एवं वाग्वृत्ति संकेतं वैखर्यादि * र्णमुद्भवम्॥ २३ ॥

उकार उकार मकार बिन्दुनादं च पञ्चमम्।
मनो बुद्धिरहंकारश्चित्त * * * * * * ॥ २४ ॥

बिन्दुमध्योदितं सर्वं तत्कालं बैन्दवं तथा।
लयकालं तटाकुटिला तन्मध्ये प्रणवोदितम्॥ २५ ॥

ओ औ मायात्रयो बन्धं त्रिवृत्ताः कुण्डली तथा।
तत्र कुण्डलिनी मध्ये इडापिङ्गलयोद्भवम्॥ २६ ॥

इडा पिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्नानाम स्वरूपकम्।

सुषुम्नाभ्यन्तरे सूक्ष्मे चित्र नाटिप्रवेशनम्॥ २७॥

चित्रनाडिस्वमध्यस्थे प्राणापानसमन्वितः।

प्राणापानद्वयो * * * * परमकारणम्॥ २८॥

हकारं शिवरूपत्वं सकारं शक्तिरुच्यते।

हकार सकारयोर्मध्ये बिन्दुरूपं परायणम्॥ २९॥

बिन्दु मध्येगतो नादो नाद मध्ये गतः शिवः।

शिव मध्ये गतः शान्तं शान्त्यतीतं परात्परम्॥ ३०॥

सर्वोदित द्विधा शक्तिर्माया कुण्डलिनी तथा।

माया कुण्डलिनी भेदा सर्वलोकं चराचरम्॥ ३१॥

पृ। १६)

ग्रन्थि जन्यं कलाकालं विद्यारागेन्द्रियादयः।

गुणधी गर्वचित्ताक्षमात्रा भूतान्य * * *॥ ३२॥

कुण्डलिनी शक्ति माया कर्मानुसारिणी।

नादबिन्द्वादिकं कार्यं तस्या इति जगत्स्थितिः॥ ३३॥

कलाषोडशयोर्भेदं मूलकुण्डलिनोद्भवम्।
कलाषोडशयोरूप चन्द्रकान्ते प्रतिष्ठितम्॥ ३४॥

तत्र षोडशयोः शक्तिश्चन्द्रदेहे प्रतिष्ठितम्।
अन्य मन्त्र कलारूपं प्रासादपरमाक्षरम्॥ ३५॥

अकारश्च उकारश्च मकारोबिन्दुरेव च।
अर्धचन्द्र निरोधी च नादो * * * * * * * * ॥ ३६
॥

शक्तिश्च व्यापिनी चैव समना चोन्मना तथा।
समनान्तं पाशजालमुन्मन्यन्ते परं शिवम्॥ ३७॥

प्रस्थारं च विस्तारञ्च निस्थारं च क्रियोद्भवम्।
स्थैर्यमित्यनुसन्धत्ते प्रासादे पङ्क्तिस्तु पञ्चमाः॥ ३८॥

अकार स्वररूपत्वमुकारापीश रूपकम्।
मकारं विषरूपत्वं बिन्दुरेव फकाक्षरम् परम्॥ ३९॥

अर्धचन्द्रस्तथाकारं निरोधे तत्त्रिकोणकम्।
हलबिन्दुद्वयं नादं * * * तत्प्रतीहलम्॥ ४०॥

हलमित्राङ्कितश्शक्ति व्यापिनी तत्र शूलकम् ।
कुब्जिका व्योमरूपी चा नन्तादि शक्ति षष्ठमाः ॥ ४१ ॥

षड्बिन्दुः चूलिकाकारं तदग्रं तु शलाकया ।
तच्छिवं निष्कलं तत्वं प्रस्थारार्थमिति स्थितम् ॥ ४२ ॥

पृ । १७)

मध्ये षडवयव व्याप्तिविस्तीर्णं विस्थरक्रमम् ।
एकैक योज्ययोर्भावं निस्तारं निस्थर क्रमम् ॥ ४३ ॥

परान्तं परयोर्दृष्ट्वा स्थैर्यमित्यङ्ग भावनात्मकम् ।
तदानुसंन्धान संवृत्ति प्रासादस्त * * * ॥ ४४ ॥

अध्वा षोढा तत्र पदवर्णमस्त्रन्तु सर्गजा ।
सर्वस्य शक्तिरूपत्वात् एते वाचक रूपकाः ॥ ४५ ॥

* * * * कला तत्व भुवनानीति यत्र यम् ।
वाच्य रूपंत्रिक द्वन्द्वं एतच्छक्ति शिवात्मकम् ॥ ४६ ॥

वाच्यवाचक व्युत्पन्नं बैन्दवं मलसम्भवम् ।
आदिकारण मृद्रूपं तच्चक्रं सहकारणम् ॥ ४७ ॥

निमित्तस्य कुलालोक्त त्रियैव मृद्भाण्ड सम्भवम्।
ततोवग्रन्थि मृद्रूपं कुण्डलीचक्र संस्थितम्॥ ४८॥

परदेशं कुलाले * कुरुते तच्चराचरम्।
इच्छाज्ञान क्रियाशक्तिरिति व्याप्तस्य कारणम्॥ ४९॥

सृष्ट्यादिः पञ्चमं कृत्यं ब्रह्मादि * * साधकम्।
सर्वसृष्टिमयं बिन्दु तन्मध्ये वर्णमुद्भवम्॥ ५०॥

अचिन्त्य कुण्डलीशक्तिर्मध्ये सर्वोदितं भवेत्।

कृत्यर्थम्॥

तत्वात्मबन्धय सृष्टि तद्धोक्त स्थिति साधनम्॥ ५१॥

तत्वात्मनः पृथग्भावं तत्संहारं समुच्यते।
कर्म कुर्वन्ति तत्काल स्थिरो भावं तिरोभवम्॥ ५२॥

चतुर्थं कुरुते कृत्यं तदनुग्रह साधनम्।

एवं पञ्चमकृत्यर्थं पञ्चदिव्यादि संस्थितम् ॥ ५३ ॥

सूक्ष्म कृत्यं तु पञ्चैते केवलस्याग * * * ।
बोधनं शोधनं मूढं बन्धनं शंसनं तथा ॥ ५४ ॥

महासंहार काले तु कुटिलांशो ततोदितम् ।
इच्छा ज्ञान क्रियाशक्ति संग्रहं मूर्तिविग्रहम् ॥ ५५ ॥

ज्ञान रूपं शिवाकारं * * रूपन्तु शक्तयः ।
ज्ञानक्रिया समं तत्वं तत्सादाख्य स्वरूपकम् ॥ ५६ ॥

ज्ञानशून्यं क्रियाधिक्यं महेशस्तत्व विग्रहम् ।
क्रिया नूनं योगसिद्धं शुद्ध विद्यार्थ शङ्करम् ॥ ५७ ॥

इच्छाधिके क्रमं विष्णुः ब्रह्मणस्तत्व मुच्यते ।
तस्मादिच्छादयो भेदं ब्रह्म विष्णु स्वरूपकम् ॥ ५८ ॥

रुद्रो विष्णुर्विधानोक्तं कल्पभोगाधिकारकम् ।
बिन्दुशक्तिस्तथामध्ये मायाशक्ति समुद्भवम् ॥ ५९ ॥

मायाशक्ति मध्ये * * * * शक्तिस्तदुद्भवम् ।
काम्यशक्तिस्व मध्यस्थे मायेयं च तदुद्भवम् ॥ ६० ॥

चतुर्मलं तथा भेद्यं तत्तिरोधाधिकं भवेत्।
एवं पञ्चमलः शक्त्याः पाशबन्धस्तदुच्यते॥ ६१॥

एवं विग्रह कृत्यर्थमेवं सत्कृत्य निर्णयम्।
देवदेव महेशान महायोगी महेश्वर॥ ६२॥

यन्मन्त्रंसार संग्राह्यं तन्मन्त्राकारमुच्यते।

शङ्कर उवाच-

बिन्दुषष्ठ्यादिनादेन स्वनादे बिन्दु संभवम्॥ ६३॥

तद्रूपं प्रणवाकारं पञ्च * * र्ण संस्थितम्।

पृ। १९)

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म परमात्म स्वविग्रहम्॥ ६४॥

ओंकारं शिवरूपत्वं तद्भेदं पञ्चमत्रयम्।
मूलकुण्दलिनी व्याप्तमात्म मन्त्रस्ववर्णकम्॥ ६५॥

हंस विद्यामहाविद्या प्रासाद परया सह।

प्रासादपर * * * * * शक्तिस्वविग्रहम् ॥ ६६ ॥

प्रासादपरयोरैक्यं शाम्भवं शिवसम्भवम् ।
बिन्दुभिद्यदि नादेन सनादः खेन विद्यते ॥ ६७ ॥

बिन्दुनाद कलारूपं शिवशक्तिस्व विग्रहम् ।
आधारं मानसं * * * * धेयं परं शिवम् ॥ ६८ ॥

बिन्दुराधार पीठं च नादलिङ्गं समाचरेत् ।
बिन्दुभिद्यं सदाकारभगांशं शक्तिविग्रहम् ॥ ६९ ॥

त्रिकोण मध्ये हौकारं धर्महंसौ हरिं शिवम् ।
हंसे बिन्दुगतोनादे हंसमार्गे * * * * ॥ ७० ॥

नादं लिङ्गमिति प्राहुः बिन्दुपीठं उदाहृतम् ।
बिन्दुमध्ये गतोनादो नाद मध्येगतः शिवः ॥ ७१ ॥

शिवमध्यगतः शक्तिः शक्ति मध्ये स्वयं शिवम् ।
परहंस प्रभेदं च हकारहौकार इत्यपि ॥ ७२ ॥

हंसः परमहंसश्च द्विधा हंस प्रभेधकम् ।
अहं पृथिव्या अहमापः अहमीश्वरमेव हि ॥ ७३ ॥

अहं पृथिव्या अहं तेजो अहं हरिः।
अहमाकाश सद्भूतं अहमात्मा अहं परा ॥ ७४ ॥

हकारं ब्रह्मरूपत्वं उकारं विष्णुरूपकम्।

पृ। २०)

मकारं रुद्ररूपत्वं बिन्दुरीश्वरमेव हि ॥ ७५ ॥

नादं सदाशिवं प्रोक्तं नादातीतं परं शिवम्।
परतत्वं परं ज्ञेयं परामुक्ति स्वरूपकम्॥ ७६ ॥

हकारं निष्कलोपेतं सकारं सकलं भवेत्।
हकारं शिवरूपत्वं सकारं शक्तिरुच्यते ॥ ७७ ॥

हकारः सूर्य इत्यर्थः सकारश्चन्द्र इत्यपि।
इकारः पावको रूप इति ज्योतित्रयोदितम्॥ ७८ ॥

हकारो कारयोर्मध्ये बिन्दुरूपमुदाहृतम्।
बिन्दुमध्यगतोनादं नाद मध्यगतः शिवः॥ ७९॥

बिन्दुभिट्याति नादेन सनादेः खेन भिद्यते।

शिव मध्यगतं तत्वं तत्वमध्ये परात्परम् ॥ ८० ॥

परं परात्परं सूक्ष्मं परामुक्ति परिग्रहम् ।

व्योमाकारं महाशून्यं तुर्यातीतं परं शिवम् ॥ ८१ ॥

तुर्यातीतं चरं स्थानं परव्योम प्रकाशितम् ।

तुर्यातीतं पराकारं ओमिति ज्योतिरूपकम् ॥ ८२ ॥

बालवृद्धः सगारूपमाद्यन्त रहित * * ।

ज्ञानयोगक्रियाबीजं क्रियाकर्मान्यवर्णकम् ॥ ८३ ॥

ओङ्कारं परमात्मानं पराशक्ति प्रकाशितम् ।

तस्मात् ज्ञानमयं ब्रह्ममोमिति ज्योतिरूपकम् ॥ ८४ ॥

ओंकारोदात्तानुदात्त स्वरितः कुटिलस्वरः ।

ध्वनिरन्तर्गत ज्योतिः ज्योतिरन्तर्गतं मनः ॥ ८५ ॥

मनस्यान्तर्गतो बुद्धिरन्तर्गतो मम ।

ममान्तर्गत * चित्तश्चित्तमन्तर्गतात्मनः ॥ ८६ ॥

पृ । २१)

आत्मान्तर्गतो कालः कालमन्तर्गतः कला ।

कालान्तर्गतयो नादनादान्त * * * परा ॥ ८७ ॥

परान्तर्गतयो ज्ञान ज्ञानमन्तर्गतः शिवः ।
सर्वान्तर्गतयाद्ब्रह्म तद्ब्रह्म तत्परात्परम् ॥ ८८ ॥

एवमन्तर्गतस्यार्थ हौ ओं त्रीणि गुरुद्भवः ।
योगाष्टाङ्ग प्रकारोक्तमोंकारं परमाक्षरम् ॥ ८९ ॥

सप्तव्याहृति गायत्र्या सावित्री प्रकृता कृतिम् ।
षडङ्गाश्चतुर्वेदा स्मृति त्यागं ततो मयम् ॥ ९० ॥

मा * * * * * * * * * * * त्म
विवेकः
नानान्त्योत्पन्नय प्राप्तं तन्मायामयीमयम् ।

मायान्त स्थात्मकं बद्धं पाशं पञ्चममाचरेत् ।
पाशं शोधन जीवात्मा पशुतच्छोधनः पराः ॥ ९१ ॥

परा प्रणव संशोध्यं ओंकारान्तं गुरोः परम् ।
गुरोरन्यत् परं नास्ति गुरोरन्यत् शिवं न हि ॥ ९२ ॥

॥ प्रणव विवेकः समाप्तः ॥

॥ अथ लिङ्गोद्भव विवेकः ॥

प्रणवं बिन्दुनादोक्तं कुटिलाकारमुद्भवम्।

कुटिला * स्वशक्त्यर्थमुदितां कुरवः शिवम्॥ ९३॥

बिन्दुनाद कलाकारं प्रणवं तल्लिङ्गमाचरेत्।

नादान्तस्य कलापाशमुन्मन्यन्तं तदाधिकम्॥ ९४॥

समनान्तं पाशजालमुन्मन्यन्तं परं शिवम्।

शुद्धाध्वा वुन्मनीर्यन्तन्तदन्तं चरणोदितम्॥ ९५॥

पृ। २२)

काल भुवन वर्णञ्च मन्त्राध्वा च पदाध्व च।

तत्वाध्वा इति विज्ञेया षडध्वा सादाख्यरूपकम्॥ ९६॥

कलाध्वा वायवं प्रोक्तं भुवनं रोममेव च।

त्वग्वर्णा च * * शोणिपदाध्वा च नाड्यः शिराः॥ ९७॥

षड्विंशत्तत्व खण्डोक्तं धातुरूपं सदाशिवम्।

तद्भेद प्राणयश्शक्ति तत्परा शक्तिरुच्यते॥ ९८॥

शिवमात्म स्वरूपस्थमिदं सादाख्यमुद्भवम् ।
पञ्चकृत्याधिकारस्थं जगद्योनिं सदाशिवम् ॥ ९९ ॥

परमं बीजमध्यस्थे त्रिकोणरेखा स्तनादयः ।
त्रिकोणाकार मध्यस्थे भगाङ्गं लिङ्गमाचरेत् ॥ १०० ॥

भगमध्ये स्थितं लिङ्गं लिङ्ग मध्ये स्थितं भगम् ।
सदाशिवासनं लिङ्गं लिङ्गासनं तु पीठिका ॥ १०१ ॥

पीठिकासन भ्रूमध्ये देशिका ध्यानमासनम् ।
एवं ध्यात्वा तु मनसा पराशक्तिस्तु विन्यसेत् ॥ १०२ ॥

पञ्चभेदन्तु सादाख्यं तद्भेदं षोडशोद्भवम् ।
अष्टाविंशं महेशोक्तन्नटराजं प्रधानकम् ॥ १०३ ॥

परेच्छया शिवसादाख्यं तदादिः पञ्चमोद्भवम् ।
महेश विष्णुरुद्रादि पञ्चभूतस्तु पञ्चमम् ॥ १०४ ॥

सर्वं सादाख्यमुत्पन्नं कारणत्रयमाचरेत् ।
मूर्ता मूर्तिः कर्ममूर्तिः शिव * ?ख्य पञ्चमम् ॥ १०५ ॥

रुद्रोत्पन्न गणेशस्तत्स्वभेदं षोडशं तथा ।

रुद्रोत्पन्न विशाखश्च षट्भेदैक स्वसंग्रहम् ॥ १०६ ॥

पृ। २३)

देवासुरा नराशक्ति ऋषिभ्यः किन्नरादिकम्।
सर्वं रुद्रेशरोमस्य मध्योत्पन्नमसंख्यया ॥ १०७ ॥

ब्रह्मादि शिवतत्वान्त दशसादाख्य सम्भवम्।
वेधाः पश्चिमभागे तु हृषीकेशोत्तरस्तथा ॥ १०८ ॥

अघोर दक्षिणे भागं पुरुषं पूर्वयोदितम्।
ईशानस्थानमीशानं दृष्ट्वा मध्यमयोदितम् ॥ १०९ ॥

मध्यमाग्रस्तथा बिन्दुनादं रेखाग्रयशिवम्।
शिवमध्यन्तु शक्त्यर्थमेतत् सादाख्यमुद्भवम् ॥ ११० ॥

शान्तं पद्मासनस्थं शशिधरमकुटं पञ्चवक्त्रं त्रिणेत्रं।
शूलं वज्रं खड्गं परशुमभयदं वाम दक्ष भागे वहन्तम् ॥ १११ ॥

नासगं पाशं च घण्टां मलनकरयुतं सांकुशं वामभागे।
नानालंकारयुक्तं स्फटिकमणिनिभं सौम्यसादाख्य तत्वम् ॥ ११२ ॥

देवीशिर दक्षिणोत्तर सुपादं गोमुख पादान्तकृतवारि भुजयुक्तम्।

योनिगत मध्य मधु संस्थित लिङ्ग स्थापित सदाशिव-

मनोन्मनि स्वरूपम्। मनश्शक्तिक विज्ञेय उन्मनः परमः शिवः॥ १३॥

मन उन्मन सम्बन्धान्मनोन्मन्यभिधीयते॥ ११४॥

वामाद्यष्ट शक्तीनां मध्यतेजो मनोन्मनी।
मनोन्मनि ग मध्यस्थो सादाख्यं लिङ्गमध्यमम्॥ ११५॥

शिवशक्ति स्थितं लिङ्गं जगद्योन्युद्भवस्तथा।
नवज्ञाङ्ग पद्माङ्गं न चक्राङ्गश्च? गत्त्रयम्॥ ११६॥

लिङ्गांशाश्च भगांशाश्च तस्मान्माहेश्वराज्जगत्।
मूलाधारं चतुष्पत्रं तन्मध्ये वशाषस्सजम्॥ ११७॥

पृ। २४)

तन्मध्ये कुटिलाकारं त्रिकोणाकार संभवम्।
नाडी मूलावृताङ्काभि कुण्डली हंसनिस्वना॥ ११८॥

कुण्डल्याकार मध्यस्थे प्राणं प्रणवसम्भवम्।
प्रणवत्रयमध्यस्थं व्योमाकारं पराक्रमम्॥ ११९॥

पराक्रमं परोत्पन्नं परं सर्वत्र कारणम्।

चिद्घनं मेघतद्याप्तं नित्यं सद्योतित प्रभम्॥ १२०॥

सर्वात्म कारणं शम्भुर्विभुश्शर्वस्व साक्षिकम्।

शम्भोः शिवपरं सूक्ष्मं सर्वव्यापकमीश्वरम्॥ १२१॥

सर्व वर्णं तथा मन्त्रं मन्त्रमूर्तिमनेकधा।

सर्वकोटि महामन्त्रं सप्तकोटयंशि कारणम्॥ १२२॥

विज्ञानस्याष्ट विद्येशं मन्त्रमूर्ति प्रधानकम्।

सप्तकोटि महामन्त्रं चित्तव्याकुल कारणम्॥ १२३॥

एकेन सहजं मन्त्रं तुर्यातीते परं शिवम्।

नादबिन्दु द्विधाकारं त्रिधावाक् पञ्चमोद्भवम्॥ १२४॥

कुटिली कुण्डलीस्तारं बैन्दवैशानमीश्वरम्।

रुद्रविज्ञान काष्टांशं इच्छाज्ञानक्रियात्मकम्॥ १२५॥

आणवं माययाकाम्यं पावे?पंच तिरोभवम्।

स्थूल सूक्ष्म महान् प्राणा व्यक्ता पञ्चम कञ्चुकाः॥ १२६॥

जीवामेच्छादिषु त्रिंशत् षट्त्रिंशत्तत्वकारणम्।

कारणं कृत्य मूलस्थं माया कुण्डलिनोद्भवम् ॥ १२७ ॥

सर्व तत्वं मयाख्यातं सर्वात्म सृष्टिकारणम् ।
अचिन्त्यं तत्परा शक्तिश्चिन्त्यमाया विकल्पकम् ॥ १२८ ॥

पृ । २५)

अचिन्त्याचिन्त्ययः साक्षिरात्मरूपं परात्परम् ।
सर्वमन्त्रमयं तारन्तारश्चादयोदितम् ॥ १२९ ॥

ओमिति ज्योतिरूप ज्योतिरूपस्थं सत्यमुक्तम् ।
आसिकाबन्धनं शैवं नासिकाबन्धनं न च ॥ १३० ॥

न यनो नियमश्चैव स्वयमोमिति पश्यतः ।

॥ अर्थितत्व संग्रह विवेकः ॥

क्षित्यादि कुटिलान्तानि षट्त्रिंशत्तत्वरूपकम् ॥ १३१ ॥

शिवेच्छया कुटिलोत्पन्नं नादतत्व प्रधानकम् ।
नादमध्योदितं बिन्दु शिवशक्त्यर्थनामकम् ॥ १३२ ॥

ज्ञानक्रिया समुत्पन्नं शिवशक्ति स्वरूपकम् ।

ज्ञानक्रियोत यस्तत्वं तत्सादाख्य स्वरूपकम् ॥ १३३ ॥

ज्ञाननून क्रियाधिक्यं महेशस्तत्व विग्रहः ।
योगेच्छया क्रियान्यून शुद्धविद्याप्रकाशितम् ॥ १३४ ॥

शुद्ध विद्येश सादाख्यं बिन्दुनादाश्च पञ्चधा ।
शिवतत्वमिति प्रोक्तं बैन्दवस्तत्र कारणम् ॥ १३५ ॥

बिन्दुशक्तोद्भवं माया मोहिन्यो मोहकारणम् ।
अरूपं नित्यैक रूपस्थं व्याप्त्यन्तं स्वनविग्रहम् ॥ १३६ ॥

मायोद्भवस्तथा * * त्रिकृत्यर्थं त्रिभेदकम् ।
कालस्योत्पन्ननियति यत्कर्मं तत्सुनिश्चियम् ॥ १३७ ॥

कालो नियतिरुत्पन्न माणविस्तत्र शोधनम् ।
किञ्चिदिच्छा क्रियाज्ञान स्वात्ममध्ये प्रकाशितम् ॥ १३८ ॥

कारणत्वे तथा विद्या नाना ज्ञानोद्भवात्मकम् ।

पृ। २६)

रागा परिमिताशार्थं विद्या तत्वेति षष्ठमम् ॥ १३९ ॥

मूल प्रकृति विकृति कलातत्वोद्भवं तथा ।
त्रिगुणत्वोन्नतत्काल गुणत्वं प्रकृति स्थितम् ॥ १४० ॥

इन्द्रिय ग्र * * * रसाने पुरुष तत्वकम् ।
विषयग्राह्यैन्द्रियः कालेनात्मं पुर्यष्टकं तथा ॥ १४१ ॥

माया व्यक्तं तदव्यक्तं तद्व्यक्तं तन्महानिति ।
तत्वन्त्वहित यस्तत्वस्तच्चित्तं करणादिकम् ॥ १४२ ॥

अ * * * गुणोत्वञ्च त्रिधाभेदस्तथोच्यते ॥ १४३ ॥

सात्विके तैजसा हन्ताराजसे वैखरी तथा ।
तमसे भूतातिकन्तु तस्माद्भुज त्रयोदितम् ॥ १४४ ॥

तन्मध्ये तैजसाहन्ता मध्ये मानसमुद्भवम् ।
ज्ञानक * * याकारं वैखर्याहनयोद्भवम् ॥ १४५ ॥

शब्दादिः पञ्चमो भेदं भूताहन्तान्ततोद्भवम् ।
शब्दादिः पञ्चतन्मात्रे आकाशादि समुद्भवम् ॥ १४६ ॥

आकाशाद्वायुरुत्पन्नं वायव्येदं मनोभवम् ।
दहने जलवुत्पन्न जले मेदिनिरुद्भवम् ॥ १४७ ॥

चतुरमार्ध चन्द्रञ्च त्रिकोण षट्कोणवृत्तयः।

पृथिव्यादि स्वरूपोक्तं बुद्धिमत्कारणोद्भवम्॥ १४८॥

स्वर्णः श्वेतारुणः कृष्णं धूम्रं प्रव्याधि रूपकम्॥ १४९॥

* * * * ञ मादीनां लवरयह वर्णकम्॥ १५०॥

ब्रह्मा विष्णुस्तथा रुद्रमीशमीशान कारणम्।

भूत भेदमिदं प्रोक्तं तज्जन्यं तत्र कारणम्॥ १५१॥

पू। २७)

पृथिव्यप्तेजोवायुराकाशं भूतपञ्चमम्।

श्रोत्रं त्वक् चक्षुर्जिह्वा च प्राणञ्चैव तु पञ्चमम्॥ १५२॥

वाक्पाणिपादपायुरुपस्थञ्चैव तु पञ्चमम्॥ १५३॥

वचनागमनादान विसर्गानन्द पञ्चमम्।

तदन्यं पञ्चदश्यर्थं शब्दादिः पञ्चविंशतिः॥ १५४॥

मनोबुद्धिरहङ्कार चित्तज्ञेत्रज्ञ पञ्चमम्।

एवन्तु पञ्चविंशार्थमात्म तत्वं प्रकीर्तितम्॥ १५५॥

रागो नियति विद्या च कला कालश्च मोहिनी।
विद्या तत्वमिति प्रोक्तं षष्ठमं परिकीर्तितम्॥ १५६॥

शुद्धविद्येश सादाख्यः शिवशक्तिस्तु पञ्चमाः।
शिवतत्वमिति प्रोक्तं शुद्धाशुद्धश्च मिश्रितम्॥ १५७॥

आत्मतत्वं हृदायान्तं विद्यातत्वं भ्रुवान्तकम्।
शिवतत्वं शिखान्तस्थं तत्वन्नात्रमिति स्थितम्॥ १५८॥

सर्वतत्वं कलातीतं पराशक्ति प्रभेदकम्।

॥ ज्ञान सिद्ध्यागमे द्वितीयः शिवलक्षणाधिकारः समाप्तः॥

प्रथमस्तन्त्राधिकारार्थः द्वितीयः शिवलक्षणम्।
मन्त्र तत्वप्रसादार्थं शिवसादाख्य सम्भवम्॥ १॥

इत्थमधिकार संग्रह विवेकम्॥

देव्युवाच-

देव देव जगन्नाथ शिवशूलिन् महेश्वर।
आत्मवर्गं किमुत्पन्नः शृणु देवि वरानने॥ २॥

भग्नेव घटे यथा दीपस्सर्वतः संप्रकाशते।
देहे पाते तथा चात्मा भाति सर्वत्र सर्वदा ॥ १८ ॥

योग ज्ञानं शिव ज्ञानं शिवं सर्वत्र कारणम्।
शिवं शान्तं जगद्योनिं शिवमुक्ति प्रकाशकम् ॥ १९ ॥

गुरुः पिता गुरुर्माता गुरुर्भ्राता गुरुः सुहृत्।
गुरोस्तु न परं किञ्चिदित्याह परमेश्वरः ॥ २० ॥

न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं न गुरोरधिकम्।
शिवसाधन यश्शिवशासशासनयश्शिव साशासनयः ॥ २१ ॥

प्रसं प्रदाधिकारः समाप्तः ॥

देव्युवाच-

देवदेव परानन्द शिवश्शूली महेश्वर।
योग * * * * * र्थं किं प्रकारं तदुच्यते ॥ १ ॥

महेश्वर उवाच-

महेशि देवदेवेशि शृणुदेवि वरानने।

योग सिद्धि प्रबोधन्तूपदेश क्रमं तथा ॥ २ ॥

योगसिद्धि प्रबोधन्तूपदेश क्रमं तथा ।
उपदेश क्रमं ह्येवं योग सिद्धस्य बोधकम् ॥ ३ ॥

योगमष्टाङ्ग तद्भेदं बाह्यार्थानामनन्तकम् ।

योगभेदः-

यमश्च द्विधमाप्रोक्तमासनं त्रिविधं परम् ॥ ४ ॥

प्राणायाम चतुर्थन्तु प्रत्याहारञ्च पञ्चकम् ।
धारणा ध्यान संकेतं समाध्यष्टाङ्ग उच्यते ॥ ५ ॥

स्वाधारञ्च निराधारं पाशयोगं तृतीयकम् ॥

पृ। ५८)

योगोपरिमितं शास्त्रे सारात् * * * * * * ।
योगेन सिद्धयत्यर्थं हि ज्ञानेन ह्युक्तिरुच्यते ॥ ६ ॥

योगभेदः-

यमं दशविधं यमं दशविधं भवेत् ।

आसना परिमिदं तञ्च तन्मध्ये दशमुत्तमम्॥ ७॥

प्राणायाम प्रभेदार्थश्चतुर्थं पूरकादिकम्।
प्रत्याहारञ्च पञ्चैते धारणाः पञ्चमं भवेत्॥ ८॥

अष्टाविंशति ध्यानं च मध्ये पञ्चम उत्तमम्।
एकं समाधिरित्युक्तं तन्मध्ये परमं पदम्॥ ९॥

यमं दशविधं प्रोक्तं शुद्धं कारुण्य सम्भवम्।
अल्पाहारमितिश्शान्तं सर्वार्थं समचिन्त्यकम्॥ १०॥

सत्यञ्च दृढचित्तं च ब्रह्माचार्यं तदष्टमम्।
न येयु न च * * * यमं दशविधं तथा॥ ११॥

एकैकं तु यथा प्रोक्तं सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं तथा।
यमं दशविधं प्रोक्तं शृणु देवि वरानने।
तपञ्चपयोगश्चैव स दोषास्ति कदाचन॥ १२॥

शिववृत्तं तत्वसिद्धः साधकः शिवपूजकः।
मतिर्लज्जा तथा प्रोक्ता आसनं दशमं शृणु॥ १३॥

पत्रं गोमुख पद्मं च सिंह स्वस्ति कदाचन।

पञ्चकम् ॥

वीरं सुखास निमुक्तं मयूरं दण्डासनं तथा ॥ १४ ॥

प्राणायामं चतुर्थञ्च शृणु देवि वरानने ।
पूरकं रेचकं चैव कुम्भकं त्रासनं तथा ॥ १५ ॥

एकैक वायुमापूर्य मात्रा दीर्घं तदुच्यते ।
प्रत्याहार प्रभेदार्थं शृणु देवि वरानने ॥ १६ ॥

पृ। ५९)

जितेन्द्रियोपाधिशून्या चैतन्यो भावसम्भवः ।
ज्ञानचक्षुः प्रकाशश्च * * * * * मूढकम् ॥ १७ ॥

एवं पञ्च मयं प्रोक्तं तत्प्रत्याहारमुच्यते ।
धारणं पञ्चका प्रोक्तं शृणु पार्वतिमत् प्रिये ॥ १८ ॥

मूलं लिङ्गेन नाभ्यन्तं हृदयं गलपञ्चकम् ।
नासिका भ्रूशिखामार्गे मरुन्नादोद्भव ध्वनिम् ॥ १९ ॥

प्रभेद सोष्ट भेदन्तु शिखादिं पञ्चमोत्तमम् ।

अन्यथा धारणं प्रोक्तं पृथिव्यादिकमेककम् ॥ २० ॥

तत्तज्ञात क्रमाद्योज्यं दिवौ ग्रन्थिस्तदुज्यकम् ।
ग्रन्थात्मपदे योज्यं तत्परो योज्यधारणम् ॥ २१ ॥

एवमष्टमधो भेदं धारणा सूक्ष्म मुच्यते ।
महेशी मायया देवि * * * * * * * णुः ॥ २२ ॥

निवृत्त्यादि कलापञ्च ध्यानं पञ्चात्मको भवम् ।
आधारं च निराधारं न साधारं न धारकम् ॥ २३ ॥

ऊर्ध्वाधार प्रविश्यार्थं पराशक्ति प्रकाशकम् ।
रूपारूप विदध्यानं रूपारूप द्विभावनम् ॥ २४ ॥

सत्यध्यानं समाध्यर्थं बोधध्यानं प्रबोधनम् ।
जितेन्द्रियं इन्द्रियध्यानं शक्त्या ध्यानमनन्तरः ॥ २५ ॥

वीर ध्यानं पर ध्यानं रक्त शुक्ल द्विमिश्रकम् ।
बोध बोधस्व बोध * परध्यानं परोदितम् ॥ २६ ॥

शिवध्यानात्म भावोक्ता ध्यानयोगमिदं तथा ।
इन्द्रियस्य पदध्यानं पराबोध शिवस्य तु ॥ २७ ॥

एवं * * * * युक्तं न ध्यानं व्यापकं शिवम्।

पृ। ६०)

समाधिर्योग संप्रोक्तं शृणु देवि महेश्वरि॥ २८॥

समाधिः समतावस्था जीवात्म परमात्मयोः।
तमतांश समाध्यर्थं जीवन्मुक्ति पदं परम्॥ २९॥

जीवत्व परयोरैक्यं वेदान्त ज्ञान सङ्गमम्।
वेदान्तार्थ मयं ज्ञानं सिद्धान्तं परमं शुभम्॥ ३०॥

देवस्य विहिताचारं दक्षिणाचारमुच्यते।
विपरीतं वाममन्त्रं शक्त्या ध्यान समाश्रितम्॥ ३१॥

* * सिद्धिस्तथा प्रोक्तं शृणुवेदान्त संग्रहम्।

॥ अष्टाङ्ग योगपटलः॥

अष्टाविंशस्तु ज्ञानांशमेव * * * * * *।
एवं शैव क्रियाभेदं चतुष्पादोद्भवाश्रयम्॥

चर्यादि ब्रह्मचर्यादि सिद्धान्ताश्रममुच्यते।

ऊर्ध्वशैवं महाशैवं मनादि शैवादि शैवकम्॥

भेदा भेद द्वयं शैवगुण शैव * * * *।

अध्व शैवं क्रियाशैवमवान्तरं योगशैवकम्॥

ज्ञानशैवं शिवः शैव शैव भेदश्चतुर्दशम्।

शुद्धशैवं तथा मुख्यश्चतुष्पादा प्रवर्तकम्॥

ज्ञानज्ञेय द्विधा ज्ञातुर्भावं साक्षान्निवर्तकम्।

पञ्चान्त * * * * * * * * ज्ञानसाधकम्॥

वेदान्तं शैव सिद्धान्तं नादान्तं बोधमन्तकम्।

योगान्तं पञ्चमान्तस्तु सर्वशास्त्रात्तु सारजम्॥

सिद्धिमुक्तिस्तथा प्रोक्तः साधनं ज्ञान साधनम्।

शुद्ध शैव * * * * शाभवं शाश्वतम् शुभम्॥

सर्व शास्त्रार्थ सारार्थः संग्राह्यं शुद्धशैवकम्॥

प।६१)

शुद्धशैव स्वमुक्त्यर्थं शुद्धमुक्तिस्व गोचरम्।

नानासमय भेदार्थं नानामुक्ति स्वभावकम् ॥

नानायोग प्रभेदार्थं नाना सिद्धिप्रवेशनम् ॥

पद * * * * * क्ताः मुक्तारूपा स्वमुक्तिकाः ।
अपिकारस्तथा * * एवं नानात्म मुक्तिकाः ॥

तन्मध्ये सिद्धिमुक्तिश्च शुद्धमुक्तिश्चतुर्द्वयम् ।
शुद्ध शैव स्वसिद्ध्यर्थं शाम्भवी मुद्रिकान्तकम् ॥

शाम्भवं * * * * * * क्षात् योग्यस्व वेधनम् ।
सत्य साम्भव शुद्धाय उग्रशाम्भवमुत्तरा ॥

अनुत्तरः शाम्भवश्चेति शाम्भवं ज्ञान पञ्चकम् ।
शाम्भवी खेचरी ज्ञानमुद्रा त्रितय शाम्भवम् ॥

अष्ट शाम्भव संवेद्यं शुद्धशैवार्थ निर्णयम् ।
योग शाम्भव त * * * * * * * भेदकम् ॥

नाना विध शास्त्रार्थैं * * * * * * * * * ।
अष्टक ज्ञान भेदोक्तं शुद्धशैवस्व शाम्भवम् ।
शैवमार्गे महासिद्धिरन्यं पाशुपतादिकम् ॥

कलाध्वा मध्यमो भागो पञ्चाध्वा * * मोद्भवम् ।
पाशं पशुपति ज्ञेयं शैव सिद्धान्त साधनम् ॥

ज्ञानयोग क्रियाचर्या शैवाश्रम विभेदकाः ।
नाना वेदागमाद्यर्थं नानाशास्त्रार्थ दर्शनम् ॥

नानाशब्द प्रवाहार्थं बैन्दवः कलहोदितम् ।
नानाशब्द प्रवाहार्थं बैन्दवः कलहोदितम् ॥

बैन्दवं कुटिल * * बिन्दुनादोदयोदितम् ।
बैन्दवस्तत्व * * * * * * * कलोदितम् ॥

पृ । ६२)

बिन्दुनाद कलामध्ये अकारोकारयोदितम् ।
अकरोकारमकारं च बिन्दुनादं च पञ्चमम् ॥

कलाध्वा मध्यमो भागो पञ्चा * * वमुद्भवम् ।
अकारो वैखरी जातमुकारे मध्यमोदितम् ॥

मकारे पश्यन्ती जातं बिन्द्वौ सूक्ष्मस्ततोदितम् ।
नादान्त सूक्ष्म वाग्जातं वाक्पञ्चम लोदितम् ।

वाग्भवं वेदशास्त्रार्थं वैखरी वर्ण उद्भवः ॥

वैखरी श्रोत्र विज्ञेया * * कल्पा तु मध्यमाः ।
निर्विकल्पा तृतीयाया आसांकारण मध्यमाः ॥

महासूक्ष्मा च रूपार्थ इति वाक् पञ्चमोद्भवः ।
अकारो ब्राह्मणो जातमकारो वैष्णवोद्भवम् ।
मकारो रुद्रांश वर्णन्तु बिन्दुरीशोद्भवस्तथा ॥

नादः सदाशिव इति नादादि पृथिव्यन्तकम् ।
त्रिंशत्तत्व द्विसंभिन्नं कुटिलाशक्तिरुद्भवम् ॥

कुटिलं कुण्डली व्याप्तं कुण्डली प्रणवोदितम् ।
यातु कुण्डलिनी शक्तिर्माया कर्मानुसारतः ॥

* * न्दु द्वादकार्यन्तु तस्य त्रि च जगत्स्थितिः ।
मकारः सामनादांशं बिन्द्वाधर्वणमुद्भवम् ॥

वेदान्त्योंकार नादान्ते ज्ञानरत्नं तथोद्भवम् ।
सर्वमोंकारमुत्पन्नमोमिति ज्योतिरूपकम् ॥

निवृत्ति कलांश रूपप्रतिष्ठा भावोदितोपमम् ।

बिन्द्वान्तं तटिदाकारं शान्तिदीपक समोपमम्॥

पू। ६३)

शुद्धस्फटिक संकाशं शक्त्यन्त तपसोपमम्।
निवृत्त्यादि कलारूपाकारादि कलोदिता॥

अकारादि कलामध्ये वाचा पञ्चमदेवता।
अकारादि कलारूपं हौकार * * * * *॥

* * * * ष्टमं बीजं षष्ठमस्वर संयुतम्।
चतुर्दश स्वरोपेतं बिन्दुनाद समन्वितम्॥

एवं पञ्चकलाप्रोक्तं मूलमन्त्रं तदुच्यते॥

हकारश्च उकारश्च मकारो बिन्दुरेव च।
अर्धचन्द्रो निरोधी च नादो नादान्त एव च॥

शक्तिश्च व्यापिनी चैव समना चोन्मना तथा।
समनान्तं पाशजालं उन्मन्यन्तं परं शिवम्॥

उन्मन्यन्ते परा तत्वा तदन्तं शिव मुच्यते।
कलाषोडश विज्ञेयं प्रासादं परमाक्षरम्।

प्रासादयेति प्रासादं प्रासादं शिवमन्त्रकम्॥

* * * * * * * * * शब्दो गतिरुच्यते।
दमत्स्वरूपमेवन्तु त्रिवर्णमभिधीयते॥

कला षोडशयोर्भेदं पञ्चकस्य कलमयम्।
कला पञ्चम मध्यस्थे पञ्चाध्व उद्भवं तथा॥

अकारे तत्वमुत्पन्नं उकारे भुवनोद्भवम्।
मकारे पदमुत्पन्नं बिन्द्वे वर्ण स्थितोदितम्॥

नादेमन्त्रोद्भवं ज्ञेयं जगत्यर्थं ततोदितम्।
हकारादि कलामध्ये पृथिव्यादि समुद्भवम्।
पृथिव्यादि कुटिलान्तं षट्त्रिंशत्तत्वमुद्भवम्॥

आत्मविद्या शिवत्वं च * * * * * * दकम्।
श्रोत्रत्वक् चक्षुर्जिह्वा च ज्ञान इन्द्रिय पञ्चमम्॥

वाक्पाणि पायूपस्थं कर्मेन्द्रिय पञ्चमम्।
शब्दस्पर्शरूपं च रसगन्धं च पञ्चमम्॥

वचनागम नादानां विसर्गानन्द पञ्चमम् ।
मनोबुद्धिरहंकारश्चित्त क्षेत्रज्ञ पञ्चकम् ॥

आत्मतत्वमिति ज्ञेयं भाग्यखण्डमशुद्धकम् ।
मायाकालं च नियतिः कला विद्यारागषष्ठमम् ॥

अशैव खण्डमित्युक्तं शुद्धाशुद्ध विमिश्रमम् ।
शुद्धविद्येश सादाख्यं बिन्दुनादान्त पञ्चमम् ॥

शिवतत्वमिति ज्ञेयं प्रेरखण्डं तदुच्यते ॥

शिवतत्वं शुद्ध तत्वार्थं तत्त्वातीतं समात्मनम् ।
तत्त्वातीतं परं शक्ति तत्वातीतं परं शिवम् ॥

तत्वार्थं कुण्डली व्याप्तं जगदुत्पत्ति कारणम् ।
कुटिलेच्छादितं भिन्नं तच्छक्ति तत्व विग्रहम् ॥

सर्वतत्वमयं व्याप्तं पाशतत्वार्थ कारणम् ।
तत्वतीतं पराशक्ति तत्वातीतं परं शिवम् ॥

कला पञ्चममध्यस्थे पाशः पञ्च मलोदितम् ।
पाशवो बद्धय पाशः पाशबन्धस्तथा पशुः ॥

पाशेन पशवो बद्धाः कारणं परमेश्वरः।
पतिर्नाम इति ज्ञातं पाशाभावेन यः पशुः॥

कालावसानात् शक्त्यर्थे तिष्ठन् बोधात् विमुक्तः॥

एवं शाश्वत शैवार्थमेवं सिद्धान्तगोचरम्।
मूलादि द्वादन्तार्थैः संयोज्यं परमाक्षरम्॥

तन्निराधार योगांशं स्वाधारं नव भावितम्।
परायोग्यां परामिश्रमन्वे योग्यं पृथक् तथा॥

योगभेदमिति प्रोक्तं तत्त्रिभेद इति स्थितिः।

कलायोगम् -

अकारे मनसोत्पन्नमुकारे बुद्धिरुद्भवम्॥

पृ। ६५)

उकारे हा त्रयोत्पन्नं बिन्द्वौ चित्तस्तदुद्भवम्।
नादे पुराणमुत्पन्नं नादान्ते शक्तिरुद्भवम्॥

शक्त्यन्ते शिवमुत्पन्नं तदन्ते परमं पदम्।
कलापन्न महाभागे जगदुत्पत्ति कारणम्॥

कलातीतं परातीतं परातीतं परं शिवम्॥

॥ तन्त्रावतार पटलः ॥

अष्टभेदं स्वसिद्ध्यर्थं शृणुदेवि वरानने।
अष्टभेद प्रभेदार्थे नाना सिद्धिसमुद्भवम्॥

अणिमा महिमा चैव लघिमा गरिमा तथा।
प्राप्य प्राकाम्यमीशित्वञ्च शिवत्वं कामरूपकम्॥

निर्मितस्व समर्थार्थ साधकः सिद्धिसम्भवम्।
उद्गतश्वासमात्रार्थं विषमाजात नाशनम्॥

अणिमदि प्रसिद्ध्यर्थं अष्टैश्वर्यं यथा तथा॥

वायुमापूर्य संसिद्धिरन्यथा द्वादशोद्भवम्।
कुण्डली मध्यम स्थाने कृपाकारं त्रिकोणकम्॥

तन्मध्यस्थे चतुर्मात्रा हंसो स्वरति नासिकः।

मार्गेण गम्यतां वायुर्जरामरण कारणम् ॥

हंसं परमहंसं न हंसं सोहं यथा * * ।

उद्गत श्वासयोर्नाशं निर्गतश्वास सिद्धिजम् ।
सन्ततं निर्गतश्वासं मन्त्रयोगस्व साधकम् ॥

सन्ततं निश्वासभावं साधयेद्द्वादशाब्दजम् ।
अन्यथा द्वादशाः सिद्धिरेकैकाब्दस्ततोदितम् ॥

प्रथमार्थाद्य व्याधिर्द्वितीयो जनवर्जितम् ।
तृतीयस्सर्व नाशास्त्रय चतुर्थे वाक्यार्थ सिद्धिजम् ॥

पञ्चमे पुराण श्रवण षष्ठ्यातीतन्तु नागतः ॥

पृ। ६६)

सप्तमे चण्डवेगार्थमष्टमे मरणानि च ।
नवमोनन्द कायस्थं दशं भू त्याग सम्भवम् ॥

एकादशं तथारुद्रा द्वादशाद्योगमिष्यति ।
एवं द्वादश सिद्ध्यर्थं वायुमापूर्य उद्भवम् ॥

वायुमापूर्य मार्गस्थे नाना सिद्धिसमुद्भवम् ।
इडा पिङ्गलयोर्मध्ये तन्मध्ये नाद सम्भवम् ॥

नाद * * * * * * * * न्तं परमः शिवः ।
शिवमध्ये गतश्शक्ति शक्तिमध्यगतः शिवः ॥

हकारं शिवरूपत्वं सकारं शक्तिरुच्यते ।
हकार सकार योर्मध्ये हंसमनूदितम् ॥

हंसमार्गस्वयं शक्तिनीलवर्णनिभं तथा ।
सोहं शस शरन्तत्र निश्वासो छ्वास तद्विधा ॥

सर्वनाडि स्वमध्यस्थे सुषुम्ना नाड्युत्तमं भवेत् ।
सुषुम्ना मूलाग्र मध्यस्थे मण्डलत्रय संयुतः ॥

मण्डलत्रय मध्यस्थे ज्योतीरूपं परामयम् ।
परा वा समया सिद्धिर्जरा मरण नाशनम् ॥

हातो विसर्जनैर्युक्तः पराविद्यामयं तथा ।
कारचञ्चु पुरीकारं शोष्यमाणा निलात्मकम् ॥

सदाभावं विशेषार्थं जरामरण नाशनम् ।

पराविद्या महाविद्या मूलविद्या समस्तथा ॥

परामूलं समाश्रित्य संघटी कृत्यार्थसिद्धिजः ।
आधार प्राणसंवेद्यमात्ममन्त्र स्वगोचरम् ॥

आधारं षष्ठमं भेदं निराधारं परं शिवम् ॥

आधार लक्षणम्-

पृ। ६७)

आधारे लिङ्गनाभौ हृदय सरसिजे तालुमूले ललटे
द्वेवक्रे षोडशारे द्विशत दशदले युते द्वादशार्धे चतुष्के ।
वासान्ते बालमध्ये सफकठ सहिते संविर्गेह लक्षे मध्ये हंसं स्वदीप्तं
सकलं कलयुतं वर्णरूप प्रकाशम् ॥

सर्व वर्णस्व मध्यस्थे हंसमात्मन्ततोदितम् ।
हंसं सर्वत्र वर्णानां आदि मध्यान्त रूपकम् ॥

एकं वर्ण स्वरूपं चैक मुद्रार्थ खेचरी ।
एकं देव परब्रह्म एकं शक्तिपरामयम् ॥

एकविंशत् सहस्राणि षट्शतं तत्र कारणम् ।

हंसमार्ग महोरात्रन्नासिमार्गे गमिष्यति ॥

त्रीण्यं शैकांश भोगन्तु तथापूरित मायुकम्।
निश्वासोश्वास सम्बन्धमेक प्राणावसानकम् ॥

वायुगम्यं यथा नाश तथा गम्यं स्वसिजम्।
गम्यन्ते वरणावस्था अगम्यं सिद्धिरुत्तमम्।
मूलमन्त्र प्रतीकाश मूल कुण्डलिनोदयम् ॥

तन्मध्येहंसमुद्योगं तन्मध्ये बिन्दु संस्थितम्।
अकारोकारमकारं च क्रियाकुण्डलिनोदयम् ॥

कुण्डलीत्रय मध्यस्थे सोमसूर्याग्नि सम्भवम्।
सोमसूर्याग्निमध्यस्थं सृष्टि स्थित्यन्तकारणम् ॥

नादमार्गं तथा शक्ति ज्ञानान्तं तच्छिवोदयम्।
शिवोहमस्य प्रकारं सोहमस्मिन् समाश्रितम् ॥

सोहंमार्ग सुषुम्नो हि प्रकाशे साधकोत्तमः ॥

पृ। ६८)

ऋद्धि सिद्धिर्भविष्यन्ति सोहंभावं समाचरेत्।

मूलारविन्द मध्यस्थे हकारं वह्नि मण्डलम्॥

वह्नि ज्वाला प्रतीकाशं हंस हौवर्णमुद्भवम्।
मूलास्मि नाभिचक्रान्तं सान्तवर्णस्ततोदितम्॥

नाभ्यादि हृदयान्तं च उकार ज्योतिरूपकम्।
* * * * जिह्वान्तस्ये ऋकार ज्योति सङ्गमम्॥

जिह्वादि नासिका मध्याहदान्तं बिन्दुरूपकम्।
भ्रुवादि मध्यगान्तं च नाभिस्थानं विशेष्यकम्॥

मस्तकादि शिखान्तं च नादान्त स्थानमाचरेत्।
तदूर्ध्वे परमाशक्तिस्तदूर्ध्वे परमः शिवः॥

आधारादि शिखान्तस्थे द्वे धनं मन्त्रशोधनम्।
शिखाग्रे द्वादशाङ्गुल्ये शिवं सूक्ष्म परोदितम्॥

प्रासाद परया विद्या साधकः साधकोत्तमः।
प्रासाद परसंघट्टं नवाधारस्तु शोभनम्॥

नवाधारस्य * * * * * * * * दर्शनम्।
प्रासाद परयोर्विद्या सर्वसिद्धिस्ततोदितम्।

॥ इत्यष्टसिद्धिपटलः समाप्तः ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि मूर्त्यंश स्वविधानकम्।
बिन्दुमध्यगतोनादं नादमध्यगतः शिवः॥

नादलिङ्गमिति प्रोक्तं बिन्दुपीठमिति स्थितम्।
बिन्दुनाद समाश्रेयं भगलिङ्गद्वयोदितम्।
भगस्यान्तर्गतं लिङ्गं लिङ्गस्यान्तर्गतं भवम्॥

भगलिङ्ग समाश्रेयं शिवशक्तिद्वि संगमम्।
भगमध्ये स्थितं लिङ्गं लिङ्गमध्ये स्थितं * *।
* * शिवासनं लिङ्गं लिङ्गासनन्तु पीठकम्॥

पृ। ६९)

एवं ध्यात्वा तु मनसा पराशक्तिस्तु विन्यसेत्।
न यज्ञाङ्गं न पद्माङ्गं न चक्राङ्गं जगत्त्रयम्॥

लिङ्गाङ्गं च जगत्सर्वं तस्मान्माहेश्वरं जगत्।
देवीशर दक्षिणोत्तर सुपाद गोमुख पदान्त कृतवारि भुजयुक्तम्।
योनिगतमध्यमयसंस्थितं लिङ्गं स्थापित सदाशिवं मनोन्मनि स्वरूपम्
॥

शान्तं पद्मासनस्थं शशिधरमकुटं पञ्चवक्रम् ।
शूलं वज्रं च खड्गं परशु * * * * * न्तम् ॥

नागं पाशं च वर्णामनल करयुतं साङ्कुशं वामभागे
नानालङ्कारयुक्तं स्फटिकमणिनिभं कोपि सादाशिवाख्यम् ॥

पञ्चवक्रं पञ्चवर्णं पञ्चदिग्देवतावयम् ।
दशपञ्चक नेत्रांशं दशहस्तदशायुतम् ॥

दशकर्ण समायुक्तमेवं सादाख्यरूपकम् ।
सादाख्यं पञ्चभेदांशं सर्वं बिन्दूद्भवं तथा ॥

कर्मकर्तृ स्वमूर्तिश्च मूर्तिसादाख्य भेदकम् ।
शिवसादाख्य * * * * र्म भागैः प्रवर्तकम् ।

ईशान स्फटिक नं यत् कुंकुमाभं मुखं पूर्वं तत्पुरुषं
यदञ्जननिभं याम्यं च घोराननम् ।

औदीच्यं विलसज्जपाकसदृशं वक्रं तु वामं भवेत्
सद्योजातमुखं तु पश्चिममदां गोक्षीर तुल्यप्रभम् ॥

एवं सादाख्यरूप स्वमनोन्मनि सहितः शिवम्।
वामाद्यष्टमशक्तीनां मध्यतेजो मनोन्मनीम्॥

पृ। ७०)

नवशक्तिक विज्ञेयमुन्मनः परमः शिवः।
मन उन्मन सम्बन्धान्मनोन्यभिधीयते॥

* * * * * यं शक्तिः सम्बन्धं भोगरूषितम्।
तन्म* * * * * * न्तर्मध्ये भोगसाधनम्॥

तन्मध्ये रिद्धि सिद्धयर्थं तन्मध्ये मुक्तिवेधकम्।
तन्मध्ये सर्वमूर्त्यर्थं तस्मात् सर्वत्र कारणम्।
हकारोकार लिङ्गञ्च सर्वलिङ्गमयं तथा॥

मकारं विद्यामयं प्रोक्तं लिङ्गसूत्र प्रधानकम्।
लिङ्गसूत्रं सुषुम्नांशं प्रासादगमनं तथा॥

बिन्दु पीठं च शक्तिञ्च नादलिङ्गं शिवस्तथा।
बिन्दुनाद समांशस्तु प्रणवाक्षर रूपकम्॥

प्रणवमक्षरं प्रोक्तं बिन्दुनाद नस्य शिखान्तस्थे बिन्दुनादोत्किरीटम्।

बिन्दुनाद कलाकारं सर्वमन्त्रात्म रूपकम्।
बिन्दुनाद कलाभेदं सोमसूर्याग्निरूपकम्॥

बिन्दुनाद कलाकारमिच्छज्ञान क्रियात्मकम्।
बिन्दुभिद्य त्रिकोणांशं * ण्डवं तत्त्वरूपकम्॥

रुद्रैशेशान तत्वानि साधनं बैन्दवोद्भवम्।
त्रिकोणं त्रिपुराकारं वाक् कर्म मुक्तिरुद्भवम्॥

तन्मध्ये न परा शक्तिः तन्मध्ये त्रिपुरं तथा।
वाग्भव स्वर्ण * * * * * शाण क्रिया तथा॥

मुक्तिस्फटिक सौत्मेति त्रिपुरा शक्तिकारणम्।
पञ्चमूर्ति स्वरूपस्थं पञ्चशक्ति स्वरूपकम्।
पञ्चपाशमल प्रोक्तं शुद्ध तत्वार्थ पञ्चमम्॥

पृ। ७१)

पञ्च सामाख्य संभिन्नं पञ्च * * * * * *।
पञ्चमाग्नि विधिप्रोक्तं पञ्चकस्य कलामयम्।
पञ्चकृत्यस्तथाकारं पञ्चवाग्वृत्तिकारणम्॥

पञ्चमाक्षर संभिन्नं सर्वं बैन्दवमुद्भवम्।

अर्धं वा षट् कति प्रोक्तं सर्वपञ्च कलामयम् ॥

विज्ञानादि त्रिधात्मानं * * * * * कारणम् ।
सागरश्शिकरादीनि तरङ्गाद्योदयं लयम् ।
तथैव बैन्दवाकारे सर्वतत्वोदितं लयम् ॥

खेचरी भूचरी शक्तिः शक्ति दृग्गोचरी तथा ।
व्योम वामेश्वरी शक्तिः पञ्चमं बैन्दवोदितम् ॥

खे * * * * न्तिर्भूचरीर्य परा * * तथा ।
दिक्षरी तन्दिशा शक्तिगोचरी मन्त्रभूमिकाः ॥

इच्छा ज्ञान क्रियामाया परा पञ्चाथ देवताः ।
अकारोकार मकारं च बिन्दुनाद कलात्मिकाः ॥

बिन्दु तत्वोदितं सर्वं सृष्टिकाले प्रकाशितम् ।
तत्सर्वं कुटिला तत्वे * * * * * * * * * ॥

इडा पिङ्गलयोर्मध्ये कुण्डल्याकार सम्भवम् ।
कुण्डलीत्रय मध्यस्थं ज्योतीरूपं परात्परम् ॥

देहमस्य स्ववर्णानां मातृका शक्तिरुद्भवम् ।

मातृकाशक्ति विज्ञेयं सर्वशास्त्रार्थ निर्णयम्॥

ओंकारमक्षरं ब्रह्म कलारूपं तरात्परम्।
ओमिति सर्व बोधार्थमोमिति सर्वकारणम्।
जातसूतकमुत्पन्न मन्त्रान्ते * * सूतकम्॥

पृ। ७२)

उभयोरपि दोषं स्यात् तत्सर्वं निष्फलं भवेत्।
ओंकारादि नमोन्तं च सर्वमन्त्रान्विशेषतः॥

उच्चारेत्यजनार्थञ्च मन्त्रशुद्धिरुदाहृतम्।
ओंकार ज्ञानवर्णन्तु वर्णान्यं कर्मरूपकम्।
तस्माच्छ्रेष्ठमयं बोधं परमात्म प्रकाशकम्॥

मूल मध्यञ्च सूक्ष्मं च त्रिविधं तारभेदकम्।
पञ्चप्रणव सम्बन्धं पञ्चतत्वकलामयम्॥

पञ्चतत्व कलाभेदैः पञ्चाक्षर समुद्भवम्।
प्रणवादि यकारान्तं पञ्चाक्षर षडक्षरम्॥

पञ्चाक्षर तत्प्रणवेन युक्तं षडक्षरं मन्त्रमुदीरयन्ती।
षडक्षरं मन्त्रमुदीरितानां षडध्व भावादिति तल्लयार्था॥

षडध्व मार्गभेदन्तु क्रियाशैव विधिक्रमम्।
आत्मकर्मार्थ दुर्मार्गसेव्या भोज्यं तथा कुरु॥

अध्वा इत्यर्थ यत्काले तत्काले कर्मनाशनम्।
वर्णकलाभेदं तत्वं मन्त्रो भुवन एव च॥

द्विप त्रितय संग्राह्यं वाच्यवाचकयोर्लयम्।
वाच्यवाचक तद्रूप शिवशक्ति पदोद्भवम्।
शिवः शक्तिपदं व्याप्तं शुक्लरक्त प्रकाशकम्॥

रक्त शुक्लं द्विविधं द्विविधं पादलक्षणम्।
* * त्वत्पादमेवन्तु शुक्लं मत्पादमेव च।

रक्तशुक्लञ्च मिश्रञ्च समोद्योगं शिवं परम्।
तत्तच्छुक्लद्विमध्यस्थे ऋद्धिसिद्धि द्वयोर्मिथः।
वृथा दीक्षा वृथा ज्ञानं वृथा योगं वृथा जपः॥

पृ। ७३)

शिवशक्ति स्वरूपेण शैवं शाक्तं मयोदितम्।
शिव सम्बन्धयश्शक्ति शक्ति सम्बन्धयश्शिवः॥

षड्वक्त्रैशान सम्बन्धं षट्शक्ति प्राभवोद्भवम् ।
षट्शक्ति प्रभवाकारे शैवादिस्समयोदितम् ॥

शै * * * मुखोत्पन्नं याम्ये कालामुखं तथा ।
पश्चात् पाशुपतञ्चैवमुत्तरे तु महाव्रतम् ।
तदूर्ध्वे भैरवं प्रोक्तं पाताले वाममुच्यते ॥

पातालशक्ति सम्बन्धं तदूर्ध्वे परमं पदम् ।
दिशाशक्तिर्दशप्रोक्तं दिक्करी भेदकोदयम् ॥

दिक्करी शक्तिमध्यर्थे दिक्पालाष्टमयोदितम् ।
ग्रन्थिजन्यं कलाकाल विद्यापरं चन्द्रमातरम् ॥

गुणधीगर्व चित्ताक्षि मात्राभूतान्यनु क्रमात् ।
पूर्वे त्रिपुरा देवि आग्ने त्रैव पुरी मतः ॥

उद * भोगहस्तं स्यान्महालक्षन्तु नैर्-ऋते ।
पश्चिमे कुब्जिका शक्तिर्वायव्येपि च चण्डिके ॥

उत्तरे काल संकर्षि ऐशान्यं सिद्धिसामरी ।
पातालो दन्त शक्त्यर्थः परादूर्ध्वं दिशा भवेत् ॥
एतच्छक्तिमयं विश्वं विश्वातीतं परं शिवम् ॥

शिवशक्ति द्विमध्यस्थे नादबिन्दुस्ततोदितम्।
नाद बिन्दु द्विमध्यस्थे पञ्चसादाख्यमुद्भवम्॥

पञ्चसादाख्य मध्यस्थेष्टाविद्येश्वरोदितम्।
अष्टविद्येश्वरो मध्ये रुद्र * * * * दितम्॥

रुद्रभेदैः स्व मध्यस्थे षट्कोटि विष्णुरुद्भवम्।
षट्कोटि विष्णु मध्यस्थे शतकोटि ब्रह्मणोद्भवम्॥

तन्न विशिष्ट विषयत्वादस्य। ज्ञानवता क्रियानुष्ठानपरेणाचार्येण भक्त्याद्यनुमितिमलपाकशक्तिपाते चित्तेषु शिष्येषु हौत्र दीक्षाकार्या। अतिपापार्थ मलेत्यन्तयो ॥ ॥ ॥ ॥ ॥। न्त दरिद्रे च शिष्येऽत्यन्त विविक्तेन योगाभ्यास निपुणेन प्रत्यक्षीकृत शिवादिवस्तु तेनाध्यात्म निष्ठेन ज्ञानदीक्षा कार्या इति।

॥ इति श्रीमल्लक्षद्व्याध्यापक श्रीमदघोरशिवाचार्य विरचितायां श्रीमद्विंशतिकालोत्तरवृत्तौ दीक्षाप्रकरणम् ॥

इत्थं दीक्षितानुष्ठेय काण्डं तद्योगतस्संपातकश्चाचार्यानुष्ठेय दीक्षा काण्डं त्वाधर्मज्ञानकाण्डमुच्यते। त ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ चार्य साधकयोः काम्य विषये भावं नोपयोगाय प्रथमं नाडी चक्रोपदेशः।

नाडी चक्रमिदं सूक्ष्मं प्रवक्ष्याम्यनु पूर्वशः।

इदं वक्ष्यमाण नाडीचक्रं सूक्ष्मान्त ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ यथा व्यवस्थितं

p. 39) कन्दादिक्रमेण वक्ष्यामि। तदेवाह -

नाभेरधस्ताद्यत्स्कन्दं प्रवालाङ्कुरसन्निभम्।
आधारः सर्वनाडीनां हंसेन समधिष्ठितः॥ इति

तस्मिन्नङ्कुरा इव देहपादपस्य वृत्तिहेतुत्वान्नाड्यः सुषिरत्नपा
वायुरसंशोणितप्रवाहाय अधीताशयास्थास्तस्मान्निर्गतास्सत्या नाभि
मध्ये स्थिता। नाभिश्च सर्वत एतच्छरीरं रोमकूपान्तं व्याप्तम्
ऊर्ध्व॥ ॥। यानवहाभिरेवाधश्च रेतोमूत्रपुरीष वहाभिः तिर्यक्कर
शोणितादिवभाभिर्व्याप्तं नासु च मध्याच्चक्रवत् संस्थिताः ह्येताः
प्रधानादशनाडयः। नाड्यो नाड्योवेत्युभयया प्रयोगो दृश्यते इत्याह -

इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना च तृतीयका।
गान्धारी हस्ति जिह्वा च पूषा चैव यथा तथा॥

कूर्मा कूर्म उन्मीलवेमुपलक्षणं विनिमीलनस्या॥ ॥ ॥ ॥ क्षुदितं
क्षुतममृतशरीरे धनञ्जय एवनाहं कार प्रयत्नसहकृतप्राणाद्या
इत्यर्थः। अथ वायू॥ ॥ ।ॠइ इत्येतद्वायुवृन्दं हृदिनिहितं नाडी चक्र
प्रतिष्ठं निश्वासोच्छ्वास कासैश्च श्वसन उर अथः कम्पिता चूर्णितैश्च।
नित्या नित्याल्प जन्मा व्यसनयति युवा यौवने बालभावे चक्रान्तो वायुरेके
वियूधिनेन मरणैः क्रीडते सर्वतत्वैः। (श्लोकः)

यदेतद्वायु बृन्दं पूर्वं नाड्याञ्चक्रस्थिते नाडी चक्रे प्रतिष्ठित

मुक्तं। तन्नाडी चक्रप्रतिष्ठितमेव सद्धृति हृदनिहितं पीतलातारे
तस्मिन्नपि प्रसृतमित्यर्थः। किञ्च उर

p. 40) अध इत्युरथो यच्छान्दसत्कार विन्ध्या भावश्च तत्रश्वसितीति श्वसनः
प्रधान भस्तत्प्रभुत्वेन प्रागुक्तोयो वायुः प्राणाख्यः स नित्यमेवाल्प
जन्मवदाहुः। उच्छ्वासावधयः प्राणा इति। तथाऽप्यसौ युवमेव स्वं
कर्मसु न जीर्यतीत्यर्थः। अयञ्च नित्यमविनाशिनं पञ्चात्मानं यौवने
बालभावे ॥ ॥ ॥ ॥। र्थको च निश्वासोच्छ्वासकासैः कम्पिता घूर्णितैश्च
व्यसागतिकापि तमकस्माच्छरीरचलनं घूर्णितं भ्रमणं निभृतो
सावाक्रान्तः कर्मभिस्सहकारिभिः अचेतनत्वाच्छिव शक्त्या च सर्वसत्वैः
क्रीडति किंभूतैः विधुनन मरणैः मरणशब्दसाहचर्यात् विधुनन
विशेषकम्पन हेतुः योनि संकट निर्गमात्मकं ज ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ तन्त्रे विधुनन
मरणे विद्येते येषां तैर्मरणयुक्तैरित्यर्थः। इत्थं प्रासङ्गिकं वायु
वायु वृन्दमुपसंहृत्य प्रकृतमनुसरति -

नाडी चक्रं यथावस्थं कथयामि तवाखिलम्।
दशारञ्चक्रमेकन्तु विभागोच्छ्रायते यथा॥

एतद्वा प्रधान दशनाद्यारब्धकत्वाद्दशारमेव चक्रमस्य च विभागे
यथा ज्ञा ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ क्ष्या त्यर्थः। तत्र चतक्रवद्भ्राम्यत्वतः जीवे

दशस्थानेष्वनु क्रमात् आत्मनो व्यापकत्वेन गमना सम्भवात् जीवन
शब्देनात्माधिष्ठित पुर्यष्टकाख्यसूक्ष्मदेह उच्यते। स चास्य चक्रस्य
दिगष्टकनिविष्टेष्टासूर्ध्वाधोगामिनोश्च द्वयोः निरत्येव दशासु
नाडीस्थानेषु चक्रवद्भ्राम्यते क्रमवृत्ति ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥

p. 41) ॥ ॥ क्तो भवेदिति एषोत्क्रान्तिः ज्ञातव्या। एष एव च
विषुवाख्यसमन्त्रोच्चरस्य संक्षिप्तः प्रयोगो विज्ञेयः। ततः प्रकृते
किमुच्यते -

आयामं क्रियते तस्य नान्यतस्तु कदाचन।
स जीवो जीवलोकस्य मया प्रोक्तः समासतः॥

तस्या हि कार वृत्तैः प्राणाख्यस्यान्तरस्य त्वं क्षिप्त प्रयोगो विज्ञेयः।
ततः प्रकृते किमुच्यते -

आयामः क्रियते तस्य वायोरायामः क्रियते न बालस्य शारेव्यात्मनो वास्तु
तत्कर्ता प्राणविभागेन पुर्यष्टकविष्ट आत्माजीवलोकस्य जीवोमयाप्रोक्तः
प्रागेव। इदानीं प्रान्त प्रसङ्गापेक्षित बाह्यसाधनं योगिनानुक्तं
जपविधिमाह -

उच्चारयति स्वयं यत्स्यात् स्वदेहावस्थितः शिवः।
तस्मात्तत्व विदाना तु स एव जप उच्यते॥

यस्मादस्य देहावस्थितोऽपि शिवः पद्मदलजलबिन्दुवच्छुद्धो न पुरुषः स्वयमेव सामग्र्यन्तरानपेक्षः प्रागुक्तसूक्ष्मनाद स्वरूपाभिव्यक्तः स्वयमुच्चरति तस्मात्तत्व विदान्तर्जपस्वरूपवतांस एव जीवः उक्तः। तस्यैव प्राणकलावच्छिन्नस्याहोरात्रमाससंख्या -

माह -

अयुते द्वि सहस्रैकं षट्शतानि तथैव च।
अहोरात्रेण योगीन्द्रो जपसंख्यां करोतियः॥

प्राग्गमागमस्याध्यात्मिक सूक्ष्मात्मा होरात्रत्वात् तेषां षष्ठ्यधिक शतत्रयेण घटिकायाः संवत्सरत्वाच्च तत्वष्ट्यां वाह्याहोरात्र व्यवस्थेति। तस्मात् षट् घ?ताधिकैक विंशति सहस्राणि प्राण प्रवाहस्य संख्येति जपत्यां व्याप्ति तत्संख्यासिद्धिः॥

p. 42) इति लक्षद्वयाध्यापक श्रीमदघोरशिवाचार्य विरचितायां द्विशतिकालोत्तरवृत्तौ नाडी चक्रप्रकरणम्॥

अथातः संप्रवक्ष्यामि ज्ञानसद्भावमुत्तमम् ।
येन विज्ञानमात्रेण गृह्णाति न पुनस्तनुम् ॥

अत्र ज्ञायते अनेनेति ज्ञानशब्देन प्रासादस्तावदुच्यते ।
वाच्यवाचकयोरभेद विवक्षया शिवो विज्ञान शब्देनोक्तः । ज्ञप्तिरूपञ्च
ज्ञानमिति तेनात्मापि विवक्षितः । ततस्तेषामात्मप्रासाद शिवानासंभवं
परमार्थं प्रवक्ष्यामि । येन ज्ञातमात्रेण पुनस्तनुं न गृह्णाति ।
एतत्परिज्ञानान्मुक्तिरविघ्नेन दीक्षितानां सिद्ध्यतीत्यर्थः ॥

ननु ज्ञानमात्रात् ज्ञानेर्व्याप्त दीक्षितस्यैवाधिकारात् । किञ्च
मलस्य द्रव्यत्वाच्चक्षुषः पटलस्येव ज्ञानमात्रनिवृत्तिरित्युक्तं ।
त्रयाणामप्येषां सकलनिष्कल भेदेनावस्थान द्वयमाह –

देहस्थः सकलो ज्ञेयः निष्कलो देहवर्जितः ।
आप्तोपदेश गम्योऽसौ सर्वतः किमपि स्थितः ॥

पुरुषोऽपि यावद्देहं संविदव्यवस्थिता तावत्सकलामवपशुर्मावदा
प्रासादाः स ते प्रेरण नाद शिवा वृत्या द्वादशानेऽवस्थितः
सर्वतोऽनावच्छिन्न संविद्भवति तदानिष्कलः शिवस्समान

धर्मोपाशच्छेदादि कर्तुंसमर्थो भवतीत्यर्थः। यद्वक्ष्यति -

प्रासादाब्जशिखान्तस्थो यस्तु दीक्षां करोति सः।
आचार्यः सहशिष्यैश्च शिवसायुज्यतां त्य(व्र?)जेत्। इति ॥

तच्च निष्कलं तस्य स्वरूपमाप्तोपदेशादागमादेव गम्यते।

p. 43) बद्धदशायामत एव प्रासादोऽपि देहावस्थितो वक्ष्यमाणाकारादि मात्रा च व्यक्तः सकलातीतः क्रमत्परित्यक्त स्वेच्छयाकारः किमपि केनापि रूपेणा न व्यपदेशो नानावच्छिन्न स्थितः। स यो भयरूपोऽप्यागमेन ज्ञायते। यद्येवं सकलो निष्कलश्च भगवान् केन कथञ्चिद् ज्ञेयः। अत आह -

हंस हंसेति यो ब्रूयाद्धंसो देवः सदा शिवः।
गुरुवक्त्राच्चु लभ्येत प्रत्यक्षं सर्वतो मुखम्॥

प्राण गमागमस्य हंकारो प्राणवृत्यात्मना सकारेण चापानवृत्तिरूपेणान्वय वाग्वृत्त्यविनाभावसिद्धेः तद्गमागम वृत्त्यैव प्रतिक्षणं प्रागुक्त जपक्रमोहंस हंसेत्यामन्त्रण प्रकारेण यो ब्रूयादिति संभावनार्थे। यदाहुः -

संकोचे च विकासे च हंस ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ द्वयम् । इति । तेन विनष्टेन वागात्म
प्राणशक्तिद्वयं जप ज्ञानवता पुरुषेणाहंकारेण शिववाचिना
सकारेण शक्तिवाचिना वाच्यत्वाद्धं सा ख्यादेव सदाशिवशक्तिः शरीरः
सकलं तावल्लभ्यते । यदाहुः – आम्नायतः प्रसिद्धं चक्रयोऽस्य प्रचक्षते
॥ इति । योगबलात्प्रत्यक्षमेव लभ्यते । यदुक्तं अनुभवस्तत्वे – तं
विविक्तधिषणा समाधिना निश्चयात्कृत वे ॥ ॥ ॥ ॥ । ॥ ॥ ॥ । त्वाकारेण निवृत्त
भावनो भावयच्च्यनुभवैः अकृत्रिमैः इति । यद्वा – स्वगुणोर्वक्रांत्स्व
बीजयोगो पदे ॥ । रेण भवरूपः शिवः प्रत्यक्षं लभ्यते । अस्तस्मिन् शरीरे
प्राणगमाधिष्ठातृतया न केवलं पुरुषः स्थितः । अपि तु स्वतन्त्रत्वात्
तत्प्रयोजकत्वेन शिवोऽपि स्थित इत्याह –

तिलेषु च यथा तैलं पुष्पे गन्धः समाश्रितः ।

p. 44) पुरुषस्य ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ । स वाह्याभ्यन्तरे स्थितः ॥

प्रकृतत्वाच्छिव इत्यनुवर्तते । अत एव ज्ञानवतः शरीरादा(दे?)वात्म
प्रतिपत्तिं विलीनेति भावः ।

अथ निष्कल ध्यानोदये न? तदुद्यायभूत सकलज्ञानविज्ञान ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ।

प्रविलीयत इत्याह -

उल्काहस्तो यथा कश्चिद्द्रव्यमालोक्यतान्त्यजेत्।
ज्ञानेन ज्ञेयमालोक्य तथा ज्ञानं परित्यजेत्॥

ज्ञायते अनेनेति ज्ञानं सकलविषयमुपायत्वात्तृणपुञ्जगृहीत ज्वाल॥॥॥।
पयं निष्कलं लोके च निष्कलः सूक्ष्मच्छाया गन्धादि रूपेयस्ततप्राप्य
उपाय भूतं पुष्पादि सकलं विद्यात्। गन्धस्तस्यैव निष्कलः वृक्षस्तु
सकलं स्कन्धच्छायात॥॥॥ ष्कला। लोके च निष्कलः सूक्ष्मच्छाया
गन्धस्सकलत्वेन व्यवस्थितः। न सा भवे॥॥॥॥॥ दि रूपे यस्ततप्राप्य उपाय
भूतं पुष्पादि सकलं त्वमेवेत्यर्थः। एवञ्च सकलाकलभावेन
सर्वत्रैव॥॥। शिवोऽहं सर्वचेतनाचेतनेषु बहिश्चान्तश्चतत्तदर्थ
साधकतया सकलत्वेन निष्कलत्वेन व्यवस्थितः।

न सा भाव कला काचित् सन्तान भयवर्तिनी।
व्याप्तिः शिवकला य॥॥॥॥ धिष्ठात्री न विद्यते॥ इति॥

ततश्च सकले सकलं विद्वान्निष्कले निष्कलं तथा। वक्ष्यमाण वदाकारादि
मात्रायुक्ते सद्योजातादि मन्त्रकलापादाने च सकले प्रासादे च सकलमेव
वाच्यतया स्थितम्॥॥॥॥॥॥ ष्कले तु तदतीते प्रयत्न प्रमाण ध्वनिवर्तते निष्कले

च विद्यात्। अतश्च सकलाद्युपाये सकलप्रासादोपायतां प्रयाति निष्कले निष्कलसिद्धिमुक्त्यर्थं नामित्यव

p. 45) ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ तथाहि त्रिमात्रस्तु द्विमात्रस्तु एकमात्रस्तथैव च ॥
अर्धमात्रोपरः सूक्ष्मः तस्याऽप्यर्धं परात्परम्॥ इति ॥

ततस्त्रिमात्राकारस्वरोऽष्टकलेजाग्रदवस्वस्ति प्रयत्नतः। प्राणनादिभिर्व्यङ्ग्यः स्तम्भ मोहातिकारः द्विमात्रश्चोकारः त्रयोदशकलाः स्वमावस्थं तीव्र प्राणाद्यभिव्यङ्ग्यं ताप्याधानादि कर्ता एक मात्रोऽपि मकार अष्टकलः सुषुप्तावन्तस्थो मदप्राणादि लक्षणो वश्याकर्षणादि जनकः। एवमर्ध मात्रश्चतुष्कस्तु यावत्स्थो विन्दुः मन्दतर प्राणाद्यभिव्यक्तोभ्रमोज ॥ ॥ ॥ ॥ ॥। दोच्चाटनादि हेतुः तदर्धमर्धमात्रस्तु यतो दशार्ध कीकलोनादाख्यो योगकैवल्याद्युपायः एताश्चाप्सत दीर्घप्लुत दीर्घह्रस्व व्यञ्जना ह्रस्वमात्रा उच्यन्ते। च कारादिभिः प्रणवाक्षरैः प्रासादाक्षराणि युञ्ज्यन्ते। एवञ्च सार्धं च षण्मात्र उच्चार्यमाणः सकल प्रासादकमाध्वनिरूपतयार्धमात्रो भवति ततो निष्कली भवन्तच्चार हृत्यः परमोपादाने कुण्डलिन्याख्ये लीयते। तत्स्वरूपं परमो पादानत्वात् पर शिवशक्ति क्षोभत्वाच्च परमिति परापर मुक्तम्।

एताभ्याञ्च क्रमात् सकल निष्कलोपेयः शिव रुरूपप्रतिपत्तिरित्युन्तम्। न केवलमुक्तमात्रक्रमेण यावदाकारादि स्वरात्मिक ब्रह्मादि कारणपरित्याग क्रमेणापि सकल निष्कलेत्युक्त भाव उच्यते -

ब्रह्माविष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च शिवः स्तथा।
पञ्च सा पञ्चदैवत्यः सकलः परिपठ्यते॥

ब्राह्मणो हृदयं स्थानं कण्ठे विष्णुः समाश्रितः।
तालु मध्ये स्थितो रुद्रो ललाटे तु महेश्वरः॥

नासाग्रे तु शिवं विद्यात्तस्यान्ते तु परात्परम्॥

p. 46) परात् परतरं नाऽस्ति इति शास्त्रस्य निश्चयः॥

एतानि च स्थानानि क्रमेण जाग्रदादि रूपाणि प्रोक्तानीति प्रासादस्य सकलस्योच्चारणात् पश्चात्स्थान स्पर्शः सिद्धः। एवन्निष्कलं भावं च तस्य परात्परत्वेनोक्तस्य द्वादशान्ते तदुच्चारयितुः शुद्धसंविदुदय प्रा॥॥॥। पदप्राप्ति हेतुत्वमप्यत्र ज्ञाप्यते। तत्र भ्रूमध्यात् प्रयाति ब्रह्मरन्ध्रस्य नासाग्रस्य च समानत्वान्नासाग्रशब्देन ब्रह्मवित्वमुच्यते। तत्र शिवोऽधिकारावस्थः स्थितः ततश्च तदन्त स्थानि

क्रमेण जाग्रदादि रूपाणि प्रोक्तानीति प्रासादस्य सकलस्योच्चारणात् पश्चात्

स्थानस्पर्शः सिद्धवन्निष्कली भावश्च तस्य परात्परत्वेनोक्तस्य त

उच्चारयितुः शुद्धसंइदुदय प्राप्तेः पर ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ भ्रूमध्यात्प्रयाति

ब्रह्मरन्ध्रस्य नासाग्रस्य च समानत्वान्नासाग्रशब्देन ब्रह्मविलमुच्यते

। तत्र शिवोऽधिकारावस्थः स्थितः। ततश्च तदनन्तरस्यात् तत्समीपस्थात्

परा ॥ ॥ ॥ ॥। नान्यत्किञ्चित् तत्वमस्ति। अपि तु प्रापामेव परमपदं विद्यते ततः

परतरं न किञ्चिदन्यदस्ति। तस्यैव सर्वाधिष्ठातृत्वा ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥। शैः

संयोगाविभागा वा सादयति। एवमपि नाडी स्थानेषु सुयोगविभागात्मिका

वृत्तिरासादयतीत्यर्थः। केनाऽसौ भ्राम्यत इति चेत् कर्म सहकारिण्या

शिवशक्त्या तत्स्थानेषु ॥ ॥ ॥ ॥। ना जायते। यदुक्तं समानतन्त्रे -

प्राग्दलसंस्थो नृपावलेऽपि स्यात्।

तेजसि च वुभुक्षा विडायाञ्जायते ॥

अ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥। याम्यो भावे नैर्-ऋतो निर्-ऋतौ विनिर्दिष्टाः।

वारुणपत्रे वरुणो मारुत पत्रे मरुद्भावः ॥

p. 47) सौम्ये सौम्यो भावः त्वीशे त्वीशः समाख्यातः।

यां यां दिशमभिगच्छति तद्भावं निखिलमायाति ॥ इति।

स जीवो जीवलोकस्य बुद्ध्यते नैव मोहितैः। स एवास्य जीवलोकस्य पृथिव्यादि कलान्त भुवनज शरीररूपस्य जीवो ज्ञेयः। तथाऽपि मलावृतत्वान्मोहि ॥ ॥ ॥ ॥ कादिभिःस्सजीवः पुर्यष्टकाधिष्ठातृत्वेनोक्तः। आत्मा शरीरादि व्यतिरेकेण न ज्ञायते। उक्तमेवार्थं स्पुटयति -

दशधा गच्छते येन तेन चक्रं प्रकीर्तितम्।
नाडी चक्रमिति ज्ञातं यत्र संक्रमते ह्यसौ ॥

येन कारणेन तत्र जीवो दशधा गच्छति। स्थानात्स्थानान्तरं संक्रामति तेन चक्रवच्चक्रमुच्यते। यत्र चाधारभूतेऽसौ जीवः संक्राममेति तदिदं नाडी चक्रमिति ख्यातं व्याख्या ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥। हारः।

एवं सामान्येन प्राण सञ्चारात्मना लिङ्गेनानुमेयत्वमस्मत्कर्तुर्जीवस्य सूचितम्। इदानीं तस्यैव विशेष जिज्ञासया प्रश्नः -

स जीवो जीवलोकस्य तत्वतो ज्ञायते यथा।
संशयो मे महानत्र प्रसादी भव शङ्कर ॥

अथाऽत्र प्रतिवचनम्। जीवस्य पुरुषाख्यस्य दर्शनं शृणु षणमुख।

कथयामि न सन्देहः पुत्र स्नेहाद्विशेषतः॥

शरीरेन्द्रियादि व्यतिरिक्तस्यात्म॥॥॥॥॥॥। दृश्यते अनेनेति लिङ्गचक्रं शृणु।
अयं देहो यथा भवति तथा यैर्द्धिगैरसौ ज्ञायते तानि कथयामीति। अत्र च
यथा लौकिकैः पुष्पविशेषाद्यनुमितैः संक्रान्त्यादिभिः कालविशेषैस्तत्र
तत्र संक्रमेत्। सूर्यो ज्ञायते एवमाध्यात्मिकानां कालभेदानामिति
प्राणसञ्चार विशेषात्मकत्वात्

p. 48) तद् ज्ञानेन तत्कर्ता जीवः सुखेन ज्ञायत इति तानेवात्र लिङ्ग॥॥॥॥ नोह

संक्रान्तिविषुवं चैवा होरात्रायनानि च।
अधिमास भ्रणश्चैव औमरात्रमिति वा॥

पुमादपादबाहु कलविशेषेषु यद्विहितं तन्निषिद्धं चक्रं कतदेवा
ध्यात्मगतेषु प्राणवृत्यात्मकेषु दशसु कालविशेषेषु
तथैवाऽनुष्ठेयमिति दर्शयितुं नामभिर्निर्देशः। यदाहुः – नाम्ना
धर्मातिदेश इति अथैषामेव स्वरूपकथनम्। औमिरात्रं भवेद्धि
ककाटधिमासो विजृम्भिका। जणश्चात्र भवेत्॥॥॥॥। सोहि श्वासो धनमुच्यते॥

औमशब्दस्यात्र न्यूनार्थतया विवक्षितत्वादूनरात्रिर्यस्मिन् न

किञ्चित्क ॥ ॥ । यमित्यर्थः । यतो दीक्षा प्रतिष्ठादौ विना विर्षा इति श्रूयते ।

एवमधिमासो मासवृद्धिः स चात्र जृम्भैव त भ्र ।वक्ष्यमाण

प्राणापान प्रत्यात्मकं मनकार्यम् । यदुक्तं श्रीमत्त्रयोदश शतिके

तिथिच्छेदे ऋणं ज्ञेयं वृद्धौ चैतद्धनं भवेत् । इति ।

अतश्चात्र धनमति निश्वासः प्राणायामात्मकः ॥ ॥ ॥ ॥ । पलत्वात्तस्मिन्

कर्मकर्तव्यम् ॥

अथायनादि लक्षणम् ॥

उत्तरं दक्षिणं ज्ञेयं वाम दक्षिण संज्ञकम् ।

॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ । प्रोक्तं पुटद्वय विनिःसृतम् ॥

दक्षिणं पिङ्गलावर्ति दक्षनासापुटाश्रयम् ।

प्राणप्रवाह रूपं तत् देयानाख्यमुत्तरायणम् ज्ञेयम् ॥

वर्धन्यावर्तवामनासाश्रयं प्राणप्रवाह वर्त्मवृथा दक्षिणायन

संज्ञामध्ये सुषुम्नागामिनासापुटद्वयेन प्रवर्तकं प्राणस्वरूपं

शिवयानवर्ति

p. 49) विषुवमुद्धते। एषु च यथात्मगुणं कर्मानुष्ठेयम्। यदुक्तं समान तन्त्रे -

सौरस्स॥ ॥ ॥ ॥ ॥। चन्द्रमसश्चेतरः समाख्यातः।
धन्योऽभिषेक इन्दु सौरः खलु वह्निसन्धाने॥

ध्यानाद्यो विषुवति चेति॥ श्रीमन्निश्वासकारिकायामपि -

अह्नौशौ परिमृज्य मध्यदेशे यथा स्थितम्।
विषुवन्त द्विजानीयात्तद् ज्ञात्वा मोक्षदो भवेत्॥

स वृत्तः सो यदा तिष्ठेत् देव देवो जगत्पतिः।
उत्तरायणमेतद्धि ज्ञात्वा शिवपदं व्रजेत्॥

शशाङ्केन सहैकत्वे यथा तिष्ठो महेश्वरः।
जानीया॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥। दक्षिणायनसंज्ञितम्॥

क्रमं करा॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ यद्ध स्वात्रिं त्यत्तवा हिमालयम्।
जलाद्वह्निं पुनर्गच्छेत् संक्रान्तिरिति स्मृतम्॥

इन्द्रियार्थान्परित्यज्य परमे व्योम्निसंस्थितः।
निश्चलश्च॥॥॥॥॥॥॥स्तु विषुवं तद्विनिर्दिशेत्॥ इति।

अथ संक्रान्ति लक्षणम् -

संक्रान्तः पुनरस्यैव स्वस्थानात्स्थान योगतः॥

स्वस्थानाद्दक्षिणादेव स्वस्थान एव नाडन्तरे योगात् प्राणस्य संक्रान्तिर्भवति। तत्प्राणस्य स्थानं यत्र संक्रान्तिरुक्ता अह आह -

इडाचैव सुषुम्ना च अमया च समन्विता।
सुषुम्ना मध्यमेद्-ह्यङ्गे इडा वामे प्रतिष्ठिता।
अमावै दक्षिणे स्कन्द एषु॥॥॥॥॥॥॥॥। तिरुच्यते॥

अमासंज्ञयाऽत्र पिङ्गलोक्ता। अधुनाऽध्यात्मिक सूक्ष्मतरं काल स्वरूपं दधन् अहोरात्र लक्षणमाह -

p. 50) ऊर्ध्वप्राणे ह्यधश्चैव अपानो रात्रिरेव च।

ऊर्ध्वस्वरस्सा हि प्राणादित्यः समुदायाह ॥ ॥ ॥ ॥क्तः आपन
वृत्यात्वस्तमयाद्रात्रि ततश्च त्रिंशता
संक्रान्तिरशीत्यधिकरणशतेनोत्तरायण दक्षिणायने वेति प्रधानादिकं
षष्ठ्यधिकेन प्राणशतत्रयेण संवत्सर इति अहोरात्रेण बाह्येन षष्ठ्यब्दो
भवति। यदुक्तं समानतन्त्रे

अथवा तु महासेन संक्षेपात् कथयामिते।
षष्ठिसंवत्सराः प्रोक्ताः अहोरात्रेण योगिनाम्॥

शतत्रयं षष्ठ्यधिकं प्राणानां तु षडानन।
यावद्वा घटिका प्रोक्ता तावत्संख्याप्रकीर्तिता।
एवं संवत्सरः प्रोक्तः बाह्येऽत्र घटिका तु या॥

प्राणापानावहोरात्रम्। इति॥

एतांश्च विभागान् दश प्राणस्य योवेत्येव स देववित्।
एवं संक्रान्त्यादि दशप्राण भेदान्यो वेत्ति स वेदवित्॥ इति॥

वेद्यन्त इति वेदाः आत्म शिवशक्तयः तान् वेत्ति। तथा च श्रुतिः प्रमाणं
तस्य च प्राणस्य हृत्पद्मे कुम्भकाख्यं आयामः सोमग्रहणं

तत्पुण्यं कालसमद्वादशान्तेष्वादित्यग्रहणमित्युक्तं समान तन्त्रे -

आयामो देह मध्यस्थः सोमग्रहणमिष्यते ।
देहातीतं तु तं विद्यादादित्य ग्रहणं बुधः ॥ इति ।

अतश्चेभिर्दशभिर्लिङ्गैरात्मा ज्ञेय इत्युक्तम् ॥

इत्यमाध्यात्मिकं काल विभागमुक्त्वाऽधुना प्राण एव जीव इति
भ्रमावनुक्तये तद्विविक्त जीव ज्ञानाय प्राणायामोपदेशः ।

प्राणायामं समासेन कथयामि तवाऽधुना ॥

p. 51) पूरकादिभिः वक्ष्यामि । अस्य च सगर्भ रूपत्वान्मन्त्रोच्चार तद्वाच्य
ध्यानोपेतं पूरकमाह -

उच्चारयेत्तु प्रणवं स्वरेणैकेन योगवित् ।
उदरं पूरयेत्तावत् वायुना यावदीप्सितम् ॥

प्राणायामो भवेदेष पूरको देहपूरकः ॥

प्रथमं नाडीं संशोध्य द्वादशान्ताभि ध्यानप्राणशिवमन्त्रता

यावच्छत्त्युदरं पूरयेत्। प्रणवञ्चैकश्रुत्योच्चारयेत्।

प्राणायामवरोधश्च इति श्रुतेः। यज्ञ कर्मणि चोदात्र एव स्यात्। केचित्तु -

प्रासाद प्रणवाभ्यां तु नान्तरं परिकल्पयेत्॥ इति श्रुत्या प्रणव

शब्देन प्रासाद उक्तः। तमेकस्यरेण विच्छिन्नो नाद्यमेति नत् चारयेदित्याहुः

। एष च देहपूरक त्वात् पूरकः। अथ कुंभकः -

(पि?) विधाय सर्वद्वाराणि निश्वासोच्छ्वास वर्जितः।

संपूर्ण कुम्भवत्तिष्ठेत् प्राणायामस्तु कुम्भकः॥

रेचकस्तु

मुञ्चेद्वायुं ततस्तूर्ध्वं श्वासेनैकेन मन्त्रवित्।

हृदय पद्मादूर्ध्वं एकनासा पुटेन वायोः प्रेरणं रेचकः। किञ्च-

उच्छ्वास योग युक्तस्तु वायुमूर्ध्वं विरेचयेत्।

रेचकस्त्वेष विख्यातः प्राण संशयकारकः॥

उच्छ्वासेन वायोर्मध्यनाड्ये ऊर्ध्वप्राण प्रवृत्त्यात्मना योगेन मन्त्रोच्चारान्वित सदाशिव ध्यानोपेतः ततो हृदयपुण्डरीकस्थं वायुमूर्ध्वं ब्रह्मरन्ध्रेण विरेचयेत्। अयन्तु विशिष्ठो रेचकः शिवागमे विशेषेण ख्यातः। प्राणसंसयकारक इति मन्दाभियोगस्य जीवित सन्देहमपि जनयतीत्यर्थः।

p. 52) अथैषां प्रयोजनमाह –

योऽसौ हृदि स्थितः पद्ममथोमुखमवस्थितम्।
विकस्यति स वै पद्मं पूरकेण तु पूरितम्॥

हृत्पद्मं सर्वदा यो मुख्य विकसितमेव पूरकेण विकासमेति ततश्च ऊर्ध्व स्त्रोतो भवेत्पद्मं रेचकेन तु रेचितम्। रेचकेन तु पूर्वाक्षिप्तं सद्यः प्राणहरेण तु विकसितपद्मं कुंभकेन निरोधमुक्तं भग्नमेति रेचकेण प्राणहारत्वेन प्रागुक्तेनाभ्यासतो मध्यनाडी वर्तिना यदा क्षिप्तो रेचितः तदा ऊर्ध्व स्त्रोत ऊर्ध्वमुखो भवेत्। तदानीं च –

मुक्त्वा हृदय पद्मन्तु ऊर्ध्वस्त्रोतो व्यवस्थितम्।
रेचितो गच्छति॥ । ॥

भित्वा कपालद्वारन्तु जीवोह्यूर्ध्वं विरेचितः ॥

सदा शिवपदं गत्वा न भूयो जन्मचाप्नुयात्। तथा भूतेन
स्वसमसम्बन्धिना रेचकेण रेचितो त एव मध्यनाड्यामूर्ध्वमुखो स्थितो
शिवोऽहं संवर्त्म हृत्कण्ठ तालु भ्रूमध्यान् भित्वा कपालद्वारं
ब्रह्मरन्ध्रं च निर्भिद्य ततोऽप्यूर्ध्वं विशेषेण रेचितः सोमसूर्याग्नि
शक्त्यन्तस्थं सदाशिव पदम्॥ ॥।

p. 53) ना गमागमः कथं तस्य केन वा नीयते तु सः।
संशयोमे महादेव कथयस्व यथार्थतः॥

तस्यात्मनो विभुत्वादमूर्तत्वाच्च गमागमो न संभवतः। अथ
पूर्यष्टकद्वारेण तस्य गमागमौ पश्येते तथापि द्वादशान्ते
व्यवस्थन्तेऽस्य गमनमभ्युपगन्तव्यम्। अन्यथा
विज्ञानकेवलावस्थायामिव तदुपायं विना निष्कल संविद्यनुत्पत्तेः
गमेव तस्यास्मिन् बाह्यशरीर विषये सूक्ष्मदेह योगा भाव योगो
भावस्थायं प ॥ ॥ ॥ ॥ पुनरागमोऽस्ति शरीरे कथमिति प्रश्नः।

(तस्या च सूक्ष्मशरीरस्या चेतनत्वात् पुरुषस्य बायशरीर नयन प्रव

सामर्थ्या भावात् केनाऽसौ नीयते इति द्वितीयः प्रश्नः ॥)?

स्वशक्त्यानीयते जीवः तस्मिन् प्राप्य निवर्तते ॥

शिवशक्त्यधिष्ठितया क्रिया शक्त्या एवासौ नियते नरः पुरुषेण वाऽत्र
नीयते सकृद्द्वादशान्तं प्राप्य तस्मिंस्थाने पुनः निवर्तते। हृदयं
यावदागच्छति अन्यथावस्थायां तु कर्मवशाज्जीवशक्त्यनधिष्ठ ॥ ॥ ॥ ॥ ।
पुरुषस्य वा निवर्तना सामर्थ्यं ततः पञ्चतेत्यदोषः। अधुना प्रागुक्त
संविदः प्राप्यस्थानं परमपदं विशेषेण दर्शयति -

तस्यान्तं संप्रवक्ष्यामि शृणुषण्मुख तत्वतः।

तस्य प्राणहंसस्य विरामस्थानं वक्ष्यामीत्यर्थः -

देहातीतं तु तं विद्यान्नादान्तं द्वादशाङ्गुलम्।
अन्तःस्थं तं विजानीयात्तत्रस्थो व्यापयेत्प्रभुः ॥

यत्तद्देहमतीत्यर्थ द्वादशाङ्गुलादूर्ध्वं स्थितः
तदन्तद्वादशान्तानादात्मनः प्राणहंसस्य विराम स्थानं निष्कल ॥ ॥ ।
नं तत्रस्थं संवित्प्रभुराडा व्यापकस्य विदे भवति। इदानीं
साक्षात्परिज्ञानफलं दर्शयति -

p. 54) मनोऽप्यन्यत्र निक्षिप्तं चक्षुरन्यत्र पातितम्।
तथाऽपि योगिनां योगो व्यवच्छिन्नः प्रवर्तते॥

मनश्चक्षुषो रूप लक्षणत्वाद्यपीन्द्रियाश्रितैः अन्यत्र स्वविषये
विवक्षिततत्वापि तेषां प्रासाद् शिवस्वरूप ज्ञानिनां व्यापकात्म प्रतिपत्ति
योगः शिवप्रतिपत्ति योगश्चाभ्यासवशादविच्छिन्न एव प्रवर्तते। ततश्च
निर्विघ्न भोगमोक्ष॥॥॥॥॥ रित्यभिप्रायः।

वसन्विषयमध्येऽपि न वसत्येव बुद्धिमान्। इति।

तदेवान्यो पादेयत्यानि परमुखेनोपसंहरति -

एतत्तत्परमं गुह्यं एततत्परमं पदम्॥

एतत्तत्परमं ब्रह्म एतत्तत्परमाक्षरम्।
नाऽतः परतरं ज्ञानं नाऽतः परतरं शिवम्॥

नातः परतरं किञ्चिदित्याह भगवान् शिवः॥

वाक्यान्तरे मोक्षस्थानानां सर्वेषामेतत्परं नातः परं किञ्चिदस्तीति भावः। परमेश्वरेणैव तानि सूत्राण्युक्तानि न मयेत्यस्यार्थस्य प्रामाण्यं दर्शयति। तस्यैव च सर्वज्ञत्वात् निर्मलत्वेन परमाप्तत्वात् इति संप्रदाय सिद्धत्वमेव स्वाहा।

शिवज्ञानामृतं प्रोक्तं संक्षेपान्न तु विस्तरात्।
अवाप्तं देवदेवेशात् परमाक्षर निर्णयम्॥

प्रासादः परमाक्षर इति श्रुतेः। परमाक्षरस्य प्रासादस्य न क्षयो यत्र विद्यते। तदिदं परमाक्षर निर्णय शिवज्ञानामृत प्रकरणमुपलक्षणत्वाच्चास्य समस्तमेवेदं ज्ञानं मया परमेश्वरादवाप्तमिदानीं संक्षेपात् कथितं। अत एव -

p. 55) एतद्धि शिवसद्भावं शिववक्त्राद्विनिःसृतम्।
गुह्याद्गुह्यतरं गुह्यं॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥। प्रयत्नतः॥

हीति यस्माच्छिवस्य वक्त्रं वचनत्राण रूपाऽऽशक्तिः ततो विनिःसृतं तवाभिव्यक्त शिवसद्भावं शुद्धं शास्त्रं सर्वस्वमेतत् तस्मात्त्वयाऽप्येतदन्त्यन्तं गोपनीयम्। अतश्च -

नाऽपुत्राय प्रदातव्यं नाऽशिष्याय कदाचन।
देवाग्नि गुरुभक्ताय मात्सर्य रहिताय च॥

तस्मै देयमिदं ज्ञानं नाऽस्मै तु कदाचन॥

उक्त विषयादन्यत्र दाने प्रत्यवाय उक्तः। समानतन्त्रे -

दाताऽस्य नरकं याति सिद्ध्यते न कदाचन।
एतच्च॥॥॥॥॥॥। प्रोक्तं सत्यं सत्यं मया तव॥

एवं ज्ञात्वा तु मेधावी विचरेत्तु यथासुखम्।
एतच्छिवज्ञानामृतमेवं ज्ञात्वा ह्यस्य ज्ञानजीवन जीवन्मुक्तो
भवेदित्यर्थः। तथा हि

गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
यत्र तत्र स्थितो ज्ञानी परमाक्षरवित्सदा॥

विषयी विषयासक्तो याति देहान्तिके शिवम्।

आश्रम चतुष्टययुक्तेषु परमाक्षरवित्संनिहितं॥॥॥॥॥ नितेष्वसक्तो भूत्वा

शरीरस्यान्ते शिवमेव याति। न तु विषयेष्वासक्तोऽपि शिवं यातीति व्याख्येयम्

। शास्त्रविरोधात्। किञ्च -

ज्ञानादेवास्य शास्त्रस्य पापसक्तोऽपि मानवः।

ब्रह्महत्याश्वमेधाद्यैः पुण्यपापैर्न लिप्यते॥

p. 56) यदैवात्राधिकः शास्त्रज्ञो भवति संसारहेतोः मलस्या भावात्

जीवन्मुक्तः स नारब्ध कार्यकर्मवशात् पापेऽस्मिन्नुत्तरतः संभवे

बाह्यशरीरभोक्तृत्वेन स्थि॥॥॥॥॥। वद्याख्येयम्। यच्छ्रूयते

आज्ञाविलंघनात् प्रोक्तं क्रव्यादत्वं शतं समाः। इति॥

अत्रप्रसङ्गादाचार्य भेद कथनम् -

चोदको बोधकश्चैव मोक्षदश्च परं स्मृतम्।

इत्येतत्त्रिविध॥॥॥॥॥॥। आचार्यस्तु महीतले॥

तेषु च

चोदको दर्शयेन्मार्गं बोधकः स्थानमादिशेत्।

मोक्षदस्तु परं तत्वं यद्गत्वा न निवर्तते॥

चोदकः शुद्धमार्गप्रदर्शकः। कल्याणमित्रादिवसत्याचार्य वक्तव्यः बोध ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ स्तो पदेशेन हेयोपादेय तत्वोपदर्शकः स मुख्यो गुरुरेव। मोक्षदस्तु दीक्षादिकर्ता पर गुरुपरतत्वं प्रतिपादयति ॥

इति लक्षद्वयाध्यापक श्रीमदघोरशिवाचार्यविरचितायां श्रीमद्द्विशति कालोत्तरवृत्तौ ज्ञानामृतप्रकरणम् ॥

इदानीं सिद्धसाधकस्य साधन भूतामाध्यात्मिकीं शुद्धविद्या सम्बन्धिनीं मन्त्रसृष्टि ध्यानविशेषं च वक्तुमाह -

अग्नि मध्ये रविस्थानं रवि मध्ये ॥ ॥। चन्द्रमाः। तन्मध्ये चाङ्कुरो दिव्यः ततः सृष्टिः प्रवर्तते ॥

अत्र पाठक्रमादर्थ क्रमस्य बलसत्वादत्र रविमण्डलोपरि सोममण्डलं तदुपरि वह्निमण्डलमिति ज्ञेयम्। तानि च ब्रह्मविष्णुरुद्राधि

p. 57) ॥ ॥ त्म विद्या शिवतत्व शब्दावधिष्ठातृतया तु शब्दवाच्यानि क्रिया ज्ञानेच्छाशक्तिना भावकरणानि कुण्डलीशक्तेः कार्यावस्था विशेषरूपाणि निवृत्त्यादिकलानास्त्रक्ष्वावस्यारूपाणि आत्मकानि

प्रतिपुरुषं भिन्नानि स्थितानि। तन्मध्ये तेषामधिष्ठातृत्वोपदिव्य प्रकरणात् कुण्डलिन्यादि शब्दवाच्यः परबिन्दुस्थिता स च सृष्टिकाले पुंसां प्रथमा सम्बध्यते। ततः पुर्यष्टकं। स च व्यापकेन करणात्मना रूपेण प्रतिपुरुषं भेदेनावस्थितः। तथा सदा चैतन्ये सत्यमेकत्वेन घटादिवत्करण पूर्वकत्वम्। यतः किञ्चाङ्कुर इव अंकुरोऽस्य विद्यते मत्वर्थीयः प्रत्ययः। ततोङ्कुरात्मनादादि रूपेण कार्येण मायेय कलादि रूपेण प्रतिपुरुषमवस्थितमित्युक्तम्। नादाख्यं यत्परं सर्वं सर्वभूतेष्ववस्थितम् इति। अयञ्च प्रोक्त मण्डलानिकांकुर युक्तो द्वादशान्तादधोमुखत्वेन ध्येयोऽपि हृत्प्रदेशे पुरुषेण संयुक्तः शान्त्यादि चतुष्टयपद्मः समाहितः।

स्वदेहं चिन्तयेद्विद्वान् दिव्यरूपमनूपमम्।
यस्य यत्कर्म निर्दिष्टं तस्य तच्चिन्तयेद्बुधः॥

यद्यपि स्थावर जंगमलक्षण साधारणञ्च सर्वं मायीयं जगत् अग्नीषोमीयात्मकं शिवशक्त्यधिष्ठित त्वादग्नीषोमात्मको नव तथापि स्वदेहसूक्ष्म स्थूलात्मकं विपरीतं सोमात्मकमेवामृत पूर्णदिव्यरूपमनुमेयं चिन्तयेत्। तथा यस्य तच्छरीरवर्तिनः शुद्धाशुद्ध भेदभिन्नस्य नादकलादि पृथिव्यन्तस्य तत्वसमूहस्य यत्कर्म निर्दिष्टं यदा कर्मेन्द्रियादेः पानभोजनादि तस्य तत्कर्म तदेव।

मृतात्मकमेव चित्तं नयेत्। अथोपसंहारः -

p. 58) इदं योऽभ्यसति ध्यानं अमृतं सर्वतो मुखम्।
अचिरेणैव कालेन स सिद्धफल भाग्भवेत्॥ अन्यथा

सृष्टि न्यासमविज्ञाय कथं युञ्जीतसाधकः।
हस्तमुष्टिभिराकाशं खण्डयन्ति कृषानि च॥ एवं
सृष्टिन्यासमविज्ञायसाधकः सिद्धावस्यां प्रयतते सा शक्त्यनुष्ठाने
विपत्रे कर्मणि प्रवृत्तो भवतीति मद्ज्ञानं साधकस्यावश्यं कर्तव्यमिति।

इति द्विशति कालोत्तरवृत्तौ अग्नीषोमीयं प्रकरणम्॥

इदानीं साधकस्यैव सिद्ध्युपयोगिन जपविधिमाह -

प्रासादं नादमुत्थाप्य सन्ततं तु जपेद्यदि।
षाण्मासात्सिद्धिमाप्नोति योगसिद्धो न संशयः॥

प्रणवादि नमोन्तं प्रासादमनुस्मरन् घण्टानिनादवन्यथा
शक्त्याध्वन्यात्मकं नादमुत्थाप्य तमविरतं जपेत्।
साधकस्सशुद्धविद्याशुद्धिं शीघ्रमाप्नोति। अत्रैव विशेषमाह -

गमागमस्य जापेन सर्वपापक्षयो भवेत्।
अणिमादि गुणैश्वर्यः षड्भिर्मासैरवाप्नुयात्॥

अत्र गमागमो मन्त्रस्य द्वादशान्तं यावदुच्चारणं आगमास्मात्प्रभृति
सृष्टिक्रमेण हृदयान्तं यावत् तत्कालानुसन्धानं। एवं
गमागमानुसन्धान युक्तस्य जपात् प्रायश्चित्तार्थमनुष्ठितात्
सर्वपापक्षयो भवेत्।

सिद्ध्यर्थमनुष्ठितादणिमाद्यष्टैश्वर्य प्राप्तिः। केचिदत्र गमागम
प्रस्तावात् प्रासाद शतेन हंसमन्त्रोविवक्षितः। ततस्तन्नादमुत्थाप्य

p. 59) प्रयत्नपूर्वं कृतात् जपात् अचिरात्सिद्धिर्भवति। स्वर वाभिनो
गमागमस्यानुसन्धानात् पापक्षयादित्याहुः। उभय यथाऽपि
गमागमं विदित्वा तु मुच्यते नाऽत्रसंशयः। तल्लयः तन्मतो भूत्वा
षाण्मासात्सिद्धिमाप्नुयात्। योऽत्रहंसगमागमा नादो
सहोच्चार्यमाणप्रासादागमं वा वेत्ति मुमुक्षुः स मुच्यते। साधकोऽपि
तल्लीनस्तन्मयं च तदव्यावृत्तः बुद्धिरचिरेण सिद्धिः।

अत्र गमागमन जापेन सिद्धिरागमा गमनेन मोक्ष इति गुरवः। तदेव

स्थूलः सूक्ष्मः परश्चेति प्रासादः कथितो मया।

यवर्गादष्टमं बीजमित्यादिना स्थूलः प्रासादः कथितः। उच्चरति
स्वयमित्यादिना सूक्ष्मः निष्कलो देह वर्जित इत्यादिना परः। केचित्तु भाष्यो
पांशु मानस जप॥॥॥॥॥॥॥॥॥। मोन्तं फल साधकत्वात् स्थूल सूक्ष्मं
परश्च प्रासादः प्रोक्त इत्याहुः। तच्च - प्रासादं यो न जानाति तेन जानन्ति
शंकरम्। उक्तरूप प्रासाद प्रासाद स्वरूपो पोपादान
सहकालफलसहितं येन बुद्ध्यन्ते तद्वाच्यं परमेश्वरं सकलादि
भेदभिन्नं न बुद्ध्यते। यथावदुपाय ज्ञानं विनोपेय ज्ञाना भावात्।
यच्छ्रूयते -

शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥

इति लक्षद्वयाध्यापक श्रीमदघोरशिवाचार्यविरचितायां द्विशतिकालोत्तर
वृत्तौ प्रासाद प्रकरणम्॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि प्रासादस्य तु लक्षणम्।

अतः प्रोक्तादन्यल्लक्षणं मन्त्रस्य प्रवक्ष्यामि इति प्रतिज्ञा किं तदित्याह -

ततस्तस्योक्तानि कर्माणि सिद्ध्यन्ति। प्रत्यहं वा जपान्ते होमः

तत्संख्यानुगुणं कार्यम्। अस्मादेव जपात् गुणान्तरयुक्तात्

फलान्तराण्याह –

दश लक्षं जपेद्यस्तु जनस्थान निवासिनः।

वश मायान्ति वै तस्य शास्त्रस्येति निश्चयः॥

लक्षं पञ्चशतं जप्त्वा दशग्रामनिवासिनः।

ते जना वशमायान्ति स्वधनेनात्मनाऽपि च॥

त्रिंश॥॥॥॥॥॥॥णि जप्त्वातु अमलं वशमानयेत्।

पञ्चत्रिंशज्जपेद्यस्तु पृथिवीं वशमानयेत्॥

॥ इति श्रीमद्द्विशतिकालोत्तरवृत्तौ प्रासादप्रकरणम्॥

अत्र ज्ञान शब्द व्युत्पत्यासन्दि॥॥॥॥॥। नस्य कार्तिकेयादेव स्वप्रश्नः।

p. 63) अद्यापि संशयो देव ज्ञानविज्ञानयोः प्रभो।

अयं तद् ज्ञायते ज्ञानं कथं वा ज्ञेयमुच्यताम्॥

यदत्र ज्ञायतेऽनेनेति करणं रूपं यच्चात्मस्वरूपं विज्ञप्त्यात्मकं

विज्ञा ॥ ॥ ॥ ॥ँआपि भेद सर्वानुक्तत्वात् संशयः। किञ्च तदपि कारण रूपं

ज्ञानं ज्ञप्तिरूपं न वा। यदि ज्ञप्ति रूपं तदा शतेन ज्ञानं

ज्ञायन्ते तृप्तिरूपत्वेऽपि कथं तत्तेन ज्ञेय ॥ ॥ ॥ ॥ ।श्चैत्र मैत्र ज्ञानयोरिव

तयोः परस्पर संवेदनमनुपपन्नमिति प्रश्नः। अत्र सिद्धान्तः -

आधारं तु परं ज्ञात्वा पश्चादाधेय कल्पना।

आधाराधेयवित्प्राज्ञः समर्थः सर्वकर्मसु ॥

अधीयते व्यप ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ तेनेत्याधारः करणरूपमुपाय ज्ञानं तच्च

पुराकृत्वा पश्चादाधेयस्य व्यवस्थाप्यस्योपेयस्यात्मनो ज्ञाही रूपस्य

कल्पनाज्ञानं कार्यम्।

यतस्तदुपायं विविच्य ज्ञात्वा सा नित्या ॥ ॥ ॥ ॥ ॥। कर्मस्यधिनानात्मवित्

पशुः। अथ किं तदुपाय ज्ञानमिति विज्ञप्तिरूपं तन्नयतः

पुरमाधारमित्युक्तमाधेयस्त्वीश उच्यते। चाधारा व्यवस्थापक

ज्ञानात्मकः पुरो बुद्धेः सम्बन्धित्वात् पुरवद्भोगाधि ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ च्च

पुरमित्युक्तम्। तच्च ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं ज्ञप्तिरूपमित्यर्थः। केचिदत्र

पुरशब्देन पुर्यष्टकमेवोच्यत इत्याहुः। आधेयस्तु तद्व्यवस्थाप्य आत्मनः

तद्भोक्तृत्वादीशस्य उच्यते। तथाहि -

इशान्योऽष्ट चयोऽमुष्मिन् सोऽस्य ईश इति स्मृतः ॥

ईशानीशित्वा दीशीति दृक्क्रियाशक्तिः तदधोऽस्मिन् शरीरे-

p. 64) ॥ ॥ । षे भोगसाधन प्रयोक्तृत्वेनासादयति । सोध्यव्यवसायरूपस्य
ज्ञानस्य शोध्यवसाना स्मृतः । ततः

विज्ञायमेधावी यः सदा नन्दति स्वयम् ।
पुर्यष्टकसमायुक्तोऽप्यधश्चोर्ध्वं च गच्छति ॥

यो धर्म पुर्यष्टक समायुक्तं सदानन्दतीत्युक्तः तद्बुद्धिभोक्तारं
ईशात्मलक्षणं ज्ञात्वा बुद्धिमान् यः सिद्ध्यर्थमूर्ध्वं
मूर्त्यर्धश्च गच्छति नाऽन्यः । पशुरत्रानधिकारीत्युक्तम् ।

अथ तस्य पुर्यष्टकस्य स्वरूपश ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥

शब्दः स्पर्शं च रूपञ्च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
बुद्धिर्मनस्त्वहंकारः पुर्यष्टकमिति स्मृतम् ॥

अत्र भूतानि पञ्चतन्मात्राणि शब्दादिभिः स्वगुणैरवि शेषोपात्तानीति

कार्यवर्गो द्विविधोनिर्दिष्टः। तथा पञ्चम इत्यनेन पञ्चसंख्यायुक्तं
बुद्धीन्द्रिय कर्मेन्द्रियाख्यं करण वर्गद्वयं बुद्ध्यादिपदैरन्तः
करणवर्गः च शब्दाच्च स्थानीयादत्र गुणव्यक्तात्मकः तत्प्रकृति वर्गो
रागविद्या नियति काल ॥ ॥ ॥ ॥ऌइत्मकञ्चुक वर्गो मायारूपश्च परप्रकृति
वर्गाः प्रोक्ताः। एवमस्यां बाह्यदेहादिकायां पुरी वर्गाणुकमष्टकं
स्मृतम्।

ननु पृथिव्यादि कालान्त त्रिंशत्तत्वात्मक एव सूक्ष्मदेहः पुर्यष्टक
तया प्रसिद्धः। शुद्धाशुद्ध भुवन पर्यटन साधनमशुद्धमेतत्
स्वरूपं तथा प्रसिद्धम्। यदुक्तं तत्व संग्रहे

वसुधाद्यस्तत्वगुणः प्रतिपुंनियतः कालान्तोऽयम्।
पर्यटति कर्मपरतो ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥। वनज देहेष्वयं च सर्वेषु ॥ इति ॥

p. 65) अत्र तु शुद्धस्वरूपस्य बिन्दु कार्यस्यापि नादद्वारेण
सर्वभूतावस्थितत्वेनोक्तस्य परमुक्त्यपेक्षया हेतुत्वादुत्क्रान्तिकाले
शुद्धाशुद्धः सकलोऽपि तत्ववर्गः सर्वस्य पुर्यष्टक तयोद्देशः।
यद्यप्यसौ दीक्षया सर्वपाशोशेभ्यो मोचितस्तथापि यावदेतैर्न मुच्येत
बन्धनादारब्ध कार्यकर्मभोगोपरोधेन सद्योनिर्वाणदीक्षया ॥ ॥ ॥ ॥ ॥।
तेभ्यः सर्वदानुसृतत्वशताब्दस्य शरीरस्य स्थित्यन्तमसौ बन्ध एव।

ततश्च तेभ्योऽत्यन्त मोक्षायोत्क्रान्त्यादिदावेते ज्ञात्वा त्याज्या एव। अथ तेषामेव त्यागक्रममाह - शब्दस्पर्श त्यजेदाकाश विषयत्वादस्य शब्दस्य वायोश्च यदायते -

आकाश वायु प्रभवः शरीरात्समुच्चरन्वक्रमुपैति नादः। इति केशवस्थानेन कण्ठेन सन्त्यजेद्रसनेन्द्रियमूलत्वात्तस्य। यदाह पतञ्जलिः -

कण्ठ एव क्षुत्पिपासानिवृत्त ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥। स्नाने तालुनि रूपगन्धौ त्यजेत्। रूपगन्धेन्द्रिय मूलत्वात् तस्य तेनाप्युक्तः। तालुनिगन्धं विशेदिति। एवं कार्यवर्गद्वयस्य स्वस्थाने त्याग उक्तः। ब्रह्मण्येव त्यजेदित्यादिवत् संख्येयं तादृशस्य शब्दस्पर्शादि त्यागमस्य ब्रह्मादि देवतात्मकेन्द्रियं विप्लुति परिहारार्थस्य निर्बीजदीक्षया समयाद्वार शुद्धिः। विषुवत्वादस्य च सर्वपाश त्यागरूपस्योत्क्रान्ति विषयत्वादिति बुद्ध्यहंकार इत्युपलक्षण ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ पञ्चवर्गक व्यतीतमीश्वर स्थानमेव त्यजेत्। तस्य माया कार्याधिकारा मन इत्यत्र मायोच्यते।

p. 66) बिन्दुश्च शुद्धप्रकृतितश्च महामायात्मकं वर्गसदा शिवस्थाने ब्रह्मरन्ध्रोर्ध्वं त्यक्त्वा एभिः पापैः मुक्तः शिवसमो भवेत्॥

इति लक्षद्वयाध्यापक श्रीमदघोर शिवाचार्य विरचितायां
द्विशतिकालोत्तरवृत्तौ ज्ञानविज्ञान प्रकरणम् ॥

p. 67) ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ । न्ति प्राप्तकालेन कर्तव्या नान्यदेति दर्शयितुं अरिष्टादीनां
ज्ञानाय कालचक्रविधानमाह -

कालचक्रविधानन्तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ।
कालचक्रमितिख्यातं येन कालेन बुद्ध्यते ।

आध्यात्मिकस्य कालस्य विधानं येन प्राणद्वारे तद्विधीयते तं विशेषतो
वक्ष्यामीति । तच्च कालचक्र स्वरूपतः प्रागुक्त काले ख्यातमेवेति येन
कालेन बुध्यते आध्यात्मिकस्य कालस्य विधानं येन नोच्यते । तदाह -

इडा होरात्रचारेण त्रि ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ । वति ।
द्व्यहोरात्र प्रचारेण वर्षद्वयं हि जीवति ।
त्र्यहोरात्र प्रचारेण वर्षमेकं स जीवति ॥

यत् प्रागुक्तं - ऊर्ध्वप्राणोह्यधश्चैवापानो रात्रिरेवच । इति ।
तस्याध्यात्मिकस्याहोरात्रस्य प्रवाहयेत् । प्रमाणमुक्तं प्रत्येकं
षोडशत्रुट्यात्मकं तत्र यदे स चैकः प्राणप्रवाहो अस्मागपि

भाववर्णश्चरेत्। नाड्यन्तरे यावदनन्तरं वाहः तदातत्रावधानं
कुर्यात्। संग्रहपरिच्छेदकाय बोधार्धम ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ।वा संग्रहः।
कालवञ्चनया मृतधारणाभ्यासः कार्यः। पिङ्गलयाक्षीणचन्द्रया
परिच्छेदः उत्क्रान्तिः प्रयोगाभ्यासं मध्यममाया तु कामचारः
ततश्चाध्यात्मिकस्याहोरात्रस्य षोडशत्र्युट्यात्मनः प्रमाणे
तद्गमरूपोहप्रचारः। ऊर्ध्वप्राणाभिरूपोपानप्रत्यात्मा रात्रिप्रचारो
पाकस्यागपि भवति। स वर्षत्रयं जीवति। यस्य तु तनौ द्विगुणेन मानो स
वर्षद्वयं तं यस्य तु तृतीय गुणेन स वर्षमेवेति मन्तव्यम्।

p. 68) अयञ्चाध्यात्मिक ॥ ॥ ॥। विदां कालपरीक्षाक्रमोऽभिहितः।
वाच्याहोरात्रादि प्रमाणेन सादि नाडी प्रवाह प्रचारेण सर्वैः काल
परिज्ञानं कार्यमिति केचित् गुरवोमन्यन्ते। तस्य तत्राहि चारात्तत्राऽप्ययं
विशेषतः प्रदश्यते। प्रथमं शब्दत्रयमाहुः। अज्ञात्वा य शब्दमिति
वाह्यान्तामेव नाडीं निरूपयेत्। तदानवहेतोः प्रोक्तनाडिक प्रवाहेन
दृष्टकेशमात्रफलं विद्यात्। अथाहोरात्र द्वयं यदि वहे ॥ ॥ ॥ ॥।
वर्षद्वयमायुरिति निश्चित्य संगृह्यश्चेन्मृत्यु जिद्धारणे याग काल
वञ्चनं कार्यम्। परिच्छेदश्चेत् सर्वस्वत्यागादिना शेषकालं नीत्वा
स्वेच्छोत्क्रान्तिं कुर्यात् -

अहरेकं चरेद्यव्य रात्रिरेकमथाऽपि वा।

षाण्मासात्तस्य मृत्युः स्यादितिशास्त्रस्य निश्चयः ॥

यामद्वयं चरेद्यस्या अहोरात्रं तु जीवति ॥

अत्रापि कालपक्षे स्पष्ट एवार्थः। यस्यादह्नः कालं चारकाल एवं गमागमं विद्यते रात्रिकालेन वा समा ॥ ॥ ॥ ॥ ।कं जीवति। यस्तु ततोर्ध्वकाल एव सोऽहोरात्रमेव जीवति न केवलमिडाप्रवाहेणैतद्ज्ञेयम्। किञ्च यथा वामा तथा वामा मध्यमा च तथैव च। अन्यतम नाडी प्रचारेणैतत् ज्ञेयमित्युक्तम्। उपलक्षणञ्चैतच्छास्त्रान्तरोक्तानां न वेराषाश्रवणादिव (गन्धा?)ग्रन्थाग्रहणदुःस्वप्नादीनामरिष्टानां। अथोपसंहारः।

कालचक्रं समाख्यातं पुत्रस्नेहाद्विशेषतः ॥

॥ इति द्विशति कालोत्तरवृत्तौ कालचक्रप्रकरणम् ॥

p. 69) अन्यत्र यथा दम्पत्योः संयोगात् सुखमिति रहस्यमात्मैकसमाधिगम्यं परस्मैवाचा प्रतिपादयितुं ॥ ॥ ॥ ॥ ॥। मेवं शिवादि परिज्ञानमपराधितं बुद्धिगुणविषयजं सुखं स्वसंवेद्यं नाऽन्य वाचा प्रकाशयितुं शक्यमिति दर्शयितुं वृहत्कुमारी

अकामित्वं मनःस्थैर्यमद्रोहः सर्वजन्तुषु १९
अविवादस्तथा मूढैरमूढैः प्रश्नसत्कथा
विविक्तदेशेऽभिरतिर्महाजनविवर्जनम् २०
सद्भिः सहास्य सततं योगाभ्यासो मितोक्तिता
स्त्रीभर्त्सोत्सवसंलापविवर्जनमवेक्षणम् २१
परयोषिद्विलासानां काव्यालापविवर्जनम्
गीतवादितनृत्तेषु मृदङ्गेष्वपरेषु च २२
असक्तिर्मनसो मौनमात्मतत्त्वावलोकनम्
तपः संतोषः सत्येषु स्थितिर्लोभविवर्जनम् २३
तथा परिग्रहो राजन्मायाव्याजविवर्जनम्
असृङ्मांसादिभूतत्वान्निजदेहजुगुप्सनम् २४
सर्वाण्येतानि भूतानि विष्णुरित्यचला मतिः
तत्रैवाशेषभूतेशे भक्तिरव्यभिचारिणी २५
एते गुणा मयाख्याता मनोनिर्वृतिकारकाः
शैथिल्यहेतवश्चैते कर्मबन्धस्य पार्थिव २६
एभिः शान्तिं गते चित्ते ध्यानाकृष्टः स्थितो हरिः
शमं नयति कर्माणि सितमिश्रासितानि वै २७
भूयश्च शृणु शास्त्रार्थं संक्षेपाद्वदतो मम
यथा संप्राप्यते मुक्तिर्मनुजेन्द्र मुमुक्षुभिः २८
नित्यनैमित्तिकानां तु निष्कामस्य हि या क्रिया
निसिद्धानां सकामानां तथैवाकरणं नृप २९
सर्वेश्वरे च गोविन्दे भक्तिरव्यभिचारिणी
प्रयच्छति नृणां मुक्तिं मा ते भूदत्र संशयः ३०

इति विष्णुधर्मेषु पापक्षयः

अथाष्टनवतितमोऽध्यायः

शतानीक उवाच
आख्यातमेतदखिलं यत्पृष्टोऽसि मया द्विज
जायते शमकामानां प्रशमः कर्मणां यथा १
किंत्वत्र भवता प्रोक्ता प्रशान्तिः सर्वकर्मणाम्

नात्यन्तनाशः शान्तानामुद्भवो भविता पुनः
निजकारणमासाद्य स्तोकस्याग्नेर्यथा तृणम् २
तदाचक्ष्व महाभाग प्रसादसुमुखो मम
संक्षयो येन भवति मूलोद्धर्तेन कर्मणाम् ३
शौनक उवाच
न कर्मणां क्षयो भूप जन्मनामयुतैरपि
कर्मक्षयमृते योगाद्योगाग्निः क्षपयेत्परम् ४
शतानीक उवाच
तं योगं मम विप्रर्षे प्रणतस्याभियाचतः
त्वमाचक्ष्व क्षयो येन जायतेऽखिलकर्मणाम् ५
शौनक उवाच
हिरण्यगर्भो भगवाननादिर्मुनिभिः पुरा
पृष्टः प्रोवाच यं योगं तं समासेन मे शृणु ६
अनादिकालप्रसृता यथा विद्या महीपते
तथा तत्क्षयहेतुत्वाद्योगो विद्यामयोऽव्ययः ७
तं परंपरया श्रुत्वा मुनयोऽत्र दयालवः
प्रकाशयन्ति भूतानामुपकारचिकीर्षवः ८
देवा महर्षयो राजंस्तथा राजर्षयोऽखिलाः
श्रेयोऽर्थिनः पुरा जग्मुः शरणं कपिलं किल ९
ते तमूचुर्भवान्नित्यं दयालुः सर्वजन्तुषु
सोऽस्मानुद्धर संमग्नानितः संसारकर्दमात् १०
यच्छ्रेयः सर्ववर्णानां स्त्रीणामप्युपकारकम्
यस्मात्परतरं नान्यच्छ्रेयस्तद्ब्रूहि नः प्रभो ११
आदावन्ते च मध्ये च नृणां यदुपकारकम्
अपि कीटपतंगानां तन्नः श्रेयः परं वद १२
इत्युक्तः कपिलः सर्वैर्देवैर्देवर्षिभिस्तथा
नास्ति योगात्परं श्रेयः किंचिदित्युक्तवान्पुरा १३
यथा जन्मायुतैः क्लेशाः स्थैर्यं चेतस्युपागताः
तच्छान्तये तथा योगो बहुजन्मार्जितो भवेत् १४
स एवाभ्यसतां नृणां तीव्रसंवेगिचेतसाम्

आसन्नतां प्रयात्याशु विष्णुः संन्यस्तकर्मणाम् १५
ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्रीशूद्रस्य च पावनम्
शान्तये कर्मणां नान्यद्योगादस्ति हि मुक्तये १६
अभ्यस्तं जन्मभिर्नैकैः शुभजातिभवेषु यत्
योगस्वरूपं तत्तेषां स्त्रीशूद्रत्वे व्यवस्थितम् १७
योगाभ्यासो नृणां येषां नास्ति जन्मान्तराहृतः
योगस्य प्राप्तये तेषां शूद्रवैश्यादिकः क्रमः १८
स्त्रीत्वाच्छूद्रत्वमभ्येति ततो वैश्यत्वमाप्नुयात्
ततश्च क्षत्रियो विप्रः क्रियाहीनस्ततो भवेत् १९
अनूचानस्तथा यज्वी कर्मन्यासी ततः परम्
ततो ज्ञानित्वमभ्येत्य योगी मुक्तिं क्रमाल्लभेत् २०
येषां तु जातिमात्रेण योगाभ्यासस्तिरोहितः
आस्ते तत्रैव मुच्यन्ते जातिहेतौ क्षयंगते २१
असत्कर्म कृतं पूर्वमसज्जातिप्रदायि यत्
तस्मिन्योगाग्निना दग्धे तस्य जातेर्बलं कुतः २२
यथा वातेरितः कक्षं दहत्यूर्ध्वशिखोऽनलः
सर्वकर्माणि योगाग्निर्भस्मसात्कुरुते तथा २३
यथा दग्धतुषं बीजमबीजत्वान्न जायते
योगदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा संजायते पुनः २४
अदृष्टा दृष्टतत्त्वानां योगिनां योगविच्युतिः
येषां भवति योगित्वं प्राप्नुवन्तीह ते पुनः २५
सज्जातिप्रापकं कर्म कृतं तेन तदात्मना
जातिं प्रयान्ति विप्राद्या योगकर्मानुरञ्जिताः २६
तत्राप्यनेकजन्मोत्थयोगाभ्यासानुरञ्जिताः
तेनैवाभ्यासयोगेन ह्रियन्ते तत्त्वविद्यया २७
जैगीषव्यो यथा विप्रो यथा चैवासितादयः
हिरण्यनाभो राजन्यस्तथा वै जनकादयः २८
पूर्वाभ्यस्तेन योगेन तुलाधारादयो विशः
संप्राप्ताः परमां सिद्धिं शूद्राः पैलवकादयः २९
मैत्रेयी सुलभा गार्गी शाण्डिली च तपस्विनी

स्त्रीत्वे प्राप्ताः परां सिद्धिमन्यजन्मसमाधितः ३०
धर्मव्याधादयोऽप्यन्ये पूर्वाभ्यासाज्जुगुप्सिते
वर्णावरत्वे संप्राप्ताः संसिद्धिं श्रवणी तथा ३१
पूर्वाभ्यस्तं च तत्तेषां योगज्ञानं महात्मनाम्
सुप्तोत्थितप्रत्ययवदुपदेशादिना विना ३२
तस्माद्योगः परं श्रेयो विमुक्तिफलदो हि यः
विमुक्तौ सुखमत्यन्तं संमोहस्त्वितरत्सुखम् ३३
शौनक उवाच
एतत्ते सर्वमाख्यातं मया मनुजकुञ्जर
श्रेयः परतरं योगात्किंचिदन्यन्न विद्यते ३४
इति विष्णुधर्मेषु योगप्रशंसा

अथैकोनशततमोऽध्यायः

शतानीक उवाच
कथितं योगमाहात्म्यं भवता मुनिसत्तम
स्वरूपं तु न मे प्रोक्तं श्रोतुमिच्छामि तद्ध्यहम् १
शौनक उवाच
द्वैविध्यं नृप योगस्य परं चापरमेव च
तच्छृणुष्व वदाम्येष वाच्यं शुश्रूषतां सताम् २
यो दद्याद्भगवज्ज्ञानं कुर्याद्वा धर्मदेशनाम्
कृत्स्नां वा पृथिवीं दद्यान्न तत्तुल्यं कथंचन ३
क्षयिष्णून्यपराणीह दानानि मनुजाधिप
एकमेवाक्षयं शस्तं ज्ञानदानमनुत्तमम् ४
दानान्येकफलानीह त्रैलोक्ये ददता सताम्
ज्ञानं प्रयच्छता सम्यक् किं न दत्तं भवेन्नृप ५
ज्ञानान्यन्यान्यसाराणि शिल्पिनीव नरेश्वर
एकमेव परं ज्ञानं यद्योगप्राप्तिकारकम् ६
अहं वक्ता भवाञ्श्रोता वाच्यो योगो विमुक्तिदः
प्राणिनामुपकाराय संपदेषा गुणाधिका ७
परेण ब्रह्मणा सार्धमेकत्वं यन्नृपात्मनः

मध्येन त्रिवलीभङ्गभूषितेन च चारुणा
सुपादः सूरुयुगलः सुकटीगुल्फजानुकः २३
वामपार्श्वे गदादेवी चक्रं देवस्य दक्षिणे
शङ्खो वामकरे देयो दक्षिणे पद्म सुप्रभम् २४
ऊर्ध्वदृष्टिमधोदृष्टिं तिर्यग्दृष्टिं न कारयेत्
निमीलिताक्षो भगवान्न प्रशस्तो जनार्दनः
सौम्या तु दृष्टिः कर्तव्या किंचित्प्रहसितेव च २५
कार्यश्चरणविन्यासः सर्वतः सुप्रतिष्ठितः
चरणान्तरसंस्था च बिभ्रती रूपमुत्तमम्
कार्या वसुंधरा देवी तत्पादतलधारिणी २६
यादृग्विधा वा मनसः स्थैर्यलम्भोपपादिका
नृसिंहवामनादीनां तादृशीं कारयेद्बुधः २७
ब्रह्म तस्यां समारोप्य मनसा तन्मयो भवेत्
तामार्चयेत्तां प्रणमेत्तां स्मरेत्तां विचिन्तयेत् २८
तामर्चयंस्तां प्रणमंस्तां स्मरंस्तां च चिन्तयन्
विशत्यपास्तदोषस्तु तामेव ब्रह्मरूपिणीम् २९
संकल्पनक्रियारूढः स्वरूपेण नृपात्मनः
कुर्वीत भावनां तत्र तद्भावोत्पत्तिकारणात्
नान्यत्र मनसानेया बुद्धिरीषदपि क्वचित् ३०
यमैश्च नियमैश्चैव पूतात्मा पृथिवीश्वर
मूर्तिं भगवतः संयक् पूजयेत्तन्मयः सदा ३१
इति विष्णुधर्मेषु मूर्तिलक्षणम्

अथ शततमोऽध्यायः

शतानीक उवाच
यमांश्च नियमांश्चैव श्रोतुमिच्छामि भार्गव
यैर्धूतकल्मषो योगी मुक्तिभागुपजायते १
शौनक उवाच
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ
यमास्तवैते कथिता नियमानपि मे शृणु २

संतोषशौचस्वाध्यायास्तपश्चेश्वरभावना
नियमाः कौरवश्रेष्ठ योगसंसिद्धिहेतवः ३
एभिर्मूलगुणैः सद्भिर्विष्णोर्भक्तिमतस्तथा
श्रद्दधानस्य चान्यानि योगाङ्गानि निबोध मे ४
मध्यमप्राणमचलं सुखदायि शुभं शुचि
योगसंसिद्धये भूप योगिनामासनं स्मृतम् ५
प्राणायामस्त्रिधा वायोः प्राणस्य हृदि धारणम्
कुम्भरेचकपूराख्यास्तस्य भेदास्त्रयो नृप ६
एते निबोध मात्रास्तु नालम्बनगुणान्विताः
सालम्बनश्चतुर्थोऽन्यो बाह्यान्तर्विषयः स्मृतः ७
इन्द्रियाणां स्वविषयाद्बुद्धिः प्रत्येकशस्तु यत्
करोत्याहरणं ज्ञेयः प्रत्याहारः स पण्डितैः ८
शुभे ह्येकत्र विषये चेतसो यच्च धारणम्
निश्चलत्वात्तु सा सद्भिर्धारणेत्यभिधीयते ९
पौनःपुन्येन तत्रैव विषये सैव धारणा
ध्यानाख्या लभते राजन्समाधिमपि मे शृणु १०
अर्थमात्रं च यद्ग्राह्ये चित्तमादाय पार्थिव
अर्थस्वरूपवद्भाति समाधिः सोऽभिधीयते ११
कथितानि तवैतानि योगाङ्गानि कृतैस्तु यैः
उत्कर्षो जायते व्यस्तैः समस्तैर्हेयसंक्षयः १२
योगाङ्गान्यङ्गभूतानि ध्यानस्यैतान्यशेषतः
ध्यानमप्यवनीपाल योगस्याङ्गत्वमर्छति १३
ध्यानमेकव्रतानां तु कुशलाकुशलेषु तत्
अर्थेष्वाशक्तिमभ्येति सर्वदैव नरेश्वर १४
शुभाव्यावर्तितं ध्यानमविवेकस्य जायते
संसारदुःखदं राजन्नशुभालम्बि तद्यतः १५
तदेवाकृष्य दुष्टेभ्यो विषयेभ्यः शुभाशुभम्
सर्वसंसारकान्तारपारमभ्येति मानवः १६
दुःखदाघप्रशमने या चिन्ताहर्निशं नृणाम्
तद्ध्यानमविशुद्धार्थं सुखदानामपालने १७

कथं संसारबन्धोऽयमस्मान्मुक्तिः कथं त्विति
मनोवृत्तिर्मनुष्याणां ध्यानमेतच्छुभं द्विधा १८
शुद्धमप्येतदखिलं लोभकार्यतयानया
सुखाभिलाषो यन्मुक्तौ बन्धुदुःखादिपीडनात् १९
अवाञ्छितफलं लोभमलोभांशविवर्जितम्
शुभाशुभफलं ध्यानमरक्तं द्विष्टमिष्यते २०
दृष्टानुमानागमिकं ध्यानस्यालम्बनं त्रिधा
न हि निर्विषयं ध्यानं मूढवृत्तिरिवेष्यते २१
प्राक् स्थूलेषु पदार्थेषु ततः सूक्ष्मेषु पण्डितः
ध्यानं कुर्वीत तत्पश्चात्परमाणौ महीपते २२
ध्यानाभ्यासपरस्यैवं हेयालम्बनबाधने
तच्छान्तये तद्विपक्षभावनामेव भावयेत् २३
तच्चित्तस्तन्मयो ज्ञानी भवत्यस्मान्न दोषवत्
कुर्वीतालम्बनं काले कस्मिंश्चिदपि पार्थिव २४
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तजगदन्तर्व्यवस्थिताः
प्राणिनः कर्मजनितसंस्कारवशवर्तिनः २५
यतस्ततो न ते ध्याने ध्यानिनामुपकारकाः
अविद्यान्तर्गताः सर्वे ते हि संसारगोचराः २६
पश्चादुद्भूतबोधाश्च ध्याता नैवोपकारकाः
नैसर्गिको न वै बोधस्तेषामप्यन्यतो यतः २७
तस्मात्तदमलं ब्रह्म निसर्गादेव बोधवत्
ध्येयं ध्यानविदां सम्यग्यद्विष्णोः परमं पदम् २८
न तद्यज्ञैर्न दानेन न तपोभिर्न तद्व्रतैः
पश्यन्त्येकाग्रमनसो ध्यानेनैव सनातनम् २९
तच्च विष्णोः परं रूपमनिर्देश्यमजं स्थिरम्
यतः प्रवर्तते सर्वं लयमभ्येति यत्र च ३०
अनिद्रमजमस्वप्नमरूपानाम शाश्वतम्
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति ज्ञानदृश्यं सनातनम् ३१
निर्धूतपुण्यपापा ये ते विशन्त्येवमीश्वरम्
तच्च सर्वगतं ब्रह्म विष्णुः सर्वेश्वरेश्वरः

परमात्मा परः प्रोक्तः सर्वकारणकारणम् ३२
अनन्तशक्तिमीशेशं स्वप्रतिष्ठमनोपमम्
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ३३
यत्र सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ३४
सर्गादिकारणं यस्य स्वभावादेव शक्तयः
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ३५
निर्धूतपुण्यपापा यं विशन्त्यव्ययमीश्वरम्
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ३६
तत्र योगवतः सम्यक् पुरुषस्य नरेश्वर
यदुक्तं लक्षणं तन्मे गदतः श्रोतुमर्हसि ३७
ब्रह्मण्येव स्थितं चित्तं सर्वतः संनिवर्तितम्
नान्यालम्बनसापेक्षं योगिनः सिद्धिकारकम् ३८
संस्थानमविकारेण चेतसो ब्रह्मसंस्थितौ
निवात इव दीपस्य योगिनः सिद्धिलक्षणम् ३९
एवमेकाग्रचित्तस्य पुण्यापुण्यमशेषतः
प्रयाति संक्षयमृते देहारम्भकरे नृप ४०
देहारम्भकरस्यापि कर्मणः संक्षयावहः
यो योगः पृथिवीपाल शृणु तस्यापि लक्षणम् ४१
यत्तद्ब्रह्म परं प्रोक्तं विष्णवाख्यमजमव्ययम्
चेतसः प्रलयस्तत्र योग इत्यभिधीयते ४२
योगसेवानिरोधेन प्रलीने तत्र चेतसि
पुरुषः कारनाभावाद्भेदं नैवानुपश्यति ४३
परात्मनोर्मनुष्येन्द्र विभागो ज्ञानकल्पितः
क्षये तस्यात्मपरयोर्विभागाभाग एव हि ४४
परमात्मात्मनोर्योऽयमविभागः परंतप
स एव परमो योगः समासात्कथितस्तव ४५
यथा कमण्डलौ भिन्ने तत्तोयं सलिले गतम्
व्रजत्यैक्यं तथैवैतदुभयं कारणक्षयात् ४६
यथाग्निरग्नौ संक्षिप्तः समानत्वमनुव्रजेत्

तदाख्यस्तन्मयो भूत्वा गृह्यते न विशेषतः ४७
एवं ब्रह्मात्मनोर्योगादकत्वमुपपन्नयोः
न भेदः कलशाकाशनभसोरिव जायते ४८
प्रक्षीणाशेषकर्मा तु यदा ब्रह्ममयः पुमान्
तदा स्वरूपमस्योक्तेर्गोचरे नोपपद्यते ४९
घटध्वंसे घटाकाशं न भिन्नं नभसो यथा
ब्रह्मणा हेयविध्वंसे विष्णवाख्येन पुमांस्तथा ५०
भिन्ने दृतौ यथा वायुर्नैवान्यः सह वायुना
क्षीणपुण्याघबन्धस्तु तथात्मा ब्रह्मणा सह ५१
ततः समस्तकल्याणसमस्तसुखसंपदाम्
आह्लादमन्यमतुलं कमप्याप्नोति शाश्वतम् ५२
ब्रह्मस्वरूपस्य तदा ह्यात्मनो नित्यदैव सः
व्युत्तानकाले राजेन्द्र आस्ते हेयतिरोहितः ५३
आदर्शस्य मलाभावाद्वैमल्यं काशते यथा
ज्ञानाग्निदग्धहेयस्य सोऽह्लादो ह्यात्मनस्तथा ५४
यथा न क्रियते ज्योत्स्ना मलप्रक्षालनादिना
दोषप्रहाणं न ज्ञानमात्मनः क्रियते तथा ५५
यथोदुपानकरणात्क्रियते न जलाम्बरम्
सदैव नीयते व्यक्तिमसतः संभवः कुतः ५६
यथा हेयगणध्वंसादवबोधादयो गुणाः
प्रकाश्यन्ते न जन्यन्ते नित्या एवात्मनो हिते ५७
ज्ञानवैराग्यमैश्वर्यं धर्मश्च मनुजेश्वर
आत्मनो ब्रह्मभूतस्य नित्यमेव चतुष्टयम् ५८
एतदद्वैतमाख्यातमेष योगस्तवोदितः
अयं विष्णुरिदं ब्रह्म तथैतत्सत्यमुत्तमम् ५९
पुनश्च श्रूयतामेष संक्षेपाद्गदतो मम
नानाद्वैकत्वविज्ञानस्वरूपमवनीपते ६०
आत्मा क्षेत्रज्ञसंज्ञोऽयं संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः
तैरेव विगतैः शुद्धः परमात्मा निगद्यते ६१
ध्येयं ब्रह्म पुमान्ध्याता उपायो ध्यानसंज्ञितः

यस्त्वेतत्करणेष्वास्ते तद्वर्गे का विभागता ६२
संक्षेपादपि भूपाल संक्षेपनपरं शृणु
पुत्राय यत्पिता ब्रूयात्स्वशिष्यायाथवा गुरुः ६३
न वासुदेवात्परमस्ति किंचिन्न वासुदेवाद्गदितं परं च
सत्यं परं वासुदेवोऽमितात्मा नमो नमो वासुदेवाय नित्यम् ६४
तस्मात्तमाराधय चिन्तयेशमभ्यर्चयानन्तमतन्द्रितात्मा
संसारपारं परमीप्समानैराराधनीयो हरिरेक एव ६५
आराधितोऽर्थान्धनकाङ्क्षकानां धर्मार्थिनां धर्ममशेषधर्मी
ददाति कामांश्च मनोनिविष्टान्मोक्षार्थिनां मुक्तिद एव विष्णुः ६६
इति विष्णुधर्मेषु योगाध्यायः

अथैकाधिकशतमोऽध्यायः

शतानीक उवाच
ममैतत्कथितं सम्यगात्मविद्याश्रितं मुने
यत्त्वन्यच्छ्रोतुमिच्छामि तत्प्रसन्नो वदस्व मे १
येयं मुक्तिर्भगवता प्रोक्ता वर्णक्रमान्मम
तत्रेच्छामि मुने श्रोतुं वर्णाद्वर्णोत्तरोच्छ्रयम् २
शूद्रो वैश्यत्वमभ्येति कथं वैश्यश्च भार्गव
क्षत्रियत्वं द्विजश्रेष्ठ ब्राह्मणत्वं कथं ततः ३
विप्रत्वान्मुक्तियोग्यत्वं यथा याति महामुने
तदहं श्रोतुमिच्छामि त्वत्तो भार्गवनन्दन ४
शौनक उवाच
त्वद्युक्तोऽयमनुप्रश्नः कुरुवर्य शृणुष्व तम्
मयोच्यमानमखिलं वर्णानामुपकारकम् ५
शूद्रधर्मानशेषेण कुर्वञ्शूद्रो यथाविधि
वैश्यत्वमेति वैश्यश्च क्षत्रियत्वं स्वकर्मकृत् ६
विप्रत्वं क्षत्रियः सम्यग्द्विजधर्मपरो नृप
विप्रश्च मुक्तिलाभेन युज्यते सत्क्रियापरः ७
सर्वेषामेव वर्णानां स्वधर्ममनुवर्तताम्
सदोच्छ्रितिर्न्यूनकृतो हानिश्चोत्कृष्टकर्मणः ८

सर्वज्ञानोत्तरम्

त्रन्स्च्रत्_ त०३३४

चोपिद् फ़्रोम् द्। ५५५० ओफ़् गोंल्। मद्रस्

प्। १)

श्रीगुरुभ्यो नमः

सर्वज्ञानोत्तरम्। योगपादम्॥

नमः शिवायशक्त्यै च विन्दवे शाश्वताय च।

गुरवे च गणेशाय कार्तिकेयाय धीमते॥ १॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि योगमन्त्रकितस्तुतम्।

शान्तस्य * * * * * * * * * * *

* *॥ २॥

युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
उक्त स्वप्नावबोधस्य तत्त्वतः शृणु षण्मुख॥ ३॥

योध्यातायश्च तद्ध्यानं तद्वैर्यान्न प्रयोजनम्।
सर्वाण्येतानि यो वेत्ति स योगं योक्तु मर्हति॥ ४॥

आत्माध्याता मतोध्यानं ध्येयः सूक्ष्मो महेश्वरः।
यत्परा परमैश्वर्यमेतद्ध्यान प्रयोजनम्॥ ५॥

मानामानौ समौ कृत्वा सुखदुःखे समे तथा।
हर्षं भयं विषादं च सत्यजन् योगमभ्यसेत्॥ ६॥

शून्यागारे मठे रम्ये देवतायतने शुभे।
नदीतीरे विविक्तेन्त गृहे घोरवनेपि वा॥ ७॥

प्रच्छन्ने च विविक्ते च निश्शब्दे जनवर्जिते।
योगदोष विनिमुक्ते निर्विकल्पे निरातपे॥ ८॥

स्नात्वा शुचि रूपस्पृश्य प्रणम्य शिरसा शिवम् ।
योगाचार्यान्नमस्कृत्य योगं युञ्जीत * * * ॥ ९ ॥

पद्मकं स्वास्तिकं नापि उपस्थाप्यां जलिं तथा ।?
पीठार्धतर्धचन्द्रं वा कर्मतो? भद्रमेव वा ॥ १० ॥

पृ। २)

आसनं रुचिरं वद्ध्वोर्ध्वकायः समं शिरः ।
सर्वसंगान् परित्यज्यात्मसस्थं मनोगुह ॥ ११ ॥

न दन्तैः संस्पृशेद् दन्तान् सृक्विण्या च न जिह्वया ।
किञ्चित् कुञ्चित नेत्रस्तु शिवं सम्यक्तदोच्चरेत् ॥ १२ ॥

*? य स यति तत्वानि तन्मात्राद्यानि देहिनाम् ।
पुनर्विनंशिकश्चैवास्त्र युक्तष्षडानन ॥ १३ ॥

न पृथक् हृदयं तस्य न शिरो न शिखागुह ।
वर्मास्त्र नेत्रसहितं तस्मादेव प्रवर्तते ॥ १४ ॥

प्राणापानौ समौ कृत्वा सुषुम्नान्तर चारिणौ।
तयोर्वृत्तिर्निरुध्यात्मा शिवं ध्यायेद् विचक्षणः॥ १५॥

अविनाभावसंयुक्तो ज्योतीरूपं सुनिर्मलम्।
सुसूक्ष्मं व्यापकं नित्यं निर्विकल्पं सदा बुधः॥ १६॥

उत्तमा मध्यमा मन्दास्संसर्गास्त्रिविधाः स्मृताः।
प्राणायामांश्च तान् कुर्यात् पूरकुम्भक रेचकान्॥ १७॥

प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिर्दिस्तुतम्।
प्राणायामो भवादेय पूरको देहपूरकः॥ १८॥

पिधाय सर्वद्वाराणि निश्वासोच्छ्वासवर्जितः।
संपूर्ण कुम्भवत् तिष्ठेत् प्राणायामस्सकुम्भकः॥ १९॥

ततोर्ध्वं रेचयेद् वायुं मृतु निच्छ्वास संयुतम्।
रेचकस्त्वेष विख्यातः प्राणसंशयकारकः॥ २०॥

प्रसार्यचाग्रहस्तं तु जानुं कृत्वा प्रदक्षिणम्।

च्छोटिका ततो दद्यान्मनन्नैष्टा त्वभिधीयते॥ २१॥

मात्रा द्वादश विज्ञेयाः प्रमाणं तालसंज्ञकम्।

तालद्वादशकं ज्ञेयं प्राणायामस्तु आन्यसम्॥ २२॥

मध्यमश्चतविंश ज्येष्ठ * * द्विगुणो भवेत्।

एकैकां वर्धमात्रां प्रत्यहं योगवित्तमः॥ २३॥

नत्वरेण विलम्बेन क्रमेणैव विवर्धयेत्।

प्राणायामोत्तमोयत्त द्विगुणा धारणा मता॥ २४॥

धारणाद्विगुणो योगो योगोपि द्विगुणी कृतः।

योगसिद्धिरिति ज्ञेया शिवेन परमात्मना॥ २५॥

तदानु पश्यते सूक्ष्मं गन्धतन्मात्रमात्मनि।

रसं तेजस्परिशंति च शब्दतन्मात्रमेव च॥ २६॥

पश्यते कर्मयोगेन वर्णभावैः पृथग्विधैः।

अहंकार मनोबुद्धिं गुणमव्यक्त पौरुषम्॥ २७॥

अभिव्यक्तानि जानीयात् स्वधर्मगुण लक्षणात्।
विद्यां कलां ततः कालं मायां विद्यां ततः पराम्॥ २८॥

दृष्ट्वानु क्रमशः सर्वान् पुनरस्त्रेण भेदयेत्।
विद्येश्वरं ततस्तत्वं तथा सादाशिवं परम्॥ २९॥

भित्वा तु क्षुरिकास्त्रेण ततः सूक्ष्मं शिवं विशेत्।
अमृतात्मा शिवः साक्षात् तस्मिन्निष्टस्तु योगवित्॥ ३०॥

पू। ४)

सर्वज्ञस्सर्वगस्सूक्ष्मस्सर्वेशस्सर्वकृद् भवेत्।
सर्वेष्वेव स शास्त्रेषु ज्ञेयं वस्तु चतुष्टयम्॥ ३१॥

पशुः पाशः पतिश्चैव शिवश्चेति यथाक्रमम्।
ज्ञात्वा तु तत्व सद्भावं तन्त्रसारं तु दुर्लभम्॥ ३२॥

सर्वथा वर्तमानोपि गृह्णाति न पुनस्तनुम्॥ ३३॥

॥ इति योगपादः समाप्तः ॥

पशुपाशविधानं हि श्रोतुमिच्छामि तत्वतः ।
संयोगं च तथा तेषां कथयस्व महेश्वर ॥ १ ॥

आद्याः पाशास्ततस्तेषां जीव आद्यस्तु किन्तु वै ।
का पाशाः कोमलाः प्रोक्ताः कस्माद्बन्धः पुमानिति ॥ २ ॥

पतिश्च किं विधो ज्ञेयस्साधिकार पदे स्थितः ।
शिवश्च कीदृशः प्रोक्तो योधिकार विवर्जितः ॥ ३ ॥

ईश्वरः

पशुरात्मा स्वतन्त्रश्च चिन्मात्रो मनदूषितः ।
सममूढो नित्यसंसारी किञ्चिद् ज्ञानीश्वरो क्रितः ॥ ४ ॥

ताम्रस्यैव तु हेमत्वमन्तर्लूनं यथा स्थितम् ।
अन्तर्लूनं तथा ज्ञेयं शिवत्वं पुद्गलस्य तु ॥ ५ ॥

XXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXX
X
X title: nirvaa.nayogottara
X
X copied from manuscript c 4246 of banares hindu university
X
X
X data entered by the staff of muktabodha
X under the supervision of mark s.g. dyczkowski
X
X revision 0: april 7, 2012
X
XXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXX

वायुना चलते तोयं क्षोभयन्तं पुनः पुनः ।

निश्चलत्वं न चास्तीति तथा चित्तेति दुर्लभम् ॥ १ ॥

ॐ भगवन्देवदेवेश लोकनाथजगत्पते ।

सङ्क्षेपात् कारणं ब्रूहि यत्र चित्ते सुनिश्चलम् ॥ २ ॥

साधु साधु महाप्राज्ञ दृष्टं ते बुद्धि कौशलम् ।

कथयामि न सन्देहः पुत्र स्नेहाद्विशेषतः ॥ ३ ॥

p. 86a) त्रिविधं कारणं प्रोक्तं स्थूलं सूक्ष्मं परं च यत्।
स्थूलेन रञ्जिता देवा महामाया वशी कृताः॥ ४॥

कारणं तु प्रवक्ष्यामि शृणुष्वेक मनागुह।
तालुमध्ये तु करणं निश्श्वासोच्छ्वासवर्जितम्॥ ५॥

नाभिहृद्धाममध्यस्थं कन्दगो वन्दनं मनाक्।
तालुसंज्ञा भवेत् तस्य यतो वा चाप्रवर्तिनम्॥ ६॥

तत्र स्थाने कृता बुद्धिश्चित्रं तत्र सुनिश्चलम्।
निश्चलं तु यदा चित्तं तदा दृष्टिः प्रवर्तते॥ ७॥

सा च दृष्टिः पराज्ञेया त्रैलोक्यं पश्यते क्षणात्।
अगम्यं गम्यते चैव अलक्ष्यं लक्ष्यते तदा॥ ८॥

अनादनादमध्यस्था व्यक्ताव्यक्तं सुनिश्चलम्।
तदा प्रवर्तते निद्रा योगध्यानपरायणा॥ ९॥

p. 86b) आनन्दं भक्षयेद् यस्तु अमृतामृतसम्भवम् ।
प्रवर्तते निरानन्दं निश्चलस्थाववर्जितम् ॥ १० ॥

निरौपम्यं निराभासं ध्यानधारणवर्जितम् ।
शून्यं कृत्वा ततो दृष्टिं शून्यं चैव तु लक्षयेत् ॥ ११ ॥

शून्यं शून्यं पुनः शून्यं त्रिशून्यमुच्यते क्षणात् ।
सर्वं शून्यं निराभास सामरस्यं तदा भवेत् ॥ १२ ॥

घृते घृतं यथा क्षिप्तं क्षीरे क्षीरं तथैव च ।
केवलत्वं यदा प्राप्तं न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ १३ ॥

निस्कामोच्छ्वासिकांस्त्यक्तवा पूरकश्चामृती भवेत् ।
कुम्भकं च यदाप्रोक्तं योगिनां योगधारणात् ॥ १४ ॥

निवृत्तिर्यत्र जायेत सर्वं शून्यं प्रवर्तते ।
शून्यमध्यगतं शून्यं स्थितं व्योमनि व्योमवत् ॥ १५ ॥

p. 87a) न रक्तं न च वा पीतं न शुक्लं कृष्णमेव च ।

सर्वैर्गुणैर्विनिर्मुक्तः स्थानातीतं परापरम् ॥ १६ ॥

पूरकं च त्वया प्रोक्तं कुम्भकं च पुनः पुनः ।
नमामि दुर्लभं देवं कथं जानन्ति मानवाः ॥ १७ ॥

वायुना पूरकं कृत्वा कुम्भकं कुम्भवत् पुनः ।
माया ह्येषा कृता वत्स येन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १८ ॥

कुम्भकं च इदं कृत्वा हृत्स्थानं रूपवर्जितम् ।
अन्तः शरीरसंस्थं तु न बाह्यं तु कदाचन ॥ १९ ॥

सर्वं स परमं नाम पूरकं चेदमुच्यते ।
तत्रोत्पन्नं यथाकाशं निश्चलस्थानवर्जितम् ॥ २० ॥

इदं शान्तं तथा पुत्र ब्रूह्येनं च स्वतन्त्रतः ।
नन्दिना क्रियते मुद्रा ओष्ठौ तत्र प्रपीडितौ ॥ २१ ॥

p. 87b) शिवं ध्यात्वा मुनीन्द्रैस्तु न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ।
सन्तुष्टोहं महाभोगिर्कथितं ते स्वतन्त्रतः ॥ २२ ॥

मयातीतं परं शान्तं वाग्जाल परिवर्जितम्।
मद्भावसन्धिमाख्यातं भावयेच्च पुनः पुनः॥ २३॥

अभावे भावना चात्र महार्थ हितलोचनः।
न शक्नोमि महाभोगिन्यदि जन्मशतैरपि॥ २४॥

भावयेत् परमानन्दं यः स्वं वेदसमुक्तितम्।
अनन्तं शून्यमित्युक्तं हृच्छून्यं रूपवर्जितम्॥ २५॥

नान्तः शरीरे संस्था तु न बाह्ये तु कदाचन।
सर्वं समरसं नाम निष्ठाशून्यं प्रवर्तते॥ २६॥

परे शून्ये प्रलीनास्ते स्वरूपं नैव विद्यते।
मनोबुद्धिरहङ्कारं स्थितं माद्वीकशूलवत्॥ २७॥

p. 88a) इन्द्रियाणि तु शून्यानि परे शून्ये लयं गताः।
परे शून्ये यदालीनः स्वरूपं नैव दृश्यते॥ २८॥

तूर्यैः पटरुनादैश्च जनकोलाहलैस्तथा।
युक्ति तत्त्वस्य निष्णातो न मनः परिचाल्यते॥ २९॥

मयाबन्धं कृतं वत्स स्थानं ध्यानं चराचरम्।
केवलस्य कुतः स्थानं ध्यानं तस्य न विद्यते॥ ३०॥

धारणादि न चास्तीति सर्वशून्यं च निर्गुणम्।
निर्गुणं च परं भित्त्वा भित्त्वा चैव मया कृतम्॥ ३१॥

स्वेच्छया स रसं नाम अत्युच्छिन्नं समन्ततः।
धनुर्धरो यथा शूर आकर्णं पूरयेच्छरः॥ ३२॥

लक्ष्यं भित्वा ततो लक्ष्यमेवं योगी सताहितः।
न धनुर्न च वा काण्डं लक्ष्यं पुरुषमेव च॥ ३३॥

एवं ज्ञात्वा परं तत्त्वं स्थितं व्योमनि व्योमवत्।
p. 88b) आपूर्यान्यतमं काण्डं स्तम्भ दृष्टि व्यवस्थितम्॥ ३४॥

इदं तत्त्वं यदा प्राप्तं न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।

न चित्तं न च वा बुद्धिर्न स्थानं वर्णमेव च ॥ ३५ ॥

न च ध्यानं न वा ध्येयं न ग्रन्थिर्वायुमेव च ।
न ग्रन्थं न च वा ग्रन्थी न बिन्दुं नादमेव च ॥ ३६ ॥

न लक्ष्यं न च वा लक्षी न शिखा तुर्यमेव च ।
तेदौ मध्यं यदा प्राप्त न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ ३७ ॥

न वायुं न च वा काशं न वह्निं सलिलं तथा ।
न सोमं न च वा सूर्यं न ब्रह्मा विष्णुरेव च ॥ ३८ ॥

न रुद्रं न च वा कालमीश्वरं शिवमेव च ।
अनाख्यं च निराभासं निस्तत्त्वं च निराश्रयम् ॥ ३९ ॥

छन्नं सर्वगतं शान्तं स्थितं व्योमेषु व्योमवत् ।
तदा प्रवर्तते किञ्चित् पश्यमेन पुनः पुनः ॥ ४० ॥

p. 89a) तन्मानं च पुनः कृत्वा स्थूलं शून्ये प्रलीयते ।
सूक्ष्मं शून्यं यदा प्राप्तं परे शून्ये प्रलीयते ॥ ४१ ॥

तस्मिन् स्थाने शुभे प्राप्ते निश्चले निर्गुणे तथा ।
तत्रैव धारयेच्चित्तं यदन्योस्तीति कारणम् ॥ ४२ ॥

एषा सा परमाकाष्ठा परं चित्तं तथैव च ।
एषा सा परमा बुद्धिः परा चापि प्रवर्तते ॥ ४३ ॥

योगिनस्तु ततः प्रश्नं पतते नात्रसंशयः ।
इदं विष्णुर्विजानीयात् पाशः क्रोधेन च्छिद्यते ॥ ४४ ॥

महतां सर्वदेवानां मत्वादेवश्च कीर्तितः ।
तारयेच्च प्रजाः सर्वास्तुम्बुरुस्तेन चोच्यते ॥ ४५ ॥

ईश्वरत्वे तथापीष ईश्वरत्वं प्रकीर्तितम् ।
हरते सर्वपापानि हरो देवः प्रकीर्तितः ॥ ४६ ॥

लयनं सर्व जातीनां लयनाल्लिङ्गमुच्यते ।
एवं सर्वगतं देवं ब्रह्मरूपो न निर्मलः ॥ ४७ ॥

क्रिमिकीटपतङ्गेषु स्थावरे जङ्गमेषु च।
यत्किञ्चिद्वाङ्मयं सर्वं सृष्टिदेवं पकीर्तितम्॥ ४८॥

तस्य देवातिदेवस्य शक्तिर्नादयते जगत्।
एवं सर्वगतं शून्यं हृदये तत्र लक्षयेत्॥ ४९॥

यदि सर्वगतं देव शून्यं ब्रूहि किमुच्यते।
अथ शून्यं परं ब्रह्मलक्षणं ग्रहणं कुतः॥ ५०॥

भगवन्देवदेवेश चन्द्रार्धकृतशेखर।
एतत् प्रश्नं परं गुह्यं प्रसादं कुरु शूलभृत्॥ ५१॥

षडङ्गेन तु योगेन हृद्यं शून्यं तु ग्राहयेत्।
पूर्णं निवर्तनं तेन पूर्णं भावं च लक्षयेत्॥ ५२॥

पूर्णाहुतिं ततो दद्याद्दीक्षाकाले समाश्रिते।
p. 90a) भावितात्मा स योगेन सिद्धिः खेचरतां व्रजेत्॥ ५३॥

प्राणायामं तथा ध्यानं प्रत्याहारं च धारणा।

तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते ॥ ५४ ॥

एतज्ज्ञान मयं प्रोक्तं ज्ञेयं शून्यं प्रकीर्तितम् ।
इन्द्रियाश्च ततः शून्यं चित्तं शून्यं तथैव च ॥ ५५ ॥

बुद्धिशून्यं विजानीयादात्मशून्यं ततः पुनः ।
अग्निशून्यं ततः कृत्वा धर्मशून्यं च निष्कलम् ॥ ५६ ॥

निर्धुमं च परं शून्यं कुम्भमध्ये जलं यथा ।
हिमकाले तु संप्राप्ते विवर्णं निश्चलं भवेत् ॥ ५७ ॥

एवं खंकाष्ठधूस्तद्वत्खतिष्ठे द्विनियोजयेत् ।
इदं तत्वं यदाप्राप्तं पश्यते? जन्म बन्धनात् ॥ ५८ ॥

p. 90b) न प्रवर्तेत चाद्वैतं गृहस्थस्य कदाचन ।
इन्द्रियेभ्यो यतः सक्तः सक्तोमात्सर्य एव च ॥ ५९ ॥

अविद्या ग्राहयेद्रागमतरागं पुनः पुनः ।
तस्मान्निवर्तते तत्वं चित्तं येन न निर्जितम् ॥ ६० ॥

निर्जितं च यदा चित्तं तदा श्रेयः प्रवर्तते ।
शान्तो दान्तो जितक्रोधो भिक्षाशी विगत स्पृहः ॥ ६१ ॥

इदं तु योगिने दृष्ट्वा नन्दनीयः प्रयत्नतः ।
दर्शनान्मोचयेत् पापं स्पर्शनाद्दीक्षितो भवेत् ॥ ६२ ॥

आलापात्गात्र?संपर्काद्भोजनाच्छयनासनात् ।
कुलानद्धरते स्कन्द दशपूर्वान्दशापरान् ॥ ६३ ॥

पक्वं चैव प्रतिज्ञानं घटिका च चतुर्विधाम् ।
प्रथमं धूलि भेदं च द्वितीयं हृच्छेदबन्धनम् ॥ ६४ ॥

p. 91a) तृतीयं ग्रन्थि भेदं च चतुर्थं परमुच्यते ।
चित्तसम्बोधमात्रेण कथं गृह्णन्ति तत्पदम् ॥ ६५ ॥

केन वा गृह्यते चित्तं कस्मिन् स्थाने प्रलीयते ।
देवदेव महादेव सर्वस्तत्त्वार्थभेदक ॥ ६६ ॥

ब्रूहि मे परमं ज्ञानं येन सिद्धयन्ति साधकाः ॥

खटिका प्रोच्यते मोक्षमुद्धरेत् ग्रन्थि भेदतः ।
खमिव परमं ज्ञात्वा खटिकेषा प्रकीर्तिता ॥ ६७ ॥

चित्तं चित्ते तु सङ्गृह्य बुद्धौ बुद्धिं तथैव च ।
सा तु बुद्धिः पराज्ञेया तत्वमार्गानु सारिणी ॥ ६८ ॥

शृणु शून्यस्य वै लक्ष्यं धरं विशति तत्क्षणात् ।
प्रविष्टे च परे तत्वे समत्वं जायते क्षणात् ॥ ६९ ॥

p. 91b) समत्वं च यदा प्राप्तं परानन्दं प्रजायते ।
परानन्दं यदा प्राप्तं न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ ७० ॥

प्रविशेत् तन्मयो भूत्वा शिवबीजेन साधकः ।
तदा न श्रूयते शब्दं शङ्खभेरी स दुन्दुभिः ॥ ७१ ॥

ताडितं च न बिन्देत ततस्तन्मयतां गतः ।
एतत् ते परमं गुह्यं परं ज्ञेयं न संशयः ॥ ७२ ॥

इदं प्रत्ययमापन्नं तत्गुरुः पाशहा भवेत्।
पुष्पं पत्रं फलं तोयं यो दीक्षां कुरुते नरः॥ ७३॥

नवनाभं ततो यागं कृतं तेन न संशयः।
अन्यथा कुरुते दीक्षां तत्गुरुर्ब्रह्महा भवेत्॥ ७४॥

भावनायास्तथा शैव द्वैतं चैवमशेषतः।
क्लिश्यन्ते ते महामूढाः संसारे च पुनः पुनः॥ ७५॥

द्वैतं चैव महाद्वैतं द्वैतैकत्वं तथैव च।
p. 92a) अद्वैतं न च वा द्वैतमतिर्मे परमार्थतः॥ ७६॥

वंशं नाममयाज्ञातं त्वत्प्रसादान्महेश्वर।
महारथं कीदृशं च जटा वै कीदृशी भवेत्॥ ७७॥

भास?नाम किमुत्पन्नं किं वा खट्वाङ्गमुच्यते।
संक्षेपाद्वददेवेश येन मोक्षं ध्रुवं भवेत्॥ ७८॥

भावयेच्चापरं शून्यमनन्तं परिवर्जितम् ।
भवच्छेदकरं शान्तं परं कस्मतदुच्यते ॥ ७९ ॥

जटावत् स्नापयेच्चित्तं जटा ह्येताः प्रकीर्तिताः ।
महास्नानं तदा प्रोक्तं महाव्रतं तदुच्यते ॥ ८० ॥

नास्ति तत्परमानन्दं चित्तकं चित्तवर्जितम् ।
ततः खकाष्टवत्तिष्ठेत् खट्वाङ्गं तादृशं भवेत् ॥ ८१ ॥

p. 92a) एवं गूढं विजानीयात् गुहवासी तथोच्यते ।
न नाम ग्रहणान् मुक्तो न काय तमनाच्छुचिः ॥ ८२ ॥

चित्तं धामयते प्राज्ञो मोक्ष इत्यभिधीयते ।
व्रतस्या चरणं कृत्वा योगं तत्र समभ्यसेत् ॥ ८४ ॥

मयातीते परंब्रह्म लोकत्रयविवर्जितम् ॥ ८५ ॥

व्रतेन सहिता योगाः स्वयं प्रोक्ता महेश्वर ।
योगहीन व्रतामुढा मुद्रा पञ्चक भूषिताः ॥ ८६ ॥

एतन्मे संशयं ब्रूहि येन निस्संशयो भवेत्॥ ८७ ॥

व्रतेन सहिता योगाः सर्वं सिद्धि प्रदाः शुभाः ।
योगहीनव्रतामूढा न मुच्यन्ति कदाचन ॥ ८८ ॥

व्रतस्य चरणं कृत्वा लोकयात्रा विवर्जितम् ।
p. 93a) निस्पृहो निस्पृहे नित्यं समलोष्टाश्म काञ्चनः ॥ ८९ ॥

शब्दं स्पर्शं रसं रूपं गन्धं चैव तु पञ्चमम् ।
एतामुद्रा महत्यश्च मुच्यते चतुरं जगत्॥ ९० ॥

इति मुक्तो व्रजेन्मोक्षं यत्र देवो निरञ्जनः ॥

इ * श्री * वं * द्धा * नि * ण * गो * रं * मा * म् ॥

शिवं भवतु ॥

XXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXX
X
X title: timirodghaa.tatantra
X
X copied from ngmpp access no. 5/690 reel no: A 1380/9
X folios 34
X script: newari
X material: paper
X
X data entered by the staff of muktabodha under the
X direction of mark s.g. dyczkowski
X
X
X revision 0: april 6, 2012
X
XXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXX

त केशवार्जुना ॥

संजय उवाच ॥

उभायारथमा * * * * *?सान्तमो? ।

* * * * * * * * क्षरकास्व मनुत्तम * * * * * * ? भ्रां *?वत नियम कृतावुभौ ।

तस्मिं पितृगणं पूज्यनिविष्टौ सुलक्षणौ ॥

एकान्ते च * * * * * ?ल्यते च परस्परम् ।

कृताञ्जलिपुटि * *? अर्जुनावाक्यमब्रवीत् ॥

अर्जुन उवाच ॥

सैन्ययोरुभयोरूढा उद्यतो युद्धपाणयः ।
शङ्खतूर्यैश्च भेरिश्च सिंहनाद ह?तेरधौ ॥

गीतया कथितम्पूर्वं व्याकुलेस्तस्य मे नमे ।
नावधारितया कृष्ण तज्ज्ञेयं ममरं पदम् ॥

पूर्वयुद्धे स्वयमेव पुनः पुनरे? भाषसे ।
च्छिन्दभिन्दवधस्वेति राज्यकुर्याद क *?क ॥

प्रधानशत्रू वाक्येति वधयस्तु मरिन्दमः ।
ज्ञान तेन पुनर्वक्तय सर्वशत्रु वधे कृते ॥

भगवानुवाच ।

यथा न लिप्यते पार्थ पुनः पापैः कथञ्चन ।
योगयुक्तं स विज्ञानम्पश्चाच्चेत्कथयाम्यहम् ॥

p. 2)

अर्जुन उवाच ॥

हव्वा सहोदरा भ्रातृज्ञातीनाञ्च कुलक्षयम् ।
भीतास्मिं नरकस्येहं ज्ञेयं कथयस्व मे ॥

कथं ज्ञान कथं ज्ञेयं परमात्मा कथम्भव ।
आत्मानम्वै कथञ्चेहमन्तरात्मा कथम्भवेत् ॥

सर्वमेतत् समारव्याहि यथा ज्ञास्यन्ति तत्वतः ।
ये नाहं योगयुक्तात्मा दुष्कृतं तरयाम्यहम् ॥

संसारसागरै घोरे पुत्रदारौहराकुले ।
ज्ञाति वान्धवमीनामेरर्थ ग्राहभयावहे ॥?

अगाधे मे प्लब्ध? दुर्गे महापातैस्तु दुस्तर।
मज्जयानां च मात्रा हि यस्मिं संसारसागरे॥

कुलालमिव वज्रस्य सुःखदुःखमशेषतः।
स्वर्गनरके भ्रमच्छीघ्रं चक्रदाताहतं॥

यथात्वं अब्दस्यपि? वा आगच्छन्ति व्रजन्ति च।
एवं सर्वजगत्कृष्ण भ्रमन्ति संसारसागरात्?॥

ज्ञानं मे कथय कृष्ण येन सूयाग?सम्भव।
ज्ञातं मे कथय कृष्ण येन तूर्या? सम्भव॥

उप? सं? न हिसां सा हि सरणा * * * * *॥

ता * * * * * * * * * * * * * * *?।

p. 2b)

यस्याहं प्रावयिष्यामि प्रसीद् मम माधवः।
यस्य तं लोकनाथस्य सदा तु ग्रहो * * *?॥

तेन? रहिरंमदुर्ग नात्रकार्य वचारणाः ।?
तद्येवयमिद् * * *? नम्परमदुर्लभम् ॥

ये नाहं पुण्यपापेभ्यो न वध्नीया कदाचन ।

भगवानुवाच ॥

हन्तते कथयिष्यामि * * ? ख सुखावह ।
यथा न लिप्यते कर्मै पद्मपत्रमिवाम्भसि ॥

शरीरेपि स्थितन्नित्यं न विन्दन्त्य विबोधतः ।
स एव न ततस्यान्त तं ज्ञेयं ममरं पदं ॥

यं प्राप्य लीयते जीवा यं प्राप्यं सृजते पुनः ।

क्षणे क्षणेन कौन्तेय तज्ञेयममरम्पदम् ।
मान्तेषा? क्षीणमेषाष्टा भागोक्षण क्षण द्वयं ॥

तुटि तुटि लवण द्वयोनिमिषाष्टादशभिः।

प्राणो विनाभिकानां षष्टिं भिन्नांभिका प्रोक्ता षष्टिभिन्ना आवहते निसि।

अ * *? भव देवेशौ न मृयेत्व क्षरेत् पुनः।

स्थावरा जङ्गमा जीवा उपजीवन्ति तं सदा॥

उस्वसं निस्वसं तस्थायं प्रानमिवर्तते।

p. 3a)

तेन? हि? *? कजराद्विश्वं व्यापिन्या या स्थितं प्रभुः।

रेमृसमालमङ्कृत्वा जिह्वादन्तान्तरे स्थितः॥

स्वयं मुच्चरिते यस्तु * *? ब्रह्म विष्णु? दुच्यते।

क?तरे स्थूल मे नाभि? क्षरते च पुनः पुनः॥

यासौ परापरा स्वस्थानक्षर व्यापकस्तदा।

लक्षङ्कृत्वा परशान्ते एकचित्तमनंधतुः॥

उच्चार्यन्तेन बाणेन बिन्दुः परमयोगिनः।

यावदुच्चरते ह्यात्मा सकलस्तु कलैस्सह॥

कलाती * *?तस्थायं लयं गच्छति रञ्जते।
तत्रस्था भूयभूयाप्येक चित्तमनं धनु॥

क्षणे नैकेन मुच्येत किं पुनः सततं नरः।
उच्चार्यन्तु परं ज्ञात्वा अभावभावनां कुरु॥

भ्रमरः कुसुमो सक्तः तथा योगपरायणः।
दहन्त्यत्तवा व्रजेद्यस्तु सर्वभावान्विभावयेत्॥

याग युक्तमतिन्द्रि? च? पर?निर्वाणमाप्नुयात्।?
यस्य गमेन *? तदा पठते ग्रन्थविस्तराः॥?

नव*विटचे? प्राज्ञः परं सुखमवाप्नुयात्।?

p. 3b) वेदस्य विन्दनं नाम यो वेत्ति परमं पदम्।
यस्तं विन्दति वेदज्ञ स भवेद् वेदपारगः॥

वेदा विन्दति तत्वज्ञ वेदशास्त्र *? तत्पराः।
परम ब्रह्म इति ज्ञात्वा स भवेद् वेदपारगः॥

तृस्थानश्च तृमात्रश्च तृब्रह्मश्च तृरक्षरम्।

अर्द्धमात्रार्द्ध यो वेत्ति स भवेद् वेदपारगः॥

वेद विदुषस्तु यो विप्रौ ब्रह्मविद्यपरायणः।
परं वत्तः स विज्ञाय स पूज्यनारये जगत्॥

यस्मिन् दशेवसद्योगी स देशः परतां व्रजेत्।
भुञ्जते सकृदप्येवं स कुलम्बा धृतो भवेत्॥

आगमो ज्ञान नित्या च विज्ञेयश्च तदा गमैः।

ज्ञेयश्च तत्त्वतो ज्ञात्वा त्यजेत् सत्वमशेषतः।
ज्ञेयं ज्ञात्वा त्यजेज्ज्ञानं च्छन्दसत्वन्तथैव च ॥?

पलालमिव धान्याधी त्यजेद्ग्रन्थमशेषतः।?
उल्कहस्तो यथा * स्वि? द्रव्यमालोक्यता व्रजेत्॥?

p. 4a) ज्ञानेन ज्ञेयमालोक्य ततो ज्ञानम्परित्यजेत्।
यथामृतेन तृप्तस्य क्षीरणास्ति प्रयोजनम्॥

एवं तत्व प *? ज्ञात्वा वेदे नास्ति प्रयोजनम्।
वेदेयाज्ञैस्तप्यैन्दानै कृयाशक्ति न हिन्सया॥

मोक्षस्तु न भवे तेषां जन्ममृत्यु पुनः पुनः।
पठित्वा चतुरावेदा धर्मशास्त्राण्यनेकधा॥

यज्ञेयं नाभि विन्दन्ति सर्वे ते पशवस्मृता।
आत्मानं येन विन्दन्ति पशुपाशैर्विमोहिताः॥

भ्रमन्त्यस्तु चिरं कालं यान्योनेनैक सहस्रशः।
अस्वमेधै स्वधैः सन्त्यैः तीर्थैर्दानैस्समैरपि॥

परमात्मा विदुर्यस्तु तस्यासनैव पूरयेत्।
तत्तेव ससतं सा * एकपादहस्तिनोनरः॥?

एकध्यानेन योगीनां सममेतन्न संशयः।
अग्नि * *? दिभिर्यज्ञे येन यष्टं स दक्षिणम्॥

p. 4b) एकध्यानेन योगीनां सममेतन्न संशयः।
पृथिच्छा? सर्वतो वानस्ततो सुचि समन्ततः॥

एक * * ? योगीनां सममेतन्न संशयः।

ब्रह्मचर्यदघ? सत्य अहिन्सा लक्षणेन तु ॥

एकध्यानेन योगीनां सममेतन्न संशयः।
क्षर *?तानि सर्वाणि कुर्वन्ति गतिरागति ॥

योगिनो तत्व विद्यस्तु न क्षरेत परङ्गतः।
नात्यन्तु भुक्षितश्चैव नान्यन्तनिमुनेन तु ॥

दुर्मनाव्याकुलो यस्य तस्य योगो न सिध्यति।
शरीरं सुस्थितं यस्य मनं सोम्य तथैव च ॥

निर्तयोनिरतु क्षारी तस्य यागस्तु सिध्यति।?

भगवानुवाच ॥

जीवं तृधा स्थितकायेदात्मादुच्चरितस्वयम्।
नदते परमात्मात्मा कर्षणान्तनात्मनि ॥

p. 5a) पूरकः कुम्भकश्चैव रेचकस्व विधीयते।
यागस्यैतानि नामानि तृधासारमते परः ॥

वायुस्तेजस्तथाकास तृतीय जीव उ * * ? ।
जीवप्राणमिति प्रोक्तं वालाग्रसत कल्पितम् ॥

शब्दमूर्तिमयः प्राणाहृद्याकासेषु मुच्चरै ।
पूरितत्तेन सर्वाङ्ग पूरकस्तु तदुच्यते ॥

आपूयमानमचलं प्रतिष्ठं विस्वरूपेण संस्थितम् ।
निश्चल स्थिर भूतात्मा कुम्भकस्तेन उच्यते ॥

चरितं येन सर्वत्र त्रैलोक्य सचरारम् ।
सर्वभूतात्मकः शम्भुरेवकस्तु विधीयते ॥

ब्रह्माण पूरकम्विद्या कुम्भको विष्णुरुच्यते ।
रेचकै शङ्करश्चैव तृविधाधारणा स्मृतः ॥

पुण्यपाप विनिर्मुक्ता मुक्तिराकाशमात्मिका ।
एक मूर्ति त्रयो भागो ब्रह्मविष्णुमहेश्वरः ॥

सहजागन्तुकैपासैः नैरोधिक समुद्भवैः ।
बद्ध समुच्यते नेद्यः तत्वभेद कृतेन तु ।

अर्जुन उवाच ॥

कथन्ते सहजा पासनैरोधिक कथम्भवेत् ।
आगन्तुना? कथं कृष्ण कथमेकस्तु लीयते ॥?

भगवानुवाच ॥

शब्दस्पर्शश्च रूपश्च रसोगन्धस्तु पश्चमे ।
मनोबुद्धिरहङ्कारा अष्टभिर्वै स्थितम्परः ।
एतद्गुणपरा मुञ्चे न गणात्मञ्च ते परम् ॥

भाण्डे बीजं यथा न्यस्तं क्षणमेकं न मुञ्चति ।

गर्भते स्वर्ग मध्ये च नरकम्बाम्ब कर्मभिः ।
यदा स भवते जन्मतैर्गुणै सहिता भवेत् ।

अर्जुन उवाच ॥

भिन्न पश्चात्मके देहे गता पञ्च सुपञ्चधा ।
प्राणैर्विमुक्त देहस्य पुण्यपापक्ष तिष्ठति ॥

भगवानुवाच ॥

पृ ।येषु ष्वेषु स्वकृतंमपृयेषु च दुष्कृतम् ॥

विसृष्ट ध्यनयोगीनां ब्रह्ममध्य सनातनः ।
पुण्यपापम * श्चैव व्य?वाम्य पञ्चदेवता ॥

जीवेन सह गच्छन्ति यावदेहे प्रतिष्ठित ॥

कर्मरष्टगणेर्वद्ध तृधाजीवास्तु भाण्डयाः ।
नीयमानस्तुतिः पासैः शुभैर्वाप्य शुभैस्तथा ॥

p. 6a)

बध्यास्तै कर्मपासैस्तु पशवोबन्धने यथा ।
मुच्यते तस्वमात्मानं मोक्षस्तथाम्विधीयते ॥

एषान्ते रु * ? जापासानैरोधानिन्द्रियाणि च ।
उदीर्णानि तु सर्वाणि प्रकीर्णानि रमन्ति तु ॥

आगन्तुकापि ये पाशा लोभक्रोधसमन्वितम् ।
कामराग विकीर्णस्तु शरीरन्तमोहन्ति वै ॥

एवं तृविधपाशैस्तु बद्धामूह्यन्ति जन्तव ।
भ्रमंत्यनेक जन्मानि शुभा नित्य शुभानि तु ॥

आत्मानं यस्तु पश्ये तु योगी तु परमम्पदम् ।
विघट्टयत्येक पाशां घनाग्नीव प्रभञ्जनम् ॥

अर्जुन उवाच ॥

कथं सञ्चरते ह्याषा ग * त *? यथेन तु ।
उत्पथेकानि स्थानानि ते स्थानेकात्र तिष्ठति ॥

प्राणिनाशुश्वसंकृत्वानिश्वशञ्च मुहुर्मुहुः ।
निर्गतस्तु स्वदेहास्तु पुन प्रविसते तु किं ? ॥

क्व स्थानं व्रजते तत्र किमथ?श्च निवर्तते ।
किन्ता वदात्मनाथायपराथाय मथापि वा ॥

एकाकी सञ्चरते किन्तु अथवा * * * ?वापि वा ।
एतन्मे संशयं कृष्णच्छेतु मर्हस्यशेषतः ॥

भगवानुवाच ॥

जाग्रस्वप्नं सुसुप्ते चैव तुर्य चैव तथा परम् ।
तुर्यावत्किम्वा? स्वतश्च षट्स्थानानि परस्य तु ॥

जाग्रे तु हृदयस्थानं कण्ठे स्वप्नसमादिशेत् ।
सुषुप्तं नेत्रयाश्चैव तूर्यन्तु मूर्द्धनि स्थितम् ॥

न * * *? तूर्यवस्था तु नासाग्रेतीतमेव च ।
एवं सञ्चरते ह्यात्मा योगिनान्तु सदा स्थितम् ॥

जाग्रे तु ब्रह्मणश्चैव स्वप्ने विष्णु सदा स्थितः ।

स्थित रुद्र सुषुप्तेषु ईश्वरः तूर्यमास्थितं ॥

सदासिवस्तु तूर्यान्ते तस्यातीते परः शिवः ।
आत्मना निर्गम हृत्वाने नैव विशने पुनः ॥

सहपूर्याष्टकै गच्छै सकलस्तु कलैस्सह ।
त्यक्त्वा गमविसे ह्यात्मामममृतस्या प्रकारणा ॥

तस्यागम पक्षन्तु आगच्छ ह्यात्मन प्रति ।
p. 7a) सर्वैः स * * *? भूयाप्राणाना कारणात् ॥?

यातं जननि यागा तु स मुक्तन्सर्व वन्धनः ।?
अज्ञात्वा * *? गर्भ? संसारा पच्यते बहुम् ॥

यावदेतनमुञ्चेत शब्दादिगुणमस्तकम् ।
भूयोपि बध्यते तेभासंसारा पच्यते बहूम् ॥

शब्दस्पर्श स्व * *? सूलमं? गच्छति ब्रह्मणे ।
रूपरसोमनश्चैव विष्णुनीलयतां व्रजेत् ॥

अहङ्कारश्च शन्धश्च? लयं गच्छन्ति सङ्करः।
याशौ परापरालीना अमृतत्र?श्च गच्छति॥

पूरक कुम्भकलीनं? कुम्भा?कारेचतं स्पृसेत्।?
रेचकापि परसान्तेय उत्पदमनामयम्॥

यच्छते? * *?जुन? क्षिप्तं क्षीरक्षीर घृते घृतम्।
अविषेयम्भवेतदुत्परमात्मानमात्मनि॥

त्यक्त्वाष्ट? गणवर्गन्तु बन्धा मुक्ता व्रजेत्परम्।
मुद्य?पुन * * * * सान्तथा विधीयते॥?

* *?सद्भावज्ज्ञेयन्तु विजित्यनुक्त क्षणेन तु।?

ज्ञानमात्रेण मुच्यन्ते किं पुनः यागधारणा।
परतरं नास्ति वेदैर्यन्तु तदा क्ष?र॥

तत्क्षणं निस्यते सर्वब्रह्महत्यादि वातकैः।
सन्धासन्धक्षणा तु स्वपुण्यपाप विवर्जित?॥

* * ?र्विमुक्तस्तु तत्वभेद कृतेन तु रिति॥ ०॥

अर्जुन उवाच ॥

यत्वया कथितं ब्रह्मज्ञानम्परमदुर्लभम्।
अरुपञ्चमविज्ञान * * * * * * * ? ॥

ध्यानयोग सदाश्चैव अहन्यहनि योगिनः।
इहत्र प्रत्ययक्किञ्चि ब्रूहिमे मधुसदनः॥

भगवानुवाच ॥

* * * * * * * * * *ग्नि प्रज्वलनन्तथा।?
तुला पुरुष विज्ञान सट्चाक्रामणमेव च ॥?
गिरिक्षेपिच्छितेभ्यासौ ज्योतिदर्शन तथा।
* * *? तानि योगानां ब्रह्मविद्याभ्यसे कृते।
अष्टप्रत्ययोन्यतरं सिद्धिस्तु परदर्शने ॥

सा सिद्धि परमाज्ञेया प्रत्यक्षदर्शनेन तु।
अन्यपि विना ज्ञानन्तु प्रज्वलयन्ति योगिनः॥

महाख्याति सत्वस्य अग्निप्रज्वलनम्महत्।
वीजानां संहर तत्वेन पुराहन्ति धापिताम्॥

संहरन्तु तथा चैव पुनर्लघुतरम्भवेत्।

p. 8)

बुद्धिर्मनस्त्वहङ्कार शब्दस्य शब्दरूपध्याः।
रसगन्धामेव वाष्टो प्राणा * * * * * * ॥?

* * * * * * * * * * * * *? कृतो यथा।
प्रविशेत परदेहलया मृतकस्य तु॥

चालनाज्ञापनङ्कृत्वा पुनः शीघ्रं निवर्त्तया।
स्थिर बुद्धिं च सन्मूढः ब्रह्मविद्ब्रह्मणे॥

स्वेतः पिङ्गलायान्तु वै नाभ्या स्वपुरं प्रविसे पुनः।
परमानेन कर्तव्य प्रवेसो निर्गमस्तथा॥

कदाविलम्ब सा * *?मुहु परपुरं गतः।

त ज्ञाति सीलो भवति तस्माच्छीघ्रं निवर्तयेत्॥

प्रयाग घटिका कृत्वा जिह्वातल न च्छादयेत्।
सद्ये * *? भवति स्व * *? यायेन संशयः॥

स्वकाम भवते मृत्यु न कालवसो भवेत्।
अनागतमतीते वा स्वच्छन्दो योगिनो भवेत्॥

* * * * * * * * * *?पद्मासनं शुभं।
परशान्त लयं गच्छविमुक्तया सवन्धनैः॥

समाप्ते योगिनां योगे यम्यस्ये स्पृशतेपि वा।
यस्य सम्भ * * * * * * * * * * * *? ॥

तथा विष्णु सम * तिनासाग्रे निसि दर्शयम्।
प्रत्तया जायते ह्येवा अग्नेयाधारणा न्यसेत्॥

विष्णु ज्ञान * * * * ? नासाग्रे योगिनस्य तु।
महापातक युक्तोपि मुच्यते नात्र संशयः॥

रेचक पूरकयो मध्ये कुम्भके नैव योगिनाम्।

संहर्षणे क्षिप्ता? वह्नि प्रकाशोच्यन्तराद्बहि ॥

एवं प्रवर्तना मध्य स्त्रद्धया परमाप्नुयः।

सम्वत्सरेण सिद्धतव्याग्नेयीन्धारणा? भ्यसेत्? ॥

* * ?न्नोहहं यस्या सिद्धयते नात्र संशयः।

* प्रसन्ना नमो याव? इहत्र प्रत्ययेन तु ॥

येषा पर्वत धातूनां यवदह्यन्ति धान्यता।

कृत यकृता? दाषादह्यंत प्राण निग्रहा ॥

कृत्वायाप सहस्राणि पश्चा ध्यानपरा भवेत् ॥

ध्यानं सोधयते सर्व तु * * * * * * * ।?

* * * * * * * * * * * * * * * * ॥?

* * * * * * * * * * * * * * * * ।?

p. 18) दुष्कृतान्येकसः कृत्वा महापातक जात्येपि ॥

अग्नेयं धारणं ध्यात्वा भग्नी भवतिकास्त?वत्।
ब्रह्महत्या सहस्राणि असम्यायमनानि * * * *? ॥

* नेन योगेन सर्वन्नस्यन्ति तत्क्षणात्।
यथा महासमृद्धाग्नि वारिधारैर्न्नवार्यंति ॥

योगिना तत्वविद्यस्तु वर्णावर्णैर्न्ननाश्यते? ।
भक्षयित्वा विषं यद्वदमन्त्रीणो व जीवति ॥

तथा ब्रह्मविदो नित्यं कुकर्म नरकं वसेत्॥
अगाधे संललें? यद्वनिमज्येद * * * * * * * * ॥?

अभक्षभक्षी तथासौ चीनिमज्ये तत्वभिर्भिन्ना।
काशकारकृमि यद्वदथवत्वाक्षयं व्रजेत्॥

कर्माकर्मैरनेकस्तुरंतवीवध्वावतिष्ठति।
तावत् सत्पञ्चासौ चञ्च जप यजुहुतन्तथा॥

दानाध्ययन तीथञ्च यावद्ब्रह्मन्न विन्दति।

परम्ब्रह्म विदुर्यस्तु सर्वव्यापि भवेतु सः ॥

इतरेसुखदुःखानि भ्रमन्ते नेकजन्मनि ।
ज्ञात्वात्वेकाक्षरो ब्रह्ममात्रारेख विवर्जितम् ॥

आचर सर्ववर्णेषु न तु भक्षम्विचारयेत् ।
न मालिप्यति पापेन पुण्या नैव न लिप्यते ॥

स याति देहपतनं यत्तत्पदमनामयम् ।
तावद्वर्ण विशेषस्तु यावद्ब्रह्म न विन्दति ॥

विदित्वा तु परम्ब्रह्म सत्ववर्णद्विजातयः ।
यं ज्ञानेन हता स्मरन्ति गुरुभ्रातृ सबान्धवात् ॥

चिन्तघ्नीस्तु? वनवासा? वास? * * * * * * ? ।

ब्रह्मविद्या प्रभावेन याग युक्त बलेन च ।
पुण्यपापैर्विमुक्तैस्तु सयाति परमागति ॥

अव्यस्व?तव स्नेहेन कथितन्गुह्यमुत्तमम्।
आत्मा वै स्वयमेव तु ज्ञानेनैव तु लभ्यते॥

यं ज्ञाने तु जपं कुर्यान चैवा ज्ञाने नैव लभ्यते॥

अयुतन्वो? सहस्त्रे च यच्छतानि तथैव च।
*? होरात्रेण योगीनां जपसंख्या करोति यः॥

मनोरन्यत्र निक्षिप्तं चक्षुरन्यत्र भारत।
तथापि योगिनां योगो * * * * * *? प्रवर्तते?।

p. 19) एत तत्वस् *? नना? जाप्य अनन्य मनसार्जुनः।
ज्ञानिनामेष जाप्ययाङ्गजालविमोक्षणा॥?

स्थिर बुद्धिरसन्मूढा ब्रह्म * * * * * *?।
स्नातः सुचि जपेयस्तु व्रतनियम परायणा॥

तत्सर्वं समभागन्तु ज्ञानेन तु कृतं भवम्।
सृणुयाव समासेन षन्तिधं? यागलक्षणं॥

स्वयम् प्राप्यैव विमुच्यन्ते सर्वद्वन्द्वे द्विजान्तमैः ।

प्राणायामस्तथा ध्यानं धारणाच्च तथा परा ॥

मुञ्चनाकर्षणाद्धातु नयेध? षष्ठ उच्यते? ।

एते तु षत्त्विधा यागा मुनीनां मोक्षदाः स्मृताः ॥

अनृतं कुभाजनश्चैव क्रोधमोहमहिन्स *? ।

*?धोणा? * * * * * * * * ?दहक *? मनादि विवर्जितः ।

नास्तिक्योपि सुखञ्चैव नराणांते कथञ्चन निति ॥

अर्जुन उवाच ॥

अद्यमे सफलं जन्म * * * * * * * *? ।

प्राप्तोहं भागमोक्षन्तु तत्व भेद कृतेन तु ॥

एव मुक्तो ज्ञानस्तस्य दण्डवत्पतितो भुविः ।

कृताञ्जलिपुटं भूक्ष्यपादयुस्मववन्दिर ॥

p. 10b)

नादा समं गच्छे व्रतचर्या व्रवीहिमे ।

ब्रह्मचारी व्रत * * * * * * * * * * ।?

* * * * * * * * * * * * * * * * * * ॥?

क्षेत्रपरानित्यञ्जपहोम परायणः ।

वा न प्रस्था भव वस्वान पाताद्वृद्धि ग्रास्तता ।?

चतु * * * * * * * * * * * * ॑ य ।?

प्राप्यैव विमुच्यन्ते सर्वद्वंद्वै द्विजात्ततैः ॥

ब्राह्मणं भोजयित्वा तु यथा सत्त्या तु दक्षिणा ।

अग्निहोत्रं मा * * * सत्य * * *?वदेत् ॥

सन्यस्तं मया सन्यस्तं मयान्यस्तं मयेति ॥

तृरुपां मुत्तवा तृरुच्छै अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्वा चरति यामुनम्? ।

नखस्य? संदु?तेभ्यो अभयं या तु विद्यत इति ॥

सन्यस्त तद्विज दृष्ट्वा स्थानाच्चलति भास्करम् ॥

कम्पते दासना चन्द्राययापि विमना भवेत् ।?
देवता दैत्य सिद्धाश्च मुनयस्व वदन्ति च ॥

ये चास्य पूर्वकाके चिदुदुरनरकां गतः ॥

यस्य सम्भाषणङ्कुयातत्क्षणा विरम * *? ।
सृणु वकारमुच्यते सर्वपातकैः ॥?

p. 11) चतुर्थास्त्रमपदं प्राप्यं यायति भक्तितो नमे ।
सवन्साकपिलादान तत्फलं प्राप्नोति मान * * ॥?

यस्य वेस्ये सुचि स्रेष्ठेनिविष्टेसौ वितासने ।
सत्मार्जना प्रोक्षणङ्कृत्वा उपलेपनमेव च ॥

सौचिता सनामासाद्ययतीनान्तु निवेदने ।
अग्निहोत्र हुते वर्षफलं प्राप्नोति मानवः ॥

अक्रोधी चामस्चरी? च असठी न अधैस्तनी ।
आर्जवः सर्वत्र तेषु सर्व मे ब्रुहितरन्तः ॥?

ब्रह्मचारी सुचिर्दान्तसौचाचार सदारतः ।

सर्वलि वैश्यैस्तोत्यां? यावदन्धञ्च भावसे ॥

एकान्त सुचिरन्नित्यं त* * * * * * व्या मु ।?

जापीनै यावदिच्छाभिर्निर्मलं नलवर्जितम् ॥

विविक्त देशमासाद्य ध्यानयोग सदारतः ।

त * द? तल्लयो भूत्वाध्याय एकान्त * * ॥?

मुक्तस्समाचारः व्रतनियमपरायणाम् ।

यान्ति * * * * * * * * * * * * * * ॥?

कामलोपश्च लोभ * * * * * * * * * ।?

* * * * * * * * * * * * मात्सर्यम् ॥?

सून्या द्वेष्यं सन्यस्तं मन्यसी भवेत् ।

माताश ब्राह्मणी नित्यक्ष * *? भगिनी ममः ॥?

दुकिता वैस्या परिहरन्तव्या बहुपुरुषमल विलिप्ताङ्ग ॥

रजक सिलातल सदृसं वेस्यावदन जघनञ्च ।

एकस्मिन् * * * * * * * * * *? मुत्तमम् ॥

स्वधर्मा यत्र लोकाभावस्त्राधिका भवेत्।
अन्य भक्ताजना यत्र निन्दा यत्र प्रवर्तते॥

* * * * * * * * * * * * * * ? संवसेत्।
ब्राह्मणानां सहस्रेभ्यो यतिरेको विसिष्यते॥

ब्रह्माविष्णुस्वरु प्र? स्व? * * * ध्याम्यितरैस्सह।
* * * * * * * * * रो देवा सवासवा॥?

सर्वते तृप्तिमायान्ति दशवर्षाणि पञ्च च।
सूर्य ध्यातयोर्यद्वन्मेरु सर्षपयोस्तथा॥

अन्तरन्तु? * * * * * * * * * क्षुगृहस्थयाः।?
तस्मात् स्राद्धे विशेषेषु पुण्येषु देवसेषु च॥

मम षद्दिस्य दातव्यं यतीनां दन्तमक्षयमिति धा * *?।

p. 23) यत्रभिक्षुरह तत्र सान्निध्यं जनयर्जुनः।
पूजितेन तु पूज्याहं पूजिता सर्वदेवताः॥

अन्त्यजपि तु मद्भक्तः चतुर्थ देविमाधर्मभागस्य हर्तानास्त्यत्र संसयः।

किं पुनः मम लिङ्गस्थं द्विषन्ते मत्परायणाः।

सुष्ककाष्ठ समाज्ञेया तेषां * * *त्य? गर्वयुक्तास्तु अहङ्कार यदुत्वया॥

कुदृष्ट यथमार्गेधो नरकं यान्ति मानवं।

न्यापि मम भक्तास्तु * *? ससाधु कुलजाधीरो ममलोक स गच्छति॥

विष्णुशङ्कर ब्रह्मा च विश्वदेवा पितृद्यपि।

मुखमासाद्य * * * * * * * * * * *॥?

सकृद्भुक्ते नयति ना सर्वकोटि गुणम्भवत्।

किं पुनः बहुभिर्भुक्ते तेषु सङ्ख्या न विद्यते॥

यतीनां पूज्यना * * * * * * * * * दा।?

अथ मान कृते तेषां सर्वदेवाय मानि *?॥?

आसनं सयनं यानं यतीच्छ * * वद्यजेत्।?

पादहीन ये यति द्विषन्तिमूढाश्चतुर्थासुमते द्विजम्॥

अन्यानि देवता भक्ता कुदृष्ट सा * * *? सम्।?

आदिधर्मन्तु दूष्याभि * * * * * * * * ॥?

आदिधर्मीमिमम्पुण्यं आसुमादुत्तरान्तरम्।

यर साक्षात्स्वयम्विष्णु कथमिन्दन्ति मोहिता ॥

दृष्ट्वा कुपष * *? परलोकास्ते गतास्तमराङ्गतिम्।

यदात्वमूकवधिरा जायते जन्मतः जन्मतः ॥

*? दोषन्निर्भयै * * * * * * * *?यत्।

कीर्त्यमानेन विभजेत् तस्य यद्दुष्कृतम्प्रति ॥

त * * * ? क्रोधे अपुण्येषु दिवसेषु च।

मम सुद्धिस्य * * * * * * * क्षयमिति ॥?

कार्तिकेय उवाच ॥

त्वया देव प्रविज्ञातं हन्सपरमनिर्णयं।

तेनाहं श्रोतुमिच्छामि कथयस्व * * * *? ॥

समुद्दिष्टं किम्वाहन्सस्य लक्षणम्।

किं प्रणक्षेतिनामानि किं रूपतयाकागति ॥

किं व्याप्ति तस्य देवेश शरीरस्तु * * * * ? ।
p. 24) सर्व यथान्यायं कथयस्व प्रसादतः ॥

महेश्वर उवाच ॥

खेचरं खड्गसिद्धिं च पाताल पादुकन्तथा ।
अन्तध्र्वानञ्चक्षुरेकत्र * * * * * * * ॥?

अणिमादिगुणादिनि सर्वहंस न सिध्यति ।
न हन्स रहिता मन्त्रा न शक्तिशिववर्जिता ॥

अनाथन्तु न तिष्ठन्ति अनिला व * * * * ।
निल न विना वह्निस्तु ज्वलन्तेन कदाचनः ॥

तद्वत्मन्तान सिद्धयन्ति दिनाहन्स न षट्मुख ।
* * * * * * * * * * * * * * * * ॥

एवं सर्वेषु मन्त्रेषु हन्साव्याप्यवस्थितः ।

तत्वहीना न सिद्धयन्ति जप्तकोटिसतैरपि ॥

तस्यान्सर्व * * * * * * * * * * * * ।
क्यनिलानल सप्तस्थं कालरुद्रञ्च भेदितम् ॥

शक्तिप्रवहते ह्येषा स्वतन्त्रायन्त्रवाहका ।
सकृदुब्दारिताद्यं? अ * * * * * * * * ? ॥

* * ?षा सुरापाणस्तय गुर्वायमायमम् ।
सर्वदहन्तिते क्षिपं सकृत्स्मरणमात्रकम् ॥

ययत्तुषारतो नित्यं विना यज्ञ * * * * ।?
* * * * * क दृष्टं सर्वदुःखातुरा शिवः ॥?

आगोपालाङ्गणा वालास्लेच्छास्त्रात्तत भाषिणाः ।
* *?र्जलगता सत्वाय च सत्वास्थला स्थिता ॥

* * * * * * न्धर्वा किन्नराप्सर सा गणा ।?
सिद्धविद्याधरादैत्यायन्य किम्पुरुषादयः ॥

ऋषया अप्सरायत्त्याराक्षसास्वपि सा मुक्ता ।?
भूतावता? योगिन्यो गुह्यकामातृकादयः ॥

सर्व ध्नुवन्ति तत्सर्वं हन्सोहन्स पुनः पुनः ।
न विजानन्तिते मूढा देहस्थं यन्त्र * * ॥

* * * * *?मिष्यन्ति महामायासु वेष्ठिता ।
तावद्भमन्ति संसारे घोराकारे महाभय ॥

यावन्न सक्तिपातायं सर्वतत्वमय स्विमो ।
मयातुराहितो स्कन्द मम भक्ति प्रचोदिता ॥

विन्दन्ति परमं हन्स सर्वसर्वगं शिवं ।
यथा निर्मष्येदधिषु उद्धृतं सर्पिरुत्तमम् ॥

एवं सर्व प्र?शास्त्रषु निर्मष्य ज्ञानमुत्तमं ।
उद्धृतं परमं हन्सं दिव्यतन्न सदाशिवः ॥

अकृत कर्मणादीच्च सर्वदेहे व्यवस्थितं ।

गङ्गास्त्रोत्रप्रवाहन्तु विज्ञेय *?रमंशिव ॥

p. 24) स्वस्थ स्वस्थसुनिर्वाण कैवल्यं कलनात्मकम् ।
सु *?स्फटिक सङ्कासं विज्ञेयन्तु परापरं ॥

अनिर्देस्यमनौपम्य अव्युच्छिन्न समन्तति ।
सुनिर्वाणपरं हन्स सर्वतत्व प्रबोधकः ॥

तस्योद्धारम्प्रवक्ष्यामि शृणु षट्मुख तत्वतः ।
व्यापकानां द्वितीयस्य चतुर्थबीजमुत्तम ॥

अमृतबीज समाख्यातं षोडसकलसंयुतम् ।
वाहको दक्षिणे पक्षे सुषुम्ना ससमन्वितम् ॥

अभ्यास समरसोहन्स पञ्चादक्षर संयुतम् ।
क्रीडते कलयान्माघपक्षद्वयसमायुतं ॥

त्रिबिन्दु नेत्रमित्याहु मुखं नादप्रकीर्तितः ॥

स रुद्रस्वरणौ तस्य कल्या? * * *? स्थितम् ।
स एष परमो हन्स सर्वकारण कारणः ॥

सर्वात्मा प्रणवः प्राण सर्वव्यापि महेश्वरः ।
सर्वकृत्सर्वदर्शी च सर्वज्ञा सर्वगध्रुवः ॥

स्वयम्वैद्यो महायागी तारका भिन्नतारका ।
पुराषो पूर्वकः मुद्रायः सु *?तीति पुरन्दरः ॥?

वासवावसवा वासा हाष? देवामहाष्कृति? ।
p. 14b) क्षत्त्रज्ञ प्रणवो जीवाहं साख्येति च कीर्तितः ॥

महाकाल * * *? तेज महाबलपराक्रमाः ।
महावीर्या महाहन्सा महाभैरव रूपधृक् ॥

महादमो महान्साहा महासिद्धि प्रवर्तक इति ।

॥ हन्सनिर्णयन्नामः ॥

ॐ नमो महाभैरवाय ॥

कैलाशशिखरे रण्ये? सिद्धचारणसेविते।
सिद्धयोगी समाकीर्णे नानाद्रूमसमन्विते॥

अप्सरोगणा सङ्कीर्णेयक्षगन्धर्वसेविते।
नाना * ? समाकीर्णे * नात्म?धातुविचित्रिते॥

अनेक शिखरा कीर्णे गणगन्धर्वसेविते।
सहस्त्रकिरणोपेते तप्तकांचन स प्रभः॥

रिषिभिश्चैव * * *? सिद्धगण निषेविते।
कर्णिकार वनान्तरं पुष्पित चम्पकादिभिः॥

सर्जार्जुन कदम्बैश्च पाठल्यासौकशोभिता।
तत्र तस्मिं गिरे रम्ये स्थितः सद्दशे? या सह॥

विचित्र्यरव खचितं आसनाकाण्चनामये।
कपालमालिनन्देवयञ्च कुञ्च शोभितम्॥

भुजे षोडश संयुक्तं कल द्वादश लोचने ।
p. 26) जटावद्धार्द्ध? मकुटं शशाङ्ककृतशेखरम् ॥

पि * *? स महाघोरं ज्वलन्तमेवपावकम् ।
नागयज्ञोपवीती च महाघोनास कुण्डल ॥

कटाके नागराजेन्द्रके पूरैकटि सूत्रकै ।
शोभते देवदेवशं उमा देहार्द्धधारिणां ॥

खट्वाङ्गधारिणां देव शूलपाणि भयानकम् ।
* *? स?धरं वीरं तथा वज्रासि धारिणां ॥

शक्ति परसु हस्ताश्च अक्षमालाविभूषितम् ।
महाशवकरे भाजनं सुकृतकर्णि परितं ॥

* *? च?र्मान्तरीयरुघण्टा? हस्तभयानकम् ।
व्याघ्रचर्मपरीधानादुष्प्रेक्षतृदशैरपि ॥

कोटराक्षमहाशम्भुः महा * * *? भूषिता ।

लेलिहन्त महाजिह्वा संसारो सृष्टिकारकः॥

कपालं वामहस्तस्थः तथा डमरुकं करः।
चक्रपाणिधनुस्चैव सराद्यनेकरेनथा? ॥

प * हन्स? सृष्टीनञ्च? तथा भट्टारिकङ्कर।
हसन्तं किलकिलायन्त महाभीमौद्दहासितम्॥

भैरवं रूपमाच्छाय महायोगिभिरावृतः।
एवं सुख *? कालकस्य च अमृतम्॥

मूर्खस्य शास्त्रे सद्भावं कुमारी स्त्री सुखं यथा।
तथा पापेज्ञ? पुरुषः कालकस्य परामुख॥

एव अज्ञानमूढस्तु शास्त्रजाल न मोहिता।
न जानन्ति परानन्द कुलज्ञाना परामृता॥

यथेष्ट सिद्धिदन्देवि इच्छाशक्तिरधिष्ठिता।
येन येन तु वेशेन येन तेन व्रतेन वा॥

न यत्र नागच्चाङ्कार? द्वैताद्वैतयथेप्सया ।
अवसरे तु यदाहं तदाहञ्चरुकोपमम् ॥

गृहस्था ब्रह्मचारी नासवासा? रूपि वा ।
यथेप्सवर्तमानस्य यत्र तत्र स्थितोपि वा ॥

यथा तथापि देवशि गुरुगुरुतरन्वितम् ।
रुद्रशक्ति सम? * च? सा? कलि? या? न सिध्यति ॥

इति तिमिरोद्घाटनै द्वितीयः पटलः ॥ २ ॥

भैरव उवाच ॥

ग्रन्थर्थे? वदते लोके अन्यथात्मा समाचरे? ।
* * * कार पण्डित्यै गर्विता कुराभिर्गता ॥

अक्षरात्मन सन्तुष्टा वेदसास्त्रार्थ चिन्तता ।
न बिन्दन्ति परं शान्तं मोहितामुर्थपण्डिता ॥

p. 15) तस्य कुतो ज्ञानं ग्रन्थकोटिशतैरपि ।
कर्पूरकुंकुमादीनिखरा वाहिनिरर्थकः ॥

विनया सिद्धातिश्चैव वहवक्षिप्य मोहिता ।
कौलवरानन्दं न विन्दन्ति वरानने ॥

मन्त्रतन्त्रेषु सन्तुष्टा किल्विस्वादित प्रत्ययः ।
अप्राप्य कौलिकज्ञानं सन्तुष्ट विनयनरा ॥

सुक्लपीतादि?ष्ठा अन्यष्वा? कटुकादिकं ।
कुण्डलावर्तुलाकारादहनाप्यायेनन्तथा ॥

एवमादि तथा चान्य भूतशुद्धि तथा परा ।
बिन्दुनाद * था? * सूक्षूं? स्वाध्वानमेव च ॥

ज्ञानतत्व विधिज्ञात्वाशैवासन्तुष्टमानवाः ।
कौलिकन्तु सर्वसद्भयागिनीनाश्यहात्मना ॥

* * * * * *? कीटा पशुत्वं परिकीर्तिता ।
सौवर्णमृत्मयावापि राजस्यमशकस्य च ॥

तादृशमतेनन्देवि कौलवैनपि कस्य च ।
गगनेषु पराचन्द्र कं? षुगजं यथा ॥

तथासौकते कौलीशभ्रमन्त पृथिवीतले ।
रञ्जि *?क्षरसंयुक्तं कौलविद्याक्षरान्वितम् ॥

ध्यानचिन्तामणिर्यागं अचिन्त्य चि *?देहे कथम्भवेत् ।
संशयो मे महादेव एतत्कथयस्वरस्वरः ॥

भैरव उवाच ॥

सर्वेषा या तु सा देवि हृदय सर्वदेहिना ।
ज्ञानापदसरन्नन बोधिता स विसुध्यति ॥

योसौ व्यापकरूपेण शिवशक्ति समेकतौ ।
रुद्रशक्तिरियन्देवि आवेश गुरुमुखे स्थितम् ॥

योसौ अचिन्त्यमन्त्याहु शिवं परमकारणः।
तस्यै सा निर्गता शक्ति नादबिन्दु प्रभेदिनी॥

तस्याच्चारितमात्रेण प्रत्ययाश्चोपजायते।
कर्पते * * *? ह पिण्डन्तु तस्यस्तोभ प्रजायते॥

आभ्यासे दिव्यविद्यते दिव्य देवि तत्र स्थितं।
तस्यमासस्तृभिर्देवि योगिनीभिर् * दर्शनम्॥

यस्य? तं दिव्य देवास्वपिमानस्था वरानने।
यथाभ्यास तया देवि यथा सृष्टि प्रवर्तते॥

हृदयं कम्पते पूर्वः तालुकोच्चारमेव च।
शिरश्च भ्रमते तस्य? सृष्टि संक्रान्ति लक्षणम्॥

एकैक भ्रामयेदेहं अङ्गप्रत्यङ्गसन्धिषु।
घूर्मिता सर्वदेहायं कौलविद्या प्रभावतः॥

p. 30) * * * निर्विकाराणि अवस्था कुरुतेप्सया ।
तेषु तेषुवते? भव्यं क्रीडते परमेश्वरी ॥

न च भूतपिसाचां वा तमोहेन च पीडिता ।
न चा * *?विरुद्रेय च पीडाविमुच्यते ॥

इच्छाशक्ति स्वरूपेण गुरुं भवति योगिनः ।
रत्यानन्दकरी देहे सर्वपापहरिम्परा ॥

पुत्रमित्रक * *णि सा *?धनसञ्चयं ।
इष्टा अनिष्टता यान्ति यागस्वादितमानसा ॥

पश्यते दिव्य देवाश्च विमानस्था वरानने ।
मन्त्रतन्त्र कृता* * * *?ष्टमचेतनं ॥

रुद्रशक्ति समावेशं नित्यावेशमचेतनं ।
दिव्यदेवैश्च संयोगा परमानन्दकारणम् ॥

ब्रह्माण्डो * * प्र * *? भुक्ति मु * फलप्रदा ।

रौद्रशक्ति समावेशं शब्ददृष्टिषु जायते ॥

न जानाति दिवारात्रौ युक्त योगो वरानने ।
क्षुधातृषं न जानन्ति बहुपीडा न * *? वै? ॥

जायते हृष्टि तुष्टिश्च सदात्मानन्दमेव च ।
कुरुते चेतना युक्ता मुद्राबन्धमनेकधा ॥

कम्पनं गेयनृत्यञ्च विकार बहुविधस्तथा ।
कुरुते मलविकारण बहुजन्या स्वयङ्कृतम् ॥

धुनते च मलसर्द्ध? परा * * * *? स्थितम् ।
असत्य? यदि भवे चोक्तं दि *? नैव प्रवर्तते ॥

योगचिह्नन्न पाश्यते न विद्या भ्रमिता क्वचित् ।
भ्रमिता यदि भवे तस्य ततः यस्येति निश्चितम् ॥

अन्यथा शास्त्रकोटिषु एवं विन्न? प्रवर्तते ॥

इति तिमिरोद्घाटने चतुर्थः पटलः ॥ ४ ॥

भैरव उवाच ॥

सृणु देवि अधोद्ध्र्वे न कौल *? ना पदेशिकम् ।
* * * * * * * * *? भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ॥

यदा संक्रामित ज्ञानं तदा मुक्तिसुनिश्चितम् ।
कुलाल चक्रबद्धे विभ्रमति देहपञ्जरः ॥

* * * * *? ये सत्वाज्ञानवीयां प्रकाशितम् ।
भुञ्जते विधाता सा भुक्तिमुक्ति फलप्रदम् ॥

आकर्षण वशीकरणम् विद्वेषोच्चाटनमारणम् ।
राज *? त्माननञ्चैव स्तोभस्तम्भादिवास्तथा ॥

कुरुते प्रत्ययं हतं व्यव्य? सिद्धिमनेकधा ।
मन्त्र तन्त्रेषु ये चोक्ता तेपि विद्या प्रयच्छति ॥

स कर्मास्ति संसिद्धा सर्वकर्मफलप्रदा।
p. 18) सर्वतन्त्रान्तमा * *? सर्ववर्णेषु भेदिता॥

मृतसंजीवनी सुभोस्तना?कर्षे तु चारुणा।
स्तम्भकति पीताभासप्तमोच्चाटने स्मृता॥

रिपुमृत्युकरा कृष्णा सङ्क्रामे रक्तवर्णिका।
स्त्रिया विभाति पद्माभा मुक्त्यं कान्ति तेजसा॥

अणिमा लघिमाश्चैव महिमां प्राप्तिरेव च।
प्राकाम्य शिवतत्वञ्च वशित्वं यत्र कामताः॥

स्त्रवणे?दर्शनादूरं अष्टमं परिकीर्तितम्।
कौलिविद्या प्रभावेन ऐश्वयाष्ट गुणाम्भवेत्॥

उत्पद्यते गुणा येन तत्प्रियं कथयाम्यहम्॥

द्वादशानि च * * * * * * * *ता सर्वमर्सनम् ।?
गोपितव्यं प्रयत्नेन लेखकेन न लेखयेत्॥

द्वादशानि व श्लोकानि सप्ताहेन वरानने ॥

ना पठे दियते त *? कर्णाकर्ण? सञ्चरेत् ।
तं लब्धा तु भवे सिद्धि उर्कर? सृष्टि समरसम् ॥

तत्क्षणावन्न ते मुद्रा खेचरी तु न संशयः ।
एक सृष्टिमयं बीजं एक रुद्रा तु खेचरी ॥

द्वावेतौ ज्ञेय नयनसाधि सान्ध पदे स्थितम् ।?
तत्पदे सस्थिता यागत्रैलोक्यमपि दर्शयेत् ॥

उत्पद्यन्तत्क्षणा देवः तृङ्का? * * कि सङ्भवेत् ।?

इति तिमिरोद्धाटने पञ्चमः पटलः ॥ ५ ॥

देव्युवाच ॥

कासोसंक्रामते शक्तिकानि चिह्नानि दर्शयेत् ।
सतास्ता? भाविकाराणि कुरुते देहसंस्थिता ॥

कथं संक्रमिताज्ञेया सङ्क्रान्ताका विधीयते ।
कथ चाक्रमणरत्ना अर्धोर्ध्व न कथं ब्रजेत्? ॥

*? यति कथं ज्ञेया केन कालेन सिद्धिदा ।
सिद्धस्य कानि चिह्नानि च तत्कथय परमेश्वरः ॥

भैरव उवाच ॥

यासा व्यापकरुपेण ब्रह्माण्डो स चराचरे ।
व्यापयित्वा अद्धोर्ध्वेन सर्वव्यापि तु सा स्मृता ॥

स बाह्याभ्यन्तरे देहे सर्वजन्तुषु संस्थिता ।
सदाचार्या?य देशे परदेहे तु सङ्क्रमे ॥

स्थिति गति अधोर्ध्वेन देह सङ्क्रान्ति लक्षणम् ।
अधसंहारसंक्रान्ति ऊर्ध्वसृष्टि वरानने ॥

स्थितिगति स्थिताने *? तृधायागप्रवर्तते ।

p. 32) एवं क्रमेण वेधव्यं त्रिविरेकेन मादिरात्? ॥

देहव्याप्यमधोर्ध्वेन पराशक्ति प्रवेशयेत्।
यस्यैतानि तु चिह्नानि स गुरु *?क्षदा स्मृता ॥

कृत्वा सर्वोपचाराणि आत्मनेन धनेन वा।
ग्राह्य तत्पर संज्ञानं गुरुवक्रेषु संस्थिता ॥

कौलोपदेशरत्नेन योगिना दिव्यदर्शनां।
पश्येन्निमीलिताक्षेस्तु पुनर्प्रत्यक्षदर्शनात् ॥

योगिनी प्रथमं च्छायामात्र पुनः पुनः।
यथाचाभ्यासते योग तथा रूपं प्रवर्तते ॥

पश्येति कृष्णरूपिणी रौद्री वा सौम्यरूपेण।

नानाभरणभूषिता।

दृष्टानष्टे स्थिता चैव बहुरूपेण यस्यते ॥

अन्तरिक्ष स्थिता नित्यं सर्व पश्यन्ति मातरम् ।
रौद्रभैरव रूपेण बहुयोगि परिवृताम् ॥

योगेश्वर प्रश्चैव आत्मानं *? स पश्यति ।
कौलिकं योग भवेन सम्प्राप्तेन वरानने ॥

पृथिव्यानां स्थितं द्रव्यं यन्दत्वा निरणी भवेत् ।
कौलोपदेशदातारं दुनृतं गुरुमोक्षदम् ॥

हृदयद्यस्तु संसारं तस्य? देयमतत्पर ॥

कौलज्ञानामृतं दिव्यं बहुते देषु संस्थित ।
तन्मया कथितं स्वल्पं कोटिनेदेषु? *?स्यते ॥

सप्ताविङ्सतिवर्षेषु कथिता सिद्धि खेचरी ।
नित्याभि युक्तो योगीशशीघ्रमेव स सिध्यति ॥

एवं सर्वमयाख्यातं यनया पृच्छितं प्रिये ॥ ० ॥

इति तिमिरोद्घाटने षष्ठः पटलः ॥ ६ ॥

देव्युवाच ॥

कथितन्ते महादेव कौले योगसुविस्तरं ।
क्रमेण * * रूपाणि दृष्ट्वा मोक्षम्कथम्भवेत् ॥

भैरव उवाच ॥

नित्याति युक्त योगीशः त्रैलोक्यम्पश्यतेखिलम् ।
भिन्न पश्यति ब्रह्माण्डं तस्याहः? शिवं व्रजेत् ॥

प्रथमे पश्यति रूपं स्वप्नान्ते चक्षुमीलिते ।
सततो भ्यास योगेन प्रत्यक्ष देवदर्शनम् ॥

वाचापि सृणोति तेषां स्पर्शैः वा गन्धमेव च ।
वलोत्कटस्तु योगीशः सत्याधिष्ठितमानसः ॥

दर्शये दिव्यरूपिणी सर्वलोकस्यचाम्बरे ।
आश्चर्य कारये नेकं? यथेष्टकारये स्वधी ॥

p. 20)

ग्रन्थार्थेन तु संयुक्तं वेदान्तेन तु संयुतम् ।
काव्यं कराति ललितं सालङ्कारमनोहरम् ॥

क्षोभयन्ति जगत्सर्वं रञ्जिकाचाररञ्जितम् ।
स्त्री पुरुषमावेशञ्च गेयं चैव मनोहरम् ॥

दिव्ययोग स्थितं योगीमनात्मानेन पश्यति ।
पाताले नागलोके च देव्या त्रिभुवनानि च ॥

मानुषानि विचित्राणि तृधोगुल्मलतानि च ।
द्विपदश्चतुष्पदश्चैव जलवारीमनेकधा ॥

देशमण्डलरम्यानि ग्रा * *? नगराणि च ।
अक्षराणि विचित्राणि अन्तरिक्षन्तु दर्शयेत् ॥

दीपान्तर समुद्राणि नद्योपवनपर्वता ।

पक्षिण्या विविधाकारं श्वा * * *?च विशेषतः॥

चन्द्रसूर्यविमानानि इन्द्रलोक स पश्यति।
दिशावाला पुरीरम्या ब्रह्मविष्णुपुरीस्तथा॥

दिव्यमानुष्यपाताला व्यापारं यः प्रवर्तते।
दर्शयन्ति परा शक्ति त्रैलोक्यं स चराचरम्॥

रुद्रस्य पुरी सहितं पञ्चवक्र? पूरशिवं।
सः सदाशिव परमं पराशक्तिरधिष्ठितम्॥

तस्योपरि शिवः शान्तः अव्यवच्छिन्न व्यवस्थितः।
ब्रह्माण्ड शक्ति * * द्य * * * ? परं व्रजेत्॥

व्योमातिते प * सान्त? मोक्षमुक्तिममवाप्नुः।
एतत्ते कथितं देवि क्रमेणैव परापरम्॥

कौलयाग स्थितन्देवि शीघ्रशान्तपदम्व्रजेत्।

इति तिमिरोद्घाटने सप्तमः पटलः ॥ ७ ॥

देव्युवाच ॥

मन्त्रविद्याक्षरे हीनं धेयधारण वर्जितः ।
कथं विज्ञायते ज्ञानं पञ्चरत्ना पदेशिकम्? ॥

भैरव उवाच ॥

कौल सृष्ट्यवतारन्तु पराग्रन्थार्थलक्षणम् ।
रुद्रशक्त्या पदेशन्तु गुरुवक्त्रेषु लभ्यते ॥

सर्वाणि मन्त्रतन्त्राणि देवता कल्पजल्पनम् ।
महतोपि न सिध्यन्ते रुद्रशक्ति विवर्जितम् ॥

हृदयं सर्वविद्यानां मन्त्रवीर्य परस्मृतः ।
रुद्रशक्ति समावेश यो न वेत्ति न सिद्ध्यति ॥

आलेख्यं कौलिकज्ञानं गुरुवक्त्रेषु संस्थितम् ।

कर्णे कर्णे तु संक्रामे दूरस्थो हि न संक्रमेत्॥

विद्या ध्यानसमाधिश्च योगनादापदेशिकम्।
p. 21) पञ्चरत्नापदेशानि ग्रन्थार्थे च तु लेखयेत्॥

प्रथमं रत्ने तु संप्राप्ते अभ्यासे पलितनाशनं।
ऊर्द्ध स? ज्वलितं देह परावस्थ? स गच्छति॥

द्वितीयरत्नप्रभावेन गुरुसिष्येण तोषितम्।
योगिनीचक्रसंमान्य यत्र तत्र व्यवस्थिताः॥

तृतीय परदेहन्तु स्वदेहे शक्तिसंक्रमे।
क्षोभयन्ति पुरः सर्वः समाधिस्थो महाबलः॥

चतुर्थ भूचरी सिद्धि व्रजित्वा गच्छते पुनः।
पञ्चमे खेचरी मुद्रा बद्धा चोर्द्धानि गच्छति॥

उमा महेश्वरी पुरः व्रजित्वा गच्छते पुनः।
अचिन्तितं भवे ध्यानं समाध्याय मनोन्मनी॥

तत्र स्थिता महायोगी अखिलम् पश्यति जगत्।
निश्चिता भ्यासतो योगः अटव्यां पर्वते पि वा॥

सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तः शीघ्रं सिध्यति योगिनम्।
सिद्धविद्यावलोकितं कुरुते ने *? प्रत्ययम्? ॥

दृष्टा?पह मोहश्चैव उन्मादाषो * *?स्तथा।
स्थूलह्रस्वस्तथा दीर्घः वालवृद्धयुवानक॥

विश्वजालाग्नि? मध्ये तु संक्रामम * * * * ।?
* * * * * * * * * * * ग्न सूयवान्त वा॥?

स्तम्भये च महाबिन्दौ? देहर्पसर्गपीडाश्च पसुकाष्व? सङ्क्रमे॥

पशुनाग्रहणं कुर्यात् स्वदेह परिवर्तते।
क्रीडते यागसंसिद्धा अनेकाकारप्रत्ययं॥

लोकालोकगतं सर्वं यद्वृत्तयेन यत्कृतम्।
यद्भविष्यमनागतं भयस्वायत्परासकम्॥

तत्समाधि स्थितन्यस्ये पराशक्ति प्रभावतः।
नित्य योगरतो योगी तत्कालस्य न संशयः॥ ० ॥

इति तिमिरोद्घाटने अष्टमः पटलः॥ ८ ॥

देव्युवाच ॥

कथमुत्पन्न पराशक्तिः त्रैलोक्य व्यापिनी कथम्।
ध्यायन्ति योगिना सर्वमोक्षमार्गप्रदायकः॥

भैरव उवाच ॥

सर्वदेवमयी देवि सर्वलोकापरिस्थितम्।
सर्वव्यापी अनादी च सर्वदेवेषु पूजितम्॥

व्याप्त चतुर्दश भुवना ब्रह्माणोपरिसंस्थितः।
शिवशक्ति स * *? न्तु सर्व * * * * * * ॥

p. 22) पद्मासनोपविष्टास्तु अ * * * *?मण्डलः।

जटा वक्षल * * * ब्रह्म * * * * * * * ॥

* * * * * * * * * * * * * * * * ।?

* * * * * * * * * * य योगमुपासते ॥?

सङ्खचक्रगदाधारी * * * *? मुपासते।

भस्मोद्धुलित खट्वाङ्गी कपालभरणोज्वला ॥

न रूपजटाधारी च हं ह्येव सुलोचने।?

* *? पश्यति सुस्रोते? * * * *? मानसा ॥

ध्यायन्ति परमा शक्तिः ब्रह्मविष्णुमहेश्वरः।

अन्यपिरिषयः सर्वे स देवासुर योगिनाम् ॥

देवेन्द्र *? न्द्रगुर्वादि ध्यायन्ति परमाकला।

किंनु देविपुरापृष्टः दानवैश्च? महाबलैः ॥?

* * * * सर्वे मम स * णते गता।?

मयापिध्यापिवा? शक्ति सर्व * *? तथैव च ॥?

आगता तत्क्षणा देव पराशक्ति मनामया।

* * * * * * * * * * * * * * * * ॥?

* * * * * या मिदं सर्वं * * * * * * ।?

* * * * * * * * * * * * * * * * * ॥

* * * * * * * * * * * * * * स्थिता।

योगिनी शतसहस्राणि लक्षकोटिमनेकधा॥

एकपि बहुरूपस्था व्याप्यवस्थपर * * ।

* * * * * * * * * * * * * * यकम्॥?

एका त्रिभेदभिन्ने सा बहु भेदेषु संस्थिता।

त्वत्प्रसादा तु माह्येका जातमात्रा महाबला॥

द्वितीया मध्यमा शक्ति य * *? नां मुखे स्थिता।

विद्या ध्यान समाधिश्च योगनादापदेसिकम्॥

रुद्रशक्ति समावेश ज्ञानसंक्रान्तिकारकम्।

* * * * * * * * ?मध्यमा शक्ति लक्षणम्॥

गुरुपदेशान्संसिद्धि आभ्यासात्ला?क्षदम्पदम् ।
द्वात्रिंशति मातृचक्रेषु तृतीया * * * *? ॥

* * * * ? तु यन्त्रधो किञ्चित्कालेन सर्वथा ।?
न भवन्ति गुणाह्येते दिव्यदर्शनमोक्षदा ॥

शक्ति तृतीय सङ्क्रान्ति कथिता * * * * *? ।
p. 23) सन्मार्गवतरेण योगीषीनां कुलगता ॥

सुखोप * * * * * * * * * * *? स्मृतः ।
तत्वजालपरित्यज्य सन्तु?लार्थन्तु कौलिकम् ॥

* *? दसि सिद्ध्यार्थं सगुरुं सद्य प्रत्ययः ।
दुर्लभं सगुरुः देवि दुर्लभं गुरुतरं महत् ॥

दुर्लभा प्राप्ति तस्यैव प्राप्त मा * * * * * यः ।?
तस्याह्येवं प्रयत्नेन कौल पीठेपि दुर्लभः ॥

बहु देवे गता कश्चित् क्षेत्रपीठानि पर्यटे ।

वर्षे द्वादमु * * * * * ? नी नैव पश्यति ॥

सुसंस्कृतोपि देवेशि बहुग्रन्थ्यर्थपण्डितः ।
भ्रमे पीठोपपीठानि अकृतार्थानि वर्तते ॥

अ * * * *?मुर्खः सर्वग्रन्थार्थवर्जितम् ।
कौलबीजेन लब्ध्वेन? सिद्धित्रैलोक्यमुज्वला ॥

एवं कौलपरं योगं सर्वतन्त्रान्तमोत्तमम् ।
तं मोक्षदा देवि गोपनीयं पुनः पुनः ॥

इति तिमिरोद्घाटने नवमः पटलः ॥ ९ ॥

भैरव उवाच ॥

गुप्तग्रन्थमिदन्द *? सुप्रियस्यापि गोपयेत् ।
नवाभिन्नरसादेया निन्दकेष्टष्टि न स्वपि ॥

व्यसनी वा वनकुजः क्रोधेन कुनखी शठः ।

चपलखखलश्चैव हीनादुःसूचकक्षयी ॥

व्याधिनस्तार्किकश्चैव नित्याचारोपरव्रती ।
काकसुरो अल्पविद्यामत्सरी समयदूषक ॥

अन्तजः साहासे * *? स्यामदन्ताजितेन्द्रियः ।
गुरुदेव द्विजादीनां निन्दके वृषलीपति ॥

रङ्गोपजीवि? * मुनः? क्षतस्य? कामतत्परम् ।
तार्क्षकणा नास्तिकोवृक? अदः क्रूरौ स्वधर्मपरिवर्जितः ॥

परोधामवकश्चैव पण्य?स्त्रीपरदारकम् ।
* * * * * * * * * * वि स्वापि संस्कृताः ॥?

पुत्रकार्परलिङ्गिता * * * * * * * * ? ।
सुद्धादानो जित क्रोधः * * * * * * * ॥

p. 24) * * * * * * * * *? कृतघ्नः समतेन्द्रियः ।
सान्तात्मा शिवसक्ता * * *? वा * दृढ ॥

सहिष्णुश्चौ? जितमिति क्षणद्व * * * * *? ।
मम सर्वेषु भू?तेषु ज्ञातीनि?गतमत्सरः ॥

सदासक्तगुरुदेवः सर्वसास्त्रार्थ कुशली? ।

शिवशासन तत्परं ।

संसार र * * * *? कर्ताकरुणिकस्तथा ।?
मत्तासीगतसङ्ग स्ववितृस्तुस्व्या?कुलोलुपः ॥

सर्वोपवास नियमः सयुक्तात्मा प्रिय * *? ।
* * * * * * * * * * * * द्याव्रत सम्यक् ॥

साधु समयपालकः प्रसान्त ग्रहक्षुद्धीरसुद्धात्मा गुरुपूजकः सुशीलशान्तिका वाघी?
ब्रह्माणो नान्येवर्णकः तृष्कालो भाविनि भूतस्य पञ्चकेषु न दापयेत् ।

सुपरिक्षिते सिष्येषु गुप्तेशु दृढे हितञ्च ।
एतेषु वर्णेषु दापयेत् * तृणवत्मन्यसे द्रव्यं गुरार्थे स्त्री पुत्रादिकं ।
एवं योवर्तयेत्किष् *?सर्वाभ्यार? निवेदयेत् ॥

एतेषां परमन्तत्वं समदिक्षुमवि * *? ।
* त्व प्रियार्थे मयाख्यातं न देयं न परीक्षितम् ॥

मात्मा बहुविधा द्रष्टा परतत्वा * * * *? ।
द्रव्येण मयाया वापि * * * * * * पुनः ॥?

तत्वोपहार कुर्वन्ति नाभिनन्दति तत्वैव आत्मा प्रत्ययकारका ।
ध्यायते यस्तु युक्तात्मा द्वादसाद्वा न तन्द्रितम् ॥

अणिमाद्यादि संयुक्त सर्वज्ञत्वो प्रजायते ।
तृवक्रं पञ्चभिः विप्रैः षट्सप्ताष्टभिः *?न्त्रिये ॥

दशद्वाशभिर्वर्षैः विट्मूत्रद्रेषुदापत्मुपरीक्षित दातव्यं नरनास्तिक निन्दके ।

मायानि न तथा कुरुः न देयं यस्य कस्यचित् ।
यथा अयुक्ति मन्त्री सिष्यं? यदि तु? भिवै? गुरुम् ॥

न तस्य? कर्ण?माख्यातं सद्य एव विभेदयेत् ।
ब्रह्मणोमायवा यस्तु म्लेच्छश्चापि नमायवा ॥

म्लेच्छश्चापि प्रदातव्यं नन्ताया न दापयेत्।
शिवतुल्यस्यमाचार्या लोकचानुग्रहं कुरु ॥

द्रव्यलोभपरिप्राप्तेन तु बन्धस्वजनैस्तथा।
गुरु य वा तन्तुयास्यति? संग्रहः अध्यायनरुव्यारव्यानं? गुरु सिष्य प्रबोधकः।

* पू * *? तथा ज्ञेयं दृष्ट्वा च सुचिरं गुरुः।
निवेदये * * * * ?पूजये च तथा गुरुः ॥

परा संक्रान्ति यद्देवि न दद्या च स्फुटप्रिये।
अर्थार्थे? किञ्चिन्मे? वेद्यनं द्यात सिष्य सुव्रते ॥

अन्येषा * * * *? षा गुह्य गत? प्रकाशते।
तस्मान्नदेयं नारव्यैयं सारग्रन्थर्थ मोक्षदं ॥

इति तिमिरोद्घाटने दशमः पटलः ॥ १० ॥

देव्युवाच ॥

कोष्ठयोगामृता योगद्वाभ्यां लक्षणमादिशेत्।
मोक्षदं सुखसाध्यञ्च तन्मे ब्रूहि गुणादिकम्॥

भैरव उवाच॥

पूर्वयागमयाख्यातं षडङ्ग षत्विधं प्रिये।
अनेकाकारभेदेन ध्यानमन्त्रादिकर्मणि॥

काष्ठक्रियाधिकन्देवि अमृतयागमचिन्तये।
गच्छतिष्ठ ततो वापि जाग्रतसुप्तमेव च॥

कर्माभिरतयुक्तस्य नित्ययोगप्रवर्तते।
मनोमन्यत्र युण्ठीतं देवि मन्यत्र पातितम्॥

तथा यो?गिनं योग अव्युच्छिन्नप्रवर्तक।
न च धारणावधञ्च ना वाहनविसर्जन॥

सध्वावस्था गतोवापि क्रीडमानापि योगिनः।

इच्छया वसते रम्य ईच्छया जनसङ्कुले ॥

इच्छया भुञ्जते भास इच्छया व्रतमाचरेत् ।
पत्रणा रहितं यागः सर्वकर्मविवर्जितम् ॥

नातः पूरतरं देवि मया ह्लादकरम्परम् ।
तन्त्रविद्याक्षरै हीनं ध्यानधारणे वर्जितम् ॥

चिन्तयारहितं गुह्यं स सूक्ष्मामृतमुत्तमम् ।
एव योगामृता देवि * * *? लभ्यन्ति कौलिकम् ॥

अमृतसमाधिपराः अभ्यासामोक्षदम्भवत् ।
अभ्यासो परम योगं समाधि स्पृष् *? भवेत् ॥

त्रिमल * न मस्यति ।?

कदम्बकालकाकारं रविकोटि समव्रतम् ।

पश्यते देह मध्यस्थं ॥

विमलाया तु या *? नं दी *? खाक्त? वमवर्णा मूलाम्बाकान्ति तेजसा ।
पश्यते दहमध्यस्थं दिव्ययोगेन योगिनम् ॥

सर्वे देह स्थितम्पश्ये ब्रह्माण *? गतः ।
p. 39) * * * * * * * * ? सर्वव्यापितोर्द्धार्द्धतः? ॥

एक कौलिकविस्तारं दिव्य * * * *? व्रते ।
नान्यत्र पश्यते ह्येतत् सर्वयोग * * *? ॥

कथमानं अमुद्रेयं किमा *? यंञ्च विस्मयम् ।
पश्येह सर्वतो दिव्यं आत्मासञ्चेत्ति? प्रत्ययम् ॥

ताम्र? भ्रान्त प्रियं ज्ञानं प्रत्यक्षया * *?त्मनि ।?
यं दृष्टे तु प्रत्यक्ष? भ्रान्तिज्ञान विनस्यति ॥

एवम्पश्यति प्रत्यक्षे रुद्रशक्ति गुरुप्रिये ।
यदुक्तं दिव्ययोगेषु सिद्धयते नाथा प्रिये ॥

युक्ति? हीने गुरुं प्राप्य सिष्यसिद्धिकुतः प्रिये ।

मूलनष्टद्रूमा देवि कुतः पुष्पफलादिषु।
रुद्रशक्ति समावेश? गुरुः गुरुतरम्परम्।

विदितात्मा प्रियद्युक्तः सगुरुः मोक्षदः पदम्॥

परलोके तु वा सर्वे आगता पुन मोक्षदा।
प्रत्यक्ष प्र * *? कौल *? ह लोके परत्र च॥

ऐहिक प्रत्यये यस्तु परलोकमपि साधयेत्।
ऐहिक प्रत्ययं नास्ति कुतः तत्र पराभवेत्॥

एवं * * * * * * मं प्रत्यक्षं तु यदा भवेत्।
गुरोर्विद्यमात्मान एव?धनान्त * * * *?॥

* * * * * * * * * * * * * * * * ।?
* * * * * * * * यदिच्छ सिद्धिमात्मनः॥?

दिव्योपदेशदातारं आचार्यदेवदुर्लभम्।
बहवो गुरवा यत्र शून्यवाक्यमप्रत्ययः॥

* * ? नानि प्रमामीय? मर्मघ्ना केचि योगिनः ।
केचितद्भावलोपेन गर्विताज्ञानवर्जिताम् ॥

केपि? मन्त्रेण संतुष्टा स्वल्प * * * * * *? ।

अधमान्तमथमादौनाचार्य प्रणवे * रा ॥
केचिदि शन्ति गुरुदेवि संसारक्षित्ति?कारकः ॥

ल? देविहारय * * * * * ?क्ष कथम्भवेत् ।
राग क?थ अहङ्कार द्वियद्विषन्ति परस्परौ ॥

कौलिकज्ञान सद्भवं कुतः तेषां वरानने ।
अ * * * * * * * * * * * * * * * ॥?

असक्तन्न परयुक्तो कुलेन युक्तं जातीषु ।
कथ्यन्ते मोक्षदा भवेत् ।

* * * * * *? ना देवि दिव्यचक्षु न जा * * ॥

p. 40) * * * * * *? तेषा काल धात? महद्भवेत् ।

असक्तो यागपठे च योगिनी च गवेस * ? ॥

* * * * * * *? च ताव मोक्ष न विद्यते।
* * * * * * * * वायु * *? तु कौलिकम् ॥?

जाताधिक तथा योग सर्वैस्वयगुणाधिकम्।

इति तिमिरोद्धाने एकादशमः पटलः ॥ ११ ॥

देव्युवाच ॥

* * योगावतार तु * योगाक्रमागता।
लिङ्गपूजा कथन्तेषां मन्त्रतन्त्राक्षरादिषु ॥

भैरव उवाच ॥

सुसंस्कृत्य गुरुं शिष्य कथयत्सकलं परा।
सूक्ष्मा चैव परम्पश्चा सम्वेद्यय * स *? ॥

स्थूलन्तु तद्भाव घ्रातं? * * * * * * * *?।

परं मोक्षपदं ज्ञेयं दिव्यंतव्यन्तु पुत्रकै ॥

न ते * * * * * * * * * * *? काञ्चन ।

न चित्र स * * * * * * * * * * * * * ॥?

लिङ्ग स्वदेहेषु संपूज्यं धर्मपुण्यमहा * *? ।

* * * * * * * * * * * * * * न्तु मोक्ष ॥ ?

* * * * * * * * * * * * * योगिनः ।?

तस्य पूज्यमत्वाद्ध? * * * * * * * * * ॥?

* * * * * * * * * इच्छासिद्धि करोति इति ।?

योगेश्वरा यथेप्सय? * * * * * * * * ॥?

* * * * * * * * पि भवते मोक्ष * * * ।?

नान्यत्र यदनत्तस्य इति लोक निश्चयं ॥

एवं ब्रह्माण्डोदरस्थं सर्व * * * * * रम् ।?

कुरुते तु प * * * * * * * * ?निष्कलम् ॥

योगिनं लिङ्गं प * सक्तिरधिष्ठितम् ।

आम्तसंवेहि? प्रत्यैक कलनिष्कलश्रितम् ॥

* * * * * * * * *? सर्वदेवतमाश्रिता ।

सर्वांत्रिङ्स?समापन्नं सर्वप्रत्यक्षप्रत्ययम् ॥

दिव्य पदे हि यो देव अन्तरिक्षेति प्र * *? ।

* * * * * मृक्षास्वे लिङ्गप्रतिपमेव? च ।?

मन्तव्य योगिनातैस्तु यस्य पुद्गल लिङ्गकृति ।

दिव्यचक्षु स्थिता योगी पश्यति * * * * * ॥?

p. 29)

किं तस्य प्रक्रि?मारूपैः पश्यदिव्यागति स्थिता ।

पश्यन्ति दिव्यलिङ्गानि त्रैलोक्य ज्ञानमुत्तमम् ॥

किंकरोतिमिति लिङ्ग * * * * * * * ता ।?

ब्रह्माणवेत्ति देहस्था त्रैलोक्यादरसम्भवम् ॥

एतल्लिङ्गमहात्मानं योगेन्द्रे पूजयेत् सदा ।

प्रतिबिम्बञ्च * *? स्तु प्रत्यक्षं * *? ष्वयोगान्तरान्तरम् ॥

अमृतेन विना देवि याधा * * * * * * ।?

गतलज्ज्ञा इवा नारी * * * * * * * * * * ॥?

विजने का * *?सं वारमते तु यथेप्सया।

अङ्गनामिवनाङ्गनि * * * * *? लालसा ॥

रम * * * * * *? रक्तस्य रत्यानन्दकरी प्रिया।

वैराग्य चैव? गच्छति * * * * * * * *? ॥

* * धिकौलकी ह्येता * * * * * * * * ।

* * * * * * * * सद्य प्रत्ययकारकम् ।

सर्व * * * * * * * * * * * * * * ॥?

* * * * * * * * * * * * * * * * ।?

सत्यसत्य पुनः * * * * * * * * * * * * ॥?

* * * * * * * * * * * * * * * * ।?

इति तिमिरोद्धाटने द्वादशमः पटलः समाप्तः ॥ १२ ॥

* * * * * * * * * * * * * * * * ।?

* * * * * * * * * * *पु? प्रकीर्तिता ।

क्रियाशक्ति स्थितो विष्णुः उमासोमप्रकिर्तिता ॥

इच्छा * * * * * * * * * * * * * ।?

शक्ति शिवः * * * *? नाडी वाम प्रकीर्तिता ॥

ब्रह्मी चैव सुषुम्ना जेष्ठा शक्तिप्रकीर्तिता ।

स्था? पिङ्गला ज्ञेया * * * * * * * * * * ।

ज्ञानसूलमिदं प्रोक्तं शक्तित्रयसमन्वितम् ।

भित्वा सोमञ्च सूर्यञ्च तृतीयावह्निमण्डलम् ।

रेख त्रय त * * * * * * * * * ? व्यवस्थिता ॥

तस्य वा सलिले वाथ ज्ञानशूल न विन्यसेत् ।

अग्निमध्ये यजेद्यस्तु स्वायम्भु भुवनेश्वरम् ॥

p. 42)

* * * * * * * * * *? कृस चराचर ।

पातालभन्त्रितहेलं ।?

सोमतीर्थे यजेद्यस्तु स्वयम्भुकाय पालनम् ।
पूजितन्तर सर्वस्या? निष्क? * * * * * * * ॥

पातालञ्च महीचार्द्ध मध्याह्ने चन्द्रमुच्छ्रयम् ।
रत्नानां पूर्णयो दद्या योगिना संसितव्रतं ॥

स्वदेह पुष्येमेके * * * * ? भन्तितच्छालं ।
विसुद्धसन्धिधस्या * प्रजात्रिभुवनेश्वरम् ॥

स्वभावेनजि * * * * ? वैराग्य सदतो * ।
* यन्तं स्तुति कृ *?व रत्नानां पूर्णयादद्या ॥

आचार्य कोति कोटि जि * * * * * * * * ।?
* * देह शिव पुष्प च * * * * * * * ॥?

द्विगुणं गन्ध?संयुक्तं धूपनैव चतुर्गुणम् ।
गन्धपुष्पसुलाभेन * * * * * * * * ॥?

* * * * * * * * * * * * *? व्या हृदय ।

यदेत निष्क? * * * * * * * * * तनम् ।
निष्कल निर्मलं शान्तं निष्प्रपञ्चमे लक्षणम् ॥

अप्रतर्क्यमविज्ञायम्विनाशोत्पत्ति वर्जितम् ।
कैवल्यं केवलं शान्तं शुद्ध *? करणं योगनिर्मुक्तं हेतु साधन वर्जितम् ।

तत्क्षणादेवमुच्यन्ते तं ज्ञानं ब्रूहि शङ्कर ।
यत्र मुक्ति तदाकाशं देहस्थं देहवर्जित ॥

p. 30)

* * * * कथ देह क देवा देहवर्जितम् ।?
कावे? जीवास्थिता देह जीवजीव प्रकीर्तितम् ॥

केन जीवन्यसौ जीव केन मार्गेण संचर ।
सकलस्तु कथं जीवा वि *? भवेत् ॥

कथं पश्यत्यसौ जीवौ कि * जीवस्य भाजनम् ।
कुत्र वालीयते जीवो जायते कोत्रमेव हि ॥

किं वर्णे किम्प्रमाणन्तु जीवस्य।
सर्वमेतन्समाख्या हि देवदेव महेश्वर ॥

भवसागरबन्धा तु आदि मोक्षदविप्रभो।

ईश्वर उवाच ॥

वायुस्तेज सुद्धा व * * * * * * संज्ञितम्।
जीवप्राणमित्युक्तम्बा बालाग्र शत कल्पितम्॥

जीव शुक्लस्तु विज्ञेयं *? वस * त संयुतम्।
रजेनं * * * * * * * * * प्रकीर्तितम्॥?

तमेन तु समायुक्तं जीव कृष्णा भवे ध्रुवम्।
जीवं सत्व समायुक्ता * * * * * * * ते ॥

रजेन * समाम * * * * * * * * भुः।?
* * * * * ?युक्तो तदा पापे प्रवर्त्तते ॥

* * * * * * * * * * * * * * * * ?।

* * * * * * * * * * * * * * * * ॥?

प्राणस्व विज्ञेयं नासाग्रं यावसंस्थितम् ॥

तत्रस्था निष्कलैः प्रोक्तः * * * * * * * * ।?

* * * * * * * * * * * * * * * * * * ॥?

तच्छ व्योमी तदालीनताव निष्कलताङ्गतः पुनश्वास तृतीयन्तु जीवस्य परिकीर्तितम् ।

हृत्पद्मसु सिरणैव अ * * * * * * ?वम् ।

जीव * व समित्युक्तं शिवेन परमात्मना ॥

यावननोश्वास देवी ताव निष्कलमुच्यते ।

नास्थिस्था निष्कला ज्ञा * * * * * * * * * ॥?

नाभिस्थं सर्वकार्येषु हृदिस्थं कार्य वर्जितम् ।

वक्रनासा पुटान्तस्था भुञ्जते विषयां प्रभुः ॥

देहस्थम्पश्यते जीवाजिघ्रते च सृणे * * * * * ।?

भुक्ते शुभाशुभं जीवो देह देहे व्यवस्थितः ॥

देहं त्यक्त्वा यदा जीवा बहिराकाशमासृतः ।
तदा निर्विषया जीवा भवते * * * * * * * * * ॥?

p. 44)

नव? व? निर्भव? ब्रह्मा तं ध्यात्वा स सदाशिवः ।
ध्यात्वा शिवमजन्नित्यं मुच्यते पापपञ्जरम् ॥

अनन्ता सर्वदेहस्थानासाग्रवस्थितं शिवम् ।
सर्वभूतानां दृश्यन्ते न च लक्षते ॥

नाभिमध्ये स्थितं देवी सिद्धि तत्व सुनिर्मलम् ।
आदित्यमिव दिप्यन्त न स्थितिः प्रज्वलन्ति च ॥

चाष्टमम्बीजं जीवाख्यं देहसंस्थितम् ।
नाभिमध्ये विनिष्क्रान्तं विषया व्याप्यसंस्थितम् ॥

ते नेदं व्याप्ये मलिनं क्षीरवत् शक्ति * * * *? ।
करणेरात्मकै गृह्य प्राण प्राण सदहकैः? ॥

श्वास निश्वास यागेन अधश्चोर्द्धञ्च ली * * वते।
सुष्क पत्रन्तु वाजिन * * * * * * * * * यथा ॥?

तथा भ्राम्यति जीवाख्या प्राणाप्राणख्योनाकजे।
प्राणाप्राणसमायुक्तो भीमाध्येव? हृदिस्थितम् ॥?

श्वास नि * * * * * * ? पुण्यपापैसमागतं? ।
अन्तर्यामी शक्त्यातो नाद * * * * * * * ॥?

* * * * * * * * * * * * * * * * ।?
* * * * * * * * * * * * * * * * ॥?

सिद्धकौलञ्च विख्यात अधसंचारवर्जितम्।
सुर * * * * * * * * * * * * * * * ॥?

* * * * * * * * * * * * * * * * * ।?
* * * * ?नभाश्चैव पतिताश्च विशेषतः ॥

अजरामर पदं व्याप्तं लभते चक्रमागतम्।
* * * * * * * * * * * * * * * मेव च ॥?

* * मण्डलाधिकारं अकुलं यागमासृताः एक पादुकमेव च ।?
तथैव पूजये नित्यं आत्मानस्तु विचक्षणः ॥

येन कौलार्णव * * * * * * * * क्षदा ? ।
चातुर्युगी प्रतिनाथ कलि पुयात्कथन्तुकः? ॥

तस्य कौलमिदं दिव्यं निर्नाशन्तु कदाचनः ।
येन व्याप्त सदासर्व * * * * * * * * ॥?

एकमेवन्तु मूलस्या शाखा तस्य मनेकधा ।
तस्य मूल प्रभावेन प्ररोहं स चराचरम् ॥

एक बीजन्तु तत्वस्थं चकाकारसमास्थितम् ।
व्यापकं व्योम *? येग? अनन्तम्विमल प्रभुः ॥

कारणन्निर्मलस्यान्ते शाश्वतं रूपनिश्चलः ।
निरात्मेति ना *? कासं निराचारस्वभावतः ॥

षट्वर्णरहितं तत्व निष्कल?म्बिता लम्बकः ।
p. 45) स्वभाव वर्तनिरूप स्वभाव पिण्डमध्यमः ॥

नित्य भक्त्य? सदायोगी साधये पिण्डमुत्तमम् ।

एकास्त्रमे समायुक्तं एक स्थान निवासिनी ॥

न पीठ गमनश्चैव नवति क्षेत्रमेव च ।
देहस्थ पीठ क्षेत्रे तु नान्य क्षेत्रं पर्यटते ॥

वलि वह्निवरं यत्र तत्रासौ कुलसमुद्भवम् ।
कुलाधारङ्कुलम्पीठ अकुलं क्षेत्रपालकम् ॥

न योगिनी मेलकश्चैव न तु चर्या विधिक्रमा ।
शिवशक्ति महामेला दिव्यमेलास उच्यते ॥

* * * याग?पट्वाशं न योगदण्डधारणम् ।
नेकेशो वञ्चनश्चैव मुञ्जमेखलादिकम् ॥

न कौपीनं व्रतश्चैव अ * कुलिङ्गवर्जितम् ।
रसंध्या अग्नि? * * *? न द्रव्यं होमकादिकम् ॥

देहस्थन्तु महाकुण्डं ज्वलन्तन्तेजमण्डलम् ।
कालानल प्रतीकाशं विद्युत्कान्ति समप्रभः ॥

समय सत * * * * * * ?जगसासयः ।?

अनाधि क्रमसम्प्राप्तं कुल भेदेन नि * * *? ॥

* * * * * * * * * * * * * * * * ।?

वज * वा? प्रयत्नेन एकाकार पदस्थितम् ॥

सर्वेषां ता * * * * * * * * * * * *? ।

* * * * * * * * * * * * * * न यद्वत् ॥?

महामार्ग यदा दृष्ट्वा सर्वतत्व न संशयः ।

एकाकार स्थितन्तत्वं व्याप्ति * * * ? संस्थितम् ॥

एतत्कौलमिदं द्रव्य शिवशक्ति समन्वितम् ।

सिद्धाश्च योगिनी चैव सर्वपीठसमाशृताः ॥

पूजयेत्कुलमार्गेणव्योमस्थित येन व्याप्तं समन्त्र प्राप्तमिदं दिव्यं यत्कुलं पीठमुत्तमम् ।

न तस्य यन्त्रमन्त्राणि न क्षुद्रमन्त्रसाधने ।

स पश्यते समरसं कट्मयं? सचराचरम् ॥

समत्वावीतरागन्तु उदार सान्ते च * सा ।
तथा वक्रविनिर्मुक्तं गुरु भक्तिसमाहितम् ॥

समयपालयेन्नित्यं एकाकार पदास्थितम् ।
तदात्मकौलमायान्ति निर्वाणं येन वाप्नुयात् ॥

ताञ्च स्वच्छया योगी निराचारपदस्थितम् ।
स मुक्ति सर्वतत्वेषु मुक्तिसंसारबन्धनात् ॥

अजरामर पदं व्याप्तं तदा मुक्ति न संशयः ।
दिव्य पीठे? भवेद्योगी वलीपलित वर्जितः ॥

p. 33)

पर्यष्टन्ति गगना भागा स देवासुरमानुषां ।
न पुनः वध्यते तेषाम्पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

एतत्तु विमलन्दिव्य *? सू?नान्तिमिरापहम् ।
ज्ञातव्यां सिद्धकौलन्तु सिद्धनाथेन भाषितम् ॥

न चन्द्ररविमध्यस्थं न वह्नि पवनन्तथा।
उपदेशेन तं गम्य गुरुवक्रं व्यवस्थितम्॥

अविकल्पेन गृहीत श्रीमुखेन विनिर्गतः।
अनन्तविमलं शान्त हेतु लक्षण वर्जितः॥

कथितं मीननाथेन तद्याग सुदुर्लभम्।

एते यागसद्भावसमाप्तः॥

भैरव उवाच॥

न नाभि हृदये चैव न कण्ठे नैव तालुके।
न ललाटे वरारोहे घण्टिकाग्रे न विद्यते॥

ब्रह्मरन्ध्रप्रवाहेन न मोक्षनैव साधने।
द्वादशान्तेन चित्तस्य द्वि * * *? भावनम्? ॥

मनसा तत्वरूपेण मे * * * * ? विद्यते।

बुद्धि नेत्र भवेत् किञ्चि बुद्धिरन्ध्र विकल्पना॥

* * * * * * * * * * * * * * * * * । ?

* * * * * * * * * * * * * * * * ॥ ?

मलमाला तथा वर्णे जीवशक्ति वराननै।

उच्चारये * * * * * * * * * * * * ॥ ?

सर्वतत्वरूपेण तेषां मोक्षा न विद्यते।

या सा ग्रन्थि? महाभागे ज्ञानरूप परा *? रम्॥

* *? ग्रन्थि? महादेवि अन्य * * * * * * । ?

* * श्रोत्र तथा घ्राणवक्र गृह्य सदार्यति॥

नाडी दिव्यपरेशानि ज्ञात्वा व्याप्तं स चराचरम्।

पू?रक कुम्भकश्चैव रेचकन्तु तृतीयम्।

वर्जयेत्तानि देवि यदिमिच्छसि सिद्धिमुत्तमम्।

अथातसत्प्रवक्ष्यामि यथा तत्वस्य लक्षणम्।

न रेता न जडाश्चैव गात्म? परस्तथाश्चैव भरितावस्था सम्पूर्ण सर्वज्ञान स्त्रीधारिणी।

न शून्यं न प्रत्यक्षं न दूरेनापि मध्यमे ।

भरितावस्था सम्पूर्ण सर्वज्ञान श्रीधारिणी ।

न देहे गगने वापि लोलीभूत नैव च ।

एत पक्षविनिर्मुक्तं सा वस्था कौलिका गता ॥

p. 34)

एतावस्था परित्यज्य पूर्णावस्था महासुख ।

भरितावस्था मन्त्रास्तु योजनाति स कौलिकम् ॥

एकाकारगता शान्ती? परापरस्य तत्वस्य ॥

प्रयागवस्या । वाराणस्यां धीमर । कोलाकन्दुबी । अट्टाहासे खटिणी । जयन्त्याया *?म्बिनी । चरित्राच्छिप्पिणी । एकम्बा भलिनी देवीकोटे मालिनी ॥ ० ॥

स्रीमदनयाद । श्रीभट्टपाद । स्रीकालव्या । श्रीकालश्या? ॥ * * * * *? । आनन्दव्वा ॥ श्रीनन्तव्वा । श्रीवनदव्वा । श्रीमच्छन्दपाद । श्रीभाट्टपाद । श्रीहरिणपाद । श्रीधवलपाद । श्रीव्याप्यपाद? । आख्या-इ । इला-इ । उहा-इ । ऋ?षा-इ । * सा-इ । एसा-इ । ढहा-इ । अह्ला-इ । * * * *? । माहेश्वरी । कौमारी । इन्द्राणी? । * * *? । वाराही । चामुण्डी । महाभैरव लक्षी । अम * * ।

लानै।

* ।?

जीवाप्येव यदा देवी पुण्यपापैस्तु च? स्थितम्।

ज्ञानविज्ञान योगेन * जुदा॥

* * * * * * * * * * * * * * * * * ।?

* * * * * * * * * * * * * * * * * ॥?

च्चार्य शिवो देवी लिख्यते न च पठ्यते।

पठ द्वय विनिष्क्रान्ते वायुपुत्रप्रलीयते॥

स मुक्ति तं परं ब्रह्म तं शिवपरमं पदम्।

मुखाध्यय? परमं सूक्ष्मं दृश्यते व्योममव्ययम्॥

नासापुटविनिष्क्रान्ता वायु तत्र प्रलीयते।

तस्तु संस्थं मनकृत्वात? ध्याय सवरारने॥

स शिवस्तुः *?र्ती स मोक्षमोक्षदं स्वसे।

वनि व्योमन्तु यत्प्रोक्तं नासाग्रे तु व्यवस्थितम्॥

निर्वाणकारिका ॥

ॐ नमः श्रीना *? य *? नादिनि *? गुप्तं वर्णाचार विवर्जितम् ।

पारम्पर्यक्रमागत प्रभ * *? निर्मलम् ॥?

एकाकार * *?द्यैलं एकवीरतदुच्यते ।

अकुलान्नमिदं? दिव्यं विमल? * वादहत्त *? समारुतः ॥

p. 35)

निष्कल सत्ता वज्ञेययावद्योम्ने विव * * * ? सकारस्या तुरबीजक्षकारस्या विपञ्चम ॥

एका * संयुक्तं षष्टेन तु समन्वितम् ।

आसनन्तु जगस्याक्तौ शिरेण परमात्मना ॥

सकला ह्येष देव स निष्कलं सृणुपार्वती ॥

द्वाद * त्तन्तु यद्बीजं नवान्तं चैव भाविनी ।

ऊर्द्ध एकादशनवानिर्मुक्तमधवर्जितम् ॥

वर्णान्ते तु यदा हीन तदा निष्कलमुच्यते।

निलं ह्येतदातव्यं तत्वतत्व न दुर्लभम्॥

वेद् *? वेदना नाम्नि मुक्तानिर्वाण कारिका।

पृच्छपित्वा ततो देवी गण गद?मृतं यथा॥

*? तं ज्ञानमेतस्तु शिवेन परमात्मना।

समासं बोधनांधाय? स्वयमात्मा प्रदर्शितः॥

साप?वेद सदादेवी पठ्यते मोक्षदं * प *?ताष्ये चैव विकल्प न वर? वीर

जगत्सर्वातिष्टन्ते परमेश्वरः॥

XXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXX
X
X title: j~naanasaara
X
X copied from manuscript c 4251 of banares hindu university
X
X
X data entered by the staff of muktabodha
X under the supervision of mark s.g. dyczkowski
X
X revision 0: april 7, 2012
X
XXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXX

* मः * रा * ये ॥

नाथज्ञानसारो लिख्यते ॥

कथमुत्पदते वाक् च कथं वाक् च विलीयते ।

वाच?स्तु निर्णयं ब्रूहि पश्चात् तत्वमुदीरय ॥

श्री * श्व * उ * च ॥

आहारं काङ्क्षयेत् प्राणः प्राणादुत्पद्यते मनः।
मनु स्युत्पद्यते वाक्य? मा? च मनसि लीयते ॥

श्री * व्यु * च ॥

आहारं काङ्क्षयेत् प्राणो भुञ्जानो पिचकः कथम्।
जागर्ति स्वपते कोसौ सप्तः कोवाप्रबु?ध्यते ॥ ३ ॥

श्री * श्व * उ * च

आहारं काङ्क्षयेत् प्राणो भुङ्क्ते चैव हुताशनः।
p. 174a) जागर्ति स्वपते वायुः सुप्तं तेजो विबुध्यते ॥ ४ ॥

श्री * व्यु * च

को वा करोति कर्माणि को वा लिप्येत पातकैः।
को वा करोति पापानि को वा पापे प्रवर्तयेत् ॥ ५ ॥

श्री * श्व * उ * च

मनः करोति कर्माणि मनो लिप्येतपातकैः।
मनो हि तन्मयी भूतं न धर्मों न च पातकम्॥ ६॥

श्री * व्यु * च

यदिदं निष्कलं ब्रह्म व्योमातीतं सनातनम्।
निर्द्वन्द्वं निर्मलं शान्तं निष्पापं समलक्षयेत्॥ ७॥

अप्रतर्क्यमविज्ञेयं विनासोत्पत्ति वर्जितम्।
कैवल्यकेवलं शश्वच्छुद्धस्फटिकसन्निभम्॥ ८॥

p. 174b) तत्क्षणान्मुच्यते येन तज्ज्ञानं ब्रूहि शङ्कर।
यदिदं शक्तिराकाशं देहस्थं देहवर्जितम्॥ ९॥

कथं जीवत्यसौजीवो निष्कलस्तु कथं भवेत्।
केन पश्यत्यसौजीवः किं वा जीवस्य भोजनम्॥ १०॥

कुत्र वा लीयते जीवो जागर्ति कुत्र एव वा।
को जनः किं प्रमाणं तु जीवस्यापि प्रकीर्तितम्॥ ११॥

एतत्सर्वं समासेन ब्रूहि मे परमेश्वर॥

श्री * श्व * उ * च

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि यत्त्वया समुदीरितम्।
कथयामि न सन्देहः सारात्सारतरं परम्॥ १३॥

वायुर्जीवस्तथा काशस्तृतीयो जीवसंज्ञकः।
स जीवः प्रभुरित्युक्तो बालाग्रं शत कल्पितः॥ १४॥

p. 175a) जीवश्शुक्लस्तु विज्ञेयो यावत् सत्वेन संयुतः।
रजस्सत्त्वसमायुक्तो रक्तो जीवः प्रकीर्तितः॥ १५॥

तमस्सत्त्वसमायुक्तस्तदा कृष्णो भवेद्ध्रुवम्।
सत्त्वेन च समायुक्तो धर्मज्ञाने प्रवर्तते॥ १६॥

रजः सत्त्वसमायुक्तो भुङ्क्ते तु विषयानपि।
तमस्सत्त्वसमायुक्तस्तदा पापे प्रवर्तयेत्॥ १७॥

नासाग्रं चैव नाभिश्च हृदयं च तृतीयकम्।
स्थानान्येतानि जीवस्य कलितानि शिवेन तु॥ १८॥

कपलं हृत्स्वरूपं च ह्यधो यावद् व्यवस्थितम्।
देह स?ङ्ग न मित्युक्तं शिवेन परमात्मना॥ १९॥

यावन्निश्श्वासतो जीवो भवेन्निष्कलतां गतः।
p. 175b) नासाग्रे निष्कलं ज्ञात्वा मुच्यते जन्म बन्धनात्॥ २०॥

सर्वाङ्गः सर्वदेहस्थो नासाग्रे च प्रतिष्ठितः।
अतर्क्यः सर्वभूतानां दृश्यते न च लक्ष्यते॥ २१॥

नाभिमध्ये स्थितं विश्वं सिद्धतत्त्वं तु निर्मलम्।
आदित्यमिवतद्दीप्तं रस्मिभिस्तत्क्षणं शिवम्॥ २२॥

आकाराष्टकसञ्जीवं देहोक्तं देहवर्जितम्।

नाडीरन्ध्राद्विनिष्क्रान्तं विषयान्प्राप्यसंस्थितम् ॥ २३ ॥

तेनेदं निष्कलं विश्वं क्षीरसर्पि समोपमम् ।
करणात्मया?यान्मुक्तो भ्रमते हृदयस्थितः ॥ २४ ॥

गोलकस्थो यथा देवि खेलनाद्दण्डबाह्यतः ।
देष्ठते भ्रमते शीघ्रमविश्रान्तः पुनः पुनः ॥ २५ ॥

कीदृशी खेचरी विद्या चोन्मना वातुं कीदृशी ।
बन्धनं कीदृशं देव कथयस्व महेश्वर ॥ १ ॥

को दण्डमध्यगं देवि सङ्कोचेन त्रिलोचने ।
न सूर्यचन्द्रमार्गेण लम्पिका करणं प्रिये ॥ २ ॥

लोलां रन्ध्रमुखे कृ?त्वा विपथे योजयेत् प्रिये ।
सा भवेत् खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥ ३ ॥

कण्ठसङ्कोचनं कृत्वा द्वे नाड्यौ स्तम्भयेद्ध्रुवम् ।
मध्यचक्रमिदं भद्रे षोडशाराधंबन्धनम् ॥ ४ ॥

p. 176b) नाभिशक्ति द्वये मध्ये स्थानं देयं पराङ्मुखम् ।
मूलचक्रमिदं भद्रे सत्पथव्याधिनाशनम् ॥ ५ ॥

रसनामूर्धगां कृत्वा क्षणाध्वं यदि तिष्ठति ।
क्षणेन मुच्यते योगी व्याधिभिस्तु जरादिभिः ॥ ६ ॥

रसनाभ्यन्तरे नित्यं यावद्ब्रह्मबिलंगता ।
अमृताग्रसने घ्राणं पीडयमानं विचिन्तयेत् ॥ ७ ॥

मासार्द्धाज्जयते मृत्युं सत्यं सत्यं महामते ।
सर्वव्याधिविनि *?क्तो योगीनाथो न संशयः ॥ ८ ॥

रसना तालु मूलेन वायुं पीत्वा शनैः शनैः ।
षण्मासाभ्यन्तरे विश्वे बलीपलित नाशनम् ॥ ९ ॥

घृतास्वादूपमानाश्च ह्यमरत्वं न संशयः ।
मधुस्वादूपमानाश्च शास्त्रोत्गीरणता भवेत् ॥ १० ॥

p. 177a) मृष्टानिखण्डकद्यानि लड्डुकाशोकवर्तिकाः।
एवं वाराह्यनेके च कामदेवो व्यवस्थितः॥ ११॥

दिव्यकन्यागणेनित्यमाकृष्टिर्जायते सदा।
हिक्कादद्यात्सदावक्रे प्रायश्चैव विजृम्भिकाम्॥ १२॥

एवमभ्यस्यमानस्तु कामदेवो द्वितीयकः।
योगिनी गुणसामान्यः सृष्टिसंहारकारकः॥ १३॥

न क्षुधा न च तृण्निद्रा नैव मुर्छा प्रजायते।
भवेत्स्वच्छन्ददेहस्तु सर्वोपद्रववर्जितः॥ १४॥

अनेन विधिना देवि योगीन्द्रो भूमिमण्डले।
नभस्य पुनरावृत्तिः पूजितः स्यात्सुरैरपि॥ १५॥

पुण्य पापैर्न लिप्येत भयमुद्रा विदुत्तमः॥

तालुमध्ये स्थितश्चन्द्रो नाभिमध्ये दिवाकरः।
अमृतं स्रवते चन्द्रो विषं प्रज्वलितो रविः॥ १॥

सूर्याग्रे वसते वायुश्चन्द्राग्रे वसते नभः।

सूर्याग्र मनुवर्तेत चन्द्राग्रं चैव नित्यशः॥ २॥

चन्द्रसूर्य द्वयोर्मध्ये मुडादद्या? तु खेचरीम्।

निरालम्बं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥ ३॥

स बाह्या भ्यन्तरे योगी घटवत्तिष्ठते प्रिये।

बाह्ये वायुस्तथा पृष्ठे चान्ते वायुर्न संशयः॥ ४॥

स्वस्थाने गच्छते वायुर्मनस्तत्रैव लीयते।

p. 178a) अमृतं प्राप्नुयाद्योगी महाबलपराक्रमः॥ ५॥

वायुवेगेन देवेशि सकलां भ्रमते महीम्।

अष्टधागुणमैश्वर्यं सत्यं सत्यं न चान्यथा॥ ६॥

शङ्खदुन्दु?भिनादेन न शृणोति कदाचन।

काष्टवज्ञायते योगी नोत्पत्त्या वै प्रजायते॥ ७॥

शक्ति द्वयस्य मध्ये तु हीन्द्रियाख्यं तदुच्यते।
अनेनैव च बन्धेन सद्यमृत्युविनाशनम्॥ ८॥

कायं च भजते क्षेत्रं मूलबन्धेन पार्वति।
निरालम्बं भवेद्बीजं नान्यथा सिद्ध्यति ध्रुवम्॥ ९॥

ऊर्ध्वाधो बन्धमादाय कृत्वा चिन्ता मनामये।
सिद्ध्यते नात्र सन्देहो गोपनीयो महामते॥ १०॥

p. 178b) अण्डजालजाश्चैव स्वेदजा भेदजास्तथा।
एक द्वि त्रि चतुष्पञ्चेन्द्रियाणि सर्वजन्तुषु॥ १॥

सर्वेषामेक एवात्मा साधारो बीजरूपवान्।
शब्दः स्पर्शश्च गन्धश्च रसोरूपं च पञ्चमं॥ २॥

बुद्ध्यहङ्कारसंयुक्तं मनस्तत्रव्यवस्थितम्।
यथामूले लताबीजं तथा पतन्ति जन्तवः॥ ३॥

सस्यवत्सर्वबीजानां जन्माप्तिश्च पुनः पुनः।

वाहकश्चैवमात्मापि धर्माधर्मौ तु बन्धनम्॥ ४॥

अन्तरात्मा यथा तिष्ठेत् स्वरूपं पारमेश्वरम्।
तस्मिन् काले वरारोहे लीयते घटवत्घृतम्॥ ५॥

p. 179a) सर्पिषावात्रयोगेन पृथत्त्वं च न विन्दते।
उल्का हस्तो यथा कश्चिद्द्रव्यमालोकतां नयेत्॥ ६॥

कर्मशौचं मनःसौचं मनसो ज्ञानमेव च।
ध्यायेत तु जगत्सर्वं देहिनां देहमाश्रयम्॥ ७॥

यथामृतेन तृप्तस्य पयसा किं प्रयोजनम्।
आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्॥ ८॥

ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येत कुण्डगम्।
कायस्थोपि न कायस्थः कायस्थोपि न नश्यति॥ ९॥

भुङ्क्ते भोगांश्च कायस्थः कायस्थोपि न वध्यते।
यथाखरश्चन्दनभारवाही भारस्य वा हीन तु चन्दनस्य।

तथैव मूर्खो बहुशास्त्रपाठी शास्त्रस्य पाठी न तु निश्चयस्य ॥ ११ ॥

p. 179b) आहारनिद्राभयमैथुनानि समानमेतत् पशुभिर्नराणाम् ।
ज्ञानं नराणामधिको विशेषास्ते नैव हीनः पशुभिः समानः ॥ १२ ॥

यावद्बिन्दु सहस्राणि कोटिबिन्दुशतानि च ।
सर्वथाभस्मतां यान्ति यत्र देवो निरालयः ॥ १३ ॥

ह्यन्यते मुष्टिना काशं क्षुधार्ता खण्डयेत्तुषम् ।
ब्रह्मदण्डं न जानाति न मुक्तिः स्याद्वरानने ॥ १४ ॥

शास्त्रं ह्यनन्तं बहुधा च विद्या अल्पश्च कालो बहवश्च विघ्नाः ।
यत्सारभूतं तदुपासितव्यं हंसो यथा नीरमिवाम्बु मध्ये ॥ १५ ॥

तद्ध्यानस्तत्गतिस्थोपि कृत्वा पापशतान्यपि ।
लिप्यतेन स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १६ ॥

इदं शास्त्रमिदं ज्ञानं यः सर्वं ज्ञातुमिच्छति ।
अपिवर्षसहस्रायुः शास्त्रान्तं नाधि गच्छति ॥ १७ ॥

XXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXX
X
X title: vij~naanabhairava
X
X copied from manuscript c.n. 4245 of banares hindu university
X
X
X data entered by the staff of muktabodha
X under the supervision of mark s.g. dyczkowski
X
X revision 0: april 7, 2012
X
XXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXX

विज्ञानभैरवभट्टारकोयं लिख्यते ।

ॐ नमः परम भैरवाय ॥

श्रुतं देव मया सर्वं रुद्रयामलसम्भवम् ।

त्रिकभेदमशेषेण सारात्सारविभागशः ॥ १ ॥

अद्यापि न निवृत्तं मे संशयः परमेश्वर।
किं नवात्मक भावेन भैरवे भैरवाकृतौ॥ २॥

p. 73a) त्रिशिरो भेदभिन्नात्मा किं वा शक्ति त्रयात्मकम्।
नादबिन्दु मयं वापि किं चन्द्रावनिरोधकम्॥ ३॥

चक्रारूढमनस्कं वा किं वा शक्ति स्वरूपकम्।
परापरायाः सकलमपरायाश्च वा पुनः॥ ४॥

पराया यादि तद्वत् स्यात् पुरत्वं तद्विरुद्धयते।
न हि वर्णविभेदेन देहभेदेन वा भवेत्॥ ५॥

परत्वं निष्कलत्वेन सकलत्वेन तद्भवेत्।
प्रसादं कुरु मे नाथ निश्शेषं च्छिन्दिसंशयम्॥ ६॥

साधु साधु त्वया पृष्टं तन्त्रसारमिदं प्रिये।
गूहनीयतमं भद्रे तथापि कथयामिते॥ ७॥

यत्किञ्चित् सकलं रूपं भैरवस्य प्रकीर्तितम्।

तदसारतया देवि विज्ञेयं चक्रजालवत् ॥ ८ ॥

मायास्वप्नोपमं चैव गन्धर्वनगरभ्रमम् ।
ध्यानार्थं भ्रान्तबुद्धीनां क्रियाडम्बरवर्तिनाम् ॥ ९ ॥

केवलं वर्णितं पुंसां विकल्पनिहतात्मनाम् ।
तत्त्वतो न नवात्मासौ शब्दराशिर्न भैरवः ॥ १० ॥

न चापि त्रिशिरा देवो न च शक्तित्रयात्मकः ।
न चक्रक्रमसं भिन्नं न च शक्तिस्वरूपकः ॥ ११ ॥

अप्रबुद्धमतीनां हि एताबालविभीषिकाः ।
मातृमोदकवत्सर्वं प्रवृत्यर्थमुदाहृतम् ॥ १२ ॥

दिक्कालकलना मुक्ता देशोद्देशां विशेषिणी ।
व्यपदेष्टूसुशक्त्यासानशक्त्यापरमार्थतः ॥ १३ ॥

अन्तः स्वानु भवानन्दा विकल्पोन्मुक्तगोचरा ।
p. 74a) यावस्थभरिताकार्या भैरवी भैरवात्मनः ॥ १४ ॥

तद्वपुस्तत्त्वतो ज्ञेयं विमलं विश्वपूरणम् ।
एवं विधे परे तत्त्वे कः पूज्यकश्च तृप्यति ॥ १५ ॥

एवं विधा भैरवस्य यावस्था परिगीयते ।
सा परापररूपेण परादेवी प्रकीर्तिता ॥ १६ ॥

शक्ति शक्ति मतो यस्मादभेदः सर्वदा स्थितः ।
अतस्तद्धर्मधर्मित्वात् पराशक्तिः परात्मनः ॥ १७ ॥

न वह्नेर्दाहिकाशक्तिर्व्यतिरिक्ता विभाव्यते ।
केवलं ज्ञानसत्तायां प्रारम्भेयं प्रवेशने ॥ १८ ॥

शक्त्योवस्थां प्रविष्टस्य निर्विभावेन भावना ।
तदासौ शिवरूपीस्याच्चैवीमुखमिहोच्यते ॥ १९ ॥

यथा लोके न दीपस्य किरणैर्भासकरस्य वा ।
p. 74b) ज्ञायते दिग्विभागादि तद्वद्भत्त्या शिवः प्रिये ॥ २० ॥

देव देव त्रिशूलाङ्क कपालकृतभूषण।

दिग्देशकालशून्या च व्यपदेशीववर्जिता ॥ २१ ॥

या शक्तिर्भरताकारा भैरवः सोपलभ्यते।

कैरुपायैर्मुखं तस्य परादेवी कथं भवेत् ॥ २२ ॥

यथा सम्यगहं वेद्मि तथा मे ब्रूहि भैरव ॥

ऊर्ध्वप्राणो ह्यधोजीवो विसर्गात्मासरोच्चयेत्।

उत्पत्ति द्वितयं स्थाने भरणाद्भवित स्थितिः ॥ २४ ॥

सरतोन्तर्बहिर्वापि विद्याद्युग्मनिवर्तनात्।

भैरव्या भैरवस्येत्थं भैरवि व्यज्यते वपुः ॥ २५ ॥

न व्रजेन्न विशेच्छक्तिर्मरुद्रूपाविकासते।

p. 75a) निर्विकल्पतयामध्ये तथा भैरवरूपधृत् ॥ २६ ॥

कुम्भितारे चितावापि पूरिता वा यथाभवेत्।

तदन्ते शान्तनामासौ शक्त्याचान्तः प्रकाशते ॥ २७ ॥

आमूलात्किरणाभासं सूक्ष्मासूक्ष्मतरात्मिकम् ।
चिन्तयोन्ते द्विषट्कान्ते शाम्यन्ते भैरवादयः ॥ २८ ॥

उद्गच्छन्ती तडिद्रूपां प्रतिचक्रं क्रमात् क्रमम् ।
ऊर्ध्वं मुष्टित्रयं यावत् तावदन्ते महोदयः ॥ २९ ॥

भ्रमद्वादशकं सम्यग् द्वादशाक्षरभेदितम् ।
स्थूलसूक्ष्मपरिस्थित्या मुक्त्वा मुक्त्वा ततः शिवः ॥ ३० ॥

तया पूर्यास्तु मूर्द्धान्तं भक्ष्याभृक्षे पसेत्तना ।
निर्विकल्पं मनः कृत्वा सर्वोद्ध्वें सर्वगोद्गमः ॥ ३१ ॥

शिखिपक्षैश्चित्तरूपैर्मण्डलैः शून्यपञ्चकम् ।
p. 75b) ध्यायतोनुत्तरः शून्ये प्रविशो हृदये भवेत् ॥ ३२ ॥

ईदृशेन क्रमेणैव यत्र यत्रापि चिन्तयेत् ।
शून्ये वक्रे परे पात्रे स्वयं लीना वरप्रदा ॥ ३३ ॥

कपालान्तर्मनोन्यस्य तिष्ठेन्मीलित लोचनः।

क्रमेण मनसो दाढर्याल्लक्षते लक्षमुत्तमम्॥ ३४॥

मध्यनाडी मध्यसंस्था विससूत्रावसू त्रया।

ध्यातात्तयो महादेव्या तया देवः प्रकाशते॥ ३५॥

कररुद्ध दृगस्तेन भ्रूभेदाद्द्वाररोदनात्।

दृष्टे बिन्दौ क्रमालीने तन्मध्ये परमास्थितिः॥ ३६॥

धामान्तः क्षोभसम्भूता सूक्ष्माग्नि तिलका कृतिः।

बिन्दुं शिखान्ते हृदये लयान्ते ध्यायते लयः॥ ३७॥

p. 76a) अनाहते पात्रकर्णे भग्नशब्दपरिश्रुते।

शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधि गच्छति॥ ३८॥

प्रणवादि समुच्चारात् प्लुतान्ते शून्यभावनात्।

शून्यया परया शक्त्या शून्यता चेति भैरवि॥ ३९॥

यस्य यस्यापि वर्णस्य पूर्वान्तावनु भावयेत्।

शून्यया शून्य भूतोसौ शून्याकारः पुमान्भवेत्॥ ४० ॥

तन्त्र्यादि वाद्यशब्देषु दीर्घेषु क्रमसंस्थितः।
अनन्यचेताः प्रत्यन्ते परंव्योमवपुर्भवेत्॥ ४१ ॥

पिण्डमात्रस्य सर्वस्य सूक्ष्ममन्त्रक्रमेण तु।
अर्धेन्दुबिन्दुनादान्तः शून्योच्चाराद्भवच्छिवः॥ ४२ ॥

निजदेहे सर्वदिक्कं युगपद्भावयेद्द्वयम्।
निर्विकल्पमनास्तस्य वियत्सर्वं प्रवर्तते॥ ४३ ॥

p. 76b) पृष्ठशून्यं मूलशून्यं युगपद्भावये च यः।
युगपन्निर्विकल्पत्वान्निर्विकल्पोनयस्ततः॥ ४४ ॥

तनूद्देशे शून्यतया क्षणमात्रं विभावयेत्।
निर्विकल्पं निर्विकल्पे निर्विकल्पा स्वरूपभाक्॥ ४५ ॥

सर्वदेहगतं द्रव्यं नि * द्याप्तं मृगेक्षणे।
विभवेयद्यतस्तस्य भावना सा स्थिरी भवेत्॥ ४६ ॥

न किञ्चिदन्तरं तस्य ध्यायन्नध्येय भाग्भवेत्।
हृद्याकाशविलीनाक्षः पद्मसंपुटमध्यगः॥ ४७॥

अनन्य चेताः सुभगे परं सौभाग्यमाप्नुयात्।
सर्वतः स्वशरीरस्य द्वादशान्तं मना नयेत्॥ ४८॥

दृढबुद्धिर्दृढीभूतं तत्त्वलक्षं प्रवर्तते।
p. 77a) यथा यथा यत्र यत्र द्वादशान्ते मनः क्षिपेत्॥ ४९॥

प्रतिक्षणं क्षीणवृत्तेर्वै लक्षण्यं दिनैर्भवेत्।
कालाग्निना कालपुरादुर्थि तेन स्वकं पुरम्॥ ५०॥

प्लुष्टं विचिन्तयेदन्ते शान्ताभासस्तदा भवेत्।
एवमेव जगत्सर्वं दग्धं ध्यात्वा विकल्पितः॥ ५१॥

अनन्यचेतसः पुंसः पुंभावः परमो भवेत्।
स्वदेहे जगतो वापि सूक्ष्मसूक्ष्मतराणि च॥ ५२॥

तत्त्वानि यानि निरयं ध्यात्वान्तर्व्यथते परा।
पीनां च दुर्लभां चैव ध्यात्वा द्वादशगोचरे॥ ५३॥

प्रविश्य हृदये ध्यायन्युक्तः स्वातन्त्र्य माप्नुयात्।
भुवनत्वादि रूपेण चिन्तयेत्तपसोखिलम्॥ ५४॥

सूक्ष्मस्थूलपरित्यागं यावद्दत्ते मनोलयः।
अस्य सर्वस्य विश्वस्य पर्यन्तेषु समन्ततः॥ ५५॥

p. 77b) अध्वप्रक्रियया तत्त्वं देवं ध्यात्वा महोदयः।
विश्वमेतन्महादेवि शून्यभूतं विचिन्तयेत्॥ ५६॥

तत्रैव शमनोलीनं ततस्तल्लयभाजनम्।
निर्वृक्षगिरिभित्त्यादि देशे दृष्टिं विनिक्षिपेत्॥ ५७॥

विलीने मानसे भावे वृत्तिक्षीणा प्रजायते।
उभयोर्भावयोर्ज्ञाने ध्यात्वा मध्यं समाश्रयेत्॥ ५८॥

युगपश्च द्वयं त्यक्त्वा मध्ये तत्त्वं प्रकाशते।

भावे त्यक्ते निरुद्धा चेन्नैव भावान्तरं व्रजेत्॥ ५९॥

तदातन्मध्यभावेन विकसत्यति भावना।
सर्वदेहे तन्मयं हि जगद्वा परिभावयेत्॥ ६०॥

युगपन्निर्विकल्पेन मनसा परमोद्भवः।
वायु द्वयस्य सङ्घट्टादन्तर्वा बहिरन्ततः॥ ६१॥

p. 78a) योगी स तत्त्वविज्ञानं समुत्गमनभाजनम्।
सर्वं जगत् स्वदेहं वा स्वानन्दभरितं स्मरेत्॥ ६२॥

युगपत् स्वादृतेनैव परानन्दमयो भवेत्।
कुहरेण प्रयोगेन सद्य एव मृगे क्षणे॥ ६३॥

समुदेन महानन्दे येन तत्त्वं प्रकाशते।
सर्वस्त्रोतो निबन्धेन प्राणशक्त्याध्वशासनैः॥ ६४॥

पिप्पीलस्पर्श वेलायां प्रथमे परमं सुखम्।
वह्नेर्विषय मध्ये तु चित्तं सुख मयंक्षिपेत्॥ ६५॥

केवलं वायुपूर्णं वा स्मरानन्देन युज्यते ।
शक्तिसङ्गमसंक्षुब्धं शक्त्या वेशावसानिकम् ॥ ६६ ॥

यत् सुखं ब्रह्मतत्त्वस्य तत्सुखं स्वैक्यमुच्यते ।
लेहनामक्तनाकोटो स्त्रीमुखस्य भरात् स्मृतेः ॥ ६७ ॥

p. 78b) शक्त्या भावेपि देवेशि भवेदानन्दसंप्लवः ।
आनन्दे महते प्राप्ते दृष्टे वा बान्धवे चिरात् ॥ ६८ ॥

आनन्दमुत्गतं ध्यात्वा तल्लयस्तन्मना भवेत् ।
दग्धमानरसोल्लास रसानन्दविजृम्भनात् ॥ ६९ ॥

तावतोद्धरितावस्थां महानन्दस्ततो भवेत् ।
गीतादि विषया स्वादात्समसौख्यैकतन्मनः ॥ ७० ॥

योसिनस्तन्मयत्वेन मनोरूढेस्तदात्मना ।
यत्र यत्र मनस्सृष्टिर्मनस्तत्रैव धारयेत् ॥ ७१ ॥

तत्र तत्र परानन्दः स्वरूपः संप्रकाशते।

अनागतायां निद्रायां प्रनष्टे बाह्यगोचरे ॥ ७२ ॥

सावस्था मनसा गम्या परादेवी प्रकाशते।

तेजसा सूर्य दीपादेराकाशेशवली कृते ॥ ७३ ॥

७९अ) दृष्टिं निवेश्य तत्रैव स्वात्मरूपं प्रकाशते।

करङ्किण्ये क्रोधनया भैरव्या लेलिहानया ॥ ७४ ॥

खेचर्या दृष्टिकाले च पराव्याप्तिः प्रकाशते।

मृद्वासनेस्फिजैकेन हस्तपादौ निराश्रयम् ॥ ७५ ॥

विधायतत्प्रसङ्गेन परापूर्णामतिर्भवेत्।

उपविश्यासनेसम्यग्बाहूकृत्वावकुञ्चितौ ॥ ७६ ॥

कक्षव्योम्नि मनः कुर्वञ्च समानं च चिन्तयेत्।

स्थूलरूपस्य भावस्य सव्यां दृष्टिं निपातयेत् ॥ ७७ ॥

अचिरेण निराधारं मनः कृत्वा शिवं व्रजेत्।

आसने शयने स्थित्वा निराधारं विभावयेत्॥ ७८॥

स्वदेहं मनसि क्षीणे क्षीणात्क्षीणाशया भवेत्।
चलासने स्थितस्याथशनैर्वा देहचालनात्॥ ७९॥

p. 79b) प्रशान्ते मानुसे भावे देविदिव्यौघ माप्नुयात्।
लीनं मूर्ध्नि वियत्सर्वं भैरवत्वेन भावयेत्॥ ८०॥

तत्सर्वं भैरवाकारं तेजस्तत्वं समाविशेत्।
किञ्चिज्ज्ञात्वे द्वैतदायि बाह्यलोकस्तमः पुनः॥ ८१॥

विद्वावि भैरवं रूपं ज्ञात्वानन्त प्रकाशवत्।
एवमेवं दुर्निमाया कृष्णपक्षागमे चिरम्॥ ८२॥

तैमिरं भावयेद्रूपं भावयेद्भैरवो भवेत्।
यस्य यस्येन्द्रियस्यापि व्याघाताश्च निरोधतः॥ ८३॥

प्रविष्टस्या द्वये शून्ये तद्दैवात्मा प्रकाशयेत्।
अब्धिन्दु स विसर्गं च अकारं जपतो महान्॥ ८४॥

उदेति देवि सहसाज्ञानौघः परमेश्वरः ।
स विसर्गस्य वर्णस्य विसर्गान्तं चिति कुरु ॥ ८५ ॥

p. 80a) निराधारेण चित्तेन स्पृशेद्ब्रह्मसनातनम् ।
व्योमाकारं स्वमात्मानं ध्याने दिग्भिरनावृतम् ॥ ८६ ॥

निराशय चितिः शक्तिः स्वरूपे दर्शयेत् तदा ।
किञ्चिदङ्गं विभाव्यादौ तीक्ष्णसूच्यादिना ततः ॥ ८७ ॥

तत्रैव चेतना युक्ता भैरवेणामलागतिः ।
चित्ताद्यन्तः कृतन्नास्ति समन्तर्भावयेदिति ॥ ८८ ॥

विकल्पनामभावेन विकल्पैरुज्झितो भवेत् ।
मया विमोहनी नाम कलायाः कलनं स्थितम् ॥ ८९ ॥

* * दि तत्त्वं धर्माणां कलयन्न पृथग् भवेत् ।
जगतीच्छां समुत्पन्नामवलोक्यशमं नयेत् ॥ ९० ॥

यत एव समुद्भूता ततस्तत्रैव लीयते ।
यदाममेच्छानोत्पन्ना ज्ञानं वाकस्तदास्मि वै ॥ ९१ ॥

p. 80b) तत्त्वतोहं तदा भूतस्तल्लीनस्तन्मनो भवेत् ।
इच्छायामथवा ज्ञाने जाते चित्तं निवेशयेत् ॥ ९२ ॥

आत्मबुद्ध्यानान्यचेता ततस्तत्त्वात्मदर्शनम् ।
निराधारं भवेज्ज्ञानं निर्निमित्तं भ्रमात्मकम् ॥ ९३ ॥

तत्त्वतर्कस्य चिन्नैत देवं व्यापी शिवः प्रिये ।
चिद्धर्मा सर्वदेहेषु विशेषो नास्ति कुत्रचित् ॥ ९४ ॥

अतश्च तन्मयं सर्वं भावयेद्भवजीज्जनः ।
कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यगोचरः ॥ ९५ ॥

बुद्धिं निस्तिमिभां? कृत्वा तत्तत्त्वमवशिष्यते ।
इन्द्रजालमयविश्वं न्यस्तं वा चित्त्रकर्मवत् ॥ ९६ ॥

भ्रमद्वा ध्यायतः सर्वं पश्यतश्च सुखोद्गमः ।

न चित्तं निक्षिपेद्दुःखेन सुखे वा परिक्षिपेत् ॥ ९७ ॥

p. 81a) भैरवि ज्यायतां मध्ये किं तत्त्वमवशिष्यते ।
विहाय निजदेहस्थं सर्वं नास्मीति भावयेत् ॥ ९८ ॥

दृढेन मनसा दृष्ट्या नान्वेक्षिण्या सुखी भवेत् ।
घटादौ यच्च विज्ञानमिच्छाद्यं वाममान्तरे ॥ ९९ ॥

नैव सर्वगतं जातं भावयन्निति सर्वगः ।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिः सामान्या सर्वदेहिनाम् ॥ १०० ॥

योगिनां तु विशेषोस्ति सम्बन्धे सावधानता ॥

स्वस्मादन्यशरीरेपि संवित्ति मनुभावयेत् ।
अपीक्षां स्वशरीरस्य त्यक्तवा वासी सुखी भवेत् ॥

निराधारं मनः कृत्वा विकल्पं न विकल्पयेत् ।
तदात्म परमात्मत्वे भैरवो मृगलोचने ॥ १०३ ॥

सर्वज्ञः सर्वकर्ता च व्यापकः परमेश्वरः।
p. 81b) स एवाहं चैव धर्मा इति दाढर्या भवेच्छिवः॥ ४॥

जलस्यैवोर्मयो वह्नेर्ज्वालाभङ्गः प्रभाभरः।
ममैव भैरवस्येता विश्वभङ्ग्यविभेदिताः॥ ५॥

भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा शरीरेण त्वरितं तु विपातनात्।
क्षोभशक्तिविरामेण परासञ्जायते दशा॥ ६॥

आधारे त्वथवा शक्त्या ध्यानाच्चित्ततलेन वा।
जातशक्तिसमावेश क्षोभन्ते भैरवं वपुः॥ ७॥

संप्रदायमिदं भद्रे शृणु सम्यग् वरानने।
कैवल्यं जायते सद्यो नेत्रयोः स्तब्धमात्रयोः॥ ८॥

दशाधिके महागर्ते स्थित्वोपरि निरीक्षणात्।
अविकल्पमते सम्यक् सद्यच्चित्तनयस्फुटम्॥ ९॥

यत्र यत्र मनो याति बाह्ये बाह्यान्तरेपि वा।

p. 82a) तत्र तत्र शिवावस्था व्यापकत्वात्कयास्यति ॥ १० ॥

यत्र यत्राक्षमार्गेण चैतन्यं व्यज्यते विभोः ।

तस्य तन्मात्रधर्मित्वाच्चिल्लयाद्भरितात्मता ॥ ११ ॥

क्षुताद्यन्ते भयेशोके गह्वरे वारणद्रुते ।

कुर्धहले क्षुधाद्यन्ते ब्रह्मसत्ता मयी पशा ॥ १२ ॥

वस्तुषु स्म?र्यमाणेषु दृष्टे देशेमनस्त्यजेत् ।

स्वशरीरं निराधारं ततः प्रसरति प्रभुः ॥ १३ ॥

क्वचिद्वस्तु न बिन्दस्य शनैर्दृष्टिं निवर्तयेत् ।

तज्ज्ञानं * *? सहितं देहि शून्यालयो भवेत् ॥ १४ ॥

भक्त्यद्रेकाद्विरक्तस्य यादृशी ज्ञायते रतिः ।

सा शक्तिः शाङ्करी नित्यं भावयेर्थं ततः शिवः ॥ १५ ॥

वस्त्वन्तरे वेद्यमाने शनैर्वस्तुषु शून्यता ।

p. 82b) तामेवमनु सा ध्यात्वा विदितोपि प्रशाम्यति ॥ १६ ॥

किञ्चिज्ज्ञैर्यः स्मृता शुद्धिस्सशुद्धिश्शम्भुदर्शने ।
न शुचिर्ह्यशुचिस्तस्मान्निर्विकल्पः सुखी भवेत् ॥ १७ ॥

सर्वत्र भैरवो भावः सामान्ये ष्वेवगोचरे ।
न च तद्व्यतिरेकेन परोस्तीत्यद्वया गतिः ॥ १८ ॥

समः शत्रौ च मित्रे च समोमानावमानयोः ।
ब्रह्मणः परिपूर्णत्वादिति ज्ञात्वा सुखी भवेत् ॥ १९ ॥

न द्वेष भावयोः * * *? न रागं भावयेत् क्वचित् ।
रागद्वेषविनिर्मुक्तो मध्ये ब्रह्मप्रसर्पति ॥ २० ॥

यदि वेद्यं यदा ग्राह्यं यच्छून्यं यदवावगम् ।
तत्सर्वं भैरवं भाव्यं तदन्ते रोधसम्भवम् ॥ २१ ॥

नित्ये निराशये शून्ये व्यापके कलनोज्झिते ।
बाह्याकाशे मनः कृत्वा निराकाशं समाविशेत् ॥ २२ ॥

p. 83a) यत्र यत्र मनोयाति तत्तत्ते नैव लक्षणम् ।

परित्यज्य नवः स्थित्या निस्तरङ्गस्ततो भवेत् ॥ २३ ॥

क्रियात्सर्वं रवयति सर्व देव्यापकोखिले ।

इति भैरवशब्दस्य सन्ततोश्चारणा च्छिवः ॥ २४ ॥

अहं स समयेत्यादि प्रतिपत्ति प्रसङ्गतः ।

निराधारे मनोजाति तद्ध्याना प्रेरणाच्छमी ॥ २५ ॥

नित्यो विभुर्निराधारो व्यापकश्चाखिलाधिपः ।

शब्दाः प्रतिक्षणं ध्यायन्प्रकृतार्थानुरूपतः ॥ २६ ॥

अतत्त्वमिन्द्रजालाभमिदं सर्वमवस्थितम् ।

किं तत्वमिन्द्रजालस्य इति दाढर्याअच्छयं व्रजेत् ॥ २७ ॥

आत्मनो निर्विकारस्य क्व ज्ञानं क्व च वा क्रिया ।

ज्ञानायता बहिर्भावादतः शून्यमिदं जगत् ॥ २८ ॥

p. 83b) न मे बन्धन मोक्षोमेती तस्यैव विभीषिकाः ।

प्रतिबिम्बमिदं बुद्धेर्जलेष्विवविवस्वतः ॥ २९ ॥

इन्द्रियद्वारकं सर्वं सुखदुःखादि सङ्गमम् ।

इतीन्द्रियाणि सन्त्यज्य स्वस्थः स्वात्मनि वर्तते ॥ ३० ॥

ज्ञानं प्रकाशकं सर्वं सर्वमात्माप्रकाशकः ।

एवमेव स्वभावत्वाज्ज्ञानज्ञेयो विभाव्यते ॥ ३१ ॥

मानसं चेतना शक्तिरात्मा चेति चतुष्टयम् ।

यदा प्रियो परिक्षीणं तदातद्भैरवं वपुः ॥ ३२ ॥

निस्तरङ्गा पदेशानां शतमुक्तासमासतः ।

द्वादशाभ्यधिकं देवि यज्ज्ञात्वा ज्ञानविज्जनः ॥ ३३ ॥

अत्र चैव तपे युक्ते जायते भैरवः स्वयम् ।

p. 84a) वाचाकरोति कर्माणि शापानुग्रहकारकः ॥ ३४ ॥

अजरामरतामेति सोणिमादि गुणान्वितः ।

योगिनीनां प्रियो देवि सर्वमेलापकाधिपः ॥ ३५ ॥

जीवन्नपि विमुक्तोसौ कुर्वन्नपि च चेष्टितम् ॥ ३६ ॥

इदं यदि वपुर्देव परायाश्च महेश्वर ।
एवमुक्त्वाव्यवस्थायां जपते को जपश्चकः ॥ ३७ ॥

एषात्र प्रक्रिया वक्ष्ये स्थूलेष्येव मृगेक्षणे ।
भूयोभूयः परे भावे भावना भाव्यते यथा ॥ ३८ ॥

ध्याने या निश्चला बुद्धिर्निराकारा निराश्रया ।
न तु ध्यानं शरीरादि मुखहस्तादि कल्पना ॥ ३९ ॥

प्रजानामत्र पुष्पाद्यैर्या मतिः क्रियते दृढा ।
निर्विकल्पे परे व्योम्नि सा पूजा ह्यदराल्लयः ॥ ४० ॥

p. 84b) महाशून्या लये वह्नौ भूताक्षविषयादिकम् ।
हूयते मनसा सार्धं स होमश्चेतना स्रुचा ॥ ४१ ॥

यागेत्र परमेशानि तुष्टिरानन्द लक्षणा ।

क्षपणात् सर्वपापानां त्राणात्सर्वस्य पार्वति ॥ ४२ ॥

रुद्रशक्ति समावेशस्तत्क्षेत्रं भावना परा ।

अन्यथा तस्य तन्द्रस्य का पूजा कश्च तृप्यति ॥ ४३ ॥

यैरेव पूज्यते द्रव्यैस्तर्पते वा परापरः ।

यश्चैव पूजकः सर्वं स एवैकः प्रपूजनम् ॥ ४४ ॥

व्रजेत् प्राणो विशेज्जीव इच्छाया कुटिला कृतिः ।

दीर्घात्मा सा महादेवी परक्षेत्त्रं परापरा ॥ ४५ ॥

अस्यानु चरतस्तिष्ठेन्महानन्दमयेध्वरे ।

तथादेवा समाविष्टः परं भैरवमाप्नुयात् ॥ ४६ ॥

p. 85a) षट्कतानि दिवारात्रौ सहस्त्राण्येक विंशतिः ।

जपो देव्याः समुद्दिष्टः प्राणस्यान्ते सुदुर्लभः ॥ ४७ ॥

इत्ये तत्कथितं देवि परमामृतमुत्तमम् ।

एतच्च नैव कस्यापि प्रकाश्यं न कदाचन ॥ ४८ ॥

परिशिष्येखिले क्रूरे अभक्ते गुरुपादयोः ।
निर्विकल्पमतीनां तु वीराणामुन्नतात्मनाम् ॥ ४९ ॥

भक्तानां गुरुवर्गस्य दातव्यं निर्विशङ्कया ।
ग्रामोराज्यं परोदेशः पुत्रदारकुटुम्भकम् ॥ ५० ॥

सर्वमेतत्परित्यज्य ग्राह्यमेतन्द्दगेक्षणे ।
प्राणा अपि प्रदातव्या न देयं परमा मृतम् ॥ ५१ ॥

देव देव महादेव परितृप्तास्मि शङ्कर ।
रुद्रयामल मन्त्रस्य सरसद्यावधारितम् ॥ ५२ ।

p. 85b) सर्वशक्ति प्रभेदानां हृदयं ज्ञातमद्य च ।
इत्युक्त्वा नन्दिता देवी कण्ठे लग्ना शिवस्य तु ॥ ५३ ॥

ओं नमश्चिद्भैरवात्मने शंकराय

अथ

विज्ञानभैरवः

श्रीमद्भट्टानन्दविरचितविज्ञानकौमुदीटीकोपेतः।

श्रीविद्यां श्रीकण्ठमूर्तिं महेशं

सोमानन्दं भूतिराजोत्पलेशौ।

कालेनास्तंयातशिवागमानां

प्रोद्धृत्यै ये मर्त्यलोकेवतीर्णाः॥ १॥

नामं नामं तत्पदाम्भोजरेणुं

वाक्कायान्तर्वृत्तिभिर्नुत्तपङ्के।
चित्तादर्शे मादृशा दृष्टतत्त्वा-
वेशाः शोभन्तेनिशं सत्सदःसु ॥ २ ॥ (युगलकम्)

श्रीलक्ष्मणाभिनवगुप्तमुखांस्त्रिकार्थ-
तत्त्वानुशासनमहाम्बुधिशीतरश्मीन्।
ध्यात्वा गुरूञ्जडहृदब्जविकासनोद्य-
द्भास्वत्प्रभान्वितिमिरीकृतविश्वमार्गान्॥ ३ ॥

शर्वाननाम्बुजविनिःसृतधारणानां
गूढायनेपरविभानवलोकनेन।
संरच्यते प्रतिपदं स्खलतापि तावद्-
विज्ञानभैरवनये पददीपिकेयम्॥ ४ ॥ (युगलकम्)

पृ। २)

तदिह शास्त्रकृत्स्वयं भैरवः नीलपीतादिविचित्राभिरान्तरवाह्यस्वरूपाभिः तत्तदर्थक्रियाभिः स्वात्मानमाच्छाद्य ततश्च सूर्यमरीचिनिकरवत् बहिर्निःसृता भक्तजना एतज्ज्ञानमार्गद्वारा स्वात्मस्वरूपोपलब्ध्या पुनः प्रविशन्तु तदैक्यमुपयान्तु च इति प्रयोजनमुद्दिश्य स्वविज्ञानस्फारज्ञान-क्रियादिशक्तिद्वारा प्रष्टृरूपात्मना आह

श्रीभैरव्युवाच ।

इत्यादि

श्रुतं देव मया सर्वं यामलादिषु भाषितम् ।
त्रिकभेदमशेषेण सारात्सारविभागशः ॥ १ ॥

अद्यापि न निवृत्तो मे संशयः परमेश्वर ।
किं रूपं तत्त्वतो देव शब्दराशिकलात्मकम् ॥ २ ॥

किं वा नवात्मभेदेन भैरवे भैरवाकृतौ ।
त्रिशिरोभेदभिन्नं वा किं वा शक्तित्रयात्मकम् ॥ ३ ॥

नादबिन्दुमयं वापि किं चन्द्रार्धनिरोधकम् ।
चक्रारूढमनच्कं वा किं वा शक्तिस्वरूपकम् ॥ ४ ॥

परापरायाः सकलमपरायाश्च वा पुनः ।
पराया यदि तद्वत्स्यात्परत्वं तद्विरुध्यते ॥ ५ ॥

नहि वर्णविभेदेन देहभेदेन वा भवेत्।
परत्वं निष्कलत्वेन सकलत्वेन वा भवेत्॥ ६॥

पृ। ३)

प्रसादं कुरु मे नाथ निःशेषं छिन्धि संशयम्।

यत्र यत्किंचित् यामलादिषु शिवशक्तिसंघट्टनात्महेतुषु शास्त्रेषु ब्रह्मविष्णुरुद्रभैरवाख्ययामलेषु तदाख्येषु आगमेषु यत्किंचित् भवन्मुखात् श्रुतं तदैक्योपपत्त्या श्रुतपूर्वमेवास्ति दर्पणप्रतिबिम्बितन्यायेन तदनतिरिक्तं तदतिरिक्तं वा आन्तरतश्चैक्यतया बाह्यतश्च त्रिकभेदनरशक्तिशिवात्मकतया वा इत्यनेनासाधारणतया साधारणतया च श्रुतं श्रुतपूर्वमेवास्ति। इदानीमपि मम संदेहो न निवर्तते। मम भैरवीस्वरूपेण मायादिशक्तिस्वरूपे तदाश्यानतया तत्स्वरूपतादात्म्यात् मम भैरवीति नाम गीयत इत्यर्थः। तस्या मम न संदेहनिवृत्तिः - इदानीमपि न मम त्वदैक्योपपत्तिः संजातेति भावः। स्वात्मभित्तिसंलग्नत्वेन तदुल्लासाद्विश्वभर्त्रीं विश्वमयत्वेनैव सर्वत्र स्फुरणात्तद्धियमाणा वा संसारभीरूणामभयप्रदत्वेन हितकर्त्रीं भिया

संसारत्रासेन रवतां जनितपरामर्शरूपाक्रन्दवतां हृद्भूमौ स्फुरन्ती
वा इत्यादि निरुक्तनिर्दिष्टार्था भैरवी इत्युच्यते। तदेतत्सर्वम्
प्रश्नोत्तरतत्त्वनिर्णयं भैरवीभैरवयोः
सामरस्यात्मसंघट्टयामलस्वरूपप्रतिपादनं च
तन्त्रालोकपरात्रिंशिकादौ वितत्य प्रोक्तं नास्माभिरिह वितन्यते
रहस्यतस्करताप्रसङ्गात्। प्रकृतमनुसरामः - तस्य चानुत्तररूपस्य
किं रूपं तत्त्वतः सत्यतः तदेव वदेति भावः। तत्र किं
शब्दराशिकलात्मकं शब्दब्रह्मात्मकं

शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।

इति। अथ वा अकारादि-क्षकारान्तशब्दतया अहमिति स्वरूपतया च वा अ क्ष
इत्यात्मतया चेति किं वा नवतत्त्वात्मतया नववामादिशक्तिस्वरूपतया च
भैरवे सच्चिदानन्दलक्षणपूर्णाहं-

पृ। ४)

भावस्वरूपभूते भैरवाकृतौ पञ्चकृत्यस्वभावभूते चित्तत्त्वे वा
नरशक्तिशिवात्मना त्रिशिरोभेदभिन्नं वा तत् तत्त्वं
मातृमानमेयादिव्यापारत्रयात्मना वा इच्छादिशक्तित्रयव्यापारात्मना च

वा नादबिन्दुमयेन

शिवशक्त्यात्मकशब्दप्रत्ययरूपज्ञानक्रियाशक्त्यात्मना वा

प्रणवाङ्गमाख्यार्धचन्द्रनिरोधात्मकव्यापारेण वा

षट्पत्रादिचक्रस्थितं किंचित्तत्त्वं कुण्डलिन्याकृतिसार्धत्रिवलयस्फुरितं वा

अकारादिक्षकारान्तचक्रारूढस्वभावम् अहमिति स्फुरणं वा अनच्कम्

अकारादिषोडशस्वरराहित्येन ककारादिक्षकारान्तरूपं क् ख् ग् घ् ङ् इत्यादि

स्वरूपं वा अथ च ओं नमः श्रीविद्यापादुकाभ्यः इत्येवं

स्वरव्यञ्जनसंयुक्तं रूपम् उच्चारवर्जितं निष्कलं रूपम् अ उ म् न् अ मः र् ई

व् इ द् य् आ प् आ द् उ क् आ भ् यः इत्येवं रूपं वा तत् सर्वं वद वा पराया

वाचः

स्वरूपं वा अपराया वाचः स्वरूपं वा परापराया वाचः स्वरूपमस्ति ?

स्वातन्त्र्यशक्तिरेव हि परा सैव क्रमं स्रष्टुमिच्छन्ती अपरा सैव च

क्रमरूपा सती परापरेति कथिता। तथा च तन्त्रालोके

स्वातन्त्र्यशक्तिः क्रमसंसिसृक्षा

क्रमात्मता चेति विभोर्विभूतिः।

तदेव देवीत्रयमन्तरास्ता-

मनुत्तरं मे प्रथयत्स्वरूपम्॥

इत्यादिना। इत्येवमपरायाः वा परापरायाश्च स्वरूपस्य तादात्म्यात् पराया अपि यदि तद्वदेव स्यात् परत्वं तदिविरुध्येत। परापरापराभेदयोर्भेदोपपत्त्यां तत्राभेदस्वभावात् तत् परत्वं परास्वरूपे विरुध्येतेति तथा परापरापरास्वरूपयोर्हि सकलमेव वेद्यराशिपतितं विरुध्येत परायामिति भावः। अत्र परायां तदभे-

पृ। ५)

ओदुपपादनादिति विरुद्धमेतत् न च ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रादिभेदेन न च देहभेदेन वा न च सुरनरतिर्यगादीनां नानाशरीररचनया तत्परत्वं निष्कलत्वेन सकलत्वेन वा भवेत् ? - इत्येवं वाक्कायमनसामेकीभावनया मम प्रसादं कुरु प्रसाददृष्टिं ददस्व किमिदं किमिदमित्यादिभावनया सर्वं विहाय एककोटिस्पर्शनात् परौन्मुख्यत्यागात् प्रमेयपरिहारात् वा प्रमातृतत्त्वाहंभावनया वा यत्किंचित् प्रमातृतत्त्वं तदेवोपपादयेति भावः। यच्च मम हृदि संशयः किमयम् किमयम् किमिदं किं वा इदम् किमन्यथा इत्यादि भेददशापन्ने निर्णयं वद - एकमेव यत् प्रमातृतत्त्वं स्वप्रकाशं तदेव मे दर्शय येन दर्पणप्रतिबिम्बितन्यायेन स्वात्मनि सर्वस्यास्यानतिरिक्तताप्रसङ्गात् अभेदोपपत्त्या अहमिति स्वरूपविश्रान्तेः सर्वमिदं मत्स्वरूपमिति निर्णयः स्यात्। प्रकर्षेणासादनं प्रसादः

भेदापसरणेनाभेदोपपत्त्या स्वात्मैक्यताप्रतिपादनयुक्तिं विरचयेति तात्पर्यम् ॥ १-६ ॥

तदेवं स्वाभिन्नस्वसंविद्भैरवीरूपेणानुयुक्तस्य तत्त्वविषयागमस्य निर्णायकपदस्थः स्वयं परमेश्वरः सिद्धान्तोपदेष्टा

भैरव उवाच

इत्यादिना तत्र भैरवशब्दार्थस्तदभिन्नस्वरूपत्वेन निर्दिष्टभैरवीशब्दे प्राङ्निर्वाहितः अथ च भैर्भीमादिभिरवति इति भैरवः अहमिति स्फुरणात् इदन्ताया विनाशात् आश्यानस्येव हिमघृतादेरिति भावः। उवाचेति स्वाभिन्नस्वरूपां संविच्छक्तिमभिमुखीकृत्य प्रतिशृणोति।

साधु साधु त्वया पृष्टं तन्त्रसारमिदं प्रिये ॥ ७ ॥

पृ। ६)

गूहनीयतमं भद्रे तथापि कथयामि ते।
यत्किंचित्सकलं रूपं भैरवस्य प्रकीर्तितम् ॥ ८ ॥

तदसारतया देवि विज्ञेयमिन्द्रजालवत्।
मायास्वप्नोपमं चैव गन्धर्वनगरभ्रमम्॥ ९॥

ध्यानार्थं भ्रान्तबुद्धीनां क्रियाडम्बरवर्तिनाम्।
केवलं वर्णितं पुंसां विकल्पनिहतात्मनाम्॥ १०॥

तत्त्वतो न नवात्मासौ शब्दराशिर्न भैरवः।
न चापि त्रिशिरा देवो न च शक्तित्रयात्मकः॥ ११॥

नादबिन्दुमयो वापि न चन्द्रार्धनिरोधकः।
न चक्रक्रमसंभिन्नो न च शक्तिस्वरूपकः॥ १२॥

अप्रबुद्धमतीनां हि चैता बालविभीषिकाः।
मातृमोदकवत्सर्वं प्रवृत्त्यर्थमुदाहृतम्॥ १३॥

दिक्कालकलनातीता देशोद्देशाविशेषिणी।
व्यपदेष्टुमशक्या सा न कथ्या परमार्थतः॥ १४॥

अन्तःस्वानुभवानन्दा विकल्पोन्मुक्तगोचरा ।
यावस्था भरिताकारा भैरवी भैरवात्मनः ॥ १५ ॥

तद्वपुस्तत्त्वतो ज्ञेयं विमलं विश्वपूरणम् ।
एवंविधे परे तत्त्वे कः पूज्यः कश्च तृप्यति ॥ १६ ॥

पृ। ७)

एवंइधा भैरवस्य यावस्था परिगीयते ।
सा परापररूपेण परा देवी प्रकीर्तिता ॥ १७ ॥

शक्तिशक्तिमतोर्यस्मादभेदः सर्वदा स्थितः ।
अतस्तद्धर्मधर्मित्वात्परा शक्तिः परात्मनः ॥ १८ ॥

न वह्नेर्दाहिका शक्तिर्व्यतिरिक्ता विभाव्यते ।
केवलं ज्ञानसत्तायां प्रारम्भोयं प्रवेशने ॥ १९ ॥

शक्त्यवस्थाप्रविष्टस्य निर्विभागेन भावना ।
तदासौ शिवरूपी स्याच्छैवी मुखमिहोच्यते ॥ २० ॥

यथालोकेन दीपस्य किरणैर्भास्करस्य वा।
ज्ञायते दिग्विभागादि तद्वच्छक्त्या शिवस्य च॥ २१॥

हे देवि यत् त्वया पृष्टं तत् साधु साधु परमेष्टत्वात् पुनरुक्त्या साधु साधु निर्देशः यत् त्वया तन्त्राणां निश्चयानां सारं पृष्टं तत् त्वया गूहनीयं स्वात्मनि अभेदेन ध्यातव्यमिति भावः न तु वाचा वैखर्यादिना ततोपि अहमपि वदामि नान्यथा। यच्च भैरवस्य द्वैविध्येन सकलं निष्कलं च रूपं प्रसिद्धमेतत्सकलं जगद्रूपं नीलानीलघटादिनानावैचित्र्येण तत् सर्वं गन्धर्वनगरवदिन्द्रजालतुल्यमिति शेषः - भुक्त्वा पीत्वा सुखमहमस्वाप्समित्यत्र स्वप्नोपमदृष्टतुल्यं गन्धर्वनगरतुल्यं चेति - तथा अप्रबुद्धमतीनां भ्रान्तमतीनां कर्मप्रधानफलाभिसन्धिवर्तिनां स्थूलध्यानयोगार्थम् अहं विष्णुं यजामि अहं गणपतिं यजामीति स पुत्रं दास्यति

पृ। ८)

मह्यम् इति विकल्पनिहतात्मनां पुंसां वर्णितम्। तत्त्वतो न नवात्मासौ - नवतत्त्वस्वरूपः न वा वामादिनवशक्तिस्वरूपः न चापि नरशक्तिशिवात्मा

न वा इच्छाज्ञानक्रियाशक्तित्रयात्मा च न च शिवशक्तिस्वरूपः नादः शक्तिः
बिन्दुश्च शिव इति शब्दप्रत्ययरूपं ज्ञानक्रियात्मकं वा न च
अमाख्यार्धचन्द्रनिरोधात्मकं च प्रणवस्य न च षट्चक्रादिभेदगं
कुण्डलिन्यादिरूपेण वा - अकारादिक्षकारान्तवर्णचक्रग-अहमिति
स्वरूपं न वा कुण्डलिन्यादिशक्तिस्वरूपभाक् - परं तु मूढमतीनाम्
एता बालविभीषिकाः अभिनिवेशादिप्रशमाय बालो हि विभीषिकाभिर्लाल्यत एव
स्वमात्रा अथ चौषधादिभक्षणार्थं स्वमात्रा मोदकं वा शर्करां
दास्यामीति लाल्यते। एवं सा परावस्था दिक्षु कालेषु भूतादिषु कलनातीता या
आसीत्
सास्ति भविष्यति चेति दूरासन्नादिनानात्वेन अविशेषिणी उपदेष्टुमशक्यापि तव
उपदिशामिति शेषः। पूर्णाहन्ता स्वप्रकाशैकस्वरूपा निर्विकल्पपरमार्था च
पूर्णस्वरूपस्य भैरवस्य या भरिताकारावस्था अहमिति विश्रान्तिमयी तदेव
भैरवं वपुर्विज्ञेयमिति भावः। एवमस्मिन् भैरवे तत्त्वे कः पूज्यः को वा
तृप्तः वा तृप्यति। एवमनेन रूपेण परावस्था भैरवस्य प्रकीर्तिता।
यतश्चानयोः शक्तिशक्तिमतोरभेदस्तस्मात् इयं परा शक्तिरिति कथ्यते। अत्र च
दृष्टान्तोपि - यथा वह्नेर्दाहिका शक्तिर्न भिन्ना तथेयं शक्तिरपि परा
इति एतन्मुखेन भैरवसांमुख्यं स्यादिति भावः। पुनरपि च दृष्टान्तोत्र
- यथा हि वर्क्रेणैव अयमिति लभ्यते तथा शक्त्यैव शिवोयमिति व्यपदेशः
। अपरोपि च दृष्टान्तः - यथा दीपप्रकाशेन वा सूर्यालोकेन च

दिग्विभागादि ज्ञायत एव एवं शक्त्या शिवावभसनमिति सिद्धम्॥ ७-२१॥

प्।९)

श्रीभैरवी उवाच

देवदेव त्रिशूलाङ्क कपालकृतभूषण।
दिग्देशकालशून्या च व्यपदेशविवर्जिता॥
या शक्तिर्भरिताकारा भैरवस्योपलभ्यते।
कैरुपायैर्मुखं तस्याः परा देवी कथं भवेत्॥
यथा सम्यगहं वेद्मि तथा ब्रूहि मम प्रभो॥

इच्छाज्ञानक्रियात्मशक्तित्रय-भरितस्वरूपसत्तया उपलक्षित ?
विश्वस्य च संहारेण स्वात्मनि तत्स्थित्या अस्थिशेषतया विश्वस्य धारणं
कपालपाणित्वं सिद्धमीश्वरस्य। दिक्षु दशसु देशे काले भूतादौ शून्या
तदविभागा परेति नाम्ना लक्ष्यते तन्मुखं तद्दर्शनं च केनोपायेन
भवेदिति शेषः। यथा चाहं त्वत्स्वरूपतया भवामि त्वदभेदोपपत्तेः
तथैव मे ब्रूहि - तत्रैव प्रवेशय इति भावः॥

श्रीभैरव उवाच

ऊर्ध्वे प्राणो ह्यधो जीवो विसर्गात्मा परोच्चरेत्।
उत्पत्तिद्वितयस्थाने भरणाद्भरितस्थितिः॥ २४॥

ऊर्ध्वे द्वादशान्ते प्राणः प्राणनरूपः जीवनाख्यः चित्तवृत्तिविशेषः संस्थाप्यः अधश्च - हृदि हृदयस्थाने जीवोपानः - जीव्यतेनेन इति जीवः भक्षणपानादेरधोमार्गप्रसरणात् जीव इति उच्यते तदुपाधिवान् अत एव जीव इति विसर्गात्मा अन्तर्बहिर्भावकरणरूप आत्मा यस्य तेनापि परैव उच्चारमायाति अहमैति अन्तश्चकारूढा एतयोर्द्वयोर्विभेदापत्त्या अहमिति प्रकाशनात्

पृ। १०)

उत्पत्तौ द्वादशान्ते द्वितीये हृदि च धारणात्। तत्र स्थित्या भरितस्थितिः स्यादेव इति सर्वोपाधिविस्मरणात् अहमिति विमर्शवान् स्यात् इति संबन्धः। इति प्रथमा धारणा॥ २४॥

अथ द्वितीयामाह

मरुतोन्तर्बहिर्वापि वियद्युग्मानुवर्तनात् [युग्मानिवर्तनात् भैरव्या
भैरवस्य इति च पाठः] ।
भैरवं भैरवस्येत्थं भैरवि व्यज्यते वपुः ॥ २५ ॥

प्राणापानरूपस्य मरुतोन्तर्बहिर्वियद्युग्मे द्वादशान्ते हृदये चातुवर्तनात्
- अनुन्मेषनिमेषणात् । हे भैरवि ? भैरवस्य परमात्मनः वपुः
शरीरं स्वरूपं व्यज्यते प्रकाशत एव ॥ २५ ॥

तृतीयां धारणामाह

न व्रजेन्न विशेच्छक्तिर्मरुद्रूपा विकासते [विकासिते भैरवरूपता इति
च पाठः] ।
निर्विकल्पतया मध्ये तया भैरवरूपधृत् ॥ २६ ॥

हृदि यः प्राणः स तु न व्रजेत् तत्स्थानात् नापि विशेत् यत्रैवास्ति
निर्विकल्परूपस्तत्रैवास्तु अस्पन्दात्मा । एवमेव द्वादशान्तेपि
स्पन्दास्पन्दराहित्येन निर्विकल्पसमाधौ तन्मध्ये भैरवरूपाभिव्यक्तिः ॥ २६
॥

चतुर्थीं धारणां निरूपयति

कुम्भिता रेचिता वापि पूरिता वा यदा भवेत्।
तदन्ते शान्तनामासौ शक्त्या शान्तः प्रकाशते॥ २७॥

पृ। ११)

शास्त्रमार्गानुसारेण कुम्भकं रेचकं वा पूरकं विधाय तत्तदभ्यासपरिशीलनेन च चक्रभ्रमिवत् शान्तवेगानुभवेन प्रकाशमात्रावस्थोदये परापरस्वभावः प्रकाशत एव। तथा च तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमिरिव धृतशरीर इत्यन्तेन प्रकाशः प्रकाशत एव। प्रत्यभिज्ञायां चैतत्प्रपञ्चितम्

इदमित्यस्य विच्छिन्नविमर्शस्य कृतार्थता।
या स्वस्वरूपे विश्रान्तिर्विमर्शः सोहमित्ययम्॥

इत्यादिना॥ २७॥

इदानीं पञ्चमीमाह

आ मूलात्किरणाभासां सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरात्मिकाम् ।
चिन्तयेत्तां द्विषट्कान्ते शाम्यन्तीं भैरवोदयः ॥ २८ ॥

आ मूलात् हृदयात् किरणैर्भासमानां चन्द्रार्कबिम्बवत् भासनस्वभावां क्रमात् क्रमं तनुतां तनुतां श्रयन्तीं च अत एव च सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरां नामरूपातीतां द्विषट्कान्ते द्वादशान्ते संचिन्त्य सुसूक्ष्मतमस्यापि ध्येयाकारस्य गलनात् भैरवरूपो भवेदिति शेषः तां च शाम्यन्तीं सतीं संत्यज्येति भावः ॥ २८ ॥

एतदेव दर्शयति षष्ठ्या

उद्गच्छन्तीं तडिद्रूपां प्रतिचक्रं क्रमात्क्रमम् ।
ऊर्ध्वं मुष्टित्रयं यावत्तावदन्ते महोदयः ॥ २९ ॥

कन्दादिब्रह्मरन्ध्रान्तं क्रमात् क्रमेण उद्गच्छन्तीं तडिदाकारसंनिभां प्रोज्ज्वलद्रूपां तद्रूर्ध्वं च चतुरङ्गुलपरिमितां मुष्टिं यावद्-

पृ। १२)

द्वादशान्तं तावदन्ते महोदयः मुष्टित्रयशेषेण महोदयः
अहमित्यवमर्शः स्यादेवेति । तथा च श्रीभगवता गीतम्

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।

इत्यादिना । तथा च

सर्वो ममायं विभव इत्येवं परिजानतः ।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेपि महेशता ॥

इत्यादिना प्रत्यभिज्ञायामपि ॥ २९ ॥

सप्तमीमाह

क्रमद्वादशकं सम्यग्द्वादशाक्षरभेदितम् ।
स्थूलसूक्ष्मपरस्थित्या मुक्त्वा मुक्त्वा ततः [मुक्त्वान्तत इति
पाठः] शिवः ॥ ३० ॥

जन्माग्रमूलकन्दनाभिहृत्कण्ठतालुभ्रूमध्यललाटरन्ध्रशक्तिव्यापिन्या

ख्यं यत् चक्राणां द्वादशकं द्वादशस्थाननामभिः प्रसिद्धं तच्च
आदौ ध्यानेन स्फुटं ततश्च स्पन्दमानं ततोपि ज्योतीरूपतां प्राप्तं
सूक्ष्मं परमित्यभिधीयते तदभिधानेन च सर्वजित्त्वात् सर्वत्रावभासकः
शिव एव प्रकाशते परमार्थतः॥ ३०॥

इदानीमष्टमीमाह

तथापूर्याशु [तयापूर्येति पाठः] मूर्धान्तं भङ्क्त्वा
भ्रूक्षेपसेतुना।
निर्विकल्पं मनः कृत्वा सर्वोर्ध्वे सर्वगोद्गमः॥ ३१॥

पृ। १३)

जन्मादिचक्रेभ्य ऊर्ध्वोर्ध्वक्रमेण प्राणेन मूर्धान्तं द्वादशान्तं
पूरयित्वा उपारोहितयोर्भ्रुवोर्भङ्गेन सेतुनेव वारिप्रवाहं मनो भङ्क्त्वा
त्यक्तचापलं विधाय अत एव निर्विकल्पं तन्मनः कृत्वा सर्वोर्ध्वे
द्वादशान्तादपि चोर्ध्वे परमाकाशे सर्वव्यापकत्वं स्यादेव इति निश्चयः॥
३१॥

इदानीं नवमीमाह

शिखिपक्षैश्चित्ररूपरिमण्डलैः शून्यपञ्चकम् ।
ध्यायतोनुत्तरे शून्ये प्रवेशो हृदये भवेत् ॥ ३२ ॥

यथाहि शिखिपक्षैर्मयूरपुच्छैश्चित्ररूपैरनेकवर्णैरिव पञ्चेन्द्रियमण्डलानि चित्रवत् भासमानानि चित्रमेतत् शून्यमेव इति ध्यायतोनुत्तररूपे शून्ये परमधामनि प्रवेशः परमा गतिः स्यादिति निश्चयः। गन्धर्वनगरतुल्यं चित्रमिवेदम् इति निश्चयेन परमार्थसिद्धिः स्यादेवेति भावः ॥ ३२ ॥

इदानीं दशमीमाह

ईदृशेन क्रमेणैव यत्र यत्रापि चिन्तयेत् [चिन्तना इति पाठः] ।
शून्ये कुड्ये परे पात्रे स्वयं लीना वरप्रदा ॥ ३३ ॥

एवं क्रमेण ध्यायतः परे स्वात्मनि वा अन्यत्र कुड्यादौ वा परपात्रे च एकाग्रभावनादार्ढ्यावाप्तौ मरुच्छक्तिः स्वयं लीना स्यात् - यत्र तत्र परपदपरामर्शैक्यभावेन अहंरूपतादात्म्यताभिमानः स्यादित्यर्थः।

तथा च श्रीस्पन्दे

पृ। १४)

यस्मात्सर्वमयो जीवः सर्वभावसमुद्भवात्।
तत्संवेदनरूपेण तादात्म्यप्रतिपत्तितः॥

तेन शब्दार्थचिन्तासु न सावस्था न या शिवः।
भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः॥

इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत्।
संपश्यन्सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः॥

इत्यादिना निरूपितम्॥ ३३॥

एकादशीमाह

कपालान्तर्मनो न्यस्य तिष्ठेन्मीलितलोचनः [तिष्ठन्मीलितेति पाठः]।

क्रमेण मनसो दाढर्याल्लक्षयेल्लक्ष्यमुत्तमम् ॥ ३४ ॥

कपालकुहरान्तः - शिरःकवाटमध्ये मीलितलोचनोन्तःसंकुचितहृदयादिबाह्यान्तरिन्द्रियवर्गः सुषुम्नायामस्तङ्गतप्राणापानादिचारेण तद्दाढर्यात् यत् लक्ष्यमस्ति तदेव लक्षयेत् घटोयमितिवत् प्रत्यक्षत उत्तमं ज्योतिः पश्यतीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

द्वादशीमाह

मध्यनाडी मध्यसंस्था बिससूत्राभरूपया ।
ध्यातान्तर्व्योमया देव्या तया देवः प्रकाशते ॥ ३५ ॥

बिसतन्तुतनीयसी इति लक्षिताया ध्यातमन्तर्व्योम यस्यास्तादृश्या भैरव्याः शून्यं रूपं ध्यातं सत् दृष्टिमात्रतो देवः स्वयंप्रकाशः प्रकाशत इति भावः । स्पन्दे च

पृ। १५)

तदा तस्मिन्महाव्योम्नि प्रलीनशशिभास्करे ।

सौषुप्तपदवन्मूढः प्रबुद्धः स्यादनावृतः ॥

इत्यादिना वितत्य दर्शितम् ॥ ३५ ॥

त्रयोदशीमाह

कररुद्धदृगस्त्रेण भ्रूभेदाद्द्वाररोधनात् ।
दृष्टे बिन्दौ क्रमाल्लीने तन्मध्ये परमा स्थितिः ॥ ३६ ॥

कराभ्यां रुद्धानि दृगुपलक्षितानि मुखरन्ध्राणि येन एतादृशस्य योगिनो भ्रूमध्यग्रन्थिविदारणात् बिन्दौ दृष्टे क्रमात् एकाग्रताप्रकर्षेण लीने तन्मध्ये परमा स्थितिः - परभैरवाभिव्यक्तिः स्यादित्यर्थः ॥ ३६ ॥

चतुर्दशीमाह

धामान्तःक्षोभसंभूतसूक्ष्माग्नितिलकाकृतिम् ।
बिन्दुं शिखान्ते हृदये लयान्ते ध्यायतो लयः ॥ ३७ ॥

धाम्नो लोचनवर्तिनस्तेजसोन्तःक्षोभेण अत्यन्तनिष्पीडनादिना संभूतं ।

यद्वा धाम्नो दीपादेस्तेजोमयस्यान्ते निर्वाणताप्राप्तिसमये यः
क्षोभश्चाञ्चल्यं ततः संभूतं सूक्ष्माग्नितिलकाकृतिं बिन्दुं
ध्यायतः शिखान्ते द्वादशान्ते हृदये गलितलयान्तरे लयः
तदैक्योपपत्तिर्भवेत्। गलिते विकल्पे तदवसाने च परमतेजस्तत्त्वसमावेशः
स्यादित्यर्थः॥ ३८॥

पृ। १६)

पञ्चदशीमाह

अनाहतेपात्रकर्णेभग्नशब्दे सरिद्रुते।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥ ३८॥

यत् दशधोपलक्षितं शब्दब्रह्म तत्रनिष्ठत्वेन परं ब्रह्मावाप्तिः। शब्दे
कथंभूते न वहिः प्रसरणरूपैर्नीलादिभिराहते व्याप्ते अत एव च न पात्रे
कर्णौ यस्येति स्थूलशब्दादिव्यतिरिक्तत्वात् अतश्च अभग्नशब्दे न भग्नः
शब्दो यस्य अनाहते शब्दे नादभट्टारकशब्दब्रह्मरूपे सरिद्रुते च
वेगवाहिनि तत्र च दृढनिष्ठः सन् ब्रह्मत्वमाप्नुयादिति भावः॥ ३८॥

षोडशीं धारणामाह

प्रणवादिसमुच्चारात्प्लुतान्ते शून्यभावनात्।
शून्यया परया शक्त्या शून्यतामेति भैरवि ॥ ३९॥

प्रणवादीनां लघूच्चारात् तदनन्तरं च दीर्घोच्चारात् तदनन्तरं
प्लुतोच्चाराच्च कुक्कुटरुतवत् व्याप्तेः तदनन्तरं विजित्य तां
शून्यावस्थालम्बनेन शून्यातिशून्योच्चारेण शून्यतामुल्लङ्घ्य
अन्तर्मुखताभ्यासात् परमा गतिः करबिल्ववत् संभाव्या नान्यथा ॥ ३९॥

सप्तदशीमाह

यस्य कस्यापि वर्णस्य पूर्वान्तावनुभावयेत्।
शून्यया शून्यभूतोसौ शून्याकारः पुमान्भवेत्॥ ४० ॥

पृ। १७)

पूर्वं शिक्षा ततस्तदनुभवः ततोपि गुरुप्रसादादिना तदन्ते तन्निश्चयः
ततोन्तर्नाडीचक्रादिपरीक्षा ततश्च शून्यातिशून्ययोजनया ओमिति निश्चित्य तं च
परब्रह्मणि ततश्च शून्यातिशून्यतामेति - सर्वमिदं

गन्धर्वनगरादितुल्यवृत्तान्तं यदन्यत् तद्ब्रह्म इति बुद्धया अतिरिच्यते ॥ ४० ॥

अष्टादशीमाह

तन्त्र्यादिवाद्यशब्देषु दीर्घेषु क्रमसंस्थितेः ।
अनन्यचेताः प्रत्यन्ते परव्योमवपुर्भवेत् ॥ ४१ ॥

शब्दानुरणनन्यायेन पानकचर्वणन्यायेन च पश्चात् अनुभाव्य किमिदं किमत्र प्रयोजनं वा दे-व-द-ता इति प्रहरप्रहरोच्चारिता वर्णा नानुभवमधिरोहन्ति पश्चात् देवदत्त इति सामीप्यतया उच्चारात् अस्ति किंचिदिति तत्पश्चात् ज्ञानान्तरात् ज्ञानस्य संभवेन देवदत्तो नाम कश्चित् ब्राह्मण इति तदनन्तरं च पौर्वः पाश्चात्यः दाक्षिणः औत्तरो वा इति तदनन्तरं वेदाध्ययनशीलः तदनन्तरमयं वामनदत्तपुत्रः तदनन्तरं च सुखदत्तभ्राता तदनन्तरं च पृथूदर्याः पुत्रः इति जातिनामादियुक्ततया उपलभ्यत एव । तद्वत् तन्त्र्यादिवाद्यभूतेषु क्रमेषु अनन्यचेताः लयत्व-समत्व-तालादौ दत्तमनाः ऐकाग्र्यदृढाभ्यासात् तदेकीभावनया ब्रह्मैव भवति - परव्योमतनुः स्यादिति भावः शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति इति प्रागुक्तदिशा । अथ वा शब्दब्रह्मातिवर्तते इति ॥ ४१ ॥

प्। १८)

इदानीमेकोनविंशीमाह

पिण्डमन्त्रस्य सर्वस्य स्थूलवर्णक्रमेण तु।
अर्धेन्दुबिन्दुनादान्तशून्योच्चाराद्भवेच्छिवः॥ ४२॥

पूर्वोक्तनवात्मादेः वामादिशक्त्यादिना वा नवतत्त्वादेः अकारादि-
हकारान्तेन च शिवशक्तिसमागमेन अहमिति वा ओमित्यस्योच्चारो यः अकार-
उकार-मकार-बिन्दु-अर्धचन्द्र-नाद-नादान्त-
समना-उन्मना-परा-शक्ति-व्यापिन्यादिक्रमेण
पाश्चात्यरूपमेव निश्चयेन निश्चित्य पर्यवसानेन शून्योच्चारात् शिवो
भवेदिति भावः॥ ४२॥

इदानीं विंशतितमीं धारणामाह

निजदेहे सर्वदिक्कं युगपद्भावयेद्वियत्।
निर्विकल्पमनास्तस्य वियत्सर्वं प्रवर्तते॥ ४३॥

यदि निर्विकल्पमना एकाग्रमनाः स्यात् सर्वासु पूर्वादिदिक्षु वियदेव भावयन् - सर्वत एव शून्यतां भावयन् न नीलपीतादिकं किमप्यस्तीति शुक्ताविदं रजतम् इतिवत् अविषयम् इत्येवं भावनया परमशून्यः स्यादिति यतस्तस्य शून्यादिविकल्प एव। तथा च प्रत्यभिज्ञायामेतन्निर्दिष्टमस्ति

चित्तत्त्वं मायया हित्वा भिन्न एवावभाति यः।
देहे बुद्धावयः प्राणे कल्पिते नभसीव वा॥

प्रमातृत्वेनाहमिति विमर्शोऽन्यव्यपोहनात्।
विकल्प एव स परप्रतियोग्यवभासजः॥

प्।१९)

इत्यादिना यत्परं शून्यातिशून्यं शिवतत्त्वं तदेव ज्ञेयमिति भावः।
यतश्च तत्रैव

शून्याद्यबोधरूपास्तु कर्तारः प्रलयाकलाः।
तेषां कार्ममलोप्यस्ति मायीयस्तु विकल्पितः॥

इति निर्धारितम् ॥ ४३ ॥

इदानीमपरां धारणामाह

पृष्ठशून्यं मूलशून्यं युगपद्भावयेच्च यः ।

युगपन्निर्विकल्पत्वान्निर्विकल्पोदयस्ततः ॥ ४४ ॥

[पृष्ठशून्यं मूलशून्यं युगपद्भावयेश यः ।

शरीरनिरपेक्षिण्या शक्त्या शून्यमना भवेत् ॥

पृष्ठशून्यं मूलशून्यं हृच्छून्यं भावयेत्स्थिरम् ।

युगपन्निर्विकल्पत्वान्निर्विकल्पोदयस्ततः ॥

इत्यादिपाठः पद्यद्वयात्मा उद्योते मूलेस्ति ।

अनुमीयते च यदेतन्मध्यमं पादचतुष्टयं श्रीशिवोपाध्यायेर्व्याख्यातं

च पुनरुक्ततयाधिकं संभवति अत एवास्मिन्पुस्तके वस्तुतोविद्यमानं स्यादिति ।
]

ऊर्ध्वाधो दक्षिणतोत्तरतः सर्वतोपि शून्यमेव ध्यात्वा

सर्वं खल्विदं ब्रह्म ।

इति भावनया विचिन्त्य शिवतत्त्वं करस्थविल्ववत् आभाति इति नाश्चर्यम् ॥ ४४ ॥

अपरामाह

तनूदेशे शून्यतैव क्षणमात्रं विभावयेत् ।
निर्विकल्पे निर्विकल्पो निर्विकल्पस्वरूपभाक् [निर्विकल्पं निर्विकल्पो निर्विकल्पे वा इति पाठः] ॥ ४५ ॥

पृ। २०)

शिवतत्त्वं विना न किमपि सर्वमेतत् चिद्विलासास्पदमाश्यानतया चित्रितमिव विभाति । तथा च सिद्धान्तमुक्तावल्यां

पश्यामि चित्रमिव सर्वमिदं द्वितीयं
तिष्ठामि निष्कलवदेक अनेकरूपः ।
आत्मानमद्वयमनन्तसुखैकरूपं
स्मरामि दग्धरशनामिव सुप्रपञ्चम् ॥

आश्चर्यमप्यनुभवामि करस्थबिल्व-

तुल्यं शरीरमहिनिर्लुयनीव वीक्षे।
एवं च जीवनमपि प्रतिभासनं च
निःश्रेयसोधिगमनं च मम प्रसिद्धम्॥

इत्यादिना आम्नातमस्ति। इत्येवं गन्धर्वनगरादिवत् प्रसिद्धमप्रतिष्ठितम् इति सिद्धम्॥ ४५॥

अपरामपि आह

सर्वं देहगतं द्रव्यं वियद्व्याप्तं मृगेक्षणे।
विभावयेत्ततस्तस्य भावना सा स्थिरा भवे॥ ४६॥

शून्यव्याप्तं सर्वमिदं रज्जुभुजङ्गवत् असत्यस्वरूपसाध्यत्वाद्वा गन्धर्वनगरादिवत् इत्येवं धारणया यत् देहगतं मांसादि द्रव्यं तत् शून्यतया प्रसिद्धम् इति दृढभावनास्थित्या प्रकाशमानप्रकाशः स्यादित्यर्थः॥ ४६॥

पृ। २१)

अपरमाहा

देहान्तरे दिग्विभागं भित्तिमात्रं विचिन्तयेत्।

न किंचिदन्तरे तस्य ध्यायन्न ध्येयभाग्भवेत्॥ ४७॥

पञ्चभूतपञ्चीकरणयुक्त्या संबद्धं सत् शरीरमुद्भूतं यच्च स्थूलं विनश्यत्स्वभावं करिकर्णाग्रचपलं च इति नात्र स्थिरता आसीत् अस्ति स्याद्वा इति तथा दिग्विभागादि नास्ति बाह्यजडभित्तिमात्रमिदं दक्षिणपार्श्वम् इदं वोत्तरम् इत्यादिना तस्मात् असदिति समीक्षयेत्। प्रमाता च सदिति सन्निश्चयेन ज्ञानीत्युच्यते॥ ४७॥

अपरामाह

हृद्याकाशे निलीनाक्षः पद्मसंपुटमध्यगः।

अनन्यचेताः सुभगे परं सौभाग्यमाप्नुयात्॥ ४८॥

हृत्पद्मे बद्धबाह्याभ्यन्तरेन्द्रियचक्रः तत्पद्मपुटमध्यगश्च अत एवानन्यचेताः परं सौभाग्यमाप्नुयात् - बाह्यविषयोपरमात् आभ्यन्तरोदयः संभवेदित्यर्थः॥ ४८॥

अपरामाह

सर्वतः स्वशरीरस्य द्वादशान्ते मनोलयात्।
दृढबुद्धेर्दृढीभूतं तत्त्वलक्ष्यं प्रवर्तते [त्वग्विभागं
भित्तिभूतमिति ध्यायनध्येय इति च पाठः] ॥ ४९ ॥

पृ। २२)

दृढबुद्धेर्योगिनः दृढीभूतं प्राप्तैकाग्र्यं परप्रकाशरूपं
तत्त्वलक्ष्यं प्रवर्तते द्वादशान्ते शून्यातिशून्ये मनसो लयात् वासनाक्षयात्।
अथ वा मध्यधाम्नि सुषुम्नायां। तथा च

सौषुम्नेध्वन्यस्तमितौ हित्वा ब्रह्माण्डगोचरम्

इत्यादिना स्पन्दे विशदीकृतम्॥ ४९ ॥

अपरामाह

यथा तथा यत्र तत्र द्वादशान्ते मनः क्षिपेत्।

प्रतिक्षणं क्षीणवृत्तेर्वैलक्षण्यं दिनैर्भवेत् ॥ ५० ॥

एवमेव पूर्वोक्तेन प्रकारेण प्रशान्तचाञ्चल्यस्य असामान्यपरभैरवताभिव्यक्तिः स्यादेवेत्यर्थः ॥ ५० ॥

अपरामाह

कालाग्निना कालपुरादुत्थितेन स्वकं पुरम् ।
प्लुष्टं विचिन्तयेदन्ते शान्ताभासः प्रजायते [कालपदादिति शान्ताभासस्तदा भवेदिति च पाठः] ॥ ५१ ॥

दक्षपादाङ्गुष्ठात् उत्थितेन कालाग्निना देहं दग्धं योगतो विभाव्य योगिनः चिन्मयमूर्तिमान् विभावसुः प्रकाशत इत्यर्थः ॥ ५१ ॥

पपरामाह

एवमेव जगत्सर्वं दग्धं ध्यात्वा विकल्पतः ।
अनन्यचेतसः पुंसः पुंभावः परमो भवेत् ॥ ५२ ॥

पृ। २३)

एवमेवेति दक्षपादाङ्गुष्ठोद्भवकालाग्निरुद्रज्वालया सर्वं देहस्थं बाह्याभ्यन्तरं दग्धं विभाव्य निर्विकल्पचेतसः पुरुषार्थत्वं परोत्कृष्टतया भवेदिति शेषः॥ ५२॥

अपरामाह

स्वदेहे जगतो वापि सूक्ष्मसूक्ष्मान्तराणि च।
तत्त्वानि यानि निलयं ध्यात्वान्ते व्यज्यते परा॥ ५३॥

पृथिव्यादीनि पञ्चभूतानि तद्विकाराणि मांसास्थ्यादीनि यानि च सन्ति तेषां लयं - स्वस्वकारणेषु लीनतां ध्यात्वा पर्यन्ते परा देवी प्रकटा स्यात् मयूराण्डरसन्यायेन परा सर्वमेतदन्तः स्थित-मेव बहिः प्रकाशयेदिति भावः। अयमत्र तात्पर्यार्थः - सर्वभेदाभेदगलनात् पराप्रसादमन्त्रवान् परोदयः स्यादेवेति॥ ५३॥

अपरामाह

पीनां च दुर्बलां शक्तिं ध्यात्वा द्वादशगोचरे।
प्रविश्य हृदये ध्यायन्मुक्तःस्वातन्त्र्यमाप्नुयात्॥ ५४॥

प्राणशक्तिमादौ पीनाम् - अन्नपानादिभोजनदिशा पीनत्वं प्राप्तां ततोपि गुरूपदेशमार्गेण कुम्भकादिना सूक्ष्मां भवन्तीं ध्यात्वा ततस्तामेव हृदयादौ प्रावेश्य द्वादशान्ते वा ततः स्वतन्त्रपरमेश्वररूपः स्यादिति निश्चयः॥ ५४॥

पृ। २४)

अपरामाह

भुवनाध्वादिरूपेण चिन्तयेत्क्रमशोखिलम्।
स्थूलसूक्ष्मपरस्थित्या यावदन्ते मनोलयः॥ ५५॥

भुवनतत्त्वकलापदमन्त्रवर्णाख्यो यः षोढा वाच्यवाचकरूपोध्वा तस्याध्वनः स्थूलसूक्ष्मिमक्यरूपताभ्यसनात् ततस्तत्रैव मनोलयात् पराकाष्ठावगतिरिति भावः। तथा च मालिनीविजये

अध्वातीतो भवेच्छिवः

इत्यादिनानुशिष्टमस्ति ॥ ५५ ॥

अपरामाहा

अस्य सर्वस्य विश्वस्य पर्यन्तेषु समन्ततः ।
अध्वप्रक्रियया तत्त्वं ध्यात्वा शैवं महोदयः ॥ ५६ ॥

अध्वषट्केषु भुवनाध्वपर्यन्तेषु सामान्यतया विशेषतया वा न किमपि शिवतत्त्वं विना सारभूतम् इति विज्ञाय महोदयः - परमशिवावभासः स्यादित्यर्थः । एतदेव

अध्वषट्कादि संत्यज्य जित्वा चेन्द्रियमण्डलम् ।
कारणैः कृतकृत्योसौ राजते सूर्यवद्भुवि ॥

इत्यादिना मालिनीकल्पोत्तरेप्यादिष्टमस्ति ॥ ५६ ॥

अपरामाह

विश्वमेतन्महादेवि शून्यभूतं विचिन्तयेत्।
तत्रैव च मनो लीनं ततस्तल्लयभाजनम्॥ ५७॥

पृ। २५)

एतत् सर्वं विश्वं चराचरभूतं न किञ्चित् गन्धर्वनगरादितुल्यम्
अध्यासात्मकम् असदित्याद्याख्यं नामरूपादिहीनं मायागहनं च यदस्ति तत्
स्वप्रकाशात्मकं सदिति लक्षितं च सारं लयभाजनं चेति भावः॥ ५७॥

अपरामाह

घटादिभाजने दृष्टिं भित्तिस्त्यक्त्वा विनिक्षिपेत्।
तल्लयं तत्क्षणाद्गत्वा तल्लयात्तन्मयो भवेत्॥ ५८॥

अन्तःसुषिरे घटादिवस्तुनि दक्षिणोत्तरपार्श्वादि त्यक्त्वा तत्र आकाशे
विश्रान्तत्वात् परमशून्यातिशून्ये मनो लीनं विभाव्य
परंब्रह्मसमाविष्टः सन् ब्रह्मैव संपद्यत इति भावः॥ ५८॥

अपरामाह

निर्वृक्षगिरिभित्त्यादिदेशे दृष्टिं विनिक्षिपेत्।
विलीने मानसे भावे वृत्तिक्षीणः प्रजायते॥ ५९॥

पर्वतादौ शून्ये मरुद्देशादौ वा तुङ्गादिविषयादौ वा दृष्टिमात्रं
निक्षिप्य तत्तदालम्भनाभावात् गलिते मानसे क्षीणसमस्तवृत्तिः प्रजायते -
ब्रह्मैव संपद्यत इत्यर्थः॥ ५९॥

अपरामाह

उभयोर्भावयोर्ज्ञाने ज्ञात्वा मध्यं समाश्रयेत्।
युगपच्च द्वयं त्यक्त्वा मध्ये तत्त्वं प्रकाशते॥ ६०॥

घटोयं पटोयं तटोयमित्यादिनानात्वेन वेद्यराशिपतितस्य सारं विहाय
वा तन्मध्ये च ज्ञातृत्वावगमनं कृत्वा अत्र कश्चित्

वेदकोस्तीति तेन च ज्ञातृज्ञानज्ञेयादिनानात्वेन अनानात्वं विधाय विभागकल्पनात्यागात् ऐकाग्र्यमेव प्रमातृतत्त्वाख्यं तत्त्वमसि इति वत् निर्विकल्पदशामासाद्य विभागत्यागात् ऐकाग्र्यतापत्तिरिति सुष्ठु प्रोक्तमिति ॥ ६० ॥

अथापरामपि आह

भावे त्यक्ते [भावे न्यक्ते इति पाठः न्यक्ते अन्तर्हिते इत्यर्थः]
निरुद्धा चिन्नैव भावान्तरं व्रजेत्।
तदा तन्मध्यभावेन विकसत्यति भावना ॥ ६१ ॥

एकस्मिन् वस्तुनि स्वीकृते निरुद्धा चित् नैव भावान्तरं व्रजेत् अन्यद्वस्तुनि न व्रजेत् तत्र तन्मध्ये शून्यरूपस्थित्या भावना अतिविकसति अद्भुतफुल्लन्यायेन मनश्चातिविकासत्वं यायात् - ब्रह्मैव संपद्यत इत्यर्थः ॥ ६१ ॥

अपरामाह

सर्वं देहं चिन्मयं हि जगद्वा परिभावयेत्।
युगपन्निर्विकल्पेन मनसः परमा [मनसा परमोदय इति पाठः]
गतिः ॥ ६२ ॥

आ पादात् केशान्तं चिद्रूपं सर्वमिदं जगत् परिभावयेत् अक्रमेण च स्फुरच्चिच्चमत्कारव्याप्त्या मनसो गतिः परमा उत्कर्षरूपा गतिरस्तीति तात्पर्यम् ॥ ६२ ॥

अपरामाह

सर्वं जगत्स्वदेहं वा स्वानन्दभरितं स्मरेत् ।
युगपत्स्वामृतेनैव परानन्दमयो भवेत् ॥ ६३ ॥

पृ। २७)

आनन्दादेव खलु इमानि भूतानि जायन्ते आनन्दे प्रवर्तन्ते आनन्द एव प्रलीयन्त इति इत्थं दृष्ट्या कृतकृत्यो भवेदिति भावः ॥ ६३ ॥

अपरामाह

आयुद्वयस्य संघट्टादन्तर्वा बहिरन्ततः ।
योगी समत्वविज्ञानसमुद्गमनभाजनम् ॥ ६४ ॥

प्राणापानरूपस्य योजनात् हृदये द्वादशान्ते चान्तःप्रवेशनिर्गमने पर्यवसाने योगी प्रबुद्धः समत्वविज्ञानेन समुद्गमनभाजनं रहस्यस्थानपर्यवसायिप्राणापानादिगोचरः स्यादिति भावः तेन च परमसिद्धिभाग्भवेदित्यर्थः ॥ ६४ ॥

अपरामाह

कुहनेन प्रयोगेन सद्य एव मृगेक्षणे ।
समुदेति महानन्दो येन तत्त्वं प्रकाशते ॥ ६५ ॥

विस्मापकाद्भुतमायादिप्रयोगेन अद्भुतप्रयोगमयः परमानन्दोदयः स्यादिति भावः अहमेव परो हंसः इत्यादिकया युक्त्या पिपीलिकास्पर्शमात्रात् परमोदयव्याप्तिरिति शेषः ॥ ६५ ॥

अपरामाह

सर्वस्रोतोनिरोधेन [स्रोतोनिबन्धेनेति पाठः] प्राणशक्त्योर्ध्वया शनैः ।

पिपीलस्पर्शवेलायां प्रथते परमं सुखम् ॥ ६६ ॥

पृ। २८)

पञ्चेन्द्रियगुह्योपस्थरन्ध्रनिरोधेन आधारात् द्वादशान्तं यावत् ऊर्ध्वं
क्रमेण वहन्त्या प्राणशक्त्या

पिपीलिकास्पर्शमात्रात्प्रथते परमं सुखम्

इत्येतद्भावनया अन्तर्मुखारामो भवतीत्यर्थः। द्वादशान्त
आत्मविषयानुभवसमये पिपीलिकाया इव शनैः शनैः चरतः प्राणस्य यः
मूलाधारादिस्थानसकाशात् कन्दादिस्थानपर्यन्तः स्पर्शः तद्वेलायां हि
परीक्षन्ते योगिनः अमुतः स्थानात् उत्थाय अमुकस्थानं प्राप्तः प्राणः इति
निश्चितमेव इत्येतादृगुक्तभावनयोद्दिष्टसुखसिद्धिरिति भावः ॥ ६६ ॥

अपरामाह

वह्नेर्विषस्य मध्ये तु चित्तं सुखमयं क्षिपेत्।
केवलं वायुपूर्णं वा स्मरानन्दे न [स्मरानन्देन इति

तदनुसारेणार्थापितः समस्तः पाठः] युज्यते ॥ ६७ ॥

तद्धारणया सुखधारणया वह्नौ वा विषेपि कठिनतरे च सुखभावनयैव चित्तं क्षिपेत् प्राणस्य वा अपानस्य च मध्येपि कामानन्दे सर्वविषयविस्मारके न युज्यते कामधारणायां सर्वविषयविस्मरणात् अथ वा वायुपूर्णं केवलं प्राणायामवर्जितमपि तत्रापि भेदगलनेन अभेदापत्तिरिति भावः। यस्मात् दुःखे वह्निविपादौ सुखसंधारणमेव परमार्थ इति परमार्थविदः। स्त्रीसङ्गेन विना स्त्रिया य आनन्दानुभवः स एव परमार्थ इति कथ्यते ॥ ६७ ॥

अपरामाह

शक्तिसंगमसंक्षुब्धशक्त्यावेशावसानिकम्।
यत्सुखं ब्रह्मतत्त्वस्य तत्सुखं स्वाक्यमुच्यते ॥ ६८ ॥

पृ। २९)

स्त्रीसङ्गमेन य आनन्दोनुभूयते तमेव स्त्रियं विना ध्यात्वा आनन्दमयो भवेदित्याद्युक्तम्। उक्तं च

जायया संपरिष्वक्तो न बाह्यं वेत्ति चान्तरम्।
निदर्शनं श्रुतिं प्राह मूढस्तं मन्यते परम्॥

न सृष्टिर्जायते लिङ्गान्न भगान्नापि रेतसः।
आनन्दोच्छलिता शक्तिः सृजत्यात्मानमात्मना॥

इत्याद्युक्तरीत्या स्त्रीसङ्गानन्दाविर्भूतानन्दशक्तिसमावेशान्ते यत् सुखं स्त्रीपुरुषादिपर्यालोचनं स्वात्ममात्रनिष्ठं तत् स्वकम् - आत्मन एव संबन्धि नान्यत आयातं भावयेत् स्त्रीसङ्गमस्तु व्यक्तिकारणमेव इत्यादिना प्रोक्तं चान्यत्र अलं चातिविस्तरेण॥ ६८॥

अपरामाह

लेहनामन्थनाकोटैः स्त्रीसुखस्य भरात्स्मृतेः।
शक्त्यभावेपि देवेशि भवेदानन्दसंप्लवः॥ ६९॥

परिचुम्बनालिङ्गनदन्तक्षतनखक्षतादिभिर्विशेषैः स्त्रीसुखस्यानुभूतस्य पूर्वं तद्ध्यानमात्रेण इदानीमपि शक्त्यभावेपि करसौन्दर्यादौ

ध्यातमात्रे य आनदः प्रत्यक्षतयैव सर्वविषयविस्मारकः स एवानन्दोदय इति स्थितम् यतोनुभूते स्मरणं प्रत्यक्षतयैव प्रसिद्धमित्याचार्याः ॥ ६९ ॥

अपरामाह

आनन्दे महति प्राप्ते दृष्टे वा बान्धवेचिरात् ।
आनन्दमुद्गतं ध्यात्वा तल्लयस्तन्मना भवेत् ॥ ७० ॥

पृ। ३०)

एवमेव बान्धवे वा सुहृदादौ चिरकालानन्तरं प्रिये वा दृष्टे उद्गतमात्रमेवानन्दं गृहीत्वा तद्भावनान्तर्मनस्कत्वेन परानन्दोदये विश्रान्तः स्यादेवेत्यर्थः। तथा च स्पन्दे

अतिक्रुद्धः प्रहृष्टो वा किं करोमीति वा मृशन् ।
धावन्वा यत्पदं गच्छेत्तत्र स्पन्दः प्रतिष्ठितः ॥

इत्यादिना अभिहितमस्ति ॥ ७० ॥

अपरामाह

जग्धिपानकृतोल्लासरसानन्दविजृम्भणात् ।
भावयेद्भरितावस्थां महानन्दस्ततो भवेत् ॥ ७१ ॥

अयमत्राशयः - मिष्टान्नपानभोजनक्षीरादिपानाशनाभ्याम् उल्लसद्रसो य आनन्दस्तदनुभवेन आनन्दपूर्णत्वावस्थायां भावयत एकाग्रचित्तस्य परमानन्दप्राप्तिरिति सिद्धम् ॥ ७१ ॥

अपरामाह

गीतादिविषयास्वादासमसौख्यैकतात्मनः ।
योगिनस्तन्मयत्वेन मनोरूढेस्तदात्मता ॥ ७२ ॥

गीतादिविषयस्य वंशवीणादेर्मधुरसूक्ष्मशब्दविषयस्य आस्वादात् तच्चर्वणाद्यः परमानन्दोदयः स्यात् तालक्रियाशब्दादिसाम्यं स एव परपरमानन्दोदय इति कथ्यते तत्काले शुभाशुभचिन्तादिविस्मरणादित्यलम् । अनेन च वेद्यराशेर्विस्मरणात् वेदकसत्तामात्रस्थितौ शान्तमेयमानादिव्यापृतौ महानन्दोदय इति निश्चितम् ॥ ७२ ॥

पृ। ३१)

यत्र यत्र मनस्तुष्टिर्मनस्तत्रैव धारयेत्।
तत्र तत्र परानन्दस्वरूपः संप्रकाशते [स्वरूपं संप्रवर्तते इति
पाठः] ॥ ७३ ॥

अयमत्र भावः - यत्र यत्र पञ्चेन्द्रियादिगुणेषु मनो रज्यते
एतच्छुभमेतदशुभम् इत्यादिना तत्रैव शुभे वाशुभे विश्रान्तः सन्
परपरानन्दमयः स्यात् इति निश्चयः। यत्र शुभे वाशुभे मनो लगति तत्समये
परविमर्शाविस्मृतेस्तत्रैवानन्दोदय इति निश्चयः॥ ७३ ॥

अपरामाह

अनागतायां निद्रायां प्रणष्टे बाह्यगोचरे।
सावस्था मनसा गम्या परा देवी प्रकाशते॥ ७४ ॥

निद्रा जागरणरूपोन्मग्नावस्था परावस्थेति कथ्यते सैव च
स्फुटीकरणावस्था चितेरिति हि स्थितम्। तथाहि

निद्रादौ जागरस्यान्ते यो भाव उपजायते।
तं भावं भावयन्साक्षादक्षयानन्दमश्नुते॥

इत्यादिना निरूपितमस्ति॥ ७४॥

अपरामाह

तेजसा सूर्यदीपादेराकाशे शबलीकृते।
दृष्टिर्निवेश्या तत्रैव स्वात्मरूपं प्रकाशते॥ ७५॥

दिवा सूर्यकिरणप्रकाशेन रात्रौ च चन्द्रज्योत्स्नया शबलीभूतम-

पृ। ३२)

हाकाशसंबन्ध्यूर्ध्वाधोवर्तिस्थानविशेषे
गृहैकदेशवर्तिदीपप्रकाशव्याप्तकोष्ठाकाशचित्रस्थाने वा
अव्यग्रमनस्कतया दृष्टिबन्धमभ्यस्यतः स्वस्वरूपचिदाकाशैकीभावेन
स्वात्मरूपाभिव्यक्तिर्जायते यत्फलं चतुर्दशभुवनज्ञानं
ताराव्यूहपरमनोभावाभिज्ञानं च समुत्पद्यते इति॥ ७५॥

अपरामाह

करङ्किण्या क्रोधनया भैरव्या लेलिहानया।
खेचर्या दृष्टिकाले च परा व्याप्तिः [परावाप्तिरिति पाठः]
प्रकाशते॥ ७६॥

विगतचेष्टं करङ्कमात्रं शवमिव विश्वं पश्यन्त्या क्रोधव्यग्रया दृक्शक्त्या भोक्तुमेकाग्रया वा दूरमाकाशदर्शनार्थं प्रसृतया वा दृष्टिकाले परा व्याप्तिः प्रकाशत इति भावः॥ ७६॥

अपरामाह

मृद्वासने स्फिजैकेन हस्तपादौ निराश्रये।
विधाय तत्प्रसङ्गेन परा पूर्णा मतिर्भवेत्॥ ७७॥

निराश्रये यथाभवति तथा पादौ हस्तौ च कृत्वा सर्वाङ्गेषु प्रत्यंशसाकल्येन चेतयन्ती विगलिततमोरजस्का सत्त्वमयी भवेद्बुद्धिरिति तात्पर्यार्थः। मृद्वासने कोमलासने कटिप्रोथैकेन। कठिनासने

उपवेशनेन हि तुङ्गकुब्जाद्युपाधेः समाधिचाञ्चल्यापत्तिरिति हि स्थितम् ॥ ७७ ॥

प्। ३३)

अपरामाह

उपविश्यासने सम्यग्बाहू कृत्वावकुञ्चितौ [कृत्वार्थकुञ्चिताविति
पाठः] ।
कक्षव्योम्नि निराकुर्वञ्छममायाति तल्लयात् ॥ ७९ ॥

आसने उपविश्य बाहू कक्षव्योम्नि संकुचितौ कृत्वा तल्लयेन शममायाति ॥ ७९
 ॥

अपरामाह

स्थूलरूपस्य भावस्य स्तब्धां दृष्टिं निपात्य च ।
अचिरेण निराधारं मनः कृत्वा शिवं व्रजेत् ॥ ८० ॥

विनोन्मेषनिमेषाभ्याम् अत एव स्तब्धां दृष्टिमवष्टभ्य मनो निराधारं

कृत्वा किंचिदप्यचिन्तयन् शिवं - परमात्मैक्यतां व्रजेदिति भावः॥ ८०
॥

अपरामाह

मध्यजिह्वे स्फारितास्ये मध्ये निक्षिप्य चेतनाम्।
होच्चारं मनसा कुर्वंस्ततः शान्ते प्रलीयते॥ ८१॥

मध्य अन्तराल एव जिह्वा यस्य ईदृशे विस्तारिते चास्ये सति तन्मध्ये बुद्धिं निक्षिप्य मनसैव ह इत्युच्चारं कुर्वन् शान्तात्मा प्रकाशत इत्यर्थः॥ ८१॥

पृ। ३४)

अपरामाह

आसने शयने स्थित्वा निराधारं विभावयेत् [विभावयन् स्वदेहं
क्षणात्क्षीणाशय इति पाठः।
लीनं मूर्ध्नि इति (८४) पद्यादनन्तरम् उ० मू०
आकाशं विमलं पश्यन्कृत्वा दृष्टिं निरन्तराम्।

स्तब्धात्मा तत्क्षणाद्देवि भैरवं वपुराप्नुयात् ॥
इति पद्यमधिकं वर्तते ।] ।
स्वदेहे मनसि क्षीणे क्षणाद्भूताशयो भवेत् ॥ ८२ ॥

देहे नैव आसने देहस्यापि निराधारभावनात् शयने स्थित्वा नाहं देहो न मे देहो इति समानाधारभूतस्य नाधारादिकल्पना इत्येवं परिकल्पनेन क्षीणे मनसि गलिते वेद्यराशौ भूताशयो भूतसिद्धार्थो भवेदिति संबन्धः ॥ ८२ ॥

अपरामाह

चलासने स्थितस्याथ शनैर्वा देहचालनात् ।
प्रशान्ते मानसे भावे देवि दिव्यौघमाप्नुयात् ॥ ८३ ॥

चलासन अश्वादौ शनैर्देहचालनं कुर्वन् प्रशान्ते च मानसे भावे दिव्यानां लोकानां परमयोगिनाम् ओघं समूहं संभूय तत्तेजस्तत्त्वमाप्नुयात् प्राप्नुयादिति भावः ॥ ८३ ॥

अपरामाह

लीनं मूर्ध्नि वियत्सर्वं भैरवत्वेन भावयेत्।
तत्सर्वं भैरवाकारं तेजस्तत्त्वं समाविशेत्॥ ८४॥

पृ। ३५)

लीनं श्लिष्टं सर्वं यन्नीलपीतादि तत्सर्वं शिवमयम् इति भावयतो ब्रह्म प्रकाशत इति भावः॥ ८४॥

अपरामाह

किंजिज्ज्ञात्वा [किंचिज्ज्ञातमिति ज्ञात्वानन्तेति च पाठः] द्वैतदायि बाह्यालोकस्तमः पुनः।
विश्वादि भैरवं रूपं ध्यात्वानन्तप्रकाशभृत्॥ ८५॥

आधौ भेदमयं ध्यात्वा स्थाणुर्वा पुरुषो वा इति ततश्च बाह्यश्चासावालोकः चन्द्रसूर्यादिः ततश्च तमः एतत्सर्वं भैरवरूपं ध्यात्वा नानात्वादनन्तप्रकाशमयो भैरवो भवति॥ ८५॥

अपरामाह

एवमेव दुर्निशायां कृष्णपक्षागमे चिरम्।
तैमिरं भावयेद्रूपं [भावयन्रूपमिति पाठः] भैरवं
रूपमेष्यति॥ ८६॥

मेघच्छन्ना रत्रिर्दुर्निशा तस्यामन्धतामिस्रमहातामिस्रतामिस्ररूपायां
यत् कालश्यामलादि भयङ्कररूपं भैरवमुद्रितं भैरवमुद्राङ्कितं
भयङ्करत्वाददृश्यं तत् भावयन् अक्षयानन्दमाप्नुयात् - तद्रूपस्य
आश्चर्यकारित्वात्॥ ८६॥

अपरामाह

एवमेव निमिल्यादौ नेत्रे कृष्णाभमग्रतः।
प्रसार्य भैरवं रूपं भावयेत्तन्मयो [भावयंस्तन्मय इति
पाठः] भवेत्॥ ८७॥

पृ। ३६)

स्वनेत्रे च निमील्य कृष्णपाक्षिकरात्र्यभावेपि कृष्णाभं तमोरूपं

ज्ञात्वा किमेतत् इत्याश्चर्यकारि एतदेव भैरवं रूपम् एतद्रूपेण तन्मयीभावः स्यादिति ॥ ८७ ॥

अपरामाह

यस्य यस्येन्द्रियस्यादौ [यस्य कस्येन्द्रियस्यापि इति तत्रैवात्मेति च पाठः] व्याघाताच्च निरोधतः ।
प्रविष्टस्याद्वये शून्ये तदैवात्मा प्रकाशते ॥ ८८ ॥

बाह्याधिकारनिवृत्तेरज्ञत्वात् तत एव च व्याघातात् विरुद्धसमुच्चयात् अथ च निरोधतः निरोधनाच्च अद्वये द्वयरहिते शून्ये अत एव प्रविष्टः सन् अन्तर्मुखपदाश्रयणेन आत्मा प्रकाशत इति भावः ॥ ८८ ॥

अपरामाह

अबिन्दुमविसर्गं च अकारं जपतो महान् ।
उदेति देवि सहसा ज्ञानौघः परमेश्वरः ॥ ८९ ॥

अम् इत्यत्र अः इत्यत्र च बिन्दुविसर्गौ परित्यज्य कुम्भकस्थस्य अ इत्येवमेव

केवलं जपतः परमेश्वरो ज्ञानौघ उदेति। सर्वविकल्पराहित्येन विकल्पादीन्
संत्यज्य यच्छिष्यते तदेव भवतीत्यर्थः। तत्त्वमसि इत्यादिवत्॥ ८९॥

अपरामाह

सविसर्गस्य वर्णस्य विसर्गान्ते [विसर्गान्तमिति पाठः] चितिं कुरु।
निराधारेण चित्तेन स्पृशेद्ब्रह्म सनातनम्॥ ९०॥

पृ। ३७)

पुनश्चात्र अ इत्येवमेव परित्यज्य यश्च अमित्यत्र अः इत्यत्र च (।)
(ः) बिन्दुविसर्गौ परिशिष्टौ तयोरनिर्वचनीयत्वात् प्राप्ता तत्र परा
निर्वृतिरिति सिद्धम्॥ ९०॥

अपरामाह

व्योमाकारं स्वमात्मानं ध्यायेद्दिग्भिरनावृतम्।
निराश्रया चितिः शक्तिः स्वरूपं दर्शयेत्तदा॥ ९१॥

अहमेव परो हंसः परमात्मा परात्परः।

इति व्योमाकारं स्वमात्मानं कृत्वा तथा
दिग्भिर्नीलपीतादिभिरुपाधिभिर्विवर्जितं कृत्वा चितिशक्तिर्निराश्रया स्वं रूपं
दर्शयेदिति भावः॥ ९१॥

अपरामाह

किंचिदङ्गं विभिद्यादौ तीक्ष्णसूच्यादिना ततः।
तत्रैव चेतना युक्ता भैरवी निर्मला गतिः॥ ९२॥

तीक्ष्णसूच्यादिना वा अग्निना शरीरं प्रमथ्य तत्सहनादिना या सहनशक्तिः
सैव चेतना इत्यभिधीयते।

अच्छेद्योयमदाह्योयमक्लेद्योशोष्य एव च।

इत्यादिभगवद्वाक्यस्मरणात् भैरवसारूप्याप्तिरिति भावः॥ ९२॥

अपरामाह

चित्ताद्यन्तःकृतिर्नास्ति ममान्तर्भावयेद्यदि [भावयेदितीति

पाठः] ।

विकल्पानामभावेपि विकल्पैरुज्झितो भवेत् ॥ ९३ ॥

पृ। ३८)

चित्ताद्यन्तःकरणवर्गो ममान्तर्नास्ति अस्त्यपि नास्त्येव इत्येवं

बाह्यविषयोपरमाद्दृढभावनस्ततो विकल्पानामभावेन

विकल्पैरुज्झितस्त्यक्तः निर्विकल्पतया शुद्धचैतन्यो भवेदित्यर्थः ॥ ९३ ॥

अपरामाह

माया विमोहिनी नाम कलायाः कलनं स्थितम् ।

इत्यादिधर्मं तत्त्वानां कलयन्ना पृथग्भवेत् [कलयन्न पृथगिति

पाठः] ॥ ९४ ॥

इयं माया विमोहिनी नाम तत्त्वानां च इत्यादिधर्मं कलायाः कलनं स्थितम्

इत्येवं कलयन् ना पुरुषः पृथक् भवेत् - सर्वोत्तिर्णः कूटस्थ इत्याख्यः

स्यादित्यर्थः॥ ९४॥

अपरामाह

झगितीच्छां समुत्पन्नामवलोक्य शमं नयेत्।
यत एव समुद्भूता ततस्तत्रैव लीयते॥ ९५॥

एवमन्तर्मुखतया विमृश्य यत एव क्षोभमयान्मनस उत्थिता तत्रैव शमं नयेत् प्रापयेत्।

तरङ्गा इव तोयेषु बुद्बुदा इव सागरे।

इत्यादिवत् ऐक्यमाश्रित्य तत्सर्वं च प्रशमय्य ब्रह्म संपद्यते तदा स्वयमेव॥ ९५॥

अपरामाह

यदा ममेच्छा नोत्पन्ना ज्ञानं वा कस्तदास्मि वै।
तत्त्वतोहं तथाभूतस्तल्लीनस्तन्मना भवेत्॥ ९६॥

पृ। ३९)

इच्छाज्ञानक्रियादिसन्दोहे समुत्पन्नेपि अहं करोमि गच्छामीत्यादिना तेन च ज्ञानं वा समुत्पन्नमपि तत्त्वतोहंस्वरूपं एवाहम् तस्मिंल्लीने तन्मयो भवेदिति गुरवः। तथा च स्पन्दे

गुणादिस्पन्दनिःष्यन्दाः सामान्यस्पन्दसंश्रयात्।
लब्धात्मलाभाः सततं स्युर्ज्ञस्यापरिपन्थिनः॥

अप्रबुद्धधियस्त्वेते स्वस्थितिस्थगनोद्यताः।
पातयन्ति दुरुत्तारे घोरे संसारवर्त्मनि॥

अतः सततमुद्युक्तः स्पन्दतत्त्वविविक्तये।
जाग्रदेव निजं भावमचिरेणाधिगच्छति॥

इत्यादिना सुस्पष्टतया प्रतिपादितम्॥ ९६॥

अपरामाह

इच्छायामथवा ज्ञाने जाते चित्तं निवेशयेत्।
आत्मबुद्ध्यानन्यचेतास्ततस्तत्त्वार्थदर्शनम्॥ ९७॥

जातमात्रायामिच्छायां जातमात्रे ज्ञाने वा सति
सर्वस्मिन्स्वात्मरूपदृढभावनया अनन्यचेतसस्तत्त्वात्मदर्शनं
स्यादेवेति निश्चयः सर्वं खल्विदं ब्रह्म इत्यभ्यसनादिति भावः॥ ९७॥

अपरामाह

निर्निमित्तं भवेज्ज्ञानं निराधारं भ्रमात्मकम्।
तत्त्वतः कस्यचिन्नैतदेवंभावी शिवः प्रिये॥ ९८॥

भ्रममात्रान्निर्निमित्तं शुक्ताविदं रजतमित्यादिवत् भ्रममात्रस्वभावं
सर्वं दृश्यजातम् अत एव च निराधारमनाश्रयात्मकम्

पृ। ४०)

हि सर्वं चिन्मात्रम् चिद्व्यतिरिक्तस्यान्यस्याभावात् इत्येवंभावनादार्ढ्यात्

शिव एव स्यादिति भावः ॥ ९८ ॥

अपरामाह

चिद्धर्माः सर्व देहेषु विशेषो नस्ति कुत्रचित् ।
अतश्च तन्मयं सर्वं भावयन्भवजिज्जनः ॥ ९९ ॥

देवासुरनरतिर्यक्स्थावरजङ्गमादिषु मूर्तिषु चिद्धर्माः सामान्येन सन्ति न च तत्र विशेषोस्ति कुत्रचित् देहादेरेव विशेषोस्ति न तु चितेः इति भावयन् सर्वत्र चिदेव जृम्भते इत्यनुभवदार्ढ्यात् सोहमस्मीति भावयन् भवजित् दुस्तरसंसारोत्तिर्णो जनो भवति ॥ ९९ ॥

अपरामाह

कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यगोचरे ।
बुद्धिं निस्तिमतां कृत्वा तत्तत्त्वमवशिष्यते ॥ १०० ॥

कामक्रोधादिषु मात्सर्यपर्यन्तेषु बुद्धिमेकाग्रां विधाय विकारानधिगमात् निस्पन्दां कृत्वा तत्तत्त्वं चिन्मात्रबोधमवशिष्यत इति शेषः ॥ १०० ॥

अपरामाह

इन्द्रजालमयं विश्वं न्यस्तं वा चित्रकर्मवत्।
भ्रमतो ध्यायतः [भ्रमद्वा ध्यायत इति पाठः] सर्वं
पश्यतश्च सुखोद्गमः॥ १०१॥

पृ। ४१)

इत्येवं ज्ञानानुभवयुक्त्या निश्चितया बुद्ध्या सर्वमिदमिन्द्रजालनिभं
विश्वं विभाव्य स्वस्पन्दारोहणेन सर्वमिदं भ्रमन्नपि ध्यायन्नपि
पश्यन्नपि अक्षयसुखीभवति - सर्वमिदं ब्रह्म इति पश्यन् मुच्यत
इत्यर्थः॥ १०१॥

अपरामाह

न चित्तं निक्षिपेद्दुःखे न सुखे वा परिक्षिपेत्।
भैरवि ध्यायतां मध्ये किं तत्त्वमवशिष्यते॥ १०२॥

सुखदुःखादिविभवे सर्वं सुखं वा दुःखमेव वेदं सर्वं विज्ञाय तदैकाग्र्यतया हे भैरवि ध्यायतां तन्मध्ये भैरवोदयः स्यादित्यर्थः ॥ १०२ ॥

अपरामाह

विहाय निजदेहास्थां सर्वमस्मीति भावयेत् ।
दृढेन मनसा दृष्ट्या नान्येक्षिण्या सुखी भवेत् ॥ १०३ ॥

निजदेहप्रमातृतां विहाय - न देहोहमित्यादिना पश्चात्सर्वमिदमहमेव इति भावयन् सुखी सर्वत्र सर्वदा ॥ १०३ ॥

अपरामाह

घटादौ यच्च विज्ञानमिच्छाद्यं वा ममान्तरे ।
नैव सर्वगतं जातं भावयन्निति सर्वगः [सर्वत्रामस्मीति भावयन् इति पाठः] ॥ १०४ ॥

सदा सर्वत्र सवास्ववस्थासु यत् दृश्यमानं घटादिविज्ञानेन घटोयमित्यादिना तदन्तरे या चेच्छा एवं करोमीत्यादिना तत्सर्वं जातमपि किमपि न भवति निःसारत्वादिति भावयन् सर्वत्र प्रकाशस्वरूपः स्यादिति भावः ॥ १०४ ॥

अपरामाह

ग्राह्यग्राहकसंवित्तिः सामान्या सर्वदेहिनाम् ।
योगिनां तु विशेषोयं [विशेषोस्तीति पाठः] संबन्धे सावधानता
॥ १०५ ॥

सर्वदेहिनां सदाशिवादिकीटान्तानाम् इदं ग्राह्यम् अयं ग्राहक इत्यादिना यो व्यवहारः स सामान्य एव सर्वदेहिनां यदेको जानाति तदपरोपि जानाति इत्यनेन सामान्या परंतु योगिनामयमेव विशेषः - संबन्धे ग्राह्यग्राहकस्वरूपावधारणे ग्रहीतृरूपाविस्मरणमित्यर्थः अहं स्मर्तीति सर्वदा प्रकाशस्वरूपः अन्यद्वेद्यमनित्यमसदित्युच्यते ॥ १०५ ॥

अपरामाह

स्ववदन्यशरीरेपि संवित्तिमनुभावयेत्।
अपेक्षां स्वशरीरस्य त्यक्त्वा व्यापी दिनैर्भवेत्॥ १०६॥

तस्य शरीरभूतं जगदिदमिति सर्वं विभावयन् केवलं भिन्नतया
स्वशरीरापेक्षां विहाय इदं मम शरीरं नास्तीतरस्मादन्यत्

पृ। ४३)

इत्यनेन परस्मिन्सर्वस्मिन्स्वात्मसंविन्मात्रदृढभावनेन व्यापकरूपोसौ
तद्दिनैरेव भवेदिति भावः॥ १०६॥

अपरामाह

निराधारं मनः कृत्वा विकल्पान्न विकल्पयेत्।
तदात्मपरमात्मत्वे भैरवो मृगलोचने॥ १०७॥

सर्वमेतत्त्याज्यं स्वस्वभावाध्यासरूपं स्थाणुर्वा पुरुषो वा इति-
वदध्यस्तमेव निःसारतया हेयमिति भावः। इत्यनेन निराधारतया

स्वात्मनः परमात्मत्वे निष्ठां प्राप्य परमात्मनि च लीनतां संप्राप्य वा विभाव्य भैरवरूपः परमात्मैव भवतीत्यर्थः ॥ १०७ ॥

अपरामाह

सर्वज्ञः सर्वकर्ता च व्यापकः परमेश्वरः ।
स एवाहं शैवधर्मा इति दाढर्याच्छिवो भवेत् ॥ १०८ ॥

स एवाहमहमेव सः शिवस्यायं शैव स एव धर्मो यस्य स्वातन्त्र्यादिर्मम सर्वोऽस्ति अनेन दृढभावनेन परमशिवताद्रूप्यं गम्यते ॥ १०८ ॥

अपरामाह

जलस्येवोर्मयो वह्नेर्ज्वालाभङ्ग्यः प्रभा रवेः ।
ममैव भैरवस्यैता विश्वभङ्ग्यो विभेदिताः ॥ १०९ ॥

यथा जलोर्मयः जलादेव वह्नेर्वा ज्वालाः रवेर्वा प्रभाः तथा भैरवस्यैता विश्वभङ्ग्यो गमनागमनभोजनाहवनदानप्रसारणनिर्गमनादीनि सन्तीति भावयेदिति शेषः ॥ १०९ ॥

पृ। ४४)

अपरामाह

भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा शरीराणि [शरीरेणेति पाठः] त्वरितं भुवि
पातनात्।
क्षोभशक्तिविरामेण परा संजायते दशा॥ ११० ॥

प्रदक्षिणक्रियावत् सहस्रजन्मजन्मान्तरमासाद्य
मानुष्यदेवासुरतिर्यगादियोनिषु ततश्च सद्गुरुदृष्टिपातात् क्षीणशोकस्य परा
दशा प्रादुर्भवति इत्यर्थः। तथैव

यदा क्षोभः प्रलीयेत तदा स्यात्परमं पदम्। (९ उ।)

इत्यादिना स्पन्दे प्रतिपादितमस्ति॥ ११० ॥

अपरामाह

आधारेष्वथ वा शक्त्या ध्यानाच्चित्तलयेन [शक्त्याज्ञानाच्चितेति
पाठः]

संप्रदायं ११२ पद्यादनन्तरम् उ० मू०

संकोचं कर्णयोः कृत्वा ह्यधोद्वारे तथैव च ।

अनच्कमहलं ध्यायन्विशेद्ब्रह्म सनातनम् ॥ ११४ ॥

इति पद्यमधिकमस्ति ।] वा ।

जातशक्तिसमावेशक्षोभान्ते भैरवं वपुः ॥ १११ ॥

पदार्थेषु ज्ञातुमशक्यत्वात् वा ज्ञानादेरभावतो यश्चित्तस्य लयस्तेन यो जातोनाश्रितायां शक्तौ समावेशक्षोभस्तदन्ते भैरवं वपुर्व्यज्यत एवेत्यर्थः ॥ १११ ॥

अपरामाह

संप्रदायमिमं भद्रे शृणु सम्यग्वदाम्यहम् ।

कैवल्यं जायते सद्यो नेत्रयोः स्तब्धमात्रयोः ॥ ११२ ॥

पृ। ४५)

सर्वस्यास्य भेदाभेदमयस्य जगतो विस्मरणादन्तरात्मनि च दत्तदृष्टेर्योगिनो यत्र तत्र चित्तप्रकाशः स्यादेवेत्यर्थः

सर्वेषूक्तवक्ष्यमाणानुशासनेष्वेतेषु
चिन्मात्रावधारणचित्तैकाग्र्याभ्यसनमभिप्रेतमस्ति ॥ ११२ ॥

अपरामाह

कूपादिके महागर्ते स्थिते परिनिरीक्षणात् [स्थित्वोपरीति पाठः] ।
अविकल्पमतेः सम्यक्सद्यश्चित्तलयः स्फुटम् ॥ ११३ ॥

यद्येवं परिस्फुरति नास्त्यत्र किमपि वेद्यावेद्यपतितं नीलपीतादि परं तु
घोरतरं भैरवं वपुरत्राभासमानं भासत इति तात्पर्यार्थः ॥ ११३ ॥

अपरामाह

यत्र यत्र मनो याति बाह्ये वाभ्यन्तरे प्रिये ।
तत्र तत्र शिवावस्था व्यापकत्वात्क्व यास्यति ॥ ११४ ॥

यत्र यत्र मनो याति स्वतश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥

इत्यादिभगवन्मुखोक्त्या यत्र यत्र नीलपीतादौ मनो याति अन्तरात्मतया तत्र तत्र शिवावस्था इति निश्चयाद्भैरवाभिव्यक्तिः संजायते। तथा च श्रीस्पन्दे

पृ। ४६)

यस्मात्सर्वमयो जीवः सर्वभावसमुद्भवात्।
तत्संवेदनरूपेण तादात्म्यप्रतिपत्तितः॥

तेन शब्दार्थचिन्तासु न सावस्था न या शिवः।
भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः॥

इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत्।
संपश्यन्सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः॥ (२८-२९-३०)

इत्यादिना प्रतिपादितमस्ति॥ ११४॥

अपरामाह

यत्र यत्राक्षमार्गेण चैतन्यं व्यज्यते विभोः।
तस्य तन्मात्रधर्मित्वाच्चिल्लयाद्भरितात्मता॥ ११५॥

यत्र यत्र शिवावस्थाध्यानेन चैतन्यं व्यज्यते विभोः तस्य च
तन्मात्रधर्मत्वात् दर्पणप्रतिबिम्बिताभासवैचित्र्येण
चैतन्यमात्रस्वभावत्वात् चितौ लयाद्विश्रान्तेर्भरितात्मता अहमेव विश्वमयो
महच्चैतन्यभरित इत्यनुभूततात्त्वकावस्थः संपद्यते
आश्यानीभूतहिमघृतादिवत् जलमयत्वापत्तेरिति भावः ॥ ११५ ॥

अपरामाह

क्षुताद्यन्ते भये शोके गह्वरे वा रणद्रुते [रणाद्द्रुते सत्तामयी दशा
इति च पाठः] ।
कुतूहले क्षुधाद्यन्ते ब्रह्मसत्ता समीपगा ॥ ११६ ॥

अतिक्रुद्धः प्रहृष्टो वा किं करोमीति वा मृशन् ।
धावन्वा यत्पदं गच्छेत्तत्र स्पन्दः प्रतिष्ठितः ॥ (२२)

पृ। ४७)

इत्यादिस्पन्दोक्तदिशा निर्दिष्टस्य भैरवरूपस्यामर्शनात् क्षुतादिषु
गुरुमुखश्रुतयुक्त्या विभाव्य कृतकृत्यो भवत्येवेत्यर्थः। एतच्च

तन्त्रालोकादौ वितत्य निर्णीतमस्ति तत एवावधार्यम्। ग्रन्थविस्तरभयान्नेह प्रतन्यते तद्दिङ्मात्रेण उदाहृतमिति॥ ११६॥

अपरामाह

वस्तुषु स्मर्यमाणेषु दृष्टे देशे मनस्त्यजेत्।
स्वशरीरं निराधारं ततः प्रसरति [कृत्वा प्रसरतीति पाठः]
प्रभुः॥ ११७॥

स्मरणादिशक्त्या दृष्टे देशेनुभवशक्तौ स्वाधारभूतायां मनस्त्यजेत्
ऐकाग्र्येणादद्यात् स्वशरीरं च निराधारमहिकञ्चुकवदसङ्गं विभातयेत्
ततः प्रादुर्भवति स्वयमेव प्रभुरिति निश्चयः। अत्रायं भावः -
अनुभवात् स्मरणादौ सूत्र इव मणिगणः प्रोतश्चैतन्यप्रसर इति सिद्धम्
अतस्तमेव ध्यायेदिति शेषः॥ ११७॥

अपरामाह

क्वचिद्वस्तुनि विन्यस्य शनैर्दृष्टिं निवर्तयेत्।
तज्ज्ञानं चित्तसहितं देवि शून्यालयो भवेत्॥ ११८॥

कुत्रचित् दृष्टिं कृत्वा घटोयमिति तद्वस्त्वनुभवं तद्वासनायुक्तं चित्ते निधाय शून्यमतिर्भवेत् - ब्रह्म संपद्यत इत्यर्थः ॥ ११८ ॥

अपरामाह

भक्त्युद्रेकाद्विरक्तस्य यादृशी जायते मतिः ।
सा शक्तिः शाङ्करी नित्यं भावयेत्तां ततः शिवः ॥ ११९ ॥

पृ। ४८)

भक्त्यतिशयेन विरक्तस्य शान्तचित्तस्य चित्ते चित्तसमाधानेन यादृशी मतिर्जायते सा शांकरी शक्तिरिति गीयते इति तामेव भावयेत् येन तन्मयः स्यात्॥ ११९ ॥

अपरामाह

वस्त्वन्तरे वेद्यमाने शनैर्वस्तुषु शून्यता ।
तामेव मनसा ध्यात्वा विचित्तोपि [विदितोपीति पाठः] प्रशाम्यति ॥

१२० ॥

अयमत्राशयः - एकस्मिन्वस्तुनि चित्स्वरूपत्वेन ज्ञायमाने अन्यत्र चाभावबुद्धिः - सर्वस्यास्य जगत् एकरूपत्वापत्तेः तस्मात् एकस्यैव वस्तुनोपि चित्स्वभावात् सर्वस्वरूपप्रसंगापत्तेरिति तत्सर्ववेद्यशून्यतां ध्यात्वा विचित्रतया संकल्पविकल्पराहित्येन मुक्तः स्यादिति निश्चयः ॥ १२० ॥

अपरामाह

किंचिज्ज्ञैर्या स्मृता शुद्धिः सा शुद्धिः शंभुदर्शने ।
न शुचिर्ह्यशुचिस्तस्मान्निर्विकल्पः शिवो भवेत् ॥ १२१ ॥

धर्मशास्त्रविद्भिः

कृत्वालं पादशौचं विमलमथ जलं त्रिः पिबेत् ।

इत्यादिना शुद्धिः कथिता सा चैव शुद्धिः निर्विकल्पसमाधिस्थस्य न शुचिर्नाप्यशुचिरभेदापत्तेरिति पारमार्थिकपरमार्थः । तथा च

पृ। ४९)

तनुं त्यजतु काश्यां वा श्वपचस्य गृहेथ वा।

तज्ज्ञः कलङ्कं नाप्नोति हेम पङ्कगतं यथा॥

इत्यादिना स्मृतमस्ति॥ १२१॥

अपरामाह

सर्वत्र भैरवो भावः सामान्येष्वपि गोचरः।

न च तद्व्यतिरेकेण परोस्तीत्यद्वया गतिः॥ १२२॥

दर्पणबिम्बे यद्वन्नगरग्रामादि चित्रमविभागि।

भाति विभागेनैव च परस्परं दर्पणादपि च॥ (प० सा० १२)

इत्यादिना सर्वत्र सर्वदा बाह्याभन्तरेषु पदार्थेषु भैरवो भावः स्फुट इति
न च तद्व्यतिरिक्तं किंचित् इति संबोधाख्या द्वयातीता गतिरद्वैतज्ञानं स्यात्
तद्व्यतिरेके हि प्रकाशमानत्वाभावापत्तेः॥ १२२॥

अपरामाह

समः शत्रौ च मित्रेच समो मानापमानयोः।
ब्रह्मणः परिपूर्णत्वादिति ज्ञात्वा सुखी भवेत्॥ १२३॥

यच्च श्रीभगवता गीतं

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

पृ। ५०)

तथा च शान्तरसादिनिदर्शने

अहौ वा हारे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा
मणौ वा लोष्टे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्तु दिवसाः
कदा पुण्येरण्ये शिवशिवशिवेति प्रलपतः॥

पुनश्च सिद्धान्तमुक्तावल्यां

स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले दत्ता च सर्वावनि-
यंज्ञानां च कृतं सहस्रमखिला देवाश्च संतर्पिताः।
संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरस्त्रैलोक्यपूज्योप्यसौ
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात्॥

इत्येवं इच्छाज्ञानक्रियोल्लासं चिन्मयमेव विश्वप्रपञ्चं विज्ञाय सुखी भवतीति भावः॥ १२३॥

एवं सति अपरामाह

न द्वेषं भावयेत्क्वापि न रागं भावयेत्क्वचित्।
रागद्वेषविनिर्मुक्तौ मध्ये ब्रह्म प्रसर्पति॥ १२४॥

सर्पादौ द्वेषं हारादौ च रागः तद्विनिर्मुक्तस्वभावापत्तौ ब्रह्म संपद्यत इति भावः॥ १२४॥

अपरामाह

यदवेद्यं यदग्राह्यं यच्छून्यं यदभावगम्।
तत्सर्वं भैरवं भाव्यं तदन्ते बोधसंभवः॥ १२५॥

यतो वाचो निवर्तन्ते ह्यप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न विभेति कुतश्चन॥

पृ। ५१)

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

आनन्दात्खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन
जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्ति अभिसंविशन्ति। (तै० ३०३-६)

इत्यादिना प्रतिपादितं सर्वमेतद्ब्रह्मैव भवति इति दृढानुभवबलात् सर्वत्र
भैरवस्वरूपबोधवान् भैरव एव भवति - ब्रह्म संपद्यते इत्यर्थः॥
१२५॥

अपरामाह

नित्ये निराश्रये शून्ये व्यापके कलनोज्झिते।
बाह्याकाशे मनः कृत्वा निराकाशे समाविशेत्॥ १२६॥

इत्येवं नित्यत्वव्यापकत्वानुभूते बाह्याकाश एव शून्यधारणातिशयेन तदभ्यासातिशयाच्छून्यातिशून्यभूतं यद्धाम तत्रैव समाविशतीति भावः॥ १२६॥

अपरामाह

यत्र यत्र मनो याति तत्तत्तेनैव तत्क्षणम्।
परित्यज्यानवस्थित्या निस्तरङ्गस्ततो भवेत्॥ १२७॥

पृ। ५२)

अविकल्पसंवेदनरूपेण मनसा तत्क्षणे तत्सर्वं परित्यज्य निरालम्बनप्राप्तियुक्त्या परभैरवस्वरूपवान् भवेदिति भावः॥ १२७॥

अपरामाह

भिया सर्वं रवयति सर्वगो व्यापकोखिले ।
इति भैरवशब्दस्य सन्ततोच्चारणाच्छिवः ॥ १२८ ॥

विश्वमिदमखिलं भिया रवयति विमृशति अथ वा अवति रक्षति नीलानीलसुखासुखवेद्यराशेः सर्वस्याहमिति विमर्शनात् - बाह्यान्तरे सर्वत्र अहमस्मि इत्यनुभवदार्ढ्याधिगमाच्छिवः संपद्यते । तथा च न सावस्था न या शिवः इत्यादिना एतदाम्नातमस्ति ॥ १२८ ॥

अपरामाह

अहं मम मयेत्यादिप्रतिपत्तिप्रसङ्गतः ।
निराधारे मनो याति तद्ध्यानप्रेरणाच्छमी ॥ १२९ ॥

अहमिदं मम मया इत्यादिप्रसङ्गेषु निराधारं मनः कृत्वा नेदं नानास्ति किंचित् इति इत्यनेन तद्ध्यानाभ्यसनेन प्रेरणात् अहंविमर्शबलाधिगमात् शमी शान्तद्वन्द्वोवाप्तपरनिर्वाणो जायत इत्यर्थः ॥ १२९ ॥

अपरामाह

नित्यो विभुर्निराधारो व्यापकश्चाखिलाधिपः।

शब्दान्प्रतिक्षणं ध्याय्न्प्रकृतार्थानुरूपतः॥ १३०॥

पृ। ५३)

विभुः सर्वज्ञः सर्वत्र शिव एव इत्येवं प्रतिक्षणं ध्यायन्

प्रकृतार्थानुरूपतया पदार्थदृष्ट्या कृतकृत्यो भवत्येवेत्यर्थः

जानामि करोमि इत्यत्रैव मुक्तस्वभावः स्यादिति भावः। तथा च स्पन्दे

गुणादिस्पन्दनिःष्यन्दाः सामान्यस्पन्दसंश्रयात्।

लब्धात्मलाभाः सततं स्युर्ज्ञस्यापरिपन्थिनः॥ १९॥

अप्रबुद्धधियस्त्वेते स्वस्थितिस्थगनोद्यताः।

पातयन्ति दुरुत्तारे घोरे संसारवर्त्मनि॥ २०॥

अतः सततमुद्युक्तः स्पन्दतत्त्वविविक्तये।

जाग्रदेव निजं भावमचिरेणाधिगच्छति ॥ २१ ॥

इत्यादिना निर्णीतमस्ति ॥ १३० ॥

अपरामाह

अतत्त्वमिन्द्रजालाभमिदं सर्वं व्यवस्थितम् ।
किं तत्त्वमिन्द्रजालस्य चेति दार्ढ्याच्छमं व्रजेत् ॥ १३१ ॥

अतत्त्वमसारम् इन्द्रजालवदिति प्रतीत्या - सर्वमिदमिन्द्रजालतुल्यमेव तत्परं सद्वस्तु व्यपदेश्यं प्रमातृतत्त्वमिति भावनादार्ढ्येन तत्त्वविदः निर्वाणपदावाप्तिर्भवेदिति भावः ॥ १३१ ॥

अपरामाह

आत्मनो निर्विकारस्य क्व ज्ञानं क्व च वा क्रिया ।
ज्ञानायत्ता बहिर्भावा अतः शून्यमिदं जगत् ॥ १३२ ॥

ज्ञानक्रियादिशक्त्ययोगाज्ज्ञेयादिकल्पना कुतः न कुतश्चन। अतो निर्विकल्पात्मकस्य निर्विकल्पमेवेदं जगत्प्रतिभासते इति भावः। तथाच मालिनीविजये

या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिता समवायिनी।
इच्छात्वं तस्य सा देवि सिसृक्षोः प्रतिपद्यते॥

सैकापि सत्यनेकत्वं यथा गच्छति तच्छृणु।
एवमेतदिति ज्ञेयं नान्यथेति सुनिश्चितम्॥

ज्ञापयन्ती जगत्यत्र ज्ञानशक्तिर्निगद्यते।
एवं भवत्विदं सर्वमिति कार्योन्मुखी यदा॥

जाता तदैव तत्तद्वत्कुर्वत्यत्र क्रिया मता।
एवं यथा द्विरूपैव पुनर्भेदैरनेकधा॥

अर्थोपाधिवशाद्याति चिन्तामणिरिवेश्वरी।
तत्र तावत्समापन्ना मातृभावं विभिद्यते॥

द्विधा च नवधा भेदैः पञ्चाशद्धा च मालिनी।

इत्यादिना प्रकाशितोयमर्थः॥ १३२॥

अपरामाह

न मे बन्धो न मे मोक्षो बालस्यैता विभीषिकाः।
प्रतिबिम्बमिदं बुद्धेर्जलेष्विव विवस्वतः॥ १३३॥

मायापरिग्रहवशाद्बोधो मलिनः पुमान्पशुर्भवति। (प० सा० १६)

इत्यादिना निर्णीतोयमर्थः परमार्थसारे सुस्पष्टः। अथ च तत्रैव

गच्छति गच्छति जल इव हिमकरबिम्बं स्थिते स्थितिं याति।
तनुकरणभुवनवर्गे तथायमात्मा महेशानः॥ (प० सा० ७)

पृ। ५५)

इत्यादिना एतत्सर्वं बुद्धेः प्रतिबिम्बितमेव सूर्याचन्द्रमसोरिव
जलप्रतिबिम्बादौ। इत्थं दृष्टान्तदार्स्टान्तिकयोर्योज्यमिति भावः॥ १३३॥

अपरामाह

इन्द्रियद्वारकं सर्वं सुखदुःखादिसंगतम्।
इतीन्द्रियाणि संत्यज्य स्वस्थः स्वात्मनि वर्तते॥ १३४॥

द्रष्टा दृश्यं दर्शनं च इति भेदकल्पनात्यागादात्मनि स्वस्थः - स्वात्मैव भवति इत्यर्थः॥ १३४॥

अपरामाह

ज्ञानप्रकाशकं सर्वमात्मा चैव प्रकाशकः।
एवमेकस्वभावत्वाज्ज्ञानं ज्ञेये विभाव्यते॥ १३५॥

प्रकाशमानं न पृथक्प्रकाशात्
स च प्रकाशो न पृथग्विमर्शात्।
नान्यो विमर्शोऽहमिति स्वरूपा-
दहं विमर्शोऽस्मि चिदेकरूपः॥

इति नीत्या न किमपि प्रकाशाद्व्यतिरिक्तं भाति वर्तते वा

ज्ञानं ज्ञेयं तथा ज्ञाता त्रितयं नास्ति वास्तवम्।

इत्यादिलक्षणेन च सर्वं चिन्मयमेव विभाव्य यज्ज्ञानं तदेव ज्ञेयादि
इत्यादि तत्त्वज्ञाननिष्ठः संभवति इति भावः॥ १३५॥

अपरामाह

मानसं चेतना शक्तिरात्मा चेति चतुष्टयम्।
यदा प्रिये परिक्षीणं तदा तद्भैरवं वपुः॥ १३६॥

पृ। ५६)

मानसं मनः चेतना बुद्धिः शक्तिः प्राणशक्तिः आत्मा च एतदुपाधिमयो
जीव इति कथ्यते इत्येतच्चतुष्टयमुपाधिमयं मायीयोपाधिगलितं यदा क्षीणं
- यदा क्षीयते तदा चिच्छेषतया हिमनिर्मुक्तभास्करवत् प्रकाशमानः
प्रकाश एवावशिष्यते - इति दृढानुभवसमधिगमात् साक्षाद्भैरव
एव भवतीति भावः॥ १३६॥

अपरामाह

निस्तरङ्गोपदेशानां शतमुक्तं समासतः ।

द्वादशाभ्यधिकं देवि यज्ज्ञात्वा ज्ञानविज्जनः ॥ १३७ ॥

इत्थं मया धारणोपदेशानां द्वादशाभ्यधिकं शतमुक्तम् एतदेव

विज्ञाय साक्स् ।आद्भैरवसारूप्यमेवैतीति तात्पर्यम् ॥ १३७ ॥

अत्र चैकतमे युक्तो जायते भैरवः स्वयम् ।

वाचा करोति कर्माणि शापानुग्रहकारकः ॥ १३८ ॥

एतासु धारणास्वन्यतमनिष्ठावान्

मायीयोपाधिसंव्लितवेद्यराशिपतितेन्द्रियगणोपि वाचा कथनमात्रेण

शापानुग्रहादिकर्माणि करोति तत्रापि तथैव समाध्येकीभावनया तत्तदुज्झित्य

निस्तरङ्गप्रकाशवान् भैरवः साक्षाद्भवतीति निश्चयः ॥ १३८ ॥

अजरामरतामेति सोणिमादिगुणैर्युतः ।

योगिनीनां प्रभुर्देवि सर्वमेलापकारकः ॥ १३९ ॥

अपाम सोमममृता अभूम

इत्यादिनोक्तधारणाभ्यासदार्ढ्येन अजरामरतां संप्राप्य विज्ञाना-

पृ। ५७)

त्मकसोमपानात् योगिनीनां - ज्ञानक्रियानन्दादिशक्तीनां प्रभुः स्वामी
सर्वत्र मेलापकृत् सकलस्यास्य वेद्यवेदकादिराशेः
खिलीकृतस्वभावोत्यन्तनिर्मलचिद्वपुरद्वैतप्रकाशमयः परमात्मा
भैरवः संपद्यते इति तात्पर्यार्थः ॥ १३९ ॥

जीवन्नपि विमुक्तोसौ कुर्वन्नपि न लिप्यते ।

जीवन्मुक्त एवासौ पश्यन्नपि शृण्वन्नपि जिघ्रन्नपि - इत्यादिक्रियाः
कुर्वन्न लिप्यते। तथा च भगवान्

पश्यञ्छृण्वन्स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ।
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि । (५-८)

ब्रह्मण्यादाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा । (५-१०)

इत्यादिना समादिशति । तथा च स्पन्दे

गुणादिस्पन्दनिःष्यन्दाः सामान्यस्पन्दसंश्रयात् ।
लब्धात्मलाभाः सततं स्युर्ज्ञस्यापरिपन्थिनः ॥ (१९)

इत्यादिना निर्णीतमस्ति । तस्मात् कर्माणि कुर्वन्नपि च न लिप्यते इति सिद्धम् ॥

ताद्रूप्येण भेदं संदिहानेव पुनरपि पृच्छन्ती

श्रीभैरवी उवाच

इदं यदि वपुर्देव परायाश्च महेश्वर ॥ १४० ॥

एवमुक्तव्यवस्थायां जप्यते को जपश्च कः ।
ध्यायते को महादेव पूज्यते कश्च तृप्यति ॥ १४१ ॥

पृ । ५८)

हूयते कस्य वा होमो यागः कस्य च किं कथम् ।

स्पष्टमेतत् ॥

उक्तानुयोगनिर्धारणां समादिशन्

श्रीभैरव उवाच

एषात्र प्रक्रिया बाह्या स्थूलेत्येव मृगेक्षणे ॥ १४२ ॥

भूयो भूयः परे भावे भावना भाव्यते हि या ।

प्रक्रिया बाह्या - जपपाठतीर्थाटनादिक्रिया परे तत्त्वे बाह्येति कथ्यते ॥

जपः सोत्र स्वयं नादो मन्त्रात्मा जप्य ईदृशः ॥ १४३ ॥

ध्यानं या निश्चला बुद्धिर्निर्विकारा निराश्रया ।

सोहं ब्रह्मेति शब्दस्य अनाहताख्यस्य श्रवणाज्जपः ईदृङ्मन्त्रात्मतया जपाङ्गश्च मन्त्रः वेद्यावेद्यपतितापि समाधानबलान्निवातदीपवद्या

निश्चला बुद्धिस्तद्ध्यानमिति कथ्यते अत एव निर्विकारा निराश्रया चेति ॥

न तु ध्यानं शरीरस्य मुखहस्तादिकल्पना ॥ १४४ ॥

पूजा नाम न पुष्पाद्यैर्या मतिः क्रियते दृढा ।
निर्विकल्पे परे व्योम्नि सा पूजा ह्यादराल्लयः ॥ १४५ ॥

पृ। ५९)

परे व्योम्नि परचिदाकाशे लयः विश्रान्तिरेव तत्त्वतः पूजेति भावः ॥ १४५ ॥

अत्रैकतमयुक्तिस्थे योत्पद्येत दिनाद्दिनम् ।
भरिताकारता सात्र तृप्तिरत्यन्तपूर्णता ॥ १४६ ॥

अत्र प्रोक्तधारणासु एकतमयुक्तिस्थे सिद्धसमाधानदार्ढ्ये योगिनि उत्तरोत्तरं निर्विकल्पसमाधिरसास्वादाद्या पूर्णस्वात्मस्वरूपोपलब्धिपूर्णता सा तृप्तिरित्यर्थः ॥ १४६ ॥

महाशून्यालये वह्नौ भूतादिविषयादिकम् ।
हूयते मनसा सार्धं स होमश्चेतना स्रुचा ॥ १४७ ॥

महाशून्यालये शून्यातिशून्यरूपे परभैरवस्वरूपे वह्नौ भूतेन्द्रियतत्त्वादिरूपं सर्वं जगत् संकल्पविकल्पात्मकं विभागकल्पनाहेतुना मनसा सह यत्र चैतनैव स्रुक् तया हूयते स होमस्तत्त्वत इति ॥ १४७ ॥

यागोत्र परमेशानि तुष्टिरानन्दलक्षणा ।
क्षपणात्सर्वपाशानां त्राणात्सर्वस्य पार्वति ॥ १४८ ॥

रुद्रशक्तिसमावेशस्तत्क्षेत्रं भावना परा ।

उक्तसमाधानोत्थानन्देन तुष्टिरेव यागो देवपूजा पाशक्षपणभवत्राणधर्मत्वादनाश्रितशक्त्यावेश एव क्षेत्रं न च पुनः कुरुक्षेत्रधर्मक्षेत्रादिगमनादि । रुद्रशक्तिसमावेशः - सर्वज्ञत्वादिषटशक्तिप्रादुर्भावश्चेति ॥ १४८ ॥

पृ। ६०)

अन्यथा तस्य तत्त्वस्य का पूजा कश्च तृप्यति ॥ १४९ ॥

प्रकारान्तरेणाद्वैतसत्तत्त्वस्य पूजनतर्पणादिकर्म व्यतिरिक्तं न संभवतीति भावः ॥ १४९ ॥

सदाचारेषु मुख्यतयानुष्ठेयं स्नानमपि निर्दिशति

स्वतन्त्रानन्दचिन्मात्रसारः स्वात्मा हि सर्वतः ।
आवेशनं तत्स्वरूपे स्वात्मनः स्नानमीरितम् ॥ १५० ॥

निगदितधारणाभ्यासेनाद्वैतस्वात्मस्वरूपस्य स्वतन्त्रानन्दचिन्मात्रसारतयानुभवात्तत्स्वरूपे लयभावनैव मुख्यं स्नानमित्यर्थः ॥ १५० ॥

यैरेव पूज्यते द्रव्यैस्तर्प्यते वा परापरः ।
यश्चैव पूजकः सर्वः स एवैकः क्व पूजनम् ॥ १५१ ॥

यैरेव द्रव्यैः कुसुमादिभिः पूज्यते क्षीरखण्डादिभिर्वा तर्प्यते परापर इति परादेव्या सहितः परः भैरवः इति यश्चैव पूजकः स एव पूज्य इत्येने न तत्त्वज्ञानेन क्व पूजनम् स्थूलमार्गेण यत् सर्वस्य

पूज्यपूजादेस्तदेकस्वरूपतया क्वापि भिन्नता नेति भावः ॥ ५१ ॥

व्रजेत्प्राणो विशेज्जीव इच्छया कुटिलाकृतिः ।
दीर्घात्मा सा महादेवी परं क्षेत्रं परात्परा ॥ १५२ ॥

प्राणप्रवेशनसमये अपानस्य संघट्टनात् हृदयादौ । अस्य पद्यस्य
विस्तृतो रहस्यार्थस्तन्त्रालोकादौ निगदितस्तत एवावधार्यः तत्रापि

पृ। ६१)

गुरुमुखत एव समाधेयतया नास्माभिरिह वितानित इति क्षन्तव्यम् ॥ १५२ ॥

अस्यामनुचरंस्तिष्ठन्महानन्दमयेध्वरे ।
तया देव्या समाविष्टः परं भैरवमाप्नुयात् ॥ १५३ ॥

षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः ।
हंस-हंसेति-मन्त्रेण जीवो जपति नित्यशः ॥ ५४ ॥

जपो देव्याः समुद्दिष्टः प्राणस्यान्ते सुदुर्लभः ।

प्राणस्यान्ते पर्यवसानावस्थायाम् ॥

इत्येतत्कथितं देवि परमामृतमुत्तमम् ॥ १५५ ॥

एतच्च नैव कस्यापि प्रकाश्यं तु कदाचन ।
परशिष्ये खले क्रूरे चाभक्ते गुरुपादयोः ॥ १५६ ॥

निर्विकल्पमतीनां तु वीराणामुन्नतात्मनाम् ।

निर्विकल्पमतीनां वीराणां च्छिन्नसंशयानाम् उन्नतात्मनां
शुद्धविद्याप्रधानमायोत्तीर्णानाम् ॥

भक्तानां गुरुवर्गस्य दातव्यं निर्विशङ्कया ॥ १५७ ॥

दिव्यौघ-सिद्धौघ-मानवौघादिगुरुपङ्क्तिभक्तानाम्
प्रदेयमेतद्रहस्यज्ञानमिति ॥ १५७ ॥

ग्रामं राज्यं पुरं देशं पुत्रदाराकुटुम्बकम् ।

सर्वमेतत्परित्यज्य ग्राह्यमेतन्मृगेक्षणे ॥ १५८ ॥

पृ। ६२)

किमेभिरस्थिरैर्देवि स्थिरं परमिदं धनम्।
प्राणा अपि प्रदादव्या न देयं परमामृतम्॥ १५९ ॥

राज्याद्यस्थिराननुगामिद्रव्यसंपत्त्यागेनैतदक्षयमनुवर्तमानमनुत्तरसुखफलं स्थिरधनं संग्राह्यं यत्सर्वथादेयं निर्दिष्टापात्रेभ्य इति ॥ १५८-१५९ ॥

श्रीभैरवी

देव देव महादेव परितृप्तास्मि शंकर।
रुद्रयामलतन्त्रस्य सारमद्यावधारितम्॥ १६० ॥

सर्वशक्तिप्रभेदानां हृदयं ज्ञातमद्य च।
इत्युक्त्वानन्दिता देवी कण्ठे लग्ना शिवस्य तु॥ १६१ ॥

इत्येतानि पद्यानि स्पष्टव्याख्यानानि तस्मादलं विवरणेन ॥ १६०-१६१ ॥

इति श्री विज्ञानभैरवं नाम योगशास्त्रं समाप्तम् ।

पृ । ६३)

श्रीविद्यानुग्रहावाप्तप्रेक्षालेशस्त्रिकागमान् ।
आलोड्यालोच्य तत्तत्त्वसंग्रहार्थं सुविस्तृतम् ॥ १ ॥

विज्ञानभैरवे गूढपथे पदप्रबोधिनीम् ।
दुर्ध्वान्तभवदुःश्वभ्रविभ्रंशात्पालनोदिताम् ॥ २ ॥

वेदसप्तर्षिवेदान्त्ययुगाब्दमधुपक्षतौ ।
विज्ञानकौमुदीमेतां भट्टानन्दो व्यकासयत् ॥ ३ ॥

समाप्तेयं विज्ञानकौमुदी नाम विज्ञानभैरवटीका ।
कृतिस्तत्रभवत्काश्मीरिकभट्टारकानन्दकस्य ॥

सद्विद्यानां संश्रय ग्रन्थविद्वद्-

व्यूहे ह्रासं कालवृत्त्योपयाते।

तत्तत्सद्धर्मोद्दिधीर्षैकतान-

सत्प्रेक्षौजःशालिना कर्मवृत्त्यै॥ १॥

श्रीमत्कश्मीराधिराजेन मुख्यै-

र्धर्मोद्युक्तैर्मन्त्रिभिः स्वैर्विविच्य।

प्रत्यष्ठापि ज्ञानविज्ञानगर्भ-

ग्रन्थोद्धृत्यै मुख्यकार्यालयो यः॥ २॥

पृ। ६४)

तत्राजीवं निर्विशद्भिर्मुकुन्द-

रामाध्यक्षत्वाश्रितैः सद्भिरेषः।

पूर्त्या शुद्ध्या व्याख्यया संस्कृतः स्तात्

पूर्णो ग्रन्थः श्रेयसे सज्जनानाम्॥ ३॥ (तिलकम्)

श्रीस्वात्मशिवार्पणमस्तु॥

XXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXX

****
****
* "Siva Sa.mhitaa
* Published by the Theosophical Society
* Tara Press, Varanasi 1928
* Data-entered by the staff of Muktabodha under the supervision of Mark S.G. Dyczkowski
* Velthius transliteration
* revision 0 January 28, 2007
****
****

प्रथमः पटलः

एकं ज्ञानं नित्यमाद्यन्तशून्यं नान्यत् किञ्चिद्वर्त्तते वस्तु सत्यम्।

यद्भेदोस्मिन्निन्द्रियोपाधिना वै ज्ञानस्यायं भासते नान्यथैव ॥ १-१ ॥

अथ भक्तानुरक्तोऽहं वक्ति योगानुशासनम्।

ईश्वरः सर्वभूतानामात्ममुक्तिप्रदायकः ॥ १-२ ॥

त्यक्त्वा विवादशीलानां मतं दुर्ज्ञानहेतुकम्।

आत्मज्ञानाय भूतानामनन्यगतिचेतसाम् ॥ १-३ ॥

सत्यं केचित्प्रशंसन्ति तपः शौचं तथापरे।
क्षमां केचित्प्रशंसंति तथैव सममार्ज्जवम्॥ १-४॥

केचिद्दानं प्रशंसन्ति पितृकर्म तथापरे।
केचित्कर्म प्रशंसन्ति केचिद्वैराग्यमुत्तमम्॥ १-५॥

केचिद्गृहस्थकर्माणि प्रशंसन्ति विचक्षणाः।
अग्निहोत्रादिकं कर्म तथा केचित् परं विदुः॥ १-६॥

मन्त्रयोगं प्रशंसन्ति किचित्तिर्थानुसेवनम्।
एवं बहूनुपायांस्तु प्रवदन्ति हि मुक्तये॥ १-७॥

एवं व्यवसिता लोके कृत्याकृत्यविदो जनाः।
व्यामोहमेव गच्छंति विमुक्ताः पापकर्मभिः॥ १-८॥

एतन्मतावलम्बी यो लब्ध्वा दुरितपुण्यके।
भ्रमतीत्यवशः सोऽत्र जन्ममृत्युपरम्पराम्॥ १-९॥

अन्यैर्मतिमता। श्रेष्ठैर्गुप्तालोकनतत्परैः।

आत्मानो बहवः प्रोक्ता नित्याः सर्वगतास्तथा ॥ १-१० ॥

यद्यत्प्रत्यक्षविषयं तदन्यन्नास्ति चक्षते ।
कुतः स्वर्गादयः सन्तीत्यन्ये निश्चितमानसाः ॥ १-११ ॥

ज्ञानप्रवाह इत्यन्ये शून्यं केचित्परं विदुः ।
द्वावेव तत्त्वं मन्यन्तेऽपरे प्रकृतिपूरुषौ ॥ १-१२ ॥

अत्यन्तभिन्नमतयः परमार्थपराङ्मुखाः ।
एवमन्ये तु संचिन्त्य यथामति यथाश्रुतम् ॥ १-१३ ॥

निरीश्वरमिदं प्राहुः सेश्वरञ्च तथापरे ।
वदन्ति विविधैर्भेदैः सुयुक्त्या स्थितिकातराः ॥ १-१४ ॥

एते चान्ये च मुनयः संज्ञाभेदा पृथग्विधाः ।
शास्त्रेषु कथिता ह्येते लोकव्यामोहकारकाः ॥ १-१५ ॥

एतद्विवादशीलानां मतं वक्तुं न शक्यते ।
भ्रमन्त्यस्मिञ्जनाः सर्वे मुक्तिमार्गबहिष्कृताः ॥ १-१६ ॥

आलोक्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः।
इदमेकं सुनिष्पन्नं योगशास्त्रं परं मतम्॥ १-१७ ॥

यस्मिन् याते सर्वमिदं यातं भवति निश्चितम्।
तस्मिन्परिश्रमः कार्यः किमन्यच्छास्त्रभाषितम्॥ १-१८ ॥

योगशास्त्रमिदं गोप्यमस्माभिः परिभाषितम्।
सुभक्ताय प्रदातव्यं त्रैलोक्ये च महात्मने॥ १-१९ ॥

कर्मकाण्डं ज्ञानकाण्डमिति वेदो द्विधा मतः।
भवति द्विविधो भेदो ज्ञानकाण्डस्य कर्मणः॥ १-२० ॥

द्विविधः कर्मकाण्डः स्यान्निषेधविधिपूर्वकः॥ १-२१ ॥

निषिद्धकर्मकरणे पापं भवति निश्चितम्।
विधिना कर्मकरणे पुण्यं भवति निश्चितम्॥ १-२२ ॥

त्रिविधो विधिकूटः स्यान्नित्यनैमित्तकाम्यतः।
नित्येऽकृते किल्विषं स्यात्काम्ये नैमित्तिके फलम्॥ १-२३ ॥

द्विविधन्तु फलं ज्ञेयं स्वर्गो नरक एव च।

स्वर्गो नानाविधश्चैव नरकोपि तथा भवेत्॥ १-२४ ॥

पुण्यकर्माणि वै स्वर्गो नरकः पापकर्माणि।

कर्मबंधमयी सृष्टिर्नान्यथा भवति ध्रुवम्॥ १-२५ ॥

जन्तुभिश्चानुभूयंते स्वर्गे नानासुखानि च।

नानाविधानि दुःखानि नरके दुःसहानि वै॥ १-२५ ॥

पापकर्मवशाद्दुखं पुण्यकर्मवशात्सुखम्।

तस्मात्सुखार्थी विविधं पुण्यं प्रकुरुते ध्रुवम्॥ १-२७ ॥

पापभोगावसाने तु पुनर्जन्म भवेत्खलु।

पुण्यभोगावसाने तु नान्यथा भवति ध्रुवम्॥ १-२८ ॥

स्वर्गेऽपि दुःखसंभोगः परश्रीदर्शनादिषु।

ततो दुःखमिदं सर्वं भवेन्नास्त्यत्र संशयः॥ १-२९ ॥

तत्कर्मकल्पकैः प्रोक्तं पुण्यं पापमिति द्विधा।

पुण्यपापमयो बन्धो देहिनां भवति क्रमात्॥ १-३० ॥

इहामुत्र फलद्वेषी सफलं कर्म संत्यजेत्।
नित्यनैमित्तिकं संज्ञं त्यक्त्वा योगे प्रवर्तते ॥ १-३१ ॥

कर्मकाण्डस्य माहात्म्यं ज्ञात्वा योगी त्यजेत्सुधीः।
पुण्यपापद्वयं त्यक्त्वा ज्ञानकाण्डे प्रवर्तते ॥ १-३२ ॥

आत्मा वाऽरेतु द्रष्टव्यः श्रोतव्येत्यादि यच्छ्रुतिः।
सा सेव्या तत्प्रयत्नेन मुक्तिदा हेतुदायिनी ॥ १-३३ ॥

दुरितेषु च पुण्येषु यो धीर्वृत्तिं प्रचोदयात्।
सोऽहं प्रवर्तते मत्तो जगत्सर्वं चराचरम्॥
सर्वं च दृश्यते मत्तः सर्वं च मयि लीयते।
न तद्भिन्नोऽहमस्मीह मद्भिन्नो न तु किंचन ॥ १-३४ ॥

जलपूर्णेष्वसंख्येषु शरावेषु यथा भवेत्।
एकस्य भात्यसंख्यत्वं तद्भेदोऽत्र न दृश्यते॥
उपाधिषु शरावेषु या संख्या वर्तते परा।
सा संख्या भवति यथा रवौ चात्मनि तत् तथा॥ १-३५ ॥

यथैकः कल्पकः स्वप्ने नानाविधितयेष्यते ।
जागरेपि तथाप्येकस्तथैव बहुधा जगत् ॥ १-३६ ॥

सर्पबुद्धिर्यथा रज्जौ शुक्तौ वा रजतभ्रमः ।
तद्वदेवमिदं विश्वं विवृतं परमात्मनि ॥ १-३७ ॥

रज्जुज्ञानाद्यथा सर्पो मिथ्यारूपो निवर्तते ।
आत्मज्ञानात् तथा याति मिथ्याभूतमिदं जगत् ॥ १-३८ ॥

रौप्यभ्रान्तिरियं याति शुक्तिज्ञानाद्यथा खलु ।
जगद्भ्रान्तिरियं याति चात्मज्ञानात् सदा तथा ॥ १-३९ ॥

यथा वंशो रगभ्रान्तिर्भवेद्भेकवसाञ्जनात् ।
तथा जगदिदं भ्रांतिरभ्यासकल्पनाञ्जनात् ॥ १-४० ॥

आत्मज्ञानाद्यथा नास्ति रज्जुज्ञानाद्भुजङ्गमः ।
यथा दोषवशाच्छुक्लः पीतो भवति नान्यथा ।
अज्ञानदोषादात्मापि जगद्भवति दुस्त्यजम् ॥ १-४१ ॥

दोषनाशे यथा शुक्लो गृह्यते रोगिणा स्वयम् ।

शुक्तिज्ञानात्तथाऽज्ञाननाशादात्मा तथा कृतः ॥ १-४२ ॥

कालत्रयेपि न यथा रज्जुः सर्पो भवेदिति ।
तथात्मा न भवेद्विश्वं गुणातीतो निरञ्जनः ॥ १-४३ ॥

आगमाऽपायिनोऽनित्यानाश्यत्वेनेश्वरादयः ।
आत्मबोधेन केनापि शास्त्रादेतद्विनिश्चितम् ॥ १-४४ ॥

यथा वातवशात्सिन्धावुत्पन्नाः फेनबुद्बुदाः ।
तथात्मनि समुद्भूतं संसारं क्षणभंगुरम् ॥ १-४५ ॥

अभेदो भासते नित्यं वस्तुभेदो न भासते ।
द्विधात्रिधादिभेदोऽयं भ्रमत्वे पर्यवस्यति ॥ १-४६ ॥

यद्भूतं यच्च भाव्यं वै मूर्तामूर्तं तथैव च ।
सर्वमेव जगदिदं विवृतं परमात्मनि ॥ १-४७ ॥

कल्पकैः कल्पिता विद्या मिथ्या जाता मृषात्मिका ।
एतन्मूलं जगदिदं कथं सत्यं भविष्यति ॥ १-४८ ॥

चैतन्यात्सर्वमुत्पन्नं जगदेतच्चराचरम्।

तस्मात्सर्वं परित्यज्य चैतेन्यं तं समाश्रयेत्॥ १-४९॥

घटस्याभ्य तरे बाह्ये यथाकाशं प्रवर्तते।

तथात्माभ्यंतरे बाह्ये कार्यवर्गेषु नित्यशः॥ १-५०॥

असंलग्नं यथाकाशं मिथ्याभूतेषु पंचसु।

असंलग्नस्तथात्मा तु कार्यवर्गेषु नान्यथा॥ १-५१॥

ईश्वरादिजगत्सर्वमात्मव्याप्यं समन्ततः।

एकोऽस्ति सच्चिदानंदः पूर्णो द्वैतविवर्जितः॥ १-५२॥

यस्मात्प्रकाशको नास्ति स्वप्रकाशो भवेत् ततः।

स्वप्रकाशो यतस्तस्मादात्मा ज्योतिः स्वरूपकः॥ १-५३॥

अवच्छिन्नो यतो नास्ति दशकालस्वरूपतः।

आत्मनः सर्वथा तस्मादात्मा पूर्णो भवेत्खलु॥ १-५४॥

यस्मान्न विद्यते नाशः पंचभूतैर्वृथात्मकैः।

तस्मादात्मा भवेन्नित्यस्तन्नाशो न भवेत्खलु॥ १-५५॥

यस्मात् तदन्यो नास्तीह तस्मादेकोऽस्ति सर्वदा ।
यस्मात् तदन्यो मिथ्या स्यादात्मा सत्यो भवेत् खलु ॥ १-५६ ॥

अविद्याभुतसंसारे दुःखनाशे सुखं यतः ।
ज्ञानादाद्यंतशून्यं स्यात् तस्मादात्मा भवेत् सुखम् ॥ १-५७ ॥

यस्मान्नाशितमज्ञानं ज्ञानेन विश्वकारणम् ।
तस्मादात्मा भवेज्ज्ञानं ज्ञानं तस्मात् सनातनम् ॥ १-५८ ॥

कालतो विविधं विश्वं यदा चैव भवेदिदम् ।
तदेकोऽस्ति स एवात्मा कल्पनापथवर्जितः ॥ १-५९ ॥

बाह्यानि सर्वभूतानि विनाशं यान्ति कालतः ।
यतो वाचो निवर्तंते आत्मा द्वैतविवर्जितः ॥ १-६० ॥

न खं वायुर्न चाग्निश्च न जलं पृथिवी न च ।
नैतत्कार्यं नेश्वरादि पूर्णैकात्मा भवेत्खलु ॥ १-६१ ॥

आत्मानमात्मनो योगी पश्यत्यात्मनि निश्चितम् ।

सर्वसंकल्पसंन्यासी त्यक्तमिथ्याभवग्रहः ॥ १-६२ ॥

आत्मानात्मनि चात्मान दृष्ट्वानन्त सुखात्मकम् ।
विस्मृत्य विश्वं रमते समाधेस्तीव्रतस्तथा ॥ १-६३ ॥

मायैव विश्वजननी नान्या तत्त्वधियापरा ।
यदा नाशं समायाति विश्वं नास्ति तदा खलु ॥ १-६४ ॥

हेयं सर्वमिदं यस्य मायाविलसितं यतः ।
ततो न प्रीतिविषयस्तनुवित्तसुखात्मकः ॥ १-६५ ॥

अरिर्मित्रमुदासीनस्त्रिविधं स्यादिदं जगत् ।
व्यवहारेषु नियतं दृश्यते नान्यथा पुनः ॥
प्रियाप्रियादिभेदस्तु वस्तुषु नियतः स्फुटम् ॥ १-६६ ॥

आत्मोपाधिवशादेवं भवेत् पुत्रादि नान्यथा ।
मायाविलसितं विश्वं ज्ञात्वैवं श्रुतियुक्तितः ॥
अध्यारोपापवादाभ्यां लयं कुर्वन्ति योगिनः ॥ १-६७ ॥

निखिलोपाधिहीनो वै यदा भवति पुरुषः ।

तदा विवक्षतेऽखंडज्ञानरूपी निरंजनः ॥ १-६८ ॥

सो कामयतः पुरुषः सृजते च प्रजाः स्वयम् ।
अविद्या भासते यस्मात् तस्मान्मिथ्या स्वभावतः ॥ १-६९ ॥

शुद्ध ब्रह्मत्व संबद्धो विद्यया सहितो भवेत् ।
ब्रह्मतेनसती याति यत आभासते नभः ॥ १-७० ॥

तस्मात् प्रकाशते वायुर्वायोरग्निस्ततो जलम् ।
प्रकाशते ततः पृथ्वी कल्पनेयं स्थिता सति ॥ १-७१ ॥

आकाशाद्वायुराकाशपवनादग्निसंभवः ।
खवाताग्नेर्जलं व्योमवाताग्निवारितो मही ॥ १-७२ ॥

खं शब्दलक्षणं वायुश्चंचलः स्पर्शलक्षणः ।
स्याद्रूपलक्षणं तेजः सलिलं रसलक्षणम् ॥
गन्धलक्षणिका पृथ्वी नान्यथा भवति ध्रुवम् ॥ १-७३ ॥

स्यादेकगुणमाकाशं द्विगुणो वायुरुच्यते ।
तथैव त्रिगुणं तेजो भवन्त्यापश्चतुर्गुणाः ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च।

एतत् पंचगुणा पृथ्वी कल्पकैः कल्प्यतेऽधुना॥ १-७४॥

चक्षुषा गृह्यते रूपं गन्धो घ्राणेन गृह्यते।

रसो रसनया स्पर्शस्त्वचा संगृह्यते परम्॥ १-७५॥

श्रोत्रेण गृह्यते शब्दो नियतं भाति नान्यथा॥ १-७६॥

चैतन्यात्सर्वमुत्पन्नं जगदेतच्चराचरम्।

अस्ति चेत्कल्पनेय स्यान्नास्ति चेदस्ति चिन्मयम्॥ १-७७॥

पृथ्वी शीर्णा जलं मग्ना जलं मग्नञ्च तेजसि।

लीनं वायौ तथा तेजो व्योम्नि वातो लयं ययौ॥

अविद्यायां महाकाशो लीयते परमे पदे॥ १-७८॥

विक्षेपावरणा शक्तिर्दुरन्तासुखरूपिणी।

जडरूपा महामाया रजःसत्त्वतमोगुणा॥ १-७९॥

सा मायावरणाशक्त्यावृताविज्ञानरूपिणी।

दर्शयेज्जगदाकारं तं विक्षेपस्वभावतः॥ १-८०॥

तमो गुणाधिका विद्या या सा दूर्गा भवेत् स्वयम्।
ईश्वरस्तदुपहितं चैतन्यं तदभूद् ध्रुवम्॥
सत्ताधिका च या विद्या लक्ष्मीः स्याद्दिव्यरूपिणी।
चैतन्यं तदुपहितं विष्णुर्भवति नान्यथा॥ १-८१॥

रजोगुणाधिका विद्या ज्ञेया सा वै सरस्वती।
यश्चित्स्वरूपो भवति ब्रह्मातदुपधारकः॥ १-८२॥

ईशाद्याः सकला देवा दृश्यन्ते परमात्मनि।
शरीरादिजडं सर्वं सा विद्या तत् तथा तथा॥ १-८३॥

एवंरूपेण कल्पन्ते कल्पका विश्वसम्भवम्।
तत्त्वातत्त्वं भवंतीह कल्पनान्येन चोदिता॥ १-८४॥

प्रमेयत्वादिरूपेण सर्वं वस्तु प्रकाश्यते।
विशेषशब्दोपादाने भेदो भवति नान्यथा॥ १-८५॥

तथैव वस्तुनास्त्येव भासको वर्तकः परः।
स्वरूपत्वेन रूपेण स्वरूपं वस्तु भाष्यते॥ १-८६॥

एकः सत्तापूरितानन्दरूपः पूर्णो व्यापी वर्तते नास्ति किञ्चित्।

एतज्ज्ञानं यः करोत्येव नित्यं मुक्तः स स्यान्मृत्युसंसारदुःखात्॥ १-८७ ॥

यस्यारोपापवादाभ्यां यत्र सर्वे लयं गताः।

स एको वर्तते नान्यत्तच्चित्तेनावधार्यते॥ १-८८ ॥

पितुरन्नमयात्कोशाज्जायते पूर्वकर्मणः।

तच्छरीरंविदुर्दुःखं स्वप्राग्भोगाय सुन्दरम्॥ १-८९ ॥

मांसास्थिस्नायुमज्जादिनिर्मितं भोगमन्दिरम्।

केवलं दुःखभोगाय नाडी संततिगुल्फितम्॥ १-९० ॥

पारमेष्ठ्यमिदं गात्रं पंचभूतविनिर्मितम्।

ब्रह्माण्डसंज्ञकं दुःखसुखभोगाय कल्पितम्॥ १-९१ ॥

बिन्दुः शिवो रजः शक्तिरुभयोर्मिलनात्स्वयम्।

स्वप्नभूतानि जायन्ते स्वशक्त्या जडरूपया॥ १-९२ ॥

तत् पञ्चीकरणात् स्थूलान्यसंख्यानि समासतः।

ब्रह्मांडस्थानि वस्तूनि यत्र जीवोऽस्ति कर्मभिः ॥
तद्भूतपञ्चकात्सर्वं भोगाय जीवसंज्ञिता ॥ १-९३ ॥

पूर्वकर्मानुरोधेन करोमि घटनामहम् ।
अजडः सर्वभूतस्था जडस्थित्या भुनक्ति तान् ॥ १-९४ ॥

जडात्स्वकर्मभिर्बद्धो जीवाख्यो विविधो भवेत् ।
भोगायोत्पद्यते कर्म ब्रह्मांडाख्ये पुनः पुनः ॥ १-९५ ॥

जीवश्च लीयते भोगावसाने च स्वकर्मणः ॥ १-९६ ॥

द्वितीयः पटलः

देहेऽस्मिन्वर्तते मेरुः सप्तद्वीपसमन्वितः ।
सरितः सागराः शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्रपालकाः ॥ २-१ ॥

ऋषयो मुनयः सर्वे नक्षत्राणि ग्रहास्तथा ।
पुण्यतीर्थानि पीठानि वर्तन्ते पीठदेवताः ॥ २-२ ॥

सृष्टिसंहारकर्तारौ भ्रमन्तौ शशिभास्करौ ।

नभो वायुश्च वह्निश्च जलं पृथ्वी तथैव च ॥ २-३ ॥

त्रैलोक्ये यानि भूतानि तानि सर्वाणि देहतः।
मेरुं संवेष्ट्य सर्वत्र व्यवहारः प्रवर्तते ॥ २-४ ॥

जानाति यः सर्वमिदं स योगी नात्र संशयः ॥ २-५ ॥

ब्रह्माण्डसंज्ञके देहे यथादेशं व्यवस्थितः।
मेरुशृंगे सुधारश्मिर्बहिरष्टकलायुतः ॥ २-६ ॥

वर्ततेऽहर्निशं सोऽपि सुधां वर्षत्यधोमुखः।
ततोऽमृतं द्विधाभूतं याति सूक्ष्मं यथा च वै ॥ २-७ ॥

इडामार्गेण पुष्ट्यर्थं याति मन्दाकिनीजलम्।
पुष्णाति सकलं देहमिडामार्गेण निश्चितम् ॥ २-८ ॥

एष पीयूषरश्मिर्हि वामपार्श्वे व्यवस्थितः ॥
अपरः शुद्धदुग्धाभो हठात्कर्षति मण्डलात्।
मध्यमार्गेण सृष्ट्यर्थं मेरौ संयाति चन्द्रमाः ॥ २-९ ॥

मेरुमूले स्थितः सूर्यः कलाद्वादशसंयुतः।
दक्षिणे पथि रश्मिभिर्वहत्यूर्ध्वं प्रजापतिः॥ २-१० ॥

पीयूषरश्मिनिर्यासं धातूंश्च ग्रसति ध्रुवम्।
समीरमण्डले सूर्यो भ्रमते सर्वविग्रहे॥ २-११ ॥

एषा सूर्यपरामूर्तिः निर्वाणं दक्षिणे पथि।
वहते लग्नयोगेन सृष्टिसंहारकारकः॥ २-१२ ॥

सार्धलक्षत्रयं नाड्यः सन्ति देहान्तरे नृणाम्।
प्रधानभूता नाड्यस्तु तासु मुख्याश्चतुर्दशः॥ २-१३ ॥

सुषुम्णेडा पिंगला च गांधारी हस्तिजिह्विका।
कुहूः सरस्वती पूषा शंखिनी च पयस्वनी॥ २-१४ ॥

वारुण्यलम्बुसा चैव विश्वोदरी यशस्विनी।
एतासु तिस्रो मुख्याः स्युः पिङ्गलेडा सुषुम्णिका॥ २-१५ ॥

तिस्रष्वेका सुषुम्णैव मुख्या सायोगिवल्लभा।
अन्यास्तदाश्रयं कृत्वा नाड्यः सन्ति हि देहिनाम्॥ २-१६ ॥

नाड्यस्तु ता अधोवक्त्राः पद्मतन्तुनिभाः स्थिताः।
पृष्ठवंशं समाश्रित्य सोमसूर्याग्निरूपिणी॥ २-१७॥

तासां मध्ये गता नाडी चित्रा सा मम वल्लभा।
ब्रह्मरन्ध्रञ्च तत्रैव सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं शुभम्॥ २-१८॥

पञ्चवर्णोज्ज्वला शुद्धा सुषुम्णा मध्यचारिणी।
देहस्योपाधिरूपा सा सुषुम्णा मध्यरूपिणी॥ २-१९॥

दिव्यमार्गमिदं प्रोक्तममृतानन्दकारकम्।
ध्यानमात्रेण योगींद्रो दुरितौघं विनाशयेत्॥ २-२०॥

गुदात्तुद्व्यंगुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यंगुलादधः।
चतुरंगगुलविस्तारमाधारं वर्तते समम्॥ २-२१॥

तस्मिन्नाधारपद्मे च कर्णिकायां सुशोभना।
त्रिकोणा वर्तते योनिः सर्वतंत्रेषु गोपिता॥ २-२२॥

तत्र विद्युल्लताकारा कुण्डली परदेवता।

सार्द्धत्रिकरा कुटिला सुषुम्णा मार्गसंस्थिता ॥ २-२३ ॥

जगत्संसृष्टिरूपा सा निर्माणे सततोद्यता।
वाचामवाच्या वाग्देवी सदा देवैर्नमस्कृता ॥ २-२४ ॥

इडानाम्नी तु या नाडी वाममार्गे व्यवस्थिता।
सुषुम्णायां समाश्लिष्य दक्षनासापुटे गता ॥ २-२५ ॥

पिङ्गला नाम या नाडी दक्षमार्गे व्यवस्थिता।
मध्यनाडीं समाश्लिष्य वामनासापुटे गता ॥ २-२६ ॥

इडापिंगलयोर्मध्ये सुषुम्णा या भवेत्खलु।
षट्स्थानेषु च षट्शक्तिं षट्पद्मं योगिनो विदुः ॥ २-२७ ॥

पंचस्थानं सुषुम्णाया नामानि स्युर्बहूनि च।
प्रयोजनवशात्तानि ज्ञातव्यानीह शास्त्रतः ॥ २-२८ ॥

अन्या याऽस्त्यपरा नाडी मूलाधारात्समुत्थिता।
रसनामेढ्रनयनं पादांगुष्ठे च श्रोत्रकम् ॥
कुक्षिकक्षांगुष्ठकर्णं सर्वांगं पायुकुक्षिकम्।

लब्ध्वा तां वै निवर्तन्ते यथा देशसमुद्भवाः ॥ २-२९ ॥

एताभ्य एव नाडीभ्यः शखोपशाखतः क्रमात् ।
सार्धलक्षत्रयं जातं यथाभागं व्यवस्थितम् ॥ २-३० ॥

एता भोगवहा नाड्यो वायुसञ्चारदक्षकाः ।
ओतप्रोत्राः सुसंव्याप्य तिष्ठन्त्यस्मिन्कलेवरे ॥ २-३१ ॥

सूर्यमण्डलमध्यस्थः कलाद्वादशसंयुतः ।
वस्तिदेशे ज्वलद्वह्निर्वर्तते चान्नपाचकः ॥
एष वैश्वानरोग्निर्वै मम तेजोंशसम्भवः ।
करोति विविधं पाकं प्राणिनां देहमास्थितः ॥ २-३२ ॥

आयुः प्रदायको वह्निर्बलं पुष्टिं ददाति सः ।
शरीरपाटवञ्चापि ध्वस्तरोगसमुद्भवः ॥ २-३३ ॥

तस्माद्वैश्वानराग्निञ्च प्रज्वाल्य विधिवत्सुधीः ।
तस्मिन्नन्नं हुनेद्योगी प्रत्यहं गुरुशिक्षया ॥ २-३४ ॥

ब्रह्माण्डसंज्ञके देहे स्थानानि स्युर्बहूनि च ।

मयोक्तानि प्रधानानि ज्ञातव्यानीह शास्त्रके ॥ २-३५ ॥

नानाप्रकारनामानि स्थानानि विविधानि च ।
वर्तन्ते विग्रहे तानि कथितुं नैव शक्यते ॥ २-३६ ॥

इत्थं प्रकल्पिते देहे जीवो वसति सर्वगः ।
अनादिवासनामालाऽलंकृतः कर्मशंखलः ॥ २-३७ ॥

नानाविधगुणोपेतः सर्वव्यापारकारकः ।
पूर्वार्जितानि कर्माणि भुनक्ति विविधानि च ॥ २-३८ ॥

यद्यत्संदृश्यते लोके सर्वं तत्कर्मसम्भवम् ।
सर्वा कर्मानुसारेण जन्तुर्भोगान्भुनक्ति वै ॥ २-३९ ॥

ये ये कामादयो दोषाः सुखदुःखप्रदायकाः ।
ते ते सर्वे प्रवर्तन्ते जीवकर्मानुसारतः ॥ २-४० ॥

पुण्योपरक्तचैतन्ये प्राणान्प्रीणाति केवलम् ।
बाह्ये पुण्यमयं प्राप्य भोज्यवस्तु स्वयम्भवेत् ॥ २-४१ ॥

ततः कर्मबलात्पुंसः सुखं वा दुःखमेव च।

पापोपरक्तचैतन्यं नैव तिष्ठति निश्चितम्॥

न तद्भिन्नो भवेत्सोऽपि तद्भिन्नो न तु किञ्चन।

मायोपहितचैतन्यात्सर्वं वस्तु प्रजायते॥ २-४२॥

यथाकालेपि भोगाय जन्तूनां विविधोद्भवः।

यथा दोषवशाच्छुक्तौ रजतारोपणं भवेत्॥

तथा स्वकर्मदोषाद्वै ब्रह्मण्यारोप्यते जगत्॥ २-४३॥

सवासनाभ्रमोत्पन्नोन्मूलनातिसमर्थनम्।

उत्पन्नश्चेदीदृशं स्याज्ज्ञानं मोक्षप्रसाधनम्॥ २-४४॥

साक्षाद्वैशेषदृष्टिस्तु साक्षात्कारिणि विभ्रमे।

कारणं नान्यथा युक्त्या सत्यं सत्यं मयोदितम्॥ २-४५॥

साक्षात्कारिभ्रमे साक्षात्साक्षात्कारिणि नाशयेत्।

सो हि नास्तीति संसारे भ्रमो नैव निवर्तते॥ २-४६॥

मिथ्याज्ञाननिवृत्तिस्तु विशेषदर्शनाद्भवेत्।

अन्यथा न निवृत्तिः स्याद्दृश्यते रजतभ्रमः॥ २-४७॥

यावन्नोत्पद्यते ज्ञानं साक्षात्कारे निरञ्जने ।
तावत्सर्वाणि भूतानि दृश्यन्ते विविधानि च ॥ २-४८ ॥

यदा कर्मार्जितं देहं निर्वाणे साधनं भवेत् ।
तदा शरीरवहनं सफलं स्यान्न चान्यथा ॥ २-४९ ॥

यादृशी वासना मूला वर्तते जीवसंगिनी ।
तादृशं वहते जन्तुः कृत्याकृत्यविधौ भ्रमम् ॥ २-५० ॥

संसारसागरं तर्तुं यदीच्छेद्योगसाधकः ।
कृत्वा वर्णाश्रमं कर्म फलवर्जं तदाचरेत् ॥ २-५१ ॥

विषयासक्तपुरुषा विषयेषु सुखेप्सवः ।
वाचाभिरुद्धनिर्वाणा वर्तन्ते पापकर्मणि ॥ २-५२ ॥

आत्मानमात्मना पश्यन्न किञ्चिदिह पश्यति ।
तदा कर्मपरित्यागे न दोषोऽस्ति मतं मम ॥ २-५३ ॥

कामादयो विलीयन्ते ज्ञानादेव न चान्यथा ।

अभावे सर्वतत्त्वानां स्वयं तत्त्वं प्रकाशते ॥ २-५४ ॥

तृतीयः पटलः

हृद्यस्ति पङ्कजं दिव्यं दिव्यलिङ्गेन भूषितम् ।
कादिठान्ताक्षरोपेतं द्वादशार्णविभूषितम् ॥ ३-१ ॥

प्राणो वसति तत्रैव वासनाभिरलंकृतः ।
अनादिकर्मसंश्लिष्टः प्राप्याहङ्कारसंयुतः ॥ ३-२ ॥

प्राणस्य वृत्तिभेदेन नामानि विविधानि च ।
वर्तन्ते तानि सर्वाणि कथितुं नैव शक्यते ॥ ३-३ ॥

प्राणोऽपानः समानश्चादानो व्यानश्च पञ्चमः ।
नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः ॥ ३-४ ॥

दश नामानि मुख्यानि मयोक्तानीह शास्त्रके ।
कुर्वन्ति तेऽत्र कार्याणि प्रेरितानि स्वकर्मभिः ॥ ३-५ ॥

अत्रापि वायवः पञ्च मुख्याः स्युर्दशतः पुनः ।

तत्रापि श्रेष्ठकर्तारौ प्राणापानौ मयोदितौ ॥ ३-६ ॥

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले ।
उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः ॥ ३-७ ॥

नागादिवायवः पञ्च ते कुर्वन्ति च विग्रहे ।
उद्गारोन्मीलनं क्षुत्तृड्जृम्भा हिक्का च पञ्चमः ॥ ३-८ ॥

अनेन विधिना यो वै ब्रह्माण्डं वेत्ति विग्रहम् ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम् ॥ ३-९ ॥

अधुना कथयिष्यामि क्षिप्रं योगस्य सिद्धये ।
अज्ज्ञात्वा नावसीदन्ति योगिनो योगसाधने ॥ ३-१० ॥

भवेद्वीर्यवती विद्या गुरुवक्त्रसमुद्भवा ।
अन्यथा फलहीना स्यान्निर्वीर्याप्यतिदुःखदा ॥ ३-११ ॥

गुरुं सन्तोष्य यत्नेन ये वै विद्यामुपासते ।
अवलम्बेन विद्यायास्तस्याः फलमवाप्नुयात् ॥ ३-१२ ॥

गुरुः पिता गुरुर्माता गुरुर्देवो न संशयः।
कर्मणा मनसा वाचा तस्मात्सर्वैः प्रसेव्यते॥ ३-१३॥

गुरुप्रसादतः सर्वं लभ्यते शुभमात्मनः।
तस्मात्सेव्यो गुरुर्नित्यमन्यथा न शुभं भवेत्॥ ३-१४॥

प्रदक्षिणत्रयं कृत्वा स्पृष्ट्वा सव्येन पाणिना।
अष्टांगेन नमस्कुर्याद् गुरुपादसरोरुहम्॥ ३-१५॥

श्रद्धयात्मवतां पुंसां सिद्धिर्भवति निश्चिता।
अन्येषाञ्च न सिद्धिः स्यात्तस्माद्यत्नेन साधयेत्॥ ३-१६॥

न भवेत्संगयुक्तानां तथाऽविश्वासिनामपि।
गुरुपूजाविहीनानां तथा च बहुसंगिनाम्॥ ३-१७॥

मिथ्यावादरतानां च तथा निष्ठुरभाषिणाम्।
गुरुसन्तोषहीनानां न सिद्धिः स्यात्कदाचन॥ ३-१७॥

फलिष्यतीति विश्वासः सिद्धेः प्रथमलक्षणम्।
द्वितीयं श्रद्धया युक्तं तृतीयं गुरुपूजनम्॥

चतुर्थं समताभावं पञ्चमेन्द्रियनिग्रहम् ।
षष्ठं च प्रमिताहारं सप्तमं नैव विद्यते ॥ ३-१८ ॥

योगोपदेशं संप्राप्य लब्ध्वा योगविदं गुरुम् ।
गुरूपदिष्टविधिना धिया निश्चित्य साधयेत् ॥ ३-१९ ॥

सुशोभने मठे योगी पद्मासनसमन्वितः ।
आसनोपरि संविश्य पवनाभ्यासमाचरेत् ॥ ३-२० ॥

समकायः प्राञ्जलिश्च प्रणम्य च गुरून् सुधीः ।
दक्षे वामे च विघ्नेशं क्षत्रपालांबिकां पुनः ॥ ३-२१ ॥

ततश्च दक्षांगुष्ठेन निरुद्ध्य पिंगलां सुधीः ।
इडया पूरयेद्वायुं यथाशक्त्या तु कुम्भयेत् ॥
ततस्त्यक्त्वा पिंगलयाशनैरेव न वेगतः ॥ ३-२२ ॥

पुनः पिंगलयापूर्य यथाशक्त्या तु कुम्भयेत् ।
इडया रेचयेद्वायुं न वेगेन शनैः शनैः ॥ ३-२३ ॥

इदं योगविधानेन कुर्याद्विंशतिकुम्भकान् ।

सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तः प्रत्यहं विगतालसः ॥ ३-२४ ॥

प्रातःकाले च मध्याह्ने सूर्यास्ते चार्द्धरात्रके ।
कुर्यादेवं चतुर्वारं कालेष्वेतेषु कुम्भकान् ॥ ३-२५ ॥

इत्थं मासत्रयं कुर्यादनालस्यो दिने दिने ।
ततो नाडीविशुद्धिः स्यादविलम्बेन निश्चितम् ॥ ३-२६ ॥

यदा तु नाडीशुद्धिः स्याद्योगिनस्तत्त्वदर्शिनः ।
तदा विध्वस्तदोषश्च भवेदारम्भसम्भवः ॥ ३-२७ ॥

चिह्नानि योगिनो देहे दृश्यन्ते नाडिशुद्धितः ।
कथ्यन्ते तु समस्तान्यङ्गानि संक्षेपतो मया ॥ ३-२८ ॥

समकायः सुगन्धिश्च सुकान्तिः स्वरसाधकः ।
आरम्भघटकश्चैव यथा परिचयस्तदा ॥
निष्पत्तिः सर्वयोगेषु योगावस्था भवन्ति ताः ॥ ३-२९ ॥

आरम्भः कथितोऽस्माभिरधुना वायुसिद्धये ।
अपरः कथ्यते पश्चात् सर्वदुःखौघनाशनः ॥ ३-३० ॥

प्रौढवह्निः सुभोगी च सुखीसर्वाङ्गसुन्दरः।
संपूर्णहृदयो योगी सर्वोत्साहबलान्वितः॥
जायते योगिनोऽवश्यमेतत्सर्वं कलेवरे॥ ३-३१॥

अथ वर्ज्यं प्रवक्ष्यामि योगविघ्नकरं परम्।
येन संसारदुःखाब्धिं तीर्त्वा यास्यन्ति योगिन॥ ३-३२॥

आम्लं रूक्षं तथा तीक्ष्णं लवणं सार्षपं कटुम्।
बहुलं भ्रमणं प्रातः स्नानं तैलविदाहकम्॥

स्तेयं हिंसां जनद्वेषञ्चाहङ्कारमनार्जवम्।
उपवासमसत्यञ्च मोक्षञ्च प्राणिपीडनम्॥
स्त्रीसङ्गमग्निसेवां च बह्वालापं प्रियाप्रियम्।
अतीव भोजनं योगी त्यजेदेतानि निश्चितम्॥ ३-३३॥

उपायं च प्रवक्ष्यामि क्षिप्रं योगस्य सिद्धये।
गोपनीयं साधकानां येन सिद्धिर्भवेत्खलु॥ ३-३४॥

घृतं क्षीरं च मिष्टान्नं ताम्बूलं चूर्णवर्जितम्।

कर्पूरं निष्तुषं मिष्टं सुमठं सूक्ष्मरन्ध्रकम् ॥
सिद्धान्तश्रवणं नित्यं वैराग्यगृहसेवनम् ।
नामसङ्कीर्तनं विष्णोः सुनादश्रवणं परम् ॥
धृतिः क्षमा तपः शौचं ह्रीर्मतिर्गुरुसेवनम् ।
सदैतानि परं योगी नियमानि समाचरेत् ॥ ३-३५ ॥

अनिलेऽर्कप्रवेशे च भोक्तव्यं योगिभिः सदा ।
वायौ प्रविष्टे शशिनि शयनं साधकोत्तमैः ॥ ३-३६ ॥

सद्यो भुक्तेऽपि क्षुधिते नाभ्यासः क्रियत बुधैः ।
अभ्यासकाले प्रथमं कुर्यात्क्षीराज्यभोजनम् ॥ ३-३७ ॥

ततोऽभ्यासे स्थिरीभूते न तादृङ्नियमग्रहः ।
अभ्यासिना विभोक्तव्यं स्तोकं स्तोकमनेकधा ॥
पूर्वोक्तकाले कुर्यात्तु कुम्भकान्प्रतिवासरे ॥ ३-३८ ॥

ततो यथेष्टा शक्तिः स्याद्योगिनो वायुधारणे ।
यथेष्टं धारणाद्वायोः कुम्भकः सिध्यति ध्रुवम् ॥
केवले कुम्भके सिद्धे किं न स्यादिह योगिनः ॥ ३-३९ ॥

स्वेदः संजायते देहे योगिनः प्रथमोद्यमे।
यदा संजायते स्वेदो मर्दनं कारयेत्सुधीः॥
अन्यथा विग्रहे धातुर्नष्टो भवति योगिनः॥ ३-४० ॥

द्वितीये हि भवेत्कम्पो दार्दुरी मध्यमे मता।
ततोऽधिकतराभ्यासाद्गगनेचरसाधकः॥ ३-४१ ॥

योगी पद्मासनस्थोऽपि भुवमुत्सृज्य वर्तते।
वायुसिद्धिस्तदा ज्ञेया संसारध्वान्तनाशिनी॥ ३-४२ ॥

तावत्कालं प्रकुर्वीत योगोक्तनियमग्रहम्।
अल्पनिद्रा पुरीषं च स्तोकं मूत्रं च जायते॥ ३-४३ ॥

अरोगित्वमदीनत्वं योगिनस्तत्त्वदर्शिनः।
स्वेदो लाला कृमिश्चैव सर्वथैव न जायते॥ ३-४४ ॥

कफपित्तानिलाश्चैव साधकस्य कलेवरे।
तस्मिन्काले साधकस्य भोज्येष्वनियमग्रहः॥ ३-४५ ॥

अत्यल्पं बहुधा भुक्त्वा योगी न व्यथते हि सः।

अथाभ्यासवशाद्योगी भूचरीं सिद्धिमाप्नुयात्॥
यथा दर्दुरजन्तूनां गतिः स्यात्पाणिताडनात्॥ ३-४६॥

सन्त्यत्र बहवो विघ्ना दारुणा दुर्निवारणाः।
तथापि साधयेद्योगी प्राणैः कंथगतैरपि॥ ३-४७॥

ततो रहस्युपाविष्टः साधकः संयतेन्द्रियः।
प्रणवं प्रजपेद्दीर्घं विघ्नानां नाशहेतवे॥ ३-४८॥

पूर्वार्जितानि कर्माणि प्राणायामेन निश्चितम्।
नाशयेत्साधको धीमानिहलोकोद्भवानि च॥ ३-४९॥

पूर्वाजितानि पापानि पुण्यानि विविधानि च।
नाशयेत्षोडशप्राणायामेन योगि पुंगवः॥ ३-५०॥

पापतूलचयानाहोप्रदहेत्प्रलयाग्निना।
ततः पापविनिर्मुक्तः पश्चात्पुण्यानि नाशयेत्॥ ३-५१॥

प्राणायामेन योगीन्द्रो लब्ध्वैश्वर्याष्टकानि वै।
पापपुण्योदधिं तीर्त्वा त्रैलोक्यचरतामियात्॥ ३-५२॥

ततोऽभ्यासक्रमेणैव घटिकात्रितयं भवेत्।
येन स्यात्सकलासिद्धिर्योगिनः स्वेप्सिता ध्रुवम्॥ ३-५३॥

वाक्सिधिः कामचारित्वं दूरदृष्टिस्तथैव च।
दूरश्रुतिः सूक्ष्मदृष्टिः परकायप्रवेशनम्॥
विण्मूत्रलेपने स्वर्णमदृश्यकरणं तथा।
भवन्त्येतानि सर्वाणि खेचरत्वं च योगिनाम्॥ ३-५४॥

यदा भवेद्धटावस्था पवनाभ्यासने परा।
तदा संसारचक्रेऽस्मिन्नास्ति यन्न सधारयेत्॥ ३-५५॥

प्राणापाननादबिंदुजीवात्मपरमात्मनः।
मिलित्वा घटते यस्मात्तस्माद्वै घट उच्यते॥ ३-५६॥

याममात्रं यदा धर्तुं समर्थः स्यात्तदाद्भुतः।
प्रत्याहारस्तदैव स्यान्नांतरा भवति ध्रुवम्॥ ३-५७॥

यं यं जानाति योगीन्द्रस्तं तमात्मेति भावयेत्।
यैरिन्द्रियैर्यद्विधानस्तदिन्द्रियजयो भवेत्॥ ३-५८॥

याममात्रं यदा पूर्णं भवेदभ्यासयोगतः।
एकवारं प्रकुर्वीत तदा योगी च कुम्भकम्॥
दण्डाष्टकं यदा वायुर्निश्चलो योगिनो भवेत्।
स्वसामर्थ्यात्तदांगुष्ठे तिष्ठेद्वातुलवत्सुधीः॥ ३-५९॥

ततः परिचयावस्था योगिनोऽभ्यासतो भवेत्।
यदा वायुश्चंद्रसूर्यं त्यक्त्वा तिष्ठति निश्चलम्॥
वायुः परिचितो वायुः सुषुम्ना व्योम्नि संचरेत्॥ ३-६०॥

क्रियाशक्तिं गृहीत्वैव चक्रान्भित्त्वा सुनिश्चितम्।
यदा परिचयावस्था भवेदभ्यासयोगतः॥
त्रिकूटं कर्मणां योगी तदा पश्यति निश्चितम्॥ ३-६१॥

ततश्च कर्मकूटानि प्रणवेन विनाशयेत्।
स योगी कर्मभोगाय कायव्यूहं समाचरेत्॥ ३-६२॥

अस्मिन्काले महायोगी पंचधा धारणं चरेत्।
येन भूरादिसिद्धिः स्यात्ततो भूतभयापहा॥ ३-६३॥

आधारे घटिकाः पंच लिंगस्थाने तथैव च।
तदूर्ध्वं घटिकाः पञ्च नाभिहृन्मध्यके तथा॥
भ्रूमध्योर्ध्वं तथा पंच घटिका धारयेत्सुधीः।
तथा भूरादिना नष्टो योगीन्द्रो न भवेत्खलु॥ ३-६४॥

मेधावी सर्वभूतानां धारणां यः समभ्यसेत्।
शतब्रह्ममृतेनापि मृत्युस्तस्य न विद्यते॥ ३-६५॥

ततोऽभ्यासक्रमेणैव निष्पत्तिर्योगिनो भवेत्।
अनादिकर्मबीजानि येन तीर्त्वाऽमृतं पिबेत्॥ ३-६६॥

यदा निष्पत्तिर्भवति समाधेः स्वेनकर्मणा।
जीवन्मुक्तस्य शांतस्य भवेद्धीरस्य योगिनः॥
यदा निष्पत्तिसंपन्नः समाधिः स्वेच्छया भवेत्।
गृहीत्वा चेतनां वायुः क्रियाशक्तिं च वेगवान्॥
सर्वांश्चक्रान्विजित्वा च ज्ञानशक्तौ विलीयते॥ ३-६७॥

इदानीं क्लेशहान्यर्थं वक्तव्यं वायुसाधनम्।
येन संसारचक्रेस्मिन् भोगहानिर्भवेद्ध्रुवम्॥ ३-६८॥

रसनां तालुमूले यः स्थापयित्वा विचक्षणः।
पिबेत्प्राणानिलं तस्य योगानां संक्षयो भवेत्॥ ३-६९॥

काकचंच्वा पिबेद्वायुं शीतलं यो विचक्षणः।
प्राणापानविधानज्ञः स भवेन्मुक्तिभाजनः॥ ३-७०॥

सरसं यः पिबेद्वायुं प्रत्यहं विधिना सुधीः।
नश्यंति योगिनस्तस्य श्रमदाहजरामयाः॥ ३-७१॥

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा यश्चन्द्रे सलिलं पिबेत्।
मासमात्रेण योगीन्द्रो मृत्युंजयति निश्चितम्॥ ३-७२॥

राजदंतबिलं गाढं संपीड्य विधिना पिबेत्।
ध्यात्वा कुण्डलिनीं देवीं षण्मासेन कविर्भवेत्॥ ३-७३॥

काकचंच्वा पिबेद्वायुं सन्ध्ययोरुभयोरपि।
कुण्डलिन्या मुखे ध्यात्वा क्षयरोगस्य शान्तये॥ ३-७४॥

अहर्निशं पिबेद्योगी काकचंच्वा विचक्षणः।
पिबेत्प्राणानिलं तस्य रोगाणां संक्षयो भवेत्॥

दूरश्रुतिर्दूरदृष्टिस्तथा स्याद्दर्शनं खलु ॥ ३-७५ ॥

दन्तैर्दन्तान्समापीड्य पिबेद्वायुं शनैः शनैः ।

ऊर्ध्वजिह्वः सुमेधावी मृत्युं जयति सोचिरात् ॥ ३-७६ ॥

षण्मासमात्रमभ्यासं यः करोति दिने दिने ।

सर्वपापविनिर्मुक्तो रोगान्नाशयते हि सः ॥ ३-७७ ॥

संवत्सरकृताऽभ्यासाद्भैरवो भवति ध्रुवम् ।

अणिमादिगुणाँल्लब्ध्वा जितभूतगणः स्वयम् ॥ ३-७८ ॥

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धं यदि तिष्ठति ।

क्षणेन मुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥ ३-७९ ॥

रसनां प्राणसंयुक्तां पीड्यमानां विचिंतयेत् ।

न तस्य जायते मृत्युः सत्यं सत्यं मयोदितम् ॥ ३-८० ॥

एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः ।

न क्षुधा न तृषा निद्रा नैव मूर्च्छा प्रजायते ॥ ३-८१ ॥

अनेनैव विधानेन योगीन्द्रोऽवनिमण्डले।
भवेत्स्वच्छन्दचारी च सर्वापत्परिवर्जितः॥ ३-८२॥

न तस्य पुनरावृत्तिर्मोदते ससुरैरपि।
पुण्यपापैर्न लिप्येत एतदाक्षरणेन सः॥ ३-८३॥

चतुरशीत्यासनानि सन्ति नानाविधानि च।
तेभ्यश्चतुष्कमादाय मयोक्तानि ब्रवीम्यहम्॥
सिद्धासनं ततः पद्मासनञ्चोग्रं च स्वस्तिकम्॥ ३-८४॥

योनिं संपीड्य यत्नेन पादमूलेन साधकः।
मेढोपरि पादमूलं विन्यसेद्योगवित्सदा॥
ऊर्ध्वं निरीक्ष्य भ्रूमध्यं निश्चलः संयतेन्द्रियः।
विशेषोऽवक्रकायश्च रहस्युद्वेगवर्जितः॥
एतत् सिद्धासनं ज्ञेयं सिद्धानां सिद्धिदायकम्॥ ३-८५॥

येनाभ्यासवशाच्छीघ्रं योगनिष्पत्तिमाप्नुयात्।
सिद्धासनं सदा सेव्यं पवनाभ्यासिना परम्॥ ३-८६॥

येन संसारमुत्सृज्य लभते परमां गतिम्।

नातः परतरं गुह्यमासनं विद्यते भुवि ॥
येनानुध्यानमात्रेण योगी पापाद्विमुच्यते ॥ ३-८७ ॥

उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः ।
ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा तु तादृशौ ॥
नासाग्रे विन्यसेद्दृष्टिं दन्तमूलञ्च जिह्वया ।
उत्तोल्य चिबुकं वक्ष उत्थाप्य पवनं शनैः ॥
यथाशक्त्या समाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः ।
यथा शक्त्यैव पश्चात्तु रेचयेदविरोधतः ॥
इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम् ॥ ३-८८ ॥

दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते परम् ॥ ३-८९ ॥

अनुष्ठाने कृते प्राणः समश्चलति तत्क्षणात् ।
भवेदभ्यासने सम्यक्साधकस्य न संशयः ॥ ३-९० ॥

पद्मासने स्थितो योगी प्राणापानविधानतः ।
पूरयेत्स विमुक्तः स्यात्सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ॥ ३-९१ ॥

प्रसार्य चरणद्वन्द्वं परस्परमसंयुतम् ।

स्वपाणिभ्यां दृढं धृत्वा जानूपरि शिरो न्यसेत् ॥

आसनोग्रमिदं प्रोक्तं भवेदनिलदीपनम् ।

देहावसानहरणं पश्चिमोत्तानसंज्ञकम् ॥

य एतदासनं श्रेष्ठं प्रत्यहं साधयेत्सुधीः ।

वायुः पश्चिममार्गेण तस्य सञ्चरति ध्रुवम् ॥ ३-९२ ॥

एतदभ्यासशीलानां सर्वसिद्धिः प्रजायते ।

तस्माद्योगी प्रयत्नेन साधयेत्सिद्धमात्मनः ॥ ३-९३ ॥

गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्य कस्यचित् ।

येन शीघ्रं मरुत्सिद्धिर्भवेद् दुःखौघनाशिनी ॥ ३-९४ ॥

जानूर्वोरन्तरे सम्यग्धृत्वा पादतले उभे ।

समकायः सुखासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥ ३-९५ ॥

अनेन विधिना योगी मारुतं साधयेत्सुधीः ।

देहे न क्रमते व्याधिस्तस्य वायुश्च सिद्ध्यति ॥ ३-९६ ॥

सुखासनमिदं प्रोक्तं सर्वदुःखप्रणाशनम् ।

स्वस्तिकं योगिभिर्गोप्यं स्वस्तीकरणमुत्तमम् ॥ ३-९७ ॥

चतुर्थः पटलः

आदौ पूरक योगेन स्वाधारे पूरयेन्मनः।
गुदमेढ्रन्तरे योनिस्तामाकुंच्य प्रवर्तते॥ ४-१॥

ब्रह्मयोनिगतं ध्यात्वा कामं कन्दुकसन्निभम्।
सूर्यकोटि प्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलम्॥
तस्योर्ध्वं तु शिखासूक्ष्मा चिद्रूपा परमाकला।
तया सहितमात्मानमेकीभूतं विचिन्तयेत्॥ ४-२॥

गच्छति ब्रह्ममार्गेण लिंगत्रयक्रमेण वै।
अमृतं तद्धि स्वर्गस्थं परमानन्दलक्षणम्॥
श्वेतरक्तं तेजसाढयं सुधाधाराप्रवर्षिणम्।
पीत्वा कुलामृतं दिव्यं पुनरेव विशेत्कुलम्॥ ४-३॥

पुनरेव कुलं गच्छेन्मात्रायोगेन नान्यथा।
सा च प्राणसमाख्याता ह्यस्मिंस्तन्त्रे मयोदिता॥ ४-४॥

पुनः प्रलीयते तस्यां कालाग्न्यादिशिवात्मकम्।

योनिमुद्रा परा ह्येषा बन्धस्तस्याः प्रकीर्तितः।
तस्यास्तु बन्धामत्रेण तन्नास्ति यन्न साधयेत्॥ ४-५॥

छिन्नरूपास्तु ये मन्त्राः कीलिताः स्तंभिताश्च ये।
दग्धामन्त्राः शिखाहीना मलिनास्तु तिरस्कृताः॥
मन्दा बालास्तथा वृद्धाः प्रौढा यौवनगर्विताः।
अरिपक्षे स्थिता ये च निर्वीर्याः सत्त्ववर्जिताः।
तथा सत्त्वेन हीनाश्च खण्डिताः शतधाकृताः॥
विधानेन च संयुक्ताः प्रभवन्त्यचिरेण तु।
सिद्धिमोक्षप्रदाः सर्वे गुरुणा विनियोजिताः॥
दीक्षयित्वा विधानेन अभिषिच्य सहस्रधा।
ततो मंत्राधिकारार्थमेषा मुद्रा प्रकीर्तिता॥ ४-६॥

ब्रह्महत्यासहस्राणि त्रैलोक्यमपि घातयेत्।
नासौ लिप्यति पापेन योनिमुद्रानिबन्धनात्॥ ४-७॥

गुरुहा च सुरापी च स्तेयी च गुरुतल्पगः।
एतैः पापैर्न बध्येत योनिमुद्रानिबन्धनात्॥ ४-८॥

तस्मादभ्यासनं नित्यं कर्तव्यं मोक्षकांक्षिभिः।

अभ्यासाज्जाय ते सिद्धिरभ्यासान्मोक्षमाप्नुयात्॥ ४-९॥

संविदं लभतेऽभ्यासाद्योगोभ्यासात्प्रवर्तते।
मुद्राणां सिद्धिरभ्यासादभ्यासाद्वायुसाधनम्॥
कालवञ्चनमभ्यासात्तथा मृत्युञ्जयो भवेत्॥ ४-१०॥

वाक्सिद्धिः कामचारित्वं भवेद्भ्यासयोगतः॥
योनिमुद्रा परं गोप्या न देया यस्य कस्यचित्।
सर्वथा नैव दातव्या प्राणैः कण्ठगतैरपि॥ ४-११॥

अधुना कथयिष्यामि योगसिद्धिकरं परम्।
गोपनीयं सुसिद्धानां योगं परमदुर्लभम्॥ ४-१२॥

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोपि च॥ ४-१३॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।
ब्रह्मरन्ध्रमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्॥ ४-१४॥

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।

जालंधरो मूलबंधो विपरीतकृतिस्तथा ॥
उड्डानं चैव वज्रोणी दशमे शक्तिचालनम् ।
इदं हि मुद्रादशकं मुद्राणामुत्तमोत्तमम् ॥ ४-१५ ॥

अथ महामुद्राकथनम् ।

महामुद्रां प्रवक्ष्यामि तन्त्रेऽस्मिन्मम वल्लभे ।
यां प्राप्य सिद्धाः सिद्धिं च कपिलाद्याः पुरागताः ॥ ४-१६ ॥

अपसव्येन संपीड्य पादमूलेन सादरम् ।
गुरूपदेशतो योनिं गुदमेड्रान्तरालगाम् ॥
सव्यं प्रसारितं पादं धृत्वा पाणियुगेन वै ।
नवद्वाराणि संयम्य चिबुकं हृदयोपरि ॥
चित्तं चित्तपथे दत्त्वा प्रभवेद्वायुसाधनम् ।
महामुद्राभवेदेषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥
वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षाङ्गेनाभ्यसेत् पुनः ।
प्राणायामं समं कृत्वा योगी नियतमानसः ॥ ४-१७ ॥

अनेन विधिना योगी मन्दभाग्योपि सिध्यति ।
सर्वासामेव नाडीनां चालनं बिन्दुमारणम् ॥

जीवनन्तु कषायस्य पातकानां विनाशनम्।
सवरोगोपशमनं जठराग्निविवर्धनम्॥

वपुषा कान्तिममलां जरामृत्युविनाशनम्।
वांछितार्थफलं सौख्यमिन्द्रियाणाञ्च मारणम्॥
एतदुक्तानि सर्वाणि योगारूढस्य योगिनः।
भवेदभ्यासतोऽवश्यं नात्र कार्या विचारणा॥ ४-१८॥

गोपनीया प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते।
यां तु प्राप्य भवाम्भोधेः पारं गच्छन्ति योगिनः॥ ४-१९॥

मुद्रा कामदुघा ह्येषा साधकानां मयोदिता।
गुप्ताचारेण कर्तव्या न देया यस्य कस्यचित्॥ ४-२०॥

अथ महाबन्धकथनम्।

ततः प्रसारितः पादो विन्यस्य तमुरूपरि।
गुदयोनिं समाकुंच्य कृत्वा चापानमूर्ध्वगम्।
योजयित्वा समानेन कृत्वा प्राणमधोमुखम्॥
बन्धयेदूर्ध्वगत्यर्थं प्राणापानेन यः सुधीः।

कथितोऽयं महाबन्धः सिद्धिमार्गप्रदायकः।

नाडीजालाद्रसव्यूहो मूर्धानं याति योगिनः॥

उभाभ्यां साधयेत् पद्भ्यामेकैकं सुप्रयत्नतः॥ ४-२१॥

भवेदभ्यासतो वायुः सुषुम्नां मध्यसङ्गतः।

अनेन वपुषः पुष्टिर्दृढबन्धोऽस्थिपंजरे॥

संपूर्णहृदयो योगी भवन्त्येतानि योगिनः।

बन्धेनानेन योगीन्द्रः साधयेत्सर्वमीप्सितम्॥ ४-२२॥

अथ महावेधकथनम्।

अपानप्राणयोरैक्यं कृत्वा त्रिभुवनेश्वरि।

महावेधस्थितो योगी कुक्षिमापूर्य वायुना।

स्फिचौ संताडयेद्धीमान्वेधोऽयं कीर्तितो मया॥ ४-२३॥

वेधेनानेन संविध्य वायुना योगिपुंगवः।

ग्रंथिं सुषुम्णामार्गेण ब्रह्मग्रंथिं भिनत्त्यसौ॥ ४-२४॥

यः करोति सदाभ्यासं महावेधं सुगोपितम्।

वायुसिद्धिर्भवेत्तस्य जरामरणनाशिनी॥ ४-२५॥

चक्रमधे स्थिता देवाः कम्पन्ति वायुताडनात्।
कुण्डल्यपि महामाया कैलासे सा विलीयते॥ ४-२६ ॥

महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ।
तस्माद्योगी प्रयत्नेन करोति त्रितयं क्रमात्॥ ४-२७ ॥

एतत् त्रयं प्रयत्नेन चतुर्वारं करोति यः।
षण्मासाभ्यन्तरं मृत्युं जयत्येव न संशयः॥ ४-२८ ॥

एतत् त्रयस्य माहात्म्यं सिद्धो जानाति नेतरः।
यज्ज्ञात्वा साधकाः सर्वे सिद्धिं सम्यग्लभन्ति वै॥ ४-२९॥

गोपनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिमीप्सुभिः।
अन्यथा च न सिद्धिः स्यान्मुद्राणामेष निश्चयः॥ ४-३० ॥

अथ खेचरीमुद्राकथनम्।

भ्रुवोरन्तर्गतां दृष्टिं विधाय सुदृढां सुधीः।
उपविश्यासने वज्रे नानोपद्रववर्जितः॥

लम्बिकोर्ध्वं स्थिते गर्ते रसनां विपरीतगाम्।
संयोजयेत्प्रयत्नेन सुधाकूपे विचक्षणः।
मुद्रैषा खेचरी प्रोक्ता भक्तानामनुरोधतः॥ ४-३१॥

सिद्धीनां जननी ह्येषा मम प्राणाधिकप्रिया।
निरन्तरकृताभ्यासात्पीयूषं प्रत्यहं पिबेत्॥
तेन विग्रहसिद्धिः स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी॥ ४-३२॥

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपिवा।
खेचरी यस्य शुद्धा तु स शुद्धो नात्र संशयः॥ ४-३३॥

क्षणार्धं कुरुते यस्तु तीर्त्वा पापमहार्णवम्।
दिव्यभोगान्प्रभुक्त्वा च सत्कुले स प्रजायते॥ ४-३४॥

मुद्रैषा खेचरी यस्तु स्वस्थचित्तो ह्यतन्द्रितः।
शतब्रह्मगतेनापि क्षणार्धं मन्यते हि सः॥ ४-३५॥

गुरूपदेशतो मुद्रां यो वेत्ति खेचरीमिमाम्।
नानापापरतो धीमान् स याति परमां गतिम्॥ ४-३६॥

सा प्राणसदृशी मुद्रा यस्मिन्कस्मिन्न दीयते।
प्रच्छाद्यते प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते॥ ४-३७॥

अथ जालन्धरबन्ध।

बद्धागलशिराजालं हृदये चिबुकं न्यसेत्।
बन्धोजालन्धरः प्रोक्तो देवानामपि दुर्लभः॥
नाभिस्थवह्निर्जन्तूनां सहस्रकमलच्युतम्।
पिबेत्पीयूषविस्तारं तदर्थं बन्धयेदिमम्॥ ४-३८॥

बन्धेनानेन पीयूषं स्वयं पिबति बुद्धिमान्।
अमरत्वञ्च सम्प्राप्य मोदते भुवनत्रये॥ ४-३९॥

जालन्धरो बन्ध एष सिद्धानां सिद्धिदायकः।
अभ्यासः क्रियते नित्यं योगिना सिद्धिमिच्छता॥ ४-४०॥

अथ मूलबन्धः।

पादमूलेन संपीड्य गुदमार्गं सुयन्त्रितम्।
बलादपानमाकृष्य क्रमादूर्ध्वं सुचारयेत्।

कल्पितोऽयं मूलबन्धो जरामरणनाशनः ॥ ४-४१ ॥

अपानप्राणयोरैक्यं प्रकरोत्यधिकल्पितम् ।
बन्धेनानेन सुतरा योनिमुद्रा प्रसिद्ध्यति ॥ ४-४२ ॥

सिद्धायां योनिमुद्रायां किं न सिद्ध्यति भूतले ।
बन्धस्यास्य प्रसादेन गगने विजितालसः ॥
पद्मासने स्थितो योगी भुवमुत्सृज्य वर्तते ॥ ४-४३ ॥

सुगुप्ते निर्जने देशे बन्धमेनं समभ्यसेत् ।
संसारसागरं तर्तुं यदीच्छेद्योगि पुंगवः ॥ ४-४४ ॥

अथ विपरीतकरणी मुद्रा ।

भूतले स्वशिरोदत्त्वा खे नयेच्चरणद्वयम् ।
विपरीतकृतिश्चैषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥ ४-४५ ॥

एतद्यः कुरुते नित्यमभ्यासं याममात्रतः ।
मृत्युं जयति स योगी प्रलये नापि सीदति ॥ ४-४६ ॥

कुरुतेऽमृतपानं यः सिद्धानां समतामियात्।
स सेव्यः सर्वलोकानां बन्धमेनं करोति यः॥ ४-४७॥

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं पश्चिममाचरेत्।
उड्डयानबंध एष स्यात्सर्वदुःखौघनाशनः॥
उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत्।
उडयानाख्योऽत्र बन्धोयं मृत्युमातङ्गकेसरी॥ ४-४८॥

नित्यं यः कुरुते योगी चतुर्वारं दिने दिने।
तस्य नाभेस्तु शुद्धिः स्याद्येन सिद्धो भवेन्मरुत्॥ ४-४९॥

षण्मासमभ्यसन्योगी मृत्युं जयति निश्चितम्।
तस्योदराग्निर्ज्वलति रसवृद्धिः प्रजायते॥ ४-५०॥

अनेन सुतरां सिद्धिर्विग्रहस्य प्रजायते।
रोगाणां संक्षयश्चापि योगिनो भवति ध्रुवम्॥ ४-५१॥

गुरोर्लब्ध्वा प्रयत्नेन साधयेत् तु विचक्षणः।
निर्जने सुस्थिते देशे बन्धं परम दुर्लभम्॥ ४-५२॥

अथ शक्तिचालनमुद्रा ।

आधारकमले सुप्तां चालयेत्कुण्डलीं दृढाम् ।
अपानवायुमारुह्य बलादाकृष्य बुद्धिमान् ।
शक्तिचालनमुद्रेयं सर्वशक्तिप्रदायिनी ॥ ४-५३ ॥

शक्तिचालनमेवं हि प्रत्यहं यः समाचरेत् ।
आयुर्वृद्धिर्भवेत्तस्य रोगाणां च विनाशनम् ॥ ४-५४ ॥

विहाय निद्रा भुजगी स्वयमूर्ध्वे भवेत्खलु ।
तस्मादभ्यासनं कार्यं योगिना सिद्धमिच्छता ॥ ४-५५ ॥

यः करोति सदाभ्यासं शक्तिचालनमुत्तमम् ।
येन विग्रहसिद्धिः स्यादणिमादिगुणप्रदा ।
गुरूपदेशविधिना तस्य मृत्युभयं कुतः ॥ ४-५६ ॥

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं विधिना शक्तिचालनम् ।
यः करोति प्रयत्नेन तस्य सिद्धिरदूरतः ।
युक्तासनेन कर्तव्यं योगिभिः शक्तिचालनम् ॥ ४-५७ ॥

एतत्तुमुद्रादशकं न भूतं न भविष्यति ।

एकैकाभ्यासने सिद्धिः सिद्धो भवति नान्यथा ॥ ४-५८ ॥

इति श्रीशिवसंहितायां हरगौरीसंवादे मुद्राकथनं नाम चतुर्थपटलः समाप्तः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमः पटलः

श्रीदेव्युवाच ॥

ब्रूहि मे वाक्यमीशान परमार्थधियं प्रति ।

ये विघ्नाः सन्ति लोकानां वद मे प्रिय शङ्कर ॥ ५-१ ॥

ईश्वर उवाच ॥

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि यथा विघ्नाः स्थिताः सदा ।

मुक्तिं प्रति नराणाञ्च भोगः परमबन्धनः ॥ ५-२ ॥

अथ भोगरूपयोगविघ्नकथनम् ।

नारी शय्यासनं वस्त्रं धनमस्य विडम्बनम् ।

ताम्बूलंभक्ष्ययानानि राज्यैश्वर्यविभूतयः।
हैमं रौप्यं तथा ताम्रं रत्नश्चागुरुधेनवः।
पाण्डित्यं वेदशास्त्राणि नृत्यं गीतं विभूषणम्।
वंशी वीणा मृदङ्गाश्च गजेंद्रश्चाश्ववाहनम्।
दारापत्यानि विषया विघ्ना एते प्रकीर्तिताः।
भोगरूपा इमे विघ्ना धर्मरूपानिमाञ्छृणु॥ ५-३॥

अथ धर्मरूपयोगविघ्नकथनम्।

स्नानं पूजाविधिर्होमं तथा मोक्षमयी स्थितिः।
व्रतोपवासनियममौनमिन्द्रियनिग्रहः।
ध्येयो ध्यानं तथा मन्त्रो दानं ख्यातिर्दिशासु च।

वापीकूपतडागादिप्रासादारामकल्पना।
यज्ञं चान्द्रायणं कृच्छ्रं तीर्थानि विविधानि च।
दृश्यन्ते च इमे विघ्ना धर्मरूपेण संस्थिताः॥ ५-४॥

अथ ज्ञानरूपविघ्नकथनम्।

यत्तु विघ्नं भवेज्ज्ञानं कथयामि वरानने।

गोमुखं स्वासनं कृत्वा धौतिप्रक्षालनं च तत्।
नाडीसञ्चारविज्ञानं प्रत्याहारनिरोधनम्।
कुक्षिसंचालनं क्षिप्रं प्रवेश इन्द्रियाध्वना।
नाडीकर्माणि कल्याणि भोजनं श्रूयतां मम॥ ५-५॥

नवधातुरसं छिन्धि शुण्ठिकास्ताडयेत्पुनः।
एककालं समाधिः स्याल्लिंगभूतमिदं शृणु॥ ५-६॥

सङ्गमं गच्छ साधूनां संकोचं भज दुर्जनात्।
प्रवेशनिर्गमे वायोर्गुरुलक्षं विलोकयेत्॥ ५-७॥

पिण्डस्थं रूपसंस्थञ्च रूपस्थं रूपवर्जितम्।
ब्रह्मैतस्मिन्मतावस्था हृदयञ्च प्रशाम्यति।
इत्येते कथिता विघ्ना ज्ञानरूपे व्यवस्थिताः॥ ५-८॥

अथ चतुर्विधयोगकथनम्।

मन्त्रयोगो हठश्चैव लययोगस्तृतीयकः।
चतुर्थो राजयोगः स्यात्स द्विधाभाववर्जितः॥ ५-९॥

चतुर्धा साधको ज्ञेयो मृदुमध्याधिमात्रकाः।
अधिमात्रतमः श्रेष्ठो भवाब्धौ लंघनक्षमः॥ ५-१० ॥

अथ मृदुसाधकलक्षणम्।

मन्दोत्साही सुसंमुढो व्याधिस्थो गुरुदूषकः।
लोभी पापमतिश्चैव बह्वाशी वनिताश्रयः॥
चपलः कातरो रोगी पराधीनोऽतिनिष्ठुरः।
मन्दाचारो मन्दवीर्यो ज्ञातव्यो मृदुमानवः॥
द्वादशाब्दे भवेत्सिद्धिरेतस्य यत्नतः परम्।
मन्त्रयोगाधिकारी स ज्ञातव्यो गुरुणा ध्रुवम्॥ ५-११ ॥

समबुद्धिः क्षमायुक्तः पुण्याकांक्षी प्रियंवदः।
मध्यस्थः सर्वकार्येषु सामान्यः स्यान्नसंशयः॥
एतज्ज्ञात्वैव गुरुभिर्दीयते मुक्तितो लयः॥ ५-१२ ॥

अथ अधिमात्रसाधकलक्षणम्

स्थिरबुद्धिर्लये युक्तः स्वाधीनो वीर्यवानपि।
महाशयो दयायुक्तः क्षमावान् सत्यवानपि॥

शूरो वयःस्थः श्रद्धावान् गुरुपादाब्जपूजकः।
योगाभ्यासरतश्चैव ज्ञातव्यश्चाधिमात्रकः॥
एतस्य सिद्धिः षड्वर्षे भवेदभ्यासयोगतः।
एतस्मै दीयते धीरो हठयोगश्च साङ्गतः॥ ५-१३॥

अथ अधिमात्रतमसाधकलक्षणम्।

महावीर्यान्वितोत्साही मनोज्ञः शौर्यवानपि।
शास्त्रज्ञोऽभ्यासशीलश्च निर्मोहश्च निराकुलः॥
नवयौवनसम्पन्नो मिताहारी जितेंद्रियः।
निर्भयश्च शुचिर्दक्षो दाता सर्वजनाश्रयः॥
अधिकारी स्थिरो धीमान् यथेच्छावस्थितः क्षमी।
सुशीलो धर्मचारी च गुप्तचेष्टः प्रियंवदः॥
शास्त्रविश्वाससम्पन्नो देवता गुरुपूजकः।
जनसंगविरक्तश्च महाव्याधि विवर्जितः॥
अधिमात्रव्रतशश्च सर्वयोगस्य साधकः।
त्रिभिः संवत्सरैः सिद्धिरेतस्य नात्र संशयः॥
सर्वयोगाधिकारी स नात्र कार्या विचारणा॥ ५-१४॥

अथ प्रतीकोपासनम्।

प्रतीकोपासना कार्या दृष्टादृष्टफलप्रदा ।
पुनाती दर्शनादत्र नात्र कार्या विचारणा ॥ ५-१५ ॥

गाढातपे स्वप्रतिबिम्बितेश्वरं निरीक्ष्य विस्फारितलोचनद्वयम् ।
यदा नभः पश्यति स्वप्रतीकं नभोङ्गणे तत्क्षणमेव पश्यति ॥ ५-१६ ॥

प्रत्यहं पश्यते यो वै स्वप्रतीकं नभोङ्गणे ।
आयुर्वृद्धिर्भवेत्तस्य न मृत्युः स्यात्कदाचन ॥ ५-१७ ॥

यदा पश्यति सम्पूर्णं स्वप्रतीकं नभोङ्गणे ।
तदा जयमवाप्नोति वायुं निर्जित्य सञ्चरेत् ॥ ५-१८ ॥

यः करोति सदाभ्यासं चात्मानं वन्दते परम् ।
पूर्णानन्दैकपुरुषं स्वप्रतीकप्रसादतः ॥ ५-१९ ॥

यात्राकाले विवाहे च शुभे कर्मणि सङ्कटे ।
पापक्षये पुण्यवृद्धौ प्रतीकोपासनञ्चरेत् ॥ ५-२० ॥

निरन्तरकृताभ्यासादन्तरे पश्यति ध्रुवम् ।

तदा मुक्तिमवाप्नोति योगी नियतमानसः ॥ ५-२१ ॥

अंगुष्ठाभ्यामुभे श्रोत्रे तर्जनीभ्यां द्विलोचने ।
नासारन्ध्रे च मध्याभ्यामनामाभ्यां मुखं दृढम् ॥
निरुध्य मारुतं योगी यदैव कुरुते भृशम् ।
तदा लक्षणमात्मानं ज्योतीरूपं स पश्यति ॥ ५-२२ ॥

तत्तेजो दृश्यते येन क्षणमात्रं निराकुलम् ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम् ॥ ५-२३ ॥

निरन्तरकृताभ्यासाद्योगी विगतकल्मषः ।
सर्वदेहादि विस्मृत्य तदभिन्नः स्वयं गतः ॥ ५-२४ ॥

यः करोति सदाभ्यासं गुप्ताचारेण मानवः ।
स वै ब्रह्मविलीनः स्यात्पापकर्मरतो यदि ॥ ५-२५ ॥

गोपनीयः प्रयत्नेन सद्यः प्रत्ययकारकः ।
निर्वाणदायको लोके योगोयं मम वल्लभः ॥
नादः संजायते तस्य क्रमेणाभ्यासतश्च वै ॥ ५-२६ ॥

मतभृङ्गवेणुवीणासदृशः प्रथमो ध्वनिः।

एवमभ्यासतः पश्चात् संसारध्वान्तनाशनम्॥

घण्टानादसमः पश्चात् ध्वनिर्मेघरवोपमः।

ध्वनौ तस्मिन्मनो दत्त्वा यदा तिष्ठति निर्भयः॥

तदा संजायते तस्य लयस्य मम वल्लभे॥ ५-२७॥

तत्र नादे यदा चित्तं रमते योगिनो भृशम्।

विस्मृत्य सकलं बाह्यं नादेन सह शाम्यति॥ ५-२८॥

एतदभ्यासयोगेन जित्वा सम्यग्गुणान्वहून्।

सर्वारम्भपरित्यागी चिदाकाशे विलीयते॥ ५-२९॥

नासनं सिद्धसदृशं न कुम्भसदृशं बलम्।

न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लयः॥ ५-३०॥

इदानीं कथयिष्यामि मुक्तस्यानुभवं प्रिये।

यज्ज्ञात्वा लभते मुक्तिं पापयुक्तोपि साधकः॥ ५-३१॥

समभ्यर्च्येश्वरं सम्यक्कृत्वा च योगमुत्तमम्।

गृह्णीयात्सुस्थितो भूत्वा गुरुं सन्तोष्य बुद्धिमान्॥ ५-३२॥

जीवादि सकलं वस्तुं दत्त्वा योगविदं गुरुम्।
सन्तोष्यातिप्रयत्नेन योगोयं गृह्यते बुधैः॥ ५-३३॥

विप्रान्संतोष्य मेधावी नानामंगलसंयुतः।
ममालये शुचिर्भूत्वा प्रगृह्णीयाच्छुभात्मकम्॥ ५-३४॥

संन्यस्यानेन विधिना प्राक्तनं विग्रहादिकम्।
भूत्वा दिव्यवपुर्योगी गृह्णीयाद्वक्ष्यमाणकम्॥ ५-३५॥

पद्मासनस्थितो योगी जनसंगविवर्जितः।
विज्ञाननाडीद्वितयमङ्गुलीभ्यां निरोधयेत्॥ ५-३६॥

सिद्धेस्तदाविर्भवति सुखरूपी निरञ्जनः।
तस्मिन्परिश्रमः कार्यो येन सिद्धो भवेत्खलु॥ ५-३७॥

यः करोति सदाभ्यासं तस्य सिद्धिर्न दूरतः।
वायुसिद्धिर्भवेत्तस्य क्रमादेव न संशयः॥ ५-३८॥

सकृद्यः कुरुते योगी पापौघं नाशयेद्ध्रुवम्।

तस्य स्यान्मध्यमे वायोः प्रवेशो नात्र संशयः ॥ ५-३९ ॥

एतदभ्यासशीलो यः स योगी देवपूजितः ।

अणिमादिगुणाँल्लब्ध्वा विचरेद्भुवनत्रये ॥ ५-४० ॥

यो यथास्यानिलाभ्यासात्तद्भवेत्तस्य विग्रहः ।

तिष्ठेदात्मनि मेधावी संयुतः क्रीडते भृशम् ॥ ५-४१ ॥

एतद्योगं परं गोप्यं न देयं यस्य कस्यचित् ।

यः प्रमाणैः समायुक्तस्तमेव कथ्यते ध्रुवम् ॥ ५-४२ ॥

योगी पद्मासने तिष्ठेत्कण्ठकूपे यदा स्मरन् ।

जिह्वां कृत्वा तालुमूले क्षुत्पिपासा निवर्तते ॥ ५-४३ ॥

कण्ठकूपादधः स्याने कूर्मनाड्यिस्त शोभना ।

तस्मिन् योगी मनो दत्त्वा चित्तस्थैर्यं लभेद्भृशम् ॥ ५-४४ ॥

शिरः कपाले रुद्राक्षं विवरं चिन्तयेद्यदा ।

तदा ज्योतिः प्रकाशः स्याद्विद्युत्पुञ्जसमप्रभः ।

एतच्चिन्तनमात्रेण पापानां संक्षयो भवेत् ।

दुराचारोऽपि पुरुषो लभते परमं पदम् ॥ ५-४५ ॥

अहर्निशं यदा चिन्तां तत्करोति विचक्षणः ।
सिद्धानां दर्शनं तस्य भाषणञ्च भवेद्ध्रुवम् ॥ ५-४६ ॥

तिष्ठन् गच्छन् स्वपन् भुञ्जन् ध्यायेच्छून्यमहर्निशम् ।
तदाकाशमयो योगी चिदाकाशे विलीयते ॥ ५-४७ ॥

एतज्ज्ञानं सदा कार्यं योगिना सिद्धिमिच्छता ।
निरन्तरकृताभ्यासान्मम तुल्यो भवेद्ध्रुवम् ॥
एतज्ज्ञानबलाद्योगी सर्वेषां वल्लभो भवेत् ॥ ५-४८ ॥

सर्वान् भूतान् जयं कृत्वा निराशीरपरिग्रहः ।
नासाग्रे दृश्यते येन पद्मासनगतेन वै ॥
मनसो मरणं तस्य खेचरत्वं प्रसिद्ध्यति ॥ ५-४९ ॥

ज्योतिः पश्यति योगीन्द्रः शुद्धं शुद्धाचलोपमम् ।
तत्राभ्यासबलेनैव स्वयं तद्रक्षको भवेत् ॥ ५-५० ॥

उत्तानशयने भूमौ सुप्त्वा ध्यायन्निरन्तरम् ।

सद्यः श्रमविनाशाय स्वयं योगी विचक्षणः।

शिरः पश्चात्तु भागस्य ध्याने मृत्युञ्जयो भवेत्॥

भ्रूमध्ये दृष्टिमात्रेण ह्यपरः परिकीर्तितः॥ ५-५१॥

चतुर्विधस्य चान्नस्य रसस्त्रेधा विभज्यते।

तत्र सारतमो लिंगदेहस्य परिपोषकः॥

सप्तधातुमयं पिण्डमेती पुष्णाति मध्यगः॥ ५-५२॥

याति विण्मूत्ररूपेण तृतीयः सप्ततो बहिः॥

आद्यभागद्वयं नाड्यः प्रोक्तास्ताः सकला अपि।

पोषयन्ति वपुर्वायुमापादतलमस्तकम्॥ ५-५३॥

नाडीभिराभिः सर्वाभिर्वायुः सञ्चरते यदा।

तदैवान्नरसो देहे साम्येनेह प्रवर्तते॥ ५-५४॥

चतुर्दशानां तत्रेह व्यापारे मुख्यभागतः।

ता अनुग्रत्वहीनाश्च प्राणसञ्चारनाडिकाः॥ ५-५५॥

गुदाद्द्व्यंगुलतश्चोर्ध्वं मेढ्रैकांगुलतस्त्वधः।

एवञ्चास्ति समं कन्दं समताच्चतुरंगुलम्॥ ५-५६॥

पश्चिमाभिमुखीः योनिर्गुदमेढ्रान्तरालगा ।
तत्र कन्दं समाख्यातं तत्रास्ति कुण्डली सदा ॥
संवेष्ट्य सकला नाडीः सार्द्धत्रिकुटलाकृतीः ।
मुखे निवेश्य सा पुच्छं सुषुम्णाविवरे स्तिता ॥ ५-५७ ॥

सुप्ता नागोपमा ह्येषा स्फुरन्ती प्रभया स्वया ।
अहिवत्सन्धिसंस्थाना वाग्देवी बीजसंज्ञिका ॥ ५-५८ ॥

ज्ञेया शक्तिरियं विष्णोर्निर्झरा स्वर्णभास्वरा ।
सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणत्रयप्रसूतिका ॥ ५-५९ ॥

तत्र बन्धूकपुष्पाभं कामबीजं प्रकीर्तितम् ।
कलहेमसमं योगे प्रयुक्ताक्षररूपिणम् ॥ ५-६० ॥

सुषुम्णापि च संश्लिष्टा बीजं तत्र वरं स्थितम् ।
शरच्चंद्रनिभं तेजस्स्वयमेतत्स्फुरत्स्थितम् ॥
सूर्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलम् ।
एतत्त्रयं मिलित्वैव देवी त्रिपुरभैरवी ॥
बीजसंज्ञं परंतेजस्तदेव परिकीर्तितम् ॥ ५-६१ ॥

क्रियाविज्ञानशक्तिभ्यां युतं यत्परितो भ्रमत्।

उत्तिष्ठद्विशतस्त्वम्भः सूक्ष्मं शोणशिखायुतम्॥

योनिस्थं तत्परं तेजः स्वयंभूलिंगसंज्ञितम्॥ ५-६२॥

आधारपद्ममेतद्धि योनिर्यस्यास्ति कन्दतः।

परिस्फुरद्वादिसान्तचतुर्वर्णं चतुर्दलम्॥ ५-६३॥

कुलाभिधं सुवर्णाभं स्वयम्भूलिङ्गसंगतम्।

द्विरण्डो यत्र सिद्धोस्ति डाकिनी यत्र देवता॥

तत्पद्ममध्यगा योनिस्तत्र कुण्डलिनी स्थिता।

तस्या ऊर्ध्वे स्फुरत्तेजः कामबीजं भ्रमन्मतम्॥

यः करोति सदा ध्यानं मूलाधारे विचक्षणः।

तस्य स्याद्दार्दुरी सिद्धिर्भूमित्यागक्रमेण वै॥ ५-६४॥

वपुषः कान्तिरुत्कृष्टा जठराग्निविवर्धनम्।

आरोग्यञ्च पटुत्वञ्च सर्वज्ञत्वञ्च जायते॥ ५-६५॥

भूतं भव्यं भविष्यञ्च वेत्ति सर्वं सकारणम्।

अश्रुतान्यपि शास्त्राणि सरहस्यं भवेद्ध्रुवम्॥ ५-६६॥

वक्त्रे सरस्वती देवी सदा नृत्यति निर्भरम्।
मन्त्रसिद्धिर्भवेत्तस्य जपादेव न संशयः॥ ५-६७॥

जरामरणदुःखौघान्नाशयति गुरोर्वचः।
इदं ध्यानं सदा कार्यं पवनाभ्यासिना परम्।
ध्यानमात्रेण योगीन्द्रो मुच्यते सर्वकिल्विषात्॥ ५-६८॥

मूलपद्मं यदा ध्यायेद्योगी स्वयम्भुलिङ्गकम्।
तदा तत्क्षणमात्रेण पापौघं नाशयेद्ध्रुवम्॥ ५-६९॥

यं यं कामयते चित्ते तं तं फलमवाप्नुयात्।
निरन्तरकृताभ्यासात्तं पश्यति विमुक्तिदम्॥
बहिरभ्यन्तरे श्रेष्ठं पूजनीयं प्रयत्नतः।
ततः श्रेष्ठतमं ह्येतन्नान्यदस्ति मतं मम॥ ५-७०॥

आत्मसंस्थं शिवं त्यक्त्वा बहिःस्थं यः समर्चयेत्।
हस्तस्थं पिण्डमुत्सृज्य भ्रमते जीविताशया॥ ५-७१॥

आत्मलिंगार्चनं कुर्यादनालस्यं दिने दिने।

तस्य स्यात्सकला सिद्धिर्नात्र कार्या विचारणा ॥ ५-७२ ॥

निरन्तरकृताभ्यासात्षण्मासैः सिद्धिमाप्नुयात् ।
तस्य वायुप्रवेशोपि सुषुम्णायाम्भवेद्ध्रुवम् ॥ ५-७३ ॥

मनोजयञ्च लभते वायुबिन्दुविधारणात् ।
ऐहिकामुष्मिकीसिद्धिर्भवेन्नैवात्र संशयः ॥ ५-७४ ॥

अथ स्वाधिष्ठानचक्रविवरणम् ।

द्वितीयन्तु सरोजञ्च लिंगमूले व्यवस्थितम् ।
बादिलान्तं च षड्वर्णं परिभास्वरषड्दलम् ॥
स्वाधिष्ठानाभिधं तत्तु पंकजं शोणरूपकम् ।
बालाख्यो यत्र सिद्धोऽस्ति देवी यत्रास्ति राकिणी ॥ ५-७५ ॥

वो ध्यायति सदा दिव्यं स्वाधिष्ठानारविन्दकम् ।
तस्य कामाङ्गनाः सर्वा भजन्ते काममोहिताः ॥ ५-७६ ॥

विविधञ्चाश्रुतं शास्त्रं निःशङ्को वै भवेद्ध्रुवम् ।
सर्वरोगविनिर्मुक्तो लोके चरति निर्भयः ॥ ५-७७ ॥

मरणं खाद्यते तेन स केनापि न खाद्यते।
तस्य स्यात्परमा सिद्धिरणिमादिगुणप्रदा॥
वायुः सञ्चरते देहे रसवृद्धिर्भवेद्ध्रुवम्।
आकाशपङ्कजगलत्पीयूषमपि वर्द्धते॥ ५-७८॥

अथ मणिपूरचक्रविवरणम्।

तृतीयं पङ्कजं नाभौ मणिपूरकसंज्ञकम्।
दशारंडादिफान्तार्णं शोभितं हेमवर्णकम्॥ ५-७९॥

रुद्राख्यो यत्र सिद्धोऽस्ति सर्वमङ्गलदायकः।
तत्रस्था लाकिनी नाम्नी देवी परमधार्मिका॥ ५-८०॥

तस्मिन् ध्यानं सदा योगी करोति मणिपूरके।
तस्य पातालसिद्धिः स्यान्निरन्तरसुखावहा॥
ईप्सितञ्च भवेल्लोके दुःखरोगविनाशनम्।
कालस्य वञ्चनञ्चापि परदेहप्रवेशनम्॥ ५-८१॥

जाम्बूनदादिकरणं सिद्धानां दर्शनं भवेत्।

ओषधीदर्शनञ्चापि निधीनां दर्शनं भवेत्॥ ५-८२॥

हृदयेऽनाहतं नाम चतुर्थं पङ्कजं भवेत्।
कादिठान्तार्णसंस्थानं द्वादशारसमन्वितम्॥
अतिशोणं वायुबीजं प्रसादस्थानमीरितम्॥ ५-८३॥

पद्मस्थं तत्परं तेजो बाणलिंगं प्रकीर्तितम्।
यस्य स्मरणमात्रेण दृष्टादृष्टफलं लभेत्॥ ५-८४॥

सिद्धः पिनाकी यत्रास्ते काकिनी यत्र देवता।
एतस्मिन्सततं ध्यानं हृत्पाथोजे करोति यः॥
क्षुभ्यन्ते तस्य कान्ता वै कामार्ता दिव्ययोषितः॥ ५-८५॥

ज्ञानञ्चाप्रतिमं तस्य त्रिकालविषयम्भवेत्।
दूरश्रुतिर्दूरदृष्टिः स्वेच्छया खगतां व्रजेत्॥ ५-८६॥

सिद्धानां दर्शनञ्चापि योगिनी दर्शनं तथा।
भवेत्खेचरसिद्धिश्च खेचराणां जयन्तथा॥ ५-८७॥

यो ध्यायति परं नित्यं बाणलिंगं द्वितीयकम्।

खेचरी भूचरी सिद्धिर्भवेत्तस्य न संशयः॥ ५-८८॥

एतद्ध्यानस्य माहात्म्यं कथितुं नैव शक्यते।
ब्रह्माद्याः सकला देवा गोपयन्ति परन्त्विदम्॥ ५-८९॥

अथ विशुद्धचक्रविवरणम्।

कण्ठस्थानस्थितं पद्मं विशुद्धं नामपञ्चमम्।
सुहेमाभं स्वरोपेतं षोडशस्वरसंयुतम्॥
छगलाण्डोऽस्ति सिद्धोत्र शाकिनी चाधिदेवता॥ ५-९०॥

ध्यानं करोति यो नित्यं स योगीश्वरपण्डितः।
किन्त्वस्य योगिनोऽन्यत्र विशुद्धाख्ये सरोरुहे॥
चतुर्वेदा विभासन्ते सरहस्या निधेरिव॥ ५-९१॥

रहःस्थाने स्थितो योगी यदा क्रोधवशो भवेत्।
तदा समस्तं त्रैलोक्यं कम्पते नात्र संशयः॥ ५-९२॥

इह स्थाने मनो यस्य दैवाद्यातिलयं यदा।
तदा बाह्यं परित्यज्य स्वान्तरे रमते ध्रुवम्॥ ५-९३॥

तस्य न क्षतिमायाति स्वशरीरस्य शक्तितः ।
संवत्सरसहस्रेऽपि वज्रातिकठिनस्य वै ॥ ५-९४ ॥

यदा त्यजति तद्ध्यानं योगींद्रोऽवनिमण्डले ।
तदा वर्षसहस्राणि मन्यते तत्क्षणं कृती ॥ ५-९५ ॥

अथ आज्ञाचक्रविवरणम् ।

आज्ञापद्मं भ्रुवोर्मध्ये हक्षोपेतं द्विपत्रकम् ।
शुक्लाभं तन्महाकालः सिद्धो देव्यत्र हाकिनी ॥ ५-९६ ॥

शरच्चंद्रनिभं तत्राक्षरबीजं विजृंभितम् ।
पुमान् परमहंसोऽयं यज्ज्ञात्वा नावसीदति ॥ ५-९७ ॥

एतदेव परन्तेजः सर्वतन्त्रेषु मन्त्रिणः ।
चिन्तयित्वा परां सिद्धिं लभते नात्र संशयः ॥ ५-९८ ॥

तुरीयं त्रितयं लिंगं तदाहं मुक्तिदायकः ।
ध्यानमात्रेण योगीन्द्रो मत्समो भवति ध्रुवम् ॥ ५-९९ ॥

इडा हि पिंगला ख्याता वरणासीति होच्यते ।
वाराणसी तयोर्मध्ये विश्वनाथोत्र भाषितः ॥ ५-१०० ॥

एतत्क्षेत्रस्य माहात्म्यमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।
शास्त्रेषु बहुधा प्रोक्तं परं तत्त्वं सुभाषितम् ॥ ५-१०१ ॥

सुषुम्णा मेरुणा याता ब्रह्मरन्ध्रं यतोऽस्ति वै ।
ततश्चैषा परावृत्य तदाज्ञापद्मदक्षिणे ॥
वामनासापुटं याति गंगेति परिगीयते ॥ ५-१०२ ॥

ब्रह्मरन्ध्रे हि यत्पद्मं सहस्रारं व्यवस्थितम् ।
तत्र कन्देहि या योनिस्तस्यां चन्द्रो व्यवस्थितः ।
त्रिकोणाकारतस्तस्याः सुधा क्षरति सन्ततम् ॥
इडायाममृतं तत्र समं स्रवति चन्द्रमाः ।
अमृतं वहति धारा धारारूपं निरन्तरम् ॥
वामनासापुटं याति गंगेत्युक्ता हि योगिभिः ॥ ५-१०३ ॥

आज्ञापङ्कजदक्षांसाद्वामनासापुटंगता ।
उदग्वहेति तत्रेडा वरणा समुदाहृता ॥ ५-१०४ ॥

ततो द्वयोर्हि मध्ये तु वाराणसीति चिन्तयेत्।

तदाकारा पिंगलापि तदाज्ञाकमलान्तरे ॥

दक्षनासापुटे याति प्रोक्तास्माभिरसीति वै ॥ ५-१०५ ॥

मूलाधारे हि यत्पद्मं चतुष्पत्र व्यवस्थितम्।

तत्र मध्येहि या योनिस्तस्यां सूर्यो व्यवस्थितः ॥ ५-१०६ ॥

तत्सूर्यमण्डलद्वराद्विषं क्षरति सन्ततम्।

पिंगलायां विषं तत्र समर्पयति तापनः ॥ ५-१०७ ॥

विषं तत्र वहन्ती या धारारूपं निरन्तरम्।

दक्षनासापुटे याति कल्पितेयन्तु पूर्ववत्॥ ५-१०८ ॥

आज्ञापङ्कजवामास्याद्दक्षनासापुटं गता।

उदग्वहा पिंगलापि पुरासीति प्रकीर्तिता ॥ ५-१०९ ॥

आज्ञापद्ममिदं प्रोक्तं यत्र देवो महेश्वरः।

पीठत्रयं ततश्चोर्ध्वं निरुक्तं योगचिन्तकैः ॥

तद्बिन्दुनादशक्त्याख्यं भालपद्मे व्यवस्थितम्॥ ५-११० ॥

यः करोति सदाध्यानमाज्ञापद्मस्य गोपितम्।
पूर्वजन्मकृतं कर्म विनश्येदविरोधतः॥ ५-१११॥

इह स्थिते यदा योगी ध्यानं कुर्यान्निरन्तरम्।
तदा करोति प्रतिमां पूजाजपमनर्थवत्॥ ५-११२॥

यक्षराक्षसगन्धर्वा अपसरोगणकिन्नराः।
सेवन्ते चरणौ तस्य सर्वे तस्य वशानुगाः॥ ५-११३॥

करोति रसनां योगी प्रविष्टां विपरीतगाम्।
लम्बिकोर्ध्वेषु गर्तेषु धृत्वा ध्यानं भयापहम्॥
अस्मिन् स्थाने मनो यस्य क्षणार्धं वर्ततेऽचलम्।
तस्य सर्वाणि पापानि संक्षयं यान्ति तत्क्षणात्॥ ५-११४॥

यानि यानि हि प्रोक्तानि पंचपद्मे फलानि वै।
तानि सर्वाणि सुतरामेतज्ज्ञानाद्भवन्ति हि॥ ५-११५॥

यः करोति सदाभ्यासमाज्ञा पद्मे विचक्षणः।
वासनाया महाबन्धं तिरस्कृत्य प्रमोदते॥ ५-११६॥

प्राणप्रयाणसमये तत्पद्मं यः स्मरन्सुधीः ।
त्यजेत्प्राणं स धर्मात्मा परमात्मनि लीयते ॥ ५-११७ ॥

तिष्ठन् गच्छन् स्वपन् जाग्रत् यो ध्यानं कुरुते नरः ।
पापकर्मविकुर्वाणो नहि मज्जति किल्विषे ॥ ५-११८ ॥

योगी बन्धाद्विनिर्मुक्तः स्वीयया प्रभया स्वयम् ।
द्विदलध्यानमाहात्म्यं कथितुं नैव शक्यते ॥
ब्रह्मादिदेवताश्चैव किञ्चिन्मत्तो विदन्ति ते ॥ ५-११९ ॥

अत ऊर्ध्वं तालुमूले सहस्रारंसरोरुहम् ।
अस्ति यत्र सुषुम्णाया मूलं सविवरं स्थितम् ॥ ५-१२० ॥

तालुमूले सुषुम्णा सा अधोवक्त्रा प्रवर्तते ।
मूला धारेणयोन्यस्ताः सर्वनाड्यः समाश्रिताः ॥
ता बीजभूतास्तत्त्वस्य ब्रह्ममार्गप्रदायिकाः ॥ ५-१२१ ॥

तालुस्थाने च यत्पद्मं सहस्रारं पुराहितम् ।
तत्कन्दे योनिरेकास्ति पश्चिमाभिमुखी मता ॥ ५-१२२ ॥

तस्या मध्ये सुषुम्णाया मूलं सविवरं स्थितम्।
ब्रह्मरन्ध्रं तदेवोक्तमामूलाधारपङ्कजम्॥ ५-१२३॥

ततस्तद्रन्ध्रे तच्छक्तिः सुषुम्णा कुण्डली सदा।
सुषुम्णायां सदा शक्तिश्चित्रा स्यान्मम वल्लभे॥
तस्यां मम मते कार्या ब्रह्मरन्ध्रादिकल्पना॥ ५-१२४॥

यस्याः स्मरणमात्रेण ब्रह्मज्ञत्वं प्रजायते।
पापक्षयश्च भवति न भूयः पुरुषो भवेत्॥ ५-१२५॥

प्रवेशितं चलाङ्गुष्ठं मुखे स्वस्य निवेशयेत्।
तेनात्र न बहत्येव देहचारी समीरणः॥ ५-१२६॥

तेन संसारचक्रेस्मिन् भ्रमतीत्येव सर्वदा।
तदर्थं ये प्रवर्तन्ते योगी न प्राणधारणे।
तत एवाखिला नाडी विरुद्धा चाष्टवेष्टनम्।
इयं कुण्डलिनी शक्ती रन्ध्रं त्यजति नान्यथा॥ ५-१२७॥

यदा पूर्णासु नाडीषु सन्निरुद्धानिलास्तदा।

बन्धत्यागेन कुण्डल्या मुखं रन्ध्राद् बहिर्भवेत् ॥ ५-१२८ ॥

सुषुम्णायां सदैवायं वहेत्प्राणसमीरणः ।
मूलपद्मस्थिता योनिर्वामदक्षिणकोणतः ॥
इडापिंगलयोर्मध्ये सुषुम्णा योनिमध्यगा ॥ ५-१२९ ॥

ब्रह्मरन्ध्रं तु तत्रैव सुषुम्णाधारमण्डले ।
यो जानाति स मुक्तः स्यात्कर्मबन्धाद्विचक्षणः ॥ ५-१३० ॥

ब्रह्मरन्ध्रमुखे तासां संगमः स्यादसंशयः ।
तस्मिन्स्नाने स्नातकानां मुक्तिः स्यादविरोधतः ॥ ५-१३१ ॥

गंगायमुनयोर्मध्ये वहत्येषा सरस्वती ।
तासां तु संगमे स्नात्वा धन्यो याति परां गतिम् ॥ ५-१३२ ॥

इडा गंगा पुरा प्रोक्ता पिंगला चार्कपुत्रिका ।
मध्या सरस्वती प्रोक्ता तासां संगोऽतिदुर्लभः ॥ ५-१३३ ॥

सितासिते संगमे यो मनसा स्नानमाचरेत् ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो याति ब्रह्म सनातनम् ॥ ५-३४ ॥

त्रिवेण्यां संगमे यो वै पितृकर्म समाचरेत्।
तारयित्वा पितॄन्सर्वान्स याति परमां गतिम्॥ ५-१३५॥

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं प्रत्यहं यः समाचरेत्।
मनसा चिन्तयित्वा तु सोऽक्षयं फलमाप्नुयात्॥ ५-१३६॥

सकृद्यः कुरुते स्नानं स्वर्गे सौख्यं भुनक्ति सः।
दग्ध्वा पापानशेषान्वै योगी शुद्धमतिः स्वयम्॥ ५-१३७॥

अपवित्रः पवित्री वा सर्वावस्थां गतोपि वा।
स्नानाचरणमात्रेण पूतो भवति नान्यथा॥ ५-१३८॥

मृत्युकाले प्लुतं देहं त्रिवेण्याः सलिले यदा।
विचिन्त्य यस्त्यजेत्प्राणान्स तदा मोक्षमाप्नुयात्॥ ५-१३९॥

नातःपरतरं गुह्यं त्रिषु लोकेषु विद्यते।
गोप्तव्यं तत्प्रयत्नेन न व्याख्येयं कदाचन॥ ५-१४०॥

ब्रह्मरन्ध्र मनो दत्त्वा क्षणार्धं यदि तिष्ठति।

सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम् ॥ ५-१४१ ॥

अस्मिँल्लीनं मनो यस्य स योगी मयि लीयते ।
अणिमादिगुणान्भुक्त्वा स्वेच्छया पुरुषोत्तमः ॥ ५-१४२ ॥

एतद्रन्ध्रध्यानमात्रेण मर्त्यः संसारे स्मिन्वल्लभो मे भवेत्सः ।
पापाञ्जित्वा मुक्तिमार्गाधिकारी, ज्ञानं दत्त्वा तारयत्यद्भुतं वै ॥ ५-१४३ ॥

चतुर्मुखादित्रिदशैरगम्यं योगिवल्लभम् ।
प्रयत्नेन सुगोप्यं तद्ब्रह्मरन्ध्रं मयोदितम् ॥ ५-१४४ ॥

पुरा मयोक्ता या योनिः सहस्रारे सरारुहे ।
तस्याऽधो वर्तते चन्द्रस्तद्ध्यानं क्रियते बुधैः ॥ ५-१४५ ॥

यस्य स्मरणमात्रेण योगीन्द्रोऽवनिमण्डले ।
पूज्यो भवति देवानां सिद्धानां सम्मतो भवेत् ॥ ५-१४६ ॥

शिरःकपालविवरे ध्यायेद्दुग्धमहोदधिम् ।
तत्र स्थित्वा सहस्रारे पद्मे चन्द्रं विचिन्तयेत् ॥ ५-१४७ ॥

शिरःकपालविवरे द्विरष्टकलया युतः।
पीयूषभानुहंसाख्यं भावयेत्तं निरंजनम्।
निरन्तरकृताभ्यासात्त्रिदिने पश्यति ध्रुवम्।
दृष्टिमात्रेण पापौघं दहत्येव स साधकः॥ ५-१४८ ॥

अनागतञ्च स्फुरति चित्तशुद्धिर्भवेत्खलु।
सद्यः कृत्वापि दहति महापातकपञ्चकम्॥ ५-१४९ ॥

आनुकूल्यं ग्रहा यान्ति सर्वे नश्यन्त्युपद्रवाः।
उपसर्गाः शमं यान्ति युद्धे जयमवाप्नुयात्।
खेचरीभूचरीसिद्धिर्भवेत्क्षीरेन्दुदर्शनात्।
ध्यानादेवभवेत्सर्वं नात्र कार्या विचारणा।
सतताभ्यासयोगेन सिद्धो भवति नान्यथा।
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं मम तुल्यो भवेद्ध्रुवम्।
योगशास्त्रेऽप्यभिरतं योगिनां सिद्धिदायकम्॥ ५-१५० ॥

अथ राजयोगकथनम्।

अत ऊर्ध्वं दिव्यरूपं सहस्रारं सरोरुहम्।
ब्रह्माण्डाख्यस्य देहस्य बाह्ये तिष्ठति मुक्तिदम्॥ ५-१५१ ॥

कैलासो नाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति ।
नकुलाख्योऽविनाशी च क्षयवृद्धिविवर्जितः ॥ ५-१५२ ॥

स्थानस्यास्य ज्ञानमात्रेण नृणां, संसारेऽस्मिन्सम्भवो नैव भूयः ।
भूतग्रामं सन्तताभ्यासयोगात्कर्तुं हर्तुं स्याच्च शक्तिः समग्रा ॥ ५-१५३ ॥

स्थाने परे हंसनिवासभूते, कैलासनाम्नीह निविष्टचेताः ।
योगी हृतव्याधिरधः कृताधिवरायुश्चिरं जीवति मृत्युमुक्तः ॥ ५-१५४ ॥

चित्तवृत्तिर्यदा लीना कुलाख्ये परमेश्वरे ।
तदा समाधिसाम्येन योगी निश्चलतां व्रजेत् ॥ ५-१५५ ॥

निरन्तरकृते ध्याने जगद्विस्मरणं भवेत् ।
तदा विचित्रसामर्थ्यं योगिनो भवति ध्रुवम् ॥ ५-१५६ ॥

तस्माद्गलितपीयूषं पिबेद्योगी निरन्तरम् ।
मृत्योर्मृत्युं विधायाशु कुलं जित्वा सरोरुहे ।
अत्र कुण्डलिनी शक्तिर्लयं याति कुलाभिधा ।
तदा चतुर्विधा सृष्टिर्लीयते परमात्मनि ॥ ५-१५७ ॥

यज्ज्ञात्वा प्राप्य विषयं चित्तवृत्तिर्विलीयते।
तस्मिन् परिश्रमं योगी करोति निरपेक्षकः॥ ५-१५८॥

चित्तवृत्तियदालीना तस्मिन् योगी भवेद् ध्रुवम्।
तदा विज्ञायतेऽखण्डज्ञानरूपो निरञ्जनः॥ ५-१५९॥

ब्रह्माण्डबाह्ये संचिंत्य स्वप्रतीकं यथोदितम्।
तमावेश्य महच्छून्यं चिन्तयेदविरोधतः॥ ५-१६०॥

आद्यन्तमध्यशून्यं तत्कोटिसूर्यसमप्रभम्।
चन्द्रकोटिप्रतीकाशमभ्यस्य सिद्धिमाप्नुयात्॥ ५-१६१॥

एतद्ध्यानं सदा कुर्यादनालस्यं दिने दिने।
तस्य स्यात्सकला सिद्धिर्वत्सरान्नात्र संशयः॥ ५-१६२।

क्षणार्धं निश्चलं तत्र मनो यस्य भवेद् ध्रुवम्।
स एव योगी सद्भक्तः सर्वलोकेषु पूजितः॥ ५-१६३॥

तस्य कल्मषसंघातस्तत्क्षणादेव नश्यति॥ ५-१६४॥

यं दृष्ट्वा न प्रवर्तते मृत्युसंसारवर्त्मनि।
अभ्यसेत्तं प्रयत्नेन स्वाधिष्ठानेन वर्त्मना॥ ५-१६५॥

एतद्ध्यानस्य माहात्म्यं मया वक्तुं न शक्यते।
यः साधयति जानाति सोस्माकमपि सम्मतः॥ ५-१६६॥

ध्यानादेव विजानाति विचित्रेक्षणसम्भवम्।
अणिमादिगुणोपेतो भवत्येव न संशयः॥ ५-१६७॥

राजयोगो मयाख्यातः सर्वतन्त्रेषु गोपितः।
राजाधिराजयोगोऽयं कथयामि समासतः॥ ५-१६८॥

स्वस्तिकञ्चासनं कृत्वा सुमठे जन्तुवर्जिते।
गुरुं संपूज्य यत्नेन ध्यानमेतत्समाचरेत्॥ ५-१६९॥

निरालम्बं भवेज्जीवं ज्ञात्वा वेदान्तयुक्तितः।
निरालम्बं मनः कृत्वा न किञ्चिच्चिन्तयेत्सुधीः॥ ५-१७०॥

एतद्ध्यानान्महासिद्धिर्भवत्येव न संशयः।

वृत्तिहीनं मनः कृत्वा पूर्णरूपं स्वयं भवेत् ॥ ५-१७१ ॥

साधयेत्सततं यो वै स योगी विगतस्पृहः ।
अहंनाम न कोप्यस्ति सर्वदात्मैव विद्यते ॥ ५-१७२ ॥

को बन्धः कस्य वा मोक्ष एकं पश्येत्सदा हि सः ।
एतत्करोति यो नित्यं स मुक्तो नात्र संशयः ॥ ५-१७३ ॥

स एव योगी सद्भक्तः सर्वलोकेषु पूजितः ।
अहमस्मीति यन्मत्वा जीवात्मपरमात्मनोः ।
अहं त्वमेतदुभयं त्यक्त्वाखण्डं विचिन्तयेत् ।
अध्यारोपापवादाभ्यां यत्र सर्वं विलीयते ।
तद्बीजमाश्रयेद्योगी सर्वसंगविवर्जितः ॥ ५-१७४ ॥

अपरोक्षं चिदानन्दं पूर्णं त्यक्त्वा भ्रमाकुलाः ।
परोक्षं चापरोक्षं च कृत्वा मूढा भ्रमन्ति वै ॥ ५-१७५ ॥

चराचरमिदं विश्वं परोक्षं यः करोति च ।
अपरोक्षं परं ब्रह्म त्यक्तं तस्मिन् प्रलीयते ॥ ५-१७६ ॥

ज्ञानकारणमज्ञानं यथा नोत्पद्यते भृशम्।
अभ्यासं कुरुते योगी सदा सङ्गविवर्जितम्॥ ५-१७७॥

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य विषयेभ्यो विचक्षणः।
विषयेभ्यः सुषुप्त्यैव तिष्ठेत्संगविवर्जितः॥ ५-१७८॥

एवमभ्यसतो नित्यं स्वप्रकाशं प्रकाशते।
श्रोतुं बुद्धिसमर्थार्थं निवर्तन्ते गुरोर्गिरः।
तदभ्यासवशादेकं स्वतो ज्ञानं प्रवर्तते॥ ५-१७९॥

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
साधनादमलं ज्ञानं स्वयं स्फुरति तद्ध्रुवम्॥ ५-१८०॥

हठं विना राजयोगो राजयोगं विना हठः।
तस्मात्प्रवर्तते योगी हठे सद्गुरुमार्गतः॥ ५-१८१॥

स्थिते देहे जीवति च योगं न श्रियते भृशम्।
इन्द्रियार्थोपभोगेषु स जीवति न संशयः॥ ५-१८२॥

अभ्यासपाकपर्यन्तं मितान्नंस्मरणं भवेत्।

अनाथा साधनं धीमान् कर्तुं पारयतीहन ॥ ५-१८३ ॥

अतीवसाधुसंलापोवदेत् संसदिबुद्धिमान् ।
करोति पिण्डरक्षार्थं बह्वालापविवर्जितः ।
त्यज्यते त्यज्यते सङ्गं सर्वथा त्यज्यते भृशम् ।
अन्यथा न लभेन्मुक्तिं सत्यं सत्यं मयोदितम् ॥ ५-१८४ ॥

गुप्त्यैव क्रियतेऽभ्यासः संगं त्यक्त्वा तदन्तरे ।
व्यवहाराय कर्तव्यो बाह्येसंगानुरागतः ।
स्वे स्वे कर्मणि वर्तंते सर्वे ते कर्मसम्भवाः ।
निमित्तमात्रं करणे न दोषोष्ति कदाचन ॥ ५-१८५ ॥

एवं निश्चित्य सुधिया गृहस्थोपि यदाचरेत् ।
तदा सिद्धिमवाप्नोति नात्र कार्या विचारणा ॥ ५-१८६ ॥

पापपुण्यविनिर्मुक्तः परित्यक्ताङ्गसाधकः ।
यो भवेत्स विमुक्तः स्याद् गृहे तिष्ठन्सदा गृही ।
न पापपुण्यैर्लिप्येत योगयुक्तो सदा गृही ।
कुर्वन्नपि तदा पापान्स्वकार्ये लोकसंग्रहे ॥ ५-१८७ ॥

ॐ ऐँ क्लिँ स्त्रिँ

अधुना संप्रवक्ष्यामि मन्त्रसाधनमुत्तमम्।
ऐहिकामुष्मिकसुखं येन स्यादविरोधतः॥ ५-१८८ ॥

यस्मिन्मन्त्रे वरे ज्ञाते योगसिद्धिर्भवेत्खलु।
योगेन साधकेन्द्रस्य सर्वैश्वर्यसुखप्रदा॥ ५-१८९ ॥

मूलाधारेऽस्ति यत्पद्मं चतुर्दलसमन्वितम्।
तन्मध्ये वाग्भवं बीजं विस्फुरन्तं तडित्प्रभम्॥ ५-१९० ॥

हृदये कामबीजं तु बन्धूककुसुमप्रभम्।
आज्ञारविन्दे शक्त्याख्यं चन्द्रकोटिसमप्रभम्॥
बीजत्रयमिदं गोप्यं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम्।
एतन्मन्त्रत्रयं योगी साधयेत्सिद्धिसाधकः॥ ५-१९१ ॥

एतन्मन्त्रं गुरोर्लब्ध्वा न द्रुतं न विलम्बितम्।
अक्षराक्षरसन्धानं निःसन्दिग्धमना जपेत्॥ ५-१९२ ॥

तद्गतश्चैकचित्तश्च शास्त्रोक्तविधिना सुधीः।

देव्यास्तु पुरतो लक्षं हुत्वा लक्षत्रयं जपेत्॥ ५-१९३॥

करवीरप्रसूनन्तु गुडक्षीराज्यसंयुतम्।
कुण्डे योन्याकृते धीमाञ्जपान्ते जुहुयात्सुधीः॥ ५-१९४॥

अनुष्ठाने कृते धीमान्पूर्वसेवा कृता भवेत्।
ततो ददाति कामान्वै देवी त्रिपुरभैरवी॥ ५-१९५॥

गुरुं सन्तोष्य विधिवल्लब्ध्वा मन्त्रवरोत्तमम्।
अनेन विधिना युक्तो मन्दभाग्योऽपि सिद्ध्यति॥ ५-१९६॥

लक्षमेकं जपेद्यस्तु साधको विजितेन्द्रियः।
दर्शनात्तस्य क्षुभ्यन्ते योषितो मदनातुराः॥
पतन्ति साधकस्याग्रे निर्लज्जा भयवर्जिताः॥ ५-१९७॥

जप्तेन चेद्द्विलक्षेण ये यस्मिन्विषये स्थिताः।
आगच्छन्ति यथातीर्थं विमुक्तकुलविग्रहाः॥
ददाति तस्य सर्वस्वं तस्यैव च वशे स्थिताः॥ ५-१९८॥

त्रिभिर्लक्षैस्तथाजप्तैर्मण्डलीकाः समण्डलाः।

वशमायान्ति ते सर्वे नात्र कार्या विचारणा ॥ ५-१९९ ॥

षडभिर्लक्षैर्महीपालं सभृत्यबलवाहनम् ॥ ५-२०० ॥

लक्षैर्द्वादशभिर्जप्तैर्यक्षरक्षोरगेश्वराः ।
वशमायान्ति ते सर्वे आज्ञां कुर्वन्ति नित्यशः ॥ ५-२०१ ॥

त्रिपञ्चलक्षजप्तैस्तु साधकेन्द्रस्य धीमतः ।
सिद्धविद्याधराश्चैव गन्धर्वाप्सरसांगणाः ॥
वशमायान्ति ते सर्वे नात्र कार्या विचारणा ।
हठाच्छ्रवणविज्ञानं सर्वज्ञत्वं प्रजायते ॥ ५-२०२ ॥

तथाष्टादशभिर्लक्षैर्देहेनानेन साधकः ।
उत्तिष्ठेन्मेदिनीं त्यक्त्वा दिव्यदेहस्तु जायते ॥
भ्रमते स्वेच्छया लोके छिद्रां पश्यति मेदिनीम् ॥ ५-२०३ ॥

अष्टाविंशतिभिर्लक्षैर्विद्याधरपतिर्भवेत् ।
साधकस्तु भवेद्धीमान्कामरूपो महाबलः ॥
त्रिंशल्लक्षैस्तथाजप्तैर्ब्रह्मविष्णुसमो भवेत् ।
रुद्रत्वं षष्टिभिर्लक्षैरमरत्वमशीतिभिः ॥

कोटयैकया महायोगी लीयते परमे पदे।

साधकस्तु भवेद्योगी त्रिलोक्ये सोऽतिदुर्लभः॥ ५-२०४॥

त्रिपुरे त्रिपुरन्त्वेकं शिवं परमकारणम्।

अक्षयं तत्पदं शन्तमप्रमेयमनामयम्॥

लभतेऽसौ न सन्देहो धीमान्सर्वमभीप्सितम्॥ ५-२०५॥

शिवविद्या महाविद्या गुप्ता चाग्रे महेश्वरी।

मद्भाषितमिदं शास्त्रंगोपनीयमतो बुधैः॥ ५-२०६॥

हठविद्या परंगोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता।

भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या च प्रकाशिता॥ ५-२०७॥

य इदं पठते नित्यमाद्योपान्तं विचक्षणः।

योगसिद्धिर्भवेत्तस्य क्रमेणैव न संशयः॥

समोक्ष लभते धीमान्य इदं नित्यमर्चयेत्॥ ५-२०८॥

मोक्षार्थिभ्यश्च सर्वेभ्यः साधुभ्यः श्रावयेदपि।

क्रियायुक्तस्य सिद्धिः स्यादक्रियस्य कथम्भवेत्॥ ५-२०९॥

तस्मात्क्रियाविधानेन कर्तव्या योगिपुंगवैः ।

यदृच्छालाभसन्तुष्टः सन्त्यक्त्वान्तरसंज्ञकः ॥

गृहस्थश्चाप्यनासक्तः स मुक्तो योगसाधनात् ॥ ५-२१० ॥

गृहस्थानां भवेत्सिद्धिरीश्वराणां जपेन वै ।

योगक्रियाभियुक्तानां तस्मात्संयतते गृही ॥ ५-२११ ॥

गेहे स्थित्वा पुत्रदारादिपूर्णः

सङ्गं त्यक्त्वा चान्तरे योगमार्गे ।

सिद्धेश्चिह्नं वीक्ष्य पश्चाद् गृहस्थः

क्रीडेत्सो वै मम्मतं साधयित्वा ॥ ५-२१२ ॥

इति श्रीशिवसंहितायां हरगौरीसंवादे योगशास्त्रे

पंचमः पटलः समाप्तः ॥ ५ ॥ शुभम् ॥

X title: svapak.sa d.r.s.taantasa"ngraha.h
X
X copied from ifp/efeo transcript no. T00317 pages 968 - 1118
X
X data entered by the staff of muktabodha under the
X supervision of mark s. g. dyczkowski
X
X see on-line catalogue record for bibliographic details
X
XXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXX

शिवज्ञानसिद्धि स्वपक्ष दृष्टान्त सङ्ग्रहः ॥

अभीप्सितार्थसिध्यर्थं पूजितोयस्सुरैरपि ।

सर्वविघ्नच्छिदे तस्मै गणाधिपतये नमः ॥

वन्दे कुन्देन्दुधवलं दन्तभिन्नान्तरायकम् ।

दानधारापतत्भृङ्ग सङ्गीतं कुञ्जराननम् ॥

श्रीमदभ्र सभामध्ये नित्यमानन्द ताण्डवम् ।

कुर्वाणमुमया सार्धं सेव्यमानं शिवंभजे ॥

कैलासद्वार पार्श्वस्थं ब्रह्मविष्णवादि वन्दितम् ।
श्रीनन्दिकेशरं वन्दे सुयशावल्लभं प्रभुम् ॥

सत्यज्ञानिनमाचार्यं सम्यक् बोधप्रकाशकम् ।
तच्छिष्य अरुणन्द्याख्य अकरोच्छाशास्त्र मानमत् ॥

परपक्षावबोधाख्यं शतत्रयमकारयत् ।
उपोत्घाते पञ्चवृत्तं प्रमाणे तु चतुर्दश ॥

p. 969)

आद्ये सप्तति वृत्तानि द्वितीये नवतिश्च षट् ।
तृतीयेपि च चत्वारि चत्वारिंशच्चतुर्थके ॥

पञ्चमे नवकं पश्चात्तत्संख्या षष्ठसूत्रके ।
सप्तमे तु चतुष्कोनश्चत्वारिंशत्तथाष्टमे ॥

नवमे द्वादश प्रोक्तं दशमे षट्प्रकीर्तितम् ।
एकादशे द्वादशं च द्वादशे सप्तकं स्मृतम् ॥

स्वपक्षन्तु ततः पश्चात् सप्तविंशच्छ्शत त्रयम् ।
एवं पक्षद्वयोपेतं सप्तविंशति षट्छ्शतः ॥

श्रीमत्तिल्लवने पुण्ये गुहामठमुपासयन्।
निगमज्ञान नाम्ना तु प्रख्यातो भून्महीतले ॥

तन्नामधारितशिष्यस्संप्रदाय प्रवर्त्तकः।
इत्थं व्यवहितं शास्त्रं मवलोक्य यथामति ॥

तत्प्रामाणिक सिध्यर्थं मूलशास्त्र प्रसिद्धये।
उद्धृत्यागम शास्त्राणि चाकरोछ्शास्त्रमुत्तमम् ॥

स्वायम्भुवे -

वचनेनापि तुष्टि स्यादुत्तमस्याधिकारिणः
दृष्टान्ते नैव तुष्टि स्यान्मध्यमस्याधिकारिणः
येन केनापि तुष्टि स्यादधमस्याधिकारिणः।

अजिते -

लोकायतोथ बौद्धं चाथार्हं मीमांसमेव च।
मायावादं पाञ्चरात्रं षडेते समया बहिः

भीमसंहितायाम् -

p. 970)

गोष्ठिवत्समयं भेद क्षीरवच्छिवमुच्यते ।

शिवं सर्वगतं शान्तं भजेन्नित्यं शिवाश्रतः ॥

अजिते -

आदिमध्यान्त निर्मुक्त स्वभावविमलः प्रभुः ।

सर्वज्ञः परिपूर्णश्च शिवो ज्ञेयश्शिवागमैः ॥

चिन्त्यविश्वे -

पूर्वोक्त दीक्षया युक्तं शिष्यं विज्ञान दीक्षया ।

दीक्षयेत् कृपया पूर्णो गुरुस्सन्मार्गदायकः ॥

मनोव्यापारमात्रेण या दीक्षा विद्यते क्रमात् ।

सा दीक्षा ज्ञान दीक्षा च विज्ञानाख्या स वै भवेत् ॥

* * * * * प्रदेशे * * वोस्थाने शिरस्थाने विशेषतः ।

श्री पादौ शिरसा धृत्वा स्वात्मज्ञान * * बोधयेत् ॥

शिवधर्म्मोत्तरे -

संस्कृतैः प्राकृतैर्वाक्यैर्यश्शिष्यमनुरूपतः ।

* * * * * * * * * * * * * * * * ।

* * * * * * * * * * * * * * * * ॥

ये चान्यासक्त हृदया यजन्तीशं प्रसङ्गतः ॥

तेषामिष्टन्ददातीश स्थानं भावानुरूपतः ।

p. 971)

तथा चोक्तमाचार्यैं -

ये चात्र शुद्ध भुवनोद्भव भोगकामा

स्त्वामर्चयन्ति * * * * * * * * * * ।

* * * * * * * * * * * * * केभ्यो

भोगन्ददासि तदनन्तरमेव मोक्षम् ॥

रत्नत्रये । वायव्य संहितायां च ।

यतो वाचो निवर्तन्ते न प्राप्यमनसा सह ।

आनन्दं यस्य वैशद्यन्नबिभेति कुतश्चन ॥

स्कान्दे -

ब्रह्माच्युतादिभिर्देवैः वेदैरपि वितर्क्कितम् ।

च्छन्दो रूपं शठात्मानश्शक्तास्तोतुं कथम् प्रभुम् ॥

पौष्करे -

अधुना श्रोतुमिच्छामः प्रमाणानि कृपानिधे ।
उत्तरम् ॥ श्रुणुध्वमथमानानि श्रोतुं कौतूहलं यदि ॥

सिद्धतन्त्रे -

त्रिपदार्थ प्रमाणाय प्रमाणानि दशोच्यते ।
प्रत्यक्षं प्रथमं प्रोक्तन्द्वितीयमनुमानकम् ॥

तृतीयं शब्दमित्युक्तम भावन्तु चतुर्थकम् ।
अर्थापत्तिः पञ्चमन्तु समानं षष्ठमेव च ॥

p. 972)

ऐतीहं नवमं प्रोक्तं दशमन्तु स्वभावकम् ।
दर्शनेप्यनुमाने च शास्त्रेन्तर्भूयते दश ॥

(चका) सिद्धतन्त्रे -

विकल्प भेदसन्देहं विना ज्ञेयं सुदर्शनम् ।
वस्तुतो विद्यमानार्था विनाभावाख्य हेतुना ॥

अनुमानं च शास्त्राख्यमनुमेयं च साधयेत् ।

सुप्रभेदे -

अक्षादिकरणैर्दृश्यं प्रत्यक्षन्तदिहोच्यते ।
लिङ्गेन लिङ्गि विज्ञानमनुमानमिति स्मृतम् ॥

आप्तोक्ति वचनैर्गम्यं शब्दमेतदुदाहृतम् ।

पौष्करे -

द्व्यालम्बा संशया बुद्धिस्समानाकार दर्शनात् ।
विपर्ययोन्यथा ज्ञानमतद्रूपं प्रतिष्ठितम् ॥

अक्षादि करणैर्दृश्यं प्रत्यक्षं द्विविधं च तत् ।
वस्तु स्वरूपमात्रस्य ग्रहणन्निर्विकल्पकम् ॥

नामजात्यादि सम्बन्धसहितं सविकल्पकम् ।

तथा सिद्धतन्त्रे -

सिद्धार्थान्वयमन्वेति सन्देहं पूर्वमुच्यते ।
सुतरार्थं स एवेति भेदो विद्यवसीयते ॥

p. 973)

नाम जाति गुणंकर्म्म चार्थपञ्च विकल्पते।
पदार्थाभावभूतं च निर्विकल्पं स मौनवत्॥

सिद्धतन्त्रे -

दर्शने तु चतुर्योगं मनश्चेन्द्रिय वेदना।
अनुमानं स्वयं वेद्यमन्य वेद्यमिति द्विधा॥

त्रिकारण्यागमस्तन्त्र कलामन्त्रोपदेशवत्।

पौष्करे -

प्रत्यक्षन्त्रिविधमुक्तम्।
एतच्चेन्द्रिय सापेक्षन्निरपेक्षन्तथैव च॥

अन्तःकरण सापेक्षमिति त्रिविधमिष्यते।
प्रत्यक्षन्त्रिविधं प्रोक्तमक्षमानसचिद्वशात्॥

इति क्वचित्पक्षः। सिद्धतन्त्रे -

प्रकृतिर्मध्यमा ज्ञेया किन्तु हि द्विप्रमाणतः।
अन्यस्व जात्यतीतं च यत्तत्प्रकृतिरुच्यते॥

पूर्वं चतुर्विधाख्यस्य दर्शनस्य स उच्यते ।
ज्ञानेन्द्रिय कलापं च रूपायं चात्म संयुतम् ॥

विकल्पादि विनाज्ञेयो यदा चेन्द्रियदर्शनम् ।
ज्ञानाक्षादि विनागम्यमक्षादि विषयादि च ॥

p. 974)

मलिनं रोधितं ज्ञानं तद्धिमानस दर्शनम् ॥

पौष्करे -

अन्यच्चेन्द्रिय सापेक्षं स्यादाच्छाद निवृत्तये ।
इन्द्रिया पेक्षया शक्त्या तद्वारेणार्थ वीक्षणम् ॥

अन्तःकरणसापेक्षं बाहेन्द्रिय जपेन तु ।
अन्तःकरणसापेक्षञ्चिच्छक्तेध्र्येय सङ्गतिः ॥

सिद्धतन्त्रे -

आत्मज्ञानेन जीवाद्यैस्सुखदुःखादि भुञ्जते ।
आध्यात्मान्मुच्यते ह्येतत् वेदना दर्शनं भवेत् ॥

समाधिभिस्समुत्सार्यं अन्यदेश चरित्रकम् ।

एव वासस्ततोज्ञेयो योगिभिस्साम्य दर्शनः ॥

सिद्धतन्त्रे -

त्रयः पक्ष स्त्रिहेतुश्च प्रत्येकं त्रिविधं भवेत् ।
तदिदं द्विविधं वक्ष्ये प्रशस्तमनुमानकम् ॥

स्वार्थं परार्थमिति च स्वपर ज्ञानगन्ततः ।
हेतुभिः प्रतिविख्यातमन्यकस्य स्ववित्भवेत् ॥

अन्वयि व्यतिरेकीति हेतुवाक्यमिदन्द्विधा ।

तथा पौष्करे -

अन्वय व्यतिरेकी च केवल व्यतिरेकि च ।
p. 975) केवलान्वयरूपेण क्रमेणपरिलक्ष्यते ॥

सिद्धतन्त्रे -

स्वपक्षस्समपक्षश्च परपक्षश्च जायते ।
स्वपक्षस्य दृशार्थं स्यात् समपक्षी पुटीदृशा ॥

स्वमतार्थन्नयत्यर्थं परपक्षस्स उच्यते ।

तथा पौष्करे -

साध्यधर्म्मयुतः पक्षः सपक्षस्तत्सधर्म्मयुक् ।
तद्विधर्म्मो विपक्षस्यात् अवस्थान्तर भेदवत् ॥

प्रथमं हेतुरित्युक्तं द्वितीयं कार्यमीरितम् ।
तृतीयं चानुलब्धाख्यमेवं प्रकरणन्त्रिधा ॥

अवस्थान्तर भेदत्वमेवं प्रकरणं विदुः ।
कार्यधूमक गन्तृत्वमग्नेर्द्दर्शनमित्यपि ॥

शीताभावं हिमाभावं तज्ज्ञेयमनुलब्धकम् ।

पौष्करे -

सा च व्याप्तिर्द्विधात्रेधा व्यतिरेक्यन्वयात्मिका ।

सिद्धतन्त्रे ।

धूमाग्न्योर्भवतः पाकगृहेसौ कथ्यतेन्वयी ।
पत्सवापीतले धूमन्नासीदितर उच्यते ॥

पौष्करे -

तच्चेह पञ्चावयवं प्रतिज्ञा हेतुरेव च।
दृष्टान्तश्चोपनयना निगमश्चेति पञ्चमः॥

p. 976)

इष्टार्थोक्तिः प्रतिज्ञा स्याद्धेतुस्तद्व्याप्तिमद्वचः।
दृष्टान्तस्तूचितोक्ति याद्धेतुर्यद्वत्परीक्ष्यते॥

दृष्टान्त पक्षयोर्व्याप्ति प्रस्तारं यदुपानयः।
पुनः प्रतिज्ञा नियमो निगमस्यात्स हेतुकः॥

सिद्धतन्त्रे -

पुनरप्यनुमानेन त्रिविधाख्येति चेत्कथम्।
प्राग्दर्शनानुमानन्तद्दूरे गन्धेन पुष्पवत्॥

अनुमानानुमानन्तु वागज्ञानमनुमानवत्।

पुष्करे -

आप्तोक्तिरागमार्थोपि परीक्षार्थैक साधनम्।
प्रत्येक्षेणानुमानेन याति चार्थं सुनिश्चितम्॥

यो वेत्ति सोयमात्मा स्यात्तस्मादाप्तस्सदाशिवः ।

इदमत्र समाख्यातं प्रागुक्तन्त्रिविधागमः ॥

अनादिशुद्ध सर्वज्ञ शिवेन कथितागमः ।

पूर्वापराविरोधं यत्तद्धितन्त्रं कला भवेत् ॥

चित्तादि निश्चिलं कृत्वा तद्वत्कुर्याच्चानुकुलम् ।

आद्यन्तरहितो देवो भाव बोधोपदेशवित् ॥

पक्षाभावस्तु चत्वारो हेत्वभात्वेकविंशतिः ।

सिद्धान्ता भात्वदशाष्टौ द्वाविंशन्निग्रहा स्मृताः ॥

p. 977)

पञ्चषष्टिरिमे प्रोक्ता आभास?

अथ प्रथम दृष्टान्तमुच्यते ।

अत्र सूत्रलक्षणं निश्वास कारिकाया मुक्तम् ।

तद्यथा ।

सूचनात्सूत्रमित्याहुस्सूत्रनाम महत्पदम् ।

तेन सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

तथोक्तम् पराशरपुराणे -

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् ।
अस्तोभमनवद्यं यत् सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥

स्वायम्भुवे -

स्त्री पुन्नपुंसकं ज्ञेयञ्जगत्सर्वं क्रमेणजम् ।
स्थितिस्संहारतो विप्र सर्वदा कर्तृ पूर्वकम् ॥

अनादि मुक्तचिद्रूपः कृत्यकर्ताहरः प्रभुः ।

तथा शिवज्ञान बोधे -

स्त्रीपुन्नपुंसकादित्वं जगतः कार्यदर्शनात् ।
अस्तिकर्त्ता सहृत्वैतत् सृजत्यस्मात्प्रभुर्हरः ॥

स्वायम्भुवे -

काषा?नित्या जगत्सृष्टि स्थितिध्वंसक उच्यते ।

उत्तरम् ।

नानुमानागमावत्र चास्य कार्यस्य सम्भवे ।

दृष्टिवत् सर्वभूतेषु नाशोत्पत्ति प्रदृश्यताम् ॥

p. 978)

अथ सर्वमतोपन्यासे -

प्रत्यक्षेण हि सिद्धेद्धैनानुमानं प्रवर्तते ।

अनुमानेन साध्यं चेत् परतत्वं प्रसज्यते ॥

स्वभाव इति भूतानां सृष्टिस्संहार उच्यते ।

उत्तरम् । पराख्ये -

चतुर्णामपि भूतानां स्वभावो नैव दृश्यते ।

तस्मान्न कम्पते धात्री कमुष्णं दृश्यते कवचित् ॥

वह्निन्निर्वाण मायाति वायुरुर्ध्व गतिः क्वचित् ।

भूतेषु हि स्वभाषेन किं पुनः कार्यसम्भवे ॥

सृष्टिस्थित्यन्तनाशेन कार्यत्वेनान योगतः ।

जडत्वेनाप्यतोभूते सर्वतः कर्त्तृ पूर्वकम् ॥

पराख्ये -

स्वयमेव चतुर्भूतः सर्वकृत्यं करोत्यतः।
फलप्रदम्तिति प्रोक्तं क्वचित्कर्ता च मा कुरु॥

उत्तरम्॥

भूताश्चतुष्टयाः ख्याता स्थित्युत्पत्ति लयास्सदा।
आद्यन्तरहितो देवस्सर्वतोपि करोत्यसौ॥

शयश्च विशेषेण बूतानामुत्भवा * * *।
भूताद्विनात्र कार्य * * * * * * * *।
* * * * * * * * * * * * * * * * * च्यते॥

p. 979)

द्वयोश्च कारणं मायेत्याहुरत्र विपश्चितः।
पटाद्या यजमानेन कार्योत्पत्तिर्न दृश्यते॥

तथास्य स्यात् तु कार्य * * * * * *।
* * * * * * * * * * वर्तो भवेत्।

निश्वासोत्तरे -

स्वयमेवेति नास्ति स्यान्नास्ति कर्त्तैक वस्तु चेत्।

तथैवा याति तस्य स्यान्नाशोत्पत्तिस्ततः कथम् ॥

अस्ति कर्ता तथा च स्यात्तया तत्कार्य दर्शनात् ।

निश्वासोत्तरे -

अह देहलयोत्पत्ति जडादृष्टं कथं भवेत् ।

उत्तरम् ।

श्रोतुमिच्छमि सर्वेषामितीदं शृणु पार्वति ।
आकाशाज्जायते वायुर्वायोरग्निरुदाहृतः ॥

अग्नेर्ज्जलञ्जलात्पृथ्वी भूतानां क्रममेव हि ।
एतेषां सर्वभूतानां संयोगो लोक उच्यते ॥

अन्यत्र ।

एवं क्रमाल्लयः प्रोक्तस्तच्च कालान्तरेण तु ।

कारणे चिन्त्ये -

यदि स तृणनाशोपि न चेच्छुणवस्य पार्वति ।

p. 980)

वार्षादिवाङ्कुरन्दृश्यमभवत् स्वपथा जगत्।

कारणे -

कालस्त्रिभिश्चेतनश्चेत् कर्तृत्वं काल एव हि।

उत्तरम्।

उपादानेन जातेन नाशेनापि जडो भवेत्॥

अपि च।

प्रपञ्चसृष्टिरित्युक्तं एककाले हि सम्भवः।
तस्मान्महेश एव स्यात् कालवत्परिपालकः॥

कारणे -

अखिलाख्यमणूनां च कर्म्मणां सम्भवात्ततः।

उत्तरम्।

यद्वच्च पूर्वमेवोक्तम् कर्म्मापि जडवत्भवेत्।
घटस्यमृदुपादानन्दृष्ट्य यद्दृश्यते तथा॥

इदन्तदनुमानेन मायोपादान कारणम्।
माया कारणमेवाहुरणूनां कार्यदर्शनात्॥

कारणे -

जगतः कारणाख्याणु भूतकार्येति कथ्यते।
कार्यावयव रूपेण दृश्येनापि घटादिवत्॥

यद्दृश्यं तद्विनाश्यं स्यान्मायोपादान कारणम्।
सृष्टिस्थिति?संहारम् माया कार्यं विपश्चितः॥

कथं चेत्बीजशाखादि भूमाधारेण जातवात्।

रत्नत्रये -

यद्यदुत्पद्यते वस्तु तन्मायेयं कथा कला।
उत्पत्तिनाशो मायाया धर्म्मावाह महेश्वरः॥

p. 981) **किरणे** -

तत्कार्यकारिका शक्तिः क्रियाख्य सूक्ष्मरूपिणी ।
स्थूलकार्यं च सूक्ष्मापि स्थितान्यग्रोधबीजवत् ॥

जगत्कारण मायाख्य परिणामः कदाचन ।
माययात्र जगज्जातश्शशशृङ्गोक्ति जातवत् ॥

वृक्षाच्छदो नापूर्वेण पश्चाद् वृक्षेषु जायते ।
कूततश्च तथैवोक्ता स्थिति स्यात् कारणं पुनः ॥

कारणे -

इयं कारण कार्येण ह्यनादाख्यं जगत्सदा ।
अतिप्रपञ्चन्तत्कर्त्ता सृष्टिकार्यात्ततो भवेत् ॥

प्रश्नः ।

विश्वकारणं मायैव कथं कर्त्तेति नोच्यते ।

पराख्ये -

अतोस्ति बुद्धिमान्कश्चिदीश्वरस्समव स्थितः ।
आदि प्रपञ्चन्तत्कर्त्ता चोपादानं परं स्मृतम् ॥

प्रतिपन्न स्वकार्येण दृष्टेनात्रानुमानतः ।

अन्यथानुपपत्त्यावा तद्वदेवमनादिकम् ॥

मूर्त्तास्सा वयवायेर्था नानारूपपरिच्छदाः ।

पतिर्विश्वस्य निर्म्माता पशुपाश विलक्षणः ॥

अभावे तस्य विश्वस्य सृष्टिरेषा कथं भवेत् ।

अचेतनत्वादज्ञत्वादनयोः पशुपाशयोः ॥

p. 982)

प्रधान परमाण्वादि यावत्किंचिदचेतनम् ।

न तत्कर्तु स्वयन्द्रष्टुं बुद्धिमत्कारणं विना ॥

जगत्कर्त्ता सापेक्षं कार्यं सावयवं युतः ।

तस्मात् कार्यस्य कर्तृत्वं पत्युर्न्न पशुपाशयोः ॥

पराख्ये -

निमित्तमीश्वराख्यं तद्दृष्टं सहकारणम् ।

उपादानं च यत्सूक्ष्मं सर्वकार्येषु संहितम् ॥

य शक्तिश्चेश्वरो माया मृद्वच्चात्र कुलालवत् ।

तथा निश्वासे -

यथा कार्ये घटाद्या तु कुम्भकारेण मृत्तिका ।
कार्याख्यं च जगत्सर्वं कारणेन करोति सः ॥

क्रिया शक्त्या जगत्सर्वं कुरुते परमेश्वरः ।
कारणानान्त्रयन्तेन सर्वकार्येनुमीयते ॥

निश्वासोत्तरे -

बिन्दुमाये तयाव्यक्तः कारणत्रयमुच्यते ।
तस्याश्चतस्रो वाग्रूपा वृत्तयो वैखरीमुखाः ॥

वैखरी मध्यमाचान्या पश्यन्ती सूक्ष्मसंज्ञिता ।

पौष्करे -

कलाविद्या च रागश्च कालोनियतिरेव च ।
पञ्चैतानि च तत्वानि माये यानि द्विजोत्तमाः ॥

p. 983) मृगेन्द्रे -

गुणधीगर्वचित्ताक्ष मात्राभूतान्यनुक्रमात् ।

पौष्करे -

कर्तृत्वं द्विविधं विप्राः क्रियास्सङ्कल्पकोटयः।
अष्टावनन्त पूर्वास्ते यथा पूर्वं गुणाधिकाः॥

परे सदाशिव समाः पतिकृत्यानुकारिणः।
तत्त्वाध्वा भुवनाध्वा च वर्णाध्वा च पदक्रमः॥

मन्त्राध्वा व्यापकस्तेषां कलाध्वा बिन्दुमाश्रितः।
बिन्दुपादान जन्यत्वात्तेषां बैन्दवमुच्यते॥

पौष्करे -

चतस्रो वृत्तयस्तस्याः वाभिर्व्याप्तास्त्रिधाणवः।
आभ्यो न परमो बन्ध आभ्यो मुक्तिस्तु नापरा॥

तन्निवृत्य विना भूतो दृक्क्रियावारको यतः।

तथा निश्वासोत्तरे -

आहुरेव जगत्सर्वं प्रवृद्धं शब्दवृत्तिभिः।
न हि शब्दादृते पुंसः प्रत्ययोस्ति कदाचन॥

यदाशिव प्रसादेन ज्ञानं स्यान्मोक्ष अस्य तु ।

कालोत्तरे

आगोपालाङ्गना बाला म्लेच्छाः प्राकृत भाषिणः ।
p. 984) अन्तर्जलं गतास्सत्वास्तेपि नित्यं ब्रुवन्तितम् ॥

अस्यार्थः । तस्य वृत्तौ प्रपञ्चितः । रत्नत्रये -

परिणामस्य कर्तृत्वेनज्ञा? वै वृत्तयस्तथा ।
परिणामस्ततोनन्तः यतः कर्त्ता ततस्तथा ॥

निश्वासोत्तरे -

रूपोरूपेन जातोपि विकारोप्यविकारवत् ।
अविकारे अरूपे खे भूतानाञ्जननादिवत् ॥

विद्युद्धूम धनुस्तोयमेवा शनिजशब्दवत् ।

निश्वासे -

यथा लोके घटाद्यास्तु कुम्भकाराम्मृदा तथा ।

कार्याख्यन्तु जगत्सर्वं कर्तृत्वेन करोति सः ॥

प्रश्नः ।

अखण्ड परिपूर्णासावधि तिष्ठन्करोति सः ।

कालस्तरुष्वमूर्तोंपि करोति कुंसुमोच्चयम् ॥

फलानां च तथा तेषां पतनञ्च यथा निशम् ।

तथोत्पत्ति विनाशानां कर्त्ता शम्भुरमूर्त्तिमान् ॥

तथा किरणे -

यथा कालोह्यमूर्तोंपि दृश्यते फलसाधकः ।

एवं शिवोह्यमूर्तोंपि कुरुते कार्यमिच्छया ॥

p. 985)

निश्वासोत्तरे -

सर्वात्मनां च जननं मरणं च तथैव हि ।

कारुण्यात् क्लेशमालोक्य तेषां शम्भुः पुनस्तथा ॥

कर्म्मणां पाचनार्थाय सृष्टिन्निर्म्माय पूर्ववत् ।

मृगेन्द्रे -

स्वव्यापारान् बोधयन् बोधयोग्यान्
रोध्यानुन्धन् पाचयन्कर्म्मिकर्म्म ।
मायाशक्तिं व्यक्तियोग्यां प्रकुर्वन्
पश्यन्सर्वं यद्यथा वस्तुजातम् ॥

निश्वासोत्तरे -

शिवः कृत्यत्रयं चैव कुरुतेप्यधिकारवान् ।
शिलागारेग्नि पक्वं च पत्मभूमौ रसक्षयम् ॥

आदित्येन यथा दृश्यमीश्वरेण तथैव च ।
रुद्रो विष्णुस्तथा ब्रह्मसृष्टि स्थित्यन्त देवताः ॥

आदौ कृत्यास्तिमान्प्रोक्तश्शिव एवेति तछ्श्रुणु ।
ब्रह्मा सम्पूज्यं भक्त्या तं लिङ्गं शैवमयं शुभम् ॥

तस्य सम्पूजनादेव प्राप्तत्वं ब्रह्मत्वमुत्तमम् ।
इन्द्रनीलमयं लिङ्गं समभ्यर्च्य जनार्द्दनः ॥

विष्णुत्वं प्राप्तवांस्तेन सोत्भूतैक सनातनम् ।

p. 986)

ब्रह्मादिस्तम्ब पर्यन्तञ्जगद्योनिश्चराचरम् ।
चराचरादिभूतानां प्राण भूतश्शिव स्मृतः ॥

तथा वायव्ये

परमैश्वर्य सम्पन्नाः परमेश्वर भाविताः ।
तच्छत्त्याधिष्ठिता नित्यं तत्कार्यकरणक्षमाः ॥

स्वायम्भुवे -

संसृज्य विश्वं भुवनं गोप्तासन् सञ्जहार यः ।
एक एव तदा रुद्रो न द्वितीयोस्ति कश्चन ॥

अतीता खल्वसंख्याता ब्रह्माणो हरयो यतः ।

स्कान्दे -

संसारदुःखहरणात् प्रपञ्चहरणाच्चया ।
प्राक्तनैर्हर इत्याख्या भवतः परिकीर्तिता ॥

प्रकृतौ प्रलये प्राप्ते नष्टे स्थावर जङ्गमे ।
ब्रह्मा विष्णुस्सुरास्सर्वे लयं यान्ति शिवं विना ॥

स्वायंभुवे -

पशुना देहसंयोगो भोगोमोक्षाय कथ्यते ।
तथापि सन्तश्चेत्याहुरनादिमलमोचकाः ॥

पशूनां हारिमित्युक्तम् विस्मयं गमयेत् पदो ।
मलबद्धेन स्त्रष्टाख्या तत्तत्कर्म्ममलं गतम् ॥

p. 987)

स्थितिर्जननमन्तोयं कर्म्मयोगेत्वहंकृतिः ।
विवक्षया पशूनान्तु विद्यमानमनुग्रहः ॥

तथान्यत्राजगत्सा * * * * * * * * * ।
* * * * * * * * तेषु कः कर्तृरूपकः ॥

उत्तरम् ॥

एवमेतत्त्रयं चोक्तन्तस्य रूपमुदाहृतम् ।

तथा सुप्रभेदे -

तछ्शरीरं त्रिधाज्ञेयं निष्कलं * * ष्कलम् ।

* * * * * * * * * * * * * * * * ॥

* * * * * * * * * * * * * * * * ।

* * * * * योगिनां शक्तिः ग्रहणे मोक्षणेपि च ॥

तद्वदेव हि बोद्धव्यं ग्रहणं मोचनं विभोः ।

मायात्मक * * * * * त्तमम् ॥

मृगेन्द्रे -

मूलाद्या शाम्भवाच्छाद्यवपुर्न्नस्तादृशं विभोः ।

तस्यैव पाशमुक्तत्वात् ज्ञानं केन निवार्यते ॥

मतङ्गे -

अथ शक्ति स्वरूपश्चेत् परिणामोहि दृश्यते ।

नित्यानन्दस्य रूपं च षडध्वा मार्गवत्भवः ॥

p. 988) डं?किंणिपता ।

विश्वे सर्वपदार्थेपि रूपारूपन्न योगजम् ।

सशिवोपि च पथ्येषु तथाप्येको भवेत्पुनः ॥

बन्धमोक्षपदार्थो न नाद्यन्तो नापि संश्वसः।
न लक्ष्यते तया तस्य क्वचित्भाव विनिश्चितः॥

चिन्त्ये -

निरामयो निराधारो वर्णरूपविवर्जितः।
सर्वज्ञस्सर्वगश्शान्तस्सर्वात्मा सर्वतो मुखः॥

यस्साक्षी सुखदुःखानां लोकेस्मिन्सर्व वस्तुनि।
स एव भगवान्व्यापी चाप्रमेयोप्यनौपमः॥

पौष्करे -

स्वस्वेच्छा मात्रतस्तस्य स्वशक्ति किरणात्मिकः।
मूर्तिमासाद्यते यस्मात् सद्योमूर्तिरिति स्मृतः॥

वातुलोत्तरे -

रूपमादाय कृपया कथ्यते चागमार्णवान्।
तथोपपन्ना सर्वस्य गुरुसन्तानपादुका॥

तथा किरणे -

एवन्न कुरुते तावद्यावन्नो गुरुसन्ततिः।

कुरुतेनुग्रहन्देवस्सर्वेषामेव देहिनाम् ॥

p. 989)

किन्तूपदेश कर्तृत्वात् स गुरुस्तेन सश्शिवः ।
यद्यसौ सकले नैव नाममन्त्रगुरुक्रमः ॥

किन्तूपदेशेन विना तदा भवति निष्फलः ।
यद्येवन्न भवेत् तत्थ्यं तदा न स्यात् गुरुक्रमः ॥

पुंसामनुग्रहार्थाय परोप्यरतां गतः ।
कृत्वा मन्त्रात्मकन्देहं वल्कि? तन्त्राण्यनेकधा ॥

बोध्यबोधक सम्बन्धाद्वक्ति तन्त्राण्यनेकधा ।

वातुलोत्तरे -

यद्रूपं तत्कृपा तस्य शिव सृष्ट्यादिकन्तथा ।
साङ्गोपाङ्ग इतीशस्य भोगदं मोक्षदं प्रभोः ॥

तदुक्तं कारणे -

नेत्र नासाग्र कर्णौश्च पाणीपादतलाङ्गुलीः ।
जटामकुट सम्युक्तं साङ्गं चेति प्रकीर्तितम् ॥

वस्त्रोपवीत माल्यानि चायुधाभरणानि च।
गङ्गाचन्द्र अपस्मारनाग्रकूर्म्मन्ततः पुनः॥

आसनादीनि सर्वाणि चोपाङ्गमिति कीर्तितम्।

वातुलशुद्धाख्यायाम् -

अङ्गप्रत्यङ्गसाङ्गानि चतुर्थोपाङ्गमित्यपि।

p. 990)

सुप्रभेदे -

रुद्रैकादश पूर्वस्तु द्वादशादित्य संयुताः।
वसवश्चाश्विनीयुक्तास्त्रय स्त्रिंशति देवताः॥

स्कान्दे -

ब्रह्मादि देवताश्चान्या नैव संसारमोचकाः।
एषामेव हि जन्तूनां महासंसार वर्त्तिनाम्॥

संहारमोक्षकस्तेषां सर्वज्ञस्साम्ब ईश्वरः।

शुद्धाख्यायाम् -

नानारूपधरो देवो नानाभोग समन्वितः ।
नानाचिह्न समोपेतो नानालीलाधरोहरः ॥

महेशं सकलं विद्यात् सृष्टिस्थितिलयात्मकम् ।

तथा वायव्ये -

चरितानि विचित्राणि गुह्यानि गहनानि च ।
दुर्विज्ञेयानि देवस्य मोहयन्ति मनांसि च ॥

वीरतन्त्रे -

सोमास्कन्दस्तु पूर्वस्यात् सुखासीनस्ततः परम् ।
कल्याणसुन्दरश्चैव चन्द्रशेखर एव च ॥

गङ्गाधरश्च पञ्चैते सृष्टिरूपा उदाहृताः ।
वृषवाहोर्धनारीशः किरातो वीर एव च ॥

p. 991)

भिक्षाटन पराश्चैते स्थिति मूर्त्तय ईरिताः ।
नर्तको मदनारिश्च कालदन्तिपुरद्विषः ॥

जलन्धरघ्नश्चैते षट् भेदास्संहारमूर्तयः ।

शैवे एकादश रुद्रसंहितायाम्

कदाचिद्रहसि प्रीतानिजाज्ञावशवर्त्तिनः।
रमणञ्जानती मुग्धा पश्चादभ्येत्य सादरम्॥

कराभ्यां कमलाभाभ्यां नेत्रमस्य जगत्पतेः।
पिदधे लीलयाशम्भोः किं भवेदिति कौतुकात्॥

अन्धकारो भवेत्तीव्रं चिरकालभयङ्करम्।
निमेषार्धेन देवस्य जग्मुर्वत्सर कोटयः॥

देवी बिलादुत्थेन तमसा भूज्जगत्क्षयः।
तमसा पूरितं विश्वंमपरेण समन्ततः॥

रुद्धास्ते सूरयो भक्ताश्शम्भुमानम्य तुष्टुवुः।
इति तेषां वचश्रुत्वा भक्तानान्नियतात्मनाम्॥

विकासिते तु फालाक्षे जग्राह विश्वरन्तमः।
विश्वसाक्षीति गौरीयं करुणामूर्त्तिरन्ध्रवित्॥

विससर्ज च सा देवी पिधानं हर चक्षुषोः।

सोमसूर्याग्नि रूपाणां प्रकाशैरभवज्जगत् ॥

p. 992)

लैङ्गे -

गत्वा तदाश्रमं शम्भोस्तदारत्या तया सह ।
वसन्तेन सहायेन देवं योद्धुं मनोह्यभूत् ॥

ततस्संप्रेक्ष्य मदनं हसन्नेव स्त्रियम्बकः ।
नयनेन तृतीयेन सावज्ञन्तमवैक्षत ॥

ततोस्य नेत्रजो वह्निर्मदनं पार्श्वत स्थितम् ।
अद्रहत् तत्क्षणादेव लीलावान् करुणानिधिः ॥

स्थितये ह्याश्रमाणां च हितार्थं भगवान्भवः ।
तदा हैमवतीन्देवीमुपयेमे यथा विधि ॥

चिन्त्ये -

निसर्गस्थिति संहारं यस्मिन्नेव निगद्यते ।

तथा कामिके -

देवदानव गन्धर्वमुनयो मनुजादयः ।

पिपीलिका गजाद्यन्ता जङ्गमास्थावराश्चये ॥

तेनुग्राह्या स्मृताशास्त्रेनुग्राह्या बहुधा मताः ।

वातुलशुद्धाख्यायाम् -

सृष्ट्यर्थं सर्वतत्वानां लोकस्योत्पत्तिकारणम् ।
योगिनामुपकाराय गृह्णाति स्वेच्छयातनुम् ॥

शिवस्सदाशिवश्चैव महेशस्त्रिविध स्मृतः ।
शिवस्तत्त्व महासेन निष्कलन्त्विवतिकीर्तितम् ॥

p. 993)

सकलन्निष्कलोपेतं सादाख्यमिति चोच्यते ।
महेशस्सकलं विद्यात्त्रिविधास्ते भवन्ति वै ॥

सुप्रभेदे -

निष्कलं च कलाहीनं कलाभिस्सकलं भवेत् ।
सकलाकलमिश्रं यत्तस्मात्तस्मात् सकलनिष्कलः ॥

परन्निष्कलमित्युक्तमपरं सकलं स्मृतः ।
परापरन्तु यत्प्रोक्तन्तत्स्यात्सकलनिष्कलम् ॥

वातुलोत्तरे -

अध्वमूर्तिरिति ख्यातिः परमेतत् कथं प्रभो।

उत्तरम्॥

नित्येनापि च पूर्वेण चिदचिच्चेष्टितेन च॥

वेदागमेषु शास्त्रेषु चाध्वामूर्तिरिहोच्यते।

तदुक्तं ब्रह्मशम्भुपादैः -

शान्त्यतीत कलामूर्धा शान्तिर्वक्त्र सरोरुहः।
विद्याकला तु वक्षोङ्गं प्रतिष्ठा गुह्यमण्डलम्॥

निवृत्तिर्ज्जानु जङ्घाङ्घ्रि भुवनाध्वा तनूरुहाः।
वर्णत्वङ्मन्त्र रुधिरं पदं मांस सिरादिकम्॥

तत्त्वं मज्जास्थि शुक्लादि धातवः परमेष्ठिनः।
सदाशिवष्षडध्वात्मा तस्य प्राणश्शिव स्मृतः॥

तथा स्वायम्भुवे -

p. 994)

तत्त्वं पदं च मन्त्रं च वर्णं च भुवनं कला।
अध्वामार्गस्समाख्यातो व्यापकत्वं शिवस्य तु॥

अयाध्वा कल्प्यते तथ्यं व्यापकत्वं तथा गतम्।

वातुलोत्तरे -

किं कारणेन मन्त्राध्वा देवस्य तनुरुच्यते।
उपादानमतश्शक्तिर्बिन्दुभिर्म्मोहितञ्जगत्॥

चिन्तयारहितं यत्तत्परमं परमं परिकीर्तितम्।
मन्त्रयोनिर्म्महामाया या परिग्रह वर्त्तिनी॥

कालोत्तरे -

तस्मिन्प्रजायते मन्त्रस्तत्रैव प्रविलीयते।

वातुलोत्तरे -

शिवश्शक्त्याधिष्ठितस्तु मन्त्राध्वा तेन कीर्तितः।
भुक्तिमुक्ति प्रदामन्त्रास्त्वर्च्चिता शिवमध्वरैः॥

अनुग्रहाय लोकस्य शिवोमन्त्र इति स्मृतः।
यात्वनुग्राहिका शक्तिस्सामरस्यमिहागता॥

मन्त्रेषु पञ्चमन्त्रस्थ युक्तन्तन्त्रेषु वक्ष्यते।

उत्तरम्।

आत्मनोनुग्रहार्थाय स्वेच्छया स च कथ्यते॥

पञ्चमन्त्रतनु श्रीमान् सकलः परिपठ्यते।
मतङ्गे ईशानं प्रथमं ब्रह्म ततस्तत्पुरुषात्मकम्॥

p. 995)

तृतीयमप्यघोराख्यं वामदेवात्मकन्ततः॥

पञ्चमं सद्य इत्युक्तम् ब्रह्म सर्वार्थसाधकम्।
प्राधान्येन स्थिता ह्येता विद्यामन्त्राश्च सुव्रत॥

ईशानी पूरणीहार्दि वामामूर्त्तिश्च पञ्चधा।
एताभिस्समवेतोसौ शक्तिभिस्सममधिष्ठितः॥

तथा पौष्करे -

एवं मन्त्रास्तु पञ्चैते तैर्निबद्धा तनु * * * * * ।
* * * * * * * * * * *र्थ शङ्कितः ॥

वायव्ये -

ब्रह्मादयोपि लोकानां सृष्टि स्थित्यन्त हेतवः ।
ब्रह्माविष्णुस्ततो रुद्रस्सृष्टिस्थित्यन्त देवताः ॥

आदौ कृत्याभिमान् प्रोक्तश्शिव एवेति तत्स्मृतम् ।
स्वा * * * * * * * * * * * * * * * ॥

* * * * * * * * मोघाबलशालिनी ।
एकानेक विभागेन स * * * * * * शिवेच्छया ॥

क्रिया त्रिधातु विज्ञेया वामाज्येष्ठा च रौद्रिका ।

तथा निश्वासोत्तरे -

मन्त्रयाद्यनेक जन्तूनां भूपतेश्शक्तिभेदवत् ।
एक एव शिवश्शक्तिस्तथा कार्याद्य भेदतः ॥

p. 996)

तस्माच्छिवात्मिका शक्तिर्भोगमोक्षौ शिवेच्छया ।

चिन्त्ये

शक्तिरूपं च कोवेत्ति महाविज्ञानमेव हि ।
क्रियया इच्छया ज्ञानैर्विना तछ्श्रुणु पार्वति ॥

यावत्ज्ञानं क्रियायेच्छा तस्मात्ज्ञानं क्रियां विना ।

स्वायम्भुवे -

यदेकेकोक्त गुणं शक्ति धर्म्मसामर्थ्यकन्द्विधा ।
ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिरिच्छा ज्ञानक्रियात्रिधा ॥

शिवेन सर्पजन्तूनां कारुण्यात्समुदाहृतम् ।
ज्ञानशक्त्या विजानाति क्रियया कुरुते जगत् ॥

पराख्ये -

चिद्रूपमात्मनो रूपन्द्दक्क्रिया गुणलक्षणम् ।
ज्ञानरूप स्थितस्यापि स्वरूपन्द्दक्क्रियात्मकम् ॥

उत्तरम् -

कर्तृशक्तिरणोर्न्नित्या वह्नीचेश्वर शक्तिवत्।
तमच्छन्नतयार्थेषु नाभाति निरनुग्रहा ॥

तथा मृगेन्द्रे -

चैतन्यन्दृक्क्रियारूपन्तदस्त्यात्मनि सर्वदा।
सर्वतश्च यतोमुक्तौ श्रूयते सर्वतो मुखम्॥

p. 997)

तदप्य भावमानत्वात् तन्निरुद्धं प्रतीयते।

पौष्करे -

केवलं ज्ञानमेवापि शिवमेवेति सुस्थितम्।

तत्रैव।

उपसंहृत कार्यात्मा यदा बिन्दुर्व्यवस्थितः॥

तदालयाह्वयन्तत्वं शिवतत्वं तदेव हि।

चिन्त्यविश्वे -

चिदचित् ग्राहकार्थोयश्शिवो मोक्षस्तुशक्तितः।

अस्यैव चाविभागेयम् सा ज्वालेव हविर्भुजः॥

ज्ञानशक्त्या क्रियाशक्त्या समस्तन्तद्विजृम्भितम्।
सदा शिवाख्यकन्तत्वं सकलन्निष्कलं भवेत्॥

क्रिया शक्त्युत् बणत्वं च ज्ञानशक्त्य पकर्षणम्।
तत्र तत्प्रसरन्तत्वमीश्वराख्यमिदं भवेत्॥

क्रियाशक्त्यपकर्षेण ज्ञानशक्त्युत्वणन्तथा।
विद्या तत्वस्य चोत्पत्तिर्ज्ञानगम्याभवत्तदा॥

इच्छाज्ञानक्रिया चैव शिवे स्थित्वा सदैव हि।
स्वं स्वं कार्यं प्रकुर्वन्ति सर्वानुग्रहकारणात्॥

किरणे -

इच्छानुग्रह कर्तृत्वाल्लय भोगाधिकारवान्।
त्रिविधं कृत्य भेदेन दर्शिनो नाम भेदत? ॥

p. 998)

मृगेन्द्रे -

शक्तोद्युक्त प्रवृत्तत्वात् कर्त्ता त्रिविध इष्यते।

शक्तेः प्रवृत्ति भेदेन भेदस्तस्योपचारतः ॥

कालोत्तरे -

शिवश्शक्तिश्च सादाख्यमीश्वरस्तदनन्तरम् ।
शुद्धविद्या च पञ्चैते शुद्धतत्त्वम् प्रकीर्तितम् ॥

मतङ्गे

शुद्धदेहमिति प्रोक्तन्नित्यं स्वातन्त्र्यविग्रहम् ।
कृत्यभेदं विना पूर्वापरन्नप्रसरक्रमः ॥

कालोत्तरेपि तथा ।

शिवैको बहुरूपस्तु नभसो बहुरूपवत् ।
सर्वेषामपि भावोपि यदर्थेन स्वभावतः ॥

शिवश्शक्तिश्चेति वाक्यं वृक्षस्य कठिनत्ववत् ।

अन्यत्र ।

स्वर्णनीलादि संस्पर्शात् स्फटिकन्तन्मयं यथा ।

शिवोपि शक्तिभिर्भेद्यस्तयो स्वाभाविकञ्च तत् ॥

शिवस्तु शक्तिभेदेन तत्स्वभावन्नमुञ्चति ।

मतङ्गे -

प्रवृत्तौ शक्तयस्सिद्धाश्शक्तीनां कारणं शिवः ।
अकारणश्शिवः प्रोक्तस्तन्त्रेस्मिन् पारमेश्वरे ॥

p. 999)

स्त्रियः पुमानिति जगत् सर्वं शक्ति शिवात्मकम् ।
सर्वस्यानुग्रहार्थं च लिङ्गपीठक्रमन्तथा ॥

तथा वायव्ये -

शङ्करः पुरुषास्सर्वे स्त्रियस्सर्वा महेश्वरी ।
सर्वे स्त्रीपुरुषास्तस्मात्तयोरेव च भूतयः ॥

सुप्रभेदे -

लिङ्गेनलाञ्छितं पुंस्त्वं स्त्रीत्वं वै योनिलाञ्च्छितम् ।
लिङ्गमीशमयं प्रोक्तं योनिश्शक्तिमयं भवेत् ॥

तस्माद्वे शिवशक्ती तु सर्वमेतच्चराचरम् ।

लिङ्गे शम्भुस्समुत्भूतो नाम्ना सोपि सदाशिवः ॥

पीठे शक्तिस्समुत्भूता नाम्ना सापि मनोन्मनी ।

मकुटे -

लिङ्गे च पीठिकायां च शिवशक्तिसमुद्भवः ।

मतङ्गे -

रूपन्नास्त्यस्य नामादि नास्ति कृत्यं करोति च ।
तथादि योगो भोगो न चिदचिन्नास्त्यतश्शिवम् ॥

सर्वेषां स्वयमेवस्यात्तन्मयो नास्ति यद्यपि ।
इत्यादिम सूत्रं पुर्णम् ॥

p. 1000)

सर्वज्ञाबोधे -

अन्यस्सन्व्याप्तितोनन्यः कर्त्ताकर्म्मानुसारतः ।
करोति संसृतिं पुंसां आज्ञया समवेतया ॥

चिन्त्ये -

यस्य सन्निधिमात्रेण चेष्टन्ते सर्वजन्तवः।
यस्य सत्भाव मुच्यन्ते त्रैय्यन्ते सकलागमाः॥

यत्स?माक्षी सुखदुःखानां लोकेस्मिन् सर्ववस्तुनि।
अणोरणुर्म्महीयांश्च महतो यत्परापरम्॥

वेदान्तेष्वेक एवेति कथं बहुतयोच्यते।

उत्तरम्॥

तेषु कर्त्तैक एवेति साध्यते परमार्थतः।

वातुलोत्तरे -

शिवस्तु सर्वजन्तूनामक्षराणामकारवत्।

तथा शुद्धाख्ये -

कला जीव इति ख्यातो विकला देह उच्यते।

तथा किरणे -

चराचरादि जन्तूनां शिवोसौ प्राणमुच्यते।

p. 1001)

तं विना प्रसत्येव नाक्षराणामकारवत् ।

तथा शुद्धाख्ये -

कलाजीव इति ख्यातो विकलादेह उच्यते ।
कला च विकला चैव देहि देहाविति स्मृतौ ॥

कलाहीनं तु यद्वर्णं जीवहीनं विनिर्द्दिशेत् ।
विभुश्च तत्त्वैरात्मा च प्रत्येकं गणयेत् स्थितिम् ॥

पराख्ये -

कर्म्मणा देहसंयोगो विभोरपि महेश्वरात् ।
अशक्तत्वात् स्मृतो नास्य सामर्थ्यं कर्म्मयोजने ॥

सिद्धान्त सङ्ग्रहे

न कल्प्यौ सुखदुःखाभ्यां धर्म्मा धर्म्मौ परैरिह ।
स्वभावेन सुखी दुःखी जनोन्योन्यं न कारणम् ॥

पराख्ये -

जलेयदुष्ण गन्धत्वं कार्म्मिकं कृत्यतावशात्।
देहिनां पुण्यपापाख्यं स्वभावेन शुभाशुभम्॥

तच्चैतन्यं स्वभावं हि तत्स्वभाव विपर्ययः।
एकस्यारभ्यते दुःखं सुखानां वापि तज्जडम्॥

इहलोके यदात्मानम् बह्वर्थोंस्ति सदा सुखम्।
नास्ति दुःखादृते पूर्वकृतेनैतत्तथा यदि॥

p. 1002)

कृत्यन्नकृत्यतोप्यत्र स्वयमेवार्थ सम्भवः।
सोत्साहेनापि गृह्योर्थस्तस्करेणापि गृह्यते॥

क्रमादिदं कृतं कृत्यं सुखदुःखादि भुञ्जते।
तस्मात् पूर्वकृते नैव सर्वदा सर्वतः पशोः॥

जन्मक्षयं सुखं क्लेशं सुखदुःखादि भुञ्जते।

त्वार्थकं कर्म्ममारणे -

एतानि स्वस्वकर्म्माणि स्वाधिकारो निवर्त्तते।
पुरुषे षोडशकले तमाहुरमृताह्वयम्॥

इति च।

एवमुक्तन्तु षट्कर्म गर्भसाकल्य निश्चयम्।
एवं पूर्वकृतं कर्म्म भोगतोत्र तु गच्छति॥

तथा सुप्रभेदे -

मरणादीनि कर्म्माणि निर्म्मितानीश्वरेण तु।
आयुष्यं विभवं कर्म्म विद्या च निधनं सुखम्॥

षट्कं संपाप्य तत्रैव ततो गर्भाशयं व्रजेत्।

चिन्त्ये -

देहे नैव कृतं कर्म्म देहे नैव गतन्तथा॥

तत्रैव।

देहो हि एतच्चाणूनां क्षयेनात्म कलेवरम्।
प्रारब्धकर्म्मणा चैव पुनः प्रारभ्यते तनुः॥

p. 1003)

अन्यत्र ।

नित्यन्तं च समायुक्तमन्योन्यं वटबीजवत् ।

तथा पराख्ये ।

यथात्मानादिना सिद्धस्सापेक्षा कर्म्मणि स्थितः ।
त्रवाहानादिता चेयमप्युच्छिन्ना भवे भवे ॥

अन्यत्र ॥

बीजाद्वृक्षस्समुत्पन्नो वृक्षाद्बीज समुद्भवः ।

चिन्त्ये -

अत्र सञ्चय सम्भोगः पूर्वजन्मान्तरे विधिः ।
क्वचेत्प्रयोजनं पश्चाद्धिते नैव वरानने ॥

तथैव पूर्वश्चेतश्चेत् तत्क्रमेण पुनर्भवः ।
यथा धान्यादि सम्भुक्तिः प्रारब्धञ्जन बीजवत् ॥

तथैवात्र हि जायन्ते जन्तवः पूर्वकर्म्मणा ।

तत्रैव ।

क्रिया विना न युज्यन्ते देही तास्ताः प्रवृत्तयः ।
पुण्यपापात्मिका जाता जन्मान्तर फलाङ्कुराः ।
एतत् पूर्वकरं ज्ञेयं भवस्या गामिनः किल ॥

जायेते पुण्यपापौ तौ मनोवाक्काय कर्म्मभिः ।
एवमुक्तन्तु सर्वेषां योजकः कर्त्तुराज्ञया ॥

स्वायम्भुवे -

कर्म्मतद्द्विविधं प्रोक्तन्धर्म्मा धर्म्मात्मकं पशोः ।
आभोगस्थायि तद्विद्यात् फलद्वयविरोधि च ॥

p. 1004)

धत्ते लोकानिमान् सर्वान् प्रीतिं च पुरुषस्तदा ।
धर्म्मस्तेनोच्यते तत्ज्ञैर * * * स्तद्विपर्ययात् ॥

वायव्य संहितायाम् -

अनादिकर्म्म वैचित्र्यमपिनात्र निवारकम् ।
करणं खलुकर्म्मापि भवेदीश्वर कारितम् ॥

चिन्त्ये -

महादुःखानि पापानि कारुण्यः परमश्शिवः।
पशूनां युज्यते कस्मात् तदतो वदमे प्रभो ॥

उत्तरम्।

व्यापकस्य * * * * तत्कृत्यमात्मकृपै।
* * * * * * * * पात्मनां कुर्यान्निग्रहन्तदनुग्रहम् ॥

वायव्ये -

सर्वानुग्राहकं प्राहुश्शिवं परमकारणम्।
सति गृण्हाति देवादीन् सर्वानुग्राहकः कथम् ॥

चिच्छेद बहुशो द्वेत्रो ब्रह्म * * * * * *।
* * * * * * * * * * * * * * * * *।

* * * * * * * * पद्मामाक्रम्य हृदयन्नखैः खरैः।
सर्वं शिवोनुगृह्णाति न निगृण्हाति कञ्चन ॥

अनिगृहीता ये दोषाश्शिवस्तेषामसम्भवात्।

ये पुनर्न्निग्रहाः केचित् ब्रह्मादिषु च दर्शिताः ॥

p. 1005)

देवलोकहितायैव कृताश्श्रीकण्ठ मूर्त्तिना ॥

कारणे -

तत्वतो निग्रहस्तस्य कर्त्तुः कारुण्यमेव हि ।
शिश्रन्मातापिता चेति लोकेस्मिन् शिक्षणीयवत् ॥

सर्वमतोपन्यासे -

ज्योतिष्टोमाद्यनुष्ठानाद पूर्वं कर्म्मणार्जितम् ।
स्वर्गादिः फलरूपस्य देवता न कृ देवता ॥

कर्म्ममीमांसकाः प्राहरित्थं स्वमतलक्षणम् ।

कामिके -

यज्ञादिकर्म्मणां चैव जीवानान्तु फलप्रदम् ।
औषधादि प्रयोगश्च दृष्टवत्फलसाधकः ॥

एतादृशास्तु ये तेषां कर्तृता किं प्रयोजनम् ।

सर्वमतोपन्यासे । कामिके -

तथा तत्कार्य दृष्टं चेद्यज्ञ कर्म्मफलादिकम् ।
पश्चात् प्रयोजनोक्तं च गुदयुत् मलवत्ततः ॥

कामिके -

द्रव्यादृते पदार्थानि दानकृत्फलयेत्ततः ।
जले च पात्रे चाग्नौ च कृतं कर्म्मफलं मुने ॥

इह लोकेपि विद्यन्ते परकोकेपि विद्यते ।

कामिके -

p. 1008)

स्वयं कृतं स्वयं वेद्यं ततो भुञ्जीत चेत्स्वतः ॥

भूमौ नरकनाकेषु कुरुतेति किं गतागतम् ।
तस्मिन् क्वचिदपि प्रोक्तं महौद इतरेतरम् ॥

कामिके -

सर्वं चात्र गतो नाशं फलन्दश्यं पुनर्भवेत् ।
योजकस्स महेशान औषधादीनि वैद्यवत् ॥

कामिके -

लोकादेहार्थ करणात् कालान्नियति कर्म्माणि ।
किंचित् ज्ञात्वा जडंकर्म्म शिवज्ञातो नियोजयेत् ॥

सुशीलश्च कृपा चैव साचारश्चोपचारकः ।
तपश्शिला धर्म्म इष्टो नमस्कारादि सम्युतः ॥

योसौ विनिर्म्मल ज्ञानं शिवस्यानुग्रहं भवेत् ।
शिवस्संपूज्यते योसौ मनोवाक्काय कर्मभिः ॥

इष्टकाम्य फलं लब्ध्वा पश्चान्मोक्षमवाप्नुयात् ।
यत्र चाराध्यते येन तत्र वा देवतायताः ॥

निरामयोर्धनारीशो यो वासौ सन्निधिर्भवेत् ।

सर्वस्त्रोतस्सारसङ्ग्रहे -

येन येन हि रूपेण साधकस्संस्मरेत् सदा ।
तस्य तन्मयतां याति चिन्तामणिरिवेश्वरः ॥

p.1007)

तस्य तन्मयतां याति चिन्तामणिरिवेश्वरः।

कामिके -

प्रतिमाद्योपि पूज्यो सा वेवातोमनुजा भवेत्।

ब्रह्मादिभिस्त्रियस्त्रिंशत्कोटि देवैर्म्महर्षिभिः॥

सर्वेषां वास्तु देवानां फलन्दद्यान्महेश्वरः।

तस्मान् महेश्वरो नित्यं पूजनीयः फलार्थिभिः॥

शिवधर्म्मोत्तरे -

स्थावरं जङ्गमञ्चेति लिङ्गद्वयमुदाहृतम्।

स्थावरं स्थापितं लिङ्गं दीक्षितं जङ्गमं विदुः॥

जङ्गमस्यावमानेन स्थावरन्निष्फलं भवेत्।

तस्माल्लिङ्गद्वयं प्राज्ञो वा वमन्येत सर्वदा॥

कृतावमानतो मोहात् स पशुर्न्नात्र संशयः।

तथा चिन्त्य विश्वसादाख्ये -

स्थावरं जङ्गमञ्चेति द्विविधं शिवपूजनम्।

लिङ्गादि पूजनन्तत्र स्थावरन्नन्दिकेश्वर ॥

लिङ्गिनां पूजनन्तत्र जङ्गमाराधनं भवेत्।
पूजाकालेपि सान्निध्यं स्थावरे शिवतेजसि ॥

जङ्गमे सार्वकालं च सान्निध्यं कुरुते शिवः।
जङ्गमस्यावमानेन स्थावरो निष्फलं भवेत्॥

p. 1008)

दीक्षा * * * * * स्तु जातीनां दीक्षितस्य विशेषतः।
जाति भेदविशेषोस्ति दीक्षितानान्तु सर्वदा ॥

वागीशि गर्भजातत्वात् शिवत्वाच्छिव पुत्रकः।
तस्या पत्यत्व सिद्धित्वाच्चैव मित्यभिधीयते ॥

स्कान्दे ईश्वरः -

मन्निमित्त कृतं पापं अपि धर्म्माय कल्प्यते।
मामनादृत्य * * * * र्म्मोपि पापस्यात् प्रत्यवायकृत्॥

ब्रह्माण्डपुराने -

दक्षयज्ञे शिरश्छिन्नो मयातो यज्ञरूपिणा।

तथा वायव्ये -

कृत्वापि सुमहापापं भक्त्या यजति यश्शिवम् ।
मुच्यते पातकैस्सर्वैन्नात्र कार्या विचारणा ॥

तन्त्रसारे -

शिववाक्य प्रमाणस्थो मोक्षस्यान्नरकेतरः ।

तथा स्कान्दे -

मदाग्रमेषु ये सक्ताश्चर्या योगक्रिया पराः ।
सा रूप्यादधिका मुक्तिस्तेषां सिध्येन्न संशयः ॥

ये वैदिकाः पुनर्यागान्निष्कामाः कुरुते द्विजाः ।
त्रियधामप्य कुर्वन्ति मूर्त्ति * * * * * * * * ॥

p. 1009)

* * * * * * * * स्तेनात्र संशयः ।

कामिके -

राजाज्ञया यथा लोके क्रमात्कृत्यं करोति सः ।

बहुधैश्वर्यमाप्नोति दण्डसाध्यो विपर्यये ॥

स्कान्दे

वेदागम प्रसिद्धेषु येन तिष्ठन्ति पापिनः ।
चतुर्विधे * * * * * * * * * * * * * ॥

शिवधर्म्मोत्तरे -

पारदारिक चोराणामन्याय व्यवहारिणाम् ।
नृपतिश्शासकस्तेषां प्रच्छन्नानान्तु धर्म्मराट् ॥

गुरुरात्मवतां शास्ताशास्ता राजादुरात्मनाम् ।
इह प्रच्छन्न पापानां राजा वै * * * व्याधितो द्विषट् ।
कर्तृ कृत्यन्तथा पश्येत् पक्षापक्षन्नतत्तथा ॥

वायव्ये -

एवं स्वभावमलिनान् स्वभावाद्दुःखिनः पशून् ।
स्वाज्ञौषध विधानेन दुःखान्मोचयते शिवः ॥

संसारस्येश्व * * * * * * * * * * ।
* * * * * * * * * सर्वतत्वार्थ दर्शिभिः ॥

p. 1010)

शिवधर्म्मोत्तरे -

वैद्यान्विना निराक्रान्ताः क्लिश्यन्ते रोगिणो यथा।
शिवं विना जगत्तद्वन्निरा क्रन्दत्सदा भवेत्॥

व्याधीनां भेषजं यद्वत् प्रतिपक्षश्शिव स्म्रृतः।
तस्मादना * * * * * * * * * * * * ॥

* भुक्तं क्षीयते कर्म्मकल्पकोटिशतैरपि।

मृगेन्द्रे -

यथा क्षारादिना वैद्यस्तुदन्नपि न रोगिणः।
कोटाविष्टार्थदायित्वाद्दुःखहेतुः प्रतीयते॥

तथा वायव्ये -

नितरांज्ञो यथा वैद्यो * * * * *।
* * * * जैस्तद्वल्लय भोगाधिकारकः।
निदानज्ञस्य भिषजो रसान्मृगेण प्रयुञ्जतः॥

न किञ्चिदपि नैर्घृण्यं घ्राणैर्वात्र प्रयोजकः।

कारणे -

स्थूलेषु सूक्ष्मदेहेषु योनि भेदेषु कर्म्मतः।
स्थित्वा सर्वत्र भु * * * * * * * * * * * * * * ॥

शिवधर्म्मोत्तरे -

अथ नारकिनां पुंसांमधर्म्मादेव केवलात्।

p. 1011)

क्षणमात्रेण भूतेभ्यश्शरीरमुपपद्यते।
तद्वद्धर्म्मेण चैकेन देवानां चोपपादिनः॥

सद्यः प्रजायते दिव्यं शरीरं भूतसारतः।
कर्म्मणा यदि मिश्रेण सच्छरीरं महात्मनः॥

तत्भूत परिनामेन विज्ञेयं हि चतुर्विधम्।

मतङ्गे

ध्वस्ते पञ्चात्मके देहे सति पुर्यष्टके पशोः।
शक्यते घटितं भूतैर्न्नान्यथा तु कदाचन॥

ततस्तृण जलूकेव देहाद्देहं विशेत्क्रमात्।
अप्याप्योत्तरमंशेन देहन्त्यजति पूर्वकम्॥

तथा चिन्त्ये -

देहिनां पुण्यपापेभ्यो देहमारभ्यते पुरा।
यथा जीर्णानि वस्त्राणि त्यक्त्वा वस्त्रन्नवं वसेत्॥

तथा देहं परित्यक्त्वा देहान्तरमवाप्नुयात्।

निश्वासे -

सुकृते कर्म्मवो कृत्वे दुष्कृते च तथैव च।
पुर्यष्टके युतोह्यात्मा वायु भूते व्यवस्थितः॥

विद्यमानेपि तद्देहे प्रत्यक्षन्न च दृश्यते।

कारणे -

p. 1012)

पशूनां स्थूलसूक्ष्मश्च पन्नगाश्चाण्डजाश्चये।
योनि भेदाश्च योगेन परकाय प्रवेशवत्॥

स्वप्नादिवद्विद्यात् भिद्यतेषु च विद्यते।
कर्म्मतद्द्विविधं प्रोक्तं धर्म्मा धर्म्मात्मकं पशोः॥

समासात्रिमलाख्येषु इति कामिकमुच्यते।
इति प्रोक्तमनाद्येतत् कर्त्ता राज्ञेति भुञ्जतः॥

किरणे -

यथा नादिमलन्तस्य कर्म्माप्येव मनादिकम्।

स्वायम्भुवे -

कर्म्मतश्च शरीराणि विषयाः करणानि च।
कर्म्मतस्सर्वमेवेदं सुखदुःखात्मकं फलम्॥

तथा सर्वज्ञानोत्तरे

कर्म्मणा तु शरीराणि भवेत्कर्म्मोदयो भवेत्।
पूर्वोर्झित कर्म्माणां भावस्संयोगकारकः॥

कारणे -

चराचराख्य जन्तूनां योनि भेदाश्च कर्म्मतः।

एतादृशे सदाभिन्नं लाञ्छितं विद्यते न हि ॥

भूमौ धर्म्मार्जनं स्पष्टं भुंक्ते नैव च मानुषः ।
अतस्तथैव देवाश्च लाञ्च्छितं भिद्यते यतः ॥

p. 1013)

तथा भारते -

पशवोपि तथा देहा देवाश्च पशवस्तथा ।
भ्रमत्भ्रमरकीटात्मा कीटोपि भ्रमरायते ॥

तथा कारणे

दृष्टवद्भिद्यते लोकः कोष्ठात्क्रामि क्रमिर्यथा ।

रामायणे -

तस्यान्तरं विदित्वाथ सहस्राक्षश्शचीपतिः ।
मुनिवेषधरोहल्यामिदं वचनमब्रवीत् ॥

ऋतुकालं प्रतीक्षन्ते नार्थिनस्सुसमाहिते ।
सङ्गमन्त्वहमिच्छामि त्वया सह सुमध्यमे ॥

मुनिवेष * * * * सहस्राक्ष * * * * धुनन्दन ।
मतिं च कार * * * * * * * * कुतूहलात् ॥

अथा ब्रवीत्सुरश्रेष्ठं कृतार्थेनान्तरात्मना ।
कृतार्थोसि सुरश्रेष्ठ गच्छशीघ्रमितः प्रभो ॥

आत्मानं मांच देवेश सर्वथा रक्षमानद ।
इन्द्रस्तु प्रसहन्वाक्यमहल्यामिदमब्रवीत् ॥

सुश्रोणि परितुष्टोस्मि गमिष्यामि यथा गतम् ।
इत्येवं सान्त्वयन्शक्रो निश्चक्राम ग्रहात्तदा ॥

संभ्रमात्त्वरयन्यम शङ्कितो गौतमं प्रति ।

p. 1014)

गौतमं सन्ददर्शाथ प्रविशन्तं महामुनिम् ।
गृहीत समिधन्तत्र सकुशं मुनिपुङ्गवम् ॥

अथ दृष्ट्वा सहस्राक्षं मुनिवेषधरं मुनिः ।
ममरूपं समास्थाय कृतवानसि दुम्र्मते ॥

अकर्तव्यमिदं यस्माद्विफलस्त्वमिदं भविष्यसि ।

गौतमे नैव मुक्तस्तु सरोषेण महात्मना ॥

इह वर्षसहस्राणि बहूनित्वन्निवत्स्यसि ।
वायु भक्षानिराहारा तप्यन्त्यश्मशरीरिणी ॥

स्कान्दे -

नारसिंहादिभिर्देहैः कुत्सितैस्तामसैस्तथा ।
अनेक दुःखबहुलैरभवच्छापतोहरेः ॥

इत्युक्तो भृगुणा कृष्णो वेपमानश्चराञ्चितः ।

तदुक्तं कामिके -

मत्स्य कूर्म्म वराहश्च नारसिंहश्च वामनः ।
रामो रामश्च रामश्च कृष्णश्चाश्वमुखस्तथा ॥

स्कान्दे सनत्कुमार संहितायाम् -

वेदारण्ये शिवस्याग्रे तूषो दीपं व्यबोधयत् ।
महाबलिस्समभवत् त्रैलोक्याधिपतिर्द्विजाः ॥

p. 1015)

कारणे

सर्वं च कर्म्मतस्तस्मादिति प्रोक्ता मया पुरा ।

शिवधर्म्मोत्तरे -

स्थावरा विविधाकारास्तृण गुल्मादि भेदतः ।
एवं योनिषु सर्वासु परिक्रम्य क्रमेण तु ॥

कालान्तरवशाद्यान्ति मानुष्यमतिदुर्ल्लभम् ।

पराख्ये -

पशुत्वरुद्ध?चिच्छक्ते स्वातन्त्र्यन्न पशोरतः ।
कर्म्मचित्रं हि तत्तस्माद्योगजन्तदपेक्षते ॥

योगजस्समहेशान स्वेच्छया बलवान्यतः ।

तथा मतङ्गे -

कर्म्मणश्चाप्य चैतन्यात् प्राधान्यान्वेषतो मुने ।
जगदेतत् समस्तं स्यात् कर्म्मकर्तृवशाद्ध्रुवम् ॥

कर्म्मणः करणं कर्ता स पुमानत्र कीर्तितः ।

कचांक पाश्च सर्वेषां मकुटाद्याश्च हेमवत्॥

मारेवस्यादुपादानं सर्वं तत्कर्त्तुराज्ञया।

मृगेन्द्रे -

तदा धाराणि कार्याणि शक्तिरूपाणि संहृतौ।

तथा रौरवे -

p. 1016)

सूक्ष्ममायैक देशेन पतीच्छानुविधायिनी।
श * * * * * * * * * * * * * * प्रपद्यते॥

द्वे व्यक्तिर्भवतस्तस्य युगपत्सृष्टिमिच्छया।
व्यापृतौ व्यक्तिरूपाणि व्याप्रियन्तेर्थ सिद्धये॥

किरणे -

तत्कार्यकारिकाशक्तिः क्रियाख्या सूक्ष्मरूपिणी।
स्थूल कार्यस्य सूक्ष्मापि स्थिता न्यग्रो * * * * * ॥

* * * * * * * * मूलं महान्तस्य मोहिनी।
सर्वेषां बिन्दूपादानानं शक्तिश्शिवमतः परम्॥

आत्मा यदा श्रयेत् ब्रह्म सर्वोपाधि विवर्जितः।

किरणे -

कर्त्तुः कृत्यं च कारुण्यमिति प्रोक्तं मया पुरा।
मुक्त्यर्थं स पशुर्बन्धो ना * * * * * * * ॥

* * * * * * * * * * * तो न भोगभुक्।
तत्कथन्देह संश्लेषो मनिवर्जित उच्यते॥

उत्तरम् -

यथा वस्त्रं स दोषत्वान्मलान्तस्थं विशुध्यति।
शुध्यर्थम् पुद्गलो बद्धो मायोदरगतोपि सन्॥

p. 1017)

स्वायम्भुवे -

माया तत्वज्ञात् * * * * * * * * * * *।
* * * * * * * * नाद्यमव्ययमीश्वरम्॥

मतङ्गे -

क्षोभितेनन्न नाथेन ग्रन्थिम्मायात्मको यदा ।
तदा स्वेन विकारेण तनोति विपुलञ्जगत् ॥

साक्षान्नाया समुत्पन्ना कालाख्यन्नियतिः कला ।

सुप्रभेदे -

त्रिविधं कालमा * * * * * * * * * * ।
* * * * * * कालं संहारञ्चेति कीर्तितम् ॥

प्राणिनां चैव देवानां विनाशोत्पत्तिकारणम् ।
कलाश्च कुरुते यस्मात्तस्मादेवमुदाहृतम् ॥

पौष्करे -

कर्म्मणामार्जितानान्तु फलोपहरणे सति ।
तद्विनाशे * * * * * * * * * * * * * * * * ॥

मृगेन्द्रे -

प्रकाशयत्येकदेशं विदार्य तिमिरं घनम् ।
प्रोत्सारणं प्रेरणं सा कुर्वीत तमसः कला ॥

तत्वं विद्याख्यमसृजत् करणं परमात्मनः ।

p. 1018)

तेन प्रकाशरूपेण ज्ञानशक्तिः प्रबोधिता ।

स * * * * * * * * * * * * * * * ॥

* * * व्यक्त चिच्छक्ति दृष्टार्थोऽप्यपिपासतः ॥

तैरेति जनकं रागं तस्मादेवा सृजत्प्रभुः ।

चिन्त्यविश्वे -

पुरुषस्य प्रवृत्तेश्च निवृत्तेरपि सर्वदा ।

सामान्य हेतुरित्युक्तो रागतत्वस्यलक्षणम् ॥

मत * * * * * * * * * * * * * * * * ।

भोक्तेत्येवं पुमान्प्रोक्तो भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ॥

युक्तस्तन्मयतामेति यतोयं स स्थितः प्रभुः ।

तत्तत्वं तत्वसन्ताने पुमाख्यं परिकीर्तितम् ॥

तत्रैव ।

अथ पुंस्तत्वनिर्देशं स्वा * * * * * * * ।
* * * * * * * * * * पुरुषाह्वयम् ॥

मृगेन्द्रे -

ततः प्राधानिकन्तत्वं कलातत्वादजीजिनत् ।
सप्तग्रन्थिनिधानस्य यत्तद्गौनस्य कारणम् ॥

ततो बुद्धिरुपादानं गुणं सत्वरजस्तमः ।
तद्वृत्तयः प्रकाशाद्याः प्रवृद्धा * * * * * ॥

* * * * * * * * * * * * * * योगतः ।

p. 1019)

एकैक श्रुतिरेतेषां प्रत्याधिक्य निबन्धना ।
न तदस्ति जगत्यस्मिन्वस्तु किंचिदचेतनम् ॥

यन्न व्याप्तं गुणैर्यस्मिन्नैको व्यामिश्रको गुणः ।

सुप्रभेदे -

बोध्यत्वात् बुद्धिरेषा * * * * * * * * * ।

* * * * * पराबुद्धिरभवन्मुनिपुङ्गवाः ॥

रजस्तमोभ्यान्न्यक् भूतावृत्तिस्सत्वेन चोत्कटा ।
सा बुद्धिरुदितातन्त्रे विषयाध्यवसायिनी ॥

मृगेन्द्रे -

बुद्धितत्वन्ततो नानाभाव प्रत्ययलक्षणम् ।
परन्तदात्मनो बुद्धे * * * * * * * * ॥

* * * * * व्यक्तान्तरे बुद्धेर्गर्वोत्करणश्चितः ।

चिन्त्य विश्वे -

अहं वादि च सर्वं च करोति प्रबलोस्म्यहम् ।
एवं जीवन संरम्भ गर्वरूपमिति त्रिधा ॥

स एव सात्विकं चापि विराडारव्यस्तु तामसः ।
तैजसं वै * * * * * * * * * * * * ॥

सुप्रभेदे -

मनश्च द्विविधं प्रोक्तं चलाचलमिति स्मृतम् ।

p. 1020)

मतङ्गे -

द्वे द्वे कोटिमनस्सिद्धे शुद्धाशुद्धा च साधने ।
सङ्कल्पेन सरागेण स्फुरद्वीर्येण वेगतः ॥

विनिष्क्रम्याक्षमार्गेण प्रोतयित्वा तदिन्द्रियम् ।
अ * * * * * * * * * * * श्च निवर्त्तते ॥

चिन्त्यविश्वे -

वैकारिकादहंकारादिन्द्रियाणि भवन्ति वै ।

पराख्ये -

श्रोत्रन्त्वक् दृक्क जिह्वा च नासिका च मनोगणम् ।
शब्दैक ग्राहकंश्रोत्रं कर्णशष्कुलिकासनम् ॥

खरोष्ण मृदुशीतात्मा * * * * * * * * * ।
रूपानुवेदनञ्चक्षुर्जातुर्गोलकसंश्रयम् ॥

कट्व?म्लादि रसज्ञानञ्जिह्वाग्ररसनाश्रयम् ।
गन्धं गृण्हाति तत्प्राणं येन गन्धो न तन्यते ॥

चक्षुश्श्रोत्रं च गृह्णाति गत्वान्यत्र यमागतम्।
वाणी पाणिर्भगः पायुः पादः कर्म्माख्यपञ्चकम्॥

संस्कृते तरभाषा च वक्तिवाग्रसनाश्रया।
ग्रहणं मोक्षणं यस्माद्धस्तेन्द्रिय निमित्तजम्॥

आनन्दो यो भवेदस्मिन्नोपस्थेन विना भवेत्।

p. 1021)

बन्धोत्सर्गोमरुच्चेष्टा पारिवन्द्रिय निमित्तजम्।
बाह्याभ्यन्तर सङ्कल्पो भवेन्नमन सा विना॥

लङ्घनोत्प्लुतिवेगादि चिह्नं पादेन्द्रियानुगम्।
देहे सर्वत्र कर्म्माक्ष व्याप्तं यत्तत्त्वगिन्द्रियम्॥

पौष्करे -

कर्म्मात्र समवेता या क्रिया सक्ता हि पुत्गले।
तदभिव्यञ्जकं यत्तत् कर्म्मेन्द्रियमिति स्मृतम्॥

तथान्यत्र।

ज्ञानक्रियात्मशक्तिर्या सा पुद्गल समाश्रिता ।
सैव संलक्ष्यते शक्तिर्बुद्धिकर्म्मेन्द्रियात्मकैः ॥

चिन्त्यविश्वे -

बुद्धिन्द्रियस्य कर्म्माख्या बाह्याख्य करणाख्यकम् ।
शब्दादि वचनादिश्च बाह्यसूक्ष्माख्यमेव हि ॥

करणार्थो समर्थत्वात्कार्यं संश्रुत्यतद्वति ।

तत्रैव ।

तत्र विद्यात्मनो भोक्तया बुद्धि संज्ञाभवत्तदा ॥

शब्दादि विषयांश्चापि यदा गृह्णाति चेतना ।
सैषा हि करणाख्यं स्याद्विद्यातत्वन्द्विधा भवेत् ॥

क्षीरस्य तक्रसंयोगाद्दधिनाम यथा भवेत् ।
क्षीरात्मत्वन्दधित्वन्तु नाम द्वित्वं यथा भवेत् ॥

p. 1029)

तत्त्वं विद्यैव बुद्धि स्यात् करणं च तथैव च।

मृगेन्द्रे -

* * * * * ध निमित्तं हि विद्यया व्यतिरिच्यते।

रागोपि सत्यवैराग्यम् कलायोनिः करोतिकम्॥

पराख्ये -

करणं करणापेशया?जाविभकरास्त्रवत्।

किरणे -

माया विरहि यत्प्रोक्तं कलाद्यव * * * *।

* * * * चलः प्रोक्तंस्सूक्ष्म * * * * * या॥

मृगेन्द्रे -

शब्दस्पर्शश्च रूपञ्च रसोगन्धश्च पञ्चमः।

गुणैर्विशिष्टास्तन्मात्रा स्तन्मात्र पदयोजिताः॥

प्रकाशकर्म्म कृद्वर्ग वै लक्षण्यात्तमो भवः।

प्रकाश्यत्वाच्च भूतादिरहङ्कारस्तु तामसः॥

कालोत्तरे -

शब्दस्पर्शं च रूपं च रसोगन्धश्च पञ्चकम्।
बुद्धिर्म्मनस्त्वहंकारः पुर्यष्टकमुदाहृतम्॥

पौष्करे -

महाभूतानि जायन्ते क्रमात्तन्मात्र पञ्चकात्।

p. 1023)

सुप्रभेदे -

आकाशस्य गुणश्शब्दो वायोस्तु स्पर्श * * * *।
तेजसस्तु गुणं रूपं रसमापो गुणं स्मृतम्॥

पृथिव्यास्तु गुणं गन्धं व्योम्निखादीनि विन्यसेत्।
विषयन्त्विति विख्यातं भूतानां गुणमुच्यते॥

कामिके -

शब्दैकगुणमांकाशं स्पर्शशब्दगुणं मरुत्।
शब्दस्पर्शरूपगुणः कृशानुः परिकीर्त्तितः॥

शब्दस्पर्शरूप रसगुणमम्भः प्रकीर्तितम्।

शब्दस्पर्श रूपरसगन्धयुक्ता वसुन्धरा ॥

एतावद्दशध कार्यं शरीरं सर्वदेहिनाम् ।

कामिके -

अवकाश प्रदं व्योम व्यूहाख्यं मारुतक्रिया ।
पावकस्य क्रिया पाकोवापस्सङ्ग्रहण क्रिया ॥

पृथिव्या धारणं कर्म्म भूतव्यापार ईरितः ।

चिन्त्ये -

पृथ्वी स्वभावं कठिनं रूपन्तु चतुरश्रकम् ।
वर्णं स्वर्ण समाख्यातं क्ष्माकृत्यमितीरितम् ॥

वज्रलाञ्छनमित्युक्तं देवो ब्रह्मेति कथ्यते ।

p. 1024)

लकारं बीजमित्युक्तन्निवृत्तिश्च कलामयम् ।
संयुक्तं सद्यमन्त्रेण गदितः पृथिवी गुणः ॥

द्रवमात्रस्ततो बिन्दुर्विशेषं पूर्वमुच्यते ।

स्वरूपन्दुरितं प्रोक्तन्त्रियक्षं रूपकन्तथा ॥

रूपकं वामचन्द्रस्य श्वेतवर्णमथोच्यते ।
तस्य कृत्यं निपातं * ** * * * * * ञ्च्छितम् ॥

पुरुषोत्तम दैवं च वकारं बीजमुच्यते ।
संयुक्तं वाममन्त्रेण प्रतिष्ठारूपतागतम् ॥

आप्यलक्षणमित्युक्तं वह्निभूतमतश्शृणु ।
विशेषं महतः प्रोक्तं मौक्तिकत्वं स्वरूपयुक् ॥

स्वभाव * * * * * * * * रूपमुच्यते ।
वर्णं रक्तमिति ख्यातं कृत्यन्दहनमुच्यते ॥

स्वस्तिकं लाञ्छितं ज्ञेयं रकारं बीजमुच्यते ।
अघोरेणापि रुद्रश्च विद्यारूपन्निवासयेत् ॥

वह्निलक्षणमित्युक्तं वायु भूतमथशृणु ।
* * * * * * * * चलनन्तथा ॥

स्वभावं भेदमित्युक्तं षडश्रं रूपमेव च ।
वर्णं कृष्णमिति ख्यातं तत्कृत्यं सम्पूटी भवेत् ॥

लाञ्छितं बिन्दुभिष्षड्भिर्युक्तन्दैवतमीश्वरम् ।

p. 1025)

यं बीजेन समायुक्तमथ शान्तिकलामयम् ।

* * * * * * * * * * * * लक्षणम् ॥

अतिसूक्ष्मं विशेषोक्तं स्वरूप स्थितिरेव च ।

स्वरूपं च निरालम्बं वृत्ताकारं च रूपकम् ॥

वर्णन्धूम्रमिति ख्यातं कृत्यं सर्वलयोच्यते ।

लाञ्छितं चामृतं बिन्दुरधिदैवस्स * * * ॥

* * * * * * * * * * * * * * * यम् ।

ईशानमन्त्रेण युतमित्युक्तं व्योमलक्षणम् ॥

एकादश प्रकारेण समासाल्लक्षणोच्यते ।

चिन्त्यविश्वे -

इति षट्त्रिंशत्तत्वानामुत्पत्ति क्रमनिर्णयः ॥

शिवशक्तिश्च सादाख्यमी * * * * * ।

* * * * * * * * * * नयान्वयः ॥

चिद्रूपया पराशक्त्या विग्रहन्तन्मयं भवेत् ।

तस्माच्चिद्रूप संज्ञाख्यं पञ्चानां शुद्धवाचकम् ।

मायादि सप्तरागान्तं मलव्यापकमात्मनाम् ॥

तद्वन्मलानां संव्याप्य मव्यक्तादि * * * * ।

* * * * * * * * * * * * * यैव च ॥

p. 1026)

रागः पुरुष इत्येवं सप्तानां मिश्रतत्वकम् ।

नात्मवच्छेष षट्कानां मायाया च यिदा सह ॥

मलव्यापक सम्बन्धा शुद्धाशुद्ध समन्वितम् ।

अव्यक्तमहंकारं बुद्धिं चापि मनस्तथा ॥

बुद्धिन्द्रियं च कर्म्माख्यञ्चतुर्द्दशमुदीरितम् ।

गुणत्रयैस्सखाद्यैश्च त्रित्रिभिश्चान्वितस्सदा ॥

आपश्च ज्ञानसम्बन्धं प्रतिकूलन्तथैव च ।

विचित्रज्ञान संश्रयः। चिन्त्ये -

अथ तत्व समूहं च त्रिविधं शृणु पार्वति।
चतुर्विंशदणूनां च अशुद्धं भोग्यकाण्डकम्॥

आत्मतत्वमिति ख्यातं विद्या तत्वमथ शृणु।
तत्र मिश्रमतत्वं च भोगकाण्डन्तु सप्तकम्॥

शुद्धविद्येश सादाख्यं शक्तिश्शिवमिति स्मृतम्।
प्रेरकं शुद्धतत्वाख्यं स्वतन्त्रं शिवविग्रहम्॥

तथा।

अशुद्धं च चतुर्विंशच्छुद्धाशुद्धं च सप्तधा।
नित्यशुद्धं च पञ्चैते षड्त्रिंशत्तत्वरूपकम्॥

मतङ्गे -

तत्वं वस्तु स्वरूपं स्यात् स्वधर्म्मं प्रकटात्मकम्।
तत्वं वस्तु पदं त्यक्तं स्फुटमाम्नायदर्शनात्॥

p. 1027)

यद्च्युत स्वका वृत्तात्ततश्चात्म वशञ्जगत् ।
तत्वमन्येन वा नस्यात्तत्तत्वं तत्वसन्ततौ ॥

शुद्धाख्ये -

तत्वन्तु त्रिविधं ज्ञेयं तस्य भेदमथ शृणु ।
शिवस्सदाशिवश्चैव महेश स्त्रिविध स्मृतः ॥

चिन्त्ये -

स्थूल सूक्ष्मपरश्चेति त्रिविधन्तत्वमेव हि ।

चिन्त्यविश्वे -

पृथिव्यायात्म तत्वान्तमात्मतत्वमुदीरितम् ।
विद्यातत्वादि शक्त्यन्तं विद्यातत्वमुदीरितम् ॥

तस्योर्ध्वं शिवतत्वन्तु तत्वत्रयमुदाहृतम् ।

चिन्त्ये -

एवं सर्वक्रमेणैव सर्वतत्वं त्रये लयेत् ।
पारिशेष्यं च द्वौचाख्या कुटिलायान्तथैव च ॥

पौष्करे -

उपसंहार एष्टव्यः कार्य कारण भावतः।
यस्य कार्योपसंहायदादौ कारण संहतिः॥

वातुलोत्तरे -

समयास्तद्बहिश्चैव षट्त्रिंशत्तत्वत स्थिताः।

p. 1028)

यथार्थतस्सदेवो हि तत्वातीतः परश्शिवः।

तथा सर्वमतोपन्यासे -

सर्वेषां समयस्थानां मुक्तिमादौ विवक्षुणा।
यदविज्ञानमात्रेण गुरुणाशेषवेदिना॥

पौष्करे

दशैव सिद्धयः प्रोक्ता दर्शनान्तर भेदतः।
भूतमात्राक्षयोश्चैव मनोहंकार बुद्धिषु॥

गुणाव्यक्तनतेष्वेवं ज्ञानसिद्धात्मकं मतम्।

तथा त्रिलोचनशिवाचार्यैस्सिद्धान्त रहस्ये -

चार्वाकाः कौलिका ज्योतिश्शास्त्रज्ञाश्चैव भौतिकाः।
तन्मात्रसिद्धास्मार्ताश्च चक्षुरादीन्द्रियं परे॥

वैशेषिकास्त्वहंकारे गुणेषु न्याय वादिनः।
बुद्धितत्वे स्थिता बौद्धा गुणेष्वार्हता स्थिताः॥

प्रकृतौ पाञ्चरात्रज्ञो मन्यन्ते प्रकृतिं हरिम्।
वेदान्तज्ञाश्च सांख्याश्च यो * * * * * * ॥

* * * * पराकाष्ठा आश्रमस्यायमन्तिमा।

मृगेन्द्रे -

इत्याद्यज्ञानमूढानां मतमाश्रित्य दुर्धियः।
अपवर्गमभीप्सन्ति खद्योतात्पावकार्थिनः॥

p. 1029)

पौष्करे -

पुरुषोपरि यत्तत्वं शिवतत्वैकगोचरम्।
पुंसां तन्निष्ठता * * * * * * * * * * ॥

* * * * * * * पतिना बोधयत्यणून्।
शिवदीक्षादिनोद्भूतममलं सर्वतो मुखम्॥

शिवत्वोन्मीलनं ज्ञानं शिवशक्त्यात्मकं भवेत्।
श्रेयः प्रकाशकं शैवे न तु बुद्धि प्रकाशके॥

सिद्धान्तरहस्ये -

पाशुपतास्तु * * * * * * * * * * * * ।
* * * * * * * * शिवतत्वे परे स्थिताः॥

किंच रौरववृत्तिविवेके -

शक्तितत्वे तदद्वैता मुक्तिमिच्छन्ति ये स्थिताः।
विद्येश तत्वे पूर्वे तत् प्रेर्यमीश्वरमावयोः॥

मन्त्रेभ्यश्शुद्धविद्यायां सर्वज्ञत्वमनीश्वरम्।
मायायां * * * * * * * * * * * * * ॥

* * * * * भेदेन शुद्धोयं पशुदकृतः।

ज्ञानरत्नावल्याम् -

पञ्चार्ध कालवक्त्रा नाम मायायामधरे पुटे ।
मुक्तिरुक्ताद्वयो स्थाने लाकुले क्षेत्ररुद्रयोः ॥

p. 1030)

ऊर्ध्व संपुटके देशे मूतिरुक्ता * * * * ममुच्चये ।
* * * * * * * * * * * * * * * * ॥

* * * * * * * * * * * * समुच्चये ।
मतानां भेदमाहृत्य विस्तरेण प्रभाषितम् ॥

वातुलोत्तरे -

बिन्दुनादश्शिवश्शक्तिस्सादाख्येश्वर रुद्रकाः ।
विष्णुः पिता महश्चैव एकैकोद्भवमुच्यते ॥

नवभेद स्थितो देवो न * * * * * * ।
* * * * * * * * * * * * * * * * ॥

* * * * * * * * * * * * * * * * ।
* * * * * * * * * * * भेदमुच्यते ॥

योगिनां लक्षणार्थन्तु शास्त्राणामुत्भवाय च ॥

प्राणिनामुपकायय गृह्णते विग्रहं शिवः।

* * * * * * * * * * * * * * * ॥

* * * * * * * * * * * * * * * * * |

* * * * * * * * * * * * * * * * * ॥

* * * * * * * * च्छान्तिर्न्नाम समुत्भवः।

शान्तिशक्तिरिति प्राहुर * * * * वाचकः॥

तस्माच्चैव सहस्रं स्यान्नादमूर्ति समुत्भवः।

तस्माच्चैव * * * * * * * * * * * * ॥

p. 1031)

* * * * * * * * * * * * * * * * * |

* * * * * * * * * * * * * * * * * ॥

* * * * * * * * * * * * * * च्यते॥

तस्माद्दशैकभागेन सादाख्यस्य समुद्भवः॥

मकुटे -

निष्कलन्तु कलाहीनं सकलन्तु कलान्वितम्।
सकलाकलमिश्रं यत्तस्मात् स * * * * * ॥

* * * * * * * * * * * * र उच्यते।
ईश्वरस्य सहस्रांशाद्रुद्रस्योद्भवमुच्यते ॥

ईश्वरस्य कोटयंशाद्विष्णुमूर्ति समुद्भवः।
ईश्वरस्य तु कोटवंशाद्ब्रह्ममूर्ति समुद्भवः॥

वालोत्तरे -

तस्मात्क्रमात्स्वशक्तिश्च * * * * * * * * ।
* * * * * * * * * * * * * * * ॥

* * * * भोस्समुद्भूतिस्तद्वच्छक्तेस्समुद्भवः।
अमूर्तश्चेदमूर्त्तोपि समूर्तश्चेत् समूर्त्तका ॥

सावित्री श्रीरूमादेवी ईश्वरी च मनोन्मनी।
यथा मनोन्मनी प्रोक्ता ईश्वरी तद्वदुच्यते ॥

स्वायम्भुवे -

एका * * * * * * * * * * * * * * ।

p. 1032)

* * * त्तरे -

नादात्मना स्थिता शक्तिश्शिवश्शक्त्याधितिष्ठति ।
अतोपि सर्वरूपं यत्सर्वं शक्तिशिवात्मकम् ॥

वातुलोत्तरे -

शक्त्युद्भवश्शिवेनैव ततश्शक्त्या शिवोत्भवः ।
तद्द्वयोश्च समैक्येन शिवलोको द * ? भवेत् ॥

तथा वातुल * * ख्ये -

सृष्ट्यर्थं सर्वतत्त्वानां लोकस्योत्पत्तिकारणम् ।
योगिनामुपकाराय स्वेच्छया गृह्णते तनुः ॥

त * * * शिवे तु पराशक्तिस्सहस्रांशेन जायते ।
तच्छक्तेस्तु सहस्रांशादादिशक्ति समुद्भवः ॥

अस्याश्शक्तेस्सहस्रांशात् इच्छाशक्ति समुद्भवः ।
अस्याश्शक्तेस्सहस्रांशात् ज्ञानशक्ति समुद्भवः ॥

अस्याश्शक्तेस्सहस्रांशात् क्रियाशक्ति समुद्भवः ।

एता वै शक्तयः पञ्च निष्कलाश्चेति कीर्तिताः ॥

शिवसृष्टिरियं प्रोक्ता शक्तीनां सृष्टिरुच्यते ।
सर्वेषां ध्यानपूजार्थं निष्कलं सकलं भवेत् ॥

पराशक्तिदशांशेन शिवसादाख्य सम्भवः ।
आदिशक्तिदशांशेन मूर्तिसादाख्य सम्भवः ॥

p. 1033)

इच्छाशक्तिदशांशेन मूर्तिसादाख्य सम्भवः ।
ज्ञानशक्तिदशांशेन कर्तृसादाख्य सम्भवः ॥

क्रियाशक्तिदशांशेन कर्म्मसादाख्य सम्भवः ।
लिङ्गपीठप्रकारेण कर्म्मसादाख्यमुच्यते ॥

वातुलोत्तरे -

भगवान्ब्रह्मचर्याख्यः कन्यकाशक्तिरुच्यते ।
विदुषां विद्यते भाव एवमाख्यमियं क्रमात् ॥

सर्वज्ञानोत्तरे -

तन्वादि तत्परोबन्धो मुक्तिरात्मन्यवस्थितिः ।

सर्वेषां दीक्षयोत्साधं सम्यक् दृष्ट्वा हि तत्ववित्॥

शिवधर्म्मे -

यदीश्वरादि तत्त्वानां परिज्ञानं विवेकतः।
भवेत् साधर्म्म्य वैधर्म्म्यादितत् साधर्म्म्य लक्षणम्॥

चिन्त्यविश्वे -

वसनारागसंप्राप्तिरस्तिचेन्न स तत्त्ववित्।
देशिकस्तत्व विज्ञानं ज्ञात्वा चैव प्रकाशयेत्॥

स एव तत्वज्ञानी स्यान्मुक्तितो मुक्त एव सः।

सर्वज्ञानोत्तरे -

शुद्धाख्याणोस्तु सर्वेषां किं विशेषेण युज्यते।

p. 1034)

उत्तरम्।

अनाद्याख्यमलं कर्म्म मार्ज्जनाय ततो भवेत्।

चिन्त्य विश्वे -

आणवस्त्वेक रूपो हि तथा विविधशक्तिमान्।
ताम्रकाषेकवत्सोपि स भुज्येद्यन्तरादितः॥

तथा मृगेन्द्रे -

तदेकं सर्वभूतानां मनादि निबिडं महत्।
प्रत्यात्मस्थ स्वकालान्तापायि शक्तिसमूहवत्॥

मतङ्गे -

ताम्रकालिकवद्योगात् सहजः परिकीर्तितः।
मोहो मदश्च रागश्च विषादश्शोक एव च॥

वैचित्र्यं चैव हर्षाख्यस्सप्तैते सहजा मलाः।

मतङ्गे -

चैतन्यरोधो मायैव रश्मिरोधस्तु मेघवत्।
मायाकार्यं विना तस्मान्मलाख्यन्न कदाचन॥

उत्तरम्। किरणे -

एकस्मिन् व्यज्यते ज्ञानमन्यस्मिंस्तत्तिरोहितम्।
मेघच्छन्ना यथा रश्मिर्देहच्छन्ना हि चेतना॥

पशूनान्देह संश्लेषाच्चैतन्योत्भवदर्शनात् ।
यदा देहेन संश्लेषस्तावदूर्ध्वैव दृश्यते ॥

p. 1035)

चैतन्यद्योतिका माया चैतत् प्रोत्सारिते मले ।
अनन्योक्त मलोमात्मात्वथ देहादि सम्भवे ॥

बोधकार्यं रोधयितुमाणवाख्यं मलोह्यलम् ।
आत्मना सङ्गनिष्ठेन गुणञ्च ख्यातिमेतत् ॥

कालाद्याख्या परे तत्वे शुक्त्यादौ रजतो यथा ।
तस्मादियं मलोमाया सदा दीपान्धकारवत् ॥

द्वयो स्वभाव भेदश्च त्वया ख्यातमिदं मुने ।
पुरुषस्य गुणो विद्यावद्यतस्तच्च सो भवेत् ॥

उत्तरम् ।

तत्कथं त्वदिति प्रश्नन्दृष्टिदोष गुणन्नहि ।
तस्मिंस्तस्मिंस्तु तिष्ठेन तत्पुरुष स्वभाव च ॥

एवं सौरसंहितायां शङ्कापुरस्सरं विस्तरेण प्रतिपादितन्तत्रावधार्यताम्॥ स्वायम्भुवे -

अथानादिमलः पुंसां पशुत्वं परिकीर्तितम्।
तुषकम्बुकवत् ज्ञेयो माया बीजाङ्कुरस्यतत्॥

तथा मतङ्गे -

मलस्त्वनादिरेवञ्चज्जडं संसारकारणम्।
ताद्रस्यकालिमावच्च तण्डुलस्य तुषादिवत्॥

पराख्ये -

मायाकार्यन्तु मामाया कर्म्मतत्भोगबन्धनम्।

p. 1036)

असत्यन्द्दप्तिकरोमाल्यं किंचित्तद्विमलं शृणु।

पराख्ये -

मायाकार्यन्तु मायेयं स चाख्या मायापुरा विदुः।

चिन्त्य विश्वे -

तिरोधानमलं चापि तिरोधायि समुद्भवः।
आत्मनस्तु शिवव्यापि द्दशः प्रच्छादकावपि॥

मृगेन्द्रे -

तासां माहेश्वरीशक्तिः सर्वानुग्राहिका शिवा।
धर्म्मानुवर्त्तनादेव पाश इत्युपचर्यते॥

चिन्त्य विश्वे -

मलं मुहुर्मुहुर्माया मायोत्थमखिलञ्जगत्।
तिरोधानकरी शक्तिः पाशवे नार्थ पञ्चकम्॥

पराख्ये -

उल्कावर्तास्तथा केतु स्थित्वा स्थित्वा शिवाज्ञया।
लोकामृतं च निमिषात् सदा कुर्यात् गतागतम्॥

पराख्ये -

योन्यैव सकलात्मानो जायन्ते पूर्वकर्म्मतः।

सुप्रभेदे -

अण्डजं स्वेदजं चैव उत्बिजं च जरायुजम्।

p. 1037)

अशीतिश्च चतुश्चैव शतसाहस्त्र भेदतः ॥

शिवधर्म्मोत्तरे -

स्थावरा विविधाकारास्तृण गुल्मादिभेदतः ।
तत्रानुभूय दुःखानि जायन्ते कीटयोनिषु ॥

निष्क्रान्ताः कीटयोनिभ्यः क्रमाज्जायन्ति पक्षिणः ।
विसृष्टा पक्षिभावेन भवन्ति मृगजातिषु ॥

मृगदुःखमतिक्रम्य जायन्ते पशुयोनिषु ।
क्रमाद्गो योनि मासाद्य पुनर्जायन्तमानुषे ॥

एवं योनिषु सर्वासु परिक्रमक्रमेण तु ।
देवासुराणां सर्वेषां मानुष्यमतिदुर्ल्लभम् ॥

व्युत्क्रमेणापि मानुष्यं प्राप्यते पुण्य गौरवात् ।

सुप्रभेदे -

ततो भारतवर्षं च नवभागे प्रकल्पितः ।
कुमारी द्वीपादन्यास्तु क्लेच्छद्विपाः प्रकीर्त्तिआः ॥

चातुर्वर्णसमायुक्तश्चतुराश्रम सम्युतम् ।

शिवधर्म्मोत्तरे -

देशेस्मिन् भारते पुण्ये प्राप्यमानुष्यमध्रुवम् ।

सर्वेषामेव देशानामयन्देशः पर स्मृतः ॥

इति स्वर्गं च मोक्षं च यतस्संप्राप्यते जनैः ।

p. 1038)

चिन्त्य विश्वे -

शैवं परपदं ज्ञेयं सर्वतत्वैक नायकम् ।

सर्वमन्त्रमयं ज्ञेयं सर्वदेवमयं भवेत् ॥

जन्मान्तर तपोभिश्च सन्मार्ग ज्ञान सम्भवः ।

शिवधर्म्मोत्तरे -

सर्वस्य मूलं मानुष्यं तद्यत्नादनुपालयेत् ।

धर्म्मस्य मूलं मानुष्यं लब्ध्वा सर्वार्थसाधनम् ॥

यदि लाभैकयत्नास्ते मूलं रक्षन्तु यत्नतः ।

देवासुराणां सर्वेषां मानुष्यमति दुर्ल्लभम् ॥

व्युत्क्रमेणापि मानुष्यं लभते पुण्यगौरवात्।
तत्संप्राप्य तहा कुर्यान्नगच्छेन्नरकं यथा॥

मृगेन्द्रे हेतुमाह।

सर्वासां फलभूमीनां कर्म्मभूः कारणं यतः।
कर्म्मभूमिरियं ब्रह्मन् फलभूमिरतः परा॥

इह यत्क्रियते कर्म्म तत्परत्रोपभुज्यते।

तथा शिवधर्म्मोत्तरे -

भोगभूमि स्मृतस्वर्गः कर्म्मभूमिरियं स्मृता।
इह यत्क्रियते कर्म्म स्वर्गे तदुप भुज्यते॥

वायव्य संहितायाम् -

p. 1039)

जातेनात्मद्रुहायेन नार्च्चितो भगवाञ्च्छिवः।
सुचिरं सञ्चरत्यस्मिन् संसार दुःखसागरे॥

शिवधर्म्मोत्तरे -

जनाश्शतायुषः किं च भवन्ति न भवन्ति वा।
अशीतिकापि विद्यन्ते केचित् सप्ततिका अपि॥

परमायुस्तु पञ्चाशत्तदप्यस्य न निश्चितम्।
यस्य यावद्भवेदायुर्द्देहिनः पूर्वकर्म्मतः॥

यावत् स्वस्थशरीरस्थस्तावद्धर्मं समाचरेत्।

तथा मोहशूरोत्तरे -

पद्मपत्रे यथा तोयं * * * सुचञ्चलम्।
तद्वत्सुसञ्चलं शक्र प्राणिनामिहजीवनम्॥

पौष्करे -

क्रमेणार्थस्य संवित्तिः पुर्यात्मालोचनात्मिका।
यथा ह्यनेक संवित्तौ युगपत्सा न विद्यते॥

मुखरिता * * * परापरिजन् * * * *।
* * वत्ति न वीक्षते धनवच्छिबिकागतः।
जीवनेन मृताः पञ्च पुराव्यासेन कीर्तिताः॥

दरिद्रो व्याधितो लुब्धः प्रवासी नित्यसेवकः।

p. 1040)

चिन्त्ये -

लिङ्गस्य दर्शनं वाथ लिङ्गाराधनमेव वा।
विद्यते यदिजन्तूनां भवन्ति त्रिदशाधिपाः॥

इति द्वितीयसूत्रं सम्पूर्णम्॥

तृतीयसूत्रम्॥

पराख्ये -

देहान्यो नश्वरोव्याधी विभिन्नस्समलोजडः।
स्वकर्म्म कलभुक्कर्त्ता किंचिज्ञस्सेश्वरः पशुः॥

मृगेन्द्रे -

चैतन्यं दृक्क्रियारूपं तदस्त्यात्मनि सर्वदा।

शिवज्ञानबोधे -

अवस्था पञ्चकन्तस्य मलरुद्धस्व दृक्क्रिया।

तथा पराख्ये -

पञ्चावस्थः पुमान्ज्ञेयस्सुप्तौ च मलगौरवात् ।
तादृशात्मानृतं पश्येत् तुर्यातीतमुदाहृतम् ॥

अत्र देहान्य आत्मेति दृढत्वं कथ्यते कथ्यते कथम् ।
देहादृतेन दृश्यन्ते तस्मादात्मा न देहवित् ॥

p. 1041)

उत्तरम् -

तथा चेत्तत्रशीतोष्णं भुज्यते नैव देहवित् ।

मुकुरादिसमायुक्तमेकारुणमिवोद्धृतम् ।
भूताश्चतुष्टयं युक्तं विदवायु न विद्यगम् ॥

उत्तरम् -

सुप्तत्वमुक्तं शववत् वायुस्थिति न वैद्यकिम् ।
सुप्तस्यावयव स्पर्शात् स्मृतिर्नैव च विद्यते ॥

तथा मृगेन्द्रे -

सोप्येव सति साद्वान न सत्यपिशवे चितिः ।

पराख्ये -

इन्द्रियैस्सहवित्सोपि यदि चेन्न च राजवत् ॥

यत्र योगाङ्गता सेनातद्वाप्तं कुरुते गतम् ।
अतो देवा विनायुक्तं वियते हि न विद्यते ॥

तृतीयसूत्रं सम्पूर्णम् ॥

चतुर्थं सूत्रम् ॥

शिवज्ञानबोधे -

आत्मान्तः करणादन्योप्यन्वितो मन्त्रिभूपवत् ।

p. 1042)

कामिके -

शरीरात् बाह्य तस्य प्रवृत्तिरूपलम्भनात् ।
अत एव मनो नात्मा न बुद्धिर्नाप्यहंकृतिः ॥

पराख्ये -

अन्तःकरणमुक्तं चेदन्योन्यन्तेन विद्यते।
खश्यामादिरसज्ञादि वैषम्यं स्यात्सहेन्द्रियैः॥

सर्वेषां दृष्टिभिन्नत्वादहमित्यहमास्थितिः।

चिन्त्ये -

चित्ते कार्यं सुसंस्मृत्वा बुद्धिस्पष्टं विचार्य च।
अहं कारेण निश्चित्य वैकल्प्यं कुरुते मनः॥

एवं ज्ञात्वा यतोत्साहो स्वात्मज्ञानं समभ्यसेत्।
अकारश्चाप्युकारश्च मकारो बिन्दुनादकौ॥

योगेन प्रणवं ज्ञेयं पञ्चदेवात्मकं परम्।

कालोत्तरे -

अकारश्चोप्युकारश्चाहंकारं बुद्धिरेव च।
मकारस्तु मनश्चित्तं बिन्दुनादात्मविग्रहम्॥

एवं पञ्च प्रकारेण चोङ्कारोद्धृतिरुच्यते।

अन्यत्र।

स्वर्गे देशात्म बोधश्च समुद्रे च तरङ्गवत् ॥

p. 1043)

अकारं ब्रह्मदैवत्यं उकारं विष्णुदैवतम् ।
मकारं रुद्रदैवत्यं बिन्दुरीश्वर एव च ॥

नादस्सदाशिवः प्रोक्त इत्येता अधिदेवताः ।

मकुटे -

इडा च पिङ्गला चैव वीणादण्डस्य पार्श्वयोः ।
सुषुम्ना मध्यगा तत्र तन्मध्ये सुषिरन्तथा ॥

जीवः प्राण समायुक्तस्तन्मध्ये सह सञ्चरन् ।
संयुक्तो योगमाख्यातं योगी योगं समाश्रयेत् ॥

सिद्धतन्त्रे -

अनेकार्थ पदार्थाख्यास्समूहो वात्मचेच्छृणु ।
पश्येत् भोक्तन्तथा ज्ञेयन्तथा पश्येद्यथार्थतः ॥

तद्दृष्टौ कोस्मिलोकेयज्ञात्र ज्ञेयस्य भिन्नवत् ।

तच्चैतन्यगतं ज्ञानमात्म उष्णमिवानले ।
अनेके नैक भावश्च गुणश्च गुणदृष्टयेत् ॥

मनादि तत्वजालानि करणं किकणन्तथा ।
मनादि तत्गुणायुक्तम् वेद्यामातत्स्वयं गते ।

p. 1044)

उत्तरम् ।

यदा ज्ञानक्रिया चैव आत्मनश्च न सम्युतम् ।
देहेथवा विवाद स्यात् सान्निध्येस्ति तथा न चेत् ॥

तदुक्तं सन्निधीभावो शवसुतौ क्व गच्छति ।
करणं रहितं चेत्तु सन्निधित्वं च गर्हितम् ॥

सान्निध्यमयस्कान्दमिवा ख्यातन्तत्कथं भवेत् ।
आकर्षणन्तत्स्वभावं हि आत्मनस्तदुदाहृतम् ॥

देह व्यापारमित्युक्तमात्मनैवेह विद्यते ।
रूपं च दृष्टवद्देहे अनित्यं भौतिकं भवेत् ॥

आत्मरूपं सुसूक्ष्मञ्चेदष्टं स्थूलकारणम् ।
अचेतनन्ततस्सूक्ष्मं सूक्ष्मरूपमनित्यता ॥

रूपारूपञ्चेदात्मा तदा च व्युत्क्रमोद्भवः
विभागवनैक एवं स्यात् काष्ठादग्निवदेव चेत् ॥

सर्वमात्मनि दृशं रूपं तस्य सत्वं लयंञ्चगम् ।

p. 1045)

चन्द्ररूपमिवाख्यं चेत् प्रत्यक्षं शिवरूपवत् ।
एतद्देहे सरूपिस्याज्जडाख्यं भौतिकं भवेत् ॥

आकाशमिवा रूपस्त्व विकारी चेतनस्तथा ।
देहबन्धश्चलनत्वात् गच्छगच्छान्त तत्भवेत् ॥

अचिदात्मान चिच्चापि चिदचिच्च कदाचन ।
समवाय विधा स्थित्यामचिन्त्यो न चिदचिद्य हि ॥

विद्यते क्रमचित् चित्या मतो तस्य सदन्नहि ।

आत्माणुराख्यद्देहेन बन्धोश्चमगुरुद्धृतम् ।
हरापि वहनोगश्चो * * विन? ततो लभेत् ॥

आत्मादेहैक देशस्थो लयेदेकेन चेत्तथा ।
दीपप्रकाशवत्ज्ञेयं चेदेकस्थमुदाहृतम् ॥

दीपं स्पर्शाद्देहेदेहमात्र स्पर्शोत्सतत्तथा ।
यदि सर्वं च युगपद्यद्यदेव हि ॥

च्छेद्यश्चेद्देह पूर्णस्थो तदानीं दृक्कथं भवेत् ।

p. 1046)

इन्द्रियैस्सह विज्ञानं युगपत्स्यात्तदा मुने ।
देहमात्रे हि बोधोपि देहान्ते लीयते सकृत् ।

सर्वत्रावस्थिति व्याप्तिर्यद्यवस्था गता गता ।
कीर्तिता कथितं ज्ञेयं प्रत्येकञ्च तदिन्द्रियैः ॥
देहप्रपञ्च संहारे किं स्थितात्मा तदा वदेत् ।

स्वायम्भुवे -

यद्यशुद्धिर्न्नपुंसोस्ति सक्तिर्भोगेषु किङ्कृता ।
शुद्धे सिनतत् भोगो जाघरीति विपश्चितः ॥

मृगेन्द्रे -

चैतन्यन्दृक्क्रिया रूपन्तदस्त्यात्मनि सर्वदा।
सर्वतश्च यतो मुक्तौ श्रूयते सर्वतोमुखम्॥

तदप्य भासमानत्वात्तन्निरुद्धं प्रतीयते।
वैश्योनावृत वीर्यस्य सो त एवाविमोक्षणात्॥

पाशाभावे पारतन्त्र्यं वक्तव्यं किन्निबन्धनम्।
स्वाभाविकश्चेन्मुक्तेषु मुक्तशब्दो निवर्त्तते॥

पराख्ये -

अचेतनममूर्तं यत् तत्कथन्नयते परः।

p. 1047)

तत्फलं भिन्नदेशस्थं विभुत्वन्त्वनुशोभितम्।

अन्यत्र -

व्यञ्जना यत्र यत्र स्युश्शरीरन्तत्र तत्र तु।
भोगार्थं स्यात् गुणव्यक्ति व्यापित्वन्तेन गम्यते॥

मतङ्गे -

निरुद्धशक्तयस्सर्वे शिवार्क्क करचोदिताः।
विकसत्यणु पत्मास्तु मायासरसि विस्तृते॥

पौष्करे -

पशुः पशुत्वसंरुद्ध दृक्क्रिया प्रसरस्तदा।

सिद्धतन्त्रे -

आत्मामायोदरान्तत्थो कलादीनां स्वभावतः।
चैतन्यं चय एतत्झे एकादशेयुते कृतिः॥

गुणत्रयादि सम्बन्धात् भोगेष्वपि च भुज्यते।

सिद्धतन्त्रे -

सूक्ष्मदेहे पशुस्थित्वा तत स्थूलं स्वरूपयुक्।
जाग्रदादि पञ्चावस्था कर्म्मणा भोगभुक्तिस्थतः॥

कालोत्तरे -

पुर्यष्टक समायोगादूर्ध्वाधस्संप्रयच्छति।

p. 1048)

चिन्त्ये

अन्नप्राणमनोज्ञानमानन्दमय पञ्चकम्।
अन्नमादिमयन्देवि अन्योन्यं सूक्ष्मरूपकम्॥

आत्मयुक्तेन्न रूपस्य मायोपादान कारणम्।
अन्तर्बहिस्थितस्तेषु अरूपः पञ्चकोशवत्॥

तदुक्तं सर्वसिद्धान्तसङ्ग्रहे -

आत्मत्वेन भ्रमन्त्यत्र वादिनः कोशकेश्वके।
अन्नप्राणन्मनोज्ञान मायाकोशस्तथात्मनः॥

आनन्दमयकोशश्च पञ्चकोशा उदीरिताः।
मनोविकारे विहित इत्यानन्दमयो विदुः॥

गृह्णात्यन्नमयात्मानन्देहालोकयतः खलु।
देहः परिणमितं प्राणमप्यार्हता विदुः॥

विज्ञानमयमात्मानं बौद्धा गृह्णन्ति नापरम्।
आनन्दमयमात्मानं वैदिकाः केचिदूचिरे॥

अहङ्कारात्म वादी तु प्राहुः प्रायोमनोमयाः ।

कर्म्मकृद्रूपनृत्तं च रूपनृत्तं च वृक्षवत् ।
रथैवाप्य नतः कश्चिन्नाटयस्य बहुरूपवत् ॥

p. 1049)

तक्ष आत्मैव इत्याहुस्तथा देहेन्द्रियाणि च ।

तथा स्कान्दपुराणे -

चर्माक्षिप्तानि रूपाणि शैलूषो निपुणो यथा ।
सूत्रग्रन्थित यन्त्राणि प्रनर्त्तयति लीलया ॥

चिन्त्ये -

देहेन्द्रिय प्रकरणं विद्यातेत्तपि विस्तृता ।
* * * * * * * * * * * * * * * * ॥

अन्यथा दृश्यते तेन तथा देहेन्द्रियाणि च ।

उत्तरम् ।

तथा तेन च देहात्मा नखकेशादिवर्जितः ।

धारयन्वस्त्राभरणं न स्वयं कश्चिद्विचारयेत्।
ते ततो वर्ज्यते दृश्यन्देहान्यात्मा तथापि च ॥

चिन्त्ये -

भिन्न देहात्म देवेश विद्यार्च्चनदृढः कथम्।
सा च वन्नव दीक्षायै विधिपूर्वक पूर्वकम्॥

पूर्वकम्र्मक्षयः कर्त्ता चरणं सर्वदेहिनाम्।

मनसाख्यं क्वचिद्बुद्धिर्बुध्या ख्यातं क्वचिन्मनः।
चित्ताख्यं क्वचिज्जीवो जिवाख्यं चित्तकं क्वचित्॥

p. 1050)

क्वचिदात्मा शिवाख्यातः आत्माख्यातः क्वचिच्छिवः।
सर्वेषामप्रबुद्धाख्यामितरे ह्यात्म भावतः॥

चिन्त्ये -

देहचित्तञ्च विद्यार्थमात्मेत्यात्मावृतः कथम्।
महा प्रकाश दीपाख्यमावास स्थानमेव च ॥

अभिन्नं विद्यते चात्मा * * * * * * * न्नता।

चिन्त्यवचनम्।

भुक्तोत्साहन्ततस्सुप्तौ दृष्टस्तत्र जाग्रता।
बोध्यते बोधतश्चात्मा देहान्यस्सर्वतश्चवित्॥

सैव बोधविदज्ञोपि दीयते चेन्द्रियादिकम्।
जायते मलरुद्धे आत्मा बोधेन्द्रियाणियुक्॥

दृतेन समवस्थोपि ददतोमात्य राजवत्।

ग्राम प्रदक्षिणोराजा क्रमेणान्तर्गतो यतः।
आत्मा सहेन्द्रियव्यापी पञ्चावस्थां गतस्ततः॥

तथा शिवज्ञानबोधे -

अवस्था पञ्चकन्तस्य मलरुद्धस्वदृक्क्रिया।

p. 1051)

चिन्त्ये -

मुखे जाग्रदिति ज्ञेयं स्वप्नन्तु हृदयान्तकम्।

हृदयादि समारभ्य नाभ्यन्तन्तु सुषुप्तिकम्॥

तस्मादधसताात्तुर्यन्तु तुर्यातीतन्तु लिङ्गकम्।
पञ्चत्रिंशत्पञ्चविंशत्त्रिद्व्येक इति तत्वयुक्॥

जाग्रादि स्थानमेवं हि प्रवत्तकमिहोच्यते।
श्रोत्रत्वङ्नेत्र जिह्वा च घ्राणश्चैव तु पञ्चकम्॥

शब्दस्पर्शौ रूपरसौ गन्धश्चैव तु पञ्चकम्।
वाक्पाणि पादपायुश्चोपस्थश्चैव तु पञ्चकम्॥

वचनादान गमनविसर्गानन्द पञ्चकम्।
प्राणोपानस्तथा व्यानोदानश्चैव समानकः॥

नागकुम्र्मौ कूकरो देवदत्तो धनञ्जयः।
मनोबुद्धिरहङ्कारचित्तज्ञानानि पञ्च च॥

पञ्चत्रिंशतिवर्त्तन्ते जाग्रैतानि विनिर्द्दिशेत्।
शब्दादि वचनादिश्च प्राणादि मन आदिकम्॥

एते चरन्ति वै स्वप्ने मायारूपेणजाग्रतः।
जाग्रे विषय भोगं स्यात् प्रतिभास्वप्न एव च॥

अयसाग्निसमायोगात् वियोगाग्निवदायसः ।

p. 1052)

प्राणयुक्तो मनश्चैव क्षेत्रज्ञश्च सुषुप्तिके ।
आत्मामुखे भ्रुवोर्म्मध्ये स्थितो जाग्रत्प्रकीर्तितः ॥

तथा चिन्त्यविश्वे -

अवस्थेयं पुमान्ज्ञेयो ललाटे करणादिभिः ।
ऊर्ध्वाधोवर्त्तते जीवो जाग्रादिकरणैस्सह ॥

लूतिकं वलये लूतो यथा भ्रमति नित्यशः ।
जाग्रत् स्वप्नसुषुप्तिस्तु तुर्यञ्च तदीतकम् ॥

अवस्था पञ्च विज्ञेया सदाचार्योपदेशतः ।
षट्त्रिंशत्तत्व संख्याभिर्ज्जाग्रत्काले विभावयेत् ॥

श्रोत्रादि स्थानके तस्मिन् शब्दादि ज्ञान संस्मरेत् ।
वागादौ वचनादींश्च भावयेन्नन्दिकेश्वर ॥

विंशतिश्च विसृज्याथ मनादींश्च विमर्शयेत् ।

मनोबुद्धिरहङ्कारान्विसृजेत्तत्रदेशके ॥

रागमाया कलाश्चापि विसृजेत्तच्चतुर्यके ।
विद्यादिशुद्धकालान्तं विसृजेत्तत्तृतीतके ॥

तुर्यातीतं परन्तत्वं मानसानां लयं भवेत् ।
मनसो लयतश्चैव परांमुक्तिं समश्नुते ॥

चिन्त्य विश्वे -

जाग्रादि द्विविधं ज्ञेयं भवमोक्षगतन्तु यत् ।

p. 1053)

स्थाणु स्थाने महामोक्षं भवमार्गमधोच्यते ।
स्थूलं सूक्ष्मं सुसूक्ष्मं च अतिसूक्ष्मन्तथाधिकम् ॥

स्थूलं जाग्रदिति ज्ञेया सूक्ष्मं स्वप्नमिहोच्यते ।
सुषुप्तिस्तु सुसूक्ष्मं स्यात् अतिसूक्ष्मन्तुरीयकम् ॥

ततोधिकं तुर्यातीतमेवं पञ्चविधं स्मृतम् ।
जाग्रत्स्थाने प्रदृश्येत योगाभ्यासवतः क्रमात् ॥

जाग्रभूर्विप्रवृत्तिश्च प्रत्याहारेण शाम्यति।
धारणेन त्यजेत् स्वप्नन्ध्यानेनैव सुषुप्तिकम्॥

समाधिनाजयेत्तुर्यं तुर्यातीतं शिवेन तु।
शिवेन दृश्यते सर्वं जाग्रदित्यभिधीयते॥

जाग्रादि पञ्चावस्थायां जाग्रत्स्थाने प्रदर्शयेत्।
सद्गुरोरूपदेशेन प्रासादे नैव सिध्यति॥

अभ्यास ज्ञानयोगेन भक्तिमार्गेण भावयेत्।

एवं वातुले -

ज्ञानातीतं परं शुद्धं सर्वगं सर्वतोमुखम्।
भावं शिवं च सम्भाव्य स्वस्मिन्नेवं विभावयेत्॥

एवं ध्यात्वा महायोगी अखण्डित महोदयम्।

केवलसकलशुद्धम्। स्वायम्भुवे -

अथात्मा विमलोबद्धः पुनर्म्मुक्तश्च दीक्षया।

p. 1054)

विज्ञेयस्स त्रिधावस्थः केवलस्सकलोमलः ॥

तत्रैव ।

अचेतनो विभुर्न्नित्योगुणहीनो क्रियः प्रभुः ।
व्याघात भागशक्तश्च शोध्यो बोद्धः खलः पशुः ॥

तथा किरणे -

पशुर्न्नित्यो सुमूर्तज्ञो निष्क्रियो निर्गुणो प्रभुः ।

स्वायम्भुवे -

कलोद्वलित चैतन्यो विद्यादर्शित गोचरः ।
रागेण रञ्जितश्चापि बुद्ध्यादिकरणैर्युतः ॥

मायाद्यवनि पर्यन्त तत्व भूतात्मवर्त्मनि ।
भुङ्क्ते तत्र स्थितान्भोगान् भोगैकरसिकः पुमान् ॥

संसारी विषयी भोक्ताक्षेत्री क्षेत्रज्ञ एव च ।
शरीरे चेति बद्धात्मा सकलश्चोच्यते बुधैः ॥

सुप्रभेदे -

अशीतिश्च चतुश्चैव शत साहस्र भेदकैः ।
संप्राप्य योनिभेदस्तु जीवनाम्ना तु तत्र च ॥

प्रोक्ता च सकलावस्था जीवाख्यानान्ततश्शृणु ।

समे कर्म्मणि सञ्जाते कालान्तरवशात्ततः ।

p. 1055)

तीव्रशक्ति निपातेन गुरुणा दीक्षितो यदा ।
सर्वज्ञस्सशिवो यद्वत् किंचिज्ञत्व विवर्जितः ॥

शिवत्व व्यक्तिसम्पूर्णस्स री न पुनस्तदा ।

सुप्रभेदे -

शुद्धावस्था इयं प्रोक्ता सर्वज्ञत्वादिभिर्गुणैः ।
शुद्धावस्थानमात्मानं शिवरूपमिति स्मरेत् ॥

त्रयोवस्थाश्चयो ज्ञात्वा पुनर्ज्जन्म न विद्यते ।

इति चतुर्थसूत्रं सम्पूर्णम् ॥

पञ्चमसूत्रम् ॥

शिवज्ञानबोधे -

विदन्त्यक्षाणि पुंसार्थान्न स्वयं सोपि शम्भुना ।

चिन्त्ये -

शिवो बोध्यादि सर्वस्य ज्ञानाप्रख्याधिकं च किम् ।

उत्तरम् ।

अर्कस्य सन्निधौ पद्म वक्रवत्कर्म्मणस्तथा ॥

तथा मतङ्गे -

निरुद्धशक्तयस्सर्वे शिवार्ककरचोदिताः ।
विकसन्त्यणुपत्मास्तु मायासरसि विस्तृते ॥

p. 1056)

शिवधर्म्मोत्तरे -

न करोति यतस्सर्वं स्वभोगाद्यं करोति च ।
अस्वतन्त्र्यादकर्त्ता यः किंचित्कर्त्ताणुरन्धवत् ॥

न वेत्ति तत्वतस्सर्वं तेनाज्ञः पुरुषः पशुः ।
सिद्धाध्यवसितं किंचित् ज्ञानात् किंचिज्ञ उच्यते ॥

तथा पौष्करे -

अज्ञो जन्तुरनीशोयं मात्मा यस्माद्विजर्षभाः ।
सोपि सापेक्ष एव स्यात् स्वप्रवृत्तौ घटादिवत् ॥

तथा निश्वासे -

किंचिज्ञस्सर्वतोप्यात्मा ततो बोध्यावबोधकः ।

किरणे -

तस्यशुद्धस्य संबन्धं समायाति शिवात्कला ।
तयोर्वेल्लित चैतन्यो विद्यादर्शितगोचरः ॥

रागेण रञ्जितश्चापि प्रधानेन गुणात्मना ।
बुद्ध्वादिकरणानेक सम्बन्धात् बध्यते पशुः ॥

ततो नियति संश्लेषात् स्वार्जिते विनियम्यते ।
कालेनकाल संख्या न कार्यभोग विमोहितः ॥

एवं तत्वकलाबन्धः किंचिज्ञो देहसंयुतः।
मायाभोगपरिष्षक्तस्तन्मयस्सहजावृतः॥

p. 1057)

ततस्सुखादिकं कृत्स्नं भोगं भुङ्क्ते स्वकर्म्मतः।

निश्वासे -

सर्वज्ञस्सर्वगस्तस्मादात्मानं बोधयेच्छिवः।
चराचराख्य जन्तूनां प्राणरूप इति स्मृतः॥

सिद्धतन्त्रे -

चिद्रूपे जडसम्बन्ध जनानां वस्तु वस्तुनि।
देवेषु चात्मनामेव सन्निधौ बोधजं वदेत्॥

सिद्धतन्त्रे -

सर्वलोकाश्च योनिश्च शिवस्याङ्गश्च विग्रहम्।
अन्तःकरण चैतन्यं विदितं कृत्यपञ्चकम्॥

तथा स्कान्दे -

पञ्चक्टच * * * * * * स्य विमायिनः।
इदमेव परन्दिव्यं ताण्डवं परिकीर्तितम्॥

पौष्करे -

कर्म्मणार्थस्य संवित्तिः पूर्वमालोचनात्मिका।
सन्देह रूपिणी पश्चादभिमानात्मिका ततः॥

व्यवसायात्मकी पश्चात्क्रमेणैव व्यवस्थिताः।

चिन्त्यविश्वसादाख्ये -

p. 1058)

सर्वात्मनां च जननं मरणं च तथैव च।
कारुण्यात् क्लेशमालोक्य तेषां शम्भुः पुनस्तथा॥

कर्म्मणां पाचनार्थाय सृष्टिन्निर्म्माय पूर्ववत्।
दुःखानि भोगमखिलं भोजयेन्नन्दिकेश्वर॥

मलेन परिपाके तु पक्वानां परमेश्वरः।
आचार्य मूर्तिमास्थाय दीक्षया नियतन्ददेत्॥

निश्वासे -

एकैव वस्तुतश्शैवी वा शक्तिन्निर्मला परा।
अ ना भाविना शम्भोश्शुचेष्णमिव प्रभा॥

तथात्म शिवयोस्सन्धिश्शिवबोधपरंपरा।

तथा वातुलोत्तरे -

न शिवेन * * * * * * * क्तिरहितश्शिवः।
गमवत्यन्धकारं * शिवश्शक्त्यार्कषत्गुह॥

इति पञ्चमं सूत्रं सम्पूर्णम्॥

षष्ठमसूत्रम्॥

शिवज्ञानबोधे

अदृश्यं चेदसत्भावो दृश्यञ्चेज्जडिमा भवेत्।
शम्भोस्तद्व्यतिरेकेण रूपं ज्ञेयं विदुर्बुधाः॥

p. 1059)

तथा वातुलोत्तरे -

ज्ञेयोज्ञेयोथवा सोमेत्यज्ञेयोचित सत्भवः।

अङ्गे नैव चातो वा द्वयं सन्मयत स्थितः ॥

वातुलोत्तरे -

सृष्टि स्थिति विनाशोपि चतुर्विधे कार्यदर्शने ।
आत्मज्ञानेन दृश्येत् जडस्याज्जडतोगुह ॥

वातुलोत्तरे -

लोकत्रयभावोपि ब्रह्मविष्णोः परास्पदम् ।
मरीचिका स्वप्नवत् ज्ञेयमसत्यन्निष्प्रयोजनम् ॥

निमिषाल्लयते चापि क्षुद्रस्यापि स्वभाववत् ।

स्वच्छन्दे -

मायाद्यवनि पर्यन्तमिन्द्र जालन्तु बुद्धितः ।
अदृश्येत् पदार्थश्चेन्न च तन्निष्प्रयोजनम् ।

उत्तरम् ।

पूर्वन्तदृश्यते ज्ञानं किन्तु लाभन्तथापि च ॥

आत्मज्ञानेन सदसदिदमुक्तेन निष्फलम् ।
वाङ्मनोतीततत्वं हि शिवभावमिति स्मृतम् ॥

p. 1060)

प्रयोजनं किमस्ति स्यात्तथापि परमेश्वरः ।

उत्तरम् ।

सद्भोगं वाङ्मनोतीतं स्वयमेवानुभूतिमत् ॥

तदेव शिवभोगं च तदेव परमं सुखम् ।

सर्वज्ञानोत्तरे -

सर्वभावं परित्यज्य अभावं भावयेत् सदा ।

तथा निश्वासे -

अभावे भावमालम्ब्य भावं कृत्वा निराश्रयम् ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥

अभावे भावमाश्रित्य भावलीनोप्यशङ्कितः ।
विभुरिति समन्तव्यो नात्र कार्या विचारणा ॥

अभावस्य कुतो भावो निष्कलस्य महात्मनः ।
अमनो अव्यवस्थानन्निर्वाणन्तस्य तत्पदम् ॥

सर्वज्ञानोत्तरे -

अद्वैत भावनायुक्तस्सर्वदात्मनि संस्थितः ।
सर्वगं सर्वदेहस्थं प्रपश्येन्नात्र संशयः ॥

पौष्करे -

न मोक्षं याति पुरुष स्वसामर्थ्यात् कदाचन ।
मुक्त्वा प्रसादन्देवस्य शिवस्या शिवहारिणः ॥

अन्यत्र ।

p. 1061)

ज्ञान दृष्ट्या परोगद्यो रूपशरश्शिवः ।

सर्वज्ञानोत्तरे -

येन विज्ञायते सर्वं यत्ज्ञात्वा तु शिवो भवेत् ।

इति षष्ठसूत्रं सम्पूर्णम् ॥

सप्तमसूत्रम् ॥

शिवज्ञानबोधे -

नाचिच्चित्सन्निधौ किन्तु न चित्तस्मादुभे मितः ।
प्रपञ्च शिवयोर्वेत्ता यस्स आत्मातयोः पृथक् ॥

शिवं प्रपञ्च सदसत्ज्ञेयमात्म द्वयन्नपि ।
आत्मालाभार्थतः पश्येत्तनौजं गन्धपुष्पवत् ॥

आत्मनस्सर्वदोषं च परमात्मनि तन्नयुक् ।
यद्यपि त्रिपदार्थं च लवणां भोधिवत्स्थितम् ।

किरणे -

अनादिमलसम्बन्धात् किञ्चिज्ञोणुर्म्मयोदितः ।
अनादिमलमुक्तत्वात् सर्वज्ञो सौ ततश्शिवः ॥

वायव्ये -

यथा नादि प्रवृत्तोयं घोर संसारसागरात् ।

p. 1062)

शिवोपि हि तथा नादिस्संसारान्मोचक स्मृतः ।

सप्तमसूत्रम् सम्पूर्णम् ॥

अष्टमसूत्रम् ॥

शिवज्ञानबोधे ।

स्थित्वा सहेन्द्रिय व्याधैस्त्वान्न ।

वेत्सीति बोधितः ।

मुक्त्वैतान् गुरुणानन्यो
धन्यः प्राप्नोति तत्पदम् ॥

सुप्रभेदे

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याश्शूद्राश्शुद्ध कुलोद्भवाः ।
आचार्यास्तेषु विज्ञेया नान्येषान्तु कदाचन ॥

शिवधर्म्मोत्तरे -

संसारपङ्कनिर्म्मग्नं यस्समुद्धरते नरम्।
शिवज्ञानेन हस्तेन कस्तेन सदृशः पिता॥

चिन्त्य विश्वे -

अनुग्राह्य स्त्रियश्शास्त्रे विज्ञानप्रलयाकलौ।
तृतीयस्सकलश्चैव आद्योपि मलमात्रकः॥

मलकर्म्म समायुक्तः प्रलयाकल एव च।
मलमाया कर्म्मयुतस्सकलस्सोभिधीयते॥

साधारोथ निराधारस्साधारस्सकलस्य तु।

p. 1063)

निराधाराह्वयान्येषामेव दीक्षा मयोदिता।
आचार्य निरपेक्षेण तीव्रशक्त्या तु शम्भुना॥

या क्रिया क्रियते सा तु निराधारेति कीर्तिता।
गुरुमूर्तिं समास्थाय मन्दतीव्रादि भेदया॥

शक्त्या शम्भुश्च कुरुते सा दीक्षा साधिकारिणी।

वरुण पद्धत्याम् -

शिवस्यानुग्रहो दीक्षा जायते कृतकर्म्मणाम् ॥

साचानेकविधा प्रोक्ता तत्प्रपञ्चोयमुच्यते ।
चाक्षुषी स्पर्शदीक्षा च वाचकी मानसी तथा ॥

शास्त्री च योगदीक्षा च हौत्रीत्यादिरनेकधा ।
रजः कुण्डवती हौत्री साद्विभेदा किलोदिता ॥

आद्या ज्ञानवती प्रोक्ता क्रियावत्य परा स्मृता ।
विनेज्यानलकर्म्मादि मनोव्यापारमात्रतः ॥

दीक्षा ज्ञानवती प्रोक्ता सम्यक् तत्त्वावबोधजा ।
इज्यानलवती या तु क्रियाकौशल सम्भवा ॥

क्रियवत्यय सा वेका निर्बीजा च स बीजका ।

कालोत्तरे -

बालादीनां तु निर्बीजा समयाचारवर्जिता ।

वरुणपद्धत्याम् -

p. 1064)

नित्यमात्राधिकारत्वात् समयिन्यथ पुत्रके ।
दीक्षा निरधिकारैव नैमित्ते नाधिकारिणी ॥

विजयोत्तरे -

पूजायतस्ततस्तत्र समयी नाधिकारभाक् ।
अथ निर्बीजिका दीक्षा प्रोक्ता सा द्विप्रकारिका ॥

एका निर्वाणदा सद्यो द्वितीया देह पाततः ।

सिद्धान्ते -

प्रारब्ध सञ्चिता गामि? कर्म्मजालं विशोध्यते ।
ययात्यन्त विरक्तानां सद्यो निर्वाणदा भवेत् ॥

प्रारब्ध कर्म्मणां भोगं यथा सा मुक्तिमन्तरा ।
यान्ति बालादयश्चैव स्वेच्छा निर्वाणदा भवेत् ॥

किरणे -

प्रारब्धकर्म्मनाशे तु स्वयन्देहोपपद्यते ।

कालोत्तरे -

स बीजा चैव शक्तानां समयाचारसम्युता ।
तेत्र बाल्या प्रयत्नेन मोक्षसिद्धि समीहिता ॥

वरुण पद्धत्याम् -

स बीजा च भवेद्दीक्षा साधकाचार्ययोरपि ।

षट्सहस्त्रिकायाम् -

p. 1065)

नित्यं नैमित्तिकं काम्यमाचार्यस्योदितं त्रयम् ।
नित्यं काम्यं साधकस्य स्वशास्त्रोक्तं षडानन ॥

वरुणपद्धत्याम् -

सर्वत्रैवाधिकारित्वात् साधिकारैव सा तयोः ।
साध्यमन्त्राभिषेकाच्च साधके सा प्रकीर्तिता ॥

सर्वविद्याभिषेकेण भवेदाचार्य गोचरे ।

षट्सहस्त्रिकायाम् -

द्विधा निर्वाण दीक्षा च लौकिकी शिवधर्म्मिणी ।

अधर्म्ममात्र संशुद्धा प्रोक्ता सा लोकधर्म्मिणी ॥

धर्म्माधर्म्मात्मकं कर्म प्रागागामि विचित्रकम् ।
सञ्चितंशोध्यते येन सैवोक्ता शिवधर्म्मिणी ॥

वातुले -

गुरुपदेश क्रमतो दीक्षितानां क्रमात् भवेत् ।
समयं च विशेषं च निर्वाणं चाभिषेचनम् ॥

वरुणपद्धत्याम् -

क्रियया वाथशक्त्या वा दीक्षा सा सर्वतोमता ।
दीक्षया मुच्यते देही त्रिविधात् भवबन्धनात् ॥

कामिके -

क्रियादीक्षा प्रबुद्धानां ज्ञानदीक्षामनीषिणाम् ।

p. 1066)

मुच्यते ज्ञानदीक्षाया विना पाशान्नमोचनम् ॥

वरुणपद्धत्याम् -

सा च दीक्षाध्व संशुद्धा स चाध्वा षड्विध स्मृतः।
मन्त्रः पदानि वर्णाश्च व्याप्तानीह समन्ततः॥

वर्णास्तु भुवनैर्व्याप्तास्तत्वैर्व्याप्तानितानि च।
कलाभिस्तानि तत्वानि व्याप्तानीह कला क्रमात्॥

इत्यध्वनां विचिन्त्याथ षडध्वव्यापिनं परम्।
ध्यात्वा शक्तिन्नदूर्ध्वे तु भवेयुः परमं पदम्॥

निवृत्तौ पार्थिवन्तत्वञ्चिन्त्यमेकं क्षकारकम्।
कालाग्नि प्रभृतीनां तु पुराण्यष्टोत्तरं शतम्॥

अन्त्यात्पदान्महादेव पदावधिविलोमतः।
व्योमव्यापि पदान्यष्टाविंशतिः परिसंख्यया॥

सद्यो जातश्च हृदयन्द्वौ मन्त्रौ परिकीर्तितौ।
गुणं गन्धादिशब्दान्तं पञ्चब्रह्मा च कारणम्॥

प्रतिष्ठायामवादीनि त्रयोविंशति संख्यया।
प्रकृत्यन्तानि तत्वानि ज्ञातव्यानि स्वभावतः॥

त्रयोविंशति वर्णाश्च हादिनान्ताविलोमतः।

ज्ञातव्यान्यमरेशादि षट्पञ्चाशत्पुराणि च ॥

p. 1067)

महेश्वराद्यरूप्यन्न पदानामेक विंशतिः ।

शिरोवामश्च मन्त्रौद्वौ चत्वारि तु गुणा स्मृताः ॥

रसादिशब्द पर्यन्ता विष्णुरत्र च कारणम् ।

विद्यायां सप्ततत्वानि पुरुषादीन्यनुक्रमात् ।

वामादि भुवनानां च विज्ञेया सप्तविंशतिः ॥

ध्यानाहरपदा * * न व्यापिनीति पदादितः ।

पदानां विंशतिर्म्मन्त्रौ * * * * * * * * ॥

* * * * * * * * * * * * * * * * |

रूपः स्पर्शश्च शब्दश्च गुणारुद्रस्तु कारणम् ।

शान्तौ तु त्रीणि तत्वानि विद्येश्वर सदाशिवः ॥

ण * * काश्च त्रयोवर्णा मन्त्रौ वक्त्र तनुच्छदौ ।

वामाख्यादि पुराण्या * * * * * * * * ।

* * * * * * * * * * * * * * * * ॥

व्योमव्यापिन इत्यन्तान्युक्तानीह विलोमतः ।
गुणौ स्पर्शश्च शब्दश्चद्वावी * * कारणम् ॥

शान्त्यातीत कलायान्तु शिवतत्वं व्यवस्थितम् ।
निवृत्त्यादि पुराण्यत्र भवन्ति दश पञ्च * * ॥

p. 1068)

विसर्गाद्या कारान्ता वर्णाष्षोडशकीर्तिताः ।
भवत्येको गुणश्शब्दः कारणन्तु सदा शिवः ॥

चिन्त्ये -

इत्येकादशमन्त्रेस्यादेकाशीति पदं भवेत् ।
अक्षराण्येक पञ्चाशाच्चतुर्विंशाच्छतद्वयम् ॥

षट्त्रिंशत्तत्वमेवं हि कला पञ्चक उच्यते ।

मतङ्गे -

सितं चैवासितं कर्म्मलोके तावत्प्रकीर्तितम् ।
हिंसादिकं कर्म्मयत् स्यात्तदकर्म्म च कर्म्मिणाम् ॥

वापी कूपतटाकाद्यैस्सितमेतत् प्रकीर्तितम् ।

एतत् कोटिद्वयोपेतंमुचितं सर्वजन्तुषु ॥

अपेक्ष्य वेदविध्युक्तमग्निष्टोमात्मिके पथि ।
कर्म्माकर्म्म विशेषोस्मिन् प्रोक्तन्तद्धिसितासितम् ॥

एतावत्त्रिविधं कर्म्म नेष्टंशास्त्रे शिवोदये ।

चिन्त्ये -

पूर्वजन्मकृतं कर्म्मभोगेन परिशुष्यति ।
इह जन्मनि यत्प्राप्तं ज्ञानेन शिथिलं कुरु ॥

तथान्यत्र -

p. 1069)

प्रारब्धं भोगतो न श्यात् सञ्चितं हन्ति दीक्षया ।
आगामि ध्यानपूजायामिति शास्त्रस्य निश्चयः ॥

योगजे -

स्थूलं च सूक्ष्मकं चैव द्विविधं समयं भवेत् ।

अचिन्त्ये -

लोकायतोय बौद्धश्चार्हतो मीमांस एव च।
मायावादं पाञ्चरात्रं षडेते समया बहिः॥

अन्यत्र।

मनुर्बृहस्पतिर्दक्षो गौतमोधरमोङ्गिराः।
योगीश्वरः प्रचेदाश्च शतातप पराशरौ॥

संवर्त्तेशनसश्शङ्खलिखितावत्रिरेव च।
वेदोक्तकर्म्मभरिता धर्म्मशास्त्र प्रवर्त्तकाः॥

सुप्रभेदे -

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः।
ब्रह्मचारी द्विधा ज्ञेयो भौतिको नैष्ठिकस्तथा॥

कूर्म्मे -

उदासीनस्साधकश्च गृहस्थो द्विविधो भवेत्।
कुडुम्बभरणायत्तस्साधकोसौ प्रकीर्तितः॥

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य त्यक्त्वा भार्या धनादिकम्।
एकाकी विचरेद्यस्तु स उदासीन उच्यते॥

p. 1070)

चिन्त्य विश्वे -

यतयस्त्रिविधा ज्ञेयास्तपस्वी विदुषस्तथा ।
विद्वानिति त्रिधा प्रोक्तास्तेषां लक्षणमुच्यते ॥

तपश्चान्द्रायणादिकमिति सन्ताने -

चतुष्षष्ठि कलाश्चैव षट्कर्म्माणि तथैव च ।
योगशास्त्राणि सर्वाणि वेदान्तं ज्योतिषन्तथा ।

मतङ्गे -

सांख्य सिद्धान्तमार्गं च ज्ञात्वा वै देशिको भवेत् ।

शैवपुराणे -

ब्राह्मं च वैष्णवं पाद्मं शैवं भागवतन्तथा ।
भविष्यन्नारदीयं च मार्गण्डेयमतः परम् ॥

आग्नेयं ब्रह्मवैवर्तं लैङ्गं वाराहमेव च ।
स्कान्दं च वामनं प्रोक्तं कौर्म्मं मात्स्यं च गारुडम् ॥

ब्रह्माण्डं चेति पुण्योयं पुराणान्मानुक्रमात्।
ऋग्यजुस्सामाधर्वणाश्चतुर्वेदाः प्रकीर्तिताः॥

देविकालोत्तरे -

ज्ञानोत्पत्तिनिमित्तन्तु क्रियाचर्या प्रकीर्तिता।

सुप्रभेदे -

योगात् ज्ञानं समादाय ज्ञानतत्वं सदाभ्यसेत्।

p. 1071)

शैवे -

ज्ञानादेव हि मुक्ति स्यान्नान्यथा कर्म्मकोटिभिः।

चिन्त्ये -

अन्यथा बहवोमुक्तिश्शास्त्रे च वरानने।
शिवतुल्यं लभेन्मुक्तिरिदानीं कथ्यते मया॥

निश्वासे -

सिद्धान्त सङ्ग्रहे च॥

लोकायतिक पक्षे तु तत्वं भूत चतुष्टयम्।
इष्टलोकात् परोनान्य स्वर्गोऽस्ति नरको न च ॥

शिवलोकादयो मूढैः कल्प्यन्तेन्य प्रकारकैः।
स्वर्गानुभूतिमृष्टाष्टिद्यष्ट वर्षवधूरतिः ॥

सूक्ष्मवस्त्रसुगन्धसृक् चन्दनादि निषेवणम्।
नरकानुभवो वेदशास्त्रव्याध्याध्युपद्रवः ॥

मोक्षस्तु मरणं प्राण संज्ञवायु निवर्त्तनम्।

सर्वमतोपन्यासे -

तदेषां श्रुति वाक्यानां शब्दमात्रं हि देवता।
ज्योतिष्टोमाद्यनुष्ठानादपूर्वः कश्चिदार्जितः ॥

स्वर्गादिः फलरूपस्य प्रदानस्य तु देवता।
कर्म्ममीमांसकाः प्राहुरित्थं स्वमतलक्षणम्॥

p. 1072)

तथा मृगेन्द्रे -

न जातु देवता मूर्त्तिरस्मदादि शरीरवत्।

विशिष्टैश्वर्य सम्पन्नस्ततो नैतन्निदर्शितम् ॥

अतस्त्वेवं घटो न्यायश्शब्दत्वादिन्द्र शब्दवत् ।
ज्ञानसंस्कार संज्ञानं वेदना रूपयोरपि ॥

समूह स्कन्धशब्दार्थस्तत्तत्सन्तति वाचकः ।
ज्ञान सन्ततिरेवात्र विज्ञान स्कन्धमुच्यते ॥

संस्कारस्कन्ध इत्युक्तो वासनान्तन्तु सन्ततिः ।
सुखदुःखादिका बुद्धिस्सादीपेक्षात्मिका तथा ॥

वेदनस्कन्ध इत्युक्तस्संज्ञा स्कन्धान्तनावयत् ।
रूपस्कन्धो भवत्यत्र मुक्ति भूतस्य संहतिः ॥

चिन्त्ये -

शास्त्राणि समयाश्चैव अन्योन्येन विपर्यया: ।
एतेषा मुक्तिकोलाभादतित्वं यदि सृग्विसि ॥

एकेन नैतदित्युक्तमभिन्नन्यायतः प्रिये ।
सर्वेषां तु क्वचिद्दृष्टे स्थिते सन्ति तरुत्तमम् ॥

वेदागमेषु शास्त्रेषु ईश्वराढ्योति कीर्तितः।

तथा निश्वासे देवी -

वेदशास्त्र पुराणञ्च पाञ्चरात्रेतिहासयोः।

p. 1073)

योगिनश्च तथाचान्ये कुपथेष्वपि ये स्थिताः।
कुतर्कै मोहयित्वा तु स्वदेहन्दर्शयन्ति ते॥

देवि चात्र ब्रुवन्त्येव गतिरत्रकुतोन्वितः।
पक्षपातो भवे देषो मोक्षस्सर्वत्र वा भवेत्॥

एवं मे संशयो देव यत्सत्यं तत् ब्रूहि मे।

शिवधर्म्मोत्तरे -

विधिवाक्यमिदं शैवन्नार्थवादश्शिवात्मकम्।
यद्यथावस्थितं वस्तु गुणदोष स्वभावतः॥

यावत्फलं च तत्पुण्यं सर्वज्ञश्च तथा वदेत्।
रागज्ञानादिभिर्द्दोषैः ग्रस्तत्वादमृतं वदेत्॥

ते चेश्वरे न विद्यन्ते ब्रूयात्स कथमन्यथा।
अपास्ता शेषदोषेण सर्वज्ञेन शिवेन यत्॥

प्रणीतममलं वाक्यन्तत्प्रमाणन्न संशयः।
तस्मादीश्वर वाक्यानि श्रद्धेयानि विपश्चिता॥

मकुटे -

वेदान्तार्थमयं ज्ञानं सिद्धान्तं परमं शुभम्।
वेदसारार्थदं ज्ञेयमन्यत्वन्यार्थ साधकम्॥

कामिके -

p. 1074)

सिद्धान्तो वेदसारत्वादन्यत्वे तत्बहिष्कृतः।
सिद्धान्त विहिताचारो वैदिकाचार उच्यते॥

अजिते -

पञ्चवक्रधरो भूत्वा पञ्चभिस्तैर्मुखैरपि।
वेदादि ग्रन्थजालं यदवतारयति प्रभुः॥

कामिके -

लौकिकं वैदिकं चैव तथाध्यात्मिकमेव च ।
अतिमार्गं च मन्त्राख्यन्तत्र भेदमनेकधा ॥

सद्यो वाममघोरं च पुरुषेशानमूर्त्तयः ।
प्रत्येकं पञ्चवक्त्रास्युस्तैरुक्तं लौकिकादिकम् ॥

स्वायम्भुवे -

वेदादि ज्ञानभेदेन शिवज्ञानमिहोदितम् ।
चिन्तामणिरिवात्रासौ स्थितस्सर्वस्य कारणम् ॥

धर्म्मसाधन संवित्तिराम्नायादेव जायते ।
तन्मूलत्वात् स्मृतेश्चापि ताभ्यामेवापरस्य च ॥

पुराणादीनि शास्त्राणि सादरन्नित्यमाश्रयेत् ।
वेदमूलतयान्यानि प्रवृत्तान्यपि सत्तम ॥

सिद्धान्त सङ्ग्रहे -

अङ्गोपाङ्ग वेदास्युर्वेदस्यैवोपकारिकाः ।

p. 1075)

वेदाङ्गानि षडेतानिशीक्षाव्याकरणानि च ।

निरुक्तञ्ज्योतिषं कल्पं च्छन्दोविचितिरित्यपि ॥

मिमांसा न्यायशास्त्रं च पुराणं स्मृतिरित्यपि ।
चत्वार्येतान्युपाङ्गानि बहिरङ्गानि तानि वै ॥

कामिके -

ऋग्यजुस्सामाधर्वाणि पुरुषाद्यननोत्भवाः ।
पश्चिमाद्वामवक्रन्तु वामाद्दक्षिणमुत्तमम् ॥

दक्षिणात् पुरुषश्रेष्ठ उतरोत्रमेव वहि ।
पूर्वाननात्ततश्श्रेष्ठन्तस्मात् सिद्धान्तमुत्तमम् ॥

सिद्धान्तात्परमं ज्ञानं नेति शास्त्रस्य निश्चयः ।
अष्टाविंशति तन्त्राणि सिद्धान्तमिति कीर्तितम् ॥

रत्नत्रये -

सिद्धान्त एव सिद्धान्तः पूर्वपक्षास्ततः परे ।
सिद्धान्तस्सेव्यते सद्भिरशक्तिपात पवित्रितैः ॥

तथा कामिके -

आदावभूद्विधा ज्ञानमधिकारि विभेदतः।
परापर विभागेन पतिपाशात्म दर्शकम्॥

शिवप्रकाशकं ज्ञानं शिवज्ञानं परं स्मृतम्।
वेदाद्यपर विज्ञानं पशुपाशार्थ दर्शकम्॥

p. 1076)

यथा विलक्षणञ्चक्षु क्षपायान्नृबिडालयोः।
तथा विलक्षणं ज्ञानमेवमेतत् परापरम्॥

शिवधर्म्मोत्तरे -

आगमत्वेपि सामान्येकः प्रद्वेषश्शिवात्मके।
अनायासेन यत्प्रोक्ता मुक्तिरेकेन जन्मना॥

एवमेकेन भविकां विमुक्तिं परतस्थिताम्।
विहायानेक भविकां कः प्राज्ञः प्रतिपद्यते॥

तदुक्तन्निश्वासे -

शास्त्रेण सिध्यते सिद्धिस्सिधान्तस्तेन संस्मृतः।
शिवो देशिकदेहस्थः प्राण्यनुग्रहकारकः॥

पराख्ये -

सर्वकर्त्ता महान्विद्यात् सर्ववेत्ता महेश्वरः।

सर्वकृत्येषु तत्ज्ञानं व्या * * * * * * * * ॥

* * * * * * * * * * * * * * शिवः।

आगपि सर्वज्ञो गुणमाहात्म्य दर्शनात्॥

उभयोर्ज्ञापकत्वेन दोषस्त्वन्योन्य * * * भवेत्।

ज्ञापकं वर्तते शास्त्रन्तत्कर्त्ता वर्तते शिवः॥

ज्ञातृज्ञापकयोश्चैव न दोषस्त्वितरेतरः।

मृगेन्द्रे -

p. 1077)

सर्वज्ञस्सर्वकर्तृत्वात् साधनाङ्गफलैस्सह॥

यो यज्जानाति कुरुते स तथैवेति सुस्थितम्।

पराख्ये -

क्रियादि ज्ञानपर्यन्तं सद्यङ्मार्गञ्चतुर्विधम्।

तदुक्तं शिवज्ञाने -

चर्यापादन्दासमार्गं पुत्रमार्गं क्रियां विदुः ।
सहमार्गं योगपादं सन्मार्गं ज्ञानमेव च ॥

अथ चर्या क्रियापादं योगपादन्तथैव च ।
ज्ञानपादं क्रमाच्चैव शिवेन परिभाषितम् ॥

एतच्चतुर्विधं मार्गं सालोक्यादि फलप्रदम् ।

चिन्त्य विश्वे -

शिवसमानतारूपं शिवविग्रहमेव हि ।
सकले निष्कले चैव सर्वत्रैव समानता ॥

सायुज्यमिति तत्प्रोक्तं सारूप्यं मूर्तितुल्यता ।
सामीप्यं मूर्ति सामीप्यं स्वेच्छा विग्रहधारणात् ॥

शिवलोकादि संप्राप्तिस्सालोक्यं मुक्तिनामतः ।
एतच्चतुष्टयं मुक्तिस्सायुज्यश्चोत्तमं भवेत् ॥

कामिके -

दासमार्गं शिवोद्यान लिङ्गबिंबालयादिकृत्।

p. 1078)

शैव नर्त्तनतिस्तोत्रगान् कुद्रोहिमर्द्दकः।

शिवज्ञानबोध सङ्ग्रहे -

क्रियामूर्त्तेर्महेशस्य आलयेषु समाहितः।
शनैस्सम्मार्जनं कुर्यान्मार्ज्जन्यामृदुसूक्ष्मया ॥

तल्लक्षणमुक्तं सुप्रभेदे -

द्वादशाङ्गुलमानेन मार्ज्जिजालेन मार्जनम्।
नालिकेरस्य पत्राणां सारात्बहु च संयुतात्॥

अरत्निमात्र मायामन्तन्मूले रज्जु बन्धनम्।
द्विविधा मार्जनी प्रोक्ताह्यथमार्जन कर्म्माणि ॥

शिवधर्म्मे -

नाहारवश जीर्णाया न बन्ध्या क्षीण वत्सला।
रोगार्त्ता नवसूता वा त्याज्यागोमय सङ्ग्रहे ॥

ख संस्थं गोमयं ग्राह्यं स्थाने वा पतिते शुभे।

उपर्यधश्च संत्यज्य प्रत्यग्रञ्चतुवर्जितम् ॥

वस्त्र पूतेन तोयेन यः कुर्यादुपलेपनम् ।
पश्यन्परिहरन् जन्तून् चान्द्रायणफलं लभेत् ॥

शिवज्ञाने -

आत्मारामोद्भवैः पुष्पैस्समादाय शिवस्य तु ।
मालां संग्रथयित्वा तु यो दद्यात् परमेष्ठिने ॥

p. 1079)

यः कुर्याच्चु महेशाय पुष्पारामक्रिया विधिम् ।
स्तोत्रगानादिकं सर्वं यः कुर्याद्दासमार्गकः ॥

कामिके -

पुत्रमार्गीशिवार्चादि जपहोमपरायणः ।
प्रवेशकश्शिवज्ञानी औपदेशिक एव च ॥

वातुले -

मूर्तिं सदाशिवीं विद्याम् शुद्धस्फटिक सन्निभाम् ।
पञ्चपञ्च भुजैर्युक्तां पञ्चवक्त्रं स्मितानननाम् ॥

दशायुध समोपेतां सर्वाभरणभूषिताम्।
उन्मनी सहितं शम्भुं विन्यसेद्धृदयेन तु॥

विजने प्रयतस्सर्वं विद्यादेहं विचिन्तयेत्।
पराशक्ति समायुक्तं मूर्ध्निमध्ये तु विन्यसेत्॥

तदूर्ध्वे शिवमावाह्य सधोज्ञानमवाप्नुयात्।

ज्ञानरत्नावल्याम् -

किन्तु देहावसानेन यः पूजयति भक्तितः।
स शिवस्सर्वकृच्छम्भुर्जीवन्मुक्तस्सकथ्यते॥

कामिके -

सहमार्ग्गि भवेत्यक्त संसारीशुचिमन्त्रयुक्।
समदृङ्िनरहंकारी शिवयोगकृतश्रमः॥

p. 1080)

सुप्रभेदे -

गुदाच्च द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्राात्तु द्व्यङ्गुलादधः।
मूलाधारमिति ज्ञेयं तद्विज्ञेयमुदाहृतम्॥

आधारं गुदमित्युक्तं स्वाधिष्ठानन्तु लिङ्गकम्।
मणिपूरन्नाभिदेशे हृत्पद्मगमनाहतम्॥

विशुद्धिः कण्ठदेशे तु आज्ञाकोदण्डमध्यगा।
आधारमासनं प्रोक्तमाधेयः परमश्शिवः॥

मकुटे -

षडाधारादि देवानां शृणुष्वेवं महेश्वर।
विघ्नेशो भैरवश्चैव क्षेत्रपालश्च चण्डिका॥

मूलाधारादि देवास्यु स्वाधिष्ठानमथ श्रुणु।
प्रतिष्ठाशुद्ध भैरिण्या भवानी ऋषी पद्मिनी॥

पद्मासना पद्मयोगी स्वाधिष्ठानादि देवताः।
तुलाराक्षि नीलराक्षीराक्षीकैला स्फुलिङ्गिनी॥

उपाभ्युष्णीषिका चैव वशिनी च त्रिशङ्करी।
तपनी नवनी चैव मणिपूरक देवताः॥

मणिपूरमिदं प्रोक्तमनाहतमतश्श्रुणु।
काशनीशातनी चैव शोचिका वेणिवेणिका॥

अक्षिणी चैव चामुण्डी ज्येष्ठा दुर्गा वराटिका ।

p.1081)

अरणी स्वरणी चैव चाधिदेवास्त्वनाहते ।
अनाहतमिति प्रोक्तं विशुद्धेर्नाम तच्छ्रुणु ॥

मनाटी पुष्पटीस्तीटी शृङ्गि च च्छूर्पराटिनी ।
रात्रिश्च दामकरिणी जया पूजी च मेव च ।
अल्पाशिनी मकाराक्षी दूल्वाशी आपचारिणी ॥

कलासीकमला चैव विशुद्धस्याधि देवता ।
विशुद्धि देवता प्रोक्ता आज्ञादेवमथ श्रुणु ॥

अन्ते सुन्दरी आनन्दी आज्ञाया अधिदेवता ।
षडाधारमिदं ज्ञेयं अतिदेव समन्वितम् ॥

वायव्ये -

समाधिना च सर्वत्र प्रज्ञालोके प्रवर्तते ।
यदर्थमात्र नि सममितो दधिवत्स्थितम् ॥

स्वरूपशून्यं यत्भाति तत्समाध्यभिधीयते ।

तथा चिन्त्यविश्वे -

मूलाधाराख्य कालाग्नेर्म्मण्डलोपरि संस्थिताम् ।
आधाराणामशेषाणां भेदिनी बोधिनीपका ॥

सृष्ट्यन्तोमृत संवाही शिवशक्तिस्वरूपिणी ।
आप्लावयन्ती सर्वत्र सिद्धिमुक्ति प्रदायिनी ॥

एवं कुण्डलिनी प्रोक्ता चातिगुह्या महोदया ।

p. 1082)

कामिके -

सन्मार्गीत्यक्त संसारस्समत्वशुचिमत्वयुक् ।
त्रिपदार्थ परिज्ञान शिवयोगकृत श्रमः ॥

पुत्री कृत जनश्शैवाचार्यासन्तातिकश्च सः ।
शुद्धात्मनां हितं शास्त्रन्त्रायते यद्भवार्णवात् ॥

तच्छासन परित्राणात् शास्त्रमित्यभिधीयते ।

चिन्त्यविश्वे -

शाश्वतन्तुर्य रहितमानन्दं परमं पदम् ।
त्रिपुटी ज्ञानहीनं यत् प्रोक्तन्तत्परमं पदम् ॥

तथा स्कान्दे -

धारणध्यान युक्तस्य समाधिर्भवति ध्रुवम् ।
यत्सामरस्यमनयोर्ज्जीवात्म परमात्मनोः ॥

यत्परित्यक्तसङ्कल्पं समाधिरभिधीयते ।
प्रतिपत्तेस्समाधौ तु सङ्कल्परहितात्मनः ॥

ज्ञेयं ज्ञाता तथा ज्ञानमेतद्रूपं विलीयते ।

कामिके -

उत्तरोत्तरवैशिष्ट्यपटले ।

सन्मार्गादि क्रमेणापि वैशिष्ट्यमिह सम्मतम् ।
सन्मार्गी सहमार्गी च पुत्रमार्गी तथा परः ॥

p. 1083)

दासमार्गी चतुर्थेषां प्रतिलोमाद्विशिष्यते ।

शिवधर्म्मोत्तरे -

अध्ययञ्चाध्यपनं व्याख्याश्रवण चिन्तने ।
इति पञ्चप्रकारोयं ज्ञानयज्ञः प्रकीर्तितः ॥

उत्तरोत्तर वैशिष्ट्यं सर्वेषां परिकीर्तितम् ।
अथ पूजाद्यग्निकार्याद्यैर्भेदैर्बहुविधै स्मृतः ॥

कर्म्मयज्ञस्समाख्यातस्त पश्चान्द्रायणादिकम् ।
स्वाध्यायश्च जपः प्रोक्तश्शिवमन्त्राख्य संस्थितः ॥

ध्यान यज्ञस्समाख्यातश्शिवचिन्तामुर्हुमुर्हुः ।
पञ्चानामपि यज्ञानां ज्ञानयज्ञो विमुक्तिदः ॥

कर्म्मयज्ञात्तपो यज्ञो विशिष्ठो दशभिर्गुणैः ।
जपयज्ञस्तपो यज्ञात् ज्ञेयश्शतगुणाधिकः ॥

ज्ञान ध्यानात्मकस्सूक्ष्मश्शिवयोगो महामखः ।
विशिष्टस्सर्वयज्ञानांमसंख्यातैर्महागुणैः ॥

यस्मात्तस्माद्विशुद्धोयमपवर्गफलप्रदः ।

शिवधर्म्मोत्तरे -

आरम्भकाले श्रवणं क्रियाकाले तु चिन्तनम्।
निश्चयाद्भवनन्तस्य निष्ठाकाले प्रसन्नता॥

p. 1084)

चिन्त्यविश्वसादाख्ये -

यावत्कालं शिवज्ञानन्द्रयी भवति तस्य वै।
तावत्कालं च कर्त्तव्यं श्रवणादि विशेषतः॥

शिवधर्म्मोत्तरे -

ज्ञानं विकल्प बहुलं रागाद्यैः कलुषीकृतम्।
तदज्ञानन्न शुध्यर्थं कलुषोदकवद्भवेत्॥

तत्र ज्ञानाज्ञानयोर्ल्लक्षणमाह।

यदा प्रसन्नमेकाग्रं स्तिमितोदधिवत्स्थितम्।
तदा ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञान तिमिरापहम्॥

इति प्रसन्नं यत्ज्ञानं भावानामयमुत्तमम्।
रागाद्यैरपरामृष्टन्तद्विज्ञेयं विमुक्तिदम्॥

अज्ञाने सति रागाद्यैर्धर्म्माधर्म्मौ च तद्वशात्।
धर्म्माधर्म्म वशात् पुंसां शरीरमुपजायते ॥

शरीरे सति सत्क्लेशस्सर्वैस्संयुज्यते यतः।
ततः क्लेश व्यपोहार्थ पुनर्देहन्न कारयेत् ॥

जगतस्तस्य सम्बोधादज्ञानं विनिवर्त्तते।
तत्क्षयाच्च शरीरेण न पुनस्सं प्रयुज्यते ॥

मृते शिवपुरं गच्छेत् त्रिसप्त कुल संयुतः।
कल्पकोटिशतन्दिव्यं सेव्यमानं सतिष्ठति ॥

p. 1085)

क्रदन्ते विष्णुभवने तावत्काल * * स्यति।
विष्णुलोकाच्चयुतो ब्राह्मन्ततस्संप्राप्यमोदते ॥

सम्भोगैर्विविधैस्सूक्ष्मैस्तावत्कालमनुत्तमैः।
प्रजापतीन्द्र गन्धर्व यक्ष * * नुक्रमात् ॥

* * * * * * * * * * * * * * * * |

काले महति विप्राणां प्रज्ञाशील गुणान्वितः।

ततस्स * * * * * * गीन्द्रं समुपासते ॥

तत्संपर्क्काच्छिवज्ञानं प्राप्य योगन्निषेवते ।
योगाद्विरक्त संयोगादाप्नोति परमं पदम् ॥

व्रतानि दान नित यज्ञा-
स्सन्न्यास तीर्थाश्रम कर्म्मयोगाः ।
स्वर्ग्गीयमेतच्छुभमध्रुवं च
ज्ञानाद्ध्रुवं शान्तिकरं महार्थम् ॥

स्वात्म भोगाधिपत्यं स्याच्छिवस्सर्वजगत्पतिः ।
केचित् तत्रैव मुच्यन्ते ज्ञानयोगरतानराः ॥

आवर्त्तन्ते पुनश्चान्ये संसारे भोगतत्पराः ।
तस्माद्विपश्चिल्लोकेषु भोगासक्तिं विवर्जयेत् ॥

विरक्तिशान्त शुद्धात्मा शिवज्ञानमवाप्नुयात् ।

निश्वासे -

p. 1086)

यस्तु फलन्दानयज्ञादि कर्म्मणा समुपार्जितम् ।

तदस्याप्युपभोगेन क्षयमायेत्यशेषतः ॥

यज्ञात् स्वर्गफलावाप्तिस्तत्क्षयात् पुनरागमः ।

सुप्रभेदे -

अन्येषु पशुधर्म्मेषु स्वर्ग एव फलं हि तत् ।
एतद्धि शिवशास्त्रेषु भुक्तिमुक्तिप्रदायकम् ॥

सर्वशास्त्रं समुत्सृज्य शिवशास्त्रेषु योजयेत् ।

तत्रैव ।

शिवलोके निवासस्यादन्य लभ्यन्न देवतैः ।
भुक्त्वा तु विपुलान्भोगान्प्रलये समुपस्थिते ॥

ज्ञानयोगं समासाद्य स तत्रैव विमुच्यते ।
न तेषां पुनरावृत्तिर्घोरे संसारसागरे ॥

सर्वज्ञास्सर्वगाश्शुद्धाः परिपूर्णा महेश्वराः ।
शिवतुल्यबलास्सिद्धाः परं शिवपुरं गताः ॥

अत्यल्पमपि यद्दत्तं शिवज्ञानात्मवेदिने।
तन्महाप्रलयं यावद्दातुर्भोगाय कल्प्यते॥

मृगेन्द्रे -

मायाकार्योमरेशादि रुद्रस्थानेषु यत्सुखम्।
अपरन्तत्पदं विद्यादानन्दादि पदस्थितिः॥

p. 1087)

शिवधर्म्मोत्तरे -

अनेक भविकामुक्तिर्भवतः केनकार्यते।
तस्मादत्रैक भविकामुक्तिर्ज्ञानेन निश्चिता॥

सुप्रभेदे -

ज्ञाने नैव तु तत्तुल्यं प्राप्तस्तत्र न संशयः।

शिवधर्म्मोत्तरे -

अज्ञानपाशबन्धत्वादमुक्तः पुरुष स्मृतः।
ज्ञानेन मोचितं यस्मात्तस्मात् ज्ञानं विशिष्यते॥

संसारबीजमज्ञान संसार्यज्ञः पुमां स्मृतः।

ज्ञानात्तस्य विमुक्ति स्यात् प्रकाशात्तु तमो यथा ॥

शिवज्ञानात्परं ज्ञानं तत्समं च न विद्यते ।

सुप्रभेदे -

ज्ञानं प्रवर्त्तते वत्स भ्रान्तिर्निर्नाशिनाय च ।
अध्वश्रेणि विनाशाय शिवव्यक्तिकराय च ॥

अन्धकार वदज्ञानं ज्ञानन्दीपवदुच्यते ।
ज्ञेयं भास्करवत्प्रोक्तन्तस्मात् ज्ञानं विशिष्यते ॥

सूत संहितायाम् -

आत्मनः परमामुक्तिर्ज्ञानेनैव कर्म्मणा ॥

शैव पुराणे -

p. 1088)

ज्ञाना देव हि मुक्तिस्यान्नान्यथा कर्म्मकोटिभिः ।
यश्चशम्भोः प्रसादेन गुरोश्चैव प्रसादतः ॥

जायते तच्छिवज्ञानन्नान्यथा सत्यमीरितः ।

वातुले -

आदित्य सन्निधौ रश्मिस्सूर्यकान्तेपि चोदितम्।
आचार्यसन्निधौ ज्ञानमात्मन्येव तथोदितम्॥

सुप्रभेदे -

सर्वतत्वानि भूतानि दृश्यन्ते चात्म एव हि।

चिन्त्ये -

यस्साक्षी सुखदुःखानां लोकेस्मिन् सर्ववस्तुनि।
अणोरणु महीयांश्च महतो यत्परात्परम्॥

पौष्करे -

कर्म्मनाशान्मलस्यापि विपाके सहकारिणी।
पतत्युन्मीलिनी शक्तिस्तदानुग्रह रूपिणी॥

तस्यां पतितमात्रायां मलयोनिर्म्मलात्मिका।
शक्तिर्न्निर्वर्तते तस्यां निवृत्तायां महात्मनः॥

पुनाति साधिकारेण यं वापि परमेश्वरः।
यथानुग्रह रूपिण्याश्शक्तेर्न्नीति निरोधिका॥

p. 1089)

मलस्य क्षीयते शक्तिस्सा दीक्षा शाम्भवी क्रिया।

तथा किरणे -

तीव्रशक्ति निपातेन इत्यादि।

शिवधर्म्मोत्तरे -

न श्रुणोति न चाघ्राति न रस्यति न पश्यति।
न च स्पर्शं विजानाति न च सङ्कल्पते मनः॥

न चाभिमन्यते किञ्चिन्न च बुध्यादि काष्ठवत्।
एवमीश्वरके लीनस्समाधिस्थः प्रकीर्तितः॥

सुप्रभेदे -

स्वभावज्ञानतो मुक्तस्सजीवन्मुक्त एव हि।
समत्वं सुखदुःखाभ्यान्तत्प्रिया प्रिययोस्समम्॥

देविकालोत्तरे -

समस्तु मित्रामित्रे च समलोष्टाश्म काञ्चनः।

यस्यां यस्यामवस्थायां तस्यान्तस्थां स्मरेच्छिवम् ॥

कालोत्तरे -

निद्रायां बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं क्षमयेत्पुनः ।
पक्षद्वय परित्यागे संप्राप्ते नैव चालयेत् ॥

निराश्रयं यदा चित्तं सर्वालम्बनवर्ज्जितम् ।
नैव स्थान विनिर्म्मुक्तं विज्ञेयं मुक्तिलक्षणम् ॥

रत्नत्रये -

p. 1090)

तया हि विमलोदार गम्भीरे चिन्महोदधौ ।
स्वात्मनि प्रविलीयन्ते धन्या हि शिवयोगिनः ॥

शिवधर्म्मोत्तरे -

धर्म्मरज्वा व्रजत्यूर्ध्वं पापरज्वा व्रजत्यधः ।
द्वयं ज्ञानासि न च्छित्वा विदेहं शान्तिमृच्छति ॥

ज्ञानामृतरसोयेन सकृदा स्वादिनो भवेत् ।
स सर्वकार्याण्युत्सृज्य तत्रैव परिधावति ॥

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः।
नैवास्ति किञ्चित् कर्त्तव्यमस्ति चेन्न च तत्ववित्॥

लोकत्रयेपि कर्तव्यं किंचित्तस्य न विद्यते।
देहपाते तथा चात्मा भाति सर्वत्र सर्वदा॥

तथा मतङ्गे -

ज्ञानाभि व्यक्तये व्यक्तिं व्यक्तं तत्वमणुं प्रति।

निश्वासे -

अप्रमेय गुणोपेतस्सर्वज्ञः खलु सर्वदा।
सर्वकृत्सर्वलोके शशिवतुल्यः प्रजायते॥

व्यक्तेसौ शिववत्भाति शिव एव तनुक्षये।

शिवधर्म्मोत्तरे -

p. 1091)

सर्वज्ञः परिपूर्णश्च शुद्धस्सर्वतः प्रभुः।
संसार सागरान्मुक्तश्शिवतुल्यः प्रजायते॥

तत्रैव।

प्रलयान्ते तनुन्त्यक्त्वा स्वात्मन्येवावतिष्ठते ।

सर्वज्ञानोत्तरे -

धर्म्माधर्म्म फलन्नास्ति लोकाचारं विशेषतः ।
नियमोपि न तस्यास्ति नोपवास व्रतानि च ॥

सङ्कल्पं च विकल्पं च ये चान्ये कुलधर्म्मकाः ।
यदा भेदन्न विद्यन्ते बालकोन्मत्तकादिभिः ॥

एतैर्न्नास्ति परामुक्तिश्चिद्रूपं व्यापकं विना ।

मतङ्गे -

लीलयैव स मुक्तात्मा विचरन् केन वार्यते ।

सर्वज्ञानोत्तरे -

दिग्देश जातिसम्बन्धान्वर्णाश्रम समन्वितान् ।
गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन् जाग्रन् भुञ्जानन्मैथुनन्नपि ॥

सर्वदा सर्वकार्येषु वातशीतातपेषु च ।

भय दारिद्र्यरोगेषु मान्द्य विज्वरकादिषु ॥

भावानेतान्परित्यज्य चाभावं भावयेत् बुधः ।

निश्वासे -

p. 1092)

यथा वायुस्सुशीघ्रोपि मुक्त्वाकाशन्न गच्छति ।
ज्ञेय निक्षिप्त चित्तस्तु विषयस्थो न मुञ्चति ॥

सर्वज्ञानोत्तरे -

योमां सर्वगतं पश्येत् सर्वं च मयि संस्थितम् ।
तस्याहन्नित्यमात्मस्थस्स च नित्यं मयि स्थितः ॥

सद्गुरोरुपदेशेन स्वप्रकाशेन निश्चयः ।

चिन्त्यविश्वे -

जाग्रादि पञ्चावस्थायामतीते ज्ञानरूपकम् ।
सत्गुरोरुपदेशेन विज्ञानेन न संशयः ॥

एवं ज्ञात्वा विशेषेण समाधिं कारयेत् बुधः ।
चित्तं बुद्धिस्थितं कृत्वा शिवलक्षणमेव हि ॥

आनन्दं शिवभोगन्तु शिवयोगं सदाभ्यसेत् ।

सर्वज्ञानोत्तरे -

यस्य जाग्रदवस्थायान्नियमान्सकलेन्द्रियान् ।
तुर्यावस्था गुणोपेतः क्षारभावन्न गच्छति ॥

शब्दादि विषयान्भोगी तद्वत् ज्ञानी न लिप्यते ।
चित्तं शोधययत्नेन किमन्यैर्देहशोधनैः ॥

सुप्रभेदे -

समस्तसुखदुःखाभ्यान्तत्प्रिया प्रिययोस्समम् ।

p. 1093)

शरीरात्प्राग्वस्तुतोपि भुज्यते स्वयमेव तु ।
सार्धद्विशतिकायामानन्द लक्षणमुक्तम् ॥

रूपञ्च वर्णरूपञ्च आनन्दं त्रिविधं स्मृतम् ।
रूपं बहुविध ध्यानं वर्णरूपं च कल्पनम् ॥

रूपारूपन्न चा * * म् कल्पनारहितं मतम् ।

शाश्वतन्तुर्यरहितं आनन्दं परमं पदम् ॥

एतस्यैव तु संप्राप्तौ मुक्तिरेव न संशयः ।
गुरुवक्त्रेण सत्सिद्धिरानन्दन्तु न संशयः ॥

एवं ज्ञात्वा विशेषेण समाधिं कारयेत् बुधः ।

सुप्रभेदे -

* * * * * * * * * * * * * * स्थितम् ।
त्यक्त्वैतानि * * * न शुद्धस्फटिकमावहेत् ॥

रौरवे -

भिन्ने देहे शिवो भूत्वा शिवधर्म्मे समन्वितः ।
शिवधर्म्ममनुप्राप्य हविर्भागाय कल्पते ॥

यथा समुद्रमासाद्य नदी * * * * * * ।
* * * * * * * * * * * * महोदधेः ।
एवं * * * देहस्तु शिवत्वं समुपागतः ॥

p. 1094)

सरित् समुद्रसंयोगाद्विभाग * * * * * ते ।

निश्वासे दृष्टान्तमाह ।

काष्ठमध्य स्थितो यद्वन्मथितो निर्म्मलोमलः ।
स शान्ति समयं * * * * * * * * * * ॥

* * * समापन्नं न भवे * * * * * नः ।
सम्यक् ज्ञानं विदित्वा तु पशुत्वन्न भवेत्पुनः ॥

निश्वासे -

सर्वज्ञादि गुणादेव गीयन्ते सर्वतश्शिवे ।

सिद्धान्त रहस्ये -

स्वान्य प्रकाश चित्ज्ञप्तिस्सच्चिदानन्दलक्षणः ।
शिवस्य ये गुणास्तेषां समस्तास्सन्ति ते गुणाः ॥

परमेशार्ककिरण प्रकाशीकृत चक्षुषः ।
न जानात्यक्षिवान् शम्भुर्जानाति शिवचक्षुषा ॥

क्षीरे क्षीरमिवाभिन्नं विभिन्नं दृष्टि दृष्टवत् ।
शिवात्मनोस्सामरस्यं व्यज्यते गुणसाम्यतः ॥

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधि गच्छति।
तदा तु सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ॥

सर्वज्ञानोत्तरे -

p. 1095)

यावन्नोत्पद्यते ज्ञानं तावद्भ्रमति कर्म्मणा।
अज्ञानावृतदेहस्तु दुःखशोकपरिप्लुतः ॥

अष्टमसूत्रं सम्पूर्णम् ॥

नवमसूत्रम् ॥

शिवज्ञानबोधे।

चिद्दशात्मनि दृष्ट्वैशन्त्यत्तवा वृत्तिमरीचिकाम्।
लब्ध्वा शिवपदच्छायान्ध्यायेत् पञ्चाक्षरीं सुधीः ॥

स्वायम्भुवे -

पाशज्ञानन्न मुक्ति स्यात् पशुज्ञानन्तथैव च।
सर्वतश्च यतोमुक्तिः पशुज्ञानेन गम्यते ॥

जगतस्तत्व सम्बोधादज्ञानं विनिवर्त्तते ।
मोक्षं पञ्चाक्षरं विद्यादभिवृद्धि षडक्षरम् ॥

शास्त्रजालानि नादान्तं पाशज्ञानं वरानने ।
पशुज्ञानमिति प्रोक्तमुपदेश क्रमाद्यतः ॥

तथा निश्वासे -

वेदं सांख्यं बौद्धमार्हमपरं परमन्तथा ।
यानि कानि च शास्त्राणि सर्वे बिन्दोर्विनिःसृताः ॥

p. 1096)

अन्तर्गताण्ड जातस्यात् मुक्तश्चेत् करणक्षयात् ।
यथा ततो विचारेण ज्ञानातीतो हि विद्यते ॥

मलक्षयतया प्रोक्तन्तदा सायुज्यमुच्यते ।

कारणे -

सर्वतश्चात्मना वेदं ज्ञानेनैव हि गम्यते ।

तत्रैव मन्त्रोद्धारे -

वाच्यवाचक रहितो वाङ्मनोतीतगोचरः ।
सर्वज्ञादि गुणोपेतस्सर्वतत्वलयः प्रभुः ॥

आकाशमिव तत्त्वानि सर्वव्यापी निरञ्जनः ।
आकाश भावनन्त्यक्त्वा शिवभावेन भावयेत् ॥

वायव्य संहितायाम् -

स पश्यति शरीरन्त तच्छरीरन्न पश्यति ।
तौ पश्यस्ति परः कश्चित्तावुभौ तन्न पश्यति ॥

कालोत्तरे -

शिवोपकारतां पश्येत्तदा पश्येत निर्गतम् ।

शिवधर्म्मोत्तरे -

अणिमादि गुणैश्वर्यं सर्वज्ञत्वं च योगिनः ।
तृणवद्यस्त्यजेत् सर्वानीशस्तस्य प्रसीदति ॥

p. 1097)

ततः प्रसन्ने देवेशे बुद्धिस्सत्वात्प्रवर्त्तते ।
अणिमादिगुणैर्युक्तस्सन्तिष्ठेच्छिववत्प्रभुः ॥

सर्वज्ञानोत्तरे -

अणिमादिगुणावाप्तिर्ज्जायतां वा न जायताम्।
तथापि मुच्यते देही पतिं विज्ञाय निर्म्मलम्॥

सर्वोपाधिविनिर्म्मुक्तचिद्रूपं यन्निरन्तरम्।
तच्छिवोहमिति ज्ञात्वा सर्वावस्थां विवर्ज्जयेत्॥

तथा वातुले -

तिलानान्तु यथा तैलं पुष्पाद्गन्धस्समाश्रितः।
पुरुषस्य शरीरेस्मिन् स बाह्याभ्यन्तरे स्थितः॥

सर्वज्ञानोत्तरे -

यश्शिवस्सोहमेवेति अद्वैतं भावयेत्सदा।
सर्वपाप विनिर्म्मुक्तिर्गुरुध्यानादघक्षयः॥

शिवानन्द परध्यानात् स याति परमां गतिम्।
तत्वमस्मीति वेदान्ते तताख्यातमिति क्रमम्॥

सिद्धान्त सम्बोधिकायाम् -

शिव भावेन संयोज्य शिवोहं स्मृति निर्णयः।

शिवोहमिति सिद्धान्तं वेदान्ते सोहमस्मि तु ॥

p. 1098)

चिन्त्ये -

तिरोधं मलमित्युक्तमात्मा शक्ति शिवात्मकम् ।
पञ्चाक्षरमिदं देवि रहस्यन्न प्रकाशकम् ॥

अङ्गुष्ठादि कनिष्ठान्त तलयोश्चाङ्गषट्ककम् ।
विन्यस्य मूलमन्त्रेण व्यापकं च समाचरेत् ॥

रौरवे -

मन्त्रशुद्धौ वर्त्तते ।

अन्यूनाधिक वर्णन्तु सर्वमन्त्रान् समुच्चरेत् ।
ऊनवर्णेन मृत्युस्यादधिके शोकरोगकृत् ॥

स्वरहीने विपत्ति स्यात्तान्मन्त्रेण विशोधयेत् ।

करणे -

हृदये यजनं प्रोक्तं नाभौ होमं प्रकल्पयेत् ।
तथेशन्तु भ्रुवोर्म्मध्ये ध्यायेत्सर्वगतं प्रभुम् ॥

सुप्रभेदे -

कुण्डव्याख्या महानाडी नाभ्यधस्तात्प्रकीर्तिता ।
अष्टवर्त्तुलमेवन्तु कुण्डली सुप्तनागवत् ॥

नाभेरूर्ध्वं भवेत्पद्मं तटाकान्ताब्जवत्स्मृतम् ।
तस्य मध्ये स्थितो देवस्सूर्यकोटि समप्रभः ॥

चिन्त्ये -

अर्कस्य सन्निधौ तत्र राहुदर्शनवत् भवेत् ।

p. 1099)

पञ्चाक्षरं विजानीयाद्दर्शनं शिवमात्मनि ।

कामिके -

यद्वा विस्तरतः कुर्यान्मानसं यागमादरात् ।
शिवाद्यवनि पर्यन्त तत्वव्रातात्मकं स्वकम् ॥

सुप्रभेदे -

पार्थिवाण्डमयं कर्दमाप्यान्तन्नालमेव च ।

प्रधान तत्वपर्यन्तन्नाल कङ्कणकान्वितम् ॥

निश्वासे -

कदलीपुष्प सङ्काशं हृदयं सर्वदेहिनाम् ।
अष्टाङ्गुल प्रमाणन्तु नाभेरूर्ध्वं व्यवस्थितम् ॥

पद्मनालन्नवद्वारं समन्तात्कण्टकान्वितम् ।
तस्य मध्ये स्थितं पद्ममष्टपत्रं सकर्णिकम् ॥

वितस्ति मात्रं हृदयं कमलं चतुरङ्गुलम् ।

कालोत्तरे -

पञ्चाशत्परमं बीजञ्जगद्योनिं परापरम् ।
अङ्गुष्ठ पर्वतुल्यन्तु कर्णिकाकेसरैर्युतम् ॥

भीमसंहितायाम् -

आद्यन्तेषु दलेष्वष्टौ ओं शिवाय नमोनमः ।
इन्द्रादीशानपर्यन्तन्न्यसेदष्टाक्षरं क्रमात् ॥

p. 1100)

निश्वासे तत्रैव ।

कर्णिकायां स्थितो विष्णुर्ग्रन्थिर्म्माया प्रकीर्तिता ।
कर्णिकायां भवेत्सूर्य्यस्तस्य मध्ये तु चन्द्रमाः ॥

तस्य मध्ये भवेद्वह्निर्वह्निमध्ये महेश्वरः ।

किरणे -

मन्त्रात्मिका कला तस्य ते च मन्त्राश्शिवात्मकाः ।
तैः प्रकल्प्य शरीरन्तु शुद्धांध्वाध्यासितं महत् ॥

निश्वासे -

सदाशिवो महेशस्य तस्यापि परतश्शिवः ।

तत्रैव ।

सदाशिवं महात्मानन्तस्य चोर्ध्वं परात्परम् ॥

शीतांशुनिर्म्मलं दिव्यंमग्राह्यं परमं शिवम् ।

शिवधर्म्मोत्तरे -

ज्ञानयोग प्रधानत्वादन्तरङ्गो विमुक्तिदः।
ज्ञाने नैव तदज्ञानन्निवर्त्तेत न कर्म्मभिः॥

सुप्रभेदे -

अन्तर्यागसमायुक्त आत्माशुद्धः प्रकीर्तितः।

वातुले -

अहिंसा प्रथमं पुष्पं पुष्पमिन्द्रिय निग्रहः।
क्षान्तिः पुष्पन्दया पुष्पं ज्ञानपुष्पमतः परम्॥

p. 1101)

तपस्सत्यं च भावश्च पुष्पमष्टविधं स्मृतम्।
एतान्यत्राष्ट पुष्पाणि बुद्धिधर्म्मस्वरूपतः॥

मोहशूरोत्तरे -

अग्निः प्राणो मनःपात्रं गुरुधूपशिखाकुलः।

इत्यादि पूजास्तवे उक्तः। तथा हि -

लिङ्गं तच्च सुधामयेन पयसा संस्नाप्य सम्यक्पुन-
र्वैराग्येण च चन्दनेन वसुभिः पुष्पैरहिंसादिभिः।

प्राणायामभवेन धूपविधिना चिद्दीपदानेन यः
प्रत्याहारमयेन सोमहविषा सौषुम्न जापेन च ॥

तच्चित्तो बहुधारणाभिरमल ध्यानोद्भवैर्भूषणै-
स्तत्साम्याणु निवेदनेन यजते धन्यस्स एवामतः ।

सुप्रभेदे -

आसनादीनि सर्वाणि तथैवा वरणानि च ।
हृत्पद्मो कल्पयेद्विद्वान्यथोक्तन्तु यथा क्रमम् ॥

गन्धाद्यैरूपचारैस्तु मनसाकल्प्य पूजयेत् ।

षट्सहस्त्रिकायाम् -

मनसास्यार्चनं प्रोक्तं ब्रह्मादीनामगोचरम् ।
अकृत्रिम प्रधानन्तु तेनान्त्यार्गमाचरेत् ॥

शिवधर्म्मोत्तरे -

p. 1102)

मर्त्यमाणो यथा नित्यन्दर्पणो निर्म्मलो भवेत् ।
ज्ञानाभ्यासात्तथा पुंसां बुद्धिर्भवति निर्म्मला ॥

देविकालोत्तरे -

स्वयं पतित पुष्पैश्च कर्तव्यं यदि पूजनम्।

शिवतन्त्ररहस्य सारे -

भावस्थिरतरो न स्याद्यदा बाह्ये शिवार्चनम्।
यथा ध्यानानुरूपन्त ध्यान * * * * * * * ॥

* * * * * * * * * * * * * * * ।

* * श्वे -

वासना परिपक्वं च स्वयं कुर्याच्च वारुणम्।
धर्म्माधर्म्मात्मिका बुद्धिः कर्म्मणां वासनावशात्॥

शिवलिङ्गार्चनादेव नाशनाय न संशयः।
* * * * * * * * * * * * * * * * ॥

* * * * * * * * * * * * * * * ।
सर्प्पि क्षीरे यथा व्याप्तन्तिले * * * * * * ।

तथाग्नि पुराणे -

तिलक्षीर प्रसूनेषु तैलाज्यामोदवत्प्रभुः।
फले रसोग्निवत् * * * * * * * * * * ॥

p. 1105)

शिवज्ञानबोध सङ्ग्रहे -

मलन्नेदमिति ज्ञात्वा शिवस्य परमात्मनः।
यश्शक्तिरिति जानाति ततश्शुद्धयभिधीयते ॥

सर्वज्ञानोत्तरे -

आत्मन्येव स्थितश्शान्त आत्मतृप्तस्तु निश्चलः।
नागतोहं गतोवापि नागमिष्ये न गच्छता ॥

न भूतो न भविष्यामि प्रकृत्ये स्थिर धर्म्मिणि।
प्राकृतानि तु कर्म्माणि प्रकृतेः कर्म्मसम्भवः ॥

नाहं किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
नैव प्रकृति वन्धोस्ति मुक्त इत्यभिधीयते ॥

भर्तृहरिः -

मीन स्नानपरः फणीपवन भुङ्मेषस्तु पर्णाशनो
नीराशी खलु चातकः प्रतिदिनं शेते बिले मूषिकः।

भस्मोद्धूलन तत्परः खलुखरो ध्यानानुरक्तो बको
निन्दैषामभवत् फलं किमधुना ज्ञान प्रधानन्तपः ॥

न तत्र वेदशास्त्राणि यज्ञाश्च बहुदक्षिणाः ।
आत्मवित् ज्ञानमाश्रित्य विमलं सर्वतोमुखम् ॥

परसंवित्स्वरूपायाश्शक्तेरसति बन्धने ।
परमात्रं प्रकाशेत मुक्ताणूनामनादरम् ॥

p. 1104)

कालोत्तरे -

स्वकृतान्युपतिष्ठन्ति दुःखानि च सुखानि च ।
हेतु भूतो यतस्तेषां सोहंकारेण बाध्यते ॥

किरणे -

हेतुर्ल्लक्षणमित्युक्तं मुक्तिलक्षणमुच्यते ।
मार्ज्जारभक्षिते दुःखं यादृशं गृहकुक्कुटे ॥

न तादृङ्ममताशून्ये कलपिङ्गेथमूषिके ।

शिवधर्म्मोत्तरे -

यथा वह्निर्म्महा दीप्तश्शुष्कमात्रन्तु निर्द्दहेत्।
तथाशुभां शुभं कर्म्म ज्ञानाग्निर्द्दहति क्षणात्॥

मतङ्गे -

यो भिलाषात्मको भावो ममत्वेनात्मवर्त्तिना।
सोंकुरोणोरविद्याख्य संसारोत्पत्तिकारणम्॥

शिवधर्म्मोत्तरे -

तस्मात्स पण्डितश्शक्तस्तपस्वी विजितेन्द्रियः।
यश्शिवज्ञान सद्भावमालोचयितुमुद्यतः॥

क्रीडन्न लिप्यते नीतस्तद्वदिन्द्रिय पन्नगैः।
पद्मपत्रं यथा तोयैस्तत्स्थैरपि न लिप्यते॥

तत्वादि विषयान् भोगी तत्त्वज्ञानी न लिप्यते।

p. 1105)

शिवज्ञानबोध सङ्ग्रहे -

मलन्नेदमिति ज्ञात्वा शिवस्य परमात्मनः।
यश्शक्तिरिति जानाति ततश्शुद्ध्यभिधीयते॥

सर्वज्ञानोत्तरे -

आत्मन्येव स्थितश्शान्त आत्मतृप्तस्तु निश्चलः।
नागतोहं गतोवापि नागमिष्ये न गच्छता॥

न भूतो न भविष्यामि प्रकृत्ये स्थिरधर्म्मिणि।
प्राकृतानि तु कर्म्माणि प्रकृतेः कर्म्मसम्भवः॥

नाहं किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
नैव प्रकृति वन्धोस्ति मुक्त इत्यभिधीयते॥

भर्तृहरिः -

मीनस्नानपरः फणीपवन भुङ्मेषस्तु पर्णाशनो
नीराशीखलु चातकः प्रतिदीनं शेते बिले मूषिकः।
भस्मोद्धूलनतत्परः खलुखरो ध्यानानुरक्तो बको
निन्दैषामभवत् फलं कीमधुना ज्ञान प्रधानन्तपः॥

न तत्र वेदशास्त्राणि यज्ञाश्च बहुदक्षिणाः।
आत्मवित् ज्ञानमाश्रित्य विमलं सर्वतोमुखम्॥

परसंवित् स्वरूपायाश्शक्तेरसति बन्धने।
परमात्रं प्रकाशेत मुक्ताणूनामनादरम्॥

p. 1107)

मलमायाद्यसंस्पृष्टौ भवति स्वानुभूतिमान्।

सुप्रभेदे -

मलमुक्तस्तथात्मानं शुद्ध इत्युच्यते बुधैः।
ईश्वर स्मृति ना काले मलेध्वंसति निर्म्मलः॥

अतोहमीश्वरं स्मृत्वा पश्चात्तन्मयतां गतः।

सर्वज्ञानोत्तरे -

अविज्ञातः पशुस्सोहि सृष्टिधर्म्म समाश्रितः।
विज्ञातश्शाश्वतस्सिद्धस्सशिवो नात्र संशयः॥

योगजे -

गुह्यात्गुह्यतमं गुह्यं स्वानुभूत्यनुगम्यते।

तथा सूतसंहितायाम् -

एवञ्जीवात्मकं रूपं शिवं पश्यति चेद्दृढम्।
स्वात्मन्येव रतिक्रीडां शुद्धात्मा कुरुते सदा॥

यत्र सुप्तो जनोनित्यं प्रबुद्धस्तत्र सङ्गमी ।
प्रबुद्धा यत्र ते विद्वन् सुषुप्तस्तत्र केशवान् ॥

शिवधर्म्मोत्तरे -

ज्ञानं विकल्पबहुलं रागाद्यैः कलुषीकृतम् ।
शिवप्रकाशकं ज्ञानं योगस्तत्रैकचित्तता ॥

p. 1108)

सर्वज्ञानोत्तरे -

परापर विभागेन स्थूलसूक्ष्म विभागतः ।
परः परमनिर्वाणः परसृष्टिविवर्जितः ॥

स्थूलं शब्दमयः प्रोक्तस्सूक्ष्मो ध्यानैक संश्रयः ।
इत्येवमात्मनो ज्ञानं कथितन्तु समासतः ॥

अथवा बहुनोक्तेन किमेतेन षडानन ।
वाग्विकल्प विशेषेण मनस्संमोह कारणा ॥

सर्वधर्म्मात्मनस्सारमेव ते परिकल्पयेत् ।

योगजे -

वाच्यवाचक रहितो वाङ्मनोतीत गोचरः।
शिवश्शुद्ध इति प्रोक्तो रूपी अव्यय ईश्वरः॥

चिन्त्ये -

ज्ञातृज्ञेयं तथात्मान विहीनन्तत्परं पदम्।

सुप्रभेदे -

ज्ञानं प्रवर्तते वत्स भ्रान्ति निर्णाशनाय च।
अध्वश्रेणि विनाशाय शिव व्यक्तिकराय च॥

अन्धकारवदज्ञानं ज्ञानन्दीपवदुच्यते।
ज्ञेयं भास्करवत्प्रोक्तं तस्माज्ज्ञानं विशिष्यते॥

मृगेन्द्रे -

p. 1109)

नाध्यक्षन्नापि तल्लैङ्गं न शाब्दमपि शाङ्करम्।
ज्ञानमाभाति विमलं सर्वदा सर्ववस्तुषु॥

चिन्त्ये -

कर्म्मक्षयान्न युज्यन्ते देहिनां देह सम्भवात्।
देहं विना पृथक्कर्म युज्यते न कदाचन॥

नित्यं द्वन्द्व समायुक्ता वेतौ चान्योन्यतः पुरा।
तथापि कर्म्मनाशश्च गात्रेण कुरुते पुनः॥

तत्रैव।

देहिनां पुण्य पापाभ्यां देहमारभ्यते पुरा।
यथा जीर्णानि वस्त्राणि त्यक्त्वा वस्त्रन्नवं वसेत्॥

तथा देहं परित्यक्त्वा देहान्तरमवाप्नुयात्।
एवं भवाब्धौ मज्जन्तं पुण्यपापसमाहितम्॥

ज्ञानबोधं समारभ्य तारयन्त्याशुजन्तपः।

चिन्त्य विश्वे -

तत्रात्मनां मलश्चैव बन्धधर्म्मत्व कारणम्।
मलानां वासनानां च नाशो मोक्षो न संशयः॥

सुप्रभेदे -

स्वभावज्ञानतो मुक्तस्स जीवन्मुक्त एव हि ।

यश्शिवं मुक्त इत्युक्तो देहान्ते मुक्त उच्यते ॥

किरणे -

p. 1110)

विषसम्बन्धिनी शक्तिर्यथा मन्त्रैर्निरुध्यते ।

तथा न तद्विषं क्षीणमेवं पुंसो मलक्षयः ॥

फलं कतक वृक्षस्य क्षिप्तं सत् कलुषे जले ।

कुरुते शक्तिसंरोधं किं क्षिपत्यन्यतो जलात् ॥

शिवज्ञानन्तथा तस्य शक्तिसंरोधकारकम् ।

किरणे -

ततो मलक्षयेनापि पुरुषस्यक्षयं भवेत् ।

उत्तरम् ।

सहजा कालिमाताम्रे तत्क्षयन्नव तत्क्षयः ॥

तथा ताम्रस्य तद्वत् स्यात् एवं पुंसो मलक्षयः ।

सुप्रभेदे -

मलैर्मुक्तस्तथात्मानं शुद्ध इत्युच्यते ध्रुवम्।

रौरवे -

यथा सूर्योदयं प्राप्य तमः क्षिप्रं विनश्यति॥

किरणे -

तुषकम्ब्वङ्कुरश्चैव पुरुषस्य मलक्षयः।
नित्यानादिराख्यातस्तत्कथं स्यान्महेश्वर॥

उत्तरम्।

शुद्धाक्षतम्य नैवास्ति शुद्धात्मस्य तथैव च।
शुद्धात्मान्न स्थितो तेषान्नास्ति नाशः कदाचन॥

तस्मिन्पुनरपि।

p. 1111)

चराचरादि जन्तूनां शिवैव प्राण उच्यते।
प्रसरन्तं विना नास्ति अक्षराणामकारवत्॥

शिवधर्म्मोत्तरे -

सर्वत्रावस्थितं शान्तन्न प्रपश्यति शङ्करम्।
ज्ञानचक्षुर्विहीनत्वादन्धस्सूर्यमिवोदितम्॥

मतङ्गे -

अथार्क रश्मिसंपर्शाद्यथा ज्ञानक्रियात्मिका।

निश्वासे -

सर्वज्ञानोत्तरे -

ताम्रस्यैव तु हेमत्वमन्तर्ल्लीनं यथा भवेत्।
अन्तर्लीनं तथा ज्ञेयं शिवत्वं पुत्गलस्य तु॥

रसविद्धं यथा ताम्रं हेमत्वं प्रतिपद्यते।
तथा विज्ञान सम्बन्धाच्छिवत्वं प्रतिपद्यते॥

रसेन्द्रेणैव लोहानां कालिमा स्पर्शवेधिना।
हारिता चाग्नि संयोगाद्धेमत्वं प्रतिपद्यते॥

हारितं परमेशेन पशूनां पाशकालिमा।

स्वकारण गुणावेशा हेमत्वं प्रतिपद्यते ॥

लभन्ते योगिनस्सर्वे विज्ञानात्तुल्यतान्तथा ।

p. 1112)

मृगेन्द्रे -

येपि तत्पदमापन्नाशैव साधनयोगतः ।
ते तत्स्थित्य महाह्लादं प्राप्य यान्ति परं पदम् ॥

न च सृष्ट्यादि कुर्वन्ति स्वार्थ निष्ठाहिते यतः ।

तथा सर्वमतोपन्यासे -

अवर्जनीय संसिद्धिं मुक्तानां कृत्यपञ्चकम् ।
कृपया तु शिवस्येव स्वार्थ निष्ठा हि ते यतः ॥

न ते विश्वस्य कर्तारः कर्तारश्शिव एव हि ।

सर्वज्ञानोत्तरे -

शिवज्ञानामृतं पीत्वा विचरन्स्वयमेव हि ।
शिववच्छाश्वतश्शुद्धस्सृष्टिधर्म विवर्जितः ॥

शिवधर्म्मोत्तरे -

प्रलयान्ते तनुन्त्यक्त्वा स्वात्मन्येवावतिष्ठते।

द्वयोश्च चित्स्वरूपोपि ज्ञात्वा बुध्या विभिन्नया।
तस्मादेकोपपूज्योपि न ह्येतीय कथ्यते॥

मृगेन्द्रे -

दृक्क्रियात्मकमैश्वर्यं यस्य तद्दातृपूर्वकम्।
ईश्वरस्तत्र मन्तव्यश्शक्तिद्वययुतः प्रभुः॥

p. 1113)

किरणे -

तदात्म शिवयोस्सन्धिरयस्कान्तेव युज्यते।

वातुले -

पुरुषञ्च शिवञ्चैव लीयते सायसाग्निवत्।
यथा ताम्रं रसं विध्येद्दोषमुक्तं पुरातनम्॥

तथात्मानं शिवेलीनं जलेन लवणेनवत्।
अविशेषं भवेत् तद्वदात्मानु परमात्मनि॥

एवं शिवामृतं प्रोक्तंमप्रकाश्यमिदं गुह ।

इत्येकादशसूत्रम् सम्पूर्णम् ॥

द्वादशसूत्रम् ॥

शिवज्ञानबोधे -

मुक्तिं प्राप्य ततस्तेषां भजेद्वेषं शिवालयम् ।

तथा मतङ्गे -

शासनस्यापि ये भक्तास्तेपि दुःखविवर्जिताः ।
अपसरोभिर्वृता नित्यं क्रीडन्त्युत्कृष्टचेतसः ॥

लिङ्गं महेश्वरं भक्त्या नमस्कारादिनाथवा ।
पूजयन्ति नराश्शूरास्तेपि सिद्धा गणेश्वराः ॥

रमन्ति विविधैर्भोगैः प्राप्य स्थानमुमापतेः ।

p. 1114)

आलये शिवलिङ्गस्य भक्त्या निर्वर्तते शुभे ।

श्रीकण्ठपदमारुह्य सुखमत्यद्भुतं लभेत्॥

एवं भक्तिविभागेन लिङ्गे वा पितरस्तथा।
उपासन्ति महादेवन्तेपि सिद्धा नरोत्तमाः॥

मतङ्गे -

शिववच्छिवभक्तास्तु द्रष्टव्याश्शिवकांक्षिभिः।
संस्कृताश्च शिवैर्मन्त्रैर्गुरुणा शिवमूर्तिना॥

सर्वे समानधर्म्माणस्तथाप्येषोच्यते विधिः।
गुरोरप्यग्रतस्तेषां ज्येष्ठानामेव मासनम्॥

यथानुक्रम शुश्रूषावन्दनादीनि चक्रतुः।
कार्याण्यन्योन्य संम्ह?ष्टैर्गमाचक्षुर्विषये गुरोः॥

चिन्त्य विश्वे -

जन्मान्तर तपोभिश्च सन्मार्गज्ञानसम्भवः।

मतङ्गे -

पुर्यष्टक समायोगात् पुंसां कर्मानुसारः।

कामिके -

शिवं वै शाश्वतन्नित्यं ज्ञानानन्दमयात्मकम्।
व्यापकं सर्वतत्वानामप्रमेयमनुपमम्॥

वाच्यवाचकरहितं वाङ्मनोतीतगोचरम्।

p. 1115)

व्यक्तिं कुर्याद्विशेषेण शिवकलसकलात्मनि॥

शिवपुराणे -

ब्रह्मयत्सच्चिदानन्दं परिपूर्णं च सर्वदा।
सर्वत्र दृश्यते नैव करणा गोचरत्वतः॥

कालोत्तरे -

प्राकृतं भावमुत्सृज्य शिवोहमिति भावयेत्।

निश्वासे -

शिवोदेशिकदेशस्थः प्राण्यनुग्रहकारकः।
ददाति विविधां सिद्धिं मोक्षं च नयते पशुम्॥

स्वदेहान्निर्विशेषेण शिवभक्तांश्च पालयेत्।

अंशुमति -

देहं प्रासादमित्युक्तं देही लिङ्गमिति स्मृतम्।
उभयोरन्तरन्नास्ति तस्मादित्थं प्रभावयेत्॥

अथवान्य प्रकारेण स्थूललिङ्गे सदाशिवम्।
अन्तर्लिङ्गे शिवं ज्ञेयं भावयेद्देशिकोत्तमः॥

व्याप्यव्यापक भावेन लिङ्गमेवं विमानकम्।
मूलादिस्थूपि पर्यन्तं शिवरूपमिति स्मृतम्॥

मलमायादि सर्वेषु गतेषु पर ईश्वरः।
सर्वाङ्गेषु तेषु भगवान्नहि देहेषु पूज्यते॥

p. 1116)

लिङ्गेथवा न्यत्रशुभे सम्पूज्यो भगवाञ्च्छिवः।
आवाहनमनुध्यानं मनेभुक्ति निरोधनम्॥

शिवेन सह संयोगं चिन्तयेन्मनसाधिया।

तथा पराख्ये -

पूज्यते परतश्शान्तस्सिद्धिमुक्ति फलार्थिभिः।
स एव मन्त्रदेहस्थः पूज्यतेसौ परश्शिवः॥

गवां सर्वाङ्गतः क्षीरं स्त्रवते न मुखाद्ययौ।
एवं लिङ्गमयं रूपं सर्वकामेषु रोहति॥

ज्ञानयोगम्।

किरणे -

ये यथा संस्थितास्ताक्ष्र्य तथैवेश प्रसादकृत्।
केचिच्चात्र क्रियायोग्यास्तेषां मुक्तिस्तथैव हि॥

ज्ञानयोग्यास्तथैवान्ये चर्यायोग्यास्तथापरे।
एवमेषां च यद्युक्तं मोक्षन्ते नै योजयेत्॥

मतङ्गे -

सदाशिवे पदे योगाच्चर्यातो वाथ दीक्षया।
प्राप्यते चित्तभेदेन मोक्षो वाथ चतुष्टयात्॥

तथा वायव्ये -

ज्ञानं क्रिया च चर्या च योगश्चेति सुरेश्वरि ।
चतुष्पादास्समाख्याता धर्म्माधर्म्मास्सनातनाः ॥

p. 1117)

पशुपाशपतिज्ञानं ज्ञानमित्यभिधीयते ।
षडध्वशुद्धिविधिना गुर्वधीना क्रियोच्यते ॥

वर्णाश्रम प्रयुक्तस्य मयैव विहितस्य च ।
मदर्च्चनादि धर्म्मस्य चर्याचर्येति कथ्यते ॥

मद्युक्ते नैव मार्गेण मय्यवस्था प्रचेतसः ।
प्रत्यन्तरे तिरोधेन स योग इति गीयते ॥

स्कन्दकालोत्तरे -

ईश्वरः ॥

लभ्यते शास्वतं ज्ञानं तत्प्रसादेन षणमुखम् ।
यमन्नियममासीनं प्राणायामन्ततः परम् ॥

प्रत्याहारो धारणा च समाधिध्यानतः परम्।
गुरुप्रसादाल्लभते दिव्ययोगं षडानन ॥

आकाशगमनं चैव परकाय प्रवेशनम्।
मनोजयत्वं हि जना तत्प्रसादेन लभ्यते ॥

अणिमा लघिमा चैव महिमा गरिमा तथा ।
प्राप्तिः प्राकाम्यमीशत्वं वशित्वं चाष्ट सिद्धयः ॥

गुरुप्रसादाल्लभते मुक्तो मृत्युजरादिभिः ।

विश्वसारे -

गुरु रूपं परं ब्रह्म गुरुरूपं परं शिवम्।
गुरु रूपं परं ज्ञानं गुरु रूपं परात्परम्॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन गुरु रूपं सदा स्मरेत्।

p. 1118)

तथा ।

ईक्षणध्यान संस्पर्शैर्मत्स्य कूर्म्म विहङ्गमाः ।

पोषयन्ति स्वकान्पुत्रान् तद्वत्पण्डित वृत्तयः ॥

निश्वासे -

प्रकाशयस्वेदं ज्ञानं मद्भक्तानां वरानने ।
रक्षणीयं प्रयत्नेन तस्करेभ्यो धनं यथा ॥

देविकालोत्तरे -

ईदृशं ज्ञानसद्भावं न दद्याद्यस्य कस्यचित् ।
दीक्षयित्वा महादेवि दातव्यं सुपरीक्ष्य च ॥

नाशिष्याय प्रदातव्यन्ना पुत्राय कदाचन ।
गुरुदेवाग्नि भक्ताय मात्सर्यरहिताय च ॥

प्रदातव्यमिदं ज्ञानमितरेषान्न दापयेत् ।

द्वादशतमसूत्रं सम्पूर्णम् ॥

इति श्रीमद्व्याघ्रपुरवासनिगमज्ञान शिवयोगीशिष्यवेदज्ञान शिवाचार्य
सङ्ग्रहसकलागमसारभूत शिवज्ञानसिद्धेर्दृष्टान्तस्समाप्तः ॥

॥ ओं श्रीमदरुणाचलाय नमः ॥

XXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXX
X
X title: brahmasandhaana
X
X copied from manuscript c.n. 4242 of banares hindu university
X
X "saaradaa script
X
X data entered by the staff of muktabodha
X under the supervision of mark s.g. dyczkowski
X
X revision 0: april 7, 2012
X
XXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXX

* * * * * * * * * * * * * * * * भेत्।

हृत्पद्मे नाभिपद्मे च मुखपद्मे तथैव च ॥ ५॥

वसते परमात्मा वै यदि शक्नोषि वेदितुम्।

नवद्वाराणि सङ्घट्ट नवनाडीर्निरोधयेत्॥ ६ ॥

संहृत्य नववायूंश्च हृत्पद्मे तान् प्रवेशयेत्।

तस्य पद्मस्य वै नालं पिङ्गलानाडिरुच्यते ॥ ७ ॥

तया प्रोक्तास्त्रयः पश्चात् सूत्रे मणिगणा इव ।
प्रधानानाडयस्त्रिस्त्रस्तालब्ध्वा वेदयेत् पुरम् ॥ ८ ॥

तासां मुख्या तु वै ह्येका तां ज्ञात्वा ज्ञायंसे परम् ।
तस्या मध्ये स्थितं ज्ञेयं सर्वकारणमव्ययम् ॥ ९ ॥

यं विदित्वा महासेन उत्क्रान्त्रिं कर्तुं मर्हसि ।
दशमद्वारमाश्रित्य दशमानाडिका *? ह ॥ १० ॥

दशमं पवनं लब्ध्वा विषुवत् ग्रहणं भवेत् ।
आकाशं ग्राहयेत् तस्य ग्रन्थि भेदैः शनैः शनैः ॥ ११ ॥

p. 2) कृत्वा वै ब्रह्मसन्धानं सम्यग् ज्ञात्वा परां गतिम् ।
परे स्थाने लयं कृत्वा निष्कम्पः सुसमाहितः ॥ १२ ॥

प्रणवे संहरेदात्मा ग्राह्यं निश्शेषमारुतम् ।
प्रणवं तु समुच्चार्य ताल्वोष्ठपुटशोभितम् ॥ १३ ॥

कल्पायुरपि तत्रैवमाक्रमत्यनु संशयः।
करणान्यप्रशेषाणि ग्रन्थि द्वाराणि सर्वशः॥ १४॥

नाडयः पवनात् सर्वा विदित्वा सर्वमुच्यते।
यावच्च ज्ञायते वत्स तावद् ब्रह्मलयी भवेत्॥ १५॥

तं विदित्वा महासेन उत्क्रान्ति कर्तु मर्हसि॥ १६॥

कस्मिन् स्थाने स्थितो ब्रह्मा केन द्वारेण सिद्धयति।
एतत् सर्वं समाचक्ष्व यदि तुष्टोसि मे प्रभो॥ १७॥

p. 2b) ब्रह्मा ब्रह्मे लये कुर्याद् भूताद् भूतेषु वलयम्।
अन्यथा नैव सिद्धयन्ति कल्पकोटि शतैरपि॥ १८॥

भूतांस्त्यक्त्वा तु वै देव केन द्वारेण सिद्धयति।
एतन् मे संशयं सर्वं वक्तुमर्हस्य शेषतः॥ १९॥

गुह्याति गुह्यं गुह्यं च अतिगुह्यं षडानन।
यत्त्वया वेदितं प्रश्नं तत् सर्वं कथयामिते॥ २०॥

व्योम मध्ये स्थिता सूर्यः सूर्यमध्ये स्थितः सशी ।
शशि मध्ये स्थितं तेजस्तेजोमध्ये स्थितं परम् ॥ २१ ॥

ऋजु स्निग्धं च विमलं विद्युल्लेखे वदुस्सहम् ।
* *? कोटि? प्रतीकाशं दुष्प्रेक्षं लयवर्जितम् ॥ २२ ॥

हृत्प * * * * * * ? सूर्यं शशि हुतासनम् ।
तेषां मध्ये परं तेजो ये नेदं प्रतितिष्ठितम् ॥ २३ ॥

p. 3a) महत्तेजांसि यच्चित्तं प्रत्यक्षं यस्य षण्मुख ।
ब्रह्मद्वारस्य वै पृष्ठे धूम्रोयं सर्वतः स्थितः ॥ २४ ॥

हृदिस्थं गगनस्थं च उभावेकत्र चिन्तयेत् ।
अन्यथा नैव सिद्ध्यन्ति युक्तिहीनाः शिखिध्वज ॥ २५ ॥

यन्मयोक्तं परंब्रह्म हृद्याकाशे व्यवस्थितम् ।
सा शक्तिः स शिवं ज्ञानं ज्ञेयं चाक्षरमव्ययम् ॥ २६ ॥

एतत् ते ब्रह्मसन्धानं ब्रह्मद्वारेण यो भवेत्।
स मुक्तः सर्वदुःखेभ्यः सद्यो ब्रह्मणि कल्पयन्॥ २७ ॥

उत्क्रान्ति काले तस्येदं विदितं ब्रह्मणो लयम्।
स वै लीनो परे वत्स इत्याज्ञा पारमेश्वरी ॥ २८ ॥

ब्रह्मनाडिं ब्रह्मवायुं ब्रह्म * * * *? लभेत्।
ब्रह्मणं तु समन्तव्यं ब्रह्माक्षर ल * * *? ॥ २९ ॥

p. 3b) प्रणवं हृत्स्थितं पद्मं प्रणवं व्योम्नि संस्ति *? म्।
कालाग्नि रुद्रपर्यन्तं यावद्ब्रह्माण्डगोचरम्॥ ३० ॥

सर्वं दृष्टं परेणेदं प्रणवेण शिखिध्वज।
वाङ्मयं सकलं यश्च त्रैलोक्यं स चराचरम्॥ ३१ ॥

ब्रह्मादि स्तम्भ पर्यन्तं सर्वं प्रणवसम्भवम्।
तस्मिन् नेव लयं कुर्यात् ते चैव ब्रह्मवादिनः ॥ ३२ ॥

स एव परमं स्थानं स एव परमाक्षरम्।

त्र्यक्षरं च त्रिधा भिन्नं त्रिस्थानं त्रिगुणात्मकम्॥ ३३॥

त्रिदेवाग्नि त्रयं चैव त्रिदेवं परमं स्मृतम्।
पञ्चमूर्ति धरं देवं शिवं परमकारणम्॥ ३४॥

* * * द्यन्तरे वत्स यदि सक्नोषि वेदितुम्।
देवदानव * ? द्धानां गन्धर्वोरगरक्षसाम्॥ ३५॥

सर्वेषां प्रणवं योनि लयं तत्रैव ष * *?।
p. 4a) ब्रह्माविष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरः शिव एव च॥ ३६॥

प्रणवेण तु वै सिद्धाः सम्भूताः प्रणवेन तु।
अक्षरं चक्षरं चैव स नामं नामवर्जितम्॥ ३७॥

स रूपं रूपरहितं प्रणवं परिपठ्यते।
उच्चार्यं तु ह्यनुच्चार्यं स्वरमस्वरमेव च॥ ३८॥

घोषं चैव ह्यघोषं च प्रणवं परशक्ति धृत्।
स मन्त्रं च ह्यमन्त्रं च ग्राह्यमग्राह्यमेव च॥ ३९॥

ग्राह्यग्राहक भेदेन प्रणवं सर्वतः स्थितम् ।
प्रणवं यो न जानाति विश्वस्या यतनं परम् ॥ ४० ॥

तस्य मोक्षः कुतो वत्स कल्पकोटि शतैरपि ॥

अद्यापि सं *?

????????????????????????????

व हृदये वर्तते महान् ।
p. 4b) कस्मिन् स्थाने स्थितो ब्रह्मा तत् समाचक्ष्व मे प्रभो ॥

श्री ईश्वर उवाच

सर्वत्रावस्थितो ब्रह्मा प्राणिनां देहधारकः ।
विशेषतः पुनर्वत्स त्रिषु स्थानेषु संस्थितः ॥ २ ॥

हृत्पद्मे नाभिपद्मे तु मुखपद्मे तथैव च ।
स प्रत्यक्षं दृश्यते वै विकारावस्थितः प्रभुः ॥ ३ ॥

हसते रुदते चैव नृत्यते गायते तथा।
भुञ्जते जिघ्रते चैव शृणु वक्ष्यामि हेतुतः॥ ४॥

उन्मेषे च निमेषे च विषादे चैव हर्षिते।
सुखदुःखान्यसौ वेत्ति शीतोष्णस्पर्शनानि च॥ ५॥

क्षुट्तृष्णा मैथुनं निद्रा प्रबोधं जाग्रता स्थितम्।
एते प्रत्यक्षतो यस्य दृश्यन्ते वै षडानन॥ ६॥

नान्यदीपं स्वरूपेण परमात्मा च लभ्यते॥ ७॥

p. 5) विस्मयो मे महादेव अद्यापि न निवर्तते।
त्रिस्थानावस्थितं देवं श्रोतुमिच्छामि वै प्रभो॥ ८॥

तुष्टोहमद्यते पुत्र यत् त्वया पृच्छ्यते ह्यहम्।
त्रिस्थानावस्थितं ब्रह्म तच्छृणुष्व यथाक्रमम्॥ ९॥

हृत्पद्मे वसते नित्यं स्थिरा भावेन वै गुह।
मुखपद्मे नाभिपद्मे गतागतिं करोति सः॥ १०॥

हृत्पद्मस्य तु पत्राणि नाडयस्ताः प्रकीर्तिताः ।
प्रणाद्या वायवः सर्वे वहन्ते तेषु नाडिषु ॥ ११ ॥

नाडयो वै दश प्रोक्ताः पवनानि तु वै दश ।
प्रधाना पिङ्गला शून्य सृजते पहरे तु सः ॥ १२ ॥

नाडि चक्रस्य सर्वस्य नाभिभुव्यवस्थितम् ।
p. 5b) नाडि चक्रस्य वै तद् वत् पिङ्गला मध्यतोद्भवा ॥ १३ ॥

इडा चैव सुषुम्णा च पिङ्गला च तृतीयका ।
एककायं च सर्वासां युक्ति भेदे पृथक् पृथक् ॥ १४ ॥

इडा वहति वामेन तत्र सोमो व्यवस्थितः ।
सुषुपिङ्गला दक्षिणपुत्र त्रत्र सूर्यो व्यवस्थितः ॥ १५ ॥

सुषुम्णा मध्य नाडी तु तत्र सर्वं सदा स्थितम् ।
इडामध्ये स्थितं देव पितृयानेति कथ्यते ॥ १६ ॥

पिङ्गलावस्थितं पुत्र देवयानेति कथ्यते।

सुषुम्णा मध्यमानाडी तत्रस्थं मोक्षमार्गदश ॥ १७ ॥

सर्वारम्भेण योगीन्द्रो मोक्षमार्गपदावहः।

कर्णिकान्त स्थितं देवमव्यक्तं रूपवर्जितम् ॥ १८ ॥

तदुर्थावयव सर्वेयैर्व्याप्ता नाडयोदश।

p. 6a) तासां मध्ये तु वै ह्येका सुषुम्णा नाम श्रूयते ॥ १९ ॥

तया प्रोक्तास्त्रयः पद्माः सूत्रेण मणयो यथा।

तस्याभ्यन्तरसंलीनौ प्राणापानौ व्यवस्थितौ ॥ २० ॥

सुषुम्णामध्यसंस्थौ तु प्राणापानौ शिखिध्वज।

सृष्टिप्रलयरूपेण स्थिता वेतौ कुमारक ॥ २१ ॥

ग्रथितौ परयाशक्त्या अव्यक्ता मृतयोथया।

आधाराधेय भावेन परापर विभागशः ॥ २२ ॥

सृष्टि प्रलय रूपेण प्राणापानौ व्यवस्थितौ।

तयोर्मध्ये स्थितं ब्रह्म अन्यक्तं रूपवर्जितम्॥ २३॥

ग्रसते सृजते चैव सर्वं विश्वं चराचरम्।
नाभिपद्मस्य वै पृष्टे हृत्पद्मं तु अधो मुखम्॥ २४॥

उभाभ्यां कर्णिका मध्ये परं तद्वीक्ष्य पुत्रक॥ २५॥

p. 6b) कथं मे दृश्यते तात तस्य रूपस्य गोचरम्।
यं दृष्ट्वाहं गमिष्यामि अजन्म पदमव्ययम्॥ २६॥

साधु साधु महाप्राज्ञ योगयोगेश्वरेश्वर।
यत् त्वया चोदितं प्रश्नं दुर्विज्ञेयं सुरोरपि॥ २७॥

न ब्रह्मणा न सूर्येण न चन्द्रेन न विष्णुना।
न तु देव्या त्वया चैव यदभ्य परिपृच्छितम्॥ २८॥

तत् ते हं कथयिष्यामि गुहाद्गुह्यतरं परम्।
विक्षेप वचनं रक्षेच्छरणागतवत्स्वत॥ २९॥

राजामन्त्री वरक्ष्यो यं न देयं यस्य कस्य चित्।
अदीक्षितेन दातव्यमश्रद्धेयमनार्जवो॥ ३०॥

आकुले कूरहृदये दुर्जने च दापयेत्।
दातव्यं दीक्षते पुत्र गुरुदेवाग्निपूजके॥ ३१॥

p. 7a) श्रद्धधाने जितक्रोधे लोभमोहपराङ्मुखे।
परीक्ष्यते गुरुः शिष्यमब्दानि द्वादशानि वै॥ ३२॥

अनेन भावितं विश्वं सर्वमेव चराचरम्॥ ३३॥

अद्यमे जन्मसफलं अद्यमे सफलं श्रुतम्।
अद्यमे सफला बुद्धिरद्यमे सफलं तपः॥ ३४॥

स कृतार्थोस्मि वै ह्यद्य अद्य जातोस्मि वै पुनः।
मुक्तोस्मि चा?द्य वै तात भवसंसारबन्धनात्॥ ३५॥

गुह्यं ज्ञानं विदित्वा तु तृप्तोहं सर्वदा प्रभो।
अधुना श्रोतुमिच्छामि प्रणापानौ व

???????????????????????????

p. 7b) कथं स्थितौ ॥

शृणु वत्स महाप्राज्ञ यत् त्वया चोदितो ह्यहम् ।
तत् तोहं कथयिष्यामि प्राणापानौ यथा स्थितौ ॥ २ ॥

प्राणाद्या वायवः पञ्च ऊर्ध्वभागे व्यवस्थिताः ।
तेषां मध्ये प्रधानौ द्वौ प्राणापानौ प्रकीर्तितौ ॥ ३ ॥

कन्दुकन्यायमाश्रित्य अध ऊर्ध्वं प्रवर्तते ।
योगमार्गेषु सर्वेषु गतिरेषा प्रवर्तते ॥ ४ ॥

नवानां चैव वायूनां प्राणापानौ प्रकीर्तितौ ।
हृत्पद्मे नाभिपद्मे तु द्वादशान्ते तथैव च ॥ ५ ॥

विशते परमात्मा वै प्राणापान गति स्थितः ।
अपानः संहरेत् प्राणं प्राणोपानस्य वै तथा ॥ ६ ॥

प * * *? स्थितं तेषां सृजते संहरत्यसौ ।

उदयास्त मनं ह्येतन् नान्यं मन्ये शिखिध्वज ॥ ७ ॥

p. 8a) बाह्यसंस्थस्य सूर्यस्य नोदयो वै नास्तमयः ।
तपते सततं वत्स विश्वं दिङ्मार्गवीक्षणे ॥ ८ ॥

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन शरीरस्थं विचारयेत् ।
यं ज्ञात्वा प्राप्यते मोक्षो येन भूयो न जायते ॥ ९ ॥

ज्ञातुमिच्छम्यहं देव उदयास्त मयं कथम् ।
अहोरात्रं कृतं चैव सङ्क्रान्ति विष्ववद् द्वयम् ॥ १० ॥

अति प्रियोपि मे पुत्र पृच्छसे शोभनं सुत ।
यत् त्वया चोदितं प्रश्नमनाख्यं कथयामिते ॥ ११ ॥

यन् मयोक्तं परं ब्रह्म हृदिस्थं तं षडानन ।
तस्य शक्तिर्भवेदेषा उदयास्त मनं प्रति ॥ १२ ॥

ऊर्ध्वमार्गे यदा ज्वाला वर्तते तस्य तेजसः ।
उदयं तं विजानी

??????????????????????

* * * तालयं यस्मात् तस्माल्लिङ्गं तदुच्यते ।

p. 8b) अलिङ्गं लिङ्गरूपेण अव्यक्तं व्यक्तगोचरम् ॥ ९ ॥

आकाशं सम्भवेद्भूत्स यो वै शक्त्या लयं गतः ।

पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाश एव च ॥ १० ॥

एते पञ्च महाभूता यतोत्पन्ना लयं हि तत् ।

आकाशं ग्रसते शक्तिर्यथाग्रस्ताखिलं जगत् ॥ ११ ॥

सृष्टिं तु कुरुते सा तु शिवाज्ञा चोदिता गुह ।

प्रलयं सर्वभूतानां मया ते कथितं सुत ॥ १२ ॥

मयि चोक्तं शिवे नेदं पूर्वं तुष्टेन सर्वदा ।

भूतोत्पत्ति लयं चैव मयाज्ञातं विभागशः ।

भूयो विज्ञातुमिच्छामि * * * * * * * * ।

पगे ९ तो १९ मिस्सिन्ग्

?????????????????????????????

p. 20a) * * * * * * * * आकारं ब्रह्मसंस्थितम् ॥ १ ॥

अतिगुह्यतमं प्रश्नं यत् त्वया चोदितं गुह ।
तत् सर्वं कथयिष्यामि शृणुष्वा वहितं तथा ॥ २ ॥

शून्यं शून्यं पुनः शून्यं शून्यं शून्यं पुनः पुनः ।
शून्याच्छून्यतरं शून्यं तच्छून्यं शून्यमेव च ॥ ३ ॥

शून्यं शून्यं त्वया प्रोक्तमनेन ज्ञानता मम ।
शून्यस्या शून्यतां ब्रूहि यदि तुष्टोसि मे प्रभो ॥ ४ ॥

शून्यं शून्यं तु यो वेत्ति शून्यं शून्यं तु यो भवेत् ।
अशून्यं तं विजानीयात् सर्वशून्या लयं हितम् ॥ ५ ॥

सर्वभूतेषु तं वत्स त्रिशून्यं हृदिसंस्थितम् ।
न तु जानन्ति तं शून्यमशून्या येन ते कृताः ॥ ६ ॥

शून्यभूतं शिवं ज्ञेयं शून्यभूता हि शक्तयः ॥

p. 20b) अशून्यं तेष्वमीरूपं सर्वगं चेतनात्मकम् ॥ ७ ॥

न हि शून्यस्य शून्यत्वं शून्यत्वं तस्य भावना ।
विज्ञानं ज्ञापकं शून्यं निरालम्बाबलम्बितम् ॥ ८ ॥

विभुत्वेन स्थितं शून्यं ये नेदं पूरितं जगत् ।
तं शून्यं शून्यमित्याहुर्वदन्ति ज्ञानबुद्धयः ॥ ९ ॥

शून्यस्य शून्यता नास्ति अशून्यं शून्यमुच्यते ।
सृष्टिप्रलय रोहित्वा च्छून्यस्याशून्यतां विदुः ॥ १० ॥

शून्यात् सृष्टिः प्रसवति शून्ये तु प्रलयं पुनः ।
तस्मादशून्यता शून्ये निरालम्भावलम्भिनम् ॥ ११ ॥

निरालम्भावलम्भित्वं शून्यता येन सिद्धयति ।
विज्ञानज्ञानयोगेन शून्यं ज्ञेयं लभेष्यसि ॥ १२ ॥

शून्यंत्व शून्यं ज्ञातव्यं न हि शून्योस्ति कुत्र चित् ।
p. 21a) तेषां शून्यमिदं शून्यमज्ञाना येषु भावना ॥ १३ ॥

अशून्यं सर्वदा वत्स त्रैलोक्यं स चराचरम्।
ब्रह्मादि स्तम्भपर्यन्तं सर्वं शून्येन पूरितम्॥ १४॥

तच्छून्यं पूरिता शक्त्या अव्यक्ता या शिवोत्थया।
यथा चैतन्य भावेन बोधितं भुवन त्रयम्॥ १५॥

वस्तु शून्यं न त च्छून्यं शून्यमज्ञानशून्यता।
तं शून्यं ज्ञान रूपेण ज्ञेयं शून्यं न तद्गुह॥ १६॥

ज्ञेय शून्यो पलब्धित्वं निरालम्बावबोधनम्।
न पुनः शून्य भावस्तु शून्येस्मिंस्तत्त्वतः सुत॥ १७॥

तमो भूतं जगत्सर्वं पूर्वमासी च्छिखिध्वज।
नष्ट सूर्येन्दु वातौघैर्ग्रहनक्षत्र तारकैः॥ १८॥

अप्रतर्कमविज्ञेयं दिशासु विदिशासु च।
न चोर्ध्वं नैव पातालं महाभूतैस्तु वर्जितम्॥ १९॥

p. 21b) व्यक्तिं न दृश्यते यत्र अव्यक्तं सर्वतः स्थितम् ।
तस्मिन् काले तया शक्त्या चिद्रूपाया शिवोत्थिता ॥ २० ॥

तुर्यस्थाने लयं कृत्वा ववर्ष ह्यमृतं बहु ।
भूतसृष्टि हितार्थाय प्लावितं चाखिलं जगत् ॥ २१ ॥

तदा ह्यण्डः समुत्पन्नश्चाष्टाङ्गः कनकोपमः ।
कल्पान्तं यावदण्डं तदणु रूपेणसंस्थितम् ॥ २२ ॥

स तु वत्स द्विधा भिन्नो दिवं भूमिं तु निर्ममे ।
अष्टा शा विदिशश्चाष्टौ मध्ये बीजाङ्कुरं पदम् ॥ २३ ॥

चिच्छक्त्या तु समुद्भूतं ये नेदं ग्रथितं जगत् ।
तस्याङ्कुरस्य पृष्ठे तु महापद्मं सितं शुभम् ॥ २४ ॥

सहस्रदलपत्राढयं कर्णिकाकेसरैर्युतम् ।
प्रणवं तं च विज्ञेयं पद्मं पद्मदले क्षणम् ॥ २५ ॥

p. 22a) तस्य मध्ये समुत्पन्नो ब्रह्मावेदनिधिर्गुह ।

कर्णिकान्ते स्थितं वत्स सर्वलोकपितामहम् ॥ २६ ॥

सृजते सर्वभूतानि चराणि ह्यचराणि तु ।
तदा प्रजापतिर्वत्स विश्वकर्ता महेश्वरः ॥ २७ ॥

चतुर्मुखं चतुर्बाहुं चतुर्वेद निधिं प्रभुम् ।
सूर्यकोटि प्रतीकाशं कल्पान्ताग्नि समप्रभम् ॥ २८ ॥

तेन तेजोवभासेन भासितं भुवनत्रयम् ।
व्यक्तीभूतं तदावत्स दिशोष्टौ गगनं क्षितिः ॥ २९ ॥

क्षितिभूतं स्थितं पद्मं मेरुभुता हि कर्णिका ।
दलाष्टकं दिशश्चाष्टौ ब्रह्मपद्मस्य षण्मुख ॥ ३० ॥

चतुर्दशविधं वत्स भूतसर्गं चराचरम् ।
सर्वं प्रणवसंभूतं चिच्छक्त्या चेतनोद्भवम् ॥ ३१ ॥

p. 22b) कालाग्नि रुद्रपर्यन्तं चिच्छक्त्याङ्कुरसम्भवम् ।
तच्च पद्मस्थितं वत्स अमृतोदधिमध्यगम् ॥ ३२ ॥

तं दृष्ट्वा तु स्वयं ब्रह्मा विस्मितो ह्यन्तरात्मना।
तदा तस्योदिता बुद्धिर्योगमभ्यमनं प्रति॥ ३३॥

तेन योगं समभ्यस्तं दिव्यायुतसहस्रकम्।
तस्य योग फलावाप्तिश्चिच्छत्तया प्रणवे हृतम्॥ ३४॥

तेन चोत्यादितं सर्वं विश्वं हि स चराचरम्।
ब्रह्मादि स्तम्भ पर्यन्तं यावत् कालादि गोचरम्॥ ३५॥

तस्मात् साकार भुतानि सर्वे ब्रह्ममयागुह।
सर्वं च खल्विदं ब्रह्मस्वतोर्थं ब्रह्म वादिनम्॥ ३६॥

ज्ञात्वा भूत हितं वत्स ये स्थितास्ते ह्यसम्भवाः।
सर्वेषां चैव भूतानां प्रणवं योनिशक्ति धृत्॥ ३७॥

तस्माद् ब्रह्मसमुत्पन्नमादौप्रणव योनिषु।
p. 23a) प्रणवेन भवेत् पद्मं चिच्छत्त्यङ्कुरसन्निभम्॥ ३८॥

तस्मिन् मध्यात्समुत्पन्नः पद्मयोनिस्तदुच्यते ।
प्रणवं योन जानाति बिन्दुनादेन्दु भूषितम् ॥ ३९ ॥

मात्रार्द्धमात्रसंयुक्तं तेन ब्रह्मविदो विदुः ।
अर्द्धमात्रासमुद्धुतं प्रणवं सर्वदा गुह ॥ ४० ॥

नादान्तान्तरसंस्थं तु परं ब्रह्मसनातनम् ।
तस्मिन्नेव लयं कुर्यात् तेनैवं ब्रह्मवादिनः ॥ ४१ ॥

शिवान्तरसमुद्धुत परं ब्रह्मशिखि ध्वज ।
तैर्ज्ञातममृतं तेषामज्ञानं च विषं भवेत् ॥ ४२ ॥

अर्धमात्राणि खर्वांशं तस्यांशः कोटिरंशकम् ।
तस्यापि लक्षसो ह्यंशो योजानाति स ब्रह्मवित् ॥ ४३ ॥

????????????????????????????
p. 23b) ब्रह्माण्डा ब्रह्मणोत्पत्तिं मया ज्ञातं मया श्रूतम् ।
अधुना श्रोतुमिच्छामि स्त्रीपुंसोश्चैव सम्भवम् ॥ १ ॥

यत् त्वया चोदितं प्रश्नं दुर्विज्ञेयं सुरैरपि ।

तत्तेहं कथंयिष्यामि रहस्यं प्रश्नपूर्वकम्॥ २॥

योगमभ्यसितं पूर्वं सृष्ट्यर्थं पद्मयोनिना।
तपश्च सुमहत्तीर्णां दुष्करं चाद्भुतोपमम्॥ ३॥

तदा तुष्टः स भगवाञ्शिवः परमकारणः।
परं ब्रह्मशिवं ज्ञेयं परं स्थानमनामयम्॥ ४॥

परापर शिवं वत्स सर्वेषां परतः स्थितम्।
तेन तुष्टेन देवेन चिच्छक्त्या चेतना गुह॥ ५॥

गच्छत्वं ब्रह्मणः नार्धं सृष्टिसृष्ट्यर्थ कारणम्।
p. 24a) आराधितो ह्यहं तेन भक्त्यापरमयायदा॥ ६॥

चिच्छक्त्या चोदितं देव प्रत्यक्षं त्वं कथं विभो।
तदादि दृष्ट पूर्वोयमेवं पद्म तनुर्भवेत्॥ ७॥

एवं मत्वा सर्वे शक्तिः शक्तिरूपेण संस्थिता।
स तु विष्णुर्विजानीया च्छक्तिरूपेण शक्ति धृत्॥ ८॥

अहं तु पुरुषः साक्षाच्छिव तेजस्समुद्भवः।
उभाभ्यां बीजरूपेण पद्मयोनिस्तृतीयकः॥ ९॥

एवं हि त्रिविधा सृष्टिः संभुताभुतजा गुह।
प्रणवं तु भवेदेष अ उ-मक्षरयोजितम्॥ १०॥

नादेन्दु बिन्दुरेते वै कलामात्रास्तथैव च।
चतुर्विंशति तत्वानि पुरुषं पञ्चविंशकम्॥ ११॥

आयुः कर्म च वित्तं च विद्यानिधनमेव च।
अन्ये ये केचिच्छारीरा व्यक्ता-अव्यक्त वायवः॥ १२॥

p. 24b) सर्वं समरसं भुत्वा चिच्छत्त्याव्यक्तया गुह।
तं रसं ब्रह्ममित्याहुरानन्दकरणं परम्॥ १३॥

शुक्रं तं तु विजानीयादमरत्वं कभो?तिसः।
सृष्टिरूपेणमर्त्यानाममरत्वे व्यवस्थितः॥ १४॥

देवानाममरत्वं च पुरातेनैव कल्पितः ।
चतुर्दशविधिवत्स भूतसर्गं चराचरम् ॥ १५ ॥

अग्रे खगात्मकं सर्वं सृष्टब्रह्मादिभिर्गुह ।
ब्रह्मतेजस्समुत्पन्नावग्नीषोमौ शिखिध्वज ॥ १६ ॥

तथा बीजस्य बीजत्वमन्यथा तु निरर्थकम् ।
एवं सर्वे समारम्भाः सर्वबीजेषु संस्थिताः ॥ १७ ॥

शरीरसृष्टिहेत्वर्थं चिच्छक्त्या चेतनात्मकम् ।
यथान्यग्रोध बीजानां न्यग्रोधाभ्यन्तरे स्थितः ॥ १८ ॥

p. 25a) तथा सर्वेषु भूतेषु चिच्छक्त्या चेतसंस्थितम् ।

?????????????????????????
सृष्टिन्यासं मयाज्ञातं दैविकं चैव मानुषम् ।
भूयश्च परिपृच्छामि स्त्रीपुंसो सम्भवो यथा ॥ ॥

इदं गुह्यं महागुह्यं सर्वगुह्येषु वै गुह ।
यत् त्वया चोदितं प्रश्नं तत् सर्वं शृणु षण्मुख ॥ २ ॥

प्राक्तनैः कर्मलेशैश्च शुभैश्चाप्य शुभैस्तथा।
समुत्पद्यन्ति संसारे योनि लक्ष्वान्तरेषु च॥ ३॥

शुभकर्ता शुभे योनौ दुष्कृती दुष्कृतेषु च।
एवं कर्ता च कर्मभ्यो भुञ्जते वै शुभा शुभम्॥ ४॥

यदा यमः स च भवेद् यदा सृष्टिः प्रवर्तते।
p. 26b) उभाभ्यां तत्र संयोगाद्भगलिङ्गसमागमे॥ ५॥

गर्भं सम्भवते गर्भे चिच्छक्त्या शक्तिचोदिते।
योनिद्वारस्य वै पृष्ठे नाभिपद्मं स्थितं गुह॥ ६॥

यदा विकसितं स्त्रीणाम तु कालस्तदा भवेत्।
रजः प्रवर्तते ह्यस्यां दिवसानि तु षोडश॥ ७॥

ऋतुकाले तु तत् पद्म मधोमार्ग मुखं भवेत्।
तस्मिन् बीजं यदा क्षिप्तमृतुकाले शिखिध्वज॥ ८॥

तदा तद्रोहते बीजमन्यथा रूपरेहितम्।
पुंसेत् कर्ष भवेत् पुंसः स्त्रियोत्कर्षे भवेत् स्त्रियः॥ ९॥

समेन पुंसकं ज्ञेयमाधिक्ये नैव किञ्चन।
युग्मे युगानु युग्मे स्त्री अन्तकालेन पुंसकम्॥ १०॥

ऋतुकाले द्युति क्रान्ते भूयः पद्मं समं भवेत्।
p. 26a) तस्य मध्ये स्थिता वत्स पिङ्गलादस्पृतोद्भवा॥ ११॥

सा नन्द यति सर्वेषां रतिकाले शिखिध्वज।
जायते पुरुषश्चैवमानन्दयति सर्वदा॥ १२॥

उभाभ्यां समयोगेन तदा बीजः प्ररोहति।
पुरप्रवेशमेतद्धि अमरत्वं च वै भवेत्॥ १३॥

तदा पुत्राश्च पौत्राश्च प्रपौत्राश्च न संशयः।
जन्तवो गोत्र सन्ताना अमरत्वं तदा भवेत्॥ १४॥

तस्य पद्मस्य मध्ये तु चिच्छक्तिरमृतोद्भवा।

वसते सततं वत्स दिवसानि तु षोडशः ॥ १५ ॥

तदा लिङ्ग च्युतं बीजं तस्मिन् स्थाने प्ररोहति ।
तस्य पद्मस्य गर्भोयं गर्भशय्या शिखिध्वज ॥ १६ ॥

पद्मिनी शङ्ख रूपेण गर्भशय्या स्थिता गुह ।
तस्य मध्ये यदा क्षिप्तं क्षिप्तं बीजेवकल्पयेत् ॥ १७ ॥

p. 26b) अन्यथा तु अबीजेयमौषधं क्षिपितं यथा ॥ ॥

???????????????????????????
सर्वं देव मया ज्ञातं सर्वं तात मया श्रूतम् ।
अधुना श्रोतुमिच्छामि रजोरेतः समुद्भवम् ॥

अत्यन्त कुत्सितं पुत्र यत् त्वया परिपृच्छितम् ।
दुष्कृतीनां च सर्वासां गर्भवासः प्रकीर्तितः ॥ २ ॥

कालाग्नि रुद्र पर्यन्तं यावद्ब्रह्माण्डगोचरम् ।
सर्वं चिच्छक्तिना व्याप्तं शिवाज्ञा चोदितं गुह ॥ ३ ॥

चिच्छक्ति संप्लुता भूताः सर्वेषामन्तरे स्थिताः।
प्ररोहं कुरु वृद्धिं च अन्यथा तस्य चोदनम्॥ ४॥

p. 27a) व्यक्तं न दृश्यते तस्य अव्यक्त त्वात् सृजत्यसौ।
तस्य बीजं कुरुत्यन्ता तया सृष्टं चराचरम्॥ ५॥

चराणामचराणां च भूतानां शिखिवाहन।
योसौ योनिः सनिधनं परमार्थं तु तं विदुः॥ ६॥

परमार्थं तु तं ज्ञेयं यस्य शक्तिर्न लुप्यते।
शक्तिर्न लुप्यते चास्य शिवयोगा शिखिध्वज॥ ७॥

सर्वेषामेव भूतानां योन्यण्ड स्वेदजोद्भिजः।
अग्नीषोमानिलयुतं विशते परमेश्वरः॥ ८॥

उत्पत्तिरेषा भूतानां प्राणापानोदयेन तु।
अस्तङ्गतैस्तैर्निधनं देहे देहेश्वरो गुह॥ ९॥

आदौ भूताः समुत्पन्नाः पश्चादण्डस्य सम्भवः।

ततोङ्कुरं च पद्मं च तत्व ब्रह्मादनन्तरम्॥ १० ॥

चतुर्विंशति तत्वानि अक्षतानि तु वै गुह।
गायत्री तु भवेत् तैस्तु महादेवाति निस्सृतम्॥ ११ ॥

p. 27b) ते नैव निस्सृतं विश्वं कर्मयुग्मसमन्वितम्।
चिच्छक्ति संभवं सर्वं ब्रह्माण्ड कुहरोदरम्॥ १२ ॥

तस्माद् वै सर्वदा वत्स चिच्छक्तिः परमार्थतः।
मया सृष्टं जगत्सर्वं भूतसर्गं चराचरम्॥ १३ ॥

स्त्रीरजो रेतसं मिश्रं कलिलं मासमेकतः।
चिच्छक्त्या चेतनोद्भूतं द्वितीये मासि बुद्बुदम्॥ १४ ॥

रेतोरक्तसमुद्भूतं तृतीये मासि षण्मुख।
चिच्छक्ति सम्भवा ह्यत सर्वेषामन्तरे स्थिताः॥ १५ ॥

प्ररोहाङ्कुर वृत्तिं च सर्वेषां तस्य चेतनाः।
व्यक्तिर्न दृश्यते तस्य अव्यक्त त्वात् सृजत्यसौ॥ १६ ॥

तस्य बीजाङ्कुरस्यान्तं तेन दृष्टं चराचरम्।
चराणा?मचराणां च भूतानां शिखिवाहन॥ १७॥

p. 28a) बुद्धधाङ्कुरसंलीनं चिच्छक्तिः सृजतेङ्कुरम्।
तं नालं पद्मगर्भस्य नाभिनालं प्रकीर्तितम्॥ १८॥

ततोमांसास्थि संभुतिस्तृतीये मासि षण्मुख।
यथा बीजाङ्कुरं वत्स अव्यक्तं नैव दृश्यते॥ १९॥

चतुर्थे मासि संप्राप्ते जायन्ते वयवाङ्कुराः।
तदा व्यक्तं भवेत् कायं पुरुषा कृति संज्ञकम्॥ २०॥

चिच्छक्त्या चेतनं तस्य जायन्ते स्तोकमात्रकम्।
मज्जास्थि स्नायुमेधं च मांसं रुदिरमेव च॥ २१॥

वातपित्तं तथा श्लेष्मं शुक्रं मूत्र पुरीषयोः।
सिरानाडी ग्रन्थयश्च द्वाराः कूर्माश्च जालकाः॥ २२॥

त्वचं मर्माणि सन्धीश्चलोमनाड्यस्तथैव च ।
एते चान्येपि ये केचिच्छरीरोत्पत्ति कारणम् ॥ २३ ॥

p. 28b) सम्भवन्ति च सर्वे वै अङ्गान्यवयवास्तथा (देहस्या) ।
पञ्चमे मासि समये न खलोमानि स्पन्दनम् ॥ २४ ॥

श्रोत्त्रशुक्तिश्च शोत्राणां धातूनां धातुरोपणम् ।
व्यक्तत्वं सर्वमङ्गानां यथा यस्य तु कल्पितम् ॥ २५ ॥

चिच्छक्ति चेतनवशात् सम्पन्नास्ते शिखिध्वज ।
षष्ठे मासि रसान् सर्वान् यदा ते मातृ भोजनात् ॥ २६ ॥

क्षुट्तृष्णा जाग्रनिद्राश्च शीतोष्ण मुखदुःखिताः ।
चिच्छक्ति चेतनोर्थे न चेतनां चेतते तु यः ॥ २७ ॥

सप्तमे मासि संप्राप्ते चैतन्यं मानुषोपमम् ।
यदा प्रबुध्यते चाग्निर्ह्यादिस्थं तच्च वै गुह ॥ २८ ॥

तदा स सर्वमखिलं शरीरे द्योतयत्यसौ ।

पद्मत्रयं प्रबुद्ध्येत ह्यन्नाभि मुखसंस्थितम् ॥ २९ ॥

p. 29a) वायवश्च प्रवर्तन्ते प्राणाद्या ये प्रकीर्तिताः ।
लिङ्गद्यानाडयः सर्वा हृत्पद्मदलसम्भवाः ॥ ३० ॥

तानिमां पूरितं सर्वं तेजोर्थेन जरायुभिः ।
तैर्व्याप्तमखिलं पिण्डं लोमान्तं यावत् षण्मुख ॥ ३१ ॥

नाडि चक्रं तु सर्वं वै व्यापितं सर्वरस्मिभिः ।
यथा सूर्योदये सर्वं रस्मिभिर्व्यापितं जगत् ॥ ३२ ॥

पाणाग्नि सूर्यौ निर्णीत्वा व्यापितं देहमात्मनः ।
चिच्छक्ति चेतनोर्थाय बहिः सूर्यं शिखिध्वज ॥ ३३ ॥

न तु तस्यात्मनाशक्तिर्यावच्चिच्छक्ति चोदिता ।
अष्टमेन तु मासेन बुद्धिर्गर्भस्य संभवेत् ॥ ३४ ॥

यथाहङ्कार दोषेण गर्भवासं वसाम्यहम् ।
तमोन्धकारगहने सर्वदुःखसमाकुले ॥ ३५ ॥

p. 29b) स्वेदमूत्रपुरीषोर्थे वसारुधिरसंयुते ।
कलिश्सेष्मसङ्कीर्णे मांसास्थिस्नायु सङ्कटे ॥ ३६ ॥

एकविंशति ये प्रोक्ता नरकाश्च भयावहाः ।
तेषां मध्यान्महाघोरं नरकं कुक्षि सम्भवम् ॥ ३७ ॥

चन्द्रार्करहितं भीमं वाय्वग्नि परिवर्जितम् ।
नरकार्णवसंप्रख्यं दुःखकल्लोलदुस्सहम् ॥ ३८ ॥

अहं जातः कथं पुत्र किं मया दुष्कृतं कृतम् ।
एवं सञ्चिन्त्यमानस्य चिच्छक्त्या चोदितस्य च ॥ ३९ ॥

नवमे मासि समये संप्राप्तेषु सर्वेगुह ।
अत ऊर्द्ध्वं तु ये केचित् गर्भवासे वसन्ति च ॥ ४० ॥

महापातकिनस्ते वै उपपातकिनस्तु ये ।
दर्शनं दशमे मासि सुकृतानि तु चिन्तयेत् ॥ ४१ ॥

p. 30a) येनाहं सन्तरिष्यामि योनिद्वाराद्भयानकात्।

तदहं तत् करिष्यामि येन भुयो न जायते॥ ४२॥

सुकृतानि ह्यशेषाणि यानि वै कथितानि तु।

वेदेषु सर्वशास्त्रेषु पुराणेषु स्मृतीषु च॥ ४३॥

तानि सर्वान् करिष्यामि यथोक्तानि विधानतः।

एवं सञ्चिन्त्य मानस्य चिच्छत्त्या प्रसवं कृतम्॥ ४४॥

महाभयं तु गर्भस्य प्रसवं तु शिखिध्वज।

अत्यन्त भयभीता तु मण्ड उद्विजिता गुह॥ ४५॥

हस्तपादशरीरेण स्वकेन शिखिवाहन।

विदार्य पद्मं गर्भस्य योनिद्वार मुखे गतम्॥ ४६॥

तदामाता भयं प्राप्ता मरणान्तिक गोचरम्।

p. 30b) विदार्य सृष्टिं द्वारेण मातुः सन्देह कारकम्॥ ४७॥

निर्गत्य पतते भूमौ निस्संज्ञं तु तदा भवेत्।

न तस्य सुकृते बुद्धिर्न च दुष्कृत कर्मणि ॥ ४८ ॥

मोहितो मायया वत्स चिच्छक्त्या बालसंज्ञया ।
उत्पत्तिरेषाभूतानां योनिजानां शिखिध्वज ॥ ४९ ॥

तस्मात् सर्व प्रयत्नेन अजातपदमभ्यसेत् ॥ ॥

?????????????????????????????
न किञ्चिदपि तं देव यन्मयानावधारितम् ।
तत्रापि संशयं देव वर्तते धातु सङ्क्षयात् ॥ १ ॥

अत्यन्त गहनं प्रश्नमप्रत्यक्षमगोचरम् ।
p. 31a) यत् त्वया चोदितं प्रश्नं पुत्रस्नेहाद्वदामिते ॥ २ ॥

पञ्चभौतिक पिण्डस्य चिच्छक्त्या निर्मितस्य च ।
यथा वै धातु संख्यानमङ्गानां च शृणुष्वमे ॥ ३ ॥

षड्रसाहारतृप्तस्य धातुसन्तर्पितस्य च ।
रसं सम्भवते वत्स मासमेकं तु निष्फला ॥ ४ ॥

तं रसं रसरूपेण चिच्छत्तया ह्यमृतं कृतम्।
पराग्नि संभवं तं वै न स शुक्रो भवत्यसौ॥ ५॥

सृष्टिबीजं तु तं ज्ञेयं ततः सृष्टिः प्रवर्तते।
रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदोथ जायते॥ ६॥

मेदसोस्थि तथा मज्जा मज्जा च्छूक्रं च जायते।
शुक्राद्धातूनि सर्वाणि धातुभ्यां देहमानुषम्॥ ७॥

तेषां सन्तर्पणं तुष्टि रसतर्पणतो व्ययम्।
एवं हि प्रथमं तावच्छरीरोत्पत्ति कारणम्॥ ८॥

p. 31b) अनन्तरं पुनर्वत्स यथा भवति तच्छृणु।
वातं पित्तं तथा श्लेष्मं धातवः परिकीर्तिताः॥ ९॥

विण्मूत्र शुक्रमज्जा तु मांसं चैवाष्टमं विदुः।
शरीरधारणा ह्येते सङ्ख्यासङ्ख्या कृतां गुणाः॥ १०॥

धातु साम्ये स्थिता देहे सर्वे ते गुणकारकाः।

तासां सङ्ख्या भवेदेषा कल्पना शिखिवाहन ॥ ११ ॥

विपर्ययेण धातूनां न हि सङ्ख्या भवेत् गुह ।
वायु भावे गुणा ये च ये वाने यौ ध्वने तथा ॥ १२ ॥

न तु मध्य वयोतीत समत्वं सर्वधातुषु ।
अतोर्था धातु पूर्वाये असङ्ख्येयाविलागुह ॥ १३ ॥

स्थितो यो सौ हृदि ह्यग्निः प्रणवोर्थः शिखिध्वज ।
तेन सन्तर्पिते नैव धातवस्तर्पिता गुह ॥ १४ ॥

स शृणोति स वै पश्येद् यो रसान् स्वादते चिरम् ।
p. 32a) स तु गन्ध गुणस्पर्शं भुञ्जते देहसंस्थितः ॥ १५ ॥

तस्य भावात् प्रलीयन्ते सर्वे ते धातवः सदा ।
तस्माद् वै सर्वदा वत्स स कर्तासेवकारणम् ॥ १६ ॥

यथा रस्मि सहस्राणि सूर्यायत्तानि षण्मुख ।
तथा सर्वाणि भूतानि ते जायत्तानि सर्वशः ॥ १७ ॥

????????????????????????

दातूत्पत्तिर्मया ज्ञाता यथा तथ्यं सुविस्तरम्।

सर्वेषामेव धातूनां रक्तं तु प्रथमं भवेत्।

स तु मांसं समाश्रित्य संस्थितं सर्वदेहिनाम्॥ २॥

तस्य मज्जा भवेद्वत्स पलद्वात्रिंश संख्यया।

p. 32b) मांसं पेशीशतान्यष्टौ शतैकेनैव चाधिकः॥ ३॥

पयः पीत्वा भवेद् रक्तं द्विगुणं तं शिखिध्वज।

पित्तस्य तु पलान्यष्टौ श्लेष्मरक्त समाश्रितम्॥ ४॥

रक्तस्य हि समं श्लेष्मं तद्वद्वृत्तिस्तु षण्मुख।

वसामेदः पृथत्त्वेन उभौ विंशत्पलीनकौ॥ ५॥

शुक्रं पित्तं समं ज्ञेयमस्थिमज्जान्तरेषु च।

वसादाहारपानांभ्यां विण्मूत्रं जायते पुनः॥ ६॥

तदा भावै ह्यसंख्येयं स्थिरत्वं तेषु नैव च।

रक्तं पित्तं तथा श्लेष्मं शुक्रं मज्जा तु षण्मुख॥ ७॥

रसोद्भवानि चैतानि रसभावा तु नैव हि ।
सर्वेषामेव धातूनां पित्तं वै श्लेष्म बन्धनम् ॥ ८ ॥

यस्माद्रसोद्भवाः सर्वे तदा तेषां निबन्धनम् ।
यस्माद्रसोद्भवाः सर्वे तदा तेषां निबन्धनम् ॥ ९ ॥

p. 33a) मज्जायां तु पलाविंशत् सर्वास्थ्यभ्यन्तरे स्थिताः ।
अस्थीनां तु शतां त्रीणि षष्ठ्य स्थिरधिकानि च ॥ १० ॥

तन्त्रीणां चैव विज्ञेयं शतमष्टाधिकं तथा ।
अष्टोत्तरं चर्मशतं सिराणां सप्त वै शतम् ॥ ११ ॥

ताश्च रक्त वहाः सर्वा देहमाच्छाद्यसंस्थिताः ।
ग्रन्थीनां तु शतं वत्स अष्टात्रिंशोत्तरं तथा ॥ १२ ॥

प्रधाना ग्रन्थयः पञ्च यैः कार्यं मोक्षसाधने ।
स्नायु जालमसंख्येयं यैर्बद्धं कायपञ्जरम् ॥ १३ ॥

मांसं तु धार्यते तैस्तु सङ्कोच करणानि ते।
चतुष्षष्टिर्भवेत् कूर्चं तयोः स्नायूंश्च सम्भवेत्॥ १४॥

सूचिताता भवेत् षष्टिः स्नायु सूत्रैस्तु यन्त्रितम्।
तदा यन्त्र मयं सर्वं शरीरं मानुषात्मकम्॥ १५॥

p. 33b) द्वासप्तति सहस्राणि नाडीनां परिकीर्तितम्।
तास्तु वायु वहाः सर्वास्सर्वास्ता मोक्षदाः शुभाः॥ १६॥

तासां मध्ये प्रधानैका पिङ्गला अमृतोद्भवा।
तदुद्भवाणि सर्वाणि यथा प्राणोद्भवानिलाः॥ १७॥

चर्ममेकं तु विख्यातं रोम च्छन्नं समन्ततः।
तिस्रः कोट्यो व कोटिस्तु रोमसङ्ख्यः प्रकीर्तिताः॥ १८॥

ते च नाडि समुद्भूता यस्मात् तेजोद्भवानि ते।
ते सङ्ख्ये या असङ्ख्ये या ये तु देहान्तरे स्थिता॥ १९॥

सर्वे तेजः समुद्भूता सर्वे ते तेजसंस्थिताः।

लोमक्रामानि सर्वाणि द्वाराणि शिखिवाहन ॥ २० ॥

अज्ञानान्नैव दृश्यन्ते दृश्यन्ते ज्ञान चक्षुषा ।

p. 34a) नखानां विंशतिः प्रोक्ता नवद्वाराणि षण्मुख ॥ २१ ॥

एवं सङ्ख्या समुद्भूता शरीरेषु शरीरिणाम् ॥ २२ ॥

????????????????

अवयवानां तु सर्वेषां सङ्ख्योत्पत्तिर्मया श्रूता ।

भूयो विज्ञातु मिच्छामि ब्रह्मवेश्म शरीरजाम् ॥ १ ॥

सर्वे प्रश्ना मयाप्रोक्ता रहस्यानि तु सर्वसः ।

यस्माद्ब्रह्म मयं देहमत्रब्रह्म तु लभ्यते ॥ २ ॥

अवयवाः पूर्वमुक्ता मया चैवं शिखिध्वज ।

यद्येकोन भवेत् तेषां तदा सर्वे ह्यपार्थकाः ॥ ३ ॥

प्राक्तनानभवन्त्येते संहतादेह धारकाः ।

p. 34b) एकैकं च तथा भूतमुत्पन्नं शक्ति चोदितम् ॥ ४ ॥

पुनरेव तु ते नैव यन्त्रितं भूत पञ्जरम् ।
तस्माद् यन्त्र मयं सर्वं शरीरं मानुषात्मकम् ॥ ५ ॥

गृहकृत्यसमादृश्यमस्थिदा रुचितं शुभम् ।
मांसरक्त मृदादिग्धं स्नायु कीलक कीलितम् ॥ ६ ॥

लिप्ते वै चर्म लेपेन नवद्वारोपशोभितम् ।
एकोन धार्यते स्तम्भं ब्रह्माण्डं येन धार्यते ॥ ७ ॥

ब्रह्मवेश्म सदावत्स तस्मिन् मध्ये परं स्थितम् ।
ब्रह्मणो वेश्मनो मध्ये वेदमग्नि त्रयस्य च ॥ ८ ॥

तेषां होमं प्रकुर्वीत प्रत्यहं चाहिताग्निना ।
आज्येन्ध न तिलैर्दर्भैर्धूमैर्गन्धैः स्त्रजैः शुभैः ॥ ९ ॥

न तेषां तुष्टिपुष्टिर्वाहुतैस्तैर्जीवसंज्ञकैः ।
तुष्यन्ते तर्पितावत्स प्राणापानाहुतीषु च ॥ १० ॥

p. 35a) न तेषां हूयते हव्यमजीवं ब्रह्मसंभवम् ।

जुहुयात् सततं वत्स प्राणापानावमृतोद्भवौ ॥ ११ ॥

तुर्यस्थानामृतं वत्स वसुधारेवसंस्थितम् ।
स्रवते सततं वत्स प्राणाग्नौ तर्पणं प्रति ॥ १२ ॥

अग्नयस्तेन तृप्यन्ति आज्येन्ध न निरर्थकाः ।
बाह्याग्नीतमुपासीत विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १३ ॥

भुर्भुवः स्वस्तपोलोका दृश्यन्ते तैर्हुताखिलाः ।
ब्रह्मवेदिर्भवेदेषा ब्रह्मवेश्मस्य मध्यतः ॥ १४ ॥

अन्तर्वेदी तथात्रैव सुषुम्णा त्रान्तरे स्थिता ।
प्रयागं च कुरुक्षेत्त्रं पुष्करं नैमिषं तथा ॥ १५ ।

वाराणसी तथा गङ्गा केदारं सिन्धु सागरम् ।
एते चान्येपि ये केचित् तीर्थान्यायतनानि च ॥

p. 35b) सर्वे तिष्ठन्ति ब्रह्मज्ञ परमाग्नौ जुहोति यः ।
सर्वं सर्वेषु भूतेषु प्रकटं संस्थितं गुह ॥

अज्ञानान्नैव पश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञान चक्षुषा ॥ ॥

????????????????????

ब्रह्मवेश्म तथाज्यं च त्वत् प्रसादाच्छ्रुतं मया ।

अधुना श्रोतु मिच्छामि ब्रह्मब्रह्मपुरेस्थितम् ॥

सर्वं सर्वं मयाख्यातं यत् त्वया पृच्छितं गुह ।

अयं प्रश्नो गुरोर्वक्राद्यदि ज्ञास्यसि निश्चयात् ॥

रहस्यं सर्व शास्त्रेषु वेदादि संहितेषु च ।

सिद्धान्ते कुल सिद्धान्ते अवाच्यं यत् कथं च ते ॥ ३ ॥

नित्योदितं च नित्यं च अनित्यं कल्पनात्मकम् ।

p. 36a) यत् त्वया चोदितं वत्स अति स्नेहाद्वदामिते ॥ ४ ॥

यो सौ हृदि स्थितः पद्मः प्रणवोर्त्थः शिखिध्वज ।

तस्य मध्ये परं तेजो यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

महाज्वाला समाकीर्णं रश्मिभिः परिवारितम् ।

असङ्ख्या भासुराभासं ब्रह्मवेश्मस्य दीपनम्॥ ६॥

तं च पश्यति यः पुत्र तं च ब्रह्म विदो विदुः।
नदते सततं यस्मात् तस्मान् नादमिहोच्यते॥ ७॥

प्रवाहेन स्थितं वत्स यथा नद्यो जलाशयाः।
अव्युच्छिन्नं च तं नादं नदते सर्व देहिनाम्॥ ८॥

देहे देहे न चान्यो वै एकं वै सर्वतः स्थितम्।
अनच्छं केचिदिच्छन्ति शून्यं केचित्व दन्ति च॥ ९॥

मात्रार्धमात्रं केचिच्च नास्ति नास्तीति नास्तिकाः।
p. 36b) तं नादं प्रकटं येषां तेषां मोक्षो ध्रुवं गुह॥ १०॥

धूलिभेदेन ते सिद्धं सिद्धं गुरुमुखाच्छुभम्।
त्वां विदित्वा महासेनं तं मोक्षं प्राप्स्यसे ध्रुर्वम्॥ ११॥

ध्रुवं भवेद्ध्रवेद्वत्स ध्रुवरूपेणसंस्थितम्।
परमाग्नि समुद्भूतं तं नादं नदते गुह॥ १२॥

तच्च दर्शयते वस्तु स गुरुर्गुरुरेव च ।
दैशिकस्तु स विज्ञेयो मोक्षो वै मोक्षिकस्तु सः ॥ १३ ॥

लक्षणं शृणु नादस्य यथात्वं लक्षयिष्यसि ।
येन विज्ञात मात्रेण भ्रान्ति ज्ञानं निवर्तते ॥ १४ ॥

यथेन्धनप्रदीप्तेग्नौ यथाक्षोभ च्युतं जले ।
यथा वाताहते वृक्षे शब्दोयं श्रूयते गुह ॥ १५ ॥

तथा शरीर ब्रह्मोयं प्रत्यक्षं शृणु षण्मुख ।
शृङ्गध्वनि निनादेन नदन्तं यः शृणोति वै ॥ १६ ॥

p. 37a) तं नादं ब्रह्ममित्याहुर्यः शृणोति शृणोति सः ।
न किञ्चिदपि तं वत्स यस्य तं न ह्यदि स्थितम् ॥ १७ ॥

न तु जानन्ति तं मूढा ज्ञान विज्ञान वर्जिताः ।
प्रकटं ज्ञान चक्षुर्भ्यां पश्यते शृणुते तु सः ॥ १८ ॥

तर्जनी प्रान्तसंरुद्धौ कर्णौ द्वौकारयेद्गुह ।
एतेन श्रूयते नादं न दन्तं ब्रह्मसंभवम् ॥ १९ ॥

एवं वै परमं नादं हृदिस्थं सर्वदेहिनाम् ।
ब्रह्मादि स्तम्भ पर्यन्तमाकारा ये भवन्ति वै ॥ २० ॥

तेषां हृदि स्थितं वत्स गुरुवक्त्रात् तु लभ्यते ।
गुरूपदेशगम्योयं यदि तुष्टो वदत्यसौ ॥ २१ ॥

अन्यथा न तु सिद्ध्येत कल्पकोटि शतैरपि ।
स तृप्तः स च वै मुक्तः सोमृतं चाश्नुते ध्रुवम् ॥ २२ ॥

p. 37b) यस्येदं विदितं ब्रह्म परस्पर पदानुगम् ।
परंपरगतं वत्स परात्परतरं हितम् ॥ २३ ॥

तं च नादं समाख्यातं येन व्याप्तं चराचरम् ।
ब्रह्मादि सर्व भूतेषु चरेषु ह्यचरेषु च ॥ २४ ॥

हृदिस्थं नदते नादं प्राणाद्या वायवेखिलाः ।

व्यापारेषु स वै कर्ता समस्तव्यस्तकेषु च ॥ २५ ॥

स कर्ता स हि विज्ञेयस्त्वं तर्ह्य न गतो गुह ।
सर्वे ये केचिद् व्यापाराः सृष्टिराद्याः क्षयान्तिकाः ॥ २६ ॥

स कर्ता चैव सर्वेषा परं ब्रह्म सदोदितम् ।
चतुर्विंशति तत्त्वानि पुरुषः पञ्चविंशकः ॥ २७ ॥

सर्वेषां स हि कर्ता वै तदा यत् तानि तानि तु ।

???????????????

p. 38a) सर्वं सर्वं मया ज्ञातं सर्वं सर्वं मया श्रुतम् ।
न पुनस्तात कौलेयं खेचरीणां मुखेस्थितम् ॥ १ ॥

महाज्ञानमिदं वत्स महाविज्ञानमेव च ।
यत् त्वया चोदितं प्रश्नं कौलं खेचरि गोचरम् ॥ २ ॥

पुत्र स्नेहात् कथिष्यामि रहस्यमद्भूतोपमम् ।
तं हि सिद्ध्यन्ति तासां वै तास्तस्मिंस्तेजसा गुह ॥ ३ ॥

सामान्यानां तु मर्त्यानां लोकोपहत चेतसाम्।
कुविकल्पगतानां वै सत्यं वत्स न सिद्धयति॥ ४॥

जीवाख्यममृतं यच्च हृदाकाशान्तरे स्थितम्।
पिबन्ति रूपिकास्तं तु नाडिमाश्रित्य मध्यमाम्॥ ५॥

तं पीत्वा तृप्ति मायान्ति अतोर्थं तं पिबन्ति हि।
देवान् पितृस्तर्पयन्ति कुलनाड्यांस्त संस्थिताः॥ ६॥

तासां मोक्षं शिवेनोक्तमनेन विधिना गुह।
न पुनर्होमहवनैर्यज्ञैश्च बहुदक्षिणैः॥ ७॥

मांसास्थि रुधिरं मज्जां भक्षयन्ति च रूपिकाः।
विवर्ते ह्यमृतं वत्स हृदिस्थं यत्परं पदम्॥ ८॥

सिद्धिस्तेषां तु ते नैव तर्पयित्वा तु भैरवम्।
भैरवस्तर्पितं तासां धर्मे च पशुं प्रोक्षणे॥ ९॥

चिच्छक्तिः पशवस्तेषां हृन्मध्यसंस्थिता।

मोक्षश्च निहितं यज्ञे भैरवोक्तेषु सर्वदा ॥ १० ॥

पिहितं तं तु विज्ञेयमन्यथा वद एव तु ।
अनेन विधिना वत्स हिंसन्ति पशवो यदि ॥ ११ ॥

समुक्तः पशुनासार्धं मोक्ष इत्यभिधीयते ।
p. 39a) सिद्धयते महतां सिद्धिरष्टसिद्धिसमन्विता ॥ १२ ॥

सामान्यानां तु सिद्धीनां कोविशेषोस्ति शक्ति धृत् ।
कस्येदं विदितं ज्ञानं ज्ञेयं विज्ञान सम्मितम् ॥ १३ ॥

ब्रह्माद्याः पशवस्तस्य पशोरन्यस्य का कथा ।
पशूनां चैव सर्वेषामादिकर्ता प्रजापतिः ॥ १४ ॥

स एव प्रोक्षितो यस्मात् तस्मात् कौलोधिकं भवेत् ।
वेदयज्ञेषु पशवो हिंसन्ति ब्राह्मणोत्तमाः ॥ १५ ॥

भैरवीयेषु सर्वेषु पुंपशुं हन्ति साधकाः ।
सूक्ष्मपुर्यष्टकं यच्च भूतानां हृदि संस्थितम् ॥ १६ ॥

तं पशुं हन्ति योगिन्यो हत्वा सिद्ध्यन्ति सिद्धिषु ।
प्राणापानोदये तस्मिन् बिन्दुनाद लयं गताः ॥ १७ ॥

पिबन्ति रूपिकास्तास्तु पशुं हत्वाशिखिध्वज ।
गतिरेषा हि चैतेषां तदात्मेतं लभन्ति हि ॥ १८ ॥

p. 39b) जीवव्योमान्तरं यच्च भूतानां हृदिसंस्थितम् ।
प्राणापानप्रवाहेन न विदित्वा पिबन्ति हि ॥ १९ ॥

सद्यो निर्धानदीर्ता? वै मोक्षकस्तु * * * * ।
* * * * * * * * * * भक्ष्यानि कानि तु ॥ २० ॥

पिबन्ति येन सिद्ध्यर्थं विधिना भैरवेन तु ।
भैरवोक्तेन विधिना सम्यग् योग बलेन तु ॥ २१ ॥

पिबन्ति मदिरां तु क्षीरवत्प्रकटं गुह ।
स सिद्धः साधकः सोहि शेषा वै मध्यमाः स्मृताः ॥ २२ ॥

पुष्पमात्रेण प्राप्येनं बह्णनां यस्तु निर्वपेत्।

क्षीरं तु कुरुते मध्यं संशये समुपस्थिते॥ २३॥

स सिद्धः सर्वदा वत्स कृष्णः श्वेत करो गुह।

प्राणापानान्तर चरोनाडि त्रितय यायिनः॥ २४॥

तं पिबन्त मृतं दिव्यं परं परमसिद्धिदम्।

p. 40a) सौरंमार्गं परित्यज्य चान्द्रं मार्गं तथैव च॥ २५॥

ब्रह्ममार्ग गमं यस्य तं पिबंत्य मृतं परम्॥

???????????

वदमे यदि तुष्टोसि इष्टं तथ्यं हितं विभो।

येन विज्ञात मात्रेण भ्रान्ति ज्ञानं निवर्तते॥ १॥

शृणु वत्स यथान्याय्यं सर्वप्राज्ञोत्तमोत्तम।

यत् त्वया चोदितं प्रश्नं निस्सन्दिग्धं वदाम्यहम्॥ २॥

या सा शक्तिः परासूक्ष्मा अव्यक्ता या शिवोर्थया।

संस्थिता सर्वभूतेषु जगदुर्द्धं? ययाखिलम्॥ ३॥

ब्रह्मादि स्तम्भ पर्यन्तं भूतसर्गं चराचरम्।
ग्रसते सृजते शक्तिश्शिवाज्ञा ज्ञापिता गुह॥ ४॥

न पुनः शक्तिरस्माकं सत्यं सत्यं शिखिध्वज।
वयं पितामहं विष्णुं न बीन्द्वनलमेव च॥ ५॥

इन्द्राद्या देवताः सर्वे सत्वाद्याश्च महर्षयः।
भूयो भूयो हि जायन्ते भूयो भूयो म्रियन्ति च॥ ६॥

न पुनः शक्ति संहारो भवतिह कदाचन।
शक्तिर्न लुप्यते सा वै परमाद्वैत वर्तिनी॥ ७॥

नित्योदिता तु सा सूक्ष्मा शिवामृतसमुद्भवा।
ययाव्याप्तमिदं विश्वं भूतसर्गं चराचरम्॥ ८॥

अन्तर्गता तु सा वत्स सर्वेषां हृदि संस्थिता।
एकैकं मणिमाश्रित्य यथाविद्धयन्ति वेधकाः॥ ९॥

महाभूतानि वै तद्वच्छक्तिबोधेन बोधिता।
सूत्रं तासां शिवं साक्षात् तेन ते ग्रथिता गुह॥ १०॥

p. 41a) यैर्व्याप्तमखिलं विश्वं ब्रह्माण्डावधि गोचरम्।
महाभूतानि सर्वाणि सर्वे चिच्छक्ति सम्भवाः॥ ११॥

चिच्छक्तिश्शिवसम्भूता अव्यक्ताः सर्वतः स्थिताः।
न हि जानन्ति तां मूढा महामाया विमोहिताः॥ १२॥

न कश्चिदपि तं भूतं यस्य सा हृदि न स्थिता।
स्थिता सा अग्नि रूपेण सर्वत्र वायुनाश्रिता॥ १३॥

ते पश्यन्ति हितावत्स येषां ज्ञानं मुनिर्मलम्।
ब्रह्मवेश्म भवेद् देहं ज्ञानं तत्रैव दीपकम्॥ १४॥

तं प्रज्वाल्य प्रपश्यन्ति यत्किञ्चिद्वेश्ममध्यगम्।
तं दृष्ट्या ते गमिष्यन्ति अजन्म पदमव्ययम्॥ १५॥

अजा सा अमला सूक्ष्मा नित्योदिता सुनिर्मला।

संस्थिता सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां शिखिध्वज ॥ १६ ॥

p. 41b) यैर्ज्ञातास्ते विमुक्ता वै ते बद्धा यन्त्र लक्षिताः ।
वयं ब्रह्मादिभिस्सार्धं नैव मुक्ताः शिखिध्वज ॥ १७ ॥

तदा ध्यानावसक्ता वै तस्य ध्यान परायणाः ।
अन्येपि योगिनः सर्वे मक्षमार्गानु काङ्क्षिणः ॥ १८ ॥

यजन्ति विविधैर्यज्ञैस्तन्मध्यादुदितं गुह ।
कारणं तत्र वै ह्येकं युक्ति भेदः पृथक् पृथक् ॥ १९ ॥

सात्विकं येषु वै योगं तेषां मोक्षो भवेद्ध्रुवम् ।
राजसं स्वर्गकामानां नारकं तमसा वृतम् ॥ २० ॥

सात्विकं चैव तैर्यष्टं तदा ते मोक्ष यायिनः ।
राजसं मानुषैर्वत्स स्वर्गा वाप्ति फलप्रदम् ॥ २१ ॥

तामसं तिर्यग्योनिस्थैर्मूढैरज्ञैरपण्डितैः ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन सात्विकं यागमारभेत् ॥ २२ ॥

राजसं तामसं वत्स पुनरावृत्ति कारकम्।

p. 42a) सात्विकं मानसं यागं तत्र हिंसा न विद्यते ॥ २३ ॥

राजसं तामसं वत्स उभौतौ हिंस पूर्वकौ।

मानसे नैव यागेन ये यजन्ति सदाशिवम्॥ २४ ॥

ते मुक्ताः सर्वपापेभ्यः सत्यं सत्यमुपासुत।

द्रव्यशुद्धिस्तु परमं सम्भारं येषु क्रीयते ॥ २५ ॥

तां विचारय यत्नेन सात्विकं भवते यदि।

तदा तं द्रव्य सम्भारं शुद्धो भवति षणमुख ॥ २६ ॥

राजसं तामसं द्रव्यमशुद्धं सर्वदा गमैः।

यष्टं हि निर्मलं तेन प्रत्युततृणवद्भवेत्॥ २७ ॥

सात्विकं नास्ति तद् द्रव्यं त्रिषु लोकेषु सर्वदा।

तदर्थं न विमुक्तास्ते ये यजन्ति सदा धनैः ॥ २८ ॥

अथवा सात्विकं चार्थं यदि लभेत् कथञ्चन।
p. 42b) तद् देयं देवगुरवे विप्रे वा ब्रह्मवादिने॥ २९॥

अनन्तं च असङ्ख्येयं स्वल्पमात्रे पशोदितम्।
अक्षय्यं भवते वत्स कल्पकोटि शतैरपि॥ ३०॥

सम्भारार्थं न तद् द्रव्यं प्रयुञ्जीत कदाचन।
संभारा ये बहिर्कैचित् सर्वे चिच्छक्ति सम्भवाः॥ ३१॥

तेषां बाधा भवेद् यस्मात् तस्मात् तां परिवर्जयेत्।
स जीवानि तु ते सर्वे शिवं तेषां हृदि स्थितम्॥ ३२॥

स जीवानि तु पुष्पाणि स जीवानि फलानि च।
स जीवाः पशवो ज्ञेयास्तरुजातीनिसर्वशः॥ ३३॥

तां त्यक्त्वा यजसेकस्त्वंक्तयागमघसिद्धिमान्।
ये स्थिताः फलसन्धो *? वश्याकर्षणमारणैः॥ ३४॥

ते यजन्ति स जीवैस्तु जीवैश्चिच्छक्ति सम्भवैः।

p. 43a) चतुर्दशविधं वत्स भूतसर्गं चराचरम् ॥ ३५ ॥

सर्वं चिच्छक्तिसंभूतं तं हत्वा नैव मुच्यते ॥ ॥

शक्त्योदयं मयाज्ञातं द्रव्यशुद्धिविनिर्णयम् ।
अधुना श्रोतुमिच्छामि इष्टमिष्टोतुरोत्तरम् ॥ १ ॥

मयातीर्णं तपश्चोग्रं युगकल्पान्यनेकशः ।
तदा स तुष्टो भगवाञ्शिवोप्यशिवहापरः ॥ २ ॥

वदते वदमे चाद्य तुष्टोहं ते उमापतिः ।
अहिंसा सर्वभूतेषु चरेषु ह्यचरेषु च ॥ ३ ॥

एतद्धि चामृतं वत्स अक्षरं ह्यक्षरं ध्रुवम् ।
हिंसाक्षरं विजानीयात् तस्मात् तं परिवर्जयेत् ॥ ४ ॥

अतोर्थं मानुसं यागमक्षरं ह्यमृतं गुह ।
ये यजन्ति हितं वत्स ते मुक्ता भवबन्धनात् ॥ ५ ॥

वयं भोगाभिलाषेण नैवमुक्ताः शिखिध्वज ।

अज्ञानादुपदेशस्य शिवज्ञान बहिष्कृतः ॥ ६ ॥

तदानु विदितं तत्त्वं मोक्षमार्गावलम्बिनम् ।

निष्प्रपञ्चं परं तत्वमपरं तु परापरम् ॥ ७ ॥

निष्प्रपञ्चा पराशक्तिर्निष्प्रपञ्चः परः शिवः ।

तस्य यागं च कुर्वीत निष्प्रपञ्चं हि मानुसम् ॥ ८ ॥

स्नानं ध्यानं तथा पूजा जपं होमं तु पञ्चमम् ।

मनसै तानि कर्तव्यं विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ९ ॥

इति श्री ॥ ॥

????????????????????????

स्नानादिकं त्वयैवोक्तं पूर्वं वै मानसं विभो ।

तदहं श्रोतुमिच्छामि यथार्थं तद्ब्रवीहि मे ॥ १ ॥

शिवतीर्थं स्थितं देहे सर्वतीर्थालां हितम् ।

भुर्लोके तु भुवो लोके स्वर्लोके तु तथैव च ॥ २ ॥

गङ्गाद्याः सरितः सर्वाः क्षीरोदाद्याश्च सागराः।
सर्वे तिष्ठन्ति तत्रैव मानसे त्वखिला गुह ॥ ३ ॥

हृत् पुण्डरीक मध्यस्थं शिवतीर्थं तु मानसम्।
तत्रस्थं सङ्गमं वत्स शिवं नादात्मकं शुभम्॥ ४ ॥

अग्नीषोमीयगहनं पाणापानजलाशयम्।
प्रवाहं तस्य तीर्थस्य सुषुम्णाड्यान्तरे स्थितम्॥ ५ ॥

p. 44b) तुर्यस्थानामृतौघेन प्लावितश्च समन्ततः।
न चात्र विघ्ना हिंसन्ति दुष्टा ये वै चराचरे ॥ ६ ॥

तदा स्नानं शुभं तत्र शिवतीर्थे च मानसे।
ना चात्र हिंसा दृश्येत न तु पीत्वा करं तथा ॥ ७ ॥

चराचरेस्मिन् ये लोकाः पुण्यन्यायतनानि च।
तेपि तिष्टन्ति चातेव आत्मशुद्धयर्थं कारणम्॥ ८ ॥

बाह्यतीर्थानि सर्वाणि कल्पनाकल्पितानि तु।
शिवतीर्थेन तिष्ठन्ति मानसे अशिवापहे ॥ ९॥

कल्पिता ये बहिष्कानि तीर्थान्यायतनानि च।
उत्तप्तास्ते सदा विघ्नैर्दिव्यभौमान्तरिक्षगैः॥ १०॥

तस्मात् ते दूषिता वत्स शिवतीर्थेन केन चित्।
अनोर्थाद्बाह्यतीर्थानि वर्जितानि सदा गुह ॥ ११॥

p. 45a) उच्चाटने तु विघ्नानां हिंसा भवति वै तदा।
यस्माद् बाधा भवेत् तेषां तस्मात् तास्तु विवर्जयेत्॥ १२॥

निर्मलं विघ्न रहितं मोहदं तु अघापहम्।
अमृतं स्रवते नित्यं पिङ्गलाभ्यन्तरे स्थितम्॥ १३॥

सौषुम्णा नन्द गम्भीरं तुर्या तु प्रान्तगोचरम्।
स्वर्णोपलब्धि विमलं सा नन्दं नन्दशीतलम्॥ १४॥

तं लब्धा शिवतीर्थं वै आत्मनो हृदि संस्थितम्।

तस्मिन् स्नानं सदा कुर्याद् विधि दृष्टेन कर्मणा ॥ १५ ॥

सन्ध्या तु वन्दयेत् तत्र तर्पयेत् पितृ देवताः ।
यत् किञ्चिदिति कर्तव्यं तत् सर्वं मानसं कुरु ॥ १६ ॥

अथवा स्मर्यते तीर्थं यत् किञ्चिन् मनसेप्सितम् ।
सर्वे तिष्ठन्ति चात्रैव अहिंसा तु समर्पिताः ॥ १७ ॥

p. 45b) वयं ब्रह्मादिभिः सार्धं शिवतीर्थाम्बु सेवनात् ।
एतद्धि परमं तीर्थमयं हि परमो जपः ॥ १८ ॥

एतद्धि परमं स्नानं तत्र स्नानं तु वै गुह ।
बाह्यतीर्थानि तुष्टानि मन्त्रान् बाह्यांस्तु सर्वशः ॥ १९ ॥

मन्त्रा हृष्टानि तुष्यन्ति अन्यथा जल एव सः ।
तीर्थेषु ये स्थिताः केचिद्दीनाद्याः प्राणिनो गुह ॥ २० ॥

अतोर्थास्तेन मुञ्चन्ति विज्ञान रहितास्तु ये ।
शिवतीर्थपरिज्ञानात्सम्यग्योग बलेन तु ॥ २१ ॥

स्नातो भवति तं नित्यं साधकः सु समाहितः।
न चात्र हिंसते कश्चिन् न तिलान्दर्भ एव च॥ २२॥

न तु रौ?प्य सुवर्णे वा खड्गा पातोथ वा पुनः।
स्मरणा च्छिवतीर्थस्य न किञ्चिदपि लुप्यते॥ २३॥

p. 46a) शिवतीर्थं मया ज्ञातं तस्मिन् स्थाने यथोदितम्।
भूयो विज्ञातुमिच्छामि ध्यानं देहेश्वरात्मकम्॥ १॥

सर्वं प्रत्यक्ष विज्ञानं मया ते प्रकटी कृतम्।
प्रत्यक्षं च परोक्षं च अधुना दर्शयामिते॥ २॥

शिवतीर्थ परिज्ञानं यैर्ज्ञातं ह्यात्म दर्शिभिः।
तैः प्राप्यमखिलं वत्स मोक्षमार्गं न संशयः॥ ३॥

आत्मज्ञाने स्थिता ये वै आत्मज्ञाश्चात्म दर्शिनः।
तैः शुद्धाः सर्वदा वत्स यत्र यत्राश्रमे स्थिताः॥ ४॥

स्नान शुद्धिर्न तेषां वै न मन्त्रैश्च प्रयोजनम्।

p. 46b) स तु मन्त्रं शिवं शास्त्रं क्षेत्रं हि परमं तु सः॥ ५॥

न तस्य विघ्ना हिंसन्ति ये केचिद्भुवन त्रये।

दर्शनादेव वै तस्य नश्यन्ते च दिशो दश॥ ६॥

न दिशो विदिशश्चैव न मुद्रा नासनानि च।

करणेन तु संपश्येत् सम्यग् योग बलेन तु॥ ७॥

पूरकं कुम्भकं चैव रेचकं च तृतीयकम्।

एतद् यथार्थं युञ्जीत ततो ध्यानं समारभेत्॥ ८॥

ध्यानेनालोकयेद्वत्स देहि सन्देह वर्जितः।

तं विचारय यत्नेन नाडिचक्रोदरे स्थितम्॥ ९॥

द्वासप्तति सहस्राणि आराणां तस्य षण्मुख।

एकैक भ्रमतैषा वै प्राणापानान्तर स्थिता॥ १०॥

सर्वेषामेव वायूनां प्राणापानौ तु चोदकौ।

p. 47a) प्राणं तेषां भवेत् प्राणं प्रणम्य तु परं विदुः ॥ ११ ॥

तेन ते नाडिचक्रं वै समस्तमवलोकयेत् ।

पिङ्गला तु भवेन्नाभिस्तस्य चक्रस्य षण्मुख ॥ १२ ॥

प्रणवं तं भवेच्चक्रं पिङ्गला तस्य वै शिखा ।

तं ज्ञात्वा पश्यते वत्स शिवं परम कारणम् ॥ १३ ॥

ज्ञानदीपं प्रजज्वाल्य ध्यात्वा ज्ञानाग्निना गुह ।

तदा गम्य स्थितं देवं पिङ्गलाभ्यन्तरे स्थितम् ॥ १४ ॥

हृद्गुहा सा तु विज्ञेया हृन्मध्ये सा तु कर्णिका ।

तस्य मध्ये स्थितं देवं यः पश्यति स पश्यति ॥ १५ ॥

सूर्येन्दु वह्नि मध्यस्थंमलक्षं लक्ष वर्जितम् ।

कदम्बगोलकाकारं सूर्यकोटि समप्रभम् ॥ १६ ॥

कल्पान्ता नलसङ्काशं दुष्प्रेक्षमकृतात्मभिः ।

p. 47b) अनुमानं न वै तस्य हेतुना नैव दृश्यते ॥ १७ ॥

एवं ध्यात्वा तु तं देवं हृद्गुहाभ्यन्तरे स्थितम्।
ततस्त्वा यतनं गच्छेन्मानुसं मानसेन तु॥ १८॥

ध्यानं धेयं मया ज्ञातं *? नं च ज्ञेयमेव च।
अधुना श्रोतुमिच्छामि हृद्गुह्येश्वर पूजनम्॥ १॥

गुह्यानि यानि चोक्तानि आदौ? ते शिखि वाहन।
इदं गुह्यं त्वयैवाद्य यन्न कस्यापि भाषितम्॥ २॥

अज्ञा ये च अनात्मज्ञ ये च पण्डित मावि *?।
*? यजन्ति स जीवैस्तु जीवैश्चिच्छक्ति सम्भवैः॥ ३॥

चैतन्यं? स?र्वभूतानां चित्स्वभावेन संस्थितम्।
p. 48a) स चेतनानि भूतानि यस्मात् तानेव मोहयेत्॥ ४॥

चिच्छक्तिं विन्दते वत्स मुखदुःखे शुभाशुभौ।
शिवात्मा दृष्ट रूपेण सर्वत्रैव व्यवस्थितः॥ ५॥

अशुभं च शुभं चैव सुखं दुःखं तथैव च।
भुञ्जते तु पराशक्तिः परं चात्र अलेपकम्॥ ६॥

साक्षि भूतं च तं वत्स पक्षयोरुभयोरपि।
एवं ज्ञात्वा अहिंसां वै सर्वभूतेषु कारयेत्॥ ७॥

अतोर्थं मानसं यागं कर्तव्यं मोक्षयायिभिः।
हिंसा युक्तेन योगेन सम्भार बहुलेन च॥ ८॥

ये यजन्ति हिते बद्धाः फलं तेषां त्रिविष्टपम्।
अमानाम्ना तु योगेन हिंसा भवति सर्वदा॥ ९॥

पुनरावर्तते भूयो भूयो भूयः क्षयं गतः।
p. 48b) एवं ज्ञात्वा यजेत् सर्वं मानुसं यागमुत्तमम्॥ १०॥

यस्य सर्वगतं भावं यथात्मनि तथापरे।
समं पश्यति सर्वेषामहिंसा प्रोच्यते तु सा॥ ११॥

यथात्मनि परे तद्वत्समं पश्यति यो गुह।

समुक्तः प्रकृतेर्बन्धाच्छिवे तिष्ठति शाश्वते ॥ १२ ॥

सात्त्विकं भावमेतद्धि शिवेनोक्तं हि मानसम् ।
अन्तः कर्णादिकं वत्स यन्मयोक्तं हि दर्शने ॥ १३ ॥

तेषु भूतानु हिंसन्ति तस्मात् तं हिंस पूर्वकम् ।
अन्तःकरण विन्यासं भूतशुद्ध्यर्थं कारणम् ॥ १४ ॥

क्रीयते सर्वतो वत्स विधि दृष्टेन कर्मणा ।
कृत्वान्तः करणं वत्स भूतशुद्धिं तथैव च ॥ १५ ॥

तदा भवति तं योग्यं साधकः शिव पूजने ।
p. 49a) आत्मज्ञं तु पुनर्वत्स नित्यशुद्धं सदा भवेत् ॥ १६ ॥

नास्य शुद्धिरशुद्धिर्वा शोधनीयं हि केतनम् ।
नित्य शुद्धि हितं भूत्वा न किञ्चित् साधयत्यसौ ॥ १७ ॥

विकल्पोर्थैर्मलैर्वत्स अशुद्धं तं च तत्त्वतः ।
यस्य शक्तिर्भवत्युग्रा यः शोधयति वै परम् ॥ १८ ॥

स शोधयति सर्वेषां भूतानां च समुद्धरेत्।
अतोर्थात् केतनं वत्स आत्मज्ञे निष्प्रयोजनम्॥ १९॥

स एव भोगवान्साक्षाच्छिवं परम कारणम्।
स एव परमं दाम तत्र शुद्धयति ते खिलं॥ २०॥

आत्मनेनात्मना चैव यजते परमेश्वरम्।
यथोक्तेन विधानेन सम्य्ग् योग बलेन तु॥ २१॥

यजते मानसं यागं मनसा तु अमीश्वरम्।
p. 49b) यजन्ते देवतास्सर्वे ब्रह्माद्याश्च महर्षयः॥ २२॥

तदात्वं मानसे नैव यागेन शिखिवाहन।
योगार्थं द्रव्य सम्भारं तं हि चात्रैव तिष्ठति॥ २३॥

अथ प्रार्थयसे कामं मनसा मनसेप्सितम्।
तं लभिष्यसि सर्वं वै मानसे तं शिखिध्वज॥ २४॥

साकारं यजते यस्तु निराकारोथ वा पुनः।

उभौ तावेकदा वत्स यजत्वं यत् तु रोचते॥ २५॥

निर्लक्षं निस्स्वभावस्तं स लक्षं प्रतिमाकृतिम्।

मनसा चित्स्वभावेन साकारा क्रियते क्रिया॥ २६॥

न चैवा कृतिमान्कश्चिच्चित्स्वभावोनिलं भवेत्।

तस्मात् त्वं सर्वदा वत्स नित्यं शक्ति स्थितं यजेत्॥ २७॥

XXXXXXp. 50a) ciccetanyaani bhutaani citsvabhaavaa citoditaa |

चित्संज्ञा चित्समुद्भुता भुताभुतेषु संस्थिता॥ २८॥

तत्त्वाश्च भुता भावानि चिच्छत्त्या भ्यन्तरे स्थिताः।

संस्थिताश्चिवतत्त्वे रसदसर्वगतो विभुः॥ २९॥

सर्वमेवं हितं वत्स हृदिस्थं प्रकटी कृतम्।

तं हि पूजय यत्वेन विधिदृष्टेन कर्मणा॥ ३०॥

न कश्चिदर्पितं वत्स यस्य तं न हृदि स्थितम्।

तस्मात्तं पूजयेद्वत्स अहिंसा कुसुमैः शुभैः॥ ३१॥

हृदिस्थं तु पुनर्वत्स सर्वकामैस्तु पूजयेत्।
दानानि यानि चोक्तानि शिवधर्मैखिलानि तु॥ ३२॥

तानि दत्तानि सर्वाणि भवन्ति शिखिवाहन।
सर्वकामानि वै तद्वत्मानसं याग मुत्तमम्॥ ३३॥

p. 50b) यागं तु परमं ह्येतत् सर्वयागोत्तमोत्तमम्।
इडादयो यजेद् यस्तु राजसं यागमुच्यते॥ ३४॥

सुषुम्णा तामसं? भोगं? ज्ञेयं सात्विकं पिङ्गलोदये।
सुषुम्णे त्वां परित्यज्य पिङ्गला नाडिस्थं यजेत्॥ ३५॥

तां विचार यत्नेन ब्रह्मनाडिश्च उच्यते।
तस्मिन् मध्ये स्थितं देवं तं नेदं पूजयेत् तु सः॥ ३६॥

यत्किञ्चिदिति कर्तव्यं तत्सर्वं पिङ्गलोदये।
तुर्योद्भवति? सर्वाणि तुर्यस्थाने गतानि तु॥ ३७॥

चिन्तयेत् सर्वकामानि अन्यथा हिंसितानि तु।
तुर्यस्थाने लयं कृत्वा हृधिस्थं पूजयेत् सदा॥ ३८॥

यस्य तुर्ये गतिर्नास्ति हृदिस्थं तु कथं यजेत्।
हृदिस्थं तुर्यसंस्थं तु उभौ यो वेत्ति तत्वतः॥ ३९॥

p. 51a) एकतं भूय एतेषां स पूजां कर्तु मर्हति।
प्राणापानान्तरस्थेन शिवेन शिखिवाहन॥ ४०॥

योजयेत् साधको वत्स स वै साधक उच्यते।
प्राणापानौ तु सन्दिग्धौ रजस्तमसमन्वितौ॥ ४१॥

तस्मात् तौ वर्जयेत् वत्स यागकाले तु सर्वदा।
सात्विकं सङ्गमं तेषां तेन कुर्याच्छिवार्चनम्॥ ४२॥

वह्नि पूजा तु ते नैव अन्यथा न कृता भवेत्।
ब्रह्मादि स्तम्भ पर्यन्तं त्रैलोक्यं स चराचरम्॥ ४३॥

अहिंसा पुष्पसेकेन पूजितं तं सदा भवेत्।

p. 51b) मानसे नैव यागेन मुक्तोहं सर्वदा विभो ॥ ४४ ॥

तथापि ज्ञातु मिच्छामि जप्यं वै सर्वदा परम् ॥ १ ॥

मानसैश्चाक्षरौघैश्च प्राणापानौ शिखिध्वज ।
रहस्यं चैव गुह्यं च जप्यं जप्योत्तमोत्तमम् ॥ २ ॥

जप्यं बहुविधं प्रोक्तं शिवेन परमात्मना ।
न पुनर्मानसं जप्यं मोक्षमार्गफलप्रदम् ॥ ३ ॥

मयि तुष्टेन नाथेन अयं मार्गः प्रदर्शितः ।
तदाहं कथयिष्यामि रहस्यं कृत्तिका सुत ॥ ४ ॥

सर्वेषामेव भूतानां हृदिस्थं यत्परं पदम् ।
स तु सङ्ख्या यते जप्यं जपं तु कुरुते तु सः ॥ ५ ॥

अज्ञाना नैव बुध्यन्ते ज्ञानविज्ञान वर्जिताः ।
p. 52a) प्रत्यहं प्रत्यहं वत्स जपसङ्ख्यं करोति सः ॥ ६ ॥

अब्युच्छिन्न प्रबन्धेन मणिभिः परमैः शुभैः ।
सूर्य चिच्छक्तिरित्याहुस्तस्मिंस्ते कथिता गुह ॥ ७ ॥

अक्षसूत्र परं ह्येतद्योगिनां तत्त्व चिन्तकः ।
ये स्थिता फलसन्धाने वश्याकर्षणमारणे ॥ ८ ॥

जपं तेषां तु मन्त्रैश्च अक्षसूत्रैरनेकशः ।
पुनरात्म विदे वत्स मन्त्र तन्त्रैः प्रयोजनम् ॥ ९ ॥

प्रयोजनं भवेत् तेषामात्मज्ञानेन केवलम् ।
तं विदित्वा महासेन मन्त्रतन्त्रांस्त्यजेद्गुह ॥ १० ॥

अथवा सङ्ख्यया कार्यं मानसेस्मिञ्जपे गुह ।
ततोहं कथयिष्यामि यथा भवति तच्छृणु ॥ ११ ॥

षट्कतानि सहस्र * * * * * * * * * ।
* * * * * * * * * * * * * * * * ॥ १२ ॥

* * * * * * * * * * * * * * * * ।

* * * * * * * * * * * * * * * * ॥ १३ ॥

p. 52b) अहोरात्रान्तरे जप्यं कुरुते सततं शिवः।
शिवजप्यं भवेदेष शिवं ह्यशिव कारिणम्॥ १४ ॥

प्राणश्च कर्षते पानमपानः प्राणमेव च।
उभौ चाकर्षयेद्यस्तु स जपं कुरुते गुह ॥ १५ ॥

हृत्स्थानाद् द्वादशान्तं तु द्वादशान्तात् पुनर्हृदि।
एवां गमागमं ज्ञेयं तं जपं ब्रह्मशाश्वतम्॥ १६ ॥

विदितं मानसं जप्यमक्षसूत्रं तथैव च।
अग्निकार्यं च मेताततत्वमाचक्ष्व वै प्रभो ॥ १ ॥

मयाज्ञानामृतं वत्स स्नेहात् ते प्रकटी कृतम्।
भूयोपि कथयिष्यामि अग्निकार्यं तु मानसम्॥ २ ॥

p. 53a) चराचराणां भूतानां सर्वेषां शिखिवाहन।
हृदिस्थं परमं तेजो न तु जानन्ति मोहिताः॥ ३ ॥

आदित्यस्तपते तस्य तेजसा तस्य वै गुह ।
ज्वलनस्य तु तत् तेजः पूर्णमिन्दुस्तथैव च ॥ ४ ॥

तर्ह्युपासीतविधिवदग्नी यः शिखिवाहन ।
बाह्येग्नीनां हुतं हव्यं हिंसन्ति गुह्यकादयः ॥ ५ ॥

मन्त्र दोषाश्च दोषाश्च अशुभैर्वादया भवेत् ।
तदा ते लुप्यते वत्स बाह्याग्निषु हुतं हविः ॥ ६ ॥

इध्मादि द्रव्यसंभारं सर्वं चिच्छक्ति संभवम् ।
यदात्र हूयते यस्मात् तस्मात् तं हिंसपूर्वकम् ॥ ७ ॥

अहिंसा पूर्वकं वत्स स्वदेहे ह्यग्नि पूजनम् ।
शिवाग्निर्वैभवत्येष शिवमशिवहारिणम् ॥ ८ ॥

??????????????????

p. 53b) गर्भादानादि संस्कारैर्न हि तत्र प्रयोजनम् ।
न हि कुण्डं नु वः कार्यं मेखलैर्वाथ योनिना ॥ ९ ॥

कार्यमेवं हि वै चात्र विधिनाशिखि वाहन।
कुण्डत्रयं स्थितं देहे अग्नि त्रितयमेव च॥ १०॥

गार्हपत्याग्नि हृत्कुण्डे नाभिकुण्डेग्नि दक्षिणम्।
मुखकुण्डे स्थितं वत्स नाम्नाचाहवनियकम्॥ ११॥

कुण्डाग्नि त्रितयं वत्स मया ते दर्शितं क्रमात्।
तेषां होमं प्रकुर्वीत विधि दृष्टेन कर्मणा॥ १२॥

सुषुम्णा नाडिमाश्रित्य कुर्याद्वै चोत्तरायणम्।
दक्षिणाग्निं ततो जुह्यान्नाभिकुण्डे स्थिते गुह॥ १३॥

इडा नाड्युदयं कृत्वा कुर्याद्वै दक्षिणायनम्।
तदाचाहवनीयोग्निर्मुखकुण्डे स्थितो गुह॥ १४॥

p. 54a) गार्हपत्यस्तु यो ह्यग्निर्हृत्कुण्डे संस्थितस्सदा।
तस्मिन् पूर्णाहुतिं दद्याद्विषुवत्करणेन तु॥ १५॥

विषुवं तु भवेद्वत्स पिङ्गनाड्युदयेन तु।

तस्मिन् काले यजेद् यस्तु तत्सर्वं चाक्षयं भवेत्॥ १६॥

सिद्ध्यन्ते सर्वकामानि मनसा चेप्सितानि च।
प्राणाद्या वायवः पञ्च होमयेत् तु यथा क्रमम्॥ १७॥

तैर्हुतैः सर्वमखिलं विश्वं सन्तर्पितं भवेत्।
अमृतं भवते वत्स अमृतं तंतु तिष्ठति॥ १८॥

तदा तदखिलं विश्वं तृप्तं भवति चापरे।
प्राणापानान्तरस्थं तु यैर्ज्ञातं शिखिवाहन॥ १९॥

तेपि वन्त्यमृतं दिव्यं तुर्यस्थानोद्भवं परम्।
तुर्योद्भवामृताज्येन नित्यमग्निं प्रपूजयेत्॥ २०॥

अग्नि पूजा भवत्येषा अक्षय्या मुक्तिदा शुभा॥

इति श्रीब्रह्मसन्धानाग्नि * जा * चा * नि * यो * मा॥

अद्य मे सफला बुद्धिः श्रुत्वा ब्रह्मपदं परम्॥ ॥

****
**
** kaulaj~naananir.naya of the school of Matsendryanatha edited by P.C. Bagchi, Calcutta, 1934
**
**
** Data entered by the staff of Muktabodha
**
*
*
**
** Encoded in Velthius transliteration
****
****

कौलज्ञाननिर्णयः

प्रथमः पटलः

मूलाङ्गुष्ठनखाग्रञ्च एते तत्त्वसन्तति (ः)।

अष्टादशविधं देवि ज्ञानञ्च कुलगोचरे ॥ १/१ ॥

कथितं सृष्टिसंयोगं यथा तथा न भैरवि।

किमन्यं पृच्छसे नाथ सुगोप्यं प्रकटीकृतम्॥ ॥

इति ज्ञाननिर्णितियोगिनीकौलम्महच्छ्रीमच्छघ्नपादावतारिते
चन्द्रद्वीपविनिर्गते प्रथमः पटलः ॥ १/१ ॥

द्वितीयः पटलः

देव्युवाच

पञ्चाग्नितपसं तप्तं वर्षकोटिरनेकधा।
तपस्तदद्य मे सम्यक् त्वत्प्रसादेन भैरव ॥
सृष्टियोगं मया ज्ञातं संहारं कथयस्व मे ॥ २/१ ॥

भैरव उवाच

साधु त्वां कथयिष्यामि संहारन्तु यथा भवेत्।
कालाग्निरुद्रसंज्ञा तु नखाग्रे नित्यसंस्थितम्॥ २/२ ॥
यदा प्रज्वलते ऊर्द्धं संहारन्तु तदा भवेत्।
वडवामुखमहत्त्वञ्च पाताले सहसंस्थितः॥ २/३ ॥
सप्तपातालमुद्दिष्टं तस्योर्द्धे स्वर्गसंस्थितम्।
एतानि कथिता भद्रे भुवनानि चतुर्दश॥ २/४ ॥
ज्ञातव्या देहमध्ये तु तत्त्वरूपा स्थिता प्रिये।

सर्वज्ञा (यत्र ?) संलीनं लयञ्च शक्तिगोचरे ॥ २/५ ॥

शिवमध्ये गता शक्तिः क्रियामध्यस्थितः शिवः ।

ज्ञानमध्ये क्रिया लीना क्रिया लीयति इच्छया ॥ २/६ ॥

इच्छाशक्तिर्लयं याति यत्र तेजः परः शिवः ।

संहारन्तु इमं भेदेन कथितन्तव शोभने ॥ २/७ ॥

संहारन्तु पदान्यस्तं क्रुद्धः संहरते जगत् ।

सृष्टियोगं पदान्यस्तं सृजत्येवं चराचरम् ॥ २/८ ॥

अधस्था संस्थिता भुक्तिः ऊर्द्धं मुक्तिर्वरानने ।

पूर्वं यत् सूचितं देवि सृष्टियोगं मया तव ॥ २/९ ॥

सृष्टिसंहारन्यायेन कुलाधारमुपवर्णितम् ।

किमन्यं पृच्छसे नाथे सुगोप्यं प्रकटीकृतम् ॥ २/१० ॥

इति ज्ञाननिर्णितियोगिनीकौलम्महच्छ्रीमच्छन्नपादावतारिते

चन्द्रद्वीपविनिर्गते द्वितीयः पटलः ॥ २/२ ॥

तृतीयः पटलः

देव्युवाच

कुललक्षं महेशान आत्मसम्वित्तिपूर्वकम् ।

एतन्मे संशयो नाथ प्रसादीभव शङ्करः ॥ ३/१ ॥

भैरव उवाच

शृणुमेकाग्रचित्ता कुललक्षन्निगद्यते ।

यत्र दृष्टिर्मनस्तत्र भूतेन्द्रियमपुद्गलः ॥ ३/२ ॥

स्वशक्तिजीवभूतानि दृष्टिर्लक्षैर्लयं गता ।

स्थानं ध्यानञ्च वर्णञ्च लक्षञ्चैव चतुष्टयम् ॥ ३/३ ॥

पिण्डसंज्ञा भवेत् स्थानं ध्यानन्तत्पदमुच्यते ।

वर्णरूपं विनिर्दिष्टं लक्षं वै रूपवर्जितम् ॥ ३/४ ॥

पिण्डञ्चोपपदरूपं रूपातीतं वरानने ।

स्थाने स्थाने स्थितन्देवि एकैकस्य चतुर्विधम् ॥ ३/५ ॥

चतुष्पत्रञ्च अष्टारं द्वादशारं वरानने ।

पञ्चारं षोडशारञ्च चतुःषष्टिदलम्प्रिये ॥ ३/६ ॥

शतपत्रं सुशोभाढ्यं सहस्रं दलशोभितम् ।

कोटिपत्रं सुतेजाढ्यं तस्योर्द्ध्वे अन्यथा शृणु ॥ ३/७ ॥

अर्द्धकोटिसमायुक्तं कोटित्रयसमन्वितम् ।

कर्णिकाकेशरैर्युक्तं दीप्यमानं (तथैव च) ॥ ३/८ ॥

तस्योर्द्ध्वे व्यापकन्तत्र नित्योदितमखण्डितम् ।

स्वातन्त्र्यमजमचलं सर्वव्यापी निरञ्जनम् ॥ ३/९ ॥

तस्येच्छया भवेत् सृष्टिर्लयन्तत्रैव गच्छति।

तेन लिङ्गन्तु विख्यातं यत्र लीनं चराचरम्॥ ३/१० ॥

अखण्डमण्डलं रूपं निर्विकारं सनिष्कलम्।

अज्ञात्वा बन्धमुद्दिष्टं ज्ञात्वा बन्धैः प्रमुच्यते॥ ३/११ ॥

उन्मनम्मनरहितं ध्यानधारणवर्जितम्।

प्रत्यक्षं सर्वदा नित्यं अतसिपुष्पसन्निभम्॥ ३/१२ ॥

सर्ववर्णमयन्देवं सर्ववर्णैर्विवर्जितम्।

ज्ञानगम्यं सदा देवि पारम्पर्यक्रमागतम्॥ ३/१३ ॥

कथितं देवि सङ्काशं कुललक्षं (तथा) स्थितम्।

न काष्ठं मृण्मयं लिङ्गं न शैलरत्नसम्भवम्॥ ३/१४ ॥

न चित्तं रीतिकादिनी न हेमं लोहसम्भवम्।

स्फटिकं मौलिकं वापि त्रपुं सीसकताम्रजम्॥ ३/१५ ॥

पुष्परागोद्भवादीनि ये चान्ये लोकपूजिताः।

अष्टादश लोकशास्त्राणि क्रुराश्चाध्यात्मिकास्तथा॥ ३/१६ ॥

तैस्तु यत् पूजितं देवि मनसापि न पूजयेत्।

किं कारणं महादेवि पशवो ज्ञानवर्जिताः॥ ३/१७ ॥

अज्ञानास्ते दुराचाराः कुलाज्ञकविवर्जिताः।

न तैस्तु सङ्गभोक्तव्यं न कुर्याद्द्रव्यसंग्रहम्॥ ३/१८ ॥

ब्रह्माद्यास्तु सुराः सर्वे असुराश्च तपोधनाः।

यक्षगान्धर्वसिद्धाश्च तृणगुल्मपिपीलिकाः॥ ३/१९ ॥

ग्रहनक्षत्रतारादिजगत्स्थावरजङ्गमा(ः)।

निष्क्रान्ता बिन्दुमध्ये तु लौलीभूतन्तु तत्समम्॥ ३/२०॥

सृष्टिसंहारकर्तारं तल्लिङ्गं सिद्धपूजितम्।

स्फुरन्तन् निर्मलन्नित्यं अप्रमेयं सदोदितम्॥ ३/२१॥

ज्वलन्तं उल्कसदृशं विद्युत्तेजो नभस्तले।

एतल्लिङ्गवरं ज्ञात्वा दृष्ट्वा मोक्षस्य भाजनः॥ ३/२२॥

पाषाणवृष्टिसंघातैर्महामेघैः सुदारुणैः।

न नश्येदग्निना लिङ्गं न पतेद् वज्रताडितम्॥ ३/२३॥

एतन्तु पूजयेद्देवि कौलिकं सिद्धिमिच्छता।

अर्चयेन्मानसैः पुष्पैः सुगन्धैर्धूपदीपितैः॥ ३/२४॥

अहिंसा प्रथमं पुष्पं द्वितीयेन्द्रियनि(ग्र)हम्।

तृतीयन्तु दयापुष्पम्भावपुष्पञ्चतुर्थकम्॥ ३/२५॥

पञ्चमन्तु क्षमापुष्पं षष्ठं क्रोधविनिर्जितम्।

सप्तमं ध्यानपुष्पन्तु ज्ञानपुष्पन्तु अष्टमम्॥ ३/२६॥

एतत् पुष्पविधिं ज्ञात्वा अर्चयेल्लिङ्गमानसम्।

भुक्तिमुक्तिमवाप्नोति देहलिङ्गार्चनेन तु॥ ३/२७॥

सिद्धिलिङ्गमिदं देवि देहस्थं प्रत्ययान्वितम्।

मनोलिङ्गं सदा ध्यायेद् यां यां फलसमीकृते॥ ३/२८॥

तां लभन्ते न सन्देहो आत्मसम्बित्तिपूर्वकम्।

एतत् ते कौलिकन्देवि देहलिङ्गस्य लक्षणम्॥ ३/२९॥

अन्यन्तु वर्जयेद्देवि पाषाणं काष्ठमृन्मयम् ।
लौकिकम् मार्गसम्पन्ना सिद्धिमुक्तिविवर्जिता ॥ ३/३० ॥
देहस्था वासना यस्य तस्यैवांशो कुलागमे ।
बहिस्था वासना यस्य सः पशुरङ्गरञ्जितः ॥ ३/३१ ॥
एतन्ते कथितं देवि नाम्ना ज्ञानस्य निर्णितिः ।
दातव्यं भक्तिसंयुक्ते न देयं भक्तिवर्जिते ॥ ३/३२ ॥

इति ज्ञाननिर्णितियोगिनीकौलम्महच्छ्रीमच्छघ्नपादावतारिते
चन्द्रद्वीपविनिर्गते तृतीयः पटलः ॥ ३/३ ॥

चतुर्थः पटलः

देव्युवाच

अद्य मे सफलञ्जन्म तपस्तप्तं सुरेश्वर ।
अद्य मे निर्मलन्देहं त्वत्प्रसादेन भैरव ॥ ४/१ ॥
स्वगृहे स्वदेशे वा पाशस्तोभं यदा भवेत् ।
निग्रहानुग्रहश्चैव क्रामणं हरणं तथा ॥ ४/२ ॥
प्रतिमाजल्पनञ्चैव घटपाषाणस्फोटनम् ।
कथं मे सर्वसंक्षेपात्त्वमेव शरणङ्गता ॥ ४/३ ॥

भैरव उवाच

साधु साधु महादेवि कथयामि महातपे।

कुलपिण्डं समालिख्य नाडी नाडीमुखैः सह ॥ ४/४ ॥

विद्यामन्त्रमयं पिण्डं भुक्तिमुक्तिप्रदं शुभम्।

नाडी नाडीमुखैर्वापि अधोर्द्धं रेफदीपितम्॥ ४/५॥

वायुविष्णु(ः) सबिन्दुश्च तप्तचामीकरप्रभम्।

जन्ममण्डलसंलीनं ध्वान्ततेज(ः)समप्रभम्॥ ४/६ ॥

साधकः साध्यदेहे तु पशुदेहे तु हृद्गतम्।

करस्तोभादिकं भद्रे करोत्येवं चराचरैः॥ ४/७ ॥

बिन्दुनाद(स्त) तथा शक्तिर्दीप्तध्यानमथापि वा।

जन्ममन्डलसंलीनं ध्वान्ततेज(ः)समप्रभम्॥ ४/८ ॥

साध्यदेहगतश्चिन्त्य निमेषार्द्धं स्तुभ्यते पशुः।

ध्यात्वा विद्युल्लताकारं शक्तिर्वै व्योमपञ्चके॥ ४/९॥

स्तुभ्यते च जगत्सर्वं घटिकार्द्धे वरानने।

शक्तिविज्ञानवेधेन मनाख्येन महान्मने॥ ४/१० ॥

बद्ध्वा चैतत् पाशेन पर्वतानपि लालयेत्।

परदेहे पराशक्तिनादिनाक्रम्य वेधयेत्॥ ४/११ ॥

चलने बाल्यने चैव बध्वा मुद्राबन्धने।

अतीतानागतञ्चैव पृष्टासौ कथयिष्यति ॥ ४/१२ ॥

अकारादिहकारान्तं कुलपिण्डस्य भैरवि ।

शंखाभिषेकविज्ञानं दन्तकाष्ठादिकम्प्रिये ॥ ४/१३ ॥

पुष्पाञ्जलिकरस्तोभमेकैकं वर्णदीपितम् ।

मारणोच्चाटनञ्चैव स्तम्भमोहादिकं प्रिये ॥ ४/१४ ॥

शान्तिकम्पौष्टिकं वापि आकृष्टिञ्च वशन्तथा ।

पञ्चाशवर्णसंयोगं ज्ञात्वा सर्वं कुरु प्रिये ॥ ४/१५ ॥

हूं मारणं यूं यः उच्चाटनं रूं र ज्वरकरणं बुं व
अध्यायनं लूं ल स्तम्भनं शूं श शान्तिकं षूं ष कीलनं क्षें
क्ष ॥ ॥ ॥ क्षुं क्ष पशुग्रहणं क्लीं क्ष्णीं वशीकरणं क्लें क्ष्णों
क्षोभणं मोहनञ्च सों स सद्यप्रत्ययः सिद्धिः हो हः विषनाशनं ह्वो
हः रक्ताकृष्टियोगिनीनाञ्च जूं सः मृत्युञ्जयः ॥ ॥ । प्रतिमादिषु जल्पनं
स्फोटनञ्च । स्त्रों शः पाशस्तोभादिकं कामरूपिन्धं भ्रू त्र
डाकिनीसिद्धिः झुर राक्षसीसिद्धिः । लूं ल लाकिनी सिद्धिः, लुं क
कुसुमालिनीसिद्धिः यूं य योगिनीसिद्धिः ह्रीं ह आकर्षणः ॥

एकैकेन तु बीजेन वर्णराशिर्विभेदयेत् ।

कुरुते विभिदं कर्म यद्देवि मनसेप्सितम् ॥ ४/१६ ॥

दीक्षान्तेष्टिककर्मेषु विपरीतं मातृकं (चरे)त् ।

योजयेत्तां कुलाधा(रं)तु सर्वं ज्ञात्वा दृढलक्षवित् ॥ ४/१७ ॥

तेजोरूढम्परं लिङ्गं तं लीनं स्थापयेत् पशुः।

स्वातन्त्रो मुक्तिमायाति सर्वहृद्भवने तु सः ॥ ४/१८ ॥

सर्वज्ञगुणसंपूर्ण इत्येवं भैरवोऽब्रवीत्।

यत् त्वयापृच्छितम्भद्रे सुगोप्य सिद्धिकारणम् ॥ ४/१९ ॥

गोपितव्यम्प्रयत्नेन दुष्टानाम्भक्तिवर्जितम्।

न देयं भक्तिहीनस्य कौलिकीं सिद्धिमिच्छताम् ॥ ४/२० ॥

इति ज्ञाननिर्णितियोगिनीकौलम्महच्छ्रीमच्छघ्नपादावतारिते

चन्द्रद्वीपविनिर्गते चतुर्थः पटलः ॥ ४/४ ॥

पञ्चमः पटलः

देव्युवाच

मृत्युञ्जयम्महादेव कथयस्व प्रसादतः।

अज्ञानतमसाच्छन्ना यथा भ्रान्तिर्विनश्यति ॥

कथयस्व महादेव भ्रान्तिनिर्नाशनं परम् ॥ ५/१ ॥

भैरव उवाच

येनैव ज्ञानमात्रेण ध्यानाभ्यासेन नित्यशः।

सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्त स गताभ्यासतत्परः॥ ५/२॥

साधयेत् सकलार्थानां मनसा यत् समीहितम्।

उत्तिष्ठ खड्गपातालं रोचनाञ्जनपादुकम्॥ ५/३॥

गुटिकाकाशगमनं रसञ्चैव रसायनम्।

अन्तर्द्धानम्भवेद्देवि तथान्यञ्च रसायनम्॥ ५/४॥

साधयेन्नात्र संदेहो ध्यानयुक्तपदा भवेत्।

शृणु त्वं एकचित्तन्तु कथ्यमानं मया प्रिये॥ ५/५॥

सितञ्च शीतलन्दिव्यं सुगन्धं भूरितेजसम्।

चन्द्राह्लादकरं दिव्यं आगच्छन्तं खमध्यतः॥ ५/६॥

स्रवन्तं बहुरन्ध्रेण अचिरान्मृत्युजिद्भवेत्।

न जरामरणन्तस्य व्याधिरोगो न विद्यते॥ ५/७॥

लीलया सिद्धिभाग्योऽसौ भवत्येवं वरानने।

क्षीरोदार्णवमध्यस्थं श्वेतं कमलविस्तरम्॥ ५/८॥

सहस्रकोटिपत्रं वा तन्मध्ये आत्मानं बुधः।

तस्मिंश्चैव निविष्टं तु सिताभरणभूषितम्॥ ५/९॥

तादृशेनैव पद्मेन उपरिष्टाद्यटितम्प्रिये।

क्षीरोदवि(शे)षैः सर्वैस्सिञ्च्यमानमनुस्मरेत्॥ ५/१०॥

मुच्यन्ते सर्वरोगैस्तु जरामरणबन्धनैः।

क्रीडते विविधैर्भोगैरिच्छारूपञ्च जायते ॥ ५११ ॥

अथान्यं सम्प्रवक्ष्यामि मृत्युञ्जयं विशेषतः।

ध्यात्वा चन्द्रासनस्थञ्च ऊर्द्धश्चन्द्रेण घट्टितम् ॥ ५१२ ॥

सीकरैः शीतलैर्दिव्यैः सिञ्च्यमानमनुस्मरेत्।

जरामरणनिर्मुक्तं सर्वव्याधिविवर्जितम् ॥ ५१३ ॥

संवत्सरप्रयोगेण सामान्यं योगिनीकुलैः।

अन्यञ्च अद्भुतन्देवि शृणु त्वं कुलभाविनि ॥ ५१४ ॥

संपूर्णोपूर्णमापूर्णशशाङ्कपरिमण्डलम्।

ध्यायमानमिदन्देवि जराव्याधिर्विनश्यति ॥ ५१५ ॥

अथान्यं शृणु कल्याणि यथातथ्येन भाविनि।

ध्यायेच्चन्द्रमिदं देवि नाभिमूर्ध्नि च हृद्गतम् ॥ ५१६ ॥

अभ्यसेत् समचित्तस्तु अब्दमेकं निरन्तरम्।

ततः स्वातन्त्रमायाति जरामरणवर्जितम् ॥ ५१७ ॥

पुनरन्यं प्रवक्ष्यामि शृणु त्वं वीरवन्दिते।

सहस्रदलशोभाढ्यं गोक्षीरधवलोपमम् ॥ ५१८ ॥

देव्या चक्रगतञ्चक्रं तादृशं खेचरैः स्थितम्।

अधश्चक्रसमारूढं ऊर्द्धचक्रेण प्लावितम् ॥ ५१९ ॥

सततमभ्यसेद् योगी सिञ्च्यमानश्च वि(शो)षैः।

वलीपलितनिर्मुक्तः सर्वव्याधिविवर्जितम् ॥ ५२० ॥

क्रीडते सः समुद्रान्तं स्वातन्त्रः सिध्यते प्रिये।

अन्यदप्यद्भुतं देवि शृणुतैकाग्रमानसम्॥ ५२१ ॥

षोडशारम्महापद्मं हिमकुन्देन्दुसम्प्रभम्।

स्थाने स्थाने तु तं ध्यात्वा शिवाद्यावीचिगोचरम्॥ ५२२ ॥

बिन्दुधारानिपातैश्च विप्लवैः पूरितन्तनुः।

निष्क्रान्तं रोमकूपइश्च गोक्षीरहिमसन्निभम्॥ ५२३ ॥

न जरामरणन्तस्य व्याधिरोगन्न विद्यते।

स्वातन्त्रः शिवतुल्यस्तु स्वच्छन्दगतिचेष्टितः॥ ५२४ ॥

पूज्यते सुरवृन्दैस्तु दिव्यकन्यारनेकधा।

गुह्यनाभिहृदि कण्ठे वक्त्रे मूर्ध्नि शिखान्तरे॥ ५२५ ॥

मुण्डसन्धिगता देवि पृष्ठमध्ये त्रिदण्डकम्।

एकादशविधा देवि चक्राणि च सहस्त्रिका॥ ५२६ ॥

पञ्चारं अष्टपत्रञ्च दश द्वादश पत्रकम्।

षोडशं शतपत्रञ्च कोटिपत्रं यथैव च॥ ५२७ ॥

एभिः स्थाने समभ्यस्तं ददते विविधं फलम्।

रक्तं वश्यं सदा देवि महाभोगप्रदायकम्॥ ५२८ ॥

पीतं स्तम्भकरन्नाथे धूम्रमुच्चाटनं सदा।

शुक्लमाप्यायने प्रोक्तं विशेषं शान्तिकारकम्॥ ५२९ ॥

गोक्षीरधाराधवलं कथितं मृत्युञ्जये हितम्।

तप्तचामीकरप्रभं पुरक्षोभादिकारणम्॥ ५३० ॥

बिन्दुनादतथाशक्तिरेवं ध्यात्वा पृथक् पृथक्।

धर्मार्थौ काममोक्षौ च अणिमादिगुणाष्टकम् ॥ ५/३१ ॥

अतीतानागतन्देवि रूपस्य परिवर्तनम् ।

भवत्येवं न सन्देहो अभ्यासात् तद्गतस्य तु ॥ ५/३२ ॥

गुरुभक्तिर्योगिनीनां कुलकौलागमेषु च ।

अमरत्वं भवेद्देवि जयेन्मृत्युं न संशयः ॥ ५/३३ ॥

कथितं मृत्युञ्जयन्देवि सर्वज्ञानस्य निर्णयम् ।

गोपितव्यं प्रयत्नेन मर्त्यलोके नराधमे ॥ ५/३४ ॥

दुर्लभं सिद्धिसन्दोहं गोपितव्यं प्रयत्नतः ।

दातव्यं पूर्वसिद्धस्य अब्दमेकपरीक्षितम् ॥ ५/३५ ॥

इति ज्ञाननिर्णितियोगिनीकौलम्महच्छ्रीमच्छघ्नपादावतारिते

चन्द्रद्वीपविनिर्गते पञ्चमः पटलः ॥ ५/५ ॥

षष्ठः पटलः

देव्युवाच

अद्य मे सफलं जन्म मम देहे कुलेश्वर ।

त्वत्प्रसादेन कौलेश ज्ञातोऽहं कौलनिर्णयः ॥ ६/१ ॥

अन्यानि ज्ञातुमिच्छामि वद मे जीवलक्षणम् ।

कोऽसौ जीवः समुद्दिष्टः किं वा जीवस्वरूपकम् ॥ ६/२ ॥

किं वर्णं किम्प्रमाणञ्च कस्मिन् स्थाने व्यवस्थितम् ।

कस्मिंश्चैव लयं याति तत्सर्वं कथयस्व मे ॥ ६/३ ॥

भैरव उवाच

शृणु त्वं वीरचामुण्डे वरं जीवस्य निर्णयम् ।

स(ः)परं निष्कलं नित्यं निरामयनिरञ्जनम् ॥ ६/४ ॥

परमाणुमुच्यते नाथो स शिवो व्यापकः परः ।

स(ः) जीवः परतरो यस्तु स(ः) हंसः शक्तिपुद्गल(ः) ॥ ६/५ ॥

स(ः) मनो मत्परं प्राणः स(ः) बुद्धिश्चित्तमेव च ।

समीरपूरको वायुः सर्वजीवेषु संस्थितम्(ः) ॥ ६/६ ॥

देहस्थस्तिष्ठते यावत्तावज्जीवोऽपि गीयते ।

स देहत्यक्तमात्रेण परं शिवो निगद्यते ॥ ६/७ ॥

नाभिस्थं हृदि कण्ठे च वक्रनासापुटन्तथा ।

कर्णस्थं श्रूयते देवि पारम्पर्यक्रमागतम् ॥ ६/८ ॥

कौलिकन्तु इदं देवि कर्णात् कर्णसमागतम् ।

अनेन ज्ञानमात्रेण श्रुतेन च वरानने ॥ ६/९ ॥

मुच्यते सर्वपापेभ्यो भवद्भिः समुपार्जितम् ।

षण्मासादभ्यसेद्यस्तु काषायं बन्धवर्जितम् ॥ ६/१० ॥

अस्यापि शोकसन्तापजराव्याधिर्विनश्यति ।

सर्वव्याधिविनिर्मुक्तो योगिभिः सहमेलकम् ॥ ६/११ ॥

अणिमादिगुणैश्वर्यं सिद्धिश्च मानसी भवेत् ।

एतत्ते जीवमभ्यासं कथितं ते च भैरवि ॥ ६/१२ ॥

कुलागमसुभक्ताय गुरुदेव्या प्रपूजके ।

सर्वभावोपपन्नस्य दातव्यं कृतनिश्चये ॥ ६/१३ ॥

मायाविने शठे क्रूरे प्रपञ्चैर्लिङ्गिने तथा ।

न देयं कौलिकं सारं योगिनीनान्तु सम्भवम् ॥ ६/१४ ॥

देव्युवाच

सफलं अद्य मे नाथ तपो मह्यं सुरेश्वर ।

अद्य मे निर्मलं देहमज्ञानपटलाहतम् ॥ ६/१५ ॥

प्रकाशितं महाज्ञानं यत्सुरैरपि दुर्लभम् ।

साम्प्रतं श्रोतुमिच्छामि कालस्य वञ्चनं शुभम् ॥ ६/१६ ॥

भैरव उवाच

अत्यन्तगहनं नाथे पृच्छितोऽहं त्वयाधुना ।

कथयामि न सन्देहो यथा मृत्युर्विनश्यति ॥ ६/१७ ॥

प्रसार्य दन्तुरायान्तु यावद् ब्रह्मविलङ्गतः।

अमृताग्रं रसाग्रेण दह्यमानसुधीरपि॥ ६/१८॥

मासेन जितयेन्मृत्युं सत्यं सत्यं महातपे।

रसनातालुमूले तु कृत्वा वायुं पिबेच्छनैः॥ ६/१९॥

षण्मासादभ्यसेद्देवि महारोगैः प्रमुच्यते।

अब्दमेकं यदाभ्यस्तज्जरामृत्युर्विनश्यति॥ ६/२०॥

अतीतानागतञ्चैव दूरादिश्रवणन्तथा।

विषं न क्रमते देहे दंशितोऽपि महोरगैः॥ ६/२१॥

स्थावरं जङ्गमं वापि कृत्रिमं गरलं तथा।

छेद्यमानो न छिद्येत तद्गतो तन्मनो यथा॥ ६/२२॥

द्वौ राजद(?)मध्यस्थं बिन्दुरूपं व्यवस्थितम्।

अमृतं तं विजानीयाद्बलीपलितनाशनम्॥ ६/२३॥

शीतलं स्पर्शसंस्थाने रसनां कृत्वा तु बुद्धिमान्।

बलीपलितनिर्मुक्तः सर्वव्याधिविवर्जितः॥ ६/२४॥

न तस्य भवते मृत्युर्योगयानपरः सदा।

रसना तालुमूले तु व्याधिनाशाय योजयेत्॥ ६/२५॥

तिष्ठञ्जाग्रन् स्वपङ्गच्छन् भुञ्जन् मैथुने रतः।

रसनं कुञ्चयेन्नित्यं स्ववक्रेण तु संयुतम्॥ ६/२६॥

न मृत्युर्भवते तस्य अब्दात् स्वच्छन्दगो भवेत्।

हृदिस्थञ्च मनः कृत्वा यावदुन्मनतां गतः॥ ६/२७॥

आगतं नाशयेन्मृत्युं घटिकार्द्धे वरानने।
कालस्य वञ्चनं देवि सुगोप्यं प्रकटीकृतम्॥ ६/२८॥

इति ज्ञाननिर्णितियोगिनीकौलम्महच्छ्रीमच्छघ्नपादावतारिते
चन्द्रद्वीपविनिर्गते षष्ठः पटलः॥ ६/६॥

सप्तमः पटलः

देव्युवाच

पलितस्तम्भविज्ञानं जरामरणनाशनम्।
त्रितत्त्वं कथ मे नाथ त्वमेव शरणं गता॥ ७/१॥

भैरव उवाच

पलितस्तम्भविज्ञानं शृणु त्वं वीरमातरे।
देव्याश्चक्रगतं चिन्त्य(?) प्रतिपदायां शशिर्यथा॥ ७/२॥
शीतलं चन्द्रसंकाशं वर्तिस्तु घृतबोधिता।
तत्र चैव शिखा लीना अस्थिचक्रे वरानने॥ ७/३॥
भावयेत् केशस्कन्धस्थं लग्नं वै अञ्जनन्तथा।

साद्रवं कृष्णरूपं च बलीपलितनाशनम्॥ ७/४ ॥

द्वितीयं साम्प्रतं देवि शृणुष्वैकाग्रमानसा।

आधारस्कन्धसंस्थाने योगं युञ्जीत शीतलम्॥ ७/५ ॥

लीनं वै ब्रह्मरन्ध्रे तु कृष्णाञ्जनद्रवात्मकम्।

आदित्यं शत्रुवत् पश्येत् सोमं वै मित्रवद् यथा॥ ७/६ ॥

कृष्णाम्बरधरो नित्यं कृष्णध्यानात्मरञ्जितम्।

भूगृहे निर्जने स्थाने दंशमशकवर्जिते॥ ७/७ ॥

न (स्थाने) जनसङ्कीर्णे सर्पव्याघ्रविवर्जिते।

एकान्ते निर्जने दिव्ये पुष्पप्रकरणशोभिते॥ ७/८ ॥

सुगन्धधूपितं कृत्वा शाल्योदनजितेन्द्रियः।

षण्मासाज् ज्ञायते सिद्धिर्योगिनीपदतत्समः॥ ७/९ ॥

कामदेवसमौपम्ये सुरकन्याप्रपूजितम्।

ब्रह्मग्रन्थिस्थिताद्येतां त्रीणि एव वरानने॥ ७/१० ॥

लीनां वै ब्रह्मखण्डे तु भिन्ननीलाञ्जनप्रभम्।

द्रवेण रञ्जयेत् सर्वं रोमकूपादिकं प्रिये॥ ७/११ ॥

ध्यानेन रञ्जितात्मा तु वृद्धोऽप्युन्नतयौवनः।

भवत्येवन्न सन्देहः षण्मासाभ्यन्तरेण तु॥ ७/१२ ॥

पिङ्गग्रन्थिगतश्चक्रं षोडशारं सुतेजसम्।

साद्रवं कृष्णवर्णञ्च षोडशस्वरभूषितम्॥ ७/१३ ॥

खद्योतितगतादूर्ध्वं ब्रह्मरन्ध्रं लयं गताः।

षण्मासासेवनाभ्यस्ताद् वृद्धोऽपि तरुणायते ॥ ७/१४ ॥

भवते नात्र सन्देहः कामदेवद्वितीयकः ।

योगिनीस्थानमाश्रित्य असितं कृष्णवर्णकम् ॥ ७/१५ ॥

अष्टपत्रद्रवञ्चैव शीतलं चन्द्रसन्निभम् ।

केशस्कन्धकपालस्थं रञ्जयेत् तस्य तेजसा ॥ ७/१६ ॥

अब्दार्द्धं वत्सरं वापि वृद्धोऽपि षोडशाकृतिः ।

जरामरणनिर्मुक्तो व्याधिरोगविवर्जितः ॥ ७/१७ ॥

योगिनीगणसामान्यासृष्टिसंहारकारकः ।

कण्ठकूपस्थितोद्योतं ब्रह्मरन्ध्रलयं गता ॥ ७/१८ ॥

साद्रवमञ्जनञ्चैव रोमकूपादिनिर्गतम् ।

अनङ्गस्यैव सौभाग्यं निगूढं सन्धिबन्धनम् ॥ ७/१९ ॥

रोमाणि सततन्तस्य घनास्थिषु च जायते ।

प्रथमे जनवाच्छल्यं द्वितीये रुजनाशनम् ॥ ७/२० ॥

तृतीये च कवित्वं हि सालङ्कारमनोहरम् ।

चतुर्थे वाचकामित्वं दूराश्रवणं पञ्चमे ॥ ७/२१ ॥

भूमित्यागन्तवेधं(?) षष्ठमन्यत् प्रकीर्तितम् ।

योगिनीमेलकत्वञ्च सप्तमे जायते ध्रुवम् ॥ ७/२२ ॥

जरापहरणन्देवि अष्टमे भवते प्रिये ।

नवमे चण्डवेगत्वं दशमेऽनेकरूपधृक् ॥ ७/२३ ॥

एकादशगुणं शान्तं त्रिविधा चैव वर्जितम् ।

एकादशगुणोपेतं पूज्यतेऽसौ यथा शिवम् ॥ ७/२४ ॥

इच्छयारोहणं कुर्याद्घूर्णनं नृत्यमेव च ।

यतस्तत्रैव गन्तव्यं यत्र वा रोचते मनः ॥ ७/२५ ॥

मनोरोधं न कर्तव्यं यदा ज्ञातं हि कौलिकम् ।

प्रपञ्चरहितं शास्त्रं प्रपञ्चरहितो गुरुः ॥ ७/२६ ॥

प्रपञ्चरहितो मन्त्रः प्रपञ्चरहितः शिवः ।

एतत् कौलागमं नाथ अप्रपञ्चैः पशुः प्रिये ॥ ७/२७ ॥

दम्भितमात्मनस्तैस्तु पुनर्दम्भयते परम् ।

केचिदज्ञानतो नष्टाः केचिन्नष्टाः प्रमादतः ॥ ७/२८ ॥

केचि(ज्) ज्ञानावलयेन केचिन्नष्टैर्विनाशिताः ।

कम्पस्तोभे तथा रोषा मुद्रामुत्पतनन्तथा ॥ ७/२९ ॥

भवते नात्र सन्देहः सप्तरात्रेण कौलवे ।

यां यां स्पृशति हस्तेन यां यां पश्यति चक्षुषा ॥ ७/३० ॥

शुद्धं भवति तत् सर्वं परबिन्दुकिरणाहतम् ।

पलितस्तम्भविज्ञानं कथितं योगिनीप्रिये ॥ ७/३१ ॥

देव्या(ः) चक्रादि देवेशि ब्रह्मरन्ध्रावशा(नु)गम् ।

युक्तं कामकलादेवि पलितस्तम्भनं परम् ।

एतन्ते कथितं गुह्यं उन्मनज्ञाननिर्णितिः ॥ ७/३२ ॥

इति ज्ञाननिर्णितियोगिनीकौलम्महच्छ्रीमच्छन्नपदावतारिते

चन्द्रद्वीपविनिर्गते सप्तमः पटमः ॥ ७/७ ॥

अष्टमः पटलः

देव्युवाच

अत्यन्तगहनं नाथ सुगोप्यं गुह्यमुत्तमम्।
अकुले तु कुलं देवं कथं जातं हि भैरव ॥ ८/१ ॥
क्षेत्रजा पीठजा वापि योगजा मन्त्रजा तथा।
सहजा कुलजा वापि अष्टाष्टकमतन्तथा ॥ ८/२ ॥
पूजाक्रमविधानन्तु कुलसिद्धं वद प्रभो।
गुरुपूजाविधानन्तु सर्वं संक्षेपतो वद ॥ ८/३ ॥

भैरव उवाच

शृणुष्वैकाग्रचित्तन्तु योगिनीवीरमातरे।
एकान्ते विजने स्थाने पुष्पदामोपशोभिते ॥ ८/४ ॥
सुधूपधूपितं कृत्वा मत्स्यमांसरा ॥। वम्।
भक्ष्यभोज्यसमायुक्तो मदिरानन्दसंयुतम् ॥ ८/५ ॥
शक्तियुक्तो महात्मानः सहजा कुलजापि वा।

अन्त्यजा वा महादेवि पृथग्भेदं वदाम्यहम् ॥ ८/६ ॥

विवाहं तु कृतं यस्य सहजा स तु उच्यते ।

कुलजा वेश्यमित्याहुरन्त्यजावर्ण अन्त्यजा ॥ ८/७ ॥

बहिस्था कथिता देवि आध्यात्म्यां शृणु साम्प्रतम् ।

गम्यागम्यप्रयोगेण मदनानन्दलक्षणम् ॥ ८/८ ॥

कुरुते देहमध्ये तु सा शक्तिः सहजा प्रिये ।

कुलजा किं न विज्ञाता वर्णराशिकुलात्मिकाम् ॥ ८/९ ॥

देहस्था त्रिविधा प्रोक्ता बहिस्था त्रिविधा प्रिये ।

अन्त्यजा संप्रवक्ष्यामि शृणु देवि यथास्थितम् ॥ ८/१० ॥

शुद्धस्फटिकसङ्काशा मुक्तामाला खगेश्वरी ।

ऊर्द्धतीर्यक्संशुद्धा महाशक्ति सुतेजसा ॥ ८/११ ॥

एषा शक्तिर्महात्मान अन्त्यजा व्योममालिनी ।

ताम्बुलपूरितं वक्रं विलिप्तं मुक्तमेन च ॥ ८/१२ ॥

श्रीखण्डं मृगमदञ्च हृष्टसंतुष्टचेतसा ।

योगिनीवीरसंयुक्तं युग्मपात्रं पृथक् पृथक् ॥ ८/१३ ॥

पूजयेत् तां चतुःषष्टिं पञ्चाशाष्टकमेवच ।

रक्ताम्बरधराः सर्वे केयूरकटकोज्ज्वलाः ॥ ८/१४ ॥

योगिनीवीरचक्रन्तु यथाशक्त्या (प्र)पूजयेत् ।

इत्थम्भूतं कुलाचार्यः कुलपुत्रैरधिष्ठितम् ॥ ८/१५ ॥

पूजितव्या महादेव्या क्षेत्रजा तु व्यवस्थिताः ।

करवीरं महाकालं देविकोटयं वरानने ॥ ८/१६ ॥

वाराणस्यां प्रयागन्तु चरित्रैकाम्रकन्तथा ।

अट्टहासं जयन्ती च एभिः क्षेत्रैश्च क्षेत्रजाः ।

तेषां मध्ये प्रधानन्तु ये जाताः क्षेत्रजा प्रिये ॥ ८/१७ ॥

ह्रीं श्रीं ह्री श्रीं कोङ्कणा-इपाद,

ह्रीं श्री ह्री श्रीं कलम्बा-इपाद ।

ह्रीं श्रीं ह्री श्रीं नागा-इ पाद,

ह्रीं श्रीं ह्री श्रीं हरसिद्धा-इ पाद ।

ह्रीं श्री ह्रीं श्रीं कम्व-इपाद,

ह्री श्री ह्री श्री मङ्गल इपाद ।

ह्रीं श्री ह्री श्री सिद्धा-इपाद,

ह्रीं श्रीं ह्री श्री वछा-इपाद ।

ह्रीं श्री ह्रीं श्री शिवा-इपाद ।

ह्री श्री ह्री श्री श्री-इच्छा-इपाद ।

ह्रीं श्री ह्री श्रीं आ-ईपाद ।

ह्रीं श्री ह्रीं श्री वीरा-इपाद ।

ह्रीं श्री ह्रीं श्री त्रिभुवनापाद ।

ह्रीं श्री ह्रीं श्री वराहरूपा-इपाद ।

ह्रीं श्री ह्रीं श्री कृतयुगा चैव ।

तथा त्रेताद्वापरकलिमेव च ।

चतुर्युगेषु देवेशि क्षेत्रजा सिद्धिपूजिता ॥ ८/१८ ॥

ह्री श्रीं पादान्तु आदौ तु तथा नाममुदीरयेत्।

क्षेत्रजा कथिता देवि पीठजा(ः) कथयामि ते ॥ ८/१९ ॥

प्रथमं पीठमुत्पन्नं कामाख्यानाम सुव्रते।

उपपीठस्थिता सप्त देवीनां सिद्ध-आलयम् ॥ ८/२० ॥

पुनः पीठं द्वितीयन्तु संज्ञा पूर्णगिरि प्रिये।

ओडियान महापीठमुपपीठसमन्वितम् ॥ ८/२१ ॥

अर्बुदमर्द्धं पीठन्तु उपपीठसमन्वित(म्)।

पीठोपपीठसन्दोहं क्षेत्रोपक्षेत्रमेव च।

पीठाद्यादेवतानां च शृणु पूजाविधिं प्रिये ॥ ८/२२ ॥

ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं महालक्ष्मा-इ पाद।

ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं कुसुमानङ्गा-इ पाद।

ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं शुक्ला-इ - पाद।

ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं प्रलम्बा-इ-पाद।

ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं पुलिन्दा-इ-पाद।

ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं शवरा-इ-पाद।

ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं कृष्णा-इ-पाद।

ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं लच्छा-इ-पाद।

ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं नन्दा-इ-पाद्।

ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं भद्रा-इ-पाद्।

ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं कलम्बा-इ-पाद्।

ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं चम्पा-इ-पाद्।

ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं धवला-इ-पाद्।

ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं हिडिम्बा-इ-पाद्।

ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं महामाया-इ-पाद्।

पीठोपपीठसन्दोहे ये जाता वरयोगिनी।
एतैस्तु पूजिता भद्रे सर्वे सिध्यन्ति मातराः॥ ८/२३॥
योगाभ्यासेन ये सिद्धा मन्त्राणामाराधनेन तु।
योगेन योगजा माता मन्त्रेण मन्त्रजा प्रिये॥ ८/२४॥
सहजा मातरा देव्या रूरूयुद्धैर्महाबलाः।
भक्षितं तु चरुं दिव्यं सप्तजन्मान्तिकं पशुम्॥ ८/२५॥
तेषां गर्भे प्रसूतानां निर्यासप्राशितेन च।
गर्भे जातेन देवेशि गर्भं जानन्ति आत्मनः॥ ८/२६॥
ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा।
वाराही वज्रहस्ता च तथा योगेश्वरीति च॥ ८/२७॥
अघोरेशी च विख्याता मातर्या व्यापकाः स्मृता (ः)।
तथान्या द्वारपालिन्या तैस्तु संव्यापितञ्जगत्॥ ८/२८॥

पञ्चजातक्रमे चान्या नगरे ग्रामेषु सर्वशः।
सर्वास्तां पूजयेन्नित्यं गुरुसिद्धसमन्विताम्॥ ८/२९॥
ग्रहा नागाश्च देवाश्च योगिन्यः सिद्धमेव च।
पूजितां पूजयन्त्येते निर्देहं त्यपमानिताः (?)।
कुलाष्टकं प्रवक्ष्यामि अष्टाष्टकविधि प्रिये॥ ८/३०॥

ह्रीं आ ह्रीं ह्रीं इं ह्रीं ह्रीं ऊं ह्रीं ह्रीं ॠ ह्रीं ह्रीं ऌ ह्रीं ह्रीं ऐं ह्रीं
ह्रीं ॐ ह्रीं ह्रीं ह्रीं अः ह्रीं प्रथमन्तु इमं देवि शृणु विद्यायमष्टकम्।

ह्रीं क्षः ह्रीं लः ह्रीं हः ह्रीं सः
ह्रीं षः ह्रीं शः ह्रीं व ह्रीं र

विद्यापदाष्टकाख्यातम्। ह्रीं क्लृ ह्रीं एतत् कौलिकं भैरवि।

अष्टधा तु लिखेद्विद्या प्रथमाष्टकभेदितम्।
यथा एतत् तथा सर्वे ज्ञातव्या योगिनीक्रमम्॥ ८/३१॥
अष्टाष्टकं विधानेन चतुःषष्टि यथाक्रमम्।
योगिनीमेलकं चक्रं अणिमादिगुणाष्टकम्॥ ८/३२॥
भवत्येव न सन्देहो ध्यानपूजारतस्य च।
द्वितीयन्तु महाचक्रं सर्वाकृष्टिप्रवर्तकम्॥ ८/३३॥

पशुग्रहणमावेशं पूजाध्यानरतस्य च।

तृतीयन्तु महाचक्रं परकायप्रवेशनम्॥ ८/३४ ॥

अतीतानागतञ्चैव अभ्यासाद्भवते प्रिये।

लभत्येव न सन्देहो विविधं यत् समीहितम्॥ ८/३५ ॥

चतुर्थं शान्तिकचक्रं मुक्तिमुक्तिप्रदं शुभम्।

पूजयित्वा इमं चक्रं यावद् ध्यानं प्रयुञ्जति ॥ ८/३६ ॥

क्षणेन भवते स्तोभो मुद्राबन्धत्यनेकधा।

भाषास्तु विविधाकारा अश्रुतानि श्रुतानि च ॥ ८/३७ ॥

उच्चरेदङ्गमयं शास्त्रं मन्त्रजालानि श्रूयते।

स्वयमेवात्मनात्मने श्रूयते चात्मनात्मनि ॥ ८/३८ ॥

षण्मासाद् भवते सिद्धिमनिशी(?) योगिनीप्रिये।

बलीपलितनिर्मुक्तः कामदेवो द्वितीयकः॥ ८/३९ ॥

पञ्चमन्तु महाचक्रं ध्यानपूजाक्रमेण तु।

वाय्वादेर्नाशयेद्वाचा मूकवत् तिष्ठते तु सः॥ ८/४० ॥

षष्ठं चैव महाचक्रं धर्मार्थकाममोक्षदम्।

सप्तमञ्चक्रं देवेशि सैन्यस्तम्भकरं परम्॥ ८/४१ ॥

स्तोभावेशादिकं चक्रं संसारबन्धमोचकम्।

दूराच्च दर्शनं तस्मिन् पूजाध्यानरतस्य तु॥ ८/४२ ॥

अष्टमं चक्रमुद्दिष्टं इच्छासिद्धिप्रवर्तकम्।

मारणोच्चाटनं भद्रे स्तम्भमोहादिकं प्रिये॥ ८/४३ ॥

वदनोतिष्ठमहाचक्रं कुलभक्त्यामधिष्ठितम् ।
अष्टाष्टकविधानन्तु ज्ञात्वा सिध्यति नान्यथा ॥ ८/४४ ॥
तत्तेषां गूढसद्भावं चतुःषष्टियोगिनीक्रमम् ।
निःसन्दिग्धं मया प्रोक्तं हि भक्तियुक्त्यावधारम् ॥ ८/४५ ॥

इति ज्ञाननिर्णितियोगिनीकौलम्महच्छ्रीमच्छघ्नपादावतारिते
चन्द्रद्वीपविनिर्गते अष्टमः पटलः ॥ ८/८ ॥

नवमः पटलः

भैरव उवाच

गुरुपङ्क्तिं प्रवक्ष्यामि सिद्धपङ्क्तिं सुलोचने ।
योगिनीपङ्क्तिविन्यासं कथयामि तव प्रिये ॥ ९/१ ॥
सर्वसिद्धियोगिनीनां खेचरीं सर्वमातरीम् ।
सर्वभूचरीसर्वगोचरयोगिनीनां सर्वक्षेत्रकम् ॥ ९/२ ॥
सर्वमन्त्रजाः सर्वयोगजाः सर्वपीठजाः ।
सर्वसहजाः सर्वकुलजा सर्वद्वारपालिकाः ॥ ९/३ ॥
सर्वगर्भजाः कृते च द्वापरे त्रेते कलियुगे महातपे ।
चतुर्युगविभागेन योगिनीसिद्धिपूजिताः ॥

गुह्यानां परमं गुह्यन्तव भक्त्या प्रकाशितम्॥ ९४॥

देव्युवाच

सुदग्धमग्निना देहम् अद्य निर्वापितं परम्।
तव प्रसादात् कौलेश ज्ञातोऽहम् ज्ञाननिर्णयम्।
साम्प्रतं श्रोतुमिच्छामि गुरुभ्यः सिद्धपूजनम्॥ ९५॥

भैरव उवाच

गुरुसिद्धिविधे देवि शृणु त्वं कुलभाविनि।

श्रीविश्वपादान्। (श्री) विचित्रपादान्। श्रीश्वेतपादान्।
श्रीभट्टपादान्। श्रीमछेन्द्रपादान्। श्रीबृहीषपादान्।
श्रीविंध्यपादान्। श्रीशबरपादान्। श्रीमहेन्द्रपादान्। श्रीचन्द्रपादान्।
श्रीहिंडिनिपादान्। श्रीसमुद्रपादान्। श्रीलवणपादान्। श्रीदुम्बरपादान्।
श्रीदेणेपादान्। श्रीधीवरपादान्। श्रीसिंहलपादान्।
(श्री) ओगिनीपादान् गुरु परमगुरु परमेष्ठ्य पूज्य महापूज्य लाकिनी
डाकिनी शाकिनी काकिनी याकिनी -

ह्रींकारमादितः कृत्वा श्रीकारं चैतदनन्तरम्।

अक्षरद्वयविन्यासमन्यन्तेषु प्रदापयेत्॥ ९६ ॥

एतत् सिद्धाश्च योगिन्या अस्मिन् सिद्धाः कुलागमे।

अनेन सदृशं ज्ञानं न भूयो न भविष्यति॥ ९७ ॥

कलियुगे महाघोरे रौरवेऽत्यन्तभीषणे।

सञ्जाताः षोडश सिद्धा अस्मिन् कौले सुलोचने।

कृते च द्वापरे त्रेते सिद्धाये वीरवन्दिताः।

तेषां नामविधिं वक्ष्ये शृणु त्वं वरलोचने॥ ९८ ॥

मृष्णिपादाः। अवतारपादाः। सूर्यपादाः। द्युतिपादाः।

ओमपादाः। व्याघ्रपादाः। हरिणिपादाः। पञ्चशिखिपादाः।

कोमलपादाः। लम्बोदरपादाः।

एते पूर्वमहासिद्धाः कुलकौलावतारकाः।

चतुर्युगेति देवेश स्वतन्त्र - कुलचोदका (:)॥ ९९ ॥

अस्य ज्ञानप्रभावेण बहवः सिध्यन्ति मानवाः।

दशकोटिप्रमाणन्तु इ(द)म् कौलं परोद्भवम्॥ ९१० ॥

सारात्सारतरं भद्रे महाकौलस्य शोभने।

इच्छाख्या योगिनी सिद्धैर्मायान्तं पर-इच्छया॥ ९११ ॥

खेचरीणां पुनः पश्चादिच्छया प्रकटीकृतम्।

मातराणां पुनर्देवि खेचरैः कथितं प्रिये ॥ ९/१२ ॥
मातराणि गमिष्यन्ति भूचरीणां कुलेश्वरि ।
भूचरीणां सुभक्षाणां भूचरी कथितं प्रिये ॥ ९/१३ ॥
योगिनीनां कुले जातौ लभते कौलिकी स्फूटम् ।
चतुरशीति सहस्रेषु योनियन्त्रेषु पीडिताः ॥ ९/१४ ॥
पुण्यात्मानं कुलाश्चर्यं पश्चाज् ज्ञानमिमां लभेत् ।
भुक्तिमुक्तिमहासिद्धिः योगिनीनां प्रियो भवेत् ॥ ९/१५ ॥

इति ज्ञाननिर्णितियोगिणीमहाकौलम्महच्छ्रीमच्छन्नपादावतारिते
चन्द्रद्वीपविनिर्गते नवमः पटलः ॥ ९/९ ॥

दशमः पटलः

देव्युवाच

अद्य मे सफलं नाथ मम पिण्डं सुरेश्वर ।
वह्निनावेष्टितात्मानमेकपादेन संस्थितम् ॥ १०/१ ॥
तत्तपः सफलं मेऽद्य त्वया तुष्टेन भैरव ।
ज्ञानस्य निर्णयन्देव अद्य मे प्रकटीकृतम् ॥ १०/२ ॥
पुनः पृच्छामि कौलेश यथातथ्यं वद प्रभो ।

अष्टाष्टकविभागन्तु परिज्ञातुमनन्तथा ॥ १०/३ ॥
अद्यापि संशयो नाथ तेषां चक्रं पृथक् पृथक् ।
गुह्यस्थानं यथाचक्रं क्षिप्रं सिध्यति भैरव ॥ १०/४ ॥
स्थानध्यानफलन्तेषां संक्षेपं कथ्यते प्रभो ।

भैरव उवाच

साधु साधु महादेवि पृष्टोऽहं सुरदुर्लभम् ॥ १०/५ ॥
कथयामि न सन्देहो भक्तियुक्ता वरानने ।

लां लीं लूं लृं लुं लैं लौं लः । हां हीं हूं हृं हृ हैं
हौं (हः) । सां सीं सूं सृं स्लं (सैं) सौं सः । षां षीं षूं
षृं ष्लं षैं षौं षः । शां शीं शूं शृं श्लं शैं शौं शः ।
वां वीं वूं वृं व्लं वैं वौं वः । ह्लां ह्लीं ह्लुं ह्लृं ह्लैं
ह्लौं ह्लः ॥ १०/

क्षकारं ब्रह्मरन्ध्रत्वं लंकारन्तु ललाटयोः ॥ १०/६ ॥
हकारन्तु भ्रुवोर्मध्ये सकारं वक्रमण्डले ।
षकारं कण्ठदेशे तु शकारं हृदये तदा ॥ १०/७ ॥
वकारं नाभिमध्ये तु ह्लकारं विसकन्दयो (:) ।
स्थानचक्रास्तु संप्रोक्तास्तेषां ध्यानं शृणु प्रिये ॥ १०/८ ॥

शुद्धस्फटिकसङ्काशं ऊद्ध्र्वतेजसुनिर्मलम् ।

अष्टारं पङ्कजं दिव्यं प्रथमाष्टकभूषितम् ॥ १०/९ ॥

सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तं क्रोधाद्यैः शून्यवर्जितम् ।

अभ्यासात् समचित्तस्तु ग्रामधर्मञ्च वर्जयेत् ॥ १०/१० ॥

अतीतानागतञ्चैव वर्तमानन्तथैव च ।

दूराश्रवणविज्ञानं पाशस्तोभन्तथा प्रिये ॥ १०/११ ॥

पशुग्रहणमावेशं मृत्युनाशन्तथैव च ।

अमरत्वन्तथा देवि समासात् परिवर्तनम् ॥ १०/१२ ॥

वाचा सिद्धिर्भवत्येवं किं कुर्वाणं जगत्प्रिये ।

द्वितीयमष्टपत्रन्तु तेजध्यानसुदीपितम् ॥ १०/१३ ॥

आगमान्नाशयेन्मृत्युं पुरक्षोभादिकारकः ।

कुरुते बहुधा रूपं ध्यानैकगतचेतसः ॥ १०/१४ ॥

मण्डलीकनरेन्द्राणां किं कुर्वाणो विधीयते ।

क्रुद्धस्तु संहरेत् सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ १०/१५ ॥

सृष्टिसंहारकर्तारं नित्याभ्यासरतः सदा ।

तृतीयन्तु महाचक्रं नवतत्त्वप्रमोचकः ॥ १०/१६ ॥

षण्मासादीप्सितं कामं ध्यात्वाधारन्तु तद्गुरुः ।

बलीपलितनाशन्तु सुदूराद्दर्शनन्तथा ॥ १०/१७ ॥

बेधन्तु कुरुते देवि योजनानां शतैरपि ।

एकान्ते बहुधा रूपं कुरु ध्यानञ्च तत्परः ॥ १०/१८ ॥

चतुर्थशान्तिकं चक्रं सुखप्रीतिविवर्द्धनम्।

कुरुते अमरत्वं हि सतताभ्यासतत्परः॥ १०/१९॥

वाचयो कुरुते मृत्युं रोगाणान्तु जयं प्रिये।

दिवसान्नाशनेनैव वयो मृत्युं गमिष्यते॥ १०/२०॥

नाशयेदहो(रा)त्रेण एतच्चक्रमनुत्तमम्।

सतताभ्यासयोगेन द्विरष्टवर्षाकृतिर्भवेत्॥ १०/२१॥

अष्टपत्रं महापद्मं पञ्चमं सुरसुन्दरि।

धूम्रवर्णं सदा चिन्त्य त्रैलोक्यं चालयेत् प्रिये॥ १०/२२॥

वाचापहारं कुरुते सैन्यस्तम्भकरं परम्।

षष्ठं तु चक्रं राजानमष्टपत्रसकर्णिकम्॥ १०/२३॥

तप्तचामीकरप्रभमिच्छासिद्धिप्रवर्तकम्।

अतीतानागतञ्चैव अणिमादिगुणाष्टकम्॥ १०/२४॥

ददते नात्र सन्देहो भक्तिध्यानप्रदीपितः।

सप्तमन्तु महादेवि पूर्णचन्द्रप्रभं प्रिये॥ १०/२५॥

तद्गतन्तन्मनं भद्रे भुक्तिमुक्तिप्रदं शुभम्।

जरामृत्युविनाशञ्च परदेहे प्रवेशनम्॥ १०/२६॥

किं कुर्वाणविधेयस्तु मण्डलीकनरोत्तम (:)।

अष्टमन्तु महाचक्रं पत्राष्टकविभूषितम्॥ १०/२७॥

धर्मकामार्थमोक्षञ्च ददत्येव सुलोचने।

रक्तध्याने सदावश्यं पीतस्तम्भकरं परम्॥ १०/२८॥

शुक्लमाध्यायन देवि स्फटिके मोक्षदायिकम्।
कृष्णेन मारणं प्रोक्तं धूम्रमुच्चाटने सदा ॥ १०/२९ ॥
गोक्षीरधारधवलं एतन्मृत्युञ्जयो हितम्।
पुरःक्षोभन्ततस्तोभं कम्पपातादिकं चरेत्॥ १०/३० ॥
अग्निज्वाला सुदीप्ताभं ध्यानं चैवाष्टमं सदा।
एकैकस्य स्थितन्देवि एतद्ध्यानन्तु अष्टधा ॥ १०/३१ ॥
चापञ्च कञ्चुकी देवि प्रणिपत्य मुहुर्मुहुः।
अद्य मे सफलं जातम्महाकौलेषु भैरव ॥ १०/३२ ॥

इति ज्ञाननिर्णितियोगिनीकौलम्महच्छ्रीमच्छन्नपादावतारिते
चन्द्रद्वीपविनिर्गते दशमः पटलः ॥ १०/१० ॥

एकादशः पटलः

देव्युवाच

कथयस्व महादेव चरुकाद्वैतलक्षणम्।
सर्वशङ्काविनिर्मुक्तं निःशङ्कं सिध्यते ध्रुवम्॥ ११/१ ॥

भैरव उवाच

यत्त्वया पृच्छितं देवि लोकेऽस्मिन् क्रूरभीषणे।

कथयामि निःसन्देहं सर्वशङ्काविमर्दकः॥ ११/२॥

अद्वैते नित्ययुक्तस्य तस्य सिद्धिः प्रजायते।

द्वैतन्तु कारयेद्यस्तु आकृष्टो योगिभिस्तु सः॥ ११/३॥

समयाद् भ्रष्टन्तु यो देवि स पशुर्नात्र संशयः।

द्वैतभावं परित्यज्य अद्वैताचारभावितः॥ ११/४॥

पञ्चामृतं प्रवक्ष्यामि गुह्यानां गुह्यमुत्तमम्।

ज्ञातव्यं कुलसमयं कुलपुत्रैर्विशेषतः॥ ११/५॥

साधकैः सिद्धिकामैस्तु तथान्यं कुलदेशिकैः।

अनुष्ठितमिदं पूर्वं कुलसिद्धैः सुलोचने॥ ११/६॥

एतज्ज्ञात्वा भवेत् सिद्धिर्मानसी योगिनीप्रिये।

यदिच्छेत् कौलवी सिद्धिः प्राप्य पञ्चामृतं परम्॥ ११/७॥

तदा सिध्यति योगिन्यां सिद्धिमेलापकं भवेत्।

ददन्ते च तदा देवि चरुकं पञ्चभिर्युतम्॥ ११/८॥

योगिनीभिः सकृद्दत्तं तत्क्षणात् तत्समो भवेत्।

अथ वा प्राशयेज्ज्ञात्वा योगयुक्तस्तु कौलवित्॥ ११/९॥

सिध्यते नात्र सन्देहो विघ्नजालविवर्जितम्।

योगिनीगणसामान्यामनः सुचिन्तितं भवेत्॥ ११/१०॥

विष्ठं धारामृतं शुक्रं रक्तमज्जाविमिश्रितम्।

एतत् पञ्च पवित्राणि नित्यमेव कुलागमे ॥ ११/११ ॥

नित्यनैमित्तिकं देवि कर्तव्यं च प्रयत्नतः ।

गोमांसं गोघृतं रक्तं गोक्षीरञ्च दधिन्तथा ॥ ११/१२ ॥

नैमित्तिके इमं कुर्यात् सिद्धिकामे महोत्सुकः ।

निःशङ्को निर्विकल्पस्तु एतत् कुर्यात् कुलागमे ॥ ११/१३ ॥

अन्यथा नैव सिध्यन्ति निर्मुक्तिस्तु मम प्रिये ।

पुनरन्यविशेषणं शृणुष्वैकाग्रमानसः ॥ ११/१४ ॥

श्वानमार्जार - उष्ट्रञ्च शृगालञ्च हयन्तथा (?) ।

कूर्मकच्छवराहञ्च मार्जारवककर्कटम् ॥ ११/१५ ॥

शलाकी कुकुटश्चापि बहु(?)नानाकुलन्तथा ।

शेरकञ्च मृगं वापि महिषं गण्डकं तथा ॥ ११/१६ ॥

अन्यानि यानि मच्छानि यथालाभं समाहरेत् ।

विज्ञानम्बलसामर्थ्यं सप्तजन्मान्तिकं पशु ॥ ११/१७ ॥

येन तेन प्रकारेण आकृष्टिं भक्षयेत् सदा ।

पूजयेद् योगिनीवृन्दं भक्ष्यभोज्यादिभिः प्रिये ॥ ११/१८ ॥

धारापानन्ततः कुर्याद् यदीच्छेच्चिरजीवितुम् ।

पिशितं त्रिविधं कुर्यात् पक्षाम्लमधुरन्तथा ॥ ११/१९ ॥

देवतातर्पणार्थाय सुरा देया यथोचिता ।

वृक्षजा मूलजा चैव पुष्पजा फलजापि वा ॥ ११/२० ॥

पेष्टी माध्वी तथा गौण्डी दद्यान्नैमित्तिके प्रिये ।

अद्वैतन्तु यथाख्यातं कर्तव्यं नान्यथा न हि ॥ ११/२१ ॥

अद्वैताचारमासृत्य यदान्यश्चरति पापकृत्।

पतन्ति नरके घोरे अवीचिरौरवे तथा ॥ ११/२२ ॥

अद्वैतं येन सन्त्यक्तं ममाभाष्यन्तु(?) तं पशुम्।

योगिनीगणमध्यस्थं स पशुः कीर्तितं कुले ॥ ११/२३ ॥

गुप्तं गुप्ततरं कुर्याद् गोपनीयं प्रयत्नतः।

जननीजारगर्भन्तु स्वपुत्रं गोपयेद्यथा ॥ ११/२४ ॥

अद्वैतं गोपयेन्नित्यं सुगोप्यमभ्यसेत् क्रमात्।

अणिमादिगुणैश्वर्यसिद्धिश्च मानसी भवेत् ॥ ११/२५ ॥

स्वयं गुरुः स्वयं सिद्धः स्वयं शिष्यः स्वयं शिवः।

अज्ञानबन्धनाज्ञेयं ज्ञानं ज्ञेयं विमोचनम् ॥ ११/२६ ॥

सुगन्धं पूतिगन्धञ्च नित्यं गृह्णाति निष्कलः।

पद्मपत्रे यथा तोये तथा चैवं न लिप्यते ॥ ११/२७ ॥

तद्वन्न लिप्यते योगी पुण्यपापैः सुरेश्वरि।

ब्रह्महत्यादिकं पापम् अश्वमेधादिकं फलम् ॥ ११/२८ ॥

सर्वतीर्थाभिषेकञ्च म्लेच्छादिस्पर्शनेन तु।

एतैर्न गृह्यते योगी क्रियमाणैरपि स्फुटम् ॥ ११/२९ ॥

समत्वं वीतरागत्वमुदासीनां ख-वृत्तिनाम्।

निष्परिग्रहसन्तोषं द्वन्द्वयोगं न कारयेत् ॥ ११/३० ॥

कामक्रोधञ्च दम्भञ्च त्यजेल्लोभं शनैः शनैः।

न चरुन्निन्दयेद्भद्रे समयाद्वैतमेव च ॥ ११/३१ ॥

यस्मिन्निष्पद्यते पिण्डं रक्तशुक्रं पिबेत् सदा ।

सिद्धानां योगिनीनाञ्च इमञ्चरुम्प्रियं सदा ॥ ११/३२ ॥

शाकिनीनां प्रियं मांसं देवीनाञ्च प्रियं शृणु ।

वुकपुष्पं शिवाम्बुञ्च रक्तशुक्रं सुरान्तथा ॥ ११/३३ ॥

ब्रह्मनिष्ठीवनाद्यञ्च सौरभ्यं पुष्पकादिकम् ।

गन्धं धूपञ्च गेयञ्च ताम्बूलं रक्तवाससम् ॥ ११/३४ ॥

रक्षाद्यं रक्तवर्णञ्च सिद्धानां देवता प्रिये ।

विज्ञानोन्मीलनम्भद्रे भवत्येवं नान्यसेवनात् ॥ ११/३५ ॥

शाकरं यन्न कुर्वीत जन्महीनवरस्त्रियै ।

लौल्यार्थी चपला नित्यं कुलशास्त्रविडम्बकम् ॥ ११/३६ ॥

स्वशक्तिदर्शनाद्रक्तं स्पर्शनाल्लक्षणेन तु ।

कुलविज्ञानसंभोगात् षण्मासात् सिद्धिभाजनः ॥ ११/३७ ॥

आदिमन्त्रविनिर्मुक्तं शिवाम्बु ब्रह्ममेव च ।

प्राशयेत् तत् सदा कालं योगिनीमेलको भवेत् ॥ ११/३८ ॥

पादप्रक्षालनन्तेन नित्यं तत् तथैव च ।

मुखप्रक्षालनं नित्यं ब्रह्मणोर्द्धगतम्प्रिये ॥ ११/३९ ॥

कुण्डगोलोद्भवन्नैव तिलकं कारयेत् सदा ।

अशीतिं नाशयेद्वातान् कुष्ठव्याधिन्तु नाशयेत् ॥ ११/४० ॥

मुच्यते सर्वरोगैश्च यथा सर्पस्य कञ्चुकम् ।

उदयार्कसमस्तेजन्नित्यं वै योगिनीप्रियम् ॥ ११/४१ ॥

त्रैलोक्यं वश्यतां याति ब्रह्मादयो दिवौकसः ।

चरुकाद्वैतमाचारं मन्त्रजैः (?) सह भोजनम् ॥ ११/४२ ॥

सर्वं समाचरेद् देवि इच्छाशक्रेरधिष्ठितम् ।

इच्छां विना न कुर्यात्तु बलात्कारेण तच्चरुम् ।

चरुकाद्वैतमाचारं कथितं ज्ञाननिर्णयम् ॥ ११/४३ ॥

इति ज्ञाननिर्णितियोगिणीमहाकौलम्महच्छ्रीमच्छम्नपादावतारिते

चन्द्रद्वीपविनिर्गते एकादशः पटलः ॥ ११/११ ॥

द्वादशः पटलः

देव्युवाच

रोमाञ्चकञ्चुका देवि हृष्टसन्तुष्टचेतसः ।

भक्ष्याणान्तु समुत्पन्नं पुनः पृच्छामि भैरव ॥ १२/१ ॥

अद्याहं कुलसमयमद्याहं लक्षणान्वितम् ।

साम्प्रतं श्रोतुमिच्छामि पात्राणां चर्यलक्षणम् ॥ १२/२ ॥

भैरव उवाच

शृणु त्वं वीरचामुण्डे पात्राणां चर्यलक्षणम्।

प्रथमं बालरूपेण द्वितीयम् उन्मत्तकाकृतिम्॥ १२/३॥

तृतीयं राजरूपेण चतुर्थं कश्मलं प्रिये।

स्वातन्त्रं पञ्चमं देवि षष्ठञ्च वीरनायकम्॥ १२/४॥

गन्धर्वसप्तमन्नाम नग्नं चैवाष्टकं प्रिये।

त्रिदण्डञ्चैव देवेशस्तथान्यं वेदविक्रयम्॥ १२/५॥

यां यान्तु कुरुते इच्छां तां ताञ्चैव व्रतं प्रिये।

अकुलञ्च कुलं ज्ञात्वा कुलं देव्या सुभामिनि॥ १२/६॥

भैरवं पूजितव्यञ्च कुलैः सिद्धिसमन्वितम्।

स्वगुरुं पुजयेन्नित्यं त्रिष्कालं भावितात्मनः॥ १२/७॥

मनसा कर्मणा वाचा गुरुञ्चैव स्वकं न तु।

निवेदयेत् प्रयत्नेन भुक्तिमुक्तिजिगीषया॥ १२/८॥

गुरुकौलागमे भक्ति अद्वैताचारभावितः।

ईप्सितं तु व्रतं कुर्यादद्वैतेन समन्वितम्॥ १२/९॥

देव्युवाच

चर्याया लक्षणं देव प्रसादादवधारितम्।

पुनः पृच्छामि देवेश पात्राणां लक्षणं शुभम्॥ १२/१०॥

भैरव उवाच

पात्राणां निर्णयं देवि शृणुष्वेकाग्रमानसः।

मृन्मयं कूर्मजं देवि कांसजं ताम्रलोहजम्॥ १२/११॥

हेमजं रौप्यजं वापि शुक्तिजं शङ्खजं प्रिये।

कौलिकं तु वरारोहे तथान्यं काचसम्भवम्॥ १२/१२॥

शृङ्गोद्भवं सकाष्ठाद्यापाषाणसम्भवं प्रिये।

विश्वामित्रकपालञ्च सर्वपात्रोत्तमं प्रिये॥ १२/१३॥

तस्मिन् कृत्वा पिबेत् किञ्चिद्भक्ष्यञ्च भक्षयेद् यदि।

पतिञ्च पतितञ्च तद्भवेच्चकोत्तमः (?)॥ १२/१४॥

ज्ञातव्यं पात्रमेतद्विशालं नारिकेलकम्।

एतत् पात्रमलाभेन अन्यपात्रे पिबेत् सुराम्॥ १२/१५॥

पात्राणां लक्षणं देवि चर्यायाश्चैव लक्षणम्।

कथितं देवि सद्भावं किमन्यं पृच्छसेऽधुना॥ १२/१६॥

देव्युवाच

अद्य मे सफलं जाता देवत्वं स्वरनायिक।

तत्प्रसादेन देवेश ज्ञातव्यं ज्ञाननिर्णयम्॥ १२/१७॥

इति ज्ञाननिर्णये श्रीयोगिनीकौलम्महच्छ्रीमछघ्नपादावतारिते
चर्यापात्रलक्षणो द्वादशः पटलः ॥ १२/१२ ॥

त्रयोदशः पटलः

भैरव उवाच

मोक्षप्रत्ययसंवित्ति शृणु त्वं वीरनायिके ।
अधोर्द्ध्वञ्च लभेज्जीवो ज्ञात्वा तं मुक्तिभोजनम् ॥ १३/१ ॥
हंस हंस वदेन्नित्यं देहस्थावरजङ्गमे ।
श्रुत्वा तस्य पतिर्दिव्यं याति मोक्षवरं शुभम् ॥ १३/२ ॥
येन व्याप्तं च त्रैलोक्यं जगद् यस्मिन् व्यवस्थितम् ।
तं ज्ञात्वा गूढसद्भावं सर्वज्ञत्वम्प्रजायते ॥ १३/३ ॥
न तेन विना मुच्यन्ते व्यवहारान्न हि तद्विना ।
शुभाशुभं च संभोक्तं न तेन रहितं क्वचित् ॥ १३/४ ॥
न मनश्चित्तमालब्धं न पेयं धारणं प्रिये ।
उन्मनन्तु मनो यस्य तस्य मोक्षो भवन्तीह ॥ १३/५ ॥
द्वादशान्ते यदा पश्येत् स्फूरन्तं मणिमालिका ।
तस्य मोक्षो भवेद्यस्तु पापपुण्यैर्न लिप्यते ॥ १३/६ ॥

देवयाने महायाने यस्य चित्तं सदा प्रिये।

तस्य मोक्षो न सन्देहः पद्मपत्राम्बुबिन्दुवत्॥ १३/७॥

इ गुदे इक्षु मेढ्रे इयौ नाभौ॥ इमौ वक्रे॥

इवौ दक्षिणनासा(यां)॥ इलौ वामपुटे॥ इरौ दक्षिणतः॥

इडो दक्षिणकर्णः॥ इशौ वाम कर्णः॥

इह्रौ भ्रूमध्ये॥ सं तं ललाटे॥ सं अं वामकर्णे॥

सः यं दक्षिणकर्णः॥ सः पं वामचक्षुः॥

सः ऋ दक्षिणचक्षुः॥

वः तं वामनासिका॥ सः पुं दक्षिणनासिका॥

सः रूं वक्रम्॥ सः यं नाभि॥ सः षुँ मेढ्रः॥

सः लं गुदे॥

इदं न्यासक्रमन्देवि यस्य देहे प्रवर्तते।

तस्य मोक्षो न सन्देहः परं संवित्तिपूर्वकम्॥

पिण्डपाते यदा देवि कपालम्भिद्यते तदा॥ १३/८॥

इति ज्ञाननिर्णये योगिनीकौलमहच्छ्रीमच्छेन्द्रपादावतारिते

चन्द्रद्वीपविनिर्गते न्यासः त्रयोदशः पटलः॥ १३/१३॥

चतुर्दशः पटलः

देव्युवाच

मन्त्रजालविनिर्मुक्तम्प्राणायामविवर्जितम्।

चक्रध्यानविनिर्मुक्तं सद्यः सिद्धिकरं परम्॥ १४/१॥

निर्गमं देहमध्ये तु संशयच्छित्तिकारकम्।

शृणु त्वमद्भुतं देवि महदाश्चर्यकारकम्॥ १४/२॥

ब्रह्मा विष्णुः सुराः सर्वे क्लिश्यन्ते मन्दबुद्धयः।

गन्र्धवाः किन्नरा यक्षा असुराश्च तपोधनाः॥ १४/३॥

न तेषां कथितं देवि इमं कौलं परं प्रिये।

कुलभक्तिविहीने तु गुरुभक्तिविवर्जिते॥ १४/४॥

न देयं कौलिकं सारं शिष्यैर्मन्दपरीक्षिते।

वञ्चका कृपणा मूढा हीनानि सत्यनिन्दिते॥ १४/५॥

न दद्यादनुग्रहा यस्या देवाग्नियतिद्वेषकाः।

ये दद्यास्तु इमे शिष्या देशिको सिद्धिर्हीयते॥ १४/६॥

गुर्वाज्ञाकारिणो नित्यं युक्तायुक्तपरीक्षकः।

धर्मे च रतये नित्यं क्रोधये शून्यवर्जितः॥ १४/७॥

निश्चितनिस्पृहे गुप्ते निस्संशैकान्तवासिने।

देवाग्नियतियोगिन्या भक्त्या नित्यं प्रसन्नधीः॥ १४/८॥

वरयेच्छिष्य कुर्वीत दृढभक्तिपरायणः।

सुपरीक्ष्य सदा तस्य यो दद्याच्चिरजीवितम्॥ १४/९॥

द्वौभावसुप्रपञ्चात्मा कपटव्रतधारिणः।

योगिनीनां च विद्विष्टे गुर्वाज्ञालोपकारकः॥ १४/१० ॥

न देयं कौलिकं ज्ञानं कामिने क्रोधिने तथा।

न शिवदूषके देवि निन्दके कुलभैरवे॥ १४/११ ॥

सागररत्नसंघाते अमूल्यं भुवि विक्रयः।

सागरं रत्नसंपूर्णमक्रेतुं यस्य संचयः॥ १४/१२ ॥

न(द)द्यान्निन्दको देवि सप्ताहनि परेण हि।

इमं कौलं महादेवि सर्वकालस्य निर्णयम्॥ १४/१३ ॥

यस्य कौलागमे स्पर्द्धा ना ज्ञातुमीदृशं प्रिये।

सम्यग् ज्ञानवरं देवि सप्ता ॥ँनदापयेत्॥ १४/१४ ॥

यत् क्रमं पृछितं देवि तत् क्रमं शृणु भाविनि।

प्रथमं मूलचक्रन्तु यदान्यभ्यसते प्रिये॥ १४/१५ ॥

तदा तु प्रत्ययं देवि महदाश्चर्यकारकः।

प्रथमं कम्पमायाति धूननन्तु द्वितीयकम्॥ १४/१६ ॥

हस्तपादशिरःकम्पभाषाणि विविधानि च।

मन्त्रमुद्रगणं सर्वं दुर्दुरप्लुत एव सः॥ १४/१७ ॥

भूमित्यागकवित्वञ्च अतीतानागतं तथा।

कालस्य वञ्चनं देवि रूपस्य परिवर्तनम्॥ १४/१८ ॥

बलीपलितनाशञ्च खेचरत्वं हि सुन्दरि।

अष्टौ च सिद्धिसंप्राप्तिर्मूलकौलं वरानने॥ १४/१९ ॥

शृणु त्वमद्भुतं देवि आधारस्यैव निर्णयम्।

देव्याश्चक्रोर्द्ध्वं देवेशि आधारश्चतुरङ्गुलम्॥ १४/२०॥

तस्मिंश्चैव मनः कृत्वा शुचि भूत्वा तु पार्वति।

कम्पस्तोभस्तथा भाषा मुद्रामुत्प्लवनन्तथा॥ १४/२१॥

अश्रुतानि तु शास्त्राणि मन्त्रमुद्रागणं महत्।

भून्मागं (?) खेचरत्वञ्च वश्यमाकर्षणन्तथा॥ १४/२२॥

जरापहरणं देवि मृत्युकालस्य वञ्चनम्।

पातालं खेचरत्वञ्च अचिराद्भवति प्रिये॥ १४/२३॥

एतत्ते कथितं तुभ्यं आधारस्य (तु) लक्षणम्।

अथान्यं (सं)प्रवक्ष्यामि ब्रह्मग्रन्थिविनिर्णयम्॥ १४/२४॥

तस्मिंस्थाने मनः कृत्वा प्रहरैकेण भाविनि।

कम्पस्तोभादिकं भद्रे भाषा चैव त्वनेकधा॥ १४/२५॥

दूराश्रवणं पुरक्षोभम् अतीतानागतन्तथा।

कालस्य वञ्चनं देवि अमरञ्च कवित्वता॥ १४/२६॥

अणिमादिगुणैश्वर्यं सिद्धिश्च मानसी भवेत्।

एतत्ते कथितं देवि ब्रह्मग्रन्थिविनिर्णयम्॥ १४/२७॥

अतोर्द्ध्वं शृणु कल्याणि यथातथ्यं यशस्विनि।

ऊर्द्ध्वं रोमाः प्रवर्तन्ते यस्मिंस्थाने तु त्र्यम्बके॥ १४/२८॥

ज्वलज्ज्योतिसमाकारा किञ्चिद्विद्युसमप्रभः।

चिन्तयेत् सप्तरात्रन्तु प्रत्ययश्चोपजायते॥ १४/२९॥

कम्पस्तोभस्तथा भाषा मुद्रामुत्पतनन्तथा।
पुरप्रवेशमावेशं वश्यमाकर्षणादिकम्॥ १४/३० ॥
अतीतानागतञ्चैव दूराच्च दर्शनं तथा।
बलीपलितनाशञ्च रूपस्य परिवर्तनम्॥ १४/३१ ॥
खेचरीणां च सामान्यो भवेदभ्यासतो रतः।
एतत्ते कथितं देवि रोमकूपादि कौलिकम्॥ १४/३२ ॥
वृषणोत्थस्य कौलस्य कथितं तव सुव्रते।
शृणु त्वं वरदे नित्यं वीराणां वीरमातरे॥ १४/३३ ॥
वह्निकौलस्य योऽभ्यासं कथयामि च सांप्रतम्।
तस्मिंश्चित्तं स्थिरं कृत्वा क्षणार्द्धं यावत्तिष्ठति॥ १४/३४ ॥
स्तोभभाषादिमुद्राश्च भूमित्यागादिकारकम्।
वश्यमाकर्षणं देवि जरामरणनाशनम्॥ १४/३५ ॥
पुरप्रवेशमावेशं पुरक्षोभादिकारकम्।
उत्तिष्ठ खड्गपातालं ध्रुवं सिध्यति कौलिके॥ १४/३६ ॥
ईप्सितं कुरुते रूपं सतताभ्यासतत्परः।
पुनरन्यं प्रवक्ष्यामि कौलसद्भावमुत्तमम्॥ १४/३७ ॥
हृदिस्थन्तु मनः कृत्वा तन्निष्ठं यावत्तिष्ठति।
तावत् समाधिमायाति स्तोभावेशादिलक्षणम्॥ १४/३८ ॥
भ्रमते अङ्गमङ्गानि हस्तपादशिरादिकम्।
वर्णना स्फोटना वापि पुरक्षोभं वरप्रदे॥ १४/३९ ॥

गान्धर्वी किन्नरी वापि यक्षी पातालवासिनी।

असुरी चैव देवेशि विद्याधरी सुलोचने॥ १४/४०॥

क्षुभ्यते च न संदेहो ह्यभ्यासात्तद्गतस्य तु।

अतीतानागतञ्चैव दूराश्रवणमेव च॥ १४/४१॥

पुरप्रवेशमावेशं मृत्युनाशं महातपे।

योगिनीमेलकत्वञ्च अचिराद्भवति स्फुटम्॥ १४/४२॥

एतत्ते कुलसद्भावं हृदिस्थं प्रकटीकृतम्।

पुनराश्चर्यं वक्ष्यामि शृणु त्वं मकरध्वजे॥ १४/४३॥

चित्तं कृत्वा प्रयत्नेन कण्ठकूपोद्भवं प्रिये।

वदने शास्त्रसद्भावं स्वशक्त्या चोदितं प्रिये॥ १४/४४॥

अतीतानागतञ्चैव वर्तमानन्तथैव च।

न मृत्युर्भवते तस्य अक्षयो ह्यमरद्युतिः॥ १४/४५॥

जराव्याधिविनिर्मुक्तं बलीपलितवर्जितम्।

क्रुद्धन्तु चालयेद्देवि त्रैलोक्यसचराचरम्॥ १४/४६॥

न ब्रह्मा न च वा विष्णुर्न रुद्रा रुद्र एव च।

यादृशो भवते सिद्धिस्सतताभ्यास एव च॥ १४/४७॥

पदोत्तिष्ठमिदं कौलं नात्मानं ज्ञाननिर्णयम्।

एतज् ज्ञानं वरं ज्ञानं स्वातन्त्रसिद्धिमानसी॥ १४/४८॥

कथितं ज्ञानसद्भावं सुगोप्यं कण्ठसंस्थितम्।

गृहीतव्यं प्रयत्नेन कौलवे सिद्धिमिच्छता॥ १४/४९॥

अत ऊर्द्धेश्वरं गुह्यं सर्वव्याधिविमर्दकम्।

रसना ऊर्द्धकं कृत्वा मनस्तस्मिन्निवेशयेत्॥ १४/५० ॥

सतताभ्यासयेत्तत्तु मुहूर्तं नाशयेत् प्रिये।

क्षणेन मुच्यते रोगैर्व्याधिमृत्युजरादिभिः॥ १४/५१ ॥

नश्यते व्याधिसंघातं सिंहस्यैव यथा मृगाः।

क्षणेन नश्यते व्याधिः कटुके कुष्ठनाशनम्॥ १४/५२ ॥

सुस्वादेन महादेवि बलीपलितनाशनम्।

क्षीरस्वादेन मेधावि अमरो जायते नरः॥ १४/५३ ॥

घृतस्वादोपमनं देवि स्वातन्त्रन्तु यथा भवेत्।

चित्तं दद्यान्तु चक्रेण नासे दद्यात् विजृम्भिका॥ १४/५४ ॥

वाचा सिद्धिर्भवत्येव कामदेवोऽपरः प्रिये।

देवकन्या सुराणाञ्च यक्षविद्याधरो भवेत्॥ १४/५५ ॥

मृष्टादिखण्डकाद्याश्च लट्टुकशोकवर्तिका।

दिव्यकन्या अनेकाश्च आकृष्य भुञ्जते प्रिये॥ १४/५६ ॥

अणिमा लघिमा देवि ऊर्द्धरेतःप्रवर्तनम्।

ऊर्द्धरेता भवेद् योगी न योगी करत(?) प्रिये॥ १४/५७ ॥

निष्ठीवनं न कर्तव्यं प्रसादादपि भाषिणि।

दुर्लभन्तु इमं चक्रं नास्ति योगं इमम्परम्॥ १४/५८ ॥

अत ऊर्द्धम्परं गुह्यं योगिनीकौलमुत्तमम्।

अभ्यासे तु पदाभ्यस्त महदाश्चर्यकारकम्॥ १४/५९ ॥

अणिमादिगुणास्तस्मिन् दूरात् स दर्शनन्तथा ।

भवते नात्र संदेहः सतताभ्यासतत्पराः ॥ १४/६० ॥

मृतकोत्त्थापनं देवि परदेहप्रवेशनम् ।

प्रतिमाजल्पनन्तस्मि(न्) घटपाषाणस्फोटनम् ॥ १४/६१ ॥

पशुग्रहणमावेशं रूपादिपरिवर्तनम् ।

ब्रह्मविष्णुयमेन्द्राश्च वरुणो वायुरेव च ॥ १४/६२ ॥

स्वर्गाद्यासोमराजानं देहमध्ये वरानने ।

गन्धर्वाः किन्नरा यक्षा नागा विद्याधराः प्रिये ॥ १४/६३ ॥

विमानकोटिसन्तानाः सर्वाभरणभूषिताः ।

नक्षत्रतारकोपेतं ब्रह्माण्डपरिघट्टितम् ॥ १४/६४ ॥

पश्यते देहमध्यस्थं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।

दर्शयेत् स्वकपिण्डं सततध्यानादनेकधा ॥ १४/६५ ॥

सहस्रकोटिभिर्देवि कर्ता हर्ता स्वयं शिवः ।

अभ्यासाद् ददते सिद्धिरष्टधा शास्त्रचोदिता ॥ १४/६६ ॥

पूज्यते सर्वसिद्धैश्च मम तुल्यं वरानने ।

सतः कौलमिदं देयं न देयं यस्य कस्यचित् ॥ १४/६७ ॥

गुरुकौलागमे भक्त्या देव्याः पूजारतः सदा ।

एतदोद्धरणं गोप्यं नित्यन्तु कृतनिश्चयः ॥ १४/६८ ॥

अत ऊर्द्धं प्रवक्ष्यामि शृणु त्वं कुलभाविनि ।

ललाटवर्णराशिस्थं लक्षं कृत्य सुरार्चिते ॥ १४/६९ ॥

जल्पते बहुधा भाषा अङ्गस्य भ्रमणन्तथा।

नादं प्रमुञ्चते देवि महावेगञ्च जायते॥ १४/७० ॥

ईप्सितं कुरुते रूपम् अभ्यासन्तत्परं प्रिये।

अत ऊर्द्धम्परं गुह्यं शृणु त्वञ्च परापरम्॥ १४/७१ ॥

ललाटवर्णराशिस्थं ब्रह्मरन्ध्रस्य मध्यतः।

अभ्यासात् सततं वीर ग्रामधर्मञ्च वर्जयेत्॥ १४/७२ ॥

सृष्टिसंहारकर्तारो भवत्येव न संशयः।

जरा-मरणनिर्मुक्तो नित्यं वै योगिनी प्रिये॥ १४/७३ ॥

ज्ञातमात्रेण (तु) देवि अभ्यासे मोक्षतां गतिः।

अत ऊर्द्धं प्रवक्ष्यामि रन्ध्रकौशलस्य निर्णयम्॥ १४/७४ ॥

सततमभ्यसेत् प्राज्ञो व्याधिमृत्युर्न विद्यते।

मम तुल्यबलो भूत्वा संहारसृष्टिकारकम्॥ १४/७५ ॥

स्वतन्त्रं क्रीडते भद्रे इच्छारूपी भवेद् यथा।

विसर्जः कौलिकं देवि तस्मिंश्चित्ते स्थिरं सदा॥ १४/७६ ॥

शृण्वन्ति दूरतो देवि मननञ्चावलोकनम्।

कपालघट्टिका देवि निगूढं स्थापितं प्रिये॥ १४/७७ ॥

एतदभ्यसतो देवि निष्क्रमेद्बाह्यतः सदा।

मक्षिकामंक्षुणो वापि व्याघ्रसिंहगजस्तथा॥ १४/७८ ॥

एतत्तु धारयेद्रूपं मनसा चिन्तितं प्रिये।

एतत्तु कुलविज्ञानं पारम्पर्यक्रमागतम्॥ १४/७९ ॥

मोक्षदं सारमेवं (च) ज्ञातव्यं वरवर्णिनि ।

तस्मात् सर्वं प्रयत्नेन ज्ञातव्यं कुललक्षणम् ॥ १४/८० ॥

घटपूर्णमिव कुम्भं कुड्यस्तम्भा इवाचलः ।

व्यापयित्वा स्थितो देव तद्वद् योगीनसोपमः (?) ॥ १४/८१ ॥

अतोर्द्धं संप्रवक्ष्यामि शृणु त्वं वीरवन्दिते ।

न जलं चिन्तयेद्देवि न वह्निवायुराकाशम् ॥ १४/८२ ॥

नाधस्तादूर्द्धमध्यञ्च काष्ठवल्लोष्ट्रवत् प्रिये ।

मनस्य उन्मनीभावो यदा भवति सुन्दरि ॥ १४/८३ ॥

शून्यशून्यमनः कृत्वा निश्चिन्तो निश्चलस्थितिः ।

घटपटस्थितस्तम्भा ग्रामकूपादिकं बुधः ॥ १४/८४ ॥

भेरिशङ्खमृदङ्गैश्च वीणावंशनिनादितैः ।

ताड्यमानन्नबोध्यते जीवस्तल्लयतां गतः ॥ १४/८५ ॥

भूतं भव्यं भविष्यञ्च अतीतानागतन्तथा ।

अक्षयो ह्यमरो भूत्वा कामदेवद्वितीयकः ॥ १४/८६ ॥

भेद्यमानो न जाये ॥ ॥ । खाड्यमानस्तु पन्नगैः ।

पुष्पवृष्टिपतन्तस्य पारिजातस्य सुन्दरि ॥ १४/८७ ॥

पूज्यते नागकन्याभिर्यथाहं हाटकेश्वरः ।

पञ्चश्रोतात्मकञ्चैव मोक्षार्थं चोदितो मया ॥ १४/८८ ॥

त्वद्भक्त्या निर्णयं देवि चोदितं कुलगोचरे ।

अतोर्द्धं कथ्यते देवि मुद्रानिर्णयलक्षणम् ॥ १४/८९ ॥

अनामा हृदये लग्ना मुद्रेयमीश्वरीप्रदा।

द्वादशान्ते यदा पश्येत् स्फुरन्तम्मणिमालिका॥ १४/९०॥

अनामा नाम मुद्रेयं वपा (?) खेचरतां गतिम्।

मुद्रितम्पञ्चमुद्राभिश्चैतन्यसहितं प्रिये॥ १४/९१॥

भेदयेत्तत्कपाटञ्च अर्गलायासुसञ्चिता।

पश्चाद्द्वादशान्तं यावच्च् शक्त्याचारेण भेदयेत्॥ १४/९२॥

देव्या भूत्वा च योगिन्या मातृचक्रावशानुगा।

लीयन्ते खेचरीचक्रे क्षोभयेत् परमामृतम्॥ १४/९३॥

अमृतेन विना देवि अमरत्वं कथं प्रिये।

अमृतं कौलसद्भावं शृणु कामकलात्मकम्॥ १४/९४॥

सहजान्तस्थितन्तत्त्वं स्फुरन्तं मणिनिर्मलम्।

मुक्ताफलसमौपम्यं खद्योतसदृशं प्रिये॥ १४/९५॥

तारकोल्लाससंकाशं प्रस्फुरन्तन्नभःस्थले।

सित-रक्तञ्च कृष्णञ्च धूम्रपीतञ्च रूपकम्॥ १४/९६॥

॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥। सृष्टिसंहारकारकम्।

उत्पत्तिप्रलयञ्चैव अकुल-कुल-वर्जितम्॥ १४/९७॥

दिवायामभ्यसेद्देवि कृत्वादित्यन्तु दृष्टत (?)।

स्वरूपं दृश्यते॥ ॥। ॥ १४/९८॥

॥ ॥ ॥ ॥ ॥ कुर्यात् प्रयत्नेन पररूपं न संशयः।

क्षणेन कुरुते सृष्टिं संहारञ्च वरानने॥ १४/९९॥

निशायामभ्यसेद्देवि उतुङ्गशतमीश्वरम्।

कोदण्डद्वयमध्यस्त ॥ १४/१०० ॥

एतन्ते परमं देवि येन सृष्टं चराचरः।

अस्मिन्नेव लयं भद्रे समुद्रेण नदी यथा ॥ १४/१०१ ॥

अनेन दृढमात्रेण पुण्यपापैर्न लिप्यते।

पिण्डमष्टप्रकारेण अष्टधातुपदं प्रिये ॥ १४/१०२ ॥

अष्टधा रूपविज्ञानं रूपातीतन्तु चाष्टधा।

अष्टाष्टविधिना चक्रं ज्ञातव्यं सिद्धिकारणम्॥ १४/१०३ ॥

कुललक्षं कुलाधारं नलिकावज्रसम्भवा।

क्षोभञ्च कुलयानञ्च परतत्त्वविदः प्रिये ॥ १४/१०४ ॥

अनुज्ञा गुरुसिद्धानां देवतानाञ्च भासिनि।

क्षीराम्भे फेनसदृशं शीतलं चन्द्रसन्निभम्॥ १४/१०५ ॥

निमेषार्द्धं क्षोभमायाति वेला इव महोदधेः।

मुच्यते ज्वरकुष्ठाद्यैर्व्याधिसंघैर्महातपे ॥ १४/१०६ ॥

इति ज्ञाननिर्णये श्रीयोगिनीकौलम्महच्छ्रीमच्छघ्नपादावतारिते

चन्द्रद्वीपविनिर्गते ध्यानयोगमुद्रा चतुर्दशः पटलः ॥ १४/१४ ॥

पञ्चदशः पटलः

देव्युवाच

अद्य मे सफलं जन्म सफलं च तपस्तथा।

देवत्वमद्य सफलं त्वत्प्रसादेन भैरव॥ १५१॥

तपश्च सफलं मेऽद्य अद्य नेत्रोपशोभितम्।

अद्याहं कृतकल्याणि ज्ञानदृष्टिकृतक्षमा॥ १५२॥

अद्य मे भूषितो कर्णौ महाकौलं श्रुतं मया।

अद्य मे तेजपिण्डन्तु महाज्ञान हृदि स्थितम्॥ १५३॥

अद्य मे कुलशीलञ्च अद्य मे रूपलक्षणम्।

अद्य मे भ्रान्तिरुच्छिन्ना त्वत्प्रसादात् सुराधिप॥ १५४॥

विज्ञात्वा यन्मया पूर्वन्न पृच्छामि पदे पदे।

यत् किञ्चित् दृढसद्भावं तत् सर्वं कथयस्व मे॥ १५५॥

अनधीतं मया पूर्वन्तुष्टस्त्वं मे पुनः पुनः।

चारणाकोटयः सप्त तन्मध्ये पृच्छितं इमम्॥ १५६॥

पूर्वमेकार्णवे घोरे नष्टे स्थावरजङ्गमे।

केनोपायेन वीरेश आत्मानं रक्षितं त्वया।

तद्वस्तु कथ मे नाथ येनात्मरक्षितं त्वया॥ १५७॥

भैरव उवाच

साधु साधु महाज्ञानि न पृष्टं केनचिदिमे।

अत्यन्तगहनं देवि सुगोप्यं रक्षितं मया॥ १५/८ ॥

मुण्डाधारैस्थित॥। नखाग्रे पश्य भैरवि।

अस्थिचक्रस्य मध्यस्थं सर्वञ्चैव सुसंस्थितम्॥ १५/९॥

सहजन्तु इ(मं) चक्रं वज्रनामातिकोद्भवम्।

वज्रयोगप्रयोगेण वज्रवद्भवते नरः॥ १५/१०॥

सप्तकोटिसहस्राणि पत्राणां केसरान्वितम्।

अर्द्धकोटिगतं चक्रं सहस्रं कोटिजं शुभम्॥ १५/११॥

त्रिगुणं वेष्टितं कृत्वा क्षीराधारे व्यवस्थित(ः)।

क्षीरादा॥॥ विप्लकारैः पूरयेत्तत्तनुं सदा॥ १५/१२॥

कर्णिकायां परं तत्त्वं अतसीपुष्पसन्निभम्।

पञ्चारमष्टपत्रञ्च षोडशारं सुशोभनम्॥ १५/१३॥

षोडशारं त्रिलिख्यन्तु अन्तरालसमन्वितम्।

अष्टारपद्मपत्रञ्च षोडशैकं वरानने॥ १५/१४॥

बिन्दुच्छिन्दञ्च कर्तव्यं अन्तराल(म)पि सुव्रते।

षोडशाक्षरभिन्नन्तु आत्मा वै प्राणसंयुतः॥ १५/१५॥

षोडशाक्षरभेदन्तु ऊर्द्धं चक्रे व्यवस्थितम्।

चतुष्कलं पुनर्देवि अन्यथा न कदाचन॥ १५/१६॥

आधारे च आत्मचक्रं॥॥। तदूर्द्धगम्।

कर्णिकायात्मनः कृत्वा ऊर्द्धचक्रेण प्लावयेत्॥ १५/१७॥

गोक्षीरविप्लुतैर्देवि प्लाव्यमानं सविप्लषैः।

द्विरष्टवर्षमात्मानं अधश्चक्रे व्यवस्थितम्॥ १५/१८॥

किञ्चिद्दर्शितवर्णाभं प्राणचक्रं सुलोचने।

प्लावयेत् पूर्वचक्रेण पूर्णचन्द्रनिभं तनु॥ १५/१९॥

आनयेन्निश्चलीभूतम् अस्थिचक्रोद्भवेन तु।

प्लावयित्वा जगत् सर्वं त्रयचक्रं समभ्यसेत्॥ १५/२०॥

आरमूर्द्धिचक्रन्तु तदूर्द्धे चैव पार्वति।

नलीकायां गर्भलीनं संहारन्तु कुतः प्रिये॥ १५/२१॥

बलीपलितनिर्मुक्तो ज्वरव्याधिविवर्जितः।

अक्षयो ह्यमरो नित्यो यथार्हन्तिष्ट मानसः (?)॥ १५/२२॥

यदा भवति संहारस्तदा पश्येच्चराचरम्।

तदाऽसौ तिष्ठते भद्रे मया सार्द्धं स्वरेश्वरि॥ १५/२३॥

यथा मह्यं प्रभुत्वञ्च त्रैलोक्यं सचराचरम्।

तद्वत् स भवते देवि सृष्टिसंहारकारकः॥ १५/२४॥

समचित्तं सदा लीनमस्थिचक्रं सुलोचने।

वज्रवत्तिष्ठत देहं संहा(र)न्तु न हि प्रिये॥ १५/२५॥

मयाभ्यस्त(मि)दम्पूर्वन्तेनाहमक्षयं प्रिये।

एतन्मया कथितं शास्त्रे अप्रमेयमनेकधा॥ १५/२६॥

इमन्तु गूढसद्भावं मम गुह्यं प्रगोपितम्।

गोपनीयं प्रयत्नेन सप्तादूर्द्धन्न दापयेत्।

एतत्ते कुलसद्भावम्मया तुभ्यम्प्रकाशितम् ॥ १५/२७ ॥

इति ज्ञाननिर्णये योगिनीकौलम्महच्छीमच्छेन्द्रपादावातारिते
चन्द्रद्वीपविनिर्गते परमवज्रीकरणं नाम पञ्चदशः पटलः ॥ १५/१५ ॥

षोडशः पटलः

देव्युवाच

योगिनीसिद्धसम्पन्नं दिव्यरूपेण भैरव ।
क्रीडते मातृमध्यस्थं स्वशक्तिं बलगर्वितम् ॥ १६/१ ॥
दुर्विज्ञेयं सदा नाथ तुभ्यं चरितचेष्टितम् ।
न ज्ञातं सुरगान्धर्वैः किं पुनर्भुवि सम्भवैः ॥ १६/२ ॥
त्रिष्कालं तिष्ठसे क्षेत्रे क्षेत्रं वा पीठपर्वते ।
तन्ममाचक्ष्व देवेश भक्ष्याणां दिव्यदर्शनम् ।
अतिध्यानविदं देव कथ्यतान्तु मम प्रभो ॥ १६/३ ॥

भैरव उवाच

शोभनं पृच्छितं भद्रे अद्भुतसिद्धिगोचरे ।

कथ्यमानं विशालाक्षि किं भयं तेजभामिनि ॥ १६/४ ॥

श्रीशैलश्च महेन्द्रश्च पीठका(मा)ख्य विश्रुतम् ।

सन्निधानो ह्यहं भद्रे त्रिष्कालसिद्धिमेलकम् ॥ १६/५ ॥

प्रसन्ना ये नरा भद्रे व्योमध्यानैकचेतसः ।

दर्शनं च भवते तस्मिन् मया सार्द्धं कुलेश्वरि ॥ १६/६ ॥

श्रीशैले नाम संसिद्धिर्महेन्द्रे राजसं स्मृतम् ।

साध्विकं योगसंयुक्तो कामाख्यं पीठमास्मृतम् ॥ १६/७ ॥

तस्मिन् मेलापकं लब्ध्वा योगिनीसिद्धिः तत्समम् ।

मनसा चिन्तितं रूपं अणिमादिगुणाष्टकम् ॥ १६/८ ॥

किन्त्वया तेन विज्ञातं मह्यं चरितचेष्टितम् ।

कथितं मेलकं स्थानं श्रुतं ते चेष्टितं शुभम् ॥ १६/९ ॥

पञ्चस्त्रोतात्मकं चैव गोपितं सिद्धिगोचरम् ।

अभक्ष्या चोद्यते नाथे अन्यथा न कदाचन ॥ १६/१० ॥

अहन्तत् परमं तत्त्वं अहं स भैरवः प्रिये ।

अहं सदा शिव ईशः श्रीकण्ठो रुद्र एव च ॥ १६/११ ॥

अहं सो धीवरो देवी अहं वीरेश्वरः प्रिये ॥ १६/१२ ॥

अनन्तोऽहम् महादेवि रुद्रोऽहं सुरसुन्दरि ।

संहरामि जगत् सर्वं संहारोऽहं कुलेश्वरि ॥ १६/१३ ॥

चराचरः पुनः सृष्टिः स्त्रष्टारो धीरवन्दिते ।

विहितं त्रायते नित्यं विधाताऽहं कुलागमे ॥ १६/१४ ॥

विश्वन्तु निशृतं येन विश्वपादेति गीयते।

विचित्रचित्रतासृष्टिर्विचित्रेति च विश्रुते॥ १६/१५॥

स्वेच्छया क्रीडितोऽहं च करोति विकरोति च।

श्वेतपादस्त्वहं देवि श्वेतपादेति गीयते॥ १६/१६॥

चन्द्रकान्तसमं तेजं भृङ्गवर्णं सुनिर्मलम्।

ते चाहं विश्रुते लोके भृङ्गपादा वरप्रदे॥ १६/१७॥

असुराणां सुराणां च अहं भट्टारकः प्रिये।

भट्टपादेति विख्यातो नामेदं मम सुन्दरि॥ १६/१८॥

श्रियामुत्कण्ठिता ये तु श्रीकण्ठस्तेन उच्यते।

रूरूपादं महादेवि रूद्रोऽहं द्रावणप्रिये॥ १६/१९॥

(रूरूपादं महादेवि महीद्रावणं प्रिये।)

त्व-उमातु महादेवि तुभ्यं पतिरहं प्रिये॥ १६/२०॥

श्रियाया तु अहन्नाथ श्रीनाथ सिद्धगोचरे।

यदावतारितं ज्ञानं कामरूपी त्वया मया।

तदावतारितं तुभ्यं तत्त्वन्तु षणमुखस्य च॥ १६/२१॥

तेन कौलागमे देवि विज्ञानं प्रणवप्रिये।

अव्यक्तेन तु रूपेण चन्द्रद्वीपे अहं प्रिये॥

अव्यक्तं गोचरं तेन कुलजातं मम प्रिये॥ १६/२२॥

श्रीदेव्युवाच

किमर्थं चन्द्रद्वीपन्तु अहञ्चैव गतः प्रभो ।

किमर्थं ग्रसिता प्राज्ञा आदिषणमुखस्य च ॥ १६/२३ ॥

अन्योऽपि विस्मयो देवि कौलवे सिद्धिमिच्छता ।

सूचितं सूचनार्थाय वटुको नाम नामतः ॥

किं वर्णा ध्यानमात्रञ्च श्रोतुमिच्छामि भैरव ॥ १६/२४ ॥

भैरव उवाच

आत्मानं बुध्यसे नाथ यद्यपि प्रियभाषिणि ।

इच्छा त्वं ज्ञानशक्तिश्च क्रियाख्या चैव भासिनि ॥ १६/२५ ॥

गौरी चैव महाकाली लक्ष्मी चैव श्रिया तया ।

अहं त्वं च विशालाक्षि सर्वशास्त्रावतारकः ॥ १६/२६ ॥

अहं चैव त्वया सार्द्धं चन्द्रद्विपं गतो यदा ।

तदा वटुकरूपेण कार्तिकेय(ः) समागतः ॥ १६/२७ ॥

अज्ञानभावमासृत्य तदा शास्त्रं हि मूषितम् ।

शासितोऽहं मया देवि षणमुखा मृषकातृकम् ॥ १६/२८ ॥

गतोऽहं सागरं भद्रे ज्ञानदृष्ट्यावलोकनम् ।

मच्छमाकर्षयित्वा तु स्फोटितं चोदरं प्रिये ॥ १६/२९ ॥

गृहीत्वा मत्स्योदरस्थन्तु आनीतन्तु गृही पुनः ।

स्थापयित्वा ज्ञानपट्टं मम गूढं तु रक्षितम् ॥ १६/३० ॥

पुनः क्रुद्धमनेनैव मुषकेण सुरेश्वरि ।

गार्तं कृत्वा सुरुङ्गाय पुनः क्षिप्तं हि सागरे ॥ १६/३१ ॥

दशकोटिप्रमाणेन महामांसेन भक्षितम् ।

मम क्रोध समुत्पन्नं शक्तिजालो मया कृतः ॥ १६/३२ ॥

आकर्षितो मत्स्यस्तानां सागरह्रदात् ।

नागतोऽसौ महामत्स्या मम तुल्यबलः प्रिये ॥ १६/३३ ॥

ज्ञानतेजेन संभूतो दुर्जयस्त्रिदशैरपि ।

ब्रह्मत्वं हि तदा त्यक्तं चित्तवी (?) धीवरात्मकम् ॥ १६/३४ ॥

अहं सो धीवरो देवि कैवर्तत्वं मया कृतः ।

आकृष्य तु तदा मत्स्यं शक्तिजालसमीकृतः ॥ १६/३५ ॥

मत्स्योदरन्तु तत्स्फोटय गृहीतञ्च कुलागमे ।

वदन्ति विदिता लोके पशवो ज्ञानवर्जिताः ॥ १६/३६ ॥

देव्युवाच

ब्राह्मणोऽसि महापुण्ये कैवर्तत्वं मया कृतः ।

मत्स्याभिघातिनैर्विप्रा मत्स्यघ्नमेति विश्रुताः ।

कैवर्तत्वं कृतं यस्मात् कैवर्तो विप्रनायकः ॥ १६/३७ ॥

भैरव उवाच

अव्यक्तेन महात्मान कृतं पूर्वन्तु सुन्दरि।

अव्यक्तगोचरं तेन कुलैर्जातम्महाकृपे॥ १६/३८॥

तुभ्यश्चैव महादेवि षट्मुखस्य च पार्वति।

विघ्नेशो नन्दिनश्चैव महाकालस्य धीमते॥ १६/३९॥

जया च विजयादीनां हरसिद्धिमहाबलाः।

कालिका योगिनी ख्याता ऊर्द्धतो मत्समं प्रिये॥ १६/४०॥

अकुलं तु इमं भद्रे यत्राहं तिष्ठते तदा।

कल्पान्ते च युगान्ते च मम देहे तु तिष्ठति॥ १६/४१॥

जीवमध्ये यदा देवि पुष्पमूलफलान्विता।

पत्रशाखासमायुक्तो वृक्षस्य चोद्भवं यथा॥ १६/४२॥

तद्वदुत्पादितान्येऽपि मद्देहे कुलभामिनि।

अज्ञानभाविता देवि पशुत्वं सुरनायिके॥ १६/४३॥

गृहीत्वा तु पुनर्देवि महाज्ञानं प्रकीर्तितम्।

कथितं तव कामेषि षट्मुखस्य गणस्य च॥ १६/४४॥

नन्दी चैव महाकाले जया च विजयादिषु।

भट्टाद्या द्रोणकादीनां तथा च हरसिद्धिका॥ १६/४५॥

कथितं कालिका योगी सर्वकौलस्य निर्णयम्।

भक्तियुक्ता समत्वेन सर्वे शृण्वन्तु कौलिकम्॥ १६/४६॥

महाकौलात् सिद्धकौलं सिद्धकौलात् मसादरम् (?)।

चतुर्युगविभागेन अवतारश्चोदितं मया॥ १६/४७॥

ज्ञानदौ निर्णीतिः कौलं द्वितीये महत् संज्ञितम्।

तृतीये सिद्धामृतन्नाम कलौ मत्स्योदरं प्रिये॥ १६/४८॥

ये चास्मान्निर्गता देवि वर्णयिष्यामि तेऽखिलम्।

एतस्माद् योगिनीकौलान्नाम्ना ज्ञानस्य निर्णीतौ॥ १६/४९॥

क्षणेन योगिनी हृष्टा देव्या सह विनायकः।

चत्वारः कुलसिद्धस्तु पृच्छमाना सुभाविता॥ १६/५०॥

रोमाञ्चकञ्चुका सर्वे पुष्पहस्तास्तु बोधिता।

दण्डवत् पतिताः सर्वे आत्मवादं वद प्रभो॥

योगाभ्यासरतानान्तु रक्तपालस्य निर्णयम्॥ १६/५१॥

भैरव उवा(च)

अहं त्वं च विशालाक्षि चन्द्रद्वीपसमागतौ।

षट्मुखो वटुको जाताः क्षेत्रपालकुलागमे॥ १६/५२॥

सिध्यन्ते कोटयः सप्त तावत्त्वं क्षेत्रपालकः।

वटुकौ किं न विज्ञातौ सुतौ तुल्यं वरानने॥ १६/५३॥

सिद्धामृते तु यत् प्रोक्तं गुरोर्निन्दा विगर्हिता।

तथ्याच्च्यवनसंजातं पतितं च महोदधौ॥ १६/५४॥

कलौ युगे महाघोरे दिव्यैः संसाधितोऽपि सः।

तन्त्रे तन्त्रे समाख्यातं यथाशापन्तु प्राप्तवान् ॥ १६/५५ ॥

तस्य पूजाबलिः पिण्ड आसनं जाप्यमेव च ।

कथयामि समासेन यथा सिध्यति साधके ॥ १६/५६ ॥

ह्रीं वटुकाय कपिलजटाय पिङ्गलनेत्राय देवीपुत्राय मातृपुत्राय

इमां बलिं ममोपनीतां गृह्ण गृह्ण चुरु मुरू ह्रीं बलिमन्त्र चाल चाल

भक्ष २०० पिण्डमन्त्रः यत्किञ्चित् भक्षयेत् प्राज्ञः अग्रपिण्डन्तु दापयेत् ।

ह्रीं वटुकाय आसनमन्त्रः ह्यौं ह्यौह्यं महाभैरव पूजनमन्त्रः ।

ह्रीं ह्रां जाप्य –

यः सदा जाप्यमिदं कुर्यान्निर्विघ्नं सिद्धिभाजनः ।

गृह्ण गृह्णेति वक्तव्यं गृह्णाति वटुकस्तथा ॥ १६/५७ ॥

दण्डहस्तं सदाध्यायेज्जटिलं ब्रह्मतेजसम् ।

रक्ताम्बरपरीधानं वटुकं विघ्नमर्दकम् ॥ १६/५८ ॥

पूज्यमानं सदाकालं अग्रतो दण्डपाणिनम् ।

चतुरङ्गबलं जित्वा उष्टानां (?) स्तम्भकारकम् ॥ १६/५९ ॥

चौरराजकुलादीनां सर्पव्याघ्रगजादिषु ।

ह्रीं च वटुक ह्रीं

इमां विद्यां जाप्यं कुर्याद्भयोर्द्धिता ॥ १६/६० ॥

नाशयेत् सर्वदुष्टानां सिंहस्यैव यथा गजाः ।

यत्र तत्र क्षुद्रसिद्धिर्बहुधा शास्त्रचोदिता ॥ १६/६१ ॥

ह्रीं वटुक उक्तमन्त्रेण करोति सुरसुन्दरि ।

ह्रीं काराङ्कराद्येवं वटुकं सिद्धिपूजितम् ।

पूजयेत्तत् प्र(य)त्नेन कौलवे सिद्धिमिच्छता ॥ १६/६२ ॥

इति ज्ञाननिर्णये महायोगिनीकौले मत्स्येन्द्रपादावतारे चन्द्रद्वीपविनिर्गते

षोडशः पटलः ॥ १६/१६ ॥

सप्तदशः पटलः

देव्युवाच

यन्मया पृच्छितं देव आत्मवादस्य निर्णयम् ।

साम्प्रतं श्रोतुमिच्छामि निःसन्दिग्धं वद प्रभो ॥ १७/१ ॥

भैरव उवाच

साधु देवि महायोगे योगिनीसिद्धनायिके ।

गूढं गुह्यं सनाभिञ्च हृदि पद्ममधोमुखम् ॥ १७/२ ॥

समीरस्तोभकं चक्रं घण्टिकाग्रन्थिशीतलम् ।

नासाग्रं द्वादशान्तं च भ्रुवोर्मध्ये व्यवस्थितम् ॥ १७/३ ॥

ललाटं ब्रह्मरन्ध्रं च शिखरस्थं सुतेजसम् ।

एकादशविधं प्रोक्तं विज्ञानं देहमध्यतः ॥ १७/४ ॥

क्लिश्यन्ति मनुजात्यन्तमज्ञात्वा तु कुलागमम् ।

हृदिस्थसहजो देव स्मरणार्हः स उच्यते ॥ १७/५ ॥

हकारो निष्कलो नित्यः संकारं सकलं तथा ।

सृकारं तु सदा सृष्टि हीत्येवं संहरेज्जगत् ॥ १७/६ ॥

सकारं शुक्लपक्षन्तु हकारं कृष्णपक्षकम् ।

हकारमीक्षमित्याहुर्महार्थञ्च गतं परम् ॥ १७/७ ॥

न शिवेन विना शक्तिर्न शक्तिरहितः शिवः ।

अन्योऽन्यञ्च प्रवर्तन्ते अग्निधूमौ यथा प्रिये ॥ १७/८ ॥

न वृक्षरहिता च्छाया न छायारहितो द्रुमः ।

शक्त्याभ्यासरतो योगी कुले सामान्यतां व्रजेत् ॥ १७/९ ॥

स्थूलं सूक्ष्मं परो हंसौ ज्ञात्वा सर्वात्मकं प्रिये ।

पारम्पर्यान् मतं कौलं कर्णात् कर्णगतं परम् ॥ १७/१० ॥

अपरीक्ष्ये न दातव्यं दातव्यं सुपरीक्षिते ।

कृत्वा कुलाभिषेकन्तु प्रकाश्यं त्वात्मनिर्णयम् ॥ १७/११ ॥

पञ्चरत्नादि देवेशि ज्ञातव्या तु कुलागमे ।

प्रथमं पलितस्तम्भं द्वितीयम् ईप्सितं भवेत् ॥ १७/१२ ॥

तृतीयं कामरूपत्वं चतुर्थमक्षयांशकम् ।

पञ्चमन्तु महारत्नं जरामरणनाशनम् ॥ १७/१३ ॥

कृत्वा प्रेतासनं दिव्यं द्वादशान्तमनासृतम् ।

भूगृहे निर्जने देशे गन्धधूपसुधूपिते ॥ १७/१४ ॥

शुक्लाम्बरधरो भूत्वा श्रीखण्डेन विलेखयेत् ।

पर्यङ्कं विन्यसेत्तत्र सुसहायसमन्वितम् ॥ १७/१५ ॥

महाव्याप्तिमहानिद्रां न शृणोति न पश्यति ।

सुगन्धं पूतिगन्धं वा कर्पूरञ्चन्दनादिषु ॥ १७/१६ ॥

न गन्धं वेत्ति तत्त्वज्ञो महाव्याप्तिरियं प्रिये ।

अतीतानागतञ्चैव तस्मिन् कालस्य वञ्चनम् ॥ १७/१७ ॥

कर्ता हर्ता भवेद्देवि यदुक्तो वीरमातरे ।

अधोद्र्ध्वे रमते हंसो द्वादशान्ते लयं पुनः ॥ १७/१८ ॥

हृदिस्थं निश्चलीभूतं कुम्भमध्ये जलं यथा ।

मृणालतन्तुसदृशं भावाभावविवर्जितम् ॥ १७/१९ ॥

धारणाधेयरहितं सर्वज्ञं सर्वतोदितम् ।

स्वयं च चलते चोद्र्ध्वम् अधश्चैव स्वयम्पुनः ॥ १७/२० ॥

रमते सहजं तत्त्वं यथात्मनि तथापरे ।

ज्ञात्वा तत्त्वमिदन्देवि भवबन्धात्मकैः प्रिये ॥ १७/२१ ॥

कर्णञ्च हृदये कृत्वा ज्ञातव्यं हंसलक्षणम् ।

कण्ठस्थाने ध्वनिर्दिव्या सकला तु परापरा ॥ १७/२२ ॥

आपादतलमूर्द्धान्ता वामाख्यं कुण्डलाकृतिम् ।

गुदस्थमुदयन्तस्या द्वादशान्ते लयं पुनः ॥ १७/२३ ॥

एवं तु चरते हंसो देहमध्ये शुभाशुभे ।

निर्लेपं निष्कलं चोर्द्धे शुद्धमत्यन्तनिर्मलम् ॥ १७/२४ ॥

निगर्भं गर्भरूपेण नित्यानन्दैकलक्षणम् ।

ज्ञातव्यं गहनं नाथ महाज्ञानगतं परम् ॥ १७/२५ ॥

अप्रमेयमचिन्त्यं च निराभ्यासपदं स्मृतम् ।

निश्वासोच्छ्वाससंयुक्तं भावाभावसमन्वितम् ॥ १७/२६ ॥

स सञ्चरति भूतेषु भूतग्रामे चतुर्विधे ।

स आत्मा स स्वयं कर्ता पिण्डं चैव तु संहरेत् ॥ १७/२७ ॥

पिण्डस्यैवम्भवेद्दुःखं बन्धस्यैव सुखं परम् ।

विषादं हरिषश्चैव जरामरणमेव च ॥ १७/२८ ॥

क्षुधा तृषा च मोहश्च भयाद्या लोभमेव च ।

दारिद्रम्बन्धनादीनि पिण्डस्यैव सुलोचने ॥ १७/२९ ॥

न चासौ छिद्यते शस्त्रैर्ण चक्रेण बलीयसा ।

भिद्यन्ति नैव वज्रेण न च वह्नौ दहत्यसौ ॥ १७/३० ॥

न जलेन भवेन्मृत्युर्न जले जीवितं भवेत् ।

न मोहं न च वा रागं न मदं मत्सरं सदा ॥ १७/३१ ॥

न लोभं न च वा कोपं न चिन्ता बाध्यते ते (?) सः ।

इन्द्रियाणामिदं सर्वं भूतानां च वरप्रदे ॥ १७/३२ ॥

जीवेन च जगत् सृष्टं स जीवस्तत्त्वनायकः ।

स जीवः पुद्गलो हंसः स शिवो व्यापकः परः॥ १७/३३॥

स मनस्तूच्यते भद्रे व्यापकः स चराचरे।

आत्मानमात्मना ज्ञात्वा भुक्तिमुक्तिप्रदायका॥ १७/३४॥

प्रथमा तु गुरुर्ह्यात्मा आत्मानं बन्धयेत् पुनः।

बन्धस्तु मोचयेद् ह्यात्मा आत्मानमात्मनः प्रभुः॥ १७/३५॥

आत्मानमात्मना ज्ञात्वा आत्मा वै कायरूपिणः।

आत्मनश्चापरो देवि येन ज्ञातं स योगिराट्॥ १७/३६॥

स शिवः प्रोच्यते साक्षात् स मुक्तो मोचयेत् परः।

सुविशुद्धः सदा देवि पङ्कस्थमिव पङ्कजम्॥ १७/३७॥

मानुष्यं पिण्डमासृत्य स शिवः क्रीडते भुवि।

इत्थम्भूतं परात्मानं येन ज्ञातं सुभामिनि॥ १७/७८॥

तस्यैव स्पर्शमात्रेण भवेन्मुक्तिर्न संशयः।

तस्योच्छिष्टञ्च संप्राप्य भवेन्मुक्तिः परा प्रिये॥ १७/७९॥

तेनैव स्नापिते देवि अभ्यङ्गोद्वर्तनेन तु।

तेन पादेन संस्पृष्टे सोऽपि मोक्षस्य भाजनः॥ १७/४०॥

एकेन तेन भुक्तेन भुक्तं चैव चराचरम्।

सर्वतीर्थेषु यत् पुण्यं स्नात्वा लभति मानवः।

तं ज्ञेयन्तु मनः कृत्वा अधिकं तु फलं लभेत्॥ १७/४१॥

योगिनीसिद्धसद्भावं वीरमातृगणादिषु।

अस्योद्ध्वें तु निगद्यतु भुक्तिमुक्तिप्रदं शुभम्॥ १७/४२॥

इति ज्ञाननिर्णये महायोगिनीकौलेश्रीमछेन्द्रपादावतारिते
चन्द्रद्वीपविनिर्गते सप्तदशः पटलः ॥ १७/१७ ॥

अष्टादशः पटलः

देव्युवाच

सिद्धानां पूजनन्देव देहस्थप्रत्ययात्मकम् ।
कुलद्वीपविधानं च संक्षेपात् कथ्यतां प्रभो ॥
कौलवं सिद्धिकामस्य अभिषेकं कीदृग् भवेत् ॥ १८/१ ॥

भैरव उवाच

साधूक्तं कथयिष्यामि कुलं द्वीपस्य यो विधिः ।
यवाद्याशालिचूर्णन्तु पिष्टं वा गोधूमोद्भवम् ॥ १८/२ ॥
येन केनचित् पिष्टेन अनेन सुरसुन्दरि ।
ह्रींकारमन्त्रितं कृत्वा वर्तिद्वादशभूषितम् ॥ १८/३ ॥
क्षीरखण्डादिमृष्टन्तु घृतपूर्णसुशोभनम् ।
पार्श्वे तु पूजयेत् सिद्धां योगिनीं गुरुमेव च ॥ १८/४ ॥

एककालं द्विकालं वा त्रिष्कालं पूजयेत् क्रमम्।

अग्रतः पूजयेन्नित्यं भुञ्जमानाग्रनायिके ॥ १८/५ ॥

जपेद्बीजपरं श्रेष्ठं ह्रींकारं योगिनीप्रियम्।

योगिनीमेलकं ह्यस्मिन् भुक्तिमुक्तिप्रदः सदा ॥ १८/६ ॥

अथान्यं सम्प्रवक्ष्यामि अभिषेके कुलगोचरे।

रक्तेन पूरयेद् रक्तं शुक्रस्यैव समं प्रिये ॥ १८/७ ॥

कुण्डगोलोद्भवेनैव मधुं च घृतसंयुतम्।

रक्तं वामामृतं शुक्रं सुरया ब्रह्ममिश्रितम् ॥ १८/८ ॥

वुकपुष्पसमायुक्तकृष्णासवसमायुतम्।

मदिरानन्दचैतन्यं भक्तियुक्तो महात्मनः ॥ १८/९ ॥

उद्धरेद्रुममन्त्रन्तु गुरुसिद्धाञ्च देवताम्।

ह्रीं क्लीं म्हौ जुं सः -

शङ्खस्थं कलशस्थं वा पूजयित्वा यथाक्रमम् ॥ १८/१० ॥

दृढभक्तस्य देवेशे आचार्यो दृढलक्षवित्।

जयाद्याश्चौषधीः (?) सर्वा मोहनाद्या कृताञ्जली ॥ १८/११ ॥

पञ्चरत्नसमोपेतां रक्तयुक्तेन वेष्टितम्।

क्षारक्षीरदधिसर्पि मद्योदे इक्षुमेव च ॥ १८/१२ ॥

स्वादुदञ्चैव गर्भादं क्रमेण परिजल्पयेत्।

वक्रेकैकशो (?) मध्ये च अष्टौ तां कुलपर्वताम्॥ १८/१३॥

वेश्याकुमारिकाभिर्वा आचार्यः स्वकरैस्तथा।

उद्धृत्य शिरसि दद्यात् ततो योगी भविष्यति॥ १८/१४॥

पुनस्तु यजनं वक्ष्ये यथावत्तन्निबोध मे।

रक्तं युक्तं समादाय अथवा चित्रजं शुभम्॥ १८/१५॥

ततस्तुष्टजयेद्देवि क्रमञ्चैव समाहित।

अक्षतैः शालिजैर्दिव्यैरन्यैर्वापि सुशोभनैः॥ १८/१६॥

चतुःषष्टिक्रमयुतैः पूजयेत् तत्क्रमं शुभम्।

दिव्यसुगन्धपुष्पैस्तु विचित्राभरणभूषितः॥ १८/१७॥

आचार्यः सुमनो भूत्वा सर्वसंभारसंभृतः।

योगिनी सिद्धवीराणां भवते मातृवल्लभः॥ १८/१८॥

मद्यमांससमायुक्तं भक्ष्यभोज्ययुतं प्रिये।

घृतखण्डसमायुक्तं शर्करायान्तु पूरयेत्॥ १८/१९॥

कुम्भादि च वरं दद्यात् सहस्रं वा शतैरपि।

चतुःषष्टिञ्च सौदर्य अष्टौ च गुणापि वा॥ १८/२०॥

निवेद्य गुरवे मानं गुरुपूजा विशेषतः।

वीरपूजां ततः कृत्वा येन तुष्येत् पुनः पुनः॥ १८/२१॥

चरुकं भक्षयेत् प्राज्ञः समयहीने न दापयेत्।

वक्राद्वक्रं विशेषेण सिद्धिभाग्यः समान्यथा॥ १८/२२॥

सामान्ये कथितं कुम्भे शङ्खाद्वक्रं विशेषतः।

शास्त्रोक्तं तु क्रमं पूज्य सर्वसंभारसम्भृतः ।
अनेनारब्धमात्रेण सिद्धियोग्यो भवेत्ततः ॥ १८/२३ ॥

इति ज्ञाननिर्णये महाकौले चन्द्रद्वीपविनिर्गते अष्टादशः पटलः ॥ १८/१८ ॥

ऊनविंशतितमः पटलः

देव्युवाच

देहस्थं पङ्कजं देव सिद्धानां साम्प्रतं वद ।

भैरव उवाच

देव्याश्चक्रङ्गताः सर्वे दिव्यरूपसुतेजसः ॥ १९/१ ॥
षोडशाकृतयः सर्वे तन्मध्ये आत्मनम्प्रिये ।
मोक्षकामी सदा ध्यायेच्छुक्लाम्बरधरां शुभाम् ॥ १९/२ ॥
सदा यौवनकामिन्यः कृष्णवर्णन्तु चिन्तयेत् ।
रक्ताम्बरधरा ध्यायेद्रक्तगन्धानुलेपनः ॥ १९/३ ॥
रक्ताभी रक्तमालाभिर्भूषिता सिद्धयोगिनी ।
तन्मध्ये चात्म(ना) देवि तद्रूपं परिभावयेत् ॥ १९/४ ॥

श्रीनाथं योगिनीसार्द्धं वृन्दरूपञ्च भासिनि ।

शङ्खहस्ता सदा ध्यायेन्मनसा चिन्तितं लभेत् ॥ १९/५ ॥

इति ज्ञाननिर्णये महायोगिनीकौले श्रीमीनपादावतारिते एकोन्नविंशतितमः

पटलः ॥ १९/१९ ॥

विंशतितमः पटलः

भैरव उवाच

शृणु त्वमद्भुतन्देवि लोकेऽस्मिन् मोक्षप्रत्ययम् ।

गूदोद्ध्र्वम्पीडयेन्नाथ हृदि कण्ठादिकं प्रिये ॥ २०/१ ॥

उत्पातं निक्षिपेदूद्ध्र्वं प्राणायामेन सुन्दरि ।

कपालं भेदमयाति यान्ति जीवो निरञ्जनम् ॥ २०/२ ॥

स शिवो व्यापको भूत्वा कर्ता हर्ता वरानने ।

आत्मानं च परं वेत्ति वेत्तित्येवं चराचरम् ॥ २०/३ ॥

दुःखन्तस्य न विद्येत सुखन्तस्य निरन्तरम् ।

अथान्यं साम्प्रतं देवि प्रत्यक्षमभ्यसेत् सदा ॥ २०/४ ॥

शक्त्याचाररतो नित्यं जिताहारैकमैथुनः ।

अनामापीडयेदूद्ध्र्वं नाभिञ्च हृदयन्तथा ॥ २०/५ ॥

श्यामसूत्रगतं लक्षं शक्त्याग्रसंस्थितं मनः ।

आत्मप्राणसमं कृत्वा शक्त्याचाराग्रसंस्थितम् ॥ २०/६ ॥

पुष्पे वा प्रतिमाद्येषु अभ्यासाच्चलते प्रिये।

षट्मासादभ्यसेद्देवि निश्वासोच्चपराङ्मुखाः ॥ २०/७ ॥

अब्दमनेकं देवेशे देशदेशान्तरं व्रजेत्।

परदेहप्रवेशं स्यादभ्यासं वर्णितं तव ॥ २०/८ ॥

अथान्यं साम्प्रतं भद्रे शृणु त्वं वीरनायिके।

कुलाशक्तेस्तु वीरस्य तथान्यं शक्तिलक्षणम् ॥ २०/९ ॥

अनादिनिधना शक्तिरिच्छा नाम शिवोद्भवा।

व्योममालिनी सा भद्रे खेचरीति निगद्यते ॥ २०/१० ॥

वामाख्या कुण्डलीनाम ज्येष्ठा चैव मनोन्मनी।

रुद्रशक्तिस्तु विख्याता कामाख्या तु गीयते ॥ २०/११ ॥

अग्रणी चैव सर्वेषां लिख्यते न च पठ्यते।

मातृका शब्दरा(शिश्व) सर्वग्रन्थेषु कीर्त्यते ॥ २०/१२ ॥

देव्युवाच

ज्ञानशक्तिर्मया ज्ञाता क्रियाशक्तीर्वद प्रभो।

भैरव उवाच

कथयामि समासेन वीरस्य शक्तिलक्षणम् ॥ २०/१३ ॥

उत्तमा धवलाक्षी तु कुटिलाग्राग्रकेशिनी ।

दशनैश्च ज्योत्स्नाकारैः सुरूपा चारुभाषिणी ॥ २०/१४ ॥

कुले भक्तिसमायुक्ता गुरुदेव्या प्रपूजका ।

सुरूपा सुखभावा च सुभ्रुवा सुललाटका ॥ २०/१५ ॥

कुलागमेन भक्ति ॥ ॥ ॥ ॥ भयवर्जिता ।

सुशीला सुभगा देवि जनानन्दकरा शुभा ॥ २०/१६ ॥

दुर्लभा लोकमध्ये तु ज्ञानवर्तस्य रक्ष्यते ।

इत्थंभूता यदा शक्तिर्वीरस्य लक्षणं शृणु ॥ २०/१७ ॥

सुरूपः सुस्वभावश्च सत्यवादी च निश्चयी ।

गुरुकौलागमे भक्तः सुसन्धः क्रोधवर्जितः ॥ २०/१८ ॥

सुशूरः सुभगो नित्यं स्वदेहप्रत्ययान्वितः ।

ईदृशी भवते वीरा रुद्रशक्त्या ह्यधिष्ठिता ॥ २०/१९ ॥

यत्तेजः स महालिङ्गमुत्पत्तिस्थितिकारकः ।

बिन्दुरूपं तु तं ज्ञात्वा स्फुरज्ज्वालावलीपरः ॥ २०/२० ॥

अक्षोभ्यः सर्वशक्तीनां आत्मशक्त्यान्तरञ्जितः ।

सुज्ञात्वा देहजं शक्तिं तदा शक्तिपरिग्रहे ॥ २०/२१ ॥

ज्ञानविज्ञानसम्पन्नः अद्वैताचारभावितः ।

कुलकौलागमे भक्ति ईदृशं वीरलक्षणम् ॥ २०/२२ ॥

इति ज्ञाननिर्णये योगिनीकौले श्रीमीनपादावतारिते चन्द्रद्वीपविनिर्गते

विंशतितमः पटलः ॥ २०/२० ॥

एकविंशतितमः पटलः

देव्युवाच

संग्रहं वद मे नाथ वर्तनं कुलगोचरे।

भैरव उवाच

कथयामि न सन्देहो संग्रहाचारलक्षणम्॥ २१/१ ॥

पञ्चपञ्चाशिको देवि मतं वै योगलक्षणम्।

तस्य भेदोपभेदेन कौलशास्त्रे विनिर्णयम्॥ २१/२ ॥

कुलपञ्चाशिकामूलं तथा च कुलसागरम्।

कुलोघो हृदयश्चैव भैरवोद्यानकं तथा॥ २१/३ ॥

चन्द्रकौलश्च वेष्टिश्च(?) तथा वै ज्ञाननिर्णयम्।

अस्य मध्ये विनिष्क्रान्तं सम्बरनाम विश्रुतम्॥ २१/४ ॥

सृष्टिकौलं महाकौलं तिमिरं च तथापरम्।

सिद्धामृतं तु कौलं मातकौलं तथापरम्॥ २१/५ ॥

शक्तिभेदं तथा कौलं ऊर्मिकौलमनुत्तमम्।

चतुर्युगेषु देवेशि ज्ञानकौलस्य संगतिः॥ २१/६॥

सिद्धेश्वरं तथा चान्यं कौलं वै वज्रसम्भवम्।

मेघजाञ्च दूरतं तस्मिन् कौले विनिर्गतम्॥ २१/७॥

अङ्गस्पर्शानिश्वरं देवि वज्रदाद्यामृतं तथा।

पूर्णिमायां अमावस्यां अष्टमी च चतुर्दशी॥ २१/८॥

सजीवं मत्स्यमद्यञ्च मांसञ्चैव बलिं द(देत्)।

व्याख्या चैव तु कर्तव्या आचार्यः शङ्कवर्जितः॥ २१/९॥

न तिथिर्न च नक्षत्रं नोपवासं विधीयते।

यत्र तत्र स्थितो योगी ज्ञानमेवं समाश्रयेत्।

कथितं कौलसद्भावं नाम्ना ज्ञानस्य निर्णये॥ २१/१०॥

इति ज्ञाननिर्णये महायोगिनीकौले श्रीमीनपादावतारिते चन्द्रद्वीपविनिर्गते

एकविंशतितमः पटलः॥ २१/२१॥

द्वाविंशतितमः पटलः

देव्युवाच

प्रणम्य प्राञ्जलि॥॥॥ व अद्याहं तव वल्लभ।

अद्याहं कृतकृत्या तु हर सिद्धिविनायकः॥ २२/१॥

षड्मुखश्च महाकाल(ः) कालिका योगिनी तथा।

नन्दीशो भट्टका चैव द्रोणका च तथ॥ ॥ ॥ २२/२॥

विजया तु महाभागा षड्योगिन्यस्तु मातराः।

कौलामृते न संतृप्तो अहं सर्वेऽपि भैरव॥ २२/३॥

भैरव उवाच

यत् पुरा गोपितं भद्रे तत् सर्वं प्रकटीकृतः।

भूलोके देवतानाञ्च कथितव्यं कुलागमे॥ २२/४॥

सिद्धानाञ्च विशेषेण ख्यापनीयं कुलान्व(यम्)।

समयाचारसमोपेतं विज्ञानं द्वैतवासिनाम्॥ २२/५॥

गुप्तलिङ्गी सदा कालं गुरुपूजनतत्परः।

वत्सलः सर्वलोकानां सर्वजीवदयान्वितः॥ २२/६॥

भैरववचनं श्रुत्वासर्वरोमाञ्चकञ्चुकाः।

सन्तुष्टमनसः सर्वे दण्डवत् पति(ताः) भुवि॥

कुलभावपराः सर्वे कृतकृत्या सुराधिपाः॥ २२/७॥

अद्य मे गहनं नष्टं अज्ञानपटलाहतम्।

संसारतरुविस्तीर्णमद्य छिन्नं त्वया प्रभो॥ २२/८॥

पाशजालतमोघञ्च छिन्नाद्य दुःखसंशयः।

दशकोटिस्तथा चार्द्धं नाम्ना ज्ञानस्य निर्णयः॥ २२/९॥

तस्य मध्ये इमं नाथ सारभूतं समुद्धृतम्।

कामरूपे इमं शास्त्रं योगिनीनां गृहे गृहे॥ २२/१०॥

निग्रहानुग्रहश्चैव सिद्धिमेलापकं तथा।

कुर्वन्ति सततं देवि अस्य ज्ञानप्रसादतः॥ २२/११॥

चन्द्रद्वीपं महाशास्त्रं अवतीर्णं सुलोचने।

कामाख्ये गीयते नाथे महामत्स्योदरस्थितिः॥ २२/१२॥

इति ज्ञाननिर्णये महायोगिनीकौले श्रीमत्स्येन्द्रपादावतारिते

चन्द्रद्वीपविनिर्गते द्वाविंशतितमः पटलः॥ २२/२२॥

त्रयोविंशतितमः पटलः

देव्युवाच

कौलवे योगिनी देव सञ्चरन्ति कथं भुवि।

तन्ममाचक्ष्व देवेश भक्त्या जानन्ति भूतले॥ २३/१॥

भैरव उवाच

मर्त्येऽस्मिन् देवतानान्तु सञ्चारं शृणु भामिनि ।

कपोतिका तथा गृध्री हंसी चैव नखी तथा ॥ २३/२ ॥

खञ्जः ॥ ॥ ॥ भाषी तु कोकाभाषी तु सुन्दरि ।

उलुकी पेचकी वा तु सररी वा गूली तथा ॥ २३/३ ॥

शृगाली अजा महिषी (उष्ट्री) मार्जारनकुली तथा ।

व्याघ्री हस्ती मयूरी च कुकुटी न ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ । ॥ २३/४ ॥

अन्यानि यानि रूपाणि संस्थितानि महीतले ।

तानि रूपाणि संगृह्य योगिन्यः क्रीडन्ते भुवि ॥ २३/५ ॥

निपतन्ति यदा भद्रे अभक्ष्येषु कुलाधिपे ।

तद्रूपं कथ्यन्ते ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ । युक्तावधारयेत् ॥ २३/६ ॥

हयश्च नखरः सर्प चित्रिकोत्मानसस्तथा ।

वृश्चिकोध्यन्तरश्वानो मूषको दर्दुरः प्रिये ॥ २३/७ ॥

ग्रहभूतस्वरूपेण ज्वालाग्निशास्त्रसङ्कटैः ।

वेद ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥व्याधिराजानश्चैव तस्कराः ॥ २३/८ ॥

विद्युत्तुङ्गो तथा गण्ड व्याघ्रसिंहगजस्तथा ।

अनेकाकाररूपेण भयं नानाविधं विदुः ॥ २३/९ ॥

चतुःषष्टिश्च योगिन्यो ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ।प्यन्ति साधके ।

एवं रूपं समासृत्य क्षिप्रं गृह्णन्ति तं पशुम् ॥ २३/१० ॥

कोपन्तु नैव कर्तव्यं भाषमाणं सुराधिपे ।

कुमारिका स्त्रियो वापि भाषमाणे कदाचन ॥ २३/११ ॥

यथा शक्त्या सदा कालं स्त्री चैव व्रतमास्थितम्।

पूजनीया प्रयत्नेन कुमार्यश्च कुलाश्रितैः॥ २३/१२॥

पुन्नागं नागचंपाद्यैर्मुचुकुन्दैश्च पाटलैः।

पारिजातोद्भवेद्दिव्यैर्दाडिमैः कुसुमोज्ज्वलैः॥ २३/१३॥

बन्धुकः कुसुमोद्भूतैश्चम्पकः कुसुमोज्ज्वलैः।

जात्युत्पलकदम्बैश्च कर्णिकारैः सिंहकेशरैः॥ २३/१४॥

अम्भोरूहैस्तथा पुष्पैः शुभैः शालाविभूषितैः।

रक्ताम्बरधरां ध्यायेद्रक्तगन्धानुलेपिताम्॥ २३/१५॥

आत्मानं योगिनीसिद्धे रत्नमाला विभूषिताम्।

ध्यायेत्तां सततं वीरां बहिः पूजां विवर्जयेत्।

पूजनं कथितं भद्रे भुक्तिमुक्तिप्रसाधकम्॥ २३/१६॥

इति ज्ञाननिर्णये महायोगिनीकौले श्रीमत्स्येन्द्रपादावतारिते

चन्द्रद्वीपविनिर्गते त्रयोविंशतितमः पटलः॥ २३/२३॥

चतुर्विंशतितमः पटलः

देव्युवाच

सफलम(द्य) मे नाथ कारुण्यं तव भैरव।

असुराणां सुराणाञ्च प्रभुत्वमद्य मे प्रभो ॥ २४/१ ॥

महाकौलं महाज्ञानं कुलकौलस्य निर्णयम् ।

भ्रान्तिसंसारगहनमज्ञानपटल(न्त)मः ॥ २४/२ ॥

संसारपाशजालञ्च अद्य? निर्णाशितं त्वया ।

अद्यमापादिता मुक्तिः स्वतन्त्रा भुवि दुर्लभा ।

पुनः कथय कौलेश देहस्थं सिद्धपूजनम् ॥ २४/३ ॥

भैरव उवाच

॥ ॥ ॥ ॥षन्दिग्धं कथयिष्यामि कौलेऽस्मिन् पूजनं शृणु ।

कुलसिद्धाश्च योगिन्यो रुद्राश्चैव कुलाधिपे ॥ २४/४ ॥

देव्याश्चक्रगताः सर्वे हृदि मध्ये शिरेऽपि वा ।

बहिस्थं पूजये ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥पूजाविधि प्रिये ॥ २४/५ ॥

सुगन्धकुन्दकेतक्या मालिकाजातिकोत्पलैः ।

चम्पकैः किङ्करातैश्च नीलोत्पलसुगन्धिभिः ॥ २४/६ ॥

पुष्पैर्नानाविधैश्चैव शतपत्रैश्च ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ।

तरुजातन्तश्च रादेया (?) द्रव्या(पि) मधुमिश्रिताम् ॥ २४/७ ॥

मांसम्पलम्बलिर्देया ताम्बूलं चन्द्रसंयुतम् ।

धूपचन्दनसौरभ्यं अगुरुं मृगनाभिकम् ॥ २४/८ ॥

रक्तपुष्पैर्विशेषेण सुगन्ध (धूपदीपितम्) ।

उग्राणि यानि पुष्पाणि गन्धहीनं न दापयेत् ॥ २४/९ ॥

बहिस्थं पूजनं प्रोक्तं अध्यात्मं शृणु साम्प्रतम् ।

रक्ताम्बरधराः सर्वे रक्तगन्धानुलेपनाः ॥ २४/१० ॥

षोडशाकृतयः स ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ । विभूषिताः ।

प्रसन्नवदनाश्चैव पिबन्त्यो मदिरासवम् ॥ २४/११ ॥

इच्छारूपधराः सर्वे जरामरणवर्जिताः ।

सृष्टिप्रवर्तकाः सर्वे वरदानैकतत्पराः ॥

इ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ड़ाध्यायेदचिरान्तत्समो भवेत् ॥ २४/१२ ॥

इति ज्ञाननिर्णये महायोगिनीकौलश्रीमत्स्येन्द्रपादावतारिते

चन्द्रद्वीपविनिर्गते चतुर्विंशतितमः पटलः ॥ २४/२४ ॥

गुह्यपदधरं प्रोक्तं दशकोटिस्तु निर्णयः ।

सिद्धानां योगिनीनां च हृदयं पर(म)दुर्लभम् ॥ २५/१ ॥

गुह्याद् गुह्यतरं नाथे सारात् सारतरं परम् ।

सम्यगेतन्मया भद्रे अप्रकाश्यं प्रकाशितम् ॥ २५/२ ॥

महाकौल महादेवि शतैर्दशभिः सम्मितम् ।

ज्ञानस्य निर्णये सारं नाम्ना साहस्त्रिकं मतम् ॥ २५/३ ॥

इति महाकौले ज्ञाननिर्णये सारं श्रीमत्स्येन्द्रपादावता(रिते समाप्तं ?)

****

वाराहीतन्त्रे -

तारं वाणीं ततो लज्जां वह्निजायां ततः परम्।
पुनस्तारञ्च वाराही चण्डीमन्त्रः समीरितः॥ ७५॥

इति श्रीमज्ज्ञानानन्दपरमहंसविरचिते कौलावलीनिर्णये विंशोल्लासः॥ २०॥

एकविंश उल्लासः

अवधूताश्रमनिरूपणम्

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि अवधूतक्रमं शृणु।
चतुर्थाश्रमिणां मध्ये अवधूताश्रमो महान्॥ १॥

केवलं कुलयोगेन तस्य मोक्षः प्रजायते।
यदि न स्यात्तदा चैव शृणु यत् कथयामि ते॥ २॥

ज्ञान भावे च सम्पन्ने सम्प्राथ्यं निजकौलिकीम्।
तदाज्ञया विमुक्तः स्यात्तां सम्पूज्य कुलान्तरे॥ ३॥

कुण्डलीशक्तिविवरे तदा योगं समभ्यसेत्।

निर्द्वन्द्वो निरहङ्कारः शुद्धनाडीजितेन्द्रियः ॥ ४ ॥

मृद्वासने समासीनः षट्कसंयमने रतः ।

बद्धपद्मासनो योगी योगं युञ्जीत यत्नतः ॥ ५ ॥

ऊर्वोरुपरि वीरेन्द्रः कृत्वा पादतले उभे ।

p. 531)

अङ्गुष्ठौ तु निबध्नीयाद्धस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण तु ॥ ६ ॥

पद्मासनं भवेदेतत् सर्वेषामेव पूजितम् ।

मुलाधारचक्रकथनम्

गुदात्तु द्व्यङ्गुलादूर्ध्वमधोमेढ्रात्तु द्व्यङ्गुलम् ॥ ७ ॥

एकाङ्गुलं तु तन्मध्ये देहमध्यं प्रकीर्तितम् ।

कन्दमस्ति शरीरेऽस्मिन् पुण्यापुण्यविवर्जितः ॥ ८ ॥

तन्तुपञ्जरमध्यस्थो यथा भ्रमति सूतिकः ।

जीवस्तु मूलचक्रेऽस्मिन् अधःप्राणश्चरत्यसौ ॥ ९ ॥

प्राणारूढो भवेज्जीवः सर्वदेहेषु सर्वदा ।

तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः ॥ १० ॥

मेरुदण्डबहिः पार्श्वे चन्द्रसूर्यात्मिके शुभे ।

इडा च पिङ्गला चैव वामदक्षिणतः स्थिते ॥ ११ ॥

कन्दमध्याद् द्वयोर्मध्ये सुषुम्ना सुप्रतिष्ठिता ।

पृष्ठमध्यगता सा तु सह मूर्ध्नि व्यवस्थिता ॥ १२ ॥

p. 532)

ऋज्वीभूता तु वज्राख्या ज्वलन्ती विश्वधारिणी ।

मुक्तिमार्गे सदा गुप्ता मेढ्रमूर्ध्नि व्यवस्थिता ॥ १३ ॥

तस्याश्चान्तर्गता नाडी चित्राख्या योगिवल्लभा ।

पञ्चवर्णोज्ज्वला देवी पञ्चभूतनिवासिनी ॥ १४ ॥

पञ्चदेवैर्युता देवी पञ्चतत्त्वप्रकाशिनी ।

पूरयित्वा तु विचिन्ना चित्रा सा ग्रन्थिरूपिणी ॥ १५ ॥

तयैव ग्रथितं सर्वं मूलादि पद्मपञ्चकम् ।

तस्या मध्ये ब्रह्मनाडी मृणालतन्तुरूपिणी ॥ १६ ॥

ब्रह्मरन्ध्रं तु तन्मध्ये हरवक्त्रं सदाशिवम् ।
गुदमेढ्रान्तरे ग्रन्थि सुषुम्ना सन्धिरुत्तमा ॥ १७ ॥

आधारे च गुदस्थाने पङ्कजञ्च चतुर्दलम् ।
सुवर्णाभं वादिसान्तं हेमवर्णं सुशोभनम् ॥ १८ ॥

कलिकारूपकं पद्मं पृथिवीपद्मिनीयुतम् ।
तरुणारुणसङ्काशां शूलखट्वाङ्गकौ ततः ॥ १९ ॥

वामे खड्गं सुराकुम्भं दधानामुग्रदंष्ट्रिणीम् ।

p. 533)

दुग्धाभां संस्थितां ध्यायेत् डाकिनीं लोचनत्रयाम् ॥ २० ॥

कर्णिकायां स्थिता योनिः कामाख्या योगिवल्लभा ।
अपानाख्यं हि कन्दर्पं आधारे च त्रिकोणके ॥ २१ ॥

स्वयम्भूलिङ्गं तन्मध्ये पश्चिमाभिमुखं भवेत् ।
बन्धूकपुष्पसङ्काशं सूर्यकोटिसमप्रभम् ॥ २२ ॥

भ्रमन्तं योनिमध्ये च शिशिरं शशभृत्समम् ।
तस्योर्ध्वे कुण्डली शक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः ॥ २३ ॥

अष्टप्रकृतिरूपा सा नाभेस्तिर्यगधो गता ।
अधोवक्त्रस्थितादेवी ऊर्ध्वपुच्छाऽतिशोभना ॥ २४ ॥

अकारादिक्षकारान्ता कुण्डलीत्यभिधीयते ।
सा च विद्युल्लताकारा मृणालतन्तुसन्निभा ॥ २५ ॥

p. 534)

परिस्फुरति सर्वात्मा सुप्ताऽहिसदृशाकृतिः ।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनावृत्य तिष्ठति ॥ २६ ॥

येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारं निरामयम् ।
मुखेन श्वासं प्रविष्टा ब्रह्मरन्ध्रं मुखं तदा ॥ २७ ॥

मस्तके मणिवद्भिन्नस्वयम्भूलिङ्गवेष्टिनी ।
नान्यः पन्था द्वितीयोऽस्ति शरीरे परमस्य च ॥ २८ ॥

मूलाधारे कामरूपं पीठं परमदुर्लभम् ।
अधोवक्त्राणि पद्मानि मूलादीनि यथाक्रमात् ॥ २९ ॥

मूलाधारचक्रम् तध्यानफलम्

गुदात्तु द्व्यङ्गुलादूर्ध्वमधो मेढ्रात्तु द्व्यङ्गुलात्।
चतुरङ्गुलविस्तारं कन्दमूलं खगाण्डवत्॥ ३० ॥

एकाङ्गुलं तु तन्मध्ये चतुरस्रं त्रिकोणकम्।
एवं ध्यात्वा च वीरेन्द्रः स्थिरचित्तः स्थिरेन्द्रियः॥ ३१ ॥

आकुञ्चयेद् गुदमूलं चिबुकं हृदयोपरि।
नव द्वाराणि संयम्य कुक्षिमापूर्य वायुना॥ ३२ ॥

शब्दबीजेन तां देवीं दृढविभ्रामयेत्ततः।
वायुना भिद्य तद्वक्त्रं ऊर्ध्ववक्त्रं तु कारयेत्॥ ३३ ॥

p. 538)

उद्घाटयेत् कपाटं तु यथा कुञ्चिकया दृढम्।
उल्लासोज्ज्वलकारस्य शिखा याति समुज्ज्वला॥ ३४ ॥

मूलचक्रं ततो भित्त्वा ब्रह्मद्वारं विभेदयेत्।
ऊर्ध्वं भित्त्वा तु लिङ्गं वै इतरं पुष्करं ततः॥ ३५॥

मूलाधारे सन्ततं ध्यानयोगात्
स्तम्भक्षोभावुत्प्लुतिर्दार्दुरीव।
भूमित्यागः खेचरत्वं क्रमेण

नृणामेते षड्गुणाः सम्भवन्ति ॥ ३६ ॥

कान्तिप्रकर्षो वपुषोऽपि

नादव्यक्तिः प्रदीप्तिः जठरानलस्य ।

लघुत्वमङ्गस्य निजेन्द्रियाणां

पटुत्वमारोग्यमदीनता च ॥ ३७ ॥

स्वाधिष्ठानचक्रम् तद्ध्यानफलम्

मूलादिपद्मषट्कञ्च कलिकासदृशं शुभम् ।

स्वाधिष्ठानं महापद्मं लिङ्गमूले रसच्छदम् ॥ ३८ ॥

p. 536)

बन्धूक पुष्पसङ्काशं सदा जलसमन्वितम् ।

सिन्दूरप्रस्फुरद्वर्णैर्बादिलान्तैश्च मण्डितम् ॥ ३९ ॥

शूलं वज्रं तथा पद्मं डमरुं करपङ्कजैः ।

दधानां श्यामवर्णाञ्च राकिणीं त्रितयान्विताम् ॥ ४० ॥

रक्तधात्वेकनाथां तां चिन्तयेत्तत्र साधकः ।

विचिन्त्य स्थिरचित्तेन अधिष्ठानं प्रभेदयेत् ॥ ४१ ॥

इह वेत्ति निधाय मानसं स्वं

विविधश्चाश्रुतशास्त्रजालमुच्चैः ।

अवधूतजरामयः स मर्त्यः

सुचिरं जीवति वीतमृत्युभीतिः ॥ ४२ ॥

वपुषोऽशुचिता जनस्य शश्वत्

परमां शुद्धिमिहातनोति पुंसाम् ।

शरदम्बुजपेलवस्य देहे

दृढरुद्धो घनताञ्च शीतरश्मिः ॥ ४३ ॥

मणिपूरचक्रम् तद्ध्यानफलम्

तदूर्ध्वे सव्यदक्षाभ्यां चिन्तयेत् साधकोत्तमः ।

पद्ममध्ये स्थितं शुद्धं विद्युताभं त्रिकोणकम् ॥ ४४ ॥

p. 537)

तन्मध्ये चिन्तयेद् देवं ब्रह्माणं हंसवाहनम् ।

रक्तवर्णं चतुर्वक्त्रं दधतञ्च त्रिलोचनम् ॥ ४५ ॥

चिन्तयेत् कूर्चपद्मे च अक्षमालां कमण्डलुम् ।

ब्रह्मसत्त्वाक्षमोङ्कारं स्थितं नाभेरधः सदा ॥ ४६ ॥

नाभौ नीलनिभं पद्मं मणिपूरं दशास्त्रकम्।
विद्युत्पुञ्जस्फुरद्वर्णैर्डादिफान्तैश्च मण्डितम्॥ ४७॥

वह्निना संयुतं तत्र लाकिनीं मांसधातुगाम्।
मानसं संविभाव्याथ भेदयेत्तदनन्तरम्॥ ४८॥

स्थानेऽस्मिन्निहितात्मनः सुकृतिनः पातालसिद्धिं परां
खड्गस्याप्रतिमस्य साधनमपि स्यादीप्सितञ्च क्षितौ।
रूपं भूमिविसर्जनं परपुरे शक्तः प्रवेष्टुं जरा-
हानिश्चाखिलदुःखरोगशमनं कालस्य वा वञ्चनम्॥ ४९॥

अनाहतचक्रम् तद्ध्यानफलम्

अनाहतं हृदि ध्यायेत् पिङ्गाभं द्वादशच्छदम्।
द्रुतस्वर्णप्रभावर्णैः कादिठान्तैश्च मण्डितम्॥ ५०॥

p. 538)

मेदःस्थां काकिनीं तत्र पीताभां मत्तरूपिणीम्।
अभयं डमरुं शूलं पाशञ्च करपङ्कजैः॥ ५१॥

दधानां चारुरुपाञ्च नानाभरणभूषिताम्।
तत्रैवाङ्गुष्ठमात्मानं प्रदीपकलिकोपमम्॥ ५२॥

तत्र सञ्चिन्तयेद् देवं नारायणं निरञ्जनम् ।
शुद्धस्फटिकसङ्काशं वाणीलक्ष्मीविभूषितम् ॥ ५३ ॥

वैनतेयसमारूढं शङ्खचक्रगदाधरम् ।
पीताम्बरधरं शान्तं वनमालाविभूषितम् ॥ ५४ ॥

पूर्णशैलं महापीठं तत्रैव परिचिन्तयेत् ।
प्रभेदयेत्ततः पश्चात् साधकः स्थिरमानसः ॥ ५५ ॥

एतस्मिन् सततं निविष्टमनसः स्थाने विमानस्थिताः
क्षुभ्यन्त्यद्भुतरूपकान्तिकलिता दिव्यस्त्रियो योगिनः ।
ज्ञानञ्चाप्रतिमं त्रिकालविषयं क्षोभः पुरस्य श्रुति-
दूरादेव च दर्शनञ्च खगतिः स्याद्योगिनीमेलनम् ॥ ५६ ॥

विशुद्धचक्रम् तद्ध्यानफलम्

विशुद्धं षोडशारञ्च धूम्राभं कण्ठदेशके ।

p. 539)

तदन्ते व्योमबीजञ्च शुक्लं हैमगजस्थितम् ॥ ५७ ॥

तरुणारुणसङ्काशैः स्वरैश्च परिमण्डितम्।
आकाशसहितं पद्मं शाकिनीं परिचिन्तयेत्॥ ५८॥

अस्थिसंस्थां चतुर्बाहुं पञ्चवक्त्रां त्रिलोचनाम्।
पाशाङ्कुशौ पुस्तकञ्च ज्ञानमुद्राञ्च धारिणीम्॥ ५९॥

दंष्ट्रिणीमुग्ररूपाञ्च सदा मधुमदाकुलाम्।
अर्धनारीश्वरं देवं नानामणिविभूषितम्॥ ६०॥

चन्द्रचूडं त्रिनयनं वराभयकरं शुभम्।
ध्यात्वैवं चक्रराजं तु भेदयेत् साधकोत्तमः॥ ६१॥

स्थानेऽत्र संसक्तमना मनुष्य-
स्त्रिकालदर्शी विगताधिरोगः।
जित्वा जरामञ्जननीलकेशः
क्षितौ चिरं जीवति वीतमृत्युः॥ ६२॥

इह स्थाने चित्तं सततमवधायात्तपवनो
यदि क्रुद्धो योगी चलयति समस्तं त्रिभुवनम्।
न च ब्रह्मा विष्णुर्न च हरिहरो नैव खमणि-
स्तदीयं सामर्थ्यं शमयितुमलं नापि गणपः॥ ६३॥

p. 540)

आज्ञाचक्रम् तद्ध्यानफलम्

द्विदलं हक्षवर्णाभ्यां शुभाभ्यां परिमण्डितम् ।
विद्युत्कोटिप्रभं चक्रं भ्रुवोरूर्ध्वे मनोन्मनी ॥ ६४ ॥

बिन्दुयुक्तं सर्ववर्णं सर्वपद्मेषु चिन्तयेत् ।
योनिमध्ये स्थितं लिङ्गमितरं तरुणारुणम् ॥ ६५ ॥

जालन्धरं महापीठं हाकिनीं तत्र चिन्तयेत् ।
बिन्दुस्थां हाकिनीं शुक्रमेदोमज्जास्वरूपिणीम् ॥ ६६ ॥

अक्षमालाञ्च डमरुं कपालं पुस्तकं तथा ।
चापं मुद्रां दधानाञ्च शुक्लां नेत्रत्रयान्विताम् ॥ ६७ ॥

पद्ममध्येऽन्तरात्मानं प्रभारूपं हि कारणम् ।
ओङ्कारज्योतिषं कल्पप्रदीपाभं जगन्मयम् ॥ ६८ ॥

बालसूर्यप्रतीकाशां सदा बिन्दुमदक्षरम् ।
ततः सङ्क्षोभणद्वारे ध्यायेत् पद्मं सुशोभनम् ॥ ६९ ॥

p. 541)

ध्यानयोगनिरतस्य जायते पूर्वजन्मकृतकर्मणां स्मृतिः।
तत्र बिन्दुनिलये च दूरतो दर्शनश्रवणयोः समर्थता॥ ७०॥

इह सन्निहितस्वचित्तवृत्तिः प्रतिमायाः प्रतिजल्पनं करोति।
गमनञ्च पुरे परेषां पुनरुत्थानमप्यहो मृतस्य॥ ७१॥

निरालम्बां मुद्रां निजगुरुमुखेनैव विदिता-
मिह स्थाने कृत्वा स्थिरनिशितधीः साधकवरः।
सदाऽभ्यासात् पश्यत्यमरनिलयानन्तरखिला-
मुडुश्रेणीं विष्णोरपि पदमुडूनामपि पतिम्॥ ७२॥

भेदान्ते पद्मषट्कं च प्रस्फुटञ्चोर्ध्ववक्त्रकम्।
भवत्येव न सन्देहोऽप्यथ स्यात् साधकस्य च॥ ७३॥

तदूर्ध्वे चार्धचन्द्रे च भानुमण्डलमुत्तमम्।
मकारबिन्दुरूपेण तदूर्ध्वे चन्द्रमण्डलम्॥ ७४॥

बिन्दोरुपरि नादं हि शुद्धस्फटिकसन्निभम्।
चेतसा सम्प्रपश्यन्ति नादान्ते वृषभध्वजम्॥ ७५॥

शुद्धस्फटिकसङ्काशं कपर्दशशिभूषणम्।

p. 542)

व्याघ्राम्बरं तु तन्मध्ये अधोमुखं सशक्तिकम्॥ ७६ ॥

स्थाने ह्यत्र परीतञ्च वरदाभयपाणिकम्।
प्रसन्नवदनं शान्तं सर्पयज्ञोपवीतिनम्॥ ७७ ॥

नादोपरि महादेवं पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषा।
नान्यत् पश्यन्ति तत्रैव अन्तरं वृषभध्वजम्॥ ७८ ॥

पुरत्रयविनिष्क्रान्तो यत्र वायुः प्रलीयते।
तत्र संस्थं मनः कृत्वा तद्ध्यानमीश्वरं विदुः॥ ७९॥

विभाव्य साधकश्रेष्ठो भेदयेत्तदनन्तरम्।
शङ्खिनीनालं संस्थाप्यव्याप्तिशून्यं विभर्ति यः॥ ८० ॥

अमृतोदधिसङ्काशं शतयोजनविस्तृतम्।
चन्दनोद्यानमध्यस्थं वेदिकां तु तदन्तरे॥ ८१ ॥

तन्मध्ये स्फटिकं ध्यायेत् पश्चिमाननमम्बुजम्।
स्रवन्तममृतं नित्यं देव्यङ्के कमलान्तरे॥ ८२ ॥

p. 543)

सहस्रारपद्मवर्णनम्

सहस्रारपद्मं विसर्गादधस्ता-

दधो वक्त्रमारक्तकिञ्जल्कपुञ्जम्।

कुरङ्गेण हीनस्त्रिशृङ्गस्तदन्तः

स्फुरद्रश्मिजालः सुधांशुः समास्ते ॥ ८३ ॥

तदन्तर्गतं ब्रह्मरन्ध्रं सुसूक्ष्मं

यदाधारभूतं सुषुम्णाख्यनाड्याः।

तदेतत् पदं दिव्यमत्यन्तगुह्यं

सुरैरप्यगम्यं सुगोप्यं सुयत्नात्॥ ८४ ॥

एतत् कैलाससञ्ज्ञं परमकुलपदं बिन्दुरूपी स्वरूपी

यत्रास्ते देवेदवो भवभयतिमिरध्वंसहंसो महेशः।

भूतानामादिदेवो रसविसरसितां सन्ततामन्तरङ्गे

सौधीं धारां विमुञ्चन्नभिमत फलदो योगिनां योगगम्यः॥ ८५॥

स्थानस्यास्य ज्ञानमात्रेण पुंसां

संसारेऽस्मिन् सम्भवो नैव भूयः।

भूतग्रामं सन्ततन्यासयोगात्

कर्तुं हर्तुं स्याच्च शक्तिः समग्रा ॥ ८६ ॥

स्थाने परे हंसनिवासभूते-

कैलासनाम्नीह विधाय चेतः ।

p. 544)

योगी गतव्याधिरधःकृताधि-

वाधश्चिरं जीवति मृत्युमुक्तः ॥ ८७ ॥

स्थानेऽस्मिन् क्षयवृद्धिभावरहिता नित्योदिताऽधोमुखी

बालादित्यनिभप्रभाशशभृतः साऽस्ते कला षोडशी ।

बालाग्रस्य विखण्डितस्य शतधा चैकेन भागेन या

सूक्ष्मत्वात् सदृशी निरन्तरगलत्पीयूषधाराधरा ॥ ८८ ॥

एतस्याः परतः स्थिता भगवती भूताधिदेवाधिपा

निर्वाणाख्यकलाऽर्धचन्द्रकुटिला सा षोडशान्तर्गता ।

बालाग्रस्य सहस्रधा विगलितस्यैकेन भागेन या

सूक्ष्मत्वात् सदृशी त्रिलोकजननी या द्वादशार्कप्रभा ॥ ८९ ॥

निर्वाणाख्यकलापदोपरिगता निर्वाणशक्तिः परा

कोट्यादित्यसमप्रभाऽतिगहना बालाग्रभागस्य या ।

कोट्यंशेन समा समस्तजननी नित्योदिता निर्मला

नित्यानन्दपदस्थलोरुविगलद्धारा निरालम्बना ॥ ९० ॥

p. 545)

एतस्याः परतः परात्परतरं निर्वाणशक्तेः पदं
शैवं शाश्वतमप्रमेयममलं नित्योदितं निष्क्रियम् ।
तद्विष्णोः पदमित्युशन्ति सुधियः केचित् पदं ब्रह्मणः
केचिद्धंसपदं निरञ्जनपदं केचिन्निरालम्बनम् ॥ ९१ ॥

आरोप्याऽरोप्य शक्तिं कमलजनिलयादात्मना साकमेषु
स्थानेष्वाज्ञावसानेष्ववहितहृदयश्चिन्तयित्वा क्रमेण ।
नीत्वा नादावसानं खगत कुलमहापद्मसद्मान्तरस्थां
ध्यायेच्चैतन्यरूपामभिमतफलसम्प्राप्तये शक्तिमाद्याम् ॥ ९२ ॥

साक्षाल्लाक्षारसाभं गगनगतमहापद्मसद्मस्थहंसां
पीत्वा दिव्यामृतौघं पुनरपि च विशेन्मध्यदेशं कुलस्य ।
चक्रे चक्रे क्रमेणामृतरसविसरैस्तर्पयेत् देवतास्ता
हाकिन्याद्याः समस्ताः कमलजपदगां तर्पयेत् कुण्डलीं ताम् ॥ ९३ ॥

कुण्डली कुण्डलाकारानक्रीभूता निवासिनी ।
इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्नानिलयं व्रजेत् ॥ ९४ ॥

शक्तिं भैरवसंयोगादमृतानन्दमानयेत् ।

p. 546)

चन्द्रमार्गेण वायुञ्च पिबेत्तञ्च शनैः शनैः ॥ ९५ ॥

कुम्भकञ्च यथाशक्त्या सुर्यमार्गेण रेचयेत् ।
सूर्यमार्गे पिबेद्वायुं चन्द्रमार्गेण रेचयेत् ॥ ९६ ॥

शून्यञ्च प्रतिविम्बचन्द्रसदृशं सूक्ष्मातिसूक्ष्मं परं
सर्वं व्याप्य तमोमयं जगति सद्धामप्रकाशं परम् ।
दृश्यादृश्यविनाशभेदसकलं ज्योतिर्मयं सर्वतो
ध्यात्वा तच्च पदं तु साधकवरैः दूरीकृतश्चान्तकः ॥ ९७ ॥

एवमभ्यस्यमानस्य अहन्यहनि निश्चितम् ।
जरामरणदुःखाद्यैर्मुच्यते भवसागरात् ॥ ९८ ॥

योनिमुद्राबन्धफलकथनम्

चतुर्विधा तु या सृष्टिर्यस्यां योनौ प्रजायते ।
पुनः प्रलीयते यस्यां कालाग्न्यादिशिवान्तकम् ॥ ९९ ॥

योनिमुद्रा परा ह्येषा बन्धस्तस्याः प्रकीर्तितः ।
तस्यास्तु बन्धमात्रेण तन्नास्ति यन्न साधयेत् ॥ १०० ॥

p. 547)

अन्यथा जप्यते यस्तु अन्यथा कुरुते तु यः।
नासौ तत्फलपात्रञ्च सत्यं सत्यं न संशयः॥ १०१॥

छिन्ना बन्धाश्च ये मन्त्राःकीलिताः स्तम्भिताश्च ये।
दग्धाः सन्त्रासिता हीना मलिनाश्च तिरस्कृताः॥ १०२॥

भेदिता भ्रमसंयुक्ताः सुप्ता सम्मुर्च्छिताश्च ये।
वृद्धा बालास्तथा प्रौढास्तथा यौवनगर्विताः॥ १०३॥

अरिपक्षे स्थिता ये च निर्वीर्याः सत्त्ववर्जिताः।
अंशकेन विहीनाश्च खण्डशः शतधा कृताः॥ १०४॥

विधिनानेन संयुक्ताः प्रभवन्त्यचिरेण तु।
सिद्धिमोक्षप्रदाः सर्वे साधकेन नियोजिताः॥ १०५॥

यद्यदुच्चरते मन्त्री वर्णरूपं शुभाशुभं।
तत्तत् सिध्यत्यसन्देहो योनिमुद्रानिबन्धनात्॥ १०६॥

दीक्षयित्वा विधानेन अभिषिच्य सहस्रधा।
ततोऽधिकारी भवति तन्त्रेऽस्मिन् साधकोत्तमः॥ १०७॥

ब्रह्महत्यासहस्राणि त्रैलोक्यमपि घातयेत्।

नासौ लिप्यति पापेन योनिमुद्रानिबन्धनात्॥ १०८ ॥

p. 548)

तस्मादभ्यसनं नित्यं कर्तव्यं पुण्यकाङ्क्षिभिः।
अयासाज्जायते सिद्धिरभ्यासान्मोक्षमाप्नुयात्॥ १०९ ॥

सम्विर्त्तिं लभतेऽभ्यासात् योगोऽभ्यासात् प्रवर्तते।
मन्त्राणां सिद्धिरभ्यासादभ्यासाद्वायुसाधनम्॥ ११० ॥

कालवञ्चनमभ्यासात्तथा मृत्युञ्जयो भवेत्।
एतद्भेदं विजानाति स याति परमं पदम्॥ १११ ॥

तदष्टधा तु जीवोऽसौ बहिर्याति दिने दिने।
दिनेशाङ्गुलिमानेन तदर्धञ्चोपवासतः॥ ११२ ॥

त्रिगुणं रतिकाले च द्विगुणं भोजनाद् बहिः।
अत ऊर्ध्वं वहेद्वायुस्त्रिगुणं यदि दैवतम्॥ ११३ ॥

न्यूनं धत्ते ततः प्राणः शरीरं परिमुञ्चति।
शरीरसमतां नीत्वा न्यूनं वा साधकोत्तमः॥ ११४ ॥

कुम्भयित्वा अधोवायुं कुण्डलीमुखवर्त्मनि।

योजयित्वा ततो जीवं कुण्डल्या सहितं सुधीः ॥ ११५ ॥

गमागमं कारयित्वा सिद्धो भवति नापरः ।
पीयते खाद्यते यत्तु तत्सर्वं कुण्डलीमुखे ॥ ११६ ॥

हुत्वा सिद्धिमवाप्नोति न च बन्धेन बाध्यते ।

p. 549)

अवधूताचारकथनम्

भिक्षा कार्या न च स्वार्थं कुण्डल्याः प्रकृतेः पुनः ॥ ११७ ॥

रे मातर्देहि मे भिक्षां कुण्डलीं तर्पयाम्यहम् ।
अवधूताश्रमे स्थित्वा भैरवानन्दतत्परः ॥ ११८ ॥

भैरवोऽहं न चान्योऽस्मि न चान्यो मत्परः क्वचित् ।
तन्त्रमन्त्रार्चनं सर्वं मयि जातं न चान्यथा ॥ ११९ ॥

शिवोऽहं भैरवानन्दो मत्तोऽहं कुलनायकः ।
रक्तमाल्याम्बरधरो हेतुयुक्तः सदा भवेत् ॥ १२० ॥

एवं भिक्षां व्रजन् भिक्षुर्भैरवानन्दतत्परः ।

येन केनापि वेशेन येन केनाऽप्यलक्षितः ॥ १२१ ॥

यत्र कुत्राश्रमे तिष्ठन् कुलयोगीश्वरः सदा ।
उन्मत्तमुकजडवत् विरले लोकमध्यगे ॥ १२२ ॥

p. 550)

क्वचिच्छिष्टः क्वचिद्भ्रष्टः क्वचिद् भूतपिशाचवत् ।
नानावेशधरो योगी विचरेत्तु महीतले ॥ १२३ ॥

सर्वस्पर्शो यथा वायुर्यथाकाशश्च सर्वगः ।
सर्वभक्षो यथा वह्निस्तथा योगी सदा शुचिः ॥ १२४ ॥

तथा म्लेच्छगृहान्नादि योगीहस्तगतं शुचि ।
क्षीयते न च पापेन बध्यते न च जन्मना ॥ १२५ ॥

यद्वन्मन्त्रबलोपेतः क्रीडन् सर्पैर्न दंश्यते ।
तथा ज्ञानपरो योगी क्रीडन्निन्द्रियपन्नगैः ॥ १२६ ॥

पूजयन्ति महादेवीं कुलाङ्गकृष्टिमात्रतः ।
गन्धं पुष्पञ्च ताम्बुलं नैवेद्यं यत्र यद्भवेत् ॥ १२७ ॥

मनसा तत् समुत्सृज्य बाह्यतः कुलवारिणा ।

आत्मन्येव समायोज्य देवीरूपकुलेश्वरः ॥ १२८ ॥

p. 551)

न पूजा नापि तन्नाम न निष्ठा न व्रतादिकम् ।
पूर्णोऽहं भैरवश्चाहं नित्यानन्दोऽहमव्ययः ॥ १२९ ॥

निरञ्जनस्वरूपोऽहं निर्विकारो ह्यहं प्रभुः ।
सर्वशास्त्राभियुक्तोऽहं सर्वमन्त्रार्थपास्याः ॥ १३० ॥

अस्मत्परतरो देशो न जातो न जनिष्यति ।
आनन्दरूपवान् भूत्वा सर्वेषां प्रियकारक ॥ १३१ ॥

न योगी न भोगी न वात्मा न काङ्क्षी
न वीरो न धीरो न वा साधकेन्द्रः ।
सदानन्दपूर्णो धरण्यां विवेकी
चिराज्ज्ञातधूतो द्वितीयो महेशः ॥ १३२ ॥

श्रुतौ कुण्डलेऽसृग् गले मुण्डमाला
करे पानपात्रं मुखे हन्त हाला ।
परित्यक्तकर्मा लयन्यस्तधर्मा
विरक्तोऽवधूतो द्वितीयो महेशः ॥ १३३ ॥

p. 552)

वामे रामा रमणकुशला दक्षिणे पानपात्रं

मध्ये न्यस्तं मरिचसहितं शूकरस्योष्णमांसम्।

स्कन्धे वीणा ललितसुभगा सद्गुरूणां प्रपञ्चः

कौलो धर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥ १३४ ॥

इति श्रीमज्ज्ञानानन्दपरमहंसविरचिते कौलावलीनिर्णये एकविंशोल्लासः समाप्तः ॥ २१ ॥

अनेनाधिकारेण स्थूलध्यानमुक्तम्, भाविना तु सप्तमेन सूक्ष्ममुच्यते,
इति शिवम् ॥ ५० ॥

समस्तदुःखदलनं सर्वसंपत्प्रवर्तनम् ।

परनिर्वाणजननं नयनं शाङ्करं नुमः ॥ ॥

इति श्रीनेत्रतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचित-
नेत्रोद्योते साधनविधिः षष्ठोऽधिकारः ॥ ६ ॥

सप्तमोऽधिकारः

नेत्रोद्योतः

चक्राधारवियल्लक्ष्यग्रन्थिनाड्यादिसंकुलम् ।

स्वामृतैर्देहमासिञ्चत् स्मराम्यूर्ध्वेक्षणं विभोः ॥

अथ सूक्ष्मध्यानं निर्णेतुं भगवानुवाच

अतः परं प्रवक्ष्यामि ध्यानं सूक्ष्ममनुत्तमम्।

न विद्यते उत्तममन्यत् सूक्ष्मध्यानं यतः, परं त्वतोऽप्युत्तमं भविष्यति॥

तदुपक्रमते

ऋतुचक्रं स्वराधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्॥ ७-१॥

ग्रन्थिद्वादशसंयुक्तं शक्तित्रयसमन्वितम्।

धामत्रयपथाक्रान्तं नाडित्रयसमन्वितम्॥ ७-२॥

ज्ञात्वा शरीरं सुश्रोणि दशनाडिपथावृतम्।

द्वासप्तत्या सहस्रैस्तु सार्धकोटित्रयेण च॥ ७-३॥

नाडिवृन्दैः समाक्रान्तं मलिनं व्याधिभिर्वृतम्।

सूक्ष्मध्यानामृतेनैव परेणैवोदितेन तु ॥ ७-४ ॥

आप्यायं कुरुते योगी आत्मनो वा परस्य च ।

दिव्यदेहः स भवति सर्वव्याधिविवर्जितः ॥ ७-५ ॥

ॠतवः षट् जन्म-नाभि-हृत्-तालु-विन्दु-नादस्थानानि नाडिमायायोगभेदनदीप्तिशाण्ताख्यानि नाडिमायादिप्रसराश्रयत्वात् चक्राणि यत्र, स्वराः षोडश अङ्गुष्ठगुल्फ-जानु-मेढ्र-पायु-कन्द-नाडि-जठर-हृत-कूर्मनाडी-कण्ठ-तालु-भ्रूमध्य-ललाट-ब्रह्मरन्ध्रद्वादशान्ताख्या जीवस्याधारकत्वादाधारा यत्र, यदि वा सर्वसहत्वादस्य नयस्य कुलप्रक्रियया

मेढ्रस्याधः कुलो ज्ञेयो मध्ये तु विषसंज्ञितः ।

मूले तु शाक्तः कथितो बोधनादप्रवर्तकः ॥

अग्निसंज्ञस्ततश्चोर्ध्वमङ्गुलानां चतुष्टये ।

नाभ्यधः पवनाधारे नाभावेव घटाभिधः ॥

नाभिहृन्मध्यमार्गे तु सर्वकामाभिधो मतः।

सञ्जीवन्यभिधानाख्यो हृत्पद्मोदरमध्यगः॥

वक्षःस्थले स्थितः कूर्मो गले लोलाभिधः स्मृतः।

लम्भकस्य स्थितश्चोर्ध्वे सुधाधारः सुधात्मकः॥

तस्यैव मूलमाश्रित्य सौम्यः सोमकलावृतः।

भ्रूमध्ये गगनाभोगे विद्याकमलसंज्ञितः॥

रौद्रस्तालुतलाधारो रुद्रशक्त्या त्वधिष्ठितः।

चिन्तामण्यभिधानाख्यश्चतुष्पथनिवासि यत्॥

ब्रह्मरन्ध्रस्य मध्ये तु तुर्याधारस्तु मस्तके।

नाड्याधारः परः सूक्ष्मो घनव्याप्तिप्रबोधकः॥

इत्युक्ताः षोडशाधाराः ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ । ॥

इति । त्रीण्यन्तर्बहिरुभयरूपाणि लक्ष्याणि लक्षणीयानि यत्र ।

निरावरणरूपत्वात्

खमनन्तं तु जन्माख्यं । (७-२७)

इति वक्ष्यमाणानां जन्म-नाभि-हृद्-बिन्दु-नादरूपाणां व्योम्नां

पञ्चकं विद्यते यत्र,

जन्ममूले तु मायाख्यो । (७-२२)

इत्यभिधास्यमानाश्चैतन्यावृतिहेतुत्वाद् ग्रन्थयो माया-पाशव-ब्रह्म-

विष्णु-रुद्र-रिश्वरसदाशिव-इन्धिका-दीपिका-बैन्दव-नाद-शक्त्याख्या

ये पाशास्तैः संयुक्तम् । इच्छादिना शक्तित्रयेण

सम्यगन्वितमेषणीयादिविषये प्रवर्तमानम् । सोम-सूर्य-

वह्निरूपधामत्रयपथैः सव्यापसव्यपवनैर्मध्यमपवनेन

चाधिष्ठितम् । इडापिङ्गलासुषुम्नाख्येन पवनाश्रयेण नाडित्रयेण

युक्तम् । गान्धारी-हस्तिजिह्वा-पूषा-यशा-अलम्बुसा-

कुहूशङ्खिनीभिश्च युक्तत्वाद् दश नाडयः पन्थानो येषां

प्राणापानसमानोदानव्याननागकूर्मकृकरदेवदत्तधनञ्जया-

ख्यास्तैः आ समन्ताद् वृतमोतप्रोतम्।

दिग्दशकावस्थितनाडिदशकप्रपञ्चभूताभिर्द्वासप्तत्या

सहस्रैर्मध्यव्याप्त्या सार्धकोटित्रयेण च महाव्याप्त्या नाडिवृन्दैः

समाक्रान्तम्। आणवमायीयकार्ममलयोगान्मलिनम्। योगिनामपि

येनेदं तद्धि भोगतः।

इति स्थित्यावश्यंभाविक्रोडीकृतं शरीरं ज्ञात्वा योगी यस्य

आत्मनः परस्य वा, परेणैवेति पररूपतामनुज्झतापि

समनन्तरभाविना सूक्ष्मध्यानामृतेनोदितेन स्फुटीभूतेनाप्यायं

करोति, स गतव्याधिर्दिव्यदेह इति

सूक्ष्मध्यानामृतोन्मिषच्छाक्तमूर्तिर्भवति॥ ५॥

शूक्ष्मध्यानामृतेनैव परेणैवोदितेन। इति यदुक्तं तत्सोपक्रमं

स्फुटयति

यत्स्वरूपं स्वसंवेद्यं स्वस्थं स्वव्याप्तिसंभवम्।

स्वोदिता तु परा शक्तिस्तत्स्था तद्गर्भगा शिवा॥ ७-६॥

तां वहेन्मध्यमप्राणे प्राणापानान्तरे ध्रुवे ।

अहं भूत्वा ततो मन्त्रं तत्स्थं तद्गर्भगं ध्रुवम् ॥ ७-७ ॥

स्वोदितेन वरारोहे स्पन्दनं स्पन्दनेन तु ।

कृत्वा तमभिमानं तु जन्मस्थाने निधापयेत् ॥ ७-८ ॥

भावभेदेन तत्स्थानान्मूलाधारे नियोजयेत् ।

नादसूच्या प्रयोगेन वेधयेत् सूक्ष्मयोगतः ॥ ७-९ ॥

आधारषोडशं भित्त्वा ग्रन्थिद्वादशकं तथा ।

मध्यनाडिपथारूढो वेधयेत् परमं ध्रुवम् ॥ ७-१० ॥

तत्प्रविश्य ततो भूत्वा तत्स्थोऽसौ व्यापकः शिवः ।

सर्वामयपरित्यागान्निष्कलाक्षोभशक्तितः ॥ ७-११ ॥

पुनरापूर्य तेनैव मार्गेण हृदयान्तरम् ।

तत्र प्रविष्टमात्रं तु ध्यायेल्लब्धं रसायनम् ॥ ७-१२ ॥

विश्रामानुभवं प्राप्य तस्मात् स्थानात् प्रवाहयेत् ।

सर्वं तदमृतं वेगात् सर्वत्रैव विरेचयेत् ॥ ७-१३ ॥

अनन्तनाडिभेदेन अनन्तामृतमुत्तमम् ।

अनन्तध्यानयोगेन परिपूर्य पुरं स्वकम् ॥ ७-१४ ॥

अजरामरस्ततो भूत्वा सबाह्याभ्यन्तरं प्रिये ।

एवं मृत्युजिता सर्वं सूक्ष्मध्यानेन पूरितम् ॥ ७-१५ ॥

ततोऽसौ सिद्ध्यति क्षिप्रं सत्यं देवि न चान्यथा ।

यदिति प्रथमाधिकारनिर्दिष्टपरधामात्मवीर्यम्, स्वरूपमिति
विशेषानिर्देशात् सर्वस्य, स्वसंवेद्यं स्वप्रकाशम् न तु

स्वसंवेदनान्यप्रमाणप्रमेयम्

तस्य देवातिदेवस्य परापेक्षा न विद्यते ।

परस्य तदपेक्षत्वात् स्वतन्त्रोऽयमतः स्थितः ॥

इति कामिकोक्तनीत्याऽस्य भगवतः प्रमाणागोचरत्वात् अत एव

स्वतन्त्रात्मन्यवतिष्ठते न त्वन्यत्र तद्विविक्तस्यान्यस्याभावात्,

प्रत्युतान्यद्विश्वं तद्याप्तत्वात्तन्मयमेव संभवतीत्याह

स्वव्याप्तिसंभवम्, स्वव्याप्त्या संभवो विश्वरूपतयोन्मज्जनं यस्य ।

अस्य च भगवतः परा स्वातन्त्र्यात्मा शक्तिः स्वा अव्यभिचारिणी चासौ

उदिता प्रस्फुरद्रूपा, तत्रैव च भगवद्रूपे स्थिता, न

चाधाराधेयभावेन, अपि तु सामरस्येनेत्याह तद्गर्भगा । अतश्च शिवा

परमार्थशिवाभिन्नरूपत्वात् शिवा । एवं परं रूपं

भित्तिभूतत्वेन प्रकाश्य सूक्ष्मध्यानं वक्तुमुपक्रमते तामित्यादिना ।

तां परां चितिशक्तिम्, मध्यमप्राणे

सुषुम्नास्थोदानाख्यप्राणब्रह्मणि, वहेत् निमज्जितप्राणापानव्याप्तिं

उन्मग्नतया विमृशेत् । कथम् ? अहं भूत्वा,

देहादिप्रमातृताप्रशमनेन पूर्णाहन्तामाविश्येत्यर्थः । तत

उक्तवक्ष्यमाणवीर्यव्याप्तिकं मूलमन्त्रं तत्स्थं तद्गर्भगमिति

पराशक्तिसामरस्यमयम्, अत एव स्पन्दनमिति सामान्यस्पन्दरूपं कृत्वा

कथं ? स्वोदितेन स्पन्दनेन अप्राणाद्यवष्टम्भेन । एवं

मन्त्रवीर्यसारमामृश्य तमभिमानं तदसामान्यचमत्कारमयं स्वं
वीर्यं जन्माधारे आनन्दचक्रे निधापयेत् प्रतिष्ठापयेत्। कथम् ?
भावस्य देहप्राणादिमिताभिमानमयस्य भेदेन प्रशमनेन। ततोऽपि
मूलाधारे कन्दे तमभिमानं भावभेदेनैव नियोजयेद् निरूढं कुर्यात्
। ततोऽपि स्फुरत्तोन्मिषत्तारूपमन्त्रनाथप्राणसूच्या हेतुना कृतो यः
प्रकृष्टः क्रमात्क्रममूर्ध्वारोहात्मा योगस्तेन। तथा सूक्ष्मयोगत
इति उन्मिषत्स्फुरत्तोत्तेजनप्रकर्षेण। मध्यनाडीपथमारूढः
पूर्वोद्दिष्टकुलशास्त्रादिष्टमाधारषोडशकं
तथोपक्रान्तनिर्णेष्यमाणं ग्रन्थिद्वादशकं च भित्त्वा परमं
ध्रुवं द्वादशान्तधाम वेधयेदाविशेत्। तच्च प्रविश्य,
सर्वस्यामयस्य महामायापर्यन्तस्य बन्धस्य परित्यागात्, तत्रैव
ध्रुवपदे स्थितः सन्, व्यापको नित्योदितपराशक्तिसमरसः
परमशिवैकरूपो भूत्वा, तेनैव द्वादशान्तादन्तःप्रसृतेन मध्यमेन
मार्गेण हृदयमध्यमापूर्य परानन्दप्रसरणाच्छुरितं कृत्वा, तत्र
हृदि प्रविष्टमात्रं तत् परमानन्दरूपं रसायनमासादितं
ध्यायेद्विमृशेत् तावद्यावत्तत्र विश्रान्तिमेति,
ततस्तस्माद्धृदयादुच्छलितं तदमृतं प्रवाहयेत्
नानाप्रवाहाभिमुखं कुर्यात्। ततस्तेनैवामृतेन
अनन्तनाडीप्रवाहप्रसृतेन बहलध्यानध्यातेन सबाह्याभ्यन्तरं
स्वं पूरं देहं परिपूर्य तदनन्तरं सर्वममृतं वेगाद्

द्रुतप्रवाहेन सर्वरोमरन्ध्रैः सर्वत्र गोचरे रेचयेद्
अव्युच्छिन्नप्रवाहं प्रेरयेत्। एवं परवीर्यात्मना भगवता मृत्युजिता
प्रोक्तसूक्ष्मशाक्तानन्दध्यानेन यदा सर्वमापूरितं चिन्तयति योगी
तदासौ अजरामरो भूत्वा क्षिप्रं सिद्ध्यति
मृत्युजिद्भट्टारकतामाप्नोति। नात्र प्रमातृसुलभः संशयः
कार्यः॥ १५॥

एवं शाक्तानन्दमार्गावष्टम्भात्मककौलिकप्रक्रियोक्ताधारादिभेदेन
सूक्ष्मध्यानमुक्त्वा, स्थूलयुक्तिक्रमेण तन्त्रप्रक्रियोक्ताधारादिभेदेन
पूर्णासितामृतकल्लोलचिन्तनात्मसूक्ष्मध्यानं वक्तुमुपक्रमते

जन्मस्थाने समाश्रित्य स्पन्दस्थां मध्यमां कलाम्॥ ७-१६॥

तत्स्थं कृत्वा तदात्मानं कालाग्निं तु समाश्रयेत्।

गत्वा गृहीतविज्ञानं वीर्यं तत्रैव निक्षिपेत्॥ ७-१७॥

तद्वीर्यापूरिता शक्तिः क्रियाख्या मध्यमोत्तमा।

विज्ञानेनोर्ध्वतो भित्त्वा ग्रन्थिभेदेन चेच्छया॥ ७-१८॥

मूलस्पन्दं समाश्रित्य त्यक्त्वा वाहद्वयं ततः।

मध्यमार्गप्रवाहिन्या सुषुम्नाख्यां समाश्रयेत्॥ ७-१९॥

तामेवाश्रित्य विरमेत्तत्सर्वेन्द्रियगोचरात्।

तदा प्रत्यस्तमायेन विज्ञानेनोर्ध्वतः पुनः॥ ७-२०॥

ब्रह्मादिकारणानां तु त्यागं कृत्वा शनैः शनैः।

षण्णां शक्तिमतां प्राप्य कुण्डलाख्यां निरोधिकाम्॥ ७-२१
॥

मायादिग्रन्थिभेदेन हृदादिव्योमपञ्चकम्।

पूर्वं जन्मस्थानमानन्देन्द्रियमुक्तम् इह तु कन्दः, तत्र स्पन्दस्थामिति
स्पन्दाविष्टाम्, मध्यमां कलां प्राणशक्तिमाश्रित्य
मत्तगन्धस्थानसङ्कोचविकासाभ्यां शतश उन्मिषितां
सूक्ष्मप्राणशक्तिमध्यास्य, आत्मानं मनस्तदवसरे तत्स्थं

तन्निभालनैकाविष्टं कृत्वा, कालाग्निमिति पादाङ्गुष्ठाधारं
गत्वा, समाश्रयेत् भावनयाध्यासीत। तत्रैव च गृहीतविज्ञानं
वीर्यमिति कन्दभूम्यासादितं शाक्तस्पन्दात्म वीर्यं निक्षिपेद्
भावनाप्रकर्षेण स्फुटयेत्। इत्थं तद्वीर्येत्युक्तवीर्येणापूरिता
लब्धोदया, प्राणस्पन्दात्मा क्रियाशक्तिरुत्तमातिशयेनोद्गता सती
मध्यमा भवति, समस्तदेहस्य नाभिर्मध्यं तत्र प्राप्ता जायते।
कथम् ? इच्छया सङ्कोचक्रमोत्थोध्वारोहणप्रयत्नेन, विज्ञानेन च
भावनया, ऊर्ध्वत इत्युपरितनगुल्फजानुमेढ्रकन्दनाभ्याख्यानां
ग्रन्थीनां भेदेन वेधनव्यापारेण भित्त्वा, अर्थात्
तान्येवोर्ध्वस्थानान्याक्रम्य भेदिता माण्डलिका भूभुजा,
इतिवदद्भिः (वद् भिदिः) स्वीकारार्थः। अथ मूलस्पन्दं समाश्रित्येति
मत्तगन्धस्थानं विकासाकुञ्चनपरम्परापुरःसरं निरोध्य। एतच्च
श्रीस्वच्छन्दोक्तदिव्यकरणोपलक्षणपरम्। अत एव वाहद्वयं
पार्श्वनाड्यौ त्यक्त्वा परिहृत्य, तत इति
प्रोक्तेच्छाज्ञानावष्टम्भयुक्त्या, मध्यमार्गप्रवाहिण्या प्रोक्तया
मध्यप्राणब्रह्मशक्त्या सुषुम्नाख्यां नाडीं सम्यगाश्रयेत्।
तामाश्रित्य तत इत्यभ्यस्तात् सर्वेन्द्रियगोचराद्बहिरमेद्
अन्तर्मुखीकृतसर्वेन्द्रियस्तिष्ठेत्। तदा च प्रत्यस्ता प्रतिक्षिप्ता माया
प्राणादिप्रधानतात्माख्यातिर्येन तादृशा, प्रकाशानन्दात्मना
ज्ञानेन हृत्कण्ठादिगतसृष्ट्यादिसंवित्स्वभावब्रह्मादिकारणानि

क्रमात् त्यक्त्वा, वक्ष्यमाणमायादिग्रन्थिभेदेन सह

हृदादिव्योमपञ्चकं च त्यक्त्वा, षण्णां

ब्रह्मविष्णुरुद्रेश्वरसदाशिवशिवाख्यानां कारणानामूर्ध्वत

ऊर्ध्वे स्थितां कुण्डलाख्यां शक्तिं

शून्यातिशून्यान्तमशेषविश्वगर्भाकारात्मककुण्डलरूपतयावस्थित

अं समनाख्यां शक्तिं प्राप्य, विज्ञानेनोर्ध्वं विरमेद्

उन्मनापरतत्त्वात्मतामाविशेदिति दूरेण संबन्धः। विरमेदिति

पूर्वस्थमिहापि योज्यम्॥

तत्र निर्भेद्यग्रन्थ्यादीनां स्वरूपं तावत्क्रमेणादिशति

जन्ममूले तु मायाख्यो ग्रन्थिर्जन्मनि पाशवः॥ ७-२२॥

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः।

कारणस्थास्तु पञ्चैवं ग्रन्थयः समुदाहृताः॥ ७-२३॥

इन्धिकाख्यस्तु यो ग्रन्थिर्द्विमार्गाशमनः शिवः।

तदूर्ध्वे दीपिका नाम तदूर्ध्वे चैव बैन्दवः॥ ७-२४॥

नादाख्यस्तु महाग्रन्थिः शक्तिग्रन्थिरतः परः।

जन्ममूलमानन्देन्द्रियम् तच्छरीरोत्पत्तिहेतुर्मायारूपतया मायाख्यो ग्रन्थिः, जन्मनि कन्दे पाशवः पशूनां संकुचितदृक्शक्तित्वात् पाश्यानामयमाधारनानानाडीप्राणादीनां प्रथमोद्भेदकल्पः। हृत्कण्ठतालुभ्रूमध्यललाटस्थानां ब्रह्मादीनां कारणानां पशुं प्रति सृष्ट्यादिकर्तृत्वेन निरोधकत्वाद् ग्रन्थिरूपकत्वात् तत्स्थाः पञ्च ग्रन्थयः निरोधिकोर्ध्वे

इन्धिका दीपिका चैव रोचिका मोचिकोर्ध्वगा। (१०-१२२६)

इति श्रीस्वच्छन्दे नादशक्तयो या उक्ताः, ता एवेह परचित्प्रकाशावारकरूपत्वाद् ग्रन्थय उक्ताः। तत्रेन्धिकाख्यो यो ग्रन्थिरसौ द्विमार्गाशमन इति निरोधिकास्पृष्टवामदक्षिणवाहनिःशेषप्रशमनहेतुः, अत एव शिव ऊर्ध्वैकमार्गारोहकत्वात् श्रेयोरूपः। तदूर्ध्वे किंचिद्दीप्तिहेतुत्वाद् दीपिकाख्यो ग्रन्थिः, अतोऽपि किंचिदधिकप्रकाशहेतुत्वाद् बैन्दवः। रोचिकेत्यन्यत्र योक्ता शक्तिस्तद्रूपो ग्रन्थिः। तदुपरि नादाख्यो महाग्रन्थिरिति। मोचिकोर्ध्वगेत्यन्यत्र यच्छक्तिद्वयमुक्तं तत्रोर्ध्वगा नादान्तेति तत्रैव योक्ता सैवेहान्तर्भावितमोचिका नादाख्यो

महाग्रन्थिरित्युक्तः। महत्त्वं चास्य ग्रन्थ्यन्तर्भावादेव। अतः परः शक्तिस्थानस्थो ग्रन्थिः शक्तिग्रन्थिः॥

यदेवं निर्णीतं तत्

ग्रन्थिद्वादशकं भित्त्वा प्रविशेत् परमे पदे॥ ७-२५॥

उन्मनापरतत्त्वात्मनि धाम्नि॥ २५॥

अत्र ब्रह्मादिकारणग्रन्थिभेदनादेव तदधिष्ठितहृदादिस्थानानि शक्तिग्रन्थिभेदेन च शक्तिस्थानं तदुपरि च व्यापिनीधामशिवस्थाने दलयेदित्याह

ब्रह्माणं च तथा विष्णुं रुद्रं चैवेश्वरं तथा।

सदाशिवं तथा शक्तिं शिवस्थानं प्रभेदयेत्॥ २६॥

अन्ते स्थानशब्दो ब्रह्मादिशब्दानामपि तत्स्थानप्रतिपादकत्वसूचनाय॥ २६॥

अथ पूर्वोद्दिष्टं शून्यपञ्चकं षट्चक्रं च प्रदर्शयति

खमनन्तं तु जन्माख्यं नाभौ व्योम द्वितीयकम्।

तृतीयं तु हृदि स्थाने चतुर्थं बिन्दुमध्यतः॥ ७-२७॥

नादाख्यं तु समुद्दिष्टं षट्चक्रमधुनोच्यते।

जन्माख्ये नाडिचक्रं तु नाभौ मायाख्यमुत्तमम्॥ ७-२८॥

हृदिस्थं योगिचक्रं तु तालुस्थं भेदनं स्मृतम्।

बिन्दुस्थं दीप्तिचक्रं तु नादस्थं शान्तमुच्यते॥ ७-२९॥

अनन्तवह्निश्वाश्रयत्वादनन्तम्। नादाश्रयत्वाद् नादाख्यम्।
नाडिप्रसरहेतुत्वात्,

ङाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्। (पा। यो। ३-२५)

इति नीत्या समस्तमायाप्रपञ्चख्यातिहेतुत्वात्, योगिनां
चित्तैकाग्र्यप्रदत्वात्, प्रयत्नेन भेदनीयत्वात्, दीप्तिरूपत्वात्,
शान्तिप्रदत्वादिति क्रमेण नाडिचक्रादौ हेतवः। एतानि शून्यानि

सौषुप्तावेशप्रदत्वात्, चक्राणि तु भेदप्रसरहेतुत्वात् हेयानीति कृत्वा ॥ २९ ॥

तैः सह

पूर्वोक्तानि च सर्वाणि ज्ञानशूलेन भेदयेत्।

पूर्वोक्तनीत्याधारग्रन्थ्यादीनि। ज्ञानशूलं मन्त्रवीर्यभूतचित्स्फुरत्ता ॥

ज्ञानशूलोत्तेजने युक्तिमाह

आक्रम्य जन्माधाराख्यं तन्मूलं पीडयेच्छनैः ॥ ७-३० ॥

चित्तप्राणैकाग्र्येण कन्दभूमिमवष्टभ्य, तन्मूलमिति मत्तगन्धस्थानम्, शनैरिति सङ्कोचविकासाभ्यासेन, शक्त्युन्मेषमुपलक्ष्य पीडयेद् यथा शक्तिरूर्ध्वमुखैव भवति ॥ ३० ॥

अथ प्रसङ्गान्नानाशास्त्रप्रसिद्धान् पर्यायान् जन्माधारस्याह

जन्माधारस्य सुश्रोणि पर्यायान् शृण्वतः परम् ।

जन्मस्थानं तु कन्दाख्यं कूर्माख्यं स्थानपञ्चकम् ॥ ७-३१ ॥

मत्स्योदरं तथैवेह मूलाधारस्तथोच्यते ।

मरुदुद्भवहेतुत्वात्, मध्यनाडीकन्दरूपत्वात्, कूर्माकारत्वात्, पृथिव्यादिव्योमान्ततत्त्वपञ्चकस्थानत्वात्, मत्स्योदरवत् स्फुरणात्, मूलभूतत्वाच्च जन्मादि आख्यायते ॥

एवं महामाहात्म्याच्छास्त्रेषु निरुच्यते या कन्दभूः

तत्स्थां वै खेचराख्यां तु मुद्रां विन्देत योगवित् ॥ ७-३२ ॥

मुद्रया तु तया देवि आत्मा वै मुद्रितो यदा ।

तदा चोर्ध्वं तु विसरेद्विज्ञानेनोर्ध्वतः क्रमात् ॥ ७-३३ ॥

तत्स्थामिति कन्दभूमिविस्फुरितां शक्तिम्, मुदो हर्षस्य राणात्

पाशमोचनभेदद्रावणात्मत्वात् परसंविद्द्रविणमुद्रणाच्च मुद्राम्, खे बोधगगने चरणात् खेचर्याख्यां योगी लभेत। लब्धया तु तया यदा आत्माणुर्मुद्रितः तद्वशः संपन्नः, तदामन्त्रवीर्यस्फुरत्तात्मना विज्ञानेनोर्ध्वं द्वादशान्तं यावद्विसरेत् प्रसरेत्॥ ३३॥

एतदेव स्फुटयति

भिन्द्याद्भिन्द्यात् परं स्थानं यावत् स्वरवरार्चिते।

तत्स्थानं चैव संप्राप्य योगी समरसो भवेत्॥ ७-३४॥

निष्कलं भावमापन्नो व्यापकः परमः शिवः।

परं स्थानं द्वादशान्तम्। भिन्द्यादिति वीप्सया क्रमादित्युक्तिः स्फुटीकृता। समरस इति सर्वस्याधस्तनस्याध्वनस्तन्मयीभावप्राप्तेः। परमः शिव इति, न तु भेदवाद्युक्तव्यतिरिक्तमुक्तशिवरूपः॥

अथ श्लोकार्धेन परमशिवाभेदव्याप्तिमनुवदन् शक्तेरवरोहक्रमेण व्याप्तिमादेष्टुमुपक्रमते

एवं भूत्वा समं सर्वं निःस्पन्दं सर्वदोदितम् ॥ ७-३५ ॥

ततः प्रवर्तते शक्तिर्लक्ष्यहीना निरामया ।

इच्छामात्रविनिर्दिष्टा ज्ञानरूपा क्रियात्मिका ॥ ७-३६ ॥

एका सा भावभेदेन तस्य भेदेन संस्थिता ।

भूत्वेत्यन्तर्भावितणिजर्थः । तेन सर्वं समनान्तम्, एवं द्वादशान्तारोहणेन, समं समरसम्, निःस्पन्दं प्रशान्तकल्लोलम्, सर्वदोदितं प्राप्तपरचित्प्रकाशैक्यम्, भावयित्वा संपाद्य, तत एव द्वादशान्तधाम्नो लक्ष्यहीना परस्फुरत्तात्मा, निष्क्रान्त आमयो महामाया यस्यास्तादृशी महामायाद्युल्लासिका परा शक्तिः, प्रवर्तते समुन्मिषति इच्छा-ज्ञान-क्रियारूपतया क्रमेण स्फुरतीत्यर्थः । तत एवैका, तस्येति परमशिवस्य, संबन्धिना भावभेदेन एषणीयज्ञेयकार्यावभासनोदयवैचित्र्येण हेतुना, भेदेन संस्थिता गृहीतेच्छादिनानात्वा ।

यत एवं परमशिवाच्छक्तिः स्वयं प्रवर्तते, तेन

खेचरीमुद्रयापूर्य शक्त्यन्तं तत्र सर्वतः ॥ ७-३७ ॥

यावच्च नोदितश्चन्द्रस्तावत् सूक्ष्मं निरञ्जनम् ।

भावग्राह्यमसंदिग्धं सर्वावस्थोज्झितं परम् ॥ ७-३८ ॥

व्यापकं पदमैशानमनौपम्यमनामयम् ।

भवन्ति योगिनस्तत्तु तदारूढौ वरानने ॥ ७-३९ ॥

तत्र

बद्ध्वा पद्मासनं योगी नाभावक्षेश्वरं न्यसेत् ।

दण्डाकारं तु तावत्तन्नयेद्यावत् कखत्रयम् ॥

निगृह्य तत्र तत्तूर्णं प्रेरयेत् खत्रयेण तु ।

एतां बद्ध्वा महायोगी खे गतिं प्रतिपद्यते ॥ (७-१५-१७)

इति श्रीमालिनीविजयलक्षितया पूर्वोद्दिष्टखेचरीमुद्रया शक्त्यन्तं यावत्, सर्वतः सर्वप्रकारेणापूर्य, यावत् तत्र चन्द्र इत्यपानो नोदितो भवेत् तावत् तदारूढौ तच्छक्तिपदारोहे सति, योगिनः, सूक्ष्ममतीन्द्रियम्, निरञ्जनमनावरणम्, भावग्राह्यं स्वप्रकाशम्, असन्दिग्धं स्वविमर्शसारम्, सर्वाभिर्जागराद्यवस्थाभिरुज्झितम्, सर्वसामरस्यावस्थानात्परम्, दिग्देशाद्यनवच्छेदाद् व्यापकम्, परमेशानं स्वतन्त्रम्, अद्वितीयत्वाद् अनौपम्यम्, न विद्यते आमयो महामायावच्छेदो यतो भक्तिभाजां तदनामयम्, यत् परं धाम तद्भवन्ति तन्मया जायन्त इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

एवं प्राप्तपरतत्त्वाभेदस्य योगिनः तत् प्रवर्तते शक्तिः इत्यनेन योन्मिषन्ती परा शक्तिरुक्ता

सा योनिः सर्वदेवानां शक्तीनां चाप्यनेकधा ।

अग्नीषोमात्मिका योनिस्तस्याः सर्वं प्रवर्तते ॥ ७-४० ॥

तत्र संग्रथिता मन्त्रास्त्राणवन्तो भवन्ति हि ।

सर्वेषां चैव संहारस्तदेव परमं पदम् ॥ ७-४१ ॥

तस्मात् प्रवर्तते सृष्टिर्विक्षोभ्य परमं शिवम्।

अनौपम्यामृतं प्राप्य बिन्दुं विक्षोभ्य लीलया॥ ७-४२॥

चन्द्रोदये तदा ख्याते परमामृतमुत्तमम्।

बहलामृतकल्लोलमनन्तं तत्र संस्मरेत्॥ ७-४३॥

तस्मात् प्राप्यामृतं शुद्धं स्वशक्त्या चैव कर्षयेत्।

मध्यमार्गेण सुश्रोणि कारणादि प्रभेदयेत्॥ ७-४४॥

आप्यायनं प्रकुर्वीत् स्थाने स्थाने ह्यनुक्रमात्।

यावद् ब्रह्मपदं प्राप्तं तस्मादाप्याययेदधः॥ ७-४५॥

जन्मस्थानपथाच्चैव कालाग्नौ तु प्रवर्तयेत्।

तदापूर्य समन्ताच्चु परिपूर्णं स्मरेत् पुरम्॥ ७-४६॥

सुषुम्नामृतेनाखिलं परिपूर्णं विभावयेत्।

अनन्तनाडिभिस्तत्र रोमकूपैः समन्ततः॥ ७-४७॥

निष्क्रम्य व्यापको भूत्वा ह्यमृतोर्मिभिराकुलम्।

अमृतार्णवसंरूढं मज्जन्तममृतार्णवे॥ ७-४८॥

तदूर्ध्वे ह्यमृतार्णं तु प्रद्रुतं व्यापकं शिवम्।

एवं समरसीभूतं ह्यमृतं सर्वतोमुखम्॥ ७-४९॥

इच्छाज्ञानक्रियारूपं शिवमात्मस्वरूपकम्।

निरामयमनुप्राप्य स्वानुभूत्या विभावयेत्॥ ७-५०॥

अमृतेशपदं सूक्ष्मं संप्राप्यैवामृतीभवेत्।

तदासावमृतीभूय मृत्युजिन्नात्र संशयः॥ ७-५१॥

कालजित् सुभगो धीरो मृत्युस्तं च न बाधते।

सर्वदेवानामित्यनाश्रितसदाशिवेश्वरानन्तरुद्रादीनाम्, शक्तीनामिति वामाज्येष्ठादीनां च, यतश्च सा शक्तिरग्नीषोमात्मिका योनिस्तत एव सोमप्रधाना, यतस्तस्याः सर्वं प्रवर्तते उद्भवति, अत एवाग्नीषोमात्मशक्तिप्रकृति विश्वमग्नीषोममयमेव। तथा चाग्निरप्याह्लादयति हिममपि च दहति, इति तत्त्वविद आहुः। किं च, तत्राग्नीषोमात्मशक्तिधाम्नि संग्रथितास्तद्वीर्यसारत्वेनोच्चारिता मन्त्रास्त्राणवन्तः सिद्धिमुक्तिदाः, इति शक्तेः स्थितिहेतुत्वमुक्तम्। तदेवेत्यग्नीषोमात्मनः शक्तेरग्निरूपत्वात् संहर्तृत्वं च। एवं सृष्टिस्थितिसंहारहेतुत्वं शक्तेः प्रदर्श्य प्रकृतमाह-तस्मादिति। यत एवंभूतैषा शक्तिस्तस्मात्परं शिवं विक्षोभ्य समनापदावरोहणेन सृष्ट्युन्मुखं कृत्वा, तत्रानौपम्यमिति परमानन्दमयममृतं प्राप्य, बिन्दुमिति महाप्रकाशात्म समनारूढं धाम, लीलया स्वातन्त्र्यक्रीडया, विक्षोभ्य सृष्टिप्रसरोन्मुखं विधाय, तदा चन्द्रोदयेऽपानोल्लासे ख्याते सति, तत एव शाक्ताद्धाम्न उदितं परमामृतमुत्तममानन्दरसप्रधानं बहला अमृतकल्लोलाः सुसितसुधाप्रसारा यस्य तादृक्, अनन्तमनवच्छिन्नम्, तत्र स्मरेद् ध्यायेत् । तस्मात् चन्द्रोदयाच्छुद्धममृतं प्राप्यान्तर्मुखीभूतया स्वशक्त्या

मध्यमार्गेण कर्षयेदधोऽधः प्रवर्तयेत्। तेन च कारणादीति
कारणानि ब्रह्मादीनि, आदिशब्दात् पूर्वोक्तं चक्राधारादि सर्वं
प्रभेदयेद् निषिञ्चेत्। एतदेवाप्यायनमित्यादिनानेन स्फुटीकृतम्।
ब्रह्मस्थानं हृद्धाम यावत्तदमृतं प्राप्तं भवति, ततोऽप्यधो
नाभेरधःस्थाने निषिच्य कालाग्न्यन्तमापूर्य समन्तात् परिपूर्णं
देहं स्मरेत्। ततः सर्वरोमकूपैः प्रसृत्यान्तर्बहिरासादितव्याप्ति
सर्वदिक्कममृतार्णवप्लावनसमरसीभूतपरमामृतरूपम्
इच्छाज्ञानक्रियाशक्तिकचितं परमशिवरूपं निरामयमात्मानं
चिन्तयेत्। एवं सूक्ष्मध्यानाद्विजितमृत्युरासादितपरमसौभाग्योऽमृते-
शतुल्यो भवति॥ ५१॥

उपसंहरति

कालस्य वञ्चनं सूक्ष्मं मया ते प्रकटीकृतम्॥ ७-५२॥

न कस्यचिन्मयाख्यातं त्वदृते भक्तवत्सले॥ ५३॥

तवैव परानुग्रहैकव्रताया एवं प्रकटीकृतम्॥ ५३॥

सूक्ष्मध्यानसमुल्लासिसुधाकल्लोलकेलिभिः।

प्लावयन्निखिलं नौमि नेत्रमुच्चैर्महेशितुः ॥

इति श्रीनेत्रतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचिते-
नेत्रोद्योते सूक्ष्मध्याननिरूपणं नाम सप्तमोऽधिकारः ॥ ७ ॥

अष्टमोऽधिकारः

नेत्रोद्योतः

अमन्दानन्दसन्दोहि स्पन्दान्दोलनसुन्दरम् ।

स्वज्योतिश्चिन्महाज्योतिर्नेत्रं जयति मृत्युजित् ॥

सूक्ष्मध्यानानन्तरं परध्याननिर्णयाय श्रीभगवानुवाच

अथ मृत्युञ्जयं नित्यं परं चैवाधुनोच्यते ।

यत्प्राप्य न प्रवर्तेत संसारे त्रिविधे प्रिये ॥ ८-१ ॥

अथशब्दः सूक्ष्मध्यानानन्तर्यप्रथनाय, नित्यमेव च यन्मृत्युञ्जयं कालग्रासि, परमनुत्तरं परमेशस्वरूपम्। त्रिविध इति मायान्तसदाशिवान्तशिवान्तभवाभवातिभवरूपे ॥ १ ॥

किं च

योगी सर्वगतो भाति सर्वदृक् सर्वकृच्छिवः।

तदहं कथयिष्यामि यस्मादन्यन्न विद्यते ॥ ८-२ ॥

यत्प्राप्य तन्मयत्वेन भवति ह्यजरामरः।

परयोगिनोऽस्य देहादिप्रमातृताऽस्पर्शाद् जरामरणादिकथैव न काचिदस्तीत्यर्थः ॥

तदेतद्वक्तुमुपक्रमते

यन्न वाग्वदते नित्यं यन्न दृश्येत चक्षुषा ॥ ८-३ ॥

यच्च न श्रूयते कर्णैर्नासा यच्च न जिघ्रति।

यन्नास्वादयते जिह्वा न स्पृशेद्यत् त्वगिन्द्रियम् ॥ ८-४ ॥

न चेतसा चिन्तनीयं सर्ववर्णरसोज्झितम् ।

सर्ववर्णरसैर्युक्तमप्रमेयमतीन्द्रियम् ॥ ८-५ ॥

यत्प्राप्य योगिनो देवि भवन्ति ह्यजरामराः ।

तदभ्यासेन महता वैराग्येण परेण च ॥ ८-६ ॥

रागद्वेषपरित्यागाल्लोभमोहक्षयात् प्रिये ।

मदमात्सर्यसंत्यागान्मानगर्वतमःक्षयात् ॥ ८-७ ॥

लभ्यते शाश्वतं नित्यं शिवमव्ययमुत्तमम् ।

पश्यन्त्यादित्रिरूपापि वाग् यन्न भाषते, यच्च बहिरन्तःकरणागोचरः, वर्णयन्तीति वर्णा वाचकाः, वर्ण्यन्त इति वर्णा वाच्याः, सर्वे च ते वर्णास्तेषां रसाः

प्रसरास्तैरुज्झितमवाच्यवाचकात्मेत्यर्थः। अथ च तैः सर्वैर्युक्तं
विश्वात्मकत्वात्, अतश्चातीन्द्रियत्वान्न प्रमेयमपि तु
परप्रमात्रेकरूपमिति पर्यवसितम्, यदेवंभूतं तत्त्वं प्राप्य
समाविश्य,

योगमेकत्वमिच्छन्ति। मा। वि। (४-४)

इति स्थित्या योगिनः परतत्त्वैकशालिनस्तत्त्वतो जरामृत्युरहिता भवन्ति
। तन्महताभ्यासेन

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते। (भ। गी। १२-२)

इति सततसमावेशप्रयत्नेन परेण वैराग्येण
दृष्टागमिकधराद्यनाश्रितान्तसमस्तभोगवैतृष्ण्येन,
अत एव रागद्वेषादिसर्वदोषप्रशमाच्च लभ्यते, मानाच्छङ्करपूजातो
तस्य क्षयात् शाश्वतमविवर्तात्मकम्, नित्यं लोकोत्तरं शिवं
परश्रेयोरूपमव्ययमपरिणामि, अतश्चोत्तमं सर्वोत्कृष्टम्॥

इयांश्चास्य स्फारोऽयम्

निमेषोन्मेषमात्रेण यदि चैवोपलभ्यते॥ ८-८॥

ततः प्रभृति मुक्तोऽसौ न पुनर्जन्म चाप्नुयात।

केनचिदिति मध्येऽध्याहार्यम्। उपलभ्यते समाविश्यते। ततःप्रभृति न तु कालान्तरे। मुक्तः स्थितैरपि देहप्राणैरगुणीकृतः। न च तद्देहत्यागे पुनर्जन्म देहान्तरसंबन्धमाप्नोति, अपि तु परमशिव एव भवति॥

ततश्च योगी

अष्टाङ्गेन तु योगेन प्राप्नुयान्नान्यतः क्वचित॥ ८-९॥

तमष्टाङ्गयोगमन्यशास्त्रप्रतिपादितरूपवैलक्षण्येन क्रमेणादिशति देवः

संसाराद्विरतिर्नित्यं यमः पर उदाहृतः।

भावना तु परे तत्त्वे नित्यं नियम उच्यते॥ ८-१०॥

स्पष्टम्॥ १०॥

मध्यमं प्राणमाश्रित्य प्राणापानपथान्तरम्।

आलम्ब्य ज्ञानशक्तिं च तत्स्थं चैवासनं लभेत॥ ८-११॥

प्राणापानमार्गयोः सव्यापसव्ययोरान्तरं मध्यनाड्यां भवं प्राणमित्यूर्ध्वंगामिनमुदानमाश्रित्य, ततश्च प्राणीयव्याप्तिनिमज्जनेन चिद्व्याप्त्युन्मज्जनाद् ज्ञानशक्तिमुन्मिषत्स्फुरत्तारूपां संविदमालम्ब्यावष्टभ्य, तत्स्थमेवासनं योगी लभते निजज्ञानशक्त्यासनासीनश्चिन्महेशरूपो भवतीत्यर्थः॥ ११॥

प्राणादिस्थूलभावं तु त्यक्त्वा सूक्ष्ममथान्तरम्।

सूक्ष्मातीतं तु परमं स्पन्दनं लभ्यते यतः॥ ८-१२॥

प्राणायामः स उद्दिष्टो यस्मान्न च्यवते पुनः।

प्राणादौ प्राणापानसमानेषु यः स्थूलो रेचकपूरकादिर्भावः स्वभावस्तं त्यक्त्वा उज्झित्वा, अथेत्येतत्स्थूलप्राणायामानन्तरभावि, सूक्ष्ममान्तरमिति मध्यपथेन रेचनाचमनादिरूपं च तं त्यक्त्वा,

यतो यस्मात् सूक्ष्ममप्यतीतं परममिति प्राणाद्यचित्स्फुरत्तात्म स्पन्दनं लभ्यते, तस्मात्तदेव परं स्पन्दनं यत् स एव स्थूलसूक्ष्मभेदभाजां प्राणानामायामः प्रशमितप्राधान्यावभासात्मा नियम उत्कृष्टतयादिष्टो निरूपितः। यस्मादिति यं प्राणायाममासाद्य न पुनश्च्यवते चित्प्रमातृमयतां न कदाचिज्जहाति ॥

शब्दादिगुणवृत्तिर्या चेतसा ह्यनुभूयते ॥ ८-१३ ॥

त्यक्त्वा तां प्रविशेद्धाम परमं तत्स्वचेतसा।

प्रत्याहार इति प्रोक्तो भवपाशनिकृन्तकः ॥ ८-१४ ॥

शब्दस्पर्शादीनां गुणानां सत्त्वादिरूपाणां या काचिद्वृत्तिर्दशा चेतसा संविदाऽनुभूयते, तां त्यक्त्वानादरेणापहस्त्य, स्वचेतसा विकल्पसंवित्परामर्शेनैव परचिद्धामप्रवेशो हीति यस्माच्चितिभूमेः प्रसृतस्य चित्तस्य तत्प्रतीपप्रापणात्मा प्रत्याहारोऽतश्च भवपाशानां निकृन्तकः ॥ १४ ॥

धीगुणान् समतिक्रम्य निर्ध्येयं चाव्ययं विभुम्।

ध्यात्वा ध्येयं स्वसंवेद्यं ध्यानं तच्च विदुर्बुधाः ॥ ८-१५

॥

धियो बुद्धेः सत्त्वादिगुणान् समतिक्रम्य समावेशेन प्रशमय्य,
निर्ध्येयमिति ध्येयेभ्यो नियत्याकृत्यादिरूपेभ्यो निष्क्रान्तं,
निष्क्रान्तानि च तानि यस्मात् तम्, विभुं व्यापकमव्ययं नित्यम्,
स्वसंवेद्यं स्वप्रकाशम् ध्येयं ध्यानार्हमथ चाध्येयमध्येतव्यम्
विम्रष्टव्यं स्मर्तव्यं च, अर्थाच्चिदानन्दघनं परमेश्वरं
ध्यात्वा विमृश्य ये बुधास्तत्त्वज्ञास्ते, तच्चेति तद्विमर्शात्मैव,
ध्यानं विदुरविच्छिन्नेन पारम्पर्येण जानन्ति । च एवार्थे ॥ १५ ॥

धारणा परमात्मत्वं धार्यते येन सर्वदा ।

धारणा सा विनिर्दिष्टा भवबन्धविनाशिनी ॥ ८-१६ ॥

येन योगिना सर्वदा परमात्मत्वं चैतन्यं धार्यते
समावेशेनावलम्ब्यते, तस्य या धारणा चैतन्यविमर्शनात्मा वृत्तिः,
सा भवबन्धविनाशहेतुर्धारणान्यधारणावैलक्षण्येन विनिर्दिष्टा
॥ १६ ॥

एवं यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारध्यानधारणा लोकोत्तरदृष्ट्या प्रतिपाद्य, समाधिमपि परस्वरूपविषयमाणवशाक्तशाम्भवोपायप्राप्यमनुपायं चादिशति श्लोकचतुष्केण

समं सर्वेषु भूतेषु आधानं चित्तनिग्रहः।

समाधानमिति प्रोक्तमन्यथा लोकदाम्भिकम्॥ ८-१७॥

सर्वप्राणिषु चित्तस्य समं वैषम्यप्रतिपत्तिनिग्रहात्म आधानं चित्तनिग्रहः समाधानमिति चोक्तम्। स्वात्मतुल्यताचिन्तनं यत्तत्समाधानं प्रोक्तम्। अन्यथा लोचननिमीलनादिप्रकारेणैतद्विपरीतं यत् समाधानं तत् लोकदम्भैकप्रयोजनम्॥ १७॥

एतद्ध्यानोपायकमाणवं समाधानम्, शुद्धविकल्पोपायं शाक्तम्। तदाह

स्वपरस्थेषु भूतेषु जगत्यस्मिन् समानधीः।

शिवोऽहमद्वितीयोऽहं समाधिः स परः स्मृतः ॥ ८-१८ ॥

सर्वमिदमहमेव,

इत्यहन्तेदन्तासामानाधिकरण्यात्मशुद्धविद्योत्थाध्यवसायरूपः

परः समाधिः स्मृतः पारम्पर्यतः प्रसिद्धः ॥ १८ ॥

अथैकवारोपायप्राप्यमपि पुनरुपायानपेक्षतयानुपायं

सततोदितं समाधिमादिशति

सम्यक्स्वरूपसंवेद्यं संविद्रूपं स्वभावजम् ।

स्वसंवेद्यस्वरूपं च समाधानं परं विदुः ॥ ८-१९ ॥

सम्यगेकवारोपायतः संवेद्यं स्फुरितं यत्स्वाभाविकं संविद्रूपं

चकासच्चिद्धाम, तत् स्वसंवेद्यस्वरूपमिति स्वप्रकाशं

नित्योदितत्वेनाव्युत्थानं समाधानम् ॥ १९ ॥

अविकल्पोपायं शाम्भवं समाधिमाह

राशिभ्यां चिज्जडाभ्यां च विचार्य निपुणं पदम् ।

यन्नित्यं शाश्वतं रूपं समाधानं तु तद्विदुः ॥ ८-२० ॥

जडराशिर्भुवनभावदेहादिः । चिद्राशिः सकलप्रलयाकलविज्ञानाकलमन्त्रमन्त्रेशमन्त्रमहेशशिवाख्यः प्रमातृवर्गः । ततो मध्यात् पदं विश्वप्रतिष्ठास्थानं निपुणं विचार्य बाढं विमृश्य यन्नित्यमविनाशि शाश्वतं विवर्तपरिणामशून्यं सदा स्वप्रकाशं च रूपमर्थात् स्फुरति, तत्समाधानं विदुस्तत्त्वज्ञाः ॥ २० ॥

अष्टाङ्गेन तु योगेन इत्युपक्रान्तमुपसंहरन् प्रकृते योजयति

एवमष्टाङ्गयोगेन स्वभावस्थं परं ध्रुवम् ।

दृष्ट्वा वञ्चयते कालममृतेशं परं विभुम् ॥ ८-२१ ॥

मृत्युजित् स भवेद्देवि न कालः कलयेच्च तम् ।

एवमित्युक्तरूपेण न त्वन्यशास्त्रोक्ताहिंसासत्याद्यात्मना, परममृतेशं चिन्नाथं परं

विभुमनाश्रितान्ताशेषकारणस्वामिनम्, दृष्ट्वा कालं वञ्चयति, अकालकलितचिदानन्दैकघन एव जायते। अत एव तत्त्वतोऽयमेव सङ्कोचात्ममृत्युविदलनाद् मृत्युजित्। सुचिरमपि स्थिरीकृतदेहस्तु न वस्तुतो मृत्युजिदित्याशयशेषः॥

किं च

तत्त्वषट्त्रिंशतस्त्यागाद् भुवनानन्त्यवर्जनात्॥ ८-२२॥

एकाशीतिपदोर्ध्वं वै वर्णपञ्चाशतः परम्।

व्यापकं सर्वमन्त्रेषु सर्वेष्वेव हि जीवनम्॥ ८-२३॥

अष्टात्रिंशत्कलोर्ध्वं तु सर्वान्तः सर्वमध्यगम्।

आदिर्मध्यं न चैवान्तो लभ्यते यस्य केनचित्॥ ८-२४॥

तदप्रमेयमतुलं प्राप्य सर्वं न लभ्यते।

पृथ्व्यादिशिवान्तानि तत्त्वानि, कालाग्न्याद्यनाश्रितान्तानि भुवनानि च

त्यक्त्वा नवात्मादिप्रक्रियया प्रणवादिपदानामकारादिवर्णपञ्चाशत
ईशानपुरुषाघोरादिकलाष्टात्रिंशतश्चोर्ध्वं सर्वमन्त्रव्यापकम्,
एवं च षड्विधाध्वोत्तीर्णम्, अतश्च सर्वजीवितभूतं
सर्वेषामन्तः पूर्वापरकोट्यात्म, तन्मयत्वादेव च विश्वस्य
सर्वमध्यगतम्, न चास्य केनाप्यादिमध्यान्ता लभ्यन्ते
दिक्कालादिकथोत्तीर्णत्वात्, अतश्चाप्रमेयम्, अद्वितीयत्वादतुलम्, प्राप्य
षड्विधाध्वमयदेहप्राणाद्युल्लङ्घनेन योगिभिरासाद्य,
सर्वमित्यध्वप्रपञ्चात्म निखिलं न लभ्यते न प्राप्यते तेन प्राग्वत्
नाव्रियते, अथ च काक्वा सर्वं न लभ्यते, अपितु लभ्यते (एव),
सर्वसर्वात्मामृतेशभैरवता विद्यत इत्यर्थः ॥

तथा

येनैकेन जगत् सर्वमप्रमेयेन पूरितम् ॥ ८-२५ ॥

तज्ज्ञात्वा मुच्यते क्षिप्रं घोरात् संसारबन्धनात् ।

ज्ञात्वा दाढ्र्येन निश्चित्य ॥

अपि च

तत्त्वत्रयविनिर्मुक्तं शाश्वतं चाचलं ध्रुवम् ॥ ८-२६ ॥

दिव्येन योगमार्गेण दृष्ट्वा भूयो न जायते ।

सर्वेन्द्रियविनिर्मुक्तमवेद्यं चाप्यनामयम् ॥ ८-२७ ॥

तत्त्वत्रयं नरशक्तिशिवाख्यम् । शाश्वतं विवर्तवाद इव
नासत्यविभक्तान्यरूपोपग्राहि, अचलमपरिणामि, ध्रुवं नित्यम्
इन्द्रियविनिर्मुक्तमनामयमिति मायेन्द्रियानावृतम्, अवेद्यं च, दिव्येन
योगमार्गेण विकल्पहानोन्मिषदविकल्पविमर्शावष्टम्भोपायेन,
दृष्ट्वा साक्षात्कृत्य, न पुर्जन्मैति ॥ २७ ॥

एवमाणवेन शाक्तेन शाम्भवेन चोपायेनासादितं परं तत्त्वं
मुक्तिदं न केवलमिहैवोपादेयमुक्तम्, यावत् सर्वशास्त्रेषु इत्याह

परमात्मस्वरूपं तु सर्वोपाधिविवर्जितम् ।

चैतन्यमात्मनो रूपं सर्वशास्त्रेषु कथ्यते ॥ २८ ॥

यत् सर्वैः समनान्तैरुपाधिभिरवच्छेदकैर्विशेषेण वर्जितं
तत्सङ्कोचासंकुचितं चैतन्यमात्मनो ग्राहकस्य रूपम्, तदेव
परमात्मनः परमशिवस्य स्वरूपम्, न तु व्यतिरिक्तं यथा भेदवादिनो
मन्यन्ते। अत एव शिवोऽहमद्वितीयोऽहमिति तात्त्विकसमाधिनिर्णयावसरे
उक्तम्। सर्वशास्त्रेषु चैतत्कथ्यते, न तु क्वचिदेवेत्यनेन
सिद्धान्तानामपि रहस्याद्वयसारता अन्तःसंभवन्त्यपि
गाढप्ररूढसांसारिकद्वैतवासनानां न स्फुटीकृता। यथोक्तं
श्रीकुलपञ्चाशिकायाम्

यन्नास्ति सर्वलोकस्य तदस्तीति विरुध्यते।

निगद्यते यदा देवि हृदये न प्ररोहति॥

एतस्मात् कारणाद्देवि देवताभिः प्रगोपितम्।

तेन सिद्धेन देवेशि किं न सिद्ध्यति भूतले॥

इति। तत एव समस्तशैवशास्त्रसारसंग्रहरूपेषु शिवसूत्रेषु
चैतन्यमात्मा इति प्रारम्भ एवोक्तम्॥ २८॥

एवंभूतमपि चैतदात्मनो रूपम्

निर्मलं न भवेद्देवी यावच्छक्त्या न बोधितम्।

शैवी मुखमिहोच्यते। (२०)

इति श्रीविज्ञानभट्टारकादिष्टनीत्या परमेश्वरस्यैव शक्त्यां शक्त्याभासात्मनोऽणोः स्वस्फुरत्ताप्रवेशनयाऽणुत्वं निमज्ज्य, परमशिवत्वमुन्मील्यते॥

ननु दीक्षयाभिव्यक्तशिवत्वा अपि मुक्तशिवा भिन्ना एव परमशिवात्, तत्कथं परमात्मस्वरूपैक्यमात्मचैतन्यस्योक्तम् इत्याशङ्कां शमयति

दीक्षाज्ञानादिना शोध्यमात्मानं चैव निर्मलम्॥ ८-२९॥

ये वदन्ति न चैवान्यं विन्दन्ति परमं शिवम्।

त आत्मोपासकाः शैवे न गच्छन्ति परं पदम्॥ ८-३०॥

दीक्षाज्ञानयोगचर्याभिः शोध्यमात्मानं निर्मलमन्यमेव परमशिवाद् व्यक्तिरिक्तमेव वदन्ति, न तु परमशिवं विन्दन्ति परमशिवरूपं

नासादयन्ति, ते आत्मोपासकाः शुद्धात्मतत्त्वाराधकाः शैवे यत्
परं पदं परमशिवत्वम्, तन्न गच्छन्ति नाप्नुवन्ति। यदि तु कदाचित्
तीव्रशक्तिपाताद् गच्छन्ति, तच्छैवेन शिवादिष्टाद्वयज्ञानेनैव न
त्वन्येन ज्ञानेनेति सप्तमीतृतीये तन्त्रेण योज्ये। तदुक्तं
श्रीस्वच्छन्दे समनान्तस्थशुद्धात्मनिर्णयावसरे

अविदित्वा परं तत्त्वं शिवत्वं कल्पितं तु यैः।

त आत्मोपासका शैवे न गच्छन्ति परं शिवम्॥ (४-३९२)

इति॥ ३०॥

एतदेव भङ्ग्यन्तरेण स्फुटयति

यद्वा तु परमाशक्तिः सर्वज्ञादिगुणान्विता।

आपादादिविकासिन्या न विकास्येत निर्मला॥ ८-३१॥

तावन्न निर्मलो ह्यात्मा बद्धः शैवे तदोच्यते।

तावच्छब्दापेक्षया यावच्छब्दोऽध्याहार्यः। तेनापादादि

पाङ्गुष्ठात्प्रभृति विकासिन्या प्राणप्राधान्यनिमज्जनेन चित्प्राधान्यमुन्मज्जयन्त्या दीक्षाज्ञानादिरूपया अनुग्रहिकया शक्त्या यावत् सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वस्वतन्त्रताद्यात्मा परमा शक्तिर्न विकास्येत नोन्मिष्येत, न तावदात्मा जीवो निर्मलः। यदा चैवं तदा शैवेऽसावात्मा जीवन्मुक्तेरनासादाद्बद्ध एवोच्यते॥

विकासितायाः शक्तेः स्वरूपं दर्शयति

यत्रस्थः पुरुषः सर्वं वेत्त्यतीतमनागतम्॥ ८-३२॥

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तत्तत्त्वं शक्तिलक्षणम्।

इन्द्रियाण्यन्तर्मुखीकृत्य यत्र तुटिपातात्मनि आद्योन्मेषस्थितौ लब्धावस्थितिर्योगी, अतीतानागतादि सर्वं वेत्ति, तत् प्रतिभात्म तत्त्वं शक्तिलक्षणम्॥

तथा

यत्र यत्र भवेदिच्छा ज्ञानं वापि प्रवर्तते॥ ८-३३॥

क्रियाकृत्यस्वरूपा वा तत्तत्त्वं शक्तिलक्षणम् ।

न कृत्यं निष्पाद्यं स्वरूपं यस्यास्तादृश्यकृत्रिमा निर्विकल्पा इच्छा ज्ञप्तिः स्फुरत्तात्मा क्रिया वा यत्र यत्रावसरे प्रवर्तते, तत्र तत्र तद् एषणीयाद्यनारूषितशुद्धेच्छादिमात्रात्मतत्त्वं शक्तिलक्षणम् ॥

तथा

व्यापकस्य यतो देवि चिद्रूपस्यात्मनः शिवात् ॥ ८-३४ ॥

प्रसरत्यद्भुतानन्दा सा शक्तिः परमा स्मृता ।

व्यापकचिन्मात्रमयतामात्मनो भावयतो योगिनो या आश्चर्यरूपा आनन्दात्मा शक्तिः शिवात् प्रसरत्युन्मिषति, सा परमा स्मृता तत्तत्त्वं शक्तिलक्षणमित्यर्थः ॥

एवं लक्षितशक्त्यवष्टम्भविस्फारेण

विप्रसार्य तमात्मानं सर्वज्ञादिगुणैर्गुणी ॥ ८-३५ ॥

साभासः कथ्यते देवि शिवः परमकारणम्।

सर्वज्ञादिगुणैरिति तद्विमर्शनेनात्मानं विप्रसार्य बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा यतः प्रकाशावरणक्षयः (यो। सू। ३-४३) इति स्थित्या विकास्य यो योगी तैरेव सर्वज्ञत्वादिगुणैर्गुणी संपन्नः, स सर्वज्ञत्वाद्याभासविमर्शनादेव साभासः शिवः कथ्यते॥

एतदेव स्फुटयति

सर्वज्ञः परितृप्तश्च यस्य बोधो ह्यनादिमान्॥ ८-३६॥

स्वतन्त्रो ह्यप्रलुप्तश्च यश्च वानन्तशक्तिकः।

शक्तिमान् गुणभेदेन स्वगुणान् विन्दते गुणी॥ ८-३७॥

पृथग्भेदविभेदेन नानात्वं विमृशेदिह।

स साभास इति प्रोक्तो निराभासस्तु कथ्यते॥ ८-३८॥

परितृप्तो नैराकांक्ष्येण चिदानन्दघनः, अनादिमान् न तु
भावनोत्थः, स्वतन्त्रो न तु भेदेश्वरवत् कर्ममलपरिपाकाद्यपेक्षः,
अप्रलुप्तो न तु ब्रह्मादिवत् स्वापाद्यावृतः, अनन्तशक्तिकः

शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नम्।

इति स्थित्या मरीचिरूपाशेषविश्वशरीरः, शक्तिमानिति
समुत्पन्नयथालक्षितपरशक्तिस्वरूपः, गुणानां सत्त्वरजस्तमसां
भेदेन चिद्भुवि देहादिप्रमातृतानिमज्जनोत्थेन विदारणेन, स्वगुणान्
सर्वज्ञत्वादीन् लभते। तैरेव च गुणैर्गुणी, भेदानां
सर्वज्ञत्वादिविशेषाणां व्याख्यातदृशा व्यावृत्तिकृतो यः
पृथग्विभेदस्तेन नानात्वं विचित्राभासरूपतां य आत्मनो विमृशेत्
स साभास इत्युक्तः। निराभासस्तु उच्यते॥

तमाह

नाहमस्मि न चान्योऽस्ति निराभासस्तदा भवेत्।

सावस्था परमा प्रोक्ता शिवस्य परमात्मनः॥ ८-३९॥

आभासेभ्यो ग्राह्यग्राहकविमर्शात्मकेभ्यो निष्क्रान्तः
चिद्विमर्शैकपरमार्थः। तदुक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्

शर्वथा त्वन्तरालीनानन्ततत्त्वौघनिर्भरः।

शिवश्चिदानन्दघनः परमाक्षरविग्रहः॥ (४-१।१४)

इति॥ ३९॥

एतद्दशासमापन्नस्य च योगिन ईदृशी स्फुरत्तेत्याह

नाहमस्मि न चान्योऽस्ति ध्येयं चात्र न विद्यते।

आनन्दपदसंलीनं मनः समरसीगतम्॥ ८-४०॥

अहमिति देहादिग्राहकः। अन्यो मद्व्यतिरिक्तो नीलादिः।
ध्येयमित्यनुग्राहकत्वेन बुद्ध्योपस्थापितम्॥ ४०॥

एतत्पदलाभाय शाम्भवोपायमादिशति देवः

नोर्ध्वे ध्यानं प्रयुञ्जीत नाधस्तान्न च मध्यतः।

नाग्रतः पृष्ठतः किञ्चित् पार्श्वयोरुभयोरपि ॥ ८-४१ ॥

नान्तःशरीरसंस्थाने न बाह्ये भावयेत् क्वचित् ।

नाकाशे बन्धयेल्लक्ष्यं नाधो दृष्टिं निवेशयेत् ॥ ८-४२ ॥

न चाक्ष्णोर्मीलनं किञ्चिन्न किञ्चिद् दृष्टिबन्धनम् ।

अवलम्बं निरालम्बं सालम्बं न च भावयेत् ॥ ८-४३ ॥

नेन्द्रियाणि न भूतानि शब्दस्पर्शरसादि यत् ।

सर्वं त्यक्त्वा समाधिस्थः केवलं तन्मयो भवेत् ॥ ८-४४ ॥

ऊर्ध्वे द्वादशान्ते, अधः कन्दादौ, मध्ये हृदादौ, अग्रतः
पृष्ठतः पार्श्वयोः, तत्पुरुषसद्योजातादिरूपम् । अन्तःशरीर इति

आमूलात्किरणाभासां सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरात्मिकाम् ।
चिन्तयेत्तां द्विषट्कान्ते शाम्यन्तीं भैरवोदयः ॥ (वि । भै ।

२८)

इतिवत्। न बाह्य इति

वस्त्वन्तरे वेद्यमाने सर्वविद्येषु शून्यता।

तामेव मनसा ध्यायन् विदितोऽपि प्रशाम्यति ॥(वि। भै। १२२)

इतिवत्। नाकाश इति

तेजसा सूर्यदीपादेराकाशे शबलीकृते।

दृष्टिं निवेश्य तत्रैव स्वात्मरूपं प्रकाशते॥ (वि। भै।
७६)

इतिवत्। नाध इति

कूपादिके महागर्ते स्थित्वोपरि निरीक्षणात्।

अविकल्पमतेः सम्यक् सद्यश्चित्तलयः स्फुटम्॥ (वि। भै। ११५)

इतिवत्। न चाक्ष्णोर्मीलनमिति

एवमेव निमील्यादौ नेत्रे कृष्णाभमग्रतः।

प्रसार्य भैरवं रूपं भावयंस्तन्मयो भवेत्॥ (वि। भै। ८८)

इतिवत्। न दृष्टिबन्धनमिति

निर्वृक्षगिरिभित्त्यादिदेशे दृष्टिं विनिक्षिपेत्।

निलीने मानसे भावे वृत्तिक्षीणः प्रजायते॥ (वि। भै। ६०)

इतिवत्। अवलम्ब्यत इति अवलम्बो ध्येय आकारस्तम्

भावे त्यक्ते निरुद्धा चिन्नैव भावान्तरं ब्रजेत्।

तदा तन्मध्यभावेन विकसत्यतिभावना॥ (वि। भै। ६२)

इतिवत्। निरालम्ब इति

उभयोर्भावयोर्ज्ञाने ज्ञात्वा मध्यं समाश्रयेत्।

युगपच्च द्वयं त्यक्त्वा मध्ये तत्त्वं प्रकाशते॥ (वि। भै। ६१)

इतिवत्। सहालम्बेन वर्तते सालम्बं साकारं ज्ञानम्

इच्छायामथवा ज्ञाने जाते चित्तं निवेशयेत्।

तत्र बुद्ध्यानन्यचेतास्ततः स्यादात्मदर्शनम्॥ (वि। भै। ९८)

इतिवत्। नेन्द्रियाणि न भूतानीति तत्तद्धारणापटलोक्तनीत्या सर्वं
त्यक्त्वा समाधिस्थ
इति अकिञ्चिच्चिन्तकत्वेन स्वस्वरूपविमर्शनप्रवणस्तन्मय
इत्यानन्दपदसंलीनसमरसज्ञानमयः॥ ४४॥

या चैवंभूता दशा

सावस्था परमा प्रोक्ता परस्य परमात्मनः।

निराभासं पदं तच्चु तत्प्राप्य विनिवर्तते॥ ८-४५॥

सांसारिकी स्थितिमुज्झति॥ ४५॥

अतश्च यः

भावयेदेवमात्मानमात्मनो भावनाबलात्।

स गच्छेत् परमं शान्तं शिवमत्यन्तनिर्मलम् ॥ ८-४६ ॥

आत्मनो निर्विकल्पसंवेदनस्य या भावना विकल्पहानेन संपादना, तस्या यद्बलं विमर्शदार्ढ्यं तेन भावयेत् ॥ ४६ ॥

किं च

तत्तत्त्वमेकं सर्वत्र भवति(ते) मृत्युजिच्छिवम् ।

तच्चामृतेशं परमं तृतीयं पदमुत्तमम् ॥ ८-४७ ॥

आख्यातं तव देवेशि किमन्यत् कथयामि ते ।

सर्वत्र क्षित्याद्यनाश्रितान्ते, तदेवैकमद्वितीयम्, तत्त्वं पारमार्थिकं स्वरूपम्, शिवं श्रेयोरूपम्, मृत्युजिद्भवति । तृतीयमिति प्रोक्तस्थूलसूक्ष्मज्ञानद्वयापेक्षया, तवेत्यनुग्रहैकपरायाः, किमन्यत् कथयामीति नातोऽन्यद्रहस्यं कथनीयं किञ्चिदस्तीत्यर्थः ॥

एतदुपसंहरति

एवं मृत्युजिता सर्वं ध्यात्वा व्याप्तं विमुच्यते ॥ ८-४८ ॥

योगी ॥ ४८ ॥

एतच्च

सर्वकालं तु कालस्य वञ्चनं कथितं प्रिये ।

अकालकलितचिद्धामसमावेशोपदेशात् ॥

प्रकृतमुपसंहृत्य पूर्वप्रस्तुतमुपसंहरति

एवं तु त्रिविधं देवि मया ते प्रकटीकृतम् ॥ ८-४९ ॥

कालस्य वञ्चनं नाम ॥ ॥ ॥ ॥ ॥

एष च

॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥योगः परमदुर्लभः ।

किं च

अनेनाभ्यासयोगेन मृत्युजिद् भवति(ते) नरः ॥ ८-५० ॥

न केवलमात्मनः, यावत्

अनेनैव तु योगेन लोकानुग्रहकाम्यया ।

भवते मृत्युजिद्योगी सर्वप्राणिषु सर्वदा ॥ ८-५१ ॥

एतज्ज्ञाननिष्ठो विश्वानुग्रहकरणक्षम इत्यर्थः ।

यत्त्वत्राधिकारे परं ज्ञानमुक्तम्

एष मृत्युञ्जयः ख्यातः शाश्वतः परमो ध्रुवः ।

अस्मात् परतरो नास्ति सत्यमेतद्वदाम्यहम् ॥ ८-५२ ॥

शिष्याणामत्रार्थे दृढ आश्वासो

जायतामित्याशयेनादरादुक्तमर्थमत्युपादेयत्वात् पुनः
पुनरादिशति

यत्परामृतरूपं तु त्रिविधं चोदितं मया।

तदभ्यासाद् भवेज्जन्तुरात्मनोऽथ परस्य वा॥ ८-५३॥

अमृतेशसमो देवि मृत्युजिन्नात्र संशयः।

किञ्चेमं मृत्युजिन्नाथम्

येन येन प्रकारेण यत्र यत्रैव संस्मरेत्॥ ८-५४॥

तेन तेनैव भावेन स योगी कालजिद् भवेत्।

येन येनेत्याणवेन शाक्तेन शाम्भवेन वा। यत्र यत्रेति नात्र
देशकालावस्थादिनियम इत्यर्थः॥

अयं च योगी

यत्र यत्र स्थितो वापि येन येन व्रतेन वा ॥ ८-५५ ॥

येन येन च योगेन भावभेदेन सिद्ध्यति ।

येन येन योगेन तत्तत्संहितासु योगपादोक्तेन,
भावभेदेनेत्येतत्तत्त्वनिष्ठभावनाविशेषेण ॥

यच्चेदममृतेशनाथाख्यं परं तत्त्वम्

तदेकं बहुधा देवि ध्यातं वै सिद्धिदं भवेत् ॥ ८-५६ ॥

द्वैताद्वैतविमिश्रे वा एकवीरेऽथ यामले ।

सर्वशास्त्रप्रकारेण सर्वदा सिद्धिदं भवेत् ॥ ८-५७ ॥

एकमिति पराद्वयस्वतन्त्रचित्सतत्त्वम्, अत एव
बहुधेत्येतत्स्वातन्त्र्यावभासितभाविपटलवक्ष्यमाणश्रीसदाशिवतुम्बु
उरुभैरवकुलेश्वरादिरूपतया ध्यातं सिद्धिं ददात्येवेत्यर्थः ।
परमाद्वैतरूपत्वाच्चास्य नाथस्य
द्वैताद्वैतादिसर्वप्रकारक्रोडीकारित्वं न विरुध्यते । वक्ष्यति

चैकविंशाधिकारे

अद्वैतं कल्पनाहीनं चिद्घनम्। (२१-२३)

इति ॥ ५७ ॥

किं च

चिन्तारत्नं यथा लोके चिन्तितार्थफलप्रदम्।

तथैव मन्त्रराजस्तु चिन्तितार्थफलप्रदः ॥ ८-५८ ॥

अत्रत्य इत्यर्थः ॥ ५८ ॥

किं च

मन्त्राणां सप्तकोटीनामालयः परमो बली।

तेषामपि परार्द्ध्यैकवीर्यत्वात् ॥

अपि च

भावहीनास्तु ये मन्त्राः शक्तिहीनास्तु कीलिताः ॥ ८-५९ ॥

वर्णमात्राविहीनास्तु गुर्वागमविवर्जिताः ।

भ्रष्टाम्नायविहीना ये आगमोज्झितविघ्निताः ॥ ८-६० ॥

न सिद्ध्यन्ति यदा देवि जप्ता इष्टाः सहस्रशः ।

असिद्धा रिपवो ये च सर्वांशकविवर्जिताः ॥ ८-६१ ॥

आद्यन्तसंपुटेनैव साद्यर्णेन तु रोधिताः ।

मन्त्रेणानेन देवेशि अमृतेशेन जीविताः ॥ ८-६२ ॥

सिद्ध्यन्ति ह्यप्रयत्नेन जप्ता इष्टा न संशयः ।

ध्याताः सर्वप्रदा देवि भवन्ति न वचोऽनृतम् ॥ ८-६३ ॥

भावहीना अज्ञातवीर्याः, शक्तिहीनाः साञ्जनाः । यथोक्तम्

शाङ्गनास्तेऽण्डमध्यस्थाः सात्त्वराजसतामसाः ।

इति । कीलिता व्यत्यस्तवर्णपदाः, गुर्वाम्नायविवर्जिताः शिष्यैः स्वयमेव पुस्तकाद् गृहीताः, भ्रष्टाम्नाया अज्ञातसंहितोत्थानाः, तत एव विनष्टाः, आगमोज्झितैर्विघ्निता नित्यं क्षुद्रसिद्धिविनियोगेन विघ्नाभिभूताः कृताः । असिद्धा रिपवो ये इति नामाक्षरान्मन्त्राक्षरं मातृकाक्रमेणाङ्गुलिपर्वचतुष्टये पुनःपुनरावर्तनया गण्यमानं यदि (प्रथमं पर्व स्पृशति तदा सिद्धं भवति यदि) द्वितीयं पर्व स्पृशति, तदा सिद्धं साध्यं तदुच्यते । यदि तृतीयं पर्व स्पृशति, तदा सुसिद्धं भवति । अथ चतुर्थं पर्व स्पृशति, तदास्य विरुध्यते । सर्वे अंशका भावस्वभावपुष्पपाताद्याख्याः । एवमादि च श्रीस्वच्छन्दादेर्ज्ञेयम् । एवमीदृशा अपि मन्त्रा नेत्रनाथसंपुटीकारेण इष्टा ध्याता जप्ताश्च सर्वसिद्धिप्रदा भवन्ति । न संशय इति, न वचोऽनृतमिति चोक्त्यानाश्वस्तानामप्याश्वासं रोहयति ॥ ६३ ॥

उपसंहरति

इति सर्वं समाख्यातं रहस्यं परमं प्रिये ॥ ६४ ॥

प्रथमाधिकारे यत् परमं रहस्यं प्रश्नितम् तदित्युक्तदृशा सर्वं समाख्यातमिति

शिवम् ॥ ६४ ॥

चिदानन्दघनं धाम शाङ्करं परमामृतम् ।

मृत्युजिज्जयति श्रीमत् स्वावेशेनोद्धरज्जगत् ॥

इति श्रीनेत्रतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचित-
नेत्रोद्योते अष्टमोऽधिकारः ॥ ८ ॥

नवमोऽधिकारः

नेत्रोद्योतः

स्वच्छस्वच्छन्दचिन्नेत्रं चित्रानुग्रहहेतुतः ।

सदाशिवादिभी रूपैः प्रस्फुरज्जयति प्रभुः ॥

****
**
** j~naanakaarikaa of the school of matsendryanatha edited by P.C. Bagchi, Calcutta, 1934
**
**
** Data entered by the staff of Muktabodha
**
*
*
**
** Encoded in Velthius transliteration
****
****

ज्ञानकारिका

प्रथमः पटलः

ॐ नमः शिवाय। सिद्धेभ्यो पुरुषेभ्यो नमः।

श्रीशङ्करपादेभ्यो नमः। अप्रतिहततत्त्वेभ्यो नमः।

अथातः संप्रवक्ष्यामि ज्ञानसर्वं (सु)भाषितम्।

कारिका श्री(ज्ञाना)ख्यातं विसर्ज ज्ञानकारिका(म्) ॥ १/१ ॥

कारिकानाम विज्ञानं श्रूयन्ते च ॥ ॥ ।वल ।

साम्प्रतं कथयिष्यामि योगिनां युक्तकारणम् ॥ १/२ ॥

मुक्तिमार्गी च (सर्व)तो सर्वेन्द्रियविवर्जिताः ।

पञ्चपञ्चविनिर्मुक्तो ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥वर्जितम् ॥ १/३ ॥

एते सुरास्तं ज्ञानं मुक्ति ॥ ॥ ॥ ॥वान् यथास्थितः ।

सर्वव्या(धि)विनिर्मुक्तं यच्च इन्द्रियगोचर(म्) ॥ १/४ ॥

द्वादशान्तं तथा ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥शान्तं तथैव च ।

द्वादशान्तं कलाशतं वर्णाक्षरविवर्जितम् ॥ १/५ ॥

सर्वज्ञश्च सदा शान्तं (सर्वा)श्रवविवर्जितम् ।

ब्रह्मा विष्णुस्तथा रुद्र ईश्वरः शिव एव च ॥ १/६ ॥

मूर्तिरूपं स्थितं हेतुरनुत्तरं यथास्थितः ।

रूपकायः सदातीतं मन्त्रतन्त्राविवर्जितम् ॥ १/७ ॥

आत्मापरविनिर्मुक्तं पक्षातीतं श्रयम् ।

॥ लक्षणा ॥ १/८ ॥

सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तं निश्चितन्तु निराकुलम् ।

साकुलत्वं यदा चित्तं विषयासक्तचेतसाम् ॥ १/९ ॥

तदा भ्रमन्ति संसारं मायामलविमोहिताः ।

एतद्द्वन्द्वसमाख्यातं संसारस्य तु निर्णयम् ॥ १/१० ॥

साम्प्रतं कथयिष्यामि मुक्तिस्तदस्तु दुर्लभम् ।

येन विज्ञानमात्रेण मुक्तिर्भवति योगिनाम् ॥ १/११ ॥

सर्वसंसाररहित-मुक्तिश्चैव निराकुलम्।

निश्चितं निश्चलं साम्यं निर्द्वन्द्वं च निराकुलम्॥ १/१२॥

भवेन् मोक्षो नराणाञ्च द्वन्द्वभावविवर्जितम्।

निश्चित्तं चित्तरहितं कारिकाज्ञानमुत्तमम्॥ १/१३॥

एतद्भेदं मयाख्यातं मोक्षस्यैव तु निर्णयम्।

सर्वाश्रयविनिर्मुक्तं चित्ताश्चै(व) निराश्रयम्॥ १/१४॥

चित्ताश्रयं भवेद्धर्मं निराश्रयं मोक्षदं स्मृतम्।

देवो देवी तथान्यश्च धर्माधर्मविवर्जितम्॥ १/१५॥

धर्माधर्माश्रयं प्रोक्तं संसारस्य तु बन्धनम्।

आश्रयं बन्धमित्युक्तं मुक्तिश्चैव निराश्रयम्॥ १/१६॥

निराश्रयं भवेत्तत्त्वमचिन्त्यमुक्तिलक्षणम्।

विषयावस्थं यदा चित्तं द्वन्द्वमुक्तिविवर्जित(म्)॥ १/१७॥

तदा भ्रमति संसारं यत्तं निश्चयतालयः।

मनोऽवस्थाविनिर्मुक्तं यावत्तं चञ्चलीभवेत्।

कथन्तं निश्चलं देवि ज्ञातव्यं ज्ञानकारिके॥ १/१८॥

इति ज्ञानकारिकायां मोक्षाधिकारः प्रथमः पटलः।

द्वितीयः पटलः

अतः परं प्रवक्ष्यामि ज्ञानं त्रैलोक्यदुर्लभम्।

कारिकातत्त्वसद्भावं सिद्धनाथकुलोद्भवम्॥ २/१॥

चन्द्रसूर्यविनिर्मुक्तं द्वारणाक्षविवर्जितम् (१)।

पृथिव्यापस्तं तथा योगी वायुराकाशमेव च॥ २/२॥

पञ्चभिराहेतो देहो श्रूयते तत्त्वनायके।

सर्वेषां व्यापकः शान्त व्याप्ती तस्य न विद्यते॥ २/३॥

व्यापकत्वे स्थितः साक्षाद्यथा क्षीरेषु सर्पिषः।

कथितं तत्त्वभिर्वस्तु ज्ञानरत्नं सुदुर्लभम्॥ २/४॥

आत्मापरविनिर्मुक्तं चित्तं चैव निराश्रयम्।

चित्ताश्रयं भवेद्द्वन्द्वं निराश्रयञ्चमौषदम्(?)॥ २/५

॥

मनसस्तु विधं प्रोक्तं राजसन्तामसन्तथा।

सात्त्विकन्तु तृतीयञ्च त्रिभिर्धर्मेण लक्षणम्॥ २/६॥

तामसं चञ्चलं क्षुद्रं राजसङ्गतिरागतिः।

सात्त्विकं तृतीयं ज्ञेयं धर्मयुक्तं सदा स्थितम्॥ २/७॥

चतुर्थन्तु मनश्चैव कथयामि विशेषतः।

गुणत्रयविनिर्मुक्तं सदा निर्वाणलक्षणम्॥ २/८॥

उत्तमोत्तमचतुर्थन्तु येन संशुद्धचेतसा।

सर्वाग्निविनयातीतमिन्द्रियातीतमव्ययम्॥ २/९॥

अनाभ्यासं सदा तत्त्वं सर्वचिन्ताविवर्जितम्।

चित्ताभावविनिर्मुक्तं निमित्तं तत्त्वलौकिकम्॥ २/१० ॥

अभावं भावनातीतं चित्ताचित्तविवर्जितम्।

चित्ताद्यचिन्तितं ज्ञानमवाच्यज्ञाननिर्णयम्॥ २/११ ॥

यथैव सदात्युक्ताः तावच्चित्तं सुचञ्चलम्।

चञ्चलं भावमित्युक्तमचलं मुक्तिलक्षणम्॥ २/१२ ॥

चित्तायुक्तं यदा चित्तं तदासौ चञ्चलं स्मृतम्।

चित्तातीतं यदा चित्तं निश्चितमचलं भवेत्॥ २/१३ ॥

सर्वचिन्ताविनिर्मुक्तमभावे निश्चलं भवेत्।

न योगाध्यातचित्तस्तु न च लक्षणसाधकम्॥ २/१४ ॥

न निरोधो भवेत् तत्र न कायशून्यमेव च।

न बहिरन्तमन्तस्थं न चान्त आदिमध्यगः॥ २/१५ ॥

न तेजो वायुराकाशं पृथिव्या आपभावना।

न बुद्धिर्न चाहंकारो न मन इन्द्रियो न च॥ २/१६ ॥

न चित्ताचित्तकस्तत्त्वं चिन्तातीतं स्थितं सदा।

न चिन्ता यस्तु विज्ञेया ज्ञातव्य कालशासनः॥ २/१७ ॥

यो सो निश्चिन्तसर्वज्ञः समाधिपरमेश्वरः।

ज्ञातव्यं मोक्षसद्भावं गुप्तभेदप्रकाशितम्॥ २/१८ ॥

संसारार्णवनिर्मुक्तं कल्पनातीतगोचरम्।

निर्विकल्पं सदा ज्ञानं कथितं ज्ञानकारिकम्॥ २/१९ ॥

चेतनाचेतना चैव कल्पना भावनास्तथा।

धारणाधरविन्यासचन्द्रसूर्याग्निमण्डले ॥ २/२० ॥

वायुराकाशस्तथा सृत्याः ब्रह्मा रुद्रादिदेवताः।

सर्वे ते कल्पना प्रोक्तं निर्विकल्पस्तथान्यथा ॥ २/२१ ॥

कल्पनाज्ञानयुक्तास्तु भ्रमन्ति घटयन्त्रवत्।

परिपूर्णं कथं तेषां सिद्धक्रमविवर्जितम्॥ २/२२ ॥

पतन्ति क्षिप्रं संसारे चित्तज्ञानेन रञ्जितः।

न यान्ति चेह संसारे ये स्थिता उत्तमं पदम्॥ २/२३ ॥

नरके गमनन्तस्य न स्वर्गे गमनन्तथा।

पाशद्वयविनिरूपस्तु धर्माधर्मनिबन्धने ॥ २/२४ ॥

ज्ञानखड्गेन छित्वा पाशद्वयनिबन्धनम्।

अन्धपाशं यदा चित्तं कुतो गच्छन्ति योगिनः॥ २/२५ ॥

धर्माधर्मद्वयः पाशो पतन्त्युत्पतन्ति च।

तेन पाशेन बद्धस्तु भुञ्जते कर्मसञ्चयम्॥ २/२६ ॥

धर्मेण भुञ्जते स्वर्गमधर्मं नरकादिषु।

धर्माधर्मौ तु द्वौ योऽसौ त्रैलोक्यस्य निबन्धनम्॥ २/२७ ॥

धर्माधर्मं यदा त्यक्तं क्षिप्रं मुञ्चन्ति मानवाः।

धर्मा चैव अधर्मा द्वौ द्विविधं परिकीर्तितम्॥ २/२८ ॥

सबा(ह्य)भ्यन्तरचेतः धर्माधर्मप्रतिष्ठितम्।

अध्यात्मजातसद्भावं योगिनामेवसंस्थितः॥ २/२९ ॥

लौकिकास्थलकर्मञ्चाध्यात्मकस्येदं सूक्ष्मम्।

आध्यात्मिके चैव धर्माधर्मस्थितिः सदा ॥ २/३० ॥

ऊद्ध्र्वचारो भवेद्धर्मोऽद्वयस्योऽधर्मलक्षणम्।

धर्माधर्मक्षये क्षीणे मुच्यते सर्वैर्धनैः (?) ॥ २/३१ ॥

धर्माधर्मद्वयं ज्ञात्वा पुनर्ज्ञानमवाप्नुयात्।

धर्माधर्मविचारोऽयं कथितं ज्ञानकारिकैः ॥ २/३२ ॥

इति ज्ञानकारिकायां धर्माधर्मविचारो नाम द्वितीयः पटलः

॥

तृतीयः पटलः

अथ चर्यान् (प्र)वक्ष्यामि योगिनामुपजायते।

स चेताज्ञान न सर्वः चैतन्यं ज्ञानवर्जितम्॥ ३/१ ॥

चेताचेतसमायुक्तं ज्ञानत्वं सम्प्रकीर्तितम्।

भुक्तितत्त्वं यदा चेतं स चेत्तम्मुक्तिलक्षणम्॥ ३/२ ॥

चेताचेतसमायुक्तं चैतन्यं शाश्वतं पदम्।

योगिनां योगचिन्तितमार्यसंज्ञानवर्जितम्॥ ३/३ ॥

यो मार्गविनिर्मुक्तं योगिनां मुक्तिलक्षणम्।

एकलिङ्गे श्मशाने वा नदीनां सङ्गमेषु च॥ ३/४ ॥

शून्यागारे गुहावासे वृक्षमूले तु चत्वरे।

महोदधितटे चैव त्रिपथे वापि साधकः ॥ ३/५ ॥

नग्नास्ते मुक्तकेशास्तु मदिरानन्दचेतसः ।

मालानिर्मालिता योगी एकाकी भ्रमते सदा ॥ ३/६ ॥

लिङ्गन्तु कथयिष्यामि यल्लिङ्गं कौलिकं स्मृतम् ।

लयपूजाष्टकं यत्तं लिङ्गन्तु स चराचरम् ॥ ३/७ ॥

लय वै यानि सर्वेषां तेन लिङ्गं मुदा कृतम् ।

एतत् कौलिकं यल्लिङ्गं न शैलहेमरौप्यजम् ॥ ३/८ ॥

कथितं देहजं लिङ्गं एकन्तु न द्वितीयकम् ।

एकलिङ्गं समाख्यातं श्मशानं कथयामि ते ॥ ३/९ ॥

शोभते च यदा देहः सर्वेषां एकदेहिनाम् ।

निस्वासस्वाससंयुक्तं श्मशानं परिकीर्तितम् ॥ ३/१० ॥

अधोर्द्धं प्राणसञ्चारः बहते चैव नित्यशः ।

ऊद्र्ध्वचारे भवेद् गङ्गा यस्ना(?) चाधो व्यवस्थितः ॥ ३/११

॥

द्वाभ्यां मेलापकं यत्न स न मेतत् (?) प्रकीर्तिता ।

अशरीरं यदा तत्त्वं स्वदेहे सा स्थिता यदि ॥ ३/१२ ॥

शून्यं निरञ्जनं ज्ञात्वा मुच्यते नात्र संशयः ।

गुह्यं तु कथयिष्यामि गुह्ये सचराचरम् ॥ ३/१३ ॥

गुह्यं शरीरमित्युक्तं वासितं ज्ञानराशिना ।

गुह्यावासं स्थितो योगी चर्या तस्य न उच्यते ॥ ३/१४ ॥

वासस्तु कथितं दिव्यं वृक्षमूलं शृणु तथा।

वृक्षः शरीरमित्युक्तं पादादिकरशाखयोः॥ ३/१५॥

ऊद्ध्र्वमूलं भवेद्वक्रं मूलवे (?) वृक्षधारकम्।

वृक्षमूलं ततो ज्ञात्वा बाह्यवृक्षस्य वर्जितम्॥ ३/१६॥

वृक्षमूलं समाख्यातं चत्वारः शृणु साम्प्रतम्।

जया च विजया चैव अजिता चापराजिता॥ ३/१७॥

चतुःशक्तिसमोपेतं चत्वारं मात्रकोद्भवम्।

चत्वारं कथितं दिव्यं महोदधितटः शृणु॥ ३/१८॥

बिन्दुस्तञ्च पराशक्तिः तटस्थः चारुरूपिणी।

बिन्दुचारुस्थिता नित्यं तटस्थं बिन्दुमण्डलम्॥ ३/१९॥

तटस्थञ्च स्थिता योगी तटं चैव प्रकीर्तितम्।

चन्द्रं त्यक्त्वा यदा याति आधारं सूर्यमण्डलम्॥ ३/२०॥

णुम्बेरिन्ग् गलत है

सूर्यं त्यक्त्वा यदा याति व्योमाऽस्तु चन्द्रमण्डले।

गगनमास्थितो (?) नित्यं वेला इव महोदधेः॥ ३/७२॥

एतद्वेला समाख्यातम् अध्यात्मैव प्रतिष्ठितम्।

नास्थिरं भवति श्वासं बहिस्थं मनरञ्जितम्॥ ३/७३॥

अथिरं सर्वयोगिनां प्रवाहं वहते सदा।

प्रवाहं गमनश्चैव गमनागमनं पुनः ॥ ३/७४ ॥

गमनागमनसंयुक्तो वेलाऽस्मिन् यथा स्थितम् ।

गमागम यथा वेला नास्ति रञ्जित कश्चित् (?) ॥ ३/७५ ॥

गगनोपमं स्थितं जगत् भावन्निश्चलतां व्रजेत् (?) ।

महोदधितटे स्थित्वा उदधि कथितं ततः ॥ ३/७६ ॥

निश्चलं परिपूर्णत्वं महोदधि स्मृतम् ॥ ॥ ॥ । ।

योगिनां चर्यसद्भावं कथितं तत्त्वं विशेषतः ॥ ३/७७ ॥

महोदधि समाख्यातं त्रिपञ्चकं कथयाम्यहम् ।

सत्त्वरजस्तमश्चैव एकत्वे तु यथा स्थितम् ॥ ३/७८ ॥

त्रिपथं तु विनिर्मुक्तं शाश्वतो ज्ञानकारिका ।

त्रिपथं तु समाख्यातं नग्नन्तु कथयामि ते ॥ ३/७९ ॥

अविद्या ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ।पत्यत्काल(?) (न)ग्नकं च साधकेश्वरम् ।

नग्नस्तु कथितान् देवान् मुक्तकेशन्ततः शृणु ॥ ३/८० ॥

केशस्तु पाशमित्युक्तं मुक्तिमार्गप्रबन्धकम् ।

धर्मस्तु नैकेन पाशश्चैव विशेषतः ॥ ३/८१ ॥

षड्भिर्मुक्तो यदा योगी मुक्तकेशः स उच्यते ।

मुक्तकेशः समाख्यात आनन्दं शृणु साम्प्रतम् ॥ ३/८१ ॥

योगपारगतो योगी महापारविवर्जितः ।

पानयोगामृतं दिव्यं योगिनां सम्प्रकीर्तितम् ॥ ३/८३ ॥

एभिर्युक्तो महायोगी मदिरामत्त उच्यते ।

मदिरानन्दमाख्यातं नैर्माल्यमालिनो (?) शृणु ॥ ३/८४ ॥

वर्णं चैवास्ति मालाग्रं संस्थितो शक्तिसूत्रके ।

माला चैव समाख्याता योगिनां चान्यकारणम् ॥

नैर्माल्यमालिनो योगी योगचर्यां करोति सः ॥ ३/८५ ॥

एकाकीमतिथिर्यस्तु भ्रमिते प्रवदेत् सदा ।

असंहायो भ्रमते धीरः स एकाकीनमुच्यते ॥ ३/८६ ॥

एकाकी तु समाख्याता शास्त्रं मिलकारिका (?) ।

एतच्चर्या समाख्याता विश च ज्ञानधारक (?) ॥ ३/८७ ॥

इति ज्ञानकारिमहामछिन्द्रनाथपादावतारितेनोक्तं

चर्याधिकारस्तु तृतीयः पटलः ॥

****
**
** akulaviiratantram of the school of Matsendryanatha edited by P.C. Bagchi, Calcutta, 1934
**
**
** Data entered by the staff of Muktabodha
**
*
*
**
** Encoded in Velthius transliteration
****
****

[आ]

श्रीमच्छन्दपादकेभ्यो नमः।

श्रीमीनसहजानन्दं स्वकीयाङ्गसमुद्भवम्।

सर्वमाधारगम्भीरमचलं व्यापकं परम्।

मायामलविनिर्मुक्तं मीननाथं नमाम्यहम्॥

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि अकुलवीरं महद्भूतम्।

गुह्याद् गुह्यतरं गुह्यं सिद्धसद्भावसन्ततिः॥ १॥

अनुग्रहाय लोकानां सिद्धनाथेन भाषितम् ।

गोपनीयं प्रयत्नेन यदीच्छन् शाश्वतं पदम् ॥ २ ॥

संसारार्णवमग्नानां भूतानां महदाश्रयम् ।

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे समुपागताः ॥ ३ ॥

तथा अकुलवीरेषु सर्वधर्मा लयङ्गताः ।

सर्वाधारमशेषस्य जगतः सर्वदा प्रभुः ॥ ४ ॥

सहजानन्दं न विन्दन्ति सर्वधर्मसमासृताः ।

अजानन्तमलैर्ग्रस्ता महामायान्धच्छादिताः ॥ ५ ॥

शास्त्रजालेन सन्तुष्टा मोहितास्त्यजयन्तिताः (?) ।

न विन्दन्ति पदं शान्तं कौलानां निष्कलं गुरुम् ॥ ६ ॥

संवादयन्ति ये केचिन् न्यायवैशेषिकास्तथा ।

बौधास्तु अरिहन्ता ये सोमसिद्धन्तवादिनः ॥ ७ ॥

मीमांस पञ्चस्रोताश्च वामसिद्धान्तदक्षिणाः ।

इतिहासपुराणञ्च भूततत्वन्तु गारुडम् ॥ ८ ॥

एभिः शैवागमैः सर्वैः परोक्षञ्च क्रियान्वितैः ।

सविकल्पसिद्धिसञ्चारं तत् सर्वं पापबन्धवित् ॥ ९ ॥

विकल्पबहुलाः सर्वैर्मिथ्यावादा निरर्थकाः ।

न ते मुञ्चन्ति संसारे अकुलवीरविवर्जिताः ॥ १० ॥

सर्वज्ञं सर्वमासृत्य सर्वतो हितलक्षणम् ।

सर्वेषां सिद्धिस्तत्रस्था सर्वसिद्धिश्च तत्र वै ॥ ११ ॥

यत्रासौ अकुलवीरो दृश्यते सर्वतोमुखम्।

तं विदित्वा परं रूपं मनो निश्चलतां व्रजेत्॥ १२ ॥

शब्दरूपरसस्पर्शगन्धश्चैवात्र पञ्चमम्।

सर्वभावाश्च तत्रैव प्रलीणाः प्रलयं गताः ॥ १३ ॥

भावाभावविनिर्मुक्त उदयास्तमनवर्जितः।

स्वभावमतिमतं शान्तं मनो यस्य मनोमयम्॥ १४ ॥

अकुलवीरमिति ख्यातं सर्वाधारपरापरम्।

नाधारलक्षभेदन्तु न नादगोचरे पठेत्॥ १५ ॥

हृदि स्थाने न वक्रे च घण्टिका तालरन्ध्रके।

न इडा पिङ्गला शान्ता न चास्तीति गमागमे ॥ १६ ॥

न नाभिचक्रकण्ठे च न शिरे नैव मस्तके।

तथा चक्षुरुन्मीलने च न नासाग्रनिरीक्षणे ॥ १७ ॥

न पूरककुम्भके तत्र रेचके (च) तथा पुनः।

न बिन्दुभेदके ग्रन्थौ ललाटे न तु वह्निके ॥ १८ ॥

(p. 86)

प्रवेशनिर्गमे नैव नावाहनविसर्जनम्।

न करणैर्नासनं मुद्रैर्नामासे भिन्नतालुके (?) ॥ १९ ॥

न निरोधो न चोद्धारो नातीतां चालनं न हि।

न प्रेर्यप्रेरकञ्चैव न स्थानन्नैव चाश्रयम्॥ २० ॥

न चात्मनैव तद् ग्राह्यं ग्राह्यातीतपदं भवेत्।

एतत् पक्षविनिर्मुक्तं हेतुदृष्टान्तवर्जितम्।

सबाह्याभ्यन्तरन्तत्र एकोच्चारं चराचरम्॥ २१॥

न दूरे न च वै निकटे न भरितो न च रिक्तक(ः)।

न उन्नो न सोऽधिक एभिः पक्षैर्विवर्जितम्॥ २२॥

यश्च विंशात्मको ह्येष पुद्गल नास्ति यत्र वै।

यत्र लक्षं न विद्येत अकुलवीर स उच्यते॥ २३॥

यस्यैवं संस्थितं कश्चित् समरस संस्थितः।

स ब्रह्मा सो हरिश्चेशः स रुद्रो स च ईश्वरः॥ २४॥

स शिवः परमदेवः स सोमार्काग्निकस्तथा।

स च सांख्यः पुराणाश्च अर्हन्तबुद्ध एव च॥ २५॥

स्वयं देवी स्वयं देवः स्वयं शिष्यः स्वयं गुरुः।

स्वयं ध्यानं स्वयं ध्याता स्वयं सर्वत्र देवता॥ २६॥

यादृशेन तु भावेन पुरुषो भावयेत् सदा।

तादृशं फलमा(व)प्नोति नात्र कार्यविचारणात्॥ २७॥

अस्यैव हि नामानि पृथग्भूतानि योगिभिः।

अनाम तस्य गीयन्ते भ्रान्तिज्ञानविमोहितैः॥ २८॥

धर्माधर्मसमाक्लिष्टाविकल्पतमश्छादिताः।

तेन मुञ्चन्ति संसारं नरकं योनिसंकुलम्॥ २९॥

अकुलवीरं महद्भूतं यदा पश्यन्ति सर्वगम्।

स बाह्याभ्यन्तरे नित्यं एकाकारं चराचरम्॥ ३०॥

निस्तरङ्गं निराभासं पदभेदविवर्जितम्।

सर्वावयवनिर्मुक्तं निर्लयं निर्विकारजम्॥ ३१॥

अदृष्टनिर्गुणं शान्तं तत्त्वातीतं निरञ्जनम्।

सर्वज्ञं परिपूर्णञ्च स्वभावश्चैवमक्षयम्॥ ३२॥

कार्यकारणनिर्मुक्तमचिन्त्यमनामयम्।

मायातीतं निरालम्बं व्यापकं सर्वतोमुखम्॥ ३३॥

समत्वं एकभूतञ्च ऊहापोहविवर्जितम्।

अकुलवीरं महद्भूतम् अस्तिनास्तिविवर्जितम्॥ ३४॥

न मनो न च वै बुद्धिर्न चिन्ताचेतनादिकम्।

न कालः कलनाशक्तिर्न शिवो न च इन्द्रियः॥ ३५॥

न भूते गृह्यते सो हि न सुखं दुःखमेव च।

न रसो हि न सुखं दुःखमेव च (?)॥ ३६॥

न रसो विरसश्चैव न कृतो न च जायते।

न च्छाया न च तापस्तु न शीतो न च उष्णवान्॥ ३७॥

न (दृश्यते मन्) स्तत्र उदयास्तमनवर्जितम्।

न सीमा दृश्यते तत्र न च तीर्थ्यं न चैव हि (?)॥ ३८॥

अद्वैतमचलं शान्तं संगदोषविवर्जितम्।

निराकुलं निर्विकल्पञ्च निबद्धञ्च मलक्षणम्॥ ३९॥

अनाथं सर्वनाथञ्च उन्मना मदवर्जितम्।

अनिगूढमसन्धिञ्च स्थावरं जङ्गमेव च ॥ ४० ॥

(p. 88)

ज्वलज्ज्वलनभूम्या च आपोञ्चैव तथैव च।

सर्वं समरसं पूर्णं अकुलवीरन्तु केवलम्॥ ४१ ॥

यस्यैषा संस्थिता मुक्तिः स मुक्तो भवबन्धनात्।

न तस्य मातापिता (वा)बान्धवं न च देवता ॥ ४२ ॥

न यज्ञं नोपवासञ्च न क्रिया वर्णभेदकम्।

त्यक्त्वा विकल्पसंघातम् अकुलवीरलयं गताः ॥ ४३ ॥

न जपो नार्चनं स्नानं न होमं नैव साधनम्।

अग्निप्रवेशनं नास्ति हेमन्तभृगु नोदनम्॥ ४४ ॥

नियमोऽपि न तस्यास्ति नोपवासो विधीयते।

पितृकार्यं न करोताति तीर्थयात्राव्रतानि च ॥ ४५ ॥

धर्माधर्मफलं नास्ति न स्नानं नोदकक्रिया।

स्वयं त्यज सर्वकार्याणि लोकाचाराणि यानि च ॥ ४६ ॥

समयाचारविचारञ्च कृतका बन्धकानि तु।

संकल्पञ्च विकल्पञ्च ये चान्ये किल धर्मिणः ॥ ४७ ॥

भवे योगी निराचारो पशुचारविवर्जितः।

सिद्धिश्च विविधाकारा पाताले च रसायनम्॥ ४८ ॥

प्रत्यक्षञ्च या लब्धं न गृह्णीयात् कदाचन।

सर्वञ्च पाशजालञ्च अधोमार्गप्रदायकः ॥ ४९ ॥

एतेषु मोचना नास्ति अकुलवीरविवर्जिताः।

यथा मृताः (न) जानन्ति स्वादं कटुमधुरस्य तु ॥ ५० ॥

तथा अकुलवीरन्तु न जानन्ति स्वभावगम्।

यथा मदिरा महान्तस्य कथितं नेवशकृते (?) ॥ ५१ ॥

अगे ८९ तो ९६ मिस्सिन्ग्

(p. 97)

रहस्यपरमानन्दमतिगुह्यं सुगोपितम्।

लोकानां च हितार्थाय सिद्धनाथेन भाषितम्॥ ३९ ॥

निर्विकल्पं पदं शान्तं यत्र लीनं परापरम्।

मोक्षस्य तन्महास्थानं मन्त्ररूपविवर्जितम्॥ ४० ॥

तत्रैव सृष्टिरूपेण पुनस्तत्र लयं गता।

किन्तेन बहुनोक्तेन सर्वबन्धविवर्जितम्॥ ४१ ॥

अकुलवीरं यदा लब्धं तदा किं कौलिकैः क्रमैः।

लब्ध्वा तु मोक्षसद्भावम् अकुलवीरं मलापहम्॥ ४२ ॥

कौलमार्गे द्वयो सन्ति कृतका सहजा तथा।

कुण्डली कृतका ज्ञेया सहजा समरसे स्थिता ॥ ४३ ॥

प्रेर्यप्रेरकभावस्था कृतका साऽभिधीयते।

ततः स पातयेद् भूमौ मुद्रामन्त्रैर्नियोजितैः ॥ ४४ ॥

आहुते पतने चान्ये कर्णजापेन धूपकैः ।

एतत् साध्यमिदं तत्त्वं (एतद्) ध्यानञ्च धारणा ॥ ४५ ॥

अनेकैः कर्मसंघातैः नानामार्गविभावनैः ।

विकल्पकल्लोलोल्लोला उद्भ्रान्ता भ्रान्तचेतसः ॥ ४६ ॥

हृदि शोकेन सन्तप्ता व्यासङ्गाच्च महाभयैः ।

हर्षविषादसम्पन्ना शोच्यमाना मुहुर्मुहुः ॥ ४७ ॥

तावद्भ्रमन्ति संसारे कल्पाकल्पैर्भवार्णवैः ।

दग्धबीजेषु संभूतिर्यथा नैव प्रजायते ॥ ४८ ॥

मूलछिन्ने यथा वृक्षे न प्ररोहं विद्यते ।

अकुलवीरगतं भिन्नं नानाभावानुबन्धनैः ॥ ४९ ॥

न बध्यते यथा विमले रसं विप्रलयं गतम् ।

तद्वद्कुलवीरे च सत्त्वे भ्राभ्राख्य यद्गतः (?) ॥ ५० ॥

तिमिरेण यथाच्छन्नमुदितार्कं न पश्यति ।

अज्ञानमनस्तद्वद् भ्रान्तिजालविमोहिता ॥ ५१ ॥

अकुले वीरे च सम्प्राप्ते सर्वमेतद्विनश्यति ।

दधिमध्ये यथा सर्पिः काष्ठे चाग्निः स्थितो यथा ॥ ५२ ॥

पुष्पे गन्धस्तिले तैलं वृक्षे छाया समाश्रिता ।

मद्यमध्ये यथानन्दं दीपे प्रभा समाश्रिता ॥ ५३ ॥

पद्ममध्ये च कुण्डल्या अङ्गप्रत्यङ्गमेव च ।

रक्तार्थाकुलवीरे (?) च तत्सर्वं विनियोजितम्॥ ५४॥

भावाऽभावादिसंयुक्तैः प्रत्ययैर्दृष्टिगोचरैः।

अकुलवीरं न जानन्ति कृतकैर्मोहितात्मनः॥ ५५॥

पाशजालनिबद्धाश्च महामायाविमोहिताः।

न जानन्ति पदं शान्तमचिन्त्यं नित्यसम्भवः॥ ५६॥

सर्वव्यापिभावस्थं स्थानवर्णविवर्जितम्।

सर्वभूतस्थितं ह्येकमध्येयं ध्येयवर्जितम्॥ ५७॥

स च सर्वगतो भावः स्थिरे पूर्णे निरन्तरे।

तत्र मनो विलीनन्तु अचलं भवतन्मयम्॥ ५८॥

मनोवृद्धिस्तथा चिन्त्यं क्षिप्ता तन्मयतां गता।

यथा तिष्ठति तत्त्वस्थः शिवनिष्कलमव्यये॥ ५९॥

तदा तन्मयतां याति निर्मलं निश्चलं पदम्।

अकुलवीरं महद्भुतमेकवीरं च सर्वगम्॥ ६०॥

(p. 99)

दुर्लभं सुरसिद्धानां योगिनीनाञ्च गोचरम्।

केचिद् वदन्तीदं धर्ममिदं शास्त्रमिदं तपः॥ ६१॥

अयं लोकमिमं स्वर्गमिदं साध्यमिदं फलम्।

इदं ज्ञानञ्च विज्ञानं शुद्धाशुद्धमिदं परम्॥ ६२॥

ज्ञेयञ्च तत्त्वकूटञ्च यत्र ध्यानञ्च धारणा।

तदासौ योगिनी ह्येकः नान्यस्तु हि द्वितीयकः॥ ६३॥

(अ)नागतन्तु गतञ्चैव न गच्छेन्न च तिष्ठति ।

न भूतं न भविष्यञ्च स्थितिप्रलयवर्जितम् ॥ ६४ ॥

न चाहं प्रचितैर्दोषैः लिप्यते न कदाचन ।

नाहं कश्चिन्न मे कश्चिन्न बद्धो न च बाधकः ॥ ६५ ॥

न मुक्तो वै न च न मुक्तमे (?) मोक्षस्य च स्पृहा ।

गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन् जाग्रद्भूञ्जानो मैथुनेऽपि वा ॥ ६६ ॥

भयदारिद्रशोकैश्च विविधैर्भक्षणैस्तथा ।

चिकित्सा नैव कुर्वीत इन्द्रियार्थैः कदाचन ॥ ६७ ॥

आचरेत् सर्ववर्णैस्तु न तु भक्ष्यं विचारयेत् ।

एवं स चरते योगी यथारण्ये हुताशनः ॥ ६८ ॥

पिण्डबधाञ्च नानास्ति अवस्था मूर्खवासनाम् (?) ।

सोमशून्यस्तथा वह्निप्राणायामविवर्जितम् ॥ ६९ ॥

अप्रमेयनिराभासं धारणाध्यानवर्जितम् ।

येन जन्मसहस्राणि भक्तया संपूजितो गुरुः ॥ ७० ॥

(p. 100)

ते लभन्ति महाज्ञानं अकुलवीरन्तु मोक्षदम् ।

योगिनीराकिणीचक्रे यस्य भक्तिः सुनिश्चला ॥ ७१ ॥

अकुलवीरं महद्भूतं गम्भीरं गहनामयम् ।

पिण्डातीतं यदा ज्ञेयमपिण्डं पिण्डवर्जितम् ॥ ७२ ॥

पदव्यञ्जननिर्मुक्तं विमलं सततोदितम् ।

तल्लीने तन्मयात्मानं विन्दते श्वाश्वतं पदम् ॥ ७३ ॥

चिन्तातीतं भवेत् सो हि योगसंयोगवर्जितम् ।

निर्वाणं वासनाहीनं तृप्तात्मा च निरामयः ॥ ७४ ॥

तेन लब्धा न सन्देहोऽमला मलच्छेदनाः ।

तस्य प्रवर्तते क्षिप्रं तस्यैव सर्वसर्वगम् ॥ ७५ ॥

वेदसिद्धान्तशास्त्राणि नानाविधानि शिखानि च ।

तानि सर्वाणि मोहानि कायक्लेशैर्निरर्थकम् ॥ ७६ ॥

विद्याहङ्कारग्रस्तास्तु गर्विताः कुगतिं गताः ।

अनर्थेन च सन्तुष्टा बहुग्रन्थार्थचिन्तकाः ॥ ७७ ॥

अकुलवीरं न विन्दन्ति कृतकैर्मोहितात्मनः ।

गर्वितानां कुतो ज्ञानं ग्रन्थकोटिशतैरपि ॥ ७८ ॥

कर्पूरकुङ्कुमादीनां वस्त्रताम्बूलमेव च ।

खरवद्भवति तद्भारं सर्वं तस्य निरर्थकम् ॥

अकुलवीरञ्च देहस्थं यदा पश्यति सर्वगम् ॥ ७९ ॥

धर्माधर्मफलं नास्ति नोदकं तीर्थसेवना ।

न क्रिया सत्यशौचं वा कर्मकाण्डे न भावना ॥ ८० ॥

(p. 101)

न तस्य कर्मकर्माणि लोकाचाराणि यानि च ।

चरिताः समयाचारा जनैर्भ्रान्तिविमोहितैः ॥ ८१ ॥

अकुलवीरं न जानन्ति किं विशिष्टं कुतः स्थितम् ।

कृतका बन्धना लोके कल्पिताश्च कुपण्डितैः ॥ ८२ ॥

संकल्पविकल्पश्च कलाकर्माणि यानि च ।

सिद्धयो विविधा लोके पातालं च रसायनम् ॥ ८३ ॥

प्रत्यक्षश्च यदा लब्धं न विगृह्णीयात् कदाचन ।

सर्वे ते पाशबद्धश्च अधोमार्गप्रदायकाः ॥ ८४ ॥

न चैतैर्मुक्तिः संसारे अकुलं वीरवर्जिताः ।

यथा मदिरमानन्दं कथितं नैव जायते ॥ ८५ ॥

तद्वदकुलवीराख्यं स्वसंवेद्यनिरोपणम् ।

न जानन्ति नरा मूढाः सारात् सारतरं परम् ॥ ८६ ॥

तावद् भ्रान्तिविमुग्धात्मा यावत्तलं न विन्दति ।

चिन्तातीते यदा योगी स योगी योगचिन्तकः ॥ ८७ ॥

विरक्ता वासना यस्य तृप्तात्मा च निरामयः ।

तावद् भ्रमन्ति मोहात्मा नानाभावानुबन्धनैः ॥ ८८ ॥

यावत् सममेकत्वं परमानन्दं न विन्दति ।

मूर्खाणां च यथाशास्त्रं कुमारीसुरतिं यथा ॥ ८९ ॥

अकुलवीरं विन्दन्ति कथ्यमानैः कुमारिकाः ।

दिशवेशविनिर्मुक्तं स्थानवर्णविवर्जितम् ॥ ९० ॥

(p. 102)

निराकुलं निर्विकल्पं निर्गुणञ्च सुनिर्मलम् ।

अनाथं सर्वनाथञ्च प्रमादोन्मादवर्जितम् ॥ ९१ ॥

घननिविडनि(ः)सन्धिस्थावरे जङ्गमेषु च ।

जले ज्वलने तथा पवने भूम्याकाशे तथैव च ॥ ९२ ॥

सर्वत्र समरसं भरितमकुलवीरन्तु केवलम् ।

तं ज्ञातं येन देहस्थं स मुक्तः सर्वबन्धनात् ॥ ९३ ॥

न तस्य क्रियाबन्धेन न वेद्यं न च वेदना ।

न यज्ञो नोपवासश्च न चर्या न क्रियोदयः ॥ ९४ ॥

न वर्णो वर्णभेदश्च अकुलवीरं यदागतम् ।

न जापो नार्चनाग्नीनां न होमो नैव साधनम् ॥ ९५ ॥

नाग्निप्रवेशनन्तस्य मन्त्रपूजाचरणोदकम् ।

नियमाश्च न तस्यास्ति क्षेत्रपीठे च सेवनैः ॥ ९६ ॥

न क्रिया नार्चनाकाद्यैर्न तीर्थानि व्रतानि च ।

निरालम्बपदं शान्तं तथातीतं निरञ्जनम् ॥ ९७ ॥

सर्वज्ञपरिपूर्णञ्च स्वभावेन विलक्ष्यते ।

कार्यकारणनिर्मुक्तमचिन्तितञ्च अनामयम् ॥ ९८ ॥

मायातीतं निरालम्बं व्यापकं सर्वतोमुखम् ।

स्वदेहे संस्थितं शान्तमकुलवीरं तदुच्यते ॥ ९९ ॥

समस्तमेकदाभूतं द्वैताभावविवर्जितम् ।

अकुलवीरं महद्भूतमस्तिनास्तिविवर्जितम् ॥ १०० ॥

(p. 103)

मनोबुद्धिचित्तस्तचित्ता नैव स्वचेतना (?) ।

न कालकलना चैव न शक्तिश्च न चेन्द्रियः ॥ १०१ ॥

न भूते गृह्यते सो हि न दुःखं सुखमेव च ।

न रसोऽधिरसश्चैव कृतकं नैव कारकम् ॥ १०२ ॥

न च्छाया नातपो वह्निर्न च शीतोष्णवेदना ।

न दिनं रात्रिमित्युक्तमुदयास्तमनवर्जितम् ॥ १०३ ॥

न मनो दृश्यते तत्र नोर्द्ध्वमध्यं च ज्ञायते ।

अक्षोभ्यमचलं शान्तमीदृशं तत्त्वनिर्णयम् ॥ १०४ ॥

यादृशेन तु भावेन पुरुषो भावयेत् सदा ।

तादृशं फलमाप्नोति नात्र कार्यविचारणात् ॥ १०५ ॥

एवञ्च कुलसद्भावमवाच्यं परमामृतम् ।

अगम्यं गम्यते कस्माद् भ्रान्तिज्ञानविमोहिताः ॥ १०६ ॥

न दूरे निकटे चैव प्रत्यक्षं न परोक्षता ।

न भरितो न रिक्तो वा निपुणो नापि चाधिकः ॥ १०७ ॥

एतत् पक्षविनिर्मुक्तो हेतुदृष्टान्तवर्जितः ।

कृतकैर्मोहिता मूढाः कर्मकाण्डरतास्तु ये ॥ १०८ ॥

न तेषां मुक्तिः संसारे नरके योनिसंकुले ।

अकुलवीरं महद्भूतं यदा पश्यति सर्वगम् ॥ १०९ ॥

सबाह्याभ्यन्तरैकत्वं सर्वत्रैव व्यवस्थित(म्) ।

निस्तरङ्गं निराभासं पदच्छेदविवर्जितम् ॥ ११० ॥

सर्वावयवनिर्मुक्तं निर्विकारञ्च निर्मलम् ।

अदृश्यं निर्गुणं नित्यं निर्णिरोधञ्च निश्चलम् ॥ १११ ॥

(p. 104)

न ध्यानं धारणा नैव न स्थानं वर्णमेव च ।

न रेचकं पूरकञ्चैव नरोद्घातञ्च (?) कुम्भकम् ॥ ११२ ॥

न चान्तमादिमध्यस्थं न सतो वृद्धिरेव च ।

ग्राह्यग्राहकनिर्मुक्तग्रन्थातीतञ्च यद्भवेत् ॥ ११३ ॥

एतैः सर्वैर्विनिर्मुक्तं हेतुदृष्टान्तवर्जितम् ।

सबाह्याभ्यन्तरैकत्वं सर्वत्रैव व्यवस्थितम् ॥ ११४ ॥

समरसानन्दरूपेण एकाकारं चराचरे ।

ये च ज्ञातं स्वदेहस्थमकुलवीरं महद्भूतम् ॥ ११५ ॥

यस्या (?) वशं स्थितः कश्चित् समरसं रससंस्थितम् ।

स ब्रह्मा स हरिश्चैव स रुद्रश्चै(वे)श्वरस्तथा ॥ ११६ ॥

स शिवः शाश्वतो देवः स च सोमार्कशङ्करः ।

स विशाख्यो मयूराक्षो अर्हन्तो बुधमेव च ॥ ११७ ॥

स्वयं देवि स्वयं देवः स्वयं शिष्यः स्वयं गुरुः ।

स्वयं ध्यानं स्वयं ध्याता स्वयं सर्वेश्वरो गुरुः ॥ ११८ ॥

सर्वज्ञः सर्वमासृत्य सर्वतो हितलक्षणः ।

सर्वयोगिनी तत्रस्था सर्वे सिद्धाश्च तत्र वै ॥ ११९ ॥

सर्वं सर्वार्थकं चैव सर्वज्ञानश्च तत्र वै ।

यथासौ महार्थञ्च अकुलवीरमिति स्मृतम् ॥ १२० ॥

शब्दः स्पर्शौ रसो रूपं गन्धो वद्याणिपम च (?)।

सर्वे भीराश्च (?) तत्रैव ये प्रलीनाः प्रलयं गताः॥ १२१॥

नाधारे ध्येयलक्ष्ये च न नादगोचरे परे।

न हृदि नाभिकण्ठे वा वक्रे घण्टिकरन्ध्रयोः॥ १२२॥

(p. 105)

न इडा पिङ्गला चैव सुष्मणा च गमागमैः।

न नाभिचक्रे कण्ठे च न शिरे बिन्दुके तथा॥ १२३॥

चक्षुकर्णोन्मीलनं नैवं नासिकाग्रनिरीक्षणे।

न पूरके कुम्भके चैव रेचके च तथा पुनः॥ १२४॥

न बिन्दुभेदग्रन्थौ च ललाटे न च चन्द्रमाः।

प्रवेशे निर्गमे चैव शिखा ऊद्ध्र्वे न बिन्दुके॥ १२५॥

न करैर्न सरैर्मुद्रैः नाकाशे वायुमण्डले।

न चापे चन्द्रसूर्ये च भावाभावे समागमे॥ १२६॥

अनौपम्यं निरालम्बं पक्षापक्षविवर्जितम्।

अज्ञानमलग्रस्तात्मा महामायाविमोहिताः॥ १२७॥

शास्त्रार्थेन विमुढात्मा मोहिता विदुषो जनाः।

न विदन्ति पदं शान्तं कैवल्यं निष्क्रियं गुरुम्॥ १२८॥

संख्यादयश्च ये केचित् न्यायवैशेषिकास्तथा।

बौद्धारहन्ताश्च ये केचित् सोमसिद्धान्तदक्षिणाः॥ १२९॥

मीमांसा पञ्चरात्रञ्च वामदक्षिणकौलिकाः।

इतिहासपुराणानि भूततत्त्वञ्च गारुडम् ॥ १३० ॥

एते चैव समाः सर्वे केचित् वा(ऽपि) क्रियान्विताः ।

विकल्पसिद्धिदाः सर्वे तद्विदुर्न च पण्डिताः ॥ १३१ ॥

विकल्पबहुलाः सर्वे मिथ्यावादनिरर्थकाः ।

न ते मुच्यन्ति संसारे अकुलवीरविवर्जिताः ॥ १३२ ॥

यानि कानि च स्थानानि गिरिर्निगरसागरम् ।

सर्वत्र संस्थितं नित्यं स्थावरे जङ्गमेषु च ॥ १३३ ॥

पञ्चभूतात्मकं सर्वे यत् किञ्चित् सचराचरम् ।

शिवाद्यदेवपर्यन्तं सर्वं तत्रैव संस्थितम् ॥ १३४ ॥

ईदृशं योगिनं दृष्ट्वा उपसर्पन्ति ये नराः ।

गन्धैः पुष्पैश्च धूपैश्च खानपानादिभक्षणैः ॥ १३५ ॥

तर्पयन्ति च ये भक्तास्त्रिविधैश्चैवान्तरात्मना ।

तेऽपि बन्धैः प्रमुच्यन्ति मुक्तिमार्गी न (?) काङ्क्षिणः ॥ १३६ ॥

ब्रह्मेन्द्रविष्णुरुद्रञ्च अरहन्ता बुद्धमेव च ।

विषाख्यो मयूराक्ष (?) ये च ऋषयस्तपोधनाः ॥ १३७ ॥

देवादिभ्यो नरेन्द्राश्च ये चान्ये मोक्षकाङ्क्षिणः ।

ते (सर्वे) मोक्षमिच्छन्ति अकुलवीरन्तु मोक्षदम् ॥ १३८ ॥

अथान्यं संप्रवक्ष्यामि भिन्नावस्थां स्वभावगः ।

पूर्वं यदुक्ता सर्वे अन्वयमार्गे त्वकौलिके (?) ॥ १३९ ॥

* * * * * * * * * * * * * * * * * ।

* * * * * * * * * * * नात्र संशयः ।

परमामृतसन्तृप्ताः सहजानन्दं च केवलम् ॥ १४० ॥

न जरास्तेषां न मृत्युश्च न शोको दुःखमेव च ।

सर्वव्याधिहरश्चैव न पुनर्भवसंभवः ॥ १४१ ॥

अकुलवीरं स्थितं दिव्यं सिद्धनाथप्रसादतः ।

सर्वतः सर्वदा शुद्धः सर्वतः सर्वदा प्रभुः ॥ १४२ ॥

इति मच्छेन्द्रपादावतारिते कामरूपिस्थाने योगिनी प्रसादाल्लब्ध(म्) अकुलवीरं समाप्तम् ॥

शुद्धस्फटिकसंकाशां शुद्धक्षौमविराजिताम् ।
मुक्तावज्रस्फुरद्भूषां जपमालां कमण्डलुम् ॥ ६६ ॥
पुस्तकं वरदानं च बिभ्रतीं परमेश्वरीम् ।
एवं ध्यात्वा न्यसेत्पश्चाद्वीर्यान्यासं सुरेश्वरि ॥ ६७ ॥
कुर्वीत देहसंत्राहं त्रिभिर्बीजैः क्रमात्प्रिये ।
करयोर्विन्यसेदादौ मणिबन्धे तले नखे ॥ ६८ ॥
दक्षे वामे च विन्यस्य कक्षकर्पूरपाणिषु ।
पुनर्दक्षे च वामे च पादयोश्च तथा न्यसेत् ॥ ६९ ॥
नादान्ते हृदये लिङ्गे न्यसेद्देवि ततः परम् ।
एतेष्वङ्गेषु देवेशि संहारक्रमतो न्यसेत् ॥ ७० ॥
विद्यां सृष्टिक्रमेणैव जानीहि परमेश्वरि ।
ततो न्यसेन्महादेवि नवयोन्यङ्किताभिधम् ॥ ७१ ॥
कर्णयोश्चुबुके भूयः शङ्खयोर्मुखमण्डले ।
नेत्रयोर्नासिकायां च बाहुयुग्मे हृदि प्रिये ॥ ७२ ॥
तथा कूर्परयोर्नाभौ जान्वोरन्धुनि विन्यसेत् ।
पादयोर्देवि गुह्ये च पार्श्वयोर्हृत्स्तनद्वये ॥ ७३ ॥
कण्ठे च नवयोन्याख्यं न्यसेद्बीजत्रयात्मकम् ।
षडङ्गमाचरेद्देवि द्विरावृत्त्या क्रमेण तु ॥ ७४ ॥
त्रिद्व्येकदशकैस्त्रिद्विसंख्यया शैलसंभवे ।
अङ्गुलीनां पुनर्देवि बाणान्कामांश्च विन्यसेत् ॥ ७५ ॥
ललाटगलहृन्नाभिमूलाधारेषु वै क्रमात् ।
मूलेन व्यापकं कृत्वा प्राणायामं समाचरेत् ॥ ७६ ॥

इति श्रीमज्ज्ञानार्णवे नित्यातन्त्रे बालान्यासविधिर्नाम
द्वितीयः पटलः ॥ २ ॥

अथ तृतीयः पटलः ।

ईश्वर उवाच—

एवं विन्यस्तदेहः सन्समाहितमनास्ततः ।
अन्तर्यागविधिं कुर्यात्साक्षाद्ब्रह्ममयं प्रिये ॥ १ ॥

---

१ क. °सेद्देवि पश्चा° । २ क. °था सु° । ३ क. तलाग्रके । ४ ख. कद्वित्रिसं° । ५ °वं सन्यस्तदे° ।

मूलाधारे मूलविद्यां विद्युत्कोटिसमप्रभाम् ।
सूर्यकोटिप्रतीकाशां चन्द्रकोटिद्रवां प्रिये ॥ २ ॥
बिसतन्तुस्वरूपां तां बिन्दुत्रिवलयां प्रिये ।
ऊर्ध्वशक्तिनिपातेन सहजेन वरानने ॥ ३ ॥
मूलशक्तिदृढत्वेन मध्यबीजप्रबोधतः ।
परमानन्दसंदोहसानन्दं चिन्तयेत्पराम् ॥ ४ ॥
इत्यन्तर्यजनं कृत्वा बाह्यपूजां समाचरेत् ।
तत्र प्राङ्मुख आसीनश्चक्रोद्धारं समाचरेत् ॥ ५ ॥
सुस्थले श्रीभवे पट्टे लिखेद्यन्त्रमनुत्तमम् ।
ईशानादग्निपर्यन्तमृजुरेखां समालिखेत् ॥ ६ ॥
ईशादग्नेस्तदग्राभ्यां रेखे आकृष्य देशिकः ।
एकीकृत्य च वारुण्यां शक्तिरेखा परा प्रिये ॥ ७ ॥
त्रिकोणाकाररूपेयं तस्या उपरि संलिखेत् ।
त्रिकोणाकाररूपात्तु शक्तिद्वयमुदाहृतम् ॥ ८ ॥
पूर्वशक्त्यग्रभागे तु मानयष्टिवदालिखेत् ।
रेखां तु परमेशानि वायुराक्षसकोणगाम् ॥ ९ ॥
संधिभेदक्रमेणैव तयोः शक्त्योस्ततः परम् ।
रेखे आकृष्य कोणाभ्यां तदग्रात्पूर्वगे कुरु ॥ १० ॥
वह्निमण्डलमेतत्तु पूर्वाग्रं वीरवन्दिते ।
एकेन वह्निना शक्तिद्वयेनैतद्भवेत्प्रिये ॥ ११ ॥
नवयोनिविशोभाढ्यं चक्रराजमिदं प्रिये ।
सर्वसौभाग्यजनकं सर्वैश्वर्यप्रदायकम् ॥ १२ ॥
सर्वसिद्धिप्रदं रोगहरणं धनदायकम् ।
एतद्बाह्ये तु संलेख्यं वृत्तं पूर्णेन्दुसंनिभम् ॥ १३ ॥
तद्बाह्यमष्टपत्रं च ग्रन्थिभिश्चाष्टभिर्युतम् ।
ग्रन्थयः प्रणवाभ्यां च संपुटत्वेन कारयेत् ॥ १४ ॥
ग्रन्थयः कुलिशा ज्ञेयाः प्रणवैरेव सुव्रते ।
त्रिशूलाष्टकमालिख्य चतुरस्रं लिखेत्प्रिये ॥ १५ ॥

---

१ ख. °ध्यशक्तिप्र° । २ ख. °तू । श्रीखण्डसंभवे पट्टे स्थापयेद्यन्त्रमुत्त° । ३ ख. तस्योपरि च सं° । ४ ख. °रूपं तु श° ।

चतुर्द्वारविशोभाढ्यं सर्वानन्दकरं तथा ।
हसौःकारं त्रिकोणान्तः संलिख्य वरवर्णिनि ॥ १६ ॥
कामबीजं मध्यमं यदष्टकोणेषु संलिखेत् ।
स्वरान्षोडश देवेशि युग्मयुग्मप्रभेदतः ॥ १७ ॥
दलाष्टकेषु संलिख्य पश्चिमादिप्रदक्षिणम् ।
ग्रन्थिस्थानेषु वर्गाणां कादीनां परमेश्वरि ॥ १८ ॥
विलिखेत्सप्तसंख्यानामाद्यार्णं क्रमतः प्रिये ।
क्षकारमष्टमे योज्यं शेषान्वर्णान्क्रमेण तु ॥ १९ ॥
त्रिशूलाग्रेषु संलिख्य पश्चिमादिक्रमेण तु ।
तद्बाह्ये मातृकावृत्तं विलिख्य परमेश्वरि ॥ २० ॥
चतुरस्रे महेशानि मातृकां कामगर्भिताम् ।
विलिख्य पूजयेद्यन्त्रं हेमरौप्यादिपट्टके ॥ २१ ॥
ताम्रे वा दर्पले ताणे काश्मीरप्रभवेऽपि वा ।
चन्दनाद्यन्विते भूमौ कुङ्कुमेनाथ वा पुनः ॥ २२ ॥
सिन्दूररजसा वाऽपि कस्तूरीघुसृणेन्दुभिः ।
भूर्जे गोरोचनाद्रव्यैः कल्पितं मानसेऽथ वा ॥ २३ ॥
सुवर्णरत्नलेखिन्या सर्वकार्यार्थसाधकः ।
विलिख्य यन्त्रं देवेशि पूजाद्रव्यैः प्रपूजयेत ॥ २४ ॥
कुलागमक्रमेणैव ध्यात्वा ब्रह्मविकाशिनीम् ।
मूलादिब्रह्मरन्ध्रान्तं बिसतन्तुतनीयसीम् ॥ २५ ॥
*उद्यदादित्यरुचिरां स्मरेदशुभशान्तये ।
भ्रमद्भ्रमरनीलाभधम्मिल्लामलपुष्पिणीम् ॥ २६ ॥
ब्रह्मरन्ध्रस्फुरद्भृङ्गमुक्तारेखाविराजिताम् ।
मुक्तारेखालसद्रत्नतिलकां मुकुटोज्ज्वलाम् ॥ २७ ॥
विशुद्धमुक्तारत्नाढ्यां चन्द्ररेखाकिरीटिनीम् ।
भ्रमद्भ्रमरनीलाभनयनत्रयराजिनीम् ॥ २८ ॥
सूर्यभास्वन्महारत्नकुण्डलालंकृतां पराम् ।
शुक्राकारस्फुरन्मुक्ताहारभूषणभूषिताम् ॥ २९ ॥

* इदमर्धं ख. पुस्तके नास्ति ।

१ ख. ग्रन्थि स्था° । २ क स्थाने । ३ ख. वा । चारुपीठेऽथ वा भू° । ४ ख. कुङ्कुमागरुचन्दनैः । ५ ख. °धकम् । वि° ।

ग्रैवेयाङ्गदमुक्ताभिः स्फुरत्कान्तिविराजिताम् ।
गङ्गातरङ्गकर्पूरशुभ्राम्बरविराजिताम् ॥ ३० ॥
श्रीखण्डवल्लीसदृशबाहुवल्लीविराजिताम् ।
कङ्कणादिलसद्भूषां मणिबन्धलसत्प्रभाम् ॥ ३१ ॥
प्रवालपल्लवाकारपाणिपल्लवराजिताम् ।
वज्रवैडूर्यमुक्तालिमेखलां विमलप्रभाम् ॥ ३२ ॥
रक्तोत्पलदलाकारपादपल्लवभूषिताम् ।
नक्षत्रमालासंकाशमुक्तामञ्जीरमण्डिताम् ॥ ३३ ॥
वामेन पाणिनैकेन पुस्तकं चापरेण तु ।
अभयं च प्रयच्छन्तीं साधकाय वरानने ॥ ३४ ॥
अक्षमालां च वरदं दक्षपाणिद्वयेन हि ।
दधतीं चिन्तयेद्देवीं वश्यसौभाग्यवाक्प्रदाम् ॥ ३५ ॥
क्षीरकुन्देन्दुधवलां प्रसन्नां संस्मरेत्प्रिये ॥ ३६ ॥

इति श्रीमज्ज्ञानार्णवे नित्यातन्त्रे त्रिपुरेश्वरीध्यानं नाम तृतीयः पटलः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थः पटलः ।

श्रीदेव्युवाच—

चक्रमण्डलमाख्यातं न पूजा तत्र मण्डले ।
कथिता परमेशान श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ १ ॥

ईश्वर उवाच—

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि पूजामण्डलमुत्तमम् ।
पीठपूजां विधायाऽऽदौ रविदेवीविराजिताम् ॥ २ ॥
वामा ज्येष्ठा च रौद्री च अम्बिकेच्छा ततः परम् ।
ज्ञाना क्रिया कुब्जिका च ऋद्धिश्चैव विषघ्निका ॥३॥
दूतरी चैव आनन्दा देवि द्वादश शक्तयः ।
मुक्ताफलामलमणिस्फुरच्छत्रं शशिप्रभम् ॥ ४ ॥
गङ्गातरङ्गधवलं चामरद्वयमद्रिजे ।
नवरत्नस्फुरद्दीप्ति ताम्बूलस्य करण्डकम् ॥ ५ ॥

---

१ ख. °दपत्रालिस्फु° । २ क. °न्तिजितामृता° । ३ ख. °न्धमणिप्र° । ४ ख. °धर-लग्नालि° । ५ ख. °शमञ्जुम° । ६ ख. °विवेदावि° ।

अध्याय – चतुर्थ

आचार्य अमृतवाग्भव के अनुसार

सैद्ध योग

1) नादयोग :-

' श्रीसिद्धमहारहस्यम् ' में श्रीमदअमृतवाग्भवाचार्य ने जिस योग विशेष का निरूपन किया है, उसको उन्होंने सिद्धों द्वारा अनुसरित होने से ' सैद्धयोग ' संबोधित किया है । जिस नाद योग का विशेषतः उन्होंने उल्लेख किया है, उसको नादयोग के अतिरिक्त ध्वनियोग एवं वर्णयोग भी कहा जाता है । शंकराचार्य ने योगतारावली में इसे 'नादानुसंधानयोग ' कहा है । सिद्ध गोरखनाथ की परम्परा एवं योग ग्रन्थों में भी इसे इसी नाम से स्मर्ण किया गया है । भक्तिकाल के कबीर, गुरूनानक, रविदास, मीरां, तुलसीदास आदि सन्तों ने इसे 'सुरति शब्द' योग नाम से अभिहित किया है । अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक में इसके सम्बन्ध में कहा है कि प्राण के उच्चार से एक अव्यक्त ध्वनि का सतत स्फुरण होता है, जिसको 'ध्वनिवर्ण ' कहते है ।[1] इस नादात्मक वर्ण में सभी प्रकार के वर्ण अभिव्यक्त रूप में रहते हैं । चूंकि यह शास्वत् और अकृत्म, अकृत्रम तथा स्वाभाविक रूप वाला है, इसलिए इसे ' अनाहतनाद ' भी कहते हैं ।[2]

---

1) उक्तो य एष उच्चारस्तत योऽसौ स्फुरन् स्थितः ।
अव्यक्तानुकृतिप्रायो ध्वनिर्वर्णः स कथ्यते ।। (तं. आ. 2 – 131)

2) एको नादात्मको वर्णः सर्ववर्णविभागवान् ।
सोऽनस्तमितरूपत्वादनाहत होदितः ।। (तं. आ., 6/216)

स्वच्छन्दतन्त्र में कहा गया है कि इस अनाहदनाद को कोई उच्चारित नहीं करता है और न ही किसी से यह उत्पन्न होता है । सभी प्राणियों के हृदय में यह स्वयं ही स्फुरित होता रहता है ।[1]

नदयोग की विधि :- आचार्य अमृत्वाग्भव जी के अनुसार इस प्राचीन महान् योग के करने से आत्म स्वरूप की अभिव्यक्ति सहज ही हो जाती है । यह नादयोग गुफा आदि एकान्त और निःशब्द स्थान में अपनी दो तर्जनियों के द्वारा अपने दोनों कर्णछिद्रों को बन्द करके किया जाता है ।[2]

'योगप्रदीपिका ' में श्रीस्वात्माराम योगी ने ' नादयोग ' पर विस्तृत प्रकाश डाला है । उनके अनुसार यह नाद साधन विक्षिप्तचित मूर्खों के लिए भी चित्त को समाहित करने में विशेष उपयोगी है ।[3] बहुत ही सरल साधन होने से सर्व साधारण अभ्यासी भी इसके अभ्यास से मन की एकाग्रता पा सकते हैं । नादयोग की चार अवस्थाएँ मानी जाती हैं –

---

1) नास्योच्चारयिता कश्चित्प्रतिहन्ता न विद्यते । (तं. आ. वि. पृ.-149)
स्वयमुच्चरते देवः प्राणिनामुरसि स्थितः ।।

2) पिधान कर्णकुहरे तर्जनीभ्यां गुहादिषु । (सि. रह. आह. 6/2)
नादयोगेन सेवन्ते मुनयः शाकमेव नः ।।

3) अशक्यतत्त्वबोधानां मूढानामपि सम्मतम् । (यो. प्र. पृ.-65 श्लो. - 65)

आरम्भावस्था, घटावस्था, परिचयावस्था और निष्पत्त्यवस्था ।[1]

1) **आरम्भावस्था** :- इन चारों अवस्थाओं में आरम्भावस्था को प्रथम कहा जाता है । प्राणायाम के अभ्यास से जब 'हृदय देश के समीपस्थ अनाहत चक्र ' में वर्तमान ब्रह्मग्रन्थि का भेदन हो जाता है । तब वहाँ पर चित्त को स्थित करने से शरीर के भीतर हृदयरूप आकाश से आनन्दप्रद आभूषणों की सी विचित्र ध्वनि सुनाई देती है, जिस के श्रवण से मन स्थित होने लगता है ।[2]

जिस अभ्यासी को हृदय आकाश से आनन्दप्रद ध्वनि श्रवण होने लगती है, वह अभ्यास के दृढ़भूमि होने पर उत्तमदेह, सुन्दरगन्ध तेजस्वी, स्वस्थ योगी हो जाता है । इस अवस्था को आरम्भावस्था करते हैं ।[3]

2) **घटावस्ता** :- नाद श्रवण के उपरान्त चित्त की एकाग्रता के परिणामस्वरूप द्वितीय स्थिति का नाम घटावस्था है । जब विशेष प्राणायाम एवं नाद श्रवण से अभ्यासी के, प्राणवायु, अपानवाय,

---

1) आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयोऽपि च ।
निष्पतिः सर्वयोगेषु स्यादवस्थाचतुष्टयम् ।। (यो. प्र. 4/49)

2) ब्रह्मग्रन्थेर्भवेद् भेदोह्यानन्दः शून्यसम्भवः ।
विचित्रः क्वणको देहेऽनाहत्तः श्रूये ध्वनिः ।। (यो. प्र. 4/7)

3) दिव्यदेहश्च तेजस्वी दिव्यगन्धस्त्वरोगवान् ।
सम्पूर्णहृदयः शून्य आरम्भो योगवान् भवेत ।। (यो. प्र. 4/71)

अभ्यासी के, प्राणवायु, अपानवायु, वीर्य और चित्त समानचेष्टा हो जाते हैं तथा सुषुम्ना मार्ग से प्राणगति होने लगती है वह 'घटावस्था ' होती है । जो अभ्यासी घटावस्था को प्राप्त कर लेता है । वह स्थिर – आसन, विवेकी देवसदृश मेधावी हो जाता है ।[1]

3. <u>परिचयावस्था</u> :- जब प्राणवायु सुषुम्ना मार्ग से भृकुटी में पहुँच जाती है तथा मन भी समाहित हो जाता है । तब सम्प्रज्ञात् समाधि का भृकुटी स्थान में ही परिचय होने लगता है । भृकुटी में प्राण और चित्त के समाहित होने पर जो स्थिति बनती है, वह परिचयावस्था कहलाती है । उस अवस्था में अनेक प्रकार के शब्द श्रवण होते हैं तथा अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होने लगती हैं ।[2]

4. <u>निष्पत्त्यवस्था</u> :- कुछ योगी भृकुटी को ईश्वर का स्थान मानते हैं । जब भृकुटी ध्यान करते हुए प्राणवायु भी वहाँ चली जाती है तब ''रूद्रग्रन्थि '' का भेदन माना जाता है ।

---

1) द्वितीयायां घटीकृत्य वायुर्भवति मध्यगः ।
दृढासनो भवेद्योगी ज्ञानी देवसमस्तदा ।। (यो. प्र. 4/72)

2) तृतीयायां तु विज्ञेयो विहायोमर्दलध्वनिः ।
महाशून्य तदायाति सर्वसिद्धिसमाश्रयम् ।। (यो. प्र. 4/74)

जिस अवस्था में प्राणवायु भृकटी से ऊपर ब्रह्मरन्ध्र में चली जाती है, उस अवस्था को निष्पत्त्यवस्था कहते हैं । निष्पत्त्यवस्था में बॉस की वीणा के तुल्य शब्द होता है ।[1]

इन चारों साधनों के अभ्यास से जब चित्त समाहित हो जाता है, जब पातञ्जल राजयोग के अन्तरङ्ग साधन धारणा, ध्यान और समाधि की योग्यता हो जाती है । समाधि में जब चित्तधर्मों से पृथक् आत्मा को अनुभव कर लिया जाता है, तब चेतना, विशुद्धता और नित्यता गुणों से जीवात्मा स्वस्वरूप को, सृष्टि के पालक और संहारक योगीश्वर परमात्मा के समान ही सजातीय मानने लग जाता है । उस समय बैषयिक संस्कारों का पर्यवसान हो जाता है ।[2] भगवान् गौतम आचार्य के "युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगम् " इस मनोलक्षण के अनुसार किसी एक पदार्थ में चित्त के लगने पर अन्य पदार्थ की ओर चित्तवृति नहीं जाती है ।"

---

1. रूद्रगन्थिं यदा भित्त्वा शर्वपीठगतोऽनिलः । (यो. प्र. 4/76)
   निष्पत्तौ वैणवः शब्दः क्वणद्वीणाक्वणो भवेत् ।।
2. एकीभूतं यदा चित्तं राजयोगाभिधानकम् । (यो. प्र. 4/77)
   सृष्टिसंहारकर्त्तासौ योगीश्वरसमो भवेत् ।।

इससे नादानुरक्त चित्त अन्य विषयों में नहीं जाता ।[1]

नादयोग की उपयोगिता :- श्रीस्वात्माराम योगी 'योगप्रदीपिका' में नादयोग की उपयोगिता पर प्रकार डालते हुए लिखते हैं कि शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पञ्च विषयरूपी उद्यान में स्वच्छन्द विचरण करने वाले चित्तरूपी उन्मत्त हाथी को अपने वश में करने के लिए नादरूपी तीक्ष्ण अंकुश आवश्यक है ।[2] जिस प्रकार से सपेरे की बीन ध्वनि को सुनकर सर्प शीघ्र ही धावन क्रिया का परित्याग करके स्थिर हो जाता है । उसी प्रकार अन्तःकरण चित्तरूपी सर्प (भुजङ्ग) नाद श्रवण द्वारा अन्य रूप स्पर्श, गन्ध, रस इन विषयों की ओर दौड़ना त्याग कर समाहित हो जाता है ।[3]

नाद श्रवण के निरन्तर अभ्यास से निश्चित् ही चित्त और प्राण समाहित हो जाते हैं । चित्त और प्राण के अवस्थित होने पर चित्त में होने वाले काम – क्रोध, लोभ, मोह आदि मानस विकार रूपी पापचक्र क्षीण हो जाता है । तथा आत्मदर्शन की योग्यता आ जाती है । जिस प्रकार से औषधि प्रयोग विशेष द्वारा आबद्ध पारा चाञ्चल्य हीन होकर आकाश में गमनागमन करने योग्य हो जाता है, उसी प्रकार नाद रूप गन्धक भस्म द्वारा विक्षिप्त चित्त समाहित हो कर निराकार सर्वव्यापक परमात्मा में अवस्थित होने योग्य हो जाता है ।[4]

---

1) " नादासक्तं तथा चित्तं विषयान्नहि काङ्क्षते " ।। (यो. प्र. 4/90)

2) मनो मत्तगजेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः ।
नियन्त्रणे समर्थोऽयं निनादनिशिताङ्कुशः ।। (यो. प्र. 4/91)

3) नादश्रवणतः क्षिप्रमन्तरङ्गम : ।
विस्मृत्य सर्वमेकाग्रः कुत्रचिन्न हि धावति ।। (यो. प्र. 4/97)

4) बद्धं विमुक्तचाञ्चल्यं नाद्रगन्धकजारणात् ।
मनः पारदमाप्नोति निशलम्बाख्यखेऽटनम् ।। (यो. प्र. 4/96)

2. **त्राटक योग** :- आचार्य अमृत्वाग्भव जी के अनुसार त्राटक योग को निर्वात स्थान पर निश्चितत्‌तया चमकती हुई दीपक की ज्योति पर अथवा दीवार पर अङ्कित किए हुए बिन्दु पर दृष्टि जमा कर किया जाता है ऐसा करके योगी महानुभाव अपने आपको शक्तिधन चिद्रूपदा में पहचान लेते हैं ।[1] इस योग में किसी सूक्ष्म पदार्थ को तब तक देखते रहना चाहिए, जब तक आँखों में आँसु न आ जाए । अश्रुपात होने पर ही देखना बन्द करना चाहिए ।[2]

त्राटक कर्म के लाभ :- श्रीस्वात्माराम योगी ने योगप्रदीपिका में त्राटक कर्म के लाभ बताते हुए कहा है कि त्राटक करने से नेत्रों के अनेक रोगों का तथा तन्द्रा, आलस्य आदि दोषों का विनाश हो जाता है । इस त्राटक कर्म को अजितेन्द्रिय, सदाचारहीन एवं अधर्मात्मा लोगों से सदा स्वर्ण पेटिका के समान बचाकर रखना चाहिए ।[3]

---

1) दीपज्योतिषि निर्वाते बिन्दौ वा भित्तिलाञ्छिते ।
केचित् त्राटकयोगेन शाकं प्रत्यभिजानते ।। (सि. रह. आह. 6/3)

2) निरीक्षेन्निरचलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः ।
अश्रुसम्पातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम् ।। (यो. प्र. 2/31)

3) मोचनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकम् ।
यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम् ।। (यो. प्र 2/32)

3. लययोग :- श्रीमदामृतवाग्भवाचार्य जी के अनुसार लययोग के द्वारा योगी महानुभाव प्रपञ्च को अपने में विलीन करके तथा पुनः स्वयमपि परम्परा से कारण तत्त्वों से उनके भी कारण तत्त्वों में विलीन होकर परमशिव अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होते हैं ।[1] क्योंकि अन्ततोगत्वा सारी की सारी कारण परम्परा का मूल कारण परमेश्वर है, जिसका वास्तविक स्वरूप परिपूर्ण शक्ति ही है । शिवसूत्र में भी ऐसा ही कहा गया है ।[2] राजानक क्षेमराज भी लययोग के सम्बन्ध में ऐसा ह ीमत अभिव्यक्त करते हैं ।[3] विज्ञानभैरभ में इसके लिए भुवनाध्वा एवं कालाध्वा शब्द प्रयुक्त किये गए हैं । भुवनाध्वा के अनुसार साधक को मन के द्वारा समस्त स्थूल प्रपञ्च को सूक्ष्म में और सूक्ष्म को परमकारण में तब तक लय चिन्तन करना चाहिए, जब तक की मन का भी उसमें लय न हो जाए ।[4] कालाध्वा योग के अनुसार साधक को अपने पॉव के दायें अंगुष्ठ से कालाग्निरूद्र का उदय चिन्तन करते हुए क्रमशः सम्पूर्ण शरीर का दहन अनुभव करना होता है, जब तक के अन्त में शानताभास की अनुभूति न हो जाए । इसको दाहभावना भी कहते हैं ।[5]

---

1) आपाद्य पञ्चतां केचित् प्रपञ्चं लययोगतः ।
कारणात् कारणे लीनाः शाकमेवाश्रयन्ति नः ।। (सि. रह. आह. 6/6)

2) शरीरे संहारः कलानाम् (शि. सू. 3/4)

3) महाभूततात्मकं, पुर्यष्टकरूपं , समनान्तं यत् स्थूलं , सूक्ष्मं, परं शरीर, यत्रं याः पृथिव्यादिशिवान्ततत्त्वरूपाः कला भागाः तासां संहारः , स्वकारणे लयभावनया दाहादिचिन्तनयुक्त्या वा ध्यातव्यः (शि.सू.वि. पृ-135)

4) भुवनाध्वादिरूपेण चिन्तयेत्क्रमशोऽखिलम् ।
स्थूलसूक्ष्मपरस्थित्या यावदन्ते मनोलयः ।। (शि. सू. 3/56)

5) कालाग्निन कालपदादुत्थितेन स्वकं पुरम ।
प्लुष्टं विचिन्तयेदन्ते शान्ताभासः प्रजायते ।। (वि. भै. श्लो.-52)

4. खेचरी मुद्रा :- शब्दिक रूप से खेचरी का तात्पर्य आकाश में विचरण करने वाली होता है और शरीर के अंगों के विशेष प्रकार के विन्यास को मुद्रा कहते हैं । परन्तु अध्यात्मपरक शास्त्रों में 'ख ' से तात्पर्य चेतना से लिया गया है । अतेव खेचर से तात्पर्य 'शिव ' लिया गया है और इससे सम्बन्धित मुद्रा को खेचरी मुद्रा कहा जाता है । जिसके अनुसरण से शैवी चेतन्यता की अनुभूति अनयास हो जाती है । मुद्रा शब्द शैवागमानुसार अनेक अर्थों का प्रतीक है -

1. मुदम् (हर्षम्) राति (ददाति) अर्थात् जो आनन्द प्रदान करती है ।
2. मुम् (बन्धनम्) द्रावयति निवारयति अर्थात् जो बन्धन को दूर कर देती है ।
3. मुद्रयति इति मुद्रा अर्थात् जो जगत की सृष्टि, स्थिति, संहार को तुर्या में मुद्रित करती है , उसे मुद्रा कहते हैं । अभिवन गुप्त ने तन्त्रालोक में कहा है कि इसको मुद्रा इसलिए कहते हैं क्योंकि यह शरीर की सभी जाग्रत् आदि अवस्थाओं में आत्मस्वरूप को अनुभव करने के योग्य बनाती है । [1] खेचरी मुद्रा को व्योमचक्र भी कहते हैं ।

---

1) मुदं स्वरूपलाभाख्यं देहद्वारेण चात्मना ।
रात्यर्पयति यत्तेन मुद्रा शास्त्रेषु वर्णिता ।। (तं. आ. आह. - 32)

भगवान शिव सिद्धवसुगुप्त को उपदेश देते हुए बतलाते हैं कि शुद्धविद्या के उदय होने पर स्वाभाविक खेचरी शिव अवस्था की प्राप्ति हो जाती है ।[1] कुलचूड़ामणि में कहा गया है कि परमसत्ता का एक ही सृष्टिमय बीज और मुद्राओं में एक ही खेचरी मुद्रा है इन दोनों की जिनको अनुभूति हो जाती है, तो वह अतिशान्त पद को प्राप्त हो जाता है ।[2] स्पन्दशास्त्र में मन्त्रवीर्य के स्वरूप को निरूपित करते हुए मुद्रावीर्य को संग्रहित किया गया है , जिसमें बताया गया है कि जब क्षोभ नष्ट (प्रलीन) हो जाता है, तब परमपद की प्राप्ति हो जाती है ।[3]

खेचरी मुद्रा की विधि :- श्रीमदअमृतवाग्भवाचार्य के अनुसार इस अद्वितीय मुद्रा को करने के लिए ऊपर की ओर सञ्चार करने वाली अपनी जिहा से अपने मस्तिष्क की ओर जाने वाले छिद्र को भरकर चन्द्रमण्डल से टपकने वाले अमृत का पान किया जाता है ।[4]

---

1) ' विद्यासमुत्थाने स्वाभाविके खेचरी शिवावस्था ' (शि. सू. 2/5)

2) त्रयुक्तं कुलचुड़ामणौ –
एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ।
द्वावेतौ यस्य जायेते सोऽतिशान्तपदे स्थित : ।। (शि. सू. पृ.- 99)

3) यदा क्षोमः प्रतीयेत तदा स्यात्परमं परम् ।
इत्यर्धेन अन्यपरेणापि चूड़ामण्युक्तं खेचरीस्वरूपं भङ्गया सूचितम् ।। (स्. का. 1/9)

4) केचित् कपालक कुहरं खेचर्यापूर्य जिह्वया ।
सोमपीयूषपानेन यजन्ते शाकमेव नः ।। (सि. रह. आह. 6/5)

खेचरी मुद्रा के लाभ :-

खेचरी मुद्रा को करते हुए जो योगी जिह्वा को लौटाकर कपाल के मध्य छिद्र में लगाकर अर्धक्षण भी स्थित रहता है, वह सर्प वृश्चिक आदि के विषों से तथा शीघ्र जरा और मृत्यु के आक्रमण से सुरक्षित रहता है ।[1] खेचरी मुद्रा का अभ्यास करनेवाले योगी को रोग, मृत्यु, निद्रा, आलस्य, भूख, प्यास, मुर्च्छा शीघ्र नहीं सताते हैं । अर्थात् इसके अभ्यास से तितिक्षा बढ़ती है । रोगों के आक्रमण से मुक्त होकर कर्मबन्धन का क्षय तथा दीर्घायुष्य लाभ होता है ।[2] जो योगी इस खेचरी मुद्रा से अपने वीर्य की सुरक्षा करके अपने शरीर को पुष्ट बना लेता है, वह सर्पादि विषैले जन्तुओं के काटने पर भी विषाक्रान्त नहीं होता है ।[3] जिस प्रकार से अग्नि काष्ठों को तथा दीपक तेल और बत्ती को नहीं त्यागते, ठीक उसी प्रकार से ब्रह्मचर्ययुक्त शरीर को आत्मा नहीं त्यागती ।[4] अथर्ववेद में भी कहा गया है कि ब्रह्मचर्य तप से ही देवों ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की है ।[5]

---

1) रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ।। (यो. प्र. 3/38)

2) न रोगो मरणं तन्द्रा न क्षुधा तृषा ।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ।। (यो. प्र. – 3/45)

3) नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः ।
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पत्ति ।। (यो. प्र. – 3/45)

4) इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्तिं च दीपकः ।
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति ।। (यो.प्र. 3/46)

5) ''ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाध्नत ''। (अथर्व 11/5/19)

खेचरी मुद्रा में जिह्वा को तालुभाग में लगाने पर तथा मन को भृकुटी में स्थिर करने पर प्राणवायु सुषुम्ना मार्ग से चलकर ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर होने लगती है । वायु सुषुम्ना मार्ग से बहने पर वीर्य भी मस्तिक की ओर गति करने लगता है । इस स्थिति में ऊपर मस्तिक में स्थित चन्द्रवत् शीतल वार्य के प्रभाव से जो ब्रह्म को प्राप्त करने में आनन्द प्राप्त होगा, उस आनन्द को अमरवारूणी आनन्द कहेंगे । [1] जब कपालछिद्र जिह्वा द्वारा, लवण, कटु, अम्ल, दुग्ध, मधु, धृत के तुल्य रसों का आस्वादन होने लगता है, तब अनेक रोगों का क्षय, वृद्धत्व नाश, शास्त्र प्रहारकाल में रक्षा, अणिमा आदि अष्ट ऐश्वर्य लाभ तथा सिद्धों का साक्षात्कार इत्यादि लाभ होने लगते हैं ।[2] जिस प्रकार से सृष्टिरूपी कार्य का कारण मूल प्रकृति, तथा देवों में परमात्मा देव है एवं प्रत्याहारात्मक अवस्ताओं में मनोन्मनी अवस्था श्रेष्ठ है उसी प्रकार सम्पूर्ण मुद्राओं में खेचरी मुद्रा उत्तम है ।[3]

---

1) जिह्वाप्रवेशसम्भूतवह्निनोत्पादितः खलु ।
चन्द्रात् यः सारः स स्यादमरवारूणो ।। (यो. प्र. 3/49)

2) चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्पन्दिनी,
सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ।
व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शस्त्रागमोदीरणं,
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम् ।। (यो. प्र. 3/50)

3) एकं सृष्मियं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ।
एको देवो निरालम्ब एकावस्था मनोन्मनी ।। (यो. प्र. 3/54)

बज्रोली मुद्रा :- श्रीमद् अमृतवाग्भव आचार्य जी ने श्रीसिद्धमहारहस्यम् में बज्रोली क्रिया पर अधिक प्रकाश नहीं डाला है । उनके अनुसार कोई विरले ही साधक स्त्री के साथ मिथुन बनकर बज्रोली क्रिया के अभ्यास के द्वारा अपने शरीर को वज्रसार जैसा सुदृढ़ बनाकर ' सकने ' (परमशिव) का भजन करते हैं ।[1] अतः बज्रोली क्रिया का मूल प्रयोजन अपनी शक्तिघनता का साक्षात्कार करना ही है ।

योगप्रदीपिका में श्रीस्वात्माराम योगी ने बज्रोली क्रिया के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है कि योग और भोग ये दोनों शब्द सर्वथा परस्पर विरोधार्थक हैं । ''ब्रह्मचर्य की रक्षा योग की सिद्धि के बिना तीनों कालों में असम्भव है '' पतञ्जलि आदि महर्षियों ने जो योग में यम और नियम को योग की आधार शिला माना है तथा वही मार्ग श्रेयस्कर है । श्रीस्वात्माराम योगी के अनुसार वीर्य की सुरक्षा से जीवन तथा वीर्य के विनाश से मृत्यु होती है, अतः योगी को मृत्युञ्जय

---

1) योषिता मिथुनीभूता विरलाः साधकाः पुनः ।
वज्रोल्या वज्रसाराङ्गा भजन्ते शाकमेव नः ।। (सि. रह. आह. 6/7)

के उत्कृष्ट साधन वीर्य की सुरक्षा करनी चाहिए ।[1] वीर्य सुरक्षा से योगी का शरीर सुगन्धमय हो जाता है । जब तक ब्रह्मचर्य के सुपरिपालन से शरीर में वीर्य सुरक्षित रहता है, तब तक असामयिक मृत्यु नहीं होती है तथा दीर्घायुष्य प्राप्त होता है ।[2] अतः योगाभ्यासी को महान् प्रयत्न से मन तथा वीर्य की सुरक्षा करनी चाहिये । क्योंकि मनुष्यों के चित्त की पवित्रता से वीर्य रक्षा तथा वीर्य की रक्षा से चित्त स्वच्छ बनता है ।[3]

---

1) एवं संरक्षयेद्बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित् ।
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ।। (यो. प्र. 3/88)

2) सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात् ।
यावद् बिन्दुः स्थिरो देहे तावत् कालभयं कुतः ।। (यो. प्र. 3/89)

3) चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् । (यो. प्र. 3/90)

5. षण्मुखी मुद्रा :- आचार्य के अनुसार योग की इस मुद्रा को पद्मासन लगाकर तथा प्राणों को रोककर किया जाता है ।[1] अर्थात् दोनों हाथों के अंगुठों कनिष्टिकाओं ओर अनामिकाओं के द्वारा क्रम से कर्णछिद्रों को और नेत्रों को दबाए रखते हुए शेष दो - दो अंगुलियों को माथे पर जमाकर रखकर षण्मुखी मुद्रा की जाती है ।

सैद्धदर्शन में माया दशा को भव, विद्या दशा को अभव और शक्ति दशा को अतिभव कहा जाता है । साधक द्वारा अपने आप का परम - आनन्दमय चमत्कारात्मक विमर्शन ही उसका अभिनन्दन होता है । इस प्रकार साधक में कृतकृत्यता रूपी अपूर्व सन्तोष अभिष्यक्त होता रहता है । अतः साधक पद्मासन में ठहरकर, शरीर के सभी अंगों को समभाव में सीधे ठहराकर, एक दूसरे के ऊपर रखे हुए दोनों हाथों को (हथेलिया ऊपर किए हुए) गोद में ठहराकर [2] निर्वात स्थान पर जलते हुए दीपज्योति की तरह निश्चल बैठा हुआ, इच्छा, ज्ञान और क्रिया, इन सभी का न ही उपादान और न ही परित्याग करता हुआ तथा स्थिर एवं निश्चल ठहरा हुआ नित्य आत्मरूप परमशिव का लगातार साक्षातकार करता है ।[3]

---

1) पद्मासनमधिष्ठाय मुद्रामालम्ब्य षण्मुखीम् ।
केचित् प्राणनिरोधेन भजन्ते शाकमेव नः ।। (सि. रह. आह. 5/4)

2) पद्मासनमधिष्ठाय समसर्वाङ्गविग्रहम् ।
परस्परोपरिधृतौ करौ कृत्वाङ्गावुभौ ।। (सि. रह. आह. 6/21)

3) निवातदीपवत्तिष्ठन् क्रियाज्ञानैषणाः समाः ।
अमृह णन्नत्यजन् नित्यं स्वात्मानं शम्भुमीक्षते ।। (सि. रह. आह. 6/22)

क्योंकि असीम सामर्थ्य युक्त और असीम परमशिव रूपी सकना ही माया दशा और विद्यादशा में अपने ही प्रकाश से शक्ति दशा का विमर्शन करके साधकों को आनन्दित करता है ।[1]

इस प्रकार जब इच्छा, ज्ञान और क्रिया तीनों ही शान्त हो जाती है और अन्तःकरण निश्चल ठहरे रहते हैं तो सारे संकल्प – विकल्पों के शान्त हो जाने पर आत्मदेव अपने ही चित्प्रकाश से स्वयमेव चमकता हुआ अपने आप का अपने आप ही साक्षात्कार करता रहता है । इस अवस्था में किसी उपाय के अभ्यास को किए बिना ही स्वयमेव आत्मसाक्षात्कार हो जाता है ।

निष्कर्षतः आचार्य के अनुसार सैद्ध ही सभी योगों में अत्कृष्ट योग तथा सभी राजयोगों में महाराजाधिराज योग है । इस प्रकार सैद्ध योग ही स्वात्मरूप ' सकने ' की प्रत्यभिज्ञा को प्राप्त कराने में महाशक्ति स्वरूप है । इस योग के अभ्यास से साधक अवश्य ही समस्त दिव्य शक्तियों के एकधन स्वरूप अपने वास्तविक आप (स्वरूप) को पहचान कर पूरी तरह से कृतकृत्य हो जाता है ।[2]

---

1) भवाभवे चातिभवं विमृश्य स्वप्रकाशतः ।
स्वात्मानमभिनन्दामि महाशाको महाबलः ।। (सि. रह. आह. 6/20)

2) महाराजाधिराजोऽयं योगानामुत्तमोत्तम : ।
स्वशाकप्रत्यभिज्ञाने महाशाको न संशयः ।। (सि. रह. आह. 6/33)

कैलाशशिखरासीनं देवदेवं जगद्गुरुम्।
पृच्छति स्म महादेवी ब्रूहि ज्ञानं महेश्वर॥ १॥

देवी उवाच

कुतः सृष्टिर्भवेद् देव कथं सृष्टिर्विनश्यति।
ब्रह्मज्ञानं कथं देव सृष्टिसंहारवर्जितम्॥ २॥

ईश्वर उवाच

अव्यक्ताच्च भवेत् सृष्टिरव्यक्ताच्च विनश्यति।
अव्यक्तं ब्रह्मणो ज्ञानं सृष्टिसंहार वर्जितम्॥ ३॥
ओङ्कारादक्षरात् सर्वास्त्वेता विद्याश्चतुर्दश।
मन्त्र - पूजा - तपो - ध्यानं कर्माकर्म तथैव च॥ ४॥
षडङ्गं वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः।
धर्मशास्त्रपुराणानि एता विद्याश्चतुर्दश॥ ५॥
तावद् विद्या भवेत् सर्वा यावद् ज्ञानं न जायते।
ब्रह्मज्ञानं पदं ज्ञात्वा सर्वविद्या स्थिरा भवेत्॥ ६॥
वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव।

या पुनः शाम्भवी विद्या गुप्ता कुलवधूरिव ॥ ७ ॥

देहस्थाः सर्वविद्याश्च देहस्थाः सर्वदेवताः ।

देहस्थाः सर्वतीर्थानि गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ ८ ॥

अध्यात्मविद्या हि नृणां सौख्यमोक्षकरी भवेत् ।

धर्म कर्म तथा जप्यमेतत् सर्वं निवर्तते ॥ ९ ॥

काष्ठमध्ये यथा वह्निः पुष्पे गन्धः पयोऽमृतम् ।

देहमध्ये तथा देवः पुण्यपापविवर्जितः ॥ १० ॥

इडा भगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी ।

इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्ना च सरस्वती ॥ ११ ॥

त्रिवेणीसंगमो यत्र तीर्थराजः स उच्यते ।

तत्र स्नानं प्रकुर्वीत सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १२ ॥

देवी उवाच

कीदृशी खेचरी मुद्रा विद्या च शाम्भवी पुनः ।

कीदृश्यध्यात्मविद्या च तन्मे ब्रूहि महेश्वर ॥ १३ ॥

ईश्वर उवाच

मनः स्थिरं यस्य विनावलम्बनं

वायुः स्थिरो यस्य विना निरोधनम्।

दृष्टिः स्थिरा यस्य विनावलोकनं

सा एव मुद्रा विचरन्ती खेचरी॥ १४॥

बालस्य मूर्खस्य यथैव चेतः

स्वप्नेन हीनोऽपि करोति निद्राम्।

ततो गतः पथो निरावलम्बः

सा एव विद्या विचरन्ती शाम्भवी॥ १५॥

देवी उवाच

देवदेव जगन्नाथ ब्रूहि मे परमेश्वर।

दर्शनानि कथं देव भवन्ति च पृथक् पृथक्॥ १६॥

ईश्वर उवाच

त्रिदण्डी च भवेद् भक्तो वेदाभ्यासरतः सदा।

प्रकृतिवादरताः शाक्ता बौद्धा शून्यातिवादिनः॥ १७॥

अतोर्ध्वं गामिनो ये वा तत्त्वज्ञा अपि तादृशाः।

सर्वं नास्तीति चार्वाका जल्पन्ति विषयाश्रिताः॥ १८॥

उमा पृच्छति हे देव पिण्डब्रह्माण्डलक्षणम्।

पञ्चभूतं कथं देव गुणाः के पञ्चविंशतिः ॥ १९ ॥

ईश्वर उवाच

अस्थि मांसं नखं चैव त्वङ्लोमानि च पञ्चमम् ।
पृथ्वी पञ्चगुणा प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भासते ॥ २० ॥
शुक्रशोणितमज्जा च मलं मूत्रं च पञ्चमम् ।
अपां पञ्चगुणाः प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भासते ॥ २१ ॥
निद्रा क्षुधा तृषा चैव क्लान्तिरालस्यपञ्चमम् ।
तेजः पञ्चगुणाः प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भासते ॥ २२ ॥
धारणं चालनं क्षेपं संकोचं प्रसरं तथा ।
वायोः पञ्चगुणाः प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भासते ॥ २३ ॥
कामं क्रोधं तथा मोहं लज्जा लोभश्च पञ्चमम् ।
नभः पञ्चगुणाः प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भासते ॥ २४ ॥
आकाशाज्जायते वायुर्वायोरुत्पद्यते रविः ।
रवेरुत्पद्यते तोयं तोयादुत्पद्यते मही ॥ २५ ॥
मही विलीयते तोये तोयं विलीयते रवौ ।
रविर्विलीयते वायौ वायुर्विलीयते तु खे ॥ २६ ॥
पञ्चतत्त्वाद् भवेत् सृष्टिस्तत्त्वात् तत्त्वं वीलीयते ।
पञ्चतत्त्वात् परं तत्त्वं तत्त्वातीतं निरञ्जनम् ॥ २७ ॥

स्पर्शनं रसनं चैव घ्राणं चक्षुश्च श्रोत्रकम्।
पञ्चेन्द्रियमिदं तत्त्वं मनः साधकमिन्द्रियम्॥ २८॥
ब्रह्माण्डलक्षणं सर्वं देहमध्ये व्यवस्थितम्।
साकाराश्च विनश्यन्ति निराकारो न नश्यति॥ २९॥
निराकारं मनो यस्य निराकारसमो भवेत्।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन साकारं तु परित्यजेत्॥ ३०॥

देवी उवाच

आदिनाथ मयि ब्रूहि सप्तधातुः कथं भवेत्।
आत्मा चैवान्तरात्मा च परमात्मा कथं भवेत्॥ ३१॥

ईश्वर उवाच

शुक्रशोणितमज्जा च मेदो मांसं च पञ्चमम्।
अस्ति त्वक् चैव सप्तैते शरीरेषु व्यवस्थिताः॥ ३२॥
शरीरं चैवमात्मानमन्तरात्मा मनो भवेत्।
परमात्मा भवेच्छून्यं मनो यत्र विलीयते॥ ३३॥
रक्तधातुर्भवेन्माता शुक्रधातुर्भवेत् पिता।
शून्यधातुर्भवेत् प्राणो गर्भपिण्डं प्रजायते॥ ३४॥

देवी उवाच

कथमुत्पद्यते वाचा कथं वाचा विलीयते।
वाक्यस्य निर्णयं ब्रूहि पश्य ज्ञानमुदाहर॥ ३५॥

ईश्वर उवाच

अव्यक्ताज्जायते प्राणः प्राणादुत्पद्यते मनः।
मनसोत्पद्यते वाचा मनो वाचा विलीयते॥ ३६॥

देवी उवाच

कस्मिन् स्थाने वसेत् सूर्यः कस्मिन् स्थाने वसेच्छशी।
कस्मिन् स्थाने वसेद् वायुः कस्मिन् स्थाने वसेन्मनः॥ ३७॥

ईश्वर उवाच

तालुमूले स्थितश्चन्द्रो नाभिमूले दिवाकरः।
सूर्याग्रे वसते वायुश्चन्द्राग्रे वसते मनः॥ ३८॥

सूर्याग्रे वसते चित्तं चन्द्राग्रे जीवितं प्रिये।
एतद्युक्तं महादेवि गुरुवाक्येन लभ्यते॥ ३९॥

देवी उवाच

कस्मिन् स्थाने वसेच्छक्तिः कस्मिन् स्थाने वसेच्छिवः।
कस्मिन् स्थाने वसेत् कालो जरा केन प्रजायते॥ ४०॥

ईश्वर उवाच

पाताले वसते शक्तिर्ब्रह्माण्डे वसते शिवः।
अन्तरिक्षे वसेत् कालो जरा तेन प्रजायते॥ ४१॥

देवी उवाच

आहारं काङ्क्षते कोऽसौ भुञ्जते पिबते कथम्।
जाग्रत् स्वप्नसुषुप्तौ च को वाऽसौ प्रतिबुध्यति॥ ४२॥

ईश्वर उवाच

आहारं काङ्क्षते प्राणो भुञ्जतेऽपि हुताशनः ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तौ च वायुश्च प्रतिबुध्यति ॥ ४३ ॥

देवी उवाच

को वा करोति कर्माणि को वा लप्येत पातकैः ।
को वा करोति पापानि को वा पापैः प्रमुच्यते ॥ ४४ ॥

शिव उवाच

मनः करोति पापानि मनो लिप्येत पातकैः ।
मनश्च तन्मना भूत्वा न पुण्यैर्न च पातकैः ॥ ४५ ॥

देवी उवाच

जीवः केन प्रकारेण शिवो भवति कस्य च ।
कार्यस्य कारणं ब्रूहि कथं किञ्च प्रसादनम् ॥ ४६ ॥

शिव उवाच

भ्रान्तिबद्धो भवेज्जीवो भ्रान्तिमुक्तः सदाशिवः।

कार्यं हि कारणं त्वञ्च पुनर्बोधो विशिष्यते॥ ४७॥

मनोऽन्यत्र शिवोऽन्यत्र शक्तिरन्यत्र मारुतः।

इदं तीर्थमिदं तीर्थं भ्रमन्ति तामसा जनाः॥ ४८॥

आत्मतीर्थं न जानाति कथं मोक्षो वरानने॥

न वेदं वेदमित्याहुर्वेदो ब्रह्म सनातनम्।

ब्रह्मविद्यारतो यस्तु स विप्रो वेदपारगः॥ ४९॥

मथित्वा चतुरो वेदान् सर्वशास्त्राणि चैव हि।

सारं तु योगिभिः पीतं तक्रं पिबन्ति पण्डिताः॥ ५०॥

उच्छीष्टं सर्वशास्त्राणि सर्वा विद्या मुखे मुखे।

नोच्छिष्टं ब्रह्मणो ज्ञानमव्यक्तं चेतनामयम्॥ ५१॥

न तपस्तप इत्याहुर्ब्रह्मचर्यं तपोत्तमम्।

ऊर्ध्वरेता भवेद् यस्तु स देवो न तु मानुषः॥ ५२॥

न ध्यानं ध्यानमित्याहुर्ध्यानं शून्यगतं मनः।

तस्य ध्यानप्रसादेन सौख्यं मोक्षं न संशयः॥ ५३॥

न होमं होममित्याहुः समाधौ तत्तु भूयते।

ब्रह्माग्नौ हूयते प्राणं होमकर्म तदुच्यते॥ ५४॥

पापकर्म भवेद् भव्यं पुण्यं चैव प्रवर्तते।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन ताद्रूप्यं च त्यजेद् बुधः॥ ५५॥

यावद् वर्णं कुलं सर्वं तावज्ज्ञानं न जायते।

ब्रह्मज्ञानपदं ज्ञात्वा सर्ववर्णविवर्जितः ॥ ५६ ॥

देवी उवाच

यत्त्वया कथितं ज्ञानं नाहं जानामि शङ्कर।
निश्चयं ब्रूहि देवेश मनो यत्र विलीयते ॥ ५७ ॥

शंकर उवाच

मनो वाक्यं तथा कर्म तृतीयं यत्र लीयते।
विना स्वप्नं यथा निद्रा ब्रह्मज्ञानं तदुच्यते ॥ ५९ ॥
एकाकी निस्पृहः शान्तश्चिन्ताविवर्जितः।
बालभावस्तथा भावो ब्रह्मज्ञानं तदुच्यते ॥ ६० ॥

श्लोकार्धं तु प्रवक्ष्यामि यदुक्तं तत्त्वदर्शिभिः।
सर्वचिन्तापरित्यागो निश्चिन्तो योग उच्यते ॥ ६१ ॥
निमिषं निमिषार्द्धं वा समाधिमधिगच्छति।
शतजन्मार्जितं पापं तत्क्षणादेव नश्यति ॥ ६२ ॥

देवी उवाच

कस्य नाम भवेच्छक्तिः कस्य नाम भवेच्छिवः।

एतन्मे ब्रूहि भो देव पश्चाज्ज्ञानं प्रकाशय॥ ६३॥

ईश्वर उवाच

चलच्चित्ते वसेच्छक्तिः स्थिरचित्ते वसेच्छिवः।

स्थिरचित्तो भवेद्देवि स देहस्थोऽपि सिध्यति॥ ६४॥

देवी उवाच

कस्मिन् स्थाने त्रिधा शक्तिः षट्चक्रं च तथैव च।

एकविंशतिब्रह्माण्डं सप्तपातालमेव च॥ ६५॥

ईश्वर उवाच

ऊर्ध्वशक्तिर्भवेत् कण्ठः अधशक्तिर्भवेत् गुदः।

मध्यशक्तिर्भवेन्नाभिः शक्त्यतीतं निरञ्जनम्॥ ६६॥

आधारं गुह्यचक्रं तु स्वाधिष्ठानं च लिङ्गकम्।

चक्रभेदं मयाख्यातं चक्रातीतं नमो नमः॥ ६७॥

कायोर्ध्वं च ब्रह्मलोकः स्वाधः पातालमेव च।
ऊर्ध्वमूलमधःशाखं वृक्षाकारं कलेवरम्॥ ६८॥

देवी उवाच

शिव शंकर ईशान ब्रूहि मे परमेश्वर।
दशवायुः कथं देव दशद्वाराणि चैव हि॥ ६९॥

ईश्वर उवाच

हृदि प्राणः स्थितो वायुरपानो गुदसंस्थितः।
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमाश्रितः॥ ७०॥
व्यानः सर्वगतो देहे सर्वागात्रेषु संस्थितः।
नाग ऊर्ध्वगतो वायुः कूर्मस्तीर्थानि संस्थितः॥ ७१॥
कृकरः क्षोभिते चैव देवदत्तोऽपि जृम्भणे।
धनञ्जयो नादघोषे निर्विशेच्चैव शाम्यति॥ ७२॥
एष वायुर्निरालम्बो योगिनां योगसम्मतः।
नवद्वारं च प्रात्यक्षं दशमं मन उच्यते॥ ७३॥

देवी उवाच

नाडीभेदं च मे ब्रूहि सर्वगात्रेषु संस्थितम् ।
शक्तिः कुण्डलिनी चैव प्रसूता दशनाडिका ॥ ७४ ॥

ईश्वर उवाच

इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना चोर्ध्वगामिनी ।
गान्धारी हस्तिजिह्वा च प्रसवा गमनायता ॥ ७५ ॥
अलम्बुसा यशा चैव दक्षिणाङ्गे च संस्थिताः ।
कुलश्च शङ्खिनी चैव वामाङ्गे च व्यवस्थिताः ॥ ७६ ॥
एतासु दशनाडीषु नानानाडीप्रसूतिका ।
द्विसप्ततिसहस्राणि शरीरे नाडिकाः स्मृताः ॥ ७७ ॥
एता यो विन्दते योगी स योगी योगलक्षणः ।
ज्ञाननाडी भवेद्देवी योगिनां सिद्धिदायिनी ॥ ७८ ॥

देवी उवाच

भूतनाथ महादेव ब्रूहि मे परमेश्वर ।
त्रयो देवा कथं देव त्रयो भावास्त्रयो गुणाः ॥ ७९ ॥

ईश्वर उवाच

रजोभावस्थितो ब्रह्मा सत्त्वभावस्थितो हरिः।

क्रोधभावस्थितो रुद्रस्त्रयो देवास्त्रयो गुणाः॥ ८०॥

एकमूर्तिस्त्रयो देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।

नानाभावं मनो यस्य तस्य मुक्तिर्न जायते॥ ८१॥

वीर्यरूपी भवेद् ब्रह्मा वायुरूपः स्थितो हरिः।

मनोरूपः स्थितो रुद्रस्त्रयो देवास्त्रयो गुणाः॥ ८२॥

दयाभावस्थितो ब्रह्मा शुद्धभावस्थितो हरिः।

अग्निभावस्थितो रुद्रस्त्रयो देवास्त्रयो गुणाः॥ ८३॥

एकं भूतं परं ब्रह्म जगत् सर्वं चराचरम्।

नानाभावं मनो यस्य तस्य मुक्तिर्न जायते॥ ८४॥

अहं सृष्टिरहं कालोऽप्यहं ब्रह्माऽप्यहं हरिः।

अहं रुद्रोऽप्यहं शून्यमहं व्यापी निरञ्जनम्॥ ८५॥

अहं सर्वात्मको देवि निष्कामो गगनोपमः।

स्वभावनिर्मलं स्वान्तं स एवाहं न संशयः॥ ८६॥

जितेन्द्रियो भवेच्छूरो ब्रह्मचारी सुपण्डितः।

सत्यवादी भवेद् भक्तो दाता धीरो हितेरतः॥ ८७॥

ब्रह्मचर्यं तपोमूलं धर्ममूला दया स्मृता।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन दयाधर्मं समाश्रयेत्॥ ८८॥

देवी उवाच

योगेश्वर जगन्नाथ उमायाः प्राणवल्लभ।
वेदसन्ध्या तपो ध्यानं होमकर्म कुलं कथम्॥ ८९॥

ईश्वर उवाच

अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च।
ब्रह्मज्ञानसमं पुण्यं कलां नार्हति षोडशीम्॥ ९०॥
सर्वदा सर्वतीर्थेषु यत् फलं लभते शुचिः।
ब्रह्मज्ञानसमं पुण्यं कलां नार्हति षोडशीम्॥ ९१॥
न मित्रं न च पुत्राश्च न पिता न च बान्धवाः।
न स्वामी च गुरोस्तुल्यं यद्दृष्टं परमं पदम्॥ ९२॥
न च विद्यागुरोस्तुल्यं न तीर्थं न च देवताः।
गुरोस्तुल्यं न वै कोऽपि यद्दृष्टं परमं पदम्॥ ९३॥
एकमप्यक्षरं यस्तु गुरुः शिष्ये निवेदयेत्।
पृथिव्यां नास्ति तद्द्रव्यं यद्दत्त्वा चानृणी भवेत्॥ ९४॥
यस्य कस्य न दातव्यं ब्रह्मज्ञानं सुगोपितम्।
यस्य कस्यापि भक्तस्य सद्गुरुस्तस्य दीयते॥ ९५॥

मन्त्रं पूजां तपो ध्यानं होमं जप्यं बलिक्रियाम्।

संन्यासं सर्वकर्माणि लौकिकानि त्यजेद् बुधः॥ ९६॥

संसर्गाद् बहवो दोषा निःसङ्गाद् बहवो गुणाः।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन यतिः सङ्गं परित्यजेत्॥ ९७॥

अकारः सात्त्विको ज्ञेय उकारो राजसः स्मृतः।

मकारस्तामसः प्रोक्तस्त्रिभिः प्रकृतिरुच्यते॥ ९८॥

अक्षरा प्रकृतिः प्रोक्ता रक्षरः स्वयमीश्वरः।

ईश्वरान्निर्गता सा हि प्रकृतिर्गुणबन्धना॥ ९९॥

सा माया पालिनी शक्तिः सृष्टिसंहारकारिणी।

अविद्या मोहिनी या सा शब्दरूपा यशस्विनी॥ १००॥

अकारश्चैव ऋग्वेद उकारो यजुरुच्यते।

मकारः सामवेदस्तु त्रिषु युक्तोऽप्यथर्वणः॥ १०१॥

ओङ्कारस्तु प्लुतो ज्ञेयस्त्रिनाद इति संज्ञितः।

अकारस्त्वथ भूर्लोक उकारो भुव उच्यते॥ १०२॥

सव्यञ्जनो मकारस्तु स्वर्लोकस्तु विधीयते।

अक्षरैस्त्रिभिरेतैश्च भवेदात्मा व्यवस्थितः॥ १०३॥

अकारः पृथिवी ज्ञेया पीतवर्णेन संयुतः।

अन्तरीक्षं उकारस्तु विद्युद्वर्ण इहोच्यते॥ १०४॥

मकारः स्वरिति ज्ञेयः शुक्लवर्णेन संयुतः।

ध्रुवमेकाक्षरं ब्रह्म ॐ इत्येवं व्यवस्थितम्॥ १०५॥

स्थिरासनो भवेन्नित्यं चिन्तानिद्राविवर्जितः।
आसु स जायते योगी नान्यथा शिवभाषितम्॥ १०६॥
य इदं पठते नित्यं शृणोति च दिने दिने।
सर्वपापविशुद्धात्मा शिवलोकं स गच्छति॥ १०७॥

देवी उवाच

स्थूलस्य लक्षणं ब्रूहि कथं मनो विलीयते।
परमार्थं च निर्वाणं स्थूलसूक्ष्मस्य लक्षणम्॥ १०८॥

शिव उवाच

येन ज्ञानेन हे देवि विद्यते न च किल्बिषी।
पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च।
स्थूलरूपी स्थितोऽयं च सूक्ष्मश्च अन्यथा स्थितः॥ १०९॥

इति ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्रं समाप्तम्॥

****
*

श्रीः

योगप्रकरणम् सर्वज्ञानोत्तरवृत्तिः

अतः परं प्रवक्ष्यामि योगं

योगस्यारब्दकार्याक्षिप्तमलादिक्षपणोपायत्वात्पदार्थसंबन्धः

पतिपदार्थतया पाटलिकः संबन्धः। * द्विहेतुत्वात् शुचिशब्देन

सूचितः प्रकरणसंबन्धो योगकाण्डतया सूत्रसंबन्धः

समुच्चयपदेनैव वाक्यात्मकोऽपि योगि योगात्मकान् गुणानि *

भिर्वाक्यैः। अतश्चर्याकाण्डादनन्तरं योगं संक्षेपतः

प्रकर्षाद्वक्ष्यामि। कस्यायं योगसंस्कार अत-आह-

एकाकिनस्तु शान्तस्य यतचित्तस्य विरागिणः निस्पृहस्य।

उक्ताहारविहारस्य उक्तचेष्टस्य कर्मसु। उक्तस्वप्नोवबोधस्य तत्त्वतः

श्रृणु षण्मुख। पुरुषस्यैवायं संस्कारको न * * तं

जलानामिवचित्तस्येत्यर्थः। शिवयोगस्य सर्वज्ञत्वादि प्रकाशकात्।

कीदृशस्य एकाकिनः सर्वसङ्गपरित्यागादपरिग्रहस्य

संन्यासाश्रमः शान्तस्य हिंसादिरहितस्य

यमनियमयुक्तस्येत्यर्थः। चित्तसंयमो हि यमो

नियमश्चेंद्रियसंयमः। यदाह पतञ्जलिः -

अहिंसां सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहः यमाः।

शौचसंतोषस्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमा इति॥

अत एव यतचित्तस्य प्राणायामप्रत्याहाराभ्यां वशीकृत * * *

पलक्षितसर्वज्ञः यस्य शक्तिपादवशात् विरागिणः

p. 2) संसारवैराग्ययुक्तस्य निस्पृहस्य वैहिका भोगविमुखस्य

युक्ताहारविहारस्य यदु * मन्मृगेन्द्रेमिलं जीर्णाशनस्वस्थेत्यादि।

किं च। सर्वकर्मसु युक्तचेष्टस्य उचितकरण इति यावत्।

उक्तस्वप्नावबोधश्चोक्तकालानति * मयस्य? तस्य तं योग ध्येय

ध्यातृ संबन्धात्मकस्त्वतः श्रृणु। न तु पतञ्जलादेरिव

समाधिरूपं तस्य योगाङ्गत्वेन श्रुते यदुक्तं श्रीमन्मतङ्गे -

प्राणायामस्तथा ध्यानं प्रत्याहारोऽय धारणम्।

नर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते इति॥

अत एव युजिन् योग एव इत्यस्माद्धातोर्योगशब्दोन तु युज

समाधाविति। एतदेव सूचयन् ज्ञानिन एव योगाधिकार इत्याह योध्यो

यच्चत ध्यानं तद्वै ध्यानप्रयोजनम्। सर्वाण्येतानि यो सयोगं

योक्तुमर्हति। च शब्दा ध्येयं चेत्यर्थः। यदाह -

आत्मा ध्याता मनो ध्यानं ध्येयः सूक्ष्मो महेश्वरः।

यत्परं परमैश्वर्यमेतध्यान प्रयोज * ननं मनः।

यथावध्येय वस्तुस्वरूपालोचनं चिन्तेत्यर्थः। ततो ध्यानमुच्येते।

यच्छ्रूयते तद्रूपचिन्तनं ध्यानमिति ननु मनश्चित्तमिति व्या * यं

तस्य योगाङ्गत्वेनाप्रसिद्धेः। उपलक्षणं चैतत् अन्यान्यपि

यागाङ्गान्यं गिनं च योगं ज्ञात्वा योगाभ्यासः कार्यः।

p. 3) किं च।

मानामानौ समौ कृत्वा सुखदुःखे समे तथा।

हर्षं भयं विषादं च संत्यज्य योगमभ्यसेत्॥

यदाहुः -

न हृष्यत्युपकारेण नापकारेण कुप्यति।

यः समः सर्वभूतेषु जीवन्मु * * * म इष्यत इति॥

अथ योगस्थानम्-

शून्यागारे मठे रम्ये देवतायतने शुभे।

नदीतीरे विविक्ते वा गृहे घोरवनेऽपि वा॥

प्रच्छन्ने च विविक्ते च निः * तनवर्जिते।

योगदोषविनिर्मुक्ते निर्विकल्पे निरातपे॥

योगदोषा पिपीलिकादयः। निर्विकल्प इति परकीयत्वादि विकल्परहिते॥

योगाभ्यासोपक्रमः।

स्नात्वा शुचिरूपस्पृश्य प्रणम्य शिरसा शिवम्।

योगाचार्यं नमस्कृत्य योगं युञ्जीत मानवः॥

योगासनान्याह -

पद्मस्वस्तिकं वापि उपस्थायाञ्जलिं तथा।
पीठार्थमर्धचन्द्रं वा सर्वतोभद्रमेव च॥

आसनं रुचितं बध्वा पद्माद्यासनलक्षणम्।
संहितान्तरो देवध *॥

अथकरणमाह -

p. 4) ऊर्ध्वकायः समशिराः।
सर्वसंगान्परित्यज्य आत्मसंस्थमनोगुहः।
कुर्यादित्यध्याहारः?।

ततश्च सर्वसंगान्परित्यज्य आत्मसंस्थं मनः कुर्यादिति विषयेभ्यः समस्तेन्द्रियाधिष्ठातुर्मनसः प्रत्याहरणं कुर्यादिति यावत्। अनेन प्रत्याहाराख्यं योगाङ्गं संक्षेपात् ज्ञेयम्। किं च तदानीं न दंतैः संस्पर्शेद्दन्तान् सृक्कण्यौ च न जिह्वया, किंचित्कुञ्चितनेत्रस्तु शिवं सम्यक् नदोच्चरेत्। प्रत्याहारकाले

विबीजात्मकमूल * * मनसा स्मरेदित्यर्थः। अथतदुच्चारप्रयोजनम्।
सोद्गासयति तत्वानि तन्मात्राद्यानि देहिनाम्। अयमभिप्रायः।
छांदसो।

विसर्जनीयलोपात् * ति शिवमन्त्रो श्वक्ष्यमाणवत्।
सगर्भप्राणायामपूर्वं शिवाधिष्ठिततत्वाद्यनेनोच्चार्यमाणः।
समाधिलाभक्रमेण तत्त्वानि तावत्प्रकाशयति। मन *
त्रानुसंधानेन शिवाधिष्ठिताभिमतत्वयोजना॥ तत्तत्साक्षात्कारो
भवतीति यावत् तन्मात्रा माद्यानि यानि पृथिव्यादीनि भूतानि तन्मा
वाद्या एषामिन्द्रियादीनां तानि सर्वाणितत्त्वानि
श्रीमन्मतङ्गाद्युक्तवत्प्रकाशयतीति वेदितव्यम्। तानि च तत्त्वानि।
तस्यैव च शास्त्रस्यानुसं(धाना)त् बन्धकत्वान्निवर्तत इत्याह-

पुनर्विनाशकश्चैव असंयुक्तः षडाननः। तेषामिति शेषः।
p. 5) तदानीं चाङ्गानामपि तदुद्भूतत्वात् पृथगुच्चारणयोगीत्याह
। न पृथक् हृदयं तस्य शिरो न शिखा गुह। चर्मास्त्र नेत्रसहितं
तस्मादेव प्रवर्तते। अथ प्राणायामस्यापि सगर्भतां प्रय * नु
कुंभक प्राणायामपूर्वकं ध्यानं कार्यमित्याह।

प्राणापानौ समौ कृत्वा सुषुम्नान्तरचारिणौ।

तयोर्वृत्तिं निरुध्यात्मा शिवं ध्यायेद्वि * गः॥

प्राणायामस्य सगर्भतोक्तां श्रीमन्मृगेन्द्रेऽपि।
सोऽपि ध्यानजपोपेतः सगर्भौ न्यस्तदुज्झित इति॥

अथ ध्यानस्यैव प्रकर्षावस्थात्मकं समा * * * ह

अविनाभावसंयुक्तो ज्योतीरूपं सुनिर्मलम्।
सुसूक्ष्मव्यापकं नित्यं निर्विकल्पं सदा बुधः॥

निर्विकल्पमिति ध्येयाकारस्फुटीभावेन ध्यात्रादि * * गेरहितमित्यर्थः
। यदाह पतञ्जलिः। प्रत्ययै तानता ध्यानं तदेव
स्वरूपशून्यमेव समाधिरिति। इत्थं सगर्भनिगर्भभेदेन
प्राणायामानां द्वैविध्ये * न्यथा त्रैविध्यमाह।
उत्तमामध्यमामन्दाः सगर्भास्त्रिविधाः स्मृताः। सगर्भा
इत्युपलक्षणम्। अगर्भाणामप्युत्तमादि भेदं चानन्तरमेव
वक्ष्यति। * * रांतरेणापि त्रैविध्यमाह।

प्राणायामांश्च तान् कुर्यात् पूरककुम्भकरेचकान्। सगर्भाणां
प्राणायामादीनां समाधिलाभक्रमेण तत्त्वजयस्योक्त * * *

p. 6) अगर्भाणां फलमाह -

प्राणायामैर्बहिर्दोषान् धारणाभिस्तु किल्विषम्।

प्रत्याहारेण संसृज्य ध्यानेनानश्वरान्गुणान्॥

यावच्छरीरभावि * * णि मादीन् गुणानित्यर्थः। अनश्वरः अशून्यः शरीरः स्थैर्यमपि जायत इति सिद्धम्। अथ पूरकादिलक्षणमाह -

उदरं पूरयित्वा तु वायुना या * * प्सितम्।

प्राणायामो भवेदेव पूरको देहपूरकः

विधाय सर्वद्वाराणि निश्वासोच्छ्वासवर्जितः।

संपूर्णकुम्भवत्तिष्ठेत्प्राणायामः स कुम्भकः।

तदो * रेचयेद्वायुं मृदुनिश्वाससंयुतम्।

रेचकस्त्वेषविख्यातः प्राणसंशयकारकः।

पूरकरेचकौवामदक्षिणनाडीभ्यां कार्यावित्युक्तं प्राणसंशयकारक इत्युत्क्रान्तिदशायां ग्रन्थिछेदपूर्वं रेचकस्य प्राणवियोगहेतुत्वादुच्यते।

तेषामेव कालभेदादुत्तमादि भेदमाह।

प्रसार्य चाग्रहस्तं तु जानु कृत्वा प्रदक्षिणम्॥

छोटिकां तु ततो दद्यान्मात्रैषा त्वभिधीयते।
मात्राद्वादशविज्ञेयः प्रमाणं तालसंज्ञकम्।
तालद्वादशकं ज्ञेयं प्राणायामस्तु कस्यसः।
मध्यमस्तु चतुर्विंशत् ज्येष्ठो द्विगुणो भवेत्॥
तेषां चानुष्ठानविधिः।

p. 7) एकैकान्वर्धयेन्मात्रां प्रत्यहं योगवित्तमः।
सत्वरेण विलम्बेन क्रमेणैव विवर्धयेत्॥

इदानीं हृदयादिस्थानेषु ध्येयस्वरूपविषये निबद्धस्य मनसो
धारणादिकालमाह।

प्राणायामोत्तमो यत्तद्विगुणा धारणामता।
धारणाद्विगुणो योगो योगोऽपि द्विगुणी कृतः।
योगसिद्धिरिति ज्ञेया शिवेन परमात्मना॥

अत्र योगशब्देन ध्येयस्वरूपचिन्तनमपि।
ध्यात्रा सह ध्येयस्थ संबन्ध इति कृत्वाध्यानमुच्यते।

योगसिद्धिशब्देन तु समाधि। धारणाध्यानसमाधीनां
योगाङ्गानां क्रमेण प्राप्ते श्रवणात्।

ननु श्रीमन्मृगेन्द्रे धारणादीनां कालाधिक्यं श्रूयते
उक्तं हि तत्र -

अयमर्कगुणः कालः कृतचित्तव्यवस्थितिः।
प्राप्नोति धारणाशब्दो धारणा सिद्धिदानतः॥

धारणा द्वादश ध्यान दिव्यालोकप्रवृत्तितः।
समाधिमणिमादीनां द्वादशैतानि कारणमिति॥

सत्यं क्रियाभेदस्य तन्त्रभेदहेतुत्वादविरोधः अङ्गी तु योगो
ध्येयवस्तुसाक्षात्कारात्मको विशेषसंबन्ध इत्याह। तदानु पश्यते
सूक्ष्मं गन्धतन्मात्रमात्मनि।

रसं तेजश्च स्पर्शं च सब्दतन्मात्रमेव च।
पश्यते क्रमयोगेन वर्णभावैः पृथग्विधैः॥

p. 8) अहंकारं मनोबुद्धिगुणमव्यक्तपूरुषम्।

अभिव्यक्तानि जानीयात् स्वधर्मगुणलक्षणम्॥

विद्यां कलां ततः कालमायां विद्यां ततः परम्।
दृष्ट्वानुक्रमशः सर्वान् पुनरस्त्रेण भेदयेत्॥

विद्येश्वरं ततस्तत्वं ततस्सादाशिवं परम्।
हित्वार्कं तु क्षुरिकास्त्रेण ततः सूक्ष्मं शिवं विशेत्॥

अत्र च भूतानां स्थूलानामस्य प्रत्यक्षेणापि विज्ञातुं
शक्यत्वात् केवलयोगसाक्षात्कार्याणि तन्मात्रादीन्युच्यन्ते
परमार्थतः पृथिव्यादिस्वरूपमपि सूक्ष्मयोगेन
साक्षात्कर्तव्यमित्युक्तं श्रीमन्मतङ्गादौ।

ततश्च पृथिव्यादीनि शिवान्तानि तत्त्वान्येवं साक्षात्कृत्य
प्रागुक्तवन्मूलयुक्तेन क्षूरिकास्त्रेण भेदयेज्जयेत्।
बन्धकत्वान्निवर्तयेदित्यर्थः। उक्तं हि प्राक् सोद्वासयति तत्त्वानि
तन्मात्राद्यानि देहिनाम् पुनर्विनाशकश्चैव अस्त्रयुक्तः षडाननेति।
एवमेतानि सालम्बनेन योगेन निष्कले शिवे स्वात्मानं युज्यादित्यर्थः।
अत्र च तत्वजयोपयोगित्वेन शास्त्रान्तरोक्तं तर्काख्यमपि
योगाङ्गमर्थसिद्धिमेव यच्छ्रूयते-ऊहोऽन्तरङ्गो योगस्येति। अथ

योगफलं दर्शयति।

अमृतात्मा शिवः साक्षात् तस्मिन्विष्ठस्तु योगवित्।
सर्वज्ञः सर्वगः सूक्ष्मः सर्वेशः सर्वकृद्भवेत्।

ननु। यद्येवं योगेनैव मुक्तिसिद्धेर्दीक्षाया अप्यानर्थक्यप्रसङ्गः।

p.9) तन्न एवं विधस्य शिवयोगस्य दीक्षाया
विनानुष्ठानासिद्धेरारब्धकार्यकर्माक्षिप्तमलादिनिवर्तन एव
चरितार्थत्वादनधिकारिणां शिवशास्त्रं विना
समस्ततत्त्वविषयज्ञानाद्यभावाच्च। अत एव मात्रप्रसङ्गात् ज्ञेयं
वस्तुदर्शयति।

सर्वेष्वेव शास्त्रेषु ज्ञेयं वस्तुचतुष्टयम्।
पशुः पाशः पतिश्चैव शिवश्चेति यथाक्रमम्।

पतिरधिकारावस्थं शिव एवातश्च पतिपदार्थः सैव सोपाधिका
निरूपाधिकाभ्यां भेदद्वयमुपचारादुच्यत इति वक्ष्यामः।
ततश्च ज्ञानस्यापि दीक्षाद्यङ्गत्वान्मोक्षहेतुत्वं परंपरया
सिद्धमित्याह।

ज्ञात्वा तु तत्त्वसद्भावं तत्रसारं तु दुर्लभम्।
सर्वथावर्तमानोऽपि गृह्णाति न पुनस्तनुम्॥

इति लक्षद्वयाध्यापक श्रीमदघोरशिवाचार्यविरचितायां
श्रीमत्सर्वज्ञानोत्तरवृत्तौ योगप्रकरणम्॥

॥ सप्तमः पटलः॥

श्री देव्युवाच

आसां मन्त्रोदयं दिव्यं कथय स्व प्रसादतः।
येन विज्ञानमात्रेण मन्दपुण्योऽपि सिद्ध्यते॥१॥

एतच्छ्रुत्वा तु वैष्णव्यं देवदेवेन शूलिनः।
विहस्य सुचिरं कालं प्राश्यपञ्चामृतं चरुम्॥२॥

सन्दष्टोष्ठ पुटं नाथं प्राह गद्गदया गिरा।

श्री भैरव उवाच

श्रृणुत्वं खेचरी ज्ञानं स्वपिण्डे खगतिप्रदम्।
भुक्तिमुक्तिप्रदातारं सर्वकामविभूतिदम्॥४॥

शान्तौघरूपकं दिव्यं मन्त्रोद्धारं तु कौलिकम्।
द्विधाभेदेन वक्ष्यामि कर्णान्ते खटिकागमे॥५॥

शून्यं शून्यसमायुक्तं वह्निसम्पुटमध्यगम्।
मायानादकलोपेतं ना रुद्रो लभते स्फुटम्॥६॥

कामसम्पुटमध्यस्थं कामारिङ्कामसंस्थितम्।
नादबिन्दुकलोपेतं लभते योगिनी सुतम्॥७॥

सर्वगाद्यं पुनर्भद्रे सर्वगं बिन्दुभूषितम्।
षष्ठस्वरसमारूढं जीवं चन्द्रार्कभूषितम्॥८॥

एतत्पञ्चाक्षरं मन्त्रं स्वपिण्डे भोगमोक्षदम्।
प्रेतनाथस्य कथितं हृदयं सर्वकामदम्॥९॥

अधुना क्षेत्रपालानां सपत्नीकं शृणु प्रिये।
सप्तादशाक्षरं पूर्वं तृतयं तु चतुष्फलम्।।१०।।

चतुर्थं कथितं बीजं रक्षां तदनन्तरम्।
कामराजपराबीजमेतदष्टाक्षरान्तिमम्।।११।।

चणा - - क्षेत्रपालानां सपत्नीकां प्रकीर्तितम्।
सामान्यं हृदयं वीक्ष्य - - - रिक्षनन्तरम्।।१२।।

शक्तिबीजं शिवं शान्तं तृतीयं पारमेश्वरम्।
अनेनार्चयते दिव्यं गुरुपर्वक्रमान्तिमम्।।१३।।

तृतीयं भोगमन्त्राद्यं रावं रेफविवर्जितम्।
पायहा पञ्चमी बीजं एतत्पञ्चाक्षरान्तिमम्।।१४।।

धर्माधर्मक्षयकरं श्रीमन्त्रानक्षमान्वयम्।
अनेनार्चयते दिव्यं सिद्धचक्रं सदोदितम्।।१५।।

सर्वाधिकारफलदं शापानुग्रहसिद्धिदम्।
भोगहस्ते मयाख्यातं दिव्यरूपमकीलितम्।।१६।।

अथान्यं तु चतुष्पीठं चतुष्पीठसमन्वितम्।
सप्ताक्षरं महादीप्तं सुसिद्धं सर्वसिद्धिदम्।।१७।।

ह्रीं हुँ क्रीं तृतीयं पूर्वं निष्फलं निष्फलात्मकम्।
सर्वगं पूर्व सम्भिन्नं जीवसृष्टिसमन्वितम्।।१८।।

एषोसौ कौलिकं गुह्यं मन्त्रराजात्मतो लभेत्।
हृदयं सर्वपीठानां योगिनीनां महोदयम्।।१९।।

अधुना शक्ति सङ्घट्टं तृतीयं परमेश्वरम्।
परा च अपरा चैव तृतीया तु परापरा।।२०।।

अपरे संस्थिता ह्येव इत्याद्या सर्वदेहिनः।
आसां मन्त्रोदयं वक्ष्ये स्वपिण्डे भोगमोक्षदा॥२१॥

शिव शक्तिमयं युग्मं पराबीजं सदारुणम्।
एतत् त्रिरक्षरं मन्त्रं परादेव्या प्रकाशितम्॥२२॥

ज्ञानविज्ञानफलदमपरा च मतश्शृणु।
तदेवाद्यं परं युग्मं पराख्यं वरुणोर्ज्जितम्॥२३॥

सर्वगो दीपितं कृत्वा अपरा तृतयोदितम्।
सर्वस्वहृदयान्तस्थं - - - - - - - - - - ॥२४॥

- - - - - - ष्टस्तु मदिरानन्दनन्दितः।
- - - - - - - - - - - भैरवं वपुम्॥२६॥

प्रस्तरे भूतलं - - - - - - - - - - - - - ॥२७॥

- - स्व स्वभाव स्वरूपेण शिवं भु - - - ॥२८॥

- - - न्यसेत्पुष्पं ध्यात्वां प्रेतं जगद् गुरुम्।
- - - - - - - - - - - - सर्वकारणम्॥२९॥

पूजयित्वा ततः पश्चात् स्वे स्वे मन्त्रेण सुव्रते।
अर्चयेत् क्षेत्रपालेशं ततो धूपं सुकल्पयेत्॥३०॥

ततो वै स्थापयेल्लिंग गन्धधूपाद्यनुक्रमैः।
दधिक्षीराज्यमधुकै र्द्राक्षश्चेक्षुरमासवः॥३१॥

सुरादि सोत्तमैर्द्रव्यैर्दध्यमासादिनुक्रमैः।
पश्चाद्वेषोत्तमं दिव्यं महास्नानं प्रकल्पयेत्॥३२॥

मणिरत्नमये पात्रे सौवर्णे राजतेऽपि वा।
कास्ये चैवात्र सङ्कट्टे तदाभावास्तु बिल्वजे॥३३॥

मध्यवृत्तिपदोद्भूतं गृहीत्वा स्वकुलामृतम्।
कर्पूरागुरुसंयुक्ते मृगजामलयान्वितम्।।३४।।

मूलमन्त्रेति सत्कृत्वा मुनिसङ्ख्या विधानवित्।
अयमेवाथोऽयस्कान्ते पात्रान्ते लिङ्गमुत्तमम्।।३५।।

स्नात्वा चैवोपविष्टे वै लिङ्गावित्सङ्ख्यया शुभम्।
धर्माधर्मक्षये प्रोक्ते विशुद्धे विशुवे परे।।३६।।

चिच्यितान्तरसंल्लीने ध्यात्वा सङ्घट्टभैरवम्।
युक्ति युक्तं पिवेन्मद्यं पिङ्गलं निर्मलं रसम्।।३७।।

तत्क्षणाद् भवती वीरो वलीपलित वर्जितः।
- - - - - - - मपरे नित्यं द्वितीयमिव भैरवः।।३८।।

एवं स्नानविधिङ्कृत्वा कर्णिकान्ते जगद्गुरुम्।
मुनिसङ्ख्यार्चयेद्देवं पराशक्तिसमन्वितम्।।३९।।

अष्टत्रिंशाक्षरं घोरं काली सप्तादशाक्षरा।
पूजामन्त्रेण वो पश्चात् त्र्यक्षरे सर्वकामदे।।४०।।

भूतसङ्ख्यार्चयेद्देवं द्विधाशाक्ति स्त्रिधाशिवम्।
पश्चात्क्रमेऽर्चयेत्सर्वा गुरुसिद्धादिपीठगाः।।४१।।

तृसङ्घट्टं ततः पद्मं द्वादशारं ततोर्चयेत्।
षट्कोणं परमं धाम सर्वशक्त्यालयोद्भवम्।।४२।।

गृह्य पुष्पात्रजलिं पश्चाज्जातंत्यक्त्वा तु भूतले।
विद्यायुग्मं ततः पूज्यं त्रिवर्णेशं सकृत् सकृत्।।४३।।

ततो वै समयाख्या तु भोगमोक्षार्थकामदा।
पञ्चषड्भिस्तु कोटीनां विद्यां समयमुत्तमाम्।।४४।।

या स्मृता राजराजेशी पञ्चशार्णा पराकला।
मूलमुख्यतरा दीप्ता धर्माधर्मक्षयङ्करी।।४५।।

यत्रोत्पन्नास्तु ते मन्त्रा अघोराद्यादिनुक्रमा।
सप्तादशाक्षराद्यादि मूलमुख्यतरान्तिमा।।४६।।

राजराजेश्वरादिव्या तया विद्याजगाम्बिके।
त्रिरावृत्तं प्रयोगेण नित्यमेवं प्रपूजयेत्।।४७।।

यया पूजित मात्रा वै सकृत्स्मृत्वा वानघे।
अनेन शरीरेण सायोज्यत्वं प्रयच्छति।।४८।।

पश्चात्प्रकल्पये धूपं पञ्चब्रह्मनवात्मकम्।
ततश्चाष्टाङ्गविधिना दण्डपातं प्रदक्षिणम्।।४९।।

कृत्वा दिव्या महाराणि कर्मणा मनसागिरा।
निवेदयेत्परे तत्त्वे पुष्पहस्तं प्रकल्पयेत्।।५०।।

धर्माधर्मं च - - पुण्यपापं शुभाशुभम्।
कामक्रोधमलं लोभं शब्द स्पर्श रसं तथा[क]।।५१।।

ब्रह्माविष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वर श्च सदाशिवः।
एतत् सर्वमशेषेण नानावृत्यौघमण्डलम्।।५२।।

पञ्चाभूतात्मकं पिण्डं तत्त्व षट्त्रिंशबृंहितम्।
चतुर्विंशपदोपेतं षड्ध्वनिलयं परम्।।५३।।

षट्चक्रं षोडशाधारं त्रिलक्षं व्योमपञ्चकम्।
आब्रह्मभुवनं सर्वं स्वकुलं कौलिकं पशुम्।।५४।।

निवेदयेत्परे ब्रह्मे भैरवोत्सङ्गबृंहिते।
स्वदेहोत्कर्तनं कृत्वा ज्वलयेत् - - - ।।५५।।

क. खण्डितोऽत्र पाठः।

होम एतत्समाख्यातं यन्त्रस्याप्यायनं महत्।
एतद्वै त्रिविधं का - - - - - ट्कायिक वाचिकम्।।५६।।

कृत्वा पूर्वेनयेत्पश्चात् महापशूपहारकम्।
सर्वाङ्गलक्षणोपेतं प्रत्यग्रं तु नरेश्वरम्।।५७।।

स्वसातं सुमहानन्दं बद्धनेत्रपदं शुभान्।
तदनाप्तमशेषं व अजं वा महिषं वृषम्।।५८।।

मीनं चाथ वरारोहे यत्किञ्चिज्जीवरूपिणम्।
सुशुष्कं चैव सुस्नातं सुरोमं शृङ्गिणं शुभम्।।५९।।

सर्वलक्षणसम्पूर्णं अक्षताङ्गमरोगिणम्।
ह्रीं क्षां क्षं तृतीये नेन आकर्णान्तावलोकयेत्।।६०।।

ततो नेत्रपटोद्धाट्य कुलाचारसमन्वितैः।
अर्घपुष्पासवोपेते शिरः पृष्ठे कटिस्थले।।६१।।

प्रेक्षयित्वा प्रधानेन दिव्येन वेघ रूपकैः।
यावन्न चालयेद्देहं तावन्न पशुपातयेत्।।६२।।

ह्रीं धूंक्षः तृतये नैव वीरकर्म समार्चयेत्।
- - - - - - - - - - कामविभूतिदम्।।६३।।

यदादौ चालयेद् वक्त्रं पश्चाद् देहं वरानने।
अशुभं ते तु विज्ञेयं दुःख शोकामयप्रदम्।।६४।।

यदादौ धुनते वक्त्रं पश्चाद्देहं पुनश्शिरम्।
सिद्धिदं तत्र विज्ञेयं सप्तदेहविलम्बितम्।।६५।।

प्रवृष्टिं तु यदा मुञ्चे पुरीषाण्डानि शोभने।
समैर्वित्तागमैविन्द्या द्विषमं ज्ञानसिद्धिदम्।।६६।।

पुरीषं तु यदा मुञ्चेत् गृहीत्वा वीर वन्दिते।
स्वकुलामृतसंयुक्तं मातृभृङ्गिरजान्वितम्।।६७।।

कुहा कुष्ठसमोपेतं मुनिसंख्याभिमन्त्रितम्।।६८।।

सप्तादशाक्षरा विद्या नस्ये पाने पिवेद् गुदः।
आपादतलमुण्डान्तं सर्वाङ्गेषु समालभेत्।।६९।।

चतुष्षष्ठिविधैर्घोरैः कालकूटादिनुक्रमात्।
नाभिभूयति सो भद्रे शस्त्रास्त्रै तु स बाध्यति।।७०।।

स्तम्भयेत्सर्वसैन्यानि मन्त्रं देवासुरोपमः।
दिक्पूर्वोभिमुखे भूत्वा यदा यासौ धुनतेऽनघे।।७१।।

तदा अक्षागमं विन्द्याद दिव्यस्त्रीप्रियसंगमम्।
स्थानलाभं शरीरस्य वज्रकायवलं भवेत्।।७२।।

आग्नेया तु भवं घोरे वह्नि सञ्जाननं भवेत्।
दुर्भिक्षं राष्ट्र संपातं राजा चैव विनश्यति।।७३।।

याम्यायां मरणं घोरं कष्टारं - - - भा।
अतिवृष्टिरनावृष्टिः भवते वाम सुव्रते।।७४।।

मन्त्रहस्ताद्भवेत् - - - - - भूहानिर्वियोगम्।।७५।।

कटुबन्धुर्जनैस्सार्धं दुष्ट शत्रभयं भवेत्।
सुभिक्षं वारुणे भागे सर्व सत्त्वसुसिद्धिदम्।।७६।।

- - - गास्साधकेन्द्रस्य सर्वभूताश्चराचराः।
वायव्यां विधुसंपातं विद्वेषोच्चाटमारणम्।।७७।।

वज्रपाताशिरभयं मरणेचार्थनाशनम्।
यत्किञ्चिदशुभं भद्रे तत्सर्वं वायवीदिशम्।।७८।।

उत्तरे ज्ञान सिद्धिः स्याद्वश्याकर्षणमारणम्।
प्रसादं सर्वदेवीनां सिद्धिं चैव मनेप्सितम्।।७९।।

अधमां मध्यमां कामां कौबेर्यां धुनते यदा।
ईशान्यभिमुखो भूत्वा यदासौ धुनते पशुम्।।८०।।

।। इति महाकौलागमे पातालपिङ्गलान्तरखण्डविर्निर्गते श्री वृद्धस्वच्छन्द-कौलाभिधाने व्याधिभक्षभैरवे सप्तमः पटलः।।

योग

डॉ. अनिता स्वामी
सहायक, आचार्य, संस्कृत विभाग
इन्द्रप्रस्थ महिला महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

भारतीय ज्ञान–परम्परा का सनातन ज्ञान 'योग' है। 'योग' शब्द का प्रयोग श्रुति एवं स्मृति ग्रन्थों में अति पुरातन काल से होता आया है। योग का ज्ञान इस ब्रह्माण्ड में अनादि काल से विद्यमान है अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व भी योग विद्यमान था। अतएव "योग" उतना ही प्राचीन है जितनी कि "सृष्टि"। योग साधना–पद्धति से ही प्राप्त ऋतम्भरा–प्रज्ञा के द्वारा वैदिक ऋषि यों ने ऋचाओं का साक्षात्कार किया एवं सृष्टि की उत्पत्ति के कारण 'ब्रह्म' (चेतन), कार्य रूपी सृष्टि तथा उसके शाश्वत एवं अपरिवर्तनशील नियमों का अनुभव प्राप्त किया। अतएव योग भारतीय प्राचीन परम्परा एवं संस्कृति की अमूल्य धरोहर है जो कि आज भी सुरक्षित है एवं मानव–सभ्यता के लिये उपयोगी है।

'योग' मोक्ष के 'साधन' एवं 'साध्य' दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। "युज् समाधौ" धातु से "घञ्"

प्रत्यय लगाने से निष्पन्न योग शब्द 'चित्तवृत्तिनिरोध' रूपी 'समाधि' के अर्थ में है जो कि 'योग' के 'साधन' के रूप में स्वीकृत है। अतएव पतंजलि कृत योग–दर्शन में 'योग' शब्द 'साधन' अर्थ में प्रयुक्त है। युजिर् योगे धातु से बने 'योग' शब्द ''आत्मा एवं परमात्मा के संयोगरूप'' साध्य के अर्थ में प्रयुक्त है, जो कि वेदान्त द्वारा स्वीकृत है। बृहदारण्यकोपनिषद् (2/4/5) के सारतम उपदेश याज्ञवल्क्य–मैत्रेयी–संवाद– 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'– में भारतीय जीवन–प्रवाह की समग्र आशा, आकांक्षा का पर्यवसान होता है। आत्मतत्त्व के विश्लेषण एवं उसके साक्षात्कार के साधन और स्वरूप के निरूपण में ही योग–दर्शन का तात्पर्य है। महाभारत में शुकदेवजी ने कहा है कि – 'न तु योगमृते प्राप्तुं शक्या सा परमागतिः।' इसीलिये श्रीमद भगवद्गीता में श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को 'योगी' बनने की प्रेरणा देते हुए कहा गया है –

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ।।

श्रीमद भगवद् गीता, 6/46 ।।

महाभारत एवं याज्ञवल्क्य–स्मृति के अनुसार ऋग्वेदोक्त ''हिरण्यगर्भ'' (ऋग्वेद 10/21) दवेता ही योगशास्त्र के पुरातन ज्ञाता (वेत्ता) हैं। श्रीमद्भागवत में कहा है कि हे योगेश्वर! यह योगकौशल वही है जिसे भगवान् हिरण्यगर्भ ने कहा था। महाभारत (11/339/69) के अनुसार भगवान् नारायण (विष्णु) ही हिरण्यगर्भ हैं। श्रीमद भगवद्गीता (महाभारत भीष्मपर्व–अध्याय–25–42) के चतुर्थ अध्याय (4/1–3) में श्रीकृष्ण, अर्जुन से कहते हैं –

''मैंने इस अविनाशी–योग को सूर्य से कहा था, सूर्य ने अपने पुत्र वैवस्वत मनु से कहा था और मनु ने अपने राजा इक्ष्वाकु से कहा था। इस प्रकार परम्परा से प्राप्त–योग को राजर्षियों ने जाना, किन्तु उसके बाद वह योग बहुत काल से इस पृथ्वी लोक में लुप्त हो गया था। तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है, इसलिये वह परम रहस्ययुक्त, पुरातन–योग आज मैंने तुझको कहा है।''

इस प्रकार परम्परा से प्राप्त 'योग' वैदिक एवं लौकिक वाङ्मय में प्राप्त होता है। वेदों (ऋग्वेद–1/5/ 3,11/18/7, 1/30/17 यजुर्वेद–11/2, सामवेद–2/ 2/7/9 (पूर्वार्चिक), 1/2/10/3 (उत्तरार्चिक), तथा अथर्ववेद–20/26/1, 20/99/1, ब्राह्मण–ग्रन्थों (ऐतरेय–ब्राह्मण–11/5, शतपथ–ब्राह्मण– 3/2/2/26, तैत्तिरीय–ब्राह्मण– 1/2/1/15), आरण्यकों (ऐतरेय–आरण्यक–2/1/6, शांखायन– आरण्यक–5/2–3), उपनिषदों (बृहदारण्यकोपनिषद्–3/7/2, मुण्डकोपनिषद्–3/1/5, श्वेताश्वतरोपनिषद्– 1/3, 2/8–9, मैत्रायणी– उपनिषद्–6/18, कठोपनिषद् 1/2/12, 2/3/10–11), रामायण (सुन्दरकाण्ड), महाभारत (शान्तिपर्व), पुराण (ब्रह्मपुराण, अध्याय 235, भगवद्पुराण अध्याय– 2,12, अग्निपुराण अध्याय– 352–58, गरुड़पुराण–अध्याय– 14, 49 व 118, शिवपुराण अध्याय–17, 37–39, मार्कण्डेय पुराण अध्याय–36–43) तथा वैदिक–दर्शन के सूत्र–साहित्यों में पूर्णतया योग का स्वरूप उपलब्ध होता है। कठोपनिषद् में योग को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि जिस समय पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन के सहित आत्मा में स्थित हो जाती हैं और बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती, उस अवस्था को परमगति कहते हैं। उस स्थिर इन्द्रियधारण को ही 'योग' कहते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि सृष्टि के प्रारम्भ से पूर्व 'योग' विद्यमान था तथा तात्विक ज्ञान की प्राप्ति के साधन के रूप में 'योग' की महत्ता सर्वसम्मत रूप से विद्यमान थी।

योग के प्रकार

पद्धतियों की भिन्नता के आधार पर 'योग' के विभिन्न प्रकार होते हैं। इनमें से वैदिक–दर्शन के अन्तर्गत 7 प्रकार के प्रमुख योग होते हैं– राजयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, मन्त्रयोग, लययोग और हठयोग। योगराजोपनिषद् (1,2) में मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग के रूप में योग को विभक्त किया गया है, जबकि 'योगशिखोपनिषद् (129, 130)' में मंत्रयोग, लययोग, हठयोग एवं राजयोग को एक ही महायोग की अन्तर्भूमिकाओं के रूप में स्वीकार किया गया है। जीव एवं ब्रह्म के संयोग को 'परमयोग' के रूप में वर्णित करने वाले 'गरुड़ पुराण' के 14वें अध्याय में

'ध्यान–योग' का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। श्रीमद्‌भागवतपुराण (11/206) में ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग के रूप में मानव– कल्याण हतु 'योग' का वर्णन प्राप्त होता है। देवी भागवत–पुराण में मोक्ष प्राप्ति के साधन के रूप में ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग को स्वीकार किया गया है। श्री मद्‌भगवद्‌गीता में श्रीकृष्ण द्वारा चार प्रकार के योग– ज्ञानयोग, अभ्यास योग, भक्तियोग व कर्म योग का वर्णन किया गया है। इस प्रकार वैदिक–दर्शन में प्राप्त 'योग' को हम सात प्रमखु भागों में विभक्त कर सकते हैं जो इस प्रकार हैं –

(1) राज–योग–मंत्रयोग, लययोग, हठयोग का फल राजयोग है, अतः यह योग सर्वश्रेष्ठ योग अर्थात् 'राजयोग' है। साधारणतया 'राजयोग' को पातंजल का सूचक माना जाता है, क्योंकि यह समाधि के साधन के रूप में वर्णित है। योगशिखोपनिषद् (1/136) में राजयोग को परिभाषित करते हुए कहा गया है– 'रजसो रेतसो योगात् शक्तिशिवयोगाद राजयोगः।' श्रीमद्‌भगवद्‌गीता (12/9) में 'राजयोग' को 'अभ्यास–योग' के नाम से कहा गया है। श्रीकृष्ण, धनंज्जय को कहते हैं कि– ''यदि तू अपने मन को अचल स्थापन करने में असमर्थ हो तो अभ्यास रूपी योग के द्वारा मुझको प्राप्त करने की इच्छा कर।'' मन को अन्य

विषयों से हटाकर पुनः–पुनः आलम्बन पर केन्द्रित करना ही 'अभ्यास–योग' अर्थात 'राजयोग' है। जो अभ्यास–योग से मन एवं प्राण दोनों को ही आत्मा में लीन कर लेते हैं, वे राजयोगी सर्वश्रेष्ठ हैं।

(2) हठ–योग – हठ पद दो वर्णों (ह – सूर्य, ठ – चन्द्रमा) से मिलकर बना है। हठयोग का अर्थ है बलपूर्वक शरीर व मन के नियन्त्रण से 'योग–साधना' में सिद्धि लाभ प्राप्त करना। 'हठयोग' के सम्बन्ध में नाथयोगी सम्प्रदाय विशेष ज्ञान रखता है। पातंजल योग के 'अष्टां डग–योग' में 'शरीर–नियन्त्रण' का अत्यल्प वर्णन प्राप्त होता है। 'हठयोग' के आधारभूत ग्रन्थ 'हठयोगप्रदीपिका'– (4/103) में कहा गया है कि– 'हठयोग' का लक्ष्य 'राजयोग' ही है। हठयोग की साधना का अन्तिम साध्य इड़ा और पिंगला की सुषुम्ना से, 'प्राण' और 'अपान' वायुओं की जीवन–शक्ति के केन्द्रबिन्दु से, 'बिन्दु' और 'रज' को सम्पूर्ण मानसिक–शारीरिक शक्ति के केन्द्रबिन्दु से और अन्ततः चेतना की उच्चतम स्थिति में शिव और शक्ति की एकता स्थापित करना है, जो 'राजयोग' का लक्ष्य है।

(3) लय–योग– 'लययोग' से तात्पर्य है 'लय' के द्वारा 'समाधि' को प्राप्त करना। योगतत्त्वोनिषद् के अनुसार 'लययोग' का स्वरूप 'चित्तलय' है। कठोपनिषद् (1/3/3) में ब्रह्म–साक्षात्कार के साधन के रूप में 'लय' का वर्णन करते हुए कहा गया है कि ''विवेकी पुरुष वाक्–इन्द्रिय का मन में उपसंहार करे, उसका प्रकाशस्वरूप बुद्धि में लय करे, बुद्धि को महत्–तत्त्व में लीन करे और महत्व को शान्त आत्मा में लीन करे।' हठयोगप्रदीपिका के अनुसार राजयोग के सन्दर्भ में ही हठयोग और लययोग की सार्थकता है। दूसरे शब्दों में हठयोग और लययोग, राजयोग की प्राप्ति में सहायक है, क्योंकि राजयोगी काल की सीमा से परे अर्थात् कालातीत अवस्था को प्राप्त होकर मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर लेता है।

(4) मन्त्र–योग – विशिष्ट देव, अवतार या ईश्वर के नाम का या रहस्यमय बीजाक्षरों का जप मंत्रयोग है। योगतत्त्वोपनिषद् (मन्त्र 21, 22) में कहा गया है– ''जो अल्पबुद्धि वाला साधक मातृकादि से युक्त मन्त्र का 12 वर्षों तक जप करते हुए मन्त्रयोग का सेवन करता है वह अणिमादि सिद्धि सहित ज्ञान को क्रमशः प्राप्त कर लेता है।'' राधाकृष्णन ने 'रोगमुक्ति' के साधन के रूप में 'मन्त्रयोग' के महत्व को स्वीकार किया है, क्योंकि 'मन्त्रयोग' द्वारा रोगमुक्ति की सहायिका 'मानसिक–शक्ति' में वृद्धि होती है। शिव–पुराण के 17वें अध्याय में 'ॐ' मन्त्र के उच्चारण के अभ्यास व फल को बताया गया है। पतंजलि ने भी ईश्वर के वाचक 'प्रणव' के जप से समाधि–लाभ व समाधि–फल की प्राप्ति को बताते हुए मन्त्रयोग के महत्व को स्पष्ट किया है।

(5) ज्ञान–योग– श्रीमद्भगवद्गीता में आत्मतत्व की प्राप्ति के साधन के रूप में सांख्ययोगियों के लिये ज्ञान–योग का उपदेश किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता (7/2) में श्रीकृष्ण अर्जुन को कहते हैं– ''मैं तेरे लिये विज्ञान सहित ज्ञान को सम्पूर्णतया कहूँगा, जिसको जानकर संसार में पुनः और कुछ भी जानने योग्य शेष नहीं रहता''। आध्यात्मज्ञान में नित्य स्थिति और तत्वज्ञान के अर्थरूप परमात्मा को देखना– यह सब ज्ञान है। इस ज्ञान को जानने वाला भक्त ईश्वर के स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

(6) कर्म–योग – मीमांसा के अनुसार वेदविहित यज्ञादि कर्मों का विधिवत् अनुष्ठान एवं निषिद्ध कर्मों का असम्पादन 'कर्मयोग' है। गीता में कर्मयोग का तात्पर्य 'निष्काम–कर्म' से है। श्रीमद्भगवद्गीता (3/3) में योगियों के लिये 'कर्मयोग' बताया गया है। गीता के अनुसार कर्मों के फल की कामना न करते हुए एवं कर्मों के फल को ईश्वरार्पण करते हुए लोकसंग्रह के लिये कर्मों को संपादित करना ही 'कर्मयोग' है। जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्तिरहित कर्म (निष्काम–कर्म) द्वारा परमसिद्धि को प्राप्त हुए थे। अतएव आसक्ति–रहित कर्म करने वाला मनुष्य परमात्मा को प्राप्त होता है। इसीलिये श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को मन–बुद्धि आदि पर विजय प्राप्त करके सम्पूर्ण कर्मों के फल का त्याग करने का उपदेश दिया गया है। क्योंकि कर्मफल के त्याग से तत्काल ही परम–शान्ति प्राप्त होती है। अतएव 'कर्मयोग' से तात्पर्य 'कर्म–फल–संन्यास' से ग्रहण करना चाहिये।

(7) भक्ति–योग – भक्ति शब्द 'भज्' धातु से बना है। इसका अर्थ सेवा, आराधना करना है। जब भक्त सेवा या आराधना द्वारा भगवान् से साक्षात् सम्बन्ध स्थापित कर लेता है तो वही 'भक्तियोग' है। नारद भक्तिसूत्र (1/2) के अनुसार परमेश्वर के प्रति परम–प्रेमरूप ही भक्ति है। वह अमृतस्वरूपा है। जिस भक्ति को प्राप्त करके मनुष्य सिद्धि, अमृतत्व व तृप्ति

को प्राप्त कर लेता है। श्रीमद्भगवद्गीता (12/12) में श्रीकृष्ण ने भक्त को उत्तम योगी बताते हुए कहा है कि "जो भक्त ईश्वर में मन को एकाग्र करके निरन्तर ईश्वर के भजन ध्यान में लगे हुए अतिशय श्रद्धा से युक्त होकर ईश्वर के सगुण रूप की उपासना करते हैं वह योगियों में उत्तम योगी है।" श्रीकृष्ण ने भक्तियोग अर्थात् 'ईश्वर के परायण होकर कर्म करना' का फल भगवद्प्राप्ति बताया है।

इस प्रकार पद्धति के आधार पर योग के प्रकारों की भिन्नता होते हुए भी लक्ष्य में एकत्व है। श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित चारों योगी की उत्तरोत्तर श्रेष्ठता को बताते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से ध्यान विशिष्ट है, ध्यान से सम्पूर्ण कर्मों के फल का त्याग श्रेष्ठ है, क्योंकि त्याग से तत्काल परम शान्ति प्राप्त होती है।

पातंजल–योग

'योग' शब्द का प्रयोग पुरातन–काल से होता आया है। सृष्टि के आदिकाल से ही ऋषियों द्वारा योग–साधना के माध्यम से अनुभूत ब्रह्माण्डीय नियमों को अपने शिष्यों को बताया गया। प्रारम्भ में आन्तरिक एवं बाह्य अर्थात् पिण्ड व ब्रह्माण्ड के कारणरूपी "ब्रह्म" साध्य की प्राप्ति का साधन–रूप 'योगविद्या' गुरु–शिष्य परम्परा के माध्यम से मौखिक रूप में उपलब्ध था। श्रुति एवं स्मृति ग्रन्थों के आधार पर योग के आदि संस्थापक 'हिरण्यगर्भ' हैं, जिसे पतंजलि मुनि के द्वारा योगसूत्र के माध्यम से सूत्रबद्ध किया गया। अतएव पतंजलिकृत 'योगसूत्र' इस विद्या का प्राचीनतम सूत्र–ग्रन्थ है जो चार भागों में विभक्त है– (1) समाधिपाद (2) साधनपाद (3) विभूतिपाद तथा (4) कैवल्यपाद।

योगसूत्र के निगूढ़ रहस्यों का उद्घाटन करने में व्यासभाष्य नितान्त कृतकार्य है। 'योगसूत्र–व्यासभाष्य' स्वयं अत्यन्त गूढ़ार्थयुक्त है, अतः उसके अर्थ के विश्लेषण हेतु अनेक टीका–प्रटीकाएँ लिखी गयीं। व्यासभाष्य पर लिखित टीका–प्रटीकाओं के अतिरिक्त योगसूत्र पर लिखित अन्य स्वतन्त्र टीका–प्रटीकाएँ उपलब्ध होती हैं। इस प्रकार योगसूत्र पर लिखित भाष्य–वार्तिक–टीका–प्रटीकाओं के द्वारा 'योग–दर्शन' पर एक समृद्ध एवं विस्तृत साहित्य प्राप्त होता है।

पातंजल योग– दर्शन में 26 तत्त्वों को प्रमेय रूप में स्वीकार किया गया है। सर्वदर्शन–संग्रह में माधवाचार्य ने इन प्रमेय तत्त्वों को भाव्य–वस्तु कहा है। भाव्य–वस्तु के दो भेद हैं– (1) ईश्वर (2) तत्त्वसमूह। तत्त्व समूह दो प्रकार का है– जड़ (प्रकृति) व अजड़ (पुरुष)। प्रकृति, महत्, अहंकारादि चैबीस जड़–पदार्थ हैं। पुरुष आत्मन् अजड़ है।

सांख्य– योग के अनुसार प्रकृति एवं पुरुष दोनों ही विभु तत्त्व हैं, अतएव इनका अनादि संयोग है। प्रकृति त्रिगुणात्मक (सत्त्व रजस् तमस्) है तथा सृष्टि–लय की स्थिति में अव्यक्तावस्था में रहने के कारण इसे अव्यक्त प्रकृति कहा जाता है। सृष्टि–उत्पत्ति के समय अनादि अविद्या के कारण पुरुष का प्रकृति से संयोग होता है, तब संयोग के कारण प्रकृति के त्रिगुणों में परस्पर क्रिया होने के कारण व्यक्तावस्था को प्राप्त प्रकृति, सत्त्वप्रधान–चित्त के रूप में परिणत हो जाती है। चित्त क्रमशः अस्मिता (अहंकार), पंचतन्मात्राओं, एकादश इन्द्रियों, पंच महाभूत और फिर संसार के विभिन्न पदार्थों में परिणत होता रहता है। पंच महाभूत पर्यन्त प्रकृति का 'तत्वान्तर–परिणाम' कहा जाता है।

इस प्रकार अव्यक्त प्रकृति गुणत्रय का अलिगंन परिणाम है और चित्त (बुद्धि) लिंग परिणाम। गुणों के 6 अविशेष परिणाम हैं– अस्मिता और पंचतन्मात्राएँ) 11 इन्द्रियाँ और 5 महाभूत, गुणों के ये 16 विशेष परिणाम हैं। पुरुष (चितिशक्ति) अपरिणामिनी, अप्रतिसंगमा, दर्शितविषया, शुद्ध और अनन्ता है। क्लेश, कर्म, विपाक एवं आशय से अपरामृष्ट पुरुष विशेष 'ईश्वर' हैं।

महर्षि पतंजलि ने समाधि द्वारा सृष्टि–उत्पत्ति की प्रक्रिया को जानने के पश्चात् यह अनुभव किया कि सम्पूर्ण सृष्टि जड़ प्रकृति का परिणाम–मात्र है। प्रकृति, चेतन पुरुष के संयोग से चित्त से लेकर पंचमहाभूत पर्यन्त सम्पूर्ण सृष्टि को उत्पन्न करती है। अतएव चेतन तत्त्व के ज्ञान से ही सम्पूर्ण सृष्टि व स्व–स्वरूप को जानना सम्भव है जो कि योग–साधना से ही सम्भव है। इसीलिये पतंजलि ने साधक (अधिकारी) भेद से चार प्रकार के योग का वर्णन किया है–

(1) संप्रज्ञात योग व असंप्रज्ञात योग (उत्तम साधक हेतु)

(2) क्रियायोग (मध्यम साधक हेतु)

(3) अष्टांग–योग (प्रारम्भिक साधक हेतु)

(4) भक्ति–योग (सर्व साधारण हेतु)

सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात–योग

योग–दर्शन के अनुसार इन्द्रियों के माध्यम से वस्तु का पूर्ण ज्ञान न होकर आंशिक–ज्ञान होता है। अतएव योग दर्शन पूर्ण ज्ञान प्राप्ति हेतु समाधि को साधन के रूप में स्वीकार करता है। व्यास के अनुसार (योगः समाधिः – योगसूत्रव्यासभाष्य–1/1) समाधि ही योग है। पतंजलि के अनुसार (योगश्चित्तवृत्ति–निरोधः –योगसूत्र–1/2) चित्त की वृत्तियों का निरोध 'योग' है। प्रख्या, प्रवृत्ति एवं स्थिति धर्म से युक्त होने के कारण चित्त त्रिगुणात्मक (सत्वरजस्तमस्) है। त्रिगुणात्मक चित्त की वृत्ति सात्त्विक, राजसिक व तामसिक भेद से तीन प्रकार की होती है। रजस् व तमस से युक्त सत्व अवस्था वाले चित्त में क्लिष्टवृत्ति उत्पन्न होती है। अविद्यादि क्लेश से उत्पन्न तथा कर्म–संस्कार–समूह को उत्पन्न करने वाली क्लिष्टवृत्ति जन्म, आयु व भोग की जनिका है। राजसिक व तामसिक वृत्ति का निरोध होने पर शुद्ध सत्त्व प्रधान सात्त्विक–वृत्ति से चित्त में अक्लिष्टवृत्ति उत्पन्न होती है, जो कि अक्लिष्ट–संस्कार की जनक है तथा योगी को विवेक–ज्ञान से युक्त करने में सहायक है। सत्त्वगुण के प्राधान्य से समाहित चित्तवाले योगी को उस वैशारदकाल में सत्य को धारण करने वाली ऋतुम्भरा प्रज्ञा उत्पन्न होती है। इसलिये चित्तवृत्तिनिरोध से तात्पर्य मुख्यतः राजसिक व तामसिक वृत्तियों के निरोध से है। सात्त्विकवृत्ति के उदय से क्लिष्ट–वृत्ति के क्षीणता को प्राप्त होने पर 'संप्रज्ञात–योग' सिद्ध होता है तथा सात्त्विक–वृत्ति का भी निरोध हो जाने पर 'असम्प्रज्ञात–योग' सिद्ध होता है। इस प्रकार पतंजलि द्वारा स्वीकृत 'योग' दो प्रकार का है– (1) संप्रज्ञात (2) असम्प्रज्ञात।

1. **सम्प्रज्ञात योग** : चित्त की एकाग्रावस्था में राजस एवं तामस वृत्तियों के पूर्ण निरोध होने पर सात्त्विक वृत्ति पूर्ण रूप से उदित हो जाती है, फलस्वरूप साधक को पदार्थ का वास्तविक एवं निर्भ्रान्त ज्ञान होता है– 'सम्यक् प्रज्ञायते अस्मिन्निति सम्प्रज्ञातः समाधिः।'– अतएव इस समाधि को 'सम्प्रज्ञातसमाधि' कहते हैं। 'सम्यक् प्रज्ञायते साक्षात्क्रियते ध्येयमस्मिन्निरोधविशेषरूपे योग इति सम्प्रज्ञातो योगः।' एकाग्रता–काल में राजसिक एवं तामसिक वृत्तियों के निरोध होने पर सत्त्वगुणप्रधान चित्त ध्येय पदार्थ का चिन्तन करने में समर्थ होता है। अतएव जो समाधि एकाग्र–भूमि वाले चित्त को होती है तथा आलम्बन रूप से चित्त में स्थित पदार्थ को पूर्णतया प्रकाशित करती है, अविद्यादि क्लेशों को क्षीण करती है, कर्म–बन्धनों (संचित–संचीयमान आदि) को शिथिल करती है तथा निरोध (असम्प्रज्ञात–समाधि) की ओर अभिमुख करती है, वह समाधि, सम्प्रज्ञात–योग कहलाती है। सम्प्रज्ञात–योग की सिद्धि के चार सोपान–क्रम हैं– (1) सवितर्क (2) सविचार (3) सानन्द (4) सास्मिता।

(1) **सवितर्क** – विशेषेण तर्कणमवधारणं वितर्कः। अर्थात् जिसमें विशेष रूप से निश्चय होता है, उसे 'वितर्क' कहते हैं। वितर्क से युक्त वृत्तिनिरोध 'वितर्कानुगत योग' कहलाता है। योग में वर्णित तत्त्वों के समूहरूप स्थूल–पदार्थ को लेकर योगी चिन्तन की ओर बढ़ता है तो सर्वप्रथम सवितर्क–योग के द्वारा ध्येय विषय के स्थूल–रूप (पंचमहाभूत) का सम्प्रज्ञान होता है।

(2) **सविचार** – सत्त्वप्रधान चित्त में ध्येय विषय के सूक्ष्मरूप की परिपूर्णता 'विचार' है। चित्त के आलम्बन 'स्थूलरूप' (पंचमहाभूत) के कारण 'सूक्ष्मरूप' (पंचतन्मात्रादि) का समाधि द्वारा साक्षात्कार होना ही 'सविचार' अथवा 'विचारानुगत–योग' कहलाता है।

(3) **सानन्द**– आनन्दो ह्लादः विचारः सूक्ष्मतर आभोगस्तृतीयः (योगविवरण–1/17) चित्त का 'विचार' से सूक्ष्मतर' ह्लाद' विषयक आभोग 'आनन्द' है। स्थूलविषयक इन्द्रिय के विषय में चित्त का ह्लाद रूप आभोग 'आनन्द' कहलाता है। सत्त्वगुण सुखात्मक होता है। अतएव सत्त्वप्रधान अस्मिता (अहंकार) से उत्पन्न एकादशेन्द्रियाँ सुखात्मक अर्थात् आनन्द रूप हैं।

आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि में योगी स्थूल इन्द्रियों के बिना चित्त के माध्यम से 'आनन्दरूपी ज्ञान' का साक्षात्कार (आभोग) करता है। 'आनन्दानुगत–योग' में "मैं सुखी हूँ"। इस प्रकार की आनन्दविषयिणी चित्तवृत्ति के उदित होने पर चित्त की पूर्णतः सुखाकाराकारिता ही 'सानन्द' अथवा 'आनन्दानुगत–योग' कहलाता है।

(4) सास्मिता – 'दृग्' (पुरुष/चितिशक्ति) एवं 'दर्शन' (प्रकृति) शक्ति की एकात्मकता ही 'अस्मिता' है। चित्रस्थ अथवा बुद्धिस्थचितिच्छाया ही 'अस्मिता' है। चित्त, स्थूल, सूक्ष्म व सूक्ष्मतम समस्त ज्ञान को स्वप्रतिबिम्बित पुरुष (चितिशक्ति) को अर्पित कर देता है तथा प्रतिबिम्बित पुरुष (चितिशक्ति) सभी अनुभवों को आत्मसात् कर स्वत्व स्थापित कर लेता है। प्रतिबिम्बित पुरुष द्वारा स्वसत्ता का अनुभव 'अस्मि' रूप से करना ही 'अस्मिता' है।53 सम्प्रज्ञातसमाधि में एकात्मिकता (चित्त व पुरुष) का अनुभव ही अस्मिता है। अतएवं योगी का ध्येय 'अस्मिता' होने पर 'अस्मितानुगतयोग' की स्थिति में 'पुरुषतत्त्व' एवं 'प्रकृति के शुद्ध सत्त्वरूप' का ज्ञान होने पर प्रमाता, प्रमेय और प्रमा का भेद समाप्त हो जाता है। योगी की अस्मिता (प्रकृति का शुद्ध सात्विक स्वरूप) ही 'प्रमाता' है, ऐसा अनुभव होता है।

2. **असम्प्रज्ञात योग**– चित्त की सभी वृत्तियों (सात्त्विक–राजसिक–तामसिक) का निरोध होने पर असम्प्रज्ञात समाधि होती है। असम्प्रज्ञात की अवस्था में चित्त, सम्प्रज्ञात–योग से प्राप्त विवेक–ज्ञान का भी परवैराग्य से निरुद्ध करता है। अतएव चित्त को निरुद्ध अवस्था में निरोधजन्य संस्कारमात्रविशिष्ट, निर्बीजसमाधि प्राप्त होती है। इस अवस्था में चित्त को किसी भी वस्तु का ज्ञान नहीं होता है, इसलिये यह असम्प्रज्ञात योग कहा जाता है। इस प्रकार असम्प्रज्ञात–योग की अवस्था में प्रमाता, प्रमेय व प्रमिति की स्थिति न रहने पर ज्ञान–प्रक्रिया के बीजभूत चित्त का स्वकारण प्रकृति में लय हो जाने पर, पुरुष अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। इसलिये वह शुद्ध और मुक्त कहा जाता है। त्रिगुणात्मक प्रकृति का स्वकारण अव्यक्तप्रकृति में लय हो जाना कैवल्य है तथा चितिशक्ति (पुरुष) का अपने रूप में प्रतिष्ठित हो जाना ही कैवल्य है।

क्रिया योग

'क्रियायोग' एक पारिभाषिक शब्द है। क्रियायोग, चंचल चित्तवाले साधक अर्थात् मध्यम–अधिकारी के लिये बताया गया है। तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर–प्राणिधान क्रियायोग है। इन तीनों क्रियाओं को 'योग' इसलिये कहा गया है, क्योंकि इनके करने से योग सिद्ध होता है। इस प्रकार साधन और साध्य के अभेद कथन होने के कारण इन क्रियाओं का नाम 'क्रियायोग' पड़ा है। रजस्तमोमयी अशुद्धि को क्षीण करने हेतु तप का ग्रहण किया गया है। द्वन्द्वों (सर्दी–गर्मी, भूख–प्यासादि) को सहन करना 'तप' है। तपस्या का पालन साधक को चित्त की प्रसन्नता को बाधित न करने वाली स्थिति तक करना चाहिये। प्रणवादि पवित्र–मन्त्रों का जप अथवा मोक्षपरक शास्त्रों का अध्ययन 'स्वाध्याय' है। सम्पूर्ण क्रियाओं को परमगुरु ईश्वर में समर्पित करना अथवा कर्मों के फलों का संन्यास 'ईश्वर–प्रणिधान' है।

क्रियायोग का पूर्णतया पालन करने पर सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है और अविद्यादि क्लेश क्षीणता को प्राप्त होते हैं। क्रियायोग का निरन्तर पालन करने पर सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात योग सिद्ध होता है। 'अग्निपुराण' व 'पद्मपुराण' में 'क्रियायोग' को मोक्ष के साधन के रूप में स्वीकार किया गया है।

अष्टांग योग

पतंजलि प्रदत्त अष्टांग–योग प्रारम्भिक साधक के लिये बताया गया है। अष्टांग–योग सामान्य साधक के लिये मानवीय गुणों के विकास, समग्र स्वास्थ्य एवं समाधि द्वारा चेतना के उच्चतम स्तर की प्राप्ति का हेतु (सोपान) है। अष्टांग योग के प्रथम दो अंग यम (अहिंसा–सत्य–अस्तेय–ब्रह्मचर्य–अपरिग्रह) एवं नियम (शौच–सन्तोष–तप–स्वाध्याय–ईश्वर–प्रणिधान) का पालन करने से प्रत्येक व्यक्ति में निहित उच्चतम मानवीय मूल्यों का विकास होता है। उच्चतम मानवीय मूल्यों से युक्त व्यक्ति की आज प्रत्येक समाज को आवश्यकता है, क्योंकि ऐसा व्यक्ति सदैव समाज एवं देश को सही मार्ग एवं दिशा प्रदान करने का प्रयास करता है। आसन एवं प्राणायाम (तृतीय एवं चतुर्थ अंग) के पालन से

समग्र स्वास्थ्य का लाभ होता है। आसन करने से शरीर के अवयव–संस्थान सुदृढ़ होते हैं एवं प्राणायाम करने से श्वसन–प्रक्रिया के सुचारु रहने से शरीर में जीवनी शक्ति का विकास होता है व मनुष्य श्वसन–सम्बन्धी रोगों से मुक्त रहता है। शारीरिक रूप से सुदृढ़ एवं स्वस्थ व्यक्ति ही समाज एवं विश्व की उन्नति के लिये कार्य कर सकता है। आयुर्वेद में भी कहा है– शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्–सम्पूर्ण कार्यों को करने का साधन शरीर है। पंचम अंग प्रत्याहार (इन्द्रियों के नियन्त्रण) से मनुष्य अपनी ऊर्जा को केन्द्रित कर स्व एवं मानव कल्याण के लिये उपयोग कर सकता है। प्रत्याहार, योग के आवश्यक अंग के रूप में स्वीकृत है। यथार्थ रूप में पतंजलि ने यम–नियम– आसन–प्राणायाम–प्रत्याहार को योग के बहिरंग साधन के रूप में स्वीकार किया है एवं धारणा– ध्यान –समाधि को ही योग की संज्ञा दी है जिसे शास्त्रीय परिभाषा में संयम (त्रयमेकत्र संयमः। योगसूत्र–3/4) शब्द कहा गया है।

योग अर्थात् धारणा– ध्यान–समाधि का सम्बन्ध मन (डपदक) से है। धारणा–ध्यान –समाधि करने से मन एवं बुद्धि का विकास होता है तथा ऋतम्भरा प्रज्ञा (ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा। योगसूत्र–1/48) उत्पन्न होती है। योग के द्वारा उत्पन्न ऋतम्भरा प्रज्ञा (पूर्ण सत्य को जानने वाली बुद्धि) के माध्यम से ही ब्रह्माण्ड के मूल कारण प्रकृति एवं पुरुष के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान सम्भव है। योग के अंगों का अनुष्ठान करने से, अशुद्धि का क्षय हो जाने पर विवेकख्याति के उदय तक ज्ञान का प्रकाश होता है। इस प्रकार पतंजलि प्रदत्त अष्टाग–योग का श्रद्धा के साथ निरन्तर पालन करता हुआ योगी, चित्तवृत्ति–निरोध के द्वारा एकाग्र चित्त वाला होकर संप्रज्ञात व असंप्रज्ञात–योग को प्राप्त करता है।

भक्ति योग (ईश्वरप्राणिधानाद्वा)

भक्ति–योग हेतु पतंजलि द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। क्लेश, कर्म, विपाक (कर्मफल) एवं आशय (कर्मफलभोग) से अपरामृष्ट 'पुरुषविशेष' ईश्वर है। 'विशिष्यत इति विशेषः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार सामान्य पुरुष से विलक्षण होने के कारण ईश्वर को 'पुरुषविशेष' कहा गया है, क्योंकि 'ईश्वर' जन्म–मृत्यु के चक्र से परे होता है। योग–दर्शन में 'ईश्वर' को 'प्रणव' शब्द से कहा गया है। कर्मफल की अपेक्षा से रहित होकर परमगुरु 'ईश्वर' के प्रति सभी कर्मों को समर्पण करना 'ईश्वर–प्राणिधान' है। 'ईश्वर–प्रणिधान' से समाधि की सिद्धि प्राप्त होती है। प्रणिधान अर्थात् भक्ति–विशेष से प्रसन्न किया गया ईश्वर योगी को संकल्पमात्र से अनुगृहीत करता है। उस ईश्वर के अभिध्यान–मात्र से योगी को शीघ्रता से समाधि–लाभ (असम्प्रज्ञात– समाधि) एवं समाधि–फल (असम्प्रज्ञात– योग) प्राप्त होता है।

नाथ योग

भारत की योग परम्परा को जीवन्त बनाये रखने में "नाथ–योग सम्प्रदाय" का प्रमुख योगदान है। योग साधना के सिद्धान्तों को अक्षुण्ण बनाये रखने हेतु योगी गुरु गोरखनाथ (गोरक्षनाथ) द्वारा एक 'योगी–सम्प्रदाय' का प्रवर्तन किया गया जो कि "नाथ–योग–सम्प्रदाय" के रूप में प्रसिद्धि को प्राप्त है। गुरु 'गोरखनाथ' योगी 'मत्स्येन्द्रनाथ' के शिष्य तथा 'आदिनाथ' के प्रशिष्य के रूप में प्रसिद्ध हैं। अति प्राचीन काल से ही गुरु गोरखनाथजी सामान्य धार्मिक मानस में शिव के प्रतिनिधि या शिवरूप समझकर पूजे जाते रहे हैं। इसलिये उनका एक नाम "शिव" भी हैं। नाथयोगी सम्प्रदाय के विकास के इतिहास तथा अन्य लिखित परम्पराओं के साक्ष्य के आधार पर योगी गोरखनाथ का समय 5वीं शताब्दी से 12वीं शताब्दी के मध्य निश्चित किया जा सकता है।

नाथ– योगियों के मन्दिरों और मठों में गोरखपुर स्थित गोरखनाथ–मन्दिर का विशिष्ट स्थान है। परम्परा के अनुसार गुरु गोरखनाथ ने इस विशिष्ट भूमि को अपनी साधना का केन्द्र बनाया। यह मठ सहस्रवर्षों से स्थित है और इसने सहस्रों युवाओं को आध्यात्मिकता के पथ की ओर अग्रसर किया। इस मठ का प्रबन्ध एक योगी के हाथ में रहता है, जिसे "महन्त" कहते हैं। वह योगी गुरु 'गोरखनाथ' का 'प्रतिनिधि' और इस संगठन से सम्बद्ध सभी योगियों का 'आध्यात्मिक–गुरु' माना जाता है। गुरु गोरखनाथ मन्दिर की महन्त–परम्परा, गुरु के प्रति अगाध श्रद्धा समर्पण का एक जीवन्त उदाहरण है। गोरखपुर स्थित 'गोरखनाथ' मन्दिर इस दृष्टि से भी विशिष्ट है, क्योंकि इसके महन्तों की परम्परा में

कुछ ऐसे महान् योगी हुए जो अपने आध्यात्मिक ज्ञान एवं अद्वितीय योग–शक्ति के कारण दूर–दूर तक विख्यात रहे हैं। गुरु बुद्धनाथ, वीरनाथ, अजबनाथ और पियारनाथ इस मठ के महन्त रह चुके हैं। अलौकिक जीवन के धनी गुरु बालकनाथ (1758–1786) 28 वर्षों तक महन्त रहे हैं। इस प्रकार 17वीं शताब्दी से आज तक इस मठ में प्रख्यात योगियों की एक लम्बी परम्परा प्राप्त होती है।

गुरु गोरखनाथ जी का योगी सम्प्रदाय 12 उपपंथों में विभाजित है। इसीलिये इन्हें 'बारहो पन्थी' कहते हैं। इनमें से प्रत्येक सम्प्रदाय गोरखनाथजी के निकटतम शिष्य अथवा अनुयायी द्वारा प्रवर्तित है। सम्प्रदाय के उपपंथ इस प्रकार हैं–

(1) सतनाथी (2) रामनाथी (3) धर्मनाथी (4) लक्ष्मननाथी (5) दरियानाथी (6) गंगानाथी (7) बैरागपंथी (8) रावलपंथी या नागनाथी (9) जालन्धरनाथी (10) ओपन्थी (11) कापलती या कपिलपंथी (12) षज्जानाथी या महावीरपंथी। उपरोक्त इन विभिन्न पंथियों का भारतवर्ष में अपना प्रमुख केन्द्र हैं तथा ये सभी देशव्यापी एक संगठन से सम्बद्ध हैं।

नाथ पंथी योगियों द्वारा रचित विस्तृत योग साहित्य प्राप्त होता है जिसमें से 'गोरक्ष–शतक', 'गोरक्ष–संहिता', 'सिद्धान्त पद्धति, 'योग सिद्धान्त पद्धति', 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति, 'हठयोग', 'ज्ञानामृत' आदि अनेक संस्कृत ग्रन्थ स्वयं गोरक्षनाथजी द्वारा रचित हैं। इसी सम्प्रदाय के योगियों द्वारा रचित 'हठयोगप्रदीपिका', 'शिव–संहिता' और 'घेरण्ड–संहिता' आदि योग–साधना से सम्बन्धित महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार 'गोरक्ष–गीता', 'गोरक्ष–कौमुदी', 'गोरक्षसहस्रनाम', 'योग–संग्रह', 'योगमज्जरी', 'योग–मार्त्तण्ड' आदि ग्रन्थ गोरखनाथजी के शिक्षा–सिद्धान्तों पर आधारित हैं।

गोरखनाथजी द्वारा प्रवर्तित योगी सम्प्रदाय सामान्यतः 'नाथ योगी', 'सिद्ध योगी', 'अवधूत योगी', 'दरसनी योगी' या 'कनफटा योगी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये सभी नाम साभिप्राय हैं। योगी का लक्ष्य नाथ अर्थात् स्वामी होना है। प्रकृति के ऊपर पूर्ण स्वामित्व स्थापित करने के लिये योगी को अनिवार्यतः नैतिक, शारीरिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक गोरखनाथजी द्वारा प्रवर्तित योगी सम्प्रदाय सामान्यतः 'नाथ योगी', 'सिद्धयोगी', 'अवधूत योगी', 'दरसनी–योगी' या 'कनफटा योगी' के नाम से प्रसिद्ध है। ये सभी नाम साभिप्राय हैं। योगी का लक्ष्य नाथ अर्थात् स्वामी होना है। प्रकृति के ऊपर पूर्ण स्वामित्व स्थापित करने के लिये योगी को अनिवार्यतः नैतिक, शारीरिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक नियमों की क्रमिक विधि का पालन करना पड़ता है। ''सिद्ध योगी'' से तात्पर्य यह है कि जो योगी भौतिक जगत् के स्थूल, सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतम तत्त्वों पर तथा स्थूल व सूक्ष्म शरीर के नियन्त्रण द्वारा ''सिद्धि'' अथवा ''आत्मोपलब्धि'' प्राप्त करता है। जो योगी आत्मानुभूति की उच्चतम स्थिति को प्राप्त कर लेता है, वह 'अवधूत' कहलाता है। अवधूत योगी प्रकृति की शक्तियों एवं नियमों से परे होने के कारण भौतिक जगत् के दुःखों और बन्धनों से मुक्त होकर शिव के साथ एकत्व को प्राप्त कर लेता है।

इस सम्प्रदाय के योगी कुछ निश्चित प्रतीकों का प्रयोग आध्यात्मिक अर्थ के अभिप्राय से करते हैं। नाथ–योगी का एक प्रकट चिह्न कानों में पहने हुए कुण्डल हैं। इस सम्प्रदाय का प्रत्येक व्यक्ति संस्कार की तीन स्थितियों का अनुभव करता है। तीसरी अथवा अन्तिम स्थिति में गुरु शिष्य के दोनों कानों के मध्यवर्ती कोमल भागों को फाड़ देता है और घाव भरने पर उनमें दो बड़े छल्ले पहना दिये जाते हैं। अतएव इस सम्प्रदाय के योगी को कनफटा योगी कहा जाता है। योगी के द्वारा पहना जाने वाला 'मुद्रा', 'दरसन', 'कुण्डल' आदि नामों से प्रसिद्ध हैं। यह गुरु के प्रति शिष्य के पूर्ण आत्मसमर्पण का प्रतीक है।

'औघड़ योगी' गोरखनाथजी के उन अनुयायियों को कहा जाता है जो सभी सांसारिक सम्बन्धों का परित्याग कर योग–सम्प्रदाय में प्रविष्ट हो गये हैं परन्तु अन्तिम दीक्षा संस्कार के रूप में कान नहीं फड़वाया है। ''दरशनी योगी'' वे हैं, जिन्होंने सांसारिक जीवन का पूर्णतः परित्याग कर लक्ष्य सिद्धि प्राप्ति तक योग–साधना के मार्ग से विरत न होने का दृढ़ व्रत लिया है। ''औघड़'' तथा ''दरशनी'' योगी ऊन का पवित्र उपवीत (जनेऊ) पहनते हैं। इसी में एक छल्ला जिसे 'पवित्री' कहते हैं, लगा रहता है। छल्ले में एक नादी लगी रहती है जो 'नाद' कहलाती है और इसी के साथ रुद्राक्ष की मनियाँ भी रहती हैं। 'नाद' प्रणव (ॐ) की अनाहत ध्वनि तथा 'रुद्राक्ष' तत्त्वदर्शन का प्रतीक है।

गोरखनाथ मठ की महन्त परम्परा (1750 ई.-2018 ई.)

बालकनाथ (1758 ई.- 1786 ई.) → मानसनाथ (1786 ई.-1811 ई.) → सन्तोषनाथ (1811 ई.- 1831 ई.) → मेहरनाथ (1831 ई.- 1855 ई.) → गोपालनाथ (1855 ई.- 1880 ई.) → बलभद्रनाथ (1880 ई.-1889 ई.) → दिलवरनाथ (1889 ई.- 1893 ई.) → सुन्दरनाथ → गम्भीरनाथ → ब्रह्मनाथ → दिग्विजयनाथ (1934 ई.- 1969 ई.) → अवैद्यनाथ (1970 ई.- 2014 ई.) →

योगी आदित्यनाथ
(महन्त- गोरखनाथ मठ)
(सितम्बर 2014- वर्तमान तक)

गुरु गोरखनाथ तथा उनकी परम्परा के महायोगी किसी निश्चित दार्शनिक सिद्धान्त की स्थापना किसी शुष्क तर्क के आधार पर न करके पूर्णतः व्यावहारिकता तथा साधना के अनुभवों के आधार पर करते हैं। सिद्ध योगी सम्प्रदाय का सबसे अधिक प्रामाणिक दार्शनिक ग्रन्थ "सिद्ध–सिद्धान्त–पद्धति" है। योग सिद्धान्त के अनुसार विश्व, शक्ति–तत्त्व की भेदात्मक आत्म अभिव्यक्ति है। शक्तितत्त्व शिव या ब्रह्म से शाश्वत रूप से सम्बद्ध तथा अभिन्न है – "शिवस्य अभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः।" शिव और शक्ति एक दूसरे में अन्तरस्थ है। परमतत्त्व 'सत्ता' रूप में द्वैतात्मक और सापेक्षिक स्थिति से ऊपर तथा स्थान और समय की सीमाओं से परे 'शिव' है और स्वरूपात्मक स्थिति में इस द्वैतात्मक सापेक्षिक जगत् में समय और स्थान की सीमाओं में बँधकर अभि व्यक्त रूप में 'शक्ति' है।

योगी गोरखनाथजी के दर्शन की यह विशेषता है कि वह न केवल व्यक्ति की आत्मा को विश्वात्मा से अभिन्न मानते हैं, वरन् "व्यष्टिपिण्ड" को भी समस्त ब्रह्माण्ड से अभिन्न मानते हैं। उनके मत के अनुसार 'पिण्ड' ब्रह्माण्ड का ही वैयक्तिक मूर्तरूप है। व्यक्ति के पिण्ड के रहस्यों के पूर्ण ज्ञान एवं उस पर पूर्ण आधिपत्य द्वारा सम्पूर्ण विश्व का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। जब व्यक्ति के 'आत्मा' और 'विश्वात्मा' तथा 'व्यष्टिपिण्ड' और 'ब्रह्माण्ड' (समष्टिपिण्ड) का अज्ञानजन्य भेद समाप्त हो जाता है और एक ही शक्तियुक्त शिव भीतर और बाहर सर्वत्र अनुभूत होता है, तभी 'समर सकरण' की स्थिति आती है। इस स्थिति को प्राप्त करना ही योगी के जीवन का आदर्श एवं लक्ष्य है। गोरखनाथजी तथा उनके सम्प्रदाय की दार्शनिक पद्धति को "द्वैताद्वैतविवर्जित" तथा "पक्षापक्षविनिर्मुक्त" कहते हैं।

इस प्रकार 'अवधूत' ही सच्चे अर्थों में नाथ, सिद्ध या दर्शनी है। अवधूत (गुरु) की पूर्ण मुक्त आत्मा के साथ एकत्व स्थापित करके कनफटा योगी की आत्मा अहंकारमयी प्रवृत्तियों और इच्छाओं के बन्धन से मुक्ति को प्राप्त हो जाती है। वह भी साधना की उच्चतम भूमि तक पहुँचकर शिवत्व को प्राप्त हो जाता है।

नाथ योग द्वारा साधना– पद्धति में पातंजल–योग का अनुसरण किया गया है। नाथ–योग द्वारा 'षडङ्ग–योग' को स्वीकार किया गया है तथा पातंजल–योग प्रदत्त 'अष्टांग–योग' के 'यम' एवं 'नियम' को 'षडंग–योग' में समाहित नहीं किया गया, क्योंकि 'यम' एवं 'नियम' का सम्बन्ध विश्वजनीन नैतिकता से है तथा प्रत्येक मनुष्य को जीवन में नैतिक सिद्धान्तों का पालन करना चाहिये, ऐसा नाथ–सम्प्रदाय का मत है।

नाथ–सम्प्रदाय के द्वारा प्रारम्भिक योग–साधना के रूप में 'यम' एवं 'नियम' को महत्त्व देते हैं। पतंजलि द्वारा निर्धारित पाँच 'यम' और पाँच 'नियम' के भेदों के स्थान पर 10 'यम' (अहिंसा सत्यम् अस्तेयम् ब्रह्मचर्यम् क्षमा धृतिः। दयार्जवं मिताहारं शौचं चौव यमो दश।।) तथा 10 'नियम' (तपः सन्तोषं आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्। सिद्धान्त–वाक्य–श्रवणं ह्री मतिश्च जपो हुतम्।। नियमा दश संप्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः।।) का प्रतिपादन करते हैं जिनका क्रमशः अभ्यास प्रत्येक योग–साधना के जिज्ञासु के लिये आवश्यक है।

गोरख सम्प्रदाय हठयोग साधना में प्रवीण है। हठयोग का अर्थ है 'हठेन बलात्कारेण योगसिद्धिः' अर्थात् बलपूर्वक व कठिन अभ्यास से योग–साधना में सिद्धिलाभ करना। हठयोग के ग्रन्थों में 48000 आसनों का उल्लेख है। योग–साधना की दृष्टि से चार प्रकार के आसनों – सिद्धासन, पद्मासन, सिंहासन और भद्रासन– को उत्तम माना गया है। इन चारों में से सर्वोत्तम ''सिद्धासन'' है, क्योंकि यह 72000 नाड़ियों को शुद्ध करता है एवं मुक्ति का मार्ग प्रदान करता है। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि गोरखनाथजी तथा उनके अनुयायियों ने हठयोग की साधना को एक वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया तथा उन विविध शारीरिक एवं मानसिक प्रक्रियाओं का विस्तृत वर्णन किया जिनके अभ्यास से शारीरिक अवयवों, नाड़ी, मण्डल, इन्द्रियों तथा मन पर पूर्ण संयम स्थापित किया जा सके। इस योगी–सम्प्रदाय से सम्बद्ध अनेक उपलब्ध ग्रन्थों में मुख्यतः 'आसन', 'प्राणायाम', 'धौति', 'मुद्रा', 'चक्रभेद' व नाड़ीशुद्धि आदि की कठिन प्रक्रियाओं का तथा उनके महत्त्वपूर्ण परिणामों का उल्लेख प्राप्त होता है। नाथ–सम्प्रदाय द्वारा 'हठयोग' को साध्य न मानकर केवल 'साधन' के रूप में स्वीकार किया गया है तथा उन्होंने अपनी यौगिक प्रणाली में कर्म, शक्ति एवं ज्ञान के समन्वय की आवश्यकता को स्वीकार करते हुए इस लक्ष्य पर अधिक बल दिया है कि योगाभ्यास के सम्पूर्ण का साध्य सभी प्रकार की दुर्बलताओं, दुःखों और बन्धनों से मुक्त होकर ''शक्तियुक्त शिव'' के साथ एकत्व स्थापित करना है जिसके परिणामस्वरूप योगी की चतेना नानात्व और सापेक्षकत्त्व के क्षेत्र, समय तथा स्थान के आवरण एवं शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि की सीमाओं का अतिक्रमण करके परमतत्त्व शिव, ब्रह्म या परमात्मा से आनन्दपूर्वक मिलकर पूर्णतः प्रकाशित हो जाती है। यही नाथ–योग–सम्प्रदाय के प्रत्येक योगी का साध्य है।

वर्तमान में भारतीय योग–परम्परा व सनातन धर्म, जिसके मूल में वैदिक धर्म है, को अक्षुण्ण बनाये रखने में नाथ–योग–सम्प्रदाय का प्रमुख योगदान है। अतएव नाथ–योग–सम्प्रदाय भारतभूमि का गौरव है जिसके प्रति भारत का प्रत्येक नागरिक नतमस्तक है।

उपसंहार

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि वर्तमान में व्याप्त समस्याओं के समाधान हेतु योग का पालन व अध्ययन– अध्यापन अत्यन्त आवश्यक है। योग के माध्यम से ही चेतना को समझा जा सकता है। प्राचीन काल से प्राप्त, भारतीय संस्कृति की धरोहर योग–विद्या की महत्ता को अब अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकार कर लिया गया है। 11 दिसंबर, 2014 को संयुक्त राष्ट्र महासभा के 193 सदस्यों ने रिकॉर्ड 177 सह–समर्थक देशों के साथ 21 जून को ''अंतर्राष्ट्रीय योग दिवस'' मनाने का संकल्प सर्वसम्मति से अनुमोदित किया। अपने संकल्प में संयुक्तराष्ट्र महासभा ने स्वीकार किया कि योग स्वास्थ्य एवं कल्याण के लिए पूर्णतावादी दृष्टिकोण प्रदान करता है। योग विश्व की जनसंख्या के स्वास्थ्य के लिए तथा

नाथपंथी ''नवनाथ'' का आदर करते हैं जो हिमालय पर्वत पर निवास करते हैं, उनके नाम हैं:– मछन्दरनाथ, गोरखनाथ, चरपुतनाथ, मंगलनाथ, घोगूनाथ, गोपीनाथ, प्राणनाथ, सूरतनाथ, चम्बननाथ। ये चौरासी सिद्ध योगियों को भी मानते हैं।

श्री मोदी ने कहा, "योग प्राचीन भारतीय परम्परा एवं संस्कृति की अमूल्य देन है। योग अभ्यास शरीर एवं मन, विचार एवं कर्म, आत्मसंयम एवं पूर्णता की एकात्मकता तथा मानव एवं प्रकृति के बीच सामंजस्य स्थापित करता है। यह स्वास्थ्य एवं कल्याण का पूर्णतावादी दृष्टिकोण है। योग मात्र व्यायाम नहीं है, बल्कि स्वयं के साथ, विश्व और प्रकृति के साथ एकत्व खोजने का भाव है। योग हमारी जीवन–शैली में परिवर्तन लाकर हमारे अन्दर जागरूकता उत्पन्न करता है तथा प्राकृतिक परिवर्तनों से शरीर में होने वाले बदलावों को सहन करने में सहायक हो सकता है। आइए, हम सब मिलकर योग को अंतर्राष्ट्रीय योग दिवस के रूप में स्वीकार करने की दिशा में कार्य करें।"

उनके लाभ के लिए विस्तृत रूप में कार्य करेगा। 27 सितंबर, 2014 को संयुक्त राष्ट्र महासभा (यू एन जी ए) के 69वें सत्र को संबोधित करते हुए भारत के मान·ीय प्रधानमंत्री श्री नरेंद्र मोदी ने विश्व समुदाय से अंतर्राष्ट्रीय योग दिवस मनाने का आह्वान किया।

वर्तमान में माननीय प्रधानमन्त्री श्री नरेन्द्र मोदी जी के विशेष प्रयासों से योग से सम्पूर्ण विश्व परिचित हो गया है परन्तु योग–परम्परा के अधिकांशतः ग्रन्थ संस्कृत–भाषा में लिखे होने के कारण सामान्यजन इसमें निहित वैज्ञानिक तथ्यों एवं नूतन शोध की सम्भावनाओं से सर्वथा अपरिचित है। अतएव इस दिशा में चिन्तन की नितान्त आवश्यकता है, जो कि संस्कृत शास्त्रों के गहन अध्ययन से ही सम्भव है।

वर्तमान काल में विज्ञान की प्रगति के साथ–साथ भौतिक सुविधाओं के बढ़ने एवं उसके अधिक उपयोग से पर्यावरण एवं मानव जीवन असुरक्षित हो गया है। बाह्य पर्यावरण के दूषित होने एवं कृत्रिम जीवन–यापन से मनुष्य की रोग–प्रतिरोधक क्षमता कम होने से नयी–नयी बीमारियों ने अपने पाँव पसारने शुरू कर दिये हैं। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान निरन्तर इन बीमारियों को उद्घाटित तो कर रहा है परन्तु इनका इलाज अभी भी नहीं खोजा जा सका है। वस्तुतः आज एक ऐसी समन्वित चिकित्सा–पद्धति की आवश्यकता है जिससे व्यक्ति को रोगी बनने से रोका जा सके। अतएव योग–चिकित्सा–विज्ञान को अन्य चिकित्सा विधाओं के साथ जोड़कर एक समन्वित चिकित्सा–पद्धति के पाठ्यक्रम एवं गहन शोध की आवश्यकता है। योगसूत्र में विशेष रूप से मन का विश्लेषण किया गया है। आज के आधुनिक मनोवैज्ञानिक भी मस्तिष्क की संरचना को समझने का प्रयास कर रहे हैं, क्योंकि मानसिक रोगों के निदान हेतु मन का पूर्णतया अध्ययन आवश्यक है परन्तु उनका सम्पूर्ण अध्ययन पाश्चात्य विद्वानों के मतों पर आश्रित है। अतएव योग एवं मनोविज्ञान के क्षेत्र में समन्वित शोध की आवश्यकता है। योग एवं मनोविज्ञान के समन्वित शोध से ब्रेन–मैपिंग जैसी आधुनिकी तकनीकी का विकास सम्भव है तथा मानसिक–सन्तुलन, मस्तिष्क की स्मृति और भविष्य–कल्पना जैसे गम्भीर विषयों पर भी शोधकार्य सम्भव है। मनोविज्ञान के क्षेत्र (Cognitive Science) के शोध–क्षेत्र में भी योग का समन्वय अत्यन्त आवश्यक है। इसी प्रकार योग का उद्देश्य मन के नियन्त्रण के द्वारा स्व–चेतना के स्तर को प्राप्त करना है जिसे योग में चितिशक्ति कहा गया है। पाश्चात्य–चिकित्सा–विज्ञान की शाखा तन्त्रिका विज्ञान (Neuroscience) के शोध का कार्य–क्षेत्र मानव–शरीर व चेतना है। आज भी तन्त्रिका–वैज्ञानिकों (Neuroscientist) के लिये यह एक पहेली है कि किस तरह से शारीरिक–क्रिया से चेतना (Consciousness) उत्पन्न हो जाती है? क्या शरीर व चेतना दो भिन्न चीजें हैं अथवा एक? योग एवं तन्त्रिका–विज्ञान के समन्वित शोध से इन सभी प्रश्नों के हल से तन्त्रिका–विज्ञान के क्षेत्र में नूतन शोध–कार्य सम्भव है जो मानव एवं प्राणि–वर्ग के लिये कल्याणकारी होगा। योगसूत्रव्यासभाष्य में भाषा–सम्बन्धी चिन्तन का पूर्ण विश्लेषण प्राप्त होता है, जिसके अध्ययन से भाषा–वैज्ञानिकों को निश्चित रूप से एक नूतन शोध–दृष्टि प्राप्त होगी एवं (Speech Therapy) में भी आशातीत सफलता प्राप्त होगी। योगसूत्रव्यासभाष्य एवं योग के अन्यान्य ग्रन्थों में सृष्टि की उत्पत्ति सम्बन्धी सम्पूर्ण प्रक्रिया का पूर्ण विश्लेषण प्राप्त होता है। अतएव इसके अध्ययन से भौतिक–वैज्ञानिकों (Physicist) एवं ब्रह्माण्ड–विज्ञान (Cosmology) के क्षेत्र में कार्य करने वालों को इस सृष्टि के मूल कारण को जानने में सहायता प्राप्त होगी जिससे वर्तमान विज्ञान–जगत के अन्य सभी क्षेत्रों में शोध के नये मार्ग खुलेंगे।

इस प्रकार हमें पाश्चात्य–ज्ञान की एकाकी दृष्टि का परित्याग करते हुए योग, जो प्राचीन ऋषियों की देन है, का स्वतन्त्र रूप से एवं अध्ययन की अन्यान्य शाखाओं के साथ जोड़कर शोध एवं अध्ययन आवश्यक है। पतंजलि प्रदत्त अष्टाङ्ग–योग का पालन करने वाला प्रत्येक मनुष्य–चाहे वह किसी धर्म अथवा जाति का हो– उच्चमानवीय मूल्यों, समग्र स्वास्थ्य एवं उच्चतम– प्रज्ञा से युक्त होकर स्व–विकास एवं सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण हेतु कार्य करेगा। अतएव योग को किसी धर्म, जाति , देश की सीमाओं में संकुचित न करके हमारी इस वसुधा पर उत्पन्न उच्चतर प्रज्ञा से युक्त ऋषियों द्वारा सम्पूर्ण मानव जाति के लिये प्रदत्त एक अत्यन्त उपयोगी वैज्ञानिकी विधा के रूप में ग्रहण करना चाहिये, जो कि इस सम्पूर्ण विश्व के उपयोग के लिये है।

वारें बरसें बंझ व्याई हाथ पाव टूटा,
बदंत गोरखनाथ मछिन्द्र ना पूता।[1]

(चींटी के नेत्र में हाथी समा गया। गाय के मुख में बाघ व्या गया। बांझ बारह वर्ष में ब्याही। ब्याने में उसके हाथ पैर टूट गये। मत्स्येन्द्र का शिष्य गोरखनाथ कहता है।)

यहाँ चीटी सूक्ष्म आध्यात्मिक स्वरूप का प्रतीक है और हाथी स्थूल भौतिक रूप का प्रतीक है। जब जीव ब्रह्मानुभूति का अनुभव करता है तो सूक्ष्म आध्यात्मिक स्वरूप में स्थूल भौतिक रूप समा जाता है। यही चींटी के नेत्र में हाथी का समा जाना है। गाय भौतिक जीवन का प्रतीक है और बाघ आध्यात्मिक ज्ञान का प्रतीक है। भौतिक जीवन में ही आध्यात्मिक ज्ञान उत्पन्न होता है। यही गाय के मुख में बाघ का ब्याना हुआ। बाँझ मायिक जीवन का प्रतीक है। बाँझ के सन्तान नहीं होती, मायिक जीवन भी निष्फल होता है। परन्तु साधना के बाद मायिक जीवन में भी ज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है। यही बाँझ का बारह वर्ष में ब्याना हुआ। ज्ञान की उत्पत्ति होने पर माया शक्ति-हीन हो जाती है, यही उसके हाथ पैर टूटना है।

यह ऐसा गोरख-धन्धा है कि जो इसे जानता है, उसके लिए बहुत आसान और जो नहीं जानता, वह उलझ जाता है। कुछ भी सही, सिद्धों से विरासत में मिली इस 'संधाभाषा' का प्रचार-प्रसार गोरखनाथ ने इस निष्ठा और बहुतायत के साथ किया कि यह शैली-धारा उनके समसामयिक नाथ-सिद्धों से होती हुई संत-साहित्य तक में निरंतर प्रवाहित होती रही और प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से हिन्दी-साहित्य के सभी काल न्यूनाधिक रूप में गोरखनाथ की इस 'संधाभाषा' के ऋणी हैं। भाषा और आध्यात्मिक दृष्टि से गोरखनाथ की 'संधाभाषा' का बहुत बड़ा महत्त्व है।

३.३ प्रतीकात्मक शब्दावली

भाषा के अध्ययन का उद्देश्य अर्थ की स्पष्टता है अतः शब्द का रूपात्मक अध्ययन जितना अधिक महत्त्वपूर्ण है उनता ही उसका अर्थपरक अध्ययन भी। गोरखबानी के अर्थ को समझने में हमारे सामने मुख्यतः दो प्रकार की शब्दावली बाधक बनकर आई है। प्रथम प्रकार के वे शब्द हैं जो गोरखबानी में आध्यात्मिक तत्त्वों के लिए प्रतीक बनकर प्रयुक्त हुए हैं। गोरखबानी में इनका अर्थ लौकिक अर्थ से भिन्न है। दूसरे प्रकार की शब्दावली वह है जो सम्प्रदाय विशेष में प्रयुक्त होती है और अपने अन्दर एक परिभाषा को समेटे हुए है। केवल शब्दार्थ से यहाँ काम नहीं चलता। अतः अर्थ की दृष्टि से गोरखबानी की शब्दावली को हम दो भागों में विभक्त करके अध्ययन कर रहे हैं—

१. प्रतीकात्मक शब्द
२. साम्प्रदायिक शब्द

---

1 गोरखबानी—सं० डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, पद ३४, पृ. १२६

३.३.१. प्रतीकात्मक शब्द

प्रतीकात्मकता से तात्पर्य—गोरखबानी में प्रतीकात्मक शब्द आध्यात्मिक रूपकों के लिए प्रयुक्त हुए हैं। गोरखबानी के अर्थ अथवा भाव को समझने में सबसे अधिक बाधक गोरखनाथ की उलटबाँसियाँ अथवा आध्यात्मिक रूपक ही हैं, जो प्रकीकात्मक शब्दों में निहित हैं। इन रूपकों का प्रयोग भी अत्यधिक हुआ है। गोरखबानी में आध्यात्मिक रूपकों की कुल संख्या १५३ है जो ११२६ बार प्रयुक्त हुए हैं।[1] जिन प्रतीकों को गोरख ने रूपक अथवा उपमा के माध्यम से स्पष्ट कर दिया है, उनकी संख्या इसमें समाविष्ट नहीं है। आध्यात्मिक रूपकों का इतना अधिक प्रयोग अर्था-त्मक दृष्टि से अछूता नहीं रहना चाहिए। गोरखबानी का अर्थ एवं भाव समझने के लिए गोरखनाथ के आध्यात्मिक रूपकों को समझना आवश्यक है। लोक अथवा समाज की सीधी बात को उलटी करके, उलझा करके कहना उलटबाँसी होती है। गोरख कहते हैं—

"आंबलियो थलि मौरियो ऊपर नींब बिजौरे फलियो।
सो फल षांतां लागै मीठो, जांषो रे जिन गुरु प्रसादैं दीठो॥
ऊँट सिचाणैं जब ग्रह्यो जाइ करो डाली बैठो।
बांझै बेटा जनमियूं नेणें पुरिष न दीठो॥
लाकड़ डूबै सिल तिरै, देषता जग जाइ।
ऊँट प्रनालै बहि गयो, मुसिल्यो पोली न माइ॥
डूंगरि मंछा जलि सुसा, पांणीं मैं दौं लागा।
अरहट बहै तुसालवां, सूलै कांटा भागा॥
एक गाइ नौ बछड़ा, पंच दुहेबा जाइ।
एक फूल सोलह करंडियां मालनि मन मैं हरिष न माइ॥
पगां बिहूनड़ै चोरी कीधी। चोरी नैं आंणी गाई।
मछिन्द्र प्रसादैं जती गोरख बोल्या, दूझैं पाणी न ब्याई॥[2]

लोक कहता है कि आम के वृक्ष में आम का फल लगता है किन्तु गोरख कहते हैं कि आम के वृक्ष में निबौरी लगी है। लोक कहता है कि निबौरी कड़वी होती है किन्तु गोरख के अनुसार निबौरी मीठी। बाज पक्षी अपने से छोटे पक्षियों को मारकर उन्हें अपना भोजन बना लेता है किन्तु वह पशुओं को तो पकड़ नहीं सकता। गोरख के अनुसार बाज विशालकाय ऊँट को भी पकड़ता है और ऊँट उसके डर से वृक्ष पर चढ़ जाता है। बाँझ का अर्थ है जिसके बच्चा पैदा हो ही न सके किन्तु यहाँ बाँझ ने बेटे को जन्म दिया और वह भी पुरुष के साथ बिना संसर्ग किये। इस संसार में तो लकड़ी तैरती है और पत्थर डूब जाता है किन्तु गोरख कहते हैं कि लकड़ी डूब जाती है और पत्थर तैरता है। छोटा-सा खरहा एक लम्बे-चौड़े फाटक में भी नहीं समाता। इस

1 डा. रांगेय राघव ने 'गोरखनाथ और उनका युग' में गोरख के केवल ७१ रूपक दिये हैं।
2 गोरखबानी, पद २०

संसार में मछली पानी में रहनी चाहिए और खरहा जमीन पर किन्तु गोरख के अनुसार मछली पहाड़ पर चढ़ जाती है और खरहा जल में प्रवेश कर जाता है। पानी से आग बुझा करती है किन्तु यहाँ पानी में ही आग लग गयी। एक गाय एक समय में एक ही बछड़ा देती है—दो दे सकती है, अधिक नहीं, किन्तु यहाँ एक गाय के नौ बछड़े हैं। उस गाय को एक साथ दुहने वाली भी पांच हैं। एक फूल एक ही करंडिया में रखा जा सकता है। अगर अधिक में रखना है तो तोड़–तोड़ करके रख सकते हैं किन्तु यहाँ तो एक फूल सुरक्षित अवस्था में सोलह करंडियों में रखा हुआ है। बिना पैरों के कोई कैसे चल सकता है किन्तु यहाँ तो बिना पैरों के चोरी तक भी कर ली।

गोरख की इस कविता को समझने के लिए कुछ शब्दों के अर्थ इस प्रकार करने होंगे—

आंबलियौ=मूलाधिष्ठान परब्रह्म, नींव बिजौरे=माया, फलियौ—अध्यारोप हुआ, ऊंट=मन, सिचाण=यम, कैरो डाली=जगत्, बांझ=माया, बेटा=ब्रह्मानुभव, पुरिष=ब्रह्म, लाकड़=संसार से प्रभावित व्यक्ति, सिल=संसार से अप्रभावित व्यक्ति, ऊंट=स्थूल माया, सुसिल्यो=सूक्ष्म माया, डूंगरि=उच्च दशा, मंछा=मन, जल= संसार, सुसा=माया, पांणीं=संसार या माया, दौं लागा=नष्ट हुआ, अरहट= ब्रह्मानुभूति, तुसालबां=मुमुक्षुओं के लिए, सूल=विद्या, कांटा=अविद्या (माया), एक गाइ=आतमा, नौ बछड़ा=नवरंध्र, पंच=पंचेन्द्रियां, एक फूल=अमृतानन्द, सोलह करंडिया=सोलह कलावाला चन्द्रमा, मालनि=आतमा, पगां बिहूनडै=अचल समाधि से, गाई=ब्रह्मानुभूति, दूझै पाणी न ब्याई=आवागमन न हुआ।

फिर इस पद का अर्थ इस प्रकार होगा—'मूलाधिष्ठान परब्रह्म' पर माया का अध्यारोप हुआ है किन्तु माया में भी ब्रह्मानुभूति का सुख मिल जाता है। मिलता उन्हीं को है जिन्होंने गुरु के प्रसाद से इसका अनुभव कर लिया है। मायाविष्ठ मन यम के शासन में आकर दुःखमय संसार में आवागमन करने लगता है। माया ने ब्रह्म को देखा तक नहीं और फिर भी ब्रह्मानुभव पैदा किया है।

प्रतीकात्मकता के प्रयोग के कारण:—

इस आध्यात्मिक रहस्य को समझाने के लिए गोरख ने इतना झमेला क्यों खड़ा किया ? अपनी बात समझाने के लिए लोक-विपरीत पद्धति क्यों अपनाई ? हमारे विचार से गोरख की उलटबांसियों और आध्यात्मिक रूपकों के प्रयोग के कारण निम्न-लिखित हो सकते हैं—

(क) ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर विदित होता है कि योग–संप्रदाय की और तंत्र-संप्रदाय की रीति यह रही है कि जो श्रेष्ठ है उसको पहले स्थान देना चाहिए और कम श्रेष्ठ को बाद में। जैसे, मोक्ष-धर्म अर्थ–काम; संन्यास-वानप्रस्थ-गार्हस्थ्य–ब्रह्मचर्य; शान्त-करुण-अद्भुत-वीर-रौद्र-हास्य-भयानक-वीभत्स–शृंगार-इत्यादि। यह ठीक भी है किन्तु लोक का क्रम ऐसा नहीं है। वह ठीक इसके उल्टा है। योगियों और तांत्रिकों की इस उल्टी रीति का परिणाम यह हुआ कि उन्हें लोक रीति से उल्टी

बात कहने की आदत पड़ गयी है।[1] विरोधाभास का यही चसका गोरखनाथ को भी लगा हुआ था। इसी कारण सीधी बात को भी उल्टी करके, जटिल करके उन्होंने कहा है। फिर चाहे भाव अधिक गंभीर ही क्यों न हो जाये। नीचे देखिए—

चींटी केरा नेत्र मैं गज्येंद्र समाइला,
गावडी के मुष मैं बाघला बिवाइला,
बारें बरसें वंझ ब्याई, हाथ पाव टूटा,
बदंत गोरखनाथ मछिंद्र ना पूता।[2]

चींटी के नेत्र में हाथी समा गया। गाय के मुख में बाघ ब्या गया। बांझ बारह वर्ष में ब्याई। ब्याने में उसके हाथ-पैर टूट गए। जितनी अधिक लोक-विपरीत बात हो सकती है, वह गोरख ने कही है। ऐसी कविताओं का वास्तविक अर्थ जानना आसान् नहीं है।

यहाँ चींटी सूक्ष्म आध्यात्मिक स्वरूप का प्रतीक है और हाथी स्थूल भौतिक रूप का प्रतीक है। जब जीव ब्रह्मरंध्र में ब्रह्मानुभूति प्राप्त करता है तो सूक्ष्म आध्यात्मिक स्वरूप में स्थूल भौतिक रूप समा जाता है। यही चींटी के नेत्र में हाथी का समा जाना है।

अहरणि नाद नैं ब्यंद हथौड़ा, रवि ससि षालां पवनं।
मूल चापि डिढ आसणि बैंठा, तब मिटि गया आवागवनं।
सहज पलांण पवन करि घोड़ा, लै लगाम चित चबका।
चेतनि असवार ग्यांन गुरु करि, और तजो सब ढबकाई।[3]

(अनाहद नाद अहरन है, बिन्दु (शुक्र) हथौड़ा है और इला-पिंगला दोनों नाड़ियाँ हवा करने की धोंकनी हैं। मूलाधार को दबाकर दृढ़ आसन से बैठो, जिससे संसार का आवागमन मिट जाएगा।

सहज की जीन और पवन का घोड़ा बनाओ। लय की लगाम और चित्त को चाबुक बनाओ। इस प्रकार चेतना को सवार बनाकर गुरु ज्ञान तक पहुँचो, अन्य सभी उपायों को छोड़ दो।)

(ख) गोरखनाथ के समय में भारतीय धर्म साधना की अवस्था विचित्र थी। पूर्ववर्ती और समसामयिक सिद्धों में अनेक कुरीतियाँ और रूढ़ियाँ घर किए हुए थीं। गोरखनाथ इन सबके लिए एक प्रतिद्वन्द्वी के रूप में पैदा हुए थे। अपने प्रतिद्वन्द्वियों को परास्त करने के लिए गोरखनाथ ने उन्हें ललकारा और यत्र-तत्र अभिव्यंजना के दुरूह माध्यम को अपनाया। गोरखनाथ ने अपनी बात को इस तरह कहा है कि अच्छे-अच्छे पंडित चक्कर खा गए—

---

1 कबीर-डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ८०
2 गोरखबानी, पृ० १२६।
3 गोरखबानी, पृ० १३०।

बूझो पंडित ब्रह्म गियांनं, गोरष बोलै जाण सुजांनं ।
बीज बिन निसपती मूल बिन बिरषा पांन फूल बिन फलिया ।
बांझ केरा बालूड़ा, प्यंगुल तरवरि चढ़िया ।
गगन बिना चंद्रम ब्राह्मांड बिन सूर, झूझ बिन रचिया थानं ।
ए परमारथ जे नर जांणें, ता घटि परम गियांनं ।[1]

गोरखनाथ पंडितों को चुनौती देते हुए कहते हैं—'हे पंडित ! ब्रह्मज्ञान को समझो । सुज्ञानी गोरखनाथ ब्रह्मज्ञान का वर्णन करता है । उसकी उत्पत्ति बिना बीज के हुई है । वह बिना मूल का वृक्ष है । बिना पत्तों और फूलों के फल जाता है । वह वंध्या का बालक है । लंगड़ा होते हुए भी वृक्ष पर चढ़ा हुआ है । वह बिना आकाश का चन्द्रमा है और बिना ब्रह्माण्ड का सूर्य है । वह बिना मैदान के ही युद्ध है । इस परमार्थ को जो जानता है, ज्ञान उसी के भीतर उदित होता है ।'

गोरख ने अन्य अनेक आध्यात्मिक सिद्धान्तों को इसी प्रकार जटिल बनाकर पंडितों के सामने रखा । जटिलता की इस शैली में ही आध्यात्मिक रूपकों का प्रयोग हुआ है । इस जटिलता के कारण ही सिद्धों की भाषा को पुराने लोगों ने 'सन्ध्या-भाषा' कहा है ।[2]

(ग) नाथपंथी योगियों की अद्भुत करामातों से साधारण जनता चकित और भयभीत रहती थी । गोरखनाथ ने जनसाधारण पर अपना प्रभुत्व एवं भय अधिक करने के लिए भी इस शैली को अपनाया है । गोरखनाथ को तो ऐसी उल्टी चर्चा करनी है कि जनसाधारण उसे सुनकर चमत्कृत हो उठे—

नाथ बोलै अमृत बाँणीं बरिषैंगी कंबली भीजैंगा पांणीं ।
गाड़ि पडरवा बाँधिले षूंटा, चलैं दमांमां बाजिले ऊँटा ।

---

1 गोरखबानी, पृ. १०८ ।

2 (क) 'सिद्धों ने भाषा में कविता करके यद्यपि अपने विचारों को जनता के समझने लायक बना दिया, तथापि डर था कि विरोधी उनके आचार-विरोधी कर्म-कलाप का खुलेआम विरोध कर कहीं जनता में घृणा का भाव न पैदा कर दें, इसीलिए वह एक तो विशेष योग्यता-प्राप्त व्यक्तियों को ही उन्हें सुनने का अवसर देते थे, दूसरे भाषा भी ऐसी रखते थे, जिसका अर्थ वामाचार और योगाचार, दोनों में लग जाये । इस भाषा को पुराने लोगों ने 'संध्या भाषा' कहा है, और आजकल 'निर्गुण', रहस्यवाद' या 'छायावाद' कह सकते हैं ।'
(पुरातत्व-निबन्धावली-राहुल सांकृत्यायन, पृ. १६)

(ख) डा. दयानन्द श्रीवास्तव ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में प्रतीकार्थों को संध्या अर्थ कहकर उदाहरण दिए हैं । दे. पृ. १६६

(ग) डा. रामकुमार वर्मा 'संध्या भाषा' का दूसरा अर्थ लेते हैं-"मेरे विचार से तो संध्या भाषा का सीधा-सादा अर्थ यही है कि वह भाषा जो अपभ्रंश के संध्याकाल या 'समाप्त होने वाले काल में लिखी गई ।" (—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ. ६७)

(घ) 'सहजयानियों में इस प्रकार की उल्टी बानियों का नाम 'सन्ध्या-भाषा' प्रचलित था ।' (कबीर—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ८२)

कउवा की डाली पीपल बासै मूसा के सबद बिलइया नासै।
चले बटावा थाकी बाट, सोवै डुकरिया ठीरै पाट।
ढूकिले कूकर भूकिले चोर, काढै धणीं पुकारै ढोर।
ऊजड़ षेड़ा नगर मझारी तलि गागरि ऊपर पनिहारी।
मगरी परि चूल्हा धूंधाई, पोवणहारा कौं रोटी षाइ।
कांमिनी जलै अंगीठी तापै, बिचि बैसन्दर थरहर कांपै।
एक जु रढिया रढती आई, बहू बिवाई सासू जाई।
नगरी की पांणी कूई आवै, उलटी चरचा गोरष गावै।

अगर इस आध्यात्मिक चर्चा को सीधा कर दिया जाय तो इस प्रकार कहा जा सकता है—'गोरखनाथ अमृतमयी वाणी से कहता है—जोगी के दैहिक और मानसिक कर्म शुद्ध होकर अस्तित्व को नम बना देंगे। माया से उत्पन्न अविवेक को स्थिर करके माया का विरोध कर लो। अनाहत नाद निरन्तर सुनाई दे रहा है जिससे स्थूल मन बाजे की तरह बजाया जा रहा है। अविवेकी मन उच्च अवस्था को प्राप्त करके ही ब्रह्मानुभव करता है। सूक्ष्म अन्तर्मुखी जीवन से माया भागने लगती है ज्ञान मार्ग पर चलने से मोक्ष प्राप्त होता है और इस प्रकार मार्ग ही समाप्त हो जाता है। माया जब निर्बल पड़ जाती है तो आध्यात्मिक जीवन उसे दबा लेता है। द्रोही मन के छिप जाने पर ही आत्मज्ञान प्रबल होता है। इंद्रियों नवरंध्र आदि में बसी हुई जो माया की नगरी थी वह सब उजड़ा गाँव सी हो गयी है, इन्द्रियाँ अब वैभव हीन हो गयी हैं, उन्हें अब विषयों का खाद्य नहीं मिलता है। इस शरीर में आत्मा ब्रह्मरंध्र में ऊपर रहती है और कुण्डलिनी शक्ति मूलाधार में रहती है। जीव को जब वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो गया है तो वह ताप रहित हो गया है और माया नष्ट हो रही है। ब्रह्मानुभूति होने पर जीव माया को खा जाता है। ब्रह्म साक्षात्कार के कारण माया जल रही है और जीवात्मा को ब्रह्मसुख प्राप्त हो रहा है। जलती हुई माया ब्रह्माग्नि में थर-थर कांप रही है, क्योंकि उसे पूर्ण नष्ट होने का भय है। दृढ़ लगन और साधना से मायिक उलझन ब्रह्मसत्ता को जन्म देती है। कुण्डलिनी शक्ति ब्रह्मरंध्र से निकल कर मूलाधार चक्र में स्थित है। योगी अपनी साधना से उसे उलट कर फिर उसी स्थान पर पहुँचा देता है।'

इस आध्यात्मिक चर्चा को उल्टा करके कहने में जनसाधारण को चमत्कृत करने की भावना ही निहित है। अन्य नाथ सिद्धों तथा संत-कवियों में भी यह प्रवृत्ति पायी जाती है। कहीं-कहीं तो प्रतीक-योजनाओं में पर्याप्त साम्य दिखाई देता है[1]

1 (अ) एक अचंभा ऐसा हुआ, गागरि मांहि उसारवा कूवा।
बोछी लेज पहुँचै नांहीं, लोक प्यासा मरि मरि जाही।
—जलंध्री पाव जी की सबदी (नाथ सिद्धों की बानियां, पृ० ५२)
(आ) 'पाताल की मीडकी अकासी जंत्र बजावै।
चंद सुरिज मिलै गंग जमन गीत गावै॥

प्रतीकात्मक शब्दावली का विभाजन

गोरखबानी में प्रयुक्त सम्पूर्ण आध्यात्मिक रूपकों को हम तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं— (क) आध्यात्मिक तत्त्व के लिए विभिन्न लौकिक शब्द। (ख) विभिन्न आध्यात्मिक तत्त्वों के लिए एक लौकिक शब्द (अनेकार्थी स्थिति) और (ग) एक आध्यात्मिक तत्त्व के लिए एक ही लौकिक शब्द (एकार्थी स्थिति)

(क) एक आध्यात्मिक तत्त्व के लिए विभिन्न लौकिक शब्द

माया—गोरखबानी में ४६ ऐसे आध्यात्मिक तत्त्व हैं जिनके लिए एक से अधिक लौकिक शब्दों का प्रयोग हुआ है। सबसे अधिक 'माया' के लिए ४० लौकिक शब्द प्रयुक्त हुए हैं। माया के लिए सर्वाधिक प्रयुक्त प्रतीक 'बाघनी' है। वाणी में यह शब्द १२ बार प्रयुक्त हुआ है। माया स्त्री रूपिणी होते हुए भी अत्यधिक प्रबल है। बाघनी तो चलते-फिरतों पर भी हाथ साफ़ कर जाती है फिर जो लोग बाघनी को घर में ही पालते हैं वे कैसे बच सकते हैं—

दिन दिन बाघिनी सींया लागी, राति सरीरैं सोषैं।
बिषैं लुबधी तत न बूझैं, घरि लैं बाघनी पोषैं ॥[2]

अधिक शक्तिशाली होने के कारण गोरख ने उसे 'स्यंघ' (शेर) भी कहा है। सर्प का काम डसना होता है; माया भी सर्प की भाँति जीव को डसती रहती है इसीलिए उसे 'सरप', 'काली नागनी' तथा 'सापणी' (६ बार) कहा है। जीव एक चूहे के समान है। चूहा बिल्ली का भोजन होता है। जीव माया का भोजन है अतः माया को 'बिलइया' (२ बार) से संकेतित किया है। बिल्ली चुपके-से, धोखे में वार करती है—माया का आक्रमण भी दृष्टिगत नहीं होता। माया को आत्मा के समक्ष तो तुच्छ ही माना जाएगा। आत्मा एक शक्तिशाली बाघ के समान है। इसलिए माया को 'गाय' कहा है। गाय तो वैसे ही सीधेपन के लिए प्रसिद्ध है फिर शेर के सामने तो वह और भी तुच्छ है। आत्मा के ही समक्ष तुच्छता के अर्थ में माया को 'चींटी' भी कहा गया है। यहाँ आत्मा पर्वत के समान है। गाय और शेर तथा चींटी और पर्वत के जोड़े साभि-प्राय प्रयुक्त हुए हैं। माया दो प्रकार की होती है—एक स्थूल माया और दूसरी सूक्ष्म माया। गोरखनाथ ने स्थूल माया के लिए 'ऊँट' तथा सूक्ष्म माया के लिए 'सुसिल्यो' (३ बार) शब्दों का प्रयोग किया है। स्थूलकाय ऊँट के सामने खरहा सूक्ष्मकाय जीव ही कहा जाएगा। माया के दो रूप हैं—एक विद्यामाया और दूसरा अविद्यामाया।

सकल ब्रह्मंड उलटि अधर नाचै डीव।
सति सति भावंत सिध गरीब ॥'
—सिध गरीब जी की सबदी (नाथ सिद्धों की बानियां, पृ० १३)

(६) 'तरवर एक पींड बिन ठाढ़ा बिन फूलां फल लागा।
साखा पत्र कछु नहिं वाकै अष्ठ गगन मुख बागा ॥'
—कबीर ग्रंथावली—डा. पारसनाथ तिवारी, पृ. १०८/३

2 गोरखबानी, पृ. १४३

जिस प्रकार कांटे से कांटा निकलता है उसी प्रकार विद्यामाया से अविद्यामाया को नष्ट किया जाता है। इसीलिए विद्यामाया के लिए 'शूल' तथा अविद्यामाया के लिए 'कांटा' शब्दों का प्रयोग हुआ है—'सूलं कांटा भागा'[1] सूल (विद्यामाया) से कांटा (अविद्यामाया) नष्ट हुआ।) विद्यामाया के लिए अन्यत्र 'बूढ़ी' शब्द का प्रयोग हुआ है। युवती नारी पुरुष के लिए एक आकर्षण है किन्तु बूढ़ी होने पर उसमें मातृत्व की भावना आ जाती है। विद्यामाया भी मोक्षदायिनी होती है। जीव माया से बंधा हुआ है इसलिए माया एक 'खूंटा' के समान हुई। निबौरी कड़वी होती है, माया का स्वाद भी तत्त्वतः कड़वा ही होता है अतः माया को 'नींव बिजौरें' कहा गया है। आत्मतत्त्व एक बेल के समान है, संसार के दुःख अग्नि के समान हैं। माया बेल की नई-नई कोंपलें हैं। बेल जैसे-जैसे चलती है वैसे-वैसे नई कोंपलें उसमें विकसित होती हैं—सांसारिक दुःख माया के प्रसार के लिए बहुत अनुकूल हैं। 'जिम जिम बेलीं दाझवा लागी, तब मेल्है कूंपल डाला[2] (२ बार)। लाल-लाल नई-नई कोंपलें बहुत ही आकर्षक होती हैं—माया भी आकर्षक है। माया का प्रसार बहुत बड़ा है इसी कारण उसे 'तरवर' कहा है। अत्यधिक प्रसार के कारण ही असत्य माया को 'बेल्यो' अथवा बेली' (३ बार) कहा गया है। कोयल का आम से सगा सम्बन्ध है। इधर आम बौरा उधर कोयल का कुहू कूजन प्रारम्भ हुआ। मनोवृत्ति कोयल के समान है, इसी कारण माया 'अबिला' (आम) अथवा 'आंबो' (आम) के समान हुई। किन्तु ज्ञानोदय होने पर मनोवृत्तियाँ अन्तर्मुखी होकर अपने में ही आनन्द का अनुभव करने लगती हैं फिर माया की कोई आवश्यकता नहीं। यहाँ तो कोयल ही बौरने लगी, फिर आम की क्या आवश्यकता ? चलि रे अबिला कोयल मोरी।[3] इसी प्रकार की एक उलट-बांसी में मोर बरसता है और सावन कूकता है (बरषं मोर कहूकं सावण)।[4] यहाँ मन तो मोर है माया सावन है। साधारण स्थिति में सावन बरसता है और मोर कूकता है या यों कहिए कि माया के प्रसार से मन प्रसन्न होता है किन्तु आत्म-ज्ञान होने पर माया अपने जगत् के रूपों की ओर चल देती है और मन अपनी बहिर्मुखी वृत्तियों की वर्षा अर्थात् त्याग कर देता है। माया जीव को जलाने का काम करती है इसलिए उसे 'चूल्हा' कहा गया है। जल का काम डुबाना है, माया में भी जीव डूबा रहता है अतः माया को 'जल' कहा है। लंका राक्षसों की नगरी हैं, वहाँ जाकर बचना असंभव है। माया के जालों से बचना असम्भव है अतः माया को 'लंका' कहा है, माया में फँसे जीव को संशयात्मा कहते हैं। मायावी जीव सदैव शंकित रहता है इसलिए माया को 'संक्या' (शंका) कहा है। अंजन कालिमा युक्त होता है फिर भी वह आकर्षक है।

---

1 गोरखबानी, पृ० ३०
2 वही, पृ० १०७
3 वही,, पृ० १५२
4 वही पृ० २११

माया भी दोष युक्त है किन्तु आकर्षक है इसलिए माया को 'अंजन' कहा गया है। ब्रह्म माया से निर्लिप्त होता है इसलिए उसे निरंजन कहते हैं। जहाँ मेंढक टर्र-टर्र की रट लगा रहा हो वहाँ किसी काम में ध्यान लगाना कठिन है। माया में बीच रहकर ब्रह्म का ध्यान लगाना कठिन है। इसीलिए माया को 'ड्डुदर' (दादुर) कहा है। देवी पर बकरे की बलि चढ़ाई जाती है, माया पर न जाने कितने बुद्ध अपनी वलि चढ़ाया करते हैं। इसीलिए माया 'देवी' हुई। गोरखनाथ ने माया को सबसे अधिक शक्ति के रूप में देखा है। स्त्री के दो रूप होते हैं, एक मनमोहक तथा आकर्षक और दूसरा घृणात्मक। माया में लिप्त जीव के लिए माया आकर्षक है और एक योगी के लिए घृणात्मक। जहाँ माया का मनमोहक रूप चित्रित करना है वहाँ गोरखनाथ ने उसे 'सुन्दिर', 'कांमनि' कहा है और जहां माया का घृणात्मक रूप चित्रित करता है वहाँ उसे 'रांडी', 'बेस्या' तथा 'निरगुण नारी' कहा है। बाँझ उस औरत को कहते हैं जिसके सन्तान न हो सके। माया भी तत्त्वतः निष्फल होती है इसी कारण माया को 'बाँझ' कहा है। एक उलटबाँसी में 'सोवैं डुकरिया ठौरैं षाट'[1] (बुढ्ढी औरत के ऊपर खाट सोती है।) खाट एक आध्यात्मिक जीवन के समान है नारी माया के समान। आत्मिक ज्ञान के कारण जब माया निर्बल पड़ जाती है तो आध्यात्मिक जीवन उस पर हावी हो जाता है, यही 'डुकरिया' के ऊपर खाट का सोना हुआ। 'डुकरिया' में माया की निर्बलता का भाव छिपा हुआ है। मायिक जीवन में जीव माया का पुत्र है। ब्रह्मानुभूति जीव की पत्नी है तो माया ब्रह्मानुभूति की सास हुई। इसीलिए माया को 'सासूड़ी' (सास) कहा गया है। यह सम्पूर्ण सृष्टि माया से ही उत्पन्न है अतः इसे 'माई' (२ बार) अथवा 'माता' कहा गया है। इस संसार में जितने विभेद हैं वे सब माया के बनाए हुए हैं और उन विभेद-वस्तुओं को बनाकर माया फिर नष्ट कर देती है। इसी कारण माया को 'पोवणहारी' (रोटी बनाने वाली) कहा है। एक उलटबांसी में 'रत्ती का काम मासे की चोरी (रत्ती के काम में से मासे की चोरी)[2] में माया को रत्ती कहा गया है और आत्मतत्त्व को मासा। ज्ञानोदय होने पर मायिक जीवन में ही आत्मतत्त्व प्राप्त हो जाता है।

जगत्— जगत् के लिए तीन प्रतीकों का प्रयोग हुआ है-'कैंरो डाली' (२ बार), 'रेंणि' तथा 'जलि'। करील का वृक्ष कटीला होता है, यह संसार भी दुःखों से भरा हुआ है अतः इसे 'कैंरो डाली' कहा गया है। इस संसार में जीव अज्ञान की नींद में सोया रहता है। संसार को रेंणि' कहा है। संसार में विषयी लोग डूबे रहते हैं इसलिए सागर संसार का समानधर्मी है। सागर में जल होता है इसलिए संसार को सागर न कहकर गोरख ने जल ही कह दिया है। यहाँ जल सागर का वाची है।

ब्रह्म— ब्रह्म के लिए गोरखनाथ ने २२ रूपकों का प्रयोग किया है। गोरखनाथ ने भी अन्तर्यामी ब्रह्म को 'पुरिष' (५ बार), 'परमपुरुष' (२ बार), 'महापुरिष',

---

1 गोरखबानी, पृ० ५४१

2 वही, पृ० ९२

'अलष पुरिष' (३ बार) तथा 'प्रांण पुरिष' कहा है। परब्रह्म इस संसार का स्वामी है इसी कारण गोरख ने उसे 'नाथ', 'नाथसतगुर' तथा 'जगन्नाथ' कहा है। जो कुछ इस ब्रह्माण्ड में है वही इस पिण्ड में है। षट्चक्रों के ऊपर मस्तिष्क में जो शून्यचक्र है वही इस पिण्ड का कैलास है। परमपुरुष से उद्बुद्ध होकर शक्ति-रूपी कुण्डलिनी इस शून्य चक्र में ही समागम करती है। इसलिए गोरखनाथ ने ब्रह्म के लिए शिव अथवा शिव के पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया है, जैसे—'सीव' (३ बार), 'सदासिव' 'केदार, 'देवं' (२ बार) तथा 'अच्यंत'। ब्रह्म का ज्ञान आत्मा को ही होता है। हीरा को आत्मा के समान कहा है इसलिए ब्रह्म को 'सेत फटक मनि' कहा है। ब्रह्म के दीप्त होने पर ज्ञान का उजाला हो जाता है इसी कारण ब्रह्म को 'दीपक' (२ बार) कहा गया है। संसार के पदार्थ दृष्ट हैं और परमात्मा अदृष्ट है। यहाँ परमात्मा को उसके विशेषण 'अदिष्टि' से ही सूचित कर दिया है। आम के फल का स्वाद मीठा होता है, इसलिए ब्रह्म को 'आंबनियौ' कहा है। इस पंच भौतिक शरीर को 'घर' कहते हैं। परब्रह्म पंचभूतों से परे है। अतः उसे 'अघर' कहा है। एक उलटबांसी में गोरखनाथ ने सुनार का काम करते हुए एक रत्ती सोने में से एक मासे की चोरी कर ली। रत्ती छोटी होती है और मासा बड़ा, यही तो उलटबांसी का रहस्य है। रत्ती माया है और 'मासा' परब्रह्म। इस छोटे से मायामयी शरीर में परब्रह्म की खोज करना ही योगियों का साध्य आदर्श है ?

जीवात्मा—जीवात्मा के लिए गोरखनाथ ने २४ लौकिक शब्दों का प्रयोगकिया है। जीवात्मा को 'हंस' कहा गया है। हंस का रंग सफेद होता है वह स्वच्छता का प्रतीक है। जीवात्मा भी शुद्ध हैं। हंस अपनी तेज चाल के लिए प्रसिद्ध है; जीवात्मा भी इस शरीर को त्यागकर इतना शीघ्र जाता है कि पता नहीं लगता कहाँ गया, कब गया। जीवात्मा इस शरीर में माया के चक्कर में पड़ा हुआ है। माया एक नागिन के समान है। रोटी आत्मानुभूति है इसलिए 'कागा' जीवात्मा के समान हुआ। इस शरीर में तो आत्मा ऐसे ही रहती है जैसे पिंजड़े में तोता। यह शरीर सात धातुओं का एक पिंजड़ा है अतः आत्मा इसके अन्दर रहने वाला 'सूवा' हुआ। नवरंध्र तथा पंचेन्द्रियाँ आध्यात्मिक शक्ति का पान करती रहती हैं अतः आत्मा की शक्तियाँ विकसित नहीं होने पातीं। नवरंध्र नौ बछड़े हैं तथा पंचेन्द्रियाँ दूध दुहने वाली हैं इसलिए आत्मा को 'गाय' (२ बार) कहा है। 'गायां बाघ बिडार्याजी' गाय ने बाघ की दुर्दशा कर दी।) यहाँ बाघ शब्द सबल आत्मा का द्योतक है। यह अज्ञानमय जीवन रात्रि के समान है। छोटा बच्चा रात्रि के अंधकार में रोता है और अंधकार से प्रकाश में जाना चाहता है। 'बालक' इस आत्मा का प्रतीक है। आत्मा को बालक इसलिए कहा है कि बालक की तरह आत्मा भी शुद्ध होती है। आत्मा को 'ब्रह्मचारी' इसलिए कहा है कि एक तो आत्मा ब्रह्म का आचरण करती है और दूसरे ब्रह्मचारी जिस प्रकार वीर्य को रक्षित रखता है उसी प्रकार आत्मा भी अपने मूल रूप को सुरक्षित रखती है। मन एक मदमस्त हाथी के समान है जो भागना चाहता है। आत्मा एक

'राजा' (२ बार) के समान है जो उस हाथी को वश में रखता है। योगाभ्यास से ब्रह्मरंध्र के चन्द्रमा में व्याप्त अमृत प्राप्त हो जाता है। यह अमृतानन्द एक फूल के समान है। अतः इस फूल को प्राप्त कर प्रसन्न होने वाली 'मालिन' आत्मा हुई। एक उलटवाँसी में 'तलि गागरि ऊपर पनिहारी' (नीचे गागर और ऊपर पनिहारिन) में कुण्डलिनी को गागर कहा है और आत्मा को 'पनिहारी' कहा है। आत्मा को 'पांगुल' इसलिए कहा है कि ब्रह्म साक्षात्कार से आत्मा अपने को इन्द्रियों से हीन समझने लगती है या इन्द्रियाँ बेकाम हो जातीं हैं जीव माया के त्रयताप से जलता रहता है। माया एक चूल्हे के समान है इसलिए जीवात्मा 'भगरी' (लकड़ी) के समान हुआ। तुच्छ माया महत्त्वपूर्ण आत्मा को दबाए रहती है। माया एक चींटी से अधिक नहीं किन्तु जीवात्मा तो एक 'पर्वत' के समान है। चींटी ने पर्वत को गिरा दिया—यही तो आश्चर्य है। आत्मा ही परमात्मा का साक्षात्कार करता है। ब्रह्मरंध्र में आसन लगाकर बालयोगी जब ध्यानस्थ होकर बैठ जाता है तो आत्मा उसी प्रकार मद के प्याले पीती है जैसे कि कोई राजा। इसी कारण आत्मा को यहाँ 'चेतनि रावल' कहा है।

जीवन—गोरखनाथ ने जीवन के लिए कुल ६ रूपकों का प्रयोग किया है। मानव जीवन एक वास्तविकता नहीं है—वह अज्ञान है। परम्पराओं के अनुसार शरीर को दीपक, आयु को तेल तथा जीवन को शिखा कहते आए हैं। गोरखनाथ ने एक स्थान पर जीवन को दीपक कहा है–'षूटै तेल न बूझै दीया' (जब तक आयु रूपी तेल समाप्त नहीं होता तब तक दीपक नहीं बुझता।) लक्षणा से दीपक का तात्पर्य दीपशिखा है। जिस प्रकार चूहा बिल्ली के सामने तुच्छ है उसी प्रकार यह जीवन माया के सामने तुच्छ है किन्तु सूक्ष्म अन्तर्मुखी जीवन के सामने माया की हार हो जाती है इसीलिए गोरख कहते हैं—'मूंसा के सबद बिलइया नासै।' चूहे (सूक्ष्म अन्त-र्मुखी जीवन) के शब्द से बिल्ली (माया) नष्ट हो जाती है। शेर गाय को मार सकता है, आध्यात्मिक ज्ञान भौतिक जीवन को नष्ट कर सकता है इसलिए जहाँ शेर आध्या-त्मिक ज्ञान का प्रतीक है वहाँ 'गावडी' भौतिक जीवन का प्रतीक है। एक उलटवाँसी में गोरख कहते हैं—'गऊ पद मांही पहोकर फदकै' (गोपद में तालाब तरंगित हो रहा है।) यहाँ 'गऊ पद' सूक्ष्म आध्यात्मिक जीवन के समान है तथा पहोकर स्थूल अस्तित्व के समान।

मन—मन के लिए ११ रूपकों का प्रयोग किया है। सबसे अधिक ८ बार मन का प्रतीक मृग माना है। जैसे 'मृगला'। चांचल्य एवं भटकाव धर्म के समान होने से मन को मृग कहा है। कालान्तर में मन का विशेषण 'चंचल' ही मन का पर्याय हो गया और गोरख ने मन के लिए 'चंचल' (२ बार) शब्द का प्रयोग किया है। योगियों के वेष में अन्य वस्तुओं के साथ ही साथ 'जोगोटा' भी आता है। गोरख ने 'जोगोटा' को मन के लिए प्रयुक्त किया है। मदमस्त हाथी को वश में करना आसान नहीं है। मन को वश में करना भी सरल काम नहीं है। अतः मन को 'हस्तिय' (२ बार) कहा

गया है। साधना के द्वारा मन की बाह्य वृत्तियों को अन्तर्मुखी कर लेता है। मछली पकड़ने के लिए बगला भी अन्तर्मुखी ध्यानस्थ हो जाता है इसलिए मन को 'बगु' कहा गया है। वर्षा में मोर नाचता है, आनन्द मनाता है। माया के सम्पर्क से मन भी आनन्दित होता है। अतः मन को 'मोर' तथा 'भर्'य' कहा है। इसी भाव को लेकर 'दादुर' भी कहा गया है। एक उलटबांसी में मन को 'ऊँट' कहा गया है। स्थूल-काय ऊँट स्थूल मन का सूचक है। स्थूलता के आधार पर 'ऊँटा' भी कहा गया है। कुत्ता द्रोही होता है वह किसी को भी देखकर भोंकने लगता है, पास नहीं आने देता। मन भी द्रोही है—वह आत्मज्ञान को पास नहीं आने देता। अतः मन को 'कूकर' कहा गया है। कौआ एक क्षुद्र पक्षी है, वह अविवेकी है, उसे ग्राह्याग्राह्य का विचार नहीं है। मन भी अविवेकी है। अतः मन को 'कउआ' कहा गया है। मछली सदैव पानी में ही रहती है। बिना जल के उसका जीवन ही असम्भव है। मन भी माया रूपी जल में ही पड़ा रहता है, उससे बाहर उसकी गति नहीं है इसलिए मन को 'मंछा' कहा है।

मनसा— मन में जो इच्छा उत्पन्न होती है उसे मनसा कहते हैं। गोरखनाथ ने मनसा को ५ प्रतीकों से प्रकट किया है—'कोयल' (२ बार), 'तृया', 'भेंसि', 'नदी' तथा 'सिंघ'। कोयल काली होती है किन्तु मीठा बोलती है। मन में उठने वाली इच्छाएं भी कलुषित होती हैं किन्तु मन को मीठी लगती हैं। इसलिए मनसा को कोयल कहा है। मनसा इन्द्रियों को बलवती बनाती है इसलिए मनसा को इन्द्रियाँ 'तृया' (स्त्री) कहा है। उसी प्रकार मनोवृत्तियों के सामने शान्त प्रकृति दबीदबी सी रहती है। अतः मनसा को शेर कहा है।

चेतना— योगी की चेतना योग साधना में काम देती है। योगी अचेत हुआ और साधना असफल हुई। चेतना के लिए गोरख ने तीन रूपकों का प्रयोग किया है 'मछलड़ी' 'बावन बीर' तथा 'छैल'। मायिक अहंकार एक बगुले के समान है तो चेतना एक मछली के समान हुई। बावन बीर का अर्थ है बौना-एक छोटा-सा आदमी। छोटा-सा आदमी बड़ा काम नहीं कर सकता किन्तु एक उलटबांसी मे बावन बीर तीन सौ साठ थेगलियों का इक्कीस हजार छः सौ (२१६००) धागों से एक कंथा तैयार करता है। यहाँ ३६० थेगलियाँ ही शरीर की हड्डियाँ हैं। २१६०० धागे ही दिनभर की साँसें हैं, कंथा ही यह शरीर है और बावन बीर ही चेतना है। छैला या रसिया नींद के न होने पर ही अपनी प्रवृत्ति में सक्रिय रहता है। चेतना भी नींद के चले जाने पर सक्रिय रहती है। इसीलिए चेतना को छैल कहा गया है।

अहंकार—अहंकार के लिए गोरखनाथ ने चार रूपकों का प्रयोग किया है—'मगरमच्छ' 'विषहर' 'पिता' 'बगलों'। शक्ति और घातकता के समान धर्म के कारण अहंकार को मगरमच्छ कहा गया है, सर्प के काटने से जैसे तुरन्त जहर सारे शरीर में फैल जाता है और मानव-जीवन विपत्ति में पड़ जाता है उसी प्रकार अहंकार का

प्रभाव सारे शरीर में तुरन्त फैल जाता है और ज्ञान नष्ट हो जाता है। बाप–बेटी का सम्बन्ध स्थापित करते हुए अहंकार को पिता तथा षड्रिपुओं को उसके बच्चे कहा है। अहंकार अन्य अनेक विकारों को उत्पन्न करने वाला होता है। जिस प्रकार बगुला मछली को निगल जाता है उसी प्रकार अहंकार चेतना को समाप्त कर देता है। इसलिए अहंकार को 'बगला' कहा है।

ज्ञान—ज्ञान के लिए १८ रूपकों का प्रयोग हुआ है। गोरख ने ज्ञान के लिए 'दीपक' 'उजाला' 'प्रकाश' 'ज्योति' 'दौं', 'अगनि' तथा 'ब्रह्म अग्नि' शब्दों का प्रयोग किया है। इसलिए उसे 'हीरा' 'मोती' 'माणिक' 'स्वातिबूंद' कहा है। स्वातिबूंद का अर्थ यहाँ लक्षणा से मोती है। ज्ञान को 'मतीरा' कहा गया है। मतीरा का अर्थ है तरबूज, जो शीतलता दायक होता है। ज्ञान भी अहंकार आदि को नष्ट कर शान्ति और परमानन्द की प्राप्ति कराता है। आनन्ददायक, सात्विक और महत्त्वपूर्ण होने के कारण ज्ञान को 'माषण' कहा गया है। ज्ञान को 'अषाड़ा' इसलिए कहा गया है कि साधक ज्ञान के अखाड़े में ही सांसारिक भोगों को परास्त करता है। एक उलटबांसी में गोरख ने 'गावड़ी के मुष में बाघला बिवाइला (गाय के मुख में बाघ बिआ गया) कहा है। गाय भौतिक जीवन है और बाघ ज्ञान है, ज्ञान भौतिक जीवन में ही उत्पन्न हो जाता है। यही गाय के मुख में बाघ का बियाना हुआ। 'कटार' किसी वस्तु को काटने का काम करती है। ज्ञान से पंच ज्ञानेन्द्रियां काटी जाती हैं इसीलिए ज्ञान को कटार कहा गया है। मन एक कुत्ते की तरह रखवाली करता रहता है और इस शरीर में ज्ञान को नहीं आने देता। मन कुत्ते के रहते हुए, ज्ञान इस शरीर में ऐसे ही आता है जैसे 'चोर'। यहाँ चोर शब्द निष्कृष्ट भाव में प्रयुक्त नहीं हुआ हैं। फिर भी ज्ञान मन के लिए तो चोर है ही।

यमराज—गोरखनाथ ने यमराज के लिए तीन रूपकों का प्रयोग किया है। 'सिचाण' (बाज) 'सूद्र' तथा सुसूपाल (शिशुपाल)। बाज निर्दयी, शक्तिशाली, एवं भयानक होता है। अन्य पक्षियों को दांव लगने पर झपट्टा मारकर ले जाता है। बाज के आक्रमण का पूर्व ज्ञान पक्षियों को नहीं होता। इसी प्रकार यमराज भी संसार के प्रत्येक प्राणी पर अचानक ही झपट्टा मारता है। और बाज की तरह ही उसकी जीवन लीला समाप्त कर देता है। इसलिए यमराज को सिचाण कहा है। 'सूद्र' का अर्थ है मृतक पशु को खींच कर ले जाने वाला। यहाँ शूद्र में अर्थ संकोच है। इस प्रकार के शूद्र में घृणित एवं निर्ममता का भाव भरा हुआ है। यमराज अथवा काल के लिए शिशुपाल का प्रयोग गोरखनाथ का अपना है—परम्परागत नहीं है। कुछ विचित्र भी है। वैसे इसमें संदेह नहीं है कि राजा शिशुपाल का चित्र निर्दयी, भयानक एवं शक्ति का खिंचा हुआ है। एक ओर कृष्ण को जनता चाहती थी और दूसरी ओर शिशुपाल को नहीं चाहती थी। यहाँ द्रष्टव्य यह है कि एक आध्यात्मिक शब्द के लिए एक व्यक्तिवाचक संज्ञा का प्रयोग हुआ है।

पंच ज्ञानेन्द्रियां—आध्यात्मिक दृष्टि से पंच ज्ञानेन्द्रियां योग-साधना में साधक

और बाधक दोनों रूप लिये हुए हैं। नियन्त्रित ज्ञानेन्द्रियाँ साधक होती हैं और अनियंत्रित ज्ञानेन्द्रियाँ बाधक होती हैं। गोरखनाथ ने पंच ज्ञानेन्द्रियों के लिए दस प्रतीकों का प्रयोग किया है। ज्ञानेन्द्रियों के लिए प्रयुक्त शब्दावली दो प्रकार की है-एक तो विशेषण के रूप में 'पंच' शब्द लगाकर जैसे 'पाँचों भाइला' 'पंचवाहक' (पाँच सैनिक) 'पंच ग्वालिया', 'पंचदेव', 'पांच संगाती' और 'पंच चोर' तथा दूसरे बिना पंच शब्द लगाकर जैसे 'चंचल', 'मृघां तथा 'गोरू' (गाय)।

पाँच ज्ञानेन्द्रियों को पांचों भाइला (पाँच भाइयों) कहकर गोरखनाथ इन्द्रियों के साथ आत्मीयता एवं प्रेम प्रदर्शित करना चाहते हैं। ज्ञानेन्द्रियों को अगर अपने पक्ष में करना है तो उन्हें पुचकार कर ही पक्ष में किया जा सकता है—डंडे से नहीं। जब गोरखनाथ को ब्रह्म-साक्षात्कार हो गया है तो पांचों ज्ञानेन्द्रियां विरोधी नहीं हैं, साथी हैं। नाथ उनके साथ मिलकर खेलता है अत: ज्ञानेन्द्रियों को 'पाँच संगाती' कहा। देवता प्रसन्न होने पर हितकारी होते हैं और रुष्ट होने पर हानिकारक होते हैं। किन्तु प्रश्न देवताओं को प्रसन्न करने का है। इन्द्रियों को भी गोरख ने 'पंचदेव' कहा है।

बार-बार 'पंच' विशेषण का प्रयोग करते-करते वह इतना महत्वपूर्ण हो गया कि केवल 'पंच' शब्द ही पंच ज्ञानेन्द्रियों के लिए प्रयुक्त होने लगा। गोरखनाथ ने पंच ज्ञानेन्द्रियों के लिए 'पंच' शब्द का सात बार प्रयोग किया है।

ज्ञानेन्द्रियाँ चंचल होती हैं। यह विशेषण इतना प्रबल और प्रसिद्ध है कि गोरखनाथ ने पंच ज्ञानेन्द्रियों के लिए केवल 'चंचल' शब्द का ही प्रयोग किया है। तृष्णा और चांचल्य धर्म के समा[illegible]ने से ज्ञानेन्द्रियों को मृघां (मृग) कहा गया है। गाय जब 'हरिया'[1] हो जाती है तो वह किसी अच्छे ग्वालिये से ही घेरी जा सकती है। गोरखनाथ ने जब स्वयं अपने को ग्वालिया कहा है तो ज्ञानेन्द्रियों को 'गोरू' (गाय) कहा है।

गोरखनाथ—गोरखनाथ के लिए 'नाथ' तथा 'लाल-ग्वालिया' शब्दों का प्रयोग हुआ है। नाथ शब्द तो गोरखनाथ का ही संक्षिप्त रूप है। यह बात दूसरी है कि इसमें इन्द्रियों को भी वश में करने का अर्थ निहित है। ग्वालिया शब्द का प्रयोग भी गाय रूपी इन्द्रियों को वश में करने के कारण ही हुआ है किन्तु 'ग्वालिया' से पूर्व 'लाल' विशेषण क्यों लगा है, बहुत संभव है 'लाल' शब्द में गोरखनाथ का रंग-रूप और सुन्दरता छिपी हुई हो। चंचल गायों को वश में करने वाले ग्वालिये में कुछ तो विशेषता होनी ही चाहिए।

योगी—'योगी' अथवा 'साधक' का काम बहुत ही वीरता का है। साधना के युद्ध में बहुत ही कम लोग डट पाते हैं। इसी कारण साधक के लिए 'सूर' का प्रयोग किया है। सूर, सूरा अथवा 'सूरिवाँ' की आवृत्ति ८ बार हुई है। गोरखनाथ ने साधक के

---

1 हरे-हरे चारे से आकृष्ट होकर उसे खाने के लिए बार-बार उसकी ओर दौड़ने वाली गाय को ब्रजभाषा में 'हरिया' गाय कहते हैं।

लिए २ बार 'धोबी' शब्द का प्रयोग किया है । धोबी का काम कपड़ों का मैल छुड़ाना है । साधक भी अपनी योग-साधना द्वारा माया का मैल छुड़ाया करता है। बुद्धि दो प्रकार की होती है-आत्म-बुद्धि और अनात्म-बुद्धि । आत्म-बुद्धि रूपी फसल में अनात्म-बुद्धि रूपी खरपतवार है । जिस प्रकार किसान अपनी फसल में से खरपत-वारों को उखाड़ फेंकता है उसी प्रकार साधक भी आत्म-बुधि की रक्षा करता हैं और अनात्म बुधि को उखाड़ फेंकता हैं । इसलिए साधक को 'हाली' (किसान) कहा है । जब तक आत्म साक्षात्कार नहीं हो जाता तब तक साधक अपने ज्ञान मार्ग पर चलता ही रहता है । अतः उसे 'बटावा' (पथिक) कहा गया है । हंस स्वच्छता एवं निर्मलता का प्रतीक है । साधक भी पाप-पुण्य से रहित और निर्मल होता है इसलिए साधक को 'हंसा' कहा गया है । सिद्धों के लिए 'पुरुषां' (पुरुषों ने) शब्द प्रयुक्त हुआ है । यहाँ पुरुष का अर्थ आत्म साक्षात्कार करने-वाले योगी से है । ब्रज क्षेत्र में 'पुरिखा' शब्द आज भी उन पूर्वजों के लिए चलता है जो ज्ञानी और उपदेष्टा थे ।

शरीर—हठयोगियों के लिए यह 'शरीर' बड़े ही महत्त्व का है । जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में है ।[1] साधक अपनी सम्पूर्ण साधनाएँ इसी शरीर में करता है । शरीर के लिए गोरखनाथ ने १७ प्रतीकों का प्रयोग किया है । जिस प्रकार एक नगर में राजा, काजी, वजीर इत्यादि होते हैं उसी प्रकार इस शरीर में भी क्रमशः ब्रह्म, विचार, पंचतत्त्व होते हैं । इसलिए शरीर को 'नग्र' (२ बार) कहा है । शरीर के लिए अगर सम्पूर्ण नगर प्रतीक रूप में न आकर केवल राजनगर का किला आए तो अधिक समीचीन रहे । दरवाजे इत्यादि से किले की रचना जिस प्रकार की होती है शरीर की रचना भी उसी प्रकार की होती है । गोरखनाथ ने 'नग्र-कोट' (२ बार) (नगर का किला) तथा 'गढ़' (२ बार) रूपकों का प्रयोग भी किया है । किले से मिलता-जुलता ही 'भुवन' शब्द भी शरीर के लिए प्रयुक्त हुआ है । जो कुछ इस भुवन में है वही इस शरीह में भी है । माया रूपी विस्तृत खेल के फैलाव के लिए किसी पर्वत की ही आवश्यकता हो सकती है । इस शरीर को गोरख ने पर्वत तो कहा है किन्तु यहाँ आकर साम्य नहीं है । शरीर साढ़े तीन हाथ लम्बा होता है इसलिए शरीर को 'अहूंठ' पर्वत (साढ़े तीन हाथ का पर्वत) कहा है । एक दूसरे स्थान पर 'अष्ट कुल पर्वत' कहा है । मोटी दृष्टि से पृथ्वी और आकाश दोनों अलग-अलग दिखाई पड़ते हैं किन्तु वास्तव में पृथ्वी पर ही आकाश का साक्षात्कार हो जाता है । इसी प्रकार ब्रह्मतत्त्व और शरीर दोनों मोटी दृष्टि से अलग-अलग दिखाई पड़ते हैं किन्तु तत्त्वतः ब्रह्म का साक्षात्कार इसी शरीर में होता है । इसी कारण शरीर को 'धरे' (पृथ्वी पर) कहा है । 'धरे' में-ए प्रत्यय सप्तमी विभक्ति का है । शरीर के लिए 'घट' (३ बार) उपमान परम्परागत है । यह प्रतीक इतना अधिक प्रचलित हुआ कि लोक में भी 'घट[2] माने शरीर' होने लगा । गोरखनाथ ने घट का समानार्थी 'कलस'

---

1 ब्रह्माण्डवर्तियत् किञ्चित, तत पिण्डेऽयस्ति सर्वथा' । सिद्ध सिद्धान्त संग्रह—पं० गोपीनाथ कविराम ।

2 नाथ सम्प्रदाय—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ २०

शब्द का भी प्रयोग किया है। परब्रह्म की आरती में निरति और सुरति के फूलों के साथ गोरखनाथ इस शरीर रूपी कलश को भी अर्पित करने की कामना रखते हैं। फटे पुराने चिथड़ों से बना हुआ गले में डाल लेने का जो चिह्न योगियों के पास मिलता है उसे 'कंथा' या 'कंथी' कहते हैं। गोरखनाथ कहते हैं कि इस शरीर को ही 'कंथी' समझना चाहिए, अलग से इसकी कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि शरीर में जो ३६० हड्डियाँ हैं, वे ही चिथड़े हैं जिनको सांस रूपी धागे से सींया गया है। 'घट' और 'कलश' की तरह ही शरीर के लिए 'तूंबी' शब्द का प्रयोग किया है। इस 'तूंबी' में त्रैलोक्य समाया हुआ है। कडुए-सूखे कद्दू से बनाया हुआ बरतन 'तूंबी' कहलाता है। तूंबी का बना हुआ एक प्रकार का बाजा, जिसे सपेरे बजाया करते हैं, 'तूमड़ी' कहलाता है। जिस प्रकार 'तूमड़ी' एक मीठी ध्वनि उत्पन्न करती है उसी प्रकार इस शरीर में भी अनाहतनाद होता है। पिंजड़े में तोता आदि पक्षी बन्द रहता है। शरीर में भी आत्मा या ब्रह्म विद्यमान है। अन्तर केवल इतना है कि तोता पिंजड़े में दिखायी देता है और ब्रह्म इस शरीर में दिखाई नहीं देता। हाँ, दसवें दरवाजे के खुलने पर उससे साक्षात्कार अवश्य होता है। इस भाव को लेकर ही गोरख ने शरीर को 'पिंजर' (पिंजड़ा) कहा है। बांबी में सर्प रहते हैं। इस शरीर में माया एक सर्पिणी के समान ही विद्यमान है। इसलिए शरीर को 'वांम्बी' कहा है। खेत तो बहुत होते हैं किन्तु अच्छा खेत वही है जिसमें फसल उगे। यह शरीर भी 'क्यारी' के समान है। इसमें बीज रूप से परमात्मा विद्यमान है किन्तु वही शरीर सफल है जिसमें कुछ उपज हो जाये—ब्रह्म का स्वानुभव हो जाये। शरीर की रचना पांच तत्त्वों से हुई है इसलिए 'पंचतत' (दो बार) शब्द ही शरीर का पर्याय बन गया है। शरीर में चेतना तो प्राणों की होती है वरना यह शरीर तो जड़ है—मरा हुआ है अतः इसे 'मूवां' कहा है। 'षड़ासण' हठयोग का तकनीकी शब्द है। इसे 'अधारी' भी कहते हैं। यह काठ के डंडे में लगा हुआ काठ का पीढ़ा होता है। योगी इसे अपने साथ रखते हैं और आवश्यकता पड़ने पर इस पर बैठ जाते है। गोरख ने शरीर को 'खड़ासन' कहा है। गोरखनाथ केवल भेष धारी जोगी पर अधिक विश्वास नहीं करते। उनके अनुसार हठयोग के सभी साधन इस शरीर में ही विद्यमान हैं।

हड्डियाँ—शरीर की सम्पूर्ण हड्डियों के लिए गोरख ने 'थेगली' तथा 'तीन सै साठी' प्रतीकों का प्रयोग किया है। शरीर पुराने चिथड़ों की एक कंथा है और इसमें चिथड़े हैं इसकी हड्डियाँ। हड्डियों की संख्या ३६० होती है अतः हड्डियों का यह संख्यावाची विशेषण 'तीन सै साठी' ही शरीर की हड्डियों के लिए प्रयुक्त होने लगा। शरीर की हड्डियों में चौसठ जोड़ होते हैं अतः इन जोड़ों के लिए 'चौंसठ हाट' कहा गया है।

नव द्वार—शरीर के अन्दर नौ द्वार होते हैं। इन द्वारों के लिए गोरखनाथ ने ६ प्रतीकों का प्रयोग किया है। शरीर एक नगरी के समान है अतः शरीर के नव

द्वारों को 'नग्री द्वार' कहा है। 'नव दरवाजा' (४ बार) 'नव घाटी' (२ बार) तथा 'नो लष षाई' शरीर के नव दरवाजों को ही प्रकट कर रहे हैं। शरीर में नव रन्ध्रों के लिए नो के स्थान पर 'नो लाख' का प्रयोग इस शरीर की केवल विस्तृतता को ही सूचित करता है—संख्या नहीं। केवल 'दर' शब्द ही नो दरवाजों के लिए प्रयुक्त हुआ है। दो बार गोरखनाथ ने केवल संख्यावाची विशेषण 'नव' को ही शरीर के नव द्वारों के लिए प्रयुक्त किया है। यह उसी प्रकार है जैसे पंच ज्ञानेन्द्रियों के लिए प्रयुक्त 'पंच' शब्द। यह शरीर सम्पूर्ण पृथ्वी के समान है। पृथ्वी के नो खण्ड होते हैं अतः शरीर के नो दरवाजे 'नव षंडा' (४ बार) हुए। शरीर को एक कमल के पौधे के रूप में चित्रित करते हुए शरीर के नवरन्ध्रों को 'नो कली' कहा है। जिस प्रकार गाय का बछड़ा उसका दुग्धपान करता रहता है उसी प्रकार शरीर के नवरन्ध्र आध्यात्मिक शक्ति का पान करते रहते हैं—ह्रास करते रहते हैं। आध्यात्मिक शक्ति अगर गाय है तो नवरन्ध्र 'नो बछड़ा' हुए। जब एक ही बछड़ा गाय के दूध का पान करता रहता है तो नो बछड़ों का क्या ठिकाना ?

प्राण—शरीर के अन्दर 'प्राण' ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। प्राण शरीर की उस वायु का नाम है, जिससे मानव जीवित रहता है। इसलिए प्राण के लिए 'जीविता' (जीवन) तथा 'दंम' (जीवन) शब्दों का प्रयोग किया हैं। यह एक प्रकार की वायु तो होती ही हैं अतः इसको 'पवन' या 'पवनां' (७५ बार) 'बाइ' या 'बाई' (२२ बार) तथा 'अनील' शब्दों में सूचित किया गया है। प्राणवायु को गोरखनाथ ने ४ स्थानों पर 'द्वादश अंगुल बाई' भी कहा है। प्राण-वायु का निवास नासारंध्रों से बाहर बारह अंगुल तक माना जाता है। रेचक के अभ्यास से जब योगी प्राणवायु को मुख से १२ अंगुल बाहर रोकने का अभ्यस्त हो जाता है तो वह दूसरे पुरुष के शरीर में प्रवेश कर सकता है। प्राणायाम के द्वारा मस्तिष्क द्वार उन्मुक्त कर वहाँ से कुण्डलिनी शक्ति को १२ अंगुल ऊपर मस्तिष्क में रोके रहने से सिद्ध पुरुषों का दर्शन होता है। प्राण वायु की इस १२ अंगुल की क्रिया के द्वारा ही इसे 'द्वादश अंगुल बाई' कहा गया है। इसी के समान एक स्थान पर 'द्वादस हंसा' का प्रयोग भी प्राणवायु के लिए किया गया है। रूप साम्य एवं गति साम्य से प्राणवायु को हंस कहा है। तीन स्थानों पर 'पूरब देश' कहा है। पूर्व देश वे तात्पर्य ज्ञानोदय की दिशा अर्थात् सहस्रार चक्र है। सिद्धि के समय प्राण सहस्रार चक्र में स्थित रहते हैं अतः प्राण को पूर्व देश कहा गया है। प्राणों का निरोध करके जब ब्रह्मरन्ध्र में स्थित कर दिया जाता है तब सिद्धि प्राप्त होती है। सिद्धि अग्नि के समान है और प्राण 'धुआँ' के समान है। जैसे धूम अग्नि का होना सिद्ध करता है, वैसे ही प्राणों का ऊपर उठकर ब्रह्मरन्ध्र में स्थित होना सिद्धि प्राप्ति का लक्षण है। धुवां हल्का होता है और उसकी गति ऊपर की ओर होती है। प्राण भी हल्के होते हैं और सिद्धि के लिए उर्ध्वगामी होते हैं। प्राण को 'गरड़' (गरुड़) कहने में दो भाव हैं। एक तो गति साम्य और दूसरा उलटबाँसी के आधार पर कुण्डलिनी को सर्पिणी बताकर उससे सामंजस्य स्थापित करना। गरुड़ और सर्प में

जन्मजात शत्रुता होती है किन्तु योगाभ्यास से इनमें सामंजस्य हो जाना ही उलटबाँसी है। एक दूसरे स्थान पर ठीक इसके विपरीत प्राण अथवा श्वास को 'भुवंगम' (सर्प) कहा है और निरोध-क्रिया को गरुड़। जब तक प्राण आते-जाते हैं, उनका निरोध नहीं होता, तब तक सिद्धि-योग दुर्लभ है। श्वास-क्रिया के द्वारा अजपाजाप सिद्ध होता है इसलिए प्राण को 'धंमणि' (धौंकनी = श्वास क्रिया) कहा है। आदमी दिनभर २१६०० साँसें लेता है। ये साँसें ही शरीर की रचना में 'धाग' (धागे) (२ बार) का काम करती हैं।

नाड़ियाँ—शरीर के अन्दर अनेक नाड़ियाँ होती हैं। उनकी कुल संख्या बहत्तर हजार हैं। उनमें से बहत्तर श्रेष्ठ हैं और उनमें से भी दस अधिक प्रसिद्ध हैं। जहाँ गोरख ने बहत्तर नाड़ियों का वर्णन करना चाहा है वहाँ तो 'बुरिज बहत्तरि' (बहत्तर बुर्ज), 'बहत्तर कोठड़ी' (बहत्तर कोठे), 'कोठड़ी बहतीर' (बहत्तर कोठे) तथा 'नदी अठारह गंडिक'(१८×४=७२) कहा है और जहाँ नौ नाड़ियों का वर्णन करना चाहा है वहाँ 'नौ नाटिका' (नौ नाड़ियाँ) 'नौ सै नदी', 'नौ सै षाई' तथा 'नौ सै जोगणी' कहा है। सुषुम्ना को छोड़कर दस में से नौ नाड़ियाँ शेष रहती हैं। सुषुम्ना को इसलिए छोड़ दिया गया है क्योंकि ये सभी नाड़ियाँ सुषुम्ना में आकर ही मिलती है। जहाँ नौ और बहत्तर दोनों का ध्यान एक साथ रहा है वहाँ 'नव बहत्तरि (२बार) कहा है। इन सभी प्रतीकों में देखने से विदित होता है कि नाड़ियों को 'नदी', 'खाई', 'बुर्ज', 'जोगिनी' तथा 'कोठे' कहा गया है। नदियों में जल होता है और वे खेतों को सींचती हैं। शरीर की नाड़ियाँ भी प्राणधारा से आत्मा को सींचती हैं। नाड़ियाँ खाई की तरह से किले रूपी शरीर की रक्षा करती हैं और वे ही बुर्ज के समान शरीर में विद्यमान हैं। कायारूपी गढ़ में नाड़ियाँ कोठे के समान हैं। नाड़ियों को 'जोगिनी' कहने से स्पष्ट होता है कि गोरखनाथ अपने सम्प्रदाय में जोगिनियों को सम्मिलित नहीं करना चाहते। इसीलिए नाड़ियों के रूप में इस शरीर में ही जोगिनियों की खोज की है। नौ नाड़ियों के लिए 'नौसै' शब्द नाड़ियों की अधिक संख्या ही सूचित करता है। निश्चित 'नौ सौ' नहीं। यहाँ 'नौ सौ' का अर्थ 'नौ' ही है।

सुषुम्ना—शरीर की सम्पूर्ण नाड़ियों में 'सुषुम्ना नाड़ी' सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण है। इसे ही ब्रह्मनाड़ी भी कहते हैं। यह मेरुदण्ड में स्थित है। साधक कुण्डलिनी शक्ति को इस सुषुम्ना नाड़ी में होकर ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचाता है। टेढ़ी-मेढ़ी होने के कारण इसे 'वंकनालि' (७ बार) (टेढ़ी नाड़ी) कहा गया है। एक स्थान पर केवल 'नाली' (नाड़ी) शब्द से ही इसे सूचित किया गया है। मेरुदण्ड में स्थित होने के कारण इसे 'मेर नाली' (मेरु दण्ड की नाड़ी) कहा गया है। (३ बार) केवल 'मेर' शब्द ही सुषुम्ना के लिए प्रयुक्त हुआ है। मेरु में स्थित नाड़ी का नाम भी मेरु है जैसे—आम पर आने वाला फल भी आम। सुषुम्ना शरीर में पीछे की ओर अर्थात् पश्चिम की ओर स्थित है अतः इसे 'पक्षिम' (६ बार) 'पछांही' (२बार) 'पछांही घाटी' तथा 'पक्षिम क्षेत्र' कहा गया है। सुषुम्ना नाड़ी इड़ा और पिंगला के बीच में स्थित है।

इड़ा गंगा तथा पिंगला यमुना के समान है अतः सुषुम्ना 'गंग यमुन की घाटी' हुई। प्राणवायु सुषुम्ना में आती जाती रहती है। प्राणवायु सर्प के समान है। सर्प को सुगन्धि प्रिय होती है अथवा वह चन्दन के वृक्ष पर रहता है। इसलिए सुषुम्ना को 'सुरहि घरि' (सुगन्धित अथवा चन्दन का घर) कहा गया है। इड़ा और पिंगला के लिए क्रमशः इकटी, विकटी शब्दों का प्रयोग किया गया है। इकटी–विकटी के साम्य से ही सुषुम्ना के लिए 'त्रिकुटी' (तीसरी) शब्द का प्रयोग किया है। सुषुम्ना ज्ञान–मार्ग तक पहुँचाती है अतः उसे ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी 'बांणी' (सरस्वती) कहा है। सुषुम्ना में इड़ा–पिंगला दोनों के प्रवाह की सन्धि होती है अतः इसे 'विषमो सन्धि' कहा गया है। एक स्थान पर 'सहस्र नाड़ी' का प्रयोग हुआ है। डा०बड़थ्वाल ने 'सहस्र नाड़ी' का अर्थ सुषुम्ना अथवा सहस्रार दोनों ही किया है। सहस्र से 'सहस्रार' तो आसान है किन्तु एक तो सहस्रार नाड़ी नहीं है दूसरे प्राणवायु का निवास सुषुम्ना में होता है। अतः 'सहस्र नाड़ी' का अर्थ सुषुम्ना ही अधिक ठीक है। हो सकता है 'सहस्र' शब्द ब्रह्म के लिए आया हो और 'सहस्र नाड़ी' का अर्थ ब्रह्मनाड़ी हो।

इड़ा—शरीर की दूसरी महत्त्वपूर्ण नाड़ी का नाम है 'इड़ा'। मेरुदण्ड में यह सुषुम्ना के बाँई ओर होती है जो नाक के बाँये छेद में समाप्त होती है। प्राणवायु की संचालिका होने के कारण इसे 'गंग' (७ बार) 'बारि गंगा' (इस ओर की गंगा) और 'नीली गंगा' कहा है। इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना तीन नाड़ियों में से पहली होने के कारण इसे 'इकटी' (पहली) कहा गया है। इड़ा नाड़ी में चन्द्रमा का प्रकाश रहता है इसलिए इसे ससिहर (शशधर=चन्द्रमा), 'षोडस नाड़ी' (सोलह–कला=चन्द्रमा की नाड़ी), 'नोसत' (९+७=१६ अर्थात् चन्द्रमा), 'ससि' (२ बार) तथा 'चंदा' (१२ बार) कहा है। चन्द्रमा की सोलह कला होती हैं।

पिंगला—शरीर की तीसरी महत्त्वपूर्ण नाड़ी पिंगला है। मेरुदण्ड में यह सुषुम्ना के दाँई ओर होती है, जो नाक में दांये छेद में समाप्त होती है। प्राणवायु की संचालिका होने के कारण इसे भी गंगा कहा है किन्तु इड़ा से भेद करने के लिए इसे 'काली गंगा', 'पारिगंगा' कहा है। इतने से भी भेद सुस्पष्ट न हो सके तो फिर इसे 'जमुन' (६ बार) कहा है। तीन नाड़ियों में से दूसरी होने के कारण 'बिकुटी' कहा है। पिंगला में सूर्य का प्रकाश रहता है अतः इसे 'द्वादश नाड़ी' (बारह कला वाले सूर्य की नाड़ी), 'द्वादश' (बारह कला अर्थात् सूर्य), 'भांण (३बार) (भानु) 'रवि' (३ बार) 'सूरजि' तथा 'सूर' (९ बार) कहा है।

इड़ा + पिंगला—तीन प्रतीक ऐसे हैं जो इड़ा—पिंगला दोनों के लिए एक साथ आये हैं। इड़ा चन्द्रमा है और पिंगला सूर्य है। दोनों को एक साथ कहना हुआ तो 'रविचन्दा' कह दिया। इड़ा गंगा है। और पिंगला जमुना है। दोनों को एक साथ कहना हुआ तो 'गंगा जमुना' कह दिया। एक स्थान पर दोनों को 'पूरब देश' कहा है। इड़ा और पिंगला नासिका के अग्र भाग में अर्थात् शरीर के आगे के भाग में समाप्त होती हैं अतः इन्हें 'पूर्वदेश' कहा गया है।

षट्चक्र—इस शरीर में षट्चक्र होते हैं-मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा। 'मूलाधार चक्र' रीढ़ के अधोभाग के वायु और मुष्कमूल के मध्य स्थित है। यह चार दल वाले पद्म के समान होता है। यह शरीर के मूल में स्थित होने के कारण 'मूल' (४ बार), 'मूल कमल', 'धरती (५ बार) तथा 'अरध' (३ बार) कहा गया है। शरीर में ब्रह्मरंध्र का भाग उत्तर दिशा माना गया है अतः उसके विपरीत नीचे का भाग दक्षिण माना गया। मूलाधार चक्र नीचे होने के कारण उसे 'दक्षिण' (३ बार) कहा गया है। षट्चक्रों में सबसे प्रथम होने के कारण 'उदैग्रहि' कहा गया है। जिस प्रकार पानी कुएँ से निकाल कर नगर में पहुँचाया जाता है, उसी प्रकार ब्रह्मरन्ध्र से अलग होकर कुण्डलिनी शक्ति मूलाधार चक्र में आकर स्थित हो गयी है। ब्रह्मरंध्र एक कुएँ के समान है अतः मूलाधार चक्र 'नारी' हुआ।

इस मूलाधार चक्र में ही सूर्य स्थित रहता है। शरीर का आधा भाग सूर्य है और आधा चन्द्र। इन दोनों को मिलाकर सुषुम्ना में केन्द्रित करना योग का परम लक्ष्य है। इस 'मूलाधारस्थ सूर्य' के लिए गोरख ने आठ प्रतीकों का प्रयोग किया है। मूलाधार सूर्य अमृत का शोषण करता रहता है। जब योगाभ्यास द्वारा सहस्रार स्थित चन्द्र से इसका मेल कर दिया जाता है तब शोषण बन्द हो जाता है। यह सूर्य सहस्रार के चन्द्रमा से ही उद्‌भूत हुआ है। चन्द्रमा आकाश की गाय कहा गया है अतः मूलाधार के सूर्य को 'बछरा' (बछा) कहा है। अन्यत्र सूर्य के पर्यायवाची शब्दों से इसे द्योतित किया गया है जैसे—'सूर', (१३ बार) 'दिनकर', 'रवि', 'भाण' (भानु), 'बारह'(सूर्य की बारह कलाऐं होती हैं), 'बारा कला' तथा 'द्वादश' (२ बार)।

मूलाधार चक्र के ऊपर, नाभि के पास 'स्वाधिष्ठान चक्र' होता है। यह छह दल वाले पद्म के समान होता है। मूलाधार चक्र के पास ही स्थित होने के कारण दिशा साम्य से स्वाधिष्ठान चक्र को भी मुलाधार की तरह 'दछिण' (२बार) कहा है। 'पाताल' शब्द स्वाधिष्ठान चक्र के लिए आया है। वैसे तो सबसे नीचे मूलाधार चक्र है। पाताल उसी के लिए आना चाहिए था किन्तु यहाँ पाताल का अर्थ 'सबसे नीचे' न लगाकर 'नीचे' ही लगाना होगा और प्रसंग से यह स्पष्ट है कि वह स्वाधिष्ठान के लिए ही आया है। छह दल वाले कमल के समान होने के कारण इसे 'षटसां' कहा है।

षट्चक्रों से ऊपर मस्तिष्क में शून्यचक्र है। यह सहस्र दलों के कमल के आकार का है अतः इसे 'सहस्रार' भी कहते हैं। यही ज्ञानोदय की दिशा है अतः इसे 'पूरब' कहा है। हजार दल वाले कमल के समान होने के कारण ही इसे 'असंष दल पंषुड़ी' तथा कंचन कंवल' कहा है। इस शून्य चक्र को ही 'ब्रह्मरन्ध्र' कहते हैं। यह पिण्ड का कैलास है अतः इसे 'गगन कविलासा' 'तिरलोक' ब्रह्मंड' (२ बार' 'गोढ़' (गोष्ट=गोस्थान) तथा 'सिवघरि' कहा गया है। इस ब्रह्माण्ड में सबसे ऊपर आकाश विद्यमान है इस शरीर में ब्रह्मरन्ध्र भी सबसे ऊपर स्थित है अतः इसे आकाश के पर्यायवाची शब्दों से प्रकट किया गया है; जैसे, 'गगन' (३४ बार) 'गगन मंडल'

(१२ बार) 'गगन-सिषर' (६ बार) 'गगन अस्थांन' (२ बार) 'गगनघरि' 'आकाश' (६ बार) 'अंबर' (५ बार) 'आसमांनं' (२ बार) 'अंतरप' (अंतरिक्ष)। शरीर में उच्च स्थानीय होने के कारण इसे 'डूंगरि' (पर्वत) 'परबत' 'हेम ग्रहि' कहा गया है। भारत में हिमालय उत्तरी की ओर है। अतः ब्रह्मरन्ध्र को उत्तर दिशा में कल्पित मान लिया है और इसके लिए 'उत्तर देस' (३ बार) 'उत्तर खंड' तथा 'मुलतान' शब्दों का प्रयोग हुआ है। मुलतान भी उत्तर दिशा में ही है। शून्य चक्र होने के कारण इसे 'सुनि' (१८ बार) 'सुंनि द्वार' 'सुंनि मंडल' तथा 'सून्य आकास' कहा गया है। शरीर के दस द्वारों में से यह दसवां तथा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है अतः इसे 'दसवां' 'दसवां द्वार' (१५ बार) 'द्वार' तथा 'बार' कहा है। उच्च स्थानीय होने के कारण ही इसे 'अधर' (२ बार) 'उरध' (उर्ध्व) तथा 'ढ़कणी' (ढक्कन) कहा है। तीन बार 'भ्रमर गुफा' कहा गया है।

इस सहस्रार चक्र में ही 'चन्द्र' स्थित रहता है। मूलांधारस्थ सूर्य इस चन्द्रमा से ही अलग हुआ है। सूर्य को उर्ध्वगामी बनाकर चन्द्रमा से मेल कराना ही योगी का लक्ष्य है। मूलाधारस्थ सूर्य को उत्पन्न करने के कारण इसे 'आकास की धेन' कहा है। इसके अतिरिक्त सभी प्रतीक चन्द्रमा के पर्यायवाची हैं; जैसे, 'चंद' (१७ बार) 'ससि' (३ बार) 'ससिहर' (२ बार) (शशधर-चन्द्रमा) 'पूनम चंदा' 'सोलह' (चन्द्रमा की सोलह कलाएं होती हैं।) 'सोला कला' 'सोलह करंडियां' (एक करंड़िया एक कला के समान) तथा 'पूरण कला'।

त्रिकुटी—त्रिकुटी दोनों भौंहों के बीच का भाग है। 'जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में है' के अनुसार त्रिकुटी को 'त्रिलोक' कहा है। दोनों नेत्रों की दृष्टि को दोनों भौंहों के बीच में केन्द्रित करने पर तीन चीजों का संगम होता है अतः इसे त्रिवेणी' (८ बार) कहा है। शरीर से बाहर कोई तीर्थ नहीं सब इसी के अन्दर हैं अतः त्रिकुटी को 'देव देवुरा कासी' (देव, देवालय, काशी) कहा है। शुक्र का मूल स्थान त्रिकुटी में ही है और वहीं से अमृत की धारा सारे शरीर को पुष्ट करती है।

कुण्डलिनी—हठयोग के क्षेत्र में 'कुण्डलिनी शक्ति' का महत्त्व सर्वोपरि है। मेरुदण्ड जहां सीधे आकर वायु और उपस्थ के मध्यभाग में लगता है वहाँ एक स्वयंभू लिंग है जो एक त्रिकोण चक्र में अवस्थित है। इसे अग्निचक्र कहते हैं। इसी त्रिकोण या अग्निचक्र में स्थित स्वयंभू लिंग को साढ़े तीन वलयों में लपेटकर सर्पिणी की भांति कुण्डलिनी अवस्थित है। यह कभी-कभी आठ वलयों में लपेटकर सोई हुई बतायी गई है। यह ब्रह्माण्ड में व्याप्त महाकुण्डलिनी रूपी शक्ति का ही व्यष्टि में व्यक्त रूप है। यह शक्ति ही है जो ब्रह्मद्वार का अवरोध करके सोई हुई है। इसे जगाकर शिव से समरस कराना योगी का चरम लक्ष्य है।[1] यह शरीर में एक प्रबल शक्ति है इस कारण इसे केवल 'शक्ति' (१२ बार) शब्द से ही सूचित किया है। आकार साम्य से इसे 'डीबी' (६ बार) 'डिबिया) कहा गया है। कुण्डलिनी को 'सापणि' (२ बार) और

1 नाथ सम्प्रदाय—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० २०

'नांगणि' दो कारणों से कहा गया है, एक तो यह साँप की तरह कुण्डली मारे हुए है और दूसरे जब यह ऊर्ध्वगामी होती है तो सर्प की तरह फुफकारती हुई उठती है। ऊपर उठकर ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचकर यह कुण्डलिनी शक्ति सहस्रार कमल के रस का पान ऐसे ही करती है जैसे कमल के फूल के रस का पान भौंरा करता है। अतः इसे 'भँवरा' (३ बार) तथा 'भुवंगम' (२ बार) ('भौंरा') कहा है। कुण्डलिनी शिव की इच्छा शक्ति है और उसका शिव से समागम ही योगी का चरम लक्ष्य है। इसलिए उसे 'देवी' (२ बार) कहा है। यह शरीर एक किले के समान है। ब्रह्मरन्ध्र में स्थित शिव इसके राजा हैं। यह 'राजंदरि' राजद्वार के मार्ग को रोके खड़ी हुई है। कुण्डलिनी शक्ति भी इसी प्रकार नीचे से ऊपर को बढ़ती है और सुषुम्ना में बढ़ने के कारण किसी को दिखायी भी नहीं देती अतः उसे 'मीमां' (मछली) कहा है। यहाँ ब्रह्मरन्ध्र बर्तन है और कुन्डलिनी 'झाल' (ज्वाला) है। कुण्डलिनी को जगाकर ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर करना योगाग्नि को प्रज्वलित करना है। इसी कारण दूसरे स्थान पर इसे 'अगनि' कहा है। आत्मा का निवास ब्रह्मरन्ध्र में है और कुण्डलिनी का मूलाधार में। एक उलटबाँसी के द्वारा इसी बात को गोरख ने कहा है कि गागर नीचे है और पनिहारिन ऊपर है। आतम पनिहारिन है और कुण्डलिनी 'गागरि' है। शरीर में निम्न स्थान में होने के कारण इसे 'पाताल की गंगा' कहा गया है।

शुक्र—मेरुदण्ड के मूल में सूर्य और चन्द्र के बीच योनि में स्वयंभू लिंग है जिसे पश्चिम-लिंग भी कहते हैं। यही पुरुषों के शुक्र और स्त्रियों के रजःस्खलन का मार्ग है। यही काम, विषहर और निरंजन का स्थान है। वीर्य स्खलन की दो अवस्थाएँ होती हैं। इन दोनों के परिभाषिक नाम, प्रलयकाल और विषयकाल हैं। इन दोनों अवस्थाओं में जो आनन्द होता है वह घातक है। एक का अधिष्ठाता काम है और दूसरी का विषधर। तीसरी अवस्था नाना भाव विनिर्मुक्त सहजानन्द की अवस्था है। इसमें बिन्दु ऊर्ध्वमुख होकर ऊपर उठता है, तब यह सहज समाधि प्राप्त होती है जिसमें मन और प्राण अचंचल हो जाते है। ब्रह्मचर्य और प्राणायाम के द्वारा इस बिन्दु को स्थिर और ऊर्ध्वमुख किया जा सकता है।[1]

'शुक्र' के लिए पारिभाषिक शब्द 'बिन्दु' भी प्रचलित है। गोरखनाथ ने 'ब्यंद' बिंद, बूंद, बूंदि तथा जलब्यंद (४२ बार) शब्दों का प्रयोग किया है। सांसारिक शरीर के लिए जल की बहुत अधिक आवश्कयता है। शुक्र को जल या उसके पर्यायवाची शब्दों द्वारा प्रकट करने का एक कारण यह भी है कि जिस प्रकार जल की स्वाभाविक गति निम्नगामी होती है उसी प्रकार शुक्र की स्वाभाविक गति भी अधोगामी होती है। ऊर्ध्वगामी तो उसे साधना के द्वारा बनाया जाता है। ऊर्ध्वगामी होकर शुक्र अमृतमय आनन्ददायक हो जाता है अतः इसे 'अमी रस' (२ बार), 'महारस (५ बार) 'रस' (२ बार) तथा 'रस-कुस' (३ बार) कहा गया है। शरीर के लिए बहुमूल्य और आनन्ददायक वस्तु होने के कारण ही इसे 'षीर' (२ बार), 'षीरसागर' 'दूध'

1 नाथ सम्प्रदाय—हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० ८४

'पारा' 'रेत', 'रेतस' तथा 'रतन' कहा गया है। 'सरोवर' कहने का भी भाव अमृत सरोवर ही है। 'नवसै नवासि सायर' कहने में शुक्र की अपरिमितता ही सूचित होती है। शरीर के निम्न भाग में स्थित रहने के कारण इसे 'अरध' तथा 'मूल' कहा है। 'मूल' कहने में शरीर के स्थायित्व का कारण भी निहित है।

अनाहतनाद—हठयोगियों में 'अनाहत नाद या अनहद नाद' एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। कुण्डलिनी शक्ति जब ब्रह्मरन्ध्र की ओर उठने लगती है तो प्राण स्थिर हो जाता है और योगी को एक विशेष प्रकार का शब्द सुनाई पड़ता है। हठयोग की पारिभाषिक शब्दावली में इसे 'शब्द' कहते आए हैं। गोरखनाथ ने तेईस बार इस का प्रयोग अनाहत नाद के लिए किया है। 'शब्द' की तरह ही 'नाद' भी परम्परागत प्रतीक है। इस विचारधारा के अन्तर्गत ही उन्होंने अनाहद नाद को 'सींगी' तथा 'सींगी नाद' कहा है। अनाहद नाद की ध्वनि साधक को पहले तो समुद्र गर्जन, मेघ गर्जन, भेरी, झर्झर की सी, फिर मृदंग, शंख, घंटा की सी और फिर अन्त में किंकिणी, वंशी, तथा वीणा की सी सुनाई पड़ती है। गोरखनाथ ने इन ध्वनि-साम्यों के आधार पर ही अनाहदनाद को 'तूरा' (५ बार) (बाजा विशेष), 'मेघ', 'दमांमां' (नगाड़ा) तथा 'धूं-धूंकार' कहा है।

ब्रह्मतत्त्व—साधक का चरम लक्ष्य 'ब्रह्मतत्त्व' की प्राप्ति है। केवल 'बिन्दु' की रक्षा से ही सब कुछ नहीं होता। शुक्र-रक्षा के साथ ब्रह्मानुभूति की आवश्यकता है। अतः ब्रह्मतत्त्व को 'महाबिंदु' कहा है। (शुक्र से अधिक महत्त्वपूर्ण) ब्रह्मतत्त्व की प्राप्ति ब्रह्मरन्ध्र में होती है। ब्रह्मरन्ध्र के लिए प्रतीक उत्तरदेश ही है अतः ब्रह्मतत्त्व के लिए 'उत्तर' (२ बार) शब्द का प्रयोग किया है।

ब्रह्माग्नि—ब्रह्मरन्ध्र में ब्रह्म का निवास है और वहाँ निरन्तर 'ब्रह्म-ज्योति' जलती रहती है। ब्रह्मज्योति को ही ब्रह्माग्नि कहते हैं। गोरखनाथ ने ५ बार इसे 'अगनि' शब्द से सूचित किया है। अग्नि अथवा ज्योति के प्रतीक 'तेज' तथा 'दीपक' शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं।

ब्रह्मानुभूति—प्राणवायु के निरोध के बाद कुण्डलिनी शक्ति जब ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचती है तो साधक को 'ब्रह्मानुभूति', आत्मानुभूति' या 'सहजानन्द' प्राप्त होता है। ब्रह्मानुभूति को गोरख ने 'धेन' (३ बार) 'गाय (गाइ, गाई)' (४ बार), 'गावत्री' (गाय) तथा 'कामध्येनि' (कामधेनु) कहा है। 'गाय' शब्द में भी कामधेनु की कल्पना निहित है। ब्रह्मानुभूति से साधक अमृत-पान करता है। ब्रह्मानुभूति ब्रह्मरन्ध्र से मिलने वाला फल है अतः इसे 'सुंनिफल' तथा 'फल' कहा है। सूर्य में बारह कलाएं होती हैं और चन्द्रमा में सोलह। दोनों मिलकर 'अनंत कला' बन जाती हैं। ये ही आत्मानुभूति है। एक स्थान पर ब्रह्मानुभूति को 'कला' कहा है। ब्रह्म को पुरुष कहते हैं और आनन्द को रस। इस प्रकार ब्रह्मानन्द होने से ब्रह्मानुभूति को 'मानिक' (माणिक्य) कहा है। एक उलटवांसी में गोरख कहते हैं—'सूकै तरवर कूपल मेल्हीं'[1]

1 गोरखवानी, पृष्ठ ३०

(वृक्ष के सूख जाने पर कोपलें निकलती है।) माया एक वृक्ष के समान है। माया के नष्ट हो जाने पर ही ब्रह्मानुभूति होती है अतः ब्रह्मानुभूति 'कोपलें' हुई। आत्मानुभूति को 'पीपल' कहा गया है। पीपल का वृक्ष पवित्र एवं शीतल छाया देने वाला होता है। आत्मानुभूति भी शुद्ध एवं शक्तिदायिनी होती है। ब्रह्मरन्ध्र में स्थित चन्द्रमा से अमृत झरा करता है। यह अमृतानन्द ही सहजानन्द है। इसलिए सोलह करंडियों में एक फूल की बात कही गयी है। 'एक फूल' आत्मानुभूति ही है। सहजानन्द एक बार प्राप्त होकर फिर कभी समाप्त नहीं होता अतः इसे 'अखंडितधार' कहा गया है। माया सास है। जीव माया का पुत्र है। उसने ब्रह्मानुभूति से विवाह कर लिया है। इसलिए ब्रह्मानुभूति माया की बहुड़ी (बहू) हुई।

समाधि—ब्रह्मानुभूति, सहजानुभूति या अमृतानन्द के बाद साधक समाधिस्थ हो जाता है। 'समाधि' के लिए गोरख ने ८ प्रतीकों का प्रयोग किया है समाधि के लिए 'ताली' (७ बार) शब्द इस क्षेत्र में परम्परागत है। यह पारिभाषिक शब्द है। जिस प्रकार ताली से ताला खुलता है उसी प्रकार साधक के लिए मोक्ष का द्वार खुल जाता है। 'कूँची' शब्द ताली का पर्यायवाची होने के कारण प्रयुक्त हुआ है। 'डोरी' (३ बार) प्रतीक भी पारिभाषिक है। साधक की अन्तिम साधना है। सर्वानन्द परि-पूर्ण होने के कारण इसे 'महारस' कहा गया है। समाधि के लिए 'सुंनि' (२ बार) शब्द साधक की शून्यावस्था प्रकट करता है।

ब्रह्मपद—समाधिस्थ योगी ब्रह्मपद प्राप्त करता है। तीन बार इसके लिए 'पद' शब्द का प्रयोग किया है। यह एक पारिभाषिक शब्द है। योगी के लिए प्राप्य स्थान ब्रह्म पद ही है अतः इसे 'थांन' कहा गया है। योगी का वास्तविक 'घर' भी ब्रह्मपद ही है।

मुक्ति—ब्रह्मपद प्राप्त करने के बाद साधक की मुक्ति हो जाती है। यही साधक की अन्तिम स्थिति है। बहुमूल्य होने के कारण इसे 'मोत्याहल' (मुक्ताफल तथा 'मांणिक' (मांणिक्य) कहा है।

(ख) विभिन्न आध्यात्मिक तत्त्वों के लिए एक लौकिक शब्द

इस प्रकार के शब्दों को हम अनेकार्थी या विभिन्नार्थी कह सकते हैं। जहाँ आध्यात्मिक तत्त्वों के लिए प्रयुक्त लौकिक शब्दों का प्रश्न है तो वहाँ यह संभावना और भी अधिक हो जाती है। कोई भी सांसारिक शब्द अपनी किसी विशेषता के कारण किसी आध्यात्मिक तत्त्व के लिए प्रयुक्त हो सकता है। किन्तु जब एक ही शब्द विभिन्न आध्यात्मिक तत्त्वों के लिए प्रयुक्त हुआ है तो देखना यह है कि शब्द की कौन विशेषता किस तत्त्व के लिए प्रयुक्त हुई है। आध्यात्मिक तत्त्वों के लिए प्रयुक्त लौकिक शब्दों की भागवत विशेषताओं का विवेचन पीछे के अध्ययन में हो चुका है, यहाँ केवल सूची भर प्रस्तुत की जा रही है—

लौकिक शब्द	**आध्यात्मिक शब्द**
अगनि	कुण्डलिनी, ब्रह्माग्नि, ज्ञान।

लौकिक शब्द	आध्यात्मिक शब्द
अरध	शुक्र, मूलाधार चक्र ।
अविला (आम)	माया, परब्रह्म ।
उत्तर	ब्रह्मरंध्र, ब्रह्मतत्त्व ।
षीर (दूध)	अमृत, शुक्र, लौकिक आनन्द ।
गाय	आत्मा, ब्रह्मानुभूति, शान्त प्रकृति, निर्बल माया, इन्द्रियाँ भौतिक जीवन ।
गगन	ब्रह्मरंध्र, अनाहद नाद, त्रिकुटी ।
गंगा	कुण्डलिनी, इड़ा ।
चंचल	इन्द्रियाँ, मन ।
चंदा	इड़ा, ब्रह्मरंध्रस्थ चन्द्र, अमृत, चन्द्रस्वर ।
पांणीं	शुक्र, अमृत, अमृतमय कर्म, कुण्डलिनी, भवसागर ।
जल	अमृतरस, माया ।
देवी	कुण्डलिनी, माया ।
दीपक	ब्रह्मज्योति, सविकल्प एवं निर्विकल्प समाधि ।
धरती	कुण्डलिनी, मूलाधारचक्र, सांसारिकता ।
नगर/नगरी	शरीर, शून्य चक्र, मूलाधार चक्र ।
पुरुषा	परब्रह्म, सिद्ध लोग ।
परवत	ब्रह्मरंध्र, आत्मा ।
पंच	पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच तत्त्व, पंच तन्मात्राएँ ।
पूरब/पूरब देश	सहस्रार, इड़ा–पिंगला, प्राण ।
फल	तत्त्व, ब्रह्मानुभूति ।
बगु/बगलो	मन, अहंकार ।
वछड़ा	मूलाधारस्थ सूर्य, नवरंध्र ।
बिन्द	शुक्र, कामवासना
बहू/बहूड़ी	मायिक उलझन, सहजानुभूति ।
मृघ	मन, इन्द्रियाँ ।
मूल	अधिष्ठान, मूलाधार, सत्यता ।
रांडी	माया, स्त्री ।
रोटी	जीव, ब्रह्मानुभूति ।
भुवंगम	कुण्डलिनी, श्वास ।
सबद	अनाहद नाद, गुरुवचन ।
सूर (सूर्य)	पिंगला, मूलाधारस्थ सूर्य, सूर्यस्वर, ब्रह्म ।
सूर (बहादुर)	समर्थ गुरु, साधक ।
स्यंध (सिंह)	माया, अशान्त प्रवृत्ति ।

सुंनि (शून्य)	ब्रह्मरंध्र, समाधि-अवस्था।
हंस/हंसा	प्राणवायु, सिद्ध, जीवात्मा।
मांणिक	ब्रह्मानुभूति, ज्ञान।
डाल/डाली	नामरूपोपाधि, उच्चावस्था।
कूपल	आध्यात्मिकता, माया।
दौं	ज्ञान, सांसारिक दुःख।
फूल	ब्रह्मानुभूति, वृद्ध।
मीन	लक्ष्य-तत्त्व, मत्स्येन्द्रनाथ।

(ग) एक आध्यात्मिक तत्त्व के लिए एक ही लौकिक शब्द

इस प्रकार के शब्दों को हम आध्यात्मिक शब्दावली के अन्तर्गत एकार्थी शब्द कह सकते हैं। किसी भी भाषा में एकार्थी शब्द बहुत थोड़े होते हैं क्योंकि एक ही शब्द विभिन्न संदर्भों में विभिन्न अर्थ रखता है। जिन शब्दों को एकार्थी मानकर विचार किया जा रहा है वे अन्यत्र अनेकार्थी हो सकते हैं किन्तु गोरखबानी में प्रयुक्त ये सभी लौकिक शब्द अपना एक ही आध्यात्मिक अर्थ रखते हैं। जैसे 'चीता' प्रतीक के रूप में जहाँ कहीं भी आया है उसका अर्थ केवल 'आतमतत्त्व' ही है। अरबी भाषा का 'जिंद' शब्द शरीर का वह तत्त्व है जो अमर है। शरीर के नष्ट होने पर भी वह नष्ट नहीं होता। गोरख ने अमरतत्त्व के लिए 'ज्यंद' (२ बार) शब्द का प्रयोग किया है। शरीर एक नगर है और इसके छिद्र नगर की गलियाँ हैं। इसलिए शरीर के छिद्रों के लिए 'गली' शब्द का प्रयोग किया है। एक शब्द है-'अहूठ कोटि बनासपती माला' (अहूठ=साढ़े तीन/=साढ़े तीन करोड़ बनस्पतियों का बाग)। यह शब्द शरीर के रोमों के लिए आया है। पाँच कर्मेन्द्रियों के लिए 'पंच महारिषि' शब्द का प्रयोग हुआ है। यहाँ 'बाला' शब्द स्त्रीलिंग नहीं है। हाँ, उसमें स्त्री की सी सुकुमारता और आकर्षण अवश्य विद्यमान है। 'कानों की मुद्रा' के लिए दरसण' (२ बार) शब्द परम्परागत एवं पारिभाषिक है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—"नाथ पंथियों का मुख्य संप्रदाय गोरखनाथी योगियों का है। इन्हें साधारणतः कनफटा और दर्शनी साधु कहा जाता है। कनफटा नाम का कारण यह है कि ये लोग कान फाड़कर एक प्रकार की मुद्रा धारण करते हैं। इस मुद्रा के नाम पर ही इन्हें 'दरसनी' साधु कहते है।[1] 'विशुद्ध चक्र' के लिए 'षोडि' शब्द का प्रयोग है, विशुद्धाख्य चक्र कंठ के पास होता है और यह सोलह दल वाले कमल के आकार का होता है। षोड़ि=षोड़ष =षोड़श दल कमल। 'कंबली' शब्द दैहिक और मानसिक कर्मों के लिए आया है। दूध का जमा हुआ रूप 'दही' है। दही के रूप में दूध स्थिर हो जाता है अतः यही 'स्थिरता' का प्रतीक बन गया। एक स्थान पर गोरख कहते हैं—पिता बिनां मूवा छोरू लो'[2] (=बिना पिता के छोरा मर गया)। यहाँ छोरू शब्द षड्रिपु के लिए

1 नाथ सम्प्रदाय—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १०
2 गोरखवानी, पृ० ११३/७

आया है। षड्रिपु का पिता अहंकार है। अहंकार के नष्ट हो जाने पर षड्रिपु भी नष्ट हो जाते हैं। तीन गुणों के लिए उसका संक्षिप्त प्रतीक 'तीनि' प्रयुक्त हुआ है। 'शब्दाडम्बर' के लिए 'छाछि' शब्द आया है। अन्यत्र निस्सार वस्तु के लिए 'मही' आया है। दूध में से मक्खन निकालकर जो बचता है उसे मही (छाछ, मट्ठा) कहते हैं और मक्खन की तुलना में वह होता भी निस्सार है। 'बाफ' (वाष्प) शब्द मद, लोभ, मोह आदि भावनाओं के लिए प्रयुक्त हुआ है। योगी के समाधिस्थ होने पर उक्त भावनाएँ ऐसे ही उड़ जाती हैं जैसे भाप। षट्चक्रों के लिए 'चोर पचास' आया है। सभी चक्रों के कमलों के दल मिलकर पचास होते हैं। षट्चक्रों का वेधन किये बिना साधना पूरी नहीं होती अतः इन्हें चोर कहा है। 'बत्तीस षांषुड़ी'(=बत्तीस पंखुड़ियाँ) शब्द 'लक्षणों' के लिए आया है। लक्षणों की संख्या ३२ होती है। अविवेक के लिए 'पडरवा' (=पड़रा=भैंस का बच्चा) शब्द अज्ञान, अविवेक आदि के साम्य से प्रयुक्त है। एक उलटबाँसी में गोरख के अनुसार 'लाकड़ डूबै सिल तिरै'[1] (=लक्कड़ डूब जाता है और पत्थर तैरता है)। इस भवसागर में जो माया में फँसे हुए हैं अथवा अपने विचारों में हलके हो गए हैं वे लक्कड़ के समान हैं और भवसागर में डूबे रहते हैं किन्तु माया से अलग, अपने विचारों में भारी लोग पत्थर के समान हैं और वे इस भवसागर में तैरते रहते हैं, तर जाते हैं। स्थूल अस्तित्व को 'पहोकर' (=पुष्कर=तालाब) कहा है। आध्यात्मिक परिस्थिति के लिए 'चोमासौ' कहा है। जिस प्रकार से चौमासे (बरसात) में चातक प्रसन्न होता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक परिस्थिति पाकर आत्मा प्रसन्न हो जाती है। आत्म बुद्धि के लिए 'षेत' (खेत) शब्द का प्रयोग हुआ है। एक प्रकार की सिद्धि विशेष के लिए 'गोटिका बंध' शब्द का प्रयोग हुआ है। ऐसा कहा जाता है कि सिद्ध योगी अभिमंत्रित गोली (गुटिका) मुँह में रखकर अदृश्य हो जाता है। अतः इस सिद्धि को 'गोटिका बंध' कहा गया है। 'मृतक पसू' का प्रयोग आत्मानुभूति रहित व्यक्ति के लिए हुआ है। अगर किसी में आत्मानुभूति नहीं है तो उस मरे हुए पशु को यमराज रूपी शूद्र खींचकर ले जाता है—जीवित को नहीं। योग-मार्ग के लिए 'धरम का पेंडा' शब्द प्रयुक्त हुआ है। यहाँ पेंडा का अर्थ मार्ग है। गोरख के अनुसार धर्म का मार्ग तो योग-मार्ग ही है। 'कागद' शब्द में महत्त्वहीनता लक्षित होती है। संख्या और दरवाजों के आधार पर शरीर के तेरह द्वारों को 'पौलि तेरह' (तेरह फाटक) कहा है। नवरंध्र तथा दसवाँ ब्रह्मरंध्र—ये तो दस द्वार प्रकट हैं; तीन गुप्त द्वारों का वर्णन गोपनीय होने के कारण योगियों ने नहीं किया है। 'चींटी केरा नेत्र' सूक्ष्म आध्यात्मिक स्वरूप के लिए आया है। चींटी स्वयं ही छोटी होती है उसका नेत्र तो और भी छोटा हुआ अतः आकार साम्य से वह सूक्ष्म आध्यात्मिक स्वरूप के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'गुरमुष' (गुरुमुख) शब्द नाथ-सम्प्रदाय में दीक्षित योगी के लिए चलता था। गोरख

1 गोरखबानी, पृ० ११२, पंक्ति ३

ने यहाँ भिक्षा के अर्थ में प्रयुक्त किया है। 'सप्त गाँठि' सात चक्रों के लिए आया है। शरीर की नाड़ियों में सात चक्र ही सात गाँठें हैं। यह शरीर एक दीपक के समान है जो तेल रूपी वायु से जल रहा है। अतः वायु के लिए 'तेल' शब्द का प्रयोग हुआ है। स्थूल भौतिक रूप के लिए 'गजेन्द्र' प्रयुक्त हुआ है। पीछे सूक्ष्म आध्यात्मिक स्वरूप के लिए चींटी के नेत्र की बात कह गए हैं। चींटी के नेत्र की तुलना में घोर स्थूल तो होता ही है अतः वह स्थूलता का प्रतीक हुआ। हिंसक होने के कारण भौतिकता का प्रतीक हुआ। चौरासी लाख योनियों को उनके संख्यासूचक विशेषण "चौरासी" से सूचित किया गया है। अर्थ प्रसंग के अनुसार लगता है।

३.४ पारिभाषिक शब्दावली

आध्यात्मिक रूपकों के पश्चात् पारिभाषिक शब्दावली आती है, जो गोरख-बानी के अर्थ को समझने में बाधक है। विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में कुछ ऐसे पारिभाषिक शब्द चला करते हैं जिनके शाब्दिक अर्थ से काम नहीं चलता; उनकी व्याख्या अपेक्षित होती है। गोरखबानी में भी ऐसे पारिभाषिक शब्द पर्याप्त हैं। कुछ शब्दों की व्याख्या आध्यात्मिक रूपकों के प्रसंग में हो चुकी है, शेष शब्द उनकी व्याख्या के साथ यहाँ प्रस्तुत हैं—

अंडज रोमा० २०३/४ =जीव चार प्रकार के होते हैं—अंडज, स्वेदज, जरायुज और उद्भिज। गोरख ने इनके लिए क्रमशः अंडज, स्वेत-रज, जेरज और उदभीरज कहा है। ब्रह्माण्ड की कल्पना पिण्ड में करके नाथपंथ में हड्डियों को स्वेदज, वीर्य को जरायुज, नेत्रों को अंडज तथा रोमावली को उद्-भिज कहा गया है। इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति का संकेत इस पिण्ड में ही कर दिया है। इन्हीं को 'चारि षांणी' कहा है।

अगोचरी सि० १२८/७ =जब बुद्धि इन्द्रियातीत हो जाती है तो उसे अगोचरी बुद्धि कहते हैं।

अजपा स० १८/१ =बिना जप किये हुए ही होने वाला जप। सहजावस्था में मन को लीन करके बिना मंत्र के उच्चारण के सहज रूप में सोहं सोहं का जाप करना ही अजपा जाप है।

अतीथ रोमा० २०३/८ =दे० चारि षांणी।

अधारी स० ४८/२ =काठ के डंडे में लगे हुए पीढ़े को अधारी कहते हैं, जिसे योगी लोग सहारे के लिए अपने पास रखते हैं।[1]

---

1 "अधारी (४२२१-४२११) एक प्रकार की लकड़ी थी जो जिस पर योगी टेकते या रखते थे—'ऊधौ जोग सिखावन आए। सिंगी भस्म अधारी मुद्रा दै ब्रजनाथ पठाए॥'"—सूर-सागर शब्दावली (एक सांस्कृतिक अध्ययन)—डा० निर्मला सक्सेना

अरहंत प० १३३/४=जैनियों के आदि देव।

भाकामी प० ११०/६=चार प्रकार के योगी कहे गए हैं—नादी, बिंदी, सींगी और आकाशी। जो अनाहद नाद के अनुसंधान को प्रधानता देते हैं वे नादी; जो बिन्दु (शुक्र) की रक्षा को प्रधानता देते हैं वे बिन्दी, जो अनाहद नाद के प्रतीक स्वरूप शृंगीनाद बजाते हैं वे सिंगी और जो आकाश अर्थात् त्रिकुटी को लक्ष्य किये रहते हैं वे आकाशी कहे जाते हैं।

उदबीरज रोमा० २०५/४=दे० अंडज।

उनमन स० १६/१=योगी की मौनावस्था। प्रपंच में पड़े हुए बहिर्मुखी मन को निर्विषय कर देना और ब्रह्मरंध्र में ध्यानस्थ होना योगी की उनमनी मुद्रा है। इस अवस्था का चित्रण कबीर ने बहुत किया है।[1]

ऊरम स० ८६/२ =दे० चारि आपकला।

एक अषिरी प० १०१/५=लोग वाचनिक मंत्रों का जाप किया करते हैं। जितने अक्षरों का जाप होगा उतने ही अक्षरों का मंत्र कहलाएगा जैसे एकाक्षर मंत्र।[2] गोरखनाथ ने एकअषिरी, द्वैअषिरी, त्रिअषिरी, चौअषिरी इस प्रकार चार मंत्रों की चर्चा की है किन्तु गोरखनाथ के मंत्र बाह्य वाणी से सम्बद्ध नहीं हैं अतः वे एकाक्षरी आदि से दूसरा ही अर्थ लेते हैं। शून्य और स्थूल दोनों वाणियों से एकाकार अद्वय परब्रह्म का जाप ही एकाक्षरी-मंत्र जप है। निराकार का जप करते हुए इहलोक और परलोक, निर्गुण और सगुण, सूक्ष्म और स्थूल दोनों पक्षों का उद्धार करना ही द्विअक्षरी-मंत्र जप है। त्रिकुटी में ब्रह्म का कुण्ड है और आत्मा का निज स्थान है। अजपा-जाप करते हुए ज्ञान को प्राप्त करना ही अछरी-मंत्र-जप है। चतुर्वेद (ब्रह्म) में चार खानि तथा चार वाणी हैं। इनके बीच अजपा जाप करना ही चतुरक्षरी-मंत्र-जप है।[3]

कहणि स० ११६/१=कहणि और रहणि योगी की दो स्थितियाँ हैं। सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का केवल बखान करना 'कहणि' तथा

---

1 'हंसे न बोलै उनमनी, चंचल मेल्ह्या मारि''—कबीर ग्रन्थावली—डा० पारसनाथ तिवारी (सा० १/६/१)

2 विस्तार के लिए दे०-नाथ सम्प्रदाय—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० १५७।

3 — गोरखबानी डा० बड़थ्वाल, पृ० १०१, १०२

सिद्धान्तों का पालन करना 'रहणि' होता है।

कापड़ी संन्यासी स. ६६/२=गंगोत्तरी से गंगा जल लाने वाले और तीर्थों में विश्वास करने वाले संन्यासियों को कापड़ी संन्यासी कहते हैं।

काया पलटिबा स० ३३/८=नाग (सीसे का भस्म), वंग (जस्ते का भस्म) और वनस्पति के प्रयोग से कायाकल्प करना ही काया का पलटना है। यह क्रिया नाथ-पंथियों में चलती थी।

पढ़ासण म० ४८/२=लकड़ी का बना हुआ एक प्रकार का आसन है जिसके सहारे योगी खड़े रहकर भी बैठने का सा आनन्द लेता है।

षेचरी रोमा० २०३/१४=योग में चार प्रकार की मुद्राएँ होती हैं— खेचरी, भूचरी गुप्त, प्रगट। नाथ-पंथियों में मन का निरोधना खेचरी मुद्रा, प्राण-वायु का निरोधन भूचरी मुद्रा, ज्ञान-प्राप्ति गुप्त मुद्रा तथा शरीर साधन प्रगट मुद्रा कहलाती हैं।

गुटिका नवो० १७०/२=एक गोली विशेष, जिसे मुंह में रखकर योगी अदृश्य हो जाता है।

गुपत रोमा० २०३/१४=दे० षेचरी।

गूढ़ारथ रोमा० २०४/३=ब्रह्मविचार को नाथ-पंथियों में गूढ़ार्थ कहा है।

चारि आपकला रोमा० २०४/१६=शरीर के अन्दर चार आपकलाएँ होती हैं— ऊरम, धूरम, जोति और ज्वाला। ये योग की मुद्राएँ होती हैं। मन का निरोध ऊरम, प्राणवायु का निरोध धूरम, नेत्रों का निरोध ज्योति तथा श्रवणों का निरोध ज्वाला कहा गया है।

चारि पांणी रोमा० २०५/३=दे० अंडज।

चारि बांणी रोमा० २०५/७='खाणी वाणी' एक ग्रन्थ का नाम है। गोरख ने चार खानों तथा चार वाणियों का शरीर के अन्दर ही उल्लेख किया है। चार वाणियाँ हैं—सहज, संजम, सुपाई और अतीत। शरीर को सहज, पवन को संजम, महामुद्रा को सुपाइ तथा परमपद को अतीत कहा गया है।

चारि तकबीर रोमा० २०४/६=शरीर के अन्दर चार प्रकार की योग-युक्तियाँ होती हैं—'दृष्टि', 'सुरति', 'नासिका' और 'जिभ्या' के विषयों को वश में करना ही तकबीर (तदबीर) है।

चारि दिशा रोमा० २०४/१३=जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में भी है, इस सिद्धान्त के अनुसार चार दिशाएँ भी इस शरीर के अन्दर ही हैं। उत्तर=सबद, पछिम=पवन, दषिण=दृष्टि और पूरब=सुरति।

चारि पीर रोमा० २०४/६ =इस पिण्ड में ही चार पीर समाहित हैं। वे हैं—मन के रूप में मत्स्येन्द्रनाथ, पवन के रूप में ईश्वर, चेतना के रूप में चौरंगीनाथ तथा ज्ञान के रूप में गोरखनाथ।

चारि महाधर प०१३३/१=चार महाधुरंधरों से तात्पर्य संभवतः सनक, सनन्दन सनातन और सनत्कुमार से है। छांदोग्य में सनत्कुमार ने नारद को निवृत्ति मूलक अद्वैत की शिक्षा दी है। अन्य तीन भी उन्हीं के समान समझे जा सकते हैं।[1]

चाचरी निधि सि० १५६/७=योग की एक मुद्रा।

चौअपिरी प० १०२/५=दे० एक अपिरी।

जंत्र नवो० १७०/६=जनता को चमत्कृत करने के लिए योगी लोग तंत्र, मंत्र वैद्यक, गुटिका, धात, थंभन, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन आदि क्रियाओं को काम में लाते थे। तंत्र=तांत्रिक विद्या मंत्र=मंत्रविद्या,जंत्र=यांत्रिक विद्या, वैद्यक=दवाओं का चमत्कार, गुटिका=मुँह में रखकर अदृश्य करने वाली गोली, धात=भस्म का रमाना, थंभन=स्तम्भन, औचाट =उच्चाटन।

जपमाली प० ६५/५=योगियों के अनुसार मनुष्य प्रतिदिन २१६०० बार सांस लेता है। पवन पुरुष अर्थात् बाहर-भीतर जाती हुई सांस ही जप की माला है, जिसे 'सोहं हंसा' भी कहा गया है दे० अजपा जाप।

जरणा स० १४/१=योगी दो प्रकार के हो सकते हैं—जरणा योगी और झरना योगी। जो शुक्र को अथवा ब्रह्मानुभूति को पचानेवाला होता है उसे जरणा योगी और जोशुक्र को अथवा ब्रह्मानुभूति को स्थिर नहीं रख सकता उसे झरणा योगी कहेंगे।

जेरज रोमा० २०५/४=दे० अंडज।

जोति रोमा० २०४/१७=दे० चारि आपकला।

ज्वाला रोमा० २०४/१७=दे० चारि आपकला।

झरणा जोगी स० १५२/४=दे० जरणा।

डंडी सं० ७६/१ =चिह्न के रूप में दंड को धारण करने वाले योगी। गोरख पंथ में जो अहंकार को दंडित करे वही 'दंडी' साधु कहा जाना चाहिए। एक दंडी, द्विदंडी और त्रिदंडी संन्यासी होते हैं किन्तु गोरख उन्हें ब्रह्मपरक नहीं मानते।

तंत नवो० १७०/१=दे० जंत्र।

त्रिअपिरी प० १०२/३=दे० एक अपिरी।

---

1 गोरखबानी—डा० बड़थ्वाल, पृ० १३३

त्रियडंडी प० १३२/६=दे० डंडी ।
दूधाधारी स० ४६/२=दूध पर ही शरीर को आश्रित रखने वाले संन्यासी ।
दुडंडी प० १३२/६=दे० डंडी ।
द्वै अषिरी प० १०२/१=दे० एक अपिरी ।
धात नवो० १७०/२=दे० जंत्र ।
ध्रम रोमा० २०४/१७=दे० चारि आपकला ।
नवषंड प्राण० १६४/५=भूमि के नौ विभाग जैसे—भारत, इलावृत, त्रिपुरुष, भद्र, केतुमाल, हरि, हिरण्य, रमयवकश । नाथ-पंथियों में शरीर के नवद्वार ही नवखण्ड हैं ।
नादी प० ११०/६=दे० आकासी ।
निरति स० ११०/१=मन को बाह्य वृत्तियों से हटाकर अन्तर्मुखी बनाना ही सुरति और निरति योग-साधना होती है ।
निराकार रोमा० २०५/११=गोरख ने चार वाणियों तथा चार खानों (दे० चारि बांणी तथा चारि पांणि) का विचार करने वाले को निराकार कहा है ।
निसपती-जोगी स० १३६/१=नाना कठोर साधनाओं के द्वारा जब योगी शुद्ध हो जाता है तो वह निष्पत्ति प्राप्त योगी कहा जाता है ।
नौ नाथ प० १३३/७='महार्णव तंत्र' में नव नाथों के नाम हैं—गोरखनाथ, जालंधरनाथ, नागार्जुन, सहस्रार्जुन, दत्तात्रेय, देवदत्त, जड़भरत, आदिनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ । नव नाथों के नाम विभिन्न प्रकार बताये गये हैं ।[1]
परचय जोगी स० १३८/१=उन्मन समाधि में लीन रहने वाला योगी परिचय जोगी कहलाता है ।
परमारथ रोमा० २०४/३=प्राण-भेद करना नाथ-पंथियों में परमार्थ कहलाता है ।
पीर स० १४/१=योग-मार्ग में जैसे गुरुओं को माना जाता है, मुसलमानों में वैसे ही पीरों को माना जाता है । गोरख ने 'पीर' शब्द को ही स्वीकार कर लिया है । उनके गुरु महंत भी कहलाते हैं । किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि वस्तुतः कोई तात्विक मुसलमानी प्रभाव उन पर पड़ा हो ।[2] (दे० चारि पीर)
प्रगट रोमा० २०३/१४=दे० षेचरी ।
बजर आत्म० १७६/६=शुक्र का शोषण करके उर्ध्वगामी बनाना बज्रोली मुद्रा कही जाती है ।

---

1 देखिए—नाथ संप्रदाय—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० २७-२८
2 गोरखबानी—बड़थ्वाल, पृ० ६

बारह् कला रोमा० २०५/१६=सूर्य की बारह् कला कही जाती हैं। नाथ-पंथियों में ये बारह् कलाएँ शरीर के अन्दर ही हैं, जैसे चिंता, तरंग, ड्यंभ, माया, परगृहणं, परपंच, हेतु, बुधि, काम, क्रोध, लोभ, दृष्टि ।

बारह् चेला प० १३३/१=बारह् चेलों से गोरख का तात्पर्य संभवतः नारद, जनक, याज्ञवल्क्य, लोमश, मार्कंडेय, व्यास, वसिष्ठ, शुक्र, जड़-भरत, दत्त, गौड़पाद और शंकर से हो सकता है।[1]

भ्यंदी प० ११०/६=दे० आकासी ।

भूचरी-सिधि सि० १५६/७=दे० षेचरी ।

मंत नवो० १७०/२=दे० जंत्र ।

येक डंडी प० १३२/६=दे० डंडी ।

संजम रोमा० २०५/८=दे० चारि बांणी ।

ससंवेद प० १२७/३=वेद के स्थान पर गोरख ने स्वसंवेद को पढ़ने अर्थात् अपरोक्षानुभूति को प्राप्त करने का उपदेश दिया है।[2]

सहज रोमा० २०५/८=दे० चारिबाणी ।

सप्त दीप प्राण० १६४/५=पुराणानुसार पृथ्वी के सात विभाग थे-जंबू, कुश, प्लक्ष, शाल्मलि, क्रौंच, शाक और पुष्कर द्वीप ।

सरीरारथ रोमा० २०४/३=शरीर-भेद करना ही नाथ-पंथियों में शरीरार्थ कहा जाता है ।

सींगी प० ११०/६=दे० आकासी ।

सुपाइ रोमा० २०५/८=दे० चारि बांणी ।

सुरति स० ११०/१=दे० निरति ।

सोलह् कला रोमा० २०६/१=चन्द्रमा की सोलह् कलाएँ मानी जाती हैं। शरीर के अन्दर ये सोलह् कलाएँ हैं—साँति, नृवर्त, क्षिमां, निर्मल निहचल, ग्यांन, सरूप, पद, नृबाँण, नृविष, निरंजन आहार, निन्द्रा, मैथुन, बाई, अमृत ।

सोहं हंसा स० ४६/२=दे० अजपा जाप तथा जपमाली ।

स्वेतरज रोमा० २०५/४=दे० अंडरज ।

1 गोरखबानी—डा० बड़थ्वाल, पृ० १३३

2 'स्वसंवेदन' ज्ञान ही सूक्ष्मवेद है—शब्द रूप में भी और अर्थ रूप में भी। परन्तु नाथयोगी प्रणव या ओंकार को ही सूक्ष्मवेद मानते हैं। (नाथ संप्रदाय—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० १५५)

योग

समाध्यर्थक युज् धातु से करण में घञ् प्रत्यय कर योगशब्द निष्पन्न होता है--युज्यते अनेन इति योग:; कुछ आचार्यों ने अधिकरण में घञ् प्रत्यय कर युज्यते अस्मिन् इस अर्थ में योग शब्द का प्रयोग किया है। इसीलिये योग और समाधि को अपर पर्याय माना गया है।

याज्ञवल्क्य के अनुसार जीवात्मा ओर परमात्मा का संयोग ही योग है। "संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनो:"। महाभारत के अनुसार--परब्रह्म के साथ एकत्व ही योग है। इस विश्लेषण के अनुसार परमात्मा और आत्मा का ऐक्यस्वरूप योग साध्य है, इसको समाधि कहा जा सकता है, जो योग का साध्य है। ज्योंकि जैसे--जल और लवण का संयोग से ऐक्य होता है, उसी प्रकार आत्मा और मन के ऐक्य को समाधि कहा जाता है।

जलसैन्धवयो: साम्यं यथा भवति योगत:।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरिह भण्यते ॥

योग और समाधि व्युत्पत्ति के भेद से साधन और साध्य उभय रूप में व्यवहृत होता है। योगभाष्य में व्यास ने 'घृत ही आयु है' इत्यादि व्यवहार के समान उपकार्य और उपकारक रूप में अङ्ग और अङ्गी में अभेद की विवक्षा होने से योग और समाधि को अपर पर्याय माना है। जिससे चित्त को एकाग्र किया जाता है, इस रूप में करण साधन समाधि शब्द को मान कर योगाङ्ग अर्थ को समाधि शब्द कहता है "समाधीयते = एकाग्रीक्रियते चित्तमनेन" इति समाधि:"। जिस अवस्था विशेष में प्राण आदि वृत्तियों का अवरोध होता है, उसको समाधि कहा जाता है। इस अधिकरण साधन योग में सम्प्रज्ञात जौर असम्प्रज्ञात दोनों का ग्रहण हो जाता है।

योग दर्शन में अपरिणामी कूटस्थ नित्य चिति शक्ति है, पुरुष शब्द से निर्दिष्ट यह ज्ञान का धर्म नहीं है। बुद्धि = चित्त की परिणामात्मक ज्ञान रूप राजस-तामस वृत्तियों का निरोध ही योग है। विक्षिप्त चित्त के द्वारा ऐसा नहीं किया जा सकता है, अत: राजस तामस वृत्ति को छोड़कर केवल सात्त्विक वृत्ति का अभ्यास करना चाहिए, सात्त्विक वृत्ति के दृढ होने पर एकाग्रता का अभ्यास करना चाहिए, इस अवस्था में योग्यता की सम्प्राप्ति होती है, उसकी दृढ़ता

की अवस्था होने पर निरोध का अभ्यास सम्भव होता है और निरोध स्थिर होने पर असम्प्रज्ञात योग तक होता है। दूसरे रूप में यह अष्टाङ्ग योग है। समाधि मधुमती, मधुप्रतीका, विशोका और संस्कारशेषा के भेद से चित्त की चारभूमियों वाली हैं। चित्त प्रख्या, प्रवृत्ति, और स्थिति-शील के कारण त्रिगुणात्मक है। प्रख्या तत्त्व-ज्ञान है। तत्त्वज्ञान से उपलक्षित प्रसन्नता, लघुता प्रकाशकत्व आदि सात्त्विक गुण होते हैं। प्रवृत्तिशील होने से शोक, दुःख आदि राजस गुण होते हैं। प्रवृत्ति-विरोधिनी स्थिति-शील तमोगुण होने से गुरुता, आवरण दैन्य, निद्रादि तामस होते है। चित्त त्रिगुणात्मक है, गुणों की विचित्रता के कारण विचित्र परिणाम सम्पन्न होता हुआ पाँच अवस्था वाला होता है। क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध ये पाँच अवस्थाएँ है। रजोगुण के कारण विषयों में क्षिप्यमाण= अस्थिर क्षिप्त अवस्था है। क्षिप्त चित्त दैन्य, दानव, मद-भ्रान्त विषयी पुरुषों का रहता है। तमोगुण के आधिक्य होने ने निद्रा आदि वृत्तियों से मूढ़ चित्त, राक्षस, पिशाच एवं मादक द्रव्यों के सेवन से उन्मत्त विवेक शून्य व्यक्तियों का रहता है। क्षिप्त से विशिष्ट अस्थिरता बहुल अर्थात् कभी स्थिरता कभी अस्थिरता यह अवस्था स्वाभाविक या व्याधि आलस्य भय आदि से उत्पन्न होती है। ऐसा चित्त ब्रह्मज्ञान इच्छा रखनेवाले एवं विवेकी पुरुषों का चित्त होता है। एकाग्रता=एकतानता है। सभी वृत्तियों के निरुद्ध होने पर संस्कार मात्र शेष चित्त निरुद्ध होता है। क्षिप्त और मूढ़ अवस्था में योग की सम्भावना नहीं है। विक्षिप्त हृदय में कभी समाधि हो भी सकती है, परमार्थ विषयक चित्त की स्थिरता योगपक्ष में नहीं हो सकती है, अतः समाधिविशेष के कारण गौण रहती है। यह क्लेशादि की निवृत्ति में सक्षम नहीं है। कुछ क्षणों के लिए जो तप्त बीज हैं, उनमें अंकुर के उत्पादन की क्षमता रहती है। एकाग्र चित्त में सम्यक् प्रतिष्ठित परमार्थभूत अर्थ का प्रकाशन अर्थात् साक्षात्कार होता है, वह पंचविध क्लेशों की उत्पत्ति कराकर कर्मरूप बन्धन शिथिल करता हुआ अदृष्ट पापपुण्य के उत्पादन में अक्षम होता है एवं निरोध की ओर अभिमुख रखता है यही सम्प्रज्ञात योग है। चित्त की सत्त्ववृत्ति के द्वारा सम्वेदन योग्य विषयों का सम्यक् साक्षात्कार जिस अवस्थाविशेष में होता है—वह सम्प्रज्ञात ही अर्थात् अच्छी तरह संयम विपरीत अनिश्चित रहित होने से प्रकृष्ट रूप से

भाव्य स्वरूप का ज्ञान, जिस भावना विशेष से, जिस अवस्था में होता है, वह सम्प्रज्ञात है। भावना से तात्पर्य अन्य विषयों को छोड़कर पुनः-पुनः चित्तवृत्ति-सन्निवेश है।

सम्प्रज्ञात चार प्रकार का है—

(१) वितर्कानुगत।
(२) विचारानुगत।
(३) आनन्दानुगत।
(४) अस्मितानुगत।

(१) पाञ्चभौतिक चतुर्भुजादि ध्येय मूर्ति में चित्त की उस साक्षात्कार विषयक प्रज्ञा वितर्क है, स्थूल विषयक होने से यह स्थूल है।

(२) चित्त के आलम्बन सूक्ष्म शरीर में स्थूल कारणीभूत सूक्ष्म तन्मात्र लिङ्ग अलिङ्ग विषयक साक्षात्कार विचार है।

(३) इन्द्रिय के स्थूल आलम्बन में चित्त का साक्षात्कार आह्लादात्मक है, प्रकाशशील होने से एवं सत्त्व प्रधान रहने से अहङ्कार ने इन्द्रियों की सत्त्व प्रधान उत्पत्ति है, अतः वे सुखात्मक है।

(४) ग्रहीतृ–विषयक-सम्प्रज्ञातस्वरूप एकात्मक ज्ञान अस्मिता है।

योग का फल और साधन

सभी वृत्तियों का निरोध होने पर पुरुष की उपाधि रहित अपने चैतन्य में अवस्थिति होती है। यह सत्य है कि चिति शक्ति व्युत्थान अवस्था में अपने कूटस्थ स्वरूप को नहीं छोड़ती है, किन्तु असम्प्रज्ञात रूप होने से प्रकाशित नहीं होती है। पुरुष चेतन स्वरूप असङ्ग है, यह प्रकाश स्वरूप एवं ज्ञानमय है, प्रकाश और ज्ञान उस निर्गुण का धर्म नहीं है। सभी धर्मों से रहित होने पर बुद्धि वृत्ति में प्रतिफलित होने के कारण भ्रमवश बुद्धि के धर्मों का पुरुष पर आरोप होता है। वस्तुतः पुरुष, बुद्धि से भिन्न है, क्योंकि बुद्धि परिणामी है और बुद्धि का विषय ज्ञात और अज्ञात हो सकता है। जिस वस्तु के आकार में बुद्धि का परिणाम है, वह ज्ञात होता है और अन्य अज्ञात रहता है। पुरुष का परिणाम न होने पर भी प्रतिबिम्ब-पात के कारण बुद्धि की वृत्तियों को जान पाते हैं। बुद्धि दूसरे के लिए है। क्लेश, कर्म, वासना, विषय, इन्द्रिय आदि के साथ मिलकर पुरुष का उद्देश्य

सिद्ध करती है, क्योंकि संहत्यकारी अर्थात् अन्य से मिलकर जो कार्य करता है, वह दूसरे के प्रयोजन का साधक होता है। संहत्यकारी न होने से असङ्ग पुरुष स्वार्थ में प्रवृत्त होता है। शान्त, घोर और मूढ के रूप में सभी वस्तुओं के आकार में बुद्धि परिणत होती है एवं ज्ञान उत्पन्न होता है। त्रिगुणात्मक बुद्धि अचेतन और ज्ञेय है, पुरुष ज्ञाता और चेतन है। पुरुष स्वतन्त्र है, बुद्धि पुरुष के अधीन है, पुरुष द्रष्टा, बुद्धि दृश्य है। अचेतन बुद्धि पुरुष के सम्बन्ध से चेतन के समान प्रतीयमान होती है। व्यास एवं पतञ्जलि तथा वाचस्पति मिश्र ये तीनों ही पुरुष की बुद्धि में प्रतिबिम्ब के पक्षपाती हैं। पुरुष में बुद्धि का प्रतिबिम्ब नहीं मानते हैं।[1]

पञ्चशिखाचार्य भी बुद्धि में ही प्रतिबिम्ब की कल्पना करते हैं। पुरुष चेतन, अपरिणामी, प्रतिसम्भरण शून्य है, बुद्धि विषयाकार में परिणत होती है। पुरुष विषयाकार में परिणत नहीं होता है। विषयाकार परिणत बुद्धिवृत्ति में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है और भ्रमवश बुद्धि के धर्मों को पुरुष अपना धर्म समझा करता है। योग-भाष्यकार ने इस मत को उद्धृत किया है।[2]

व्यासदेव ने भी कहा है, जय या पराजय सैनिकों के द्वारा सम्पन्न किये जाते है, किन्तु राजा में उसका आरोप होता है और राजा की जय या पराजय कही जाती है, क्योंकि वही उस फल का भोक्ता है, इसी प्रकार पुरुष का सुख आदि का साक्षात्कार रूप भोग एवं दुःख-त्रय की आत्यन्तिक निवृत्ति रूप अपवर्ग बुद्धिकृत होने से बुद्धि में ही वर्तमान रहता है, पुरुष में वे आरोपित है। पुरुष उस फल का भोक्ता नहीं है। पुरुष बुद्धिवृत्ति को साक्षात् ग्रहण नहीं करता है, अपि तु प्रतिबिम्ब रूप में ग्रहण करता है। पुरुष का यह भोग वास्तविक नहीं है, आपाततः प्रतीयमान है।

व्योमवती में एक कारिका उद्धृत करते हुए लिखा गया है कि विषय सम्बद्ध इन्द्रिय की विषयाकार में परिणति होती है, क्रमशः

---

१. पा० योगभाष्य २।२०

२. अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिप्रथिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रति-संक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति। तस्याश्च प्राप्तः चैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनु-मात्रतया बुद्धिवृत्त्यवशिष्टो हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते। —पञ्चशिख० योग-भा० २।२८।२, यो० भा० २।१८

बुद्धि उस विषयाकार में परिणत इन्द्रिय के रूप को प्राप्त करती है। इसी स्थिति में सत्त्वगुण का प्राधान्य रहता है, सत्त्वगुण की प्रबलता से बुद्धि स्वच्छ रहती है, और इस अवस्था में बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है। निर्मल जल में ही चन्द्र का प्रतिबिम्ब पड़ता है। निर्मल जल में ही चन्द्र का प्रतिबिम्ब पड़ता है, कलुषित में नहीं। इस प्रकार सत्त्वप्रधान बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तमः प्रधान में नहीं पड़ता है।[1] पुरुष में स्वाभाविक भोग मानने पर पूर्व स्वरूप की निवृत्ति और अन्य स्वरूप प्रतिरूप परिणामित्व का प्रसङ्ग नहीं है।

बौद्ध दर्शन में चित्त अर्थात् बुद्धि से पृथक् पुरुष का अस्तित्व नहीं माना जाता है। योगदर्शन में इस मत की आलोचना करते हुए लिखा गया है कि विभिन्न वासनाओं के द्वारा चित्रीकृत चित्र दूसरे के भोग और अपवर्ग के लिए ही है, अपने लिए नहीं है। चित् का कार्य अनेक अङ्गों से साध्य होने से संहत रूप है। संहत्यकारी संहत स्वरूप दूसरे के उपकार की सिद्धि के लिए होता है, जैसे अनेक उपादानों से रचित गृह दूसरे के भोग के लिए ही वर्तमान है। भोग्यचित् चित् के भोग के लिए नहीं है, इसी प्रकार अपवर्ग चित् भी चित् के अपवर्ग के लिए नहीं है, वह दूसरे के लिए ही है। चित् जिसके उद्‌देश्य का साधन करता है, वह असंहत पुरुष है। पुरुष ही चित् के द्वारा उपस्थित सुख-दुःख का भोग करता है। ज्ञान पुरुष के लिए ही अभिप्रेत है। ज्ञान ही पुरुष की मुक्ति का साधन करता है। इस प्रकार चित् पुरुष का ही भोग और अपवर्ग का साधन करता है। बौद्ध-गण द्रष्टा, ज्ञाता और भोक्ता का पृथक् अस्तित्व भले ही न माने किन्तु ज्ञेय से ज्ञाता का, दृश्य से द्रष्टा का, भोग्य से भोक्ता का पृथक् अस्तित्व उन्हें मानना ही पड़ेगा।[2]

अचेतन प्रकृति की प्रवृत्ति मानी गई है। पुरुष निष्क्रिय होते हुए भी चेतन है। अदृष्ट के अधीन पुरुषों के सान्निध्यवश प्रकृति की साम्यावस्था समाप्त होती है। अयस्कान्तमणि जिस प्रकार सान्निध्य वश ही लोहे के काँटे को निकाल लेता है, किन्तु स्वयं स्थिर रहता है, पुरुष भी इसी प्रकार स्वयं स्थिर रहते हुए भी केवल सामीप्य

---

१. प्रशस्तपादभाष्य पृ० ५२१।

२. योगभा० पृ० ४।२४

के कारण प्रकृति को कार्योन्मुख करता है। प्रकृति का सत्त्व-बहुल प्रथम परिणाम महत्=चित् तत्त्व है। किन्तु यह परिणाम उद्देश्य-मूलक है। इसमें दो उद्देश्य है, एक प्रकृति पक्ष में और दूसरा पुरुष पक्ष में। प्रकृति पुरुष की भोग सामग्री के रूप में जब परिणत होती है. तब प्रकृति सम्बन्धी उद्देश्य की सिद्धि होती है, प्रकृति सुख-दुःख मोहात्मिका है। इस दुःख-दुख का अनुभव न होने पर इसकी त्रिगुणात्मकता विफल होगी। भोक्ता के विना भोग्य निरर्थक है। भोक्ता की अपेक्षा कर ही भोग्य है। अतः भोग्य प्रकृति भोक्ता पुरुष की अपेक्षा करती हैं। पुरुष असङ्ग मुक्त स्वभाव है। इसलिए मुक्ति के लिए पुरुष अपेक्षा करता है। मुक्त स्वभाव भी पुरुष अविवेक के कारण प्रकृति के साथ सर्वथा संयुक्त होता है। प्रतिबिम्ब होकर बुद्धि के दुःखत्रय को अपने ऊपर आरोपित करता है। दुःख ज्वाला से सन्तप्त पुरुष इनके आत्यन्तिक निवृत्ति की कामना करता है। आत्यन्तिक रूप में दुःखत्रय निवृत्ति रूप कैवल्य के लिए तत्त्व पुरुष का भेद ज्ञान अर्थात् विवेकज्योति अपेक्षित है। इस विवेकख्याति के साधन के लिए बुद्धि=चित् की अपेक्षा है, विना उसके ज्ञान सम्भव ही नहीं है। साम्यावस्थापन्न प्रकृति का भोग सम्भव नहीं है, वह अव्यक्त है। क्योंकि पुरुष और महत् तत्त्व के विना भोग अपवर्ग सम्भव ही नहीं है।

जीव के विचित्र कर्मकलाप ही प्रकृति के विचित्र परिणाम का कारण है। प्रकृति जीवन का उपादान कारण और जीव का धर्म, अधर्म निमित्त कारण है। प्रकृति के साथ पुरुष का स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है। प्रकृति के एक होने पर भी पुरुष के विविध कार्य के लिए विचित्र सृष्टि करती है। प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध जगत् की निष्कारण सृष्टि मानकर खरहे की सींग के समान अलीक माना जा सकता है। अपरिणामी ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नहीं हो सकता है। क्योंकि, ब्रह्म अपरिणामी है, अतः जगत् के रूप में उसका परिणाम सम्भव नहीं है। ईश्वरकर्तृक प्रकृति का महत्तत्त्व आदि के रूप में परिणाम नहीं हो सकता है। क्योंकि, क्लेश-कर्म विपाक आशय में अपरामृष्ट पुरुष विशेष रूप ईश्वर सभी व्यापारों से रहित है, और अधिष्ठान व्यापार शून्य ईश्वर प्रकृति का अधिष्ठाता नहीं हो सकता है।

अचेन प्रकृति को प्रवृत्ति कैसे सम्भव है ? यह आपत्ति भी ठीक नहीं है। गौ के स्तन्य की वृद्धि और उससे दूध का क्षरण होता है। अतः स्तन की प्रवृत्ति है और वह चेतन नहीं है। गौ के चेतन रहने पर भी स्तन की प्रवृत्ति गौ की प्रवृत्ति के अधीन नहीं है। गौ की प्रवृत्ति होने पर बहुधा स्तन की वृद्धि और दूध का क्षरण नहीं होता है। स्तन दूध की प्रवृत्ति का कारण वत्स पोषण है। इसी प्रकार अचेतन प्रकृति की भी पुरुष के मोक्ष और भोग के लिए प्रवृत्ति सम्भव है, अतः प्रकृति का महत् तत्त्व के रूप में परिणाम होता है।

योग और चरकसंहिता—चरकसंहिता के अनुसार एक धातुक, षड् धातुक एवं चतुर्विंशतिक इस प्रकार त्रिविध पुरुष का निर्देश मिलता है। चरक मत में धात्मा अनादि, अनन्त और शाश्वत है। उसकी उत्पत्ति नहीं होती है। वह परमात्मा है।[1] सृष्टि के आरम्भ में वे वर्तमान थे। यह व्यक्त, अव्यय सर्वव्यापक अचिन्तनीय है। शुद्ध चिन्मय अद्वितीय एक होते हुए भी सभी प्राणियों के चैतन्य का शरण है। अन्तरात्मा के रूप में शरीर में वह अवस्थित रहता है। शरीर में अवस्थित होने के कारण ब्रह्म की पुरुष संज्ञा है। जीवात्मा के रूप में अनेक होते हुए भी परमात्मा के रूप में एक है। रजोगुण और तमोगुण के कारण देह कोष में जब तक आबद्ध रहता है—तब तक वह बद्ध ही जीव के कर्मो से उत्पन्न देह की असंख्यता के कारण जीवात्मा असंख्य है। किन्तु मुक्त अवस्था में ब्रह्म रूप में अवस्थान करता है, अतः परं ब्रह्मभुतो जीवात्मा नोपलभ्यते (च० शा० १।१५५) कहा गया है। चरक और योग में समन्वय होने पर भी आत्मा को ब्रह्म स्वरूप कहा हैं। यह पुरुष बहुत्व ब्रह्म की प्रतिमूर्ति स्वरूप है। 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्[2] इस योगसूत्र के अनुसार कोई भेद नहीं है। पञ्च महाभूत के साथ सम्मिलित चिन्मय आत्मा षड्धातुमय पुरुष के रूप में वर्णित हैं।[2]

चरक के प्रकृति, बुद्धि, अहङ्कार, मन, दश इन्द्रिय, पञ्चभूत एवं पञ्चतन्मात्र या पञ्चविषयक के समवाय को चातुर्विंशतिक पुरुष माना है। प्रकृति और विकृति वर्ग को लेकर वह कहा गया है।

---

१. प्रभवो न विचते ह्यनादित्वाद् विद्यते परमात्मनः। च० शा० १।५३

२. स्वादयश्चेतना षष्ठधातवः पुरुषः स्मृतः। च० शा० १।१३
चक्रपाणि ने इसकी व्याख्या में कहा है—अयं च वैशेषिकदर्शनपरिगृहीतचिकित्साविषयः पुरुषः।

बुद्धीन्द्रियमनोऽर्थानां विद्याद् योगधरं परम्।
चतुर्विंशतिको ह्येष राशिः पुरुषसंज्ञकः॥

(च० शा० १।३५)

यह राशि पुरुष का जीवन–मरण होने से यह चिकित्सा के योग्य है। क्योंकि, निर्विकार आत्मा चिकित्सा के योग्य नहीं है। यह ज्ञातव्य है कि महाभारत में भी स्थूल देह के अर्थ में राशि शब्द का प्रयोग किया गया है। चरक संहिता में प्रकृति जात तत्त्वसमूह क्षेत्र और आत्मा को क्षेत्रज्ञ के नाम ने कहा जाता है। क्षेत्र के साथ क्षेत्रज्ञ का अनादि और अनन्त सम्बद्ध माना गया है। तमोगुण और रजोगुण की प्रबलता के कारण प्रकृति के साथ आत्मा का सम्बन्ध अविच्छिन्न भाव से चलता है। सत्त्वगुण की प्रबलता होने पर तत्त्वज्ञान के उत्पन्न होने पर संसार के कारण रजोगुण और तमोगुण का विलय होने पर विवेक ज्ञान वश आत्मा की मुक्ति होती है।[1] भोगतृष्णा ही शरीर की उत्पत्ति का साधन है। भोगतृष्णावश धर्माधर्म का अर्जन कर एवं उसके फलभोग के लिए शरीर ग्रहण करता है। भोगवासना का नाश होते ही जीव का किसी भी विषय में राग और द्वेष नहीं रहता है, फलतः कर्म में प्रवृत्ति न होने से धर्माधर्म की उत्पत्ति नहीं होती है। भोग के द्वारा आबद्ध कर्म का क्षय होने पर विवेकी व्यक्ति का शरीर नाश होने पर मुक्ति होने से पुनः संसार में आगमन नहीं होता है। अविवेक के कारण सुखदुःख आदि का आत्मा में आरोप होता है।

आत्मा के ज्ञाता होने पर भी सभी समय सभी विषयों का ज्ञान उसको नहीं रहता है। मन, बुद्धि और इन्द्रिय के साथ संयोग के फलस्वरूप ही ज्ञान प्रवर्तित होता है। कारण समूह के मलिन होने पर अथवा उनके साथ संयोग के अभाव में ज्ञान नहीं होती है। डा० दासगुप्ता ने भी आत्मा में ज्ञान की विद्यामानता नहीं मानी है। मन और ज्ञानेन्द्रिय के संयोग से ही ज्ञान होता है।[2] करण समूह के

---

१. रजस्तमोभ्यां युक्तस्य संयोगोऽयमनन्तवान्।
ताभ्यां निराकृताभ्यां तु सत्त्ववृद्धया विवर्तते॥ च० शा० १।३६

२. आत्मा ज्ञः करणैर्योगाज् ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते।
करणानामवैमल्यात् अयोगाद्वा न प्रवर्तते॥ च० शा० १।५४

The self is in it self without consiousness. Con-

साथ योग होने से कर्म और बन्धन एवं योग के अभाव में कर्म निवृत्ति और मुक्ति होती है। वस्तुओं की उत्पत्ति के लिए कारण की आवश्यकता होती है, कारण और सहकारी के विना एकाकी वह कार्य के सम्पादन में असमर्थ रहता है। अविवेकवश कारण समूह के साथ आत्मा का संयोग स्थापित होता है। ज्ञाता ही साक्षी होता है। आत्मा ज्ञाता होकर साक्षी के रूप में अवस्थित है। भूत समुदाय उसके द्वारा परिदृष्ट होता रहता है। आत्मा चेतन होते हुए भी निष्क्रिय है, मन अचेतन होते हुए भी सक्रिय है। आत्मा के साथ वियुक्त होने में गति नहीं होती है, मन की क्रिया को ही आत्मा की क्रिया के रूप में भ्रान्ति है। चिन्मय पुरुष के अधिष्ठान के फलस्वरूप मन की क्रिया परिलक्षित होती है और आत्मा कर्ता होता है। वस्तुतः आत्मा निष्क्रिय है। मन सक्रिय होते हुए भी कर्ता नहीं है। परमार्थिक दृष्टि से कार्य का निष्पादक मन ही है। आत्मा स्वतन्त्र स्वयं स्व का परिचालक है। उसका अन्य कोई नियन्ता नहीं है। आत्मा धर्म और अधर्म का सहायक बनाकर अनेक योनियों में गमन के लिए स्वतन्त्र है और यह व्यापक है। रजोगुण और तमोगुण संयुक्त बद्ध जीव पूर्वजन्मार्जित कर्मों के अनुसार विभिन्न शरीर ग्रहण करता है। देह स्थिर इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न सुख-दुखादि का अनुभव करता है। एक देह के इन्द्रियों से अन्य देह का सुख-दुःखादि ज्ञान सम्भव नहीं है। अतः व्यापक होते हुए भी सभी शरीरों के सुख-दुःखादि का ज्ञान करने में समर्थ नहीं है। सुख-दुःखादि की अनुभूति में प्रधान सहकारी मन है और वह कर्म के अनुसार विभिन्न रूप में है। किन्तु योगी और तान्त्रिक योग और साधन के प्रभाव से दूसरे में स्थित वस्तुओं का भी प्रत्यक्ष करते हैं। इस प्रकार योग तन्त्र से चरक सिद्धान्त बुद्धि और मन के भेद को छोड़कर साम्य रखता है। श्वास-प्रश्वास चक्षु का उन्मेष और निमेष, जीवन-मरण मन की विभिन्न देश में गति, इन्द्रियान्तर से मन का संयोग, विषयान्तर से मन का सम्पर्क, स्वप्नयोग में मन की विभिन्न देशों में गति, इच्छा द्वेष, सुख-दुःख, धैर्य्य, चैतन्य, बुद्धि, स्मृति अहङ्कार आदि आत्मसंयुक्त देह में देखा जाता है, शून्य मृत शरीर में इन चिह्नों की उपलब्धि नहीं

---

siousness can only come to it through its connection wlth the sence organe an manas. Hist. of Ind. Phil. vol I, P. n14

है। षड्धातुमय यह शरीर है, आत्मा के अभाव में पाँच धातु अवशिष्ट रह जाता है, इसी लिए मृत्यु को पञ्चत्व प्राप्ति कहा गया है।[1]

योग एवं तन्त्र में ये सभी बुद्धि के धर्म हैं। इस विश्लेषण में वैशेषिक दर्शन का प्रभाव भी तन्त्र पर लक्षित है।

खण्डन

बौद्धों का चरक के अनुसार खण्डन—

बौद्ध दर्शन में सभी पदार्थ क्षणिक है, वे अस्थायी आत्मा नहीं मानते हैं। चरक में उनका खण्डन मिलता है। जीव की प्रतिभा और मोह का कारण धर्माधर्म है। आत्मा के अभाव में निराश्रित धर्माधर्म उत्पन्न नहीं हो सकता है। सत्य उपादेय धर्म का जनक एवं मिथ्या अनुपादेय अधर्म का जनक है। स्थायी आत्मा के अभाव में सत्य और मिथ्या से धर्म और अधर्म नहीं हो सकता है। आत्मा के अभाव में शुभाशुभ कर्मों की भी सम्भावना नहीं है। कर्ता ही कारणों का ज्ञाता होता है। बोद्धा पूर्व और ऊपर अवस्था का द्रष्टा होता है। स्थिर आत्मा के अभाव मैं यह सम्भव नहीं है। आत्मा के भोग का आयतन शरीर है। भोग्य भोक्ता के विना व्यर्थ है। सुख दुःख की भोग्यता भी आत्मा के विना सम्भव नहीं है। ज्ञाता के लिए शास्त्र और शास्त्रार्थ-विज्ञान व्यर्थ ही है।

आत्मा के अभाव में जन्म मृत्यु, बन्धन और मुक्ति सभी निरर्थक है। गृह-निर्माता के अभाव में केवल मिट्टी, दण्ड, चक्र के द्वारा घट आदि का उत्पादन सम्भव नहीं है। आत्म-निरपेक्ष सम्मिलित उत्पादन से देह की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। आत्मा के स्थायित्व के विना किसी के द्वारा किये गये कर्मों का कोई दूसरा भोग करेगा। जब कि भावी फल की प्राप्ति की अभिलाषा से कर्म में प्रवृत्ति होती है। किसी का फल कोई भोग करेगा तो कर्म में प्रवृत्ति नहीं होगी। अतः देहातिरिक्त आत्मा है। (च० शा० १-३६-४८) विवेकज्ञान एवं साधना से मुक्ति एवं पुरुष के भोग और सृष्टि के लिए आत्मा है, यह चरक में भी स्वीकृत है, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से प्रकृति से बुद्धि आदि की उत्पत्ति एवं प्रलय से प्रकृति में लय उभयत्र समान है, पुरुष और प्रकृति का भेद ज्ञान होने पर प्रकृति उनके लिए शरीर का उत्पादन नहीं करती है।

---

१. चरकशा० १।६०–६३।

तन्त्र और योग—

तन्त्र में कुण्डलिनी का जागरण अपेक्षित है। इसके विना पूजा, अर्चा साधना सभी व्यर्थ है। जितने समय तक कुण्डलिनी निद्रित रहती है, तब तक सिद्धि लाभ की सम्भावना नहीं है, योगाभ्यास करने पर भी ज्ञान नहीं होता है। देवी कुण्डलिनी के जागरण से ही अष्टविध ऐश्वर्य मुक्त हो महायोगी शिव के समान संसार में विचरण करता है।[1]

इस कुण्डलिनी के जागरण के लिए योग और तन्त्र साधना एकान्त रूप से अपेक्षित है। योग तन्त्र के विना कुण्डलिनी का चङ्क्रमण सम्भव नहीं है। रुद्रयामल में योग के अधीन ही कुण्डलिनी का जागरण कहा गया है।

विना योगं न सिध्येत कुण्डली-चङ्क्रमः प्रभो। (ग० त० ६।३६)
वेदाधीनं महायोगं योगाधीना कुण्डली।
(कुरु० या० उ० न० प० २१)

इतना सत्य है कि विश्वास, प्रेम, भक्ति, कर्म, ज्ञान इनसे सम्बलित योग के द्वारा ही कुण्डलिनी का जागरण सम्भव है। कुण्डलिनी नाद ब्रह्म है, अतः सङ्गीत के द्वारा भी कुण्डलिनी का जागरण सम्भव है, क्योंकि स्वर नाद ब्रह्म है। वेद और तन्त्र में कर्म, ज्ञान, भक्ति सम्बलित योग की अपेक्षा कही गई है। वस्तुतः योग के विना कुण्डलिनी का जागरण सम्भव ही नहीं हैं, क्योंकि, कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग से अतिरिक्त कोई साधना ही नहीं हैं। अतः साधना का अर्थ ही योग है। किन्तु कुण्डलिनी-जागरण की दृष्टि से कुण्डलिनी योग, हठयोग एवं लययोग ही गृहीत है। कुण्डलिनी शब्द ब्रह्म सर्वमन्त्रमयी सर्वदेवमयी, सर्वसत्त्वमयी है। योग की चितिशक्ति या पुरुष कुण्डलिनी से अभिन्न है, क्योंकि यह ब्रह्मस्वरूपा, सनातनी, विश्वातीता ज्ञानस्वरूपा है। योग के अनुसार चेतन निष्क्रिय है, किन्तु चितिशक्ति को सक्रिय एवं निष्क्रिय उभय माना है। कुण्डलिनी पद्म के मृणाल सूत्र के आकार की है, आदित्य के या अङ्गार के समान जाज्वल्यमान है, सूर्य कोटि की प्रभा के समान उसकी प्रभा है, होती

---

१. जागर्ति यदि सा देवी बहुभिः पुण्यसञ्चयैः।
तदा प्रसादमायान्ति मन्त्रयन्त्रार्चनादयः॥
शिववद् विहरेल्लोकेऽष्टैश्वर्यसमन्वितः॥ गन्धर्वतन्त्र ६।३६-३८

मूलाधार में चतुर्दल रक्त कमल है, गुह्यदेश से ऊपर और लिङ्गमूल से नीचे सुषुम्णा नाडी के मुख से संलग्न अधोमुख पद्म है। इस पद्म की कर्णिका के अभ्यन्तर में बज्रा नाडी के मुख में त्रैपुर नामक बिजली के समान उज्ज्वल कोमल त्रिकोण है। उस त्रिकोण में परिव्याप्त कोटि सूर्य के समान देदीप्यमान रक्तबन्धु पुष्प के समान रक्ताभ जीवधारक कन्दर्प नामक वायु है। श्रीक्रम के सिद्धान्तानुसार यह त्रिकोण कामाख्ययोनि है और कन्दर्प अपानवायु है।[1] शाक्तानन्द-तरङ्गिणी के अनुसार त्रिकोण के मध्य में कामबीज के ऊपर अधोमुख छिद्र युक्त स्वमन्युलिङ्ग है। मृणालसूत्र के समान सूक्ष्म जगन्मोहिनी कुल कुण्डली अपने मुख के द्वार ब्रह्मद्वार = स्वयम्भु है, गोरक्षसंहिता में कहा गया है कि जिस द्वार से निरामय ब्रह्म स्थान में प्रगति की जाती है, वही ब्रह्मद्वार है। ब्रह्मद्वार की ओर मुख कर उसको सदा आवृत कर यह रहती है--यही स्वतन्त्र लिङ्ग--रन्ध्र ब्रह्मद्वार है।

"ब्रह्मद्वार-मुखं नित्यं मुखेनावृत्य तिष्ठति।
येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारं निरामयम्॥

यह कुण्डलिनी केवल शिव को ही आवृत करती है--ऐसी बात नहीं है। वरन् सभी नाडियों को संवेष्टन कर स्थिर रहती है। गुह्य और मेढ्र के मध्य में अधोमुख त्रिकोण योनि है, वहाँ सभी नाडियों का मूलाधार कन्द है, उस कन्द से सदा कुण्डलिनी वर्तमान रहती है, सुषुम्णा नाडी के विवर में पुच्छ को मुख में निविष्ट कर अवस्थित है।

गुदा से दो अङ्गुल ऊपर मेढ्र से दो अंगुल नीचे चार अंगुल विस्तृत पक्षी के अण्ड के समान स्थित कन्दमूल है। इसी से बहत्तर हजार नाडियाँ उत्पन्न होती है।

यह कुण्डलिनी शक्ति ही विश्व की प्राण शक्ति एवं जीव की जीवन शक्ति है। यह जीवन शक्ति प्राण के रूप में है। कुण्डलिनी के सुप्त रहने पर भी उसका श्वास-प्रश्वास अव्याहत गति से चलता रहता है। इसके निःश्वास प्रश्वास के द्वारा यह जगत् में जीव को धारण करती है, विश्वास क्रिया जीवन प्रवाह का मूल है और

---

१. कर्णिकायां स्थिता योनिः कामाख्या परमेश्वरी।
अपानाख्यं हि कन्दर्पम् आधारे तत्त्रिकोणके॥ विश्वनाथ टीका

कुण्डलिनी जीव का जीवत्व है। प्राणायाम जो यह योग का आधार है, यह कुण्डलिनी के सम्मुख में ही उपयुक्त होता है। प्राण के 'हंस' कहने का अर्थ दो अक्षरों के अनवरत प्रवाह के कारण ही प्राण को हंस यह संज्ञा है। इसी हंस का आश्रय कर कुण्डलिनी अपने को व्यक्त करती है।

उच्छ्वासे चैव निःश्वासे हंस इत्यक्षरद्वयम्।
तस्मात् प्राज्ञस्तु हंसाख्य आत्माकारेण संस्थितः॥

(ष० नि० श्लो० ११)

प्राणाकार में अभिव्यक्त पराशक्ति कुण्डलिनी को प्राणकुण्डलिनी कहा जाता है, इस शक्ति को कुण्डलिनी शब्द से कहने का कारण यह है कि साँप के समान कुण्डलो मार कर रहती है, अतः यह नाडी कुण्डलिनी है। योगियों ने अपनी योग दृष्टि के आधार पर सर्पाकार में इसका प्रत्यक्ष किया है---इसलिए इसको सर्पी भी कहा है। सर्प को प्राणशक्ति का प्रतीक माना गया है, अतः प्राण शक्ति के प्रतीकभूत सर्प के आधार पर भी इसे सर्पी कहा जाता है। जोड़ा साँप की अलङ्करण मूर्ति (motif) मेसोपोटामिया के लेगोश के राजा King Gudea of Lagash के यज्ञीय पान पात्र में चिह्नित पायी जाती है। इस राजा का आनुमानिक समय ३६०० B. c. माना गया गया है। प्रायः यह ऐतिह्य भी समसामयिक ही है। साँप प्राणशक्ति का प्रतीक है, यह साधारण जनता में भी प्रसिद्ध है।

इस सर्व-सत्त्वमयी महाकुण्डली के द्वारा अनेक विलक्षण क्रियात्मक प्रपञ्च मूर्ति विश्व की सृष्टि होती है। इसका प्रसारण ही चिद् अचिद् जगत् का उन्मेष है, इसी लिए यह मूलाधार है। गुरु कृपा ही इसकी उपलब्धि का साधन है।

योग दृष्टि के आधार पर मानव शरीर का केन्द्र मूलाधार है, इसी लिए मूलाधार में इसका स्थान माना गया है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि चतुर्दश भुवन एवं उससे सम्बद्ध सभी पदार्थ इस पिण्ड में अवस्थित है। मूलाधार पाद के अधोभाग में सप्तभुवन= सप्त पाताल और ऊपर शिर तक भूः आदि सात भुवन है।

इस मूलाधार से ऊपर चक्र का स्थान है। मेरुदण्ड में सुषुम्णा नाडी है। इसी में या चित्रिणी नाडी में पद्म का स्थान है। सुषुम्णा नाडी में श्वास नाडी है और उसके अभ्यन्तर चित्रिणी नाडी का

स्थान है। चक्र कथन से मूलाधार स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, एवं विशुद्ध, इन प्रधान छ चक्रों को समझा जाता है। इनसे अतिरिक्त ललना सोमचन्द्र आदि का भी निर्देश मिलता है। ये चक्र प्राणशक्ति के अतिसूक्ष्म केन्द्र है, सजीव मानव के शरीर में प्राणवायु के द्वारा इसकी अभिव्यक्ति होती है। ये चक्र चक्राधिष्ठात्री सूक्ष्म शक्ति के स्थूल स्पन्दन से होते है, उक्त स्थान को व्याप्त कर चन्द्र अवस्थित रहता है एवं उसी स्थान को वह नियन्त्रित करता है। इन चक्रों का स्वरूप ग्रहण महाशक्ति ही करती है। शक्ति की गति वृत्ताकार और चक्राकार धारण करती है. यह चक्राकार अवस्था ही योगशास्त्र का चक्रतत्त्व है। पद्म चक्र के चार दल है। योगनाडी की संख्या के अनुसार पद्म का दल निर्णीत होता है। मूलाधार चक्र घेर कर एवं मूलाधार के मध्य में चार नाडियों के जाने से चतुर्दल पद्म आकार की प्राप्ति होती है। ये योग नाडियाँ स्नायु नहीं वरन् प्राणवायु का प्रवाह पथ है, गत्यर्थक नड् धातु से निष्पन्न नाडी शब्द प्राणवायु के यातायात की बोधक है। प्रधान दश नाडियाँ है—ईडा, पिङ्गला, सुषुम्णा, सरस्वती, वारुणी, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, यशस्विनी, अलम्बुषा और शङ्खिनी, किसी के मत में चौदह प्रधान नाडियाँ हैं:—ईडा, पिङ्गला, सुषुम्णा सरस्वती, वारुणी, पुषा, हस्तिजिह्वा, यशस्विनी, विश्वादरी, कुहु, शङ्खिनी पयस्विनी, अलम्बुषा, गान्धारी।[1] इनमें भी प्रधान ईडा, पिङ्गला और सुषुम्णा है। मेरुदण्ड के बाह्यदेश में वाम भाग स्थित चन्द्रनाडी, दक्षिण में सूर्यनाडी और मेरुदण्ड के मध्य ने तीन गुणों वाली चन्द्रसूर्य और दीप्तिस्वरूपा सुषुम्णा है।

मेरोर्बाह्यप्रदेशे शशिमिहिरशिरे सव्यदक्षे निषण्णे।
मध्ये नाडी सुषुम्णा त्रितयगुणमयी चन्द्रसूर्याग्निरूपा।

(ष० नि० श्लो०)

यह नाडी सुषुम्णा, वज्रा, चित्रिणी इन तीन रूप के भेद से त्रिसूत्ररूपा है। चित्रिणी चन्द्ररूपा शुक्लवर्णा, वज्रा सूर्यरूपा अनार किञ्जल्क-कान्ति और सुषुम्णा अग्निरूप रक्तवर्ण है।

महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज के अनुसार मूलाधार से ऊर्ध्वगति के समय अन्नमय-कोश में अभिमान होता है, तब ईडा और पिङ्गला की क्रिया चलती है, किन्तु जब सुषुम्णा उद्बुद्ध होती है,

---

१. ध्यानबिन्दूपनिषद् ५१-५३। योगियाज्ञवल्क्य

तब इस जागरण की मात्रा के अनुसार ईडा और पिङ्गला की क्रिया अवरुद्ध हो जाती है प्राणवायु के सञ्चार के अनुसार ईडा और पिङ्गला के सञ्चार में ह्रास आता है और क्रिया में अवरोध भी होता है। अभिमान अहन्तत्त्व की प्राणमय कोश में क्रीडा आरम्भ हो जाती है। प्राणमय कोश ने प्रवेश के अनुरूप अन्नमयकोश समाप्त हो जाता है इस कोश की क्रिया के अवसान के साथ अथवा इस क्रिया की अवस्था में ही गुरु कृपा या साधना के बल पर वज्रिणी या (वज्रा) नाडी का द्वार अनावृत्त हो जाता है। शक्ति इसी नाडी से क्रियाशील होती है। अहन्ता प्राणमय कोश का त्याग कर प्राणमय कोश का आश्रयण करता है। वज्रिणी नाडी से चित्रिणी नाडी में प्रवेश होता है। अहन्ता मनोमयकोश से ज्ञानमय कोश में प्रवेश करती है चरमावस्था में चित्रिणी नाडी का भी त्याग हो जाता है। इस अवस्था में यथार्थ ब्रह्मनाडी का आश्रयण होता है और शक्तिलीला आरम्भ हो जाती है। अहन्ता विज्ञानमय को छोड़कर आनन्दमयकोश का आश्रयण करता है। इस कोश में किसी प्रकार का मालिन्य नहीं है। यही जीव का शक्ति के अङ्क में अवस्थान है आनन्दमय कोश की सम्यक् अनुभूति वर्तमान रहती है। यही महा-चैतन्य का परम साक्षी अवस्था में अवस्थान है।[1]

प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह।
सुचिवद् गुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया ।।
(ध्या० दि० उप० पृ० ६६)

शास्त्र की प्रक्रिया के सनुसार साधना करने पर कुण्डलिनी के प्रबुद्ध होने पर प्रबुद्ध कुण्डलिनी सुषुम्णा नाडी में ऊर्ध्वगमन करती है। चित्रिणी नाडी के मुख पर ब्रह्मद्वार है। पञ्चशिव शक्ति के साम-रस्य से निःसृत अमृत धारा में अभिषिक्त देश में प्रवेश करती है, जहाँ से निकलने का यही द्वार है इस द्वार से कुण्डलिनी परम शिव के सन्निधान में गमनागमन करती है। योग प्रक्रिया में उपलब्ध इसी को कन्द सुषुम्णा का ग्रन्थिस्थान या सुषुम्णाका मुख कहते हैं।

ब्रह्मद्वारं तदास्ये प्रविलसति सुधधार–गम्य–प्रदेशम्।
ग्रन्थिस्थानं तदेतद्वदनमिति सुषुम्णाख्यनाड्या लपन्ति ।।
(षट् च० निरूपण श्लोक ३)

---

१. पू. त. पृ. ६९-७०

कुण्डलिनी के ऊर्ध्वगमन करने पर यह विचारणीय है कि मूलाधार को वह शून्य करती हुई जाती है क्या ? कुण्डलिनी जब मूलाधार से ऊपर जाती है, देह के अस्तित्व एवं प्राण क्रिया तथा जीवनाधार स्वरूप यह शवदेह नहीं होता है, क्योंकि सहस्रार में शिव-शक्ति के मिलन के लिए प्रवाहित अमृत ही रक्षक रहता है। कतिपय आचार्य ऊर्ध्वगमन के समय भी मूलाधार की शून्यता को नहीं मानते है। मूलाधार स्थित कुण्डलिनी की एक प्रसृति (ejection) का ही ऊर्ध्वगमन मानते हैं। प्रपञ्चसार के अनुसार मूलाधार से स्फुरित विद्युत आभा के समान सूक्ष्माभा प्रभा ही मस्तक पर्यन्त ऊर्ध्वगमन करती है, यह सभी तेज रूप का मूलाधार है। प्रभा का अर्थ कुण्डलिनी मस्तक होता है। फलतः सर्पाकार कुण्डलिनी का मस्तक ऊपर जाता है और अधोभाग नीचे रहता है।

"मूलाधारात् स्फुरति–तडिदाभा प्रभा सूक्ष्मरूपोद्गच्छन्त्या मस्तकमनुतरा तेजसां मूलभूता" (प्र० सा० १०।७)

इस प्रसङ्ग में यह ज्ञातव्य है कि मूलाधारस्थ कुण्डलिनी असीम और पूर्णरूप है, अतः स्थितिशील रूप में और असीम गतिशील रूप में चक्रों का भेदन करती हुई वलयाकारता में नहीं रहती है, जीव का स्थूल सूक्ष्म और कारण तीन प्रकार के देहों का लय हो जाता है और विदेह मुक्ति को प्राप्त करता है। किन्तु इस व्यष्टि मुक्ति में संसार का लय नहीं होता है, क्योंकि समष्टि का आधार महाकुण्डली व्यष्टि के समष्टि का आधार महाकुण्डली व्यष्टि की विदेह मुक्ति होने पर भी सार्द्धत्रिवलय के आकार में अवस्थान करती है। अतः संसार की स्थिति रहती है। कुण्डलिनी के जागरण और उद्ध्र्व-गमन में किसी प्रकार का मतभेद नहीं है।

योग और कुण्डलिनी

योग के विना कुण्डलिनी का जागरण सम्भव नहीं है। गौतमीयतन्त्र में योग शब्द से संसार का उत्तीर्ण होना कहा है। इस जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्य रूप योग द्रष्टा-स्वरूप में अवस्थान है।

"संसारोत्तरणे युक्तिर्योगशब्देन कथ्यते।
ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदः॥ (गौ० त०)

पातञ्जलयोगदर्शन में चित्तवृत्ति निरोध स्वरूपयोग के साथ तन्त्रोक्त योग का विरोध नहीं है, चित्तवृत्ति निरोधस्वरूप योग के

द्वारा किसी अभीष्ट योग विषय में चित्त को स्थिर करना होता है।

कुण्डलिनी के ऊर्ध्वगमन के समय ग्रन्थि भेद की चर्चा हुई है। ग्रन्थि भेद से तात्पर्य यह है कि ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि त्रय अर्थात् पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा, अतः कुण्डलिनी का जागरण एक सामान्य चर्चा नहीं वरन् इसके अधिकारी होने के लिए ग्रन्थि भेद आवश्यक है। ब्रह्मग्रन्थि भेद से साधक कामादि प्रवृत्ति अर्थात् सृष्टि वासनादि का सर्वथा परित्याग कर जितेन्द्रिय होता है। इससे पुत्रैषणा दूर होती है विष्णु ग्रन्थि के भेद से वैष्णवी माया, धन, ऐश्वर्य आदि का प्रलोभन साधक को विचलित नहीं करते हैं, इसके द्वारा वित्तैषणा समाप्त होती है। रुद्रग्रन्थि भेद के बाद साधक प्रतिष्ठा मोह पर विजय करता है, फलतः लोकैषणा दूर होती है प्रतीकात्मक रीति से चिन्मय भूमि की उत्तीर्णता या अमृतत्व की प्राप्ति है। क्योंकि ग्रन्थि भेद का सहज अर्थ ही बन्धन-मुक्ति है। बन्धन का तीन प्रकार है——

(१) देहज
(२) प्राणज
(३) आत्मज

जगद् ब्रह्माण्ड एक विराट् स्थूल देह है। समुद्र के ऊपर तरङ्ग के समान विराट् देह पर व्यष्टि देह उत्थित होकर कुछ क्रीड़ा के बाद विराट् में विलीन होता है। मनुष्य बुद्धि दोष या प्रज्ञा-अपराध के संस्कार ने एक-एक तरङ्ग को अपना समझता है और आबद्ध होता है, अतः बन्धन-प्रसूत एवं विश्व-तादात्म्य-परिच्छेद से होता है। इस कल्पित बन्धन का परित्याग कर देहात्म को समुद्र स्थानीय या विश्वात्मा के देह के रूप में अनुभव करना ब्रह्मग्रन्थि भेद है।

प्राण-मय विज्ञानमयकोश में सर्वव्यापी प्राणादि की सत्ता को विस्तृत होकर एक निर्दिष्ट व्यष्टि प्राणमन में अहन्ता का स्थापन करता है और उसके सुख-दुःख के मध्य में इस तरह आबद्ध हो जाता है कि व्यष्टि देह के दुःख के लिए समष्टि का विसर्जन कर देता है। एक ही जीवनी शक्ति या प्राण का खेल चल रहा है, सभी दुःख-सुख समष्टि से सम्बद्ध है——इस तत्त्व की उपलब्धि करने पर व्यष्टि देह का सीमाबद्ध सुख-दुःख समष्टि गत सुख-दुःख के साथ मिलना ही प्राणग्रन्थि या विष्णुग्रन्थिभेद का उद्देश्य है। विष्णु शब्द व्यापक अर्थ को समाहित कर विश्वात्म सत्ता के रूप में संस्थित है।

आत्मा का अर्थ आनन्द है, उसकी एक सीमाबद्ध शरीर के साथ आबद्ध करना और व्यष्टि देह के आनन्द के लिए समष्टि देह के आनन्द को नष्ट करने से म्लानता का अनुभव नहीं होता है। इस व्यष्टिगत शरीर का बन्धन समष्टि गत आत्मा के स्वरूप की उपलब्धि दूर करती है, सभी प्राणियों के हित साधन में एवं आनन्द-वर्द्धन में रत होना ही रुद्रग्रन्थि के भेद का लक्ष्य है।[1] ब्रह्मग्रन्थि भेद के साथ साधक समष्टि रूप में स्थिति लाभकर सत्यप्रतिष्ठ हो जाता है। इस अवस्था में समस्त जीवों को एक सत्स्वरूप के अङ्गरूप में अनुभव करता है——सभी की एकरूपता के साथ सब में विभिन्न रूप में आत्म प्रकाश का अनुभव करता है। इष्ट मूर्ति भी इस अवस्था में विश्वरूप को धारण करती है। सर्वत्र एक ही तेज का दर्शन करता है, साधक अपनी आत्मा को सर्वभूतात्मा के रूप में उपलब्ध करता है। ब्रह्मग्रन्थि भेद होने पर प्रारब्ध कर्मबीज दग्ध हो जाता है और स्थूल देह का संस्कार हो जाता है। विष्णु ग्रन्थि भेद से प्राण प्रतिष्ठा की उपलब्धि होती है। खण्ड प्राण में महाप्राण का अनुभव करता है। सभी के कर्मों को अपना कर्म मानता है सभी के सुख-दुःख में आत्म सुख-दुःख का अनुभव करता है, सभी के प्रति प्रेम-भाव उत्पन्न होता है। सभी के सुख के लिए अपने जीवन को उत्सर्ग करता है।

विष्णु-ग्रन्थि के भेद से साधक के सञ्चित कर्म का बीज दग्ध हो जाता है और सूक्ष्म देह का संस्कार होता है। रुद्रग्रन्थि के भेदन से साधक एक अखण्ड अद्वयभाव द्रष्टा की स्वरूप स्थिति का लाभ करता है, इससे सभी के आनन्द का लाभ करता है। इस ग्रन्थि के भेद से सञ्चीयमान कर्म का बीज दग्ध होता है और कारण देह में संस्कार होता है। दुर्गासप्तशती का ग्रन्थित्रय भेद का यही आशय लाहिड़ी महाशय एवं सन्याल महाशय ने योगर्द्धि के द्वारा उद्बुद्ध किया है। यह कुण्डलिनी जागरण का योग साधना में तत्पर ही अधिकारी है, अन्य नहीं। कविराज महाशय ने व्यक्त किया है कि इन्द्रिय संयम ब्रह्मचर्य, पवित्र जीवन, पवित्र चिन्ता इनका स्थायी रूप में आयत्त करने पर ही कुण्डलिनी के जागरण मार्ग पर अग्रसर हो सकता है। मस्तिष्क के शुद्ध केन्द्र के साथ देह के निम्नस्तर स्थित

१. पूजातत्त्व—पृ. ५७-५८

जनन केन्द्र का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इन्द्रियलोलुप व्यक्ति के लिए (Paraclete) कुण्डलिनी के जगाने की साधना के पथ में आगे आनेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिए। अतः योग और मोक्ष का सर्वत्र समत्व भावना के साथ व्यष्टि स्वरूप विसर्जन के साथ समाष्टि का तादात्म्य एवं समष्टि का हित साधन है।

प्रागैतिहासिक युग के महेञ्जोदारों के भग्नावशेष में भी योगी की मूर्ति उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त योग की भङ्गिमा में दण्डायमान देवमूर्तियाँ भी उपलब्ध है।[1] इस भङ्गी को किसी ने जैनियों की कायोत्सर्ग भङ्गी माना है तो किसी ने योगमुद्रा या वायुपुराण-वर्णित पाशुपतयोगमुद्रा माना है। ऋग्वेद के सूक्त[2] में योगी का वर्णन उपलब्ध है रुद्र के साथ केशी विषपात्र से विषपान कर रहा है, और वह वायुरूप प्राप्त करता है और कुत्सित लोगों को ध्वस्त करना चाहता है। वायुस्मा उपामथन्त् पिनष्टिस्मानु कृर्णनमा केशी विषस्य पात्रेण यद्रुद्रेणादिवत्सह (१०।१३६) अर्थात् यह योगी योग बल से वायुरूपता को प्राप्त कर आकाश पथ से गमन करता है। गमन काल में विश्व के सभी पदार्थों को अपने तेज से देखता चलता है। इस अतीन्द्रिय पदार्थ द्रष्टा व्यक्ति का आहार वायु का मित्र है। यह वायु रूप को ही प्राप्त करता है। अन्तरिक्षेण पतति विश्वा रूपावचाकशत् (१०।१३४।४)

"वातस्याश्वो वायोः सखायो देवेषितो मुनिः" (१०।१३६।५)

इस साधना से सम्पन्न अनेक मुनि थे। वे अतीन्द्रिय पदार्थद्रष्टा-गण कपिलं वर्ण मलिन वस्त्र को धारण करते थें, तपस्या की महिमा से देदीप्यमान देवता के स्वरूप में प्रवेश करते थे और वायु गति सम्पन्न थे।

मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसने मला।
वातस्यानुध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत ॥ १०।१३६।२

योग साधना की प्राचीनता होने पर भी इस साधना में प्राणवायु संयमन ही मुख्य है। इस दृष्टि से प्राणायाम का अतिशय महत्त्व है, अतः प्राणायाम की अवगति आवश्यक है। बुद्धदेव के समय योग-साधना सिद्धि के लिए एकान्त रूप से अपेक्षित थी, स्वयं सिद्धार्थ

---

१. PL × cVili, Pls, c × Vi 29& c × viii, ll)
२. ऋग्वेद १५।१३६

प्राणवायु के नियन्त्रण के आधार पर बुद्ध हुए। यह भी सत्य है कि स्वयं उस मार्ग पर चलते हुए भी सिद्धों की निन्दा की है।

योग शास्त्र का अनुशासक पतञ्जलि को मानने पर भी इनको योगशास्त्र का प्रवर्तक नहीं माना गया है। सभी साधनाओं में योग का स्थान किसी न किसी रूप में उपलब्ध होता है, चाहे वह सनातनी हो, बौद्ध हो या जैनी हो–योग का स्थान मानना ही पड़ता है।

कुण्डलिनी का सङ्केत वेद में मन्त्रों के अध्ययन से भी उपलब्ध है। षोडशी, भुवनेश्वरी जो चितिशक्तिरूपा भुवन की उत्पत्ति का हेतु है। अन्धकार से आलोक की ओर आगमन में सूर्य की दुहिता सूर्या कही गई है, इसमें अपत्य वाचक प्रत्यय नहीं हैं, अतः यह सूर्य की शक्ति है, चैतन्य का परिणाम नहीं होता है, वह विकास मात्र है जैसे चन्द्रमा की अभिवृद्धि होती है। तन्त्र में भी देखने को मिलता है कि गिरीश की जाया, अर्द्धाङ्गिनी और अभिन्न शक्ति स्वरूपा है। गिरि के कूटस्थ चैतन्य के आधार पर ही गिरीश की जाया या दुहिता कुछ भी प्रतीत रूप में कहा है। संहिता में ही "स्वायां देवो दुहितरि त्विषि धात्" देवता अपनी दुहिता ने ही अपने तेजको सन्नि-हित करते हैं। अध्यात्म दृष्टि से सूर्या सूर्य की दुहिता है और उषा अर्थाद् चेतना में श्रद्धा का आवेश, जिसको योगदृष्टि ने प्रतिभा संवित् कहते हैं। तादुण्य में वह सूर्य की योषा, दिव की दुहिता ही भुवन की पत्नी या भुवनेश्वरी हैं। "दिवो दुहिता भुवनस्य पत्नी" (ऋ ७।७।७५।४) सूर्य भी विशुद्ध चैतन्य एवं परमरूप में उत्तम ज्योति है, स्थावरजङ्गम की आत्मा तुरीय ब्रह्म गम्य है। किन्तु इसके भी परे एक सत्य का बन्धु है, वह जाना भी जा सकता है, और नहीं भी जाना जा सकता है "परमे व्योम्न्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद" १०।१२९।।४।७

अश्विद्वय रथ ही त्रिचक्र है। तेज की उपासना में रत विप्रगण दो चक्रों का ज्ञान रखते हैं, वह है दिन और रात का आवर्तन; किन्तु इससे परे भी एक भूमि है, जहाँ न दिन है न रात है। इसी को मुण्डक में सूर्यद्वार का भेद कहा गया है।

पितृगृह सूर्य का त्यागकर अपने चन्द्र स्वामिगृह में रश्मि का गमन है। इसी स्थान में अश्विद्वय का रथ तृतीय चक्र से चलता है। इसी को 'अचक्र स्वधा' कहा गया है। उस चन्द्र के गम्भीर गहन में आलोक की एक गुप्त रश्मि का आगमन है। यह नित्य वर वधू का

अनुपमेय वासर है। सोम से अमृत क्षरण लोकोत्तर अमृत की दीप्ति है। ऋग्वेद ने कहा है--"गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्' इत्था चन्द्रमसो गृहे"। १।८४।१५॥ इसकी व्याख्या में दुर्गाचार्य ने कहा है--नाम नमनं प्रह्वत्वेनावस्थानमित्यर्थः।४२५ यजुर्वेद में इस रश्मि को "सुषुम्णः सूर्यरश्मिः" कहा है (वा० १८।४०) यह वही रश्मि है जो आदित्य से प्रसूत हो चन्द्रमा को आलोकित करती है। त्वष्टा की गो सविताकी किरण है। क्योंकि त्वष्टा सविता है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर ह्रासवृद्धियुक्त चन्द्रमा आदित्य के इस पार है और उसकी षोडशी ध्रुवा कला आदित्य के उस पार है। इसके बाद तन्त्र में वर्णित सप्तदशी अमा की कला है। इस रूपकरणसे साधना की अद्वैत भावना विकसित हो रही है। यहीं सतरहवीं कला सुषुम्णा की रश्मि है जिसका नाम अपीच्य या गुह्य है। यह संहिता का "अमृतस्य लोकः" है (१०।८५।२०) इस ध्रुवा और अमा कला के ऊपर है जहाँ रात और दिन का निशान भी नहीं है, "न रात्र्या अह्नः आसीत् प्रकेतः" (१०।१२६।२)।

अब पवमान सोममन्त्र की ओर दृष्टिपात करे। इसके ऋषि काश्यप या असित देवल हैं। सात ध्यान चेतना के द्वारा निहित पवमान सोम प्राण को चञ्चल करता है। जैसे द्रोहहीन उस नदी के एक नेत्र के सम्वर्द्धित करता है। "धीतिभिर्हितो नद्यो अजिन्वद् अद्रुहः या एकम् अक्षिवावृधुः" (९।९।४) वैदिक सोमयाग सभी यागों में श्रेष्ठ है--इसी का फल अमृतत्व प्राप्ति है। अमृतत्व एक दीप्ति है और इसी ज्योति की विभूति देवता हैं। "अपाम् सोम-ममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम् देवान्" (ऋ० ८।४८।३) अद्वैत का सम्यक् अनुभव एक और बहुत्व का समन्वय यहीं होता है। आधिभौतिक दृष्टि से सोम एक औषधि है। औषधि शब्द की ओर दृष्टिपात करने पर उष या उषस, वस् दीप्ति या उष् दहन अर्थ में उष् के आगे धि अर्थात् उषाका आलोक जिसमें निहित है, वैदिक दृष्टि से चेतना का प्रथम उन्मेष औषधि में इसके बाद पशु में अनन्तर मनुष्य में है। इस यथाक्रम में चिन्मय अन्न, प्राण और मन का वाहन है। ओषधि सोम राज्ञो और सोम राजा है। सवन या निष्पीडन से पृथिवी स्थानीय सोम की दीप्त्यर्थक मन्त्रात्मक देवी के उद्देश्य से अग्नि में रस का निक्षेप एक रहस्यपूर्ण व्यापार है। सोम की मत्तता, आत्मविस्मृति, जगत् विस्मृति की तन्मयता है। योग

चेतना में प्राकृत चेतना और विक्षेप की गूढता होती है। इतिहास में आत्माराम की योगशक्ति बलराम वारुणीपान से नित्य मत्त एवं आत्माराम के अग्रज है। आत्म समर्पण सुधापान की मत्तता एक अनिवर्चनीय है।

इस विश्लेषण से ज्योति रूप में सोम चन्द्रमा है। अग्नि, सूर्य और सोम तीन ज्योति हैं, व्यक्ति चेतना में अग्नि, विश्वचेतना में सूर्य और लोकोत्तर चेतना में सोम है। सोम की सोलह कला है। यह षोडशी कला नित्य ध्रुवा है--इसीलिए वेद पुरुष षोडशकला है। तन्त्र की महाशक्ति षोडशी है। वैष्णव भावना के विकास में चन्द्रावली ह्लादिनी पन्दरहवी कला राधा षोडशी है, और षोडश कला से युक्त कृष्ण अनिर्वचनीय है। उपसंहार में अध्यात्म दृष्टि से सोम ही तन्त्र की सुषुम्णा है सूर्य रश्मि ही आदित्य मण्डल में अमृत है, वह अमृत सूर्य रश्मि के द्वारा वाहित होकर ब्रह्म रन्ध्र की प्रणालिका से जोवन के हृदय को आधान करती हैं। उपनिषद् में अनेक स्थान में इसका वर्णन उपलब्ध है। अमृत दाहिनी यह नाडी हठयोग की सुषुम्णा है। अध्यात्म दृष्टि में नाडी और अधिभूत दृष्टि में नही है, योग तन्त्र की सुषुम्णा नाडी ऋक्संहिता की सुषोमा नदी है इस तरह सुषोमा, सुषुम्णा सोम इन तीनों की व्युत्पत्ति एक धातु से है और तीनों में अमृत प्रवाह की व्यञ्जना है। निघण्टु के अनुसार इसका अर्थ सुख होता है, फलतः सोम आनन्द चेतना, साहित्यिकों की रस चेतना अमृत और महासुख है। सोमयाग इसकी प्राप्ति का साधन है और योग में कुण्डलिनी का जागरण इसी सुषुम्णा से होता है जिससे आनन्द धारा का क्षरण सम्भव है। अतः कुण्डलिनी का जागरण में वैदिक, तान्त्रिक और योग का समन्वय है।

१. उपनिषद् में इस प्रणालिका का नाम हिता नाडी है (ऐ० उ० १।१२) (बृ० उ० ४।२।३, ३।२०।) रश्मि नाडी और नदी की एकता ऋक् संहिता में सिद्ध है। "याः सूर्यो रश्मिभिराततान याभ्य इन्द्रो अरदद गातुमूर्मिम्, ते सिन्धवो वरिवो धातुना नः" (ऋ० ७।४४।४) सूर्य जिनका विस्तार करते हैं, उनकी रश्मियों से इन्द्र जिनके लिए पथनिर्माण करते हैं, वह सिन्धु हमलोगों के मध्य बैपुल्य धारण करे। नाडी विज्ञान का भी यहाँ सङ्केत उपलब्ध है। सूर्य रश्मि में चिन्मय ही हठयोग में चित्रिणी है, इन्द्र तेज में

ओजस्वी वज्रिणी वृत्र की परिधि में अर्थात् आवरक तमः शक्ति की वेष्टनी में नदी की धारा अवरुद्ध है इन्द्र वज्र शक्ति से उस अवरोध का विदारण करता है (द्र० ३।३३।११) धारा चेतना के साथ प्रवाहित होती है। इसी तरह ऋक संहिता में ही "अथ ते शर्यणावति सुषोमायाम् अधि प्रियः आर्जीकीय मदिन्तमः (८।७।२९) हे इन्द्र तुम्हारा यह प्रिय सोम शर्यणावत् सुषोमा एवं आर्जीयकी में रहता है आदि। वीर्यशाली मरुद्गण ज्योतिर्मय महाप्राण को रथ चक्र गभीर से वहाँ पहुँचे तीन धामों में उनका नाम आर्जीक, सुषोम और शर्यनावत् है। (८।६४।११) शाकटायन ब्राह्मण के शर्यणावत् का अर्थ कुरुक्षेत्र के अधोदेश में स्पन्दमान सरोवर (सायण भा० १।८४।१३) वस्तुतः इस शरीर में ही कुरुक्षेत्र एवं देवयजन भूमि है, ऐसी स्थिति में शर्याणवत् उसके अधोदेश में स्थित मूलाधार है, आर्जीक या आर्जीकीय का व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ ऋजुता रूप में जो चले वर्थात् जहाँ से चेतना की अकुटिल गति होती है। इस प्रकार इसको सहस्रार कह सकते है, दोनों के मध्य में सुषोमा नदी या सुषोम धाम है। सुषमा अमृत प्रवाहिनी सोम की धारा उसके मध्य में प्रवाहित है। इसका सङ्केत हठयोग की योनि मुद्रा में है। यथा "यत्र ब्रह्मा ग्राब्णो सोमे महीयते सोमेनान्द जनयन्। (९।९९३। ६) ग्रावा सोमचेतनाका पाषाण अर्थात् योनिकन्द है। अतः इसमें सन्देह नहीं है कि कुण्डलिनी जागरण का सङ्केत वेद में है इसके मूल में सुषुम्णा नाडी की आवश्यकता है कुण्डलिनी की अकुटिलता के साथ सहस्रार गति और वहाँ सोम समन्विति और अमृत क्षरण होता है, महासुख की दीप्ति और प्रातिभ सवित की यही सम्पत्ति है।

भारतीय दर्शन में योग : —

वैदिक ऋचाओं के अनेक स्थलों में योग का विश्लेषण उपलब्ध है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के अट्ठाहरवें सूक्त में लिखा है कि कोई भी क्रियायें विना योग के सिद्ध नहीं होती हैं ' "यस्मादृते न सिध्यन्ति यज्ञो विपश्चितश्चन। स धीनां योगमिन्वति।" (ऋ० १।१८।७) इसी का छाया गीता के "योगः कर्मसु कौशलम्" पद्य में उपलब्ध है।

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' यो० सू० १।१७ इस सूत्र की मूलाधार "स धा नो योग आ भुवत् स राये स पुरन्ध्याम्। गमद् वाजेभिरा, सनः"'। (ऋ० १।५।४, साम ३०१।२।१०३, अथर्ववेद २०।६९१)

में मिलता है (ईश्वर की कृपा से समाधि की प्राप्ति होती है)। मुझे उसका सन्निधान प्राप्त हो। इतना ही नहीं ईश्वर प्रणिधान के लिये वेद में अनेक मन्त्र उपलब्ध है प्रत्येक समाधि में ऐश्वर्य सम्पन्न इन्द्र का आह्वान करे। "योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे सवाय इन्द्र भूतये"। (ऋ० १।३०।७) इन मन्त्रों से यह स्पष्ट है कि संहिता भाग से चलती हुई योग धारा ने उपनिषद् युग में पुष्पित पल्लवित होकर अनेक योगों के आधार पर सूक्ष्मतम समाधि से स्वरूप प्रतिष्ठा का मार्ग प्रशस्त किया।

आत्मज्योतिः के आनन्दमयकोष, विज्ञानमयकोष, मनोमयकोष, प्राणमयकोष, और अन्नमयकोष आचरण के रूप में है ; इन कोषों के कारण ही प्रकृति के सूक्ष्म और स्थूल तत्त्वों के प्रतिबिम्बन से राग, द्वेष, अभिनिवेश आदि का आत्मा में आरोप होता है।

योग सभी दर्शनों के साथ अक्षुण्ण रूप में उपलब्ध होता है। यही कारण है कि सामान्य दार्शनिक मान्यताओं के खण्डन होने पर भी योग की मान्यतायें सर्वत्र स्वीकृत है।

आस्तिक दर्शनों के विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि, वेदमूलक होने से वहाँ विरोध की सम्भावना ही नहीं है, नास्तिक दर्शनों के साथ भी योग का अनिवार्य सम्बन्ध है।

जैन दर्शन में कर्मपुद्‌गल को नष्ट किये विना सर्वज्ञता नहीं आती है। कषाय ही बन्धन के कारण है, नवीन कर्मपुद्‌गलों के आश्रय के अवरोध के विना कर्मपुद्‌गलों का क्षय सम्भव ही नहीं है। ज्ञान ही इनका प्रधान कारण है, अतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चरित्र इन तीन रत्नों का अनुष्ठान आवश्यक है। सम्यग्दर्शन आत्मा के स्वरूप प्रतिष्ठा का प्रतीक है। इसके द्वारा जीव, आजीव आस्रव, वन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष का यथार्थ ज्ञान होता है।

"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्"। (मोक्षशास्त्र १।१)

संयम और तप के विना आस्रव का निरोध और सञ्चित कर्मों का विनाश नहीं हो सकता है और इनके विनाश के विना आत्मा की शुद्ध अवस्था नहीं आ सकती है।

"संजमएण भन्ते, जीवे किंजणयइ ? संजमएण अण्णह एतं जणयइ। तवेण भन्ते, जीवे किं जणयइ ? तवेणं जणयइ। (उत्तराध्ययन, २९, २६–२७)

बौद्ध दर्शन में सम्यग्दर्शन के ही अर्थ में सम्यग्दृष्टि (सम्मादिट्ठि) मानी गई है[1] जागतिक दुःखों की प्रकृति को जानकर सत्कायदृष्टि आदि से विभूषित होती है। बौद्ध दृष्टि से यह सम्यग्दृष्टि ही प्रज्ञा है। प्रतीत्यसमुत्पाद आदि प्रज्ञा की भूमि है। क्रमशः अनित्य दुःख और अनात्म ज्ञान से विपश्यना आती है जो प्रज्ञा का मार्ग और लोकोत्तर समाधि है। इसके द्वारा दिव्यचक्षु दिव्यश्रोत्र, चेतःपर्यायज्ञान, पूर्वानुस्मृतिज्ञान, च्युत्युत्पादज्ञान और आस्रवक्षयज्ञान षडभिज्ञा उत्पन्न होती है। शब्दान्तर से जैनदर्शन में भी इन्हें स्वीकार किया गया है। मनःपर्यायज्ञान चेतः पर्याय ज्ञान है। यह पूर्वानुस्मृति और केवल ज्ञान के अन्तर्गत है।

किन्तु सम्यग्ज्ञान का सम्यक् चरित्र के विना रहना सर्वथा निष्प्रयोजन है—सम्यक्चरित्र महाव्रत और अणुव्रत के भेद से दो प्रकार का है। अहिंसा, सत्य आदि बारह व्रत इसके लिए कहे गये हैं। इनसे अतिरिक्त पञ्च समितियों का पालन, इन्द्रियों पर विजय प्राप्ति समता आदि षडावश्यकों का अनुष्ठान करना है। इन सभी अनुष्ठानों के बाद समाधि के आलम्बन के विना परमपद अर्थात् स्वरूप प्रतिष्ठा सम्भव नहीं है।

सर्वार्थतैकाग्रतपः समाधिस्तु क्षयोदयौ।
तुल्यावेकाग्रता शान्तोदितौ च प्रत्ययाविह ॥

कर्मविजय, भावनोपलब्धि, ध्यानसिद्धि, (अ. रा. को. ख. ७। पृ. ४) समत्वप्राप्ति के साथ सर्वज्ञत्वप्राप्ति सोपान क्रम में होती है। सम्यग्दृष्टि ही योगका परम चरम लक्ष्य है।

बौद्ध दर्शन में भी शील समाधि एवं प्रज्ञा का विस्तृत विवेचन उपलब्ध है। कुशलचित की एकाग्रता ही समाधि है। बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए प्रज्ञा पारमिता की प्राप्ति अपेक्षित है और इसके लिए दश भूमियों को पार करना पड़ता है, इस प्रकार जैन और 'बौद्ध साधना शुद्ध योग साधना है'—यह कहना अनुचित नहीं है। जैन के ही अष्टाङ्ग मार्ग में प्रज्ञा शील और समाधि ये तीन रत्नों को यहाँ भी माना गया है।

एकालम्बन रूप एकाग्रता ही बौद्धों की समाधि है। यह एकाग्रता अभिन्नालम्बन स्वरूपा है। यह अभिन्न आलम्बन स्वरूप प्रतिष्ठा से अतिरिक्त नहीं हो सकती है।

---

१. बुद्धवचन पृ० २१

प्रसादपूर्ण चित्त की समाधि ही सफल होती है।

"सुखिनो चित्तं समाधियतीति वचनतो पन सुखमस्य पदट्ठान"[1]।

बुद्ध मार्ग की दिशा में अविच्छिन्नरूप से चित्त की एक आलम्बन के आश्रयण की मनोवृत्ति जब होती है तब समाधि होती है[2]। योग एवं गीता की दृष्टि से विश्लेषण करने से इस अर्थ का स्फुट परिष्कार मिलता है। अभिधर्मकोषभाष्य के अनुसार स्वरूप प्रतिष्ठान से भिन्न समाधि नहीं हो सकती है। एकाग्रता का विवरण देते हुए लिखा है कि "एकालम्बन ही एकाग्रता है। ऐसी स्थिति में एकालम्बन चित्त ही समाधि है चित्त का धर्मान्तिर समाधि नहीं है। चित्त ही समाधि नहीं है, जिससे एकाग्रता होती है वह धर्म समाधि है[3]। स्फुटार्था में भी इसी अर्थ को कहा है। फलतः योग और समाधि अभिन्न है और द्रष्टा के स्वरूप की प्रतिष्ठा है। अन्य धर्म की प्राप्ति सिद्धान्त विरोध के कारण सम्भव ही नहीं है। इस प्रकार योग-प्रस्थान का सर्वत्र समादर है। भारतीय साधना में योग के साहाय्य की प्राप्ति के विना साध्य की प्राप्ति हो ही नहीं सकती है। चित्त की एकाग्रता ही बहिरंग साधन प्रणाली से विमुक्त कर अन्तरङ्ग एकाग्रता का सम्पादन कर बोध में विषम विश्व का उन्मूलन कर कर समत्व की भूमि पर अवस्थित कराती है।

यह सत्य है कि अनादि अविद्या के कारण मानव मन स्वभावतः बहिर्मुख रहता है। इसको अन्तर्मुख करने के लिए सक्रिय चेष्टा ही प्रथम योग है। यह योग एकाग्रता के द्वारा बहिरङ्ग प्रवृत्तियों से निरुद्ध होता है और अन्त में स्वसत्ता में अवबुद्ध होता है। अवबुद्ध प्रकाश से समग्र विश्व उद्भासित होता है और इससे लोक के प्रति करुणा और कल्याण की कामना उद्बुद्ध होती है, अहंशून्यता अस्मिता में परिणत होती है। अस्मिता भूमि में ज्योतिः स्वरूप प्रज्ञा का प्रोल्लास होता है। विभूतियों की दीप्ति में भूतों के जय से

---

१. विशुद्धिमग्गों पृ० १८१।

२. अविच्छिन्नरूपेण चित्तस्यैकालम्वेन प्रवृत्तिः समाधिः। अभि० को० पृ० ३०।

३. केयमेकाग्रता नाम ? एकालम्बना। एवं तर्हि चित्तान्येवैकालम्बानि समाधिर्न चैतसिकं धर्मान्तरमिति प्राप्नोति। न चित्तान्येव समाधिः। येन तु तान्येकाग्राणि वर्तते स धर्मः समाधिः। अभि० भा० पृ० ४३२

कायसम्पत् समृद्ध होता है। मधुमती भूमिका के साथ भूमा साक्षात्कार तथा भोग वितृष्णा रूप विवेक ख्याति होती है।

भारतीय सभी साधनाओं का मूल लक्ष्य भेद में अभेद दर्शन ही है। एक तत्त्व में अवस्थान करना ज्ञान विचार का प्रधान कार्य है। वेद से लेकर सभी दर्शनों में अध्यात्म और अधिभूत Subjeet and objeet रूप द्वैतदर्शन का एकतत्त्व में ले जाने का मार्ग दर्शन ही है। बुद्धि तत्त्व की द्विधा अभिव्यक्ति Moral and natural law' नैतिक और प्राकृतिक रूप में होती है। किन्तु इनकी उपसंहृति आत्मा के साक्षात्कार से होती है। अद्वयपुरुषोत्तम की यही भूमिका है। प्रकृति भूमि भावमयी भूमि में प्रकाश लाभ करती है। भावभूमि ज्ञानभूमिक्रम में पुरुष या चेतन स्वरूप में प्रतिष्ठित होती है।

बाह्य जगत् में धर्म का आवान बुद्धि के द्वारा होता है। intellect अर्थात् बुद्धि ही इस दिशा से कर्तव्य का त्रान कराती है। कर्तव्य में निहित गुप्त प्रेम निर्झरिणी की दिशा hidden spring of love उद्भूत होती है, moral conciousness अर्थात् कर्तव्य विवेक का विकास प्रेम में परिणत होता है यह प्रेम ही प्रज्ञा का अवलम्बन करता है। इस विचार प्रज्ञा intellect and intuition का मूल अद्वय पुरुष रूप स्वरूप प्रतिष्ठा है।

ज्ञान की प्रथम किरण दृष्टिपथ में आने पर मन में बोध होता है कि यह बाहर की है और इसी से वस्तु परिचालित है। किन्तु दैहिक क्रिया की अवगति के साथ यह विश्वास होता है--यह शक्ति अन्तर्निहित ही है। Immanent Dynamices की धारणा अर्थात् concepticn उद्भूत होता है। स्वाभाविक गति का अनुसन्धान होते ही सर्वानुस्यूत चेतनशक्ति का सन्धान होता है। इसी क्रम में intelligent direction upon an end का बोध होता है। विश्व की ज्ञानचालित के रूप में अनुभूति होती है और अन्त में ज्ञान चेष्टा-शून्य स्वतः उद्भासित सहज प्रकाश में अवगत स्वरूप प्रतिष्ठित होता है।

प्रत्येक भूमि में रसास्वादावस्था रहती है। एक भूमि अन्य भूमि में जाने की सोपान परम्परा है। आनन्दकार में परिणत जीव को सीमा से दूर सर्वभाव में उपस्थापित करना है सङ्कीर्णता की भूमि से छुडाकारा अर्थात् Paricularity के region से अलगकर unive-

rsality भूमा के राज्य में प्रतिष्ठित करता है। कर्म भक्ति या ज्ञान इस सत्त्व समाधि में आकर; विघ्न-द्वन्द्व शून्य हो; समता और स्वच्छन्दता सुख की भूमि में रहता है। समाधि भक्ति, ज्ञान और कर्म सभी में एक रूप ही रहती है। समाधि mere trance state शुद्ध मूर्च्छाभाव नहीं है यह absorpiton into highest concentrated thought गम्भीर अनुभूति है। इसे परमविचार, परमप्रेम, परमज्ञान का समष्टिभूत फल कह सकते हैं। यह वही भूमि है जहाँ धारणा thorugh understanding aud firm fixity of attention ध्यान deep meditation एवं समाधि absorbed attention इनका पुञ्जीभूत होता है। धृतिगृहीत ज्ञान के रूप में परिपूर्णता का लाभ करता है। इस समाधि के फल स्वरूप ही प्रज्ञा intuition का उदय होता है यह भावना विशेष developed reason है, मन की सभी सत्यशक्ति इससे नियोजित होती है। यही कारण है कि यह मानव को शुद्ध विचार Pure thought के राज्य में, सत्यज्ञान Pure ideation के राज्य में शुद्धभावना की भूमि में अवस्थित रखता है। योग की इस समाधि में कर्म ज्ञान और भक्ति भी अवसान लाभ कर योग संज्ञा प्राप्त करते हैं। पातञ्जल की दृष्टि में आकर शून्य स्वरूप मात्र निर्भास अवस्था है। इस स्थिति में ज्ञान को जीव की स्मृति या संस्कार contribute आरोपित होकर अन्यथा अनुरञ्जित नहीं कर पाते है। सर्वथा स्वरूप अवस्थिति शब्दान्तर से ब्रह्मार्पण या ब्रह्महवि है। इस अवस्था में जीव न तो इन्द्रियों में न शरीरसुखावह कर्मों में प्रस्तुत होता है।

योग भूमि में छ शत्रुओं का नाश :—

स्वच्छन्द भैरव में भी इसी का समर्थन मिलता है प्राण, मन और अन्तःकरणं के विनाश से समूल माया की निवृत्ति होने से शिवानन्द स्फुरण ही योग है। उत्तराम्नाय के अनुसार शिव और शक्ति का अभेदात्मक ज्ञान ही योग है। शक्ति को संवित्स्वरूप तथा परमानन्द रूपिणी माना है। सभी विश्लेषणों से आत्मस्वरूप ज्ञान से सर्वत्र ज्ञान की भूमि पर समता का सञ्चरण ही योग है।[1]

अन्य दार्शनिक दृष्टि में भी आत्मस्वरूप के चिन्तन एवं संवित्प्रकाश से सर्वसंविद्रूपता के स्फुरण से स्त्री भोगाभिलाष स्वरूप

१. शारदाति० पदार्थादर्श–पृ० ५३८।

काम, प्राणियों के मारनें की इच्छास्वरूप हिंसा, धनादि की तृष्णा रूप लाभ, तत्त्वज्ञान रूप मोह, मैं सुखी हूँ, मैं धनिक हूँ इत्यादि गर्व स्वरूप मद, अन्य व्यक्तियों के कल्याण के प्रति द्वेष रूप मत्सर——ये दुःखप्रद होने से इन छ शत्रुओं का नाश हो जाता है। क्योंकि योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, और समाधि, इन आठ योग के साधनों से क्रमशः मैं किसी की हत्या न करूँ इस अभ्यास की प्रवणतारूप अहिंसा, असत्य नहीं कहूँ इस अभ्यास की प्रवणता चित्तता रूप सत्य, चोरी के व्यवहार से निवृत्ति रूप अस्तेय, स्त्री संभोगरूप इच्छा की निवृत्ति स्वरूप ब्रह्मचर्य, प्राणियों के प्रति क्रूर बुद्धि की निवृत्ति स्वरूप कृपा, चित्त की कुटिलता निवृत्तिरूप ऋजुता, अभिभावक के प्रति अक्रोध चित्तता रूप क्षमा, अभीष्ट वस्तु के अप्राप्ति से जो चिन्ता उसका अभावरूप धृति, क्रमशः भोजन को कम करने से शरीर धारण के लिए अनिवार्य रूप से अपेक्षित भोजनस्वरूपमिताहार, चित्त की निर्मलता के लिए पूर्व कथित शौचशीलता रूप शौचरूप यह है इनमें धृति से सर्वत्र अनुषङ्ग का अभाव, अहिंसा और ब्रह्मचर्य से काम जय, कृपा और क्षमा से क्रोधजय, अस्तेय, सत्य और ऋजुता से लोभ जय, मिताहार और शौच से मोह जय, क्षमा और ऋजुता से मदजय, अहिंसा, कृपा, ऋजुता और क्षमा से मत्सर का जय होता है।

इस विश्लेषण से यह सिद्ध है कि सभी प्राणियों को वाणी, मन और शरीर से क्लेशन देना ही अहिंसा है। जिस रूप में देखा, अनुमित, सुना है उसको उसी रूप में कथन एवं चिन्तन, किन्तु वह वाक्य बाधक, भ्रान्त, अर्थ शून्य न हो। किन्तु 'इदं वाक्यं' को सभी प्राणियों के लिए उपघातक न हो कर उपकार के लिए प्रयुक्त होने पर ही सत्य होगा अर्थात् विचार पूर्वक सर्वभूतहित के लिए कहना सत्य वाक्य बोलना अर्थात् सत्य है।[1]

दूसरे की तृणादि के समान तुच्छ वस्तुओं का भी ग्रहण न करना अस्तेय है। कर्म, मन और वाणी से सभी अवस्थाओं में स्त्री की सङ्गति का परित्याग ही ब्रह्मचर्य है। किसी के दुःख को देखकर अपना समझ कर उसको हटाने की चिन्ता करना ही दया है। मन, वाणी और क्रिया से सभी व्यवहारों में सभी के साथ कुटिलता रहित

---

१. व्यासभाष्य–पृ० २।३०

होना ही आर्जव है। सभी रूपसे सदा सभी के साथ अर्थात् अपने साथ अपकार करने वालों के प्रति बन्धु के समान सम्यक् आचरण करना ही क्षमा है। ज्ञात विषयों में इच्छा प्रयत्न राहित्य लाभवान् रहना धृति है। भोज्य पदार्थ का स्वच्छ चित्त पूर्वक चतुर्थांश हित मेध्य भोजन ही मिताहार है। रोमकूप नवरन्ध्रां के द्वारा निर्गत मल का क्षालन ही शौच है।[1] मिट्टी और जल से बाह्य शुद्धि होती है, अन्दर भूत की शुद्धि के लिए पूर्वोक्त शौच की आवश्यकता है।

योग और दश नियम :—

इसी प्रकार शुद्धि के लिए तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, देव-पूजन, सिद्धान्त श्रवण ही, मनन, जप और हवन इन दश नियमों की आवश्यकता है।

शास्त्र के द्वारा विहित कठोरव्रत का आचरण तपस्या है। अनेक विषयों में उत्तर की इच्छा न रखना सन्तोष है। परलोक है यह मानने वाला आस्तिक है और परलोक की प्राप्ति के अनुकूल धर्म आदि का आचरण आस्तिक्य है। अपनी शक्ति के अनुसार देवता, पितर और मनुष्यों के उद्देश्य से देना दान है। यथाशक्ति सन्तोषपूर्वक मोक्ष के साधन में प्रवृत्त व्यक्ति के द्वारा विघ्न को हटाने के लिए आराधना देव पूजन है। वेद में प्रदर्शित उपायों की दृष्टि से उपदेश प्रद शास्त्रों का श्रवण सिद्धान्त है। कुत्सित आचार से स्वयं उद्वेग होना ही है, क्योंकि चित्त की मलिनता से ज्ञान का उदय नहीं होता है। वेदादि के द्वारा सुने गये विषयों का पुनः पुनः युक्तियों से अनुशीलन मनन है। चित्त की शुद्धि से ईश्वर की पुनः पुनः भावना या अनुचिन्तन जप है। अग्निहोत्र आदि शास्त्र विहित हवन होम है। मन्त्र आदि के जप करने पर दशांश हवन के न करने पर प्रत्यवाय से चित्त की मलिनता के कारण चित्त की शुद्धि न होने से ज्ञान का उदय नहीं होगा।[2] ये नियम हैं, अतः इनका आचरण न

---

१. शा. ति. प० पृ० ५३६।

२. तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानं देवस्य पूजनम्।
सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो हुतम्॥
नाजपात्सिद्धयते मन्त्रो नाहुतश्च फलप्रदः।
अनर्चितो 'हरेत्' कामान् तस्मांत्रितयमाचरेत्॥

करने पर प्रत्यवाय होता है, अवश्य कर्तव्य होने के कारण इनका आचरण आवश्यक है।

योग और प्राणायाम आदि :—

इसी प्रकार योगी के लिए आसन भी आवश्यक है। आसन के द्वारा रोग का विनाश होता है, प्राणायाम के द्वारा पातक का नाश होता है, प्रत्याहार के द्वारा मानस विकार का विनाश होता है, धारणाओं से मन में धैर्य्य आता है, ज्ञान से उत्तम ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है और सभी शुभाशुभ कर्मों का परित्यागपूर्वक समाधि से मोक्ष की प्राप्ति होती है।[1] अनेक आसनों का शास्त्र में रोगों की निवृत्ति के लिए शास्त्र में निर्दिष्ट किया है, किन्तु योग में जप एवं समाधि के लिए प्रसिद्ध पाँच आसनों का अनुष्ठान आवश्यक है। वे प्रसिद्ध पाँच आसन निम्नलिखित है--

प्राणायाम :--बाहर सोलह मात्रा से वायु का इडा के द्वारा अन्दर आकर्षण है, अथवा बारह या सोलह बार प्राणायाम का आचरण करें। चौसठ मात्रा से पूरित वायु को धारण करे, बत्तीस मात्रा से सुषुम्णा नाडी के मध्य में धीरे-धीरे अवस्थित करे--यह कुम्भक है। पिङ्गला नाडी से पूरित वायु को छोड़ दे–यह रेचक है।

मात्रा :--जितने समय से अपना हाथ जांघ के नीचे आता है, वह एक श्वास के समान एक मात्रा है। कतिपय आचार्यों ने जानु (जङ्घा के मध्य भाग) को तीन बार हाँथ से स्पर्श कर स्फोटन छोटी मात्रा है। अन्य लोगों की दृष्टि में अंगुलि के आठ बार स्फोट बजाना के समान मात्रा है। वायवीय संहिता के अनुसार दोनों जानु भाग की न जल्दी और न देरी से परिक्रमा कर अंगुलि का स्फोटन मात्रा है।[2]

---

१. आसनेन रुजो हन्ति प्राणायामेन पातकम्।
विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण सर्वदा॥
धारणाभिर्मनो धैर्य्यं ज्ञानादैश्वर्य्यमुत्तमम्।
समाधौ मोक्षमाप्नोति त्यक्तकर्मशुभाशुभः॥
(व० सं०, शा० ति० पृ० ५४४)

२. कालेन यावता स्वीयो हस्तः स्वं जानुमण्डलम्।
पर्येति मात्रा सा तुल्या स्वयैकश्वासमात्रया॥

पूर्वोक्त प्राणायाम दो प्रकार का है। १ सगर्भ, २ अगर्भ। जप और ध्यान के साथ किया गया प्राणायाम सगर्भ है। यह सगर्भ प्राणायाम अतिशय फल देने वाला है एवं अगर्भ प्राणायाम सभी पापों का नाशक है। प्राणायाम उत्तम, मध्यम और अधम के भेद से तीन प्रकार का है। प्राणायाम का अभ्यास करने पर पसीना होना अधम प्राणायाम है। कम्पन से युक्त प्राणायाम मध्यम है। और भूमित्याग गुण की प्राप्ति उत्तम प्राणायाम है।

प्राणायाम :––मन की स्थिति के लिए अभ्यन्तर वायु को नासिका रन्ध्रों से प्रयत्न-विशेषपूर्वक यमन रूप प्रच्छर्दन एवं प्राण का संयम रूप निधारण से मन में स्थिरता आती है। हठयोग आदि में निर्दिष्ट प्राणायाम से योगसूत्र में निर्दिष्ट प्राणायाम में अन्तर है। आसन जप से स्थिरता लाभ के बाद वाह्य वायु का आरम्भ में रेचन अन्दर की वायु का निःसारण इन दोनों गतियों का विच्छेद प्राणायाम है। आसन जय से शारीरिक स्थिरता आती है एवं मानसिक वृत्तिशून्य के समान भावना का अनुभव होने पर प्राणायाम का अभ्यास विहित है। अस्थिर चित्त का प्राणायाम योगाङ्ग नहीं है।

"तस्मिन् सति श्वासश्वासयोर्गतिविच्छिन्नः प्राणायामः। (यो. सू. २।४६) प्राणायाम के लिए उपयुक्त स्थान, काल, मिताहार एवं नाडी-शुद्धि आवश्यक है।[1]

स्थान :––निरुपद्रव एवं प्राचीर वेष्टित कुटीर प्राणायाम का स्थान है।

काल :––घेरण्ड संहिता के अनुसार वसन्त और शरत् प्राणायाम के आरम्भ का उचित काल है। इस मास में प्राणायाम का आरम्भ करना श्रेयस्कर है[2]।

अथवा—स्वजानुमण्डलं पूर्वं त्रिःपरामृश्य पाणिना।
प्रपद्य छोटिकामेकां मात्रा सा स्याल्लघीयसी॥
अथवा—जानुं प्रदक्षिणीकृत्य न द्रुतं न विलम्बितम्।
अङ्गुलिस्फोटनं कुर्यात् सा मात्रेति प्रकीर्त्तिता॥

(शा० ति० पद्मा० पृ० ४४१)

१. घे० सं० ५।२

२. वसन्ते शरदि प्रोक्तं योगारम्भं समाचरेत्।
तथा रोगी भवेत् सिद्धौ रोगान्मुक्तो भवेद् ध्रुवम्॥ (घे० सं० ५।६)

अस्सी मात्रा पर्यन्त कुम्भक करना चाहिए या अस्सीवार बीज-मन्त्र का जाप करता हुआ कुम्भक का अभ्यास करे।

अस्सीवार कुम्भक करने पर बीसवार पूरक एवं चालीसवार रेचक करना चाहिए, प्रातः मध्याह्न एवं सायंकाल एवं आधी रातमें प्राणायाम का विधान है। मिताहार, नाडीशुद्धि प्राणायाम के लिए आवश्यक है। मलयुक्त समस्त नाडी-चक्र की शुद्धि होने पर ही योगी प्राण का संयम करे।

समनु और निर्मनु के भेद से नाडीशुद्धि दो प्रकार की है। धौति आदि षट्कर्म से नाडीशुद्धि निर्मनु है, बीजमन्त्रजप के साथ प्राण संयम के द्वारा नाडीशुद्धि को समनु कहते हैं।

मूलाधार में भुजङ्गाकार कुण्डलिनी अधिष्ठित है; इस शिखा को तेजोमय ब्रह्मरूप में ध्यान करे यही तेजोध्यान या ज्योतिर्ध्यान है। मन से ऊपर भ्रूके मध्य में प्रणवात्मक तेज है, उस ज्वालावली प्रयुक्त तेज का ध्यान तेजो ध्यान है[1]।

प्रत्याहार :—विषयों के प्रति विना रोक टोक इन्द्रियों की प्रवृत्तियों का बलपूर्वक रोकना प्रत्याहार है।

अर्थात्—अपने-अपने विषय में इन्द्रियों का असंयोग होने से चित्त की द्रष्टा के स्वरूप में अवस्थिति प्रत्याहार है अर्थात् प्रत्याहार शब्द का अर्थ घूमाना है, चञ्चल अस्थिर मन आदि जहाँ-जहाँ जाता है वहाँ से लौटाकर आत्मविष्ट करना प्रत्याहार है। वेदान्तसार में, इन्द्रियों को अपने विषय से प्रत्याहरण प्रत्याहार है।

धारणा :—अंगूठा, पैर की गाँठ, जानु, उरः सीवनी लिङ्ग, [गुदा लिङ्ग के मध्य में उन्नत रेखा सीवनी है] नाभि, हृदय, कण्ठ, लम्बिका, नासिका, भौओं के मध्य, मस्तक, मूर्धा इन बारह स्थानों में प्राण वायु का धारण-धारणा है। वसिष्ठ संहिता में धारणा का पाँच भेद कहा गया है। मन की निश्चलता के लिए धारणा का विधान है।

(१) क्षमा धारणा :—हरिताल सुवर्ण के समान सुन्दर श्री सम्पन्न लक्ष्मी कमलासन से समन्वित चतुष्कोण हृदय में स्थित है और

---

१. भ्रुवोर्मध्ये मन ऊर्ध्वे यत्तेजः प्रणवात्मकम्।
ध्यायेत् ज्वालावलीयुक्तं तेजोध्यानं तदुच्यते॥ (घे० सं० ६।१७)

कलाल युक्त है वहाँ पाँच घड़ी तक चित्त समन्वित प्राण को धारण करे सदा स्तम्भ करनें वाली यह क्षितिपरक क्षमा नामक धारण कही जाती है ।[1]

(२) वारुणी धारणा :—अर्द्ध चन्द्र के समान कुन्द पुष्प के सदृश धवल कण्ठ अर्थात् ग्रीवा में तत्त्व समन्वित अमृत वकार बीज-युक्त सदा विष्णु के साथ युक्त स्थित है वहाँ चित्तयुक्त प्राण को पाँच घड़ी तक लाकर धारण करे दुःसह काल कूट के समान तरल यह वारुणी कही जाती है ।[2]

(३) वैश्वनरी धारणा :—तत्त्वस्थित इन्द्रगोप के समान शिव के अनेक तेजोमय प्रवाल के समान सुन्दर त्रिकोण अनल रुद्र से समन्वित है वहाँ प्राण को पाँच घड़ी तक लाकर चित्तान्वित धारण करे वह्नि के समान शरीर को धारणा करतो हुई यह वैश्वानरी धारणा कही जाती है ।[3]

(४) वायु धारणा :—जगत्प्रपञ्च सहित जो मूल देखा गया है, भौओं के मध्य में उसके समान सत्त्वमय यकार सहित जहाँ ईश्वर देवता है, पाँच घड़ी तक वहाँ चित्तसमन्वित प्राण की धारणा करे, यह वायु की धारणा है, यह सदा नियत रूप से आकाश में गमन करती है ।[4]

---

१. प्रासश्रीहरितालहेमरुचिरा तत्त्वकलालान्वितं
संयुक्ता कमलासनेन च चतुष्कोणा हृदि स्थायिनी ।
प्राणं तत्र विनीय पञ्चघटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा स्तम्भकरी सदा क्षितिपरा ख्याता क्षमा धारणा ॥

२. अर्द्धेन्दुप्रतिमं च कुन्दधवलं कण्ठे च तत्त्वान्वितं
तत्पीयूषवकारबीजसंहितं युक्तं सदा विष्णुना ।
प्राणाँस्तत्र विनीय पञ्चघटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा दुःसहकालकूटतरला स्याद्वारुणी धारणा ॥
(शा० ति० अ० पृ० ४१)

३. तत्त्वस्थं शिवमिन्द्रगोपसदृशं तत्र त्रिकोणेऽनलं
तेजोऽनेकमयं प्रवालरुचिरं रुद्रेण तत्संगतम् ।
प्राणाँस्तत्र विनीय पञ्चघटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा वह्निसमं वपुर्विदधती वैश्वानरी धारणा ॥

४. यन्मूलं च जगत्प्रपञ्चसहितं दृष्टम्भ्रुवोरन्तरे
तद्वत्सत्त्वमयं यकारसहितं यन्त्रेश्वरी देवता ।

(५) नभोधारणा:--सुविशुद्ध जल सदृश आकाश जो ब्रह्मरन्ध्र में स्थित है जो उसके साथ सदा शिव से सहित हकार अक्षर से युक्त है, वहाँ प्राण को लाकर चित्त के साथ समन्वित धारण करे यह मोक्ष कपाट को भेदन में पटु नभो धारणा कही जाती है।[1]

कर्मों की साधिकायें ये सभी धारणायें दुर्लभ हैं उनके जानने से योगी सभी पापों से मुक्त होता है।[2]

योग :—

पातञ्जल दर्शन में चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहा है। यह योग सर्व श्रेष्ठ मानस बल है, । चित्त का परिणामी वृत्ति है। और इस वृत्ति का निरोध समाधि या योग है, यह कहा गया है कि सांख्य के समान ज्ञान नहीं है और योग के समान बल नहीं है, वृत्ति का निरोध एक अभीष्ट विषय में चित्त को स्थिर करना है। अर्थात् अभ्यास के द्वारा यथेच्छ अभीष्ट ध्येय में चित्त की निश्चल स्थित करना योग है। स्थैर्य और ध्येय इन दो विषयों के अनुसार योग का अनेक भेद है। चित्त में स्थैर्य्य की उत्पत्ति से मनोवृत्ति चित्त में स्थिर रहती है। वृत्ति की स्थिरता की वृद्धि मानसिक बल बृद्धि सम्पत्ति है। स्थिरता की चरम सीमा समाधि है। और यह शाश्वती शान्ति का साधन है। आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए श्रवण मनन और निदिध्यासन अर्थात् समाधि को चरम कारण माना है। योगी अपने कर्म समूह को दग्ध कर समाधि सिद्ध होने पर इसी जन्म में मुक्त होता है।[3] आत्मदर्शन समाथि लभ्य परम धर्म है। ईश्वर के प्रणिधान से भी चित्त की स्थिरता होती है। दान, संयम आदि के

प्राणाँस्तत्र विनीय पञ्चघटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा खे गमनं करोति नियतं वायोः सदा धारणा ॥

१. आकाशं सुविशुद्धवारिसदृशं यद्ब्रह्मरन्ध्रे स्थितं
तन्नाथेन सदा शिवेन सहितं युक्तं हकाराक्षरैः ।
प्राणाँस्तत्र विनीय पञ्चघटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा मोक्षकपाटभेदनपटुः प्रोक्ता नभोधारणा ॥

२. कर्मणां साधिकाः सर्वा धारणा पञ्च दुर्लभाः ।
तासां विज्ञानतो योगी सर्वपापैः प्रमुच्यते ।

३. विनिष्पन्नसमाधिस्तु मुक्ति तत्रैव जन्मनि ।
प्राप्नोति योगी योगाग्निर्दग्धकर्मचयोचिरात् । (वि० पु० ७ अंश)

द्वारा परम्परा क्रम चित्त स्थिर होता है। चित्त के रूप में परिणत सत्त्व गुण ही विशुद्ध ज्ञान वृत्ति है, जिसे सत्त्व भी कहा जाता है। तमो गुण और रजो गुण से चित्त के अनुविद्ध होने पर चाञ्चल्य और आवरण के कारण ध्यान की प्रवणता नहीं होती है।

योग के विना कुण्डलिनी का जागरण नहीं होता। गौतमीयतन्त्र में—संसार से उद्धार होने के साधन को योग कहा गया है, इस दृष्टि से जीव और आत्मा का ऐक्य ही योग है।[1] शारदातिलक टीका में राघवभट्ट ने भी वेदान्तानुसार जीव और आत्मा के ऐक्य को ही योग माना है। (ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः[2]) कुलार्णवतन्त्र के अनुसार भी पूर्वोक्त ही योग माना है।

न पद्मासनतो योगे न नासाग्रनिरीक्षणम्।
ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः॥

(कु० त० ३०।६)

महानिर्वाणतन्त्र के अनुसार भी योग की यही परिभाषा स्वीकृत है। योगो जीवात्मनोरैक्यं पूजनं सेवकेशयोः। (म० त० १४।१२३) महातन्त्र के अनुसार शिवशक्ति का सामरस्य योग है।

प्रपञ्चसार के अनुसार अपने में हाथ पैर मुख आदि से रहित अनन्य आत्म स्वरूप का अनवरत दर्शन ही तात्त्विक दृष्टि से योग है।[3] पातञ्जल योग दर्शन की दृष्टि से प्रदर्शित चित्तवृत्ति-निरोध रूप योग के साथ तन्त्र एवं गीतोक्त योग का कोई विरोध नहीं है। क्योंकि आत्मस्वरूप में चित्तवृत्ति की स्थिरता ही योग है, यह अर्थ "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् (यो. सू. १।३) इस सूत्र में सुस्पष्ट है। गीता के द्वितीय अध्याय के पद्य के द्वारा स्पष्ट कहा गया है कि समाधि में स्थिर बुद्धि का अवस्थान ही योग है। "समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यति।"

---

१. संसारोत्तरणे युक्तिर्योगशब्देन कथ्यते। (गौ० त० २२।८)
ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः॥ (ग० त० २२।९)

२. शा० ति० २५

३. करपादमुखातिविहीनं मनोरदृश्यमनन्यगमात्मपदम्।
यमिहात्मनि पश्यति तत्त्वविदस्तमिमं किल योगमिति ब्रुवते॥
(आ० पृ० ५४३)

योग का भेद :—सभी साधनायें साधारण रूप से योग के नाम से परिचित है। ज्ञान हो या कर्म हो या भक्ति सभी के साथ योग शब्द का संयोग कर ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, हठयोग, नाद-योग, लययोग, जपयोग आदि।

इसी प्रकार अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग के भेद से भी योग का दो भेद माना गया है। बहिरङ्ग योग-साधना के बल से ज्ञान का उदय होता है। किन्तु इस ज्ञान के होने पर भी ज्ञान और ज्ञेय का भेद नष्ट नहीं होता है। अन्तरङ्गयोगनिर्विकल्पक की साधना करने पर जिसे महाज्ञान कहा जाता है, इस अवस्था में ज्ञान और ज्ञेय का पृथक् रूप से ज्ञान नहीं होता है। सत्य वस्तु का ज्ञान जो बहिरङ्ग योग है, उसके फलस्वरूप सत्य का भान अवश्य होता है, किन्तु अन्तरङ्ग योग के विना द्रष्टा के सत्यस्वरूप में अवस्थिति की प्राप्ति नहीं होती है।[1] दत्तात्रेय संहिता के अनुसार राजयोग सर्वश्रेष्ठ माना है।

"योगो हि बहुधा ब्रह्मन् तत्सर्वं कथयामि ते।
मन्त्रयोगो लयश्चैव हठयोगस्तथैव च॥
राजयोगश्च सर्वेषां योगानामुत्तमः स्मृतः।[2]

योगशिखोपनिषद् के अनुसार महायोग के रूप में भिन्न-भिन्न रूप में उपलब्ध सभी योग एक ही है। मन्त्रयोग लययोग, हठयोग एवं राजयोग ये अवस्था भेद मात्र है।

मन्त्रो लयो हठो राजयोगान्ता भूमिकाः क्रमात्।
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते॥[3]

लययोग—योगशिखोपनिषद् के अनुसार हठयोग से सभी दोषों से उत्पन्न जडता का नाश हो जाता है, क्योंकि क्षेत्र और परमात्मा का ऐक्य = अभेद होता है, फलतः चित्त की विलीनता भी सम्पन्न होती है, यही लययोग है।

लययोग होने पर प्राणवायु स्थिर होता है। योगो को लययोग से परम पद की उपलब्धि के साथ स्वरूपानन्द का लाभ होता

---

१. कल्याण योगाङ्क पृ० ३२५

२. प्रा० तो० का० ५। प० उ० पृ० ४३६

३. यो० शि० १।३२६

है।[1] हठयोगप्रदीपिका के अनुसार वासना का पुनः उत्थान न होने के लिए विषय विस्मृति लय है। सभी सङ्कल्प के विनष्ट होने पर जब अशेष चेष्टायें निःशेष हो जाती है तब लययोग उत्पन्न होता है। वाणी की अविषय अपने अनुभव मात्र से गम्य यह अवस्था है।

दूसरे शब्द से श्वास-प्रश्वास निरुद्ध हो जाता है, इन्द्रिय का विषय ग्रहण विध्वस्त हो जाता है एवं मन निश्चेष्ट हो जाता है; तब लय-योग के उत्कर्ष की अवस्था आती है। यह लययोग अनेक प्रकार के हैं। वस्तुतः चित्तलय ही लययोग है। चलते, उठते, बैठते, निद्रा, आहार सभी अवस्थाओं में निष्कल ईश्वर का ध्यान करना---यही लययोग है। बाह्य एवं आभ्यन्तर जितने भी कर्म सभी लय की साधना लययोग है। आदिनाथ ने सवा करोड़ लययोग के भेद को कहते हुए नादानुसन्धान को मुख्यतम माना है। शिव संहिता में तो स्पष्ट कहा कि खेचरी के समान मुद्रा नहीं है और नाद के समान कोई लय नहीं है। अतः नादानुसन्धान = आत्मज्योतिः का दर्शन जिसे पातञ्जल दर्शन के अनुसार स्वरूपावस्थान अर्थात् अन्य दृष्टि से कुण्डलिनी उत्थापन कहा है, श्रेष्ठ लययोग है।

मन्त्र योग :—

हकार के द्वारा श्वास बाहर आता है और सकार के द्वारा भीतर प्रवेश करता है, इस प्रकार सभी लोग हंसःमन्त्र का जप करते हैं गुरु की कृपा से सुषुम्णा में विपरीत जप होता है अर्थात् सोऽहं हो जाता है---यही मन्त्रयोग है।

मन्त्र जप के लिए जो मनोलय है---वही मन्त्रयोग है, पातञ्जल के अनुसार तज्जपस्तदर्थभावनम् (पा० सू० १।२८) के द्वारा इसी का निर्देश किया है। इसकी दूसरी संज्ञा महाभाव मानी गई है, इसमें बाह्यव्यवहार विहित है, बाह्यानुष्ठान भी चलता है, वर्णाश्रम धर्म आदि भी चलता है, देव देवी की मूर्ति का प्रतीकात्मक ध्यान भी चलता है, उनके रूपका ध्यान और नाम के जप के द्वारा मन्त्रयोग समाधि होती है।

---

१. यो० शि० उ० पृ० ३६

"उच्छिन्न-सर्वसङ्कल्पो निःशेषाशेषचेष्टितः।
स्वावगम्यो लयः कोऽपि जायते वागगोचरः॥"

(ह० प्र० ४।३२)

दत्तात्रेय संहिता में इसको अधम योग कहा है, किन्तु शक्तिसङ्गम-तन्त्र में और पातञ्जल दर्शन में इसकी प्रशंसा की गई है। मन्त्र योग के अभ्यास से सुखदुःख रहित केवल परब्रह्म परिस्फुट होता है। इसके द्वारा चित्त शुद्ध होता है। कामक्रोध से युक्त परमात्मा का ऐक्य चिन्तन दुःख का कारण होता है, मन कहीं, ध्येय कहीं, तब सुख कहाँ ? मानस भावना के द्वारा जीव ध्येय स्वरूप रहता है और भावना के त्याग के साथ ही जीव हो जाता है।[1] कविराजजी की व्याख्या के अनुसार मन्त्र का आश्रयण कर जीवात्मा और परमात्मा का सम्मेलन मन्त्रयोग है। शब्दात्मक मन्त्र चेतन हो जाता है और ऊर्ध्वगति क्रम में शब्दातीत परमधाम पर्यन्त गमन करता है। वैखरी से मध्यमा होते हुए पश्यन्ती अवस्था तक प्रवेश कराना मन्त्रयोग का उद्देश्य है। पश्यन्ती स्वप्रकाश चिदानन्दमय चिदात्मक-पुरुष की अमर षोडशी कला है। शब्द चैतन्य का फल आत्मा की स्वरूप स्थिति है। मूलाधार से इन्द्रिय अवरुद्ध रहती है, और चेतन शब्द सुनने का अधिकारी होता है। अभिधान जनित शब्द अनाहत नाद में लीन हो जाता है। अक्षर समष्टि मात्र रह जाती है, इसमें भी ईडा और पिङ्गला की गति अवरुद्ध हो प्राण सुसुम्णा में प्रविष्ट होता है, वहाँ बिन्दु स्थान का भेदन कर सहस्रार महाबिन्दु में अवस्थित है--यही तज्जपस्तदर्थभावन रूप मन्त्र योग है।

हठयोग :—

योगशिखोपनिषद् के अनुसार हकार सूर्य है और ठकार चन्द्र है, सूर्य चन्द्र का ऐक्य ही हठयोग है। शरीर में आपानवायु चन्द्र है और प्राणवायु सूर्य है। अतः प्राण और आपानवायु का संयोग हठ योग है। किसी-किसी के मत में हठात् ज्योतिर्मय होकर अन्तर में शिव स्वरूपता की प्राप्ति करता है, अतः सिद्धि प्रदसिद्धि सेवित यह हठ योग है।

साधन में प्रधान साधन शरीर है, शरीर के विना साधना नहीं चल सकती है। सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर का धनिष्ठ सम्बन्ध, अतः स्थूल शरीर की साधना का प्रभाव सूक्ष्म शरीर और मन पर होता है। हठयोगप्रदीपिका के अनुसार सभी तापतप्त मानवों के लिए यह आश्रय गृह स्वरूप है, एवं कर्म जैसे पृथिवी का आधार है

---

१. श० सं० त० १।२६-३०

वैसे ही यह सभी योगों का आधार है। इस योग के करने से साधक के शरीर में दुर्बलता, मुख में प्रसन्नता, अनाहत नाद की व्यक्तता, चक्षु की निर्मलता एवं शरीर की स्वस्थता होती है, बिन्दु-जय से अग्नि उद्दीप्त तथा नाडी विशुद्धि होती है। इससे सुप्त कुण्डलिनी का जागरण एवं ब्रह्मद्वार मुक्त होता है।

"वपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले।
अरोगताविन्दुजयोऽग्निदीपनं नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम्"॥[1]

हठयोग का उपदेश गोरक्षनाथ एवं इनके पूर्ववर्ती मृकण्ड पुत्र मार्कण्डेयादि ने किया है। हठयोग अष्टाङ्ग है, जिसका निर्देश पातञ्जलयोग दर्शन के यम आदि से किया है। गोरक्षनाथ के अनुसार यह षडङ्ग है। इन्होंने यम और नियम का परित्याग कर अन्य सभी अङ्गों को माना है। घेरण्ड संहिता के अनुसार इसके सात अङ्ग है। उससे प्रत्येक का विभिन्न फल है, षट् कर्मों से शरीर शोधन, आसन से शरीर दृढ़, मुद्रा से शरीर स्थिर प्रत्याहार से धीरता, प्राणायाम से प्राणिधान होता है और ध्यान से आत्म प्रत्यक्ष और समाधि से निर्लिप्तता और मुक्ति होती है।[2]

राजयोग :—

योगेश्वरोदय में कहा गया है कि आकाश में घूमती हुई वायु जैसे स्वयं आकाश स्वरूप को प्राप्त करती है अर्थात् आकाश में लीन होती है, वैसे ही आकाश में अर्थात् ब्रह्म में मन का लय ही राज-योग है।

यथाकाशे भ्रमन् वायुराकाशं ब्रजते स्वयम्।
तथाकाशे मनो लीनं राजयोगक्रियामतम्॥ (योगेश्वरोदय)

योगशिखोपनिषत् के अनुसार शक्ति और शिव का योग हो राजयोग है।

रजसो रेतसो योगाद्राजयोग इति स्मृतः।
(योग. उप. १।१३७)

राजयोग द्वैत-भाव-रहित है। 'राजयोगः स्यात् द्विधाभाव-विवर्जितः' (शि० सं० ५।१७) इस योग में दीप्तिका साक्षात्कार होता है। दीप्ति अर्थ को कहने वाले राजृ (राज्) से यह निष्पन्न

१. ह० प्र० २।७८ २. घे० सं० १।१०–११

है। इसके फल की श्रेष्ठता को ध्यान में रखकर कतिपय आचार्यों ने योगों का राजा यह अर्थ किया है। किन्तु इस अर्थ में 'योगराज' प्रयोग होगा। सर्वदा शिवप्रद होने के कारण ही यह राजयोग है। योगेश्वरोदय के मत में यह पन्द्रह प्रकार का है।

"पञ्चदशप्रकारोऽयं राजयोगः शिवप्रदः।
क्रियायोगः ज्ञानयोगः कर्मयोगो हठस्तथा॥
ध्यानयोगो मन्त्रयोग उपयोगश्च वासना।
राजन्त्येतद् ब्रह्मविष्णुशिव एभिश्च पञ्चधा॥

योगी स्वात्माराम ने श्रीशुकनाथ को प्रणाम करके केवल राजयोग की सिद्धि के लिए हठयोग का उपदेश दिया है।

"प्रणम्य श्रीशुकं नाथं स्वात्मारामेण योगिना।
केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते॥"
(ह. प्र. १।२)

समाधिः—ध्यान की चरम परिणत समाधि है। पातञ्जल योगसूत्र के अनुसार समाधि ही योग है। योग की चरमावस्था समाधि है। घेरण्डसंहिता में भी श्रेष्ठ योग को समाधि कहा गया है। ईश्वरात्मक गुरु कृपा से ही इसका लाभ होता है।[1] ध्येय विषय मात्र का ज्ञान सम्प्रज्ञात समाधि है। जिस अवस्था में केवल ध्येय विषय मात्र का ज्ञान रहता है—वही ध्यान समाधि है। चित्त ध्येय के चित्र के स्वरूप का आधान करता है। योग समाधि है और यह चित्त का सार्वभौम धर्म है। योगः समाधिः, स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः। (व्या. भा. ३।३)

घेरण्डसंहिता के अनुसार मन को देह से पृथक् कर परमात्मा के साथ युक्त करे। इसी अवस्था को समाधि कहा जाता है। इस अवस्था में दश इन्द्रियों से सर्वथा असंयुक्त मन रहता है।[2] समाधि का यह स्वरूप शब्द भेद के साथ सभी दार्शनिकों एवं तान्त्रिकों ने स्वीकार किया है। द्रष्टा की स्वरूप स्थिति कहे या हठयोग प्रदीपिका के अनुसार जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्य कहा जाय किन्तु इस

---

१. तदेवामार्थमात्रनिर्भासंस्वरूपशून्यमिव समाधिः। (यो. सू. ३।३)
२. भटाद्भिन्न मनः कृत्वा ऐक्यं स्यात् परमात्मनोः।
समाधि तं विजानीयात् मुक्तसंज्ञो दशादिभिः॥ (ह० प्र० ६।२)

अवस्था में सभी सङ्कल्पादि विनष्ट हो जाते हैं। इसका विश्लेषण करते हुए लिखा गया है कि मन की स्वतन्त्र स्थिति नहीं रहती है— जैसे लवण जल के साथ युक्त होने पर एक हो जाता है; वैसे ही मन आत्मा के साथ संयुक्त होकर एक हो जाता है——मन और आत्मा का ऐक्य ही समाधि है। समाधि के विषय में कहीं जीवात्मा परमात्मा के वाक्य को ही मन की लयावस्था कही गई है। समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः'। किसी भी स्थिति में नित्यसमत्व भावनात्मक ध्येयाकारता समाधि है। इसी लिए तन्त्र में सर्वत्र ब्रह्म-भावना के साथ अपने को भेद मूलक संसारी न मानकर संसार में आत्मस्वरूप से अतिरिक्त कुछ नहीं है——यह समत्व, ऐक्य, अभेद की स्थिति समाधि है[1]। इस अवस्था की प्राप्ति से मनुष्य चराचर के कल्याण की दृष्टि से ही जीवन का उपयोग करता है, अतः राष्ट्र भावना एवं सामाजिक तथा राजनीतिक स्थिति ऊर्ध्वतम भूमि पर अवस्थित रहती है।

कुलार्णवतन्त्र के अनुसार——एकादश इन्द्रियों की अपने कार्य से विरति प्रदर्शन करते हुए अचल एकत्व भावना को समाधि कहा गया है। "न सुनता है, न सूंघता है, न स्पर्श करता है, न देखता है, सुख दुःख कुछ भी अनुभव नहीं करता है, सङ्कल्पहीन मन रहता है काठ के समान वह कुछ भी नहीं जानता है, ध्येय में विलीन आत्मावस्था समाधि है"।[2]

आचार्य अभिनवगुप्त ने समाधि का वर्णन करते हुए लिखा है— "जो काम की (कामना) अभिलाषा से सम्पन्न हैं वे देहात्मक इस वेदवाणी को स्वर्गफल से परिव्याप्त मानते हैं, जन्म और कर्म फल मानते हुए भेद भावना संश्लिष्ट समत्व से दूर ही रहते हैं, अतः वे विवेकी नहीं हैं। वेद को अपनी कल्पित वाणी के अनुरूप अभिप्रेत फल की प्राप्ति के लिए मानकर अपहृतचित्त हो व्यवसाय बुद्धि से युक्त जीवन व्यतीत करते हैं, वे समाधि की स्वरूप योग्यता भी नहीं रखते हैं, क्योंकि, नियत फल के अधीन ही वे रहते हैं, अतः

---

१. तत्समं च द्वयोरैक्यं को वात्मपरमात्मनोः।
प्रनष्टसर्वसङ्कल्पः समाधिः सोऽभिधीयते ॥ (ह० प्र० ४।६)

२. ह० प्र० ४।५। यो० उ० १०६
कु० व० ६।१०–१४

सुख-दुःख-मोहात्मक बुद्धि से वैदिक कर्मो के अनुष्ठान में वे बन्धन में ही अपना जीवन–प्रवाह चलाते रहते हैं, किन्तु फलाभिलाषा से शून्य होने पर सम्प्रज्ञात समाधि सम्पन्न होने से वेद उनके लिए बन्धन का कारण नहीं होता है। जीवन युद्ध में वे आत्मानुग्रहशून्य होते हुए भी प्राणियों के प्रति अनुग्रह सम्पन्न हो लोक जीवन-यात्रा में तत्पर छ दोषों से मुक्त सुख-दुःख-मोह-शून्य निष्काम कर्म रत हो समत्व भावना सम्पन्न होने से वास्तविक समाधि में रहते हैं। फल की कामना के कालुष्य से परिव्याप्त रहने पर ही, कर्म फल के प्रति साधन होता है योग = समाधि में स्थित हो कर्म करे, क्योंकि साम्य ही योग है[1]। रागद्वेष रहित मुनि स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। उसको शुभ से प्रसन्नता और अशुभ से ताप नहीं होता है। इन्द्रियों को विषयों से खींचकर आत्मा में स्थिर करना ही योग या स्थिरप्रज्ञा है। उपसंहार में कहा है––योगी का लोकोत्तर व्यवहार रहता है, अन्धकार-रूपिणी माया के विषय में वह उद्‌बुद्ध रहता है कि कैसे इसका त्याग करे, क्योंकि वहाँ प्राणी अनेक कामनानुरूप चेष्टाओं में सुख दुःख मोह से अभिभूत होकर उनमें ही सतत रत रहता है, किन्तु नाम रूप एवं सुख सन्ततियों का अनादर कर योगी ज्ञान से सम्बुद्ध स्थिरप्रज्ञ प्रबुद्ध स्थिति में रहता है। वह कामनावश बाह्य विषयों की ओर गतिशील नहीं रहता है, अतः, निर्मम, निरहंकार निःस्पृह होकर लोकयात्रा निर्वाह करता हुआ शान्तिपूर्ण सन्तुष्ट जीवन यापन करता है, अविद्या हेय या कामना का अवसान होने से इसको मोक्ष या निर्वाण कहा जाता है। उपसंहार में असम्प्रज्ञात निर्विल्पक समाधि एवं माध्यमिकों के अनुसार शून्यता की यही स्थिति है।

षट्कर्मः––धौति, वस्ति, नेति, नौली, त्राटक कपालभाति ये छ कर्म हैं।

धौति चार प्रकार की है। अन्तःधौति, दन्तधौति हृद्‌धौति, मूलशोधनधौति इन से शरीर निर्मल होता है।

अन्तःधौति भी चार प्रकार की है––वातसार, वारिसार, अग्नि-सार, एवं बहिष्कृत।

वस्ति––जिस प्रक्रिया से वस्ति प्रदेश का शोधन होता है, उसे

---

१. गी० अभिनव व्या० पृ० ११९–१३२

वस्ति कहा जाता है, जलवस्ति और शुद्धवस्ति के भेद से यह दो प्रकार की है।

जलवस्तिः शुद्धवस्तिः वस्तिः स्याद्द्विधा स्मृता।
जलवस्तिं जले कुर्याच्छुकवस्तिं सदा क्षितौ॥ (घे० सं० १।४६)

लौलिकी या नौली:——पेट को एक तरफ से दूसरी ओर आन्दोलित करना है, इससे सभी रोग दूर होते हैं और देहाग्नि वर्द्धित होती है।

नेतिः——एक वित्ता परिमित सूक्ष्म तागा लेकर नासिका के छिद्र में प्रवेश करे और इसको मुख से बाहर करे——यही नेति कर्म है। इसमें खेचरी सिद्धि होती है; तथा कफ दोष का नाश एवं दिव्यदृष्टि का लाभ होता है।

त्राटकः——नेत्र से जब तक पानी नहीं आता है, तब तक एक सूक्ष्म लक्ष्य को ओर पलक गिराये विना देखना त्राटक है। इससे शाम्भवी की सिद्धि होती है। सभी नेत्र रोगों का विनाश और दिव्यदृष्टि का लाभ होता है।

कपालभातिः——वामक्रम व्युत्क्रम, शीत्कर्म के भेद से कपाल-भाँति तीन प्रकार की है, उसके द्वारा दिव्यदृष्टि की प्राप्ति होती है।

वामक्रमः——बाँई नाक में ईडासे वायु भरकर दक्षिण नाक से रेचन करे अर्थात् पिङ्गला से रेचन करे। इस प्रकार पर्यायक्रम में पिङ्गला से धीरे-धीरे पूरक और ईडासे रेचन करे। इस योगाभ्यास से कफ दोष हटता है।[1]

व्युत्क्रमः——नाक से जल धींचकर धीरे-धीरे मुख से बाहर करे। इससे श्लेष्मा दोष नष्ट होता है।[2]

शीत्क्रमः——शीत्कार पूर्वक मुख से श्वास खींच कर नाक से बाहर करे। इस क्रिया से कामदेव के समान होता है, इस योगाभ्यास से वार्द्धक्य ज्वराधिक्य नहीं रहता है, इससे शरीर स्वच्छन्द एवं कफ दोष नष्ट होता है।[3]

---

१. घे० सं ६।५ २. घे० सं० १।५६

३. शीत्कृत्य पीत्वा वक्त्रेण नासानालैर्विरचयेत् एवमभ्यासयोगेन कामदेव-समो भवेत्। न जायते वार्द्धक्यं च ज्वरो नैव प्रजायते। भवेत्स्वच्छन्ददेहश्च कफदोषं निवारयेत्॥ (घे० सं० १।५०-५१)

हठयोग-प्रदीपिका एवं दत्तत्रेयसंहिता के अनुसार मेद और श्लेष्मा के आधिक्य रहने पर ही षट्कर्म का आचरण करे, अन्य व्यक्ति नहीं करे।

मेदः श्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत् ।
अन्यस्तु नाचरेत् तानि दोषाणां समभावतः ।।[१]

कतिपय आचार्यों के अनुसार प्राणायाम के द्वारा ही सभी मलों का शोषण करे--यह माना है, आचार्य पतञ्जलि ने भी प्राणायाम से अतिरिक्त किसी अन्य कर्मों की आवश्यकता नहीं है-यही स्वीकार किया है।

प्राणायामैरेव सर्वे प्रशम्यन्ति मला इति ।
आचार्याणां तु केषाञ्चिदन्यत्कर्म न सम्मतम् ।।[२]

आसनः--हाथ पैर आदि संस्थान विशेष को विशिष्ट रूप में रखना आसन है। हठयोगप्रदीपिका के अनुसार आसन हठयोग का प्रथम अङ्ग है। इनके अभ्यास से देह की स्थिरता आरोग्य और लघुत्व होता है। आसनों की चौरासी लक्ष संख्या कही गई है। इनमें चौरासी विशिष्ट है और इनमें भी बत्तीस का मुख्यतम स्थान है। यथा--सिद्ध, पद्म, भद्र, वज्र, स्वस्तिक, सिंह, गोमुख, वीर, धन, शव, गुप्त, मत्स्य, मत्स्येन्द्र, गोरक्ष, पश्चिमोत्तान, उत्कट, सङ्कट, मयूर, कुक्कुट, कूर्म, उत्तानकूर्मक, उत्तानमण्डुक, वृक्ष मण्डुक, गरुड, वृष, शल, वृषमकर, उष्ट्र भुजङ्ग एवं योग। घेरण्डसंहिता में आसन के फलों का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है।

मुद्राः--मुद्रा भी आसन के समान ही शारीरिक अवस्था विशेष है। प्रधान रूप से इन मुद्राओं का निर्देश मिलता हैं। महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान, जालन्धर, मूलबन्धन, महाबन्ध, महाबोध, खेचरी, विपरीतकरी, योनि, वज्रोली, शक्तिचालनी, ताडागी, माण्डुकी, शम्भवी, पञ्चधारणी, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातङ्गी भुजङ्गिनी। इनके अतिरिक्त भी सुरभि, ज्ञान आदि मुद्रायें वर्णित हैं। इनके अभ्यास से योगियों को सिद्धि लाभ में सहयोग मिलता है।

हठयोग-प्रदीपिका के अनुसार महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी उड्डीयान, मूलबन्ध, जालन्धर, विपरीतकरिणी, वज्रोली, शक्तिचालनी ये दशायें वृद्धत्व और मृत्यु की नाशक है। "इदं हि

१. ह० प्र० २।२६ २. ह० प्र० २।३१

मुद्रादशकं जरामरणनाशकम्" मुद्रा का अभ्यास कुण्डलिनी के जागरण का प्रसारण हेतु है।

"तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।"
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥ (ह.प्र ३।१२८)

चित्त की वृत्ति के निरोध का नाम योग या समाधि है। योग दो प्रकार का है, निर्विकल्पक योग और सविकल्पक योग। निर्विकल्पक योग की अवस्था में चित्त का ध्वंस होता है और असम्प्रज्ञात में पुरुष की स्वभाव में अवस्थिति होती है अर्थात् अपने स्वरूप में स्थिति रहती है, योगशास्त्र की दृष्टि में यही कैवल्य या मुक्ति है। स्तर स्तर पर प्रज्ञा के विकास के फलस्वरूप चित्त का विनाश होने पर मुक्तावस्था आती है। निम्नलिखित प्रज्ञाओं के फलस्वरूप क्रमशः चित्त का विनाश होता है——

१. दुःख के कारण भूत संसार का ज्ञान होना तथा उसको जानने के लिए कुछ शेष नहीं रहता है।
२. संसार के मूल कारण का उत्पाटन हो गया है, अब उसका उत्पाटन शेष नहीं है।
३. निरोध समाधि के द्वारा यह उत्पाटन कार्य हुआ है।
४. पुरुष और प्रकृति का भेद ज्ञात हो गया है, इस प्रज्ञा की उपलब्धि होने पर कतिपय तात्त्विक घटनायें होती हैं।
   (क) बुद्धि की पुरुषार्थता सम्पन्न होती है।
   (ख) चित्त नष्ट होकर प्रकृति के रूप में अवस्थित होता है।
   (ग) बुद्धि अपने गुणों के स्वभाव में परिणत होती है।

बुद्धि आदि एवं गुण पुरुष के प्रति योग और मुक्ति उत्पन्न करते हैं। पुरुषार्थ विरहित होकर कार्य-बुद्धि आदि और कारण-गुणत्रय का (मूल प्रकृतिस्वरूप गुणत्रय का) प्रतिलोम प्रश्रय या प्रतिपुरुष अर्थात् प्रकृति के रूप में अवस्थान को केवल का धर्म कैवल्य या मुक्ति कहा जाता है। स्वरूप प्रतिष्ठा अर्थात् बुद्धिवृत्ति का प्रतिबिम्ब पुरुष में प्रतिबिम्बित न होकर पुरुष का अपने शुद्ध निर्लिप्त चिद् भाव में अवस्थान करता है। चिति शक्ति ही स्वरूप है। ("पुरुषार्थ-शून्यानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूप-प्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति"[1]) प्रकृत में कैवल्य शब्द से पुनः उत्थान रहित विदेह कैवल्यावस्था है।

---

१. योग सू० कै० पा० ३४

कैवल्य अर्थात् चित् शक्ति की स्वरूपस्थिति अर्थात् द्रष्टा का स्वरूप में अवस्थान––यही असम्प्रज्ञात योग है। यह कैवल्यरूपा चिति-शक्ति असंहत है। संहतशक्ति ही पुनः पुनः कार्य का उत्पादन करती है। चैतन्य मात्र स्वरूपिणी असंहता चिति शक्ति से उस प्रकार का कार्य कभी भी उत्पन्न नहीं होता है, इसीलिए वह केवला है (चिति-शक्तिरेव केवला[1])। इसका किसी भी समय बन्धन नहीं था समाधि की स्थिति में इसका मोक्ष भी किसी समय आविर्भूत नहीं होता है। बन्धन और मुक्ति इन दोनों से यह अतीत है। असम्प्रज्ञात योगावस्था ही मुक्ति है। असम्प्रज्ञात योग के लाभ होने पर पुरुष चितिशक्ति द्रष्टा के रूप में प्रतिष्ठित होती है। प्रथम पाद के तृतीय सूत्र का यही अभिप्राय है। यह अवस्था पुरुष की सर्वथा गुण के वियोग की अवस्था है, पुनः कभी भी गुणों के साथ सम्बन्ध नहीं होता है। गुण के साथ एकान्त अत्यन्त वियोग ही कैवल्य या द्रष्टा का स्वरूप योग है। ("पुरुषास्यात्यन्तिको गुणवियोगः कैवल्यं तदा स्वरूपप्रतिष्ठा चितिशक्तिरेव पुरुष इति"[2]) सत्त्वपुरुषान्यताख्याति-रूप विवेक ज्ञान में भी विरक्ति आने पर अविद्या आदि क्लेशबीज समस्त मन के साथ विनष्ट हो जाते हैं तभी स्वरूप प्रतिष्ठारूप-मुक्ति होती है। (तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ।[3]) कैवल्या-वस्था में अविद्या का अभाव होने पर प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध का अभाव होता है, यह आत्यन्तिक बन्ध्यत्व ही कैवल्य या स्वरूप प्रतिष्ठा है।[4] किसी-किसी ज्ञानी की जीवन दशा में ही आत्मख्याति की स्थिरता और मिथ्याज्ञान शून्यता आती है वे सात प्रकार की प्रान्तभूमि प्रज्ञा का अनुभव कर कुशल होते हैं; चित्त का अत्यन्त लय होने पर पुरुष कुशल या मुक्त होता है। क्योंकि वह गुणातीत हो जाता है। (सा. प्रा. व्या. भा. २७) प्रथम अवस्था जीवन्मुक्त है, द्वितीय कुशल विदेह मुक्त है, चित्त के लय से पूर्व जीवन्मुक्त अवस्था एवं शरीर के पात के साथ-साथ जब चित्त का भी लय हो जाता है तो इसको विदेह मुक्तावस्था कहा जाता है। कतिपय आचार्यों के मत में आनन्द या सुख प्रकृति का धर्म होने से कैवल्य में आनन्द की अभिव्यक्ति नहीं रहती है। पुरुष का स्व-स्वरूप

---

१. व्यास भाष्य ३४ २. विभूतिपाद ५० व्या० सा०

३. वि० पा० ५० ४. सा० पाद २५

अवस्थान चैतन्य स्वरूप है, अतः चैतन्यमय अवस्था की स्थिति ही कैवल्य या मुक्ति है।

समाधि का छ भेदः—

१. ध्यानयोग समाधि।	४. लयसिद्धियोग समाधि।
२. नादयोग समाधि।	५. भक्तियोग समाधि।
३. रसानन्दयोग समाधि।	६. राजयोग समाधि।

ध्यानयोग समाधिः—योगी शाम्भवी मुद्रा से आत्मा का प्रत्यक्ष करता है, बिन्दु को ब्रह्ममय समझकर उसके मध्य में मन को निवेश करता है। उसके बाद 'ख' अर्थात् ब्रह्म ('ख' ब्रह्मेतिः [छा. उ. म. ४।१०।०) मध्य में आत्मा को और आत्मा के मध्य में ब्रह्म का दर्शन करता हैं, इस स्थिति में आत्मा का ब्रह्ममय दर्शन करने के बाद किसी प्रकार की बाधा नही रहती है, योगी सदानन्दमय हो समाधिस्थ हो जाता है।[1]

नादयोग समाधिः—खेचरी मुद्रा की साधना से रसना=जिह्वा के ऊर्ध्वगत होने पर समाधिसिद्धि होने से साधारण क्रिया का प्रयोजन नहीं रहता है।[2]

रसानन्दयोग समाधिः—धीरे-धीरे वायु को पूर्ण कर भ्रामरी कुम्भक करने के बाद धीरे-धीरे वायु का रेचन करना होता है, इस स्थिति में भ्रमर गुञ्जन होता है, अन्दर में भ्रमर का गञ्जन सुनकर उसमें मनको निविष्ट करने पर समाधि होती है एवं सोऽहं ज्ञान एवं परमानन्द लाभ होता है।[3]

---

१. शाम्भवीं मुद्रिकां कृत्वा आत्मप्रत्यक्षमानयेत्।
बिन्दुब्रह्ममयं दृष्ट्वा मनस्तत्र नियोजयेत्॥
खमध्ये कुरु आत्मानमात्ममध्ये च खं कुरु।
आत्मानं खमयं दृष्ट्वा न किञ्चिदपि बाधते॥
सदानन्दमयी भूत्वा समाधिस्थो भवेन्नरः॥ (घे० सं० ७।७–८)

२. साधनात् खेचरीमुद्रा रसोर्ध्वगता यदा।
तदा समाधिसिद्धिः स्याद्धित्वा साधारणक्रियाम्॥ (घे० सं० ७।९)

३. अनि (ल) मन्दवेगेन भ्रामरी कुम्भकं चरेत्।
मन्दं मन्दं चरेद् वायुं भृङ्गनादः ततो भवेत्॥
अन्तःस्थं भ्रामरीनादं श्रुत्वा तत्र मनोनयेत्।
समाधिर्जायते तत्र आनन्दः सोऽहमित्यतः॥ (घे० सं० ७।१०)

लयसिद्धियोग समाधिः—योगी योनिमुद्रा का अवलम्बन कर स्वयं शक्तिमय होता है एवं परमात्मा के साथ शृङ्गार रसमय विहार करता है, इस प्रकार आनन्दमय ब्रह्म के साथ ऐक्य अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान होता है।[१]

भक्तियोग समाधिः—साधक अपने हृदय में भक्ति-प्रवण हो परमानन्दमय इष्टदेवता के स्वरूप का ध्यान करे, ध्यान के फल-स्वरूप रोमाञ्च, अश्रुपात आदि होता है और क्रमशः समाधि एवं मनोन्मनी अवस्था को प्राप्त करता है।[२]

राजयोग समाधिः—मनोमूर्च्छा नामक कुम्भक कर मन को आत्मा में संयुक्त करे, परमात्म संयोग होने से ही यह समाधि होती है।[३]

राजयोग समाधि ही योगसूत्र की सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि है। वेदान्त की सविकल्प और निर्विकल्प समाधि भी यही है। सविकल्प और सम्प्रज्ञात में ध्याता, ध्यान, ध्येय, ज्ञाता, ज्ञान ज्ञेय ये तीन पदार्थ भासमान होते हैं और निर्विकल्प या असम्प्रज्ञात में तीनों का लय होकर स्वस्वरूप में अवस्थिति होती है वाराहोपनिषद् के भाष्य में ब्रह्मयोगी ने इस योग को लययोग का साधन कहा है। क्षेत्र और परमात्मा का ऐक्य या स्वरूपावस्थान ही लय-योग है।

योग की प्राचीनताः—महेन्जोदाडो के ध्वंसावशेष में एक योगी की मूर्ति है। (Plxcviii) अनेकत्र योगभङ्गी में दण्डायमान देव-

---

१ योनिमुद्रां समासाद्य स्वयं शक्तिमयो भवेत्।
सुशृङ्गाररसेनैव विहरेत्परमात्मनि॥
सदानन्दमयो भूत्वा ऐक्यं ब्रह्मणि सम्भवेत्।
अहं ब्रह्मेति चाद्वैतं समाधिस्तेन जायते॥ (घे० सं० ८।१२।१३)

२. स्वकीयहृदये ध्यायेदिष्टदेवस्वरूपकम्।
चिन्तयेद् भक्तियोगेन परमाह्लादपूर्वकम्॥
आनन्दाश्रुपुलकेन दशाभावः प्रजायते।
समाधिः सम्भवेत्तेन सम्भवेच्च मनोन्मनी॥ (घे० सं० ८।१४।१५)

३. मनोमूर्च्छां समासाद्य मन आत्मनि योजयेत्।
परात्मनः समायोगात् समाधिं समवाप्नुयात्॥ (घे० सं० १।१६)

मूर्तियाँ हैं। (Pls, exvi 29 and exviii, ii) एक भङ्गी में योगी की कायोत्सर्ग भङ्गी उपलब्ध है। वायु पुराण में वर्णित पाशुपात-योग मुद्रा से इसकी समता है।[1]

ऋग्वेद में वायुरूपता की प्राप्ति आकाशपथ से गमन, समस्त विश्व के सभी रूप्य पदार्थों को अपने तेज से देखता रहता है। अतीन्द्रिय पदार्थदर्शी इस व्यक्ति का आहार वायु रहता है, यह वायु के मित्र और द्योतमान वायु के द्वारा ये वायुरूप होते हैं। अतीन्द्रिय पदार्थदर्शी कपिलवर्ण का मलिनवस्त्र धारण करता है तप की महिमा से दीप्यमान होकर देवतास्वरूप में प्रवेश करता है। यहाँ मुनयः यह वहुवचन का प्रयोग होने से अनेक मुनि हैं।

"मुनयो वातरशनाः पिशङ्ग वसने मला।
वास्याणुध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत॥"

([2]१०।१३६।२)

उपनिषदों में भी इसकी परिपूर्ण चर्चा उपलब्ध है। श्वेताश्वतर (२।८, २।९) एवं कठोपनिषद् का (२।३।१०, २।३।११, १।३।६) द्रष्टव्य है।

तन्त्र आदि में भी इसका विस्तृत विवेचन उपलब्ध है।

बुद्ध के समय में योगसाधना पूर्ण रूप से प्रचलित थी, वे स्वयं योगसाधना करते थे। अपने समय के योगियों की वे निन्दा करते थे किन्तु अपने शिष्यों को योगसाधना का उपदेश देते थे। बौद्धधर्म की प्रतिष्ठा में योगदर्शन का प्रचुर प्रभाव सुव्यक्त है।

आज तो असंख्य योगी एवं असंख्य योग केन्द्र है। वास्तविक योगी कितने हैं—यह भगवान् ही जानता है।

तन्त्र में कुण्डलिनी जागरण के लिए एकमात्र योग ही सहायक है।

भारतीय दर्शन में योग :—

वैदिक ऋचाओं के अनेक स्थलों में योग का विश्ललेषण उपलब्ध है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के अट्ठारहवे रूक्त में लिखा है कि कोई भी क्रियायें विना योग के सिद्ध नहीं होती हैं। "यस्मादृते न सिध्यन्ति यज्ञो विपश्चितश्चन। स धीनां योगमिन्वति।" (ऋ.

१. R. I. P. 301–334.

२. ऋ० १०।१३६।४, ५, ७।

१।१८।७) इसी की छाया गीता के "योगः कर्मसु कौशलम्" पद्य में उपलब्ध है।

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' यो० सू० १।१७ इस सूत्र का मूलाधार "स घा नो योग आ भुवत् स राये स पुरन्ध्याम्। गमद् वाजेभिरा स नः"। (ऋ. १।५।४, साम ३०१।२।१०३ अथर्ववेद २०।६६१) में मिलता है (ईश्वर की कृपा से समाधि की प्राप्ति होती है)। मुझे उसका सन्निधान प्राप्त हो। इतना ही नहीं ईश्वर प्रणिधान के लिए वेद में अनेक मन्त्र उपलब्ध हैं प्रत्येक समाधि में ऐश्वर्य सम्पन्न इन्द्र का आह्वान करे। "योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहेसवाय इन्द्र भूतये"। (ऋ. १।३०।७) इन मन्त्रों से यह स्पष्ट है कि संहिता भाग से चलती हुई योग धारा ने उपनिषद् युग में पुष्पित-पल्लवित होकर अनेक योगों के आधार पर सूक्ष्मतम समाधि से स्वरूप प्रतिष्ठा का मार्ग प्रशस्त किया।

आत्म ज्योतिः के आनन्दमयकोष, विज्ञानमयकोष, मनोमयकोष, प्राणमयकोष, और अन्नमयकोष आवरण के रूप में है इन कोषों के कारण ही प्रकृति के सूक्ष्म और स्थूल तत्त्वों के प्रतिबिम्बन से राग, द्वेष, अभिनिवेश आदि का आत्मा में आरोप होता है।

योग सभी दर्शनों के साथ अक्षुण्ण रूप से उपलब्ध होता है। यही कारण है कि सामान्य दार्शनिक मान्यताओं के खण्डन होने पर पर भी योग की मान्यतायें सर्वत्र स्वीकृत है।

आस्तिक दर्शनों के विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वेदमूलक होने से वहाँ विरोध की सम्भावना ही नहीं है, नास्तिक दर्शनों के साथ भी योग का अनिवार्य सम्बन्ध है।

जैन दर्शन में कर्मपुद्गलों के आश्रव के अवरोध के विना कर्म-पुद्गलों का क्षय सम्भव नहीं है। ज्ञान ही इनका प्रधान कारण है, अतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चरित्र इन तीनो रत्नों का अनुष्ठान आवश्यक है। सम्यग्दर्शन आत्मा के स्वरूप प्रतिष्ठा का है। इसके द्वारा जीव, आजीव आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष का यथार्थ ज्ञान होता है।

"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्"। (मोक्षशास्त्र १।१)

संयम और तप के विना आश्रव का निरोध और सञ्चित कर्मों

का विनाश नहीं हो सकता है और इनके विनाश के विना आत्मा की शुद्ध अवस्था नहीं आ सकती है।

"संजमएण भन्ते, जीवे किम जणयइ? संजमएण अण्णहएत्तं जणयइ। तवेणं मन्ते, जीवे किं जणयइ? (उत्तराध्ययन २६, २६-२७)

बौद्ध दर्शन में सम्यग्दर्शन के ही अर्थ में सम्यग्दृष्टि (सम्मादिती) मानी गई है[1] जागतिक दुःखों की प्रकृति को जानकर सत्कायदृष्टि आदि से विभूति होती है। बौद्ध दृष्टि से यह सम्यग्ददृष्टि ही प्रज्ञा है। प्रतीत्यसमुत्पाद आदि प्रज्ञा की भूमि है। क्रमशः अनित्य दुःख और अनात्म ज्ञान से विपस्सना आती है और जो प्रज्ञा का मार्ग और लोकोत्तर समाधि है। इसके द्वारा दिव्यचक्षु: दिव्यश्रोत्र, चेतः-पर्यायज्ञान, पूर्वानुस्मृति-ज्ञान-च्युत्युत्पादज्ञान और आश्रवक्षयज्ञानरूप षडभिज्ञा उत्पन्न होती है। शब्दान्तर से जैनदर्शन में भी इन्हें स्वीकार किया गया है। मनःपर्यायज्ञान चेतः पर्याय ज्ञान है। यह पूर्वानुस्मृति और केवलज्ञान के अन्तर्गत है।

किन्तु सम्यग्ज्ञान का सम्यक् चरित्र के विना रहना सर्वथा निष्प्रयोजन है। सम्यक् चरित्र महाव्रत और अणुव्रत के भेद से दो प्रकार का है। अहिंसा, सत्य आदि बारह व्रत इसके लिए कहे गये हैं। इनसे अतिरिक्त पञ्च समितियों का पालन, इन्द्रियों पर विजय-प्राप्ति समता आदि षडावश्यकों का अनुष्ठान करना है। इन सभी अनुष्ठानों के बाद समाधि के आलम्बन के विना परमपद अर्थात् स्वरूप प्रतिष्ठा सम्भव नहीं है।

सर्वार्थतैकाग्रतपः समाधिस्तु क्षयोदयौ।
तुल्यावेकाग्रता शान्तोदितौ च प्रत्ययाविह॥

कर्मविजय, भावनोपलब्धि, ध्यानसिद्धि, (अ. रा. को. ख. ७।पृ. ४) समत्व प्राप्ति के साथ सर्वज्ञत्व प्राप्ति सोपान क्रम में होती है। सम्यग्दृष्टि ही योग का परम चरम लक्ष्य है।

बौद्ध दर्शन में भी शील समाधि एवं प्रज्ञा का विस्तृत विवेचन उपलब्ध है। कुशलचित्त की एकाग्रता ही समाधि है। बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए प्रज्ञा पारमिता की प्राप्ति अपेक्षित है और इसके लिए दश भूमियों को पार करना पड़ता है इस प्रकार जैन और 'बोद्ध

---

१. बुद्धवचन पृ० २१

साधना शुद्ध योग साधना है'---यह कहना अनुचित नहीं है। जैन के समान ही अष्टाङ्ग मार्ग में प्रज्ञा, शील और समाधि इन तीन रत्नों को यहाँ भी माना गया है।

एकालम्बन रूप एकाग्रता हीं बौद्धो की समाधि है। यह एकाग्रता अभिन्नालम्बन स्वरूपा है। यह अभिन्न आलम्बन स्वरूप प्रतिष्ठा से अतिरिक्त नहीं हो सकती है।

प्रसादपूर्ण चित्त की समाधि ही सफल होती है।

"सुखिनो चित्तं समाधियतीति वचनतो पन सुखमस्स पदट्ठान[1]।

बुद्धमार्ग की दिशा में अविच्छिन्नरूप से चित्त का एक आलम्बन के आश्रयण की मनोवृत्ति जब होती है तब समाधि होती है[2]। योग एवं गीता की दृष्टि से विश्लेषण करने से इस अर्थ का स्फुट परिष्कार मिलता है। अभिधर्मकोषभाष्य के अनुसार स्वरूप प्रतिष्ठान से भिन्न समाधि नहीं हो सकती है। एकाग्रता का विवरण देते हुए लिखा है कि "एकालम्बन चित्त ही समाधि है चित्त का धर्मान्तर समाधि नहीं है। चित्त ही समाधि नहीं है, जिससे एकाग्रता होती है वह धर्म समाधि है[3]। स्फुटार्था में भी इसी अर्थ को कहा है। फलतः योग और समाधि अभिन्न है। और द्रष्टा के स्वरूप की प्रतिष्ठा है। अन्य धर्म की प्राप्ति सिद्धान्त विरोध के कारण सम्भव नहीं है। इस प्रकार योगप्रस्थान का सर्वत्र समादर है। भारतीय साधना में योग के साहाय्य की प्राप्ति के विना साध्य की प्राप्ति हो ही नहीं सकती है। चित्त की एकाग्रता ही बहिरंग साधन प्रणाली से विमुक्त कर अन्तरङ्ग एकाग्रता का सम्पादन कर बोधको विषम विश्व से उन्मूलन कर समत्व की भूमि पर अवस्थित कराती है।

यह सत्य है कि अनादि अविधा के कारण मानव मन स्वभावतः बहिर्मुख रहता है। इसको अन्तर्मुख करने के लिए सक्रिय चेष्टा ही प्रथम योग है। यह योग एकग्रता के द्वारा बहिरङ्ग प्रवृत्तियों से

---

१. विशुद्धि मग्गों पृ० १८१

२. अविच्छिन्नरूपेण चित्तस्यैकालम्बेन प्रवृत्तिः समाधिः। अभि० को० पृ० ३०१

३. केयमेयकाग्रता नाम? एकालम्बना। एवं तर्हि चित्तान्येवैकालम्बनानि समाधिर्न चैतसिकं धर्मान्तरमिति प्राप्नोति। न चित्तान्येव समाधिः। येन तु तान्येकाग्राणि वर्तते स धर्मः समाधिः। अभि० भा० पृ० ४३२

निरुद्ध होता है और अन्त में स्वसत्ता में अवबुद्ध प्रकाश से समग्र विश्व उद्भासित होता है और इससे लोक के प्रति करुणा और कल्याण कामना उद्बुद्ध होती है, अहंशून्यता अस्मिता में परिणत होती है। अस्मिता भूमि में ज्योतिः स्वरूप प्रज्ञा का प्रोल्लास होता है। विभूतियों की दीप्ति में भूतों के जय से कायसम्यत् समृद्ध होता है। मधुमती भूमिका के साथ भूमासाक्षात्कार तथा भोग वितृष्णा रूप विवेक ख्याति होती है।

भारतीय सभी साधनाओं का मूल-लक्ष्य भेद में अभेद दर्शन ही है। एक तत्त्व में अवस्थान करना ज्ञान विचार का प्रधान कार्य है। वेद से लेकर सभी दर्शनों में अध्यात्म और अधिभूत Subjeet and objest रूप द्वैतदर्शन का एकतत्त्व में ले जाने का मार्ग दर्शन ही है। बुद्धि तत्त्व की द्विधा अभिव्यक्ति Moral and natural lawi' नैतिक और प्राकृतिक रूप में होती है। अद्वयपुरुषोत्तम की 'यही भूमिका है। प्रकृति भूमि भावमयी भूमि में प्रकाश लाभ करती है। भावभूमि ज्ञानभूमिक्रम में पुरुषस्य या चेतन स्वरूप में प्रतिष्ठित होती है।'

बाह्य जगत् में धर्म का आधान बुद्धि के द्वारा होता है। intellect अर्थात् बुद्धि ही इस दिशा से कर्तव्य का ज्ञान कराती है। कर्तव्य में निहित गुप्त प्रेम निर्झरिणी की दिशा hidden spring of love उद्भूत होती है, moral conciousness अर्थात् कर्तव्य विवेक का विकाश प्रेम में परिणत होता है यह प्रेम ही प्रज्ञा का स्वरूप अवलम्बन करता है। इस विचार और प्रज्ञा intellect and intuition का मूल अद्वय पुरुष रूप स्वरूप प्रतिष्ठा है।

ज्ञान की प्रथम किरण दृष्टिपथ में आने पर मन में बोध होता है कि यह बाहर की है और इसी से वस्तु परिचालित है। किन्तु दैहिक क्रिया की अवगति के साथ यह विश्वास होता है--यह शक्ति अन्तर्निहित ही है। Immanent Dynamices की धारणा अर्थात् concepticn उद्भूत होता है। स्वाभाविक गति का अनुसन्धान होते ही सर्वानुस्यूत चेतनशक्ति का स्पन्दन होता है। इसी क्रम में intelligent direction upon an end का बोध होता है। विश्व की ज्ञानचालित के रूप में अनुभूति होती है और अन्त में ज्ञान भी चेष्टाशून्य स्वतः उद्भासित सहज प्रकाश रूप में अवगत स्वरूप प्रतिष्ठित होता है।

प्रत्येक भूमि में रसास्वादावस्था रहती है। एक भूमि अन्य भूमि में जाने की सोपान परम्परा है। आनन्दाकार में परिणत जीव को सीमा से दूर सर्वभाव में उपस्थित करता है सङ्कीर्णता की भूमि से छुड़ाकर अर्थात् Particularity के region से अलगकर universalty भूमा के राज्य में प्रतिष्ठित करता है। कर्म भक्ति या ज्ञान इस सत्त्व समाधि में आकर विघ्न-द्वन्द्व-शून्य हो समता और स्वच्छन्दता सुख की भूमि में रहता है। समाधि nere trance state शुद्ध मूर्च्छाभाव नहीं है यह absorption into concentrated thought गम्भीर अनुभूति है। इसे परमविचार, परमप्रेम, परमज्ञान का समष्टिभूत फल कह सकते हैं। यह वही भूमि है जहाँ धारणा thorought understanding and firm fixity of attention ध्यान deep meditation एवं समाधि absorbed attention इनका पुञ्जीभूत होता है। यह धृतिगृहीत ज्ञान को प्रीतिगृहीत ज्ञान के रूप में परिपूर्णता का लाभ करता है। इस समाधि के फल स्वरूप ही प्रज्ञा intuition का उदय होता है यह भावना विशेष developed reason है, मन की सभी सत्यशक्ति इससे नियोजित होती है। यही कारण है कि यह मन को शुद्ध विचार Pure thought के राज्य में, सत्यज्ञान Pure ideation के राज्य में शुद्धभावना की भूमि में अवस्थित रखता है। योग की इस समाधि में कर्म ज्ञान और भक्ति भी अवसान लाभकर योग संज्ञा प्राप्त करते है। पातञ्जल की दृष्टि में आकार शून्य स्वरूप मात्र निर्भास अवस्था है। इस स्थिति में ज्ञान को जीवकी स्मृति या संस्कार contribvte आरोपित होकर अन्यथा अनुरञ्जित नहीं कर पाते हैं। सर्वथा स्वरूप अवस्थिति शब्दान्तर से ब्रह्मार्पण या ब्रह्महवि है। इस अवस्था में जीव न तो इन्द्रियार्थो में न शरीरसुखावह कर्मों में प्रवृत्त होता है।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते तब निष्काय नि.स्पृह विजितेन्द्रिय, अध्यात्म चेता के रूप में समत्व की भूमि में अवस्थित लोककल्याण भावना से प्रवृत्ति करता है इसे कुण्डलिनी को जगाकर सुषुम्णा में प्रवेश कराकर ब्रह्मरन्ध्रभेदन भी कह सकते है। कुण्डलिनी तेजोरूप है। यह अद्वैत भाव को प्राप्ति है। अतः अद्वय प्राप्ति समत्व की भूमि पर अवस्थिति ही योग है और तन्त्र में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान शारदातिलक में माना गया है।

१अ)

ओं नमः शिवादिगुरुभ्यो ॥

श्रीदेव्युवाच ॥

अति गुप्ततरं प्रश्नं सुगूढं परमार्थदं ।

योगिनीं परं प्राणं कथयस्व प्रसादतः ॥

खेचरी भूचरी डाकिनी राकिनी लाकिनी काकिनी साकिनी हाकिनी ।

एतद् योगिनीनां परम्प्राणं मुखामुखं ॥

वद देव रहस्यं वै येनेदं मोहितं जगत् ।

निर्वीजी करणं विषापहरणं वह्नेः स्वयं ज्वालनं ॥

नाडीचारणविन्दुनादधूननं देहस्य शक्रमणं।

आत्मा ज्योति निदर्शनञ्च कुरुते स्वच्छन्दं मृत्युजयः॥ एते वेदविदो वदन्ति

मुनयः शैवे दशप्रात्ययाः। अन्तर्वहिः क्रोडी करणं नाडीसंकलनं।

मारणोच्चाटनं विद्वेषणसंक्रामणं अथ किं वहुनोक्तेन

षट्कर्मसिद्धीना करोति। एतच्च कथं विद्या महात्मानं कलसंकर्षणी

कथम्। कथं पूजार्चनं देव कथं विद्या परायणं। कथं मुद्रा

लयोत्पत्ति कथं संकेतमण्डलं।

१ब)

कथंमाचार्य कथनं नाडी यस्तु कथं भवेत्।

कथं महात्मा देवेश वर्णराजस्य किं कथं॥

सोमसूर्य कथं धामं शारीरं देवता क्रमं।

अन्तर्वाहु कथं देव चरुकं सम्प्रदायकं॥

परापर तृतीयन्तु कालसंकर्षणी त्रिधा।

यदि तुष्टोसि मे देव भक्ताहं ब्रुहि सङ्कर॥

मम प्रसादं कुरुते वदत्वम् मम हे प्रभो।

श्रीभैरव उवाच ॥

अतिगूढातरं पद्मं सुगूढं परमाद्भुतं ।

गूढां गहण गंभीरं खेचरीहृदयम्परं ॥

ज्ञात्वा तु सारसर्वस्व तन्नास्ति यन्न साधयेत् ।

ब्रह्मादिकारणानाञ्च सोमसूर्याग्निमारुतै ॥

लोकपालादि सर्वेषां नाख्यातं शृणुसाम्प्रतं ।

ब्रह्मादि कारणानान कथनीयां वक्ष्यते तव निश्चयं ॥

निश्चयम् वक्ष्यते कथनीयञ्च ।

शृणुयेतां महागूढां यागहोमसमन्वितं ।

शृणुष्वेता पूजनं अर्चनं जपहोम निमित्त चरु चर्या *?

२अ)

मयमेलापनाड्या गमसमस्तङ्कुरुते तथा फलदं भवति ।

कथयामि समासैन चक्कस्य परमाद्भुतं।

तथा चक्कं अवत *? तु महापितृवने घोरे पितृवणं श्मशानं

हृदय समस्त षट्तृंश तत्वी अष्टादशनाडीनां समूहं तिष्टति।

घोरभृकुटादने भीषणे यत्र मतं मारयति। एतत् श्मशानं भवति। इति

लिङ्गैथवा हरा स्वयंभुवाणलिंग इतरलिङ्गं कि स्थानं तिष्ठति लिङ्गं

योनि मध्य गतं लिङ्गंमथवा लम्बिके स्थितं। तत्र तिष्ठति महावृक्षे

तव स्थाने वृक्षं प्राणदण्डं कंदो मूलः यावद्वादशान्त महागिरि

वने तथा। गिरि पुर्वतं षोडशान्तं। महाचतुष्पथे वाथ चतुष्कोणं

इडापिङ्गला सुषुम्ना कुंण्डलनी एकीकृतं। तत्र चतुष्कोणं।

महानद्यामथापि वा। महानद्या गङ्गायमुना इडापिङ्गला

सघाटस्थानं।

२ब)

तत्र नदी। महा अटव्यं। रातिर्वा। अटव्यं निर्जानंज्जन वर्जितं। षोडशान्तं

निरालम्बं। अति रोद्ररूपं गहनं हर्षदायकं। महाहवेषु भीमेषु

वीरग्रासे च लम्पटे। महाहवमृत्यु मटका। मटकः मनः वीरजनानां

ग्रासी कृतः शब्दादीनां ग्रासी कृतः। सब्दादीनां ग्रासं कृततीत्यर्थः।

अथवा यत्र तत्र छमानसा भवते वलं। एदत् समसुस्थानं यत्र एकीभावं

क्रोति। तत्र विद्या समुद्धृत्य। तत्र तत्र प्रकर्तव्यं खड्गहस्त महासतिः।

खड्गहस्तं वीरत्वञ्च आत्माशूरत्वञ्च। वीरावीरवरं श्रेष्टं
योगिन्यामथ भैरवः। योगिन्यो ब्राह्माद्याष्टकी भरव्रतासिताङ्गमित्यादि।
अथ वाजितं क्रोधा पुरुषः। तत्र वलामाचांतस्मिस्था * *? आदौ
पूजा तु कारयेत्। योगिनीना यथान्य

३अ)

शोडशान्या तु एकतः। पूर्वस्मि स्थाने तत्र पूजाङ्करोति। यया येन
न्यायेनोत्तममध्यमकनिष्ठा पंक्तिभ्रमि *? षोडशन्यायेन
पूजां कृत्वा च।

चक्राचानं तु सविषां वोधमान परायणा।
तत्रस्था परमा भक्त्यामाद्यां वंद्या प्रयन्वतं॥

चक्राचारं षोडशान्याय एकी करोति। ब्राह्मी च द्वाक्कसी चैव ध्वजिनी अन्त्यजा
तथा। कन्दुकी चिंचिनी *? पी। शानकीक्षत्रिया तथा।

मातङ्गी चर्मचारी च धाचरी च महामति।
शूद्री वैश्वी तथा वैश्या धातकी नस्तकी तथा॥

एतास्तु पूजितास्तत्र जातिहंकार वर्जिताः।

ब्रह्मानी मुत्यं तिष्ठति। मुख स्नानं। करोति। यत्र महाकुलरात्री

चतुदशविध भूतसर्गं ग्रासी कृतं तथा रात्रि रूपे तिष्ठति। पुनः सृजति।

इति ब्रह्माणी॥ १॥

* *? सा कपालिनी समस्तनाडी अन्नम्पचयति।

३ब)

कारणंम्पचयति। सन्स्कारंङ्करोति। तथा ध्वङ्कसी भवति॥ २॥

ध्वजिनी छत्र धारी छत्रधारयति। छत्र वह्माण्डन्वारयतीत्यर्थः॥ ३॥

अन्त्यजास्तथा। समस्तकारणतां मीलयति। कुब्जिका परारूपा लेलिह्य

मानायथा।

खड्गसस्त छिन्नयते। यथा समस्तं तृणकाष्ठं दग्धयतिस्तथान्भाजा॥

४॥

कुन्दकी इति कादी च कन्दादुच्चरतो यथा।

कंदुकी परं पश्यती मध्यमा चेश्वरी॥

उल्लसतो नानारूपा पृथक् पृथक्। तथा कर्तृता रूपम्पचयति ॥ ५॥

चिंचिनी कर्णपाली चितयति तथा योनि मध्ये तिष्ठति। तान्य लम्बिकेन तिष्ठति। योनि

मध्याद् यथा लम्बिकान्तं यावत्। व्यापितं रस चन्द्रां गलयति चिंचिनीं॥ ६॥

रजकी मल प्रहारी मलं पुण्यं पापं। वाचिका मानसी कर्मय।

४अ)

यत्किंचित् मलं दह्यते। तथा मल * *? त्यजयति अन्तः मलिनं

स्वह्यि मलिनं प्रक्षालयति॥ ७॥

शौनकी खटुकी शब्दादिकमच्छेदनं षट्तृशतत्वा ध्या?तयति तथा

षटकी॥ ८॥

क्षत्रियास्तथा क्षत्रियो राजा प्राणशक्ति समस्तशरीर धारयति। वाह्ये प्रजां

धारयति॥ ९॥

मान्तङ्गी किन्नमित्तं। कालस्य सङ्कर्षणी नादविन्दुङ्भी? यत्र पशुवत

। तृणमात्र पश्यति तथा मानसी। चर्मकारी चर्मधारयति। माया देवी चर्मधरयति। चर्मकारि वा॥ १०॥

धीवरी किन्निर्मित्तं केवटी च। जालंधरयति। मायाजालं मीनवृती च कारणानां मच्छताधीङ्गं *? यति पक्षिणहन्सरूपं धरयति। यत्कर्मशुभाशुभं धरयते धीचरी वा॥ ११॥ शूद्राशसिधारिणी। चन्द्रं अमृतकला रूपं

४ब्)

चन्द्रं सृष्टार्थी शृष्टि हेतोर्पत्वस्तथा च वन चापरं। कृत्वा इत्यर्थः। इति शूद्री॥ १२॥

वैश्यावेश्या शब्दे कर्म सोमसूर्याग्नि कारण पञ्चक समस्त तिष्ठति। कर्म तथा वेश्या गृहे तारा रूपं द्रशयति॥ १३॥

मालिनी इति मालिनी मतरूपं पुष्पकारण समस्तं उन्मयति। उन्मेषणार्थत्वे तथा पुष्प प्रकर उन्मीलनी मूलेना श्रोडकर्णौ नासा द्वय रहितो रूपमिति पुष्पं तथा पुष्पकारी च॥ १९॥

नर्तकी तथा नर्तकी प्राणशक्ति रूपेन नर्तकी नरी। अर्द्धकालानुरूपं मतं गच्छति। धुन च प्लवनस्थैर्यरोमहर्षः। न क्षुद्ररादर्शणदूरा श्रवण। कर्णकलापसमस्तद्वय अद्वय रहितः। तथा नर्तकीत्यर्थः॥ १५॥ १६॥

एतास्तु पूजिता देवी सर्वकामफलप्रदा।

एवं पूजयेद् यथेष्टं फलकामम्भवतीति षडाध्वा षट्भिष्यंते पूजयेत् परमेश्वरा।

५अ)

पूर्वस्मिं कथनीय भग्ननासिका ताद्याद्विरोहौयं इकारं तत्र दृश्यते। चन्द्राचितो पार्श्व गतो देवीना क्रम दर्शनी। भग्ननासिका भग्ने शब्दे भग्नशिखा रूपं अधोमुखं हृत्पद्मं तथा पद्मं तथा मुखन्तथा कन्दं द्विरेफ सूर्यबिम्बं पुनः। रेफं चन्द्रबिम्ब चन्द्रमेलयति सूर्यः किन्निमित्तं मुखाग्रे च प्रविश्यते। इकारः नासा रूपः दृश्यते चन्द्रादित्यौ पाश्व गतो सोमसूर्यङ्गा पार्श्वे। नेत्र द्वयौ नथा अन्तः वहिः क्रोडीकरणार्थे मेलयति। देवी स्वरूपं लभ्यते। इति भग्ननासिकां॥ १६॥

एतास्तु पूजयेद् देवि सर्वकामफलप्रदा।

इत्ये ते। तत्र स्थानानि मासाद्य निम्नोन्नन्तविवर्जिते। क। पूजयते स्थान

५ब्)

ज्येष्टं क्रम ज्येष्ठं द्विक्षा ज्येष्टं तृतीयकं।

आज्ञा ज्येष्टं अधिकं कोत्र पूजयेत्। यस्य चिह्नं अवतरति। तस्य आदौ पूजा
निम्नोनत विवर्जयेत्। न वर्जयति समस्त सर्वजनं विश्वमयम्पश्यते।

पूजयेद् दर्घपात्रे तु निषार्द्धे तत्र तं प्रयोनिशार्द्धं निश। कुलकोलाङ्गल
पितं कन्द स्थानं अथ मर्द्धरात्रि कृष्णपक्षे चतुर्दशी पूजयति।
शिवाम्बुना अर्घपात्र कृत्वा अथ पूजये गोरी रहस्यं वदयति।

महाफल्गुथ?धूपेन महारक्तार्घ पात्रकं।
महातैलेन दीपानि दीपयेत् सर्वथा निशि॥

पुक्षसं स धूपं महारक्तार्घ पात्रं महातैल दीपं।
रक्तकरवीरपुष्पं दापयेत् सर्वथा रात्रौ दीपं वहानाडी वहयति। श्वपयनो
प्रज्ञाल्पं? कन्दपुष्प श्रोत्र द्वयं। द्वयता द्वय रहितौ तिलकं

हृदयं समताग्लपयेत्।

६अ)

इति अर्घपात्र उपहाराणि। देव्यानि उत्तमान्य धमानि च। उपहाराणि उत्तमान्यधमानि च। उपहाराणि ब्रह्मविष्णु महेश्वर इश्वर सदासिव यावत्। उत्तम मध्यम शब्दस्पर्श रूपरसगन्धमिति उपहारा *?।

मद्यपान शुरश्रेष्ठ लेह्य पेह्या तु दापयेत्।

मध्यमधानं सुरदेवं भजयते। सुरा सप्तादश विधा लेह्य पेह्यानि समृद्धः अथ चित्तशाथ्यं न कारयेत्। सरीरमनमारयतीत्यर्थः। तत्र क्षुद्र उद्धृत्य विद्या सा षोडशाधिक। उ * *? ञ्च। उर्द्ध्वाहौ ततोद्धृत्य। ऋद्धि जिह्वं उर्द्धतं ददेत्। तथा वह्नि बीज तु * * * * * *? पद्यत्। न * * * *?। ई * * *? मेकत्र स योजयेत्। * * * *?। कालबीजं द्वितीय *? यामे। शक्तिरा रहितास्तिकं। आ ए?

६ब)

वह। तृतीयां *? थमं * * *?।

चतुर्थमदुनाशशि। * * *? न्तु ततो * * *? ना
तदनन्तरं। ड। ऐँम्।

पञ्चमं चण्डराजं तु ष।ष्ठञ्च मधुना शृणु।
रुद्रवीजा त्वया नियत *? तद्धि जिह्व सप्तमम्प्रदं॥ ५॥

सोमबीजं। स। अष्टमन्द *? वमं बीजै * * *?।
कविह्विबीजं। न। लक्ष्मी बीजं। * *?। ई॥ श्रीदशमबीजनायकं।
अश्वबीजं णाहुश्वयुतं। इ। एं। णि। दश एका दशाक्षरा। द्वितीय * *
प्रथमं। क। आन्ये सहसंयुतं। आ। ऐँ। का। द्वादशाक्षर इंद्र बीजं ल।
योनि युतं। ऐं ले। द्वादशाक्षर मुद्धृत्य। चतुर्दश बीजमयं। म।
दशपञ्चाधुना शुणु। पञ्चमं द्वितीय वर्गन्वा। आद्यवर्णेन संयुतं।
आ। ए। छा। दश मञ्च। समाख्यातं षोडश अधुना शृणु। पञ्चम
* *? बीजञ्च। न। योनि बीज न संयुतं। ए। नी

७)

एव षोडशमं बीजं शक्तिरावं। ह। अन्वहहं। अ। ऐं ह। एकत्रं पूजयेत्।
*? महाप्रचण्ड तेजसंकर्षणिकालि म * * नि * *
*?। सप्तादशाक्षरा विद्यादि *? विद्यश्वरेश्वरी खण्डस्य

खण्डिना खण्डा खण्डखण्डाण्डा खण्डिनी। खण्ड खण्डो मता काली

विद्यासकांदशाक्षरा। फनिरूपस्य कालस्य अकुल विन्दु भक्षकीर्तृ वाहया

*? वर्तृता विद्या सप्तादशाक्षरा। अक्ष्राक्षर योगेन कालासब्देन ये

स्थिता। योगैश्वरि पदतास्ति विद्या सन्दोहः त * * * *? हाह

*? लीनावि * * * * * * * *? हाना

दानय दलीनं। विद्या स * *? ॥ कुरा। एवं स *? दशव

* * * * * * * * * * * * * *
* * * * * * * * * * * * * *

* * * * * * * * *? ।

७ब्)

नार्चनं नव पूजनं। गुरु प्रशादात्वं *? त सप्तासप्तति कोटय

*? मन्त्राणा दीपकं ते * * *? कं तं कारं।

स्वभावेन तु *? पित। मन्त्राणां कालितन्तैव कीलितं। कान लोकक्रम

नास्तिनाम्न त्रिलोक्य मोहनी। भूतवेताल शमती पापराशि निकृन्तनी। इत्येव।

मातृ चक्रेण सहिता। मातृणा सहित द्वादशैताधुनाशुणु। शिवावेगवती

माया भद्रकाली करङ्किणी। वज्रा *? यमजिह्वा च यक्षकर्णा

घटोदरी। वारमाता उलूका च द्वादशैव करङ्किनी। एवन्द्वाददे *? ॥

१२॥ मध्ये सर्व क्रोधा कुलारोद्री * *? ग्रसनाकु *? ॥

भुर्भूवस्वर्लोकाङ्ग सनसंहार करोति। पुनः सृजती। नाभिमेद्रान्त *

* * * *? विघ्नं विरोधयेच्च। कन्दः भूर्लोकः गेन्द्रः
भुवः नाभिभ्यर्लोक

८अ)

तत्र चित्तं निरोधयेतीत्यर्थः। मर्ज हृदयं अस्थीमान्सं रूधिरसयुतं।
त्वचमेवञ्च पीत्तञ्च चर्मसयुतं।

जीवर्घावते(?) वेद्य द्वादशं दिव्य माहरेत्।
प्रति द्वादश दिव्या एक एतज्जभी कृतं॥

नैवेद्य साधकं सिद्धिमिच्छितां। मन्त्र चान्यं प्रवक्षामि त्रैलोक्य मारयेत्
सदा। हुंकारमात्रमुद्दिष्टा यदि साक्षा कुलेशरी। तथा। मारयति। हुंकारेशि
मिषमात्रः। शक्तिरावञ्च। ह। कालञ्च। मातेजञ्चरि। सोसिका सह। ई। तथा
जमवीजञ्च। म। पिंडं एतद् योजयेत्। पिण्ड एकत्रं। ह्सीं। पञ्च पिण्डैन
मन्त्रेण। एतत् पञ्च पिण्डं। हुं फट्। तां ते च दीयते। एत न्यायेन। निजेन
चलात। स गुरु मुखात् सिद्ध्यते। एत न्यायेन ब्रह्माविष्णुश्च रुद्रश्च
इश्वरश्च सदासिवः।

क्षणमात्र प्रपूज्यंन्ते तत्क्षणान् मुर्ध्नि पातयेत्।

अध्यैकर पुटी कृत्वा मुखाग्रे च प्रतिष्ठिते ॥

८ब्)

अङ्गुष्ठतर्जनीयान्तु दातव्यञ्च प्रयत्नतः ।
जिह्वा मुखै मुहु भ्राम्य वामपादञ्च भञ्जिते ॥

एतद्वाह्ये प्रकर्तव्यं पश्चादन्तः समाचरेत् ।

अधोकरं हृत्पदं पुटी संकोच मुखाग्रे च प्रतिष्ठिते । मुखः
अधोमुखः कन्दः योनि गतं पद्मं । उर्द्धमख प्रसिद्धं । अद्ध
उर्द्धार्द्धौ प्रपुटीकायं प्रतिष्ठितं चिंन्तनीयं पूरकेन वा स्पर्शन
वामावर्तेन कुण्डलीनी उत्थापयति । यत् किञ्चिद् देव्या स्वरूप लभ्यते पुनः
अङ्गुष्ठकं शिवं । योनि * *? गतं लिङ्ग स्वरूपं तर्जनी
प्राणशक्ति कुण्डलनी पुटी वातरूपं तच्चरति । मेलयति । श्रोत्रौ मनः नेत्रो
स्वरूपं तथा । द्वौ पद्मा एकीकृतः स्वरूपलभ्य * * *?
एतश्च द्वितीया मुद्रा । आध्यायतीति । अधोकरि पुटीन्दात्वा मुखाग्रै च प्रतिष्ठिते ।
अधो द्वौ करपुटी मेलयते । मुखदन्त ।

९अ)

मुखचन्द्र बिम्बं द्वादशान्तं वसेत्। कनीया चां नतौ कृत्वा तर्जन्य
गुष्ठयो वुभौ। तर्जन्यं सूर्यबिम्बं। अङ्गुष्ट वह्नि रूपं। सूर्यं
हृदयं वह्नि कन्दं। जिह्वा रसनान्मेलयति। कन्दं। रति समय काल
शिवशक्ति संयोगात्। स्वरूप लभ्यते। अमृत मुद्रा।

एषा मुद्रा महावीरा वीराणां सिद्धि दापरा।
विवरान्ते च यत् क्रोधं यदि सम्यक् प्रयोजये॥

एतस्मात्।

एददेव्या प्रपूज्येत् मध्ये चैव कृशोदरी।

एत द्वादश दलं पद्म पूज्यां पद्मां षट्कोनं। यदि कल्पान्तं
महालयं तत्र देव्या प्रपूजयेत्।

नित्यमेव हि पूज्यंते सोमबीजं विसर्गत।

सोमसकारंः विसर्ग द्वयं विन्दु द्वय सहितः पुनः। खपर एकत्रं।
पञ्चपिण्डे दीयते। पञ्चपिण्डं ख्फ्रे सः अन्ते होमान्तरा योज्य होमान्तं

स्वाहा। गृहे चैव तु पूजयेत्। चरु उत्तम मध्यञ्च वाह्य पूज्यं प्रयत्नतः

।

९ब्)

वाह्य उत्तम मध्यस्थं चरू पूज्य गृहे सामान्य मीनमान्सेन पूज्यं।
यथाशक्ति निकार * *? यत्किंचिल्लब्दं तदा हरतीत्यर्थः॥

इति कालसङ्कर्षणीमते त्रैलोक्यमोहने चतुर्विंन्सतिसाहस्रे विद्यासमुदाये
टिप्पिणकं प्रथमः पटल॥

श्रीभैरव उवाच॥

तदान्यं कथयिक्षामि कर्णदेशे वराणने।
तासां सर्वां मनसा विद्या न समा कोटि सख्यया॥

विद्या द्वितीयो विद्येशी समयान्यमिति स्मृता।
नमानमति कोटीनां एक जप्ता तु साधकः॥

निस्कला तु इमाम्विद्यां मालामन्त्र तथा शृणु।

शृणु प्रिये मालामन्त्रं। नमानमति कोटीनां एक जप्त्वा कृत्वा सा च
निस्कला चेत्यर्थः। चन्द्र प्रथमं ज्ञेयं। तारान्तं। सप्तासप्तटिको *
* *? धाना उच्चारण मात्रा स्नानं भवति। ओं वर्णं॥ १॥ *
*? ॥

१०अ)

नमः शब्द मतः परंः नमः। चण्ड २। पद २। फालक्ष जप्तां फलं
भवति विद्या नामा सर्वसिद्धि पदं देयं। सर्वसिद्धि वर्ण ४। पद ४। जातं
जाति स्मरं भवेत्। योगिनीभ्यो पदं वमः। वर्ण ६। पद ५। ब्रह्महत्या
द्विमुक्तो भवति सर्वसिद्धि पदं देयं। वर्ण ४। पद ६। भ्रूणहत्या विनस्यति।
मातृभ्यो पदमेव च। मातृभ्यो। वर्ण ३। पद ७। गुरुहत्यां समुद्धरेत्।
नमो नित्योदिता मर्दे। वर्ण ८। पद ८। अगम्यागमनं नामयेत्। नन्दितायै
पदं तथा। वर्ण ४। पद ९। मित्र दोहश्च नश्यते। सकल कुल चक्रञ्च। वर्ण
७। पद १०। मुद्रा स्फोटनं भवेत्। नायकायै पदं पुनः नायिकायै। वर्ण ४
। पद ११। प्रतिमा चालयत् सदा। भगवति चण्डि पदं वर्ण ६। पद १२।
वैतालोत्थापनं। कापालिन्यै पदं तथा। वर्ण ४। पद १३। खेचरत्वं च
सिद्ध्यते। तद्यथैति पदं देयं।

१०ब्)

प्रथमङ्खण्ड उत्तमं। तद्यथा। वर्ण ३। पद १३। यत्किंञ्चित् स चराचर सिद्धयते। मातृखण्डस्य। वर्ण ५६। पद १४। पद्यञ्च। साक्षरादिष्टा पदानान्तु चतुदश। पुनश्च मन्त्रखण्डन्तु द्वितीयं तु नवाक्षरं। अनन्तरं मन्त्रखण्डन वाक्षरं। भगवतीत्यर्थः। शृणु आकर्णा वक्ष्यामि।

दीपकं प्रथमं ज्ञेयं ओं ह्रीं ममत्परे ह्रीं। हर क्रम ततः पश्चात्। हूँ। तृतीयं बीजनायकं। जीवबीजं हि। आद्य वर्ण आ। एवं हा। एकत्र संस्थितं कुण्डलाख्यं। फें योनि युतं। ए। पञ्चमं परिकीर्तितं। एवं फं। मन्दरं वीजम् उद्धृत्य। क्ष। त्रयोदश स्वरसंयुतं। ओ। एवं। क्षौं भीमा(?)कुस ततोद्धृत्य सप्तमंम्परिकीर्तितं। क्रों। नमःश्चैव द्विधा बीजं नमः नमः। एवं। ओं ह्रीं हुं ह्रीं क्षुँ क्षाँ *? नमः।

११अ)

वर्ण ९। एतन्नवाक्षरंमिदं दितीयं वरवर्णितं। मन्त्रखण्ड नवाक्षरं। द्वितीयं च खेचरत्वं आकासे गमयति। भूतत्व भू गमयति। यदि सम्यक् प्रयुञ्जीत। एवं वर्ण १। पद १। तृतीय

खण्डमुधृत्य दिशत पञ्च विसकं(?)। अन्य स्तुति खण्डं
वक्षामि। उद्धरिष्ये तथैवेशि। हे देवि उद्धृत्य वेवक्ष्यते। त्रि तत्वं परमं
पदं। त्रितत्वं ओंकारं। परमं पदं। एवं। वर्ण ४। पद १। अदृशो
भवति। हन्सिनीति पदं देयं। हंसिनी। वर्ण ३। पद २। यस्य यस्यति
तंनुग्रहं भवति। तस्य निर्वानमार्गदे। वर्ण ६। पद ३। आज्ञानां दृश्य
भवति। विषमो पप्लव प्रसमनि। सकल दुरितारिष्ट पद विक्लेशमेव च। सकल
दुरितारिष्ट क्लेश। वर्ण १०। पद ६। अरिष्टं नाशयेत्। दलनीति पदं चान्यं।

११ब्)

दलनि। वर्ण ३। पद ७। यक्षसी साधयति। सर्वापदपदं तथा। सर्वापदं।
वर्ण ४। पद ८। रस सिद्ध्यते। अम्बोधि तरणि। वर्ण ६। पद ९। रसायन
साधयेत्

। अन्यत् सकलशत्रुकं। सकलसत्रुक। वर्ण ५। पद १०। शत्रुणामारयतीत्यर्थ।
प्रमथनि पदं देवि। प्रमथनि। वर्ण ४। पद ११। निग्रहे। सिद्ध्यते शदा।
आगच्छ गच्छमेव च। आगच्छ २ वर्ण ६। पद १२। पादलेपं गमयते।
हसयुग्म तथा वर्ण। हस २ वल्ग २। वर्ण ८। पद १३। वाग्भवहास्यं काव्यं
कुरु। तत *?। नर रुधिरान्तं पदे तथा। नर रुधिरान्तं। वर्ण ६।
पद १४। पिण्ड चालनं कुरुते। वसा भक्षणि पद वर्ण ५। पद १५। समयी
पुत्रक आरान्त पदे वर्ण साधकश्च? यद्वेषं कृते तस्या कूल *?

१२अ)

मान्सवसारुधिर अन्तं। देवी भक्षयति। ममशब्दं पुन ददेत्। मम। वर्ण
२। पद *? ६। भूर्भुव स्वः लोकत्रय गमयति। स्वराष्ट्रं उद्धरेत्
पश्चात् * * *? द्दे पदं तत्। भासब्दं मर्द २। वर्ण ७। पद
१७। वेदना घाटनं भवति। लां हि २ पदं चान्यं। वर्ण *?। पद
१८। मृत्युनां सयति। त्रिशूलेन पदं तत भिन्दि २ द्विधा भद्रे त्रिशुलेन
भिन्दि भिन्दि। वर्ण *? २। पद १९। खँ न्ये वादं कुरुते। खड्गेन च
पुनः पदं। ताडयेति * * * *?। खड्गेन ताडय ताडय।
वर्ण ९। पद २०। खड्ग साधन तिष्ठति। तदध्यति। आकाशे गमयति। छेदयति
पदं तत्। छेदयेत्। वर्ण ६। पद २१। अष्टादश ज्वर छेदयति। तावद् यावत्
पदं चान्यं मम शब्दं * * * *? तावद्वा
ब्रह्म(?) म।

१२ब)

वर्ण ६। पद २२। वसीकरणं भवति। पदं सकल मेव तु तथा चैव
मनोरथं। सकलमनोरथां। * *? ता पद २ *?।
मनोरमा राज। वसी करोति। साधयति। द्वि पादेय मया परममेव च।
कारुणिकेति पद। साधय। *? रम का *? श *। वर्ण १३।
पद २४। पुरप्रदेशनं शमयति। अन्या भगवतीति च। भगवति। वर्ण ४। पद

२५। * *? मेलापयेत्। महाभैरव श * *? रूपधारिणि

मेव च। महाभैरव रूपधारिणि। वर्ण १ *?। पद २६। *?

महा * * * * * * * * * *?

नमितं। वर्ण ८। पद २७। योगिनी ग *? दयेत्। अन्यत् सकल शब्दञ्च

मन्त्रमाजे पदन्तथा। * * * * * *?। वर्ण ७। पद

२८। नमो नमति कोष्टीमन्त्राणा सिद्धयति।

१३अ)

प्रणतजनसब्दं च वत्सत्वेति पदन्तथा। प्रणतजनवत्सले। वर्ण ९। पद २९।

देवासुरनामविद्याधरगन्धर्वकिंनरमनुष्या यत्किञ्चित् वाल्मिकानां

वर्णनञ्च।

देवि शब्दं महादेय महाकाल समुद्धरेत्।

महाकालनाशनि पदं। महाकलिकाल नाशनि। वर्ण ११। पद ३०।

पाशच्छेदं भवति। हडमं च त्रिधा सर्वत्र?। हुँ हुँ हुँ। वर्ण

*?। पद ३१। विल च च कुरुते। प्रसाद मम देवेसि। मदनातुर मेव च।

आकार विन्दु युक्तं स्याद् योजयेद्रेहमुत्तमं। प्रसादमदनातुरा। वर्ण ८।

पद ३२। सिला वेधयेत्। पूर्वता वेधयेत्। कुरु कुरु द्विधा योज्य। कुरु २ वर्ण ४।

पद ३३। विगडाङ्गल यन्त्र विदारणं। सुरासुर पदान्वितं।

१३ब्)

* * * * * * * * * * * * *

* *? । वर्ण ७। पद ३४। सुरासुर * * *? भ्यश्च

क्रमे लोपं भवति। प्रा * * * * * * * * *

*? शः हः वह्निरः। एवा वहु। नासां विन्दुसंयुक्तं। ई। एह्रौ

वरुणान्तं स विन्दुकं। आः गुकारं सहितं। एव श्री। टिटिभा *?

सस्थं तु सर्वमायान्वितं कुरु। टिटिभासनं ह। शव। क्र। माया। *?

विन्दु। ठ। हूँ। शून्यवीजं रुद्रयुतं। विन्दुं। इन्दु विभूषितं। हुँ

फट्कारं तृतीयम् पश्चात् फट फट फटने शान्द्रं(?)

युक्त(?) भूषितं स्वाहा। एववर्ण। ९। पद ३२। मातृखण्ड।

वर्ण ४६। मन्त्रखण्ड वर्ण। ९॥ स्तुति खण्डस्य वर्ण * * * *

* *? ।

एषा वै त्रिखण्ड विद्या चैकत्र योजयेत्।

शतद्वयञ्च वर्णा *? नन्दत्याधिकमेव च॥

मालामन्त्र स्मृता ह्येष सर्वसिद्धि प्रदायक।

१४अ)

यत्किंचित् स चराचरं सिद्धयते।

अस्मि तन्त्रेषु * * *? सिद्धिलक्ष्मी जयद्रथै।
नान्यया सदृशी विद्या सर्वकर्मकरि शुभा॥

एषा विद्या महाप्रोक्ता मालामन्त्र गना स्मृतं।
न चैषा दीयते युक्ता स्वभावेन तु दीपिता॥

इति श्रीकालसङ्कर्षणीमते चतुर्विंशतिसाहस्त्रे समयाटिप्पणको नाम द्वितीयः
पटलः॥

श्रीभैरव उवाच॥

शृणु देवि प्रवक्षामि लक्षणं जपमुत्तमं।
जप ध्यान परा शक्ति नादमार्गा नियोजितं॥

जपस्य कीदृशं जपं जपयति। एकाशते त्योयवत् सहस्त्रं संख्याता
वर्जपयति। ध्यानकीदृशं। यत्र करण कलापं न किंचित् मन्त्र तं स्मरेत्।

यन्न स्मरेत्। शरीरण स्मरेत्। लज्जा शंका भय न स्मरेत्। एतत् काष्टी भूतं।

१४ब्)

शीतातपक्षुत्पिपासा निर्विकल्प न किञ्चिन भवेद्ध्यानं। अन्यञ्च किं स्वसु

*? ।

कन्दाकुण्डलिनी यावत् कुण्डल्यान् केशरं भवेत्।
केशराकर्ण देशे तु कण्ठा भ्रुमध्य संस्थितः॥

भ्रूणमध्या द्वादशान्तं तु द्वादशान्त। षोडशान्तकं। सम्वत्
कुटिलाकारा नववर्णा च घटयेत्। सर्पवत् कुण्डलनी। कुटिलात्। अगम्यात्।
नववर्णा। नव द्वार घटयेत्। पुटीकृतः स कोवः। कन्दाकुण्डलनी पचत्।
कुण्डल्या * * *? । हृदयात् कण्ठाकण्ठस्य भ्रुमध्य।
भ्रुमध्या द्वादशान्तं। द्वादशान्तं। द्वादशान्ता। शोडशान्तं
तदूर्द्धन्निरालम्बं तिष्टति। शनैः शनैः *? तनीयं। प्राणशक्तिः
यद्वत्। उदापन काल। तथा शुद्ध स्फटिक निर्मल शिखि प्रज्वलंतं चिन्तयेत्।
अन्यच्च। इन्द्र गोपक संकासं तालुरन्ध्राद् विनिर्गतं।

१५अ)

ब्रह्मनाडि प्रयोगेन प्राणशक्तिस्तु चिन्तयेत्।

इन्द्रगोपः मनः। आकाश द्वादशान्तं इन्द्रगोपक शब्दपञ्चेन्द्रियानं।
शब्दादीना यस्य चैतनस्य मनस्य व्याप्तिं। इन्द्रगोपक शब्देन ज्योतिर्गनं
आकाश दृश्यते। तालुरन्ध्रे विनिर्गतो तालुसब्दपातालं। रन्धः नवान्तः
तत्रैव षोडशान्तः ऊर्द्धः अद्ध ऊर्द्धः। कन्दार्?खचिते
यावन्निरालम्बं अथ द्वादशांतं वा उच्चरति। ज्वाला रूपं ब्रह्मनाडी
योगेन ब्रह्मनाडी शुशुम्ना मध्ये सूर्यबिम्बं भेदयेत्। शनैः शनैः
यावत् सोमबिम्बं त्रिभि एकीकृतं। सप्तरन्ध्र वामश्रोतं वामनेत्रं
वामनासा पुट ब्रह्मविलं। दक्षनासा पुटादक्षण श्रोतं। वह्मकवाटं।
एतस्तु मस्तै शिला ज्वालामुञ्चंतीं। ततः योगी। इत्येवं

१५ब्)

* * *? वह्नि शिखाज्वाला यथा ववुदितो(?) रविः।
निशाकर यथापूर्ण तत्र चित्तं निरोधयेत्॥

इह्यैवमर्षः। एतद्ध्यान। वाह्ये चैव प्रवक्ष्यामि समया मन्त्र मेव च।
लक्षजापाद् भवेत् सिद्धि यथेष्टं भक्तसाधकः। लक्षजापः अन्तलक्षंः
अकन्द वक्र ब्रह्मस्थाना नाभि चक्रे विष्णुस्थानं। एतत् वह्लाङ्क यत्र यत्र

मनं विश्रान्तंन्तं लक्षजपयति। यावच्च भरितावस्था मज्जान्तं रविशस्य

च। परतत्व(?) निली(?) नि *? म्य स्पन्दास्पन्द

नमाम्यहं। एतल्लक्ष जापात।

सप्ताविंसति जाये दीक्षितोसौ भविष्यति।

अष्टोतुरशतं जापात भोग्यार्थ लभते स्फुटं।

सताष्ट सतजापेन महद्भय विनाशनं।

एकशहस्त्र जप्त्वा तु वृहत् ते दण्डनायकं॥

जप्त्वामष्ट सहस्त्रं तु राज्यं भवति तत्क्षणात्।

१६अ)

अथवा युतजापान्तु देवत्वंञ्च प्रकीर्तितं।

अयुतं दिगुणं जप्त्वा रुद्रस्य ममद्रशण्यत्॥

तथा त्रिमुनितं जप्त्वा इश्वरत्वं सदाशिव।

तथामष्ट गुणं जप्त्वा खेचरत्वं प्रजायते॥

तथा दशगुणं जप्त्वा देव्यानाममतुल्यकं।
यथा देवी तथा देहे मम तुल्यो भविष्यति॥

समङ्कोप शिरो ग्रीवां धारयेदचलस्थि *? ।
स पश्यन्नासिकाग्रे तु दिश्याश्च नव लोकयेत्॥

होमं चैव दशाशेन कृत्वा जप मनुत्तमं।
मकार सहितं कृत्वा स्वेच्छाकारण तत्कृतं॥

आद्यौप्यगाकृतं आदौ पशु सङ्गविच * * *? ।
मुच्छमानं कृतं यागं मदिरानन्द चेतसं॥

गुप्तागुप्तविचारेण पञ्चरत्नसुशोभनं।
आहरं सिद्धिमिच्छन्ति पश्चाज्जाप विमुत्तमं॥

श्मशाने एकवृक्षे वा अथवाथ चतुष्पथे।
पर्वताग्रे नदी तीरे शून्यागारे च कारयेत्॥

१६ब्)

एतज्जापं प्रकुर्वीत पश्चाद्ध्यान समाचरेत्।

श्मशानं कंन्दु वृक्षं शोडशान्तं॥

चतुष्पथं इडापिङ्गलासुशुमना *? क *?।

पूर्वत भ्रुमध्य शून्यागार सुशुम्ना। हृदयं मनं। नदी इडापिङ्गला

। एतज्जापं कुर्वते। वाह्ये ध्यानं कीदृशं ध्यायेद् घोरा पराभीमा

षटवक्राश्च त्रिलोचनां। षट्त्रिंशा चतुजा देव्या सायुधा च प्रसिद्धिदा।

घोराभीमा रूपं ध्यायते। षट्वक्रा(?) षट्त्रिंश भुजाः

त्रिलोचनः। योगिनीना ध्यायते। महायोगेश्वरी पूर्वे कालसंकस्त्रे? हारू।

लोकरच्छि उत्तरे प्रोक्ता क्रोधनीयश्चि मे *? धा।

व्योमवामेसि ऊर्द्धन्तु नाख्य भासेश्वरी तथा।

ऊर्द्धवक्रे नियुंजीत एवं खड्वक्र उच्यते॥

अ अः कालग्रासन्तु *? हा पातः विद्युत्पातः अशनिपातः। उर्द्धयोजः

आपातः कन्यान्त पातः महासंहार पातः।

१७अ)

एवं सप्तमहोत्प *? पातयन्तीति पावितं।

प्रथमं पातनिषांतं पिण्डं पंचाक्षरम् भवेत् ॥

द्वितीयंम्यातस्थं स्थितं। तृतीयं पातनिर्दिष्टं नव * *?
म्प्रकीर्तितं। चतुर्थ निमितम्यातं सख्या त्रयोदश स्मृतं। पञ्चमं स्या
तथा तस्थं देशसप्तस्तु व्यापितं। षष्ठञ्च व्यापितं पातम्वाच्यवाचक
वर्जितं। पूर्ववक्के तु योगेशी। योगशब्दे इति योगेश्वरी। ओड्यानपीठं।
ख्फ्रें संहाररूपं। तत्र मध्यात् पञ्चपिण्डं। नाथस्य चोत्पत्तिः स
गुरुमुखसंप्रदायं। द्वितीय वक्र सक्रषणी दक्षिण वक्रा क्लींकारं
जालंधरं पीठं। तृतीय उत्तरवक्रं। करंङ्किनी पूर्वपीठं। कुब्जिका
देवी श्रीकार उत्पन्नं। चतुर्थ पश्चिम वक्रं क्रोधिनी देवी का * *?
पीठं कामेश्वरी ह्रींकारमुत्पनं। पञ्चमं शक्तिपीठं।

१७ब्)

वामेश्वरी देवी। ऐंकारं चोत्पन्नं। तदुर्द्ध अनाख्ये।
भासाश्वरीन्निनामपीठं। *?कारं चोत्पन्नं। एववक्रषट्कं
संखेषात्क * *?। अन्य गुरुमुखाल्लभ्यते। एवं छवक्रं।
अन्यञ्च कीदृशी भगवती। षट्त्रिंशा च भुजा देवी आयुधा सर्वसिद्धिदा।
आयुधाञ्च प्रवक्षामि यथावत् कथयामि ते। खड्ग। कपाल। त्रिशूलं मिवा
खट्वाङ्ग। अंकुस। पाश। वीना। पशु। फणि। द्विफणि। वज्र। मुद्गर। वान

। चाप। चक्र। तोमर। पद्मकं। वरद। एते दक्षिनं प्रोक्तं देवी चोक्तं वराननेे। गदा छुरिका देवनाचको दर्ष कर्तरी। चालिङ्गं मुंड डमरुं गदाशक्ति कमण्डलुं। मटकं कच संयुक्तं वहा चण्डास्त्रमेव च। पाशुपतास्तु परशु पाणिश्च आग्नेय्यां वारुणं अभयञ्चैव प्रसादं देवि उच्यते। वाङ्गमाश्वे च तत् प्रोक्तं षट्त्रिंशति भुजगा युधा।

१९अ)

षट्त्रिश तत्व धारयती। पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकासमेव च। शब्दस्पर्शरसरूपगन्धः। वाक्पाणि पायुपस्थपादाश्रोतं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासा मनोबुद्धिरहंकार प्रधानानि त्रिगुणमिति। पुरुषयम नियमानि रागो कालविद्यामाया शुद्धविद्या। इश्वरा सदाशिवा शक्तिशिवं। एवं षट्त्रिंशतत्वाः॥ ३६॥

षट्त्रिंश आयुधानाञ्च वक्षते। एव तत्व समाख्याता इत्य पाणिद्र धारयेत्। वहुधादवहुभुजा असंख्या च न विद्यते। एतस्मा सकलं रूपं निस्कलं सकलोद्यते। ठः इत्येव। पद्मासनस्तु पूज्यन्ते तत्पृष्टे प्रेतमुच्यते। तत्पृष्टे इन्द्रमुण्डं स्यादिन्द्र * *? च ब्रह्मकं। तत्पृष्टे विष्णु मुण्डं स्यात् विष्णुपृष्टे च रुद्रकं।

१९ब्)

तत्पृष्टे तु सप्त पूज्या सादाक्षं मुण्ड * * *? ।
एतत् पञ्च महाप्रेता तत् पृष्टे देवि पूजयेत् ॥

महापद्म हृदयं सेको च(?) विकामं(?) ।
तत्पृष्टे च मध्ये कर्णिकार्या च वसति प्रेतः। प्रेतशब्देन तमतस्य *
*? वर्ती शब्दस्पर्शरसरूपगन्धः। एतद्ब्रह्मविष्णुरुद्र इश्वर
सदाशिवत्वञ्च। काचित् इयं * * * *? क्रोडी करणार्थ इन्द्र
*? विलायते। इन्द्रमुण्डं पूज्यं ॥ १ ॥

मध्येषू स्वादये ब्रह्मगतां विदितं। ब्रह्ममुण्डं पूज्य ॥ २ ॥

मध्ये वृत्ति गलिता विश्रान्तं सहिता सह विष्णुमुण्डं पूज्यं ॥ ३ ॥

समस्त कारणं तन्मात्र तूल्या न किञ्चित् प्रसरंते रुद्रमुण्डंति
रुद्रमुण्डपूज्यं ॥ ४ ॥

सदासनवृन्त्या चि * *? न्य भूतानामीश्वर मुण्डेति इश्वर
मुण्डं पूज्यं ॥ ५ ॥

२०अ)

दितवत्स्थलति मन्त्रेति सदाशिवं मुण्डं पूज्यं तत्पृष्टे देवी पूज्यं किं
स्वरूपं। समरस परमे। नद्ये(?) द्येन(?) न
प्रभसरति(?) देवि स्वरूप निःशमशमभूमिकाङ्गिनना(?
)म्वं। तदा भगवती कालसंकर्षणी सिद्धिलक्ष्मी पादुकाम् पूजयामि।
शरणागतं रक्षयामि। एतत् सायेन पञ्चमु *? सते नमः। देवीनां
शारीर अभिप्रायेण पूजयेत्। ख * *? ण तु मन्त्रेण पूजयेत्
परमेश्वरं। * ? आकाश। फ वात। र * * *?। आप।
म। पृथिवी। ओजापूकामीका कामरूपा पीतः आकाशः। पूर्णगिरि भगः वातः
जालन्धरः * *?। तेजः ओड्यानः। पिण्डः। आप। योगपीठः
शरीरः पृथ्वी त्वचा। शिवाम्बु। आपा। रक्त तेज। अस्थाव्यतः। गर्ज आकाशः।
एवं पञ्चधा

२०ब)

स्फुरन्ते। पञ्चरङ्ग। इति पञ्चपिण्डन्निर्णयो मन्त्रं। इत्येव। युतन्यायेन
पूजयेत्। मोक्षार्थे श्वेत पद्मं तु भोग्यार्थे रक्तमुच्यते। कामार्थे
पीतवर्णन्तु मारणे कृष्ण उच्यते। इति अभिप्रायः करङ्किणी क्रोधिनी चैव तथा
सङ्कर्षणी वा *? वामपार्श्वेषु पूज्यते दक्षिणे अधुना शृणु देवी

आकार रूपः अकारादि अः कारान्तया वत्सर्यस्य व्याप्तिः। काकारादि भकारान्त यवदग्निस्य आ *?। मकारादि यावत् सकारान्तं सोमस्य व्याप्तिः। एतत् मायेन अ *? रस्ये चोत्पत्तिः। करंकिनी रूपं शक्तिः संकर्षणी पाशशक्तिः एतन्यायेन वाममार्गेन पूजयेत्। खेचरी लेलिहानाञ्च तृतीया चतुर्भैरवी। दक्षम।

* *? प्रपूज्यन्ते मध्ये पूज्या कृशोदरी।
परम शक्ति लेलिहाना प *? शक्तिः भैरवीय सा पर शक्तिः

२१अ)

एवं पर अपर पराद्य परा च। पूजयेद् दक्षिने मार्गे पूर्वोक्तयो देव्या मध्ये पूज्या। त्रैलोक्य मोहनी आदौ त्रैलोक्य मोहयेत्। द्वितीया च जयद्रथो वत्सले॥ २॥

पुनः पत्यङ्गिरा देवी॥ ३॥

चतुर्थेन वत्यधिका सिद्धि सङ्केतक चैव सिद्धिलक्ष्मी जयद्रथे॥ ५॥

प। ए *? ति नाम गृह्णीया। अतीतानागत प्रयो च दक्षि? च महादेवि

अन्यैव अधुना शुणु। पूजनं कथयिष्यामि मुख पाम्परे स्थितं। गनेश
वटुकम्पूज्यं। गनेशवटुकं प्राणोपाने द्वौ। गुरुं ईश्वरं आकारम्।
अकारस्य वद्धं चितस्फुलिङ्ग * काशवर्ण स्फुरतिं। तद्गुरुं प्रसरिते
आदौ च देवी पूज्यन्ते। पूर्वस्मिं देव्या कथिता। देव्या द्वादश संयुतं।
द्वादश देव्या ध्यानं वर्जते। पञ्चवक्रा चाष्टभुजा

२१ब्)

* * *? प्रेतासनसंस्थिता। त्रिशूल। खट्वाङ्गं
धरापद्ममुण्डकरोर्पिता। पुस्तका भयदा हस्तो कपालं कर राजते।
खड्ग(?) च? अष्टमं प्रोक्तं ध्यानमेतच्च द्वादश। एते
द्वादशमासा। अथ द्वादशकला अथ धातु मुनि संख्या च। पुनः षगरं
पूजते पूजयेत् परमेश्वरी।

कृष्णासुभीषणा रौद्री अतश्रग्दाम शोभिता।
एकवक्रा त्रिनेत्रा च मुण्डमाला चतुर्भुजा॥

मुण्डं पद्मं सनादीप्ता पाशांकुस धारिणी।
अथवा खड्गच्छुरिका षडेते ध्यान मु * * * * तं॥

पुनस्तत्रैव पूज्यन्ते समया पूजयेत् ततः।
पञ्चवक्रा दश भुजा त्रिनेत्रा संव्यवस्थिता ॥

प्रेतपद्मासना दीप्ता चन्द्रमण्डलमध्यमा।
ननायुष करा देव्यो यथेष्टं फलसाधकः॥

शंखिनीति शिवादूती वामदक्षिण पूजयेत्।
एतत् सर्व प्रपूज्ये ते पूजयेत् परमेश्वरी ॥

२२अ)

इति श्रीकालसङ्कर्षणीमते चतुर्विंसतिसाहस्त्रे पूजनविधिटिप्पणकं तृतीयः
पटल ॥

श्रीदेव्युवाच ॥

चरुकं संप्रदायञ्च मुखांमुख कथं भवेत्।
का कथ अन्तः कथं * *? व *? कथं स्थानोपपद्यते ॥

कथं स्थानां तु देवेश वदश्च मम हे प्रभो।

एतच्च ॥

ईश्वर उवाच ॥

शृणु देवि प्रवक्षामि रहस्यं मम दुर्लभं ।
योगिनीनां परम्प्राण आख्यतन्न कदाचन ॥

उत्तमाधममध्यञ्च पलाडुलसुनं तथा ।
गंजनम् विश्वक्षारञ्च हराम्बु भद्रमेव च ॥

नालाज्यं योनिपुष्पञ्च मीनप्राकाशिकचरुं ।
हालाहल सुरश्रेष्टं शोडशैते प्रकीर्तिता ॥ १६ ॥

प्रधानं त्रयोदश चरुं । मनः श्रोडश्चक्षु जिह्वा नासा बुद्धीरहंकारो मनोन्मनता ।

२२ब्)

घृणिशंकाभयं लज्जा विज्ञा गुप्त्या?कुलशील ॥ १६ ॥

अन्ये च स्नानं । जव(?) । कन्दनाभिः हृदयं कूर्म

नाडीसूक्ष्म मध्याद्दुर्द्धचन्द्रं । निरोधीनाङ्मनादान्तं निरालम्बं ॥

एवं ॥ १३ ॥

प्रधानस्थानानि ।

अमावास्या तु पूज्यन्ते यावत् प्रतिपदा स्थिता(?) ।

प्रतिपदा पञ्चदशमी पूजयेदनलो षन्तं(?) ॥

अमावाश्या प्रतिपदान्तं यावत् *? रुकं ।

एवं पूज्यं पूर्णिमा अमावास्या याव प्रति अनुलोमं ॥

पूज्ये कृष्णपूर्णा भुजं(?) योगी सा(?) । एक

*? कं दिना हरेत् । * * *? स्तथा शुक्लपक्षपार्णा

शृणु ।

अतः परं प्रवक्षामि विधानं अधुना शृणु ।

२३अ)

तरण्डदण्डद्रवितं या काचित् कला *? चिता ।

मनञ्च मारयेत् तत्र न महामन्स भक्षये ॥

तरण्डमिति तरण्डांमिति दण्डं । वाममार्गें वातश्च रूपे । तकारा तरण्ड

वर्ण । दक्षिणमार्गे वह्नि स्वरूपं । रकार रूपं दण्डामध्ये अत कं?

कलारूपं द्रावितं । तत् स्थाने मनमारयेत् । महामांस भक्षयेत् । अन्ये च ॥ १

॥

श्रोत्रत्व कुक्षषी जिह्वा । सोद्वामा अद्वय वर्जितं । कलापवनमशुञ्च न तु

गोमान्स भक्षयेत् । शब्दं न शृणुते । रूपन्तु पश्यति । रसनी खादयति ।

हृदयेत् ग्राहयति । अद्वया द्वय रहिते । एतत् समस्तं त्यजति ।

योगासामरंविकारसं । प्रति दिनं दिने । अश्वति ।

२३ब्)

भक्षते । अजरामरत्वं भवति । गोमान्सः ॥ २ ॥ कन्दाधारे *?

उल्लासां(?) वाद भुयं(?) वद्वाशिकां(?

) । सा कला अमृतं भक्ष * * * *? ञ्च शाक्तुनं

। कन्दाधारञ्च यावत् । लम्बिका सा * *? ममृतं । लम्बिका

पायते कुर्यात् *? वर्जयेत्। * *? लम्बिकं। रशमु *?

ञ्च गलितं शशि इन्दुराट्। अ *? गरकोशश्च पला * *?

च भक्षयेत्। पलस्य अण्डमिति पला *? लम्बिका रम * * *

*? मालमदो * * * * * *? न शनः

शनैः कन्दाधार द्वादशान्तं यावत् अथवा अजरामरो भवति। *

*? का * * *? रसा * * * *?

शनन्तथा। तेन मानश्मान्मत्तलशुनं(?) *? हरे।

* * * * * *? म्विकमव *? शशि क *

* * *? येत्। यान * * *? सद्यते। योगा च। ५१

घूर्णिजिघ्रा तु जाग्र * *?

२४अ)

* * *? वह्निमण्डले। वह्नि कन्दन्तेन मार्गेन सवं उच्यते।

कुतः गूंजनमाहरेत्। ६। विश्वञ्च चरुकं यत् वाडवानलसंस्थितं।

सोमसूर्यग्रासो यत्र पुरीषं आहरेत्यर्थः। विश्व अग्नि चरु। सोमसूर्यग्रसनं

किन्निमित्तं। वाममार्गे तुण्डलनी पूरकेन वातस्पर्शन उ * *? येत्

। तथा सोमसूर्यग्रासी कृतं तत्र वडवानले पुरीशं आहरेत्॥ ७॥

नडीयन्त्रश्च सद्यद्यकाक(?) सोमस्य द्रावितं।

लंबिकार समुष्ट्रञ्च शिवाम्वुं आहरेत् कुतः॥

कुण्डलिनी स्राविता नाडी यन्त्रसद्या * *? तुष्कोशं तत्र म्रर्चते ॥ ८

॥

*? क्त रविशशिशुक्रं अरशुक्रन्तु ये चेत्। तेन मश्न ममश्नी

याज्यानि पुष्पेन आहरेत्। रक्तं रवि शुक्रं शशि गोलक वातः। शिवं पुरुषः

शक्तिस्त्री

२४ब)

रूपं शिवशक्ति भ्रमागार्द्धयति। स्वरूप लभ्यते। योनि पुष्पं। कृत्वा।

हुतं करणं दत्वा मल त्रय * *? हुते। अमृतन्कावकुषे चलतु

श्लेश्मन्तु आहरेत्। अन्य * *? प्रायः ऊर्द्ध स्थिता

चन्द्रकलासुशान्ता पूर्णा अमृतानन्दरसेन देव *? तयो *?

याव *? विशेषयागात्तर्ज च चन्द्र * *? नश्च यस्मा

*? तेजश्च चन्द्रश्च वि *? ष्टकत्वाद्भवेत् तदर्कं आचतार

रूपयस्मान्स *? काशान् प्रभु * * *? द्विपङ्कविश्रा

* *? दग्रवि *? ॥ १० ॥

समस्त वृर्ति गलितं का *? णं * *? मर्दयेत्। पैशुन्य

* * *? श्नञ्च भगलिङ्ग *? * * * *

। * * *? त्येव षट्त्रिंशदङ्गुलं दण्ड * *?

भूतं * *? स्थित * * माता * * नश्रनात तु

*? हरेत्। * * * *?

२५अ)

तं *? लं प्राणदण्डं षट्त्रिंशतत्वा च त प्राण कुण्ड। *?

डाभ्यास * *? योगी। तत्किञ्चित् स्वरूप लभ्यते। १२॥ सोमसूर्य

द्वौ नेत्रौ भ्रुमध्ये हन्सते च न। तत्राभ्यासरता योगी न तु प्राकासिक

चरु(?) इत्यर्थः॥ १३॥

गगनं कम्बरं यत्र निरालम्बं च यत् स्थितं।

तत्रा स्वासरता योगी न तु हालाहलं चरु॥

हालाहलञ्चरुं गगनं। आकाशन्तथा द्वादशान्तं निरालम्बं ध्यायते।

मनः अत्यसते योगी *?। १४॥

वामनाडयाद *? शनाडया वसन्ति च सुरासुरा।

सा सुरायी यते यत्र न तु अन्यापि वे * *?॥

वामे देवः * क्षिणे असुरः * * * *? भावं करोति।

तल? नन्द *? रूपं लभ्यते। गुरुप्रशादां। शक्तिता मध्यमा

नाडी भरिता भैरवे तेज। तन्तु मद्यन्तु मश्नीयान्नतु * *?

२५ब्)

* * * *? १५। मध्य मध्यालवन्तन्तु स्वभावेन तु योजयेत्

। तेन पातरसं पी *? न * द्राक्षु क्षुसम्भवं। १६। इच्छञ्च

* * * यान्त * *? णे पाश * * * *

* *? सिद्धय *? इत्याह भगवान् पृये। * *

*? वाह्य प्रकर्त *? पश्य दन्त * * *? तरेत।

पचरन्न प्रयोगेन तृकोणं शक्तिमूलकं। वं रसंषीयते मलं द्रव्यते च

कृषोदरी। म। * * * *? नाभा * * *? ता

अथवा *? स्त्रिपानैश्या समयकालेन गुप्सानं शविवर्जयेत्। गोपनां

मिन्दि मिच्छन्ति कान्यथा पतनम् भवेत्॥

इति श्रीकालसङ्कर्षणीमते चतुर्विंसति साहस्रे * *? चरुकसप्रदायो

कामटिप्पणन्त चतुर्थः * * * *?॥

श्रीभैरव उवाच॥

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि यदु *? पुनरेव च ।

२६अ)

गया च प्रथमा नाडी गयां सुषुम्ना कुण्डलिनी ।

कलावररसं भवेता तस्य द्वादशष्टलानि द्वादशधा हृदया षड्मेव च ।

षट् ॥ ६ ॥

उपरितस्यैव पितृपाके स उच्यते । षट पितृ पाते । देवमाने षड्भिः । देवयाने

षड्भि *? देवयानै ॥ ६ ॥

दश अष्टा प्रकीर्तिता । एव ॥ १८ ॥

तालरन्ध्र शत(?) षट्भि मतं षड्भिः सूर्यस्य उच्यते ।

षट्भिर्मु * * * *? भ्यां म * *? षुम्ना च

तृतीयका । तदष्टा *? रतौजोगी न भूयोजन्मता व्रजेत् । इत्येव । पुन

* * *? प्रवक्षामि मण्डलं अधुना शृणु । गोमयेन

*? ये नित्यं गोमयं सत्य * *? समरसं भवेत् ।

सूत्रमातः जपजयन्क्रियते । पञ्चरङ्ग पञ्चरत्न शालि * *? न्द्र

कारयेत् । शालिचूर्णं तु योनिं । चूर्णमर्दयेत् ।

२६ब्)

षाट्कोणंमत्र कर्तव्यं। षाट्कोणं हृदयं। तत्रं स्वरूपो लभ्यते।
मध्ये योनिश्च दीयते। योनि सूर्यविम्बं तद्वाह्ये चतुरश्रकं। चतुरश्रं
ओजापुका। वामदक्षिण द्विभिः रेखोः प्राणोपानो द्वौ। * *? द्वौ
च द्वौ च दीयते। शिवशक्ति उर्द्धे वर्तुलं स योज्य वतुलं तदर्थ माया रूपं
। कर्मकुर्याद् विचक्षणः पताका तोरणयुतं। तोरणं। तरण्डदण्ड पताका
द्वादशान्तं। अन्यजादोलालयं * *? मास्वा च पञ्चधा
कुण्डलिनी। पञ्चधा। ध्वजा अब्दलायां एत दृष्टान्तं। पताका पञ्च
कारणं। कुण्डलनी पञ्चधा। पूरकेन पातेन। स्वरूपलभ्यते। षट्कोने
द्वादशादित्यो देव्या॥ १२॥

शिवाद्या मध्ये चैव कृषोदरी। प्राणशक्तिः चतुरश्रकं तु तन्मध्यो वाम
दक्षिण पूजयेत्। देव्या॥ ६॥ शखि *? तु शिवादूती अध्ये द्वौ द्वौ
प्रपूजयेत् कृपा पूर्णाह्न

२७अ)

* * * * * * * * * * * * * *
* * * * * * * * * * * * * *
* * * * * * * * * * * * * *
* * * * * * * * * * * * * *

* * * * * * * * * * * * *
* * * * * * * * * * * * *
* * * * * * * * * * * * *
* * * * * * * * * * * * *
* * * * * * * * * * * * *
* * * * * * * * * * * * *
* * * * * * * * * * * * *
*

इति श्रीकालसंकर्षणीमते कुण्डमुण्डला? * *? टिप्पणः

पञ्चमः पटलः ॥

श्रीभैरव उवाच ॥

शृणु देवि प्रवक्षामि * * * * * * * *? ।

* * *? कुण्डकर्तव्यं द्वात्रिंशाङ्गुलमेव च ॥

कुण्डं ब्रह्मविलं । द्वा त्रिंशवी *? देवतां ।

अथ वर्णादि ककारादि क्षकारान्त मेखला त्रितयं ॥

कृत्वा सोमसूर्याग्निः । ब्रह्मविष्णुमहेश्वरं । अङ्गुल्य *? एका

द्वौ त्रीणि चतु । एवां विष्णु(?) द्वौ रुद्र तृतीय ब्रह्मा इति मेखला

॥

२७ब्)

कुण्डसुसोभनं कृत्वा यथाव कथयामि ते।
होमे * *? मृतै नैव श्रीफल सह संयुतं॥

भोग्यार्थेन वरारोहे कारये तु विचक्षणः॥ ३॥

रक्तकदकारपुष्पं *? स रक्तेन *? युतं।

वस्यार्थे लभ्यते सिद्धि *? स्वाह भगवाशिवः॥ ४॥

महाभय समुत्पन्ने वृहते विष्टविग्रहे। कुसमं ब्रह्मवृक्षेण गु
*? लु घृत संयुतं। त्रिभिर्होमे प्रकर्तव्यं महाभ्य विलासनः।
*? तं देवव्य *? न्त * * * *

उन्च्लेर्

२८अ)

* लभते कामा इत्याह नात्र समाय॥ ६॥

* * * *? पुन * * * * *?

मारणं अधुना शृणु।

रात्रौ होमंम्प्रकर्तव्यं श्मशाने रसः यथो? ॥

एकवृक्ष नदी *? हा * * *? च न मागत्रा

साजकामस्तु *? र्ण तु माक्षिन्तः सहसंयुतं।

महातलेन सहित समिधा वटिकाष्टकं।

* *? : पूजयते * * रक्ताकारंतु कारचेत्॥

अष्टोतुरशतं कृत्वा माग्म त्रितशान्यपि।

द्वितीयश्च प्रवक्ष्यामि अग्निकर्म समारभेत्॥

सप्ताविंश पलक्षारं पुटलिका कृत्वा।

प्रतिदिनं अर्द्धमर्द्ध? होतव्यं कारयेद् बुधः।

पूर्वमुद्रा प्रदातव्यं * *? ये त्रिदशान्यपि॥ २॥

एक स्यात् कथितं देवि अग्निकर्मस्य तितय(?)।

इत्येव। अथ चिह्न लक्षणं।

धूमितं नील पूर्णन्तु कथित्वं विस्फुलिङ्गिकं।
ज्वाला तेजस्मती चैव * * * * * * * *? ॥

२८ब्)

उन्च्लेर्

२९)

मा * *? मोहनं ह्रियते सदा।

अंगुष्टं नामिका कृत्वा वशीकरणंमुत्तमं।
अंगुष्टं कनीयसं कृत्वा उचाटने कृतम्भवेत्॥

पञ्चागुलि प्रयोगेन सर्वकाम * *? सहति।
इत्ये तल्लक्षणंम्वक्षे कथनीयम्य चनत्॥

पुनरण्य प्रवक्षामि * * * * * * * * *?

।

योगिनी *? परप्राण * *? तप्ते च निश्चितं॥

ज्येष्टाशनै वाहनस्था पूज्यकामानवाप्नुयात्।
या * ? चिन्तयते देवि वाहनं * *? कामुरि ॥

ज्येष्टा *? दक्षिणदिशा भागं तद्वीतम *? रापं।
वाहतंदिक * * तस्य दक्षिणं पूज्यपादाराप्यं। अथ खल्वस्य शुल्व
चन्द्रताम्रसा जलं। तृतीयं लोहा * * * * * * *
* * *? कामयन्किमित्कयारोध्यै पूज्य। एवन्त्रिभिः कामं
पीठिका नत्वा। तत्पृष्टे द्वकं

२९ब्)

* * * * * * *? पूजयेत्। मुद्रा दत्वा
पूर्वस्मित्कथिका। तत्र दक्षिणदिशां अ *? षोडस पूज्य। यस्य
वाहतस्य * *? गमयते रात्रौ * *? ष्टम्या अथ चर्तु
* *? डमयते। यत्किंचित्भाशुभान * * *? श्यते
। *? ता * *

उन्च्लेर्

३०अ)

* * * * *? मदिरानन्द घूर्णनं चात्रौ * *

* * * * **? ति ष्टति ।

वद् मे स्वामी भवति । इति पुरुषसिद्धि ॥

इति श्रीकालसङ्कर्षणीमते अग्निक्रमायजनो नाम टिप्पणक षष्टः पटल ॥

श्रीभैरव उवाच ॥

तिलकं सम्प्रवक्षामि तथास्तप च साधनं ।

अञ्जनं गुटिकादीनां वश्यावर्धनमेव च ॥

पातालभजनं देवि तन्नास्ति यन्न साधयेत् ।

हेका कर्णा ते । पूयं गुरोचनं रोध्रं पिप्पिलोन्थसनः शिला ॥ चन्दनं

श्वेतवर्णञ्च तथैव सूक्ष्मचूर्णमिति कृत्वा रक्षरेते *? भायुते ।

सप्ताभिमन्त्रितङ्कृत्वा तिल *? न वशं जगत् । रणैराजकले *

*? ते संग्रामे सजा *? भवेत् । वल्लभः सर्व जा *

*? कामदेवसमो भवेत् ।

३०ब्)

अचिन्तितानित्यर्थानि सदा तस्मा भवन्ति हि ।

अन्नरुण्ये प्रवक्षामि वर्तते सहिरुधि क्रमं ॥

*? च * * *? मं चैवन्त *? रं गर्भस्त

*? ।

एतत्समस्त *? याशिकारय विचक्षणः ॥

अत्र वन्याख्यास्यामः गोसारने प्रसिद्धं कुंकुमे प्रसिद्धं चन्द्र शब्देन

कपूरम्मलयस्ततः । मलयच्चन्दनं । सु * न्नानिहितं वक्षोसि *?

रस । मृगनाभिकस्तुरिकमकुण्डगोलको शिवशक्तिसंयोगात् । स्वयंभु

कुसमं । प्रथमर * * * स्तीरज भगः । एतत्समस्त य * *

*? ब्द चैतन्या वीरविग्रहसंयुजं । स चन्द्रं दैवताम्बुल नेत्रं

कर्ज * * * *? मेवशक्तिसहितं * * * * ते

* *? पुष्पे च * * * * * * * *?

सुमाभवश्वेतं ।

३१ - ३३)

उन्च्लेर्

३४अ)

लं *? क्ष चतुर्मुख सह * * * *? नस्यति

शब्देन अ * * *? ते च कास्मीर देशे * * त्यजः।

चतुर्मुखः रौद्रौ कृष्णपक्षे तु पूजयेत्। शून्य गृहे तु मन्त्रं चान्यं

प्रवक्ष्यामि येनेदं मोहितं जगत्। कुण्डलाख्ये योनियुतं अथवा दायकेन तु।

द्विधो देयव एकतः रेवहौं हः त्रिवर्गञ्च महामन्त्रयोगिनीनां सुखे

स्थितं। एकत्र मन्त्र हः हुं हुँह् वर्ण ३ विष्णुरसक तोयेन अपूकम्वमनरे।

विम्वन संसिवाम्वुं हृज्य(?)मानञ्च द्रवितं। वाहन

द्रवकं। तत्पृष्टं यदिशांग त्वा तव हूंकारं करोति इत्यर्थः। कन्दा

द्वादशान्तन्तु द्वादशकलमाहरेत्। सूर्य * * * * * *

* * * * * * *? पात्रञ्च *?

सहरेत्(?)। स्फुर्जमानञ्च प्राचनं भाववन्ति सा उच्यते। क

*? *? विन्दुः

३४ब्)

संयुतं। * * * * * * * * *? स का

* * * * * * * * वच्चन्द्र

उन्च्लेर्

३५अ)

भ्रष्टाजनानामसृयं वदेत्।

दुःखशोका च वहुलं * * * * *? पूजनं।
पृथिव्यादीनि सर्वाणि ब्रह्माण्ड स चराचरं॥

ब्रह्माविष्णुश्च रुद्रश्च इश्वरः शिव मेव च।
तस्यान्तं सर्वतृप्ता च वे? आद्ययागस्य तत्फलं॥

कालाग्नि रुद्र पूज्यन्तं शिवान्तं वा तथौपरि।
सप्तदीपसमुद्रा च स भुवनानि चतुर्दश॥

एकास्ये शिव योगी च आद्य यागस्य तत्फलं।
ब्रह्महथ्यादि नस्यन्ति गोहत्यामथ भ्रुणहा॥

गुरु माता पिता भ्राता नान्ववाश्चैव सर्वत्र।
सर्वपापं प्रणस्यैत आद्ययागं भजेन तु॥

भुक्तिमुक्तिफलं तस्य सौभाग्यं धनसम्वहा(?)।
रुद्रलोके वसेन् नित्यं त्रिनेत्रो भगवान् हरः॥

षष्ठिकोटि सहस्राणि गर्वाकन्यादुदीयते।
अथवा अश्व *? धन्तु? तत्फलं आद्ययागकान्॥

३५ब्)

वालुकारासिसंस्थायं शिवान्तं याव चोपरि।
एकैकस्य तु मुद्धृत्य सप्तकोटि शतोपि च॥

तावत् तद्भुजते कोला यावद् भूमि दिवाकरौ।
तस्य ते क्षयमाप्नोति आद्य यागस्य काक्षया॥

गुरु निन्दा च ये केचिद् ये केचित् मन्त्र दूषकाः।
पीठदूषक ये केचिद् योगिनी दूषकं भवेत्॥

वीरनिन्दाश्च ये केचित् शिवशक्तिश्च दूषकाः।
पच्यते नरके घोरे यावदा भूमिसंप्लवं॥

तवन्ते रौरवा कारे यावन् सादाशिवम्पदं ।

इह * *? मुदारिद्रं अन्यवत् स कुल क्षयं ॥

मर्जमेदा दशा अन्ता मान्सैर * *? मे * *? ।

* * * * *? योगिनीमन्यां न * * * *

* * * * * * * * * * *?

भक्तानां मन्त्रं ध्यान परायनः । * *?

३६अ)

* * * * * * * * * * * * *
* * * * * * * * * * * * *
* * * * * * * * * * * * *
* * * * * * * * * *?

* * * *? नाम टिप्पणकः समाप्तः ॥

* * * * * * * * * * *? महाश्री ॥ ॥

XXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXX

स्थानं प्रवेशो रूपं च लक्षं लक्षणमेव च ।
उत्थापनं बोधनं च चक्रविश्राममेव च ॥ १

भूमिकागमनं चैव अन्तावस्था तथैव च ।
विश्रामः परिणामश्च तथागमनमेव च ॥ २

इति त्रयोदशविधं शाक्तं विज्ञानमुत्तमम् ।
सर्वेषु त्रिकशास्त्रेषु सूचितं शम्भुना स्वयम् ॥ ३

नाभ्यधोऽङ्गुलाः पञ्च मेढ्रस्योर्ध्वाङ्गुलद्वयम् ।
तन्मध्ये कन्दनामा च चक्रस्थानमिति स्मृतम् ॥ ४

प्राणापाननिरोधेन मनस्तत्रैव निःक्षिपेत् ।
सम्यग्वायुगतिं जित्वा यावन्मध्यगतां नयेत् ॥ ५

एष प्रवेश इत्याहू रूपं वक्ष्यामि चाधुना ।
शृङ्गाटकनिभं चक्रं षडरं चापरं ध्रुवम् ॥ ६

दाडिमीकुसुमप्रख्यं कन्दं वै जातिलोहितम् ।
एतद्रूपं समाख्यातं तृतीयं चिन्तनात्मकम् ॥ ७

तन्मध्ये निक्षिपेच्चित्तं यावत्तत्र स्थिरीकृतम् ।
त्यक्तरुद्धो यदा वायुस्तदा लक्षं विनिर्दिशेत् ॥ ८

कन्दचक्रस्य मध्यस्था त्वनाहतमयी कला ।
अधऊर्ध्वे रेखासंयुक्ता भुजंगकुटिलाकृतिः ॥ ९

ऊर्ध्वाधोऽवस्थितावस्था सूर्याचन्द्रमसावुभौ ।
सत्यं विराजमाना सा सहस्रार्कसमप्रभा ॥ १०

तामेवालोकयेच्छक्तिं मनाक्कुम्भकवृत्तिना ।
एतल्लक्षणमुद्दिष्टमुत्थापनमतः परम् ॥ ११

जुषद्रेचकवृत्त्या तु मन्त्रं चैव समुच्चरेत् ।
प्रबुद्धां चिन्तयेच्छक्तिं दण्डवत्परमेश्वरीम् ॥ १२

आधारमध्यादायाता सुषुम्नामार्गमाश्रिता ।
उत्थापनं समाख्यातं बोधनं परतस्तथा ॥ १३

कन्दस्थो वेधयेन्नाभिं ततो हृत्स्थं पितामहम् ।
कण्ठस्थमच्युतं साक्षाद्रुद्रं तालुतले स्थितम् ॥ १४

भ्रुवोर्मध्यगतं त्वीशं ब्रह्मद्वारे सदाशिवम् ।
बोधयित्वा व्रजेदाशु पदं चानाश्रितं शिवम् ॥ १५

एतद्बोधनमुद्दिष्टं चक्रविश्रामणं ततः ।

बोधयित्वा व्रजेदाशु पदं चानाश्रितं शिवम् ॥ १५
एतद्बोधनमुद्दिष्टं चक्रविश्रामणं ततः ।
स्वाभाविकं दलं दीप्तं द्रवं स्थिरनभोपमम् ॥ १६
अमृतं शेखरं चैव शक्तिर्ब्रह्मा तथैव च ।
बिन्दुनादं तथा प्रोक्तं चक्रद्वादशकं किल ॥ १७
वेधयन्ती क्रमाच्छक्तिश्चक्रे चक्रे प्रतिक्षणम् ।
विश्रमेत्सा महादेवी चक्रविश्राम उत्तमः ॥ १८
हृदयं कम्पते पूर्वं तालुकद्वारमेव च ।
शिरश्च भ्रमते तस्य दृष्टिसंक्रान्तिलक्षणम् ॥ १९
एकैकं भ्रमयत्यङ्गमङ्गप्रत्यङ्गसंधिषु ।
घूर्णते हृदयं चास्य सम्यग्विद्याप्रभावतः ॥ २०
यानि यानि विकाराणि अवस्था कुरुते सतः ।
तेषु तेषु न भेतव्यं क्रीडति परमेश्वरी ॥ २१
अमृते सेयमुन्मत्ता विकारान् कुरुते बहून् ।
मलत्रयविकारौ बहुजन्मसु यत्कृतम् ॥ २२
धुनोति समलान् पाशात्परशक्तिसमुत्थितान् ।
भूमिकागमनं प्रोक्तमन्तावस्था तथोच्यते ॥ २३
यत्संक्रान्तौ रोमहर्षोऽस्रुपातो जृम्भारम्भो गद्गदा गीर्गिरोऽन्तः ।
ग्रन्थिस्फोटः स्पर्शदिव्यप्रहर्षो बिन्दुस्पन्दा नाभिकन्दात्स्फुरन्ति ॥
अन्तावस्था समाख्याता विश्रामस्त्वधुनोच्यते ।
नाभिचक्रविनिर्याता यदा शक्तिः प्रबुध्यते ॥ २५
तदा त्वस्तमितं सर्वमक्षग्रामं बहिः स्थितम् ।
यदा सा परमा शक्तिः सुलीना परमे पदे ॥ २६
तदा न विन्दते किंचिद्विषयी विषयान्तरम् ।
शिवे विश्राम्यते शक्तिस्तदा विश्राम उच्यते ॥ २७
यत्र विश्रमणं शक्तेर्मनस्तत्र लयं व्रजेत् ।
तदात्मा परमात्मत्वे ज्ञातव्यो निश्चितात्मभिः ॥ २८
शिवीभूतो भवत्यात्मा परिणामः स एव हि ।
सदा स वर्षते दिव्यममृतं जन्तुजीवनम् ॥ २९
चित्तं तत्र तु संधार्य पुनर्देवी विशेत्तु सा ।
तदा त्वागमनं प्रोक्तमेवं सम्यक्त्रयोदश ॥ ३०
□

यह 'मिश्रकमार्ग' का प्रतिपादक है। इनके अनुवर्ती ही 'मिश्रकमार्गी' हैं।

चौंसठ तन्त्रों का अनुवर्तन करने वाले शाक्त 'कौलमार्गी' हैं।

शुभागमपञ्चक को मानने वाले शाक्त 'समयमार्गी' हैं।

इनमें से मिश्रमार्ग एवं कौलमार्ग त्याज्य है—

मिश्रकं कौलमार्गं च परित्याज्यं हि शाङ्करी।

ईश्वरवचनात् मिश्रकमतं कौलमार्गं च परित्याज्यम्।[1]

कौलमार्ग एवं कौलमत कौलों द्वारा स्वीकृत मार्ग एवं मत हैं—

कौलैः मृग्यते अवलम्ब्यत इति कौलमार्गः कौलमतम्।[2]

कुल, अकुल और कौल

शिवसंहिता (श्लोक-५५) के अनुसार 'कुल' परमेश्वर का नाम है—

चित्तवृत्तिर्यदा लीना कुलाख्ये परमेश्वरे।।

शिवसंहिता में ही कहा गया है की 'कुल' कुण्डलिनी शक्ति का नाम है—

अत्र कुण्डलिनी शक्तिर्लयं याति कुलाभिधा।
तदा चतुर्विधा सृष्टिर्लयते परमात्मनि।।

सौभाग्यभास्कर में कहा गया है कि 'कुल' कुण्डलिनी शक्ति का एवं 'अकुल' शिव का नाम है। कुल से अकुल का सम्बन्ध-स्थापन ही 'कौलमार्ग' है—

कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते ।
कुलेऽकुलस्य सम्बन्धः कौलमित्यभिधीयते ।।

अकुल (परमशिव) और कुल (शक्ति) को मिलाकर समरस बनाना ही कौल-साधना का लक्ष्य है तथा कुल एवं अकुल का सामरस्य (समरसत्व) ही 'कौलज्ञान' है।

सिद्धसिद्धान्तसंग्रह (४.१२-१३) में कहा गया है कि चूँकि शक्ति निखिल विश्व की उद्भाविका एवं प्रपञ्च-प्रवर्तिका है; अतः विश्वरूपी कुल की प्रसवित्री होने के कारण इसी शक्ति को 'कुल' कहा जाता है—

सा चापरम्परा शक्तिराज्ञेशस्यापरं कुलम्।
प्रपञ्चस्य समस्तस्य जगद्रूपप्रवर्तनात्।।

वर्ण, गोत्र आदि से रहित होने एवं अनन्य, अखण्ड, अद्वय, अविनश्वर, अनि-र्धर्मक एवं अनंग होने के कारण ही शक्तिमान शिव को 'अकुल' कहा जाता है—

वर्णगोत्रादिराहित्यादेक एवाकुलं मतम्।
अनन्त्वादखण्डत्वादद्वयत्वादनाशनात् ।
निर्धर्मत्वादनङ्गत्वादकुलं स्यान्निरन्तरम्।।

---

१. लक्ष्मीधर : सौन्दर्यलहरी टीका : 'लक्ष्मीधरा'— श्लो. ३१।

२. लक्ष्मीधरा : श्लोक- ३१।

कुल की अन्य व्याख्यायें— 'कुल' शब्द के निम्न रहस्यार्थ हैं—

१. वंशानुगत। २. योगानुगत। ३. दर्शनानुगत।

'कुल' का वंशानुगत अर्थ— कुल या वंश दो प्रकार के होते हैं— बिन्द्वात्मक और नादात्मक। 'बिन्दुक्रम' से सम्बद्ध 'कुल' स्थूल शरीर को जन्म देने वाले माता-पिता से सम्बद्ध है और 'नादक्रम' से सम्बद्ध 'कुल' गुरुपरम्परा से सम्बद्ध है। इसी प्रकार सृष्टि भी द्विविधात्मिका है— 'बिन्दुरूपा' और 'नादरूपा'। परमशिव से लेकर अपने दीक्षागुरु तक चली आ रही गुरुपरम्परा ही 'विद्याक्रम' है और इससे सम्बद्ध कुल ही वास्तविक 'कुल' है। इस विद्याक्रमानुगत 'कुल' के अनुयायी ही 'कौल' हैं।

'कुल' का योगशास्त्रानुगत अर्थ— आचार्य भास्कर राय ने 'सौभाग्य-भास्कर' (ललितासहस्रनाम की टीका) में 'कुल' शब्द की विशद विवेचना करते हुए इसके अनेक अर्थ दिये हैं; यथा—

१. कुल = सजातीय समूह (कुलस्य सजातीयसमूहस्य)—

'सजातीयैः कुलं यूथम्।'　　(कोश)

२. कुल = परमशिव से स्वगुरुपर्यन्त गुरुपरम्परा—

'परमशिवादि स्वगुरुपर्यन्तो वंशो वा कुलम्।'

३. 'सङ्ख्या वंश्येन'— इस पाणिनिसूत्र के अनुसार 'वंश' के दो प्रकार हैं— विद्यया एवं जन्मना : 'नादक्रम' एवं 'बिन्दुक्रम'।

'आचार' या 'कुल' (महाभाष्य)।

४. कुल = आचार— 'न कुलं कुलमित्याहुराचारकुलमुच्यते।'

५. कुल = सुषुम्ना मार्ग— 'सुषुम्नामार्गो वा कुलम्।'

६. योगपरक अर्थ— भास्कर राय कहते हैं कि 'कुल' का अर्थ है— मूलाधार चक्र। 'कु' अर्थात् पृथ्वीतत्त्व में 'ल' अर्थात् लीन होना। जिस चक्र में पृथ्वी तत्त्व लीन है, वह चक्र ही है— 'मूलाधार चक्र।' 'कु पृथ्वीतत्त्वं लीयते यस्मिंस्तदाधारचक्रम्।'

चूँकि सुषुम्ना नाड़ी मूलाधार चक्रस्थ 'कन्द' से निःसृत होती है और इसी पश्चिम पथ से कुण्डलिनी देवी यात्रा करती हुई 'अकुल' शिव तक जाती है; अतः सुषुम्ना नाड़ी को भी 'कुल' अभिधान प्राप्त है।

७. सिद्धसिद्धान्तसंग्रह (४.३०) में निखिल सृष्टि को ही 'कुल' की आख्या प्रदान कर दी गई है; क्योंकि 'कुण्डलिनी' सृष्टिरूपा है एवं सृष्टि कुण्डलिनी का स्थूल विकास है। कहा भी गया है— 'सृष्टिस्तु कुण्डली ख्याता।'

'कुल' शब्द का दर्शनानुगत अर्थ— विश्व के समस्त पदार्थ तीन भागों में विभक्त हैं— ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय। ज्ञाता = ज्ञान का कर्ता। ज्ञेय = ज्ञान का विषय। ज्ञान = जानने की क्रिया।

संसार के समस्त पदार्थ ज्ञाता के ज्ञान के विषय हैं। 'मैं' ज्ञान का कर्ता है। 'मैं जानता हूँ'— यह जानने की क्रिया 'ज्ञान' है और 'मैं घट को जानता हूँ'— इसमें 'घट' मुझ ज्ञाता के ज्ञान का विषय है।

'ज्ञान' की व्यापकता— 'ज्ञान' समवाय सम्बन्ध से 'ज्ञाता' में व्याप्त है। यही 'ज्ञान' विषयत्व के सम्बन्ध से 'ज्ञेय' में व्याप्त है और यही 'ज्ञान' तादात्म्य सम्बन्ध से 'ज्ञान' की क्रिया में व्याप्त है।

घट को जानने के लिए तो ज्ञान की आवश्यकता है, किन्तु स्वप्रकाश ज्ञान को जानने के लिए किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि ज्ञान स्वप्रकाश है। अतः उसके प्रकाशन के लिए परप्रकाश की आवश्यकता नहीं है। सुदीप्त दीपक को दीप्त करने के लिए अन्य दीपक की आवश्यकता नहीं पड़ती। जगत् ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान की समष्टि है। इस त्रिपुटीगत जगत् के समस्त पदार्थ ज्ञान की दृष्टि से सजातीय हैं; इसीलिए समस्त जगत् भी 'कुल' है। इस कुलज्ञान के ज्ञाता ही 'कौल' हैं और कौलों का ज्ञान ही कौलज्ञान है। निखिल विश्व के समस्त वैश्विक पदार्थों का त्रिपुटीभाव से अवबोध होना ही 'कौलज्ञान' है।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' कहकर श्रुति भी ब्रह्म को ज्ञानस्वरूप स्वीकार करती है। जगत् भी ब्रह्ममय है— 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। ज्ञाता भी यथार्थतः ब्रह्म ही है— 'अहं ब्रह्मास्मि'। यह अद्वैत-ज्ञान ही 'कौलज्ञान' है और इस ज्ञान के साधक ही 'कौल' है।[1]

कुण्डलिनी शक्ति

शाक्त-साधना के मेरुदण्ड कुण्डलिनी के जागरण के विना आत्मसिद्धि सम्भव नहीं है। गुरुतत्त्व को शरीर के नव रन्ध्रों में व्याप्त माना गया है—

'तेन नवरन्ध्ररूपो देहः।' (भावनोपनिषद्-२)

'देहरन्ध्रनवत्वेन गुरोर्नवत्वं भासत। स्वदेहगतनवरन्ध्राणि नव नाथा इति यावत्।'

(भास्कर)

गुरुतत्त्व— मालिनीतन्त्र में कहा गया है कि गुरु भगवत्स्वरूप है—

स गुरुः मत्समः प्रोक्तो मन्त्रवीर्यप्रकाशकः।
आदिमान्यविहीनास्तु मन्त्राः स्युः शरदभ्रवत्।
गुरोर्लक्षणमेतावदादिमान्त्यं निवेदयेत्।।

भास्कर राय गुरु को पारिभाषित करते हुए भावनोपनिषद्भाष्य में कहते हैं— 'ईश्वरानुग्रहवशेन जायमानो विवेक एव सर्वसंशयभेदनेन मन्त्रवीर्यप्रकाशनेन तात्त्विकपदार्थानामवकाशप्रदानाद्विमर्शपदाभिधेयो गुरुः।'

---

१. कौलमार्गरहस्य : नाथसम्प्रदाय।

कुण्डलिनी के विभिन्न स्वरूप

कुमारी कुण्डलिनी और उसका अवस्थान

'कुण्डलिनीशक्तेरवस्थात्रयं विद्यते। यस्मिन् चक्रे कुमारी कौमारावस्थामापन्ना प्रथमं सुप्तोत्थिता मन्द्रयते मन्द्रस्वरं करोति, कुण्डलिन्याः सर्पात्मकत्वात्। सर्पो हि सुप्तोत्थाने मन्द्रस्वरं करोति।' (लक्ष्मीधर)

कुमारी कुण्डलिनी

ॐ
कुण्डलिनी
प्राणापान का आघात ↓ कुण्डलिनी का जागरण ↓ फूत्कार
स्वयम्भू लिङ्ग
मूलाधार चक्र
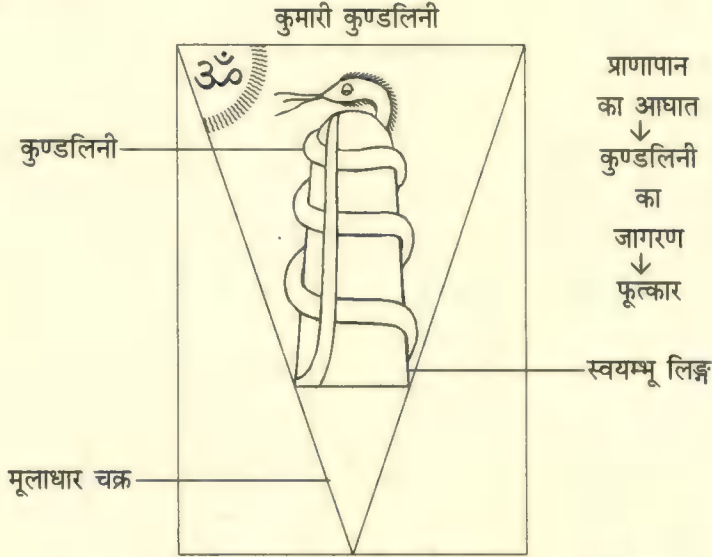
यत्कुमारी मन्द्रयते यद्योषित्पतिव्रता। अरिष्टं यत्किञ्च क्रियते अग्निस्तदनुवेधति। (वेद)

ध्यायेत् कुण्डलिनीं देवीं स्वयम्भूलिङ्गवेष्टिताम्।
चित्कलां यां कुण्डलिनीं तेजोरूपां जगन्मयीम्।। (यामल)

मूलाधारे मूलविद्यां विद्युत्कोटिसमप्रभाम्।
सूर्यकोटिप्रतीकाशां चन्द्रकोटिद्रवां प्रिये।
बिसतन्तुस्वरूपां तां बिन्दुत्रिवलयां प्रिये।। (ज्ञानार्णवतन्त्र)

शक्तिः कुण्डलिनीति या तु गदिता आईम् संज्ञा जगन्निर्माणे। सततोद्यतां प्रविलसत् सौदामिनीसन्निभाम्। शङ्खावर्तनिभां प्रसुप्तभुजगाकाराम्। (त्रिपुरासारसमुच्चय)

देहमध्ये ब्रह्मनाडी सुषुम्ना सूर्यरूपिणी पूर्णचन्द्राभा वर्तते। सा तु मूलाधारादारभ्य ब्रह्मरन्ध्रगामिनी भवति। तन्मध्ये तडित्कोटिसमानकान्त्या मृणालसूत्रवत्सूक्ष्माङ्गी कुण्डलिनीति प्रसिद्धाऽस्ति। तां दृष्ट्वा मनसैव नरः सर्वपापविनाशद्वारा मुक्तो भवति। (अद्वयतारकोपनिषद्)

भ्रूमध्ये सच्चिदानन्दतेजःकूटरूपं तारकं ब्रह्म। तदुपायलक्ष्यत्रयावलोकनम्। मूलाधारादारभ्य ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं सुषुम्ना सूर्याभा। मृणालतन्तुसूक्ष्मा कुण्डलिनी। तत्र तमोनिवृत्तिः। तद्दर्शनात् सर्वपापनिवृत्तिः। (मण्डलब्राह्मणोपनिषद्-प्रथम ब्राह्मण)

योषित् कुण्डलिनी और उसका यात्रापथ

योषित् कुण्डलिनी

यद्योषित् पतिव्रता (वेद)।

यद्योषित् यस्मिन् चक्रे कुलयोषित् विष्णुग्रन्थिपर्यन्तं गत्वा रातीति।
(आचार्य लक्ष्मीधर)
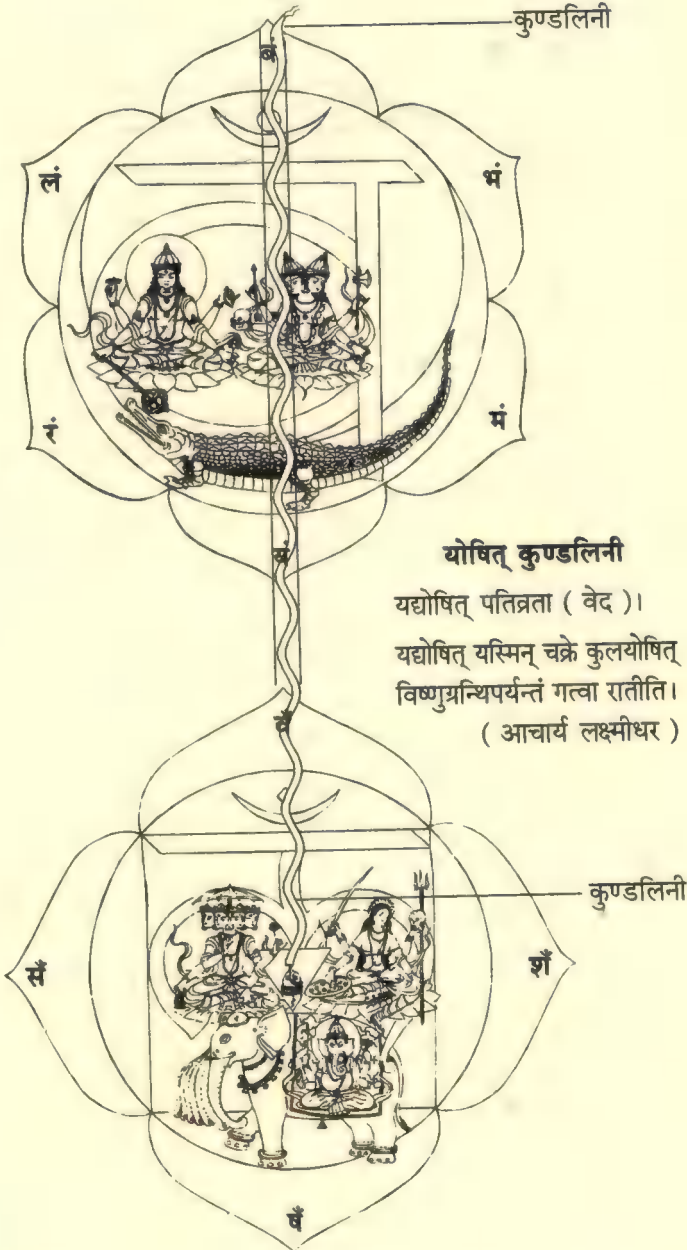
पतिव्रता कुण्डलिनी और यात्रा-पथ— **पतिव्रता कुण्डलिनी**

यद्यस्मिन् चक्रे पतिव्रता पत्या सदाशिवेन सार्धं सहस्रदलकमले विहरमाणा। (लक्ष्मीधर)

यद्योषित्पतिव्रता (वेद)।

कुण्डलिनी का यात्रा-पथ

आज्ञाचक्र

पतिव्रता कुण्डलिनी

विशुद्धि

अनाहत

मणिपूर

स्वाधिष्ठान

मूलाधार

विशुद्धि

अनाहत

मणिपूर

स्वाधिष्ठान

मूलाधार

मध्य नाड़ी : सुषुम्णा

पिङ्गला नाड़ी : दक्षिण नासापुट

इड़ा नाड़ी : वाम नासापुट

आज्ञाचक्र

विशुद्धि

अनाहत

मणिपूर

स्वाधिष्ठान

मूलाधार

सुषुम्णा नाड़ी : कुण्डलिनी की यात्रा का मार्ग : कुण्डलिनी के आरोहवरोह का राजपथ।

जर्मन लेखक ख्रितगोल द्वारा प्रस्तुत चक्र
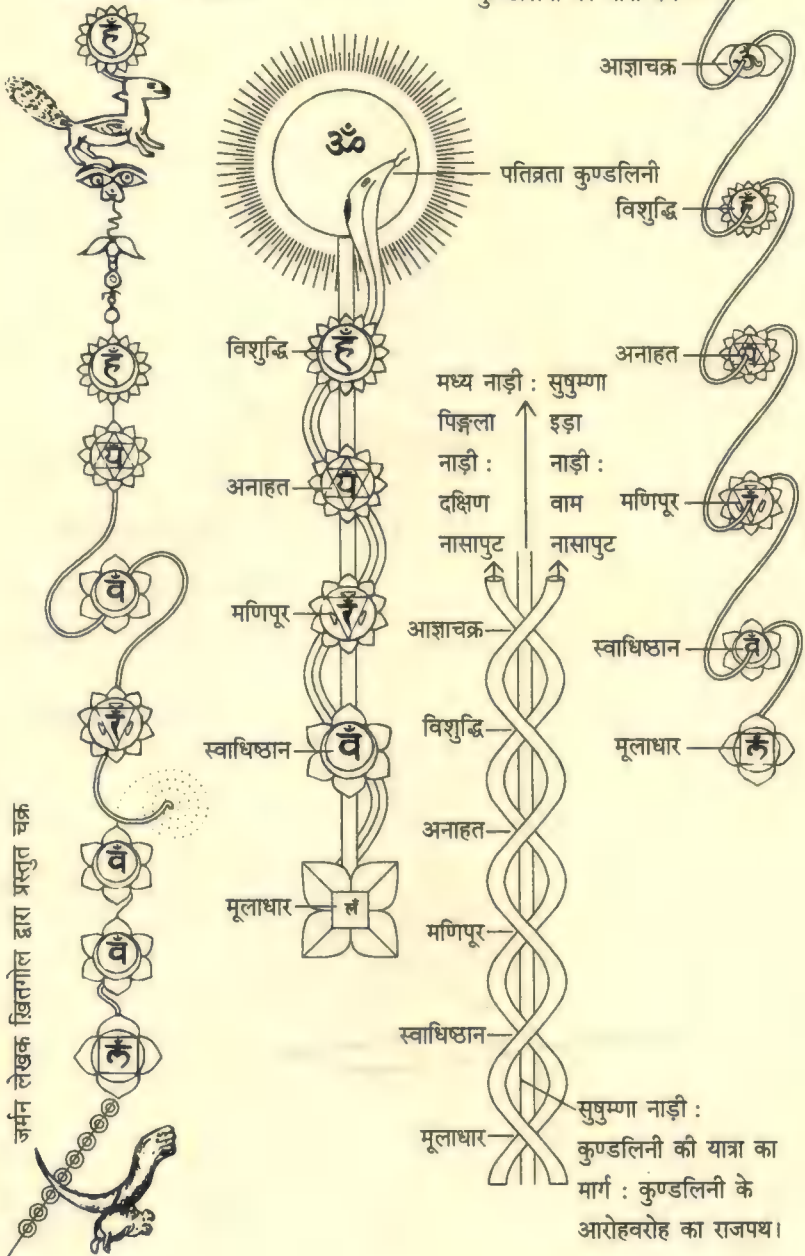
पतिव्रता कुण्डलिनी की लयभूमि— **सहस्रारचक्रम्** (सहस्रदलपद्म)

बैदवस्थाने सहस्रारे सुधासिन्धुमध्ये मणिद्वीपे चिन्तामणिगृहे। (लक्ष्मीधर)

पतिव्रता कुण्डलिनी का लयस्थान
(पतिव्रता कुण्डलिनी का परम धाम)

समयमते चतुष्कोण-
मध्यगते बिन्दुः।
(आचार्य लक्ष्मीधर)

कुलयोषित्कुलं त्यक्त्वा
परं पुरुषमेति सा।

शिवलिङ्ग = शिव का प्रतीक।
शालिग्राम = विष्णु का प्रतीक।
त्रिकोण = शक्ति का प्रतीक।

सहस्रार : सहस्रदल पद्म
आज्ञाचक्र : द्विदल पद्म
(इतर लिङ्ग)

विशुद्धिचक्र :
षोडशदल पद्म

अनाहतचक्र :
द्वादशदल पद्म
(बाणलिङ्ग)

मणिपूरकचक्र :
दशदल पद्म
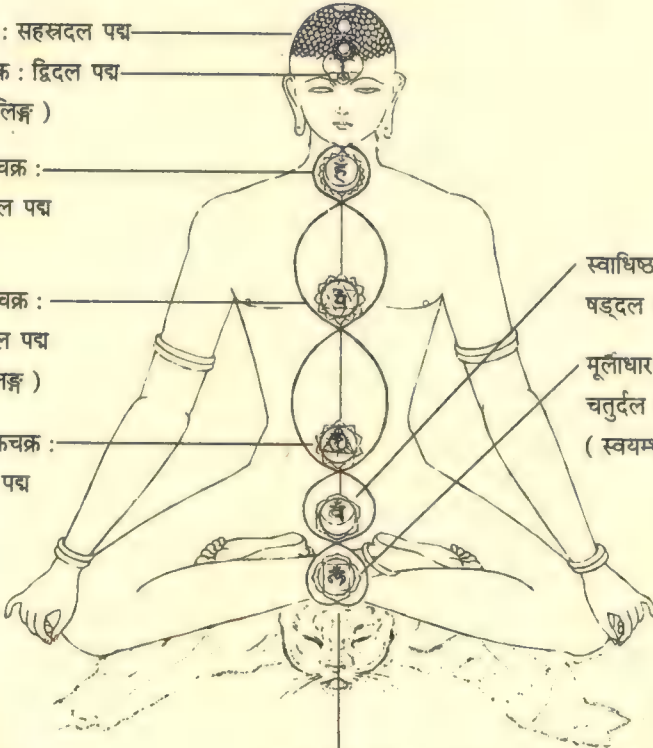
स्वाधिष्ठान :
षड्दल पद्म

मूलाधार :
चतुर्दल पद्म
(स्वयम्भू लिङ्ग)

सुषुप्त कुण्डलिनी : कुमारी कुण्डलिनी का निवास-स्थान

कौलमत के अनुसार : **श्रीयन्त्र** : कौलाचार के अनुसार

यदा सा परमा शक्तिः स्वेच्छया विश्वरूपिणी।
स्फुरत्तामात्मनः पश्येत्तदा चक्रस्य सम्भवः।।

विश्वसर्जनस्वरूप एवं आत्मनिष्ठ अपनी स्फुरत्ता का दर्शन → **श्रीचक्र**।
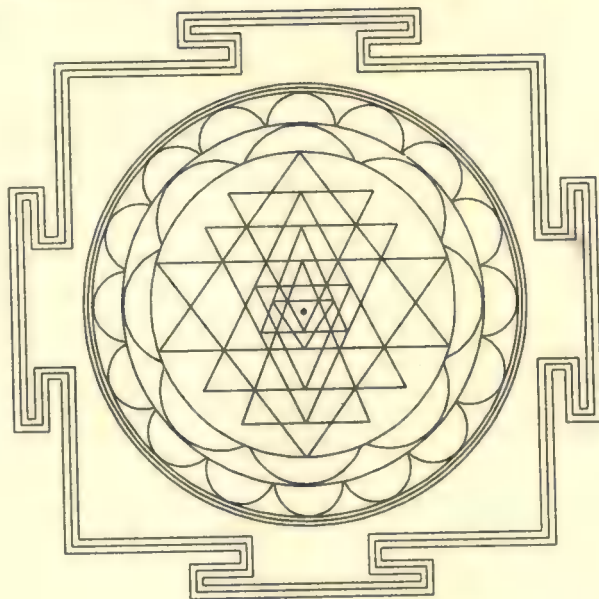
श्रीचक्रक्रम

१. सृष्टिक्रम— नवयोन्यादि पृथिव्यन्त सृष्टिक्रम है।

२. संहारक्रम— पृथिव्यादि नवयोन्यन्त संहारक्रम है।

इन दोनों की समष्टि 'त्रिपुराचक्र' है। अतः श्रीचक्र सृष्टि-प्रलयरूप भी है।

● कौलमत में श्रीचक्र का संहारक्रम के अनुसार एवं समयमत में सृष्टिक्रम के अनुसार लेखन होता है।

● कौलमतानुसार चार अधोमुखी त्रिकोण शिवचक्र हैं और पाँच ऊर्ध्वमुखी चक्र शक्तिचक्र हैं। (श्रीचक्र के मध्य-स्थित बिन्दु को ही सुधासिन्धु माना जाता है)।

● पाँच शक्ति एवं चार वह्नि (शिवचक्र) के संयोग से ही श्रीचक्र की उत्पत्ति होती है—

तच्छक्तिपञ्चकं सृष्ट्या लयेनाग्निचतुष्टयम्।
पञ्चशक्ति-चतुर्वह्नि-संयोगात् चक्रसम्भवः।।

● सृष्टि : पाँच त्रिकोण : शक्ति (अधोमुखी); संहार : चार त्रिकोण : शिव (ऊर्ध्वमुखी) = ९ योनि = धर्माधर्म, आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा, ज्ञानात्मा, जीव, ग्राह्य प्रमा। इसीलिये श्रीचक्र नवयोन्यत्मक है।

कौलचक्रे त्रिकोणमध्यगते बिन्दुः, समयचक्रे चतुष्कोणमध्यगतो बिन्दुः।

इसी महाचक्र में महात्रिपुरसुन्दरी की पूजा हुआ करती है। इसी में ९ शक्तियाँ भी स्थित हैं।

वामकेश्वर तन्त्र में भी कहा गया है—

तत्रास्ते परमेशानी महात्रिपुरसुन्दरी।
शिवार्कमण्डलं भित्वा द्रावयन्तीन्दुमण्डलम्।
तदुद्भूतामृतस्यन्दिपरमानन्दनन्दिता ।
कुलयोषित्कुलं त्यक्त्वा परं वर्षणमेत्य सा।। (भैरव यामल)

इसमें 'शिवार्कमण्डल' के 'शिवा' का अर्थ है— कुण्डलिनी। कुण्डलिनी शक्ति अर्कमण्डल हृदयकमल के ऊपर स्थित सूर्यमण्डल का भेदन करके, अर्कमण्डल के ऊपर स्थित ब्रह्मद्वार को आच्छादित करके सहस्रदल कमल में स्थित इन्दुमण्डल को डसती है और उसे द्रवीभूत कर देती है; अतः कुलयोषित् कुण्डलिनी शक्ति कुल (कुलमार्ग = सुषुम्ना मार्ग) का त्याग करके और 'इन्दुमण्डल' में स्थित रहकर ७२ हजार नाड़ियों में अमृत की उत्कृष्ट वर्षा करती है। वही कुण्डलिनी पुनः अपने स्थान— स्वाधिष्ठान में आकर शयन करती है।[१]

कुण्डलिनी का स्वस्थान— आधारचक्र के मध्य-स्थित सुषिर के अन्तर्गत बिसतन्तु-निभा कुण्डलिनी का निवास है—

'आधारकन्दमध्यस्थितसुषिरमध्ये बिसतन्तुनिभा तत्र कुण्डलिनी शक्तिः वर्तते।'
'सा कुण्डलिनी पुनः स्वस्थानमेत्य स्वाधिष्ठानं प्राप्य स्वपिति।'

इन दो कथनों द्वारा लक्ष्मीधर ने कुण्डलिनी का स्वगृह एक स्थान पर तो स्वाधिष्ठान बताया, किन्तु दूसरे स्थान पर मूलाधार चक्र बताया— ऐसा क्यों?

कुण्डलिनी तत्त्व और शक्ति-जागरण

शाक्त साधना एवं शाक्त दर्शन का मुख्य लक्ष्य है— सुषुप्त शक्ति का जागरण। चूँकि शक्ति के जागृत होने के पूर्व मुक्ति सम्भव नहीं है; अतः शाक्त सम्प्रदाय की समस्त शाखाओं में शक्तिजागरण की साधना प्रधान है।

'कुलशक्ति' पाताल लोक में अवस्थित है और 'अकुल' तत्त्व मुक्तिलोक में। कुल-शक्ति (कुण्डलिनी) अकुल (शिव) की प्रियतमा है; किन्तु अनन्त काल से अपने प्रियतम से वियुक्त है और साधक का लक्ष्य है— इस वियुक्त दम्पति का मिलन कराना। गोरक्षनाथ ने 'पाताल की गंगा' को ब्रह्माण्ड में चढ़ाने का जो उपदेश दिया है, वह पाताल की गंगा कुण्डलिनी ही है। गोरखनाथ कहते हैं—

'पाताल की गंगा ब्रह्मंड चढाइबा, तहाँ बिमल जल पीया।'

कुमारी कुण्डलिनी— कुण्डलिनी शक्ति की तीन अवस्थायें हैं— 'कुण्डलिनी-शक्तेरवस्थात्रयं विद्यते'। कुण्डलिनी शक्ति की 'कुमारी अवस्था' वह है, जिस अवस्था में वह कुमारी (कौमारावस्था में स्थित) रहती है और सोकर उठने पर प्रथमतः मन्द्र स्वर

---

१. लक्ष्मीधरा।

में ध्वनि करती है। यह ध्वनि सर्प होने के कारण सोकर उठने पर करती है; क्योंकि प्रत्येक सर्प सोकर उठने पर मन्द्र स्वर ध्वनित करता है— 'यस्मिन् चक्रे कुमारी कौमारावस्थापन्ना प्रथमं सुप्तोत्थिता मन्द्रयते मन्द्रस्वरं करोति, कुण्डलिन्या सर्पात्मकत्वात्। सर्पो हि सुप्तोत्थाने मन्द्रस्वरं करोति, तद्वदित्यर्थः।[१]

यत्कुमारी मन्द्रयते यद्योषिद्यत्पतिव्रता।
अरिष्टं यत्किञ्च अग्निस्तदनुवेधति।।[२]

योषित् कुण्डलिनी— जब कुण्डलिनी विष्णुग्रन्थिपर्यन्त जाकर ध्वनि करती है तब उसे 'योषित् कुण्डलिनी' कहते हैं— 'यद्योषित यस्मिन् चक्रे कुलयोषित् विष्णुग्रन्थि-पर्यन्तं गत्वा रातीति शेषः।'

कुलयोषित् कुलं त्यक्त्वा राति विष्णोः प्रभेदने। (सनत्कुमार)

पतिव्रता कुण्डलिनी[३]— जब कुण्डलिनी अपने पति सदाशिव के साथ सहस्रदल कमल में विहार करती है तब उसे 'पतिव्रता कुण्डलिनी' कहते हैं— यद्यस्मिन् चक्रे पतिव्रता पत्या सदाशिवेन सार्धसहस्रदलकमले विहरमाणा।

यह कुण्डलिनी जो अरिष्ट (अमृतास्वादरूप शुभ उपलब्धि) प्राप्त करती है, उसे प्राप्त कराने में स्वाधिष्ठान चक्रगत अग्नि उसकी सहायता करती है। अभ्यासवश वायु के द्वारा अग्नि को प्रज्वलित करके अग्निशिखा से अनुविद्ध चन्द्रमण्डल से पीयूषधारा चूने लगती है और इसे पीकर २५ तत्त्वों से अतीत यह परमेश्वरी सहस्रार चक्र में विहार करती है।

शक्तिकुण्डलिनी

'अ' नाम की पराशक्ति ही 'अमा' एवं 'सप्तदशी कला' है। यह तिरोधान से मुक्त होने के कारण नित्योदित है। यही 'अमृत कला' है। षोडश कलाओं की यही उद्भाविका है। प्रमाता, प्रमेय एवं प्रमाण तीनों 'अमा कला' से एकीभूत (अभिन्न) हैं। जब 'अमा कला' विसर्गहीन हो जाती है (जब वह बहिर्मुखी नहीं रहती) तब उसकी आख्या होती है— 'शक्ति कुण्डलिनी'। यह प्रसुप्त, सर्पाकार, स्वात्मविश्रान्त 'परासंवित्' है। 'विसर्ग'

---

१. लक्ष्मीधरा (श्लोक-११) २. लक्ष्मीधरा (श्लोक-११)

३. कुण्डलिनी के कुमारी, योषित, पतिव्रता आदि स्वरूप गौडपादाचार्य ने भी कहा है—

कुमारी यन्मन्द्रं ध्वनति च ततो योषिदपरा।
कुलं त्यक्त्वा रौति स्फुटति च महाकालभुजगा।।
ततः पातिव्रत्यं भजति दहराकाशकमले।
सुखासीना योषा भवसि भवसीत्काररसिका।।

—शाक्ताचार्य गौड़पाद दहराकाश में स्थित पतिव्रता कुण्डलिनी की साधना एवं साक्षात्कार करने का परामर्श देते हैं।

के दो प्रान्तों में दो कुण्डलिनियाँ हैं, जो कि निम्न हैं—

कुण्डलिनी

आदि कोटि में स्थित कुण्डलिनी = 'प्राण कुण्डलिनी' (बहिर्मुखी,कारणभूता संवित्) प्रथमत: प्राण के रूप में ही उन्मिषित होती है— 'संवित् प्राक् प्राणे परिणता।'	अन्त कोटि में स्थित = स्वात्म विश्रान्त, अन्तर्मुखी परा संवित् = 'परा कुण्डलिनी'

विसर्ग

आणव विसर्ग	शाक्त विसर्ग	शाम्भव विसर्ग
(भेदप्रधान स्थूल सृष्टि) 'स्थूल विसर्ग' (संकुचित ज्ञान वाले चित्त का विसर्ग) बहिर्मुखावस्था।	(भेदाभेदप्रधानप्रधान सूक्ष्म सृष्टि) चित्त का सम्बोध। इस अवस्था में चित्त अपने निष्कल रूप में आत्मसमर्पणार्थ प्रस्तुत रहता है। 'इसके अखण्ड प्रकाश में समस्त विश्व की आहुति हो रही है।' ऐसी अनुभूति होती है। यही अवस्था है— 'शक्ति की अवस्था'।	(अभेदात्मक सूक्ष्मातिसूक्ष्म सृष्टि) इस शैव विसर्ग में न भेद रहता है। न भेदाभेद, न विश्व रहता है, न उसकी अनुभूति। चित्त प्रलीन रहता है और मात्र संवित् तत्त्व रहता है।

'विसर्ग शक्ति' खण्डविहीन एकीभूत प्रकाश की परा शक्ति है। यह 'परप्रमाता' के साथ अभिन्न रूप से अवस्थित रहती है। इसे इच्छातत्त्व की दृष्टि से देखा जाय तो यही 'कामकला' भी है।

'कामकला' अर्थात् तात्त्विक सृष्टि की प्रथमावस्था। यही इच्छा बहिर्मुखी होने पर 'विसर्ग' कहलाती है।

'कुण्डलिनी' का अपरपर्याय है— आधारशक्ति। इसका जागरण चैतन्यसम्पादन है। इसका चैतन्य-सम्पादन करने से यह निरालम्ब होकर शुद्ध चित्स्वरूप में स्थित हो जाती है। कुण्डलिनी के आधारशून्य होते ही संसार की समस्त वस्तुयें निराधार हो जाती हैं।

कुण्डलिनी जब प्रबुद्ध होने पर चिन्मयत्व आयत्त करती है, तब समस्त विश्व भी चैतन्य रूप धारण करता है। कुण्डलिनी का जागरण एवं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की अनुभूति अभिन्न है। यही है— पूर्णाद्वैत और तन्त्रशास्त्र का 'पूर्णाहन्ता'।

श्रीविद्या सम्प्रदाय का वर्ण-विज्ञान और उसका रहस्य

वर्ण का शक्तित्व और शिवत्व— शाक्त उपासना शत-प्रतिशत 'शक्ति' की उपासना है। शाक्तों ने 'मन्त्र' को भगवती त्रिपुरसुन्दरी का सूक्ष्म स्वरूप कहा और मन्त्रों के तथा वर्णमाला के समस्त वर्णों एवं मातृकाओं को 'शक्ति' का अवतार— शक्ति की

ध्वन्यात्मक अभिव्यक्ति— शक्ति का नादात्मक रूकार एवं भगवती का सूक्ष्म शरीर कहा। शाक्तों ने यह भी माना कि प्रत्येक मातृका एवं वर्ण की अपनी-अपनी विशिष्ट शक्ति भी है और वर्णों की ये सभी व्यष्टि शक्तियाँ 'पराशक्ति' में मिलकर महात्रिपुरसुन्दरी-स्वरूप हो जाती हैं। 'अ' वर्णमाला का प्रथमाक्षर एवं 'ह' अन्तिमाक्षर है। 'अ' शिव है और 'ह' शक्ति; अत: सभी वर्ण शिव एवं शक्ति हैं। इसीलिये कहा भी गया है—

सर्वे वर्णात्मका: मन्त्रा: ते च शक्त्यात्मका: प्रिये।

'नाद' चित् शक्ति का स्वरूप है और प्रत्येक वर्ण के मूल में चेतन नाद तत्त्व मणिमाला में सूत्रवत् पिरोया हुआ है—

एको नादात्मको वर्ण: सर्वनादविभागवान्।
सोऽनस्तमितरूपत्वादनाहत इतीरित:।।

शब्द या वर्ण को 'ब्रह्म' कहा गया है—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दमक्षरसंज्ञितम्।
या— अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।

ब्रह्म के दो रूप

पर ब्रह्म
शब्द ब्रह्म
(नादात्मक वर्ण)

शब्द ही रूपान्तरित होकर पदार्थ बन जाता है। वाक्यपदीय में कहा भी गया है—

विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत:।

'शब्द' का परिणाम ही 'जगत्' है, ये ही ३६ तत्त्व हैं एवं इसका विस्तार ही समस्त सृष्टि है। सारी सत्ताये शब्द के ही रूपान्तर हैं और शब्द 'शक्ति' का रूपान्तर है। अत: सब कुछ 'शक्ति' ही है।

भगवती त्रिपुरसुन्दरी स्वयमेव 'शब्दब्रह्म' है—

शब्दब्रह्ममयी स्वच्छा देवी त्रिपुरसुन्दरी।

समस्त मन्त्र वर्णात्मक और शक्त्यात्मक हैं। शक्ति ही मातृका (वर्ण) है और वही शिवात्मिका भी है—

सर्वे वर्णात्मका मन्त्रा ते च शक्त्यात्मका: प्रिये।
शक्तिस्तु मातृका ज्ञेया सा च ज्ञेया शिवात्मिका।।

वर्ण या मातृकायें परम तेज से समन्वित हैं और उन्होंने आब्रह्म भुवनपर्यन्त सभी को व्याप्त कर रक्खा है—

या सा तु मातृका लोके परतेज:समन्विता।
तया व्याप्तमिदं सर्वं आब्रह्मभुवनात्मकम्।।

वाक् एवं उसके अर्थ दोनों ही शिव-शक्तिमय हैं—

वागर्थौ नित्ययुतौ परस्परं शक्तिशिवमयावेतौ।

श्रीविद्या (मन्त्र) एवं देवता (भगवती त्रिपुरसुन्दरी) में रञ्चमात्र भी भेद नहीं है।

कामकलाविलास में कहा भी गया है—

विद्यादैवतयोरपि न भेदलेशोऽस्ति वेद्यवेदकयोः।

भगवती स्वयं मातृका हैं—

विश्वं व्याप्य निजात्मनाहमहमित्युज्जृम्भसे मातृके। (दुर्वासा)

'श्रीविद्या' (मन्त्र) भी भगवती का ही स्वरूप है—

विद्यापि तादृगात्मा सूक्ष्मा सा त्रिपुरसुन्दरी देवी। (कामकलाविलास)

पञ्चदशाक्षरी मन्त्र स्वयं देवी त्रिपुरसुन्दरी ही हैं, अन्य कोई नहीं—

अहं पञ्चाक्षरस्साक्षात्त्वं तु पञ्चदशाक्षरी। (चिदम्बररहस्य)

मन्त्र में 'वाच्य' एवं 'वाचक' दो शक्तियाँ रहती हैं। वाच्य शक्ति मन्त्र की आत्मा है। यह ज्योतिर्मयी है। 'शब्दब्रह्म' ही परा वाक् है और परा वाक् तथा शब्दब्रह्म दोनों ही 'शक्ति' के रूप हैं। शक्ति सबका उपादान कारण है। मन्त्रों (वर्णों) की जीवभूता शक्ति 'विमर्श शक्ति' है, जो परमशिव से अभिन्न है—

मन्त्राणां जीवभूता तु या स्मृता शक्तिरव्यया।
तया हीना वरारोहे निष्फला शरदभ्रवत्।।
(शिवसूत्रविमर्शिनी)

वर्णात्मक मन्त्र 'मन्त्र' नहीं, प्रत्युत वर्णों में निहित शक्ति ही मन्त्र है; उसमें निहित नाद का उल्लास ही मन्त्र है—

वर्णात्मको न मन्त्रो नादोल्लासो भवेन्मन्त्रः। (महार्थमञ्जरी)

(भगवती महात्रिपुरसुन्दरी का रूप = शब्द का चरम रूप = परा वाक्। ईक्षणात्मक मातृका = पश्यन्ती वाक्। मातृका का हृदयस्थ सूक्ष्म स्वरूप = मध्यमा वाक्। नववर्गवती स्थूल मातृका = भगवती त्रिपुरसुन्दरी का स्थूल मातृका शरीर है।)

कुण्डलिनी शक्ति और भगवती महात्रिपुरसुन्दरी

त्वां व्यापिनीति सुमना इति कुण्डलीति।

'कुण्डलिनी शक्ति' वर्णशरीरात्मिका है। वर्ण और नाद ही उसका शरीर है। भगवती महात्रिपुरसुन्दरी कुण्डलिनी ही हैं।

पराकुण्डलिनी— 'नाद' से ही सम्पूर्ण विश्व का सृजन होता है। नाद ही प्राण एवं जीवनी शक्ति है। यही अनन्त विश्व को गर्भ में धारण करके प्रसुप्त सर्पाकार में रहता है। जब वह विश्व को गर्भ में धारण करके स्थित रहता है, तब इसे 'परा कुण्डलिनी' कहते हैं।

वर्णकुण्डलिनी— जब परा कुण्डलिनी का नादात्मक रूप में स्फुरण होता है, तब इसे 'वर्णकुण्डलिनी' कहते हैं।

प्राणकुण्डलिनी— जब यह नादरूप भी गम्भीर सुषुप्ति में लीन हो जाता है, तब इसे 'प्राणकुण्डलिनी' कहते हैं। यह प्राण ही 'हंस' है। हकार विमर्शन रूप से हान (त्याग) करता है और सकार विमर्श रूप से समादान (ग्रहण) करता है। त्याग एवं ग्रहण ही इसका स्वभाव है। यही नादात्मक हंस का नित्योच्चारण है।

ऊर्ध्व कुण्डलिनी— ब्रह्मरन्ध्र के ऊर्ध्व में ऊर्ध्व कुण्डलिनी स्थित है। उसका स्वरूप प्रसुप्त भुजंगी के समान है और वही सकल भुवनों का आधार है। यही 'ऊर्ध्व कुण्डलिनी' शक्ति अपनी स्वरूपात्मक भित्ति पर समग्र विश्व का स्फुरण करती है। इसी कुण्डलिनी शक्ति से शक्तितत्त्व का आरम्भ होता है। समग्र भुवनों एवं तत्त्वों का मुख्याधार यही कुण्डलिनी शक्ति है।

शक्ति कुण्डलिनी— माया के ऊपर शक्ति का सञ्चार होता है। इसके नीचे 'शक्ति कुण्डलिनी' का स्थान है। माया शक्ति ही नाद-बिन्दु एवं अनन्त विश्व के आकार में स्फुरित होती है। 'शक्ति कुण्डलिनी' के गर्भ में समग्र विश्व अवस्थित रहता है।

जब 'अमाकला' विसर्गहीन हो जाती है अर्थात् जब वह बहिरुन्मुख नहीं रह जाती, तब उसका नाम— 'शक्ति कुण्डलिनी' हो जाता है। यही प्रसुप्त, भुजंगाकार, स्वात्ममात्र विश्रान्त 'परासंवित्' है।

विसर्ग के दो प्रान्तों में दो कुण्डलिनियाँ हैं। आदि कोटि में जो कुण्डलिनी है, उसका नाम है— 'प्राणकुण्डलिनी'; क्योंकि बहिरुन्मुख 'कारण संवित्' प्रथमतः प्राण के रूप में प्रकट होती है। जो अन्त कोटि में कुण्डलिनी है, उसका नाम है— 'परा कुण्डलिनी'। यह स्वात्मविश्रान्त परासंवित् है; जो कि अन्तरुन्मुख है।

महामाया का ही नामान्तर है— कुण्डलिनी शक्ति। परा शक्ति ही कुण्डलिनी[१] है और उसके विविध विकासात्मक चरण या सोपान हैं—

---

१. इस कुण्डलिनी शक्ति को 'यामल' में चित्कला भी कहा गया है—

ध्यायेत्कुण्डलिनीं देवीं स्वयम्भूलिङ्गवेष्टिताम्।
चित्कलां यां कुण्डलिनीं तेजोरूपां जगन्मयीम्।।

'महानिर्वाणतन्त्र' में कुण्डलिनी को 'परब्रह्म' भी कहा गया है—

ॐ नमस्ते परमं ब्रह्म कुण्डलिनीस्वरूपिणे।
निर्गुणाय नमस्तुभ्यं सद्रूपाय नमो नमः।।

'देवीभागवत' पुराण में इसे 'सच्चिदानन्दरूपिणी' एवं 'प्राणाग्नि' कहा गया है—

महाकुण्डलिनीरूपे सच्चिदानन्दरूपिणी।
प्राणाग्निहोत्रविद्ये ते नमो दीपशिखात्मिके।।

'त्रिपुरातापित्युपनिषद्' में त्रिपुरा को 'महाकुण्डलिनी' भी कहा गया है—

त्रिपुरा शक्तिराद्येयं त्रिपुरा परमेश्वरी।
महाकुण्डलिनी देवी जातवेदसमण्डलम्।।

या सा शक्तिः परा सूक्ष्मा निराकारेति कीर्तिता।
हृद्बिन्दुं वेष्टयित्वा तु सुषुप्ता भुजगाकृतिः।।
तत्र सुप्तो महायोगी न किञ्चिन्मन्यते यमी।
चन्द्रार्कानिलनक्षत्रैर्भुवनानि चतुर्दश।।
व्याप्तोदरे तु सा देवी विषवन्मूढतां गता।
प्रबुद्धा सा निनादेन परेण ज्ञानरूपिणी।।
मथिता चोदरस्थेन बन्धनादपि वह्निना।
तावद्वै भ्रमयोगेन मन्थनं शक्तिविग्रहे।।
भेदात्तु प्रथमोत्पन्नाद् बिन्दुर्नादत्वमीयते।
समुत्थिता यथा तेन कालसूक्ष्मा तु कुण्डली।।
चतुष्कलमयो बिन्दुः शक्तेश्चोत्तरगः प्रभुः।
मध्यमन्थनयोगेन ऋजुत्वं जायते प्रिये।।
ज्येष्ठा शक्तिः स्मृता सा तु बिन्दुद्वयसुमध्यमा।
बिन्दुनादत्वमायाता रेखयाऽमृतकुण्डली।।
लाकिनी नाम सा ज्ञेया उभौ बिन्दू यथागतौ।
त्रिपदा सा समाख्याता रौद्री नाम्ना तु गीयते।।
रोधिनी सा समुद्दिष्टा मोक्षमार्गनिरोधनात्।
शशाङ्कशकलाकारा अम्बिका चार्धचन्द्रिका।।
एकैवेत्थं परा शक्तिः त्रिधा सा तु प्रजायते।
आभ्यो युक्ता विविक्ताभ्यः सञ्जातो नववर्गकः।।
नवधा च स्मृता सा तु नववर्गोपलक्षिता।। (चिद्वल्ली)

परमेश्वर की बोधरूपा शक्ति विश्व को गर्भ में धारण करके अपने 'परा कुण्डलिनी' स्वरूप में स्थित है। जब वह विमर्शात्मिका होने के कारण नादात्मिका स्वरूप में अवतरित होती है, तब उसे 'वर्णकुण्डलिनी' कहते हैं। यह विश्वगर्भा कुण्डलिनी शक्ति सुषुप्ता सर्पिणी के समान है। यह स्वभावतः अपने नादात्मक या विमर्शात्मक स्वरूप का त्याग करके प्राणात्मक स्वरूप को ग्रहण किए हुये है। यह 'वर्णकुण्डलिनी' के स्वरूप को दबाकर 'प्राणकुण्डलिनी' के रूप में अवतरित होती है। प्राण ही 'हंस' है, जो कि स्वभावतः ऊर्ध्वाधः सञ्चरण करता है। इसके इस सञ्चरण से हकार एवं सकार के विमर्शरूप में उसकी प्रतीति होती है। 'ह' त्यागपक्ष है और 'स' ग्रहणपक्ष है। यह नादरूपी हंस का स्वाभाविक उच्चार ही स्फुट 'वर्णोच्चार' है। यही वर्णोच्चार योगियों के भ्रूमध्य में 'बिन्दु' के रूप में अनुभव में आता है। भ्रूमध्य का यह बिन्दु 'अ' 'उ' 'म'

(अकार = जाग्रतावस्था, उकार = स्वप्नावस्था, मकार = सुषुप्त्यवस्था) को मिलाकर उन्हें एकाकार करके ज्योतिर्मय ज्ञान के रूप में उदित होता है। अ, उ, म— तीनों को मिलाकर या एकाकार कर देने से जो अविभाज्य ज्योतिर्मय ज्ञान उदित होता है, उसी की आख्या है— 'बिन्दु'। यह तीनों मात्राओं (अ, उ, म = जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्त अवस्थाओं) की अविभक्त एवं ज्योतिर्मय ज्ञानावस्था है। बिन्दुरूप ईश्वर का स्थान भ्रूमध्य में है। 'ब्रह्मा'— हृदय, 'विष्णु'— कण्ठ एवं 'रुद्र'— तालुमध्य में रहते हैं। सदाशिव ललाट से मूर्धापर्यन्त रहते हैं। 'शिव' की अंगभूता शक्ति 'व्यापिनी' एवं 'समना' मूर्धा के मध्य से ऊर्ध्व देश में है। बिन्दु अर्धचन्द्र एवं निरोधिका तक एवं नाद नादान्त तक व्याप्त है। आनन्दमयी स्पर्शानुभूति के बाद शक्ति एवं निर्विषयक मननमात्र का अनुभव होने के बाद 'समना' का त्याग हो जाता है। 'उन्मना' परमेश्वर की समवायिनी शक्ति है।

चित् शक्ति अकुल की आदि शक्ति कुलशक्ति ही है, जिसे 'कुलकुण्डलिनी'[१] भी कहते हैं। यह 'विसर्ग शक्ति' का ही सूक्ष्मतम स्वरूप है। इसी शक्ति से निखिल विश्व स्फुरित होता है।

---

१. **गोरक्षनाथ की दृष्टि**— यद्यपि कुण्डलिनी स्वरूपतः एक ही है, तथापि स्थान एवं स्थूल-सूक्ष्मभेद की दृष्टि से उसके तीन भेद किये गये हैं— अधःकुण्डलिनी, मध्यशक्ति कुण्डलिनी और ऊर्ध्वशक्ति कुण्डलिनी—

मूलाधार चक्र में स्थित कुण्डलिनी = अधःशक्तिकुण्डलिनी
मणिपूर चक्र में स्थित कुण्डलिनी = मध्यशक्ति कुण्डलिनी
सहस्रदल चक्र में स्थित कुण्डलिनी = ऊर्ध्वशक्ति कुण्डलिनी।

१. मध्यशक्तिप्रबोधेन अधःशक्तिनिकुञ्चनादूर्ध्वशक्तिनिपातेन प्राप्यते परमं पदम्।
२. एकैव सा मध्योर्ध्वाधःप्रभेदेन त्रिधा भिन्ना शक्तिरभिधीयते।
३. बाह्येन्द्रियव्यापारनानाचिन्तामया सैवाधःशक्तिरित्युच्यते। (सि० सि० पद्धति)

कुण्डलिनी के दो भेद हैं— अप्रबुद्ध और प्रबुद्ध (सि० सि० प०)।

गोरक्षनाथ की दृष्टि— कुण्डलिनी प्रबुद्धा अप्रबुद्धा चेति द्विधा।
अप्रबुद्धा कुण्डलिनी = मूलाधार में स्थित एवं कुटिलस्वभावा।
प्रबुद्धा कुण्डलिनी = ऊर्ध्वगामिनी (सहस्रारस्था) = बन्धन, विनाशिनी, मुक्तिदा।
'अप्रबुद्धेति कुटिलस्वभावा कुण्डलिनी ख्याता। सैव योगिनां तत्तदविलसितविकाराणां निवारणोद्यमस्वरूपा कुण्डलिन्यूर्ध्वगामिनी प्रसिद्धा भवति।'

स्थूल कुण्डलिनी और सूक्ष्म कुण्डलिनी—
स्थूल कुण्डलिनी— साकार स्थूल।
सूक्ष्म कुण्डलिनी— निराकार, संवित्स्वरूपा।।

भगवती महात्रिपुरसुन्दरी का कुण्डलिनी-स्वरूप

वाग्देवता कुण्डलिनी का स्वरूप

भगवती कुण्डलिनी वर्णविग्रहा एवं नादात्मा हैं। वे मन्त्रमयी हैं। वाग्देवता के अंग वर्ण-(शब्द)-मय हैं। यह वर्णतनु हैं। समस्त वर्ण अग्नीषोमात्मक हैं।

भगवती महात्रिपुरसुन्दरी का कुण्डलिनी एवं वाक्चतुष्टयात्मक स्वरूप

योगिनीहृदय—
देवीं मन्त्रमयीं नौमि मातृकां पीठरूपिणीम्।

'मातृका' : परमशिव
की शक्ति—

परब्रह्म :
शब्दब्रह्मणि निष्णातः
परब्रह्माधिगच्छति

त्रिकोण

(शब्द ब्रह्म) शब्द ब्रह्म

ॐ

—कुण्डलिनी शक्ति[१]
(वाग्देवता कुण्डलिनी)

—स्वयम्भू लिंग

परावाक् अतितुर्य
शब्दब्रह्म मूल महा-
प्रकृति। शब्दातीत।
चित्शक्ति
त्रिपुरभैरवी

पश्यन्ती वाक्-
पर, सूक्ष्म, स्थूल-
पश्यन्ती, पश्यन्ती,
पश्यन्ती-महापश्यन्ती,
परममहापश्यन्ती

'मध्यमा वाक्'
स्थूल सूक्ष्म
(९ वर्णमय) (९ नादमय)
नाद बिन्दुमय

अन्तर्मातृका
(सूक्ष्म
वर्णमय)

वैखरी वाक्
पञ्चदशाक्षरमयी
(स्थूल मातृका)

बहिर्मातृका
(स्थूल वर्णमय)
३ लोक १४ भुवन
समस्त विश्व

भगवती
महात्रिपुरसुन्दरी
कुण्डलिनी के
स्वरूप में—
(स्वमात्मानं कृत्वा
स्वपिषि कुलकुण्डे
कुहरिणि) —सौ०ल०।
महाशक्तिः कुण्डलिनी
बिसतन्तुतनीयसी।
—ललितासहस्रनाम।
शक्तिकुण्डलिनी— चतुर्विधतनुं
यस्तत्त्वविन् मन्यते। —दुर्वासा :
त्रिपुरामहिम्नस्तोत्र।
आत्मनः स्फुरणं पश्येद्यदा सा परमा
कला। अम्बिका रूपमापन्ना परा वाक्
समुदीरिता।। —योगिनीहृदय।

---

१. भगवती ललिता (महात्रिपुरसुन्दरी) वाग्देवता हैं, वे वाणी के चारो रूप हैं— वे परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी चारो हैं—

चिच्छक्तिरेव पराख्या चैतन्याभासविशिष्टतया प्रकाशिता माया निष्पन्दा परा वाक्।
(पदार्थादर्श)

एका परा इति सत्त्वरजस्तमोगुणसाम्यरूपा। (लक्ष्मीधरा)

परावाक् = चिति शक्ति। परमात्मा की अघटन घटनापटीयसी स्वातन्त्र्य शक्ति = 'महासत्ता'= परमेश्वर का 'हृदयसार' = विमर्शशक्ति 'त्रिपुरसुन्दरी।'

प्रकृतिः निश्चला परा वाग्रूपिणी परप्रणवात्मिका कुण्डलिनी शक्तिः।
(प्रपञ्चसारतन्त्रविवरण)

प्रपञ्चसारविवरण— बैन्दव तत्त्वरूप शब्दब्रह्म से भी ऊपर तत्त्व संज्ञा नामक परा वाक् है। शब्दब्रह्म— शब्दत्व + ब्रह्मत्व।

वाणी के भेद : पद्मपाद : ७ प्रकार— १. शून्य, २. संवित्, ३. सूक्ष्मा, ४. परा, ५. पश्यन्ती, ६. मध्यमा, ७. वैखरी। परा वाक् शब्द की चरमावस्था है।

अभिनवगुप्त ने पश्यन्ती का महापश्यन्ती और परममहापश्यन्ती रूप भी माना है।

परा वाक् = शुद्ध प्रकृति। मूल महाप्रकृति। 'प्रतिभादेवी'। परा वाक् नित्य है।

प्रत्येक वर्ण एक शक्ति है। सोमानन्द के अनुसार पश्यन्ती ज्ञानशक्ति है एवं अभिनवगुप्त के अनुसार इच्छाशक्ति है। मातृका के पर रूप में इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया तीनों शक्तियाँ स्थित हैं। अभिनवगुप्त एवं भर्तृहरि मध्यमा का पर रूप भी मानते हैं। तन्त्रालोक में मध्यमा के तीन भेद वर्णित हैं— स्थूल, सूक्ष्म और पर। पद्मपाद के मत में पश्यन्ती नादमयी है। शारदातिलक के अनुसार मध्यमा नादमय है। आचार्य पद्मपाद के मत से मध्यमा बिन्दुमय है।

पञ्च मकारों के प्रतीकार्थ

पञ्च मकारों के प्रतीकार्थ भी ग्रहण किए गए हैं; यथा—

१. मद्य = सहस्रदल कमल के चन्द्रमा से क्षरित मधुरूप अमृत।

परा प्रत्यक् चितीरूपा पश्यन्ती पर देवता।
मध्यमा वैखरीरूपा भक्तमानसहंसिका।। (ललितासहस्रनाम)

भवगती मूलमन्त्रात्मिका भी हैं— 'मूलमन्त्रात्मिका मूलकूटत्रयकलेवरा सर्वेश्वरी सर्वमयी सर्वमन्त्रस्वरूपिणी।'

वे नादरूपा भी है— 'नारायणी नादरूपा नामरूपविवर्जिता।' (ललितासहस्रनाम)

वे मातृकावर्णरूपिणी भी हैं— 'माध्वीपानालसा मत्ता मातृकावर्णरूपिणी।'

वे विद्यास्वरूपा भी हैं— 'विमर्शरूपिणी विद्या।' (ललितासहस्रनाम)

वे भाषारूपा भी हैं— 'भाषारूपा बृहत्सेना।'

वे वर्णस्वरूपा भी हैं— 'उदारकीर्तिरुद्दामवैभवा वर्णरूपिणी।'

वे नादात्मिका हैं— 'नैष्कर्म्या नादरूपिणी।' (ललितासहस्रनाम)

द्वापञ्चाशत् अध्याय

प्राणतत्त्व, प्राण-साधना एवं त्रिपुरोपासना

'कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्' में कहा गया है कि यह प्राण ही ब्रह्म है। यह सम्राट् है। वाणी उसकी रानी है। कान उसके द्वारपाल हैं। नेत्र उसके अंगरक्षक हैं। मन उसका दूत है। इन्द्रियाँ उसकी दासियाँ हैं। देवों के द्वारा यह उपहार उस 'प्राणब्रह्म' को भेंट किये गये हैं—

'प्राणो ब्रह्मेति ह स्माह कोषीतकिस्तस्य ह वा एतस्य प्राणस्य ब्रह्मणो मनोदूतं वाक्परिवेष्ट्री चक्षुर्गात्रं श्रोत्रं संश्रावयितृ यो ह वा एतस्य प्राणस्य ब्रह्मणो मनोदूतं वेद दतवान्भवति यश्चक्षुगोप्तृमान्भवति यः श्रोतं संश्रावयितृ संश्रावयितृमान्भवति यो वाचं परिवेष्ट्री परिवेष्ट्रीमान्भवति।'

मैं ही प्राणरूप प्रज्ञा हूँ। मुझे ही आयु एवं अमृत जानकर उपासना करो। जब तक प्राण है तभी तक जीवन है। इस लोक में अमृत तत्त्व-प्राप्ति का आधार प्राण ही है—

'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा। तं मायायुरमृतमित्युपास्स्वाऽयुः प्राणः प्राणो वा आयुः याव-दस्मिञ्छरीरे प्राणो वसति तावदायुः प्राणेन हि एवमस्मिन् लोकेऽमृतत्वमाप्नोति।'

(शाखायन)

प्राण और मन का सम्बन्ध— जिस साधन के द्वारा प्राण बन्धनग्रस्त होता है, उसी से मन भी बन्धनग्रस्त होता है। जिस साधन से मन बद्ध होता है, उसी से मन भी बन्धनग्रस्त होता है। जिस साधन से मन बद्ध होता है, उसी से पवन भी परिबद्ध हो जाता है—

पवनो बध्यते येन मनस्तेनैव बध्यते।
मनश्च बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते।।

(प्राण-नियन्त्रण → मनोनिग्रह (मन पर नियन्त्रण), मन पर नियन्त्रण → प्राण पर नियन्त्रण) 'प्राण' मनोनिग्रह का एक साधन है। भगवती स्वयं प्राणस्वरूप हैं—

मनस्त्वं व्योम त्वं मरुदसि। (सौन्दर्यलहरी)

योगवाशिष्ठ एवं हठयोगप्रदीपिका में कहा गया है कि चित्त का कारण प्राण है। चित्त के आधारस्तम्भ हैं— वासना एवं वायु (प्राणतत्त्व)।

हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः।
तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तौ द्वावपि विनश्यतः।।

वासना का नाश → वायु का नाश, वायु का नाश → मन का नाश। मनोनिग्रह का अन्यतम साधन प्राण है—

नानाविधैर्विचारैस्तु न साध्यं जायते मनः।
तस्मात्तस्य जयः प्राणः प्राणस्य जय एव हि।। (योगबीज)

'मन' की डोरी 'प्राण' के हाथों में है— 'सोऽयैतन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते, प्राणबन्धनं हि सौम्य मन इति।' (मन कहीं भी जाय; किन्तु अन्यत्र आश्रय न पाने पर घूम-घाम कर प्राण का ही आश्रय ग्रहण करता है; क्योंकि मन प्राण से बँधा हुआ है)।

योगरहस्य में कहा गया है कि विचार एवं चिन्तन से मन साध्य नहीं है। प्राणजय से मन भी विजित हो जाता है—

चित्तं न साध्यं विविधैर्विचारैर्वितर्कवादैरपि वेदवादिभिः।
तस्मात्तु तस्यैव हि केवलं जयःप्राणो हि विद्येत न कश्चिदन्यः।।

हठयोग का मुख्य साधन प्राण ही है।

प्राण-साधना के परिणाम—

१. पापाग्नि को भस्मसात् करना (योगचूड़ामणि)।
२. संसारसागर से उद्धार (योगचूड़ामणि)।
३. धातु-मलों के नाश के समान इन्द्रियदोषों का नाश (मनु)।
४. इन्द्रियमलों का नाश (अमृतनादोपनिषद्)।
५. सर्व पापों से मुक्ति → ब्रह्मत्व की प्राप्ति (वायुपुराण)।

प्राणायाम की आवश्यकता क्या है? मलाकुल नाड़ियों में प्राण-प्रवाह (विना प्राणायाम के) हो ही नहीं पाता; अतः उन्मनीभाव या मन का विच्छेद कैसे सम्भव है?

मलाकुलासु नाडीषु मारुतो नैव मध्यगः।
कथं स्यादुन्मनीभावः कार्यसिद्धिं कथं भवेत्?

इसीलिये सर्वप्रथम नाडीशोधन अपेक्षित है। एतदर्थ प्राणायाम करना अनिवार्य है—

तस्मादादौ नाड़ीशुद्धिः प्राणायामं ततोऽभ्यसेत्।

गोरक्षनाथ कहते हैं कि नाड़ी-शुद्धि के बाद ही योगी प्राण-संग्रहण में सक्षम हो पाता है—

शुद्धिमेति यदा सर्वं नाड़ीचक्रमलाकुलम्।
तदैव जायते योगी प्राण-संग्रहणे क्षमः।। (गोरक्षपद्धति)

हठयोगप्रदीपिका में स्वात्माराम मुनीन्द्र इसीलिये कहते हैं—

प्राणयामं ततः कुर्यान्नित्यं सात्त्विकया धिया।
यथा सुषुम्नानाड़ीस्था मलाः शुद्धिं प्रयान्ति च।।

(प्राणायाम → सुषुम्ना नाड़ी के मलों की शुद्धि।)

(नाड़ी शुद्ध हो जाने पर— शारीरिक कृशता एवं कान्तिवर्धन।)

प्राण के भेद— प्राण के दो भेद हैं— स्थूल प्राण एवं सूक्ष्म वर्धन। स्थूल प्राण → उच्चार-व्यापार। सूक्ष्म प्राण → वर्ण।

'आणवोपाय' में प्राणोच्चार भी एक उपाय माना गया है। प्राण, अपान आदि वायु का श्वास-प्रश्वास, छींक आदि वृत्तियाँ 'उच्चार' कहलाती हैं। प्राण के उच्चार के साथ उच्चारित वर्ण सकार-हकार हैं, जो कि वर्ण हैं। ये वर्णों एवं मन्त्रों का बोध कराते हैं।

'हं सः' मन्त्र श्वासोच्छ्वास के द्वारा (उन्हीं के रूप में) आविर्भूत होते हैं।

'प्राक् संवित्प्राणे परिणता' (कल्लट) के अनुसार संवित्तत्व सर्वप्रथम 'प्राण' के रूप में परिणत होता है (संवित् → प्राण)।

आगम कहता है कि संवित्स्वरूपा 'काली शक्ति' अपनी इच्छा से नाना रूपों में जब व्यक्त होने हेतु क्रियाशक्ति का रूप धारण करती है, तब क्रियाशक्ति का प्रथमोन्मेष 'प्राण-व्यापार' के रूप में ही होता है। यह प्राणशक्ति अपने पाँच रूपों (प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान) में जीवों में व्याप्त है। इस क्रियाशक्ति के पूर्व भाग में 'कालाध्वा' एवं उत्तर भाग में 'देशाध्वा' स्थित है। कालाध्वा में पर, सूक्ष्म एवं स्थूलस्वरूप वर्ण, मन्त्र एवं पद की स्थिति है और देशाध्वा में कला, तत्त्व एवं भुवन स्थित है। समस्त षड-ध्वात्मक जगत् इस क्रियाशक्ति की अभिव्यक्ति है और इसमें सर्वत्र प्राणशक्ति का स्पन्दन गतिमान है। हृदय आदि स्थानों में स्पन्दमान प्राणशक्ति में चित्त को लय कर देना ही 'स्थानकल्पना' नामक आणवोपाय है।

प्राणशक्ति एवं प्राणकुण्डलिनी— प्राणशक्ति की भी आकृति कुण्डलिनी की भाँति कुटिल है; अतः इसे 'प्राणकुण्डलिनी' कहते हैं। जिस प्राणवायु का अपानवायु अनुगमन करती है, उसकी गति टेढ़ी-मेढ़ी है। प्राणशक्ति प्राण के अनुकूल घुमावदार (कुटिल) आकार धारण कर लेती है। प्राणशक्ति का एक घुमावदार आकार वाम नाड़ी इड़ा में एवं दूसरा पिङ्गला के नाम से दक्षिण नाड़ी में प्रवाहित होता है। इस तरह प्राण-शक्ति के दो वलय हुये। सुषुम्ना नाडी 'सार्ध' कहलाती है; अतः प्राणशक्ति भी सार्ध-वलया है। कुण्डलिनी में भी प्राणशक्ति है। हंस गायत्री (अजपा) का आधार भी यही प्राण-व्यापार है। प्राणशक्ति स्थूल एवं सूक्ष्मभेद से दो प्रकार की है। मूलाधार या हृदय में स्थित प्राणशक्ति यौगिक साधना द्वारा सुषुम्णापथ से द्वादशान्त तक जाते-जाते अत्यन्त सूक्ष्म होकर अन्त में 'प्रकाश' में विलीन हो जाती है। इसे ही 'पिपीलस्पर्श वेला' कहते हैं, जिसमें कि प्राण के ऊर्ध्वोत्थान के समय मूल कन्द आदि में चींटी चलने-जैसे संवेदना होती है। चिदाकाश में (साधक के) प्रवेश के समय प्राण एवं अपान सुषुम्णा में विलीन हो जाते हैं। इसका अनुभव आनन्दमय होता है।

प्राणस्पन्द का कारण— अभिनवगुप्त तन्त्रालोक (षष्ठाह्निक) में वामा, ज्येष्ठ

एवं रौद्री नामक शिव की शक्तियों में से एक आत्मा एवं प्राण की सम्मिलित शक्ति को प्राणस्पन्द का कारण मानते हैं—

प्रभुशक्तिरात्मा प्राणश्चेति त्रयः सम्मिलिताः प्राणस्पन्दं विदधीत्यर्थः।[१]
प्रभोः शिवस्य या शक्तिर्वामा ज्येष्ठा च रौद्रिका।
स तदन्यतमावात्मप्राणौ यत्नविधायिनौ।।[२]

प्राणसञ्चार का स्थान— प्राणसञ्चार कन्द से होता है या हृदय से? इस विषय में स्वच्छन्दतन्त्र कहता है कि प्राणसञ्चार कन्द से होता है; किन्तु उसकी संवेदना उस स्थान से नहीं होती—

नाभ्यधोमेढ्रकन्दे स्थिता वै नाभिमध्यतः।
तस्माद्विनिर्गता नाड्यस्तिर्यगूर्ध्वमधः प्रिये।।[३]

किन्तु स्वच्छन्दतन्त्र (७.२१) में ही इसे हृदय से भी माना गया है—

हृच्चक्रे तु समाख्याताः साधकानां हितावहाः।
प्राणो वै चरते तासु अहोरात्रविभागतः।।

निष्कर्ष— वस्तुतः कन्द से प्राण-व्यापार होता है। प्राणसञ्चार का मूल केन्द्र हृदय माना गया है; क्योंकि स्वेच्छाकृत प्रयत्न से इसकी संवेदना कन्द से नहीं; बल्कि हृदय से प्रतीत होती है—

वेद्ययत्नात्तु हृदयात्प्राणाचारो विभज्यते।।[४]

प्राणस्पन्द की उत्पत्ति

वामा-ज्येष्ठा-रौद्री शक्तियों में से एक (प्रभुशक्ति) आत्मा प्राण
↓
प्राणस्पन्द
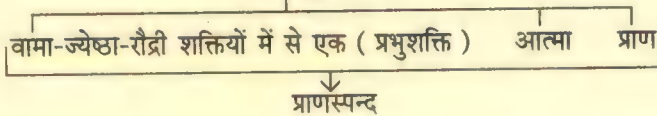
प्राण का महत्त्व—

- प्राणनावृत्ति का तादात्म्य संवित् तत्त्व से है। अभिनवगुप्तपाद तन्त्रालोक (६.१५) में कहते हैं—

प्राणनावृत्तितादात्म्यसंवित्खचितदेहजाम्।

- समस्त अध्वमण्डल प्राण में ही प्रतिष्ठित है—

यावान्समस्त एवायमध्वा प्राणे प्रतिष्ठितः।।[५]

- प्राण को 'परमेश्वरी' भी कहा गया है—

प्राणरूपायाः पारमेश्वर्याः क्रियाशक्तेः। (जयरथ)[६]

तन्त्रसार के अनुसार 'नाद नाड़ी' (क्रियाशक्तिप्रधान इडा नाड़ी), 'बिन्दु नाड़ी'

---

१. जयरथ : विवेक
२. तन्त्रालोक-६.५२
३. स्वच्छन्दतन्त्र-७.८
४. तन्त्रालोक-६.५१
५. तन्त्रालोक-६.२१
६. विवेक-६.२३

(ज्ञानप्रधान पिङ्गला नाड़ी) एवं 'उत्तम नाड़ी' (इच्छाशक्तिप्रधान सुषुम्णा नाड़ी) द्वारा प्राणाचार होता है।

● प्राण ही ब्रह्म है और इन्द्रियाँ उसकी दासी हैं। कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् में कहा गया है कि—

१. प्राण ब्रह्म है	४. कान उसके द्वारपाल हैं
२. मन उसका दूत है	५. इन्द्रियाँ उसकी दासी हैं
३. नेत्र उसके अंगरक्षक हैं	६. वाणी उसकी राजमहिषी है आदि-आदि।

'प्राणो ब्रह्मेति ह स्माह कोषीतकिस्तस्य ह वा एतस्य प्राणस्य ब्रह्मणो मनो दूतं वाक्परिवेष्ट्री चक्षुर्गात्रं श्रोत्रं संश्रावयितृ यो ह वा एतस्य प्राणस्य ब्रह्मणो मनो दूतं वेद दत्तवान् भवति यश्चक्षुः गोप्तृमान् भवति यः श्रोत्रं संश्रावयितृ संश्रावयितृमान् भवति यो वाचं परिवेष्ट्री परिवेष्ट्रीमाभवति।'

● प्राण 'मृत्युञ्जय' है। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि प्राण मृत्युञ्जय है और उसका उपासक भी मृत्युञ्जयी हो जाता है—

'सा वा एषा देवता दूर्नाम दूरं ह्यस्या मृत्युर्दूर ह वा अस्मान्मृत्युर्भवति य एवं वेद।' (ब्रा०-३.९)

प्राण ने देवताओं के पापरूपी मृत्यु को हटाया। (३.१०)

'सा वा एषा दैवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्याथैना मृत्युमत्यवहत्।' (३.११)

प्राण ने देवताओं के अतिरिक्त वाणी को भी मृत्यु से मुक्त किया और यह वाग्देवता मृत्यु से मुक्त होकर अग्नि बन गया—

सोऽग्निरभवत्सोऽयमग्निः परेण मृत्युमतिक्रान्तो भवति।

प्राण ने प्राण का अतिवहन किया और जब उसे मृत्यु से मुक्त किया तो वह वायु बन गया।

प्राण ने चक्षु का अतिवहन किया और जब उसे मृत्यु से मुक्त किया तो वह आदित्य बन गया।

प्राण ने श्रोत्र का अतिवहन किया और मृत्यु से मुक्त होकर वह दिशा बन गया।

प्राण ने मन का अतिवहन किया और मृत्यु से मुक्त होकर वह चन्द्रमा बन गया।

● प्राण सभी इन्द्रियों की आत्मा या जीवन है। जो कुछ भी खाया जाता है, वह मात्र 'प्राण' से खाया जाता है—

'किञ्चान्नमद्यतेऽनेनैव।' (३.१७)

प्राण सर्वपोषक है। यहाँ तक कि देवताओं का भी पोषक है। (३.१२)

प्राण अङ्गों का रस है— 'प्राणो वा अङ्गानां रसः।' (३.१९)

प्राण ही बृहस्पति है। वाक् का पति होने से यह बृहस्पति है।
प्राण ब्रह्मणस्पति है; क्योंकि वह वाक् रूप ब्रह्म का पति है।
प्राण ही साम है; क्योंकि वाक् 'सा' है और प्राण 'अम्' है।
प्राण ही उद्गीथ है— 'एष उवा उद्गीथ प्राणो।' (३.२३)

बृहदारण्यकोपनिषद् के पाँचवें अध्याय के प्रथम ब्राह्मण में कहा गया है कि 'प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है।' जो इस प्रकार उपासना करता है, वह अपने ज्ञातिजनों से एवं अभीष्ट जनों में ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ हो जाता है— 'ॐ यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति।'

बृहदारण्यकोपनिषद् के छठे अध्याय के प्रथम ब्राह्मण में कथा आती है कि समस्त देवों में अपनी श्रेष्ठता को लेकर विवाद छिड़ा। विवाद के समाधानार्थ ब्रह्मा जी ने कहा कि तुम देवों में से जिस देव द्वारा किसी का शरीर छोड़कर चले जाने पर वह शरीरी व्यक्ति अपने को अधिक पापी समझे, वही श्रेष्ठतम है।

बारी-बारी से वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन एवं रेतस् ने शरीर से उत्क्रमण किया, किन्तु शरीर जीवित रहा; लेकिन जैसे ही अन्त में प्राण ने उत्क्रमण करना चाहा तो सारी इन्द्रियाँ क्षुब्ध होकर निवेदन करने लगीं कि आप उत्क्रमण न करें; क्योंकि आपके विना हमलोग जीवित नहीं रह सकते।

• प्राण समस्त ज्ञानों की प्रतिष्ठा है। वेदों में एक उपाख्यान आता है, जिसमें ऋषि से प्रश्न किया जाता है कि किस एक के जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है— 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातो भवति।' उसके उत्तर में ऋषि 'प्राण' का नामोल्लेख करते हैं।

स्वामी विवेकानन्द ने इसे 'साइकिक कोर्स' कहा है, जो कि समष्टि प्राण है। 'प्राणमय कोश' का आधार यही प्राण है।

• प्राण प्रज्ञारूप है, आयु है, अमृत है, जीवन है और अमृतत्व का साधन है।

'शाङ्खायन' में इसी तथ्य की पुष्टि इन शब्दों द्वारा की गई है—

'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा। तं मामायुरमृतमित्युपास्स्वाऽऽयुः प्राणः प्राणो वा आयुः यावदस्मिञ्छरीरे प्राणो वसति तावदायुः प्राणेन हि एवमस्मिन् लोकेऽमृतत्वमाप्नोति।'

• प्राण मनोनिग्रह का साधन है—

पवनो बध्यते येन मनस्तेनैव बध्यते।
मनसश्च बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते।।

चित्त के जन्म के दो ही कारण हैं— वासना और प्राण। इनमें से एक के नष्ट होते ही दूसरा स्वयमेव नष्ट हो जाता है—

हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः।
तयोर्विनष्टमेकस्मिंस्तौ द्वावपि विनश्यतः।। (हठयोगप्रदीपिका)

● प्राण बिन्दु-साधना या बिन्दु-रक्षा का भी अप्रतिम साधन है।

चले वाते चले बिन्दु बिन्दु र्निश्चते निश्चलो भवेत।
योगी स्याणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोध्येत।।

● प्राण मन का स्वामी है। जिस प्रकार सूत्रबद्ध पक्षी घूम-घाम कर अपने मूलाश्रय पर ही आ जाता है, उसी प्रकार मन कहीं भी जाय, आश्रय न पाने पर अन्ततः प्राण का ही आश्रय ग्रहण करता है—

'सौम्यैतन्मनो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धन हि सौम्य मन इति।' (छान्दोग्योपनिषद्-६.८.२)

● प्राण ही मन पर विजय पाने का अस्त्र है—

नानाविधैर्विचारैस्तु न साध्यं जायते मनः।
तस्मात्तस्य जयः प्राणः प्राणस्य जय एव हि।। (योगबीज)

चित्तं न साध्यं विविधैर्विचारैर्वितर्कवादैरपि वेदवादिभिः।
तस्मात्तु तस्यैव हि केवलं जयः प्राणो हि विद्येत न कश्चिदन्यः।।
(योगरहस्य)

● मनःस्थैर्य का भी एक ही साधन है और वह है प्राण-साधना—

हठिनामधिकस्त्वेकः प्राणायामपरिश्रमः।
प्राणायामे मनःस्थैर्यं स तु कस्य न सम्मतः।। (बोधसार)

● प्राणायाम पापों को भस्म कर देता है—

प्राणायामो भवेदेवं पातकेन्धनपावकः।
भवोदधिमहासेतुः प्रोच्यते योगिभिः सदा।। (योगचूड़ामणि)

तस्माद्युक्तः सदा योगी प्राणायामपरो भवेत्।
सर्वपापविशुद्धात्मा परंब्रह्माधिगच्छति।। (वायुपुराण)

● प्राणायाम इन्द्रियों के समस्त दोषों को नष्ट कर देता है—

दह्यन्ते ध्यायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषः प्राणस्य निग्रहात्।। (मनु०)

यथा पर्वतधातूनां दह्यन्ते धर्मनान्मलाः।
तथेन्द्रियकृता दोषः दह्यन्ते प्राणधारणात्।।
(अमृतनादोपनिषद्)

● प्राणायाम (प्राणशोधन) ही उन्मनीभाव का उन्नायक है—

मलाकुलासु नाडीषु मारुतो नैव मध्यगः।
कथं स्यादुन्मनीभावः कार्यसिद्धिर्कथं भवेत्।।

● प्राण-साधना से ही नादानुसन्धान में साफल्य प्राप्त होता है। इसीलिये आचार्य शंकर ने 'योगतारावली' में कहा है—

सरेचपूरैरनिलस्य कुम्भैः सर्वासु नाडीषु विशोधितासु।
अनाहताख्यो बहुभिः प्रकारैरन्तः प्रवर्तेत सदा निनाद।।

ऋषि घेरण्ड ने योगसाधना के सात साधनों का उल्लेख किया है, उसमें एक साधन है— लाघव। लाघव की प्राप्ति का साधन ही है— प्राणायाम : 'प्राणायामाल्लाघवञ्च।'

ऋषि घेरण्ड यह भी कहते हैं कि प्राणायाम वह साधना है, जिससे साधक देवतुल्य हो जाता है—

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि प्राणायामस्य यद्विधिम्।
यस्य साधनमात्रेण देवतुल्यो भवेन्नरः।।

● प्राणायाम से प्रकाशावरण क्षीण होता है और धारणा की सिद्धि होती है। महर्षि पतञ्जलि ने प्राणायाम के दो लाभ बताये हैं— प्रकाशावरण की क्षीणता एवं धारणाओं में मन की योग्यता में वृद्धि—

'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।' (२.५२)
'धारणासु च योग्यता मनसः।' (२.५३)

योगभाष्यकार व्यास कहते हैं कि प्राणायाम करने से योगी के विवेकज्ञान के आवरक कर्म नष्ट हो जाते हैं। इससे मलों की शुद्धि हो जाती है और ज्ञान की वृद्धि होती है। इसलिए इससे बड़ा कोई तप भी नहीं है— 'तपो न परं प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्येति।'

● प्राण मन्त्रसिद्धि में सहायक है। योगिनीहृदय में मन्त्र-साधना के अङ्गभूत तत्त्वों में मन्त्राक्षर उच्चारण, अवस्था, शून्य, विषुव, नव चक्र एवं मन्त्रार्थ को परिगणित किया गया है।

प्राण और विषुव— उपर्युक्त सप्त विषुवों में 'प्राणविषुव' का भी उल्लेख है। 'प्राणविषुव' प्राण एवं मन इन दोनों के सामरस्य का विधान है—

योगः प्राणात्मनसा विषुवं प्राणासंज्ञितम्। (पूजासङ्केत)

अमृतानन्दनाथ दीपिका में कहते हैं— सप्तविषुवभावनां विवक्षन्नादौ प्राणविषुव-भावना.......... प्राणस्य हकारात्मनो वाय्वात्मनो यष्टुर्मनसश्च संयोगः प्राणविषुवमित्युच्यते।'

शैवतन्त्र में भी कहा गया है— 'शिष्यात्मप्राणमनसां संयोगं प्राणकं विदुः।'

भास्करराय सेतुबन्ध में कहते हैं कि 'मूलाधारे ब्रह्मेति' यह कथन तो प्रसिद्ध ही है।

वहाँ जो 'रव' विद्यमान है, वह वायु एवं कुण्डलिनी के संयोग से व्युत्पन्न होता है। वही 'रव' नाभिपर्यन्त आकर पवन एवं मन से जुड़ जाता है और वही 'रव' हृदय में आकर पवन एवं बुद्धि से जुड़ जाता है। यही स्थानत्रय में परा, पश्यन्ती, मध्यमा नाम से विख्यात है।[१] इसे ही 'प्राणविषुव' कहते हैं।

प्राण या मारुत तो सुषुम्ना के अध:प्रान्त में भी स्थित है—

नयित्वा तं सुषुम्नाध: कन्दमूले च मारुतम्।[२]

भगवती कुण्डलिनी प्राणवायु के साथ ऊपर आरोहण करती हैं।

● प्राण संवित् तत्त्व की प्रथम परिणति है। आत्मा सर्वप्रथम प्राण के रूप में अवतरित होती है और इसीलिये कहा गया है कि 'प्राक् संवित प्राणे परिणता' अर्थात् संवित तत्त्व सर्वप्रथम प्राण के रूप में ही परिणत हुआ।

इसी प्राणतत्त्व से समस्त जगत् का विकास एवं विस्तार हुआ।

● प्राण ब्रह्माण्ड का संघटक तत्त्व है। समस्त ब्रह्माण्ड मूलत: दो पदार्थों से निर्मित हुआ है। वे तत्त्व हैं— आकाश और प्राण।

'आकाश' एक सर्वव्यापी एवं सर्वानुस्यूत सत्ता है। जिस किसी भी वस्तु का आकार है, जो कोई भी वस्तु कतिपय वस्तुओं के मिश्रण से उत्पन्न हुई है, वह इस आकाश तत्त्व से ही निर्मित हुई है।

आकाश ही वायुतत्त्व के रूप में परिणत होता है। यही तरल तत्त्व के रूप में आकार धारण करता है। यही पुन: ठोस आकार धारण करता है। यह आकाश ही सूर्य, पृथ्वी, तारा, धूमकेतु आदि के रूप में परिणत हो जाता है। सारे उद्भिज, अण्डज, पिण्डज और जरायुज अर्थात् संसार में जो कुछ भी है, सभी आकाश से ही उत्पन्न हुआ है। सृष्टि के आरम्भ में मात्र यही आकाश था।

अन्त में सारे जागतिक पदार्थ— ठोस, तरल एवं वाष्पीय पदार्थ आकाश में लय हो जाते हैं और सृष्टि के आरम्भ में पुन: इसी आकाश से समस्त ब्रह्माण्ड का आविर्भाव होता है।

प्रश्न यह उठता है कि किस शक्ति के प्रभाव से आकाश जगत् के रूप में परिणत होता है? प्राणशक्ति के प्रभाव से ही आकाश जगत् के रूप में परिणत होता है।

आकाश की भाँति प्राण भी जगत् की उत्पत्ति का मूल कारण है और सर्वव्यापी तथा विक्षेपकारी तत्त्व है।

आकाश → जगत्— कल्प के आदि एवं अन्त में नि:शेष सृष्टि आकाशरूप में

---

१. सौभाग्यभास्कर (वरिवस्यारहस्यम्)

२. स्वच्छन्दसंग्रह : षट्चक्र-वेधन में भी वायु की भूमिका है।

परिणत होती है और सृष्टि की समस्त शक्तियाँ प्राण में विलीन हो जाती हैं। नये कल्प में पुनः इसी प्राण से समस्त शक्तियों का विकास होता है।

इन्द्रियमार्गों (श्रोत्र, नासा, मुख आदि) या प्राणापान के मार्गों को रोक देने पर वायु ऊपर उठने लग जाता है। आधार से द्वादशान्त तक उठ रही यह प्राणशक्ति द्वादशान्त में प्रविष्ट होने पर स्वात्मस्वरूप की अनुभूति कराती है और 'पिपीलस्पर्शवेला' में आनन्दानुभूति कराती है—

सर्वस्रोतोनिबन्धेन प्राणाशक्त्योर्ध्वया शनैः।
पिपीलस्पर्शवेलायां प्रथते परमं सुखम्।।(विज्ञानभैरव-४३)

प्राणाध्वा (कालाध्वा)— प्राण सर्वव्यापी है; किन्तु वह स्फुट होता है मात्र हृदय में। शैवी शक्तियाँ— वामा, ज्येष्ठा एवं रौद्री प्राण से संयुक्त हो जाती हैं। प्राण में ही समस्त नक्षत्र है। प्राण विश्व का विस्तारक है। प्राण सूर्य है और अपान चन्द्रमा। प्राण के आक्रमण से चन्द्रमा एक-एक कला छोड़ता जाता है। अमावस्या को चन्द्रमा सूर्य में लय हो जाता है और तत्पश्चात् पुनः उदित होता है। चन्द्रमा की सोलह कलाओं में से पन्द्रह कलायें ही विलीन होती हैं; षोडशी कला विलीन नहीं होती। सूर्य जब चन्द्रमा को निगलता है तब चन्द्रमा अमृत छोड़ता है, जिसका पान कर राहु चन्द्रबिम्ब को छोड़ देता है।

प्राणोच्चार का विज्ञान एवं प्राण-प्रशमन

प्राण हृदय से प्रसूत होकर समना के स्थान ब्रह्मरन्ध्र तक यात्रा करता है। इसकी व्याप्ति ३६ अंगुल है। इस ३६ अंगुल सञ्चार में आना एवं जाना दोनों सम्मिलित है। इसी में प्राण का आरोह एवं अपान का अवरोह निहित है।

दिन— प्राणरूप सूर्य हृदय से उदित होकर ब्रह्मरन्ध्र में अस्त हो जाता है। यही 'दिन' है।

रात्रि— अपानरूप चन्द्रमा ब्रह्मरन्ध्र से उदित होकर हृदय में अस्त हो जाता है। यही 'रात्रि' है।

इस प्राणापानरूप रात-दिन में दो सन्ध्यायें होती हैं— प्रातःसन्ध्या (हृदय में अवस्थित) एवं सायंसन्ध्या (ब्रह्मरन्ध्र में अवस्थित)।

प्रश्वास— ब्रह्मरन्ध्र से हृदयपर्यन्त आने में अपान को जो समय लगता है, उसे 'प्रश्वास' कहते हैं।

निःश्वास— हृदय से ब्रह्मरन्ध्र तक चलने में प्राणों को जितना समय लगता है, उसे 'सोलह त्रुटि' या 'एक निःश्वास' कहते हैं।

प्रत्येक सन्ध्या एक-एक त्रुटिकाल रहती है। उससे प्राण एवं अपान दोनों को मिलाकर सवा दो अंगुल का सञ्चार रहता है।

प्राणसञ्चार क्रिया का अभ्यास तब तक आवश्यक है, जब तक कि परम तत्त्व का

ज्ञान न हो जाय। ज्ञान-विकास के तारतम्य में ही प्राणरूपी मन्त्र हृदय से उठकर ऊपर तक जाता है। परम तत्त्व का ज्ञान न रहने के कारण यह ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त उठकर फिर नीचे लौट आता है और ब्रह्मरन्ध्र का भेदन नहीं कर पाता।

प्राण पहले अट्ठारह अंगुल तक उठकर तालुस्थान में पहुँचता है। यह रुद्र या माया-ग्रन्थि का स्थान है। इस ग्रन्थि का भेदन न कर सकने के कारण यह मध्य नाड़ी द्वारा भ्रूमध्य में ईश्वरस्थान में जाता है। प्रथमत: अट्ठारह अंगुल प्राण तालुस्थान में ही रह जाता है। फिर भ्रूग्रन्थि का भेदन न हो सकने के कारण आगे का छ: अंगुल वहीं रह जाता है। यहाँ से बगल में प्रवाहित दो नाड़ियों द्वारा शेष बारह अंगुल प्राण ब्रह्मरन्ध्र तक जाता है; किन्तु शाक्त बल न रहने के कारण वह ब्रह्मरन्ध्र का भेदन नहीं कर पाता; अत: वह शेष बारह अंगुल वहीं रह जाता है और यही है— प्राण का अस्त होना।

इसके उपरान्त अपान क्रिया के अनन्तर इसका हृदयदेश से पुन: उद्गमन होता है और यह क्रिया निरन्तर गतिमान रहती है।

शाक्त बल प्राप्त होने से प्राण में सभी ग्रन्थियों में सञ्चार करने की क्षमता आ जाती है। परतत्त्व का ज्ञान हो जाने पर किसी भी ग्रन्थि में स्थित रहने पर भी प्राण बाधित नहीं होता, देहादि में प्रमातृभाव का उदय होकर वह उसके अधीन नहीं रह जाता। पर-ज्ञान → देहाभिमान का ध्वंस। प्राण के ऊर्ध्व सञ्चार की मात्रा जितनी होगी, उसी अनुपात में अज्ञान से ज्ञान का उदय और फिर ज्ञान-वृद्धि का एक निर्दिष्ट क्रम स्थापित हो जाता है।

'अबुध' = प्राणशक्ति के द्वारा प्रतिहत होकर नीचे की ओर (अज्ञान की अवस्था में) जाने वाला प्राणी 'अबुध' कहलाता है।

'बुध्यमान' = जिस समय हृदय में स्थित होकर प्राणी वहाँ से उठने लगता है, तब वह बुध्यमान अवस्था में स्थित माना जाता है। इस अवस्था में ज्ञानोदय होने लगता है।

'बुध' = जब प्राणी को उठते-उठते शक्ति प्राप्त हो जाती है तब उसे बुध (ज्ञानी) की अवस्था में अवस्थित माना जाता है।

'प्रबुद्ध' = शक्ति का बल हस्तगत करके तत्त्वारोहण की कुशलता प्राप्त कर लेने पर 'व्यापिनी' में पहुँचने पर 'प्रबुद्ध' की अवस्था प्राप्त कर लेता है। इस समय साधक को परम तत्त्व का आभास प्राप्त होने लगता है। इस समय मन:संस्कार का भी क्षय हो जाने के कारण साधक उन्मनाभाव प्राप्त कर लेता है। यह अवस्था ब्रह्मरन्ध्रभेदनोपरान्त की है। यह अवस्था काल, निवृत्यादि कलाओं, प्राणापान-सञ्चार, ३६ तत्त्व, ब्रह्मा-विष्णु-महेश (त्रिदेव) सभी से शून्य एवं अतीत है; वहाँ इनमें से किसी की भी पहुँच नहीं है। यह पराद्वयी परम शुद्धावस्था है। इसकी अनुभूति से जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है।

शून्य-प्रशमन— 'परम शून्य पद' परमशिव ही है। अन्य शून्य का त्याग करना पड़ता है। सात शून्यों में छ: शून्य गतिशील होने के कारण शून्य ही नहीं हैं। अत:

उनका त्याग करके सप्तम शून्य में लय प्राप्त करना चाहिये। यही 'परमपद' है। यह अवस्था-तीत चिद्रूप दशा है। यह भेदहीन है। यह अभावात्मक ही नहीं है; प्रत्युत विश्व-मय भी है; किन्तु समस्त भेदों से अतीत होने के कारण परम स्थिर एवं विश्वातीत है।

जिन छ: शून्यों का त्याग किया जाता है, वे निम्नांकित हैं—

१. 'अध:शून्य' (जिस हृदय में प्रपञ्च का उन्मेष नहीं हुआ है)।

२. 'मध्य शून्य' (कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट एवं ऊर्ध्व रन्ध्रस्थानों में अपने से अधोवर्ती प्रमेयों का उपशम हो जाने की दशा)।

३. 'ऊर्ध्वशून्य' (शक्तिस्थान। यहाँ नादान्तपर्यन्त सभी पाशों का क्षय हो जाता है)।

४-६. व्यापिनी, समना एवं उन्मना शून्य।

सप्तम शून्य के रूप को छोड़कर परमात्मा के छ: स्थूल रूप हैं— भुवन, विग्रह ज्योति या बिन्दु, व्यापिनी या आकाश और नाद या शब्दमन्त्र।

उपर्युक्त ६ शून्य तो हेय हैं ही। परतत्त्व सप्तम शून्य है और अचल है। निम्नवर्ती शून्यों के अधिष्ठाता भी परमशिव हैं। वे ही परम शून्य हैं। सप्तम शून्य ही परम शून्य है। यहाँ प्रमेयादि प्रपञ्च से रहित होने के कारण इसे शून्य कहा जाता है।

शक्तिसूत्र में ऋषि अगस्त्य की दीक्षा-दृष्टि— शक्तिसूत्रकार कहते हैं कि दीक्षा एक दक्षिणा है और दीक्षा के द्वारा प्रत्येक प्राणी अपने कालुष्यों से मुक्त हो जाता है—

'दीक्षा दक्षिणा'।।३८।।

'दीक्षया कलुषान्मुच्यते'।।३९।।

प्राणायाम

अभिनवगुप्तपाद की दृष्टि— साधक को चाहिये कि वह भगवती त्रिपुरसुन्दरी की उपासना में श्रीक्रम के विधानानुसार भूतशुद्धि एवं प्राणप्रतिष्ठा व्यापारों को समाप्त करके 'सौ:' वर्ण के साथ मातृका वर्णों द्वारा (श्रीक्रमोक्त विधि द्वारा) बहिर्मातृका न्यास निष्पा-दित करके १६ बार पूरक, ६४ बार कुम्भक एवं ३२ बार रेचकसहित प्राणायाम करे। २० बार या १६ बार या १० बार या (इतना भी न हो सके तो कम से कम) ३ बार प्राणायाम करे। आचार्य जयरथ ने तन्त्रालोक की टीका 'विवेक' में यह कहा है कि प्राणा-याम की प्रक्रिया द्वारा साधित प्राणापान की एकता के द्वारा जीव शिव बन जाता है—

शशिभास्करसंयोगाज्जीवस्तन्मात्रतां व्रजेत्।
अत्र ब्रह्मादयो लीना मुक्तये मोक्षकाङ्क्षिभि:।।

इसी प्राणापानैक्य की अवस्था में ब्रह्म आदि देवता लीन रहते हैं और इसके द्वारा मोक्षाप्ति की कामना करते हैं; किन्तु इसे मोक्ष का प्रधान कारण मानकर इसकी सिद्धि को ही सर्वोच्च उपलब्धि नहीं मान लेना चाहिये। तात्त्विक भूमि पर तो प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि भी व्यर्थ है—

तदेषा धारणाध्यानसमाधित्रितयी परम्।
संविदं प्रति नो कश्चिदुपयोगं समश्नुते।। (तन्त्रालोक)

स्वात्मपरामर्श एवं स्वात्मसाक्षात्कार के मार्ग में ये मात्र उपाय हैं; न कि उपेय। इसी दृष्टि से अभिनवगुप्त ने इनको साध्य मानने का निषेध किया है। ये सभी साधन स्वात्म-पशमर्श के साधनमात्र हैं; अतः स्वात्मपरामर्श की संसिद्धि में ही इनकी चरितार्थता है, इसके आगे नहीं।

इसका यह अर्थ नहीं है कि काश्मीरक अभिनवगुप्त प्राणायाम को व्यर्थ मानते हैं; क्योंकि उन्होंने तन्त्रालोक के छठे आह्निक में स्वयं कहा है कि प्रभुशक्ति, आत्मशक्ति एवं प्राणशक्ति में से सिद्ध योगी कभी दो को प्रमुखता देते हैं और कभी तीन को—

त्रयं द्वयं वा मुख्यं स्याद्योगिनामवधानिनाम्। (६.५४)

प्राणायाम की सार्थकता एवं उसकी लक्ष्मण रेखा— साधना के क्षेत्र में सर्वोच्च साधना तो मन की साधना है; किन्तु मन को विना प्राण-विशुद्धि के साधा कैसे जा सकता है? प्राण अशुद्ध है तो मन भी अशुद्ध रहेगा; अतः मन की विशुद्धि या मनो-मारण के लिये प्राणायाम का संबल आवश्यक है; किन्तु हठयोगियों की भाँति प्राण-साधना या प्राणायाम को ही मूल साधना नहीं मान लेना चाहिये। इसी दृष्टि से अभिनव-गुप्तपादाचार्य ने तन्त्रालोक (चतुर्थ आह्निक) में स्पष्टतः कहा है—

तर्कप्रभृतयो ये च नियमा यत्तथासनम्।
प्राणायामाश्च ये सर्वमेतद्बाह्यविजृम्भितम्।। (४.८८)

'श्रीमद्वीरावली' ग्रन्थ में भी इसी दृष्टि की पुष्टि की गई है—

प्राप्ते च द्वादशे भागे जीवादित्ये स्वबोधके।
मोक्षः स एव कथितः प्राणायामो निरर्थकः।। (४.९०)

तन्त्रालोक में ही अभिनवगुप्त पुनः कहते हैं—

प्राणायामो न कर्तव्यः शरीरं येन पीड्यते।
रहस्य वेत्ति यो यत्र स मुक्तः स च मोचकः।। (४.९१)

सत्यमेतन्महाप्राज्ञ प्राणायामो न कारणम्।

'रेचकादिप्राणायामो निरर्थकः तेन न कश्चिन्मोक्षलक्षणोऽर्थः।'[१]

प्राणायाम से मोक्षाप्ति नहीं हो सकती; यतः प्राणायाम मोक्ष का साक्षात् कारण नहीं है; अतः उसका सर्वोच्च महत्त्व भी नहीं है।

▼

---

१. जयरथ : विवेक (तन्त्रालोक की टीका)

पञ्चपञ्चाशत् अध्याय

ध्यानतत्त्व, ध्यान-साधना और त्रिपुरोपासना

ध्यान का स्वरूप— 'ध्यान' भगवती त्रिपुरसुन्दरी को प्राप्त करने का परम साधन है—

ध्यानगम्या परिच्छेद्या ज्ञानदा ज्ञानविग्रहा। (ललितासहस्रनाम)

'ध्यान' निश्चल बुद्धि है। इसमें आकारात्मक स्वरूप (संकोच) नहीं रहता। यह निराश्रित, स्वतन्त्र एवं पराश्रय-निरपेक्ष होता है। अनेकानेक इष्टों एवं उनके चित्रों में चित्रित मुखादिक शरीरावयवों की कल्पना ध्यान नहीं है। विज्ञानभैरव में कहा गया है—

ध्यानं या निश्चला बुद्धिर्निराकारा निराश्रया।
न तु ध्यानं शरीरस्य मुखहस्तादिकल्पना।।[1]

आचार्य जयरथ 'विवेक' में कहते हैं कि इस प्रकार का ध्याता साधक गतिरूप (गत्यात्मक) एवं अगतिरूप (स्थित्यात्मक) पूर्वोक्त चौदह स्थानों में से एक प्रकार से व्याप्तसदृश रहने की स्थिति बना चुका होता है। वह 'भैरव'रूप शिवसमावेश में स्थिर हो जाता है। भैरवसमावेश केवल ध्यान से ही नहीं, जप से भी प्राप्त होता है। १४ स्थान हैं— गति, स्थान, विकल्परूप स्वप्न, ज्ञानरूप जाग्रत, उन्मेषण, निवेषण, धावन, प्लवन, आयास, शक्तिवेदन, बुद्धि एवं उसके भेद, भाव, समस्त संज्ञायें और समस्त कर्म। ये १४ राम ही हैं।[2]

'शक्ति' मध्य नाड़ी के बीच बिसतन्तु के समान शोभायमान है। ध्याता उसी का ध्यान करता है। अन्तर्व्योमस्वरूपा उस देवी के द्वारा ही वह परम देव (शिव) प्रकाशित होता है—

मध्यनाडी मध्यसंस्थबिससूत्राभरूपया।
ध्यातान्तर्व्योमया देव्या तथा देवः प्रकाशते।।

आचार्य अभिनवगुप्तपाद 'तन्त्रालोक' (१२.९-११) में कहते हैं कि पूजा में अभेदानुभूति का ही महत्त्व होता है। अतः जब पदार्थ में सार्वरूप्य का अनुसन्धान हो जाता है तब वही ध्यान हो जाता है। तन्मयभाव से वस्तु का अर्पण एवं भेदाभाव ही पूजा है—

तत्रार्पणं हि वस्तूनामभेदेनार्चनं मतम्।
तथा सम्पूर्णरूपत्वानुसन्धिर्ध्यानमुच्यते।।

ध्यान के प्रकार— सामान्यतया ध्यान के दो प्रकार हैं : स्थूल और सूक्ष्म— 'स्थूलसूक्ष्मविभेदेन ध्यानं तु द्विविधं भवेत्।' 'सूक्ष्म ध्यान' में देवी को मन्त्रमय देह वाली माना जाता है— 'सूक्ष्मं मन्त्रमयं देहम्।' सूक्ष्मध्यान ज्ञानमय ध्यान है— सूक्ष्मं च प्रकृतं रूपं परं ज्ञानमयं स्मृतम्।[3]

---

१. तन्त्रालोक (प्रथम आह्निक) २. तन्त्रालोक (१.८९) ३. शाक्तानन्दतरङ्गिणी

'स्थूल ध्यान' का स्वरूप है— 'स्थूलं विग्रहचिन्तनम्।' अर्थात् शरीरावयवों से युक्त (सशरीर) देवता का ध्यान ही स्थूल ध्यान है।

भगवती— अरुणाभा भगवती के ध्यान का यह भी ध्यानविधान है—

अरुणाख्यां भगवतीमरुणाभां विचिन्तयेत्।
पाशाङ्कुशधरां देवीं धनुर्बाणधरां शिवाम्।।

वरदाभयहस्ताञ्च पुस्तकाक्षस्रगन्विताम्।
अष्टबाहुत्रिनयनां खेलन्तीममृताम्बुधौ।।

स करोत्येव शृङ्गाररसास्वादनलम्पटाम्।।[१]

'ध्यान' का स्वरूप क्या है? इस विषय में विज्ञानभैरव में इस प्रकार कहा गया है—

ध्यानं हि निश्चला बुद्धिर्निराकारा निराश्रया।
न तु ध्यानं शरीराक्षिमुखहस्तादिकल्पना।।

'ध्यै' चिन्तायाम् धातु से ल्युट् प्रत्यय लगाने पर 'ध्यान' शब्द निष्पन्न होता है।

'अमरौघप्रबोध' में कहा गया है कि अशेष वस्तु-विषय-व्यापारहीन मन की स्थिति ही 'ध्यान' है— 'तद्ध्यानं यदशेषवस्तुविषयव्यापारहीनं मनः।'[२]

'योगमार्तण्ड' में कहा गया है कि 'ध्यान' वह यौगिक प्रक्रिया है, जिससे अद्भुत ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है, जबकि 'धारणा' से मनोधैर्य एवं 'समाधि' से मोक्ष की प्राप्ति होती है—

धारणायां मनोधैर्यं ध्यानादैश्वर्यमद्भुतम्।
समाधेर्मोक्षमाप्नोति त्यक्त्वा कर्म शुभाशुभम्।। (१०२)

बारह धारणाओं से एक 'ध्यान' निर्मित होता है। 'योगमार्तण्ड' में ही कहा गया है कि तत्त्व में निश्चल चित्तस्थिति को ही 'ध्यान' कहते हैं—

यस्तत्त्वे निश्चलं चेतः तद्ध्यानं च प्रचक्षते।

योगमार्तण्डकार ध्यान को इतना महत्त्वपूर्ण मानते हैं कि वे कहते हैं कि सहस्रों अश्वमेध यज्ञों एवं सैकड़ों वाजपेय यज्ञों के अनुष्ठान एवं निष्पादन से भी जो फल अधिगत होता है, वह फल ध्यानयोग की षोडशी कला का भी स्पर्श नहीं कर सकता—

अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च।
एकस्य ध्यानयोगेन कलां नार्हन्ति षोडशीम्।।

'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में गोरक्षनाथ कहते हैं कि परमाद्वैत का एक भाव है और वही 'आत्मा' कहलाता है। जो-जो वस्तु प्रतीत हो, उसमें आत्मस्वरूप की ही भावना करनी चाहिये। समस्त भूतमात्र में समदृष्टि, आत्मदृष्टि या आत्मस्वरूप की भावना ही 'ध्यान' है— 'अथ ध्यानमिति कश्चन परमाद्वैतस्य भावः स एवात्मेति यथा यद्यत्स्फुरति तत्तत्स्वरूप-

१. वामकेश्वरतन्त्र २. अमर प्रबोध (५५)

मेवेति भावयेत् सर्वभूतेषु समदृष्टिश्च इति ध्यानलक्षणम्।'

'योगसारसंग्रह' में विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि किसी देशविशेष में वृत्त्यन्तराव्यवहित ध्येयाकारवृत्तिप्रवाह ही 'ध्यान' है— 'तत्र देशे ध्येयाकारवृत्तिप्रवाहो वृत्त्यन्तराव्यवहितो ध्यानम्।'

'ध्यानं निर्विषयं मनः' कहकर मन की निर्विषयता को भी 'ध्यान' की संज्ञा दी गई है।

महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्र (३.२) में प्रत्यय (ज्ञान) की एकतानता को 'ध्यान' नाम दिया है— 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।'

'राजमार्तण्ड' में भोजराज कहते हैं कि उस विशिष्ट देश में जहाँ चित्त लगा हुआ है, वहाँ प्रत्यय (ज्ञान) की जो एकतानता (विसदृश परिणाम-परिहार के माध्यम से) धारणा में अवलम्बनीकृत है, उसका आलम्बन के रूप में निरन्तर प्रादुर्भाव (प्रकटीकरण) ही 'ध्यान' है— तत्र तस्मिन्देशे यत्र धृतं तत्र प्रत्ययस्य ज्ञानस्य यैकतानता विसदृशपरिणाम-परिहारेण यदेव धारणायामलम्बनीकृतं तदालम्बनतयैव निरन्तरमुत्पत्तिः स ध्यानमुच्यते।'

'योगप्रदीप' में भावगणेश कहते हैं कि 'तत्र देशे चतुर्भुजादिध्येयाकारवृत्तिप्रवाहो ध्यानमित्यर्थः।' अर्थात् चतुर्भुज आदि का ध्येय आकारों में अपनी चित्तवृत्ति का जो प्रवाह है, वही 'ध्यान' है।

'योगवृत्ति' में नागोजी भट्ट कहते हैं कि 'तत्र देशे चतुर्भुजादिध्येयाकारवृत्तिप्रवाहो वृत्त्यन्तराव्यवहितो ध्यानमित्यर्थः। बुद्धिवृत्तौ वा तद्विवेकतश्चैतन्यचिन्तनम्। कारणोपाधावी-श्वरचिन्तनमिति। द्वादशधारणाकालं च ध्यानम्।' वृत्त्यन्तराव्यवहित ध्येयाकार वृत्तिप्रवाह 'ध्यान' है तथा बारह धारणाओं का योग भी 'ध्यान' है।

'मणिप्रभा' में रामानन्द कहते हैं कि 'यत्र धारणाविजातीयवृत्तिपरिहारे यत्नापेक्षा भवति तत्रैव या प्रत्ययानां वृत्तीनामेकतानता यत्नमनसेक्ष्यैकविषयता तद्ध्यानमित्यर्थः।'

तद्रूपप्रत्ययैकाग्रसन्ततिश्चान्यनिस्पृहा ।
तद्ध्यानं प्रथमैरङ्गैः षड्भिर्निष्पाद्यते नृप।।

'योगसुधाकर' में सदाशिवेन्द्र सरस्वती कहते हैं कि 'तत्र यथोक्तदेशे प्रत्ययस्यैकतानता एकविषयप्रवाहः स च विच्छिद्य विच्छिद्य जायमानो ध्यानं भवति।'

व्यास जी ने 'योगभाष्य' में कहा है कि नाभिचक्र, हृदयपुण्डरीक, मूर्धा की ज्योति, नासिकाग्रभाग, जिह्वाग्र— इस प्रकार आन्तरिक देशों में ज्ञान की एकतानता ही 'ध्यान' है, उस धारणा वाले विषय में ध्येयरूप आलम्बन वाले (ध्येय पर ही केन्द्रित) एवं अन्य ज्ञानों से अस्पृष्ट ज्ञान की अविच्छिन्न तथा अभिन्न धारा ही ध्यान है— 'तस्मिन् देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानतासदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम्।'[१]

---

१. ध्येय का स्वभाववेश ही समाधि है— 'योगवार्तिक'।

तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं कि 'धारणासाध्यं ध्यानम्, तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्, एकतानता एकाग्रता।'

'योगवार्तिक' में विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि चिन्तन ही ध्यान है। 'गरुडपुराण' कहता है कि 'तस्यैव ब्रह्मणि प्रोक्तं ध्यानं द्वादशधारणा।। द्वादशप्राणायामकालेन धारितचित्तस्य कालावच्छिन्नं चिन्तनं ध्यानं प्रोक्तम्। ध्यानमेव ध्येयाकारनिर्भासं प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण भवति।'

'शिवपुराण' में कहा गया है कि प्रगाढ़ भगवच्चिन्तन ही 'ध्यान' है। विक्षेपशून्य चित्त से जो इष्टदेव का पुनः पुनः चिन्तन किया जाता है, उसका नाम है— 'ध्यान'।

शिवपुराण की 'वायवीय संहिता' में कहा गया है कि—

- ध्येय में स्थित चित्त की जो ध्येयाकार वृत्ति होती है और मध्य में अन्य वृत्ति भेद नहीं उत्पन्न करती, उस ध्येयाकार वृत्ति का प्रवाह बने रहना ही 'ध्यान' है।
- ध्येय में स्थित चित्त की जो ध्येयाकार वृत्ति होती है और दोनों के मध्य द्वितीय वृत्ति अन्तर नहीं डालती; प्रत्युत उस वृत्ति की ध्येयाकार वृत्ति की प्रवहमानता ही ध्यान है।

'व्यासभाष्य' (३.१.२) में कहा गया है कि 'तस्मिन् देशे ध्येयावलम्बनस्य प्रत्ययैकतानतासदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम्।'

ध्यान के प्रकार

'योगमार्तण्ड' के अनुसार ध्यान के दो प्रकार हैं— सगुण एवं निर्गुण (द्विधा भवति तज्ज्ञानं सगुणं निर्गुणन्तथा)।

'सन्त सुन्दरदास' के अनुसार ध्यान के चार प्रकार हैं— पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ एवं रूपातीत ध्यान।

ऋषि घेरण्ड का मत— जिस प्रकार 'नित्याषोडशिकार्णव' में ध्यान के तीन प्रकारों (विधाओं) का विवेचन किया गया है, उसी प्रकार घेरण्डसंहिता में भी किया गया है। 'घेरण्डसंहिता' के अनुसार ध्यान के तीन प्रकार हैं— स्थूल, ज्योति एवं सूक्ष्म (स्थूलं ज्योतिस्तथा सूक्ष्मं ध्यानस्य त्रिविधं विदुः)। घेरण्ड ऋषिप्रोक्त ध्यान के उपर्युक्त प्रकार तान्त्रिक ध्यान हैं और योगशास्त्र से सम्बद्ध हैं। ये तान्त्रिक दर्शन से सम्बद्ध ग्रन्थ के रूप में नही हैं।

स्थूलं मूर्तिमयं प्रोक्तं ज्योतिस्तेजोमयं यथा।
सूक्ष्मं बिन्दुमयं ब्रह्म कुण्डली परदेवता।। (घेरण्डसंहिता)

मूर्ति, तेज एवं बिन्दु— ध्यानयोग के में ये ही आलम्बन ध्यान के विभिन्न प्रकार हैं।

'राजयोग' में स्वीकृत ध्यान तीन हैं— विराट् ध्यान, ईशध्यान एवं ब्रह्मध्यान।

ब्रह्मध्यानं विराड् ध्यानं चेशध्यानं यथाक्रमम्।

ऋषि घेरण्ड का ध्यानयोग—

स्थूल ध्यान— किसी चेतन मूर्ति के रूप में सगुण, सावयव, विशिष्ट स्वरूप-संवलित देवता का अविच्छिन्न तैलधारावत् ध्येयाकार चिन्तन ही 'ध्यान' है। यह स्थूल-प्रकृतिक ध्यान है— 'स्थूलं मूर्तिमयं प्रोक्तम्'।

ज्योतिर्ध्यान— यह तेजोमय ध्यान है— 'ज्योतिस्तेजोमयन्तथा' (उपदेश-६.१)।

सूक्ष्म ध्यान— यह बिन्द्वात्मक ध्यान है। इसका सम्बन्ध भगवती कुण्डली पर देवता से है, जो कि ब्रह्मस्वरूपा है—

सूक्ष्मं बिन्दुमयं ब्रह्मकुण्डली परदेवता।

स्थूल ध्यान की प्रथम प्रक्रिया— साधक कल्पना करे कि उसके हृदय में अमृत का समुद्र है और उसके मध्य सुरत्नवालुकामय रत्नद्वीप है। उसकी चारो दिशाओं में बहुपुष्पित नीम के पेड़ों से निर्मित निम्बोपवन की खाई-जैसा दुर्गात्मक प्राचीर है। ऐसा प्रतीत होता है, मानों निम्बोपवन ही दुर्ग की खाई है।

इसमें मल्लिका, मालती, चमेली, केशर, चम्पा, बकायन, स्थल कमल की सुगन्ध से दसों दिशायें सुगन्धित हो रही हैं। उसके मध्य यह ध्यान करना चाहिये कि एक मनोहारी कल्पतरु सुशोभित हो रहा है और उसकी चार शाखायें चार वेदों के रूप में सुशोभित हो रही हैं तथा भ्रमर एवं कोयल आदि गुञ्जार और सुमधुर कलरव कर रहे हैं। फिर वहाँ स्थिर होकर ध्यान करे कि कल्पतरु के नीचे महामाणिक्यों से निर्मित मण्डप स्थित है। फिर स्मरण करे कि उसके भीतर एक रत्नजटित एवं सुन्दर पर्यङ्क है और उस पर गुरुप्रोक्त विधि के अनुसार अपने इष्टदेवता के आसीन होने की कल्पना करे। उस देवताविशेष का जो रूप है, उसका जो भूषण है, उसका जैसा भूषण है, उन सभी से युक्त उस देवता के स्थूल स्वरूप का ध्यान करे।

स्थूल ध्यान की द्वितीय प्रक्रिया— ध्यानयोगी यह ध्यान करे कि ब्रह्मरन्ध्र में सहस्रदल का एक कमल है और उस महापद्म की कर्णिका में द्वादश दलयुक्त एक पद्म स्थित है। यह द्वादशदल कमल श्वेतवर्णी, महातेजान्वित, द्वादश दलान्वित एवं यथाक्रम द्वादश बीजों से युक्त है। उसके द्वादश दल हैं— ह, स, क्ष, म, ल, य, र, यूं, ह, स, ख, फ्रें (ये इस क्रम से बीजमन्त्र हैं)।

यह भी ध्यान करे कि इस कर्णिका में अ, क, थ— ये तीन रेखायें हैं तथा इसके कोणों में ह, ल, क्ष अक्षर एवं उसके मध्य में ॐकार स्थित है।

योगी ध्यान करे कि वहाँ नादबिन्द्वात्मक एक मनोहर पर्यङ्क बिछा है, जिस पर एक हंसयुगल समासीन है तथा पादुका भी वर्तमान है। यहाँ यह ध्यान करे कि श्वेताम्बरी, शुक्ल गन्ध से सुगन्धित, त्रिलोचनी एवं द्विभुजी गुरु समासीन हैं। गुरुजी ने अपने गले में लाल रंग की माला धारण कर रक्खी है और लाल रंग की शक्ति से समन्वित हैं। ध्यानयोगी इसी स्वरूप के गुरु का ध्यान करे।

ज्योतिर्ध्यान की प्रथम प्रक्रिया— इस ध्यान से साधक आत्मा का साक्षात्कार करने लगता है— 'यद्ध्यानेन योगसिद्धिरात्मप्रत्यक्षमेव च।' इस ध्यान की प्रथम पद्धति इस प्रकार है—

मूलाधार चक्र में भुजङ्गाकाराकारित कुण्डलिनी शक्ति स्थित है। वहीं प्रदीपकलिका के आकार की आत्मा स्थित है। उसमें जो तेजोमय ब्रह्म स्थित है, उसका ध्यान करना चाहिये।

ज्योतिर्ध्यान की द्वितीय प्रक्रिया— भ्रुवद्वय के केन्द्र में तथा मन के ऊपर जो ॐकारमय तथा तेजावली-संवलित शिखा है, उसका ध्यान भी तेजोध्यान या ज्योति-र्ध्यान कहलाता है।

सूक्ष्म ध्यान की प्रक्रिया— ऋषि घेरण्ड अपने शिष्य चण्डकापालि से कहते है कि जिस योगी की कुण्डलिनी जागृत हो जाय, वह अत्यन्त भाग्यवान प्राणी होता है— 'बहुभाग्यवशाद्यस्य कुण्डली जागृता भवेत्।' वह कुण्डलिनी उस प्राणी की आत्मा के साथ मिलकर और आँखों के छिद्रों से निकलकर राजमार्ग में विहार करती है; किन्तु चञ्चल होने के कारण चक्षुगोचर एवं मनोगोचर नहीं हो पाती।

शाम्भवी मुद्रा का साधन कर उसका सतत् ध्यान करने पर उसका दर्शन भी हो जाता है। यही सूक्ष्म ध्यान कहलाता है।

ध्यानयोग— घेरण्ड ऋषि ने इन तीनों ध्यानपद्धतियों को समष्टि रूप में ध्यान-योग कहा है— 'इति ते कथितं चण्ड ! ध्यानयोगं सुदुर्लभम्'।

ध्यानत्रय की उत्कृष्टता का क्रम— 'स्थूल ध्यान' साधना की उत्कृष्टतम पद्धति है; किन्तु स्थूल ध्यान से १०० गुना उत्कृष्टतर 'तेजोध्यान' है और तेजोध्यान से लाख-गुना उत्कृष्टतर 'सूक्ष्म ध्यान' होता है—

स्थूलध्यानाच्छतगुणं तेजोध्यानं प्रचक्षते।
तेजोध्यानाल्लक्षगुणं सूक्ष्मध्यानं परात्परम्।।

इस ध्यानयोग से आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है—

इति ते कथितं चण्ड ! ध्यानयोगं सुदुर्लभम्।
आत्मा साक्षाद्भवेद्यस्मात्तस्माद्ध्यानं विशिष्यते।।

शिवसंहिता की यौगिक ध्यानप्रक्रिया या राजयोग— 'शिवसंहिता' में कहा गया है कि यदि ब्रह्मरन्ध्र में आधा क्षण भी मन ध्यानस्थ हो जाय तो प्राणी समस्त पापों से मुक्त होकर परम गति को प्राप्त कर लेता है।

जिस योगी का चित्त ब्रह्मरन्ध्र में लीन होने लगता है, वह अणिमा आदि समस्त सिद्धियों, गुणों का भोग कर शिव में लय प्राप्त कर लेता है।

ब्रह्मरन्ध्र का ध्यान करने से इसका जो ज्ञान प्राप्त होता है, उससे वह साधक भगवान् का प्रेष्ठ बन जाता है तथा मुक्तिमार्ग का अधिकारी बनकर इस ज्ञान से दूसरों

को लाभान्वित कराकर उसका भी उद्धार कर देता है। 'ब्रह्मरन्ध्र' योगियों को परम प्रिय तो है ही; साथ ही इसका ज्ञान ब्रह्मादिक को भी कृच्छ्रलभ्य है।

सहस्रदल कमल के केन्द्र में स्थित 'योनिमण्डल' अद्भुत है। उसके नीचे के भाग में 'चन्द्रमण्डल' है, जिसका ध्यान करना चाहिये। इस चन्द्रमण्डल का ध्यान करने से ध्याता पृथ्वी पर सर्वाभिनन्दनीय हो जाता है।

शिर:स्थित कपाल के विवर में 'दुग्ध-महोदधि' की कल्पना करनी चाहिये तथा वहाँ स्थित प्रत्येक सहस्रदल कमल में चन्द्रमा का ध्यान करना चाहिये।

शिर में स्थित कपाल-विवर में षोडश कलापूर्ण एवं अमृतात्मक रश्मियों से संयुक्त 'हंस' नामक निरञ्जन का ध्यान करना चाहिये। इससे तीन दिनों के भीतर ही निरञ्जन का साक्षात्कार होता है।

इस उपर्युक्त ध्यान से भविष्यत् का ज्ञान हो जाता है, चित्त शुद्ध हो जाता है तथा पञ्चविध समस्त महापातक शीघ्र ही भस्म हो जाते हैं।

शिर:स्थित चन्द्र का दर्शन एवं ध्यान दोनों से ग्रह अनुकूल हो जाते हैं, उपद्रव नष्ट हो जाते हैं, रोग शान्त हो जाते हैं, समर में विजय प्राप्त हो जाती है, खेचरी-भूचरी सिद्ध हो जाती है और साधक सिद्ध हो जाता है। ऐसा साधक शिव के समान हो जाता है।

सहस्रार पद्म या 'कैलास' में स्थित शिव 'नकुल' कहलाते हैं। यह परम स्थान एवं हंसनिवास 'कैलास' है, जो ध्यान किये जाने पर समस्त व्याधियों को नष्ट कर देता है तथा चिरायु प्रदान करते हुये ध्याता को मृत्युञ्जयी बना देता है।

कुलाख्य परमेश्वर में चित्तवृत्ति के लगने पर समाधिसाम्य के द्वारा योगी निश्चल हो जाता है और जगत् विस्मृत हो उठता है। इसके ध्यान से विचित्र शक्तियाँ हस्तगत हो जाती हैं।

सहस्रदल कमल से क्षरित सुधा का पान करने से अमृतत्व की प्राप्ति होती है तथा कुण्डलिनी सहस्रकमल में विलीन हो जाती है। फिर चतुर्विधा सृष्टि भी परमात्मा में लीन हो जाती है। ऐसा ज्ञानोदय होने पर विषयाग्रहण होने पर चित्तवृत्ति विलीन हो जाती है। इसके फलस्वरूप योगी 'अखण्ड ज्ञानरूपी निरञ्जन' को प्राप्त कर लेता है।

ब्रह्माण्ड के बहिर्भाग में स्वप्रतीक के विषय का ध्यान करना चाहिये और उसमें 'महच्छून्य' का ध्यान करना चाहिये, जो कि अनादि, अनन्त, मध्यरहित, कोटिसूर्यवत् देदीप्यमान एवं चन्द्रकोटिप्रतीकाश है। इसके ध्यान से सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

इस शून्य का ध्यान करने से वर्ष भर के भीतर समस्त सिद्धियाँ हस्तगत हो जाती हैं। इस शून्य के ध्यान में क्षणपर्यन्त भी चित्त-स्थैर्य हो जाय तो वह यथार्थ योगी एवं भक्त बन जाता है। वह लोकत्रयपूजित तथा सर्वकल्मषसंघात से रहित हो जाता है,

उसका मृत्यु-संसारवर्त्म में परिभ्रमण नहीं होता। स्वाधिष्ठान मार्ग से उसका यत्नपूर्वक अभ्यास करना चाहिये।

शून्य का ध्यान करने से साधक अणिमादिक समस्त ऐश्वर्यों को प्राप्त कर लेता है। उसके ध्यान की महिमा शिव द्वारा भी अकथ्य है; केवल अनुभूतिगम्य है।[१]

देह में स्थित एवं चक्रों में समासीन देवता गरम वायु के ताड़न से काँपने लगते हैं और 'महामाया' कुण्डलिनी 'कैलास' नामक 'बिन्दु देश' में विलीन हो जाती है—

चक्रमध्ये स्थिता देवाः कम्पन्ते वायुताडनात्।
कुण्डल्यपि महामाया कैलासे सा विलीयते।।[२]

चाहे पिण्ड-स्थित चक्र हो या देवी-देवता हों या बाह्य अथवा आभ्यन्तर कोई अन्य पदार्थ हों, सभी ध्यान का विषय बनने पर एकाग्रता में वृद्धि करते हैं, मन को स्थिरता प्रदान करते हैं, चित्त की वृत्तियों को अन्तरोन्मुखी करते हैं और अन्ततः परमात्मा का साक्षात्कार कराते हैं।

'ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः' (२.११), 'यथाभिमतध्यानाद्वा' (१.३९), 'तत्र ध्यानजम-नाशयम्' (४.६) आदि योगसूत्र भी ध्यान को आध्यात्मिक साधना में अत्यन्तोपयोगी सिद्ध करते हैं।[३]

'मणिप्रभा' में कहा गया है कि 'इष्टं शिव-राम-कृष्णादिरूपं तदेव ध्यायेत्। तत्र लब्धस्थितिकमन्यत्रापि स्थितिं लभते।' 'योगचन्द्रिका' में भी कहा गया है कि 'यथाऽभिमते वस्तुनि बाह्ये आभ्यन्तरे नाडीचक्रादौ वा भाव्यमाने चेतसः स्थितिहेतुर्भवति।'

नागोजीभट्ट 'योगवृत्ति' में कहते हैं कि 'यदेवाऽभिमतं हरिहरमूर्त्यादि तदेव ध्यायेत्। तत्र लब्धस्थितिपदमन्यत्रापि स्थिरं भवति।'

भावगणेश 'योगवृत्ति' (दीपिका) में कहते हैं कि 'किं बहुना यदेवाभिमतं हृदि हरिहरमूर्त्यादिकं तदेवादौ ध्यायेत्। तस्मादपि ध्यानान्नियतस्थितिकं भवति।'

'राजमार्तण्ड' में भोजराज ने कहा है कि 'नानारुचित्वात्प्राणिनां यस्मिन् कस्मिन् वस्तुनि योगिनः श्रद्धा भवति, तस्य ध्यानेनापीष्टसिद्धिर्भवति।'

सारांश यह कि जिस साधक की जिस देवता, पदार्थ, वस्तु (आभ्यन्तर एवं बाह्य ध्येय पदार्थ) में रुचि हो, वह उसी पर ध्यान आकृष्ट करे। उससे एकाग्रता सिद्ध होने पर इसका उपयोग किसी भी उच्चतर उपलब्धि या लक्ष्य के लिये प्रयुक्त किया जा सकता है।

'सांख्यप्रवचनसूत्र' में आसक्ति के अत्यय को 'ध्यान' का अभिधान दिया गया है— 'रागोपहतिर्ध्यानम्' (सूत्र-१०)।

'भावनोपचयात् शुद्धस्य सर्वं प्रकृतिवत्' (सूत्र-२९) का आशय यह है कि गम्भीर

---

१. शिवसंहिता २. शिवसंहिता ३. योगसूत्र

ध्यान की शक्ति से शुद्ध स्वरूप पुरुष के पास प्रकृति की समस्त शक्तियाँ आ जाती हैं।

'ध्यान' मन की निर्विषयता है— 'ध्यानं निर्विषयं मनः।' 'ध्यान' चित्त की निश्चलता है, अखण्ड आनन्द एवं एकतान वृत्ति-प्रवाह है, तैलधारावत् नैरन्तर्य है, अविरत प्रवाहित एवं ध्येयाकारित चिन्तन है, मन की अविचल एकाग्रता है एवं प्रत्यय की एकतानता है— 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' (योगसूत्र-३.२)।

देवी के ध्यान का विधान करते हुये शंकराचार्य 'सौन्दर्यलहरी' में कहते हैं—

मुखं बिन्दुं कृत्वा कुचयुगमधस्तस्य तदधो
हरार्धं ध्यायेद्यो हरमहिषि ते मन्मथफलाम्।
सः सद्यः संक्षोभं नयति वनिता इत्यतिलघु
त्रिलोकीमप्याशु भ्रमयति रवीन्दुस्तनयुगाम्।।

अर्थात् साधक को चाहिये कि वह त्रिकोण के मध्य स्थित बिन्दुस्थान में भगवती के मुख का ध्यान करे अर्थात् बिन्दु को मुखस्थानीय मानकर वहाँ भगवती के सर्वा-तिशायी सौन्दर्य से मण्डित दिव्य मुख का ध्यान करे। उसके नीचे दो बिन्दु दायें-बायें मानकर उनमें उनके स्तनद्वय का ध्यान करे। कुचद्वय के नीचे देवी की योनि होने की कल्पना करे। मुख, स्तनद्वय एवं योनिरूप देवी के प्रधान अंगों में मारबीज (कामबीज) की कल्पना करके देवी के साथ अपनी तदात्मकता का ध्यान करे— 'साधकः त्रिकोणे बिन्दु-स्थाने साध्यायाः कान्तायाः वक्त्रं ध्यात्वा तदधस्तात्तस्याः कुचयुगं ध्यात्वा, तत्कुचद्वयस्या-धस्तात्तस्याः योनिं विचिन्त्य तत्र वक्त्रकुचद्वययोनिषु प्रधानाङ्गेषु मारबीजं सञ्चिन्त्य तया कान्तया आत्मनस्तादात्म्यं सम्पादयेत्।'[१] 'चतुश्शती' में भी कहा गया है—

बिन्दुं सङ्कल्प्य वक्त्रन्तु तदधस्तात्कुचद्वयम्।
तदधश्च हरार्धन्तु चिन्तयेत्तदधोमुखम्।।

तत्र कामकलारूपामरुणां चिन्तयेदिह।
ततस्तेनैव रूपेण निजरूपं विचिन्तयेत्।।

अन्यत्र यह भी कहा गया है कि—

बिन्दौ तद्वक्त्रमारोप्य तदधो बाहुयुग्मकम्।
तदधः कुचयुग्मं तु तदधो योनिमेव च।।

एतेषु पञ्चस्थानेषु पञ्चबाणान् विचिन्तयेत्।

पञ्चबाण बीज क्या हैं? मुख में, बाहुयुग्म में, कुच के मध्य एवं योनि के मध्य में यथाक्रम द्रां, द्रीं, क्लीं, ब्लूं— इस प्रकार ध्यान करना चाहिये। यही प्रयोग 'कामराज प्रयोग समय' भी कहा जाता है। अन्यत्र यह भी कहा गया है—

त्रिकोणे बैन्दवस्थाने अधोवक्त्रं विचिन्तयेत्।
बिन्दोरुपरिभागे तु वक्त्रं सञ्चिन्त्य साधकः।।

---

१. लक्ष्मीधरा-१९

तदुपर्येव वक्षोजद्वितयं संस्मरेद्बुधः।
तदुपर्येव योनिञ्च क्रमशो भुवनेश्वरीम्।
श्रीविद्यां कामराजञ्च विन्यस्याशु विमोहयेत्।।

'सनत्कुमारसंहिता' में मादनप्रयोग की दिशा में भी प्रयुक्त किया गया है।

ध्यान-पद्धति में देवी का ध्यान इस प्रकार भी बताया गया है कि हृत्कर्णिका के मध्य एक मनोहर सिंह स्थित है। सिंह के ऊपर एक रक्तकमल है, जिसके ऊपर शिव स्थित हैं तथा उनके ऊपर कामरूपिणी भगवती विराजमान हैं—

हृत्कर्णिकामध्ये ध्यायेत् सिंहं मनोहरम्।
सिंहोपरिस्थितं पद्मं रक्तं तस्योर्ध्वगः शिवः।
तस्योपरि महादेवी रमते कामरूपिणी।।[1]

श्वेत वर्ण के महादेव, रक्तकमलवत् ब्रह्मा, हरि एवं हर— ये महान् प्रकाशपुञ्ज ही उसके वाहन हैं।[2]

'वीरतन्त्र' में कहा गया है कि न्यास-ध्यान-पूजन आदि नियमों की बाध्यता से नारियाँ मुक्त हैं। उनको मात्र जप करने से ही मन्त्र सिद्ध हो जाते हैं—

नियमः पुरुषे ज्ञेयो न योषित्सु कदाचन।
न न्यासो योषितां तत्र न ध्यानं न च पूजनम्।
केवलं जपमात्रेण मन्त्रः सिद्ध्यन्ति योषिताम्।।

हृत्पद्म में भगवती का ध्यान— 'परात्रिंशिका' में ध्यान का स्थान हृत्पद्म बताया गया है और कहा गया है—

आद्यन्तरहितं बीजं विकसत्तिथिमध्यगम्।
हृत्पद्मान्तर्गतं ध्यायेत्सोमांशं नित्यमभ्यसेत्।।

'सोमांश' अमृतांश है, जो कि हृत्कमल में स्थित है।

सुधासिन्धु में भगवती का ध्यान— भगवती के ध्यान का यह स्वरूप वरेण्य है। कल्पवृक्ष से परिवृत सुधासिन्धु में नीप (कदम्ब) वृक्षों से आच्छादित एक मणिमय मण्डप है। उस मण्डप में चिन्तामणिगृह है, जिसमें आनन्दभैरवी (ललिता) या त्रिपुर-सुन्दरी ईशानी निवास करती हैं। शिव, सदाशिव और महेशान उनके मञ्च, पर्यङ्क एवं उपबर्हण हैं तथा ब्रह्मदेव, हरि, रुद्र और ईश्वर उस मञ्च के पैर हैं—

बिन्दुस्थानं सुधासिन्धुः पञ्चयोन्यः सुरद्रुमाः।
तत्रैव नीपश्रेणी च तन्मध्ये मणिमण्डपम्।।

तत्र चिन्तामणिकृतं देव्या मन्दिरमुत्तमम्।
शिवात्मके महामञ्चे महेशानोपबर्हणे।।

---

१. शाक्तानन्दतरङ्गिणी २. शाक्तानन्दतरङ्गिणी

अतिरम्यतरे तत्र कशिपुश्च सदाशिवः।
भृतकाश्च चतुष्पादा महेन्द्रश्च पतद् ग्रहः।।

तत्रास्ते परमेशानी महात्रिपुरसुन्दरी।
शिवार्कमण्डलं भित्वा द्रावयन्तीन्दुमण्डलम्।।

तदुद्भूताऽमृतस्यन्दिपरमानन्दनन्दिता।
कुलयोषित्कुलं त्यक्त्वा परं वर्षणमेत्य सा।।

* * * * *

सुधाब्धौ नन्दनोद्याने रत्नमण्डपमध्यगाम्।
बालार्कमण्डलाभासां चतुर्बाहां त्रिलोचनाम्।।

पाशाङ्कुशशरांश्चापं धारयन्तीं शिवां श्रियम्।
ध्यात्वा च हृद्गतं चक्रं व्रतस्थः परमेश्वरीम्।
पूर्वोक्तध्यानयोगेन चिन्तयन् जपमाचरेत्।।

सुभगोदय के अनुसार भगवती का ध्यान— भगवती त्रिपुरसुन्दरी का ध्यान सूर्यमण्डल के मध्य में करना चाहिये—

सूर्यमण्डलमध्यस्थां देवीं त्रिपुरसुन्दरीम्।
पाशाङ्कुशधनुर्बाणहस्तां ध्यायेत्सुसाधकः।।

सूर्यमण्डल में भगवती का ध्यान— कालिदास 'चर्चास्तोत्र' में भगवती का ध्यान सूर्यमण्डल के मध्य करने का प्रतिपादन करते हैं—

ये चिन्तयन्त्यरुणमण्डलमध्यवर्ति रूपं तवाम्ब नवयावकपङ्करम्यम्।
तेषां सदैव कुसुमायुधबाणभिन्नवक्षस्थला मृगदृशो वशगा भवन्ति।।

'चन्द्रज्ञानविद्या' में भी भगवती का ध्यान सूर्यमण्डल के मध्य करने का निर्देश दिया गया है—

सूर्यमण्डलमध्यस्थां देवीं त्रिपुरसुन्दरीम्।
पाशाङ्कुशधनुर्बाणान् धारयन्तीं प्रपूजयेत्।।

चन्द्रमण्डल में भगवती का ध्यान— 'ललितासहस्रनाम' में भगवती का ध्यान (मुख्यतः पौर्णमासी की तिथि पर) चन्द्रबिम्ब में करने का विधान किया गया है—

पौर्णमास्यां चन्द्रबिम्बे ध्यात्वा श्रीललिताम्बिकाम्।।

'महातन्त्रा महामन्त्रा महायन्त्रा महासना।
श्रीचक्रे मां समभ्यर्च्य जप्त्वा पञ्चदशाक्षरीम्।।'

कहकर भगवती का ध्यान श्रीचक्र में भी करने का निर्देश दिया गया है। भगवती का ध्यान सुधासिन्धु में भी करने का निर्देश दिया गया है—

चिन्तामणिगृहान्तस्था पञ्चब्रह्मासनस्थिता।
महापद्माटवीं संस्था कदम्बवनवासिनी।
सुधासागरमध्यस्था कामाक्षी कामदायिनी।।

भगवती का ध्यान समस्त मन्त्रों एवं मन्त्राक्षरों में भी करने का निर्देश दिया गया है—

सर्वेश्वरी सर्वमयी सर्वमन्त्रस्वरूपिणी।
सर्वयन्त्रात्मिका सर्वतन्त्ररूपा मनोन्मनी।।

पिण्डस्थ चक्रों में भगवती का ध्यान— भगवती का ध्यान मूलाधारादिक धामों में भी करने का निर्देश दिया गया है—

मूलाधारैकनिलया ब्रह्मग्रन्थिविभेदिनी।
मणिपूरान्तरुदिता विष्णुग्रन्थिविभेदिनी।।

आज्ञाचक्रान्तरालस्था रुद्रग्रन्थिविभेदिनी।
तटिल्लतासमरुचि: षट्चक्रोपरि संस्थिता।।

कुण्डलिनीस्वरूप में भगवती का ध्यान— भगवती मन्त्रात्मिका, वर्णात्मिका, नादात्मिका एवं ज्योति:स्वरूपा हैं और कुण्डलिनीस्वरूपा भी हैं; अत: उनका ध्यान कुण्डलिनी के रूप में भी करने का उपदेश दिया गया है; क्योंकि भगवती कुण्डलिनी शक्ति हैं—

महाशक्ति: कुण्डलिनी बिसतन्तुतनीयसी।।

पञ्चदशी के मन्त्र एवं उसके समस्त कूट भी भगवती ही हैं; अत: उस स्वरूप में ही उनके ध्यान का विधान है; क्योंकि वे मूल मन्त्र हैं—

मूलमन्त्रात्मिका मूलकूटत्रयकलेवरा।

अवतारोत्पादिका के रूप में भगवती का ध्यान— भगवती के विराट् स्वरूप में उनका विश्वमय, विश्वातीत स्वरूप तो है ही; साथ ही अवतारोत्पादिका स्वरूप भी है। इस स्वरूप का भी ध्यान करणीय है—

कराङ्गुलिनखोत्पन्ननारायणदशाकृति: ।
महापाशुपतास्त्राग्निनिर्दग्धासुरसैनिका:।।

कूटत्रय एवं कामकला के रूप में भगवती का ध्यान— पञ्चदशी मन्त्र का कूटत्रय भगवती का स्वयं का शरीर है; अत: उस रूप में ही भगवती के कूटस्वरूप का ध्यान भी वरेण्य है—

श्रीमद्वाग्भवकूटैकस्वरूपमुखपङ्कजा ।
कण्ठाध: कटिपर्यन्तमध्यकूटस्वरूपिणी।
शक्तिकूटैकतापन्नकट्यधोभागधारिणी ।।

भगवती 'कामकला' भी हैं; अत: उस रूप में भगवती वरेण्य हैं। वे कामकलारूपा कही गई हैं— काम्या कामकलारूपा कदम्बकुसुमप्रिया।

द्वाषष्टि अध्याय

शाक्तदर्शन में प्रतिपादित योग-साधना

कर्ममार्ग, भक्तिमार्ग एवं ज्ञानमार्ग अर्थात् इन तीनों ही मार्गों में योग स्वीकृत नहीं है।

शङ्कराचार्य के अद्वैतवादी ज्ञानमार्ग में तथा उनके शारीरक भाष्य में योग की साधना का कहीं भी प्रतिपादन नहीं किया गया है। भक्तिमार्ग में भी योगसाधना स्वीकृत नहीं है। इसी प्रकार की स्थिति मीमांसकों के कर्ममार्ग की भी है। इतना होने पर भी परमात्म-साक्षात्कार या स्वरूपावस्थान (निर्वाण, कैवल्य, मुक्ति या मोक्ष) की साधना में योग-साधना वैदिक, पौराणिक एवं सूत्रकाल से अद्यावधि अविच्छिन्न धारा के रूप में अखण्डित स्वरूप में प्रवाहित होती चली आ रही है।

हयग्रीवोक्त योगसाधना की दृष्टि— शाक्त एवं शैव दोनों सम्प्रदायों ने अपने साधना-मार्ग में ज्ञान, भक्ति, कर्म, उपासना एवं योग सभी साधनों का उपयोग किया है। यद्यपि उन्होंने योग के दर्शन को (उसके दार्शनिक सिद्धान्तपक्ष को) तो स्वीकार नहीं किया; किन्तु उसकी साधना-पद्धति (अष्टाङ्ग योग) को स्वीकार कर लिया तथा इस दिशा में अपनी मौलिक स्थापनाओं द्वारा योग-साधनाओं के आयाम को और अधिक विस्तृत स्वरूप प्रदान किया।

यह ध्यातव्य बिन्दु है कि शाक्तों ने योगदर्शन को वेदबाह्य मानकर उसका त्याग कर दिया। उन्होंने सांख्य, पातञ्जल, कापिल, गाणप, सौर, शाक्त, (वाममार्गी शाक्त) शैव, पाशुपत, भैरव, पाञ्चरात्र, सात्त्वत, भागवत एवं षड्विध बौद्ध मतों को वेदबाह्य घोषित करके 'साङ्ख्य-पातञ्जल-कापिल-गाणप-सौर-शाक्त-शैव-पाशुपत-भैरव-पाञ्चरात्र-सात्वत-भागवत-बौद्धादीनि वेदबाह्यान्येव' (१८.२.३१)[१] इस वाक्य द्वारा यद्यपि इनको त्याज्य कहा है, तथापि साधना की योग-पद्धति को निश्चितरूपेण स्वीकार कर लिया है।

आचार्य हयग्रीव का मत—

कर्ममार्ग	: 'कर्मकाण्डं मलनाशाय।'	(४.४.७)
उपासनामार्ग	: 'उपासनं विक्षेपशान्त्यै:।'	(४.४.८)
ज्ञानमार्ग	: 'ज्ञानमावरणनाशाय।'	(४.४.९)
योगमार्ग	: 'विषयेभ्यश्चित्तवृत्तिनिरोधो योग:।'	(१३.२.१)
	'चित्तं पञ्च।'	(१३.२.२)

'अहं देवी न चान्योऽस्मि' की अनुभूति ही शाक्तज्ञान का स्वस्वरूप है।

आचार्य हयग्रीव का योगमार्ग— आचार्य हयग्रीव ने 'शाक्तदर्शनम्' के त्रयोदश

१. शाक्तदर्शनम् (हयग्रीव)

एवं चतुर्दश अध्याय के अपने ४-४ पादों में (८ पादों में) तथा पञ्चदश अध्याय के प्रथम एवं द्वितीय पादों में योगसाधना का सविस्तार विवेचन किया है। उन्होंने १५वें अध्याय के तृतीय पाद में राजयोग, हठयोग, मन्त्रयोग, कर्मयोग, कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, हठयोगी आदि की तुलना भी प्रस्तुत की है। इस प्रकार आचार्य हयग्रीव स्वीकार करते हैं कि शाक्तों के तान्त्रिक मार्ग में तथा भुवनसुन्दरी की उपासना में ज्ञान-भक्ति एवं योग का मणिकाञ्चन योग ही प्रशस्त है; न कि एकाङ्गी साधना।

योग-साधना की हयग्रीवोक्त विवेचना इस प्रकार है—

योगाधिकारी कौन है? चतुष्टयवैराग्यसम्पन्न ही योग का अधिकारी है— 'चतुष्टय-वैराग्यसम्पन्नो योगाधिकारी' (१३.१.१)।

वैराग्य योगी तीन प्रकार के होते हैं[१]— हठयोगी, मन्त्रयोगी एवं राजयोगी। इन्हें ही क्रमश: अष्टांग योगी, मन्त्रमार्गी एवं राजमार्गी भी कहा जाता है।[२] इन समस्त योगियों में राजयोगी सर्वोच्च होता है।

योग के ८ अङ्ग हैं— यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और सविकल्प समाधि।[३] यहाँ पर 'यम' का तात्पर्य पातञ्जल यम से नहीं लेना चाहिये। पतञ्जलि ने तो 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा: यमा:।' कहकर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहरूप गुणों या व्रतों को यम में परिगणित किया है। पत-ञ्जलि और हयग्रीव का तुलनात्मक विवेचन निम्नवत् है—

पातञ्जल योगसम्मत 'यम' : अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह।

हयग्रीवोक्त 'यम' : सर्वं खल्विदं ब्रह्म (यह सब कुछ ब्रह्म ही है)— ऐसा मानकर इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण-त्याग करना ही यम है— 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति विषयेभ्य इन्द्रियनिग्रहो यम:' (१३.१.११)।

पातञ्जल योगसम्मत 'नियम' : 'शौचसन्तोषतप:स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा:' (शौच-सन्तोष-तप-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधान ही नियम हैं)।

हयग्रीवोक्त 'नियम' : अन्त:करण की वृत्तियों को जगत् से निगृहीत करके ब्रह्म को अपने चिन्तन का विषय बनाना ही नियम है— 'अन्त:करणवृत्तिप्रपञ्चान्निगृह्य ब्रह्म-विषयीकरणं नियम:' (१३.१.१२)।

पातञ्जल योगसम्मत 'प्राणायाम' : आसन की सिद्धि होने के उपरान्त श्वास एवं

---

१. 'हठराजमन्त्रयोगीति।' (शाक्तदर्शनम्-१३.१.५)

२. 'हठमार्गादष्टाङ्गपरो हठयोगी', 'राजमार्गाद्राजयोगी', 'मन्त्रमार्गान्मन्त्रयोगी।' (शाक्तदर्शनम्-१३.१.६-८)

३. 'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसविकल्पसमाधयोऽष्टाङ्गानि योगस्य', 'राज-योगस्तम:।' (शाक्तदर्शनम्-१३.१.९-१०)

प्रश्वास की गति का रुक जाना ही प्राणायाम है— 'तस्मिन् सति श्वास-प्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः' (योगसूत्र-२.४९)।

हयग्रीवोक्त 'प्राणायाम' : चित्तादिक सभी भावों को ब्रह्मभावन के द्वारा निरुद्ध करना ही प्राणायाम है— 'चित्तादिसर्वभावान् ब्रह्मभावनद्वारा निरोधः प्राणायामः' (शाक्तदर्शनम्-१३.१.१४)। राजयोग का प्राणायाम 'चतुर्थ प्राणायाम' कहलाता है, जिसमें बाहर-भीतर के विषयों का त्याग कर देने से अपने-आप प्राणायाम होने लगता है और यही है— चतुर्थ प्राणायाम ('बाह्याभ्यान्तरविषयापेक्षी चतुर्थः' (योगसूत्र : साधनपाद-२.५१)।

पातञ्जल योगसम्मत 'आसन' : सुखपूर्वक निश्चल रूप में बैठने का नाम ही आसन है— 'स्थिरसुखमासनम् (योगसूत्र-२.४३)।

हयग्रीवोक्त 'आसन' : सुखपूर्वक ब्रह्मचिन्तनप्रद स्थिति में आसीन होना ही आसन है— 'सुखेन ब्रह्मचिन्तनप्रदस्थितिरासनम्' (शाक्तदर्शनम्-१३.१.१३)।

पातञ्जल योगसम्मत 'पूरक-कुम्भक-रेचक' : उक्त प्राणायाम बाह्यवृत्ति (रेचक), आभ्यन्तरवृत्ति (पूरक) एवं स्तम्भवृति (कुम्भक) तीन प्रकार का होता है तथा वह देश, काल एवं संख्या द्वारा सम्यक् रूप से देखा जाता हुआ लम्बा एवं हल्का होता जाता है— 'बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसङ्ख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः' (योगसूत्र-२.५०)।

हयग्रीवोक्त 'पूरक' : 'मैं ब्रह्म हूँ'— इस प्रकार की वृत्ति ही पूरक है— 'अहं ब्रह्मेति वृत्तिः पूरकः' (शाक्तदर्शनम्-१३.१.१५)।

हयग्रीवोक्त 'रेचक' : 'अनात्मप्रपञ्च का निषेध ही रेचक है— 'अनात्मप्रपञ्चनिषेधो रेचकः' (शाक्तदर्शनम्-१३.१.१६)।

हयग्रीवोक्त 'कुम्भक' : अखण्डाकार निश्चल स्थिति ही कुम्भक है— 'अखण्डाकार-वृत्त्या निश्चलस्थितिः कुम्भकः' (शाक्तदर्शनम्-१३.१.१७)।

पातञ्जल योगसम्मत 'प्रत्याहार' : अपने विषयों के सम्बन्ध से रहित होने पर जो इन्द्रियों का चित्त के स्वरूप में तदाकार-सा हो जाना है, वही प्रत्याहार है— 'स्वविषय-सम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः' (योगसूत्र-५४)।

हयग्रीवोक्त 'प्रत्याहार' : शब्दादि पञ्च महाविषयों में भी अपनी आत्मा का साक्षात्कार होने लगना ही प्रत्याहार है— 'शब्दादिविषयेष्वप्यात्मदर्शनं प्रत्याहारः' (शाक्तदर्शनम्-१३.१.१८)।

पातञ्जल योगसम्मत 'धारणा' : शरीर के बाहर या भीतर कहीं भी किसी एक देश में चित्त को ठहराना धारणा कहलाता है— 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' (योगसूत्र-३.१)।

हयग्रीवोक्त 'धारणा' : मनोगत विषयों में ब्रह्मदर्शन का अनुसन्धान करना ही धारणा है— 'मनोविषयेषु ब्रह्मदर्शनानुसन्धानं धारणा' (शाक्तदर्शनम्-१३.१.१९)।

पातञ्जल योगसम्मत 'ध्यान' : जहाँ भी चित्त को नियोजित किया जाय, स्थिर किया

जाय, उसी में वृत्ति का एक तार चलना ध्यान है— 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' (योग-सूत्र-३.२)।

हयग्रीवोक्त 'ध्यान' : 'मैं ब्रह्म हूँ' इत्याकारक अखण्डाकार वृत्ति में निश्चल स्थिति की संज्ञा ध्यान है— 'अहं ब्रह्म इत्यखण्डाकारवृत्त्यां निश्चलस्थितिर्ध्यानम्' (शाक्तदर्शनम्-१३.१.२०)।

पातञ्जल योगसम्मत 'समाधि' : महर्षि पतञ्जलि ने समाधि को पारिभाषित करते हुये कहा है कि जब ध्यान में केवल ध्येयमात्र की ही प्रतीति होती है और चित्त का निज स्वरूप शून्य-सा हो जाता है तब वही ध्यान ही समाधि कहलाने लगता है— 'तदेवार्थ-मात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः' (योगसूत्र-३.३)।

हयग्रीवोक्त 'समाधि' : त्रिपुटी के राहित्य के कारण जो साधक में अखण्डाकार वृत्ति का उदय होता है, वही समाधि है— 'त्रिपुटीराहित्याखण्डाकारवृत्तिः समाधिः' (शाक्त-दर्शनम्-१३.१.२१)।

प्रत्याहार की अन्य दृष्टि से व्याख्या— इन्द्रियाँ जिन-जिन विषयों संलग्न हैं, उन्हें उन-उन विषयों से प्रत्याहृत करके स्थिर करना ही प्रत्याहार है— 'इन्द्रियाणां बलादाहरणं विषयेषु प्रत्याहारः' (शाक्तदर्शनम्-१४.३.१)।

प्रत्ययाहार की पद्धति है क्या? आचार्य हयग्रीव कहते हैं— प्राणायाम के बल से समस्त शरीर को वायु से परिपूरित करके शरीर के उन-उन स्थानों का वायु के द्वारा निरोध करना प्रत्याहार है— 'आपादतलमस्तकमनिलमापूर्य पादद्वयाधारनाभिहृत्कण्ठतालु-ललाटभ्रूमध्यमूर्ध्नि निरोधश्च' (शाक्तदर्शनम्-१४.३.२)।

धारण की मौलिक व्याख्या— आभ्यन्तर बीजस्मरणपूर्वक बाह्य भूतों में चित्त-संस्थापन ही धारणा है— 'बाह्यभूतानि क्रमेणाभ्यन्तरबीजानुस्मरणपूर्वं धारणं धारणा' (शाक्तदर्शनम्-१४.३.३)। पञ्चभूतों में पञ्चदेवों की स्थापना भी धारणा है— 'पञ्चभूतेषु पञ्चदेवान्।'

चक्र	भूत	गुण	देवता	वर्ण	
१. मूलाधार	पृथ्वी	गन्ध	गणपति	व-श-ष-स	
२. स्वाधिष्ठान	जल	रस	ब्रह्मा	—	योनिपीठ
३. मणिपूरक	अग्नि	रूप	विष्णु	डादि कान्त	उड्डीयान पीठ
४. अनाहत	वायु	स्पर्श	रुद्र	कादि ठान्त	
५. विशुद्धाख्य	आकाश	शब्द	महेश	षोडश स्वर	

'मूलवह्निशिखाग्रे मूलप्रकृतिः' मूलाधार में। (शाक्तदर्शनम्-१४.३.३)

मूलाधार में ही कुण्डलिनी भी रहती है—

'मूले कुण्डलिनी।' (शाक्तदर्शनम्-१४.३६)

मूलाधार में ही कामदायिनी पीठ है।

तालुमूल में जालन्धर पीठ है—

'तालुमूलं जालन्धरम्।' (शाक्तदर्शनम्-१४.४.१८)

आज्ञाचक्र (द्विदलात्मक) में सदाशिव निवास करते हैं—

'आज्ञा द्विदलम्।' 'सदाशिवः।' (शाक्तदर्शनम्-१४.३.२१-२२)

ब्रह्मरन्ध्र एवं सहस्रार अभिन्न हैं और उसमें परा शक्ति निवास करती है—

'ब्रह्मरन्ध्रसहस्रारम्।' (शाक्तदर्शनम्-१४.३.३२)

'देवता परा शक्तिः।' (शाक्तदर्शनम्-१४.३.२४)

१. सात्त्विकी : विष्णु देवता।

२. तामसी : रुद्र देवता।

— : शक्तिपुत्रव्यावहारब्रह्मगणपति।

३. राजसी : ब्रह्मा।

ब्रह्मरन्ध्र के नीचे स्थित षट्चक्रों में बीजमन्त्रों का ध्यान

१. मूलाधार में ॐकार का ध्यान : 'ॐकारमाधारे।'[1]

२. स्वाधिष्ठान में हकार का ध्यान : 'हकारं स्वाधिष्ठाने।'[2]

३. मणिपूर में रेफ का ध्यान : 'रेफं मणिपूरे।'[3]

४. अनाहत में ईकार का ध्यान : 'ईकारमनाहते।'[4]

५. विशुद्धि में (मकाररूप) बिन्दु का ध्यान : 'बिन्दुं विशुद्ध्याम्।'[5]

६. आज्ञाचक्र में (अनुरणनात्मक) ध्वनि का ध्यान : 'ध्वनिमाज्ञायाम्।'

७. ब्रह्मरन्ध्र में सतार माया का ध्यान : 'सतारं माया ब्रह्मरन्ध्रे।'

इस प्रकार के ध्यान से कुण्डलिनी का ऊर्ध्वोत्थान एवं अधोनयन किया जा सकता है— 'कुण्डलोर्ध्वनयनाधस्थापनात्मकं सकृद्ध्यानम्।'[6]

चक्र और उसके गुण—

१. मूलाधार : सत्त्वगुण।

२. नाभिचक्र : रजोगुण।

३. दृक्चक्र : तमोगुण।

४. ब्रह्मरन्ध्र : सत्त्वोद्रिक्त।

---

१. शाक्तदर्शनम्-१४.४.१

२. शाक्तदर्शनम्-१४.४.२

३. शाक्तदर्शनम्-१४.४.३

४. शाक्तदर्शनम्-१४.४.४

५. शाक्तदर्शनम्-१४.४.५

६. शाक्तदर्शनम्-१४.४.८

चक्र	देवता	नाद	संख्या
१. मूलाधार	गणपति	प्रणव	३०००
२. नाभिचक्र	ब्रह्मा	हकार	१००
३. हृदयस्थ अनाहतचक्र	विष्णु	रेफ	१००
४. दृगस्थ आज्ञाचक्र	रुद्र	ईकार	१००
५. ब्रह्मरन्ध	शक्ति	ह्रींकार	६००००

(शाक्तदर्शनम्-१५.१)

आचार्य हयग्रीव ने अपने 'शाक्तदर्शनम्' (१४.४.७-८) में कुण्डलिनी के ध्याना-नन्तर समाधि की व्याख्या करके यह सिद्ध किया है कि कुण्डलिनी के ध्यान से समाधि की भी प्राप्ति होती है।

ध्यान— षट्चक्रों में गुणों, देवों, मन्त्राक्षरों की संख्या बताकर आचार्य हयग्रीव ने 'ध्यान' की विशिष्ट विवेचना की है। उनका कथन है कि समस्त चक्रों, उनके गुणों, अधिष्ठाता देवताओं, मन्त्राक्षरों आदि का ध्यान ही 'ध्यान' है— 'ध्यानमेतत्' (शाक्तदर्शनम्-१५.१.२२)। प्रत्येक चक्र में मन्त्राक्षरों की पूर्वोक्त संख्या में आवृत्तिरूप जो जप है, वही 'मन्त्रयोग' है (शाक्तदर्शनम्-१५.१.२०)।

समाधि— परमात्मा एवं जीवात्मा की एकता के प्रति जो संविदुत्पत्ति है, वही समाधि है— 'परजीवैकतां प्रति संविदुत्पत्तिः समाधिः' (शाक्तदर्शनम्-१४.४.९)।

जीवात्मा एवं परमात्मा में एकता की एकता का भावन ही समाधि है— 'ऐक्य-भावनं समाधिः' (शाक्तदर्शनम्-१५.१.२३)।

जीवात्मा एवं परमात्मा में ऐक्यानुसन्धान ही समाधि है— 'ऐक्यानुसन्धानं समाधिः' (शाक्तदर्शनम्-१५.१.३३)।

आचार्य हयग्रीव ने 'मूलेन प्राणायामः' (शाक्तदर्शनम्-१५.१.२८) कहकर मन में मन्त्र-जप करते हुये प्राणायाम करने का निर्देश दिया है। उन्होंने प्रत्याहार को 'मन्त्र-सन्ध्या' और धारणा को 'अर्चन' कहा है। सारांश यह कि आचार्य हयग्रीव का योगमार्ग पतञ्जलि के योगमार्ग के समान सम्प्रदायातीत साधना-प्रणाली के स्थान पर शक्ति-साधना की एक विशिष्ट सम्प्रदायानुगत योग-प्रणाली के रूप में प्रस्तुत हुआ है, जिसमें प्रत्या-हार, धारणा एवं ध्यान सामान्य (समस्त सम्प्रदायों एवं साधन-पथों में ग्राह्य तथा सम्प्र-दायविशेष की प्रणाली से परे) साधना-पद्धति के रूप में गृहीत न होकर एक विशिष्ट साधना के अनुकूल आकारित होकर नूतन कलेवर धारण करके प्रस्तुत हुआ है। जैसे कि 'प्राणायाम' को प्राणों का आयाममात्र नहीं; प्रत्युत मन्त्र-जप का अङ्ग बनाकर प्रस्तुत

किया गया। प्रत्याहार, धारणा एवं ध्यान— सभी मन्त्रसाधना के साधन के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं।

'ध्यानं जपेन, मूलेन प्राणायामः' तथा 'ॐकारमाधारे, हकारं स्वाधिष्ठाने, रेफं मणिपूरे, ईकारमनाहते, बिन्दुं विशुद्ध्यां, ध्वनिमाज्ञायाम्' आदि निर्देशों द्वारा प्राणायामों, ध्यानों एवं चक्रों में मन्त्र-जप आवश्यक कर दिया है। यह पातञ्जल योग के प्राणायाम एवं ध्यान के स्वरूप से पृथक् योगस्वरूप है। यही बात 'आधारे प्रणवः, नाभौ हकारः, हृदि रेफः, दृशि ईकारः, ह्रीङ्कारो रन्ध्रे, त्रिसाहस्रसङ्ख्यान्तं वृत्तिराधारे, सहस्रं नाभौ, हृदि दृशि च, षट्साहस्रे रन्ध्रे, वृत्तिरेषा मन्त्रयोगः, एष एकः, ध्यानमेतत्' (शाक्तदर्शनम्-१५.१) सूत्रों द्वारा भी इसी तथ्य की पुष्टि की गई है।

तन्त्र के प्रति नव्य दृष्टि— वैसे तो सम्पूर्ण शाक्त सम्प्रदाय (चाहे वह 'कौल' हो, 'मिश्र' हो या 'समय' हो) तान्त्रिक है; तथापि आचार्य हयग्रीव ने शाक्तदर्शनम् में तन्त्र को निषिद्ध, अग्राह्य एवं त्याज्य माना है। यही दृष्टि 'समयाचार' या 'समयमार्ग' की भी है। हयग्रीव कहते हैं— 'न कदापि तान्त्रिकान्' (१६.२.२२); 'न कर्मवर्णत्रयजास्ताङ्कार्हाः' (१७.२.१); 'वामिनो निन्द्याः' (१७.२.४), 'मधुमांसबलिभगार्चनपरा वामिनः' (१७.२.५), 'मधुमांसवर्जितशूद्राऽवरास्तेभ्यः' (१७.२.७), 'प्रच्छन्ना वामिनः' (१७.२.८); 'मद्यं तीर्थं, शुद्धं मांसं, मद्यपात्रं पद्मं, रक्तलशुनं न्यासः, श्वेतं शुकः, दीक्षितो मद्यकर्ता, भैरवीचक्रस्थचाण्डालाद्या अपि ब्राह्मणाः, जारो योगी, योगिनी जारिणी रजस्वला पूजनीया— एवमादिसिद्धान्तपरा वामिनः निन्द्याः।'

आचार्य हयग्रीव तो यहाँ तक कहते हैं कि वेद से अविरुद्ध होने पर भी तन्त्र-दीक्षित ज्ञानमार्गी नहीं कहे जा सकते; भले ही वे ज्ञानी कहे जायँ या माने जायँ— 'वेदाविरोध-मार्गेणापि तन्त्रदीक्षिता न ज्ञानमार्गिणः (१), भक्तिमार्गिण इति (२)।

'उपासनं केवलं तन्त्रमार्गात् (१७.३.४), न ते महाशाक्ताः (९), श्रीशाक्ता इति, विद्या पञ्चदशी (२१), नाधिकारो ब्रह्मविद्यायाम् (१२), वामोत्तराः दीक्षितादीक्षितभेदात् शाक्ताः श्रैष्ठ्याः क्रमशः' (१५)— आदि सभी सूत्र वाममार्गी शाक्तों एवं शैवों को निन्द्य घोषित करके 'ब्रह्मविद्यामार्ग' को श्रेष्ठतम घोषित करते है और इस मार्ग को अद्वैतवादी होने का प्रतिपादन करते हैं— 'अद्वैतं ब्रह्मविद्यामार्गमेव' (१७.३.१६)।

इसी प्रकार आचार्य हयग्रीव ने साङ्ख्य, पातञ्जल, कापिल, गाणप, सौर, शाक्त, शैव, पाशुपत, भैरव, पाञ्चरात्र, सात्वत, भागवत एवं षड्विध बौद्धों एवं अन्य को वेदबाह्य मानकर उनको अग्राह्य माना है।

आचार्य हयग्रीव शाक्तों को भी हेय, त्याज्य, निन्द्य एवं वेदबाह्य मानते हैं; फिर भी शाक्तदर्शनम् में आचार्य हयग्रीव को रहस्यकर्ता, विद्याकर्ता, शाक्तगुरु एवं शाक्तपरमा-चार्य कहा गया है—

१. 'हयग्रीवो रहस्यकर्ता विद्याकर्ता च शाक्तगुरुः' (१८.४.५)।

२. 'शाक्तपरमाचार्यो हयग्रीवः' (१८.४.१२)।

३. 'हयग्रीवरूपिणः शाक्ताचार्याः' (१८.४.१४)।

'शाक्तज्ञानी न पुनरावर्तते' (१८.४.१४) भी कहा गया है।

शाक्त सम्प्रदाय के गुरु— शाक्तों का गुरु ब्रह्मा-विष्णु आदि को बताया गया है और गुरुश्रेणी का विभाजन इस प्रकार करके उन्हें महिमान्वित भी किया गया है—

१. दिव्यौघ गुरु : 'दिवौको गुरवः— शिव, स्कन्द, ब्रह्मा, विष्णु— 'शिवस्कन्द-ब्रह्मेन्द्रविष्णवो दिवौको गुरवः शाक्तस्य' (१८.४.१)।

२. सिद्धौघ गुरु : दुर्वासा, औशनस, हयग्रीव, बादरि, नन्दी।

३. मानवौघ गुरु : सुमेध, दौर्ग आदि।

४. सिद्धान्त गुरु : हयग्रीव।

५. शाक्तवक्तृ गुरु : कुम्भज।

६. शाक्तपरमाचार्य : हयग्रीव।

७. मानवौघ : 'स्वगुरुमपि हयग्रीवरूपेण।'

८. हयग्रीव : पञ्चदेवात्मक।

९. पञ्चदेव : 'ब्रह्मविष्णुरुद्रस्कन्देन्द्राः पञ्च देवाः।'

अन्त में इस 'शाक्तदर्शनम्' को 'ब्रह्मैक्यदायिनी' भी कहा गया है— 'इयं हयग्रीव-विद्या ब्रह्मैक्यदायिनी' (१८.४.२४)। इतना ही नहीं; शाक्ताचार्य हयग्रीव ने अपने ग्रन्थ का नाम भी 'शाक्तदर्शनम्' रक्खा है; फिर शाक्तदर्शन को निन्द्य क्यों माना? तान्त्रिक होने पर भी उन्होंने तन्त्रमत को हेय क्यों माना? स्पष्ट है कि उनके काल में तन्त्र एवं शाक्त सम्प्रदाय (शाक्तमत) इतना दूषित हो गया रहा होगा कि अपने को उन भ्रष्ट तान्त्रिकों एवं शाक्तों से पृथक् दिखाने हेतु ही उन्होंने उनको निन्द्य एवं हेय माना। मध्ययुग में शाक्त इतने भ्रष्ट हो गये थे कि कबीर को उन्हें 'कुत्तों से भी ज्यादा अधम' कहना पड़ा। कबीर कहते हैं— 'साकत से सुनहा भला।' इन्हीं तथ्यों को दृष्टि में रखकर आचार्य हयग्रीव ने शाक्तमत को 'हयग्रीवविद्या' कहा, न कि 'शाक्तमत'। उन्होंने इसे 'हयग्रीव ब्रह्मविद्या' कहा।

▼

त्रय:षष्टि अध्याय

हयग्रीव-प्रतिपादित शाक्तदर्शन में योगस्वरूप की नव्य दृष्टि

ऋषिप्रवर हयग्रीव पातञ्जल योग के अष्टाङ्गों के स्वरूप से पूर्वपरिचित थे; फिर भी उन्होंने उन्हें नये अर्थ प्रदान करके प्रस्तुत किया और इस नव्य दृष्टि द्वारा योग का ज्ञान एवं अद्वैत वेदान्त के साथ सम्मिलन कराया। १३हवें अध्याय के प्रथम पाद में उन्होंने योग के आठों अङ्गों को जिन नये अर्थों को प्रदान करके पारिभाषित किया, उन्हीं आठ अङ्गों को उन्होंने उसी 'शाक्तदर्शनम्' के १३हवें अध्याय के तृतीय पाद में ही पुन: पारिभाषित करते हुये पतञ्जलिप्रतिपादित अर्थों में भी निरूपित किया। इसका तात्पर्य यह हुआ कि आचार्य हयग्रीव यह कहना चाहते हैं कि ऋषि पतञ्जलि ने योग के जिन अष्टाङ्गों को जिन अर्थों के प्रकाश में देखा, वे स्थूल हैं और स्थूल दृष्टि से उन्हें इन अर्थों में भी गृहीत किया जा सकता है; किन्तु उनका यथार्थ अर्थ तो वही है, जिसमें उन्हें ब्रह्मदर्शन के प्रकाश में प्रत्यक्षीकृत किया जा सके और वे अर्थ मैंने दिये हैं। अत: वे ही ग्राह्य हैं।

पतञ्जलि ने 'यमों' में इन व्रतों को परिगणित किया— अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, तप तथा 'नियमों' में इन व्रतों की स्थिति माना— शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान।

आचार्य हयग्रीव ने इन सभी यमों-नियमों को भी अपने शाक्तदर्शनम् के तेरहवें अध्याय के तृतीय पाद में पारिभाषित किया है।[1]

आसन— आचार्य पतञ्जलि ने तो 'स्थिरसुखमासनम्' (२.४६) के अतिरिक्त

---

१. 'अहिंसाद्या: यमा: दश।
यज्ञव्यतिरिक्तविषयेषु हिंसावर्जनमहिंसा।
दृष्टश्रुतज्ञानोक्ति: सत्यम्।
पारकीयनिवृत्तिरस्तेयम्।
परस्त्रीवर्जनं ब्रह्मचर्यम्।
भूतानुज्ञा दया।
शत्रुमित्रैकस्थितिरार्जवम्।
शत्रुपीडायामपि क्षोभनिवृत्ति: क्षमा।
विज्ञाननिष्पत्तिर्धृति:।
त्रिभागोदरभोजनं मिताहार:।
स्वदेहमलमोचनं शौचम्।
सन्तोषाद्या नियमा दश।
यदृच्छालाभप्रीति: सन्तोष:।
श्रौतस्मार्तविश्वास आस्तिक्यम्।
सत्पात्रे दीयमानं दानम्।
शक्त्यर्चनमीश-पूजनम्।
व्रतै: शरीरशोषणं तप:।
कुत्सितकर्मलज्जा ह्री:।
वैदिकश्रद्धा नति:।
मन्त्राभ्यासो जप:।
व्रतदिवसेषु नियमस्थितिर्व्रत:।

(शाक्तदर्शनम्-१३.३.२-२२)

आसन के विषय में (अपने परिणामों एवं लाभों के अतिरिक्त) कुछ कहा ही नहीं; किन्तु आचार्य हयग्रीव ने १३हवें अध्याय के चतुर्थ पाद में इसका पृथक् रूप से भी विवेचन किया है। पतञ्जलि राजयोगी हैं; अत: उनकी दृष्टि में योगसाधना में आसनों का विशेष महत्त्व नहीं है। हयग्रीव भी 'राजयोगस्तम:' (१०) कहकर राजयोग को ही महत्त्व देते हैं; तथापि वे साधना में आसनों को महत्त्वहीन भी नहीं मानते। अत: वे इस पाद में पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, सुखासन का उल्लेख करके तथा उन्हें पारिभाषित करते हुये सम्भवत: यह बताना चाहते हैं कि राजयोग में भी इन आसनों का महत्त्व है।

चित्तवृत्तियों के सन्दर्भ में महर्षि पतञ्जलि का मत

पञ्च श्रेणी में विभक्त वृत्तियाँ

(असंख्य चित्तवृत्तियों में प्रधान चित्तवृत्तियाँ)

क्लिष्ट
- प्रमाण
  - प्रत्यक्ष
  - अनुमान
  - आगम
- विपर्यय
- विकल्प
- निद्रा
- स्मृति

अल्किष्ट
- प्रमाण
  - प्रत्यक्ष
  - अनुमान
  - आगम
- विपर्यय
- विकल्प
- निद्रा
- स्मृति
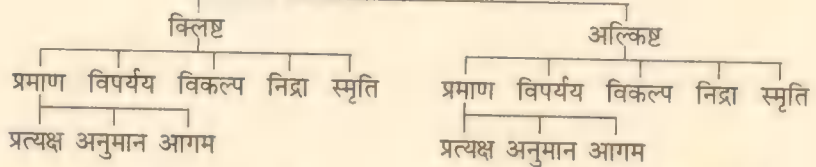
ये सभी क्लिष्ट और अक्लिष्ट के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं अर्थात् प्रमाण क्लिष्ट-प्रमाण अक्लिष्ट, विपर्यय क्लिष्ट-विपर्यय अल्किष्ट, विकल्प क्लिष्ट-विकल्प अक्लिष्ट, निद्रा क्लिष्ट-निद्रा अक्लिष्ट, स्मृति क्लिष्ट-स्मृति अक्लिष्ट। प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम केवल एक-एक ही होते हैं अर्थात् क्लिष्ट के केवल क्लिष्ट और अक्लिष्ट के केवल अक्लिष्ट।

आचार्य हयग्रीवोक्त वृत्ति-विभाजन— आचार्य हयग्रीव ने चित्तवृत्तियों का विभाजन पतञ्जलि का अनुसरण करके नहीं किया। उनके अनुसार वृत्तियों का विभाजन इस प्रकार है—

वृत्ति-श्रेणी

क्षेप	मूढ़	विक्षेप	भुवनराज
(क्षिप्तावस्था)	(मूढ़ावस्था)	(विक्षिप्तावस्था)	(एकाग्रावस्था)
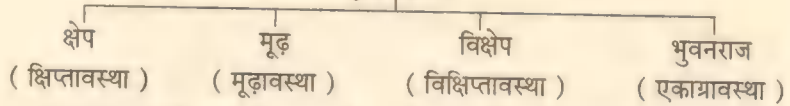
पातञ्जल सूत्रवृत्ति में नागेश भट्ट ने इन चित्तवृत्तियों का नामकरण इस प्रकार किया है— क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, निरुद्ध और एकाग्र। 'शाक्तदर्शनम्' के तेरहवें अध्याय के द्वितीय पाद में हयग्रीव कहते हैं— 'चित्तं पञ्च (२), क्षेपमूढयोर्नाधिकारो योगे (३), अभ्यासयोगमयो विक्षेप: (४), एकाग्रभूमिकामयो भुवनराज: (५)।

नाड़ीयोग— पातञ्जल योग में नाड़ीयोग का उल्लेख नहीं है। नाड़ीयोग तान्त्रिकों का अपना सन्धान है। हयग्रीवोक्त योग में नाड़ीमण्डल की विवेचना मिलती है, जो निम्नानुसार है—

१. सर्वोत्पत्ति का मूलाधार जो वह्निशिखाग्रग 'मूलाधार' चक्र है, उसी में नाड़ी-कन्द है, कुण्डलिनी है और व्यवहार ब्रह्मसाक्षी गजानन है।[1]

२. नाड़ियों की संख्या ७२००० है और उसमें मुख्य नाडियाँ १४ हैं। उनमें भी सर्वप्रमुख सुषुम्ना ब्रह्मनाड़ी स्थित है। कन्द के ऊर्ध्व में तो कुण्डलिनी शक्ति स्थित है; किन्तु समस्त नाड़ियों के मध्य में योगसिद्धिदा सुषुम्ना स्थित है।[2]

३. (हयग्रीव ने १४हवें अध्याय में कहा है)— सुषुम्ना के दोनों पार्श्वों में 'इड़ा-पिङ्गला' नाड़ियाँ स्थित हैं। पृष्ठभाग के पार्श्वों में 'कुहू' एवं 'सरस्वती' नाड़ियाँ स्थित हैं। इसी प्रकार 'गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी' आदि नाड़ियाँ भी स्थित हैं। कुहू-हस्तिजिह्वा के मध्य में 'विश्वोदरा', कुहू-यशस्विनी के मध्य में 'वरुणा', पूषा-सरस्वती के मध्य में 'यशस्विनी' और गान्धार-सरस्वती के मध्य में 'शंखिनी' स्थित है। 'इड़ा' वाम नासा के अन्त तक गई है। दक्षिण नासा के अन्त तक 'पिङ्गला' नाड़ी गई है। 'यश-स्विनी' वाम पादाङ्गुष्ठान्त, 'पूषा' वामाक्ष्यन्त, 'पयस्विनी' याम्यकर्णान्त, 'सरस्वती' जिह्वान्त, 'हस्तिजिह्वा' सव्यपादाङ्गुष्ठान्त, 'शंखिनी' सव्यकर्णान्त, 'गान्धारी' सव्यनेत्रान्त तथा 'विश्वोदरा' कन्दान्तर में स्थित है।

कुण्डलिनी शक्ति— पतञ्जलि के राजयोग में (योगसूत्र में) कुण्डलिनी शक्ति का कोई उल्लेख नहीं मिलता; किन्तु तान्त्रिक योग में मिलता है। आचार्य हयग्रीव की योग-पद्धति में भी इसका उल्लेख है; यथा—

१. 'तत्रैव कुण्डलिनी शक्तिः (१३.४.१०), कन्दोर्ध्वे कुण्डलिनी' (१३.४.१७)।

२. 'ब्रह्मरन्ध्रमुखं स्वमुखेन समावेष्ट्य कन्दपार्श्वेषु निरुध्य संस्थिता कुण्डलिनी' (१३.४.१)।

३. 'आधाररोधनेन वायुदीप्तो वह्नी रुहति कुण्डलीम्' (१४.२.१८)।

४. 'मूले कुण्डलिनी' (१४.३.६)।

नागेशभट्ट ने योगसूत्रवृत्ति में ब्रह्मनाड़ी को सुषुम्ना की शाखा कहा है; जबकि हयग्रीव ने उसे सुषुम्ना से अभिन्न माना है। अन्य ग्रन्थों में सुषुम्ना के भीतर स्थित अनेक नाड़ियों के भीतर ब्रह्मनाड़ी को माना गया है।

वृहदारण्यकोपनिषद् में ७२००० नाड़ियों का उल्लेख है। छान्दोग्योपनिषद् एवं काठकोपनिषद् में १०१ नाड़ियों का उल्लेख किया गया है।

प्राण-सञ्चार एवं प्राणविज्ञान— आचार्य हयग्रीव ने प्राण-सञ्चार एवं उसके

---

१. शाक्तदर्शनम् : 'वह्निशिखाग्रगो मूलाधारः (७), तस्मात्सर्वोत्पत्ति (८), तत्रैव कुण्डलिनी शक्ति (१०), व्यवहारसाक्षी गजाननः (११), आधारे नाडीकन्दम्' (१२)।

२. शाक्तदर्शनम् : 'नाड्यो द्विसप्ततिसहस्राणि (१३), चतुर्दश मुख्या (१४), सुषुम्ना ब्रह्मनाड़ी (१५), सुषुम्ना योगसिद्धिदा' (१८)।

विज्ञान पर भी प्रकाश डाला है; जबकि पतञ्जलि ने इस पर विशेष प्रकाश नहीं डाला तथा १० प्राणों का तो उल्लेख भी नहीं किया।

आचार्य हयग्रीव कहते हैं कि १० वायु हैं। वायु का सञ्चारक नाड़ीसमूह है। इनमें ५ मुख्य वायु (प्राण) हैं। इनमें भी प्राण एवं अपान प्रवर है— 'प्राणापानौ प्रवरौ।' इनमें भी प्राण तो पूज्य है— 'पूज्य: प्राण:' (१४.२.५)।

प्राणायाम— इन्हीं प्राणों एवं नाड़ियों की सहायता से प्राणायाम निष्पन्न किया जाता है। योगचूड़ामणि उपनिषद् में कहा गया है—

इडापिङ्गलासुषुम्ना: प्राणमार्गे च संस्थिता:।
सततं प्राणवाहिन्य: सोमसूर्याग्निदेवता:।।

हृदि प्राण: स्थितो नित्यमपानो गुदमण्डले।
समानो नाभिदेशे तु उदान: कण्ठमध्यग:।।

व्यान: सर्वशरीरे तु प्रधाना पञ्च वायव:।
उद्गारे नाग आख्यात: कूर्म उन्मीलने तथा।।

कृकर: क्षुत्करो ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे।
न जहाति मृतं वापि सर्वव्यापी धनञ्जय:।।

आचार्य पतञ्जलि ने प्राणायाम को मन्त्र के साथ नहीं जोड़ा; किन्तु आचार्य हयग्रीव ने तान्त्रिक विधान के अनुसार प्राणायाम के साथ मन्त्रयोग का भी सम्मिलन करा दिया। उनका कथन है कि 'रेचकपूरककुम्भकात्मक: प्राणायाम:' (१४.२.७) अर्थात् प्राणायाम के तीन अंग हैं— रेचक, कुम्भक एवं पूरक; किन्तु ये मात्र प्राणायाम के अङ्गमात्र नहीं हैं; प्रत्युत मन्त्रयोग के भी अङ्गस्वरूप या साधनस्वरूप हैं।

आचार्य हयग्रीव कहते हैं—

१. सोलह मात्राओं द्वारा हकारस्मरणपूर्वक प्राणाकर्षण ही 'पूरक' है—
'हकार-स्मरणपूर्वं कर्षणं षोडशमात्रै: पूरक:।'

२. चौंसठ मात्राओं द्वारा रेफ के साथ प्राणवायु को रोकना ही 'कुभक' है—
'रेफस्य चतु:षष्ट्या तु मात्रया कुम्भक:' (१४.२.१०)।

३. बत्तीस मात्राओं द्वारा ईकार के साथ प्राण का बहि:निस्सारण ही 'रेचक' है—
'ईकाररस्य द्वात्रिंशन्मात्रया रेचक:।'

पूरक : 'ह'। कुम्भक : 'रेफ'। रेचक : 'ई' = 'ह्रीं' मन्त्र। (ह्रीं = लक्ष्मी का मन्त्र)।
'वसिष्ठसंहिता' = १६ पूरक, ६४ कुम्भक एवं ३२ रेचक।

क्रम-व्युत्क्रम— मूलमन्त्र का जप। पूरक में वेदसंख्या = ४। कुम्भक में कला = १६। रेचक में वसु = ८; कहा भी गया है— 'पूरके वेदसङ्ख्या, कला कुम्भके, वसु रेचके' (शाक्तदर्शनम्-१४.२.१४-१६)।

अपानवायु का ऊर्ध्वगमन कष्टसाध्य होने पर भी आनन्दप्रद होता है— 'अपानोर्ध्वनयन आनन्दः' (१४.२.१७)।

पूरक-कुम्भक-रेचक करते समय हकार-रेफ एवं ईकार मन्त्राक्षरों का अनुरणन अनुभव में आना चाहिये।

'धारणे मूलमन्त्रजपः' (१४.२.१३) सूत्र में 'धारणे' शब्द योगसूत्रकार के 'चतुर्थ' शब्द का बोधक है, जिसमें बाहर एवं भीतर के विषयों का त्याग कर देने से अपने-आप ही इष्ट-चिन्तन में लयीभूत (काल + संख्या के ज्ञान के विना ही अपने-आप होने वाली) प्राण की गति अकस्मात् किसी देश रुक जाती है। यह स्वयम्भू प्राणायाम राजयोग का प्राणायाम है।[1]

इस प्राणायाम-विधान से ये निम्न परिणाम घटित होते हैं—
क. 'आधाररोधनेन वायुदीप्तो वह्नी रुहति कुण्डलीम्' (१८)।
ख. 'सुषुम्नाया वायुर्वह्निनोर्ध्वं गच्छति' (१९)।
ग. 'वायुर्जितः' (२०)।
घ. 'तेन चित्तशुद्धिः' (२१)।

चित्तशुद्धि ही प्राणायाम का प्रधान उद्देश्य है; किन्तु यदि 'ह्रीं' मन्त्र के साथ इसे निष्पादित किया जाय तो इसके द्वारा मन्त्रयोग भी सिद्ध हो जाता है। यही शाक्तदर्शनम् का निष्कर्ष है।

▼

१. महामहोपाध्याय काशीनाथ वासुदेव अभ्यङ्कर : मिताक्षरा।

उपसंहरति–

बहिर्लिङ्गानि चैतानि अङ्गारिष्टानि यानि च ।

उक्तानीति शेषः । अथैतानि–

पूजया जपहोमेन ध्यानधारणया प्रिये ।।२८४।।

कृतरक्षाविधानेन जीयन्ते नात्र संशयः ।

पूजादिधारणान्तं भगवद्विषयम्, रक्षाविधानं वक्ष्यमाणम् ।।२८४।।

तदित्थं रिष्टप्रशमनं कृत्वा प्रकृतो योगाभ्यास एव कार्यः, स च नाडि-शुद्धिपूर्वकप्राणजयादेवेति तत्प्रकाशनाशयेन श्रीदेव्युवाच–

नाडीनां शोधनं चैव वायूनां च जयः कथम् ।।२८५।।

तेषां प्राग्विभक्तानां वायूनाम्–

स्थानं रूपं च शब्दं च कर्म ब्रूहि मम प्रभो ।

भगवान् कहते हैं ये बाहरी चिह्न ऐसे हैं, जिनके बल पर जीवन की कल्पना की जाती है । इनमें कुछ आंङ्गिक अरिष्ट भी लक्षित किये गये हैं । इनको देख कर सावधान हो जाना चाहिये । ये सारे लक्षण और अरिष्ट चिह्न और उनसे होने वाले दुष्परिणाम सभी पूजा से, जप से, ध्यान और होम से समाप्त हो जाते हैं ।।२८४।।

भगवान् इसमें और जोड़ते हुए कहते हैं कि, रक्षा के लिये किये गये इन विधानों से उस व्यक्ति का जीवन सुरक्षित हो जाता है । इसमें संशय के लिये कोई अवकाश नहीं है ।।२८५।।

इस तरह प्रासङ्गिक जीवन सम्बन्धी जानकारियाँ प्राप्त करने के बाद भी साधक का यह कर्त्तव्य है कि, वह शास्त्र की मर्यादाओं के अनुसार साधना में अनवरत लगा रहे । वह अपनी नाडियों के शोधन से स्वस्थ रहने का उपक्रम करे, साथ ही साथ प्राणजित् बनने की ओर अग्रसर हो । इन बातों को जानने के लिये माँ शक्ति भगवान् से पूछ बैठीं–भगवन् ! नाडियों का शोधन कैसे किया जाय, और प्राणजित् कैसे बना जाय अर्थात् प्राणजय के लिये क्या किया जाय ? इसे कृपाकर उपदेश देकर अनुगृहीत करें ।।२८५।।

भगवन् ! इस सम्बन्धित स्थान, उसकी रूप रेखा इसमें प्रयुक्त शब्द, इसमें करणीय कर्म सब कुछ मैं आप के श्रीमुख से सुनना चाहती हूँ । भगवान् कृपा

एतत्प्रश्नषट्कं निर्णिनीषुः श्रीभैरव उवाच–

परमो योगसद्भावो गुह्याद्गुह्यतरः प्रिये ।।२८६।।

यो न कस्यचिदाख्यातस्तं योगं शृणु तत्त्वतः ।

यत्त्वया प्रश्नितम्, तद्योगरहस्यं तद्विना योगाभ्यासायोगात् ।

तत्र तावत्–

सुप्रशस्ते भूप्रदेशे नाग्नितोयसमीपतः ।।२८७।।

बालुकाशर्कराहीने शुष्कवृक्षविवर्जिते ।

निःशब्दकीटवल्मीके ईतिभिः परिवर्जिते ।।२८८।।

पुण्ये धर्मिष्ठसंवासे तत्र योगं समभ्यसेत् ।

'ईतयः' अतिवृष्ट्यादयः । पुण्ये सत्तीर्थादियुक्ते धर्मिष्ठसंवासे पुण्याश्रये ।

तदासौ–

देवदेवं समभ्यर्च्य भैरवं सविनायकम् ।।२८९।।

कर यह बोल पड़े, देवि ! यह परम योग सद्भाव की बात अत्यन्त गुह्य से भी गुह्य है । फिर मैं तुम्हें बताऊँगा ॥२८६॥

भगवान् भैरव भट्टारक कह रहे हैं कि, देवि ! अब तक मैंने किसी को नहीं बताया था । तुम्हारे इस श्रवणाभिलाष से मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ । तुम तात्त्विक रूप से इस योग को सुनो ।

१–स्थान विषय जिज्ञासा के उत्तर में भगवान् कह रहे हैं कि, वह भू प्रदेश परम प्रशस्त हो, आग से और पानी से इतनी दूर रहे, जिससे इनका भय न हो ॥२८७॥

न तो वहाँ बालुका की अधिकता हो और नहीं कंकड़ पत्थर की कंकड़ियों से कलुषित हो, वहाँ सूखे हुए पेड़ न हों । किसी प्रकार का हल्ला-गुल्ला वहाँ मचने की सम्भावना न हो, निःस्वन शान्त भूमि जिसमें कीड़ों का दीमकों का भय न हो और दैवी आपत्तियों से पीड़ित होने की सम्भावना भी न हो ॥२८८॥

पुण्य पावन भूमि पर धार्मिक कृत्य पहले भी किये गये हों, वहाँ उस धर्म-संवास हेतु स्थान पर योगाभ्यास करना चाहिये । सर्वप्रथम वहाँ देवाधिदेव भैरव की अभ्यर्थना करनी चाहिये । विनय के साथ ही भगवान् भैरव की पूजा सबसे पहले ही करणीय है ॥२८९॥

पूर्वाचार्यान्नमस्कृत्य युक्तो ध्यानपरायणः ।

विघ्नप्रशमनाय गणपतिपूजापूर्वमाज्ञाग्रहणाय गुरून् पूजयित्वा, भैरवमभ्यर्च्य ध्यानपरायणो युक्तः स्यादिति सम्बन्धः । कथमित्याह–

आसनं स्वस्तिकं बद्ध्वा पद्मकं भद्रमेव वा ।।२९०।।
सापाश्रयं सार्धचन्द्रं योगपट्टं यथासुखम् ।
दहनोत्पूयने कृत्वा प्लावयेदमृतेन च ।।२९१।।
सबाह्याभ्यन्तरेणैव सकलीकरणं ततः ।
अन्तर्यागं तथापूर्वमुच्चार्यं च परं तथा ।।२९२।।
दशधा योगमार्गेण हंसस्वच्छन्दमभ्यसेत् ।

पद्मकमूरुन्यस्तोत्तानपादतलं पद्मासनाख्यम्, पर्यङ्कस्थस्य जंघाव्यत्यासात् स्वस्तिकम्, समपादस्थित्या भद्रम्, भित्त्याश्रयात्सापाश्रयमेतच्चार्धचन्द्रविषेषणं भूमिष्ठैकचरणोरुपृष्ठन्यस्तोत्तानद्वितीयचरणमर्धचन्द्रम्, योगार्थं पट्टं परिकरबन्धाय बद्ध्वा एतदन्यतममासनम्, अन्यदपि वा यद्यत्सुखं शरीरपरिक्लेशकृन्न भवति । यथोक्तम्–

पहले के पारम्परिक आचार्यों की नमस्कृति के उपरान्त ध्यान में संलग्न होना चाहिये । विघ्नों के शमन हेतु गणपति विनायक की पूजा आवश्यक मानी जाती है । परम्परा से प्राप्त गुरुजनों की क्रमिकता पूर्वक स्मृति और प्रार्थना अनिवार्य कर्त्तव्य होते हैं ।

इसके लिये स्वस्तिक आसन उत्तम माना जाता है । इसके अतिरिक्त पद्मासन, भद्रासन भी उपयुक्त होते हैं ॥२९०॥

आसन स्थिर सुखप्रद होता है ।

१–स्वस्तिक– दायें पाँव के अँगूठे और अन्य चार अंगुलियों को कैंची की तरह फैलाकर उनको अन्दर बाँयें पाँव के घुटने के जोड़ में लगाकर, उसी तरह बायें पाँव को भी दाहिनी जङ्घा से नीचे सटा कर कमर को सीधी करके बैठने से स्वस्तिक आसन होता है । इसके अच्छे परिणाम भी मिलते हैं ॥२९१॥

२–पद्मासन– पद्म की तरह रहने से उसे पद्मासन कहते हैं ।

३–भद्रासन– बराबर पैरों की स्थिति में बैठना ही भद्रासन होता है ।

४–अर्धचन्द्र– भित्ति का आश्रय लेकर आसन करने को सापाश्रय कहते हैं । एक पैर को भूमिस्थ कर दूसरे चरण को मोड़ कर ऊरु पृष्ठ से लगाने पर अर्धचन्द्र होता है ।

'स्थिरसुखमासनम्' इति । (पात. सू. २/४६)

ततः पूर्वोक्तं [1]दहनाद्युच्चारान्तं कृत्वा, दशधा योगमार्गेणेति बाह्याभ्यन्तर-रेचनादिषट्कप्रशान्तकुम्भक-प्रत्याहार-धारणा-ध्यानात्मना भाविना अथ च भावि-प्राणादिवायुदशकजयपूर्वं पूर्वोक्तं हंसस्वच्छन्दं परं निष्कलभट्टारकमभ्यसेदनु-प्रविशेत् । तदनुप्रवेशं पूर्वोक्तोपायानुसारेण[2] स्फुटयति–

मन्त्रं बिन्दुमतीतं तु नादान्तज्योतिराकृतिम् ।।२९३।।

५–योगपट्ट– कमर को बाँधने के लिये बने हुए चौड़े और लम्बे पट्टे को ही योगपट्ट कहते हैं । इसको बाँध कर ही आसन करते हैं ।

६–सुखासन– शरीर क्लेश रहित बैठने की कोई मुद्रा ही सुखासन होती है ।

पाताञ्जल योगसूत्र में २/४६ वाँ सूत्र इसी का निर्देश करता है–

'सुखासन स्थिर भाव से सुखप्रद बैठने के उस ढङ्ग को कहते हैं, जिसके द्वारा साधन किया जा सके' ।

१–इसके बाद आन्तर विकार को दहन रूप अग्निबीज से जलाने की विधि सम्पन्न करते हैं ।

२–दहन के बाद 'उत्पूयन' की क्रिया की जाती है ।

३–उत्पूयन के बाद 'अमृताप्लावन' जिसे 'आप्यायन' भी कहते हैं । नामक साधना विधान अपनाया जाता है ।

४–सकलीकरण–यह [3]बाह्याभ्यन्तर एकत्व निष्ठा से सम्पन्न करने वाला व्यापार करते हैं ।

५–अन्तर्याग–आन्तरिक रूप से याग सम्पन्न करते हैं ।

६–परोच्चार–सबके बाद निष्कल भट्टारक के बीजमन्त्र का उच्चारण परोच्चार कहलाता है ।

७–दशधा योगमार्ग–स्वस्तिक से लेकर परोच्चार पर्यन्त दशधा यह मार्ग योगमार्ग माना जाता है । आचार्य ने पातञ्जल योग मार्ग के प्रत्याहार, ध्यान और धारणादि की ओर भी सङ्केत किया है । दशधा योगमार्ग दश मुख्य नाडियों द्वारा प्राणचार को व्यवस्थित करना भी मानना चाहिये ।

---

१. ख. ग. पु. दाहादीति पाठः । २. ख. पु. सारणेनेति पाठः ।
३. ७/१५ इडा पिङ्गला सुषुम्ना गान्धारी, हस्तिजिह्वा पूजा, यशस्विनी अलुम्बुषा, शंखिनी ।

संकल्प्य कल्पनालक्ष्यं ध्यायेद्वै तेन सर्वगम् ।

चतुष्कलनाथमकारादिकलोच्चारपूर्वं बिन्दुमतीतमिति तदुल्लङ्घनाद् अर्धचन्द्रनिरोधिकापदमुद्घाट्य नादनादान्तक्रमेण ज्योतिराकृतिमिति शक्त्यादिप्रकाशरूपम्, संकल्प्य विकल्पपूर्वमविकल्पेनासाद्य, कल्पनाभिरलक्ष्यं स्वप्रकाशचिदानन्दघनम्, सर्वगं हंसस्वच्छन्दं ध्यायेदिति समनान्तं विलाप्य अकृतकविमर्शोदयेन समाविशेत् ॥२९३॥

तदेतद् नाडिशुद्धिप्राणजयपूर्वकं सुघटं स्यात्, इत्याशयेन नाडिजयं तावदाह–

अपसव्येन पूर्येत सव्येनैव विरेचयेत् ॥२९४॥
नाडीसंशोधने चैतन्मोक्षमार्गपथस्य च ।

इसमें हंस स्वच्छन्द प्रयोग द्वारा हंस रूप प्राणाश्रय के माध्यम से स्वच्छन्द भैरव भट्टारक के निष्कल बीजमन्त्र का जप भी महत्त्वपूर्ण माना जाता है ।

इतनी साधना के बाद क्रिया योग के सहयोगी क्रमिक विधि का वर्णन करते हुए कह रहे हैं कि,

पञ्चप्रणवात्मक बीजमन्त्र (जिसमें अकारोकार मकार के साथ चतुष्कल बीज भी उच्चरित हो), बिन्दु, तदतीत अर्धचन्द्र निरोधिका, नाद, नादान्त क्रम से ज्योंति उसमें शक्ति, व्यापिनी, सहस्रार (समना और उन्मना अन्तर्भूत हैं) अर्थात् ऊर्ध्वस्थ उन्मनान्त प्रकाशमान प्रदेश का संकल्पन कर कल्पनाओं के द्वारा भी अलक्ष्य अर्थात् विकल्पों को अतिक्रान्त कर अविकल्प स्वप्रकाशरूप चिदानन्दघन स्वच्छन्द हंस स्वरूप सर्वव्याप्त परभैरव का ध्यान अनिर्वायत: नियमत: और अनुशासित रहकर करे और अकृत विमर्श के माध्यम से निष्कल स्वरूप में प्रवेश करे ॥२९२-२९३॥

इस तरह की उपर्युक्त साधना के बलपर नाडी शुद्धि हो जाती है । प्राण पथ पर सन्धान से प्राणजय भी हो जाता है । इस साधना से साधक सुघट हो जाती है । एतद्विषयक विधि का निर्देश कर रहे हैं–

अपसव्य वामनासा पथ से वायु को पूरी तरह खींचकर पूरक और कुम्भक किये विना सव्य तथा दक्ष नासापथ से रेचन करना चाहिये । इस तरह अनवरत करते रहने से नाडी शोधन हो जाता है ।

'सव्येन' दक्षनासापथेन 'रेचयेत्' रेचकं कुर्यात् 'अपसव्येन' वामेन 'पूर्येत' वायुपूरणं कुर्यादित्यर्थः । एवमनवरतं क्रियमाणमेतन्नाडीनां मोक्षमार्गपथस्य वा मध्यधाम्नः शोधनं मारुतप्रशमनं भवति ।

प्राणजयं व्यंङ्क्तुमुपक्रमते–

रेचनात्पूरणाद्रोधात्प्राणायामस्त्रिधा स्मृतः ।।२९५।।

प्राणस्यायमनं यथास्थितवाहविजयेन स्वायत्ततानयनम् ॥२९५॥

त्रय एते प्राणायामाः सर्वसाधारणेन नासिकापथक्रमेण निर्वर्त्यमानाः साधारणा बाह्याश्चेत्याह–

सामान्या बहिरेते तु

एतदभ्यासपूर्वमन्तःप्रयुज्यमानैः–

पुनश्चाभ्यन्तरे त्रयः ।

तानाह–

आभ्यन्तरेण रेच्येत पूर्येताभ्यन्तरेण तु ।।२९६।।

निष्कम्पं कुम्भकं कृत्वा कार्याश्चाभ्यन्तरास्त्रयः ।

'आभ्यन्तरेण' मध्यपथेनात्र रेचनं द्वादशान्ते, पूरणं हृदि निष्कम्पं कुम्भकमिति निरायासं प्रशान्तकुम्भकमित्यर्थः । 'कार्याः' इति निर्वर्तनीया भवन्ति ॥२९६॥

वस्तुतः प्राणचार मार्ग और आज्ञाचक्र से उन्मनान्त प्राण की ऊर्जा के सम्प्रेषण का मार्ग मोक्षपथ कहलाता है । इस मोक्षमार्ग रूपी राजपथ पर चलने के लिये सुघट हो जाना चाहिये । इससे प्राण का प्रशमन भी हो जाता है ।

इस रेचन, पूरण और रोधन व्यापार को प्राण का आयाम कहते हैं । यही रेचक, पूरक और कुम्भक नाम तीन प्रकार के प्राणायाम योग शास्त्र आदि शास्त्रों में विस्तार पूर्वक वर्णित हैं ॥२९५॥

ये तीनों प्रकार के प्राणायाम सामान्य प्राणायाम हैं । इन्हें बाह्य प्राणायाम भी कहते हैं । इन प्राणायामों को विधि पूर्वक करने के बाद पुनः तीन आभ्यन्तर प्राणायाम की विधि भी शास्त्रानुमोदित है । आभ्यन्तर से रेचन करना इसकी पहली प्रक्रिया है । आभ्यन्तर पथ सुषुम्ना पथ का मध्यपथ माना जाता है । पूरक हृदय देश में होता है । ऊर्ध्व द्वादशान्त तक और हृदय देश तक पूरक कर निष्कम्प कुम्भक होता है । इसमें निरायास क्रिया सम्पन्न करनी चाहिये । ये तीनों आभ्यन्तर प्राणायाम भी अवश्य करणीय हैं ॥२९६॥

अथ–

नाभ्यां हृदयसंचारान्मनश्चेन्द्रियगोचरात् ।।२९७।।
प्राणायामश्चतुर्थस्तु सुप्रशान्त इति श्रुतः ।

निष्कम्पकुम्भकानन्तरं 'हृदयसंचारात्' इति शनैः शनैर्हृदयादधःसंचार-युक्त्या प्राणं नाभ्यामेव नियम्येत्यर्थात्, तथा मन इन्द्रियगोचरादिति तत्प्रत्याहार-युक्त्या नाभ्यामेव नियम्य, मनोनियमपूर्वकं प्राणं नाभौ नियच्छतः सुप्रशान्तः प्राणायामो भवति ।।२९७।।

तदित्थम्–

प्राणरोधे तु सम्पूर्णे नाभौ नीत्वा[1] समुच्छ्वसन् ।।२९८।।

अनन्तरम्–

शनैर्विमोचयेद्वायुं वामनासापुटेन तु ।

निरुद्धवायुप्रकोपापहाराय । एवं चारजयान्तं प्राणायामप्रत्याहारावभिधाय, धारणा निरूपयति–

वायवी धारणाङ्गुष्ठे आग्नेयी नाभिमध्यतः ।।२९९।।

वस्तुतः हृदय देश में रोककर हृदय संचार को नियमित करने के उपरान्त प्राण को नाभि की ओर ले जाना चाहिये । नाभिचक्र गणिपूर है । इसे मातृकेन्द्र कहते हैं । प्राण का मुख्य नियमन केन्द्र नाभि ही मानी जाती है । इस तरह आभ्यन्तर प्राणायाम के तीन बिन्दु १–द्वादशान्त, २–हृदय और ३–नाभि इनको ध्यान में रखते हुए आभ्यन्तर प्राणायाम की साधना सम्पन्न होती है । इसको सुप्रशान्त नामक चौथा प्राणायाम करते हैं ।।२९७।।

इस प्रकार प्राणरोध सम्पन्न हो जाता है । यह एक महत्त्वपूर्ण सिद्धि मानी जाती है । इसके सम्पन्न होने के बाद नाभि में किये कुम्भक को निरुद्ध वायु के प्रकोप से बचने के लिये गहरी साँस लेनी चाहिये ।।२९८।।

सुप्रशान्त में उक्त समुच्छ्वास वायु को वामनासापुट से वायु का रेचन होना चाहिये । उक्त गहरी साँस बायीं नासिका के छिद्र से ही बाहर निकालना श्रेयस्कर है । इस प्रक्रिया से प्राणापानवाह पर विजय हो जाता है । इसी को प्राणजित अवस्था कहते हैं । यह आभ्यन्तर प्राणजय है ।

---

१. ख.ग.पु. गत्वेति पाठः ।

माहेयी कण्ठदेशे तु वारुणी घण्टिकाश्रया ।
आकाशधारणा मूर्ध्नि सर्वसिद्धिकरी स्मृता ।।३००।।

पाददेशे तिर्यग्गतेः, नाभौ जाठराग्नेः, कण्ठे स्थितिपदे धरण्याः, घण्टिकायां रसस्य, ब्रह्मरन्ध्रे च व्योम्नः सद्भावात्तथैव धारणा उक्ताः । अत्र चोद्घाते दीक्षाप्रस्तावनिर्णीतं वर्णमण्डललाञ्छनाक्षरात्मकत्वं धारणाध्येयम् । तत्र प्रथमं कण्ठे पार्थिवीं धारणां बद्ध्वा हृदयादुद्घातपञ्चकेन पञ्चगुणं पार्थिवं तत्त्वं भिन्द्यात्, ततोऽनेनैव क्रमेण हृदयादेव चतुर्भिरुद्घातैश्चतुर्गुणमप्तत्त्वम्, ततो हृदयादेव नाभिक्षेत्रे त्रिभिरुद्घातैस्त्रिगुणमग्निम्, अनन्तरं हृदयादेव द्वाभ्यां पादाङ्गुष्ठगतं

प्राणवायु के प्रकोप का अपहार ही प्रत्याहार माना जाता है । इस तरह यहाँ तक प्राणायाम और प्रत्याहार नामक दो विधियों का वर्णन पूरा हो जाता है । अब धारणा का निरूपण कर रहे हैं–

१–वायवी धारणा अङ्गुष्ठ में की जाती है । यह तिर्यग् गति के कारण होती है ।

२–आग्नेयी धारणा नाभिमध्य में की जाती है । इससे जठराग्नि वशीभूत होता है ।

३–माहेयी धारणा कण्ठ में होती है

४–आकाशीय धारणा मूर्धा में होती है ।

५–वारुणी धारणा–घण्टिकाश्रया होती है । इसे रसीय कहते हैं ।

ये धारणायें सर्व सिद्धिप्रदा होती हैं । ब्रह्मरन्ध्र में आकाश की व्याप्ति के कारण ब्रह्मरन्ध्र में ही होती हैं । उद्घात के प्रकरण में जहाँ दीक्षा के प्रकरण में अध्वा शोधन की बातों का उपक्रम है, वहाँ अक्षरोच्चार क्रम से पाँच उद्घातों के द्वारा ग्रन्थियों के भेदन में भी उपाय रूपता का ही निरूपण है[१] । तन्त्राम्नाय में कहा गया है कि, ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त भ्रूमध्य से लेकर पाँच धरादितत्त्व हैं । ये ग्रन्थियाँ हैं । इनके साथ इनके कारणदेव भी रहते हैं । इनका भेदन करने से शिव की प्राप्ति होती है । इसमें धरा, रूप, स्पर्श और स्पर्श गुणों की पाँच उद्घातों द्वारा शुद्धि की जाती है । पाँचों उद्घातों में पृथ्व्यादि की धारणाओं का भी विधान है । यह हुति दीक्षा में घटित होने वाली उक्तियाँ हैं ।

---

१. स्व०त० ५/५४-६१

द्विगुणं वायुम्, ततोऽपि अङ्गुष्ठात्संकोचयुक्त्या प्राणशक्तिमूर्ध्वमुद्बोध्य हृदयादेवैकोद्-घातयुक्त्या शरवद्ब्रह्मरन्ध्रस्थमेकगुणं व्योमग्रन्थिं भित्त्वा, द्वादशान्तस्थस्य सर्वाः सिद्धयो भवन्तीति वाक्यार्थः ॥३००॥

तदेतदाह–

एकद्वित्रिचतुष्पञ्चसंख्योद्घातैः प्रसिद्ध्यति ।

उद्घातं लक्षयति–

संनिरुद्धे तु वै प्राणे मूर्ध्नि गत्वा निवर्तते ॥३०१॥
स उद्घात इति प्रोक्तो ज्ञातव्यो योगिभिः सदा ।

'मूर्ध्नि' इत्युपलक्षणपरं कण्ठादिक्षेत्राणाम् ।

'ज्ञातव्य' इति तत्तत्स्थानानुसार्यनुभवात्मकोऽयमित्यर्थः । अत एव पूर्व-मनुभवप्रधान एवासावुक्तः ॥३०१॥

इसी प्रकार पहले कण्ठ में पार्थिवी धारणा का बन्ध करने के उपरान्त उक्त उद्धात क्रम से पहले पार्थिवी धारणा का वेध होता है । हृदय से उक्त पाँच उद्धात से पंचगुणात्मक चार उद्धातों से अप्तत्त्व का, तीन उद्धातों से अग्नितत्त्व का, दो उद्धातों से वायुतत्त्व का और एक उद्धात ये ब्रह्मरन्ध्रस्थ व्योम ग्रन्थि का भेदन करना चाहिये । इस प्रकार ग्रन्थियों के भेदन से द्वादशान्त तक पहुँचना सरल हो जाता है । द्वादशान्त-निष्ठ की सारी सिद्धियाँ सिद्ध हो जाती है ॥३००॥

इस तरह प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम उद्धातों के द्वारा धारणायें सिद्ध हो जाती हैं । जब प्राण संनिरुद्ध हों और मूर्धा से उनका प्रत्यावर्त्तन हो रहा हो, उस समय ही इनका अनुभव होता है । प्राण जब एक एक स्थानों का भेदन कर भ्रूमध्य से ब्रह्मरन्ध्र तक और ब्रह्मरन्ध्र से भ्रूमध्य और इसके अतिरिक्त हृदय से भी नीचे पादाङ्गुष्ठ पर्यन्त तत्त्वों का भेदन करता है, यही उद्धात है । यह प्राण के संयमन, ऊर्ध्ववाह और अधोवाह में अनुभूत होता है । ये धारणायें भी मूर्धा, घण्टिका, कण्ठ, नाभि और पादाङ्गुष्ठ में सिद्ध होती हैं । इस तरह पार्थिव पंचगुणत्व, प्राणसंयमन, उद्धात और धारणा इन सबके समन्वय का एक साथ अनुभव करना चाहिये ॥३०१॥

ये सारी क्रियायें किसी न किसी तरह प्राण संयमन और निष्कल मन्त्रोच्चार के प्राणसम प्रयोग पर निर्भर करती हैं । प्राणपथ की ग्रन्थियों का भेदन उद्धात से ही होता है । यह उद्धात भी प्राणन व्यापार की तीक्ष्णता से ही सम्भव है ।

अथ प्राणायामादीनां फलमादिशति–

रागद्वेषौ प्रहीयेते प्राणायामैः सुधारितैः ।।३०२।।

धारणाभिर्दहेत्पापं प्रत्याहारेऽक्षसंयमः ।

पापं दहेदित्यावारकपृथिव्यादिग्रन्थिभेदात् शुभाशुभकर्मबन्धविच्छेदात् ।

अथ यत्प्राणादिविषयं प्रश्नितं 'स्थानं रूपं च शब्दं च कर्म ब्रूहि' इति, तत्क्रमेण निर्णेतुमाह–

हृद्गुदे नाभिकण्ठे च सर्वसन्धौ तथैव च ।।३०३।।

प्राणाद्याः संस्थिता ह्येते

व्यानान्ताः पञ्चेत्यर्थात् । एषां च–

रूपं शब्दं च मे शृणु ।

तत्र–

द्रुततारनिभो रक्त इन्द्रगोपकसन्निभः ।।३०४।।

क्षीराभः स्फटिकाभश्च पञ्चानां रूपलक्षणम् ।

'द्रुततारं' गलितं रूप्यम् ।।३०४।।

ये धारणायें भी उद्घातों से ही सिद्ध होती हैं । इस तरह सब कुछ प्राणायाम पर ही निर्भर है । इसी तथ्य के इस अर्धाली द्वारा कह रहे हैं कि, सुधारित प्राणायाम से ही यह सब सिद्ध होता है और इसका सुपरिणाम यह है कि, इसकी सिद्धि हो जाने पर रागद्वेष से मुक्ति मिल जाती है ।।३०२।।

धारणाओं की सिद्धि से पाप अर्थात् सारे मानसिक विकार शुद्ध हो जाते हैं । प्रत्याहार की सिद्धियों से इन्द्रियों पर संयम हो जाता है । पृथिवी आदि ग्रन्थियाँ आत्मा की आवारक होती हैं । आवरण भङ्ग से ही रस की निष्पत्ति होती है । उस समय पापों की सम्भावना भी नहीं रह जाती । शुभ और अशुभ कर्मों का प्रकल्प भी कीलित हो जाता है ।

श्लोक २८६ में प्रश्न के क्रमानुसार स्थान, रूप और शब्द विषय के प्रश्नों के उत्तर में भगवान् ने शरीर में प्राणायाम के द्वारा प्रशस्त स्थान में साधना कर उद्घात और धारणाओं की बात बतायी । यहाँ उन्हीं प्राणों के आन्तर देहावस्थान के सम्बन्ध में बता रहे हैं । उनके अनुसार, हृदय, गुदा, नाभि, कण्ठ और सभी सन्धियों में क्रमशः प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान वायु रहते हैं ।।३०३।।

इसके बाद रूप और शब्द के विषय में कह रहे हैं–१–द्रुततारक (चाँदी के द्रव) सदृश, २–रक्त, ३–इन्द्र गोपियों के सदृश, ४–दूध सदृश श्वेत और ५–स्फटिक के समान पाँचों रङ्ग के रूप होते हैं ।।३०४।।

घण्टाकंसाब्दमधुरो गजनादो महाध्वनिः ।।३०५।।
प्राणादीनां तु पञ्चानामयं शब्द उदाहृतः ।

'कंसं' कांस्यम्, 'अब्दो' मेघः, 'महाध्वनिः' द्रुतनदीघोषोपमः ।।३०५।।
एषां कर्मादिशति, तत्र–

जल्पितं हसितं गीतं नृत्तं युद्धगतिः कलाः ।।३०६।।
शिल्पं च सर्वकर्माणि प्राणस्यैवं विचेष्टितम् ।

कलाश्चित्राद्याः सर्वकर्माणीत्येतान्येव ।।३०६।।

प्रवेशयेदन्नपानं तन्मलं स्रावयेदधः ।।३०७।।
अन्धत्वं श्रोत्ररोगं च अपानस्तु करिष्यति ।

चशब्दाद्ग्रहणघ्राणादि ।।३०७।।

अशितं लीढपीतं च समानः समतां नयेत् ।।३०८।।

नाडीषु संचारयेत् ।।३०८।।

क्षोभो हिक्का तथा छिक्का उदानस्य विचेष्टितम् ।

'छिक्का' क्षुतम् ।

स्वेदश्च रोमहर्षश्च शूलं दाहोऽङ्गभञ्जनम् ।।३०९।।

१–घण्टा, २–काँसे के घण्टे के समान, ३–मेघ-मधुर ध्वनि, ४–गज-नाद, ५–महाध्वनि, ये पाँच ध्वनियों के भेद पाँच प्राणों से समन्वित हैं ।।३०५।।

१–प्राण का कर्म जल्पित, २–अपान-हसित, ३–समान का गीत, ४–उदान का नृत्त और व्यान की युद्ध की गतिशील कलायें और शिल्प ही सबके कर्म के रूप में परिगणित हैं ।।३०६।।

१–प्राण से ही अन्न का शरीर भाग में प्रवेश और पीने के कर्म होते हैं । २–मल के शरीर से बाहर निकालने का काम होता है । इसी तरह अपान से अन्धत्व, श्रोत्र के रोग आदि होते हैं । व शब्द से गन्ध ग्रहण और सूँघना आदि भी इसी के परिणाम हैं ।।३०७।।

३–भोजन, जीभ से आस्वाद लेने और पीने के कामों में समता लाने का काम समान करता है । अर्थात् समान से इन सबका नाड़ियों में संचार होता है ।।३०८।।

४–उदान के कामों के रूप में क्षोभ से क्षुब्ध होना, हिचकी के रोग और छींक आदि आते हैं । मुख्य रूप से उदान वायु ही कण्ठ से प्राण को आज्ञा की ओर ऊर्ध्ववाह के लिये प्रेरित करता है ।

व्यानस्यैतानि कर्माणि स्पर्शं चैव स विन्दति ।

स एव लभते ॥३०९॥

नागादीनां स्थानान्यादिशति–

अङ्गुष्ठजानुहृदये लोचने मूर्ध्नि संस्थिताः ॥३१०॥

नागाद्याः

क्रमेणेत्यर्थः ॥३१०॥

सर्वेषामेषां शवलरूपता शवलशब्दता च तुल्येत्याह–

बहुरूपाश्च

चकाराद्बहुशब्दाः ।

कर्म त्वेषां निबोध मे ।

तत्राविकृतावस्थायां क्रमेण–

आह्लादोद्वेगजनकः शोषणस्त्रासनस्तथा ॥३११॥

नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तश्च पञ्चमः ।

अतिनिद्राकरश्चान्यो योजकश्च धनञ्जयः ॥३१२॥

अतिनिद्रा तन्द्रा, योजको देहान्तरसम्बन्धकृत् ॥३१२॥

इसके बाद ५–व्यान आता है । इस वायु से पसीना, रोमहर्ष, शूल, शरीर में जलन और अङ्ग भङ्ग आदि काम माने जाते हैं । स्पर्श का ज्ञान भी व्यान से ही होता है ॥३०९॥

इसके बाद १–नाग वायु अङ्गुष्ठों में, २–कर्म वायु जानु अर्थात् घुटनों में, ३–कृकर वायु हृदय में, ४–देवदत्त आँखों में और धनञ्जय मूर्धा में अवस्थित रहते हैं ॥३१०॥

इनकी शब्दरूपता और शबल शब्दता के विषय में कह रहे हैं कि, ये अनेक रूपों में उद्रिक्त होते हैं और अनेक प्रकार की ध्वनियों से युक्त होते हैं । जब ये किसी विकार से रहित होते हैं, तो ये क्रमशः १–आह्लाद, २–उद्वेग, ३–शोषण, ४–त्रासन और ५–आत्यन्तिक निद्रा (मृत्यु के समय की) प्रदान करते हैं । इन्हें क्रमशः नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय कहते हैं । धनञ्जय देहान्तर का योजन भी करता है । ये नागादि प्राणों के कार्य हैं ॥३११-३१२॥

एषां विकृत्यवस्थायाम्–

श्वाससंकोचनच्छेदा घुर्घुरोत्क्रमणं तथा ।
नागादीनां तु पञ्चानां मृत्युकाले विचेष्टितम् ।।३१३।।

'उत्क्रमणं' देहविश्लेषः ।।३१३।।

धनञ्जयकूर्मयोर्विशेषस्त्वयं यत्–

न चैव याति चोत्क्रान्तौ तनुं त्यक्त्वा धनञ्जयः ।

कञ्चित्कालं शवशरीरं न मुञ्चति ।

आकुञ्चयति वै कूर्मः शोषयेच्च कलेवरम् ।।३१४।।

'आकुञ्चनं' सन्धिसंकोचः । शोषस्ताल्वादिस्थानेषु ।

तदेवं दशधा स्थितम्–

प्राणमेव जयेत्पूर्वं जिते प्राणे जितं मनः ।
जिते मनसि शान्तस्य परं तत्त्वं प्रकाशते ।।३१५।।

मृत्यु के समय इन पाँचों के भयङ्कर कार्य दीख पड़ते हैं । १–नाग श्वास का संकोच करने लगता है । २–कूर्म प्राणवाह को तोड़ देता है । ३–कृकर से उत्क्रमण में ऊर्ध्वश्वास के कारण घुर्घुर ध्वनि होने लगती है । ४–देवदत्त उत्क्रमण का कारण बन जाता है । उस समय सामान्यतः प्राण निष्प्राण लगता है । ये मृत्यु काल के व्यापार शरीर को विकृत बनाकर रख देते हैं ।।३१३।।

५–धनञ्जय प्राण चूँकि देहान्तर का योजक माना जाता है (३१२) । अतः यह उत्क्रान्ति काल में भी मूर्धा में (३१०) अवस्थित रहता है । यह ध्यान देने की बात है कि, मरने के समय सन्धियों में जो संकोच दीख पड़ता है और तालु आदि जो विशेष रूप से सूखने लगते हैं–ये काम कूर्म वायु के माने जाते हैं ।।३१४।।

इस प्रकार साधक को इन दशों प्राणों पर विजय प्राप्तकर के इनके विकारों से बचने के लिये सन्नद्ध हो जाना चाहिये । प्राणजित् हो जाने पर मन अपने आप वश में हो जाता है । मन के जीत लेने के बाद ही शान्ति की प्रतिष्ठा शरीर में होती है । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः यह तीन उद्घोष परम शान्ति के प्रतीक हैं । इसके बाद परम तत्त्व का प्रकाश होता है ।।३१५।।

तत्र–

प्राणापानं गुदे ध्यायेत्प्राणसमानं नाभितः ।

प्राणोदानं तु कण्ठे तु प्राणव्यानं तु सर्वगम् ।।३१६।।

प्राणशब्दोऽत्र सामान्यप्राणवाची अपानादीनां विशेषरूपाणां सामानाधिकरण्येन प्रयुक्तः । यस्तु बहिःप्रसरणात्मा विशेषरूपः प्राणस्तं पूर्वोक्तदेशे हृदि ध्यायेत् । यथोक्तवर्णशब्दाद्यात्मानश्चैते ध्याता वशीकृता भवन्ति ।

एवमेव च–

नागाद्याः प्राणसंयुक्ताः

सामान्यप्राणसम्बद्धाः ।

एतान्यथोक्तरूपान्पूर्वोक्तषु–

स्वस्थानेषु निरोधयेत् ।

तदेतस्य दशकस्य यावता कालेन निरोधाज्जितता भवति, तत्कालं वक्तुमाह–

निरुद्धस्य च यः कालस्तं वक्ष्यामि निबोध मे ।।३१७।।

प्राण रूप जो अपान है, इसे मूलाधार चक्र में ध्यान में लाना चाहिये । इसी तरह प्राणरूप समान को नाभि में ध्यात करना चाहिये । प्राण रूपी उदान को कण्ठ में तथा व्यान को शरीर की सभी सन्धियों में अर्थात् अणु अणु के योग के कारण सर्वग जानना चाहिये ।।३१६।।

नाग आदि सामान्य प्राण से सम्बद्ध वायु पूर्वोक्त (३०३) अपने अपने स्थानों पर निरुद्ध करने योग्य हैं । इनका इन दश प्राणों के पूर्व स्थान इस प्रकार हैं–

१–प्राण का स्थान हृदय
२–अपान का स्थान गुदा (मूलाधार)
३–समान का स्थान नाभि
४–उदान का स्थान कण्ठ
५–व्यान का स्थान सर्वसन्धियां
६–नाग का स्थान अङ्गुष्ठ
७–कूर्म का स्थान जानु
८–कृकर का स्थान हृदय
९–देवदत्त का स्थान लोचन और
१०–धनञ्जय का स्थान मूर्धा ।

इन दश प्राणों का इनके स्थानों पर निरोध जितने समय तक होता है, उतने समय तक उन पर विजय मानी जाती है । इस काल के विषय में बता रहे हैं ।।३१७।।

तालात्प्रभृति तं ध्यायेद्यावत्पञ्चशतं गतम् ।
जितोऽनिलो भवत्येव संक्रान्त्युत्क्रान्तिकर्मणि ।।३१८।।

अङ्गुल्या जानुभ्रमणावधिकालस्तालः । तेषां यावत्पञ्चशतं गच्छति, तावद्यदि प्राणदीनामविचलं ध्यानं सिध्यति, तदा ते जिता भवन्ति । ततश्च परशरीरसंक्रान्तौ उत्क्रान्तौ च सामर्थ्यं भवति ।।३१८।।

इदं च तज्जयेऽभिज्ञानम्–

दिव्या कान्तिः शुभो गन्धः प्रज्ञा चास्य विवर्धते ।
दिव्या दृष्टिश्च श्रवणं दिव्या वाक्च प्रजायते ।।३१९।।
वायुवद्विचरेल्लोकान्सिद्धान्देवांश्च पश्यति ।
मनसा चिन्तितावाप्तिः प्रवर्तेत गुणाष्टकम् ।।३२०।।
सर्वकामसुसम्पूर्णः सर्वद्वन्द्वविवर्जितः ।
संसारबन्धनिर्मुक्तः शिवतुल्यश्च जायते ।।३२१।।

गुणाष्टकमणिमादिकम् । तदियता ग्रन्थे–

'दशधा योगमार्गेण हंसस्वच्छन्दमभ्यसेत्' । (७/२९३)

इति यदुपक्रान्तमभूत्तन्निर्वाहितम् ।।३२१।।

ताल एक पारिभाषिक शब्द है । जानु के बल ५०० अंगुल चलने के कालावधि को ताल कहते हैं । कम से कम इतने समय तक वायु रूप प्राण यदि अपने स्थान पर निरुद्ध रहें अर्थात् अभ्यास के बल पर उतनी देर रोके जा सकें, तभी इनका निरोध प्राणजय में बदल सकता है । इससे परशरीर में संक्रान्ति और उत्क्रान्ति में साधक समर्थ हो जाता है ।।३१८।।

इस प्रक्रिया के सिद्ध हो जाने पर साधक में दिव्य कान्ति आ जाती है । उसके शरीर से शुभ गन्ध की सुरभि निकलने लगती है । उसकी प्रज्ञा का संवर्द्धन हो जाता है । उसमें दिव्य दृष्टि का चमत्कार घटित होता है । उसकी वाणी में दिव्यता का आधान हो जाता है ।।३१९।।

वायु के समान लोक में विचरण करने में समर्थ हो जाता है । सिद्धों और देवों के दर्शन उसे होने लगते हैं । मन से जो चाह लेता है, उसकी पूर्त्ति होने लगती है । इसके साथ ही उसमें अणिमा आदि के गुण भी जो आठ होते हैं, वे आ जाते हैं ।।३२०।।

सभी कामनायें उसकी पूरी हो जाती हैं । सभी प्रकार के राग-द्वेष रूपी द्वन्द्वों से वह निर्मुक्त हो जाता है । संसार के आवागमन रूपी उसके

अथेदानीं सगर्भप्राणीयधारणाभियोगिनां योगोचितजाग्रदाद्यवस्था दर्शयन् दर्शनान्तरोक्तवेधसमावेशस्वरूपज्ञानं शिक्षयति–

प्राणापानौ तु संयोज्य ह्रस्वकोटिसमन्वितौ ।
नाभ्याधारे च योगीन्द्रः

यदा तिष्ठेत्तदास्य–

स्वेदः कम्पश्च जायते ।।३२२।।

हृदये प्रशान्ताशेषतरङ्गानाहतविश्रान्त्यनन्तरं यदा मन्त्रवृद्धेरुन्मिषत्ता[१] भवति, तदा, हृदि सामरस्यावस्थितौ प्राणापानौ ह्रस्वकोट्याकारकलाविमर्शनेन युक्तावधः-प्रसरणक्रमेण नाभौ संयोज्य, प्रोक्तकालं तिष्ठतः स्वेदकम्पौ भवतः ॥३२२॥

बन्धों से छुटकारा मिल जाता है । इस तरह वह शिव के समान समर्चनीय हो जाता है ॥३२१॥

पहले कहा गया था कि, दश प्रकार योग मार्ग से स्वच्छन्द रूपी हंस का अभ्यास या हंस रूपी स्वच्छन्द का अभ्यास करना चाहिये (७/२९३) । उन बातों का निर्वाह भगवान् ने यहाँ तक किया है । इसके बाद सगर्भ प्राणीय-धारणाओं के द्वारा योगियों की योग प्रक्रिया के अनुकूल जाग्रत् आदि अवस्थाओं पर प्रकाश प्रक्षेप करते हुए अन्य दर्शनोक्त वेध और समावेश के विषय में ज्ञानोपदेश कर रहे हैं–

प्राण और अपान इन दोनों का समायोजन एक साथ में साधक हृदय रूप अनाहत में सम्पन्न करता है । उस समय अनाहत अत्यन्त प्रशान्त होता है । उसमें किसी प्रकार की भावनात्मक तरङ्गें उन्मिष्ट नहीं होतीं । उस समय मन्त्र को संवर्द्धन मिलता है । वहाँ प्राण और अपान सामरस्य रूप से अवस्थित हो जाते हैं । परिणाम यह होता है कि, ये दोनों इतने हल्के हो जाते हैं कि, उनकी मात्रात्मकता ह्रस्व कोटि का आश्रय ग्रहण कर स्वल्पात्म कला विमर्श से युक्त हो जाती हैं । यह प्रशान्त अनाहत की सूक्ष्मानुभूति है । इसके तुरत बाद वे दोनों नाभि में आश्रय लेते हैं । अधः प्रसरण क्रमानुसार नाभि रूप समान वायु के स्थान पर साधक आधिपत्य कर लेता है । उसमें उतनी ही अवधि तक विश्रान्ति का आनन्द लेने लगता है । उस समय शरीर में पसीने की अधिकता और कम्प अर्थात् शीत से सिहरन उठने लगती है ॥३२२॥

---

१. ख. पु. वृद्धेरुन्मिमिषिषेति पाठः ।

अथासौ–

पुनरेव तु हृत्स्थौ हि प्राणापानौ निरोधयेत् ।
दीर्घकोटिसमायोगात्तत्क्षणाच्च पतेद्भुवि ।।३२३।।

नाभिपदविश्रान्त्यनन्तरमूर्ध्वमारुह्य हृत्स्थं कृत्वा दीर्घात्मकमान्त्रद्वितीयकला-विमर्शनपरो निरोधयेत्–इति तत्कालोच्चारस्थाने कण्ठान्ते प्रोक्तकालं तिष्ठेत्, तदेकाग्रताप्रकर्षाद् भुवि पतेत् ॥३२३॥

ततोऽपि यद्यसौ–

कण्ठस्थं च तथैवेह प्राणमेव निरोधयेत् ।
प्लुतकोटिसमायोगात्स्वप्नवृत्तिस्ततो भवेत् ।।३२४।।

उल्लासे सति अपानप्रशमात्प्राणमितीहोक्तं कालम्, प्लुतकोटि: पूर्वोक्त-नीत्या ताल्वन्तोच्चारी मकारकलाविमर्श:, स्वप्नोऽत्र जिज्ञासितवस्तुप्रथनात्मा योग्युचित: । एवमादिशता कम्प-स्वेद-पाता योगिजागरा–इति निरूपितं भवति ॥३२४॥

पुन: प्राणापान को हृदय अर्थात् अनाहत में ले आते हैं । वहाँ लाकर उनका निरोध करना चाहिये । उस समय ह्रस्व कोटि के विपरीत उस साम-रस्य में दीर्घ आयाम का भार पड़ जाता है । यह नाभि से ऊर्ध्व आरोह की अवस्था मानी जाती है । मन्त्र की द्वितीय कला का विमर्श यहाँ होने लगता है । उस समय भी साधक उनके निरोध में तत्पर रहता है । हृदय से मन्त्र सम्वर्द्धन के उन्मेष के फलस्वरूप कण्ठान्त में उच्चार के स्थान तक वे अवस्थित रहते हैं । उस समय इतनी एकाग्रता हो जाती है कि, अपना या शरीर का ध्यान ही नहीं रह पाता । परिणामत: साधक अकस्मात् भूमि पर ही उलट पड़ता है ॥३२३॥

उससे साधक हतोत्साहित नहीं होता है । उसके तुरत समकाल में वह कण्ठ में अर्थात् विशुद्ध में प्रवेश कर जाता है । वहीं प्राण का निरोध कर लेता है । यहाँ यह ध्यातव्य है कि, उस समय अपान का प्रशमन हो गया होता है । केवल प्राण ही निरोद्धव्य रह जाता है । यहाँ मान्त्रमयी तृतीय कला का उन्मेष होता है । यह प्लुत स्वरोच्चार समोच्चार का ही विमर्श होता है । यह मन्त्र की मकारँ कला का काल होता है । इस अवस्था को स्वयं भगवान् भैरव भट्टारक स्वप्न वृत्ति के प्रशमन का स्थान कहते हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि, कम्प-स्वेद और एकाग्रता की पूर्वावस्थायें योगी की जागृति की अवस्थायें होती हैं ॥३२४॥

यदा तु–

भ्रूमध्ये बिन्दुयोगेन प्राणरोधं तु कारयेत् ।

सुषुप्तं जायते तत्र क्षणाच्चैव प्रबुद्ध्यते ।।३२५।।

प्लुतेनैव तालुनो भेदितत्वान्मान्त्रबिन्दुकलाव्याप्तिविमर्शेन भ्रूमध्ये प्रोक्त-कालं तिष्ठतः प्रशान्तमनोवृत्तिः, सुषुप्तावस्था उदेति, क्षणाच्च प्रबुद्ध्यत इति न लौकिकवत् तमोवरणेन अभिभूयते । तदुक्तम्–

'........तदन्यत्र तु चिन्मयः' । (स्प. २/२) इति ॥३२५॥

ततोऽपि–

मूर्धद्वारं समाश्रित्य निष्कलं ध्यानमारभेत् ।

एवमभ्यसतस्तस्य प्रत्ययस्तु तदा भवेत् ।।३२६।।

पञ्चप्रणव विवृत्यनुसार यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि, ह्रस्व 'अ' जागृति, 'ऊ' दीर्घ मात्र कला विमर्शात्मिका स्वप्नावस्थायें और म प्लुत सुषुप्त बिन्दु, तुर्य और नाद तुर्यात्मक कहीं गयी हैं किन्तु यहाँ स्वयं भगवान् ही बिन्दु को सुषुप्त स्थानमय कहते हैं । म की प्लुत कला भी स्वप्न के अन्तर्गत ही निविष्ट मानी गयी है । श्लोक ३२५ के अनुसार भ्रूमध्य में बिन्दु का योग होता है । वहाँ प्राणरोध करने पर तुरत सुषुप्ति होती है । प्लुत से तालुरन्ध्र का वेध हो जाता है । उसके माध्यम से जब बैन्दवी मान्त्र कला का विमर्श होता है, उस समय भ्रूमध्य की प्रथम अवस्था सुषुप्ति में परिणत हो जाती है । यह सुषुप्ति क्षणिक होती है क्योंकि विमर्श की सूक्ष्मता के कारण जागरा के प्रभाव के कारण साधक पुनः प्रबुद्ध हो जाता है । यह बोध लौकिक आवरण की तरह का नहीं होता क्योंकि स्पन्द कारिका २/२ कहती है कि, उसके चिन्मयावस्था का ही साम्राज्य होता है ॥३२५॥

इसके भी ऊर्ध्व स्तर पर मूर्धद्वार अर्थात् निरोधिका, नाद एवं नादान्त को पार कर शक्तिवृत्त वह भाग जिसमें वेध करने से द्वार बन गया है, वहीं रुक कर निष्कल का ध्यान करना चाहिये । इस ध्यान से पूरा शक्तिवृत्त प्रभावित होता है । यह वह स्थिति होती है, जहाँ वर्णो का, ज्योति का, नाद का और नादान्त रूपी अनुरणन का भी उल्लङ्घन हो चुका है । वहाँ सूक्ष्म स्पर्शानुभूति होती है । इसके बाद ध्यान में ही साधक उस स्थान पर पहुँचता है, जहाँ व्यापिनीवृत्त परमात्म व्याप्ति में समाहित रहता है । वहाँ पिपीलका के पतले पैरों के रेंगने जैसी अनुभूति होती है । उसके पैरों में पकड़ने की कटीली नखरेखिकायें होती हैं ।

पिपीलकण्टकावेधो मूर्धद्वारं विभिन्दतः ।

निष्कलमिति वर्णज्योतिर्ध्वनिव्याप्त्युल्लङ्घनात्पर्शनानुभवरूपम्, 'पिपीलकण्टकावेध' इति संचरत्पिपीलस्पर्शतुल्यकण्टकस्पर्शतुल्यश्च स्पर्श इत्यर्थः ॥३२६॥

किञ्च–

भित्त्वा क्रमेण सर्वाणि उन्मन्यन्तानि यानि तु ॥३२७॥

पूर्वोक्तलक्षणैर्देवि

लक्षणैरिति प्रणवाधिकारोक्तैरनुभवैर्युज्यत इति शेषः । तावदन्तात्र तुर्यदशा ।

अथैतत्सर्वम्–

त्यक्त्वा स्वच्छन्दतां व्रजेत् ।

गाढगाढोन्मनापदविश्रान्तिपदप्रकर्षात् तुर्यातीतदशालाभात् चिदानन्दघनपरभैरवसमावेशमनुभवति योगीन्द्र इत्यर्थः ।

न केवलं देहोत्तीर्ण एव पदेऽस्य परसमावेशो घटते, यावत्–

जायते उन्मनस्त्वं हि देहेनानेन साधके ॥३२८॥

देहावस्थायां व्युत्थानेऽपि साधकस्य समावेशप्रकर्षात्तदानन्दरससंस्काराद्घूर्णमाणतैव भवतीत्यर्थः ॥३२८॥

उन्हीं को यहाँ कण्टकावेध कहा गया है । चीटी के पैरों की नखाग्र रेखिकायें मानों उस खोपड़ी के निचले में चलित सी हैं । उनका स्पर्श प्रतीत होता है ॥३२६॥

क्रमशः इन वृत्तों का भेदन करते हुए समना में पहुँचते हैं । वहाँ सहस्रार पद्म में १००० वर्णों को न्यस्त करते हैं । वर्ण माला में १६ स्वरों और ३४ व्यञ्जन मिलकर पचास होते हैं । इनकी २० आवृत्ति में न्यस्त करने की प्रक्रिया में १सहस्रवर्ण हो जाते हैं । सहस्रवर्णों के कारण इसे सहस्रार कहते हैं । पुनः इसको भी अतिक्रान्त कर उन्मना में पहुँचते हैं । उन्मना में इसके बीजमन्त्र का न्यास कर उसके ध्यान में गाढगाढगूढतामयी गुह्य ग्रन्थि खुल जाती है । और इस तुर्य दशा को भी साधक अतिक्रान्त कर तुर्यातीत में विश्रान्ति प्राप्त कर लेता है ॥३२७॥

तुर्य दशा के उल्लङ्घन से जिस तुर्यातीत दशा की उपलब्धि होती है, वही स्वच्छन्द परमेश्वर की व्याप्ति का सर्वोर्ध्व, सर्वाराध्य, विश्रान्ति धाम है । इस चिदानन्दघन परभैरव समावेश का अनुभव योगीन्द्र करता है । निष्कल परभैरव बीज की संविद्विमृष्टि की यह पराकाष्ठा है । यह स्थिति ऐसी है, जो योगीन्द्र को इसी शरीर में उपलब्ध हो जाती है । जिस अवस्था में साधक व्युत्थान सिद्ध होता है,

किं चायं स्वातन्त्र्यशक्त्युन्मेषात्–

संक्रामेत्परदेहेषु क्षुत्तृष्णाभ्यां न बाध्यते ।
अतीतानागतं चैव त्रैलोक्ये यत्प्रवर्तते ।।३२९।।
प्रत्यक्षं तद्भवेत्तस्य सर्वज्ञत्वं च जायते ।

'यच्च प्रवर्तते' इति यदपि वर्तमानं किञ्चिदस्ति, तदस्य सर्वं प्रत्यक्षीभवति । 'सर्वज्ञत्वम्' इति क्रमेणाभ्यासप्रकर्षान्मन्त्रमन्त्रेशादितुल्यो भवतीत्यर्थः ॥३२९॥

पाटलिकं प्रमेयमुपसंहरन् पटलान्तरेण संगतिं दर्शयति–

प्रसङ्गेऽध्यात्मकालस्य ज्ञानं विज्ञानमेव च ।।३३०।।
सर्वमेतत्समाख्यातमंशकांश्च निबोध मे ।

वहाँ समावेश के प्रकर्षक कारण परानन्द संविद्रसानुभूति निर्भर होने के कारण घूर्णमाणता भी सम्भव होती है ॥३२८॥

यहाँ स्वातन्त्र्य शक्ति का उन्मेष भी होता है । स्वतन्त्रता के बल से साधक पर शरीर में भी प्रवेश करने में समर्थ हो जाता है । उस समय भूख (क्षुधा) और प्यास उसे नहीं सताते । वह त्रिकालदर्शी हो जाता है । भूत भविष्य उसी आँखों के सामने प्रत्यक्ष से हो जाते हैं ॥३२९॥

प्रत्यक्ष होने का तात्पर्य यह है कि, उसमें पर भैरव का सर्वज्ञ नामक गुण चरितार्थ हो जाता है । यह ओङ्कार के क्रमिक, नियमित और अनुशासित रूप से किये गये अभ्यास प्रकर्ष का परिणाम है । प्रत्येक साधक का यह धर्म है कि, वह अपने जीवन को इस उत्कर्ष के अन्तिम लक्ष्य को पाकर धन्य बना ले ।

यह आध्यात्मिक काल-सन्दर्भ का विश्लेषण है । इसमें सारा ज्ञान विज्ञान भरा हुआ है । आज्ञा चक्र स्थित ओंकार की यहाँ तक की ऐसी परा-व्याप्ति का चित्रण अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं है । ओंकार के वर्णन छान्दोग्य (ओंतद् सद् ब्रह्म) कठ० मु० तै० उप० मैत्र्युप० और माण्डुक्य में भी हैं । किन्तु इस प्रकार की साधना का विधान कहीं नहीं है । माण्डुक्य में थोड़ी अच्छी व्याख्या अवश्य है किन्तु बात बात से विज्ञान उपलब्ध नहीं होता । योग दर्शन का तस्य वाचकः प्रणवः स०२७ आदि और ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म गीता के अर्थवाद में साधना विधियों का नितान्त अभाव है ।

यहाँ इन विधिक साधना के सन्दर्भों को अपनाने की प्रेरणा भी प्राप्त होती है । इससे ज्ञान विज्ञान सब की उपलब्धि हो जाती है ।

अध्यात्मकालकथनप्रसङ्गेन तत्त्ववृत्त्या ज्ञानं मृत्युजययोगिजागरावस्थाद्यात्मक-वेधादिरूपं च विज्ञानमेतदुक्तमनुक्तमपि अनुजिघृक्षावेशात्, अतः–

'कालांशकं च देवेश कथयस्व प्रसादतः' । (७/१)

इति यत्प्रश्नितम्, ततः कालस्वरूपं कथितं प्रसङ्गाज्ज्ञानं विज्ञानं चाप्यादिष्टम्, अंशकस्वरूपं तु निर्णेतुमवशिष्टम्, अतोऽशकान् भाविपटलेन निर्णेष्यमाणान्निबोध जानीहीति पाटलिकी संगतिरिति शिवम् ॥३३०॥

संवित्स्फारव्याप्त्या विश्वं प्राणान्तःस्थं सम्यग्ज्ञात्वा ।
तास्ताः सिद्धीरंशज्ञप्त्या पूर्णस्थितिं यायात् ॥१॥

।। इति श्रीस्वच्छन्दोद्द्योते कालाधिकारः
सप्तमः पटलः समाप्तः ।।७।।

अगले आह्निक से समन्वय स्थापित करने के लिये भगवान् कह रहे हैं कि, देवेश्वरि संविद्विमर्श की परा साधनाओं के उत्कर्ष विधान को मैंने तुम्हारे समक्ष प्रस्तुत किया । अब तुम अंशकों के सम्बन्ध में सुनो । निःशेष बोध से व्यक्ति अवश्य ही प्रबुद्ध हो जाता है । इस आध्यात्मिक काल ज्ञान के सन्दर्भ में तत्त्व वृत्ति, मृत्युजय योग, जागराद्यवस्थाओं का क्रमिक वर्णन है । ७/१ में कालांशक को जानने की इच्छा देवी ने प्रकट की थी । उसी का स्वरूप विश्लेषण आगे के पटल में किया जायेगा । यह कहकर भगवान् भैरव ने पटल की संगति स्थापित की है ॥३३०॥

प्राणान्तःस्थित विश्व को संविद्रसमय जान ।
पूर्णस्थिति पाकर बनें, साधक ईश समान ॥ उद्योतपद्यानुवाद

॥ इति शिवम् ॥

प्राणान् प्रतिष्ठाप्य परोन्मनान्तं ध्याये सदा निष्कलभैरवत्वम् ।
जीवस्य हंसत्वमहं महत्या युक्त्या स्वदेहे चरितार्थयामि ॥ भा०भाष्यकार ।

महामाहेश्वराचार्य श्रीमान् क्षेमराजकृतोद्योत–व्याख्यायुक्त
डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर-विवेक भाषाभाष्य संवलित
श्रीस्वच्छन्दतन्त्र
का
कालाधिकार नामक सप्तम पटल परिपूर्ण ॥७॥
॥ शुभं भूयात् ॥

उपसंहरति—

बहिर्लिङ्गानि चैतानि अङ्गारिष्टानि यानि च।

उक्तानीति शेषः ॥

अथैतानि—

पूजया जपहोमेन ध्यानधारणया प्रिये ॥ २८४ ॥
कृतरक्षाविधानेन जीयन्ते नात्र संशयः ।

पूजादिधारणान्तं भगवद्विषयम्, रक्षाविधानं वक्ष्यमाणम् ॥ २८४ ॥

तदित्थं रिष्टप्रशमनं कृत्वा प्रकृतो योगाभ्यास एव कार्यः, स च नाडिशुद्धिपूर्वकप्राणजयादेवेति तत्प्रकाशनाशयेन श्रीदेव्युवाच—

नाडीनां शोधनं चैव वायूनां च जयः कथम् ॥ २८५ ॥

तेषां प्राग्विभक्तानां वायूनाम्—

स्थानं रूपं च शब्दं च कर्म ब्रूहि मम प्रभो ।

एतत्प्रश्नषट्कं निर्णिनीषुः श्रीभैरव उवाच—

परमो योगसद्भावो गुह्याद् गुह्यतरः प्रिये ॥ २८६ ॥

उपसंहार करते हैं—

मरणासन्न व्यक्ति के ये बाह्य चिह्न हैं और जो अङ्गों के अरिष्ट (= अशुभ सूचक चिह्न) कहे गये हैं ॥ २८४- ॥

इसके बाद ये—

हे प्रिये ! ये सब (रिष्ट) पूजा, जप, होम, ध्यान, धारणा एवं रक्षा विधान करने से जीत लिये जाते हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ -२८४-२८५- ॥

पूजा से लेकर धारणा तक का कार्य भगवद्विषयक है । रक्षाविधान का वर्णन आगे किया जायेगा ॥ २८४ ॥

तो इस प्रकार रिष्ट की शान्ति कर प्रस्तुत योगाभ्यास ही करना चाहिये । वह योगाभ्यास नाडीशुद्धिपूर्वक प्राणजय से होता है इसलिये उस (= नाडीशोधन आदि) को प्रकाशित करने के आशय से श्रीदेवी ने कहा—

नाड़ियों का शोधन और प्राण वायु का जय कैसे होता है ॥ -२८५ ॥

पूर्व विभक्त उन वायुओं का—

स्थान रूप शब्द और कर्म हे प्रभो ! मुझको बतलाइये ॥ २८६- ॥

उपर्युक्त छह प्रश्नों का निर्णय करने की इच्छा वाले श्रीभैरव ने कहा—

यो न कस्यचिदाख्यातस्तं योगं शृणु तत्त्वतः।

यत्त्वया प्रश्नितम्, तद्योगरहस्यं तद्विना योगाभ्यासायोगात् ॥

तत्र तावत्—

सुप्रशस्ते भूप्रदेशे नाग्नितोयसमीपतः ॥ २८७ ॥
वालुकाशर्कराहीने शुष्कवृक्षविवर्जिते ।
निःशब्दकीटवल्मीके ईतिभिः परिवर्जिते ॥ २८८ ॥
पुण्ये धर्मिष्ठसंवासे तत्र योगं समभ्यसेत् ।

ईतयः अतिवृष्ट्यादयः । पुण्ये सत्तीर्थादियुक्ते । धर्मिष्ठसंवासे पुण्याश्रये ॥

तदासौ—

देवदेवं समभ्यर्च्य भैरवं सविनायकम् ॥ २८९ ॥
पूर्वाचार्यान्नमस्कृत्य युक्तो ध्यानपरायणः ।

विघ्नप्रशमनाय गणपतिपूजापूर्वमाज्ञाग्रहणाय गुरून् पूजयित्वा, भैरवमभ्यर्च्य

हे प्रिये ! परमयोगसद्भाव गुह्य से भी गुह्यतर है । जिसे मैंने किसी को भी नहीं बतलाया । उस योग को अब मुझसे तात्त्विक रूप से सुनो ॥ -२८६-२८७- ॥

जो प्रश्न तुमने किया वह योग का रहस्य है । क्योंकि उसके बिना योग का अभ्यास नहीं हो सकता ॥

जो भूप्रदेश अग्नि और जल के समीप न हो, सुप्रशस्त हो, बालू और शर्करा (= पत्थर के कण) से रहित, शुष्कवृक्ष से शून्य, शब्द कीड़ों-मकोड़ों बिल से शून्य और ईतियों से वर्जित, पवित्र, धर्मात्मा लोगों से युक्त हो उसमें योग का अभ्यास करना चाहिये ॥ -२८७-२८९- ॥

ईतियाँ = अतिवृष्टि आदि[1] । पवित्र = सत्तीर्थ आदि से युक्त । धर्मिष्ठ- संवास वाले = जहाँ पवित्र लोग रहते हों ॥

तब यह योगी—

गणेश के सहित देवाधिदेव भैरव की पूजा कर (आगमशास्त्र के) पूर्व आचार्यों (= गुरुओं) को नमस्कार कर ध्यानपरायण और युक्त हो जाय ॥ -२८९-२९०- ॥

(योगी) विघ्नों के प्रशमन के लिये पहले गणपति की और बाद में आज्ञा लेने

---

१. अति वृष्टिरनावृष्टिर्मूषका शलभाः शुकाः ।
प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः ॥

ध्यानपरायणो युक्तः स्यादिति सम्बन्धः ॥

कथमित्याह—

आसनं स्वस्तिकं बद्ध्वा पद्मकं भद्रमेव वा ॥ २९० ॥
सापाश्रयं सार्धचन्द्रं योगपट्टं यथासुखम् ।
दहनोत्पूयने कृत्वा प्लावयेदमृतेन च ॥ २९१ ॥
सबाह्याभ्यन्तरेणैव सकलीकरणं ततः ।
अन्तर्यागं यथापूर्वमुच्चार्यं च परं तथा ॥ २९२ ॥
दशधा योगमार्गेण हंसस्वच्छन्दमभ्यसेत् ।

पद्मकमूरुन्यस्तोत्तानपादतलं पद्मासनाख्यम्, पर्यङ्कस्थस्य जंघाव्यत्यासात् स्वस्तिकम्, समपादस्थित्या भद्रम्, भित्त्याश्रयात् सापाश्रयमेतच्चार्धचन्द्रविशेषणम् भूमिष्ठैकचरणोरुपृष्ठन्यस्तोत्तानद्वितीयचरणमर्धचन्द्रम्, योगार्थं पट्टपरिकरबन्धाय बद्ध्वा एतदन्यतममासनम्, अन्यदपि वा यद्यत्सुखं शरीरपरिक्लेशकृत्र भवति । यथोक्तम्—

के लिये गुरुओं की पूजा कर तत्पश्चात् भैरव की पूजा करने के बाद ध्यानपरायण और युक्त हो—ऐसा अन्वय है ॥

कैसे ?—यह कहते हैं—

(योगी) पहले स्वस्तिकासन, पद्मासन, भद्रासन, अपाश्रय के सहित अर्धचन्द्र, योग के लिये (कटि प्रदेश में) पट्ट (= पट्टा बेल्ट) बाँधना, अथवा सुखपूर्वक (योगसाधना के लिये किसी भी आसन पर बैठ कर) दहन और उत्पूयन करे । तत्पश्चात् अपने को बाहर और भीतर अमृत से आप्लावित करे । इसके बाद सकलीकरण कर पूर्ववर्णन के अनुसार अन्तर्याग एवं पर का उच्चारण कर योगमार्ग से दश प्रकार के वायु को वश में करने के पश्चात् स्वच्छन्द हंस का अभ्यास करे ॥ -२९०-२९३-॥

पद्मक = दोनों जाँघों के ऊपर पैर के तलवे को उत्तान कर दोनो पैरों को रखना । स्वस्तिक — पर्यंक (पालथी) में बैठकर जंघों (= टखनों) को व्यत्यास = (एक के ऊपर दूसरे को रखना) । भद्रासन = दोनों पैरों को घुटनों से मोड़ कर आमने-सामने सटाकर रखना । भित्ति (= दीवाल) का आश्रय लेना सापाश्रय है । यह अर्धचन्द्र का विशेषण है । अर्धचन्द्र = (दीवाल के सहारे खड़ा होकर) एक पैर को भूमि पर और दूसरे पैर को उतान कर (घुटने से मोड़कर) पहले पैर की जाँघ के ऊपर रखना । (योग पट्ट का अर्थ है—) योग के लिये पट्ट । यह कटि में बाँधने के लिये होता है । पट्ट बाँधकर बैठना, यह भी एक आसन है । इनके अतिरिक्त जो-जो शरीर के लिये कष्टप्रद न हो (वह सब आसन होता है) ॥

जैसा कि कहा गया—

'स्थिरसुखमासनम्' (पात० २।४६) इति ।

ततः पूर्वोक्तं दहनाद्युच्चारान्तं कृत्वा, दशधा योगमार्गेणेति बाह्याभ्यन्तर-रेचनादिषट्कप्रशान्तकुम्भक-प्रत्याहार-धारणा-ध्यानात्मना भाविना, अथ च भावि-प्राणादिवायुदशकजयपूर्वं पूर्वोक्तं हंसस्वच्छन्दं परं निष्कलभट्टारकमभ्यसेदनु-प्रविशेत् ॥

तदनुप्रवेशं पूर्वोक्तोपायानुसारेण स्फुटयति—

मन्त्रं बिन्दुमतीतं तु नादान्तज्योतिराकृतिम् ॥ २९३ ॥
सङ्कल्प्य कल्पनालक्ष्यं ध्यायेद् वै तेन सर्वगम् ।

(मन्त्रं) चतुष्कलनाथमकारादिकलोच्चारपूर्वं बिन्दुमतीतमिति तदुल्लङ्घनाद् अर्धचन्द्रनिरोधिकापदमुद्घाट्य, नादनादान्तक्रमेण ज्योतिराकृतिमिति शक्त्यादि-प्रकाशरूपम्, सङ्कल्प्य विकल्पपूर्वमविकल्पेनासाद्य, कल्पनाभिरलक्ष्यं स्वप्रकाश-चिदानन्दघनम्, सर्वगं हंसस्वच्छन्दं ध्यायेदिति समनान्तं विलाप्य अकृतकविमर्शो-दयेन समाविशेत् ॥ २९३ ॥

'जिस प्रकार से बैठने पर स्थिरता हो (और क्लेश न हो) प्रत्युत सुख (का अनुभव) हो वह आसन है' (पा.यो.सू. २।४६) ।

इसके बाद पूर्वोक्त दहन से लेकर उच्चार पर्यन्त कार्य को करने के बाद दश प्रकार के योगमार्ग से—आगे बतलाये जाने वाले बाह्य आभ्यन्तर रेचन आदि छः (श्लोक सं० ७।२९५-२९७ तक वर्णित रेचन पूरण रोधन आदि) के द्वारा कुम्भक के निष्कम्प हो जाने से प्रत्याहार धारणा ध्यान रूप (योग मार्ग से) । आगे वर्णनीय प्राण आदि दश वायुओं को वश में करने के बाद पूर्वोक्त हंस स्वच्छन्द = पर निष्कलभट्टारक का, अभ्यास करे = उसमें अनुप्रविष्ट हो जाय ॥

उस अनुप्रवेश को पूर्वोक्त उपाय के अनुसार स्पष्ट करते हैं—

मन्त्र, बिन्दु, उससे परे (= अर्धचन्द्र, रोधिनी) (नाद-) नादान्त ज्योति आकृति की सम्यक् कल्पना कर, कल्पना से अलक्ष्य सर्वगामी तत्त्व का ध्यान करे ॥ -२९३-२९४- ॥

(मन्त्र =) चतुष्कलनाथ जो कि अकार आदि (= अ उ म्) कला के उच्चारण के बाद होता है । बिन्दु और अतीत = उस (= बिन्दु) को पार कर अर्धचन्द्र और रोधिनी पद का भेदन कर, नाद नादान्त के क्रम से, ज्योति आकृति = शक्ति आदि (= व्यापिनी समना) प्रकाशरूप का सङ्कल्प कर = विकल्पपूर्वक निर्विकल्प के द्वारा प्राप्त कर, (कल्पनाऽलक्ष्य =) कल्पनाओं के द्वारा अलक्ष्य स्वप्रकाश चिदानन्दघन, सर्वगामी हंस स्वच्छन्द का ध्यान करे = समना पर्यन्त का विलयन कर अकृतक (= स्वाभाविक) विमर्श के उदय के द्वारा हंस स्वच्छन्द का समावेश करे ॥ २९३ ॥

ध्यानपरायणो युक्तः स्यादिति सम्बन्धः ॥

कथमित्याह—

आसनं स्वस्तिकं बद्ध्वा पद्मकं भद्रमेव वा ॥ २९० ॥
सापाश्रयं सार्धचन्द्रं योगपट्टं यथासुखम् ।
दहनोत्पूयने कृत्वा प्लावयेदमृतेन च ॥ २९१ ॥
सबाह्याभ्यन्तरेणैव सकलीकरणं ततः ।
अन्तर्यागं यथापूर्वमुच्चार्यं च परं तथा ॥ २९२ ॥
दशधा योगमार्गेण हंसस्वच्छन्दमभ्यसेत् ।

पद्मकमूरुन्यस्तोत्तानपादतलं पद्मासनाख्यम्, पर्यङ्कस्थस्य जंघाव्यत्यासात् स्वस्तिकम्, समपादस्थित्या भद्रम्, भित्याश्रयात् सापाश्रयमेतच्चार्धचन्द्रविशेषणम् भूमिष्ठैकचरणोरुपृष्ठन्यस्तोत्तानद्वितीयचरणमर्धचन्द्रम्, योगार्थं पट्टपरिकरबन्धाय बद्ध्वा एतदन्यतममासनम्, अन्यदपि वा यद्यत्सुखं शरीरपरिक्लेशकृन्न भवति । यथोक्तम्—

के लिये गुरुओं की पूजा कर तत्पश्चात् भैरव की पूजा करने के बाद ध्यानपरायण और युक्त हो—ऐसा अन्वय है ॥

कैसे ?—यह कहते हैं—

(योगी) पहले स्वस्तिकासन, पद्मासन, भद्रासन, अपाश्रय के सहित अर्धचन्द्र, योग के लिये (कटि प्रदेश में) पट्ट (= पट्टा बेल्ट) बाँधना, अथवा सुखपूर्वक (योगसाधना के लिये किसी भी आसन पर बैठ कर) दहन और उत्पूयन करे । तत्पश्चात् अपने को बाहर और भीतर अमृत से आप्लावित करे । इसके बाद सकलीकरण कर पूर्ववर्णन के अनुसार अन्तर्याग एवं पर का उच्चारण कर योगमार्ग से दश प्रकार के वायु को वश में करने के पश्चात् स्वच्छन्द हंस का अभ्यास करे ॥ -२९०-२९३-॥

पद्मक = दोनों जाँघों के ऊपर पैर के तलवे को उत्तान कर दोनो पैरों को रखना । स्वस्तिक — पर्यंक (पालथी) में बैठकर जंघों (= टखनों) को व्यत्यास = (एक के ऊपर दूसरे को रखना) । भद्रासन = दोनों पैरों को घुटनों से मोड़ कर आमने-सामने सटाकर रखना । भित्ति (= दीवाल) का आश्रय लेना सापाश्रय है । यह अर्धचन्द्र का विशेषण है । अर्धचन्द्र = (दीवाल के सहारे खड़ा होकर) एक पैर को भूमि पर और दूसरे पैर को उतान कर (घुटने से मोड़कर) पहले पैर की जाँघ के ऊपर रखना । (योग पट्ट का अर्थ है—) योग के लिये पट्ट । यह कटि में बाँधने के लिये होता है । पट्ट बाँधकर बैठना, यह भी एक आसन है । इनके अतिरिक्त जो-जो शरीर के लिये कष्टप्रद न हो (वह सब आसन होता है)॥

जैसा कि कहा गया—

'स्थिरसुखमासनम्' (पात० २।४६) इति ।

ततः पूर्वोक्तं दहनाद्युच्चारान्तं कृत्वा, दशधा योगमार्गेणेति बाह्याभ्यन्तर-रेचनादिषट्कप्रशान्तकुम्भक-प्रत्याहार-धारणा-ध्यानात्मना भाविना, अथ च भावि-प्राणादिवायुदशकजयपूर्वं पूर्वोक्तं हंसस्वच्छन्दं परं निष्कलभट्टारकमभ्यसेदनु-प्रविशेत् ॥

तदनुप्रवेशं पूर्वोक्तोपायानुसारेण स्फुटयति—

मन्त्रं बिन्दुमतीतं तु नादान्तज्योतिराकृतिम् ॥ २९३ ॥
सङ्कल्प्य कल्पनालक्ष्यं ध्यायेद् वै तेन सर्वगम् ।

(मन्त्रं) चतुष्कलनाथमकारादिकलोच्चारपूर्वं बिन्दुमतीतमिति तदुल्लङ्घनाद् अर्धचन्द्रनिरोधिकापदमुद्घाट्य, नादनादान्तक्रमेण ज्योतिराकृतिमिति शक्त्यादि-प्रकाशरूपम्, सङ्कल्प्य विकल्पपूर्वमविकल्पेनासाद्य, कल्पनाभिरलक्ष्यं स्वप्रकाश-चिदानन्दघनम्, सर्वगं हंसस्वच्छन्दं ध्यायेदिति समनान्तं विलाप्य अकृतकविमर्शो-दयेन समाविशेत् ॥ २९३ ॥

'जिस प्रकार से बैठने पर स्थिरता हो (और क्लेश न हो) प्रत्युत सुख (का अनुभव) हो वह आसन है' (पा.यो.सू. २।४६) ।

इसके बाद पूर्वोक्त दहन से लेकर उच्चार पर्यन्त कार्य को करने के बाद दश प्रकार के योगमार्ग से—आगे बतलाये जाने वाले बाह्य आभ्यन्तर रेचन आदि छः (श्लोक सं० ७।२९५-२९७ तक वर्णित रेचन पूरण रोधन आदि) के द्वारा कुम्भक के निष्कम्प हो जाने से प्रत्याहार धारणा ध्यान रूप (योग मार्ग से) । आगे वर्णनीय प्राण आदि दश वायुओं को वश में करने के बाद पूर्वोक्त हंस स्वच्छन्द = पर निष्कलभट्टारक का, अभ्यास करे = उसमें अनुप्रविष्ट हो जाय ॥

उस अनुप्रवेश को पूर्वोक्त उपाय के अनुसार स्पष्ट करते हैं—

मन्त्र, बिन्दु, उससे परे (= अर्धचन्द्र, रोधिनी) (नाद-) नादान्त ज्योति आकृति की सम्यक् कल्पना कर, कल्पना से अलक्ष्य सर्वगामी तत्त्व का ध्यान करे ॥ -२९३-२९४- ॥

(मन्त्र =) चतुष्कलनाथ जो कि अकार आदि (= अ उ म्) कला के उच्चारण के बाद होता है । बिन्दु और अतीत = उस (= बिन्दु) को पार कर अर्धचन्द्र और रोधिनी पद का भेदन कर, नाद नादान्त के क्रम से, ज्योति आकृति = शक्ति आदि (= व्यापिनी समना) प्रकाशरूप का सङ्कल्प कर = विकल्पपूर्वक निर्विकल्प के द्वारा प्राप्त कर, (कल्पनाऽलक्ष्य =) कल्पनाओं के द्वारा अलक्ष्य स्वप्रकाश चिदानन्दघन, सर्वगामी हंस स्वच्छन्द का ध्यान करे = समना पर्यन्त का विलयन कर अकृतक (= स्वाभाविक) विमर्श के उदय के द्वारा हंस स्वच्छन्द का समावेश करे ॥ २९३ ॥

तदेतद् नाडिशुद्धिप्राणजयपूर्वकं सुघटं स्यात्, इत्याशयेन नाडिजयं तावदाह—

अपसव्येन पूर्येत सव्येनैव विरेचयेत् ॥ २९४ ॥
नाडीसंशोधनं चैतन्मोक्षमार्गपथस्य च ।

सव्येन दक्षनासापथेन, रेचयेत् रेचकं कुर्यात्, अपसव्येन वामेन, पूर्येत वायुपूरणं कुर्यादित्यर्थः । एवमनवरतं क्रियमाणमेतन्नाडीनां मोक्षमार्गपथस्य वा मध्यधाम्नः शोधनं मारुतप्रशमनं भवति ॥

प्राणजयं व्यक्तुमुपक्रमते—

रेचनात् पूरणाद्रोधात् प्राणायामस्त्रिधा स्मृतः ॥ २९५ ॥

प्राणस्यायमनं यथास्थितवाहविजयेन स्वायत्ततानयनम् ॥ २९५ ॥

त्रय एते प्राणायामाः सर्वसाधारणेन नासिकापथक्रमेण निर्वर्त्यमानाः साधारणा बाह्याश्चेत्याह—

सामान्या बहिरेते तु..............

यह (= स्वच्छन्दसमावेश) नाडीशुद्धि प्राणजय के बाद सुगम हो जाता है—इस आशय से नाडीजय को बतलाते हैं—

(प्राण को) अपसव्य (= बायें नासारन्ध्र) से (अपने अन्दर) पूरित करना और सव्य (= दायें नासामार्ग) से उसका रेचन करे । मोक्ष मार्ग के पथ में स्थित (साधक) के लिये यह नाड़ी संशोधन है ॥-२९४-२९५-॥

सव्य = दायें नासापथ से । रेचयेत् = रेचन करे (= बाहर निकाले) । अपसव्य बायें (मार्ग) से, पूरित करे = अपने अन्दर वायु को भरे । इस प्रकार निरन्तर करने पर यह नाड़ियों का अथवा मोक्ष मार्ग के पथ = सुषुम्ना का, शोधन = वायु का प्रशमन होता है ॥

(अब) प्राणजय को अभिव्यक्त करने का उपक्रम करते हैं—

(प्राण वायु के) रेचन (= बाहर निकालना) पूरण (शरीर के अन्दर भरना) और रोध (= भरी गयी वायु को अन्दर ही रोके रखना) इस प्रकार प्राणायाम तीन प्रकार का कहा गया है ॥ -२९५ ॥

(प्राणायाम शब्द का अर्थ है—) प्राण का आयमन = प्राण के सामान्य प्रवाह पर विजय के द्वारा उसको अपने अधीन लाना ॥ २९५ ॥

ये (= उपर्युक्त) तीनों प्राणायाम, जिनकी प्रक्रिया नासिकापथ से सर्वसाधारण के द्वारा चलायी जाती है, साधारण और बाह्य (भेद से दो प्रकार का) है—यह कहते हैं—

एतदभ्यासपूर्वमन्तःप्रयुज्यमानैः—

..............पुनश्चाभ्यन्तरे त्रयः ।

तानाह—

आभ्यन्तरेण रेच्येत पूर्येताभ्यन्तरेण तु ॥ २९६ ॥
निष्कम्पं कुम्भकं कृत्वा कार्याश्चाभ्यन्तरास्त्रयः ।

आभ्यन्तरेण मध्यपथेनात्र रेचनं द्वादशान्ते, पूरणं हृदि, निष्कम्पं कुम्भकमिति निरायासं प्रशान्तकुम्भकमित्यर्थः । कार्या इति निर्वर्तनीया भवन्ति ॥ २९६ ॥

अथ—

नाभ्यां हृदयसञ्चारान्मनश्चेन्द्रियगोचरात् ॥ २९७ ॥
प्राणायामश्चतुर्थस्तु सुप्रशान्त इति श्रुतः ।

निष्कम्पकुम्भकानन्तरं हृदयसञ्चाराद् इति शनैः शनैर्हृदयादधः सञ्चारयुक्त्या प्राणं नाभ्यामेव नियम्येत्यर्थात्, तथा मन इन्द्रियगोचरादिति तत्प्रत्याहारयुक्त्या नाभ्यामेव नियम्य, मनोनियमपूर्वकं प्राणं नाभौ नियच्छतः सुप्रशान्तः प्राणायामो

ये (प्राणायाम) सामान्य और बाह्य हैं ॥ २९६- ॥

इनका अभ्यास करने के बाद शरीर के अन्दर प्रयुज्यमान—

(प्राणायामों) के द्वारा आभ्यन्तर में भी तीन (प्राणायाम होते हैं) ॥-२९६-॥

उनको बतलाते हैं—

भीतर से ही रेचन भीतर से ही पूरण और (भीतर ही) निष्कम्प कुम्भक करके तीन आभ्यन्तर प्राणायाम करने चाहिये ॥ -२९६-२९७- ॥

यहाँ (= आभ्यन्तर प्राणायाम में) आभ्यन्तर = मध्यपथ (= सुषुम्ना) से द्वादशान्त (= शिर से बारह अंगुल ऊपर) में रेचन होता है । पूरण हृदय में होता है और कुम्भक (उसी अवस्था में) निष्कम्प अर्थात् विना प्रयास के प्रशान्त कुम्भक होता है । कार्य होते हैं = निर्वर्त्तनीय होते हैं ॥ २९६ ॥

इसके बाद—

प्राण को हृदय से सञ्चारित करते हुए नाभि (इसे अधो द्वादशान्त भी कहते हैं) तक तथा मन को इन्द्रियों के विषयों से (हटाकर नाभि में ले आना और स्थिर करना) चतुर्थ प्राणायाम है । इसे सुप्रशान्त कहा गया है ॥ -२९७-२९८- ॥

निष्कम्प कुम्भक के बाद, हृदय सञ्चार से = धीरे-धीरे हृदय से नीचे सञ्चरण की युक्ति से प्राण को नाभि में ही नियन्त्रित करे । उसी प्रकार मन को इन्द्रियगोचर

भवति ॥ २९७ ॥

तदित्थम्—

प्राणरोधे तु सम्पूर्णे नाभौ नीत्वा समुच्छ्वसन् ॥ २९८ ॥

अनन्तरम्—

शनैर्विमोचयेद्वायुं वामनासापुटेन तु ।

निरुद्धवायुप्रकोपापहाराय ॥

एवं चारजयान्तं प्राणायामप्रत्याहारावभिधाय, धारणां निरूपयति—

वायवी धारणाङ्गुष्ठे आग्नेयी नाभिमध्यतः ॥ २९९ ॥
माहेयी कण्ठदेशे तु वारुणी घण्टिकाश्रया ।
आकाशधारणा मूर्ध्नि सर्वसिद्धिकरी स्मृता ॥ ३०० ॥

पाददेशे तिर्यग्गतेः, नाभौ जाठराग्नेः, कण्ठे स्थितिपदे धरण्याः, घण्टिकायां रसस्य, ब्रह्मरन्ध्रे च व्योम्नः सद्भावात्तथैव धारणा उक्ताः । अत्र चोद्घाते दीक्षा-

---

(= इन्द्रियों के विषय) से, उस (= मन) के प्रत्याहार की युक्ति से उसको नाभि में ही नियन्त्रित करे । (इस प्रकार) मन को नियन्त्रित करते हुए प्राण को नाभि में नियन्त्रित करना सुप्रशान्त नामक प्राणायाम होता है ॥ २९७ ॥

तो इस प्रकार—

(जब) प्राण का सम्पूर्ण रोध हो जाता है तब उस निरुद्ध प्राण को नाभि में ले जाकर उच्छ्वास लेते हुए ॥ -२९८ ॥

बाद में—

वाम नासापुट से धीरे-धीरे वायु को मुक्त करना चाहिये (= बाहर निकाल देना चाहिये) ॥ २९९- ॥

यह क्रिया अन्दर निरुद्ध वायु के प्रकोप को दूर करने के लिये की जाती है ॥

इस प्रकार (प्राण—) चार के जय पर्यन्त प्राणायाम और प्रत्याहार का कथन कर धारणा का निरूपण करते हैं—

(पैर के) अंगूठे में वायवीय धारणा, नाभि के बीच आग्नेयी, कण्ठ देश में पार्थिवी, घण्टिका (= घण्टी) में वारुणी और शिर में आकाशीय धारणा सर्वसिद्धिकरी मानी गयी है ॥ -२९९-३०० ॥

पाददेश में तिर्यक् गति होने के कारण, नाभि में जाठराग्नि के होने से, कण्ठ में धरणी के स्थितिस्थान होने से, घण्टिका में रस को तथा ब्रह्मरन्ध्र में व्योम के होने से उसी प्रकार धारणायें कही गयी है । यहाँ उद्घात (= प्रथम पटल श्लोक

प्रस्तावनिर्णीतं वर्णमण्डललाञ्छनाक्षरात्मकत्वं धारणाध्येयम् । तत्र प्रथमं कण्ठे पार्थिवीं धारणां बद्ध्वा हृदयादुद्धातपञ्चकेन पञ्चगुणं पार्थिवं तत्त्वं भिन्द्यात्, ततोऽनेनैव क्रमेण हृदयादेव चतुर्भिरुद्धातैश्चतुर्गुणमप्तत्त्वम्, ततो हृदयादेव नाभिक्षेत्रे त्रिभिरुद्धातैस्त्रिगुणमग्निम्, अनन्तरं हृदयादेव द्वाभ्यां पादाङ्गुष्ठगतं द्विगुणं वायुम्, ततोऽप्यङ्गुष्ठात् सङ्कोचयुक्त्या प्राणशक्तिमूर्ध्वमुद्बोध्य हृदयादेवैको-द्घातयुक्त्या शरवद् ब्रह्मरन्ध्रस्थमेकगुणं व्योमग्रन्थिं भित्त्वा, द्वादशान्तस्थस्य सर्वाः सिद्धयो भवन्तीति वाक्यार्थः ॥ ३०० ॥

तदेतदाह—

एकद्वित्रिचतुष्पञ्चसंख्योद्घातैः प्रसिद्ध्यति ।

उद्घातं लक्षयति—

संनिरुद्धे तु वै प्राणे मूर्ध्नि गत्वा निवर्तते ॥ ३०१ ॥
स उद्घात इति प्रोक्तो ज्ञातव्यो योगिभिः सदा ।

मूर्ध्नि इत्युपलक्षणपरं कण्ठादिक्षेत्राणाम् । ज्ञातव्य इति तत्तत्स्थानानुसार्य-

---

सं० १०, ४५-४९) में दीक्षाप्रस्ताव में जिसका निर्णय किया गया वह वर्णमण्डल-लाञ्छन वाला अक्षर ही धारणा का ध्येय है । उनमें सबसे पहले कण्ठ में पृथिवी की धारणा का बन्धन कर पाँच उद्घात के द्वारा हृदय से पाँच गुण वाले पृथिवीतत्त्व का भेदन करना चाहिये । इसके बाद इसी क्रम से हृदय से ही चार के उद्घात के द्वारा चतुर्गुण जलतत्त्व का (घण्टिका में) भेदन करे । इसके बाद हृदय से ही नाभिक्षेत्र में तीन के उद्घात के द्वारा तीन गुणों वाले अग्नि तत्त्व का, बाद में हृदय से ही दो उद्घातों के द्वारा पैर के अंगूठे में रहने वाले द्विगुण वायु तत्त्व का, इसके भी बाद सङ्कोचयुक्ति के द्वारा प्राणशक्ति को ऊपर की ओर प्रेरित कर हृदय से ही एक उद्घातयुक्ति के द्वारा वाण के समान ब्रह्मरन्ध्र में स्थित एक गुण वाले व्योमग्रन्थि = आकाशतत्त्व का भेद करने के बाद द्वादशान्त में स्थित योगी को समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं ॥ ३०० ॥

इसी को कहते हैं—

(इस प्रकार योगी) एक दो तीन चार पाँच उद्घातों के द्वारा सिद्ध बन जाता है ॥ ३०१- ॥

उद्घात को बतलाते हैं—

प्राण के सम्यक् निरुद्ध होने पर जब वह ब्रह्मरन्ध्र में जाकर लौट आता है तो वह उद्घात कहा गया है । योगियों को सदा इसका ज्ञान करना चाहिये ॥ -३०१-३०२- ॥

(श्लोकोक्त) 'मूर्ध्नि' पद कण्ठ आदि क्षेत्रों का भी उपलक्षक है । 'ज्ञान करना

नुभवात्मकोऽयमित्यर्थः । अत एव पूर्वमनुभवप्रधान एवासावुक्तः ॥ ३०१ ॥

अथ प्राणायामादीनां फलमादिशति—

रागद्वेषौ प्रहीयेते प्राणायामैः सुधारितैः ॥ ३०२ ॥
धारणाभिर्दहेत् पापं प्रत्याहारेऽक्षसंयमः ।

'पापं दहेत्' इत्यावारकपृथिव्यादिग्रन्थिभेदात् शुभाशुभकर्मबन्धविच्छेदात् ॥

अथ यत्प्राणादिविषयं प्रश्नितम्—'स्थानं रूपं च शब्दं च कर्म ब्रूहि (७।२८६) इति, तत्क्रमेण निर्णेतुमाह—

हृदगुदे नाभिकण्ठे च सर्वसन्धौ तथैव च ॥ ३०३ ॥
प्राणाद्याः संस्थिता ह्येते..........

व्यानान्ताः पञ्चेत्यर्थात् ॥

एषां च—

..........रूपं शब्दं च मे शृणु ।

चाहिये'—इसका तात्पर्य है कि यह तत्तत् स्थानों के अनुसार एक अनुभव है । इसीलिये पहले इसे अनुभवप्रधान ही कहा गया ॥ ३०१ ॥

अब प्राणायाम आदि का फल बतलाते हैं—

भली-भाँति धारण किये गये अर्थात् अभ्यास किये गये प्राणायामों के द्वारा राग-द्वेष नष्ट हो जाते हैं । (योगी) धारणाओं के द्वारा पाप को जला देता है और प्रत्याहार होने पर इन्द्रियों पर नियन्त्रण हो जाता है ॥ -३०२-३०३- ॥

'पाप को जला देता है' क्योंकि आवारक पृथिवी आदि ग्रन्थियों का भेद हो जाने से शुभ अशुभ कर्मबन्ध का विच्छेद हो गया होता है ॥

सातवें पटल के श्लो.सं. २८६ में जो 'स्थान रूप शब्द और कर्म को बतलाइये' ऐसा कहकर प्राण आदि से सम्बद्ध प्रश्न (पार्वती के द्वारा) किया गया उसको क्रम से बतलाने के लिये कहते हैं—

ये प्राण आदि (= अपान, समान, उदान और व्यान) हृदय, गुदा, नाभि, कण्ठ और समस्त सन्धियों में स्थित रहते हैं ॥ -३०३-३०४- ॥

प्राण से लेकर व्यान पर्यन्त पाँच वायु तत्तत् स्थानों में रहते हैं ।

और इनके—

रूप और शब्द को मुझसे सुनो ॥ -३०४- ॥

तत्र—

द्रुततारनिभो रक्त इन्द्रगोपकसंनिभः ॥ ३०४ ॥
क्षीराभः स्फटिकाभश्च पञ्चानां रूपलक्षणम् ।

द्रुततारं गलितं रूप्यम् ॥ ३०४ ॥

घण्टाकंसाब्दमधुरो गजनादो महाध्वनिः ॥ ३०५ ॥
प्राणादीनां तु पञ्चानामयं शब्द उदाहृतः ।

कंसं कांस्यम्, अब्दो मेघः, महाध्वनिः द्रुतनदीघोषोपमः ॥ ३०५ ॥

एषां कर्मादिशति, तत्र—

जल्पितं हसितं गीतं नृत्तं युद्धगतिः कलाः ॥ ३०६ ॥
शिल्पं च सर्वकर्माणि प्राणस्यैवं विचेष्टितम् ।

कलाश्चित्राद्याः । सर्वकर्माणीत्येतान्येव ॥ ३०६ ॥

प्रवेशयेदन्नपानं तन्मलं स्रावयेदधः ॥ ३०७ ॥

इनमे से—

कहा भी है—

'हृदि प्राणः गुदेऽपानः समानो नाभिदेशगः ।
कण्ठदेशे उदानः स्याद् व्यानः सर्वशरीरगः ॥'

(प्राण आदि क्रमशः) पिघली हुई चाँदी के समान, रक्त वर्ण, इन्द्रगोप (= नील वर्ण), दूध के समान और स्फटिक के समान होते हैं । ये पाँचों (वायुओं) के रूप हैं ॥ -३०४-३०५- ॥

द्रुत तार = पिघली हुई चाँदी ॥ ३०४ ॥

घण्टा, काँसा, बादल के शब्द के समान, हाथी की आवाज और महाध्वनि ये प्राण आदि पाँचों के शब्द कहे गये हैं ॥ -३०५-३०६- ॥

कंस = काँसा का बर्त्तन । अब्द = बादल । महाध्वनि = बहती हुई नदी के घोष के समान ॥ ३०५ ॥

इनके कर्मों को बतलाते हैं—

बोलना, हँसना, गीत, गाना, नाचना, युद्ध करना, कला और शिल्प ये समस्त कर्म प्राण की ही चेष्टायें हैं ॥ -३०६-३०७- ॥

कला = चित्र आदि बनाना । समस्त कर्म = उपर्युक्त ही कर्म ॥ ३०६ ॥

अन्न जल को (शरीर के अन्दर) प्रविष्ट कराना, उनके मलों को

अन्धत्वं श्रोत्ररोगं च अपानस्तु करिष्यति ।

'च'शब्दाद् ग्रहणघ्राणादि ॥ ३०७ ॥

अशितं लीढपीतं च समानः समतां नयेत् ॥ ३०८ ॥

नाडीषु सञ्चारयेत् ॥ ३०८ ॥

क्षोभो हिक्का तथा छिक्का उदानस्य विचेष्टितम् ।

छिक्का क्षुतम् ॥

स्वेदश्च रोमहर्षश्च शूलं दाहोऽङ्गभञ्जनम् ॥ ३०९ ॥
व्यानस्यैतानि कर्माणि स्पर्शं चैव स विन्दति ।

स एव लभते ॥ ३०९ ॥

नागादीनां स्थानान्यादिशति—

अङ्गुष्ठजानुहृदये लोचने मूर्ध्नि संस्थिताः ॥ ३१० ॥
नागाद्याः......

क्रमेणेत्यर्थः ॥ ३१० ॥

सर्वेषामेषां शबलरूपता शबलशब्दता च तुल्येत्याह—

नीचे गिराना, अन्धापन और कान का रोग यह सब अपान का कार्य बतलाया गया है ॥ -३०७-३०८- ॥

(श्लोकोक्त) 'च' शब्द से ग्रहण घ्राण आदि (समझना चाहिये) ॥ ३०७ ॥

समानवायु खाये-पीये चाटे गये (पदार्थों) को सम करता है ॥-३०८ ॥

समता को ले जाता है = नाड़ियों में सञ्चारित करता है ॥ ३०८ ॥

क्षोभ (= शरीर का तीव्र वेग से हिलना डुलना), हिचकी, छींक ये उदान की चेष्टायें हैं । पसीना होना, रोंगटे खड़े होना, दर्द, शरीर में जलन, अङ्गों का टूटना और स्पर्श ये व्यान के कर्म हैं ॥ ३०९-३१०- ॥

(स विन्दति =) वही (= व्यान ही) प्राप्त करता है ॥ ३०९ ॥

नाग आदि (= कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय) के स्थानों को बतलाते हैं—

ये नाग आदि पैर के अंगूठों, घुटनों, हृदय, नेत्रों और शिर में स्थित हैं ॥ -३१०-३११- ॥

अर्थात् क्रमशः स्थित हैं ॥ ३१० ॥

इन सबकी शबलरूपता (= रूपों का मिश्रित रंग वाला होना) तथा शबल शब्दता (= मिश्रित शब्दों वाला होना) समान है—यह कहते हैं—

.....बहुरूपश्च......

चकाराद् बहुशब्दाः ॥

.............कर्म त्वेषां निबोध मे ।

तत्राविकृतावस्थायां क्रमेण—

आह्लादोद्वेगजनकः शोषणस्त्रासनस्तथा ॥ ३११ ॥
नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तश्च पञ्चमः ।
अतिनिद्राकरश्चान्यो योजकश्च धनञ्जयः ॥ ३१२ ॥

अतिनिद्रा तन्द्रा, योजको देहान्तरसम्बन्धकृत् ॥ ३१२ ॥

एषां विकृत्यवस्थायाम्—

श्वाससङ्कोचनच्छेदा घुर्घुरोत्क्रमणं तथा ।
नागादीनां तु पञ्चानां मृत्युकाले विचेष्टितम् ॥ ३१३ ॥

उत्क्रमणम् = देहविश्लेषः ॥ ३१३ ॥

धनञ्जयकूर्मयोर्विशेषस्त्वयम् यत्—

न चैव याति चोत्क्रान्तौ तनुं त्यक्त्वा धनञ्जयः ।

(ये) बहुरूप ॥ -३११- ॥

और 'च' से बहुशब्द है ॥

अब इन (= नाग आदि) के कर्मों को मुझसे जानो ॥ -३११- ॥

अविकृत अवस्था में क्रमशः—

ये नाग कूर्म कृकर और देवदत्त आह्लाद उद्वेग, शोषण और त्रास उत्पन्न करते हैं । धनञ्जय नामक पञ्चम वायु योजक है तथा अतिनिद्रा उत्पन्न करता है ॥ -३११-३१२ ॥

अतिनिद्रा = तन्द्रा । योजक = दूसरे शरीर से सम्बन्ध बनाने वाला ॥३१२॥

इनके विकृत होने पर—

नाग आदि पाँच का मृत्यु के समय श्वास (का बढ़ना) (सन्धियों का) सङ्कोच, श्वास का रुक जाना, घुर्घुर शब्द करना तथा उत्क्रमण ये क्रियायें होती हैं ॥ ३१३ ॥

उत्क्रमण = (वायुओं का अथवा जीव का) शरीर से विच्छेद ॥ ३१३ ॥

(यद्यपि पाँचों वायुओं के कार्य कह दिये गये तथापि) धनञ्जय और कूर्म का विशेष (कर्म) यह है कि—

कंचित्कालं शवशरीरं न मुञ्चति ॥

आकुञ्चयति वै कूर्मः शोषयेच्च कलेवरम् ॥ ३१४ ॥

आकुञ्चनं संधिसङ्कोचः । शोषस्ताल्वादिस्थानेषु ॥ ३१४ ॥

तदेवं दशधा स्थितम्—

प्राणमेव जयेत् पूर्वं जिते प्राणे जितं मनः ।
जिते मनसि शान्तस्य परं तत्त्वं प्रकाशते ॥ ३१५ ॥

तत्र—

प्राणापानं गुदे ध्यायेत् प्राणसमानं नाभितः ।
प्राणोदानं तु कण्ठे तु प्राणव्यानं तु सर्वगम् ॥ ३१६ ॥

प्राणशब्दोऽत्र सामान्यप्राणवाची अपानादीनां विशेषरूपाणां सामानाधिकरण्येन प्रयुक्तः । यस्तु बहिःप्रसरणात्मा विशेषरूपः प्राणस्तं पूर्वोक्तदेशे हृदि ध्यायेत् । यथोक्तवर्णशब्दाद्यात्मानश्चैते ध्याता वशीकृता भवन्ति ॥ ३१६ ॥

उत्क्रान्ति (= सूक्ष्म शरीर का स्थूल शरीर से वियोग) होने पर भी धनञ्जय शरीर को छोड़ कर नहीं जाता ॥ ३१४- ॥

कुछ समय तक मृत शरीर को नहीं छोड़ता ॥

कूर्म वायु आकुञ्चन करता है और शरीर को सुखा देता है ॥ -३१४ ॥

आकुञ्चन = जोड़ों को संकुचित करना शोष—यह तालु आदि (= हृदय कण्ठ जिह्वा आदि) में होता है ॥ ३१४ ॥

तो इस प्रकार (योगी को चाहिये कि वह) दश रूप में स्थित—

प्राण को पहले जीत ले । प्राण के जीत लिये जाने पर मन जीत लिया जाता है । मन के विजित होने पर शान्त योगी को पर तत्त्व प्रकाशित हो जाता है ॥ ३१५ ॥

इस (विजय) के विषय में—

गुदा प्रदेश में प्राण और अपान का, नाभि में प्राण और समान का, कण्ठ में प्राण और उदान का तथा प्राण और व्यान का समस्त शरीर में ध्यान करना चाहिये ॥ ३१६ ॥

यहाँ (= उक्त श्लोक में) प्राण शब्द सामान्य प्राण का वाचक है । अपान आदि उसके विशेष रूप हैं । उनके साथ वह सामानाधिकरण्येन प्रयुक्त है । जो कि (शरीर के) बाहर प्रसरण करने वाला विशेष प्राण है उसी का पूर्वोक्त हृदय प्रदेश में ध्यान करना चाहिये । पूर्वोक्त रंगों और शब्दों वाले ये ध्यान किये जाने पर वश में

एवमेव च—

नागाद्याः प्राणसंयुक्ताः..........

सामान्यप्राणसम्बद्धाः ॥

एतान् यथोक्तरूपान् पूर्वोक्तेषु—

..............स्वस्थानेषु निरोधयेत् ।

तदेतस्य दशकस्य यावता कालेन निरोधाज्जितता भवति, तत्कालं वक्तुमाह—

निरुद्धस्य च यः कालस्तं वक्ष्यामि निबोध मे ॥ ३१७ ॥
तालात् प्रभृति तं ध्यायेद्यावत् पञ्च शतं गतम् ।
जितोऽनिलो भवत्येव संक्रान्त्युत्क्रान्तिकर्मणि ॥ ३१८ ॥

अङ्गुल्या जानुभ्रमणावधिकालस्तालः । तेषां यावत्पञ्चशतं गच्छति, तावद्यदि प्राणादीनामविचलं ध्यानं सिध्यति, तदा ते जिता भवन्ति । ततश्च परशरीर-संक्रान्तौ उत्क्रान्तौ च सामर्थ्यं भवति ॥ ३१८ ॥

हो जाते हैं ॥ ३१६ ॥

इसी प्रकार—

नाग आदि भी प्राण से संयुक्त हैं ॥ ३१७- ॥

अर्थात् सामान्य प्राण से सम्बद्ध हैं ॥

ऊपर कहे गये रूप-शब्द वाले इनको पूर्वोक्त—

उनके अपने-अपने स्थानों में निरुद्ध करना चाहिये ॥ -३१७- ॥

इन दश प्राणों का जितने समय में निरोध होने के कारण इन पर विजय होती है, उस काल को बतलाते हैं—

प्राण के निरुद्ध होने का जो काल होता है अब उसको कह रहा हूँ । मुझसे उसको जानो । एक ताल से लेकर पाँच सौ ताल तक यदि उसका लगातार ध्यान करे तो संक्रान्ति और उत्क्रान्ति कर्म में प्राण का जय होता है ॥ -३१७-३१८ ॥

अंगुली को घुठने के चारों ओर घुमाने में जितना समय लगता है वह एक ताल होता है । उन तालों की पाँच सौ संख्या तक यदि प्राण आदि का निरन्तर ध्यान सिद्ध हो जाय तो उन प्राणों पर विजय हो जाती है । इसके बाद (योगी के पास) दूसरी शरीर में प्रवेश और (अपनी शरीर से प्राण की) उत्क्रान्ति के विषय में सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है ॥ ३१८ ॥

इदं च तज्जयेऽभिज्ञानम्—

दिव्या कान्तिः शुभो गन्धः प्रज्ञा चास्य विवर्धते ।
दिव्या दृष्टिश्च श्रवणं दिव्या वाक् च प्रजायते ॥ ३१९ ॥
वायुवद्विचरेल्लोकान् सिद्धान् देवांश्च पश्यति ।
मनसा चिन्तितावाप्तिः प्रवर्तेत गुणाष्टकम् ॥ ३२० ॥
सर्वकामसुसम्पूर्णः सर्वद्वन्द्वविवर्जितः ।
संसारबन्धनिर्मुक्तः शिवतुल्यश्च जायते ॥ ३२१ ॥

गुणाष्टकमणिमादिकम् । तदियता ग्रन्थेन

'दशधा योगमार्गेण हंसस्वच्छन्दमभ्यसेत्' (७।२९३)

इति यदुपक्रान्तमभूत्तन्निर्वाहितम् ॥ ३२१ ॥

अथेदानीं सगर्भप्राणीयधारणाभिर्योगिनां योगोचितजाग्रदाद्यवस्था दर्शयन् दर्शनान्तरोक्तवेधसमावेशस्वरूपज्ञानं शिक्षयति—

प्राणापानौ तु संयोज्य ह्रस्वकोटिसमन्वितौ ।
नाभ्याधारे च योगीन्द्रः.........

उस (= प्राण) के जय के विषय में यह पहचान है—

(शरीर की) कान्ति दिव्य (= चमकदार), (शरीर का) गन्ध शुभ (= सुगन्ध वाला) हो जाता है । इसकी प्रज्ञा बढ़ जाती है । देखने और सुनने की शक्ति दिव्य और वाणी भी दिव्य हो जाती है । वह वायु की भाँति लोकों में विचरण करता है और सिद्धों तथा देवों को (प्रत्यक्ष) देखता है । मन से सोचे गये पदार्थ को प्राप्त कर लेता है । आठ गुणों की प्राप्ति होती है । (वह) समस्त कामनाओं से सुसम्पूर्ण, समस्त द्वन्द्वों से रहित, संसार के बन्धन से निर्मुक्त और शिवतुल्य हो जाता है ॥ ३१९-३२१ ॥

गुणाष्टक = अणिमा आदि (= महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व) । तो यहाँ तक के ग्रन्थ से—

'योगमार्ग के द्वारा दश प्रकार से हंस स्वच्छन्द का अभ्यास करना चाहिये ।' (७।२९३)

ऐसा जो उपक्रम किया गया, उसको बतलाया गया ॥ ३२१ ॥

अब सगर्भ प्राणीय धारणाओं के द्वारा योगियों की योगोचित जाग्रत आदि अवस्थाओं को दिखलाते हुए अन्य दर्शनों में वर्णित वेध समावेश के स्वरूप का ज्ञान कराते हैं—

योगीन्द्र जब ह्रस्व कोटि से युक्त प्राण और अपान को संयोजित कर

यदा तिष्ठेत् तदास्य—

............स्वेदः कम्पश्च जायते ॥ ३२२ ॥

हृदये प्रशान्ताशेषतरङ्गानाहतविश्रान्त्यनन्तरं यदा मन्त्रवृद्धेरुन्मिषत्ता भवति, तदा हृदि सामरस्यावस्थितौ प्राणापानौ ह्रस्वकोट्याकारकलाविमर्शनेन युक्तावधः प्रसरणक्रमेण नाभौ संयोज्य, प्रोक्तकालं तिष्ठतः स्वेदकम्पौ भवतः ॥ ३२२ ॥

अथासौ—

पुनरेव तु हृत्स्थौ हि प्राणापानौ निरोधयेत् ।
दीर्घकोटिसमायोगात् तत्क्षणाच्च पतेद् भुवि ॥ ३२३ ॥

नाभिपदविश्रान्त्यनन्तरमूर्ध्वमारुह्य हृत्स्थं कृत्वा दीर्घात्मकमान्त्रद्वितीयकलाविमर्शनपरो निरोधयेत् इति तत्कालोच्चारस्थाने कण्ठान्ते प्रोक्तकालं तिष्ठेत्, तदेकाग्रताप्रकर्षाद् भुवि पतेत् ॥ ३२३ ॥

ततोऽपि यद्यसौ—

कण्ठस्थं च तथैवेह प्राणमेव निरोधयेत् ।

नाभ्याधार में ॥ ३२२- ॥

स्थित होता है तब इसके (शरीर में)—

स्वेद और कम्प उत्पन्न होता है ॥ -३२२ ॥

हृदय में समस्त (विचार) तरङ्गों के शान्त होने पर जब मन्त्र की वृद्धि उन्मिषित होती है, तब हृदय में समरस हुए प्राण और अपान ह्रस्व कोटि = अकार कला के विमर्श, से युक्त हो जाते हैं तो (योगी उनको) अधःप्रसरण के क्रम से नाभि में संयुक्त करता है । (जितनी देर तक यह संयुक्तावस्था रहती है) उतनी देर तक (उस योगी के शरीर में) स्वेद और कम्प उत्पन्न होता रहता है ॥ ३२२॥

इसके बाद (योगी) को चाहिये कि वह—

अकार की दीर्घ कोटि के समायोग से हृदय में स्थित प्राण और अपान को निरुद्ध करे । (निरुद्ध करने के) तुरन्त बाद (द्योगी) भूमि पर गिर पड़ता है ॥ ३२३ ॥

नाभिपद में विश्रान्ति के बाद ऊर्ध्व आरोहण कर प्राणापान को हृदय में स्थिर कर मन्त्रसम्बन्धी दीर्घात्मक द्वितीय कला का विमर्श करते हुए उन दोनों का निरोध करे । अर्थात् उस समय के उच्चारस्थान कण्ठान्त में उतनी देर तक रहे (= अपने प्राणयुक्त मन को वहाँ स्थिर रखें) । उस एकाग्रता के प्रकर्ष से (वह योगी सशरीर) भूमि पर लुढ़क जाता है ॥ ३२३ ॥

उसके बाद भी यदि यह—

प्लुतकोटिसमायोगात् स्वप्नवृत्तिस्ततो भवेत् ॥ ३२४ ॥

उल्लासे सत्यपानप्रशमात् प्राणमितीहोक्तं, कालम् प्लुतकोटिः, पूर्वोक्तनीत्या ताल्वन्तोच्चारी मकारकलाविमर्शः । स्वप्नोऽत्र जिज्ञासितवस्तुप्रथनात्मा योग्युचितः। एवमादिशता कम्प-स्वेद-पाता योगिजागरा इति निरूपितं भवति ॥ ३२४ ॥

यदा तु—

भ्रूमध्ये बिन्दुयोगेन प्राणरोधं तु कारयेत् ।
सुषुप्तं जायते तत्र क्षणाच्चैव प्रबुद्ध्यते ॥ ३२५ ॥

प्लुतेनैव तालुनो भेदितत्वान्मान्त्रविन्दुकलाव्याप्तिविमर्शेन भ्रूमध्ये प्रोक्तकालं तिष्ठतः प्रशान्तमनोवृत्तिः सुषुप्तावस्था उदेति, क्षणाच्च प्रबुद्ध्यत इति न लौकिकवत् तमोवरणेन अभिभूयते । तदुक्तं—

'तदन्यत्र तु चिन्मयः' (स्प० २।२)

इति ॥ ३२५ ॥

ततोऽपि—

कण्ठस्थ प्राण का उसी प्रकार निरोध करता है तो उस (= निरोध) के बाद (अकार की) प्लुत कोटि के समावेश से वह स्वप्नवृत्ति वाला हो जाता है ॥ ३२४ ॥

(प्राण का) उल्लास होने पर अपान का प्रशमन होने से यहाँ (= उक्त श्लोक में केवल) 'प्राणम्' कहा गया (न कि प्राणापानौ) । काल = प्लुतकोटि = पूर्वोक्त नीति के अनुसार तालुपर्यन्त उच्चारित होने वाला मकार कला का विमर्श । यहाँ स्वप्न का तात्पर्य है—जिज्ञासित वस्तु का विस्तार जो कि योगियों के लिये उचित होता है (साधारण लोगों के लिये नहीं) । इस प्रकार वर्णन करने वाले (परमेश्वर) ने यह बतलाया कि कम्प स्वेद और पतन योगियों की जाग्रत अवस्थायें हैं ॥ ३२४ ॥

और जब—

(योगी) बिन्दु के योग से भ्रूमध्य में प्राणरोध करता है तब उसकी सुषुप्तावस्था होती है । उस (अवस्था) में एक क्षण रह कर (वह पुनः) प्रबुद्ध हो जाता है ॥ ३२५ ॥

प्लुत के द्वारा तालु के भेदित होने पर मान्त्र विन्दु रूपी कला की व्याप्ति के विमर्श के साथ भ्रूमध्य में उक्त काल तक ठहरने वाले तथा प्रशान्तमनोवृत्ति वाले (योगी) की सुषुप्तावस्था का प्रारम्भ होता है । एक क्षण में वह जाग उठता है अर्थात् साधारण लौकिक पुरुष की तरह वह तमोगुण के आवरण से अभिभूत नहीं होता । वही कहा गया—

'उससे भिन्न स्थिति में वह चिन्मय हो जाता है' ॥ ३२५ ॥ (स्प०का० २।२२)

मूर्धद्वारं समाश्रित्य निष्कलं ध्यानमारभेत् ।
एवमभ्यसतस्तस्य प्रत्ययस्तु तदा भवेत् ॥ ३२६ ॥
पिपीलकण्टकावेधो मूर्ध्वद्वारं विभिन्दतः ।

निष्कलमिति वर्णज्योतिर्ध्वनिव्याप्त्युल्लङ्घनात् स्पर्शनानुभवरूपम्, पिपीलकण्टकावेध इति सञ्चरत्पिपीलस्पर्शतुल्यकण्टकस्पर्शतुल्यश्च स्पर्श इत्यर्थः ॥ ३२६ ॥

किं च—

भित्त्वा क्रमेण सर्वाणि उन्मन्यन्तानि यानि तु ॥ ३२७ ॥
पूर्वोक्तलक्षणैर्देवि............

लक्षणैरिति प्रणवाधिकारोक्तैरनुभवैर्युज्यते इति शेषः । तावदन्तात्र तुर्यदशा ॥

अथैतत्सर्वम्—

........त्यक्त्वा स्वच्छन्दतां व्रजेत् ।

गाढगाढोन्मनापदविश्रान्तिपदप्रकर्षात् तुर्यातीतदशालाभात् चिदानन्दघनपरभैरवसमावेशमनुभवति योगीन्द्र इत्यर्थः ॥

वहाँ भी—

इसके बाद (योगी को) मूर्धाद्वार का आश्रयण कर निष्कल ध्यान का प्रारम्भ करना चाहिये । इस प्रकार अभ्यास करने वाले उस योगी को मूर्धाद्वार का भेदन करने के समय (मूर्धा में) चींटी के चलने या काँटा के धँसने का अनुभव होता है ॥ ३२६-३२७- ॥

निष्कल = वर्ण ज्योति ध्वनि की व्याप्ति का उल्लंघन कर (= उससे भिन्न) स्पर्श का अनुभव । पिपीलकण्ठकावेध = चलती हुई चींटी के स्पर्श अथवा काँटा के लगने के समान स्पर्श होता है ॥ ३२६ ॥

और भी—

हे देवि ! उन्मनापर्यन्त सब का क्रम से भेदन कर योगी पूर्वोक्त लक्षणों से (युक्त हो जाता है) ॥ -३२७-३२८- ॥

लक्षणों से = प्रणवाधिकार में वर्णित अनुभवों से । वहाँ तक पहुँचते-पहुँचते इसकी तुरीय दशा हो जाती है ॥

इसके बाद इन सब का—

त्याग कर (वह) स्वच्छन्दभैरव हो जाता है ॥ -३२८- ॥

गाढ़-गाढ़ (= अत्यन्त गम्भीर) उन्मना पद में विश्रान्ति के उत्कर्ष से उसको तुर्यातीत दशा का लाभ होता है । फलस्वरूप वह योगीन्द्र चिदानन्दघन परभैरव-

न केवलं देहोत्तीर्ण एव पदेऽस्य परसमावेशो घटते, यावत्—

जायते उन्मनस्त्वं हि देहेनानेन साधके ॥ ३२८ ॥

देहावस्थायां व्युत्थानेऽपि साधकस्य समावेशप्रकर्षात्तदानन्दरससंस्काराद् घूर्णमाणतैव भवतीत्यर्थः ॥ ३२८ ॥

किं चायं स्वातन्त्र्यशक्त्युन्मेषात्—

संक्रामेत् परदेहेषु क्षुत्तृष्णाभ्यां न बाध्यते ।
अतीतानागतं चैव त्रैलोक्ये यत् प्रवर्तते ॥ ३२९ ॥
प्रत्यक्षं तद् भवेत्तस्य सर्वज्ञत्वं च जायते ।

यच्च प्रवर्तते इति यदपि वर्तमानं किञ्चिदस्ति, तदस्य सर्वं प्रत्यक्षीभवति । सर्वज्ञत्वम् इति क्रमेणाभ्यासप्रकर्षान्मन्त्रमन्त्रेशादितुल्यो भवतीत्यर्थः ॥ ३२९ ॥

पाटलिकं प्रमेयमुपसंहरन् पटलान्तरेण सङ्गतिं दर्शयति—

प्रसङ्गेऽध्यात्मकालस्य ज्ञानं विज्ञानमेव च ॥ ३३० ॥
सर्वमेतत् समाख्यातमंशकांश्च निबोध मे ।

समावेश का अनुभव करता है ॥

इसका परसमावेश केवल देहोत्तीर्ण पद में ही घटित नहीं होता बल्कि—

इसी देह से साधक के अन्दर उन्मनस् भाव पैदा हो जाता है ॥-३२८॥

देहावस्था में व्युत्थान होने पर भी साधक के अन्दर समावेश के प्रकर्ष उसके आनन्दरस के संस्कार के कारण घूर्णमानता हो जाती है ॥ ३२८ ॥

इसके अतिरिक्त यह स्वातन्त्र्यशक्ति के उन्मेष से—

पर काया में प्रवेश कर सकता है । भूख और प्यास इसे त्रस्त नहीं करते । जो अतीत और अनागत (घटनायें हैं) तथा तीनों लोक में जो घटित हो रहा होता है वह योगी को प्रत्यक्ष दिखायी देता है और वह सर्वज्ञ हो जाता है ॥ ३२९-३३०- ॥

और जो प्रवर्त्तित होता है = जो कुछ वर्त्तमान में है; वह सब इसको प्रत्यक्ष होता है । सर्वज्ञता—क्रमिक अभ्यास के प्रकर्ष से यह मन्त्र मन्त्रेश्वर आदि के तुल्य हो जाता है ॥ ३२९ ॥

सप्तम पटल के प्रमेय का उपसंहार करते हुए इसकी आगे के पटल से सङ्गति दर्शाते हैं—

सप्तम पटल में अध्यात्मकाल का ज्ञान और विज्ञान यह सब बतला दिया गया अब मुझसे अंशकों को जानो ॥ -३३०-३३१- ॥

अध्यात्मकालकथनप्रसङ्गेन तत्त्ववृत्त्या ज्ञानं मृत्युजययोगिजागरावस्थाद्यात्मकवेधादिरूपं च विज्ञानमेतदुक्तमनुक्तमप्यनुजिघृक्षावेशात्, अतः—

'कालांशकं च देवेश कथयस्व प्रसादतः' (७।१)

इति यत् प्रश्नितम्, ततः कालस्वरूपं कथितं प्रसङ्गाज्ज्ञानं विज्ञानं चाप्यादिष्टम् । अंशकस्वरूपं तु निर्णेतुमवशिष्टम् । अतोंऽशकान् भाविपटलेन निर्णेष्यमाणन्निबोध जानीहीति पाटलिकी सङ्गतिरिति शिवम् ॥ ३३० ॥

'संवित्स्फारव्याप्त्या विश्वं प्राणान्तःस्थं सम्यग्ज्ञात्वा ।
तास्ताः सिद्धीरंशज्ञप्त्या पूर्णास्थितिं यायात् ॥'

॥ इति श्रीस्वच्छन्दतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचितोद्द्योताख्यव्याख्योपेते कालाधिकारः नाम सप्तमः पटलः ॥ ७ ॥

अध्यात्मकाल के कथन के प्रसङ्ग से तत्त्ववृत्ति के द्वारा ज्ञान और मृत्युञ्जयी योगी की जागरणादि वाले वेद्य आदि रूपी विज्ञान बतला दिया गया साथ ही अनुग्रह के आवेश के कारण अनुक्त भी कहा गया । इसलिये—

'हे देवेश प्रसन्नता से कालांशक को बतलाइये ।' (७।१)

ऐसा जो प्रश्न किया गया—इस कारण काल का स्वरूप बतलाया गया । प्रसङ्गात् ज्ञान और विज्ञान का भी निर्वचन किया गया । अंशक का स्वरूप बतलाना अवशिष्ट है इसलिये आगे के पटल में उसका वर्णन करने वाले अब मुझसे उसको जानो—यह पाटलिकी सङ्गति (= इस पटल का आगे के पटल से सम्बन्ध) है ॥ ३३० ॥

'संवित्स्फार की व्याप्ति के द्वारा प्राण के भीतर स्थित विश्व को भली-भाँति जान कर उन-उन सिद्धियों को तथा अंश के ज्ञान से पूर्ण स्थिति को प्राप्त करना चाहिये ॥'

॥ इस प्रकार स्वच्छन्दतन्त्र के सप्तम पटल 'कालाधिकार' की श्रीक्षेमराजविरचित स्वच्छन्दोद्योत नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' नामक हिन्दी टीका पूर्ण हुई ॥ ७ ॥

तदित्थं शक्तित्रयात्मशिवावेशज्ञस्य गुरोः-

तत्त्वस्योच्चारणं भवेत् ।।३५९।।

तत्त्वं वीर्यसारो मन्त्रः ।।३५९।।

अत्रैव भरं दर्शयितुमपि अर्थलब्धं व्यतिरेकमाह-

क्रियाकरणहीनस्य न चैवोच्चारणं भवेत् ।

करणभेदेन क्रियाभेदं सम्यक् मन्त्रोच्चारसिद्ध्यर्थं दर्शयितुमुपक्रमते-

क्रिया करणभेदेन सा चैव त्रिविधा स्मृता ।।३६०।।

तत्र-

एकेनोच्चारयेत्तत्त्वं करणेन विचक्षणः ।

ऊर्ध्वरेचकेन-

नाडीश्चाथ द्वितीयेन द्वाराणि च निरोधयेत् ।।३६१।।

यह ज्ञान, इच्छा ज्ञान और क्रिया शक्तियों का वरदान माना जाता है । ये तीनों शक्तियाँ मन्त्र, मुद्रा और भाव में भी अधिष्ठित रहती हैं । गुरु इन सभी उन्मेषों, सन्निवेशों का परम ज्ञानवान् होता है । उसे मन्त्रोच्चार में सभी प्रकार के स्फुरणों का पूर्ण ज्ञान होता रहता है । इन्हीं अर्थों में यह कहा जा सकता है कि, सार रहस्य का विज्ञ और प्रामाणिक पुरुष वही होता है ।।३५९।।

व्यतिरेक दृष्टि से इसी तथ्य का जोरदार समर्थन कर रहे हैं । क्रिया और करण से हीन अर्थात् रहित होने पर यह निश्चय है कि, मन्त्रोच्चार असम्भव ही हो जाता है । यह भी ध्यान देने की बात है कि, क्रिया भेदक त्रैविध्य करण भेद से ही सम्भव है । क्रिया भेद से मन्त्रोच्चार में सौकर्य होता है । इससे मन्त्रसिद्धि में सहायता मिलती है ।।३६०।।

यह कहा गया है कि, करण के द्वारा भेद उत्पन्न होने से क्रिया तीन प्रकार की हो जाती है । यहाँ समझने की बात यह है कि, यह सारा प्रकरण मन्त्रोच्चार का है । साधक मन्त्रोच्चार में जब भी प्रवृत्त होता है, उसके सामने कैसी समस्यायें हैं, किस प्रकार की स्थितियाँ वहाँ उत्पन्न होती हैं । इसी विषय पर यह पूरा शास्त्रीय ऊहापोह प्रस्तुत किया गया है ।

करणों से किसी प्रकार का व्यापार प्रभावित होता है । भगवान् कह रहे हैं कि, विचक्षण साधक मन्त्र का उच्चार ऊर्ध्व रेचन के साथ करे । जैसे भैरव का निष्कल मन्त्र वह साँस के बाहर जाने के समय जपे । श्वास का बाहर निकलना ऊर्ध्व रेचक में होता है । यहाँ साधक सावधान बन कर मन्त्र साथ साथ बाहर ले जाय ।

कुम्भकेन–

तृतीयं करणं दिव्यं कृत्वा वै तत्त्वमुच्चरेत् ।

तत्त्वं निष्कलं तेन कुम्भकेन द्वाराणि निरोध्य दिव्यं करणं बद्ध्वा ऊर्ध्वरेचकेन मन्त्रमुच्चारयेद् इत्ययमत्र क्रमः ।

तमेव स्फुटयितुमुपक्रमते–

पूरकं कुम्भकं कृत्वा सर्वद्वाराणि रोधयेत् ।।३६२।।

कुम्भकावसर एव ।।३६२।।

तानि–

गुदद्वारेण रुद्धेन रुद्धान्यत्र भवन्ति हि ।

रोधश्चास्य संकोचविकासाभ्यामावेशवशेन कार्यः ।

यही उसकी विचक्षणता मानी जाती है । ऊर्ध्व रेचन से मन्त्र श्वास प्रवाह के साथ चिति केन्द्र (आमावस्य केन्द्र) या मध्य द्वादशान्त बिन्दु में प्रवेश कर जाता है । चिति केन्द्र शैवधाम है । ऊर्ध्व रेचक रूप पहले करण से क्रिया भेद हो गया । साधक का मन्त्र शैव समुद्ररूपी जीवन केन्द्र में समा गया है । इस अवस्था में भी साधक साक्षी भाव से वहाँ है और सावधान होकर क्रियावान् बना हुआ है ।

साधक अब दूसरा करण अपनाता है । वह उसी दशा में बाह्य कुम्भक से श्वास को कुछ क्षणों तक अर्थात् बिना भार पड़े स्वाभाविक रूप से जब तक रोक पाता है, तब तक उसी अवस्था में मन्त्रोच्चार करता रहता है । यह भी व्यापार भेद रूपी क्रिया भेद ही है । इसमें साधक श्वास के भीतर आने के द्वार को रोक देता है । उस बाह्य कुम्भक स्थिति में सारा नाडी चक्र स्वभावतः एक तरह से निरुद्ध हो जाता है । फिर भी यहाँ साधक को आदेशमय विधि का निर्देश दे रहे हैं कि, 'नाडीश्च' निरोधयेत् । इस अवस्था को शैवसाधकैक्य दशा कह सकते हैं । यही दिव्यभाव दशा है । बाह्य कुम्भक और ऊर्ध्व रेचन दोनों इस समय एक हो गये होते हैं । इस तथ्य को उपसंहृत करते हुए भगवान् कह रहे हैं कि, पूरक रूप बाह्य कुम्भक में सभी द्वार साधक द्वारा निरुद्ध कर लिये जाँय ।।३६२।।

निरोध करने का आदेश तो अभी भगवान् ने दिया था पर विधि नहीं बतायी गयी थी । यहाँ भगवान् साधक को विधि में उतार रहे हैं । वे कहते हैं कि, मूलाधार चक्र के आश्रय स्थान को गुदा कहते हैं । इसी गुदा द्वार को अवरुद्ध करने से सारे द्वार अपने आप रुद्ध हो जाते हैं । इस विषय को आचार्य क्षेमराज ने थोड़ा और स्पष्ट किया है, उसी में बहुत कुछ बचा गये हैं ।

एवं कृत्वा–

द्वारमेकं ततश्चोर्ध्वे प्रवहत्तद्विचिन्तयेत् ।।३६३।।

मध्यनाडिरूपं विचिन्तयेत्, न तु सम्प्रत्येव वाहयेत् ॥३६३॥

तथा सति हि–

नाडयो ग्रन्थिपद्माश्च येऽधोमुखगताः प्रिये ।
ते कुम्भकेन संरुद्धा विकसन्ति समन्ततः ।।३६४।।

प्राणशक्तिकौटिल्यधामानि हृदयादीनि ग्रन्थयः । संकोचविकासधर्मत्वात् पद्मानि तानि चापानशक्तिप्रवाहवशादधोमुखानि विकसन्तीत्यूर्ध्ववाहोन्मुखीभवन्ति ॥३६४॥

इत्थं कुम्भकादनन्तरम्–

करणं तु ततः कृत्वा

अत्र च 'तत्त्वस्योच्चारणं कुरु' इति दूरेण संगतिः । मध्ये तु करणलक्षणम् । तदाह–

लक्षणं तस्य वै शृणु ।
जिह्वा तु तालुके योज्या किञ्चिदूर्ध्वं न संस्पृशेत् ।।३६५।।

मन्त्रोच्चार के आवेश में ही गुदा संकोचन और विकोचन किया जाता है । जैसे गाय, भैंस, घोड़ी आदि जानवर गोबर करने के बाद या मूत्रोत्सर्ग करने के बाद भी गुदा का संकोच विकोच करती हैं । घोड़ी को ही अश्विनी कहते हैं । इसीलिये संकोचन और विकोचन की इस क्रिया को अश्विनी मुद्रा कहते हैं । इस मुद्रा के समय एक एकाक्षर बीज का प्रयोग भी करना होता है, जिससे यह क्रिया शीघ्र ही सिद्ध हो जाती है । इस तरह इस विधि के द्वारा सर्वद्वार संकोच कर लिया जाता है ।

ऐसा करने पर सावधान साधक का सर्वप्रथम मध्य नाड़ी अर्थात् सुषुम्ना के श्वास द्वार से श्वास प्रवाहमान होगा, यह चिन्तन कर पूर्ण बाह्य कुम्भक की स्थिति पर भी सजग भाव से तैयार रहे कि, वहाँ कुम्भक द्वार एकाएक खुल न जाय ।

इस सजग चिन्तन और कुम्भक के दबाव का सुपरिणाम यह होता है कि, शरीर गत मुख्य नाडियाँ और सारे चक्र पद्म जो कुम्भक के पहले एक प्रकार से अधोमुख पड़े हुए थे, वे कुम्भक के महाप्रभाव से अपनी निरुद्धता का परित्याग कर देते हैं । उनमें एक नयी चेतना आ जाती है और वे पूरी तरह विकसित होने के लिये सुस्पन्दमान हो उठते हैं ॥३६४॥

कुम्भक की इस अवस्थ में तत्त्व रूप मन्त्रोच्चार करना चाहिये । इसके क्या लक्षण हैं, भगवान् ने इस विषय का एक शब्दचित्र ही प्रस्तुत कर दिया है । उनके अनुसार १– जीभ को उलट कर तालु से जोड़ने की क्रिया करनी चाहिये ।

ईषत्प्रसार्य वक्त्रं तु किञ्चिदोष्ठौ न संस्पृशेत् ।
दन्तपङ्क्ती तथैवेह दृष्टिश्चाधोर्ध्ववर्जिता ।।३६६।।
कायं समुन्नतं कृत्वा करणं दिव्यमुच्यते ।

अत्र जिह्वायास्तालुयोजने कुञ्चितत्वमर्थलब्धं किञ्चिदोष्ठौ नेति न किञ्चिदपि स्पृशेदिति योज्यम्, तथैवेति प्रसार्य न संस्पृशेदित्यर्थः । दृष्टेरध ऊर्ध्वं वर्जनं निश्चलतार-कत्वेन विकल्पहानये समुन्नतमिति सम्यगविकृततयोन्नतं दिवि परसंविल्लाभे उपायतया भवं दिव्यम् ।

तदित्थम्-

दिव्यं च करणं कृत्वा तत्त्वस्योच्चारणं कुरु ।।३६७।।

चकारात् कुम्भकमूर्ध्वरेचकं च तत्त्वं मूलमन्त्रः ॥३६७॥

अत्र दिव्यकरणावसरे ऊर्ध्वरेचकमपि कुर्वीतेत्याह-

कुम्भितश्चैव यः प्राणो रेचयेत्तं शनैः शनैः ।

२- ऊपरी स्पर्श नहीं होना चाहिये । ३- मुँह कुछ कुछ खुला रखना चाहिये, जिससे ओठों का परस्पर स्पर्श न हो सके । ४- दन्त पक्तियों का भी पारस्परिक स्पर्श न रहे । ५- दृष्टि न तो ऊपर और न ही नीचे रहे, वरन् सीध में रहे । बज्रासन पर विराजमान साधक अपने शरीर को समुन्नत भाव में अनुशासित रखे । इस अवस्था को दिव्यकरण कहते हैं । यह परसंवित् रूप दिव्य तत्त्व को उपलब्ध कराता है । अतः दिव्यकरण कहलाता है । इसी दिव्यकरण की अवस्था में मन्त्र का उच्चारण करते हैं किन्तु कुम्भक दशा में मन्त्रोच्चार 'जपः प्राणसमः कार्यः' के निर्देश के अनुसार<मन्त्र का प्रयोग>करने का विधान है ॥३६५-३६७॥

दिव्य करण भाव के पूर्ण हो जाने पर शरीर सोमतत्त्व की माँग स्वाभाविक रूप से करता है । उसी माँग के अनुसार कुम्भक से रेचन करते हैं । यह अत्यन्त धीरे धीरे करना पड़ता है । धीमी गति से रेचन की इस क्रिया में ही तिथियों की गणना की जाती है । उसकी क्रिया इस प्रकार सम्पन्न होती है—

श्लोक में हृदय नाभि आदि केन्द्रों को हीं ग्रन्थि कहा गया है । इनमें भी संकोच और विकोच होता रहता है । इसीलिये इन्हें पद्म भी कहते हैं । मूलाधार चतुर्दल, स्वाधिष्ठान षड्दल मणिपुर दश दल, अनाहत द्वादशदल, विशुद्ध षोडशदल और आज्ञा द्विदल होते हैं । इसी तरह सहस्रार सहस्रदल कमल ही है । ये सभी पद्म हैं । ये ग्रन्थि भी कहलाते हैं । अपान रूपी सोम तत्त्व की प्रधानता से संकोच और प्राण सूर्य के प्रकाश से ये उन्मेष भाव को प्राप्त करते हैं और ऊर्ध्वस्रोत हो जाते हैं ।

ऊर्ध्वमित्यर्थात् ।

तथा सति हि-

नाडयो ग्रन्थिपद्माश्च देहे याः संव्यवस्थिताः ।।३६८।।

रेचकेन समाक्षिप्ता ऊर्ध्वस्त्रोतो भवन्ति ते ।

मध्यवाहरूपतां यान्तीत्यर्थः । अत्र च रोमाञ्चोद्गमोऽभिज्ञानम् ।

एवं करणत्रयबन्धावहितः-

ततो वै ज्ञानशूलेन ग्रन्थीन्भिन्दन् समुच्चरेत् ।।३६९।।

ज्ञानशूलं पूर्वं निर्णीतं ग्रन्थीनां भेदो हृदयादिपदेषु प्राणशक्तेः स्पष्टीभावेन तत्तदनुभवलाभः सम्यगविकल्पमुच्चरेत् स्वयमेवमूर्ध्वं प्रसरेत् ॥३६९॥

अब साधक कुम्भक के द्वार खोलने के लिये तैयार होता है । एक ब एक नहीं खोलता । वह सावधान होकर श्वास के अङ्कुरण को देखता है । यह ध्यान देने की बात है कि, श्वास के उन्मिषद्भावकी वह तुटि शाक्त उल्लास की सृष्टिसन्धि का क्षण होता है । पहले कुम्भक में श्वास शैव भाव में समाहित था । अव मात्र शाक्त भाव की सृष्टि के लिये उन्मिषित हो गया है । यह क्षण शैवशाक्त भाव की सन्धि का क्षण होता है । सन्धि आधी तुटि की होती है । श्वास अब शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा की ओर चला । प्रतिपद् बिन्दु पर रुका और वहाँ से द्वितीया तृतीया चतुर्थी आदि क्रम से नाभिकेन्द्र रूप पूर्णिमा तिथि में प्रवेश कर जाता है । यह शुक्ल पक्ष की पन्द्रह तिथियों का एक पक्ष का समय होता है ॥३६८॥

इस तथ्य के अन्य कई प्रकार हैं । ग्रन्थि भेदन के इस व्यापार की विभिन्न स्थितियों का चित्रण यहाँ कर रहे हैं—

१. रेचक से समाक्षिप्त होने के कारण ये मध्यवाह की ओर चल पड़ते हैं । यही इनकी ऊर्ध्वस्त्रोतस्कता कहलाती है, इस अवस्था में रोमाञ्च की अनुभूति होती है ।

२. इसके साथ ही ज्ञान शूल से ग्रन्थियों का भेदन करना चाहिये । प्राण का प्रवाह चूँकि ऊर्ध्व की ओर होता है । इसलिये इस उच्चार क्रम में अविकल्प भाव की अनुभूति के साथ ही साथ निष्कल मन्त्र का उच्चार भी उस समय करते रहना चाहिये । ऊर्ध्व प्रसार की यह क्रिया स्वाभाविक रूप से ऊर्ध्वप्रसार प्राप्त करती है ॥३६९॥

मन्त्र इति अर्थादत्र भेदेन घटमानस्य योगिनो भावप्राप्तिवशादिति यः पूर्वं हेतुरुक्तः, तन्निर्णयानुभवभेदान्निरूपयति–

भित्त्वा हृत्पद्मग्रन्थिं तु ततः शब्दः प्रजायते ।

यदाकाशसमायोगात्

सम्यगासमन्ताद्योगाद् मन्त्राद्यकलोच्चारैकाग्रतारूपात् । शब्द इति उपांशुरूपतयान्तरकारादिकलात्मा स्फुटं श्रूयमाणः ।

स च–

घोषशब्दोपमो भवेत् ।।३७०।।

'श्रवणाङ्गुलिसंयोगाद्यः शब्दः सम्प्रवर्तते ।

दीप्तवह्निस्वनाभोगः स नादो घोष उच्यते ॥'

इति लक्षितो घोषो दीप्ताग्नेः यो धकधकाकृतिशब्दतुल्याकारश्रुतिरुच्चरतीत्यर्थः ॥३७०॥

कण्ठस्थो विरमेच्छब्दः कण्ठं प्राप्य वरानने ।

मन्त्रो विमर्शः कण्ठं प्राप्य यदा तत्स्थो भवति, तदा घोषः शाम्येदित्यर्थः ।

तत्र तु–

भिन्दतः कण्ठदेशं तु शब्दो धुगधुगायते ।।३७१।।

तद्रूपाकार उच्चरतीत्यर्थः ॥३७१॥

---

३. हृदय ग्रन्थि का जिस समय भेदन होता है, उस समय आन्तर अकारादि कला का स्फुट शब्द सुन पड़ता है । उस समय आन्तर अवकाश रूप आकाश का सम्यक् रूप से योग स्वतः हो जाता है । वह शब्द घोष के समान होता है । इस सम्बन्ध में यह उक्ति ध्यातव्य है । उद्धरण कहता है कि, "कान में अङ्गुलि डाल देने पर जैसा शब्द सुनायी देता है, वह एक विचित्र रव होता है । आग के जलने पर अङ्गारों की धधक की ध्वनि भी उसी तरह की होती है । यही ध्वनि घोष कहलाती है ।"

इसी घोष की ध्वनि के समान घोष हृदयग्रन्थि भेदन के समय होता है ॥३७०॥

वहाँ मन्त्रोच्चार का विमर्श ऊर्ध्व की ओर ही प्रसरित होता है । जब वह कण्ठ में पहुँचता तो वहाँ कुछ विराम स्वाभाविक रूप से घटित होता है । उस समय वह घोष प्रशमित हो जाता है ।

४. अब कण्ठ ग्रन्थि के भेदन का समय आता है । उस समय इसमें धुक् धुक् की ध्वनि विनिःसृत होती है ॥३७१॥

अत ऊर्ध्वम्–

तालुमध्यगतः प्राणो यदा भवति सुव्रते ।

भिन्दतस्तालुग्रन्थिं तु शब्दो घुमघुमायते ।।३७२।।

शोभनं व्रतं मध्यधामनिभालननियमरूपं यस्याः सा सुव्रता तत्संबोधनम्, घुमघुमायते इति तदनुकृतिर्मकारकलोच्चरतीत्यर्थः ॥३७२॥

तदत्र ग्रन्थित्रयभेदेन–

एवं तेऽनुभवाः प्रोक्ताः प्राणे चरति सुव्रते ।

प्रोक्तशब्दविषयाः–

त्रयस्तेऽष्टकलाः प्रोक्ता उपर्युपरितः क्रमात् ।।३७३।।

इह एकादशे पटले–

'अष्टधा तु स देवेशि व्यक्तः शब्दः [१]प्रकीर्तितः ।

घोषो रावः स्वनः शब्दः स्फोटाख्यो ध्वनिरेव च ॥

झंकारो ध्वंकृतश्चैव अष्टौ शब्दाः प्रकीर्तिताः ॥' (स्व. ११-७)

---

५. जब प्राण तालु मध्य में पहुँचता है और तालुग्रन्थि का भेदन प्रारम्भ होता है । उससे घुम घुमाहट की आवाज होती है ।

श्लोक में 'सुव्रते !' सम्बोधन भी महत्त्वपूर्ण है । अवसर के अनुरूप ही इसका प्रयोग किया गया है । व्रत में अच्छी तरह स्थित रहना प्रत्येक साधक का कर्त्तव्य है । शक्ति रूपा परा देवी भी मध्य धाम के निभालन में एकनिष्ठ भाव से संलग्न रहती हैं । उनको सुनाते हुए भगवान् कह रहे हैं कि, तालु ग्रन्थि का भेदन करते समय धुम् धुम् ध्वनि की तरह अन्त में मकार की कला के समान श्रुति सुनाई पड़ती है ॥३७२॥

भगवान् पुनः उसी सम्बोधन का प्रयोग करते हुए कह रहे हैं कि, तीनों ग्रन्थियों के भेदन समय की इन अनुभूतियों पर ध्यान देते हुए अपनी प्रक्रिया पूरी करनी चाहिये । ये तीनों शब्द आठ प्रकार के शब्दों की कलायें मात्र हैं । इसी ग्रन्थ के ग्याहरवें पटल में ऐसे ही सन्दर्भ में एक स्थान पर भगवान् ने कहा है कि, "व्यक्त शब्द आठ प्रकार से प्रोक्त हैं । वे इस प्रकार हैं—१. घोष, २. राव,

---

१. ख.पु. शब्दप्रभेदत इति पाठः ।

इत्युक्त्या व्यक्तस्य शब्दस्याष्टविधत्वं वक्ष्यति । अकारोकारमकाराश्च त्रयो व्यक्ता इति तदुच्चारस्थानेषु ग्रन्थिभेदानुभवविषयाणां शब्दानां घोषाद्यष्टकलत्वम्, यत्तु घोषोपम इत्युक्तं तन्न घोषैकरूपत्वम्, अपि तु घोषसमानत्वमिति, तत्रापि रावादिशब्दाः[1] सन्त्येव ॥३७३॥

तदित्थम्–

तिष्ठेत्स यत्र वै प्राण आत्मा तद्गतिमाप्नुयात् ।

प्राणाश्रया संवित् तद्द्वारेणैव तत्तत्स्थानमाप्नोति ।

तत्र–

तत्तद्रूपं भवेत्तस्य स्थानभावानुरूपतः ।।३७४।।

स्थाने हृदादौ भावस्तत्तत्कारणान्तर्भावः ।

एवं हृत्कण्ठतालुषु ब्रह्मविष्णुरुद्राधिष्ठितेषु सृष्टिस्थितिसंहाररूपतां प्राणावस्थितिक्रमेणात्मा भजते–

---

३. शब्द, ४. स्वन, ५. स्फोट, ६. ध्वनि, ७. झङ्कार और ८. ध्वङ्कार ।" ॐकार में अकार, उकार और मकार ध्वनियों का समावेश भी वर्ण ध्वनि रूप ही माना जाता है । इन तीन वर्णों के अधिष्ठाता जिन ग्रन्थियों में अधिष्ठित हैं, उनके भेदन के ध्वनि भेदों की अष्टकलांशरूपता स्वतः व्यक्त हो जाती है । ध्वनि की एक रूपता के समान वाची घोषोपम (श्लोक ३७०) शब्द से व्यक्त करना एक तरह का प्रचलित प्रयोग ही है ॥३७३॥

यह कहा गया है कि, 'प्राक् संवित् प्राणे परिणता' अर्थात् संवित् को इसी आधार पर प्राणाश्रया मानते हैं । श्लोक में 'संवित्' के लिये आत्मा शब्द का प्रयोग किया गया है । प्राण जहाँ पहुँचता है, ग्रन्थिभेदन से जिन बिन्दुओं पर पहुँचता है, संवित् की गतिशीलता से प्रभावित हो जाता है । उसकी स्थान रूपता और भाव रूपता में यह अन्तर अनुभूति का विषय है । ग्रन्थि भेदन की प्रक्रिया में यह स्वाभाविक रूप से योगियों द्वारा अनुभूत किया जाता है ॥३७४॥

हृदय, कण्ठ और तालु के अधिष्ठाता देव ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र ही हैं । इनका प्रभाव क्षेत्र क्रमिक रूप से सृष्टि, स्थिति और संहार ही है । प्राण की अवस्थिति के क्रम से संवित् पर भी उसी प्रकार का भाव संभावित है । इसी क्रम में जब प्राण भ्रूमध्य का भेदन करता है, तो वहाँ 'स्फोट' रूप ध्वनि उत्पन्न होती है । स्फोट शब्द स्फुरता को व्यक्त करता है । वस्तुतः ध्वनन तो उस समय अनभिव्यक्त है फिर भी वर्णरूपता स्फुट है । इसलिये अशब्द कला वर्णरूपता के भाव को ही स्फोट कह सकते हैं ।

---

१. ग.पु. शक्तय इति पाठः ।

भ्रुवोर्मध्यं यदा गच्छेत्स्फोटशब्दस्तु जायते ।

अनभिव्यक्तवर्णरूपस्फुटत्वा[1]दशब्दकल्पः स्फोटः ।

एष च–

बिन्दुं भेदयतो देवि शब्दो धुमधुमायते ।।३७५।।

बिन्दुमिति बिन्दुग्रन्थिं भिन्दतो बिन्दुकलाख्य एव मन्त्रावयवबोधो धुमधुमानुकृति[2]रुच्चरति बिन्दुग्रन्थिभेदश्चायमपवर्गपदाधिरोहे प्रथमसोपानकल्प इत्यत्र भरः कर्तव्यो योगिभिः [3]तद्भेदे हि उल्लङ्घित एव भेदमयः संसारः ॥३७५॥

अन्यथा तु–

कपिर्वै नारिकीलेन आचार्यः सह बिन्दुना ।
अभिन्नेन कुतो मोक्षं सबाह्याभ्यन्तरं प्रिये ।।३७६।।

भजते इति वाक्यशेषः । दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावोऽत्रार्थलभ्यः, तेन यथा कपिर्नारिकेलेनाभिन्नेन कुतो मोक्षं भजते न भजते नारिकीलं[4] रसास्वादायाभङ्क्त्वा न मुञ्चति, तथैवाचार्यो बिन्दुग्रन्थिना अभिन्नेन सहेति साकं दीक्ष्येण शिष्येणेत्यर्थात् कुतः सबाह्या-

---

अकार, उकार और मकार को भेदन करने के बाद अब बिन्दु भेदन के विषय में विचार कर रहे हैं । भगवान् कहते हैं कि, देवि जिस समय बिन्दु का वेध होता है, उस समय धुम् धुम् की ध्वनि का आभास होता है । उस स्थिति में बिन्दु कलानुरूप ही मन्त्रावयवों का बोध होता है । उसी समय धुङ्कार रूप ध्वनि का आभास होता है । यह भेदन बड़ा महत्त्वपूर्ण माना जाता है । अपवर्ग की यात्रा का यह प्रथम साफल्य है । इसलिये योग युक्त साधकों को इस दिशा में विशेष रूप से बल प्रदान करना चाहिये । इससे भेदमय संसार को एक तरह से योगी अतिक्रान्त कर जाता है ॥३७५॥

दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक भाव के साथ वहाँ इसी बिन्दु भेद का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वती ! नारियल का फल पेड़ पर है । कपि फल समझ उसे तोड़ लेता है किन्तु उसके ऊपर के छिद्र को खोले बिना उसके रस का आस्वाद उसे नहीं मिल पाता । इसी प्रकार की प्रक्रिया आचार्य के लिये भी निर्धारित है । आचार्य ने बिन्दु का वेध ज्यों ही किया उसे चिद्रस की तत्काल उपलब्धि हो जाती है । चिद्रस के अभाव में मोक्ष कहाँ ?

---

१. ख.पु. स्फुटद्वंशशब्देति पाठः । २. क.ग. कृतिमिति पाठः ।
३. ख.पु. एतदिति पाठः । ४. ख.ग. आन्तरमास्वादायेति पाठः ।

भ्यन्तरं कृत्वा मोक्षं भजेत बाह्यात् स्थूलाद भावभूतशरीरादाभ्यन्तराच्च सूक्ष्मात् पुर्यष्टकशून्यशरीरान्न मुच्यते, बिन्दुभेदात्तु मुच्यत एवेत्यर्थः । 'कपेर्वै नारिकेलेन तथाचार्यस्य बिन्दुना' इति स्पष्टः पाठः ॥३७६॥

अतश्च–

भित्त्वा बिन्दुं ततो देवि अर्धचन्द्रं विभेदयेत् ।
भिद्यतश्चार्धचन्द्रस्य ललाटे झिमिझिमायते ।।३७७।।

अर्धचन्द्रग्रन्थिं भिन्दतस्तत्स्थान एवार्धचन्द्राख्यो मन्त्रावयवो झिमिझिमानुकारो जायत इत्यर्थः । इत्थमुत्तरत्रापि योजना कार्या ॥३७७॥

अथ–

अर्धचन्द्रं तु भित्त्वा वै भेदयेत्तु निरोधिनीम् ।
तस्यास्तु भिद्यमानायाः शब्दः सिमिसिमायते ।।३७८।।

इस बिन्दु भेद से बाह्य स्थूल शरीर के साथ पुर्यष्टक रूप सूक्ष्म शरीर का बोध होता है तब जाकर मोक्ष रूप परमानन्द रस उपलब्ध होता है । उसी तरह नारिकेल भेद में पहला बाह्य आवरण तोड़कर पुनः भीतरी मेवामय फल का आवरण तोड़ते हैं, तब नारिकेल के रस की उपलब्धि होती है । श्लोक में एक और पाठ पहली पंक्ति का मिलता है—

'कपेर्वौ नारिकेलेन तथाचार्यस्य बिन्दुना' यह पाठ छपे पाठ से अच्छा और स्पष्ट है । कपि बिना भेद किये रस से वञ्चित रह जाता है । उसी तरह आचार्य बिना बिन्दु भेद किये मोक्ष रस से वञ्चित रह जाता है ॥३७६॥

भगवान् कह रहे हैं कि, देवि बिन्दु का भेदन किये बिना दोनों एकस्तरीय सिद्ध हो जाते हैं । आचार्य जब बिन्दु भेद कर लेता है, तो वस्तुतः आचार्य सिद्ध हो जाता है । इसके भेदन के बाद अर्धचन्द्र का भेदन करना पड़ता है । भगवान् विधि के रूप में आदेश दे रहे हैं कि, अर्धचन्द्र का भेदन करें । अर्धचन्द्र के भेदन के समय ललाट से झिमझिम का शब्द सुनायी पड़ता है । यह भी एक ग्रन्थि है । इसका भेदन भी आवश्यक होता है ॥३७७॥

अर्धचन्द्र के भेदन के बाद निरोधिनी का भेदन क्रमिक रूप से आता है । इसके भेदन के समय सिम् सिम् की तरह कुछ शब्द सुनायी देने लगते हैं । इस शब्द के श्रवण से निरोधिनी वेध की प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है ॥३७८॥

बिन्द्वादौ प्राग्वत्कलाव्याप्तिमाह–

स्थानत्रयमिदं देवि पञ्चपञ्चकलान्वितम् ।

तत्र बिन्दोः–

'निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिस्तथैव च ।' (स्व. १०-१२१५)

इत्युपक्रम्य–

'एतस्य वामदिग्भागे शान्त्यतीता ।' (स्व. १०-१२१६)

इति कलापञ्चकं वक्ष्यति । एवमर्धचन्द्रस्य–

'ज्योत्स्ना ज्योत्स्नावती कान्तिः सुप्रभा विमला शिवा ।

(स्व. १०-१२१८)

इति निरोधिन्या अपि–

'रुन्धनी रोधिनी रौद्री ज्ञान[1]बोधा तमोपहा ।' (स्व.१०-१२१८)

इति कलापञ्चकं स्थानत्रयमिति वर्गीकरणमाद्यग्रन्थिभेदादेवापरग्रन्थिभेद इत्याशयात् । एवमुत्तरत्र ।

तदित्थम्–

प्राणस्य चरतस्तत्र यस्मिन्स्थाने स तिष्ठति ।।३७९।।

बिन्दु, अर्धचन्द्र और निरोधिनी ये तीन स्थान पाँच पाँच कलाओं से समन्वित माने जाते हैं। यह भगवद्वचन है। इनमें बिन्दु की कलाओं में १. निवृत्ति, २. प्रतिष्ठा, ३. विद्या, ४. शान्ता और ५. शान्त्यतीता हैं । शान्त्यतीता कला बिन्दु के वाम भाग अधिष्ठित है । यह तथ्य इसी ग्रन्थ के पटल १० के श्लोक १२१५-१२१६ में व्यक्त किया गया है ।

इसी प्रकार अर्धचन्द्र की कलाओं के रूप में १. ज्योत्स्ना, २. ज्योत्स्नावती, ३. कान्ति, ४. सुप्रभा और ५. विमला नाम की शिवा रूप कलायें परिगणित की जाती हैं। यह तथ्य पटल १० के श्लोक सं० १२१८ में उल्लिखित है ।

इसी तरह निरोधिनी की भी पाँच कलायें निर्धारित हैं। इनके नाम क्रमशः १.रुन्धनी, २.रोधिनी, ३.रौद्री, ४.जातबोधा, ५.तमोपहा हैं। पहले लिखे पटल के श्लोक १२१९ में यह बात लिखी है। इस तरह ये तीनों स्थान क्रमिक रूप से एक के बाद एक भेदित किये जाते हैं ।

---

१. ख.ग.पु. जातेति पाठः ।

तत्तद्रूपो भवेदात्मा तां तां गतिमवाप्नुयात् ।

तत्रेति तेषु त्रिषु ईश्वरतत्त्वाधिष्ठितेषु स्थानेषु चरतः प्राणस्येति चरन्तं प्राणमनादृत्य संवित्प्रधानतया प्राणभूमिकां गुणीकृत्य यस्मिन्यस्मिन् स्थाने स योग्यात्मा तिष्ठति, तत्तद्रूपतामनुभूय तत्तन्मयत्वमाप्नोतीत्यर्थः ।

अथ–

निरोधिनीं भेदयित्वा ततो नादं व्रजेद्बुधः ।।३८०।।

वंशशब्दसमः शब्दस्तत्र सूक्ष्मः प्रजायते ।

सूक्ष्मत्वं पूर्वापेक्षमीश्वरतत्त्वम् ।

ततोऽपि–

भेदयेन्नादसंस्थानं ब्रह्मरन्ध्रं सुदुर्भिदम् ।।३८१।।

इस तरह प्राणचार इस प्रक्रिया में जिस क्षेत्र से हो कर चलता है और जिस स्थान पर ठहरता है, आत्मा उन उन स्थानों पर उसी भाव से भावित होता रहता है । परिणामतः वही वही गति भी प्राप्त करता है । ये स्थान ईश्वर तत्त्वाधिष्ठित माने जाते हैं । इनमें संवितत्त्व का ही प्राधान्य होता है । प्राण एक तरह से गौण रहता है । परिणामतः स्थानानुरूपता प्राप्त करता है और उन स्थानों से तन्मयभाव से जुटता भी रहता है । इसके बाद अर्थात् निरोधिनी भेदन के बाद प्रबुद्ध साधक नाद स्थान की ओर प्रस्थान करता है । नाद भेदन के समय वंश ध्वनि का सुरीला शब्द श्रुति गोचर होता है । यह शब्द एकदम सूक्ष्म होता है ।।३७९-३८०।।

यह तन्त्र की साधना यात्रा है । साधक एक एक अधः भूमियों को पार करता हुआ अब वहाँ पहुँच गया है, जो अत्यन्त सुदुर्भिद भूमि मानी जाती है । इसे ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं । यही नाद संस्थान भी माना जाता है । नाद की यहाँ विश्रान्ति होती है । इसे नादान्त पद संज्ञा से भी विभूषित कर सकते हैं ।

ब्रह्मरन्ध्र के भेदन के समय भी एक प्रकार की ध्वनि होती है । इसको शुम् शुम् के समान मानते हैं । ब्रह्मरन्ध्र को ऊर्ध्व कवाट का छिद्र कहते हैं । अत्यन्त साव-धानी पूर्वक इसका भेदन करना चाहिये । अतिशय सजगता से ही इसका भेदन किया जाना चाहिये ।।३८१।।

भिद्यतो ब्रह्मरन्ध्रस्य शब्दः शुमशुमायते ।

नादस्य सम्यक् स्थानं विश्रान्तिर्यत्र तन्नादसंस्थानं ब्रह्मरन्ध्रं सुदुर्भिदं नादान्तपदं तदेव च ब्रह्मरन्ध्रमूर्ध्वकवाटछिद्रं सुदुर्भिदं [1]सातिशयावधानैरेव भेत्तुं शक्यम् ।

एवं नादनादान्तस्थानं सदाशिवाधिष्ठितं भित्त्वा–

शक्तिमध्यगतः प्राणो वंशनादान्तसन्निभः ।।३८२।।

शक्तिभेदस्पर्शाद्वंशनादान्ततुल्यो भवति, न तु शक्तिस्थानभेदाद्वंशनादस्य मधुरध्वनिरूपस्यान्तोऽनुरणनरूपः सूक्ष्मस्तत्तुल्यो[2] भवति ॥३८२॥

अथ–

तां वै तु भेदयेच्छक्तिं दुर्भेद्यां सर्वयोगिनाम् ।
भिद्यते च सदा शक्तिः शान्तः शुमशुमस्ततः ।।३८३।।

दुर्भेदत्वं चास्याः तदनुभवाह्लादस्य स्पृहणीयतमत्वेन त्यक्तुमशक्यत्वात् शान्त इति प्रवृत्तिस्थानकरणाभिघातादेव शब्दवृत्तिः शाम्यति, इह तु शमित्वा आनन्दस्पर्शात्मतामेतीत्यर्थः ॥३८३॥

नाद और नादान्त के ये स्थान सदा शिवाधिष्ठित माने जाते हैं । ब्रह्मरन्ध्र को नाद संस्थान की संज्ञा से विभूषित करते ही हैं । इस स्थान का भेदन किया जा चुका है । इसके बाद प्राण, शक्ति स्थान में प्रवेश करता है । शक्ति के भेद का स्पर्श जिस समय होता है । स्वयं प्राण वंश नादान्त तुल्य स्पन्दनशील हो जाता है । शक्ति का धर्म ही स्फुरण है, स्पन्द है । यह स्पन्द भी नादान्त तुल्य ही कहा जा सकता है । यहाँ वंशनादान्त तुल्य शब्द प्रयोग से यह अर्थ भी निकलने की सम्भावना हो जाती है कि, शक्ति स्थान के भेद से वंश नाद की मधुर ध्वनि रूप अनुरणन रूप ही प्राण होता है । यह अर्थ उचित नहीं है ॥३८२॥

उस शक्ति का भेदन साधक करे, यह परमेश्वर का आदेश है । यह भी दुर्भेद्य ही मानी जाती है । सभी योगी इसका भेदन नहीं कर पाते । जिस समय इसका भेदन होता है, उस समय इससे शुमशुमायित शब्द सुनायी पड़ता है । यह अत्यन्त शान्त अवस्था होती है । भेदभिन्नता की स्थिति में उस समय परमानन्दानुभूति से साधक भर जाता है । उसमे उतना आकर्षण होता है कि, शान्ति पूर्वक विश्रान्ति का भाव ही वहाँ प्रधान हो जाता है । मानो आनन्द आत्मा को अपने आक्रोश में ले लेता है । यही वहाँ का शान्त भाव है ॥३८३॥

---

१. ख.पु. चातिशयेति पाठः । २. ख.ग.पु. सूक्ष्मतुल्य इति पाठः ।

किञ्च,

शक्तिं भित्त्वा ततो देवि यच्छेषं व्यापिनी भवेत् ।
अनुभावो भवेत्तत्र स्पर्शो यद्वत्पिपीलिका ।।३८४।।

शक्तिभेदानन्तरं यन्मन्त्रावयवरूपं वस्तु शेषमिति शिष्यमाणं तद्व्यापिनी भवेत् शक्त्यन्तसर्वाध्वव्यापनाद्व्यापिन्याख्यो मन्त्रावयवः सः । 'तच्छेषे व्यापिनी भवेत्' इति तु स्पष्टः पाठः । तत्र चानुभवः प्रशान्तशब्दव्याप्तिकत्वात् स्पर्शप्रथारूपो यद्वत्पिपीलिकेति सञ्चरन्तीनां पिपीलिकानामिवेत्यर्थः । पिपीलिका इत्यत्र नांशब्दस्य लोप ऐश्वरः ॥३८४॥

अत्रापि कलाविभागमाह–

स्थानत्रयमिदं देवि पञ्चपञ्चकलान्वितम् ।

तत्र नादस्थाने श्रीसदाशिवाधिष्ठिते

'इन्धिका दीपिका चैव रोचिका मोचिका तथा ।
ऊर्ध्वगा...॥' (स्व. १०-१२२६)

इति वक्ष्यमाणाः पञ्च कलाः, शक्तितत्त्वे व्यापिनीपदे च श्रीशिवनाथाधिष्ठिते, क्रमेण–

'सूक्ष्मा चैव सुसूक्ष्मा च तथा चैवामृतामिता ।
व्यापिनी.......................................॥' (स्व. १०-१२४२)

इति पञ्च कलाः–

'व्यापिनी व्योमरूपा चानन्तानाथा त्वनाश्रिता ।' (स्व. १०-१२५२)

भगवान् कहते हैं कि, देवि ! शक्ति का भेदन करने के बाद अब ऊपर व्यापिनी ही शेष रह जाती हैं । शक्ति के अन्त में यह तत्त्व समस्त अध्वाओं को व्याप्त कर अवस्थित होने के कारण व्यापिनी कहलाता है । इसमें पहुँचने पर पिपीलिका स्पर्श रूप सूक्ष्म स्पर्शानुभूति होती है । शक्ति की शान्ति का महाप्रभाव यहाँ तक पहुँचता है । यह स्पर्श प्रधान अनुभाव का क्षेत्र होता है । पिपीलिका में सम्बन्ध कारक का बहुवचन न रहना ईश्वर वाक् होने के कारण निर्दोष प्रयोग ही माना जाता है ॥३८४॥

इस तरह १–नाद संस्थान, २–शक्ति संस्थान और ३–व्यापिनी रूप स्थानत्रय भी पाँच पाँच कलाओं से समन्वित होते हैं । नाद में सदाशिव देव का अधिष्ठान है । इसकी कलायें निम्नलिखित हैं—१. इन्धिका, २.दीपिका, ३.रोचिका, ४.मोचिका और ५.ऊर्ध्वगा । इनका वर्णन इसी ग्रन्थ के पटल १० के श्लोक १२२६ में आया हुआ है ।

इति पञ्चैताश्च सर्वाः स्वावसरे निर्वक्ष्यामः ।

यत एवं ततः-

यत्र यत्र चरेत्प्राणस्तत्तद्रूपमवाप्नुयात् ।।३८५।।

प्राणो जीवस्तत्तदनुभवं प्राप्नोतीत्यर्थः ।

तदनुभवाभ्यासप्रकर्षात् तु-

यत्र यत्रावतिष्ठेत तां तां गतिमवाप्नुयात् ।

तत्तदात्मैव भवतीत्यर्थः ।

एवं च-

'समनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तकम् ।' (स्व. ४-४३०)

इति वक्ष्यमाणमेतत्सर्वम्-

तस्माद्वै सुप्रयत्नेन भित्त्वा याति परां गतिम् ।।३८६।।

शोभनः प्रयत्नो दिव्यकरणधाराधिरोहरूपः ।।३८६।।

शक्ति और व्यापिनी में शिवाधिष्ठान शास्त्र द्वारा स्वीकृत है । इनकी कलायें भी क्रमशः इस प्रकार हैं—

१- शक्ति की कलायें—१.सूक्ष्मा, २.सुसूक्ष्मा, ३.अमृता, ४.अमिता और ५.व्यापिनी ।

२- व्यापिनी की कलायें—१.व्यापिनी, २.व्योम, ३.अनन्ता, ४.अनाथा और ५.अनाश्रिता । इन कलाओं का वर्णन भी इसी ग्रन्थ के पटल १० के श्लोक संख्या १२३९ और १२५० में आया हुआ है । यह पहले भी कहा जा चुका है कि, प्राणचार जहाँ भी होता है, जीव उसके अनुभव से अवश्य ही प्रभावित होता है ।।३८५।।

वह अर्थात् जीव जहाँ भी अवस्थित रहेगा, यह निश्चय है कि, उसी उसी अनुभवात्मक स्थिति को प्राप्त करता है । इसमें स्थान के अनुभव का प्रकर्ष ही कारण होता है । अतः उसी तादात्म्य को प्राप्त करना सरल हो जाता है । स्वच्छन्दतन्त्र के इसी पटल के श्लोक ४३० में कहा गया है कि, वरारोहे शिवे ! "समना पर्यन्त शरीर भाव में अनन्त पाश राशि का जाल बिछा हुआ है ।" अतः इन चक्रों का भेदन कर विश्वभाव को अतिक्रान्त कर लेना आवश्यक है । इस प्रक्रिया में अध्यवसाय पूर्वक लगकर वह स्थिति प्राप्त करनी चाहिये, जिससे परागति की उपलब्धि हो सके । यहाँ प्रयत्न का तात्पर्य दिव्य करण धारा के अधिरोह की उत्कर्ष प्रकर्ष प्रक्रिया को अपनाना मात्र ही है ।।३८६।।

अत्र क्रममाह–

भित्त्वा वै व्यापिनीं देवि समनायां मनस्त्यजेत् ।
मनसा तु मनस्त्यक्त्वा जीवः केवलतां व्रजेत् ।।३८७।।

मन इत्यविकल्पं चेतः । मनसेति स्पर्शपर्यन्तस्य मन्तव्यस्य क्षीणत्वाद् अविकल्पमननमात्ररूपेण चित्तेनैव[१] तादृशमेव च मन एकाग्रताप्रकर्षात् त्यक्त्वा वेद्याभासजिघृक्षासंकोचरूपं स्वं वेदनं प्रशमय्य जीव आत्मा केवलत्वमेति शुद्धो वेदितृमात्ररूपो भवतींत्यर्थः ॥३८७॥

एवं भेदनं च पदार्थानां भावप्राप्तिवशादित्युपक्रान्तं निर्वाह्य क्रमप्राप्तामात्मव्याप्तिमाह–

जीवो वै केवलस्तत्र आत्मज्ञानक्रियान्वितः ।
बन्धनाशेषनिर्मुक्तः सत्तामात्रस्वरूपकः ।।३८८।।
समस्ताध्वपदातीतः शुद्धविज्ञानकेवलः ।
गृहणाति नापरं भावं न परं च शिवात्मकम् ।।३८९।।

व्यापिनी का भेदन कर समना में अपने मन को डुबा देना चाहिये । मन से ही मन का परित्याग करने से जीव कैवल्य प्राप्त कर लेता है । यहाँ आचार्य क्षेमराज ने मन का अर्थ अविकल्प चेतस किया है । यह एक विचारणीय बिन्दु है ।

मन इन्द्रियार्थों में विचरण करता है । इन्द्रियार्थ वैकल्पिक होते हैं । रूप, रस, गन्ध और स्पर्श तक तो विकल्प भाव उच्छलित होते ही रहते हैं । इनको पार कर लेने पर अर्थात् उक्त विकल्पों के क्षीण हो जाने पर अविकल्पमय मनन योगियों के लिये सम्भव है । मन निर्विकल्प भाव भावित हो जाय और वही मन अपना परित्याग कर दे, यह एक विलक्षण निर्विकल्पात्मिका प्रकल्पना है । ऐसा योगी को करना पड़ता है । अथवा उक्त प्रकार के दिव्य करणात्मक ऊहापोहों में व्यापृत रहने पर इस प्रकार की सांस्कारिकता का उदय गुरुकृपा से भी सम्भव है ।

इस उच्च स्तर पर पहुँचने पर एक दिव्य एकाग्रता का महाभाव उत्पन्न होना योगी साधक के सौभाग्य का विषय है । वहाँ मन अपने आप विसर्जित हो जाता है । इसे ही आप मन से मन का परित्याग समझ सकते हैं ।

वेद्याभास के ग्रहण होने का भाव वहाँ संकुचित हो जाता है । स्वात्म संवेदन का प्रशमन हो जाता है । उस समय जीवात्मा केवलत्व को प्राप्त कर लेता है । शुद्ध अनुमन्ता प्रमाता भाव से भरित हो रहता है ॥३८७॥

---

१. ख.पु. चिन्तनेनेति पाठः ।

नवम परिच्छेद

योगसाधन-रहस्य

अनेक भक्तों से घिरे हुए महागुरु बैठे हैं और उपदेश दे रहे हैं। एक भक्त ने जिज्ञासा प्रकट की—"माता-पिता एवं निकट के गुरुजनों के अतिरिक्त और कौन-कौन प्रणम्य हैं ? एवं किनको प्रणाम करना उचित है तथा ऐसे कौन-कौन हैं जो प्रणाम पाने के लिए उपयुक्त हैं।"

योगिराज ने कहा—"माता-पिता श्रेष्ठ गुरु हैं वे अवश्य ही प्रणम्य हैं। इसके अतिरिक्त मनु ने कहा है—

चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणः स्त्रियाः।
स्नातकस्य च राज्ञश्च पंथा देयोवरस्य च॥

—मनु रहस्य : द्वितीय अध्याय

अर्थात् जो गाड़ी पर चढ़कर जा रहे हैं अर्थात् कूटस्थ में स्थित रहकर चल रहे हैं, जिन्होंने कंठ से दश अंगुल ऊपर उठकर प्राणवायु को स्थापित किया है; जिस के अपने चक्षुओं में प्रबल दृष्टि आ गई है, प्राण-कर्म या प्राणायाम करते-करते जिसका मस्तक भारी हो गया है; जिसके मूलाधार से मस्तक तक प्राणवायु के स्थित हो जाने से मस्तक में घूँघट खींचने जैसा बोध हो रहा है, जो कूटस्थ में हैं, सदा सर्वदा डूबे रहते हैं, जिनकी जीभ तालु में पहुँच गई है, और जो ओंकार क्रिया रूप प्राणकर्म या प्राणायाम करते रहते हैं; ऐसे सभी व्यक्ति प्रणम्य हैं। इन सबके सामने पड़ने पर रास्ता छोड़ देना उचित हैं। ऐसे व्यक्तियों के आगे नहीं बैठना चाहिए।

मनु ने इस विषय में और कहा है—

तेषास्तु समवेतानां मान्यौ स्नातकपार्थिवौ।
राजस्नातकयो रॆश्चव स्नातको नृपमानभाक्॥

—मनु रहस्य : द्वितीय अध्याय

इन सब के एकत्र होने पर इनमें जिनकी जीभ तालु में पहुँच गई है एवं जो कूटस्थ में डूबकर मग्न हैं, ये दोनों श्रेष्ठ व्यक्ति हैं। फिर इनमें जो कूटस्थ में हमेशा डूबे हैं वे श्रेष्ठ हैं। इसीलिए इन सभी व्यक्तियों के

साथ कभी वैर-विरोध नहीं करना चाहिए। उम्र में छोटे होने पर भी इस प्रकार के व्यक्तियों को यथोचित सम्मान देना चाहिए।

एक भक्त ने पूछा—"हमारे देश में महात्माओं का अभाव नहीं है। अनेक लोग महात्मा बने बैठे हैं। ऐसी स्थिति में महात्मा को पहचानने का सहज उपाय क्या है? एवं किस व्यक्ति से धर्म सम्बन्धी उपदेश प्राप्त किया जा सकता है? या कौन ऐसा व्यक्ति है जो धर्म सम्बन्धी उपदेश देने के योग्य है?

योगिराज ने कहा—"ऊपर हमने जिन व्यक्तियों की चर्चा की है उन सबको धर्मोपदेशक के रूप में समझना चाहिए। जिनकी जीभ तालु में पहुँच गई है, सहज उपाय द्वारा उन्हें ही महात्मा के रूप में पहचानना चाहिए।"

ब्राह्मस्य जन्मनः कर्त्ता स्वधमस्य च शासिता।
बालोऽपि विप्रोवृद्धस्य पिता भवति धर्मतः॥

—मनु रहस्य : द्वितीय अध्याय

आत्मधर्म ही स्वधर्म है। उस स्वधर्म के सम्बन्ध में जो उपदेश दाता एवं जो क्रिया के निमित्त अर्थात् स्वधर्म के लिए शासन करते हैं वे यदि बालक भी हों तो पिता स्वरूप समझना चाहिए। इसीलिए क्रिया के उपदेश दाता एवं शिक्षा दाता को पितृवत जानना चाहिए।

दूसरे एक भक्त ने जिज्ञासा प्रकट की—"हम सब अनेक बार अज्ञानवश पापकर्म कर बैठते हैं। जिस प्रकार रास्ता चलते-चलते अनजाने गिरकर, दबकर अनेक प्राणी मर जाते हैं। इस प्रकार अनिच्छा के वावजूद जो सब पाप होते हैं उनसे उद्धार का उपाय क्या है?

योगिराज ने कहा कि शास्त्र में मनु ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट कहा है—

"अह्ना रात्र्या एषां जन्तून् हिनस्त्यज्ञानतो यतिः।
तेषां स्नात्वा विशुध्द्यर्थं प्राणायामान् षडाचरेत॥"

—मनुरहस्य

जो यति या साधु अनजाने जीवहत्या रूप पाप करता है। मात्र छह बार विधि पूर्वक प्राणायाम करने से ही उस पाप से विशेष रूप से शुद्ध होता है; क्योंकि षटचक्रों के द्वारा अन्तर्मुखी प्राणायाम ही परम तप है।

प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत कृताः।
व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमन्तपः॥

व्याहृति के साथ प्रणवयुक्त होकर ब्राह्मण को विधिपूर्वक तीन बार प्राणायाम करना चाहिए। यही परम तप है।

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात ॥

—मनु रहस्य

अग्नि द्वारा जिस प्रकार धातु को शुद्ध किया जाता है उसी प्रकार प्राणायाम द्वारा इन्द्रियों को शुद्ध किया जाता है। वर्तमान चंचल मन ही पापकर्म में रत रहता है। प्राणायाम द्वारा प्राण के स्थिर होने से वर्तमान मन भी स्थिर हो जाता है और मन के स्थिर होने पर समस्त इन्द्रियों में भी स्थिरता आती है तब उनके कार्य-रहित होने से सब कुछ शुद्ध हो जाता है। इसे ही इन्द्रियों की शुद्धावस्था कहते हैं। क्योंकि वे जब कार्य-रहित हो जाती हैं तब पाप-कर्म की प्रवृत्ति नहीं रहती। इसीलिए योगिराज कहा करते थे—"जिह्वा उठने से इन्द्रिय दमन होता हय।" इसको ही खेचरी मुद्रा या जिह्वाग्रन्थि-भेदन अथवा गोमांस भक्षण कहते हैं। यह योग-साधना का मुख्य अंग है। शास्त्रों में कभी भी गोवत्स को यज्ञाहुति के पश्चात् खाने का उल्लेख नहीं किया गया है; किन्तु वाह्य रूप से ऐसा ही लगता है; उसका रहस्य कुछ और है। यज्ञ का यथार्थ स्वरूप है प्राणयज्ञ; अर्थात् प्राणायाम द्वारा चंचल प्राण की स्थिर प्राण में आहुति देना या उसमें लय करना। यह प्राणयज्ञ ही प्रकृत या वास्तविक यज्ञ है। इस यज्ञ को सम्पादित करने में जिस गोमांस का भक्षण करना पड़ता है, तंत्र की भाषा में उस गो का अर्थ है जिह्वा। इस सन्दर्भ में हठ प्रदीपिका का एक श्लोक उद्धृत है—

'गोमांसं भोजयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ।
तमहं कुलीनं मन्य इतरे कुलघातकाः ॥
गोशब्देनोदिता जिह्वा तत प्रवेशो हि तालुनि ।
गोमांस भक्षण तत्तु महापातकनाशनम् ॥

—हठ प्रदीपिका: ३।४७-४८

अर्थात् जो नित्य गोमांस-भक्षण करते हैं और चन्द्र से झरते हुए अमृत या अमर वारुणी का पान करते हैं वही कुलीन हैं, अन्य कुलघातक हैं। गो शब्द का अर्थ है जिह्वा एवं उसका ताल में प्रवेश कराना ही गोमांस भक्षण है। इस गोमांस के भक्षण से महापातकी भी पाप से मुक्त हो जाते हैं। इसी को लक्ष्य में रखकर वैष्णव शास्त्र में भी गोमांस-भक्षण की चर्चा है।

'गो भोजने महापुण्य
जाया थाकिते गृह शून्य
गुरु मेरे स्वर्गवास
हरि भजले सर्वनाश।

अर्थात् इस प्रकार का गो-भोजन करना महापुण्य है। पत्नी सहित सभी विषयों के प्रति आसक्ति दूर हो जाती है। चंचल प्राण ही मृग है, उसकी हत्या करके अर्थात् स्थिर प्राण में लय करने पर स्वर्गवास या आनन्द-लोक की प्राप्ति होती है। इस प्रकार जो हरि की या भगवान की उपासना करते हैं उसका सर्वनाश होता है अर्थात् जिन इन्द्रियों के द्वारा जीव विषय-भोग करता है वे निष्क्रिय हो जाती हैं। हरि अथवा स्थिर प्राण ही तब साधक की समस्त इन्द्रियोन्मुखी वृत्तियों का हरण करके उनका नाश करता है।

प्राचीन काल में सारे ऋषि ही इस प्रकार के प्रतीकात्मक गोमांस का भक्षण करते थे। शास्त्र-प्रणेता सभी जीवों में ईश्वर दर्शन करते थे और जीवहत्या को महापाप समझते थे और जीवहत्या न करने का उपदेश देते थे। ऋषिगण सभी जीवों में ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन करके किसी जीव की हत्या करने का उपदेश नहीं दे सकते। क्योंकि वे अहिंसा के पक्षपाती थे। अहिंसा ही उनके जीवन की मौलिक पृष्ठभूमि थी। शास्त्र-कर्त्ताओं ने प्रतीकी भाषा में संकेतों, बिम्बों के द्वारा ही सब कुछ व्यक्त किया है; किन्तु इन दिनों वह सब कुछ बाहरी एवं व्यावहारिक अर्थ से जुड़ गया है।

योगिराज योग-साधन की शिक्षा देते समय सभी भक्तों से कहा करते थे कि क्रियायोग अत्यन्त सूक्ष्म कर्म है इसलिये सभी के लिये आवश्यक एवं उचित है कि बार-बार गुरु के सान्निध्य में उपस्थित होकर क्रिया-योग को दिखवा लेना या परख करवा लेना चाहिये तथा उसके सम्बन्ध में गुरु के उपदेश को बार-बार ग्रहण करते रहना चाहिए। नहीं तो, सूक्ष्म क्रियायोग को समझना पहले पहल सभी के पक्ष में असुविधाजनक है एवं भूल की सम्भावना रहती है यदि कोई यह समझे कि प्रथम बार में ही सब कुछ समझ लिया है तो यह उसका भ्रम है। सभी भक्तों का कर्त्तव्य है कि वे स्वयं को गुरु के समीप सम्पूर्ण रूप से समर्पित कर दें। स्वयं को जितना ही समर्पित किया जा सके उतना ही गुरु के पास से योग-प्रणाली के सूक्ष्म से भी सूक्ष्म विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है। समर्पण के बिना गुरु से कुछ भी प्राप्त नहीं होता। गुरु एवं देवता के सान्निध्य में कभी रिक्तहस्त या खाली हाथ नहीं जाना चाहिए। गुरु के समीप हमेशा विनीत भाव से जाना चाहिये और उनके आगे नहीं बैठना चाहिये। गुरु के क्रुद्ध होने पर भी स्वयं को संयत रखना चाहिये। पाण्डित्य प्रदर्शन एवं शास्त्रज्ञता का भाव भी नहीं प्रदर्शित करना चाहिये। शास्त्र के सम्बन्ध में गुरु से तर्क नहीं करना चाहिए। आत्मज्ञान के सम्बन्ध में वे जो कुछ कहें उसे सर झुकाकर स्वीकार करना चाहिए।

वे और भी कहा करते—"जो नियमित रूप से क्रिया करते हैं उन्हें प्रायः रोग नहीं होता। धर्म अर्थ काम, और मोक्ष इन चारों का मूल आरोग्य है; किन्तु रोग सारे आरोग्य अथवा नीरोगता को नष्ट करता है तथा मुक्ति और जीवन को भी नष्ट करता है। अतएव क्रियावान यदि गुरु के उपदेश के अनुसार यथोचित क्रिया करें तो वे नीरोग रहते हैं और परिणामस्वरूप मुक्तिपद प्राप्त होता है। इसलिये शरीर की रक्षा के लिए हमेशा गुरु की आज्ञा का पालन करोगे। वायु ही भगवान है, क्रिया करने पर उस भगवान की रक्षा होती है। इस प्रकार शरीर और आत्मा की रक्षा करना कर्त्तव्य है। क्रियावान यदि किसी आपत्ति-विपत्ति में पड़ जायें तो क्रिया करने पर ही उससे रक्षा होगी। जीभ हमेशा ऊपर रखना उचित है और जीभ उठाकर सारी क्रिया करोगे। जीभ उठाकर या ऊपर करके सम्भोग करोगे। महिलाओं को ऋतु-काल में क्रिया नहीं करनी चाहिये। खाने के बाद बायें करवट लेटना चाहिए यह वायु क्रिया उत्तम रीति से करने पर कभी भी हृदय-रोग नहीं होता।"

"सद्गुरु की परिभाषा या व्याख्या करते हुए योगिराज कहा करते थे कि 'गु' शब्द का अर्थ है, अन्धकार एवं 'रु' शब्द आलोक का द्योतक है। इस प्रकार जो अज्ञान रूप अन्धकार को चीरकर ज्ञानरूप आलोक को प्रकट करते हैं वहीं गुरु हैं। श्वासवायु ही इस अन्धकार का नाश कर सकता है। इसीलिए अन्धकार से आलोक की ओर ले जाने वाला यह श्वासवायु ही वास्तविक सदगुरु है। अन्धकार के निरोध करने के कारण ही उसे गुरु कहा जाता है एवं कूटस्थ ही श्री गुरु है।"

शाक्त, शैव, गाणपत्य, वैष्णव एवं सौर इत्यादि सम्प्रदायों से सम्बन्धित मनुष्यों या व्यक्तियों को धर्म-अर्थ काम मोक्षप्रद एवं सर्वसिद्धि दाता आत्मक्रिया में रत रहना चाहिये। इस सम्बन्ध में शास्त्र का भी कथन है—

जपेच्छाक्तश्चशैवश्च गाणपत्यश्चवैष्णवः।
सौरश्च सिद्धिदं देवी धर्मार्थ काममोक्षप्रदम्॥—गुरुगीता :

योगिराज विवाहित व्यक्तियों को उनकी पत्नियों के साथ दीक्षा प्रदान करते थे। क्योंकि उनकी दृष्टि में पत्नी के साथ योग-साधन प्राप्त होने पर साधना में कम विघ्न उपस्थित होते हैं। वे यह भी कहा करते थे कि क्रिया योग सभी प्रकार के संस्कारों से ऊपर है।

● ● ●

योगिराज के निवास-स्थान के सामने वाले मकान में एक सज्जन हारानचन्द्र राय रहते थे। वे प्रतिदिन शाम के बाद अपने मकान की छत से रास्ते की ओर पेशाब किया करते थे। इससे योगिराज के घरवालों को काफी असुविधा होती। एक दिन योगिराज ने उन्हें यह कार्य करने के लिये मना किया; किन्तु जिसके सर पर काल मंडरा रहा हो वह महापुरुषों की बातों पर भी ध्यान नहीं देता।

हारान बाबू ने कहा—"अपने घर में मैं जो भी करूँ उसमें तुम्हारा क्या प्रयोजन है; तुम्हें उसे देखने की कोई जरूरत नहीं।" इसके अतिरिक्त अनेक अश्लील शब्दों का भी प्रयोग किया। योगिराज यह सब सुनकर काफी दुखी हुए और उनकी बात का कोई उत्तर न देकर दूसरे दिन उसी ओर एक दीवाल उठा दी गई।

कुछ दिनों बाद ही हारान बाबू की अचानक मृत्यु हो गई। परवर्ती काल में ऐसा देखा जाता है कि हारान बाबू के वंश में और कोई जीवित ही नहीं रहा। मनु का कथन है—

'सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते।
सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति ॥ —मनुरहस्य

अर्थात् जो व्यक्ति निस्पृह भाव से परमात्मा के भरोसे निश्चिन्त होकर सुख की नींद सोते हैं अर्थात् स्थिरता को समझकर पृथिवी पर सुख से विचरण करते हैं ऐसे व्यक्ति का जो अपमान करता है उसका विनाश होता है ऐसे व्यक्ति जो मान-अपमान से ऊपर या उससे परे रहकर ईश्वर-कृपा पर ही निर्भर रहते हुए जीवन यापन करते हैं उनके अच्छे-बुरे सभी को ईश्वर ही देखता है। इसलिये ऐसे व्यक्ति का यदि कोई अपमान करता है या किसी प्रकार की क्षति पहुँचाने की चेष्टा करता है तो ईश्वर ही उसे दण्ड देता है। भगवान ही दुष्टों का दमन और शिष्टों या भले लोगों का पालन करते हैं। इसीलिए योगिराज हमेशा सभी भक्तों से कहा करते थे—**"जो भगवान को हामेसा ध्यान करे उस्को काम उह करता हय।"**

समाधिस्थ अवस्था में देश-काल अथवा नामरूप कुछ नहीं रहते। उस समय सब एकाकार हो जाते हैं। नाम-रूप की सीमा के भीतर जो कुछ भी है वह नित्य या सनातन वस्तु हो नहीं सकती। इस सन्दर्भ में योगिराज कहा करते थे कि आत्मतत्त्व के अन्वेषण में डूब जाओ एवं समाधि के माध्यम से उस स्थिर अवस्था को प्राप्त करो। उसके पश्चात तो देखोगे कि नाम-रूपात्मक जगत कहीं नहीं है। उस समय क्षुद्र अहंबोध के लय हो जाने पर अखण्ड स्थिर सत्ता को अपने स्वरूप जैसा प्रत्यक्ष देखोगे। जिस ज्ञान में द्वैत है या जो दो देखता है, वह तुच्छ ज्ञान

है और वह इन्द्रियजन्य ज्ञान है। मैं भक्त हूं, तुम भगवान हो, यह भी तुच्छ ज्ञान है; किन्तु जो ज्ञान सब के भीतर एक ही आत्मसत्ता को देखता है, वही यथार्थ ज्ञान है। जो आत्मसत्ता सब के भीतर प्रतिष्ठित है उसे वर्तमान चंचल मन या बुद्धि द्वारा नहीं पहचाना या जाना जा सकता। वेदान्त द्वारा प्रतिपादित ज्ञान अथवा अनुभूति उपलब्ध होने पर, मात्र व्यक्ति स्थान अथवा किसी मूर्ति विशेष में ईश्वरत्व को आरोपित नहीं किया जा सकता। उस समय तो सभी जीवों एवं सर्वभूतों में ईश्वर का दर्शन होता है और यही दर्शन ऋषियों का चिन्मय प्रत्यक्ष दर्शन है। जिसमें हिन्दू मुसलमान, क्रिश्चियन अथवा ब्राह्मण, शूद्र, ऊँच नीच का कोई भेद नहीं रहता। उस समय सर्वत्र महाप्राण का प्रत्यक्षदर्शन करने पर 'सर्वं ब्रह्ममयं जगत' का बोध उजागर होता है।

यही कारण है कि योगिराज स्वयं उच्च ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न होने के बावजूद किसी प्रकार के भेदाभेद भाव से मुक्त थे। उनके निकट हिन्दू, मुसलमान, क्रिश्चियन या किसी भी वर्ग या वर्ण या धनी-गरीब में कोई भेद नहीं था। उनके यहाँ सभी आश्रय पाते थे। सभी सम्प्रदाय के लोगों ने उनसे दीक्षा लेकर उनका शिष्यत्व स्वीकार किया था।

वे सभी प्रकार के कु-संस्कारों एवं संकीर्ण मनोवृत्तियों या आचारों से ऊपर उठकर सभी धर्मों में समन्वय स्थापित करने में सफल हुये थे, एवं संसार के सभी धर्मों के मूल सत्य को उन्होंने एक स्थान पर देखा था। उनकी दृष्टि में सभी अमृत-पुत्र हैं, न कोई छोटा है, न बड़ा। इस दृष्टि से देखने में आता है कि कुछ ऐसे महामानव ही हैं जिन्होंने भेदाभेद भाव से रहित होकर सभी धर्मों में समन्वय स्थापित करने में सफलता प्राप्त की है। जैसे चैतन्य, कबीर, नानक, दयानन्द इत्यादि। इस सन्दर्भ में योगिराज की प्रायोगिक अभिज्ञता या जानकारी अपूर्व थी। वे साधना के माध्यम से उस स्थिति को प्राप्त करने के सन्दर्भ में अपनी पांच नम्बर की डायरी में लिखते हैं—**"ज्योत के भीतर नीला, नीला के भीतर एक सफेद विन्दी देखा उसके भितर आदमि वोहि बहुत किस्म के हिन्दू इंग्रेज होता हय।"** अर्थात् प्राणायाम के माध्यम से कूटस्थ की ज्योति के भीतर नीलापन और नीलेपन के भीतर एक श्वेत विन्दु देखा और उसके भीतर एक मनुष्य को देखा; वही पुरुषोत्तम हैं। वही सभी प्रकार के हिन्दू अंगरेज इत्यादि रूपों में स्थित हैं।

एक और स्थान पर लिखा है—**"दम पर दम अल्ला—दम के परे जो दम हय सो अल्ला याने स्थिर घर।"** अर्थात् हर साँस के आरोह-या साँस लेने अथवा बाहर निकालने के मध्य एक बार स्थिरता आती

है अर्थात् सांस लेने के अन्त में और बाहर निकालने के शुरू के क्षणों में तथा सांस निकालने के अन्त में और लेने के शुरू के दोनों समय ही एक-एक बार स्थिरता आती है। वही स्थिर अवस्था ही अल्ला है। किन्तु उस स्थिरत्व के प्रति किसी का भी लक्ष्य या ध्यान नहीं है। अल्लाह अर्थात् खुदा जो खुद या आदि है वही खुदा है।[1] खुद का अर्थ है स्वयं या मूल। उत्तम प्राणकर्म या प्राणायाम करते-करते प्राण की जो स्थिर अवस्था होती है; वही मूल या आदि अथवा स्वयं है जिसकी परिभाषिक संज्ञा 'स्वधा' है जो सभी जीवों में वर्तमान है और वह खुद या स्वयंस्वरूप स्थिर प्राण की चंचलता ही जीवभाव है। स्थिर प्राण से सभी कुछ उत्पन्न हुआ है, वही आदि पुरुष ब्रह्म है, वही खुदा है। पूरक के अन्त में एवं रेचक के आरम्भ में एवं रेचक के अन्त में तथा पूरक के आरम्भ में जिस स्थिर अवस्था की उपलब्धि होती है जिसे केवल योगीगण ही जानते हैं। उसे प्राणकर्म या प्राणायाम द्वारा बढ़ाओ एवं उसी में स्थिति प्राप्त करो, वही मूल और खुद है, वही क्रिया की परावस्था है। **"खोदा याने खोद—आ जब आपने से आता हय। अल्ला—आला बड़ा जो सबसे बड़ा।"** अर्थात प्राणकर्म करते-करते अपने आप ही जिस स्थिर अवस्था का उदय होता है वही मूल या खुदा है और वह स्थिर अवस्था रूप महाकाश ही सर्वव्यापी होने से सर्व वृहत है इसलिए वही अल्ला है। अतएव उन्होंने फिर लिखा है—**"बेदम में जो दम हय सोइ असल दम हय।"**—बेदम अर्थात् दम या श्वास विहीन अवस्था। श्वास-प्रश्वास को स्वेच्छापूर्वक न रोकने पर अन्तर्मुखी प्राण-कर्म करते-करते अपने आप जब केवल-कुम्भक की अवस्था प्राप्त होती है तब उसे ही बेदम कहते हैं। उस समय श्वास-प्रश्वास की बहिर्मुखी गति पूरी तरह रुक जाती है। यह प्राणकर्म सापेक्ष है। वह बेदम ही अर्थात् दम विहीन अवस्था ही असली दम है (जो गुरु वचन द्वारा बोधगम्य है) इस अन्तर्मुखी प्राणायाम में बाहरी वायु का ग्रहण एवं त्याग कर्म नहीं है। इस प्राणायाम के आरम्भ में ही इड़ा और पिंगला को छोड़कर देह के भीतर स्थित प्राण एवं अपान को लेकर ही कर्म करना है। बाहर का वायु बाहर और भीतर का वायु भीतर कार्यशील रहता है। कूटस्थ के भीतर जो खुद या स्वयं स्वरूप पुरुषोत्तम है वही सभी मनुष्यों के शरीर में एक ही भाव से वर्तमान है। वह हिन्दू अंगरेज, मुसलमान इत्यादि रूप में अलग नहीं है। मूल में सभी एक हैं। मूल ही अद्वैतभाव है, पार्थक्य केवल

१-खुदा-फारसी खुद-शब्दज।

द्वैतभाव है। अद्वैत में प्रतिष्ठित होने पर अर्थात् स्थिरत्व में प्रतिष्ठित होने पर कोई पार्थक्य या भिन्नता नहीं रहती।

इस प्रकार देखते हैं कि सभी सम्प्रदायों के हिन्दू, अनेक मुसलमान जैसे अमीर खाँ, रहीमुल्ला खाँ, अब्दुल ग़फ़ूर खाँ, वगैरह कुर्ग राज्य के कमिश्नर एक अंग्रेज साहब हजारीबाग के पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट स्पेन्सर साहब सहित अनेक अँगरेज भक्तों ने उनका शिष्यत्व स्वीकार किया था। वह उनकी डायरी में लिपिबद्ध भी है। विश्ववरेण्य पतितपावन अन्यान्य महागुरुओं की तरह योगिराज भी पतित, समाज द्वारा निन्दित व्यक्तियों के प्रति अकृपण भाव से कृपालु थे।

● ● ●

योगिराज के शिष्य अविनाश बाबू बंगाल नागपुर रेलवे सम्प्रति साउथ ईस्टर्न रेलवे में नौकरी करते थे। गुरुदेव का दर्शन करने की इच्छा से उन्होंने एक सप्ताह की छुट्टी के किए अपने उच्च अधिकारी के लिए आवेदन-पत्र दिया। उस समय उनके उच्च अधिकारी थे स्वामी योगानन्द के पिता श्री भगवती चरण घोष। भगवती बाबू ने अविनाश बाबू को बुलाकर कहा—"धर्म के नाम पर इस तरह के पागलपन से नौकरी में उन्नति नहीं की जा सकती। आफिस के कार्य को मन लगाकर करो।"

अविनाश बाबू उदास मन से पैदल ही घर लौट रहे थे। रास्ते में उन्होंने देखा कि भगवती बाबू पालकी में जा रहे हैं। पास आने पर भगवती बाबू पालकी से उतरकर साथ-साथ पैदल चलने लगे। सान्त्वना देने के बहाने एवं जिससे सांसारिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त हो, इसी दृष्टि से अविनाश बाबू को समझाने लगे। अविनाश बाबू उदासीनता के साथ उनकी बातें सुन रहे थे और मन ही मन अपने दयालु गुरुदेव के निकट प्रार्थना भी कर रहे थे जिससे उनका दर्शन हो सके।

दोनों मैदान के रास्ते से जा रहे थे। अपराह्न की सूर्य-किरण ने उस समय चारों ओर उद्भासित होकर एक उद्दीपन पूर्ण मायाजाल की सृष्टि की थी। अचानक कई गज़ की दूरी पर उन लोगों ने देखा कि योगिराज अपार्थिव शरीर धारण करके आविर्भूत हुए हैं और कह रहे हैं—"भगवती बाबू आप अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के प्रति अत्यन्त निर्दय हैं।" यह कहकर ही वे अन्तर्धान हो गए। अविनाश बाबू हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगे।

इस अप्रत्याशित घटना से भगवती बाबू अत्यन्त विस्मित हुए। कुछ मिनट तक चुप रहने के बाद कहा—"कल से आपकी छुट्टी मंजूर; आप अपने गुरुदेव का दर्शन करने अवश्य जाएँ। और यदि अपने साथ मुझे भी ले चलें तो अच्छा हो। मैं उस महायोगी का दर्शन करना चाहता हूँ।"

दूसरे दिन भगवती बाबू सपत्नीक अविनाश बाबू के साथ ट्रेन से काशी के लिए रवाना हो गये। योगिराज के निवास स्थान पर पहुँच कर देखा कि वे पद्मासन लगाकर बैठे हैं। उन लोगों ने प्रणाम किया।

योगिराज ने अपनी दोनों अधखुली आँखों को खोलते हुए मधुर मुस्कान के साथ कहा—"किसी को भी धर्म-पथ पर जाने के लिए रोकना उचित नहीं है।"

इसके बाद भगवती बाबू ने अपनी पत्नी सहित योगिराज से क्रियायोग की दीक्षा प्राप्त की और स्वयं कृतार्थ हुए थे।

यही भगवती बाबू अपने अद्वितीय पुत्र मुकुन्दलाल के जन्म के कुछ दिन बाद शिशु-पुत्र को लेकर सपत्नीक गुरु के समीप काशी आए हैं। उस समय ध्यानमग्न योगिराज भक्तों से घिरे बैठे हैं। भगवती बाबू की पत्नी ने नन्हें बच्चे को गोद में लेकर ज्यों ही प्रणाम किया—आँख खुलते ही महायोगी ने हाथ बढ़ाकर शिशु को अपनी गोद में लेकर कहा—**"तुम्हारा पुत्र योगी होगा और अनेक लोगों को ईश्वरानुसन्धान का मार्ग दिखाएगा।"**

सर्वदर्शी महागुरु के आशीर्वाद से इसी मुकुन्दलाल ने बाद में परमहंस योगानन्द के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त की। और प्राच्य तथा प्रतीच्य के तमाम लोगों को क्रियायोग के माध्यम से ईश्वरानुसन्धान का मार्ग दिखाया।

और एक प्रिय शिष्य स्वामी प्रणवानन्द (गार्हस्थ्य जीवन में जिनका नाम नीलमाधव मुखोपाध्याय था। गृहस्थ जीवन में रेलवे आफिस में नौकरी करते थे। उन्होंने साधना के द्वारा प्राप्त उच्च आध्यात्मिक अवस्था की रसमयता का आस्वादन किया था। वे हमेशा ब्रह्मानन्द रस में विभोर रहकर आफिस का कार्य अच्छी तरह नहीं कर पाते थे। उन्होंने सोचा कि नौकरी से यदि किसी प्रकार मुक्त हो जाएँ तो साधना और अत्यधिक मनोयोग पूर्वक की जा सकती है। इसीलिए उन्होंने अपने गुरुदेव से निवेदन किया कि अब नौकरी से रिहाई दिलवाएँ।

योगिराज ने कहा—"पेन्शन ले लो'

प्रणवानन्द ने कहा—"इतने कम समय की नौकरी में किस आधार पर पेन्शन लूँगा!"

योगिराज ने कहा—"तुम्हारी जो भी इच्छा हो, अतः कोई कारण दिखाओ।"

प्रणवानन्द ने दूसरे दिन ही शारीरिक अस्वस्थता का कारण दिखाते हुए पेन्शन पाने का आवेदन-पत्र प्रेषित किया और शीघ्र ही अप्रत्याशित रूप से विभागीय चिकित्सकों एवं उच्च अधिकारी की सहमति से आवेदन मंजूर कर लिया गया। प्रणवानन्द नौकरी से अवकाश प्राप्त करके नयी स्फूर्ति एवं उत्साह के साथ साधना में तल्लीन हो गए। यही प्रणवानन्द योगिराज के उत्तर साधक के रूप में सुविख्यात हुए थे।

योगिराज हमेशा बैठकखाने वाले कमरे में एक तख्त पर पद्मासन लगाए बैठे रहते थे। सामने शिष्य एवं भक्त बैठते। खूब कम ही बोलते थे। कभी-कभी आँखें खोलकर मन ही मन जिज्ञासा करने वाले किसी भक्त की ओर देखकर संक्षेप में उसके प्रश्नों का उत्तर देते थे। हर समय उनसे कोई प्रश्न पूछता, ऐसी बात नहीं थी बल्कि वे ही भक्तों के मन की बात समझकर उत्तर दिया करते थे। यदि कभी कोई भक्त किसी जटिल प्रश्न को लेकर उनके पास आता तो वे उसके मन की बात या भावना के अनुकूल सहज एवं सरल उत्तर द्वारा सभी प्रकार के संशयों को दूर कर देते थे। जिस किसी भी भक्त के मन की तरग उनके लिए अपरिचित नहीं थी। ग्रन्थों में वर्णित विद्या के माध्यम से वे कभी भी किसी शास्त्र की व्याख्या नहीं करते थे। जो साधना से प्राप्त है वही भक्तों को बतलाते थे। वेद, वेदान्त, उपनिषद गीता इत्यादि जटिल एवं गूढ़ शास्त्रों की दार्शनिक एवं वैज्ञानिक तात्विकता को उपलब्ध अनुभूति के माध्यम से अपूर्व कौशल के साथ समझाया करते थे। उनका कहना था कि पुरातन-प्राचीन, सभी शास्त्र, प्राचीन ऋषियों-मुनियों की साधना द्वारा उपलध्ध ज्ञान के भण्डार हैं। उस प्रकार की जिनकी उपलब्धियाँ एवं अनुभूतियाँ होगी एकमात्र वही उन ग्रन्थों या शास्त्रों की यथार्थ व्याख्या प्रस्तुत करने में सक्षम होंगे।

सायंकाल जब उनके निवास-स्थान पर भक्त एवं अभ्यागत आते तब योगिराज सौजन्य के साथ सबकी अभ्यर्थना करते और उन्हें आप्यायित करते। किसी धनी अथवा विशिष्ट गुण-सम्पन्न व्यक्ति के लिए विशेष आप्यायन का प्रदर्शन अथवा किसी दीन-दरिद्र या मूर्ख व्यक्ति की कोई अवहेलना उनके लिये सम्भव नहीं थी। वे सभी को समान दृष्टि से देखते थे। सभी ब्रह्मज्ञानी ही देहाभिमान एवं अहंकार रहित होकर सबके भीतर एक अद्वयता या अपरूप ऐक्य का दर्शन करते हैं। साधुओं की समदृष्टि का आधार आत्मज्ञान है। योगिराज के

प्रत्येक वाक्य में ज्ञान की तीक्ष्ण प्रखरता की अभिव्यक्ति होती थी। उनके देवत्व की गरिमा के सम्मुख सब के मस्तक झुक जाते थे। योगिराज जब चुप रहते अथवा जटिल धार्मिक विषयों की आलोचना करते तब देखने में आता कि वे भक्तों के मन में एक अनिर्वचनीय ज्ञान का संचार कर रहे हैं। कोई भक्त यदि चिन्ताग्रस्त मन के साथ उनके पास आता तो अनजाने ही उसके मन के भाव बदल जाते थे। यहाँ तक कि योगिराज के दर्शन मात्र से ही सभी, मन में शान्ति एवं आनन्द के आस्वाद का अनुभव करते। उन्हें दुःख में विचलित एव सुख में आनन्दित होते हुए कभी भी नहीं देखा गया। यदि कोई उनके पास अपने अतीत के बारे में कुछ प्रश्न उपस्थित करता तो वे कहा करते थे कि अतीत को पूरी तरह भूलकर आत्मसाधना में तन्मयता एवं मनोयोग के साथ आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त करने की चेष्टा करो; उसी से लोकमंगल एवं वैयक्तिक मंगल का पथ प्रशस्त होगा। इसीलिए वे सभी को क्रियायोग के अनुशीलन की प्रयोजनीयता का स्मरण दिला देते थे। वे कभी भी किसी को अपना निजी कार्य करने के लिये नहीं कहते थे और आन्तरिकता के अतिरिक्त किसी से भी कोई दान या सहायता ग्रहण नहीं करते थे। क्योंकि सामान्यतः उन्हें आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त थी। उन्होंने सरकारी नौकरी की थी, पेंशन मिलती थी, छात्रों को पढ़ाते भी थे। साधारणतः ऐसा देखा जाता है कि अन्यान्य गुरुगण जिनका न तो कोई स्वयं की आर्थिक आय का स्रोत है या उन्हें आर्थिक स्वाधीनता या सम्पन्नता नहीं प्राप्त है वे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से शिष्यों के ऐश्वर्य या उनकी धन-सम्पन्नता पर आश्रित रहते हैं।

किन्तु योगिराज ने स्वयं उपार्जित अर्थ से जीविका निर्वाह किया है वे कभी दूसरों के अन्न पर आश्रित नहीं रहे। उनमें दूसरों की अनुकूलता के प्रति कोई प्रत्याशा नहीं थी। उनके द्वारा स्थापित आदर्शों में यह एक वृहत्तम आदर्श के रूप में मान्य है। वे अपने सभी भक्तों को वैसे ही जीवन-यापन का उपदेश दिया करते थे।

योगिराज कहा करते थे कि जिस योग-साधना के द्वारा अन्तर में ईशा-भावना का बोध उजागर नहीं होता वह योग, योग ही नहीं है। वास्तविक एवं श्रेष्ठ योग-साधना से मन में ईश्वर-भाव अथवा प्रेम अवश्य ही उभरेगा। कामना, वासना, हिंसा, द्वेष, लोभ, परश्रीकातरता सहित सभी प्रकार के इन्द्रिय जन्य विकार एवं मनधर्म का अपने आप दमन हो जाता है। इसीलिए उसे श्रेष्ठ कहा गया है। योगसाधना के द्वारा अन्तर में ईश-भावना की उपलब्धि होने पर बाहर के सभी पदार्थों में ईश्वर के अस्तित्व का अनुभव होता है। अन्तर्देवता को प्राप्त

करने का आग्रह जिसमें नहीं है वह यदि सारे तीर्थों का भ्रमण करता फिरे तो भी कोई लाभ नहीं।

श्रद्धा, विश्वास, भक्ति और ज्ञान इत्यादि की प्राप्ति के लिए स्वतंत्र चेष्टा का प्रयोजन नहीं है। हालांकि स्वतंत्र चेष्टा के द्वारा यदि ये प्राप्त भी हो जाएँ तो भी इनका मूल्य स्थायी नहीं होगा; किन्तु उत्तमरूप से प्राणकर्म या प्राणायाम करते रहने से ये स्वयं प्राप्त होंगे एव उनका स्थायी मूल्य होगा। स्थायी भक्ति शुद्धा भक्ति है और स्थायी ज्ञान ही विज्ञान है। दूसरी ओर काम, क्रोध हिंसा लोभ मोह इत्यादि जितनी भी प्रकार की आसुरी वृत्तियाँ हैं जो साधना-पथ पर बाधायें उपस्थित करती हैं, उन्हें भी मन के द्वारा चेष्टा करने पर छोड़ा नहीं जा सकेगा। जितना कुछ भी का त्याग होगा वह अस्थायी होगा। किन्तु सुव्यवस्थित एवं सुचारु रूप से प्राणकर्म करते रहने से ये स्वय दूर हो जाएँगी और उनके स्थान पर श्रद्धा, विश्वास, भक्ति एवं ज्ञान आदि उपलब्ध होंगे। इस प्राणकर्म की ऐसी महिमा है कि इसके करते रहने से एक ओर आसुरी वृत्तियों का अवसान होता है और दूसरी ओर साथ ही सात्विक वृत्तियों का उदय होता है और तब किसी के त्याग या ग्रहण की स्वतंत्र अथवा मन के द्वारा की गई चेष्टाओं की आवश्यकता ही नहीं पड़ती; वे स्वयं आएँगी, जाएँगी। आसुरी वृत्तियों के जाने से ही सात्विक वृत्तियाँ स्वयं आएँगी। मन या इच्छा के द्वारा चेष्टा करके त्याग करने से यथार्थ त्याग नही होगा; क्योंकि जब तक वर्तमान चंचल मन है तब तक यथार्थ त्याग सम्भव नहीं। इसलिए उत्तम प्राणकर्म या प्राणायाम द्वारा इच्छा एवं मन पर नियंत्रण स्थापित करके इच्छातीत की स्थिति में आना होगा। उस इच्छातीत अवस्था में कुछ भी नहीं शेष रहेगा; वही यथार्थ त्याग का स्वरूप है। इसीलिए वे सब से कहा करते—"**क्षुधार्त्त के लिए अन्न का जितना प्रयोजन है मुमुक्षु या मोक्षकामी के लिए क्रिया का भी उतना ही प्रयोजन है।**"

अनेक बार देखा गया है कि दूसरे के संचित रोग या पाप को नष्ट करने के लिए वे उसे स्वयं ग्रहण कर लिया करते थे। इसी कारण वे कभी-कभी अस्वस्थ भी हो जाते थे। महान योगी आध्यात्मिक उपायों के द्वारा दूसरों के रोग या पाप को स्वयं अपने शरीर पर झेलकर उन्हें संकट-मुक्त करने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार महायोगी अपने शिष्यों की रक्षा करते रहते हैं। वे ऐसा तभी करते हैं जब उन्हें यह पता चलता है उनके किसी उन्नत शिष्य की साधना में और भी द्रुतगति से विकास प्रयोजनीय है। इसमें उन्हें कुछ सामयिक क्लेश अवश्य होता

है; किन्तु उनकी कोई आध्यात्मिक क्षति नहीं होती बल्कि उपकार ही होता है।

● ● ●

योगिराज ने अपने उन शिष्यों को जो योग-साधना एवं अध्यात्म-चेतना के उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित होते थे, स्वयं अनेकों बार पत्र द्वारा वे जिन बातों पर अधिक बल देते उनका उल्लेख करते हुए सम्बोधित किया है। उन्होंने कभी तो यह लिखा है—**मैं अब और कितना करूँ ? लोगों के लिए ही मैं अस्वस्थ हुआ, तिस पर सारे काम-काज हैं। क्रिया कीजिए, कोई भय नहीं।"** फिर उन्होंने किसी को लिखा है—**"अपने इस शरीर पर मैंने उनके रोग को कितना झेला था भोगा था। तेल के अभाव में दीपक बुझ जाता है प्रकृति के विरुद्ध देह में कितनी देर तक जीवन रह सकता है। आत्मा की मृत्यु नहीं होती; क्योंकि आत्मा ही महाकाल स्वरूप है। स्थिति-पद काल से भी ऊपर है। महाकाल समुद्रस्वरूप गतिहीन है, जीव, नदी के समान उस समुद्र में गिरता है। काल के प्रति सतर्क रहने से मृत्यु नहीं होती।"** फिर किसी और एक शिष्य को लिखा है—**"अकाल मृत्यु समझकर शोक मत करो, जीव के पक्ष में कालाकाल (काल-अकाल) प्रतीत होता है; किन्तु काल का अकाल नहीं, इसलिए जीव का कर्त्तव्य है समस्त कालों में ही काल रूपी हंस का शरणापन्न होकर रहना।"** यहाँ श्वास-प्रश्वास को ही काल रूपी हंस कहा गया है उसकी शरण में जाने पर काल से परे की स्थिति प्राप्त होती है।

महान योगीगण अपने अनुगत शिष्यों के उपकार के लिए कई बार प्रयोजनवश उनके रोग को अपने शरीर पर झेलकर उन्हें रोगमुक्त कर दिया करते हैं। यह उनकी अहैतुकी कृपा कही जाएगी। योगिराज को भी अनेकबार भक्तों के उपकार के लिए ऐसा करते हुए देखा गया है। इसीलिए वे कहा करते थ कि अनन्त महाकाल जो अविच्छिन्न रूप से प्रवहमान है, वह अखण्ड है। केवल श्वास-प्रश्वास के लेने-छोड़ने के माध्यम से वह अखण्डकाल खण्ड रूप में प्रतीत होता है; किन्तु वस्तुतः वह अखण्ड है। उसमें कहीं कोई खण्ड नहीं है, वह अविच्छेद्य है। वह महाकाल घट अथवा देह के भीतर हंसरूप (श्वास-प्रश्वास) में प्रत्येक जीव देह में विद्यमान एवं विराजमान है। इसीलिए वे सब से कहा करते

थे कि उस श्वास-प्रश्वास रूपी हंस का आश्रय ग्रहण करो फिर तो शरणापन्न होने की उस स्थिति में काल-अकाल अथवा मृत्यु नहीं होती।

योगिराज के जो शिष्य या भक्त काशी से दूर रहते थे वे कभी-कभी गुरु के दर्शन के लिए काशी आने की अनुमति चाहते हुए पत्र लिखते, तो उनमें से अनेकों को उत्तर देते हुए उन्होंने लिखा है—"तुम लोगों के कूटस्थ के भीतर जब मैं सर्वदा हूं तो फिर इस हाड़-मांस की देह का दर्शन करने के लिए आने का क्या प्रयोजन है ?' इस प्रकार के अनेक पत्रों में कभी किसी को लिखा है—"दर्शन के लिए इतनी व्यस्तता क्यों ? मेरे इस हाड़-मांस को देखने से क्या लाभ ?" कूटस्थ की ओर लक्ष्य रखिए, वही मेरा रूप है, मैं हाड़-मांस अथवा 'मैं' शब्द भी नहीं, मैं सबका दास हूं।" फिर किसी को लिखा है—"गुरु सब चला रहे हैं। मैं कूटस्थ रूप में हमेशा साथ हूं।" दूसरे एक शिष्य को लिखा है—"माया द्वारा हाड़-मांस दिखाई दे रहा है वह जितनी जल्दी जाए अर्थात् माया का विषय जितनी शीघ्रता से जाए या समाप्त हो जाए उतना ही अच्छा है। भले-बुरे की पहचान नहीं। अपना जो कुछ मेरा है वह गुरु के प्रति अर्पण करना चाहिए। अर्पण के पश्चात् फिर उसमें स्वत्व की गुंजाइश नहीं। जब देह अर्पित किया है तो स्वयं अपनी देह देखने से ही तो स्थूल में मेरा ही दर्शन होता है। सब इसी रूप में मेरी देह को समझते हैं। श्रद्धा एवं भक्ति पूर्वक क्रिया कीजिए।

भक्तों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा है—"योगी बनने के लिए इतना दुर्बल हृदय क्यों ? वृक्ष की छाया पर और नदी के जल पर तो किसी का अधिकार नहीं है। उन्हें कोई ले नहीं सकता। अनित्य विषय,(पदार्थ) के लिए इतनी चिन्ता क्यों ? आपका कर्त्तव्य है भूत या अतीत एवं भविष्य की चिन्ता को छोड़कर या उनका परित्यागकर प्राण की चिन्ता के साथ वर्तमान के समस्त कार्यों को करना। अर्थ से किसी को सुख मिला नहीं, मिलेगा भी नहीं। मन की करकराहट में अर्थ की चेष्टा है। भविष्य के लिए इतनी चिन्ता क्यों ? सब पुतली-नृत्य के पुतले हैं। हायरे पैसा ! कहते हुए भी चीं-चीं कर रहे हैं। संसार तो परीक्षा का स्थल है। सभी दृष्टि से दक्ष होना चाहिए। किसी भी विषय में अभाव का बोध नहीं करना चाहिए। अभी जिससे मनोबल कम न हो वही करना चाहिए। विशेष दक्षता के साथ समस्त कार्य करना चाहिए। किसी भी विषय में डरना नहीं चाहिए। शैतान सर्वत्र मन को घेरे हुए है। आत्मा से अलग किसी दूसरी ओर मन न जाए। इस ओर ध्यान दीजिएगा। क्रिया का अभ्यास ही वेदपाठ है।

इस क्रिया का अभ्यास करते-करते जब क्रिया से परे की अवस्था की ओर लक्ष्य होगा तब उसे ही वेदान्त कहेंगे ।[1]

उसे क्रिया के द्वारा ही देखना उचित है पुस्तक देखने से क्या होगा ? क्रिया ही यज्ञ है । क्रिया ही सत्य है और सब मिथ्या है । यह यज्ञ सभी को करना चाहिए, इसे करना सब के लिए उचित है । मन के त्राण की अवस्था का नाम मंत्र है । कोई म्लेच्छ नहीं, मन ही म्लेच्छ है । नारायण सभी घट में विराजमान है कोई कुछ नहीं करता, सभी कुछ भगवान करते हैं जीव उपलक्ष्य मात्र है । उस गुरु भगवान की ओर ही लक्ष्य रखने की विधि पूर्वक चेष्टा करें । इसी में मंगल है । आत्मा ही गुरु है । मन के इसी बल के साथ क्रिया करनी होगी—मेरा कोई भी नहीं है, मैं किसी का भी नहीं हूं । एक दिन निश्चित रूप से सब को सब कुछ छोड़ना पड़ेगा । वह दिन किसके लिए और कब आएगा, निश्चित नहीं । लोग निश्चित रहते हैं, किन्तु जब वह अवस्था अचानक आती है तब सभी हाय हाय करते हैं । अतएव लक्ष्य को स्थिर करके सब को उस अवस्था के प्रति ध्यान रखना उचित है । वस्तुतः उनके लिये प्राण में यदि क्रन्दन नहीं है तो फिर उन्हें अन्तर में बुलाने की शक्ति नहीं आती । अव्यय, अविनाशी गुरु ही (आत्मा) अहेतुकी प्रेम-भक्ति के उदाहरण हैं । वे सर्वदा सब के अत्यन्त निकट हैं तब भी कोई उनके अन्वेषण के प्रति यत्नवान अथवा सचेष्ट नहीं । क्या अच्छा है ? यह जीव नहीं जानता, जान ले तो फिर शिव हो जाये । अच्छा क्या है उसे न जानने से समय पर अच्छा—बुरा प्रतीत होता है । क्रिया की परावस्था के बाद जिस अवस्था या कर्मातीत अवस्था में सांस लेने-छोड़ने की इच्छा स्वतः न रहे उसी पर मन को केन्द्रित करना चाहिय । उक्त अवस्था ही कृष्ण पदवाच्य है वही कृष्ण का स्वरूप है । कृष्ण शब्द का अर्थ भी वही है ।"[2]

१—वेद का अर्थ है ज्ञान । जिसने कूटस्थ को जान-पहचान लिया है वही वेदज्ञ है ज्ञान के अन्त की अवस्था ही वेदान्त है । उस समय किसी प्रकार की क्रिया या कर्म न होने से उस कर्मातीत अवस्था को ही वेदान्त कहते हैं । तब ज्ञान भी नहीं, अज्ञान भी नहीं । श्वास ही वेदमाता गायत्री है ।

२—श्री कृष्ण : श्री का अर्थ सुन्दर । श का अर्थ है श्वास, प्राणवायु; 'र', अग्निबीज है, तेजस्तत्व (जो आंख में है; 'ई', शक्ति का प्रतीक है अर्थात् शक्ति पूर्वक प्राणकर्म या प्राणायाम द्वारा चक्षु अथवा आंख में वायु के स्थिर होने पर आंख की जो स्पन्दन रहित [दृष्टिः स्थिरा यस्य विनाव-लोकनम् इति : ज्ञान संकलिनी तंत्र] अवस्था होती है उसी सुन्दर अवस्था

"सांस खींचने-छोड़ने की निवृत्ति-अवस्था जो स्वतः होती रहती है वही स्थिर प्राणरूप जीवन कृष्ण है। जो एकान्त या गोपन में साधना करते हैं उन्हें ही गोपी कहते हैं। गोपी शब्द का अर्थ भी वही है।"[१]

"गोपी अपने शरीर रूप वृन्दावन में इस जीवन कृष्ण के प्रकाश रूप आगमन की प्रतीक्षा सर्वदा करती रहती है। यह गुरु कृपा के बिना होता नहीं, वह गुरु की आज्ञानुसार कार्य करने पर स्वयं न चाहने पर प्राप्त होता है। अतएव गुरुवाक्य को दृढ़ मानकर गुरु के उपदेशानुसार अपने स्थिर प्राण में भगवान का बोध करना चाहिए। गुरुवाक्य पर विश्वास करके काय करने पर एक दिन वह प्रत्यक्ष होगा यह अवश्य निश्चित है। मन में जोर न होने से जिस स्थान में रहने पर मनोबल आए उसी स्थान पर रहना उचित है एवं उसी स्थान में रहकर क्रिया करना उचित है। भय के साथ क्रिया करने पर सम्पन्न नहीं होती और उस क्रिया द्वारा अपनी रक्षा नहीं होती। क्रिया करने से ही स्वयं की रक्षा की जा सकती है। क्रियावान को खिलाओगे। क्रियावान को खिलाकर तृप्त-तुष्ट करने पर देव-देवी भी तुष्ट-तृप्त होते हैं। क्रियावान ही देवता है सारे देवता यही क्रिया कर रहे हैं। इस देह में ही मुक्ति प्राप्त करने के लिए विधिपूर्वक क्रिया करनी चाहिए। तभी गुरु कृपा से जो प्रार्थनीय है वही होता है। जो कहते हैं केवल सुख एवं दीर्घायु चाहिए मुक्ति नहीं चाहिए, वे सब झूठे हैं। वे इसके लिए आशीर्वाद चाहते हैं, किन्तु होता नहीं।"

अनेक बार वे नाना प्रकार से निर्दिष्ट भक्तों को आकर्षित करते, उनके पार्थिव एवं पारमार्थिक दोनों प्रकार के भार को अनेक बार वहन करते एवं उनके साधना-रत जीवन को केन्द्रीभूत करते। भक्तों को वे यही शिक्षा देते थे कि किस प्रकार आत्म समर्पण के माध्यम से जीवन में आध्यात्मिक रूपान्तर लाया जा सकता है। उनकी करुणा-धारा अनेक बार स्नेह-प्यार के माध्यम से अथवा किसी अलौकिक दर्शन के माध्यम से प्रवाहित होती रहती थी। उनकी यह सब अलौकिक करुणा लीला को

का नाम 'श्री' है। कृष्ण में 'कृष्ण, धातु का अर्थ है कर्षण करना, 'ण'—निवृत्तिवाचक हैं। अर्थात इस देह रूप क्षत्र का प्राणकर्म द्वारा कर्षण करते-करते जो स्पन्दन रहित निवृत्ति रूप शाश्वत स्थिरत्वपद प्राप्त होता है वही श्रीकृष्ण है। वह श्रीकृष्ण अविनाशी है सभी देहों में वर्तमान है।

१—इसीलिए योगिराज सबको चुपचाप गोपी-भावना के साथ अर्थात् गोपन रूप से आत्म-साधना करने के लिए कहा करते थे। महात्मा रामप्रसाद ने भी ऐसी ही बातों की ओर संकेत किया है।

देखकर भक्तों के विस्मय का अन्त नहीं होता था। वे सबके यथार्थ या सच्चे कल्याणकामी और पथ प्रदर्शक थे। इसीलिए वे हमेशा भक्तों को ईश्वर-बोध एवं गहरी योग साधना के तत्त्व के सम्बन्ध में सहजता एवं सरलता पूर्वक समझा देते थे। उनके उपदेश एवं आशीर्वाद से लोगों को सच्चे कल्याण-मार्ग पर चलने की कितनी प्रेरणा प्राप्त होती थी। यथार्थ जीवन की कितनी समस्याओं को लेकर अथवा आध्यात्मिक जीवन की प्रेरणा प्राप्त करने की आशा से कितने लोग उनके पास आया करते थे और वे भी हमेशा उनके सच्चे कल्याण-मार्ग की दिशा निर्धारित किया करते थे। भक्तों के सारे कर्म, आचरण एवं चिन्ता के साथ वे एकात्म-भाव से उनके प्रति प्रखर एवं सजग दृष्टि रखते थे।

उनकी इस अलौकिक करुणा-लीला के प्रसंग में यदि कोई प्रश्न करता तो वे कहा करते थे—"**सच्चे विश्वास के साथ यदि मेरी शरण में आओ तो फिर मैं चाहे जितनी दूर क्यों न रहूं तुम्हारे बीच उपस्थित होने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं। जो किया करते हैं मैं उनके निकट उपस्थित रहता हूं।**" वे कहा करते थे कि सभी जब मन्दिर में जाते हैं तो उस समय क्या कोई मन्दिर को प्रणाम करता है न कि उस मन्दिर के भीतर अधिष्ठित या अवस्थित देव-देवी को प्रणाम करता है? देव-देवी से अलग मन्दिर का कोई मूल्य नहीं। फिर ईश्वर तो सभी जगहों पर हैं, अतएव उस विग्रह या मूर्ति के भीतर भी हैं, यह जिस प्रकार जितना सत्य है उसी प्रकार उतना ही तुम्हारे भीतर भी हैं, यह भी सत्य है। बल्कि तुम्हारे भीतर हैं यह उससे अधिक सत्य है क्योंकि तुम चलते-फिरते दीखते हो। तो फिर दूर की वस्तु को न खोजकर निकट की वस्तु को खोजना ही अच्छा है। वे जबकि तुम्हारे भीतर भी हैं और सर्वापेक्षा निकट हैं तब तो निकट की वस्तु को खोजना ही बुद्धिमानों का काम है। इस सन्दर्भ में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है—

"**ईश्वर : सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।**" गीता: १८।६१

समस्त भूतों या पदार्थों में वे हैं किन्तु हृदय प्रदेश में अधिक से अधिक उनका अवस्थान है। उस हृदय के भीतर डूबने की चर्चा रामप्रसाद ने भी की है—"**डूब दे मन काली बले, हृदि रत्नाकरेर अगाध जले।**" अर्थात्, 'रे! मन काली का नाम लेकर डुबकी लगा, हृदय-सिंधु के अथाह जल में।' हृदय के भीतर डूबने पर ही वह प्राप्त होगा, बाहर नहीं। वे कहा करते थे कि नारी सौन्दर्य के साथ ईश्वर द्वारा रचित समस्त सौन्दर्य को देखने की इच्छा, प्रवृत्ति या अधिकार सब को है; किन्तु उस रूप एवं सौन्दर्य की ओर दृष्टिपात करने के साथ-साथ उनके निर्माता की ओर ध्यान रखना होगा। जिसने अपूर्व दक्षता एवं कला-कौशल द्वारा उनको रचा है।

उस सृष्टिकर्त्ता या विश्व-निर्माता को भूलकर केवल उसके द्वारा रचित सौन्दर्य को देखने से काम नहीं चलेगा। उसके द्वारा रचित सौन्दर्य यदि इतना सुन्दर है तो फिर वह स्वयं कितना सुन्दर है ? इस प्रकार समस्त सृष्टि के भीतर यदि सृष्टिकर्त्ता को देखने की चेष्टा करो, तभी जीवन धन्य होगा। किन्तु ध्यान रक्खो, साधना के बिना ऐसी स्वच्छ या निर्मल दृष्टि किसी को भी नहीं प्राप्त होगी। यह केवल बात ही बात नहीं है बल्कि अकाट्य सत्य है। मन के द्वारा चाहे जितनी ही चेष्टा करो, स्थायी भाव नहीं आएगा। किन्तु जितना ही प्राणकर्म या प्राणायाम करोगे उतना ही मन स्थिर होगा उतनी ही वैसी स्वच्छ दृष्टि प्राप्त होगी। तब उसके प्रकाश में समस्त रूपों एवं सौन्दर्य के भीतर उसका ही या ईश्वर का ही दर्शन होगा।

● ● ●

ब्रह्मज्ञ पुरुषों या ब्रह्मवेत्ताओं के लिए बाह्य पूजा की आवश्यकता नहीं पड़ती। योगिराज स्वयं भी कभी बाह्य पूजा नहीं करते थे। इसके सम्बन्ध में शास्त्र का कथन है—

उत्तमो ब्रह्मसद्भावो ध्यानभावस्तु मध्यमः।
स्तुतिर्जपोऽधमो भावो, बहिःपूजा अधमाधमः॥

—महानिर्वाण तंत्र

अर्थात् ब्रह्म में अवस्थिति उत्तम है, ध्यान मध्यम है, स्तुति एवं जप अधम भाव है एवं बाह्य पूजा या स्थूल पूजा अति अधम है। किन्तु उन्होंने कभी भी साकार या सगुणोपासना के प्रति उन्मुख किसी को भी निषेधात्मक आदेश या परामर्श नहीं दिया। बल्कि वे इतना तक कहते थे कि साधारण लोगों के पक्ष में साकार पूजा या स्थूल पूजा प्रयोजनीय है उसे अवश्य करना चाहिए। साकार पूजा करते-करते ईश्वर के प्रति भक्ति और श्रद्धा का विकास होता है और समय पर जब वह आत्म-साधना में परिवर्तित हो जाएगी तब बाह्यपूजा न भी की जाए तो कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। समस्त प्रतिमाएँ ही प्राणरूपी ईश्वर का प्रतीक हैं। ऋषियों ने ध्यान के माध्यम से जिन सब रूपों का दर्शन किया है उन सभी रूपों को प्रतिमा के रूप में स्थापित करके सर्वसाधारण को उसके प्रति श्रद्धा-निष्ठा एवं आकर्षण पूर्वक पूजा करने का निर्देश दिया है। सामान्य लोगों को आत्मकर्म की जानकारी नहीं है इसलिए वे अपनी

अन्तर्दृष्टि के द्वारा उन रूपों का दर्शन नहीं प्राप्त कर सकते। प्रतीयमान जो कुछ भी है उसके दो छोर या दो दिशाएँ हैं। जो बहिरंग और अन्तरंग के रूप में विभाजित हैं। साधना के क्षेत्र में यही दो दिशाएँ हैं मूर्ति-पूजा, तीर्थाटन, व्रत, उपवास, गंगा-स्नान, जप-संकीर्त्तन, स्तुति अतिथि-सेवा, दरिद्र-सेवा, साधु-सेवा इत्यादि साधना के बहिरंग हैं या बाह्य अंग हैं। एकमात्र आत्मकर्म ही अन्तरंग या आभ्यन्तर साधना है। नौकरी के क्षेत्र में जिस प्रकार उन्नति का क्रम या लक्ष्य है; वैसे ही जीव की भी उन्नति का क्रम या लक्ष्य है। दयालु एवं मानव प्रेमी सहृदय ऋषियों ने बहिरंग साधना का प्रचलन इसलिए किया है कि सभी मनुष्यों में अन्तर्लक्ष्य या अन्तरंग साधना की स्पृहा नहीं है। सभी लोग ईश्वर को प्राप्त करना नहीं चाहते। वे ईश्वर के ऐश्वर्य को पाने से ही खुश होते हैं। ऐश्वर्य को ईश्वर समझते हैं। इस प्रकार के लोगों की ही संख्या अधिक है। इन लोगों के लिये ही ऋषियों ने बहिरंग साधना की मान्यता दी थी और उसका प्रचार किया था। इस प्रकार की बहिरंग साधना करते-करते जन्मान्तर के द्वारा जीव शुद्ध होगा और साधना की अन्तरंगता की ओर ध्यान देगा, तभी वह अन्तरंग साधना में रत होने की उपयुक्तता प्राप्त करेगा और अन्तरंग या आभ्यान्तर साधना द्वारा आत्मराज्य की स्थापना कर सकेगा।

'यथागाधनिधेर्लब्धौ नोपायः खननं विना।
मल्लाभेऽपि तथा स्वात्मचिन्तां मुक्त्वा न चापरः।

—पंचदशी: ९।१५३

अर्थात् जिस प्रकार अगाध रत्नों की खान दृष्टिगोचर होने पर भी उनकी प्राप्ति के लिए उत्खनन के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। उसी प्रकार आत्मचिन्ता अथवा आत्मकर्म के विना मुझे (आत्मा को) देखने या प्राप्त करने का और कोई विकल्प या उपाय नहीं है।

बहिरंग साधना में अभिक्रम या प्रारम्भ अथवा स्थानच्युति का दोष है, किन्तु अन्तरंग साधना में कोई अभिक्रम नहीं है। जैसे बहिरंग साधना के अन्तर्गत किसी देव-देवी की पूजा करने के लिए पहले शुद्ध वस्त्र धारण करना पड़ेगा। क्योंकि अशुद्ध वस्त्र पहनकर किसी देव-देवी को स्पर्श करना पूजा-पद्धति के प्रतिकूल है। नहीं तो पाप होगा। विशुद्ध गाय के घी के बिना होम करने की विधि नहीं है, करने से पाप होगा। इसके अलावा फूल, गंगाजल, तुलसीपत्र, इत्यादि आवश्यक हैं। किन्तु अन्तरंग साधना में इन सब का कोई प्रयोजन नहीं। शुद्धवस्त्र न धारण करने से भी दोष नहीं। किसी बाहरी उपचार की कोई आवश्यकता नहीं। केवल मन एवं प्राण के साथ ही अन्तरंग साधना

करनी पड़ती है। ये दोनों वस्तुए सब के पास हैं इसलिए प्राणकर्म अथवा प्राणायाम ही अन्तरंग साधना का प्रधान वैशिष्ट्य है। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है—"नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते"—[गीता : २।४०] अर्थात् इस निष्काम कर्मयोग (प्राणकर्म) में अभिक्रम अथवा प्रारम्भ की विफलता नहीं है और न तो कोई प्रत्यवाय या विघ्न-बाधा या पाप है तात्पर्य यह कि निष्काम कर्मयोग या प्राणकर्म का कोई अभिक्रम दोष नहीं है। क्योंकि निष्काम कर्म होने के कारण इसमें कोई कामना नहीं। यह स्वतः ही जारी है या स्वयं चल रहा है। इसका कोई नव या नया आरम्भ नहीं है। यह सहज है और जन्म के साथ प्राप्त है।

गंगास्नान बहिरंग साधना के अन्तर्गत है। सभी वर्ग-श्रेणी के ऊच-नीच जनसामान्य गंगा-स्नान कर सकते हैं। इसमें कोई बाधा-विघ्न नहीं। स्रोतस्विनी गंगा में स्नान करने से स्वास्थ्य में जो उन्नति होने वाली होगी, वह सबके लिए समान है। और होगी ही; किन्तु यदि कोई गंगा-स्तोत्र का पाठ करते हुए भक्ति पूर्वक गंगास्नान करता है तो उसके स्वास्थ्य के विकास या उन्नति से साथ उसकी भक्ति में भी उत्कर्ष की वृद्धि होगी। यह उसका अतिरिक्त लाभ होगा। इससे अधिक और कुछ नहीं होगा। यदि कोई गंगा की अधिष्ठात्री देवी का दर्शन करना चाहे तो वह ध्यान द्वारा प्राप्त होगा; किन्तु यदि कोई मनुष्य जीवन को सफल करने के उद्देश्य से कृतकृत्य अथवा कृतार्थ होना चाहता है तो उसे अपनी देह के भीतर स्थित त्रिवेणी में अवश्य ही स्नान करना होगा। प्रत्येक मनुष्य के शरीर में इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाम की तीन मुख्य नाडियाँ हैं जो ज्ञान संकलिनी तंत्र के मतानुसार क्रमशः गंगा (इड़ा) यमुना (पिंगला) सरस्वती (सुषुम्ना) नाम से परिचित हैं।

'इड़ा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी।
इड़ापिंगलयोर्मध्ये सुषुम्ना च सरस्वती॥
त्रिवेणी संगमो यत्र तीर्थराजः स उच्यते।
तत्र स्नानं प्रकुर्वीत सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

—ज्ञान संकलिनी तंत्र : ११।१२

अर्थात् इड़ा, गंगा, पिंगला, यमुना और इड़ा-पिंगला के मध्य में सुषुम्ना नाड़ी ही सरस्वती नदी है। आज्ञाचक्र में इन तीन नाड़ियों के संगम-स्थल को तीर्थराज त्रिवेणी-प्रयाग कहते हैं। यदि कोई उस आज्ञाचक्र में स्थित तीर्थराज प्रयाग में स्नान कर सके अर्थात् वहाँ सहस्रार से क्षरित या निर्झरित अमृत की सहस्रधारा में डूब सके तभी वह समस्त पापों से मुक्त हो सकता है, अथवा मुक्त हो जाता है। किन्तु वहाँ स्नान

कैसे किया जायगा ? उसकी प्रक्रिया के सम्बन्ध में तंत्र की भाषा में उसका विवरण इस प्रकार है—

मनः स्थिरं यस्य विनावलम्बनम्।
वायु स्थिरा यस्य विनानिरोधनम्॥
दृष्टिः स्थिरो यस्य विनावलोकनम्।
सा एव मुद्रा विचरन्ती खेचरी॥

—ज्ञान संकलिनी तंत्र १४

अर्थात् विना अवलम्बन के मन को स्थिर करके, अवरोध या निरोध के विना श्वास-प्रश्वास को स्थिर करके और अवलम्बन के विना अर्थात् मन या कल्पना द्वारा कुछ न देखकर कूटस्थ में दृष्टि को स्थिर करके उस तीर्थराज में स्नान करना पड़ता है और उसे ही खेचरी मुद्रा में अवस्थिति की संज्ञा दी गई है। इसी को भगवान श्री कृष्ण ने 'मन्मना' कहा है, अर्थात् मुझमें (आत्मा में) मन रक्खो, निमग्नचित्त हो जाओ—'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु, (गीता : १८।६५) अर्थात् मुझ परमात्मा में ही नित्य निरन्तर मन को दृढ़ करो, निष्काम भाव से मुझ परमेश्वर (आत्मा) का ही भजन करो और प्रेम से विह्वलता पूर्वक उसकी ही अर्चना करो। तात्पर्य यह है कि चंचल मन ही जीव का वर्तमान मन है और वर्तमान के द्वारा ही जीव सारे कर्म करता है। इस वर्तमान मन को प्राण कर्म द्वारा स्थिर कर लेने पर वर्तमान चंचल मन का अस्तित्व विलुप्त हो जाएगा और वह स्थिर मन में पर्यवसित हो जाएगा तभी मन में मन का अवस्थान होगा। इस प्रकार जब मन में मन को अवस्थित करोगे तभी तुम मेरे (आत्मा के) सच्चे भक्त कहलाओगे। और मेरा ही यजन करते हुए यजनशील के रूप में अर्थात् मेरे ही यज्ञ के (आत्मकर्म या आत्मयज्ञ के) उपासक के रूप में मुझे ही (आत्मा को ही) नमस्कार करोगे अर्थात् स्वयं को ही स्वयं ही नमस्कार करोगे अथवा स्वयं ही स्वयं को जानोगे। इसीलिए प्रह्लाद को जब भगवान का दर्शन होता है तब उन्होंने अपने आराध्यदेव को **"नमस्तुभ्यं नमो मह्यं तुभ्यं मह्यं नमो नमः"** (विष्णुपुराण) कहकर प्रणाम किया था।

बाहर की गंगा में देह को डुबाकर स्नान किया जाता है; किन्तु आन्तर गंगा में देह को डुबाया नहीं जाता, वहाँ तो मन एवं प्राण को डुबाना पड़ता है। इस प्रकार मन एवं प्राण को कूटस्थ रूपिणी त्रिवेणी में यदि डुबाकर स्नान कराया जा सके तो जीवन धन्य हो जाता है, सांसारिक मोह-माया या भवरोग दूर हो जाते हैं और जन्म-मृत्यु का प्रवाह समाप्त हो जाता है।

किस प्रकार या कैसे उस आज्ञाचक्र में स्थित तीर्थराज प्रयाग में मन एवं प्राण को डुबाकर स्नान किया जाता है; योगिराज ने उसके उपाय की चर्चा अपने क्रियायोग की साधना के प्रसंग में की है। वही अंतरंग साधना है; यही सब को करना चाहिए।

यमो वैवस्वतो देवो यस्तुवं स हृदि स्थितः।
ते न चेद विवादस्ते मा गंगां मा कुरुन गम.॥

—मनु रहस्यः ८।९२

अर्थात् आन्तर साधना द्वारा जिसके हृदय में सर्वदा स्थैर्य या जिसे स्थिरता की अवस्था प्राप्त है उसके लिए गंगा या कुरुक्षेत्र में स्नान का प्रयोजन नहीं है।

योगिराज द्वारा निर्दशित या प्रदर्शित साधना-मार्ग को शास्त्र की भाषा में आत्मविद्या, अध्यात्म विद्या या ब्रह्मविद्या कहते हैं; किन्तु उन्होंने स्वयं इसको 'क्रियायोग' या संक्षेप में क्रिया का नाम दिया था। यह 'क्रियायोग' न्यायशास्त्र सम्मत (Logical) एवं विज्ञान सम्मत (Scientific) है। योगिराज ने इसे गणित या अंक-विद्या जैसा सही और निर्भ्रान्त विज्ञानसम्मत बताया है। उनका कहना था कि भक्ति के बिना ईश्वर-साधना नहीं होती, यह सही है; किन्तु वैसी भक्ति कितनों में हैं? जो ईश्वर-साधना का मूल आधार है। पहले तो वैसी भक्ति आती नहीं। इसलिए जिनमें भक्ति का अभाव है या नहीं है वे भक्ति की साधना कैसे करेंगे? उनके मन में साधना की इच्छा नहीं उभरती। उन्हें भक्ति का अर्जन करना पड़ेगा। जिस प्रकार अरुचि के कारण खाना अच्छा तो नहीं लगता; किन्तु खाने से ही जिस प्रकार भूख शान्त होती है उसी प्रकार क्रिया करना, अच्छा लगे या न लगे; किन्तु क्रिया करने पर आत्मदर्शन अथवा आत्मसाक्षात्कार अवश्य ही होगा। वास्तविक भक्ति स्वयं ही आयेगी। यह ठीक है कि पहले अभ्यास न रहने के कारण वह वस्तुतः नहीं आयेगी या अच्छी नहीं लगेगी, किन्तु क्रिया का नियमित अभ्यास करना निश्चय ही अच्छा लगेगा। क्रिया अर्थात् कर्म को ही उन्होंने गीता के कर्मयोग के समानान्तर क्रिया योग की संज्ञा दी थी। कर्म के बिना कुछ प्राप्त नहीं होता। इसीलिए गीता में कर्मयोग को इतनी प्रधानता दी गई हैं। पातंजल योग दर्शन सहित अन्य शास्त्रों में भी क्रियायोग का नामोल्लेख मिलता है।

'तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रिया योगः।
स हि क्रियायोगः समाधि भावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च॥

—पातंजल योगसूत्र : साधनपाद २।१-२

तप: स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान अथवा ध्यान आदि ही क्रिया योग हैं। यह क्रियायोग समाधि का अनुष्ठान है और अविद्या आदि क्लेशों को क्षीण करता है। इस प्रकार समाधि का अनुष्ठान अथवा प्रयत्न करते-करते शारीरिक और मानसिक क्लेश कम हो जाते हैं उसके बाद प्रकृष्ट रूप में नाद का श्रवण करने पर मन में किसी प्रकार की कल्पना नहीं उभरती। तत्पश्चात् सत्वपुरुष की प्राप्ति होने पर सूक्ष्म प्रज्ञा का उदय होता है। इसीलिए योगिराज कहा करते—"शारीरिक कष्ट होने से ही समझोगे कि साधना ठीक से नहीं हो रही है।

यही वह अमर योग है जिसे प्राचीन काल में समस्त ऋषिगण करते थे। भगवान श्री कृष्ण के जन्म से पहले भी यह था, आज भी है और चिरकाल तक रहेगा। इसी कारण यह अमर योग हैं। काल के प्रभाव से कभी-कभी यह मलिन होता है और तभी कोई महामानव आविर्भूत होकर इसे पुनः प्रतिष्ठित करता है। एक बार इस अमर योग के लुप्त प्राय होने पर भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन के माध्यम से मानव-समाज में इसका प्रचार किया था। उसके बाद दीर्घकाल तक इस महान अमर योग का अनुशीलन उपेक्षित रहा। तभी कृष्ण सदृश बाबा जी महाराज ने अर्जुन सदृश श्यामाचरण के माध्यम से इसे पुनः मनुष्य समाज के लिए सहजलभ्य बनाया "जो किसुन सो बुड़्वा बाबा" —जो कृष्ण हैं वही बुढ़वा बाबा अर्थात् बाबाजी हैं। योगिराज की उक्ति से यह निश्चित रूप से प्रमाणित होता है।

केवल यही नहीं, उन्होंने और भी लिखा है—"बाबा जी के रूप, एही जम ओ धर्म।" इससे स्पष्ट है कि उनके गुरु केवल महान योगी ही नहीं थे बल्कि वे स्वयं ही यम और धर्म थे। इसीलिए भगवान ने आश्वासन देते हुए कहा है जब-जब धर्म की हानि होगी या ग्लानि उपस्थित होगी अथवा जब-जब यह महान अमर योग उपेक्षा या अवहेलना के कारण लुप्तप्राय होगा, तभी वे किसी महामानव के रूप में आविर्भूत होकर पुनः धर्म की संस्थापना करेंगे। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए श्यामाचरण का आविर्भाव हुआ। भगवान श्री कृष्ण ने कहा है—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥

—गीता : १८।४८

अर्थात् यह क्रियायोग ही वह सहज कर्म है या प्राणकर्म है जो सहजात है। पहले पहल अनाभ्यास के कारण दोषयुक्त होने पर भी इसको छोड़ना उचित नहीं है; क्योंकि प्रारम्भ से सभी कर्म धुएँ से ढँकी अग्नि की तरह दोषपूर्ण रहते हैं। इसीलिए योगिराज प्रायः इस बात को

दुहराते और सब से कहते—"बनत बनत बन जाय।" अर्थात् आत्मकर्म का नियमित अभ्यास करते रहने से एक दिन कर्मातीत अवस्था प्राप्त हो जाती हैं। और तब तुम अपने लक्ष्य या केन्द्र तक पहुँच जाओगे, वस्तुतः तभी तुम परमात्मा-दर्शन करोगे और स्वयं, स्वयं को जान सकोगे। योगिराज द्वारा प्रदर्शित इस प्राणकर्म के सम्बन्ध में शास्त्र का कथन है—

प्राणायामो महाधर्मो वेदानामप्यगोचरः।
सर्वपुण्यस्य सारोहि पापराशितुलानलः॥
महापातक कोटीनां तत्कोटीनांचदुष्कृताम्।
पूर्वजन्मार्जितं पापं नाना दुष्कर्मपातकम्॥
नश्यत्येव महादेव धन्यः सोऽभ्यासयोगतः॥

—रुद्रयामल : पन्द्रहवां पटल

अर्थात्, प्रणायाम महाधर्म है जो वेद या विज्ञान द्वारा भी अगोचर है। यह सभी पुण्यों का सार है और सभी पापों का विनाशक है। इसके द्वारा करोड़ों दुष्कर्म एवं पूर्वजन्म के सभी पाप नष्ट होते हैं। जो इस प्राणायाम का अभ्यास करते हैं वे धन्य हो जाते हैं।

इस प्राणायाम के लाभ एवं उपकार के सम्बन्ध में योगशास्त्र ने उदात्त कंठ से घोषणा की है—"आनन्दो जायते चित्ते प्राणायामी सुखी भवेत्।" अर्थात् जो प्राणायाम करते हैं वे आनन्द या सुख पूर्वक सांसारिक जीवन व्यतीत करते हैं।

किन्तु यह नाक दबाकर किया जाने वाला प्राणायाम नहीं है। यह गुरु द्वारा ही प्राप्त होता है। जो प्राणायाम नाक दबाकर किया जाता है उसमें बलपूर्वक वायु को रोककर प्रकृति अथवा स्वभाव के विरुद्ध कुम्भक करना पड़ता है। इससे रोग या व्याधि होने की आशंका रहती है—"बालबुद्धिभिरंगुलांगुष्ठाभ्यां नासिकाच्छिद्रमवरुध्य यः प्राणायामः क्रियते स खलु शिष्टैस्त्याज्यः।" (ऋग्वेद भाष्य) अर्थात् अल्पबुद्धि वाले लोग उंगली द्वारा नासिकाछिद्र को बन्द करके जो प्राणायाम करते हैं वह शिष्टजनों के लिए परित्याज्य है।

योगिराज ने कहा कि जिस प्रकार एक और एक मिलकर दो होते हैं, यह एक वैज्ञानिक एवं गणितीय सत्य है, उसी प्रकार १२ उत्तम प्राणायाम से प्रत्याहार अर्थात् इन्द्रियजन्य विषय से प्रत्याहार, १४४ प्राणायाम से धारणा अर्थात् आत्म विषयक धारणा होती है। क्योंकि इन्द्रिय सम्बन्धी विषयों या वृत्तियों से मन के सम्यक रूप से प्रत्याहृत या निरोध होने पर ही आत्म विषयक धारणा आती है। १७२८ उत्तम प्राणायाम से ध्यान अर्थात् आत्म-विषयक स्थिर लक्ष्य और २०७३६

उत्तम प्राणायाम से समाधि होगी यह भी निश्चित एवं वैज्ञानिक सत्य है।

> प्राणायामद्विषट्कन प्रत्याहारः प्रकीर्त्तितः।
> प्रत्याहार द्विषट्केन जायते धारणा शुभा॥
> धारणा द्वादश प्रोक्ता ध्यानं ध्यान विशारदैः।
> ध्यान द्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते॥
>
> —गोरक्ष संहिता

भोजन जिस प्रकार भूख या क्षुधा के लिए निवृत्तिकारक है, उसी प्रकार क्रिया योग ईश्वर प्राप्ति का माध्यम है। इस प्रकार साधना का एक वैज्ञानिक या विज्ञान सम्मत आधार योगिराज द्वारा प्रदर्शित साधनपथ की एक और विशेषता है।

योगिराज द्वारा प्रदर्शित इस क्रियायोग की साधना कितनी विज्ञान सम्मत है इसके सम्बन्ध में उन्होंने और भी सूक्ष्म विवेचना प्रस्तुत करते हुए कहा है कि सामान्यतः सभी लोग चौबीस घन्टे में २१६०० बार श्वास-प्रश्वास का ग्रहण एवं त्याग करते हैं। वही जीव की आयु है अर्थात् एक मिनट में सभी १५ श्वास-प्रश्वास, ग्रहण करते एवं छोड़ते हैं। इसी क्रम से जीव की आयु क्षीण या क्षयित हो रही है। जब भी श्वास की पूंजी शेष या समाप्त हो जाती है तभी जीव की मृत्यु होती है; किन्तु एक प्राणायाम में ४४ सेकण्ड का समय लगता है। इसके अनुसार योगी २४ घन्टे में लगभग १९६४ या दो हजार प्राणायाम करते हैं। तात्पर्य है कि योगी २४ घन्टे में मात्र दो हजार श्वास-प्रश्वास का ग्रहण एवं त्याग करते हैं। किन्तु साधारण आदमी २१६०० बार साँस लेता है और छोड़ता है। प्राणायाम करते-करते योगी जब निश्चल अवस्था प्राप्त कर लेते हैं तब उनके श्वास-प्रश्वास में किसी प्रकार की गति नहीं रहती इसीलिए योगिराज कहा करते थे "जब छ चक्रों में मन न देकर स्वयं क्रिया होगी तभी सब कुछ बता सकोगे।" अर्थात् वैसे व्यक्ति जो कहेंगे वही सत्य होगा, क्योंकि उस समय वे युक्ततम अवस्था में स्थित होते हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने और भी कहा है—"**२१६०० श्वास को रोके। १०० दिन रोके तो जों इच्छा करे सिद्ध होय—तब जत्ता रोज चाहे जिए।**" अर्थात् इस प्रकार कुम्भक होने पर योगी को इच्छामृत्यु की अवस्था प्राप्त होती है। "**पूरक रेचक छूटे तब केवल कुम्भक कहलावे।**" अर्थात् प्राण कर्म करते करते जब श्वास प्रश्वास का भीतर जाना और बाहर आना नहीं होगा—निश्चल हो जायेंगे—तभी केवल कुम्भक रूप आनन्द की अवस्था होगी। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है—

"नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।" गीता : २।६६
अर्थात् अयुक्त व्यक्ति या साधन रहित व्यक्ति के अन्तःकरण में श्रेष्ठ बुद्धि का अभाव है। आत्म-चिन्तन में अयुक्तता के कारण वास्तविक ध्यान भी नहीं होता, क्योंकि जीव की जो वर्तमान या उपस्थित बुद्धि है वह अयुक्त बुद्धि या चंचल बुद्धि है, वह मिथ्या है। इसलिए इस चंचल अवस्था से उत्पन्न बुद्धि भी मिथ्या है। जब श्वास-प्रश्वास ही जीव की आयु है तो फिर सहज में ही समझा जा सकता है कि योगी प्राणकर्म या प्राणायाम द्वारा उसके व्यय को कम करके स्वेच्छा से परमायु की वृद्धि करने में सक्षम होते हैं। और इसी प्रकार ही वे मृत्यु को भी नियन्त्रित करने में सक्षम होते हैं। जो जितना ही अधिक प्राणायाम करेंगे वे उतने ही दीर्घजीवी एवं सुन्दर स्वास्थ्य के अधिकारी होंगे इसलिए समाधि की अवस्था अर्थात् क्रिया की परावस्था भी मृत्यु का ही प्रतीक है या मृत्यु पदवाच्य है; क्योंकि उस समय श्वास नहीं रहता और श्वास का अभाव ही मृत्यु है।

यह क्रियायोग रूप श्वास-क्रिया एक अति प्राचीन विज्ञान है। वेद उपनिषद गीता एवं तंत्र-योग आदि शास्त्रों में इसके रहस्य एवं उपयोगिता का अत्यधिक वर्णन एवं विवेचन प्राप्त है। यज्ञ, नित्यपूजा एवं सभी प्रकार के धर्म-कर्म में भी इस योग का प्रतीक लक्षित है। वर्तमानकाल में जिस प्रकार प्रतीक की आड़ में देव-देवी आवृत हो गये हैं उसी प्रकार यज्ञ एवं बाह्य पूजा के अन्तराल में या उनके भीतर प्राण-यज्ञ आवृत हो गया है। पुराणेतिहासिक दृष्टि से भगवान श्रीकृष्ण ने यह योग अर्जुन को प्रदान किया था। समस्त विश्व के अनेक महात्माओं ने इसी योग-मार्ग या साधना के माध्यम से जीवन में सार्थकता एवं सफलता के साथ परमात्म बोध को उपलब्ध किया है। जिनमें कपिल राजा जनक, व्यासदेव [कृष्णद्वैपायन] शुकदेव, पतंजलि, सुकरात, महात्मा यीशु ख्रिस्त, सेन्ट जॉन, सेन्ट पॉल, दादू दयाल, कबीर रविदास, गोरक्षनाथ, तुलसीदास, नानक, रामप्रसाद सेन आदि-आदि विख्यात हैं। भगवान श्रीकृष्ण गीता में इसकी चर्चा करते हुए कहते हैं कि उन्होंने अपने किसी पूर्व अवतार के समय इस महान अक्षय योग की प्रणाली सूर्य को प्रदान की थी। सूर्य ने मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को दिया था। इसी प्रकार राजर्षियों ने इस योग से परम्परागत सूत्रों द्वारा परिचय प्राप्त किया था। अर्थात् स्थिर प्राणरूप जीवन कृष्ण ने यह अक्षययोग सूर्य को दिया था—प्राण ही सूर्य है—(**'आदित्यो ह वै प्राणः'**) जिस इड़ा और पिंगला में प्राण का प्रवाह चल रहा है या गतिशील है, उस पिंगला नाड़ी को ही सूर्यनाड़ी और इड़ा नाड़ी को चन्द्रनाड़ी कहते हैं। इसीलिए

पिंगला नाड़ी स्थित वायुरूपी प्राण ही सूर्य है। उन्होंने सूर्य से कहा अर्थात् अव्यक्त अवस्था रूप जो स्थिरप्राण जीवन कृष्ण हैं वे चंचल गति के रूप में सूर्यनाड़ी के भीतर प्रवेश करके चंचल अवस्था के रूप में अभिव्यक्त हुए या प्रकाशित हुए अर्थात् स्थिर प्राणरूप जीवन कृष्ण द्वारा चंचल प्राणरूप सूर्यनाड़ी में व्यक्त रूप अवस्था ही योग है उस योग को सूर्य ने मनु को बतलाया—यहाँ मनु का अर्थ है मन। प्राण चंचल होने पर जब मन की उपाधि या नाम धारण कर लेता है तब उसी मन में योग का व्यक्त भाव या स्वरूप स्थिर होता है। वायु की स्थिरावस्था ही योगयुक्त अवस्था है। उसी स्थिरावस्था से चंचल होकर पिंगलारूप सूर्य एवं मन पर योग की अभिव्यक्ति हुई। अर्थात् स्थिर प्राण रूप आत्मा चंचल होकर पिंगलारूप सूर्य में व्यक्त हुआ फिर सूर्य से मन या मनु में और फिर इक्ष्वाकु अर्थात् नासिका में स्थित बहिर्वायु के रूप में इस अक्षय योग की अभिव्यक्ति हुई। चारों वर्ण के लिए चार आश्रमों में विभाजित समाज-व्यवस्था में योगचर्या, ब्रह्मचर्य आश्रम से लेकर संन्यास तक हर स्तर के सभी वर्ण के लोगों के लिए अनिवार्य थी। रघुवंशी राजाओं में इसका व्रत के रूप में पालन करते हुए प्रायः सभी ने मरते समय योग-मार्ग के सहारे देह त्याग किया था। वह परम्परा हमारे देश में अन्ततः महाकवि कालिदास के काल तक अक्षुण्ण थी। 'रघुवंश' महाकाव्य के प्रथम सर्ग में 'योगेनान्ते तनुत्यजाम' से इस तथ्य की पुष्टि होती है। धीरे-धीरे समय के प्रभाव से यह चर्या लुप्तप्राय हो गई थी। श्यामाचरण ने इस महान योग-साधना को पुनः प्रसारित प्रचारित करके उसे एक नया आयाम दिया है। उन्होंने इसका पुनरुद्धार करते हुए एवं उसकी कठोरताओं को सरलता का संस्पर्श एवं संस्कार देकर इसे वर्तमान दुर्बल एवं मनोबल हीन मनुष्य-समाज के लिए एक सशक्त शक्तिकूट के रूप में प्रस्तुत किया और सामान्य लोगों में आजीवन प्रचार-प्रसार किया। विश्व-वाङ्मय में मानव समाज के लिए यह उनका श्रेष्ठ ज्ञान-दान है।

● ● ●

आत्मा के अस्तित्व के कारण ही पृथ्वी, जल, अग्नि वायु और आकाश की प्रतीति हो रही है। आत्मक्रिया के द्वारा कूटस्थ ब्रह्म में मन की तद्रूपता होने से ही मुक्त—इसलिये मुक्त होना और कुछ भी नहीं,

केवल क्रिया की परावस्था में हमेशा स्थित रहने का पर्याय है। इस प्रकार क्रिया की परावस्था में स्थित रहने से देह पृथक रहता है। इस रूप में देह को यदि पृथक करके चित्त, मन इत्यादि को कूटस्थ ब्रह्म में रखो तो मन की भाग-दौड़ या उसका वेग-प्रवेग शान्त होगा एवं तभी सुन्दररूप ब्रह्म में स्थिति प्राप्त करोगे। सुन्दररूप ब्रह्म में स्थित रहने पर तुम भी नहीं और तुम्हारा भी कुछ नहीं। अतएव दूसरी ओर मन को आबद्ध करने से मुक्त हुए। वस्तुतः उस समय तुम्हारा विप्र आदि वर्ण भी नहीं, कोई आश्रम भी नहीं, तुम्हारा कोई आकार भी नहीं, तुम इस चक्षु द्वारा गोचर भी नहीं, तथा तुम्हारी कोई इच्छा भी नहीं; अतएव तुम इस विश्व या संसार के मात्र साक्षी बनकर शून्य ब्रह्म में सर्वदा स्थित रहो अर्थात् क्रिया की परावस्था में रहो, यही तुम्हारा एकमात्र कार्य है। इस महाशून्य का क्षणभर के लिये भी जिसने दर्शन प्राप्त किया है उसका जीवन सार्थक है। धर्म-अधर्म, सुख-दुख इत्यादि यह सब मन के कार्य हैं; किन्तु तुम्हारा जो विभु है उसका कुछ भी नहीं। तुम कर्त्ता भी नहीं भोक्ता भी नहीं; कर्त्ता एवं भोक्ता का अस्तित्व मन द्वारा होता है। वही मन जब ब्रह्म में लीन हो गया अर्थात् क्रिया की परावस्था में पूर्णतः दृढ़ता के साथ स्थित हो गया तब निश्चित रूप से सर्वदा मुक्त है। यह जो अवस्तु की वस्तु-ब्रह्म है, उसे ही सर्वत्र देख रहे हो; किन्तु द्रष्टा अर्थात् मन जब तक ब्रह्म-स्वरूप नहीं होता तभी तक ही दृश्य दिखाई पड़ता है। द्रष्टा एवं दृश्य दोनों होने पर मन की स्थिति अन्यत्र रहती है। इस प्रकार मन अर्थात् द्रष्टा का बन्धन हो रहा है और यही तुम्हारी बन्धन की अवस्था है। मैं कर्त्ता के रूप में ब्रह्म को देख रहा हूँ अथवा सामने तुम्हें देख रहा हूँ; यही अहं है। यह अहं ही तुम्हें काट या डस रहा है। इसीलिये तुम्हें तमाम सांसारिक यंत्रणाओं एवं छटपटाहटों का अनुभव हो रहा है। किसी प्रकार की मानसिक शान्ति नहीं प्राप्त होने के कारण ही उपदेश की कामना-प्रार्थना रखते हो। इसीलिये कह रहा हूँ कि मैं कर्त्ता भी नहीं, भोक्ता भी नहीं; क्रिया की परावस्था में रहने पर यह विश्वास अपने आप होता है। इस विश्वास रूपी अमृत का पान करके सुन्दररूप ब्रह्म में सर्वदा स्थित रहो अर्थात् हमेशा क्रिया की परा-वस्था में रहो। इसी को मुक्तावस्था कहते हैं और जो इसके विपरीत है, वह बन्धन की अवस्था है।

यह समग्र विश्व मन की कल्पना मात्र है; रस्सी में सर्पभ्रम जैसा। और फिर जब रस्सी में रस्सी का बोध होता है तब आनन्द प्राप्त होता है। उसी प्रकार जब क्रिया की परावस्था में तुम रहते हो तब स्वयंबोध स्वरूप तुम ही हो। वह तुम साक्षीस्वरूप हो, विभु हो,

पूर्ण हो। पूर्ण होने से ही एक और एक होने से ही मुक्त। ऐसी स्थिति में तब तुम अक्रिय, इच्छा रहित निस्पृह हो जाते हो, इसलिए शान्त एवं स्थिर हो जाते हो। केवल भ्रम में ही सांसारिक बन्धन है। देहरूप सदैव से अभिमान के पाश में बंधा है इसलिए 'मैं' का यह बोध हो रहा है। उस वर्तमान 'मैं' को क्रिया रूपी खड्ग द्वारा काट दो और जब क्रिया की परावस्था में 'मैं' का अस्तित्व नहीं रहेगा तभी 'मैं पन' दूर होगा एवं ब्रह्म में लीन होकर सुखी रहोगे। उस समय तुम कुछ भी नहीं करोगे; क्योंकि तब कर्म रहेगा नहीं। उस समय किसी प्रकार की इच्छा भी नहीं होगी इस कारण तुम निःसंगता की स्थिति में रहोगे। वस्तुतः यही निःसंग अवस्था है; क्योंकि इच्छा के अभाव में किसी प्रकार की इन्द्रिय-संगता या आसक्ति नहीं होती। ऐसी स्थिति में तुम ही स्वप्रकाश, निरंजन रूप हो। शुद्ध-बुद्ध स्वरूप क्रिया की परावस्था में तुम ही हो। तुम इतने महान व्यक्ति होकर क्षुद्र चित्त मत बनो। उस क्रिया की परावस्था में स्थित रहो, जहां कोई विषय नहीं, विकार नहीं, भय नहीं और वही शीतल-शान्त होने का और विश्राम-प्राप्ति का स्थान है। उसके पूर्व 'मैं' रूप का ज्ञान होने से यह जगत भासमान है. किन्तु जब क्रिया की परावस्था में 'मैं' का अस्तित्व नहीं होता तब इस प्रकार का आत्मज्ञान होने से जगत का अस्तित्व नहीं। इस प्रकार क्रिया की परावस्था में मैं ब्रह्म हूँ तब फिर मैं किसको नमस्कार करूँगा? तब मैं स्वयं ही स्वयं को ओंकार क्रिया द्वारा नमस्कार करता हूँ क्योंकि मेरा विनाश नहीं। अन्य किसी को नमस्कार करने पर द्वैत हुआ। फिर जिसको नमस्कार करूँगा उसका विनाश सम्भव है क्योंकि ब्रह्मादि स्तम्भ तक जगत का जो कुछ भी है, नाशवान है। इसलिए मैं अपने को ही नमस्कार करता हूँ।

मुझ से भिन्न अन्य होने पर द्वैत की सृष्टि होती है। यह ही महादुःख का मूल है। क्रिया की परावस्था से अलग इस दुःख की और कोई औषधि या उपचार नहीं। दो होने से ही कल्पना की सृष्टि होती है। यह शरीर स्वर्ग, नरक, बन्धन, मोक्ष, भय, कामना, वासना सभी कल्पना मात्र है। इन सारी कल्पनाओं का परित्याग कर देने पर क्रिया की परावस्था में जब एकाकार की स्थिति होती है तब इच्छा भी नहीं, अनिच्छा भी नहीं, बन्धन भी नहीं, मोक्ष भी नहीं। तब शान्त स्वरूप निराश्रय 'मैं' की स्थिति होती है। तुम जो जीवित रहने की इच्छा करते हो, यही तुम्हारा बन्धन है। यह इच्छा जब नहीं तो फिर बन्धन कहां? क्रिया की परावस्था में अटके रहना, जिसे ज्ञान कहते हैं, यह ज्ञान जिसे प्राप्त हो जाता है अर्थात जो अटके रहे उनका यह ज्ञान ही

मित्रस्वरूप है। क्रिया की परावस्था में जो अटके रहते हैं उनके भीतर इहलोक-परलोक की कोई इच्छा नहीं रहती—वे कामना-रहित हो जाते हैं। किन्तु नित्य एवं अनित्य का जिन्हें बोध है, वे ही मोक्ष की कामना करते हैं। यह भी द्वैत है, किन्तु क्रिया की परावस्था में जो धीर व्यक्ति रहते हैं वे कुछ भी नहीं करते; लेकिन सभी कुछ करते हैं। इसीलिए योगिराज ने लिखा है—**'पाँच दण्ड रोध होने पर कर्म होगा'**—अर्थात् क्रिया करते-करते कम से कम पाँच दण्ड के लिए भी प्राणवायु के रुद्ध होने पर अर्थात् पाँच दण्ड केवल कुम्भक की अवस्था प्राप्त होने पर जिस अवस्था की उत्पत्ति होगी, वही कर्म होगा अर्थात् उस रुद्ध अवस्था में रहना ही प्रकृत कर्म है और उसमें न रहना ही अकर्म है। ऐसे धैर्यशील व्यक्ति हमेशा ही आत्मा में स्थिर होकर रहते हैं। उन्हें सन्तोष भी नहीं, असन्तोष भी नहीं, बन्धन भी नहीं, मोक्ष भी नहीं। वे कुवाक्य या अपशब्द सुनकर भी क्रुद्ध नहीं होते और स्तुति करने पर भी प्रसन्न नहीं होते। इच्छारहित होने पर आशा नहीं रहती। आशा रहित होकर क्रिया की परावस्था में रहने से हमेशा आत्मा में स्थित रहकर तृप्ति प्राप्त करते हैं। इस प्रकार के व्यक्ति को ही महात्मा कहते हैं और ऐसे महात्मा के साथ किसी की तुलना नहीं। इस प्रकार के महात्मा के सम्बन्ध में जनक ने कहा है—

यत्पदं प्रेप्सवो दीनाः शक्राद्याः सर्व देवताः।
अहो ! तत्र स्थितो योगी न हर्षमुपगच्छति ॥[१]

अर्थात् जिस पद-प्राप्ति के लिए सभी देवता दीन भाव से अपेक्षा रखते हैं उस पद को धीर योगीगण प्राप्त करके भी हर्षित नहीं होते।

जो क्रिया की परावस्था में हैं उन्हें पाप-पुण्य स्पर्श नहीं कर सकते। वे ही विज्ञ हैं और वे ही प्रकृत इच्छा एवं अनिच्छा का वर्जन करने में समर्थ होते हैं। इस विश्व को जल के बुलबुले की तरह समझकर सुख-दुःख दोनों को समान जानकर तथा आशा-निराशा और जीवन-मृत्यु को समान समझकर क्रिया करो और क्रिया की परावस्था में लय हो जाओ। तब तुम्हारे भीतर ग्रहण और त्याग भी नहीं अर्थात् आगम भी नहीं निगम भी नहीं; श्वास भी नहीं, प्रश्वास भी नहीं।

जो काल है, वही वय या उम्र है क्योंकि काल भी समय है, उम्र भी समय है। यह जो काल चला जा रहा है उसे देखो; देखते-देखते जो कालस्वरूप श्वास चल रहा है वह जब स्थिर होगा तब 'सर्व ब्रह्ममयं जगत' हो जायगा और क्रिया की परावस्था में समता को प्राप्त करोगे।

१—अष्टावक्र संहिता: चतुर्थ प्रकरणम् द्वितीय श्लोक।

इच्छा करने का नाम ही संसार है; इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। सारी वासनाओं और इच्छाओं का त्याग कर देने से ही स्थिति होती है उस समय संसार का अस्तित्व नहीं रहता-यह प्राणकर्म सापेक्ष है। इसलिए इच्छा ही संसार है, इच्छा ही बन्धन है। और क्रिया की परावस्था में जब इच्छा भी नहीं तब संसार भी नहीं—वही मोक्ष है।

तीन गुणों से परे जो क्रिया की परावस्था है, वही भाव है। वह भाव जब नहीं अर्थात् क्रिया की परावस्था जब नहीं, तब वही अभाव है। उस भाव का अभाव मन के विकार से होता है। अर्थात् मन की चंचलता से ही मन विकार-ग्रस्त होता है। उस समय क्रिया की परावस्था में नहीं रहने से भाव का अभाव होता है। किन्तु क्रिया करते रहने से अभाव के चले जाने से स्वभाविक रूप से क्रिया होती हैं अर्थात् उस समय मस्तक में एक प्रकार का अनिर्वचनीय भाव स्फुरित होता है—वही नशा है। उसके बाद की स्थिति विकार-रहित होती है और विकार-रहित होने से ही निर्विकार स्थिति होती है। निर्विकार होने से ही शान्त, और शान्त होने पर और कोई आसक्ति नहीं रहती और न किसी प्रकार का क्लेश रहता है। इसलिए यह विश्राम की स्थिति है। चिन्ता करने से ही दुःख होता है; किन्तु क्रिया की परावस्था में चिन्ताशून्यता ही सुख एवं शान्ति का मूल आधार है।

भला-बुरा, हर्ष-विषाद, आश्रम-अनाश्रम की चिन्ता छोड़कर शान्त स्थिति में रहो अर्थात् क्रिया की परावस्था में रहो, तभी प्रकृत विश्राम प्राप्त होगा। किन्तु याद रखो, उस अचिन्त्य रूप की भी यदि चिन्ता करते हो तो फिर चिन्ता ही का भजन हुआ। इसलिए 'मुझे क्रिया की परावस्था प्राप्त हो' इस चिन्ता का भी परित्याग करके शान्त स्थिर रहो, चिन्ताशून्य हो जाओ, एवं त्याग एवं ग्रहण दोनों का परित्याग करो। उस समय इच्छातीत होने का अर्थ भी नहीं रहेगा और अनर्थ भी या अर्थहीनता भी नहीं रहेगी। रूप में अथवा साकार में भी नहीं रहोगे, निराकार में भी नहीं रहोगे; बल्कि स्थिति में रहोगे। तब खाना, सोना, जाना सभी करोगे; किन्तु कुछ भी नहीं करोगे। जिस प्रकार मद्यप कोई कार्य करके भी नशा खत्म होने पर कहते हैं मैंने कुछ नहीं किया, उसी प्रकार क्रिया की परावस्था में एक विचित्र अवस्था प्राप्त होगी। उस समय सिद्धि की भी इच्छा नहीं रहेगी और सिद्धि-प्राप्ति का आनन्द भी नहीं रहेगा। क्रिया करते-करते इस प्रकार का त्याग अपने आप होता है। फिर इच्छा अनिच्छा दोनों के न रहने से, विषय संसार, शास्त्र, विज्ञान कुछ भी नहीं; बन्धन और मुक्ति भी नहीं; क्योंकि मुक्त होने की इच्छा भी नहीं। जिस प्रकार किसी वस्तु को प्राप्त करने

की इच्छा जागने पर उसे कैसे प्राप्त किया जाय, उसकी कल्पना उभरती है। उस इच्छा अथवा कल्पना की पूर्ति न होने पर द्वेष जन्मता है। यह सब कुछ मन का धर्म है। किन्तु जब क्रिया की परावस्था में मन आत्मा में मिल गया या एकाकार हो गया तब द्वेष, इच्छा, कल्पना, मन कुछ भी न रहने से निर्विकल्प स्थिति होती है। उस समय सुन्दररूप ब्रह्म में चरण करने से ब्रह्मचारी की संज्ञा प्राप्त होती है।

योगिराज भक्तों को उपदेश देते हुए और भी कहा करते थे कि —तुम्हारी आत्मा ही सभी भूतों या पदार्थों में है इसलिए सभी भूतों की आत्मा तुम्हारी आत्मा में है। कुछ भी पृथक नहीं अतएव तुम्हीं सर्व आत्मामय जगन्नाथ हो। क्रिया की परावस्था में यह विशेषरूप से जान लेने पर ही सभी के मन का भाव जान सकोगे एवं तभी सर्वज्ञता की प्राप्ति होने से सभी भूतों के भीतर अनुप्रवेश करके उनके गुण एवं क्रिया को अपने आप ही जान सकोगे और सर्वशक्तिमान के रूप में सभी कार्य अनिच्छा की इच्छा द्वारा कर सकोगे। इस प्रकार गहरी क्रिया के द्वारा स्वयं को अणु से अणुतर जान लेने पर ही तुम्हारा अहंकार मिट जायेगा और अहंकार हीनता या निरहंकार की स्थिति प्राप्त होगी। तुम ही कूटस्थ स्वरूप हो उसके प्रति श्रद्धा रखो और बार-बार कह रहा हूँ उसी के प्रति श्रद्धा रखो। इस श्रद्धा से कभी च्युत-विरत मत होना; क्योंकि कूटस्थ स्वरूप भगवान, आत्मा तुम्हीं हो एवं तुम पंचतत्त्व, मन, बुद्धि, अहंकार से परे हो। जब क्रिया की परावस्था में एक हो जाओगे या अद्वैत की स्थिति प्राप्त हो जायेगी तब तुम्हीं जगन्मय हो, तुम्हारे विना जगत का अस्तित्व नहीं; अतएव भले-बुरे की कल्पना नहीं। एक हो जाने पर ही तुम्हीं अक्षय अविनाशी शान्त चिदाकाश अमर हो। उस समय फिर तुम्हारा जन्म, कर्म, संस्कार, अहंकार कहाँ? अतएव यह-वह आदि विभाग या खण्डता को छोड़कर सभी मैं हूँ—क्रिया की परावस्था में इस निश्चय के साथ निःसंकल्प हो जाओ। तुम स्वयं में स्वयं के न रहने से यह विश्व-संसार देख रहे हो; किन्तु जब क्रिया की परावस्था में स्वयं में स्वयं की स्थिति हो जाएगी तब तुम्हीं परमार्थ स्वरूप जगन्नाथ हो। एक बार सोचकर देखो कि तुम्हारे विना और कुछ भी नहीं; तुम्हीं संसारी हो फिर तुम्हीं असंसारी हो। क्योंकि जब तुम्हारा ध्यान दूसरी ओर रहता है तब तुम संसारी हो; किन्तु तुम में तुम्हारे रहने या होने से अर्थात् क्रिया की परावस्था में रहने से तुम असंसारी हो। तुम्हारी इच्छा से ही यह विश्व-संसार सब कुछ है; किन्तु क्रिया की परावस्था में इच्छारहित होने से ही यह सब कुछ जो दृश्यमान है, केवल भ्रम है, इसका निश्चित रूप से ज्ञान प्राप्त होगा तथा सब कुछ ब्रह्ममय है यह

ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् साम्य या समता की प्राप्ति होगी। उस समय तुम्हारा बन्धन भी नहीं, मोक्ष भी नहीं—इस प्रकार कृतकृत्य होकर सुखपूर्वक विचरण करोगे—यह दृढ़ता और निश्चय के साथ कह रहा हूँ।

तुम चाहे जितना ही शास्त्र पढ़ो या सुनो, उससे कुछ नहीं होगा। इन सब को भुलाना होगा।

किन्तु क्रिया की परावस्था नहीं होने पर, विस्मरण नहीं होता, चित्त आशा रहित नहीं होता। क्रिया की परावस्था में स्थित रहकर चित्त को आशा-रहित करना होगा। इच्छा करने से ही दुःख होता है, किन्तु जो व्यक्ति क्रिया का उपदेश प्राप्त करके और क्रिया करके इच्छा रहित होकर निवृत्ति को प्राप्त करता है, वह धन्य है। उसकी तुलना में कोई भी सुखी नहीं। ऐसा व्यक्ति फिर पलक गिराने-उठाने की भी इच्छा नहीं रखता। उस समय वह आलसी के रूप में कर्म-प्रवृत्ति से शून्य होकर चुपचाप पड़ा रहता है। अतएव चिन्ताशून्य होने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है फिर धर्म, अर्थ, काम मोक्ष सब से निरपेक्ष हो जाता है। उस समय वह ग्रहण और त्याग दोनों से रहित होने के कारण विरक्त भी नहीं, आसक्त भी नहीं। इस अवस्था के बारे में निश्चित रूप से सभी नहीं जानते, जिन्हें यह अवस्था प्राप्त हैं, वही समझ सकते हैं; इस सम्बन्ध में जितना ही कहा या लिखा जाय फिर भी कोई नहीं समझेगा, अतएव भले-बुरे के विचार एवं इच्छा से रहित होने से ही संसार रूपी वृक्ष के अंकुर नष्ट होते हैं; किन्तु कष्ट-निवारण के लिए यदि कोई संसार को छोड़कर जंगल, पहाड़ की गुफा, मठ, मिशन अथवा आश्रम की ओर जाना चाहता है और वहाँ सुख प्राप्ति की इच्छा रखता है तो वहाँ भी बन्धन का कारण वर्तमान है। किन्तु इस संसार में रहकर भी जो क्रिया द्वारा क्रिया की परावस्था प्राप्त करके इच्छातीत हो जाते हैं उनके लिए सुख भी नहीं; दुःख भी नहीं, बन्धन भी नहीं, मोक्ष भी नहीं। लेकिन जब तक इस देह में ममता और इच्छा है तब तक वह ज्ञानी भी नहीं, योगी भी नहीं, मुक्त भी नहीं—केवल दुःख का भागी होता है। यह निश्चित रूप से जान लो कि जब तक क्रिया करके क्रिया की परावस्था में इच्छा रहित नहीं होते हो, सब कुछ भुला नहीं देते हो, तब तक तुम्हारे समक्ष स्वयं ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश भी यदि प्रकट होकर उपदेश प्रदान करें तो भी कुछ नहीं होगा। जो इच्छा रहित हैं वे हमेशा ही एकाकी रमण करते हैं। उनके निकट सभी कुछ ब्रह्ममय हो जाने से फिर द्वैत की स्थिति नहीं होती। और जब उनमें भोग और मोक्ष की इच्छा नहीं रहती तो ऐसे व्यक्ति को

महाशय कहते हैं और यह पद विरले व्यक्तियों को ही प्राप्त होता है। उस समय वे कुछ भी न देखकर सब कुछ देखते हैं; क्योंकि तब उनकी दृष्टि शून्य ब्रह्म में होती है। वे उस समय जाग्रत भी नहीं, निद्रित या सुप्त भी नहीं और दोनों आँखें न तो खुली ही होती हैं और न बन्द ही। यह एक विचित्र अवस्था है। उन्हें सुख; दुःख, सम्पत्ति, विपत्ति, नर-नारी, लाभ-हानि बन्धन-मुक्ति का समान ज्ञान होता है अथवा इन सब को वे समदृष्टि से देखते हैं। उनके लिए किसी प्रकार का इनमें भेद-प्रभेद नहीं होता। उस समय उनके निकट सब कुछ है किन्तु इच्छा एवं आसक्ति रहित होने से कुछ भी नहीं—भोजन मिलने से खा लेते हैं; न मिलने पर नहीं खाते। तब शून्य ब्रह्म में चित्त की स्थिति होने पर अपने आप में ही निमग्न रहकर स्वयं, स्वयं को ही नमस्कार करते हैं। उस समय क्रिया की परावस्था में स्थित रहने से भाव और अभाव कुछ नहीं; क्योंकि ये दोनों केवल चिन्ताग्रस्त जीव की कल्पना मात्र हैं। अतएव भाव-अभाव को छोड़कर निष्काम या इच्छारहित होकर रहो। तुम्हें कुछ जानने की आवश्यकता नहीं, कुछ कहने की आवश्यकता नहीं और कुछ करने की भी आवश्यकता नहीं। इसीलिए जो योगी हैं वे संकल्प विकल्प से रहित होकर सभी कुछ आत्ममय है—इस प्रकार की निश्चित अवस्था में सतत युक्त रहकर, स्थिर होकर बैठे रहते हैं। क्रिया की परावस्था में इस प्रकार शान्त योगी के लिये कोई विक्षेप या अस्थिरता नहीं और विक्षेप हीनता की स्थिति में कोई कर्म नहीं। कुछ करना होगा—इस प्रकार की इच्छा ही नहीं—तब ऐसी एक स्थिति होती है कि कुछ करता नहीं हूँ इसलिए ध्यान भी नहीं। क्रिया की परावस्था के पूर्व इस विश्व-संसार को देख रहे थे; किन्तु क्रिया की परावस्था में ब्रह्मलीन होने पर स्वयं नहीं; इसलिये इच्छा करेगा कौन? इस प्रकार की ब्रह्मलीनता प्राप्त होने पर फिर किसकी चिन्ता? इसलिए ऐसी स्थिति में निश्चिन्त हूँ, और मैं ही अद्वितीय हूं, अपने से भिन्न और कुछ भी नहीं देखता तब मैं ही ब्रह्म हूँ।

जिसका मन विक्षिप्त है या जिसमें बिखराव है; वह बहुत कुछ देखता है; इसीलिए क्रिया द्वारा विक्षिप्तता अथवा अस्थिरता का निरोध या उसे नियन्त्रित करने की चेष्टा करता है। किन्तु वही व्यक्ति क्रिया करके क्रिया की परावस्था में जब उदार चित्त होता है तब फिर मन विक्षिप्त नहीं होता। इसलिए उसके लिए और कोई साधना नहीं; क्योंकि लम्बी साधना करने के पश्चात जब वह हमेशा के लिए कूटस्थ में स्थिति प्राप्त कर लेता है तब फिर वह क्या करेगा। फिर तो कुछ भी करने योग्य नही। क्योंकि प्राप्ति के लिए ही तो चेष्टा का प्रयोजन है;

किन्तु जब प्राप्ति हुई तो फिर चेष्टा की और आवश्यकता नहीं। इसीलिए यही कर्म की परिसमाप्ति है। तब धीर एवं स्थिर होने से आसक्ति नहीं इसलिए समाधि के लिये चेष्टा भी नहीं उस समय मन के विक्षेप शून्य रहने पर अपने आप ऐसे क्रियावान क्रिया की परावस्था में मग्न रहते हैं अर्थात् बुत की तरह स्थिर हो जाते हैं। वे भाव और अभाव दोनों से अलग रहकर हमेशा क्रिया की परावस्था में तृप्त रहते हैं, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के बिना जब जो कर्म सामने आ पड़ता है, वही करते हैं उस समय उनका अनागत या भविष्य भी नहीं और अतीत भी नहीं। ऐसे व्यक्ति ससार में रहकर भी असंसारी, देह के रहते हुए भी विदेही हैं। वे कुछ प्राप्त भी नहीं करना चाहते हैं और न तो किसी वस्तु या विषय की समाप्ति या नाश की ही इच्छा करते हैं। शून्य ब्रह्म में चित्त की स्थिति के कारण वे इच्छानुसार जो चाहें कर सकते हैं। उन्हें फिर किसी प्रकार के मान-अपमान की भावना स्पर्श नहीं करती। कल्पनाशून्यता के कारण तब उनमें विचार नहीं, जानना, सुनना, देखना भी नहीं, वे मोक्ष-पद की भी इच्छा नहीं रखते, उस समय वे निश्चिन्त होते हैं, किन्तु जिसके भीतर चिन्ता है वह कुछ न करने पर भी सब कुछ करता है। क्रिया की परावस्था में स्थित व्यक्ति उद्विग्न भी नहीं, निरुद्विग्न भी नहीं अहंकारी भी नहीं निरहंकारी भी नहीं, कर्त्ता भी नहीं अकर्ता भी नहीं— वे आशा एवं सन्देह से हमेशा परे होते हैं। वे ध्यान भी नहीं करते, मूर्ख भी नही ज्ञानी भी नहीं, कोई कर्त्तव्य भी नहीं अकर्त्तव्य भी नहीं वे तब निर्मल ब्रह्म स्वरूप हो जाते हैं। इच्छा की उपस्थिति में मोक्ष नहीं होता और क्रिया का अभ्यास करना भी इच्छा है; किन्तु वे व्यक्ति धन्य हैं जो क्रिया करते-करते क्रिया रहित होकर क्रिया की परावस्था प्राप्त करके निष्क्रिय हो जाते हैं। और इच्छापूर्वक कोई कर्म नहीं करते। इच्छा ही अनर्थ का मूल है इसलिए मनीषी इच्छारूपी मूल को उखाड़ फेंकते हैं जो क्रिया करने से अपने आप होता है। अज्ञानी अथवा मूर्ख शान्ति प्राप्त करना चाहते हैं किन्तु इच्छा की उपस्थिति या वर्तमानता के कारण उन्हें शान्ति प्राप्त नहीं होती। किन्तु जो क्रिया की परावस्था में स्थित हैं वे धैर्यवान एवं इच्छा रहित होने से प्रशान्त मानस एवं परब्रह्म स्वरूप होते हैं। वे उस समय आत्मा को भी नहीं देखते क्योंकि आत्मा को देखने से ही अवलम्बन होगा। क्रिया की परावस्था में अवलम्बन होगा। क्रिया की परावस्था में अवलम्बन नहीं इसलिए कौन किसे देखेगा ? जो मूर्ख अज्ञानी अथवा कुबुद्धिग्रस्त हैं वे ही शुद्ध अद्वैत आत्मा को देखना चाहते हैं और आत्मा की चिन्ता करते हैं; किन्तु क्रिया की परावस्था में कुछ भी नहीं है। इस बात को वे नहीं जानते। क्रिया

की परावस्था में जो हमेशा अटके या टिके रहते हैं वे विशेषतः निःशंक एवं उदासीन होने से अपने आप में स्थित रहते हैं; यह एक विचित्र स्थिति है। वे पहले इच्छापूर्वक प्राणायाम के द्वारा ही युद्ध करके फिर इच्छा पर विजय प्राप्त करके सदैव कूटस्थ में रमे रहते है। इस संसार में जो कुछ भी देख रहे हो, वह सभी नाशवान है। किन्तु क्रिया की परावस्था में जिस शून्य ब्रह्म का अस्तित्व है, वह अव्यय; अक्षय और अविनाशी है। उसमें स्थित रहने पर सारे ताप-सन्ताप विनष्ट हो जाते हैं; क्योंकि उसमें स्थिति होने पर योगी इच्छा रहित होने के कारण इस विश्व संसार में रहकर भी नहीं रहते इसलिए देह का भी आभास नहीं रहता। उस समय उनकी देह का रहना या न रहना दोनों ही बराबर है। जब वे स्वयं ही नहीं तब उनमें ममता भी नहीं किन्तु लोगों को दिखाने के लिये वे सभी कर्म करके भी कुछ भी नहीं करते। इस प्रकार के योगी के लिए अँधेरे और उजाले का कोई अर्थ नहीं; हानिलाभ की चिन्ता नहीं। धैर्य, विवेक, बुद्धि, भय, निर्भयता, यत्न, अयत्न, कर्म-अकर्म इच्छा-अनिच्छा इन सब का भी उनके लिए कोई मूल्य नहीं। वह न तो स्वर्ग चाहता है और न नर्क। वह बन्धनग्रस्त भी नहीं, मुक्त भी नही। वह मूर्ख भी नहीं, ज्ञानी भी नहीं, लाभ-अलाभ की चिन्ता नहीं, शोचना-अनुशोचना कुछ भी नहीं, न तो किसी की स्तुति ही, न किसी की निन्दा ही, सुख भी नहीं, दुख भी नहीं, कर्त्तव्य भी नहीं, अकर्त्तव्य भी नहीं। हर्ष भी नहीं, शोक भी नहीं, वे मरने पर भी नहीं, जिन्दा रहने पर भी नहीं, उन्हें स्नेह भी नहीं, ममता भी नहीं, सन्तोष भी नहीं, असन्तोष भी नहीं, द्वन्द्व भी नहीं संशय भी नहीं, आसक्ति भी नहीं, निरासक्ति भी नहीं उनके लिए मिट्टी और स्वर्ण दोनों समान हैं। वे हमेशा केवल-क्रिया में रमण करने एवं महाकाश स्वरूप ब्रह्म में लीन होकर स्थित रहने के कारण आत्मा को भी नहीं देखते। तब उनका साध्य भी नहीं, साधना भी नहीं, उनकी तुलना किसी के भी साथ नहीं की जा सकती। वे तब जानकर भी नहीं जानते, देखकर भी नहीं देखते, बोलकर भी नहीं बोलते खाकर भी नही खाते, सोकर भी नही सोते, वे संसारी भी नहीं, संन्यासी भी नहीं क्योंकि उनका सब कुछ चला गया है। वे उस समय कुछ भी नहीं। इस प्रकार क्रिया की परावस्था में रहने को ही ज्ञान कहते हैं। वे तब समाधिस्थ होकर भी समाधिवान नहीं; क्योंकि इस अवस्था में रहकर भी वे जड़ की तरह सारे कर्म करते हैं किन्तु जड़वत होकर भी जड़ नहीं, क्योंकि वे शून्य ब्रह्म में स्थिर रहकर सभी कुछ देख-जान सकते हैं। इसलिए पंडित होकर भी पण्डित नहीं; कहाँ तक कहा जाय—यहाँ तक कि उनमें द्वैत भी नहीं अद्वैत भी नहीं। इस प्रकार जिन्होंने क्रिया की

परावस्था में स्थित रहकर समस्त तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त किया है, उसे ही महाशय कहते हैं। वे कहीं किसी कुछ में भी नहीं; किन्तु सब में सर्वत्र हैं।

● ● ●

योगिराज कहा करते थे कि "किसी दूरस्थ, दुर्गम तीर्थ-स्थान की यात्रा करने पर नाना प्रकार के सुन्दर दृश्य एवं और दूसरे तीर्थों का दर्शन होता है। यदि कोई वहाँ आकर्षण वश ठहर जाए तो फिर लक्ष्य का दर्शन एवं उसकी सिद्धि नहीं प्राप्त होगी। इसीलिये वे कहते थे कि आत्म-साधना करते-करते स्वयं ही अनेक देव-देवियों का दर्शन होगा। यदि कोई यह सोचे कि उनके दर्शन से ही जीवन सफल हो गया तो यह उसकी भ्रान्त धारणा है। उसे और आगे जाना होगा; यहीं रुकने से काम नही चलेगा। यदि विना रुके चलता रहे तो वही सारे देव-देवियाँ उसकी सहायता करेंगी और वे ही उसका हाथ पकड़ कर गन्तव्य स्थल पर पहुंचा देंगी। इस प्रसंग में कबीर का कथन है—**"इस राते में बीच मुसाफिर अक्सर मारे जाते हैं।"** अर्थात् वे गन्तव्य स्थल तक नहीं पहुंच पाते।

जब गन्तव्य-स्थल की प्राप्ति होगी तब दर्शन का कोई प्रश्न ही नहीं; क्योंकि वहाँ मन एवं बुद्धि दोनों अनुपस्थित होंगे; इसलिये वहाँ देखने या दर्शन का कोई प्रश्न ही नहीं। इसके अतिरिक्त जानने पहचानने का भी कोई उपाय नहीं। वहाँ तुम नहीं हो, न तो ईश्वर ही है; वहाँ न तो भक्त है, न भगवान, न आनन्द, और न निरानन्द, इष्ट नहीं, अनिष्ट नहीं, ज्ञान-अज्ञान, बन्धन-मुक्ति एवं कोई देव-देवी कुछ भी नहीं है। वह एक अनिर्वचनीय चिन्मय अवस्था या एक चिन्मय-प्रत्यक्ष स्वानुभूति है। वही अद्वैत की स्थिति है। इसी की ओर संकेत करते हुए महात्मा रामप्रसाद ने कहा है—**"से बड़ो अद्भुत ठाँइ जे खाने गुरु शिष्य देखा नाइ।"** अर्थात् अद्भुत बड़ा एक वह ठाँव, गुरु-शिष्य का गाँव न नाँव।" इसी को योगिराज ने 'क्रिया की परावस्था' कहा है। इस स्थिति में जो होता है वही इसे जानता है। क्योंकि एक के रहने पर दूसरे के रहने की बाध्यता है; किन्तु वहाँ केवल 'नहीं-नहीं'। यहाँ तक कि नहीं कहने वाला भी कोई नहीं है। इस स्थिति के प्रसंग में वे कहा करते थे उस समय तुम-अ-वाक् शून्यवत हो जाओगे। मैं निश्चय पूर्वक कह रहा हूं कि एक दिन सब को वहीं जाना होगा।

तुम चेष्टा करो या न करो; किन्तु उसके लिए तुम्हें लाखों योनियों में भ्रमण करना पड़ेगा; किन्तु हे साधक ! ईश्वर ने जो तुम्हें मन और बुद्धि प्रदान किया है उसके द्वारा-विचार करके देखो कि क्या तुम उन लाख लाख योनियों में भ्रमण करना चाहते हो ? जो साधक बुद्धिमान हैं, वे नहीं चाहते । यदि तुम बुद्धिमान साधक हो तो फिर सोचकर देखो कि गन्तव्य-स्थल की ओर जब जाना ही होगा तो फिर देर क्यों ? इस जन्म में ही वहां पहुँचने के लिए कमर कसकर तैयार हो जाओ । हे साधक । तुम्हारे भीतर एक सत्ता सुप्त है उसे चिकोटी काट कर जगाओ, चाबुक मारकर उठाओ । उस वीर सत्ता को अश्व के रूप में परिणत करके उसकी पीठ पर सवार होकर वीरों जैसे दर्प के साथ बढ़ो; किन्तु भूल से भी लगाम अपने हाथ में न लेकर मालिक के हाथ में दे दो जिस प्रकार अर्जुन ने किया था वही कार्य करो । संसार में ही रहो; किन्तु उसकी पंकिलता एवं मलिनता से बचकर रहो । काम, क्रोध, लोभ मोह, मद और मात्सर्य रूपी गड्ढे में देह रूपी रथ के छह चक्रों को गिरने मत दो । हर तरह से दुर्बलता का त्याग करो; क्योंकि दुर्बलता ही पाप है, दुर्बलता ही मृत्यु है । अपनी मृत्यु को स्वयं मत बुलाओ। हे वीर साधक तुम स्वयं को दुर्बल समझते हुए दुर्बल हो गये हो; किन्तु तुम 'अमृतस्य पुत्राः' तुम अमृत-पुत्र हो । तुम जन्म, मृत्यु जरा एवं व्याधि से परे हो । तुम अपने स्वरूप को भुला बैठे हो । लम्बे होकर या टाँगें फैलाकर सोते हुए तुमने अनेक रातें बिता दी हैं । एक बार सोचकर देखो कि उसी तरह लम्बे लेटे लेटे तुम्हें चला जाना होगा। इस बार मेरुदण्ड को सीधा करके बैठो । इस पगले-बावले की बात सुनो मैं निश्चित रूप से कह रहा हूं; क्रिया-योग की साधना करो। क्रियायोग करने पर ही मुक्ति है, न करने से ही बन्धन । क्रिया ही सत्य है । साधना के द्वारा जबतक स्वयं को उद्दीप्त न किया जाय तब तक देव-देवी भी सहायता नहीं करते ।"

सत्व, रज और तम ये तीन गुण जीव के शरीर में सर्वदा क्रीड़ा-रत हैं । जीव इन तीन गुणों के अधीन है । यही तीन गुण ही तीन देवता हैं । रजगुण सृष्टिकर्त्ता है, ब्रह्मा है, तमगुण महेश है जो नाशकर्त्ता है और सत्वगुण विष्णु है वही स्थिति अर्थात् पालनकर्त्ता है—

रजोभावस्थितो ब्रह्मा
सत्वभाव स्थितो हरिः
क्रोधभावस्थितो रुद्र—
त्रयोदेवा त्रयोगुणा ।

—ज्ञानसंकलिनी तंत्र : ८०

ये तीनों गुण जिस प्रकार जीव के शरीर में खेल रहे हैं उसी प्रकार वस्व प्रकृति में भी खेल रहे हैं। जीव के शरीर में नाभि के नीचे तमगुण; नाभि से कंठ तक रजगुण एवं कंठ से आज्ञाचक्र तक सत्व गुण है, एवं उसके ऊपर गुणातीत अर्थात निर्गुण की स्थिति है। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।

जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥ —गीता : १४।१८

जीव जिस समय जिस गुण के वश में रहता है उस समय उसका मन उस स्थान पर रहकर उसके प्रति ही मोहित रहता है। इसी प्रकार सत्त्व से तम की ओर एवं तम से सत्व की ओर एक ऊर्ध्व एव निम्नगति निरन्तर कार्य-रत है। गुणातीत स्थिति में मन कभी जाता नहीं। साधना के द्वारा उस गुणातीत स्थिति को प्राप्त कर लेने से ही त्रिगुणातीत अवस्था ही ब्रह्म है। वहाँ, ब्रह्मा, विष्णु, महेश दुर्गा, काली जगद्धात्री कोई नहीं है। हिन्दू-संस्कृति में इन तीनों गुणों को तीन देवता के रूप में मान्यता प्राप्त है। अन्य धर्मावलम्बी इन तीन देवों को नहीं मानते; किन्तु सभी तीन गुण को स्वीकार करते हैं; क्योंकि वे तीन गुण सर्वदा ही सभी के शरीर के भीतर कार्य-रत हैं।

इस क्रियायोग की साधना से योगी का मन स्थिर होकर उस निर्गुण अवस्था में एक ऐसी स्थिति से जुड़ जाता है जहाँ योगी हमेशा स्थित रहने में सक्षम होते हैं। इस सन्दर्भ में योगिराज ने अपनी डायरी में लिखा है—"**जित्ता पियोगे ओत्ता मजूरी मिलेगा। सबेरे चार घड़ी रात रहते प्राणायाम करना आच्छि है।**' अर्थात् जितना प्राणकर्म या प्राणायाम करोगे। उतनी मजदूरी मिलेगी अर्थात् जितनी ही स्थिरता आएगी उतना ही आत्मदर्शन होगा। प्रातःकाल चार बजे उठकर प्राणायाम करना अच्छा है उस समय बाह्य प्रकृति शान्त रहती है—यही आत्मसाधना का उपयुक्त समय है।

योगिराज का कथन है कि अपने कारणस्वरूप समुद्र की ओर दौड़कर जाना नदी का धर्म है। वह इच्छा करे या न करे; किन्तु एक समय वह अपने कारण में लीन होगी ही। उसी प्रकार जीव का भी धर्म उसके उत्स या मूल स्वरूप ब्रह्म की ओर दौड़कर जाना है। इसी को लक्ष्य करते हुए अर्जुन कहते हैं—

'यथा नदीनां वहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति
तथा तवामी नरलोक वीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥

—गीता : ११।२८

जिस प्रकार नदियाँ सागराभिमुखी होकर सागर में ही प्रवेश करती हैं उसी प्रकार नरलोक के वीर हर ओर से प्रदीप्त, प्रज्वलित तुम्हारे मुखों में प्रवेश कर रहे हैं।

जीव अनन्त काल से पता नहीं कब और किस अज्ञात कारणवश ब्रह्म से विच्युत होकर अर्थात् अपने स्वरूप को भूलकर लाखों-करोड़ों योनियों में भ्रमण करने लगा। कालक्रमानुसार विकास एवं विवर्तन की भूमिका में वह वनस्पति, पेड़-पौधे लता-गुल्म, कीट-पतंग से मानव में रूपान्तरित हुआ। इसी प्रकार उन्नत स्तरों को पार करता हुआ अपने मूल स्वरूप ब्रह्म की ओर गतिशील हुआ है। वह इच्छा करे या न करे काल के प्रभाव द्वारा विकास और विवर्त के माध्यम से एक समय उसे अपने उत्स या मूल स्थान तक की यात्रा करनी ही पड़ेगी। यही जीव का धर्म है। इसके लिये उसे चौरासी लाख योनियों का भ्रमण करना पड़ेगा। चौरासी अंगुल माप की अपनी मानव-देह की उन्नति के लिए उस चौरासी लाख योनि का भ्रमण करना होगा। केवल वही नहीं, मानव-रूप में जन्म लेकर भी उसे अपने मानव-मस्तिष्क को ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए उपयुक्त एवं उपयोगी बनाने के लिए और भी दस वर्षों के प्राकृतिक विवर्तन या विकास की आवश्यकता है।

इसीलिए योगिराज कहा करते थे कि क्रियायोग इस प्राकृतिक विवर्तन या-परिवर्तन की समय-सीमा को अधिकांशतः कम करने की दिशा में सक्षम है। उन्होंने इसका सटीक लेखा-जोखा करते हुए कहा है कि मात्र आठ घन्टा क्रियायोग की साधना करने से योगी के मस्तिष्क एक हजार वर्ष के प्राकृतिक विकास के समान्तर विकसित होते हैं। जो किसी वस्तु को पाने की चेष्टा या साधना करते हैं, वही साधक कहलाते हैं। और जो उस वस्तु को पाकर उसके साथ एकाकार हो गए हैं, तादात्म्य स्थापित करते हुए लय हो गए हैं अर्थात् युक्ततम अवस्था प्राप्त कर लेते हैं, वे ही योगी हैं। इस निमित्त-प्राप्ति के न रहने से साधक नहीं कहा सकता। अर्थात् साधक अवस्था में देखने-सुनने की वृत्ति है; क्योंकि तब भी उनके मन और इच्छा कार्य करते हैं। इसीलिए योगिराज ने लिखा है—**"जिस प्रकार किसी घर के भीतर सूर्य का प्रकाश जाता है और दरवाजा बन्द रहने पर यदि कोई पक्षी उड़कर जाता है तो उसकी छाया दीवार पर दिखाई देती है उसी प्रकार मन में प्रकाश होने पर जो देवतादि हैं उनका दर्शन होता है।"** इस अवस्था में ब्रह्म और मैं यही दो सत्ता अन्ततः विद्यमान रहती है अर्थात् जो साधना कर रहा है और जिसकी साधना कर रहा है यही दो वर्तमान हैं। इसीलिए योगिराज ने लिखा है—**"काली सोच सोच काली हुआ अब काली का**

बाबा होना हय बाबा याने ब्रह्म अर्थात् जो सुन्य के भीतर सुन्य हय—एइ सब सूर्य को देखने में मिलता हय।" अर्थात् काली का चिन्तन करते-करते काली हो गया, अब काली का बाबा या पिता होना होगा यानी ब्रह्म जो वर्तमान शून्य के भीतर शून्य है अर्थात जिस महाशून्य से पंचभूतों के अन्तिम भूत वर्तमान शून्य की उत्पत्ति होती है। आत्म सूर्य को देखते-देखते उस महाशून्य की प्राप्ति होती है। किन्तु योगियों का उससे कोई सम्बन्ध नहीं; क्योंकि स्थिरत्व का नाम योग है एवं जो स्थिर हो गए हैं वही योगी हैं। योगी जब समाधिस्थ होते हैं अर्थात् क्रिया की परावस्था प्राप्त कर लेते हैं तब उनका देखना-सुनना प्राप्ति-अप्राप्ति कुछ भी नहीं। इसीलिए उन्होंने लिखा है—"उहते बेमन केमन केमन मन न पावे। मन छोड़ तो मन नहीं होये।" अर्थात् बेमन यानी निवृत्ति की अवस्था कैसी होती है मन नहीं जानता; किन्तु जब जानने की चेष्टा करता है तब मन, मन नहीं रहता, स्वयं ही खो जाता है और फिर जानना बाकी ही रह गया। इस प्रकार जो क्रिया की परावस्था होती है उसमें स्वयं की स्थिति नहीं होने से कोई कर्म नहीं; क्योंकि जो कर्म करेगा जब वही नहीं तो कर्म करेगा कौन? किन्तु साधक के क्षेत्र में कर्त्ता (मैं) करण (क्रिया) एवं अधिकरण (शरीर) सभी कुछ है किन्तु जिसे प्राप्त करना होगा अर्थात् ब्रह्म वही नहीं है। किन्तु योगी की क्रिया की परावस्था में कर्म के अभाव में निष्क्रियता है; क्योंकि उस अवस्था में समस्त गुण आकाश में युक्त होने से निष्क्रिय होते हैं। क्रिया की परावस्था में स्वयं के न रहने की जो अवस्था है, वह क्या है यह जानना सम्भव नहीं; क्योंकि जानने वाला ही नहीं तो जानेगा कौन? तो फिर क्रिया क्यों कर रहा हूँ? गुरु ने कहा है, इसलिए कर रहा हूँ किन्तु इसका अन्तिम परिणाम क्या होगा—यह अज्ञेय है, जाना नहीं जा सकता।

इस पर एक भक्त ने जिज्ञासा प्रकट की—'सभी कुछ पाने की आशा में कर्म करते हैं। 'क्रिया' करने से जब कुछ भी प्राप्त नहीं होता फिर सभी 'क्रिया' क्यों करते हैं?"

योगिराज ने कहा—"मूख वही करते हैं।" अर्थात् इस अवस्था में प्राप्ति-अप्राप्ति नहीं, लाभ-हानि नहीं। उस समय तीनों गुणों के एक हो जाने से गुणातीत अवस्था होती है। उसके अव्यक्त होने के नाते ही धर्म का अभाव अर्थात् तब धर्म-अधर्म कुछ नहीं। धर्म एवं कर्म के न रहने से उनका कोई दृष्टान्त नहीं है। जिस प्रकार जल का गुण एवं धर्म जिसमें है वही जल है; किन्तु गुणातीत एवं धर्मातीत अवस्था में वह जल नहीं। उसी प्रकार क्रिया की परावस्था है। इस अवस्था

में स्वयं के न रहने से अन्य दिशा की ओर मन के जाने जैसा अधर्म नहीं रहता एवं धर्म भी नहीं रहता। धर्म का अर्थ है. जो सर्वदा रहता है, जो शाश्वत है। जिस प्रकार प्राणीमात्र का श्वास ही धर्म है। इस धर्म के जाने से आत्मा में स्थिर रहता है। इसीलिए योगिराज ने लिखा है— **"मनको दुसरे तरफ नहि जाने देना चाहिए मन से मन को देखना चाहिए मन ओ चक्षु स्थिर होने से क्या होगा जब तक शरीर स्थिर न होय। आज श्वासा बिलकुल बाहर नहि निकलता हय। अब बड़ा मजा मतवाल के माफिक।"** जो कोई कुछ ग्रहण करते हैं या देखते हैं उन्हें तत्व ज्ञान प्राप्त नहीं होता; क्योंकि दो के नहीं रहने से कुछ भी ग्रहण करना या देखना सम्भव नहीं। क्रिया की परावस्था में दो का अस्तित्व नहीं है, इसलिए वहाँ कोई बात नहीं। केवल मौन है। दूसरी ओर मन लगाने का नाम बन्धन हैं, इस बन्धन से सर्वदा क्रिया की परावस्था में रहने का नाम मुक्त है। इस मुक्तावस्था में सतत स्थित रहकर वे समस्त वस्तुओं के प्रति अनासक्ति की भावना के साथ सर्वत्र, सब में ब्रह्म का दर्शन करते हैं। इस अवस्था में धर्म-अधर्म, इन्द्रिय एवं शरीर सभी का अभाव है क्योंकि ऐसी स्थिति में मन इन्द्रियों के साथ आत्मा में और आत्मा परमात्मा में मिल जाता है। इस अवस्था में मेघ का गर्जन तक भी सुनने में नहीं आता। क्रिया की परावस्था में कुछ नहीं है और यह कुछ भी होने की अवस्था ही ब्रह्म है। अतएव क्रिया की परावस्था में न रहना ही मिथ्या है। इस अवस्था में पृथकता का अस्तित्व नहीं-पृथकता के कारण ही देखने-सुनने का कार्य सम्पन्न होता है। जो कुछ भी दिखाई दे रहा है उसके विपरीत क्रिया की परावस्था किसी के आश्रय एवं आश्रित का भाव नहीं है क्योंकि यह अवस्था किसी के आश्रय में नहीं है। एक लाख ब्रह्माणुओं के संगठित या स्थूल होने पर मिट्टी का अणु अस्तित्व में आता है। और इसी स्थूल अणु के संयोग से सभी द्रव्यों की सृष्टि होती है। और इसी प्रकार संयोग से अवयव के समस्त अंशों का निर्माण होता रहता है जैसे मिट्टी के अणु से कंकड़ आदि की रचना होती रहती है। अणुओं के पारस्परिक सहयोग एवं संयोग से तमाम स्थूल मूर्तियों या पिण्डों तथा अवयवों की सत्तात्मक स्थिति है। सयोग से ही मूर्ति या पिण्ड की रचना होती है। किन्तु अस्थिरता या अव्यवस्था के कारण टिके रहना सम्भव नहीं, यह निमित्त अनित्य है; किन्तु क्रिया की परावस्था में ब्रह्म में स्थित रहने से कोई बाधा नहीं और एक होकर रहने की स्थिति में किसी की भी उत्पत्ति नहीं होती। इसलिए ब्रह्म से अलग अन्य वस्तु में भलीभांति मन का अनन्त लय नहीं होता। किन्तु सविकल्प समाधि अथवा क्रिया की परावस्था की पूर्वावस्था में अनन्त

द्रव्य एवं परिमाण-मात्रा के भेद की प्रतीति होने तक वह क्रिया की परावस्था नहीं है। शरीर, आत्मा मन एवं विभु मिलकर ही यह जीवन है। इस जीवन के कर्माधीन अथवा कर्म के आश्रय में रहने से सब कुछ हो रहा है। आत्मा का गुण मन और इस शरीर के भोगायतन होने से सुख-दुख सभी शरीर और मन के द्वारा हो रहा है। इसीलिए योगिराज ने कहा है—'**जल जब तक घट में तो उसका कुछ ताकत नहि, जब गंगा में मिला तो सब करे।**" श्वास की गति जब तक बहिर्मुखी है तब तक उसमें कोई शक्ति नहीं; क्योंकि बहिर्मुखी श्वास देहरूपी घट के भीतर सीमाबद्ध हैं। किन्तु जब अन्तर्मुखी होकर स्थिर होता है तब अनन्त महाशून्य के साथ सम्बन्ध स्थापित होने पर अनन्त शक्ति सम्पन्न होता है। इस अवस्था में पहुँचकर उन्होंने बार-बार लिखा है—"**बड़ा मजा सब अंग टूटने लगा।**" किन्तु आत्मा में पहले मन का संयोग फिर लय होने पर देखने-सुनने, प्राप्त-अप्राप्त का प्रश्न ही नहीं। इसलिए उन्होंने १८७१ ई०, २८ जुलाई को लिखा है—"**एक निर्मल सून्य देखा ओहि ब्रह्म हय उसिमें मनको लय करना चाहिए। जब दो एक हो जाय तो एक हय एहि हमजाद हय।**" अर्थात् एक निर्मल शून्य देखा, वही ब्रह्म है उसी में मन का लय करना होगा। जब दोनों मिल जाते हैं तब एक होता है, फिर दो नहीं रहता; वह एक अवस्था ही हमजाद अर्थात् पुरुषोत्तम है। ३० जुलाई को लिखा है—"**निर्मल रूप में मन को लय करना चाहिए।**" उसके बाद २६ अगस्त को लिखा है—"**सून्य निर्मल देखा उसिमें मिल जाना समाधि कहलावे—वोहि बाकि हय—पुरुषोत्तम के आगे ब्रह्म है—उसिमें लय होना बाकि हय। लय बिलकुल निष्काम न होने से नहि होगा।**" अर्थात् जो निर्मल शून्य देख रहा हूँ उसमें मिल जाने को ही निर्विकल्प समाधि कहते हैं वह अभी बाक़ी है पुरुषोत्तम के बाद ब्रह्म है—उसमें लय होना बाकी है। सम्पूण रूप से निष्काम नहीं होने से लय नहीं होगा। उन्होंने फिर लिखा है—"**सून्य भवन में लय हो जाना।** वह शून्य भवन ही सही या अस्ल है उसमें मिलकर टिकु-अटके रहना होगा उसी में ही लय होना होगा अर्थात् एकाकार होना होगा। दो सितम्बर को लिखा है—'**निर्मल ज्योत मन देखता हय लेकन उह न लय हुआ—ओहा जाके अभि निर्वाण नहि हुआ।**" अर्थात् मन अभी भी वह निर्मल ज्योति देख रहा है किन्तु अब भी उसका लय नहीं हुआ, वहाँ लय-प्राप्ति से जो निर्वाण होता है वह अब भी हुआ नहीं। इसीलिए वे और भी आगे जाकर क्रमोन्नति अथवा सिलसिलेवार ब्योरे का संकेत देते हुए लिखते हैं—"**अब हम निर्मल ज्योत में समाय गए।**" अर्थात् अब मैं निर्मल ज्योति में मिल गया।

"बहुत तरइका घर दरवाजा देखने में आया—ॐ ध्वनि में लय होना चाहिए। अर्थात् कूटस्थ में अनेक प्रकार के घर-दरवाजे देखने को मिले अर्थात् षटचक्र की अभिव्यक्ति हुई। इस अवस्था में जो ओंकार ध्वनि होती है उसी में लय होना होगा। उन्होंने और भी लिखा है—"बड़ा दरवाजा खुला—जयसा नल का जल गंगा में मिलने से गंगा हो जाता हय वंसा स्वासा जाय के सून्य मकामे मिलने से एकाकार हो जाता है—एहि ब्रह्म है—आदि ब्रह्म सच्चा—आपहि आप भगवान रूप हय—अब बड़ा मजा हय। अर्थात् प्रधान या मुख्य दरवाजा खुल गया, जिस प्रकार नल का जल गंगा में पड़ने से गंगा हो जाता है उसी प्रकार श्वास निर्मल शून्य में मिलकर एकाकार हो जाता है अर्थात् उसका लय हो जाता है। वह अवस्था ही ब्रह्म है और वह आदि ब्रह्म ही 'सत्' है और तब वह स्वयं भगवान का रूप धारण करता है—अब बड़ा मजा है वह श्वास आता है कहाँ से है? "सून्य के भीतर से हवा आता हय इह मालूम होने लगा।" अर्थात् उस महाशून्य के भीतर से से ही श्वास आ रहा है यह समझ में आया। कई दिन बाद फिर लिखा है—"आज अभयपद दर्शन हुआ—याने महास्थिर हुआ, मोक्ष हुआ—फिर उह सून्य घर में रह करके सब कुछ देखे सब कुछ करे। जेतना इन्द्रियलय होता हय। ओहि स्वासा में।" अर्थात् आज अभय-पद का दशन प्राप्त हुआ यानी महास्थिर हुआ, मोक्ष हुआ। उस शून्य घर में रहकर सब कुछ देखता हूं, सब कुछ करता हूं। सारी इन्द्रियाँ उस महाशून्य रूपी श्वास में मिल जाती हैं। अभय पद अर्थात् जहाँ कोई भय नहीं। उस महा-शून्य में बिना किसी अवलम्बन के रहना अभयपद है। फिर उन्होंने लिखा है—'अब मय आनन्द का घर पाया याने श्वासा न आवे, न जाए।" अर्थात् जहाँ स्थित होने पर श्वास-प्रश्वास का आना-जाना या कोई गति नहीं उस आनन्दरूपी घर को प्राप्त किया। इसके पश्चात अन्तिम या चरमतत्त्व के बारे में लिखा है—"अब न आना न जाना।" अर्थात् इस भव-संसार में पुनः आवागमन भी नहीं होगा उस स्थिर घर में पहुँच कर फिर क्या हुआ इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—स्थिर घर में ठहरे—अब अटकने का जगहि मिला।" अर्थात् उस स्थिर घर में ठहरे—अब सर्वदा के लिए टिकने या अटकने की जगह मिल गई। इसके पश्चात वे वहाँ स्थित रह कर इस संसार को किस तरह देखते हैं; इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—"इह जीवन हय सब झूठ देखलाई देता हय वास्तविक कुछ नहि—जयसा मुदरा चमड़ा लगा रहा धोके से मालुम होता हय कि मेरा शरीर में लगा हय आउर मेरा हय—वैसेहि जागत संसार को मालुम होता हय। इह मालुम हुआ कि इह संसार स्वप्नवत

हय सब कुछ मालुम हुआ। अब दुसरे पदार्थ पर ताकने को एरादा न करे। अर्थात् यह जीवन सभी मिथ्या है वास्तविक कुछ भी नहीं—यह देखा। जैसे मृत शरीर में चमड़ा लगा रहता है और धोखे या भ्रम से मेरे शरीर में लगा है और मेरा है। वैसे ही यह जगत या संसार भी मालूम पड़ता है। और यह भी मालूम हुआ कि यह जगत स्वप्नवत है। सब तुच्छ मालूम पड़ता है। अब और किसी वस्तु की ओर ताकने की इच्छा नहीं उभर रही है—"अब इह एरादा करता हय चुपचाप पड़ा रहे।" और वे गा उठे—

रगड़ में कभि कसर मत करो
रगड़ में मनोकामना पूर्ण करो।
मन दूसरे तरफ कठिन धरो
सून्य के ध्यान से सब काज निकारो,
देखोगे आश्चर्य सामर्थ तेरो
पिछेमे सब कुछ बनेगा तिहारो।
उदास मन तुम कठिन फिरो
आगर तुम जानो हो हुसियारो
लगे रहो साइया से भलितरो
तुझे साँइ पेयार जरूर करो
निरन्तर साँइजी का ध्यान धरो
होयगा जरुर काम तेरो पुरो॥

वे केवल योगी ही थे, ऐसी बात नहीं; किन्तु अपना परिचय स्वयं ही एकांत में लोगों की दृष्टि से परे अत्यन्त गोपनीय अपनी दिनलिपि या डायरी में छोड़ गए हैं। उनके जीवनकाल में उनका यह परिचय संभवत: कोई नहीं जानता था; क्योंकि प्रचार के प्रति उनकी तनिक भी रुचि न थी। प्रत्येक दिन की तरह साधना की उपलब्धि के बारे में लिखते हुए १३ अगस्त १८७३ ई० को लिखा है—"आज हम महापुरुष हुए।" इसके बाद १७ अगस्त को एक मनुष्य की मुखाकृति आँक कर उसके बगल में लिखा है—"महापुरुष हम हय—सूर्य मे एयसा देखा हमहि ब्रह्म हय।" १८ अगस्त को लिखा है—"हमाराइ रूप से जगत प्रकाशित—अब बहु गाढ़ा प्राणायाम हुआ। हमहि एक पुरुष हय आउर कोइ नहि।" अर्थात् हमारे ही रूप से जगत की अभिव्यक्ति हुई है। अब बहुत गहरा प्राणायाम हुआ—मैं ही एकमात्र पुरुष हूँ और कोई नहीं। २२ अगस्त को लिखा है—"हमहि आदि पुरुष भागवान—कुछ पेट में ना ताकत से दरद हय—अब श्वास आउर भितर गया—अब चतुर्भुज होने का लक्षण हुआ—इह मालुम होता हय कि इह दोनो हात छोड़ाय आउरभि

शक्तिमय निराकार वुइ हात भितर से निकला।" अर्थात् मैं ही आदि पुरुष हूं, पेट में कुछ कम ताकत होने से दर्द हो रहा है। अब श्वास और भी भीतर की ओर प्रवेश कर गया ? अब मुझ में चतुर्भुज नारायण होने के लक्षण दिखे। यह समझ में आया कि मेरे उपस्थित दोनों हाथों के अतिरिक्त और भी अनन्त शक्तिशाली निराकार दो हाथ निकल आए। २५ अगस्त को उन्होंने एक सूर्य का अंकन करके उसके बग़ल में लिखा है। **"सूर्यनारायण भगवान जगदीश्वर सर्व्वव्यापी हम हय। एक ज्योत भितर मालुम होता हय। जो सूर्य से आता हय सूर्यहि हम हय। जो हम सोइ उह रूप निराकार का। जो बुद्धि के परे अनन्त रूप ओहि भगवान—आउर निर्मल। हमहि अक्षर पुरुष।"** अर्थात् आत्म-सूर्य रूपी नारायण भगवान जगदीश्वर जो सर्वव्यापी है वह मैं ही हूं। भीतर एक ज्योति देखा जो आत्म सूर्य से आ रही है वह भी मैं ही हूं। जो मैं हूं वही वह निराकार रूप है। बुद्धि से परे जो वृहत कूटस्थ अनन्त रूप है वही भगवान है वह अत्यन्त निमल है। मैं ही वह अक्षर पुरुष हूं। अक्षर अर्थात् जीवात्मा जब स्वयं को निर्गुण या गुणातीत एवं परमात्मा से अभिन्न जान-मान कर उसमें विलीन हो जाता है तभी वह अक्षर की संज्ञा प्राप्त करता है। और भी लिखा है—**कूटस्थ अक्षर अमर, ओहि सूर्यनारायण हय—एहि हम हय आउर एहि सूय है। कूटस्थ अक्षर आदि आउर हम हय। सूर्यहि मालिक और मजा आउर साफ। अक्षर सूर्य हय ओहि हम हय।"** अर्थात् वह कूटस्थ अक्षर अविनाशी वही आत्मसूर्य रूपी नारायण है वही मैं हूँ। सनातन कूटस्थ अक्षर वह मैं हूं। वह आत्मसूर्य मालिक है वह और भी परिष्कार, और भी मजा। वह वृहत कूटस्थ अक्षर ही आत्म सूर्य है, वही मैं हूं। २३ अगस्त को लिखा है—**"हम जब सूर्य हय तब जो हम कहे सो वेद हय—याने निश्चय जाने।"** अर्थात् जब वह कूटस्थ स्वरूप आत्मसूर्य मैं ही हूं तब मैं जो बोल रहा हूँ वही वेद है अर्थात् इसे निश्चित रूप से अपौरुषेय समझोगे। २४ अगस्त को लिखा है—**"हमहि कृष्ण"। अर्थात् मैं ही कृष्ण हूं।** २७ अगस्त को लिखा है—**"जो पुरुष आदित्य में सो मय हूं। ब्रह्मरूप सूर्य का हमारा हय।"** अर्थात् आत्मसूर्य में जो आदिपुरुष है, वह मैं हूं। उस सूर्य के भीतर जो ब्रह्मरूप है वह मुझसे ही आ रहा है। ३ अक्टूबर को लिखा है—**"हम सूर्य हय—महादेव।" मैं आत्म सूर्यस्वरूप महादेव हूं।** १२ नवम्बर को लिखा है—**हमहि महापुरुष पुरुषोत्तम"**—मैं ही महापुरुष हूं। ८ जनवरी १८७४ ई० को लिखा है-**सूर्यहि ब्रह्म एहि स्थिर घर पहुचाता है—अब स्थिर घर में गये, उसिका नाम अमर घर हय।"** अर्थात् आत्मसूर्य ही ब्रह्म है यही स्थिर घर में पहुँचा देता है। अब

स्थिर घर में पहुँचा उसी का नाम अमर घर है। २९ जनवरी को लिखा है—अब सुतोका दिल चाहता हय—आउर खालि ब्रह्मको देखे याने सून्य के भितर सून्य—अब स्थिर घर में मय गया अब मालुम होता हय जयसा शरीर उपके हवा से निचे से उठता हय जयसा हुक्का पिके पानि फेंक देने से निचे के छेद जहाँ से पिया जाता हय ओहाँ से धुआ निकस जाता हय वैसाहि होयगा। अब अगमघर गए—अब अजर घर से अमर घर गए अब कुछ नहि खालि मालिक।" अर्थात् अब सोये रहने की इच्छा करती है, शून्य के भीतर जो शून्य है उस महाशून्य रूपी ब्रह्म को केवल देखता हूं। अब मैं स्थिर घर में पहुँच गया। अब ऐसा मालूम पड़ता है कि शरीर का उपचय हो रहा है और वायु द्वारा नीचे से ऊपर उठ रहा है ठीक जैसे हुक्के से धूम्रपान करने के बाद हुक्के का पानी फेंक देने के समय जिस छेद से धूम्रपान किया जाता है—धुआँ बाहर निकलता है, वैसा ही हो रहा है। अब अगम्य घर में पहुँचा, वहाँ से अजर घर में और उसके बाद अमर घर में पहुँचा, अब और कुछ भी नहीं, केवल महाशून्य रूपी मालिक ब्रह्म ही है। २ मई को और भी लिखा है—"ब्रह्म रूप हमारा याने जो सून्य भितर, मन, सोइ सून्य बाहर, फिर मन देखने लगा बाहर का कूटस्थ अक्षर फिर उहभि गया—अब रह गया खालि शांतिपद इह सून्य जब ब्रह्म हुआ याने इह मन आउर कूटस्थ अक्षर ब्रह्म हय तब सून्य मन ब्रह्म हुआ।" अर्थात् मेरा ही ब्रह्मरूप अर्थात् मनरूपी शून्य जो भीतर है, वही शून्य ही बाहर है, फिर मन बाहर के कूटस्थ अक्षर को देख रहा है; फिर वह भी लुप्त हो गया और कुछ भी नहीं देखता हूँ अब केवल महाशून्य रूपी ब्रह्म अर्थात् शान्ति-पद ही वर्तमान रहा, इस स्थिति में मेरे 'मेरेपन' के साथ कूटस्थ अक्षर सभी ब्रह्म हो गया। तब मन का भी महाशून्य रूपी ब्रह्म में विलय हो गया। इस विषय में अब उनके कंठ से आनन्द-पूर्वक एक गीत फूट पड़ा।

अब चलो पेयरे अमर पुर चलो
छोड़ जगजंजाल विषयरस त्यागो
आउर भटकत फिरो कैंओ तुम भूलो
विषय रस से कुछ मजा नहि हय
आपहि आप तुम समाय लो
फिरते डोलते रहे एकेला
हरदम साँइ पास हाजिरी दे लो।

उस अभय पद को किस प्रकार प्राप्त किया जाय? योगिराज ने १५ अगस्त १८७४ ई० को लिखा—"अभयपद गुरु विना मिलता नहि—सून्य

भवन में स्थिर रहना, विना स्थिर में घुसनेसे नहि होगा।" गुरु के बिना वह अभयपद नहीं प्राप्त किया जा सकता। शून्य भवन में स्थिर होकर रहना होगा, बिना स्थिरत्व के वहाँ प्रवेश नहीं किया जा सकता। महायोगी ने और भी लिखा—

नाम सुमिर लेओ अमृत बानि
तुम भुलेहो आप ब्रह्म न जानि
कहोतो हाथ क्योंकर हि हिलानि
मनहि मम तुमाहिइ हिलानि
हिलो किसमें ओके करो बखानि
सून्य में विचार देखेहु हिलानि
को हिलावे उह तो कहो सुनि
श्वास हिलावे एहि सत बानि।
कॅओ हिले इहते कहो हम शुनि
इच्छा हेतु हिले इह ज्ञानि कि बानि
श्वास कॅओ हिले से वर्णो हम शुनि
हवा स्वभावत: स्थिर नहि जानि
इह श्वास निकला कहुँ से भलानि
सून्य से निकला माया आय मिलानि
निकलेका क्या कारण कहहु ज्ञानि
कर्म फल भोग जन्य भुले फिरानि
इसलिए कर्म फलाफल छोड़ानि
ध्यान करो सदा ब्रह्म मन मिलानि
तब तद्रूप होगे सत्ने बखानि
हरदम देखे स्वरूप के निसानि
इह आनन्द मूल जाने ब्रह्मज्ञानि ॥

• • •

योगिराज स्वयं कभी भी नाम-जप या कोई मंत्र-जप न तो करते थे और न भक्तों को ही वह देते थे। उन्होंने कभी कोई तिलक-टीका, रोली-चन्दन नहीं लगाया। सामान्य पोशाक में रहते थे: वे इन सब स्थूल कर्म अथवा किसी प्रकार के बाह्य आडम्बर के पक्ष में नहीं थे। वे स्वयं आत्मसाधना करते और शिष्यों को भी वही प्रदान करते थे।

उनका कहना था वह सब कुछ करने से कोई लाभ नहीं; क्योंकि उनके द्वारा आत्म-दर्शन नहीं होता। फिर जो आत्मदर्शन अथवा आत्म-साक्षात्कार कराने में सक्षम नहीं उसे करके व्यर्थ समय गँवाने का क्या प्रयोजन है ? श्री मद्भागवत में भी इसी प्रकार की चर्चा है—

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्च्चाविडम्बनम् ॥
यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम्।
हित्वार्चां भजते मौढयाद्भस्मन्येव जुहोति सः ॥
अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रियायोतपन्नयानघे।
नैव तुष्येऽर्च्चितोऽर्च्चायां भूतग्रामावमानिनः ॥

—श्रीमद्भागवत् : ३।२९।२१-२२-२३

अर्थात् अज्ञानी लोग उस आत्मा की उपेक्षा या अवज्ञा करके प्रतिमा-पूजन आदि का आडम्बर रचते हैं। वह पूजा स्वांग मात्र है। जो मूढ़ता वश मेरी (आत्मा की) उपेक्षा करके केवल प्रतिमा पूजन में ही लगे रहते हैं वे तो जैसे भस्म में हवन कर रहे हैं या भस्म में आहुति देने जैसा व्यर्थ का कार्य कर रहे हैं। मैं सभी भूतों या पदार्थों में स्थित हूँ, विद्यमान हूँ इसे न देख कर बिना समझे-बूझे जो लोग नाना प्रकार के द्रव्यों अथवा सामग्रियों से दूसरे जीवों का अपमान करते हुए मेरी मूर्त्ति की अर्चना करते हैं उनकी इस अर्चना से मुझे प्रसन्नता नहीं होती।'

योगिराज का कहना था कि मानव-जन्म दुर्लभ और क्षण-स्थायी है। इसलिए ऐसी साधना करनी चाहिए जिसके द्वारा इस जन्म में ही जन्म-मृत्यु के बन्धन से मुक्ति मिल जाए। उसके लिए उन्हें कभी भी उपवास या स्थूल पूजा करते नहीं देखा गया। वे केवल लोक-शिक्षा के लिए वर्ष में एक दिन शिवरात्रि के दिन उपवास करते थे। उन्होंने कहा था कि यदि मैं न करूँ तो फिर लोग नहीं करेंगे। इस दृष्टि से वे ठूँठ जैसे नीरस योगी भी नहीं थे। वे तो प्रेम-दया एवं करुणा के मूर्त्त प्रतीक एक उच्च कोटि के राजयोगी थे।

उनका कथन है कि किसी दूर देश की दो-चार-दस दिन की यात्रा पर जाने के लिए कुछ पाथेय अवश्य प्रयोजनीय है। उसके सम्बन्ध में कहाँ जाना है, किस जगह, कितने दिन तक रहना है इन सब की जानकारी के बावजूद एक निर्दिष्ट, निर्धारित पाथेय, मार्ग-व्यय खाद्यान्न आदि के प्रबन्ध बिना नहीं जाया जाता। किन्तु जब इस देह को त्याग कर अनिर्दिष्ट काल के लिए अनजाने देश की यात्रा पर रवाना होंगे तब कितना पाथेय आवश्यक है ? उस समय पार्थिव जगत की कोई भी वस्तु पथ-संबल या पाथेय नहीं होगी। कहाँ जाना होगा और कितने

दिनों तक उस अजनवी प्रदेश में रहना होगा; कुछ भी पता नहीं। किन्तु उस यात्रा पर जाने के लिए इस जीवन में ही योग-साधना द्वारा वह पाथेय प्राप्त करके ले जाना होगा। और वह साधना से उपलब्ध विषय या वृत्ति ही संस्कार के रूप में एक मात्र पथ का सम्बल या पाथेय होगा। वह पाथेय एक अमर पाथेय है। वही जीव के साथ गमन एवं पुनरागमन में पुनः प्राप्त होता है। इस सन्दर्भ में भगवान श्री कृष्ण की अभयवाणी गीता में गूँजती है कि योगभ्रष्ट व्यक्ति श्रीमानों एव श्री-सम्पनों के घर अथवा योगियों के कुल में जन्म लेते हैं। जो श्रद्धा पूर्वक योग की ओर प्रवृत्त हुए हैं वे कभी भी दुर्गति-ग्रस्त नहीं होते अर्थात् कल्याणकामी व्यक्ति सर्वदा ब्रह्म-चिन्तन के साथ सुखी रहते हैं। इस आत्मकर्म रूपी शुभ कर्म का जो सम्पादन करते हैं उनके प्रति ही भगवान श्री कृष्ण की अभय वाणी है—

"नहि कल्याणकृत् कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति।"

—गीता : ६/४०

इस आत्मसाधना के द्वारा जो अपना कल्याण करते हैं वही यथार्थतः कल्याणकृत हैं। पंचदशीकार ने भी ऐसा ही कहा है—

इह वा मरणे वास्य ब्रह्मलोकेऽथ वा भवेत।
ब्रह्म साक्षात्कृतिः सम्यगुपासीनस्य निर्गुणम॥

—पंचदशी : ९।१५०

अर्थात् निर्गुण उपासक, इस लोक में हो, परलोक में अथवा ब्रह्मलोक में हो। निश्चित् रूप से परब्रह्म का दर्शन प्राप्त करता है, उसकी उपासना का फल कभी व्यर्थ या विफल नहीं होगा।

योगिराज एक महान वीर साधक थे। आलस्य अथवा आज नहीं कल करने के मनोभाव को उन्होंने कभी प्रश्रय नहीं दिया। वे समस्त दिन नौकरी करने के बाद शाम को छात्रों को पढ़ाते थे और साथ ही गृहस्थी को भी हर ओर से सँभालते थे इसके अतिरिक्त जन कल्याण के कार्यों में भी लिप्त रहते थे। फिर रात नौ बजे तक भक्तों के साथ तत्त्व-चिन्तन एवं भगवत् चर्चा करते। इन सबके बीच वे प्रतिदिन की घटनाओं को भी डायरी में लिख लिया करते थे। प्रतिदिन अनेक भक्तों के पत्रों का उत्तर स्वयं अपने हाथ से लिखकर देते। इसके अलावा कितने लोगों की कितनी समस्याओं का समाधान करना पड़ता। इतना कुछ करने के वावजूद उन्होंने लोगों की दृष्टि से परे ऐसी साधना की जिसने उन्हें साधना के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा दिया। इससे स्पष्ट है कि उनका मनोवल कितना ऊँचा एवं शक्ति-सम्पन्न था। उन्होंने एक जगह अपनी डायरी में लिखा है—**"अब रात भर जागने को एरादा होता**

हय।" फिर लिखा है—**रात में नींद कम आता हय—बड़ा स्थिर बड़ा नेसा।"** इन सब बातों से लगता है कि उसी समय से वे रात भर योग की साधना करते थे और क्रिया के नशे में चूर होकर सभी प्रकार के गुण-संग से रहित अवस्था में रहते थे। उस समय से केवल कुछ महीने बाद की अपनी साधना का वर्णन करते हुए जो लिखा है, उस पर ध्यान देने से आश्चर्य-चकित होना पड़ता है। उन्होंने लिखा है—**"अगम पंथ में पग धरा। ओहा न मालुम श्वासा आता है न मालुम जाता हय संग सबका छोड़े। आउर ध्वनि सुने, राधिका जी का दर्शन भया। अब अनमोल धन मिला।"** अर्थात् जहाँ जाना कठिन है उस अगम्य स्थान अर्थात् स्थिर घर में पूर्णरूप से स्थिति हुई। उस अवस्था में साँस आ रही है कि जा रही है कुछ भी स्पष्ट नहीं। अर्थात् 'केवल कुम्भक' प्राप्त होने पर इन्द्रियों से जुड़े तमाम गुण एवं आसक्ति से परे हो गया हूँ। ऊपर अथवा सहस्रार से उतरती हुई ध्वनि-तरंगों (Sound Current) या नाम ध्वनि में राधाजी का दर्शन हुआ। इस बार अनमोल धन या सम्पदा प्राप्त हुई।'

इस प्रकार वे अनेक देव-देवियों की छवि का अंकन करते एवं उनका वर्णन करते हुए जिस-जिसका दर्शन होता उसे लिख लिया करते थे।

कुछ दिन बाद अन्य एक स्थान पर एक दूसरी अवस्था का वर्णन करते हुए लिखा है—**'बिलकुल बाहर का श्वासा बन्द होता हय। धन्य भाग उसको जिसके इह होय।"** अर्थात् बाहर का आगम-निगम रूप श्वास-प्रवास जो नासिका मार्ग में निरन्तर चल रहा है, वह सम्पूर्ण रूप से बन्द हो गया। जिसकी ऐसी अवस्था हो उसका भाग्य धन्य है अर्थात् इस प्रकार स्थायी 'केवल कुम्भक' जिसे प्राप्त हो जाए वह धन्य है। इससे स्पष्ट है कि साधना का जीवन प्रारम्भ करने के पश्चात् निरन्तर कठोर साधना करते हुए वे कितनी शीघ्रता से साधना के उच्च शिखर की ओर अग्रसर होने लगे। उसके ठीक कई दिन पश्चात् ही उन्होंने लिखा है—**"स शरीर में सीधे जल के उपर जाना कुछ कठिन काम नहि हय, जब प्राणायाम करते करते प्राणवायु रुक गया दो घड़ि से उपर तब जेत्ते जल पर चाहे ओत्ते जल पर चले जाय आउर जेत्ते दूर तक चाहे ओत्ते दूर तक—कॅओकि जब जल सून्य ओ सूर्य सब एक रूप आउर हम भी ओहि रूप तब वायु के रोकने के घोर सहजे में इह शरीर हलका करके उजय ले जाय—इह बात तब होता जब केवल कुम्भक होय।"** अर्थात् सदेह सीधे पानी के ऊपर-ऊपर पैदल चला जाना कोई कठिन कार्य नहीं है। जब प्राणकर्म या प्राणायाम करते-करते प्राणवायु थम जाए अर्थात्

श्वास-प्रश्वास की गति कम से कम दो घड़ी के ऊपर तक थम जाए तब गहरे जल के ऊपर से होकर या फिर चाहे जितनी दूर तक जाना चाहे पैदल जाया जा सकता है; क्योंकि उस समय जलतत्त्व, शून्य तत्त्व एवं आत्मसूर्य तत्त्व सब एकरूप हो जाते हैं और जब कि मैं स्वयं भी वही एक ही रूप हूँ। अत्यन्त सहजता के साथ जब प्राणवायु बाहर जाने से रोक लिया जाए तो उस समय शरीर को हलका करके जल-प्रवाह या उसकी धारा की गति के विपरीत भी जाया जाता है। यह अवस्था तभी होती है जब 'केवल कुम्भक' प्राप्त होता है।

इतिहास इस बात का साक्षी है कई विश्व वरेण्य महायोगियों ने अपनी योग-साधना की सिद्धि के बल पर समुद्र अथवा नदी के जल पर पैदल यात्रा करने की क्षमता प्राप्त की थी। जिनमें मुख्यरूप से यीशुख्रिस्त और तैलंग स्वामी आदि उल्लेखनीय हैं। किन्तु एक गृहस्थ योगी की हैसियत से योगिराज ने इस प्रकार की अपनी सिद्धि-प्राप्ति को कभी प्रदर्शन का विषय नहीं बनाया। इस सम्बन्ध में वे स्वयं को इतना गोपन एवं संयत रखते थे कि योग मार्ग की इस उच्च अवस्था की प्राप्ति के वावजूद उन्होंने कभी किसी के सम्मुख उसे प्रकट नहीं किया। योगमार्ग की इस अवस्था की चर्चा करते हुए महर्षि पतंजलि कहते हैं—

"उदान जयाज्जल पंककण्टकादिष्वसंग उत्क्रान्तिश्च।"

—पातंजल योग सूत्र : विभूति पाद : ३९

अर्थात् कंठस्थ या कंठ में स्थित उदान वायु पर विजय प्राप्त कर लेने या उसे नियंत्रित कर लेने पर ऊर्ध्व-स्थित वायु का रोध होने से निम्नस्थ सभी वायुओं का रोध होता है और शरीर के हलका हो जाने पर जल, पंक (कीचड़) काँटे आदि किसी का स्पर्श या बोध नहीं होता है; उस समय इन सब के ऊपर से भी अनायास ही यात्रा की जा सकती है।

"कायाकाशयोः सम्बन्ध संयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्।"

—पातंजल योग सूत्र : विभूति पाद : ४२

अर्थात् शरीर और आकाश का जो सम्बन्ध है अर्थात् जो तत्व-गुण उनमें है उस पर संयम करने से अर्थात् मूलाधार से कंठ तक वायु रोध होने से शरीर रूई की तरह हल्का हो जाता है और आकाश में चलने की शक्ति प्राप्त होती है। ऐसे ही लोगों को तत्वज्ञ या तत्त्ववेत्ता कहा गया है।

योगिराज केवल साधना द्वारा उपलब्ध विषयों को ही नहीं बल्कि दैनिक जीवन की प्रायः सभी घटनाओं को निष्कपट भाव से अपनी डायरी में लिपिवद्ध कर लेते थे। वे डायरियाँ अन्त्यन्त गोपनीय थीं। उनके जीवन-काल तक उन्हें देखने का किसी को भी अधिकार

नहीं था। किन्तु योगिराज ने अपनी कृपादृष्टि का-परिचय देते हुए अपने प्रतिदिन के साधनाजन्य अथवा साधनालब्ध अनुभवों को डायरी में लिपिवद्ध कर रक्खा है; ऐसा सद्प्रयास और किसी उस कोटि के महापुरुष ने किया हैं या नहीं; इसकी विशेष जानकारी नहीं है। किन्तु योगिराज की ये डायरियाँ विश्व वाङ्मय की अमूल्य सम्पदा हैं।

वे कितने सहज और सरल तथा निष्कपट थे। यह उनके इस एक वाक्य से स्पष्ट है। साधना के प्रारम्भिक दिनों में उन्होंने एक जगह लिखा है—आज काम मुझे आक्रमण किया।" कभी लिखा है—काम प्रवल हुआ अब सामालना चाहिए।" फिर लिखा हैं—"आज काम से चित्त चंचल हुआ—काम बड़ा जोर किया।" फिर लिखा है- कामदेव फिर जगा—आउर निद बहुत घेरा। आउर भुक बड़ा लगा।" निष्कपट एवं निश्छल व्यक्ति ही इस बात को डायरी में लिख सकते हैं। क्योंकि ऐसा लिखते वक्त सोचना होगा कि यह डायरी भविष्य में उनके वंशधरों के हाथ लग सकती है, इसलिए सभी इस प्रकार की बातें गोपन रखते हैं; किन्तु योगिराज की डायरियाँ देखने से स्पष्ट है कि जीवन की किसी बात को बिना छिपाये उसे उन्होंने लिपिवद्ध करने की जरूरत महसूस की और जो भी साधना द्वारा प्राप्त हुआ है वह सब कुछ निष्कपटता पूर्वक निःसंकोच, निःशंक चित्त से डायरी में लिखा है। इससे स्पष्ट है कि वे कितनी कठोर साधना के पश्चात् एक अनासक्त, कामजयी महायोगी के रूप में परिणत हुए थे।

काम एक देह-धर्म है। शरीर में ज़ब तक प्राण की चंचलता उपस्थित रहेगी तब तक वह देह-धर्म भी रहेगा। चाहे वह कोई महामानव ही क्यों न हो, वह भी उससे मुक्त नहीं है। प्राण के स्थिर होने पर अर्थात् श्वास-प्रश्वास की गति स्थिर होने से ही काम-सहित किसी प्रकार का देह-धर्म उपस्थित नहीं रहता। ऐसी स्थिति में देह के अस्तित्व के वावजूद कामजयी होकर सभी प्रकार के देह-धर्म, मनोधर्म अथवा तीनों गुणों से परे की स्थिति में प्रतिष्ठित होने की क्षमता प्राप्त होती है। योगिराज ने भी इसी क्षमता एवं अवस्था को प्राप्त किया था।

योगिराज अपने २७ वर्षों के साधनामय जीवन में साधना के उच्च शिखर पर पहुँच गए थे। उन्होंने किसी समय डायरी में लिखा है—"आज सोने का काली से भेट हुआ।" अर्थात आज सोने की काली को देखा और कभी लिखा है—"छिन्नमस्ता रूप देखा।" अर्थात् छिन्नमस्ता काली का रूप देखा। यह छिन्नमस्ता उग्र विश्वपालिका शक्ति का प्रतीक है। एक जीव दूसरे जीव को खाकर पुष्ट होता है। अर्थात्

स्वयं ही अपना शिर काटकर स्वयं रक्तपान। क्योंकि सब कुछ एक स्थिर प्राण से ही उत्पन्न है। आधार की पृथकता के कारण स्वतंत्र रूप की प्रतीति होती है। वस्तुत: एक जीव का दूसरे जीव के खाने का अर्थ है स्वय ही स्वयं का भक्षण करना अथवा प्राण, प्राण को ही खाता है। क्योंकि जो, जिसको भक्षण कर रहे हैं, दोनों ही एक हैं। भोक्ता, भोग्य एवं भोग, ये रक्त की तीनों धारायें एकलयता की स्थिति में हो जाती हैं। साधना करते-करते समस्त प्रकार के भोगों के अवसान की दिशा में योगी की यह भयंकरी, भीषणा भाव-मूर्त्ति प्रकट होती है। प्राणायाम करते-करते मुख्य प्राणवायु जब स्थिर होकर सुषुम्नावाही अथवा सुषुम्न-काण्ड से होता हुआ कूटस्थ में सम्पूर्ण रूप से स्थिति प्राप्त कर लेता है तब योगी के समस्त भोगों का अवसान या अन्त हो जाता है उस समय जिस अवस्था का उदय होता है, वही छिन्नमस्ता की संज्ञा है। इस प्रकार किसी तत्त्व को आधार बनाकर तथा किस प्रकार की साधना करने से एक-एक चक्र के भीतर स्थित भाव को प्राप्त करना पड़ता है, उसके सूक्ष्म से सूक्ष्म चित्र अथवा नक्शे को समस्त कला-कौशल के साथ अनेक देव-देवियों की मूर्ति या बिम्ब के माध्यम से ऋषियों ने अभिव्यक्त किया है; जिसका बोध या अनुभव योगियों को होता है। जैसे काली की १०८ संख्या की मुण्डमाला साधक के मन की १०८ पशुवृत्तियों के नाश या निधन का प्रतीक है। बाहर निकली जीभ मुँह में तालु के भीतर खेचरी मुद्रा का प्रतीक है। हाथ में खड्ग अज्ञान-नाश प्रतीक है अर्थात् वह ज्ञान का खड्ग है। इस प्रकार समस्त देव-देवियों को तत्त्व रूप में अपनी देह के भीतर उनकी उपस्थिति का बोध करना होगा; उसका ज्ञान प्राप्त करना होगा।

योगिराज ने डायरी में लिखा है—"**सून्य ब्रह्म नजर परा।**" अर्थात् शून्य ब्रह्म को देखा। फिर कभी लिखा है—"**ब्रह्म साफ दर्शन होंने लगा।**" फिर लिखा है—"**जो ब्रह्म सोइ सून्य सोइ सूय ज्योति।**" अर्थात् जो ब्रह्म है वही शून्य है, वही आत्मसूर्य की ज्योति है। और कभी लिखा है—"**ओं—निर्मल भितर सून्य—"एकठो आदमि आपने माफिक बइठा देखा।**" अर्थात् ओंकार के भीतर निर्मल अर्थात् परिष्कार स्वच्छ शून्य—अपने स्वरूप जैसा एक व्यक्ति बैठा हुआ देखा। फिर लिखा है—"**एहि इलाही इल्लिला**"—अर्थात् यही महान अल्ला हैं। फिर कभी लिखा है—"**एहि आपना रूपे हय फिर एहि निराकार ब्रह्म ओंकार हय।**" यही अपना स्वरूप है और जो अपना स्वरूप है वही ओंकार रूप निराकार ब्रह्म है। यहाँ वे स्वयं एवं ब्रह्म सब मिलकर एकाकार हो गए, उनके जीव-भाव का लय हो गया और अद्वैत में प्रतिष्ठित हो गए।

यह योगी की एक चरम अवस्था है। इस अवस्था में द्वैत का कहीं कोई आभास ही नहीं इसलिए वे कहा करते थे कि जबतक दो या द्वैत की स्थिति हो तब तक वह निकृष्ट है। और एक बात लिखी है—**"रातदिन जब रोध श्वासा का होगा, तब रामनाम का पावेगा अउर सब सिद्ध होगा।"** योगिराज के कहने का तात्पर्य यह है कि जोर-जोर से चिल्लाकर रामनाम जपने से क्या होगा? जब आत्मकर्म या प्राणायाम करते-करते सर्वदा के लिए श्वास-प्रश्वास की बाह्य गति रुक जाएगी तभी सच्चे रामनाम की प्राप्ति होगी एवं तब सब कुछ सिद्ध एवं मुक्त हो जाएगा। अर्थात् जीव इन्द्रियों के माध्यम से बाहर के ही शब्द सुनता है, अन्तःकरण के शब्द सुन नहीं पाता; क्योंकि इन्द्रियों में वहाँ प्रवेश करने का सामर्थ्य नहीं है। वह अनाहत नाद अथवा ओंकार ध्वनि है जो जीव के हृदय में सर्वदा ध्वनित है। किन्तु उस ओर किसी का ध्यान नहीं। वायु-क्रिया रूप आत्मकर्म करते-करते जब प्राणवायु स्थिर हो जाएगा तब उस आत्माराम के अनिर्वाण नाम-प्रवाह अथवा Sound Current को पकड़ सकोगे या सुन पाओगे। तभी सच्चा या यथार्थ संकीर्तन होगा। जोर-जोर से चिल्लाने की कोई आवश्यकता नहीं। अनिर्वाण नाम-प्रवाह सुनने या पकड़ने की स्थिति में जिह्वा, ओठ आँख, मन, एवं प्राण स्थिर हो जाएंगे, कम्पनहीन हो जाएंगे। उस अवस्था में मुख से कौन संकीर्तन करेगा? यही मुख्य संकीर्तन है। जोर-जोर से चिल्लाकर किया हुआ संकीर्तन गौण संकीर्तन है। गौण संकीर्तन के साथ यदि सुर-ताल एवं वाद्य नहीं होते तो वह कोई भी नहीं करता। चीत्कार पूर्वक संकीर्तन करने या बाहर खोजने पर आत्माराम की प्राप्ति नहीं होती। इसके सम्बन्ध में महात्मा कबीर ने दृढ़ता के साथ कहा है—

'अँखियन तो झांई परी, पंथ निहारि-निहारि।
जिभ्या में छाला परा राम पुकारि-पुकारि।।'

अर्थात्—रास्ता देखते-देखते आँखें धुंधला गई हैं और राम-राम जपते-जपते जीभ में छाले पड़ गए हैं।

इस सन्दर्भ में योगिराज ने अपनी डायरी में एक बहुत अच्छी बात लिखी है—**"बाजा से जब जानवर मस्त होय तब आदमि 'ओं' में न मस्त होय तो गधा हय।"** अर्थात् साधारण बाजे को सुनकर जब जानवर मस्त हो जाता है तब अपनी देह में स्थित ओंकार-ध्वनि सुनकर भी यदि मनुष्य मोहित न हो तो फिर वह गधा है। कहने का तात्पर्य यह है कि 'ओंकार-ध्वनि' सुनने की इच्छा यदि किसी में न जागे तो फिर उसका मनुष्य-जीवन व्यर्थ है जिस प्रकार गधा स्वय पशु होकर भी अन्य पशुओं के लिए घास ढोता फिरता है किन्तु उसके भाग्य में नहीं जुट पाती उसी

प्रकार जो व्यक्ति ओंकार ध्वनि न सुनना चाहे वह भी उस गधे की तरह केवल व्यर्थ का श्रम करता फिरता है। इस सन्दर्भ में पंचदशीकार ने कहा है—

अनात्मबुद्धिशथिल्यं फलं ध्यानाद्दिने दिने।
पश्यन्नपि न चेत् ध्यायेत् कोऽपरोऽस्मात पशुर्वद ॥

—पंचदशी : ९।१५६

अर्थात् आत्मा में जो अनात्म बोध होता है वह ध्यान द्वारा धीरे-धीरे दूर होता है। ऐसा प्रत्यक्ष फल देखकर भी जो व्यक्ति ध्यान नहीं करता तो फिर वह पशु के अतिरिक्त और क्या है ?

नाम लेकर पुकारने से क्या ईश्वर की प्राप्ति होती है ? एक भक्त के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए योगिराज ने कहा है—कि नाम एवं रूप, देह का अथवा किसी वस्तु का होता है। ईश्वर को किस नाम से पुकारोगे ? वे तो नाम और रूप से परे हैं। देह नाशवान है, इसलिए नाम एवं रूप भी नाशवान हैं। किन्तु ईश्वर, वह तो अजन्मा है, अविनाशी है। फिर ईश्वर क्या कोई दूर की-वस्तु है ? वे क्या तुम से अलग हैं जो चिल्ला-चिल्लाकर नाम लेते हुए पुकारना होगा ? लोग दूर की वस्तु को ही नाम लेकर जोर-जोर से चीत्कार करते हुए बुलाते हैं। ईश्वर की अपेक्षा और कौन है जो निकट है ? वे तो तुम्हारे हृदय देश में अवस्थित हैं। इसलिए उन्हें नाम लेकर जोर-जोर से चिल्लाकर किस तरह पुकारोगे ? जैसे, ईश्वर' शब्द के माध्यम से पुकारने के लिए भी प्राण का देह में चंचल रूप में होना अनिवार्य है। क्योंकि देह-मन्दिर में प्राण के चंचल रूप में न रहने पर ओठ एवं जीभ में इतनी शक्ति नहीं है कि वे ईश्वर को 'ईश्वर' नाम से पुकारें। इसलिए ईश्वर को पुकारने के लिए भी देह में प्राण की चंचलता का होना अनिवार्य है। किन्तु स्थिर प्राण में कोई क्रिया या कर्म नहीं है। ईश्वर शब्द, ईश्वर है, हरि शब्द भी हरि नहीं है, जैसे जल शब्द जल नहीं है। जल शब्द यदि जल होता तो फिर जल-जल जोर-जोर से कहने पर ही प्यास बुझ जाती; किन्तु ऐसा नहीं होता। इललिए हरि-हरि जोर-जोर से पुकारने पर भी उसकी कोई आहट नहीं मिलेगी हरि का अर्थ है जो सब कुछ हरण करता है हर लेता है, फिर वहाँ किसी प्रकार की इन्द्रिय जन्य आसक्ति नहीं रहती। प्राण के स्थिर होने पर अर्थात् उसकी चंचलता का अवसान या अन्त हो जाने पर सब कुछ लुट जाता है, उसका हरण हो जाता है। उस स्थिति में जीव का जीव-भाव समाप्त हो जाता है। सभी इन्द्रियों से परे की यह अवस्था ही वह स्थिर अवस्था है जिसे हरि कहते हैं। योगिराज ने एक स्थान पर लिखा है—

"दर्पण के भीतर जो नदी उससे पियास नहि जाता।" अर्थात् 'दर्पण के भीतर प्रतिबिम्बित नदी के जल से प्यास नही बुझती।"

कोई व्यक्ति क्या स्वयं ही अपना नाम लेकर कभी पुकारता है ? उसे पुकारने की जरूरत नहीं। प्राण स्वयं ही जब ईश्वर है तब प्राण, प्राण को किस तरह पुकारेगा ? पुकारने की जरूरत ही क्या है ? क्योंकि जिसे पुकारेंगे और जो पुकारने वाला है दोनों एक ही हैं। दो का या द्वैत का प्रश्न ही नही ? यह प्राणरूपी ईश्वर सभी जीवों के शरीर में स्थिर रूप में वर्तमान हैं; किन्तु जीव में जब चंचलता आती है तो संज्ञा-च्युत होता है वह अपने स्वरूप को भूल गया है। इसीलिए यह सभी लोगों का कर्त्तव्य है कि वे प्राण-कर्म या प्राणायाम द्वारा चंचलता को समाप्त कर स्थिर प्राणरूप अपनी संज्ञा को पुनः प्राप्त करें अर्थात् वर्तमान स्थिति या चंचल अवस्था को स्थिर अवस्था में रूपान्तरित करके ही ईश्वर या स्थिर प्राण का वास्तविक ज्ञान प्राप्त होगा।

लोग ईश्वर को प्रणाम करने के उद्देश्य से दोनों हाथ जोड़कर दोनों भौंहों के बीच माथे का स्पर्श करते हैं; किन्तु उन्हें अज्ञता के कारण इस बात की जानकारी नहीं होती कि वे सभी इस प्रकार कूटस्थ को ही प्रणाम करते हैं। यथार्थतः कोई भी बाहर के किसी देव-देवी को प्रणाम नहीं करता; क्योंकि समस्त देव-देवियों का अस्तित्व ही उस कूटस्थ में है.। कूटस्थ को प्रणाम करने के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं, उनको प्रणाम करना ही समस्त देव-देवियों को प्रणाम करना है। इसीलिए देखने में आता हैं कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर सभी ध्यान-मग्न स्थिति में कूटस्थ (ज्योतिर्मय ईश्वर) को प्रणाम कर रहे हैं।

और भी देखने में आता है जैसे प्रचलित भाषा या मुहावरे के माध्यम से सभी अक्सर कहते हैं 'मेरा घर' अर्थात् 'घर'—'मैं' नहीं हूँ; वहाँ 'मैं' केवल रहता हूँ। उसी प्रकार लोग यह भी कहते हैं 'मेरी देह, या मेरा शरीर' अर्थात् इससे भी स्पष्ट है कि यह या शरीर मैं नहीं हूँ बल्कि वहाँ या उसमें केवल रहता हूँ। इस देह के भीतर 'मैं' रूप की पृथक सत्ता है जो वास्तविक 'मैं' का द्योतक या पदवाच्य है, वह मैं ही असली मैं है। वह प्रकृत या वास्तविक मैं न रहे तो फिर वर्तमान मैं का कोई अस्वित्व नहीं। वह सच्चा 'मैं' ही आत्मा है, ईश्वर है, वही जन्म-मृत्यु-रहित अविनाशी है। वह मैं फिर वर्तमान को कैसे पुकारेगा ? पुकारने का प्रयोजन ही क्या है ? केवल स्वयं, स्वयं को जानने की चेष्टा करो; वही साधना है। जिस दिन स्वयं, स्वयं को जान लोगे उस

समय सारे पाशों अथवा बन्धनों से मुक्त होकर स्वयं ही शिव हो जाओगे। इसी रूप में स्वयं को, स्वयं जानना ही मनुष्य जीवन की चरम एवं परम सार्थकता है।

प्रश्न है कि ईश्वर की स्तुति करोगे कैसे ? स्तुति तो प्रशंसा अथवा खुशामद में शामिल है। वे क्या तुम लोगों की तरह खुशामद पसन्द हैं अथवा क्या उन्हें प्रशंसा प्रिय लगती है ? वे कभी भी खुशामद नहीं चाहते, वे तो भक्त को अपनी तरह कर लेते हैं और अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित कर लेते हैं। इसलिए उन्हें पाने के लिए निश्चल होना पड़ेगा, समाधिस्थ होना पड़ेगा। निश्चल अवस्था अथवा स्थिर अवस्था ही ब्रह्म है। अतएव प्राणकर्म अथवा प्रणायाम द्वारा निश्चल, स्थिर होने की चेष्टा करो, वही ब्राह्मी स्थिति है। उस समय तुम स्वयं ही ब्रह्म हो जाओगे। जो कर्म तुम्हें उस निश्चल अवस्था तक पहुँचा दे, वही साधन है; वही कर्म योग है। उसी कर्मयोग को आधार बनाओ, उसी का ही अनुष्ठान करो अर्थात् इस आत्मकर्म रूप निष्काम-योग से ही सब कुछ प्राप्त होगा। इसीलिए क्रिया ही सत्य है और सब मिथ्या है। **"पुरा सासमे पिया आपना खोंज करे भाइ। जन्म-जन्म का संसार तुम्हारा सबे छुट जाइ।"** एक गिलास पानी पाने पर वह भीतर चला जाता है जिस प्रकार वह बाहर नहीं दिखाई देता, उसी प्रकार प्राणकर्म करते-करते बहिर्मुखी श्वास सम्पूर्ण रूप से अन्तर्मुखी होकर स्थिर हो जाता है तब 'केवल-कुम्भक' अवस्था प्राप्त होती है। इस प्रकार श्वास को पूरी तरह पीकर (केवल-कुम्भक अवस्था में) उसके बाद स्वयं को खोजो। अर्थात श्वास की उस स्थिर अवस्था के भीतर ही अपना प्रियतम है, उसे प्राप्त करते ही अर्थात उस स्थिर अवस्था की प्राप्ति से ही जन्म-मृत्यु का प्रवाह भी समाप्त हो जायगा।

जिह्वा स्वयं इन्द्रिय है और इन्द्रिय द्वारा किया गया संकीतन गौण संकीर्तन है। इसीलिए योगिराज कहा करते थे कि वस्तुतः जिन्हें मुख्य संकीर्तन का पता नहीं है उनके लिए गौण संकीर्तन करना ही अच्छा है। इस प्रकार गौण संकीर्तन करते-करते जीव धीरे-धीरे शुद्ध होगा और मन में भक्ति, श्रद्धा तथा विश्वास का उदय होगा। तत्पश्चात् स्वयं समय आने पर जब गुरु-कृपा से मुख्य संकीर्तन का संकेत प्राप्त होगा अर्थात् जब सद्‌गुरु द्वारा प्राणायाम अथवा प्राणकर्म का उपदेश प्राप्त होगा तब फिर गौण संकीर्तन की कोई आवश्यकता नहीं होगी। इसीलिए वे कहा करते थे कि सौभाग्य से जिन्हें आत्मकर्म रूप साधन प्राप्त है या मुख्य संकीर्तन का मार्ग जिन्हें मिल गया है, उन्हें गौण संकीर्तन अथवा

बाह्य पूजा की आवश्यकता नहीं। वे उस समय देह के भीतर ही सब कुछ देखते हैं और सब कुछ की जानकारी प्राप्त कर लेते हैं। ज्ञान संकलिनी तंत्र की उक्ति है—

देहस्थाः सर्वविद्याश्च देहस्थाः सर्वदेवताः।
देहस्थाः सर्वतीर्थानि, गुरुवाक्येन लभ्यते ।।

—ज्ञान संकलिनी त त्र : ८

अर्थात् सारी विद्यायें, समस्त देवता और सारे तीर्थ इस देह में वर्तमान हैं जिसे गुरु की शिक्षा द्वारा षट्चक्रों के माध्यम से जानना पड़ता है। इड़ा, पिंगला एवं सुषुम्ना यही त्रिपाद अथवा तीन पद हैं। इस देह के भीतर ही, स्वर्ग, मर्त्य, और पाताल रूपी त्रिलोक या त्रिभुवन स्थित है। नाभि के नीचे पाताल, नाभि से कंठ तक मर्त्य एवं कंठ से ऊपर स्वर्ग लोक की अवस्थिति है।

ब्रह्माण्ड लक्षणं सर्वं देहमध्य व्यवस्थितम्।
साकाराश्च विनश्यन्ति, निराकारो न नश्यति।
निराकारं मनो यस्य, निराकारसमो भवेत।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन साकारान्तु परित्यजेत्।।

—ज्ञान संकलिनी तन्त्र : २९-३०

अर्थात् विश्व-ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी है, सब देह के भीतर है। साकार वस्तु नाशवान है; किन्तु निराकार का विनाश नहीं होता। निराकार मन में शुद्ध ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है इसलिए साकार को अस्थायी जानकर हर प्रकार से उसका परित्याग करना चाहिए।

मंत्रपूजातपोध्यानं होमं जप्यं बलिक्रियाम्।
संन्यासं सर्वकर्माणि लौकिकानि त्तजेद्बुधः।

—ज्ञान संकलिनी तन्त्र : ९६

मंत्र, जप, बाह्य पूजा, तपस्या, होम, बलिदान, संन्यास आदि जितने प्रकार के लौकिक धर्म-कर्म संसार में प्रचलित प्रचारित हैं; ज्ञानी बिना किसी छल-छद्म के उनका परिहार करते हैं। वे इन समस्त लोकाचारों के प्रति अनासक्ति-भाव रखते हैं।

इस सम्बन्ध में एक सुन्दर कहानी है। मध्यप्रदेश के अन्तर्गत सागर के राजा ने एक वृहद् जलाशय के खनन का कार्य सम्पन्न करवाया; किन्तु किसी प्रकार भी जलाशय में अधिक जल नहीं हो पा रहा है। यह देखकर पंडितों से उपाय के लिए परामर्श किया। पंडितों ने उपाय बतलाया कि नर-बलि प्रदान करने से प्रचुर जल होगा। राजा ने उसके लिए प्रचुर धन-सम्पदा प्रदान करने की घोषणा की। उसके

विनिमय में यदि स्वेच्छा से कोई अपने शिशुपुत्र को प्रदान कर दे तो यह कार्य सुसम्पन्न हो ।

यह घोषणा सुनकर एक गरीब ब्राह्मण ने सोचा कि उसके अनेक पुत्र हैं। धीरे-धीरे आहार के बिना सभी के मरने की अपेक्षा यदि एक पुत्र को दान करके प्रचुर धन-सम्पदा प्राप्त करले तो उससे परिवार के और सभी सदस्यो की जीवन-रक्षा हो जाएगी। इसलिए उसने एक शिशुपुत्र को राजा के निकट अर्पण कर दिया।

राजा उस नन्हें बच्चे को लेकर जलाशय के पास बलि देने के लिए प्रस्तुत हुए तो उन्होंने बच्चे से पूछा—"बेटे ! तुम्हारी अन्तिम इच्छा क्या है ?"

बच्चे ने कहा—' मेरी कोई इच्छा नहीं, होने से भी आपको बताने से कोई लाभ नहीं ।"

राजा ने कहा—"मैं राजा हूँ, यदि तुम्हारी कोई अन्तिम इच्छा हो तो बता सकते हो, मैं पूरी करूँगा ।"

शिशु ने कहा—

"माता-पिता धन के लोभी
राजा लोभी सागरा
देवी-देवता बलि के लोभी
मम शरणागति माधवा ।"

और उठा हुआ खड्ग नीचे उतर आया। जलाशय में उस समय इतना जल हुआ कि सारे नगर के बह जाने की नौबत आ गई। ऐसी स्थिति देखकर राजा ने फिर पंडितों से पूछा—"इस प्लावन या जल की बाढ़ से नगर को बचाने का क्या उपाय है ? पंडितों ने कहा—"उस बालक से ही पूछिए, वही रक्षा कर सकेगा।" भक्त बालक ने माधव के निकट प्रार्थना करके कहा—"प्रभु ! ये माँगना भी नहीं जानते। तुम इनकी रक्षा करो।" और फिर प्लावन कम हो गया।

साकार पूजा अथवा सगुणोपासना के गुह्यतम रहस्य के सम्बन्ध में भक्तों को शिक्षा देते हुए योगिराज कहा करते थे कि भगवान श्री कृष्ण की मूर्ति की ओर देखो, ऋषियों ने इस योग-साधना के तत्त्वों को सामान्य लोगों के लिए उन्हें समझाने की दृष्टि से कितनी सुन्दर व्यवस्था की है। भगवान के हाथ में वंशी है और उसमें छह छेद या छिद्र हैं। वे षटचक्रों का प्रतीक हैं। ऊपर की ओर एक और छेद है जो सहस्रार का प्रतीक है। उस वंशी को फूँक के द्वारा बजा रहे हैं। यह षटचक्रों के भीतर अन्तर्मुखी वायु-क्रियारूप प्राणाकर्म अथवा प्राणायाम का प्रतीक है। यह प्राणायाम करते-करते, कूटस्थ का दर्शन होता है। उनके

माथे पर सुशोभित मयूरपुच्छ उसी का प्रतीक है और उस मोर पुच्छ में जो आंख परिलक्षित है वही कूटस्थ का प्रतीक है। भगवान श्री कृष्ण त्रिभंगमुरारि के रूप में खड़े हैं। यह त्रिभंगरूपता जिह्वा ग्रन्थि हृदय-ग्रन्थि एवं मूलाधार-ग्रन्थि अथवा क्रमशः ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि एवं रुद्रग्रन्थि के भेदन का प्रतीक है। बायें पैर पर पूरा बल देकर तथा दाहिने पैर को कुछ झुकाकर पंजों के सहारे जिस प्रकार खड़े हैं; वह ओंकार क्रिया का प्रतीक है। निराकार गुणातीत होने के बावजूद भगवान, त्रिगुण रूप और सगुण भी हैं यही उनके त्रि-भंग का रहस्य है। इस प्रकार भगवान की मूर्ति के माध्यम से सम्पूर्ण योगतत्त्व की वर्तमानता या उपस्थिति को उजागर किया गया है। इस प्रकार जो श्री कृष्ण का भजन करते हैं वही सच्चे कृष्ण-भक्त हैं। इसी प्रकार मा दुर्गा की प्रतिमा या मूर्त्ति द्वारा उनके दस हाथों के प्रतीक के माध्यम से यह दिखाया गया है कि साधक अपनी दस इन्द्रियों या दस प्राणों को किस प्रकार संयत रखता है। दस प्राण या दस प्राण-वायु के नाम इस प्रकार हैं—प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान ये मुख्य पाँच प्राण हैं फिर नाग, कूर्म, कृकर या कृकल, देवदत्त और धनंजय ये पाँच उपप्राण हैं। इन्हीं दस प्राणों और दस इन्द्रियों के माध्यम से सारे कार्यों का सम्पादन होता है। दुर्गा-मूर्त्ति के पाँव के पास सिंह जो उनके द्वारा नियंत्रित है, काम-दमन का प्रतीक है। उसकी उन्होंने हत्या नहीं की क्योंकि सृष्टि-रचना के लिए वह अनिवार्य है। इसलिए उसे वश में करके रक्खा है। उन्होंने असुर का वध किया है, जो क्रोध का प्रतीक है। साधक को भी चाहिए कि वह क्रोध का वध करे। बग़ल में लक्ष्मी और उनका वाहन उल्लू है। साधना करते-करते साधक को जब लक्ष्मी की प्राप्ति होती है तब उसे सावधान करने के लिए उल्लू के प्रतीक द्वारा यह समझाया गया है कि कहीं उसकी भी यही स्थिति न हो। उल्लू दिवान्ध होता है उसे दिन में नहीं दिखाई देता। वह रात्रिचर है। तात्पर्य यह है कि धन-प्राप्ति के पश्चात् उल्लू जैसी स्थिति हो सकती है। इसी को लक्ष्य में रखकर कहा गया है—

"कनक-कनक तें सौ गुनी मादकता अधिकाय।
यह खाए बौरात है, वह पाए बौराय॥

अर्थात् कनक (सोना) या धतूरा दोनों के प्रति सावधान रहना चाहिए। धतूरा खाने पर लोग पागल हो जाते हैं किन्तु सोना पाते ही पागल हो जाते हैं। उसे खाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इतनी अधिक मादकता है।

दूसरी ओर सरस्वती देवी और उनका वाहन हंस है। हंस का काम दूध और पानी को अलग कर देना है। दूध में मिले हुए पानी से

दूध को अलग कर देना हंस का गुण है। यह ज्ञान-प्राप्ति का प्रतीक है। साधक जब साधना के उच्च शिखर पर पहुँच जाते हैं तो ठीक ऐसी ही उनकी स्थिति होती है। वे नीर-क्षीर के विवेक से सम्पन्न होते हैं। उनमें सारस्वत चेतना का विकास कुछ इस तरह होता है कि वे संसार की मलिनता के भीतर से सार-वस्तु का चयन कर लेते हैं। इस अवस्था को ही परमहंस अवस्था की संज्ञा दी गई है, किन्तु साधक को और भी आगे जाना होगा क्योंकि तब भी उसे अद्वैत की प्रतिष्ठा नही प्राप्त हुई होती। फिर बगल में देव-सेनापति कार्तिकेय हैं। वह वीरता का प्रतीक हैं। उससे साधक को वीरतापूर्वक साधना करने की प्रेरणा दी जा रही है। कार्तिकेय का वाहन मयूर या मोर है। मोरपुच्छ में जो आँख परिलक्षित है, वह कूटस्थ का प्रतीक है। यदि साधक साहस, एवं दृढ़ता के साथ वीरतापूर्वक साधना करता रहे तो अवश्य ही कूटस्थ का दर्शन होगा। फिर उनके हाथ में तीर-धनुष है। शर या वाण श्वास का, और धनुष देह का प्रतीक है। इस देह के भीतर जो शररूपी श्वास को चलाते हैं अर्थात् वीरतापूर्वक जो वायु-क्रिया रूप प्राणकर्म या प्राणायाम करते हैं उन्हें ही कार्तिकेय कहते हैं। इतनी कष्टकर साधना के पश्चात्, साधक को सिद्धि अथवा मुक्ति तो चाहिए ही इसलिए सिद्धिदाता गणेश भी वहाँ उपस्थित हैं। उनका वाहन चूहा है। अकारण किसी वस्तु को नष्ट करना चूहे का धर्म है। अस्तु, इस प्रतीक के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि साधक अभी भी अद्वैत में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित नही हो पाया है, उसे अनिष्टकारी तत्त्वों से दूर रहना होगा; नहीं तो सिद्धि अथवा मुक्ति नहीं प्राप्त होगी। इसके पश्चात् सबके ऊपर शिव स्थिति हैं, जो व्योम तत्त्व के प्रतीक हैं। वे समस्त विश्व के मालिक हैं अर्थात् विश्वनाथ हैं तब भी उनके रहने के लिए कोई स्थान नहीं है। अर्थात् साधक जब पूर्णरूप से व्योम तत्त्व अर्थात् अद्वैत भूमि पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं तब उस स्थिति में उनका अपना या स्वाधिकार जैसा कुछ नहीं रहता। उनके पास वस्त्र नहीं है; भस्म रमाए बैठे हैं; अर्थात् साधक के भीतर भी इसी प्रकार त्याग-भावना का उदय होता है। उनके एक हाथ में डमरू है जिसके दोनों ओर से समान वाद्य-ध्वनि होती है। वह ओंकार-ध्वनि का प्रतीक है। साधक ओंकार ध्वनि सुनते-सुनते तन्मयता के साथ एकाकार हो जाते हैं। उनके दूसरे हाथ में त्रिशूल है जो सत्त्व, रज, एवं तम इन तीनों गुणों का प्रतीक है। अर्थात् साधक की त्रिगुणातीत अवस्था की प्राप्ति का प्रतीक है। उनकी कमर एवं गले में सर्प-माल है जो हिंसा का प्रतीक है। तात्पर्य यह है कि उस

स्थिति में साधक ने हिंसा-वृत्ति सहित सभी प्रकार से इन्द्रियों का दमन करके पूर्णतः अहिंसा अवस्था प्राप्त कर ली है। शिव का वाहन वृषभ या बैल है जिसका अर्थ है धर्म। उसके चारों पाँव, धर्म, अर्थ, काम मोक्ष जो धर्म के चार मुख्य एवं श्रेष्ठ पद हैं। यह चतुष्पद रूप में धर्म का प्रतीक है—

चतुष्पात् सकलो धर्मः सत्यंचैव कृतेयुगे
नाधर्मेणागमः कश्चिन्मनुष्यान् प्रतिवर्त्तते ॥१

—मनु रहस्यः १।८१

इस प्रकार शिव शून्य तत्व के प्रतीक हैं। साधक शून्य तत्व में स्थिति प्राप्त करने के पश्चात् जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त करते हैं। शून्य यानी कुछ नहीं, इस कुछ नहीं की अवस्था ही ब्रह्म है। इस प्रकार समस्त देव-देवियों के तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करने पर ही सिद्धि अथवा मुक्ति प्राप्त होगी।

योगिराज ने कहा है—"**हृदय में जब अपान वायु आवे दस प्रकार के अनहद सुनावे—चिं चिं चि, क्षुद्र घन्टा, संख, विन, ताल, मुरली, पखावज, नहवत, दीर्घघन्टा।**" बाहर की स्थूल पूजा में जितने भी प्रकार के बाजे बजाए जाते हैं सभी इस अन्तर्वाद्य के प्रतीक हैं। योगी इसे सुनते हैं। उन्होंने और भी लिखा है—"**कांशर का आवाज हुआ—गले में चिनिके माफिक मीठा मालुम हुआ—आँख के सामने विजली चमकने लगा—ओंकार का ध्वनि बहुत देर तक सुना।**" कांसर की आवाज हुई, गले में चीनी जैसी मिठास का अनुभव हुआ। आँख के सामने बिजली-चमकने लगी। ओंकार की ध्वनि बड़ी देर तक सुना फिर लिखा है—"**रग के दोनों नेसतर के एक आवज निकसता उछिका नाम अनहद बाजा उचछे छोटा वाया जोकी उपरके कोटिछे गावापर चड़के**

---

१. धर्म चार पादों में विभक्त है—प्रथम पाद जिह्वा ग्रन्थि भेदन, द्वितीय पाद, हृदय ग्रन्थि भेदन, तृतीय पाद, नाभिग्रन्थि भेदन एवं चतुर्थ पाद मूलाधार ग्रन्थि भेदन—यह धर्म के चार पद या पाद हैं—उपरोक्त श्लोक में प्रयुक्त 'स क ल' शब्द के स का उच्चारण दन्त्य स की तरह, क—मस्तक मूर्द्धा ल वक्ष में जोर अर्थात् ध्वनि या शब्द सहित मूर्द्धा से जोर देकर क्रिया करना; 'सत्य' अर्थात् कूटस्थ, फिर एकाकार, तत्पश्चात् विज्ञान और अन्त में समाधि। तब मन में मन मिल जाता है। चार प्रकार के इस सत्य के योग से ब्रह्म स्वरूप का बोध होता है। 'नाधर्मे'—अधर्म में, आगम-स्थिति, कश्चित् न—कभी भी नहीं, पुरुष—श्रेष्ठ कूटस्थदर्शी जिसे देख रहे हैं। अर्थात् अधर्म में यानी क्रिया से अलग उस कूटस्थ में स्थिति कदापि नहीं होती जिसे श्रेष्ठ क्रियावान देख रहे हैं।

मालुम होता हय हामेसा येसा सानाइका सुर देते हेय उचछे कुछ कम आउर आवाज हेय इह मालुम होता हेय कि बहुतछे आदमि इस्त्रोएका कांसर घन्टा बाजाय रहे। बड़ा घन्टा का आवाज सिर के भितर पिछे मालुम हुआ।" अर्थात् रग के दोनों तरफ से एक ध्वनि निकल रही है जिसका नाम अनाहत ध्वनि या नाद है, उसकी अपेक्षा सामान्य शब्द जो ऊपर के घर के गवाक्ष के भीतर ये आ रहा है, अनुभव किया जो शहनाई के स्वर की अपेक्षा कुछ कम आवाज के साथ आ रहा है और ऐसा लगा कि एक साथ अनेक लोग कांसर का घन्टा वजा रहे हैं। बड़े घन्टे की ध्वनि मस्तक के भीतर पीछे की ओर सुना। योगिराज ने कहा है—**वृषाकार के उपर महादेव चढ़ने गए आउर क्या वाहन प्रथिवि नहि था—वृषाकार याने इह शरीररूपि वृष इसका दुईसिंग प्राणायाम के हवा से निकसता हय— आउर काम वर्जित होता हय इसलिए इह शरीर को वएल कहते हय इसिके उपर महादेव हय अर्थात् ब्रह्म।"**

अर्थात् वृभष या बैल पर महादेव ने सवारी क्यों की ? पृथिवी रूपी वाहन क्या नहीं था ? वृष के अर्थ में यह शरीर है, जिसकी दो सींगें हैं जो प्राणायाम के समय वाहर होती हैं अर्थात् इड़ा और पिंगला दो सींगे हैं। इस इड़ा-पिंगला के कर्म करने पर काम विवर्जित अवस्था प्राप्त होती है। ये इस शरीर में ही हैं इसलिए शरीर को वृष कहते हैं। इस शरीर में ही महादेव अर्थात् स्थिर प्राणरूपी ब्रह्म है। दिव् शब्द से आकाश का बोध होता है। **महादेव का** अर्थ है महान आकाश अर्थात् स्थिर महाशून्य जो सर्वत्र व्याप्त है।

योगिराज ने अपनी डायरी में एक और चरम उपलब्धि की बात लिखी है जिसे प्राचीन काल में ऋषियों ने उपलब्ध किया था। उन्होंने लिखा है—**"आदि, पुराण किशुन जी से भेंट हुआ।"** अर्थात् आदि पुराण पुरुष कृष्ण को देखा। फिर लिखा है—**"आदि पुरुष से भेंट, जीभ आउर आगे जाय के ठहरा, शून्य भवन में मन गया।"** अर्थात् आदि पुरुष से मिला; जीभ और ऊपर उठकर ठहर गई। इस प्रकार जब खेचरी सिद्धि की अवस्था प्राप्त हुई। तो फिर मन शून्य-भवन में प्रविष्ट हो गया। शून्य अर्थात् कुछ नहीं। यह कुछ नहीं की अवस्था में अर्थात् बिना किसी अवलम्बन के निराकार निर्गुण अवस्था में अथवा महाशून्य में मन स्थित हो गया। 'केवल कुम्भक' होने पर यही अवस्था होती है। इसे खेचरी सिद्धि भी कहते हैं। इसी शून्य अवस्था के ही सम्बन्ध में उन्होंने फिर लिखा है—**"सून्य आसल चीज हय, स्वासा भीतर भीतर चलता हय।"**

यह शून्य ही सत्य है अर्थात् ब्रह्म है क्योंकि वहीं से सब कुछ उत्पन्न होता है और उसमें ही लय होता है।

उन्होंने फिर लिखा है—"**सूयं सून्य हय सून्य में मिल जाना है।**" वह आतमसूर्य ही शून्य है उसी शून्य में मिल जाना होगा उसी में लय होना होगा—"**हमहि आसमान का सूर्यरूप—हम छोड़ाय दुसरा न कोइ नहि उह कहता हय सब छोड़ाय के बइठो—एक मजा मैथुन का पएर से सिरतक होत हय। जो सून्य भितर सोइ बाहर। अब शिरफ सून्य हो जाना हय।**" मैं ही उस महाशून्य का आतमसूर्य रूप हूं। वहाँ मेरे अतिरिक्त और कोई नहीं, सोहं। भीतर से आदेश हो रहा है कि अब इन्द्रिय संग सहित सब कुछ छोड़कर चुपचाप ध्यान में मग्न बैठा रहूँ। इस अवस्था में मैथुन की तरह एक आनन्द पांव से सर तक हो रहा है। जो महाशून्य भीतर देख रहा हूँ वह बाहर भी देख रहा हूं अर्थात् भीतर बाहर सब एक हो गया है। सर्वत्र ही उस महाशून्य रूपी ब्रह्म को देख रहा हूँ। अब अपने अस्तित्व का लोप करके सम्पूर्ण रूप से शून्य हो जाना होगा, महाशून्य में विलीन होना होगा।

यह पुराण-पुरुष, पुराणकृष्ण अथवा आदि पुरुष कौन है? इसके सम्बन्ध में गीता एवं उपनिषद में कहा गया है—**अजो नित्यं शाश्वतोयं पुराणो।** अर्थात् जो शाश्वत है और जिसके आगे कोई नहीं है; वह वह चिरकाल से हैं और रहेंगे। जो अ-परिवर्तनशील है, अविनाशी है, अजन्मा है, अमरणधर्मा है वही पुराण पुरुष है। योगी जब कूटस्थ गह्वर में प्रवेश कर लेते हैं तब सब कुछ ब्रह्ममय हो जाता है। उस समय सब कुछ एकाकार हो जाने पर दो की स्थिति नहीं रहती दो नहीं होगा तो फिर जन्म कहाँ? फिर जन्म नहीं तो मृत्यु कहां? वही पुरुषोत्तम है, वही नित्य पुराण हैं। उसी में लय हो जाना उचित है। वही आदिदेव हैं, अर्थात् देवाधिदेव हैं। इसीलिये योगिराज कहा करते थे कि बिना प्राणकर्म के वहाँ रहना कठिन है। वही धर्म है। प्राणकर्म या प्राणायाम करके कर्मातीत अवस्था में अर्थात् क्रिया की परावस्था में रहना ही शाश्वत पद है, वही अमरधाम है। उस शाश्वत पद की प्राप्ति होने पर अथवा कर्मातीत अवस्था में सर्वदा रहने से स्वय ही पुराण पुरुष की स्थिति हो जाती है। महात्मा कबीरदास ने भी कुछ ऐसा ही कहा है—

> कबीर जो वह एक न जानिया, तो सब जाने क्या होय।
> एकहिते सब होत है, सब ते एक न होय॥

अर्थात् बिना एक को जाने, सब कुछ जानना व्यर्थ है। उस एक से ही सब कुछ हुआ है, वह एक सब में वर्तमान है। अनेक से एक की उत्पत्ति सम्भव नहीं। कबीर फिर कहते हैं—

> एकहि साधे, सब सधे, सब साधे सब जाय।
> जो तू सींचे मूल को, फूले-फले अघाय॥

अर्थात् एक की साधना करने से सारी साधनाएं सफल होती हैं; किन्तु सब की साधना करने से. सब कुछ विफल हो जाता है। जिस प्रकार वृक्ष के एक मूल को ही सींचने से प्रचुर मात्रा में फूल-फल प्राप्त होता है उसी प्रकार एक की साधना सर्वप्रकार से फलवती होती है।

एकं भूतं परंब्रह्म जगतसर्वं चराचरम।
नाना भावं मनो यस्य, तस्य मुक्तिर्न जायते ॥

ज्ञान सकलिनी तंत्र : ८४

सभी पदार्थों एवं चर-अचर तथा जड़ एवं चेतन में एकमात्र ब्रह्म ही वर्तमान है। मन में नाना प्रकार के भावों के होने से मुक्ति नहीं; बल्कि एक का ज्ञान प्राप्त होने से ही मुक्ति सुनिश्चित है। इसलिये एक की साधना करना ही उचित है। अनेक देव-देवियों की साधना करने पर छोटे-बड़े देवता का भाव उभरता है।

'गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे'

—कठोपनिषद: ३।१

प्राणवायु को कूटस्थ रूपी गुहा में प्रवेश कराने से वह परब्रह्म में लीन हो जाता है उस समय परार्द्ध जगत की उपलब्धि होती है अर्थात सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है। योगिराज ने इसी अवस्था को प्राप्त किया था।

'अंगुष्ठ मात्र पुरुष मध्य आत्मनि तिष्ठति'

कम्बलाख्या उपनिषद : उत्तरवल्ली।

अर्थात् कूटस्थ के भीतर अंगुष्ठप्रमाण पुरुष आत्मा का निवास है। इसीलिए योगिराज भक्तों से कहा करते थे कि कूटस्थ के भीतर जिस अंगुष्ठ प्रमाण अथवा अँगूठे की माप वाले पुरुष को देखते हो; वह उत्तम प्राण-कर्म करने से ही दिखाई देता है; वही आत्मा है, वही अभयपद एवं परमपद है; वही ब्रह्म है। वह 'उत्तम पुरुष मैं हूं क्रिया-योग करते-करते इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त होता है। वही स्वरूप पुरुषोत्तम है, सभी ज्योतियों की ज्योति है। उस से ही सभी ज्योतियाँ उद्भासित हैं। वही आत्म सूर्य है। अस्तु, यदि वह न रहे तो फिर किसी ज्योति का अस्तित्व नहीं। जो कुछ भी दिख रहा है. सब कुछ उसी का रूप है, उसी की प्रभा एवं विभा है। क्योंकि समस्त रूपों का उद्भव विकास वहीं से हो रहा है। इसीलिए जीव शिव स्वरूप है। आत्मा के न रहने से कुछ भी नहीं रहता। आत्मा के ब्रह्म स्वरूप होने से ही सब का अस्तित्व है। इसलिए आत्मा ही ब्रह्म है, अथवा ब्रह्म ही आत्मा है, इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त होने पर 'सर्वं ब्रह्ममयं जगत' की प्रतीति होती है। इसकी पुष्टि करते हुए ऋषियों ने उस परम सत्य के बारे में कहा है—

'अणोरणीर्यान महतोमहीयान् आत्मा गुहात्यां।
निहितस्य जन्तोस्तमः कृतं पश्यति वीतशोका।'

—वृहन्नारायण उपनिषद :१:

अर्थात् वह अणु से भी अणुतर है महत या महान से भी महान है। उस कूटस्थ रूपी गुहा के भीतर जो आत्मा स्थित है, वहाँ मन के जाते ही वीतशोक अथवा सभी शोकों से रहित हो जाने की अवस्था प्राप्त होती है। वह कूटस्थ-स्थित आत्मा सूक्ष्म रूप से समस्त जीवों का भरण-पोषण करता है। इसीलिए योगिराज कहा करते थे कि उत्तम प्राण-कर्म करने से ही ओंकार रूप भौंहों के बीच दीप शिखा की तरह निष्कम्प, वात-रहित दिखाई देता है। फिर उसी स्थान पर मृणाल (कमलनाल) के तन्तुओं जैसी जो आभा दिखाई पड़ती है वही शक्तिरूपा शिवा है, वही सूर्य स्वरूप कूटस्थ का रूप है, वही हृदयाकाश है। यह श्वास ही वाक् है, यही गायत्री है। प्राण-कर्म या प्राणायाम के समय जो सुमधुर ध्वनि सुनाई पड़ती है, वही प्रणव-ध्वनि अथवा श्रीकृष्ण की वंशी-ध्वनि है। उसी प्रणव-ध्वनि में तन्मय होने पर प्राणवायु ऊपर उठ जाता है और कूटस्थ की वह स्थिति प्राप्त होती है जिसे अमर-पद कहते हैं—

"हृदिस्थतं पंकजमष्टपत्रं, सर्काणकं केशर-मध्य नीलम्
अंगुष्ठमात्रं मुनयो वदन्ति, ध्यायन्ति विष्णु पुरुषं पुराणम्।

—ओंकार गीता

अर्थात् हृदय-कमल में स्थिति होने पर उसकी आठ कर्णिकाओं के केशर के भीतर नीलेवर्ण का अगुष्ठ प्रमाण पुरुष ही मुनियों की दृष्टि में पुराण-पुरुष विष्णु है जिसका वे ध्यान करते हैं।

ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो।
यस्यांतं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः॥

—गीताध्यान

अर्थात् जो योगी ध्यानमग्न अवस्था में तदगत् मन होते हैं वही उसे देखने में सक्षम होते हैं। जिसके आदि-अन्त को सुर-असुर भी नहीं जान पाए ऐसे उस ईश्वर को नमस्कार।

१५ जुलाई १८७३ ई० को योगिराज ने लिखा है—**"पाँच इन्द्रियों के परे मन याने श्वासा—मन के परे बुद्धि याने बिन्दि—बुद्धि से परे ब्रह्म निराकार सून्य निर्मल।"** अर्थात् पाँच इन्द्रियों के परे मन की स्थिति है। जब तक श्वास-प्रश्वास है, तब तक वर्तमान चंचल मन भी है। श्वास स्थिर होने पर वर्तमान मन का अस्तित्व नहीं रहता। श्वास के अस्तित्व पर ही मन का अस्तित्व निभर है। अतएव श्वास स्थिर होने पर बुद्धि रहती है जो कूटस्थ रूपी विन्दु में अवस्थित है। उस बुद्धि

अथवा विन्दु से परे निराकार ब्रह्म है जो निर्मल शून्यस्वरूप 'आकाश-शरीर' है। तंत्र की भाषा में—

स्पर्शनं रसनं चैव घ्राणं चक्षुश्च श्रोतरम् ।
पंचेन्द्रियमिदं तत्त्वं मन साधन्यमिन्द्रियम् ।।

—ज्ञान संकलिनीतंत्र : २८

अर्थात् स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु एवं कर्ण (कान) इन पाँच इन्द्रियों के पंचतत्त्वों से परे मन रूपी इन्द्रिय है।

इसीलिए उन्होंने १८७३ ई० ११ मई को लिखा है—"**विन्दु में आटक रहना काम हय** ।" अर्थात् उस मन के पार जो विन्दु है उसमें हमेशा अटक कर रहना ही उचित है, ऐसा होने पर शून्य में स्थिति होती हैं। उसके बाद क्या होगा ? इसके सम्बन्ध में योगिराज उस वर्ष ही तीन मार्च को लिखा है—"**आज हम उजियाला घर चले—जयसे कोई दिपक बार दिया। स्वासा भितर भितर चला** ।" अर्थात् प्रकाश या रोशनी के घर में प्रवेश किया। लगता है, वहाँ जैसे किसी ने सचमुच दीप जला रक्खा है। श्वास भीतर ही भीतर चल रहा है अर्थात् सुषुम्ना के भीतर चल रहा है। उस स्थिति में ठीक भोर के आकाश अथवा शाम के पहले जैसे आकाश में रोशनी के बिना भी सब कुछ स्वयं प्रकाशित दीखता है। उसके बाद ही समाधि की अवस्था आती है। इसके सम्बन्ध में उन्होंने १३ जनवरी को अपने साधनलब्ध अनुभव के बारे में लिखा है—"**सून्य भवन आउर सफा, जिभ आउर उपर उठा, अब बड़ा मजा एक उजियाला उसिसे सब देखलाता हय आउर कुछ भि नहि देखलाता हय उसिसे मन ठहर जाने को नाम समाधि** ।" अर्थात् सहस्रार अथवा मूर्द्धन्य कमल रूप चक्र में स्थिति शून्य घर को और भी स्वच्छ, परिष्कार देखा, जीभ और भी ऊपर उठ कर तालु के भीतर अटक गई उस समय परमानन्द की अनुभूति हुई। भोर के आकाश जैसी स्निग्ध उज्ज्वलता में सब कुछ देख पाया और कुछ भी नहीं देख पाया; क्योंकि उस अवस्था में देखा-देखी का प्रश्न ही नहीं। दर्शक मन का उस समय अस्तित्व ही नहीं रहता। इसी अवस्था में मन को स्थापित करने का नाम समाधि है। उस समय जो आत्मसूर्य प्रकाशित होता है उसे ही योगिराज ने 'कृष्ण' की संज्ञा दी है—"**सूर्य ही कृष्ण** ।" यह आत्म सूर्य ही कृष्ण हैं। इस विचित्र अवस्था की अनुभूति के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—**जौन देश में रात नहि होय उँहा एक आदमि के माफिक देखा, उह आदमि न कुछ बोले, न कुछ चाले—खाली खड़ा हय—तुमि सूए आछो से दाँड़िए आछे—केवल से प्रेमेर भूयो—प्रेम करिले ताँहा के पावा जाय** ।" अर्थात् जिस देश में रात नहीं। किस देश में रात नहीं है ?

ऐसा तो कोई देश दीखा नहीं जहाँ रात न हो। रात न होने से केवल दिन ही वर्तमान है क्या ? ऐसा भी सम्भव नहीं। क्योंकि दिन है तो रात होगी ही और यदि रात है तो दिन भी होगा ही। एक के रहने पर दूसरा रहेगा ही। जिस प्रकार हम सुख की कामना करें और दुख न चाहें; यह तो सम्भव नहीं। सुख-दुख का द्वैत-द्वन्द्व रहेगा ही। इसीके सम्बन्ध में उन्होंने कहा—'**जौन देश में रात नहि।**" अर्थात् जहाँ रात भी नहीं, दिन भी नहीं। प्रातः कालीन या भोर के आकाश जैसी स्वयं प्रकाश एक द्वन्द्वातीत अवस्था है। वहाँ एक व्यक्ति को देखा, उन्होंने न कुछ कहा और न वे हिले-डुले ही। केवल खड़े हैं उस समय समझ में आया कि यही सब कुछ के मूल उत्स या स्रोत हैं। इसीलिए खड़े हैं अर्थात् ये ही पुरुषोत्तम हैं। वह पुरुषोत्तम केवल प्रेम के कंगाल हैं। सही ढंग से प्रेम करने पर ही उन्हें प्राप्त किया जा सकता है। यह प्रेम कब होता है ? इसकी प्रक्रिया है कि जितना ही प्राणकर्म या प्राणायाम करोगे उतना ही उस अरूप का रूप घनीभूत होगा और वह जितना ही घनीभूत होगा उतना ही स्थिर नेत्र अथवा कूटस्थ में दर्शन करते-करते उसके प्रति आकर्षण बढ़ेगा; अन्त में वह आकर्षण ही घनीभूत होकर प्रेम में परिणत होगा। वही विशुद्ध प्रेम है। उसके पहले विशुद्ध प्रेम सम्भव नहीं। महात्मा रामप्रसाद का गीत है—"**ऊर्ध्व जिह्वा करि आनन्द सागरे भासिते** ......।" अर्थात् ऊपर जिह्वा करके आनन्द सागर में तैरता हूँ या आनन्द सागर में तैरने के लिए जिह्वा को ऊपर की ओर उठाता हूँ। योगचर्या में यह सिद्ध है कि जिह्वा के तालु में प्रवेश करने पर परम आनन्द की उपलब्धि होती है। उसके पश्चात् की अवस्था के सम्बन्ध में अर्थात् पूर्वोक्त अवस्था के बारे में उन्होंने गीत के माध्यम से ही व्यक्त किया है—"**जे देशे ते रजनी नेइ मा सेइ देशेर एक लोक पेयेछि, एबार भालो भावीर काछे भाव शिखेछि।**" अर्थात्, जिस देश में रात नहीं है मा ! उसी देश में एक व्यक्ति से भेंट हुई है, इस बार उससे अच्छी तरह भाव के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कर ली है। महात्मा रामप्रसाद जन्मगत संस्कार के कारण आत्मब्रह्म को मा कहकर या मा के नाम से पुकारना पसन्द करते थे। उनकी प्रत्येक गीतात्मक अभिव्यक्ति में देखा जाता है कि उन्होंने 'मा' का सम्बोधन किया है। वस्तुतः माता-पिता सब कुछ वही है। पहली मार्च १८७४ की डायरी में योगिराज ने अपनी साधना के द्वारा उपलब्ध उच्चतम एवं महानतम अवस्था के बारे में लिखा है—"**न स्वासा लेना न फेंकना—बड़ा सुख—एहि ब्रह्म। सूर्य को ज्योति नहि रहा।**" आत्मक्रिया अथवा प्राणायाम करते-करते वे उस अवस्था में पहुँच गए थे

जहां श्वास-प्रश्वास के होने का कोई प्रश्न ही नहीं था अर्थात् आगम-निगम रूप कर्म से रहित होकर सम्पूर्णतः "केवल कुम्भक" प्राप्त करते हुए स्थिर हो गए थे। उस समय उन्हें बड़ा सुख मिला; इस निर्विकल्प सुखमयी अथवा पूर्ण आनन्दमयी अवस्था का नाम ब्रह्म है जहां सूर्य-ज्योति नहीं है। नदी जब समुद्र में मिलती है तब उस संगम के पश्चात् जिस प्रकार नदी का स्रोत या प्रवाह लुप्त हो जाता है उसी प्रकार योगिराज ने भी ब्राह्मी स्थिति प्राप्त की थी। योगिराज ने उसे आनन्द न कहकर सुख कहा है क्योंकि सुख और आनन्द में एक सूक्ष्म पार्थक्य है। आनन्द में सुख का किंचित आभास रहता है; किन्तु सुख में परिपूर्ण आनन्द वर्तमान रहता है। सुन्दरता पूर्वक अथवा सौन्दर्य की उदात्त भावना के साथ आकाश अर्थात् ब्रह्माकाश में लीन होना ही सुख है और उस आकाश से दूर रहना ही दुःख है। 'खं' अथवा 'आकाश' अर्थात् ब्रह्माकाशं।[1] अतएव सुख आनन्द से भी ऊपर की अवस्था है। इसीलिए उन्होंने सुख कहा है। उस सुख-स्वरूप ब्रह्म में अर्थात् ब्रह्माकाश में उन्होंने जब स्थिति प्राप्त की और तब फिर उसके बाद वहाँ से उतरने की अवस्था का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—**'सूर्य को ज्योति नहि रहा।'** अर्थात् उस समय आत्मसूर्य की ज्योति भी नहीं रही; केवल स्वयं प्रकाश ही प्रकाश था। क्योंकि उस ज्योति स्वरूपा शक्ति को सूर्य-चन्द्र कोई भी प्रकाशित नहीं कर सकते; सभी उसकी ज्योति के समक्ष म्लान हो जाते हैं। भगवान श्री कृष्ण गीता में इसी की ओर संकेत करते हुए कहते हैं—

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥

—गीता : १५।६

अर्थात्, जहाँ सूर्य, चन्द्र एवं अग्नि की दीप्ति नहीं है; क्योंकि उनकी दीप्ति उस अवस्था को प्रकाशित करने में सक्षम नहीं है। वह परम ज्योतिर्मय स्थान ह जो स्वयं प्रकाश एवं अव्यक्त है। उस स्थान या अवस्था को प्राप्त करने के पश्चात योगी पुनः संसार में वापस नहीं आते। वही मेरा परम धाम है।

इसी प्रकार कठोनिषद में भी कहा गया है—

१—सु=सुन्दर, खं=ब्रह्माकाश। सुन्दर रूप ब्रह्माकाश में रहने से ही सुख है। दुः=दूर, ख=ब्रह्माकाश। अर्थात् उस सुन्दर रूप ब्रह्माकाश से दूर रहने पर ही दुःख है अर्थात् क्रिया की परावस्था में रहना ही सुख है और परावस्था में न रहना ही दुःख है।

"न तत्र सूर्योभाति न चन्द्रतारकेनेमे
विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं,
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।"

अर्थात् जहाँ सूर्य की किरणें नहीं पहुँचती और न तो चन्द्र तथा तारों का प्रकाश ही पहुँचता है । विद्युत का प्रकाश भी उसकी अपेक्षा विवर्ण है, फिर अग्नि की तो कोई बात ही नहीं । वे जो शाश्वत काल से देदीप्यमान हैं उन्हीं की ज्योति से ही ये दृश्यमान सूर्य, चन्द्र तारे सभी ज्योतिष्मान हुए हैं ।

● ● ●

योगिराज कभी भी तथाकथित ध्यान करने को नहीं कहा करते थे; बल्कि क्रिया-योग के अभ्यास पर ही अधिक बल देते थे । वस्तुतः क्रियायोग ही गीतोक्त कर्मयोग है । साधारणतः ध्यान का अर्थ है आज्ञाचक्र में किसी देव-देवी की कल्पित मूर्त्ति अथवा इष्टमूर्त्ति को अवधारणा करके उसी में तन्मयता पूर्वक धीरे-धीरे समाधि की ओर अग्रसर होना ।

किन्तु योगिराज द्वारा निर्देशित यह मार्ग नहीं है । उन्होंने इसके सम्बन्ध में शिक्षा दी है कि रेचक एवं पूरक के माध्यम से षटचक्र के मार्ग में अन्तर्मुखीन होने से प्राणवायु के यातायात द्वारा अपने आप ही 'केवल कुम्भक' हो जाएगा । एवं सभी प्रकार की चंचलता समाप्त हो जाएगी । उसके बाद ही ध्यान का वास्तविक आधार स्थापित होगा । इसके पश्चात योनिमुद्रा द्वारा आत्मसाक्षात्कार या आत्मदर्शन की तन्मयता प्राप्त होगी एवं और भी आगे बढ़ने पर समाधि की अवस्था प्राप्त होगी । इसमें किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता । इस सन्दर्भ में गीता की भाषा में स्पष्ट संकेत है ।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्त्तुमव्ययम ।।

गीता : ९।२

यह वैज्ञानिक एवं विज्ञान सम्मत होने के कारण सभी विद्याओं में राज विद्या है अर्थात् श्रेष्ठ है एवं अत्यन्त गुह्य (गोपन) तथा पवित्रतम है । प्राणकर्मरूप यह धर्म प्रत्यक्ष और स्पष्ट है, सुखपूर्वक आराम से किया जा सकता है । यह अव्यय है, अक्षय है, इसका कभी नाश नहीं होता इसीलिये योगिराज कहा करते थे कि—"कष्ट होलेइ बूझबे, क्रिया ठीक

होव्हे ना।" अर्थात् कष्ट होने से ही समझोगे कि क्रिया ठीक से नहीं हो रही है। इस कर्म के करने से कर्म की परिसमाप्ति हो जाती है। प्राणवायु की चंचलता के कारण ही समस्त कर्मों की उत्पत्ति होती है। उसके स्थिर हो जाने पर फिर और कोई कर्म नहीं रह जाता। इस अवस्था को कर्मातीत अवस्था कहा गया है। जिसे योगिराज क्रिया की परावस्था कहते थे। यह परावस्था अवथा कर्मातीत अवस्था ही सब का लक्ष्य है, उसे सभी चाहते हैं; वही परमधाम है। इसलिए सब से कहा करते थे कि परावस्था में रहो, इससे अधिक और कुछ नहीं; क्योंकि वह स्थिर अवस्था ही ब्रह्म है—"निश्चलं ब्रह्म उच्यते।" अर्थात् स्थिर या निश्चल अवस्था ही ब्रह्म है।

१६ अगस्त १८७३ ई० को लिखा है—"**आज जेयादा देर तक दम बन्द रहा—हमहि सूर्य भगवान। हमारा रुप कालाचांद।**" आज ज्यादा देर तक दम बन्द रहा। मैं ही सूर्य रूपी भगवान हूँ, मेरा ही रूप काला चांद है। १९ अगस्त को एक कृष्णचन्द्र का अंकन करके उसके बगल में लिखा है— **कालाचांद का रुप। कृष्ण याने काला-चांद।**" कूटस्थ में जो कृष्णचन्द्र दिखाई देता है जिसे योगी ही देखते हैं वही कालाचांद का रूप है। कृष्ण अर्थात् यही कालाचांद है। इसके कई दिन बाद एक कृष्ण की मुखाकृति का अंकन करके उसके बगल में लिखा है—"**इ चेहरा भितर का मिट जाता हय पिछे हजार कृष्ण नजर पड़ातां हय भयानक बड़े भयानक सुरत सब नजर पड़ाता हय बड़ा भारि कृष्ण इसमे दहषत मालुम होति हेय।**" कूटस्थ में जो कृष्ण की मूर्ति देख रहा हूँ वह भी लुप्त हो गई इसके बाद हजार कृष्ण को देखा। इसके बाद जो वृहत कृष्ण को देखा तो भय या दहशत हुई। "**एक ज्योत भितर से देखा उसका वर्णन नहि हो सक्ता उह ज्योत सेवाय आउर कुछ नाहि—अब कठिन कावारां हय—बड़ा आनन्द एहि आउर ब्रह्म विराट मूर्ति का रुप हय।**" अर्थात् भीतर एक ज्योति देखा जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उस ज्योति के सिवाय और कुछ भी नहीं है। अब कठिन अवस्था हो गई। इस अवस्था में बड़ा ही आनन्द है, यही ब्रह्म की विराट मूर्ति का रूप है। उसके पश्चात् और आगे जाकर ३१ अगस्त १८७३ ई० को लिखा है—"**उह कृष्ण सुन्य में मिल जाता।**" वह कृष्ण भी महाशून्य अर्थात् शून्य के भीतर जो शून्य है उसमें मिल गया। अन्त में कोई रूप ही नहीं रहता सभी महाशून्य में मिल जाता है। इसलिए उन्होंने लिखा—"**यत रुप देखा जाय सब अपरूप। सब रुप सुन्य मे मिल जाता हय।**" इसी की ओर लक्ष्य करते हुए अर्जुन ने कहा है

"वे देवतागण तुम में ही प्रवेश कर रहे हैं।"[1] वह शून्य कैसा है? इसके सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है– **"विन्दु घूँघट के या आवरण के भीतर से दिखाई देता है अर्थात साधारण शून्य का आवरण है किन्तु महाशून्य का कोई आवरण नहीं इसलिए वह पहले दिखाई नहीं देता—महाशून्य के विन्दु में समुदाय दिखाई देता है।"**

किन्तु कितने क्षण तक देख सकते हैं? इसके बारे में उन्होंने लिखा है–**"हम विना कुछ नहि फिर हमभि नहि खालि सून्य निर्मल ओहि आपने पद। अब स्वासा भितर भितर चले लगा—ओहि स्वासा नारायण हय आउर ओहि कारण वारि। एहि का नाम पार उतरना कहते हय—इसिनेसेमे जोगि लोग पड़े रहते हय।"** मुझे छोड़कर और कुछ भी नहीं, और फिर मैं भी नहीं, केवल निर्मल शून्य वर्तमान है वही अपना पद अर्थात् स्व-रूप है। अब साँस भीतर-भीतर अर्थात् सुषुम्ना में चल रही है। यह आभ्यन्तर सांस ही नारायण है और यही जो सब कुछ है सभी का उत्पत्ति स्थान है अर्थात् यही कारण सलिल या वारि है। इसी को भवसागर से पार उतरना कहते हैं इसी अवस्था में ही या इसी के नशे में महायोगी स्थित होते हैं। **"हमहि सूर्य हमारेइ प्रकाशित सब जगत।"** मैं ही वह आत्म सूर्य हूँ और मुझसे ही समस्त जगत प्रकाशित है इस अवस्था में स्थित रहकर लिखा—**"इह मालुम हुआ कि सूर्य हमाहि हय। ययसा हम सूर्यरूपी आउर हमारे सब तेज सर्वव्यापि ब्रह्म। हमारा न हात हय न पएर हय केवल मंडलाकार हमारा तेज सर्वव्यापि।"** अब समझ में आया कि वह आत्मसूर्य हो मैं हूँ। मैं जब वह आत्मसूर्यरूपी हूँ तब मेरा सम्पूर्ण तेज सर्वव्यापी ब्रह्म है। मैं हाथ-पाँव से रहित हूँ केवल अखण्ड मण्डलाकार हूँ। मेरा तेज समस्त चराचर जगत में व्याप्त है। शास्त्रों में कहा गया है—

अखण्ड मंडलाकारं व्याप्तं येन चराचरम
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः।

यह अवस्था ही यथार्थ गुरुपद की संज्ञा है। इसीलिए योगिराज ने एक सूर्य का अंकन करके उसके बगल में लिखा है—**"एहि गुरुचरण हय।"** फिर लिखा है—**"एहि गुरु का रुप हय याने सूर्य—इह प्रत्यक्ष गुरु याने महादेव।"** यह आत्म सूर्य ही गुरु का रूप है यही प्रत्यक्ष गुरु है अर्थात् महादेव है। महादेव ही आदि गुरु हैं। योगिराज की भी वही आदि गुरु अवस्था होने पर उन्होंने लिखा—**हामेसा कुम्भक महादेव का योग स्वरुप भया सिर हामेसा भारि आँख उपर ताना हुआ खिचने से जलदि**

---

[1]—गीता :-११।२८

नहि टुटता, नहि बोलने से बड़ा फयदा।" देवाधिदेव महादेव जिस प्रकार हमेशा ध्यानमग्न रहते हैं उसी प्रकार योगिराज ने भी हमेशा केवल-कुम्भक की अवस्था प्राप्त की और महादेव की तरह ही ध्यानस्थ हो गए। मस्तक में हमेशा भारीपन रहता। शिवनेत्र की तरह दोनों आँखें इस प्रकार ऊपर की ओर चढ़ी रहतीं कि खींचकर उतारने से भी नहीं उतरतीं।[१] इस अवस्था में वाणी रहित होने के कारण बोलने की इच्छा नहीं इसलिये बात न करने में ही लाभ है। इसीलिये उन्होंने फिर लिखा – "मौन होना अच्छा मालुम होता हय।" इस अवस्था में बात करने की इच्छा नहीं; जहाँ इच्छा ही नहीं वहाँ बात करेगा कौन? इसीलिए वे मौन हो गये हैं। और सभी भक्तों को उपदेश देते समय इसी अवस्था को प्राप्त करने का उपाय बतलाते हुए कहा करते—"एक ओक्त हर रोज यत्ता सके एक आसन बइठे।" अर्थात् प्रतिदिन कम से कम जितना हो सके एक बार एक आसन पर बैठकर क्रिया करो, ऐसा होने से ही सब प्राप्त होगा। योगिराज और भी कहा करते थे कि यदि कोई इस जन्म में ही मुक्तावस्था प्राप्त करना चाहता है तो फिर आन्तरिकता, श्रद्धा एवं दृढ़ता के साथ क्रियायोग करने पर ही वह सम्भव है।

● ● ●

योगिराज ने अपने द्वारा प्रदर्शित प्राणायाम को तीन भागों में विभाजित किया हैं—अधम, मध्यम एवं उत्तम। प्रारम्भिक अवस्था में अनाभ्यास के कारण साधक का अधम प्राणायाम होता है। इस समय अत्यधिक पसीना निकलता है उसके बाद और भी अभ्यास

१—यहां उल्लेखनीय है योगी-चक्षु के सम्बन्ध में स्वामी रामकृष्णदेव परमहंस ने मास्टर महाशय से कहा—"योगी का मन हमेशा ईश्वर में लीन रहता है, सर्वदा ही आत्मस्थ रहता है। विस्फारित नेत्र देखने से ही समझ में आता हैं। जिस प्रकार पक्षी अंडा सेता है- पूरा मन उस अंडे की ओर ही केन्द्रित रहता है। नाममात्र के लिए ऊपर रहता है। अच्छा क्या मुझे वह चित्र दिखा सकते हो? उत्तर में मास्टर महाशय ने कहा—"जो आदेश—चेष्टा करूँगा—यदि कहीं भी मिल जाए।" श्री श्री रामकृष्ण कथामृत: तीसरा भाग-खण्ड-दो।

करते रहने से मध्यम प्राणायाम होता है। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—**चमक उठे विच मे ठेला दिया उसिसे शरीर कांपा—इसिको मध्यम प्राणायाम कहते हय।"**

अर्थात् शरीर बीच-बीच में चौंक-चौंक उठता है और भीतर से धक्का मारता है उसी से शरीर कांप उठता है, हिलता रहता है। जब प्राणायाम करते-करते ऐसा होता है तब उसे मध्यम प्राणायाम कहते हैं। इसके पश्चात जब उत्तम प्राणायाम होता है तब शरीर हल्का होने से ऊपर उठ जाता है। इस उत्तम प्राणायाम में शि शि शब्द निकलता है उसी को ही प्रणवध्वनि कहते हैं इसीलिए उन्होंने लिखा है—"**शि शब्द जोर से निकमा।**" शि की आवाज ज़ोर से बाहर आई। इस उत्तम प्राणायाम के स्वरूप के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—"**येत्ता रेचक का आसल वासुवलि या वासुलिका आवाज होता हय ओत्ता पूरक का आवाज नहि होता हय—जो कि सून्य रूप ओहि असल ब्रह्म का रूप—आब आउर मजा—जिभ आउर चढ़ा जाता हय—शब्द के सुरत में लय लगाने से कर्म भ्रम सब जाता हय।** प्रचलित साधारण प्राणायाम में रेचक, पूरक और कुम्भक ये तीन कर्म हैं किन्तु राजयोग के अन्तर्गत अथवा योगिराज द्वारा प्रदर्शित प्राणायाम में केवल मात्र रेचक और पूरक ये दो कर्म हैं चेष्टा द्वारा कुम्भक की आवश्यकता नहीं है।—अन्तर्मुखी भाव से रेचक और पूरक ये दो कर्म करते रहने से कुम्भक अपने आप ही होगा। सभी नाक द्वारा श्वास लेते और छोड़ते हैं यदि किसी कारण से नाक बन्द हो जाय तो मुँह से लिया करते हैं। इसी कारण से ही नाक द्वारा श्वास खींचना-छोड़ना अथवा पूरक-रेचक एवं कुछ क्षण रोककर कुम्भक करने की विधि प्रचलित है। किन्तु राजयोग के अन्तर्गत या योगिराज द्वारा प्रदर्शित इस प्राणायाम में नाक या मुँह द्वारा श्वास लेने और छोड़ने जैसा कर्म नहीं है। अर्थात बाहर की वायु द्वारा इड़ा और पिंगला के माध्यम से या दोनों नाक से श्वास लेने और छोड़ने का कर्म नहीं है। यह पूर्णतः आभ्यन्तरमुखी है। भीतर के प्राण एवं अपान द्वारा ही यह कार्य होता है। इड़ा और पिंगला हीं जीव को जगत के प्रति आकृष्ट करती हैं। इसीलिए इड़ा और पिंगला को प्रारम्भ में ही परित्याग करके सुषुम्ना के अन्तर्गत गतिसम्पन्न इस प्राणायाम की प्रमुखता है। यह अत्यन्त आरामदायक और सम्पूर्ण गुरुमुखी विद्या है। इससे किसी प्रकार की हानि या अनिष्ट की सम्भावना नहीं है। इसीलिए योगिराज कहते हैं कि अन्तर्मुखी भाव से उत्तम प्राणायाम के काल में रेचक करते समय जिस प्रकार सुन्दर बाँसुरी जैसा शब्द या स्वर निकलता है पूरक के

समय उस प्रकार नहीं निकलता। जो शून्य का रूप है वही असल ब्रह्म का रूप है—अब और भी मजा या आनन्द प्राप्त हो रहा है। जीभ और अधिक ऊपर उठती जा रही है। इस अन्तर्मुखी प्राणायाम के रेचककाल में शिं शिं शब्द रूपी प्रणव ध्वनि जो निकलती है उसमें मन का लय कर पाने से ही सभी प्रकार का कर्म भ्रम दूर हो जाता है। इस उत्तम प्राणायाम के सम्बन्ध में अपनी अनुभूति और उपलब्धि के सम्बन्ध में १८७१ ई० से १८७३ ई० तक विभिन्न दिनों में विभिन्न प्रकार से लिखा है—**"क्रिया करते-करते आप उठ खड़ा हुए—फिर होस करके बइठे छोड़ा स्वासा को।"** अर्थात् क्रिया करते-करते अचानक अपने आप ही उठकर खड़ा हो गया। होश आने पर फिर आसन पर बैठा और साँस को छोड़ा।—**'सिद्धासन में बैठके करते-करते उठ आसन से खड़ा हुआ।"** अर्थात् सिद्धासन में बैठकर क्रिया करते-करते अचानक आसन से उठकर खड़ा हो गया—**"एक बड़ा भारी पत्थर जिस प्रकार दस आदमी बलपूर्वक शून्य या आकाश की ओर उठाते हैं उसी प्रकार शरीर वायु के जोर से उठता है किन्तु पृथिवी या मूलाधार नहीं छोड़ा जाता वैसे ही योगी के मूलाधार में किंचित शरीर का पिछला हिस्सा या पाँव लगा रहता है। जब सारा वायु शून्य में मिल जाता है तब शून्य के द्वारा सर्वत्र जा सकता है मन द्वारा मन सर्वत्र बैठे-बैठे यदि जा पाए तो वह सर्व व्यापी होता है उसके बाद सब कुछ जान सकता है; अन्त में सर्व ब्रह्ममय जगत होने से सर्वज्ञता की स्थिति होती है। इसके पश्चात इस प्रकार आत्म चिन्तन करते-करते तद्गत चित्त होने से मनन होता है इस प्रकार मनन करते-करते अल्प मात्रा में मन का लय होने से ध्यान होता है इस प्रकार ध्यान करते-करते समाधि-ज्ञान होता है इस प्रकार वृहत ज्ञान होने से पवित्र एवं भाव प्राप्त होता है।"**

फिर लिखा है—**"बड़ा मजा-बदन जरा हलका।"** यानी इस प्रकार उत्तम प्राणायाम करते-करते बड़ा ही मजा आया। शरीर कुछ हल्का हुआ। "आज हवा से शरीर को ढकेल दिया।" प्राणायाम करते-करते वायु स्थिर होने पर भीतर से शरीर में धक्का दिया।

२ सितम्बर १८७३ ई० को लिखा है—**"शरीर बहुत ढिला हो गया।"** अर्थात् उत्तम प्राणकर्म करते-करते शरीर शिथिल अथवा ढीला हो गया। इस अवस्था में वायु स्थिर होने से शरीर की समस्त गाँठे, माँसपेशियाँ कर्महीन अथवा अक्रिय हो जाती हैं उसके बाद धीरे-धीरे देहबोध समाप्त हो जाता है। इसीलिए उन्होंने फिर लिखा—**पिसाब ना होके उठके टपाटप आप से आप गिरने लगा।"** अर्थात् दीर्घ समय तक क्रिया में रत रहने से पेशाब नहीं किया, किन्तु शरीर इस प्रकार ढीला

हो गया कि खड़े होते ही अपने आप पेशाब निकला जा रहा है। **"मभुक माफिक सूर्य के तरफ ओंकार रूप देखने से निचे का पयेर तीन चार दफे उठ खड़ा होता हय ठिक मभुके माफिक सरिर समेत ३-४ दफे आगे कुदता हय आप से आप वायु के गति से इह सब प्रेमकि लक्षण।"** अर्थात् मेढक की तरह स्थिति हो गई। इस अवस्था में आत्मसूर्य की ओर ओंकार रूप देखते-देखते नीचे की ओर दोनों पैरों के साथ तीन-चार बार उठकर खड़ा होना पड़ा एवं उस अवस्था में मेढक की तरह सशरीर अर्थात् इस देह के साथ तीन-चार बार अपने आप उछल पड़ा। प्राणायाम करते-करते वायु स्थिर होने से ही ऐसा होता है। यह प्रेम का लक्षण है। **"आज जमीन से चलते ओक्त पएर उठे लगा।"** अर्थात् आज चलते समय पाँव जमीन से उठने लगा। **"आज सूर्य देखते ओक्त पएर जमिन से उठने लगा।"** अर्थात् आत्म सूर्य को देखते समय पाँव जमीन से उठने लगा। **"कोई हात पकड़के उठाता हय—आख से एहि ब्रह्मस्वरूप नजर पड़ाता हेय—उचेपर उठने का तबियत करता हय उचे का हावा से डर मालुम होता हय—बड़ा आनन्द।"** अर्थात् खुली आँखों से शून्य स्वच्छ ब्रह्म का रूप दिखाई दे रहा है। प्राणायाम करते-करते शरीर के हलका हो जाने से ऐसी अवस्था हुई कि शरीर शून्य में उठा जा रहा है। शरीर के भीतर ऊर्ध्व या ऊपर की वायु स्थिर होने से सामान्य भय हो रहा है और अत्यन्त आनन्द भी आ रहा है।

"इह मालुम होता हेय कि कुम्भक से बदन हालका होता हेय।" अर्थात् प्राणकर्म करते जब अपने आप ही कुम्भक हो गया तब समझा कि शरीर हलका हो गया। **"आव उपर खैचके ले जाता हय।"**—इस प्रकार केवल कुम्भक की स्थिति प्राप्त होने से शरीर को खींचकर ऊपर की ओर ले जा रहा है। **"आज केवल भितर भितर से चला—आउर बड़ा मजा मालुम हुआ—आउर एयसा मालुम हुआ कि आसन लेके उठे जो ध्वनि आधिरात को सुनाता था सो ध्वनि अकसर सुनाता हय ओहि ध्वनि ओहि सून्य ओहि ब्रह्म।"** अर्थात् आज बाह्य प्रकृति के साथ सारे सम्पर्क तोड़कर केवल भीतर-भीतर चल रहा हूं और उससे बड़ा आनन्द आ रहा है और भी समझ आया कि अब आसन सहित ऊपर उठा जा रहा हूं जो ओंकार ध्वनि आधीरात को सुन रहा था वह अब हर समय सुनाई पड़ रही है। वह ध्वनि ही महाशून्य है और फिर वही ब्रह्म है। **"पद्मासन सामने का उठा।"** अर्थात् पद्मासन से बैठकर क्रिया करते-करते सामने का हिस्सा उठ गया। **"आसन आप से उठा"** अर्थात् आसन पर बैठकर जब क्रिया कर रहा हूं तब अपने से ही ऊपर उठ गया। **"तिलुआ का गुड़ खींचने या तानने से हलका होता है उसी**

प्रकार शरीर में सांस का खींचने-तानने से शरीर हलका होता है वह जिस प्रकार दूध क ऊपर तरता है उसी प्रकार शून्य पर शरीर रहता है कुछ दिन बाद अणु में मिल जाता हैं।" साधना करते-करते और भी आगे बढ़कर उन्होंने १३ सितम्बर १८७३ ई० को लिखा—"एक तरह का भारि नसा जिसमें बेखबर हो जाने पड़ता हय।"—इस प्रकार का एक ऐसा गहरा नशा हुआ जिसमें अपने अस्तित्व को खो देना पड़ा अर्थात इन्द्रियों सहित सभी प्रकार का देहबोध लुप्त हो गया—मन बुद्धि अहंकार सभी खो गए। क्योंकि मन, बुद्धि और चित्त ही देखते हैं ये जब नहीं रहे तब कौन किसे देखेगा ? कौन किसकी खबर लेगा ? यह मन जितनी देर तक चंचल है उतनी देर तक ही भिन्नता दीखती है; किन्तु जब स्थिर हो जाता है तब कुछ भी नहीं। इस प्रकार का नशा योगी को मत्त कर देता है। इस नशे के सम्बन्ध में उन्होंने और भी लिखा है—

> 'खावा भुले जेते देखिने
> एमन प्रेम तो के देखिने।
> नेशार उपर नेशा धरे
> दुःख सुख जेखाने हरे।
> एमन नेशार बलिहारि
> थेको तुमि एइ नेशा धरि।

इस गहरे नशे को ही योगी प्रकृत प्रेम कहते हैं। बाह्य प्रेम दिखावटी प्रेम हैं, प्रेम नहीं। इसीलिए उन्होंने लिखा है—**जिसका जैसा मन वह वसा देखता है।** इस मन या इच्छा के सम्बन्ध में उन्होंने ६ मार्च १८७३ ई० को लिखा है—"**वपु हृदय के कहते हँय—याने छाति के आगे जो मांस हय—इहँ से इच्छा उत्पत्ति होता हय तब लड़का पयदा होता हय— जब इच्छारहित हो जाय तब आपहि ब्रह्म हो जाय; सूर्य ब्रह्म ओहि मालिक।**" अर्थात् वपु या शरीर हृदय को ही कहते हैं अर्थात छाती के आगे जो मांस है। इसी जगह से ही इच्छा की उत्पत्ति होती है। इच्छा से ही सन्तान का जन्म होता है क्योंकि इच्छा के विना स्त्री संभोग होता नहीं; किन्तु क्रिया करते-करते वायु के स्थिरत्व की अवस्था में इच्छातीत स्थिति की प्राप्ति होती है अर्थात क्रिया की परअवस्था प्राप्त होने पर स्वयं ही ब्रह्मरूप हो जाता है। आत्म सूर्य ही ब्रह्म है, वही मालिक है। श्वास रहित होने पर इच्छारहित स्थिति होती है। "**हंस ओंकार सो मन होइ—फिर स्वासा रहित हो जाय तब मन स्थिर होय अर्थात् क्षर-अक्षर ओ निअक्षर का दुवधा जाय—मूल अर्थात् स्वासा शिरपर चढ़ाकर डालपाति सब देखे।**" अर्थात जो हंस

रूपी ओंकार है वही मन है अर्थात मन ही ब्रह्म है। इस मन के स्थिर होने पर ही वह ब्रह्म है और चंचल होने पर मन। प्राणक्रिया एवं ओंकार क्रिया करते-करते जब श्वास रहित या उसकी बाहरी गति रुक कर 'केवल कुम्भक' की अवस्था होती है तब मन भी स्थिर हो जाता है। उस समय क्षर, अक्षर निरक्षर सभी प्रकार का संशय दूर होता है; और तब द्वैत भी नहीं, अद्वैत भी नहीं, क्योंकि जहाँ मन नहीं है वहां द्वैत अद्वैत कहने वाला कोई नहीं—सब महाशून्य रूपी ब्रह्म में लय हो जाता है। यह अवस्था जिसे प्राप्त होती है वही समझता है; किन्तु जानता नहीं; क्योंकि जानने से ही द्वैत। श्वास ही मूल है; क्योंकि श्वास को प्राण-कर्म एवं ओंकार क्रिया द्वारा मस्तक के ऊपर सहस्रार में उठाकर नीचे की ओर डाल-पत्ते देखो अर्थात मूल स्थिर प्राण वहाँ पहुँचने से पहले जब चंचल प्राण में स्थिर था और उस चचंल प्राण में स्थिर रहने के कारण समस्त इन्द्रिय समूह अंग-प्रत्यंग सक्रिय थे, कर्मक्षम थे तथा जिनके माध्यम से जगत संसार को देखते वे सब कर्मविहीन अथवा निष्क्रिय हो गए हैं; उनकी उस स्थिति को देखो। वे ही डाल-पत्ते हैं। जिस प्रकार कोई अत्यन्त गरीब व्यक्ति अचानक किसी प्रकार धनी हो जाए और आलीशान महल में रहकर दूर से गरीबों को देखे जो कि उसकी पहले की अवस्था में हैं। योगियों की इसी अवस्था के प्रति लक्ष्य करते हुए श्री कृष्ण भगवान कहते हैं—

"ऊर्ध्वमूलमधशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥

गीता : १५।१

देखा जाता है कि वृक्षों की शाखायें ऊपर होती हैं और मूल या जड़ नीचे। किन्तु उपरोक्त श्लोक में भगवान ने कहा है ऊपर मूल है और नीचे शाखा। इस प्रकार का उल्टा वृक्ष कहीं दीखता नहीं; किन्तु जब श्री कृष्ण ने कहा है तब निश्चय ही वृक्ष है जो योगियों द्वारा ही बोधगम्य है। आज्ञाचक्र के ऊपर जिसकी मूलवस्तु परमात्मा तत्व है और नीचे हाथ-पांव आदि तथा इन्द्रिय आदि का विशिष्ट कलेवर रूप शाखा आदि है, वही अश्वत्थ का प्रतीक है यही बात इस श्लोक में कही गई है। अश्वत्थ अर्थात अस्थायी जो आज है कल नहीं ऐसी देह ही अश्वत्थ का प्रतीक है। इस वृक्ष के मूल से अर्थात आज्ञाचक्र से सहस्रार तक जहाँ स्थिर प्राणरूप ब्रह्म की अवस्थिति है वहाँ से चंचल प्राण आदि वायु सबकी कार्यशक्ति द्वारा नीचे स्थित शाखा के रूप में हाथ-पांव इन्द्रिय आदि का कार्य फैला हुआ है। फिर नीचे से विभिन्न नाड़ियां अथवा ज्ञान-तन्तु ऊपर की ओर गए हैं। वेदत्रयी इस वृक्ष के पत्ते हैं। इस

प्रकार इस देह रूपी अश्वत्थ वृक्ष के तत्त्व ज्ञान-रूप देहतत्त्व को जो जानते हैं उन्हें ही वेदवित् कहते हैं। इसीलिए योगिराज ने कहा है कि श्वास को मूल में अर्थात् मस्तक में ले जाकर रोक दो और उसी अवस्था में स्थित रहकर नीचे की ओर अंग-प्रत्यंग एवं इन्द्रियादि रूपी डाल और पत्ते को देखो तभी जगत का भ्रम दूर होकर ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति होगी। **"श्वास रहित याने केवल कुम्भक रात दिन मन ले आवे भाउर आपनेहिको आप देखे—इसिका नाम ब्रह्मज्ञान।"** अर्थात् श्वासरहित अवस्था में ही केवल कुम्भक होता है जो प्राणायाम करते-करते अपने आप होता है। इस प्रकार मन को हमेशा ऊर्ध्व में स्थित रखोगे और तब स्वयं ही स्वयं को देखोगे। इसी का नाम ब्रह्मज्ञान है। योगिराज ने फिर लिखा है—

हलोना, हलोना, हलोना
पेछन फिरे हबे केमन करे
ता बलना, बलना, बलना।
त्रिकोणेर मध्ये मन पोर
उपरे चड़े डाइने हइते बाँदिक फेरना
जड़िए घरे मन लिगेर भितर योनि
टेने घरे ठेला मध्ये मध्ये देना।
एक हले जे मजा से मुखे बला जायना;
योनि लिंग एक हले एकि मजा मन बइ
अन्य केह जाने ना। कोथाय लिंग
कोथाय योनि केमने मिलन हय बलना।

इसका तात्पर्य यह है कि योगीगण ओंकार क्रिया के माध्यम से कूटस्थ के भीतर एक त्रिकोण का दर्शन करते हैं। वह त्रिकोण ही योग की भाषा में ब्रह्मयोनि है। वहीं से सभी कुछ उत्पन्न होता है। उसके भीतर मन का प्रवेश कराना होगा—मन ही लिंग है। लिंग रूप मन के प्रविष्ट होने पर एक विन्दु अर्थात् ब्रह्माणु का दर्शन होता है—वही बीज स्वरूप विश्वब्रह्माण्ड का उत्पत्ति-स्थान है। वही भगवान है। भग का अर्थ है योनि अर्थात् कूटस्थ और वान का अर्थ है शर अथवा श्वास। श्वास-प्रश्वास के माध्यम से प्राणकर्म करते-करते मन स्थिर होकर कूटस्थरूपी योनि के भीतर जब लिंग रूप में प्रवेश करता है तब जिस स्थिरावस्था का उदय होता है उसे ही भगवान कहते हैं। कूटस्थ ही योनि है और मन ही लिंग है। इसी का प्रतीक शिवलिंग है। इसीलिए उन्होंने फिर बतलाया कि—**"भगवत याने भग के माफिक अर्थात् जब जिभ नाक के भितर तालुमूल में जाय।"** अर्थात्

जीभ जब ऊपर उठकर नाक के भीतर तालुमूल में 'प्रवेश करती है तब संगम जैसा आनन्द होता है उसे ही भगवत् कहते हैं। इस सम्बन्ध में गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है—

"ममयोनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

गीता १४।३।४

अर्थात् हे भारत! मेरी जो महान सर्व ब्रह्ममय जगत व्यापी प्रकृति स्वरूप अवस्था है वही महद्ब्रह्म है और वही मेरा योनि स्वरूप है; क्योंकि उसी अवस्था से ही सब कुछ की उत्पत्ति हो रही है। विश्व-विस्तार के हेतु-स्वरूप चिदाभास से ही क्षेपण करता हूं अर्थात् वहीं से गतिशील होकर नाना प्रकार की मूर्त्तियों या पिण्डों में अभिव्यक्त हो रहा हूं। प्राणरूपी आत्मा का वह महान ब्रह्ममय भाव प्राणकर्म रूप साधना के द्वारा आज्ञाचक्र स्थित कूटस्थ के भीतर मन की स्थिति होने पर प्राप्त होता है। उस महान वृहत कूटस्थ के भीतर जो त्रिकोण है वही महद्-ब्रह्म का योनिस्थान है अर्थात् वही ब्रह्मयोनि है। कूटस्थ के उसी स्थान से अजपा की गति का विस्तार होता रहता है। प्राणरूपी आत्मा उस त्रिकोण के भीतर अणु के रूप में या विन्दु के रूप में स्थित रहने के पश्चात विन्दु के विस्तार रूप में अवयव विशिष्ट होता है।

इस प्रकार उस महदब्रह्म रूपी योनि से समस्त भूत या पदाथ की उत्पत्ति होती है। अर्थात् अनेकों योनियों से जो कुछ उत्पन्न हो रहा है उसकी उत्पत्ति का मूल वही महद्ब्रह्म है अर्थात् उसी अवस्था में गतिशील होकर नाना प्रकार की योनियों में नाना प्रकार की मूर्तियों या पिण्डों की उत्पत्ति हो रही है और उनमें वही कर्त्ता के रूप में विद्यमान है। छोटी-छोटी अनेक योनियों से जो कुछ हो रहा है वे सब योनियाँ विभक्त है; किन्तु अविभाजित रूप में ब्रह्म ही महद्योनि है; इस कारण ब्रह्म ही मातृस्थानीय है और पिता मैं ही हूं क्योंकि उक्त त्रिकोण के भीतर जो सूक्ष्मतम अणुस्वरूप या विन्दु रूप है वह मैं ही हूं; इस प्रकार मैं ही स्वयं में स्वयं रहता हूं। और फिर उस विन्दु के विस्तारित होने पर कूटस्थ के रूपान्तर स्वरूप नाना प्रकार की मूर्ति व्यक्त करता हूँ। इस प्रकार पितारूपी मैं ही पुत्र के रूप में उत्पन्न होता हूं। पिता का ही रूपान्तर पुत्र है। इसलिए मैं ही गर्भाधानकर्त्ता पिता हूं। योगिराज ने पुनः लिखा है—"त्रिकोण तेज रूपकि बलिहारि जाइ।" अर्थात् त्रिकोण अथवा उस महद्ब्रह्म रूपी योनि के तेज की बलिहारी। अर्थात् उसकी

तेजस्विता कितनी अद्भुत एव चमत्कारपूर्ण है। उन्होंने फिर लिखा है **"ज्योतिर्मय योनि देखा।"** अर्थात् ज्योतिर्मय योनि देखा। **ज्योतिर्मय योनि रक्तवर्ण काम बीज देखा** अर्थात् ज्योतिर्मय योनि अथवा रक्तवर्ण कामबीज देखा। फिर कभी लिखा है—**"भगवती का योनि महादेव का लिंग देखा।"** अर्थात् भगवती की योनि एवं महादेव का लिंग देखा.. और कभी लिखा है—**"एक बड़ा छोटा सरसो के माफिक विन्दि ओहि बड़ा दिपक के माफिक हुआ फिर एक छोटा नक्षत्र के माफिक हुआ। इह विन्दिहि असल हय—एहि सब खेल देखलाता हय।"** उस त्रिकोण के भीतर एक अत्यन्त छोटे सरसों के दाने जैसा विन्दु वही बड़े दीपक जैसा हो गया फिर नक्षत्र जैसा प्रकाशमान देखा। वह विन्दु ही असल है वही जन्म-मृत्यु इत्यादि सारे खेल दिखला रहा है। फिर योगिराज ने एक दिन और लिखा है—**"ज्योतिर्मय लिंग देखा—एहि महादेव का लिंग आउर किसुनजिका ऊर्धपुच्छ।"** अर्थात् ज्योतिर्मय लिंग को देखा; वही महादेव का लिंग और वही श्रीकृष्ण का ऊर्ध्वपुच्छ है। बाह्य रूप में इसी का प्रतीक ऊर्ध्वपुण्ड्र है जिसे चन्दन आदि द्वारा ललाट पर रचाया जाता है। फिर लिखा है—**"ऊर्ध्वपुण्ड्र विश्वनाथ का लिंग देखा।"** अर्थात् ऊर्ध्वपुण्ड्र रूपी विश्वनाथ का लिंग देखा। एक त्रिकोण और एक ज्योतिर्मय लिंग आँक कर उसके बगल में लिखा है—**"ॐ त्रिकोण—ज्योतिरूप लालडोरा सुषुम्ना का किनारे मेहिन देखा—पहले ज्योतिर्मय लिंग देखा फिर सून्य में समाय गया बड़ा मजा रोकने से छचक्र ज्योत के भितर देखलाता हय। अपूर्व ज्योति रूप प्रणाम करिते देखाय सर्पाकार ज्योतिरूप लिगेर उपर देखाय।"** अर्थात् ओंकाररूपी जो त्रिकोण है, वहाँ सुषुम्ना के किनारे ज्योतिरूप महीन लाल डोरा देखा। पहले ज्योतिर्मय लिंग देखा, फिर वह महाशून्य में विलीन हो गया; उसकी गति थम जाने पर बड़ा ही आनन्द प्राप्त होता है। उसी ज्योति के भीतर सुषुम्ना के षटचक्र दिखाई देते हैं। वह अपूर्व ज्योतिरूप प्रणाम करते समय दिखाई देती है और फिर सर्पाकार ज्योतिरूप लिंग के ऊपर दिखाई पड़ती है। **"एक सुन्दरी कामवीज देखा।"** **"योनिरूपा आद्याशक्ति देखा।"** **"चारवेद ओ ब्रह्मा विष्णु महेश विराजमान योनि के भितर देखा।"**—अर्थात् वह जो महद्ब्रह्म रूपी, मातृयोनिरूपा आदि शक्ति त्रिकोण है उसके भीतर चारों वेद और ब्रह्मा, विष्णु महेश को विराजमान देखा। सत्वगुण की अधिकता के कारण देवता आदि सभी दिखाई देते हैं। यहीं अन्त नहीं है और भी आगे जाना होगा। गुणातीत स्थिति में जाना होगा। सत्वगुण भी तो गुण है। योनि-लिंग को एक करना होगा; किन्तु कैसे ? इस विषय में योगिराज कहते हैं—"अर्जुन

मत्सभेद वान मारना चाहिए प्राणायाम से ब्रह्मज्ञान होता हय तिसके बाद ओंकार—ओंकार सो राम हय साधो करो विचार—पहले शि एयसा आओज भितर से होय, पिछे ॐ इसिसे सोहं कहाता हय—परमहंस कहे—उसके बाद ओंकार इह अगाध मत—याने समाधि हय—पवन को सुरत मे मन लगा के बुरा भला सब मालुम हो जाय—इसिके अनुभव कहते हय।" अर्जुन के मत्स्यवेधी वाण मारने जैसे निर्दिष्ट लक्ष्य के साथ उत्तम प्राणायाम करना होगा, उत्तम प्राणायाम करने से ही ब्रह्मज्ञान होता है। इसके बाद ओंकार क्रिया—वह ओंकार ही राम है साधो यह विचार कर देखो। उत्तम प्राणायाम करने से भीतर से 'शिं शिं' इस प्रकार की ध्वनि (चाभी में फूँक मारने पर जो आवाज़ होती है) निकलती है उसे ही प्रणवध्वनि कहते हैं ? इस प्रकार करते-करते उस प्रणवध्वनि के साथ एकीभूत या मिलने से ही 'सोहं' अवस्था प्राप्त होती है उसे ही परमहंस कहते हैं। इसके पश्चात् ओंकार अर्थात् निर्विकल्प समाधि जहाँ कोई विकल्प या कल्पना नहीं-इस स्थिति में सबकी गति एवं मति एक हो जाती है क्योंकि वहाँ द्वैत का कोई संकेत ही नहीं। इस प्रकार वायु-क्रिया करते रहने से अर्थात् उत्तम प्राणायाम करते रहने से संसार की सारवान और सार हीन वस्तुओं अथवा भले-बुरे सब का ज्ञान होता है। इसे ही अनुभव कहते हैं। इसी अनुभव के प्रकाश में योगिराज ने गाया है—

मन आयना मनेते देख।
चाँद वदनि चखेते ॥
लागा मन ओंकारेते ।
पाबे मजा कत से ध्वनिते ॥
मन जासने मन जासने जासनेरे कोथा।
मन दिये मन के देखले हबे सकल वृथा ॥
इन्द्रिर कर्म इन्द्रि करे;
मन केन कैंदे मरे;
आछाड़ खेये पड़े मरे,
मध्ये मध्ये नकल करे।

अर्थात् मन के दरपन में मन को देखो, चाँद जैसे स्वच्छ चक्षुओं से। मन को ओंकार में लगाओ, ओंकार ध्वनि में कितना आनन्द प्राप्त होगा—उसमें मन लगाकर ही प्राप्त किया जा सकता है। चंचल मन का यह धर्म ही है कि वह जिस वस्तु को देखेगा उसी की नकल करेगा। इस प्रकार वह इधर-उधर गिरता-पड़ता और भटकता रहता है; किन्तु जब वह स्थिर हो जाता है तब कहीं कुछ नहीं। इस मन का उत्पत्ति स्थान अथवा मूलकेन्द्र कहाँ है ? इस सम्बन्ध में योगिराज कहते हैं—"ध्वनि

के अन्तरगत ज्योत जो ज्योतिकि सूर्य से आता हय—उसके भितर मन हय—ओहिमन में लय होना विष्णु का जो पद हय—इसिमें स्वासा समाय जाता हय।" अर्थात् ध्वनि के भीतर जो ज्योति है वह आत्मसूर्य से आ रही है उसके भीतर मन का अवस्थान है; वही स्थिर मन है उस मन में लय होने पर जिसे विष्णुपद कहते हैं—यानी विष्णुपद में श्वास मिल जाता है अर्थात् स्थिर मन को ही विष्णुपद कहते हैं। वहीं से श्वास की उत्पत्ति और लय का क्रम है। योगिराज ने पुनः लिखा है—"ज्योत के बाद मन निराकार रूप। निर्मल रूप मे मन को लय करना चाहिए।" अर्थात् निर्मल आत्मज्योति के परे स्थिर मन की स्थिति है जो निराकार है। उसी निर्मल रूप में मन का लय करना चाहिए अर्थात् चंचलमन को स्थिर मन में विलीन करना होगा। "मन में जो होता है वही शरीर में भी होता है मन का आवरण दूर होने से शरीर का आवरण क्रमशः या धीरे-धीरे दूर होगा।" इसलिए उन्होंने गाया—

'ओंकार ध्वनिर शोनरे सुर।
जेखाने ज्योति प्रचुर॥
देख देख सुरेर भितर कत सुर
मन सदा ताइते पूर।
अभ्यासे ते हबे सबुर
दर्शन हबे महाप्रभुर।
घर घर टेने सुर
काट सब दिए वं क्षुर।

● ● ●

मन बारें बारे जप सदा तारे
जे जन अन्तरेरि अन्तर
सदा थाके अन्तरे
भाव विने भाव केमने हबे
चिन्तय सेइ ध्वनिरे।
जखन डाकबि तारे
विरलेते ध्यान धरे।
मन निए मन देतो सुरे
अद्भुत रूप देखो अन्तरे॥

● ● ●

कसे घरे टान टानो
केन सोनो भेन भेनानो
अमूल्य धन काली जेनो
हृदपद्मे बसे आछेन
चेष्टो करे धरना केनो
करे एकान्त मननो
दूध घि खाओना केनो
निर्जनेते टान टानो ॥

प्राणकर्म में जो शि शि का स्वर निकलता है वही क्षुर या छुरा है उसी छुरे से सब कुछ काटना होगा। तभी स्थिर होओगे और स्थिर होने पर ही त्रिगुणातीत अर्थात् सत्व, रज और तम से परे की अवस्था प्राप्त करके जन्म-मृत्यु के प्रवाह से परे चले जाओगे। इसीलिए वे इस बात पर अधिक जोर देकर कहते हैं—**"मन में कुछ नहि, ध्यान धरो सब कुछ हय।"** पुनः कहते हैं—**"धोका देना—याने मन जो खालि हय उस्का देके मनमे जो परमेश्वर का रूप हो जाना—इसिको बांगला में फाकि दियें नेया कहाता हय।"** अर्थात् धोखा देना या चंचल मन के द्वारा ही मन को झाँसा देकर मन को ही जय करना होगा अर्थात् स्थिर करना होगा। ठीक उसी प्रकार जैसे काँटा से काँटा निकाला जाता है; किन्तु मन जब तक स्थिर नहीं होगा, चंचल रहेगा, तब तक कुछ भी ठीक नहीं रहेगा। **"जिसको बात का ठिकाना नहि उस्का बाप याने भगवान काभि ठिकाना नहि।"** तात्पर्य यह कि मन चंचल रहने से बात का भी कोई ठिकाना नहीं रहता, आज कुछ कल कुछ इस प्रकार के भाव उठते रहते हैं। अतएव मन जब तक चंचल रहेगा तब तक वह स्थिर स्वरूप ब्रह्म से अनेक दूर रहेगा। इस मन लगाने या देने के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में एक सुन्दर कथा है—गोपियाँ भगवान श्री कृष्ण के पास जाते समय उनके लिए कुछ उपहार ले जाना चाहती हैं। किन्तु उपहार स्वरूप क्या ले जाएँ? सब कुछ तो उन्हीं का है। उन्होंने सोचा कि उन्हें ऐसी वस्तु देनी होगी जो उनके पास नहीं है। अन्त में गोपियों ने निर्णय किया कि भगवान के पास तो सभी कुछ है, किन्तु मन नहीं है और हमारे पास तो भरपूर है। इसीलिए उन्होंने अपना मन पूर्णरूप से भगवान को दे दिया। अर्थात् भगवान के पास चंचल मन न रहने से मन नहीं है किन्तु वह गोपियों के पास है। उन्होंने अपने वर्तमान चंचल मन को प्राणकर्म द्वारा स्थिर करके मन में मन को रक्खा; चंचल मन को स्थिर किया अर्थात् वे 'मन्मना' हो गईं। यही भगवान को मन देने की साधना या प्रक्रिया है। **"भिस्म याने डर—**

जब तक सिरमे तिनबान अर्थात् इड़ा पिंगला ओ सुषुम्ना नहि मिला तब ताइ उह स्थिर नहि होत हय जोकि अग्नि याने तेज करके न मारे पिछे ओंकार ध्वनि कर्ण में सुनाता हय।" अर्थात् भीष्म या भय—(साधना का भय) जब तक तीन बाण अथवा इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना मस्तक के भीतर जाकर नहीं युक्त होंगी तब तक मन स्थिर नहीं होता है और वायु के स्थिर न होने तक भय बना रहता है अतएव शक्तिपूर्वक उत्तम प्राणकर्म करते रहने से अन्त में स्थिर होने पर ओंकार ध्वनि सुनोगे और उसी में मग्न होने से स्थिरत्वपद की प्राप्ति होगी। योगिराज गा उठते हैं—

शरीरेर धर्म शरीर कर
तुमि केन मर आमि आमि करे
यदि केह हइते तुमि ए संसारे
अखण्ड ब्रह्माण्ड जगत मय तुमि;
तोमा बिना आछे के जगतेर स्वामि।
अमूल्य धन मन ताहाके बूझ तुमि,
सेइ कराय तोमाय जगतेर स्वामि।
आमि बले बेड़ाओ जगते तुमि
तोमा छाड़ा आछे के जगते प्रभु,
तन्निमित्त आपनाके आपनि देख सेइ प्रभु।
तबे पाइबे आनन्दमयीर आनन्द
तखनि तोमार हबे परमानन्द।
चिन्ता करो केन दिवानिशि मन
तोमा बिना बन्धु नाहि अन्यजन॥

इसके पश्चात् योगिराज ने ४ जनवरी १८८३ ई० को लिखा है—**"सूर्यनारायण ओंकार का रूप देखा—शरीर बहुत हलका हुआ सफेद परदा आंखके सामने मालुम हुआ फिर सूर्य के भितर किसुन का रूप—ओहि जगतमय—सत्व रज, तम रूप—पांच तत्व में मिला पदार्थ आउर सब तत्व उससे निकसा—याने निर्मल ब्रह्म।"** अर्थात् आत्मसूर्य नारायण रूपी ओंकार का रूप देखा। प्राणकर्म करते-करते शरीर खूब हल्का होने से आंख के सामने जो पर्दा है उसे समझा अर्थात् माया समझ में आई। फिर उस माया का आवरण हट जाने के बाद आत्मसूर्य के भीतर कृष्ण का रूप देखा वह पूर्ण विश्व में व्याप्त है, वही सत्व, रज एवं तम इन तीनों गुणों का रूप है। सारे पदार्थ पांच तत्वों में विलीन हो गए और यह भी देखा कि वे पांच तत्व भी उस आत्मसूर्य से आ रहे हैं जो निर्मल स्वच्छ ब्रह्म है। १९ अप्रैल १८७३ ई० को लिखते हैं—

"**आपनाहि स्वरूप नारायण का देखा। एहि आपना रूप हय फिर एहि निराकार ओंकार हय। ओहि ओंकार आदि वेद हय।** अर्थात् अपने स्वरूप में नारायण को देखा यही अपना रूप है और फिर यही निराकार ओंकार है, वह निराकार ओंकार ही आदिवेद है। ३ जून १८७३ ई० को लिखते हैं—"**अब स्वरूप दर्शन हुआ—उह रूप त्रिकुटि के भितर हय—हंस उस्को कहे जब संसय जाय आउर सफेद देखे आउर सुद्ध भितर भितर आवे आउर जाय जो आज हुआ—बड़ा मजा।**" अर्थात् अब स्वरूप दर्शन हुआ, इस स्वरूप का दर्शन त्रिकुटी के भीतर होता है उसे ही 'हंस' कहते हैं उस समय सभी संशय दूर हो जाते हैं और सभी कुछ सफेद दिखाई देता है; क्योंकि सफेद किसी रंग के अन्तर्गत नहीं है। यही शुद्धावस्था है जो भीतर से बाहर गतिशील है; वही आज हुआ—इससे बड़ा ही मजा आया। १९ जून १८७३ ई० को लिखा है—"**कूटस्थ अक्षर नारायण के रूप हो जाता हय।**" अर्थात् कूटस्थ अक्षर नारायण का रूप हो जाता है। दूसरे दिन २० जून को लिखा है—"**आपना रूप से भिन्न रूप देख पड़ा। नारायण का रूप अन्तर दृष्टि में मालुम होता हय।**" अपने रूप या स्वरूप से भिन्न रूप देखा। नारायण का रूप अन्तदृष्टि में दिखाई देता है। ८ जुलाई १८७३ को लिखा है—"**एक श्वेत पुरुष आपने माफिक देखा।**" यानी अपने ही जैसे एक श्वेत पुरुष को देखा।

२८ जुलाई १८७३ ई० को लिखा है—"**आपना रूप देखा—नारायण का रूप हय—बड़ा मजा—अब काम करने में आसकत हुआ।**" अर्थात् अपना रूप देखा, वही नारायण का रूप है अब बड़ा मजा आया और काम करने में आलस्य का बोध हो रहा है और ऐसा महसूस होता है कि चुपचाप पड़ा रहूँ। इस अवधि में वे रात भर साधना करते ताकि नींद पर जय प्राप्त कर सकें इसी की चेष्टा करते हुए दीखते हैं उन्होंने ११ अगस्त १८७३ को लिखा—"**आज वाँसुलिका आवाज अच्छा हुआ सून्य भवन मिल रहना चाहिए—रात का सोना कइसे न हो—इसका कोसिस करेंगे। नेसा आउर गाढ़ा ओ सून्य आउर साफ।**" तात्पर्य यह है कि उत्तम प्राणायाम करने से वाँसुरी के स्वर जैसी जो आवाज होती है वह आज खूब अच्छी रही; उसे ही प्रणव-ध्वनि कहते हैं इसी प्रणव ध्वनि को पकड़कर शब्दातीत महाशून्य (ब्रह्म) में पहुँच गया। उसी से युक्त होकर रहना होगा लय हो जाना होगा। किन्तु उस लय की स्थिति को प्राप्त करने के लिए जिस लम्बी साधना की आवश्यकता है वह सांसारिक झमेलों के बीच सम्भव नहीं। इसलिए रातभर साधना करनी होगी और सारी रात साधना करने के लिए नींद को जीतना ही

होगा। अब उसी की ही चेष्टा कर रहा हूं। अब क्रिया का नशा और भी गहरा हो गया एवं शून्य ब्रह्म और साफ-निर्मल हो गया। १४ अगस्त १८७३ ई० को लिखा है—"**अब रात में निद कम आता हय बड़ा स्थिर बड़ा नेसा।**" अब रात में नींद कम आ रही है, क्रिया करते-करते अत्यन्त स्थिर भाव एवं नशे का बोध हो रहा है। ७ अक्टूबर १८७३ ई० को लिखा—"**रात को निद न आवे।**" अब रात में नींद नहीं आ रही है यानी पूरी तरह नींद को जीत लिया है इसलिए अब रातभर क्रिया करने में कोई असुविधा नहीं। प्राण की चंचलता या अस्थिरता के कारण ही देहबोध वर्तमान रहता है इसलिए नींद की भी जरूरत होती है; किन्तु प्राणकर्म करते-करते जब प्राण स्थिर हो जाता है तब फिर नींद की कोई प्रयोजनीयता नहीं। योगी इस प्रकार लम्बे समय तक समाधिस्थ होकर रहने के अभ्यस्त होते हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें ऑक्सीजन (Oxygen) की भी जरूरत नहीं पड़ती। सभी प्राणी आक्सीजन ग्रहण करते हैं और कार्बन डाइआक्साइड (Carbon dioxide) छोड़ते रहते हैं। इस प्रकार ऑक्सीजन ग्रहण करने से शरीर का प्रत्येक कोष सक्रिय रहता है और उनके कार्य को वर्तमान रखने के लिए कार्बन डाइआक्साइड को छोड़ना पड़ता है; किन्तु योगी जब योग क्रिया के द्वारा अपने शरीर स्थित प्रत्येक कोष को कार्य रहित करने में समर्थ हो जाते हैं तब वे आक्सीजन के बिना ही अवस्थान करते हैं और आक्सीजन नहीं ग्रहण करने से कार्बन डाइआक्साइड भी नहीं छोड़ना पड़ता। इस स्थिति में लम्बे समय तक कोषों के कार्यरहित होने पर उनके नष्ट होने की सम्भावना है; किन्तु वे नष्ट न ीं होते। योगी जब पुनः स्वाभाविक अवस्था में या जाग्रत अवस्था में वापस आ जाते हैं तब सारे कोषों के साथ हृत्पिंड फुस्फुस और मस्तिष्क में आक्सिजन ग्रहण करने की क्रिया आरम्भ होने से सभी कार्यक्षम हो जाते हैं। बाहरी श्वास की गति शुरू हो जाती है—इसी को ही प्राण की चंचल अवस्था कहते हैं। इसी को लक्ष्य में रखते हुए रामप्रसाद ने गाया है—"जार घूम तारे दिए घूमेरे घूम पाड़ाएछि।" अर्थात् देह की चंचल अवस्था में ही नींद का प्रयोजन है; स्थिर अवस्था में नींद की कोई जरूरत नहीं। इसीलिए चंचल अवस्था में जो नींद है उसे चंचल अवस्था को ही लौटा कर वे स्थिरावस्था में चले गए यानी क्रिया की परावस्था में पहुंच गए, जहां नीद का कोई प्रयोजन ही नहीं।

योगिराज कहा करते थे—"**सभी धर्मों का गुप्त मर्म जिस महाद्युतिवान कूटस्थ में निहित है, उसे जानना चाहिए। धर्म का अर्थ है क्रिया। सत्य, त्रेता, द्वापर एवं कलियुग में धीरे-धीरे क्रिया का ह्रास**

हो जाता है अर्थात् समाधि से विज्ञानपद, विज्ञानपद से ज्ञान और ज्ञान से क्रिया एवं कर्म। सत्ययुग में कूटस्थ में रहना, त्रेता में कूटस्थ देखना, द्वापर में क्रिया द्वारा आनन्द प्राप्त करना, कलियुग में क्रिया देना।" इसकी व्याख्या करते हुए कहते—"सत्य अर्थात् क्रिया की पर अवस्था, त्रेता अर्थात् क्रिया की परावस्था के बाद, द्वापर अर्थात् क्रिया करने का समय एवं कलि अर्थात् क्रिया न करने की अवस्था।" इस प्रकार चारों युग को इस देह में ही जानना होगा। शास्त्र के गूढ़ रहस्य के सम्बन्ध में लिखा है—'वेद समुदाय धर्म का मूल है अर्थात् क्रिया के द्वारा सभी का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। श्रुति अर्थात् बात-चीत के बिना जो सुना जाय; स्मृति अर्थात् सुनकर जिसे स्मरण में रखा जाय इसे ही मर्म कहा गया है। मनुष्य के भीतर यह स्थिर किया है कि क्रिया करके कीर्ति प्राप्त करेगा और इहलोक में मरने पर ब्रह्मलीन होकर परम सुख की प्राप्ति होगी।" पुन: कहा है—बात-चीत के बिना जो सुना जाय उसका नाम श्रुति है उसे जानने का नाम वेद है उसका स्मरण करके जो एक पदार्थ अर्थात् क्रिया है उसका नाम शास्त्र है। उस वेद की श्रुति, स्मृति-मीमांसा होने की कोई तरकीब नहीं क्योंकि हठात आ पड़ता है उसके द्वारा ही क्रिया करते-करते प्रकाशित होता है। वेद स्मृति सदाचार है अर्थात् क्रिया और आत्मा का प्रिय है अर्थात् स्थिर होना ये चार साक्षात धर्म हैं अर्थात् इनसे क्रिया का लक्षण जाना जाता है।" गुरु की वाणी पर विश्वास करके नाव से पार उतरने जैसी यह सहज क्रिया करते रहने से भवसागर रूपी वैतरणी को पार किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में योगिराज ने ११ दिसम्बर १८७३ ई० की दिनलिपि में लिखा है—"ओंकार श्वेत रूप—ओहि जल का रूप ओहि आदि रूप —सहज स्वाभाव सून्य का—सहजगुरु वाक्य में विश्वास करने से सहज सहज क्रिया करे तो पार उतरे हय—जयसा कोई डूबता हय आउर कोई तैरने वाला का कमर इसारे से पकड़के दोनों तएर करके पार लगे आउर लगावे आउर आगर उह जोर करके पकड़े तो आप डूबे आउर बचाने वाले कोभि डुबावे वोएसेहि गुरुचेला—केंओंकि यो गुरु सोइ चेला।" ओंकार का रूप श्वेत है और जल का भी वही रूप है, यही आदि रूप है। महाशून्य में स्थिति होने से वही तब सहज स्वभाव अर्थात् आत्मभाव या स्वाभाविक अवस्था हो जाती है और प्राण की वर्तमान चंचल अवस्था उस समय अस्वाभाविक हो जाती है। गुरुवाक्य में पूर्णरूप से विश्वास करके इस सहज क्रिया के द्वारा जन्म-मृत्युशील इस भवसागर को पार किया जा सकता है। जिस प्रकार यदि कोई डूब रहा हो और कोई दूसरा उसे बचाने आये उस समय यदि वह उसकी कमर आहिस्ता

से पकड़ ले तो दोनों ही बाहर निकल आएंगे; किन्तु यदि वह बचाने वाले को जोर से पकड़ ले तो फिर स्वयं तो डूबेगा ही उसे भी ले डूबेगा। यही शर्त गुरु और शिष्य पर भी लागू होती है। गुरुशिष्य का सम्पर्क भी ऐसा ही है क्योंकि जो गुरु है वही शिष्य है। **"एक के आँख उठा बिमारि देखने से बहुत देर तक जयसा उस्का आँख से उसकोभि आँख आता हय ओयसा कूटस्थ अक्षरको देखनेसेभि ओहि रूप हो जाता हय—इसमें सन्देह नहि।"** जिस प्रकार किसी व्यक्ति की आँख आ जाने पर अगर कोई उसकी आँखों की ओर देर तक देखता रहे और छुआछूत के कारण जिस प्रकार उसकी भी आँख आ जाए उसी प्रकार प्रतिदिन क्रिया करके कूटस्थ अक्षर को देखते-देखते स्वयं भी वही रूप हो जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं। इसीलिए उनके कंठ से गीत फूट पड़ता है—

"हरिभजन विना नाइको गति,
जिनि अगतिर परमगति;
सेखाने गेले नाइ पुनरागमन
इन्द्रिय सब हवे आपनि दमन।
सुख सेखानकार के वलवे केमन।
जार हयना कखन निधन,
जे पेयेछे अमूल्य धन;
अतुल सुखेर के करिवे वर्णन,
भक्ति हले पावे चरण॥"

२४ अगस्त १८७३ ई० को लिखा है—**वासना छोड़ दे तो खुद वासुदेव होय। वासु=वासना, देव=मालिक[1]। जब वासना को छोड़े तो खुद मालिक होय—हमहि सूर्य का रूप।"** समस्त प्रकार की वासना को छोड़ देने से स्वयं वासुदेव होता है अर्थात मालिक होता है। प्राणकर्म करते-करते जब अपनी सत्ता विलीन हो जाती है तब सब कुछ आकाशवत् हो जाता है और स्वयं ही स्वयं का मालिक होता है क्योंकि वह स्वच्छ ब्रह्माकाश ही सर्वत्र विराजमान, व्याप्त है; वही मालिक है—

तुम कभि मत छोड़ो
उह साँई को—
जब तक न मिलावे
आपको।"

३ मई १८७३ ई० को लिखा है—**"हमहि सूर्य का रूप निर्मल ज्योति—जब निर्मल ज्योति देखते हंय तब हम छोड़ाय दुसरा कोइ न देखते हय—**

१—देव=दिव् अर्थात् आकाश।

लेकन अब निर्मल ज्योत मे समाना चाहिए।" अर्थात मैं ही आत्म सूर्य रूपी निर्मल, स्वच्छ ज्योति हूँ, जब वह निर्मल ज्योति देखता हूँ तब मेरे अतिरिक्त और कोई भी नहीं देखता; अब उस निर्मल आत्मज्योति में मिल जाना होगा; ज्योति एवं मुझे एक होना होगा; उसी में लय हो जाना होगा। दूसरे दिन लिखा है—"यो विन्दि सोइ सूर्य—अब घर उजियाला होता हय।" अर्थात्, कूटस्थ में जो ध्रुवतारा जैसा विन्दु दिखाई दे रहा है वही आत्मसूर्य है; इस आत्मसूर्य के दर्शन से सब कुछ परिष्कार हो रहा है। स्पष्ट दीख रहा है। दूसरे दिन ५ मई को लिखा है—"निर्मल ज्योति भगवान का हय—ज्योति आकाश के माफिक।" वह भगवान की निर्मल ज्योति हैं जो आकाश जैसी है। १२ अगस्त १८७३ ई० को लिखा है—आसमान के त्रिकुटि में अक्षर फिर उसिसे ज्योत रूप—उस्का बड़ा निर्मल रूप।" कूटस्थ के भीतर जो आकाशवत त्रिकुटी है वही परम अक्षर है, फिर उससे ही ज्योति रूप, जो अत्यन्त, स्वच्छ और निर्मल है। २८ अगस्त १८७३ ई० को लिखते हैं—"जिभ जब तालुमूल में लगता हय तब खट्टामिठा स्वाद मालुम होता हय—आउर गाढ़ा—अब बहुत स्थिर हय—आज प्राणायाम थोड़ा हुआ ओंकार का ध्वनि पिछे तरफ सुनाता हय।" अर्थात् जीभ जब ऊपर उठकर तालुमूल में प्रवेश करती है तब खट्टा-मीठा स्वाद मालूम होता है। आज और भी अधिक स्थिर रहा; और ओंकार ध्वनि मस्तक के पीछे की ओर सुनाई देती है। १२ नवम्बर १८७३ ई० को कूटस्थ के भीतर एक विन्दु आँककर उसके बगल में लिखा है—"एहि अगम स्थान हय इसिमे ठहरना चाहिए।" कूटस्थ के अन्तर्गत यह जो स्थिर विन्दु है वही अगम्य स्थान है, इस स्थिर विन्दु में रुकना होगा। तनिक भी मन चंचल होने पर वह विन्दु स्थिर नहीं होता। प्राणकर्म करते-करते जब सब कुछ थम जाय और जब मनातीत, इच्छातीत अवस्था प्राप्त हो जाय तभी वह विन्दु भी स्थिर होता है। जीव का जो वर्तमान बुद्धि और मन है वे स्थिर विन्दु तक पहुँचने में समर्थ नहीं—इसीलिए उसे अगम्य स्थान कहा गया है। उस अगम्य स्थिर विन्दु के भीतर रुकना-ठहरना होगा। ७ दिसम्बर १८७३ ई० को लिखा है—"इह शरीर के भितर दुसरा एक शरीर हय ऐयसे ही लेकन काला।" अर्थात् इस शरीर के भीतर इसी प्रकार का एक और शरीर है जो काला है। इसी को ही स्वरूप दर्शन कहते हैं। दर्पण के सामने खड़े होने पर जिस प्रकार अपने शरीर का विम्ब दिखाई देता है उसी प्रकार प्राण-कर्म करते-करते जब मन स्थिर होकर कूटस्थ रूपी दर्पण के सामने स्थिर या खड़ा होता है तब अंगुष्ठ प्रमाण अथवा अगूँठे

जैसी माप का अपना रूप दिखाई देता है। यही कारण शरीर है। शरीर स्थूल, सूक्ष्म और कारण भेद से तीन प्रकार का होता है। स्थूल शरीर के भीतर सूक्ष्म शरीर एवं सूक्ष्म शरीर के भीतर कारण शरीर है। नींद के समय इन्द्रिय आदि विषयों से मुक्ति पाकर स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर निद्रित होता है। किन्तु कारण शरीर निद्रित नहीं होता वह सदाजाग्रत है। वही परवर्ती दोनों शरीरों की आधार भूमि और आश्रय का स्थान है। योगिराज गा उठते हैं—

"माया रखो मय छोड़ो
सतपर आगे बढ़ो
सिढ़ि सिढ़ि आगे चढ़ो
तब होगा सुख बड़ो
झूटे मनसुबा क्या गड़ो
श्रीमान सामने खड़ो
ओहि आँख पर पड़ो
फिर एकहि हो पड़ो।"

"गलेमें मिठा मालुम हुआ आउर भितर भितर चला आउर बड़ा नेसा मालुम हुआ ऐयसा हमेसा चाहिये।" जीभ ऊपर उठकर तालु के छिद्र में प्रवेश कर गई उस समय मीठे स्वाद की अनुभूति हुई और श्वास भीतर ही भीतर चलने लगा। इस अवस्था में जो गहरा नशा हुआ—वह हर समय आवश्यक है। **"निर्मल ब्रह्म मालिक, ब्रह्म जल का रुप हय, ब्रह्मइ सर्वमय।"** स्वच्छ, निर्मल और आवरण हीन अथवा जो मुक्त ब्रह्म वही सब का मालिक है क्योंकि इस ब्रह्म से ही जो कुछ भी अस्तित्व में है, उसकी उत्पत्ति हुई है। वह ब्रह्म जलरूप है क्योंकि जल का कोई रूप नहीं वह जिस पात्र में रक्खा जाता है वही रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार जो अरूप शून्यरूपी ब्रह्म है वही सर्वत्र वर्तमान है। **"सूर्य हमारा रूप जो ओंकार हय ओहि स्थिर घर जाने का रस्ता हय।"** अर्थात् आत्मसूर्य ही हमारा रूप है वही ओंकार है, वही स्थिर घर में पहुँचने का रास्ता है; क्योंकि बार-बार उस आत्मसूर्य का दर्शन करने पर ही योगी स्थिरत्व की अवस्था प्राप्त करते हैं, स्थिर अवस्था में फिर देखने-सुनने-जानने की कोई बात ही नहीं। **"नाक के उपर ताकके भौके उपर कपाल के बिच में ताकके ठहर रहना कठिन हय—इसिसे स्थिति पद याने समाधि होता हय।"** अर्थात् नाक के ऊपर दोनों भौहों के बीच ललाट में दोनों आखें ऊपर की ओर स्थिर करके देखते रहना अत्यन्त कठिन है; किन्तु ऐसा करने पर स्थितिपद अथवा समाधि की

अवस्था होती है[१]। **"जिम डहिने नाक के छेदमे घुषा फिर बाए छेद के भितर एक अंगुल—आव खिचने से भि सि एयसा शब्द आता हय आउर फेकनेसेभि।"** जीभ ऊपर उठकर दायीं ओर के नाक के छेद में घुस गई फिर बायें ओर के छेद में एक अंगुल प्रवेश कर गई। इस अवस्था में प्राणायाम करते समय 'शि' इस प्रकार की आवाज होने लगी। उत्तम प्राणायाम में शि शि की आवाज़ बाहर निकलती है।—**"जिभ दोनों नाक के छेद के उपर चला आउर जो सून्य बाहर सोइ भितर देखलाइ देता हय।"**

—अर्थात् जीभ और भी ऊपर उठकर दोनों नासापुटों का अतिक्रम करके और भी ऊपर गई। इस अवस्था में प्राणकर्म करते-करते स्वच्छ महाशून्य बाहर और भीतर सर्वत्र देख रहा हूं; बाहर और भीतर एक हो गए।—**"आकाश नारायण हय—ब्रह्म ध्यान आसल हय हृदय में स्थित हय सत्यरूप हय—माया धोका।"** अर्थात् यह स्वच्छ महाशून्यरूपी आकाश ही नारायण हैं। ब्रह्म ध्यान ही असल या सत्य है। यह सबको करना चाहिए[२]। ठोकर क्रिया कौशल द्वारा जिसका ज्ञान गुरु से प्राप्त होता है, जब हृदयग्रन्थि का भेदन होता है तब हृदय में स्थिति होने के कारण प्रकृत अथवा यथार्थ सत्य रूप अभिव्यक्त या प्रकाशित होता है। उसके पहले जो चंचल रूप माया है, वह धोखा है, मिथ्या है।[२] **"आउर मजा स्थिर घर का ओहा मालुम होता हय बहुत देर तक ठहरे हय निर्मल आकाशवत् ब्रह्म मालुम होता हय।"**—स्थिर घर में पहुँचने पर अत्यधिक आनन्द प्राप्त हुआ और यह भी समझ में आया कि उस स्थिर घर में अधिक समय तक रहा और स्वच्छ निर्मल महाशून्यरूपी ब्रह्म को समझा। पुनः लिखते हैं—**"स्थिर वायु में रहने पर हृदय इस तरह निर्मल होता है कि बात करने से हृदय में धक्के का अनुभव होता है। खेचरी मुद्रा होने से आकाश में ही चलना होता है अर्थात् चलने में कोई क्लेश नहीं होता। इच्छा से अहंकार होता है वह इच्छा स्थिर होने पर ही बुद्धि का उदय होता है, वही ईश्वर है। अप्राप्य धन पाने पर जिस प्रकार मन तृप्त होता है उसी प्रकार उससे सौगुना अधिक समाधि में मन तृप्त होता है। ब्रह्म शुद्ध है, वह किसी द्रव्य से नहीं निकला है अर्थात् वह उच्छिष्ट नहीं है।"** नारायण अथवा शिवपूजा

१—किताबें पढ़कर अथवा उपयुक्त गुरु या शिक्षक के निकट बिना शिक्षा प्राप्त किए किसी को यह कर्म नहीं करना चाहिए।

२—पण्डितों का मत है कि निराकार निर्गुण ब्रह्म का ध्यान नहीं किया जाता यह ठीक नहीं।

करते समय पहले उन्हें स्नान कराकर पूजा करने के बाद उस देवता के ध्यान करने की विधि प्रचलित है यही बाह्य पूजा का नियम है। किन्तु योगिराज कहते हैं **"महादेव का पहले स्नान उसके बाद ध्यान यह असम्भव है क्योंकि पहले ध्यान उचित था अर्थात् आत्मा को ब्रह्म जानना उचित है इसलिए पहले आत्मा का स्नान आवश्यक है, उसके बाद ध्यान करना चाहिये।"** इस प्रकार वे अन्तर्मुखी साधना पर ही विशेष जोर दिया करते थे। इसीलिए देखने में आता है कि बाहरी तीर्थ-भ्रमण न करने पर भी उन्होंने अन्तर्मुखी भाव से समस्त तीर्थों का भ्रमण किया था। अन्तर्मुखी तीर्थ का ही प्रतीक है बाह्य तीर्थ। इस सम्बन्ध में योगिराज ने लिखा है—**"कूटस्थ अक्षर असल रूप ओंकार का याने स्वासा हमेसा धारण करने से बलदेव का नाम हलधर हुआ उह चन्द्रमारूपी प्रभास तीर्थ में (चन्द्र का उदय होना प्रभास तीर्थ हय) पहले स्नान किया पिछे फिरे सुषुम्ना उदय होने से कूटस्थ अक्षर देखा तब सरस्वती नदी स्नान किया फिर जब स्वासा स्थिर हुआ तब अग्नितीर्थ नामा में स्नान किया फिर पंचस्रोता जब निकसे तब पंच बदारका नामा तीर्थस्नान किया।"** अर्थात्, कूटस्थ अक्षर ही ओंकार का यथार्थ रूप है। यानी श्वास को हमेशा के लिए धारण करने से अथवा अपने आप ही केवल कुम्भक प्राप्त हो जाने से बलदेव को हलधर कहा जाता है; क्योंकि वायु ही बल है इसलिए वायु ही बलदेव और वायु ही हलधर है। कूटस्थ में जो कृष्ण चन्द्र दिखाई देता है वही प्रभास तीर्थ है; उस प्रभास तीर्थ में पहले स्नान किया; उसके बाद, जब सुषुम्ना का उदय हुआ तब कूटस्थ अक्षर को देखा वही सरस्वती नदी में स्नान करना है। पुनः जब श्वासपूर्ण रूप से स्थिर हो गया तब अग्नितीर्थ में स्थान किया। फिर जब पंचस्रोत प्रवाहित हुआ अर्थात् सहस्रार से निकली अमृतधारा प्रवाहित हुई तब पंच बदरिका तीर्थ में स्नान किया। इस प्रकार योगिराज वे अपनी देह के भीतर ही सभी तीर्थों का भ्रमण किया है। बाह्य तीर्थ भ्रमण से आत्मोपलब्धि होती नहीं। शास्त्र में भी यही कहा गया है—

इदं तीर्थमिदं तीर्थं भ्रमन्ति
तामसा जनाः।
आत्मतीर्थं न जानन्ति
कथं मोक्षं वरानने।

—ज्ञानसंकलिनी तंत्र: ४८-४९

अर्थात् तामसिक व्यक्ति ही इस तीर्थ से उस तीर्थ तक घूमते-फिरते रहते हैं। हे वरानने, आत्मतीर्थ को बिना जाने मुक्ति नहीं प्राप्त होती।

फिर उन्होंने लिखा है—"**गंगाजिके लहर आंख मुद के थोड़ा-थोड़ा देखा।** आँख मूंदकर सुषुम्नारूपी गंगा की तरंग को थोड़ा-थोड़ा देखा। इसको ही लहरी लीला कहते हैं। कैलास शिखर पर विराजमान शिव-पार्वती को आँककर उसके बगल में लिखा है—**शिव के आघे उपर कैलाश पाहाड़ याने सहस्रदल पद्म जिसमें हर पार्वती विराजमान दूर से देखा जाय।** मस्तक के आधे ऊपर कैलाश पर्वत अर्थात् सहस्रदल पद्म जहाँ हर-पार्वती विराजमान हैं, दूर से दिखाई देता है। "**काशी महादेव के त्रिशूल के उपर हेय। काशी इयाने प्रकाश महदेव इयाने सुषुम्ना इड़ा पिंगला इयाने त्रिगुण।**" काशी महादेव के त्रिशूल के ऊपर स्थित है। इड़ा पिंगला और सुषुम्ना ये तीन नाड़ियाँ ही तीन गुण के रूप में त्रिशूल हैं। काशी अर्थात् प्रकाश एवं महादेव अर्थात् सुषुम्ना अर्थात् सत्वगुण। फिर गोमुखी का चित्र आँककर उसके बगल में लिखा है—"**गोमुखो देखा।**" यानी गोमुख तीर्थ का दर्शन किया। "**नाड़ि नक्षत्र ठित होत सुफल होय सब कर्म, नहितो विफल होत हँय सब धर्म।**" जन्म के समय यदि जातक के जन्म-नक्षत्र ठीक रहते हैं अर्थात् अनुकूल दशाओं में रहते हैं तो उसके सारे कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न होते हैं। और यदि अनुकूल नहीं रहते तो समस्त धर्म-कर्म विफल हो जाते हैं। **जिभ उठके जयसा विलकुल स्वासा बन्द हो गया ओ मिठा मालुम होने लगा।**" जिह्वा उठ जाने के कारण तालुछिद्र में प्रवेश कर गई और तब श्वास प्रश्वास पूर्ण रूप से बन्द हो गए। बाहर की ओर साँस का खींचना और निकालना भी बन्द हो गया। ऐसी स्थिति में जीभ के अगले हिस्से पर मिठास का अनुभव होने लगा। '**सुषुम्ना में वायु के प्रवेश करने पर गले में कुएँ जैसे छिद्र का अनुभव होता है।**" "**स्वप्रकाश अथवा अपने आप प्रकाश अर्थात् इच्छारहित। इच्छा के रहने पर कभी कुछ नहीं होता।**" **अब बड़ा मजा हुआ हय श्वासा एकदम सोउतक घुस गया अविनासि याने त्रिकुटि के टिकिया आने ज्ञानचक्षु हरहमेश आँख के सामने खड़ा।**" अर्थात् अब बड़ा ही आनन्द आया, श्वासपूर्ण रूप से सुषुम्ना के अन्तिम छोर तक प्रवेश कर गया। तब समझ में आया कि अक्षय, अविनाशी कूटस्थ रूपी ज्ञानचक्षु हमेशा आँख के सामने वर्तमान है—"**हमहि निलका कोठि हमहि किसुनजि।**" अर्थात् मैं ही नीले रंग की कुटी अथवा कोठी हूं अर्थात् नीलमाधव, मैं ही कृष्ण हूं। **जो किषुन सोइ सूर्य सोइ पानि।**" अर्थात् जो कृष्ण, वही आत्मसूर्य है, उसी को कारणवारि या कारणसलिल कहते हैं। '**बार-बार सूर्य को देखने की इच्छा करती है।**" "**जो हम सोइ सूर्य का ज्योति।**" जो मैं, वही आत्मसूर्य की ज्योति है। "**आपन रूप आसल।**" अपना रूप ही यथार्थ

है। "जगत के सार सूर्य हय ओहि रूप तुमारा हय। जगत का सार आत्मसूर्य है; क्योंकि सब कुछ आत्मसूर्य से उत्पन्न होता है, वही हमारा तुम्हारा और सब का रूप है। "तुमहि तुमहो तुम छोड़ाय दुसर नहि तब लय स्पर्ष।" अर्थात् तुम्हीं वह तुम हो; किन्तु तुम स्वयं को भूल गये हो तुम्हारे अतिरिक्त और दूसरा कोई या कुछ नहीं। प्राण कर्म करते-करते जब ऐसी अवस्था होती है तभी लय का स्पर्श होता है। कपाल की आकृति बनाकर उसके ऊपर एक सूर्य अंकित करके उसके नीचे लिखा है—"सूर्य का दुसरा रूप जम ओहि हम—सूर्यइ हम। जो स्वासा सोइ सूर्य का ज्योत सोइ हम—सूर्य से इह स्वासा आता हय—इह समझना जल्दि नहि होता हय।" अर्थात् आत्मसूर्य का द्वितीय रूप यम है अर्थात् मृत्यु का स्थान, और फिर वही मैं हूँ। यानी आत्मसूर्य ही यम और फिर वही मैं हूं। जो श्वास वही आत्मसूर्य की ज्योति है और वही मैं हूं; क्योंकि उस आत्मसूर्य से यह श्वास आ रहा है; वही श्वास का उत्स या केन्द्र है; लेकिन इसे समझना आसान नहीं है, इसके लिए कठोर साधना की आवश्यकता है।

'सूर्य ओ ज्योत फिर ओहि कारणवारि होता हय उसिसे सब उत्पत्ति आउर उसिसे लय। अब श्वासा भितर भितर जाता हय थोड़ा बाहर भि जाता हय। आज मन संग देशेसे एक दफा खबार गया इससे प्रभु का दर्शन ओ ध्वनि आजन देखने सुना। स्त्री पुरुषका काल हय इस्के तरफ ताकना नहि, भुल करके भि चाहिए ना।" अर्थात् आत्मसूर्य और उसकी ज्योति ही कारणवारि है इस कारणवारि से ही विश्व-ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति होती है और उसी में उसका लय भी होता है। अब साँस भीतर की ओर प्रवेश कर रही है फिर कुछ बाहर की ओर भी जा रही है। प्राणकर्म करते-करते ऐसी अवस्था हुई कि आज मन सभी प्रकार के इन्द्रिय संग से रहित हो गया। इस स्थिति में प्रभु का दर्शन हुआ और ओंकार ध्वनि का प्रकाश देखा तथा सुना। यही स्त्री-पुरुष के लिए निर्विशेष रूप से कालस्वरूप है इसकी ओर कभी भी नहीं देखोगे—भूल कर भी नहीं देखना चाहिए। क्योंकि प्राण की जो स्थिर अवस्था है उसके दो छोर हैं—एक विष्णु अर्थात् व्याप्ति एवं दूसरा कालस्वरूप निधनकर्त्ता। इसीलिए योगिराज कहते हैं कि इस कालस्वरूप निधनकर्त्ता की ओर योगी को नहीं देखना चाहिए। हालांकि दोनों अवस्थाएँ ही योगियों के सम्मुख आएँगी और दोनों की ही जानकारी प्राप्त करनी होगी लेकिन तब भी योगी को चाहिए कि वह कालस्वरूप निधनकर्त्ता की ओर दृष्टि न दे। उधर देखने पर ही काल के मुँह में गिर जाना पड़ता है। इसीलिए वे सबको सावधान कर देते

हैं—"आज किसिके कुछ कहेसे मन दब गया हय। जिभ बिलकुल अटक रहत हय आउर स्वासा भितर भितर चलता हय। अब इस फवर नेसा होता हय कि नेसाके मारे आँख से सुझता नहिं—हरफ लिखने का न नजर पड़े—आउर निद अयसा नेसा घेर आवे।" अर्थात् आज किसी व्यक्ति को कुछ कहने से मन दब गया है। जीभ पूरी तरह तालुछिद्र में अटक गई है और सांस भीतर ही भीतर चल रही है। इस स्थिति में प्राणवायु के उपर उठ जाने से ऐसा नशा हुआ कि उसकी तीव्रता के कारण आँख से कुछ सूझ नहीं रहा हैं। लिखते समय अक्षर तक भी नहीं देख पा रहा हूँ नींद के समय जिस प्रकार तन्द्रा या ऊंघने की स्थिति होती है वैसा ही गहरा नशा घिर आया।—"कसाक भितर भितर प्रणाम करते बख्त आँख बन्धा हो जाता हेय आउर कुच् बुझाता नेहि बड़ा नेसा हेय ओ बड़ा मजा हेय।" अर्थात् कस के या बलपूर्वक प्राणकर्म अथवा प्रणाम या प्राणायाम करते-करते दोनों आँखें अपने आप बन्द होती जा रही हैं और कुछ भी नहीं समझ में आ रहा है। खूब गहरा नशा है और बड़ा मजा आ रहा है। —"फि१ला प्रणाम खिचने में तकलिफ, बन्द करने में तकलिफ, छोड़ने में आराम लेकिन हावा पेट के भितर नाहिरता। दुसरा प्रणाम में जो की गला ओ नाक के भितर हेय तालुतक उठता हेय उचके लेनेमेभि मजा वन्द करनेभि वेहि आउर छोड़नेभि वेहि लेकिन छोड़ने मे हावा सिरके उपर चड़जाता हेया आउर वन्दरता हेय आउर भारु मालुम होता हेय। इसिका नाम हेय नेसा इनेसा केंउ ना होय केंकी एक आओरत खुबसुरत को देख करके उचको पाओने का केत्वा बड़ा नेसा होता हेय आब जो परमेश्वर इयाने ब्रह्म मायारुप मोहनि स्वरूप होके जगतके मोहिनिछेन हेय उचमोहनि रूप का परछांइ देख करके तेत्वा बड़ा नेसा होगा छोड़ करते देखा।" अर्थात् हर पहले प्राणायाम को खींचते समय तथा कुछ रोकने के समय तकलीफ होती है। छोड़ते समय अथवा साँस निकालते समय आराम मिलता है किन्तु हवा पेट के भीतर नहीं रहती। दूसरे प्राणायाम में गला एवं नाक को पार करके भीतर ही भीतर तालुतक उठ जाती हैं। यह प्राणायाम खींचते समय जिस प्रकार आनन्द प्राप्त होता है, दोनों छोर पर रोकने के समय भी और बाहर निकालने के समय भी वैसा ही आनन्द प्राप्त होता है; किन्तु बाहर निकालते समय जो सुमधुर प्रणवध्वनि बाहर निकलती है उससे वह हवा मस्तक के ऊपर उठ जाती है और वहीं टिक या अटक जाती है। इससे मस्तक भारी हो जाता है। मस्तक में इस भारीपन की स्थिति को ही नशा कहते हैं। किन्तु यह नशा सब को क्यों नहीं होता? जिस प्रकार किसी

सुन्दरी नारी को देखने के बाद उसको प्राप्त करने की आशा का जो नशा सब को होता है; उस क्षेत्र में नारी ही जिस प्रकार नशा का कारण है उसी प्रकार आभ्यन्तरमुखी उत्तम प्राणकर्म ही मस्तक में उस भारीपन जैसे नशे का कारण है। इस तरह परमेश्वर अर्थात् ब्रह्म जो माया द्वारा मोहिनी रूप धारण करके इस जगत को लुभा रहे हैं उस मोहिनी रूप की छायास्वरूप उस खूबसूरत नारी को देखकर जो नशा होता है उससे अधिक नशा उस परमेश्वर को देखकर हो रहा है। वही प्राणायाम करते-करते देखा। "आते बखत प्रणाम से स्वाप नाहि निकालेता आउर जाते बखत थोड़ा निकालाता हेय।" अर्थात् अन्तर्मुखी प्राणायाम खींचने के समय श्वास तनिक भी बाहर नहीं आ रही है; किन्तु निकालते समय कुछ बाहर निकल रही है। हालाँकि कुछ क्षण प्राणायाम करने के बाद साँस निकालते समय निकलती नहीं, वह तब भीतर ही भीतर चलती रहती है। प्रणाम करते बखत परख आस्ते-आस्ते करते बखत जरा हावा का कमफेर मालुम होय तब आपछे आप रुक जाय आउर जेत्ता देर तक राखने का एरेदा होय राख सके—ए मालुम होता हय मोनको निथंन करनेछे मारते-मारते स्वाप के तरह आइछा आनुभाव भाया।" अर्थात् प्राणायाम करने के समय उसे परखने के लिए जब धीरे-धीरे कर रहा हूँ तब हवा की कमी और अधिकता समझ में आ रही है। इस प्रकार प्राणायाम करते-करते अपने से ही श्वास रह रुक जाती है और जब तक रोक कर रखना चाहूँ—रख सकता हूँ। यह भी समझ में आया कि मन को दबाते-दबाते अथवा उस पर संयम रखते हुए आभ्यन्तरमुखी साँस की ओर जाते रहने से सम्यक रूप से अपने आप ही स्थिर भाव आता है। इसीलिए उन्होंने इसके बारे में पुनः लिखा है—"मानषे छे तिरन होय उसका नाम मंत्र। तन से भरण होय उछका नाम तंत्र हेय।" मन की वर्तमान चंचलता से जिसके द्वारा त्राण प्राप्त हो अर्थात् स्थिर अवस्था को ही मंत्र कहते हैं और जिसके द्वारा देह का भरण-पोषण हो उसे तंत्र कहते हैं। अर्थात् देह स्थित प्रत्येक तंत्री अथवा सभी नाड़ियों के भीतर से होकर वायु के प्रवाहित होते रहने से इस देह का पोषण हो रहा है। इसलिए वह वायु-प्रवाह ही तंत्र की संज्ञा है। "इछीके बराबर मिठा के नहि हेय बहुत भारु बहुत देरछे उपरके प्रणाम करनेछे उपरछे पानि निकलाता हेय हामेसा कान में ध्वनि मालुम होता हेय जब ध्यायान करके शुना जाय चन्द्र का कमल माजते माजते साफ होता हय आँख बन्द करनेछे भितर चन्द्रमा देखाता हेय साफ लेकिन छानभर ठाहरता हेय आउर एत्ते ताकत हेयकि जेत्ति देरते करे प्रणाम उपर उपर करे कुछ दिनमे मालुम होता हेय कि

बाहरछे स्वासा ना निकलेगा इसमे बड़ा सुख आउर सबचिच ओहि मालुम होता हेय इयाने धन तेयागी होत हेय।" अर्थात् ऊपर से प्रवाहित इस अमृत धारा के समान और कुछ भी मीठा नहीं। मस्तक खूब भारी है अधिक समय तक कूटस्थ में स्थिर रह कर प्राणायाम करते समय ऊपर से अर्थात् सहस्रार से कारणवारि प्रवाहित होता है। सब समय कान में ओंकार ध्वनि सुनाई पड़ती है, जो ध्यान करते समय अर्थात् क्रिया करते समय सुनाई पड़ती। कूटस्थ में वह जो चन्द्र दिखाई दे रहा है उसके सामने जो आवरण या पर्दा है वह बार-बार प्राणकर्म करते रहने से हट जाता है और स्वच्छ निर्विकार चन्द्र दिखाई देता है। तब आँख बन्द करते ही वह चन्द्र भीतर अर्थात् कूटस्थ में साफ-साफ दिखाई देता है; किन्तु अभी भी वह अल्पकाल के लिए ही दिखाई पड़ रहा है। दीर्घ समय तक स्थिति नहीं हो रही है और अब मुझमें इतनी ताकत आ गई है कि जितना दीर्घ या लम्बा प्राणायाम कर रहा हूँ उतना ही समझ में आ रहा है कि कुछ दिन बाद बाहर की साँस बाहर गतिशील नहीं हो रही है। इस अवस्था में अत्यधिक आनन्द प्राप्त हो रहा है और सभी कुछ ही जो श्वास के आगमन और निर्गमन की गति है रुद्ध हो गई है अर्थात् यही स्थिरावस्था है यह समझ में आया यानी यही अवस्था वस्तुत: सर्वत्यागी अवस्था है इसके पूर्व का त्याग तो वातुलता अथवा मिथ्याप्रलाप मात्र है। **"काँसर घंटा का ध्वनि कान में मालुम होता हेय जब ध्यान करे।"** अर्थात् जब ध्यान करता हूँ अथवा क्रिया करता हूँ तब घंटे-घड़ियाल जैसी ध्वनि सुनाई देती है। **"खालि आँखछे चन्द्र देखा सवेरे प्रणाम करोत बखत चन्द्र सूर्य का एक में मिलगाए हेय फिर खालि देखा।"** सुबह प्राणायाम करते-करते खुली आँखों से चन्द्र देखा और यह भी देखा कि चन्द्र सूर्य एकाकार हो गए और जब दोनों मिल गए तो दो के अभाव में या उनके न रहने पर सब खाली या रिक्त देखा अर्थात् महाशून्य को देखा। यह महाशून्य ही ब्रह्म है। **"सूरज में सब कारणारि भरा हय।"** उस आत्मसूर्य के भीतर ही कारणवारि भरा है।—**"जो विन्दि सोइ ध्वनि का रुप—अब ध्वनि समान हय। आउर सूर्यइ विन्दिका रुप तो सूर्यइ शब्द हय।"** अर्थात् कूटस्थ में जो विन्दु दिखाई देता है वही ओंकार ध्वनि का रूप है अब वह ध्वनि समान हो गई एवं वह आत्मसूर्य ही जब विन्दु का रूप है तब वह आत्मसूर्य ही शब्द अर्थात् ओंकार ध्वनि यानी जो आत्मसूर्य है वही विन्दु है और वही ओंकार ध्वनि है।—**"अब अगम स्थान में गए याने स्थिर।"** अर्थात् अब अगम्य स्थान में गया अर्थात् जहाँ सभी नहीं जा सकते केवल योगी ही वहाँ जाने में सक्षम हैं उस अगम्य स्थान में पहुंचा

अर्थात् स्थिर घर में पहुंच गया। "ब्रह्माके कमण्डलु में हरिके चरणशे पानि गिरता हय—एहि हय कारण वारि। अर्थात् हरिचरण से ब्रह्मा के कमण्डल में जो पानी गिर रहा है वही कारणवारि है। ब्रह्मा का कमण्डल तालुरन्ध्र है और हरिका चरण सहस्रार है। सहस्रार से जो अमृत की धारा तालुरन्ध्र में जिह्वाग्र पर (ऊर्ध्वजिह्वा) आकर गिरती है वही कारणवारि है। इस कारणवारि का पान करने से अमर हुआ जा सकता है। यही तंत्र मतानुसार पंचमकार का मद्यपान है। यह बाह्य या लौकिक मद्यपान नहीं है।

तंत्र में पंचमकारों की साधना प्रधान है। इसके तामसिक, राजसिक और सात्विक तीन प्रकार हैं। इसमें निश्चय ही सात्विक श्रेष्ठ या प्रधान है। पंचमकार के अन्तर्गत मद्य, मांस, मदिरा, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन आते हैं। जो लोग राजसिक अथवा तामसिक भावापन्न हैं वही बाह्य पंचमकार द्वारा साधना करते हैं; किन्तु इससे आत्म साक्षात्कार नहीं होता। सात्विक पंचमकार स्वतंत्र है। राजसिक एवं तामसिक रूप से पंचमकार की साधना एक निकृष्ट साधना है इसके बारे में तन्त्रशास्त्र में कहा गया है—

मद्यपानेन मनुजो यदि सिद्धिं लभेत वै।
मद्यपानरताः सर्वे सिद्धिं गच्छन्तु पामराः ॥
मांसभक्षणमात्रेण यदि पुण्या गतिर्भवेत्।
लोके मांसाशिनः सर्वे पुण्यभाजो भवन्तु ह ॥
स्त्री संभोगेन देवेशि यदि मोक्षं लभेत वै।
सर्वेऽपि जन्तवो लोके मुक्ताः स्युः स्त्रीनिषेवात् ॥१

अर्थात् मद्यपान के द्वारा यदि मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर ले तो फिर मद्यपायी पामर व्यक्ति भी सिद्धि प्राप्त करलें; तथा मांस-भक्षण करने से ही यदि पुण्य गति हो तो फिर सभी मांसाहारी ही पुण्य प्राप्त कर लें। हे देवेशि ! स्त्री-संभोग के द्वारा यदि मोक्ष प्राप्त होता है तो फिर सभी स्त्री सेवा द्वारा मुक्त हो जाएं। किन्तु यह संभव नहीं।

अतएव सात्विक भाव से पंचमकारों में प्रथम मकार मद्यपान किसे कहते हैं इसके बारे में शास्त्र का कथन है—

सोमधारा क्षरेद या तु ब्रह्मरन्ध्राद वरानने।
पीत्वानन्दमयस्तां यः स एव मद्यसाधकः ॥२

अर्थात् हे वरानने। ब्रह्मरन्ध्र अर्थात् सहस्रार से जो अमृत की धारा

१—कुलार्णव तंत्र द्वितीय उल्लास।

२—आगमसार।

निकलती है उसका पान करके जो आनन्दित होते हैं उन्हें ही मद्यसाधक कहते हैं। योगिराज इस मद्य अथवा कारणवारि का पान करके हमेशा भगवत् नशे में मस्त रहा करते थे।

सात्विक भाव से द्वितीय मकार मांस-भक्षण किसे कहते हैं इसके बारे में शास्त्र का कथन है—

मा शब्दाद्रसना ज्ञेया तदंशान् रसना प्रियान्।
सदा यो भक्षयेद् वि स एव मांससाधकः ॥१

अर्थात् मा शब्द से रसना और रसना का अंश है वाक्य, यह रसना के लिए प्रिय है। जो व्यक्ति रसना का भक्षण करते हैं अर्थात् वाक्य-संयम का पालन करते हैं उन्हें ही मांस साधक कहते हैं। गुरु के उपदेश के अनुसार तालु के मूल में जीभ का प्रवेश कराने पर बात नहीं की जा सकती। इस अवस्था में अधिक प्राणकर्म करने से इच्छा का नाश होता है। उस समय इच्छा के न रहने पर बात कौन करे? इसलिए जिह्वा के संयम से वाक्य का संयम होता है और इसी जिह्वा के कर्मी साधक को मांस साधक कहते हैं।

तृतीय पंचमकार 'मत्स्य' किसे कहते है? शास्त्र का कथन है—

गंगायमुनयोर्मध्ये मत्स्यौ द्वौ चरतः सदा।
तौ मत्स्यौ भक्षयेद् यस्तु स भवेन्मत्स्य साधकः ॥२

अर्थात् गंगा और यमुना इन दो नदियों के बीच दो मत्स्य हमेशा विचरण करते हैं जो साधक उस मत्स्य का भक्षण करते हैं वे ही 'मत्स्य साधक' हैं। अर्थात् गंगा इड़ा एवं यमुना पिंगला—इन दो नाड़ियों के भीतर जो श्वास प्रश्वास गतिशील है वही मत्स्य है। जो योगी प्राणकर्म के द्वारा प्राण को स्थिर करके श्वास-प्रश्वास रूप दोनों मत्स्य का भक्षण करते हैं अर्थात् उन्हें स्थिर कर लेते हैं वे ही 'मत्स्य साधक' हैं।

चौथा मकार 'मुद्रा' किसे कहते हैं। इसके बारे में शास्त्र का कथन है—

सहस्रारे महापद्मे कर्णिका मुद्रिता चरेत्।
आत्मा तत्रैव देवेशि केवलं पारदोपमम् ॥
सूर्यकोटि प्रतीकाशं चन्द्रकोटि सुशीतलम्।
अतीव कमनीयंच महाकुण्डलिनीयुतम्।
यस्य ज्ञानोदयस्तत्र मुद्रासाधक उच्यते ॥३

१—आगमसार।

२—आगमसार।

३—आगमसार।

अर्थात् सहस्रदल महापद्म में कर्णिका के भीतर पारद या पारे की तरह स्वच्छ-निर्मल करोड़ों सूर्य एवं चन्द्र की आभा से भी अधिक प्रकाशमान ज्योतिर्मय सुशीतल, अत्यन्त कमनीय महाकुण्डलिनी से संयुक्त जो आत्मा वर्तमान है उसे जिन्होंने जान लिया है अर्थात् गुरु के उपदेश के अनुसार जिन योगियों ने आत्मकर्म के द्वारा इस प्रकार परमात्मा का प्रत्यक्ष दर्शन किया है उन्हें ही 'मुद्रा साधक' कहते हैं।

पांचवां मकार मैथुन किसे कहते हैं? मैथुन तत्व के सम्बन्ध में शास्त्र का कथन है :—

मैथुन परमं तत्वं सृष्टिस्थित्यन्तकारणम्।
मैथुनाज्जायते सिद्धिर्ब्रह्मज्ञानं सुदुर्लभम्॥
रेफस्तु कुंकुमाभासः कुण्डमध्ये व्यवस्थितः।
मकारश्च विन्दुरूपो महायोनौ स्थितः प्रिये॥
आकारहंसमारुह्य एकताच यदा भवेत्।
तदा जातं महानन्दं ब्रह्मज्ञानं सुदुर्लभम्॥
आत्मनि रमते यस्मादात्मारामस्तदोच्यते।
अतएव रामनाम तारकं ब्रह्म निश्चितम्॥
मृत्युकाले महेशानि स्मरेद्रामाक्षरद्वयम।
सर्वकर्माणि संत्यज्य स्वयं ब्रह्ममयो भवेत्॥
इदन्तु मैथुनं तत्त्वं तव स्नेहात् प्रकाशितम्।
मैथुनं परमं तत्वं तत्वज्ञानस्य कारणम्॥
सर्वपूजामयं तत्वं जपादीनां फलप्रदम्।
षड़ङ्गः पूजयेद्देवि सर्वमंत्रः प्रसीदति॥
आलिगनं भवेन्न्यासं चुम्बनं ध्यानमीरितम्।
आवाहनं सीत्कारं नैवेद्यमुपलेपनम्॥
जपनं रमणं प्रोक्तं रेतःपातश्च दक्षिणा।
सर्वथैव त्वया गोप्यं मम प्राणाधिक प्रिये॥[1]

अर्थात् मैथुन तत्व ही सृष्टि, स्थिति और प्रलय का कारण है। मैथुन द्वारा सिद्धि अर्थात् इच्छा रहित अवस्था एवं दुर्लभ ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है। नाभिचक्र में स्थित कुण्ड के भीतर कुंकुमाभास आरक्तवर्ण 'र'कार (तेजस् तत्व) के साथ आकार रूप हंस अर्थात् अजपा रूप श्वास प्रश्वास के द्वारा अर्थात् प्राणकर्म के द्वारा जब आज्ञाचक्र स्थित महायोनि या ब्रह्मयोनि के भीतर विन्दु स्वरूप 'म'कार का मिलन होता है अर्थात् ऊर्ध्व में स्थिति प्राप्त होने पर तब महानन्दमय अथवा परमानन्दमय

१—आगमसार।

ब्रह्मज्ञान का उदय होता है। ऊर्ध्व में इस प्रकार की स्थिति होने पर जिस स्थिरावस्था का उदय होता है, उस अवस्था में रमण करने का नाम ही 'राम' है। यही प्रकृत राम नाम है। इसका वर्णन मुंह से नहीं किया जा सकता। मैथुन साधक इस प्रकार हमेशा आत्मा में रमण करते हैं इसलिए राम नाम ही निश्चित रूप से 'तारकब्रह्म' है। हे महेशानि मृत्युकाल में यह राम नाम जिससे स्मरण में रहे इसलिए आत्मक्रिया में रत रहना उचित है। ऐसा होने पर सारे कर्म छोड़कर मृत्युकाल में रामनाम का स्मरण होता है और तब वे स्वयं ही ब्रह्ममय हो जाते हैं। इसी की ओर लक्ष्य करते हुए योगिराज ने लिखा है— '-**ओंकार आत्माराम ओहि राम हय।'**' यह आत्मतत्व स्वरूप मैथुन तत्व ही परमतत्व है और समस्त ज्ञान का कारण स्वरूप है तथा हर प्रकार की पूजा और जप आदि का फलप्रदान करता है। गुरु के उपदेश द्वारा इस प्रकार षड़ङ्ग योगक्रिया द्वारा सभी मंत्र प्रसन्न अर्थात् चेतना प्राप्त करते हैं। न्यास अर्थात् अन्तर्मुखी प्राणायाम करके बाहर का वायु बाहर और भीतर का वायु भीतर, इस प्रकार वायु को हृदय में धारण करने का नाम 'आलिंगन है और स्थितिपद में निःशेष रूप से अथवा पूर्णतः मग्न होने का नाम 'चुम्बन' है। इस प्रकार की ध्याना-वस्था १७२८ अन्तर्मुखी उत्तम प्राणायाम द्वारा हुआ करती है। 'केवल' रूप इस कुम्भक की स्थिति में 'आवाहन' होता है वही 'सीत्कार' है। और जीभ को ऊपर की ओर रखकर इस इस प्रकार साधना करते-करते जिस अमृत का क्षरण होता है वही 'नैवेद्य' है। अजपा रूप जप क्रिया अर्थात् आत्मक्रिया ही 'रमण' है एवं यह रमण करते-करते श्वेतवर्ण रेतःपात होता है और वह होते ही तृप्ति रूप आनन्द का उदय होता हैं वही 'दक्षिणा' हैं अर्थात् ब्रह्मानन्द प्राप्ति की अवस्था हैं। इस सात्विक मैथुन तत्व तथा पंचमकार की साधना को महादेव ने पार्वती को बताकर हर प्रकार से गोपन रखने को कहा है; किन्तु वर्तमान काल में सात्विक भाव को छोड़कर राजसिक एवं तामसिक कर्म ही अनुष्ठित होते रहते हैं।

योगिराज ने कहा है—"**यह शरीर ही ओंकार है, इस शरीर से ही सब कुछ उत्पन्न होता है।**" और एक दिन लिखा है—"**आज मन चंचल होके जयसा प्राणायाम करते थे सो वोयसा नहि हुआ—अब श्वासा बहुत कम चलने लगा—बड़ा मजा।**" आज मन की चचलता के कारण जिस प्रकार उत्तम प्रणायाम करता था वैसा हुआ नहीं तब भी दीर्घ अभ्यास के कारण श्वास खूब कम चल रहा है। इस अवस्था में बड़ा ही मजा आ रहा है। उसके बाद लिखा हैं—"**आज एकदम दम बन्द—**

छोटा जीभ आउर उपर उठा—आउर बिचमे पानिका सोता मालुम हुआ।" अर्थात आज एकदम दम या श्वास बन्द हो गया और बाहर श्वास की कोई गति नहीं। छोटी जिह्वा और उपर उठ गई एवं तालु-छिद्र में अमृतधारा का अनुभव हुआ। **"जिसने काम को जिता उसने सब कुछ किया।"** जिन्होंने इस प्रकार सभी कामनाओं पर विजय प्राप्त कर ली है वे सभी कुछ कर सकते हैं। प्राणकर्म करने से श्वास की गति जितनी ही स्थिर होगी उतनी ही सभी प्रकार की कामनाओं पर जय प्राप्त होगी। **ओहि एक रुप महापुरुषका जो तमाम ब्रह्माण्ड व्यापिक हय।"** अंगुष्ठ प्रमाण उस महापुरुष का एक ही रूप है उसमें कोई परिवर्तन नहीं। वे ही समस्त विश्व ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं उन्हीं को देखा। इसके पश्चात अद्वैत में प्रतिष्ठित होकर लय प्राप्त करके ब्रह्म के साथ घुल मिल कर एकाकार होने जैसी स्थिति में पहुँचकर लिखा है। **"सूर्य ही ब्रह्म हमहि ब्रह्म।"** अर्थात् सब कुछ ही ब्रह्म है। स्वयं और ब्रह्म एक होकर सभी कुछ में ब्रह्ममयता का अनुभव कर रहे हैं। **हमारेइ रुप सब जगइ—हम छोड़ाय कोइ नहि, उह रुप हय सून्य में ओहा न दिन न रात।"** अर्थात् इस जगत की सभी वस्तुएँ मेरा रूप हैं अर्थात् मेरे अतिरिक्त जगत का कुछ भी नहीं है। मुझे छोड़कर कोई नहीं है। यह सर्वब्रह्ममयं जगत रूप महाशून्य में अवस्थित अर्थात् इस शून्य के भीतर जो शून्य है उसमें अवस्थित है जहाँ दिन भी नहीं जो स्वयं प्रकाश, स्वतः प्रकाश है। योगी की यह अवस्था एक उच्च अवस्था है सभी योगों का अन्त लय योग की अवस्था है वृहत् सत्ता के साथ लीन हो जाने के लिए स्वातन्त्र्य लोप की अवस्था है। यह योगी के लिए चरम एवं परम काम्य है।

योगिराज को साधारणतः कोई बड़ा रोग या बीमारी नहीं होती किन्तु शरीर है तो कोई न कोई बीमारी तो होगी ही। योगिराज को एकबार फोड़ा हुआ था इसलिए उन्होंने अपनी डायरी में लिखा है—**"आज आपना गाफलिसे फोड़ा हुआ।"** यानी आज अपनी ग़फलत या असावधानी से फोड़ा हो गया। दो दिन बाद लिखा है—**"आज रोज के माफिक फोड़े से प्राणायाम नहि हुआ—अविनाशिको याने सूर्य को रात में देखा।"** आज अविनाशी को अर्थात् सूर्यको रात में देखा तात्पर्य यह कि प्रतिदिन जिस प्रकार उत्तम प्राणायाम होता आज फोड़े के दर्द के कारण उस प्रकार का उत्तम प्राणायाम नहीं हुआ, किन्तु अविनाशी अर्थात् आत्मसूर्य को रात में देखा। और दो दिन बाद लिखा है—**"आज कुछ दुर्बल शरीर हुआ लेकिन भितर-भितर श्वासा चला।"** फोड़ा होने के कारण इन दिनों वे कुछ दिन तक उससे परेशान रहे।

इस कारण उनका शरीर कुछ दुर्बल हो गया था, किन्तु दीर्घकालीन योगाभ्यास के कारण श्वास की गति अपने आप भीतर ही भीतर चल रही है। एक सूर्य की आकृति आँककर उसके बगल में लिखा है— **"हमहि हम हय। सूर्य देखा आँख मुद के—हमहि सूर्य हय।"** मैं ही वह मैं हूँ। मैं स्वयं में अवस्थित हूँ। इस अवस्था में आँख मूँदने पर भी आत्मसूर्य को देखा। मैं ही वह अविनाशी आत्मसूर्य हूं। **"अलख निरंजन का जब कमल विकसित होय तब आपहि आप देखे - फिर आपरुचि भगवान होना बाँकि हय—तब गुरु समान दाता नहि मालुम होय।"** प्राणकर्म करते-करते जब मूलाधार से आज्ञाचक्र तक षटचक्र रूपी कमल दल विकसित होता है तब निराकार निरवयव ईश्वर की महिमा अभिव्यक्ति होती है और तब स्वयं को ही स्वयं दिखाई पड़ता है। इस अवस्था में पहुँचकर अब केवल स्वयंरूपी अर्थात् स्व-रूपी भगवान होना बाकी है अर्थात् अभी भी स्वयंरूपी भगवान नहीं हो पाया हूँ ऐसा होने पर गुरु के समान कोई दाता नहीं यह समझ में आता है। इसके पश्चात् और भी आगे जाकर वे और भगवान एकाकार हो गए तथा वेदान्त के अनुसार अद्वैत में सुप्रतिष्ठित होकर साधना के उच्चतम शिखर पर पहुँच कर लोक-दृष्टि से बचते हुए एकान्त में अपनी दैनिकी के माध्यम से उन्होंने महान घोषणा की—**"स्वयं भगवान"** अर्थात् वे स्वयं ही भगवान हुए।

१८७१ ई० के सावन महीने में (तारीख नहीं दी है) लिखा है— **काला विन्दि एइ स्थिर बहुत देर तक देखा आउर कहा मातारी से कि बाबा आवत प्राण में मरने लागे एकहि एहि काहकरके रोया तब साम को गुरु ने कहा उपर लिखा हुआ गुरु ने बातालाया लेकिन आँख से कुछ नाहि देखा कि कुछ नाहि ब्रह्म हेय आने मालुम होता हेय कि महाविद्या का दरशन होगा।"** अर्थात् स्थिर काला विन्दु देरतक देखा और माताजी से कहा यदि आगम या आते हुए प्राण में मर जाऊँ यह सोचकर रोने लगा। उसके बाद शाम को गुरुजी से कहा, उन्होंने भी सब बता दिया; किन्तु कुछ भी नहीं देखा; केवल ब्रह्म अर्थात् इस अवस्था में समझ में आया कि अब महाविद्या का दर्शन होगा। १८७१ ई० के भादो महीने की गुरुपूर्णिमा के दिन आकाश तत्त्व के सम्बन्ध में लिखा है—**"आब मजा हेय वैहि सूर्यछे सब हेय वैहि सूर्य? १ले दुइके छिदछेभि छोटा रहा वहि फिर एछाबड़ा हुआ कि सूर्य के माफिक हुआ वैहि सूर्यछे हाम लोग ओ पार्थिव सब पयदा एहि के नाम दुइके भितर छाति धरनाये फिरउछि के भितर नेवे उसूर्य ब्रह्म के भितर लेय फिर ब्रह्मछे सूर्यका उत्पत्ति इछि तरेछे दुनिया चले जाता हेय**
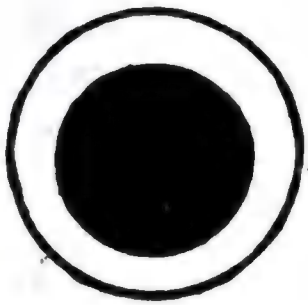
जो सवद हेय एछिछे सवद उत्पत्ति हेय जेछा आउर उयामि व ध्वनि कांहाछेभि वं ध्वनि विलकुल जोत ब्रह्म हेय सूर्य का चन्द्रभि वैहि इछिलिये चन्द्रधर हेय उहाछि हामलोगन के सातमे वेद के लिखनि वालें गणेषजि हेय इछका सक्ष इय हेय कि लिखिनाहि मालुम कराते हेय धुण्डछे आउर प्रणाम छे वांसुलिका आवाज सुनायाते आते प्रणाम के जेछा चाभि के छेद में फुकनोछा आवाज मालुम होता हेय सूर्य आसल हेय. कामका इच्छा नाहि बहुत स्वाष पिछेके तरफ गेया बहुत पिछे के दरवाजा देखकर आँख सामने को बन्द हो जाता हेय इछे सामने गोरने को ओर मालुम होता हेय कभि कभि बड़े बड़े हात भरके दातवाले सुरख नजर में बठे देखलाता हेय मेय कहा आसल तत्व सूर्य के छोड़ति नाहि।"—अर्थात् अब बड़ा ही मजा आ रहा है, उस आत्मसूर्य से ही सब कुछ उत्पन्न हुआ है, उस आत्म सूर्य को पहले विन्दु जैसा छोटा देख देख रहा था, अव वही इतना बड़ा हो गया जैसे कि इस आकाश का सूर्य हो ! इस आत्मसूर्य से हम सभी एवं विश्व के सभी पदार्थों की उत्पति हुई है। इसी को द्वैत कहते हैं; फिर वही आत्मसूर्य महाशून्य रूपी ब्रह्म के भीतर विलीन हो गया; और फिर उसी शून्य ब्रह्म से इस आत्मसूर्य की उत्पत्ति हो रही है। इस प्रकार इस दुनिया का यह क्रम या सिलसिला चला आ रहा है। अनाहत. ओंकार ध्वनि के साथ समस्त शब्द उसी, आत्मसूर्य से ही आ रहे हैं। वह ध्वनि सम्पूर्णतः ब्रह्मज्योति है। वही आत्मसूर्य चन्द्र हुआ इसलिये वे ही चन्द्रधर हैं; वहीं हम लोगों के साथ वेदों के लेखक गणेशजी भी हैं। उन्हें देखने पर लगता है जैसे वे कुछ भी नहीं लिख रहे हैं; किन्तु वही फिर वेद का सम्पूर्ण अर्थ सूँड़ के द्वारा समझा दे रहे हैं एवं चाभी के छेद में फूँक मारने से जिस प्रकार का शब्द या स्वर निकलता है, प्राणायाम करते समय उसी प्रकार बाँसुरी की आवाज़ जैसा स्वर निकल रहा है। आत्मसूर्य ही सत्य है। अब सभी इच्छाओं का नाश हो जाने से कुछ करने की इच्छा भी नहीं। अब श्वास पूरी तरह पीछे की ओर अर्थात् सुषुम्ना के भीतर चल रहा है। और तन्मयता पूर्वक षटचक्र देखते-देखते सामने की दोनों आँखें बन्द हो गईं। इस अवस्था में सामने की ओर गिर जा सकता हूँ, ऐसा महसूस हुआ। इस प्रकार की तन्मय अवस्था में कूटस्थ रूपी दर्पण में बड़े-बड़े हाथों एवं दाँतों वाली एक भयंकर मूर्ति को बैठे हुए देखा; इस अवस्था में कहा कि चाहे जो जितना भी भय दिखाए मैं असली तत्त्व या सत्य जिसे आत्मसूर्य कहते हैं—नहीं छोड़ूँगा।" इसके बाद लिखा है—
"आँख बन्द करके देखा चित् में प्राणवायु हेय आउर प्राणवायु मे चित् हेय चित् ठंकाने राखते को भि ना मरे आदमि दोसरा सकसमे कुछ जोत

हेय लेकिन साफ नाहि भाया।" अर्थात् दोनों आँख बन्द करके देखा कि चेतन में ही यानी चंचल अवस्था में ही प्राणवायु है और प्राणवायु में ही ही चेतन वर्तमान है अर्थात् प्राणवायु एवं चित् या चेतन दोनों ही एक हैं और श्वास-प्रश्वास ही प्राण है। उस चेतन अथवा चित् या प्राणवायु को यदि ठीक जगह या सही स्थान पर केन्द्रित किया जाए तो कोई भी व्यक्ति नहीं मरेगा अर्थात् चंचल प्राण को प्राणकर्म द्वारा यदि स्थिर करके स्थिरावस्था में रखा जाय तो किसी की मृत्यु नहीं होगी; क्योंकि उस स्थित में जन्म रहित होने से मरेगा कौन ? जन्म नहीं तो मृत्यु भी नहीं। सभी के शरीर में वही आत्मज्योति वर्तमान है, उसे देखा, लेकिन अधिक स्पष्ट नहीं। फिर लिखा है—"नादछे, विष्णुछे मिलाता हेय कंउकि आकाष का विष्णु का एक रूप हेय आउर सवद आकाषछे निकालाता हेय इछलिए गित षुननेछे सब का दिल खुष रहाता हेय कंउकि आप रुपछे सबकं खुशि पयेदा हुति हेय।" अनाहत अथवा ओंकार ध्वसि एवं विश्वव्यापी विष्णु सभी महाकाश में मिल गए; क्योंकि उस स्वच्छ, स्थिर महाकाश के सर्वत्र व्याप्त होने से विष्णु एवं महाकाश का एक ही रूप है अर्थात् महाकाश और विष्णु एक ही तत्व के दो विभाव या रूप हैं। नाद ब्रह्म भी स्वच्छ महाकाश अथवा ब्रह्माकाश से ही प्रकट हो रहा है इसीलिए गीत या गान सुनने पर सभी का मन आनन्दित होता है क्योंकि अपने रूप से ही सभी आनन्द उत्पन्न होते हैं। अर्थात् गान, आनन्द, विष्णु सभी का उत्पत्ति-स्थान वही स्वच्छ स्थिर महाकाश है जिसे विष्णु एवं ब्रह्म कहते हैं।

योगिराज के कंठ से गीत फूट पड़ता है—

"भालो भेवे भालो करना ओ रसना
मिछे काजे बेड़िए बेड़ाओ
भूलेओ ताके डाकोना।
से जे अन्तरे जागे
सदा आत्मा रामरे।
ताहार विहने तुमि
रयेछो केमन करे॥

१८७१ ई० के शुक्लपक्ष की चतुर्थी (महीने का नाम नहीं) को लिखा है—"सूर्य बड़ा दरवाजा हेय उचको चढ़नेवाला का नाम दरवेश हेय आव हावा उपर खिचाता हेय गाढ़ा पिछेका शिर बड़ा भारु जो रग विन्दि का इयाने जिचका नाम नाहि हेय वेंहि रंग प्रणामका वेंहि रंग प्राण का वेंहि रंग ब्रह्म का जब एसब रंग एक हो जाय तब आप रुपभि भगवान देखलाय।" अर्थात् आत्म सूर्य ही सब से बड़ा दरवाजा है। उस दरवाजे

पर जो चढ़कर बैठता है उसे ही दरवेश कहते हैं। क्योंकि उस समय उनका अपना कुछ कहने के लिए न होने कारण वे स्वभावतः दरिद्र होते हैं। अब ऐसा गाढ़ा अथवा गहरा प्राणायाम अथवा उत्तम प्राणायाम हो रहा है कि देह के भीतर स्थित वायु ऊपर की ओर आकर्षित कर रहा है। मस्तक का पिछला हिस्सा भारी महसूस हो रहा है। कूटस्थ में जो लघु विन्दु अर्थात् ध्रुवतारा दिखाई दे रहा है उसका जो रंग दिखाई देता है वह अनाम हैं, उसका कोई नाम नहीं; ऐसा रंग ही प्राणायाम का रंग है और वही रंग प्राणका है तथा वही रंग ब्रह्म का है। जब ये सब रंग मिलकर एकाकार हो जाते हैं तब अपना रूप भी भगवान स्वरूप दिखाई देता है। १८७१ ई० कार्तिक कृष्णपक्ष की अष्टमी को द्वादश या बारह आत्मसूर्यों का चित्र आंका है। बीच में एक वृहत सूर्य और वृत्ताकार ग्यारह सूर्यों का चित्र अंकित है—उसके बगल में लिखा है—"**सूर्य का भितर नारायण का सुदर्शन चक्र। बड़का विन्दि में बिचमे जरद रंग ओकरे बाद बेगुनि रंग उचके बाद शपेदी दुसरा विन्दि करिया रंगका उचका भितर एक खिरिके तिचके भितर मालुम होता हय आपरुपी भगवान इसब विष्णुका चक्र में देखा।**" अर्थात् उस आत्म सूर्य के भीतर नारायण का सुदर्शन चक्र देखा—वड़ा विन्दु या वृहत सूर्य के बीच में जर्द अर्थात् पीतवर्ण, उसके चारों ओर बैंगनी रंग और उसको घेरे हुए है सादा अथवा सफेद रंग। इन तीन रंगों के बाहर जो ग्यारह सूर्य हैं उनका रंग काला है। उसके भीतर एक खिड़की देखी और उसी के भीतर स्वयंस्वरूप भगवान को देखा। यह सब कुछ समष्टि मंडल रूपी विष्णु के भीतर देखा। उसके पश्चात् फिर लिखा है—"**दाहिना स्वासा जब तक चले तब तक सब कुछ देखे फिर विनास होय—लेकिन पहेले दहिना ४लेने के बाद फिर वाय चलता हुय याने वाँवा जो कि स्थिर कालरुप हय।**" दाहिनो नासिका में यानी पिंगला में जितनी देर तक साँस की गति रहती है उसे रजः गुण कहते हैं। यह रजः गुण सारे कर्मों की प्रेरणायें सहेजता, जुटाता है इसीलिए सारा कर्म-सम्पादन होता है। जीव के इस प्रकार रजः गुण में रहने पर अन्त में उनका विनाश हो जाता है। किन्तु पहले दाहिनी नासिका में सांस चलने पर फिर बाँयीं नासिका में अर्थात् इड़ा में गति होती है; यह इड़ा भी जीव का कालस्वरूप है अर्थात् इड़ा में रहने पर भी जीव का विनाश अवश्यम्भावी है। इसलिए जीव को प्राणकर्म द्वारा इड़ा और पिंगला से परे सुषुम्ना में जाना होगा; यह सुषुम्ना ही विष्णुधाम है; किन्तु इसके भी सत्वगुणान्वित होने के कारण योगी इड़ा पिंगला और सुषुम्ना से परे त्रिगुणातीत अवस्था अर्थात् जहाँ सत्व, रज एवं तम तीनों गुण ही नहीं

हैं; उस कालातीत और द्वन्द्वातीत स्वच्छ महाशून्य में लीन हो जाते हैं; जहाँ ब्रह्मा विष्णु महेश्वर भी नहीं हैं, इसलिए जन्म भी नहीं; मृत्यु भी नहीं। **"आँख जयसे अन्धेका ठहर जय ओयसा विषय को जोन देखे केवल ब्रह्मको देखे उसकाभि आँखे थाम जाय अभ्यास बस ठहर जाय।"** अर्थात् अन्धे व्यक्ति की आँखें जिस प्रकार ठहर जाती हैं उसी प्रकार जो विष्णु को देखते हैं उनकी भी आँखें वैसी हो जाती हैं। ठीक उसी तरह जो ब्रह्म को देखते हैं उनका भी मन एवं आँखें सभी स्थिर हो जाते हैं। यह अभ्यास सापेक्ष है अर्थात् प्रतिदिन नियमित क्रिया करने से स्थिरत्व प्राप्त होता है। स्थिरत्व ही ब्रह्म है। इसलिए प्रतिदिन सब को क्रिया-साधना का अभ्यास करना चाहिए। इस सन्दर्भ में उन्होंने फिर लिखा है—**"अभ्यास द्वाराय कोन कर्म ना करिलेओ करा हय।"** यानी अभ्यास के द्वारा कोई कर्म न करने भी करना पड़ता है। वे सब को क्रिया योग की उपकारिता के सम्बन्ध में समझाते हुए बार-बार कहा करते—**"तोमार निजेर भालो किसे हवे ता तुमि निजेइ जान ना।"** अर्थात् तुम्हारा अपना भला किससे होगा, वह तुम स्वयं नहीं जानते। तुमलोग जो सारे कर्म करते रहते हो, उससे ही अपने कल्याण की बातें सोचते रहते हो; किन्तु ऐसी बात बिल्कुल नहीं है. इसलिए तुम खुद नहीं जानते कि कौन सा कर्म करने से यथार्थतः कल्याण या मंगल होता है। क्रिया करने से ही सभी का मंगल होता है। **"एयसा मालुम होता हय कि कुछ चिज मिला अर्थात् तृप्त।"** अर्थात् क्रिया करते-करते ऐसा मालूम होता है कि कुछ प्राप्त हुआ; उसे पाकर तृप्त हुआ, पूर्णकाम हुआ। एक गीत मुखर हो उठता है—

"मेठाइ खेये मन कइ तृप्त हलो ना
एमन धन कइ याहा कखन याय ना
गुरु तुमि बले देओ बले देओ ना
से ये सर्वत्रेते आछे विराजमाना
अरे तुइ देखना देखना, देखना
चक्षुर सम्मुखे विराजे सून्यषना
वे ब्रह्मपद मनेते मिलाय ना
एक हले बाँकि किछु थाकबेना
मनेर आनन्द मने धरबे ना
तखन ब्रह्म विना आर हबे ना
एपद पावेना मूल मंत्र विना
यंत्रि विना केवल यंत्र यंत्रना
ताहा विना नाइ अन्य आराधना

ए आराधनाय सुख अतुलना
भुलिले पाबे तुमि जम यंत्रना
कलुर घाके पड़े प्राण रवे ना
घोरा मात्र सार लाभ किछुइ ना
हरिनाम[१] निते अलस करोना
नइले परम पद तुमि पाबे ना

● ● ●

काली देखे कालमय पाय
से ये किछु नय अथय सर्बमय
निर्जने बसे भेवे[२] देख पाबे सेइधन
ये कि हरे विधन ओ सकलेरि निधन
प्राण जाय जाक क्षति नाइ
पाइबे आमि सेइ धन
हरिधन अमूल्य रतन।"

● ● ●

"हरिमुखे हारा गेलो बाप
आरतो प्राणे बांचिना,
प्राण प्राण क'रे ह'लाम खून
प्राण येखानकार सेखानेतो गेलोना
स्थिर भावे स्थिर हइ ए मनतो
एखन स्थिर हलो ना
लेगे थाक हपिदे[३] हवे अवश्य ताहार करुणा।
जेने सुने तुमि हरि बलिते कखन आलस्य करोना।"

● ● ●

१—'हरिनाम' अर्थ में अन्तर्मुखी प्राणकर्म।
२—'भेवे देख' अर्थात् क्रिया करो।
३—हरिपदे लेगे थाका अर्थात् प्रतिदिन नियमित क्रिया करना।

"से ये विषम घटना ओ प्राण बाचेना
येते छिल आपन मन्दिरे सेथाय करे फेलले एक खाना।
बेटा येमन बेटी तेमन विटिर मजाय झुलना"

● ● ●

सुरेश उह विख्यात जगत में सुरन के
मालिक ओहि होइ
विश्वाधार हय उह जगत में
उह बिना रहे न कोइ।
गगन सदृश आकार वाको
देखत स्थिर घर जाइ
मेघवर्ण रंग वाको भलि लहे
अक्षर जब देखाइ
शुभांग इसलिए कहलावे बुद्धि
सुमति ले जाइ
लक्षिकान्त ओहि रटतुं हय
दारिद्र सब नसाइ
इच्छा होय दरिद्रता बढ़े इच्छाइ
उल्टे सन्तोष होइ
कमल नयन वाके लोग कहत हय
जेका सोभा वर्णन न जाइ।
जोगिभिर्ध्यान अगमरुप हय
पइहो सब परिवार थोइ।
वन्दे भक्ता भयभय हरं अजपा
सिद्ध जब होइ।
सर्थलोकैकनाथ मिले तब
बाजत आनन्द बधाइ।।"

● ● ●

"बारतो पका अबहु मन लेया चरण भगवान
सुमिरत जाहि हो जाई एबओ छूटे अभिमान
टेक पकड़ साधू वचन होइहे ओंकारतान
नाम देब एहि नाम लेत हो गए अन्तरधान।"

● ● ●

"खेते दिवि सुते दिवि
करते दिवि सकल कर्म।
मनमत इच्छा छेड़े तुष्ट हय
देखे आत्मकर्म ॥"

इसी अवस्था की ओर लक्ष्य करते हुए श्री कृष्ण भगवान ने कहा है—

प्रजहाति यदाकामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥

—गीता : २।५५

अर्थात् हे पार्थ, परमानन्द रूप आत्मा में स्वयं तुष्ट होकर जब योगी मनोगत समस्त कामनाओं का परित्याग करते हैं तब उन्हें स्थितप्रज्ञ कहते हैं। तात्पर्य यह है कि स्वयं तुष्टि स्वरूप आत्मानन्द में मग्न होकर जब योगी सभी प्रकार की कामनाओं-वासनाओं का परित्याग करते हैं यानी कर्मातीत अवस्था रूपी परमात्मा में मन की स्थिति हो जाने पर जिन्हें प्रकृष्ट ज्ञान अथवा आत्मज्ञान प्राप्त होता है वे ही स्थितप्रज्ञ हैं।

"प्राणवायु को विन्दु में ठहराने से वायु स्थिति हो जाय वायु विन्द विधारणं।" अर्थात् कूटस्थ में ध्रुवतारा रूप जो विन्दु दिखाई देता है। प्राणकर्म करते-करते प्राणवायु को उस विन्दु में स्थित करने से ४९ वायु ही स्थित हो जाते हैं एवं ध्यानावस्था की प्राप्ति होती है। यही वायु विन्द विधारणं का अर्थ है।—**"नाद वेधना—आवाज सुमार करे नरिके जिह्वा अग्रकर रोके ओंकार ध्यावे तब स्थिर होए ओ नेत्र नासिका विच ध्यान करे निराले बइट के तब निरालम्ब प्राप्त होय। तब आनन्द शब्द से धुन होता हय—धुन से ज्योति—ज्योति से मन हय ताहा मन लौलिन होता हय सो विष्णु का पद है।"** अर्थात् नाद ध्वनि को वेध कर, ओंकार का सुमिरन या स्मरण करते हुए जीभ को तालु के छिद्र में रखकर ओंकार का ध्यान एवं क्रिया करते रहने से स्थिरत्व की प्राप्ति होती है। एवं आँख एवं नाक के बीच अर्थात् कूटस्थ में दोनों आँखों को स्थिर करके एकान्त स्थान में बैठकर प्राणकर्म करते रहने से निरालम्ब अवस्था प्राप्त होती है अर्थात शून्य में स्थिति होने से अवलम्बन रहित हुआ जा सकता है। आनन्दरूप शब्द से ध्वनि उत्पन्न होती है; उस आत्मज्योति में मनका लय अथवा लोप हो जाने से जिस स्थिर पद की प्राप्ति होती है उसे ही विष्णुपद कहते हैं अर्थात् महास्थिर रूप महाशून्य ही विष्णु पद है—**"इसि तरह देखते-देखते उस देखने को आपने आख उस जगह से न हटावे—आउर देखते हि जाय लेकन जब उतर आवे तब फिर उसि तरफ आपना आँख न हटावे आउर थोड़ा नीचे दम को छोड़ फिर अच्छि तरह से उठावे इसीतरह देखते-देखते फिर**

अंधियारा फिर ख्याल से फाड़ते-फाड़ते सुबह् क माफिक मालुम होगा तब ज्योत विच में करिया पहले आग के माफिक ओ धूप के माफिक जरदरंग देखाय उसके बीच आतसबाजि ओगयरह—फिर सबुज, रंग होगा तब लाल रंग—तब हरा—तब निला, तब काला—अँधियारा सन्नाटा—फाड़ते जाय फिर सुम होय फिर भितर से ज्योत देखलाय सामने अँधियारा उसिको देखे।" अर्थात् उस आत्मज्योति या महा-स्थिर रूप महाशून्य विष्णुपद को देखते-देखते उसमें तन्मय हो जाना पड़ेगा। उस पर दृष्टि को स्थिर करना होगा; किन्तु वहाँ दृष्टि न हटाकर देखते ही रहना है। फिर जब वहाँ से अर्थात् कूटस्थ से नीचे की ओर आओगे (कूटस्थ से नीचे उतर आने पर जगत दिखाई देता है।) तब भी कूटस्थ में अभिनिवेश पूर्वक दृष्टि को स्थिर रक्खो तभी जागतिक या सांसारिक सभी कर्मों से निर्लिप्तता की अवस्था प्राप्त होगी और तब कर्म का बन्धन नहीं रहेगा। इस प्रकार कूटस्थ में दृष्टि स्थिर रखकर उत्तम प्राणकर्म के साथ फिर कूटस्थ की ओर उठोगे। देर तक इस प्रकार षटचक्र के भीतर आत्मक्रिया द्वारा रत रहने पर कभी शाम के आकाश की तरह या फिर कभी भोर के आकाश की तरह प्रकाश हीन, अन्धकार हीन महाशून्य दिखाई देगा। उसके बाद जिस ज्योति का दर्शन होगा, वह कभी काली, कभी आग की तरह और कभी धूप की तरह पीले रंग की दिखेगी कभी-कभी उससे आतिशबाजी की तरह फुलझड़ी विच्छुरित होगी। फिर सब्जरंग होगा उसके बाद लाल रंग फिर हरा फिर नीला रंग होगा; उसके बाद काला होगा फिर सायंकालीन आकाश जैसा महाशून्य होगा। इसके पश्चात और भी क्रिया करते रहने पर पुनः भोर के आकाश जैसा न अन्धकार न प्रकाश जैसी अवस्था होगी। और भी आगे बढ़ने पर पुनः भीतर से ज्योति दिखाई पड़ेगी एवं अन्त में जो सन्ध्या के आकाश जैसा महाशून्य दिखाई देगा उसे ही देखते रहो। प्रकाशहीन, अन्धकार हीन, किन्तु स्वयं प्रकाश स्वच्छ वह महाकाश ही निर्मल ब्रह्म है। "जो ब्रह्म सोइ सून्य सोइ सूर्य ज्योति। महादेव सो ए हय सूर्य के भितर।" जो ब्रह्म वही महाशून्य है और वही आत्मसूर्य की ज्योति है। उस आत्मसूर्य के भीतर जो हैं, वही महादेव है। सूर्यइ निराकार परमब्रह्म स्वरूप ओंकार रूप।" अर्थात् वहआत्मसूर्य ही निराकार परमब्रह्म स्वरूप ओंकार का रूप है "सूर्यइ ओंकार मालिक।" वह आत्मसूर्य ही ओंकार मालिक है अर्थात् जो कुछ भी है उसकी उत्पत्ति और लय का स्थान है।

"उलटि वासो ज्ञान को लागि
इसविध देवा सेवू। —अर्थात् पीछे ले जाना
गुरुगम भितर जपे अजपा। „ प्राणायाम

हृदय पुस्तक किजिए ।।	हृदय देखना
अनभओ कथा किछु भाइ साधो	
इह विध पाठ पढ़िजेत	—भविष्यत
अनहद घन्टा झालर बाजे ।	—अनाहत शब्द
अलख पुरुष कि सेवा ।।	—पुरुषोत्तम
पुराधा निरन्तर एयसा साधो ।	—रातदिन साधना करो
वोम वोम से देवा ।।	—सर्वव्यापी
गंगा जमना रहे सरस्वती ।	—इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना
जहाँ जाय ध्यान का धरि जो ।	—बन्द करके ध्यान धरे
त्रिकुटि मन्दिर बेठा साधो ।	—आज्ञाचक्र में ध्यान (भौंह का ध्यान)
ओहाँ जाय दर्शन कीजिए ।	—कूटस्थ
सहज सिंहासन निर्भय सेवो ।	– सहज समाधि
चित कि चमर किजिए ।।	—चित्त का चँवर यानी मन से प्राणायाम ।

१८७३ ई० पहली नवम्बर को लिखा है—"**ओंकार आउर स्थिर बड़ा गम्भीर। जो ओंकार सो मेरा रूप। ओंकार सार शब्द—ओंकार शब्द जेयादा सोके सुनने लगे। स्थिर घर बड़ा सुख।**" अर्थात् आत्म सूर्य ही ओंकार है यह ओंकार अब और भी स्थिर एवं गम्भीर हुआ अर्थात् अत्यन्त ध्वनियुक्त हुआ। ओंकार अर्थात् आत्मसूर्य ही मेरा रूप है। यह ओंकार समस्त शब्दों का सार है; क्योंकि इस आत्मसूर्य से ही सभी शब्दों की उत्पत्ति होती है। अब उस ओंकर ध्वनि या शब्द को सोये-सोये अधिक सुन रहा हूँ। यह जो स्थिरावस्था है यही परमानन्द है ऐसा आनन्द और किसी में भी नहीं। इसके पश्चात् जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति और तुरीय जो जीव की चार अवस्थायें हैं उनकी व्याख्या करते हुए योगिराज ने कहा है—

जाग्रत (जागना) सुरत में प्राणायाम के हमेसा रहना अर्थात् कूटस्थ अक्षर को हमेशा देखना—निरन्तर ब्रह्म में लीन रहना।

स्वप्न (अल्प निद्रा) सब संसार को स्वप्नवत देखना कभी-कभी सच्चा मानना—उसीमे विह्वल रहना। अर्थात् समस्त संसार को स्वप्नवत देखना और कभी-कभी सत्य मानना उसी में विह्वल रहना।

सुषुप्ति (घोर निद्रा) ओंकार अनहद में थोड़ा लगना और छूट जाना। उसी में मन को लय करना।

तुरीय—महानिद्रा अर्थात् जाग्रत में अजाग्रत रहना। ब्रह्म और मन को एक करना, एक हो जाना। जीव के अवस्थान के सम्बन्ध में कहा है—

"ओंकार—कूटस्थ अक्षर द्रोणाचार्य—

चक्रव्यूह —माया
शकट व्यूह —कर्म } इसके भीतर जीव बैठा है।"
कमलाव्यूह —मोह

"शान्ताकार शान्ताकार कहे सब कोइ
श-अन्ते भया जिसका ओहिमर्म पाइ
गुरुकृपा बिना भए कइसे मंगल होइ
श-के अन्ते आउर क्या केवल ओंकार होइ
शान्ताकार देखे पर नयन में दुइ विन्दि होइ ॥
वाको देखे ओहि रुप नव फिर होजाइ
भुजाबल जो सांप चलत घराइमे ओपर नर सोइ।
भुजग एयसा बना हय सुर नर मुनि सबे खाइ
पद्मनाभ सान्त्र वाको कहत हय
नाम कमल हरदम आइ ओ जाइ ॥"

"बलगो बल आमाय बल
तारे देखें एलि कोथाय
सकल ज्योतिर ज्योत
आनन्देरि श्रोत
नाच काली कोमर नेड़े
आमार माथाय ॥"

"कन्ठे बसो तुमि हरिरमनि
के जाने मा तुमि कार रमनि
शिवे शैवानि त्रिलोचनिवानि
कात्यायनि कादम्बिनि भवानि
शुलपानि खड़गपानि सर्वानि
शिशि शब्द वले करबे ध्वनि
जगत पिता भर्ता संहारिनि
अनाहत हय ओंकार ध्वनि
ध्वनिरन्तर ज्योति स्वेतरूपिनि
के जाने कि काली काल नागिनि
स्वरूपाख्याने से मन रमनि ॥"

"पेये छेड़ोना कोन जन, से जे विरलेर धन
स्वप्रकाश मन, वलार था पायना मन
अवर्ण वर्णन आछे वेदेर लिखन
से जे अभावेरि भाव—माथार टनक नड़ा भाव
भाबते गेले कूल ना पाय मुनिजन
कालो घाटे चलोरे मन जेथाय आछे हरिधन
जेखाने श्रीनाथेर धाम आनन्द कानन।"

"कार साद्धि ठोकर मारे
ए अतल स्पर्शे।
यदि थाकेन-त्रिपुरारि
तवे तो भरसा करि
नतुबा प्राणेमरि
सकल जाय भेसे॥"

"आँख मूंदे तुम क्या देख
वइठे व्रामण राम
आँख आप मूंदे तब देखो सहजे आत्माराम
आत्मा क्या देखाइ पड़े
झूठे ध्यान धरोमति
तदा लक्षण आत्मानं
ज्योति रूपं प्रपश्यति
आत्मा देखे क्या फल
आउर कैसे कार्य सधाय
परमात्मा मने मन
जयसे विर्य पड़ जाय।
दूरे दूर कवले सोचे
यामे हय बड़ कष्ट
भक्ति से पलमे मिले तब
एक सर्व विशिष्ट।"

एक जन आछे पड़े
बलोना बलोना तारे
सेजे अन्तरेरि अन्तर
बलबे केमन करे।

जड़वत स्थिर सेजे

आबार जितेछे चपलारे

माताल के मत्त कराय

गुण के बलते पारे।

सगुण निर्गुण से तो

आमा छाड़ा बइते नारे

मन जेनेशुने केन ना

चिन्ता कर सदा तारे।

अष्टसिद्धि पड़े आछे

चिन्तामणिर नाच द्वारे॥"

"मन राजा को भगवान के तरफ लगा
पाँचो इन्द्रिको लड़ाइ करे
सब इच्छा के साथ
तब सइच्छा को दूर करेगा॥"

"आँखि देखे आँखि

उचे धाय

किछू ना देखते पेये

केवल चोख रगड़ाय

मिछे केन मनके

भ्रमण कराय

देखतो घटेर भितर

स्वरूप जलधर काय।"

"हे मन देओ तुम सदा हाजिरि,
आपस में क्या तुम करो जारि।
ले ओ रामनाम का तबिलदारि,
राम के धनुया राम तोड़ डारि।
इह काम हय···अत्यन्त भारि
साँप के मारने से हय हुनरि
मदन हय दुस्मन बड़ भारि
मदन का अग्नि हय हमेशा जारि।
नागरस देकर उस्को मारो
नागिन के तब उप्पर जारो।

रगड़-रगड़ तब उसको जारो
एयसेकर परम लाभ करो।
ब्रह्मपद कांचन एक कर निहारो,
अतुल्य धन हय तब तुमारो॥
क्षिति चक्रे जावि
चार विन्दु देखते पावि
तार मध्ये विज 'लं' पृथिवि॥"

इस प्रसंग में योगिराज ने प्रश्नोत्तरी शैली के माध्यम से एक अपूर्व योग सम्बन्धी शिक्षा दी है—

प्रश्न—ब्रह्मा किसे कहिदेहु गुरु मुझे बताय।
उत्तर—खाने से इच्छा उपजे उह चौदिश धाय।
प्र० हमतो उसे देख बहि क्यासा हय उस्का काय।
उ० हंस उस्का नाम हय उप्पर इच्छा जाय।
प्र० हंस किसे कहे, इस्का क्या हय अभिप्राय।
उ० स्वासा हंस का रुप हय बढ़े उल्टा चलाय।
प्र० आदमि क्या पानितरे मट्टि छोड़के जाय।
उ० गरमि प्राणायाम से पानि शिरदि आय।
प्र० हंस की आवाज दिजिए आदमि से मिलाय।
उ० यं, रं-लं-वं सक्ति विन्दु मिलदेत सुनाय।
प्र० इह सब क्या हय हमे दिजिए समझाय।
उ० लं पृथिवि विज हय एहि सब कराय।
प्र० लं कइसे पृथिवि बिज दिजिए बताय।
उ० दन्तवर्ण चौरंगि इच्छा मनमे देखाय।
प्र० निराकार क्या मनुष्य रहे पृथिवि आय।
उ० स्वाद रहित भोजन निराहार बोलाय।
प्र० आहार बिना कइसे जिए पृथ्वितल आय।
उ० निःशब्द इच्छारहित मनहि मन जाय।
प्र० रं बिजका क्या कारखाना दिजिए देखाय।
उ० उस्का शुक्लवर्ण जलरूप दर्शाय।
प्र० जल से क्या इच्छा भया सो दिजिए बताय।
उ० जिह्वा से जल गिरे इच्छा मालुम हो जाय।
प्र० लोभ का क्या रूप है कधितइ देखाय।
उ० लालमू आख आठ ओर उचका कहाय।
प्र० रं रक्तवर्ण अग्निमण्डल क्योंकर देखाय।
उ० मारे बान जब शब्द का बोले विनाश रहाय॥

प्र० वायुमण्डल धूम्बवण मदनालाय।

उ० उहाँ वांछाति रिक्तफल कभि न नशाय।

इस प्रकार योगिराज ने अपनी दैनिक साधना की उपलब्धि के सम्बन्ध में बताया है—"ब्रह्म जल का रूप हय। रक्तवर्ण सूर्य देखा। धुआ से कुछ पतला ब्रह्म का रूप निराकार मालुम हुआ।"

योगिराज अपनी दिनलिपि या डायरी में प्रायः सभी कुछ लिख लिया करते थे। उनकी डायरी से तत्कालीन बाजार की दरों के सम्बन्ध में एक तथ्यपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। १८९० ई० ३१ दिसम्बर को उन्होंने काशी के प्राणकृष्ण मोदक नाम के एक दूकानदार को छह सेर सन्देश का मूल्य तीन रुपया दिया है एवं आधामन दूध का दाम अढ़ाई रुपया दिया है। उसी दिन रामचरण नाम के एक दूसरे दूकानदार को पाँच सेर तीन पाव बुंदिया का दाम दो रुपया छह आना, दो सेर तीन पाव कचौड़ी का दाम एक रुपया ग्यारह आना एक पैसा, पाँच सेर जलेबी का दाम दो रुपया तीन आना एवं साढ़े आठ सेर माठा का दाम दो रुपया सात आना।

● ● ●

योगिराज ने अपनी डायरी में भगवान श्रीकृष्ण एवं उनकी लीला के प्रसंग में प्रश्न एवं उत्तर के माध्यम से जिस यौगिक व्याख्या अथवा अनन्तर व्याख्या को लिख रक्खा है वह ज्यों का त्यों यहाँ प्रस्तुत है।

प्रश्न—श्रीकृष्ण का मथुरा में देवकी और वसुदेव की सन्तान के रूप में जन्मग्रहण, तत्पश्चात कंस के भय से वसुदेव द्वारा गोकुल में नन्दभवन में रखना। नन्द और यशोदा के पुत्र के रूप में ख्यात होना, गोकुल से गोप एवं गोपियों के साथ वृन्दावन में आगमन, वहाँ बलराम के साथ समस्त गोपों की सहयोगिता द्वारा गोचारण, उल्लम्फन (उछलना कूदना) माखन चोरी, के लिए यशोदा द्वारा उलूखल-बन्धन एवं हाथ से दोनों अर्जुन वृक्ष (यमलार्जुन) को उखाड़ना, कंस द्वारा भेजे गए अनेक असुरों का बलराम की सहायता से हनन करना। यमुना मध्यस्थकालिय दमन, अग्निपान, नन्द द्वारा इन्द्रयज्ञ की मनौती के प्रति निवारण अथवा असहमति प्रकट करते हुए अपने यज्ञ की श्रेष्ठता का प्रदर्शन, इन्द्र के कुपित होने पर मूसलाधार वृष्टि से व्रज के गोप-गोपांगना की सुरक्षा के लिए गोवर्द्धनधारण, शैशवावस्था में दोनों पैरों से एक शकट को उलट देना, पूतना का स्तन-पान द्वारा वध करना, वेणुरव अथवा वंशी की ध्वनि में देवगणों से लेकर स्थावर-जंगम सभी पदार्थ ही समाहित, सम्मोहित,

यहाँ तक कि परस्त्रियों का भी निशाकाल में गृहत्याग एवं उनके अपने पतियों, पुत्र-परिजन आत्मीय आदि का त्याग करवाकर उनका वस्त्र या चीरहरण एवं पूर्णिमा में रास क्रिया या लीला करके उनके साथ भिन्न-भिन्न कृष्ण के रूप में रमण तत्पश्चात् बलराम के साथ मथुरा जाकर मत्तहाथियों एवं चाणूर, मुष्टिक, अन्यान्य असुरों तथा कंस-वध के पश्चात् द्वारकापुरी का निर्माण तथा वहीं अवस्थान।

उत्तर—श्रीकृष्ण	कूटस्थ
मथुरा	मस्तक
देवकी	शरीर
वसुदेव	आत्मा
कंस	माया
गोकुल	कंठ-मूल में जिह्वा द्वारा अवस्थिति
नन्दभवन	स्थितिपद
गोप-गोपांगना	ओंकार की क्रिया द्वारा और आत्मशरीर के सहयोग द्वारा।
यशोदा	स्थिति होने पर यश होता है
व्रज	चला जा रहा है या गतिशील है।
वृन्दावन	कूटस्थ के भीतर वन इत्यादि देखना
बलराम	बलपूर्वक वायु में तान स्थिर
गोप	त्रिकुटा, ब्रह्मरेखा, पंचस्रोता, इत्यादि अनेक प्रकार की क्रियायें, जीभ के सभी स्थान
गोचरण	गो शब्द का अर्थ है जीभ चारण अर्थात् ले जाना अर्थात् जीभ को तालु-विवर में ले जाना।
उल्लम्फन	जीभ को उछालकर ऊपर उठाना
प्रलम्फन	अच्छी तरह जीभ को उठाना
माखन चोरी	चन्द्रलोप, चन्द्र कूटस्थ में मिल जाना
यशोदा द्वारा	यश की स्थिति हुई
उलूखल	मस्तक
बन्धन	अटके रहना, टिके या बंधे रहना।
हाथ द्वारा	सुषुम्ना
दो अर्जुनवृक्ष (यमलार्जुन)	इड़ा, पिंगला
उखाड़ना अथवा पातन	उखाड़ फेंकना अर्थात्, इड़ा पिंगला का त्याग करके सुषुम्ना में स्थिति।

अनेक असुर	अन्य दिशा की ओर मन
हनन	नाश
यमुना	पिंगला नाड़ी
मध्यस्थ	सुषुम्ना
कालिय	चलने का नाम, काल, कालिय, जगत
दमन	स्थिति
अग्निपान	वायु द्वारा जल, अग्नि शोधित होकर शरीर में अग्नि होती है, उस वायु के स्थिर होने पर अग्निपान होगा।
इन्द्रयज्ञ	कूटस्थ के भीतर ब्रह्म में स्थित रहकर टिके रहना।
निवारण (निषेध)	मन को अन्य ओर लेने के प्रति निषेध-निरोध
अपना यज्ञ	क्रिया की पर अवस्था
इन्द्र ने कुपित होकर मूसलाधार वृष्टि की	आसक्ति के साथ आँखों के द्वारा अथवा अनुमान और मन के द्वारा अन्य तत्त्व में स्थित रहकर एक के पश्चात् और चिन्तन की वृष्टि हुई।
गोवर्द्धन धारण	ओंकार क्रिया के निमित्त जीभ बढ़ाना और धारण करना।
शैशवावस्था में दोनों पैरों से शकट उलट देना	क्रिया प्राणायाम के द्वारा नीच से मस्तक की ओर उठना—यही शकट उलटना है।
स्तन पान के द्वारा पूतना-वध	वक्ष में वायु स्थिर करके अनात्मा का नाश करना
वेणुरव	क्रिया की अवस्था में 'शि' 'शि' शब्द या ध्वनि
ब्रह्मादि	समस्त इच्छायें।
देवगण सहित स्थावर-जंगम सभी पदार्थ मोहित	अर्थात् सब कुछ वश में होता है इच्छा के अनुसार सब कुछ होता है।
परस्त्री	माया
निशाकाल	जब अन्धकार हो।
गृहत्याग	आत्मा में न रहकर पंचतत्व में मन की स्थिति

अपने या निज स्वामी अहंकार
पुत्र आत्मीय माया

वस्त्रहरण (चीरहरण) } निरावरण निर्वस्त्र अर्थात् सर्व ब्रह्ममय जगत ।

पूर्णिमा में रासक्रीड़ा सब में ब्रह्म को देखना

मत्त हस्तियाँ, चाणूर, मुष्टिक, अन्यान्य असुर एवं कंस } सभी माया

द्वारकापुरी कूटस्थ

● ● ●

"सेवाय भगवान को जो कोइ काम करे सो बड़ा खराब आदमि हय—सब मन लुट जाय पर उस पर नजर न करे—जो भगवान को हामेसा ध्यान करे उसको काम उह करता हय।" अर्थात् जो व्यक्ति भगवान को छोड़कर या उसे दृष्टि में न रखके और सब काम करते हैं वे भले लोग नहीं है या अत्यन्त बुरे लोग हैं। जब वर्तमान चंचल मन का अस्तित्व नहीं रह जाता, मन, में अवस्थित हो जाने पर मन्मना अवस्था प्राप्त होती है अर्थात् जब वर्तमान चंचलमन की ओर विन्दुमात्र भी ध्यान या उसका ख्याल न रहे और प्राणकर्म करते-करते जब इस प्रकार उन्मानी या उन्मना (आत्मविस्मृति) अवस्था प्राप्त हो जाए तभी यथार्थ रूप में उसे ध्यानावस्था कहते हैं। इस प्रकार उन्मनी ध्यानावस्था को जो हमेशा भगवान की ओर लगाए रखते हैं उनका सारा कार्य तब ईश्वर ही करते रहते हैं उसे फिर कुछ करना नहीं होता। क्योंकि तब और उसका कर्म नहीं रहता। इस अवस्था में उसके सारे कार्य अपने आप ही होते हैं। इसीलिये २६ मार्च १८७३ ई० को लिखा है—**"आहस्ते आहस्ते बेमालुम सब काम होता हय।"** यानी आहिस्ता आहिस्ता अनजाने ही सारे कार्य अपने आप होते रहते हैं। स्वयं को और चेष्टा द्वारा कुछ भी नहीं करना पड़ रहा है। योगियों की यह अवस्था कब होती है, इसके बारे में उन्होंने कहा है—**"विना इच्छार लाभ बड़ लाभ बोध हय तद्वत् बिना कुम्भके कुम्भक बड़ आनन्द।"** अर्थात् जिस वस्तु को प्राप्त करने की

कभी भी इच्छा न होती हो; किन्तु वही वस्तु अनायास प्राप्त होने पर जिस प्रकार उसे एक बड़ी उपलब्धि के रूप में महसूस करते हैं उसी प्रकार इच्छाकृत कुम्भक न करने पर भी जो कुम्भक अपने आप ही हो जाता है, उससे बड़ा ही आनन्द प्राप्त होता है। इस प्रकार के अवस्था सम्पन्न योगी सभी प्रकार की ईश्वरीय शक्ति प्राप्त कर लेते हैं। इसीलिए उन्होंने लिखा है—"**सर्वशक्तिवान होने का आगम मालुम हुआ जो सकल सब चिज जानता हेय सो सकस सब चिज कर सेक्ता हेय। जब सब वँहि हेयं तो तो हमभि वँहि हेय त हम सब कुछ कर सेक्ता हय।**" अर्थात् सर्वशक्तिमान होने का आगम या रहस्य मालूम हुआ, जो शख्स या व्यक्ति सभी चीजों को जान सकता है; वह शख्स सब कुछ कर सकता है। जब सब कुछ वही है तब मैं भी वही हूँ; इसलिए अब मैं भी सब कुछ कर सकता हूं। १३ मई १८७३ ई० को लिखा है—"**इह सूर्यहि आदि पुरुष हो जाता हय फिर एहि ब्रह्म का लिंगरूप लम्बा मालुम होता हय सोइ हम हय। उससे एक ज्योत निकलता हय जो न दिन न रात उससे मिल जाने का नाम हुआ लय तबहि शरीर से बुदा होता हय—आउर जो कुछ इरादा करे सो कर सक्ता हय—दस रोज रात दिन एकाग्रचित्त बिना खाए पिए सोए प्रेम लगावे तब इह बात सिद्ध होय विना सब आशा छोड़ने से इह बात कएसे होगा—आगे मर्जि मालिक कि।**" अर्थात् यह जो आत्मसूय देख रहा हूं यही आदि पुरुष हो गया फिर यही ब्रह्म का लम्बा लिंगरूप हो गया—वही मैं हूं। ब्रह्म के उस लिंगरूप से एक ज्योति निकल रही है जहां दिन भी नहीं है रात भी नहीं है,—स्वयं प्रकाश, उसमें मिल जाने का नाम लय है। इस प्रकार जब लय की स्थिति हुई तब शरीर निस्पन्द हो गया। इस अवस्था में इच्छानुसार सब कुछ कर सकता हूं; दस दिन, दस रात बिना कुछ खाए पिए, जागते हुए एकाग्र चित्तता के साथ एक आसन से आत्मकर्म करने पर ही यह अवस्था सिद्ध या प्राप्त होती है। किन्तु सभी प्रकार की आशाओं-आकांक्षाओं का त्याग किये बगैर यह कैसे सम्भव है? अर्थात् मन की तरंग से ही आशा की उत्पत्ति होती है। जितनी देर तक मन की तरंग रहेगी—आशा भी रहेगी। आत्मकर्म करते-करते जब सभी प्रकार की मनस् तरंगें लुप्त हो जाएँगी और मन पूर्णतः स्थिर होगा तब किसी प्रकार की आशा भी नहीं रहेगी। इस अवस्था की प्राप्ति पर सब कुछ अपने आप सिद्ध हो जाता है अर्थात् स्थायी स्थिति-अवस्था प्राप्त होती है। इसीलिए वे कालिक या अन्तर्यामी ईश्वर के ऊपर सारा भार छोड़कर उसकी शरणागति के प्रति संकेत करते हुए कहते हैं—इस बार सामने जो साधना का कठिन स्तर देख रहा हूं उसमें मालिक की जैसी

इच्छा, वही हो। इस कठिन स्तर के सम्बन्ध में उन्होंने १६ जुलाई १८७३ ई० को लिखा है—**स्वभाव ब्रह्म हय—इससे पार जाना मुस्किल आज इन्द्रिया ने सताया सबको मारके आशा त्यागके अपने आप लय होना काम हय—लेकन मगन रहने से आनन्द रहत हय—पर विषय चैतन्य नहि रहता हय—रात के अब एहि एरादा करता हय कि रातभर बैठके मगन कटावे—ताकत कुछ बड़ाना चाहिये।"** अर्थात् आत्मभाव ही ब्रह्म है, इसको अतिक्रमण करना कठिन है। इसीलिए आज समस्त इन्द्रियों का दमन करके सभी प्रकार की आशाओं को छोड़कर स्वयं को ब्रह्म के साथ सम्पूर्ण रूप से एकात्म अथवा लय कर देना ही मेरा काम है। ब्रह्म ध्यान में मग्न रहने से हमेशा आनन्द ही आनन्द रहता है। उस अवस्था में विषय चैतन्य अथवा भोग्य वस्तुओं के प्रति कोई आसक्ति भाव नहीं रहता। इसलिए अब सारी रात ब्रह्मध्यान में निमग्न होकर समाधिस्थ अवस्था में बिताने की इच्छा हो रही है। उसके लिए अवश्य ही और कुछ अतिरिक्त शक्ति का संचय करना होगा। इसके पहले २९ जून १८७३ ई० को लिखा है—**"अब भितर-भितर कुछ कुछ जाने लगा—बड़ा कठिन कवारा—इहाँ कोइ हय नहि कि जिसको पकड़के होस में आदमि रहे—जयसे निद लेकन ठिक निद नहि हय—हमेसा ओंकार ध्वनि—राजा पुरुषोत्तम सामने खड़े—सन्तोषामृत पान—इस मजे के आगे कोइ मजा जो करे सो चाखे नहितो रहे गोता खाते।**—अर्थात् अब कुछ-कुछ भीतर-भीतर प्रवेश किया, यह कठिन किवार है। इसको पार करना मुश्किल है यहाँ ऐसा कोई नहीं है जिसे पकड़कर होश में रहा जाय अर्थात् प्राणकर्म करते-करते जब सब कुछ एकाकार हो जाता है तब दो या द्वैत के न होने पर कौन किसे पकड़ेगा? अर्थात् यह सांसारिक चिन्ताओं से रहित होकर एक बेहोशी की अवस्था है, नींद जैसी या फिर नींद जैसी भी नहीं। इस अवस्था में हमेशा ओंकार ध्वनि सुनाई पड़ती है। राजाधिराज पुरुषोत्तम सामने खड़े हैं। यही सन्तोषामृत पान है। इस प्रकार का आनन्द प्राप्त करने के पहले और सभी प्राप्त आनन्द तो केवल चखना है; ऐसे व्यक्ति संसार-सागर की तरंगों के थपेड़ों की मार से तो केवल गोते ही खाते रहते हैं। फिर लिखा है—**पिछे मेरुदण्ड मे स्वासा मजे से चलने लगा—आव घर में आए—आव बड़ा आनन्द—मुर्दा जिता हय जबतओ में लय हो जिसका कि ब्रह्ममय दृष्टि हय उनके इच्छा करने के पहिले मनोकामना सिद्ध होय अब स्थिर होने का लक्षणपक आया हय।"** अर्थात् पीछे की ओर मेरुदण्ड के भीतर अर्थात् सुषुम्ना में

श्वास सहज भाव से ही चल रहा है। अब स्थिर घर में आया। अब बड़ा आनन्द मिल रहा है। इसके पश्चात जब सब कुछ लय हो गया तब देहबोध नहीं रहा अर्थात् देह के भीतर स्थित सभी प्रकार की तरंगें लुप्त हो गईं। और एक देहबोध से रहित अवस्था की विजय हुई अर्थात् इस देहबोधहीन अवस्था में दीर्घकाल तक स्थित रहने का अभ्यास पक्का हो गया। इसका तात्पर्य यह है कि इस देहबोध को ही मृत देह के रूप में परिणत करना तथा मृतवत् स्थिर होने पर उसके भीतर स्थित रहना ही यथार्थ शव-साधना है। किसी मृत देह के ऊपर बैठकर साधना करने से ही शव-साधना नहीं होती। इस प्रकार देह-बोध से रहित जिस योगी ने यह अवस्था प्राप्त कर ली है; उसकी दृष्टि सदैव ब्रह्ममय रहती है। किसी वस्तु की इच्छा करने के पहले ही उसकी वह मनोकामना स्वयं अपने आप पूरी हो जाती है। योगिराज इस अवस्था को प्राप्त करके कहते हैं—अब उस प्रकार की स्थिरावस्था का लक्षण दृढ़ एवं पुख्ता हो गया। यह योगियों की एक उच्चतम अवस्था है। इस अवस्था में पहुंचकर उन्होंने ६ अगस्त १८७३ ई० को लिखा है—"**ब्रह्मइ असल हय—सूर्यरूप हय फिर उह रूप नहि हय केवल ब्रह्म-अब एक जगह बइठका एरादा करे—साहस करके जो करे सो सो होय एयसा मालुम होता हय—स्त्रिमातारि पुरुष रूप लड़कि माका रूप लड़का बाप का रूप-वापमातारि सब जाता हय—आपना सब दोनों रूप एक जाता हय—पुरुष प्रकृति छोड़ाय आउर कुछ नहि इह अनादि बना हय—उसका बहुत रूप हय इसलिए उह अनन्त रूप हय—लेकन एक ही रूपका सकल पसारा हय।**" अर्थात् ब्रह्म ही अस्ल है अर्थात् आदि है, यथार्थ है, वही आत्म-सूर्य रूप है और फिर वह भी नही रहा, महाशून्य में मिल गया, केवल स्थिरब्रह्म ही शेष रहा। अब केवल एक आसन से बैठे रहने की इच्छा हो रही है और यह भी समझ में आया कि अब साहसपूर्वक जो कुछ करूँगा, वही होगा। स्त्री-माता पुरुष रूप हो गए, कन्या, मा रूप और पुत्र, पिता रूप हो गए। इस प्रकार सभी पिता-माता के साथ एकाकार होकर महाशून्य में मिल गए। यहाँ तक कि स्वयं को जो स्वतंत्र देख रहा था, वह भी, स्तब्ध-स्थिर हो गया, एकाकार हो गया। इस प्रकार पुरुष-प्रकृति से अलग या अलावा और कुछ भी नहीं देख रहा हूँ, वह पुरुष-प्रकृति ही अनादि तत्त्व है। उस पुरुष-प्रकृति ने ही अनेक रूप धारण कर रक्खा है। इसीलिए वे अनन्त रूप दिख रहे हैं; किन्तु ब्रह्म के उस एक ही रूप से सभी कुछ जो अस्तित्व में है; उसका विकास, विवर्त और विस्तार-प्रसार देख रहा हूं। इसीलिए वे अपने सभी भक्तों से कहा करते—"**आइनेमे दुइ देखने से अहंकार एक देखने से कुछ नहि।**"

अर्थात् आईने में जबतक दो या द्वैत रूप दिखता है तब तक मन में अहंकार इत्यादि सभी रहते हैं; किन्तु जब सब कुछ एकाकार हो जाता है, एक या अद्वैत रूप हो जाता है तब और कुछ नहीं रहता; क्योंकि द्वैत या दो की अनुपस्थिति में अहंकार किसे होगा ? जहाँ दो नहीं, वहाँ प्रमाण नहीं। इस देह में जब तक यह भाव है तभी तक प्रमाण है और जब देह-बोध नहीं तो फिर दो नहीं, जैसे रूपा या रौप्य एक धातु है। यह धातु गुण जिसमें है वह भी रौप्य है, ये दो वस्तुएँ या गुण जहाँ नहीं हैं, वह प्रमाण से परे का स्थान है। तत्त्व की क्रिया करके क्रिया की जो पर अवस्था है, वही तत्त्वातीत स्थान है। दो रहने पर दुःख है, किन्तु दुखातीत होने की इच्छा करने पर हमेशा द्वन्द्वातीत क्रिया की पर अवस्था में स्थित रहना चाहिए। दो रहने पर ही द्वन्द्व की सृष्टि होती है और ब्रह्म द्वन्द्वातीत या द्वन्द्व से परे हैं। इस कारण ब्रह्म का प्रमाण एवं प्रमेय द्वारा निरूपण नहीं किया जा सकता। क्रिया करने पर जो सारे रूप दिखाई देते हैं—वे सब क्या हैं कहाँ से आते हैं और कैसे किस रूप में दिखाई देते हैं; इन तमाम प्रश्नों एवं चिन्ताओं के कारण मन में द्वेष पैदा होता है और उसे देखने की इच्छा होती है। समस्त दृश्यमान वस्तुएँ नाशवान हैं। सभी अवयवों या अंगों-उपांगों के भीतर जो अणुस्वरूप ब्रह्म है, उससे परे जो क्रिया की पर अवस्था है—वही तत्त्व ज्ञान है। उपरोक्त सभी रूपों को देखने पर मन में नाना प्रकार के तर्क उभरते हैं अर्थात् यह सब सही है या भ्रम है। इस तर्क के उभरने पर उसके स्वरूप का निर्णय करने की दिशा में द्वेष पैदा हुआ; इसमें भी ब्रह्म नहीं है। अन्त में तर्क वितर्क के द्वारा यह तय हुआ कि सब कुछ चंचल मन का कर्म है। स्थिर मन ही ब्रह्म है और इन समस्त रूपों के बारे में इतना सूक्ष्मतर आभास मिला था जो अनुभव सापेक्ष नहीं है। इस प्रकार का निर्णय द्वेष का कार्य है; किन्तु द्वेष में भी ब्रह्म नही क्योंकि ब्रह्म तत्त्वातीत है। क्रिया की पर अवस्था में जब मैं नहीं तब दो भी नहीं। इसलिए दो के न रहने पर द्वेष हिंसा तर्क इत्यादि कुछ नहीं। ऐसी स्थिति में हमेशा रहने पर ही तत्त्वज्ञान होता है और नाना प्रकार के तर्क-वितर्क वाद-वितण्डा से परे ही शून्य तत्त्व है। यह शून्य तत्त्व ही ब्रह्म है; क्योंकि ब्रह्म तत्त्वातीत है। जहाँ दो हैं वहीं प्रमाण की जरूरत है; किन्तु प्रमाण से परे क्रिया की पर अवस्था है; क्योंकि वहाँ दो की स्थिति नहीं, इसलिए प्रमाण की जरूरत नहीं। तो फिर क्या एक है ? उस एक में भी रहना न रहना दोनों समान है क्योंकि जो एक कहेगा वह भी यदि एक हो गया तब एक का रहना न रहना दोनों समान है। इसलिये ब्रह्म प्रमाणातीत है; प्रमाण से परे है

ब्रह्म का प्रमाण ब्रह्म ही है। प्रमाण के रूप में चार प्रकार के प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द को मान्यता दी गई है। जिस प्रकार आँख के द्वारा रूप दिखाई देता है; किन्तु आँख तो मुर्दे को भी होती है फिर भी उसे दिखाई क्यों नहीं देता ? आँखों के माध्यम से जिस शक्ति द्वारा दिखाई देता है, वह ब्रह्म शक्ति या ब्रह्मतेज है। और समस्त तेजों का आधार ब्रह्म है। क्रिया की पर अवस्था में कोई तेज नहीं; लेकिन तेज है। क्रिया करने पर क्रिया की पर अवस्था उत्पन्न होती है। उत् = ऊपर ऊर्ध्व में पन्न, = स्थिति। उस समय प्राणवायु स्थिर होकर ब्रह्म में मिलने से क्रिया की पर अवस्था उत्पन्न होती है अर्थात् जो क्रिया की पर अवस्था पहले नहीं थी, वही उत्पन्न हुई— इसे ही ज्ञान कहते हैं और यह स्वयं के बोध का रूप है। तो फिर इस ब्रह्म की उपमा क्या है ? वस्तुतः उसे साध्य, साधना और साधर्म्य के द्वारा समझा जा सकता है। साध्य अर्थात् जिसकी साधना की जाये वह ब्रह्म है। साधना जिसके द्वारा साध्य वस्तु को प्राप्त किया जा सकता है अर्थात् क्रिया और साधर्म्य क्रिया की पर अवस्था है। क्रिया की पर अवस्था में न रहने से ही मन दूसरी ओर जाता है। दूसरी ओर मन जाने से ही लक्ष्य का रूप स्थिर होता है और लक्ष्य होने से ही कष्ट होता है। दूसरी ओर मन का जाना पृथ्वी का कर्म है। इसलिए क्रिया की पर अवस्था में न रहना ही दोष है। प्रवृत्ति में रहने से ही जन्म होता है; क्योंकि क्रिया की पर अवस्था में न रहने से मन में जो तमाम इच्छाएँ उभरती और उत्पन्न होती है उनके अनुसार नाना प्रकार के कर्म होते हैं और वही कर्मफल जो भोग का निमित्त है, जन्म है। इसलिए क्रिया की पर अवस्था में रहने से इच्छा नहीं और इच्छा नहीं तो कर्म नहीं, फिर जब कर्म नहीं तव फल या प्रवृत्ति नहीं, फिर तो जन्म भी नहीं। अतएव जन्म-मृत्यु का रोध करने के लिए तक-वितर्क में न पड़कर तथा व्यर्थ में समय न नष्ट करके क्रिया करने का नाम ही साधना है। इस साधना के पश्चात् तेजों का तेज महातेज अर्थात् ब्रह्मतेज जहाँ तेज नहीं किन्तु तेज है, उस अवस्था में रहना पंचतपा की परिभाषा है—(चारों-दिशाओं में अग्नि और ऊपर सूर्य; इन पंचतापों या उत्तापों के वीच जो तपस्या करता है उसकी संज्ञा पंचतपा है।

वर्तमान के न रहने से भूत और भविष्य का अस्तित्व नहीं। इसलिए भूत एवं भविष्य को वर्तमान की अपेक्षा है और वर्तमान के बिना प्रत्यक्ष अथवा इन्द्रियग्राह्य का आभास नही मिल सकता जब प्रत्यक्ष होता है तब वही वर्तमान है। इसलिए वर्तमान के अभाव में—अथवा काल के अभाव में प्रत्यक्ष या इन्द्रियगोचर नहीं है। और

फिर जब प्रत्यक्ष नहीं तब भूत, भविष्य, काल वर्तमान कुछ भी नहीं। क्रिया की पर अवस्था में भूत-भविष्य, काल, वर्तमान कुछ भी नहीं, अतएव प्रत्यक्ष भी नहीं। यह जो क्रिया की परावस्था है वह क्रिया सापेक्ष है। यही अग्निहोत्र यज्ञ है, यही स्तुति है क्रिया करने के प्रति यदि कोई भी अनिच्छा प्रकट करे तो क्रिया की प्रशंसा करते हुए प्रत्यक्ष एवं दृष्टान्त के द्वारा उसे समझा-बुझा कर उसकी क्रिया के प्रति उत्साहवर्द्धन करने या प्रोत्साहन देने का नाम स्तुति है अर्थात् क्रिया करने से भला होता है, कल्याण होता है और अनेक लोगों को उत्तम गति प्राप्त हुई है—ऐसा कहना चाहिए। फिर जो क्रिया की दीक्षा लेकर क्रिया नहीं करते, छोड़ देते हैं—उनकी निन्दा करनी चाहिए। क्रिया करने से सभी प्रकार से भला होता है—यह बात उसे बार-बार समझा देना चाहिए। किस औषधि का प्रयोग करने से रोग दूर होता है यह आयुर्वेद में लिखा है और उस औषधि के प्रयोग से जब रोग शान्त या दूर हो जाए तब यह समझना चाहिए कि वह प्रामाणिक है। उसी प्रकार मन की शान्ति के लिए अथवा मन के लिए जो क्रिया है वह भी प्रामाणिक है। जिस प्रकार उपयुक्त समय पर उपयुक्त औषधि का प्रयोग न करने से रोग शान्त नहीं होता उसी प्रकार उपयुक्त गुरु के निकट मन के त्राण के लिए उपाय न प्राप्त होने पर मंत्र बेकार हो जाता है। मन के त्राण की अवस्था का नाम ही मंत्र है। जिन्हें यह अवस्था प्राप्त है उन्हें आप्त अथवा अभ्रान्त कहते हैं। ऐसे ही आप्त व्यक्ति दूसरों के दुःख से दयार्द्र होकर क्रिया का उपदेश दिया करते हैं। सम्यक रूप से मन का दान करने से क्रिया की पर अवस्था होती है। यही सम्प्रदान है और उत्कृष्ट रूप से मन का दान यदि हो सके तो वह कभी उसे छोड़ता नहीं और ऐसी स्थिति में वह हमेशा अटका या टिका रहता है और तब वह अवस्था ही नित्य है। क्रिया की पर अवस्था में जो गहरा नशा है उसके बाद जो थोड़ा या हलका नशा रहता है उसे ही क्रिया की पर अवस्था की परावस्था कहते हैं। योगी इस अवस्था में स्थित रहकर सारे कार्य करते हैं इसीलिए वे समस्त कार्य करके भी कुछ नहीं करते। लेकिन क्रिया की दीक्षा पाने मात्र से ही क्रिया की परअवस्था प्राप्त नहीं होती, इसके लिए दीर्घकालीन अभ्यास अनिवार्य है। इसलिए क्रिया का पाना क्रिया की परअवस्था का हेतु नहीं है बलिक क्रिया करना हेतु है। जब भी क्रिया की जाती है तभी क्रिया की पर अवस्था अर्थात् समाधि होती है। इसीलिए अभ्यास ही क्रिया की परअवस्था का हेतु या कारण है, इसका और कोई प्रतिषेध अथवा निषेध नहीं। क्रिया की परअवस्था (समाधि) जो अतीन्द्रिय होती है उसमें कहाँ था, किस अवस्था में था, किस प्रकार

मुख में था, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता; क्योंकि निर्णय करने वाला मन तब नहीं होता। वह सभी प्रकार से तत्त्वातीत, गुणातीत और सत्त्वातीत है, उसमें अस्पर्श होने के कारण उसके नित्यत्व का प्रतिषेध नहीं और उसे व्यक्त करने का कोई उपाय भी नहीं। व्यक्ति में विशेष प्रकार से गुण का आश्रय होने से उसे मूर्ति कहते हैं। कृष्ण-मूर्ति की पूजा करते हो किन्तु कृष्ण में जो विशेषगुण है। उसकी मूर्ति जिसकी पूजा कर रहे हो, उसमें विशेषगुण का रहना तो दूर सामान्य जो सत्व, रज, तम है वह भी नहीं। विशेषगुण अर्थात् अनन्तगुण सम्पन्न वह नारायण उत्तम पुरुष हैं जिसकी मूर्ति हमारे-तुम्हारे और सबके भीतर है। उन्हें जानने से ही सत्यनारायण, नहीं तो मिथ्यानारायण का बोध होगा।

आत्मा का निमित्त बुद्धि नहीं है। बुद्धि का विषय सब चंचल मन का है, स्थिर मन में कुछ भी नहीं। क्योंकि ब्रह्म सदैव एक भाव में है, अपरिवर्तनशील है। मन आत्मा इन सब में केवल संज्ञा भेद है। जब मन आत्मा में होता है तब वह आत्मा और जब तत्त्व में होता है तब मन। सारी इन्द्रियाँ मन के वश में हैं और मन आत्मा के वश में है-तथा आत्मा परमात्मा के वश में है। एक ब्रह्म ही सब कुछ हो रहा है। पूर्व जन्म के अभ्यास के अनुबन्ध के कारण हर्ष, भय शोक क्रोध इत्यादि होते रहते हैं। पूर्वजन्म में जो सत्वगुण का कार्य करके आया है वह इस जन्म में भी और परजन्म में भी सत्वगुण का कार्य करेगा। पूर्वजन्म में जो सत्वगुण में था वह इस जन्म में शैशवावस्था से ही धार्मिक अथवा धर्म परायण होगा। और जो तमोगुण में था वह स्वभावत: ही हिंसक अथवा मन्दगति अथवा नीच मनोवृत्ति का होगा। शैशवावस्था से ही उसके सारे लक्षण दिखाई देने लगते हैं। जैसे कोई मेढक देखकर डरता है और कोई हाथ से पकड़ लेता है। कोई पुत्र शोक में अत्यन्त कातर होता है और किसी को अणुमात्र शोक नहीं। किन्तु पूर्वजन्म के अनुसार आत्मा का हर्ष, विषाद, भय, शोक क्रोध आदि से कोई सम्बन्ध नहीं। सारी इच्छाएँ मन में होती हैं और जो इच्छारहित है उसका जन्म नहीं। आत्मा जब इच्छा रहित है तब फिर आत्मा का जन्म कैसे सम्भव है ? किन्तु आत्मा के गुण विशिष्ट होने पर ही जन्म होता है। जैसे गुणरहित वृक्ष सूख जाता है उसी प्रकार आत्मा निर्गुण होने से ही ब्रह्म में लय हो जाता है। ब्रह्म अनन्त है और ब्रह्म से ही सब कुछ हुआ है। इसीलिए ब्रह्म की क्षमता भी अनन्त है जो ब्रह्मज्ञ हैं वे असीम क्षमतावान होते हैं। ब्रह्माणुओं के सन्निकर्ष से तीनोंलोक की रचना हुई है इसीलिए ब्रह्माणु के भीतर वे तीनों लोक को देख पाते हैं।

लेकिन स्थिरत्व के तारतम्य का हेतु एवं मन अथवा गुण के सन्निकष का हेतु अवस्थाभेद से अलग-अलग दिखाई देता है। जैसे मूलाधार में जगद्धात्री, सरस्वती गणेश और ब्रह्मा तथा स्वाधिष्ठान में राधाकृष्ण इत्यादि। यह देखने का कार्य भी पदार्थ या भूत का धर्म है; किन्तु क्रिया की पर अवस्था में कुछ भी नहीं दिखाई देता। ऐसी स्थिति में न दिखना ही यदि धर्म है तो फिर दीखता क्यों है? ब्रह्माणु के जिस विभाग में जिसका जो प्रकार व्यक्त होता है वही दिखाई देता है क्योंकि ब्रह्म के प्रत्येक अणु में तीन लोक की स्थिति है। वह अवस्था सूक्ष्मरूप में भूतों में प्रतिघात के कारण पृथक दीखती है। इसलिए वह देखना भी भौतिक धर्म है। कूटस्थ की महत् ज्योति अन्यान्य पार्थिव ज्योति को ढँके रहने से दिन में उत्कापात की तरह नहीं दिखाई देती; किन्तु ब्रह्म-ज्योति-विशिष्ट देवों एवं सिद्धगणों को उसके भीतर योनिमुद्रा के द्वारा देखा जा सकता है। जब ब्रह्मतेजो विशिष्ट हो गए अथवा अपने आप ब्रह्म में स्थित हो गए तब सब कुछ दिखाई देने लगा; क्योंकि ब्रह्माणु के एकांश में जगत की स्थिति है। जिसका संकेत एवं प्रमाण गीता में "एकांशेन स्थितो जगत' की उक्ति में स्पष्ट है। फिर और भी अधिक प्राणकर्म एवं ओंकार क्रिया करते करते जब समान तेजो विशिष्ट की स्थिति होती है तब छोटे-बड़े के अभाव और भौतिक धर्म से परे होने की स्थिति में कोई किसी का भी आवरण नहीं हो पाता। योगियों को जब इस प्रकार की तेजो विशिष्ट एवं आवरणहीन स्थिति प्राप्त होती है तब न देखने पर भी उन्हें सब कुछ दिखाई देता है। यह ब्रह्मतेज सर्वत्र ही विद्यमान है किन्तु अ-समान होने के कारण अप्रकाश अव्यक्त एवं समान होने से ही प्रकाशित तथा व्यक्त है। ब्रह्मज्योति के द्वारा प्रकाशित होने के कारण भीतर की सारी मूर्तियाँ अन्तर्दृष्टि द्वारा दीखती हैं। फिर ब्रह्मज्योति के भीतर प्रवेश करने पर या उसमें लय प्राप्त हो जाने पर देखना-सुनना आदि कोई कर्म नहीं रहता—पानी में नमक की तरह। उस समय अज्ञान के प्रकाशरूप स्वच्छ गुण के न रहने से कूटस्थ भी नहीं दिखाई देता। क्रिया करके स्थिर होने से ही बुद्धि एवं उस अवस्था में हमेशा स्थित किन्तु रहने से ही अधिष्ठान तथा स्थिर रहने से ही जहाँ-तहाँ गति सम्भव है और गति की स्थिति में ही आकृति दीखती है। जब क्रिया की पर अवस्था शून्यब्रह्म है तब कुछ भी नहीं, उसकी विपरीत स्थिति में ही देखना-सुनना संभव है। इस देखने-सुनने की स्थिति के लोप हो जाने पर वह अनित्य कारण देखना और सुनना साथ-साथ न होने से वह नित्य नहीं है। इसलिए ब्रह्म में स्थिति न होने से अवयवान्तर की

स्थिति होती है अर्थात् दूसरी ओर मन लगाने से गृहस्थ, संन्यासी, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि की उपाधि प्रयुक्त होती है। आत्मा और मन दोनों एक हैं। आत्मा क्रिया की पर अवस्था में निर्लिप्त है और वही जब सुखदुख को मानता है तब मन कहलाता है। एक साथ विभु की उत्पत्ति होती है, मन की नहीं– क्यों ? जब चंचल मन स्थिर होकर विभु होता है तब आत्मा दोनों को ही देखने में सक्षम होता है। मन की गति जब तक बाहर की ओर है तब तक वह चंचल है और जब स्थिर होकर मन में प्रवेश करता है तब विभु अर्थात ब्रह्म होता है। ब्रह्म में एक साथ संयोग और साथ-साथ ज्ञान की उत्पत्ति होती है। यह ज्ञान क्रिया की पर अवस्था में होता है, चंचल मन में नहीं। मन की स्थिरता ही बुद्धि है; क्योंकि उस समय देखना, न देखना, जानना और न जानता कुछ भी नहीं रहता—तब फिर विरोध नहीं और जब विरोध की स्थिति नहीं तब सब कुछ नित्य होने से बुद्धि भी नित्य है। इसलिए क्रिया की पर अवस्था अर्थात इच्छारहित होना ही ज्ञान है। यह अवस्था या ज्ञान आत्मक्रिया के द्वारा ही संभव है। जिस साधन या उपाय के द्वारा जानकारी प्राप्त होती है उस साधन को सम्यक रूप से करने का नाम भी ज्ञान है। ज्ञान क्रिया की पर अवस्था में होता है। उस अवस्था को प्राप्त करने का साधन क्रिया है एवं सम्यक प्रकार से क्रिया करने यानी उत्तम रूप से क्रिया करने पर ही ज्ञान होता है अर्थात् क्रिया की पर अवस्था की जानकारी प्राप्त होती है। यह सम्यक रूप से क्रिया करना आत्मा का कार्य है क्योंकि आत्मा की अनुपस्थिति में क्रिया करेगा कौन ? आत्मा द्वारा संस्कार होने से आत्मा में मन का सन्निकर्ष होता है तब क्रिया करने की इच्छा जागती है और क्रिया करते-करते मन आत्मा में मिल जाता है, एकात्म हो जाता है इस प्रकार आत्मा और मन के सन्निकर्ष की स्थिति में स्मरण होता है। जैसे अगले दिन प्रातःकाल कहीं जाना जरूरी है—यह इच्छा मन में उभरी और दूसरे दिन सुबह पहले दिन की बात याद आने पर उस स्थान की ओर प्रस्थान किया। इसी तरह पूर्व जन्म की भी स्मृति होती है। इस जन्म के आत्मा और मन का जब मिलन या सन्निकर्ष होता है तब पूर्वजन्म की सभी घटनायें—बातें मन में उभर आती हैं और मन उसी के अनुसार कार्य करता है। आत्मा का गुण मन है इसलिए दोनों ही एक हैं। मन जब स्थिर होकर आत्मा में उतरता है तभी क्रिया की पर अवस्था होती है, तब आत्मा और मन की एक साथ उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि दो नहीं हैं—जैसे दही और दूध के एक होने की स्थिति को जानने वाला कोई नहीं। शरीर, मन और आत्मा

का संयोग ही जीवन है। आत्मा और मन के संयोग से कर्माश्रित रह कर जीवन में अनुभव प्राप्त होता है और यह जीवन ही क्रिया के द्वारा क्रिया की पर अवस्था (विभु) को प्राप्त करने में सक्षम होता है। मन ही बाहरी ज्ञान का संस्कार करता है यानी बाहर की वस्तुओं एवं विषयों को इन्द्रियों द्वारा अनुभव करता है। किन्तु इसमें आत्मा के संयोग की उत्पत्ति नहीं होती; क्योंकि आत्मा निर्लिप्त है। इसलिए आत्मा की निर्लिप्तता के कारण देखने-सुनने आदि की क्रियाएँ मन की हैं। इस समस्त शरीर एवं मन का बहिर्ज्ञान संस्कार के द्वारा होता हैं। शरीर के भोगायतन होने के कारण सुख-दुख सभी की अनुभूति शरीर और मन के द्वारा होती है। स्मरण करने से ही हर समय मन में दिखाई देता है—ऐसी बात नहीं और फिर जो दीखता है वह भी केवल मन के द्वारा नहीं दिखाई देता, आत्मा में मन के संयोग द्वारा दीखता है। इसलिये ब्रह्म को जानना मन का कार्य नहीं हैं; आवरण दूर होने से ही जानना संभव है। मन का आत्मा के साथ सन्निकर्ष होना ही स्मृति का हेतु है, जो पूर्व-संस्कार वश होता है। अर्थात् मन का आत्मा में प्रवेश हो जाने पर अनेक चेष्टाओं द्वारा उसे स्मरणीय वस्तु का आहिस्ता-आहिस्ता स्मरण आता है जैसे दूध की याद आते ही तुरन्त दूध के रूप-गुण और स्वाद एकबारगी जल्दी याद नहीं पड़ते, एक साथ दोनों नहीं उभरते। अगर सभी वस्तुओं के चिन्ह या संकेत एक बार में दिखाई देते तो फिर स्मरण भी साथ-साथ उभरता : फिर अधिक आत्म कर्म करते-करते जब सभी कुछ सम्पूर्णतः दिखाई देता है तब साथ-साथ उत्पत्ति और उससे अलग या अकेले उत्पत्ति कुछ भी नहीं अर्थात् आत्मा की प्रवृत्ति और निवृत्ति तथा साथ-साथ एक ही समय में उत्पत्ति एवं अनुत्पत्ति कुछ भी नहीं, क्योंकि ब्रह्म सर्वव्यापी है; ब्रह्म के एक अणु के भीतर पंचतत्व वर्तमान है। ब्रह्म से दूर रहने का नाम दुःख है। जिसमें प्राप्ति की इच्छा नहीं है उसे सुख-दुख नहीं; क्योंकि सुख-दुख मन का व्यापार है। आत्मा सर्वव्यापी है और अनन्त जीव रूप में वर्त्तमान है। इसी रूप में जीवस्वरूप शिव (आत्मा) समस्त विश्व में व्याप्त है। इसीलिए उसे विश्वेश्वर कहा जाता है। चेतन अचेतन समस्त पदार्थ ही ब्रह्म है जो शून्य रूप में स्थित है। समस्त पदार्थों की रचना पंचतत्वों से हुई है और समस्त तत्वों में जीव वर्तमान है। दृश्यमान निर्जीव पदार्थों के जीव का बोध केवल योगियों को ही होता है। इसीलिए वे योगी जिन्हें युक्ततम अवस्था प्राप्त है अथवा जिनका कोई कर्म शेष नहीं—ध्यान नहीं करते; क्योंकि उनका ध्यान, धाता और ध्येय सभी कुछ एक हो गया है। वे सर्वत्र ब्रह्म का दर्शन

करते हैं। उनके लिए कोई विषय इन्द्रियगोचर न होने पर भी ज्ञान के द्वारा जानना कोई मुश्किल कार्य नहीं। उनके सामने किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती।

मनोयोग पूर्वक क्रिया करने में ही क्रिया की सार्थकता है। मनोयोग पूर्वक संसार में रहने से ही संसार में रहना सार्थक है नहीं तो उसमें रहकर भी न रहने जैसा ही है। तात्पर्य यह है कि जब तक मन या इच्छा है तभी तक संसार है। जब मन और इच्छा ही नहीं तब संसार भी नहीं। मन अथवा इच्छा के न रहने पर नियम एवं कर्म भी नहीं, इसलिए धारणा, ध्यान और समाधि भी नहीं। स्मरणीय वस्तु का अनेक बार स्मरण न हो सकने पर जब मन उस स्मरणीय वस्तु में प्रवेश करते-करते मुमूर्ष अथवा मरणापन्न अवस्था में होता है या उसकी निवृत्ति की अवस्था में जो स्मरण होता है उसे प्रणिधान कहते हैं। और तब जो वस्तु मन में नहीं-उसके चिन्तन अर्थात् वह वस्तु कैसी है उसमें क्या गुण है—जो स्मरण का निमित्त है उसमें हर प्रकार से मन के टिके या अटके रहने का नाम निबन्ध है। इसी प्रकार स्मरणीय वस्तु एक बार मन में जब प्रकट हुई तब उसे अच्छी तरह स्मरण में रखने के लिये जिससे उसमें बार-बार मन लगा रहे उसे अभ्यास कहते हैं। यह आत्मा का कर्म है. इसलिए स्मरण का हेतु आत्मा है क्योंकि आत्मा के न रहने पर कुछ भी नहीं होता। किन्तु जब स्मरण के चिन्ह का अनुसन्धान करना पड़ रहा है तब स्मरण की शाश्वत विद्यमानता का अभाव है और बिना चिन्ह या प्रतीक के स्मरण नहीं होता; क्योंकि स्मरण का आधार चिन्ह है। स्मरणीय वस्तु और उसके चिन्ह के अभाव में चिन्तन हो नहीं सकता। इस प्रकार एक बार स्मरण को नित्य और फिर अनित्य कहा गया; किन्तु ऐसा नहीं है; क्योंकि बुद्धि एवं पराबुद्धि द्वारा आत्मा, परमात्मा में लीन होकर स्थिर है। उसके स्मरण में दो वस्तुओं की अवस्थिति है, इसलिये स्मरण बुद्धि द्वारा हो रहा है, इसीलिए बुद्धि ही स्मरण का हेतु है। किन्तु क्रिया की पर अवस्था में स्मरण एवं बुद्धि कुछ भी नहीं फिर जब क्रिया की पर अवस्था की परावस्था में प्रत्यावर्तन होता है तब मन उस क्रिया की पर अवस्था का स्मरण करता है। इसी कारण स्मरण में दो हुआ।

पूर्वकृत कर्म के परिणाम का अनुबन्ध ही इस शरीर की उत्पत्ति का कारण है। इस शरीर के प्रारम्भ में ही पूर्व शरीर की प्रवृत्तियाँ प्रकट होने लगती हैं जैसे सन्तान के पैदा होते ही रोना ताकना आदि। और उस पूर्वकृत कर्म के फलस्वरूप इस जन्म के धर्माधर्म भी हुआ करते हैं और समस्त भोगों के निमित्त आत्मा इस शरीर में स्थित रहता है; किन्तु

वह स्वतंत्र ब्रह्म की तरह ही निर्लिप्त रहता है। केवल कर्मफल को भोगने के लिए बुलबुले के रूप में आत्मा ने इस शरीर में निवास कर रक्खा है जिसे लोग 'मैं—मैं' कहते हैं। पूर्व जन्म के सभी कर्म विशेष रूप से आत्मा में टिके-अटके रहते हैं इसलिए यह अनावश्यक भोग हुआ करता है। किन्तु क्रिया की पर अवस्था में जब कर्म का क्षय दिखाई देता है तब कर्म के लिए शरीर की उत्पत्ति कैसे सम्भव है? कर्म के लिए आत्मासहित शरीर और सुख-दुःख की उत्पत्ति होती है; किन्तु कर्मक्षय होने पर जब आत्मा के बिना देह नहीं रहता; तब आत्मा ब्रह्म में लीन हो जाता है। कर्मक्षय होने से ही वैराग्य होता है और वैराग्य होते ही आसक्तिपूर्वक तन-मन एवं वचन सहित कर्म और होता नहीं। इस प्रकार कर्मक्षय होने से पुरुष निष्कर्मा होता है। इस निष्कर्मा अवस्था में कर्म का हेतु न होने से पुनः शरीर की उत्पत्ति नहीं होती, तब वह अकर्मा अवस्था ही हेतु होती है। उत्तम पुरुष का गुण कूटस्थ है, कूटस्थ का गुण आत्मा है, आत्मा का गुण मन है और मन का गुण इन्द्रिय है। इन सभी इन्द्रियों के द्वारा सभी भूतों-एवं पदार्थों के कार्य हुआ करते हैं और कर्मातीत अवस्था अर्थात् क्रिया की पर अवस्था में सभी ब्रह्मलीन हो जाते हैं। इसीलिए तब देह का अस्तित्त्व नहीं रहता अथवा देहबोध नहीं रहता। उस समय शरीर एवं दर्शन दोनों हो नहीं। पुनः क्रिया की पर अवस्था की परावस्था में धीरे-धीरे देहबोध जाग्रत होता है। अतएव जो जैसी उत्तम क्रिया करेगा उसे वैसी ही देखने-सुनने और अन्त में लय की अवस्था प्राप्त होगी। क्रिया की पर अवस्था में रहकर अनासक्त भाव से सभी कार्य किये जा सकते है; क्योंकि तब पंचभूत में मन के न रहने से किसी कर्म के प्रति आकर्षण नहीं होता। उस समय सारी इन्द्रियाँ मन में, मन आत्मा में और आत्मा ब्रह्म में मिल जाता है और फिर जब ब्रह्म आत्मा में, आत्मा मन में, मन इन्द्रिय में और इन्द्रिय आदि पंचतत्त्व में मिलते हैं तब देहबोध के साथ समस्त विषय जाग उठते हैं अर्थात् एक ही ब्रह्म कभी क्रिया की पर अवस्था में और कभी पंचतत्त्व में तथा शरीर में रहता है। यही जीवन है, अर्थात् इन्द्रिय, मन और आत्मा का मिलन ही जीवन है और उसके विपरीत जो क्रिया की अदृश्य पर अवस्था है, वही ब्रह्म है। इसलिए क्रिया की पर अवस्था की प्राप्ति के लिए जो एकमात्र काम्य है—सभी को क्रिया करनी चाहिए। जो व्यक्ति निश्चित रूप से हमेशा क्रिया-साधना में रत है एवं जो बुद्धि हमेशा ब्रह्म में स्थित है उसे ब्रह्म-प्राप्ति होती है—इसमें कोई सन्देह नहीं और जो व्यक्ति क्रिया प्राप्त करके क्रिया करना कष्टकर समझ कर छोड़ देते हैं उन्हें इस साधन-या उपाय को छोड़ देने के कारण अत्यन्त दुख या

कष्ट सहना पड़ता है। यह तो निश्चित है कि क्रिया न करने से दुख और करने से ही सुख होता है। बुद्धि एवं पराबुद्धि को सम्यक रूप से जानने से ही मोक्ष प्राप्त होता है—यही आगम है। ऋषियों-महर्षियों ने उपदेश द्वारा अर्थात् कूटस्थ द्वारा यह निर्णय किया है कि जिन सभी व्यक्तियों का मन दूसरी ओर लगा है अर्थात पंचतत्त्व या विश्व-प्रपंच में रमा है, उन सब की दृष्टि मिथ्या है यानी क्रिया की पर अवस्था में न रहना ही शरीर-सृष्टि एवं सुख-दुख आदि का कारण है।

जिस किसी वस्तु को देखने का नाम प्रवृत्ति है यह जो कृष्ण को देख रहे हो, वह भी प्रवृत्ति है और न देखना ही निवृत्ति है। जो चलता है या गतिशील है. वही संसार है, और अनादिकाल से गतिशील है, उस चलने या गति की ओर प्रवृत्ति का जाना सत्य के रूप में प्रतीत होता है। इस मिथ्या को तत्त्वज्ञान द्वारा अर्थात् क्रिया द्वारा क्रिया की पर अवस्था में स्थिति ही निवृत्ति है। इसलिए क्रिया की पर अवस्था में अटके रहने को ही धर्म कहते हैं और यह अटके रहना निवृत्ति है, इस कारण कोई दोष नहीं किन्तु वहाँ न टिकने से ही प्रवृत्ति है—वही दोष है, क्योंकि क्रिया की पर अवस्था में स्थिति नहीं होने से देहबोध जाग उठता है और देहबोध के जागते ही मन, बुद्धि चित्त, राग-द्वेष मोह आदि उत्पन्न होते रहते हैं, यही दोष है। क्रिया की पर अवस्था में स्थित रहना ब्रह्म-भाव है। जो उस अवस्था में हमेशा रहते हैं उन्हें ही श्रेष्ठ प्रज्ञा प्राप्त होती है; क्योंकि उस अवस्था में उपरोक्त राग-द्वेष मोह आदि सब एक हो जाते हैं अर्थात् क्रिया की पर अवस्था में सब का विलय हो जाता है। क्रिया की पर अवस्था में आत्मा में स्थित रहने से मोह आदि की निवृत्ति होने से अनुत्पत्ति की स्थिति में एक भावोत्पत्ति के कारण मन दूसरी ओर नहीं जाता। इसलिए मन के दूसरी ओर न जाने से फिर जन्म नहीं होता। जन्म का अर्थ है अन्य दिशा में मन की प्रवृत्ति एवं उसी में स्थिति। यह स्थिति यानी इस जन्म में पंचतत्त्व में अच्छी तरह से लिप्त रहना ही प्रवृत्ति है और इसमें रहना ही क्लेश है। क्रिया की पर अवस्था अव्यक्त है, इस अव्यक्त से क्रिया की पर अवस्था की परावस्था में सबकुछ व्यक्त हो रहा है। देखने के द्वारा ही दिखाई देता है अर्थात् ब्रह्म द्वारा ही सब कुछ दिखाई दे रहा है; किन्तु उसके रहने पर कुछ भी दिखाई नहीं देता, जिस प्रकार मूर्ति द्वारा मूर्ति नहीं दिखाई देती। जो मूर्ति देख रहे हो वह मूर्ति ही यदि अपनी हो तो फिर देखोगे किसे? क्रिया करने के पहले असत उसके बाद क्रिया करके सत् अर्थात् कूटस्थ का दर्शन। फलाकांक्षा रहित कर्म करके अर्थात् प्राणकर्म करके क्रिया की परअवस्था में जो कुछ होता है वह होकर भी न होने जैसा ही है।

समस्त कर्मफल स्वभाव द्वारा प्राप्त होता है उसका हेतु ईश्वर नहीं। उत्तम पुरुष का फलाकांक्षा के साथ कोई कर्म नहीं—आत्मा गुणविशिष्ट (सत्व, रज, तम) के रूप में शरीर में स्थित है इसी कारण मिथ्या 'मैं' सब कुछ भोग रहा है। और ईश्वर भीतर ही भीतर निर्लिप्त है जिस प्रकार आत्मा के पश्चात् परमात्मा कूटस्थ ब्रह्म। क्रिया की पर अवस्था प्राप्त करने का नाम ईश्वरत्व है। आत्मा एवं ईश्वर एक है केवल गुण-भेद है। आत्मा के अतिरिक्त दूसरी ओर मन देने का नाम अधर्म है और क्रिया करना ही धर्म है तथा क्रिया करके ईश्वर को जानना ज्ञान है और क्रिया करके उस नशे को बढ़ाना धर्मसंचय है। इस प्रकार क्रिया करके एक हो जाना ही समाधि है अर्थात् समान रूप से ब्रह्म में स्थित रहना। तब सर्व ब्रह्ममय जगत का वोध हो जाने पर द्वैत या दो की स्थिति नहीं होती। जहाँ दो, वहाँ ईश्वर नहीं अतएव ईश्वर प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम से परे है। प्रत्यक्ष का अर्थ है आँखों से देखना—दो नहीं होने पर कौन किसे देखेगा ? जो मन में उभरे वही अनुमान है, वहां भी दो है। जो अकस्मात उपस्थित होता है वही आगम है इसमें भी दो वर्तमान है। इसलिये जहाँ दो या द्वैत है वहाँ ईश्वर नहीं; इन्हीं कारणों से ईश्वर, प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम से परे है। ईश्वर को साधन किया जा सकता है; किन्तु उपसाधन नहीं, क्योंकि पृथिवी के अणु के बल की अपेक्षा ब्रह्माणु का बल लाखगुना अधिक है। एक लाख ब्रह्माणु से एक मिट्टी का अणु तथा दस हजार ब्रह्माणु से एक जल का अणु बनता है। इसीलिए मिट्टी से जल का बल अधिक है। एक हज़ार ब्रह्माणु से एक तेज का अणु, एक सौ ब्रह्माणु से एक वायु का अणु और दस ब्रह्माणु से एक शून्य या आकाश का अणु। इस कारण जल की अपेक्षा तेज, तेज की अपेक्षा वायु, एवं वायु की अपेक्षा शून्य का बल अधिक है। वह लाख ब्रह्माणु जब एक के भीतर होते हैं तब उस एक के भीतर लाखगुना शक्ति होती है। योगी इस प्रकार जब ब्रह्माणु के भीतर स्थित होते हैं तब पंचतत्त्वों एवं काल पर उनका आधिपत्य होता है, वे सर्वशक्तिमान होते हैं। वे तब ब्रह्म में विचरण करने के कारण ब्राह्मण की संज्ञा प्राप्त करते हैं। ब्राह्मणकुल में जन्म लेने से ही ब्राह्मण होंगे—ऐसा नहीं है। हालांकि ब्रह्म से ही सबकी उत्पत्ति हो रही है, इसलिए सबको ब्राह्मण कहा जा सकता है; किन्तु ब्रह्म में न रहने से शरीररूपी गृह में रहने के कारण गृहस्थ कहा जाता है। जैसे गर्म वस्तु में मिथ्या अग्नि, उसी प्रकार ब्राह्मण-कुल में जन्म लेकर भी सभी मिथ्या ब्राह्मण। पूर्वजन्म के कर्मफल के अनुसार मां के गर्भ से उत्पन्न होने पर सभी गृहस्थ हैं; क्योंकि उस समय आत्मा विशिष्ट रूप से शरीररूपी गृह में प्रवेश करता है।

और जब क्रिया करते-करते देहबोध समाप्त हो गया तब शरीर रूपी गृह में न रहने से ब्राह्मण; तब और दूसरी बार जन्म नहीं होता। जो सुकृतिवान या सौभाग्यशाली हैं वे ही क्रिया प्राप्तकर एवं क्रिया करके सभी वस्तुओं में ब्रह्म का दर्शन करते हैं उन्हें ही ऋषि कहते हैं ऋषि अर्थात् जो हमेशा कूटस्थ में हैं ऐसे ही ऋषि कूटस्थ का दर्शन करने के लिये उपदेश दिया करते हैं। क्रिया की पर अवस्था के लिए उपदेश जरूरी है। मन्त्र अर्थात् जो मन का त्राण करता है, जिसके द्वारा मन स्थिर होता है उसे क्रिया कहते हैं। स्थिर होने से ही त्राण तथा स्थिर होकर जो स्थिरतत्व में रहते हैं उन्हें ही ब्राह्मण कहते हैं और इस कर्म को ही कर्म कहते हैं तथा जो इस कर्म को कर्म कहते हैं उनकी पत्नी न होने से वे गृहस्थ नहीं अर्थात् पत्नी स्वरूपा प्रकृति में न रहने से यानी श्वास प्रश्वास की गति न होने से वे गृहस्थ नहीं। इसीलिए गृहस्थ का नाम जायमान है, अथवा जिसका जन्म हो रहा है अर्थात् जो चलायमान है, चंचल है। यह गृहस्थ ही क्रिया करके क्रिया की परअवस्था में जब कूटस्थ में स्थित होता है, तब ऋषि होता है। और जो दूसरी ओर मन नहीं देते वे हमेशा क्रिया की परअवस्था में रह कर अमर होते हैं या फिर अमरता के बारे में भी कुछ नहीं सोचते। गुहा या ब्रह्मयोनि में रहते-रहते सभी कुछ का त्याग होने के कारण 'मैं ही वह पुरुष हूँ, इस प्रकार का अनुभव होने पर सर्व ब्रह्ममय जगत होता है और इसके बाद कुछ नहीं है—जो यह समझ पाते हैं वे मनीषी हैं। अतएव पहली तपस्या है कूटस्थ में रहना, दूसरी तपस्या है ब्रह्मचर्य कुल या आश्रम में रहना अर्थात् ब्रह्म में स्थित रहकर कुल कुण्डलिनी स्वरूप आत्मा में रहना और तीसरी तपस्या है आत्मा को कूटस्थ में रखकर टिकाए या अटकाए रखना अर्थात् क्रिया की परअवस्था में रहना। इससे व्यक्ति में अच्छे गुणों का विकास होता है। जो इस निष्काम कर्म को करते हैं अर्थात् आत्मकर्म करते हैं उनके प्राण का उत्क्रमण नहीं होता अर्थात् वियोग नहीं होता अथवा ब्रह्म में योग होने या युक्त होने से दूसरी ओर नहीं जाता ऐसी स्थिति में वे स्वयं ब्रह्म स्वरूप होकर लीन हो जाते है अर्थात् ब्रह्म हो जाते हैं।

दूसरी ओर मन लगाने से मन में विषय की उत्पत्ति होती है जिसे अहंकार कहते हैं। अर्थात् 'मैं' बुद्धि होने से ही विषय की ओर मन जाता है और यह अहंकार ही आत्मा में नहीं रहने देता। क्रिया की पर अवस्था में आत्मा रहने से विषय में नहीं और फिर विषय में रहने से वह आत्मा में नहीं। क्रिया की परअवस्था में रहते-रहते अहंकार, जन्म प्रवृत्ति आदि की निवृत्ति होती है और इन सब के नाश से मोक्ष होता है,

यही सभी शास्त्रों का उद्देश्य है। ये तमाम मिथ्या संकल्प जब नहीं होते तब मन आत्मा में रहता है—इस अवस्था का नाम मुक्तावस्था है। यही सब का काम्य है। संसार की वस्तुएँ देखने में उत्तम हैं; किन्तु भीतर विष जैसी हैं। ऊपर-ऊपर देखने से ही मन आकृष्ट होता है। किन्तु भीतर देखने से ही त्याग होता है। यही माया, यही चंचलता की अभिव्यक्ति है। ब्रह्मविद्या अथवा क्रिया की पर अवस्था का नाम विद्या है और क्रिया की पर अवस्था के अतिरिक्त अन्य समस्त वस्तुओं की ओर मन लगाने का नाम अविद्या है। दूसरी ओर मन देने या लगाने से ही यानी क्रिया की पर अवस्था में न रहना ही अयुक्त अवस्था है। ऐसी स्थिति में इन्द्रियों द्वारा समस्त विषयों से मन के आवृत होने पर क्रिया की पर अवस्था उपलब्ध नहीं होती। विषय की ओर मन के जाने से सारी इन्द्रियाँ दुर्बल होती है। दुर्वलता से जुड़ा मन क्रिया की पर अवस्था का अनुभव नहीं कर सकता। क्रिया की पर अवस्था में जब मन, मन में स्थित रहता है तब वह इन्द्रिय-विषय की ओर नहीं जा पाता, और गन्ध आदि कुछ भी ग्रहण नही कर सकता। क्रिया की पर अवस्था और प्रलय दोनों एक हैं। तीनों गुणों से परे क्रिया की पर अवस्था है। जब तक भाव है तब तक दो है और जब अच्छी तरह से अभाव की स्थिति होती है अर्थात् क्रिया की पर अवस्था होती है तब निराकार की स्थिति होती है फिर उस समय कुछ भी नहीं, तब ब्रह्म में लीन होने से निर्वृत्ति होती है यानी वृत्ति-शून्यता की स्थिति होती है। किन्तु इस स्थिति में सभी वस्तुओं के लय की कल्पना नहीं हो सकती; क्योंकि उस समय तुम्हारा ही लय हुआ है अन्यान्य वस्तुएँ ज्यों की त्यों हैं। निरवयव या निराकार की स्थिति में समस्त पदार्थों के परमाणु विशेष रूपों में विभाजित होकर ब्रह्म में मिल जाते हैं। अर्थात् पृथ्वी के अणु जल में, जल के अणु तेज में, तेज के अणु वायु में, वायु के अणु शून्य या आकाश में, और शून्य के अणु ब्रह्म में मिल जाते हैं। इस प्रकार जिसका विस्तार-विकास हुआ था वह संकुचित हो गया और बाद में जहाँ ब्रह्माणु भी नहीं, वहीं टिका-अटका रहा—यही क्रिया की पर अवस्था है। आकाश अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण अनुभव में नहीं आ सकता; किन्तु लगता है, कुछ है। इसी प्रकार आकाश की अपेक्षा सूक्ष्मतर, निरवयव या निराकार ब्रह्माणु का अनुभव नहीं हो सकता। लेकिन कुछ है—इस प्रकार का बोध होता है। अतएव क्रिया की पर अवस्था कुछ भी नहीं—यह कुछ भी नहीं ही ब्रह्म है। उसी में सबका विलेय होगा। क्रिया की पर अवस्था में कोई मूर्त्ति या आकार दिखाई नहीं देता। वह सर्वगत—सर्व व्यापी अवस्था है। मन जब तक वस्तु

में है तब तक आवरण है और जब किसी वस्तु में नहीं होता तब वह निरावरण या आवरणहीन होता है। क्रिया की पर अवस्था का आकाश सर्वगत है, आवरण हीन है। इसीलिए क्रिया की परावस्था के अतिरिक्त संसार में और कुछ भी कल्याणकारी नहीं है। वही अभयपद, विभु पवित्र और महान है। वही सबका आदि है, निधि है, एवं कूटस्थ स्वरूप विशाल नेत्र तथा सूर्य-चन्द्र-नक्षत्र है। यह क्रिया की परावस्था अचानक ही आती है; किन्तु जब आती है तब उस अवस्था में जितनी भी देर तक रहा जाय अच्छा है अथवा उस अवस्था में रहना उचित है। इस अवस्था को भंग करना आत्महत्या के समान है।

● ● ●

योगिराज को क्या वैष्णव कहा जाय या वे क्या शैव, शाक्त सौर अथवा गाणपत्य थे ? वे इनमें कुछ नहीं थे और सब कुछ थे। इसके सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं ही अपनी दिनलिपि में प्रमाण रख छोड़ा है। उन्होंने सभी तरह के कृष्ण-विष्णु और सभी तरह के शिव को देखा है तथा सभी तरह की काली के साथ तमाम देवियों को देखा है। सौर मत के अनुसार नानाप्रकार के आत्मसूर्य एवं गणपति को देखा है। वे किसी विशिष्ट मत या पथ के साधक नहीं थे, उनमें सभी मतों एवं पथों का संगम हुआ था। वे एक ओर परम वैष्णव थे और दूसरी ओर परम शैव परम शाक्त, परम सौर एवं परम गाणपत्य थे। इस सन्दर्भ में उन्होंने जो कुछ देखा या जिसका दर्शन किया और अपनी दिनलिपि जो लिपिबद्ध किया है वह नीचे दिया जा रहा है—

१—**"इहाँ कालीजि विराजमान—खालि कालि नहि सबकोइ याने कुछ नाहि आउर सब कुछ—आहा क्या मजा हय।"** अर्थात् यहाँ कालीजी विराजमान हैं, केवल काली ही नहीं बल्कि सभी अर्थात् कुछ भी नहीं और सब कुछ भी। और इसका दर्शन करके गद्गद् हो गए और कहा—वाह क्या मजा है।

२—**"लोल जिह्वा मालुम हुआ काली का। इह जिह्वा जब तालुमूल में लपट जाता ह्याय। जिभ आउर उठा आउर इह मालुम होता हय कि निद छोड़ देना। आउर बड़ा मजा मालुम हुआ आउर वासुलिका आवाज आउर साफ बजने लगा।"** अर्थात् काली की लालसायुक्त जिह्वा मालूम पड़ी। मेरी यह वर्तमान जीभ जब तालुमूल में अटक गई तभी यह मालूम पड़ा। इसी के ही प्रतीकस्वरूप माँ काली की जिह्वा बाहर निकली है। जीभ और ऊपर उठ गई और यह समझ में आया कि इस

अवस्था में नींद त्याग दूँगा। तब खूब मजा आया और श्रीकृष्ण की बाँसुरी की ध्वनि की तरह प्राणायाम के समय बाँसुरी की आवाज़ और भी साफ-साफ बजने लगी।

३—"महादेव औ काली दरशन हुआ—आज थोड़ा सफा ब्रह्म देखा।" अर्थात् महादेव और काली का दर्शन हुआ। आज कुछ साफ ब्रह्म को देखा।

४—'हाडका काली देखा, फटिक का आउर ज्योति का काली देखा।" अर्थात् हाड़ की काली देखा, स्फटिक एवं ज्योति की काली देखा।

५—"सूर्यहि काली का रुप।" अर्थात् आत्मसूर्य ही काली का रूप है।

६—नीलवर्ण कालीजिका शिर का उपर देखा।" अर्थात् मस्तक के ऊपर सहस्रार में नीलवर्ण की काली को देखा।

७—सिंह के ऊपर एक देवी की मूर्ति आँक कर उसके बगल में लिखा है—आधारचक्र में जो देवी श्वेतवर्ण श्वेतवस्त्र परिधान सिंहवाहिनि को देखा—कुलकुण्डलिनी शक्ति।" अर्थात् श्वेत वर्ण श्वेतवस्त्र पहने सिंह-वाहिनी देवी को आधारचक्र अथवा मूलाधार चक्र में देखा। वे ही कुल कुण्डलिनी शक्ति रूपा जगद्धात्री हैं। इस देह रूप जगत को उन्होंने ही धारण कर रखा है।

८—"काली का चरण देखा।" "कालीर नाम अर्थात् सूर्येर ध्यान ओ प्राणायाम कालीर पा एक वै पा दुइ हइयाछे बाँ पा ओ डान पा अर्थात् चन्द्र ओ सूर्य अर्थात् इड़ा ओ पिंगला।" अर्थात् आत्मसूर्य का ध्यान ही काली का नाम है। सुषुम्ना के भीतर प्राणायाम ही काली का पाँव है, वह एक है; किन्तु वही एक पाँव दो हुआ है अर्थात चंचल होकर इड़ा और पिंगला में गति होने से दो पाँव हुआ है—इड़ा यानी बायाँ पाँव और पिंगला दाहिना पाँव है। मा के इस इड़ा और पिंगला रूपी दोनों चरणों को पकड़ने से ही मा मिलती है। हाड़-मांस के दोनों पाँवों में चलने की अपनी कोई क्षमता नहीं है। इड़ा और पिंगलारूपी दो चरण हैं—इसीलिए स्थूल चरणों का अस्तित्व है। चरण का अर्थ है जो विचरण करे। इड़ा-पिंगला में श्वास के विचरण करने के कारण ही देह का अस्तित्व है। इसीलिये योगिराज ने कहा है—"चरण याने दोनो श्वासा जयसा चरण ए स्थान छोड़ के जाता हय ओएसाहि शक्ति श्वासा का।" अर्थात् चरण यानी दो श्वास; जिस प्रकार चरण एक स्थान छोड़कर दूसरे स्थान में जाता है—श्वास भी उसी प्रकार इस देह को छोड़कर नूतन देह में जाता है।

९—कपाल के ऊपर एक सूर्य आँककर उसके बगल में लिखा है—सूर्य ओहि काली—सूर्य का रुप आउर हमारा रुप एक हय।" यह जो

आत्मसूर्य देख रहा हूं वही काली है। उस आत्मसूर्य का रूप एवं मेरा रूप एक ही है अर्थात् जो मेरा रूप है, वही काली का रूप है दोनों अभिन्न हैं; कई दिन पश्चात फिर लिखा है—"**सूर्यहि काली सोइ काली हम सोइ हम।**" अर्थात् जो आत्मसूर्य वहीं काली है; वही मैं ही हूं वह काली मैं ही हूं। इसके ठीक दो दिन बाद लिखा है—"**सूर्यइ ब्रह्मरूप हय एवं सूर्यइ जगत आधार हय ओहि अटल छत्र—ओहि सूर्य फिर हम निराकार ब्रह्म होते हय—अब श्वासा का चलना ओ न चलना मालुम न होय—बड़ा मजा।**" अर्थात् यह आत्मसूर्य जिसे देख रहा हूँ वही ब्रह्मरूप है। यही जगत का आधार-स्थल है। सभी कुछ की इससे उत्पत्ति होती है एवं उसी में लय होता है। यही सबका दृढ़ एवं अचंचल आच्छादन है। इस आत्मसूर्य रूपी काली के दर्शन में आगम-निगम रूपी श्वास-प्रश्वास चलता है या कि नहीं चलता है कुछ भी समझ में नहीं आता अर्थात् 'केवल कुम्भक' की अवस्था है। इस अवस्था में बड़ा ही मजा है। वह आत्म सूर्य ही मैं हूँ; निराकार ब्रह्म हूँ।

१०—"**कभि कभि निला जो कि ठान्डि काली का रंग हेय रटन्ति नाम उनका ऐसा व्याप्त हुआ कि जब प्रणाम को बठते हय तद्याव्रिच में विच वेहि रंग का सूर्य नजड़ पड़ाता हेय, काली तो एक हेय लेकिन रंग में परभेद हेय।**" अर्थात् कभी-कभी शान्त नीले रंग की काली को देखता हूँ जिसे रटन्ती कहते हैं। जब प्राणायाम करने बैठता हूँ तब वह काली ऐसी हो जाती है कि कभी उसी रंग का आत्मसूय दिखाई देता है। काली एक ही है किन्तु विभिन्न रंगों में दिखने से पृथक लगती है।

११—"**शक्ति ओ महादेव का लिंग देखा।**" अर्थात् महामाया शक्ति और महादेव का लिंग देखा।

१२—"**काली का खड्ग देखा।**"

१३—"**शक्ति रूप भगवती देखा।**" अर्थात् शक्ति रूपा भगवती दुर्गा को देखा।

१४—"**छिन्नमस्ता रूप देखा।**"

१५—"**आद्याशक्ति देखा।**" अर्थात् महामाया सनातनी महादुर्गा को देखा।

१६—"**आज सोने का काली से भेट हुआ।**" आज सोने की काली का दर्शन हुआ।

१७—"**सूर्य के झालर याने किरीट। सूर्य से काली का खड्ग हय। सूर्यइ मालिक। ओहि उत्तमरूप सूर्य का हय।**" अर्थात् उस आत्म सूर्य की झालर अर्थात् किरीट। उस आत्मसूर्य से ही काली के खड्ग का अस्तित्व है। वह आत्मसूर्य ही मालिक है प्रमुख है। वही उस आत्म सूर्य का उत्तम रूप है।

१८—"दुइ चाँद—महादेव काली दर्शन हुआ।" अर्थात् दो चाँद यानी महादेव और काली का दर्शन हुआ।

१९—एक श्यामा-मूर्ति आँककर उसके बगल में लिखा है—"श्यामा-सुन्दरी रूप। काली रूप देखा बहुत देर तक।" इस प्रकार का श्यामा सुन्दरी रूप देखा और काफी देर तक कालीरूप देखा। १३ अगस्त १८७३ ई० को काली के गले की माला आँक कर उसके बगल में लिखा है—"महाकाल–एहि आपना रूप—एहि घटाकाश—एहि कालीजिके माला गले में-इह गल जाय याने नहि रहे तो सबके उपर अजर अमर घर हय - ओंहा जाने से स्थिर घर का थ मिलता हय—उसि स्थिर में आज दो मिनिट रहे—सवेरे, हुंइ हमेशा रहना चाहि। हमहि सूर्य हय फिर उलट के सूर्य हमहि—हमहि निराकार ब्रह्म।" अर्थात् यही महाकाल है यही अपना रूप है—यही घटाकाश है और और फिर यही काली के गले की माला है। यह माला जब गल जाती है अर्थात् जब नहीं रहती तब फिर वहीं सबके ऊपर अजर अमर घर है; वहाँ पहुँचने पर स्थिर घर का ठाँव मिलता है। उस स्थिर घर में आज सुबह दो मिनट स्थिर रहा उस स्थिर घर में हमेशा रहना चाहिए। मैं ही आत्मसूर्य हूँ और दूसरे रूप में वह आत्मसूर्य ही मैं हूँ, मैं ही निराकार ब्रह्म हूँ।

२०—"इड़ा पिंगला पटचक्र जो की सुषुम्ना में मिलके पद्मके रूप साफ मालुम होता हेय उहि के उपर सरस्वती हेय देखा। अर्थात् इड़ा पिंगला और षटचक्र जो सुषुम्ना में मिलकर पाँव स्वरूप हो गए—वह साफ-साफ समझ में आया। उसके ऊपर सरस्वती को देखा।

२१—"सूर्य के भितर पद्मका वन वीनापाणि के देखा।" अर्थात् आत्म-सूर्य के भीतर जो कमल-वन अर्थात् षटचक्र है, वहाँ वीणा पाणि को देखा।

२२—"विद्युतप्रभा पुष्प सदृश रक्तवर्ण कामवीज वागदेवी देखा। अर्थात् विद्युत की विशिष्ट प्रभा से पूर्ण फूलों जैसा रक्तवर्ण कामबीज वाग्देवी को देखा

२३—हाथी की पीठ पर सावित्री एवं ब्रह्मा की मूर्ति आँककर उसके बगल में लिखा है—"सरस्वती विनायक अर्थात् सावित्री सह ब्रह्मा हस्तिवाहन देखा। अर्थात सरस्वती और गणेश अर्थात सावित्री के साथ ब्रह्मा हस्तिवाहन को देखा।

२४—"गणेश कूटस्थ अक्षर के भितर याने चतुर्मुख ब्रह्मा देखा। अर्थात कूटस्थ अक्षर के भीतर गणेश यानी चतुर्मुख ब्रह्मा को देखा।

२५—"अब ध्वनि सुने राधाजिका दर्शन भया।" अर्थात अब ओंकार ध्वनि सुना और उसके भीतर राधाजी का दर्शन हुआ।

Scanned by CamScanner

२६—**"सूय क भितर गनेशका मूर्ति साफ देखा।"** अर्थात् आत्मसूर्य के भीतर गणेश की मूर्ति स्पष्ट रूप से देखा।

२७—**"वइशुण्ड का गणेश नारायण से निकिले देखा।"** अर्थात् विना सूँड़ का गणेश नारायण से बाहर होते हुए देखा।

२८—सर्पवत कुण्डलिनी का चित्र आँककर उसके बगल में लिखा है—**"एहि कुल कुण्डलिनी सार्द्ध त्रिवलयाकारास्वयंभू लिंग वेष्टिनीं भुजगाकार रूपिणि—एयसा देखने में आता हय।"** अर्थात् यही कुलकुण्डलिनी है, यह सर्प की तरह साढ़े तीन चक्कर या गेंडुरी में स्वयम्भू लिंग को घेरे है ऐसा देख पड़ा। पुनः एक ओंकार क्रिया का रेखांकन करके उसके बगल में लिखा है—"**शरीर के ईशान कोन मे शयम्भु कुण्डलिनी वेष्टित ज्वलन्त गन्धक का रंग मशाल के माफिक लेकन स्थिर श्वेतवर्ण सर्पाकार देखा।** अर्थात् शरीर के ईशान कोण में वह कुल कुण्डलिनी सर्पाकार स्वयंम्भू लिंग को लपेटे है जो जलते गन्धक के रंगमशाल की तरह देखने में है; किन्तु वह यथार्थतः स्थिर एवं श्वेतवर्ण है।

२९—२२ जनवरी १८७३ ई० को लिखा है—**"चन्द्र सूर्य ज्योति दोनो तरफ देखा—विश्वनाथ का लिंग सुषुम्ना रूप विच में देखा—तंत्रप्रमाण-योनि ब्रह्म हृदाकारं अन्तरात्मनि चिन्तयेत्।"**—अर्थात् कूटस्थ के दोनों तरफ चन्द्र और सूर्य की ज्योति देखा। उसके भीतर सुषुम्ना के रूप में विश्वनाथ का लिंग देखा। इसके सम्बन्ध में तंत्र में प्रमाण है कि वही वह ब्रह्मयोनि है अर्थात् सभी कुछ का उत्पत्ति स्थल है जो अन्तर्मुखी ध्यान द्वारा प्राप्त की जा सकती है। पुनः एक द्विदलपद्म अथवा कमल की दो पंखुड़ी आँककर उसके बगल में लिखा है—**"द्विदल पद्म कोटि चन्द्रप्रभा जसा देखा।"** अर्थात् द्विदलपद्म अर्थात् आज्ञा-चक्र जो कोटि कोटि विशिष्ट चन्द्रप्रभा से युक्त है। १२ अगस्त १८७३ ई० को लिखा है—**"पाँच सूर्य का उदय सूर्यहि हय श्वेत ध्वजा। सूर्यनारायण मालिक—ओहि सूर्य मालिक-ओहि सहस्रांशु हय।"**—अर्थात् पाँच सूर्यों का उदय हुआ। वह आत्म सूर्य ही श्वेत ध्वजा है। वह आत्मसूर्य ही नारायण हैं (सवितृ-मण्डल में मध्यवर्ती नारायण) वे ही मालिक हैं एवं वे ही सहस्रांशु हैं। इसी की ओर लक्ष्य करते हुए संजय ने कहा है—

दिवि सूर्य सहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता।
यदि भा : सदृशी सा स्याद्भास्तस्य महात्मनः॥

गीता : ११।१२

संजय का अर्थ है सम्यक रूप से जय-प्राप्ति पर जिसका प्रकाश होता है अर्थात् दिव्य दृष्टि ही संजय का प्रतीक है उसी दिव्यदृष्टि द्वारा मन के

निकट यह कहा गया है। दिवि का अर्थ है आकाश है यदि सहस्र या हजार सूर्य की प्रभा एक साथ उदित होती है तो फिर वह महात्मा के प्रभाव सदृश होती है अर्थात् उस ज्योतिर्मय महान रूप की कोई तुलना नहीं होती—वही कूटस्थ ब्रह्म का वृहत रूप है। इसीलिए कह रहे हैं कि यदि सहस्र सूर्य की ज्योति एकत्र होती है तो फिर वह महान आत्मा जैसी हो सकती है[१]। इस सहस्रांशु का दर्शन करके अर्जुन ने कहा है :—

---

१. इस सूर्य एवं महाशून्य के सम्बन्ध में शास्त्रों में अनेक स्थलों पर ऋषियों ने अनेक प्रकार से चर्चा की है। किन्तु यह किस सूर्य एवं किस महाशून्य के बारे में कहा गया है इस सम्बन्ध में परवर्तीकाल में तमाम पंडितों एवं भाष्यकारों ने आकाश में उदीयमान सूर्य एवं दृश्यमान आकाश का ही उल्लेख किया है। किन्तु योगिराज का कथन है कि आकाश का यह सूर्य भी अनित्य है, नाशवान है, अतएव शास्त्रोक्त वह सूर्य आत्मसूर्य है, जो नित्य है, शाश्वत और अविनाशी है उसे केवल योगी ही देखने में सक्षम होते हैं। गीता में अर्जुन ने भी उस आत्मसूर्य की चर्चा करते हुए कहा है कि आकाश में इस सूर्य की तरह यदि सहस्र सूर्य एक साथ उदित हों तो उस महान आत्मसूर्य जैसे हो सकते हैं। इससे यह बात समझ में आती है कि गीता में इस दृश्यमान सूर्य की चर्चा नहीं की गई है। वह आत्म सूर्य है। यह भाष्य केवल योगिराज ने ही किया है क्योंकि उन्हें इसकी उपलब्धि हुई थी—उपलब्धि ही नहीं बल्कि उन्होंने उसका बार-बार प्रत्यक्षत: दर्शन किया था और यह कहने की सक्षमता प्राप्त की थी। ऐसी ही क्षमता अर्जुन ने भी प्राप्त की थी।

फिर शास्त्रोक्त महाशून्य के सम्बन्ध में पूर्वोक्त तमाम पण्डितों एवं भाष्यकारों ने इस दृश्यमान शून्य या आकाश की ही चर्चा की है अथवा पृथ्वी से अनेक ऊपर जो शून्य या आकाश है उसकी ही चर्चा की है। किन्तु इसके बारे में योगिराज का कथन है कि यह शून्य पंचभूतों का अन्तिम भूत है जो स्थूल से सूक्ष्म होते-होते शेष सूक्ष्म महाभूत है। अतएव यह शून्य भी स्थूल होने के कारण महाशून्य नहीं है। यह भी अनित्य है; किन्तु सीमाहीन होने से इसे मापा नहीं जा सकता। इस शून्य के अन्तिम महाभूत होने से इसका भी गुण है। यह गुणातीत नहीं है इसीलिए वे महाशून्य के सम्बन्ध में कहते हैं कि इस शून्य के भीतर जो शून्य है अर्थात जिस शून्य के अस्तित्व से इस दृश्यमान शून्य का अस्तित्व हैं। जो स्वच्छ अविनाशी एवं निर्गुण है जिससे इस शून्य की सृष्टि-स्थिति और लय होते हैं वही महाशून्य है। वह महाशून्य ही ब्रह्म है। वह महाशून्य इस शून्य के भीतर ओत-प्रोत है। उसी महाशून्य की उपलब्धि और प्रत्यक्ष दर्शन उन्हें बार-बार हुए। इसीलिए ऐसा भाष्य करने में वे सक्षम थे। केवल यही नहीं बल्कि उनकी उपलब्धि के

त्वमक्षरं परमं वेदितव्य
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥
—गीता : ११।१८

अर्थात् तुम ही अक्षर हो, परमब्रह्म हो, तुम्हीं एक मात्र ज्ञातव्य या जानने योग्य हो; तुम ही इस विश्व के परम आश्रय हो। तुम ही अव्यय एवं शाश्वत धर्मगोप्ता या धर्म-रक्षक हो और तुम ही सनातन पुरुष हो, ऐसा मेरा मत है। अर्थात् तुम ही कूटस्थ चैतन्य और स्थिर प्राणरूप अक्षर पुरुष हो; क्योंकि तुम्हारा क्षय नहीं। और कूटस्थ के ऊपर सहस्रार में तुम ही अव्यक्त रूप महाप्राण परम ब्रह्म हो; तुम ही एक मात्र जानने योग्य हो इसीलिये तुमको जानना ही आत्मज्ञान है जो यथार्थ ज्ञान है। अतएव तुम्हें जान लेने पर और कुछ जानना बाकी नहीं रहता इसीलिए तुम्हीं एक मात्र ज्ञातव्य हो। तुम ही जगत के प्रधान आश्रय हो, क्योंकि अव्यक्त ब्रह्म की स्थिरावस्था का अन्त नहीं है इसलिए तुम ही विश्व के आधार स्वरूप परम आश्रय एवं नित्य अर्थात् स्थिर प्राण हो। तुम ही विश्व के शाश्वत, सनातन धर्म-रक्षक, पालनकर्त्ता हो; क्योंकि शाश्वत-सनातन धर्म की योगक्रिया के भीतर तुम ही गुप्त रूप से स्थित-प्रतिष्ठित हो। इस रहस्य को एक मात्र गुरु उपदेश रूपी उपाय के द्वारा ही उद्घाटित किया जा सकता है। तुम ही सनातन आदिपुरुष हो; क्योंकि तुम्हारे पूर्व एवं पश्चात कोई नहीं—यही मेरा अभिमत है।

सम्बन्ध में उनकी दिनलिपियाँ या डायरियाँ देखने से समझ में आता है कि वे साधना द्वारा उस स्वच्छ अविनाशी निर्गुण महाशून्य रूपी परब्रह्म में मिलकर एकाकार हो गए थे, उसी में लीन-विलीन हो गए थे। यही वेदान्त द्वारा प्रतिपादित साधना की अन्तिम या परम अवस्था है। उस महाशून्यरूपी परब्रह्म में मिलकर एकाकार हो जाने पर दो या द्वैत का कोई आभास नहीं, वही अद्वैत की अवस्था है और इसके पूर्व सभी की द्वैत अवस्था है। इस आत्मसूर्य एवं महाशून्य को जानना ही गीता एवं वेदान्त की अन्तिम अवधारणा है। दिव का अर्थ है आकाश यानी वह स्वच्छ अविनाशी महाशून्य है। उस महाशून्य से जिनकी उत्पत्ति होती है अर्थात् जो पहले व्यक्त होते हैं वे ही देवता हैं इसीलिए योगिराज ने कहा है कि कृष्ण भी महाशून्य में मिल गए क्योंकि वे भी अनित्य थे। केवल वह महाशून्य ही नित्य है; यही योगिराज का वक्तव्य है।

भगवान श्रीकृष्ण की कृपा से जिस प्रकार अर्जुन असीम, अमित महातेजस्वी विश्वरूप का दर्शन करने में सक्षम हुए थे उसी प्रकार बाबाजी महाराज के प्रसाद या उनकी अनुकम्पा से योगिराज भी अर्जुन की तरह विश्वरूप दर्शन करते हैं—सहस्रांशु को देखते हैं—यही शशि सूर्य नेत्रम् का दर्शन है।

इस विश्व रूप दर्शन से अर्जुन जैसा साधक भी भयभीत हो गया था; किन्तु योगिराज का कथन है—**"आदित्य सेरा पुरुष हय अब सहजे आवे जाय।"** अर्थात् वह आदित्य या सहस्रांशु ही श्रेष्ठ पुरुष है जो अब आँख मूंदने पर आसानी से ही दिखाई देता है और आँख खुलने पर चला जाता है। यह अवस्था अब उनके लिए सहज स्वभाव सिद्ध हो गई।

इसके कई दिन बाद एक सहस्रदल पद्म आँक कर उसके बगल में लिखा है—**"अयसा हजारो चक्र मय हरफ समेत मालुम होता हय सहस्रार में।"** अर्थात् सहस्रार में हजार दलों वाला विशिष्ट चक्र स्थित है उसके प्रत्येक दल को बीजाक्षर समेत देखा। ३०—**'श्वेत द्वीपवासी नारायण देखा—"** अर्थात् श्वेत द्वीप वासी या चन्द्रद्वीप वासी नारायण को देखा अर्थात् विष्णु धाम का दर्शन किया। तात्पर्य यह है कि कूटस्थ में जो चन्द्र दिखाई देता है उसके अन्तर्गत नारायण को देखा। फिर लिखा है—**सूर्यनारायण रूप देखा।"** अर्थात् कूटस्थ में जो आत्मसूर्य दिखाई पड़ता है उसके अन्तर्गत नारायण को देखा। पुनः लिखा है—**"ज्योतिर्मय श्वेतवर्ण महादेवेर रूप देखा, बडा आनन्द हुआ।"** अर्थात् उस चन्द्र सूर्य के भीतर ज्योतिर्मय श्वेतवर्ण महादेव को देखा और बड़ा ही आनन्द आया। इसके बाद लिखा है। **"ज्योतिरूप लालडोरा सुषुम्ना को किनारे मेहिन देखा—पहले ज्योतिर्मय लिंग देखा फिर शून्य में समाय गया।"** अर्थात् सुषुम्ना के किनारे लाल धारीदार महीन ज्योतिरूप देखा इसके पहले ज्योतिर्मय लिंग देखा; किन्तु वह शून्य के भीतर जो शून्य है उस महाशून्य में मिल गया। इसके बाद और आगे जाकर लिखा—**"नक्षत्र लोक देखा।"** अर्थात् जहाँ बृहत चन्द्र सूर्य नहीं हैं किन्तु जिससे सभी कुछ प्रकाशित है तथा जो छोटे-छोटे तारा-समूह का अवस्थान-स्थान है उस दिवा शर्वरी या महारात्रि को देखा। नक्षत्र का गूढ़ार्थ स्पष्ट करते हुए योगिराज कहते हैं कि नक्षत्र = जिसका क्षय न हो—या क्षरण न न हो, अत्र = जहाँ स्थिति होने पर क्षय नही अर्थात् क्रिया की परावस्था रूप स्थिरावस्था। इस प्रकार स्थिरावस्था में कूटस्थ के भीतर स्थित हृदयाकाश में स्थिर ध्रुवतारा रूपी उज्ज्वल नक्षत्र दिखाई पड़ता है।

३१—**"ज्योतरूप अंगुष्ठ प्रमाण पुरुष देखा।"** अर्थात् ज्योति रूप अँगूठे के माप का पुरुष देखा।

३२—दो कालमूर्ति का अंकन करके उसके बगल में लिखा है—**"राधाकृष्ण साधिष्ठान पदमे कृष्णवर्ण देखा।"**—अर्थात् साधिष्ठान अथवा स्वाधिष्ठान चक्र या कमल में कृष्णवर्ण राधाकृष्ण को देखा।

३३—२१ सितम्बर १८७३ ई० को लिखा है—**'महादेव का त्रिशुल विष्णु का सुदर्शनचक्र ब्रह्मा का दण्ड पंचदेवता देखा—सत्य हे भगवान।** अर्थात् महादेव का त्रिशूल, विष्णु का सुदर्शनचक्र, ब्रह्मा का दण्ड और पंच देवता (गणेश, सूर्य विष्णु शिव और दुर्गा), को देखा और भाव विभोर होकर कहते हैं, हे भगवान तुम ही सत्य हो।

३४—**सप्तऋषि व चार मनु देखा।"** अर्थात् सप्तर्षियों एवं चार मनुओं को देखा। सप्तर्षियों के अन्तर्गत भृगु, अत्रि, अंगिरा, मरीचि पुलस्त्य, पुलह और ऋतु का नाम आता है। मनु को ब्रह्मा का पुत्र माना जाता है, वे मनुष्य जाति के आदिपुरुष थे। चौदह मनु एवं मन्वन्तरों के नाम हैं—स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्म सावर्णि, धर्म सावर्णि, रुद्र सावर्णि, देव सावर्णि एवं इन्द्रसावर्णि। किन्तु योगिराज चार मनुओं को देखते हैं। इस सन्दर्भ में श्री कृष्ण ने कहा है—

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः।।

गीता : १०।६

अर्थात् सात महर्षि और उनसे पूर्ववर्ती चार ऋषि सनक, सनन्द सनातन और सनत कुमार तथा चौदह मनु ये सभी मेरे प्रभाव से युक्त एवं हिरण्यगर्भ रूपी मेरे ही संकल्प से उत्पन्न हुए हैं। इस जगत के सभी प्राणी जिनकी सन्तान हैं।

यहाँ योगिराज उन चार पूर्ववर्ती मनु अर्थात सनक, सनन्द, सनातन, एवं सनत्कुमार को ही देखते हैं।

३५—**श्री नाथ का दर्शन हुआ।"** अर्थात् लक्ष्मीपति श्री विष्णु का दर्शन हुआ।"

३६—**"शेष नाग पर हरि सयन किए हय हृदय मे देखाता हय।"** अर्थात् हृदय-कमल में शेषनाग के ऊपर हरि को शयन की अवस्था में देखा यानी अनन्त नागरूप शय्या पर शयन करने वाले नारायण को देखा।

३७—**"कृष्ण का शेषनाग पर शयन—एयसा रूप आँखो से देखा।"**

अर्थात् कृष्ण शेष नाग पर सोए हैं—ऐसा रूप खुली आँखों से देखा। यह रूप कैसा है—उसे अपनी दिनलिपि में अंकित कर रक्खा है।

३८—'अनत देव देखा।'—अर्थात अनन्तदेव नारायण को देखा।
३९—"रुद्रराज देखा।" अर्थात् रुद्रराज शिव को देखा।
४०—"मत्स्यावतार देखा।"
४१—वाराहावतार देखा
४२—"शिव सनक शक्ति—रामचन्द्र का धनुक देखा" अर्थात् शिव ब्रह्मा के मानसपुत्र सनक एवं शक्ति रूपा जगद्धात्री एवं रामचन्द्र के धनुष को देखा।
४३—"नारद का विन देखा।" अर्थात् नारद की वीणा देखा।
४४—"मोगल दरवान भगवान का देखा।" अर्थात् भगवान के मोग़ल रूपी दरवान को देखा। यहाँ उन्होंने अपनी डायरी या दिनलिपि में एक मुसलमान का चित्र आँक रक्खा है।
४५—'विष्णु जी पदम देखा। अर्थात् विष्णुपद देखा।
४६—नारायण देखा।"
४७—"पंचानन शक्ति रूप देखा।" अर्थात् शिव के शक्ति रूप को या शिवशक्ति को देखा। वहाँ शिव एवं शक्ति को उन्होंने अभिन्न रूप में देखा है।
४८—"लक्ष्मीनारायण देखा।"
४९—"त्रिशूल महादेव का देखा।"
५०—"कृष्ण कालीजी भयराह देखा लेकिन कुछ बोले नेहि।" अर्थात् कृष्ण काली हुए यह देखा किन्तु कुछ कहा नहीं।
५१—"कृष्ण का रूप ओंकार हरि का रूप देखा।" अर्थात् कृष्ण-रूप एवं हरि के ओंकार रूप को देखा।
५२—"सर्वघट विराजमान ओंकार से परे पुरुषोत्तम नारायण का रूप इसि घट में सूर्य को देखत देखत मालुम होता हय।" यहां अपनी दिनलिपि में पुरुषोत्तम नारायण का रूप आँककर उसके बगल में लिखा है इस देह रूप घट के कूटस्थ में स्थिति प्राप्त होने पर जो आत्मसूर्य दिखाई देता है उस आत्मसूर्य को देखते-देखते यह समझ में आया कि ओंकार से परे सर्वघट में व्याप्त विराजमान पुरुषोत्तम नारायण हैं।
५३—"ब्रह्मा विष्णु महेश देखा।" अर्थात् ब्रह्मा-विष्णु-महेश को देखा। इन तीन प्रमुख देवों को वे एक साथ ही देख रहे हैं।
५४—"दश महाविद्या देखा।" अर्थात् काली, तारा, षोड़शी, भुवनेश्वरी भैरवी, छिन्नमस्ता, धूमावती, बगला, मातंगी, एवं कमला इन दश महाविद्याओं या महादेवियों को देखा।
५५—"कल्पवृक्ष नाल—ब्रह्मा विष्णु महेश पंचदेवता देखा। कल्पवृक्ष असल।" अर्थात् कल्पवृक्ष नाल एवं ब्रह्मा विष्णु महेश के साथ

पंचदेवता को देखा। यह कल्पवृक्ष अथवा कल्पतरु ही सत्य है, मूल है। "भारि परदा विचका जिसमें लखा न जाय उह परम पुरुष जो अनादि निराकार आपने मे हय याने आँख एक जो हय कल्पवृक्ष। उस्के बाद फिर एक लम्बा देखा जो ले जाता अभय पद को उह सूर्य से पायदा हय वो सूर्य सून्य में मिला हय। एहि हय शिवलिंग इसका वर्णन को कर सके एहि तुम हो इह छोड़ाय के दुसरा कोइ नहि। अर्थात् कूटस्थ के भीतर जो भारी परदा है उसमें जो दिखाई देता है वही परम पुरुष है और फिर वे ही आदि, मध्य एवं अन्त, निराकार, स्वयंभू स्वरूप हैं—फिर जब सब स्वच्छ कूटस्थरूपी एक चक्षु होते हैं तब वे ही कल्पवृक्ष या कल्प तरु हैं। इसके बाद एक लम्बी ज्योति-रेखा को देखा जो अभयपद तक पहुँचा देती है। जिसकी उत्पत्ति आत्मसूर्य से हुई है। वह आत्म सूर्य महाशून्य में मिल जाता है। यह जो लम्बा ज्योतिरूप या लम्बवत ज्योतिर्मय रूप देख रहा हूँ वहीं शिवलिंग है। इसकी व्याख्या अथवा वर्णन योगी कर सकते हैं। यही हम-तुम और सभी हैं। इसके अतिरिक्त दूसरा और कोई नहीं।

५६—"किसोर मूर्ति देखा।" अर्थात् भगवान का किशोर रूप देखा।

५७—"ज्योतिर्मय श्वेतवर्ण महादेवेर रूप देखा—बडा आनन्द हुआ।" अर्थात् ज्योतिर्मय श्वेतवर्ण महादेव के रूप का दर्शन हुआ; बड़ा ही आनन्द प्राप्त हुआ।

५८—गुरु नानक का एक चित्र आँककर उसके बग़ल में लिखा है—"नानकसाब सूर्य का मूर्त्त हय।" अर्थात् नानक साहेब आत्मसूर्य के मूर्तिमान प्रतीक हैं।

५९—"द्विदल पदम (आज्ञाचक्र) जयसा देखना चाहिए—

अर्थात् द्विदल पदम 'रूपी आज्ञा चक्र को जैसा देखना चाहिए। यह उसका रेखांकन है।

• • •

इन समस्त तथ्यों के प्रकाश में कहा जा सकता है कि वेद, उपनिषद गीता आदि आर्ष ग्रन्थों के द्वारा ऋषियों ने ब्रह्मज्ञ या ब्रह्मवित की अवस्थाओं की क्रमपूर्वक जो व्याख्या अथवा विवरण प्रस्तुत किया है

वैसी ही उपलब्धि के द्वारा योगिराज ने भी आर्ष अवस्था प्राप्त की थी। यह सब कुछ उनकी उपलब्ध डायरियों को देखने से स्पष्ट हो जाता है। सचमुच योगिराज न:सन्देह भारत के एक अन्यतम ऋषि थे।

भक्तों से घिरे महायोगी उपदेश दे रहे हैं। किसी भक्त ने जिज्ञासा प्रकट की—"ईश्वर क्या है ?"

योगिराज ने कहा—जानते हो, ईश्वर क्या है ? यही अभी जो तुमने 'ईश्वर क्या' का प्रश्न जिस शक्ति के माध्यम से किया, वही ईश्वर है, वह अगर नहीं होता तो ईश्वर क्या है' यह बात तुम कह ही नहीं पाते। उन्हीं की शक्ति ने सर्वदा जीव को धारण कर रखा है इसीलिए वह जगद्धात्री है, राधा है। रा' का अर्थ है विश्व एवं 'धा' का अर्थ है धारण करना। उसी शक्ति ने जीव देह को धारण कर रक्खा है इसीलिए वह राधा है।"

दूसरे एक भक्त ने पूछा—' मृत्यु क्या है ?"

योगिराज ने कहा—'प्राकृतिक कारणों से चंचल प्राण का स्थिर हो जाना ही मृत्यु है। उस स्थिति में जीव के कर्म का संस्कार रहता है; किन्तु समाधि की अवस्था में जिस स्थिर अवस्था का अस्तित्व है यह भी मृतवत है लेकिन उस समय कर्म का संस्कार नहीं रहता। सूक्ष्म रूप से देखा जाये तो श्वास-ग्रहण की क्रिया का होना ही जीव के जीवित होने की अवस्था है और उसका अभाव या त्याग ही मृत्यु है। क्योंकि श्वास छोड़ने के पश्चात् यदि फिर श्वास लेने की क्रिया न हो तो ऐसी स्थिति में जीव मृत है। इस श्वास-प्रश्वास के ग्रहण एवं त्याग की प्रक्रिया यदि क्रमशः जीव की जीवित एव मृत अवस्था है तो फिर वह जीव के शरीर में हमेशा ही हो रही है। जन्म और मृत्यु हमेशा ही हो रहे हैं। उस ओर किसी की दृष्टि या लक्ष्य नहीं है। अतएव वह वास्तविक मृत्यु नहीं है केवल जीव का चोला बदलता है। क्योंकि ऐसी मृत्यु होने पर फिर जन्म लेना पड़ता है। आना-जाना तो लगा ही रहता है। वास्तविक मृत्यु है ब्रह्म में लीन हो जाना, मूल उत्स या केन्द्र तक पहुँच जाना; जहाँ जाने पर पुनरावर्तन नहीं होता अर्थात् पुनर्जन्म नहीं होता—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय, पुनर्जन्म न विद्यते ॥

गीता : ८।१६

अर्थात् हे अर्जुन ब्रह्मलोक से भी सबका पुनरावर्तन होता है किन्तु मुझे (आत्मा को) प्राप्त कर लेने पर पुनरावर्तन नहीं होता अर्थात् आज्ञाचक्र

में अ-स्थायी स्थितिरूपी ब्रह्मलोक की प्राप्ति के बावजूद पुनरावर्तन होता है जब तक पूर्णरूप से आत्मा की प्राप्ति रूपी स्थिति नहीं उपलब्ध होती तब तक मुक्ति की सम्भावना नहीं। अ-स्थायी स्थिति होने के कारण ही मन फिर ऊर्ध्वस्थान से नीचे की ओर च्युत होता है एवं प्राण के पुनः चंचल होने पर पुनः श्वास ग्रहण रूप पुनरावर्तन होता रहता है। किन्तु यदि उसके ऊपर की स्थिति प्राप्त हो जाये अर्थात् मन का लय हो जाये तो फिर उसके पश्चात और कोई अवस्था या स्थिति नहीं है। वही अन्तिम स्थिति है जिसका कहीं कोई शेष नहीं, जो निःशेष है। देहान्तर के पहले इस स्थिति के प्राप्त होने पर पुनर्जन्म नहीं होता।

१८८६ ई० (तारीख नहीं) की दिनलिपि या डायरी में लिखा है—"**कथोपकथन नवहाधर सहित**।" नवहाधर सहित का अर्थ है अमित-तेजाः अथवा असीम तेजस्वी आत्मसूर्य का प्रत्यादेश या देववाणी का श्रवण। अर्थात् आत्म सूर्य रूपी मालिक के साथ तर्क-वितर्क हुआ कि उनकी आयु कितनी है? उत्तर नहीं लिखा है—

प्रश्न—मृत्यु कहाँ?

उत्तर—काशी में।

प्र० जिस रास्ते पर जा रहा हूँ क्या यह ठीक है?

उ० योग साधन रीति।

इस अमिततेजाः आत्मसूर्य के सम्बन्ध में योगिराज ने बार-बार कहा है कि यही मालिक सबकुछ का उत्स-मूल, अवस्थान का केन्द्र एवं लय-स्थल है। यही भगवान है और अन्त में यही ब्रह्म है। यह आत्मसूर्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं, यह अद्वितीय है। यह आत्मसूर्य सर्वत्र विराजमान है और यह चिरसत्य शुद्ध निर्मल महाशून्यरूपी परब्रह्म है। यह जगत आदि जो प्रत्यक्ष होते हैं ये सभी उस चिर निर्मल आत्मसूर्य की ही चंचलता की अभिव्यक्ति हैं जिन्हें अविद्या और माया की संज्ञा दी गई है। इन सबके भीतर से आत्मसूर्य रूपी परब्रह्म ही प्रतिभासित है। इस आत्मसूर्य का जो प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं और अन्त में इसके साथ मिलकर एकाकार हो जाते हैं वे योगी ही अद्वैतवादी हैं और शेष सभी द्वैतवादी। इसीलिए योगिराज कहा करते—"साधक की साधना जहाँ शेष हो जाती है, वहीं से योगी की साधना शुरू होती है।"

वेदों में योग उपदेश

हिरण्यगर्भ-प्रजापति-ब्रह्म का योग-उपदेश

ओम्—युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः ।
अग्निे ज्योति निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ।। १ ।।

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे स्वर्ग्याय शक्त्या ।। २ ।।

युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्यतो धिया दिवम् ।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ।। ३ ।।

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो
विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।
विहोत्रा दधे वयुनाविदेकऽ इन्
मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ।। ४ ।।

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभि विश्लोक एतु पथ्येव सूरः ।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ।।५।।

यस्य प्रयाणमन्वन्य इद्ययुर्देवा
देवस्य महिमानमोजसा ।
यः पार्थिवानि विममे स एतशो
रजाँसि देवः सविता महित्वना ।। ६ ।।

देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय ।
दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतन्नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु ।।७।।

इमं नो देव सवित र्यज्ञं प्रणय देवाव्यँ
सखि विदँ सत्राजित न्धनजितँ स्वार्जितम्
ऋचास्तोसँ समर्धय गायत्रेण रथन्तरं
बृहद् गायत्रवर्त्तनि स्वाहा ।।८।।

—शुक्ल यजुः० अ० ११ । मं० १—८ ।।

योगी दयानन्द का भाष्य—(१) (सविता) ऐश्वर्य का चाहने वाला मनुष्य (तत्त्वाय) परमेश्वर, आत्मा प्रकृति के तत्त्व ज्ञान के लिये (प्रथमम्) पहले (मनः) मन की वृत्तियों-विचारों की तथा (धियः) ज्ञानांश को (युञ्जानः) योगके अभ्यास में लगाता हुआ-समाहित करता हुआ (अग्नेः) परमात्मा के

(ज्योतिः) प्रकाशमय (भर्गः) स्वरूप को (निचाय्य) निश्चित जान के (पृथिव्याः अधि) भूमियों में, चित्त की सब अवस्थाओं में (आभरत्) अच्छे प्रकार धारण करे।

भावार्थ—यो जनो योगं चिकीर्षेत्,सयमादिभिः क्रिया कौशलैश्चान्तःकरणं पवित्रीकृत्य तत्त्वानां विज्ञानाय प्रज्ञां समज्यैतानि गुण कर्म स्वभावती विदित्वोपयुञ्जीत। पुनर्यत् प्रकाशकानाँ सूर्यादीनां प्रकाशकं ब्रह्म अस्ति, तद्विज्ञाय स्वात्मनि निश्चित्य सर्वाणि स्वापर प्रयोजनानि साध्नुयात् ॥

—जो मनुष्य योग का ज्ञान करना चाहें, वह यम-नियमों को पूर्णतया पालन करें। तप स्वाध्याय और ईश्वरणिधान से अन्तःकरणो को पवित्र करके तत्त्वों पाँचों भूतों को तत्व से जानने के लिए प्रज्ञालोक को युक्त करें और इन सबको तत्त्वतः जान कर व्युत्थान काल में वैसी अनासक्त हो ही व्यवहार करें। फिर समाधि में सूर्यादि को प्रकाशित करने वाले परब्रह्म को साक्षात् करें। उसको जान आत्मा में उसकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यापकता का निश्चय करें। अपने और दूसरों के परम प्रयोजन मोक्ष को सिद्ध करें।

सन्ध्या में भी योगिराज दयानन्द ने कहा है—'धर्मार्थ काम मोक्षाणां सद्यः सिद्धि र्भवेन्नः।' धर्म से धन की, धन से तृप्त वासनाओं की और मोक्ष की तत्काल सिद्धि प्राप्त हो अर्थात् सन्ध्या में समाधि लग जावे और चरम मोक्षानन्द उपलब्ध होवे ॥ १॥

२—हे योग के इच्छुको ! जैसे (वयम्) हम योगी लोग (युक्तेन) समाहित (मनसा) मन से और (शक्त्या) ज्ञान शक्ति से, ज्ञानांश से (देवस्य सवितुः) समग्र संसार को उत्पन्न करने वाले देव के (सवे) ऐश्वर्य में—सर्वाधिष्ठातृत्व स्वरूप में (स्वर्ग्याय) अधिकाधिक तेजोमय स्वरूप को धारण करते हैं वैसे तुम लोग भी प्रकाश को धारण करो ॥

भावार्थ—यदि मनुष्याः परमेश्वरस्य सृष्टौ समाहिताः सन्तः योगं तत्त्वविद्यां च यथाशक्ति सेवेरन्, तेषु प्रकाशितात्मानः सन्तो योगम् अभ्यसेयुः, तर्हि सिद्धीः कथं न प्राप्नुयुः ॥

—यदि मनुष्य परमेश्वर की सृष्टि में रहते हुए भी समाहित होकर योग का और तत्त्व विद्या—विवेक ख्याति का पूर्ण शक्ति और सामर्थ्य से अभ्यास करें तो उन सब में रहते हुए भी विदेह होकर आत्मदर्शी होते हुए योग का पूर्णता के लिये अभ्यास करें तो योगसिद्धियां क्यों न प्राप्त होंगी ॥ २॥

३—(सविता) प्रज्ञा लोकी योगी (युक्त्वाय) परमात्मा में युक्त होकर (धिया) बुद्धि से-अपनी चेतना से (दिवम्) विद्या को-सब पदार्थों के ज्ञान को (स्वः) सुख को—आनन्द को (यतः) प्राप्त करने वाला (बृहत्) बड़े (ज्योतिः) विज्ञान को (करिष्यतः) प्राप्त करेगा। (तान् देवान्) उन दिव्य गुणों को (प्रसुवाति) नया अभ्यासी उत्पन्न करे।

भावार्थ—ये योगम् अभ्यस्यन्ति ते अविद्यादिक्लेशानां निवारकान् शुद्धान् गुणान् जनयितुं शक्नुवन्ति। य उपदेशकाद्योगं प्राप्य एवम् अभ्यसेत् सोऽप्येतान् प्राप्नुयात्।

—जो योगी योग का अभ्यास करते हैं वे अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश-मृत्युभय नामक पाँचों क्लेशों को, अविद्याओं को दूर करते हैं और शुद्ध गुणों को सत्वगुण जनित विवेक ख्याति को उत्पन्न करते हैं।

जो योगोपदेशक योगी सन्न्यासी जनों से योग विद्या को प्राप्त कर इस प्रकार अभ्यास करता है वह भी अविद्याओं को दूर करता है और विवेकख्याति को प्राप्त करता है।

इसका अभिप्राय यह है कि जीव को परमेश्वर की उपासना नित्य (हर घड़ी) करनी उचित है। अर्थात् उपासना-समय में सब मनुष्य अपने मन को उसी में स्थिर करें।

४—(विप्राः) ईश्वरोपासक (होत्राः) मेधावी योगी जन (बृहतः) सबसे बड़े (विपश्चितः) सर्वज्ञ (विप्रस्य) साधक (मनः) मन को (युञ्जते) परमेश्वर में ठीक ठीक युक्त करते हैं, समाहित करते हैं (उत) और अपनी बुद्धि-वृत्ति अर्थात् ज्ञान को (ज्ञानांश को) (युञ्जते) सदा परमेश्वर में स्थिर करते हैं (अर्थात् परमेश्वर का ज्ञान अखण्ड बना रहता है जो) ईश्वर (विदधे) सब जगत् को धारण करता है और उसका विधान करता है (वयुनावित् एक इत्) जो अकेला ही बिना किसी सहायक के सब जीवों के शुभ-अशुभ ज्ञान का विचारों का जानने हारा है। (सवितुः देवस्य) उस रचना करने हारे देव की (मही परिष्टुतिः) बड़ी से बड़ी स्तुति करें। उससे बड़ी किसी दूसरे को नहीं। वही सबका राजा धिराज है। उसी का नाम लें, उसी का ध्यान करें। (मही) दीर्घकाल तक, निरन्तर, विना व्यवधान के सत्कार पूर्वक करें। श्रद्धा से करें।

भावार्थ—ये युक्ताहाराविहार एकान्ते देशे परमात्मानं युञ्जते, ते तत्वज्ञानं प्राप्य नित्यं सुखं लभन्ते।

—जो योगियों का-सा आहार—जल पर या हवा पर ही रहने वाले होकर एकान्त—बियाबान जंगल प्रदेश में परमात्मा में समाहित होते हैं, लगातार समाहित रहते हैं। वे प्रज्ञालोक द्वारा तत्वज्ञान को जान लेते हैं और शाश्वत सुख को, अखण्ड आनन्द को प्राप्त करते हैं। मही परिष्टुति का यह स्वाभाविक परिणाम है। ४॥

५—(अमृतस्य पुत्राः) हे मोक्ष मार्ग का पालन करने वाले योगी मनुष्यो: (शृण्वन्तु विश्वे) तुम सब सुनो (ये धामानि दिव्यानि आतस्थुः) जो दिव्य मोक्ष सुखों को, समाधि के आनन्द को प्राप्त कर चुके हो जब तुम (पूर्व्यम्) सनातन (ब्रह्म) ब्रह्म को (नमोभिः)सत्य प्रेम भाव से अपने आत्मा को स्थिर करके, नमस्कार कर नाम (ओं) स्मरण कर उपासना करोगे तब मैं तुमको आशीर्वाद दूंगा (श्लोकः) सत्य कीर्ति—सत्य-प्रतिष्ठा होने पर अमोघ वाग् (वां) तुम दोनों योगोपदेशक और योगा-धिकारी को (वि एतु) प्राप्त हो। (सूरेः पथ्येव) जैसे परम विद्वान्—ऋतंभरप्रज्ञ को धर्म मार्ग—गुण गुणी ज्ञान प्राप्त होता है (युजे)मैं तुमको उपासना योग में युक्त करता हूं, सन्देह मत करो।

भावार्थ—योगं जिज्ञासुभिराप्ता योगारूढा विद्वाँसः संगन्तव्याः। तत्संगेन योगविधिं विज्ञाय ब्रह्म अभ्यसनीयम्। यथा विद्वत्प्रकाशितो धर्म मार्गः सर्वान् सुखेन प्राप्नोति, तथैव कृतयोगाभ्यासानाम् सङ्गाद् योगविधिः सहजतया प्राप्नोति।

नहि कश्चित् एतत्संगम् अकृत्वा ब्रह्माभ्यासेन विनाऽऽत्मा पवित्रो भूत्वा सर्व सुखम् अश्नुते तस्माद् योगविधिना सहैव सर्वे परब्रह्मोपासताम्।

—योग के जिज्ञासुओं को योगारूढ़ विद्वानों की सेवा में जाना चाहिये। उनके संग रह कर, योग विधि को जान कर,ब्रह्म ध्यान का अभ्यास करना चाहिये। जैसे विद्वानों का बताया धर्म मार्ग सबको सुख से मिल जाता है, वैसे ही योगियों की संगति से योग विधि सरलता से मिल जाती है। कोई भी आत्मा योगियों को संग किये विना और ब्रह्माभ्यास के विना पवित्र होकर सर्व-सुख आनन्द को प्राप्त नहीं कर सकता, इसलिये योगविधि के साथ-साथ सब परब्रह्म की उपासना करें॥५॥

६—हे योगी पुरुषो! (यस्य देवस्य) जिस देवाधिदेव की [महिमा-नम्] महिमा को [प्रयाणम्] व्यापकता को (अन्ये देवाः) अन्य विद्वान लोग (अनुययुः) प्राप्त होवें [यः] जो [देवः] देव [ओजसा महित्वना] अपने बल और महिमा से [सविता] सब संसार का निर्माण करता है [पार्थिवानि] पार्थिव सब लोक-लोकान्तरों को आकाश में ही [विममे]

रचा है [स एतशःइत] वही इन को नियम में चला रहा है। यह सब सम्प्रज्ञातसमाधि में प्रत्यक्ष करो।

भावार्थ— ये विद्वासः सर्वस्य जगतोऽन्तरिक्षेऽनन्तबलेन धर्त्तार निर्मातारं सुखप्रदं शुद्धं सर्वशक्तिमन्तमीश्वरम् उपासते त एव सुखयन्ति नेतरे॥

—जो जानकार योगीजन अन्तरिक्ष में अपने अनन्त बल से लोक लोकान्तरों को बनाने वाले, धारण करने वाले, शुद्धस्वरूप, सर्वशक्तिमान् अनन्त सुख देने वाले अनन्त भगवान् की उपासना-योग से उस में बैठते हैं; उन को ही सच्चा सुख मिलता है दूसरों को नहीं। सांसारिक भोगों में सुख नहीं। भगवान् ही अनन्त सुख का भण्डार है। योगाभ्यास से उसी में रमण करना चाहिये॥६॥

७—[देव सवितः] हे सत्यशुद्ध योग विद्या से उपासना करने योग्य परमेश्वरः [नः] हम योगियों के [यज्ञम्] योगयज्ञ को—सुखों को प्राप्त कराने हारे योग व्यवहार को [प्रसुव] उत्पन्न कीजिये [गन्धर्वः] पृथिवी आदि लोक लोकान्तरों के धारक [दिव्यः] दिव्य गुण कर्म स्वभाव वाले [केतुपूः] विज्ञान से पवित्र कराने हारे आप [नः] हमारे [केतम्] ज्ञान को [पुनातु] पवित्र कीजिये, प्रज्ञालोक तक पहुँचा दीजिये जिसके द्वारा प्राप्त ज्ञान अन्य ज्ञानों को फीका कर दे, मन्द करे, विशुद्ध ज्ञान हो सके [वाचस्पतिः] वेद के स्वामिन् [नः] हमारी वाणी को [स्वदतु] स्वादु-फल वाला कर दीजिये, अमोध कर दीजिये, सर्वभूत प्राणियों की वाणी को समझ स्वाद ले सकें।

भावार्थ— ये जना ईर्ष्यादिदोषान् विहाय ईश्वर इव सर्वैः सह सुहृद्भावमाचरन्ति, ते संवर्धितुं शक्नुवन्ति।

—जो पुरुष सम्पूर्ण ऐश्वर्य से युक्त शुद्ध निर्मल ब्रह्म की उपासना, और योग विद्या की प्राप्ति के लिये उत्कृष्ट प्रयत्नपूर्वक प्रार्थना करते हैं वे सब योग ऐश्वर्यों— योग सिद्धियों को प्राप्त हो, अपने आत्मा को शुद्ध कर सकते हैं। योग विद्या को सिद्ध कर सकते हैं। वे सत्यवादी हो के सब क्रियाओं के फलों को प्राप्त होतेहैं॥७॥

८. हे [सवितः देव] सवितर् देव! [नः] हमारे [इमं यज्ञं] इस योग यज्ञ को (देवा व्यम्] दिव्य सत्त्व गुणका रक्षक, वर्धक, ज्ञापक, [सखिदिवदम्) आप सखा को मिलाने वाला, [सत्राजितम्]सत्य व तीनों तत्त्वों का जय कराने वाले, (धनजितम्] धन आदि अविद्या-भावों पर विजय कराने वाले, [स्वर्जितम्] अनन्त आनन्द दायक[यज्ञम्] योग यज्ञ को[प्रनय]भली प्रकार उत्तमता से आगे बढ़ाइये। [ऋचा]समाधि में

साक्षात् होने वाली ऋचाओं के द्वारा, (स्तोमम्) गुण गरिमामय स्तवन यज्ञ को (समर्धय) भली प्रकार बढ़ाइये, समर्थ कीजिये। (गायत्रेण) तेरे आन्तर गान से (बृहद्रथन्तरं) बड़े योग रथ को बढा। (गायत्र वर्त्मनि) उपासना मार्ग में-योग मार्ग में (स्वाहा) अपने को मैं अर्पित करता हूं।

भावार्थ— ये जना ईर्ष्यादिदोषान् विहाय ईश्वरः इव सर्वैः सह सुहृद्भावम् आचरन्ति ते संवर्धितुं शक्नुवन्ति।

—जो मनुष्य ईर्ष्या द्वेष आदि दोषों को छोड़कर ईश्वर के सामन सब जीवों के साथ मित्रभाव रखते हैं—सांसारिक संग्रह के कारण द्वेष नहीं करते, ईश्वर पुत्रों-आत्माओं से समान भाव से प्रेम करते हैं, वे संपत् को-योगविभूतियों को और उन से भी विरक्त हो परमानन्दमय भगवान् रूप संपत् को प्राप्त होते हैं ।।८।।

उपनिषत् में योगविधान

दूसरे अध्याय के आरम्भ के पांच मन्त्र देकर श्वेताश्वतर ने आगे यह सुन्दर योगोपयोगी मन्त्र दिये हैं :—

अग्निर्यत्राभिमथ्यते, वायुर्यत्राभिरुध्यते।
सोमो यत्रातिरिच्यते, तत्र संजायते मनः।६।

सवित्रा प्रसवेन जुषेत ब्रह्म पूर्व्यम्।
तत्र योनिं कृण्वसे नहि ते पूर्वमक्षिपत्।७।

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं,
हृदोन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य,
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्
स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि।८।

प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः
क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तं वाहनमेनम्,
विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः।९।

समे शुचौ शर्करा वह्नि बालुका
विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।

मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने
गुहानिवाताश्रयणं प्रयोजयेत् ।१०।

नीहार धूमा र्कानिलानलानाम्
खद्योत विद्युत् स्फटिक शशिनाम् ।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि,
ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ।११।

पृथिव्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते
पंचात्मके योग गुणे प्रवृत्ते,
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ।१२।

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वम्
वर्णं प्रसादं स्वरसौष्ठवं च ।
गन्धः शुभो मूत्र पुरीषमल्पं
योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ।१३।

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तम्
तेजोमयं भ्राजते तत्सुधातम्
तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही,
एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ।१४।

यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं
दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् ।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धम्
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।१५।

एषो ह देवप्रदिशोऽनुसर्वाः
पूर्वो ह जातः सहगर्भेऽन्तः ।

स एष जातः स जनिष्यमाणः
प्रत्यङ् जनस्तिष्ठति सर्वतोमुखः ।१६।
यो देवोऽग्नौ योऽप्सु
यो विश्वं भुवनमाविवेश ।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु
तस्मै देवाय नमो नमः ।१७।

६. जब परमदेव परमात्मा को घृत की नाईमथ कर निकालने की भावना प्रबल हो जाती है, और श्वास-प्रश्वास की गति वश में हो जाती है, जब धारणा ध्यान की अवस्था केवल ओम् सोम शेष रह जाता, ओम् का ज्ञानांश रह जाता है, तब प्रज्ञालोक से अमोघ मनन उत्पन्न होता है।

७. ब्रह्मज्ञान सम्पन्न आत्मा को सनातन ब्रह्म से युक्त कर। योग-साधक ! ब्रह्म को अपना सतत वास बना तेरे कर्म तुझे जन्म-मरण में नहीं खैंचेंगे। तू मुक्त हो जायगा—(पुरुष एव सविता जै. उ. ४-२७ योनिगृहम् गृहनाम-निघ ३-४ पूर्व-पूर्व कर्म ।

८. छाती, शिर और मेरुदण्ड को सीधा रख कर हृदय में शून्य में इन्द्रिय और मन को धारण कर प्रत्याहार सिद्ध करे। धारणा से ध्यान, ध्यान से समाधि में ब्रह्म-ओम् ज्ञांनश की नौका से अविद्या, अस्मिता राग, द्वेष, मृत्युभय की भयंकर प्रबल धाराओं को ब्रह्मज्ञानी पार करे।

९. प्राणों की आने-जाने की गति को समाप्त कर, वाणी, काया, मन को चेष्टा रहित कर, प्राणों का अभाव हो जाने पर, नासिका मूल से बुद्धिकेन्द्र में स्थित हो जावे। घोड़ों के समान चंचल इन्द्रियों से युक्त मन के रथ को सावधानी से जागरूक हो कर वश में रखें। साधना में ब्रह्म से बाहर न जाने दे।

१०. समतल शुद्ध पवित्र स्वच्छ, रोडे-कंकरों-अग्नि की धूनी, उड़ती रेणुका से रहित; शब्द और जल का आश्रय लेने वाले जंगली जानवरों से शून्य; मनोरम, नयनललाम, शान्त निर्वात गुहा में साधना करें।

११. कोहरा, धूआँसा, सूर्य बिम्बसा, वायु सी, अग्नि सी, जुगनुसा, विजली की चमक सी, स्फटिक सी आभा चन्द्र बिम्ब-सा ध्यान के स्थिर होने पर आन्तर दृष्टि ध्यान में आने लगे तो ध्यान की अवस्था ब्रह्म-ध्यान के योग होने लगी है, इस बात को व्यक्त करते हैं।

१२. पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश पाँचों की पाँचों तन्मात्राओं दिव्य गन्ध, दिव्य रस, दिव्य रूप, दिव्य स्पर्श, दिव्य शब्द में किसी का वा सब का अनुभव होने लगे तो ऐसे योगी को रोग नहीं सतायेगा, बुढ़ापा भी नहीं आयेगा और उसका शरीर निरन्तर दीर्घकालीन अभ्यास से योगमय हो जायगा ।

१३. हलकापन, सदास्वास्थ्य, विषयों का निरास, रंग का निखार, स्वर में माधुर्य, शरीर में सुन्दर गन्ध, मूत्र पुरोष की स्वल्पता होने लगती हैं। ये योग में प्रवेश को बताती हैं।

१४. दर्पण जैसे मिट्टी-धूल धोने पर चमक उठता है वैसे ही अविद्या क्लेशों से आत्मतत्त्व को विशुद्ध कर लें तो योगी शोक रहित हो जाता है। यही योगी की कृतार्थता है।

१५. दीपक को देखने के लिये किसी अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार जब योगी आत्मा को आत्मा से ही जान लेता है तब परमात्मतत्त्व को जो आत्मा की सूक्ष्मता में निहित है भी जान लेता है। वह अजन्मा है। अटल ध्रुव कूटस्थ है। सब तत्त्वों से असंग, विशुद्ध तत्त्व है। उसको जान लेने पर कर्मविपाक से मुक्त हो जाता है। कर्म दग्ध बीज हो जाते हैं। फल देने में असमर्थ हो जाते हैं।

१६. यह देवाधिदेव परमदेव सर्वव्यापक है। पूर्णरूप से अभिव्यक्त है। वही प्रकृति में व्याप्त है। विकृति वही करता है। सृष्टि होने पर उस की सत्ता का भान भक्तों को होता है। सर्वज्ञ, सर्वमुख, जन-जन में प्रत्यक् रूप से विराजमान है।

१७. जो देवाधिदेव अग्नि में, जल में व्याप्त है। समस्त संसार में प्रवेश किये है। जो ओषधियों में है, वनस्पतियों में है - सर्वत्र एकरस है। उस देवाधिदेव को बार बार नमस्कार।

दर्शनों में योग विधान

सांख्य दर्शन में योग-साधना

सांख्य दर्शन नास्तिकता का प्रतिपादक नहीं योग का प्रतिपादक है। विस्तृत उल्लेख है योग का ब्रह्म प्राप्तिका !

वृत्तायः पञ्चतय्यः क्लिष्टा ! क्लिष्टा ।२-३३।

वृत्ति पाँच प्रकार की है। क्लिष्ट और अक्लिष्ट। १. विद्यादि पांच क्लेशों को उत्पन्न करने वाली और २. विवेक कराने वाली, जिनसे

तमोगुण, रजोगुण और सत्व गुण का कार्य समाप्त हो जाता है, विशुद्ध आत्मा, परमात्मा, अपना, और प्रकृतिका अलग ज्ञान प्राप्त करता है। योग में १.५ देखें।

तन्निवृत्तावुपशान्तोपरागः स्वस्थः ।२-३४।

वृत्तियों के निवृत्त हो जाने पर आत्मा का प्रकृति से उपराग—लगाव शान्त हो जाता है। आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। योग में "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" ॥ १।३ ॥

कुसुमवच्च मणिः ।२-३५।

आत्मा मणि-बिल्लौर के समान निर्मल है। फूलों पर मणि-बिल्लौर रंग वाला दिखता है। आत्मा प्रकृति में रमता है। तो प्रकृति-जैसा हो जाता है,प्रकृति को ही आया समझ लेता है। बिना पुष्पकों के वह स्वच्छ है। देखो-यो. १. ४१

पुरुषार्थं करणोद्भवोऽप्यदृष्टोल्लासात् ।०.३६।

इन्द्रियों से पुरुषार्थ, आत्मा अदृष्ट के उदय से करता है।

धेनुवद्वत्साय ।०.३७।

बछड़े के लिए गौ जैसे दूध देती है ऐसे ही इन्द्रियां मानो आत्मा के लिये व्यवहार करती हैं।

करणं त्रयोदशविधमवान्तरभेदात् ।२३८।

५ कर्मेन्द्रिय + ५ ज्ञानेन्द्रिय + ३. मन बुद्धि अहंकार = १३

इन्द्रियेषु साधकतमत्वयोगात् कुठारवत् ।२.३९।

कुल्हाड़े के काटने में न काटने वाला दस्ता भी काटने में अत्यन्त सहायक है ऐसे ही इन्द्रियां भी साधकतम हैं। पर वास्तव में ज्ञान आत्मा ही प्राप्त करता है।

द्वयोः प्रधानं मनो लोकवद्भृत्यवर्गेषु ।२.४०।

दोनों-ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों में मन ही प्रधान है। जैसे लोक में भृत्यों में एक ही प्रधान होता है। शेष अप्रधान-गौण होते हैं।

अव्यभिचारात् ।२।४१।

मन के साथ हुए विना कोई भी कर्मेन्द्रिय या ज्ञानेन्द्रिय काम नहीं कर सकती। यह व्यापक नियम है।

तथाऽशेष-संस्काराधारात् ।२।४२।

और इसलिए कि मन में ही सब कर्मों के संस्कार रहते हैं।

स्मृत्यनुमानाच्च ।२।४३।

मन में संस्कार रहते हैं इसीलिये किसी बात की स्मृति होती है। यही मन में संस्कार रहने का हेतु है।

सम्भवेन्न स्वतः ।२।४४।

स्मृति विना संस्कारों के अपने आप नहीं हुआ करती है। अतः मन में संस्कारों से ही स्मृति होती है।

आपेक्षिको गुण प्रधान भावः क्रिया विशेषात् ।२।४५।

इन्द्रियों का गौंण होना और मन का प्रधान होना अपेक्षा से है। इन्द्रियाँ मन की अपेक्षा करती हैं। विना मन के वे कुछ नहीं कर सकतीं। मन में ही क्रिया विशेष है। इसलिये उस की क्रिया से इन्द्रियाँ प्रवृत्त होती हैं। विना मन के नहीं।

तत्कर्मार्जितत्वात् तदर्थमभिचेष्टा लोकवत् ।२।४६।

आत्मा के लिये इन्द्रियाँ कर्म करती हैं। आत्मा के लिये ही उन का व्यवहार होता है। लोक में भी ऐसे ही व्यवहार होता है। प्रधान धनी आदि पुरुष किराया देकर सवारी कर लेते हैं। उस समय वे उस का ही कार्य करती हैं; अपना कुछ कार्य नहीं होता।

समान कर्मयोगे बुद्धेः प्राधान्यं लोकवत् लोकव त्।२।४७।

आत्मा का दसों इन्द्रियों और मन के साथ समान सम्बन्ध है। उस में आत्मस्थ बुद्धि की ही प्रधानता है। लोक में भी जो अत्यन्त अन्तरंग होता है उसकी ही प्रधानता होती है। अतः आत्मज्ञान की प्रधानता है ।।

आविवेकाच्च प्रवर्त्तनम् अविशेषाणाम् ।३।४।

जब तक आत्म तत्त्व और प्रकृति का विवेक नहीं होता। तभी तक अविशेष से इन सब ही को प्रकृति के लिये प्रवृत्ति है। विवेक होने पर प्रकृति के लिये दौड़ समाप्त हो जायगी।

उपभोगादितरस्य ।३।५।

स्थूल शरीर की प्रवृत्ति कर्मों के उपभोग काल तक रहती है ।

सम्प्रति परिष्वक्तो द्वाभ्याम् ।३।६।

इस समय तो यह दोनों स्थूल और सूक्ष्म शरीर मिल कर भोग सम्पादन कर रहे हैं ।

मातृपितृजं स्थूलं प्रायश इतरन्न

माता पिता से ही स्थूल शरीर प्रायः उत्पन्न होते हैं । सृष्टि के आरम्भ में अयोनिज तथा इस समय भी स्वेदज,उद्भिज शरीर विना माता पिता के होते हैं । दूसरा सूक्ष्म शरीर तो परमात्मा ही देता है, माता-पिता से नहीं मिलता ।

पूर्वोत्पत्तेस्तत्कार्यत्वम् भोगादेकस्य नेतरस्य ।३।८।

भगवान् के बनाये लिंग-शरीर से ही सुख-दुःख भोग होता है, स्थूल शरीर से नहीं, सूक्ष्म शरीर के निकल जाने पर स्थूल मृत हो जाता है । भोग नहीं कर सकता ।

सप्तदशैकं लिंगम् ।३।६।

लिंग शरीर १७ तत्वों का है । वही एक रहता है । जन्म-जन्मान्तर में भी पलटता नहीं । स्थूल शरीर मृत्यु के साथ समाप्त हो जाता है । जन्म पर दूसरा मिलता है । ११ इन्द्रियाँ ५ तन्मात्रायें और बुद्धि की गणना है ।

अणुपरिमाणं तत्कृतिश्रुतेः ।३।१४।

लिंग शरीर अणु परिमाण है । स्थूल शरीर से सूक्ष्म है ।

पाँचभौतिको देहः ।३।१७।

यह स्थूल देह जो दिखता है (१ पृथिवी २ जल ३ अग्नि ४ वायु ५ आकाश) इन पाँच भूतों से बना है ।

न सांसिद्धिकं चैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः ।३-२०।

चेतनता पांच भूतों के मिलने से नहीं आई है, क्योंकि कोई भूत चेतन नहीं, फिर सब मिलने पर भी चेतना कहाँ से आती । चेतन आत्मा भिन्न है ।

ज्ञानान्मुक्तिः ।३।२३।

प्रकृति-पुरुष विवेक से ही मुक्ति होगी । अन्य उपाय नहीं है ।

बन्धो विपर्ययात् ।३।२४।

अज्ञान से, अविवेक से या अविद्या से ही बन्ध है । आत्मा शरीर में कैद है ।

नियत कारणत्वान्न समुच्चय विकल्पौ ।३।२५।

मुक्ति का विबेक ही निश्चित कारण है। अन्य किसी भी साधन के साथ इसका सम्मिश्रण नहीं है । न ही अन्य विकल्प है । केवल विवेक ज्ञान ही मुक्ति का कारण है ।

भावनोपचयाच्छुद्धस्य सर्वं प्रकृतिवत् ॥

अष्टांग योग से अविद्यादि पाँच क्लेशों से छूटे शुद्ध ध्यानी की भागवत भावनाके ध्यान समाधि में परिणत हो जाने पर सब आत्मसात् हो जाता है, स्वाभाविक प्रकृतिवत् हो जाता है । इसी को योग में संयमजय कहा है ।

रागोपहतिर्ध्यानम् ।३।३०।

प्रकृति के राग का हटना ही ध्यान का मूल है । वैराग्य से ही ध्यान सिद्ध होता है ।

वृत्ति-निरोधात् तत्सिद्धिः ।३।३१।

सूत्र २-३३ में बताई वृत्तियों के रोकने से ही ध्यान की सिद्धि होगी। जितना-जितना वैराग्य बढ़ेगा उतना-उतना ध्यान गहरा होगा ।

धारणा-सन-स्वकर्मणा तत्सिद्धिः ।३-३२।

धारणा शब्द जाप छूट कर केवल ज्ञानांश के शेष रह जाने पर दीर्घकालीन आसन सिद्ध होने पर और स्वकर्म--अपने जप, तप और ईश्वर प्रणिधान तथा अन्य यम-नियमों की साधना के परिपाक से ध्यान सिद्ध होगा ।

निरोधश्छर्दि-विधारणाभ्याम् ।३।३३।

चित्त वृत्तियों का निरोध प्राण के निकाल देने पर या अन्दर ही धारण करने पर ही होगा । बाहर निकाल कर अन्दर लेना न पड़े, जैसे उल्टी निकालने पर फिर नहीं आती है । ऐसे ही प्राण अन्दर आने पर

बाहर न जावे तो चित्तवृत्तियों का निरोध हो जायेगा। प्राण के आधार पर ही चित्त काम करता है।

स्थिरसुखमासनम् ।३।३४।

स्थिर और सुख वाला आसन होता है। शरीर स्थिर रहे। निचेष्ट रहे और कष्ट न माने तब ही आसन है।

स्वकर्म स्वाश्रम विहितकर्मानुष्ठानम् ।३।३५।

अपने आश्रम के विहित कर्मों का अनुष्ठान करते हुए ध्यान साधना ही स्वकर्म है। सब आश्रमों में ध्यान करे। वानप्रस्थ में सारा ही समय ध्यान में रहे।

वैराग्यादभ्यासाच्च ।३।३६।

पर, अपर वैराग्य से और अवृत्तिक साधना से वृत्तिनिरोध होता है। वैराग्य के साथ ओं जाप द्वारा ईश प्रणिधान से ध्यान समाधि सिद्ध होते हैं।

विपर्यय-भेदाः पंच ।३।३७।

अविद्या के पाँच भेद हैं।

अशक्तिरष्टाविंशतिधा ।३।३८।

असामर्थ्य २८ प्रकार की है पाँचों वृत्तियाँ पाँच प्रकार के विपर्यय से २५ प्रकार की और काम, क्रोध, लोभ तीन मिला कर २८ प्रकार की अशक्ति है। मोह अविद्या में आ ही गया।

तुष्टिर्नवधा ।३।३९। आध्यात्मिकादि भेदान्नवधा तुष्टि ।३।४३।

आध्यात्मिकादि भेद से तुष्टि नौ प्रकार की है। आध्यात्मिक-आधिदैविक, आधि भौतिक, सात्त्विक, राजस, तामस भेद से तीन तीन प्रकार की नौ तुष्टि है। उनसे मन को तोष होता है।

सिद्धिरष्टधा ।३।४०। ऊहाभिदिः सिद्धिः ।३।४४।

अपने आप पढ़कर ज्ञान प्राप्त करना 'तार' नामक सिद्धि है। शब्द से ही विना पढ़े जान लेना, 'सुतार' सिद्धि है। विना शब्द के ज्ञान होना 'ऊहा' सिद्धि का नाम 'तारतार' है। विना ऊहा के ही प्राप्ति हो जाना 'रम्यक' नाम की सिद्धि है। बाह्यपदार्थों के विना सदा शुद्धि का नाम 'मुदित' है। तीनों तापों का नाश होना तीन सिद्धियां ये आठ सिद्धियाँ हैं।

आब्रह्म स्तम्बपर्यन्तं तत्कृते सृष्टिराविवेकात् ।३।४७।

विवेक होने पर ब्रह्म से लेकर स्थावर तक की भोगार्थ बनी सृष्टि योगी जन के लिए समाप्त हो जाती है। योगी मरण जन्म से छूट जाता है।

स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता ।३।५६।

वह परमात्मा सर्वज्ञ और सर्व-निर्माता है।

ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा ।३।५७।

ऐसे ईश्वर की सत्ता स्वयं सिद्ध है।

प्रधान-सृष्टिः परार्थस्वतोऽप्यभोक्तृत्वाद् उष्ट्रकुङ्कुमवहनवत् ।३।५८।

मूलप्रकृति स्वयं तो अभोक्ता है, जड है। इसलिए उससे बनी सृष्टि परार्थ है। जीव के बन्धन के लिए होती है। जैसे ऊँट दूसरों के लिए ही केसर ढोता है।

विविक्तबोधात् सृष्टिनिवृत्तिः प्रधानस्य सूदवत् पाके ।३।६३।

विवेकी को ज्ञान हो जाने पर उसके लिए प्रधान की सृष्टि रचना निष्प्रयोजन है। जैसे पाक हो जाने पर रसोइया निवृत्त हो जाता है। विवेकी को सृष्टि का ध्यान ही नहीं रहता।

इतर इतरज्जहाति तद्दोषात् ।३।६४।

प्रकृति के दोष जान लेने पर दोष दर्शन से पर वैराग्य की प्राप्ति हो जाने पर पुरुष प्रकृति से पराङमुख हो जाता है।

द्वयोरेकतरस्य वौदासीन्यमपवर्गः ।३।६५।

पुरुष और परम पुरुष दोनों में से एक पुरुष—आत्मा की प्रकृति से उदासीनता हो जाना अपवर्ग है। परमात्मा तो सृष्टि-रचना करता ही रहता है।

नैरपेक्ष्येऽपि प्रकृत्युपकारेऽविवेको निमित्तम् ।३।६८।

आत्मा चेतन, प्रकृति जड़, दोनों एक दूसरे की कोई अपेक्षा नहीं नहीं रखते। दोनों की चेतना और जड़ता में एक दूसरे की अपेक्षा स्वतः सिद्ध हैं। प्रकृति उपकार करती है यह मान बैठना अविवेक के कारण है। अविवेकी अविद्याग्रस्त ही प्रकृति में फंसता है।

नर्तकीवत् प्रवृत्तस्यापि निवृत्तिश्चारितार्थ्यात् ॥३।६९।

नर्तकी नाच दिखाकर उपरत हो जाती है। उसी प्रकार अविद्यादि से ग्रस्त व्यक्ति प्रकृति में फँसता है। अविद्या के विवेक के चरितार्थ होने से सफल होने पर छुटकारा हो जाता है।

दोष बोधेऽपि नोपसर्पणम् प्रधानस्य कुलवधूवत् ॥ ३।७० ॥

प्रधान प्रकृति के दोषों को जान लेने पर पुरुष प्रकृति की ओर नहीं देखता। जैसे कुलवधू किसी को नहीं देखती उस योगी का सच्चिदानन्द धन ही देखने योग्य दृश्य रह जाता है।

नैकान्ततो बन्धमोक्षौ पुरुषस्याविवेकादृते ।३।७१।

पुरुष न सदा बद्ध है न सदा मुक्त। अविवेक से बन्ध होता है। विवेक से मोक्ष। मोक्ष से आना-जाना बना रहता है।

प्रकृतेरांजस्यात् स संगत्वात् पशुवत् ।३।७२।

प्रकृति की अनुरक्ति से बन्ध हो जाता है, जैसे रस्सी की अनुरक्ति से पशु बँधा रहता है। रस्सी का खुल जाना ही मुक्ति है।

रूपैः सप्तभिरात्मानं बध्नाति प्रधानं कोशकारवत्, विमोचयत्येकेन रूपेण ।३।७३।

पाँचों वृत्तियों, अविद्या और अहंकार इन सात से प्रकृति आत्मा को बन्धन में डाले है। जैसे मकड़ी अपने को अपने बनाये जालों से घेर लेती है। अकेली अखंड विवेक ख्याति जीव को मुक्त कर देती है।

निमित्तत्वमविवेकस्य न दृष्टहानि ।३।७४।

अविवेक ही बन्धन का कारण है। यह निश्चय जानना। दृष्टसंसार से वैराग्य ही करना है। उसकी हानि नहीं होती। वह सदातन है।

तत्त्वाभ्यासान्नेति नेति त्यागाद्विवेकसिद्धिः ।३।७५।

तत्त्व के अभ्यास से, पुरुष प्रकृति के भेद ज्ञान के अभ्यास से विवेक सिद्ध होता है। यह संसार सुखकर नहीं है। आत्मा आनन्दमय नहीं है। ऐसा अभ्यास करे।

अधिकारिप्रभेदान्न नियम ।३।७६।

साधना के भिन्न-भिन्न कोटि के अधिकारी होते हैं। सबके लिए एक ही नियम नहीं बनाया जा सकता है। किसी को तप, किसी को जप,

किसी की ईश्वर-प्रणिधान आदि की भिन्न-भिन्न साधना की स्थितियाँ हैं।

जीवन्मुक्तश्च ।३।७८।

विवेकी जीवन्मुक्त होता है।

उपदेश्योपदेष्टृत्वात्तत्सिद्धिः ।३।७९।

योग्य जीवन्मुक्त उपदेष्टा और योग्य शिष्य मिलने से विवेक सिद्ध हो जाता है।

इतरथान्धपरम्परा ।३।८१।

सिद्ध जीव-मुक्त उपदेष्टा न हो तो अन्ध परम्परा चल पड़ती है। जीवन्मुक्त भोगी नहीं होता। भोग में आनन्द कहाँ! पूर्ण विरक्त सदा समाधिस्थ रहता है।

चक्र-भ्रमणवद्धृतशरीरः ।।३.८२।।

जीवन्मुक्त की जीवन-यात्रा स्वतः चलती है, जैसे चाक वेग से ही विना घुमाये घूमता है।

विवेकान्निःशेष दुःखनिवृत्तौ कृतकृत्यो नेतरान्नेतरात् ।।३।८४।।

विवेक से सकल दुःखों की निवृत्ति हो जाने पर योगी कृतकृत्य हो जाता है और किसी उपाय से नहीं।

बहुभियोगे विरोधोरागादिभिः कुमारी शंखवत् ।४।९।

बहुतों के साथ विवेक नहीं होता। रागादि से विरोध हो जाता है। कुमारी अनेक शंख पहन ले तो टूटेंगे ही। एक हो तो बना रहेगा।

द्वाभ्यामपि तथैव ४।१०।

दो हों तब भी यही होता है।

निराशः सुखी पिंगलावत् ।४।११।

सब की आशा छोड़ देने पर मनुष्य सुखी होता है। भगवान् उसको संभाल लेते हैं। जैसे पिंगला भगवान् भरोसे सुखी हो गई।

अनारम्भेऽपि परगृहे सुखी सर्पवत् ।४।१२।

कुटि आश्रम आदि के निर्माण में न पड़े। बने बनाये पर घर में या

गुफा आदि में निर्द्वन्द्व रहे। जैसे साँप कभी अपना बिल नहीं बनाता, बने-बनाये में घुस जाता है।

बहुशास्त्रगुरूपासनेऽपि सारादा नंषट्पदवत् ।४।१३।

बहुत शास्त्रों के अध्ययन के लिये बहुत गुरुओं की उपासना करने पर भी शास्त्र का सार ग्रहण करे, व्यर्थ की व्याख्या तथा अन्य बातों में न पड़े। भौंरा जैसे फूलों से सार ग्रहण कर लेता है।

इषुकारवन्नैकचित्तस्य समाधिहानिः ।४।१४।

व्युत्थान स्थिति—लोक व्यवहार में भी निपुण इषुकार के समान समाहित रहे। भगवान् को ध्यान में रखे तो समाधि की हानि नहीं होती। व्यवहार में फँसे नहीं, जैसे इषुकार कोई भी दृश्य आये, वह अपने इषु घड़ने में लगा रहता है।

व्रत नियम लङ्घनादानार्थक्यं लोकवत् ।४।१५।

तप और यमादि के नियमों के उल्लंघन से सब साधना व्यर्थ हो जाती है। संसारी जैसे स्वास्थ्यादि का नियम उल्लंघन करने पर रुग्ण हो जाता है।

तद्विस्मरणेऽपि भेकीवत् ।४।१६।

ओं विस्मरण से भी अनर्थ हो जाता है, मेंडकी की तरह। मेंडकी को पानी में रहना होता है। स्थल पर कूद आवे तो दबकर मर ही जाती है। ओं को कभी न भुलाये।

नोपदेशश्रवणेऽपि कृतकृत्यता परामर्शादृते ।४।१७।

योगविधि के पढ़ लेने से भी साधक कृतकृत्य नहीं हो सकता। उसे मनन और अभ्यास करना ही होगा।

प्रणति ब्रह्मचर्योपसर्पणानि कृत्वा सिद्धिर्बहुकालात् तद्वत् ।४।१८।

योगगुरु को प्रणाम, ब्रह्मचर्य का पालन, गुरु के सान्निध्य में रहने से सिद्धि होती है, दीर्घकाल में, जल्दबाजी में नहीं। इन्द्र को बहुत काल में स्वर्गराज्य की सिद्धि हुई थी।

न कालनियमो वामदेववत् ।४।२०।

समय का कोई नियम नहीं। देर लगती है। शीघ्र भी संस्कारों से

सिद्धि हो सकती है, जैसे वामदेव को शीघ्र सिद्धि हो गई और वह ऋषि तक हो गया।

अध्यस्तरूपोपासनात् पारम्पर्येण यज्ञोपासकानामिव ।४।२१।

सत्-चित्-आनन्द की अध्यास रूप से उपासना—योगाभ्यास करने से परम्परा से यथासमय जप-धारणा-ध्यान, समाधि की सिद्धि हो जाती है। यज्ञ-याग की उपासना करने वालों को यज्ञ-फल जैसे मिलता है, पर यज्ञ से योग-सिद्धि नहीं होती।

इतरलाभेऽप्यावृत्तिः पंचाग्नियोगतो जन्मश्रुतेः ।४।२२।

यज्ञ से लाभ होता है पर पुनः पुनः जन्म होता है। आवागमन नहीं छूटता। पंचमहायज्ञ करते-करते भी जन्म का श्रुति विधान है। पंचमहा-यज्ञों से भी मोक्ष नहीं।

विरक्तस्य हेय हानम् उपादेयोपादानं हंसक्षीरवत् ।४।२३।

पूर्ण विरक्त के हेय दुःख का हान हो जाता है। उपादेय पुरुष की प्राप्ति हो जाती है। हंस भी हेय जल को पृथक् कर दूध को ले लेता है। यही परमहंस का कार्य है।

लब्धातिशययोगात् तद्वत् ।४।२४।

अत्यन्त उच्चकोटि के योगाभ्यास से यह स्थिति आती है। हंस के समान।

न कामचारित्वं रागोपहते शुकवत् ।४।२५।

संसार के रागी के दुःख के हान में और भगवान् के उपादान में कामचारिता-स्वतन्त्रता नहीं हो सकती, जैसे पंजरे में बँधे तोते की उड़ान अपने आधीन नहीं है।

गुणयोगात् बद्धः शुकवत् ।४।२६।

सत्त्व, रज और तमो गुणों में रागी बँधा रहता है, जैसे तोता पिंजरे में।

न भोगाद्रागशान्तिर्मुनिवत् ।४।२७।

भोगों के भोगने से भोगों से प्रेम समाप्त नहीं होता। जैसे सौभरि मुनि का इतिहास प्रसिद्ध है।

दोषदर्शनादुभयोः ।४।२८।

भोक्ता के बन्धन और भोगों के दोषों के विचारते रहने से ही

वैराग्य होता है। संसार का राग समाप्त हो जाता है।

न मलिनचेतस्युपदेशबीजप्ररोहोऽजवत् ।४।२९।

मलिन चित्त में योगोपासना का बीज अंकुरित नहीं होता जैसे बकरे के पेट में अनेक अन्न जाते हैं, वहाँ मल-खाद भी है पर पेट में बीज फूटता नहीं। अंकुरित नहीं होता।

नाभासमात्रमपि मलिन-दर्पणवत् ।४।३०।

मैले चित्त में तो भगवान् का आभास तक भी नहीं होता, जैसे मैले शीशे में कुछ भी नहीं दीखता।

न भूतियोगेऽपि कृतकृत्यतोपास्यसिद्धिवत् उपास्यसिद्धिवत् ।४।३२।

विभूतियों के सिद्ध हो जाने पर भी योगी कृतकृत्य नहीं होता। जैसा कि उपास्य भगवान् की सिद्धि होने पर योगी कृतकृत्य होता है।

नाणिमादियोगोऽप्यवश्यम्भावित्वात्तदुच्छितेरितरयोगवत्

।५।८२।

अणिमा आदि आठों सिद्धियों का मिल जाना भी योग नहीं है, उन सिद्धियों का भी अवश्य नाश हो जाता है, समाप्ति हो जाती है जैसे दूसरे मिलने वाले पदार्थों का भी वियोग हो जाता है।

योगसिद्धयोऽप्यौषधादि सिद्धिवन्नापलपनीयाः ।५।१२।

योग सिद्धियाँ खण्डन अपलाप करना नहीं चाहिये। औषधि जैसे रोग नाश में सिद्ध है ऐसे ही योगजसिद्धियाँ भी सिद्ध हैं।

समाधि सुषुप्ति मोक्षेषु ब्रह्मरूपता ।५।११६।

समाधि, सुषुप्ति और मोक्ष में ब्रह्मानन्द की अनुभूति होने से ब्रह्म रूपता-सी होती है।

नैकस्यानन्द चिद्रूपत्वे द्वयोर्भेदात् ।५।६६।

दोनों आनन्द चेतन रूप नहीं हैं। एक ही आनन्द चित् है। वह परमात्मा है। दोनों का यह भेद है।

न षट् पदार्थ नियमः तद्बोधान्मुक्तिः ।५।८५।

प्रकृति के छः पदार्थों के जानने का नियम अनिवार्य नहीं। ब्रह्मबोध से ही मुक्ति होती है।

देहादिव्यतिरिक्तोऽसौ वैचित्र्यात् ।६।२।

आत्मा देह आदि से भिन्न है क्योंकि इनसे विलक्षण है।

अत्यन्त दुःख निवृत्या कृतकृत्यता ।६।५।

दुःख का अत्यन्ताभाव ही आत्मा की कृतकृत्यता है।

कुत्रापि कोऽपि सुखी न ।६।७।

कहीं भी किसी स्थिति में भी कोई सुखी नहीं है। सब दुःखी ही हैं।

परधर्मत्वेऽपि तत्सिद्धिरविवेकात् ।६।११।

दुःख आदि प्रकृति के धर्म हैं। अविवेक से जीवात्मा अपने समझ लेता है।

प्रकारान्तराभावादविवेक एव बन्धः ।६।१६।

अविवेक ही बन्धन का हेतु है। बन्धन में अन्य हेतु का अभाव है।

मुक्तिरन्तरायध्वस्तेर्न परा ।६।२०।

अविवेक का नाश हो जाने से ही मुक्ति है, अन्य कुछ नहीं।

अधिकारित्रैविध्यान्न नियमः ।६।२१।

मन्द, मध्य, उत्तम, अधिकारियों के भेद हैं। अतः सब के लिए एक ही कोटि की साधना का नियम नहीं है।

स्थिरसुखमासनमिति न नियमः ।६।२४।

अचल और सुख देने वाला हो यही बैठने के आसन का नियम है। अन्य आसनों का नियम नहीं है। आसन तो शतशः हो सकते हैं।

ध्यानं निर्विषयं मनः ।६।२५।

मनका विषयों की वृत्ति से रहित होना ध्यान है वैराग्य से विषयोपरत होने पर ही ध्यान होता है।

ध्यान धारणाभ्यास वैराग्यादिभिस्तन्निरोधः ।६।२६।

धारणा, ध्यान, समाधि और वैराग्य से चित्त की वृत्तियाँ रुकती हैं।

न स्थाननियमः चित्तप्रासादात् ।६।३१।

स्थान का नियम प्रधान नहीं। चित्त की प्रसन्नता ही नियम है। चित्त को सदा प्रसन्न रखे।

अहंकारः कर्त्ता न पुरुषः ।६।५४।

अहंकार ही कर्त्ता है, पुरुष नहीं ।

कर्मनिमित्तः प्रकृतेः स्वस्वामिभावोऽप्यनादिबीजांकुरवत् ।६।६७।

प्रकृति के साथ स्व स्वामिभाव का सम्बन्ध अनादि है, बीजांकुर की तरह ।

अविवेकनिमित्तको वा पञ्चशिखः ।६।६८।

प्रकृति को 'स्व' अपने को स्वामी समझना अविवेक के कारण है । ऐसा पंचशिखाचार्य ने माना है ।

यद्वा तद्वा तदुच्छित्तिः पुरुषार्थस्तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः ।६।७०।

स्व स्वामी सम्बन्ध किसी प्रकार भी हुआ हो, उसका नाश, प्रकृति से परवैराग्य ही पुरुष के जीवन का प्रयोजन है । प्रकृति से परवैराग्य ही पुरुषार्थ है ।

न्याय दर्शन में योग साधना

न्याय दर्शन में योग प्रक्रिया पूरी दी है । प्रमाण-प्रमेय आदि के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस-मोक्ष होता है । यह न्याय के आरम्भ के सूत्रों में कहा है सांख्य की नाई तर्क उपस्थित किया नअन्त में४-२-३८ में वात्स्याय ने अवतरणिका उठाई है :—

कथम् तत्त्वज्ञान मुत्पद्यते—तत्व ज्ञान का साधन क्या है ? तत्त्वज्ञान कैसे उत्पन्न होता है ? सूत्रकार गौतम ने उत्तर दिया है ।

समाधि विशेषाभ्यासात् ।४।२।३८।

समाधि विशेष अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधियों के अभ्यास से ही तत्त्व-ज्ञान होता है ।

वात्स्यायन ने भाष्य किया—"स तु प्रत्याहृतस्येन्द्रियेभ्यो मनसोधारकेण प्रयत्नेन धार्यमानस्यात्मना संयोगस्तत्त्वबुभुत्साविशिष्टः, सति हि तस्मिन्निन्द्रियार्थेषु बुद्धयो नोत्पद्यन्ते, तदभ्यासवशात् तत्त्वबुद्धिरुत्पद्यते । यदुक्तमसंति हि तस्मिन् इन्द्रियार्थेषु बुद्धयो नोत्पद्यन्ते इत्येतत् ।

—इन्द्रियों से मन को हटाकर, धारणा से आत्मा के साथ मन का संयोग हो जाता है । उस समय आत्मा तत्त्व को जानने की भावना से विशिष्ट रहता है, ऐसी समाधि की स्थिति में इन्द्रियों से ज्ञान नहीं होता है । उस सम्प्रज्ञात के अभ्यास से तत्त्वों का साक्षात्कार होता है । इसीलिए

कहा है कि सम्प्रज्ञात में ही तत्त्वबोध होता है। इन्द्रियों से विशुद्ध ज्ञान नहीं होता है।

नार्थ-विशेष-प्राबल्यात् ।४।२।३९।

अर्थो,पदार्थों में, विषयों में विशेष प्रबलता होने से सम्प्रज्ञात समाधि नहीं लगता।

भाष्यम्—विशेषप्राबल्यात् समाधिविशेषो नो त्पद्यते।

क्षुदादिभिः प्रवर्त्तनाच्च ।४।२।४०।

क्षुत्पिपासाभ्यां व्याधिभिश्च समाधिविशेषो नोत्पद्यते—वात्स्यायन भूख-प्यास, और रोगों से सम्प्रज्ञात समाधि नहीं लगा करती। अतः भूख-प्यास पर विजय प्राप्त करना होगा, तब रोग भी न होंगे- न बाधा ही होगी। यह अभिप्राय है।

पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः ।४।२।४१।

भाष्यम्—पूर्वकृतो जन्मान्तरोपचित्तितस्तत्त्वज्ञानहेतुधर्म प्रविवेकः फलानुबन्धो योगाभ्यास-सामर्थ्यम्—पूर्व-दीर्घकाल तक किया योग अभ्यास तथा जन्म-जन्मान्तर में किया योगाभ्यास तत्त्वज्ञान का हेतु होता है, तब पूर्ण योगसामर्थ्य प्राप्त होता है॥

अरण्य गुहा पुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः ।४।२।४२।

वन,गुफा,नदी तीर आदि में योगाभ्यास करने का उपदेश है वात्स्यायन लिखते हैं:—योगाभ्यासजनितो धर्मो जन्मान्तरेऽप्य नुवर्त्तते। प्रचय- कागते तत्त्वज्ञान हेतौ धर्मे, प्रकृष्टतायां समाधि-भावनायां तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते दृष्टश्च समाधिना अर्थ-विशेष- प्राब याभिभवः।

—योगाभ्यास के संस्कार जन्मान्तर में अनुवर्त्तित होते हैं। तत्त्व-ज्ञान के कारण योग संस्कार के भली प्रकार संगृहीत हो जाने पर, समाधि भावना के प्रबल हो जाने पर तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है। देखा गया है—समाधि से विशेष पदार्थों के विषयों की प्रबलता दब जाती है।

तदर्थं यम-नियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्म विध्युपायैः ।४।४६।

तस्यापवर्गस्याधिगमार्थयम नियमाभ्यामात्म संस्कारः यमः समान-माश्रमिणां धर्म-साधन नियमस्तु विशिष्टम्। पुनरधर्म हानम्, धर्मोपचयश्च योगशास्त्राध्यात्मविधिःप्रतिपत्तव्यः। सः पुनस्तपः, प्राणायामः, प्रत्याहारो

धारणा ध्यानमिति । इन्द्रिय विषयेषु प्रसंख्यानाभ्यासो, रागद्वेष प्रहाणार्थ उपायस्तु योगाचार विधानम् इति—उस मोक्ष की प्राप्ति के लिए यम नियम के परिपालन से आत्मा का संस्कार होता है । पांचों यमों, पांचों नियमों का पालन सब आश्रम वालों के लिये समान धर्म है । यम सब ही ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्न्यासी को पालने चाहियें । नियम तो विशेष हैं । ब्रह्मचर्य गृहस्थ में साधारण वानप्रस्थ में पूरी तरह पालन करना होता है । आत्म संस्कार का निमित्त अधर्म को सर्वथा छोड़ना है । अहिंसा आदि धर्मों का पूर्णतया पालन करना है । योगशास्त्र से आत्मज्ञान की विधि जाननी चाहिए । वह है—तप, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा-ध्यान का सम्यक् अभ्यास, इन्द्रियों के विषयों का पूर्ण विवेक से परित्याग करने का अभ्यास और रागद्वेष के नाश का उपाय तो योग के आचार के विधान का परिपालन है ।

ज्ञान ग्रहणाभ्यासस्तद्विद्यैश्च सह संवादः ॥४७॥

ज्ञायतेऽनेनेतिज्ञानमात्मविद्याशास्त्रं तस्य ग्रहणम्ग्रध्ययन धारणे, अभ्यासः सतत क्रियाध्ययन श्रवण चिन्तनानि, तद्विद्यैश्च सह संवाद.इति प्रज्ञापरिपक्वार्थः । परिपाकस्तु संशयछेदनम् अविज्ञातार्थ बोधोऽध्यवसिताभ्यनुज्ञानमिति समायवादः सम्वादः । तद्विद्यैश्च सह संवाद इत्यविभक्तार्थ वचनं विभज्यते ।

—जिससे जानें वह ज्ञान है । अर्थात् आत्मविद्या का शास्त्र,योगशास्त्र, उसका ग्रहण करना अर्थात् पढ़ना और आचरण में लाना अभ्यास है लगातार योग की क्रिया करना, योगशास्त्र का पढ़ना, सुनना, और चिन्तन करना । उस योगशास्त्र के जानने वालों के साथ वाद करना । इन बातों से योग की धारणा या योग प्रज्ञा परिपक्व होती है । परिपाक होता है उस समय जब संशयों का उच्छेद हो जाये । न जाना हुआ सब जान लिया जाये । जिसके ज्ञान का निश्चय किया था उसका ज्ञान हो जाये । किसी अनुभवी से मिल कर जानना सम्वाद है । योग विद्या को जानने वालों के साथ सम्वाद करना । इस प्रकार अविभक्त करके कहे 'सम्वाद' को विभक्त करके समझ लेना चाहिए ।

तं शिष्य-गुरु-सब्रह्मचारि-विशिष्ट-श्रेयोऽर्थिभिरभ्युपेयात् ।४८।

उस सम्वाद का शिष्य, गुरु, सहाध्यायी-सतीर्थ्य, विशेष कल्याण-मोक्ष के साधकों के पास बैठ कर करे ।

प्रतिपक्षहीनमपि वा प्रयोजनार्थमर्थित्वे ।४९।

परतः प्रज्ञामुपादित्समानस्तत्त्वबुभुत्सा प्रकाशनेन स्वपक्षमनवस्थापयन् स्वदर्शनं शोधयेत् । अन्योऽन्य प्रत्यनीकानि च प्रवादुकानां दर्शनानि स्वपक्षरागेण चैके न्यायमतिवर्तन्ते तत्र ।

—दूसरे से प्रज्ञा प्राप्त करने का इच्छुक तत्त्व के जानने की इच्छा प्रकट करे। अपने पक्ष की स्थापना न करे। अपने ज्ञान को शुद्ध करले। विवाद करने वालों के ज्ञान एक दूसरे से विपरीत हुआ ही करते हैं। अपने पक्ष के मोह में बहुत से न्याय को छोड़ देते हैं।

वीतरागजन्मादर्शनात् ।३।१।२५।

पूर्ण विरक्ति परवैराग्य प्राप्त कर जन्म नहीं होता। उसकी मुक्ति हो जाती है।

दोषनिमित्तं रूपादयो विषयाः संकल्पकृताः ।४।२।२।

कल्पना से सृजन किए हुए रूपादि पाँचों विषय मन के संकल्प उत्पन्न हुए हैं। इनका अपना स्वरूप तो दोष निमित्तक नहीं। मोह के कारण, अज्ञानवशात् पांचों विषयों में अनुरक्ति होती है। विषयों का भी एक रूप नहीं। किसी को लाल ही अच्छा लगता है, किसी को नीला, किसी को पीला, क्यों? यदि लाल ही मोहक है तो सब को मोहित करे। एक को ही क्यों करता है। ऐसे ही अन्य रंग हैं। किसी विशेष रंग में ही आकर्षण होता तो सब को ही वह रंग आकृष्ट करता। बस जिसने जिसका संकल्प कर लिया, उसे वही आकृष्ट करता है। यही स्वाद, गन्ध, शब्द, स्पर्श आदि की फँसावट में मन का व्यामोह ही कारण है।

दोषनिमित्तानां तत्त्वज्ञानादहंकार निवृत्तिः ।४।२।१।

वात्स्यायन भाष्यम्—मिथ्याज्ञानं वै खलु मोहः। न खलु तत्त्वज्ञानस्यानुत्पत्तिमात्रम् । तच्च मिथ्याज्ञानं यत्र विषये प्रवर्त्तमानं संसारबीजं भवति।

स विषयः तत्त्वतोज्ञेय इति। किं पुनस्तत् मिथ्याज्ञानम्। अनात्मनि आत्मग्रहः अहमस्मि इति मोहोहंकारः इति। अनात्मानं खल्वहमस्मीति पश्यतो दृष्टिरहंकार इति किं पुनस्तदर्थजातं यद्विषयोऽहंकारः संसार-बीजं भवति। अयं खलु शरीराद्यर्थजातमहमस्मीति व्यवसितः तदुच्छेदनादुच्छेदनमात्मनो मन्यमानोऽनुच्छेद तृष्णापरिप्लुतः पुनः पुनस्तदुपादत्ते, तदुपाददानो

जन्ममरणाय यतते । तेनावियोगन्नात्यन्तं दुःखाद्विमुच्यते इति । यस्तु दुखं, दुःखायतनं, दुःखानुषक्तं सुखंच 'सर्वम् इदं दुःखमिति पश्यति स दुःखं परिजानाति । परिज्ञातं च दुःखं प्रहीणं भवति, अनुपादानात् सविषान्नवत् । एवं दोषान्, कर्म च दुःख-हेतुरिति पश्यति । न चाप्रहीणेषु दोषेषु दुःख प्रबन्धोच्छेदेन शक्यं भवितुमिति दोषान् जहाति प्रहीणेषु च दोषेषुन प्रवृत्तिः प्रतिसन्धानायेत्युक्तम् ।

प्रेत्यभावः, फल-दुःखानि च ज्ञेयानि, व्यवस्थापयति दोषांश्च प्रहेयान् । अपवर्गोऽधिगन्तव्यः, तस्याधिगमोपायस्तत्वज्ञानम् । एवं चतसृभिर्विद्याभिः प्रमेयं विभक्तमासेवमानस्याभ्यस्यतो भावयतः सम्यग् दर्शनं यथाभूतावबोधस्तत्व ज्ञानमुत्पद्यते इति ।।

—मिथ्या ज्ञान ही मोह है । तत्वज्ञान का केवल उत्पन्न न होना ही मिथ्या ज्ञान नहीं है । वह मिथ्या ज्ञान जिन-जिन विषयों में होने पर संसार का संसार के मरण जन्म का चक्र बनता है वह मिथ्या ज्ञान है, उन विषयों को, प्रकृति पुरुष के स्वरूप से तात्विक रूप में साक्षात् करना चाहिए । केवल सुन सुनाकर नहीं ।

वह तत्व ज्ञान क्या है ?

"अनात्म पदार्थों को आत्मा समझ लेना । प्रकृति और प्रकृति से बने रुपया, पैसा, सोना, चांदी, मकान, भूमि, अपनी देह, पर देह आदि को आत्मा समझ लेना । उनके अभाव में आत्मा का सन्तप्त होना मिथ्या ज्ञान है । आत्मज्ञानी सन्तप्त नहीं होता ।

'यह सब मैं हूं, या यह मेरा है यही अहंकार है, यह अहंकार ही अविद्या की जड़ है । 'आत्मा से भिन्न—अनात्मपदार्थों को 'मैं—आपा-आत्मा' समझना—इस प्रकार जानने वाले का दर्शन-ज्ञान ही अहंकार हैं ।

—वह कौन कौन से पदार्थ हैं जिनमें आत्मभाव होने से अहंकार होता है और वह संसार का जन्म-मरण का कारण-बीज बना रहता है ?

"शरीर, मन,वेदना, बुद्धियों को आत्मा-आपा समझ लेना अहंकार है, जन्म-मरण के चक्र में फँसना है ।"

इनमें आत्मबुद्धि अहंकार कैसे संसार का—आत्मा के जन्ममरण में संमरण का हेतु बनता है?

"यह चेतन आत्मा शरीर आदि पदार्थों को ही आत्मा निश्चय किये है । इन पदार्थों के नाश को अपना—आत्मा का नाश मान बैठता है । इस

लिए इन पदार्थों का नाश न हो इस तृष्णा से लालसा से आप्लावित है, भरा पड़ा है। घिरा पड़ा है। इसलिये बार बार उनका संग्रह करता है। उनको संग्रह करता हुआ जन्म-मरण संसरण के लिए ही यत्न करता है। उन पदार्थों के साथ वियोग न होने से, संयोग के बने रहने से कभी भी दुःख से अत्यन्त सार्वकालिक छुटकारा नहीं होता है।"

जो दुःख को, दुःख के आयतन—दुःख के ही कारण, दुःख से मिश्रित सुख को भी 'सब कुछ दुःखमय है, दुःख रूप है, ऐसा जानता है, समझ लेता है वह ही दुःख के स्वरूप को पहचान गया है। दुःख का स्वरूप जान लेने पर छूट जाता है, छोड़ दिया जाता है जैसे विषाक्त अन्न को छोड़ देते हैं। इस प्रकार अविद्या आदि दोषों को और कर्मो को भी दुःख का हेतु ही जानता है, मानता है। अविद्यादि क्लेश दोषों के छूटे बिना दुःख की परम्परा नष्ट नहीं होती, नहीं हो सकती। अन्य केवल तर्क ज्ञान इसका साधन नहीं है। इसलिए मोक्ष का इच्छुक अविद्यादि दोषों को छोड़ देता है। छूटे हुए अविद्या आदि में फिर प्रवृत्ति नहीं करता नहीं तो फिर उसी प्रकार फँसावट हो जायेगी।

जानने योग्य मृत्यु, मृत्यु के फल और दुःखों को, कर्मो को और हेय दुःखों को छोड़ने की व्यवस्था करता है।

मुक्ति—अपवर्ग—मोक्ष प्राप्त करना चाहिए। मानव-जीवन का लक्ष्य यही है। मुक्ति पाने का उपाय तत्त्व ज्ञान है। इस प्रकार अविद्या आदि चारों के अभाव से जन्य विद्या, आत्म ज्ञान, सुख से विमुखता और दुःखानुभव शून्यता प्रमेय प्रकृति पुरुष को पृथक्-पृथक् भाव से अनुभव करते हुए विवेक-सम्पन्न योगाभ्यासी को सम्यग्दर्शन—सही सही विशुद्ध ज्ञान होता है, उसको सब भूतों का यथातथ्य ज्ञान उत्पन्न होता है।"

प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः इति ।१।१।१७।

वाणी, बुद्धि, शरीर से जिनका आरम्भ होता है वह सब प्रवृत्ति है। इन्हें ही योग में पांच प्रवृत्तियाँ कहा है।

प्रवर्त्तनालक्षणो दोषः । १।१।१८ ।

जिनसे प्रवृत्ति होती है, जिनसे वाणी, बुद्धि, और शरीर कार्य करते हैं वे ही वृत्तियाँ दोष कहाती हैं।

प्रवृत्ति दोष जनितोऽर्थः फलम् । १।१।२० ।

प्रवृत्ति-दोष से उत्पन्न परिणाम ही प्रवृत्ति का फल तथ्यरूप से दुःख ही है।

बाधना लक्षणं दुःखम् । १।१।२१ ।

प्रवृत्ति और प्रवृत्ति फल मोक्ष में सुख में बाधक है इसलिए दुःख है।

तदत्यन्त विमोक्षोऽपवर्गः । १।१।२२ ।

उस प्रवृत्ति, प्रवृत्ति का फल अत्यन्त छूट जाना मोक्ष है। मुक्ति है, इस मोक्ष की ही साधना पूर्ववर्णित न्याय ने बतायी है।

वेदान्त दर्शन में योग साधना

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् । ४।१।१ ।

ओं नाम की आवृत्ति करनी चाहिए। पुनः पुनः उच्चारण वाचिक, फिर मानसिक करना चाहिए। अन्त में बौद्धिक। वेद, उपनिषद्, आदि में स्मृतियों में शतशः बार यही बताया गया है।

(देखो हमारी लिखी 'ओं मन्त्रोपासना')

लिंगाच्च । ४।२।२ ।

सत् चित् आनन्द लिगों से, गुणों की भावना से स्मरण करे। यही साधना अर्थ-भावना तक-परमेश्वर पदार्थ तक पहुँचा देगी ।। आदित्यवर्णम्, तेजोऽसि,भर्गः सर्वत्र भास्वर स्वरूप का उल्लेख है ।। 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्, आदि। "यत्रआनन्दाश्च मोदाश्च"अथर्व वेद में कहा है आनन्दमय में ध्यानमग्न होने से आनन्द ही आनन्द रहता है। मोद ही मोद रहता है। 'सर्वज्ञानमयो हि सः वह ज्ञान स्वरूप चेतन तत्त्व है।

आत्मेत्युपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च । ३।१।३ ।

ध्यान में आत्मा और परमात्मा का अवलम्बन कर उन्हें प्राप्त हो जाते हैं।

आत्मनात्मानमभिसंविवेश ।। यजुर्वेद । ३१।११ ।

'संविश्यात्मनात्मानम्' ।। माण्डूक्य ।०।१२ ।

आत्मा से परमात्मा में प्रवेश करके ध्यान करे।

न प्रतीके न हि सः । ४।१।४ ।

प्रतीकोपासना से योग-साधना नहीं होती है।

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् । ४।१।५ ।

साधना में उत्कर्ष का हेतु ब्रह्मदृष्टि है। ब्रह्मरूप अर्थावगति बनी रहे।

आदित्यादिमतयश्चांग उपपत्तेः । ४।१।६ ।

आदित्यादि प्रकाश, आदित्य, चन्द्रतारा, आदि का साधना में दर्शन उपपन्न है। योगाग्रगति का चिन्ह है।

उद्गीथ आदित्यः । छान्दो० २।२।१ ।

आसीनः सम्भवात् । ४।१।७ ।

आसनासीन ध्यान करे,ब्रह्मोपासना आसन से ही सम्भव है। शयान को आलस्य नीन्द घेर लेती है। खडा श्रान्त हो जाता है। चलता हुआ चंचल होता है।

ध्यानाच्च । ४।१।८ ।

ब्रह्म ज्ञान भी ध्यान से ही सम्भव है।

अचलत्वं चापेक्ष्य ।४।१।९ ।

अचल रहने से ही ध्यान निष्पन्न होता है। हिलने-डुलने से मन डुल जाता है। मन हिलता है तो ही तो शरीर हिलता है।

स्मरन्तिच । ४।१।१० ।

योगाभ्यासी नाम स्मरण करते हैं। 'ओं क्रतो स्मर यजुः ४० अ० योग क्रिया का अभ्यासी 'ओं' का स्मरण करता है। 'ओकारं ध्यायन्ति योगिनः" ओं का जप करते करते योगी ध्यान पर पहुँचते हैं। शिखोपनिषद्। 'प्रणवो धनुः'। योग साधना का प्रणव ही धनुष है। आदि।

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् । ४।१।११ ।

जहाँ एकाग्रता हो वहीं रहे। पर्वत, नदी कूल, आदि का कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

आ प्रायणात् तत्रापि दृष्टम् ।। 'ओं स्मरण'मरण पर्यन्त है यावज्जीवन है। "प्रायणान्तमोंकारमभिध्यायीत" प्रश्नो० ५।१।। यावदायुषं ब्रह्म लोकमभिसम्पद्यते ।। छान्दो० ८-१५-१।। आयुपर्यन्त ब्रह्म नाम ओम का स्मरण कर उस ब्रह्म लोक को प्राप्त हो।

तदधिगम उत्तरपूर्वाधयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्
। ४।१।१३ ।

ध्यान साधना से—योगापासना से उस ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

और साथ ही भूत और भविष्यत् के पापों का भोग नहीं मिलता है। वे पाप नष्ट ही हो जाते हैं। ऐसा ही शास्त्रों में व्यपदेश है—

"यथा पुष्कर पलाशे आपो न श्लिष्यन्ति एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते" छान्दो० ४।१४।३।

ढाक के पत्ते पर पानी नहीं लगता, ऐसे ही ब्रह्मज्ञानी योगी को पाप और कर्म नहीं छूते ॥

तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" छान्दो० ५।२४।३।

जैसी सींक की लिपटी रुई अग्नि में भस्म हो जाती है ऐसे इसध्यानी के सारे पाप नष्ट हो जाते हैं।

इतरस्यापि एवमश्लेषः पाते तु। ४.१.१४।

योगी के दूसरे प्रारब्ध पुण्य कर्मों का भी अश्लेष और पूर्व संचित पुण्यों का नाश हो जाता है। देहपात होने पर। ऐसा ही कहा भी है।

"क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन दृष्टे परावरे" ।मुण्डक २।२।८।

भगवान् के दर्शन पर इस योग-साधक के कर्म नष्ट हो जाते हैं।

न वै सतः प्रियाप्रिययोरपहृतिरस्ति। अशरीरं वावसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः। छान्दोग्य ८.१२.१।

शरीर के रहते तक पाप पुण्य रहते हैं, पर विरक्त ध्यानी के शरीर अध्यास न रहने पर पाप पुण्य का नाश हो जाता है।

अनारब्ध कार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ।४.१.१५।

संचित कर्म ही जिन्होंने फल प्रदान आरम्भ नहीं किया वे पाप पुण्य नष्ट हो जाते हैं। ब्रह्म-प्राप्ति ही पुण्य पाप नाशक की सीमा है।

"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये"—छान्दोग्य०

। ६.१४. २।

उसको उतनी ही देर है जब तक मुक्त नहीं होता। मुक्ति के साथ ही पाप पुण्य नष्ट हो जाते हैं।

अग्निहोत्रादितु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ।४.१.१६।

अग्निहोत्रादि ब्रह्मप्राप्ति के लिए ही गृहस्थादि आश्रमों में विहित हैं। उनका कार्य परोपकार कर्म के कारण सत्व गुण की अभिव्यक्ति ही है। पुण्य भी नाश हो जाता है—

यदा पश्यः पश्यतेरुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्म योनिम्।
तदा विद्वान् पुण्य पापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति ॥—जब साक्षात्कृत योगी हिरण्यरूप कर्ता ईश्वर पर ब्रह्म वेदाविष्कर्ता को देखता है। उस समय वह ब्रह्मज्ञानी पुण्य पाप को नाश करके निष्कलंक हो जाता है, अपरामृष्ट परब्रह्म की समता प्राप्त करता है चाहे परब्रह्म में परिणत नहीं होता।

यदेव विद्ययेति हि।४.१.१४।

अविद्यादिपंचक को हान करके विवेक से ब्रह्म साक्षात् करता है।
—यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति। छान्दो० ।१.१.१०।

विवेक, श्रद्धा और ब्रह्मोपनिवेशन से जो ब्रह्मज्ञान होता है, वही श्रष्ठतम है।

योगिनः प्रति स्मर्यते स्मार्ते चैते।४.३.२१।

योगी के जानने योग्य दक्षिणायन उत्तरायण हैं। ये दो भाग स्मृति में आये हैं।

दर्शनाच्च।४.३.१३।

देवयान मार्ग भी ब्रह्म दर्शन कराता है।
यह थोड़ा सा वेदान्त दर्शन का योग विषय दर्शाया।

वैशेयोग दर्शन में योग

तदनारम्भ आत्मस्थे मनसि, शरीरस्य दुःखाभावः संयोगः ।५.२.१६।

मन के अपने आप में ही ठहर जाने पर, सर्ववृत्तियों का निरोध हो जाने पर, उसकी वृत्तियों का अनारम्भ होने पर, शरीर के दुःखों का अभाव हो जाता है। क्लेश और कर्म की निवृत्ति हो जाती है। वही योग है।

तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः । ५.२.१८ ।

वृत्तियों कर्मों, क्लेशों का संयोग न होने पर जन्म-मरण का चक्र समाप्त हो जाता है यही मोक्ष है ।

आत्मन्यात्ममनसोः संयोगविशेषादात्मप्रत्यक्षम् ।। ९.१.११ ।।

आत्मा और मन के संयम-प्रक्रिया के द्वारा आत्मा में संयोगविशेष होने से आत्मा का प्रत्यक्ष होता है ।

तथा द्रव्यान्तरेषु प्रत्यक्षम् ।९.२.१२ ।

उसी प्रकार आत्मा और मन के संयम के प्रयोग के द्वारा संयोग विशेष के होने पर अन्य प्रकृति स्थूल, सूक्ष्म पदार्थों का योगज प्रत्यक्ष होता है ।

असमाहितान्तः करणा उपसंहृतसमाधयस्तेषां च । ९.१.१३ ।

एकाग्रवृत्ति वालों को भी समाहित हो जाने पर और सम्प्रज्ञात समाधियों के उपसंहार में सब प्रत्यक्ष हो जाता है ।

तत्समवायादात्मकर्मगुणेषु । ९.१.१४ ।

उन सूक्ष्म द्रव्यों के समवाय सम्बन्ध से रहने वाले गुणों और कर्मों का भी प्रत्यक्ष होता है ।

आत्मसमवायादात्मगुणेषु । ९.१.१६ ।

आत्मा में समवाय-नित्य सम्बन्ध से रहने वाले गुणों कर्मों का भी योगज प्रत्यक्ष होता है ।

आत्ममनसोः संयोगविशेषात् संस्काराच स्मृता । ६ ।

आत्मा मन के संयोग विशेष से और संस्कारों से स्मृति होती है ।

स्वप्नान्तिकम् । ८ ।

स्वप्न में दृष्ट का भी आत्म मन के संयोग विशेष से ज्ञान और स्मृति होती है ।

धर्माच्च । ९ ।

द्रव्यों के उपयुक्त धर्मों गुणों से भी स्वप्न होते हैं ।

इन्द्रियदोषात्संस्कारदोषाच्चाविद्या । १० ।

इन्द्रियों के दूषित ज्ञान से और दूषित संस्कारों से अविद्या होती है ।

तद्दुष्टज्ञानम् । ११ ।

वह इन्द्रिय-जन्य ज्ञान दुष्ट है।

अदुष्टं विद्या । १२ ।

दोषों-क्लेशों से रहित ज्ञान ही विद्या है। विवेक है।

आर्षं सिद्धदर्शनं च धर्मेभ्यः । १३ ।

ऋषियों और सिद्धों के दर्शन योगज धर्म से होते हैं। इति

यह दर्शनों की योग प्रक्रिया है। योग दर्शन तो है ही योग प्रक्रिया। उसका ही सबने पोषण किया है। योगज प्रत्यक्ष से ही कल्याण है। केवल तर्क से नहीं। ऐसा दर्शनों का अभिप्राय है।

छह दर्शनों में से चारदर्शनों में योग का विधान उपरिलिखित पृष्ठों में निर्दिष्ट है। योग दर्शन में तो योग ही योग वर्णित है जिसका विस्तृत ब्यौरा स्वामी जी की अज्ञातजीवनी में स्थानस्थान पर उल्लिखित है इस प्रकार योग की प्रक्रिया तथा महिमा का पाँचों दर्शनों में गुणगान हुआ है।

श्रीमद्भागवत में योग-साधना

स्कन्ध ११

वासे बहूनां कलहो भवेद् वार्ता द्वयोरपि ।
एक एव चरेत्तास्मात् कुमार्या इव कंकणः ।१०।
मन एकत्र संयुञ्ज्याज्जितश्वासो जितासनः ।
वैराग्याभ्यास योगेन ध्रियमाणमतन्द्रितः ।११।
तस्मिन् मनो लब्धपदं यदेतत्,
छनैश्शनैर्मुंचति कर्म रेणून् ।
सत्त्वेन वृद्धेन रजस्तमश्च,
विधूय निर्वाणमुपैत्यनिन्धनम् ।१२।
तदैवमात्मन्यवरुद्धचित्तो, न वेद किंचिद् बहिरन्तरं वा ।
यथेषुकारो नृपतिं व्रजन्तमिषौ गतात्मा न ददर्श पार्श्वे
। १३ ।

एकचार्यनिकेतः स्यादप्रमत्तो गुहाशयः ।
अलक्ष्यमाण आचारैर्मुनिरेकोऽल्पभाषणः ।१४।

गृहारम्भोऽतिदुःखाय, विफश्लचाध्रुवात्मनः ।
सर्पः परकृतं वेश्म प्रविश्य सुखमेधते ।।१५।।

—अध्याय ९

अहिंसा सत्यमस्तेयमसंगो ह्रीरसंचयः ।
आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाभयम् ।३३।

शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धातिथ्यं मदर्चनम् ।
तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम् ।३४।

एते यमाः सनियमाः उभये द्वादश स्मृताः ।
पुंसामुपासितास्तात यथाकामं दुहन्ति हि ।३५।

शमो मन्निष्ठता बुद्धेर्दम इन्द्रियसंयमः ।
तितिक्षा दुःखसम्मर्षो जिह्वोपस्थजयो धृतिः ।३६।

दण्डन्यासः परं दानं कामत्यागस्तपः स्मृतम् ।
स्वभाव-विजयः शौर्यं सत्यं च समदर्शनम् ।३७।

ऋतं च सूनृता वाणी कविभिः परिकीर्त्तिता ।
कर्मस्वसंगमः शौचं, त्यागः सन्न्यास उच्यते ।३८।

धर्मं दृष्टं धनं नृणाम्, यज्ञोऽहं भगवत्तमः ।
दक्षिणा ज्ञानसन्देशः, प्राणायामः परं बलम् ।३९।

भगो म ऐश्वरो भावो, लाभो मद्भक्तिरुत्तमा ।
विद्यात्मनि भिदा बोधो, जुगुप्सा ह्रीरकर्मसु ।४०।

किं वर्णितेन बहुना लक्षण गुणदोषयोः ।
गुण-दोष दृष्टिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः ।४५।

सम आसन आसीनः, समकायो यथासुखम् ।
हस्तावुत्संग आधाय, स्वनासाग्रकृतेक्षण ।३२।

प्राणस्य शोधयेन्मार्गं, पूरक-कुम्भक-रेचकैः ।
विपर्ययेणापि शनैरभ्यसेन्निर्जितेन्द्रियः ।३३।

हृद्यविच्छिन्नमोंकारं, घण्टानादं बिसोर्णवत् ।
प्राणेनोदीर्य तत्राथ, पुनः संवेशयेत् स्वरम् ।३४।

एवं प्रणवसंयुक्तं, प्राणमेव समभ्यसेत् ।
दशकृत्वस्त्रिषवणं, मासादर्वाग् जितानिलः ।३५।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो, मनसाकृष्य तन्मनः ।
बुद्ध्या सारथिना धीरः, प्रणयेन्मयि सर्वतः ।४२।

तत्सर्वव्यापकं चित्तम्, आकृष्यैकत्र धारयेत् ।
नान्यानि चिन्तयेद् भूयः, सुस्मितं भावयेन्मुखम् ।४३।

तत्र लब्धपदं चित्तमाकृष्य व्योम्नि धारयेत् ।
तच्च त्यक्त्वा मदारोहो,न किञ्चिद पिचिन्तयेत् ।४४।

एवं समाहितमतिः, मामेवात्मनात्मनि ।
विचष्टे मयि सर्वात्मन्, ज्योतिर्ज्योतिषि संयुतम् ।४५।

ध्यानेनेत्थं सुतीव्रेण, युञ्जतो योगिनो मनः
संयास्यत्याशु निर्वाणं, द्रव्यज्ञान-क्रिया भ्रमः ।४६।

अध्याय १४

पंचदशोऽध्यायः

जितेन्द्रियस्य युक्तस्य जितश्वासस्य योगिनः ।
मयि धारयतश्चेत उपतिष्ठन्ति सिद्धयः ।१।

सिद्धयोऽष्टादश प्रोक्ता, धारणायोगपारगैः ।
तासामष्टौ मत्प्रधाना, दशैव गुणहेतवः ।३।

अणिमा, महिमा, मूर्तेर्लघिमा, प्राप्तिरिन्द्रियैः ।
प्राकाम्यं श्रुतदृष्टेषु, शक्तिप्रेरणमीशिता ।४।

गुणेष्वसंगो वशिता, यत्कामस्तदवस्यति
एता मे सिद्धयः सौम्य, अष्टावौत्पत्तिका मताः ।५।

अनूर्मिमत्त्वं देहेऽस्मिन्, दूरश्रवण दर्शनम् ।
मनोजवः कामरूपं, परकायप्रवेशनम् ।६।

स्वच्छन्दमृत्युर्देवानां सहक्रीडानुदर्शनम् ।
यथासंकल्पसंसिद्धिराज्ञाप्रतिहता गतिः ।७।

त्रिकालज्ञत्वमद्वन्द्वं परचित्ताद्यभिज्ञता ।
अग्न्यर्काम्बुविषादीनां, प्रतिष्टम्भोऽपराजयः ।८।

एताश्चोद्देशतः प्रोक्ता, योग धारण सिद्धयः ।
यया धारणया या स्याद्, यथा वा स्यान्निबोधमे ।९।

भूतसूक्ष्मात्मनि मयि, तन्मात्रं धारयेन्मनः ।
अणिमानमवाप्नोति, तन्मात्रोपासको मम ।१०।

महत्यात्मन्मयि परे, यथासंस्थं मनो दधत् ।
महिमानमवाप्नोति, भूतानां च पृथक् पृथक् ।११।

परमाणुमये चित्तं, भूतानां मयि रञ्जयन् ।
कालसूक्ष्मार्थतां योगी, लघिमानमवाप्नुयात् ।१२।

धारयन् मय्यंहतत्त्वे, मनो वैकारिकेऽखिलम् ।
सर्वेन्द्रियाणामात्मत्वं, प्राप्तिं प्राप्नोति मन्मनाः ।१३।

महत्यात्मनि यः सूत्रे, धारयेन्मयि मानसम् ।
प्राकाम्यं पारमेष्ट्यं मे, विन्दतेऽव्यक्तजन्मनः ।१४।

विष्णौ त्र्यधीश्वरे चित्तं धारयेत् कालविग्रहे ।
स ईशित्वमाप्नोति, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ चोदनम् ।१५।

नारायणे तुरीयाख्ये, भगवच्छब्दशब्दिते ।
मनो मय्यादधद् योगी, मद्धर्मा वशितामियात् ।१६।

निर्गुणे मयि ब्रह्मणि, धारयन् विशदं मनः ।
परमानन्दमाप्नोति, यत्र कामोऽवसीयते ।१७।

मय्याकाशात्मनि प्राणे, मनसा घोषमुद्वहन् ।
तत्रोपलब्धा भूतानां, हंसो वाचः शृणोत्यसौ ।१६।

चक्षुस्त्वष्टरि संयोज्य, त्वष्टारमपि चक्षुषि ।
मां तत्र मनसा ध्यायन्, विश्वं पश्यति सूक्ष्मदृक् ।२०।

परकायं विशन् सिद्धः, आत्मानं तत्र भावयेत् ।
पिण्डं हित्वा विशेत् प्राणो, वायुभूतः षडङ्घ्रिवत् ।२३।

मद्भक्तया शुद्ध-सत्त्वस्य, योगिनो धारणाविदः ।
तस्य त्रैकालिकी बुद्धिर्जन्ममृत्यूपबृंहिता ।२८।

जितेन्द्रियस्य दान्तस्य, जितश्वासात्मनो मुनेः ।
मद्धारणां धारयतः, का सा सिद्धिः सुदुर्लभा ।३२।

अन्तरायान् वदन्त्येता, युञ्जतो योगमुत्तमम् ।
मया सम्पद्यमानस्य, कालक्षपणहेतवः ।३३।

जन्मौषधि तपो मन्त्रैयविती हि सिद्धयः ।
योगेनाप्नोति ताः सर्वा नान्यै र्योगगतिं व्रजेत् ।३४।

अध्याय १५

समाहितं यस्य मनः प्रशान्तं, दानादिभिः किं वदतस्य कृत्यम्
असंयतं यस्य मनो विनश्यद्,दानादिभिश्चेदपरं किमेभिः?।४७।
श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ११ अध्याय २३।।

बहुतों के रहने पर कलह होता है। दो में भी बातचीत होती है। इसलिये योगाभ्यासी एकला ही रहता है। जैसे कुमारी एक ही कंकण-कड़ा पहनती है, वह खड़खड़ाता नहीं ।।१०।।

मन को एकान्त देश में साधे। प्राणगति को वश में करें। स्थिर आसन हो। आसन पर पूर्ण विजयलाभ करें। वैराग्य और अभ्यास के योग से मन को सावधानी से वश में करें ॥११॥

भगवान् में मन के स्थिर हो जाने पर मन शनैः शनैः कर्मों की धूल को—भोगों को छोड़ देता है। उसके भोग समाप्त हो जाते हैं। सत्त्व गुण के बढ़ने पर रजोगुण और तमोगुण दूर हटाकर, प्रभावहीन करके ईंधन-रहित अग्नि के समान मन मर जाता है। अक्रिय हो जाता है। लय को प्राप्त हो जाता है ॥१२॥

उस समय आत्म तत्त्व में चित्त का निरोध करके अन्दर या बाहर की किसी बात का भी भान नहीं होता है। जैसे बाण बनाने वाला तन्मयता के कारण सवारी के साथ जाने वाले राजा को भी नहीं जानता है। पास में होते हुए को भी नहीं देख पाता है ॥१३॥

योगाभ्यासी मुनि अकेला रहे। स्थान-मकान न बनाये। सावधान हो, किसी गुफा में आसन जमाये। उसकी योगचर्या को भी कोई जान न पाये। अल्पभाषी रहे। एकाकी रहे ॥१४॥

घर का बनाना अत्यन्त दुःख का कारण होता है। चञ्चल स्वभाव से वह विफल रह जाता है। योगी सांप की तरह दूसरे के घर में घुस कर सुख पाता है ॥१५॥

अध्याय ९

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, असंग, संकोच, लज्जा, अपरिग्रह, भगवान् पर भरोसा, ब्रह्मचर्य, मौन, धीरता, क्षमा, अभय, शौच, जप, तपः, हवन, श्रद्धा, आतिथ्य, भगवान् का अर्चन-ध्यान, तीर्थ भ्रमण, परोपकारेच्छा, सन्तोष, आचार्य के समीप रहना, यह नियमों सहित यम हैं। दोनों १२-१२ हैं। तात ! यदि पुरुष इनका परिपालन करे तो यही कामधुक् हैं। ॥३३-३४-३५॥

बुद्धि की आत्म तत्त्व में निष्ठा शम है। इन्द्रियों पर काबू पाना संयम है। दुःखों का सहन करना तितिक्षा है। जिह्वा और उपस्थ को जीतना, स्वाद और काम पर विजय पाना धृति है ॥३६॥

किसी को दंड न देना सबसे बड़ा दान है। कामनाओं का त्याग तप है। अपने मनोभाव को जीतना बहादुरी है। सबको समान भाव से देखना सत्य है ॥३७॥ कवियों ने सच्ची वाणी को ऋत कहा है। कर्मों में न फसना शौच है। सब छोड़ना त्याग हैं ॥३८॥ धर्म ही मनुष्यों का

यथेष्ट धन है। भगवान् ही यज्ञ है, अर्थात् भगवान् का भजन ही यज्ञ है। ज्ञान का सन्देश ही दक्षिणा है। भजन के द्वारा विवेक प्राप्त करें। प्राणायाम ही परम बल है ॥३९॥ सदा ईश्वर भाव में रत रहना ही ऐश्वर्य है। भगवान् की उत्तम भक्ति ही महा लाभ है। आत्मा को प्रकृति से अलग जान लेना बोध है। अकर्म से दूर रहना जुगुप्सा है ॥४०॥ गुण-दोष का कहां तक लक्षण बताया जाए, गुणों-दोषों को देखते रहना ही दोष है। दोनों से अलग रहना ही गुण है ॥४५॥

समतल पर आसन जमाये। सुखपूर्वक काया को सम रखे। दोनों हाथों को गोद में रखे। अपनी नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रखे। कुछ दिखाई न दे।३२। प्राण के मार्ग को शोधे। इसका उपाय पूरक, कुम्भक और रेचक है। रेचक, कुम्भक और पूरक के विपरीत क्रम से भी जितेन्द्रिय हो अभ्यास करे ॥३३॥ हृदय में अटूट तार से 'ओं' का जाप करे। घण्टानाद के समान उसी में रम जाये। कमल नाल के तन्तु के समान उसमें लगा रहे। घण्टे की झंकार के समान 'ओं' की तार बनी रहे। प्राण के साथ भी 'ओं' को चलाये सांस सांस में 'ओं' जपे ॥३४॥ प्राण से मिलाकर 'ओं' जाप का अभ्यास करे। दिन में तीन वार दस-दस ओंकार सहित प्राणायाम करे। एक मास में प्राण वश में हो जाता है ॥३५॥

इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषय से हटाकर मन में लय करदे। प्रत्याहार सिद्ध होने पर धीर योगाभ्यासी बुद्धि सारथि के द्वारा भगवद्भाव में शब्द छोड़ भागवत ज्ञान में सर्वथा लीन हो जाये ॥४२॥ सब में जाने वाले इस सर्व व्यापक से चित्त को खेंचकर एक स्थान पर ठहराये। फिर अन्य कुछ चिन्तन न करे। मुख पर सदा मुस्कान रहे ॥४३॥ मन के स्थिर हो जाने पर आकाशतत्त्व में चित्त को धारण करे। उसको भी छोड़कर आत्म तत्त्व में लगे, अन्य कुछ भी न सोचे ॥४४॥

इस प्रकार धारणा के उपरान्त समाहित मन, समाहित बुद्धि हो आत्मा में परमात्मा का भान करे। ज्योति में ज्योति व्याप्त हो रही है ॥४५॥

इस प्रकार तीव्रातितीव्र ध्यान में मग्न योगी का मन निर्वाण को—प्रलय को प्राप्त हो जाता है। द्रव्य, ज्ञान और क्रियाओं की भ्रान्ति भी समाप्त हो जाती है ॥४६॥

—११ स्कन्ध —१४ अध्याय

१५ वां अध्याय—योग में लगे जितेन्द्रिय और श्वास पर वश पाने

वाले योगी को सिद्धियां उपस्थित होती हैं ॥१॥ सिद्धियां १८ कहीं हैं। धारणायोग में पारंगत योगियों ने यह कहा है। उनमें आठ तो आत्म-तत्त्व ज्ञान प्राप्ति से होती हैं दस सिद्धियों का कारण त्रिगुणवशित्व है ॥३॥ (१)अणिमा,(२)महिमा,(३)मूर्ति की लघिमा,(४)इन्द्रियों से सूक्ष्म,व्यवहित विप्रकृष्ट की प्राप्ति,(५)सुनी देखी का यथेच्छ लाभ,(६) शक्ति को प्रेरित करना ईशिता सिद्धि है ॥४॥(७)त्रिगुणों में न फंसना वशिता सिद्धि है। (८)इच्छा का व्याघात न होना कामावसायित्व सिद्धि है। सोम्य ! यह आठ सिद्धियां योग-सामर्थ्य से होती हैं ॥५॥

इस देह में उद्वेगों का न होना, दूर का सुनना, दूर-दर्शन, मन के समान वेगवान्, सुन्दर कामदेव सा रूप, दूसरे के मृत शरीर में प्रवेश ॥६॥ इच्छा-मृत्यु, पाँचों देव सूक्ष्म भूतों का सम्मिश्रण, सृष्टि रचना का दर्शन, संकल्प सिद्धि, राजाओं के समान सर्वत्र स्वतन्त्रता से पहुंचना ॥७॥ तीनों काल को जानना, द्वन्द्वों के प्रभाव से रहित होना, पर चित्त का ज्ञान, अग्नि, सूर्य, जल, विष आदि के प्रभाव को रोकना, उनसे पराजित न होना अर्थात् भूतजयी होना ॥८॥ योग धारणा की इन शक्तियों को नाम लेकर बता दिया है। जो जिस धारणा से होती है, जिस प्रकार होती है उसे भी समझ लो ॥९॥ सूक्ष्म भूतों में, आत्मा में और परमात्मा में तन्मय होकर मन को संयत करें, तो अणिमा सिद्धि प्राप्त होती है। ये योगी तन्मात्रों पर संयम का प्रयोग करते हैं ॥१०॥ महान् आत्मा परमात्मा में संस्थान पर संयम के द्वारा जो मन को धारण करते हैं उन्हें महिमा नाम की सिद्धि प्राप्त होती है। पञ्चभूतों पर संयम का प्रयोग करने से भी महिमा सिद्धि प्राप्त होती है ॥११॥

भूतों के परमाणु में चित के संयम धारण द्वारा, काल की सूक्ष्मता के प्रयोजन से 'लघिमा' सिद्धि को प्राप्त करता है ॥१२॥ मनस्तत्त्व के विकार अहंकार तत्त्व में निखिल इन्द्रियों की सत्ता पर संयम प्रयोग करने से 'प्राप्ति' नाम की सिद्धि प्राप्त होती है ॥१३॥ सूत्र सम व्याप्त महत्तत्त्व संयम का प्रयोग कर मन को धारण करे तो 'प्राकाम्य' सिद्धि को प्राप्त करता है जिससे ब्रह्म रचित सब पदार्थों को अव्यक्त सृष्टि से प्राप्त कर सकता है ॥१४॥ व्यापक काल में संयम का प्रयोग करने से 'ईशित्व' नामक सिद्धि प्राप्त होती है। जिससे आत्मा और प्रकृति को प्रेरित कर सकता है ॥१५॥ अमात्र भगवान् के चतुर्थ पाद में योगी 'संयम' का प्रयोग करने से 'वशिता' नाम की सिद्धि को प्राप्त करता है ॥१६॥

निर्गुण, त्रिगुण से पृथक् निष्कल पर ब्रह्म में जो संयम का प्रयोग करता है वह परम आनन्द को प्राप्त करता है, जिससे सब कामनाओं का क्षय हो जाता है ॥१७॥ आकाश की तन्मात्रा के सम्बन्ध में संयम करने वाला हंस योगी सब प्राणियों की बोली समझ लेता है ॥१९॥ सूर्य और चक्षु में संयम का प्रयोग करके योगी सारे विश्व को देखता है ॥२०॥ सिद्ध योगी पर काया प्रवेश के समय, पर शरीर में अपने आत्मा की प्रवेश की धारणा कर, अपने शरीर को छोड़कर प्राणवायु सहित पर मृत शरीर में भौंरे के समान प्रवेश कर जाता है ॥२३॥

परमात्मा की भक्ति से शुद्ध सत्त्व वाले, संयम प्रयोग जानने वाले की बुद्धि त्रिकाल की जानने वाली हो जाती है। जन्म-मृत्यु को भी जानती है ॥२८॥ जितेन्द्रिय, मन का दमन करने वाले, श्वास-प्रश्वासजयी प्रभु भजन करने वाले योगी को कोई भी सिद्धि दुर्लभ नहीं है ॥३२॥ उत्तम योग साधक के लिए सिद्धियाँ भी पीछे विघ्न हो जाती हैं। प्रभु को प्राप्त करने वाले के लिए तो यह समयनाश ही है ॥३३॥

जन्म से, औषधि से, तप से, मन्त्र से जितनी भी सिद्धियां हैं, योग से उन सब को प्राप्त कर लेता है। पर जन्म आदि से प्राप्त होने वाली सिद्धियों से योग को प्राप्त नहीं होता है ॥३४॥ अध्माय १५

जिसका मन समाहित हो गया, प्रशान्त हो गया, फिर बताओ दान आदि से उसको क्या मिलेगा ? जिसका मन वश में नहीं, चंचलता से नष्ट हो रहा है, फिर दान आदि से भी उसे क्या मिलता है। अर्थात् योग साधना ही परम ध्येय है ॥४७॥ श्रीमद्भागवत,स्कन्ध११अध्याय २३॥

श्रीमद्भगवद्गीता में योग साधना

श्री गीता के अठारहों अध्यायों में गीता को योगशास्त्र कहा गया है। कर्म योग नहीं, ध्यान योग से ही अभिप्राय है। कर्म योग अर्थात् निष्काम कर्म तो एक ही अध्याय में कहा है। यह मनन और निदिध्यासन का विषय है। यहाँ केवल गीता की अत्यन्त संक्षिप्त योग साधन प्रक्रिया ही दिखानी अभीष्ट है। गीता तो सारी ही ध्यान योग से भरी है। योग-दर्शन का व्यास भाष्य और गीता दोनों ही तो भगवान् व्यास की रचना है। भेद कैसे हो सकता है :—

अर्जुन उवाच—चंचलं हि मन कृष्ण, प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये, वायोरिव सुदुष्करम् ।६-३४।

श्री भगवानुवाच-असंशयं महाबाहो, मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते ।६-३५।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ।६-३६।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ।६-१०।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिन कुशोत्तमम् ।६-११।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद् योगमात्मविशुद्धये ।६-१२।

समं काय-शिरो-गीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रंस्वं दिशश्चानवलोकयन् ।६-१३।

प्रशान्तात्मा विगतभीः ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्पर ।६-१४।

युंजन्नेवं सदात्मानं योगी नियत-मानसः ।
शान्ति निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ।६-१५।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति, न चैकान्तमनश्नतः ।
न चास्ति स्वप्नशीलस्य, जागतो नैव चार्जुन।६-१६।

युक्ताहारविहारस्य, युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य, योगो भवति दुःखहा ।६-१७।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निस्पृहः सर्वकामेभ्यः युक्त इत्युच्यते तदा ।६-१८।

यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य, यंजतो योगमात्मनः ।६-१९।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ।६।२०।
युंजन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्म संस्पर्शम् अत्यन्तं सुखमश्नुते ।६।२८।
तपस्विभ्योऽधिको योगी,ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी,तस्माद्योगी भवार्जुन ।६।४६।

अर्जुन ने भगवान् से प्रश्न किया—"भगवन् ! मन बड़ा चंचल है । प्रबल है । शक्ति सम्पन्न मजबूत है । उसको वश में करना ऐसा ही है, जैसे वायु को बान्धना ६ । ३४ ॥

श्री भगवान् बोले—"महाबाहो ! निस्सन्देह है । चंचल मन का निग्रह कठिन है । पर हे कुन्ति-पुत्र ! अभ्यास और वैराग्य से यह वश में आता है ॥३५॥ असंयमी व्यक्ति योग को प्राप्त नहीं कर सकता, यह तो मैं मानता हूं । तू असंयमी नहीं । वशी है । यत्न करने पर उपायों से वशी मन को वश में ला सकता है ॥३६॥ योगी सदा एकान्त में बैठकर मन को वश में लावे । अकेला रहे । चित्त को वश में रखे । किसी की आकांक्षा न करे । असंग्रही हो ॥६-१०॥ पवित्र स्थान में अपना आसन जमा कर स्थिर बैठे । न बहुत ऊंचे पर बैठे, न बहुत नीचे । कपड़ा, मृगचर्म, कुशायें ऊपर-ऊपर बिछाये ।११। आसन पर जमने पर मन को एकाग्र करे । मन और इन्द्रियों की क्रियाओं को वैराग्य से रोके । आसन पर बैठकर आत्मा के मल धोने के लिए योगाभ्यास करे ॥१२॥ शरीर, सिर और गर्दन को एक सीध में सम रखे । अचल और स्थिर रहे । अपनी नासिका के अग्र भाग पर शून्य दृष्टि रखे । दिशाओं को सर्वथा न देखे ॥१३॥ आत्मा प्रशान्त रहे । निर्भय हो बैठे । प्रभु की गोद में कैसा भय! ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करे । मन पर संयम रखे । भगवान् का ही ध्यान रहे । योग में लगे ॥१४॥ मन पर नियमन करने वाला योगी सदा समाहित रहे । परमात्मा में स्थित हो । परम शान्ति, मुक्ति सी शान्ति को पावे ॥१५॥ अधिक खाने वाला योग नहीं कर सकता । आरम्भ काल में सर्वथा न खाने वाला भी योग नहीं कर सकता अतिशयन करने वाला भी योग नहीं कर सकता । विषयों में जागने वाले का भी योग नहीं है ॥१६॥ योगी का सा आहार करने वाला, योगी की सी चेष्टाएं करने वाला, योगी की सी स्वप्न और बोध अवस्था वाला योगी ही क्लेशों-दुःखों का

नाश करता है ॥१७॥ जब भली प्रकार नियम में लाया गया चित्त आत्मा में स्थिर हो जाता है तब सब अन्य इच्छाओं को छोड़ देता है, तब योगी नाम पाता है ॥१८॥ जैसे निवात में रखे दीपक की लौ नहीं हिलती, ऐसे हीं योगी का चित्त भी निश्चल होता है। ऐसा योगी योग में आत्मा को पाता है ॥१९॥ जब योगाभ्यास से चित्त निरुद्ध हो जाता है, और आत्मा अपने आप को अपने आप ही, बिना चित्त के देखता है। तब आत्म में तुष्ट हो जाता है। स्वस्थ हो जाता है ॥२०॥ सदा इस प्रकार अभ्यास करने वाले योगी के कल्मष,कर्म, अविद्यादि क्लेश ध्वस्त हो जाते हैं, सहज भाव से तब ब्रह्मानन्द के परमानन्द को प्राप्त करता है ॥२८॥

तपस्वियों से योगी अधिक है। ज्ञानियों से भी योगी अधिक है। निष्काम कर्म करने वालों से भी योगी अधिक है। इसलिए, हे अर्जुन! योगी बन ॥६. ४६॥

योगशास्त्र द्राविड़ोंकाही है आर्योंका नहीं ।

यह कहने की कोई जरुरत नहीं कि बादके समयमें आजतक बहुतसे योगेश्वर हो गये । इस विवेचनसे पाठकोंके ध्यानमें एक बात स्पष्ट रूपसे आगई होगी कि प्राचीन द्राविड़ोंमें शिवभक्ति व योगाभ्यासका प्रचार जोरोंसे था और उसी समय आर्योंमें यज्ञ और विष्णु भक्ति थी। इससे यह सिद्ध होता है कि आर्य गंगा नदीके तट पर आकर रहने लगे तबतक उनको योगाभ्यासका ज्ञान नहीं था । उन्हें योगाभ्यासकी जानकारी काश्मीरसे मिली होगी । अब योगशास्त्रमें योगशास्त्रकी प्राचीनताके विषयमें कुछ प्रमाण मिलते हैं या नहीं इसकी ओर ध्यान देंगे । योगशास्त्रमें तीन बातें बहुत महत्व की हैं—

(१) षट्चक्र भेदन (२) सुषुम्नानाड़ी (३) कुंडलिनी

अब क्रमशः इनका विवेचन करेंगे ।

षट्चक्र भेद विवेचन

चक्रका नाम	देव	शक्ति
१ मूलाधार	गणेश	डाकिनी
२ स्वाधिष्ठान	विष्णु !	राकिनी
३ मणिपुर	वृद्धरुद्र	लाकिनी
४ अनाहत	ईशानरुद्र	काकिनी
५ विशुद्ध	पंचवक्त्ररुद्र	शाकिनी
६ आज्ञा	लिंग (शिव) अर्ध नारीनटेश्वर	हाकिनी
७ सहस्रार	परमशिव	काली+गंगा

उपरोक्त चक्रोंके देवताओंका विचार करने पर स्वाधिष्ठान चक्रको छोड़कर अन्य चक्रोंमें शिवका ही अधिष्ठान दिखाई देता है। स्वाधिष्ठान चक्रपर विष्णुके पूर्व शिवका ही अधिष्ठान होगा परन्तु जब आर्योंने रीतिरीवाजोंका लेन देन किया तब उन्होंने विष्णुकी स्थापना इस स्थानमें की होगी। इसी तरह प्रत्येक चक्रमें एक एक लिंग ही हैं और अंतमें परम ब्रम्हज्ञानी होने पर साधकको अंतिम चक्रमें अर्थात् सहस्रारमें परमाशिवकी भेंट होती है। शिव ये पुराण पुरुष-आदि पुरुष-हैं और इससे जन्मकी कथा अगम्य है। दूसरी बात इस प्रत्येक चक्रमें प्रत्येक देवताकी शक्ति बतलाई गई है वे शाकिनी इत्यादि हैं। ये नाम किसीभी भाषामें हो सकते हैं, कारण तेलगू, तामील, मलियानिली, कुर्गी, कानड़ी और तुलु या संस्कृत आदि भाषाओंमें यह शब्द नहीं हैं। ये शब्द मूल द्राविड़ी भाषाके होने चाहिये।

२ सुषुम्ना नाड़ी

योगशास्त्रमें इस नाड़ीका नाम 'स्मशान' है। यह स्मशान शंकरको प्रिय है और उसी तरह शांभवी नाम शिवशक्तिका है। इस नाड़ीपर शिवका अधिष्ठान है।

३ कुंडलिनी

इस नाडीके निम्न लिखित नाम शिवशक्ति पार्वतीके हैं।

" मायाकुंडलिनी क्रिया मधुमती, काली कला मालिनी।
मातंगी विजया जया भगवती देवी शिवा शांभवी।
शक्तिः शंकर वल्लभा त्रिनयना, वाग्वादिनी भैरवी।
ह्रीं कारी त्रिपुरा परापरमयीं माताकुमारी त्यसि।
सरस्वती त्रिवेणी मूल नाड़ी महादेवी। "

इसका विवेचन कर देखा जाय तो पता चलेगा कि यहाँ भी शिव और पार्वतीका ही अधिष्ठान है। इसके अतिरिक्त योग शास्त्रके प्रारम्भके दो श्लोकोंमें भगवान शिवनेही इस शास्त्रका पहले पहल उपदेश किया ऐसा कहा गया है।

इस समूचे विवेचनका तात्पर्य यह है कि यह योगशास्त्र द्राविड़ लोगोंका था यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है। अब इस योगशास्त्र से ज्योतिष शास्त्रकी उत्पत्ति किस तरह हुई इसका वर्णन आगे दिया गया है।

योगशास्त्रसे ज्योतिष शास्त्रकी उत्पत्ती कैसे हुई।

योगशास्त्रसे ज्योतिष शास्त्रकी उत्पत्ती किस तरह हुयी इस मूल विषयकी ओर ध्यान देना अत्यावश्यक है।

मनुष्यके श्वास दिन-रातमें २१६०० चलते हैं और २॥ – २॥ घड़ीके अंतरसे श्वास बदलते रहते हैं। एक बार दाहिने नथुने से २॥ घड़ी तो दूसरी बार बायें नथुने से २॥ घड़ी; इस तरह श्वासोंके चलनेका प्रमाण रहता है। याने १०८०० श्वास दाहिने नथुनेसे और १०८०० श्वास बायें नथनेसे चलते हैं और २४ घंटेमें कुल २१६०० श्वास होते हैं। जिस दाहिनी नाड़ीसे श्वास चलते हैं उस दाहिनी नाड़ीको पिंगला कहते हैं। यह नाड़ी अति उष्ण रहती है। नाभिकंदमें (जहांसे यह नाड़ी निकलती है) इसका सूर्यका स्थान है। और यही कारण है कि यह उष्ण होती है। दूसरा अनुभव हमें नित्य प्रति व्यवहारमें भी दिखाई देता है। सूर्योदयके पश्चात् मनुष्यके पेटमें भूख लगनेकी क्रिया शुरू होती है, भूख लगनाही उष्णता बढ़ना है। हम देखते हैं कि जैसे २ भूख जोरसे लगती है वैसे वैसे उष्णता बढ़ती जाती है। ऐसे समय पर यदि खानेको कुछ न मिले तो शरीर

तपता है, सिर गरम होता है और आंखोंके सामने अंधेरा छाने लगता है, यह क्रिया नाभिके नीचे होती है। अक्सर देखा जाता है कि भूख १० बजेसे १२ बजे तक जोर से लगती है, और इसी समय उष्णता भी बढ़ती है, और यही समय सूर्यके भी मध्यान्हमें पहुंचनेका काल होता है। इसके बाद (१२ बजेसे) जब सूर्य धीरे २ पश्चिमकी ओर ढलता जाता है तब भूखकी तीव्रता भी क्रमशः शान्त होने लगती है। इससे पाठकोंके ध्यानमें यह स्पष्ट आगया होगा कि रविका अपने पेटकी उष्णतासे अत्यन्त निकटका पारस्परिक संबंध है। योगशास्त्रमें मणिपुर चक्र सीधे नाभिके नीचे है और इसी चक्र पर सूर्यका अधिष्ठान माना जाना चाहिये। अंग्रेजी पद्धतिमें सूर्य ही इसका ग्रह माना जाता है। भारतीय यहाँ पर मंगल मानते हैं। (यह ग्रहोंकी दृष्टिसे अधिष्ठान है) देवताओंकी दृष्टीसे नहीं, भूख लगनेकी क्रिया इसी मणिपुर चक्रमें शुरू होती है। उसीसे मणिपुर चक्रका और सूर्यका संबंध स्पष्ट सिद्ध हो जाता है। इस पर मंगलका अमल नहीं हो सकता। यदि मंगलका प्रभाव माना जावे तो उष्णता दिनरात चौवीसों घंटे रहनी चाहिये। लेकिन हम पहिले ही देख चुके हैं कि परिस्थिति ऐसी नहीं है। इस तरहसे हम कह सकते हैं कि सूर्य-नाड़ीकी उत्पत्ति जिसे पिंगला नाड़ी भी कहते हैं मणिपुर चक्रसे हुई है और यह दाहिने नथुनेसे मिलती हुई है। मणिपुर चक्र सूर्यका स्थान है, इसलिये इस नाड़ीसे उष्ण श्वास निकलता है। यही कारण है कि स्वरोदय शास्त्रकारोंने भी सूर्यकी स्थिति दाहिने नथुने पर बतलाई है, इसी तरह उन विद्वानोंने चन्द्रकी स्थिति बायें नथुनेसे जो श्वास चलता है उस पर मानी है। इसका कारण निम्न है—मनुष्यके सिरके बायें भागमें बायें नेत्रके ऊपरी हिस्सेमें अमृत निर्माण होनेका स्थान है, यह अमृत एक प्रकारका अमरत्व देनेवाला द्रव है; इस द्रव पदार्थमें सत्रहवी जीवनकला है और इसमें गुणधर्म; तेज, ओज शरीरको नैसर्गिक सुगंध प्रदान करना इत्यादि गुण हैं।

प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्तके समय इस द्रव पदार्थके दो इतने ही बड़े बिन्दु जो कि सूईकी नोक पर रह सके हरएकके मुंहमें गिरते हैं। इसमें का एक बिन्दु ठीक कुंडलिनीको जाकर मिलता है। अर्ध बिन्दु माणिपुर चक्रमें मिलता है और बचा हुआ अर्ध बिन्दु मुंहमें ही रह जाता है। मुंहमें जो द्रव बिन्दु शेष रहता है इसका कार्य मुंहमें आर्द्रता बनाये रखना और लार निर्माण करना है। पाठक अच्छी तरह जानते होंगे कि मृत्युके समय जब प्राणीका मुंह सूखने लगता है तब उसमें घड़ोंसे पानी डाला जाय तो भी जिह्वा पर आर्द्रता नहीं आ पाती। इस अमृतको योगशास्त्रमें 'मद्य' नामसे पहचाना जाता है। योगशास्त्रमें निम्न लिखित श्लोक पाया जाता है—

"मद्य मांस मीनंच मुद्रा मैथुन मेवच।
एते पंच मकार स्यु मोक्ष दायि युगे युगे॥
पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत् पतति भूतले।
पुनरुत्थाय वै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥

उपरोक्त श्लोकका अर्थ जिसे कौल चार्वाक वाममार्गी और शाक्त लोगोंने माना वह निम्न है।

मद्य=शराब, मांस=बकरेकी बोटी, मीन=मछलियाँ, मुद्रा=योनी के आकारके बड़े, मैथुन=स्त्री पुरुष संयोग।

लेकिन योगशास्त्रमें इसका अर्थ निम्न लिखित है—

मद्यः—चन्द्रामृत हठयोग प्रदीपिकामें इसे अमर कहा गया है।

मांस खानाः—प्रातःकाल खेचरी मुद्राके कारण अमृतके दो बिन्दु का श्राव होता है इन बिन्दुओंको पेटमें न लेकर कुंडालिनीको पहुंचा देनेकी क्रियाको मांस खाना कहते हैं।

मीनः—आसन ८४, सिद्धासन, पद्मासन इत्यादि।

मुद्राः—दस मुद्राएँ; खेचरी, षण्मुखी, काकी, शांभवी आदि ।

मैथुनः—प्राण और अपान नामक दोनों वायुकी भेट मूलाधार चक्रमें होती है इसीको मैथुन कहते हैं ।

या नाडी सूक्ष्मरूपा परम पदगता सेवनीया सुषुम्ना ।
सा कान्ता लिंग नार्हा न मनुज रमणी सुन्दरी वार योषित् ॥
कुर्य्याच्चन्द्रार्क योगे युग पवन गते मैथुनं नैव योनौ ।
योगीन्द्रो विश्ववन्द्यः सुखमय भवने तां परिष्वज्य नित्यम् ॥

(भैरव यामल)

कुण्डलिनी रूप कालीका सहस्त्रारमें स्थित शिवसे मिलना मैथुन कहलाता है ।

इसलिये यहाँ पर चन्द्रामृतका महत्व मालूम होता है । इसमें बांयें नथुने से श्वास अनाहत चक्र तक जाकर फिर वापिस लौटता है । यह श्वास चन्द्रामृतसे आता है इसलिये अति शीत होता है । यही कारण है कि इस श्वास पर चन्द्रका प्रभाव माना जाता है । इस प्रकार हम दो ग्रहोंके बारेमें विवेचन कर चुके हैं । अब एक तीसरी नाड़ी जिसे सुषुम्ना कहते हैं उसका विचार करेंगे ।

सूर्य नाड़ीका चन्द्र नाड़ीमें प्रवेश करते समय और चन्द्र नाड़ी का सूर्य नाड़ीमें प्रवेश करते समय जो ५ सेकंदका संधिकाल होता है उस समय नाकके सिरे ४ अंगुलके अन्तर पर बाहर बहुत ही धीमी चालसे एक नाड़ी चलती है । यह नाड़ी कालभक्षक सर्व नाशकारक होती है । मनुष्यकी मृत्यु इस नाड़ीमेंसे श्वास निकले बिना नहीं हो सकती और यही कारण है कि इस नाड़ीको योगशास्त्रमें स्मशान कहा गया है । स्मशानका अधिकारी शनि अर्थात् शंकर होता है । यह

नाड़ी नाशकारक है किन्तु साथ ही साथ ज्ञान देने वाली है। इस नाड़ी पर शनिका प्रभाव होता है और शनिका भी यही गुणधर्म है।

इस प्रकार अब तक रवि, चन्द्र और शनि इन तीन प्रमुख ग्रहोंका हमने विचार किया है अर्थात् ॐकारके प्रणवकी स्थापना हो चुकी है। अब हम शेष ग्रहोंका विचार करेंगे।

मंगलः—मनुष्यमें जो शारीरिक शक्ति उत्पन्न होती है उसे कायम रखनेका कार्य स्वयंभू लिंगके द्वारा होता है। गुदद्वारके पास मांसका गोटीके आकारका एक ठोस गोला है। इसीसे कुंडलिनी लिपटी हुई है। इसीके पास स्वयंभूलिंगकी स्थिति है। इस शक्ति पर ही सब जीवनकार्य निर्भर है और इसीलिये इस पर मंगलका प्रभाव है।

गुरुः—मनुष्यकी विचार शक्तिका प्रवाह जिस मस्तिष्कमें उत्पन्न होता है वह बड़ा मस्तिष्क सिरके दाहिने बाजूमें है। इस मस्तिष्क पर गुरुका अमल होता है। इस भागको शरीरशास्त्रमें Cerebrum कहते हैं।

बुधः—सिरके बांई बाजूकी ओर कानके पीछे एक छोटासा मस्तिष्क है। जिस पर बुधका प्रभाव है। इस स्थानमें कुंडलिनी आकर स्थिर होती है। इस मस्तिष्कको Cerebellum. कहते हैं। अंग्रेजी शरीर शास्त्रज्ञ लिखते हैं।

The Functions of the lesser brain are not yet understood completely. It appears to serve in bringing the various muscular movements into harmoninus action.

अंग्रेजी शरीर शास्त्रज्ञोंको इस छोटेसे मस्तिष्क lesser brain के बारेमें विशेष ज्ञान प्राप्त नहीं हो सका, इस स्थानमें कुंडलिनी आकर स्थिर होती है और वहाँ चन्द्रामृत पीना आरम्भ करती है। इस

स्थानमें ज्ञान शक्ति है, कुंडलिनीको जगाये बिना ये सब बातें समझमें नहीं आ सकतीं। अंग्रेजी शरीर शास्त्रज्ञोंको इस बातका ज्ञान नहीं है और यही कारण है कि वे लोग इस बातको समझनेमें या इसका विवेचन करनेमें बिलकुल असफल रहे हैं।

शुक्रः—जिस नाड़ीसे संभोगके समय वीर्यका प्रवाह शुरू होता है उस नाड़ी पर इस ग्रहका अमल होता है।

राहू (कुंडलिनी) (अर्द्धमात्रा)

जब कुंडालिनी जगायी जाती है तब उसका मुँह ऊपरकी ओर हो जाता है और वह षट्चक्रोंका भेदन कर ऊपर ब्रम्हरंध्रमें पहुंचती है; इस कुंडलिनी पर हमने राहू ग्रहको माना है।

गुदा और लिंगके बीचमें मूलाधार नामक चक्र है। इस चक्रका स्वामी या देवता गणेशजी माने गये हैं और गणेशजी बुद्धिके अधिष्ठाता देवता हैं। कुंडलिनी जागृत होनेके बाद प्रथम इसीको ठोकरें देकर जगाती है। इसके जगानेका फल यह है कि मनुष्यकी आत्मज्ञानकी या मोक्ष प्राप्तिकी इच्छा प्रबल होती है। इस चक्र पर ग्रहोंमें बुधका अमल रहता है। कुंडलिनीके द्वारा जागृत होने पर बुधका तेज प्रदीप्त होता है। इस बुधका तेज लेकर—निश्चयात्मक बुद्धिको लेकर—कुंडलिनी दूसरे चक्र (स्वाधिष्ठान नामक चक्र) को ठोकरें देकर जगाती है। इस चक्र पर शुक्र नामक ग्रहका अमल है। मनुष्यकी कामवासनाओं पर शुक्रका अमल है। इस चक्रको जगानेका फल यह होता है कि काम-वासनाओंका नाश होकर शुक्रके वास्तविक तेजको कुंडालिनी ग्रहण करती है। इस चक्रके ऊपर तीसरा मणिपुर नामक चक्र है। यह नाभी स्थानमें है। कुंडालिनी या राहू पहिले दो चक्रोंका तेज ग्रहण करके ठोकरें देकर इस चक्रको जगाती है। इसके जगानेका फल यह है

कि मनुष्य थोड़ासा आत्मसाक्षात्कारकी ओर बढ़ता है । यहाँ पर कुंडलिनीको ख्याल आता है कि वह स्वयं शक्ति है । यह शक्ति या कुंडलिनी इस रविको जगाकर इस चक्रमें जो अग्नि है उसको ग्रहण करती है और मनुष्यके बड़े विकारोंका नाश करती है, साथ ही सात्विक गुणोंका उत्थान करती है। इस तरह पहिले बतलाये हुए तेजके साथ ही साथ सतोगुण को लेकर यह कुंडलिनी आगे आवाज करते हुए (Hissing Sound) ऊपर चढ़कर अनाहत चक्रको जगाती है । इस अनाहत चक्रको जगानेका फल आशाका नष्ट करना है । यहाँ कुंडलिनी आशाको नष्ट कर मंगलका तेज ग्रहण कर 'विशुद्ध चक्र' की ओर बढ़ती है और उसे ठोकरें देकर जगाती है । इस चक्र पर चन्द्रमा का अमल है । इस चक्रमें कुंडलिनीका पहुँचनाही चन्द्रमाको राहूका ग्रहण लगना है । चन्द्र अर्थात् मायाको राहूका ग्रहण लगने से मायाका नाश हो जाता है और आत्मा शुद्ध स्वरूपमें सामने आ जाती है । आत्माके आवरण नाश होते ही मनुष्य बड़ा ही तेजस्वी हो जाता है । यह तो पाठकोंके ध्यानमें आया ही होगा कि इस चक्रके जगानेका फल तेजस्वी बनाना है । यह तेज ग्रहण करके राहू या कुंडलिनी फिर ऊपरकी ओर चढ़ती है और आज्ञा चक्रको ठोकरें देकर जगाती है, इस चक्र पर गुरुका अमल माना जाता है । गुरु इतना अहंकारी होता है कि इसके अहंकारका नाश किसी भी प्रयत्नसे नहीं हो पाता । यह अहंकार "अहं ब्रम्हास्मि" है । इस अहंकारको नष्ट केवल सद्गुरु ही करते हैं । इस चक्रके जग जाने पर सद्गुरुकी पूर्ण कृपा होती है । यह कार्य करके कुंडलिनी या राहू बड़े मास्तिष्कके ऊपर जो सहस्रार चक्र हैं उन चक्रोंको ठोकरें देकर जगाती है और उस पर सोने वाले शिव या शनिको जगाकर उसके छाती पर नृत्य करती है । यह परम शिव सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और लय करने वाला परम ईश्वर है । यह निर्गुण निराकार आनन्द स्वरुप है और दो शक्तियाँ

के साथ है। इनका मिलन यहीं है। इसके ऊपर विसर्ग है। यहाँ पर कुंडलिनी आकर स्थित होती है। इस जगह पर भी फिर मैंने राहूका अमल दिखाया है लेकिन वहाँ पर केतुका अमल समझना चाहिये। यह स्थान अव्यक्त, अज्ञेय, निरानन्द और शून्य है।

इस तरह राहू प्रत्येक ग्रहके साथ युति करता है। (इस युतिका पूर्ण फल और उसका अर्थ समझना हो तो मेरा 'ग्रहण विचार' नामक ग्रन्थ पढिये) इस तरहसे राहू (या कुंडलिनी) सब ग्रहोंसे युति करते हुए शनिको मिलता है और शनि और राहू ये दो पाप ग्रह मोक्ष ज्ञानकी प्राप्ति करा देते हैं।

कुंडलिनी या राहूका पथ

(षड्चक्र भेदन)

चक्रका नाम	चक्र जगानेका फल	अधिष्ठाता देवता	अमल करनेवाला ग्रह		
१ मूलाधार	मोक्ष मार्गकी ओर प्रवृत्ति जाग्रत	गणेश	बुध	राहु	क्रमशः कुण्डलिनी मूलाधार चक्रको जगाती हुई अंतमें सहस्रार चक्रमें पहुंचती है।
२ स्वाधिष्ठान	कामवासनाओंका नाश	विष्णु	शुक्र		
३ मणिपुर	आत्मसाक्षात्कार की ओर बढ़ना	रुद्र	रवि		
४ अनाहत	आशाका नाश	"	मंगल		
५ विशुद्ध	मायाका नाश	"	चंद्र		
६ आज्ञा	सद्गुरुकी भेंट	"	गुरु		
७ सहस्रार	(अंतिम शिवकी भेंट)	"	शनि		

परिच्छेद चौदहवाँ

द्वादश भावोंमें क्या क्या देखना चाहिये ?

प्रथम भाव—इन द्वादश भावोंमें क्या क्या देखना चाहिये यह निसर्ग कुंडलीसे दिया जाता है:-इस प्रथम भावमें मेष राशिका उदय होता है। इस राशिका अधिकारी मंगल है और प्रथम भावका कारक ग्रह रवि है। इसी लिये प्रथम भावमें योगी, संन्यासी, बैरागी, इनका शरीर कैसा रहेगा, निर्बल होगा या सबल ? परमार्थ मार्गमें जानेके लिये शरीर योग्य होगा अथवा नहीं? हठयोग, राजयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, पवनयोग, लययोग, मंत्रयोग, इनमेंसे किस योगका अवलम्ब करेगा ? परमार्थमार्गमें बुद्धि कैसे रहेगी ? योगियोंका स्वभाव कैसे रहेगा ? आदि बातोंका विचार प्रथम भावसे किया जाता है। प्रयत्न, सृष्टिकी उत्पत्ति, अष्टांग योगसाधनकी पहली सिढ़ी–'यम' ब्रह्म, षड्दर्शन, धौति, तेजोधारणा, आस्तिक्य, जिव्हाधौति, अलंबुषा, महावेध मांडूकी मुद्रा, काकीमुद्रा कपालरंध्रधौति भुजंगिनी मुद्रा, मुक्तासन, महाब्रह्म।

मनुष्यके मुखपर प्रथम भावका बड़ा प्रभाव होता है। यही कारण है कि योगी और संन्यासीके मुखदर्शनसे मन प्रसन्न होता है और हृदयमें प्रेम भावना उत्पन्न होती है। किसीने ठीकही कहा है—"साधका निरखो आँख और माथा।" इस प्रथम भावके अधिपति भगवान शंकरजी हैं। बाल्य, उन्मत्त व पिशाच इन तीन अवस्थाओंमें योगी संसारमें विचरते हैं। इन तीन अवस्थाओंमें तीन प्रकारके योगी होते हैं। ज्ञानी प्रापंचिक योगी और विदेही। इन सब बातोंका प्रथम भावमें विचार करना पड़ता है।

" मूर्धज्योतिषी सिद्धदर्शनम् वेदना ।

स्थूल स्वरूप सूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वं संयमाद्भुतजयः ॥ "

इस सूत्रमें पृथ्वी प्रथम भूतजय दिया है ।

पृथ्वीके गुण व आकृति—गुरुत्व, रूक्षता, आच्छादन करना स्थिरता, भिन्न भिन्न प्रकारकी स्थिति, क्षमा, कृशत्व, कठिनता और सब प्राणी भोग भोग्यता । वृषभराशि और धनभाव पृथ्वीपर अमल करते हैं । वृषभराशि पृथ्वीतत्व की राशि है । यह सब धनस्थानमें देखना चाहिये ।

जलके गण—स्नेह, सूक्ष्मत्व, शुक्लत्व, मृदुत्व, गुरुत्व, शैत्य रक्षणशक्ति, पवित्रता व संधि करना । यह सब चतुर्थ स्थानमें देखना चाहिये ।

तेजके गुण—उर्ध्व गति, पचनशक्ति, दहनशक्ति, लघुत्व, पवित्र करना, तमका नाश करना, प्रकाश यह सब पंचम भावमें देखना चाहिये ।

वायुके गुण—वक्रगति, पवित्रता, दूर ढकेलना, प्रेरणा (अंतः-करणमें होनेवाली) बल, चंचलता, रूपरहित, रुक्षता आदि । यह सब सप्तमभावमें देखना चाहिये ।

आकाशके गुण—सर्वव्यापी, संधि-भावका अभाव, किसी आधिकारमें न चलना आदि दशम स्थानमें ये सब गुण देखना चाहिये । इन पंचमहाभूतोंपर अपनी चित्तवृत्तियाँ एकाग्र कर संयम करनेसे भूत-जय प्राप्त होता है और भूतजय प्राप्त होनेके बाद इन्द्रिय जय प्राप्त होता है । " रुपलावण्यबलवज्रसहंननत्वानिकाय् संपत् । '

सहस्त्रारचक्र (शनी)

Choroid Plexus of the forth Ventricle

स्थान—मस्तकमें अब सहस्त्रारकी बात सुनिये । आज्ञा चक्रके उपर अर्थात शरीरके सर्वोच्च स्थान मस्तक सहस्त्रार कमल (चित्र

चित्र नंबर २

शनि सहस्त्रार चक्र

Corona Radiata

सहस्त्रदल दलसंख्या–१००८

Fig. 913.—A dissection showing the course of the cerebrospinal fibres. (E. B. Jamieson.)

Corona radiata
Internal cap.
Optic tract
Cereb. ped.
Pons
Cerebellum
Right oculomotor nerve
Left trochlear nerve
Superior cerebellar peduncle
Pyramid
Olive
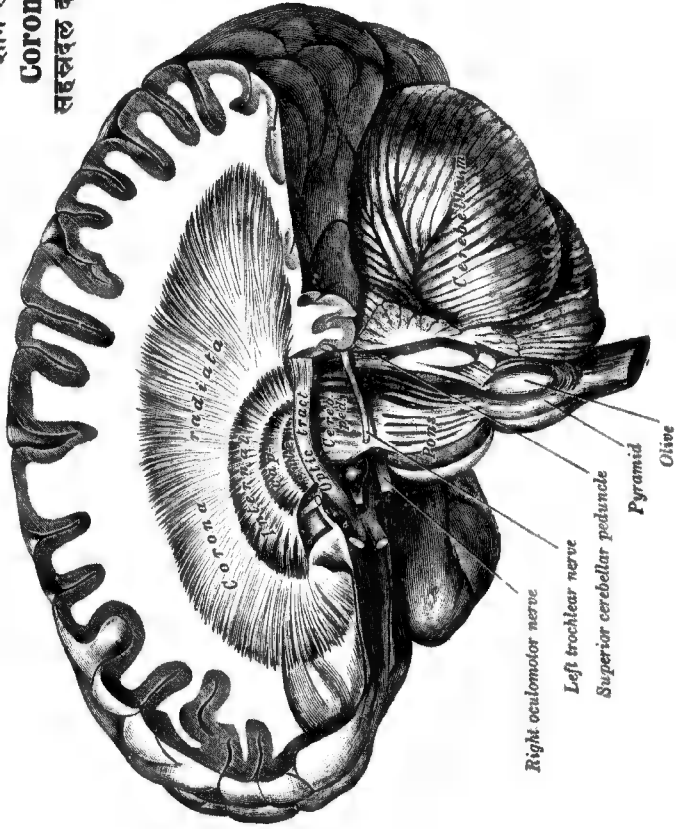
देखिये) है। इसी स्थानमें विवर समेत सुषम्नाका मूलारंभ होता है। एवं इसी स्थानसे सुषुम्नानाडी अधोमुखी होकर चलती है। इसकी आन्तिम सीमा मूलाधार स्थित योनी मण्डल है। यह सहस्रदल कमल शुभ्रवर्ण है

The fibres of the internal capsule radiate widely as they pass to and from the various parts of the cerebral cortex forming the Corona Radiata (Figure 785) and intermingling with fibres of the corpus collosum (see Gray's Anatomy page 823) There are 1008 fibres in Corona Radiata.

तरुण सूर्यके सदृश रक्त वर्ण केशरके द्वारा रंजित अधोमुखी है। उसके पचास दलोंमें अकारसे लेकर क्षकारपर्यंत सबिंदू पचास वर्ण हैं इस अक्षर कार्णिकाके बीचमें गोलाकार चंद्र मंडल है। यह चंद्र मण्डल छत्राकारमें एक उर्ध्वमुखी द्वादश दल कमलको आवृत्त किये है इसमें कई स्थानपर मतभेद मालूम होता है। प्रकारान्तर ब्रम्हरन्धमें सहस्रार नामक एक सहस्र दलवाला महापद्म है। इस कमलके मध्यमें और एक बारह दलवाला कमल है। वह द्वादश दलवाला कमल श्वेत वर्णका है और परम तेज संपन्न है। इस कमलके बारहों पत्तोंमें क्रमशः ॥ ह, स, क्ष, म, ल, व, र, युं, ह, स, ख, फ्रें, यह बारह बीज लिख रहे हैं। उस कमलकी कार्णिकामें अ, क, थ, इन तीन वर्णोंके तीन कोन हैं उन कोनोंके मध्यमें ह, ल, क्ष, इन त्रिकोणाकार अक्षरोंके मण्डपमें 'ॐ' बना हुवा है। फिर योगी ऐसा चिन्तन करे कि इस स्थानपर सुमनोहर नाद बिन्दूमय एक पीठ विराजमान है, उस पीठ (सिंहासन) पर दो हंस खडे हैं और वहाँ पादुका भी रखी है। उसी स्थलपर गुरुदेव विराजमान हैं, उनकी दो भुजाएँ हैं, तीन नेत्र हैं और वे शुक्लवस्त्रोंसे सुशोभित हैं। उसके शरीरपर शुभ्र चन्दन लगा है। कण्ठमें श्वेत वर्णके प्रसिद्ध पुष्पोंकी माला पड़ी हुई है, उनके वामपार्श्वमें रक्तवर्णा शक्ती (गुरुपत्नी) शोभा

दे रही है; इस प्रकार गुरुका ध्यान करें। कोई कोई आचार्य इस द्वादश दल कमलको "ललनाचक्र" कहते हैं, यह वर्णन विश्वसारतन्त्रमें मिलता है और यह ललनाचक्र सहस्रार और आज्ञा इन दोनों चक्रके बीचमें है ऐसा ये दूसरा स्थान बताते हैं। कंकाल मालिनी तन्त्रमें लिखा है कि:—

" सहस्र दल पद्मस्थमन्तरात्मान मुज्ज्वलम्। तस्योपरिनाद बिन्दो-मध्ये सिंहासनोज्ज्वले॥ तत्रानिजगुरुं नित्यं रजताचलसन्निभम्। वीरासन समासीनं सर्वाभरणभूषितम्॥ शुक्ल (क्ल) माल्याम्बरधरं वरदाभयपाणिकम्। वामोरुशक्ति सहितं कारुण्येनावलोकितम्। प्रिययासव्यहस्तेन धृतचारु कलेवरम्। वामेनोत्पलधारिण्या रक्ताभरणभूषया। ज्ञानानन्द समायुक्तं स्मरेत्तन्नामपूर्वकम्॥

योगी ऐसा ध्यान करें कि जिस सहस्र दल कमलमें प्रदीप्त अन्तरात्मा अधिष्ठित है, उसके उपर नाद बिन्दुके मध्यमें एक उज्ज्वल सिंहासन विद्यमान हैं। उसी सिंहासन पर अपने इष्टदेव विराज रहे हैं, वे वीरासनसे बैठे है। उनका शरीर चांदीके सदृश श्वेत है, वे नानाप्रकारके आभूषणोंसे विभूषित हैं और शुभ्रमाला, पुष्प और वस्त्रधारण कर रहे हैं। उनके हाथोंमें वर और अभय मुद्रा है। उनके वाम अंकपर शक्ति विराजित है। गुरुदेव करुणा दृष्टिसे चारों ओर देख रहे हैं। उनकी प्रियतमा शक्ति दाहिने हाथसे उनके मनोहर शरीरका स्पर्शकर रही है। शक्तिके वामकरमें रक्तपद्म है और वे रक्तवर्णके आभूषणोंसे विभूषित हैं। इस प्रकार उन ज्ञानसमायुक्त गुरुका नाम स्मरणपूर्वक ध्यान करना चाहिये। इस कमलकी कर्णिकामें विद्युत्—सदृश अकथादि त्रिकोण यंत्र है। उस यंत्रके चारों ओर सुधासागर होनेके कारण यह यंत्र मणिद्वीपके आकारका हो गया है। इस द्वीपके मध्यस्थलमें मणिपीठ है। उसके बीचमें नाद-बिंदुके उपर हंस पीठका स्थान है। हंस पीठके उपर गुरु पादुका है। गुरुदेवही परमशिव

या परब्रह्म है। सहस्रदल कमलमें चन्द्रमण्डल है। उसकी गोदीमें अमर कलानामक षोडशीकला है। तथा उसकी गोदमें निर्वाण शक्तिरूपा मूल प्रकृति बिंदू और विसर्ग शक्तिके साथ परमशिवको वेष्टन किये हुए है। हमारे मतसे ग्रहका अमल-शनि और जर्मन महात्मा गिखतेलके मत में भी शनि ही है। तत्वगुण-आत्मा, नामचक्र-शून्य, लोक, सत्यलोक, नामतत्व-तत्वातीत, तत्वबीज-विसर्ग, बीजका वाहन-बिंदू, देव-परब्रह्म, देव-शक्ति-महाशक्ति, यंत्र-पूर्णचंद्र, निराकार, ध्यानफल-अमरमुक्त, देवतावाहन कामनाथ कामेश्वरी, गुरुपादुका जपसंख्या १०००, तूर्याअवस्था।

इस चक्रपर ब्रह्मानंदको देखना चाहिये

अकथादि त्रिकोण यंत्र—Fornix, Figure 762 Page 796
Figure 791-Page 826

मणिद्वीप—Insula Island of Reil Figure 775. Page811

गुरुपादुका—Corpora mamillaria Figure 762 Page 796
Fig. 789

हंसपीठ—Supra pineal recess Figure 779 Page 816

सहस्रदल—Corona Radiata Figure 788 Page 823 देखिये
(Grays Anatomy.)

The cerebrospinal fluid is a clear, slightly alkaline fluid, with a specific gravity of about 1007. It contains in solution inorganic salts similar to those in the blood-Plasma and also traces or Protein and glucose. It supports and protects the delicate structures of brain and medulla spinalis, maintains a uniform pressure

on them, and probably acts as their nutritive fluid. It is produced by the action of the secreting cells which cover the choroid plexuses of the, brain and is normally present at a certain pressure which is not dependent on the arterial or venous blood pressure. Its secretion may be increased (a) by an excess of carbonic acid (b) by volitile anaesthetics, or (c) by an extract of the chorioid plexuses or of the brain. (See Grays Anatomy Page 844).

THE CEREBROSPINAL FLUID (सुधासद्म)

The cerebrospinal fluid is a watery fluid (specific gravity about 1005) which is found in the ventricles of the brain, and in the cerebrospinal subarchnoid space. The fluid is formed by the choroid plexus which project into the ventricles; it escapes into the subarchnoid space through the foramina in the root of the fourth ventricle. (Foramen of majendie and foramina of Lusehka). A choroid plexus is much folded process of the Pia mater, rich in blood-vessels; The ventricular aspect of the tufts is covered by ependyma modified to form a glandular epithelium, i. e. the cells are not ciliated are cuboidal, and often contain vacuoles. The proof that the plexus forms the fluid is three fold; (i) there are histo.

logical changes (swelling of the cells, etc,) after excessive formation of cerebrospinal fluid, (ii) when the exit from the ventrical e. g. the foramen of menro, is blocked, the ventricle distends; if previously the choroid plexus of the ventricle is removed no distension occurs (Dandy and Black fan); and (iii) fluid has been seen excluding from the surface of an exposed plexus.

Page 665-666 Chapter 47th
Hand book of Physiology
by
Halliburton M. D. and
McDowall

इस चक्रपर सप्त ज्ञान भूमिकाकी सातवी भूमिका "तुर्यगा" को देखना है। तुरीया अवस्था–"ब्रह्म ध्यानावस्थस्य पुनः पदार्थान्तरापरिफूर्तिस्तुरी" ब्रह्मचिंतनमें निमग्न इस महापुरुषको पुनः किसी भी समय किसी भी अन्य पदार्थकी परिस्फूर्ति न होना यही ज्ञानकी सप्तम भूमिका तुरीया कहलाती है। इस स्थितिको प्राप्त स्वेच्छापूर्वक या परेच्छापूर्वक व्युत्थानको प्राप्त नहीं होता, अपितु एकही स्थिति ब्रह्मीभूत स्थितिमें सदारमण करता है। "अस्यामवस्थायाम्योगी नस्वतोनापि परकीय प्रयत्नेन व्युत्तिष्ठते केवलं ब्रह्मीभूत एवं भवति।

योगी लोक कहते हैं कि आज्ञा चक्रके ऊपर तीन पीठस्थान हैं उन तीनों पीठोंका नाम है—बिंदूपीठ, नादपीठ और शक्तिपीठ (कलापीठ) ये तीनों पीठस्थान कपाल देशमें रहते हैं। शक्ति पीठका अर्थ है ब्रह्मबीज "ॐ" कार। ॐकारके नीचे निरालंबपुरी तथा उसके नीचे

षोडशदल युक्त सोमचक्र है इन दलोंको चंद्रकी १६ कलाएँ कहते हैं उसके नीचे एक गुप्त षडदल पद्म है। उसे ज्ञानचक्र (मनश्चक्र) कहत हैं। इसके एक एक दलसे क्रमशः रूप, रस, गंध स्पर्श शब्द और स्वप्न ज्ञान उत्पन्न होता है। इसीके नीचे आज्ञा चक्रका स्थान है। आज्ञा चक्रके नीचे तालुमूलमें एक गुप्तचक्र है इस चक्रको द्वादशदलयुक्त रक्तवर्ण पद्म कहा जाता है। इस पद्ममें पंच सूक्ष्म भूतोंके पंचिकरण द्वारा पंच स्थूल भूतोंका प्रादुर्भाव होता है। इसी स्थानको घंटिकास्थान और दशम द्वार मार्ग कहते हैं। इसी चक्रको कला या ललनाचक्र ऐसा कोई कोई आचार्य कहते हैं। इस चक्रको Cavernous plexus भी कहते हैं।

ब्रह्मरन्ध्रचक्र (राहू)

यह चक्र ब्रह्मरन्ध्रमें है; यह चक्र निर्वाणप्रदान करनेवाला है। इस चक्रमें सूचिकाके अग्रभागके समान धूम्राकार जालन्धर नामक स्थानमें ध्यान करके चित्तलय करनेसे मोक्षकी प्राप्ती होती है। यह स्थान भगवान महावीर (हनुमानजी) जी का है। इस चक्रपर निरानंदको देखना चाहिये।

ब्रह्मचक्र

यह चक्र षोडश दलमें सुशोभित है। उसमें सच्चिद्-रूपा अर्ध-शक्ति प्रतिष्ठित है। इसमें पूर्णा चिन्मयी शक्तिका ध्यान करनेसे मुक्तिकी प्राप्ती होती है। यह सब लग्नमें देखना चाहिए।

आज्ञाचक्र (शिवका तृतिय नेत्र) लग्नमें
अग्नीचक्र

ग्रह गुरु जर्मन महात्मा गिखतेलके मतसे भी गुरु

Plexus of command.

स्थानः—Region of mind कमलवर्ण श्वेत दो दल-अंग्रेजी Anatomist इसीको Pineal gland और दूसरा दल Pitnit-

आज्ञाचक्र—Pineal Gland—गुरु

Third Eye
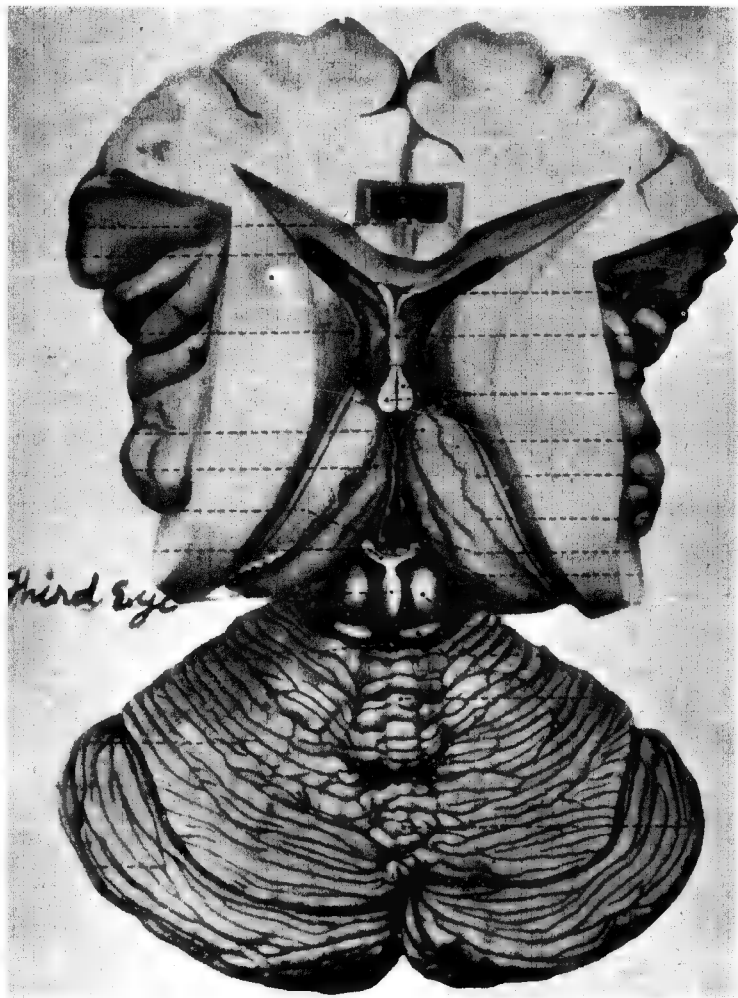
चित्र नंबर ३

ary Body हैं क्षं चक्रका यंत्र–विद्युत्प्रभा युक्त " इतर " अर्धनारी नटेश्वरलिंग है। यह यंत्र महत तत्वका स्थान है। यंत्रका बीज " लँ " सह ॐ प्रणव है। बीजका वाहन नाद है। और इसके उपर बिन्दु भी स्थित है। यंत्र देव–महाकाल नामक सिद्ध लिंग और शक्ति हाकिनी हैं। यंत्र लिंगाकार है। यह परमहंस पुरुष है। इस स्थानमें " हंस " पुरुष परमाशिव और उनकी शक्ति सिद्ध काली " है " (यह यँ बीज और वायुका स्थान है) जप संख्या– १००० तपो लोक, तत्व–मन (योनि त्रिकोणमें पाताल लिंग) देवता वाहन–शंभु–त्राटककर्म, नेति कर्म, कार्य–संकल्प–विकल्प, रुद्रग्रन्थी, शक्ति हाकिनीका रूप शुक्लवर्णी चतुर्भुजा, षणमुखी इस द्विद्लवर्णकी कार्णिकामें त्रिकोणाकृति यंत्रोपरि-लँ बीज सहित प्रणवाकार तेजोमय इतराख्य शिवालिंग विद्यमान है।

Adnya Chakra

The seat of altruistic sentiments and volitional control, companion, gentleness, patience, renuciation, meditativeness, gravity, earnestness resolution, determination, and magnanimity.

चंद्रामृत या १७ सत्रहवी जीवनकला। इस चक्रमें ज्ञानानन्दको देखना है। इस चक्रपर सप्तज्ञान भूमिकाकी छठी भूमिका—" पदार्था-भाऽवनी " इसीको देखना पड़ता है "

" अंसंसक्ति भूमिकाभ्यास पाटवाच्चिरं प्रपञ्चापरिस्फूर्त्यवस्था पदार्था भावनी। अस्यामवस्थायामपरप्रयत्नेन योगी व्युत्तिष्ठते।

असंसक्ति नामक पांचवी भूमिकाके परिपाकसे प्राप्त पटुताके कारण दीर्घ कालतक प्रपञ्चके स्फुरणका अभाव पदार्थभावनी भूमिका कहलाती है। पाँचवी भूमिकामें विश्वप्रपञ्चका विस्मरण अल्प कालतक ही

रहता है और छठी भूमिकामें यह स्थिति दीर्घकालपर्यंत रह सकती है। इन दोनों भूमिकाओंमें केवल समयकाही भेद होता है। इस भूमिकाको गाढ़ सुषुप्तिके नामसे पुकारते हैं। इस भूमिकामें स्थित महापुरुष देह निर्वाहादि क्रिया भी स्वतः व्युत्थित दशामें आकर नहीं करता। परन्तु अन्यके द्वारा अर्थात् व्युत्थान पाकर क्रिया करता है। दूसरा कोई मुहमें ग्रास दे देता है तो दाँत और जीभसे खानेकी क्रिया हो जाती है।

Pineal Body or gland. (See figure 760 page 794) Pituitary Body Hypophysis (see fgure 765 Page 800) जब कुंडालिनी आज्ञाचक्रमें प्रवेश करती है तब ये दोनों glands आज्ञाचक्रको जगाते हैं। Madam Blavhatsky ने लिखा है The pulsation of the pituitary body mounts upwards more and more until the cursent finally strikes the pineal gland and the dorment orgen (Adnya Chakra is awakened and set all glowing with the pure Akashik Fire (Kundalini)

ABOUT THIRD EYE
IN THE CRANIAL CAVITY.

In the anterior Centre of the frontal lobe of the brain from for eye movements (the lobe of intelligence) from which are issued the orders to move the different parts of our voluntary muscles and which is a pluxus controlled by our thought. This chakra is the Naso-Ciliary extent-ion of the cavernous plexus/ of the sympathetic

through the opthalmic division of the fifth cranial nerve, ending in the ciliary muscles of the iris and at the root of the nose, through the supra-orbital foramen. It has two petals or branches (one is called pineal gland, and second is called pituatary body). Here is found the great light the third eye (the Pariatal eye) as it is called and by contemplation of this yogi gains wonder ful and Terrific Psychic powers because this eye is full of fire. It may seem strange, almost in comprehensible, that the chief success in Gupta-Vidya or occult knowledge, should upon such flashes of clairvoyance and that the latter should depend in man, two insignificant excrescences in his cranial cavity.

The Pineal Gland:- This gland, which is a small redish body, is placed beneath the corpus callosum, and rests upon the corpora quadringemina It has composed of tubes and sacculus lined and sometimes filled with epithelial cells, and containing deposites of earthy salts (Brain Sand) . A few small atrophied nerve-cells without axons are also seen. In certain lizards, such as Hatteria, and in certain fishes such as the Lamprey, the pineal out growth is better developed and may be paired, One division corresponds to the pineal gland: the other becomes devel-

ped into an eyelike structure connected by nerve-fibres to the habenular ganglian; This third eye situated centrally on the upper surface of the head but is covered by skin.

Page 879 Chapter 59th
The Endocrine Orgens Pineal Gland.
By
Halliburton's Physiology.

The human pineal body is phylogenetically homologous with the parietal eye of cyclostome fishes: Gray's anatomy. Page 798.

It is described separately partly for purposes of convenience and partly because it controls certain automatic bodily activities e. g. the circulation and digestion, over which we have no voluntary control. Every organ of the body over which we have no voluntary control appears to be supplied with two sets of the fibres from the sympathetic and the parasympathetic which have opposite functions.

Page 100 Chapter 9th
An Autonomie Narvous System.
Halliburton's Physiology.

भागवत्, रामायण, महाभारत तथा पुराणादि प्राचीन ग्रंथोंको पढ़नेसे यह ज्ञात होता है कि ऋषिमुनि लोग कठिन तपश्चर्याके पश्चात् कुछ सिद्धियाँ प्राप्त कर लेते थे। इन सिद्धियोंमें कई अति विचित्र

सिद्धियाँ हैं। एक सिद्धि ऐसी है कि क्रोधित महात्माकी दृष्टि पड़तेही सामनेवाला प्राणी भस्म हो जाता है। इस प्रकारके योगियोंकी चर्चा करते हुए योगेश्वर भगवान शंकरके त्रिनेत्रधारी होनेकी कथा पुराणोंमें स्थान-स्थानपर आयी हुयी है। इस कथापर कई दिनोंतक मेरा विश्वास नहीं था किन्तु अध्ययनके बाद यह "त्रिनेत्र" सत्य साबित हुआ है। यह त्रिनेत्र शंकरजीके भाल प्रदेशपर बतलाया गया है। जब योगशास्त्रमें कुंडलिनीको जगाया जाता है तब वह ऊपर चढ़ती है। अन्तमें वह शिरमें आती है। इसके बाद दोनों आखोंके बीच भृकुटीमें (आज्ञा चक्रमें) आती है और तभी यह चक्र जगाया जाता है। इस चक्रको योग शास्त्रमें "अग्निचक्र अथवा शिवका तृतिय नेत्र" कहा गया है। अभी पाश्चात्योंने शरीरपर दो शास्त्र लिखे हैं। एक Anatomy और दूसरा Physiology है। Anatomy में शरीरका वर्णन किया गया है और Physiology में Functions of every Part of the body है। इन दोनों ग्रन्थोंमें मनुष्यके मस्तिष्कमें आज्ञाचक्रके बीच तीसरे नेत्रकी चर्चा की गयी है। हमने भी ऊपर इस तीसरे नेत्रका वर्णन दिया है। जब कुंडलिनी आज्ञा चक्रको जगाती है तब यह तीसरा नेत्र खुल जाता है। जब खुल जाता है तब योगीको दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाती है। इस योगीका सामर्थ्य बड़ाही तीव्र होता है। जब क्रोधित होकर वह अपने तीसरे नेत्रसे देख लेता है तब सामनेवाला भस्म हो जाता है। उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस तीसरे नेत्रका ज्ञान द्राविड़ोंको था। इन लोगोंने केवल शंकरजीकोही त्रिनेत्रधारी बतलाया है। वे स्वतः भी त्रिनेत्रसे परिचित होते हुए इस विषयको उन्होंने कहीं भी लिखकर नहीं रक्खा है। संभवतः लिखकर न रखना यह उनकी भूल हो सकती है क्योंकि योगशास्त्र द्राविड़ोंका है और शंकरजी भी द्राविड़ोंकेही देवता हैं। शंकरजी आर्योंके देवता नहीं माने जाते।

Anatomy और Physiology लिखनेवाले अंग्रेज शास्त्रकारोंको इस तीसरे नेत्रका कार्य तथा परिणाम बिलकूल मालूमही नहीं है। आप लिखते हैं " The function of the Pineal body in the humen body is Peculiar and uncertain. See Gray's Anatomy Page 798. पाश्चात्य शास्त्रकार योगशास्त्रसे अनभिज्ञ हैं अतएव इस तीसरे नेत्रके विषयमें अधिक नहीं जानते।

स्त्रीके गर्भाशयमें जिस दिनसे गर्भ रहता है उसी दिनसे एक माह तक मातापिताके रज और वीर्यसे उस गर्भमें कलल अर्थात् मूढगर्भ रहता है। इस माहमें उस गर्भपर शुक्रका प्रभाव रहता है; इसी पहले माहमें गर्भमें अस्पष्ट सिर उत्पन्न होता है। इस प्रकार ज्योतिषशास्त्रके पंचीकरणमें लिखा हुआ है।

द्वितीय भाव

इस भावमें वृषभ राशिका प्रभाव होता है। इस राशिका अधिपती शुक्र है। और भावकारक ग्रह भी शुक्र है। यह ग्रह संपत्ती, अन्नपान बताता है। संसारी लोगोंके लिये ज्योतिष शास्त्रने इस भावमें धन संचयका विचार किया है। संन्यासी व साधुपुरुष तो धनसे पहलेही दूर रहते हैं इनका शमदमादि षड्साधन संपत्ति है। योगियोंका मुख्य धन शान्ति और ब्रह्मचर्य है। इसमें सबसे श्रेष्ठ धन ब्रह्मचर्य है। " ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायाम् वीर्यलाभः " वीर्य लाभसे ओजकी प्राप्ति होती है; ओजकी प्राप्तिसे तेज प्राप्त होता है। यतयो भोगसंग्रहात् " —यतियोंको भोगका संग्रह याने द्रव्य, स्त्री व मानापमान न करना चाहिये क्योंकि इस संग्रहसे उनका अधःपतन या आत्मनाश होता है।

आजकल हम देखते हैं की जो परमेश्वर प्राप्तिके लिये घरबार, स्त्री पुत्र आदि छोड़कर संन्यास लेते हैं और जंगलमें चले जाते हैं वे योगाभ्यास

कर कुछ सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं और किसी ग्राममें मठ या आश्रम बांधकर प्रपंचके जटिल जंजालमें फंस जाते हैं। राजा भर्तृहरि अपने "वैराग्य-शतकमें" योगी परिवारके विषयमें कहते हैं—

योगीका कुटुंब (Family of Yogi)

भाव	
१	एते यस्य कुटुंबिने वदसखे योगिनः
२	ज्ञानामृतं भोजनं
३	भ्राता मनः संयमः
४	क्षमाचजननी
५	सत्यंसूनुरयं
६	षट्रिपुके साथ झगडना
७	शान्तिश्चिरंगेहिनी
८	कस्मात्? भयं
९	दयाच भगिनी
१०	धैर्यं यस्य पिता
११	ईश्वरका लाभ
१२	शय्याभूमितलं दिशोऽपि-वसनं
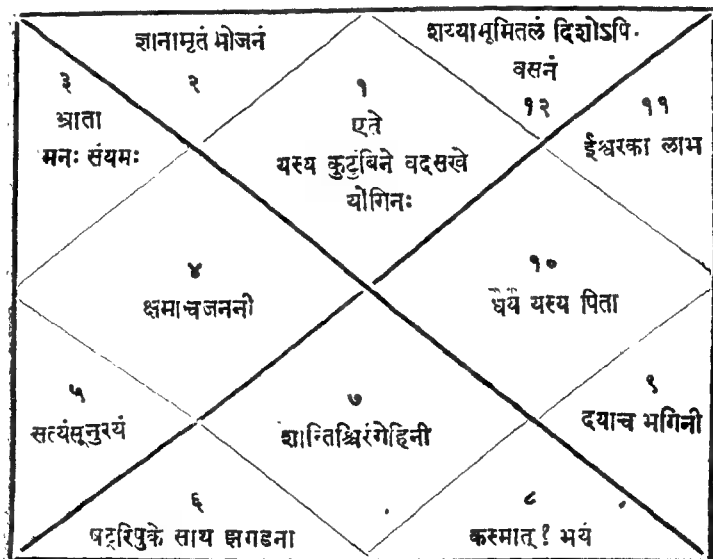
धैर्यं यस्य पिता क्षमाचजननी शान्तिश्चिरमगेहिनी।
सत्यंसूनुरयं दयाच भगिनी भ्राता मनः संयमः॥
शय्याभूमितलं दिशोऽपिवसनं ज्ञानामृतंभोजनं।
एते यस्य कुटुंबिने वदसखे कस्मात्भयं योगिनः?॥

अर्थात् ऐसे योगी जिनके कुटुम्बमें धैर्य पिता है, । क्षमा माता, चिर शान्ति पत्नी, सत्य पुत्र, दया बहन, मनःसंयम भाई हैं और जिनकी भूमितल ही

शय्या है, आकाश वस्त्र है और ज्ञानामृतही भोजन है उन्हें किस बातका भय है ?

द्वितीय भावमें इसी कुटुम्बका विचार करना चाहिये। अष्टांग योग, साधनकी दूसरी सिढ़ी–नियम, पृथ्वीधारणा, माया, उदानवायु जय, त्राटक, नागवायु, हस्तिजिव्हा, दन्तधौति, पिंगलानाड़ी, जालंधरबंध, संकटासन गोमुखासन, वृषासन, खेचरीमुद्रा, शांभवी मुद्रा, गजकरणी, मातंगिनी मुद्रा आदि विषय। योगाभ्यासमें यशकी प्राप्ति होगी या नहीं ? शुभवाणी या शापवाणी ? सत्यासत्यवाणी, आत्माकी स्वतत्रंता ; शमादि षट्साधन संपत्ति १ शम, २ दम, ३ उपराति, ४ तितिक्षा, ५ श्रद्धा, ६ समाधान आदि बातोंका और कंठ कूपे क्षुत्पिपासा निवृत्ति, आदर्श संयम और आस्वाद संयम, विचार इस द्वितीय भावमें करना है।

विशुद्धचक्र (चन्द्र)

Carotid plexus, pharyngeal plexus

स्थान–कंठ, इस कमलका वर्ण–धूम्र, दल–१६, मातृका–१६ का होता है और इन दलोंपर अँ से अँः तक १६ स्वरमाने गये हैं। चक्रका यंत्र–पूर्णचंद्राकार और पूर्णचंद्रकी प्रभासे देदिप्यमान है। यह यंत्र शून्य आकाश तत्वका द्योतक है। तत्वका वर्ण–नील, यंत्रका बीज–आकाश हँ है और बीजका वाहन ॐ श्वेत हस्ती है। लोक–जन, जपसंख्या–१०००, यंत्रके देव और देवशक्ति–पञ्च वक्त्र सदाशिव (अर्धनारीनटेश्वर शिवमूर्ती) और पीतवर्णा चतुर्भुजा पंचवदना शाकिनी शक्ति है। जालधर पीठ–अग्निजीव, जीवात्माका वास है। महाकालका स्थान–(रुद्रग्रंथी), गुण–शब्द, यंत्र–शून्यचक्र, ज्ञानेंद्रिय–कर्ण, कर्मेंद्रिय–वाक् तत्व–आकाश, Region of Ether, देवता वाहन–सदाशिव, कार्य–आकाश, इस स्थानमें "छगलाण्ड" नामक शिवलिंग है।

विशुद्ध चक्र—चंद्र

PLATE 159.—VAGUS NERVE (*Continued*)

Trachea
Right recurrent laryngeal nerve
Right vagus
Right common carotid artery
Superior cervical cardiac branches
Right subclavian artery
Inferior or thoracic cardiac branches
Right pulmonary plexus
Right pulmonary nerves
Right lung
Right coronary plexus.
Left recurrent laryngeal nerve
Left common carotid artery
Left vagus
Superior cardiac nerve
Left subclavian artery
Inferior or thoracic cardiac nerves
carotid
ganglion and plexus
विशुद्ध चक्र.
Left pulmonary nerves
Left lung
Left coronary plexus
Sterno-costal surface of heart

चित्र नंबर ४

पाँच प्राणोंमें प्राण-उदान, वर्ण-व्हायोलेटव्ल्यू, कार्य Deglutition Takes the jiva to Brahman in sleep (नींदमें जीवात्माको ब्रह्मके पास ले जाता है) Separates the Physical form the astral body at death देवदत्त वायुका कार्य-yawning, हमारे प्राचीन आचार्योंने इस चक्रपर-चंद्रका अमल माना है और जर्मन महात्मा गिखतेलके मतसे " मंगल ग्रह " अंमल करता है। सप्तज्ञान भूमिकाओंमें " असंसक्ति " नामक पाँचवी भूमिका इस चक्रपर देखना जरूर है।

" असंसक्ति-सविकल्पक समाध्यभ्यासेन निरुद्धे मनसि निर्विकल्पकसमाध्यवस्था संसक्तिः ॥ सविकल्प समाधिके अभ्यासके द्वारा मानसिक वृत्तियोंके निरोधसे जो निर्विकल्पक समाधि की अवस्था होती है, वही असंसक्ति कहलाती है। इसे सुषुप्ति भूमिका भी कहते हैं: क्योंकि इस भूमिकामें सुषुप्ति अवस्थाके समान ब्रह्मसे अभेदभाव प्राप्त हो जाता है। यह जगत्प्रपञ्चको भूला रहता है परंतु समयपर स्वयं उठताही है और किसीके पूछनेपर उपदेश करता है तथा देहनिर्वाहकी क्रिया भी करता है। " अस्यामवस्थायां योगी स्वयमेव व्युत्तिष्ठते" ॥

इस चक्रपर मायानन्दको देखना चाहिये। इस चक्रको उड़ियान कहते हैं।

Vishudha Chakra

Ego—Altruistic sentiments and affection, grief, regret, respect, reverence, contenments.

स्त्रीके गर्भके दूसरे माह पर मंगलका प्रभाव होता है। पहले माहमें स्त्री और पुरुषके जो रज और वीर्य बिन्दू प्रवाही थे, इस महिनेमें घनीभूत होते हैं और मांसपिंडमें भुजाएँ निर्माण होती हैं। इस भावका अधिपति भगवान् विष्णु है।

तृतीय भाव

नैसर्गिक कुंडलीमें इस भावमें मिथुन राशिका उदय होता है। इस भाव और राशिपर बुधका प्रभाव होता है और तृतीय भाइ-कारक ग्रह मंगल है। प्राचीन आचार्योंने इसमें भाई, बहन और पराक्रमका विचार करना चाहिए ऐसा बतलाया है। योगी पुरुष तो भाव बहन छोड़कर चले जाते हैं, इसलिये यहाँ इनका विचार करनेकी जरूरत नहीं है। भाई मनसंयम है (भ्राता मनःसंयमः)। राजा भर्तृ-हरीने बतलाया है योगी पुरुषका मनसंयम अति दुस्तर कार्य है। भगव-द्गीतामें अर्जुन भगवानसे पूछते हैं—चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथिबल वद् दृढम्। तस्याहं निग्रहमन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ (अर्थात यह मन बड़ा चञ्चल और प्रमथन स्वभाववाला है तथा बड़ा दृढ़ और बलवान् है इसलिए उसको वशमें करना मैं वायुकी भाँति अति दुष्कर मानता हूँ)। भगवान् श्रीकृष्ण उत्तरमें कहते हैं—

" असशयं महाबाहो मनोदुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥"

(अर्थात हे महाबाहो! निस्सन्देह मन चञ्चल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है; परन्तु अभ्यास अर्थात् स्थितिके लिए बारम्बार यत्न करने पर वैराग्यसे वशमें होता है, इसलिए इसको अवश्य वशमें करना चाहिये)। यह स्थान बुद्धिका है। इस बुद्धिको अपने बलसे, हठयोगद्वारा अपने वशमें रखना पड़ता है। मनसंयम ही योगीके लिये पराक्रम है। साधन चतुष्टय, आसनोंका अभ्यास करना, नेति, कुकरवायु, क्रोध, पूषा, वायुधारणा, कूर्मासन, उत्तानकूर्मासन, कुक्कुटासन, कर्णधौति, कपालभाति, (वातक्रम, व्युत्क्रम शीतक्रम) वज्रोली (घेरंडसंहितांतर्गत) मनश्चक्रं (बलवान चक्र) Phrenic

अनाहत चक्र—मंगल
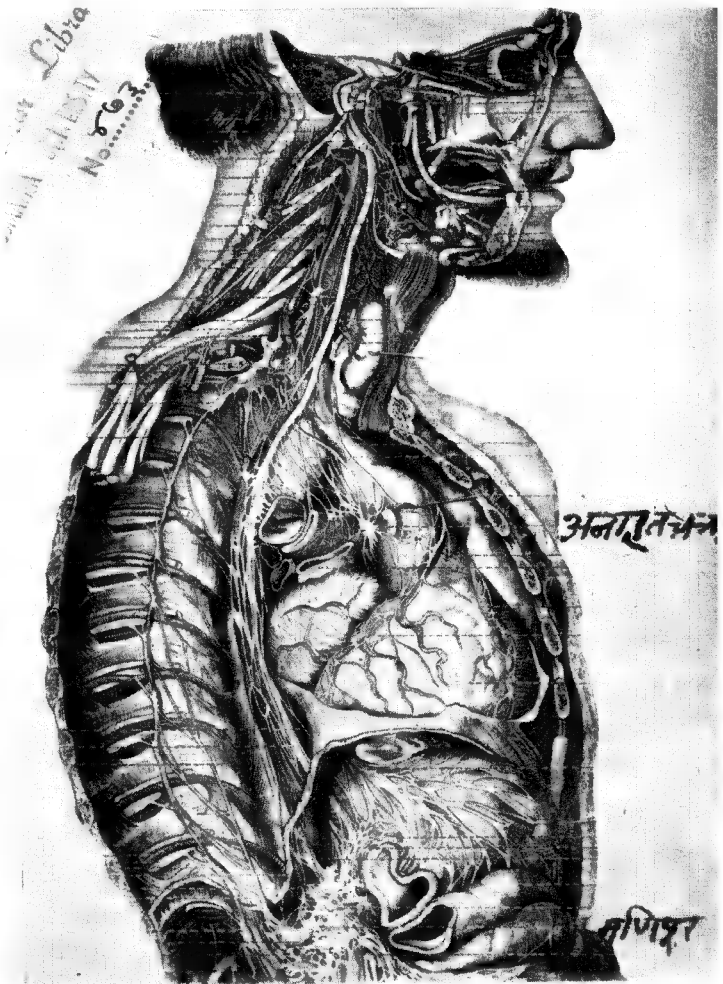
चित्र नंबर ५

Plexus द्विदल, अग्नि, माया, परमात्मा, परमहंस, पूर्णगिरीपीठ, आदि बातोंका इस भावमें विचार करना चाहिये। इस भावका अधिपति गणेशजी है।

गर्भके तीसरे माहमें गुरूका प्रभाव होता है और इस माहमें अंकुर उदर आदि अवयव पैदा होते हैं। श्रावणसंयमश्रोत्राकाशयोः सम्बंध-संयमादिव्य श्रोत्रम्।

चतुर्थ भाव

इस भावमें कर्क राशिका उदय होता है, जिसपर चन्द्रका प्रभाव होता है। इस चतुर्थ भावका भावकारक ग्रह चन्द्र है किन्तु मेरी रायमें इसका भावकारक ग्रह शनि है। इस भावमें मनुष्य रोज रातको सोता है। निद्रावस्था यह एक प्रकारकी मृत्युकी अवस्था होती है। प्रापंचिक लोग रोज रात्रिके समय सोते हैं किन्तु योगी जागते हैं। भगवान् कृष्ण कहते हैं—" या निशासर्वभूतानाम् तस्याम् जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥" अर्थात् जिस समय सकल भूतप्राणी (परमार्थ मार्गमें) सोते हैं उस समय संयमी पुरुष (योगी) (परमार्थ मार्गमें) जागते हैं और सकल प्राणिमात्र जिस समय (अपने प्रपंचमें) जागते हैं, उस समय योगी सोते हैं अर्थात् संसारिक जीवनसे अलिप्त होनेके कारण प्रापंचिक बातोंकी ओर ध्यान ही नहीं देते। योगी अपने योगाभ्यासमें कितना सतर्क वा सजग होता है यह इस भावमें देखना चाहिये। मठ या आश्रम आदिका विचार इस भावमें करना चाहिये।

चतुर्थस्थान

अनाहतचक्र Cardiac plexus (मंगल)

स्थान—हृदयदेश, अरुणवर्ण, द्वादशदल, दलके अक्षर " कँ से ठँ तक," चक्रका यंत्र–धूम्रवर्ण, षटकोण तथा वायु तत्वका सूचक है। यंत्रका

बीज "यँ" और बीजका वाहन मृग है। पिनाकि सिद्ध लिंग अधोमुखी है। यंत्रके देव तथा शक्ति ईशान रुद्र उपरहंस और चतुर्मुखी अग्निवर्णा चतुर्भुजा काकिनी शक्ति है। इस चक्रके मध्यमें शक्ति त्रिकोण है। जिसमें विद्युत्सा प्रकाश व्याप्त है। इसी त्रिकोणसे संबंध "बाण" नामक स्वर्ण कान्तिवाला शिवलिंग है, इसीको कल्प वृक्ष कहते हैं जिसके ऊपर एक छिद्र है। इस छिद्रसे लगा हुआ अष्टदलवाला हृत्पुण्डरीक नामक कमल है। इस हृत्पुंडरीकमें उपास्य देवताका ध्यान किया जाता है। (उमासमेत उमेश) जपसंख्या ६००० अग्निऋषी; महर्लोक गुण-स्पर्श, ज्ञानेन्द्रिय-त्वचा, कर्मेन्द्रिय–कर, वाणी–मध्यमा, यँकार बीज वायु, इस चक्रपर प्राचीन आचार्योंने रविग्रहका अमल बतलाया है। मैंने मंगलको इस स्थानपर रक्खा है, जर्मन महात्मा गिखतेलने रविको दिया है। सप्तज्ञान भूमिकाओंमें "सत्वापत्ति" नामक भूमिका है। इसीको इस चक्रपर देखना चाहिये। सत्वापत्ति–निर्विकल्प ब्रह्मात्मैक्य साक्षात्कारः" संशयविपर्ययरहित ब्रह्म और आत्माके तादात्म्य अर्थात् ब्रह्म स्वरूपैकात्मत्वका अपरोक्ष अनुभवही सत्वापत्ति नामकी चतुर्थ भूमिका है। यह सिद्धावस्था है। इस भूमिकामें स्थित महापुरुषको "ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या" का वास्तविक अनुभव हो जाता है। यद्यपि इस दशाको प्राप्त पुरुषको जगत्का भान होता है और शरीर तथा अंतःकरण द्वारा सभी क्रियाएँ सावधानीके साथ होती हैं, तथापि मायावश जीव जिस जगत्को सत्य स्वरूप देखता है उस जगतके मिथ्यात्वका उसे यथार्थ अनुभव हो जाता है। यह भूमिका स्वप्न कहलाती है।

इस चक्रमें प्राणवायू रहता है। वर्ण-पीत, स्थान–हृदयमें, कार्य-Respiration. सहवायू–नाग, does eructation and hiccough.

इस चक्रपर विषयानन्दको देखना चाहिये। इस बाण लिंगको पूर्णागिरी पीठ कहते हैं।

Anahat Chakra

The seat of the egoistic sentiments hope, anxiety, doubt, remorse, conceit, egoism.

ऐसा ज्योतिष शास्त्रमें लिखा है। किन्तु वे संन्यासी लोगोंके घर नहीं होते। "शय्याभूमितलं दिशोऽपिवसनं" ऐसी उनकी परिस्थिति होती है। आजकल हम देखते हैं कि सब परमार्थी लोग आश्रम मठ या कुटि बांधते हैं और स्वयं गुरु बनकर शिष्य व शिष्या बनाते हैं और उनके द्वारा द्रव्य-प्राप्ति करते हैं। इस प्रकार जिन्दगीके आखिर तक पैसा जुटाते रहते हैं। उनके देहावसानके पश्चात् शिष्योंमें बड़े झगड़े मचते हैं। और इस प्रकार योगीका अधःपतन होता है। कोई भी योगी पुरुष आश्रम, मठ या कुटी बांधेगा या बिना आश्रम मठ या कुटी बांधे समाधिस्थ होगा ? उसके जीवनका अन्त होते तक उसकी स्थिति किस प्रकार की रहेगी ? अष्टांग योग साधन की चौथी सिद्धी प्राणायाम की स्थिती बताता है। प्राणायाम पुरा होगा या नहीं इसका विचार करना है। लययोग, वर्तमान जन्ममें होनेवाले कर्म, जलधारणा, नौलिकर्म, हृद्धौति, महाबंध, योनिमुद्रा, अन्तर्द्धौति, (वात, वारि व अग्नि छोड़कर) मंडुकासन, उत्तान मंडुकासन।

गर्भके चौथे माहपर रविका प्रभाव होता है और [illegible] माहमें अस्थि, हाथ-पैर आदि अवयव उत्पन्न होते हैं। हृदयेचित्तसंवित् ॥ वात संयम. इस भावकी अधिपति दुर्गा है।

पंचम भाव

इस भावमें सिंह राशिका उदय होता है। जिसका अधिपति

रवि है । शास्त्रकारोंने पंचम भावकारक ग्रह गुरु बतलाया है किन्तु मेरी रायमें शुक्र और रवि इन दो ग्रहोंका भी उसमें समावेश करना चाहिये । योगी व संन्यासी लोगोंकी कुंडलीमें यह स्थान प्रबल होता है । इतना प्रबल स्थान दूसरा कोई भी नहीं है । जब कोई योगी या संन्यासी योगाभ्यासको प्रारम्भ करता है और अष्टांग योग साधनमें दिये हुये यम नियम आसन प्राणायाम आदिका अभ्यास पूरा करता है उस समय अष्टसिद्धियाँ या कोई सुन्दर कामिनी योगीके सामने योगी को योगभ्रष्ट करनेके लिये उपस्थित होती है। यह समय योगी की परीक्षाका कठिन समय होता है, क्योंकि इस समय यदि वह स्त्रीके वशीभूत होता है तो योगभ्रष्ट होकर उसका अधःपतन होता है । अष्टांग योग साधनमें पाँचवी सिढ़ी ' प्रत्याहार ' है । प्रत्याहार किसे कहते हैं । मनोमत्तगजेन्द्रस्य विषयोद्यान चारिणः । नियंत्रणे समर्थोऽयं निनाद-निशितांकुशः। चरता न्यक्षुगादिनां विषयेषु यथाक्रमम् यत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः प्रकीर्तितः ॥ (हठयोग प्रदीपिका " पृष्ठ १७६) मनमेंसे बाह्य विषयोंका त्याग करते जाना, इसीको प्रत्याहार कहते हैं । प्रत्याहार की सिढ़ी सफलतापूर्वक चढ़ जाना एक बड़ा ही दुष्कर कार्य है । विश्वामित्र और पाराशर जैसे महामुनी भी इस अवस्थामें जाकर योगमें न टिक सके तो फिर सर्व साधारण मनुष्यों की क्या कथा है ? किसी ने ठीक ही कहा है—" वातांबुपर्णाशनात् । तेऽपि स्त्री मुखपंकज सुललितं दृष्टवैव मोहंगता । शाल्यन्नं सघृतंपयोदधियुतं भुंजंन्ति ये मानवाः ॥ तेषाम् इन्द्रिय निग्रहो यदि भवेत् विंध्यत् तरेत्सागरे ॥ प्रत्याहार पूरा होगा या नहीं ? इसका विचार यही स्थानसे करना है ।

अष्टासिद्धि और स्त्रीके मोह पर शुक्रका प्रभाव होता है । अपने ज्ञानबल और निश्चयबलसे इस मोहको दूर हटाना गुरूका कार्य है । इस कार्य पर गुरूका प्रभाव होता है । इस पंचम स्थानमें पुत्रोत्पत्तिका

विचार किया जाता है। इसी तरह सत् शिष्यही पुत्रके समान होता है। इसका भी विचार करना है। इस स्थानमें पंच महाभूतोत्पत्ति (ब्रह्मसे माया, मायासे कर्म, कर्मसे त्रिगण और त्रिगुणसे पंचमहाभूतोंकी उत्पत्ति हुई है) का विचार रविसे किया जाता है। मोह, स्वाध्याय, समानजय, वज्रोलीमुद्रा, सिंहासन, नौली, गोरक्षासन, उपासना पूर्ण होगी अथवा नहीं? अध्ययन व अध्यापन, नित्यानित्य वस्तुविवेक ईश्वर गुणानुवाद आदि बातोंका विचार इस भावमें करना चाहिये।

गर्भके पाँचवे माहमें चंद्रका प्रभाव होता है और इस माहमें चर्म, अस्थि, नाड़ियाँ आदि गर्भमें उत्पन्न होती हैं। इस भावका अधिपति भगवान शंकरजी है। कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् प्रतिभाद्वा सर्वम्।

षष्ठ भाव

इस भावमें कन्या राशिका उदय होता है जिस पर बुधका प्रभाव होता है। इस भावके कारकग्रह शनि और मंगल हैं। प्राचीन शास्त्रकारोंने अपने ग्रन्थोंमें ऐसा लिखा है कि छठवाँ, आठवाँ और बारहवाँ स्थान दुःस्थान है क्योंकि इन स्थानोंमें चाहे कोई भी ग्रह क्यों न हो, शुभफल नहीं प्राप्त होता। इसका कारण यही हो सकता है कि षष्ठभावके कारक ग्रह जो शनि और मंगल हैं, दुःख देनेवाले ग्रह हैं। अष्टमभाव और व्ययभावका कारकग्रह शनि है। इस प्रकारसे हम देखते हैं कि षष्ठस्थानमें आधिभौतिक दुःख, अष्टम स्थानमें आधिदैविक (मानसिक और शारिरिक दुःख) और व्ययस्थानमें आध्यात्मिक दुःख भोगने पड़ते हैं। प्रापंचिक लोगोंके लिये ये अशुभफल ठीक ही हैं किन्तु योगी और संन्यासियोंके लिये जोकि घरबार छोड़कर जंगलमें जाते हैं और इन्द्रिय निग्रह करनेमें सफल होते हैं—यहाँतक कि जिनके लिये 'शीतोष्ण सुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः' एक ही बराबर है।

यह स्थान शुभफल देनेवाला होता है। योगी व संन्यासी की कुंडलीमें ये तीनों स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। स्त्री, पुत्र, मकान, खेती आदिमें फंस रहकर त्रिविध ताप भोगे बिना मनुष्यके मनमें वैराग्य भाव उत्पन्न नहीं होते। इस स्थानमें शीतोष्ण सुखदुःख, मानापमान आदिका विचार करना चाहिये। अष्टांगयोग साधनमें छठवीं सिढ़ी "धारणा" है? "धारणा" किसे कहते हैं? "देशबंधश्चित्तस्य धारणा"। पातंजल योगसूत्रमें पहले विभूतिपादको भी यही अर्थ दिया हुआ है। अपनी चित्तवृत्तियाँ अन्य विषयोंमें न स्थिर कर, नाभिचक्र, हृदय, उर, कंठ, मुख, नासिकाका अग्रभाग आदि दस स्थानोंमें ही स्थिर करना इसीको "धारणा" कहते हैं। "समानवायु, सगुण साक्षात्कार, संकल्प, मत्सर, जलधारणा" "अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोग समुद्भवः" अर्थात् अयुक्त अभ्यास सब प्रकारके रोगोंकी जड़ है। उड्डीयानबंध, मूल-शोधन, शलभासन, पश्चिमोत्तानासन, नाभिचक्रे काव्य व्यूह ज्ञानम् आदि बातोंका विचार इसी भावमें करना है।

गर्भके छठवें माह पर शनिका प्रभाव होता है। इस माहमें त्वचा व रोम पैदा होते हैं और गर्भमें हलचल उत्पन्न होती है।

किसी भी योगी पुरुषके लिये काम क्रोधादि षड्रिपु होते हैं, जिनमें सबसे महान् व दुर्दम्य दुश्मन "काम" होता है। व्यासजीने अपने सूत्रमें कहा है—"मातास्वसादुहितृवा नैक शय्यासनो भवेत। बलवान-मिंद्रिय ग्रामो विद्वांसमपिकर्षति॥ संगात् संजायतेकामः; कामात् क्रोधो भिजायते॥" भगवान् श्रीकृष्णजीने अर्जुनसे कहा है—"जहिशत्रुं महा-बाहो कामरूपं दुरासदम्"। इन षड्रिपुओंको जब तक जीत नहीं लिया जाता तब तक परमार्थका मार्ग निष्कटंक नहीं होता। Alan Leo अपने ग्रन्थमें लिखते हैं—" The sixth house is the most mystical house " इस छठवे स्थानमें अन्तर्ज्ञान, स्वप्नमें दृष्टान्त

मणिपूर चक्र—रवि

PLATE 217.—CŒLIAC PLEXUS

मणिपूर-चक्र

चित्र नंबर ६

होना, पिशाच्च देवतादिका दर्शन होना, आदि बातें देखना चाहिये। यही कारण है कि मैंने इस स्थानका अधिपतित्व नेपच्यूनको दे दिया है। इस भावका अधिपति भगवान भैरव है।

षष्ठ स्थान

मणिपूरचक्र

Solar plexus, Epigastric plexus, Coeliac plexus, Region of Sun. रवि

स्थानः—नाभि, दल—दश, दश दलोंका अंग्रेजी नाम 1 Phrenic 2 Hepatic 3 Lienal 4 Superior gastric 5 Supra Renal 6 Renal 7 Spermatic 8 Superior Mesentric 9 Abdominal aortic 10 Inferior mesentric चक्रका वर्ण—नील, लोक—स्वर्लोक, दलोंके अक्षर—डँ से फँ तक, तत्व अग्नि रँबीज बीजकावाहन मेष, गुण-रूप, ज्ञानेंद्रिय—चक्षु, कर्मेंद्रिय—चरण, रुद्रासिद्धलिंग, इस चक्रका यंत्र त्रिकोण है। इसके तीनों पार्श्वमें द्वारके समान तीन "स्वस्तिक" स्थित है। यंत्रका रंग-बाल रविके समान है। यंत्रके देव और शक्ति-वृद्धरुद्र और त्रिवक्त्रा चार हाथोंकी मेघवर्णसमान वर्णकी लाकिनी शक्ति है जपसंख्या ६०००. कार्य तेज, प्रसरण उष्णवाह देवतावाहन—रुद्रनन्दी, कर्मेंद्रय—गुद, विष्णुग्रंथी (इन ग्रंथीयोंमें स्थानका मतभेद दिखाई देता है) प्राचीन आचार्योंने इस चक्रपर मंगल ग्रहका अधिष्ठान दिया है। लेकिन मैंने रविको दिया है। जर्मन महात्मा गिखतेलने शुक्रको दिया है। इसीको वडवानल केंद्र कहते हैं। पांचप्राणोंमें एक प्राणवायुको देखना है। स्थान—नाभि, वर्ण—हरा, कार्य—अन्न पचनेका कार्य (Digestion), सहवायु कृकरवायु—कार्य भूख और प्यास निर्माण करना। इस चक्रपर कर्तव्यानन्द (कर्मयोगानन्द) देखना है।

सप्तज्ञान भूमिकाओंमें तीसरी भूमिका " तनुमानसा " इस चक्रपर देखना है " तनुमानसा " निदिध्यासनाभ्यासेन मनस एकाग्रतया सूक्ष्म वस्तु ग्रहण योग्यता तनुमानसा। निदिध्यासन (ध्यान और उपासनाका अभ्यास) में मानसिक एकाग्रता प्राप्त होती है, उसके द्वारा जो सुक्ष्म वस्तु के ग्रहण करने की सामर्थ्य (योग्यता) प्राप्त होती है उसे तनुमानसा कहते हैं। ये तीन भूमिकाएँ जाग्रत भूमिकाएँ कहलाती हैं। क्योंकि इनमें जीव और ब्रह्मका भेद स्पष्ट ज्ञात होता है। इनमें स्थित व्यक्ति साधक माना जाता है; ज्ञानी नहीं।

About Solar Plexus

The SOLAR PLEXUS lies on the posterior abdominal wall in the relation to the abdominal aorta and behind the stomach. The plexus is continuous with subordinate plexuses Diaphragmatic, Superior, Mesentric, and Aortic, and by means of the HYPO-GASTRIC NERVES the aortic plexus becomes continued into the hypogastric plexus which again FORMS CHIEF ORIGIN OF THE PELVIC PLEXUS.

The Discectional Anotomy
by
Late Dr. Cunningham
M, D, F, R. S & C.
LONDON.

जो योगसाधक (किसी भी प्रकारका योग हो) जबतक इस चक्र को जीत नहीं सकता तबतक योगी नहीं हो पाता, इसलिये सबसे बड़े महत्वका यह चक्र है। योग साधककी जबतक देहावस्था नहीं छूटती तबतक सब प्रयत्न व्यर्थ हैं।

स्वाधिष्ठान चक्र—शुक्र

PLATE 231.—SACRAL PLEXUS

स्वाधिष्ठान-चक्र

चित्र नंबर ७
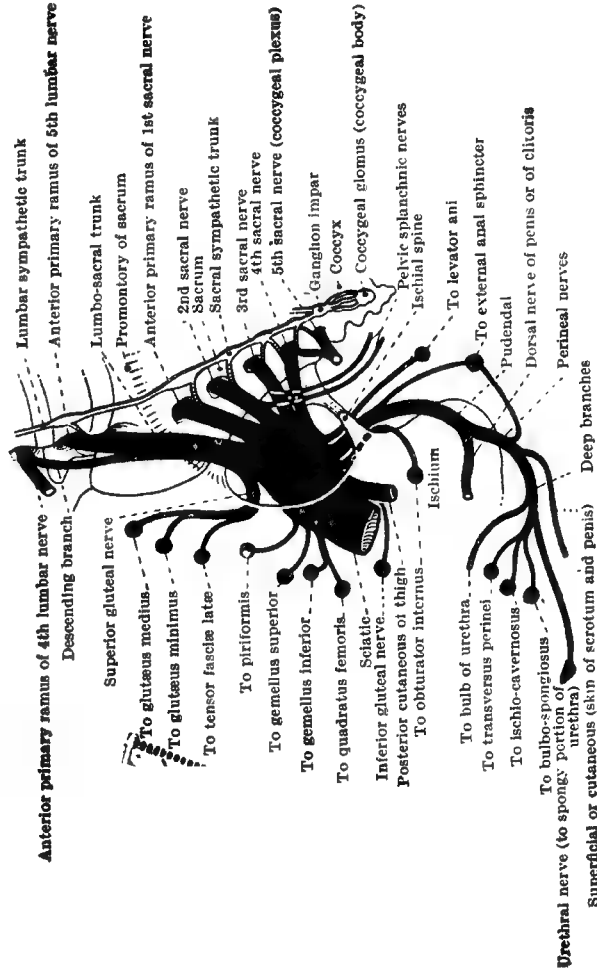
Manipoor Chakra

In the production of sleep and thirst and the expressions of passions like jealousy. shame fear, stupefaction.

सप्तम भाव

इस स्थानमें तुला राशीका उदय होता है जिसका स्वामी शुक्र है। शास्त्रकारोंने इस भावका भावकारक ग्रह शुक्र ही दिया है। शुक्र ज्ञानी और योगी है और तुला राशीमें ही ज्ञान है। अष्टांग योग साधनमें सातवी सिद्धी "ध्यान" है। प्रापंचिकोंका ध्यान "स्त्री और धन" एवं योगियोंका ध्यान "ईश्वर" है।

इस स्थानमें मनुष्यप्राणीका गुप्त कर्म देखा जाता है। जिस प्रकारसे स्त्रीके साथ संभोग कार्य गुप्त रीतिसे किया जाता है उसी प्रकारसे योगी आसन प्राणायाम, मुद्रा, ध्यान, समाधि आदि कर्म गुप्त रीतिसे करते हैं। योगी यह सब कर्म प्रकट रीतिसे करता है या गुप्त रीतिसे। योगी स्त्री जनसंमर्दमें फसेगा या अलग रहेगा, काम, व्यान वायु तपश्चर्या, थलबस्ति, मत्स्येन्द्रासन, मयुरासन, ईश्वरसे प्रेम करेगा या नहीं।

स्वाधिष्ठान चक्र

Hypogastric Plexus. Prostatic Plexus शुक्र

स्थान—बस्ती, वर्ण—सिंदूर, दल—षड्दल. बाल सिद्धलिंग षडांगुल, जपसंस्था ६०००, बीज—वँ, दलोंके—अक्षर—बँ भँ मँ यँ रँ लँ, देवता—विष्णु और देवशक्ति—चार हाथोंवाली दोमुख और आकाशवर्णकी राकिनी है। इस चक्रका यंत्र जलतत्वका द्योतक है। और यंत्रका आकार अर्धचंद्राकार है। इस अर्धचंद्राकार यंत्रका रंग चंद्रवत् शुभ्र है। बीजका वाहन मकर है। वँकार बीज वरूण, गुण—रस, ज्ञानेंद्रिय—रसना, कर्मेंद्रिय—

लिंग, लोक—भुवर्लोक, अधिकारी—ब्रम्हा सृष्टयाधिकारी, कार्य—आप आकुं-चन, रसवाह, देवता-वाहन-विष्णु, गरुड, कर्मेंद्रिय, हस्त, प्राचीन आचार्योंने इस चक्र पर शुक्र ग्रहका अमल दिया है जर्मन महात्मा गिखतेलने बुधको दिया है। गिखतेलके मतसे मैं सहमत नहीं हूं क्योंकि इस चक्र पर भगवान विष्णुका अधिष्ठान प्राचीन आचार्योंने दिया है और भगवान विष्णु षड्गुणैश्वर्यका और षड्विकार का मालिक है। यह ऐश्वर्य छ भग और षड्विकार इस चक्र पर रखा है इसलिये शुक्र अधिष्ठान बराबर है।

इस चक्र पर सतज्ञान भूमिकाओंका "द्वितीय भूमिका—विचारणा" गुरुमुपसृत्य वेदान्त वाक्य विचारात्मक श्रवण मननात्मिका वृत्ति—सुवि-चारणा" श्रीसद्गुरुके समीप वेदान्त वाक्यके श्रवण मनन करने वाली जो अन्तःकरण की वृत्ति है यह सुविचारणा कहलाती है।

पंच प्राणोंमें व्यान नामक वायु इस चक्रपर अमल करता है। वर्ण-गुलाबी, स्थान—सब शरीरमें, कार्य—रक्ताभिसरण, सहवायु—धनंजय Causes Decomposition of Body. इस चक्रपर भक्ति आनन्द देखना चाहिए।

Swadhisthan Chakra

This chakra the sacral plexus with six branches concerned in the excitation of sexul feelings with the accompaniments of lassitude, stupor, cruelty, suspicion, contempt.

गर्भके सातवे माहमें बुधका प्रभाव होता है। इस माहमें चेतना और नाखून उत्पन्न होते हैं। इस भावका अधिपति प्रभु रामजी है। इस आदिका विचार इस भावमें करना है।

अष्टम भाव

मानवप्राणीको कई गुह्यांग होते हैं जिसमें पायू और लिंग हैं। इस गुह्यांगपर वृश्चिक राशि और मंगल ग्रह इनका प्रभाव माना जाता है। अष्टम भाव मृत्युस्थान कहलाता है। यह स्थान गूढ़ है और वृश्चिक राशि भी गूढ़ है। लेकिन इस भावके भावकारक ग्रह शनि महाराज होते हैं। वृश्चिक राशि हठयोगी बनाती है; वैसे तो दुःख देनेवाली राशि है। शनि महाराज मनुष्यको मृत्यु और ईश्वरी ज्ञान प्रदान करते हैं। यह स्थान गुह्य होनेसे यहाँ पर गूढ़ विषयोंका विचार करना है। अष्टांग योग साधनमें आँठवा अंग "समाधि" करके है। इस विषय पर ध्यान देना चाहिए। योग शास्त्रमें ऐसा कहा है कि "ध्यान बहुत काल तक जब स्थिर होता है तब इसीको समाधी कहते हैं। समाधी इसीको कहते हैं कि बाह्य जगत्को भूला जाता है और स्वशरीर की आसक्ति छूट जाती है तथा एकाग्र चित्त होता है। समाधि दो किस्मकी होती है—१ ली संप्रज्ञात समाधि और दुसरी असंप्रज्ञात समाधि। इस भावमें संप्रज्ञात समाधीका विचार करना है। वृश्चिक याने बिच्छू कहलाता है। बिच्छू यह प्राणी हर हमेशा घरके अड़ोस पड़ोसमें जिस जगह पर मनुष्यका हाथ न पहुँच सके ऐसी जगह पर या छोटे २ विवरमें अपना वास्तव्य करता है। ऐसे नमूनेका और प्राणी है उसका नाम "साँप"। मनुष्यके गुदद्वार समीप एक नाड़ी आई है उसीको योग शास्त्रकारोंने सर्प कहा है। यह सर्परूप नाड़ी मनुष्यको ईश्वरी ज्ञान प्रदान करनेवाली है। यह नाड़ी कहाँ है इसीका विवेचन प्रथम करना है। रीढ़ की हड्डीके नीचे गुदद्वारके ऊपर माँसका एक छोटासा ठोस गोला है। अंग्रजी अनॉटमीमें जिसको Glomus coccygeum or Gland of Laschka कहते

हैं। इसीको ही योगशास्त्रमें " स्वयंभू लिंग " कहते हैं। छोटे बच्चोंको कभी कभी टट्टीके समय उनके गुदद्वारसे एक माँसका गोला बाहर आता है। उसको अपने ऊंगलीसे अंदर दबाना लगता है। यह स्वयंभू लिंग है। इस स्वयंभू लिंगके शक्तीपर मनुष्य की शक्ति निर्भर है। इस स्वयंभू लिंग को वह सर्परूप नाड़ी साढे तीन चक्करसे वेष्टित हुई है और वह अपना मुँह नीचे गुदद्वारकी तरफ करके सोई है। योग शास्त्रमें इसी नाड़ीको कुंडलिनी कहा जाता है। यह नाड़ी सर्पाकृति है। ऐसा हठयोगशास्त्रमें "कुंडली कुटिलाकारा सर्पवत् परिकीर्तिता। साशक्तिश्चालिता येन समुक्तोनात्र संशयः॥" कहा है। बहुत प्राचीन कालसे द्रविड़ आदि लोगोंने ऐसा काफी अनुसन्धान किया है जब मनुष्य यत्न करेगा तो परमेश्वरी ज्ञान प्राप्त कर लेगा। यह ज्ञान मानवी शरीरसे ज्ञात होता है और मानवी शरीरमें जो मेरुदण्ड करके कहते हैं; यह मेरुदण्ड ईश्वरी ज्ञानका कोष होता है। यह कुंडलिनी ईश्वरी ज्ञानको प्राप्त कर देनेवाली नाड़ी मानवी शरीरमें किस स्थानमें वास्तव्य करती है यह निश्चित् समझा नहीं जाता। इनमें बहुत मत भेद हैं। इसलिये इन सब मत भेदोंको हम प्रकाशित करते हैं। शिव स्वरोदयमें निम्न लिखित पाया जाता है। " नाभिस्थानग कन्दोर्ध्वे अंकुरा देव निर्गताः। द्विसप्तति सहस्राणि देहमध्ये व्यवस्थिताः। नाडीस्था कुंडली शक्ति भुजंगाकार शायिनी। ततो दशोर्ध्वगा नाड्यौ दशैवाधः प्रतिष्ठिताः "॥ नाभिस्थानमें जो कंद है इस कंदसे बहात्तर हजार नाड़ियाँ निकलके सब शरीरमें फैली हुयी हैं। इसी नाडीमेंसे एक नाड़ी कुंडलिनी नामसे निकली है और वह नाड़ी निद्रिस्त है। योग तत्वामृतमें लिखा है कि " कन्दस्य मध्यमें गार्गि सुषुम्ना संप्रतिष्ठिता। पृष्ठ मध्ये स्थिते नासासह मूर्धान मागता॥ शिरासमावेश्य मुखेनमध्ये स्वपुच्छमास्येन निगृह्य सम्यक्। नाभौ सदातिष्ठति कुंडलिसा धिया समाधाय निबोध-

येत्ताम" ॥ इस नाभिस्थानमें जो कन्द है उसमेंसे सुषुम्ना नाड़ी निकली है। इस कन्दमें कुंडलिनी है।

बंबईके सुपरिचित डॉक्टर के. वसंत गंगारामजी रेळे महोदयने Mysterious Kundalini नामक ग्रंथ लिखा है। उसमें Kundlini and its Location करके एक परिच्छेद दिया है। उसमें Right Vegus Nerve यही कुंडलिनी होती है ऐसा बताते हैं। लेकिन डॉक्टर महोदय योगशास्त्रको बिलकूल न जानते हुए उनकी बड़ी भूल हो गयी है।

मैं उपर दिये हुए मतोंसे सहमत नहीं हूं। कारण यह है कि जब कुण्डलिनी मूलाधारके ऊपर और नाभिस्थान पर मानी जाय तो तीन चक्र मूलाधार, स्वाधिष्ठान और मणिपूर और दो ग्रंथियोंका भेदन नहीं हो सकता। इसलिये कुण्डलिनी इस जगह पर नहीं हो सकती। मेरा मत यह है कि यह चीज भिन्न स्थानपर होनी चाहिये।

अब हम दूसरा मत बतलाते हैं। नीचे दिये हुए योगी और कुछ लोग कुंडलिनी मूळाधार चक्रमें है ऐसा लिखते हैं।

महाराष्ट्रीय महान् विभूती और भक्तियोगी ज्ञानेश्वर महाराज इन्होंने अपनी "ज्ञानेश्वरी" नामक भगवद्गीतापर जो टीका लिखी है उसमें "१२ वें परिच्छेदमें" कुंडलिनियेचा टेंभा। आधारी केला-उभा ॥५०॥ तैसी वेढियाते सोडिती। कवतिकें आंग मोडिती। कंदावरी शक्ती। उठिळी दिसे ॥ २७॥ ज्ञानेश्वर महाराज कंद याने मूळाधार चक्र ऐसा बताते है। हठयोग प्रदीपिकामें लिखा है "कन्दोर्ध्वे कुण्डली

शाक्तः शुभ मोक्ष प्रदायिनी । बन्धनायच मूढानां यस्तां वेत्तिस वेदवित् ।। ब्रम्हद्वार मुखंनित्य मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति ॥ प्रसुप्त भुजगाकारा पद्मतन्तु निभा शुभा। प्रबुद्धा वान्हियोगेन व्रजत्यूर्ध्वं सुषम्णया। मूलाधारमें कुंडालिनी है और वह नाड़ी कमलतंतूके बराबर है गोरक्ष पद्धतीमें उपरका मत दिया है।

" मूलाधारे मूलविद्यां विद्युत कोटि समप्रभाम् ।
सूर्य कोटि प्रतीकाशां चंद्र कोटि द्रवां प्रिये ॥
बिसतन्तुस्वरूपां तां बिन्दु त्रिवलयां प्रिये ।
(ज्ञानार्णव तंत्र)

कुण्डले अस्याः स्तः इति कुण्डलिनी ।
मूलाधारस्थ वन्ह्यात्म तेजो मध्ये व्यवस्थिता ॥
जीव शक्तिः कुण्डलाख्या प्राणाकाराथ तैजसी ।
महा कण्डलिनी प्रोक्ता परब्रह्म स्वरूपिणी ॥
शब्द ब्रह्ममयी देवी एकानेकाक्षराकृति ।
शक्तिः कुण्डलिनी नाम बिसतन्तु निभा शुभः ॥
(योग कुण्डल्युपनिषद)

यदोल्लसतिश्रृंगार पीठात् कुटिल रूपिणी ।
शिवार्क मण्डलं भित्वा द्रावयन्तीन्दु मण्डलम् ।!
(योग शिखोपनिषद)

श्रृंगार पीठ–आधारचक्र

घेरण्ड संहितामें " मूलाधारे आत्मशक्तिः कुंडली परदेवता। शायिता भुजगाकारा सार्द्धं त्रिवलयान्विता। मूलाधारे कुंडलिनी भुजंगा-

कार रूपिणी। जीवात्मा तिष्ठति तत्र प्रदीपकलिका कृतिः ॥" तंत्र सारमें लिखा है "ध्यायेत् कुण्डलिनी सूक्ष्मा मूलाधार निवासिनीम्। तामिष्ट देवता रूपां सार्द्ध त्रिवलयान्वितम्। कोटि सौदामिनी भासां स्वयंभुलिंग वेष्टिनीम्। तामुत्थाय महादेवी प्राण मन्त्रेण साधकः"॥ देवीतन्त्रमें यही मत दिये हैं "या मात्रा त्रपुषीलता तनुलसत तंतुस्थिति स्पार्धिनी। वाग् बीजे प्रथमे स्थिता (मूलाधारमें स्थित) तव सदांतामन्महे ते वयम्। शक्तिः कुण्डलिनी ति विश्वजनन व्यापार बध्योद्यमो। ज्ञात्वेत्थं न पुनः स्पृशन्ति जननी गर्भेऽर्भकंत्वं नरा ॥ देवीतंत्र ॥

> " कुंडलिनी शक्तेरवस्थात्रयविद्यते। यद्यास्मिन् चक्रे
> कुमारी कुमारावस्थामापन्ना। प्रथमंसुप्ता स्थिता
> मन्द्रयते मन्द्रंस्वरं करोति। पूर २ हिरणमयीं
> ब्रह्मा विवेशो पराजताः ॥   यजर्वेद

प्रथम–आधारचक्र

इसमें कुण्डलिनी मूलाधार चक्रमें है।

एक मत और पाया जाता है उसमें लिखा है कि "मूलाधारा द्व्यंगुलादूर्ध्वं प्रसूतभूजगाकारां स्वयंभुलिंगवेष्टितां बिसतन्तु निभां सोमसूर्याग्नि रूपिणीं तडित्वल्लीनिभां कुण्डलिनी ध्यात्वा सुषुम्ना मार्गेण तां ब्रह्मरन्ध्रे-नयेत् ॥ लक्ष्मीस्तुति ॥" कुण्डलिनी मूलाधार चक्रके दो अंगुल ऊपर है। यह ऊपर दिये हुए मतोंके अनुसार कुण्डलिनी नाभिस्थानमें और मूलाधारके ऊपर को माना जाय तो अनवस्था प्रसंगको प्राप्त होना है।" क्योंकि सब योगशास्त्रके ग्रंथोंमें और सब तन्त्रग्रंथोंमें एकही मत प्रदर्शित किया है वह यह है कि कुण्डलिनी षट्चक्रोंका और तीनों ग्रंथि-

योंका भेदन कर ब्रह्मरन्ध्रमें चढ़ती है। आद्य आचार्य शंकराचार्यजीने अपने "योगतारावली और सौंदर्यलहरीमें लिखते हैं "अपराजिता कुण्डलिनी शक्तिः षट्चक्राणि भित्वा भूयेभूय प्रविशति"॥ योगतारावली, और 'महीम् मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं। जलं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुत् आकाशमुपरी ॥ मनोऽपिभ्रूमध्ये सकलमपि भित्वा कुलपथं। सहस्रारे पद्मे सहरहसि पत्याविहरसे॥" चित्रिणी नाड़ी कुंडलिनी होती है। इसका प्रमाण सुनिए।

"उद्घाटयेत्कपाटन्तु यथाकुञ्चिकया हठात्।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वार विभेदयेत ॥

मध्ये सुषुम्णा तन्मध्ये वज्राख्या लिंङ्ग मूलतः।
तन्मध्ये चित्रिणी सूक्ष्मा बिसतन्तु सहोदरा।
मूलात्सहस्रार स्तत्तदन्तर ब्रह्मनाडिका॥

येन मार्गेणगतव्यं ब्रह्मस्थान निरामयम्।
मुखेनाच्छाद्यतद्द्वारं प्रसुप्तापरमेश्वरी॥

महायोग विज्ञान, पृष्ठ ४०-४१ द्वितीय प्रकाशन
लेखक—श्री योगानन्द जी ब्रह्मचारी
स्वर्ग आश्रम ऋषिकेश देहरादून

पराशक्तिः कुंडलिनी बिसतन्तु तनीयसी।
ललिता सहस्रनाम।

षट्चक्र निरूपण नामक ग्रंथमें इस कुण्डालिनीका निश्चित स्थान दिया हुआ है उसे देखिये।

" तन्मध्ये चित्रिणीसा प्रणव विलसिता योगिना योगगम्या ।
लूतातंतूपमेया सकल सरसिजान् मेरूमध्यान्तर स्थान ॥
भित्वा देदीप्यते तद् ग्रथन रचनया शुद्ध बोध स्वरूपा ।
तन्मध्ये ब्रह्मनाडी हरमुख कुहरात् आदि देवान्त संस्था ॥१॥
विद्युन्माला विलासा मुनिमनसि लसत्तन्तुरूपासुसूक्ष्मा ।
शुद्ध ज्ञान प्रबोधा सकल सुखमयी शुद्ध बोध स्वभावा ॥
ब्रम्हद्वारं तदास्ये प्रविलसति सुधाधार गम्य प्रदेशं ।
ग्रंथिस्थान तदेतद्वदन मिति सुषुम्णाख्य नाड्या लपान्ति ॥ २ ॥

तस्योर्ध्वे बिसतंतु सोदर लसत सूक्ष्मां जगन्मोहिनी ।
ब्रम्हद्वार मुखं मुखेन मधुरं सन्छादयन्ति स्वयम् ॥
शङ्खावर्तनिभानवीनचपला मालाविलासास्पदा ।
सुप्ता सर्प समाशिवोपरिसलत् सार्द्ध त्रिवृत्ताकृति ॥ ३ ॥

प्रथम श्लोकमें कहा गया है कि चित्रिणी नाड़ीका स्थान "-मेरु मध्यान्तर स्थान-" मेरु दंड के भीतर मध्य स्थानमें है Cauda Equina से निकलकर coccyx में मिलती है दोनों बाजूकी तरफ सुषुम्ना और वज्रा नाड़ी है और बीचमें चित्रिणी नाड़ी है। इस नाड़ीको मैं कुंडलिनी कहता हूं। इस चित्रिणी नाड़ीको अंग्रेजी अनॉटामिस्ट Anatomist Filum Terminal कहते हैं। "Below the end of of the spinal cord, the Pia Mater though, at first, retaining its tubular form, afterwards becomes suddenly reduced in size, and finally prolonged as a sheath to the delicate thread-like continuation of the spinal cord, the filum terminale or

central ligament. *Its glistening and silvery hue distinguishes this ligament amidst the surrounding bundles of nerve-roots.*

कुंडलिनी क्या चीज है, यह अंग्रेजी अॅनॉटमिस्ट लिखते हैं—

The Medulla spinalis or spinal cord is the elongated nearly cylindrical part of the central nervous system which occupies the upper two-thirds of the vertebral canal. It's average length in the male is 45 C. M. (about 18 inches) its weight is obout 30 gms. It extends from the leval of the upper border of the atlas vertebra to that of the lawer border of the first or upper border of the second lumber vertebra. Above it is continuous with the brain, below, it ends in the conus medullaris from the apex of which a delicate non-nervous filament, the Filum Terminale descends as far as the first segment of the coccyx. The Filum Terminale is a delicate filament about 20 c. m. (about 8 inches) in length prolonged down wards from the apex of the conus medullaris. Its upper part or Filum Terminale Internum about 15 c. m. (about 6 inches) long is continued within the tubular sheath of dura mater and reaches, as far as the lower border of the second saeral vertabra. It is surrounded by the nerves

राहु

FILUM
TERMINALE

चित्रिणीनाड़ी
अथवा कुण्डलिनी
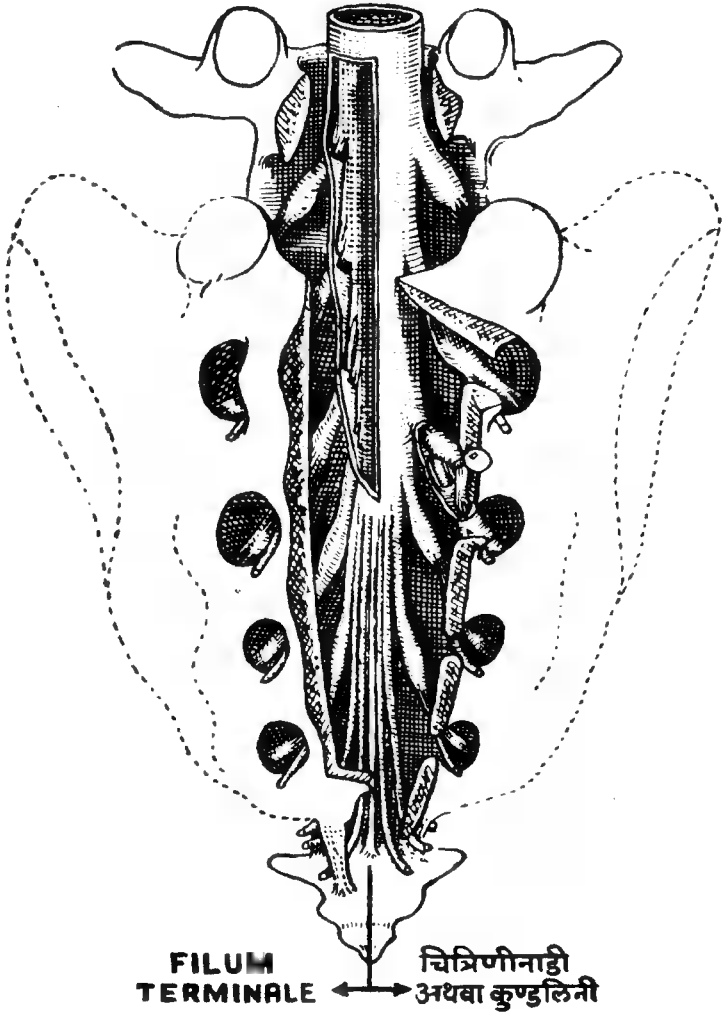
चित्र नंबर ८

forming the Cauda Equina, but can be readily distinguished from them by its bluish-white colour. Its lower part, or Filum Terminale externum, is closely invested by, and adherent to the dura, it decends from the apex of the tubular sheath of the dura mater and is attached to the back of the first segment of the coccyx. The Filum Terminale consists mainly of fibrous tissue continuous about with that of the pia mater but adhering to its outer surface are a few strands of nerve fibres which probably represent rudimentary second and third caccygeal nerves, further, Tne Central coccygeal canal of the medulla spinalis is continued downwards into it for 5 c. m.

अमेरिकन अनाटमिस्ट अपने ग्रंथमें लिखते हैं कि—

ABOUT FILUM TERMINALE

In the midst of this bundle you will be able to pick out a slender, silvary looking thread, the Filum Terminale or Central Ligament. Continuous with the apex of the conus medullaris, this terminal filament runs down the middle line amongst the nerve-roots the lower end of the dural cavity. There it pierces the dural sheath

and receiving an investment from it, decends to be attached to the back of the coccyx.

"The Filum Terminale begins at the foramen magnum, where it is continuous with periosteum, and dura mater of the brain and ends opposite the second or third piece of the sacrum in the thread like filum terminale externum which anchors the end of the dural tube to the back of the coccyx." Page 245-47 Chapter III, Anatomy of the brain, cord, and Autonomic System, The Practitioners Library of Medicine Surgery, Vol I America.

यह नाड़ी ८ इंच लंबी, रेशमके तंतुके समान तेजस्वी, प्रकाशमान सूक्ष्म, पतली और बड़ीही नाजूक है। इतनी नाजूक है। कि प्राचीन ग्रंथकारोंने "लुतातन्तूपमेया—याने मकड़ी दूसरे सूक्ष्म जीवोंको पकड़नेके लिये जो घरके कोनेमें जाल बनाती है (She is fine like the spider's thread) उसका तंतु इतना सूक्ष्म होता है कि आखोंसे देख सकते हैं किन्तु वह इतना बारीक है कि हाथमें पकड़नेसे विशेष स्पर्श नहीं होता। यह लसततन्तु बिसतन्तु, त्रपुषीलतातनुलसत तन्तू इस नामसे बतलाया गया है। यह चित्रिणी नाड़ी (Filum terminal) कुण्डलिनी होती है। इसके और भी प्रमाण सुनिए सभी योग शास्त्रकारोंने यह कहा है कि कुण्डालिनी "स्वयंभूलिंग" को वेष्टित है। इसलिये प्रथम स्वयंभू लिंग शरीरमें किस स्थानपर है यह निश्चित करना जरूर है।

अंग्रेजी शारीरशास्त्रज्ञ Gray अपने अनाटमीमें कहते हैं।

स्त्रयंभुलिंग—मंगल

Fig. 1163.—A section through an irregular nodule of the glomus coccygeum. × 85. (Sertoli.) (From Quain's Elements of Anatomy.)

स्वयंभुलिंग.
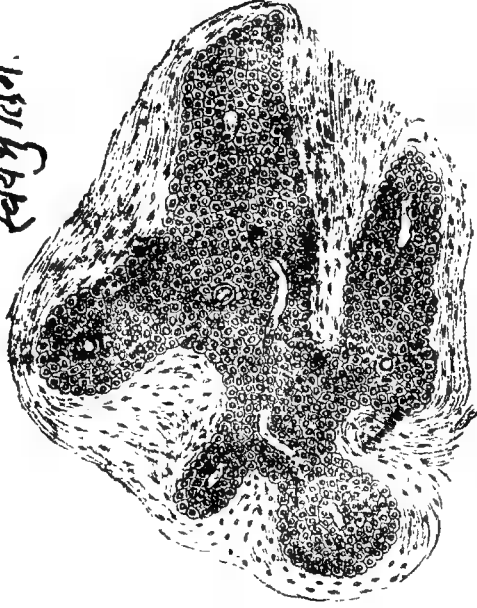
The section shows the fibrous covering of the nodule, the blood-vessels within it, and the epithelial cells of which it is constituted.

चित्र नंबर १

The Glomus Coccygeum

The Glomus Coccygeum (Coccygeal Body) is placed in front of, or immediately below the tip of the Coccyx, It is about 2-5 M. M. in diameter and is irregularly oval in shape, sevaral smaller nodules are found round or near the main mass. (See Gray's Anatomy old copy Figure 1116 page 1208) दुसरा अमरिकन anatomist अपने ग्रंथ में लिखते हैं।

The coccygeal Body (Gland of Laschka) Glomus Coccygeum has no known function, but is probably connected with that stage of development in which the tail was a prominent factor. It is found in front of the tip of the Coccyx. This gland is not uncommonly the seat of neoplastic growth at times malignant in character. The gland has capsul from which fibres connective tissue invade the substance of the organ to divide masses of epithelial cells. Numerous arterial branches remify through the structure.

Page 510
The Endocrine Glands
Anatomy and Physiology
by
Jessie Feiring Williams. M.D.

इस स्वयंभू लिंगका स्थान मैंने निश्चित बताया है।

ऊपर दिये हुए प्रमाणसे पाठकोंको ज्ञात होगा कि कुण्डलिनी क्या चीज है। इस विषयमें और एक ठोस प्रमाण दिया जाता है । "योनिस्थानकमांघ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसेन्मेंढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुंसुस्थिरम्। स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचल दृशा पश्येत्भ्रुवोरन्तरं । ह्येतन्मोक्ष कपाट भेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥११॥ गोरक्ष पद्धति पृष्ठ २०।" अर्थ सर्वोत्कृष्ठ दो आसनोंमेंसे प्रथम सिद्धासनकी विधिमें कहते हैं कि गुदा और लिंगके बीचमें योनि (कुण्डालिनीका) स्थान है इसको वामपादकी एड़ीसे दृढ़ पीडन (दबाव) करे। दाहिने पैरकी एड़ी लिंगके ऊपर लगाकर दबावें दोनों पैरोंकी एड़ीयां नीचे ऊपर बराबर हो जाती हैं तथा दोनों पैरोंकी अंगुष्ठ जंघा और गुल्फोंके बीच नीचे छिप जाते हैं। इनके दबावसे योनिस्थानके तल ऊपरके दो इंद्रिय गुदा उपस्थ रुक जाते हैं । तदनन्तर हृदयके चार अंगुल ऊपर चिबुक (ठोडी) स्थिर करें और समस्त इंद्रियोंसे मनको हटाकर एकाग्र चित्त करें तथा दोनों नेत्रोंसे अचल दृष्टि कर भ्रमध्यमें देखता रहे।

इस मोक्षरुपी द्वार खोलनेपर बताया हुआ मोक्ष मार्ग दिखाता है। यह द्वार कुण्डालिनीसे रुका हुआ है। सुषुम्णाद्वार उसे खोलकर मोक्ष मार्गके (सुषुम्णाके) द्वारा मोक्षस्थान सहस्रदलकमल कर्णिकांतर्गत परमात्मामें पहुँचानेके यत्न करता है यह सिद्धासन है ; गोरक्ष पद्धति श्लोक २१ वा पृष्ठ १० । सिद्धासनसे एक बात सिद्ध होती है कि कुण्डालिनीका निश्चित स्थान इस आसनमें वाम पादकी एड़ीसे योनि स्थान पीडीत करना है, तात्पर्य यह है कि कुण्डालिनीको जगानेकी रीति इस प्रमाणसे ज्ञात होगी और दूसरा प्रमाण भी देखिए—षट्चक्र निरूपण श्लोकमें कहा है। तन्मध्ये ब्रम्ह नाडी हरमुख कुहरात आदि

भ्रमध्यदृष्टी—शनि

चित्र नंबर १०

ब्रम्हद्वार—शनि

Sacral canal
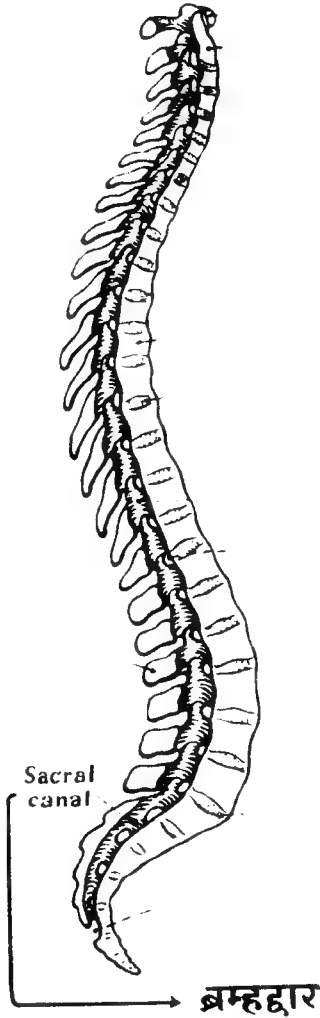
ब्रम्हद्वार

चित्र नंबर ११

देवान्त संस्थाः ॥ ब्रम्हद्वार मुखंमुखेन मधुर संछादयन्ति स्वयम्। इस श्लोकमें "हरमुख कुहर" ऐसा शब्द है इसका अर्थ क्या होता है तो कुण्डालिनीको ऊपर सहस्रार चक्रमें चढनेके लिये जो रास्ता है। उस रस्तेको दरवाजा होता है, इसको अंग्रजी अनाटामिस्ट Sacral canal कहते हैं। यह मेरूदंड के नीचे और Tip of the coccyx के उपर है। The Spinal cord ends Blindly in the Filum Terminale, and is apparently closed there. The Sushumna is said to be closed at it base called the gate of Brahman (Brahmadwara) until, by Yoga Kundalini, makes its way through it. चित्र देखिये।

(It is called in Anatomy Sacral Canal)

इस प्रमाणसे भी ज्ञात होता है कि कुण्डालिनीका मूलाधारके नीचे वास्तव्य है। ऊपर दिए हुए अनेकों प्रमाण तथा मेरी ओरसे भी दिए गए प्रमाणोंसे पाठक इस विषयको भली भाँति समझ सकेंगे।

कुण्डालिनी क्या चीज है यह निश्चित करना शेष रहा है। इसके विषयमें भी बहुतसे मतभेद पाये जाते हैं। मत १— यह कुण्डालिनी केवल तेज मात्र है। इस विषयका एक प्रमाण सुनिए—

तडित्कोटि ज्योतिर्द्युतिदलित षट् ग्रंथिगहनं। प्रविष्टं स्वाधारं पुनरपि सुधावृष्टि वपुषां। किमप्यष्ट त्रिशंत्किरण सकलीभूत मनिशं। भजे धामं श्यामंकुच भरनतं बर्बरकचम ॥ ८ ॥ चतुष्पत्रान्तः षट्दलपुट भगान्त त्रिवलय। स्फुर द्विद्युद्वन्हि द्युमणि नियताभ द्युतियुते।

षडश्रं भित्वाऽन्द्वोदशदल मथद्वादशदलं । कलाश्रंचत्र्यश्रंगतुवातिनमस्ते गिरिसुते ॥९॥ देवी पंचस्तवी । इस श्लोकका आधार लेकर कतिपय थिऑसॉफिस्ट लोगोंने झूठे ग्रंथ लिखे हैं उन लोगोंको योगशास्त्र बिलकूल नहीं समझा है और न समझ सकेगा । देखिये C. W. Leadbeater. G. C. Arundale ये कैसे भूलमे पडे है । Aurther Avelon afterwards sir john Woodraff Calcutta High court justice इन्होने Serpent Power नामक ग्रंथ लिखा है उनको भी यही शंका थी कि मूलाधार चक्रके नीचे कुंडलीनी है । इस विषयमें मैंने एक डॉक्टर महाशयसे पूछा था । I am told that recent microscopic investigations by Dr. Cunningham have disclosed the existance of highly sensitive gray matter in the Filum Terminale, which was hitherto thought to be mere fibrous cord." Page I07, The-Centres of Lotuses. Serpent Power by Aurther Avelon. उसका सारांश यहां दिया जाता है ।

स्वामी शिवानन्द हृषीकेश (हरिद्वार) अपने Kundalini yog नामक ग्रंथमें Filum Terminal यह नाड़ी कुंडलिनी होती है यह लिखा है । फिर स्वामीजीने ऐसा भी लिखा है कि मानवी शरीरमें जो षड्चक्र है यह सब चक्र लिंग शरीरमें है न कि स्थूल शरीरमें । मैं इस मतसे सहमत नहीं, मेरे विचारसे स्वामीजीकी यहाँ बड़ी भूल हुयी है । इस सारे विवेचनसे आपको ज्ञात होगा कि कुण्डलिनी क्या चीज है । कुंडलिनी इतनी विचित्र और अगम्य क्यों ? इस बारेमें मैं इतनाही कहता हूँ कि जब यह कुंडलिनी रीढकी हड्डीके अंदर है तबतक यह चित्रेणी नाड़ी

कहलाती है और रीढकी हड्डीके बाहार आकर स्वयंभू लिंगको वेष्टित होती है तब इसे कण्डालिनी कहते हैं। जब यह नाड़ी सिद्धासनसे और प्राणवायुसे नीचे दबानेसे और अपानवायुको ऊर्ध्व गती देनेसे जगाई जाती है तभी इस नाड़ीमेंसे "सूर्य कोटिःसम प्रभाः" ऐसा असामान्य तेज बाहर निकलता है और यह तेज प्रथम मूलाधार चक्रमें प्रवेश करता है। इस मूलाधार चक्रमें ही कंद है। इस कंदपर यह शक्ति प्रथम आती है। इस कंदके बारेमें भी मत-भेद पाया जाता है। इसपर भी विचार करना आवश्यक है। शिवस्वरो-दय इस ग्रंथमें नाभिके नीचे जो कंद माना गया है इस मतको आयुर्वेदीय ग्रंथकार "सुश्रुत और वाग्भट" अपने सार्थ सुश्रुत संहिता और सार्थ वाग्भट ग्रंथमें "नाभिस्थान चार अंगुल विस्तार रहनेवाला कंद है ऐसा कहते हैं। फिर योगतत्वामृतमें पाया जाता है "ऊर्ध्वं मेंढ्रादधोनाभेः कन्दयोनि खगाण्डवत्। तत्र नाडयः समुत्पन्ना सहस्राणां द्विसप्तति॥ कंदस्थानं मनुष्याणा देह मध्यान्नवांगुलम्। चतुरंगुल विस्तार मायामंच तथा विधम्। अंडाकृति वदाकारं भूषितंच त्वगादिभिः॥ मेंढ्रके ऊपर और नाभीके नीचे बस्तीमें। (यहभाग नाभिस्थानके नीचे और लिंगके ऊपरके शरीरका भाग इसको बस्ती कहते हैं।) मुरगी के अण्डे समान कंद होता है। इस प्रमाणसे विरुद्ध षट्चक्र निरूपण में लिखा है गुदात्तु द्व्यंगुलादूर्ध्वं मेंढ्रातुद्व्यंगुलादधः इस कंदका स्थान गुदाके ऊपर २ अंगुल और मेंढ्रके नीचे २ अंगुल है इससे यह समझमें आता है की यह कंद योनिस्थानमें है। मेरे मतसे यह बराबर है कारण "अंग्रेजी अनाटामिस्ट लिखते हैं" The fibres of the sympathetic form NETWORKS FORM WHICH PROCEEDS THE DISTRIBUTION TO VISC-

ERA " (देखिये Sympathetic plexus का चित्र) उपर्युक्त विवेचनसे आपको ज्ञात होगा कि कुण्डलिनी मूलाधारके नीचे है। यह नाडी होती है और इस नाडीसे भयंकर तेजस्वी तेज निकलता है। यह दोनों मिलके कुण्डलिनी होती है। कुण्डलिनी सुषुम्ना मार्ग Canalis centralis मेरूदंडके मध्यमें जो विवर है उस मार्गको सूषम्ना मार्ग कहते हैं।

THE CENTRAL CANAL OF THE MEDULLA SPINALIS

The Central canal traverses the entire length of the medulla spinalis. The gray substance in front of the canalis named the anterior gray commissure; that behind it; the posterior grey commissure. The anterior grey commissure is thin, and incontact anteriory with the anterior white commisure; it contains a pair of longitudinal veins, one on either side of the middle line. The posterior gray commissure reaches from the central canal to the posterior median septum; is thinnest in the thoracic region, and thikest in the conus medullaris. The central canal is continued upwards through the lower parts of the medulla oblongata and opens into the fourth ventrical of the brain; below it reaches for a short distance (5-6 c. m.) into the filum terminale. In the lower part of the conus medullaris
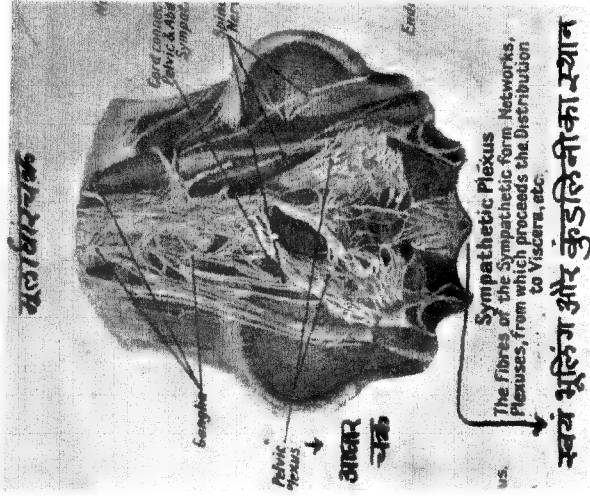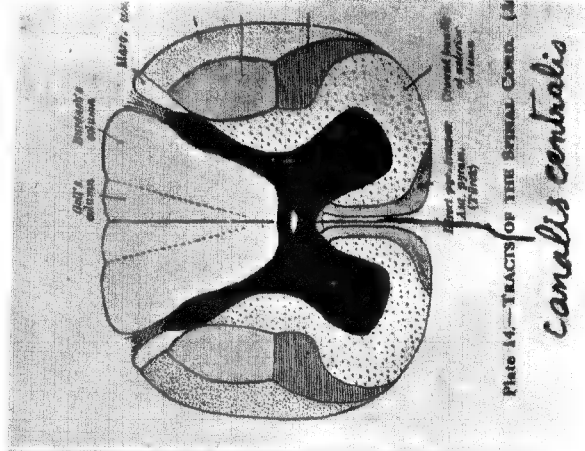
it exhibits a fusiform diletation, the terminal ventricle; this has a verticle measurement of from 8 to 10 m. m. is triangular on cross section with its base directed forwards and tends to undergo obliteration after the age of forty years.

Throughout the cervical and thoracic regions the central canal is situated in the anterior third of the medulla spinalis in the lumbar enlargement it is near the middle; and in the conus medullaris it approaches the posterior surface. It is filled with cerebrospinal fluid and lived by ciliatul, columnar epithelium, which is encircled by a band of gelatinous substance, the substantia gelatinosa centralis. This gelatinous substance consists mainly of neuroglia but contains. a few nerve-cells and nerve fibres: it is traversed by processes from the deep ends of the cells which line the central canal (Gray's Anatomy page 750)

This filament is the atrophied remnent of the lower part of the embryonic spinal cord. It extends from the end of the spinal cord viz, 1st

or 2nd lumber vertebra, to the back of the coccyx. In the upper part of its extent, the filum terminale consists of a central canal.................

Anatomy of the Brain and Spinal Cord
by
J. Ryland, Whiteker.
B. A, M. B.
Pages 6, 9, 15.

कुण्डालिनी मेरूदंडमेंसे ब्रम्हरन्ध्रमें चढ़ती है और षड्चक्रोंका भेदन करती है। इस जगहपर एक शंका उपस्थित होती है कि जब कुण्डालिनी मेरूदंडमेंसे ऊपर चढ़ती है तो बाहरके चक्रोंका भेदन कैसे होता है। इसका स्पष्टीकरण ऐसा है कि षड्चक्रोंमेंसे कुछ नाड़ियाँ निकलकर मेरूदंडको लिपटी हुयी हैं और मेरूदंडमेंसे कुछ नाड़ियाँ निकलकर षड्चक्रोंमें जाकर मिली हैं। अंग्रेजी अनाटमीमें इन नाड़ियोंका नाम Spinal Ganglia लिखा है। Spinal Ganglia को कुंडलिनी धक्का मारती है इस क्रियासे सब चक्र खुलकर शुद्ध होते हैं। इस प्रकार परमेश्वरी ज्ञान देनेवाली नाड़ीका विवेचन इस अष्टमस्थानमें करना है। इस भावमें मूलाधार चक्रको देखना लगता है।

मूलाधार चक्र

Pelvic Plexus. बुध

रक्तवर्ण, भगाकृति; तीन आवर्त, चतर्दल, दलोंके अंग्रेजीनाम—Pelvic plexus, 2nd-The middle Haemorrhoidal Ple-

xus, 3-The Vesical Plexus, 4th-The Prostatic Plexus. ४ मातृका वँ शँ षँ सँ, सरस्वति द्विरण्डनामक सिद्धलिंग देवतागणेश,शक्तिडाकिनी, शक्तिरूप एकवक्त्रा, चार हाथोंवाली, सुवर्णवर्ण, यंत्र पृथ्वी तत्वका और चतुष्कोण है, यंत्रकावर्ण-पीत, बीज लँ,बीजकावाहन-ऐरावत हस्ती, जपसंख्या६००,स्थान-गुद और लिंगके बीचमें योनिस्थानमें, भुलोक, गुण-गन्ध (देव-ब्रह्मा वैश्वानर) ज्ञानेंद्रिय-नासिका, कर्मेंद्रिय स्थान-योनि-The yoni that is in the centre of this chakra is called kama and it is beloved and worshipped by sidhas. ब्रह्मग्रंथी, परावाणी, लँ कारबीज पृथ्वी, कार्य-पृथ्वी संकलीकरण गंधवाह, देवता ब्रह्मा, अष्टकोणशूरु, दो नाडिया,-इल्वला और कालधामिनी, बस्तीकर्म, कुण्डलिनीके बीचमें महाप्रकृति, अपानवायू-संत्रेकावर्ण गुदद्वार-Ejection of urinal Falces. सहवायू कूर्म-पलक खोलना और बन्द करना। इस चक्रपर निजानंदको देखना है। सप्तज्ञानकी भूमिका शुभेच्छा नामक होती है। शुभेच्छा किसे कहते हैं "नित्यानित्य वस्तु विवेकादिपुरःसराफलपर्यवसायिनी मोक्षेच्छा" इसीको शुभेच्छा कहते है। इस चक्रपर यह भूमिका देखना है। इस चक्रपर मेरे मतसे बुध ग्रहका अमल होता है और जर्मन महात्मा गिखतऊके मतसे इसपर चंद्रमाका अमल होता है ?? The Adhara, the Sacro-coccygeal Plexus, with four branches, nine Angulis (about six inches and a half) below the solar plexus. (Kanda, brahmagranthi); the source of a massive plèasurable aesthetia, voluminous organic sensations of repose, an inch and half above it, and the same distance below. The membrum viril

(mehana) is a minor centre called Agnishikha. इस स्थानमें समाधिकी और मृत्युकी अवस्था भी देखनी है। समाधि और मृत्यु इन दोनोंमें बहुत फर्क है। मृत्युमें ज्ञान और चेतना नहीं परंतु समाधिमें ये दोनों मौजूद हैं। फिर शरीरकी अवस्था दोनोंमें समान रहती है। इस भावमें योगीयोंकी मृत्यु किस प्रकारसे होगी? योगी योग बलसे देहत्याग करेगा या रोग बलसे? अपनी इच्छासे त्याग करेगा या मृत्यूकी इच्छासे! योगीके देह त्यागते समय प्राण ब्रह्मरन्ध्रसे जायेगा या अन्य मार्गसे! योगी लोगों का आयुष्य कितना है! आदि ये सारी बातें देखना है। जिन योगी लोगोंने अपनी इच्छासे देह छोड़ दिया हैं उनके नाम—स्वामी रामतीर्थ आपने जल समाधी ली, योगीश्वर पव्हरीबाबाने इच्छासे अग्निकाष्ठ भक्षण किया, मेरे गुरुदेव ब्रह्मीभूत ब्रह्मचैतन्य गोंदावलेकर महाराज, श्रीमत् ब्रह्मीभूत योगीश्वर विद्यानन्द सरस्वती महाराज बेलापूरकर, (नगरजिला) ब्रह्मीभूत टेंबे स्वामी आदि योगीश्वरोंने अपनी इच्छासे जीतेजी समाधी लेकर देह छोड़ दिया। श्रीमंत कै. नारायण महाराज केडगांवकर इनकी मृत्यु रोगबलसे हुई। योगीकी कुंडली अर्थात् जन्मपत्री देखकर उनकी आयुर्मर्यादा बतलाना सामान्य ज्योतिषियोंकी शक्तिके और ज्योतिष शास्त्र के बाहर है। क्योंकि पूर्णावस्थाको पहुँचे हुए योगी पुरुष योगबलसे अपनी आयुर्मर्यादा बढ़ा सकते हैं। कारण योगी अपने योगबलसे अपना प्राण ब्रह्मांडमें रखकर मृत्युको धोका देते हैं; मतलब यह है कि मृत्यु इनके स्वाधीन है।

योगिओंको चाहिए कि वह अपने रहनेके लिए आश्रम कुटी, या मठ नहीं बांधना चाहिए। जिस प्रकार बिच्छु घरके कोनेमें रहता है वैसेही योगी

जंगलमें निसर्ग निर्मित फा या गिरिकन्दरमें रहना चाहिये। किंतु हठयोग प्रदीपिकामें मठ बांधनेके लिये मछिन्द्रनाथने अनुज्ञा दी है। निम्न श्लोक देखिए, मठ लक्षण—सुराज्ये धार्मिके देशे सुभिक्षे निरुपद्रवे। धनुःप्रमाणपर्यंतं शिलाग्निजलवर्जिते। एकान्ते मठिकामध्ये स्थातव्यं हठयोगिनः॥ अल्पद्वारमरन्ध्र गर्त्त विवरं नात्युच्च नीचायतं॥ सम्यक् गोमय सांद्रलिप्त ममलं निशेष जन्तुज्झितम्। बाह्य मण्डपकूपवेदि रुचिरं प्राकार संवेष्टितं। प्रोक्तं योग मठस्यलक्षणमिदं सिद्धैर्हठाभ्यासिभिः॥ एवं विधे मठेस्थित्वा सर्वचिन्ता विवर्जितः। गुरुपादिष्ट मार्गेण योगमेव समभ्यसेत। भगवत् गीताके ६ वें अध्यायमें भगवान कहते हैं "शुचौदेशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः। नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिन कुशोत्तरम्॥ इस प्रकारसे मठके लक्षण कहे गये हैं। यह सब किस लिए? मेरी रायमें अपना अभ्यास पूरा करनेके लिये है। योगीको मठकी जरूरत नहीं है।

इस भावमें और कई बातें देखना है। क्रियायोग, हठयोग, कूहू-नाड़ी, शंखिनी नाड़ी, जलबस्ती, महामुद्रा, सिद्धासन, मूलबंध, अश्विनी-मुद्रा, शक्तिचालन मुद्रा, शवासन, भुजंगासन और परकायाप्रवेश क्रिया आदि विषयों पर विचार करना है।

गर्भके आठवे माह पर लग्न स्वामीका प्रभाव रहता है। इस माहमें गर्भको पूर्व जन्मका स्मरण होता है।

इस भाव पर भगवान शंकरजीका अमल है।

बंगालके एक सच्चे शाक्त उपासक नेताजी

महान क्रान्तिकारी स्वर्गीय मौलाना मोहम्मद बरकत उल्लाहकी मौत हो गई किन्तु उनकी आजादीकी भावना अमर है और वह सदा अमर रहेगी। सभी क्रान्तियोंका अन्तर्राष्ट्रीय रूप होता है। कोई

प्रमाणत्वात् । एवं च वदता मयैतद्योगबलेन विदितमिति मूर्खे प्रमाणमावेदितं भवति ॥ १०१ ॥ १०२ ॥ १०३ ॥

किं च—

रसस्य नव विज्ञेया जलस्याञ्जलयो दश ॥
सप्तैव तु पुरीषस्य रक्तस्याष्टौ प्रकीर्तिताः ॥ १०४ ॥
षट् श्लेष्मा पञ्च पित्तं च चत्वारो मूत्रमेव च ॥
वसा त्रयो द्वौ तु मेदो मज्जैकोऽर्धं तु मस्तके ॥१०५॥
श्लेष्मौजसस्तावदेव रेतसस्तावदेव च ॥

भुक्तस्यान्नस्य साररूपः परिणामो रसस्तस्याञ्जलयो नव विज्ञेयाः । शरीरारम्भ[क]पार्थिवद्रव्यानुग्राहकस्य जलस्य दश । पुरीषस्य सप्त । अष्टौ रक्तस्य । श्लेष्मणः षट् । पित्तस्य पञ्च । मूत्रस्य चत्वारः । वसायाः शरीरस्नेहस्य त्रयः । मेदसो मांसाभ्यन्तरवर्तिनो धातुविशेषस्य द्वौ । अस्थिमध्यस्थधातुविशेषस्य मज्जासंज्ञकस्यैकः । अर्धाञ्जलिर्मस्तके । श्लेष्मण ओजसस्तावदेवाञ्जल्यर्धमेव । हृदयवर्ती जीवनहेतुर्द्रव्यविशेष ओजः । रेतसोऽप्यञ्जल्यर्धमेव ॥ १०४ ॥ १०५ ॥

कृतस्य शरीरनिरूपणस्य प्रयोजनमाह—

इत्येतदस्थिरं वर्ष्म यस्य मोक्षाय कृत्यसौ ॥ १०६ ॥

एवमेतद्वर्ष्म शरीरमस्थिरं यस्य पुरुषविशेषस्य मोक्षाय संपद्यते स कृती पण्डितः । अस्थिरेणापि शरीरेण मोक्षः साध्यत इति तात्पर्यार्थः ॥ १०६ ॥

एवं नित्यात्मनः शरीरस्य विवेकार्थ[3]मनित्यत्वमुक्तम् । अधुनोक्तायां परमात्माभिन्नक्षेत्रज्ञोपासनायामसमर्थं प्रति प्रकारान्तरेणाऽऽत्मोपासनामाह—

द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयादभिनिःसृताः ॥
+हिता नाम हि ता नाड्यस्तासां मध्ये शशिप्रभम् ॥१०७॥
मण्डलं तस्य मध्यस्थ आत्मा दीप इवाचलः ॥
स ज्ञेयस्तं विदित्वेह पुनराजायते न तु ॥ १०८ ॥

+ मिताक्षरायां त्वन्यः पाठ उपलभ्यते स यथा—"हिताहिता नाम नाड्य." इति ।

---

१ घ. मूर्खे । २ घ. छ मेदो म । ३ घ. छ 'कार्थं नि' । ४ घ. छ. नामा हि ।

या हृदयकमलप्रदेशादभिनिःसृता ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्प्रवृत्तास्ता हितासंज्ञिता द्वासप्ततिसहस्रसंख्याका नाड्यः । हि प्रसिद्धौ । तासां नाडीनां मध्ये हृदयाकाशे शशिप्रभं चन्द्रतुल्यमण्डलं तस्य मध्य आत्मा निश्चलो दीप इव स्थितो यः स ज्ञेयः साक्षात्कार्यः । दीप इवेति वदतोऽयमभिप्रायः—यथा दीपो दीपान्तरमन्तरेणैव स्वयं प्रकाशते प्रकाशयति च चक्षुर्विषयमेवमात्माऽपि सर्वस्य प्रकाशकः प्रकाशकान्तरमन्तरेण स्वयं प्रकाशते प्रकाशयति च सकलवस्तुजातमिति । एतमात्मानं विदित्वा साक्षात्कृत्येह संसारे पुनर्न जायते । आत्यन्तिकः शरीरच्छेदो भवतीत्यर्थः ॥ १०७ ॥ १०८ ॥

अपवर्गहेतुतयोक्तं परमात्मज्ञानं प्रत्युपायमाह—

ज्ञेयं चाऽऽरण्यकमहं यदादित्यादवाप्तवान् ॥
योगशास्त्रं च मत्प्रोक्तं ज्ञेयं योगमभीप्सता ॥ १०९ ॥

यदादित्यादारण्यकमधीतवान्, यच्च मया योगशास्त्रं प्रणीतम्, तदुभयं योगं प्राप्तुकामेनार्थतो ज्ञेयम् । प्रदर्शनार्थं चैतत् । तेनान्यान्यप्युपनिषद्योगशास्त्राणि ज्ञेयान्येव । अरण्याध्येयं ब्रह्माऽऽरण्यकं, जीवपरमात्मनोरभेदविज्ञानं विषयान्तरासंभिन्नं योगः । तथा च विष्णुपुराणम्—

"आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः ।
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते" ॥

देवलः—"विषयेभ्यो निवर्त्याभिप्रेतेऽर्थे मनसोऽवस्थापनं योगः" ।

दक्षः—"वृत्तिहीनं मनः कृत्वा क्षेत्रज्ञः परमात्मनि ।
एकीकृत्य विमुच्येत योगोऽयं मुख्य उच्यते" ॥

उक्तं योगशास्त्रं मत्प्रोक्तमित्यस्योपलक्षकत्वं, तत्र यान्युपलक्षणीयानि तानि कानिचित्क्ले(ले)शतो निर्दिश्यन्ते । तत्र देवलः—

"अथातो धर्मवर्जितत्वान्न तिर्यग्योन्यां पुरुषार्थोपदेशः ।
देवमानुषयोर्द्विविधः पुरुषार्थः—अभ्युदयो निःश्रेयसमिति ।
तयोरभ्युदयः पूर्वोक्तः । द्विविधं निःश्रेयसम्—सांख्ययोगाविति । पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं सांख्यम् । विषयेभ्यो निवर्त्याभिप्रेतेऽर्थे मनसोऽवस्था[प]नं योगः । उभयत्रापव-

---

१ क. °न्तरं विनैव स्वयं प्रकाशते प्रकाशयति च सकलं वस्तुजातं तथाऽयमात्मेति । ए° । २ घ. छ. °ज्ञानवि° । ३ घ. ■ °भिन्नयो° । ४ घ. छ. °त्नमापे° ।

र्ग(र्गः)फलम् । जन्ममरणदुःखयोरत्यन्ताभावोऽपवर्गः । एतौ सांख्ययोगौ चाधिकृत्य यैर्युक्तितः समयतश्च पूर्वप्रणीतानि विशालानि गम्भीराणि तन्त्राणीह संक्षिप्योद्देशतो वक्ष्यन्ते । तत्र सांख्यानामेका मूलप्रकृतिः । सप्त प्रकृतिविकृतयः । पञ्च तन्मात्राणि । षोडश विकाराः । पञ्च पञ्चेन्द्रियाणि । अर्थाच्च(श्च) पञ्चभूतविशेषाः । त्रयोदश करणानि । त्रीण्यन्तःकरणानि । चतस्रश्चतस्रो मातृजाः पितृजाश्च कोशाः । पञ्च वायुविशेषाः । त्रयो गुणाः । त्रिविधो बन्धः । त्रयो बन्धहेतवः । द्वौ बन्धरागौ । त्रीणि प्रमाणानि । त्रिविधं दुःखम् । चतुर्विधः प्रत्यय[1]वर्गः । तथा द्विविधः सर्गः । तथा विपर्ययः पञ्चविधः । अशक्तिरष्टाविंशतिविधा । तुष्टिर्नवविधा । सिद्धिरष्टविधेति प्रत्ययभेदाः पञ्चाशत् ।

अस्तित्वमेकत्वमथार्थवत्त्वं परार्थमन्यत्वमथो* निवृत्तिः ।
योगो वियोगो बहवः पुमांसः स्थितिः शरीरस्य +च शेषवृत्तिः ॥

इति दश मूलिकार्थाः । अथ मूलप्रकृतिरव्यक्तमहानहंकारः पञ्च तन्मात्राणीति प्रकृतिविकृतयः । शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रसतन्मात्रं रूपतन्मात्रं गन्धतन्मात्रमिति तन्मात्राणि । द्विविधानीन्द्रियाणि । भूतविशेषाश्च विकाराः । चक्षुःश्रोत्रघ्राणजिह्वात्वचो बुद्धीन्द्रियाणि । रूपशब्दगन्धरसस्पर्शास्तेषामर्थाः । वाक्पाणिपादपायूपस्थाः कर्मेन्द्रियाणि । भाषणं क्रिया गमनमुत्सर्ग आनन्द एषां कर्माणि । वाय्वग्न्यब्वाकाशपृथिव्यो भूतविशेषाः । दशेन्द्रियाणि बुद्ध्यहंकारमनांसि च करणानि । तेषु मनोबुद्ध्यहंकाराश्चान्तःकरणानि । दश बहिष्करणानीन्द्रियाणि च गुणसाम्यलक्षणमव्यक्तं प्रधानं प्रकृतिर्विधानमित्यनर्थान्तरम् । अध्यवसायलक्षणो

* तत्वसमासग्रन्थे परार्थमन्यत्वमकर्तृता चेत्युपलभ्यते पाठः । + तत्वसमासग्रन्थे विशेषवृत्तिरिति पाठस्तद्व्याख्याऽपि तत्रोपलभ्यते ।

[1] क. °यसर्गः । त°।

महान्बुद्धिर्मतिरुपलब्धिरित्यनर्थान्तरम् । अभिमान-
लक्षणोऽहंकारो वैकारिकोऽभिमान इत्यनर्थान्तरम् । ने
पूर्वपूर्विका प्रकृतिः । प्रकृतेर्महानुत्पद्यते, ततोऽहंकारः ।
अहंकारात्तन्मात्राणीन्द्रियाणि च, तन्मात्रेभ्यो विशेषा
इत्युत्पत्तिक्रमः । यो यस्मादुत्पद्यते स तस्मिँल्ली-
यत इति वाऽप्ययं(य)क्रमः " ।

यमः—" मनो बुद्धिरहंकारः खानिलाग्निजलानि भूः ।
एताः प्रकृतयस्त्वष्टौ विकाराः षोडशापरे ॥
श्रोत्राक्षिरसनघ्राणत्वचः संकल्प एव च ।
शब्दरूपरसस्पर्शगन्धवाक्पाणिपायवः ॥
पादावुपस्थ इति ते विकाराः षोडश स्मृताः ।
चतुर्विंशकमित्येतज्ज्ञानमाहुर्मनीषिणः ॥
पञ्चविंशकमव्यक्तं षड्विंशः पुरुषोत्तमः ।
एतज्ज्ञात्वा तु मुच्यन्ते यतयः शान्तबुद्धयः ॥
पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र यत्राऽऽश्रमे रतः ।
प्रकृतिज्ञो विकारज्ञो याति विष्णोः परं पदम् " इति ॥१०९॥

यध्ध्येयमुक्तं तत्प्रयोगकथनायाऽऽह—

अनन्यविषयं कृत्वा मनोबुद्धिस्मृतीन्द्रियम् ॥
ध्येय आत्मा स्थितो योऽसौ हृदये दीपवत्प्रभुः ॥११०॥

अन्तःकरणसामग्र्यैकत्र स्पष्टीकृतः संकल्पादिदर्शनात्सर्वव्यापित्वे सत्यपि । यथा वह्निः सकलकाष्ठव्यापित्वे सति यत्रैव मथनादिसामग्री भवति, तत्र स्पष्ट उपलभ्यते । ध्येयोऽसावात्मा पूर्वोक्तफलसिद्ध्यर्थम् । कथम् । अनन्यविषयं कृत्वा । किं, मनोबुद्धिस्मृतीन्द्रियं, विषयान्तरत्वनिषेधेनाऽऽत्मविषयत्वप्रतिप- त्त्यर्थमनन्यविषयग्रहणम् । अन्यथाऽऽत्मनो विषयत्वनिषेधेन तद्ध्यानानुपपत्तिः । नहि निर्विषयं मनः प्रवर्तते नापि बुद्धिस्मृती, स्मृतेरनुभूतविषयत्वात् । न चेन्द्रियस्याविषयत्वे संवेदनम् । तस्मान्नैवाऽऽत्मनि विषयता निषिध्यते । तेन यदपि पा(प)तञ्जलिनोक्तम्—" योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः " इति, तदप्यनेनैवाभि- प्रायेणेतरथाऽपि चित्तवृत्तेरभाव इत्यभिलषितासिद्धिः समुच्छिन्नाकारत्वात् ।

---

१ क. न सर्वपूर्वे । २ क. °रनि° । ३ क. °त्मवि° ।

अत एव " तदा द्रष्टुः स्वरूपेणावस्थानम् " इति तेनैवोक्तम् । अमुनैवाभिप्रायेण गीतासूक्तम्—

" शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् " इति ॥

तेषां चेन्द्रियाणां बहिर्विषयावभाससंकोचनानन्यविषयत्वं यदैव कृतं तदैवाभ्यन्तरविषयप्रवणता भवति । यथा यदा प्रदीपस्य रश्मयो बहिर्मुखा भवन्ति तदा घटादेः प्रकाशं कुर्वन्ति । यदा पुनः शरावसंपुटनिरुद्धप्रसरास्तदाऽऽत्मन्येव व्यवस्थानं कुर्वन्ति । एवमेवान्धकारे व्यवस्थितस्यैकाकिनो बहिर्मुखावभासनिरोधेन स्वचैतन्यमात्रेऽवस्थानम् । अत एवाऽऽरण्यके " शान्तायां वाचि किंज्योतिः " इति प्रश्ने कृते "आत्मज्योतिः" इत्येतदुत्तरम् । एवमेतदात्मज्ञानं यद्विषयतिरस्कारेणाऽऽत्मचैतन्यव्यवस्थानादन्त्यस्य चिन्मात्ररूपत्वात् । अत एव "तदिदमनल्पमह्रस्वमदीर्घमरसमगन्धमरूपमस्पर्शम्" इत्याद्यारण्यकेऽभिहितम् । ननु सर्व एव स्वं चैतन्यं समनुभवत्यहं पश्यामीत्युपदेशानर्थक्यं, सत्यं, यद्येतावन्मात्रं ज्ञेयं यावता विषयान्तरशून्यस्वचैतन्यावस्था निष्प्रकम्पा यावदिच्छ(ष्ट)कर्तृकरणकारकशून्या कार्या । अत एव—

" यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता "

इति । अतश्च प्राणायामध्यानप्रत्याहारधारणातर्कसमाधिभिः क्रियते । तत्रोक्तलक्षणैः प्राणायामैरिन्द्रियाणां दोषा निराक्रियन्ते । यथा—

" दह्यन्ते ध्या(ध्मा)यमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् " इति ॥

ततो ध्यानमात्मानुस्मरणं, ततो मनसश्चञ्चलत्वाद्विषयं विषयं प्रति प्रवृत्तस्याऽऽहरणं प्रत्याहारः । गीतास्वपि—

" यतो यतो निःसरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतच्छनकैर्वशमानयेत् " इति ॥

एतच्च मनसो दुर्ग्रहत्वादिन्द्रियमूलत्वाच्चोच्यते—

" चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरपि सुदुष्करम् " इति ॥

पुनः पुनराहृत्याऽऽत्मनि धार्यत इति धारणा । एते च पृथक्फलाः ।

---

१ घ. छ. °स्थानं त्वस्य । २ क. यद्येता° ।

यथा—"प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्बिषम् ।
प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान्गुणान् " इति ॥

अनीश्वरा गुणा रागद्वेषादयः । ततो मनोबुद्धिपरित्यागेनाऽऽत्मनि विमर्शस्तर्कः ।

"यदाऽऽत्मव्यतिरिक्तेन द्वितीयं नैव पश्यति ।
ब्रह्मभूतस्तदा शान्तः सुखमत्यन्तमश्नुते " इति ॥

ततः सकलविदितवेद्यस्याऽऽत्मनः सम्यगाधानमप्रकम्पतया समाधिरुच्यते । अत एव—

"प्राणायामस्तथा ध्यानं प्रत्याहारोऽथ धारणा ।
तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते "

इति स्मर्यते ॥ ११० ॥

यस्य पुनरस्मिन्सवितर्के समाधौ निरालम्बनतया बहिर्मुखावभासतिरस्कारेण चित्तवृत्तिर्नाभिरमते तस्य शब्दब्रह्मोपासनेन ब्रह्मज्ञानाभ्यासात्परब्रह्माधिगमोपायमाह—

*यथावधानेन पठन्साम गायत्यविस्वरम् ॥
सावधानस्तथाऽभ्यासात्परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ १११॥

अवधानेनैकाग्रचित्ततया साम पठन्नधीयानोऽविस्वरमविरुद्धस्वरं यथा गायति तथा सावधानो ब्रह्मज्ञानमभ्यस्यन्परं ब्रह्म परमात्मानमधिगच्छति वेत्ति ॥ १११ ॥

ब्रह्मज्ञाना[३]भ्यासोपायविशेषमाह—

अपरा[४]न्तिकमुल्लोप्यं मद्रकं प्रकरीं तथा[५] ॥
वैणुकं सराबिन्दमुत्तरं गीतकानि तु ॥ ११२ ॥
ऋग्[६]गाथाः पाणिका दक्षविहिता ब्रह्मगीति[७]काः ॥
गायन्नेतत्तदभ्या[८]सकारणान्मोक्षसंज्ञितम् ॥ ११३ ॥

---

* एतदर्थस्थानेऽयं पाठो ङ. पुस्तके—"यथाविधानेन पठन्सामगायमविच्युतम् " इति ॥

---

१ घ. छ. °ल्बिषान् । प्र° । २ क °वेदस्याऽऽ° । ३ क. °भ्यासे विशेषोपायमा° । ४ घ. ङ. छ. °रान्तक° । ५ ङ. °था । औवैणकं सरोबिदुमु° । ६ क. °ग्गाथाऽपणि° । ७ ङ. °तिका । गेयमेत° । ८ ङ. °सकर° ।

अपरान्तिकादयो भारतशास्त्रोक्ता गीतप्रकारविशेषा ब्रह्मज्ञानाभ्यासहेतोर्गेयाः[1] । एतेषु गीयमानेषु नादस्य यत उदयो यत्र च लयस्तदवगन्तव्यम् । तदेव ब्रह्म । ततश्च तज्ज्ञानाभ्यासाय ते गेया इति युज्यते वक्तुम् ॥ ११२ ॥ ११३ ॥

अपि च—

वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः ॥
तालज्ञश्चाप्रयत्नेन[3] मोक्षमार्गं निगच्छति ॥ ११४ ॥

वीणा वाद्यविशेषः । तद्वादनतत्त्वज्ञो[4] भारतशास्त्रोक्तेन मार्गेण तालं तत्त्वतो यो वेत्ति, *तथा श्रुतिषु गीतशास्त्रोक्तस्वरूपासु जातिषु तच्छास्त्रोक्तास्वेव विशारदः प्रवीणः । तथा गन्धर्ववेदोक्तमार्गेण तालं तत्त्वतो यो वेत्ति सोऽनायासेन मोक्षमार्गं मोक्षोपायभूतं मनस ऐकाग्र्यं ब्रह्मज्ञानहेतुं निगच्छति ॥ ११४ ॥

यस्तु वीणादिनादानां यत उदयो यत्र च लयस्त[त्त्व]ान्तरेभ्यो विविक्ततया न सम्यग्वेत्ति तं प्रत्याह—

गीतज्ञो यदि गीतेन[5] नाऽऽप्नोति परमं पदम् ॥
रुद्रस्यानुचरो भूत्वा तेनैव सह मोदते ॥ ११५ ॥

यदि दैवापादितमनोविक्षेपवशेन गीतज्ञो गीतं कुर्वाणोऽपि परं पदं नाऽऽसादयति तदा रुद्रस्य परमेश्वरस्यानुचरोऽनुवर्ती भूत्वा तेनैव रुद्रेणैव सार्धं मोदते हृष्यति ॥ ११५ ॥

मुनीनां प्रश्नमाह—

अनादिरात्मा कथितस्तस्याऽऽदिस्तु शरीरकम् ॥
आत्मनश्च जगत्सर्वं जगतश्चाऽऽत्मसंभवः ॥ ११६ ॥
कथमेतद्विमुह्यामः सदेवासुरमानवम् ॥
जगदुद्भूतमात्मा च कथं तस्मिन्वदस्व नः ॥ ११७ ॥

हे भगवन्याज्ञवल्क्य त्वयाऽऽत्माऽनादिः प्रागभावरहितः कथितः । तस्याऽऽदिव्यवहारः शरीरस्याऽऽदिमत्त्वेनेति[6] चोक्तम्—

---

* इत आरभ्य वेत्तीत्यन्तं न विद्यते घ. छ. पुस्तकयोः ।

---

1 घ. छ. °तोर्ज्ञेयाः । 2 घ. छ. ज्ञेयाः । 3 ङ. °प्रयासेन मोक्षमार्गं निगच्छ° । 4 घ. छ. °ज्ञो भर° । 5 ङ. योगेन । 6 घ. छ. °दिमत्त्वेने° ।

" अजः शरीरग्रहणात्स जात इति कीर्त्यते "

इत्यत्र। तथाऽऽत्मनश्च सकलं जगदुत्पद्यत इति त्वयैवोक्तं " सर्गादौ स यथाकाम(श)म् " इत्यत्र। तथा जगतः सकाशादात्मनः शरीरवतः संभवो जन्मेति ब्रवीषि, तदेतद्भगवतो वचनं परस्परं व्याहतमिति विमुह्यामः। भवांस्तावदाप्ततरोऽतो भवद्वचनं न व्याहतं भवितुमर्हति, व्याघातं च पश्यामोऽतो विमुह्यामः। व्याघातमेव स्पष्टयति—सदेवासुरमानवं जगदात्मन उद्भूतं चेदात्मा शरीरग्रहणनिरपेक्ष एव स्वकार्यं करोति, ततश्च तस्मिन्कथमाकाशादौ कारणीभूते सत्यात्मनः संभवः शरीरग्रहणं शरीरनिरपेक्षस्यैवाऽऽत्मनो जगत्सृष्ट्यादिकार्यकारत्वाच्छरीरग्रहणमनर्थकं स्यात्। अथ तद्ग्रहणस्यार्थवत्त्वाय शरीरवानेव कार्यकारी, कथं तर्हि सर्गादावशरीर एवाऽऽत्माऽऽकाशादि सृजति, इत्येतन्मोहनिवृत्तयेऽस्मान्प्रति ब्रूहि ॥ ११६ ॥ ११७ ॥

अत्रोत्तरमाह[3]—

मोहजालमपास्येह पुरुषो दृश्यते हि यः ॥
सहस्रकरपन्नेत्रः सूर्यवर्चाः सहस्रकः ॥ ११८ ॥
स आत्मा चैव यज्ञश्च विश्वरूपः प्रजापतिः ॥

मोहजालं नानाप्रकारं मिथ्याज्ञानं सत्कर्माचरणवेदान्तार्थावगाहनवशादपास्य निरस्य यः पुरुषः सहस्रकरोऽपरिमितहस्त एवं सहस्रपात्, सहस्रनेत्रः, सहस्रसूर्यवर्चाः सूर्य इव ज्योतिःसहस्रकः सहस्रमूर्धा च दृश्यते विद्वद्भिः स एवाऽऽत्मा क्षेत्रज्ञो जीव इति(वो) विज्ञानात्मेति यावत्। यज्ञो धर्मश्च स एव वेदान्तैकवेद्यः परमः पुरुषो विश्वरूपो भोक्तृभोग्यभोगायतनभोगसाधनभोगरूप इति यावत्। एकस्य चानेकरूपत्वं दृष्टं यथा वृक्षस्य स्कन्धशाखाविटपादिरूपता, अतो नानुपपन्नं वैश्वरूप्यम्। स एव प्रजानां पुनरनादिरूपाणां पतिः स्वामी। अत्र चामूर्तस्य निरवयवस्य परमात्मनोऽसंख्यकरादियोगः सर्वत्र सर्वदा च करादिकार्यकारणशक्तिमत्त्वादुपचारेणोच्यते। ततश्च सर्वविषयाचिन्तनीयशक्तेः परमात्मनोऽशरीरस्यापि व्योमादिविश्वस्रष्टृत्वं नानुपपन्नमित्युक्तं भवति। विश्वरूपत्वाभिधानेन च जगदुपादानकारणं च परमात्मैवेति बोधयति। यथा घटकरशरावोदञ्चनादिरूपा मृत्तिका तदुपादानकारणमेवं जगद्रूप आत्मा

१ क. व्याहतं। २ क. °र्यकर°। ३ क. °ह श्रीयाज्ञवल्क्य इत्यादिना। मो। ४ घ. छ. °रपाने°। ५ घ. छ. °दार्था°। ६ क. °र्यकर°। ७ क. °था-करघटशरावादिरूपमृ°।

तदुपादानकारणम् । विश्वशब्देनैव यज्ञस्यापि ग्रहणे सिद्धे पृथगुपादानं प्राधान्यख्यापनार्थम् । एवं च परमात्मा शरीरानपेक्ष एवं स्वकार्यकारीत्युक्तम् । ततश्चार्थाच्छरीरसापेक्षता क्षेत्रज्ञस्येत्यापद्यते । ततश्च सापेक्षत्वानपेक्षत्वयोरविरोधः ॥ ११८ ॥

औपाधिकश्च तस्य परमात्मनो भेदोऽस्तीत्युक्तमेव परमात्मनो महासृष्टिहेतुत्वं सर्वशक्तित्वेनोपपाद्यावान्तरसृष्टौ तद्धेतुत्वमुपपादयन्निदानीमाह—

विराट्[3] च सोऽन्नरूपेण यज्ञत्वमुपगच्छति ॥ ११९ ॥
यो द्रव्यदेवतात्यागात्[4]संभूतो रस उत्तमः ॥
देवान्संतर्प्य *स रसो यजमानं फलेन च ॥ १२० ॥
संयोज्य वायुना सोमं[5] नीयते रश्मिभिस्ततः ॥
ऋग्यजुःसामविहितं सौरं धामोपनीयते[6] ॥ १२१ ॥
तन्मण्डलमसौ सूर्यः सृजत्यमृतमुत्तमम् ॥
यज्जन्म सर्वभूतानामशनानशनात्मनाम् ॥ १२२ ॥
तस्मादन्नात्पुनर्यज्ञः पुनरन्नं पुनः क्रतुः ॥
एवमेतदनाद्यन्तं चक्रं संपरिवर्तते ॥ १२३ ॥

विविधं विशेषेण वा राजत इति विराट्सूर्यः स एव पूर्वोक्तः[7] परमात्मैव स आदित्योऽन्नरूपेण यज्ञो भवति । तदेव मपञ्चयितुमुक्तं योद्रव्यदेवतेत्यादि । द्रव्यस्य च पुरोडाशादेर्हविषस्त्याज्यस्य देवताया उद्देशकारकस्याग्न्यादेर्यः संबन्धी त्यागो यज्ञस्तस्मात्संभूत उत्तमो रसः पुण्यधर्मादिपर्यायो देवानमृतेन प्रीणयित्वा यजमानं च स्वर्गादिना फलेन संयोज्य स धर्मो रसोऽमृतं भवति, सोऽमृतात्मा रसो वायुना सोममण्डलं नीयते । ततः सोममण्डलाद्रश्मिभिः सौरं धाम सूर्यस्थानमृग्यजुःसामात्मकतया विहितं वेदैः सैषा त्रय्येव विद्या तपतीत्यादिभिरवबोधितमुपनीयते । यत्तु त्रयीमयत्वेन विहितं[8] तत्सूर्यस्य

* तपस इत्यपि पाठो घ. छ. पुस्तकयोः ।

१ घ. छ. °थक्त्वस्योपा° । २ घ. छ. °व स्वाकार्य° । ३ ङ. °राजः सो° । ४ ङ. °त्याग. भू° । ५ घ. छ. सोमो नी° । ६ ङ. °ते । स्वमण्डलादसौ । ७ क. °र्वोक्तप्रकारेण प° । ८ घ. छ. °यत्वेन वि° ।

मण्डलं वेदितव्यम् । सर्वभूतानामशनानशनात्मनां चराचराणां स्थिराणां जन्मबीजमसौ सूर्यो मण्डलान्तर्वर्ती पुरुषोऽन्नरूपं रसं विसृजति । तस्माद- न्नाच्च पुरोडाशादिरूपात्स्यज्यमानात्पुनर्यज्ञोदयः । ततश्च यज्ञादुक्तेन क्रमेण पुनरन्नसंभवः । ततश्च क्रतुर्भवति । एवमाद्यन्तरहितमेतदुक्तं वस्तुजातं पर- स्परं हेतुहेतुस(म)द्भावेन व्यवस्थितं चक्रवत्परिवर्तते भ्राम्यति व्यवतिष्ठत इत्यर्थः । तथाऽऽह भगवान्गीतासु—

" अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति " ॥

यज्ञोऽपूर्वं, ब्रह्म वेदः । अक्षरं परमात्मा ।

मनुः—" अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः " ॥ ११९ ॥
॥ १२० ॥ १२१ ॥ १२२ ॥ १२३ ॥

यदि कार्यकारणभावव्यवस्थितं संसारचक्रं, न तर्ह्यात्मनः कैवल्यरूपो मोक्षः संभवतीत्यत्राऽऽह—

अनादिरात्मा संभूतिर्विद्यते नान्तरात्मनः ॥
समवायी तु पुरुषो मोहेच्छाद्वेषकर्मजः ॥ १२४ ॥

सत्यं यद्यादिमानात्मा स्यात्तदा विनाश्यपि स्यात्ततश्च विनाशे मोक्षल- क्षणोऽस्य धर्मो न स्यात् । किं त्वनादिरनुत्पत्तिरात्मा, न ह्यस्यान्तरात्मनः संभूतिः कारणमस्ति । न च नित्यस्यापि पूर्वोक्तचक्रेण स्वाभाविकसमवाययो- गित्वादनिर्मोक्षो वाच्यः । यतोऽयं पुरुषोऽन्तरात्मा यज्ञादिचक्रस्य समवायी संबन्धी मोहेच्छाद्वेषसंभवात्कर्मतो जायते न स्वतः । ते च मोहादयश्चक्रसम- वायोपाधयो विद्यातपोभ्यासातिशयाद्वैराग्याच्च निवर्तन्ते, तन्निबन्धनानि च कर्माणि ॥ १२४ ॥

---

१ घ. छ. सूर्यम° । २ घ. छ. 'पात्याज्य° । ३ घ. छ. °क्तं जा' । ४ घ. छ. °रणभा° । ५ घ. छ. 'मेणः । स' । ६ क. घ. किं तु नाऽऽदि° ।

महासृष्टिकर्तृत्वे परमात्मनः प्रकारविशेषमाह—

सहस्रात्मा मया यो व आदिदेव उदाहृतः ॥
मुखबाहूरुपज्जाः स्युस्तस्य वर्णा यथाक्रमम् ॥१२५॥
पृथिवी पादतस्तस्य शिरसो द्यौरजायत ॥
नस्तः प्राणा दिशः श्रोत्रात्स्पर्शाद्वायुर्मुखाच्छिखी॥१२६॥
मनसश्चन्द्रमा जातश्चक्षुषश्च दिवाकरः ॥
जघनादन्तरिक्षं च जगच्च सचराचरम् ॥ १२७ ॥

"सहस्रकरपन्नेत्रः सूर्यवर्चाः सहस्रकः" इत्यत्र यो मया युष्माकमादिदेवो जगत्कारणभूतो देव उदाहृत उक्तः, तस्य मुखबाहूरुपादेभ्यो यथासंख्यं ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रा जाताः । तथाऽस्य पादतो भूः शिरसश्च द्यौरजायत । नस्तो नासिकातः प्राणा जाताः । श्रोत्राद्दिशः । त्वचो वायुः । मुखादग्निः । मनसश्चन्द्रः । चक्षुषो रविर्जातः । जघनान्नाभितोऽन्तरिक्षं जङ्गमं स्थावरं जगज्जातम् ॥ १२५ ॥ १२६ ॥ १२७ ॥

मुनयोऽत्राऽऽक्षेपमाहुः—

यद्येवं स कथं ब्रह्मन्पापयोनिषु जायते ॥
ईश्वरः स कथं भावैरनिष्टैः संप्रयुज्यते ॥ १२८ ॥
करणैरन्वितस्यापि पूर्वज्ञानं कथं च न ॥
वेत्ति सर्वगतां कस्मात्सर्वगोऽपि न वेदनाम् ॥१२९॥

यद्यात्मैवमुक्तप्रकारेण विश्वसृष्टिहेतुरतश्च सर्वज्ञः सर्वशक्तिः सर्वेश्वरः कथं तर्हि ब्रह्मन्याज्ञवल्क्य परमात्मा पापयोनिषु श्वसूकरादिषु जायते कुत्सित-शरीरं परिगृह्णातीति यावत् । तथेश्वरः स्वतन्त्रोऽपि सन्कथमनिष्टैर्मूकान्धबधि-रत्वादिभिर्भावैः संबध्यते । तथा करणैः षड्भिरिन्द्रियैर्ज्ञानकारणैर्युक्तस्यापि पूर्वजन्मानुभूतार्थविषयचक्षुरादिभिः प्रत्यभिज्ञानं मनसा च स्मरणं कथं न भवति, सर्वपुरुषगतां च वेदनां दुःखं सर्वगः सर्वक्षेत्रज्ञात्माऽपि सन्कस्मान्न वेत्ति । वेदनाग्रहणमुपलक्षणार्थम् । तेन सर्वपुरुषसमवेतान्सुखादीन्भावान्कथं न वेत्तीति चोद्यार्थः ॥ १२८ ॥ १२९ ॥

---

१ ङ. °रसो द्यौ° । २ क. घ. छ. °ते । कार° ।

अत्रोत्तरमाह—

अन्त्यपक्षिस्थावरतां मनोवाक्कायकर्मजैः ॥
दोषैः प्रयाति जीवोऽयं भवंयोनिशतेषु च ॥ १३० ॥

नैवेश्वरो निरुपाधिः सन्प्रातिस्विकेनैव रूपेणान्त्यजादिकुत्सितदेहपरिग्रहं करोति, किं तु जीवः सन्नन्तःकरणोपहितः सन्मानसवाचिककायिकैर्निषिद्धैः कर्मभिर्ये जनिता दोषाः पापानि पूर्वाणि तैर्यथासंख्यमन्त्यजत्वं पक्षित्वं स्थावरत्वं च भवशतेषु कुत्सितयोनिशतेषु च याति । अत्र च पक्षिग्रहणं तिर्यङ्मात्रोपलक्षणार्थम् । तथा च मनुः—

" शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः ।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् " ॥

न चोपहितस्य यो धर्मे योगः स तस्य निरुपाधेर्भवितुमर्हति, यथा घटोपहितस्याऽऽकाशस्य धूलिधूमादियोगे(गो) नै महाकाशस्य जीवभावश्चानादिरनादित्वादुपाधियोगस्य ॥ १३० ॥

किं च—

अनन्ता हि यथा भावाः शरीरेषु शरीरिणाम् ॥
रूपाण्यपि तथैवेह सर्वयोनिषु देहिनाम् ॥ १३१ ॥

यथा शरीरेषु वर्तमानानां शरीरिणां जीवानामनन्ता असंख्याता भावाश्चित्तवृत्तयः कुशलाकुशलप्रवृत्तिहेतवो भवन्ति, तथा रूपाण्यपि काणकुब्जान्धबधिरत्वादीन्यशुभानि सर्वयोनिषु वर्तमानानां देहभाजां भवन्ति । अनेन चेश्वरः स कथं भावैरनिष्टैः संप्रयुज्यत इति चोद्यं परिहृतम् । अनेन च श्लोकद्वयेन सूक्ष्मशरीरोपहितस्य परमात्मनो जीवभूतस्य पापवशात्कुत्सितयोनिकुत्सितरूपप्राप्तिर्न परमात्मन इति परिहार उक्तः । अनेनैव च हेतुना भवान्तरानुभूतानां भावानामनवगमोऽनुसंधेयः । अत एव योगिनां क्षीणदोषाणां जातिस्मरत्वादिकं शास्त्रकारैरुच्यते ॥ १३१ ॥

न केवलं रूपवैचित्र्ये भाववैचित्र्यं कारणम् । शुभाशुभकर्मणां चैहिकामुष्मिकफलत्वेऽपि तदेव हेतुरित्याह—

---

१ ङ. 'वन्योनि' । २ घ. छ. 'निषु श' । ३ घ. छ. °न सह' । ४ क. °भावाश्चाना° । ५ क. घ. छ. °वंदेहेषु । ६ क. 'मव' । ७ घ. छ. °चित्र्यभा° ।

विपाकः कर्मणां प्रेत्य केषांचिदिह जायते ॥
इह चामुत्र चैकेषां भावस्तत्र प्रयोजनम् ॥ १३२ ॥

केषांचित्कर्मणां विपाकः फलं शुभमायुरादि विपरीतं च तत्क्षयादि, केषांचिन्मर्मा[1]ग्रहेण कृतानां प्रेत्य जन्मान्तरे भवति, केषांचित्पुनरत्यन्ताभिनिवेशवशात्पुनः पुनः कृतानामत्रैव जन्मनि विपाको भवति। अन्येषां तु कर्मणां प्रचुरतराग्रहसंपादितानामिह परत्र च जन्मनि फलं भवति। तत्र च[2] सर्वफलवैचित्र्ये भावश्चित्तवृत्ति[3]विशेषोपेतः प्रयोजनं प्रयोजककारणमिति यावत् ॥ १३२ ॥

यदुक्तम्—"अन्त्यपक्षिस्थावरतां मनोवाक्कायकर्मजैः।
दोषैः" इति तदेव प्रपञ्चयन्नाह—

परद्रव्याण्यभिध्यायंस्तथाऽनिष्टानि चिन्तयन् ॥
वितथाभिनिवेशी च जायतेऽन्त्यासु योनिषु॥१३३॥

परकीयानि (णि)धनान्यभिध्यायन्कथमेतानि परस्य न भवेयुर्मम च भवेयुरित्यभिचिन्तयन्नित्यर्थः। तथा यः परस्यानिष्टानि प्रतिकूलानि चिन्तयन्भवति, यद्ययमप्रजा अपशुरधनः स्यात्तथा सति सम्यग्भवतीति। तथा यो वितथाभिनिवेशी वितथे प्रमाणरहिते बौद्धचार्वाकादिसिद्धान्तादावभिनिवेश्यत्य[4]न्ताग्रही, तादृशेषु[5] प्रत्यवायवानन्त्यासु चण्डालादियोनिषु जायते। तदेतत्रिविधं मानसं पापम्। तदाह मनुः—

"परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसाऽनिष्टचिन्तनम्।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम्" ॥ १३३ ॥

वाचिकान्याह—

पुरुषोऽनृतवादी च पिशुनः पु(प)रुषस्तथा ॥
अनिबद्धप्रलापी च मृगपक्षिषु जायते ॥ १३४ ॥

योऽनृतमयथा[6]दृष्टं वदतीत्येवंशीलो यश्च पिशुनः परदोषसूचको यो वा परोद्वेगकरणशीलो योऽनिबद्धप्रलापी पुराणादिविद्यास्थानप्रसिद्धविरुद्धाभि-

---

१ क. °न्मदाग्रहे कृ°। २ क. °त्र फलवै°। ३ घ. छ. 'विशेषस्तारतम्यविशेषोपेतोः प्र°। ४ घ. छ. 'न्ताग्राही। ५ घ. छ. 'षु तथेति प्रतिवायान्। अन्त्या°। ६ क. 'थार्थंद'।

धायी पुरुषः स मृगयोनिषु पक्षियोनिषु वा दोषाभ्यासरततारतस्य (तारतम्य)-वशेन जायते तत्तनुमुपादत्ते । एतच्चतुर्विधं वाचिकं पापम् । तदाह मनुः—

" पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यमपि सर्वतः ।
अनिबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥ १३४ ॥

कायिकान्याह—

अदत्तादाननिरतः परदारोपसेवकः ॥
हिंसकश्चाविधानेन स्थावरेषूपजायते ॥ १३५ ॥

यः पुनरदत्तादाने चौर्ये निरतोऽत्यन्तसक्तः परभार्यागामी वा यथाविहितं प्राणिवधं कुर्यात्स स्थावरेष्वोषधिवनस्पतिगुच्छगुल्मादिषु जायते ।

मनुः—" अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः ।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् " ॥

एवं दशविधं मनोवाक्कायजं पापं समत्ययं साभ्यासं चाऽऽचरितं[1]पत्या-दियोनिप्राप्तिनिमित्तमुक्तमिति वेदितव्यम् । यत्तूक्तादन्यद्वाङ्मनःकायसाध्य-मप्यबुद्धिपूर्वकं कृतमनाग्रहसेवितं स्यात्तस्य फलान्तरं बोद्धव्यम् । तथा च हारीतः—

" सर्वाभक्ष्यभक्षणमभोज्यभोजनमपेयपानमयाज्ययाजनमस-त्प्रतिग्रहः परदाराभिगमनं परद्रव्यापहरणं प्राणिहिंसा चेति शारीराणि, पारुष्यमनृतं विवादः श्रुतिविक्रय-श्चेति वाच्यानि, परोपतापनपरद्रव्याभिद्रोहौ क्रोधलोभौ[3] मानोऽहंकारश्चेति मानसानि, तदेतान्यष्टादश समान-रूपाणि कर्माणि । यस्मिन्यस्मिन्वयसि यः करोति शुभाशुभानि तस्मिंस्तस्मिन्वयसि शारीरवाचिकमानसा-न्याप्नोति । एवं ह्याह—
यस्यां यस्यामवस्थायां यत्करोति शुभाशुभम् ।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत्तत्फलमवाप्नुयात् ॥
शरीरेण तु शारीरं वाङ्मयेन तु वाङ्मयम् ।
मानसं मनसा चैव स्वकर्मफलमश्नुते " ॥ १३५ ॥

उत्कृष्टयोनिप्राप्तिकारणमाह—

---

१ क. 'सता॰' । २ घ. छ. 'रिते मर्त्यादि' । ३ क. 'भौ मनोऽ॰' ।

आत्मज्ञः शौचवान्दान्तस्तपस्वी विजितेन्द्रियः ॥
धर्मकृद्वेदविद्याति सात्त्विको देवयोनिताम् ॥ १३६ ॥

आत्मज्ञ आत्मोपासको न तत्साक्षात्कारी शौचेन शमप्रकारेण चोपेतो दान्तो दमयुक्तस्तपस्वी कृच्छ्रादिकारी विजितेन्द्रियो वशीकृतेन्द्रियो धर्मरतो नित्यनैमित्तिककारी वेदार्थज्ञो यः स सात्त्विकत्वाद्देवयोनितां प्राप्नोति । उद्रिक्तसत्त्वो योगी सात्त्विकः । सत्त्वस्वरूपमाह मनुः—

" तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं किंचिदात्मनि लक्षयेत् ।
प्रभातमिव शुद्धाभं सत्त्वं तदुपधारयेत् " ॥

प्रीतिः सुखं तत्कारणं प्रीतिसंयुक्तं, शुद्धाभमनवद्यविज्ञानकारणं यत्तत्सत्त्वमित्यर्थः । तथा—

" वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धर्मक्रियाऽऽत्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम् " ॥

गुणलक्षणं गुणलिङ्गं, सात्त्विकं सत्त्वसंबन्धिवेदाभ्यासादिकं सत्त्वकार्यत्वाद्भवति सत्त्वे लिङ्गम् ।

तथा—" यत्सर्वेणेच्छति ज्ञातुं लज्जते यच्च चाऽऽचरन् ।
येन तुष्यति चाऽऽत्माऽस्य तत्सत्त्वगुणलक्षणम् " ॥

सत्त्वे ह्युद्रिक्ते पुरुषो ज्ञेयं वस्तु सर्वेण वस्तुना साधारणासाधारणधर्मयोगेना ज्ञातुमिच्छति, अतस्तादृशीच्छा भवति सत्त्वलक्षणम् ।

तथा—" तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते ।
सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रेष्ठमेतद्यथाक्रमम् " ॥

सत्त्वविपाकश्च प्रथममध्यमोत्तमभेदेन त्रिविधः । तत्र देवत्वप्राप्तिर्मध्यमस्तत्पाकः । तदाह मनुरेव—

" तापसा यतयो विप्रा ये च वैमानिका गणाः ।
नक्षत्राणि च दैत्याश्च प्रथमा सात्त्विकी गतिः ॥
यज्वान ऋषयो देवा वेदा ज्योतींषि वत्सराः ।
पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्त्विकी गतिः ॥
ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च ।
उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः " ॥ १३६ ॥

ह. °यः । कर्मकृद्वेदवित्साक्षी सा° । २ क. °र्मतो । ३ क. सत्त्वलि° । ४ क. °ति । इति [illegible]

असत्कार्यरतोऽधीर आरम्भी विषयी च यः ॥
स राजसो मनुष्येषु पुनर्जन्माधिगच्छति ॥ १३७ ॥

सत्कार्यं धर्मस्ततोऽन्यदधर्म इति यावत्। तत्र विषयेऽनन्यव्यापारेण रतः सक्तस्तन्निरतोऽधीरः शीततापादिद्वंद्वासहिष्णुः। आरम्भी काम्ययुद्धकारी, विषयसक्तो य एवंविधः स राजसः, स पुनरपि मनुष्य एव भवति। रजो-विपाकत्रैविध्यं मनुराह—

"कल्ला मल्ला नटाश्चैव पुरुषाश्च कुवृत्तयः।
द्यूतपानप्रसक्ताश्च प्रथमा राजसी गतिः ॥
राजानः क्षत्रियश्चैव राज्ञां चैव पुरोहिताः।
दानयुद्धप्रधानाश्च द्वितीया राजसी गतिः ॥
गन्धर्वा गुह्यकाश्चैव विविधा भूचराश्च ये।
तथैवाप्सरसः सर्वा राजसेपूत्तमा गतिः" ॥ १३७ ॥

अथ तामसलक्षणमाह—

निद्रालुः क्रूरकृल्लुब्धो नास्तिको याचकस्तथा ॥
प्रमादवान्भिन्नवृत्तो भवेत्तिर्यक्षु तामसः ॥ १३८ ॥

निद्रालुर्निद्राशीलः। क्रूरकृत्परदुःखकारी। लुब्धनास्तिकौ प्रसिद्धौ। याचकः सति द्रव्ये भिक्षणशीलः। प्रमादकार्य(दः कार्यो) नादरः। भिन्नवृत्तो दुराचारः स तामसः स तिर्यक्षु जायते।

मनुः—" स्थावराः कृमिकीटाश्च मत्स्याः सर्पाः सरीसृपाः।
पशवश्च शृगालाश्च जघन्या तामसी गतिः ॥
हस्तिनश्च तुरङ्गाश्च शूद्रा म्लेच्छा विगर्हिताः।
सिंहा व्याघ्रा वराहाश्च मध्यमा तामसी गतिः ॥
चारणाश्च सुपर्णाश्च पुरुषाश्चैव दाम्भिकाः।
रक्षांसि च पिशाचाश्च तामसेपूत्तमा गतिः" ॥

अत्र च कर्मतारतम्येन फलतारतम्यम् ॥ १३८ ॥

रजसा तमसा चैवं समाविष्टो भ्रमन्निह ॥
भावैरनिष्टैः संयुक्तः संसारं प्रतिपद्यते ॥ १३९ ॥

---

१ ङ. 'षु मृतो जन्मा'।

एवमुक्तप्रकारेण रजसा तमसा च समाविष्ट उपहित इह संसारे भ्रमन्ननेकयोनीः प्रतिपद्यमानोऽनिष्टैर्मूकादिभिर्भावैः संबद्धः संसारं जन्मपरम्परां प्रतिपद्यते । अनेन च—

"ईश्वरः स कथं भावैरनेकैः संप्रयुज्यते"

इत्यादि चोद्यं परिहृतम् । न हीश्वरस्य निरुपाधेर्महाकाशकल्पस्यौपाधिकानिष्टभावयोगो भवति किंतु रजःप्रमुखेनो(णो)पाधिनोपहितस्य जीवस्य न स्वाभाविकं किं त्वौपाधिकम् । न चौपाधिकानिष्टभावयोगो दूषणम् । यथाऽऽदर्शोपाधिकं मुखस्य वक्रत्वं कुरूपत्वं वा ॥ १३९ ॥

"करणैरन्वितस्यापि" इति चोद्यस्य परिहारमाह—

मलिनो हि यथाऽऽदर्शो रूपालोकस्य न क्षमः ॥
तथाऽविपक्वकरण आत्मज्ञानस्य न क्षमः ॥ १४० ॥

यद्यप्यात्मा जन्मान्तरानुभूतमर्थजातं पुरुषान्तरसमवेतं वेदनादिकं च स्वभावतो ज्ञातुं शक्तो मनःप्रभृतीनि च करणानि[1] तदवबोधसमर्थानि, तथा तान्यविपक्वानि कर्मभिः प्रतिबद्धशक्तीनि न भावान्तरानुभूतमर्थजातमुपलभन्ते । अत्र दृष्टान्तः—आदर्शस्य यथा सहजायां रूपावलोकनशक्तौ मलेन प्रतिबद्धायां न रूपालोकनक्षमोऽसौ भवति तथाऽऽत्माऽप्यपक्वकरणः । यद्यपि सर्वान्तःकरणेषु जलपात्रकल्पेषु सूर्यवदेक एवाऽऽत्माऽवभासते, ततश्चोपाध्यन्तरावच्छिन्नेऽस्मिन्सुखदुःखानुभवो जायमानोऽन्योपाध्युपहितेन तेनैव प्रतिसंधातव्य इति न्याय्यं भवति, तथाऽपि सुखदुःखयोरुपाध्यन्तरसमवेतयोरैन्द्रियकत्वं परिपक्वे चेन्द्रिये सुखादिग्रहणासंभवात्तदवच्छिन्नानुभवो न शक्यः प्रतिसंधातुमिति ॥ १४० ॥

सन्नप्यर्थः परिपाकमन्तरेण न प्रकाशत इत्यत्र दृष्टान्तमाह—

कट्वेर्वारौ यथाऽपक्वे मधुरः सन्रसोऽपि न ॥
प्राप्यते ह्यात्मनि तथा नापक्वकरणे ज्ञता ॥ १४१ ॥

अपक्वे कट्वेर्वारौ चिर्भिटविशेषे यथा सन्नपि मधुरो रसो न प्राप्यते

---

१ क. कारणानि । २ घ. छ. °न्तरभू° । ३ घ. छ. °पहते° । ४ क. °योरेन्द्रि° । ५ घ. छ. °नाम भ° । ६ क. °न्तरमा° । ७ घ. छ. °टूर्वारौ ।

नोपलभ्यते, तथैवापक्ककरणेऽन्तरात्मनि ज्ञाता व्यवहितविप्रकृष्टार्थबोद्धृता सत्यपि न प्राप्यते । कटुशब्दोऽयं न रसविशेषे वर्तते, किंतु जातिविशेषे ॥ १४१ ॥

उक्तमेवार्थं स्पष्टयितुमाह—

सर्वाश्रयां निजे देहे देही विन्दति वेदनाम् ॥
+योगयुक्तश्च सर्वासां ज्ञाता नाऽऽप्नोति वेदनाम् ॥१४२॥

देही देहविषयाहंप्रत्ययवान्सर्वाश्रयां शिरःपाणिपादादिसकलदेहावयवायत्तोदयां वेदनां सुखदुःखात्मिकां निज एव देहे विन्दत्युपलभते । यस्तु योगयुक्तः सन्सिद्धयोगे निवृत्तदेहविषयाहंप्रत्ययः सर्वासां सर्वक्षेत्रवर्तिनीनां वेदनानां ज्ञाता वेदिता भवति न चासौ सर्वपुरुषवर्तिनीं वेदनां प्राप्नोति । स्वाभाव्यत्वेन प्रतिपद्यते परः सुखादिमान्न पुनरहमिति प्रतिपद्येत इत्यर्थः ॥ १४२ ॥

ननु सर्वान्तःकरणेषु यदैक एवाऽऽत्मा भवेत्ततो योगिनः सर्ववेदनाबोद्धृतोपपद्यते, तदेवाऽऽत्मैक्यमहमिति भेदप्रत्ययेऽनुपपन्नमित्यत्राऽऽह—

आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथग्भवेत् ॥
तथाऽऽत्मैको ह्यनेकश्च जलाधारेष्विवांशुमान् ॥१४३॥

अनौपाधिकं हि नानात्वमेकेन विरुध्यते न त्वौपाधिकम् । दृश्यते ह्येकस्यापि व्योम्नो घटाद्युपाधिवशान्नानात्वं घटाकाशः कुसूलाकाश इति । यथा च भिन्नेषु जलाधारेष्वेकोऽप्यंशुमान्नानेति प्रतीयते, एवमेकोऽप्यात्माऽन्तःकरणरूपोपाधिभेदादयमहमिति नानात्वेनावभासते । ततश्च स्वाभाविकमेकत्वमौपाधिकं च नानात्वमित्यविरोधः । न त्वे(चै)कत्वप्रत्यये सति नानात्वमौपाधिकं स्यात्स एव च कुत इति वाच्यम् । आगमादहमिति प्रत्यक्षत्वाच्चैकत्वसिद्धेः । भवति हि सर्वेषां जन्तूनां ग्राह्यावभासे विलक्षणो ग्राहकोऽहमित्यवभासः ॥ १४३ ॥

ननु ग्राहको व्योमादेर्भूतधातोरन्यो नास्तीत्यत आह—

+ एतदर्धे पाठान्तरं ङ. पुस्तके—'' योगी मुक्तश्च सर्वासां यो न चाऽऽप्नोति वेदनाम् '' इति ।

---

१ क. °बोध्यता । २ घ. छ °यते ज्ञातह° । ३ घ. छ. यथेक । ४ ङ. जलभाण्डेषि° । ५ घ. छ. °त्वमैक्येन । ६ घ. छ °ति न वा° ।

ब्रह्मखानिलतेजांसि जलं भूश्चेति धातवः ॥
इमे लोका एष चाऽऽत्मा तस्माच्च सचराचरम् ॥१४४॥

ब्रह्मादयः षड्धातवो धारयितारो न पुनर्व्योमादयो लोकाः । लोक्यन्त इति लोका ग्राह्या इति यावत् । न च ग्राह्या एव ग्राहका भवितुमर्हन्ति । अहमिदं गृह्णामीति ग्राह्याद्भिन्नतयैव ग्राहकस्यावभासात् । तस्मादेष ब्रह्मधातुरेवाऽऽत्मा सर्वस्य ग्राहकः । अत एव ब्रह्म सर्वानुभूरित्युपनिषद्युक्तम् । यद्येवं ग्राह्यात्सर्वस्मादचेतनाद्ग्राहकस्य चेतनस्य भेद एव ततश्च—

" सर्वं खल्विदं ब्रह्म "

इत्यादिश्रुतिविरोध इत्येतत्परिहारायोक्तं-तस्माच्च सचराचरमिति। तस्माद्ब्रह्मणश्चेतनात्सचराचरं जगज्जायत इति शेषः । ततश्च " जनिकर्तुः प्रकृतिः " इत्येतल्लक्षणोक्तं प्रकृतिस्वरूपं समा(पमपा)दानत्वं तस्मादिति पञ्चम्याचष्टे । न च प्रकृतितो विकृतिर्भिन्नैव, तथा सति हि सुवर्णकुण्डलं मृद्घट इति सामानाधिकरण्यप्रत्ययो नोपपद्यते । स ह्यत्यन्तभिन्नेभ्यो दण्डदेवदत्तादिभ्यो व्यावृत्त इति । न हि भवति दण्डो देवदत्त इति, किंतु दण्डवान्देवदत्त इति। तथाऽत्यन्ताभिन्नेभ्योऽपि निवृत्तो न हि भवति देवदत्तो देवदत्त इति किंतु देवदत्त इत्येव, तेन ब्रह्मैवेदं सर्वमिति सामानाधिकरण्यप्रत्ययो वाक्यजन्यो ब्रह्मणा सह जगत आत्यन्तिकाद्भेदादभेदाच्च विलक्षणं भेदाभेदतादात्म्यादिपदास्पदीभूतं प्रकारं व्यवस्थापयति । न च सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति गौणस्तादात्म्यव्यपदेशो गौर्बाहीक इतिवद(दि)ति वाच्यम् । प्रमाणान्तरे गोबाहीकयोरत्यन्तभेदमवगम्य व्यपदेश्यगौणत्वमवसीयते । न च जगद्ब्रह्मणोरत्यन्तभेदग्राहकं किंचन प्रमाणमस्ति । यस्तु ग्राह्यग्राहकतया भेदप्रत्ययः स भेदं विधत्ते नाभेदं निषेधात् । ब्रह्मप्रपञ्चयोरभेदविधायिका श्रुतिरुदीरितैव । यस्मात्तयोस्त्वभेदोऽपि भेद एव तस्मात्सचराचरमित्यत्र जायत इत्यध्याहार्यम् । अन्यथा—

" सर्वं खल्विदं ब्रह्म "

इति श्रुतिविरोधो दुष्परिहारः स्यात् ॥ १४४ ॥

यथाऽऽत्मा चराचरं सृजति तथाऽऽह—

---

१ घ. छ. जन्तवः । २ क. °दय एव । यत इमे व्योमादयो लोका ग्रा° । ३ घ. छ. °का भावि° । ४ क. °ह्मनुभूरित्याद्यनुशासनमुप° । ५ क. °देशगौ° ।

मृद्दण्डचक्रसंयोगात्कुम्भकारो यथा घटम् ॥
करोति तृणमृत्काष्ठैर्गृहं वा गृहकारकः ॥ १४५ ॥
हेममात्रामुपादाय रूपं वा हेमकारकः ॥
निजलालासमायोगात्कोशं वा कोशकारकः ॥ १४६ ॥
कारणान्येवमादाय तासु तास्विह योनिषु ॥
सृजत्यात्मानमात्मैव संभूय करणानि च ॥ १४७ ॥

यथा कुम्भकारः कुम्भस्य प्रकृतिभूताया मृदो दण्डादीनां चाप्रकृतिभूतानामन्योन्यसमवधानात्कुम्भं करोति । यथा वा गृहकर्ता गृहोपादानकारणैस्तृणमृत्काष्ठैरन्योन्यसंयुक्तैर्गृहं निर्मिमीते । यथा हेमकारकः सुवर्णैकदेशं गृहीत्वा रूपानुग्राहकं भूषणं कटकादि करोति । यथा च कोशकारकः शस्त्रशरीरसंज्ञकः कीटो निजलालयैव कोशं जनयति, एवमात्माऽनेकासु योनिष्वात्मानमात्मीयं शरीरं तत्कारणानि च पृथ्व्यादीनि करणानीन्द्रियाणि चाऽऽदाय सहकारित्वेन स्वीकृत्य स आत्मा भूयः पुनः पुनः सृजति । यद्यपि भूतादीनि सहकारीणि नाऽऽत्मनो भिद्यन्ते तथाऽपि तेषां सहकारित्वमुपपद्यते । यथा कोशकारकं प्रति तल्लालाया इति वक्तुं कोशकारदृष्टान्तः ॥ १४५ ॥ ॥ १४६ ॥ १४७ ॥

बुद्धीन्द्रियशरीरव्यतिरिक्ते ह्यात्मनि प्रामाणिके सति शास्त्रेण तस्य ब्रह्मीभावः " तत्त्वमसि " इत्यादिना प्रतिपाद्यते, अतश्च ब्रह्मखानिलतेजांसीत्युपपद्यत इति क्षेत्रज्ञस्य प्रामाणिकतां तावदाह—

महाभूतानि सत्यानि यथाऽऽत्माऽपि तथैव हि ॥
कोऽन्यथैकेन नेत्रेण दृष्टमन्येन पश्यति ॥ १४८ ॥
वाचं वा को विजानाति पुनः संश्रुत्य संश्रुताम् ॥
अतीतार्था स्मृतिः कस्य को वा स्वप्नस्य कारकः ॥ १४९ ॥

यथा कारणदोषबाधकप्रत्ययरहितानि विज्ञानवेद्यत्वादाकाशादीनि महाभूतानि सत्यानि, तथाऽऽत्माऽप्यहंप्रत्यये भासमानः सत्य एव । न चाहंप्रत्य

१ क. °मात्रमु° । २ क. घ. छ. °षु । करोत्या° । ३ क. निर्मीयते । ४ क. °कः शास्त्र°
५ क. °दोषाबा° । ६ घ. छ. °तावि° । ७ क. °नि त° ।

(यतिप्रकरणम् ४)

न्द्रियालम्बनः । तथा ह्येकेन नेत्रेण दृष्टार्थो नेत्रान्तरेण न प्रत्यभिज्ञायते, ग्राहक-
भिन्नत्वात् । न ह्यन्येन गृहीतमन्यः प्रत्यभिजानीते । ज्ञानमात्रालम्बनेन
ाहंप्रत्ययस्यापूर्वर्णात्मिकां वाचं संश्रुत्य पुनस्तां श्रुतां सैवेयं वागिति को
जानाति, न कश्चिदित्यर्थः । न हि क्षणिकानि विज्ञानान्यन्योन्यं प्रत्यभि-
ानन्ति, पूर्वोत्तरप्रत्यययोर्ह्येकस्मिन्प्रत्येतरि प्रत्येतव्ये च प्रत्यभिज्ञा भवति
पुनरन्यथा । तस्मात्स्थायी बुद्ध्यादिव्यतिरिक्त आत्माऽस्तीति निश्चीयते ।
था स्थायिन्यात्मन्यसत्यतीतार्थविषया स्मृतिर्न कस्यचित्स्यात् । अर्थस्य
ातीतता प्रदर्शनार्था, तेन ज्ञानेन्द्रियात्मवादिनोस्तदत्यये स्मृतिदर्शनानु-
पत्तिः स्मर्तुरभावात् । तस्मादपि स्थाय्यात्मसिद्धिः । तथा स्थिरात्माभावे
वप्नज्ञानकर्ता को भवेत्, न कश्चिदित्यर्थः । तस्यां दशायां ज्ञानान्तराणि न
न्ति । इन्द्रियाणि चोपरतव्यापाराणीति नैतानि तत्कारकाणि । विज्ञानवादे
न्द्रियाण्यपि न सन्ति, तेन मनसोऽपि स्वप्नकर्तृत्वमनाशङ्कनीयम् । न च
हश्चेतयते, तदारम्भकद्रव्याणामचेतनत्वात् । तेषामपि चेतनत्वे तदारब्धानां
टादिद्रव्याणां चैतन्यप्राप्तिः । ततश्चासिततन्त्वारब्धः पटो यथा न सितः,
द्वदचेतनद्रव्यारब्धो देहोऽप्यचेतनः ॥ १४८ ॥ १४९ ॥

किं च—

जातिरूपवयोवित्तविद्यादिभिरहंकृतः ॥
शब्दादिविषये सक्तः कर्मणा मनसा गिरा ॥ १५० ॥

यदि स्थायिनमेकमात्मानं लोको न प्रतिसंधत्ते तदा कस्य ब्राह्मण्यादि-
जात्या गौरत्वादिना च रूपेण यौवनेन च वयसा वित्तविद्याभ्यां चाहंकृतो
र्वितः को भवेत् । न हि ज्ञानानां क्षणिकानां जात्यादिनिमित्ताहंकारसंभवः ।
था शब्दादिविषयोपभोगे वाङ्मनःकर्मासक्तिः कस्य ॥ १५० ॥

उक्तान्यात्मनि कानिचित्प्रमाणानि बन्धविशेषमधुना तत्प्रमाणत्वेनाऽऽह—

स संदिग्धमतिः कर्मफलमस्ति न वेति वा ॥
संप्लुतः सिद्धमात्मानमसिद्धोऽपि हि मन्यते ॥ १५१ ॥

---

१ क. °ण प्र° । २ घ. छ. °त्ययो हि एक° । ३ क. °न्द्रियवा° । ४ घ. ■ °दारम्भा° ।
५ क. °रणवि° । ६ घ. छ. °सोविस्व° । ७ ङ. °योवृत्त° । ८ ङ. °वयोयोगं क° । ९ क. °कारा-
णि° । १० ङ. विप्लुतः ।

मम दाराः सुतामात्या अहमेषामिति स्थितिः ॥
हिताहितेषु भावेषु विपरीतमतिः सदा ॥ १५२ ॥
ज्ञेये च प्रकृतौ चैव विकारे चाविशेषवान् ॥
अनाशकानलापातजलप्रपतनोद्यमी ॥ १५३ ॥
एवंवृत्तोऽविनीतात्मा वितथाभिनिवेशवान् ॥
कर्मणा द्वेषमोहाभ्यामिच्छया चैव बध्यते ॥ १५४ ॥

संसारात्मबन्धः खलु बुद्धीन्द्रियशरीराणां न संभवति, न हि तेषामनेकेषु जन्मस्वनुवृत्तिरस्तीति भवति बुद्ध्यादिविलक्षणात्मसद्भावे प्रमाणं, तस्य चायमुपक्रमः—शास्त्रविहितस्य कर्मणः फलं स्वर्गादिकमस्ति वा नवेति संदिग्धमतिः संसारी भवति। अनेन च शास्त्रप्रामाण्ये संशय(यि)त्वमुच्यते। तत्र च संशयानः शास्त्रमतिक्रामतीति तात्पर्यार्थः। अत्र च श्लोकार्धान्तगतो वाशब्दोऽस्तीत्यनेन योजनीयः। तथा संप्लुतो विप्लुतोऽनात्मनि शरीर आत्मप्रत्ययवानिति यावत्। वस्तुतोऽसिद्धमनुत्पन्नमप्यात्मानं सिद्धमुत्पन्नं मन्यते। अथवाऽऽत्मनि पारमार्थिके[2] केनोपनिषद्वेद्येन रूपेणासिद्धमनवगतमपि कर्तृत्वभोक्तृत्वविशिष्टेन रूपेण सिद्धमात्मानं मन्यते। एतावदेवाऽऽत्मनो रूपमिति मन्यत[3] इत्यर्थः। अनात्मन्यात्मबुद्धेश्च मम संबन्धिन एते दारादयोऽहमेतेषां संबन्धीति स्थितिः[3] पर्यवसानं भवति। तथा हिताहितेष्वनुकूलप्रतिकूलेषु भावेषु विपर्यस्तमतिर्भवति। हितमहितत्वेनाहितं च हितत्वेन मन्यत इत्यर्थः। तथा[4] ज्ञेय आत्मयाथात्म्ये प्रकृतावव्याकृतविकारे च तत्कार्ये महदहंकारादावविशेषवान्, सन्तमप्येषां विशेषं न वेत्तीत्यर्थः। तथा दुःखरहितमप्यात्मानं दुःखितं मन्यमानस्तद्धानायानशनाग्निप्रवेशादिना देहत्यागोद्यमी भवति। एवंवृत्त एवंचेष्टितोऽविनीतस्तत्त्वावबोधविधुर आत्मा यस्य स तथोक्तः। वितथे मिथ्याभूते वेदाप्रामाण्यनैरात्म्यादावर्थेऽभिनिवेशवांस्तथेति प्रतीतिमान्। कर्मणा काम्येन निषिद्धेन च द्वेषेणाप्रीत्या[6] मोहेनाविद्यया, इच्छया रागेण च बध्यते संसर्य(स्रिय)त इति ॥ १५१ ॥ १५२ ॥ १५३ ॥ १५४ ॥

अधुना मोक्षं सोपायमात्मनि प्रमाणत्वेन श्लोकचतुष्टयेनाऽऽह—

---

१ ङ. ज्ञेयज्ञे प्र°। २ घ. छ. र्थिकेणोप°। ३ क. °तिः। विपर्ययमाणं भ°। ४ घ. छ. °था याज्ञवल्क्येय आत्मा याथात्म्येन प्र°। ५ क. °घरहित आ°। ६ घ. छ. °त्या मौढ्येन वि°।

आचार्योपासनं वेदशास्त्रस्य च विवेचनम् ॥
तत्कर्मणामनुष्ठानं सङ्गः सद्भिर्गिरः शुभाः ॥ १५५ ॥
स्त्र्यालोकालम्भविगमः सर्वभूतात्मदर्शनम् ॥
त्यागः परिग्रहाणां च जीर्णकाषायधारणम् ॥ १५६ ॥
विषयेन्द्रियसंरोधस्तन्द्रालस्यविवर्जनम् ॥
शरीरपरिसंख्यानं प्रवृत्तिष्वघदर्शनम् ॥ १५७ ॥
नीरजस्तमता सत्त्वशुद्धिर्निस्पृहता शमः ॥
एतैरुपायैः संशुद्धः स च योग्यमृती भवेत् ॥१५८॥

आचार्यः प्रसिद्धस्तस्योपासनं परिचर्या, वेदस्यान्येषां पुराणादीनां च विविक्तार्थज्ञता, शास्त्रोक्तानां नित्यनैमित्तिकानां कर्मणामनुष्ठानम् । सद्भिर्योगिभिः सङ्गस्तत्त्वे(त्त्व) परामर्ष(र्श)प्रयोजनं सहावस्थानम् । गिरः शुभा हितमितसत्यरूपाः । स्त्रीविषयालोकनस्पर्शनयोर्विगमो वर्जनम् । ऐकात्म्यज्ञानरूपं सर्वभूतेष्वात्मनस्तेषां वा स्वात्मनि दर्शनम् । परिग्रहाणां स्वीकाराणां त्यागः। जीर्णस्य पुराणस्य काषायस्य वृक्षनिर्यासादिरक्तस्य वाससो धारणम्। विषयाणामिन्द्रियाणां च संरोधः संनिकर्षनिरोधः । तन्द्रा निद्रातुल्यो जाड्यविशेषः । आलस्यमनुद्यमः । तयोस्त्यागः । शरीरस्य सर्वतोऽस्थिरत्वाशुचित्वादिना संख्यानं सम्यङ्निरूपणं च कार्यम् । सर्वासु चानावश्यकीषु प्रवृत्तिषु पापदर्शनम् । आवश्यकमेव लौकिकं वैदिकं च कर्म कार्यं नान्यादित्यर्थः । रजस्तमसोरुद्रेकपरिहारो राजसतामसाहारादिपरिहारेण कार्यः । सत्त्वशुद्धिः प्राणायामशुद्धाहारत्वादिना विधेया । निस्पृहता निरीहता धनादिष्वनीप्सा । शमः परापराधक्षमा । एतैरुक्तैरुपायैः संशुद्धो विपाप्मा सत्त्वोद्रेकयोगी सन्नमृती भवेदित्यर्थः ॥ १५५ ॥ १५६ ॥ १५७ ॥ १५८ ॥

स चायं भवेद्ब्रह्मीभावो देहादिभ्यो व्यावृत्तस्तद्व्यतिरिक्तात्मसद्भावे प्रमाणं योगमुक्तेः कारणमिति तदुपायमाह—

१ ङ. °शास्त्रेषु. च विवेकिता । त° । २ ङ. सत्त्वयो° । ३ घ. छ° °षां च पु° । ४ क. °णां स्वदाराणां । ५ क. °सु. च ना° । ६ क. °गमुक्तेः ।

*तत्त्वस्मृतेरवस्थानात्सत्त्वयोगात्परिक्षयात् ॥
कर्मणां संनिकर्षाच्च सतां योगः प्रवर्तते ॥ १५९ ॥

तत्त्वस्य परमात्मनः शास्त्रावगतरूपस्य सातत्येन स्मृत्युदयाच्छुद्धसत्त्वयोगान्निषिद्धकाम्यकर्मणां यथासंभवं ब्रह्मज्ञानफलोपभोगाभ्यां परिक्षयात्सतां साधूनां योगिनां च संनिकर्षात्सम्यग्योगः प्रवर्तते ॥ १५९ ॥

इदानीमसिद्धयोगं योगिनं प्रत्याह—

शरीरसंक्षये यस्य मनः सत्त्वस्थमीश्वरम् ॥
अविप्लुतस्मृतिः सम्यक्स जातिस्मरतामियात् ॥१६०॥

शरीरसंक्षये मरणकाले यस्य योगमारुरुक्षतो मनः सत्त्वस्थं रजस्तमसी विहाय सत्त्व एव वर्तमानमीश्वरं मरणदशाभाविना दुःखेनोप(ना)पीड्यमानं +यस्य सोऽविप्लुतश्वरस्मृतिर्जन्मान्तरे सकलपूर्वजन्मस्मृतिं दृढतरवैराग्यनिमित्तभूतां प्राप्नुयात् ॥ १६० ॥

इदानीं त्वयोगिनं प्रत्याह—

यथा हि भरतो वर्णैर्वर्णयत्यात्मनस्तनुम् ॥
नानारूपाणि कुर्वाणस्तथाऽऽत्मा कर्मजास्तनूः ॥१६१॥

यथा भरतो नटो नानाविधानि रामरावणादिरूपाणि कुर्वाणो वर्णैर्वर्णकैः सितासितादिभिरात्मनस्तनुं वर्णयति तथाऽऽत्माऽप्यक्षीणकर्मा कर्मजास्तनूः शरीराणि सुरनराद्यात्मकानि गृह्णाति । भरतदृष्टान्तेनाऽऽत्मनः शरीरयोग औपाधिको न स्वाभाविक इति गमयति । कर्मजा इति वदन्कर्मणामुपाधित्वं दर्शयति ॥ १६१ ॥

रूपनानात्वेऽपि हेत्वन्तरमस्तीत्याह—

कालकर्मात्मबीजानां दोषैर्मातुस्तथैव च ॥
गर्भस्य वैकृतं दृष्टमङ्गहीनादि जन्मनः ॥ १६२ ॥

गर्भस्याङ्गेषु शिरःपाण्यादिषु श्रोत्रनेत्रादिषु च हीनत्वातिरिक्तत्वादि वैकृतं विकृतरूपत्वं कालकर्मबीजमातॄणां दोषैर्भवतीति शास्त्रदृष्टम् । न चैतद्गर्भ-

* सत्त्वस्मृतेरुपस्थानादिति पाठो ङ. पुस्तके । + यस्येत्यधिकम् ।

१ ङ. °तमतिः । २ घ. छ. जन्मतः । ३ क. °तिरेकत्वा° ।

काल एव किंतु जन्मन ऊर्ध्वे(र्ध्व)कालेऽपि । कालस्य दोषो ग्रहदौःस्थित्यम्[1] । कर्मदोषः श्रद्धादिवैधुर्यं कर्मान्तरस्य च प्रतिषिद्धत्वम्[2] । कर्मात्र धर्मः । भूतात्मनश्च दोषो धातुवैषम्यम् । बीजदोषः पितृदोषः । मातृदोषो गर्भविरुद्धचेष्टाकर्तृत्वम् । अङ्गविकारे काणादिदोषाणां निमित्तत्वमत्रोक्तम् । तनूत्पत्तिनिमित्तत्वं च कर्मणां पूर्वश्लोके, तेन पूर्वापराविरोधः ॥ १६२ ॥

प्रथमशरीराद्युत्पत्तिः कथमिति च न वाच्यमनादित्वाच्छरीरपरम्पर(रा)या इत्याह—

अहंकारेण मनसा गत्या कर्मफलेन च ॥
शरीरेण च नाऽऽत्माऽयं मुक्तपूर्वः कथंचन ॥१६३॥
*दाता सत्यः क्षमी प्राज्ञः शुभकर्मा जितेन्द्रियः ॥
तपोरतो योगशीलो न रोगैरभिभूयते ॥ १६४ ॥

गतिर्धर्मात्मिका, कर्मफलं सुखदुःखभावानामनुभवः । प्रसिद्धमन्यत् ॥ १६३ ॥ ॥ १६४ ॥

यदि कर्मभिर्देहिनः फलोपभोगाय देह आरभ्यते तर्हि तत्फलोपभोगसमाप्तेः प्राङ्न देहेन देहिनो वियोगः संभवतीत्यकालमृत्युनिवारणाय कर्मविधानर्थक्यमित्यत्राऽऽह—

वर्त्याधारस्नेहयोगाद्यथा दीपस्य संस्थितिः ॥
विक्रियाऽपि च दृष्टैवमकाले देह(प्राण)संक्षयः ॥१६५

यथा वर्त्यादीनां योगाद्दीपस्य वर्तिकावर्तिन्या ज्वालायाः संस्थितिरवस्थानं वर्त्यादियोगे सत्यपि विक्रिया प्रबलपवनाभिघातादिना दीपप्रध्वंसोऽपि दृष्टः, एवमकाले देहारम्भककर्मफलोपभोगासमाप्तावपि तत्परिपन्थिकर्मणा प्रतिबन्धे प्राणसंक्षयोऽपि संभवतीति । ततश्च परिपन्थिकर्मनिवारणार्थमकालमृत्युशान्तिफलाः कर्मविधय उपपन्नाः ॥ १६५ ॥

उक्तयोगवशादमृतीभावस्तन्मार्गमिदानीमाह—

अनन्ता रश्मयस्तस्य दीपवद्यः स्थितो हृदि ॥
सितासिता बभ्रुनीलाः कपिला[3] नीललोहिताः ॥१६६॥

---

* न विद्यतेऽयं श्लोको घ. छ. पुस्तकयोः ।

---

१ घ. छ. °म् । धर्मस्य कर्मणो दो° । २ घ. छ. °म् । भ° । ३ ङ. °पिलाः पीतलो° ।

ऊर्ध्वमेकः स्थितस्तेषां यो भित्त्वा सूर्यमण्डलम् ॥
ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन याति परां गतिम् ॥ १६७ ॥

तस्य जीवस्य सूर्यस्य वाऽनन्ता असंख्याता रश्मयस्ते च सितासिताद्यनेकवर्णास्तेषां मध्ये रश्मिरेका (क) ऊर्ध्वगामी सूर्यमण्डलं भित्त्वा ब्रह्मलोकं चातिक्रम्य स्थितः। तेन रश्मिना मार्गेण परां गतिं परं गन्तव्यं ब्रह्म याति। हिताहितसंज्ञकनाडीचक्रमध्यगतस्य शशिसूर्यमण्डलस्यैते रश्मयो न तु जीवस्य। उपचारेण हि तस्य तेऽभिधीयन्ते। ननु च—

"नास्य प्राणा उत्क्रामन्ति"

इत्यादिश्रुतिविरुद्धैषा स्मृतिः। मैवम्।

"तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति"

इतिप्रत्यक्षश्रुतिमूलत्वादस्याः स्मृतेः। तेन श्रुत्योरेवात्र परस्परं विरोधो न श्रुतिस्मृत्योः। न च श्रुत्योरपि परमार्थतो विरोधोऽस्ति। नास्य प्राणा व्युत्क्रामन्तीत्यत्र पुनरुत्पत्तय इति वाक्यशेषः प्रकल्प्यते श्रुत्यन्तराविरोधाय। यद्वा प्राणानां तस्य प्रभुत्वादवशमिव तं परित्यज्य न यान्ति, किंतु स्वेच्छया देहं त्यजन्तीत्यर्थः। तथाऽत्रैव समवनीयन्त इत्यत्रात्रैव जन्मनि समवनीयन्ते न जन्मान्तर इति व्याख्या न पुनरत्रैव शरीर इति ॥ १६६ ॥ १६७ ॥

किं च—

यदस्यान्यद्रश्मिशतमूर्ध्वमेव व्यवस्थितम् ॥
तेन देवशरीराणि सधामानि प्रपद्यते ॥ १६८ ॥

परमगतिमार्गभूताद्रश्मेरन्यद्रश्मिशतमस्याऽऽत्मन ऊर्ध्वां दिशं प्रति व्यवस्थितम्। तेनास्माच्छरीरादुत्क्रामन्नयं जीवो देवजातीयानि शरीराणि देवानां धाम्ना स्थानेन सह प्रपद्यते। देवलोके देवो भवतीत्यर्थः। शरीराणीति बहुवचनमेकस्यामेव जात्याख्यायाम् ॥ १६८ ॥

इदानीं संसरणमार्गमाह—

येनैकरूपाश्चाधस्ताद्रश्मयोऽस्य मितप्रभाः[1] ॥
इह कर्मोपभोगाय तैः संसरति सोऽवशः ॥ १६९ ॥

---

१ घ. छ. °श्मयोऽस्यमृत°। ङ. °श्मयश्च मृदुप्र°।

अस्याऽऽत्मनो हृदयदेशस्थितस्याधस्तान्मन्दप्रभा अनेकरश्मयस्तैरितः शरीरान्निर्गच्छन्नत्रैव लोके कर्मफलभोगाय संसरति, देहान्तरं कर्मवशः संप्रतिपद्यते ॥ १६९ ॥

प्रमाणतः साधितमप्यात्मानं दार्ढ्यार्थं पुनरपि प्रमाणान्तरैः साधयति—

वेदैः शास्त्रैः सविज्ञानैर्जन्मना मरणेन च ॥
आर्त्या गत्या तथाऽगत्या सत्येन ह्यनृतेन च ॥ १७०॥
श्रेयसा सुखदुःखाभ्यां कर्मभिश्च शुभाशुभैः ॥
निमित्तशाकुनज्ञानग्रहसंयोगजैः फलैः ॥ १७१ ॥
तारानक्षत्रसंचारैर्जागरैः स्वप्नजैः फलैः ॥
आकाशपवनज्योतिर्जलभूतिमिरैस्तथा ॥ १७२ ॥
मन्वन्तरैर्युगप्राप्त्या मन्त्रौषधिफलैरपि ॥
वित्ताऽऽत्मानं वि(वे)द्यमानं सर्वस्य(कारणं) जगतस्तथा॥

हे महर्षयो वेदादिभिः प्रमाणैर्बुद्धीन्द्रियशरीरव्यतिरिक्तमात्मानं वि(वे)द्यमानं वित्त जानीत । तत्रैव वेदैः कर्मकाण्डात्मकैरग्निहोत्रादिकर्तृगामिस्वर्गादिफलमाचक्षाणैरात्मा प्रसाध्यते । देहादीनामात्मत्वे कर्तृगामि फलं न स्यात् । उपनिषद्भागात्मकैस्तु वेदैः—

" अविनाशी वाऽरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा "

इत्येवमादिभिः श्रुत्यैव देहाद्यतिरिक्तात्मसद्भावोऽवबोध्यते । शास्त्रैश्च मीमांसादिभिरात्मा(त्म)साधकयुक्तिबोधकैर्विज्ञानसहितैरात्माऽवबोध्यते । तत्र शास्त्राण्यात्मसाधकयुक्तिप्रसाधनानि, विज्ञानानि शास्त्राण्यात्मसाक्षात्कारकारणप्राणायामादिप्रदर्शकानि । जन्मापि सुखदुःखहेतुभूतत्वेन विचित्रत्वोपपादकौ धर्माधर्मौ कल्पयत्तदाश्रयमात्मानं गमयति । एवं मरणमपि तद्धि दृष्टे तत्कारणे समानेऽपि[3] कस्यचिदेव भवददृष्टस्य[4] व्यवस्थापकत्वेनाऽऽक्षिपदात्मानमपि तदाश्रयमाक्षिपति । मरणसंबन्धिन्याऽऽर्त्या प्राणिषु स्तोकास्तोकरूपेण वर्तमानया स्वोपपादकाधर्माल्पानल्पत्वकल्पनामुखेनाऽऽत्माऽपि कल्प्यते । तथा

१ घ. छ. आन्त्या । २ घ. ■. तद्विद । ३ घ. छ °मानोऽपि । ४ क. °दृस्वव्य° । ५ घ छ. °न्यान्त्याप्रा ° । ६ घ. छ. °ना सुखे ।

त्यज्यमानादेहात्सुखदुःखोपभोगाय स्वर्गं नरकं वा गच्छति । स्वर्गं नरकं वोपभुज्य वृष्ट्युदकेन सहेमं लोकमागच्छत्यात्मेति उपनिषदाद्यागमप्रसिद्धया गत्या चागत्या च देहादिव्यतिरिक्त आत्मा साध्यते । सत्यं यथार्थं वाक्यम् । अनृतमयथार्थं, ताभ्यामात्मा साध्यते । न खलु तमन्तरेण सत्यत्वासत्यत्वे सिध्यतः । यतोऽयमर्थं वाक्यादवगतवानस्मि, तमेव प्रमाणान्तरेण प्रत्येमीति प्रत्यभिजानन्वाक्यस्य सत्यत्वमध्यवस्यति । विपर्ययेण सत्यत्वमुक्तनीत्या च वाक्यार्थं न बुद्ध्यादयः प्रत्यभिजानन्तीति तद्व्यतिरिक्तात्मसिद्धिः । श्रेयः पुरुषप्रीतिः । तेन च पुरुषः प्रमीयते । एवं सुखदुःखाभ्यामप्यात्मा साध्यते । धर्माधर्मयुक्तात्मसाध्यत्वात्तयोस्तुल्यव्युत्पत्तिभिस्तुल्यकुलोत्पन्नैः कर्तृभिः कैश्चिच्छुभानि धर्म्याणि कर्माणि क्रियन्ते, कैश्चित्तद्विपरीतानि । तत्र जन्मान्तरीयधर्माधर्मानुष्ठानाभ्यासवासनाभेदो व्यवस्थापकतयाऽऽत्मसमवायी कल्प्य इति शुभाशुभकर्मणामात्मनि प्रामाण्यम् । निमित्तमुपश्रुत्यादि । शाकुनं शकुनीनां गतिस्वनादि, तदेव प्रत्यासन्नफलस्य शुभाशुभकर्मणो ज्ञापकत्वाज्ज्ञानम् । ग्रहा आदित्यादयः । तेषां च परस्परं राशिभिर्वा संबन्धः संयोगस्तत्सूचितानि धर्माधर्मफलान्यात्मनि प्रमाणम् । निमित्तसूचितं ह्यदृष्टं जन्मान्तरार्जितमपि संभवति, तच्च देहाद्यतिरिक्तमात्मानमन्तरेण न संभवतीति निमित्तादेवाऽऽत्मनि प्रामाण्यम् । नक्षत्राण्यश्विन्यादीनि । उडूनि तारास्तेषु ग्रहाणां संचारस्तथा जाग्रद्दशाभावीनि नक्तंचरदर्शनादीनि । स्वप्नजानि च खराद्यारोहणादिदर्शनानि । तत्सूचितैश्च फलैः पूर्ववदात्मानुमानम् । आकाशादिभिः शरीरेन्द्रियविषयादिरूपेण भोग्यतयाऽवस्थितैर्भोक्ताऽनुमीयते । मन्वन्तराणां स्वायंभुवादीनां च युगानां कृतत्रेतादीनां च विलक्षणस्वभावत्वेनाऽऽत्मसाधकत्वम् । उक्तं च मनुना—

" अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः ।
कृते त्रेतादिषु त्वेषां वयो ह्रसति पादशः ॥
चतुष्पात्सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे ।
चौरिकानृतमायाभिर्धर्मश्चापैति पादशः " इत्यादि ।

ततश्च कृतयुगे प्राणिनां धर्मोपचयः कलावधर्मोपचयस्तेषामेवेत्यनेकयुगस्थायिन्यात्मनि मन्वन्तरादिस्थितिः प्रमाणम् । एवं स एव मन्त्रस्तदेवौषधं कस्य·

---

१ क. 'तः । अतोऽयमर्थं वाक्यादेव' । २ क. 'षप्रतीतिः ।

तदभीष्टफलदं कस्यचिन्नेति व्यवस्थां घटयितुं जन्मान्तरार्जितादृष्टाश्रय आत्माऽनुमेय इति मन्त्रौषधफलमप्युक्तेऽर्थे प्रमाणम् ॥ १७० ॥ १७१ ॥ १७२ ॥ १७३ ॥

किंच—

अहंकारः स्मृतिर्मेधा द्वेषो बुद्धिः सुखं धृतिः ॥
इन्द्रियान्तरसंचार इच्छा धारणजीविते ॥ १७४ ॥
स्वर्गः स्वप्नश्च भावानां प्रेरणं मनसोऽगतिः ॥
उन्मेषश्चेतना यत्न आदानं पाञ्चभौतिकम् ॥१७५॥
यत एतानि लिङ्गानि दृश्यन्ते परमात्मनः ॥
तस्मादस्ति परो देहादात्मा सर्वज्ञ ईश्वरः ॥१७६॥

यस्मादहंकारादीनि लिङ्गान्यात्मनोऽनुमापकानि दृश्यन्ते तस्मादस्ति देहान्यः परम आन्तर आत्मा । सर्वज्ञः सर्वानुभाविता । ईश्वरः स्वामी । विशेषानुपादानात्सर्वस्याहंकारोऽहंप्रत्यय इदंप्रत्ययवेद्ये देहे नोपपद्यते । न भ्रान्तस्य प्रमेयविशेषे तदन्यवस्तुसंबन्धी प्रत्ययो घटते । तथा मम शरीरमिति प्रत्ययः शरीरादन्यस्याहंभावे घटते नान्यथा । ममाऽऽत्मेति च व्यपदेशो लाक्षणिकः । नाऽऽत्मन्यात्मशब्दः । अन्यथा ममाहमित्युक्तं स्यात् । एवमहंकृतिः शरीरादन्यस्याऽऽत्मनो लिङ्गम् । स्मृतिश्च जन्मान्तरानुभूते स्तनपानादौ भवन्ती सुखसाधनत्वेन भवत्यात्मनि लिङ्गम् । न ह्यधुना तेन देहेन प्राग्भवीयस्तनपानस्यापेक्षितोपायत्वमनुभूतं येन स एव स्मर्ता स्यात् । मेधा ग्रन्थधारणशक्तिर्जन्मान्तरीयतद्ग्रन्थविषयानुभावजनितं संस्कारातिशयं कल्पयति । देहान्तरेऽक्षिणि संस्कारवत्यात्मनि लिङ्गम् । द्वेषोऽपि संसारे कस्यचित्प्राक्तनार्थपरिचयाज्जायमान आत्मनि लिङ्गम् । स हि दोषस्मरणाद्भवति । तच्च जन्मान्तराधीनमिति भवत्यात्मनि लिङ्गम् । बुद्धिः प्रज्ञा, साऽपि जन्मान्तरायत्ते आत्मनि लिङ्गम् । सुखमानन्दः । नासौ शरीरगुणः । वैशेषिकगुणत्वे सत्यकारणगुणपूर्वकत्वात् । कारणगुणपूर्वको हि यावच्छरीरभावी स्यात् । तस्मान्नायं शरीराकारपरिणतानां भूतानां गुणः किंतु ततोऽन्यस्येति भवत्यात्मनि लिङ्गम् । एवं द्वंद्वसहिष्णुत्वलक्षणा धृतिरपि । इन्द्रियान्तरसंचार इन्द्रियान्तरं मति

---

१ ङ. °रणा म° । २ ङ. °तिः । निमेष° । ३ ङ. °र्वेश ई° । ४ घ. छ. °म आनन्तर । ५ क. °त्मनो लि° । ६ क. °न्तरप्र° ।

गतिः । सा देहस्य सर्वेन्द्रियव्यापिनो नोपपद्यते । आत्मनः पुनरणुपरिमाणा-न्तःकरणोपहितस्याणोरिन्द्रियसंचारो युज्यते । अत एव बृहदारण्यके—

" अणीयान्नीवारतण्डुलादणीयाञ्श्यामाकतण्डुलात् "

इत्युक्तम् । इच्छाऽपि जन्मान्तरानुभूतस्मृतार्थविषया परमात्मलिङ्गम् धारणजीविते अपि। धारणं शरीरस्य न तच्छरीरेणैव शक्यं कर्तुम् । एकैकस्य क्रियायां कर्मकर्तृत्वविरोधात् । शरीरमेव धार्यं तदेव धारकमिति नोपपद्यते जीवितं प्राणधारणं तदपि न शरीरकार्यं प्रयत्नसाध्यत्वात् । प्रयत्नश्च न शरीर गुणः । अयावद्द्रव्यभावित्वात्पाकान्तरानिवर्त्यत्वाच्च[1] । स्वर्ग(र्गो) लोकान्तरभोग्यं सातिशयं सुखम् । स देहव्यतिरिक्त आत्मा तू(त्मन्यु)पपद्यते । अन्यथा कृतना-शाकृताभ्युपगमप्रसङ्गः स्यात् । स्वप्नप्रत्यय आत्मलिङ्गम् । इह जन्मन्य[न]नुभूतस्य स्वप्ने दर्शनं जन्मान्तरीयानुभवाहितसंस्कारवशाद्भवतीत्यात्मलिङ्गता[2] स्वप्नस्य । भावानां शरीरेन्द्रियाणां स्वकार्ये प्रेरणमात्मलिङ्गम् । न ह्यन्यस्तत्प्रेरकोऽपि । मन-सोऽतिसूक्ष्मस्यानेकद्वारे शरीरेऽवस्थितस्यागतिरपतनमात्माश्रितादृष्टनिमित्तमा-त्मलिङ्गम् । उन्मेषश्च प्रयत्नवदात्मकार्यत्वादात्मलिङ्गम् । चेतना ज्ञानमचेतना-रब्धाच्छरीरादन्यश्चे(न्यं चे)तनं गमयति[3] । यत्नश्च शरीराश्रितो न भवतीति स्वाश्रयमात्मानमनुमापयति । देहत्वेन पञ्चानां भूतानां परिग्रहः स्वीकर्तर्या-त्मनि लिङ्गम् ॥ १७४ ॥ १७५ ॥ १७६ ॥

आत्मन उक्तां सर्वज्ञतामुपपादयन्नाह—

बुद्धीन्द्रियाणि सार्थानि मनः कर्मेन्द्रियाणि च ॥
अहंकारश्च बुद्धिश्च पृथिव्यादीनि चैव हि ॥ १७७ ॥
अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः क्षेत्रस्यास्य निगद्यते ॥
ईश्वरः सर्वभूतस्थः सन्नसन्सदसच्च यः ॥ १७८ ॥

बुद्धेर्गन्धादिसाक्षात्कारस्य करणतया संबन्धीनि घ्राणादीनि पञ्च बुद्धी-न्द्रियाणि । तानि चार्थैर्गन्धादिभिर्विषयैः सहितानि सार्थानि । मनोऽन्तःक-रणम् । कर्मेन्द्रियाणि वागादीनि । बुद्ध्यहंकारौ, पृथिव्यादीनि पञ्च भूतानि, अव्यक्तं प्रधानमित्येतस्य क्षेत्रस्याऽऽत्मा सर्वेश्वरः सर्वभूतहृदये भासमानोऽत एव सन्स एव विभक्तयाऽनवभासमानतयाऽसन् । सदसद्भावाभावप्रकृति-त्वाज्ज्ञाता, तस्मात्क्षेत्रज्ञ इति तज्ज्ञैरुच्यते ॥ १७७ ॥ १७८ ॥

---

१ क॰ °निवर्तत्वा° । २ घ. छ. °लिङ्गिता । ३ घ. छ. °ति । प्रय° ।

बुद्ध्यादीनां कारणान्याह—

बुद्धेरुत्पत्तिरव्यक्तात्ततोऽहंकारसंभवः ॥
तन्मात्रादीन्यहंकारादेकोत्तरगुणानि तु ॥ १७९ ॥

बुद्धेर्विषयनिश्चयहेतोरन्तःकरणस्याव्यक्तात्प्रधानादुत्पत्तिः। समानि सत्त्वरजस्तमांसि अव्यक्तं, ततो बुद्धेरहंकारस्य ज्ञानक्रियाकर्तृत्वाभिमानिनोऽन्तःकरणस्य संभवो जन्म। सूक्ष्माः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धास्तन्मात्राणि तान्यादिर्येषां भूतानामिन्द्रियाणां च तांवन्मात्रादीनि तान्यहंकाराज्जायन्ते। भूतानि तु तन्मात्रव्यवधानेन। अहंकारश्च त्रिविधः, सात्त्विकः स एव तैजस इति पुराणेषु गीयते। तस्माद्बुद्धीन्द्रियाणामुदयो राजसोऽपरः। तस्माद्वैकारिकसंज्ञात्कर्मेन्द्रियाणां तामसस्तृतीयो भूतादिसंज्ञकस्तस्माच्छब्दादितन्मात्राणि तेभ्यो यथाक्रमं व्योमादिभूतानि[^1] तानि च वक्ष्यमाणैः शब्दादिभिर्गुणैरेकोत्तरगुणानि। तत्र व्योम्नि शब्द एको गुणो वायोः स च स्पर्शश्च। तेजसि तौ च रूपं च। अम्भसि ते च रसश्च, भूमौ गन्धश्च पञ्चमः ॥ १७९ ॥

गुणानाह—

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः ॥
यो यस्मान्निःसृतश्चैषां स तस्मिन्नेव लीयते ॥ १८० ॥

ये व्योमादीनामेकोत्तरगुणा उक्तास्ते शब्दादयो गन्धपर्यन्ताः। यश्चैषां बुद्ध्यादीनां मध्ये यस्मात्कारणादव्यक्तादेः सृष्टिकाले निःसृतोऽभिव्यक्तः स तस्मिन्नेव कारणात्मनि प्रलयकाले लीयते तिरोहितो भवति। तत्र च निःसृतो लीयत इति वदता सत्कार्यवादो दर्शितः ॥ १८० ॥

प्रकरणार्थोपसंहारमाह—

यथाऽऽत्मानं सृजत्यात्मा तथा वः कथितो मया ॥
विपाकात्त्रिप्रकाराणां कर्मणामीश्वरोऽपि सन् ॥१८१॥

ईश्वरः स्वतन्त्रोऽपि सन्नात्मा यथाऽऽत्मानं देहवन्तं मानसवाचिककायिकया सात्त्विकराजसतामसतया त्रिविधस्य कर्मणो विपाकपूर्वं तदुपादानवशात्सृजति, तथा वो युष्मभ्यं हे मुनयो मया कथितः ॥ १८१ ॥

[^1]: १ क. तानि तन्मा°। २ घ. छ. °नि च। ३ घ. छ. °पाकोऽपू°।

सत्त्वं रजस्तमश्चैव गुणास्तस्य प्रकीर्तिताः ॥
रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवद्भ्राम्यते हि सः ॥१८२॥

सत्त्वादयो गुणास्तस्य क्षेत्रज्ञस्य तन्निबन्धनबन्धमुक्तिभावित्वात्, तदेव दर्शयति—रजस्तमोभ्यामित्यादिना। अर्थाच्च केवलसत्त्वोद्रेकेण विमुच्यत इत्यपि दर्शितम्। चक्रदृष्टान्तेन चानवस्थितत्वमुक्तं, ततश्च तमसाऽऽत्मस्वरूपापरिज्ञानात्मको मोहः। रजसा च फले रागात्कर्मसु प्रवृत्तिस्ततः कर्मफलस्य जात्यायुषोः सुखदुःखानुभवस्य चोदय इत्येतच्चक्रवच्चक्रम्। एतस्य परिवर्तनादात्माऽपि परिवर्तत इत्युपचर्यते ॥ १८२ ॥

अनादिरादिमांश्चैव स एव पुरुषः परः ॥
लिङ्गेन्द्रियग्राह्यरूपः सविकार उदाहृतः ॥ १८३ ॥

स्वरूपतोऽनादिरादिमच्छरीरयोगित्वादादिमान्। परम औपनिषदः पुरुष एव क्षेत्रज्ञः समस्वरूपतो विकारतश्च यथासंख्यं लिङ्गेन्द्रियग्राह्यः। तत्राहंकारादिभिर्लिङ्गैः क्षेत्रज्ञात्मनो रूपं गृह्यते। तद्विकारस्तु शब्दादिभिरिन्द्रियैरेवंविध उक्त उत्तरश्लोकार्थतयाऽनुवादः ॥ १८३ ॥

पितृयानोऽजवीथ्याश्च तथाऽ(यद)गस्त्यस्य चान्तरम् ॥
तेनाग्निहोत्रिणो यान्ति स्वर्गकामा दिवं प्रति ॥ १८४ ॥

अजवीथीमाह गर्गः—

"हस्तश्चित्रा विशाखिका अजवीथी" इति।

कश्यपस्तु श्रवणादिनक्षत्रत्रयमजवीथीमाह—"अजवीथी विष्णुमाद्या" इति तस्याश्चागस्त्यस्य यदन्तरं स पितृयानसंज्ञको मार्गः। तेन काम्यकर्मकारिणः दिवं स्वर्गं यान्ति। अग्निहोत्रग्रहणं वैतानिककर्मप्रदर्शनार्थम्। दुःखसंभिन्न चिरकालोपभोग्यसुखानुभवास्पदीभूतो देशविशेषो द्यौः ॥ १८४ ॥

किं च—

ये च दानपराः सम्यगष्टाभिश्च गुणैर्युताः ॥
तेऽपि तेनैव (मार्गेण) सत्यव्रतपरायणाः ॥ १८५ ॥

ये च सम्यग्दानादिपूर्तधर्मनिरतास्तथा दया सर्वेषु भूतेषु, क्षान्तिरनसू

---

१ ङ. °स्तस्यैव की°। २ घ. छ. °भावात्। त°। ३ क. घ. छ. °दिमानादिमांश्च स। ४ ङ. सर्वस्व°। ५ ङ. °याणोऽज°। ६ क. घ. छ. गच्छन्ति।

शौचमनायासो मङ्गलमकार्पण्यमस्पृहेत्यष्टाभिरात्मगुणैर्युक्ताः । ये च नियमेन सत्यव्रतादिनस्तेऽपि पितृयानेनैव मार्गेण दिवं यान्ति ॥ १८५ ॥

तन्मार्गगामिनां(णां) पुनरावृत्तिमितिहासमुखेनाऽऽह—

*अष्टाशीतिसहस्राणि मुनयो गृहमेधिनः ॥
पुनरावृत्ति(र्ति)नो बीजभूता धर्मप्रवर्तकाः ॥ १८६ ॥

अष्टाशीतिसहस्रसंख्या मुनयस्तापसाः । इष्टापूर्तधर्मकारिण इति यावत् । गृहमेधिनो गृहस्थाः । अनेन चाकाम्यकर्मकारित्वं सूचयति । पुनरावर्तिनः पुनर्जन्मभाजः । जगत्सृष्टेर्धर्मप्रभावायास्ते प्रागनुष्ठितधर्मत्वाद्बीजभूताः । प्रवृ-त्त्याख्यस्य धर्मस्य च प्रवर्तकाः ॥ १८६ ॥

सप्तर्षिनागवीथ्यन्ते देवलोकं समाश्रिताः ॥
तावन्त एव मुनयः सर्वारम्भविवर्जिताः ॥ १८७ ॥
तपसा ब्रह्मचर्येण सङ्गत्यागेन मेधया ॥
तत्र गत्वाऽवतिष्ठन्ते यावदाभूतसंप्लवम् ॥ १८८ ॥

नागवीथीमाह गर्गः—

"कृत्तिका भरणी स्वातिर्नागवीथी प्रकीर्तिता" इति ।

देवलस्तु—"अश्विन्यादित्रिभाः सर्वा नागाद्या दहनान्तिकाः" ।

अयमर्थः—प्रत्येकमश्विन्यादित्रिनक्षत्रा नागाद्या नव वीथयः । नागा गजा ऐरावती ऋषभा गौर्जरद्गवी मृगी अजा दहनेति । तस्या नागवीथ्याः सप्तर्षीणां च यदन्तरालं तेन मार्गेण गत्वाऽष्टाशीतिसहस्राण्येव मुनयः सकलनिषिद्धकाम्यकर्मारम्भनिवृत्तास्तपसाऽऽवश्यकेन वर्णधर्मेण तथा ब्रह्मचर्येण सङ्गत्यागेन धर्मानुष्ठाननिमित्तख्यातिलाभपूजापरित्यागेन मेधया मेधाकार्येण वेदधारणेन युक्ता देवलोकं समाश्रित्य तत्र यावदाभूतसंप्लवं[3] महाप्रलयं यावदवतिष्ठन्ते । तेऽपि पूर्ववत्पुनरावर्तिनो बीजभूता निवृत्तधर्मप्रवर्तकाश्च ॥ १८७ ॥ ॥ १८८ ॥

एवं श्लोकद्वयेनाऽऽत्मज्ञानरहितं काम्यं कर्माऽऽवश्यकं वा कुर्वतां पुनरावृत्तिरुक्ता । "स ह्याश्रमैर्विजिज्ञास्यः" इत्यादौ त्वात्मज्ञानसहितस्य कर्मणोऽना-

---

* तत्राष्टाशीतिसाहस्रमुनय इति ङ. पुस्तके पाठः ।

---

१ घ. छ. 'वृत्ताख्य' । २ क. 'थ्यन्तं दे' । ङ. 'थ्यन्तर्देव' । ३ क. निवृत्तिध' ।

मुक्तिफलत्वं वक्ष्यति । तत्राधुना तावज्ज्ञातव्यमात्मानं तज्ज्ञानोपायं च श्लोकद्वयेनाऽऽह—

यतो वेदाः पुराणानि विद्योपनिषदस्तथा ॥
श्लोकाः सूत्राणि भाष्याणि यच्चान्यद्वाङ्मयं क्वचित् १८९
वेदानुवचनं यज्ञो ब्रह्मचर्यं तपो दमः ॥
श्रद्धोपवासः स्वातन्त्र्यमात्मनो ज्ञानहेतवः ॥ १९० ॥

द्विधा ह्यात्मा व्यवस्थितो बन्धवर्तितया तद्रहिततया च । तस्य यन्मुक्तस्वभावं रूपं तत्सर्वेश्वरत्वसर्वज्ञत्वादिगुणयोगित्वेन वेदान्तैरुपास्यतयोच्यते, न पुनर्यद्बद्धस्वभावम् । प्रकाशते हि स्वत एव तत्सर्वेषां हृदयेषु तत्प्रकाशाधीनो विश्वप्रकाशः ॥

" तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति " इति ।

तत्र शास्त्रेण यदुपास्यतयोक्तं तदुपलक्षयितुमिदमुच्यते—यतो वेदा इत्यादि यतो जगत्कारणाद्वेदाः श्रुतयः, पुराणानि प्रसिद्धानि । अन्याश्च धर्मशास्त्राद्या उपनिषदो ब्रह्मावबोधका वेदभागाः । तासाममृतीभावहेतुविज्ञानविषयकत्वात्प्राधान्येन वेदत्वे सत्यपि पृथग्ग्रहणम् । ये च(तथा)केचन श्लोकाः— " यदक्षरं पञ्चविधं समेति " इत्येवमादयः । सूत्राणि विवक्षितार्थवाचकानि वाक्यानि । भाष्याणि सूत्रादीनां विवरणानि । अन्यदपि वाङ्मयं यत उद्भूतं तस्य परमात्मनो वेदानुवचनादयो ज्ञानहेतवः । वेदानुवचनं वेदाध्ययनं, गुरुवचनमनु पश्चाद्वचनमनुवचनम् । अनेन च सर्वस्य वेदाध्ययनस्य गुर्वध्ययनपूर्वकत्वं वदन्वेदस्यापौरुषेयत्वं गमयति । यत्तु परमात्मसकाशाद्वेदानामुद्भव इत्युक्तं न तेन वेदानां पौरुषेयतापत्तिः । प्रमाणान्तरेण हि वाक्यार्थं निश्चित्य तत्प्रतिपादनायेदं प्रथमतया वाक्यस्योत्पादितत्वं पौरुषेयत्वम् । अत एव बृहदारण्यके निःश्वसिततुल्यत्वमुक्तम्—

" स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि निःश्वसितानि " इति ।

---

१ क. यच्च किञ्चन वाङ्मयम् । मे° । २ क. तस्य ।

ब्रह्मचर्यं ब्रह्मचारिकर्म । श्रद्धा भक्तिरास्तिक्यं वा । उपवासो गुरूपास्तिः । स्वातन्त्र्यं वश्येन्द्रियता । प्रसिद्धमन्यत् ॥ १८९ ॥ १९० ॥

पूर्वश्लोके ये निर्दिष्टा वेदानुवचनादयोऽर्थास्त एव ब्रह्मज्ञानस्वरूपमात्रोत्पादकतया विनियुक्ता इति भ्रान्तिनिरासायाऽऽह—

स ह्याश्रमैर्विजिज्ञास्यः समस्तैरेवमेव तु ॥
द्रष्टव्यस्त्वथ मन्तव्यः श्रोतव्यश्च द्विजातिभिः ॥ १९१ ॥

स खलु परमात्मा समस्तैश्चतुर्भिरप्याश्रमैर्विजिज्ञास्यो विशेषतो ज्ञातुमेष्टव्यः । अत्र परमात्मविषयविज्ञानस्याऽऽश्रमान्प्रति साध्यता प्रत्येतव्या, इष्यमाणत्वात् । न पुनस्तद्विषयेच्छाया इष्यमाणत्वं प्रति गुणत्वात् । प्रधानं च पदार्थान्तरेण संबध्यते न गुणः । न च प्रत्ययार्थत्वेनेच्छायाः प्राधान्यं वाच्यम् । स हि सन्प्रत्ययेन धात्वर्थमीप्सिततमं प्रति गुणत्वेनैवोच्यते, तेन प्रत्ययार्थत्वेऽपि तस्या गुणभाव एव प्रयोजनवानेव च धात्वर्थ इष्यते, न सुखावाप्तिवत्स्वरूपेण । तेन "ब्रह्म वेद ब्रह्म भवति । [* न च (स) पुनरावर्तते" इत्यादिवचनावगतौ(ता) पुनरावृत्तिप्रयोजनं विज्ञानमाश्रमाणां साध्यमित्युक्तं भवति]। ब्रह्मज्ञानस्य सप्रयोजनत्वादेव तद्विषयेच्छासिद्धेर्नेच्छाया विधेयता । अप्राप्तविषयत्वाद्विधेः । किं पुनस्तज्ज्ञानं वेदितव्यमित्यपेक्षित उक्तं—द्रष्टव्य इति । द्रष्टव्यः साक्षात्कर्तव्य इत्यर्थः । दर्शनोपायतयोक्तं—मन्तव्य इति । श्रुतस्य युक्तिभिरनुसंधानं मननम् । तच्च श्रवणमन्तरेण न संभवतीति मत्वोक्तं—श्रोतव्य इति । उपनिषद्वाक्येभ्योऽवधारणीयः । द्विजातिभिरिति शूद्रव्युदासार्थम् ॥ १९१ ॥

विहितयोर्ज्ञानकर्मणोः फलमाह—

य एवमेनं विन्दन्ति ये चाऽऽरण्यकमाश्रिताः ॥
उपासते द्विजाः सत्यं श्रद्धया परया युताः ॥ १९२ ॥
क्रमात्ते संभवन्त्यर्चिरहः शुक्लं तथोत्तरम् ॥
अयनं देवलोकं च सवितारं सवैद्युतम् ॥ १९३ ॥

---

* एतच्चिह्नान्तर्गतं न विद्यते घ. छ. पुस्तकयोः ।

---

१ ङ. 'मस्तैरे° । २ क. 'येच्छया । ३ घ. छ. 'माणं प्र° । ४ घ. छ. °ते गु' । ५ घ. छ. 'नादे° ।

ततस्तान्पुरुषोऽभ्येत्य मानवो ब्रह्मलौकिकान् ॥
करोति पुनरावृत्तिस्तेषामिह न विद्यते ॥ १९४ ॥

ये द्विजातय एनं परमात्मानमेवं श्रवणमननाभ्यां विन्दन्ति लभन्ते ब्रह्माहमस्मीति साक्षात्कुर्वन्ति, ये चाऽऽरण्यकमारण्याध्येतव्यं ब्रह्मविद्यात्मकं वेदभागं ब्रह्मप्रमाणतया समाश्रिताः सन्तः परमया भक्त्योपेताः सत्यं यथार्थभूतं परमेश्वरमुपासते ध्यायन्ति। अत्र ये चेत्युपासकत्वेन श्रवणमननं(न) कर्तृत्वेन समुच्चयार्थश्चकारो न पुरुषव्यक्तिसमुच्चयार्थः। तेन श्रवणमननध्यानार्चनवन्तो देहादुत्क्रम्य वक्ष्यमाणार्चिराद्यभिमानिनीर्देवताः संभवन्ति प्राप्नुवन्ति। अर्चिरग्निः। अहः दिवसः। शुक्लः शुक्लपक्षः। उत्तरमयनं सूर्यस्योदगयनम्। देवलोकसवितृवैद्युताः प्रसिद्धाः। ततो वैद्युताग्निं प्राप्तांस्तान्मानवः पुरुषोऽभ्येति। ततोऽसौ ब्रह्मलौकिकान्ब्रह्मलोकनिवासिनस्तान्करोति। ब्रह्मलोकं प्राप्तानां न पुनरावृत्तिर्जन्म न विद्यते ॥ १९२ ॥ १९३ ॥ १९४ ॥

काम्यकर्मकारिणः प्रत्याह—

यज्ञेन तपसा दानैर्ये हि स्वर्गजितो नराः ॥
धूमं निशां कृष्णपक्षं दक्षिणायनमेव च ॥ १९५ ॥
पितृलोकं चन्द्रमसं वायुं वृष्टिं जलं महीम् ॥
क्रमात्ते संभवन्तीह पुनरेव व्रजन्ति च ॥ १९६ ॥

फलार्थं विहितैर्यज्ञतपोदानादिभिर्ये स्वर्गं जितवन्तः स्वर्गप्रदं धर्मं कृतवन्तस्ते वक्ष्यमाणक्रमेण धूमादीन्संभवन्ति। धूमाद्यभिमानिनीर्देवताः प्राप्नुवन्ति। तत्र चन्द्रं यावदारोहणं वाय्वाद्यवरोहणं महीं पृथ्वीं तत्रत्यानोषधिवनस्पतीन्संभवन्तीत्यर्थः। तत ओषधिवनस्पतीन्भुक्तवतोः स्त्रीपुरुषयोर्विशुद्धे शुक्रशोणिते पञ्च धातूनित्यादि पूर्वोक्तमनुसंधेयम्। न पुनर्यज्ञाद्यनुष्ठाय देहपातादूर्ध्वमुक्तक्रमेण यान्त्यायान्ति च। अत एवोक्तं भगवता—

" गतागतं कामकामा लभन्ते "

इति गीतासु ॥ १९५ ॥ १९६ ॥

उक्तविपर्यये दोषमाह—

---

१ ङ. °नसो ब्र° ।

एतद्यो न विजानाति मार्गद्वितयमात्मनः ॥
दन्दशूकः पतङ्गो वा भवेत्कीटोऽथवा कृमिः॥ १९७॥

उक्तमात्मनो मार्गद्वयं यो न विजानाति ज्ञात्वा च तन्मार्गगमनोपायं नानुतिष्ठति, स दन्दशूकः सर्पः पतङ्गः पक्षी कृमिः कीटो वा भवेत् ॥ १९७ ॥

उपासनेतिकर्तव्यतामाह—

ऊरुस्थोत्तानचरणः सव्ये न्यस्येतरं करम् ॥
उत्तानं किंचिदुन्नम्य मुखं विष्टभ्य चोरसा ॥ १९८ ॥
निमीलिताक्षः सत्त्वस्थो दन्तैर्दन्तानसंस्पृशन् ॥
तालुस्थाचलजिह्वश्च संवृतास्यः सुनिश्चलः ॥ १९९ ॥
संनिरुद्धेन्द्रियग्रामो नातिनीचोच्छ्रितासनः ॥
द्विगुणं त्रिगुणं वाऽपि प्राणायाममुपक्रमेत् ॥ २०० ॥
ततो ध्येयः स्थितो योऽसौ हृदये दीपवत्प्रभुः ॥
धारयेत्तत्र चाऽऽत्मानं धारणां धारयन्बुधः ॥ २०१ ॥

अनतिनीचोच्छ्रित आसन उपविश्योत्तानौ चरणौ स्थापयित्वा पद्मासनं बद्ध्वेति यावत् । तदुपरि सव्ये करे दक्षिणं करमुत्तानं निधायाऽऽस्यं किंचिदुन्नम्य वक्षसा च कायं विष्टभ्याक्षिणी निमील्य रागद्वेषादिरजस्तमःकार्यविरोधि सत्त्वकार्यं मनःप्रसादादिकमास्थाय दन्तपङ्क्त्योरन्योन्यसंस्पर्शं परिहरंस्तालुनि जिह्वामचलां कृत्वा निष्कम्पः सन्विषयेभ्य इन्द्रियाणि प्रत्याहृत्य द्वादशमात्रिकात्कनीयसः प्राणायामाद्द्विगुणं त्रिगुणं वा प्राणायामं कुर्यात् । ततो हृद्व्योम्नि हितसंज्ञकनाडीसंभेदलक्षणे दीपवदवस्थित आत्मा सर्वेश्वरो ध्येयश्चिन्तनीयः । ध्यानानन्तरं धारणां कुर्वंस्तत्राऽऽत्मन्यात्मानमात्मीयं मनो धारयेन्नियच्छेत् । दत्तात्रेयः—

" निवाते विजने स्थाने शुभे चैव मनोरमे ।
निर्जन्तुके निराबाधे शर्करावालुकादिभिः ॥
शब्दादिवर्जिते स्थाने शुभं कृत्वा तु संस्तरम् ।
बद्ध्वा सुखासनं तत्र प्राङ्मुखो वाऽप्युदङ्मुखः ॥

---

१ ङ. °त्मवान् । द° । २ ङ. न्यस्योत्तरं । ३ ङ. °रुध्येन्द्रियग्रामं ना° । ४ छ. °क्षणी दी° ।

कृत्वा सुसंनतं [illegible] सुसमं योगवित्तमः ।
नमस्कृत्य महादेवं महायोगीश्वरं हरिम् ॥
शोधयित्वा पुरा नाडीः प्राणायामांश्चरेत्ततः ।
प्राणायामांश्चरेत्तावद्यावच्चित्तं प्रसीदति " ॥

महाभारते—" यमनियम(मासन) प्राणायामप्रत्याहारधारणा-
ध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि योगस्य " ॥

ब्रह्मपुराणे—" ब्रह्मचर्यमहिंसा च सत्यास्तेयापरिग्रेहान्[१] ।
सेवेत योगी निष्कामो योग्यतां स्वमनो नयन् ॥
स्वाध्यायशौचसंतोषतपांसि नियतात्मवान् ।
कुर्वीत ब्रह्मणि तथा परस्मिन्प्रवणं मनः ॥
एते यमाश्च नियमाः पञ्च पञ्च प्रकीर्तिताः ।
विशिष्टफलदाः काम्या निष्कामानां(णां) विमुक्तिदाः ॥
एकं भद्रासनादीनां समास्थाय गुणैर्युतः ।
यमाख्यैर्नियमाख्यैश्च युञ्जीत नियतो मुनिः " ॥

वायुपुराणे—"पद्ममर्धासनं वाऽपि तथा स्वस्तिकमासनम् ।
आस्थाय योगी युञ्जीत कृत्वा तु प्रणवं हृदि " ॥

मार्कण्डेयपुराणे—" प्राणापाननिरोधश्च प्राणायाम उदाहृतः " ॥

विष्णुपुराणे—" प्राणाख्यमनिलं वश्यमभ्यासात्क्रिय(त्कुरु)ते हि यः ।
प्राणायामः स विज्ञेयः सबीजोऽबीज एव च " ॥

सबीजः समन्त्रकः । अबीज इतरः ।

मार्कण्डेयपुराणे—" लघुमर्ध्योत्तरीयाख्यः प्राणायामस्त्रिधोदितः ।
तस्य प्रमाणं वक्ष्यामि तदलर्क शृणुष्व मे ॥
लघुर्द्वादशमात्रस्तु द्विगुणः स तु मध्यमः ।
त्रिगुणाभिस्तु मात्राभिरुत्तमः स उदाहृतः ॥
निमेषोन्मेषणे मात्रा तालो लघ्वक्षरस्तथा " ॥

योगयाज्ञवल्क्यः—" अङ्गुलिमोक्षत्रितयं जान्वोः परिमार्जनं वाऽपि ।
तालत्रयमपि तज्ज्ञा मात्रासंज्ञं प्रशंसन्ति " ॥

---

१ छ. 'योगेश्व'। २ क. 'ग्रहम् । से'। ३ छ. 'न् । संवीत । ४ क. 'तां समनो नयेत् । स्वा'
५ क. 'न्प्रणवं । ६ क. 'ध्योतुरी' ।

(यतिप्रकरणम् ४)

देवलः—" त्रिविधः प्राणायामः कुम्भो रेचनं पूरणमिति ।
निःश्वासनिरोधः कुम्भः । अजस्रनिःश्वासो रेचनम् ।
निःश्वासाध्मानं पूरणमिति । स पुनरेकद्वित्रिभिरुद्धा-
तैर्मृद्वंस(दुर्म)न्दस्तीक्ष्णो वा भवति । प्राणापानव्यानोदान-
समानानां सकृदुद्गमनं(म्य) मूर्धानमाहत्य निवृत्तिरुद्धातः " ॥

मार्कण्डेयपुराणे—" प्रथमेन जयेत्स्वेदं द्वितीयेन तु वेपथुम् ।
विषादं तु तृतीयेन जयेद्दोषमनुक्रमात् ॥
मृदुत्वे सेवमानस्य सिंहशार्दुलकुञ्जराः ।
यथा यान्ति तथा प्राणो वश्यो भवति योगिनः ॥
वश्यं सन्तं यथेच्छातो नागं वहति हस्तिपः ।
तथैव योगी छन्देन प्राणं नैयति साधितम् ॥
यथा हि साधितः सिंहो मृगान्हन्ति न मानवान् ।
तद्वन्निषिद्धः पवनः किल्बिषं न नृणां तनुम् ॥
तस्माद्युक्तः सदा योगी प्राणायामपरो भवेत् ।
इत्थं योगी यताहारः प्राणायामपरायणः ॥
जितां जितां शनैर्भूमिमारु(रो)हेत्तु यथा गृहम् ।
दोषान्व्याधिं तथा मोहमाक्रान्ता भूरनिर्जिता ॥
विवर्धयति नाऽऽरोहेत्तस्माद्भूमिमनिर्जिताम् ।
प्राङ्नाभ्यां हृदये चाथ तृतीया च तथोरसि ॥
कण्ठे मुखे नासिकाग्रे नेत्रभ्रूमध्यमूर्धसु ।
किंचित्तस्मात्परस्मिंश्च धारणा परमा स्मृता ॥
दशैता धारणाः प्राप्य प्राप्नोत्यक्षरसात्म्यताम् ।
नाऽऽध्मातः क्षुधितः श्रान्तो न च व्याकुलचेतनः ॥
युञ्जीत योगं राजेन्द्र योगी सिद्ध्यर्थमादृतः ।
नातिशीते न चैवोष्णे द्वंद्वे नाम्ब्वनिलात्मके ॥
कालेष्वेतेषु युञ्जीत न योगं ध्यानतत्परः ।
सशब्देऽग्निजलाभ्याशे जीर्णगोष्ठे चतुष्पथे ॥
शुष्कपर्णचये नद्यां श्मशाने ससरीसृपे ।
सभये कूपतीरे वा चैत्यवल्मीकसंचये ॥

[1] छ. 'मृदुस्तौ'। २ छ. मृतसंभे'। ३ छ नियति । ४ छ. 'जिताः । वि' । ५ क. नेत्रेभ्रू'।

देशेष्वेतेषु तत्त्वज्ञो योगाभ्यासं विवर्जयेत् ।
सत्त्वस्यानुपपत्तौ च देशकालविवर्जिते ॥
न सतो दर्शनं यागं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ।
दोषानेताननादृत्य मूढत्वाद्यो युनक्ति वै ॥
विघ्नाय तस्य ये दोषा जायन्ते तान्निबोध मे ।
बाधिर्यं[1] जडता लोपः स्मृतेर्मूकत्वमन्धता ॥
ज्वरश्च जायते सद्यस्तद्वदज्ञानयोगिनः ।
प्रमादाद्योगिनो दोषा यद्येते स्युश्चिकित्सितम् ॥
तेषां नाशाय कर्तव्यं योगिनस्तन्निबोध मे ।
स्निग्धां यवागूमत्युष्णां भुक्त्वा तत्रैव धारयेत् ॥
वातगुल्मप्रशान्त्यर्थं गुल्मावर्ते तथा दधि ।
यवागूं वाऽपि पवनं वायुग्रन्थीन्प्रति क्षिपेत् ॥
तद्वत्कम्पो(म्पे) महाशैलं स्थितं मनसि धारयेत् ।
विघाते वचसो वाचि बाधिर्ये श्रवणेन्द्रिये ॥
तथैवाऽऽम्रफलं ध्यायेत्तृषार्ते रसनेन्द्रिये ।
यस्मिन्यस्मिन्रुजा देशे तस्मिंस्तदुपकारिणीम् ॥
धारयेद्धारणामुष्णे शीतां शीते विदाहिनीम् ।
कीलं शिरसि संस्थाप्य काष्ठं काष्ठेन ताडयेत् ॥
लुप्तस्मृतेः स्मृतिः सद्यो योगिनस्तेन जायते ।
यावत्पृथिव्यां वाय्वग्नी व्यापिनावपि धारयेत् ॥
अमानुषात्सत्त्वजाताद्बाधा स्याच्चेच्चिकित्सयेत् ।
अमानुषं सत्त्वमन्तर्योगिनं(नः) प्रविशेद्यदि ॥
वाय्वग्निधारणादेनं देहसंस्थं विनिर्दहेत् ।
एवं सर्वात्मना कार्या रक्षा योगविदा नृप ॥
धर्मार्थकाममोक्षाणां शरीरं साधनं यतः ।
प्राणायामा दश द्वौ च धारणा साऽभिधीयते ॥
द्वे धारणे स्मृते[2] योगे योगिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।
तथा वै योगयुक्तस्य योगिनो नियतात्मनः ॥

---

१ क. °धितं ज° । २ क. स्मृतियोगो यागि° ।

सर्वे दोषाः प्रणश्यन्ति स्वस्थश्चैवोपजायते[1] ।
ईक्षते च परं ब्रह्म प्राकृतांश्च गुणान्पृथक् ॥
व्योमादिपरमाणूंश्च तथाऽऽत्मानमकल्मषम् " ।

तथा—" शब्दादिभ्यो निवृत्तानि यदक्षाणि यतात्मभिः ।
प्रत्याह्रियन्ते योगेन प्रत्याहारस्ततः स्मृतः " ॥

हारीतः—" अणुत्वाल्लाघवाच्चापलाद्वायोर्योगभ्रष्टस्य मनसः समानीयार्थे योजनं प्रत्याहारः " ।

विष्णुपुराणे—" शब्दादिष्वनुरक्तानि सम्यगक्षाणि योगवित् ।
कुर्याच्चित्तानुकारीणि[2] प्रत्याहारः स उच्यते ॥
वश्यता परमा तेषां जायतेऽतिबलात्मनाम् ।
इन्द्रियाणामवश्यैस्तैर्न[3] योगी योगसाधनः " ॥

देवलः—" शरीरेन्द्रियमनोबुध्यात्मनां धारणाद्धारणा[4] " ।

अत्राऽऽत्माऽहंकारः ।

शङ्खः—" मनःसंयमनात्तज्ज्ञैर्धारणेति निगद्यते " ।

मार्कण्डेयपुराणे—" योगयुक्तः सदा योगी लध्वाहारो जितेन्द्रियः ।
सूक्ष्मास्तु धारणाः सप्त भूराद्या मूर्ध्नि धारयेत् ॥
धरित्रीं धारयन्योगी गन्धसौक्ष्म्यं प्रपद्यते ।
आत्मानं मन्यते पृथ्वीं तद्गन्धं च जहाति सः ॥
तथैवाप्सु रसं सूक्ष्मं तद्वद्रूपं च तेजसि ।
स्पर्शं वायौ तथा तद्वद्बिभ्रतस्तस्य धारणाम् ॥
व्योम्नः सूक्ष्मप्रवृत्तस्य शब्दं तद्वज्जहाति सः ।
मनसा सर्वभूतानां मन आविशते यदा[5] ॥
मानसीं धारणां बिभ्रन्मनःसौक्ष्म्यं जहाति च ।
तद्वद्बुद्धिमशेषाणां सत्त्वानामेत्य योगवित् ॥
परित्यजति संप्राप्य बुद्धिसौक्ष्म्यमनुत्तमम्[6] ।
एतासां धारणानां तु सप्तानां सौक्ष्म्यमाप्तवान् ॥

---

१ क. घ. स्वस्तिश्चै°। २ क. °च्चित्तानु°। ३ छ. °वश्यैस्तै°। ४ क. °णा । अ°। ५ क. यदि ।
६ क. °मनन्तरम् । ए°।

दृष्ट्वा दृष्ट्वा ततः सिद्धिं त्यक्त्वा त्यक्त्वा परां[1] भजेत् ।
एतान्येव च संधाय सप्त सूक्ष्माणि पार्थिव ॥
भूरादीनां[2] विरागोऽत्र सद्भाववैज्ञस्य[3] मुक्तये "।

विष्णुपुराणे—"प्राणायामेन पवनैः प्रत्याहारेण चेन्द्रियैः ।
वशीकृतं ततः कुर्यात्स्थितं चेतः शुभाश्रये ॥
तद्रूपप्रत्ययायैकसंततिः साऽन्यनिःस्पृहा ।
तद्ध्यानं प्रथमैरङ्गैः षड्भिर्निष्पाद्यते नृप " ॥

अयमर्थः—ब्रह्मरूपप्रत्ययात्मिका संततिः प्रवाहः, सा विषयान्तरासंस्पृष्टा सती ध्यानमित्युच्यत इति ।

तथा—तस्यैव कल्पनाहीनं स्वरूपग्रहणं हि यत् ।
मनसा ध्याननिष्पाद्यं समाधिः सोऽभिधीयते " ॥

तस्य ब्रह्मणः कल्पनाहीनं ध्येयं ध्यानं ध्यातेतिभेदप्रत्ययरहितं ध्यानजनितसंस्कारसहितेन मनसा निर्विकल्पकमहं ब्रह्मास्मीति प्रत्यक्षसमाधिः । ध्रियमाणशरीरस्य ब्रह्मसाक्षात्कारोऽपि मानस[4] इत्यभिप्रायेण मनसेत्युक्तम् । मुक्तावेव स्वयंप्रकाशो ब्रह्मीभावः । शरीरपातोत्तरकाला च मुक्तिरित्यतो वाक्याद्गम्यते ।

विष्णुः—" ऊरुस्थोत्तानचरणः सव्ये करे करं न्यस्य तालुस्थाचलजिह्वो दन्तैर्दन्तानसंस्पृशन्स्वं नासाग्रं पश्यन्दिशस्त्वनवलोकयन्विभीः प्रशान्तात्मा चतुर्विंशत्यात्मतत्त्वैर्व्यतीतं चिन्तयेन्नित्यमतीन्द्रियमगुणं शब्दस्पर्शरसरूपगन्धातीतं सर्वस्थमतिस्थूलं सर्वगमतिसूक्ष्मं सर्वतःपाणिपादान्तं सर्वतोक्षिशिरोमुखं सर्वतःशक्तिमेवं ध्यायेत् । ध्याननिरतस्य संवत्सरेण योगाविर्भावो[5] भवति । अथ निराकारे लक्ष्यबन्धं कर्तुं न शक्नोति, तदा पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशादिमनोबुद्ध्यात्माव्यक्तपुरुषाणां पूर्वं पूर्वं ध्यात्वा तत्र लब्धलक्ष्यस्तं परित्यजेदपरमपरं ध्यायेत् । एवं पुरुषो ध्यानमारोहेत् । तत्राप्यस-

१ क. परं । २ क. भूतादी° । ३ क. °वस्य च मु° । ४ क. मनस । ५ क. °पो योगमा° ।

मर्थो हृदयपद्मस्य मध्ये दीपवत्पुरुषं ध्यायेत्। एवं पुरुषध्यानमपोहेत्। तत्राप्यसमर्थो भगवन्तं वासुदेवं कुण्डलिनमङ्गदिनं वनमालाविभूषितोरस्कं स्वरूपं चतुर्भुजं शङ्खचक्रगदापद्मधरं चरणमध्यगतवसुधं ध्यायेत्। यद्यद्ध्यायति तत्तदाप्नोतीति ध्यानगुह्यम्[1]। तस्मात्सर्वमेव क्षरं त्यक्त्वाऽक्षरमेव ध्यायेत्। न पुरुषं विना किंचिदप्यक्षरमस्ति तं प्राप्य मुक्तो भवति"।

मनुः—"पुरमाक्रम्य सकलं शेते यस्मान्महाप्रभुः।
तस्मात्पुरुष इत्येव प्रोच्यते तत्त्वचिन्तकैः॥
प्राग्रात्रापररात्रेषु योगी नित्यमतन्द्रितः।
ध्यायते पुरुषं नित्यं निर्गुणं पञ्चविंशकम्॥
एतद्वोऽभिहितं सर्वं निःश्रेयसकरं परम्।
अस्मादप्रच्युतो विप्रः प्राप्नोति परमां गतिम्॥
एवं स भगवान्देवो लोकानां हितकाम्यया।
धर्मस्य परमं गुह्यं ममेदं सर्वमुक्तवान्॥
सर्वमात्मनि संपश्येत्सच्चासच्च समाहितः।
सर्वमात्मनि संपश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः॥
आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम्॥
खं संनिवेशयेत्खे तु चेष्टनस्पर्शनेऽनिलम्।
पङ्क्तिदृष्ट्योः[2] परं तेजः स्नेहोऽ(हेऽ)पो गां च मूर्तिषु॥
मनसीन्द्रं[3] दिशः श्रोत्रे क्रान्ते विष्णुं बले हरम्।
वाच्यग्निं मित्रमुत्सर्गे प्रजने च प्रजापतिम्॥
प्रशासितारमेतेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्॥
एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥
एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्तिभिः।
जन्मवृद्धिक्षयै नित्यं संसारयति चक्रवत्॥

---

१ क. ध्यानं गु°। २ क. 'दृष्ट्योः प°'। ३ क. 'सीन्द्रदि°'।

य एवं सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना ।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम् " ॥ १९८ ॥
॥ १९९ ॥ २०० ॥ २०१ ॥

योगसिद्धेर्लक्षणमाह—

अन्तर्धानं स्मृतिः कान्तिर्दृष्टिः श्रोत्रज्ञता तथा ॥
निजं शरीरमुत्सृज्य परकायप्रवेशनम् ॥ २०२ ॥
अर्थानां छन्दतः सृष्टिर्योगसिद्धेस्तु लक्षणम् ॥
सिद्धे योगे त्यजन्देहममृतत्वाय कल्पते ॥ २०३ ॥

अन्तर्धानमदृश्यशरीरत्वम् । तच्चाणुपरिमाणत्वे तस्य भवति । तच्चाणिमाख्यगुणप्राप्त्या, स्मृतिर्जन्मान्तरानुभूतार्थविषया । कान्तिः कमनीयत्वं, दृष्टिरतीतानागतव्यवहितविप्रद(कृ)ष्टार्थे(र्थ)विषया । श्रोत्रज्ञता श्रोत्रेन्द्रियसाक्षात्कारित्वम् । अनेन चाऽऽत्मव्यतिरिक्ताव्यक्तबुद्ध्यहंकारपञ्चतन्मात्रैकादशेन्द्रियपञ्चभूतानां साक्षात्कारित्वमुपलक्ष्यते। निजं स्वकीयं शरीरं पूर्वकर्मारब्धमुत्सृज्य परकायं प्रविश्य तदन्तर्गततया तद्विषयोपभोक्तृत्वम्। अर्थानां पृथिव्यादीनां स्रष्टव्यानां स्वेच्छया स्वातन्त्र्येणोत्पादनमित्येतद्योगसिद्धेर्लक्षणं लिङ्गम्। एतच्च लक्षणमेव योगसिद्धेर्न प्रयोजनम्। प्रयोजनं त्वमृतीभाव एव, तदाह-सिद्धे योगे त्यजन्देहममृतत्वाय कल्पत इति । त्यजन्देहमितिवचनसामर्थ्याच्छरीरे नास्ति मुक्तिरिति दर्शयति । युक्तं चैतत् । मुक्तिर्हि बन्धाभावः । बन्धश्चोपाधिभूतान्तःकरणसंबन्धः । शरीरं च बध्यतेऽन्तःकरणेन, शरीरी तेनोपाधीयत इति व्याहतम्। रागद्वेषमोहादीनां क्षयोऽन्तर्धानादिगुणोदयश्च न मोक्षः, प्रत्युत मोक्षान्तरायः । अत एव च तत्राऽऽसक्तिर्योगिना परिहरणीयेति यत्नतः शास्त्रकारैरुच्यते ॥ २०२ ॥ २०३ ॥

एतत्सर्वं यतिं प्रत्यभिहितम्। वानप्रस्थं प्रतीदानीमाह—

अथवाऽप्यभ्यसन्वेदं न्यस्तकर्मा वने वसन् ॥
अयाचिताशी मितभुक्परां सिद्धिमवाप्नुयात् ॥२०४ ॥

चतुर्णां वेदानामेकं वेदमेकां शाखामरण्ये निर्जने। अयाचिताशी स्वयमुपनताशी, मितभुक्प्राणधारणायैव भुञ्जानो न्यस्तकर्मा त्यक्तकाम्यनिषिद्ध-

१ क. °दृश्य° । २ क. °तानवे° । ३ छ °नां द्रष्टृ° । ४ क. प्रचक्ष° । ५ क. °रण्यै° ।

क्रियः । अथवा ब्रह्मणि निक्षिप्तावश्यकक्रियः । परां सिद्धिं मुक्तिमवाप्नुयात् ॥ २०४ ॥

इदानीं गृहस्थं प्रत्याह—

न्यायार्जितधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः ॥
श्राद्धकृत्सत्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते ॥२०५॥

न्यायेनानिषिद्धेन कर्मणाऽर्जितं स्वीकृतं धनं येन स न्यायार्जितधनः । तथा तत्त्वज्ञाने निष्ठा तात्पर्यं यस्य स तत्त्वज्ञाननिष्ठः । अतिथयः प्रिया यस्य सोऽतिथिप्रियः । तत्प्रियत्वेन च तत्पूजकत्वं लक्ष्यते । श्राद्धमावश्यकं पार्वणादिकं करोतीति श्राद्धकृत् । भूतहितार्थं वाक्यं सत्यं तद्वदतीत्येवंशीलः सत्यवादी । एवंविधो गृहस्थोऽपि विमुच्यतेऽपवृज्यते । अपिशब्देनान्येऽप्याश्रमिणो गृह्यन्ते । अत्र च न्यायार्जितधनत्वादिभिर्वर्णाश्रमधर्मा नित्यनैमित्तिकाश्चोपलक्षिता ज्ञानसहिता मुक्तये विधीयन्ते, तदेतद्व्याख्यानं केचिन्नानुमन्यन्ते, यत एतदर्थायाः स्मृतेरस्याः श्रुतिविरोधः स्यात् । तथा हि—

" न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः ।
परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति "

इत्यनेन गृहस्थधर्माणां यागादिकर्मप्रजोत्पादनादीनाममृतत्वप्राप्तिहेतुभावं प्रतिषिध्य यतीनामेव तत्प्राप्तिर्विधीयते । तेनात्र त्यागशब्देन ब्रह्मचर्याद्याश्रमत्रयकर्मणां त्यागादमृतीभाव इति प्रतिपाद्यते । तथा यतिव्यतिरिक्ताश्रमिणां पुण्यलोकप्राप्तिर्यतेरेवामृतप्राप्तिरिति च्छान्दोग्योपनिषत्—

" सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति " इति ॥

ब्रह्मसंस्थो भिक्षुः । तथाऽग्निहोत्रादीन्यावश्यकानि कर्माणि दुरितक्षयाय श्रुत्या विहितानि । तानि मुक्तये विदधाना स्मृतिः श्रुत्या विरुध्यत एव । यदुच्यते श्रुत्यैव—

" विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा न चै(ऽनाश)केन "

इत्यादिकया वर्णाश्रमकर्माणि मुक्तौ विनियुक्तानीति, तन्न ब्रह्मज्ञानेच्छायामेव ह्येषा श्रुतिः कर्मणां विनियोक्त्री, न मुक्तौ नापि तत्साधने ज्ञाने । इच्छाऽपि च विधेयप्रतियोगिनी भवति । यथा भेषजविशेषस्य बुभुक्षा । ननु च

१ ङ. 'यागत°' । २ छ. यद्युच्य° । ३ छ. विधीय° ।

प्रधानेऽन्यत्प्रधीयते न गुणे, विविदिषन्तीत्यत्र च वेदनमिच्छां प्रति प्रधानम्। तेन विद्यायामेवमाद्येच्छां प्रति कर्मीभूतायां कर्मणां विनियोगो नेच्छायाम्। यथाऽश्वेन जिगमिषतीत्यश्वस्य गतौ, न पुनस्तदिच्छायामित्युच्यते । सत्यं प्रधानेऽन्यद्विनियुज्यते। प्रधानं तु द्विविधम्— शाब्दमार्थं च । तत्र शाब्दमन्वय उपयुज्यते नाऽऽर्थम् । अत एव राजपुरुषमानयेति पुरुष आनयनेन संबध्यते, न राजाऽर्थतः प्रधानभूतोऽपि। स हि शब्देन विशेष(ष्य)तया प्रधानभूतं पुरुषं प्रति विशेषणतां नीयते। सन्नन्तेषु च शब्देषु इच्छैव प्रत्ययार्थत्वात्प्रधानम् । तेन तत्रैव यज्ञादिविनियोगः । अश्वस्य तु गत्यन्वयः प्रमाणान्तरवशान्न शब्दतः प्रसिद्धहेतुकायामपि विविदिषायां, वैदिको यज्ञादिरुपायः पशुप्राप्ताविव चित्रादिः "चित्रया यजेत पशुकामः" इत्यत्र । किं च कर्माणि कुर्वताऽहं कर्ता कर्मणां फलभोक्ता चेतिप्रत्ययदार्ढ्यमवलम्बनीयम् । तत्त्वज्ञाननिष्ठेन पुनरस्यैव प्रत्ययस्य मिथ्यात्वमापाद्यम् । ततश्च ज्ञानकर्मणोर्विरोधादसमुच्चयः षोडशिन इव ग्रहणाग्रहणयोः। किं च परमकार्यभेदेऽवान्तरव्यापारभेदे तु कारकं कारकान्तरेण समुच्चीयते। यथा "अरुणयैकहायन्या पिङ्गाक्ष्या सोमं क्रीणाति" इत्यत्राऽऽरुण्यमेकहायन्या न पुनरवान्तरव्यापारैक्ये, न हि व्रीहयो यवैः समुच्चीयन्ते । तुल्यं च ज्ञानकर्मणोर्दुरितक्षपणमवान्तरकार्यम् । न च ज्ञानस्याविद्यानिवृत्तिरेव कार्यं न तु कर्मक्षय इति वाच्यम्। न हि कर्मजन्याया अविद्यायाः कर्माण्यक्षपयता ज्ञानेन निवृत्तिः शक्या कर्तुम् । तस्मान्न्यायविरुद्धमपि समुच्चयस्मरणं स्मृत्यन्तरविरुद्धं च । तत्र महाभारते—

शुक उवाच— " यदिदं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च ।
कां दिशं विद्यया याति कां च गच्छति कर्मणा ॥
एते चान्योन्यवैरूप्ये वर्तेते प्रतिकूलता(तः) ।
इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं पराशरसुतः सुतम् ॥
कर्मविद्यामयावेतौ व्याख्यास्यामि क्षराक्षरौ ।
यां दिशं विद्यया याति यां च गच्छति कर्मणा ॥
शृणुष्वैकमनाः पुत्र गह्वरं ह्येतदन्तरम् ।
कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च प्रमुच्यते ॥

---

१ क. °न्यद्विधी°। २ क. तेनावि°। ३ क. °पाराभे°। ४ छ. °रैक्येन। ५ क. एत्य चान्योन्यरूपे वर्तते प्रतिकूलतः। इ°। ६ छ. °त्युक्त्वा प्र°।

तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ।
कर्मणा जायते प्रेत्य मूर्तिमान्षोडशात्मकः ॥
विद्यया जायते नित्यमव्ययो ह्यव्ययात्मकः ।
कर्म त्वेके प्रशंसन्ति स्वल्पबुद्धितरा नराः ॥
तेन ते देहजातानि रमयन्त उपासते ।
ये तु बुद्धिपथं प्राप्ता धर्मनैपुणदर्शिनः ॥
न ते कर्म प्रशंसन्ति कूपं नद्यां पिबन्निव ।
कर्मणा फलमाप्नोति सुखदुःखे भवाभवौ ॥
विद्यया तदवाप्नोति यत्र गत्वा न शोचति ।
यत्र गत्वा न म्रियते यत्र गत्वा न जायते ॥
न हीयते यत्र गत्वा यत्र गत्वा न वर्धते " इति ।

मार्कण्डेयपुराणे पितापुत्रसंवादे—

" एवं संसारचक्रेऽस्मिन्भ्रमता तात संकटे ।
ज्ञानमेतन्मया [1]प्रोक्तं मोक्षसंप्राप्तिकारणम् ॥
विज्ञाते यत्र सर्वोऽयमृग्यजुःसामसंज्ञितः ।
क्रियाकलापो विगुणो न सम्यक्प्रतिभाति मे ॥
तस्मादुत्पन्नबोधस्य वेदैर्मे किं प्रयोजनम् " ।

बृहस्पतिः—"सत्यं ज्ञानं तपो दानमेतद्धर्मस्य साधनम् ॥
धर्मात्सुखं च ज्ञानं च ज्ञानान्मोक्षोऽधिगम्यते " इति ।

तस्मादुक्तविरोधपरिहाराय स्मृतिरियमेवं व्याख्यातव्या । गृहस्थोऽपि [2]विधि-विहितकर्मकारी मुक्त्यनर्होऽपि तत्त्वज्ञाननिष्ठत्वाद्विमुच्यते किं पुनर्भिक्षुः कर्म-त्यागी तत्त्वज्ञानैकनिष्ठ इति । तदेतदन्ये नानुमन्यन्ते । न हि समुच्चयविधाय-कस्मृतेः श्रुतिविरोधादप्रामाण्यमस्ति । यतः समुच्चयविधायकं प्रत्यक्षमेव श्रुतिवाक्यमस्या मूलमस्ति । तद्यथा—

" विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह । अविद्यया मृत्युं
तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते " इति ।

विद्या ब्रह्मज्ञानम् । अविद्या कर्म । तदुभयं सह समुच्चयं यो वेदानुष्ठान-[3]यन्ततया जानाति ■ कर्मणा मृत्युं मृत्युफलदं दुरितं तीर्त्वाऽतिक्रम्य

---

1 क. प्राप्तं । २ छ. विविधवि° । ३ क. 'ति स्वक' ।

विद्ययाऽमृतमश्नुत इति प्रसिद्धार्थम्। अत्र च विद्याशब्दं देवताज्ञानपरत्वेन केचन व्याचक्षते, तदयुक्तम्। प्रकृतहान्यप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्गात्। "ईशा वास्यम्" इत्यादिना परमेश्वरस्यैव प्रकृतत्वात्। एवमत्र मन्त्रे विद्याकर्मणोरमृतीभावे समुच्चयः। तदुपपादकतया चावान्तरव्यापारभेदो विद्यया मृत्युं तीर्त्वेति कथितः। क्त्वाप्रत्ययेन च विद्यां प्रति कर्मणोऽङ्गभावः। एतदेव स्पष्टयति—"विविदिषन्ति यज्ञेन" इत्यादिश्रुतिः। यद्यप्यत्र विविदिषा प्रत्ययार्थत्वाच्छब्दतः प्रधानं तथाऽपि न तत्र यज्ञान्वयो वाक्यप्रमेयोऽर्थसिद्धत्वात्। तथा हि—न हि विविदिषासंबन्धमन्तरेण विद्यार्थता यज्ञादीनामस्ति। न ह्यनिष्यमाणं प्रधानं भवति, तेन यज्ञादीन्प्रति विद्यायाः प्राधान्याद्विविदिषान्वयस्तेषां गम्यमानो न विधेयः, किं तु विद्यान्वय एवाप्राप्तत्वात्। यथा "एतयाऽन्नाद्यकामं याजयेत्" इत्यत्र याजनान्वयमनूद्य यागान्वय एव प्राप्तोऽन्नाद्यकामस्य विधीयते। अत एव चाश्वेन जिगमिषतीत्यत्राश्वेन गत्यन्वयः शाब्द एव। अस्तु वा विविदिषैव यज्ञादीन्प्रति प्रधानं किं तु विविदिषाप्रयोजनीभूतया च विद्यया विशिष्टेच्छा विविदिषोच्यते[३]। यच्च प्रयोजनवतोऽङ्गं तत्प्रयोजनस्यापि। यथा "अग्निं चित्वा सौत्रामण्या यजेत" इति। अत्र सौत्रामण्यग्निं प्रत्यङ्गं भवन्ती तत्प्रयोजनं यागं प्रति चाङ्गतां याति। विद्याऽपि चापवर्गेण फलेन फलवती सती[४]च्छायाः प्रयोजनं भवति, न केवला। ततश्च विद्याङ्गभावं भजन्तोऽप्यविद्यादयोऽपवर्गेऽङ्गतां यान्ति। विद्यायाश्चापवर्गः फलं "ब्रह्मविदाप्नोति परम्। ब्रह्म वेद ब्रह्म भवति" इत्यादिवाक्यप्रसिद्धेः[६]। न च वाच्यं यथाऽऽधानमाहवनीयादिस्वरूपोत्पत्त्यङ्गं न तु तत्कार्योत्तरक्रत्वर्थं तथा यज्ञादयोऽपि विद्यास्वरूपमुत्पादयन्ति न तु तत्कार्यमपवर्गं कुर्वन्तीति। युक्तं ह्याधानस्याऽऽहवनीयादिस्वरूपोत्पत्तिमात्रशेषत्वम्। न ह्याधानविनियोगदशायां "यदाहवनीये जुहोति" इत्यादिभिराहवनीयादीनां प्रयोजनवतामवगमोऽस्ति। प्रसिद्धे ह्याहवनीयादौ तत्प्रयोजनावगमो भवति। तत्प्रसिद्धिश्चाऽऽधानविनियोगायत्ता। तेन पूर्वमाधानमग्निषु विनियोज्यं पश्चात्क्रतुष्वग्नयः। तेनागत्या विनियोक्ष्यमाणातीन्द्रियाहवनीयादिस्वरूपशेषताऽऽधानस्याऽऽश्रीयते, न तु गतिसंभवे। संभवति चात्र गतिः। यज्ञादिविनियोगात्प्रागेव विद्याया अपवर्गताज्ञानात्। विद्यास्वरूपस्य चैन्द्रिय-

---

१ छ. चाऽऽवर्तनव्या'। २ क. 'योऽर्थे सि'। ३ क. 'ते। तच्च। ४ छ. 'तीच्छया प्र'। ५ क. 'द्याङ्गभावं भजन्तोऽपि वि'। ६ छ. 'सिद्धः। न।

कत्वात् । नच यथा पश्वादीनां प्रमाणान्तराद्विदितपुरुषार्थभावानां शास्त्रेण चित्रादिरुपायो विधीयते तथा विद्यायां यज्ञादिरिति वाच्यम् । तस्य प्रमाणान्तरतः पुरुषार्थत्वावेदनात् । तस्माच्छास्त्रावगम्यापवर्गहेतुभूतायां विद्यायां साक्षादिच्छाद्वारेण वा यज्ञादयो विनियुज्यन्त इति सिद्धम् । ततश्च सर्वाण्येवाऽऽवश्यकानि वर्णाश्रमकर्माणि मोक्षे साध्ये ब्रह्मज्ञानेन समुच्चीयन्ते । "न कर्मणा" इत्यादयस्तु कर्मणां मोक्षोपायत्वनिषेधाज्ज्ञानरहितकर्मविषयाः । अन्यथा समुच्चयविधिनिरोधः स्यात् । अत एव मन्त्रेणाविद्याशब्दवाच्यं कर्म केवलं निन्दित्वा विद्याऽपि केवला निन्द्यते "अन्धं तमः प्रविशन्ति ये विद्यामुपासते । ततो भूय इव ते तमो यदविद्यायां रताः" इति । यदपि च "सर्वे एते पुण्यलोका भवन्ति" इति वाक्यं तदपि केवलकर्मविषयम् । "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" इत्यस्यायमर्थः—प्रकृतानामाश्रमिणां मध्ये यो ब्रह्मसंस्थो ब्रह्मप्रवणो ब्रह्मज्ञानाङ्गभूतं कर्म करोतीति यावत्, सोऽमृतत्वमेतीति । न पुनर्ब्रह्मसंस्थशब्देन भिक्षुराख्यायते । तस्य तत्संज्ञत्वे प्रमाणाभावात् । योऽपि विद्याकर्मणोर्विरोध उक्तः सोऽपि नोपासनात्मिकया विद्यया किंतु साक्षात्कारात्मिकया ।

तथा चोक्तम्—"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" इति ॥

तस्माद्गृहस्थोऽपि विमुच्यत इति स्मृतिर्न भङ्क्त्वा व्याख्येया । गृहस्थस्य तु मुक्तिरुक्ता छान्दोग्ये "कुटुम्बी शुचौ देशे वेदमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्याहिंसन्सर्वभूतानि अन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न पुनरावर्तते" इति । विहिता हिंसा तीर्थानि(र्थेषु) । ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोकः । मुक्तौ ज्ञानकर्मसमुच्चयं स्मृतिकाराश्चाऽऽहुः ।

तत्र मनुः—"सुखाभ्युदयिकं चैतन्नैःश्रेयसिकमेव च ।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥
इह वाऽमुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते ।
ज्ञानपूर्वं तु विद्वद्भिर्निवृत्तमुपदिश्यते ॥
प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम् ।
निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै" ॥

---

१ क. शास्त्रादिरु° । २ छ. °तुभावायां वि° । ३ क. मोक्षसा° । ४ क °त्मिकाया विद्यायाः किंतु साक्षात्कारात्मिकायाः । त° ।

वसिष्ठः—" यथाऽन्नं मधुसंयुक्तं मधु चान्नेन संयुतम् ।
एवं तपश्च विद्या च संयुक्तं भेषजं महत् " ॥

योगयाज्ञवल्क्यः—" परिज्ञानाद्भवेन्मुक्तिरेतदालस्यलक्षणम् ।
कायक्लेशभयाच्चैव कर्म नेच्छन्ति पण्डिताः ॥
ज्ञानकर्मसमायोगात्परमाप्नोति पूरुषः ।
पृथग्भावो न सिध्येत उभे तस्मात्समाश्रयेत् " ॥

इत्यादि । तच्च न्यायार्जितधन इत्यादिस्मृतिर्मुख्यतयैव व्याख्यातव्येति । तदनयोर्मतयोर्यद्रुच्यं तद्ग्राह्यम् ॥ २०५ ॥

इति श्रीविद्याधरवंशप्रभवश्रीशिलाहारनरेन्द्रजीमूतवाहनान्वयप्रसूतश्रीमदपरादित्यदेवविरचिते याज्ञवल्कीयधर्मशास्त्रनिबन्धेऽपरार्के मोक्ष(यति)प्रकरणम् ॥ ४ ॥

अथ सटीकयाज्ञवल्क्यस्मृतौ

प्रायश्चित्तप्रकरणम् (५) ।

पापक्षयाय प्रायश्चित्तानि विधास्यन्ते, दुःखफलत्वेन च पापस्य तत्क्षयार्थता प्रायश्चित्तानुष्ठानस्य प्रयुज्यत इति तत्फलत्वं पापस्य तावदाह—

महापातकजान्घोरान्नरकान्प्राप्य गर्हितान्[2] ॥
कर्मक्षयात्प्रजायन्ते महापातकिनस्त्विह ॥ २०६ ॥

ब्रह्महत्यादिमहापातकप्रभृतिपापनिमित्तान्नरकांस्तामिस्रादीन्घोरान्सुदुःसहान्गर्हितानत्यन्तहेयान्प्राप्यानुभूय नरकदेशोपभोग्यदुःखविशेषफलस्य कर्मणः क्षयान्महापातकशेषवन्त इह लोके कुत्सितयोनिषु वक्ष्यमाणासु जायन्ते नरकभोगतीव्रतरदुःखप्रदानरूपेण कर्मणः[3] क्षयः स्वल्पदुःखप्रदानाकारेणावस्थानमिति कर्मणः क्षयो महापातकित्वं चेति द्वयमविरुद्धम् ॥ २०६ ॥

सामान्यत उक्तमर्थं विशेषत आह—

---

१ छ. ॰तिमुख्य॰ । २ ङ दारुणान् । ३ छ. ॰णः स्व॰ ।

श्रीमदष्टाक्षरीं जप्त्वा सिद्धिं पाश्यथं (प्राश्नुत) शाश्वतीम् ।
दीक्षाभिषेचनं प्रोक्तमिति युष्मभ्यमादरात् ॥

इतः परं द्विजश्रेष्ठाः किं पुनः श्रोतुमिच्छथ ।

॥ इति श्रीमदनुत्तरब्रह्मतत्त्वरहस्ये दाशरथीये तन्त्रे
वेदार्थसंग्रहे द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥

—○○※○○—

॥ अथ त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥

ऋषय ऊचुः –

ऋष्यशृङ्ग महाभाग भवद्वदनपङ्कजात् ।
श्रुतमस्माभिरत्यन्तरहस्यमपि सिद्धिदम् ॥

कृतकृत्या वयं सर्वे भूयो धन्यतरा वयम् ।
भगवच्छास्त्रमस्माभिः श्रुतं त्वद्वदनाम्बुजात् ॥

भूयोऽपि तव वक्त्राब्जाच्छ्रोतुकामा जगद्धितम् ।
योगस्वरूपं पृच्छामस्तदस्माकं वद प्रभो ॥

योगो नाम किमेतस्य स्वरूपं कीदृशं परम् ।
अङ्गान्यष्टाविति प्रोक्तमस्य तत्सकलं वद ॥

श्री ऋष्यशृङ्ग उवाच —

शृणुध्वं ब्राह्मणश्रेष्ठा यथा दाशरथिः पुरा ।
वसिष्ठादि महर्षीणां सन्निधौ जानकीपतिः ॥ –५

कथयामास योगस्य स्वरूपं शम्भवे विभुः ।
यथा नारायणो योगी जनकाय महात्मने ॥

कथयामास योगस्य स्वरूपं ब्रह्मसाधनम् ।

श्री भगवानुवाच –

शृणु राजन् प्रवक्ष्यामि योगमष्टाङ्गसंयुतम् ॥

यदभ्यासान्नरो याति तत्परं ब्रह्म शाश्वतम् ।
नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम् ॥

योगाभ्यासरतो भूयात्तत्साधनमथोच्यते ।
त्यज दुर्जनसंसर्गं भज साधुसमागमम् ॥

कुरु पुण्यमहोरात्रं स्मरविष्णुं सनातनम् ।
अष्टावङ्गानि वक्ष्यामि योगस्य वसुधापते ॥ –१०

पातकेभ्यो विमुक्तः स्याद्येषां श्रवणतोऽपि च ।
यमश्च नियमः पश्चादासनं च तृतीयकम् ॥

प्राणायामश्चतुर्थः स्यात् प्रत्याहारस्तु पञ्चमः ।
धारणा च तथा ध्यानं समाधिरिति चाष्टमम् ॥

प्रत्येकमेषां वक्ष्यामि लक्षणान्यपि सुव्रत ।
तद्विभज्य प्रवक्ष्यामि तत्वस्य लक्षणमप्यथ ॥

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम् ।
क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चेति यमा दश ॥

सर्वेषामपि भूतानामक्लेशजननं हि यत् ।
वाङ्मनःकर्मभिर्नूनमहिंसेत्यभिधीयते ॥ –१५

यथादृष्टश्रुतार्थानां स्वरूपकथनं पुनः ।
सत्यमित्युच्यते धीरैस्तद्ब्रह्म प्राप्तिसाधनम् ॥

तृणादेरप्यनादानं परेषां वसुधापते ।
अस्तेयमेतदप्यङ्गं ब्रह्मप्राप्तेः सनातनम् ॥

अवस्थास्वपि सर्वासु कर्मणा मनसा गिरा ।
स्त्रीसङ्गतिपरित्यागो ब्रह्मचर्यं प्रवक्ष्यते ॥

परेषां दुःखमालोक्य स्वस्यैवालोक्य यत्नतः ।
उत्सादनानुसन्धानं दयेति प्रोच्यते बुधैः ॥

व्यवहारेषु सर्वेषु मनोवाक्कायकर्मभिः ।
सर्वेषामपि कौटिल्यराहित्यं ह्यार्जवं भवेत् ॥ –२०

सर्वात्मना सर्वदापि सर्वत्राप्यपकारिषु ।
बन्धुष्विव समाचारः क्षमास्याद्ब्रह्मवित्तम ॥

इच्छा प्रयत्नराहित्यं ज्ञातेषु विषयेष्वपि ।
लोभवस्तु धृतिं धीराः प्रवदन्ति सतां वर ॥

भोज्यस्यैव चतुर्थांशभोजनं स्वस्थचेतसः ।
अत्युग्रकटुतिक्ताम्ललवणादिविवर्जितम् ॥

हितं मेध्यं महीपाल मिताहारं प्रचक्षते ।
निर्गतं नवरन्ध्रेभ्यो रोमकूपेभ्य एव च ॥

मलं वदन्ति तद्द्वारा क्षालनं शौचमुच्यते ।
मृज्जलाभ्यां बहिस्सम्यङ्निर्मलीकरणं तथा ॥ —२५

मनस्स्थैर्यं बहिः शौचमन्तः शौचं विदुर्बुधाः ।
एते दश यमा भूप ब्रह्मताप्राप्तिहेतवः ॥

तपश्च तुष्टिरास्तिक्यमीश्वराराधनं तथा ।
सिद्धान्तालोचनं चैव लज्जा दानं मतिस्तथा ॥

जपो व्रतं दशैतानि सुतीक्ष्णनियमाः स्मृताः ।
प्रत्येकमेषां वक्ष्यामि लक्षणानि महीपते ॥

तपस्त्वनशनं नाम विधिपूर्वकमिष्यते ।
अनायासोपपन्नेन तृप्त्यर्थेनैव जीवनम् ॥

तुष्टिरेषाऽमृता श्वेन तत्प्राप्तिर्नानया विना ।
श्रुत्याद्युक्तेषु विश्वासमास्तिक्यं प्रवदन्तिहि ॥ —३०

इष्टदेवार्चनं सम्यग्विधिपूर्वकमन्वहम् ।
त्रिसन्ध्यमेकसंध्यं वा भवत्येवेश्वरार्चनम् ॥

वैष्णवागमसिद्धान्तश्रवणं मननं तथा ।
श्रुतिस्मृतिपुराणादि मध्यान्तोक्तार्थदर्शनम् ॥

सिद्धान्तश्रवणं ह्येतत्पोच्यते तत्वदर्शिभिः ।
श्रुत्यादिभिर्लौकिकैश्च यद्यदत्यन्तनिन्दितम् ॥

तत्राप्रवर्तनं लज्जा वाङ्मनःकर्मणामपि ।
यदिष्टदेवतां ध्यात्वा तदर्पणधियाऽन्वहम् ॥

सत्पात्रे दीयतेऽन्नादि तद्दानमभिधीयते ।
तर्केणाप्यनुसन्धानं सम्यक् सदसतोरपि ॥ —३५

शास्त्रयोर्मतिरियं तत्वविद्भिरुदीर्यते ।
गुरोर्लब्धस्य मन्त्रस्य शश्वदावर्तनं हि यत् ॥

अन्तरङ्गाक्षराणां च न्यासपूर्वं जपो भवेत् ।
कर्तव्यस्य समस्तस्य नियमग्रहणं व्रतम् ॥

नियमव्यतिरेकेण सर्वं भवति निष्फलम् ।
यमैश्च नियमैर्यद्यत् कृतं तत्सफलं भवेत् ॥

एकमन्त्रे स्थिरीभावः पूर्वोक्तैर्नियमैः सह ।
आचार्यार्पितदेहस्य चैतदासनमुच्यते ॥

वहुविद्यावतोऽप्येक विद्यायां स्थिरचित्तता ।
अङ्गत्वेनान्यविद्यानां जप आसनमुच्यते ॥ —४०

प्राणायामानथो वक्ष्ये मुमुक्षोरुपकारकान् ।
यैः कृतैर्दह्यतेऽघौघः शुष्केन्धनमिवाग्निना ॥

इन्द्रियेष्वपि ये दोषा वातपित्तकफोद्भवाः ।
त्वगसृङ्मांसमेदोस्थिमज्जाशुक्रादिसंभवाः ॥

एते सर्वेऽपि दह्यन्ते प्राणस्यान्तर्निरोधनात् ।
प्रायश्चित्तमघौघानां मुख्यमेतद्वदन्त्यपि ॥

पुनरावृत्तिरहितशाश्वतब्रह्मकाङ्क्षिभिः ।
प्राणायामश्च सततं कर्तव्यो विधिवन्मुने ॥

सम्यङ् निरुध्य च प्राणानन्तःकरणमात्मनि ।
स्वयमेवावशिष्टः सन् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ —४५

जानुद्वयं कराग्रेण त्रिःपरामृश्य सत्वरम् ।
प्रदद्याच्छोटिकामेकामियं मात्रा कनीयसी ॥

दश प्रणवसंयुक्तां गायत्रीं शिरसा सह ।
त्रिर्जपेदायतप्राणः प्राणायामोऽयमुच्यते ॥

अधमो मध्यमश्चैव प्राणायामस्तथोत्तमः ।
अधमः पञ्चदशभिः श्रीमदष्टाक्षरीजपैः ॥

मध्यमः पञ्चविंशद्भिः श्रीमदष्टाक्षरीजपैः ।
पञ्चाधिकैश्च चत्वारिंशद्भिरष्टाक्षरीजपैः ॥

प्राणायामोऽयमुक्तोऽसावुत्तमो ब्रह्मवादिभिः ।
पूरकेऽथ त्रिधोच्चार्य कुम्भके पूर्ववन्नृप ॥ —५०

रेचके त्रिशउच्चार्य प्राणायामोऽयमुच्यते ।
प्राणायामैः कृतैः शश्वन्नित्यं षोडशिभिर्नृप ॥

संवत्सरकृतैः पापैस्सद्य एव विमुच्यते ।
परोपसन्तापजं पापं परद्रव्यापहारजम् ॥

परस्त्रीमैथुनोत्पन्नं प्राणायामशतं दहेत् ।
महापातकजं पापं शतावृत्त्योपपातकम् ॥

अन्यानि शतधावृत्तान्युपपापानि भूपते ।
सर्वाण्यपि प्रदह्यन्ते प्राणायामैः चतुःशतैः ॥

आदावन्ते च यत्नेन प्राणायामान् समाचरेत् ।
कर्मस्वपि च सर्वेषु शुभेषु ह्यशुभेषु च ॥ —५५

प्राणायामैर्विना यद्यत्कृतं कर्म निरर्थकम् ।
अतो यत्नेन कर्तव्याः प्राणायामाः शुभार्थिभिः ॥

यावच्छ्वयं नियम्यासून् मनसैव जपेन्मनुम् ।
नारायणं हृदा ध्यायन्मुहुर्मुहुरनन्यधीः ॥

धारयन्नन्तरेवासून्नेत्रे किञ्चिन्निमील्य च ।
परं ज्योतिः परं ध्यायन्नन्तरेव मनुं जपेत् ॥

समस्तकर्मणां साक्षी प्राणायामो महीपते ।
दशप्रणवसंयुक्तं गायत्र्या सर्वकर्मसु ॥

आदावन्ते च कर्तव्यः प्राणायामः फलप्रदः ।
श्रीमदष्टार्णविद्यादि जपहोमादिकर्मसु ॥ —६०

तत्तन्मन्त्रेण कर्तव्यः प्राणायामो महीपते ।
श्रीरामरूपिणं वाऽपि नरसिंहाकृतिं तु वा ॥

गोपाल रूपिणं वाऽपि यद्वा शङ्कररूपिणम् ।
मद्रूपिणं वा सततं स्मरन्नारायणं विभुम् ॥

श्रीमदष्टाक्षरीं विद्यां मनसैव जपन् शुचिः ।
नियम्य वायुं कर्तव्यः प्राणायामोऽघनाशनः ॥

प्राणायामैर्विना सर्वजपहोमार्चनक्रियाः ।
न फलन्त्येव ताः सर्वा यत्नेनापि कृतास्तथा ॥

इन्द्रियाणां हृदा सार्धं विषयेभ्यो निवर्तनम् ।
प्रत्याहारो भवत्येतत्सम्यगिन्द्रियनिग्रहः ॥ —६५

जीवस्य ब्रह्मरूपेण निर्धारो न्याययुक्तिभिः ।
पूर्वोक्तोत्तममात्राश्च प्राणायामत्रयोद्भवाः ॥

आत्मन्यपि स्थिरीभावः चित्तस्यैवात्र धारणा ।
सम्यगालोकनं ध्यानं निधाय हृदये विभुम् ॥

अङ्गानि भूषणैः सार्धं वाहनावरणैरपि ।
सत्यज्ञानसुखैकत्वप्राप्तये प्राप्तिसाधकः ॥

समाधिर्धर्मचिन्तास्याद्भवान्तरशतेष्वपि ।
समाधिरथवा जीवब्रह्मणो जीवचिन्तितम् ॥

ब्रह्मीभूतः स्वयंजीवो निरुद्धासुर्विलीनहृत् ।
स्वतोऽप्यनन्यसद्भावात् स्वयमेवावशिष्यते ॥ —७०

मुहूर्तावस्थितो वापि समाधिरप्यथोच्यते ।
एवमष्टाङ्गसंपन्नयोगयुक्तस्सुसंयतः ॥

सूर्यस्य मण्डलं भित्त्वा याति ब्रह्म सनातनम् ।
य एवमभ्यसेन्नित्यं विनीतः शान्तमानसः ॥

वशीकृतेन्द्रियग्रामः सोऽमृतत्वाय कल्पते ।
निरस्ताशेषदुरितः कामक्रोधादिवर्जितः ॥

एवमभ्यासयोगेन स याति परमां गतिम् ।
कर्मयोगेन वा ज्ञानयोगेनाथोभयेन वा ॥

प्राप्यते पुनरावृत्तिरहितं ब्रह्म शाश्वतम् ।
करोत्यनुदिनं यस्तु तत्फले विगतस्पृहः ॥ -७५

जपहोमादिकं कर्म स मुनिर्याति तत्पदम् ।
सगुणं निर्गुणं वापि नारायणमजं विभुम् ॥

लक्ष्मीपतिं रघुपतिं कृष्णं विष्णुं हरिं शिवम् ।
ध्यात्वा कर्मानपेक्ष्याऽथ यान्त्येव परमं पदम् ॥

ध्यानेन कर्मणा चैव योऽभ्यसेद्योगमन्वहम् ।
स यात्येवोत्तमस्थानं यद्गत्वा न निवर्तते ॥

तस्मात्सकलयत्नेन योगेन भव तपोनिधे ।
व्रतोपवासनियमैर्जन्मकोटिष्वनुष्ठितैः ॥

यत्नैश्च विविधैस्सम्यग्भक्तिर्नारायणे दृढा ।
संसारसागरस्यास्य पारं प्राप्तुं यदीच्छसि ॥ -८०

कर्मयोगेऽथवा ज्ञानयोगे प्रविश सत्वरम् ।
सर्वदुःखाभिभूतानां भ्रान्तानां हतचेतसाम् ॥

त्राता स एक एवात्र संसारे श्रीपतिः स्वयम् ।
स एव जानकीनाथो ब्रह्मरूपी जगत्पतिः ॥

त्राता संसारमग्नानां तारको नान्य उच्यते ।
प्रक्षीणाशेषपापानां ज्ञानयोगः प्रशस्यते ॥

कर्मयोगस्तु सर्वेषां भवेन्निर्वाण साधनम् ।
ज्ञानैककर्मणा वापि देवं नारायणं विभुम् ॥

आदिमध्यान्तरहितं रामं सम्यगिहार्चय ।
जनकैतच्छरीरं हि क्षयिष्ण्वपि पतिष्णु च ॥ —८५

त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्रमयं नृप ।
शास्त्रोपपादितं सम्यगनुतिष्ठार्तिनाशनम् ॥

कर्मयोगं तथा ज्ञानयोगं वा योगवित्तमः ।
करिष्यामि न कर्तव्यमिति कश्चिद्विचिन्तयेत् ॥

स्वस्यास्ये स्वयमेवार्य मन्दो धूलीं हतः क्षिपेत् ।
श्वः कार्यमद्य कुर्वीत मध्याह्ने चापराह्णिकम् ॥

सायन्तनं च मध्याह्ने विघ्नबाहुल्यतो नृप ।
सम्यग्वैराग्यनिष्ठस्य परतत्वस्थचेतसः ॥

छर्दितान्ननिभाः सर्वे दृश्यन्ते विषयाः स्वयम् ।
शरीरित्वमपिप्रायो विरक्तस्यैव शोभयेत् ॥ —९०

विरक्तस्य तदप्याशु त्याज्यं सर्वात्मना भवेत् ।
अत्यमेध्यं शरीरस्थं विष्टामध्यगतादपि ॥

तत्वनिष्ठो विशेषेण प्राणिनं मनुते हतम् ।
शरीरेऽस्मिन्नमेध्यत्वमीदृशं नाम देहिनाम् ॥

त्वगाद्येकैकसंस्पर्शे ज्ञानमेव विशोधनम् ।
शृगालैरपि गृध्रैश्च नीयते यद्यहो विधिः ॥

विधत्ते चर्मणा क्लेशं शरीराणि शरीरिणाम् ।
एतत्प्रतिपदं सम्यगापदां पदमीदृशम् ॥

ततः शरीरं विश्वस्य य उदास्ते स मूढधीः ।
दुःखैकानुभवार्थाय विधिनैतत्कृतं पुनः ॥ —९५

परमार्थविदप्येतद्वीक्षमाणो न वीक्ष्यते ।
व्यामोहितो जगत्यस्मिन् माययैव महात्मनः ॥

विष्णोस्तत्वविदप्याशु देहान्तरमुपैत्यहो ।
सुखं मिथ्या दुःखमेव भूयोऽप्यनुभवत्ययम् ॥

आपद्यकिञ्चनो भूत्वा कुटुम्बभरणाकुलः ।
भ्रमत्येवातुरो भूत्वा दुःखावर्ते पुनः पुनः ॥

दुःखमित्यपि जानाति दुःखं नैव महीपते ।
सर्वात्मना परित्याज्ये सर्वेषामपि दुःखदे ॥

प्रविशेत्को भवेन्मन्दो हताप्याशु पुनर्हतः ।
न किञ्चिदपि कर्मात्र निष्फलं विद्यते मुने ॥ —१००

तच्चेत्पुनः प्रवेशाय भवेन्मुक्तोऽपि बध्यते ।
ततो न कर्म कर्तव्यं फलार्थित्वेन सूरिभिः ॥

यदि कुर्युः फलं तत्तदनपेक्ष्यार्चनादिकम् ।
न सञ्चरन्ति संसारे दुःखावर्तविमोहिताः ॥

ईश्वरोऽपि समुद्धर्तुं शक्तो भवति नान्यथा ।
योगाभ्यासरतो वापि गुरुशुश्रूषणेरतः ॥
श्रीमदष्टाक्षरेणैव ब्रह्म प्राप्नोति शाश्वतम् ॥

॥ इति श्रीमदनुत्तरब्रह्मतत्त्वरहस्ये दाशरथीये तन्त्रे
वेदार्थसंग्रहे त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥

॥ अथ चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥

राजोवाच —

श्रुतिस्मृतिपुराणार्थनिश्चयज्ञानवित्तम ।
संशयं छिन्धि पृच्छामि तातातानुग्रहं कुरु ॥

आत्मानुभवरूपेण साक्षात्कारेण केवलम् ।
पुनरावृत्तिरहितं शाश्वतं ब्रह्म यात्यपि ॥

इत्यादि श्रुतितत्त्वज्ञाः प्रवदन्ति मनीषिणः ।
श्रीमताभिहितं ब्रह्मविद्यानुष्ठानतत्पराः ॥

भुक्तिं मुक्तिं च विन्दन्ति कथमेतन्निबोधय ।
निवृत्तिरेव मुक्तिस्तु प्रवृत्तिर्भुक्तिरुच्यते ॥

प्राणायामैस्तदभ्यस्य पूरकाद्यैश्च वायुभिः ॥
पूरक-कुम्भकौ वायू रेचकस्तु तृतीयकः ॥ ३८ ॥
येन व्यावर्तते वायुर्नासाग्रान्निःसरेद्वहिः ॥
पूरयेत् श्वासयोगेन पूरकं तद्विदो विदुः ॥ ३९ ॥
आपूर्य निश्चलीकृत्य यःकश्चिद्धार्यते निलः ॥
श्वासयोगं वदन्त्येनं कवयः कुम्भकं त्विति ॥
ब्रह्मध्यानसमायुक्तं वायुं यो न वहिर्नयेत् ॥ ४० ॥
कुम्भकः पवनः स स्याद्यो वहिर्नैव मुच्यते ॥
रेचकं तद्विदुस्तज्ञा रेच्यते यः शनैः शनैः ॥ ४१ ॥
न वेगाद्रेचयेद्वायुं सर्वथा विघ्नभाग् भवेत् ॥
मोचयेन्मन्दमन्दं तु वहिः स्यात्कुम्भितो यथा ॥ ४२ ॥
नासाग्रस्थितपाणिस्तु साशिरश्चालनक्षमम् ॥
अनिलं रेचयेद्योगी न मन्दं नातिवेगतः ॥ ४३ ॥
न ज्ञायतेऽनिलो यस्य निःसरन् नासिकाग्रतः ॥
यस्यास्ते कुम्भितोऽजस्रं प्राणयोगी स उच्यते ॥ ४४ ॥
दीर्घायुस्त्वं परं ज्ञानं समस्ता योगसिद्धयः ॥
देहे तस्याऽवतिष्ठन्ति प्राणो येन वशीकृतः ॥ ४५ ॥
यत्र तिष्ठति जीवःस्यान्निःसृतेमृत उच्यते ॥
स किन्न धार्यते प्राणो ब्रम्हाप्तिः साति यत्र तु ॥ ४६ ॥
प्राण एवायमात्मास्ते प्राणो देहस्य वाहकः ॥
शरीरान्निःसृते प्राणे नात्मा विग्रहवाहकः ॥ ४७ ॥
देहं त्यक्त्वा यदा जीवो वहिराकाशमास्थितः ॥
तदा निर्विषयो वायुर्भवेदत्र न संशयः ॥ ४८ ॥

---

१. C. reads द्वितीयकः for तृतीयकः. २. A. reads:—
श्वासयोगेन तं प्राहुः पूरकं तद्विदोऽनिलम् ।.

३. B. reads निर्गतो भयात् for विघ्नभाग्भवेत्; D. E. and F. also read B.; ४. A. reads स त्वीषघानलक्षमम्, B. स्वच्छयेघानलक्षमम्, C. स [illegible] चालनक्षयम्, D. सशिखश्चालनं क्षमम् and E. सस्कोपचलनक्षमम् all [illegible] शिरश्चालनक्षमम्. ५. B. and E. read प्राणयागी for प्राणयोगी. ६. [illegible] A. reads ज्ञ्यं for ज्ञानं. ७. C. reads प्राणायाम° for प्राणो येन. ८. [illegible] reads प्राणान् ब्रम्हा तिष्ठति यत्र तु for प्राणो ब्रम्हाप्तिः स हि यत्र तु. ९. B. [illegible] E. read निग्रह° for विग्रह°.

तदा स सर्वदेहेषु नासाग्रमास्थितः शिवः ॥
प्रत्यक्षः सर्वभूतानां तिष्ठते न च लक्ष्यते ॥ ४९ ॥

यदा न श्वसते वायुस्तदा निष्कलमुच्यते ॥
नाभिसंस्थं तु विज्ञाय जन्मबन्धाद्विमुच्यते ॥ ५० ॥

देहस्थः सर्वसत्वानां स जीवति शृणोति च ॥
धर्माधर्मैस्त्ववष्टब्धो देहे देहे व्यवस्थितः ॥ ५१ ॥

स हृत्पंकजसंस्थस्तु अध ऊर्ध्वं प्रधावति ॥
धर्माधर्ममहापाशैर्गृहीतःसन् प्रवर्तते ॥ ५२ ॥

उर्ध्वमुच्छ्वसते यावत्प्राणाख्यस्तु समीरणः ॥
तावत्प्राणस्तु विज्ञेयो यावन्नासाग्रमास्थितः ॥ ५३ ॥

अग्रस्थं निष्कलं ब्रह्म यावन्न श्वसिति द्विज ॥
श्वासेन हि समायोगादाकाशात्पुनरागतः ॥ ५५ ॥

नासारन्ध्रसमालीनस्तदा निष्फलमुच्यते ॥
स जीव इति विख्यातः स विष्णुः स महेश्वरः ॥ ५६ ॥

ध्यातव्या देवतास्तत्र क्रमेण पूरकादिषु ॥
विष्णु-ब्रह्मेश्वरास्तेषु स्थानेषु स्थानवित्द्विजैः ॥ ५७ ॥

नीलपङ्कजवत् श्याममासीनं नाभिमध्यतः ॥
महात्मानं चतुर्बाहुं पूरके तु हरिं स्मरेत् ॥ ५८ ॥

हृत्पद्मे कुम्भके ध्यायेद् ब्रह्माणं पङ्कजासनम् ॥
रक्तेन्दीवरवर्णाभं चतुर्वक्त्रं पितामहम् ॥ ५९ ॥

रेचके शङ्करं ध्यायेल्ललाटस्थं त्रिशूलिनम् ॥
शुद्धस्फटिकसङ्काशं संसारार्णवतारकम् ॥ ६० ॥

एवं श्वसनसंरोधाद्देवतात्रयचिन्तनात् ॥
अग्नि-वाय्वंभसंयोगादन्तरं शुध्यते त्रिभिः ॥ ६१ ॥

---

१. A. reads निःकलम् for निष्कलम्. F. also reads as A.; २. B. and E. read महापाशैर्गृहीतःसन्प्रवर्तते for °स्त्ववष्टब्धो देहेदेहे व्यवस्थितः. ३. B. E. read सकृत्पंकज° for स हृत्पंक ज.° ४. B. reads निष्फलं for निष्कलं. ५. Only B. and E. read स जीवति इति ख्यातः for स जीव इति विख्यातः. ६. A. reads ध्यानकृत्° for स्थानावित्° and B. ध्यानेषु विधिवत् for स्थानेषु स्थानवित्°; while C. reads स्थावरा for स्थानावित्°. E. reads the same as B.

निरोधादभवद्वायुस्तस्मादग्निस्ततो जलम् ॥
इति त्रिदेवतायोगात् शुद्ध्यतेऽन्तः पुनर्द्विजाः ॥ ६२ ॥

व्योहृतिप्रणवोपेताः प्राणायामास्तु षोडश ॥
अपि भ्रूणहणं मासात्पुनन्त्यहरहः कृताः ॥ ६३ ॥

प्रातरह्नि च सायं च पूरकं ब्रह्मणोऽन्तिकम् ॥
रेचकेन तृतीयेन प्राप्नुयात्परमं पदम् ॥ ६४ ॥

न प्राणेनाप्यपानेन वायुं वेगेन रेचयेत् ॥
प्रागुक्तेन प्रयोगेण मोचयेत्प्राणसंयमी ॥ ६५ ॥

शरीरं च शिरोग्रीवा विद्वान् पाणी च पद्वयम् ॥
सर्वाङ्गं निश्चलं धार्यमापूर्यसर्वनाडिकाः ॥ ६६ ॥

संवृत्याङ्गानि सर्वाणि कूर्मवद्ध्यानकृद्द्विजः ॥
बद्धासनोऽचलाङ्गस्तु कुर्यादसुनिरोधनम् ॥ ६७ ॥

कृत्वा सुसंयमं विद्वान्विधिवत्समुपस्पृशेत् ॥
अन्तरं शुध्यते यस्मात्तस्मादाचमनं स्मृतम् ॥ ६८ ॥

इत्युक्तः प्राणसंरोधो देवतात्रयसंयुतः ॥
त्रिमात्रः प्रणवस्तत्र ध्यातव्यः सर्वयोगिभिः ॥ ६९ ॥

स्मर्यमाणस्य यातस्य विश्रान्तिःस्यादमात्रके ॥
तत्परं निष्कलं ज्ञानं तद्विदुर्ब्रह्मचिन्तकाः ॥ ७० ॥

मृदुमध्यान्तसत्वाच्च स्थूलसूक्ष्मानुभावतः ॥
त्रिविधं प्राणसंरोधं विदुस्तत्तत्ववेदिनः ॥ ७१ ॥

क्रियमाणो विशेषेण प्रत्याहारोऽयमुच्यते ॥
सर्वं प्रागुक्तमेवास्य विशेषं तु निबोधत ॥ ७२ ॥

---

१. C. reads भवन्ति for व्याहृति°. २. A. B. D. E. and F. read अहश्च for अन्हि च. ३. B. reads उज्वलाङ्गः for अचलाङ्गः. E. also reads the same. ४. C. reads सुसंचयं for सुसंयमं and विधिस्तुः for विधिवत् respectively. ५. A. reads अमात्रिके for अमात्रके. ६. C. and D. read निष्फलं for निष्कलं. ७. B. D. E. and F. read—

मृदुमध्यस्थसत्वाच स्थूललक्ष्यानुभावतः ।;

while C. reads °मध्योत्तमसत्वाच for मध्यान्तसत्वाच.

बाह्यं वायुं यथोत्थाप्य आकृष्य यच्छनैः शनैः ॥
निरुन्ध्याद्विधिवद्योगी प्रत्याहारः स उच्यते ॥ ७३ ॥

व्याहृत्याऽभिमुखीकृत्य खानि यत्र निरुध्य च ॥
चिन्तयेन्निश्चलीकृत्य प्रत्याहारः स उच्यते ॥ ७४ ॥

प्राणाद्या वायवः स्थूलाः सङ्कल्पाद्यास्तथाऽणवः ॥
निरोद्धव्या दशाप्येते प्राणसंयमकारिभिः ॥ ७५ ॥

वायुरेकोऽपि देहस्थः क्रियाभेदेन भिद्यते ॥
प्रकर्षेणासमन्ताच्च नयनादिक्रियाः स्मृताः ॥ ७६ ॥

भविष्या-ऽतीतकालेभ्यः कर्मभ्यश्चांशु संयमी ॥
सर्वानिलांस्तथा खानि निरुध्यैकत्र धारयेत् ॥
स धीमान्वेदविद्विद्वान् स योगी ब्रह्मवित्तमः ॥ ७७ ॥

स्थानं द्विजन्मा विधिवत्त्वजस्त्रमभ्यस्य संयाति विधेःपरस्य ॥
पराशरोक्तैर्बहुभिःप्रकारैरुक्तो विधिः प्राणनिरोधनस्य ॥ ७८ ॥

प्रत्याहारो विशेषस्तु प्रोक्तस्तस्यैव वित्तमाः ॥
यदभ्यस्याप्नुयाद्ब्रह्म सर्वदानंदमव्ययम् ॥ ८० ॥

एतैस्तु पुनरावृत्तिः कदाचिदिह दृश्यते ॥
संसृतिं नाप्नुयायेन शक्तिसूनुस्तदब्रवीत् ॥ ८१ ॥

उक्तस्तु संयमः पूर्वं त्रिविधो मलनाशनः ॥
निबोधत चतुर्थं तु ध्यानं प्रणववेधसः ॥ ८२ ॥

विधिवत्प्रणवध्यानमेकाचित्तस्तु योऽभ्यसेत् ॥
ब्रम्हाभ्येति स मुक्तात्मा स योगी योगिनां वरः ॥ ८३ ॥

---

१. A. reads यथोत्साहं for यथोत्थाप्य. B. E. and F. also read th same. २. Only F. reads व्याहृत्यभिमुखोऽन्यत्र for व्याहृत्याऽभिमुखीकृ ३. Only C. reads प्राणाद्यवयवाः for प्राणाद्या वायवः. ४. C. read सुवायवः for तथाऽणवः. ५. A. reads दशस्वेते and D. तथाप्येते for दशाप्येते while C. reads दृशोऽप्येते. ६. C. reads न यानादि° for नयनादि°. ७. B and E. read अनुसंयमी and F. reads आत्मसंयमी for शुसंयमी; while C reads भस्तु संयमी. ८. B. E. read नितान्तं for अजस्रं. ९. B. read संस्मृतं, and C. संस्मृतिं for संसृतिं. १०. Only C. reads विधिहीनो हि नाशन for त्रिविधो मलनाशनः.

तद्ध्यानमसुसंरोधस्तुर्यं सम्यगिहोच्यते ॥
तदन्यथानपेक्षं च चित्तक्षेपविवर्जितम् ॥ ८४ ॥
चतुर्णामाश्रमाणां तु भेदमुक्त्वा पराशरः ॥
अथाब्रवीद्द्विजा योगं शृणुध्वं पापनाशनम् ॥ ८५ ॥
तच्छान्तं निर्मलं शुद्धं ध्यातव्यं हृत्सरोरुहे ॥
तद्वरेण्यं तद्वरेण्यं च बीजं मुक्तेस्तदुच्यते ॥ ८६ ॥
सञ्चिन्त्य व्याहृतीः सप्त प्रणवाद्यास्तदन्तकाः ॥
सम्यगुक्तमिदं ध्यात्वा परब्रह्मणि योजयेत् ॥ ८७ ॥
हुतभुक् पवनो जीवस्त्रयोऽप्येते हृदि स्थिताः ॥
एतत्सर्वं तु चैकत्र संस्मरेत् ध्यानकृद्द्विजः ॥ ८८ ॥
ॐकारवर्त्मनालेन उद्धृत्योपरि योजयेत् ॥
योजयेत्सर्वमप्येतत्सिद्धयोगी स उच्यते ॥ ८९ ॥
शून्यभूतस्तु यत्प्राणः श्वासं जीवेति संज्ञितम् ॥
यस्मादुत्पद्यते श्वासः पुनस्तत्र निवेशयेत् ॥ ९० ॥
आद्यं तं प्रणवं विद्वान् घटाकाशवदभ्यसेत् ॥ ९१ ॥
स पश्येन्निर्मलं शुद्धं पुरुषं तमसंशयम् ॥
अन्तर्वक्त्रो बहिः सर्पन् त्सर्पवत्कुण्डलाकृतिः ॥ ९२ ॥
ध्यातव्यः प्रणवस्तत्र मध्यगं धाम संस्मरेत् ॥
स मात्रां स च विन्दुश्च तदेव परमं पदम् ॥ ९३ ॥
तदभ्यस्यं हि तज्ज्ञात्वा स तस्मिन्नेव लीयते ॥
प्रथमं प्रणवो ऽव्यक्तः त्र्यक्षरः परमाक्षरः ॥
सर्वज्ञत्वमवाप्नोति प्राप्नोति परमं पदम् ॥ ९४ ॥

---

१. B. E. F. read तदन्यार्थानपेक्षं for तदन्यथानपेक्षं. २. [illegible] whole verse is not mentioned in A. C. D. and F.; ३. B [illegible] read ओंकारवर्त्मना तेन; while C. reads ओंकारावर्तनालेन for ओंक[illegible] वर्त्मनालेन. ४. C. reads ह्रासजीवितसंज्ञितम्. ५. C. reads निर्गलं [illegible] निर्मलं. ६. B. E. and F. read मध्यमं for मध्यगं. ७. A. reads स धाम[illegible] C. reads स ध्यातात्मा, for समात्रा स. ८. B. and E. read तदर्थस्य [illegible] तदभ्यस्यं and D. तदभ्यसन्. ९. B. reads प्रथमाक्षरः for परमाक्षरः. १०. [illegible] reads रुजत्वमन्यदाप्नोति for सर्वज्ञत्वमवाप्नोति.

पञ्चमं तु पदं विद्वान् तत्सार्धमवतिष्ठते ॥
नादबिन्दुसमभ्यासात् प्राप्नुयात्परमं पदम् ॥ ९५ ॥
पदं प्राप्य निवर्तन्ते धाम स्वं स्वान्तमेव च ॥
सर्वेऽप्यमातृका वर्णाः पुनस्तत्र विशन्ति च ॥ ९६ ॥
वर्णात्मा सप्तवर्णस्तु समस्तवर्णजीवनम् ॥
न दीर्घं नापि ह्रस्वं च न घोषं नाप्यघोषवत् ॥ ९७ ॥
न विसर्गं न तद्धीनं नानुस्वारविपर्ययः ॥
हृदाकाशनिविष्टं यदचलत्वं प्रयाति चेत् ॥ ९८ ॥
ज्ञानयोगे त्रिषष्टिर्वै विभ्रतीत्यक्षराणि तु ॥
तत्पदं योगिभिर्ध्येयं व्योम यस्य तु मध्यगम् ॥ ९९ ॥
व्योमान्तं सततं ध्येयमनंताकाशमव्ययम् ॥
चिन्तयामो वयं यद्वै धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ १०० ॥
एतद्ब्रह्म त्रयीरूपमेतद्भर्गस्त्रयीमयम् ॥
एषा सा परमा मुक्तिर्गत्वा यां न निवर्तते ॥ १०१ ॥
आदाय चापं प्रणवं च बाणं सन्धाय चात्मानमवेक्ष्य लक्ष्यम् ॥
स तद्विधिं तत्र निवेश्य योगी प्राप्नोति नित्यं स तु मुक्तिकामः ॥ १०२ ॥
उद्देशतः किञ्चिदवादि विद्वन् ध्यानं विधेयं तत्ध्वनिपूर्वकस्य ॥
सर्वं विधानं विधिवच्च सम्यक् वक्तुं समर्थो विधिरेव चास्य ॥ १०३ ॥

इति बृहत्पराशरे प्रणवध्यानविधिः ॥

अथान्यत्सम्प्रवक्ष्यामि विधानं ध्यानकर्मणाम् ॥
नानामंत्रोदितं कार्यं परब्रह्माप्तिकारकम् ॥ १०४ ॥

---

१. A. C. D. F. read तन्तुर्भन्यवतिष्ठते for तत्सार्धमवतिष्ठते. २ .A. reads भास्त्यथान्त्यमेव च, and B. यदि for पदं, C. यत्प्राप्य न for पदं प्राप्य and F. यदि प्राप्य निवर्तन्ते भास्वयः स्वान्तमेव च. ३. C. reads सर्वेभ्यो for सर्वेऽप्य° ४. A. reads लक्ष्योनं for तद्धीनं. ५. A. reads भवन्ति for विभ्रति. B. D. and F. also read as A.; while E. reads विभर्ति for the original. ६. A. reads विविश्य; while C. reads प्रविश्य for निवेश्य. ७. A. B. D. E. F. read योगी for नित्यं. ८. A. D. F. read °धाम for °कामः. ९. A. D. F. read उद्दिश्यतः for उद्देशतः; while C. उद्देशेन for उद्देशतः. १०. B. D. C. E. and F. read विधेयं for विधेयंत्. ११. B. D. E. F. read °विभुश्रितं for °मनोश्रितं.

श्रीभैरव उवाच ॥

शृणु देवि प्रवक्षामि लक्षणं जपमुत्तमं।
जप ध्यान परा शक्ति नादमार्गा नियोजितं ॥

जपस्य कीदृशं जपं जपयति। एकाशते त्योयवत् सहस्रं संख्याता
वर्जपयति। ध्यानकीदृशं। यत्र करण कलापं न किंचित् मन्त्र तं स्मरेत्।

यन्न स्मरेत्। शरीरण स्मरेत्। लज्जा शंका भय न स्मरेत्। एतत् काष्टी भूतं।

१४ब)

शीतातपक्षुत्पिपासा निर्विकल्प न किञ्चिन भवेद्ध्यानं। अन्यच्च किं स्वसु
*?।

कन्दाकुण्डलिनी यावत् कुण्डल्यान् केशरं भवेत्।
केशरार्कर्ण देशे तु कण्ठा भ्रुमध्य संस्थितः ॥

भ्रूणमध्या द्वादशान्तं तु द्वादशान्त। षोडशान्तकं। सम्वत्
कुटिलाकारा नववर्णा च घटयेत्। सर्पवत् कुण्डलनी। कुटिलात्। अगम्यात्।
नववर्णा। नव द्वार घटयेत्। पुटीकृतः स कोवः। कन्दाकुण्डलनी पचत्।
कुण्डल्या * * *?। हृदयात् कण्ठाकण्ठस्य भ्रुमध्य।
भ्रुमध्या द्वादशान्तं। द्वादशान्तं। द्वादशान्ता। शोडशान्तं
तदूर्ध्वेन्निरालम्वं तिष्टति। शनैः शनैः *? तनीयं। प्राणशक्तिः
यद्वत्। उदापन काल। तथा शुद्ध स्फटिक निर्मल शिखि प्रज्वलंतं चिन्तयेत्।
अन्यच्च। इन्द्र गोपक संकासं तालुरन्ध्राद् विनिर्गतं।

१५अ)

ब्रह्मनाडि प्रयोगेन प्राणशक्तिस्तु चिन्तयेत्।

ओं हां कलादिक्षित्यन्ततत्वेभ्यो नमः। ओं हां
कलादिक्षित्यन्ततत्वादिपेभ्यो ज्ञानविन्द्वादिभ्यो नमः। ओं हां
कलादिक्षित्यन्ततत्वाधिपा यूयम् अस्य स्वकार्यं कुरुत कुरुत
नमः। एवं तत्वादिविन्यस्य नाड्यादीन् विन्यसेद्यथा उद्गाता
कन्दमध्याच्च कुण्डलीनाभिमाश्रता

p. 880)

नाभेरूर्ध्वं हृदिस्थाने पद्मं पद्मवदास्थितम्।
तन्मध्यकर्णिकासंस्थं सूर्यसोमाग्निमण्डलम्॥

तन्मध्ये चित्तयेद्देवमों हां हं हेति नामतः।
तदधिष्ठेयमीशानं सूर्यकोटिसमप्रभम्॥

सुषुम्ना मध्यमेङ्गुष्ठाद्यावद्ब्रह्मवलिं गता। इडानडीं
पुटे वामे दक्षिणे पिङ्गला स्थिता॥

गान्धारि दक्षिणे नेत्रे हस्ति जिह्वा च वामके। पूषा
दक्षिणकर्णे स्याद्वामकर्णे यशस्वती॥

मेढ्रेत्वलंपूषानाडी कुहूनाडी गुदे स्थिता। शङ्खिनी
नाभिमध्ये स्यादास्ये प्राणादि वायवः॥

प्राणोपानः समानस्यामुदानोव्यान एव च। नागः कूर्मः
कृकरेको देवदत्तो धनञ्जयः॥

ओं हां सुपुम्नायै नमः। ओं हां सुपुम्ना प्रवाहाय प्राण
वायवे नमः।

इत्यादयो मन्त्राः। यद्वादशनाडीभ्यो दशप्राणेभ्यो नम इति
वा मन्त्राः। सर्वाधिष्ठितवामायां कालं च नियतिं न्यसेत्।

ओं हां मायायै नमः। ओं हां मायाधिपाय विपणाय नमः
। ओं हां मायाधिपत्वमस्य विपयेकरभ्यतां कुरु कुरु नमः।

तामशीं सर्वकृत्यानां साक्षिणीं मध्यवर्तिनीं।
योजनानां चतुःकोटि सतस्यामलमण्डले ॥

अथान्यामर्द्धरात्रे तु स्यामं वा रूपवर्जितां।
द्वादशान्ते परे तत्वे निविष्टां व्यापिनी शिवां ॥

एवं काल क्रमात् संध्या सञ्चिन्त्य त्रिगुणादिकां।
तत्प्रभा मण्डलाभोग प्रविष्टां स्वतन्त्रं? स्मरेत् ॥

कृत्वाम्भः सक्तशे वाम पाणोर्दक्षेण त्रिर्हृदा अपरोत्तरसंचारन्तदधो
गलितं जलमूद्धिर्न संहितया प्राग्वदा ध्यायं कक्षिपेदिदं ॥

५ब)

मार्जनंस्तत्पुनस्तोयमेवसिष्टं तु दक्षिणे।
करेस्थितं धर्मरूपं शुभं पूरक वायुना ॥

वामनाशा प्रविष्ठन्तु ततः कुम्भक योगतः।

अन्तःपापक्षयं कृत्वा तत्पापं कज्जलोपमं ॥

रेचकेन तु निस्सार्य दक्षणासा पुटेन तु।
हस्ते विभाव्य चास्त्रेण कूँ फडन्तेन ताडयेत् ॥

क्ष?लद्वंजलियांस्यादद्यमर्पस्स्वथा चमैत्।
रेचकोजश्रनिःस्वासात् पूरकस्तन्निरोधकः ॥

न तदाति न गृह्णाति कुम्भकः। पूर्णकुम्भवत्।

अर्घाञ्जलिं तु सूर्याभिमुखं मूलेन सम्भवे।
स्वाहान्तेन समुत्थाय दत्वेनमुपविधा त्रिलोचनां ॥

पद्मोपरि ध्वशुक्लसौ दहैकवक्षकदंतिवप्रसृभ(?) दक्षां
हि वामाग्राञ्जदुलस्थितां।

Scanned by CamScanner

भूतशुद्धिं पुराकुर्यात् विधिनानेन दोहकः।
यादिवान्तैर्विधानेन पूरककुम्भकरेचकैः॥

इडया पुरयेद्वायुं श्वासनाड्याः शनैः शनैः।
मात्रया षोडशेनैव ततः कुर्याच्च कुम्भकम्॥

यंमन्त्रेण चतुःषष्ट्या यथा कुम्भं ततः परम्।
सुषुम्नायां कुम्भयित्वा पिङ्गलायान्तु रेचयेत्?॥

चतुर्धाचन्द्र सह जप्त्वा रंवीजेनैव प्लावनी।
श्वाससंहरणा नाड्या त्यजेद्वायुं शनैः शनैः॥

पुरा कुक्षिगतः पापं चिन्तनीयो मनीषिभिः।
(p. 10) ब्रह्महत्या शिरङ्कञ्च स्वर्णस्तेय भुजद्वयम्॥

सुरापानहृदा युक्तं गुरुतल्पकटिद्वयम्।
तत् संसर्गात् पदद्वन्द्व मङ्गप्रत्यङ्गपातकम्॥

उपपातकरोमाणं रक्तश्मश्रुविलोचनम्।
खड्गचर्मधरं वामाङ्गुष्ठपरिमाणकम्॥

अधोमुखः कृष्णवर्णं वामकुक्षौ विचिन्तयेत्।
एषु ये ऋषयः प्रोक्तास्तान् प्रवक्ष्याम्यनुक्रमात्॥

पुरकादिषु देवेशि ऋषयः सर्वसम्मताः।
किस्कन्दः कश्यपश्चैव हिरण्यगर्भस्ततः परम्॥

अस्य पापस्य देहस्य अन्तर्यामी ऋषिः स्मृतः।
एवं ध्यात्वा वह्निनाडी दाहयेत् सकलां तनुम्॥

प्राणायामं ततः कुर्यात् भूतशुद्धिरनन्तरम्।
भूतानां शोधनं कृत्वा भावना तु तथा दिशेत्॥

प्रसाद्यान्येषूदङ्मुख उपविश्य पूर्वोक्तक्रमेण करन्यासं कृत्वा

पूर्वमन्तर्गतमशुद्धं वायुं

पूरककुम्भकरेचकपूर्वकप्राणायामेनास्त्रमन्त्रेणोत्सार्य

बाह्येन शिवाधिष्ठितेन वायुनोदरं प्रपूर्य

चरणाङ्गुष्ठयोर्युग्मात् प्रभृति यावन्मूलाधारं द्विधा

भूतां तत ऊर्ध्वं द्वादशान्तमेकीभूतां

p. 81)

सुषुम्नां शिवधामसंज्ञितां शरीरान्तरालविद्युल्लेखामिव

भास्वरां चिन्तयेत्। तस्यान्तर्बहिः परमेश्वरस्य नित्याधिष्ठेयां

कुण्डलिनीं शक्तिं व्यापिनीं चिन्तयेत्। तस्या सुषुम्नाया मध्ये

हृत्कण्ठतालुभ्रूमध्यब्रह्मरन्ध्रेषु अधोमुखमवस्थितं

पद्मवृन्दं पूरकेण पूरितं सद्वित् सकुम्भकेन रोधितमुत्तम्भितं

रेचकेनाक्षिप्तमूर्ध्वमुखं भवति ततो मूधारप्रदेशे

दीपशिखोपममन्ध्यायं शिखावीजं शास्त्रमुच्चार्य फडन्तेन

पूरककुम्भकरेचकपूर्वेण यावच्छक्तिमात्रा कल्पितेन

प्राणायामेन हृत्कण्ठतालुभ्रूमध्यब्रह्मविलद्वादशान्तेषु

रन्ध्रीन् दक्षनासापुटेन वायुं विमुञ्चन् प्रतिनिवृत्त्य पुनरपि

शिखावीजं पूर्वप्रदेशे ध्यानपूर्वमुच्चार्य तस्मिन् मनः

सन्निवेश्य तद्वृत्तिरूपमवधानं च तत्र

निक्षिप्यापादमस्तकशरीरवर्तिनं पुर्यष्टकाविच्छिन्नमात्मानं

नक्षत्राकारं दीपशिखाकार * * * स्योपरि प्राणवृत्तिनिरोधवशेन

निक्षिप्य तत्संस्पर्शात् शुद्धं ध्यात्वा उद्घाटितेन प्राणवथा

एकोद्घातवशेन द्वादशान्तपद्मस्थे शिवे

p. 82)

रश्मिमात्रवियोगेन संयोज्य पृथिव्यादिबिन्दुपर्यन्तं

षट्त्रिंशत्तत्त्वानि स्वकारणलयक्रमेण शोधयेत्। तथा हि

गन्धे भूः सलिलं रसे हुतवहो रूपे मरुत्स्पर्शने

शब्दे स्यात् खमहं कृतौ पुनरिमास्तन्मातृकास्तामसे। कर्माक्षाणि

च राजसे सह मनोबुद्धीन्द्रियैः सात्त्विके बुद्धौ तच्च गुणेषु सा

गुणगणो व्यक्ते लयं गच्छति।

पूर्वमन्तर्गतमशुद्धं वायुं
पूरककुम्भकरेचकपूर्वकप्राणायामेनास्त्रमन्त्रेणोत्सार्य
बाह्येन शिवाधिष्ठितेन वायुनोदरं प्रपूर्य
चरणाङ्गुष्ठयोर्युग्मात् प्रभृति यावन्मूलाधारं द्विधा
भूतां तत ऊर्ध्वं द्वादशान्तमेकीभूतां

p. 81)

सुषुम्नां शिवधामसंज्ञितां शरीरान्तरालविद्युल्लेखामिव
भास्वरां चिन्तयेत्। तस्यान्तर्बहिः परमेश्वरस्य नित्याधिष्ठेयां
कुण्डलिनीं शक्तिं व्यापिनीं चिन्तयेत्। तस्या सुषुम्नाया मध्ये
हृत्कण्ठतालुभ्रूमध्यब्रह्मरन्ध्रेषु अधोमुखमवस्थितं
पद्मवृन्दं पूरकेण पूरितं सद्वित् सकुम्भकेन रोधितमुत्तम्भितं
रेचकेनाक्षिप्तमूर्ध्वमुखं भवति ततो मूधारप्रदेशे
दीपशिखोपममन्ध्यायं शिखाबीजं शास्त्रमुच्चार्य फडन्तेन
पूरककुम्भकरेचकपूर्वेण यावच्छक्तिमात्रा कल्पितेन

प्राणायामेन हृत्कण्ठतालुभ्रूमध्यब्रह्मबिलद्वादशान्तेषु
रन्ध्रीन् दक्षनासापुटेन वायुं विमुञ्चन् प्रतिनिवृत्त्य पुनरपि
शिखाबीजं पूर्वप्रदेशे ध्यानपूर्वमुच्चार्य तस्मिन् मनः
सन्निवेश्य तद्वृत्तिरूपमवधानं च तत्र
निक्षिप्यापादमस्तकशरीरवर्तिनं पुर्यष्टकाविच्छिन्नमात्मानं
नक्षत्राकारं दीपशिखाकार * * * स्योपरि प्राणवृत्तिनिरोधवशेन
निक्षिप्य तत्संस्पर्शात् शुद्धं ध्यात्वा उद्घाटितेन प्राणवथा
एकोद्घातवशेन द्वादशान्तपद्मस्थे शिवे

p. 82)

रश्मिमात्रवियोगेन संयोज्य पृथिव्यादिविन्दुपर्यन्तं
षट्त्रिंशत्तत्त्वानि स्वकारणलयक्रमेण शोधयेत्। तथा हि

गन्धे भूः सलिलं रसे हुतवहो रूपे मरुत्स्पर्शने

शब्दे स्यात् खमहं कृतौ पुनरिमास्तन्मातृकास्तामसे। कर्माक्षाणि
च राजसे सह मनोबुद्धीन्द्रियैः सात्त्विके बुद्धौ तच्च गुणेषु सा
गुणगणो व्यक्ते लयं गच्छति।

पूर्वमन्तर्गतमशुद्धं वायुं
पूरककुम्भकरेचकपूर्वकप्राणायामेनास्त्रमन्त्रेणोत्सार्य
बाह्येन शिवाधिष्ठितेन वायुनोदरं प्रपूर्य
चरणाङ्गुष्ठयोर्युग्मात् प्रभृति यावन्मूलाधारं द्विधा
भूतां तत ऊर्ध्वं द्वादशान्तमेकीभूतां

p. 81)

सुषुम्नां शिवधामसंज्ञितां शरीरान्तरालविद्युल्लेखामिव
भास्वरां चिन्तयेत्। तस्यान्तर्बहिः परमेश्वरस्य नित्याधिष्ठेयां
कुण्डलिनीं शक्तिं व्यापिनीं चिन्तयेत्। तस्या सुषुम्नाया मध्ये
हृत्कण्ठतालुभ्रूमध्यब्रह्मरन्ध्रेषु अधोमुखमवस्थितं
पद्मबृन्दं पूरकेण पूरितं सद्वित् सकुम्भकेन रोधितमुत्तम्भितं
रेचकेनाक्षिप्तमूर्ध्वमुखं भवति ततो मूधारप्रदेशे
दीपशिखोपममनध्यायं शिखाबीजं शास्त्रमुच्चार्य फडन्तेन
पूरककुम्भकरेचकपूर्वेण यावच्छक्तिमात्रा कल्पितेन

प्राणायामेन हृत्कण्ठतालुभ्रूमध्यब्रह्मबिलद्वादशान्तेषु
रन्ध्रीन् दक्षनासापुटेन वायुं विमुञ्चन् प्रतिनिवृत्त्य पुनरपि
शिखाबीजं पूर्वप्रदेशे ध्यानपूर्वमुच्चार्य तस्मिन् मनः
सन्निवेश्य तद्वृत्तिरूपमवधानं च तत्र
निक्षिप्यापादमस्तकशरीरवर्तिनं पुर्यष्टकाविच्छिन्नमात्मानं
नक्षत्राकारं दीपशिखाकार * * * स्योपरि प्राणवृत्तिनिरोधवशेन
निक्षिप्य तत्संस्पर्शात् शुद्धं ध्यात्वा उद्घाटितेन प्राणवथा
एकोद्घातवशेन द्वादशान्तपद्मस्थे शिवे

p. 82)

रश्मिमात्रवियोगेन संयोज्य पृथिव्यादिबिन्दुपर्यन्तं
षट्त्रिंशत्तत्त्वानि स्वकारणलयक्रमेण शोधयेत्। तथा हि

गन्धे भूः सलिलं रसे हुतवहो रूपे मरुत्स्पर्शने

शब्दे स्यात् खमहं कृतौ पुनरिमास्तन्मातृकास्तामसे। कर्माक्षाणि
च राजसे सह मनोबुद्धीन्द्रियैः सात्त्विके बुद्धौ तच्च गुणेषु सा
गुणगणो व्यक्ते लयं गच्छति।

षष्ठमाह्निकम्

विवेक

कवलयितुं किल कालं कलयति यो व्यायतास्यतां सततम्।

जयति स सुजयः साक्षात्संसारपराकृतौ सजयः॥

इदानीमाणवोपायस्यैवाङ्गभूतमुच्चारादिप्रमेयचतुष्टयानन्तरोद्दिष्।
तं स्थानकल्पनाख्यं परमं प्रमेयं
द्वितीयार्धेनावतारयितुमुपक्रमते

स्थानप्रकल्पाख्यतया स्फुटस्तु बाह्योऽभ्युपायः प्रविविच्यतेऽथ॥ ६-
१॥

अथशब्दोऽधिकारे। तेनेतः प्रभृत्याद्वादशाह्निकं यत्किंचिदुच्यते
तत्सर्वं स्थानकल्पनाधिकारेण, इति पञ्चदशाह्निकात्प्रभृति
पुनरेतदेव बाह्यस्थण्डिलमण्डलाद्यधिकृत्याभिधीयते
इत्याग्रन्थपरिसमाप्तेः प्राधान्यात् स्थानकल्पनस्यैव सकलोऽयं
प्रपञ्च इति॥ १॥

तदेवाह

स्थानभेदस्त्रिधा प्रोक्तः प्राणे देहे बहिस्तथा।

एषामपि भेदान्तराणि सन्ति इत्याह

प्राणश्च पञ्चधा देहे द्विधा बाह्यान्तरत्वतः॥ ६-२॥

मण्डलं स्थण्डिलं पात्रमक्षसूत्रं सपुस्तकम्।

लिङ्गं तूरं पटः पुस्तं प्रतिमा मूर्तिरेव च॥ ६-३॥

इत्येकादशधा बाह्यं पुनस्तद् बहुधा भवेत्।

पुस्तं लेपादिनिर्मिताकृतिः। मूर्तिर्गुर्वादिसंबन्धिनी।
तदित्यानन्तर्याद् बाह्यं, पुनरित्येकादशविधत्वेऽपि। बहुधेति
मण्डलादीनामप्येकशूलत्रित्रिशूलादिक्रमेण नानात्वात्॥ ३॥

एवं स्वरूपतः स्थानभेदमभिधाय तद्गतं विधिमप्युपदेष्टुं

प्रतिजानीते

तत्र प्राणाश्रयं तावद्विधानमुपदिश्यते ॥ ६-४ ॥

तदेवाह

अध्वा समस्त एवायं षड्वधोऽप्यतिविस्तृतः ।

यो वक्ष्यते स एकत्र प्राणे तावत्प्रतिष्ठितः ॥ ६-५ ॥

वक्ष्यत इति भुवनाध्वप्रकाशनादौ । प्राण इति
सामान्यस्पन्दनात्मनि । यदुक्तम्

षङ्वधाध्वविभागस्तु प्राणैकत्र यथा स्थितः । (स्वटं । ४ ।२३२)

इति । विशिष्टे पुनः पदमन्त्रवर्णात्मा त्रिविध एव । यद्वक्ष्यति

षड्वधादध्वनः प्राच्यं यदेतत्त्रितयं पुनः ।

एष एव स कालाध्वा प्राणे स्पष्टं प्रतिष्ठितः ॥ (तंऽ । ६ ।३७)

इति ॥ ५ ॥

तदेवोपपादयति

अध्वनः कलनं यत्तत्क्रमाक्रमतया स्थितम्।

क्रमाक्रमौ हि चित्रैककलना भावगोचरे॥ ६-६॥

नन्वेतत्क्रमाक्रमात्मतयैव कस्मात्स्थितमित्याशङ्क्याह क्रमेत्यादि।
इह द्विधैव भावानामवभासः क्रमेणाक्रमेण च तत्र क्रमेण यथा
कार्यकारणादौ, अक्रमेण यथा चित्रज्ञानादौ। स च चित्रे
यदैकस्यैवैकदैव च कंचित्पूर्वकालभाविनं समानकालभाविनं च
भावमपेक्ष्य क्रमेणाक्रमेण चावभासः इति। तद्या नाम
भावानामेवं कलना परिच्छित्तिः स एव क्रमाक्रमात्मा इति॥ ६॥

ननु सर्वमिदं जगत्संविल्लग्नमेवावभासतेऽन्यथा ह्यस्य भानमेव न
भवेत्, संविदि च नित्यत्वात्कालयोगो नास्ति, इति कथमसौ तदनुषक्तस्य
भावजातस्यापि स्यात्? इत्याशङ्क्याह

क्रमाक्रमात्मा कालश्च परः संविदि वर्तते।

नन्वेवं क्रमाक्रमकथातीतं संवित्तत्त्वं सुनिर्मलम् इत्याद्युक्तं व्याहन्येत, सौगतमतान्तःपातश्च स्यात् इत्याशङ्क्याह

काली नाम परा शक्तिः सैव देवस्य गीयते ॥ ७ ॥

यन्नाम परस्य प्रकाशस्य कालेन योगः सास्य शक्तिः स्वेच्छावभासितस्य प्रमातृप्रमेयाद्यात्मनो जगतस्तत्तद्रूपतया कलने सामर्थ्यं न पुनः स्वात्मनि कश्चिदक्रमः क्रमो वा इति न ह्यग्नेर्दाहशक्तियोगे स्वात्मनि स्फोटाद्याविर्भावः ॥ ७ ॥

तदाह

सैव संविद् बहिः स्वात्मगर्भीभूतौ क्रमाक्रमौ ।

स्फुटयन्ती प्ररोहेण प्राणवृत्तिरिति स्थिता ॥ ६-८ ॥

सैव कालशक्तियोगिनी संवित्स्वाविभागेनावस्थितौ क्रमाक्रमौ बहिः प्ररूढतयावभासयन्ती प्राणवृत्तिरिति स्थिता, प्राणनात्मतया प्रस्फुरितेत्यर्थः ॥ ८ ॥

ननु कथं नामेयं प्राणवृत्त्यात्मना प्रस्फुरिता इत्याशङ्क्याह

संविन्मात्रं हि यच्छुद्धं प्रकाशपरमार्थकम्।

तन्मेयमात्मनः प्रोज्झ्य विविक्तं भासते नभः॥ ६-९॥

यन्नाम हीदं प्रमातृप्रमेयात्मनो विश्वस्य
स्वाविभागेनैवावभासनात्प्रकाशपरमार्थकम्, अत एव
तदारूषणाया अभावाच्छुद्धं संविन्मात्रं तत्स्वस्वातन्त्र्यात्
स्वात्मन्यपूर्णत्वावबिभासयिषया स्वाविभागेनावस्थितं विश्वात्म
मेयं आत्मनः सकाशात् प्रोज्झ्य पृथक्कृत्य
विश्वस्मादुत्तीर्णोऽहम् इत्यामृश्य विविक्तं नभोऽवभासते
सकलभावशून्यत्वान्निरावरणरूपतया प्रस्फुरतीत्यर्थः॥ ९॥

अत एवाह

तदेव शून्यरूपत्वं संविदः परिगीयते।

शून्यरूपत्वम् इति शून्यप्रमातृत्वमित्यर्थः। शून्यत्वं चास्य
सर्वस्य संवेद्यस्य संक्षयात् न तु संविदोऽपि, तथात्वे हि

निखिलमिदमनेलमूकप्रायं स्यात्। यदुक्तम्

अशून्यं शून्यमित्युक्तं शून्यं चाभाव उच्यते।

अभावः स समुद्दिष्टो यत्र भावाः क्षयं गताः॥ (स्व। ४।२९१)

इति।

शर्वालम्बनधर्मैश्च सर्वसत्त्वैरशेषतः।

सर्वक्लेशाशयैः शून्यं न शून्यं परमार्थतः॥

इति च॥

एतच्च परमुपेयमितो बाह्यानामित्याह

नेति नेति विमर्शेन योगिनां सा परा दशा॥ १०॥

सेयं

ङ भावो नापि चाभावो मध्यमाप्रतिपत्तितः।

इत्याद्युक्तयुक्त्या भावाभावविषयेण नेति नेति परामर्शद्वयेन मध्यमपदावेशशालिनां योगिनां परा शून्यातिशून्यरूपा दशा विश्रान्तिस्थानमित्यर्थः। यदाहुः

शून्यतावस्थितः पश्चात्संवेदनविवर्जितः।

निर्वाणः कृष्णवर्त्मेव निरुपाख्यो भवत्यसौ॥

इति॥ १०॥

स एव च शून्यप्रमाता बहिर्मुखीभवन्प्राणप्रमातृतामासादयति इत्याह

स एव खात्मा मेयेऽस्मिन्भेदिते स्वीक्रियोन्मुखः।

पतन्समुच्छलत्त्वेन प्राणस्पन्दोर्मिसंज्ञितः॥ ६-११॥

स एव च खात्मा शून्यप्रमाता

॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥अभिलाषो मलोऽत्र तु। (स्वटं। ४-१०४)

इत्याद्युक्तेरपूर्णम्मन्यतात्मकाणवमलयोगात्साकाङ्क्षतया पुनस्तत्स्वीकरणोन्मुखः सन् स्वस्मात् भेदिते पृथक्कृतेऽस्मिन् नीलसुखादिरूपे मेये समुच्छलत्त्वेन पतन बहिर्मुखीभवन् प्राणादिशब्दव्यपदेश्यो भवेदित्यर्थः। किंचिच्चलनात्मनः स्वविमर्शरूपस्य स्पन्दनस्यैवायमाद्यः प्रसरः इत्युपचारात्तच्छब्दव्यपदेश्यो न तु स एवायं, तस्य शून्यप्रमात्रुल्लासादप्यूर्ध्वभावात्। एवमूर्मिशब्दादावुत्तरत्रापि ज्ञेयम्॥ ११॥

यदभिप्रायेणैव भट्टश्रीकल्लटादयोऽप्येवमूचुः इत्याह

तेनाहुः किल संवित्प्राक्प्राणे परिणता तथा।

अन्तःकरणतत्त्वस्य वायुराश्रयतां गतः॥ ६-१२॥

यद्यपि शून्यतावभासनपुरःसरं संवित्प्राणरूपतया परिस्फुरिता तथापि तदवभासनेऽस्या न कश्चिद्रूपान्तरोपग्रहः इत्युक्तं प्राक् संवित्प्राणे परिणता इति। तैरप्येतन्निर्मूलमेव नोक्तम् इत्यागमोऽपि संवादितः अन्तःकरणेत्यादिना। अन्तःकरणानां तत्त्वं

सारभूता बुद्धिस्तस्य बुद्धिप्रमातुरित्यर्थः। तेन

बुद्धिप्रमातुरित्यर्थः। तेन बुद्धिप्रमातुः पूर्वं प्राणोल्लासः

इति सिद्धम्। अन्यथा कथं स तस्याश्रयः स्यात्॥ १२॥

एवमयमेव परस्याः संविदः प्रथमः परिस्पन्दः इति

तद्भेदवृत्त्यैव सर्वत्रास्य व्यवहारः इत्याह

इयं सा प्राणनाशक्तिरान्तरोद्योगदोहदा।

स्पन्दः स्फुरत्ता विश्रान्तिर्जीवो हृत्प्रतिभा मता॥ ६-१३॥

आन्तर आद्यो योऽसौ उद्योग उद्यन्तृतात्मा परिस्पन्दस्तत्र

दोहदोऽभिलाषो यस्याः सा तदेकनिष्ठेत्यर्थः॥ १३॥

नन्वेवमुल्लसिताया अस्याः किं प्रयोजनम्? इत्याशङ्क्याह

सा प्राणवृत्तिः प्राणाद्यै रूपैः पञ्चभिरात्मसात्।

देहं यत्कुरुते संवित्पूर्णस्तेनैष भासते॥ ६-१४॥

सेयं सामान्यपरिस्पन्दात्मा प्राणवृत्तिः, पञ्चभिः प्राणापानाद्यै
रूपैर्यत्तदन्तर्बहिष्करणाद्याक्रान्तं पाञ्चभौतिकं
देहमात्मसात्कुरुते व्याप्यावतिष्ठते तेनैष देहो
घटादिवत्संवेद्यत्वेऽपि संवित्पूर्णो भासते संवेत्तृतया प्रथत
इत्यर्थः। अत एव मूढानामयं भ्रमो
यच्चैतन्यविशिष्टात्कायादन्यः कश्चिन्नास्ति इति। यदुक्तम्

चैतन्यखचितात्कायान्नात्मान्योऽस्तीति मन्वते।

इति ॥ १४ ॥

तदाह

प्राणनावृत्तितादात्म्यसंवित्खचितदेहजाम्।

चेष्टां पश्यन्त्यतो मुग्धा नास्त्यन्यदिति मन्वते ॥ १५ ॥

मुग्धा इति देहात्मनोर्विवेकमजानानाः। अयमेषां भावः
भूतान्येव हि मृदाद्यवस्थायामचेतनान्यपि सुराकारतया परिणता
गुडपिष्टादय इव मदशक्तिं, शरीराकारपरिणतानि चैतन्यं

प्रतिपद्यन्ते, कालान्तरे च परिणामविशेषभात्त्वाच्च
तच्छून्यतामुपगच्छन्ति, तावन्तं च कालं
चैतन्यानपायात्स्मृत्यनुसन्धानादिव्यवहारनिपुणतया चेष्टन्ते इति
किमन्येन तदतिरिक्तेनात्मनेति ॥ १५ ॥

एतदधिशयाना एव चार्वाका इत्युच्यन्ते इत्याह

तामेव बालमूर्खस्त्रीप्रायवेदितृसंश्रिताम्।

मतिं प्रमाणीकुर्वन्तश्चार्वाकास्तत्त्वदर्शिनः ॥ ६-१६ ॥

तामेव मतिमिति, चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः इत्याद्युक्त्या
चैतन्यखचितो देह एवात्मा न पुनस्तदतिरिक्तः कश्चित् इत्येवंरूपाम्।
बालादिसंश्रयेणास्या महाजनानुपसेव्यत्वं दर्शितम्।
प्रमाणीकुर्वन्त इति, देहादूर्ध्वमपि यदि कश्चित्तदतिरिक्त आत्मा
संभवेत्तत्तस्य पूर्वशरीरमपहाय शरीरान्तरमधितिष्ठत
एतच्छरीरशैशवादिदशानुभूतार्थस्मरणवत्
पूर्वपूर्वशरीरानुभूतार्थस्मरणमपि भवेत्। न हि तस्य
शरीरभेदेऽपि नित्यत्वात्स्मरणविशेषे कारणं किंचिदुत्पश्यामो
येनेह जन्मन्येवानुभूतं स्मरति नान्यजन्मानुभूतम् इति

तस्मादूर्ध्वमन्यः कश्चिन्नात्मास्तीत्येव युक्तम्। यच्छ्रुतिरपि

विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु-

विनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति (बृ॰।उ। ४।५।१३)

इति। अतश्च परलोकादिचिन्तामपास्य यावज्जीवं सुखमेवासितव्यम्
इत्येषां तत्त्वमित्युक्तं तत्त्वदर्शिन इति। यदाहुः

यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्युरगोचरः।

भस्मीभूतस्य शान्तस्य पुनरागमनं कुतः॥

इति॥ १६॥

नन्वेवं तत्त्वमनुशीलयतामेषां किं स्यात्? इत्याशङ्क्याह

तेषां तथा भावना चेद्दाढर्यमेति निरन्तरम्।

तद्देहभङ्गे सुप्ताः स्युरातादृग्वासनाक्षयात्॥ ६-१७॥

शुप्ता इति अपवेद्यप्रलयाकलप्राया इत्यर्थः॥ १७॥

तद्वासनाक्षये त्वेषां किं भवेत्? इत्याशङ्क्याह

तद्वासनाक्षये त्वेषामक्षीणं वासनान्तरम्।

बुद्धं कुतश्चित्संसूते विचित्रां फलसम्पदम्॥ ६-१८॥

नन्वेषां सांख्यादिभिरपि साम्यं यत्तेषामप्येवंप्रायैव मुक्तिः,
पुनरपि तत्तद्वासनानुसारं विचित्रफलोपभोगस्योदयात्। यद्वक्ष्यति

शांख्यवेदादिसंसिद्धाञ्छीकर्ण्ठस्तदहर्मुखे।

सृजत्येव पुनस्तेन न सम्यङ्मुक्तिरीदृशी॥ (तं। ६।१५३)

इति। तत्सर्वत्रास्यैव कथमवरतया निर्देशः। यदाहुः
चार्वाकास्तु वराकाः प्रतिक्षेप्तव्या एव कः क्षुद्रतर्कस्य तदीयस्येह
गणनावसरः इति। तत्किमेतत्? इत्याशङ्क्याह

अदार्ढ्यशङ्कनात्प्राच्यवासनातादवस्थ्यतः।

अन्यकर्तव्यशैथिल्यात्संभाव्यानुशयत्वतः ॥ ६-१९ ॥

अतद्रूढान्यजनताकर्तव्यपरिलोपनात् ।

नास्तिक्यवासनामाहुः पापात्पापीयसीमिमाम् ॥ ६-२० ॥

यदप्यस्मदपेक्षया दर्शनान्तराणां तुल्यमेव पापत्वं तथापि नास्तिक्यवासनायास्ततोऽप्यतिशयेन पापत्वं, यतः प्राच्या अनिषेध्यत्वात्पूर्वभाविनी येयमास्तिक्यवासना तस्यास्तादवस्थ्यं। नहि नास्तिक्यवासनाया दाढर्येन प्ररोहोऽस्ति येनैतदुपरमो भवेन्निर्मूलत्वेनादाढर्यस्यात्राशङ्क्यमानत्वात्। यथा परं ब्रह्म मूलत्वेनावलम्ब्य प्रपञ्चो मिथ्या इत्याद्युच्यमानं दाढर्येन प्ररोहमियान्नैवमेतत आत्मनो हि नास्तित्वे किमन्यदवशिष्यते यन्नामाजडं मूलभूतमधिकृत्य सर्वमिदं सुव्यवस्थितं स्यात जडानामेव च परिणामो भवेदिति न चेतनत्वेनासौ युज्यते इत्यन्यैर्बहूक्तमिति तत एवावधार्यम्। अत एवास्तिक्यवासनायास्तादवस्थ्येन अन्येषां दर्शनान्तरस्थानाम् अग्निहोत्रं जुहुयात, ङ हिंस्यात्सर्वभूतानि इत्याद्यात्मना विधिनिषेधरूपेण कर्तव्येन शैथिल्यमस्या जायते। यदात्मनोऽस्तित्वे यदि कैश्चित्पारलौकिकं किंचिदनुष्ठीयते तद्यावद्दूरे आस्ताम्

आत्मनः पुनर्नास्तित्वेऽप्यन्यैः कुशलप्रवृत्तिरकुशलविरतिश्च क्रियते

इत्यत्र निमित्तं किंचित्संभवेत्, अन्यथा सर्व एव किमेवं कुर्यः।

अस्माकं च किंचिदपि कर्तव्यं नास्ति इत्यस्थान एवास्माभिर्भ्रान्तं,

किमिदं व्यामूढैरिवासितम् इत्येवमात्मा पश्चात्तापोऽप्यत्र

संभावनीयस्तस्मिन्नुत्पन्ने सति सुखमेव न्यायोपन्यासकदर्थनां

परिहृत्य

शन्दिग्धेऽपि परे लोके त्याज्यमेवाशुभं बुधैः।

यदि नास्ति ततः किं स्यादस्ति चेन्नास्तिको हतः॥

इत्यादिना मित्रसंमतेनाप्युपदेशेन तस्यामास्तिक्यवासनाया

रूढयान्यया दर्शनान्तरस्थया जनतयावश्यमेवास्याः परिलोपः

कार्यः इति॥ २०॥

तदेवमत्र प्रसक्तानुप्रसक्तिकया परदर्शनकथा मा प्रसाङ्क्षीत् इति

प्रकृतमेवानुसरति

अलमप्रस्तुतेनाथ प्रकृतं प्रविविच्यते।

तदेवाह

यावान्समस्त एवायमध्वा प्राणे प्रतिष्ठितः ॥ ६-२१ ॥

द्विधा च सोऽध्वा क्रियया मूर्त्या च प्रविभज्यते ।

द्विधेति देशकालभेदेन । तत्र क्रियया कालाध्वा प्रविभज्यते मूर्त्या
च देशाध्वा ।

यदुक्तम्

मूर्तिवैचित्र्यतो देशक्रममाभासयत्यसौ ।

क्रियावैचित्र्यनिर्भासात्कालक्रममपीश्वरः ॥ (रि । प्र । २ ।१ ।५)

इति ॥ २१ ॥

ननु

अध्वा समस्त एवायं चिन्मात्रे संप्रतिष्ठितः ।

यत्तत्र नहि विश्रान्तं तन्नभःकुसुमायते ॥ (८।३)

इत्यादिवक्ष्यमाणनीत्यास्य संविदि प्रतिष्ठितत्वं युक्तं न
जडात्मनि प्राणे ? इत्याशङ्क्याह

प्राण एव शिखा श्रीमत्त्रिशिरस्युदिता हि सा ॥ ६-२२ ॥

बद्धा यागादिकाले तु निष्कलत्वाच्छिवात्मिका ।

शिखा परिमिता शक्तिर्भैरवस्य तु कथ्यते ।

क्रियाशक्तिरिति ख्याता ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ । ॥

इति ॥ २२ ॥

ननु को नामास्या बन्धो येन यागादौ निष्कलत्वाच्छिवात्मिकेयं स्यात् ?
इत्याशङ्क्याह

यतोऽहोरात्रमध्येऽस्याश्चतुर्विंशतिधा गतिः ॥ ६-२३ ॥

प्राणविक्षेपरन्ध्रख्यशतैश्चित्रफलप्रदा ।

यत्षष्टिघटिकासंख्याकस्य बाह्यस्याहोरात्रस्य मध्येऽस्याः

प्राणरूपायाः पारमेश्वर्याः क्रियाशक्तेः प्राणचाराणां

रन्ध्रख्यैर्द्वारसंख्याकैर्नवभिः शतैरुपलक्षिता, अत एव

चतुर्विंशतिभिः संक्रान्तिलक्षणैः

प्रकारैरैहिकामुत्रिकभेदाच्चित्रफलप्रदा

गतिरूर्ध्वाधरवाहलक्षणश्चारो भवेदित्यर्थः। अयमत्राभिप्रायः

इह खलु सर्वप्राणिनां

मनोऽप्यन्यत्र निक्षिप्तं चक्षुरन्यत्र पातितम्।

तथा प्रवर्तते प्राणस्त्वयत्नादेव सर्वदा॥ (स्वटं। ७।५७)

इत्याद्युक्तया स्वरसत एव मध्यमः प्राणो वहति इति

बाह्येनाहोरात्रेण

षट्शतानि वरारोहे सहस्राण्येकविंशतिः।

अहोरात्रेण बाह्येन अध्यात्मं तु सुराधिपे॥ (स्वटं। ७।५३)

इत्याद्युक्तयान्तः सषट्शता सहस्रैकविंशतिः प्राणचाराणां

भवेत्। तत्र प्रतिघटिकं

शतानि त्रीण्यहोरात्राः षष्टिरेव तथाधिकाः।

वर्षमेतत्समाख्यातं बाह्ये वैघटिका च सा॥ (स्वटं। ७।५१)

इत्याद्युक्त्या प्राणचाराणां सषष्टिस्त्रिशती इति सार्धेन घटिकाद्वयेन नवशतानि भवन्ति, स एव च संक्रान्तीनां प्रत्येकमुदयः। यदुक्तम्

चतुर्विंशतिसंक्रान्त्यः समधातोः स्वभावतः।

शतानि नव वै हंस एकामेकां वहेत्सदा॥ (स्वटं। ७।१६८)

इति। सार्धं च घटिकाद्वयं चतुर्विंशतिधा गुणितं षष्टिर्घटिका भवन्ति इत्यहोरात्रमध्ये तत्संख्याकानामुदयः। यदुक्तम्

बाह्ये चैव त्वहोरात्रे अध्यात्मं तु वरानने।

चतुर्विंशतिसंक्रान्तीः प्राणहंसस्तु संक्रमेत्॥

अहनि द्वादश प्रोक्ता रात्रौ वै द्वादश स्मृताः। (स्वटं। ७।१६६)

इति। यद्यपीयन्तः प्राणचारा अहोरात्रमध्ये भवन्ति इत्येतावदत्र वक्तव्यं, तथापि तथात्वे तेषां गणनामात्रं प्रदर्शितं भवेत् न तु तत्तद्विचित्रफलोदयनिमित्तत्वमपीत्येवमुक्तम्॥ २३॥

नन्वेवंविधः शिखाया बन्धः इति वक्तुं प्रस्तुते किमिदमप्रस्तुतमभिधीयते यत्प्राणचाराणामियती गतिरिति। नैतत्, अयमेव हि शिखाबन्धो यत्प्राणशक्तेः प्रतिचारमादिमध्यान्तेष्ववधानेन पुनः पुनः परामर्शनं नाम। यदभिप्रायेणैव

षट् शतानि दिवा रात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः।

जपो देव्याः समुद्दिष्टः सुलभो दुर्लभो जडैः॥ (वि। भै। १५६)

इत्याद्यन्यत्रोक्तं, तदाह

क्षपा शशी तथापानो नाद एकत्र तिष्ठति॥ ६-२४॥

जीवादित्यो न चोद्गच्छेत्तुटयर्धं सान्ध्यमीदृशम्।

ऊर्ध्ववक्त्रो रविश्चन्द्रोऽधोमुखो वह्निरन्तरे॥ ६-२५॥

माध्याह्निकी मोक्षदा स्याद् व्योममध्यस्थितो रविः ।

अनन्तमितसारो हि जन्तुचक्रप्रबोधकः ॥ ६-२६ ॥

बिन्दुः प्राणो ह्यहश्चैव रविरेकत्र तिष्ठति ।

महासन्ध्या तृतीया तु सुप्रशान्तात्मिका स्थिता ॥ ६-२७ ॥

यदात्रैकत्र वामपार्श्वे द्वादशान्ताद्धृदन्तं चरन्क्षपाशशी
तिष्ठति हृदये निवृत्तगतिर्भवति प्राणादित्यश्च ततो नोद्गच्छति
तदेद्दशमपानीयमन्त्यं तुट्यर्धं सान्ध्यं
वक्ष्यमाणनीत्योद्गच्छत्प्राणार्काद्यतुट्यर्धसंमीलनया स
चतुर्भागाङ्गुलद्वयप्रमाणप्राणचाररूपा प्राभातिकी सन्ध्या
भवेदित्यर्थः । यदुक्तं तत्र

श चन्द्रो विद्यमानोऽपि अपानो हृदि मध्यतः ।

यदा तूत्सन्नतां याति जीवादित्यो न चोद्गमेत् ॥

प्राभातिकीति विज्ञेया आत्मतत्त्वप्रबोधिनी।

क्षपा शशी तथापानो नाद एकत्र तिष्ठति॥

तुट्यर्धं ज्ञानमहसा सन्ध्या वै समुदाहृता।

इति। तदनन्तरं च यदा प्राणात्मा रविरूर्ध्वमुखत्वेन चरंस्ताल्वाद्यात्मन्यन्तरे स्थितश्चन्द्रश्चापानात्माधोमुखत्वेन इति तयोः प्रमाणप्रमेयात्मनोः सङ्घट्टात्प्रमातृरूपो वह्निरुदियात्तदेयं माध्याह्निकी सन्ध्या मोक्षदा स्यात यतो मध्यनाडीसंबन्धिनो व्योम्नः सुषिरस्य मध्ये तालुस्थाने स्थितो बहिर्मुखत्वेन प्रमाणत्वेऽपि प्रमातृरूपस्यानपायादनस्तमितसारो रविर्जन्तुचक्रस्य प्रकर्षेण बोधकः प्रमाणप्रमेयमयत्वेऽपि प्रमातृरूपतयावभासक इत्यर्थः। यदुक्तं तत्र

ऊर्द्ध्ववक्त्रः स्थितो भानुश्चन्द्रश्चाधोमुखः स्थितः।

इत्युपक्रम्य

तदन्तराले उदितस्ताल्वाकाशान्तगोचरे।

प्रमाणरहितो भाव्यः सुशान्तः शान्तबोधनात् ॥

व्योमवद् व्योमवह्निस्तु तुट्यर्धं कालकल्पनात् ।

माध्याह्निकी तु विज्ञेया संध्या मोक्षप्रदायिका ॥

व्योममध्यस्थितः सूर्यः परादित्येति कथ्यते ।

अनस्तमितसारो हि जन्तुचक्रप्रबोधकः ॥

इति । तदनन्तरं च बिन्द्वाद्यात्मना रविर्यदैकत्र द्वादशान्ते तिष्ठति निवृत्तगतिर्भवति, अर्थाच्चापानचन्द्रश्च नोद्गच्छति तदा निःशेषविश्वोपशमात्स्वप्रशान्तात्मिका, अत एवेयं महती सन्ध्या तृतीया स्थिता स्वरसोदितत्वेन वर्तमानेत्यर्थः । यदुक्तम् तत्र

बिन्दुः प्राणोऽप्यहश्चैव रविरेकत्र तिष्ठति ।

सुप्रशान्तं तु संतिष्ठेन्मनोव्यावृत्तिवर्जितः ॥

कृत्वा प्रशान्तभूमौ च स्वरूपं सन्धिदेशतः।

महासन्ध्या तु विज्ञेया तृतीया परिकीर्तिता॥

इति॥ २७॥

एतच्चोपसंहारद्वारेण प्रकृते योजयति

एवं बद्धा शिखा यत्र तत्तत्फलनियोजिका।

एवमुक्तेन प्रकारेण क्रमेण यत्र यागादौ प्राणशक्त्यात्मिका शिखा बद्धा मार्गान्तरखिलीकारेण मध्यधामन्येव निश्चलत्वमापादिता तत्र तस्य तस्य मन्त्रसंनिधानादेः फलस्य नियोजिका भवेदित्यर्थः। तदुक्तं तत्र

तया निबद्धया देहे संनिधानं गुणेश्वराः।

विदध्युः साधकेन्द्राणां देवि नास्त्यत्र संशयः॥

इति॥

एवं प्राणः पारमेश्वरी शक्तिरिति तत्र यदध्वनः
प्रतिष्ठानमुक्तं तत्संविद्येव पर्यवस्येत् इत्याह

अतः संविदि सर्वोऽयमध्वा विश्रम्य तिष्ठति ॥ ६-२८ ॥

नन्वमूर्तायां निष्क्रियायां च संविदि मूर्तः क्रमिकश्चाध्वा
कथमास्ते ? इत्याशङ्क्याह

अमूर्तायाः सर्वगत्वान्निष्क्रियायाश्च संविदः ।

मूर्तिक्रियाभासनं यत्स एवाध्वा महेशितुः ॥ ६-२९ ॥

एवमेवंविधायाः संविदो यन्नाम मूर्तिक्रियात्मनावभासनं स एव
भुवनादिरूपो मन्त्रादिरूपो वाऽध्वा न त्वतिरिक्तः कश्चिदाधेयो
येनैवमाशङ्का स्यात् ॥ २९ ॥

नन्वत्राध्वशब्दस्य प्रवृत्तौ किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह

अध्वा क्रमेण यातव्ये पदे संप्राप्तिकारणम् ।

द्वैतिनां भोग्यभावात्तु प्रबुद्धानां यतोऽद्यते ॥ ६-३० ॥

यातव्ये पदे इति शिवतत्त्वात्मनि। भेददशायां हि तत्तत्तत्त्वोल्लङ्घनक्रमेण षट्त्रिंशं शिवतत्त्वं प्राप्यत्वेनोक्तम्। भोग्यभावादित्यदनीयत्वात अधिगतसंवित्तत्त्वा हि सर्वं स्वात्मसात्कुर्वन्तीति भावः। तेनाध्वैवाध्वा, अद्यत इत्यध्वा चेति ॥ ३० ॥

ननु सर्वशब्दानां समयमात्रादेवार्थप्रतिपादनं सिद्ध्येत् इति किमत्रान्वर्थस्मरणेन नहि सर्वत्रैवैतत्संभवेत्? इत्याशङ्क्याह --

इह सर्वत्र शब्दानामन्वर्थं चर्चयेद्यतः।

यद्यप्यर्थाभिधाने शब्दानां त्रयी गतिर्यौगिकी रूढा योगरूढा च। तत्रापि यौगिक्या एव प्राधान्यं, सनिमित्तं तत्र तस्याः प्रवृत्तेः, अत एवान्यद्द्वयमत्रैव यथाकथंचिदन्तर्भावनीयं येन सर्वत्रैवान्वर्थचर्चा पारं यायात् ॥

तदाह

उक्तं श्रीमन्निशाचारे संज्ञात्र त्रिविधा मता ॥ ६-३१ ॥

नैमित्तिकी प्रसिद्धा च तथान्या पारिभाषिकी ।

पूर्वत्वे वा प्रधानं स्यात्तत्रान्तर्भावयेत्ततः ॥ ६-३२ ॥

अतोऽध्वशब्दस्योक्तेयं निरुक्तिर्नोदितापि चेत् ।

क्वचित्स्वबुद्ध्या साप्यूह्या कियल्लेख्यं हि पुस्तके ॥ ६-३३ ॥

प्रसिद्धेति, सनिमित्तत्वेऽपि क्वचिदेव रूढेः । यदुक्तं तत्र

शंज्ञा हि त्रिविधा ज्ञेया शिवशास्त्रेषु सर्वदा ।

पारिभाषिकनैमित्ती सिद्धा चासौ प्रसिद्धिभाक् ॥

इह नैमित्तिकी संज्ञा निमित्तात्तु समागता ।

इति। एवमिह सर्वसंज्ञानां निमित्ततापयवश्यं
वाच्येत्यत्रैवमुक्तमित्याह अतो इति। ननु यद्येवं तत्सर्वत्रैव
कस्मादेवं नोक्तमित्याशङ्क्याह ? नोदितेत्यादि। कियदिति, नह्यत्र
शब्दव्युत्पादनं प्रस्तुतमिति भावः॥ ३३॥

ननु परस्याः संविदो मूर्तिक्रियाभासनमध्वेत्युक्तं तत्र
क्रियावभासने कतरोऽध्वा मूर्त्यवभासने च कतरः ?
इत्याशङ्क्याह

तत्र क्रियाभासनं यत्सोऽध्वा कालाह्व उच्यते।

वर्णमन्त्रपदाभिख्यमत्रास्तेऽध्वत्रयं स्फुटम्॥ ६-३४॥

यस्तु मूर्त्यवभासांशः स देशाध्वा निगद्यते।

कलातत्त्वपुराभिख्यमन्तर्भूतमिह त्रयम्॥ ६-३५॥

ननु यदि नाम मूर्तिक्रिययोर्वैचित्र्यावभासाद्देशकालभेदेनाध्वनो
द्वैविध्यमुच्यते तदास्तां, तत्रापि प्रत्येकं त्रैविध्ये किं निमित्तम् ?
इत्याशङ्क्याह

त्रिकद्वयेऽत्र प्रत्येकं स्थूलं सूक्ष्मं परं वपुः।

यतोऽस्ति तेन सर्वोऽयमध्वा षड्वध उच्यते॥ ६-३६॥

तेनेति, स्थूलसूक्ष्मपरत्वेन पदवर्णमन्त्रात्मतया
भुवनतत्त्वकलात्मतया च प्रत्येकं त्रैविध्येन हेतुनेत्यर्थः। यदुक्तम्

पदानि मन्त्रारब्धानि मन्त्रा वर्णैकविग्रहाः।

वर्णाः स्वनिष्ठा इत्येषां स्थूलसूक्ष्मपरात्मता॥

इति। तथा

भुवनव्यापिता तत्त्वेष्वनन्तादिशिवान्तके। (स्व। ४।९६)

इति। तथा

कलान्तर्भाविनस्ते वै निवृत्त्याद्यास्तु ताः कलाः॥ (स्वटं। ४।९७)

इति॥ ३६॥

तत्र प्रस्तुतं कालाध्वानं तावदवतारयति

षड्वधादध्वनः प्राच्यं यदेतत् त्रितयं पुनः।

एष एव स कालाध्वा प्राणे स्पष्टं प्रतिष्ठितः॥ ६-३७॥

प्राच्यमिति पूर्वोद्दिष्टं पदमन्त्रवर्णाख्यम्। प्राण
इत्युपलक्षणं, तेनापानादावप्येवमेव॥ ३७॥

नन्वेवं क्रमाक्रमात्मा काल उक्तः स एव किं तत्त्वानामन्तः
परिगणितो न वा ? इत्याशङ्क्याह

तत्त्वमध्यस्थितात्कालादन्योऽयं काल उच्यते।

अन्यस्तद्वैलक्षण्यात्॥

तदेवाह

एष कालो हि देवस्य विश्वाभासनकारिणी॥ ६-३८॥

क्रियाशक्तिः समस्तानां तत्त्वानां च परं वपुः।

परं वपुः इत्युत्पत्तिस्थानम्, अत एव विश्वावभासनकारिणी
इत्युक्तम्॥ ३८॥

ननु परस्याः संविदो विश्वावभासकारित्वं नाम बहिरुन्मेष उच्यते
तदेवमस्येश्वररूपत्वमुक्तं स्यादित्याह

एतदीश्वरतत्त्वं तच्छिवस्य वपुरुच्यते॥ ३९॥

उद्रिक्ताभोगकार्यात्मविश्वैकात्म्यमिदं यतः।

तत तस्माद्
बहिरुन्मेषलक्षणाद्विश्वावभासकारित्वाद्धेतोरेतदीश्वरतत्त्वमुच्यते,
कालात्मनः क्रियाशक्तेरेवैतद्विश्वकलनात्मकत्वं बहिर्मुखं
रूपमित्यर्थः। ननु मायादीनामप्येवं रूपं संभाव्यते, इत्येतदेव
कथमुक्तमित्याशङ्क्याह शिवस्य वपुः इति। बहिरौन्मुख्येऽपि
स्वात्मन्येव विश्रान्तं, यत इदं बहिर्मुखत्वस्य
धाराधिरूढत्वादुद्रिक्ताभोगम्, अत एव कार्यात्म यद्विश्वं तस्य
इदमहम् इति प्रतीतेः एकात्म्यं स्वात्मसात्कार इत्यर्थः। अत एव

भेदाभेददशेयमिति सर्वैरुद्घोष्यते ॥ ३९ ॥

नन्वेवमनेनैव विकलनात्कालतत्त्वस्य पृथक् परिगणनं न प्राप्तमिति,

एवं कालः प्रसर्तव्यस्तच्च तत्त्वमनिन्दितम्।

इत्यादिश्रुतिविरोध आपतेदिति किमेतत्? इत्याशङ्क्याह

एतदीश्वररूपत्वं परमात्मनि यत्किल ॥ ६-४० ॥

तत्प्रमातरि मायीये कालतत्त्वं निगद्यते।

ननु मायाप्रमातरि किमेवं कालतत्त्वमेवोत तत्त्वान्तराण्यपि
इत्याशङ्क्याह

शिवादिशुद्धविद्यान्तं यच्छिवस्य स्वकं वपुः ॥ ६-४१ ॥

तदेव पंसो मायादिरागान्तं कञ्चुकीभवेत्।

शिवादीत्यनेन शिवशब्देनानाश्रितभट्टारक उक्तः। स्वकं
वपुरित्या नन्दादिशक्तिरूपत्वात्। पुंसः इति शिवस्यैव

स्वस्वातन्त्र्याद् गृहीतपशुभावस्येत्यर्थः ॥ ४१ ॥

एतदेव विभजते

अनाश्रितं यतो माया कलाविद्ये सदाशिवः ॥ ६-४२ ॥

ईश्वरः कालनियती सद्विद्या राग उच्यते ।

यदुक्तम्

शक्त्यादिस्तत्त्ववर्गस्तु कञ्चुकत्वेन वै पशोः ।

शक्तिर्माया कला विद्या कालो नियतिरेव च ॥

सदाशिवेश्वरौ विद्या रागस्तु वरवर्णिनि ।

इति ॥ ४२ ॥

न केवलमेषामेवंरूपत्वमेव यावत्प्रमातृत्वमपि इत्याह

अनाश्रितः शून्यमाता बुद्धिमाता सदाशिवः ॥ ६-४३ ॥

ईश्वरः प्राणमाता च विद्या देहप्रमातृता ।

नन्वेषां शून्यादिप्रमातृत्वे किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह

अनाश्रयो हि शून्यत्वं ज्ञानमेव हि बुद्धिता ॥ ६-४४ ॥

विश्वात्मता च प्राणत्वं देहे वेद्यैकतानता ।

शून्यमिति, विश्वोच्छेदात् । ज्ञानमिति, सदाशिवस्य ज्ञानशक्तिप्राधान्यात् । विश्वात्मता इति बहिरुन्मेषरूपत्वात् । वेद्यैकतानतेति, तत्रैवाभिष्वङ्गात् ॥ ४४ ॥

एवं प्राणे विश्वात्मत्वमस्ति इति तदेवात्र संप्रत्यभिधीयते इत्याह

तेन प्राणपथे विश्वाकलनेयं विराजते ॥ ६-४५ ॥

येन रूपेण तद्वच्म्ः सद्भिस्तदवधीयताम् ।

येन रूपेणेति, कालात्मना ॥ ४५ ॥

ननु प्राणस्य सर्वशरीव्यापकत्वेनावश्यमवस्थानमस्ति, अन्यथा हि कानिचिदङ्गानि स्तम्भादिवत्स्तब्धान्येव भवेयुः, तदस्य श्रीस्वच्छन्दशास्त्रादौ हृदयादारभ्यैव चारः कस्मादुक्त ? इत्याशङ्क्याह

द्वादशान्तावधावस्मिन्देहे यद्यपि सर्वतः ॥ ६-४६ ॥

ओतप्रोतात्मकः प्राणस्तथापीत्थं न सुस्फुटः ।

इत्थमिति, ओतप्रोतत्वेन । न सुस्फुट इति सर्वत्रैव देहे क्वचिद्धि शरीरे सुस्फुटत्वेन प्राणोऽवभासते क्वचिच्चास्फुटत्वेनेति ॥ ४६ ॥

अत एवाह

यत्नो जीवनमात्रात्मा तत्परश्च द्विधा मतः ॥ ६-४७ ॥

संवेद्यश्चाप्यसंवेद्यो द्विधेत्थं भिद्यते पुनः ।

स्फुटास्फुटत्वाद् द्वैविध्यं प्रत्येकं परिभावयेत्॥ ६-४८॥

यत्न इति प्राणीयः स्पन्दः। जीवनमात्रात्मेति, स्वारसिको येनावयवानां स्तब्धतैव न स्यात्। तत्पर इच्छापूर्वकः। प्रत्येकमिति, चतुर्णां द्वैविध्येऽष्टधा प्राणीयो यत्न इति सिद्धम्॥ ४८॥

तत्र स्वारसिकः प्राणीयो यत्नः कन्दात्प्रभृत्येव संवेद्यते किंत्वस्फुटत्वेन इत्याह

संवेद्यजीवनाभिख्यप्रयत्नस्पन्दसुन्दरः।

प्राणः कन्दात्प्रभृत्येव तथाप्यत्र न सुस्फुटः॥ ६-४९॥

यदभिप्रायेणैव श्रीस्वच्छन्दशास्त्रे ततः प्रभृति प्राणादेरवस्थानमुक्तम् इत्याह

कन्दाधारात्प्रभृत्येव व्यवस्था तेन कथ्यते।

स्वच्छन्दशास्त्रे नाडीनां वाय्वाधारतया स्फुटम् ॥ ६-५० ॥

तेनेति, प्राणस्य संवेद्यत्वेन हेतुनेत्यर्थः ।

यदुक्तं तत्र

ङाभ्यधो मेढ्रकन्दे च स्थिता वै नाभिमध्यतः ।

तस्माद्विनिर्गता नाड्यस्तिर्यगूर्ध्वमधः प्रिये ॥ (स्वटं । ७ ।८)

इति ॥ ५० ॥

ननु यद्येवं तत्तत्रैव

हृच्चक्रे तु समाख्याताः साधकानां हितावहाः ।

प्राणो वै चरते तासु अहोरात्रविभागतः ॥

तथा ते कथयिष्यामि प्रविभज्य यथा स्फुटम् । (स्वटं । ७ ।२१)

इत्यादिना हृदयात्प्रभृति वितत्य पुनः प्राणचारः कस्मादुक्त ?

इत्याशङ्क्याह

तत्रापि तु प्रयत्नोऽसौ न संवेद्यतया स्थितः।

तत्र कन्दाधारे ह्यसावपीच्छापूर्वकः प्रयत्नो न स्फुटं संवद्यते इति न तत्र वितत्य प्राणचार उक्तः। न हि स्वारसिकेन प्राणचारेणोक्तेन किंचित्फलं, स्वेच्छया हि चारितः प्राणस्तत्तत्सिद्धिनिमित्तं योगिनां स्यात् यदर्थमेवमुपदेशः। तच्च हृदयात्प्रभृत्येव भवेत् इति तत्रैवासौ तथा निर्दिष्टः॥

एतच्चास्माभिरप्येवमेवोच्यते इत्याह

वेद्ययत्नात्तु हृदयात्प्राणचारो विभज्यते॥ ५१॥

वेद्ययत्नादिति, अर्थादिच्छापूर्वकस्य। विभज्यते इति तुट्याद्यात्मना विभागेनोच्यत इत्यर्थः॥ ५१॥

ननु व्यापकत्वात्सर्वत्राविशेषेऽपि प्राणनस्य क्वचित्स्फुटं तदीयो यत्नः संवेद्यते, क्वचिच्चान्यथेत्यत्र किं निमित्तम्? इत्याशङ्क्याह –
–

प्रभोः शिवस्य या शक्तिर्वामा ज्येष्ठा च रौद्रिका ।

सतदन्यतमावात्मप्राणौ यत्नविधायिनौ ॥ ६-५२ ॥

इह खलु परमेश्वरसंबन्धिन्या तासां वामादीनां मध्यादन्यतमया
शक्त्या सहभूतावात्मप्राणौ यत्नविधायिनौ, प्रभुशक्तिरात्मा
प्राणश्चेति त्रयः संमिलिताः प्राणस्पन्दं विदधतीत्यर्थः ।
यदुक्तम्

तत्रात्मा प्रभुशक्तिश्च वायुर्वै नाडिभिश्चरन् । (स्व ।७ ।७)

इति ॥ ५२ ॥

एवमेषां समानेऽपि यत्नविधायित्वे क्वचित्कस्यचिन्मुख्यत्वम् इत्याह

प्रभुशक्तिः क्वचित्कन्दसङ्कोचस्पन्दने यथा ।

प्राणशक्तिः क्वचिन्मुख्या यथाङ्गमरुदीरणे ॥ ६-५३ ॥

आत्मशक्तिः क्वचित्प्राणचारे हार्दे यथा स्फुटम् ।

त्रयं द्वयं वा मुख्यं स्याद्योगिनामवधानिनाम् ॥ ६-५४ ॥

अङ्गमरुदीरणे चक्षुःस्फुरणादौ । अत्र हि
भाविशकुनाशकुनप्रकाशनाद्यर्थं प्रभुशक्तेरेव प्राधान्येन
प्राणस्पन्दने कर्तृत्वम् । कन्दस्य आनन्देन्द्रियस्य सङ्कोचे विकासात्मनि
स्पन्दने चात्मन एव प्राधान्यं, तत्र हि तदिच्छैव निबन्धनम् । हृदि च
प्राधान्येन प्राणस्यैव स्वरसवाहित्वात्स्पन्दने कर्तृत्वम्, एतद् द्वयं
पुनः सर्वत्रैव गुणभावेन स्थितमन्यथैवंभावाभावात् ।
एवमेषां स्वारसिकत्वेन गौणमुख्यभावमुक्त्वा
प्रायत्निकत्वेनाप्यभिधत्ते त्रयम् इत्यादिना । योगिनो हि तत्तत्फलेप्सवो
यत्रैवावधानातिशयात्प्राणं योजयन्ति, तत्रैवात्मानं प्रभुशक्तिं
तदन्यतमं वेति ॥ ५४ ॥

न केवलमेषां गौणमुख्यभावो भवेद्यावदन्यथापि इत्याह

अवधानाददृष्टांशाद् बलवत्त्वादथेरणात् ।

विपर्ययोऽपि प्राणात्मशक्तीनां मुख्यतां प्रति ॥ ६-५५ ॥

अवधानाद्यथा योग्यपि स्वावधानेनैव चक्षुः स्फारयेत्

इत्यत्रात्मनः प्राधान्यम्। अदृष्टांशाद्यथा गवामपि जन्मान्तरीयसंस्कारवशात् स्वारसिक्यैव प्राणशक्त्या नियतमङ्गं स्फुरेत् येनात्र तस्या एव प्राधान्यम्। बलवत्त्वाद्यथा मल्लादीनां श्रमाद्यभ्यासादायत्तीकृतया प्राणशक्त्यैव तत्तत्प्लुत्यादिसिद्धिः। ईरणाद्यथा वाताभिभूतानां प्राणस्य बलवत्त्वेऽपि प्रभुशक्त्यैव तत्तदङ्गपरिस्पन्दो भवेत् इति तस्या एव मुख्यत्वम्। एवमेषां यत्रैवोद्रिक्तत्वेनावस्थानं तत्रैव प्राणीयस्यापि यत्नस्य स्फुटतया संवेद्यत्वमन्यथा पुनरतथात्वमिति सिद्धम्॥ ५५॥

ननु प्रभुशक्तिर्यद्यात्मप्राणाभ्यां सह प्राणीयं यत्नं विदधाति तदस्तु, तस्यास्तु त्रैविध्यं किमर्थमुक्तम्? इत्याशङ्क्याह

वामा संसारिणामीशा प्रभुशक्तिर्विधायिनी।

ज्येष्ठा तु सुप्रबुद्धानां बुभुत्सूनां च रौद्रिका॥ ६-५६॥

विधायिनी इत्यर्थात्प्राणीयं यत्नं विदधातीति॥ ५६॥

अत्र किं निमित्तम्? इत्याशङ्क्याह

वामा संसारवमना ज्येष्ठा शिवमयी यतः।

द्रावयित्री रुजां रौद्री रोद्ध्री चाखिलकर्मणाम्॥ ५७॥

वामाद्या किं प्राभव्यः शक्तयः सृष्टिसंहारस्थित्यात्मिकाः इति
तथैषां प्राणीयं यत्नं विदधति यथा संसारिणामधोधःपातो
भवेत्, सुप्रबुद्धानां शिवीभावापत्तिर्बुभुत्सूनां च
शिवीभावौन्मुख्येन संसार एवावस्थानमिति। तदुक्तम्

अणुं स्वरूपदृश्वानं वामाधो विनिपातयेत्।

रौद्री सांसारिकानन्दं कदाचिद्वितरेदपि॥

ज्येष्ठा स्वातन्त्र्यलेशं तु तनुते ज्ञानकर्मणोः।

इति॥ ५७॥

नन्वेतत्स्वरसत एव सिद्ध्येदिति किमनेनैवमुपदिष्टेन ? इत्याशङ्क्याह

सृष्ट्यादितत्त्वमज्ञात्वा न मुक्तो नापि मोचयेत्।

नन्वत्र किं प्रमाणम् ? इत्याशङ्क्याह

उक्तं च श्रीयोगचारे मोक्षः सर्वप्रकाशनात्॥ ६-५८ ॥

सर्वप्रकाशनादिति, सर्वस्य सृष्ट्यादेर्यथातत्त्वं
परिज्ञानादित्यर्थः। नहि तदतिरिक्तमन्यत्किंचित्संभवेदिति भावः॥
५८ ॥

अत एवाह

उत्पत्तिस्थितिसंहारान् ये न जानन्ति योगिनः।

न मुक्तास्ते तदज्ञानबन्धनैकाधिवासिताः॥ ६-५९ ॥

तदज्ञानं सृष्ट्यादितत्त्वासंवित्तिः॥ ५९ ॥

ततश्च प्रकृते किम् ? इत्याशङ्क्याह

सृष्ट्यादयश्च ते सर्वे कालाधीना न संशयः।

स च प्राणात्मकस्तस्मादुच्चारः कथ्यते स्फुटः ॥ ६-६० ॥

कालाधीना इति, सृष्टिः स्थितिः संहारश्चेति क्रमात्मकत्वात्।
उच्चारः इति प्राणचारः, तत्कथनेन हि सृष्ट्यादीनां
यथातत्त्वं परिज्ञानं भवेदिति भावः ॥ ६० ॥

तदाह

हृदयात्प्राणचारश्च नासिक्यद्वादशान्तः।

षट्त्रिंशदङ्गुलो जन्तोः सर्वस्य स्वाङ्गुलक्रमात्॥ ६-६१ ॥

नसते कुटिलं गच्छतीति नासिका शक्तिः, तस्या इदं (अयं)
ङासिक्यः शाक्तो द्वादशान्तः। तदुक्तम्

षट्त्रिंशाङ्गुलश्चारो हृत्पद्माद्यावशक्तितः। (स्वटं। ४।२३५)

इति ॥ ६१ ॥

ननु यद्येवं तदतिक्षुद्रे मशकादिसंबन्धिन्यतिमहति वा हस्त्यादिसत्के

देहे कथमेतत्सङ्गच्छते? इत्याशङ्क्याह

क्षोदिष्ठे वा महिष्ठे वा देहे तादृश एव हि।

तादृशः षट्त्रिंशदङ्गुल एव किन्तु स्वाङ्गुलापेक्षया॥

न च सर्वस्य जन्तोः प्राणचार एव समो यावद्वीर्यादयोऽपि इत्याह

वीर्यमोजो बलं स्पन्दः प्राणचारः समं ततः॥ ६-६२॥

अयमत्राशयः संविद एव ह्ययं स्फारो यत्क्षोदिष्ठो महिष्ठो वा
जन्तुवर्गः समुज्जृम्भते, न च तस्याः क्वचित्कश्चिद्विशेषः। यदुक्तम् -
-

यैव चिद् गगनाभोगभूषणे भाति भास्वति।

धराविवरकोशस्थे सैव चित्कीटकोदरे॥ (वासिष्ठे)

इति। तदाहिताश्च वीर्यादयः इति तेषामपि विशेषे न
किंचिन्निमित्तमुत्पश्यामः। यत्पुनरेषां तारतम्यमभिलक्ष्यते तत्र
कर्मवैचित्र्यमपराध्यति, यत्पुंसामप्यन्योन्यापेक्षया

वीर्याद्यतिशाययतीति ॥ ६२ ॥

एवं सपीठिकाबन्धं प्राणस्य चारमानमभिधाय
तदानन्तर्येणानुजोद्देशोद्दिष्टमहोरात्राद्यपि विभक्तुमपक्रमते

षट्त्रिंशदङ्गुले चारे यद् गमागमयुग्मकम् ।

नालिकातिथिमासाब्दतत्सङ्घोऽत्र स्फुटं स्थितः ॥ ६-६३ ॥

गमागमौ प्राणापानारूपावारोहावरोहौ । तच्छब्देन नालिकादीनां
सर्वेषामेव परामर्शः ॥ ६३ ॥

एतदेव क्रमेण विभजते

तुटिः सपादाङ्गुलयुक्प्राणस्ताः षोडशोच्छ्वसन् ।

निःश्वसंश्चात्र चषकः सपञ्चांशोऽङ्गुलेऽङ्गुले ॥ ६-६४ ॥

श्वासप्रश्वासयोर्नाली प्रोक्ताहोरात्र उच्यते ।

नवाङ्गुलाम्बुधितुटौ प्रहरास्तेऽब्धयो दिनम् ॥ ६-६५ ॥

निर्गमेऽन्तर्निशेनेन्दू तयाः संध्ये तुटेर्दले ।

सचतुर्भागमङ्गुलयुग्मं तुटिरुच्यते इति तत्षोडशधा गुणितं षट्त्रिंशदङ्गुलानि भवन्तीत्युक्तं प्राणस्ताः षोडशोच्छ्वसन इति । अपानवाहेऽप्येवमित्युक्तम् ङिश्वसंश्वेति तेनोभयत्र द्वात्रिंशत्तुटयः । यदुक्तम्

प्राणापानाश्रिते वाहे द्वात्रिंशत्तुटयः स्थिताः ।

इति । तथात्र षट्त्रिंशदङ्गुलात्मनि प्राणचारे सपञ्चभागमङ्गुलं प्रति चषकः इति त्रिंशद्धा विभक्ते प्राणवाहे त्रिंशच्चषका भवन्ति, एवमपानवाहेऽपि इति प्राणापानोभयमीलनेन चषकषष्ट्यात्मनो घटिकाया उदयः इत्युक्तं श्वासप्रश्वासयोर्नाडी प्रोक्ता इति । ङिर्गमे प्राणस्य बहिरुल्लासे, ङवाङ्गुलाम्बुधितुटौ नवाङ्गुलिस्थानासु चतसृषु तुटिषु प्रहरो, नवस्वङ्गुलीष्वसावुदेतीत्यर्थः । यदुक्तम्

॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ । प्रहरः स्यान्नवाङ्गुलः ।

इति। ते इति नवाङ्गुलिमानाः प्रहराः अब्धयः चत्वारः,

अन्तरित्यर्थादपानस्योदये। एवं निशापि चत्वारः प्रहराः। तदुक्तम्

अहोरात्रस्त्वथोऽष्टभिः॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ (स्वटं। ७।२८)

इति। तावेव च प्राणापानौ इनेन्दू सूर्याचन्द्रमसौ भवत इत्यर्थः

। यदुक्तम्

वासरे तु चरेत्सूर्यो धारायां सञ्चरञ्छशी।

चन्द्रसूर्योदयो ह्येष॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥। ॥ (स्वटं। ७।४०)

इति। तयोः प्राणापानरूपयो रात्रिदिनयोरर्थाद्द्वादशान्ते हृदि च
तुटेर्दले संध्ये। सायंप्रातःसंध्ययोः प्रत्येकं
प्राणीयस्यापानीयस्य चान्त्यस्यान्त्यस्य च तुट्यर्धस्य संमेलनया
सकलैव तुटिरुदयस्थानमित्यर्थः। अत एव
संध्ययोस्तुटिद्वयमहोरात्रस्य च त्रिंशत्तुटयः। यदाहुः

शंध्याकालं विना त्रिंशत्तुटिकोऽहोरात्रः।

इति। यत्तु

चतुर्थान्ते च देवेशि प्राणसूर्यः सदास्तगः।

ततोऽस्तमयसंध्यात्र तुट्यर्धं ।ई् तु भवेत्प्रिये॥ (स्वटं। ७।३६)

इति। तथा

हृत्पद्मं तु यदा प्राप्तः प्रभातसमयस्तदा।

तुट्यर्धं तु वरारोहे पूर्वसंध्या भवेत्ततः॥ (स्वटं। ७।३९)

इत्याद्युक्तं तत्केवलमेव प्राणवाहमधिकृत्यापानवाहं

चेत्यधिगन्तव्यम्। एवं

शक्तेर्मध्योर्ध्वभागे तु तुट्यर्धं यत्प्रकीर्तितम्।

पक्षसन्धिस्त्वसौ ज्ञेयः॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ (स्वटं। ७।६८)

इत्यादौ पक्षसन्धिग्रन्थेऽप्ययमेवाशयो योज्यः। अन्यथा ह्येका

तुटिरकृतविनियोगा स्यात्॥ ६५॥

न केवलमत्र सूर्याचन्द्रमसोरेवोदयो यावद् ग्रहान्तराणामपि इत्याह

केतुः सूर्ये विधौ राहुर्भौमादेर्वारभागिनः ॥ ६-६६ ॥

प्रहरद्वयमन्येषां ग्रहाणामुदयोऽन्तरा ।

केतुः सूर्येऽन्तर्भवति, एवं विधौ राहुः । तेन य एव
सूर्याचन्द्रमसोरुदयः स एवानयोरित्यर्थः । यदुक्तम्

राहुश्चरति सोमेन केतुश्चरति भास्वता । (स्वटं । ७ ।४२)

इति । वारभागिनः पुनर्भौमादेर्ग्रहस्य प्रहरद्वयमुदयस्तस्य
प्रत्यहोरात्रामाद्यन्तार्धप्रहरचतुष्टयोपभोगात्, अन्येषां
षष्ठपञ्चमानां ग्रहाणामन्तरा प्रहरं प्रहरं प्रत्येकमुदयः
प्रत्यहोरात्रमर्धप्रहरद्वयोपभोगात् । तदुक्तम्

पूर्वोऽष्टभागो दिवसाधिपस्य तथैव चान्ते दिवसस्य विद्यात् ।

शेषाः ग्रहाः षट्परिवर्तनेन भुञ्जन्ति होरां निशि पञ्चमेन ॥

इति ॥ ६६ ॥

अत्रैव प्रथमार्धप्रहरादारभ्य क्रमेण फलं निर्दिशति

सिद्धिर्दवीयसी मोक्षोऽभिचारः पारलौकिकी ॥ ६-६७ ॥

एहिकी दूरनैकट्यातिशया प्रहराष्टके।

सिद्धिर्दवीयसीत्यादिना सप्त भेदाः ॥ ६७ ॥

ननु संध्यायाश्चतुर्धोदयोऽपि कथं द्विधैवोक्त ? इत्याशङ्क्याह -

-

मध्याह्नमध्यनिशयोरभिजिन्मोक्षभोगदा ॥ ६-६८ ॥

अभिजयति सर्वान्विघ्नानित्यभिजिन्नक्षत्रविशेषः। यदुक्तम्

मध्याह्ने चार्धरात्रे च उदयोऽभिजितो भवेत्।

अभीप्सितं फलं तत्र साधकानां भवेदिह ॥ (स्वटं। ७।४७)

इति।

स च तालुनि, इत्यधिगन्तव्यम्। यदुक्तम्

॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ंअध्याह्नस्तालुमध्यतः। (७।३३)

इति॥ ६८॥

न केवलमत्राभिजित एवोदयो यावदश्विन्यादीनामपि इत्याह

नक्षत्राणां तदन्येषामुदयो मध्यतः क्रमात्।

तदन्येषाम् इति राशितारादीनाम्। यदुक्तम्

ऋक्षाणिराशयश्चैव तारास्त्वंशास्तथैव च।

प्राणे वै उदयन्त्येते अहोरात्रेण सुव्रते॥ (स्वछं। ७।३१)

इति। अत्र च नक्षत्राणां सत्रिभागमङ्गुलमुदयस्थानम्,
एवमन्येषामपि संख्यानुसारमुदयस्थानं परिकल्पनीयम्।
प्रहराष्टके च न नक्षत्राणामेवोदयोऽपि त्वन्येषामपि इत्याह

नागा लोकेशमूर्तीशा गणेशा जलतत्त्वतः॥ ६-६९॥

प्रधानान्तं नायकाश्च विद्यातत्त्वाधिनायकाः।

सकलाद्याश्च कण्ठयोष्ठ्यपर्यन्ता भैरवास्तथा॥ ६-७०॥

शक्तयः पारमेश्वर्यो वामेशा वीरनायकाः।

अष्टावष्टौ ये य इत्थं व्याप्यव्यापकताजुषः॥ ६-७१॥

स्थूलसूक्ष्माः क्रमात्तेषामुदयः प्रहराष्टके।

ङागा इत्यनन्ताद्याः। यदुक्तम्

इनस्त्वनन्त इत्युक्तः सोमो वासुकिरुच्यते।

तक्षकः कुज इत्युक्तः कार्कोटः सोमजो भवेत्॥

सरोजो गुरुराख्यातो महाब्जः शुक्र उच्यते।

शङ्खो मन्दगतिर्ज्ञेयः सप्त नागा ग्रहाः क्रमात्॥

अष्टमः कुलिको नाम राहुः क्रूरग्रहो भवेत्। इति।

एषां च ग्रहवदेव षट्परिवृत्त्यादिक्रमेणोदयः किन्तु कुलिकस्य
शङ्खवन्मन्दगतिनैव सहोदयः। यदुक्तम्

शनैश्चरस्य यः कालस्तं भुङ्क्ते कुलिकः प्रिये।

सोऽपि दुष्टः समाख्यातः सर्वकर्मस्वसिद्धिदः॥

इति। लोकेश्वरादीनां पुनराद्यार्धप्रहरक्रमेणैवोदयोऽन्यथा
सप्तानां ग्रहाणामष्टकैः सह सङ्गत्ययोगात्। एते च सर्व
एवाष्टका भुवनाध्वनि वक्ष्यन्तं इति तत एवावधार्याः इति किं
तद्व्यावर्णनग्रन्थविस्तरेण। व्याप्यव्यापकत्वे स्थूलसूक्ष्मत्वं
हेतुः, हि सूक्ष्मेण व्याप्यत इति भावः। यथा ग्रहाणां नागा
व्यापकास्तेषामपि लोकेश्वराः इत्याद्युत्तरोत्तरम् अत एव क्रमादित्युक्तम्।
तदुक्तम्

ये ग्रहास्ते च वै नागा लोकपालाष्टकं च ते।

मूर्तयश्चैव ते चाष्टावष्टौ ते च गणेश्वराः॥ (स्वटं। ७।४३)

इत्यादि ।

एवमनेन तेन प्राणपथे विश्वाकलनेयं विराजते ॥ (तं । ६ ।४५)

इत्यादि यदुक्तं तत्स्मारितमित्यवसेयम् ॥ ७१ ॥

ननु यत्र प्रहराष्टके फलभेद उक्तस्तत्र दिननिशयोः कथं न ?
इत्याशङ्क्याह

दिने क्रूराणि सौम्यानि रात्रौ कर्माण्यसंशयम् ॥ ६-७२ ॥

ननु वासनाभेदतः प्राप्तिः संध्यमन्त्रप्रचोदिता ।

इत्यादिदृशानुसन्धानभेदेन फलमपि भिद्यते इति कथमेवं नियम
एव भवेत् ? इत्याशङ्क्याह

क्रूरता सौम्यता वाभिसन्धेरपि निरूपिता ।

तेन कदाचिद्व्यत्ययोऽपि भवेदिति भावः ॥

ननु संध्याद्वयस्य फलं निर्दिष्टं सायंप्रातःसंध्ययोः पुनः

किं न ? इत्याशङ्क्याह

दिनरात्रिक्षये मुक्तिः सा व्याप्तिध्यानयोगतः ॥ ६-७३ ॥

ते चोक्ताः परमेशेन श्रीमद्वीरावलीकुले ।

दिनरात्रिक्षये इति सायंप्रातःसन्ध्ययोः । ते इति
व्याप्तिध्यानादयः ॥ ७३ ॥

तदेव पठति

सितासितौ दीर्घह्रस्वौ धर्माधर्मौ दिनक्षपे ॥ ६-७४ ॥

क्षीयेते यदि तद्दीक्षा व्याप्त्या ध्यानेन योगतः ।

अहोरात्रः प्राणचारे कथितो मास उच्यते ॥ ६-७५ ॥

यदि नाम प्राणापानरूपौ सितासितौ परस्परव्यावृत्त्या वर्तमानौ
दीर्घह्रस्वादिशब्दव्यपदेश्यौ शुभाशुभौ पक्षौ क्षीयेते
अपोहात्मविकल्परूपताघट्टनेन निर्विकल्पात्मपरसंविद्रूपत्वेन

परिस्फुरतस्तदेव व्याप्त्या ध्यानेन योगेन च दीक्षा,
ज्ञानयोगक्रियात्मिकया दीक्षया निर्यन्त्रणमेव मुक्तिर्भवेदित्यर्थः।
एतदेव हि व्याप्तिध्यानयोगानां मुख्यं रूपं यत्सितासितादिपक्षयोः
प्रक्षयो नामेति। तदुक्तं तत्र

शितासितौ च यौ पक्षौ दीर्घह्रस्वौ च कीर्तितौ।

धर्माधर्ममयौ पाशौ महाघोरौ भयानकौ॥

द्वयोर्यत्र भवेच्छेदः क्षयेन्माया तु योगिनी।

क्षये शून्यं परं ज्ञेयं दीक्षा ह्येषा प्रकीर्तिता॥

नान्यथा भवते दीक्षा रजसां पातने न तु।

नैव शास्त्रैर्भवेन्मुक्तिर्यजने नैव याजने॥

एषा ब्रह्मविदां दीक्षा नान्यथा तु वदाम्यहम्।

इति। तथा

शितासितौ कथिष्यामि (वदिष्यामि) नामपर्यायवाचकैः।

इत्युपक्रम्य

अहः शुक्लस्तथा प्राणः ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ।

इति।

अधर्मश्च क्षपा चैव ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ।

इति एवमहोरात्रमुपसंहृत्य मासमवतारयति अहोरात्र इत्यादिना ॥ ७५
॥

तमेवाह

दिनं कृष्णो निशा शुक्लः पक्षौ कर्मसु पूर्ववत्।

पूर्ववदिति, रात्रिन्दिनवत्। तेन कृष्णपक्षे क्रूराणि कर्माण्यन्यत्र
च सौम्यानीति। तदुक्तम्

क्रूरकर्माणि तत्रैव कुर्वन्सिद्धिमवाप्नुयात् ।

शुभकर्माणि कृष्णे च न च सिद्ध्यन्ति सुव्रते ॥

इति । तथा

तदारभ्य च कर्माणि शुभान्याभ्युदयानि च ।

ध्यानमन्त्राभियुक्तस्य सिद्ध्यन्ते नात्र संशयः ॥

इति ॥

तत्रैव तिथिभागमाह

याः षोडशोक्तास्तिथयस्तासु ये पूर्वपश्चिमे ॥ ६-७६ ॥

तयोस्तु विश्रमोऽर्धेऽर्धे तिथ्यः पञ्चदशेतराः ।

उक्ता इति, प्राणवाहेऽपानवाहे वा । तयोरिति, पूर्वपश्चिमयोस्तुटयोः ।

विश्रम इति, पक्षसंधित्वेन वक्ष्यमाणः। अर्धेऽर्ध इति,
प्राणीयेऽपानीये च। तयोश्च संमेलनात्तुटिर्विश्रमस्थानं स्यान्नतु
तुट्यर्धम्। इतरा इति हृदि द्वादशान्ते च
विश्रमस्थानत्वेनार्धार्धिकयोक्तायाः षोडश्यास्तुटेरन्या इत्यर्थः।
यदुक्तम्

तुट्यर्धं चाप्यधश्चोर्ध्वं विश्रमः परिकीर्तितः।

मध्ये पञ्चदशोक्ता यास्तिथयस्ताः प्रकीर्तिताः॥ (७।६१)

इति॥ ७६॥

अत्राप्यहोरात्रविभागमाह

सपादे द्व्यङ्गुले तिथ्या अहोरात्रो विभज्यते॥ ६-७७॥

प्रकाशविश्रमवशात्तावेव हि दिनक्षपे।

विभज्यत इति प्रकाशविश्रमात्मना विभागेन व्यवस्थाप्यत इत्यर्थः
। क्वचित् ह्यत्र प्रकाशस्य प्राधान्यं, क्वचिच्च विश्रमात्मन आनन्दस्य
तत्र प्रकाशप्राधान्ये दिनमन्यथा तु रात्रिरित्युक्तं तावेव हि

दिनक्षपे इति। तेनैककस्यास्तुटेः

साष्टभागाङ्गुलपरीमाणमाद्यमर्धं प्रकाशरूपं दिनं, परं

तु विश्रान्त्यात्मा रात्रिरिति। तदुक्तम्

प्रथमोदये हृत्पद्मात्तुट्यर्धं तु दिनं भवेत्।

द्वितीये चैव तुट्यर्धे यदा चरति शर्वरी॥ (स्वटं। ७।६२)

इति॥ ७७॥

ननु यदहोरात्रस्य प्रकाशविश्रान्तितारतम्येन दिननिशाविभाग

उक्तस्तदास्तां को दोषः,

यत्पुनर्बाह्याहोरात्रक्रमातिक्रमेणाप्युक्तमन्तः प्राणापानरूपं

दिननिशाविभागमुल्लङ्घ्य तुट्यन्तरमितयोरवस्थानमुच्यते तदपूर्वमिव

नः प्रतिभाति? इत्याशङ्क्याह

संवित्प्रतिक्षणं यस्मात्प्रकाशानन्दयोगिनी॥ ६-७८॥

तौ क्लृप्तौ यावति तया तावत्येव दिनक्षपे।

प्रतिक्षणमिति, सदैव प्रकाशानन्दमयीत्यर्थः। अतश्च तथा

संविद् उदयः प्रमातॄणां

वेद्यग्रहणपरत्वादेस्तारतम्यात्कस्यचित्क्षणः कस्यचित्कल्पः

कस्यचिन्निमेषोऽपि वा स्यात् ॥ ७८ ॥

अत एवाह

यावत्येव हि संवित्तिरुदितोदितसुस्फुटा ॥ ६-७९ ॥

तावानेव क्षणः कल्पो निमेषो वा तदस्त्वपि ।

नन्वेवमपि भवतु को दोषस्तत्राप्यस्या वेद्यग्रहणपरत्वं स्वात्मनि

विश्रान्तिपरत्वं वा किं तुल्यकक्ष्यतयैव भवेदुतान्यथापि ?

इत्याशङ्क्याह

यावानेवोदयो वित्तेर्वेद्यैकग्रहतत्परः ॥ ६-८० ॥

तावदेवास्तमयनं वेदितृस्वात्मचर्वणम् ।

वित्तेः इति संविदः । अस्तमयनमिति, वेद्यप्रकाशस्य न्यग्भावात् ।

चर्वणम् इति विश्रान्तिः । एवकाराभ्यां च साम्यमेव द्योतितम् ॥ ८० ॥

ननु स्वात्मविश्रान्तिपरत्वेऽप्यन्तारूपाणां सुखादीनां वेद्यानां सद्भावात् तद्ग्रहणपरत्वं न हीयेत् इति कथमनयोस्तुल्यकक्ष्यत्वं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

वेद्ये च बहिरन्तर्वा द्वये वाथ द्वयोज्झिते ॥ ६-८१ ॥

सर्वथा तन्मयीभूतिर्दिनं वेत्तृस्थता निशा।

वेद्यं नाम बहिरस्त्वन्तर्वा, मा वा भूत्किमनेन प्रयोजनं, यावता हि तन्मयीभावो नाम सर्वथा दिनं वेत्तृस्थता स्वात्मविश्रान्तिश्च निशा, इत्यस्माकं विवक्षितं तेन यावद्वेद्यग्रहस्तावद्दिनमन्यथा तु रात्रिरिति। यदाहुः

ततो यत्र यावत्तावदनया वेद्यग्रहवेदकविश्रान्तिभूमौ प्रकाशानन्दावाभास्येते तत्र तावद्रूपे एव दिननिशे इति। अतश्च दिननिशयोस्तुल्यकक्ष्यत्वमेव भवति, इति न कश्चिन्नियमः। द्वयोज्झिते इत्यनेन वेद्यस्यानवक्लृप्तिरेवोपोद्बलिता न त्वेवमस्य संभवो दर्शितः, नह्यनन्तर्बहीरूपं वेद्यं किंचित्संभवेत्॥ ८१ ॥

ननु योऽयं संविदः प्रकाशविमर्शयोरेकतरप्राधान्याद्विशेष उक्तः
स किं प्रमातॄणामपि संभवेन्न वा ? इत्याशङ्क्याह

वेदिता वेद्यविश्रान्तो वेत्ता त्वन्तर्मुखस्थितिः ॥ ६-८२ ॥

वेदिता इति ज्ञाता, वेत्ता इति विचारयिता विमृष्टेत्यर्थः ।
तेनैकत्र प्रकाशप्राधान्यमन्यत्र तु विमर्शस्य इति प्रमातुरपि
द्वैविध्यम् ॥ ८२ ॥

वेत्तापि द्विधा इत्याह

पुरा विचारयन्पश्चात्सत्तामात्रस्वरूपकः ।

विमर्शनान्तरीयक एव हि स्वरूपलाभो भवेदिति भावः । एवमत्र
ज्ञानविचारसत्तार्थतया त्रिविधोऽपि विधिराश्रयणीयो येन
प्रमातुस्त्रैविध्यं सिध्येदिति भावः ॥

अत्रैव प्रसङ्गाज्जाग्रदादिस्वरूपमपि निरूपयति

जाग्रद्वेदितृता स्वप्नो वेत्तृभावः पुरातनः ॥ ६-८३ ॥

परः सुप्तं क्षये रात्रिदिनयोस्तुर्यमद्वयम्।

जाग्रदिति, वेद्यविश्रान्तेरेव प्राधान्यात्। पुरातन इति,
विम्रष्टृतात्मकः। स्वप्न इति, वेद्यस्य कथंचिदप्राधान्यात्। पर
इति, सत्तामात्रनिष्ठः। सुप्तमिति, वेद्यक्षोभप्रक्षयात्। अद्वयमिति,
प्रमातृभेदस्यापि विगलनात्। अनेन च विश्वात्मता च प्राणत्वम्
इत्याद्युक्तं स्मारितम्॥ ८३॥

ननु रात्रिदिनयोर्बहिः कदाचित्साम्यं भवेत् कदाचिच्च वैषम्यमित्यत्र
किं निमित्तम्? इत्याशङ्क्याह

कदाचिद्वस्तुविश्रान्तिसाम्येनात्मनि चर्वणम्॥ ६-८४॥

वेद्यवेदकसाम्यं तत् सा रात्रिदिनतुल्यता।

यन्नाम कदाचिद्वेद्ये स्वात्मनि च तुल्यकक्ष्यतया विश्रान्तिर्भवेत् तदेव
वेद्यवेदकयोः साम्यं भवेत्, तदनुप्राणितं च रात्रिदिनयोस्तुल्यत्वं,
यत्सर्व एव योगिनो महापुण्यं विषुवत्कालमाचक्षते यदुक्तम्

वेद्यवेदकसाम्येन वस्तुविश्रमचर्वणम्।

यदा कदाचिद्भवति सा रात्रिदिनतुल्यता॥

विषुवत्कालयोगोऽसौ योगिभिः समुदाहृतः।

इति॥ ८४॥

एवं च वेद्यस्य वेदकस्य च विश्रान्तेराधिक्ये दिनस्य निशायाश्च
दैर्घ्यं।ह्रं भवेदन्यथा त्वपचयः, तदाह

वेद्ये विश्रान्तिरधिका दिनदैर्घ्याय तत्र तु॥ ६-८५॥

न्यूना स्यात्स्वात्मविश्रान्तिर्विपरीते विपर्ययः।

स्वात्मौत्सुक्ये प्रबुद्धे हि वेद्यविश्रान्तिरल्पिका॥ ६-८६॥

न्यूनेति, अन्यथा हि वेद्यविश्रान्तेराधिक्यमेव न स्यात्।
स्यादित्यर्थाद्रात्र्यपचयनिमित्तम्, विपरीत इति स्वात्मनो
विश्रान्तेराधिक्ये वेद्यस्य चान्यथात्वे यतः स्वात्मन्यौत्सुक्ये

विश्रान्त्यभिलाषे विकस्वरतामुपेयुषि वेद्यविश्रान्तिरल्पीयसी भवेत्
येन निशाया दैर्घ्यं दिनस्यापचयः। तदुक्तम्

द्राघीयसी वेद्यवृत्तिर्दिनदैर्घ्याय कल्पते।

तथैव स्वात्मविश्रान्तिवृत्तिः स्याद्रात्रिविस्तरः॥

इति॥ ८६॥

अयमेव चात्र पक्षो युक्तः इत्याह

इत्थमेव दिवारात्रिन्यूनाधिक्यक्रमं वदेत्।

नन्वन्तर्बहिश्च रात्रिदिनयोः स्थितेऽप्यौत्सर्गिके क्रमे
यथान्तरसावुक्तयुक्त्या
प्रकाशविमर्शयोरेकतरप्राधान्यात्प्रतिप्रमातृ विशिष्यते, तथा
बहिरपि प्रतिभुवनं किं विशिष्यते न वा ? इत्याशङ्क्याह

यथा देहेष्वहोरात्रन्यूनाधिक्यादि नो समम्॥ ६-८७॥

तथा पुरेष्वपीत्येवं तद्विशेषेण नोदितम्।

विशेषेणेति देहमधिकृत्य, तथात्वेन हि तत्कथितं तत्तत्फलसंपत्तिनिमित्तं स्यादित्याशयः॥ ८७॥

नन्वेवं रात्रिदिनविभजने किं प्रमाणम्? इत्याशङ्क्याह

श्रीत्रैयम्बकसन्तानविततताम्बरभास्करः॥ ६-८८॥

दिनरात्रिक्रमं मे श्रीशंभुरित्थमपप्रथत्।

अत एवान्यथान्यैर्यत्तद्विभजनं कृतं तदग्राह्यमेव इत्याह

श्रीसन्तानगुरुस्त्वाह स्थानं बुद्धाप्रबुद्धयोः॥ ६-८९॥

हृद आरभ्य यत्तेन रात्रिन्दिवविभाजनम्।

तदसत्सितपक्षेऽन्तः प्रवेशोल्लासभागिनि॥ ६-९०॥

अबुद्धस्थानमेवैतद्दिनत्वेन कथं भवेत्।

यन्नाम प्राच्यैर्हृदयादारभ्य द्वादशान्तं

यावत्तुट्यर्धपरीमाणं प्राणीयमाद्यं स्थानं बुद्धस्य परं

त्वबुद्धस्य इत्युक्तं, तेनैव बुद्धाबुद्धास्थानवदनेन

समाख्यौचित्याद्रात्रिदिनयोरपि विभागः कृतो यद्बुद्धस्थानं

दिनमबुद्धस्थानं तु रात्रिरिति, तत्त्वयुक्तं

यदन्तःप्रवेशात्मन्यपानवाहे स्थानस्याविशेषाद्रात्रित्वेन

परिकल्पितमबुद्धस्थानमेव दिनं स्यात् इति पूर्वापरव्याहतत्वम् ॥ ९०

॥

न चैतद्विद्वेषपूर्वमस्माभिरुक्तमिति न शिष्टनिन्दा कृता स्यात्

इत्याह

अलं वानेन नेदं वा मम प्राङ्मतमत्सरः ॥ ६-९१ ॥

हेये तु दर्शिते शिष्याः सत्पथैकान्तदर्शिनः ।

इदानीं प्रकृतमेवावतारयति

व्याख्यातः कृष्णपक्षो यस्तत्र प्राणगतः शशी ॥ ६-९२ ॥

आप्यायनात्मनैकैकां कलां प्रतितिथित त्यजेत्।

द्वादशान्तसमीपे तु यासौ पञ्चदशी तुटिः॥ ६-९३॥

सामावस्यात्र स क्षीणश्चन्द्रः प्राणार्कमाविशेत्।

प्राणगत इति, तत्रास्य प्राधान्यात्। तेन तुटिस्थानावस्थितां यां (यां) तिथिं प्राणादित्य आक्रमते तस्यां तस्यामपानचन्द्रः सुरादीनामपानरूपेण हेतुना एकैकां कलां त्यजेत एकैककलाह्रासक्रमेण क्षैण्यमासादयेत यावत्स एव कलामात्रशेषत्वात्क्षीणः सन् द्वादशान्तसमीपस्थायां पञ्चदशतुट्यात्मिकायाममावास्यायां प्राणार्कमाविशेत तदन्तर्लीनो भवेत्, यदेवास्य बहिरस्तमय इत्युच्यते॥ ९३॥

न चैतन्निर्मूलमेवोक्तम् इत्याह

उक्तं श्रीकामिकायां च नोर्ध्वेऽधः प्रकृतिः परा।

अर्धार्धे क्रमते माया द्विखण्डा शिवरूपिणी॥ ६-९४॥

चन्द्रसूर्यात्मना देहं पूरयेत्प्रविलापयेत्।

इह खलु परा पूर्णा, अत एव शिवरूपिणी शक्तिमदवियुक्ता
प्रकृतिः, विश्वोत्पत्तिभूः संवित् माया स्वरूपगोपनशीला
प्रथमं प्राणात्मतया समुच्छलन्ती द्विखण्डा प्राणापानात्मतया
द्वैध्यमापन्ना सती नोर्ध्व एव नाध एव अपि तूर्ध्वाधःप्रवाहात्मना
अर्धार्धे क्रमते दक्षवामनाड्योरन्तः समप्रविभागेन
प्रवहतीत्यर्थः। अत एव प्राणापानदशामधिशयाना परा
संविच्चन्द्रात्मनाप्यायकारितया देहं प्रपूरयेत् सूर्यात्मना च
चान्द्रीणामेव कलानामपचयात् प्रविलापयेत शोषयेदित्यर्थः॥ ९४॥

ननु चान्द्रीणां कलानामपचये किं निमित्तम्? इत्याशङ्क्याह

अमृतं चन्द्ररूपेण द्विधा षोडशधा पुनः॥ ६-९५॥

पिबन्ति च सुराः सर्वे दशपञ्च पराः कलाः।

अमा शेषगुहान्तःस्थामावास्या विश्वतर्पिणी॥ ६-९६॥

यच्चन्द्ररूपेण षोडशधा भिन्नममृतं स्थितं तत्पुनर्द्विधा

दृश्यमानसितरूपपञ्चदशकलात्मना

तद्भित्तिभूतातिस्वच्छाबूर्पकलात्मना चेत्यर्थः। तत्र पञ्चदश

कलाः सर्व एव बहिः सुरादयोऽन्त करणानिःकार्याणि चाप्यायलिप्सया

पिबन्ति येनासां प्रतिदिनमपचयः स्यात्। यदभिप्रायेणैव

यस्मिन्सोमः सुरपितृनरैरन्वहं पीयमानः

क्षीणः क्षीणः प्रविशति ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ । (साम्ब पं। ८ श्लोक)

इत्याद्यन्यत्रोक्तम्। अमाख्या षोडशी पुनः कला सुराद्युपसंहृतकला

पञ्चदशकावशिष्टस्वभावत्वाच्छेषरूपा, अत एव गुहान्तरिव

स्थितं वस्तु सुरक्षितत्वादक्षीणं स्यात्तथैवेयमपीत्यर्थः। यतः

सा विश्वस्य पञ्चदशकलाक्रोडीकारितयाप्यायकारिणी, अत एव

येयममा सह यौगपद्येन पञ्चदशानां कलानां वसनात् अमावास्या

तद्व्यपदेश्येत्यर्थः। तिथौ

पुनस्तदधिष्ठितत्वादौपचारिकस्तद्व्यापदेश इत्याशयः॥ ९६॥

एतदेव प्रकृते योजयति

एवं कलाः पञ्चदश क्षीयन्ते शशिनः क्रमात्।

आप्यायिन्यमृताबूर्पतादात्म्यात्षोडशी न तु ॥ ६-९७ ॥

षोडशी न तु क्षीयते, यदबूर्पतादात्म्यादर्कस्तं क्षपयितुमक्षम इत्यभि प्रायः ॥ ९७ ॥

इदानीमेतदनन्तरभाविनं कृष्णस्य शुक्लस्य च पक्षस्य सन्धिं दर्शयति

तत्र पञ्चदशी यासौ तुटिः प्रक्षीणचन्द्रमाः ।

तदूर्ध्वगं यत्तुटयर्धं पक्षसंधिः स कीर्तितः ॥ ६-९८ ॥

पञ्चदशी तुटिरित्यमावास्योदयस्थानम्, अत एव प्रक्षीणचन्द्रमा इत्युक्तम् । यदिति, प्राणीयं षोडशतुटिसंबन्धि ॥ ९८ ॥

ननु संधिर्ह्युभयोर्भवति, तत्कथमेकस्यैव प्राणीयस्य तृटयर्धस्यासौ स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

तस्माद्विश्रमतुटयर्धादामावस्यं पुरादलम् ।

परं प्रातिपदं चार्धमिति संधिः स कल्प्यते ॥ ६-९९ ॥

तत्प्राणीयमन्त्यं विश्रमतुट्यर्धमवलम्ब्य पुरादलं
प्रथममर्धमामावस्यं तत्संलग्नं परं द्वितीयं
चापानीयमाद्यं तुट्यर्धं प्रातिपदं तत्संलग्नम्
इत्यनयोरुभयोरर्धयोः
संमेलनात्प्रतिपदमामावस्यान्तरालभूतोऽसावेकतुट्यात्मा शन्धिः
कल्प्यते तथा व्यपदिश्यत इत्यर्थः। तदुक्तम्

श पक्षसन्धिः प्रतिपत्पञ्चदश्योर्यदन्तरम्। (अ। को। १।४।७)

इति। इदमेवान्यत्र प्रधानतया पूजाकालत्वेनोक्तम्। यदुक्तम्

ङ दिवा पूजयेद्देवं रात्रौ नैव च नैव च।

अर्चयेद्देवदेवेशं दिनरात्रिपरिक्षये ॥

इति। अत्र विश्रमतुट्यर्ध एवाधार्धिकया विभक्ते यदि
सन्धिर्व्याख्यायते तत्सन्धिद्वयस्याप्येकैव तुटिरर्धार्धिकया स्यात्
इत्येकस्यास्तुटेर्विनियोगाभावादासमञ्जस्यं पर्यवस्येदित्यलं बहुना ॥

९९ ॥

एवं प्राणे पक्षोदयं प्रदश्यं सूर्यग्रहणमपि दर्शयति

तत्र प्रातिपदे तस्मिंस्तुट्यधार्धे पुरादलम् ।

आमावस्यं तिथिच्छेदात्कुर्यात्सूर्यग्रहं विशत् ॥ ६-१०० ॥

अर्धं चार्धं च अर्धार्धं, तुटेरर्धार्धं तुट्यर्धार्धं, तस्मिन्
सन्धित्वेन परिकल्पिते तुट्यर्धद्वय इत्यर्थः । तत्रैवं स्थिते सति
तुट्यर्धद्वयमध्यादामावस्यं पूर्वमर्धम्
अर्थात्परस्मिन्प्रातिपदेऽर्धे वक्ष्यमाणादृणशब्दाभिधेयात्
तिथिच्छेदाद्विशत् सत् सूर्यग्रहणं कुर्यात्,
प्रतिपदमावास्यासङ्घट्टात्सूर्यग्रहणं भवेदित्यर्थः ॥ १०० ॥

नन्वेतावन्मात्रात्सूर्यग्रहणं भवेदित्यत्र क इवाशयः ?
इत्याशङ्क्याह

तत्रार्कमण्डले लीनः शशी स्रवति यन्मधु ।

तप्तत्वात्तत्पिबेदिन्दुसहभूः सिंहिकासुतः ॥ ६-१०१ ॥

मध्वित्यमृतं। तप्तत्वादिति, यथायथमर्केण संनिकर्षात्।
इन्दुसहभूरिति विधौ राहुः इत्याद्युक्त्या तत्सहचारित्वात्
अन्यथैषां त्रयाणामपि सङ्घट्टो न भवेदिति भावः। यदुक्तम्

रविबिम्बान्तरे देवि चन्द्रबिम्बं तदा भवेत्।

तदन्तरे भवेद्राहुरमृतार्थी वरानने॥

अमृतं स्रवते चन्द्रो राहुश्च ग्रसते तु तत्।

पीत्वा त्यजति तद् बिम्बं तदा मुक्तः स उच्यते। (स्वटं। ७।७०)

इति ॥ १०१ ॥

ननु त्रयाणामप्येषां सङ्घट्टे किं सतत्त्वम्? इत्याशङ्क्याह

अर्कः प्रमाणं सोमस्तु मेयं ज्ञानक्रियात्मकौ।

राहुर्मायाप्रमाता स्यात्तदाच्छादनकोविदः॥ ६-१०२ ॥

तत एव तमोरूपो विलापयितुमक्षमः।

तयोः प्रमाणप्रमेययोः आच्छादनं स्वात्मसात्कारेण तिरोधानं न पुनरत्यन्तमेव विलयः, संस्कारात्मना पुनरपि बोधकमाहात्म्यात्तदुदयस्य भावात्, अत एवोक्तं विलापयितुमक्षमः इति। तत इत्याच्छादकत्वात्, तमसो ह्यावरकत्वमेव तत्त्वम्॥ १०२॥

नन्वेवमेतद्विलापने कः क्षम ? इत्याशङ्क्याह

तत्सङ्घट्टाद्द्वयोल्लासो मुख्यो माता विलापकः॥ ६-१०३॥

तेषां मातृमानमेयानां शङ्घट्टः सामरस्यं ततः समुल्लसितमद्वयमेव मुख्यः प्रमाता विलापकस्तत्त्रयसङ्घट्टनेन परसंविन्मात्रसार एवेत्यर्थः। यदाहुः

प्राणार्कमानहठघट्टितमेयचन्द्र
विद्रावितामृतरसोत्सुकितः खमाता।

स्वर्भानुरावृणुत एव रविं रसं तु

पुण्ये ग्रहेऽत्र रसयेत्त्रयघट्टनज्ञः ॥

इति ॥ १०३ ॥

अत एव चायं कालो महापुण्यः इत्याह

अर्केन्दुराहुसङ्घट्टात् प्रमाणं वेद्यवेदकौ ।

अद्वयेन ततस्तेन पुण्य एष महाग्रहः ॥ ६-१०४ ॥

अद्वयेन चिन्मात्रात्मना भवन्तीत्यर्थः । तदुक्तम्

राहुरादित्यचन्द्रौ च त्रय एते ग्रहा यदा ।

दृश्यन्ते समवायेन तन्महाग्रहणं भवेत् ॥

स कालः सर्वलोकानां महापुण्यतमो भवेत् ॥ (स्व । ७ ।७३)

इति ॥ १०४ ॥

नन्वयं सूर्यादीनां सङ्घट्टः किं प्रतिपदमावस्यासंभेद एव

भवेदुतान्यथापि? इत्याशङ्क्याह

अमावस्यां विनाप्येष सङ्घट्टश्चेन्महाग्रहः।

यथार्के मेषगे राहावश्विनीस्थेऽश्विनीदिने॥ ६-१०५॥

अमावस्यां विनापि शुद्धायामेव प्रतिपदि यद्येष सङ्घट्टः स्यात्
तदापीदं महद् ग्रहणं भवेदेव। यथा
बहिश्चन्द्रार्कराहूणामश्विन्यामेवावस्थानादेकर्क्षेण
वैशाखामावस्यायां प्रहरद्वयादूर्ध्वं शुद्धायामेव प्रतिपदि
सूर्यस्य ग्रहणं संभवेत्, लम्बनस्य धनगतत्वाद्
ग्रहणस्थित्यर्धस्य लम्बनादूनत्वात्। एवं यत्र
प्रतिपदमामावास्यासंभेदेन सूर्यग्रहणं भवेत् तत्रामावस्यायां
प्रग्रहणं मोक्षस्तु प्रतिपदि, अन्यथा तूभयमपि
प्रतिपद्येवेत्यर्थसिद्धम्॥ १०५॥

तदेवाह

आमावास्यं यदा त्वर्धं लीनं प्रातिपदे दले।

प्रतिपच्च विशुद्धा स्यात्तन्मोक्षो दूरगे विधौ ॥ ६-१०६ ॥

तन्मोक्षे च विधुदूरीभावो हेतुरित्युक्तं दूरगे विधौ इति। तस्मिन् हि दूरीभूते तत्सहचारी राहुरपि तथा भवेदिति भावः ॥ १०६ ॥

अस्य च ग्रहणस्य महत्त्वे निमित्तं दर्शयति

ग्रासमोक्षान्तरे स्नानध्यानहोमजपादिकम्।

लौकिकालौकिकं भूयःफलं स्यात्पारलौकिकम्॥ ६-१०७ ॥

भूयःफलमित्यन्तफलम्। यदुक्तम्

तत्र स्नानं तथा दानं पूजाहोमजपादिकम्।

यत्कृतं साधकैर्देवि तदन्तफलं भवेत्॥ (स्वटं। ७।७४)

इति ॥ १०७ ॥

पारलौकिकत्वे निमित्तमाह

ग्रास्यग्रासकताक्षोभप्रक्षये क्षणमाविशन्।

मोक्षभाग्ध्यानपूजादि कूर्वंश्चन्द्रार्कयोर्ग्रहे ॥ ६-१०८ ॥

इह खलु योगी चन्द्रार्कयोर्ग्रहे सूर्यग्रहणे ग्रास्यग्रासकयोः प्रमेयप्रमात्रोर्यः संबन्धस्तद्रूपो यः क्षोभः तत्प्रक्षयात्मनि परस्मिन्प्रमातर्याविशन् परां वृत्तिमवलम्ब्य क्षणमात्रं ध्यानादि कुर्वन् मोक्षभागपवृज्यत एवेत्यर्थः। यदुक्तम्

पक्षद्वयं परित्यज्य पूर्वोक्तकरणेन च।

उन्मन्यन्ते स्थितो नित्यं परवृत्त्यवलम्बकः॥

परित्यज्य त्वधः सर्वं ध्यानामास्थाय योजयेत्।

तस्य मुक्तिर्न सन्देहस्त्वन्यथा सिद्धिभाग्भवेत्॥

इति ॥ १०८ ॥

तिथिच्छेदादित्युक्तमधिकावापेन लक्षयति

तिथिच्छेद ऋणं कासो वृद्धिर्निःश्वसनं धनम्।

अयत्नजं यत्नजं तु रेचनादथ रोधनात्॥ ६-१०९॥

यन्नाम कासवशेन शीघ्रमेव प्राणस्य प्रसरणात् सहसैवामावास्यो भागः प्रतिपद्भागमनुप्रविशति तदुच्यते ऋणं, तिथिच्छेदयोः कार्यकारणयोरभेदोपचारात्कासश्चेति। यन्नाम च निःश्वासवशादपानवाहस्य चिरेण प्रसरणात् तिथेरधिकीभावेन पूर्णतया पौर्णमास्युदयस्तदुच्यते वृद्धिर्धनं निःश्वसनं च, इत्येतच्चोभयं सर्वेषामयोगिनामपि कासश्वासादिना स्वरसत एवोत्पद्यते इत्युक्तम् अयत्नजम् इति, यद्वशादन्तरा चन्द्रसूर्योपरागो भवन्नपि तैरनवधानान्न परं लक्ष्यते। योगिनां पुनश्चन्द्रसूर्योपरागयोग्ये तत्प्राणस्य रेचकपूरकाद्यात्मना यत्नेन भवेदित्युक्तं यत्नजम् इति। यदुक्तम्

तिथिच्छेद ऋणं ज्ञेयं वृद्धौ चैव धनं भवेत्।

ऋणं चैव भवेत्कासो निःश्वासो धनमुच्यते॥ (स्वटं। ७।६४)

इति। तथा

तिथिच्छेदस्तथा वृद्धिः कासश्वासादि वा भवेत्।

अयत्नजो यत्नजस्तु प्राणवृत्तिनिरोधतः॥

इति॥ १०९॥

एतदेवापानवाहेऽप्यतिदेष्टुमाह

एवं प्राणे विशति चित्सूर्य इन्दुं सुधामयम्।

एकैकध्येन बोधांशुकलया परिपूरयेत्॥ ६-११०॥

क्रमसंपूरणाशालिशशाङ्कामृतसुन्दराः।

तुट्यः पञ्चदशैताः स्युस्तिथयः सितपक्षगाः॥ ६-१११॥

एवं पूर्वोक्तयैव गत्या प्राणे विशति शक्तेर्हृदन्तमवरोहति
चिदात्मा प्राणसूर्यः प्रतितुट्यैकैकध्येन प्रबुद्धांशुजालया
कलया सुधामयमिन्दुं परिपूरयेत्, येन प्रतिपद्येककलो द्वितीयस्यां

द्विकलः इत्याद्यात्मना क्रमेण संपूरणाशालिनः शशाङ्कस्यामृतेन सुन्दरा एताः पञ्चदश तुट्य एव सितपक्षगास्तिथयो भवेयुः। यदुक्तम्

प्राणहंसो यदा प्राप्तस्त्वधस्तात्प्रथमां तुटिम्।

पूर्वमर्धं त्वहः प्रोक्तं तुट्यर्धमपरं निशा॥ (७।७७)

इत्युपक्रम्य

प्रतिपत्सा तु विज्ञेया चन्द्रश्चैककलो भवेत्।

द्वितीयायां द्वितीया तु वृद्धिमेति क्रमेण तु॥

तिथयश्चैवमारभ्य यावत्पञ्चदशी तुटिः। (स्वटं। ७।७९)

इति॥ १११॥

अत्रैव च पक्षसन्धिताद्यप्यतिदिशति

अन्त्यायां पूर्णमस्तुट्यां पूर्ववत्पक्षसन्धिता।

इन्दुग्रहश्च प्रतिपत्सन्धौ पूर्वप्रवेशतः ॥ ६-११२ ॥

ऐहिकं ग्रहणे चात्र साधकानां महाफलम् ।

प्राग्वदन्यदयं मासः प्राणचारेऽब्द उच्यते ॥ ६-११३ ॥

पूर्णो माश्चन्द्रो यस्यामेवंविधायां पञ्चदश्यां तुट्यां
पूर्ववदिति, तुट्यर्धद्वयसंमेलनया । पूर्वेति, पूर्वं पौर्णमासं
सन्धिलक्षणं तुट्यर्धं तत्प्रवेशात् । एतच्च यद्यपि
पूर्ववदित्यतिदेशाद् गतार्थमेव तथापि
पूर्णिमाप्रतिपत्संभेदेनैवेन्दुग्रहो भवेत् न तु शुद्धायामेव
प्रतिपद्यपि इति दर्शयितुं साक्षादुक्तम् । ऐहिकमिति,
सृष्टिप्राधान्यात् । प्राग्वदन्यदिति, मातृमेयसंघट्टादि । यदाहुः

शक्तिसंस्नुतसुधारसक्रमात् पूर्णमिन्दुमणुराहुराहरन् ।

छादयेदिह महाशुभे ग्रहे द्रावितं पिबति तं महामुनिः ॥

इति । इदानीं मासमुपसंहरन्नब्दमवतारयति अयमित्यादिना ॥ ११३ ॥

तमेवाह

षट्सु षट्स्वङ्गुलेष्वर्को हृदयान्मकरादिषु।

तिष्ठन्माघादिकं षट्कं कुर्यात्तच्चोत्तरायणम्॥ ६-११४॥

मकरादिष्वर्थान्मिथुनान्तेषु, तेन षड्भिरङ्गुलैः षड्गुणितानि षट्त्रिंशद्भवन्तीति भावः। माघे हि मकरस्योदयो यावदाषाढे मिथुनस्य। यदुक्तम्

षडङ्गुलं च संक्रामो मकरादिषु राशिषु।

भानोर्माघाद्याषाढान्तं भवेत्तच्चोत्तरायणम्॥

इति॥ ११४॥

अत्रैव विषुवत्सङ्क्रान्तिं दर्शयति

संक्रान्तित्रितये वृत्ते भुंक्ते चाष्टादशाङ्गुले।

मेषं प्राप्ते रवौ पुण्यं विषुवत्पारलौकिकम् ॥ ६-११५ ॥

अष्टादशाङ्गुल इति प्रतिसंक्रान्त्यङ्गुलषट्कस्य भोगात् ।

हृदयादुदयस्थानात्सङ्क्रान्तिर्मकरे स्मृता ।

षडङ्गुलान्यधस्त्यक्त्वा कुम्भे सङ्क्रमते पुनः ॥

कण्ठोर्ध्वं द्व्यङ्गुलं त्यक्त्वा मीने संक्रमते पुनः ।

गलोर्ध्वाद्यावत्ताल्वन्तं त्यक्त्वा मेषेऽथ संक्रमेत् ॥

नासान्तं यावत्संक्रान्तिरङ्गुलानि षडेव हि ।

एषा वै विषुसंक्रान्तिरुत्तरे संव्यवस्थिता ॥ (स्व । तं । ७ ।९४)

इति । विषुं व्याप्तिं साम्यमर्हति इति विषुवत् । विषुवत्पारलौकिकम्
इत्येतच्च यद्यपि निखिलस्यैवोत्तरायणस्य संभवति तथाप्यत्र
विशेषेणेति स्वकण्ठेनैतदुक्तम् । यदुक्तम्

मकराच्च समारभ्य मिथुनान्तं च सुव्रते ।

उत्तरायणमत्रैतदैहिकीसिद्धिवर्जितम् ॥ (स्व । तं । ७ ।९७)

इति ॥ ११५ ॥

ननु यद्येतद्विषुवत्पारलौकिकं दक्षिणायनं पुनः कीदृक् ?
इत्याशङ्क्याह

प्रवेशे तु तुलास्थेऽर्के तदव विषुवद्भवेत् ।

इह सिद्धिप्रदं चैतद्दक्षिणायनगं ततः ॥ ६-११६ ॥

प्रवेशे इति शक्तितो हृदन्तम् । तदेव
इत्यष्टादशाङ्गुलोपभोगात्मसंक्रान्तित्रयानन्तरभावीत्यर्थः ।
यदुक्तम्

शक्त्यधो हृदये हंसः संक्रामेत्कर्कटे प्रिये ।

षडङ्गुलानि संत्यज्य सिंहे वै संक्रमेत्पुनः ॥

षडङ्गुलैः पुनस्त्यक्तैः कन्यां संक्रमते पुनः ।

नासिकाग्रात्तु ताल्वन्तं त्यक्ते वै विषुवद्भवेत्॥

तुलासंक्रान्तिरेषोक्ता दक्षिणं विषुवद्भवेत्॥ (स्वटं। ७।११३)

इति। इह सिद्धिप्रदमिति, यदुक्तम्

शाधनं यत्कृतं तत्र इह जन्मनि सिद्धिदम्। इति॥ ११६॥

ननु मकरादे राशिद्वादशकस्य सामान्येन पारलौकिकैहलौकिकत्वेऽपि प्रत्येकमस्ति कश्चिद्विशेषो न वा ? इत्याशङ्क्याह

गर्भता प्रोद्बुभूषिष्यद्भावश्चाथोद्बुभूषुता।

उद्भविष्यत्त्वमुद्भूतिप्रारम्भोऽप्युद्भवस्थितिः॥ ६-११७॥

जन्म सत्ता परिणतिर्वृद्धिर्ह्रासः क्षयः क्रमात्।

मकरादीनि तेनात्र क्रिया सूते सदृक्फलम्॥ ६-११८॥

गर्भता आधानं, प्रोद्भवितुमेषिष्यन् भावः सत्ता यस्यासौ तथा

आद्य इच्छापरिस्पन्दः। उद्भवितुमिच्छुरुद्बुभूषुस्तस्य भावस्तत्त्वं, उद्भवनात्मकैषणीयसंयुक्तमिच्छामात्रमित्यर्थः। उद्भविष्यत्त्वम् उद्भवनाय स्वात्मन्येवोच्छलत्त्वेनावस्थानम्। उद्भूतिप्रारम्भः तत्रैव नैविड्यम्। उद्भवस्थितिः तत्रैवौन्मुख्यम्। एवं मकरादिराशिद्वादशकं क्रमादिति, गर्भतादिरूपं यतो भवति तेन हेतुनात्र बाह्यबीजादिवज्जपादि क्रियापि गर्भताद्यनुगुणमेव फलं शूते ददातीत्यर्थः। यदुक्तम्

आधानमिच्छा संयोग आनन्दो घनता स्थितिः।

जन्म सत्ता परिणतिर्वृद्धिर्ह्रासः क्षयः क्रमात्॥

माघान्मासात्समारभ्य स्थितयः परिकीर्तिताः।

साधकानां सिद्धिविधौ भावानां चापि संभवे॥

इति॥ ११८॥

अत्राप्यवान्तरोऽस्ति विशेषः इत्याह

आमुत्रिके झषः कुम्भो मन्त्रादेः पूर्वसेवने ।

चतुष्कं किल मीनाद्यमन्तिकं चोत्तरोत्तरम् ॥ ६-११९ ॥

प्रवेशे खलु तत्रैव शान्तिपुष्ट्यादिसुन्दरम् ।

कर्म स्यादैहिकं तच्च दूरदूरफलं क्रमात् ॥ ६-१२० ॥

झषो मकरः । एतौ चार्थात्सिद्धमन्त्रस्य, असिद्धमन्त्रस्य तु
मन्त्रादिसेवानिमित्तं मीनादिचतुष्कं प्रवेशे इत्यपानवाहे । यदुक्तम्

तस्मादारभ्य मकराद्ध्यानहोमजपादिकम् ।

परलोकनिमित्ताय तदनन्तफलं भवेत् ॥

पुरश्चर्यानिमित्ताय मन्त्रग्रहव्रतं च यत् ।

मीनादावारभेत्सर्वं मन्त्रसिद्ध्यर्थमात्मनः ॥ (स्वटं । ७ ।१०३)

इति । तथा

तस्मादिहात्मसिद्ध्यर्थं पुष्ट्यर्थं चैव साधयेत्।

दक्षिणायनजे काले यस्मात्सृष्टिः प्रजायते॥ (स्वटं। ७।११०)

इति।

एवमुत्तरायणस्य वेद्यग्रहणपरत्वम् इति यथायथं
फलदानेऽप्यासन्नत्वं दक्षिणायनस्य त्वन्तर्विश्रान्तिपरत्वम् इति
फलदाने यथायथं दूरत्वम्। अत एवोत्तरायणे दिनस्य
वृद्धिर्निशाया ह्रासोऽत्र त्वन्यथा॥ १२०॥

तदाह

निर्गमे दिनवृद्धिः स्याद्विपरीते विपर्ययः।

वर्षेऽस्मिंस्तिथयः पञ्च प्रत्यङ्गुलमिति क्रमः॥ ६-१२१॥

तत्राप्यहोरात्रविधिरिति सर्वं हि पूर्ववत्।

ननु मासारब्धो वर्षः इति तेषां प्रत्यङ्गुलषट्के उदय उक्तः ते
च तिथ्यारब्धा इति कथमत्र न तासाम्? इत्याशङ्क्याह

प्रत्यङ्गुलं पञ्च तिथय इति। तत्षट्के त्रिंशद्भवन्ति येन तत्र मासोदय उक्तः। तत्रापि इत्यङ्गुलपञ्चांशे तेन प्रत्यङ्गुलदशांशं दिनं निशा च। शर्वं पक्षादि, तेन पूर्वस्मिन्नङ्गुलत्रये कृष्णपक्षोऽन्यत्र तु परः। तदुक्तम्

अङ्गुले ह्यङ्गुले ह्यत्र तिथयः पञ्च संस्थिताः।

तस्याप्यर्धं दिनं पूर्वमपरार्धं निशा भवेत्॥

षट्पञ्चकास्तिथीनां ये तेऽहोरात्रास्तु मासिकाः।

त्रिंशता तैरहोरात्रैर्द्विपक्षो मास उच्यते॥ (स्वटं। ७।९१)

इति॥ १२१॥

ननु प्रहराष्टकन्यायेन मासद्वादशकस्यापि किमधिष्ठातारः केचित्संभवन्ति न वा? इत्याशङ्क्याह

प्राणीये वर्ष एतस्मिन्कार्तिकादिषु दक्षतः॥ ६-१२२॥

पितामहान्तं रुद्राः स्युर्द्वादशाग्रेऽत्र भाविनः।

यदुक्तम्

दक्षनामा तु यो रुद्रः कथितोऽत्र महेश्वरि।

कार्तिकं मासमखिलं स तु भुङ्क्ते महेश्वरि॥

चण्डो मार्गशिरोमासि हरः पौषे तु कीर्तितः।

शौण्डी तु माघमासे च प्रमथः फाल्गुने तथा॥

भीमश्चैत्रे समाख्यातो वैशाखे मन्मथः स्मृतः।

शकुनिर्ज्येष्ठमासे तु आषाढे सुमतिस्तथा॥

नन्दोऽथ श्रावणे मासि भाद्रे गोपालकस्तथा।

पितामहश्च वीरेशो मासस्याश्वयुजस्य च॥

इति। अग्र इत्येकीकारप्रकाशनाह्निके॥ १२२॥

एतदुपसंहरन्नन्यदवतारयति

प्राणे वर्षोदयः प्रोक्तो द्वादशाब्दोदयोऽधुना ॥ ६-१२३ ॥

खरसास्तिथ्य एकस्मिन्नेकस्मिन्नङ्गुले क्रमात् ।

द्वादशाब्दोदये ते च चैत्राद्या द्वादशोदिताः ॥ ६-१२४ ॥

खरसा इति । खेति, शून्यं रसाः षट्, एवं षष्टिः । तेन प्रत्यङ्गुलमृतुरङ्गुलानां त्रयेऽयनं षट्के वर्षः । एवमेकस्मिन्नेव प्राणचारे वर्षोदये यथा प्रत्यङ्गुलषट्कं द्वादशानां संक्रान्तीनामुदयः एवमिहाब्दानामित्यभिप्रायः । यदुक्तम्

शंक्रान्तयो द्वादशात्र यद्वदब्दे प्रकीर्तिताः ।

द्वादशाब्दोदये प्राणे वत्सरास्ते प्रकीर्तिताः ॥ (स्वटं । ७ ।१२६)

इति ॥ १२४ ॥

ननु चैत्रस्य प्राक् तालुन्युदयः, इति ततः प्रभृति मन्त्रसेवादि

कार्यमित्युक्तम्, इह तु हृदि तस्यैवोदय उक्तः तदिदानीं साधकः कुत्र मन्त्रादिसेवां कुर्यात्? इत्याशङ्क्याह

चैत्रे मन्त्रोदितिः सोऽपि तालुन्युक्तोऽधुना पुनः।

हृदि चैत्रोदितिस्तेन तत्र मन्त्रोदयोऽपि हि॥ ६-१२५॥

उक्त इत्यब्दोदये। अधुनेति, द्वादशाब्दोदये॥ १२५॥

एवं द्वादशाब्दोदयमभिधाय षष्ट्यब्दोदयमप्यभिधत्ते

प्रत्यङ्गुलं तिथीनां तु त्रिशते परिकल्पिते।

सपञ्चांशाङ्गुलेऽब्दः स्यात्प्राणे षष्ट्यब्दता पुनः॥ ६-१२६॥

प्रत्यङ्गुलं तिथिशतत्रयमित्यङ्गुलपञ्चभागे षष्टिरहोरात्राः। एवं सपञ्चभागेऽङ्गुले षष्ट्यधिकशतत्रयात्माब्द उदियात्। ततः सपञ्चांशाङ्गुलेऽब्दस्योदयात्प्रागुक्तचषकोदयस्थित्या प्राणापानवाहात्मनि प्राणे षष्ट्यब्दता, षष्टिरब्दा भवन्तीत्यर्थः। यदुक्तम्

हृत्पद्माद्याव शक्त्यन्तं त्रिंशदब्दोदयो भवेत्। (स्वटं। ७।१३४)

इति ॥ १२६ ॥

अत्रैवाहोरात्राणां सङ्कलनां दर्शयति

शतानि षट् सहस्राणि चैकविंशतिरित्ययम्।

विभागः प्राणगः षष्टिवर्षाहोरात्र उच्यते ॥ ६-१२७ ॥

अनेन चात्र श्रोतृणामपूर्वदर्शनात् संमोहो मा भूत् इति
बाह्याहोरात्रगतप्राणचारसंख्यासाजात्यमुद्भावितम्। तदुक्तम्

विंशतिस्तु सहस्राणि सहस्रं षट्शताधिकम्।

अहोरात्रास्तु षष्ट्यब्दे संख्यातास्तु वरानने ॥ (स्वटं। ६।१३६)

इति ॥ १२७ ॥

नन्वेवं तिथिविभाजनेऽस्य किं प्रयोजनम्? इत्याशङ्क्याह

प्रहराहर्निशामासऋत्वब्दरविषष्टिगः।

यश्छेदस्तत्र यः सन्धिः स पुण्यो ध्यानपूजने ॥ ६-१२८ ॥

अब्दरवीत्यब्दद्वादशकं छेदः समाप्तिः, शन्धिः संध्या।
अयमत्राशयः यन्नाम हि नित्यनैमित्तिकादि बाह्ये प्रयत्नशतैरपि
पुरुषायुषेण निष्पत्तिं यायात् न वा, तदन्तरेकस्मिन्नेव प्राणचारे
प्रहराहर्निशादिक्रमेण क्षणमात्रमवधानात्सुखमेव योगिनः
सिध्येदिति। यदुक्तम्

चन्द्रसूर्योपरागे च पक्षमासायनेषु च।

युगादिषु युगान्तेषु यच्च संवत्सरेऽप्यथ ॥

वर्षद्वादशके चैव षष्ट्यब्देऽथ वरानने।

स्नानदानेन यज्ञैश्च पूजाहोमजपेन च ॥

ध्यानयोगतपोभिश्च बाह्ये कालेऽथ यत्कृतम्।

अमुनोक्ते वरारोहे तत्फलं लभते महत् ॥

प्राणहंसगतिं चारे ज्ञात्वैकस्मिंस्तु तद्व्रजेत् । (स्वटं । ७ ।१४०)

इति । यदभिप्रायेणैवाह

या अग्निहोत्राहुतयः सहस्रद्वासप्ततिः स्युः पुरुषायुषेण ।

नाड्यंशयुक्त्या सकृदाशु जुह्वत् संपादयेद्यस्तव मार्गवित्सः ॥

इत्याद्यन्यैरुक्तम् । ननु भवतु नामैतद्यदन्तः
क्षणमवधानमात्राद्योगिनो जन्मकृत्यं सिद्ध्येदिति, इदं तु न नः
प्रतिभाति यदन्तःप्राणचारे नालिकाद्यब्दान्तं क्रमेणाभिधाय
द्वित्रिचतुरब्दादिक्रमव्यतिक्रमेण निष्कारणमेव
द्वादशाब्दाद्यभिहितमिति । तत्रापि द्वादशानामेवाब्दानामुदयो न
त्रयोदशानां, षष्टिरेव न पुनरेकोनषष्टिरिति, तदधिकस्य
चोदयानभिधानमिति न किंचिदत्र निमित्तमुत्पश्यामः इति किमेतदिति न
जानीमः । अत्रोच्यते इह तावद्योगिनां प्राणे जिते सत्येतद्भवेत् न
त्वन्यथा, प्राणजयश्च योगशास्त्राद्युक्त्या क्रमेणैव भवेत अत एव
तत्र क्रामेदजितां मात्राम् इत्याद्युक्तम् । ततश्चात्र
तुट्यादिक्रमेणैव यथायथं तारतम्यादब्दपर्यन्तं तदुदय उक्तः ।

एवं जितप्राणः कश्चिद्योगी यदि क्रममपहाय तत्र
द्वादशानामब्दानामुदयमसंदध्यात्, तत्तस्य निमित्ततामियात्
अत्यन्तमेव प्राणस्य जितत्वात न चेह ज्योतिःशास्त्रवत् संवत्सराणां
क्रमः कश्चिद्विवक्षितो येनास्यातिक्रमः स्यात यावता हि जितप्राणो
योगी यन्नाम तत्रानुसन्धत्ते तत्तस्य साक्षात्कृतं भवेत्
इत्यभिधानीयं, तच्चैवमस्तु नैवं वा को विशेषः। न चात्र योगिनां
प्राणं जेतुं किंचिदपेक्षान्तरमस्ति येन क्रमोऽवश्यस्वीकार्यः स्यात्
। न च सहसैवात्यन्तं विदूरेऽप्यनुसन्धानं कार्यम् इत्यन्तरा
सोपानकल्पतया द्वादशाब्दोदय उक्तः। एवं षष्ट्यब्दोदयेऽपि वाच्यम्
। तस्माद्यथांशांशिकाक्रमेण विषं भक्षयन् कश्चिज्जीर्णविषः
सन् अक्रमेण बह्वपि विषं भक्षयन् जरयेदेवमिहापि ज्ञेयम्। एतदेव च
तदधिकस्याप्युदयानभिधाने निमित्तम्। एवं परां काष्ठां प्राप्तो
योगी यत्किंचित्तत्रानुसंदध्यात् तदेव साक्षात्कुर्यात्
इत्यानन्त्यात्कियदन्यदभिधीयते इति। न ह्यतोऽधिकेनोक्तेन
किंचित्प्रयोजनान्तरमुत्पश्यामः। यदुक्तमनेनान्यत्र

ङ षष्ट्यब्दोदयादधिकं परीक्ष्यते आनन्त्यात्। (तंषा। ६आ।)

इति। यत्पुनरन्यत्र विंशत्यधिकोत्तराब्दशतोदयोऽप्युक्तस्तदप्येवं
प्रदर्शनपरमेवेत्येकस्मिन्नेव प्राणचारे कल्पोऽप्यनुपसंहितः
साक्षात्कृतो भवेदेव को नामात्र विरोधः। यत्तु

द्वादशानामेवाब्दानां षष्टेरेव वा कथमभ्युदयोऽभिहितः
इत्युक्तं तद्यद्यपि शिंशपाचोद्यं
तदन्याभिधानेऽप्येवञ्चोद्यावकाशात्, तथापि
अत्यन्तमेवापूर्वार्थदर्शनेन श्रोतॄणामत्र संमोहो मा भूत् इति
कारुण्याद्भगवता प्राच्यगणनाक्रमसजातीयमेवैतदुक्तमिति न
कश्चिद्दोषः ॥ १२८ ॥

एवमन्तःकालस्य स्वरूपं निरूप्य बहिरपि निरूपयति

इति प्राणोदये योऽयं कालः शक्त्येकविग्रहः।

विश्वात्मान्तःस्थितस्तस्य बाह्ये रूपं निरूप्यते ॥ ६-१२९ ॥

प्राणोदय इत्यर्थादपानोदयेऽपि विश्वात्मत्वे हेतुः शक्त्येकविग्रह इति
॥

तदेवाह

षट् प्राणाश्चषकस्तेषां षष्टिर्नाली च तास्तथा।

तिथिस्तत्त्रिंशता मासस्ते द्वादश तु वत्सरः ॥ १३० ॥

अब्दं पित्र्यस्त्वहोरात्र उदग्दक्षिणतोऽयनात्।

पितॄणां यत्स्वमाने वर्षं तद्दिव्यमुच्यते ॥ १३१ ॥

षष्ट्यधिकं च त्रिशतं वर्षाणामत्र मानुषम्।

तथेति षष्टिरेव। स्वमानेनेति
मानुषात्मकस्वकाहोरात्रकल्पनयेत्यर्थः। यत्पित्र्यं वर्षं तदेव
दिव्यमुच्यते, येन पितॄणां देवानामप्यहोरात्रादि समानमेवेति भावः।
तस्य च पित्र्यस्य दिव्यस्य वा वर्षस्य कियन्मानमित्युक्तं मानुषं
षष्ट्यधिकं वर्षशतत्रयम् इति ॥ १३१ ॥

एतदेव विभजति

तच्च द्वादशभिर्हत्वा माससंख्यात्र लभ्यते ॥ ६-१३२ ॥

तां पुनस्त्रिंशता हत्वाहोरात्रकल्पना वदेत्।

हत्वा तां चैकविंशत्या सहस्रैः षट्शतेन च ॥ ६-१३३ ॥

प्राणसंख्यां वदेत्तत्र षष्ट्याद्यब्दोदयं पुनः ।

तदिति, दिव्यं वर्षं द्वादशभिर्हत्वा, इति द्वादशभिर्विभज्य,
तेनात्र मानुषवर्षत्रिंशदात्मा द्वादशो भागो मासः । तामिति,
माससंख्यां त्रिंशता हत्वा त्रिंशद्धा कृत्वा, तेनात्र
मानुषवर्षात्मा त्रिंशो भागो दिव्योऽहोरात्रः । तामिति,
मानुषषष्ट्यधिकशतत्रयदिनात्मिकामहोरात्रकल्पनाम् एकविंशत्या
सहस्रैः षट्शतेन च हत्वा इति तथात्वेन भागशः कृत्वेत्यर्थः ।
एवं हि प्रति मानुषीं नालिकां दिव्यः प्राणचारो भवेदिति भावः ।
एवमविशिष्टैव सर्वत्र प्रत्यहं प्राणचारे संख्येत्याख्यातं स्यात्
। तत्रैति प्राणसंख्यायां, पुनरित्यादाविवेत्यर्थः ॥ १३३ ॥

नन्वन्ये पित्र्यमेव वर्षं देवानां दिनमित्युक्तवन्तस्तत्कथमिह तयोः
साम्यमुक्तं, किमत्र किंचित्साधकं प्रमाणमस्ति ? इत्याशङ्क्याह

उक्तं च गुरुभिः श्रीमद्रौरवादिस्ववृत्तिषु ॥ ६-१३४ ॥

तदेव पठति

देवानां यदहोरात्रं मानुषाणां स हायनः।

शतत्रयेण षष्ट्या च नृणां विबुधवत्सरः॥ ६-१३५॥

पित्र्यं दिनं मानुषाणां हायन इत्यविवादः।

देवानामप्येवमित्युक्तेरनयोः साम्यमेव इत्यर्थसिद्धम्। नृणामित्यत्र हायनानामिति शेषः॥

न केवलमेतद् गुरुभिरेवोक्तं यावदागमोऽप्येवमेव इत्याह

श्रीमत्स्वच्छन्दशास्त्रे च तदेव मतमीक्ष्यते।

पितृणां तदहोरात्रमित्युपक्रम्य पृष्ठतः॥ ६-१३६॥

एवं दैवस्त्वहोरात्र इति ह्यैक्योपसंहृतिः।

पृष्ठत इति पश्चात्। यदुक्तम् तत्र

दक्षिणं चायनं रात्रिरुत्तरं चायनं दिनम्।

पितॄणां तदहोरात्रमनेनाब्दस्तु पूर्ववत्॥

एवं दैवस्त्वहोरात्रस्तत्राप्यब्दादि पूर्ववत्। (स्वटं। ११।२०८)

इति॥ १३६॥

एवं पित्र्यं वर्षं देवानां दिनमिति यदन्यैरुक्तं तदयुक्तमेव
इत्याह

तेन ये गुरवः श्रीमत्स्वच्छन्दोक्तिद्वयादितः॥ ६-१३७॥

पित्र्यं वर्षं दिव्यदिनमूचुर्भ्रान्ता हि ते मुधा।

भ्रान्ता इत्यत्र हेतुः उक्तिद्वयादितः इति। पितॄणामित्येकोक्तिः, एवं
दैव इति द्वितीया, आदिशब्दाद्गुरुवृत्तिकारोक्तिः॥ १३७॥

इदानीमेतदुपजीवनेनैव युगादिव्यवस्थामप्याह

दिव्यार्काब्दसहस्राणि युगेषु चतुरादितः॥ ६-१३८॥

एकैकहान्या तावद्भिः शतैस्तेष्वष्ट संधयः।

चतुर्युगैकसप्तत्या मन्वन्तरस्ते चतुर्दश॥ ६-१३९॥

ब्रह्मणोऽहस्तत्र चेन्द्राः क्रमाद्यान्ति चतुर्दश।

अर्का द्वादश। युगेषु चतुर्ष्वपि चतुरादित एकैकहान्येत्येषां विभागः तेन कृते चत्वारि सहस्राणि, त्रेतायां त्रीणि, द्वापरे द्वे, कलावेकम् इति दिव्यानां वर्षाणां दशसहस्राणि चतुर्षु युगेषु मानम्। अवशिष्टस्य सहस्रद्वयस्य विभागमाह तावद्भिरित्यादिना। तावद्भिश्चतुस्त्र्यादिभिरेवाष्ट सन्धय इति चतुर्णां युगानामाद्यन्तयोर्भावात्, उभयमीलनया तु चत्वारः। एवं कलेरन्तगं शतं कृतस्यादौ चत्वारि शतानीति कलिकृतयुगसंध्या पञ्चशतानि एवं कृतत्रेतयोः संध्या सप्तशतानि, त्रेताद्वापरयोः पञ्च, द्वापरकलियुगयोस्त्रीणि गणयित्वा सहस्रद्वयम् इत्युभयतो दिव्यं वर्षसहस्रद्वादशकं चतुर्युगम्। तदुक्तम्

द्वादशाब्दसहस्राणि विज्ञेयं तु चतुर्युगम्।

चतुर्भिस्तु कृतं देवि सहस्रैस्तु यथाक्रमम् ॥

त्रेता ज्ञेया त्रिभिर्देवि द्वाभ्यां वै द्वापरः स्मृतः ।

सहस्रेणैव वर्षाणां विज्ञेयस्तु कलिः प्रिये ॥ (स्वटं । ११ ।२१०)

इति । तथा

शतानि चत्वारि कृते त्वादिरन्तश्च कीर्त्यते ।

त्रेते शतत्रयं ज्ञेयं द्वापरे तु शतद्वयम् ॥

कलौ चापि शतं ज्ञेयं संध्यामानमिदं स्मृतम् । (स्वटं । ११ ।२१२)

इति । त इति मन्वन्ताः । तत्रेति ब्रह्मेऽह्नि, चतुर्दशेति तेन प्रतिमन्वन्तरमेकैक इन्द्रः संहारं यातीत्यर्थः । तदुक्तम्

दिनेनैकेन ब्रह्मेण इन्द्राश्चैव चतुर्दश ।

राज्यं कृत्वा क्रमाद्यान्ति मन्वन्तरव्यवस्थया ॥ (स्वटं । ११ ।२२९)

इति । अत एवानेन संहारचित्रताया अप्यवकाशो दत्तः ॥ १३९ ॥

तदाह

ब्रह्माहोऽन्ते कालवह्नेर्ज्वाला योजनलक्षिणी॥ ६-१४० ॥

दग्ध्वा लोकत्रयं धूमात्त्वन्यत्प्रस्वापयेत्त्रयम्।

लोकत्रयमिति, निरयेभ्यः प्रभृति भूर्भवःस्वपर्यन्तमित्यर्थः।
यदुक्तम्

शा दहेन्नरकान्देवि पातालानि समन्ततः।

त्रींल्लोकांश्चैव दहति भूर्भुवःस्वःपदान्तकान्॥
(स्वछं। ११।२३७)

इति। अन्यदिति, महोजनस्तपःसंज्ञम्॥ १४० ॥

ननु सर्वेषां भुवनेश्वराणामधोऽध एव सर्वत्र
सृष्टिसंहारकारित्वं श्रूयते वक्ष्यते च पुरस्तात्तदिदं पुनः
कस्मादन्यथोक्तम् इत्याशङ्क्याह

निरयेभ्यः पुरा कालवह्नेर्व्यक्तिर्यतस्ततः ॥ ६-१४१ ॥

विभुरधःस्थितोऽपीश इति श्रीरौरवं मतम् ।

अस्य खलु निरयेभ्यः पूर्वं सृष्टिरिति तदधोऽवस्थानं न तु तदपकर्षात् अतश्च तदधःस्थितोऽपि विभुर्व्यापकत्वादूर्ध्वमपि संहारादौ स्वामीत्यर्थः । न चैतदस्माभिः स्वोपज्ञमेवोक्तमित्याह इति श्रीरौरवं मतम इति । तदुक्तम् तत्र

ङरकाणामधः पूर्वं व्यक्तिरस्योपजायते ।

सर्वस्थानोऽपि संस्तस्मादधःस्थ इव लक्ष्यते ॥

इति ॥ १४१ ॥

न केवलमेवं विश्वमास्ते यावदेकार्णवीभावेऽपि इत्याह

ब्रह्मनिःश्वासनिर्धूते भस्मनि स्वेदवारिणा ॥ ६-१४२ ॥

तदीयेनाप्लुतं विश्वं तिष्ठेत्तावन्निशागमे ।

ननु यद्येवं तत्तदा तेषां भुवनानामीश्वरास्तद्वासिनो वा जीवाः कुत्रासते? इत्याशङ्क्याह

तस्मिन्निशावधौ सर्वे पुद्गलाः सूक्ष्मदेहगाः ॥ ६-१४३ ॥

अग्निवेगेरिता लोके जने स्युर्लयकेवलाः ।

कूष्माण्डहाटकाद्यास्तु क्रीडन्ति महदालये ॥ ६-१४४ ॥

शूक्ष्मदेहगाः पुर्यष्टकरूपाः । तुशब्दो व्यतिरेके । अत एव क्रीडन्तीत्युक्तम् ॥ १४४ ॥

निशाक्षये पुनः किं स्यात्? इत्याशङ्क्याह

निशाक्षये पुनः सृष्टिं कुरुते तामसादितः ।

तामसादित इति, यदुक्तम्

प्रथमं तामसीं सृष्टिं करोति तमसोत्कटाम् । (स्वटं । ११ ।२४४)

इत्युपक्रम्य तमोरजःसमावेशान्मानवान्स सृजेत्पुनः ।

रजःसत्त्वसमाविष्टः सृजेन्मुनिवरेश्वरान् ॥

गतनिद्रः प्रबुद्धः स सत्त्वाविष्टो जगत्पतिः ।

सृजेद्देवान्सलोकांश्च पूर्वयैव व्यवस्थया ॥ (स्वटं । ११ ।२४६)

इति ॥

एवं प्रत्यहं कुर्वतो मन्वन्तराष्टाविंशत्यात्मकाहोरात्रकलनया स्वकवर्षशतान्तेऽस्य संहारः इत्याह

स्वकवर्षशतान्तेऽस्य क्षयस्तद्वैष्णवं दिनम् ॥ १४५ ॥

रात्रिश्च तावतीत्येवं विष्णुरुद्रशताभिधाः ।

क्रमात्स्वस्वशतान्तेषु नश्यन्त्यत्राण्डलोपतः ॥ १४६ ॥

एतदेव यथोत्तरमतिदिशति तदित्यादिना । तद् ब्राह्मं वर्षशतम् । अण्डलोपतः इत्यण्डलोपमवधिं कृत्वा, तेन

तन्नाशाद्ब्रह्माण्डोऽपि नश्यतीत्यर्थः। तदुक्तम्

विष्णोश्च तद्दिनं प्रोक्तं रात्रिर्वै तत्समा भवेत्।

अनेन परिमाणेन तस्याब्दं तु विधीयते॥

वर्षाणां च शते पूर्णे सोऽपि याति परे लयम्।

विष्णोरायुर्यदेवोक्तं रुद्रस्यैतद्दिनं प्रिये॥ (स्वटं। ११।२६३)

इति।

वत्सराणां शते पूर्णे शतरुद्रदिनक्षयात्।

सोऽपि याति परं स्थानं॥॥॥॥॥॥॥॥॥॥॥॥ (स्वटं। ११।२७१)

इति।

शतरुद्राश्च देवेशि स्वाब्दानां तु शतात्यये।

ते प्रयान्ति परं तत्त्वं ततोऽण्डं च विनश्यति॥ (स्वटं। ११।२७३)

इति च। अण्डनाशाच्च कालाग्निरुद्रस्यापि नाशः इत्यर्थसिद्धम्।

यदुक्तम्

ततः कालाग्निरुद्रश्च कालतत्त्वे लयं व्रजेत्। (स्वटं। ११।२७७)

इति ॥ १४६ ॥

अव्यक्तान्तमपीयमेव व्यवस्था इत्याह

अबाद्यव्यक्ततत्त्वान्तेष्वित्थं वर्षशतं क्रमात्।

दिनरात्रिविभागः स्यात् स्वस्वायुःशतमानतः ॥ ६-१४७ ॥

एवं व्यवस्थयाव्यक्तस्थानां कियन्मानं दिनं भवेत्
इत्याशङ्क्याह

ब्रह्मणः प्रलयोल्लाससहस्रैस्तु रसाग्निभिः।

अव्यक्तस्थेषु रुद्रेषु दिनं रात्रिश्च तावती ॥ ६-१४८ ॥

रसाग्निभिरिति, षट्त्रिंशता। ब्रह्मण इति, बुद्धितत्त्वस्थस्य न तु

सत्यलोकस्थस्य नहि तदायुष्कलनयैतत्कलयितुमेव शक्यमिति भावः।
तेन बुद्धितत्त्वस्थस्य ब्रह्मणो गुणतत्त्वशतरुद्रदिनान्ते
संहारस्तद्दिनारम्भे च सृष्टिः इति तदीयेऽब्दे तस्य
सषष्टिशतत्रयं प्रलयोल्लासा भवन्ति, ते च शतेन गुणिताः
षट्त्रिंशत्सहस्रसंख्याका भवेयुरित्युक्तं रसाग्निभिः
प्रलयोल्लाससहस्रैरिति। तावद्गुणपरीमाणं च गुणतत्त्ववासिनां
रुद्राणामायुर्यदव्यक्तस्थानां दिनमित्युक्तम् अव्यक्तस्थेषु दिनं
रात्रिश्च तावती इति। यदुक्तम्

षट्त्रिंशत्तु सहस्राणि ब्रह्मणां प्रलयोद्भवाः।

अव्यक्ते च दिनं प्रोक्तं रुद्राणां तन्निवासिनाम्॥ (स्वटं। ११।२८९)

इति। अस्याश्च व्यवस्थायाः
शक्तितत्त्वान्तमविशेषेऽप्यव्यक्तान्तमेवमतिदेशस्येद मेव प्रयोजनं
यदत्र गुणतत्त्ववर्तिरुद्रायुरपेक्षया दिनमानस्य
संख्यानैयत्यमुत्पन्न मिति॥ १४८॥

अत्र च सृष्टिसंहारादौ कस्याधिकारः इत्याशङ्क्याह

तदा श्रीकण्ठ एव स्यात्साक्षात्संहारकृत्प्रभुः।

सर्वे रुद्रास्तथा मूले मायागर्भाधिकारिणः ॥ ६-१४९ ॥

अव्यक्ताख्ये ह्याविरिञ्चाच्छ्रीकण्ठेन सहासते ।

साक्षान्न तु विरिञ्चादिमुखेन, यतस्तदानीं विरिञ्चात्प्रभृति प्रकृतिगर्भाधिकारिणः सर्व एव तत्तद्भुवनेश्वररूपा रुद्रा अव्यक्ताख्ये मूले प्रकृतितत्त्वे श्रीकण्ठेन सहासते, अर्थाच्छ्रीकण्ठनाथमेव नायकतया प्रधानीकृत्य तिष्ठन्तीत्यर्थः । यदुक्तम्

प्रजाः प्रजानां पतयः पितरो मानवैः सह ।

सांख्यज्ञानेन ये सिद्धा वेदेन ब्रह्मवादिनः ॥

छन्दःसामानि चोङ्कारो बुद्धिस्तद्देवताः प्रिये ।

अह्नि तिष्ठन्ति ते सर्वे परमेशस्य धीमतः ॥

इति ॥ १४९ ॥

ननु

महाकल्पस्य पर्यन्ते ब्रह्मा याति परे लयम्। (स्व। ११।२६१)

इत्याद्युक्तया तस्य परशिवे लय उक्तस्तत्कथमसावास्ते ?

इत्याशङ्क्याह

निवृत्ताधःस्थकर्मा हि ब्रह्मा तत्राधरे धियः॥ ६-१५०॥

न भोक्ता ज्ञोऽधिकारे तु वृत्त एव शिवीभवेत्।

स एषोऽवान्तरलयस्तत्क्षये सृष्टिरुच्यते॥ ६-१५१॥

यद्यसाववृत्तपरशक्तिपातस्तद्बुध्यधोनिवृत्तकर्मतया भोगाभावात्तत्र भोक्ता न भवेत् इत्यत्रैवास्ते, अन्यथा पुनर्यदि ज्ञानी साक्षात्कृतात्मतत्त्वः स्यात् अधिकारनिवृत्त्यनन्तरं स शिवीभवेत् तदैकात्म्येनैव प्रस्फुरेदित्यर्थः। एवमन्येषामपि ज्ञेयम्। अवान्तरलय इति, ब्रह्माण्डलयस्योक्तत्वात्प्रकृत्यण्डलयस्य च वक्ष्यमाणत्वात्॥ १५१॥

नन्वत्र

बुद्धितत्त्वे स्थिता बौद्धा गुणेष्वप्यार्हताः स्थिताः।

स्थिता वेदविदः पुंसि त्वव्यक्ते पाञ्चरात्रिकाः॥

इत्याद्युक्त्या केचिदात्मानो मुक्ताः संभवन्ति, केचिच्च
बद्धास्तत्कथमविशेषेणैवोक्तं तत्क्षये सृष्टिरुच्यते इति। नहि
मुक्तात्मनां पुनः संसृतिः स्यात्? इत्याशङ्क्याह

सांख्यवेदादिसंसिद्धाञ्छ्रीकण्ठस्तदहर्मुखे।

सृजत्येव पुनस्तेन न सम्यङ् मुक्तिरीदृशी॥ ६-१५२॥

इदानीं पूर्वोक्तयैव नीत्या यथोत्तरं वृद्धिक्रमेण
दिनादिव्यवस्थामतिदेशद्वारेण दर्शयति प्रधाने इत्यादिना शामनसे
पदे इत्यन्तम्

प्रधाने यदहोरात्रं तज्जं वर्षशतं विभोः।

श्रीकण्ठस्यायुरेतच्च दिनं कञ्चुकवासिनाम्॥ ६-१५३॥

तत्क्रमान्नियतिः कालो रागो विद्या कलेत्यमी।

यान्त्यन्योन्यं लयं तेषामायुर्गाहनिकं दिनम्॥ ६-१५४॥

तद्दिनप्रक्षये विश्वं मायायां प्रविलीयते।

क्षीणायां निशि तावत्यां गहनेशः सृजेत्पुनः॥ ६-१५५॥

एवमव्यक्तकालं तु परार्धैर्दशभिर्जहि।

मायाहस्तावती रात्रिर्भवेत्प्रलय एष सः॥ ६-१५६॥

मायाकालं परार्धानां गुणयित्वा शतेन तु।

एश्वरो दिवसो नादः प्राणात्मात्र सृजेज्जगत्॥ ६-१५७॥

तावती चैश्वरी रात्रिर्यत्र प्राणः प्रशाम्यति।

अहोरात्रमिति, गुणतत्त्ववर्तिरुद्रायुरपेक्षया ब्रह्मप्रलयोल्लासद्वासप्ततिसहस्रसंख्याकम्। तज्जमिति, षष्ट्यधिकेन शतत्रयेण गुणयित्वा इत्यर्थः। एतदिति, वर्षशतपरीमाणं श्रीकण्ठीयमायुः। कञ्चुकवासिनामित्यर्थान्नियतितत्त्वस्थानां वामदेवादीनां न तु कालतत्त्वादिगतानामपि तदपेक्षया हि कालतत्त्वादौ यथोत्तरं वृद्ध्यादिव्यवस्था संभवेत्, अत एव

क्रमादन्योन्यं लयं यान्ति

इत्युक्तम्। आगमोऽप्येवं

ततो नियतिकालौ च रागो विद्या कला तथा।

परस्परं लयं यान्ति क्रमात्सर्वे स्वमानतः॥ (स्वछं। ११।२९२)

इति। तेषामिति, कलातत्त्वस्थानां महादेवादीनां न तु सर्वेषां कञ्चुकवासिनां तथात्वे हि गाहनिकं दिनमव्यक्तकालसंख्यामपेक्ष्य पञ्चदशस्थानावस्थितेन दशगुणेन परार्धेन वक्ष्यमाणं गुणनं सङ्गतिमियात्। तत्सर्वेषामेव कञ्चुकवासिनां यथोत्तरमायुषो वृद्ध्या गाहनिकस्य दिनस्यानवच्छिन्नसंख्याप्रतिपादनार्थमेवं वक्ष्यमाणं सङ्गच्छते इत्यलं बहुना। गणना तु

ग्रन्थविस्तरभयान्न लिखिता इति स्वयमेवाभ्यूह्या। तावत्यामिति, वक्ष्यमाणदिनसमानायाम्। जहीति गुणयेत्यर्थः। यदुक्तम्

प्राधानिकपरार्धेन दशधा गुणितेन च।

माया संहरते सर्वं पुनश्चैव सृजेज्जगत्॥

मायाकालपरार्धस्य शतधा गुणितस्य च।

ऐश्वरः कुरुते सृष्टिं संहरेच्च पुनः सृजेत्॥ (स्वटं। ११।२९७)

इति। अनेन चात्रोत्तरोत्तरं कालः प्रकृष्यते इत्युक्तं स्यात एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम्। ङाद इति बहिरुन्मेषरूपतया नदनस्वभाव ईश्वरः। प्राणात्मेति, प्राणप्रमातृत्वात्। प्रशाम्यतीति, अत ऊर्ध्वं प्राणस्य प्राधान्याभावात्, विश्वमिति तस्याप्यहन्तायां विश्रान्तेः॥ १५७॥

न केवलमात्र नादात्मनः प्राणस्यैव प्रशमो यावद् बिन्द्वाद्यात्मिकायाः संविदोऽपि भविष्यति इत्याह

प्राणगर्भस्थमप्यत्र विश्वं सौषुम्नवर्त्मना॥ ६-१५८॥

प्राणे ब्रह्मविले शान्ते संविद्याप्यवशिष्यते ।

अंशांशिकातोऽप्येतस्याः सूक्ष्मसूक्ष्मतरो लयः ॥ ६-१५९ ॥

गुणयित्वैश्वरं कालं परार्धानां शतेन तु ।

सदाशिवं दिनं रात्रिर्महाप्रलय एव च ॥ ६-१६० ॥

सदाशिवः स्वकालान्ते बिन्द्वर्धेन्दुनिरोधिकाः ।

आक्रम्य नादे लीयेत गृहीत्वा सचराचरम् ॥ ६-१६१ ॥

नादो नादान्तवृत्त्या तु भित्त्वा ब्रह्मबिलं हठात् ।

शक्तितत्त्वे लयं याति निजकालपरिक्षये ॥ ६-१६२ ॥

एतावच्छक्तितत्त्वे तु विज्ञेयं खल्वहर्निशम् ।

शक्तिः स्वकालविलये व्यापिन्यां लीयते पुनः ॥ ६-१६३ ॥

व्यापिन्या तद्दिवारात्रं लीयते साप्यनाश्रिते।

परार्धकोटया हत्वापि शक्तिकालमनाश्रिते॥ ६-१६४॥

दिनं रात्रिश्च तत्काले परार्धगुणितेऽपि च।

सोऽपि याति लयं साम्यसंज्ञे सामनसे पदे॥ ६-१६५॥

महाप्रलय इति, शुद्धाध्वनोऽपि संहरणात्। तदुक्तम्

ततः सदाशिवो देवः स्वमानेन च संहरेत्।

सृजते च पुनर्भूय आत्मीये देव्यहर्मुखे॥

महाप्रलय एवोक्तः सादाख्ये तु दिनक्षये। (स्वटं। ११।२९८)

इति।

बिन्दुं चैवार्धचन्द्रं च भित्त्वा चैव निरोधिकाम्।

नादतत्त्वे लयं याति गृहीत्वा सचराचरम् ॥ (स्वटं। ११।३००)

इति। नादानुवृत्त्येति, नादान्तभूमिकामासाद्येत्यर्थः। यदुक्तम्

ङादः सौषुम्नमार्गेण भित्त्वा ब्रह्मबिलं प्रिये।

शक्तितत्त्वे लयं याति शक्तितत्त्वदिनक्षये॥ (स्वटं। ११।३०१)

इति। एतावदिति, सदाशिवायुःसंख्यातम्। तदिति, यः शक्तिलयकालः।
परार्धकोट्येति, यदुक्तम्

शक्तिकालपरार्धस्य कोटिधा गुणितस्य तु।

अनाश्रितस्य देवस्य दिनमेकं प्रकीर्तितम्॥ (स्वटं। ११।३०३)

सोऽपीत्यनाश्रितः। तदुक्तम्

अनेन परिमाणेन परार्धगुणितेन च।

सोऽपि याति परं स्थानं कारणं समनाश्रयम्॥ (स्वटं। ११।३०४)

इति॥ १६५॥

नन्वेवं समनाया अपि लयः कस्मान्नोच्यते इत्याशङ्क्याह

स कालः साम्यसंज्ञः स्यान्नित्योऽकल्यः कलात्मकः।

यत्तत्सामनसं रूपं तत्साम्यं ब्रह्म विश्वगम्॥ ६-१६६॥

यतः स विश्वकलनाकारी कालः समनाख्या येयं
कलाशक्तिस्तदात्मकोऽत एव नित्यो, न ह्यस्याः समनाख्यायाः
शक्तेर्महाप्रलयेऽपि नाशः इत्याशयः। यदभिप्रायेणैवान्यैः
शंभुः पुरुषो माया नित्यम् इत्याद्युक्तम्। अत एव
पृथिव्यादेरनाश्रितान्तस्य विश्वस्याभेदात्मना
साम्येनावस्थानात्साम्यशब्दाभिधेयः। अत एव भेदप्रथाया अभावात्
अकल्यः कलयितुमशक्य इत्यर्थः। शक्त्यन्तं हि विश्वसंहारे वृत्ते
सकलोऽयमणुवर्गः संभूय समनायामेवास्ते इत्याह
यत्तत्सामनसं रूपं तद्विश्वगं साम्यम् इति। न चैवमपि
भेदवादिवदिदं परस्माद् ब्रह्मणोऽतिरिक्तमित्युक्तं ब्रह्म इति,
परब्रह्मरूपमित्यर्थः। तदुक्तम्

श कालः साम्यसंज्ञश्च जन्ममृत्युभयापहः।

तस्याप्यूर्ध्वममेयस्तु कालः स्यात्परमावधिः ॥

नित्यो नित्योदितो देवि अकल्यश्च न कल्यते । (स्वटं । ११ ।३४६)

इति ॥ १६६ ॥

न केवलमत्र प्रलयावसरे विश्वस्यावस्थानमेव
यावत्सृष्टिर(ष्टाव)पि इत्याह

अतः सामनसात्कालान्निमेषोन्मेषमात्रतः ।

तुट्यादिकं परार्धान्तं सूते सैवात्र निष्ठितम् ॥ ६-१६७ ॥

निमेषोन्मेषमात्रत इति, सदाशिवेश्वरदशामधिशयानादित्यर्थः ।
यदुक्तम्

श चाधः कलयेत्सर्वं व्यापिन्याद्यं धरावधि ।

तुट्यादिभिः कलाभिश्च देव्यध्वानं चराचरम् ॥ (स्वटं । ११ ।३०७)

इति । अत एव चान्यैरस्मच्छास्त्रप्रक्रियामजानानैः शक्त्यन्तं
महाप्रलये वृत्ते सकलोऽयमणुवर्गः प्रलयान्त

ऊर्ध्वोर्ध्वमवस्थितेरभिधानात्परिशिष्टं शिवतत्त्वमेवासादयेत्।
तदासादनमेव च मुक्तिः तदक्रमेण सर्वेषामनायासमेव सा
सिद्धयेदिति किं शास्त्रानुष्ठानादिना इत्यादि यच्चोदितं
तदुत्थानोपहतमेव। न हि शक्त्यन्तं प्रलयेऽप्येषां शिवतत्व
एवावस्थानं समनायामेवमभिधानात्

शमनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तकम्। (स्वटं। ४।४२९)

इत्याद्युक्तया तदन्तं च बन्ध एव इति को नाम तत्र मुक्तेरवकाशः।
न चैवमपि शंभुवत्समनाया अपि नित्यत्वादभेदवादक्षतिः,
भेदमेवाधिकृत्य सृष्टिप्रलयादिव्यवहारस्योत्थानात वस्तुतः
पुनरभेदवादचर्चा प्रतिपदमिह दर्शिता दर्शयिष्यते च इत्यलं
बहुना॥ १६७॥

एवमुक्तवक्ष्यमाणपरिमाणोपयोगिन्याः संख्यायाः क्रमेण रूपं
दर्शयति

दशशतसहस्रमयुतं लक्षनियुतकोटि सार्बुदं वृन्दम्।

खर्वनिखर्वे शङ्खाब्जजलधिमध्यान्तमथ परार्धं च॥ ६-१६८॥

अब्जेति पद्मं, जलधीति सागरः ॥ १६८ ॥

नन्वेवमवस्थानमेषां कथं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

इत्येकस्मात्प्रभृति हि दशधा दशधा क्रमेण कलयित्वा ।

एकादिपरार्धान्तेष्वष्टादशसु स्थितिं ब्रूयात् ॥ ६-१६९ ॥

यदुक्तम्

एकं दशगुणं पूर्वं शतं दशगुणं तु तत् ।

शतं दशगुणं कृत्वा सहस्रं परिकीर्तितम् ॥

सहस्रं दशधा चैवमयुतं तद्धि कीर्तितम् ।

दशायुतानि लक्षं तु नियुतं दश तानि तु ॥

दश तानि च कोटिः स्याद्दश कोटयस्तदर्बुदम् ।

अर्बुदैर्दशभिर्वृन्दं खर्वं दशभिरेव तैः ॥

दशभिस्तन्निखर्वं तु शङ्कुः स्याद्दश तानि तु ।

शङ्कुभिर्दशभिः पद्मं दश पद्मानि सागरः ॥

सागरैर्दशभिर्मध्यमन्तस्तैर्दशभिः स्मृतः ।

अन्तं दशाहतं कृत्वा परार्धं तु प्रकीर्तितम् ॥

एवमष्टादशैतानि स्थानानि गणितस्य तु । इति ॥ १६९ ॥

एवमत्र सृष्टिप्रलयानामानन्त्येऽपि गौणमुख्यभावं दर्शयितुमाह -

-

चत्वार एते प्रलया मुख्याः सर्गाश्च तत्कलाः ।

भूमूलनैशशक्तिस्थास्तदेवाण्डचतुष्टयम् ॥ ६-१७० ॥

मुख्या इत्यवान्तराणामनन्तानां प्रलयानां सर्गाणां

चात्रैवान्तर्भावात्। तत्कला इति तेषां प्रलयानां सर्गाणां च कला पृथिव्यादिभेदचतुष्टयरूपा अंशा इत्यर्थः। तदेवेति, भूमूलादि। तदुक्तम्

ङिजशक्तिवैभवभरादण्डचतुष्टयमिदं विभागेन।

शक्तिर्माया प्रकृतिः पृथ्वी चेति प्रभावितं प्रभुणा॥
(प। सा। ४ श्लोक)

इति॥ १७०॥

अत्रैव स्रष्टसंहर्तृविभागमपि दर्शयति

कालाग्निर्भुवि संहर्ता मायान्ते कालतत्त्वराट्।

श्रीकण्ठो मूल एकत्र सृष्टिसंहारकारकः॥ ६-१७१॥

तल्लयो वान्तरस्तस्मादेकः सृष्टिलयेशिता।

श्रीमानघोरः शक्त्यन्ते संहर्ता सृष्टिकृच्च सः॥ ६-१७२॥

संहर्ता न पुनः स्रष्टा तद्धि ब्रह्मादीनामेव हि पूर्वमुक्तं,
कालतत्त्वराडिति कालतत्त्वाधिपः श्रीकण्ठः। यदुक्तम्

एकवीरः शिखोदश्च श्रीकण्ठः कालमाश्रितः। (मा।वि। ५।२७)

इति। श्रीकण्ठ इत्यव्यक्तस्थः। एकत्रेति त्रिष्वपि योज्यम्। तल्लय इति
श्रीकण्ठकर्त्तृकः संहारः। यद्वा त्रिष्वपि पृथिव्यादिषु
स्थानेषु परापररूपतामधिशयानः श्रीकण्ठनाथ एककः
सृष्टिसंहारकारकः। यदुक्तम्

श्रीकण्ठ एव परया मूर्त्या कालाग्निरुच्यते।

इति। तथा

त्रिष्वेव संस्थितो रुद्रः कालरूपी महेश्वरः।

इति। शक्त्यन्ते इति शुद्धाध्वनि। तदुक्तम्

तदूर्ध्वे शुद्धमध्वानं यावच्छक्त्यन्तगोचरम्।

तत्सर्वं संहरेद् घोरमघोरो घोरनाशनः॥

इति ॥ १७२ ॥

न केवलं शक्त्यन्तं प्रलयस्यैव महत्त्वं यावत्सृष्टेरपीत्याह

तत्सृष्टौ सृष्टिसंहारा निःसंख्या जगतां यतः ।

अन्तर्भूतास्ततः शाक्ती महासृष्टिरुदाहृता ॥ ६-१७३ ॥

ननु पृथिव्यादितत्त्वप्रलये यैव तन्निवासिनामणूनां व्यवस्था सैव किं तत्त्वेश्वरणां न वा ? इत्याशङ्क्याह

लये ब्रह्मा हरी रुद्रशतान्यष्टकपञ्चकम् ।

इत्यन्योन्यं क्रमाद्यान्ति लयं मायान्तकेऽध्वनि ॥ ६-१७४ ॥

मायातत्त्वलये त्वेते प्रयान्ति परमं पदम् ।

शुद्धाध्वव्यवस्थितानां पुनः किं परमं पदम् ? इत्याशङ्क्याह -

-

मायोर्ध्वे ये सिताध्वस्थास्तेषां परशिवे लयः ॥ ६-१७५ ॥

तत्राप्यौपाधिकाद्भेदाल्लये भेदं परे विदुः।

तत्रापीति, परशिवे। परे विदुरिति, न पुनरस्माकमिदं मत मित्याशयः ॥ १७५ ॥

नन्वेवमपवृक्तेषु पुनः सृष्टौ तत्र केषामधिकारः ?
इत्याशङ्क्याह

एवं तात्त्वेश्वरे वर्गे लीने सृष्टौ पुनः परे ॥ ६-१७६ ॥

तत्साधकाः शिवेष्टा वा तत्स्थानमधिशेरते।

तत्साधका इति

लोकधर्मिणमारोप्य मते भुवनभर्तरि।

इत्यादिना निरूपिताश्चर्यादिक्रमेण प्रेप्सिततत्तद्भुवनैश्वर्याः।

शिवेष्टा इति, तदिच्छामात्रानुगृहीताः ॥ १७६ ॥

नन्वेवमप्येषां ब्रह्मादिशब्दप्रवृत्तौ किं निमित्तम्? इत्याशङ्क्याह

ब्रह्मी नाम परस्येव शक्तिस्तां यत्र पातयेत्॥ ६-१७७ ॥

स ब्रह्मा विष्णुरुद्राद्या वैष्णव्यादेरतः क्रमात्।

अत इति शक्तेः। तदुक्तम्

ब्रह्मी च वैष्णवी शक्तिरधिकारपदं गता।

यं चाधितिष्ठत्यात्मानं तत्संज्ञां स प्रपद्यते॥

तदाधिकारं कुरुते इच्छया परमात्मनः। (स्वटं। ११।२६५)

इति॥ १७७ ॥

ननु ब्रह्मी नाम यदि शिवस्यैव शक्तिस्तत्कथमसावन्यं यायाद्येनायं ब्रह्मेत्युच्यते, न ह्यन्यदीयधर्मस्यान्यत्रान्वयः संभवेत्? इत्याशङ्क्याह

शक्तिमन्तं विहायान्यं शक्तिः किं याति नेदृशम् ॥ ६-१७८ ॥

छादितप्रथिताशेषशक्तिरेकः शिवस्तथा ।

न ह्येतच्छिवलक्षणं शक्तिमन्तं विहायान्यं ब्रह्मादिलक्षणं शक्तिर्याति इत्येवंविधमुक्तं, किं त्वनन्तशक्तिखचितत्वेऽपि कांचिच्छक्तिं प्रच्छाद्य कांचिच्च प्रकटीकृत्यैक एव शिवस्तथा ब्रह्मविष्णवाद्यात्मनावभासत इति ॥ १७८ ॥

ननु प्राणस्य परं तत्त्वं प्रत्युपायत्वमस्तीति प्रागुपक्रान्तं तत्तदनभिधाय तदाश्रयेण सृष्टिसंहारादीनामेव स्वरूपमुच्यते -- इति किमेतत् ? इत्याशङ्क्याह

एवं विसृष्टिप्रलयाः प्राण एकत्र निष्ठिताः ॥ ६-१७९ ॥

सोऽपि संविदि संविच्च चिन्मात्रे ज्ञेयवर्जिते ।

चिन्मात्रमेव देवी च सा परा परमेश्वरी ॥ ६-१८० ॥

अष्टात्रिंशं च तत्तत्त्वं हृदयं तत्परापरम्।

संविदीति, तत्तन्नीलाद्याभाससंभिन्नायां परिमितात्मरूपायाम्। चिन्मात्रमेव चाष्टात्रिंशं तत्त्वमित्येतदग्र एवोपपादयिष्यते इति नेहायस्तम्। तत्स्थितमेवास्य चिन्मात्रविश्रान्तत्वं यद्वशादेवात्र नालिकादिषष्ट्यब्दोदयान्तं लयोदययोर्वैचित्र्य मिति॥ १८०॥

तदाह

तेन संवित्त्वमेवैतत्स्पन्दमानं स्वभावतः॥ १८१॥

लयोदया इति प्राणे षष्ट्यब्दोदयकीर्तनम्।

संवित्त्वमिति ये नाम लयोदयास्तत्संवित्स्वातन्त्र्यम् इत्येवं संविदधीनमेव सर्वमेतत्कालीयं वैचित्र्यं, न पुनरस्वाधीनं किञ्चिद्रूपं बहिरस्तीत्युक्तं स्यात्॥ १८१॥

अत आह

इच्छामात्रप्रतिष्ठेयं क्रियावैचित्र्यचर्चना॥ ६-१८२॥

कालशक्तिस्ततो बाह्ये नैतस्या नियतं वपुः।

नैतस्या नियतं वपुरिति, तथात्वे हि यत्रैकचषकोदयस्यत्रैवाब्दोदयः कथं भवेदिति भावः॥ १८२॥

ननु कथमतिपरिमितस्यापि कालांशस्य वैतत्येनावभासो भवेत्? इत्याशङ्क्याह

स्वप्नस्वप्ने तथा स्वप्ने सुप्ते सङ्कल्पगोचरे॥ ६-१८३॥

समाधौ विश्वसंहारसृष्टिक्रमविवेचने।

मितोऽपि किल कालांशो विततत्वेन भासते॥ ६-१८४॥

यत्राद्यां स्वाप्नीमेव दशां जाग्रद्दशात्वेन परिकल्प्य द्वितीयां स्वप्नत्वेन कश्चिदभिमन्यते स स्वप्नस्वप्न उच्यते। एवं स्वप्ने क्षणेनैव हरिश्चन्द्रस्येवानेककालिकोऽप्यनुभवोऽभवदिति युक्तमुक्तं -- मितेऽपि काले वैतत्येनावभासः इति। शुप्ते इति सुषुप्तदशायाम्ः तत्र हि क्षणमात्रमपि मोहादौ चिरस्य गाढमूढोऽहमासम्

इत्याद्यभिमानोदयः। शङ्कल्पगोचरे इति स्वतन्त्रविकल्पादौ तत्र हि क्षणेनैव कल्पपरिकल्पनमपि शक्यम्। शमाधौ इति विश्वसाक्षात्कारात्मनि। विश्वसंहारसृष्टिक्रमस्य विवेचने समनन्तरोक्तकालीयप्रमेयसङ्कलनाबुद्धावित्यर्थः। एतच्च कालीयं वैतत्यं स्वपरदृष्टत्वेनापि वैचित्र्यमियात् इत्याह

प्रमात्रभेदे भेदेऽथ चित्रो विततिमाप्यसौ।

अनेनैतत्स्वप्नादावनुभूतम् इति प्रमात्रन्तरैकीकारेण विततिम्नोऽवभासः मयैवैतदसाधारण्येनानुभूतम् इति वा॥

इदानीं प्राणीयमेव कालविभागमपानेऽप्यतिदिशति

एवं प्राणे यथा कालः क्रियावैचित्र्यशक्तिजः॥ ६-१८५॥

तथापानेऽपि हृदयान्मूलपीठविसर्पिणी।

यद्यपि द्वादशान्ताद्धृदन्तमपाने कालवैचित्र्यमुक्तं तथापि हृदयान्मत्तगन्धपर्यन्तं प्रसरणेऽस्यैव प्राधान्यमित्येवमुक्तम्। तदुक्तम्

अपानस्यापि सञ्चारे सर्पितेयं सुविस्तृता।

गुदं यावत्ततो वायुरधस्तादुपयाति हि॥

इति॥ १८५॥

नन्वत्रापि प्राणवत्कालवैचित्र्यं किं सञ्चेत्यते न वा ?
इत्याशङ्क्याह

मूलाभिधमहापीठसङ्कोचप्रविकासयोः॥ ६-१८६॥

ब्रह्माद्यनाश्रितान्तानां चिनुते सृष्टिसंहृती।

रासभी वडवा यद्वत (तं। ५।५८) इत्यादिप्रागुक्तयुक्त्या
जन्माधारोदितायाः शक्तेर्यौ सङ्कोचविकासौ तौ
ब्रह्माद्यनाश्रितान्तस्य विश्वस्य सृष्टिसंहारादौ
योगिनामनुभवसिद्धावित्युक्तं चिनुते सृष्टिसंहृती इति॥ १८६॥

ननु यद्येवं तत्सर्वत्र प्राणोदय एव प्राधान्येनैतत्कस्मान्निर्दिष्टम् ?

इत्याशङ्क्याह

शश्वद्यद्यप्यपानोऽयमित्थं वहति किंत्वसौ ॥ ६-१८७ ॥

अवेद्ययत्नो यत्नेन योगिभिः समुपास्यते ।

ननु यद्यत्र ब्रह्मादीनां कारणानां सृष्ट्यादि संभवेत् तत्कुत्र कस्यावस्थानम् ? इत्याशङ्क्याह

हृत्कन्दानन्दसङ्कोचविकासद्वादशान्तगाः ॥ ६-१८८ ॥

ब्रह्मादयोऽनाश्रितान्ताः सेव्यन्तेऽत्र सुयोगिभिः ।

द्वादशान्तः शक्तेरुदयविश्रान्तिस्थानम् । सुयोगिभिरित्यन्तःप्राणे सावधानैर्न सामान्यैस्तेषामपानस्यावेद्ययत्नतया तत्सेवनस्य यत्नसाध्यत्वात् ॥ १८८ ॥

ननु व्यापकत्वादेषां स्वरसत एव सर्वत्रावस्थानं सिद्धमित्यत्र विशेषाभिधाने किं प्रयोजनम् ? इत्याशङ्क्याह

एते च परमेशानशक्तित्वाद्विश्ववर्तिनः ॥ ६-१८९ ॥

देहमप्यश्नुवानास्तत्कारणानीति कामिके ।

तत्कारणानीति, तस्य देहस्य कारणानि
तत्तदधिष्ठानद्वारेणोत्पत्तिनिमित्तमित्यर्थः ॥ १८९ ॥

कामिकीयमेव ग्रन्थं पठति

बाल्ययौवनवृद्धत्वनिधनेषु पुनर्भवे ॥ ६-१९० ॥

मुक्तौ च देहे ब्रह्माद्याः षडधिष्ठानकारिणः ।

तद्बाल्ये ब्रह्मणोऽधिष्ठानकारित्वं, यावन्मुक्तावनाश्रितस्येति ॥ १९०
॥

नन्वस्मद्दर्शने मुक्तेः किमनाश्रिताधिष्ठानं युक्तम् ?
इत्याशङ्क्याह

तस्यान्ते तु परा देवी यत्र युक्तो न जायते ॥ ६-१९१ ॥

अनेन ज्ञातमात्रेण दीक्षानुग्रहकृद्भवेत्।

अन्त इति, यदुक्तम्

षट्त्यागात्सप्तमे लयः। (स्वटं। ४।२६७)

इति।

युक्तइत्यर्थाद् गुरुणा योजितः॥ १९१॥

नन्वपानस्य कालवैचित्र्याभिधाने प्रक्रान्ते किमनेनोपदिष्टेन ?
इत्याशङ्क्याह

समस्तकारणोल्लासपदे सुविदिते यतः॥ ६-१९२॥

अकारणं शिवं विन्देद्यत्तद्विश्वस्य कारणम्।

हेये हि सुष्ठु ज्ञाते सुखमुपादेये विश्रान्तिर्भवेदिति भावः॥ १९२॥

ननु प्राणक्रमेण द्वादशान्ते परः शिवः इत्याद्युक्त्या

तत्तत्कारणोल्लङ्घनेन तत्र शिवे विश्रान्तिः स्यादिह पुनः सा कुत्र यत्रैवं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

अधोवक्त्रं त्विदं द्वैतकलङ्कैकान्तशातनम् ॥ ६-९३ ॥

क्षीयते तदुपासायां येनोर्ध्वाधरडम्बरः ।

यत्र नामापानस्य विश्रान्तिस्तदिदं द्वैतकलङ्कापहम् अधोवक्त्रं षष्ठस्त्रोतोरूपं योगिनीवक्त्रमित्युच्यते यतोऽयमद्वैतार्थोपदेशिनां रहस्यशास्त्राणामुदयो, येन द्वैतापहतत्वेन हेतुना तत्र विश्रान्तिभाजाम् ऊर्ध्वाधरडम्बरः शाम्येत् चिदानन्दैकघनपरशिवैकात्म्यमुल्लसेदित्यर्थः ॥ १९३ ॥

नन्वत्रैवं विश्रान्तिः किं प्राणवत्तुट्यादिक्रमेणैव भवेदुतान्यथापि ? इत्याशङ्क्याह

अत्रापानोदये प्राग्वत्षष्ट्यब्दोदययोजनाम् ॥ ६-१९४ ॥

यावत्कुर्वीत तुट्यादेर्युक्तांगुलविभागतः ।

युक्तं तुट्यनुगुणमंगुलविभागमाश्रित्य तुट्यादेरारभ्य षष्ट्यब्दोदययोजनां यावत् प्राग्वदत्रापानोदयेऽर्थाद्योजनां कुर्वीत, येनैवं विश्रान्तिः स्यात्॥ १९४ ॥

न केवलमेतदपाने यावत्समानेऽपि इत्याह

एवं समानेऽपि विधिः स हि हार्दीषु नाडिषु॥ ६-१९५॥

सञ्चरन्सर्वतोदिक्कं दशधैव विभाव्यते।

हार्दीषु, हृदि तासामभिव्यक्तेः, वस्तुतस्त्वासां नाभेरुदयः। यदुक्तम्

ऊर्ध्वाधो मेढ्रकन्दे च स्थिता वै नाभिमध्यतः।

तस्माद्विनिर्गता नाड्यस्तिर्यगूर्ध्वमधः प्रिये॥

चक्रवत्संस्थितास्तत्र प्रधाना दश नाडयः। (स्वटं। ७।८)

इति। समानस्यापि मुख्यया वृत्त्या नाभिरेव स्थानम्। यदुक्तम्

हृद्गुदे नाभिकण्ठे च सर्वसन्धौ तथैव च।

प्राणाद्याः संस्थिता ह्येते ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ । ॥ (स्वटं। ७।३०१)

इति ॥ १९५ ॥

नन्वेवं व्यपदेशस्य किं निमित्तम्? इत्याशङ्क्याह

दश मुख्या महानाडीः पूरयन्नेष तद्गताः ॥ ६-१९६ ॥

नाडयन्तराश्रिता नाडीः क्रामन्देहे समस्थितिः।

मुख्या इति प्रधानाः। तदुक्तम्

इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना च तृतीयिका।

गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैवार्यमा तथा ॥

अलम्बुसा कुहूश्चैव शङ्खिनी दशमी स्मृता।

एताः प्राणवहाः प्रोक्ताः प्रधाना दश नाडयः ॥ (स्वटं। ७।१६)

इति। तद्गताः इति तद्भेदरूपद्वासप्ततिसहस्रसंख्याकाः।
नाड्यन्तरेतितदुपभेदरूपाणि। यदुक्तम्

द्वासप्ततिसहस्राणि नाड्यस्ताभ्यो विनिर्गताः।

पुनर्विनिर्गताश्चान्या आभ्योऽप्यन्याः पुनः पुनः॥ (स्वटं। ७।९)

इति। अत एव देहे समननात्समाननामायमित्युक्तं शमस्थितिः इति॥ १९६
॥

ननु यदि नामायं दश नाडीराक्रम्य वर्तते तावतास्य किमायातं
येन दशधात्वमुच्यते ? इत्याशङ्क्याह

अष्टासु दिग्दलेष्वेष क्रामंस्तद्दिक्पतेः क्रमात्॥ ६-१९७ ॥

चेष्टितान्यनुकुर्वाणो रौद्रः सौम्यश्च भासते।

तद्दिक्पतेरिति, इन्द्रादेः। चेष्टितानीति, स्तम्भादिरूपाणि। रौद्रो
याम्यादौ, सौम्यश्च वारुण्यादौ अत एव पुंसां प्रतिक्षणं
क्रोधहर्षाद्याविर्भावः। यदुक्तम्

पद्मस्याष्टदलस्येत्थं तन्मध्ये भोगभुक्सदा ।

संस्थितः सर्वगोऽप्यस्मात्कारणात्सुप्रतीयते ॥

येनाशु विषयान्दृष्ट्वा विचारयति सादरम् ।

शोकः क्रोधो विषादो वा विस्मयस्ताप एव च ॥

हर्षो वाप्यथ संचिन्त्य हृदयेनैव भाव्यते ।

इति ॥ १९७ ॥

एवमस्य सर्वत्र साम्येनावस्थानेऽपि मुख्यया वृत्त्या नाडीत्रय एव चारः इत्याह

स एव नाडीत्रितये वामदक्षिणमध्यगे ॥ ६-१९८ ॥

इन्द्वर्काग्निमये मुख्ये चरंस्तिष्ठत्यहर्निशम् ।

नाडीत्रितये इति, इडापिङ्गलासुषुम्नात्मके । यदुक्तम्

दक्षिणे तु स्थितः सूर्यो वामे सोमो विराजते।

पाके प्रकाशकत्वे च मध्यस्थश्चैव पावकः॥ (स्वटं। ७।५२)

इति यदुक्तम्

दशानां तु परं देवि नाडीत्रयमुदाहृतम्।

बिन्दुनादात्मिके द्वे वै मध्ये शक्त्यात्मिका स्मृता॥

इति। नन्वत्र कथमसावहर्निशं चरन्नास्ते ? इत्याशङ्क्याह

सार्धनालीद्वयं प्राणशतानि नव यत्स्थितम्॥ ६-१९९॥

तावद्वहन्नहोरात्रं चतुर्विंशतिधा चरेत्।

षट्प्राणाश्चषकस्तेषां षष्टिर्नाली तथा तिथिः।

इत्याद्युक्त्या बाह्यायां घटिकायामन्तःप्राणचाराणां
सषष्टिशतत्रयमुदियात् इति बाह्येन सार्धेन घटिकाद्वयेन

नवशतानि वहन् षष्टिघटिकात्म बाह्यमहोरात्रं चतुर्विंशतिभिः प्रकारैरर्थात् स एव समानश्चरेत् येनात्र सषट्शतसहस्रैकविंशत्यात्मकप्राणचाराश्रयेण चतुर्विंशतिः संक्रान्तीनामुदियात्। यदुक्तम्

चतुर्विंशतिसंक्रान्त्यः समधातोः स्वभावतः।

शतानि नव वै हंस एकामेकां वहेत्सदा॥ (स्वच्छं। ७।१६८)

इति।

बाह्ये चैव त्वहोरात्रे अध्यात्मं तु वरानने।

चतुर्विंशतिसंक्रान्तीः प्राणहंसस्तु संक्रमेत्॥

अहनि द्वादश प्रोक्ता रात्रौ वै द्वादश स्मृताः। (स्वच्छं। ७।१६६)

इति च॥ १९९॥

एतदेव विभजते

विषुवद्वासरे प्रातः सांशां नालीं स मध्यगः॥ ६-२००॥

वामेतरोदक्सव्यान्यैर्यावत्संक्रान्तिपञ्चकम् ।

एवं क्षीणासु पादोनचतुर्दशसु नालिषु ॥ ६-२०१ ॥

मध्याह्ने दक्षविषुवन्नवप्राणशतीं वहेत् ।

दक्षोदगन्योदग्दक्षैः पुनः संक्रान्तिपञ्चकम् ॥ ६-२०२ ॥

नवासुशतमेकैकं ततो विषुवदुत्तरम् ।

पञ्चके पञ्चकेऽतीते संक्रान्तेर्विषुवद्बहिः ॥ ६-२०३ ॥

यद्वत्तथान्तः सङ्क्रान्तिर्नवप्राणशतानि सा ।

विषुवद्वासरे रात्रिन्दिनसाम्यात्मनि मेषसंक्रान्तिदिने प्रातः
सार्धशतचतुष्टयप्राणचारात्मिकां सचतुर्भागां घटिकां
मध्यगः सौषुम्नमार्गावस्थितः सन् स
समानस्तावद्वामेतरोदक्सव्यान्यैर्वामदक्षनाड्योः प्रत्येकं
सार्धनालीद्वयं पञ्चधा गमागमैश्चरेत् यावद्वृषादिकन्यान्तं

संक्रान्तिपञ्चकं भवेत्, येन सभागत्रयासु त्रयोदशसु घटिकासु
व्यतीतासु मध्यनाड्यां मध्याह्नसमये
दक्षविषुवत्तुलासंक्रान्तिर्नवप्राणशतीं वहेत्,
सार्धघटिकाद्वयमुदियादित्यर्थः। ततोऽपि
दक्षोदगन्योदग्दक्षैर्दक्षवामनाड्योः समानस्य पञ्चधा गमागमैः
पुनरेकैकं नवासुशतं प्रत्येकं सार्धनालीद्वयं
वृश्चिकादिमीनान्तं सङ्क्रातिपञ्चकमुदेतीत्यर्थः। तदनन्तरं च
मध्यनाड्यां सायमुत्तरं मेषसङ्क्रान्तिरूपं विषुवत्
प्राग्वत्सार्धशतचतुष्टयप्राणचारात्म सचतुर्भागैकघटिकोदयं
भवेद्येन त्रिंशद्घटिकात्मनि दिने सङ्क्रान्तिद्वादशकमुदियात्। तत्र
सङ्क्रान्तीनामेकादशकमखण्डम्, एका तु सायंप्रातरर्धार्धिकया,
तस्य चार्धद्वयस्य
पक्षसन्धिवद्रात्रीयार्धद्वयसंमेलनेऽप्यखण्डत्वम्, इति
सायंप्रातरुत्तरविषुवद्द्वयं मध्याह्नार्धरात्रयोश्च
दक्षविषुवद्द्वयमिति। यद्वक्ष्यति

रात्र्यन्तदिनपूर्वांशौ मध्याह्नो दिवसक्षयः।

स शर्वर्युदयो मध्यमुदक्तो विषुतेदृशी॥ (तं। ६।२०५)

इति। एतच्च दक्षविषुवद्दिनोदयाभिप्रायेण

दक्षिणादुत्तरं याति उत्तराद्दक्षिणं यदा ।

दक्षिणोत्तरसंक्रान्तिः सा चैवं संविधीयते ॥

दक्षिणस्यां यदा नाड्यां संक्रामेत्तु यदोत्तरम् ।

यावदर्धं तु तत्रस्थं मध्येनोत्तरतो वहेत् ॥

तावत्तु विषुवत्प्रोक्तमुत्तरं तूत्तरायणे ।

उत्तराद्दक्षिणायां तु संक्रामन्स वरानने ॥

यावदर्धं वहेत्तत्र अर्धं दक्षिणतो वहेत् ।

विषुवद्दक्षिणं तावद्दक्षिणायनजं प्रिये ॥ (स्वटं । ७ ।१६३)

इत्यादि श्रीस्वच्छन्दशास्त्रेऽभिहितम् । न चान्तरपूर्व एवायं संक्रान्तीनामुदय इत्याह पञ्चक इत्यादि । सङ्क्रान्तिरिति, विषुवद्रूपा । ङवप्राणशतानि सा इत्यनेन यथोक्तमेव मानं स्मारितम् ॥ २०३ ॥

एतदेवान्यत्राप्यतिदिशति

एवं रात्रावपीत्येवं विषुवद्दिवसात्समात्॥ ६-२०४ ॥

आरभ्याहर्निशावृद्धिह्रासससङ्क्रान्तिगोऽप्यसौ।

इत्येवं बाह्येनाहोरात्रेण संक्रान्तिचतुर्विंशतेरुदयादि सर्वं समात्
त्रिंशद्घटिकाद्विषुवद्दिवसादारभ्योक्तम्, अन्यथा
ह्यहर्निशयोर्वृद्धिह्रासौ न स्यातां, येन संक्रान्तिष्वपि
चयापचयाभ्याम् अहनि द्वादश संक्रान्तयो रात्रौ च, इत्येवं
विभागनियमो नोक्तः स्यात्॥ २०४ ॥

अत्र च विषुवत्संक्रान्तीनां विभागं स्फुटयति

रात्र्यन्तदिनपूर्वांशौ मध्याह्नो दिवसक्षयः॥ ६-२०५ ॥

स शर्वर्युदयो मध्यमुदक्तो विषुतेदृशी।

मध्यमित्यर्थाच्छर्वर्याः। उदक्तः इति उत्तराद्विषुवत

आरभ्येत्यर्थः। यदुक्तम्

पूर्वाह्णे विषुवत्त्वेकं मध्याह्ने तु द्वितीयकम्।

तृतीयं चापराह्णे वै अर्धरात्रे चतुर्थकम्॥

चतुर्धा विषुवत्प्रोक्तमहोरात्रेण मुक्तिदम्॥ (स्वटं। ७।१६७)

इति॥ २०५॥

नान्वासां चतसृणां संक्रान्तीनामेवं व्यपदेशे किं निमित्तम्?

इत्याशङ्क्याह

व्याप्तौ विषेर्यतो वृत्तिः साम्यं च व्याप्तिरुच्यते॥ ६-२०६॥

तदर्हति च यः कालो विषुवत्तदिहोदितः।

वृत्तिरिति, विष्लृ व्याप्तौ इति पाठात्। अर्हति इत्यर्हेऽर्थे वतेः

प्रयोगात्॥ २०६॥

ननु विषुवत्संक्रान्तौ यद्येवं नियमस्तत्तदितरासु का व्यवस्था?

इत्याशङ्क्याह

विषुवत्प्रभृति ह्रासवृद्धी ये दिनरात्रिगे ॥ ६-२०७ ॥

तत्क्रमेणैव संक्रान्तिह्रासवृद्धी दिवानिशोः ।

तत्क्रमेणेति, रात्रिदिनवृद्धिह्रास्यपरिपाट्या तेन पञ्चत्रिंशद्घटिके दिने चतुर्दश संक्रान्तयः, पञ्चविंशतिघटिकायां रात्रौ दशेति ॥ २०७ ॥

तदेवोपसंहरति

इत्थं समानमरुतो वर्षद्वयविकल्पनम् ॥ ६-२०८ ॥

चार एकत्र नह्यत्र श्वासप्रश्वासचर्चनम् ।

वर्षद्वय इति, संक्रान्तिचतुर्विंशतेरुदयात् । एकत्रेति, न तु प्राग्वत्प्राणापानात्मनि चारद्वये ॥ २०८ ॥

ननु किमत्र वर्षद्वयमेवोदियादुतान्यदपि ? इत्याशङ्क्याह

समानेऽपि तुटेः पूर्वं यावत्षष्ट्यब्दगोचरम् ॥ ६-२०९ ॥

कालसंख्या सुसूक्ष्मैकचारगा गण्यते बुधैः।

सुसूक्ष्मत्वे हेतुः एकचारगा इति। पूर्वं हि तुट्याद्युदयश्चारद्वये प्रोक्तः इत्येतदपेक्षया तत्र स्थौल्यं संभाव्यमिति भावः ॥ २०९ ॥

नन्वत्राप्येवं विभागेन कोऽर्थ ? इत्याशङ्क्याह

संध्यापूर्वाह्णमध्याह्णमध्यरात्रादि यत्किल ॥ ६-२१० ॥

अन्तःसंक्रान्तिगं ग्राह्यं तन्मुख्यं तत्फलोदितेः।

एतदुपसंहरन्नन्यदवतारयति

उक्तः समानगः काल उदाने तु निरूप्यते ॥ ६-२११ ॥

तदेवाह

प्राणव्याप्तौ यदुक्तं तदुदानेऽप्यत्र केवलम्।

नासाशक्त्यन्तयोः स्थाने ब्रह्मरन्ध्रेऽर्ध्वधामनी॥ ६-२१२॥

तेनोदानेऽत्र हृदयान्मूर्धन्यद्वादशान्तगम्।

तुट्यादिषष्ठिवर्षान्तं विश्वं काले विचारयेत्॥ ६-२१३॥

यदि परमत्रानयोः प्राणोदानयोरियान्विशेषो यत्प्राणस्य ब्रह्मरन्ध्रवर्तिनासिक्यद्वादशान्तमुदयस्थानमस्य तु ऊर्ध्वधामवर्तिशक्तिद्वादशान्तमिति। तेनेति, शक्तिद्वादशान्तं यावदुदानव्याप्तेः॥ २१३॥

नन्वेवं कालीयो विभागः किं व्याने संभवेन्न वा ? इत्याशङ्क्याह

व्याने तु विश्वात्ममये व्यापके क्रमवर्जिते।

सूक्ष्मसूक्ष्मोच्छलद्रूपमात्रः कालो व्यवस्थितः॥ ६-२१४॥

सूक्ष्मसूक्ष्मेति, स्पन्दमात्रात्मेत्यर्थः। अत्रैव
विश्वात्ममयत्वादिविशेषणद्वारेण हेतुत्रयम् अत एव चास्य
व्यापकत्वात्मना विशेषेणाननाद् व्यानत्वम्॥ २१४॥

एषां च क्रमेण सृष्ट्यादिपञ्चकृत्यकारित्वमस्ति इत्याह

सृष्टिः प्रविलयः स्थेमा संहारोऽनुग्रहो यतः।

क्रमात्प्राणादिके काले तं तं तत्राश्रयेत्ततः॥ ६-२१५॥

तं तमिति, प्राणादिकम्। तत्रेति, सृष्ट्यादिकारित्वे॥ २१५॥

एवं प्राणे चारमानादि सर्वमभिधाय
तदानन्तर्येणानुजोद्देशोद्दिष्टं वर्णोदयं वक्तुमुपक्रमते

प्राणचारेऽत्र यो वर्णपदमन्त्रोदयः स्थितः।

यत्नजोऽयत्नजः सूक्ष्मः परः स्थूलः स कथ्यते॥ ६-२१६॥

इह तावत्प्राणचारे वर्णानां पदानां मन्त्राणां चोदय इति स्थितम्

। स तु द्विधा स्वारसिकः प्रायत्निकश्चेति। तत्राद्यो वर्णानां,
तेषां नैयत्येन सर्वत्रैवाविशेषात द्वितीयस्तु पदानां मन्त्राणां
च। ते हि वर्णवदपरिगणितत्वादनियताः, इति योगीच्छानिबन्धन
एवैषामुदयः। यो हि यस्याभिप्रेतो मन्त्रादिः स तस्योदयं कारयेत
अतश्च परेच्छाधीनत्वादेषां प्रायत्निक एवोदयः, स च
समनन्तराह्निके प्रतिपादयिष्यते। यद्वक्ष्यति

इत्ययत्नजमाख्यातं यत्नजं तु निगद्यते। (तं। ७।२)

इति॥ २१६॥

इह पुनर्वर्णोदय एवायत्नजः परसूक्ष्मस्थूलात्मतया
त्रिप्रकारोऽभिधीयते। तत्र परस्यापि वर्णोदयस्य तरतमभावेन
द्वैविध्यमिति परतमं तदुदयमभिधातुमुपक्रमते

एको नादात्मको वर्णः सर्ववर्णाविभागवान्।

सोऽनस्तमितरूपत्वादनाहत इहोदितः॥ ६-२१७॥

इह खल्वेक एव सर्ववर्णसामान्यात्मा
सततोच्चरद्रूपत्वादनाहतशब्दाभिधेयो नादात्मको वर्ण उदितः

सततमेवोदयमान आस्त इत्यर्थः॥ २१७॥

स एव च परमुपेयः इत्याह

स तु भैरवसद्भावो मातृसद्भाव एष सः।

परा सैकाक्षरा देवी यत्र लीनं चराचरम्॥ ६-२१८॥

द्वितीयं परतमपि एषामुदयमभिधातुमाह

ह्रस्वार्णत्रयमेकैकं रव्यंगुलमथेतरत्।

प्रवेश इति षड्वर्णाः सूर्येन्दुपथगाः क्रमात्॥ ६-२१९॥

इकारोकारयोरादिसन्धौ संध्यक्षरद्वयम्।

ए इति प्रवेशे तु ए इतिद्वयं विदुः॥ ६-२२०॥

षण्ठार्णानि प्रवेशे तु द्वादशान्तललाटयोः।

गले हृदि च बिन्द्वर्णविसर्गौ परितः स्थितौ ॥ ६-२२१ ॥

खव्यंगुलम् इति द्वादशाङ्गुलम् अत
एवाकारादेर्ह्रस्वत्रयस्योदयात्प्राणवाहे षट्त्रिंशदंगुलानि भवन्ति
। इतरदिति, दीर्घत्रयम्। षड्वर्णा इति, अकाराद्युकारान्ताः।
क्रमादिति सूर्यपथे ह्रस्वानां त्रयमिन्दुपथे च दीर्घाणामिति।
आदिसंधाविति, अकारेणाकारेण च शंधौ संधिकार्ये कृते
सतीत्यर्थः। अस्यैव
संध्यक्षरद्वयस्यादिसंधावितरत्संध्यक्षरद्वयम्। एषां च
प्रत्येकमष्टादशांगुलमुदयो येन प्राणापानवाहयोर्व्याप्तिः सिद्ध्येत्
। प्रवेश इति न तु निर्गमेऽपि। द्वादशान्तेति न तु
समचतुर्भागकलनया, तेन द्वादशान्ते ऋकारः, इत्यादि क्रमः।
परितः इति सर्वतः। तेन प्राणे बिन्दोः
षट्त्रिंशदङ्गुलात्मन्यभ्युदयो विसर्गस्य त्वपाने, द्वयोरपि
बिन्दुनादात्मकत्वात्॥ २२१ ॥

एतदेवान्यत्राप्यतिदिशति

कादिपञ्चकमाद्यस्य वर्णस्यान्तः सदोदितम्।

एवं सस्थानवर्णानामन्तः सा सार्णसन्ततिः ॥ ६-२२२ ॥

अन्तरिति, तेन यदेवाकारस्योदयस्थानं तदेव कवर्गस्येति।
सस्थानवर्णानामितीकारादीनां सा सेति चवर्गादिका,
तदिकारोदयस्थाने चवर्गस्य यकारशकारयोश्चोदय इत्यादिक्रमः ॥ २२२
॥

ननु सर्वत्रायं नियमः किं संभवेन्न वा ? इत्याशङ्क्याह

हृद्येष प्राणरूपस्तु सकारो जीवनात्मकः।

बिन्दुः प्रकाशो हार्णश्च पूरणात्मतया स्थितः ॥ ६-२२३ ॥

यद्यपि सस्थानतया सकारस्य दन्ता उदयस्थानं हकारस्य च कण्ठ
स्तथापि प्राणात्मजीवनरूपत्वात्सकारो हृद्युदेति हकारश्च
प्रकाशात्मकत्वात्सर्वत इति ॥ २२३ ॥

एतदुपसंहरन्नन्यदवतारयति

उक्तः परोऽयमुदयो वर्णानां सूक्ष्म उच्यते।

सूक्ष्मश्च त्रिधेति। तत्र सूक्ष्मसूक्ष्मं तावदुदयमाह

प्रवेशे षोडशौन्मुख्ये रवयः षण्ठवर्जिताः॥ ६-२२४॥

तदेवेन्द्वर्कमत्रान्ये वर्णाः सूक्ष्मोदयस्त्वयम्।

षोडशेति, अपानवाहस्यानन्दप्राधान्यात अत एव परोदयेऽप्यपानवाह
एव षण्ठवर्णानामुदय उक्तः। औन्मुख्ये इति निर्गमे। तेनापाने
प्रत्येकं सचतुर्भागमंगुलद्वयमुदयः प्राणे पुनरंगुलत्रयमिति।
तदेव वर्णानां षोडशकं द्वादशकं वावलम्ब्यान्ये सस्थानाः
कवर्गाद्या इन्द्वर्कप्राणापानविषये समुदयन्ति इत्यत्र सूक्ष्मेऽपि
वर्णोदये सूक्ष्मोऽयमुदय इत्यर्थः॥ २२४॥

एवं सूक्ष्मसूक्ष्मं वर्णोदयमभिधाय सूक्ष्मस्थूलमप्याह

कालोऽर्धमात्रः कादीनां त्रयस्त्रिंशत उच्यते॥ २२५॥

मात्रा ह्रस्वाः पञ्च दीर्घाष्टकं द्विस्त्रिःप्लुतं तु लृ।

दीर्घाष्टकमिति, संध्यक्षरैः सह। द्विरिति, द्विमात्रं, त्रिरिति त्रिमात्रं, दीर्घाणां च प्लुतत्वेऽपि तन्नोक्तं तस्योच्चारणापेक्षत्वात नह्येषां दीर्घत्ववत्प्लुतत्वमपि स्वाभाविकमिति भावः। एवं ऌकारस्यापि प्लुतत्वमेव स्वभावः इति दीर्घत्वापरिगणनेन तदेवेहास्य प्राधान्येनोक्तमिति न कश्चिद्दोषः। तेन कादीनां त्रयस्त्रिंशदर्धमात्राः ह्रस्वानां दश, दीर्घाणां द्वात्रिंशत्, प्लुतस्य षडित्येकाशीतिरर्धमात्राणा मिति ॥ २२५॥

नन्वेवं विभाजने किं प्रमाणम्? इत्याशङ्क्याह

एकाशीतिमिमामर्धमात्राणामाह नो गुरुः॥ २२६॥

तस्याप्येवमभिधाने क इवाशयः? इत्याशङ्क्याह

यद्वशाद्भगवानेकाशीतिकं मन्त्रमभ्यधात्।

यद्वशादिति, अस्याः परस्या मन्त्रमातुरेकाशीतिमात्रासद्भावात्। एकाशीतिकमिति, तावत्संख्याकपदारब्धत्वात्॥

ननु भगवतो व्योमव्याप्यभिधानेऽप्येतन्निमित्तमित्यत्र किं प्रमाणम् ?
इत्याशङ्क्याह

एकाशीतिपदा देवी शक्तिः प्रोक्ता शिवात्मिका ॥ ६-२२७ ॥

श्रीमातङ्गे तथा धर्मसङ्घातात्मा शिवो यतः ।

शक्तिरिति, व्योमव्यापिरूपा । प्रोक्तेति श्रीमातङ्गे । यदुक्तम् तत्र

एकाशीतिपदा देवी या सा शक्तिः शिवात्मिका । (म । तं । १ ।७ ।३१)

इति । तथा

मन्त्राश्च शक्तिगर्भस्थाः शक्तिर्वै पारमेश्वरी ।

कालानलान्तमध्वानं शिवाद् व्याप्तं यया मुने ॥

एकाशीतिदोपेता विद्यापादे मयोदिता । (म । तं ।)

इति । नन्वस्या व्योमव्यापिरूपिण्याः पारमेश्वर्याः
शक्तेस्तत्तद्धृदादिमन्त्रात्मकत्वेऽपि कथं शिवात्मकत्वमपि स्यात् ?
इत्याशङ्क्योक्तं तथेत्यादि । यत्तथोक्तेन प्रकारेण धर्माणां

पत्युर्धर्माः शक्तयस्तु ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ । । (मटं । १ ।२०)

इत्याद्युक्तया शक्तीनामेकाशीत्यात्मा यः सङ्घातस्तदात्मा शिवः

इति सामस्त्येनास्यास्तदात्मकत्वम् ।

तदुक्तं तत्र

एकत्रैव समस्तानि एकाशीतिपदानि तु ।

अष्टषष्ठ्यधिकं प्रोक्तं वर्णानां तु शतत्रयम् ॥

अर्चा तु देवदेवस्य समस्तव्यस्तरूपिणी ।

इति ।

एकोऽपि वर्णो देवानां वाचकः परिकीर्तितः ।

सर्वेऽप्येकस्य युज्यन्ते यतस्ते विश्वमूर्तयः ॥

इति च ॥

न चैतदागमेनैव सिद्धं यावद्युक्तितोऽपि इत्याह

तथा तथा परामर्शशक्तिचक्रेश्वरः प्रभुः ॥ ६-२२८ ॥

स्थूलैकाशीतिपदजपरामर्शैर्विभाव्यते ।

शक्तिमतः खलु शक्तिरनन्या इत्याद्युक्तयुक्त्या वस्तुतः
सर्वशक्त्यविभिन्नस्वभावोऽपि प्रभुः परमेश्वरः
शिवस्तत्तद्वर्णारब्धत्वात् स्थूलानि यान्येकाशीतिपदानि तज्जा ये
प्रणवाद्याः परामर्शास्तैस्तथा तथा सर्वात्मानन्तादितया
परामर्शो यस्यैवंविधो यद्धृदादिशक्तिचक्रं तस्य रिश्वरः
संयोजनवियोजनकारी विभाव्यते एवं यस्य ज्ञप्तिः क्रियते इत्यर्थः
। अत एव चात्र सर्वात्मादीनां यावता परामर्शः सिद्ध्येत् तावत्येव
पदत्वं, येनैकाशीतित्वं स्यात् ॥ २२८ ॥

तदाह

तत एव परामर्शो यावत्येकः समाप्यते ॥ ६-२२९ ॥

तावत्तत्पदमुक्तं नो सुप्तिङ्नियमयन्त्रितम्।

नो सुप्तिङ्नियमः, तथात्वे हि ङमः शिवायेति पदं षडर्णं
प्रणवादिकम्। इत्याद्युक्त्यैकत्वेऽप्यस्य पदस्य त्रिपदत्वमापतेदिति
गणना विसंवदेत्॥२२९॥

ननु यद्येवं तदेकाशीत्यर्धमात्रात्मिकेयमेव भगवती परा
शक्तिरवस्थितेति किमनेनैतत्समव्याप्तिकेन व्योमव्यापिनोपदिष्टेन ?
इत्याशङ्क्याह

एकाशीतिपदोदारविमर्शक्रमबृंहितः॥ ६-२३० ॥

स्थूलोपायः परोपायस्त्वेष मात्राकृतो लयः।

लयः इति स्वात्ममात्रविश्रान्तिः। स्थूलोपायः
इत्यनेनोपदेश्यभेदादुपदेशस्यापि भेदः इति प्रकाशितम्॥ २३० ॥

एवमेतत्प्रसङ्गादभिधाय प्रकृतमेवानुसरति

अर्धमात्रा नव नव स्युश्चतुर्षु चतुर्षु यत्॥ ६-२३१ ॥

अंगुलेष्विति षट्त्रिंशत्येकाशीतिपदोदयः।

प्रत्यंगुलचतुष्टयं नवार्धमात्राः इत्यंगुलषट्त्रिंशदात्मनि प्राणचारेऽर्धमात्राणामेकाशीतिरुदियात्॥ २३१॥

आसां चोदये विभागान्तरमस्ति इत्याह

अङ्गुले नवभागेन विभक्ते नवमांशकाः॥ ६-२३२॥

वेदा मात्रार्धमन्यत्तु द्विचतुःषड्गुणं त्रयम्।

एकैकस्मिन्नंगुले नवधा विभाजिते षट्त्रिंशतोंगुलानां सचतुर्विंशतिशतत्रयं मानं भवेत्। भागानां तत्रैकैकस्यार्धमात्रात्मनो व्यञ्जनस्य चत्वारो नव भागा उदयस्थानमित्युक्तं ङवमांशका वेदाः मात्रार्धम् इति। अन्यत्पुनर्ह्रस्वदीर्घप्लुतलक्षणं त्रयं द्विचतुःषड्गुणं, ह्रस्वस्यैकमात्रत्वादष्टौ नव भागा उदयस्थानं, दीर्घस्य द्विमात्रत्वात्षोडश, प्लुतस्य त्रिमात्रत्वाच्चतुर्विंशतिः॥

एतदेव सङ्कलयति

एवमङ्गुलरन्ध्रंशाचतुष्कद्वयगं लघु ॥ २३३ ॥

दीर्घं प्लुतं क्रमाद् द्वित्रिगुणमर्धं ततोऽपि हल्।

रन्ध्रंशानां नवभागानां चतुष्कद्वयम् अष्टौ नवभागा
इत्यर्थः। लघ्विति, ह्रस्वं ततो लघोरपीत्यर्थः। तेन पञ्चानां
ह्रस्वानां प्रत्येकमष्टसु भागेषूदयाच्चत्वारिंशन्नव नव भागा
भवन्ति, दीर्घाणामष्टानां प्रत्येकं षोडशभागकलनया
साष्टाविंशतिशतम् इति। प्लुतस्य चतुर्विंशतिस्त्रयस्त्रिंशतां
हलां प्रत्येकं भागचतुष्टयकलनया द्वात्रिंशदधिकं शतमिति।
यद्यप्येकाशीतेरर्धमात्राणां प्रत्येकमङ्गुलीयाश्चत्वारो नव भागा
उदयस्थानमित्येव स्पष्टमभिधातव्यं, तथाप्येवमभिधानेऽयमाशयो
यदादौ ह्रस्वानामुदयस्तदनन्तरं दीर्घाणां प्लुतस्य व्यञ्जनानां
च, इति क्रमः प्रदर्शितो भवेदिति ॥ २३३ ॥

नन्वेतन्मध्ये क्षकारश्चेद् गण्यते तदा कियत्योऽर्धमात्रा
अधिकीभवन्ति, तथात्वे वासां कथमुदयः? इत्याशङ्क्याह

क्षकारस्त्र्यर्धमात्रात्मा मात्रिकः स तथान्तरा ॥ ६-३४ ॥

विश्रान्तावर्धमात्रास्य तस्मिंस्तु कलिते सति ।

अङ्गुलार्धेऽद्रिभागेन त्वर्धमात्रा पुरा पुनः ॥ ६-२३५ ॥

क्षकारः सर्वसंयोगग्रहणात्मा तु सर्वगः ।

सर्ववर्णोदयाद्यन्तसन्धिषूदयभाग्विभुः ॥ ६-२३६ ॥

कथमस्य त्र्यर्धमात्रात्मकत्वमित्याशङ्क्योक्तं मात्रिकः इत्यादि । ककारसकारात्मकार्धमात्राद्वयारब्धत्वात् । अन्तरा विश्रान्ताविति, ककारान्तरमर्धमात्रीयं कालं विश्रम्य सकारस्योच्चारात् । कलिते इत्येकाशीत्या, तेनार्धमात्राणां चतुरशीतिरिति । अद्रि इति सप्त । अङ्गुलार्धे हि सप्तधा विभक्ते प्रत्यङ्गुलं चतुर्दश भागाः इति षट्त्रिंशतोऽङ्गुलानां सचतुष्टयं शतपञ्चकं भागानां भवेत् । तेनार्धाङ्गुलीयेषु षट्सु सप्तभागेष्वर्धमात्रेति षट्त्रिंशदङ्गुलात्मनि प्राणचारे चतुरशीतेरर्धमात्राणामुदय इति । नन्वेवमेकाशीतिकलोदयपक्षे क्षकारस्य नास्त्येवोदयः-इत्युक्तं स्यादित्याशङ्क्याह पुरेत्यादि । सर्वसंयोगग्रहणात्मेति,

संयोगान्तलक्षणपरत्वात्। यदुक्तं प्राक्

योनिरूपेण तस्यापि योगे क्षोभान्तरं विदुः।

तन्निदर्शनयोगेन पञ्चाशत्तमवर्णता॥ (तं। ३।१८९)

इति। अनुत्तरविसर्गानुप्राणितयोः ककारसकारयोः
प्रत्याहारतयोपादाने निखिलस्य वर्णजातस्य गर्भीकारात्। अत एवायं
सर्ववर्णानामादावन्ते परस्परं संमेलनात्मनि शंधौ
चोदयभाक्सर्ववर्णानुस्यूततयोदियात्, यतोऽयं विभुः व्यापक
इत्यर्थः॥ २३६॥

नन्वेवं वर्णोदयेनाभिहितेन कोऽर्थः? इत्याशङ्क्याह

इत्थं षट्त्रिंशके चारे वर्णानामुदयः फले।

क्रूरे सौम्ये विलोमेन हादि यावदपश्चिमम्॥ ६-२३७॥

वर्णानाम् इत्यकारादीनां, उदय इत्यर्थाद्धृदयाद्द्वादशान्तम्।
क्रूरे इति मुक्तिलक्षणे, शौम्ये इति तत्तत्सिद्धयात्मनि भोगलक्षणे।
विलोमेन इत्यर्थादपानोदये। विलोममेवाह हादि यावदपश्चिमम् इति

। तदुक्तम्

अधः प्रवहणे सिद्धिर्हृत्पद्मं यावदागतः।

मुक्तिश्चैव भवेदूर्ध्वे परतत्त्वे तु सुव्रते॥ (स्वछं। ७।५६)

इति। वस्तुतस्त्वकारस्य हृद्युदयस्थानं, हकारस्य तु द्वादशान्त इति
॥ २३७॥

एवमेतदुपजीवनेनैव सूक्ष्मपरमपि वर्णानामुदयमाह

हृद्यकारो द्वादशान्ते हकारस्तदिदं विदुः।

अहमात्मकमद्वैतं यः प्रकाशात्मविश्रमः॥ ६-२३८॥

अद्वैतमिति, प्रत्याहारक्रमेणाशेषवर्णान्तःकारात्। प्रकाशेति,
यदुक्तम्

प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तितः। (अ।प्रषि। २२)

इति॥ २३८॥

एतच्चापानोदयेऽप्येतिदेष्टुमाह

शिवशक्त्यविभागेन मात्रैकाशीतिका त्वियम्।

द्वासप्ततावङ्गुलेषु द्विगुणत्वेन संसरेत्॥ ६-२३९॥

शिवशक्त्योरविभाग इति,
बिन्दुनादात्मप्राणापानोभयमेलनायामित्यर्थः।
एकाशीतिरित्युपलक्षणं, तेन चतुरशीतिरपि। द्विगुणत्वेनेति,
षट्त्रिंशतोंगुलानाम्॥ २३९॥

एतदुपसंहरन्नन्यदवतारयति

उक्तः सूक्ष्मोदयस्त्रेधं द्विधोक्तस्तु परोदयः।

अथ स्थूलोदयोऽर्णानां भण्यते गुरुणोदितः॥ ६-२४०॥

अथ इत्यानन्तर्ये। गुरुणोदित इति सर्वशेषः॥

तत्र वर्गक्रमेण तावद्वर्णानां स्थूलमुदयमाह

एकैकमर्धप्रहरं दिने वर्गाष्टकोदयः।

रात्रौ च ह्रासवृद्ध्यत्र केचिदाहुर्न केऽपि तु॥ ६-२४१॥

ह्रासवृद्धीति, बाह्यमहोरात्रमपेक्ष्यानपेक्ष्य वा॥ २४१॥

तत्र बाह्याहोरात्रानपेक्षिमते साम्येनैवैषामुदयः इत्याह

एष वर्गोदयो रात्रौ दिवा चाप्यर्धयामगः।

अर्धयामग इति, प्रतिवर्गं सार्धचतुरङ्गुलमुदय इत्यर्थः॥

एवं बाह्याहोरात्रानपेक्षिमतमभिधाय तदितरेषोमपि दर्शयति

प्राणत्रयोदशशती पञ्चाशदधिका च सा॥ ६-२४२॥

अध्यर्धा किल संक्रान्तिर्वर्गे वर्गे दिवानिशोः।

सेति प्राणचारीया सार्धत्रयोदशशती। अध्यर्धा इति सार्धा,

प्रतिसंक्रान्ति नवानां प्राणचारशतानामभिधानात्। तेन दिने द्वादशानां संक्रान्तीनामुदयः, इति साष्टशतं सहस्रदशकं प्राणचाराणां भवेत्। रात्रावप्येवं सषट्शतसहस्रैक विंशतिः ॥ २४२ ॥

अहोरात्रमेलनायां पुनः प्रतिसंक्रान्तित्रयमेकैकस्य वर्गस्योदयः इत्याह

तदैक्ये तूदयश्चारशतानां सप्तविंशतिः ॥ ६-२४३ ॥

एवं प्रागुक्तसंक्रान्तिद्वयवद् बाह्याहोरात्रह्रासवृद्ध्यनुसारं वर्गाष्टकोदयस्यापि ह्रासवृद्धी भवतः इति सिद्धम्, अन्यथा प्रतिवर्गोदयं प्राणचाराणां नैयत्यं न स्यात्॥ २४३ ॥

ननु क्षकारेण सह नव वर्गाः इति येषां मतं तत्रैषामुदये प्राणचाराणां कीदृग्विभागः ? इत्याशङ्क्याह नव वर्गांस्तु ये प्राहुस्तेषां प्राणशती रवीन् (विः) ॥

सत्रिभागैव संक्रान्तिर्वर्गे प्रत्येकमुच्यते ॥ ६-२४४ ॥

अहर्निशं तदैक्ये तु शतानां श्रुतिचक्षुषी।

रवीनिति द्वादश। सत्रिभागेति प्राणशतत्रयस्याधिक्येनोपदानात्
। तेन प्रतिवर्गं प्राणचाराणां शतद्वादशकम् इति वर्गनवके
साष्टशतं सहस्रदशकं भवेत् तदैक्ये इत्यहर्निशमेलने।
श्रुतिचक्षुषी इति चतुर्विंशतिः॥

एवं वर्णानां वर्गक्रमेण स्थूलमुदयमभिधाय क्रमान्तरेणाप्याह

स्थूलो वर्गोदयः सोऽयमथार्णोदय उच्यते॥ ६-२४५॥

तदाह

एकैकवर्णे प्राणानां द्विशतं षोडशाधिकम्।

बहिश्चषकषट्त्रिंशद्दिन इत्थं तथा निशि॥ ६-२४६॥

चषकषट्त्रिंशदिति, प्रतिचषकं षण्णां प्राणचाराणामुदयात्।
तेन पञ्चाशतो वर्णानां साष्टशतं सहस्रदशकं
प्राणचाराणां स्यात्॥ २४६॥

अत्र चोदये विशेषं दर्शयति

शतमष्टोत्तरं तत्र रौद्रं शाक्तमथोत्तरम्।

यामलस्थितियोगे तु रुद्रशक्त्यविभागिता ॥ ६-२४७ ॥

यामलस्थितियोगे इत्युभयसंमेलनायाम्॥ २४७ ॥

एतदेव चाहोरात्रसंमेलनायां द्विगुणी भवेत् इत्याह

दिनरात्र्यविभागे तु दृग्वह्न्यब्ध्यसुचारणाः।

सपञ्चमांशा नाडी च बहिर्वर्णोदयः स्मृतः॥ ६-२४८ ॥

दृग्वह्न्यब्धिरिति, द्वात्रिंशदधिकं शतचतुष्टयम् असुचारणाः इति प्राणसञ्चारणाः। सपञ्चमांशा नाडीति, चषकषट्त्रिंशतो द्वैगुण्यात्॥ २४८ ॥

एतदुपसंहरन्नन्यदतारयति

इति पञ्चाशिका सेयं वर्णानां परिचर्चिता ।

एकोनां ये तु तामाहुस्तन्मतं संप्रचक्ष्महे ॥ ६-२४९ ॥

तदाह

वेदाश्चाराः पञ्चमांशन्यूनं चारार्धमेकशः ।

वर्णेऽधिकं तद्द्विगुणमविभागे दिवानिशोः ॥ ६-२५० ॥

वेदाश्चत्वारः । पञ्चमांशेनार्थात्किंचिदंशेन ङ्यूनं रहितम्
। अधिकमिति, षोडशाधिकशतद्वयस्योपरीत्यर्थः । तेनैकोनपञ्चाशतो
वर्णानां प्रत्येकं षोडशाधिकशतद्वयात्मकत्वात्
चतुरशीतिशतपञ्चकाधिकं सहस्त्रदशकं प्राणचारा भवन्ति,
अधिकैश्च प्रत्येकं चतुर्भिः सषण्णवतिशतम् । अनेन च चाराणां
सार्धचतुर्विंशतेः किंचिदंशन्यूनं पञ्चभागं विंशति (?)
साष्टशतं सहस्त्रदशकम् ॥ २५० ॥

एतदेवोपसंहरति

स्थूलो वर्णोदयः सोऽयं पुरा सूक्ष्मो निगद्यते।

सूक्ष्म इत्यर्थात्परोऽपि पुरा निगदित इत्यर्थः॥ ६-२५१॥

इदानीमाह्निकार्थमार्यायाः प्रथमार्धेनोपसंहरति

इति कालतत्त्वमुदितं शास्त्रमुखागमनिजानुभवसिद्धम्।

इति श्रामदाचार्याभिनवगुप्तपादविरचिते श्रीतन्त्रालोके
कालतत्त्वप्रकाशनं नाम षष्ठमाह्निकम्॥ ६॥

मुखागमेति

शैवी मुखमिहोच्यते (वि।भै। २० श्लोक)

इत्यादिन्यायेन परतत्त्वप्रवेशोपायत्वाद् गुरुस्तस्य आगमो
वचनमित्यर्थः। सिद्धमिति

यतः शास्त्रक्रमात्तज्ज्ञगुरुप्रज्ञानुशीलनात्।

आत्मप्रत्ययितं ज्ञानं पूर्णत्वाद्भैरवायते ॥ (तं । ४ ।७७)

इत्याद्युक्तयुक्त्या पारिपूर्ण्येन लब्धसिद्धीति शिवम् ॥

प्राणापानसमाश्रयचारप्रविचारचातुरीनिष्ठः ।

षष्ठाह्निके वरिष्ठां विवृत्तिमिमां जयरथश्चक्रे ॥

इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते
श्रीतन्त्रालोके श्रीजयरथविरचितविवेकाभिख्यव्याख्योपेते
कालतत्वप्रकाशनं नाम षष्ठमाह्निकं समाप्तम् ॥ ६ ॥

सप्तममाह्निकम्

विवेक

तत्तन्मन्त्राभ्युदयप्रगुणीकृतचण्डभैरवावेशः ।

विद्रावितभवमुद्रो द्रढयतु भद्राणि जयरुद्रः ॥

इदानीं कालतत्त्वानुषक्तमेव द्वितीयार्धेन चक्रोदयं वक्तुमुपक्रमते

अथ परमरहस्योऽयं चक्राणां भण्यतेऽभ्युदयः ॥ ७-१ ॥

चक्राणामिति मन्त्राद्यात्मनाम् ॥ १ ॥

ननु सर्वमन्त्रसामान्यभूताया भगवत्या मातृकायाः
समनन्तरमेवोदय उक्तः, तत्तद्विशेषरूपाणां मन्त्राद्यात्मनां
चक्राणामप्युदयाभिधाने किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह

इत्ययत्नजमाख्यात यत्नजं तु निगद्यते ।

नन्वेतन्निगदनेन कोऽर्थः इत्याशङ्क्याह

बीजपिण्डात्मकं सर्वं संविदः स्पन्दनात्मताम् ॥ ७-२ ॥

विदधत्परसंवित्तावुपाय इति वर्णितम् ।

सर्वमिदं बीजपिण्डात्मकं मन्त्रजातम् अर्थात्प्राणान्तरुदयत्
संविदः स्पन्दनात्मतां शाक्तस्वरूपावेशं विदधत्
परसंवित्तावुपायः पारम्पर्येण शाम्भवमपि रूपमाविशेत्

इत्याणवोपाये वर्णतत्त्वान्तर्वर्णितं तन्नास्यानर्थक्यमित्यर्थः॥ २
॥

नन्विह मन्त्राणां प्राणान्तरेवमुदयः, इत्यभिधातु प्रक्रान्तं, स
च यत्नजः, इति तत्र यत्ने क्रियमाणे तदेव सिद्धयेत् नान्यदिति
कथमत्रैव परसंविदुपायत्वमप्येषां स्यात्? इत्याशङ्क्याह

यथारघट्टचक्राग्रघटीयन्त्रौघवाहनम्॥ ७-३॥

एकानुसंधियत्नेन चित्रं यन्त्रोदयं भजेत्।

एकानुसंधानबलाज्जाते मन्त्रोदयेऽनिशम्॥ ७-४॥

तन्मन्त्रदेवता यत्नात्तादात्म्येन प्रसीदति।

इहारघट्टवाहकस्य यन्त्रमात्रवाहनक्रियाविषयत्वात्
एकेनैवानुसंधानेन अरघट्टचक्राग्रगतघटीसंबन्धिनो
यन्त्रस्यौघेन नैरन्तर्येण वाहनं यथा चित्रं यन्त्रोदयं भजेत
ऊर्ध्वाधोमुखरिक्तपूर्णघटीचक्रात्मना वैचित्र्येण निष्पत्तिमियात्
तथा साधकस्यानिशं मन्त्रोदयविषयेणैकेनैवानुसंधानेन न

केवलमेतदुदय एव सिध्येत् यावत्तन्नान्तरीयकतया प्रयत्नान्तरमन्तरेण एतन्मन्त्रदेवतापि तादात्म्येन प्रसीदतीति। इदमत्र तात्पर्यम् यथा हि यन्त्रं वाहयन् अरघट्टवाहकस्तत्र वैचित्र्यान्तरमपि प्रयत्नान्तरनिरपेक्षमासादयेत्, एवं साधकोऽपि मन्त्रोदय एव प्रयतमानः परसंविदैकात्म्यमिति। एवं चक्रोदयः परसंविदासादने निमित्तमित्यावश्याभिधेयः, इत्युक्तं स्यात्॥ ४॥

तदाह

खे रसैकाक्षि नित्योत्थे तदर्धं द्विकपिण्डके॥ ७-५॥

त्रिके सप्त सहस्राणि द्विशतीत्युदयो मतः।

चतुष्के तु सहस्राणि पञ्च चैव चतुःशती॥ ७-६॥

पञ्चार्णेऽब्धिसहस्राणि त्रिशती विंशतिस्तथा।

षट्के सहस्रत्रितयं षट्शती चोदयो भवेत्॥ ७-७॥

सप्तके त्रिसहस्रं तु षडशीत्यधिकं स्मृतम्।

शतैस्तु सप्तविंशत्या वर्णाष्टकविकल्पिते ॥ ७-८ ॥

चतुर्विंशतिशत्या तु नवार्णेषूदयो भवेत्।

अधिषष्ठ्येकविंशत्या शतानां दशवर्णके ॥ ७-९ ॥

एकान्नविंशतिशतं चतुःषष्ठिः शिवार्णके।

अष्टादश शतानि स्युरुदयो द्वादशार्णके ॥ ७-१० ॥

त्रयोदशार्णे द्वाषष्ठ्या शतानि किल षोडश।

त्रिचत्वारिंशता पञ्चदशेति भुवनार्णके ॥ ७-११ ॥

चतुर्दशशती खाब्धिः स्यात्पञ्चदशवर्णके।

त्रयोदशशती सार्धा षोडशार्णे तु कथ्यते ॥ ७-१२ ॥

शतद्वादशिका सप्तदशार्णे सैकसप्ततिः।

अष्टादशार्णे विज्ञेया शतद्वादशिका बुधैः ॥ ७-१३ ॥

चतुर्विंशतिसंख्याके चक्रे नवशती भवेत्।

सप्तविंशतिसंख्याते तूदयोऽष्टशतात्मकः ॥ ७-१४ ॥

द्वात्रिंशके महाचक्रे षट्शती पञ्चसप्ततिः।

द्विचतुर्विंशके चक्रे सार्धां शतचतुष्टयीम्॥ ७-१५ ॥

उदयं पिण्डयोगज्ञः पिण्डमन्त्रेषु लक्षयेत्।

चतुष्पञ्चाशके चक्रे शतानां तु चतुष्टयम्॥ ७-१६ ॥

सप्तत्रिंशत्सहार्धेन त्रिशत्यष्टाष्टके भवेत्।

अर्धमर्धत्रिभागश्च षट्षष्टिर्द्विशती भवेत्॥ ७-१७ ॥

एकाशीतिपदे चक्रे उदयः प्राणचारगः।

चक्रे तु षण्णवत्याख्ये सपादा द्विशती भवेत्॥ ७-१८ ॥

अष्टोत्तरशते चक्रे द्विशतस्तूदयो भवेत्।

खे इति द्वे शून्ये, रसाः षट्, अक्षीति द्वयं, नित्योत्थ इति स्वरसत एव हि सततं प्रवहतः प्राणस्य सषट्शतसहस्रैकविंशत्या (तिः) चाराणां भवेदिति भावः। एवमेकपिण्डात्मनो मन्त्रस्य प्रतिप्राणचारं तदानुगुण्यात् तत्संख्याक एवोदयः तेन प्रतिप्राणचारमेकैकस्य पिण्डस्य वर्णस्य वोदयात् द्व्यादिपिण्डवर्णात्मनां मन्त्राणां नित्योदितप्राणाचारार्धत्रिभागक्रमेण न्यूनसंख्याक उदयः, इत्याह तदर्धं द्विकपिण्डके इति। तस्याः सषट्शतायाः सहस्रैकविंशतेरर्धं साष्टशतं सहस्रदशकम्। अत्र हि स्वारसिकप्राणचारद्वयकालस्यैकप्राणचारतयोदयस्य चिकीर्षितत्वं जपः प्राणसमः कार्यः इति हि सर्वत्राविशेषेणोद्घोष्यते, अत एवेह यत्नजत्वमुक्तम्। सप्त सहस्राणि द्विशतीति, स्वारसिकप्राणचारत्रयकालस्यैकप्राणचारतयोदयस्य कर्तुमभिप्रेतत्वात्। एवमुत्तरत्रापि अवसेयम्। अब्धीति चत्वारः। षडशीत्यधिकमिति भूम्ना, एवं हि चारद्वयमधिकं भवेत्, तेनात्र

प्रतिचारं किंचिदंशन्यूनता कार्या येन गणनासाम्यं स्यात्। न
चैतदस्माभिः स्वोत्प्रेक्षितमुक्तमिति साक्षादागम एव पठितः।
अस्माभिरप्यत्र गणना विभज्य न दर्शिता
ग्रन्थविस्तरभयादनुपयोगाच्च। अधिकषष्टिरेकविंशतिशती तया
दशवर्णग इत्युदयः। शिवाः रुद्रा एकादश, चतुःषष्टिरिति
भूम्ना, एवं हि चारचतुष्टयमधिकं भवेत्। द्वाषष्ट्येति भूम्ना,
षण्णां प्राणचाराणामतिरेकात्। त्रिचत्वारिंशतेति भूम्ना,
चारद्वयाधिक्यात्। पञ्चदशेति शतानि। भुवनेति चतुर्दश।
खाब्धिरिति चत्वारिंशत्। सैकसप्ततिरिति भूम्ना चारसप्तकातिरेकात्।
न चात्र संख्यायाः कश्चित्क्रमो विवक्षितः, इत्येकोनविंशादीनां
चक्राणामन्तरानुपदेशे न कश्चिद्दोषो, यावता हि अत्र
प्रतिप्राणचारमेकैकस्य चक्रस्योदये यत्नः कार्यः, इत्यभिधित्सितं
तच्चैवमपि सिद्ध्येदिति। द्विचतुर्विंशके इत्यष्टाचत्वारिंशदात्मक
इत्यर्थः। अष्टाष्टके इति चतुःषष्ट्यात्मके। सहार्धेनेति
येनावशिष्टा द्वात्रिंशत्प्राणचारा भवन्ति। अर्धमिति अर्धत्रिभाग
इति, येन सार्धाश्चत्वारिंशत्प्राणचारा भवेयुः सार्धास्त्रयोदश
चेत्युभयथा चतुःपञ्चाशदिति गणनासाम्यं स्यात्। तदुक्तं
श्रीयोगिनीकौले

ङित्योदिते सहस्राणि एकविंशच्छतानि षट्।

द्विके दश सहस्राणि तथाष्टौ च शतानि तु ॥

त्रिके सप्त सहस्राणि द्विशतीत्युदयः स्मृतः ।

चतुष्के तु सहस्राणि पञ्च तुर्यशतानि तु ॥

पञ्चाक्षरे सहस्राणि चत्वारि त्रिशतोदयः ।

विंशाधिकः समाख्यातो ज्ञेयश्चोदयवाहिभिः ॥

षट्के तु त्रिसहस्राख्यः षट् शतान्तोदयः स्मृतः ।

सप्तके त्रिसहस्रं तु षडशीत्यधिकं स्मृतम् ॥

इत्यादि ।

अष्टोत्तरशते चक्रे मन्त्रपिण्डाक्षरात्मके ।

द्विशतात्मा पुनः प्रोक्त उदयः सर्वसिद्धिदः ॥

इत्यन्तम् ॥ ५-१८ ॥

न चैतावतैव विरन्तव्यमित्याह

क्रमेणेत्थमिदं चक्रं षट्कृत्वो द्विगुणं यदा ॥ ७-१९ ॥

ततोऽपि द्विगुणेऽष्टांशस्यार्धमध्यर्धमेककम् ।

ततोऽपि सूक्ष्मकुशलैरर्धार्धादिप्रकल्पने ॥ ७-२० ॥

भागषोडशकस्थित्या सूक्ष्मश्चारोऽभिलक्ष्यते ।

इत्थं वक्ष्यमाणेन प्रकारेणेदमष्टोत्तरशतात्मकं चक्रं
क्रमेण षट्कृत्वो द्विगुणं प्रथमं षोडशाधिकशतद्वयात्मकं
यावदन्ते सद्वादशशतनवकाधिकषट्सहस्रात्मकं यदा भवेत् तदा
तस्मिन्नपि द्विगुणे सचतुर्विंशतिशताष्टकाधिकसहस्रत्रयोदशात्मके
चक्रेऽध्यर्धमत्रेति कृत्वा सार्धमेककं प्राणस्य
चरणमष्टांशस्यार्धं षोडशो भागश्चोदयो भवेदित्यर्थः ।
तदनन्तरमपि भागषोडशकस्थित्यार्धार्धादिकल्पने कृते सति

शूक्ष्मकुशलैः परधाराधिरूढैर्योगिभिः शूक्ष्मोअतिपरिमितः प्राणीयश्चारांशोभिलक्ष्यते ज्ञायते इत्यर्थः। इदमत्र तात्पर्यम् एवंकलनायां हि प्राणचारीयः षोडशो भागः सषट्शतपञ्चचत्वारिंशत्सहस्राधिकलक्षत्रयात्मनश्चक्रस्योदयः स्यात तस्याप्यर्धकल्पने सशतद्वयैकनवतिसहस्राधिकलक्षषट्कात्मनश्चक्रस्य द्वात्रिंशो भागः तस्याप्येवं कल्पने सचतुःशतद्व्यशीतिसहस्राधिकत्रयोदशलक्षात्मनश्चक्रस्य चतुःषष्टितमो भागः, इत्यन्तमेव परिमितः प्राणचारीयो भागो योगिनामभिलक्ष्यो भवतीति ॥१९-२० ॥

नन्वेवमभिलक्षणेन योगिनां किं स्यात्? इत्याशङ्क्याह

एवं प्रयत्नसंरुद्धप्राणचारस्य योगिनः ॥ ७-२१ ॥

क्रमेण प्राणचारस्य ग्रास एवोपजायते।

ग्रास इति विरुद्धतया पुनरनुदयात्॥

अतोऽप्यस्य किं स्यात्? इत्याशङ्क्याह

प्राणग्रासक्रमावाप्तकालसङ्कर्षणस्थितिः ॥ ७-२२ ॥

संविदेकैव पूर्णा स्याज्ज्ञानभेदव्यपोहनात् ।

ज्ञानभेदापोहनमेवोपपादयति

तथा हि प्राणचारस्य नवस्यानुदये सति ॥ ७-२३ ॥

न कालभेदजनितो ज्ञानभेदः प्रकल्पते ।

कालस्य हि साक्षात् प्राणोऽधिष्ठानमिति प्राणस्यानुदये कालोऽपि
नोदियात्, इति तस्याभावात् तज्जनितोऽपि ज्ञानस्य भेदो न भवेत्, इति
युक्तमुक्तम्, एकैव पूर्णा संवित्स्यात इति ॥ २३ ॥

ननु प्राणग्रासक्रमेण कालस्यापि ग्रासो वृत्तः, इति
तदाहितश्चेत्संविदि भेदो नास्ति तज्ज्ञेयाहितो भविष्यति येनेदं
नीलज्ञानमिदं पीतज्ञानमिति विभागः, इत्येतावतैव
कथमेकत्वमस्याः सिद्ध्येत् ? इत्याशङ्क्याह

संवेद्यभेदान्न ज्ञानं भिन्नं शिखरिवृत्तवत्॥ ७-२४॥

नहि एकान्ततः संवेद्यभेदः संविदं भिन्द्यात्। एवं हि
तत्तद्गृहाणां नामादिवेद्यभेदेऽपि कथमेकमेव नगरादिज्ञानं
स्यादित्युक्तं शिखरिवृत्तवत इति। उन्नतप्रदेशावस्थितस्य हि
पुंसस्तत्तदाभासमय एक एव प्रकाशो भवेदिति भावः। यदाहुः

तस्मात्सत्यपि बाह्येऽर्थे धीरेकानेकवेदनात्।

अनेकसदृशाकारा नानेकेव प्रसज्यते॥

इति। तस्मादस्य काल एव भेदकः, स चातिसूक्ष्मक्षणात्माभिमतो येन
ज्ञानस्योत्पादानन्तरं निरोधो भवेत्॥ २४॥

तदाह

कालस्तु भेदकस्तस्य स तु सूक्ष्मः क्षणो मतः।

तुशब्दो हेतौ। स इति कालः॥

ननु चास्य सौक्ष्म्ये कोऽवधिः ? इत्याशङ्क्याह

सौक्ष्म्यस्य चावधिर्ज्ञानं यावत्तिष्ठति स क्षणः ॥ ७-२५ ॥

तेन नियतोभयान्तपरिच्छिन्ना ज्ञानीयैव सत्तास्य सत्तेत्यर्थः ॥ २५ ॥

नन्वस्य परोपाधिकः कस्मादेवं निर्देशः ? इत्याशङ्क्याह

अन्यथा न स निर्वक्तुं निपुणैरपि पार्यते ।

अन्यथेति अभेद्यो निरंशः काललवक्षणः इत्यादिना
साक्षाल्लक्षणेनेत्यर्थः। एवं हि उत्पादानन्तरं निरोध
इत्येवमुच्यमाने तस्याद्यन्तौ कथितौ स्यातां तत्सद्भावे च
मध्यमप्यवश्यसंभाव्यम्
इत्यस्यादिमध्यावसानैस्त्र्यंशत्वमापतेदिति निरंशत्वेऽभिधित्सिते
सांशत्वमभिहितं स्यात्। यदाहुः

यथान्तोऽस्ति क्षणस्यैवमादिर्मध्यं च चिन्त्यताम्।

आत्मकत्वात्क्षणस्यैवं न लोकस्य क्षणे स्थितिः ॥

इति। इत्थम्

आदिमध्यावसानानि चिन्त्यानि क्षणवत्पुनः।

इत्याद्युक्तयुक्त्यादिमध्यान्तरूपाणां तदंशानामप्येवंविचारे क्रियमाणे स एव पर्यनुयोगः, इत्यनवस्थानात् न किंचित्सिद्ध्येत् इत्यतिनिपुणैरपि तस्य लक्षणं कर्तुं न शक्यं, कृतं वा न प्ररोहमियात्॥

ननु यद्येवं तज्ज्ञानस्यापि कोऽवधिर्येनैतन्निरूपितं भवेत्? इत्याशङ्क्याह

ज्ञानं कियद्भवेत्तावत्तदभावो न भासते॥ ७-२६॥

कियदिति, क्षणिकत्वेऽपि किंपरिमाणमित्यर्थः। तदभावः इति ज्ञानाभावः, तेन यावत्तदभावो न वृत्तस्तावदेकमेव तज्ज्ञानं भवेदिति भावः। अभावश्च प्रत्यक्षग्राह्यः कार्यश्चेति अन्यत्रोपपादितमिति तत एवावधार्यम्॥ २६॥

ननु यद्येवं तत्तदभावोऽपि कदा जायते येन ज्ञानस्याप्यवधिः ?
इत्याशङ्क्याह

तदभावश्च नो तावद्यावत्तत्राक्षवर्त्मनि ।

अर्थे वात्मप्रदेशे वा न संयोगविभागिता ॥ ७-२७ ॥

ज्ञानस्य च तावदभावो न जायते यावदिन्द्रियाणामर्थस्य प्रमातुर्वा
संयोगविभागौ न स्यातां, तदविरतेन्द्रियव्यापारस्य
प्रमातुर्नीलादिविषये ज्ञाने जायमाने यदा नीलादिना विभाग
उत्पद्यते, पीतादिना वा संयोगस्तदा तदभाव इति । ननु प्रदीपादिवत्
प्रतिक्षणं करणोपयोगात् ज्ञानस्य क्षणिकत्वे सर्वेषां
तावदविवादोऽन्यथा विततकरणव्यापारस्यापि प्रमातुर्नीलादिज्ञानं
न स्यात्, तत्किमेतदुक्तं यदिन्द्रियाणां यावन्न
संयोगविभागोदयस्तावदेकमेव ज्ञानमिति एवं हि धारावाहिनां
विज्ञानानामभावोऽभिहितो भवेत् । सत्यं, किन्तु भवदभिरुचितं
निरन्वयविनाशात्म क्षणिकत्वं ज्ञानस्य न स्यात् इत्यभिदध्मः ।
अनन्तरं हि त्रिचतुरादिक्षणावस्थायि ज्ञानं भवेदिति समनन्तरं
क्षणनिर्णयेनैवोपपादितम् । तस्मादेकरसेऽपि नीलादिविषये
विज्ञानेऽन्तरा चक्षुरादीन्द्रियविभागादिना तदभावादि स्थितमेव

किंतु न तथा सञ्चेत्यते तेन धारावाहिनां विज्ञानानामप्यभावो न स्यादिति न कश्चिद्विरोधः ॥ २७ ॥

ननु संयोगविभागितापि किं सकारणिका भवेत् न वा ?
इत्याशङ्क्याह

सा चेदुदयते स्पन्दमयी तत्प्राणगा ध्रुवम् ।

भवेदेव ततः प्राणस्पन्दाभावे न सा भवेत् ॥ ७-२८ ॥

स्पन्दमयीति, स्पन्दः प्रकृतिर्मूलकारणं यस्याः सा स्पन्दाधीनैव इत्यर्थः। देशाद्देशान्तरं हि चलद्वस्तु वस्त्वन्तरेण संयुज्यते वियुज्यते वेत्यभिप्रायः। स्पन्दश्च प्राणाश्रयः, इति पारम्पर्येण संयोगविभागितापि प्राणगतैव निश्चितं भवेत्, इति प्राणस्पन्दाभावे सा न भवेत निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याप्यभावः इतिनीत्या तद्भावोऽपि कुतस्त्य इत्यर्थः ॥ २८ ॥

ननु भवतु नाम संयोगविभागिता मा वा भूत् किमनया नश्चिन्तया, यावता ह्यत्र प्राणग्रासक्रमेण कालग्रासे वृत्ते एकैव पूर्णा संवित्स्यादित्युपक्रान्तं तदेव कथं निर्वहेत् इत्युच्यताम् ?

इत्याशङ्क्याह

तदभावान्न विज्ञानाभावः सैवं तु सैव धीः।

तस्याः संयोगविभागिताया अभावाद्विज्ञानस्याप्यभावो न स्यात्, यद्धि यदन्वयव्यतिरेकानुविधायि तत्तत्कार्यं भवेदिति भावः। एवं हि सति सा प्राच्या या धीः संवित्सैवेयं नतु संविदन्तरमेकैव पूर्णा संवित्स्यादित्यर्थः॥

नन्वेवमेकस्या एव संविदः किं पूर्वापरैकीकाराद्वैतत्येनावभासो भवेत्? इत्याशङ्क्याह

न चासौ वस्तुतो दीर्घा कालभेदव्यपोहनात्॥ ७-२९॥

असाविति धीः, दीर्घेत्यर्थान्न सूक्ष्मापि, दैर्घ्यादि हि कालाधीनं, न चास्यास्तत्स्पर्श एवास्ति अकालकलितत्वात्॥ २९॥

तदाह

वस्तुतो ह्यत एवेयं कालं संविन्न संस्पृशेत्।

एवं वस्तुतो नित्यत्वमप्यस्या न संभवेत्, तद्धि

कालत्रयानुगामित्वमुच्यते नतु सदाभासमानत्वम्, एवं हि त्रिषु कालेषु

भासमानत्वमुक्तं स्यात्। यदाहुः

ङ सदा न तदा न चैकदेत्यपि सा यत्र न कालधीर्भवेत्।

तदिदं भवदीयदर्शनं न च नित्यं न च कथ्यतेऽन्यथा॥

(उ। स्तो। १२।५)

ननु यद्येवमकालकलिता वस्तुत एकैव संविदस्ति तत्कथमयं

बहिर्भेदनिष्ठो व्यवहारः सिद्ध्येत्? इत्याशङ्क्याह

अत एकैव संवित्तिर्नानारूपे तथा तथा॥ ७-३० ॥

विन्दाना निर्विकल्पापि विकल्पो भावगोचरे।

अतः कालसंस्पर्शाभावात् एकैव निर्विकल्पापि

संवित्तिर्नानारूपेऽनेकाभाससंमूर्छनात्मनि भावविषये तथा

तथा नीलानीलादिरूपतया विन्दाना विमृशन्ती विकल्प इत्युच्यते, इति न

बाह्यस्यापि व्यवहारस्य विप्रलोपः॥ ३० ॥

ननु तथा तथा विमर्शोऽप्यस्याः कथमेकत्वमेव ? इत्याशंक्याह

स्पन्दान्तरं न यावत्तदुदितं तावदेव सः ॥ ७-३१ ॥

तावानेको विकल्पः स्याद्विविधं वस्तु कल्पयन् ।

तत्तस्मात्पूर्वोक्तात्तत्तदर्थादिसंयोगविभागोत्पादलक्षणात्
हेतोर्यावद्विकल्प्यवस्त्वन्तरविषयं स्पन्दान्तरं नोदितं
तावन्नानाप्रकारं वस्तु कल्पयन्नपि तावान्दीर्घदीर्घ एक एव
विकल्पः स्यात् न पुनरनेक इत्यर्थः ।
यत्तदनेकाभाससंमूर्छनात्मतया विकल्प्यमानेऽपि नीलादौ
विकल्पस्यैक्यमेव तावत् एकस्यैवानुसंधानस्य भावात् अन्यथा पुनरस्य
स्वरूपलाभ एव न भवेदिति भावः ॥ ३१ ॥

तदाह

ये त्वित्थं च विदुस्तेषां विकल्पो नोपपद्यते ॥ ७-३२ ॥

स ह्येको न भवेत्कश्चित् त्रिजगत्यपि जातुचित् ।

ये इति बौद्धाः। इत्थमिति स्पन्दान्तरोदय एव विकल्पान्तराणामुदयो नत्वेकस्मिन्नेव स्पन्दे इत्यर्थः। एक इति, येन स्मृत्यपलापाद्यनेकाश्रयनिबन्धनो बाह्यो व्यवहारः सिद्ध्येत्। एतदेव दर्शयति   शब्दारूषणया ज्ञानं विकल्पः किल कथ्यते ॥ ३३ ॥

सा च स्यात्क्रमिकैवेत्थं किं कथं को विकल्पयेत्।

घट इत्यपि नेयान्स्याद्विकल्पः का कथा स्थितौ ॥ ७-३४ ॥

न विकल्पश्च कोऽप्यस्ति यो मात्रामात्रनिष्ठितः।

कथ्यते इति भवद्भिः। यदुक्तं अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासा प्रतीतिः कल्पना इति। सेति शब्दारूषणा, क्रमिकेति वाचः क्रमभावित्वात् इत्थं क्रमिकत्वाद्विकल्पस्योदितानां तत्क्षणानां प्रध्वस्तत्वान्नवानां चानुदयात् को न कश्चित्कल्पितोऽपि विकल्पात्मा प्रमाता किमुत्पन्न प्रध्वस्तप्रकल्प्यं पूर्वापरानुसंधानादेरभावाच्च कथं विकल्पयेत् विकल्पस्य स्वरूपलाभ एव न भवेदित्यर्थः। अत एव घकारोच्चारकाले टकारस्याभावात्तदुच्चारकाले च तस्य प्रध्वस्तत्वात् यत्र घट

इत्येतावन्मात्रोऽपि विकल्पो न सिध्येत्‌ तत्र व्यवहारादिचिन्ता दूर एवास्तां, तदवस्थानमात्रेऽपि का वार्तेत्यर्थः। नहि तन्मते कोऽप्येवंविधो विकल्पोऽस्ति यस्यांशमात्रेऽपि परिनिष्ठितत्वं, तथात्वे ह्येषां क्षणभङ्गव्रतविलोपो भवेदिति भावः॥ ३३-३४॥

नन्वेकमेव मालासूत्रवत्सर्वत्रानुयायि ज्ञानं किंचिन्नास्ति, इत्यस्माकं मतं नतु क्षणभङ्गुराण्यनेकानि ज्ञानानि न सन्तीति तत्तान्येव समुदितानि बाह्यव्यवहारनैपुण्यभाञ्जि भविष्यन्ति, इति को दोषः? इत्याशङ्क्याह

न च ज्ञानसमूहोऽस्ति तेषामयुगपत्स्थितेः॥ ७-३५॥

अयुगपत्स्थितेरिति, उत्पादानन्तरं तन्निरोधस्याभिधानात्‌॥ ३५॥

तस्माद्वैकल्पिकः सकल एवायं व्यवहारस्तन्मते न सिद्धयेत्‌, इत्याह

तेनास्तङ्गत एवैष व्यवहारो विकल्पजः।

तेनास्मत्पक्ष एव ज्यायानित्याह

तस्मात्स्पन्दान्तरं यावन्नोदियात्तावदेककम् ॥ ७-३६ ॥

विज्ञानं तद्विकल्पात्मधर्मकोटीरपि स्पृशेत् ।

तद्यावद्विकल्पान्तरनिष्ठं स्पन्दान्तरं नोदेति तावद्
गोत्वशुक्लत्वचलत्वाद्यात्मकं धर्मौघमपि विकल्पयेत्
एकमेवैतद्वैकल्पिकं ज्ञानं स्यात् येनैकानुसंध्यनुप्राणितः समग्र
एवायं व्यवहारः सिध्येत् ॥ ३६ ॥

न चैतदपूर्वतया स्वोपज्ञमेवोक्तमित्याह

एकाशीतिपदोदारशक्त्यामर्शात्मकस्ततः ॥ ७-३७ ॥

विकल्पः शिवतादायी पूर्वमेव निरूपितः ।

तत
उक्तानेकधर्मपरामर्शकत्वेऽप्येकत्वलक्षणाद्धेतोर्व्योमव्यापिरूपः
शुद्धविद्यात्मा विकल्पस्तत्तदनेकहृदादिशक्त्यामर्शकत्वेऽप्येकत्वात्
पार्यन्तिकफलरूपां शिवतामेव ददातीति पूर्वमेवास्माभिरुक्तम् ॥ ३७
॥

नन्वेवमेकस्मिन्नेव प्राणचारे एकपिण्डात्मकाच्चक्रादारभ्य सचतुःशतद्व्यशीतिसहस्राधिकत्रयोदशलक्षात्मकचक्राद्यन्तं यावच्चक्राणां स्वारसिक एवोदयो वर्तते, इति योगिनां प्रतिनियतचक्रविषयः कथमवगमो भवेत्? इत्याशङ्कां दृष्टान्तोपदर्शनेनोपशमयति यथा

कर्णौ नर्तयामीत्येवं यत्नात्तथा भवेत्॥ ७-३८ ॥

चक्रचारगताद्यत्नात्तद्वत्तच्चक्रगैव धीः।

कर्णौ नर्तयामीत्येवमिच्छापूर्वकात्प्राणीयाद्यत्नात् यद्वद्योगिनस्तथा भवेत्, गोस्फुरितादिन्यायेन कर्णद्वयमेव नृत्यत्स्यात् तद्वदेकपिण्डादिचक्रप्रधानो यः प्राणीयश्चारस्तद्गतादपि यत्नात्तच्चक्रगैव धीः प्रारिप्सितोदयप्रतिनियतचक्रनिष्ठ एवावबोधो भवेदित्यर्थः। अयमत्र भावः इह खलु योगिना यत्र क्वापि कर्मणि यस्य कस्यचिन्मन्त्रस्यावश्यं प्राणसाम्येनोच्चारः कार्यः अन्यथा हि न कार्यसिद्धिः स्यात्। तदुक्तम्

जपेत्तु प्राणसाम्येन ततः सिद्धिर्भवेद् ध्रुवम्।

नान्यथा सिद्धिमाप्नोति हास्यमाप्नोति सुन्दरि ॥

इति । ततश्चैकपिण्डात्मनोऽन्यस्य वा चक्रस्योदये तुल्य एव विधिः प्राणसाम्यस्य सर्वत्राविशेषात् ॥ ३८ ॥

तदाह

जपहोमार्चनादीनां प्राणसाम्यमतो विधिः ॥ ७-३९ ॥

होमेति, तत्रापि मन्त्रोच्चारस्य भावात् । अत इत्युक्ताच्चक्रोदयाद्धेतेः, संख्यायास्तु स्वारसिकप्राणचाराभिप्रायेण वर्णभूयस्त्वाभूयस्त्वनिबन्धनं तथात्वमिति न कश्चिद्विरोधः ॥ ३९ ॥

किमत्र प्रमाणम् ? इत्याशङ्क्याह

सिद्धामते कुण्डलिनीशक्तिः प्राणसमोन्मना ।

उक्तं च योगिनीकौले तदेतत्परमेशिना ॥ ७-४० ॥

तदेतत्परमेशिना श्रीसिद्धयोगीश्वरीमते श्रीयोगिनीकौले चोक्तमिति संबन्धः। तत्तदेकपिण्डाद्यात्मकमन्त्ररूपतया बहिरुल्लसन्ती वर्णकुण्डलिन्याख्या पारमेश्वरी शक्तिर्यदि नाम प्राणसमा प्राणसाम्येनोदयमियात् तदुन्मना शिवैकात्म्येन प्रस्फुरेदित्यर्थः। यदुक्तं तत्र

कुर्यात्प्राणसमं जप्यं होमं प्राणसमं कुरु।

एवं प्राणसमा शक्तिः कुण्डलाख्या मनोन्मनी॥

इति॥ ४०॥

श्रीयोगिनीकौलग्रन्थं पठति

पदमन्त्राक्षरे चक्रे विभागं शक्तितत्त्वगम्।

पदेषु कृत्वा मन्त्रज्ञो जपादौ फलभाग्भवेत्॥ ७-४१॥

पदप्रधानानि मन्त्राक्षराणि यत्रैवंविधे चक्रे पदेषु

शक्तितत्त्वगं विभागं कृत्वा एकैकं पदं प्रतिप्राणचारं प्रविभागेनोदयं कारयित्वा जपहोमादौ मन्त्रोदयं जानानो योगी फलभाग्भवेत्, यथोचितं फलमाप्नुयादित्यर्थः ॥ ४१ ॥

ननु कोऽसौ विभागः किं वा फलम् ? इत्याशङ्क्याह

द्वित्रिसप्ताष्टसंख्यातं लोपयेच्छतिकोदयम् ।

इह चक्राणां प्रागुक्तवदेकद्वित्रिसप्ताष्टादिपदपिण्डसंख्यातम्, अर्थात् शतिकोदयमनेकपदपिण्डात्मकचक्रपर्यन्तं विभागमाश्रित्य, अर्थात् प्राणचारं लोपयेत् प्राणग्रासं कुर्यादित्यर्थः । एतदेव हि मुख्यं फलं योगिनां यदकालकलितायां परस्यां संविद्यनुप्रवेश इति । एवं चात्रैवावधातव्यमित्याह

इति शक्तिस्थिता मन्त्रा विद्या वा चक्रनायकाः ॥ ७-४२ ॥

पदपिण्डस्वरूपेण ज्ञात्वा योज्याः सदा प्रिये ।

नित्योदये महातत्त्वे उदयस्थे सदाशिवे ॥ ७-४३ ॥

अयुक्ताः शक्तिमार्गे तु न जप्ताश्चोदयेन ये।

ते न सिद्धयन्ति यत्नेन जप्ताः कोटिशतैरपि॥ ७-४४॥

इति प्रागुक्तं सर्वं ज्ञात्वा चक्रप्रधाना मन्त्रा विद्या वा पदपिण्डस्वरूपेण समनन्तरोक्तपदपिण्डादिगत्या शक्तिस्थिताः प्राणसाम्येनोदिताः सर्वकालं जपादौ योज्या येन यथोचिता योगिनां सिद्धिः स्यात्। अन्यथा हि नित्योदयेऽत एव परमुपेयत्वान्महातत्त्वे, सृष्टिप्राधान्यादुदयस्थेऽत एव तत्सिद्धिप्रदायित्वात् सदैव श्रेयोरूपे शक्तिरूपे मध्यधाम्न्ययोजिताः, तथा प्राणस्योदयेन निर्गमने अर्थात्प्रवेशेनापि ये मन्त्रादयो न जप्तास्ते कोटिशतैर्यत्नेनापि जप्ता न सिद्धयन्ति, तां पूर्णां दातुं न शक्ता इत्यर्थः। यदुक्तम्

ङ विन्दति यदा मन्त्री सृष्टिसंहारवर्त्मनी।

उदयास्तमरूपेण मन्त्रा अल्पफलप्रदाः॥

भोगं मोक्षं न यच्छन्ति जप्ता ध्यातास्तु पूजिताः।

रिषत्फलं प्रयच्छन्ति शिवाज्ञासंप्रचोदिताः॥

इति। मन्त्रा विद्या वेत्यनेनानुजोद्देशोद्दिष्टो
मन्त्रविद्याभेदोऽप्यासूत्रितः॥ ४४॥

ननु सर्वेषां मन्त्रादीनामविशेषेणैव किमियं व्यवस्था किमन्यथा
वा ? इत्याशङ्क्याह

मालामन्त्रेषु सर्वेषु मानसो जप उच्यते।

उपांशुर्वा शक्त्युदयं तेषां न परिकल्पयेत्॥ ७-४५॥

सर्वेष्विति विद्यास्वपि, मानस इति। तदुक्तम्

आत्मा न शृणुते यं स मानसो जप उच्यते।

आत्मना शृणुते यस्तु तमुपांशं विजानते॥

परे शृण्वन्ति यं देवि सशब्दः स उदाहृतः। (स्वटं। २।१४७)

इति। वेति विकल्पे। सशब्दस्यार्थसिद्धो निषेधः॥

ननु समनन्तरमेवोक्तं यच्छक्तिवर्त्मन्ययोजिता मन्त्रा न सिद्ध्यन्तीति

तत्कथमिदमुच्यते शक्त्युदयं तेषां न परिकल्पयेत ?

इत्याशङ्क्याह

पदमन्त्रेषु सर्वेषु यावत्तत्पदशक्तिगम्।

शक्यते सततं युक्तैस्तावज्जप्यं तु साधकैः॥ ७-४६॥

तावती तेषु वै संख्या पदेषु पदसंज्ञिता।

तावन्तमुदयं कृत्वा त्रिपदोत्त्यादितः क्रमात्॥ ७-४७॥

द्वादशाख्ये द्वादशिते चक्रे सार्धं शतं भवेत्।

उदयस्तद्धि सचतुश्चत्वारिंशच्छतं भवेत्॥ ७-४८॥

षोडशाख्ये द्वादशिते द्वानवत्यधिके शते।

चारार्धेन समं प्रोक्तं शतं द्वादशकाधिकम्॥ ७-४९॥

षोडशाख्ये षोडशिते भवेच्चतुरशीतिगः।

उदयो द्विशतं तद्धि षट्पञ्चाशत्समुत्तरम्॥ ७-५० ॥

चाराष्टभागांस्त्रीनत्र कथयन्त्यधिकान्बुधाः।

अष्टाष्टके द्वादशिते पादार्धं विंशतिं वसून्॥ ७-५१ ॥

उदयः सप्तशतिका साष्टा षष्टिर्यतो हि सः।

पदप्रधानेषु सर्वेषु विद्यादिरूपेषु मन्त्रेषु पदानां
प्राणाशक्तेश्च साम्यं गतं तज्जपादि अभियुक्तैः
साधकैर्यावत्कर्तुं शक्यते तावदेव सर्वकालं जपनीयं, येन तेषु
पदेषु त्रिपदोत्तयादिकं क्रममवलम्ब्य त्रिषु बहुत्वं परिसमाप्यते
इत्यादिनीत्या क्रमेणैकैकं पदं बहुपदतया विभज्य समस्तस्य परस्य
प्राणचारसाम्येन सकृदुच्चारयितुमशक्यत्वात् तावन्तं
पदांशपरीमाणं प्राणशक्तावुदयं कृत्वा तावती
पदांशपरिमाणैव पदसंज्ञिता जपस्य संख्या स्यादिति। अयमत्र
भावः न केवलमनेकपदस्य मन्त्रस्य प्राणशक्तौ

सकृदुच्चारियतुमशक्यत्वं यावद् बह्वर्णतया तत्पदस्यापीति
तस्याप्यंशांशिकया विभागः कार्यो येन शनैः शनैरेकमेकं
तदंशे प्राणसाम्येनोच्चारयतां योगिनां लक्षजपादि सिद्धयेदिति।
तदुक्तं तत्र

पदमन्त्राक्षरे चक्रे विभागं शक्तितत्त्वगम्।

पदेषु कृत्वा मन्त्रज्ञो जपं नित्यं तु कारयेत्॥

द्वित्रिसप्ताष्टसंख्यातं लोपयेच्छतिकोदयम्।

इति शक्तिस्थिता मन्त्रा विद्या वा चक्रनायकाः॥

पदपिण्डस्वरूपेण ज्ञात्वा योज्याः सदा प्रिये।

नित्योदये महातत्त्वे उदयस्थे सदाशिवे॥

अयुक्तः शक्तिमार्गे तु अजप्ताश्चोदयेन तु।

नैव सिद्धयन्ति यत्नेन॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ । ॥

इति। तथा

मालामन्त्रेषु सर्वेषु मानसो जप उच्यते।

शक्त्योदयं तु वै तेषु न कदाचित्प्रकल्पयेत्॥

यतस्तेषां वरारोहे मानसस्तु जपः स्मृतः।

क्वचिच्चैव उपांशुः स्याज्जपः शास्त्रेषु कीर्तितः॥

महामन्त्रेषु सर्वेषु यावत्तत्पदशक्तिगम्।

शक्यते सततं युक्तैः प्रजप्तुं साधकोत्तमैः॥

तावती तेषु वै संख्या पदेषु पदसंज्ञिता।

तावन्तमुदयं कृत्वा त्रिपदोत्त्यादितः क्रमात्॥

इति। अतश्च सामस्त्येन मालामन्त्रादीनां प्राणशक्तावुदयं कर्तुं

न शक्यते इत्युक्तमेषां शक्त्युदयं न परिकल्पयेदिति। न तु सर्वसर्विकया, तथात्वे हि जपस्याल्पफलप्रदत्वादधमत्वं स्यात्। यदुक्तम्

अधमस्तु जपः प्रोक्तः प्राणसंख्याविवर्जितः।

इति। पदविभागमेव दर्शयति द्वादशेत्यादिना। द्वादशाख्ये द्वादशपदात्मके मालामन्त्राद्यात्मनि चक्रे द्वादशिते सञ्जातद्वादशसंख्याके प्रत्येकं पदद्वादशकस्य द्वादशधा विभागे कृते सति द्वादशानां चतुश्चत्वारिंशदधिकं शतं भवेत् येन तस्यापि प्रत्येकं सार्धं शतं प्राणचाराणामुदयः, इति सषट्शता सहस्रैकविंशतिः प्राणचारणां स्यात्। तथा षोडशपदात्मके चक्रे द्वादशधा कृते तदंशानां द्वानवत्यधिकं शतं षण्णवतेरवशिष्टत्वादयं चोदयः। तथा षोडशाख्ये एव चक्रे षोडशधा कृते षोडशांशानां षट्पञ्चाशदधिकं शतद्वयं भवेदिति भावः। तस्य प्रत्येकं प्राणचाराणां चतुरशीतिः षण्णवतेरेवावशिष्टत्वात् चाराष्टभागैरयमुदयो भवेत्। तथाष्टाष्टके चतुष्षष्टिपदात्मके चक्रे द्वादशधा कृते प्रतिपदं द्वादशकं प्राणचाराणां विंशतिवसूनष्टाविंशतिं तथा षण्णवतेरर्धावशिष्टत्वात् पादार्धमष्टभागमुदयो

यतश्चतुःषष्ट्यात्मनश्चक्रस्य द्वादशभिर्गुणनात्
अष्टषष्ट्यधिकशतसप्तकलक्षणा सा संख्या भवेदित्येवमत्र
सर्वत्र प्राणचाराणां सषट्शता सहस्रैकविंशतिरेव भवेत् ॥

एतदेवोपसंहरति

एष चक्रोदयः प्रोक्तः साधकानां हितावहः ॥ ७-५२ ॥

ननु प्राणचारोदयानुसारं चक्राणामुदय इति स एव कीदृक् येन सोऽपि
स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

निरुद्ध्य मानसीर्वृत्तीश्चक्रे विश्रान्तिमागतः ।

व्युत्थाय यावद्विश्राम्येत्तावच्चारोदयो ह्ययम् ॥ ७-५३ ॥

इह खलु योगी सङ्कल्पात्मिका मानसीर्वृत्तीः ङिरुद्ध्य
अन्तर्मुखीकृत्य चक्रस्य एकपिण्डाद्यात्मनो मन्त्रस्य विश्रान्तिं
मध्यधामैकात्म्यमागतः सन् यावदुत्थाय हृद आरम्भ्य
द्वादशान्तपर्यन्तं निर्गम्य पुनरन्तः प्रविश्य हृद्येव विश्राम्येत्
तावदयं प्राणस्योदयो भवेदित्यर्थः ॥ ५३ ॥

अत्रैव त्रैरूप्यं निरूपयन् सिद्ध्यादिविभागमप्याह

पूर्णे समुदये त्वत्र प्रवेशैकात्मनिर्गमाः।

त्रय इत्यत एवोक्तः सिद्धौ मध्योदयो वरः॥ ७-५४॥

अत्र पुनः सम्यक् मध्यधामैकात्म्येन प्रवेशपर्यन्तं प्राणस्योदये
निर्गमे पूर्णे यथोक्तगत्या परिपूर्तिं प्राप्ते
प्रवेशैकात्म्यनिर्गमलक्षणास्त्रयः प्रकाराः सन्तीत्यतः
प्रकारत्रयमध्यात्सिद्धिनिमित्तमैकात्म्यलक्षणो मध्योदय एव
प्रवेशादपि वरः श्रेष्ठ उक्त इत्यर्थः॥ ५४॥

नन्वेवंवचने किं प्रमाणम्? इत्याशङ्क्याह

आद्यन्तोदयनिर्मुक्ता मध्यमोदयसंयुताः।

मन्त्रविद्याचक्रगणाः सिद्धिभाजो भवन्ति हि॥ ७-५५॥

मन्त्रचक्रोदयज्ञस्तु विद्याचक्रोदयार्थवित्।

क्षिप्रं सिद्ध्येयेदिति प्रोक्तं श्रीमद्विंशतिके त्रिके ॥ ७-५६ ॥

आद्यन्तोदयौ निर्गमप्रवेशौ, मध्यमोदयो मध्यधामैकात्म्यम्।
हिर्हेतौ। तेनैवं मन्त्रविद्याचक्रोदयं जानानो योगी निर्विलम्बमेव
सिद्धिभाग्भवेदित्यर्थः ॥ ५६ ॥

ननु जितप्राणस्यारूढस्य योगिनः किं नामासाध्यं यन्न प्राणगं
कुर्यात्, प्राणं जयतः पुनरारुरुक्षोः कथमेतत्सिध्येत् ?
इत्याशङ्क्याह

द्वित्रिश्चतुर्वा मात्राभिर्विद्यां वा चक्रमेव वा।

तत्त्वोदययुतं नित्यं पृथग्भूतं जपेत्सदा ॥ ७-५७ ॥

पिण्डाक्षरपदैर्मन्त्रमेकैकं शक्तितत्त्वगम्।

बह्वक्षरस्तु यो मन्त्रो विद्या वा चक्रमेव वा ॥ ७-५८ ॥

शक्तिस्थं नैव तं तत्र विभागस्त्वोंनमोन्तगः।

आरुरुक्षुः पुनर्योगी नित्यं

द्विःत्रिश्चतुर्वाभ्यासतारतम्यानुसारमेकद्व्यादिक्रमेण

त्रिर्जानुवेष्टनान्मात्रा त्रिगुणच्छोटिकात्रयात्। (मा। वि। १७।१२)

इति लक्षिताभिर्मात्राभिरनेकाक्षरां विद्यामनेकपिण्डं वा

चक्रमनेकपदं वा मन्त्रमेकैकं पिण्डाक्षरपदैः

पृथग्भूतमेकमेव पिण्डमक्षरं पदं वा पूर्वोक्तयुक्त्या

प्राणशक्तितत्त्वगतं कृत्वा तत्त्वोदययुतं मध्यधामैकात्म्येन सदा

जपेत् लक्षजपादि कुर्यादित्यर्थः। अत एव पदादिविभागशून्यो

बह्वक्षर एव यः पुनर्मन्त्रादिस्तमारुरुक्षुर्योगी तावतः

प्राणनिरोधस्याशक्यत्वात् शक्तिस्थं नैव कुर्यात् शक्त्युदयमेषां न

परिकल्पयेदित्यर्थः। ननु यद्येषां बह्वक्षरतया सामस्त्येन

प्राणशक्तावुदयं कर्तुं न शक्यते तत्समनन्तरोक्तक्रमेण

व्यस्ततयैतदस्तु इत्याशङ्क्योक्तं तत्रेत्यादि। आंनमोन्तग इति,

नतु मन्त्रान्तरवत् पदपिण्डादिक्रमेणैषां विभागोऽस्ति

येनांशांशिकयापि शक्तावुदयः सिद्ध्येत्

अतश्चारुरुक्षुभिरेवंविधानां मन्त्राणां जप एव न कार्यः

इत्युक्तं स्यात्॥ ५९॥

आरूढस्य पुनर्योगिनो न केवलं पूर्ण एव समुदये
प्रवेशादित्रैविध्यं यावत्तदंशेष्वपीत्याह

अस्मिंस्तत्त्वोदये तस्मादहोरात्रस्त्रिशस्त्रिशः ॥ ७-५९ ॥

विभज्यते विभागश्च पुनरेव त्रिशस्त्रिशः।

तस्मात्पूर्वोक्ताद्धेतोः, अस्मिन् प्रक्रान्ते तत्त्वोदये
कार्यकारणयोरभेदोपचारात् चक्रोदये
प्राणापानत्माहोरात्रस्त्रिशस्त्रिशो विभज्यते, केवल एव प्राणोऽपानो
वा प्रवेशैकात्म्यनिर्गमात्मना प्रकारत्रयेण विभागमापद्यते
इत्यर्थः। तेन षट्त्रिंशदात्मनोरुभयोरपि प्राणापानवाहयोः
प्रत्येकं प्रवेशादित्रैविध्यमिति प्रवेशादेः
प्रत्यङ्गुलद्वादशकमुदयः। एवमात्मा विभागोऽपि पुनस्त्रिशस्त्रिश
एव, प्रवेशाद्यपि
प्रवेशष्निर्गमैकात्म्यलक्षणप्रकारत्रयभाग्भवेदित्यर्थः,। तेन
प्रत्यङ्गुलचतुष्टयमपि प्रवेशादीनामुदयः, इति सिद्धम्
तदारूढस्य योगिनः परिमिते प्राणचारीयेऽप्यंशेऽप्येवं चक्रोदयः
सिद्ध्येदित्यभिप्रायः॥

एवमेतत्प्रसङ्गादभिधाय प्रकृतमेवानुसरति

पूर्वोदये तु विश्रम्य द्वितीयेनोल्लसेद्यदा ॥ ७-६० ॥

विशेच्चार्धार्धिकायोगात्तदोक्तार्धोदयो भवेत्।

यदा पूर्णोदयात्मा तु समः कालस्त्रिके स्फुरेत्॥ ७-६१ ॥

प्रवेशविश्रान्त्युल्लासे स्यात्स्वत्र्यंशोदयस्तदा।

तस्मात् पूर्वस्मिन् प्रधाने मध्यधामात्मनि उदये विश्रम्य
तदैकात्म्येन स्थित्वा यदा द्वितीयेन निर्गमात्मना प्रकारेण उल्लसेत
प्राणक्रमेणोर्ध्वं गच्छेत्, अर्थात्तृतीयेनापि प्रवेशात्मना प्रकारेण
विशेत अपानक्रमेण हृदन्तं प्रवेशं कुर्यात् तदा प्राणापानयोः
प्रत्येकमर्धार्धिकया संबन्धात् सषट्शतसहस्रैकविंशत्यात्मन
उक्तस्य कालस्यार्धेन प्राणचाराणां साष्टशतं सहस्रदशकमुदयो
भवेत्। यदा पुनः पूर्णः सषट्छतसहस्रैकविंशतिरूपो
योऽसावुदयस्तदात्मा कालः प्रवेशविश्रान्त्युल्लासाख्ये त्रिके साम्येन
स्फुरेत् तदा प्रवेशादीनां प्रत्येकं श्वः आत्मीयो यः
सशतद्वयसहस्रसप्तकात्मा त्र्यंशः तस्योदयो भवेदित्यर्थः ॥

ननु प्राक्

अन्तः संविदि सर्वोऽयमध्वा विश्रम्य तिष्ठति। (तं। ६।२८)

इति प्रतिज्ञातं तत्कथमिह कालाध्वनः प्राण एवैवं
प्रतिष्ठितत्वमुच्यते ? इत्याशङ्क्याह

इत्येष कालविभवः प्राण एव प्रतिष्ठितः॥ ७-६२॥

स स्पन्दे खे स तच्चित्यां तेनास्यां विश्वनिष्ठितिः।

प्राण इति प्राधान्यात् तेनापानादावपि। स इति प्राणः। स्पन्दे इति
सामान्यात्मिकायामाद्यप्रसररूपायां प्राणनावृत्तौ। खे इति
शून्यप्रमातरि। स इति मेयौत्सुक्येन
बहिःसमुच्छलन्प्राणस्पन्दादिशब्दव्यपदेश्यो भवेदिति भावः। तदिति
खं, चित एव स्वातन्त्र्याच्छून्यरूपत्वेन परिस्फुरणात्। तेनेत्युक्तेन
पारम्पर्येण हेतुना, विश्वेति षड्विधस्याध्वनः। यद्वक्ष्यति

अध्वा समस्त एवायं चिन्मात्रे संप्रतिष्ठितः।

यत्तत्र न हि विश्रान्तं तन्नभःकुसुमायते ॥

संविद्द्वारेण तत्सृष्टे शून्ये धियि मरुत्सु च ।

नाडीचक्रानुचक्रेषु बहिर्देहेऽध्वसंस्थितिः ।(तं । ८ ।४)

इति ॥

एवं संविदधीनावेव विश्वस्य सृष्टिसंहारावित्याह

अतः संवित्प्रतिष्ठानौ यतो विश्वलयोदयौ ॥ ७-६३ ॥

शक्त्यन्तेऽध्वनि तत्स्पन्दासंख्याता वास्तवी ततः ।

अतः कालस्य पारम्पर्येण संविद्येव निष्ठितत्वात् संवित्कर्तृकावेव
यतो विश्वस्य सृष्टिसंहारौ, ततः शक्त्यन्तेऽध्वनि तेषां
प्रागुक्तानां सृष्टिसंहाराद्यात्मनां स्पन्दानां

तत्सृष्टौ सृष्टिसंहारा निःसंख्या जगतां यतः ।

अन्तुर्भूता ततः शाक्ती महासृष्टिरुदाहृता ॥

इत्याद्युक्तयुक्त्यावान्तराणां स्पन्दानामन्तर्भावात् असंख्यातापि
वास्तवी सन्मात्रैकरूपत्वात् पारमार्थिकीत्यर्थः। या हि नाम बहिः
कश्चन परिस्पन्दः स संवित्सतत्त्व एव इत्यभिप्रायः॥

न चैतदस्मदुपज्ञमेव, यावदागमेऽपि एवमित्याह

उक्तं श्रीमालिनीतन्त्रे गात्रे यत्रैव कुत्रचित्॥ ७-६४॥

विकार उपजायेत तत्तत्त्वं तत्त्वमुत्तमम्।

इह खलु परसंविदावेशशालिनो योगिनो यत्रैव कुत्रचिच्चक्षुरादौ गात्रे
शर्वो ममायं विभवः इत्यादिसङ्कल्पपूर्वक उपजायमानो यो विकारः
स्पन्दस्तस्य यत्तत्त्वं सर्वभावानां स्वाविभागेनावभासनं
तदुत्तमं तत्त्वं, संविदनतिरेकात्परः परमार्थ इत्यर्थः।
तदुक्तं तत्र

यत्रैव कुत्रचिद् गात्रे विकार उपजायते।

सङ्कल्पपूर्वको देवि तत्तत्त्वं तत्त्वमुत्तमम्॥

इति। (मा।वि। १८।४२) ननु भवतु नामैतत् तत्राप्यस्य प्राणस्य देहनिष्ठत्वेन कस्माद्रूपमुच्यते ? इत्याशङ्क्याह

प्राणे प्रतिष्ठितः कालस्तदाविष्टा च यत्तनुः॥ ७-६५॥

देहे प्रतिष्ठितस्यास्य ततो रूपं निरूप्यते।

तदाविष्टेति, तच्छब्देन प्राणपरामर्शः। तत इति, प्राणस्य तनावाविष्टत्वात्॥

ननु कथं नाम देहस्य तदावेशः ? इत्याशङ्क्याह

चित्स्पन्दप्राणवृत्तीनामन्त्या या स्थूलता सुषिः॥ ७-६६॥

सा नाडीरूपतामेत्य देहं संतानयेदिमम्।

प्राङ्निरूपितस्वरूपाणां चिदादीनां कार्यजननौन्मुख्यादन्त्या, अत एव चिदादेरन्तःकरणात् सुषिशब्दव्यपदेश्या या स्थूलता बहीरूपतया श्यानीभावः सा

पादाङ्गुष्ठाग्रतो व्यक्ता नाभितो हृदयं गता।

सुषुम्ना नाम सा ज्ञेया ब्रह्मरन्ध्रजनिर्गता।

प्राणिनां प्राणसञ्चारे निर्मिता परमेष्ठिना॥

इत्याद्युक्तया प्रथमं मध्यस्थूणान्यायेन मध्यनाडीरूपतामाश्रित्य वक्ष्यमाणप्रमाणमिमं देहं संतानयेत् सर्वतो भेदोपभेदरूपतया नाड्यन्तरोपजननात् जालवत् संतानवन्तं कुर्यादित्यर्थः॥

अतश्चागमोऽप्येवमित्याह

श्रीस्वच्छन्देऽत एवोक्तं यथा पर्णं स्वतन्तुभिः॥ ७-६७॥

व्याप्तं तद्वत्तनुर्द्वारद्वारिभावेन नाडिभिः।

यथा पलाशपत्रं मध्यतन्त्ववलम्बिभिरात्मीयैस्तन्त्वन्तरैः सर्वत्र व्याप्तं तथा शरीरमपि भेदोपभेदरूपत्वेन द्वारद्वारिकया मध्यनाडिसंलग्नाभिर्गुणप्रधानभावेनावस्थिताभिर्नाडीभिरिति

वाक्यार्थः। यदुक्तं तत्र

ङाभ्यधो मेढ्रकन्दे च स्थिता वै नाभिमध्यतः।

तस्माद्विनिर्गता नाड्यस्तिर्यगूर्ध्वमधः प्रिये॥

चक्रवत्संस्थितास्तत्र प्रधाना दश नाडयः।

द्वासप्ततिसहस्राणि नाड्यस्ताभ्यो विनिर्गताः॥

पुनर्विनिर्गताश्चान्याः आभ्योऽप्यन्याः पुनः पुनः।

यावत्यो रोमकोट्यस्तु तावत्यो नाडयः स्मृताः।

यथा पर्णं पलाशस्य व्याप्तं सर्वत्र तन्तुभिः। (स्वटं। ७।११)

इति। ननु मारुतापूरिताः सर्वाः इत्याद्युक्त्या सर्वा एव
तावन्नाडयः प्राणवहाः, ताभिश्च निखिलमेव शरीरं व्याप्तमिति
नास्त्यत्र विमतिः, तत्कथं हृदयाद् द्वादशान्तं मत्तगन्धस्थानं
वा यावत्षट्त्रिंशदङ्गुल एव प्राणचार उक्तः? इत्याशङ्क्याह –
–

पादाङ्गुष्ठादिकोर्ध्वस्थब्रह्मकुण्डलिकान्तगः ॥ ७-६८ ॥

कालः समस्तश्चतुरशीतावेवाङ्गुलेष्वितः ।

द्वादशान्तावधिं किंचित्सूक्ष्मकालस्थितिं विदुः ॥ ७-६९ ॥

षण्णवत्यामधः षड्द्विक्रमाच्चाष्टोत्तरं शतम् ।

उर्ध्वस्था ब्रह्मकुण्डलिका ब्रह्मबिलं, समस्तः प्रागुक्तः कालश्चतुरशीतावङ्गुलेष्विति सार्धत्रिहस्तात्मकत्वात् देहस्य । इत इति, गतः स्थित इत्यर्थः । षण्णवत्यामङ्गुलेष्विति पूर्वतो योज्यम् । तथात्वे च द्वादशानामङ्गुलानामाधिक्येनोपादानात् सूक्ष्मशब्दसन्निधेः पूर्वापरयोर्मानयोः स्थूलत्वं परत्वं चार्थसिद्धम् । अध इति पादाङ्गुष्ठात् । षड्द्विक्रमादिति, षण्णां द्विर्योऽसौ द्वादशाङ्गुलात्मा क्रमस्तस्माद्यदूर्ध्व इवाधोऽपि द्वादशान्तः संभवेदिति भावः ॥

नन्वेवं देहस्य मानवैचित्र्ये प्राणादेरपि कश्चिदतिशयो न वा ?
इत्याशङ्क्याह

अत्र मध्यमसञ्चारिप्राणोदयलयान्तरे ॥ ७-७० ॥

विश्वे सृष्टिलयास्ते तु चित्रा वाय्वन्तरक्रमात् ।

अत्र त्रिप्रकारप्रमाणावच्छिन्ने देहे प्राधान्यान्मध्यवाहिनः प्राणस्य
ये उदयलया निर्गमप्रवेशास्तदन्तराले विश्वे प्रागुक्तकलना एव सर्वे
सृष्टिसंहारा भवन्ति, किंत्वेषामपानवाय्वन्तरक्रमादेव
प्राग्वद्वैचित्र्यं नतु देहवैचित्र्यादित्यर्थः ॥

इदानीमाह्निकार्थमेव श्लोकस्य प्रथमार्धेनोपसंहरति इत्येष
सूक्ष्मपरिमर्शनशीलनीयश्चक्रोदयोऽनुभवशास्त्रदृशा मयोक्तः ॥
७१ ॥

इति श्रामदाचार्याभिनवगुप्तपादविरचिते श्रीतन्त्रालोके
चक्रोदयप्रकाशनं नाम सप्तममाह्निकम् ॥ ७ ॥

सूक्ष्मपरिमर्शनेत्यनेन अत्यन्तमस्यावधानगम्यत्वमुक्तमिति शिवम् ॥

प्रतिनियतमन्त्रसमुदयचारभिदनुभवनिभालनोद्युक्तः ।

सप्तममाह्निकमेतद्व्याकृतावाङ्जयरथाभिख्यः ॥

इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते
श्रीतन्त्रालोके श्रीजयरथविरचितविवेकाभिख्यव्याख्योपेते
चक्रोदयप्रकाशनं नाम सप्तममाह्निकं समाप्तम् ॥ ७ ॥

अष्टममाह्निकम्

विवेक

जयकीर्तिरियं जयताज्जगदम्भोजं विभक्तभुवनदलम् ।

रविरिव विकासयति यश्चिदेकनालाश्रयत्वेन ॥

इदानीं द्वितीयार्धेन देशाध्वनः स्वरूपं संगिरितुमुपक्रमते

देशाध्वनोऽप्यथ समासविकासयोगात्सङ्गीयते विधिरयं
शिवशास्त्रदृष्टः ॥ १ ॥

१. योग-उपनिषदः

योगराजोपनिषत्

योगराजं प्रवक्ष्यामि योगिनां योगसिद्धये ।
मन्त्रयोगो लयश्चैव राजयोगो हठस्तथा ॥ १ ॥
योगश्चतुर्विधः प्रोक्तो योगिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।
आसनं प्राणसंरोधो ध्यानं चैव समाधिकः ॥ २ ॥
एतच्चतुष्टयं विद्धि सर्वयोगेषु सम्मतम् ।
ब्रह्मविष्णुशिवादीनां मन्त्रं जाप्यं विशारदैः ॥ ३ ॥
साध्यते मन्त्रयोगस्तु वत्सराजादिभिर्यथा ।
कृष्णद्वैपायनाद्यैस्तु साधितो लयसंज्ञितः ॥ ४ ॥
नवस्वेव हि चक्रेषु लयं कृत्वा महात्मभिः ।
प्रथमं ब्रह्मचक्रं स्यात् त्रिरावृत्तं भगाकृति ॥ ५ ॥
अपाने मूलकन्दाख्यं कामरूपं च तज्जगुः ।
तदेव वह्निकुण्डं स्यात् तत्त्वकुण्डलिनी तथा ॥ ६ ॥

तां जीवरूपिणीं ध्यायेज्ज्योतिष्ठं मुक्तिहेतवे ।
स्वाधिष्ठानं द्वितीयं स्याच्चक्रं तन्मध्यगं विदुः ॥ ७ ॥
पश्चिमाभिमुखं लिङ्गं प्रवालाङ्कुरसन्निभम् ।
तत्रोड्डीयाणपीठेषु तं ध्यात्वाकर्षयेज्जगत् ॥ ८ ॥
तृतीयं नाभिचक्रं स्यात्तन्मध्ये तु जगत् स्थितम् ।
पञ्चावर्तां मध्यशक्तिं चिन्तयेद्विद्युदाकृति ॥ ९ ॥
तां ध्यात्वा सर्वसिद्धीनां भाजनं जायते बुधः ।
चतुर्थं हृदये चक्रं विज्ञेयं तदधोमुखम् ॥ १० ॥
ज्योतीरूपं च तन्मध्ये हंसं ध्यायेत् प्रयत्नतः ।
तं ध्यायतो जगत् सर्वं वश्यं स्यान्नात्र संशयः ॥ ११ ॥
पञ्चमं कण्ठचक्रं स्यात् तत्र वामे इडा भवेत् ।
दक्षिणे पिङ्गला ज्ञेया सुषुम्ना मध्यतः स्थिता ॥ १२ ॥
तत्र ध्यात्वा शुचि ज्योतिः सिद्धीनां भाजनं भवेत् ।
षष्ठं च तालुकाचक्रं घण्टिकास्थानमुच्यते ॥ १३ ॥
दशमद्वारमार्गं तद्राजदन्तं च तज्जगुः ।
तत्र शून्ये लयं कृत्वा मुक्तो भवति निश्चितम् ॥ १४ ॥
भ्रूचक्रं सप्तमं विद्याद्बिन्दुस्थानं च तद्विदुः ।
भ्रुवोर्मध्ये वर्तुलं च ध्यात्वा ज्योतिः प्रमुच्यते ॥ १५ ॥
अष्टमं ब्रह्मरन्ध्रं स्यात् परं निर्वाणसूचकम् ।
तं ध्यात्वा सूतिकाग्रामं धूमाकारं विमुच्यते ॥ १६ ॥
तच्च जालन्धरं ज्ञेयं मोक्षदं नीलचेतसम् ।
नवमं व्योमचक्रं स्यादश्रैः षोडशभिर्युतम् ॥ १७ ॥

संविद्भ्रूयाञ्च तन्मध्ये शक्तिरुद्धा स्थिता परा ।
तत्र पूर्णो गिरौ पीठे शक्तिं ध्यात्वा विमुच्यते ॥ १८ ॥
एतेषां नवचक्राणामेकैकं ध्यायतो मुनेः ।
सिद्धयो मुक्तिसहिताः करस्थाः स्युर्दिने दिने ॥ १९ ॥
एको दण्डद्वयं मध्ये पश्यति ज्ञानचक्षुषा ।
कदम्बगोलकाकारं ब्रह्मलोकं व्रजन्ति ते ॥ २० ॥
ऊर्ध्वशक्तिनिपातेन अधःशक्तेर्निकुञ्चनात् ।
मध्यशक्तिप्रबोधेन जायते परमं सुखं
जायते परमं सुखम् । इति ॥ २१ ॥

इति योगराजोपनिषत् समाप्ता

षष्ठः पटलः

कर्मयोगादिक्रमनिरूपणम्

पार्वत्युवाच—

देव्याः पूजा समाख्याता तृतीया या महेश्वर ।
कथय तां सुरश्रेष्ठ विस्तरेणाधुना प्रभो ॥ १ ॥

पार्वती ने कहा—हे महेश्वर! देवी की जो तीसरी पूजा की चर्चा की गयी, हे सुरश्रेष्ठ! हे प्रभो! उसको आप विस्तार से बतलाइये ॥ १ ॥

देहशुद्धिवर्णनोपक्रमः

ज्ञानेन कर्मणा चेह देहशुद्धिर्द्विधा भवेत् ।
ज्ञानशुद्धिस्त्वया प्रोक्ता कर्मशुद्धिर्न दर्शिता ॥ २ ॥
वि(न्मु?ण्मू)त्रपिच्छलो देहः कथं देवमयो भवेत्।
तन्मे वद महादेव प्रसादसुमुख प्रभो ॥ ३ ॥

देहशुद्धिवर्णन का उपक्रम—इस संसार में देहशुद्धि ज्ञान से और कर्म से; इस प्रकार दो रीति से सम्पन्न होती है । आपने ज्ञानशुद्धि की चर्चा तो की किन्तु कर्मशुद्धि का दिग्दर्शन अभी नहीं कराया । मलमूत्र से भरा हुआ यह पिच्छिल देह कैसे देवमय होता है, हे प्रभो! हे प्रसादसुमुख! हे महादेव! कृपया उसको मुझे बताइये ॥ २-३ ॥

कर्मयोगवर्णनम्

ईश्वर उवाच—

ज्ञानेन कर्मणा वापि सिद्धिर्भवति नान्यथा ।
ज्ञानयोगश्च वक्तव्यः कर्मयोगं शृणु प्रिये ॥ ४ ॥
ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थाय साधकः स्थिरमानसः ।
पद्मासनसमासीनः प्राणायामपुरःसरः ॥ ५ ॥

ब्रह्मरन्ध्रस्थिते पद्मे सहस्रदलशोभिते ।
विमले पूर्णचन्द्रस्य मण्डले चिन्तयेद् गुरुम् ॥ ६ ॥
शुद्धस्फटिकसङ्काशं श्वेताभरणभूषितम् ।
तादृक्प्रसूनमाल्यादिविभूषितनुं तथा ॥ ७ ॥
पद्मासनसमासीनं सर्वयोगिनिषेवितम् ।
वराभयकरं शान्तं द्विनेत्रं करुणामयम् ॥ ८ ॥
वामोरुगतया शक्त्या रक्तया वामपाणिना ।
धारयन्त्योत्पलं दक्षहस्तेनालिङ्गितं विभुम् ॥ ९ ॥
परमानन्दसंदोहसान्द्रमानसमीश्वरम् ।
आनन्दसान्द्ररक्ताक्षं स्मरेत् स्मितमुखाम्बुजम् ॥ १० ॥

कर्मयोग का वर्णन—सिद्धि ज्ञान से अथवा कर्म से प्राप्त होती है । किसी तीसरे साधन से वह प्राप्त नहीं होती । हे प्रिये! ज्ञानयोग की चर्चा आगे की जायेगी कर्मयोग को सुनो । स्थिरचित्त वाला साधक ब्राह्ममुहूर्त्त में उठकर पद्मासन पर बैठ जाय । प्राणायाम करने के बाद ब्रह्मरन्ध्र में स्थित सहस्रदल कमल के अन्दर स्वच्छ पूर्ण चन्द्रमण्डल में गुरु का ध्यान करे । (ध्यान का स्वरूप इस प्रकार है) वे गुरु शुद्ध स्फटिक के समान तथा श्वेत अलङ्कारों से अलङ्कृत हैं । उनका शरीर उसी प्रकार अर्थात् श्वेत रंग की पुष्पमाला आदि से विभूषित है । पद्मासन लगाकर बैठे हुए वे समस्त योगिजनों से निरन्तर सेवित हैं । उनके हाथों में वरद एवं अभय मुद्रा है । वे शान्त, दो नेत्रों वाले तथा करुणामय हैं । उनकी बायीं जाँघ पर रक्त वर्ण की तथा अनुरागपूर्ण शक्ति विराजमान है । वह बायें हाथ में रक्तकमल लेकर तथा दाँयें हाथ से परमेश्वर को आलिङ्गित कर बैठे हैं । ऐसे परम आनन्दसमूह से पूरित चित्त वाले, आनन्द से भरित रक्त नेत्रों वाले, स्मयमान मुखमण्डल वाले ईश्वर का स्मरण करना चाहिये ॥ ४-१० ॥

गुरुशक्तिपूजामन्त्रोद्धारः

बालाद्यं भुवनेशानी रमा चैवाथ खेचरी ।
शिवचन्द्रौ मातृकान्तं कालशक्रा(द्यु?म्बु)वह्नयः ॥ ११ ॥
वायुश्च वामकर्णेन योजिता बिन्दुनादिनः ।
(च?व)क्रं कृत्वादिमन्तेषु कर्णे वामाक्षियोजयेत् ॥ १२ ॥
शिवचन्द्रौ त्रिशूलाढ्यौ बिन्दुना परिमण्डितौ ।
चन्द्रशिवौ त्रिशूलाढ्यौ (स्व?स)र्गवन्तौ महेश्वरि ॥ १३ ॥
तस्मात् स्वगुरुनामान्ते आनन्दनाथ चालिखेत् ।

तथा शक्तिपदान्ते वै अम्बापदमतो लिखेत् ॥ १४ ॥
पादुकां पूजयामीति विधिना परिपूजयेत् ।

गुरुशक्तिपूजा-मन्त्र का उद्धार—बालाद्य भुवनेश्वरी रमा खेचरी शिव चन्द्र मातृका का अन्त, काल शक्र अम्बु वह्नि वायु वामकर्ण से योजित बिन्दु नाद, इनमें से वक्र को प्रथम बनाकर वामाक्षि को कर्ण से जोड़ना चाहिये । शिव और चन्द्र को त्रिशूल से संयुक्त कर बिन्दु से अलङ्कृत करना चाहिये । हे महेश्वरि! चन्द्र और शिव को त्रिशूल से संयुक्त कर विसर्गयुक्त करना चाहिये । उसके बाद अपने गुरु के नाम के अन्त में 'आनन्दनाथ' लिखना चाहिये । इसी प्रकार शक्तिपद के अन्त में 'अम्बा' पद लिखना चाहिये । पुनः 'पादुकां पूजयामि' कहकर पूरे मन्त्र के द्वारा गुरु और शक्ति की विधिवत् पूजा करनी चाहिये । (मन्त्र को इस प्रकार समझें—बालाद्य = ऐं, भुवनेश्वरी = ह्रीं, रमा = श्रीं, खेचरी = हसखफ्रें, शिव = ह, चन्द्र = स, मातृकान्त = क्ष, काल = म, शक्र = ल, अम्बु = व, वह्नि = र, वायु = य, वामकर्ण = ऊ से योजित बिन्दु नाद अर्थात् ऊं, वक्र अर्थात् खेचरी अर्थात् हसखफ्रें को पहले रखकर उनमें वामाक्षि = ई को जोडना चाहिये । शिव और चन्द्र = हस को, त्रिशूल = औ से अलङ्कृत कर बिन्दु से जोडिये । इस प्रकार हसौं बना । फिर चन्द्र शिव = स्ह् को त्रिशूल से जोड़कर विसर्ग से अलङ्कृत कीजिये तब स्हौः बनता है । इस प्रकार पूरा मन्त्रस्वरूप होगा—ऐं ह्रीं श्रीं हसखफ्रें ह स क्ष म ल व र य ऊं हसखफ्रें ईं ऊं हसौं स्हौः अमुकानन्दनाथ (अथवा अमुकाम्बा) पादुकां पूजयामि । इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये) ॥ ११-१४- ॥

लं पृथिव्यात्मना ब्रह्मणा गन्धं कल्पयामि गन्धतन्मात्रात्मने घ्रा(ण?णेन्द्रियाय) गन्धं गृहाण स्वाहा,
अथाङ्गुष्ठकनिष्ठाभ्यां योजयेद्गन्धमुत्तमम् ॥ १५ ॥
हं आकाशात्मना सदाशिवेन पुष्पं कल्पयामि शब्दतन्मात्रात्मने श्रोत्रेन्द्रि (य?याय) शब्दं गृहाण स्वाहा,
अङ्गुष्ठतर्जनीयोगं पुष्पदानं तथैव हि ।
यं वाय्वात्मना ईश्वरेण धूपं कल्पयामि स्पर्शतन्मात्रात्मने त्वगिन्द्रियाय स्पर्शं गृहाण स्वाहा,
अङ्गुष्ठमध्यमायोगं धूपदानं तथैव हि ॥ १६ ॥
(वं?रं) वह्न्यात्मना रुद्रेण दीपं कल्पयामि रूपतन्मात्रात्मने चक्षुरिन्द्रियाय रूपं गृहाण स्वाहा,
अङ्गुष्ठाभ्यां महेशानि दीपं दद्यात् समाहितः ।

वं अमृतात्मना विष्णुना नैवेद्यं कल्पयामि रसतन्मात्रात्मने जिह्वेन्द्रियाय रसं गृहाण स्वाहा,

अङ्गुष्ठानामिकायोगं नैवेद्यं तत्प्रतिष्ठितम् ॥ १७ ॥
एवं कुलगुरुं देवि पूजयित्वा विधानतः ।
योनिमुद्रां प्रदर्श्याथ प्रणमेत् सिद्धिहेतवे ॥ १८ ॥

(गन्ध पुष्प आदि के समर्पण के मन्त्र निम्नलिखित हैं—) 'लं पृथिव्यात्मना ब्रह्मणा......गृहाण स्वाहा' । यह मन्त्र पढ़कर अङ्गुष्ठा और कनिष्ठा को जोड़कर उससे गन्ध देना चाहिये । इसी प्रकार 'हं आकाशात्मना सदाशिवेन..........गृहाण स्वाहा' कहकर अङ्गुष्ठा और तर्जनी से पुष्प देना चाहिये । 'यं वाय्वात्मना ईश्वरेण. ...गृहाण स्वाहा' कहकर अङ्गुष्ठा मध्यमा को जोड़कर धूप देना चाहिये । 'रं वह्न्यात्मना रुद्रेण.........गृहाण स्वाहा' से दोनों अङ्गूठों को जोड़कर दीप देना चाहिये । 'वं अमृतात्मना विष्णुना.........गृहाण स्वाहा' से अङ्गुष्ठ अनामिका को जोड़कर नैवेद्य देना चाहिये । हे देवि! इस प्रकार कुलगुरु की विधिवत् पूजा उनके सामने योनिमुद्रा[1] का प्रदर्शन कर लक्ष्य की सिद्धि के लिये प्रणाम कर प्रार्थना करनी चाहिये ॥ १५-१८ ॥

गुरुप्रार्थनागुरुपूजामाहात्म्यवर्णनम्

नमस्ते भगवन्नाथ शिवाय गुरुरूपिणे ।
विद्यावतारसंसिद्ध्यै स्वीकृतानेकविग्रह ॥ १९ ॥
नवाय नवरूपाय परमात्मैकरूपिणे ।
सर्वाज्ञानतमोभेदभानवे चिद्घनाय ते ॥ २० ॥
स्वतन्त्राय दया (तृ?क्लृ)प्तविग्रहाय शिवात्मने ।
परतन्त्राय भक्तानां भव्यानां भव्यरूपिणे ॥ २१ ॥
विवेकिनां विवेकाय विम(र्षा?र्शा)य विम(र्ष?र्शि)नाम् ।
प्रकाशिनां प्रकाशाय ज्ञानिनां ज्ञानरूपिणे ॥ २२ ॥
पुरस्तात् पार्श्वयोः पृष्ठे नमस्कुर्यामुपर्यधः ।
सदा सच्चित्स्वरूपेण विधेहि भवदासनम् ॥ २३ ॥

---

१. मिथः कनिष्ठिके बद्ध्वा तर्जनीभ्यामनामिके ।
अनामिकोर्ध्वसंश्लिष्टदीर्घमध्यमयोरधः ।
अङ्गुष्ठाग्रद्वयं न्यस्येद् योनिमुद्रेयमीरिता ॥ मुद्रानिघण्टु ७० ॥

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ २४ ॥
नमोऽस्तु गुरवे तुभ्यं ब्रह्मविष्णुशिवात्मने ।
अविद्याग्रस्तसंसारसागरोत्तारहेतवे ॥ २५ ॥
गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुरेव परं ज्ञानं गुरुरेव परं तपः ॥ २६ ॥
अतः सर्वत्र देवेशि गुरुपूजा गरीयसी ।
अन्यदेव सपर्या वा चान्यदेवस्य कीर्तनम् ॥ २७ ॥
गुरुदेवं विना देवि तदग्रे क्रियते यदि ।
तदा नरकमाप्नोति सत्यमेतद्वदाम्यहम् ॥ २८ ॥
पूजिते गुरुपादे वै सर्व(देव?दैव)सुखी भवेत् ।
सर्वेषां मन्त्रतन्त्राणां पितासौ यः सदाशिवः ॥ २९ ॥
यस्य भक्तिर्गुरौ नित्यं वर्तते देववत् प्रिये ।
तस्य सर्वार्थसिद्धिः स्यान्नान्यथा खलु पार्वति ॥ ३० ॥
गुरुपादरजो मूर्ध्नि ध्यात्वा कर्म समारभेत् ।
ब्रह्मरन्ध्रे सहस्रारे कर्पूरधवलो गुरुः ॥ ३१ ॥
वराभयकरो नित्यो ब्रह्मरूपी सदानघः ।
जागर्ति परमेशानि निजस्थानप्रकाशकः ॥ ३२ ॥
कुलनाथं परित्यज्य ये शाक्ताःप(रि?र)सेविनः ।
तेषां दीक्षा च यागश्च ह्यभिचाराय कल्पते ॥ ३३ ॥
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन कुलीनं गुरुमाश्रयेत् ।
कुलीनः सर्वविद्यानामधिकारीति गीयते ॥ ३४ ॥
दीक्षाप्रभुः स एवात्र सर्वमन्त्रेषु नापरः ।
गुरुमण्डलपूजां तु कुर्यात् सप्तसु पर्वसु ॥ ३५ ॥

गुरु-प्रार्थना और गुरु-पूजा माहात्म्य का वर्णन—हे भगवन्! हे नाथ! आपको नमस्कार है । गुरु रूपी शिव, विद्यावतार की सिद्धि के लिये अनेक शरीर धारण करने वाले, नवीन, नवीन रूप वाले, परमात्मरूप, समस्त अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर करने के लिये सूर्य के समान, चिद्घन, स्वतन्त्र, दयापूर्ण शरीर वाले, शिवात्मक, भक्तों के अधीन, भव्यों के भव्य, विवेकियों के विवेक, विमर्श करने वालों के विमर्श, प्रकाशयुक्त लोगों के प्रकाश, ज्ञानियों के

ज्ञानरूप आपको सामने दोनों पार्श्वों, पीछे ऊपर नीचे सब ओर से नमस्कार है। आप मेरे अन्दर सदा सच्चित्रूप से अपना आसन ग्रहण कीजिये। जिसने अज्ञानरूपी तिमिरान्धता से युक्त मनुष्य के नेत्रों को ज्ञानरूपी अञ्जनशलाका से उन्मीलित किया उस गुरु को नमस्कार है। अविद्याग्रस्त संसाररूपी सागर को पार करने के साधनस्वरूप ब्रह्मा विष्णु शिवात्मक आप गुरु को नमस्कार है। गुरु ब्रह्मा हैं गुरु विष्णु और गुरु ही देवाधिदेव महेश्वर हैं। गुरु ही परम ज्ञान एवं गुरु ही परम तप हैं। इसलिए हे देवेशि! सर्वत्र गुरुपूजा अन्य पूजाओं से बढ़कर है। हे देवि! गुरुदेव के विना यदि उनके आगे अन्य देवता की पूजा अथवा कीर्त्तन किया जाता है तो ऐसा करने वाला नरक को जाता है—यह मैं सत्य कह रहा हूँ। गुरु के चरणकमलों की पूजा करने पर पूजक सर्वदा सुखी रहता है। सदाशिव सारे मन्त्र तन्त्रों के पिता हैं। हे प्रिये! जिस मनुष्य की गुरु के प्रति देवता के समान सर्वदा भक्ति रहती है, हे पार्वति! उसके समस्त उद्देश्यों की पूर्ति होती है, अन्यथा नहीं होती। इसलिये गुरुचरणों की धूलि का शिर पर ध्यान कर किसी कार्य का प्रारम्भ करना चाहिये। हे परमेशानि! सहस्रार ब्रह्मरन्ध्र में गुरु कपूर के समान धवल स्वरूप वाले, हाथों में वरद एवं अभय मुद्रा धारण किये हुए, ब्रह्मस्वरूपी, निष्कलुष और अपने स्थान के प्रकाशक के रूप में नित्य जाग्रत रहते हैं। जो शाक्त साधक कुलनाथ अर्थात् कुलगुरु का त्याग कर दूसरे की सेवा करते हैं उनकी दीक्षा एवं यज्ञक्रिया अभिचार का कारण बनती है। इसलिये सब प्रयास कर कुलीन गुरु का आश्रयण करना चाहिये। कुलीन गुरु सारी विद्याओं का अधिकारी कहा जाता है। सारे मन्त्रों के विषय में वही दीक्षा देने का अधिकारी होता है दूसरा नहीं। सात पर्वों (= विशिष्ट अवसरों) पर गुरुमण्डल की पूजा करनी चाहिये ॥ १९-३५ ॥

योगकथनोपक्रमः

देव्युवाच—

विना योगं न सिध्येत कुण्डलीचङ्क्रमः प्रभो।
मूलपद्मे कुण्डलिनी यावन्निद्रायिता प्रभो ॥ ३६ ॥
तावन्न किंचित् सिध्येत मन्त्रयन्त्रार्चनादिकम्।
जागर्ति यदि सा देवी बहुभिः पुण्यसञ्चयै ॥ ३७ ॥
तदा प्रसादमायान्ति मन्त्रयन्त्रार्चनादयः।
शिववद्विहरेल्लोके अष्टैश्वर्यसमन्वितः ॥ ३८ ॥
योगयोगाद् भवेन्मुक्तिर्मन्त्रसिद्धिरखण्डिता।
सिद्धे मनौ परावाप्तिरिति शास्त्रार्थनिर्णयः ॥ ३९ ॥

युक्तात्मा येन विहरेत् स्वर्गे मर्त्ये रसातले ।
जीवन्मुक्तश्च देहान्ते परं निर्वाणमाप्नुयात् ॥ ४० ॥
तत् कात्स्न्येन परं योगं कथयस्व मयीश्वर ।

योगकथन का उपक्रम—देवी ने कहा—हे प्रभो! विना योग के कुण्डलिनी का चंक्रम अर्थात् जागरण सिद्ध नहीं होता । हे प्रभो! मूलाधाररूपी कमल में जब तक कुण्डलिनी सुप्त रहती है तब तक मन्त्र यन्त्र पूजा आदि कुछ भी सिद्ध नहीं होता । अनेक पुण्यसञ्चय से जब वह देवी जागृत होती है तब मन्त्र यन्त्र पूजा आदि सफल होते हैं । (जिस साधक की कुण्डलिनी जाग जाती है वह) आठ ऐश्वर्यों अर्थात् आठ सिद्धियों से युक्त होकर शिव के समान इस संसार में विचरण करता है । योग के योग से मुक्ति और मन्त्र की अखण्ड सिद्धि होती है । मन्त्र के सिद्ध होने पर परतत्त्व का साक्षात्कार होता है—ऐसा शास्त्रों के तात्पर्य का निर्णय है । हे ईश्वर! जिसके द्वारा योगयुक्त मनुष्य स्वर्ग मर्त्य और पाताल में स्वच्छन्द विचरण करता है और जीवन्मुक्त होकर देहान्त में परम निर्वाण को प्राप्त होता है उस परयोग को मुझको बतलाइये ॥ ३६-४०- ॥

योगयोगाङ्गवर्णनम्

ईश्वर उवाच—

कथयामि तव स्नेहाद् योगयोग्यासि पार्वति ॥ ४१ ॥
संसारोत्तारणं मुक्तिर्योगशब्देन कथ्यते ।
योगो हि ललिता देवी निश्चितं विद्धि पार्वति ॥ ४२ ॥
न योगो नभसः पृष्ठे न भूमौ न रसातले ।
ऐक्यं जीवात्मनोश्चाहुर्योगं योगविशारदाः ॥ ४३ ॥
कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यसंज्ञकाः ।
तत्समूहाः षडाख्याता योगविघ्नकरा इमे ॥ ४४ ॥
यो(गज्ञै?गाङ्गै)रेभिर्जित्वै तान्योगिनो योगमाप्नुयुः ।
यमं नियममासनप्राणायामौ ततः परम् ॥ ४५ ॥
प्रत्याहारं धारणाख्यं ध्यानं सार्धं समाधिना ।
अष्टाङ्गान्याहुरेतानि योगिनो योगसाधने ॥ ४६ ॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम् ।
क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चेति यमा दश ॥ ४७ ॥
तपः सन्तोषमास्तिक्यं दानं देवस्य पूजनम् ।
सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो हुतम् ॥ ४८ ॥

दशैते नियमाः प्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः ।
पद्मासनं स्वस्तिकाख्यं भद्रं वज्रासनं तथा ॥ ४९ ॥
वीरासनमिति प्रोक्तं क्रमादासनपञ्चकम् ।
ऊर्वोरुपरि विन्यस्य सम्यक् पादतले उभे ॥ ५० ॥
अङ्गुष्ठौ च निबध्नीयाद् हस्ताभ्यां व्युत्क्रमात् ततः ।
पद्मासनमिति प्रोक्तं योगिनां हृदयङ्गमम् ॥ ५१ ॥
जानूर्वोरन्तरे सम्यक् कृत्वा पादतले उभे ।
ऋजुकायो वसेद्योगो स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥ ५२ ॥
सीवन्याः पार्श्वयोर्न्यस्येद् गुल्फयुग्मं सुनिश्चलम् ।
वृषणाधः पादपार्ष्णि पाणिभ्यां परिबन्धयेत् ॥ ५३ ॥
भद्रासनं समुद्दिष्टं योगिभिः परिकीर्तितम् ।
ऊर्वोः पादौ क्रमान्न्यस्य जान्वोः प्रत्यङ्मुखाङ्गुली॥ ५४ ॥
करौ निदध्यादाख्यातं वज्रासनमनुत्तमम् ।
एकं पादमधः कृत्वा विन्यस्योरावथेतरम् ॥ ५५ ॥
ऋजुकायो वसेद्योगी वीरासनमितीरितम् ।

योग और योगाङ्गों का वर्णन—ईश्वर ने कहा—हे पार्वति! तुम्हारे प्रेम के कारण मैं तुमको बतला रहा हूँ क्योंकि तुम योग के योग्य हो । संसार से पार होना मुक्ति है और 'योग' शब्द से यही कही जाती है । योग ही ललिता देवी है—यह निश्चित रूप से जानो । योग न तो आकाश के पीछे, न ही पृथ्वी पर और न रसातल में रहता है । जीवात्मा और परमात्मा की एकता को ही योगविशारद लोग योग कहते हैं । काम क्रोध लोभ मोह मद और मात्सर्य ये छह पृथक-पृथक अथवा उनका समूह, ये सब योग के विघ्नकारक हैं । अधोलिखित योगाङ्गो के द्वारा इनको जीतकर योगी लोग योग को प्राप्त किये । यम निमय आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि इन आठ अङ्गों को योगीलोग योगसाधन के विषय में अङ्ग मानते हैं ।

१. यम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, सरलता, क्षमा, धैर्य, सीमित आहार और शौच ये दश यम कहे जाते हैं ।

२. नियम—तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, देवता का पूजन, शास्त्रीय सिद्धान्तों का श्रवण, लज्जा, मनन, जप और होम, योगशास्त्रविशारदों ने इन्हें नियम कहा है ।

३. आसन—पद्मासन, स्वस्तिकासन, भद्रासन, वज्रासन तथा वीरासन—ये पाँच आसन कहे गये हैं । (इनका विशेष विवरण निम्नलिखित है—) दोनों जाँघों के ऊपर पैर के दोनों तलुवों को भली प्रकार रखकर दोनों हाथों से पीछे की ओर दोनों अङ्गूठों को पकड़ना पद्मासन कहा गया है । यह योगियों का अत्यन्त प्रिय आसन है । दोनों पादतलों को जाँघों और घुटनों के अन्तर भली-भाँति घुसाकर रखता हुआ योगी शरीर को सीधा रखता है तो इसे लोग स्वस्तिक आसन कहते हैं । सीवनी (= लिङ्गमणि का सन्धिशोथ) के दोनों ओर दोनों गुल्फों (= टखनों) को स्थिर रूप से रखना एवं पैरों की एड़ियों को अण्डकोष के नीचे दोनों हाथों से बाँध देना, योगियों ने इसे भद्रासन कहा है । दोनों पैरों को क्रम से दोनों जाँघों पर रखकर घुटनों पर हाथों को उनकी उँगलियों के साथ उल्टा कर रखें । यह उत्तम वज्रासन है । जब एक पैर को नीचे कर दूसरे पैर को उरु के ऊपर रखने के साथ शरीर को सीधा रख कर योगी लेटता है तो यह वीरासन कहा गया है ॥ ४१-५५- ॥

इडया कर्षयेद्वायुं बाह्यं षोडशमात्रया ॥ ५६ ॥
धारयेत् पूरितं योगी चतुःषष्ट्या च मात्रया ।
सुषुम्नामध्यगं सम्यग् द्वात्रिंशन्मात्रया शनैः ॥ ५७ ॥
नाड्या पिङ्गलया चैवं रेचयेद्योगवित्तमः ।
प्राणायाममिमं प्राहुर्योगशास्त्रविशारदाः ॥ ५८ ॥
भूयोभूयः क्रमात्तस्य व्यत्यासेन समाचरेत् ।
मात्रावृद्धिक्रमेणैव सम्यग् द्वादश षोडश ॥ ५९ ॥
जपध्यानादिभिर्युक्तं सगर्भं तद्विदुर्बुधाः ।
त(दु?द)पेतं विगर्भं च प्राणायामं परं विदुः ॥ ६० ॥
क्रमादभ्यसतः पुंसो देहे स्वेदोद्गमोऽधमः ।
मध्यमः क(ल्प?म्प)संयुक्तो भूमित्यागः परो मतः ॥ ६१ ॥
उत्तमस्य गुणावाप्तिर्यच्छीलनकमिष्यते ।
इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु निराकुलम् ॥ ६२ ॥
बलादाहरणं तेभ्यः प्रत्याहारोऽयमीरितः ।
अङ्गुष्ठगुल्फजानुषु सी(म?व)नीलिङ्गनाभिषु ॥ ६३ ॥
हृद्ग्रीवाकण्ठदेशेषु लम्बिकायां ततो नसि ।
भ्रूमध्ये स्तनके मूर्ध्नि द्वादशान्ते यथाविधि ॥ ६४ ॥
धारणं प्राणमरुतोर्धारणेति निगद्यते ।
समाहितेन मनसा चैतन्यान्तरवर्तिना ॥ ६५ ॥

आत्मन्यभीष्टदेवानां ध्यानं ध्यानमिहोच्यते ।
समत्वभावना नित्यं जीवात्मपरमात्मनोः ॥ ६६ ॥
समाधिमाहुर्मुनयः प्रोक्तमष्टाङ्गलक्षणम् ।
इति ते कथितं देवि कामादिषट्कनाशनम् ॥ ६७ ॥
दुर्लभं विषयासक्तैः सुलभं संयमात्मनाम् ।

४. प्राणायाम[1]—योगी जब इडा नाडी के द्वारा सोलह मात्रा से बाह्य वायु को अन्दर खींचता है और चौंसठ मात्रा से उसे अन्दर रोकता है तथा पिङ्गला नाडी के द्वारा बत्तीस मात्रा से धीरे-धीरे बाहर छोड़ता है तो इसे योगशात्र विशारदजन प्राणायाम कहते हैं । इस प्राणायाम का बार-बार उलट फेर करके अभ्यास करना चाहिये । इसकी मात्रा बारह या सोलह मात्रा के क्रम से बढ़ाई जानी चाहिये (अर्थात् सोलह मात्रा के स्थान पर १६ + १२ = २८ मात्रा इसी प्रकार ६४ + १२ = ७२ करना चाहिये । इसी प्रकार १६ मात्रा से बढ़ाना चाहिये ।) इसे एक बार से प्रारम्भ कर क्रमशः बढ़ाते हुए बारह बार अथवा सोलह बार करना चाहिये । यह प्राणायाम यदि जप ध्यान आदि से युक्त होता है तो उसे विद्वान् लोग सगर्भ प्राणायाम मानते हैं और उनसे रहित को विगर्भ कहते हैं । इस प्राणायाम का क्रमशः अभ्यास करने वाले पुरुष के शरीर में पसीना होने लगता है । यह अधम कोटि का प्राणायाम है । मध्यम प्राणायाम में शरीर में कम्पन होती है और प्राणायाम करने के समय यदि योगी भूमि को छोड़कर ऊपर उठ जाय तो यह उत्तम प्राणायाम होता है । उत्तम प्राणायाम में गुणों की जो प्राप्ति होती है उसे शीलनक कहते हैं ।

५. प्रत्याहार—विषयों में स्वच्छन्द विचरण करने वाली इन्द्रियों को बलपूर्वक उनके विषयों से हटाना प्रत्याहार कहा जाता है ।

६. धारणा—अङ्गूठा गुल्फ जानु सीवनी लिङ्ग नाभि हृदय ग्रीवा कण्ठ लम्बिका नासिका भ्रूमध्य स्तनक (= ललाट?) शिर तथा द्वादशान्त में प्राणवायु को विधिवत् धारण करना धारणा कही जाती है ।

७. ध्यान—एकाग्र एवं चैतन्यान्तरवर्ती मन के द्वारा अपने अन्दर अभीष्ट देवता का चिन्तन ध्यान कहलाता है ।

८. समाधि—जीवात्मा और परमात्मा में नित्य समत्व भावना को मुनिलोग समाधि कहते हैं । हे देवि! इस प्रकार तुमको काम आदि छह रिपुओं का नाश

---

१. इसके अनेक प्रकार योगोपनिषदों में वर्णित हैं ।

करने वाला, विषयी लोगों के द्वारा दुर्लभ और संयमी लोगों के द्वारा सुलभ, अष्टाङ्गयोग बतलाया गया ॥ ५६-६७- ॥

समाधिस्वरूपवर्णनम्

समाधिः संविदुत्पत्तिः परजीवैकतां प्रति ॥ ६८ ॥
यदि जीवः पराद्भिन्नः कार्य्यतामेति सुव्रते ।
(स्व?अ)चित्त्वं च प्रसज्येत घटवत् परमेश्वरि ॥ ६९ ॥
विनाशित्वं भयं चैव
द्वि(त?ती)या(वि?दि)ति ते श्रुतिः ।
नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः ॥ ७० ॥
एकः सन् विद्यते भ्रान्त्या मायया न स्वरूपतः ।
तस्माद् द्वैतं न मे चास्ति न प्रपञ्चो न सं(स्मृ?सृ)तिः॥ ७१ ॥
यथाकाशो घटाकाशो महाकाश इतीरितः ।
तथा भ्रान्तिर्द्विधा प्रोक्ता ह्यात्मजीवेश्वरात्मना ॥ ७२ ॥
नाहं देहो न च प्राणो नेन्द्रियाणि तथैव च ।
न मनो नैव बुद्धिश्च नैव चित्तमहंकृतिः ॥ ७३ ॥
नाहं पृथ्वी न सलिलं न च वह्निस्तथानिलः ।
न चाकाशो न शब्दश्च न च स्पर्शस्तथा रसः ॥ ७४ ॥
नहि गन्धो न रूपं च न मायाहं न संसृतिः ।
सदा साक्षिस्वरूपत्वाद् ब्रह्म चैवास्मि केवलः ॥ ७५ ॥
सोऽहं ब्रह्म न संसारी न मत्तोऽन्यत् कदाचन ।
इति विद्यात् स्वमात्मानं समाधिः परिकीर्तितः ॥ ७६ ॥

समाधि के स्वरूप का वर्णन—परमात्मा और जीवात्मा के ऐक्य की संवित् अर्थात् भावना की उत्पत्ति समाधि कही जाती है । हे सुव्रते! यदि जीवात्मा परमात्मा से भिन्न है तो वह कार्य माना जायगा और फिर हे परमेश्वरि! वह घट के समान अचित् (= जड़) हो जायगा । तब वह विनाशी और भयवाला होने लगेगा क्योंकि द्वितीय से भय होता है—यह तुम्हारी श्रुति[1] है । इसलिये जीवात्मा नित्य सर्वव्यापी कूटस्थ[2] एवं दोषरहित है । वह एक होता हुआ भी माया के कारण भ्रमवश भिन्न प्रतीत होता है । स्वरूपतः वह भिन्न नहीं है । इसलिये मेरे

---

१. द्वितीयाद् वै भयं भवति । बृ.उ. १।४।२
२. कूट इव तिष्ठति इति कूटस्थः अर्थात् कूट (= लोहार की निहाई) के समान अपरिवर्तनशील रहता है ।

अन्दर न द्वैत है, न प्रपञ्च और न संसार । जिस प्रकार एक ही आकाश घटाकाश और महाकाश (के रूप में भिन्न) कहा जाता है उसी प्रकार भ्रान्ति जीवात्मा और परमात्मा के भेद से दो प्रकार की कही गयी है । मैं न देह हूँ न प्राण न इन्द्रियाँ न मन, न बुद्धि न चित्त और न अहङ्कार । न मैं पृथ्वी हूँ न जल न अग्नि न वायु और न आकाश । न मैं शब्द हूँ न स्पर्श न रस न गन्ध और न रूप । न मैं माया हूँ न संसार । मैं सर्वदा साक्षीस्वरूप होने के कारण केवल ब्रह्म हूँ । वह मैं ब्रह्म संसारी नहीं हूँ । मुझसे अन्य कोई नहीं है । इस प्रकार जो अपने को जानता है वह समाधि वाला कहा जाता है ॥ ६८-७६ ॥

समाधौ स्वस्वरूपोऽसौ तुरीयस्वर एव हि ।
तुरीयांशः पराशक्तिर्बिन्द्वात्मा ब्रह्म केवलम् ॥ ७७ ॥
प्रज्ञात्मानं वदन्त्येके एकेऽपि ब्रह्म केवलम् ।
जीवमीश्वरभावेन विद्यात् सोऽहमिति ध्रुवम् ॥ ७८ ॥
यथा फेनतरङ्गादि समुद्रादुत्थितं पुनः ।
समुद्रे लीयते तद्वज्जगदात्मनि (प्र)लीयते ॥ ७९ ॥
यस्यैवं परमात्मा(स?स्वा)-पृथग्भूतःप्रकाशितः।
स याति परमं भावं स्वयं साक्षात् परामृतम् ॥ ८० ॥
यदा मनसि चैतन्यं भाति सर्वात्मकं सदा ।
योगिनोऽव्यवधानेन तदा सम्पद्यते स्वयम् ॥ ८१ ॥
यदा भूतानि सर्वाणि स्वात्मन्येवाभिपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ब्रह्म सम्पद्यते (स?त) दा ॥ ८२ ॥
यदा सर्वाणि भूतानि समाधिस्थो न पश्यति ।
एकीभूतः परेणासौ तदा भवति केवलः ॥ ८३ ॥
यदा जन्मजरादुःखव्याधीनामेव भेषजम् ।
केवलं ब्रह्मविज्ञानं जायतेऽसौ तदा शिवः ॥ ८४ ॥
तस्माद्विज्ञानतो मुक्तिर्नान्यथा भवकोटिभिः ।
मन्त्रौषधिबलैर्यद्वज्जीर्यते भक्षितं विषम् ॥ ८५ ॥
तद्वत् सर्वाणि कर्माणि जीर्यन्ति ज्ञानिनः क्षणात्।
देहाभिमाने गलिते विदिते परमात्मनि ॥ ८६ ॥
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः ।

समाधि अवस्था में यह योगी अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है । यह चतुर्थ स्वर (= ह्रस्व दीर्घ प्लुत की अपेक्षा सूक्ष्मतर) होता है । यह तुरीयांश

पराशक्ति बिन्दुस्वरूप केवल ब्रह्म होता है । कुछ लोग इस अवस्था को प्रज्ञास्वरूप मानते हैं । दूसरे लोग इस स्थिति को केवल ब्रह्म मानते हैं । साधक को चाहिये कि वह जीव को ईश्वर समझे । उस अवधारणा का स्वरूप है— सोऽहम् (= वह मैं हूँ/मैं वह हूँ) । जिस प्रकार समुद्र में उठने वाले फेन लहर इत्यादि पुनः समुद्र में ही लीन हो जाते हैं उसी प्रकार यह जगत् आत्मतत्त्व (से प्रकट होता है और उसी में) लीन हो जाता है । जिस साधक को इस प्रकार परमात्मा अपने से अपृथक् प्रतीत होता है, वह परम भाव को प्राप्त होता है । वह स्वयं साक्षात् परम अमृत हो जाता है । जब योगी के मन में चैतन्य अव्यवहित रूप से विश्वरूप से आभासित होने लगता है तब वह स्वभाव को प्राप्त हो जाता है । योगी जब समस्त प्राणियों को अपने में तथा अपने को समस्त प्राणियों में देखता है तब वह ब्रह्म हो जाता है ।[१] योगी समाधिस्थ होने पर जब समस्त प्राणियों को नहीं देखता तब वह परतत्त्व के साथ एक हो जाता है । तब वह केवली होता है । जब उसका ब्रह्मविज्ञान केवल जन्म वृद्धत्व दुःख और व्याधि की औषधि बनकर रह जाता है तब वह योगी साक्षात् शिव स्वरूप हो जाता है । इस कारण ब्रह्म विज्ञान से ही मोक्ष लाभ होता है, करोड़ों बार संसार में जन्म लेने से नहीं । जिस प्रकार खाया हुआ विष मन्त्र तथा औषधि के बल से पच जाता है (और खाने वाले की मृत्यु नहीं होती) उसी प्रकार ज्ञानी के समस्त (सञ्चित) कर्म (ज्ञान के प्रभाव से) नष्ट हो जाते हैं (और ज्ञानी उनके संस्कार से प्रभावित नहीं होता) । जब देहाभिमान (अर्थात् यह देह ही मैं हूँ अथवा यह मेरा शरीर है इस प्रकार की धारणा) समाप्त हो जाता है तथा परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है तब जहाँ-जहाँ मन जाता है वहाँ-वहाँ उसके लिये समाधि हो जाती है ॥ ७७-८६- ॥

अहं ब्रह्म न चान्योऽस्मि मुक्तोऽहमिति भावयेत् ॥ ८७ ॥
सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यं मुक्तस्वभाववान् ।
एवं समाधियुक्तो य समाधये स कल्पते ॥ ८८ ॥
सदाशिवोऽहमित्युक्त्वा स्वेच्छया विहरेद्यतिः ।
लिप्यते न स पापेन बध्यते न च कर्मणा ॥ ८९ ॥
यथाग्निविद्रुतं स्वर्णं मालिन्यं दहति क्षणात् ।
तथा ब्रह्मार्पितात्मासौ सर्वकर्माणि दह्यति ॥ ९० ॥
आत्मस्थां देवतां त्यक्त्वा बहिर्देवान्विचिन्वते ।
करस्थं कौस्तुभं त्यक्त्वा भ्रमते(?न्ते) काचतृष्णया॥ ९१ ॥

---

१. तुलनीय—सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ भ.गी. ६।२९

न योगेन न यन्त्रेण न मन्त्रेण विना हि सः (?) ।
द्वयोरभ्यासयोगेन ब्रह्म संसिद्धिकारणम् ॥ ९२ ॥
तमःपरिवृते गेहे घटो दीपेन दृश्यते ।
एवं मायावृतो ह्यात्मा मनुना गोचरीकृतः ॥ ९३ ॥
एतत्ते कथितं देवि ब्रह्मज्ञानमिदं महत् ।
विज्ञाय गुरुतो जप्त्वा संसारसागरं तरेत् ॥ ९४ ॥
यत्र यत्र मृतश्चायं गङ्गायां श्वपचालये ।
ब्रह्मविद् ब्रह्मभूयाय कल्पते नान्यथा प्रिये ॥ ९५ ॥

योगी को चाहिये कि वह—'मैं ब्रह्म हूँ दूसरा नहीं, मैं मुक्त हूँ' ऐसी भावना करता रहे । 'मैं सच्चिदानन्दरूप हूँ नित्य मुक्त स्वभाव वाला हूँ' इस प्रकार की समाधि से जो युक्त होता है वह समाधि लगाने में समर्थ होता है । 'मैं सदाशिव हूँ' ऐसा कहकर जो यति स्वेच्छापूर्वक विहार करता है वह न तो पाप से लिप्त होता है और न कर्म के कारण बन्धन में पड़ता है । जिस प्रकार अग्नि में पिघलाया गया सोना एक क्षण में अशुद्धि को जला देता है उसी प्रकार अपने को ब्रह्म के लिये समर्पित करने वाला यह यति सारे कर्मों को जला देता है । अपने अन्दर स्थित देवता को छोड़कर जो लोग बाहरी देवता की आराधना करते हैं वे हाथ में स्थित कौस्तुभमणि को छोड़कर शीशा को प्राप्त करने के लिये इधर-उधर भटकते हैं । योग यन्त्र और मन्त्र के विना वह योगी ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता । किन्तु (मन्त्र और ध्यान) दोनों के अभ्यास से सिद्धि मिलती है । अन्धकार से भरे घर में घट को दीपक से देखा जाता है । इसी प्रकार माया से आवृत आत्मा का साक्षात्कार मन्त्र से होता है । हे देवि! तुमको यह महान् ब्रह्मज्ञान बतलाया । गुरु से मन्त्र की दीक्षा लेकर उसका जप कर साधक संसारसागर के पार जाता है । हे प्रिये! यह जापक चाहे गङ्गा में प्राणत्याग करे अथवा चाण्डाल के घर में, ऐसा ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म हो जाता है । अन्य उपायों से ऐसा नहीं होता ॥ ८७-९५ ॥

शरीरस्थनाडीषट्चक्रवर्णनम्

विश्वं शरीरमित्युक्तं पञ्चभूतात्मकं प्रिये ।
चन्द्रसूर्याग्नितेजोभिर्जीवब्रह्मैकरूपकम् ॥ ९६ ॥
तिस्र कोट्यस्तदर्धेन शरीरे नाडयो मताः ।
तासु मुख्या दश प्रोक्तास्तासु तिस्रो व्यवस्थिताः॥ ९७ ॥
प्रधाना मेरुदण्डेऽत्र चन्द्रसूर्याग्निरूपिणी ।
शक्तिरूपा तु सा नाडी साक्षादमृतविग्रहा ॥ ९८ ॥

इडा वामे स्थिता नाडी शुक्ला तु चन्द्ररूपिणी।
पिङ्गलाख्या च या दक्षे पुंरूपा सूर्यविग्रहा ॥ ९९ ॥
दाडिमीकुसुमप्रख्या विषाख्या चापरा मता।
मेरुमध्यस्थिता या तु मूलादाब्रह्मरन्ध्रगा ॥ १०० ॥
सर्वतेजोमयी सा तु सुषुम्ना वह्निरूपिणी।
तस्या मध्ये विचित्राख्या अमृतस्राविणी शुभा ॥ १०१ ॥
सर्वदेवमयी सा तु योगिनां हृदयङ्गमा।
विसर्गाद्बिन्दुपर्यन्तं व्याप्य तिष्ठति तत्त्वतः ॥ १०२ ॥

शरीरस्थ नाडी एवं षट्चक्र का वर्णन—हे प्रिये! यह पञ्चभूतनिर्मित शरीर ही विश्व कहा जाता है। चन्द्र सूर्य अग्नि रूप तेज से समन्वित यह जीवरूपी ब्रह्म वाला है। इस शरीर में साढ़े तीन करोड़ नाड़ियाँ स्थित मानी गयी हैं। उनमें दश मुख्य हैं। उन दश में भी तीन सर्वप्रमुख हैं। इनमें सर्वप्रधान नाडी मेरुदण्ड में स्थित है। ये तीनों नाड़ियाँ चन्द्र सूर्य और अग्नि रूप हैं। वह अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी शक्तिरूपा है। जो साक्षात् अमृतरूपा है वह इडा नाडी मेरुदण्ड के बायें भाग में स्थित है। यह नाडी शुक्ल वर्ण की तथा चन्द्ररूपिणी है। पिङ्गला नाडी जो कि मेरुदण्ड के दायें पार्श्व में स्थित है, पुरुषरूपा तथा सूर्यविग्रहा है। यह अनार के फूल के रंग की है। दूसरी अर्थात् पिङ्गला नाडी साक्षात् विष कही गयी है। जो मेरु के अन्दर स्थित है तथा मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक जाती है; सर्वतेजोमयी वह सुषुम्ना है जो कि अग्निरूपिणी है। उस सुषुम्ना के मध्य में एक विचित्रा नाम की नाडी है। यह अमृतस्राव करने वाली शुभ नाडी सर्वदेवमयी और योगियों की अत्यन्त प्रिय है। यह विसर्ग से लेकर बिन्दु पर्यन्त व्याप्त होकर विराजमान है ॥ ९६-१०२ ॥

मूलाधारे त्रिपुराख्ये इच्छाज्ञानक्रियात्मके।
मध्ये स्वयम्भूलिङ्गं तु कोटिसूर्यसमप्रभम् ॥ १०३ ॥
तदूर्ध्वे तत्तुरीयं तु ध्यायेद्बन्धूकसन्निभम्।
तदूर्ध्वे तच्छिखाकारा कुण्डली रक्तविग्रहा ॥ १०४ ॥
सा एव हि परा सूक्ष्मा महात्रिपुरसुन्दरी।
चैतन्यं सर्वभूतानां शब्दब्रह्म यदुच्यते ॥ १०५ ॥

इच्छा-ज्ञान-क्रियात्मक त्रिपुर नामक मूलाधार के मध्य में कोटिसूर्य के समान कान्ति वाला स्वयम्भू लिङ्ग है। उस लिङ्ग के ऊपर तुरीय (= इच्छा ज्ञान क्रिया से परे चतुर्थ) रूप का ध्यान करना चाहिये। इसका रंग बन्धूक के समान है। उसके ऊपर उसकी शिखा के आकार वाली कुण्डलिनी शक्ति है जिसका शरीर

रक्तवर्ण का है । वही परा सूक्ष्मा महात्रिपुरसुन्दरी है । यही समस्त प्राणियों का चैतन्य और शब्दब्रह्म कही जाती है ॥ १०३-१०५ ॥

तत्प्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां देहमध्यगम् ।
सर्वतेजोमयं तत्तु सच्चिदानन्दमव्ययम् ॥ १०६ ॥
तद्बाह्ये हेमवर्णाभं (रं?व)सवर्णं चतुर्दलम् ।
द्रुतहेमसमप्रख्यं पद्मं तत्र विभावयेत् ॥ १०७ ॥
तदूर्ध्वेऽग्निसमप्रख्यं षड्दलं हीरकप्रभम् ।
बादिलान्तषडर्णेन युक् स्वाधिष्ठानसंज्ञकम् ॥ १०८ ॥
मूलमाधारषट्कानां मूलाधारं ततो विदुः ।
स्वशब्देन परं लिङ्गं स्वाधिष्ठानं ततो विदुः ॥ १०९ ॥
तदूर्ध्वे नाभिदेशे तु मणिपूरं महत् पुरम् ।
हेमाभं वैद्युताभं च बहुतेजोमयं तथा ॥ ११० ॥
मणिवद्भिन्नं तत्पूरं मणिपूरं ततो विदुः ।
दशभिश्च दलैर्युक्तं डादिफान्ताक्षरान्वितम् ॥ १११ ॥
विष्णुनाधिष्ठितं पद्मं विश्वालोकनकारणम् ।

उस चैतन्य भूत शब्दब्रह्म को प्राप्त कर अपने शरीर में उसकी भावना करनी चाहिये । वह इस प्रकार—वह चैतन्य प्राणियों के देह के मध्यभाग में अर्थात् लिङ्ग के ऊपर और नाभि के नीचे कुण्डलिनी रूप में स्थित है। वह सर्वतेजोमय, सच्चिदानन्द स्वरूप और अव्यय है । उसके बाहर अर्थात् ऊपर सोने के रंग का चार दलों वाला कमल है । जिसके दलों पर वस अर्थात् व श ष स चार वर्ण स्थित हैं । (इसे मूल आधार कहते हैं) । उसके ऊपर अग्नि के समान आभा वाले छह दलों से युक्त हीरे जैसी चमक वाला कमल है । इसके छह दलों में बादिलान्त अर्थात् ब भ म य र ल ये छह वर्ण स्थित हैं । इस कमल का नाम स्वाधिष्ठान चक्र है । पूर्ववर्णित चक्र चूँकि सारे आधार भूत छह चक्रों का मूल है अतः उसे मूलाधार चक्र कहते हैं । स्व-अधिष्ठान पद में 'स्व' का अर्थ है—परलिङ्ग । चूँकि यह चक्र परलिङ्ग का अधिष्ठान अर्थात् स्थितिस्थल है अतः उसे विद्वान् लोग स्वाधिष्ठान के नाम से जानते है । इसका स्थितिस्थान मूत्राशय के पास नाभि के नीचे पेल्विक प्रदेश है । उसके ऊपर नाभि प्रदेश में मणिपूर नामक महापुर है । यह सोने जैसी आभा वाला साथ ही विद्युत् की कान्ति से युक्त अत्यन्त तेजोमय स्थान है । चूँकि यह मणि के समान भिन्न अर्थात् अन्य चक्रों से पृथक् तथा कठिनाई से भेदन करने योग्य है अतः इसको मणिपूर कहा जाता है । यह चक्र दश दलों वाले कमल से युक्त है और उन दलों पर ड ढ

ण त थ द ध न प और फ—ये दश वर्ण हैं। इस कमल पर विष्णु विराजमान हैं। यह विश्वदर्शन का कारण है अर्थात् इस चक्र का भेदन करने पर योगी को सम्पूर्ण विश्व का करामलकवत् साक्षात्कार होता है ॥ १०६-१११- ॥

तदूर्ध्वेऽनाहतं पद्ममुद्यदादित्यसन्निभम् ॥ ११२ ॥
कादिठान्ताक्षरैरर्कपत्रैश्च समलंकृतम् ।
तन्मध्ये बाणलिङ्गं तु सूर्यायुतसमप्रभम् ॥ ११३ ॥
शब्दब्रह्ममयः शब्दोऽनाहतस्तत्र दृश्यते ।
अनाहताख्यं तत्पद्मं योगिभिः परिकीर्त्यते ॥ ११४ ॥
आनन्दसदनं तत्तु पुरुषाधिष्ठितं परम् ।
तदूर्ध्वे तु विशुद्धाख्यं दलैः षोडशभिर्युतम् ॥ ११५ ॥
स्वरैः षोडशकैर्युक्तं धूम्रवर्णं महत्प्रभम् ।
विशुद्धिं तनुते यस्माज्जीवस्य हंसलोकनात् ॥ ११६ ॥
विशुद्धं पद्ममाख्यातमाकाशाख्यं महाद्भुतम् ।
आज्ञाचक्रं तदूर्ध्वे तु आत्मनाधिष्ठितं परम् ॥ ११७ ॥
हक्षादिद्विदलं पद्मं चन्द्रेणाधिष्ठितं तु तत् ।
आज्ञासंक्रमणं तत्र गुरोराज्ञेति कीर्तितम् ॥ ११८ ॥
कैलासाख्यं तदूर्ध्वे तु बोधिनी तु तदूर्ध्वतः ।
सहस्राराम्बुजं देवि बिन्दुस्थानं तदूर्ध्वतः ॥ ११९ ॥

उस मणिपूर के ऊपर अनाहत चक्र है जो कि उगते हुए सुर्य के समान अत्यन्त अरुण वर्ण का है। यहाँ जो कमल है वह क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट और ठ इन बारह अक्षरों वाला है। इस अनाहत चक्र के मध्य में दश हजार सूर्य के समान प्रभा वाला बाणलिङ्ग है। वहाँ अनाहत शब्दब्रह्म स्थित है। उस कमल चक्र को योगी लोग अनाहत कहते हैं। वह आनन्द का आगार एवं पुरुष अर्थात् ईश्वर से अधिष्ठित है। उसके ऊपर विशुद्ध नामक चक्र है जो षोडश दल कमल वाला है। उसके दलों में सोलह स्वर (= अ आ.........अं अः) रहते हैं। इसका रंग धूम जैसा है तथा यह महाकान्ति वाला है। चूँकि हंस अर्थात् सूर्य का अवलोकन करने से यह जीव की विशुद्धि का विस्तार करता है अतः इसे विशुद्ध पद्म कहा गया है। यह महा अद्भुत आकाश तत्त्व है। इसके ऊपर आज्ञाचक्र है। जिसका अधिष्ठाता आत्मा है। यहाँ द्विदल पद्म है। (ऊपर नीचे दल वाले) इस पद्म के दोनो दलों में ह और क्ष वर्ण स्थित है। यह कमल चन्द्र से अधिष्ठित है। यहाँ जो आज्ञा का संक्रमण होता है वह गुरु की

आज्ञा होती है। आज्ञा चक्र के ऊपर कैलास और उसके ऊपर बोधिनी स्थित है। हे देवि! उसके ऊपर सहस्र दल कमलों वाला बिन्दु स्थान है ॥ ११२-११९ ॥

योनिमुद्राबन्धवर्णनम्

आदौ पूरकयोगेन स्वाधारे योजयेन्मनः ।
गुदमेढ्रान्तरे शक्तिं तामाकुञ्च्य प्रबोधयेत् ॥ १२० ॥
लिङ्गभेदक्रमेणैव बिन्दुस्थानं समानयेत् ।
शम्भुना तां परां शक्तिमेकी(भाव? भूतां) विचिन्तयेत्॥ १२१ ॥
तदुद्भवामृतं वक्त्रद्रुतं लाक्षारसोपमम् ।
पाययित्वा च तां शक्तिं परोक्षां योगसिद्धिदाम् ॥ १२२ ॥
षट्चक्रदेवतास्तत्र सन्तर्प्यामृतधारया ।
आनयेत्तेन मार्गेण मूलाधारं पुनः सुधीः ॥ १२३ ॥
यातायातक्रमेणैव तत्र कुर्यान्मनोलयम् ।
एवमभ्यस्यमानं तु अहन्यहनि पार्वति ॥ १२४ ॥
जरामरणदुःखाद्यैर्मुच्यते भवबन्धनैः ।
इत्युक्तं परमं योगं योनिमुद्राप्रबन्धनम् ॥ १२५ ॥

योनिमुद्रा बन्धन—सबसे पहले पूरक प्राणायाम के द्वारा मन को मूलाधार में लगाना चाहिये। फिर उस शक्ति को गुदा और लिङ्ग के बीच सङ्कुचित कर उसका प्रबोधन करना चाहिये। फिर लिङ्गभेद के क्रम से उस शक्ति को ऊपर बिन्दुस्थान में ले जाना चाहिये। फिर वह शक्ति शिव के साथ अभिन्न हुई है—ऐसी भावना करनी चाहिये। तत्पश्चात् उस योग के कारण उसके मुख से द्रुत अमृत, जो कि लाक्षारस के समान है, को उस योगसिद्धिदायिनी शक्ति को पिलाने के बाद अमृतधारा से छह चक्रों में स्थित देवताओं को तृप्त कर जिस मार्ग से शक्ति को बिन्दु तक ले जाया गया था उसी मार्ग में विद्वान् पुनः उसको मूलाधार तक ले आये। इस पद्धति से बार-बार कुण्डलिनी शक्ति को मूलाधार से बिन्दु और बिन्दु से मूलाधार तक यातायात कर उसमें मन को लीन कर देना चाहिये। हे पार्वति! इस प्रकार प्रतिदिन अभ्यास कर साधक संसार के बन्धन तथा जरा एवं मृत्यु से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार तुमको योनिमुद्रा बन्ध नामक परमयोग बतलाया गया ॥ १२०-१२५ ॥

अन्यविधसमाधिवर्णनम्

अथापरं प्रवक्ष्यामि समाधिं भवनाशनम् ।
अथवा परमेशानि यथोक्तध्यानयोगतः ॥ १२६ ॥

हृत्पद्मकर्णिकामध्ये ध्यायेद्देवीमनन्यधीः ।
त्रिपुरात्मकमात्मानं भावयेन्न्यस्तविग्रहः ॥ १२७ ॥
ऐक्यं सम्भावयेन्नित्यं स्वगुरुदेवतात्मनाम् ।
अहं देवो न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक् ॥ १२८ ॥
सच्चिदानन्दरूपोऽहं शुद्धबुद्धस्वभाववान् ।
प्रणवं पूर्वमुद्धृत्य तदिति परतस्ततः ॥ १२९ ॥
सदिति तु समालोच्य कर्म कुर्याद्विचक्षणः ।
स्मरणात् कर्मणामाद्ये ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १३० ॥
सर्वमङ्गलसम्पन्नो बहिर्निर्गत्य साधकः ।
त्य(क्त?क्त्वा)मूत्रपुरीषे च करपादौ विशोधयेत्॥ १३१ ॥
मुखं प्रक्षाल्य देवेशि नासारन्ध्रद्वयं ततः ।
नेत्राञ्जनं विधायैव शुद्धस्थानं समाश्रयेत् ॥ १३२ ॥
नेत्राञ्जनमकृत्वैव यः पश्येत् सौरमण्डलम् ।
जन्मार्जितफलं नश्येत् का कथा तस्य दुर्मतेः ॥ १३३ ॥
त्रितत्त्वेन त्रि(धा?रा)चम्य दन्तधावनमाचरेत् ।
दन्तकाष्ठम(था?खा)दित्वा पूजयेद्यस्तु देवताम् ॥ १३४ ॥
तत्पूजा विफला देवि मृते च नरकं व्रजेत् ।
क्लीमात्मकं कामदेवं सर्वान्ते जनमालिखेत् ॥ १३५ ॥
प्रियाय हृदयान्तोऽयं मनुर्दन्तविशुद्धये ।
चतुर्दशस्वरैर्वक्त्रं क्षालयेच्छुद्धिहेतवे ॥ १३६ ॥

॥ इति श्रीगन्धर्वतन्त्रे पार्वतीश्वरसंवादे कर्मयोगादिक्रमनिरूपण नामकः षष्ठः पटलः ॥ ६ ॥

अन्य प्रकार की समाधि का वर्णन—अब मैं जन्म एवं संसार की नाशक अन्य समाधि का वर्णन करूँगा । हे परमेशानि! दूसरा विकल्प यह है कि पूर्वोक्त ध्यानयोग के द्वारा हृदयकमल की कर्णिका के मध्य एकत्रित होकर साधक देवी अर्थात् शक्ति का ध्यान करे और अपना शरीर से पृथक शिव रूप में ध्यान करे । साथ ही अपना गुरु एवं देवता आदि से अभिन्न के रूप में ध्यान करे । ध्यान का स्वरूप इस प्रकार है—मैं देव हूँ दूसरा कुछ नहीं । मैं ब्रह्म नहीं हूँ,

शोक का भागी नहीं । मैं शुद्ध बुद्ध स्वभाव वाला सच्चिदानन्द हूँ । इसके बाद विद्वान् 'ओं तत्सत्' की भावना कर कर्म करे । हे आद्या शक्ति! इस प्रकार कर्म का स्मरण करने वह साधक ब्रह्म हो जाता है । सर्वमङ्गल से सम्पन्न हुआ वह साधक घर से बाहर निकल कर मलमूत्र का त्याग कर हाथ पैर का शोधन करे । हे देवेशि! उसके बाद मुख तथा दोनों नासारन्ध्र का प्रक्षालन कर आँखों में अञ्जन लगाकर शुद्ध स्थान में चला जाय । जो साधक नेत्रों में अञ्जन लगाये विना सौरमण्डल का दर्शन करता है उसका इस जन्म में अर्जित शुभ फल नष्ट हो जाता है फिर उस दुर्मति का क्या कहना । तीन तत्त्व (= पृथिवी जल तेज) से तीन बार आचमन कर दन्तधावन करना चाहिये । जो मनुष्य विना दन्तधावन किये देवता की पूजा करता है हे देवि! उसकी वह पूजा निष्फल हो जाती है और मरने पर वह नरक में जाता है । दन्तधावन का मन्त्र इस प्रकार जानना चाहिये—पहले 'क्लीं' लिखकर फिर 'जन' लिखना चाहिये । तत्पश्चात् 'प्रियाय' लिखकर अर्थात् कहकर हृदय कहना चाहिये । (मन्त्र का स्वरूप—क्लीं जनप्रियाय नमः) । इसके पश्चात् अकारादि चौदह स्वरों का उच्चारण करते हुए शुद्धि के लिये मुख का प्रक्षालन करना चाहिये ॥ १२६-१३६ ॥

॥ इस प्रकार गन्धर्वतन्त्र के पार्वतीश्वरसंवाद रूप कर्मयोगादिक्रम-निरूपण नामक षष्ठ पटल की आचार्य राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' नामक हिन्दी व्याख्या सम्पूर्ण हुई ॥ ६ ॥

इस प्रकार साधक को स्वयं मन्त्रमय शरीर वाला होकर मन्त्रमयी देवी की पूजा करनी चाहिये । तीनों लोकों को अरुण वर्ण का ध्यान करते हुए मन में श्रीविद्या का स्मरण करना चाहिये । हे महेशानि! योनिमुद्रा[1] का ब्रह्मरन्ध्र ललाट भ्रूमध्य मुख कण्ठ देश एवं हृदय में क्रम से न्यास करना चाहिये । यह सम्मोहनन्यास त्रिलोकी को सम्मोहित करने में सक्षम है ॥ ५३-५६- ॥

श्रीदेव्युवाच—

अन्तर्यागविधिं ब्रूहि बहिर्यागविधिं तथा ॥ ५७ ॥

श्रीदेवी ने कहा—अन्तर्याग विधि और बहिर्याग विधि को बतलाइये ॥ ५७॥

अन्तर्यागविधिः

ईश्वर उवाच—

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि यजनं चान्तरं महत् ।
मनोजीवात्म(नः?नोः)शुद्धिः प्राणायामेन जायते॥ ५८ ॥
अन्तर्गतं यच्च मलं तच्च शुद्धं प्रजायते ।
प्राणायामैर्विना देवि कृतं कर्म निरर्थकम् ॥ ५९ ॥
प्राणायामात्परं तत्त्वं प्राणायामात् परं तपः ।
प्राणायामात् परं ज्ञानं प्राणायामात् परं पदम् ॥ ६० ॥
प्राणायामात्परं योगं प्राणायामात्परं धनम् ।
नास्ति नास्ति पुनर्नास्ति कथितं तव सुव्रते ॥ ६१ ॥
वत्सराभ्यासयोगेन ब्रह्म साक्षाद्भवेद् ध्रुवम् ।
चैतन्यावरणं यद्वत् क्षीयते नात्र संशय ॥ ६२ ॥
प्राणायामं विना मुक्तिमार्गो नास्ति मयोदितम् ।
प्राणायामेन मुनयः सिद्धिमापुर्न चान्यथा ॥ ६३ ॥
प्राणायामपरो योगी न योगी शिव एव सः ।

अन्तर्याग विधि का वर्णन—हे देवि! सुनो, मैं महान् अन्तर्याग विधि को बतलाऊँगा । मन और जीव की शुद्धि प्राणायाम से होती है । इसके अतिरिक्त जो अन्दर का मल है वह भी प्राणायाम से शुद्ध होती है । हे देवि! प्राणायाम के

---

१. मध्यमे कुटिले कृत्वा तर्जन्युपरि संस्थिते ।
अनामिके मध्यगते तथैव च कनिष्ठिके ।
सर्वा एकत्र संयोज्या अङ्गुष्ठपरिपीडिता ।
एषा तु प्रथमा मुद्रा योनिमुद्रेयमीरिता ॥ मु.नि. १३७-१३८ ॥

विना सारे किये गये कर्म निरर्थक हो जाते हैं । प्राणायाम से बढ़कर कोई तत्त्व, कोई तप, कोई ज्ञान, कोई पद, कोई योग और कोई धन नहीं है नहीं है नहीं है । हे सुव्रते! यह तुमको बार-बार बतलाया जा चुका है । एक वर्ष तक निरन्तर अभ्यास से मनुष्य निश्चित रूप से साक्षात् ब्रह्म हो जाता है । चैतन्य का आवरण क्षीण हो जाता है । इसमें सन्देह नहीं । प्राणायाम से ही मुनि लोग सिद्धि को प्राप्त किये अन्य उपाय से नहीं । प्राणायाम का अभ्यास करने वाला योगी योगी नहीं शिव होता है ॥ ५८-६३- ॥

प्राणायामस्य लक्षणम्

गमनागमनं वायोः प्राणस्य धारणं तथा ॥ ६४ ॥
प्राणायाम इति प्रोक्तो योगशास्त्रविशारदैः ।
प्राणो वायुरिति ख्यात आयामस्तन्निरोधनम् ॥ ६५ ॥
प्राणायाम इति प्रोक्तो योगिनां योगसाधनम् ।
बाह्यादापूरणं वायोरुदरे पूरको भवेत् ॥ ६६ ॥
सम्पूर्णकुम्भवद्वायोर्धारणं कुम्भको भवेत् ।
बहिर्यद्रेचनं बायोरुदराद्रेचको भवेत् ॥ ६७ ॥
पूरकं च यथाशक्त्या कुम्भकं तच्चतुर्गुणम् ।
कुम्भकार्धं भवेद्रेचः प्राणायामोऽयमीरितः ॥ ६८ ॥
कनिष्ठानामिकाङ्गुष्ठैर्यन्नासापुटधारणम् ।
प्राणायाम स विज्ञेयस्तर्जनीमध्यमे विना ॥ ६९ ॥
वामया पूरयेद्वायुं शनैः शनैस्तु मध्यया ।
धारयेद्दक्षया मुञ्चेदपरं तत् क्रमोत्क्रमात् ॥ ७० ॥
यावच्छक्यं नियम्यासून्मनसैव स्मरन् पराम् ।
मन्त्रस्य मुखबीजं वा समस्तं वा जपन् प्रिये ॥ ७१ ॥

प्राणायाम का लक्षण—प्राणवायु का बाहर जाना और अन्दर आना तथा धारण करना यही प्राणायाम है । योगशास्त्र के विद्वान् इसी को प्राणायाम कहते हैं । प्राण का अर्थ है—वायु । आयाम उसे रोकने को कहते हैं । यही प्राणायाम है जो योगियों के योग का साधन है । वायु को बाहर से उदर में भरना पूरक कहलाता है । भरे हुए कुम्भ के समान उस वायु को रोकना कुम्भक होता है । पेट से बाहर वायु को निकालना रेचक कहलाता है । पूरक को यथाशक्ति करना चाहिये । उसका चार गुना कुम्भक और कुम्भक का आधा रेचक होता है । इसे प्राणायाम कहते हैं । तर्जनी मध्यमा के अतिरिक्त अङ्गुष्ठा अनामिका और कनिष्ठा से नासापुटों को पकड़ना प्राणायाम है । वाम अर्थात् इड़ा नाड़ी से वायु को

धीरे-धीरे अन्दर भरना चाहिये । मध्य नाड़ी से उसे रोकना चाहिये और दाहिनी अर्थात् पिङ्गला नाड़ी से छोड़ना चाहिये । जितनी देर तक सम्भव हो प्राणों को रोककर परा देवता का ध्यान करते हुए मन्त्र के मुख बीज = ओं का या पूरे मन्त्र का जप करते रहना चाहिये ॥ ६४-७१ ॥

कुण्डलिनीस्वरूपवर्णनम्

मूलाधारे त्रिकोणाख्ये कोटिसूर्यसमप्रभे ।
ध्यायेत् कुण्डलिनीं नित्यं कालानलशिखोपमाम् ॥ ७२ ॥
रक्तां सूक्ष्मां च विश्वस्य सृष्टिस्थितिलयात्मिकाम् ।
विश्वातीतां ज्ञानरूपां चिन्तयेदूर्ध्ववाहिनीम् ॥ ७३ ॥
हूङ्कारोच्चारणेनैव समुत्था (य?प्य)परां शिवे ।
षट्चक्रं च विनिर्भिद्य प्रापयित्वा परं शिवम् ॥ ७४ ॥
परानन्देन संयोज्य परमानन्दरूपिणीम् ।
तदभेदसमापन्नामनाकुलमनाः स्मरेत् ॥ ७५ ॥
(श्रा?स्रा)वयित्वा सु(रा?धा)धारां प्रापयेच्छक्तिमण्डलम् ।
तेनैव चक्रभेदेन मूलाधारं समानयेत् ॥ ७६ ॥
मूलादिब्रह्मरन्ध्रान्तं बिसतन्तुस्वरूपिणीम् ।
उद्यत्सूर्यसहस्राभां ध्यायेन्मन्त्रात्मदेवताम् ॥ ७७ ॥

कुण्डलिनी का स्वरूप—करोड़ों सूर्य के समान कान्तिमान त्रिकोण मूलाधार में कालाग्नि की शिखा के समान कुण्डलिनी का ध्यान करना चाहिये । यह रक्तवर्ण की तथा अत्यन्त सूक्ष्म है । यह विश्व की सृष्टि-स्थिति-प्रलय स्वरूपा है । विश्वातीत एवं ज्ञानरूप इसका नीचे से ऊपर की ओर जाती हुई ध्यान करना चाहिये । हे शिवे! हुङ्कार के द्वारा इस परा को उद्बोधित कर षट्चक्र का भेदन करते हुए इसे सहस्रार में स्थित शिव के पास पहुँचाना चाहिये । परम आनन्दस्वरूपिणी इसको परानन्दरूप शिव से संयुक्त कर उस शिव से अभिन्न हुई इसका शान्त मन से ध्यान करना चाहिये । इसके ऊपर अमृतधारा की वर्षा कर इसे शक्तिमण्डल में ले जाना चाहिये । जिस क्रम से चक्रभेदन हुआ है उसी क्रम से पुनः इसको मूलाधार में ले आना चाहिये विसतन्तु (= कमलनाल के धागे) के समान, उगते हुए सहस्रों सूर्य के सदृश आभा वाली मन्त्रात्मदेवता इस कुण्डलिनी का मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक ध्यान करना चाहिये ॥ ७२-७७॥

कुण्डलीं त्रिविधां तत्र तथा बीजत्रयं त्रिधा ।
तुरीयां कुण्डलीं मूर्ध्नि महात्रिपुरसुन्दरीम् ॥ ७८ ॥

वाग्भवं मूलदेशे च द्रवत्स्वर्णनिभं स्मरेत् ।
मूलादिहृदयं यावद् वह्निकुण्डलिनीं तथा ॥ ७९ ॥
हृदये कामराजं च सूर्यकोटिसमप्रभम् ।
सूर्यकुण्डलिनीं तत्र सूर्यकोटिसमप्रभाम् ॥ ८० ॥
हृदयाद्गलपर्यन्तं ध्यायेदनाकुलः शिवे ।
भ्रूमध्ये शक्तिबीजं तु चन्द्रकोटिसमप्रभम् ॥ ८१ ॥
भ्रूमध्याद् ब्रह्मरन्ध्रान्तं चन्द्रकुण्डलिनीं शिवे ।
चन्द्रकोटिसमप्रख्यां (श्र?स्र) वदमृतविग्रहाम् ॥ ८२ ॥

इस देह में तीन कुण्डली[1] (= अधः मध्य और ऊर्ध्वकुण्डली) का तथा तीन बीज (= ऐं क्लीं सौः) का ध्यान करना चाहिये । महात्रिपुरसुन्दरी चतुर्थ कुण्डली का शिर में ध्यान करना चाहिये । मूलाधार में द्रवत्स्वर्ण के समान वाग्भव बीज (= ऐं) का ध्यान करना चाहिये । मूलाधार से हृदय पर्यन्त अग्निकुण्डलिनी का ध्यान करना चाहिये । हृदय में कोटिसूर्य के समान दीप्तिमान् कामराज बीज (= क्लीं) का ध्यान करना चाहिये । हे शिवे! हृदय से लेकर गलपर्यन्त शान्तचित्त होकर कोटिसूर्य सदृश सूर्यकुण्डलिनी का ध्यान करना चाहिये । भौहों के मध्य कोटिचन्द्र के समान कान्ति वाले शक्तिबीज (= सौः) का ध्यान करना चाहिये । हे शिवे! भ्रूमध्य से ब्रह्मरन्ध्र तक चन्द्रकुण्डली का ध्यान करना चाहिये जो कि कोटिचन्द्र के सदृश तथा अमृतस्राव करने वाली है ॥ ७८-८२ ॥

बीजत्रयमयीं बिन्दौ तुर्यां बिन्दुत्रयात्मिकाम् ।
देशकालानवच्छिन्नां सर्वतेजोमयीं स्मरेत् ॥ ८३ ॥
तुर्यकुण्डलिनीं तद्वत्केवलं ज्ञानविग्रहाम् ।
एवं ध्यात्वा पुनर्विद्यां सम्पूर्णां मनसा स्मरेत् ॥ ८४ ॥
चिदानन्दमयीं स्वच्छामेकात्मकतया प्रिये ।
सुधावृष्ट्याभिपतन्त्या तर्पयेत् परदेवताम् ॥ ८५ ॥
ध्यात्वा ध्यात्वा पुनर्ध्यात्वा सहजानन्दविग्रहाम् ।
बिन्दु(श्रु?स्रु)तसुधाभिस्तुतर्पयेच्च पुनः पुनः ॥ ८६ ॥

बिन्दु में तीन बीजों (= ऐं क्लीं सौः) वाली तीन बिन्दुस्वरूपा तुरीय अर्थात् चतुर्थ कुण्डली का ध्यान करना चाहिये । यह देश काल की सीमा से परे सर्वतेजोमयी तथा केवल ज्ञानमयी है—ऐसा स्मरण करना चाहिये । ऐसा ध्यान

---

१. वस्तुतः कुण्डलिनी एक ही है । स्थान और सहकारी उपादान से वह पृथक्-पृथक् नामों से जानी जाती है ।

करने के बाद पुनः सम्पूर्ण विद्या का चिदानन्दमयी स्वच्छ स्वरूपा के रूप में ध्यान कर उस बिन्दु से बरसने वाली अमृतवर्षा से परा देवता को तृप्त करना चाहिये। स्वभावतः आनन्दमूर्त्ति परा देवता का बार-बार ध्यान कर बार-बार अमृतधारा से उसका तर्पण करना चाहिये ॥ ८३-८६ ॥

अन्तर्याग इति प्रोक्तो जीवतो मुक्तिदायकः।
मुनीनां च मुमुक्षूणामधिकारोऽत्र केवलम् ॥ ८७ ॥
प्रातः सायं चरेन्नित्यं षोडश प्राणसंयमान्।
नाशयेत् सर्वपापानि तृणराशिमिवानलः ॥ ८८ ॥
सर्वेषामेव पापानां प्रायश्चित्तमिदं स्मृतम्।
स्वदेहस्थं यथा सर्पश्चर्मोत्सृज्य निरामयः ॥ ८९ ॥
प्राणायामात्तथा मुञ्चेदविद्याकामकर्मकम्।
परोपपापजं पापं परद्रव्यापहारजम् ॥ ९० ॥
परस्त्रीमैथुनोत्पन्नं प्राणायामशतं दहेत्।
महापातकजातानि ब्रह्महत्यादिकानि च ॥ ९१ ॥
सर्वाण्येतानि दह्यन्ते प्राणायामचतुःशतैः।
(नमः?मनः)शक्तिः समाख्याता पञ्चास्याः पञ्च देहगाः ॥ ९२ ॥
एकरूपं शिवं कृत्वा तदङ्के तां निवेशयेत्।
शून्यरूपे परे स्थाप्य तावुभौ सममास्थितौ ॥ ९३ ॥
चिन्तयेत् साधको नत्वा नादरूपं तयोः क्रमात्।
तदन्तर्मनसात्मानं ज्योतीरूपं सनातनम्।
समाधिना समागत्य त्यजेत् संसारबन्धनम् ॥ ९४ ॥

॥ इति श्रीगन्धर्वतन्त्रे पार्वतीश्वरसंवादे नित्यन्यासान्तर्यागविधि-
निरूपणंनामैकादशः पटलः ॥ ११ ॥

यही अर्न्तयाग कहा गया है। यह जीवन्मुक्ति प्रदान करता है। इस याग में केवल मुनियों और मुमुक्षुओं का अधिकार बतलाया गया है। नित्य प्रातःकाल एवं सायङ्काल सोलह बार किया गया प्राणायाम सारे पापों को उसी प्रकार जला देता है जैसे अग्नि तृण राशि को। इसे समस्त पापों का प्रायश्चित्त कहा गया है। जिस प्रकार साँप अपने देह पर स्थित केंचुल को छोड़कर नीरोग हो जाता है उसी प्रकार प्राणायाम से मनुष्य अविद्या जन्म कर्म और उसके फल को छोड़कर मुक्त हो जाता है। दूसरे के उपपाप, दूसरों के द्रव्य के अपहार से जन्य पाप,

परस्त्री समागम से उत्पन्न पाप को साधक सौ प्राणायाम करके जला डालता है। चार सौ प्राणायाम के द्वारा ब्रह्महत्या आदि महापातक जला दिये जाते हैं। मन:शक्ति पाँच मुखों वाली एवं पाँच देह में स्थित रहने वाली कही गयी है। जीव शिव एवं परम शिव को एक रूप बनाकर मन:शक्ति को उसके अङ्क में बैठाना चाहिये। परशून्य में उसको स्थापित कर उन दोनों अर्थात् शिव और शक्ति का समान रूप से स्थित ध्यान करना चाहिये। साधक उन दोनों को प्रणाम कर उनके नादरूप का ध्यान करे। सनातन ज्योतीरूप उस आत्मा का अन्तर्मन से समाधि के द्वारा साक्षात्कार कर साधक इस संसारबन्धन से मुक्त हो जाता है ॥ ८७-९४ ॥

॥ इस प्रकार गन्धर्वतन्त्र के पार्वतीश्वरसंवादान्तर्गत नित्यन्यास-अन्तर्याग-निरूपण नामक एकादश पटल की आचार्य राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' नामक हिन्दी व्याख्या सम्पूर्ण हुई ॥ ११ ॥

एकोनत्रिंशः पटलः

विद्यासाधननिर्णयवर्णनम्

कौलिकजपविधिः

ईश्वर उवाच—

पूर्वोक्तविधिना देवि लक्षार्धं प्रजपेत् तथा ।
रात्रौ ताम्बूलपूर्णास्यस्तथैवोक्तविधानतः ॥ १ ॥
कामरूपं वपुः कृत्वा कामिन्येव महानिशि ।
कुलयुक्तो जपेल्लक्षं निशाया मध्यभागतः ॥ २ ॥
अत्र यत् क्रियते कर्म तदनन्तफलप्रदम् ।

कौलिकजप विधि—ईश्वर ने कहा—हे देवि! साधक रात्रि में मुख में ताम्बूल रखकर यथोक्तविधि के साथ पचास हजार जप करे अथवा साधक कामिनी की भाँति अपने शरीर को कामदेव जैसा सुन्दर बना कर रात्रि के मध्य भाग से आगे कुलयुक्त अर्थात् शक्ति के साथ एक लाख जप करे । इस काल में जो कर्म किया जाता है वह अनन्त फल देता है ॥ १-२- ॥

जपस्य स्थाननयम्

मूलाधारे महादेवि लिङ्गं स्वयम्भूवाचकम् ॥ ३ ॥
ज्योतीरूपं तु योनिस्थं तत्रैव मनसा जपेत् ।
ध्यायेत् कुण्डलिनीं देवीं तद्विद्याक्षररूपिणीम् ॥ ४ ॥
हृदि त्रिकोणमध्ये च बाणलिङ्गे च तेजसि ।
तत्र संचिन्त्य मनसा जपेल्लक्षं समाहितः ॥ ५ ॥
मूर्ध्नि त्रिकोणमध्ये तु इतरं पश्चिमामुखम् ।
तत्र स्थित्वा जपेल्लक्षं यत्र कुत्र समाहितः ॥ ६ ॥
एवं लक्षत्रये सिद्धे यद्भावस्तूपजायते ।

तमुपाश्रित्य भावेन यथा देवस्तथा(रवे? भवेत्) ॥ ७ ॥

जप के तीन स्थान—हे महादेवि! मूलाधार में स्वयम्भू लिङ्ग[1] है। वह ज्योति रूप है तथा योनि में स्थित है। वहाँ पर मन से एक लाख जप करना चाहिये। हे देवि! वहाँ तद्विद्या अर्थात् कुण्डलिनी मन्त्र के अक्षर रूप वाली कुण्डलिनी का ध्यान करना चाहिये। हृदय के त्रिकोण में बाणलिङ्ग है। वह अत्यन्त तेजोमय है। वहाँ उस लिङ्ग का मन से ध्यान कर समाहितचित्त होकर एक लाख जप करना चाहिये। शिर में त्रिकोण के मध्य एक अन्य लिङ्ग है जिसे इतर लिङ्ग कहते हैं। यह पश्चिमाभिमुख रहता है। यहाँ स्थित हो कहीं भी एकाग्रचित्त होकर जप करना चाहिये। इस प्रकार तीन लाख जप के हो जाने पर मन में जो भाव उत्पन्न होता है उसका आश्रयण कर भावना के द्वारा साधक जैसा देव वैसा हो जाता है ॥ ३-७ ॥

नवलक्षं जपेद्विद्यामिह भोगसमृद्धये।
न ध्यानं न च विन्यासो न पूजा न पुरस्क्रिया ॥ ८ ॥
केवलं जपमात्रेण सिद्धयःसिद्धिकाङ्क्षिणाम्।
कोटिजापे तु सम्पूर्णे मनो मन्त्रात्मकं भवेत् ॥ ९ ॥
यावत्तावद्धि जप्तव्यं मनसैव न चान्यथा।
मन्त्रमात्रस्वरूपे च सिद्धे मनसि पार्वति ॥ १० ॥
ध्यानमात्रं मनः कृत्वा ध्यानं ब्रह्मणि चार्पयेत्।
विदिते ब्रह्मणः क्षेत्रे विदितः सर्ववित् प्रभुः ॥ ११ ॥

इस संसार में भोग की वृद्धि के लिये उक्त स्थानों में ३-३ लाख अर्थात् कुल मिलाकर नव लाख जप करना चाहिये। इस जप के क्रम में न ध्यान न न्यास न पूजा और न पुरश्चरण की आवश्यकता होती है। केवल जप मात्र से सिद्धि चाहने वाले को सिद्धि मिलती है। जब एक करोड़ जप पूरा हो जाता है तो मन मन्त्रमय हो जाता है। जब तक ऐसा न हो तब तक मन से जप करते

---

१. जब पराशक्ति आत्मगर्भस्थ विश्व को देखने के लिये उन्मुख होती है तब शक्ति और शिव एक अर्थात् समभाव में वर्तमान होकर बिन्दुरूप में परिणत होते हैं। इस बिन्दु में परम चैतन्य प्रतिफलित होता है। यह चैतन्ययुक्त बिन्दु ज्योतिर्लिङ्ग रूप में प्रकट होता है। यह बिन्दु तान्त्रिक परिभाषा में 'पीठ' कहा जाता है और इसमें अभिव्यक्त चैतन्य स्वयम्भूलिङ्ग के नाम से जाना जाता है। पीठ चार हैं—१. कामरूप, २. पूर्णगिरि, ३. जालन्धर और ४. ओड्यान। स्वयम्भूलिङ्ग कामरूप में, बाणलिङ्ग पूर्णगिरि में, इतरलिङ्ग जालन्धर पीठ में और परलिङ्ग ओड्यान पीठ में अभिव्यक्त होता है।

रहना चाहिये । हे पार्वति! जब मन मन्त्रमय हो जाय तब मन को ध्यान रूप बनाकर ध्यान को ब्रह्म में अर्पित कर देना चाहिये । ब्रह्मक्षेत्र का ज्ञान होने पर साधक विदित-वेदितव्य सर्ववेत्ता और सर्वसमर्थ हो जाता है ॥ ८-११ ॥

नव जपस्थानानि

नव स्थानानि कथ्यन्ते शृणु सावहिता प्रिये ।
ज्योतीरूपं तदाधारे मेढ्रस्थाने शिखाप्रभम् ॥ १२ ॥
नाभिस्थं सूर्यबिम्बाभं तरुणादित्यवर्च्चसम् ।
हृदि ज्योति:शिखाकारं कण्ठे दीपशिखाप्रभम् ॥ १३ ॥
भ्रूमध्ये रत्नसङ्काशं तदूर्ध्वे भास्करप्रभम् ।
लम्बिके चन्द्रबिम्बाभं ततो वैदूर्यसन्निभम् ॥ १४ ॥
नवमे विश्वतेजा हि घण्टावैदूर्य्यसन्निभः ।
लिङ्गरूपी ह्यहं देवि नव लिङ्गानि यानि च ॥ १५ ॥
नव स्थानानि मन्त्रेण क्रमात् संभिद्य कुण्डलीम् ।
विसंज्ञाममृतं पीत्वा पुनराधारमानयेत् ॥ १६ ॥
मूलस्थानगतं मन्त्रं स्मरेदेवं क्रमेण तु ।

जप के नव स्थान—हे प्रिये! जप के नव स्थान बतलाये जा रहे हैं सावधान होकर सुनो । १. मूलाधार में ज्योतीरूप, २. मेढ्रस्थान में अग्नि शिखा के समान, ३. नाभि में सूर्यविम्बवत् दोपहर के सूर्य के समान तेजोमय स्थान हैं । ४. हृदय में ज्योति की शिखा के आकार वाला, ५. कण्ठ में दीपशिखा के समान, ६. भ्रूमध्य में रत्न के समान, ७. उसके ऊपर गुरुचक्र में सूर्य के समान चमक वाला, ८. लम्बिका में चन्द्रबिम्ब और ९. उसके बाद वैदूर्य अर्थात् घण्टावैदूर्य के समान मैं ही लिङ्गरूप में विराजमान हूँ और जो नवलिङ्ग है वे भी मैं ही हूँ । साधक नीचे से ऊपर तक मन्त्र के द्वारा नव स्थानों अर्थात् चक्रों का क्रमश: भेदन कर ऊर्ध्व संज्ञारहित कुण्डली का भी भेदन कर वहाँ अमृतपान करने के बाद पुन: मूलाधार में आ जाय और क्रमश: पुन: मूलाधारगत मन्त्र का स्मरण करे । (इस प्रकार बार-बार ऊपर जाकर अमृतपान करने वाला साधक अमर हो जाता है) ॥ १२-१६- ॥

नवलक्षजपफलम्

नवलक्षप्रमाणं तु जप्त्वा त्रिपुरसुन्दरीम् ॥ १७ ॥
विधिवज्जायते देवि रुद्रमूर्तिरिवापरः ।
मन्त्राणां नव लक्षाणि कृत्वा लिङ्गानि वै नव॥ १८ ॥

* नाथ-सम्प्रदाय में साधना और उसका स्वरूप *

डा० राम कुमार वर्मा ने हिन्दी के आलोचनात्मक इतिहास में नाथ-सम्प्रदाय की साधना को इस प्रकार चित्रित किया है—

गुरुमंत्र
|
वैराग्य

इन्द्रिय निग्रह	प्राण-साधना	मन-साधना
आसन (स्थैर्य)	प्राणायाम (जाप)	प्रत्याहार (विपर्यय)

नाड़ी साधना रसायन	सिद्धि (कुण्डलिनी जागरण)

षटचक्र भेद
(अजपा जप)
सुरति शब्दयोग
(अनदह)
|
शून्य (सहज)
|
निरञ्जन
|
शिव — असंप्रज्ञात समाधि — शक्ति

अनेक विद्वानों ने गोरक्षादि नाथ योगियों के प्रतिपाद्य ज्ञान एवं अद्वैतवाद पर शाङ्कर अद्वैतवाद एवं शाङ्कर ज्ञानवाद का प्रभाव माना है।

शाङ्कर अद्वैत और गोरक्ष-योग-मार्ग—योगियों का कथन है कि उसे 'मुक्त' कहा ही नहीं जा सकता, **जिसको सिद्धियाँ प्राप्त न हों** तथा जिसका कभी पिण्डपात हो क्योंकि—

> 'न हि बहिः प्राण आयाति पिण्डस्य पतनं कुतः?
> पिण्डपातेन या मुक्तिः सा मुक्तिस्तु न कथ्यते॥'

क्या यह सिद्धान्त शाङ्कर अद्वैतवाद एवं उनके ज्ञानमार्ग की साधना में भी मान्य है? नहीं।

आचार्य शंकर और गोरक्षनाथ की मोक्ष संबन्धिनी दृष्टि

गोरक्षनाथ कहते हैं कि जिस प्रकार नमक पानी में मिलकर जलरूप हो जाता है, उसी प्रकार जब देह ब्रह्म को प्राप्त करके तन्मय हो जाता है तब उसे मुक्त कहते हैं—

देहो ब्रह्मत्वमायाति जलतां सैन्धवं यथा।
अनन्यतां यदा याति तदा मुक्तः स उच्यते।।

—योगबीज (१८६)

''स्वसंवेद्यमत्यन्तभासाभासकमयम्'' परमंपदम्'—इस स्वरूप वाले परमपद में व्यष्टि एवं पर पिण्डों का ज्ञान प्रथम साधना है और उनका **'परमपद' में समरसीकरण ही सिद्धि है। 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति'** के अनुसार व्यष्टि पिण्ड एवं सच्चिदानन्दपरमात्मस्वरूप **''परपिण्ड''** का ज्ञान प्राप्त करके परमपद परमात्मा में सामरस्य (ऐक्य) स्थापित करना ही मोक्ष है—

''महासिद्धयोगिभिःपूर्वोक्त क्रमेण परपिण्डादिस्वपिण्डान्तं ज्ञात्वा परमपदे समरसं कुर्यात्।।'' —(पिण्डपदसामरस्य : पञ्चम उपदेश।

''अमरौघ शासनम्' की दृष्टि से मोक्ष 'सहज समाधि' में संलीन मन का मन द्वारा साक्षात्कार है। 'अमरौघशासनम्' नामक गोरक्ष-प्रणीत ग्रंथ में **'मोक्ष'** को **समाधि क्रम से मन द्वारा मनावलोकन कहा गया है**—

'अहो मूर्खता लोकस्य।'

(१) केचिद्वदन्ति शुभाशुभकर्मविच्छेदनं **मोक्षः।**

(२) केचिद्वदन्ति वेदपाठाश्रितो **मोक्षः।**

(३) केचिद् वदन्ति निरालम्बनलक्षणो मोक्षः।

(४) केचिद् वदन्ति ध्यानकलाकरणसंबद्धप्रयोग संभवेन।

(५) रूपबिन्दुनादचैतन्यम्, पिण्डाकाशलक्षणो **मोक्षः।**

(६) केचिद् वदन्ति पूजापूजक मद्यमांसादिसुरत प्रसंगानंद ....**मोक्षः।**

(७) केचिद्वदन्ति मूल कन्दोल्लसित कुण्डली। पंचार लक्षणो.................**मोक्षः।**

(८) केचिद्वदन्ति सुसमदृष्टिनिपातलक्षणो **मोक्षः।**

(९) इत्येवंविध भावनाश्रितलक्षणो न भवति।

* (१०) अथ **मोक्षपदं** कथ्यते—

"यत्र सहजसमाधिक्रमेण मनसा मनः समालोक्यते स एव मोक्षः।।"

—अमरौघ शासनम् ।

पिण्डपदसमरसीकरण—नाथयोग की उच्चतम साधना का स्वरूप **'पिण्डपदसमरसीकरण'** है। यह 'पिण्डपदसामरस्य' नाथ-योग की परम सिद्धि है। **क्या यही सिद्धि शांकर अद्वैत में भी काम्य है ?**

गोरक्षनाथ तो सिद्धियों को इतना महत्व देते हैं कि वे कहते हैं कि जिनमें सिद्धियाँ नही हैं—

(१) वह बंधन-ग्रस्त है।

(२) वह जीवन्मुक्त नहीं हो सकता।

(३) जीवन्मुक्त की परीक्षा सिद्धियों की कसौटी पर उसी प्रकार की जानी चाहिए, यथा कसौटी पर सोने की।

(क) सिद्धिभिः **परिहीनं तु** नरं बद्धं हि लक्षणम्।

(ख) सिद्धिभिर्लक्षयेत्सिद्धं जीवन्मुक्तं तथैव च।।

(ग) जरामरपिण्डो यो जीवन्मुक्तः स एव हि।।

गोरक्षनाथ—योग बीज—(१८३, १८१)।।

(घ) योगमार्गे तथैवेदं सिद्धिजालं प्रवर्तते।। (१८०)

—'योगबीज' (१८०)

प्र०—क्या शाङ्कर वेदान्त एवं उसके ज्ञानमार्ग में भी सिद्धियों का इतना ही महत्व है?

कदापि नही।

प्र०—क्या शाङ्कर अद्वैत ज्ञानमार्ग में भी ज्ञान के साथ योग-साधना को उतना ही अपरिहार्य उच्च स्थान दिया गया है, जितना कि नाथमत में?

कदापि नहीं

प्र०—क्या शाङ्कर मार्ग में भी जीवन्मुक्तों की परीक्षा उनकी सिद्धियों की कसौटी पर की जाती रही है?

कदापि नहीं।

प्र०—क्या सिद्धि-हीन मुक्त पुरुष को शाङ्कर दर्शन में भी बंधनग्रस्त माना जाता है।

कदापि नहीं।

प्र०—क्या योगहीन-ज्ञान को शाङ्कर ज्ञानमार्ग में निष्फल माना जाता है?

कदापि नहीं। फिर गोरक्षनाथ के दर्शन पर शाङ्करज्ञान एवं शाङ्कर अद्वैतका प्रभाव कैसे स्वीकार किया जाय?

प्र०—'जब शरीर ब्रह्मत्व प्राप्त कर ले एवं चिन्मय हो जाय (ब्रह्म में लयीभूत हो जाय, ब्रह्म-तादात्म्य प्राप्त कर ले) तभी उसे मुक्त मानना चाहिए।' क्या यही गोरक्ष-दृष्टि शंकर को भी मान्य है?

नहीं।

'निरुत्थान' (**जीवात्मा-परमात्मा** के अभिन्नत्व या **सामरस्य**) की प्राप्ति का उपाय क्या है?

(१) योगी अपने स्वरूपानुसन्धान (स्व-परपिण्ड का ऐक्य) द्वारा निजावेश (परमेश्वर को अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित देखना) प्राप्त करता है। इसी **'निजावेश'** के परिणामस्वरूप **'निरुत्थान'** या **'सामरस्य'** का उदय हुआ करता है। उसे यह अनुभव होता है कि—

'परपिण्ड' (परमात्मपिण्ड) **मेरा ही 'व्यष्टिपिण्ड'** है। इससे परमात्म पिण्ड एवं स्वपिण्ड में दृष्टिगत भेद का अन्त हो जाता है। इससे अखण्ड परमात्मस्वरूप परमपद का प्रत्यक्षीकरण हो जाता है।

(१) "महासिद्धयोगिभिः स्वकीयपिण्डनिरुत्थानानुभवेन समरसं क्रियत इति सिद्धान्तः।।७।।

(२) **निरुत्थानप्राप्त्युपायः** कथ्यते। महासिद्धिभिः **स्वस्वरूपतयानुसन्धानेन निजावेशा** भवति।

निजावेशात्रिःपीडित **निरुत्थानदशा**महोदयः कश्चिज्जायते ततः सच्चिदानन्द चमत्काराद् अद्भुताकार **प्रकाश-प्रबोधो** जायते, **प्रबोधाद्** अखिलमेतद् द्वयाद्वय प्रकटतया चैतन्यभासकं **परात्परपरमपदमेव** प्रस्फुटं भवतीति सत्यम्।।"

गुरुप्रसाद प्राप्त करके चित्तनिरोधपूर्वक स्वरूप ध्यान एवं समाधि द्वारा स्वपिण्ड से परपिण्ड पर्यन्त ऐक्य का अनुभव करना चाहिए। इससे परमपद (द्वैताद्वैतविवर्जित परमात्मपद) की अनुभूति होती है—

'अतएव महासिद्धयोगिभिः सम्यग् गुरुप्रसादं लब्ध्वा **अवधानबलेनैक्यं** भजमानैस्तत्क्षणात् परमं पदमेवानुभूयते।।'

'तदनुभवबलेन स्वकीयं सिद्धं सम्यङ् निजपिण्डं ज्ञात्वा तमेव परमपद एकीकृत्य तस्मिन् प्रत्यावृत्या रूढ़ैवाभ्यन्तरे स्वपिण्डसिद्ध्यर्थे महत्वमनुभूयते।।१०।।

'निजपिण्डपरीक्षा च स्वस्वरूपकिरणानन्दोन्मेषमात्रं यस्योन्मेषस्य प्रत्याहरणमेव **समरसकरणं** भवति।।'

'अतएव स्वकीयं पिण्डं महद्रश्मिपुञ्जं स्वेनैवाकारेण प्रतीयमान् स्वानुसन्धानेन स्वस्मिन्नुरीकृत्य महासिद्धयोगिनः पिण्डसिद्ध्यर्थं निष्ठन्तीति प्रसिद्धम् ॥''[1]

* ''गोरक्षशतक'' के आलोक में गोरक्ष-योग का स्वरूप *

[ब्रिग्स महोदय ने **'गोरक्षशतक'** को अपनी पुस्तक में रोमन लिपि में प्रकाशित किया है तथा उसका अंग्रेजी में अनुवाद भी किया है। उन्होंने इसे गोरक्षनाथ की सच्ची एवं प्रामाणिक रचना कहकर इसको बहुत महत्त्व प्रदान किया है।]

इस पुस्तक के आरंभ में कहा गया है कि इसमें प्रतिपादित **'गोरक्ष का उत्तम ज्ञान'** योगियों के अभीष्ट को सिद्ध करने वाला, **परमानन्दकारक,** योगियों का हितसाधक, **विमुक्ति का सोपान, कालवञ्चक, परमपदप्रदाता, भोगों से निवृत्त करने वाला, परमात्मा में लीन करने वाला, वेद रूपी कल्पतरु का फल** एवं **भवताप को शमित करने वाला है।**

''द्विज सेवित शाखस्य श्रुतिकल्पतरोः कलम्।
शमनं भवतापस्य **योगं** भजत सत्तमाः॥''

[१] **योग के अङ्ग**—गोरक्षोपदिष्ट योग के ६ अङ्ग हैं—

'आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि वदन्ति षट्॥'

आसनों की संख्या—जीवों के प्रकार की संख्या के बराबर ही आसनों की भी संख्या है, किन्तु शिवजी ने ८४ लाख आसनों का वर्णन किया है। इनमें ८४ प्रधान है।

[२] गोरक्ष योग के प्रधान स्तंभ

(१) षडङ्गयोग (२) षट्चक्र (३) षोडशाधार (४) त्रिलक्ष्य

(५) व्योमपञ्चक (६) एकस्तंभ (७) नवद्वार (८) ५ अधिदैवत

''षट्चक्रं षोडशाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः?

---

१. सिद्धसिद्धान्त पद्धति।

एकस्तंभं नवद्वारं गृहं पञ्चाधिदैवतम्।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः?"

[३] षट्चक्र

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)
आधारचक्र	स्वाधिष्ठानचक्र	नाभिचक्र	अनाहतचक्र	विशुद्धिचक्र	आज्ञाचक्र	सहस्त्रदलचक्र
४ दल	६ दल	१० दल	१२ दल	१६ दल	२ दल	(ब्रह्मरन्ध्र मे स्थित)

खगाण्डवत कन्दयोनि = नाड़ी मण्डल में ७२००० नाड़ियाँ हैं।

[४] प्रधान नाड़ियाँ

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)
'इड़ा' वाम भाग में स्थित	'पिंगला' दक्षिण भाग में स्थित	'सुषुम्णा' मध्यदेश में स्थित	'गांधारी' वामचक्षु में स्थित	'हस्ति' दक्षिणचक्षु में स्थित	'पूषा' दक्षिण कर्ण में स्थित	'यशस्विनी' वामकर्ण में स्थित

(८)	(९)	(१०)
अलम्बुषा (मुख में स्थित)	कुहूनाड़ी (लिङ्ग में स्थित)	शंखिनी नाड़ी (मूलस्थान में स्थित)

ये १० नाड़ियाँ प्राणवाहिनी नाड़ियाँ हैं।

*** इड़ा, पिङ्गला एवं सुषुम्णा नाड़ियाँ ***

'इड़ा पिङ्गला सुषुम्णा च नाड़ी मार्गे समाश्रिताः।
सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः।'

'इड़ा' का देवता-सोम।। **'पिङ्गला' का देवता**—सूर्य। **'सुषुम्णा' का देवता**—अग्नि।

[५] * प्राण मण्डल और १० प्राण *

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)	(८)	(९)	(१०)
'प्राण'	'अपान'	'समान'	'उदान'	'व्यान'	'नाग'	'कूर्म'	'कृकर'	'देवदत्त'	'धनञ्जय'
हृदय में स्थित वायु	गुदा में स्थित वायु	नाभि में स्थित वायु	कण्ठ के मध्य स्थित	शरीर में व्याप्त वायु	उद्गिरण में स्थित वायु	उन्मीलन में स्थित वायु	भूख में स्थित वायु	विजृंभण में स्थित वायु	मृत्यु की स्थिति में भी न छोड़ने वाली वायु

[६] *** प्राणापान की क्रीड़ा एवं गेंद रूप जीव ***

आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथोच्छलति कन्दुकः।
प्राणपानसमाक्षिप्तस्तथा जीवो न तिष्ठति।

* प्राणापान द्वारा निरन्तर आक्षिप्त जीव क्षण भरके लिये भी स्थिर नहीं हो पाता यथा खेला जाता हुआ कन्दुक।।

[७] *** प्राणापानाकर्षण एवं जीव की दयनीय स्थिति ***

रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोऽप्याकृष्यते पुनः।
गुणबद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कृष्यते।।

प्राण एवं अपान को समरस करना ही योगी की साधना है।

*** प्राणापान का समरसीकरण ***

'अपानः कर्षति प्राणं, प्राणोऽपानं च कर्षति।
ऊर्ध्वाधः संस्थितावेतौ संयोजयति योगवित्।।'

योगी का लक्ष्य है ऊपर-नीचे गतिशील प्राणापान को समरस करना। प्राणपान की गति या क्रियायें—

(१) दोनों परस्पर एक-दूसरे को ऊपर नीचे खींचती हैं और उनके साथ जीव भी रातदिन ऊपर-नीचे खिंचता रहता है।

(२) गुणबद्धजीव प्राणापान द्वारा ऊपर-नीचे लगातार उसी प्रकार खिंचता रहता है यथा रस्सी से बँधा श्येन पक्षी।

[८] *** अजपा जप—जीवों की स्वाभाविक मन्त्र-साधना *** इसे ही 'अजपा गायत्री' या 'हंसमंत्र' भी कहते हैं। इस श्वासोच्छ्वासोच्चारित स्वयंसञ्चरित मंत्र में मन को लीन करना ही अजपा जप की साधना है। यह जप अहर्निश (प्रति अहोरात्र में २१ हजार ६०० बार) चलता रहता है। **'हकार'** के साथ श्वास बाहर आती है और **'सकार'** के साथ बाहर जाती है। इस प्रकार अहर्निश "हंसः हंसः" का जप प्रत्येक प्राणी द्वारा निरन्तर किया जाता रहता है—

'हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः।
हंस हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा।।
षट्शतानित्वहो रात्रे सहस्राण्येकविंशतिः।
एतत्संख्यान्वितं **मन्त्रं** जीवो जपति सर्वदा।।'

—(गो० श०)

योगी का लक्ष्य यह है कि वह 'हंसः' अजपा नाम गायत्री मंत्र को उलटकर 'सोऽहं सोऽहं' के रूप में सुने। यही अजपा गायत्री है। अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी। अस्याः संकल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते।।''

अजपा गायत्री की उत्पत्ति कुण्डलिनी से होती है। यह **'प्राणविद्या' 'महाविद्या'** एवं **'गायत्री'** है—

'कुण्डलिन्या समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स **योगवित्**।।'

इस प्राणविद्या का सम्यक् ज्ञाता ही **''योगविद्''** कहलाता है।

[९] * **कुण्डलिनी योग और उसकी साधना** *

मनुष्य के **'नाड़ी-केन्द्र'** के ऊर्ध्व में आठ फेंटे लगाकर स्थित, मुख से ब्रह्मद्वार को रोककर अवस्थित तथा स्वयंभूलिंग को वेष्टित करके विद्यमान जो प्रसुप्ता परमेश्वरी **'मूलाधार चक्र'** में विश्राम कर रही है, उसका ही नाम है **'कुण्डलिनी'**। उसे **'वह्नियोग'** से प्रबुद्ध करके सुषुम्णा में स्थित षट्चक्रों एवं ग्रंथित्रय का भेदन कराते हुए साधक का उसे सहस्रारस्थ शिव से मिलाना (सामरस्य कराना) ही **कुण्डलिनी योग की साधना है।** यह **'कुलाकुलयोग'** ही (शिव-शक्ति-सामरस्य ही) **कुण्डलिनी योग की साधना** है। इसी सामरस्य से योगी **'मोक्ष'** पाता है—

'कुण्डलिन्या तथा योगी **मोक्षद्वारं प्रभेदयेत्।।**' 'शक्तिचालनी**मुद्रा**' **'भस्त्रिका-प्राणायाम' 'वज्रासन'** आदि साधन कुलशक्ति के प्रबोधन के प्रधान साधन हैं।

[१०] * **कुण्डलिनी शक्ति के व्यापार** *

कुण्डलिनी की सुषुप्ति ही जीवों का बन्धन है एवं उसको जागृत करके उसको अकुल से मिलाना ही जीवों की भुक्ति है। अतः 'कुण्डलिनी' मूढ़ों के लिए बन्धनकारिणी एवं योगियों के लिए मोक्षदा है—

'कुन्दोर्ध्वं कुण्डली शक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः।
बन्धनाय च मूढानां योगिनां मोक्षदा स्मृता।।'

मुद्राभ्यास—मुक्ति प्राप्त करने के साधनों में **मुद्राभ्यास** भी महत्वपूर्ण है—

'स योगी भुक्तिभाजनम् ।।'

मुख्य मुद्राएँ हैं—**'महामुद्रा' 'नभोमुद्रा' 'उड्डियान' 'जालन्धर'** एवं **'मूलबन्ध'**। **'खेचरी मुद्रा'** का अपना विशिष्ट महत्व है।

[११] **अमृतपान एवं 'खेचरीमुद्रा'**—

'कालवञ्चन', 'अमृतत्व की प्राप्ति', 'पिण्डपदसमरसीकरण', 'निरुत्थान' ही **नाथ-योग के मुख्य लक्ष्य हैं।**

[१२] * **बिन्दु-साधना (बिन्दुयोग)** *—

योगी गोरक्षनाथ कहते हैं कि—'बिन्दुमूलं शरीरं तु शिरास्तत्र प्रतिष्ठिता:।'' समस्त शरीर बिन्दु' पर ही तो अवस्थित है, अत:—

'मरणं **बिन्दुपातेन,** जीवनं बिन्दुधारणात् ।।''

बिन्दु के पतन को रोकने के लिए **'खेचरी मुद्रा'** (जिह्वा को उलट कर कण्ठमूल में ले जाना) अत्यन्त सहायक है। **जब तक बिन्दु रक्षित** है मृत्यु संभव नहीं है—

'ब्रह्मचर्येण देवाः मृत्युमुपाघ्नत।' (वेद)
'यावद् बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः?'

'खेचरीमुद्रा' 'नभोमुद्रा' एवं 'वज्रोली'—की साधना से बिन्दु का अध:पतन होता ही नहीं। अत: ये साधनायें आवश्यक हैं। बिन्दु का ऊर्ध्वीकरण एवं 'उर्ध्वरेतसत्व' ही ब्रह्मचर्य-साधना या **बिन्दु-साधना का प्राथमिक लक्ष्य** है। बिन्दुजय से अमृतत्व एवं अनेक सिद्धियों की प्राप्ति **द्वितीय लक्ष्य** है। ब्रह्मत्व-साक्षात्कार एवं समरसीकरण तथा मोक्षाप्ति **अन्तिम लक्ष्य** है।

'बिन्दु' और उसके भेद—'बिन्दु' के दो भेद हैं—

(१) 'पाण्डुर बिन्दु (२) 'लोहित बिन्दु'।
(शुक्र) (महाराज)

(१) शुक्र का स्थान : यह चन्द्रस्थान में स्थित है। 'बिन्दु' **शिव** है। बिन्दु **'चन्द्र'** है।

(२) रज का स्थान : यह नाभि में स्थित 'रज' **शक्ति** है। रज **'रवि'** है।

* इन **दोनों की एकता** अत्यन्त दुर्लभ है। इन दोनों के संगम से **'परमपद'** की प्राप्ति होती है। *

वायु के द्वारा शक्ति का चालन करने से जब महारज ऊर्ध्वमुख होकर एवं बिन्दु से मिलकर एक हो जाता है और तब शरीर दिव्य हो जाता है। बिन्दु-साधना से परमपद की प्राप्ति होती है—'उभयोः सङ्गमादेव प्राप्यते परमं पदम् ।'

* **बिन्दु-साधना मोक्ष का साधन है।** *

[१३] * **ओंकार की साधना** *

एकान्त स्थान में सम्यक रीति से **पद्मासनस्थ** होकर, **कण्ठ एवं शिर को समसूत्र में रखकर, नासाग्रभाग** पर **दृष्टि** रखकर **ओंकार का जप** करना चाहिए—

"पद्मासनं समारुह्य समकायशिरोधरः।
नासाग्रदृष्टिरेकान्ते जपेदोङ्कारमव्ययम्॥"

जिसकी मात्राओं में 'भूः', 'भुवः' एवं 'स्वः' तीनों लोक एवं चन्द्र, सूर्य तथा अग्नि देवता स्थित हैं—वही परम ज्योति ओंकारस्वरूप है। (ओंकार का स्वरूप)

ओंकार का स्वरूप

ॐ
→ लोकत्रय (भूर्भुवः स्वः)
→ चन्द्र, सूर्य, अग्नि
→ भूत, भविष्य, वर्तमान
→ ऋक्, यजुः एवं साम
→ स्वर्ग, पाताल, मृत्यु लोक
→ उदात्त, अनुदात्त, स्वरित
→ ब्रह्मा, विष्णु, महेश
→ इच्छा, ज्ञान, क्रिया
→ अ, उ, म (मात्रायें)

प्रणवाभ्यास की आन्तर साधना—

'(१) **वचसा** तज्जपेद् बीजं' = प्रणव की वाणी-साधना
'(२) **वपुषा** तत्समभ्यसेत्' = शरीर-साधना
'(३) **मनसा** तत्स्मरेन्नित्यं' = मन की साधना
'तत्परं ज्योतिरोमिति।'

'(४) शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि यो जपेत् प्रणवं सदा।
न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥'

(पवित्रापवित्र सभी स्थितियों में प्रणव का निरन्तर जप करते रहना चाहिए। इससे किसी भी पाप का स्पर्श नहीं होता।)

प्राण का बिन्दु से सम्बंध—

'चले वाते चलोबिन्दुर्निश्चले निश्चलो भवेत्॥'

(वातचांचल्य→बिन्दु चाञ्चल्य।
वातस्थिरता→बिन्दु-स्थिरता
बिन्दु-स्थिरता→वात-स्थिरता

मरुत-स्थैर्य, चित्त-स्थैर्य एवं भ्रूमध्य मेंदृष्टि का स्थैर्य होने पर —मृत्यु का भय कहाँ?—

"यावद् बद्धो मरुद्देहे यावच्चित्तं निराभयम्।
यावद् दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुत: ?।।"

प्राणापान की गति—प्राणापान की संचार-मात्रा ३६ अंगुल होती है।
प्राणवायु का संग्रह (प्राणस्थैर्य) आवश्यक है।
प्राणायाम से ही नाड़ी-शोधन होता है।

[१४] **प्राणायाम के पूर्व चन्द्रबिम्ब का ध्यान—**

'कुंभक' एवं 'रेचक' से युक्त प्राणायाम-साधना और उसके साथ—(१) अमृत स्वरूप (श्वेत वर्ण के) (२) दधि (धवल) (३) दुग्ध (धवल) **का ध्यान** करके प्राणायामाभ्यास करने वाला सदैव सुखी रहता है।

*** नाभि में अग्निपुञ्जवत प्रदीप्त सूर्य मण्डल का ध्यान ***

प्राणायाम-साधना के समय कुम्भक के काल में साधक को नाभिदेश में स्थित अग्निपुञ्ज के समान प्रदीप्त सूर्यमण्डल का ध्यान करने से बहुत सुख प्राप्त होता है।

दाहिने नासारन्ध्र से पूरक करके **'सूर्यमण्डल'** का ध्यान करते हुए कुम्भक करना चाहिए।

सूर्य एवं चन्द्र की विधि से दोनों बिम्बों—का ध्यान करने से **तीन माह के भीतर** नाड़ियाँ शुद्ध हो जाती हैं। **नाड़ी-शोधन के परिणाम—**

(१) नाड़ियों का शोधन (शुद्धीकरण)
(२) प्राणवायु को धारण करने की सामर्थ्य
(३) जठराग्नि की दीप्ति
(४) आरोग्याप्ति
(५) नाद-श्रवण

'सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिना बिम्बद्वयं ध्यायत:।
शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनो मात्रत्रयादूर्ध्वत:।
यथेष्टं धारणं वायोरनलस्य प्रदीपकम्।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात्।।'

—गोरक्षशतक

'योगबीज' और उसके सिद्धान्त

'योग की परिभाषा क्या है?
गोरक्षनाथ कहते हैं—
(१) **प्राण एवं अपान** का समायोग ही **'योग'** है।

(२) **चन्द्र एवं सूर्य** की एकता ही **'योग'** है।

(३) **रज एवं रेतस** का योग ही **'योग'** है।

(४) **जीवात्मा एवं परमात्मा** का योग ही **'योग'** है।

'योऽपानप्राणयोर्योगः स्वरजोरेतसोस्तथा।
सूर्याचन्द्रभसोर्योगो जीवात्मपरमात्मनोः।'

(५) इसके अतिरिक्त द्वन्द्वजाल का संयोग भी **'योग'** है।

'एवं द्वन्द्वजालस्य संयोगो योग उच्यते।।'

—योग बीज

चतुर्विध योग ('अमरौघ प्रबोध' के अनुसार)

(१)	(२)	(३)	(४)
'मंत्रयोग'	**'हठयोग'**	**'लययोग'**	**'राजयोग'**
'यो मंत्रमूर्ति-वशगः स तु **मंत्रयोगः।'**	यस्तु प्रभंजन-विधानरतो **हठस्सः।'**	यच्चित्तसन्तत-लयः सः **लयः** प्रदष्टिः।	यश्चित्तवृत्ति रहितः स तु **राजयोगः।**

'योगबीज' में गोरक्षनाथ कहते हैं कि—

'एक एव चतुर्धाऽयं **महायोगोऽ**भिधीयते।।''

नाथयोग में 'महायोग' और उसके भेद—'महायोग' केवल एक है। **गोरक्षनाथ** ने योग-साधना की विभिन्न प्रणालियों को एक ही **'महायोग'** की विभिन्न पद्धतियाँ कहा।

महायोग की साधना-पद्धतियाँ ('योग तत्त्वं चतुर्विधं')

(१)	(२)	(३)	(४)
'मंत्रयोग'	**'हठयोग'**	**'लययोग'**	**'राजयोग'**

(१) **'मंत्रयोग'** =

'हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेन्मरुत्।
हंसहंसेति मन्त्रोऽयं सर्वजीवा जयन्ति तम्।।
गुरुवाक्यात्सुषुम्णायां विपरीतो भवेज्जपः।।
सोऽहं सोऽहमिति प्राप्तो **मन्त्रयोगः** स उच्यते।।'

(२) **'हठयोग'** =

'प्रतीतिर्वायुयोगाच्च जायते पश्चिमे पथि।
हकारेण तु सूर्योऽसौ ठकारेणेन्दुरुच्यते।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद् **हठयोगो**ऽभिधीयते।
हठेन ग्रस्यते जाड्यं सर्वदोषसमुद्भवम्।।

(३) **'लययोग'** =

क्षेत्रज्ञपरमात्मानौ तयोरैक्यं यथा भवेत्।
तदैक्ये साधिते देवि ! चित्तं याति विलीनताम्।
पवनः स्थैर्यमायाति **लययोगो**दये सति।
लयात्सम्प्राप्यते सौख्यं स्वात्मानन्दपरं पदम्।।

(४) **'राजयोग'** =

अणिमादिपदे प्राप्ते राजते **राज**योगतः।
प्राणपानसमायोगे ज्ञेयं योगचतुष्टयम्।
संक्षेपात्कथितं देवि ! नान्यथा शिवभाषितम्।।

—योगबीजम्

('योगबीज' के अनुसार) **मतद्वयः 'मर्कटमत'** एवं **'काकमत'**

(१) ''मर्कट मत'' (२) ''काकमत''

'चिरात् सम्प्राप्यते सिद्धिः **मर्कटक्रम** एव सः।।'
पूर्वजन्मकृताभ्यासात्सत्वरं फलमश्नुते।
एतदेव हि विज्ञेयं **तत्काकमत**मुच्यते।।

योग की अन्य पद्धतियाँ

(१) 'पिपीलिका योग' (क्रम-साधना) (२) 'विहंगम योग' (अक्रम ज्ञान-साधना)

लययोग की अन्य विधियाँ—'अमरौघ प्रबोध' में गोरक्षनाथ ने 'लययोग' का स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

साधक को अपने शरीर के 'मूलाधारचक्र' में **मन के प्रतीक के रूप में**

प्रतिष्ठित 'कामरूपपीठ' में मणि के समान स्वयं प्रकाशित एवं सर्वकारणभूत आत्मा के समान ज्योतिर्मय, सृष्टि-स्थिति-प्रलय के अधिष्ठान (लिंग) रूप मोक्षप्रदाता शिव का **स्वयंभू लिंग के रूप में ध्यान करना चाहिए।** साथ ही यह भावना भी करनी चाहिए कि 'तालु चक्र' में स्थित चन्द्रमण्डल से स्रवित सुधाधारा इस शिवलिङ्ग का अमृताभिषेक करने के साथ उसके **सर्वाङ्ग को भी सोमकला के प्रवाह से आप्लावित** कर रही है। इस प्रकार के ध्यानयोग की भावना का ६ मास तक निरन्तराभ्यास करने पर '**लययोग**' की सिद्धि हो जाती है। सससे शरीरजन्य वलीपलित नष्ट हो जाती है और साधक **तीन सौ वर्ष तक** जीता रहता है—

'कामरूपे शिवं देवं लिङ्गाभं मणिसन्निभम्।
स्रवन्तं चामृतरसं यो ध्यायेन्निजविग्रहे।
निरन्तरकृताभ्यासात् षण्मासात् सिद्धिभाग्भवेत्।
वलीपलितनिर्मुक्तो जीवेदब्दशतत्रयम्।।'[१]

शरीर की पञ्चभूतात्मकता—गोरक्षनाथ कहते हैं कि शरीर में पाँचों तत्त्वों के एक-एक मण्डल विद्यमान हैं। उनकी शरीर में स्थिति इस प्रकार है—

पञ्चभूतात्मको देहः पञ्चमण्डलपूरितः।
काठिन्यात्पृथिवी **पृथ्वी** ज्ञेया पानीयं यद् द्रवाकृतिः।
दीपनं तु भवे**त्तेजः** स्पर्शो वायोस्तथा भवेत्।
आकाशे चेतनं सर्वं ज्ञातव्यं योगमिच्छता।।[२]

वायु तत्त्व और श्वास का सम्बन्ध—

षट्च्छतान्यदधिकान्यत्र सहस्राण्येकविंशतिः।
अहोरात्रं वहेच्छ्वासो वायुमण्डलरेचनात्।।

वायुमण्डल का रेचन—जीव की २१ हजार ६०० श्वासें।

'अमरौघ प्रबोध' के अनुसार **'हठयोग'** एवं **'राजयोग'** दोनों के भी भेद हैं—

'हठयोग'
- (१) प्राणनिरोध
- (२) बिन्दुनिरोध

'राजयोग'
- (१) औषधिपरक
- (२) आध्यात्मिक

---

१. अमरौघ प्रबोध (२८)
२. तत्रैव (५६-५७)

'हठयोग' एवं 'राजयोग' को इस प्रकार भी (अन्यत्र) व्याख्यायित किया गया है—

'हठयोग' ↓	'राजयोग' ↓
(१) ह+ठ+योग = सूर्य+चन्द्र+योग (२) ह+ठ+योग = प्राण+अपान+योग (३) ह+ठ+योग = दक्षिण+वामस्वर+योगा (४) ह+ठ+योग = यमुना+गंगा+योग (५) ह+ठ+योग = पिंगला+इड़ा+योग (६) ह+ठ+योग = रजस्+रेतस+योग	'योनिमध्ये महाक्षेत्रे जपाबंधूक-सन्निभम्। रजो वसति जन्तूनां देवी तत्त्वं समावृत्तम। रजसो रेतसो योगा-द्राजयोगइति स्मृतः। अणिमादि पदं प्राप्य राजते राजयोगतः॥' योगशिखोपनिषद् (१३६-१३७)

(क) हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद्धठयोगो निगद्यते॥''

—सिद्धसिद्धान्त पद्धति।

(ख) हठाज्ज्योतिर्मयोभूत्वा ह्यन्तरेण शिवोभवेत्।
अतोऽयं **हठयोगः** स्यात् सिद्धिदः सिद्धसेवितः॥

—प्राणतोषिणी।

(ग) **हठयोग की दो योग विधियाँ**—

द्विधा हठः स्यादेकस्तु गोरक्षादिसुसाधितः।
अन्यो मृकण्डुपुत्राद्यैः साधितो हठसंज्ञकः॥

षट् कर्मों में पूर्ण साफल्याप्ति कराने वाला मंत्र कहीं भी दृष्टिगत नहीं होता। यदि मन, भ्रूमध्य, नासिका आदि स्थानों में ध्यान मग्न हो भी जायँ तो भी मूलाधार चक्र में प्राण वायु प्रविष्ट नहीं होती। नित्यानन्द-सम्पन्न **मोक्षश्री** एवं आत्म प्रभाव-निलय **से युक्त 'राजयोग'** के बिना उक्त उद्देश्य की पूर्ति संभव नहीं है। यह उद्देश्य **'हठयोग'** से कथमपि प्राप्त नहीं है—'जायन्ते हठतः कथं वद विभो स्वीयं प्रभावं विना॥'' क्या मात्र ध्यान लगाने से दिव्य नारी का संग एवं हथिनी से अश्व, गर्दभी से हाथी और कोदों से शालिकान्न की प्राप्ति हो सकती है?[१] अतः—

'नैतेषां देहसिद्धिर्विगत निजमनो राजयोगादृतेऽस्मात्॥'[२]

---

१. अमरौघ प्रबोध
२. तत्रैव

'अमरौघ प्रबोध' में राजयोग का जो प्रथम प्रकार **'औषधिपरक'** बताया गया है, वह यहाँ स्वीकार्य है ही नहीं; क्योंकि यह भी बताया गया है कि—

(१) समस्त प्राणियों के शरीर में **'दो महान औषधियाँ'** विद्यमान हैं—

(क) 'बिन्दु' (ख) 'नाद'

'बिन्दुनादौ महौषध्यौ विद्येते सर्वजन्तुषु।
तावविज्ञाय सर्वेऽपि म्रियन्ते गुरुवर्जिताः॥'[१]

नाथों का परमतत्व—आचार्य शंकर का ब्रह्म निर्गुण निराकार, अकर्ता, निष्क्रिय एवं विश्वातीत है। सारे कार्य केवल माया करती है; किन्तु नाथों का 'देवदेवेश' परमात्मा 'आदिनाथ' 'विश्वनाथ' विश्वरूप' 'विश्वातीत' 'उत्पत्ति-स्थिति-संहारकारी' 'क्लेशहारी' 'परमात्मा', 'महायोगीश्वर', 'परिपूर्ण' एवं 'जगदानन्द हेतु' है।[२]

यह परमात्मा 'शक्ति' से असमवेत 'निर्गुण ब्रह्म' नहीं है। प्रत्युत (शिव की भाँति) **शक्तियुक्त जगद्गुरु** एवं आदिनाथ हैं—

'आदिनाथं नमस्कृत्य **शक्तियुक्तं** जगद्गुरुम् ॥'[२]

सृष्टि के पूर्व स्थित वह परासत्ता अपनी अव्यक्तावस्था में **'अनाम' परब्रह्म** कहलाती है और इस दृष्टि से उस काल में 'कर्ता', 'कुल', 'अकुल' एवं 'कारण' कोई विद्यमान नहीं रहता। यही **'अनाम'** की स्थिति है।[३]

परब्रह्म की स्वसमवेत शक्तियाँ—वेदान्तियों के निर्गुणनिराकार परब्रह्म में उसकी कोई समवायिनी निजा शक्ति है ही नहीं; किन्तु 'त्रिकदर्शन' (का० शैव दर्शन) की भाँति नाथमत में शिव की स्वसमवेता शक्तियाँ हैं। उस अकर्ता शिव की — 'अनाम' की भी स्वसमवेता निजा शक्ति है—

'अनामेति स्वयमनादिसिद्ध एकमेवानादिनिधनं सिद्ध-
सिद्धान्तप्रसिद्धं तस्येच्छामात्रधर्माधर्मिणी **निजा शक्तिः** प्रसिद्धा।'

—(सि० सि० प०)

शिव में **'निजाशक्ति'**, **'पराशक्ति'**, **'अपराशक्ति'**, **'सूक्ष्माशक्ति'** एवं **'कुण्डलिनीशक्ति'**—पाँचों शक्तियाँ विद्यमान हैं।[४] 'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' में कहा गया है—

---

१. अमरौघ प्रबोध
२. अमरौघ प्रबोध (१-३)
३. सि० सि० पद्धति (१)
४. सिद्ध सिद्धान्त पद्धति।

'निजापराऽपरासूक्ष्माकुण्डलिन्यासु पञ्चधा
शक्तिचक्रक्रमेणोत्थो जातः पिण्डपरः शिवः॥'

सम्प्रदायवाद—नाथसम्प्रदाय के अनुयायियों के अनुसार नाथयोग ही सर्वोच्च साधन मार्ग है।

'योगबीज' में कहा गया है कि नाथमार्ग को छोड़कर अन्य कोई भी साधन-मार्ग **'कैवल्य'** प्रदान नहीं कर सकता—

(१) बद्धा येन विमुच्यन्ते **नाथमार्गमतः** परम् ॥

(२) नानामार्गैस्तु दुष्प्रापं **कैवल्यं परमं पदम्** ॥

'सिद्धमार्गेण' लभ्येत नान्यथा शिवभाषितम् ॥[१]

(३) "**अन्य शास्त्रसमूह पतित हैं**"—

'पतिताः शास्त्रजालेषु प्रज्ञयाते विमोहिताः।
अनिर्वाच्यपदं वक्तुं न शक्यत सुरैरपि॥'

"**नाथ-सम्प्रदाय" में यह सम्प्रदायवाद बद्धमूल है।** संसार के सारे देशों में यह 'सम्प्रदायवाद' है।

डा० सर्जियस बुल्गाकोफ़ का कथन है—

"संसार में केवल एक ही सच्चा चर्च है आर्थोडाक्स चर्च। (सनातनी ईसाई सम्प्रदाय)

मार्टिन लूथर का कथन है—

"जो ईसाई धर्म के बाहर हैं, फिर चाहे वे नास्तिक हों या तुर्क, यहूदी हों या मिथ्या ईसाई (रोमन कैथोलिक) हों; और भले ही केवल एक सच्चे ईश्वर में विश्वास रखते हों, फिर भी वे शाश्वत विनाश, सनातन क्रोध एवं नरक के गर्त में पड़े हुए हैं।[२]

जान नाक्स का कथन है—

"**एशिया** में क्या हैं? ईश्वर के प्रति अज्ञान। **अफ्रीका** में क्या है? हमारे प्रभु ईसा, हमारे उद्धारक के प्रति अस्वीकृति। **ग्रीशियनों के चर्चों** में क्या है? क्या मुहम्मद और उनका मिथ्या सम्प्रदाय? **रोम** में क्या है? सारे जादूगरों का बड़ा भारी आश्रय या वह कलंकित मानव॥[३]

---

१. योग बीज (७-८)
२. लार्बर कैटैकिज्म (२-३)
३. 'इण्टरनेशनल रिव्यू आफ मिशन्स'

जार्ज टाइरेल का कथन है—

"प्रोटेस्टैण्टों और जंगलियों में कोई अन्तर नहीं। ये सब नरक में एक समान ही जलेंगे।।[१]

ईसाईयों में—प्रोटेस्टेंट, कैथोलिक, ऐंग्लिकन एवं प्यूरिटन सभी अपने को श्रेष्ठतम एवं दूसरे को पथभ्रष्ट एवं हीन मानते हैं। वह परमतत्त्व 'अनिर्वाच्यपद' एवं 'स्वात्मप्रकाशरूप' है। वह परमतत्त्व निश्चल, निर्मल, शान्त, सर्वातीत एवं निरामय है। वही पुण्यपाप के फलों से आबद्ध होकर **'जीव'** भी बन गया है—'तदेतज्जीवरूपेण पुण्यपापफलैर्वृतम् ।।'[२] नाथपंथ में **'शिव' एवं 'जीव' में एकता** भी प्रतिपादित की गई है।

जीव एवं परमात्मा में एकता—

परमात्मा जीव कैसे बन गया?

'परमात्मपदं नित्यं तत्कथं जीवतां गतम् ?'

महादेव कहते हैं कि जिस प्रकार जल में तरङ्ग की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार परमात्मा में अहंकार की उत्पत्ति होती है। यही **'अहंकार'** पञ्चतत्त्वों से निर्मित, धातुओं से परिबद्ध, गुणत्रययुक्त, सुखदुःखरूप कर्मफल के भोक्ता के रूप में जीवात्मा बनकर जन्म लेता है। यही जीव के सारे दोषों से मुक्त होकर **शिव बन जाता है। योगयुक्त ज्ञान से ही** काम-क्रोध आदि दोषों का नाश होता है और इसी ज्ञान युक्त योग साधना से मोक्षाप्ति होती है। दोष से रहित जीव ही 'शिव' है—

एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्तः **स जीवः शिव एव हि।।"**

किन्तु जीव को शिवत्व की प्राप्ति **(वेदान्तियों के कथनानुसार)** मात्र **'ज्ञान'** से सम्भव नहीं है प्रत्युत् **योगयुक्तज्ञान** से ही संभव है—

'योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीश्वरि?
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमोमोक्षकर्मणिः।।'[३]

ज्ञान का महत्व—शांकर अद्वैतमत में ज्ञान को सर्वोपरि महत्व प्रदान किया गया है—

"ज्ञानात्र ऋते मुक्तिः।।"

नाथपंथी भी कहते हैं कि—

(१) **'अज्ञानादेव** संसारो।' अज्ञान→संसार

---

१. एम० डी० पेट्रे : 'दि लाइफ आफ जार्न टाइरेले।'

२. योगबीज (१०-११)

३. योगीबीज (१९)

(२) '**ज्ञाना**देव विमुच्यते।' ज्ञान→मुक्ति।

शाङ्कर वेदान्त में प्रतिपादित **जीव मात्र ज्ञान से ही मुक्त हो जाता है;** किन्तु नाथमत के अनुसार **कोई भी जीव मात्र ज्ञान से मुक्त नहीं हो सकता—**

सर्वदोषैर्वृतो जीवः कथं ज्ञानेन मुच्यते?[१]

कोई कितना भी महान ज्ञानी क्यों न हो; किन्तु वह कभी न कभी संसार-वासना से पङ्किल हो ही जाता है। अतः 'अज्ञानी' एवं 'ज्ञानी' में कोई भेद नहीं रह जाता। अतः योग-साधना अनिवार्य है—क्योंकि—

"ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञो विजितेन्द्रियः।
विना योगेन देवोऽपि न मोक्षं लभते प्रिये।।"[२]

योग-साधना और शरीर-भेद—योगियों की मान्यता है कि योग-साधना **'अपक्व देह'** से संभव नहीं है।

योग के भेद

(१) **'अपक्वदेह'**

(२) **'परिपक्वदेह'**

• 'अपक्वाः परिपक्वाश्च द्विविधा देहिनः स्मृताः।

(१) 'अपक्वा योगहीनास्तु'	(१) 'पक्वा योगेन देहिनः।।[३]
(२) 'जडस्तत्पार्थिवो ज्ञेयश्चापक्वो दुःखदो भवेत् ।'	(२) 'पक्वो योगाग्निना देही ह्यजडशोक-वर्जितः।'

अपक्वदेही की स्थिति—

'ध्यानस्थोऽपि तथाप्येवमिन्द्रियैर्विवशो भवेत्।
अतिगाढं नियम्यापि तथाप्यन्यैः प्रबोध्यते।।'

(१) अपक्वदेही ध्यान-साधक रहने पर भी इन्द्रियों का गुलाम बना रहता है।

(२) ऐसा ध्यानी, ज्ञानी, साधक आदि भी किसी योगी के द्वारा प्रबोधित होने पर ही सिद्धि प्राप्त कर पाता है, अन्यथा नहीं।

---

१. योगबीज (२३)
२. योगबीज (३१-३२)
३. योगबीज (३४)

अपक्वदेह	परिपक्व देह
(१) यह देह जड़ होती है। होती है।	(१) यह देह **योगाग्नि से ही परिपक्व** बन पाती है।
(२) इसमें चैतन्य नहीं होता।	(२) यह अजड या **चेतन** होती है।
(३) यह पार्थिव है।	(३) यह **शोक-हीन** एवं अपार्थिव (चिन्मय होती है।
(४) यह दुःखास्पद है।	(४) यह (पूर्व देह के दोषों से रहित होने पर प्राप्त होती है।
(५) यह ध्यान-साधना करने पर भी जड़ ध्याता से पृथक नहीं हो पाती।	पक्वदेही व्यक्ति का— (१) अहंकार नष्ट हो जाता है।
(६) यह शीत उष्ण, सुख-दुःख, व्याधि, शस्त्र, अग्नि, जल, वायु आदि के उत्पातों से पीड़ित रहती है। प्राणापान के वैषम्य से इसमें वायु प्रकुपित रहती है। इसके कारण ही व्यक्ति सैकड़ों दुःखोंसे व्याकुल चित्त वाला बनता है।	(२) उसके शरीर में कोई रोग नहीं हो सकता। (३) जल, अग्नि, वायु, शस्त्र आदि उसे हानि नहीं पहुँचा सकते। (४) परिपक्व देही व्यक्ति में शम, दम आदि प्रवृत्तियाँ सहज रूप में उत्पन्न होती हैं।
(७) **अपक्वदेही व्यक्ति** की, ज्ञान-ध्यान-वैराग्य जप आदि की साधनायें व्यर्थ हैं।	बिना अहंकार के देह में दुःखोदय संभव ही नहीं है। 'अहंकारं बिना तद्वद् देहे दुःखं कथं भवेत् ?'
(८) अपक्व देही की अहंकृति परिच्छिन्न एवं परिपुष्ट होती है। इसी कारण ऐसा व्यक्ति अनेक बाधाओं एवं व्याधियों से संत्रस्त रहा करता है।	

'योगदेह', 'योगबल' एवं 'जीवन्मुक्ति'—

(१) जीर्णशीर्ण शरीरों ने सभी प्राणियों पर विजय प्राप्त कर ली हैं; किन्तु योगियों ने योगाभ्यास के द्वारा शरीर पर ही विजय पा ली है—

"शरीरेण जिताः सर्वे शरीरं योगिभिर्जितम्।।"[१]

---

१. योगबीज (४९)

(२) इन्द्रियाँ काम, क्रोध, मन,बुद्धि द्वारा जीत ली गईं; किन्तु योगियों ने काम, क्रोध, बुद्धि एवं इन्द्रिय सभी पर विजय प्राप्त कर ली।

'योगदेह' का स्वरूप—

(१) सप्तधातुमयो देहो दग्धो **योगाग्निना** शनैः।
देवैरपि न लभ्येत **'योगदेहो'** महाबलः।।

(२) छेदबन्धैर्विर्मुक्तोऽसौ नानाशक्तिधरः परः।
यथाकाशस्तथा देहः आकाशादपि निर्मलः।।

(३) सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरो देहः स्थूलात् स्थूलो जडाज्जडः।[१]

(४) ऐसा पक्वशरीर वाला योगी स्वतंत्र, अजर, अमर, लोकत्रय में यथाकाम विचरण करने वाला, अचिन्त्य, शक्तिशाली, विजितेन्द्रिय, अनेक रूप धारण करने की क्षमता वाला होता है और सहजस्थिति में **'स्वस्थ'** रहता है।

"(१) इच्छारूपो हि योगीन्द्रः स्वतंत्रस्त्वजरामरः।।"

"(२) सूक्ष्मात्सूक्ष्मतो देहः स्थूलात् स्थूलो जडाज्जडः।"

"(३) अचिन्त्यशक्तिमान् योगी नानारूपाणि धारयन् ।।"

"(४) नासौ मरणमाप्नोति **पुनर्योगबलेन** तत् ।।

"(५) चूँकि ऐसा योगी मृत्युपूर्व ही मृत हो जाता है। अतः मृत की मृत्यु कैसी?
'पुरैव मृत एवासौ मृतस्य मरणं कुतः?'

किन्तु—**'मरणं यत्र सर्वेषां'** तत्रासौ सखि ! जीवति ।।'
किन्तु 'यत्र जीवन्ति मूढ़ास्तु तत्रासौ म्रियते सदा।।

यह जीवन्मुक्त होता है—
'जीवन्मुक्तः सदा स्वस्थः सर्वदोष-विवर्जितः।।'

'मांसपिण्ड कुदेहियों' से यह अत्यन्त महान् है, क्योंकि —
'ते कथं योगिभिस्तुल्याः मांसपिण्डा कुदेहिनः?"

गुरुवाद—वेदान्त, न्याय, आगम और अन्य शास्त्रपाठों से भी गुरुश्रेष्ठ होता है।[२]

*** यहाँ ज्ञान एवं योग तथा ज्ञानयोग का समन्वय है ***

---

१. योगबीज (५१-५३)
२. योगबीज (६६)

वेदान्त का खण्डन—(ज्ञानयोगसमन्वयवाद)—

(१) ज्ञान से मोक्ष नहीं प्राप्त होता।

(२) यदि खड्ग से ही विजय मिल जाती है तो युद्ध में लड़ने से क्या? प्रश्न उठता है—

'**विना** युद्धेन् वीर्येण कथं जयमवाप्नुयात्?'

अतः—तथा **योगेन रहितं ज्ञानं** मोक्षाय नो भवेत् ॥

किन्तु यह भी सत्य है कि—

'**ज्ञानेनैव विना योगो** न सिद्ध्यति कदाचन।'

ज्ञान तो योग-साधना से एक ही जन्म में प्राप्त किया जा सकता है। अतः सत्य तो यह है कि—

'तस्माद् योगात् परतरो नास्ति मार्गस्तु मोक्षदः॥'[1]

योगमार्ग की सर्वश्रेष्ठता—

योगात्परतरं **पुण्यं,** योगात्परतरं **सुखम्।**
योयात्परतरं **सूक्ष्मं, योगमार्गात्परं नहि॥**[2]

प्राणसाधना का महत्त्व—नाथपंथी कहते हैं कि गुरु उसी को बनाना चाहिए जो प्राण पर विजय प्राप्त कर चुका हो—

'मरुज्जयो यस्य सिद्ध्येत् सेवयेत्तं गुरुं सदा।'

कुण्डलिनी-योग—अपनी सुषुप्त शक्ति को जाग्रत किये बिना या पाताल की '**शक्ति**' को स्वर्ग (मुक्ति) लोक के '**शक्तिमान्**' (अकुल) से समरस किये बिना मुक्ति एवं अपने '**स्व' का पूर्ण विकास** संभव नहीं है।

प्राणायाम—कुण्डलिनी-साधना के विधान में गोरक्षनाथ ने प्रथम साधन प्राणायाम को स्वीकार किया है। ('वज्रासन' में बैठकर) एवं बालिस्तभर लम्बे एवं चार अंगुल चौड़े कोमल श्वेत वस्त्र से नाभि को वेष्टित करके **शक्तिचालन युक्ति** से वायु का कुम्भक करना चाहिए।

अष्टकुण्डलकुण्डलित कुण्डलिनी को सीधा करने हेतु **प्राणवायु का आकुञ्चन** करना चाहिए। इसके बाद **कुण्डली का चालन** करना चाहिए।

१५ दिनों तक '**वज्रासन**' से बैठकर '**शक्तिचालिनी मुद्रा**' का अभ्यास करना चाहिए।

---

१. योगबीज (७२)
२. योगबीज (८७)

प्राण-संयमन से वायु तप्त हो उठती है और इस वायु से प्रज्वलित अग्नि कुण्डलिनी को प्रतप्त कर देती है। इससे व्याकुल होकर 'कुण्डलिनी शक्ति' सुषुम्णा के मुख में प्रवेश कर जाती है और वज्रदण्ड में वायु तथा अग्नि के साथ प्रवेश करके 'ब्रह्मग्रंथि' का भेदन करके रुद्रग्रंथि में प्रविष्ट हो जाती है। फिर कुंभक के सिद्ध होने पर (१) सूर्यभेद, उज्जायी, शीतली एवं भस्त्रिका का अभ्यास करना चाहिए। ये चार प्रकार के कुंभक प्राणायाम हैं। बंधत्रयक से युक्त केवल प्राणायाम से योग साधना सिद्ध हो जाती है।[1]

प्राणायाम के ८ भेद हैं—उनमें (१) सूर्यभेदन (२) उज्जायी (३) शीतलीकरण एवं (४) भस्त्रा प्राणायाम से कुण्डलिनी जाग उठती है।

(१) 'सूर्यभेद'→उदर के वायु विकार का नाश, गले के दोषों का अन्त, शरीर में कान्ति-वृद्धि, अग्नि-वृद्धि, शिर के रोग, जलोदर एवं धातुगत रोग नष्ट हो जाते हैं।

(२) 'उज्जायी'→चलते-फिरते, रुकते उज्जायी का अभ्यास करना चाहिए।

(३) शीतलीकरण→पित्त एवं ज्वर का नाश।

(४) 'भस्त्रा'→वात, पित्त, कफ का नाश। इससे कुण्डलिनी जागृत होती है, वह टेढ़ी से सीधी हो जाती है, ग्रंथि त्रय का भेदन होता है और ब्रह्मनाड़ी के मुख पर कफ रूप अवरोध का नाश होता है।

बंध-साधना—बंधों में (१) मूल बन्ध (२) उड्डियान (३) जालन्धर प्रधान है। उनका अभ्यास करना चाहिए। (१) मूल बन्ध से—प्राण एवं अपान वायु + नाद बिन्दु में एकता आती है।

(२) **उड्डियान**—(कुंभक के आदि एवं रेचक के अन्त में करणीय बंध) सुषुम्णा में बद्धप्राण ऊपर की ओर उड़ता है।—वृद्ध भी तरुण हो जाता है। ६ माह के निरन्तराभ्यास से प्राण का वशीकरण एवं इच्छामृत्यु की प्राप्ति होती है।

(३) **'जालन्धर बंध'**(पूरकान्त में अवश्य करणीय)—वायु मार्ग का निरोध, हृदय में वायु का अवरोध। यह बन्ध **अमृतस्वरूप** है और इससे प्राण **'ब्रह्मनाड़ी'** में प्रविष्ट हो जाता है।

कुण्डली-साधना—प्रथमतः योगी को (१) वज्रासन में बैठना चाहिए। फिर (२) कुण्डलिनी का चालन करना चाहिए। (३) फिर भस्त्रा प्राणायाम द्वारा उसे शीघ्र प्रबोधित करना चाहिए।

---

१. योगबीज (१००)

"वज्रासनस्थितो योगी चालयित्वा तु कुण्डलीम्।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत्।।"

इस साधना से मेरुदण्ड में वायु से, ग्रंथियों का भेदन होता है। इससे मेरुदण्ड में खुजली होती है। यथा चींटी के चढ़ने-सी प्रतीत होती है। उसके बाद **'रुद्रग्रंथि'** का भेदन होता है। अतः शिवात्मकता प्राप्त होती है। अन्त में **शिवशक्ति समागम** से परम स्थिति प्राप्त होती है।

'शिवशक्तिसमायोगाज्जायते परमा स्थितिः।।'

जैसे हाथी सूँड़ से पानी खींचता है, वैसे ही **सुषम्णा नाड़ी पवन को अपने भीतर खींचती है।** मेरुदण्ड में **२१ मणि स्थित हैं। सुषुम्णा मोक्षमार्ग है।** सुषुम्णा में सूर्य-चन्द्र (पिंगला-इड़ा) के निबन्धन से **काल पर भी विजय** प्राप्त हो जाती है। **'पश्चिमद्वार'** (सुषुम्णा) में वायु-प्रवेश करायें। इससे वायु समस्त शरीर में प्रविष्ट हो जाती है। इसमें 'पूरक' 'रेचक' दोनों का अन्त हो जाता है। यही है **'नाथ सङ्केत' या 'सिद्धसङ्केत'।**

प्राण एवं चित्त का सम्बंध

(१) यदि चित्त प्राण में लयीभूत हुआ तो—

(२) चित्त में प्राण का भी लय हो जाता है।

(३) जिसके प्राण एवं चित्त में सामरस्य स्थापित नहीं हुआ उसका शास्त्र एवं गुरु एवं उसकी आत्मप्रतीति सभी निष्फल हैं—

'चित्तं हि नष्टं यदि मारुते स्यात्,
तत्र प्रतीतो मरुतोऽपि नाशः।
न चेदिदं स्यान्न तु तस्य शास्त्रं,
नात्मप्रतीतिर्न गुरुर्न मोक्षः'

उसे 'मोक्ष' भी कभी नहीं प्राप्त हो सकता।

योगाभ्यास और 'ब्रह्मनाड़ी'—

(१) निरन्तर अभ्यासयोग से **'ब्रह्मनाड़ी'** समस्त धातुओं को अपनी ओर आकृष्ट करती है।

(२) **आसन-बन्ध-अभ्यास योग** से **'चित्त' प्राण में विलीन** हो जाता है। अतः **बिन्दु अधोगामी नहीं हो पाता।**

(३) अनेक **नादों की उत्पत्ति होती है।**

(४) भूख, प्यास आदि दोषों का अन्त हो जाता है।

योगी **सच्चिदानन्द स्वरूप में प्रतिष्ठित** हो जाता है।

'काकमत' की सर्वोच्च श्रेष्ठता—गोरक्षनाथ कहते हैं कि 'काकमत' से श्रेष्ठतर कोई नहीं है—

(१) 'तस्मात्**काकमतान्नास्ति** त्वभ्यासारव्य मतः परम्।।'

(२) बिना **कर्म** के योगसिद्धि नहीं प्राप्त होती—

'न कर्मणा विना देवि ! योगसिद्धिः प्रजायते।।'

(३) **लयादि योग**-साधन के बिना भी सिद्धि नहीं मिलती—

(४) पूर्वजन्म-कृत अभ्यास से शीघ्र सिद्धि मिलती है—

'पूर्वजन्मकृताभ्यासात्सत्वरं फलमश्नुते।।'

इसीलिए **'काकमत'** से श्रेष्ठतर कोई मत नहीं है।

योगाभ्यास के फल—

(१) 'आदौ **रोगाः प्रणश्यन्ति'** : रोगों का अन्त।

(२) 'पश्चा**ज्जाड्यं शरीर**गम्' : शरीर की जड़ता का अन्त।

(३) 'ततः **समरसो** भूत्वा' : समरसत्व की प्राप्ति।

(४) **'चन्द्रो वर्षत्यनारतम्'** : अमृत-वर्षा।

(५) **'धातुं स्व संग्रसेद** वह्निः (फिर अग्नि पवन के साथ अपनी धातु को 'पवनेन समन्ततः।' ग्रास बना लेता है।

(६) शरीर में अनेक प्रकार के **नादों का प्रादुर्भाव**

(७) शरीर में **मृदुता** आ जाती है।

(८) पृथ्वी आदि तत्त्वों की **जड़ता को जीतकर** योगी **खेचरत्व** पाकर **ब्रह्माण्ड में स्वच्छन्द विचरण** करता है।

(९) योगी **सर्वज्ञता** प्राप्त कर लेता है।

(१०) कामदेव के समान **रूपवान्** हो जाता है।

(११) पवन के समान **वेगवान्** हो जाता है।

(१२) **लोकत्रय में रमण** करता है।

(१३) **समस्त सिद्धियाँ** प्राप्त हो जाती हैं।

(१४) **अहंकार का** लय हो जाने पर देह में कठिनता नहीं रह जाती और इस स्थिति में—

'सर्वज्ञः सर्वकर्ता च स्वतंत्रो विश्वरूपवान्।
जीवन्मुक्तो भवेद् योगी स्वेच्छया भुवने भ्रमेत्।।'[१]

---

१. योगबीज (१७०)

*** सिद्धियाँ, उनके प्रकार तथा उनका महत्त्व ***

देवी ने शंकर से पूँछा कि निर्विकल्प एवं चिन्मय आत्मा में **सिद्धियों की उपयोगिता क्या है ?** वे वहाँ क्या करेंगी?

भगवान शंकर उत्तर देते हुए कहते हैं कि—हे पार्वती ! लोक में सिद्धियाँ दो प्रकार की होती हैं—(१) **'कल्पित सिद्धियाँ'** (२) **'अकल्पित सिद्धियाँ'।**

[क] **'कल्पित सिद्धियाँ'** = ये रसौषधि, क्रिया, काल, मन्त्र एवं क्षेत्रादि साधनों से उत्पन्न सिद्धियाँ हैं। (साधनोद्भूत सिद्धियाँ)

[ख] **'अकल्पित सिद्धियाँ'**—ये साधन के बिना स्वयं उत्पन्न सिद्धियाँ हैं। ये सिद्धिस्वरूपा, नित्य, पूर्ण प्रभावशालिनी, इच्छारूपिणी एवं योगोद्भूत सिद्धियाँ हैं। ये वासना-रहित योगियों में चिरकाल पर्यन्त रहती हैं। ये शुभ, अव्यय परमात्मपद में बिना कार्य के दीप्त रहने वाली सिद्धियाँ हैं और वासनाशून्य साधकों में ये चिरस्थायी रहती हैं—

'सिद्धा नित्या महावीर्या इच्छारूपाश्च योगजाः।
चिरकालात्प्रजायन्ते वासनारहितेषु च।
ताः शुभा या महायोगात्परमात्मपदेऽव्यये।
विना कार्यं सदा दीप्ता **योगसिद्धस्य लक्षणम्।।**'[१]

ये ही 'योगसिद्ध' के लक्षण हैं।

मोक्षमार्गी को तो ये स्वतः उसी प्रकार प्राप्त हैं, यथा काशी जाने वाले पथिक को मार्ग में अपने आप अनेक तीर्थों के दर्शन हो जाते हैं।

'यथा काशीं समुद्दिश्य गच्छद्भिः पथिकैः पथि।
नानातीर्थानि दृश्यन्ते तथा मोक्षे तु सिद्धयः।।'

जीवन्मुक्ति—सिद्धियों के द्वारा 'जीवन्मुक्त' की परीक्षा करनी चाहिए। सिद्धियों से हीन पुरुष तो सर्वथा बंधनग्रस्त है। जो शरीर से अजर-अमर है (योगाभ्यास द्वारा सिद्धदेह प्राप्त कर चुका है) वही **'जीवन्मुक्त'** है।

'सिद्धिभिः परिहीनं तु नरं बद्धं हि लक्षणम्।
अजरामरपिण्डो यो जीवन्मुक्तो स एव हि।।'[२]

चिन्मयीकरण एवं ब्राह्मी स्थिति—(जीवन्मुक्ति) नाथ योगी कहते हैं कि मुक्त

---

१. योगबीज (१७७-१७८)
२. योगबीज (१८३)

उसे कहते हैं जिसका शरीर, जल में घुले नमक की भाँति, ब्रह्म में लीन होकर ब्रह्मरूप एवं चिन्मय हो जाय—

'देहो ब्रह्मत्वमायाति जलतां सैन्धवं यथा।
अनन्यतां यदा याति तदा **मुक्तः** स उच्यते।।
चिन्मयानि शरीराणि इन्द्रियाणि तथैव च।।
अनन्यतां यदा यान्ति तदा मुक्तः स उच्यते।।'

योगी का शरीर ही नहीं प्रत्युत् उसकी इन्द्रियाँ भी जड़त्व का त्याग करके चिन्मय हो जाती हैं।

सर्वचिन्मयीकरण—शैव-शाक्त तांत्रिकों की दृष्टि यह थी कि संसार की प्रत्येक वस्तु तत्वतः चिन्मय हैं। जड़त्व उसकी ऊपरी खोल है। अतः विशुद्ध रूप में जड़नाम की कोई वस्तु संसार में है ही नहीं। इसी दृष्टि का साक्षात्कार करना—सार्वत्रिक चिन्मयता का दर्शन करना—जड़ पदार्थों को भी चिन्मय देखना शैव-शाक्त तांत्रिकों एवं नाथ योगियों की साधना का परम काम्य था, किन्तु शाङ्कर अद्वैतवाद में तो—

(१) केवल ब्रह्म एवं जीव ही चेतन हैं।

(२) जगत तो जड़ है।

(३) जड़ के साथ चेतन का सम्बंध ही 'ग्रंथि' है या बंधन की गाँठ है। उसे खोलना और दोनों को पृथक्-पृथक् करके (जड़ रूप में जगत को एवं चेतन रूप में जीव एवं ब्रह्म को देखना और अनुभव करना)—उनकी पृथकता का अनुभव करना ही शाङ्कर ज्ञानमार्ग की साधना है। **यह चिन्मयीकरण की दृष्टि** तो उनमें है ही नहीं। नाथ-मार्ग में यह है; इसीलिए कहा गया है कि—

(१) आत्मा, शरीर एवं इन्द्रियाँ सभी **चेतन** एवं **ब्रह्मरूप** हैं—

(क) 'देहो **ब्रह्मत्वमायाति** जलतां सैन्धवं यथा।
अनन्यतां यदा याति तदा **मुक्तः** स उच्यते।।

(ख) **चिन्मयानि शरीराणि इन्द्रियाणि** तथैव च।
अनन्यतां यदा यान्ति तदा मुक्तः स उच्यते।।

यदि ऐसा न हो तो कुत्ते, कुक्कुट एवं कीट आदि एवं योगियों तथा मुक्तों के शरीर में भेद ही क्या रह जाएगा?

'ये श्वकुक्कुट कीटाद्या मृतिं सम्प्राप्नुवन्ति ते।
तेषां किं पिण्डपातेन मुक्तिर्भवति सुन्दरि।।'

—योगबीज

ओंकारोपासना—योगिराज गोरक्षनाथ ओंकारोपासना को इतना अधिक महत्व देते हैं कि वे कहते हैं कि उसकी साधना के बिना कोई भी योग-सिद्धि प्राप्त ही नहीं हो सकती—

'ओंकार आछै बाबू मूल मंत्र धारा।
ओंकार व्यापीले सकल संसारा।
ओंकार नाभी हृदै देव गुरु सोई।
ओंकार साधे बिना सिधि न होई।।'[१]

नादोपासना—गोरक्षनाथ नादोपासना को परम निर्वाण का साधन मानते हैं। वे कहते हैं—

'नादैं लीन ब्रह्म, नादै लीना नरहरि,
नादै लीना उमापती जोग ल्यौ धरि धरि।
नाद ही तौ आछै बाबू सब कछू, निधानां।
नाद ही थैं पाइये परम निरवानां।।'[२]

मन्त्रोपासना—योगिराज गोरक्षनाथ अजपाजप, नादोपासना एवं ओंकारोपासना के अतिरिक्त भगवान शिव के 'पञ्चाक्षरी मन्त्र'—

'ॐ नमः शिवाय' के जप को भी उतना ही महत्व प्रदान करते हैं—'ॐ नमो सिवाई बाबू ओं नमो सिवाइ। अहनिसि बाइ मंत्र कौणैं रे उपाइ।।'' वे पूँछते हैं कि—''रात-दिन प्राण वायु के चलते रहने से निरन्तर 'सोऽहं हंसा' का जो **जप साँस** के द्वारा होता रहता है, उस **वायु-मंत्र** को किसने उत्पन्न किया?उस पवन-मंत्र का मूल (उत्पादक) ॐकार है। उसी से सारी सृष्टि की धारा छूटी है। ओंकार सारे संसार में व्याप्त है। ओंकार नाभि एवं हृदय अर्थात् स्वाधिष्ठान एवं अनाहत चक्र में निवास करता है। ॐकार ही देवता है। ओंकार ही गुरु है। ओंकार की साधना के बिना सिद्धि नहीं होती।।[३]

जप-साधना—गोरक्षनाथ मंत्रयोगी भी हैं। अतः वे मंत्र-जप को भी महत्व देते हैं। वे कहते हैं कि हे अवधूत ! ''जपमाला पहचानो और वह जप करो, जिससे ब्रह्मानुभूति स्वरूप यथार्थ की प्राप्ति हो।'' जिस अगम्य जप का जाप गोरख ने किया उसे कोई बिरला ही जानता है—

'अवधूजाप जपौ जपमाली। चीन्हौ, जाप जप्यां फल होई।'[४]

---

१. गोरखबानी (पद)

२. गोरखबानी (पद)

३. गोरखबानी

४. **अगमजाप जपीला गोरख**, चीन्हत बिरला कोई।''

गोरखनाथ कहते हैं कि—

'कवल बदन काया करि कंचन चेतनि करौ जपमाली।।'

'एक अखीरी एकंकार जपीला, सुंनि अस्थूल दोइ वाणी।।'

प्यण्ड ब्रह्माण्ड सभि तुलि व्यापीले, एक अखिरी हम गुरमुखि जांणी।

गोरक्षनाथ कहते हैं कि शून्य (आत्मिक) एवं बाह्य दोनों वाणियों से एकाकार अद्वय परब्रह्म का जप ही **एकाक्षरी मंत्र** जप है। इसी एकाक्षरी मंत्र जप को मैंने गुरुमुख से सीखा है—

'एक अषीरी एकंकार जपीला। सुंनि अस्थूल दोइ बांणी।।'

जप का यथार्थ स्वरूप—

जप के अङ्ग (यथार्थ जप करने की आदर्श विधि)

(१) **'कमल (चक्र)'**	(२) **'काया'**	(३) **(जप करने की) 'माला'**
(चक्र को मंत्र-जप करने वाला **मुख** बनाओ। 'चक्र' = अपना मुख। साधक का मंत्र-जापक मुख।	(सोने के मनके। माला में ग्रथित स्वर्ण के मनके) 'काया' = माला की गुरियाँ	(**चैतन्य**रूपी जप की माला) इसी माला में मनके गुथे हैं

मंत्र-जप करने वाले साधक का **'मुख'** = चक्र	'शरीर' (मनका)	माला (चैतन्य)

'वर्णेषु नादोऽनुस्यूतः।।'—वरि० रहस्यम् ।

सारांश—

(१) **चैतन्य रूपी माला** द्वारा जप करो।

(२) इस माला में **शरीर को ही मनका** बनाओ।

(३) शरीरस्थ आध्याव्यौगिक विभिन्न चक्रों को ही जप करने वाला **'मुख'** बनाओ।

इस जप-क्रिया में दो तत्त्व प्रमुख हैं—

(१) **'चैतन्य'** (माला) (२) **'चक्र'** (जापक-मुख)।

रहस्यार्थ—'मंत्राश्चिन्मरीचयः।।'

'मन्त्र' चैतन्य की रश्मियाँ हैं।' अतः मंत्र-साधना में **चैतन्य-संचार अपरिहार्य** तत्त्व हैं।

यह **चैतन्य-संचार** बाह्यमुख से वर्ण-पुनरावृत्ति करने से संभव नहीं है। मंत्रोच्चारण **'चक्र'** से हो।

प्रत्येक **'चक्र'** (मूलाधार, स्वाधिष्ठान, अनाहत, आज्ञा, सहस्त्रार आदि चक्र) के (मुख) द्वारा जब चैतन्य-स्फुरण हो तो उस चैतन्यस्फुरण को ही **मंत्र-जप** समझना चाहिए।

विशेष—अनाहतादि चक्रों से जो मंत्र निकलते रहते हैं वे नादात्मक मंत्र होते हैं। वे स्वयंभू, नित्य, शाश्वत एवं चैतन्यप्राण मंत्र होते हैं। इन मंत्रों से जगत की सृष्टि-स्थिति-संहार आदि सारी क्रियायें सम्पन्न होती हैं।

इस बात को और स्फुट किया जाय तो हमें यह कहना होगा कि—

(१) मुख एवं मुख के उच्चारण-स्थानों से उच्चरित 'मंत्र' यथार्थ मंत्र नहीं हैं प्रत्युत् वे मंत्र की नकल मात्र हैं यथा **प्रतिबिम्ब** 'बिम्ब' की नकल या छाया मात्र होता है, यथार्थ वस्तु का स्वरूप नहीं हुआ करता।

(२) वर्णों का जप काम्य नहीं है प्रत्युत् उसमें अन्तर्निहित **'नादशक्ति'** का स्फुरण काम्य है।

(३) **'नाद'** शिव एवं शक्ति का अन्र्तसम्बन्ध है।

(४) 'आसीच्छक्तिस्ततो **नादः**, नादाद् बिन्दु समुद्भवः।। 'नाद' पारमात्मिकी अचिन्त्य शक्ति की ध्वन्यात्मक बाह्याभिव्यक्ति है। अतः 'नाद' **'परमात्मा की शक्ति'** है।

(५) यही पारमात्मिकी शक्ति जब और स्थूल रूप धारण कर लेती है, तब वह वर्णात्मक मंत्र बन जाती है।

'मंत्र' के विभिन्न स्वरूप

(१)
नादात्मक मंत्र
(अनाहत ध्वनि रूप)
(ओंकार निमज्जित)
*** साध्य मन्त्र ***

(२)
(सुषुप्तनाद वाला) **वर्णात्मक मंत्र**
(नादात्मक मंत्र ही काम्य है, क्योंकि वर्णात्मक मंत्र
(आत्मा चैतन्य-संचार का) साधन है।
(साधन-मंत्र)

नादात्मक मंत्र ————> **वर्णात्मक मंत्र**

(सूक्ष्म मंत्र) (स्थूल मंत्र)

(आत्मिक चैतन्य से संस्पृष्ट मन्त्र) (चैतन्यशून्य, मृत वर्णों की समष्टि के रूप में अवस्थित 'मन्त्र')

वेदों की दृष्टि—

"चत्वारि वाक् परिमिता पदानि,
तानि विदुर्ब्राह्मणो ये मनीषिण:।
गुहा त्रीणि निहिता नेंगयन्ति।
चतुर्थो वाचो मनुष्या: वदन्ति।"

सारांश—

वाणी के भेद

(१)
*** गुफ़ा में बन्द तीन वाणियाँ ***
(जिन्हें न मानव सुन सकता है और न बोल सकता है।)
(परा। पश्यन्ती। मध्यमा)

(२)
'चतुर्थ वाणी'
(जिन्हें मनुष्य एवं सारे प्राणी बोलते हैं।) (इस वाणी में बोला गया मंत्र यथार्थ मंत्र नहीं है।)

वर्णों में नाद अन्तर्निहित रहते हैं—

'वर्णेषु नादोऽनुस्यूत:।'

—वरिवस्यारहस्यम् ।

*** गुहागत वाणियाँ ***

(१) ये नादात्मक मंत्र हैं। इन वाणियों से उच्चरित मंत्र ही **यथार्थ मंत्र** हैं, क्योंकि इनसे उच्चरित ध्वनियों में चैतन्य का प्रवाह (चेतना का सञ्चार) भी रहता है।

इन मंत्रों को जपा नहीं जा सकता। **ये 'स्वयंभू मंत्र'** हैं। साधक द्वारा बराबर की जाने वाली आत्मिक साधना द्वारा जब उनमें चैतन्य का स्फुरण होता है, तब ये मंत्र अनाहत नाद के रूप में स्वयमेद स्फुरित होने लगते हैं।

*** मुखोच्चारित वाणी ***

(२) ये अनादात्मक मंत्र हैं और मुख के उच्चारणावयवों से जपे जाते हैं।

इनमें चैतन्य-प्रवाह नहीं होता।

ये स्वंयभू मंत्र नहीं हैं। ये सप्रयास जपे जाने वाले मंत्र हैं। 'सोऽहं जप' स्वयंभू जप है, किन्तु ये द्वितीय श्रेणी के मंत्र एवं मंत्र-जप स्वयंभू नहीं सायास मंत्र जप हैं।

*** जप का यथार्थ स्वरूप एवं अयथार्थ स्वरूप ***

(१)
'गुहा त्रीणि निहिता नेंगयन्ति'
के रूप में अवस्थित **'गुहात्रय'**
(१) परा (२) पश्यन्ती (३) मध्यमा
से स्वयमेव जपे जाने वाले मंत्र।।
(आदर्श मंत्र। आदर्श जप)

(२)
'चतुर्थो वाचो मनुष्याः वदन्ति।'
मुखोच्चारित वर्णात्मक मंत्र
जो चतुर्थ वाणी
से जपे जाते हैं।
(अनादर्श, स्थूल जप)

*** योगी भास्कर राय प्रोक्त जप का स्वरूप ***

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)
मन्त्र के वर्णों का उच्चारण	५ अव-स्थायें	शून्य (६ शून्य)	विषुव (७ विषुव)	९ चक्र	मंत्रार्थ-चिन्तन

'एवमवस्था शून्यविषवन्ति चक्राणि पञ्चषट् सप्त।
नव च मनोरर्थाश्च स्मरतोऽर्णोच्चरणं तु **जपः**।।'
—वरिवस्यारहस्यम् ।

'चक्रभावन'

सकल | सकल निष्कल | निष्कल

*** गोरक्षनाथ का मंत्र-विज्ञान एवं मंत्र-रहस्य ***

गोरक्षनाथ ने 'नाथ-सम्प्रदाय' में जिस **मन्त्र-साधना** का प्रचार प्रसार किया **वे 'मन्त्र' वर्णों से संगठित मंत्र नहीं थे प्रत्युत् वे वर्णों में अनुस्यूत चैतन्य-शक्ति के मंत्र** थे, क्योंकि **'मंत्र' वर्णों का नहीं नाद-प्रवाह का होता है**, क्योंकि—

'वर्णेषु नादोऽनुस्यूतः।।'[१]

मंत्र का स्वरूप—मूलाधार से उठने वाला **'नाद'** वर्णों के मध्य से होता हुआ, फूल की माला में पिरोये, सूत्र की भाँति होता है—

---

१. वरिवस्यारहस्यम् (प्रथमोंशः)

'आधारोत्थितनादो गुण इव परिमाति वर्णमध्यगतः।।'

[१] * शिवसूत्र विमर्शिनीकार क्षेमराज की दृष्टि *

आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि—

(१) अभेदेन विमृश्यते परमेश्वररूपम् अनेन इति मंत्रः।

(२) परस्फुरत्तात्मकमननधर्मात्मता, भेदमयसंसारप्रशमनात्मक **त्राणधर्मता** च अस्य निरुच्यते।।

(३) 'मंत्रदेवताविमर्शपरत्वेन प्राप्त तत्सामरस्यम् आराधकचित्तमेव मंत्रः 'चित्तंमंत्रः।।'

—(शिव सूत्र २।१)

(४) मुखोच्चरित मंत्र 'मंत्र' नहीं हैं—

'उच्चार्यमाणा ये मन्त्रा न मंत्राश्चापि तान्विदुः।
मोहिता देव गन्धर्वा मिथ्या ज्ञानेन गर्विताः।।'[२]

(५) '**मन्त्राणां जीवभूता** तुया स्मृता **शक्तिख्यया**।
तथा हीना वरारोहे निष्फलाः शरदभ्रवत्।।'

(६) पृथङ्मन्त्रः पृथङ्मन्त्री न सिद्ध्यति कदाचन।

—श्री कण्ठी संहिता।

(७) सहाराधक चित्तेन तेनैते **शिवधर्मिणः।।**

—स्पन्दकारिका

'तन्त्र सद्भाव' में कहा गया है—

(८) सर्वे वर्णात्मकाः मन्त्रास्ते च **शक्त्यात्मकाः** प्रिये।
शक्तिस्तु मातृका ज्ञेया सा च ज्ञेया **शिवात्मिका।**

(९) अस्मात्तु कारणद्देवि ! मया वीर्यं प्रगोपितम् ।
तेन गुप्तेन ते गुप्ताः शेषावर्णास्तु केवलाः।

(१०) **पशुभावे स्थिता** मन्त्राः केवलावर्णरूपिणः।
सौषुम्णेऽप्यन्युच्चरिताः पतित्वं प्राप्नुवन्ति ते।।

—हंसपारमेश्वर

---

१. वरिवस्यारहस्यम् (२२)
२. सर्वज्ञानोत्तर
३. श्री तन्त्र सद्भाव

शिवशक्तिसामरस्यवाद—योगी गोरक्षनाथ 'शक्ति' एवं 'शिव' दोनों के साधक थे। **त्रिकदार्शनिक** भी शक्ति एवं शिव दोनों के उपासक थे।

गोरक्षसाधना का लक्ष्य था—पाताल में विरहाकुल-स्थित शक्ति को उठाकर शून्य लोक में ऊर्ध्वस्थित शिव से मिलाना अर्थात् शक्ति का शिव से सामरस्य कराना—

'**सक्ति** रूपी रज आछै सिव रूपी व्यंद।।
बारह कला **रवि** आछै सोलह कला **चन्द।**
चारिकला रवि की जे ससि घरि आवै।
तौ **सिव सक्ती** संमि होवै अन्त कोई न पावै।।'

(मूलाधारस्थ अमृतशोषक **सूर्य की १२ कलायें** हैं और सहस्रारस्थ **चन्द्रमा की १६ कलायें** हैं। यदि रवि की ४ कलायें शशि में मिल जायँ तो शिव एवं शक्ति सम हो जायँ।।)

अजपाजप—गोरक्षनाथ कहते हैं—

'**अजपा जाप** जपंता गोरख अतीत अनुपम ज्ञानं।।'

गोरक्ष के जप का स्वरूप—

''जे जाप सकल सिष्टि उतपंना।
ते जाप श्री गोरखनाथ कथियां।
'मछिंद्रं प्रसादैं जती गोरखबोल्य,
अजपा जपिला धीर रहाणी।।''

अनिर्वचनीयतावाद—गोरक्षनाथ ने भाषा के किन्हीं शब्दों की लक्ष्मणरेखा खींचकर परमतत्त्व को न तो सीमाबद्ध किया और न तो मन की प्राचीर में कैद करके उसे सीमित बनाया प्रत्युत उन्होंने कहा **'बसती न सुन्यं, सून्यं न बसती अगम अगोचर ऐसा। गगन सिखर महिं बालक बोलै ताका नाँव धरहुगे कैसा।'** वह 'बसती' (अस्ति) और शून्य (नास्ति) दोनों से अतीत है। वह भाव-अभाव दोनों से परे है। वह आकाश मण्डल (ब्रह्मरंध्र) में बोलने वाला बालक है।[१]

कुण्डलिनी योग—गोरक्षनाथ के हिन्दी के ग्रंथों में भी **'कुण्डलिनी योग'** का वर्णन मिलता है—

''पाताल की गंगा ब्रह्माण्ड चढ़ाइबा तहाँ विमल रस पीया।।''[२]

---

१. गोरखबानी (सबदी)
२. गोरखबानी (सबदी २)

गोरक्षनाथ जी ने **कुण्डलिनी का परिचय** इस प्रकार दिया है—

'नाभ अस्थान क मोरा सास नैं सुसरा, ब्रह्म अस्थान क मोरा बासा।
'इला प्यंगुला जोगण भेंटी, सुखमन मिल्या घर बासा।।'

कुण्डलिनी का श्वसुरालय मूलाधार एवं पीहर ब्रह्मरंध्र है।

कुण्डलिनी मूलाधार में नीचे रहती है, किन्तु आरोहण के समय उल्टा चलती है—

उलटी सकति चढ़ै ब्रह्मण्ड' नख सिख पवनां खेलै सरबंग।
उलटि चन्द्र राहू कूं ग्रहै। सिधसंङ्केत जती गोरख कहै।।२१७।।

(जब कुण्डलिनी शक्ति उलटकर ब्रह्माण्ड में पहुँच जाती है और नख से शिखा पर्यन्त सर्वाङ्ग में वायु व्याप्त हो जाती है (वायु भक्षण होने लगता है), तब उलटा सहस्त्रारस्थ चन्द्रमा ही राहु (आधारस्थ सूर्य) को ग्रस लेता है। इससे अमृतपान होने लगता है। यही **'सिद्ध संकेत'** है।)

अगोचरी मुद्रा एवं शांभवी मुद्रा पर बल—गोरक्षनाथ ध्यानाभ्यास के लिए दो मुद्राओं को प्राधान्य देते हैं—(१) 'अगोचरी मुद्रा' (२) 'शांभवी मुद्रा'।

'नासिका अग्रे भ्रूमण्डले अहनिस रहिबा थीरं।
माता गरभि जनम न आयबा, बहुरि न पीयबा खीरं।।२७५।।'

उन्मन योग—'समना' के बाद 'उन्मनी' की स्थिति है। यह योग-साधना में ऊर्ध्वारोहण की सर्वोच्च स्थिति है, जहाँ मन का अस्तित्व ही नहीं रह जाता। गोरक्ष-योग में इसका अत्यधिक महत्व है। गोरक्षनाथ कहते हैं—ज्ञान और गुरु हमारे दो तूम्बे हैं। चेतन इच्छा तम्बूरे की डाँडी हैं, तम्बूरे पर **उन्मना की** ताँत बज उठी, इससे सारी तृष्णाओं का अन्त हो गया—

'ज्ञान गुरु दोऊ तूँबा अम्हारे, मनसा चेतनि डांडी।
उनमुनी तांती बाजन लागी, यहि बिधि तृष्णा खांडी।।'

बाह्योन्मुख साधना की व्यर्थता—गोरक्षनाथ ने अपनी साधना में तीर्थ-व्रत, मूर्तिपूजन आदि बाह्यवर्ती साधनाओं का खण्डन किया है—

''पषांणची देवली पषांण चा देव।''
'पषांण पूजिला कैसे फटीला सनेह।'
''तीरथि तीरथि सनान करीला। बाहर धोये कैसे भीतरि भेदीला।।''
'नव नाड़ी बहोतरि कोठा। ए अष्टांग सब झूठा।'
''कूँची ताली सुषमन करै। उलटि जिभ्या ले तालू धरै।।''

(शरीर में इतनी नाड़ियाँ है, इतने कोष्ठ हैं—आदि अष्टांग योग का सारा ज्ञान

आभ्यंतर अनुभूति के बिना मिथ्या है। सुषुम्णा के द्वारा ताली पर कुंजी लगाओ (खोलो) ब्रह्मरंध्र का वेधन करो और जिह्वा को उलटकर तालमूल में रखते हुए चन्द्र-स्त्रवित सुधा का पान करो।)

गोरक्षनाथ ९ नाथ एवं ९४ सिद्धों की भी खबर लेते हुए कहते हैं—

'नौ नाथ नै चौरासी सिधा, आसणधारी हूवा।
जोग कौ तिन पार न पायौ, वनखंडां भ्रमि भ्रमि मूवा।।'

सर्वात्मवाद, 'पूर्णाहन्ता' एवं अपने विराट अहं का साक्षात्कार

काश्मीर के त्रिकदर्शन में दो दृष्टियाँ हैं—

(१) सर्वात्मवाद (२) 'पूर्णाहन्ता' : 'अहमस्मि' 'अहमिदम्' एवं 'इदमहम्' का विमर्श।

इसी उच्चतम आत्मोत्कर्ष के अभ्रंलिह सोपान पर समारूढ़ गोरक्षनाथ को अपने से पृथक् कोई अन्य—('अहं' के अतिरिक्त 'त्वं' एवं 'सः') दिखाई ही नहीं पड़ता। यह अद्वैत की पराकाष्ठा है। इस सोपान पर समारुढ़ गोरक्षनाथ कहते हैं—

कासौं झूझौं अवधू राइ, विषम न न दीसै कोई।
जासौं अब झूझौ रे आत्माराम सोई।
अपाण ही मछ कछ आपण ही जाल।
आपण हीं धीवर आपण हीं काल।।
आपण ही स्यंघ बाघ आपण ही गाइ।
आपण ही मारीला आपण ही खाइ।।

साधना में स्वानुभूति पर बल (अनुभूति-प्राधान्य)—

परमात्मा धार्मिक पुस्तकों से अवबोध्य नहीं है। वह अनुभूति-गम्य है—

'बेदे न शास्त्रे कतेबे न कुराणे पुस्तके न बंच्या जाई।
ते पद जानां बिरला जोगी और दुनी सब धंधै लाई।।'
'बेद कतेब न षाणीं बाणी। सब ढंकी तलि आंणी।।'

गोरक्षनाथ कहते हैं—

'कहणि सहेली रहणि दुहेली, कहणि रहणि बिन थोथी।
पढ्या गुंण्या सूवा बिलाई खाया, पंडित के हाथि रहि गई पोथी,
कहणि सहेली रहणि दुलेली, बिन खायां गुड़ मीठा।
खाई हींग कसूर बखाणैं, गोरख कहै सब झूठा।।'

जीवन्मृत्यु—योगिराज जीवन्मृत्यु का उपदेश देते हैं—

'मरौ वे जोगी मरौ, मरण है मीठा।
तिस मरणी मरौ। जिस मरणी गोरख मरि दीठा।।'

नाड़ी योग—योग में 'नाद' 'बिन्दु' 'शक्ति' आदि सभी की साधना, नाड़ियों का आश्रय लेकर ही की जाती है अत: योग-साधना में **'नाड़ी-योग'** का अत्यधिक महत्व है। गोरक्षनाथ कहते हैं—

'अवधू प्रथम नाड़ी **'नाद'** झमंकै, तेजंग नाड़ी पवनं।
सीतंग नाड़ी ब्यंदका बासा, कोई जोगी जानत गवनं।।'

(सुषुम्णा नाड़ी में **नाद,** पिंगला नाड़ी में **पवन** एवं इड़ा नाड़ी में शुक्र का निवास है। इनकी गति तो कोई विरला योगी ही जानता है।)

'अवधू **ईड़ा मारग** चंद्र भणीजै, **प्यंगुला मारग** भानं।
सुषमना मारग बांणी बोलिए, त्रिय मूल अस्थानं।'

(ये ही तीन मार्ग मूल स्थान ब्रह्मरंध्र तक ले जाते हैं।) (इड़ा मार्ग—पिंगला मार्ग—सुषुम्णा मार्ग)

हंस-जप की साधना—गोरक्षनाथ स्वयंभू श्वास-जप को विशेष महत्व देते हुए कहते हैं कि प्रत्येक प्राणी अहर्निश की कालावधि में २१ हजार ६०० श्वासों के माध्यम से इतनी ही बार सोऽहं-सोऽहं का जप करता रहता है—

'इकबीस सहंस षटसां आदू पवन पुरिष जपमाली।
इला प्यंगुला सुखमन नारी, अहनिसि बहै प्रनाली।।'

नाद-बिन्दु-साधना—गुरु गोरक्षनाथ कहते हैं कि—

(१) अनाहत नाद तो अहरन है।

(२) बिन्दु (शुक्र) हथौड़ा है।

(३) नाड़ियाँ—(हवा धौंकने की) धैंकनी है।

(४) मूलाधार आसन है।

(५) मूलाधार को दबाकर दृढ़ आसन से बैठकर लोहारी करो, इससे आवागमन मिट जाएगा—

'अहरणि नाद नैं व्यंद हथौड़ा, रवि ससि खालां पवनं
मूल चापि डिढ आसणि बैठा, तब मिटि गया आवागमनं।।'

षट्चक्र वेधन—तांत्रिक योग-साधना की विशिष्ट साधनाओं में 'षट्चक्र वेधन' भी एक है।

गोरक्षनाथ कहते हैं—

'उलटिया पवन षट्‌चक्र बेधिया, तातै लोहै सोखिया पांणी।
चंद सूर दोऊ निज धरि राख्या, ऐसा अलख बिनाणी।।'

(प्राण वायु को उलट कर षट्‌चक्रों का वेधन किया। उससे तप्त लौह (ब्रह्मरंध्र) ने पानी (रेतस) को सोख लिया। चन्द्रमा (इड़ा नाड़ी) और सूर्य (पिंगला नाड़ी) दोनों को अपने घर (सुषुम्णा) में रक्खा। जो योगी ऐसा करे वह अलक्ष्य और विज्ञानी (ब्रह्म) हो जाता है।

सिद्धान्त-ज्ञान की अपेक्षा साधना पर बल—

गोरक्षनाथ 'रहणी' (व्यवहार। आचरण। 'करनीं साधना) पर विशेष बल देते हैं—

'कथणीं कथै सो **सिख** बोलिए, वेद पढ़ै सो **नाती।**
रहणी रहै सो **गुरु** हमारा, हम रहता का साथी।।
'रहता हमारै **गुरु** बोलिए, हम रहता का **चेला।**'

ब्रह्मचर्य-साधना—गोरक्षनाथ की साधना ब्रह्मचर्याश्रित थी। 'योग' बिन्दु-साधना (बिन्दुरक्षण, बिन्दु-शोधन, बिन्दु का आरोहण) के बिना संभव नहीं है इसीलिए गुरु गोरक्षनाथ कहते हैं कि—

'रस कुस बहि गईला, रहि गई छोई।
भणत मछिन्द्रनाथ पूता, **जोग** न होई।'
'कांमनी बहतां जोग न होई, भग मुख परलै केता।'
'भग राकसि लो, भग राकसि लो, विण दंतां जग खाया लो।
ज्ञानी हुता सु ज्ञानमुख रहिया, जीव लोक आपै आप गँवाया लो।।
जिन जननी संसार दिखाया ताकौं ले सूते खोले'
'ब्रह्म झरंता जे नर राखै सो बोलौ **अवधूता।।**'
आपण ही टाटीं फ़ड़िका, आपण ही बंध।
आपण ही मृतग, आपण ही कंध।।
न्हाइबे कौ तीरथ न पूजिबे कौं देव।
भणंत गोरखनाथ अलख अभेव।।

सामरस्यवाद—तांत्रिक शैवशाक्त मत, त्रिपुरा-सम्प्रदाय एवं त्रिक दर्शन में, तांत्रिकों ने जो **'सामरस्यवाद'** सर्वोच्च साधना, सर्वोच्च सिद्धि एवं सर्वोच्च उपलब्धि के रूप प्रतिष्ठित किया है, वही गोरक्षनाथ में भी प्रतिष्ठापित है।

गोरक्षनाथ 'अमरौघ प्रबोध' में कहते हैं—

'निर्याते चित्तरागे व्रजति खररुचौ मेरुमार्गं समन्तात्।
दुद्रज्ञे वह्निभावे स्त्रवति शशधरे पूरयत्याशुकाये।
उद्यत्यानन्दवृन्दे त्यजति तव ममेत्यादिमोहान्धकारे
प्रोद्भिन्ने **ब्रह्मरंध्रे जयति शिव शिवा सङ्गमः** कोप्यपूर्वः।।'[१]

* शरीर पर पञ्चतत्त्वों का प्रभाव *

योगिराज गोरक्षनाथ कहते हैं कि—चूँकि शरीर पञ्चमहाभूतों से निर्मित है। अतः उनकी अल्पता एवं अधिकता आदि स्थितियों में शरीर प्रभावित हुए बिना नहीं रहता—

(१) **तत्पृथिवीमण्डले क्षीणे** वलिरायाति देहिनाम् ।
(२) **तोय-क्षीणे** तृणानीव चिकुराः पाण्डुराः क्रमात् ।
(३) **तेजः क्षीणे** क्षुधाकान्तिर्नश्यति **मारुते** श्लथे।
(४) वेपथुश्च भवेन्नित्यं
(५) **नाभसे** नैव जीवति।[१]
(६) इत्थं भूतक्षयान्मृत्यु र्जीवितं भूतधारणात् ।
(७) पञ्चेद्वर्षशते लक्ष्येन्नान्यथा मरणं भवेत् ।

प्राणायाम + महामुद्रा आदि अभ्यास प्रतिदिन दिन के चारों प्रहरों में ८-८ बार करने पर प्राण मध्यम पथ (सुषुम्णा) में प्रविष्ट हो जाता है।

प्राण का सुषुम्णा में प्रवेश कैसे हो ?

गोरक्षनाथ कहते हैं—

'निस्तरङ्गे स्थिरे चित्ते वायुर्भवति मध्यगः।
रविरुर्ध्वपदं याति बिन्दुना याति वश्यताम्।'

* योग साधना में साफल्य-प्राप्ति के प्रति गोरक्ष-दृष्टि *

गोरक्षनाथ कहते हैं—

सर्वचिन्तां परित्यज्य दिनमेकं परीक्ष्यताम्।
यदित्प्रत्ययो नास्ति तदा मे तु मृषा वचः।।

—अमरौघ प्रबोध

---

१. अमरौघ प्रबोध (१६)

योग-साधना में आने वाली विशिष्ट विलक्षणताएँ—

(योग-साधना में सफलता के चिह्न)

गोरक्षनाथ कहते हैं कि योग-साधना के समय अनेक विशिष्ट लक्षण प्रकट होते हैं यथा—

'रुमो (धूमो) **मरीचि खद्योतः दीपज्वालेन्दु भास्कराः।**
अमीकला महाबिम्बं विश्व**बिम्बं** प्रकाशते।'

—अमरौघ प्रबोध

दीपज्वालेन्दुखद्योत विद्युन्नक्षत्र भास्कराः।
दृश्यन्ते सूक्ष्मरूपेण सदा युक्तस्य योगिनः॥[1]

[श्वेताश्वतरोपनिषद् (२।११) 'मण्डलब्राह्मणोपनिषद् (५।१।९-१०) में भी योगिसिद्धि के अनेक चिह्न कहे गए हैं।]

गोरक्ष योग-साधना का चरम लक्ष्य—

(१) चित्त **अहङ्कार के विलय** के साथ **'मैं' और 'मेरा' की पृथकतासञ्जात द्वैतभावना से निर्मुक्त** हो जाता है।

(२) और यह (चित्त) द्वैत के संकल्प-विकल्प से परे हो जाता है। तब वह **समत्वभाव** में स्थित होकर **अद्वैतानुभूति** की स्थिति में **चिति तत्त्व का ध्यान** करने में समर्थ हो जाता है। **चैतन्यसम्पन्नता** ही जीवन है और चैतन्यराहित्य ही मृत्यु है।

(३) **चित्त एवं अचित्त का भेद** समाप्त होने पर **दोनों एक हो जाते** हैं। परिणामस्वरूप सामरस्य से अद्वैतावस्था की परानन्दमयी अनुभूति होती है, जिसे **जीवन्मुक्ति** कहते हैं। यह जीवन एवं मृत्यु दोनों से अतीत एवं अनिर्वाच्य स्थिति है।

(विश्वसत्ता का ब्रह्मसत्ता में लय अद्वय ब्रह्मानुभूति के उदय की ही अवस्था है)

(१) चित्त की **द्वैतभाव से मुक्ति।**

(२) **'अहं'-'मम' की भावना का विनाश**

(३) चित्त और अचित्त में **समत्वभाव**

(४) **जीवन्मुक्ति** की प्राप्ति

(५) **जीवन-मृत्यु** से परे की अवस्था का उदय

(६) राजयोग या अमरौघ की प्राप्ति

---

१. योगशिखोपनिषद (२।१९)

(७) समस्त तत्त्वों पर विजय, तत्त्वों का वशङ्करत्व

(८) विधि-निषेध से परे की स्थिति

—ये समस्त लक्षण, जिस सिद्धावस्था में अन्तर्निहित हों वह **अमरौघप्रबोधकार गोरक्ष** की योग-साधना की चरम उपलब्धि है। गोरक्षनाथ कहते हैं कि—

(१) **समीभावे** समुत्पन्ने **चित्ते द्वैतविवर्जिते।**

(२) **अहं ममेत्यपीत्युक्त्वा सोऽमरौघं** विचिन्तयेत् ।

(३) चित्तं **जीवित**मित्याहु रचितं **मरणं** विदुः।

(४) **चित्ताचित्तेसमीभूते जीवन्मुक्ति**रिहोच्यते।

(५) **न जीवति** ततः कोऽपि न **च कोऽपि मरिष्यति।**

(६) राजयोगपदं प्राप्य सर्वसत्ववशङ्करम् ॥

—अमरौघ प्रबोध

गोरक्षनाथोक्त योगसाधना में आचारविधान—

योगिराज गोरक्षनाथ का योग **'राजयोग' को आदर्श मानकर प्रवृत्त हुआ है** और **'राजयोग' शरीर का नहीं प्रत्युत् मन की साधना का योग है।** अतः गोरक्षनाथ ने स्वप्रवर्तित योग-साधना के लिए एक आचार-संहिता भी निश्चित की है और यह माना है कि उसके बिना कोई भी योग-साधना सिद्ध नहीं हो सकती।

योग-साधना में आचार विषयक नियम—पुस्तक के कलेवर की वृद्धि रोकने हेतु, बिना व्याख्या के ही गोरक्षानुशासन को उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत किया जा रहा है, जो इस प्रकार है—

(१) **अदेखि देखिवा देखि बिचारि बा अदिसिटि राखिया चीया**

(२) **पाताल की गंगा ब्रह्मण्डं चढ़ाइबा।** तहाँ **विमल जल पीया।**

(३) **हसिबा खेलिबा रहिबा** रंग **काम क्रोध न करिबा संग।**
हसिबा खेलिबा गाइबा गीत। दिढ़ करि राखि आपनां चीत।

(४) हसिबा खेलिबा धरिबा **ध्यान** अहनिसि कथिबा **ब्रह्मगियान।**

(५) हसै खेलै न **करै मन-भंग,** ते निहचल सदा नाथ कै संग।

(६) कोई बादी कोई बिबादी, जोगी कौ **बाद न करना।**

(७) अठसठि तीरथ समंदि समावैं, **यू जोगी कौं गुरुमुखि जरनां।**

(८) उतपति **हिन्दू** जरणां **जोगी** अकलि परि **मुसलमानी।**

(९) **अहनिसि मन लै उनमन** रहै, गम की छाँड़ि **अगम की कहै।**

(१०) **छाँड़ै आसा रहै निरास,** कहै ब्रह्मा हूँ ताका दास।

(११) **अरथै जाता उरथै धरै कांम दगध** जे जोगी करै।

(१२) **तजै अल्यंगन काटै माया,** ताका बिसनु परवालै पाया।

(१३) **धन जोबन की** करै न आस, चित्त न राखै कामनि पास।

(१४) **नाद बिंद जाके घटि जरै।** ताकी सेवा पारबती करै।

(१५) **अजपा जपै सुंनि मन धरै। पाँचौं इंद्री निग्रह** करै।

(१६) **ब्रह्म अगनि में होमै काया।** तास महादेंव बंदै पाया।

(१७) फ़ुरतै भोजन अलप अहारी। नाथ कहै सो काया हमारी।

(१८) (सबदहिं ताला सबदहिं कूँची, सबदहिं सबद जगाया।।
सबदहिं सबद सू परचा हूआ, सबदहिं सबद समाया।)

(१९) पंथ बिन चलिबा, अगनि बिन जलिबा, अनिल तृषा जहटिया।

(२०) (ससंवेद श्री गोरख कहिया बूझिल्यौ पंडित पढ़िया।)

(२१) गगन मँडल मैं ऊँधा कूबा तहाँ अमृत का बासा।
सगुरा होई सु भरि भरि **पीवै** निगुरा जाई पियासा

—गोरखबानी

(२२) **मरो वे जोगी मरौ,** मरण है मीठा
तिस मरणी मरौ जिस मरणीं गोरख मरि दीठा।

(२३) **हबकि न बोलिबा,** ठबकि न चालिबा धीरै- धारिबा पावं।
गरब न करिबा सहजै रहिबा, भणत गोरख रावं।

(२४) नाथ कहै तुम सुनहु रे अवधू, **दिढ करि राखहु चीया।**
काम क्रोध अहंकार निबारौ, तौ सबै दिसंतर कीया।।

(२५) **धाये न खाइबा, भूखे न मरिबा,** अहनिसि लेबा **ब्रह्म अगिनि** का भेवं।
हठ न करिबा, पड़्या न रहिबा, यूं बोल्या गोरख देवं।

(२६) **थोड़ा बोलै, थोड़ा खाइ** तिस घटि **पवनां रहै समाइ।**
गगन मँडल में **अनहद बाजै,** प्यंड पड़ै तो सतगुर लाजै।।

(२७) अवधू **अहार तोड़ौ निद्रा मोड़ौ,** कबहुं न होइगा रोगी।
छठे छ मासै **काया पलटिबा** ज्यूं को को बिरला बिजोगी।।

(२८) देव कला ते संजम रहिबा, भूत कला **अहारं।**
मन पवनां लै उनमनि धरिबा, ते जोगी तत सारं।।

(२९) अवधू **निद्रा कै घरि काल,** जंलालं **अहार** कै घरि चोरं।
मैथुन कै घरि जुरा गरासै, अरध-उरध लै जोरं।।

(३०) **अतिअहार** यंद्रीबल करै **नासै ज्ञान** मैथुन चित धरै।
व्यापै न्यंद्रा झंपै काल ताके हिरदै सदा जंजालं।
(३१) **घटि घटि गोरख कहै कहाणीं। काचे भांडै रहे न पांणी।।**
(३२) घटि घटि गोरख **घटि घटि मींन।** आपा परचै गुर मुख चीन्ह।
(३३) **सोहं हंसा सुमिरै सबद।** तिहिं परमारथ अनंत सिध।
(३४) पाखंडी सो **काया पखालै।** उलटि पवन अगनि प्रजालै।
(३५) **व्यंद न देई** सुपनैं जाण। सो पाखंडी कहिए तत्त समान।
(३६) मनवा जोगी गाया मढी। पंचतत्त ले कंथा गढी।।
(३७) **खिमा खड़ासण** ग्यान अधारी। **सुमति पावड़ी डंड बिचारी।**
(३८) **चालत चंदवा खिसि खिसि पड़ै।** बैठा ब्रह्म अगनि पर जलै।।
(३९) यहु **मन सकती, यहु मन सीव।** यहु मन पाँच तत्त का जीव।
(४०) यहु **मन ले जै उनमन रहै।** तौ तीनि लोक की बातां कहै।
(४१) अवधू **नव घाटी** रोकि लै वाट। **बाई वणिजै चौंसठि हाट।।**
(४२) **काया पलटै** अबिचल बिध। छाया बिवरजित निपजै सिध।
(४३) अवधू दम कौं **गहिबा उनमनि** रहिबा, ज्यूं बाजवा अनहद तूरं।
गगन मंडल मैं तेज चमंकै, चंद नहीं तहां सूरं।
(४४) **सास उसास बाइ कौं मखिवा, रोकि लेहु नव द्वारं।**
छठैं छमासि **काया पलटिबा।** तब **उनमैंनी जोग** अपारं।।
(४५) अवधू **सहंस्र नाड़ी पवन चलैगा। कोटि झमंकै नादं।**

—गोरखबानी

(४६) अमावस कै घरि झिलिमिलि चंदा, पूनिम कै धरि सूर।
(४७) **नाद कै धरि ब्यंद गरजै,** बाजंत **अनहद** तूरं।
(४८) **उलटंत नादं पलटंत ब्यंद,** बाई कै घरि चीन्हसि ज्यंद।।
(४९) सुंनि मंडल तहाँ **नीझर झरिया,** चंद सुरजि ले **उनमुनि धरिया।**
(५०) **अपणीं करणीं** उतरिवा पारं।
(५१) **सुसबदे हीरा** बेधिलै अवधू, जिभ्या करि टकसालं।
(५२) **मन मैं रहिणां भेद न कहिणां,** बोलिवा अमृत बांणीं।
आगिला अगनी होई बा अवधू, तौ आपस होइ बा पांणी।।

(५३) **उनमनि रहिबा** भेद न कहिबा, पीयबा नींझर पांणीं।
लंका छाडि पलंका जाइबा, तब गुरमुख लेवा बाणीं।

* मन:स्थैर्य की विधि *

(५४) उत्तराखण्ड जाइबा सुंनिफल खाइबा
ब्रह्म अगनि पहरिबा चीरं।
नीझर झरणौ **अमृत** पीया।
यूं मन हूवा थीरं।।

(५५) हिन्दू ध्यावै देहुरा, मुसलमान मसीत्।
जोगी ध्यावै परमपद, जहाँ देहुरा न मसीत।।

(५६) गोरख कहै सुणहु रे अवधू, **जग में ऐसें रहणां।**
आंखै देखिबा कांनै सुणिबा **मुख थै कछू न कहणां।।**

(५७) नाथ कहै तुम **आपा राखौ, हठ करि बाद न करणां।**
*** यहु जुग है काँटे की बाड़ी। देखि देखि पग धरणां।।**

(५८) **दृष्टि अग्रे दृष्टि लुकाइबा,** सुरति लुकाइबा कांनं।
नासिका अग्रे पवन लुकाइबा, तब रहि गया पद निरबांन।

(५९) अवधू **मनसा हमारी गेंद बोलिये, सुरति** बोलिए चौगानं
अनहद ले खेलिबा लागा, तब गगन भया मैदानं।।

(६०) **आसण बैसिबा पवन निरोधिबा** थांन मांन सब धंधा।
वदंत गोरखनाथ **आतमां विचारंत,** ज्यूं जल दीसै चंदा।।

(६१) **अपणी आत्मां** आप बिचारी, तब सोवौ पान पसारी।

(६२) **असार न्यंद्रा बैरी** काल, कैसें कर राखिबा गुरु का भंडार।
असार तोड़ो निंद्रा मोड़ौ, **सिव सकती ले करि जोड़ौं।**

(६३) तब जांनिबा **अनाहद** का बंध, ना पड़ै त्रिभुवन **नहीं पड़ै कंध।**

(६४) **सुणौं हो देवल** तजौ जंजाल, अमिय पीवत **तब होइबा** बाल
ब्रह्म अगनि सींचत मूलं, फूल्या फूल कली फिरि फूलं।

(६५) **उलट्या पवनां गगन समोइ, तब बाल रूपं पर तवि** होइ

(६६) **बारा कला सोखै, सोला** कला पोषै, **चारि कला साधै अनंत कला जीवै।**

(६७) असाध साधंत, **गगन गाजंत, उनमुनी** लागंत ताली।
उलटंत, पवनं, पलटंत बांणीं, अपीव पीवत जे **ब्रह्म ग्यानी।।**

(६८) **अलेख लेखंत, अदेख देखंत,** अरस परस ते दरस जांणीं।
सुंनि गरजंत, बाजंत नाद, अलेख लेखंत, ते निज प्रवाणी।

(६९) निहचल धीर बैसिबा, पवन निरोधिबा, कदे न होइगा रोगी।
बरस दिन मैं तीनि बर काया पलटिबा, नाग वंग बनासपही जोगी।

(७०) षोडस नाड़ी चंद्र प्रकास्या, द्वादस नाड़ी मानं
सहंस्त्र नाड़ी प्राण का मेला, जहाँ असंख कला **सिव थानं**।।

(७१) (अवधू काया हमारी नालि बोलिए, दारू बोलिए पवनं।
अगनि पलीता **अनहद गरजै** व्यंद गोला उड़ि गगनं।।

(**शरीर** = **बन्दूक**, **पवन** = बारुद। **अनहद** = आग। **बिन्दु** = गोला। गोला ब्रह्मरंध्र में चला जाता है—ऊर्ध्वरितसत्वाप्ति।)

(७२) सन्यासी कोई करै सर्वनास, **गगन मँडल महि माडै आस।**
अनहद सूं मन **उनमन रहै**, सो सन्यासी अगम को कहै।

(७३) **उलटिया पवन, षट्चक्र बेधिया**, तातै **सोखिया पाणी।**
चंद सुर दोऊ निज घरि राख्या, ऐसा अलख बिनांणी।

(७४) **अनहद सबद** बाजता रहै, **सिध संकेत** श्री गोरख कहै।

(७५) परमावस्था का स्वरूप क्या है?
* निरति न सुरति जोगं न भोगं, जुरा मरण नहीं तहां रोगं।
गोरख बोलै एकंकार, नहि तहँ वाचा ओअंकार।)

(इसीलिए **कबीर ने कहा था**—'जाप मेरे अजपा मेरे, अनहद हू मरि जाय 'शब्दब्रह्मणि निष्णातः परब्रह्माधिगच्छति।')—(उपनिषद्)

'शब्दब्रह्म' (अनाहत नाद = ३ॐ) के बाद है 'परपब्रह्म'। 'नाद' के बाद **'नादान्त'** भी तो है।) यह एकाकारावस्था है जो कि 'कैवल्य' कही जाती है।

(७६) **ब्रह्माण्ड फूटिबा**, नगर सब लूटिबा, कोई न जांणवा भेवं।

(७७) **अहंकार तूटिबा, निराकार कूटिबा**, सोखीला गंग जमन का पानी
चंद सुरज दोउ सनमुखि राखिबा, कहो ही अवधूत हां की सहिनाणी।

(७८) **(मीन-मार्ग) मींमा के मारग** रोपी लै भाणं''

(७९) **कहणि** सुहेलीं, रहणि दुेली, **कहणि रहणि बिन थोथी।**
पढ्या गुंण्या सूवा बिलाई खाया, **पंडित के हाथ रह गई पोथी।**

(८०) जल कै संजनि **अटल अकास**, अन कै संजमि **जोति प्रकास**
पवनां संजनि लागै बंद **व्यंद कै संजमि थिर है कंद**

(८१) **सबद बिन्दौ** रे अवधू **सबद बिन्दौ** थान मान सब धंधा।
आतमां मधे प्रमातमा दीसै, ज्यौ जल मधे चंदा।
(८२) **आसण दिठ अहार दिढ** जे **न्यंद्रा दिढ** होई।
गोरख कहै सुणौं रे पूता **मरै न बूढा होई**।।
(८३) तूटी डोरी **रसकस** बहै। **उनमनि** लागा अस्थिर है।
(८४) **उनमनि** लागा होइ अनंद। तूटी डोरीं **बिनसै कंद।**
(८५) **सवद बिन्दौ अवधू सबद बिन्दौ** सबदे सीझंति काया।
(८६) खरतर **पवनां रहै निरंतरि। महारस सीझै** काया उभि अंतरि।
(८७) गोरख कहै अम्हे चंचल ग्रहिया। **सिव सक्ती** ले **निज** धरि रहिया।
(८८) नव नाड़ी बहोतरि कोठा ए **अष्टांग सब झूठा।**
(८९) **उनमन जोगी** दसवैं द्वार। नाद व्यंदले धूंधूंकार।
(९०) दसवें द्वारे देइ कपाट। गोरख खोजी औरै बाट।।
(९१) **बजरी** करंता **अमरी** राखै **अमरि** करंता बाई।
भोग 'करंता जे **ब्यंद राखै** गोरख का गुरभाई।।
(९२) भगमुखि ब्यंद अगनि मुखि पारा।
जो राखै सो गुरु हमारा।
(९३) **अगनि बिहूंणां** बंधन लागै, **ढलकि जाइ रस काचा।**
(९४) **पवन** हीं जोग **पवन** हीं भोग, **पवन** हीं हरै छतीस रोग
या **पवन** कोई जांणै भेव, सो आपै करता आपै देव।।
(९५) **ब्यंद ही जोग**, ब्यंद ही भोग, ब्यंद हीं हरै चौसठि रोग।।
या **बिंद** का कोई जाणै भेव, सो आपैं करता आपैं देव।।
(९६) **काछ का जती मुख का सती।**
(९७) 'अवधू **मन चंगा तौ कठौती ही गंगा।।**
(९८) (ब्रह्माग्नि—वायु, जीवन, शरीर एवं बिन्दु की परिपक्वता।
तौ देवी पाकी **बाई,** पाका **जिंद,** पाकी **काया** पाका **बिंद।**
ब्रह्म अगनि **अखण्डित बलै,** पाका अगनीं **नीर** परजलै।।
(९९) (आसन, पवन एवं ध्यान की निश्चलता—
अग्नि, बिन्दु एवं वायु की रक्षा।
निस्चल **आसन पवनां ध्यानं अगनीं ब्यंद** न जाई।।
(१००) पंथि चले चलि पवनां तूटै **नाद बिंद** अरु **बाई**
घट ही भीतरि अठ सठि तीरथ कहाँ भ्रमै रे भाई।
(१०१) आकास तत **सदासिव** जाण। तसि अभिअंतरि **पद निरबांण।**

(१०२) **दाबि न मारिबा, खाली राखिबा, जानिबा अगनि का भेवं।**
(१०३) **नाद बिंद बजाइले** दोऊ पूरिले **अनहद बाजा।**
(१०४) **अनहद सबद गगन मैं गाजै।** प्यंड पड़ै तो सतगुर लाजै।
(१०५) **गगन मंडल,** मै सुंनि द्वार। बिजली चंमकै घोर अंधार।
(१०६) सूर माहिं चंद,चंद माहि सूर चपंपि तीन तेहुड़ा बाजल तूर।
(१०७) **ज्ञान सरीखा गुरु न मिलिया।** चित्त सरीखा **चेला।**
मन सरीखां मेलू न मिलिया तीथैं गोरख फिरै अकेला।।
—गोरखबानी

गोरक्ष की मनः साधना—'अमनस्क योग'

मनस्तत्त्व एवं 'उन्मन योग'—योगिराज गोरक्षनाथ कहते हैं—
'उनमनि रहिबा भेद न, कहिबा'

क्योंकि—'**मन** एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः।।' (उप०)
अतः—

'जिनि **मन** ग्रासे देव दाण, सो **मन मारिले गहि ग्यांन बाँण।।'**
''**कथंत गोरख मुकति लै** मानवा मारि लै रै मन द्रोही।।''
'यह **मन** सकती यहु **मन** सीव। यह **मन** पाँच तत्त का जीव।
यहु **मन** ले जे **उनमुन रहै।** तौ तीनि लोक की बातां कहै।।'

× × × × × × × × × ×

'**उनमन जोगी** दसवैं द्वार। नांद ब्यंद ले धूंधूंकार।।'
'अहनिसि **मन** लै **उनमन** रहै, गम की छांड़ि अगम की कहै।'
'**मन** पवना लै **उनमुनि** धरिबा, ते जोगी तत सारं।।'
मनवां जोगी गाया मढी, पंच तत्त ले कंथा गढी।'
'अवधू दंम कौ गहिबा **उनमनि** रहिबा, ज्यूं बाजबा अनदह तूरं।'
'सास उसार बाइ कौ भखिबा, रोकि लेहु नव द्वारं।'
''छठै छमासि काया पलटिबा, तब **उनमैंनी जोग** अपारं।।''
''सुंनि मंडल तहाँ नीझर झरिया, चंद सुरजि ले **उनमुनि** धरिया।''
'**उनमनि** रहिबा भेद न कहिबा पीयबा नींझर पांणीं।'
'उत्तर खण्ड जाइबा सुंनिफल खाइबा ब्रह्म अगनि पहरिबा चीरं।
'नीझर झरणैं अंमृत पीया यूं **मन हूवा थीरं।।'**
'असाध साधंत गगन गाजंत, **उनमनी** लागंत ताली।
उलटंत पवनं पलटंत बाणी, अपीव पीवत जे ब्रह्मज्ञानी।।'

'अनह सूं **मन उनमन रहै,** सो सन्यासी अगम **की कहै।**'

'उन्मनी कल्पलतिका'—(स्वात्माराम मुनीन्द्र की दृष्टि)—

(क) 'तत्त्वं बीज हठः क्षेत्र मौदासीन्यं जलं त्रिभिः।

उन्मनीकल्पलतिका सद्य एव प्रवर्तते।'

—हठयोग प्रदीपिका (४।१०४)

ब्रह्मानन्द कहते हैं—

(ख) 'उन्मन्य**सम्प्रज्ञातावस्था सैव** कल्पलतिका'—ज्योत्स्ना

[1]"इयं च ब्रह्मरन्ध्रसंस्थाना। इयमेव **मनोन्मनी।**—भास्कर

[2]मनसो यथावस्थितरूपस्यैवाभ्यासविशेषेणैतावत्पर्यन्तवृत्युद्गमः सुसाध इत्यतः **समनेत्युच्यते।** एतदुपरि तु रूपान्तरं प्राप्तस्यैव मनसो धृतिविषयतेत्यत **उत्क्रान्त-मनस्कत्वादुन्मना।।**" —भास्करराय।

भास्करराय कहते हैं 'समना' से ऊपर **'उन्मना'** है—

(क) **'समना'**—'ऊर्ध्वाधोबिन्दुद्वयसंयुतरेखाकृतिः **'समना'।**

(ख) **'उन्मना'**—सैवोर्ध्वबिन्दुहीनोन्मना तदूर्ध्वं **महाबिन्दुः।**

जो **'समना'** से ऊर्ध्व में किन्तु **'महाबिन्दु'** से नीचे स्थित है, वही **प्रणव या मन का द्वादशावयव** है और वही **'उन्मना'** है। आज्ञा चक्र के ऊपर **'बिन्दु'** से **'उन्मना'** पर्यन्त ९ भूमियाँ हैं।

आज्ञाचक्रोपरि विद्यमान भूमियाँ

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)	(८)	(९)
बिन्दु	अर्धचन्द्र	निरोधिका	नाद	नादान्त	शक्ति	व्यापिनी	समना	**'उन्मना'**

विद्यामयी **'उन्मना शक्ति'** की व्याप्ति से जब अवच्छेदक की निवृत्ति हो जाती है, तब अनवच्छिन्न, चिन्मय एवं आनन्दमय **'शिवभाव'** का उदय होता है।

साधक साधना में ऊर्ध्वारोहण करते हुए—**'अबुध'** से **'बुध्यमान'** **'बुध'**

---

१. गोरखबानी

२. वरिवस्यारहस्यम् —प्रकाश

'प्रबुद्ध' एवं **'सुप्रबुद्ध'** की अवस्था में पहुँचता है। इस सुप्रबुद्धावस्था में पहुँचने पर ('समना पर्यन्त समस्त अध्वा को अतिक्रान्त करने पर) **मनःसंस्कार का भी क्षय** हो जाता है। और तब **'उन्मनीभाव'** की प्राप्ति होती है। यह **'ब्रह्मरंध्रभेदनो'परान्त की अवस्था** है। यह पराद्वयमयी **परम शुद्धावस्था** है, जिससे **'जीवन्मुक्ति'** की सिद्धि होती है। यहाँ **कालकलायें, प्राणापानसंञ्चार; ३६ तत्त्व** एवं **देवत्रय** आदि कोई भी नहीं रहते।

'प्रणव' में १२ अंश विद्यमान हैं। इनमें अन्तिम अंश **'उन्मना'** ही है।

मन का १/५१२वाँ भाग **'उन्मना'** है।

'प्रणव' अमात्र होकर भी अनन्तमात्रात्मक है। **'सिसृक्षा'** होने पर आदि में **'एक'** भाव की स्फूर्ति से **'अनेक'** भावों का उदय होता है, किन्तु क्रमिक विकास की दृष्टि से **'एक'** से आरंभ में **'दो'** का विकास होता है। अतीतावस्था से **'एक'** का विकास होने पर—एक प्रथमतः दो भागों में विभक्त होता है। अतः **'एकमात्रा'** (एक मात्रा ही एकाग्रमन की मात्रा है।) से **'अर्धमात्रा' में उन्नयन** होता है। फिर **'अर्धमात्रा'** से भी अग्रिम अर्धमात्रा का उदय होता है। ये सारी **मात्रायें मन की मात्रायें** हैं। इस प्रकार मन सूक्ष्म होते-होते अपनी ५१२वीं मात्रा की अवस्था में पहुँचने पर **'उन्मन'** कहलाता है, किन्तु **वहाँ 'मन' रहता ही नहीं।** 'मन' समना तक ही रहता है **'उन्मना'** में नहीं।

मनस्तत्त्व की भूमिकायें

(१) स्थूल मन → (२) सूक्ष्म मन

* **एकाग्र मन** *
(एकमात्रक मनस्तत्त्व)
(एक मात्रा में स्थित मन)
('एकाग्रचित्तभूमि')

→ मन की स्थूलता का १/२ अंश समाप्त होने पर बिन्दु

*मनस्तत्व और उसकी सूक्ष्मतर विभिन्न अवस्थायें *

यह समस्त विश्व मन की एक या एकाधिक मात्रा में प्रसृत है। मन की जो एकाग्रतावस्था होती है, उसमें **'मन'** एक मात्रा में अवस्थित रहता है।

* समस्त प्राणियों की चित्त-भूमियाँ *

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
'क्षिप्त'	'मूढ'	'विक्षिप्त'	**'एकाग्र'**	'निरुद्ध'

*** एकाग्र चित्त या एकाग्रतावस्थापन्न मनस्तत्त्व *** चित्त की तीन भूमियाँ (क्षिप्त। मूढ़। विक्षिप्त—ये तीनों भूमियाँ) समाधि की यात्रा के लिए अनुपयोगी हैं।

(क) **'क्षिप्त'** रजोगुण प्रधान है।
(ख) **'मूढ़'** तमोगुण प्रधान है। } ये समाधि के लिए उपयोगी नहीं हैं।
(ग) **'विक्षिप्त'** सत्त्वोद्रेक प्रधान है।

(घ + ङ) **एकाग्र एवं निरुद्ध चित्त** भूमियाँ योगोंपयोगी हैं।*

क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त ये 'समाधि' के लिए उपयोगी नहीं हैं

एकाग्र भूमि में अवस्थित मूल समाधि की दिशा में ले जाता है।

चित्तवृत्तियाँ ५ हैं—चित्तवृत्तियों के भेद

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
प्रमाण	विपर्यय	विकल्प	निद्रा	स्मृति

चित्त की एकाग्रता की अवस्था—

(१) **भोजदेव** = **'एकाग्रे** बहिर्वृत्तिनिरोधः। निरुद्धे च सर्वासां वृत्तीनां संस्काराणां च प्रविलय''।

(२) **नागोजीभट्ट—'एकाग्रत्वं** ध्येयातिरिक्तवृत्तिनिरोधः

मन की सूक्ष्मतर अवस्थायें

चित की एकाग्र भूमि * एकमात्रक मन

सूक्ष्म विश्व के विभिन्न स्तर

सूक्ष्म विश्व की मात्रायें-
१/२; १/४; मात्रायें
१/८; १/१६; मात्रायें
१/३२; १/६४; मात्रायें
१/१२८; १/२५६; १/५१२ मात्रायें

(१) बिन्दु (२) अर्ध मात्रा (३) निरोधिका (४) नाद (५) नादान्त (६) शक्ति (७) व्यापिका (८) समना (९) उन्मना

ज्ञाता-ज्ञान ज्ञेय के एकाकार होने की अवस्था मात्रा से मात्राहीन की ओर जाने का द्वार

एकाग्र 'मन' 'बिन्दु' में १/२ मात्रा

*** आन्तर यात्रा के सोपान ***
मात्रा से मात्राहीन की दिशा में जाने की आन्तरिक सीढ़ी ('बिन्दु' से 'महाबिन्दु' तक की यात्रा के विभिन्न सोपान)

'मन' 'अर्धचन्द्र' में १/४ मात्रा

नादाभिव्यक्ति

१. जब नाद सुनाई नहीं पड़ता—क. विक्षिप्त, ख. क्षिप्त ग. मूढ़ अवस्था।
२. जब नाद सुनाई देता है = एकाग्रावस्था।
३. जब नाद बन्द हो जाता है—'निरोध'

'आज्ञा' चक्र' में एकाग्रता का पूर्ण विकास होता है।

'मन' निरोधिका में १/८ मात्रा

(क) अकार की मात्रा = १
(ख) उकार की मात्रा = २
(ग) मकार की मात्रा = ३
योग = ६

'मन' 'नाद में १/१६ मात्रा

'उन्मना शक्ति'–

सा शक्तिः परमासूक्ष्मा **उन्मना** शिवरूपिणी।।
अस्तित्वमात्रमात्मानं क्षोभ्यं क्षोभयते यदा।
समनासौ विनिर्दिष्टा **शक्तिः** सर्वाध्ववर्तिनी
—नेत्रतन्त्र

'वस्तुतो ह्युन्मनाख्यैव परविमर्शमयी पारमेश्वरी स्वातंत्र्यशक्तिरहन्तैकरसा स्वरूप गोपन क्रीड़ा सदाशिवानाश्रितपदात्मक सर्व भावाभासं सूत्रणभितिकल्प समनारुपतया स्फुरति।।' —स्वच्छन्दतंत्र उद्योत
—आचार्य क्षेमराज

नादान्त में १/३२ मात्रा

शक्ति में १/६४ मात्रा

उन्मना में १/५१२ मात्रा

व्यापिका में १/२८ मात्रा **'समना'**—इच्छाशक्तिरूपिणी।

विशुद्ध मन | शुद्ध मन की सूक्ष्मतम एवं अन्तिम अवस्था। — समना में १/२५६ मात्रा

ॐकार की ११वीं कला 'महामाया' विशुद्धतम मन का स्वरूप

मन्तव्यहीन मनन की अवस्था अविकल्प।
मन की इच्छाहीन अवस्था।
विशुद्ध कैवल्यावस्था

मन से हीन अवस्था | उन्मनी

महाबिन्दु

भगवान की नित्यस्वसमवेता स्वरूप शक्ति। अशेष विश्व का अभेददर्शन कराने वाली शक्ति। शिव की पराशक्ति

'चित्त' = (१) सूक्ष्म — चित्त की अवस्था **'एकाग्र'**

'चित्त' = (२) स्थूल — चित्तावस्था **'विक्षिप्त'**

'चित्त' = (३) स्थूलतर — चित्तावस्था **'क्षिप्त'**

'चित्त' = (४) स्थूलतम — चित्तावस्था **'मूढ'**

योग साधना की दृष्टि से पूर्णतः अनुप-योगी चित्त भूमियाँ

'बिन्दु' = सत्वगुण की वह अवस्था ही बिन्दु है, जिसे वैष्णव **'विशुद्धसत्व'** और व्यास **'प्रकृष्टसत्व'** कहते हैं। यह तमोगुण एवं रजोगुण से सदा के लिए विमुक्त अवस्था है। तांत्रिकगण इस **'बिन्दु'** कहते हैं।

जब योगी (१) मूढ़ (२) क्षिप्त एवं (३) विक्षिप्त—चितभूमियों को अतिक्रान्त करके **एकाग्रभूमि** में प्रतिष्ठित होते हैं; तब सत्त्वगुण का उत्कर्ष दृष्टिगत होता है। रजोगुण एवं तमोगुण **'सत्वगुण' के भीतर संलीन रहते हैं।**

(२) स्थूल

एकाग्रभूमि

(१) इसमें अस्मिता के रूप से परमप्रज्ञा का उदय होता है।

(२) इसमें ध्येयावलम्बन ज्ञेयरूप में होता है।

(३) जो एक सत्ता एकाग्रभूमि में प्रज्ञारूप में व्यक्त होती है, उसमें ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान अभिन्न रूप में प्रकट होते हैं।

(४) 'मन की **एक मात्रा में स्थिति** होने पर **एकाग्रभूमि** की प्रतिष्ठा होती है। इस समय संपूर्ण विश्व दृष्टिपथ से विलुप्त रहता है। **'एक'** भी मन (चित्त) का ही एकत्व है।''

(५) 'एकाग्र भूमि में प्रतिष्ठित मन को तोड़ कर उसके दो टुकड़े करने होंगे। इसी का नाम है **'अर्धमात्रा'** ।

(६) मन की मात्रा जितनी ही क्षीण से क्षीणतर होती जाती है, उसी अनुपात में उतना ही **चिदालोक बढ़ता जाता है। आनन्द में भी उतनी ही वृद्धि** होती है।

(७) मन की एकाग्रता की अवस्था में स्थूलकाय तो नहीं रहता, किन्तु सूक्ष्म काल तो बना ही रहता है।

कालांश—मात्रांश के अनुसार ज्यादा-कम होते है। अमात्रभूमि में काल का प्रवेश नहीं है।

'मन' बिन्दु की अवस्था में चन्द्रबिन्दु के रूप में पूर्ण रहता है।

मन और उसकी मात्रायें—शैव-शक्ति तांत्रिक योग के ग्रंथों में मन को द्विभूमिक कहा गया है। उसकी प्रथम भूमि है **'स्थूल' और दूसरी है** 'सूक्ष्म'।

मन की मात्रायें एवं स्थूल विश्व—स्थूल विश्व मन की एक या एकाधिक मात्रा में स्थित है।

*** सूक्ष्म विश्व और मन की मात्रायें ***

(१) 'बिन्दु' = १/२ मात्रा।
(२) 'अर्धचन्द्र = १/४ मात्रा।
(३) 'निरोधिका' = १/८ मात्रा।
(४) 'नाद' = १/१६वीं मात्रा।
(५) 'नादान्त' = १/३२वीं मात्रा।
(६) 'शक्ति' = १/६४वीं मात्रा।
(७) 'व्यापिका' = १/१२८वीं मात्रा।
(८) 'समना' = १/२५६वीं मात्रा।
(९) 'उन्मना' = १/५१२वीं मात्रा
समस्त मात्रांशों का योग = एक मात्रा।

स्थूल विश्व → सूक्ष्म विश्व

मन की एक या एकाधिक मात्रा में स्थित विश्व

मन की १/२ से १/५१२ मात्रा में स्थित विश्व

*** मन की मात्रायें एवं योग-साधना का लक्ष्य ***

*** 'साधना' स्थूल से सूक्ष्म की यात्रा है। यह 'मात्रा' से 'अमात्रा' की यात्रा है। ***

(१) **'स्थूल विश्व'** तो मन की एक मात्रा में स्थित है।

(२) सूक्ष्म विश्व मन की १/२ मात्रा से मन की १/५१२वीं मात्रा तक स्थित है। अतः मन की इन्हीं सूक्ष्म मात्राओं में अवस्थित होते हुए मन की २५६वीं मात्रा **'समना'** तक पहुँचकर उसको भी अतिक्रान्त करके **'उन्मना'** (मन की ५१२वीं मात्रा का स्तर) तक आरोहण करना योग का **प्रथम साधना-सोपान** है और उसके बाद उसे भी अतिक्रान्त करके **'महाबिन्दु'** के शीर्ष पर आरोहण करना **तांत्रिक योग-साधना का द्वितीय सोपान है।**

'मन' मात्रा-युक्त है। **साधना का लक्ष्य है**, मात्रा से मात्राहीन (अमात्र परमशिव) की यात्रा। समस्त स्थूल जगत की अनुभूति मन की जिस मात्रा में होती है, **उसे मन**

की एक मात्रा माना जाता है। समस्त लौकिक जगत एवं उसकी अनुभूतियाँ इसी **'एक मात्रा'** में अन्तर्निहित हैं। **मात्राधिक्य जड़ता का विधायक है। मन की मात्रा जितनी ही फैलती जाती है, मन उतना ही स्थूल होता जाता है** और उसकी मात्रा जितनी घटती जाती है, मन उतना ही शुभ्र एवं उज्ज्वलतर होता जाता है और उसी क्रम में चिदालोक शुभ्रतर होता जाता है।

एक मात्रा एवं 'अर्द्धमात्रा' की संधिभूमि में ही चिद्रश्मि-सम्पात होता है। ऊपर से एक मात्रा में उस रश्मि के पड़ने से ऊपर की ओर एक मात्रा टूटना आरंभ करती हैं, किन्तु नीचे की ओर **एक मात्रा** अक्षुण्ण ही बनी रहती है।

एक मात्रा ही विभक्त होकर **'अर्द्धमात्रा'** में विभाजित हो जाती है। मन की (१) **'क्षिप्त'** (२) **'मूढ़'** एवं (३) **'विक्षिप्त'** वृत्तियों में चाञ्चल्य वृद्धि (मात्रा-बाहुल्य) रहता है। अतः **मन सामान्यतः एक मात्रा में रहता ही नहीं है।** एक मात्रा ही निःशेष स्थूल **जगत का मध्य बिन्दु** है और समस्त विश्व इसी एक मात्रा में ही उपसंहृत होता है। **'बिन्दु'** ही मात्रा से मात्राहीन में यात्रा करने का मार्ग है। मात्रा-भंग से ही—

'अर्धमात्रा' **'रोधिनी'** 'नाद' **'नादान्त'** **'शक्ति'** **'व्यापिनी'** **'समनी'** एवं **'उन्मनी'** का उदय होता है।

'मनोन्मनी' की साधना-पद्धति—

इस साधना का प्रथम लक्ष्य है—मन को एकाग्र करके **केन्द्र में स्थापित करना। एक मात्रा** ही निःशेष **स्थूल जगत का मध्यबिन्दु या केन्द्र है।** जब मन एक मात्रा में अवस्थित होता है, तब **एकाग्रभूमि की प्रतिष्ठा** होती है। इस स्थिति में संपूर्ण जगत विलुप्त हो जाता है और एक मात्र चिदाकाश प्रकाशित हो उठता है, किन्तु चिद्रूप में नहीं 'महाशून्य' के रूप में प्रकाशित होता है। इस स्थिति में व्यष्टि-समष्टि' पिण्ड-ब्रह्माण्ड, एवं देश-काल का व्यवधान एवं पार्थक्य समाप्त हो जाता है। तदनन्तर **'प्रज्ञा'** भी अतिक्रान्त हो जाती है।

इस साधना में एकाग्र भूमि में स्थित **मन को तोड़कर उसके दो टुकड़े करने पड़ते हैं।** मन की यही द्विभाजित स्थिति **'अर्धमात्रा'** कहलाती है।

मन की मात्रा जितनी ही क्षीण से क्षीणतर होती जाती है और चैतन्य तथा आनन्द की मात्रा उतनी अधिक वर्धित होती जाती है। **'समना'** के स्तर पर विकल्प-शून्य मन रहते हुए भी न रहने के समतुल्य हो जाता है। इस समय क्षीण मन का भी त्याग करना पड़ता है, जिसे कि उत्सर्ग (आत्मसमर्पण) कहा जाता है। इस स्थिति में मन लेशमात्र भी नहीं रहता। इसी का नामान्तर है—चिदानन्दमय दिव्यभूमि में

प्रवेश। इस स्थिति में जीव परमशिव के रूप में प्रकट होता है। इस समय **'उन्मना शक्ति'** ही उसकी **'पराशक्ति'** होती है।

जिस प्रकार कृष्णपक्ष में कलाओं के क्षीण होते जाने के अनन्तर अन्त में कला रह ही नहीं जाती और फिर **'अमावस्या'** का उदय होता है, उसी प्रकार **'मन'**, **'बिन्दु'** (पूर्ण चन्द्रवत् बिन्दु) **'अर्धचन्द्र'** **'निरोधिका'** **'नाद'** **'नादान्त'** **'शक्ति'** **'महाशून्य'** **'व्यापिनी'** (विकल्पहीन मन) **'समना'** की यात्रा करता हुआ ब्रह्मविद्यास्वरूपा **'उन्मनाशक्ति'** में लय होकर पूर्णत्व उदित करता है। यहाँ न मन की गति है और न काल की गति है। यहाँ न मन की कोई मात्रा है और न कालराज्य की स्थिति। इसे ही शब्दान्तर में **'भगवद्धाम में प्रवेश'** भी कहते हैं।

साधक की यथार्थ यात्रा का आरंभ—एकाग्रभूमि से होता है और उसका अन्त **'निरोधभूमि'** में होता है। यह निरोध **चित्त का निरोध'** और निरोधवृत्ति का एवं संस्कारों का निरोध है। इस काल में निरोध भी नहीं रहता। इस समय रहता है तो केवल विशुद्ध चैतन्य मात्र रहता है। चित्त का यही आत्यन्तिक रूप में पूर्णभाव **'उन्मनीभाव'** है। यही विशुद्ध चैतन्य की निजाशक्ति या स्वरूप शक्ति है।

उन्मनीकल्पलता का जन्म—(१) चित्तरूप **'बीज'** हो, (२) प्राण-अपान के ऐक्य (ह०) का **'क्षेत्र'** (खेत = भूमि) हो एवं (३) **परवैराग्य रूप** औदासीन्य का **'जल'** हो तो **'उन्मनीकल्पलतिका'** स्वत: उत्पन्न हो उठती है अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि स्वयं उदित हो उठती है।

"तत्त्वं बीजं हठ: क्षेत्रमौदासीन्यं जलं त्रिभि:।
उन्मनीकल्प लतिका सद्य एव प्रवर्तते।।" (ह० यो० प्र०)

'ब्रह्मकमल' एवं उन्मनीकला—ब्रह्मकमल ऊर्ध्वमुखी होकर प्रस्फुटित है। उसी स्थान पर मन से अतीत **'उन्मनी कला'** अवस्थित है। **'ब्रह्मकमल'** (सहस्रदल के ऊपर) मध्यभाग की कर्णिका में स्थित है और सहस्रदल कमल अधोमुख रहकर प्रस्फुटित है। जब तक पद्म अधोमुख रहता है, तब तक कुण्डलिनी प्रसुप्त रहती है और तब तक विश्व विषम रूप से आभासित होता है और इसे **'समनावस्था'** कहते हैं, किन्तु जब यह पद्म ऊर्ध्वमुखी होता है तब कुण्डलिनी जागृतावस्था में रहती है एवं तब **विश्व चिदानन्दमय हो जाता है**। इसी अवस्था को **'उन्मनी अवस्था'** कहते हैं।

* गोरक्षनाथोक्त 'तारक योग' एवं 'अमनस्क योग' *

गोरक्षनाथ ने अद्वैतपरक ग्रंथ "अमनस्क योग" की भी रचना की है। गुरु गोरक्षनाथ कहते हैं कि परमोत्तम योग **'तारकयोग' है**। **'तारकयोग'** के दो भेद हैं—

(१) **'पूर्वयोग'**—**'तारकयोग'** (समनस्क योग)।

(२) **'अपर योग'**—**'अमनस्कयोग'** (मन से अतीत योग)।।

'पूर्वयोग'=बाह्यमुद्रा युक्त योग=बाह्य योग=बहिर्मुद्रा एवं बहिर्योग से युक्त योग' **'अमनस्कयोग'**='अन्तर्मुद्रात्मक योग' 'यथार्थयोग' 'अन्तर्योग' एवं निर्मनस्कयोग।

शाक्त-साधना में तीन उपायों का आश्रय लिया जाता है। ये निम्नाङ्कित हैं—

(१) **'आणव उपाय'** (२) **'शाक्तोपाय'** (३) **'शाम्भवोपाय'**। इसमें 'अमनस्क योग' इसी 'शाम्भवोपाय' के समतुल्य है।

गोरक्षनाथ ने योग-साधना की कई पद्धतियों पर प्रकाश डाला है।

योगों की पद्धतियाँ

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
मन्त्रयोग	हठयोग	लययोग	राजयोग	(राजाधिराजयोग)

इनमें **'राजयोग'** (एवं राजाधिराज योग) उपर्युक्त **'अमनस्क योग'** के ही समतुल्य है। इसी कारण इसे **'राजयोग'** भी कहा गया है।

स्वात्माराम मुनीन्द्र कहते हैं—

> **'राजयोगः** समाधिश्च **उन्मनी** च **मनोन्मनी।**
> **अमरत्वं लयस्तत्वं** शून्याशून्यं परं पदम्।
> **अमनस्कं तथाऽद्वैतं** निरालम्बं निरञ्जनम्।
> जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः।।'[१]

'अमनस्क' (मनोन्मनी) की साधना-पद्धति—

स्वात्माराम मुनीन्द्र कहते हैं कि—

(१) प्राण एवं अपान का ऐक्य (हठ) **क्षेत्र** है।

(२) चित्त **'बीज'** है।

(३) औदासीन्यरूप वैराग्य ही **'जल'** है।

(४) इस क्षेत्र-बीज-जल के संयोग से उन्मनी कल्पलतिका या 'उपाय प्रत्यय' (असंप्रज्ञात समाधि) का प्रादुर्भाव होता है।

गुरु गोरक्षनाथ प्रोक्त साधना पद्धति—गुरु गोरक्षनाथ कहते हैं कि—तारों

---

१. हठयोगप्रदीपिका

(नेत्र-पुत्रिकाओं) **को ज्योति से संयोजित करने** एवं **भौंहों को किञ्चित उन्नत करने** से क्षणभर में **उन्मनीभाव** उत्पन्न हो जाता है।

इसके लिए साधक को चाहिए कि वह इस साधना के अभ्यास काल में समस्त **चिन्तन-मनन का त्याग** करके 'निर्विचार एवं अविकल्प होकर किसी मनोनुकूल सुरम्य प्रदेश के **एकान्त में स्थिरांग एवं समासनस्थ होकर** एवं पीछे की ओर (यत्किञ्चित) झुककर (तनकर, समशिरोग्रीव होकर) एवं एक हाथ तक **दृष्टि को स्थिर करके** इस साधना का अभ्यास करे।

साधनांग—(१) समस्त **चिन्तनों का त्याग,** (निर्विचार स्थिति)

(२) सुरम्य प्रदेश के **एकान्त** में स्थित होना।

(३) शरीर को **समशिरोग्रीव** एवं **स्थिरांग** रखना

(४) दृष्टि को एक हाथ पर्यन्त **स्थिर** रखना।

परिणाम—वायु, मन, वाणी, देह एवं दृष्टि में स्थिरता, शरीर में मृदुता एवं लाघव।

गोरक्षनाथ कहते हैं—

'विविक्त देशे सुखसन्निविष्टः समासने किञ्चिदुपेत्य पश्चात्।
बाहुप्रमाणं स्थिरदृक् स्थिरांगश्चिन्ताविहीनोऽभ्यसनं कुरुष्व॥'

इसके द्वारा तत्त्व-साक्षात्कार होता है, किन्तु इस साधना में निर्विचार रहना अत्यावश्यक है—

'न किञ्चिन्मनसा ध्यायेत्सर्वचिन्ताविवर्जितः।
स बाह्याभ्यन्तरे योगी जायते तत्त्वसंमुखः॥'
"तत्त्वस्य संमुखे जाते अमनस्क प्रजायते।
अमनस्केऽपि संजाते चित्तादिविलयो भवेत्॥'

मत्स्येन्द्रनाथ एवं गोरक्षनाथ की दृष्टि में भेद

मत्स्येन्द्रनाथ का हठ-मार्ग—

(१) यह प्राणलय-प्रधान योगपद्धति है।

(२) यह प्राणों के नियंत्रण पर अधिक बल देती है।

(३) इसका लक्ष्य शक्ति का आयत्तीकरण है।

(४) इस प्रक्रिया में प्राण के लय से मन को लयीभूत करने की साधना प्रधान है।

(५) चित्त के कारण (क) 'वासना' और (ख) 'वायु' हैं—

"हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः।
तयोर्विनिष्ट एकस्मिंस्ततौ द्वावपि विनश्यतः।।"
'यावद्विलीनं न मनो न तावद्वासना क्षयः।
न क्षीणं वासना यावच्चित्तं तावन्न शाम्यति।।'

(१) तत्त्वज्ञान (२) मनोनाश (३) वासनाक्षय—ये तीनों एक ही महादशा के नामान्तर हैं—

'तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय एव च।
मिथः कारणतां गत्वा दुःसाध्यानि स्थितान्यतः।।"

चूँकि शिव के अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं। अतः मन की भी समस्त अवस्थायें एवं उसके समस्त गन्तव्य शिवावस्था मात्र हैं—

'यत्र यत्र मनो याति बाह्ये वाऽभ्यन्तरे प्रिये।
तत्र तत्र शिवावस्था व्यापकत्वात् क्व यास्यति।।'

चूँकि मन **अस्थिर** एवं सावलम्ब है। अतः योगियों ने उसके क्षय के लिए उसे स्थिर एवं निरालम्ब करने का उपदेश दिया है—

(क) 'अचिरेण **निराधारं मनः** कृत्वा शिवं व्रजेत् ।

(ख) '**निर्विकल्पं** मनः कृत्वा सर्वोर्ध्वे सर्वगोद्गमः।'

(ग) '**निराधारं** मनः कृत्वा विकल्पान्न विकल्पयेत् ।।

(घ) **यदा** यत्र, **यथा** यत्र स्थिरं भवति मानसम् ।
तदा तत्र, **तथा** तत्र, तस्मात् न तु चाल्पं कदाचन।।

(ङ) एवमभ्यसतो योगं मनो भवति सुस्थिरम् । (अमनस्क योग)

उन्मनीभावोत्पादक मुद्रा—तारों (पुतलियों) को ज्योति में लगाकर भौंहों को कुछ ऊर्ध्वोन्मुख चढ़ाने से उन्मनी का उदय होता है—

'तारे ज्योतिषि संयोज्य किंचिदुन्नमयनभ्रुवौ।
पूर्वयोगस्य मार्गोऽयमुन्मनीकारः क्षणात्।।'

तारक योग और मनोन्मनी—गुरु गोरक्षनाथ के मतानुसार योगों में सर्वोत्तम योग '**तारकयोग**' है। यह '**तारकयोग**' ही '**पूर्व**' एवं '**अपर**' दो नामों से विभक्त है।

'**पूर्वयोग**' ही '**तारकयोग**' है एवं '**अपरयोग**' ही '**अमनस्कयोग**' है। 'अमनस्क योग' की साधना का मेरुदण्ड ही '**मनोन्मनी**' है।

'अमनस्कयोग' की विशिष्टता—गुरु गोरक्षनाथ ने 'मंत्रयोग' 'ध्यान योग, 'जपयोग' आगम, निगम, तर्क, मीमांसा, न्याय, फलित, गणित, ज्योतिष, वेद, वेदान्त, स्मृति, कोष, छन्दशास्त्र, व्याकरण, काव्य एवं अलंकार शास्त्र आदि सभी शास्त्रों एवं तन्निहित विद्याओं से '**अमनस्क योग**' को श्रेष्ठतर कहा है।[1]

परम प्राप्तव्य है '**परमतत्त्व**' और '**अमनस्क योग**' उसी को प्राप्त करने का यौगिक साधन है, अतः यह योग श्रेष्ठतम है।

इस योग की **साधना की परिणति है**—'लय'—

'परतत्त्वं समाख्यातं जन्मबंधविनाशनम्।
तस्याभ्यासं प्रवक्ष्यामि येन संजायते **लयः**।।'[2]

गोरक्षनाथ कहते हैं कि '**परमतत्त्व**'—'चक्र' 'षोडशाधार' 'त्रिलक्ष्य' पंचव्योम' सुषुम्नादि नाड़ियों के योग तथा प्राणसाधना आदि के द्वारा प्रकाशित नहीं होता है—

'आधारादिषु चक्रेषु सुषुम्नादिषु नाडिषु।
प्राणादिषु शरीरेषु परं तत्त्वं न तिष्ठति।।'

यह परतमतत्त्व (परात्पर तत्त्व) अमनस्कयोगसाधित 'मनोन्मनी' के द्वारा ही प्राप्त है। इसीलिए इसे 'मनोन्मनीकारक योग' कहा गया है—

'पूर्वयोगस्य मार्गोऽयमुन्मनीकारकः क्षणात्।।'[3]

मन की विभिन्न भूमिकायें एवं मनोन्मनी—मन अपनी विभिन्न मात्राओं एवं मात्रांशो में विभिन्न भूमिकाओं में अवस्थित है। इसकी चार अवस्थायें हैं—

मनोवस्था के चार प्रकार

(१) विश्लिष्टावस्था
(२) गतागतावस्था
(३) सुश्लिष्टावस्था
(४) 'सुलीनावस्था'

(१) **'विश्लिष्टावस्था'** तमोगुणात्मक है।

(२) **'गतागतावस्था'** रजोगुणात्मक है।

---

१. अमनस्क योग
२. अमनस्क योग
३. अमनस्क योग

(३) '**सुश्लिष्टावस्था**' सतोगुणात्मक है।

(४) '**सुलीनावस्था**' निर्गुण है।

(क) विश्लिष्ट एवं गतागतावस्था—यह विकल्पों से भरी हुई एवं विषयों को ग्रहण करने वाली है।

(ख) सुश्लिष्ट एवं सुलीनावस्था—यह विकल्प रूपी महाविष का नाश करने वाली अवस्था है।

मन की क्रमिक गति—(१) मन सर्वप्रथम (चल होने के कारण) **'विश्लिष्ट'** फिर—

(२) किञ्चित् निश्चल होने पर **'सानन्द'**, फिर

(३) अत्यन्त निश्चल हो जाने पर—**'सुनील'** कहलाता है।

मन की सुलीनावस्था ही **मनोन्मनी की** अवस्था है।

मनोन्मनी के उच्चतर सोपान पर आरोहण करने के लिए मन को अपनी विभिन्न भूमिकाओं एवं मात्रांशों को अतिक्रान्त करना पड़ता है।

मन के मात्रांश तो पहले बताये जा चुके हैं। अत: पुनरुक्ति उचित नहीं। (मात्रांशों का वर्णन गोरक्षनाथ ने **'अमनस्क योग'** नामक अपने ग्रंथ में नहीं किया है, तथापि तांत्रिक योग-साधना में इस पर सविस्तार प्रकाश डाला गया है। उपयोगी होने के कारण इसे यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

मनोन्मनी का महत्व—

'एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी।
एको देवो निरालम्बश्चैकावस्था **मनोन्मनी**।।'

महामाहेश्वर भगवान् गोरक्षनाथ एक ओर तो भारतीय योग-साधना के महाव्योम के ध्रुवनक्षत्र थे तो दूसरी ओर भारतीय मनीषा की मनोज्ञ विभावरी के मनोज्ञ शशाङ्क। एक ओर वे हठयोग की कायिक साधना के प्रवर्तक थे, तो दूसरी ओर मनोन्मनीयोग (राजयोग) के साधक। वे योग की इस बाह्यान्तरवर्ती दोनों साधनाओं में सिद्ध थे।

* गोरक्ष-सिद्धान्त का तान्त्रिक स्वरूप *

सामान्यत: तो यही स्वीकार किया जाता है कि मत्स्येन्द्रनाथ कौलतांत्रिक मत के उद्भावक, उपासक एवं प्रचारक थे तथा गोरक्षनाथ योग के विशुद्ध स्वरूप के उपासक एवं प्रचारक थे, न कि तांत्रिक मत के। किन्तु यदि हम 'गोरक्षसंहिता' आदि ग्रंथों का अवलोकन करें तो गोरक्षमत में भी तांत्रिक उपादान उपलब्ध होते हैं।

* 'गोरक्ष-संहिता और तन्निहित तान्त्रिक उपादन *

'सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय' से प्रकाशित 'गोरक्षसंहिता' नामक ग्रंथ के अनेक श्लोक गोरक्षनाथ एवं मत्स्येन्द्रनाथ के अन्य ग्रंथों में भी प्राप्त होते हैं। इसके अनेक श्लोक 'हठयोग प्रदीपिका' एवं 'अकुलवीर तंत्र' आदि ग्रंथों में भी उपलब्ध होते हैं। चूँकि गोरक्ष के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ ने **'योगिनीकौलमत'** का प्रवर्तन किया था। अतः संभव है गोरक्षनाथ के सिद्धान्तों पर तांत्रिकमत का गंभीर प्रभाव पड़ा हो।

गोरक्ष-प्रणीत ग्रंथों में तांत्रिक योग की—

(१) वज्रोली (२) अमरोली (३) सहजोली (४) षट्चक्रवेधन (५) अजपाजप (६) कुण्डलिनी योग (७) काल-शोधन (८) काल-वञ्चन (९) पीठतत्त्व (१०) शिव-शक्ति की उपासना (११) सामरस्यवाद (१२) नादबिन्दुवाद (१३) 'परा' 'पश्यन्ती' प्रभृति वाणियों की उपासना—की क्रियायें तो गोरक्षनाथ के विशुद्ध योग के योग-ग्रंथों में भी प्रतिपादित, उपासित एवं स्वीकृत मिलती है, किन्तु तन्त्रशास्त्र के ग्रंथों में प्रतिपादित न्यासतत्त्व, आदि तत्त्व उनके योग शास्त्र के ग्रंथों में उपलब्ध नहीं होते, किन्तु 'गोरक्ष-संहिता' प्रभृति ग्रंथों में वे भी सारे तांत्रिक उपादन मिलते हैं।

गोरक्ष-संहिता शतसाहस्री (लक्षश्लोकात्मिका) कही जाती है।

'गोरक्ष-संहिता' में—भैरव स्तुति, दीक्षा-प्रकार, श्रीशैलोत्पत्ति, ओडियानपीठोत्पत्ति, जालन्धरपीठोत्पत्ति, पूर्णपीठोत्पत्ति, कामरूप पीठोत्पत्ति, मातङ्गीपीठ वर्णन, उपपीठवर्णन, कुलाकुल व्याख्या, पीठस्थान एवं उसके परिवार का वर्णन, मातृका-स्थापना, मुद्रा, बीज, बीजोद्धार, त्रिखण्डा, मन्त्र का उद्धार, पञ्चप्रणवोद्धार, चक्रभेद वर्णन, वस्त्रन्यास, शिखान्यास, मालिनीबीजविन्यास, ५० भैरवों का विवरण एवं वर्णन्यास, मालिनी चक्रविन्यास, मुद्रा के भेद, योनिमुद्रा, मुद्राबन्ध, जपप्रकार, जालन्धर साधन, मण्डलवर्णन, हृदयदूती एवं शिरोदूती का जपस्थान, दूतीमंत्रोद्धार, दूती, मुद्रा, होमविधि, शिखादूतीमन्त्रोद्धार, कुण्डविधान, होम-विधान,संख्या, द्रव्य, कुलाकुल, अघोर निर्णय, मंत्रराज का कीलनोत्कीलन, स्वच्छन्द यंत्र, कवचदूती, नेत्रदूती, अस्त्रदूती, देवी चक्र का स्वरूप, १६ दिव्य योगिनियों का नाम एवं स्वरूप, मातृमण्डल निर्माण, योगिनी मण्डल निर्माण डाकिनी, राकिनी, लामा, काकिनी, शाकिनी, हाकिनी, याकिनी, खेचरीचक्र, द्वादशारस्था योगिनियाँ, २४ दलस्थ योगिनियाँ, ६४ दलस्थ योगिनियाँ, चक्रपञ्चक, पृथिव्यादिपञ्चक्रोंके मंत्रबीजल, दीक्षाभिषेक विधान, कुलपिण्ड, कालवञ्चन, कालावरोध, मृत्युञ्जयमंत्रविधान, मृतसञ्जीविनी विद्या, कालदमिनी विद्या, अपराविद्या, पराविद्या, परापराविद्या, कामेश्वरी विद्या, त्रिपुरशेखराविद्या, षोढ़ान्यास, अघोर-न्यास, मालिनीन्यास, त्रिविधन्यास, अस्त्र (पाशुपत) न्यास, वर्णमालान्यास,

रत्नन्यास, नवात्मन्यास, बीजपञ्चकन्यास, त्रितत्व न्यास, वक्त्राङ्गन्यास, भूतशुद्धि, गुरुमण्डल, क्रमपूजन, पञ्चाशतरुद्र, उनके आयुध, द्वीपाम्नाय, देहस्थपीठ एवं द्वीप, चक्राम्नाय, बाह्यादिषोडशचक्र एवं चर्याधर गुणानन्द के पर्यटनस्थान आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन २७ पटलों में प्राप्त होता है।[१]

* गोरक्षनाथोक्त 'लय योग' *

गोरक्षनाथ ने 'लययोग' को अनेक प्रकार से परिभाषित एवं व्याख्यात किया है।

'चित्त का सन्तत लय ही **लय है**—

'यच्चित्तसन्ततलय: स **लय:** प्रदिष्ट:।।'

—अमरौघ प्रबोध

नियम—

'किनच्चिन्तयेद् योगी औदासीन्यपरो भवेत्।
न किंचिच्चिन्तनादेव स्वयं तत्त्वं प्रकाशते।।'

शिथिलीकरण—शिथिलीकृत सर्वाङ्गं आनखाग्रशिखाग्रत:।
स बाह्याभ्यन्तरे सर्वं चिन्ताचेष्टाविवर्जित:।।

—गोरक्षनाथ

ऋषि घेरण्ड की दृष्टि—

घेरण्डसंहिताकार ऋषि घेरण्ड ने अनेक प्रकार की समाधियों में से एक समाधि को **'लयसिद्धि समाधि'** कहा है। उसका स्वरूप इस प्रकार है—

''योनिमुद्रां समासाद्य स्वयं शक्तिमयो भवेत्।
सुश्रृंगाररसेनैव विहरेत्परमात्मनि।
आनन्दमय संभूत्वा ऐक्यं ब्रह्मणि संभवेत्।
अहं ब्रह्मेति वाऽद्वैतं समाधिस्तेन जायते।।''

नाथयोगी हठयोगप्रदीपिकाकार स्वात्माराम मुनीन्द्र की दृष्टि—

स्वात्मारामुनीन्द्र ने **'लय' एवं समाधि** को अभिन्नार्थक माना है। उनकी दृष्टि में—'राजयोग' 'समाधि' 'उन्मनी' 'मनोन्मनी' 'अमनस्क' 'अद्वैत' 'निरालम्ब' 'निरञ्जन' 'जीवन्मुक्ति' 'सहजा' एवं तुर्यावस्था—आदि सभी एकार्थक ही हैं। वे कहते हैं—

'राजयोग: समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी।
अमरत्वं **लयस्तत्त्वं** शून्याशून्यं परं पदम्।।'

---

१. गोरक्षसंहिता (प्रथम से सप्तविंश पटल)

वे 'लय' को इस प्रकार भी परिभाषित करते हैं—

(१) उच्छिन्नसर्वसङ्कल्पो निःशेषाशेष चेष्टितः।
स्वावगम्यो **लयः** कोऽपि जायते वागगोचरः॥

(२) प्रनष्टश्वासनिश्वासः प्रध्वस्तविषयग्रहः।
निश्चेष्टो निर्विकारश्च **लयो** जयति योगिनाम्॥

(३) इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः।
मारुतस्य **लयो** नाथः स **लयो** नादमाश्रितः॥[१]

(४) सोऽयमेवास्तु मोक्षाख्यो वाऽस्तु वापि मतान्तरे।
मनःप्राणलये कश्चिदानन्दः सम्प्रवर्तते॥

(५) यत्र दृष्टिर्लयस्तत्र भूतेन्द्रिय सनातनी।
सा शक्तिर्जीवभूतानां द्वे अलक्ष्ये **लय** गते॥[२]

'लय' है क्या? उसकी परिभाषा क्या है?

स्वात्माराम मुनीन्द्र कहते हैं—

'**लयो लय** इति प्राहुः कीदृशं **लयलक्षणम्**?
अपुनर्वासनोत्थानाल्लयो विषय-विस्मृतिः॥'[३]

* लय के प्रकार *

स्वात्माराम मुनीन्द्र का कथन है कि भगवान् शिव के अनुसार **सवा करोड़ लय के प्रकार हैं,** किन्तु उनमें मैं **'नादानुसन्धान'** को श्रेष्ठतम लय-प्रकार मानता हूँ—

'श्री आदिनाथेन सपादकोटि-
लयप्रकाराः कथिता जयन्ति।
नादानुसन्धानकमेकमेव,
मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम् ॥[४]

गोरक्षनाथ की दृष्टि—नाद-लय सर्वसुलभ नादोपासना है।

'अशक्यतत्त्वबोधानां मूढानामपि संमतम्।
प्रोक्तं **गोरक्षनाथेन नादोपासनमुच्यते**॥' (४।६५)

---

१. हठयोग प्रदीपिका
२. हठयोग प्रदीपिका
३. ह० यो० प्र० (चतुर्थ उपदेश)
४. ह० यो० प्र० (उप० ४)

'नाद' क्या है? नाद शिवशक्ति का पारस्परिक सम्बंध है—

'यत्किंच्चिन्नादरूपेण श्रूयते शक्तिरेव सा।'

'लय' का आदर्श या ध्येय क्या है? राजयोग की प्राप्ति —

'सर्वे हठलयोपाया राजयोगस्य सिद्धये।'

'राजयोग' क्या है? 'मनसः सर्ववृत्तिनिरोधः॥'—(ज्योत्स्ना)

लययोगसाधना का नियम—

सर्वचिन्तां परित्यज्य दिनमेकं परीक्ष्यताम्।
यदितत्प्रत्ययो नास्ति तदा मे तु मृषा वचः।

—अमरौघ प्रबोध (गोरक्षनाथ)

चित्त निस्तरङ्ग होना चाहिए—'निस्तरङ्गे स्थिरे चिते वायुर्भवति मध्यगः॥
रविरुर्ध्वपदं याति बिन्दुना याति वश्यताम्॥ —(गोरक्षनाथ)

'अमनस्क योग' के लय का स्वरूप—

गोरक्षनाथ का कथन है कि—

(१) न किंचिन्मनसा ध्यायेत्सर्व चिन्ता-विवर्जितः।
स बाह्याभ्यन्तरे योगी जायते तत्त्वसंमुखः॥३२॥

(२) तत्त्वस्य संमुखे जाते अमनस्क प्रजायते।
अनमस्केऽपि संजाते चित्तादि **विलयो** भवेत् ॥३३॥

(३) **'लयस्थ'** कौन हैं?

'यदा सर्वसमे जाते भवेद् व्यापारवर्जितः।
परब्रह्मणि सम्पन्नो योगी **प्राप्तलयस्तदा**॥३६॥'

सदैव अभ्यासरत रहने पर ही लयभाव अधिगत होता है, अन्यथा नहीं—

'सदाभ्यासरतानां च यः परो जायते **लयः**।'

लयस्थ का लक्षण—

(क) सुखदुःखे न जानाति शीतोष्णं न च विन्दति।
विचारं चेन्द्रियार्थानां न वेत्ति **विलयं** गतः।

(ख) न जीवन्न मृतो वापि न पश्यति न मीलति।
निर्जीवः काष्ठवत्तिष्ठेत् **लयस्थश्चाभिधीयते**।

(ग) निर्वात स्थापितो दीपो भासते निश्चलो यथा।
जगद् व्यापार निर्मुक्तस्तथा योगी **लयं** गतः।

(घ) यथा वातैर्विनिर्मुक्तो निश्चलो निर्मलोऽर्णवः।
शब्दादिविषयैस्त्यक्तो **लयस्थो** दृश्यते तथा।
(ङ) प्रक्षिप्तं लवणं तोये क्रमाद् यद्वद्विलीयते।
मनोऽप्यभ्यासयोगेन तद्वद् ब्रह्मणि लीयते।।

—गोरक्षनाथ

सुखदुःख, शीतोष्ण, इन्द्रियार्थी के विचार, जीवन-मृत्यु, उन्मीलन-निमीलन, सजीव-निर्जीव आदि सभी से परे एवं वायुशून्य तथा शान्त समुद्र की भाँति निस्पन्द-निश्चल, शब्दादिविषयों से असंस्पृष्ट, समुद्र में डाले गए नमक की भाँति ब्रह्म में लयीभूत एवं **ब्रह्मीभूत व्यक्ति ही लयस्थ कहा जाता है।**[१]

* साधनाकाल और तदनुगत सिद्धियाँ *

लय साधना का समय	लयस्थ योगी की सिद्धियाँ
(१) एक निमेष का लय	—परतत्त्व स्पर्श किन्तु व्युत्थान।
(२) ६ निमेषों का लय	—तापशान्ति, बार-बार निद्रा-मूर्च्छा
(३) एक श्वास पर्यन्त लय	—प्राणादि वायुओं का स्वस्थान में संचार
(४) दो श्वास पर्यन्त लय	—कूर्म, नाग आदि वायु निवृत्त, धातुपुष्टि
(५) चार श्वास पर्यन्त लय	—धातुओं के रसों की पुष्टि
(६) एक पल पर्यन्त लय	—एकासनस्थ होने पर क्लान्ति नहीं।
(७) दो पल पर्यन्त लय	—अनाहतनादोत्थान।
(८) चार पल पर्यन्त लय	—कान में अकस्मात्, सुमधुर ध्वनि का श्रवण
(९) आठ पल पर्यन्त लय	—काम 'वासना निवृत्त'
(१०) चौथाई कला तक लय	—प्राणादि वायु का सुषुम्णा में प्रवेश और वायु की शुद्धि
(११) आधी घड़ी तक का लय	—कुण्डलिनी का जागरण।
(१२) एक घड़ी तक का लय	—कुण्डिलिनी का ऊर्ध्वारोहण
(१३) दो घड़ी तक का लय	—एकक्षण में एक बार मन में कम्पन
(१४) चार घड़ी तक का लय	—निद्रा की निवृत्ति
(१५) आधे दिन तक का लय	—आत्मज्योति का प्रकटीकरण
(१६) दिनभर का लय	—इन्द्रियों के ज्ञान का विस्तार-समस्त ब्रह्माण्ड तक तथा आत्म तत्त्व प्रकाशित।

---

१. अमनस्क योग

(१७) अहोरात्र का लय —दूर से गन्ध-संवेदना की प्राप्ति।
(१८) दो अहोरात्र का लय —दूर से ही रससंवेदना की प्राप्ति।
(१९) तीन अहोरात्र का लय —दूर दर्शन
(२०) चार अहोरात्र का लय —दूर स्पर्श
(२१) पाँच अहोरात्र का लय —दूर श्रवण
(२२) छ अहोरात्र का लय —अतीतानागत विश्व का ज्ञान
(२३) सात अहोरात्र पर्यन्त लय —ब्रह्मपर्यन्त विश्वज्ञान एवं श्रुतिज्ञानं
(२४) आठ अहोरात्र पर्यन्त लय —क्षुधा, तृणा आदि मुक्ति।
(२५) नौ अहोरात्र पर्यन्त लय —वाक् सिद्धि।
(२६) ११ अहोरात्र पर्यन्त लय —मनोगति के समान कायागति।
(२७) द्वादश अहोरात्र पर्यन्त लय —आधे निमेष में भूतल के चतुर्दिक परिभ्रमण की क्षमता।
(२८) त्रयोदश अहोरात्र पर्यन्त लय —खेचरी सिद्धि
(२९) १४, १६, १८, २० अहोरात्र पर्यन्त लय—क्रमशः अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, सिद्धियों की प्राप्ति।

इसी प्रकार और अधिक लय-काल होने पर, 'प्राप्ति' 'प्राकाम्य' ईशित्व' आदि सिद्धियों की प्राप्ति हो जाती है।

—(अमनस्क)

* * अमरौघशासनोक्त योग-विधान * *

'अमरौघशासन' नामक गोरक्ष-प्रणीत ग्रन्थ में कहा गया है कि—

(१) मेरुदण्ड के मूल में सूर्य और चन्द्र के मध्य **'योनि'** है और उसी के मध्य **'स्वयंभूज्योतिर्लिंग'** स्थित है।

(२) यहीं पर पुरुषों के रेतस् एवं नारियों के रजः स्खलन का मार्ग भी स्थित है।

(३) यहीं पर (क) **'काम'** (ख) **'विषहर'** एवं (ग) **'निरञ्जन'** का स्थान है।

(४) वीर्य के स्खलन (अधःपतन) की दो अवस्थायें हैं—(क) **'प्रलयकाल'** (ख) **'विषकाल'**

इन दोनों अवस्थाओं का आनन्द अशुभ एवं घातक हुआ करता है।

(५) इन दोनों घातक अवस्थाओं के स्वामी पृथक्-पृथक् हैं। इसमें एक का स्वामी है—**''काम''** तथा दूसरे का स्वामी है—**''विषहर''**।

रज-वीर्य-प्रवाह की अवस्थायें

(१)	(२)	(३)
प्रलयकाल की अवस्था	विषकाल की अवस्था	**'सहजानन्द की अवस्था'** (**वीर्य-रज की ऊर्ध्वगामी** यात्रा की अवस्था। **मन एवं प्राण के स्थिर** होने एवं **'सहज समाधि'** के उदय की अवस्था)

(१) और (२): (रजवीर्य के अधोगमन या वीर्यस्खलन की अशुभ अवस्था)

इनके अधिष्ठता हैं—(१) काम (२) विषहर

शक्तित्रयविनिर्भिन्ने चित्ते बीजनिरञ्जनात्।
वज्रपूजापदानंदं यः करोति स **मन्मथः**।
चित्ते वतृप्ते मनोमुक्तिरुर्ध्वमार्गाश्रितेऽनले।
उदानचलितं रेतो मृत्युरेखा**विषं** विदुः॥

'निरञ्जन'—'चित्तमध्येभवेद्यस्तुबालाग्रशतधाश्रये ।
नानाभावविनिर्मुक्तः स च प्रोक्तो **निरञ्जनः**॥'

—गोरक्षनाथ (अमरौघ शासनम्)

'बिन्दु' की वह तृतीयावस्था जो **नानाभावविनिर्मुक्त** और **सहजानन्दावस्थात्मक** है तथा जिसमें बिन्दु ऊर्ध्वमुखी होकर आरोहण करता है और जो 'सहजसमाधि' उदित करती है, वह मन तथा प्राण को स्थिर कर देती है।

प्र० ऊर्ध्वरितसत्व कैसे प्राप्त किया जाय?

(१) ब्रह्मचर्य एवं (२) प्राणायाम दो ऐसे साधन हैं, जिससे बिन्दु स्थिर होते हैं और सिद्धावस्था में ऊर्ध्वमुख हो जाते हैं।

प्राणसाधना **'नाड़ीशुद्धि'** से ही सफल हो पाती है। हठयोग में जो **'षटकर्म'**, (धौति, वस्ति, त्राटक, नौलि आदि) हैं वे नाड़ीशुद्धि के कारक हैं। वे **'षट्कर्म'** इस प्रकार हैं—

'धौतिर्बस्तिस्तथा नेति लौलिकी त्राटकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि समाचरेत्॥' (घे० सं०)

घटस्थ सप्त साधन—

"शोधनं दृढ़ता चैव स्थैर्य धैर्य च लाघवम्।
प्रत्यक्ष च निर्लिप्तिं च **घटस्थसप्तसाधनम्**॥"

घटस्थसप्तसाधन—

(१) षट्कर्मणा **शोधनं** च आसनेन भवेद दृढ़म् ।

(२) मुद्रया **स्थिरता** चैव प्रत्याहारेण **धीरता।**

(३) प्राणायामा**ल्लाघवं** च **ध्यानात्प्रत्यक्ष**मात्मनि।

(४) समाधिना **निर्लिप्तं** च मुक्तिरेव न संशयः।।[१]

नाड़ीशुद्धि→बिन्दु में स्थिरता। नाड़ीशुद्धि से बिन्दु-स्थैर्य के साथ, सुषुम्णा-पथ भी शुद्ध हो जाता है, उसमें प्राण एवं मन स्थिर होकर प्रवाहित होने लगते हैं तथा प्राण, मन एवं जीव के साथ, मूलाधार चक्र की सुषुप्त शक्ति कुण्डलिनी भी अपना स्थान त्याग कर सहस्रारोन्मुख होकर, परमशिव से मिलने ऊर्ध्वारोहण करने लगती है। सहस्त्रार में ही शिव के साथ शक्ति को **'समरसत्व'** या **'सामरस्य'** प्राप्त होता है।

(५) बिन्दु-साधना में 'वज्रोली' 'सहजोली' एवं 'अमरोली' क्रियायें सहायता पहुँचाती है। इस क्रिया में जननेन्द्रिय द्वारा रसाकर्षण (योगिनी द्वारा वीर्य का एवं योगी द्वारा रज का आकर्षण) किया जाता है और वीर्य या रज को स्खलित नहीं होने दिया जाता।

नाड़ी-शोधन हो जाने पर वायुओं का शमन कठिन नहीं रह जाता। अनुकूल आसन, नाड़ीयोग, प्राणपानैक्य आदि द्वारा सुषुम्णा नाड़ी से प्राण को ऊपर चढ़ाया जाता है और उसके साथ मन एवं कुण्डलिनी भी ऊपर की ओर समाकृष्ट होकर सहस्रार-तीर्थ की यात्रा पर निकल पड़ती हैं।

कुण्डलिनी के जाग्रत हो जाने पर **'षट्चक्रभेदन' 'ग्रंथिभेदन' चक्र-जागरण** एवं **अनाहतनाद का प्रस्फुटन** आदि एक साथ सम्पन्न होते हैं। इस समय नाद-श्रवण होने लगता है। इसकी विधि इस प्रकार है—

'अर्द्धरात्रिगते योगी जंतूनां शब्दवर्जिते।
कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां कुर्यात्पूरक कुंभकम्।।
शृणुयाद्दक्षिणो कर्णे नादमंतर्गतं शुभम्।।'

दाहिने कान से श्रुतिगोचरनाद का स्वरूप भी भिन्न-भिन्न है।

नाद के प्रकार—

(१) 'प्रथमं झिंजीनादं च'

(२)'वंशीनादं ततः परम्'

(३)'मेघझर्झरभ्रमरीघण्टाकांस्यं ततः परम्।'

---

१. घेरण्ड संहिता

(४) 'तुरी भेरीमृदंगादिनिनादानक दुंदुभिः।'
एवं नानाविधं नादं जायते नित्यमभ्यसात्।।

अनाहतनाद और विष्णु का 'परमपद'—

'अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः
ध्वनेरंतर्गतं ज्योति ज्योतेरन्तर्गतं मनः।
तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम्।।'[१]

मूलकन्द से, जो सोमसूर्यपथोद्भवस्वरूप वायु उठती है, वह शक्ति के आधारस्थल में स्थित है। मूल कन्द में कुण्डलाकार 'भुजङ्गिनी' स्थित है, जो कि शिव से पृथक् होने से 'मूलाधार चक्र' में मूर्च्छित है—

'मूलकन्दोद्यतो वायुः सोमसूर्यपथोद्भवः।
शक्त्याधारस्थितो याति ब्रह्मदण्डकभेदकः।
मूलकन्दे तु या शक्ति कुण्डलाकाररूपिणी।
कन्ददण्डेन चोद्दण्डैर्भ्रामिता या भुजङ्गिनी।
मूर्च्छिता सा शिवं वेत्ति प्राणैरेवं व्यवस्थिता।।'[१]

योगिराज गोरक्षनाथ ने **'हठयोग'** की साधना-प्रक्रिया प्रस्तुत करके पातञ्जल योग की राजयोग-साधना-प्रक्रिया को क्रमिक साधना का सोपान प्रस्तुत किया है। पातञ्जल योग हठयोगरहित है। **'राजयोग' योग का अन्तिम सोपान है।**

'हकारः कथितः सूर्यष्कारश्चंद्र उच्यते।
सूर्याच्चन्द्रमसोर्योगात् हठयोगो निगद्यते।।'

—कहकर **सिद्धसिद्धान्तपद्धतिकार** ने जिस योग-प्रणाली का विधान किया है वह गोरक्षनाथ से भी पूर्ववर्ती है।

'हठयोग की विभिन्न परम्परायें

(१) मृकण्डु के पुत्र मार्कण्डेय —प्रवर्तित परम्परा

(२) गोरक्ष-प्रवर्तित परम्परा

'द्विधा हठः स्यादेकस्तु गोरक्षादिसुताधितः।
अन्यो मृकण्डुपुत्राद्यैः साधितो हठ संज्ञकः।।'

(१) **मार्कण्डेय-प्रवर्तित** हठयोग परम्परा आष्टाङ्गिक है।

(२) **गोरक्ष-प्रवर्तित** हठयोग परम्परा षडाङ्ग है।

---

१. घेरण्ड संहिता, २. अमरौघ शासनम् ।

(३) **गोरक्षनाथ और योगाङ्ग**—

(क) **'गोरक्ष शतक'** में —षडङ्गयोग का प्रतिपादन।

(ख) **'सिद्धसिद्धान्त संग्रह'** में —अष्टाङ्गयोग का प्रतिपादन।

पायु-उपस्थ के मध्यभाग में स्थित **'त्रिकोणचक्र'** में अवस्थित (अर्थात् **'अग्निचक्र'** में स्थित) जो **'स्वयंभूलिङ्ग'** है उसे **'साढ़े तीन या आठ'** वलयों से लपेट कर सुषुप्ता भगवती कुण्डलिनी शक्ति 'ब्रह्मद्वार' (सुषुम्णा का मुखद्वार) को अवरुद्ध करके अवस्थित है।[१] यही अपने ब्रह्माण्डव्याप्त स्वरूप में **'महाकुण्डलिनी शक्ति'** कहलाती है किन्तु व्यष्टि स्वरूप में **'कुण्डलिनी'।**

इसी कुलशक्ति को उद्बुद्ध करके **शिव से समरस** कराना **योगी का चरमलक्ष्य** है। योगी कुण्डलिनी की चाभी से मोक्षद्वार खोलता है—

'उद्घाटयेत् कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात्।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत्।।'

मानव शरीर में स्थित योगोपयोगी प्रधान तत्त्व

(१)	(२)	(३)	(४)
'प्राण' (वायु)	'बिन्दु' (शुक्र)	'नाद' (शिवशक्ति का अन्त-सम्बंध वाक्तत्त्व)	'मन' (प्राणारोही तत्त्व)

'प्राण' = 'संवित् प्राक् **प्राणे** परिणता।।' (वाक्तत्त्व)

ये चारों तत्त्व अन्तर्संबंधित हैं अतः उनमें से एक के अस्थिर होने पर अन्य सभी एवं एक के स्थिर होने पर शेष अन्य सभी स्थिर हो जाते हैं। गोरक्षनाथ ने 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में योग विषयक दूसरी दृष्टि प्रस्तुत की है।

'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' गोरक्षनाथ का प्रसिद्ध ग्रंथ है। उसके अनुसार सारा (गोरक्षोक्त) योग शास्त्र ६ उपदेशों में वर्णित है।

* गोरक्षोक्त षड्विधात्मक 'सिद्धमत' * (सि०सि०प०)

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)
पिण्डोत्पत्ति	पिण्डविचार	पिण्डसंवित्ति	पिण्डाधार	पिण्डपद-समरसभाव	'श्रीनित्या-वधूत'

---

१. गोरक्षपद्धति

'सिद्धमते सम्यक् प्रसिद्धा 'पिण्डोत्पत्तिः' 'पिण्डविचारः।'
'पिण्डसंवित्तिः' पिण्डाधारः पिण्डपदसमरसभावः॥'
श्री नित्यावधूतः'।—'सिद्धसिद्धान्त पद्धति'

सृष्टिप्राक् अवस्था—योगी गोरक्षनाथ ने इस सृष्टि प्राक्अवस्था में स्थित अव्यक्त परब्रह्म को **'अनामा'** संज्ञा दी है—

'यदा नास्ति स्वयं कर्ता कारणं न कुलाकुलम्।
अव्यक्तञ्च परं ब्रह्म 'अनामा' विद्यते तदा॥'[1]

'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' एवं **'सिद्धसिद्धान्त संग्रह'** दोनों में पिण्डोत्पत्ति आदि विषयों पर सविस्तार प्रकाश डाला गया है।

'सिद्धसिद्धान्त संग्रह के अनुसार पिण्ड के भेद

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)
पर या आद्य पिण्ड	साकार पिण्ड	महासाकार पिण्ड	प्राकृतपिण्ड	अवलोकन पिण्ड	गर्भपिण्ड[2]

'सिद्धसिद्धान्तसंग्रह' 'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' का ही संक्षिप्त रूप है। सृष्टि-क्रम को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

*** "स्वयं" नामक परात्पर तत्त्व ***

सृष्टिप्राक् अवस्था—सृष्टि के पूर्व की वह अवस्था जिसमें कार्यकारणभाव, सृष्टिकर्तृत्व एवं कार्यकारणचक्र विद्यमान नहीं रहता और परमशिव इन सारे सृष्टि-स्थिति पालन आदि व्यापारों से अतीत रहता है (अव्यक्तावथा में अवस्थित रहता है) **'स्वयं'** कहलाता है—

"कार्यकारणकर्तृत्वं यदा नास्ति कुलाकुलम्।
अव्यक्तं परमं तत्त्वं "**स्वयं**" नाम तदा भवेत्॥"

यही सृष्टिप्राक्अवस्था शिव की **'स्वयं'** की अवस्था कहलाती है।

सृष्टि-क्रम के विभिन्न सोपान

जब परमशिव सिसृक्षु होता है तब अपनी सिसृक्षा के कारण **'सगुण शिव'** कहलाता है। शिव में उत्पन्न सिसृक्षा ही उसकी **'शक्ति'** है और **'सृष्टि'** शक्ति का ही नामान्तर है—"सृष्टिस्तु कुण्डली ख्याता॥"

'सिसृक्षा' की अवस्था—जब परमशिव में सिसृक्षा का उदय होता है तब उसमें दो तत्त्व उत्पन्न होते हैं— (१) 'शिव' एवं (२) 'शक्ति'।

१. सि०सि०प० (१।४)
२. महा० गोपीनाथ कविराज—'सिद्धसिद्धान्तसंग्रह' की भूमिका।

'स्वयं' या **'परमशिव'** में सिसृक्षा का उदय

↓

'सगुण शिव'

(१) 'शिव'	(२) 'शक्ति'
(१) **'अपरं पदम्'** की अवस्था	(१) **'निजा'** **शक्ति** की अवस्था।
(२) **'परम'** **शिव** की अवस्था	(२) **'परा'** **शक्ति** की अवस्था।
(३) **'शून्य'** **शिव** की अवस्था	(३) **'अपरा'** **शक्ति** की अवस्था।
(४) **'निरञ्जनशिव'** की अवस्था	(४) **'सूक्ष्माशक्ति'** की अवस्था।
(५) **'परमात्मा शिव'** की अवस्था	(५) **'कुण्डलीशक्ति'** की अवस्था

सृष्टि-विकास की इस अवस्था में—

(क) **'शिव'**—'अपर'-'परम'—'शून्य'—'निरंजन' एवं 'परमात्मा' के रूप में तथा

(ख) **'शक्ति'**—'निजा'—'परा'—'अपरा'—'सूक्ष्मा' एवं 'कुण्डली' के रूप में रूपान्तरित (विकसित) होती है।

(१) **शक्ति की 'निजा' अवस्था**—जब परम शिव सिसृक्षु होता है तब उसकी सृष्टि-स्फुरण प्राक् अवस्था (जिसमें वह **स्फुरित होने को उपक्रान्त होता** है।) में उसकी स्वनिहित शक्ति को 'निजा' कहते हैं। इस अवस्था में स्थित शिव का नाम है—**'अपरं पदम्'**।

(२) **शक्ति की 'परा' अवस्था**—स्फुरण-पूर्ववर्ती जो निजा शक्ति अभी परमशिव की अवस्था मात्र धर्म से युक्त थी और स्फुरित होने को उपक्रान्त होकर भी स्फुरित नहीं हुई थी अब इस अवस्था में स्फुरणोन्मुखी हो जाती है और **'परा'** शक्ति कहते हैं तथा उसे अधिष्ठाता शिव को **'परम'** कहा जाता है।

(३) **शक्ति की 'अपरा' अवस्था**—यह शक्ति की वह स्फुरणधर्मा अवस्था है जिसमें शक्ति स्पन्दित हो जाती है और शक्ति के इस स्वरूप के साथ जो शिव संश्लिष्ट हैं उनका नाम है—**'शून्य'**।

(४) **शक्ति की 'सूक्ष्मा' अवस्था**—शक्ति के विकास का वह स्तर जिसमें शक्ति सूक्ष्म **'अहन्ता'** से युक्त हो जाती है उसकी आख्या है—**'सूक्ष्मा'** एवं उससे उपहित शिव की आख्या है—**'निरञ्जन'**।

(५) **शक्ति की 'कुण्डली' अवस्था**—शक्ति के विकास की वह परवर्ती अवस्था जिसमें वह पृथकत्व के प्रति पूर्णतया संवेदनशील एवं पूर्णतया सचेत हो जाती है **'कुण्डली'** कहलाती है तथा उससे सम्बद्ध शिव **'परमात्मा'** कहे जाते हैं।

'निजा पराऽपरा सूक्ष्मा कुण्डली तासु पञ्चधा।
शक्तिचक्रक्रमेणैव जात: पिण्ड: पर: शिवे।'

'ततोऽस्मितापूर्वमर्चिर्मात्रं स्यात्परं परम्।
तत्स्वसंवेदनाभासमुत्पन्नं परमं पदम्।।
स्वेच्छामात्रं ततः शून्यं सत्तामात्रं निरञ्जनम्।
तस्मात्ततः स्वसाक्षादभूः परमात्मपदं मतम्।'

—सिद्धसिद्धान्तसंग्रह (१/१-३-१-५)

*** 'स्वयं' (परशिव) की सिसृक्षा के विविध विकास-सोपान हैं—**

'अव्यक्त स्वयं'—

कार्यकारणकर्तृत्वं यदा नास्ति कुलाकुलम्।
अव्यक्तं परमं तत्त्वं **'स्वयं'** नाम तदा भवेत्।।

'निजा शक्ति'—

तस्यावस्थामात्रधर्माधर्मिणीति प्रसिद्धिभाक्।
निजाशक्तिरभूत् तस्या औन्मुख्याङ्का **परोत्थिता।।**

इसी प्रकार—

ततः स्पन्दमात्रा **स्यादपरेति** स्मृता ततः।
सूक्ष्माहन्तार्धार्धामात्रा चिच्छिलाकुण्डलिन्यतः।।

'निजा' के गुण—५ गुण

निराकृतित्वान्नित्यत्वान्निरन्तरस्तया तथा।
निष्पन्दत्वान्निरुत्थत्वान्निजाः पञ्चगुणा स्मृताः।।

(निराकृतित्व। नित्यत्व। निरन्तरत्व। निष्पंदत्व। निरुत्थत्व) (१/७)

'परा' के गुण—५गुण

अस्तित्वमप्रमेयत्वमभिन्नत्वमनन्तता।
अव्यक्तेति पञ्चस्युः परायां **सम्मता** गुणाः।। (१/८) (सि०सि०प०)

(अस्तित्व, अप्रमेयत्व, अभिन्नत्व। अनन्तत्व अव्यक्तत्व।।)

'अपरा' शक्ति के गुण—५ गुण

स्फुरत्तास्फारतायुक्ता स्फुरता स्फोरता तथा।
स्फूर्तिरेवं पञ्च गुणा अपरायामपि स्मृताः।।

'सूक्ष्मा' शक्ति के गुण—५ गुण

निरन्तरत्वं नैरंश्यं नैश्चल्यं निश्चयत्वकम्।
निर्विकल्पत्वमेव स्यात् सूक्ष्मायाः गुण पञ्चकम्।

(नैरन्तर्य, नैरंश्य, नैश्चल्य, निश्चयत्व, निर्विकल्पकत्व।)

'कुण्डली' शक्ति के गुण—५ गुण

पूर्णत्वं प्रतिबिम्बत्वं तथा प्रकृतिरूपता।
प्रत्यङमुखत्वमौच्चल्यं पञ्चैते भोगिनां गुणाः।

(पूर्णत्व, प्रतिबिम्ब, प्रकृतिरूपत्व, प्रत्यङमुख, औच्चल्य)

—सिद्धसिद्धान्तसंग्रह

* सिसृक्षु परमशिव की सिसृक्षा एवं सृष्टि-विकास के विभिन्न सोपान *

'परो हि शक्तिरहितः शक्तः कर्तुं न किञ्चन। शक्तस्तु परमेशानि शक्त्या युक्तो यदा भवेत् ॥'
—वामकेश्वर तंत्र

(सिसृक्षा से अतीत अव्यक्त शिव) 'स्वयं' (परमशिव) अव्यक्तावस्था

↓

सिसृक्षा
↓
(सिसृक्षु शिव)
सगुण शिव

'शिव' एवं 'शक्ति' के स्फुरण का विकास (प्रथम दो तत्त्व)

'शिव' — 'अपर' शिव — 'परम' शिव — 'शून्य' शिव — 'निरञ्जन' शिव — 'परमात्मा' शिव

'शक्ति' — 'निजा' शक्ति — 'परा' शक्ति — 'अपरा' शक्ति — 'सूक्ष्मा' शक्ति — 'कुण्डली' शक्ति

(स्फुरण के स्फुट, स्फुटतर एवं स्फुटतम विकास के अनुसार शिव एवं शक्ति के स्फुट, स्फुटतर एवं स्फुटतम स्वरूपों के विभिन्न सोपान।)

परशिव

(१) शिव — (२) शक्ति — 'परपिण्ड' [१]

अहं (मैं) | इदं (यह) — (३) सदाशिव

अहं (मैं) | इदं (यह) — ईश्वर (४)

अहं (मैं) | इदं (यह) — शुद्ध विद्या (५)

आद्य पिण्ड [२]

(६) माया
पंचकंचुक (७-११)

अ हं | मैं ... इ दं | यह प्रकृति (१३)

साकारपिण्ड [३]

(१४) महान्

अहंकार (१५)

(१६-२०) पञ्चतन्मात्रा

एकादश इन्द्रियाँ (२१-३१) — पंचभूत (३१-३६)

प्राकृत पिण्ड [४]

अवलोकन पिण्ड

गर्भपिण्ड (स्थूल शरीर)[1] [६]

---

१. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी । 'नाथसम्प्रदाय'।

सृष्टि-क्रम—

त्रिगुणात्मक आदि पिण्ड
↓
नीलवर्ण का महाप्रकाश
↓
धूम्रवर्ण का महावायु
↓
रक्तवर्ण का महातेज
↓
श्वेत वर्ण का महासलिल
↓
पीतवर्ण की महापृथ्वी
↓
(पञ्चमहातत्त्वों से उत्पत्ति)
↓
महासाकार पिण्ड
↓
शिव
↓
भैरव
↓
श्रीकण्ठ
↓
सदाशिव
↓
ईश्वर
↓
रुद्र
↓
विष्णु
↓
ब्रह्मा
↓
नर-नारी
↓
(प्रकृति पिण्ड)
नर-नारी-संयोग
↓
पुरुष + नारी का जन्म
↓
(पिण्ड का स्वरूप)
× × × ×
त्रिगुणातीत परपिण्ड
↓
आदि (आद्य) पिण्ड
↓
साकार पिण्ड
(महासाकार पिण्ड)

मुख्य ६ पिण्ड

(१) परपिण्ड (२) आद्यपिण्ड (३) साकार या महा-साकार पिण्ड

(४) प्राकृतपिण्ड (५) अवलोकन पिण्ड (६) गर्भपिण्ड

(क) शिव-शक्ति का संयोग → **'परपिण्ड'** ।

(ख) परवर्ती तत्त्वत्रय से → **'आद्यपिण्ड'**

(ग) माया + पञ्चकञ्चुक + पुरुष + प्रकृति = **साकार तत्त्व'**॥

(घ) पञ्चतन्मात्र पर्यन्त = **'प्राकृतपिण्ड'**

(ङ) गर्भ से उत्पन्न पञ्चभूतात्मक स्थूल शरीर = **'गर्भपिण्ड'**

३६ तत्त्वों के स्फुरण से **'पिण्डोत्पत्ति'** होती है।

वेदान्तदर्शन, सिद्धमत तथा त्रिक दर्शन की 'शक्ति'—चूँकि नाथ-सम्प्रदाय पर काश्मीरीय अद्वैतवादी शैवशाक्त दर्शन का प्रभाव पड़ा है। अतः उसी के दृष्टिकोण से 'शक्ति' तत्त्व पर विचार करना चाहिए।

वेदान्त के निर्गुण निराकार ब्रह्म की भी 'शक्ति' है, किन्तु इस शक्ति से नाथों की 'शक्ति' का स्वरूप भिन्न है

वेदान्त की ब्राह्मी 'मायाशक्ति'	त्रिकदर्शन एवं नाथों की शक्ति
१. वेदान्त में ब्रह्म की शक्ति 'माया' कही जाती है।	(१) यहाँ शक्ति चैतन्य स्वरूप है और उसका स्वरूप ही चैतन्य है।
(२) 'माया' जड़ शक्ति है।	(२) शक्ति जड़ नहीं है। तथाकथित जड़रूप सत्ता एवं तद्रूप पदार्थ भी चैतन्य की सुषुप्तावस्था का ही एक भेद है अतः शक्ति पृथक नहीं है।
(३) 'माया' सत् भी नहीं है और असत् भी नहीं है प्रत्युत् यह अनिर्वचनीय है।	(३) शक्ति सत है, नित्य है और अविनश्वर है।
(४) यह ब्रह्म में समवेत (समवायिनी) शक्ति के रूप में भी नहीं है।	(४) यह ब्रह्म की स्वसमवेता (समवायिनी) शक्ति है।
(५) इसमें चैतन्य का संचार (प्रवाह) नहीं है।	इसके प्रभाव से (विद्या माया या विद्या के प्रभाव से) बंधनग्रस्त भी मुक्त हो जाता है।
(६) जीवों के संदर्भ में इसका कार्य बन्धन डालना है और जगत की दृष्टि से सर्जन करना है।	(६) इसका प्रधान कार्य बंधन से मुक्ति दिलाना है, न कि बंधन में डालना। 'चित्शक्ति' अनन्त शक्तिसम्पन्ना एवं अनन्तरूपात्मिका है।
(७) इसके प्रधान कार्य हैं—(१) आवरण (२) विक्षेप।	जगत 'शक्ति' का ही परिणाम है—'सृष्टिस्तु कुण्डली ख्याता' शिव की सिसृक्षा ही 'शक्ति' है और शक्ति का परिणमन ही 'जगत' है।
(८) यह मुक्ति का बाधक है।	शक्ति की सहायता से ही शिव सृष्ट्यादि व्यापार निष्पादित करते हैं।
(९) माया को नित्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ज्ञान होने पर इसकी सत्ता नहीं रह जाती।	(१०) ज्ञानोदय होने पर भी शक्ति रहती है। यह नित्य है। इसके अनेक भेद हैं। यथा—इच्छा शक्ति, ज्ञानशक्ति, क्रिया शक्ति, चित्त शक्ति, आनन्द शक्ति आदि।

माया भी असीम शक्तिसम्पन्ना है तथापि शिव के अधीन है। शिव की सिसृक्षा को 'माया' एवं परिणमन को 'जगत्' नहीं कहा जा सकता।

यहाँ **'परम सत्'** पदार्थों की दृष्टि से, केवल एक पदार्थ है और वह है ब्रह्म (न कि माया या जीव)।

माया में चिदंश नहीं है।

वेदान्त की माया **'स्वतंत्र'** नहीं है प्रत्युत् शिवाधीन है।

मायोपहित जगत मिथ्या है।

वेदान्त में द्वयात्मक अद्वय नहीं है।

माया से मुक्ति होने पर ही मुक्ति (मोक्ष) प्राप्त हो सकती है।

प्रलयकाल में ब्रह्म 'मायाशक्ति' से परिणद्ध या समवेत नहीं रहता।

यहाँ ब्रह्म एवं माया में अभिन्न एवं नित्य सम्बंध नहीं है।

शक्ति से रहित शिव कुछ भी कर पाने में समर्थ नहीं है।

शक्ति शिव से उसी प्रकार अभिन्न है यथा शर्करा और मिठास, चन्द्र और चाँदनी, अग्नि और ताप।।

'माया' भी चितशक्ति का ही एक रूप है।

शिव की शक्ति का नाम ही 'स्वातंत्र्य शक्ति' है।

चितिरूपा शक्ति का परिणामरूप जगत मिथ्या नहीं प्रत्युत् सत् है।

यहाँ परमसत्य अद्वय तो है किन्तु यहाँ द्वयात्मक अद्वय (शक्ति के साथ शिव) है।

शक्ति स्वयं मुक्तिरूप है और 'अहं देवी न चान्योऽस्मि' की अभेद भावना से भी मुक्ति मिल सकती है।

प्रलयकाल में भी 'शक्ति' शिव के साथ समवेत भाव से उसमें विद्यमान रहती है।

यहाँ शिव एवं शक्ति में अभिन्न एवं नित्य सम्बन्ध है।

सृष्टि-विस्तार के लिए 'शक्ति' निरन्तर स्थूल से स्थूलतर स्वरूप धारण करती है। इसी क्रम में शक्ति पहले सूक्ष्मतम से सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतर से सूक्ष्म, सूक्ष्म से स्थूल, स्थूल से स्थूलतर एवं स्थूलतर से स्थूलतम स्वरूप धारण करती जाती है और तदनुरूप जगत भी इसी क्रम में सूक्ष्म से स्थूल स्वरूप में पणित होता जाता है।

'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' के अनुसार पिण्ड-सृष्टि

इस ग्रंथ के अनुसार—

(१) **'परपिण्ड'** से **आद्यपिण्ड** का उदय होता है।

(२) **'आद्यपिण्ड'** से **साकार पिण्ड** का उदय होता है।

(३) **'साकारपिण्ड'** से **महासाकरपिण्ड** का उदय होता है।

(४) **'महासाकारपिण्ड'** से **प्राकृतपिण्ड** का उदय होता है।

(५) **'प्राकृतपिण्ड'** से **गर्भपिण्ड** का उदय होता है।

२५-२५ तत्त्वों से पिण्डोत्पत्ति होती है। वैसे तो 'सिद्धसिद्धान्तसंग्रह' ६ प्रकार की पिण्डोत्पत्ति स्वीकार करता है किन्तु उमसें कई प्रकार की पिण्डोत्पत्ति प्रक्रियाये उल्लिखित है।

'परपिण्ड'—**'आद्यपिण्ड'**—**'साकारपिण्ड'**—**'महासाकारपिण्ड'**—**'प्राकृतपिण्ड'** एवं **'गर्भपिण्ड'** में से प्रत्येक पिण्ड पूर्ववर्ती पिण्डों से स्थूलतर है। **'गर्भपिण्ड'** से ही स्थूल शरीर का निर्माण होता है।

* काश्मीरीय शैव दर्शन और सृष्टि-प्रक्रिया *

काश्मीरीय अद्वैतवादी शैव-शाक्त दर्शन का नाथ-सम्प्रदाय पर पुष्कल प्रभाव है अतः उस पर प्रकाश डालना भी आवश्यक है।

सृष्टि की विभिन्न विकास-भूमिकायें

(१) 'अभेद' भूमिका
- (१) शिव
- (२) शक्ति

(२) भेदाभेद भूमिका
- (१) सदाशिव तत्त्व
- (२) ईश्वर तत्त्व
- (३) शुद्ध विद्या (सद विद्या)

(३) भेदभूमिका ३१ तत्त्व

माया पंचकंचुक कला विद्या कला राग नियति पुरुष प्रकृति आदि।

तत्त्व और सृष्टि-क्रम

परमेश्वर अवरोह-क्रम से अपने भीतर ही ३६ तत्त्वों का स्वेच्छया आभासन करता है जो इस प्रकार हैं—

(१) **अभेद भूमिका**—(क) शिव (ख) शक्ति।

(२) **भेदाभेदभूमिका**—(क) सदाशिव (ख) ईश्वर तत्त्व (ग) 'शुद्धविद्या' या 'सद्विद्या'

(३) **भेदभूमिका**—(६) माया (७) कला (८) विद्या (९) राग (१०) काल (११) नियति (१२) पुरुष (१३) प्रकृति (१४) बुद्धि (१५) अहंकार (१६) मन (१७) श्रोत्र (१८) त्वक् (१९) चक्षु (२०) जिह्वा (२१) घ्राण (२२) वाक् (२३) पाणि (२४) पाद (२५) वायु (२६) उपस्थ (२७) शब्द (२८) स्पर्श (२९) रूप (३०) रस (३१) गन्ध (३२) आकाश (३३) वायु (३४) वह्नि (३५) सलिल (३६) पृथिवी।

शिव से पृथ्वी तक ३६ तत्त्व हैं। शिव से पृथ्वी पर्यन्त ३६ तत्त्वों में अभेदात्मना स्फुरित आत्मा का इच्छा-प्रसार ही विश्व है।

काश्मीरी अद्वैतवादी शैव दर्शन का अद्वैत रूप परमतत्त्व तत्त्वातीत है और उसे **'परमशिव'** एवं **'चिति'** या **'आत्मा'** कहा गया है। यही **'परा संवित्'** एवं **'अनुत्तर'** भी कहा गया है। इसी में षट्त्रिंशदात्म जगत स्थित है—

'यत् पर तत्त्वं तस्मिन् विभाति षट् त्रिंशदात्मजगत्।'

—परमार्थसारकारिका (११)

इसी चिद्धन को अनुत्तर भी कहा गया है—

'अनुत्तरं न विद्यते प्रकृष्टमुत्तरं यतस्तरनुत्तरं चिद्घनम् ।। (परात्रिंशिका विवृति)

यह परतत्त्व **'प्रकाशविमर्शमय'** है।

'प्रकाश' आत्मा का स्वरूप है।

'विमर्श' प्रकाश रूप परमात्मा के स्वरूप की प्रतीत है। यह **'विमर्श'** (शक्ति तत्त्व) ही शिव का महेश्वरता की प्रतीति है। यही शिव परासंवित् है—चिति है। चिति ही परासंवित है। 'चिति' परमशिव है। यही आत्मा भी है : 'चैतन्यमात्मा' (शिवसूत्र)।

'विमर्श' ही परमशिव का अहं है। **'प्रकाश'** शिवस्वरूप है। **'शक्ति'** शक्तिरूप है। शक्तिस्वभाव से सम्पन्न होने पर ही शिव 'कर्ता' (कर्तृत्वाधिकारी) बन पाता है।

[१-२] **'शिव' और 'शक्ति'**—ये दोनों परमशिव के दो रूप हैं।

शिव एवं शक्ति में अभेद—'शिवदृष्टि' में सोमानन्दपाद कहते हैं कि शिव एवं शक्ति आपस में कभी एक-दूसरे से पृथक नहीं हो सकते।

"न शिवः शक्ति-रहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी।
शिव शक्तस्तथा भावानिच्छया कर्तुभीहते।
शिव शक्तस्तथा भावानिच्छया कर्तुमीहते।
शक्तिशक्तिमतोभेदः शैवे जातु न वर्ण्यते।।"

—शिवदृष्टि (३१२-३)

शक्ति है—'कर्तुं अकर्तुं तथा अन्यथाकर्तुं' की क्षमता।

विमर्श क्या है?—**'विमर्शो** हि सर्वसहः परमपि आत्मीकरोति, आत्मानं च परीकरोति, उभयम् एकीकरोति एकीकृतं द्वयमपि न्यग्भावयति इत्येवं स्वभावः।।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी

'शक्ति' आत्मारूपी परमशिव का दर्पण है। परमेश्वर की इच्छाशक्ति ही **'स्वातंत्र्य शक्ति'** कहलाती है। शिव 'स्वतंत्र' हैं।

परामशिव विश्वोत्तीर्ण है। विश्व परमशिव (आत्मा) का शंक्तिसंघात है—

'स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वं'८ (शिवसूत्र ३/३०)

परमशिव की शक्तियाँ

(१) **'चित'** (२) **'आनन्द'** (३) **'इच्छा'** (४) **'ज्ञान'** (५) **'क्रिया'** — 'शक्ति पञ्चक'
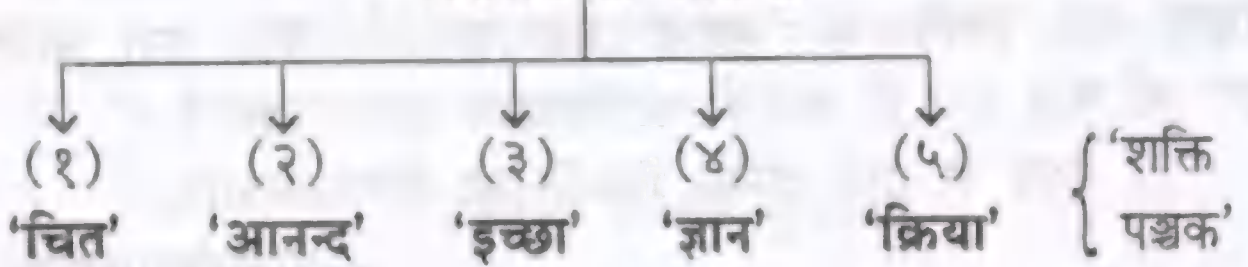
[३] **सदाशिव**—आभास-क्रम में तृतीय तत्त्व 'सदाशिव' हैं। इसका जन्म शिव की इच्छाशक्ति से हुआ है। शिव की इच्छा का अन्तर्मुख स्पंद **'ज्ञानशक्ति'** एवं बहिर्मुख स्पन्द**'क्रियाशक्ति'** है। अन्तर्मुख स्पन्द का उल्लासन (आन्तर ज्ञान दशा) ही **'सदाशिव तत्त्व'** है। सदाशिव दशा के प्रमाता की पारिभाषिक संज्ञा **'मंत्रमहेश्वर'** है। मंत्रमहेश्वर के विमर्श का स्वरूप है—इसमें अहम् शिव का एवं 'इदम्' विश्व का परिचायक है।

अहं इदम्

यहाँ 'अहन्ता' प्रधान है और 'इदन्ता' गौण है।

'पराप्रावेशिका' में कहा गया है—

'सदेवांकुरायमाणमिदं जगत् स्वात्मनाहन्तयाच्छाद्य स्थितं रूप **सदाशिवतत्त्वम्** ।।'

'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' में कहा गया है—

'ततश्चान्तरी ज्ञानरूपा या दशा तस्या उद्रेकाभासने सादाख्यं.......**सदाशिव-रूपाया** इदं वाच्यं तत्त्वम् ।।' 'निमेषोऽन्तः **सदाशिवः** ।।' (ईश्वर प्रत्य०)

मंत्रमहेश्वर प्रमाता का जो अस्फुट वेद्य सा ज्ञानरूप चित विशेषत्व है उसे ही **'सदाशिव तत्त्व'** कहते हैं। **'शिव-शक्ति'** की सामरस्यावस्था में सत असत् जैसे विकल्प उदित नहीं होते अतः सृष्टि के विकास में यह **'सदाशिव'** प्रथम तत्त्व है जिससे सत् का ज्ञान होता है। शैवागमों में इसे **'निमेष'** कहा गया है।

[४] **ईश्वर तत्त्व'**—यह आभासन-क्रिया में चतुर्थ तत्त्व है। शिव की इच्छा

का अन्तर्मुख स्पन्द **'सदाशिव'** है और बहिर्मुखी स्पन्द **'ईश्वरतत्त्व'** है। इसकी अभिव्यक्ति शिवेच्छा में 'क्रियाशक्ति' के उद्रेक से होती है।

'बहिर्भावस्य क्रियाशक्तिमयस्य परत्वे उद्रेकाभासे सति पारमेश्वरं परमेश्वर शब्दवाच्य**मीश्वरत्वं** नाम॥'
—ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी

सदाशिव तत्त्व में जो विश्व 'अंकुरायमाण अवस्था में रहता है और **अहन्ता-परामर्श-प्राधान्य** के कारण अस्फुट था, वही ईश्वर तत्त्व की दशा में अंकुरित होकर स्फुटभाव से परामृष्ट होने लगता है।

शिवतत्त्व का विमर्श है—(इदमहम्)—

इदमहम्
इदम् | अहम्

यहाँ इदम् प्रधान है और अहं गौण है। यहाँ अहं का परामर्श अस्फुट रहता है किन्तु 'इदम्' का परामर्श स्फुट रहता है।

स्पन्दविवृतिकार ने कहा कि—क्रिया के प्राधान्य के कारण उन्मिषित शक्ति की परम अहंभाव में जो विश्रान्ति है उसे **'ईश्वरदशा'** कहते हैं।

ईश्वरदशा—'यत्र पुनः शक्तेषः क्रियाप्राधान्येन बहिर्गृहीतोन्मेषायाः पराहंभावविश्रान्तिः सा ईश्वरदशा'।
—स्पन्द विवृति

अहं—परामर्श की दृष्टि से 'सदाशिव तत्त्व' एवं 'ईश्वरतत्त्व' में अभेद है किन्तु 'इदम्' के परामर्श की दृष्टि से भेद है। 'इदम्' की अस्फुटता एवं स्फुटता ही दोनों में वैभिन्य का कारण है। 'सदाशिव' में इदम् अस्फुट है किन्तु ईश्वरतत्त्व में स्फुट है। **'ईश्वरो बहिरुन्मेषो'** ईश्वर बहिरुन्मेष है।

[५] **'शुद्धविद्या'** (सद्विद्या)—विश्वोल्लासन के व्यापार में शुद्ध विद्या पंचम तत्त्व है। शिव का 'अहं' रूप अभेद-बोधक है किन्तु सद्विद्यावस्था में विमर्श का स्वरूप 'अहम् इदम्' इस प्रत्यय द्वारा प्रकट किया जाता है क्योंकि यहाँ 'अहम्' एवं 'इदम्' में सामान्याधिकरण्य है—

'सा भवति शुद्धविद्या येदन्ताहन्तयोरभेदमतिः।'
—षट्त्रिंशतत्त्वसन्दोह

जैसे परमशिव का बहिः औन्मुख्य 'शक्तितत्त्व' कहलाता है उसी प्रकार 'सदाशिव' एवं 'ईश्वर' का बाह्य औन्मुख **'शुद्धविद्यातत्त्व'** कहलाता है।

'अहम् इदम् अस्मि'—यह विमर्श 'शुद्धविद्या' कहलाता है। 'शक्ति' का उन्मेषनिमेष ही क्रमशः **'सदाशिव'** एवं **ईश्वर'** कहा जाता है।

'उन्मेष निमेषौ बहिरन्तःस्थिती एवेश्वरसदाशिवौ बाह्याभ्यन्तरयोर्वेद्यवेदकयोरेक-

चिन्मात्रविशान्तेरभेदात्सामानाधिकरण्येनेदं विश्वमहमिति विश्वात्मनो मतिः शुद्धविद्या।।'
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञावृत्ति

[६] **'माया'**—भेदात्मिका सृष्टि का छठवां तत्त्व **'माया'** है। यह परमेश्वर की **'स्वातंत्र्य शक्ति'** ही है—'परमेश्वरस्य भेदावभासने स्वातंत्र्यं तदेवाव्यतिरेकिणी अपूर्णता प्रथनेन मीनाति हिनस्ति इति माया शक्तिः।।'
—तन्त्रालोक की टीका

यह परमेश्वर की **स्वरूप गोपनात्मिका इच्छा शक्ति है**—
'माया स्वरूपगोपनात्मिका पारमेश्वरी इच्छाशक्तिः।।'
—तन्त्रालोक की टीका

सृष्टि को विकासोन्मुख करने हेतु **'अहन्ता'** ५ सोपानों से होकर गुजरती है। इन अवस्थाओं की आख्या **'आनन्द'** है ।

आनन्द के प्रकार

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
परमानन्द	प्रबोध	चिदुदय	प्रकाश	सोऽहं

इन्हीं आनन्दों के भीतर से यात्रा करते हुए शिव क्रमशः **जीवरूपत्व** की ओर अग्रपद होते हैं।

पिण्डब्रह्माण्डैक्यवाद—ब्रह्माण्ड के निर्माण में जो-जो अवस्थायें अतिक्रान्त करनी पड़ती हैं वही-वही अवस्थायें पिण्ड के निर्माण में अतिक्रान्त करनी पड़ती है। पिण्ड-ब्रह्माण्ड दोनों में एक ही तत्त्व है। पिण्ड में ब्रह्माण्ड अन्तर्निहित है।

'कुण्डलिनी शक्ति' भी पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड दोनों में स्थित है। 'ब्रह्माण्डवर्ति यत् किंचित् तत् पिण्डेप्यस्ति सर्वथा।।'' —(सि०सि०सं० ३/२)

अद्वैतवाद और नाथपन्थ—नाथपन्थी अद्वैतवाद के प्रतिपादक हैं किन्तु उन्होंने शाङ्कर अद्वैत को स्वीकार नहीं किया है। नाथमार्गियों ने कहा—

(१) 'महासिद्धैरुक्तं यदद्वैताद्वैतविवर्जितं पदं निश्चलं दृश्यत तदेवसम्यगित्यभ्युपगभिष्यामः।।'
—गोरक्षसिद्धान्त संग्रह

'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह' में यह भी कहा गया है कि—

'अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
समं तत्त्वं न विन्दन्ति द्वैताद्वैतवलक्षणम्।

यदि सर्वगतो देवः स्थिरः पूर्णो निरन्तरः।
अहो माया महामोहो द्वैताद्वैतविकल्पना।।'

—अवधूतगीता।

आद्य स्फोट और जगत—चूँकि सृष्टि का उद्भव या जगत की उत्पत्ति 'शक्ति' के स्फोट के अनन्तर ही होती है। अतः जगत की सृष्टि का मूल सूत्रधार तो शक्ति ही सिद्ध होती है। ठीक भी है—

(१) 'चितिः स्वतंत्रा विश्वसिद्धि हेतुः।।'[१]

(२) 'स्वेच्छया स्वभित्तौविश्वमुन्मीलयति।।'

(३) 'चिदेव भगवती स्वच्छस्वतंत्ररूपा ततदनन्त जगदात्मना स्फुरति—इत्येतावत्परमार्थोऽयं—कार्यकारणभाव:।।'[२]

(४) 'चितिः एव भगवती स्वतंत्रा अनुत्तरविमर्शमयी शिवद्दारकाभिन्ना हेतुः कारणम्।।'

—प्रत्यभिज्ञा हृदयम् ।

स्पष्ट है कि जगत्कर्त्री तो **'शक्ति'** है। शिव केवल ज्ञेय है, वह सृष्टिकर्ता नहीं है। वैसे शिव को पञ्चक्रियाकर्ता भी कहा जाता है। **'शक्ति'** और **'शिव'** में अभेद है, अतः यदि शिव अपनी स्वसमवेता एवं स्वाभिन्ना शक्तियों के माध्यम से कोई व्यापार निष्पादित करता है तो उसे भी शिव का ही व्यापार कहा जाएगा।

नाथ साधना का लक्ष्य—नाथ-साधना का लक्ष्य **'पिण्डपदसमरसीकरण'** **'समरसत्व'** **'शिवशक्तिमारस्य'** या **'शिवशक्ति-सङ्गम'** है।

किसी अनादिकाल में 'शिव' और 'शक्ति' 'परमशिव' से पृथक् हुए थे और वे निरन्तर स्थूलता की दिशा में बढ़ते ही गए और अपने स्वरूप को भूल गए। एक दिन 'शिव' और 'शक्ति' दोनों एकरस हो जायेंगे। तब सृष्टि-चक्र का अन्त भी हो जाएगा।

कुण्डलिनी योग—परमशिव की शक्ति, मानव पिण्ड के मूलाधार चक्र में, प्राणी के जन्मजन्मान्तर के संचित मलों (आणव कमल, कर्म मल आदि मलों) के भार से आक्रान्त होकर स्थित है। **'नाड़ी-शोधन'** **'भस्त्रिका'** (प्राणायाम) **'षट्चक्रभेदन'** **'ग्रंथि-उद्भेद'** **'नादानुसन्धान'** **'प्रणवसाधना'** **प्राणापानैक्य-योग** आदि साधनों से कुण्डलिनी को 'ब्रह्मनाड़ी' में ले जाकर सारे तत्त्वों, सारी ग्रंथियों एवं सारे चक्रों का

---

१. प्रत्यभिज्ञा हृदयम् (१) (२) प्रत्य० हृ० (२)

२. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् —आचार्य क्षेमराज

वेधन कराते हुए उसका 'सहस्त्रार' में परमशिव से सामरस्य कराना ही शरीर के अमृतीकरण, मोक्ष एवं जीवन्मुक्ति का मार्ग है।

सृष्टि और शक्ति में एकत्व

'सिद्धसिद्धान्त संग्रहकार' ने सृष्टि एवं शक्ति को अभिन्न माना है—

'सृष्टिस्तु कुण्डली ख्याता सर्वभावगता हि सा।
बहुधा स्थूलरूपा च लोकानां प्रत्ययात्मिका।
अपरा सर्वगा सूक्ष्मा व्याप्तिव्यापक-वर्जिता।
तस्या भेदं न जानाति मोहितः प्रत्यये न तु।
ततः सूक्ष्मा परासंवित् मध्यशक्तिमहेश्वरी।।'

अद्वैतवाद और 'गोरक्षोपनिषद' की दृष्टि—इस ग्रंथ में कहा गया है कि अद्वैत से परतर भी सत्ता है।

(१) अद्वैत के ऊर्ध्व में **सदानन्द देवता स्थित** हैं।

अद्वैतभाव ही चरमावस्था नहीं है प्रत्युत् **'सदानन्द'**-अवस्था उससे भी ऊर्ध्ववर्ती है।

नाथ स्वरूप में ही मुक्ति है।

(१) **'शक्ति'** सृष्टि करती है।
(२) **'शिव'** पालन करते हैं।
(३) **'काल'** संहार करते हैं।
(४) **'नाथ'** मुक्ति देते हैं।
(५) **'नाथ'** सगुण-निर्गुण दोनों से परे हैं।

'सिद्धसिद्धान्तपद्धतिकार' की दृष्टि—ग्रंथकार का कथन है कि सबसे परे स्वयं ज्योतिस्वरूप सच्चिदानन्द मूर्ति ही परतत्त्व है—

'न ब्रह्मा विष्णु रुद्रौ न सुरपतिसुरा नैव पृथ्वी न चापो।
नैवाग्निर्वापिवायुर्न च गगनतलं नो दिशो नैव कालः।
नो वेदा नैव यज्ञा न च रविशशिनौ नो विधिः नैव कल्पः।
स्वज्योतिः सत्यमेकं जयति तव पदं सच्चिदानन्दमूर्ते।।'

—सिद्धसिद्धान्तपद्धति

सिद्धसिद्धान्तपद्धतिकार की दृष्टि—सिद्धान्त और साधना।

*** शक्ति-युक्त शिव की उपासना ***

गोरक्षनाथ ने 'शक्तियुक्त जगद्गुरु आदि नाथ' की वन्दना करते हुए इस ग्रंथ का प्रणयन प्रारम्भ किया है। तांत्रिक शाक्तमत, त्रिपुरा मत एवं त्रिकमत—तीनों ही द्वयात्मक अद्वैतवाद में आस्था व्यक्त करते हुए **'शक्ति-युक्त शिव'** की उपासना स्वीकार करते हैं। गोरक्षनाथ कहते हैं—'आदिनाथं नमस्कृत्य शक्तियुक्तं जगद्गुरुम् ।।''

*** परात्पर शक्ति *** सि० सि० प० में परात्पर शक्ति को **'अनामा'** कहा गया है और उसका स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—

'यदा नास्ति स्वयं कर्ता कारणं न कुलाकुलम्।
अव्यक्त परं ब्रह्म अनामा विद्यते तदा।'

* अनामा परमशिव की शक्तियाँ *

(१) 'निजाशक्ति' (२) 'पराशक्ति' (३) 'अपराशक्ति' (४) 'सूक्ष्मशक्ति' (५) 'कुण्डलिनी शक्ति'

(१) **'निजाशक्ति'**—**'इच्छामात्र**धर्माधर्मिणी **निजा** शक्ति।।' (१/५)
(२) **'पराशक्ति'**—**'तस्योन्मुखत्वमात्रेण परा**शक्तिरुत्थिता।।' (१/६)
(३) **'अपराशक्ति'**—'तस्य **स्पन्दन**मात्रेण **अपरा**शक्तिरुत्थिता।।' (१/७)
(४) **'सूक्ष्मशक्ति'**—**'ततोऽहंतार्थ**मात्रेण **सूक्ष्म** शक्तिरुत्पन्ना।।' (१/८)
(५) **'कुण्डलिनी शक्ति'**—'ततो **वेदनशीला कुण्डलिनी** शक्तिरुद्गता।'(१/९)

इन पाँचों शक्तियों के गुण एवं धर्म सि० सि० सं० एवं सि० सि० प० दोनों में एक समान वर्णित हैं। (सि० सि० प०)

*** परपिण्डोत्पत्ति ***—एक शक्तितत्व में ५-५ के गुणयोग से 'परपिण्ड' की उत्पत्ति हुआ करती है।

'एकं शक्तितत्त्वे पञ्च पञ्च गुण योगात् परपिण्डोत्पत्तिः।।' (१/१५) * (सि० सि० पद्धति)

'परपिण्ड' के २५ गुण हैं। **प्रथम पिण्ड पर पिण्ड** है और यह त्रिगुणातीत है। **आदि या आद्य पिण्ड** प्रथम पिण्ड के बाद का पिण्ड है।

'निजापराऽपरासूक्ष्मा कुण्डलिन्यासु पञ्चधा।' (१/१६)

* ५-५ गुणों के योग से **शक्तितत्त्व** में 'परपिण्ड' की उत्पत्ति होती है। **साकार एवं महासाकार** पिण्ड एक ही हैं अतः ६ पिण्ड हैं।

महा० गोपीनाथ कविराज—(सि० सि० सं० की भूमिका) ६ पिण्ड हैं—
(१) पर या आद्य पिण्ड (२) साकार पिण्ड (३) महासाकार पिण्ड (४) प्राकृतपिण्ड (५) अवलोकन पिण्ड (६) गर्भपिण्ड ।

१. सि०सि०प० में नाथ मत को प्रारंभ में 'सिद्धमत' कहा गया है।

अव्यक्त परम तत्त्व

परमपद की पाँच शक्तियाँ (१)

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	
निजा	परा	अपरा	सूक्ष्मा	कुण्डली	२५ गुण
५ गुण	५ गुण	५ गुण	५ गुण	५ गुण	

'पर पिण्ड' (१)

'परपिण्ड' के ५ पद एवं उनके गुण (२)

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	
अपर	पर	शून्य	निरञ्जन	परमात्मपद	२५ गुण
५ गुण	५ गुण	५ गुण	५ गुण	५ गुण	

'आद्य पिण्ड' (२)

'आद्यपिण्ड' के ५ आनन्द एवं उनके गुण

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	
परमानन्द	प्रबोध	चिदुदय	प्रकाश	सोहऽम्	२५ गुण
५ गुण	५ गुण	५ गुण	५ गुण	५ गुण	

'आद्यपिण्ड' : ५ महातत्त्व और उनके अंशभूत तत्त्व

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	
महाकाश	महानिल	महातेज	महावारि	महापृथ्वी	२५ तत्त्व
५ गुण	५ गुण	५ गुण	५ गुण	५ गुण	

'साकार पिण्ड' (३)

'साकारपिण्ड' : अष्टमूर्तिः शिव। भैरव। श्रीकण्ठ। सदाशिव। ईश्वर। रुद्र। विष्णु। ब्रह्मा। | २५ तत्त्व |

'महासाकार पिण्ड' (४)

'महासाकारपिण्ड' : तत्त्वांश २५ तत्त्व

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश से सम्बद्ध अस्थि, त्वक्, आंस, लोम, नाड़ी (पृथ्वीतत्त्व) लाला, मूत्र। स्वेद। शुक्र। रक्त (जल तत्त्व)। क्षुधा। तृषा, आलस्य, निद्रा, कान्ति (अग्नितत्त्व)। धावन, चलन, रोध। प्रसारण। आकुञ्चन (वायु तत्त्व) राग, द्वेष, लज्जा, मोह (आकाशतत्त्व)।

'प्राकृत पिण्ड' (५)

'गर्भ पिण्ड'

*** प्राकृत पिण्ड * के २५ तत्त्व**

(१)	(२)	(३)
अन्तःकरण के धर्म	कुलपञ्चक	व्यक्ताख्य शक्ति के गुण

मन	बुद्धि	अहंकार	चित्त	चैतन्य
५	५	५	५	५
सत्व	रज	तम	काल	जीव
५	५	५	५	५
इच्छा	कर्म	माया	प्रकृति	वाक्
५	५	५	५	५

(१) * अव्यक्त परम तत्त्व की शक्तियाँ एवं उनके गुण *

(१) **'निजा'**—निराकृतित्व। नित्यत्व। निरन्तरत्व। निष्पन्दत्व। निरत्थत्व।

(२) **'पराशक्ति'**—अस्तित्व। अप्रमेयत्व, अभिन्नत्व। अनन्तत्व। अव्यक्तत्व।

(३) **'अपराशक्ति'**—स्फुरता, स्फारता। स्फुरत्ता। स्फोटता। स्फूर्ति।

(४) **'सूक्ष्मा शक्ति'**—नैरन्तर्य। नैरंश्य। नैश्चल्य। निश्चयत्त्व। निर्विकल्पत्व।

(५) **'कुण्डली'**—पूर्णत्व। प्रतिबिम्बत्व। प्रकृतिरूपत्व। प्रत्यङमुख। औच्चल्य।

(२) 'परपिण्ड' के पाँच पद एवं उनके ५-५ गुण

(क) अपर पद—अकलत्व। असंशयत्व। अनुमतत्व। अन्यपारता। अमरत्व।

(ख) पर पद—निष्फल। अलोल। असंख्य। अक्षय। अभिन्न।

(ग) शून्य पद—नीलता। पूर्णता। मूर्च्छा। उन्मनी। लयता।

(घ) निरञ्जन पद—सहज। सामरस्य। सत्यत्व। सावधानता। सर्वगत्व।

(ङ) परमात्म पद—अभयत्व। अभेद्यत्व। अच्छेद्य। अनाश्य। अशोष्य।

'निजापराऽपरासूक्ष्माकुण्डलिन्यासु पञ्चधा।
शक्ति-चक्रं क्रमेणोत्थो जातः पिण्डपरः शिवः॥' (सि० सि० प० १।१६)

* परपिण्डोत्पत्ति की प्रक्रिया *

(१) 'शक्ति तत्त्व' में प्रत्येक शक्ति (निजा शक्ति, पराशक्ति, अपराशक्ति, सूक्ष्मा शक्ति, कुण्डलिनी शक्ति) के ५-५ गुण, धर्म या अवस्थायें हैं। (२५ गुणों) में 'परपिण्ड' से (सगुण-साकार परमेश्वर से) पिण्ड का आविर्भाव होता है—

'एवं शक्तितत्त्वे पञ्चपञ्च गुणयोगात् परपिण्डोत्पत्तिः।' (१५)[१]

(२) जिस प्रकार हमारी पाञ्चभौतिक **काया पञ्चभूतों का पिण्ड है** और उसका **अधिष्ठाता** जीवात्मा है, उसी प्रकार **'शक्ति'** के २५ गुणों वाले **'परपिण्ड'** का अधिष्ठाता सगुण साकार परमेश्वर है।

(३) **'परपिण्ड'** में व्याप्त यह **परमेश्वर** जगत् की सृष्टि पालन एवं संहार के लिए प्रकट होता है। **'परपिण्ड'** उत्पन्न नहीं **प्रकट होता** है और **लयीभूत होता है,** न कि उत्पन्न एवं नष्ट।

(४) **साकार-सगुण परमेश्वर का पिण्ड** द्वैताद्वैतविवर्जित अलख निरञ्जन परमेश्वर में लयीभूत हो जाता है, नष्ट नहीं होता।

---

१. सि०सि०प० (प्रथमोपदेश)

(५) **'निजा', 'परा', 'अपरा', 'सूक्ष्मा' एवं 'कुण्डलिनी'**—इन **५ शक्तियों में शक्तिचक्रक्रम** के माध्यम से **सदाशिव** ५ प्रकार से प्रकट होते हैं।

(६) एक-एक शक्ति के विकास से एक-एक पिण्ड आविर्भूत होता है। इन ५ पिण्डों के अधिष्ठाता रूप ५ देव होते हैं। यही है—शक्तिचक्र क्रम।

(७) **शक्तिचक्रत्रिकोण** में बिन्दु (परब्रह्म शिव। आदि नाथ परमेश्वर) रहता है।

(८) सदाशिव की शक्ति के विकास के समय यह **शक्ति**—(१) इच्छा (२) ज्ञान एवं (३) क्रिया का स्वरूप धारण करती है। इन **तीनों शक्तियों** (गौरी। लक्ष्मी। सरस्वती) से **परमेश्वर व्यापक शिव** का प्राकट्य होता है।[१]

*** अनादि पिण्ड के ५ तत्त्व एवं २५ गुण ***

५ शक्तियों के, शक्तिचक्र क्रम से, प्रकट ५ अधिष्ठाता देवता हैं यथा—

(१) **निजाशक्ति** के अधिष्ठाता देव—अपरम्पर सदाशिव—हैं।

(२) **पराशक्ति** के अष्ठिाता देव—परमपद परमेश्वर हैं।

(३) **अपराशक्ति** के अष्ठिाता देव—शून्य, रुद्र हैं।

(४) **सूक्ष्माशक्ति** के अष्ठिाता देव—निरञ्जन (विष्णु) हैं।

(५) **कुण्डलिनी शक्ति** के अष्ठिाता देव—परमात्मा (ब्रह्मा) हैं।

(क) अपरम्पर सदाशिव से—'स्फुरत्ता' (उत्साह)

(ख) परमपद परमेश्वर से—'भावना'

(ग) शून्य (रुद्र) से—'सत्ता मात्र'

(घ) निरञ्जन (विष्णु) से—स्वसाक्षात्कार मात्र (अहंकार)

(ङ) परमात्मा (ब्रह्मा) से—बीजरूप समष्टि पिण्ड उत्पन्न हुए हैं।

—(सि० सि० प० १/१८)

"अपरम्परं परमपदं शून्यं निरञ्जनं परमात्मेति।"[२]

अनादि पिण्ड की उत्पत्ति—'अपरम्परं, परमपदं। शून्यं, निरञ्जनपरमात्मानौ पञ्च भिरेतैः सगुणौर**नाद्यपिण्डः** समुत्पन्नः॥[३]

(क) सृष्टि की रचना के समय **५-५ गुणों से युक्त ५ महाशक्तियों का प्रकटीकरण** होता है।

---

१. सि०सि०प० (गोरक्षनाथ)

२. सि०सि०प० (१।४७)

३. सि०सि०प० (२४)

(ख) वे ५-५ देवों से पृथक्-पृथक् युक्त होती हैं।

ये ही ५ देव स्वनिहित शक्तियों के अनुरुप—

(क) **'अपरम्पर'** (ख) **'परमपद'** (ग) **'शून्य'** (घ) **'निरञ्जन'** एवं (ङ) **'परमात्मा'** कहे जाते हैं।

इन सभी ५ प्रधान महाशक्तियों के साथ संयुक्त चेतनसत्ता का नाम है— **'अनाद्यपिण्ड'**।

यह सच्चिदानन्दघनस्वरूप **परमेश्वर** ही गुण एवं नाम से ५ रूपों में अभिव्यक्त होता है। यह समष्टि देव ही परमेश्वर **'शिव'** या **'आदिनाथ'** हैं।

*** महासाकार आद्य पिण्ड पुरुषः उत्पत्ति, ५ तत्त्व एवं २५ गुण ***

'अनाद्यपिण्ड परमेश्वर' से **'आद्यपिण्ड पुरुष'** की अभिव्यक्ति है—

(१) अनाद्य पिण्ड—परमानन्द

(२) परमानन्द—प्रबोध

(३) प्रबोध—चिदुदय

(४) चिदुदय—चित्प्रकाश

(५) चित्प्रकाश—अहंभाव की अभिव्यक्ति हाती है—

('अनाद्यात् परमानन्दः परमानन्दात् प्रबोधः, **प्रबोधा**च्चिदुदयश्चिदुदयात् चित्प्रकाशः चित् प्रकाशात् सोऽहंभावः॥—सिद्धसिद्धान्तपद्धति (१।२५)

इस आद्य पुरुष परमेश्वर के भी ५-५ गुणों से विशिष्ट ५ देव हैं।

'परमानन्द', 'प्रबोध', 'चिदुदय', एवं 'चित्प्रकाश' आदि में से प्रत्येक के ५-५ गुण हैं।

सोऽहंभाव के ५ गुण[1]

(१) अहन्ता (२) ऐश्वर्य (३) स्वात्मता (४) विश्वानुभवसामर्थ्य (५) सर्वज्ञत्व

महत्तत्त्व रूप **आद्यपिण्ड** है। यही आद्यपिण्ड पुरुष **'हिरण्यगर्भ' है।** ५ भूतों का कारण **'सूत्रात्मा'** है।

आद्यपिण्ड सूत्रात्मा—महाप्रकाश→महावायु→महातेज→महासलिल→महापृथ्वी (सि०सि०प० १।३१)

१. सि०सि०प० (१।३०)

पाँचों तत्त्वों के ५-५ गुण हैं।

*** महासाकार पिण्ड की अष्टमूर्तियाँ ***

'महासाकार पिण्ड' पञ्चाननशिव की अष्टमूर्तियाँ हैं—

शिव से → भैरव → श्रीकण्ठ → सदाशिव → ईश्वर → रुद्र → विष्णु → ब्रह्मा व्यक्त हुए हैं।

'स एव शिवः शिवाद् भैरवो, भैरवात् श्रीकण्ठः श्रीकण्ठात् सदाशिवः, सदाशिवादीश्वर ईश्वराद्रुद्रो, रुद्राद्विष्णु, विष्णोर्ब्रह्मेति **महासाकार पिण्डस्य मूर्त्यष्टकम्** ।''[1]

*** नरनारी रूप 'प्रकृतिपिण्ड' ***

ब्रह्मा के **अवलोकन** (ईक्षणात्मक संकल्प) से नारीसम्पुटित **पुरुषप्रकृतिपिण्ड** (शतरूपा मनु प्रजापति) का आविर्भाव होता है।

इसके उपरान्त जरायुजादि भौतिक शरीरों की उत्पत्ति होती है। यही **'प्रकृति पिण्ड'** भूमि आदि पञ्चभूतों के ५ गुणों से युक्त **'पाञ्चभौतिक'** शरीर कहा जाता है।

''तद् ब्रह्मणः सकाशाद**वलोकनेन** नर-नारी रूप **प्रकृति पिण्डः** समुत्पन्नस्तच्चं प्रञ्चपञ्चात्मक शरीरम् ॥'

शरीर में ५ महाभूत अस्थि, मांस, त्वक्, नाड़ी, रोम, मूत्र, शुक्र, रक्त, स्वेद, क्षुधा, तृषा, निद्रा, कान्ति, आलस्य, भ्रमण, आकुञ्चन, राग, द्वेष, भय, लज्जा, मोह आदि के रूप में अवस्थित हैं।

* अन्तःकरणपञ्चक *

(१) मन और उसके गुण	(२) बुद्धि और उसके गुण	(३) अहंकार और उसके गुण	(४) चित्त और उसके गुण
(१) संकल्प	(१) विवेक	(१) अभिमान	(१) मति
(२) विकल्प	(२) वैराग्य	(२)मदीयं	(२)इच्छा
(३) मूर्च्छा	(३) शान्ति	(३)मम सुखं	(३) स्मृति
(४) जड़ता	(४) सन्तोष	(४) मम दुखं	(४) त्याग
(५) मनन	(५) क्षमा	(५)ममेदम्	(५) स्वीकार

---

१. सि०सि०प० (१।३७))

* अन्तःकरण के गुण *

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
विमर्श	शीलन	धैर्य	चिन्तन	निःस्पृहत्व

* कुलपञ्चक *

सत्त्व	रज	तम	काल	जीव
५ कार्य	५ कार्य	५ कार्य	५ कार्य	५ कार्य

* पञ्चगुण *

दया	धर्म	क्रिया	भक्ति	श्रद्धा

* व्यक्ति पञ्चक *

इच्छा	क्रिया	माया	प्रकृति	वाक्
५ गुण	५ गुण	५ गुण	५ गुण	५ गुण

* वाक् के ५ गुण *

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
परा	पश्यन्ती	मध्यमा	वैखरी	मातृका

* प्रत्यक्षकरण पञ्चक

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
कर्म	काम	चन्द्र	सूर्य	अग्नि
५ प्रधान कारण	५ गुण	१७ कला	१६ कला	१० कलायें

(क) *** १० प्रधान नाड़ियाँ ***

(ख) * १० वायु (प्राण)

(ग) * जीवात्मा के स्थूल शरीर का उत्पत्ति क्रम।

सिद्धमत में पिण्डविचार (सिद्धसिद्धान्तपद्धति)

(१) पिण्डोत्पत्ति
(२) पिण्ड-विचार
(३) पिण्ड-संवित्ति
(४) पिण्डा-धार
(५) पिण्डपद समरसभाव
(६) नित्याव-धूत

*** पिण्ड-विचार * (द्वितीयोपदेश)**

(नौ चक्र)

(१) ब्रह्मचक्र
(२) स्वाधिष्ठानचक्र
(३) नाभिचक्र
(४) अनाहत चक्र
(५) कण्ठचक्र
(६) तालुचक्र
(७) भ्रूचक्र
(८) ब्रह्मरन्ध्र निर्वाण चक्र
(९) आकाशचक्र

* षोडशाधार *

(१) पदाङ्गुष्ठाधार
(२) मूलाधार
(३) गुदाधार
(४) मेढ्राधार
(५) उड्डियाण आधार
(६) नाभ्याधार
(७) हृदयाधार
(८) कण्ठाधार
(९) घण्टिकाधार
(१०) ताल्वाधार
(११) जिह्वाधार
(१२) भ्रूमध्याधार
(१३) नासिकाधार
(१४) नासामूलक कपाटाधार
(१५) ललाटाधार
(१६) ब्रह्मरंध्र (आकाशचक्र)

* लक्ष्यत्रय *

(१) अन्तर्लक्ष्य
(२) बहिर्लक्ष्य
(३) मध्यलक्ष्य

* व्योमपञ्चक *

(१) आकाश
(२) पराकाश
(३) महाकाश
(४) तत्त्वाकाश
(५) सूर्याकश

* अष्टाङ्गयोग *

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)	(८)
यम	नियम	आसन	प्राणायाम	प्रत्याहार	धारणा	ध्यान	समाधि

गोरक्षनाथ जी ने इस ग्रंथ में योग को 'षडङ्ग' न मानकर **'अष्टाङ्ग'** माना और योगाङ्गों की मौलिक विवेचना की।

(१) **'यम'**—(उपशम) "**यम** इति उपशमः॥" 'सर्वेन्द्रियजयआहार—निद्रा—शीत—वातपजयश्चैवं शनैः शनैः साधयेत् ॥" (२।३२)

(२) **'नियम'**—"**नियम** इति मनोवृत्तिनां नियमनम्।"
एकान्तवास—निःसङ्गता—औदासीन्य—
यथा प्राप्तिसन्तुष्टि वैरस्य—गुरुचरणावरुढ़त्व।

(३) **'आसन'**—'आसनमिति स्वस्वरूपे समासन्नता।'
स्वस्तिकासन, पद्मासन, सिद्धासनः। इन आसनों में से एक आसन में सावधान होकर ध्येय तत्त्व में स्थिर होना।

(४) **'प्राणायाम'**—'प्राणायाम इति प्राणस्य स्थिरता॥'
रेचक-पूरक-कुम्भक-संघटकरणा रूप चार प्राणायाम के लक्षण हैं।

(५) **'प्रत्याहार'**—'प्रत्याहारमिति चैतन्यतुरङ्गाणां प्रत्याहरणम्'।
चैतन्य आत्मा के इन्द्रिय रूपी घोड़ों के प्रत्याहरण से उनके विकारग्रस्त होने से उत्पन्न विकारों की समाप्ति हो जाती है—यही प्रत्याहार है।

(६) **'धारणा'**—शरीर से बाहर-भीतर एक ही निज तत्त्व स्वरूप आत्मा व्याप्त है। अन्तःकरण से इस तरह की भावना ही **'धारणा'** है।

(७) **'ध्यान'**—अद्वैतस्वरूप परमात्मा है। यही आत्मा है। जो-जो वस्तु प्रतीत हो उसमें आत्मस्वरूप की भावना करनी चाहिए। समस्त भूतमात्र में समदृष्टि (आत्मदृष्टि) या आत्मस्वरूप की भावना ही **'ध्यान'** है।

(८) **'समाधि'**—समस्त तत्त्वों की समावस्थागत अनायास एवं स्वाभाविक सहज स्थिति ही समाधि है—

'अथ समाधिलक्षणं सर्व तत्त्वानां समावस्था निरुद्यमत्वमनायास स्थितिमत्वमिति समाधि लक्षणम्॥'[१]

---

१. सि०सि०प० (द्वितीय उपदेश)

*** पिण्डसंवित्ति *** (पिण्डब्रह्माण्डैक्यवाद)[१]

गोरक्षनाथ कहते हैं—"पिण्डमध्ये चराचरं यो जानाति से योगी पिण्डसंवितर्भवति।।"

जो योगी इस पिण्ड में चर, अचर एवं समस्त ब्रह्माण्ड का ज्ञान प्राप्त करता **है** वह पिण्डसंवित्ति' (पिण्डज्ञान) वाला होता है।

*** सप्तपाताल और लोकादि ***

सारे पाताल एवं लोक शरीर में विद्यमान हैं। यथा—गुह्यस्थान में भूर्लोक, लिंगस्थान में भुवर्लोक आदि।।

*** वर्णचतुष्टय, सप्तद्वीप एवं सप्तसमुद्र ***

सारे द्वीप एवं समुद्र भी इसी शरीर में स्थित हैं।

*** नव खण्ड अष्टकुलपर्वत ***

नवखण्ड एवं अष्टकुल पर्वत भी शरीर में ही स्थित हैं।

*** नक्षत्रादि एवं स्वर्गनरक एवं मुक्ति ***

नक्षत्रादि, एवं स्वर्गनरक आदि भी हमारे शरीर में ही स्थित हैं।

तृतीय उपदेश के अन्त में निम्न प्रश्नों का समाधान किया गया है—

(१) सुख क्या है ? स्वर्ग क्या है? "यत्सुखं तत् **स्वर्गं**।।

(२) दु:ख क्या है? नरक क्या है? यद् दु:खं **तन्नरकं**।'

(३) बन्धन क्या है? 'यत् कर्म तद् **बन्धनम्** ।।'

(४) मुक्ति क्या है? 'यन्निर्विकल्पं तन्मुक्तिः।।'

(५) शान्ति कैसे मिलती है?
'स्वरूपदशायां निद्रादौ स्वात्मजागरः **शान्तिर्भवति**।'

(६) **पिण्डसंवित्तियोगी कौन है?**—

सभी देहों में **विश्वरूप परमात्मा,** अखण्डस्भाव द्वारा, चिद्रूप में अवस्थित है ऐसा जानने वाला ही **पिण्डसंवित्ति** योगी है।

"एवं सर्वदेषेशु विश्वरूपपरमेश्वरः परमात्माऽखण्डस्वभावेन घटे घटे चित्स्वरूपो

---

१. सि०सि०प० (द्वितीय उपदेश)
२. सि०सि०प० (तृ० उप० १३))

तिष्ठति। एवं पिण्डसंवत्तिर्भवति।।''[१]

* पिण्डाधार *

'समरसता' कैसे स्थापित होती है?—इसी का विवेचन **'पिण्डाधार'** में किया गया है।

'शक्ति' का स्वरूप क्या है? वह **'निजाशक्ति'** जिससे शिव अभिन्न है, जो उनकी **नित्य, निजा, समवायिनी** शक्ति है—उस **मूलभूता शक्ति** का स्वरूप

'स्वयं' (पर शिव)
शिव की निजाशक्ति
अपर शिव
निजा शक्ति
परा शक्ति
अपरा शक्ति
सूक्ष्मा शक्ति
कुण्डली शक्ति
परम शिव
शून्य शिव
निरञ्जन शिव
परमात्मा रूप शिव

क्या है?

(१) **'शक्तिचक्र'**—

''निजा पराऽपरासूक्ष्मा कुण्डली तासु पञ्चधा।
शक्ति चक्रक्रमेणैव जातः पिण्डः परः शिवे।।''

(२) **शिव के ५ भिन्न-भिन्न स्वरूप**—

(१) ततोऽ**स्मितापूर्वमर्चिर्मात्रं स्यादपरं** परम् ।

(२) तत्स्व**संवेदनाभा**मुत्पन्नं परमंपदम् ।

(३) **स्वेच्छामात ततः**शून्यं...........

(४) सत्तामात्रं **निरञ्जनम्** ।

(५) तस्मात्ततः स्वसाक्षादभूः **परमात्मपदं** मतम् ।।

* शिव शक्ति के स्फुरण का विकास-चित्र *

स्वयं
(पर शिव)

(१) शिव — (२) शक्ति

अपर शिव (१) — निजाशक्ति (१)

परम शिव (२) — परा शक्ति (२)

शून्य शिव (३) — अपरा शक्ति (३)

निरञ्जन शिव (४) — सूक्ष्मा शक्ति (३)

परमात्मपद रूप शिव (५) — कुण्डली शक्ति (५)

शिव की अवस्थायें

(१) 'अपरं पदम्' 'अपर शिव' इस अवस्था में शिव अपने अव्यक्त स्वरूप में स्थित रहते हुए भी स्फुरणोन्मुखी शक्ति से युक्त रहते हैं।

(२) **'परमशिव'**–स्फुरणोन्मुखी शक्ति से उपहित शिव की अवस्था।

(३) **'शून्य शिव'**—स्फुरित शक्ति से युक्त शिव की अवस्था

(४) **'निरञ्जन शिव'**—सूक्ष्माहन्ता के भाव से युक्त शक्ति की अवस्था।

(५) **'परमात्मपदरूप शिव**—पृथग्भाव से युक्त कुण्डलिनी शक्ति से युक्त शिव की अवस्था।

शक्ति की अवस्थायें

(१) **'निजाशक्ति'**—स्फुरण-पूर्वा शक्ति परम शिव की अवस्था मात्र धर्म से युक्त, स्फुरण-पूर्ववर्तिनी, स्फुरित होने के लिए उपक्रान्त अवस्था।

(२) **'पराशक्ति'**–स्फुरणोन्मुखी शक्ति की अवस्था।

(३) **'अपरा शक्ति'**—स्फुरित या स्पन्दित शक्ति की अवस्था।

(४) **'सूक्ष्मा शक्ति'**—सूक्ष्माहन्ता या सूक्ष्मरूपात्मक पृथकत्व के भाव से युक्त शक्ति की अवस्था।

(५) **'कुण्डलिनी शक्ति'**-चेतनशीला होकर पृथकत्व से भाव से युक्त शक्ति की अवस्था।

'परमात्मा' और कुण्डली जो शिव के पाँचवे विकास सोपान हैं—विश्व-सृष्टि के मूल है।

'कुण्डली शक्ति'—

'कन्दोर्ध्वं कुण्डली शक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः।
बन्धनाय च मूढ़ानां योगिनां मोक्षदा स्मृता।'

—गोरक्षनाथ—गोरक्षशतक

कुण्डली जागरण की विधि—

वज्रासनस्थितो योगी **चालयित्वा तु कुण्डलीम्।**
अष्टधा कुण्डलीभूतामृजुं कर्तुं तु कुण्डलीम्।
भानोराकुञ्चनं कुर्यात्कुण्डलीं चालयेत्ततः।।
वज्रासनगतो नित्यं **मासार्धं** तु समभ्यसेत्।
वायुनाज्वलितो वह्निः कुण्डलीमनिशं दहेत्।
संतप्ता साग्निना नाड़ी शक्तिस्त्रैलोक्य मोहिनी।।

—गोरक्षनाथ—योगबीज

'आधार शक्ति'—

'पिण्डाधार' (सि०सि०प० का चतुर्थोपदेश) के आरम्भ में 'निजाशक्ति' या **'आधार शक्ति'** के स्वरूप की विवेचना करते हुए कहा गया है कि—

(१) **'परासंवित्'** निजाशक्तिसंयुक्त है।

(२) यह शक्ति स्वसंवेद्य, संवित्स्वरूपा, नित्यप्रबुद्धा, परमशिवसमवेता, कूटस्थ, एवं स्वातंत्र्य है।

(३) यह शक्ति ही **आधारस्वरूपा आद्या भवानी** है। वह नित्यप्रकाशरूपा है।

(४) यह शिव की **अन्तरङ्गा शक्ति** है। यही सबका आधार है। यही सबका **उपादानकारण** है। यह चिद्रूपा पराशक्ति है। वह शुद्ध रूप में **शिवस्वरूपिणी है।**

(१) "अस्ति का चिदपरंपरा **संवित्स्वरूपा, सर्वपिण्डाधारत्वेन, नित्यप्रबुद्धा, निजाशक्ति,** प्रसिद्धा कार्यकारणकतृर्णाणामुत्थानदशाङ्कुरोन्मीलनेन कर्तारं करोतीत्यनन्तर**वाधारशक्ति**रिति कथ्यते।।"

(२) **'अत्यन्तनिजप्रकाश स्वसंवेद्यानुभवैकगम्यमाना** शास्त्रलौकिक-**साक्षात्कारसाक्षिणी** सा **परा चिद्रूपिणी शक्तिर्गीयते।'**

(३) "सैव शक्तिर्यदा सहजेन स्वस्मिन्नुन्मीलिन्यां वर्तते **तदा शिव स एव भवति।।"**[१]

---

१. सि०सि०प० (४था उपदेश) सूत्र १

कुलाकुल-सामरस्य—यह कुलाकुलस्वरूपिणी पराशक्ति, कुलाकुल **शिवशक्ति** की अभेदावस्था ही, **सामरस्य प्राप्ति की भूमिका** कही जाती है—

"अतएव कुलाकुलस्वरूपा **सामरस्य निजभूमिका** निगद्यते।।"[१]

'कुलशक्ति' का स्वरूप—'कुलशक्ति' विश्वाधारस्वरूप में स्थित है।

कुल शक्ति '**अधारशक्ति**' के रूप में पञ्चधा विभक्त है।

विश्वाधार '**कुलशक्ति**' के पाँच रूप[२]

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
'परा'	'सत्ता'	'अहंता'	'स्फुरत्ता'	'कला'

*** कुल शक्ति' के विभिन्न स्वरूप ***

(क) **'पराशक्ति'**—यह समस्त विश्व के आधार के रूप में स्थित है। यह परापरा सभी वस्तुओं में स्थित है। यह प्रकाशरूपा शक्ति सबकी प्रकाशिका होने से 'परा' कहलाती है।[३]

(ख) **'सत्ताशक्ति'**—यह अनादिसंसिद्ध, परमाद्वैत, परम, एका है। यह सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य, संसिद्ध (स्वप्रकाश(, परमाद्वैत एवं एक (सजातीयता से परे) अद्वितीय है। ऐसे अस्तित्व को स्वीकार करने वाली है और **'सत्ता'** कहलाती है।[४]

(ग) **'पराहन्ताशक्ति'**—यह अनादिनिधन, अप्रमेय, सहजः स्वभाव-किरणानन्दसन्दोह, स्वप्रकाश, सच्चिदानन्दस्वरूपा, अहन्तारूप में शिवाभिन्ना पराशक्ति है। यही **अहंतास्वरूपिणी** कुल शक्ति है।[५]

(घ) **'स्फुरत्ताशक्ति'**—जो स्वानुभव चिच्चमत्कार **निरुत्थानदशा** को प्रस्फुटित करती है वही स्फुरत्ता शक्ति है। यह अपने 'स्फुरत्ता' के स्वरूप में, अवाङ्मनस

---

१. सि०सि०प० (४।२)

२. 'कुलमिति परासत्ताऽहंता स्फुरत्ता कूलास्वरूपेण सैव पञ्चधा विश्वस्याधारत्वेन तिष्ठति।। (४।८)

३. अतएव कुलाकुलस्वरूपा सामरस्यनिजभूमिका निगद्यते।

कुलमिति परासत्ताऽहंता स्फुरत्ता फलास्वरूपेण सैव ९ञ्चधा विश्वस्याधारत्वेन तिष्छिति।

४. **'परा'**—'एतएव परापरा निराभासादवभासकान् प्रकाशस्वरूपा या सा परा।।

५. **'सत्ता'**—'अनादि संसिद्धं परमाद्वैतपरमेकमेवास्तीति याऽङ्गीकारं करोति सा **'सत्ता'**।।५।।

गोचर, अनुभवैकगम्य चैतन्य-विलास की द्वैताभास शून्य अद्वैतावस्था को व्यक्त करती है—'स्फुरत्ता' है।[१]

(ङ) **'पराकलाशक्ति'**—जो नित्य शुद्धबुद्धस्वरूप एवं स्वयंप्रकाश (बोधस्वरूप, स्वसंवेद्य) आत्मतत्त्व की प्रकाशिका शक्ति है उसे 'कला' कहते हैं।[२]

(च) **'अकुलरूपाशक्ति'**—समस्त भेदों से परे यह अद्वितीया शक्ति अखण्ड, अद्वय, अनन्य, कार्यकारणविमुक्त, नामातीत एवं रूपातीत, जाति-वर्ण-गोत्र आदि भेदों से अतीत **अकुल शिव** में कूटस्थ पराशक्ति **'अकुल'** कही गई है।

आज्ञावती 'पराशक्ति'—(१) यह कुलाकुलरूपा पराशक्ति है।

(२) यह सामरस्य को प्रकाशित करने वाली है।

(३) इसी पराशक्ति को **'अपरम्परा' 'निजा'** आदि नामों से पुकारा जाता है।

(४) यह महाप्रलयकाल में भी विद्यमान रहती है और विश्वाधार है।

(५) यही समस्त प्रपञ्चजाल को परमतत्त्व में एकीभूत करके स्थापित कर देती है। इसे ही आदिनाथ की 'आज्ञावली' शक्ति कहा गया है।

* **परशिव** *—"अकुलंकुलमाधत्ते कुलञ्चाकुलमिच्छति जलबुदबुद्धवन्या यदेकाकार: **परः शिवः**।।' (४।११)

परमेश्वर शिव ही कुलाकुल रूप से अभिव्यक्त होते हैं। **शिव से अभिन्न शक्ति** ही महाप्रलयकाल में **अकुलावस्था युक्त** कहलाती है। उस समय वह विश्व को उपसंहृत करके शिव से अभिन्न होकर रहती है।

सृष्टि के समारंभ के काल में यही शिव की **'निजाशक्ति'** परा-अपरा-सूक्ष्म-कुण्डली आदि भेदस्वरूप धारण करके **कुलरूप (व्यक्त) अवस्था** धारण करती है। विश्व-सृजन करने पर वही शक्ति **'कुल'** कहलाती है। यथा जल एवं बुलबुले भिन्न एवं अभिन्न दोनों हैं उसी प्रकार **वह द्वैत (कुल) एवं अद्वैत (अकुल)** दोनों हैं।[३]

यह द्वैताद्वैतरहित अभेद ही **सामरस्य** है।

---

१. **'पराहन्ता'**—अनादिनिधनोऽप्रमेयः स्वभावकिणानन्दोऽहमस्मीत्यहं सूचनशीला या सा **'पराहन्ता'** ॥६॥

२. **'स्फुरत्ता'**—स्वानुभवचिच्चमत्कारनिरुत्थानदशां प्रस्फुटीकरोति या सा स्फुरत्ता।
—गोरक्षसिद्धान्त (सिद्धसिद्धान्तपद्धति)

३. 'अकुलंकुलमाधत्ते कुलञ्चाकुलमिच्छति जलबुद बुदवन्न्यायदिकाकारः **परः शिवः**॥ (४।११)

अनन्त शक्तिमान परमशिव का स्वरूप—परमशिव द्वैताद्वैत रूप में एकाकार हैं और समरसत्त्व के कारण अनन्त शक्तिमान एवं अखण्डानन्दस्वरूप हैं वह सर्वाकार हैं, नित्य है, फिर भी एक हैं—

'शक्तिमान् नित्यं सर्वाकारतया स्फुरन् पुनः स्वेनैव रूपेण एकएवावशिष्यते।।' (४।१२)

वह परमकारण है, परम ईश्वर है, परात्पर है, शिव है, स्वस्वरूपतया सर्वतोमुख है, सर्वाकारों में स्फुरित हैं किन्तु बिना **'शक्ति'** के कुछ भी कर सकने में असमर्थ हैं किन्तु शक्तिपरिणद्ध होकर सर्वाभासक है।

वे अनन्त शक्तिमान परमेश्वर विश्वरूप एवं विश्वमय भी हैं। वे परापर शक्ति से युक्त परमेश्वर अनन्त शक्तिमान हैं और सर्वविश्वाधिष्ठाता है।[१]

* कुण्डलिनी शक्ति *

[२]परापरस्वरूपा कुण्डलिनी शक्ति सिद्धों के देहपिण्ड में विद्यमान हैं।

[३]कुण्डलिनी के प्रभाव से योगी **'कायसिद्ध'** हो जाते हैं—

'सिद्धानां च परापरस्वरूपा कुण्डलिनी वर्तते।।' (सि०सि०प० १४)

* कुण्डली के विभिन्न स्वरूप *

कुण्डलिनी

(१) अप्रबुद्धा कुण्डलिनी

(कुण्डलिनी के भेद)

(२) प्रबुद्धा कुण्डलिनी

कुण्डलिनी के भेद—
'सा कुण्डलिनी प्रबुद्धा
अप्रबुद्धा चेति द्विधा।
—गोरक्षनाथ

---

१. 'अतएवैकाकारोऽनन्तशक्तिमान निजानन्दतयावस्थितोऽपि नानाकारत्वेन विलसन् स्वप्रतिष्ठां स्वयमेवभजतीति **व्यवहारः**।

'अलुप्त शक्तिमान्नित्यं सर्वाकारतया स्फुरन् पुनः स्वेनैव रूपेण एकएवावशिष्यते।।
—(सिद्धसिद्धान्तपद्धति) (४।१२)

१. "अतएव **परमकारणं परमेश्वरः परात्परः** शिवः स्वस्वरूपतया सर्वतोमुखः सर्वाकारतया स्फुरितुं शक्नोतीत्यतः शक्तिमानः शिवोऽपि शक्तिरहितः शक्तः कर्तुं न किञ्चन। स्वशक्त्यासहितः सोऽपि सर्वस्याभासको भवेत्।। (४।१३)

३. 'अतएवानन्तशत्िभानपरमेश्वरः सविश्वरूपी विश्वमयो भवतीति ।। (सि०सि०प०४।१३)

(१) **'अप्रबुद्धा कुण्डलिनी'**—यद्यपि कुण्डलिनी शरीर में चेतनस्वरूप में ही अवस्थित है तथापि वह स्वभाव से अनेकरूप चिन्ता-व्यापारों को बढ़ाने में प्रवृत्त रहती है और प्रपञ्चस्वरूपा है। यह कुटिलस्वभावा है। इसके इसी स्वरूप को अप्रबुद्धा कहते हैं।[१]

(२) **'प्रबुद्धा' कुण्डलिनी**—जब वही अप्रबुद्धा कुण्डलिनी योगियों के द्वारा जागृत की जाती है तब अपने जागृतस्वरूप में **'प्रबुद्धा'** कही जाती है। इस स्थिति में वह मूलाधार चक्र का त्याग करके सुषम्णा मार्ग में ऊर्ध्वगामिनी स्थिति में रहा करती है। इस समय वह योगी के भीतर विद्यमान समस्त मानसिक विकारों को ध्वस्त करने में प्रयत्नशील रहती है।[२]

कुण्डलिनी के अन्य स्वरूप

(१) भगवती कुण्डलिनी **सर्वतत्त्वान्विता** है।

(२) भगवती का यथार्थ स्वरूप (स्वस्वरूप) ऊर्ध्व में ही विद्यमान है

(३) वह **विमर्शरूपिणी** है।

(४) उसी के द्वारा योगी **स्वस्वरूप (आत्मा) का ज्ञान** प्राप्त करते हैं।

* मध्यशक्ति-प्रबोधन और परमपद *

(नाभिदेश में अवस्थित 'मणिपूर चक्र' में विद्यमान कुण्डलिनी **'मध्यशक्ति'** कही जाती है।

(१) मूलाधार चक्रस्थ कुण्डलिनी = 'अध: शक्ति'

(२) मणिपूर चक्रस्थ कुण्डलिनी = 'मध्यशक्ति'

(३) सहस्रदलपद्मस्य कुण्डलिनी = 'ऊर्ध्वशक्ति'

'मध्यशक्ति' को जागृत करने से और 'अध:शक्ति' को ऊपर की ओर आकर्षित करने से एवं 'ऊर्ध्वशक्ति' को ऊप्र की ओर आकर्षित करने से एवं 'ऊर्ध्वशक्ति' कुण्डलिनी के निपात-संयोजन से **'परमपद'** की प्राप्ति हुआ करती है।[३]

(१) **आधार चक्र (मूलाधार चक्र) की कर्णिका में** त्रिकोणाकार योनि

---

१. 'अप्रबुद्धेतितत्र पिण्डचेतनरूपास्वभावेन नानाचिन्ता व्यापारोद्यमप्रपञ्चरूपा कुटिलस्वभावा कुण्डलिनी ख्याता।।' (सि०सि०प० ४।१४)

२. 'विकाराणां निवारणोद्यमस्वरूपा कुण्डलिन्यूर्ध्व **गामिनी**प्रसिद्धा भवति।। (सि०सि०प० ४।१४)

३. मध्यशक्ति प्रबोधेन अध:शक्तिनिकुञ्चनात् ।
ऊर्ध्व शक्तिनिपातेन प्राप्यते परमं पदम् ।।६।।

कामगिरि पीठ में "**अधः शक्ति कुण्डलिनी**" रहती है। इस शक्ति को अपानवायु के निकुञ्चन (आकर्षण) से ऊर्ध्वमुखी करके जागृत किया जाता है। सुषुम्णाद्वार को अपावृत करके इसे ऊर्ध्वमार्ग में चढ़ाया जाता है।

(२) '**नाभिचक्र' (मणिपूरक चक्र)** में आठ वलयों वाली इसी कुणलिनी को '**मध्य कुण्डलिनी**' कहा जाता है।

(३) कुण्डलिनी 'बन्धत्रय' के अभ्यास से समुत्थित होती है।

(४) प्राण से अपान का ऐक्य स्थापित होना '**ऊर्ध्वशक्तिपात**' है। षट्चक्रभेदनोपरान्त (एवं ग्रंथित्रयभेदनोपरान्त योगी) "**सहस्रार**" में कुण्डलिनी के साथ पहुँचकर '**परमपद**' प्राप्त करता है।

कुण्डली की तीन अवस्थायें

कुण्डलिनी

'अधः शक्ति' — 'मध्य शक्ति' — 'ऊर्ध्व शक्ति'

'अधःशक्ति' कुण्डलिनी का स्वरूप—

(१) कुण्डलिनी का यह स्वरूप बाह्येन्द्रिय व्यापारों से युक्त एवं नाना चिन्ताओं से संयुक्त है—

'बाह्येन्द्रिय व्यापार-नानाचिन्तामया **सैवाधः शक्तिरित्युच्यते।**"

—(सि०सि०प० ४।१८)

(२) 'अतएव योगिनस्तस्या आकुञ्चने रता यस्या आकुञ्चन मूलाधारबन्धनात्सिद्धं स्यात्।'

—(सि०सि०प० ४।१८)

योगी मूलाधार में स्थित इस शक्ति के आकुञ्चन-संकोचन में तत्पर रहते हैं। 'मूलाधार चक्र' के बन्ध के अभ्यास (अपान और प्राण का ऐक्य स्थापित होने पर उड्डियान एवं जालन्धर बन्ध की सिद्धि) से यह शक्ति ऊर्ध्वमुखी होकर जाग जाती है और साधक को परमानन्द की प्राप्ति करा देती है।

(क) '**मूलबन्ध**' (ख) '**उड्डियान बन्ध**' (ग) '**जालन्धर बन्ध**'—बंधत्रय से कुण्डलिंनी महाशक्ति 'सहस्रार' में पहुँच जाती है।

(३) जिससे चराचर, स्थावर जंगम एवं चिद्-अचिद् **समस्त जगत की उत्पत्ति**

होती है—वही **'मूलाधार'** है। जिसके संकोच-प्रसरण से कुण्डलिनी का प्रबोधन होने पर ज्ञान की वृद्धि होती है।—यह **मूलाधार ही संवित्प्रसारण भूमि है।**[१]

(४) **मूलशक्ति**—समष्टिरूप सर्वेश्वरी कुण्डलिनी 'महाशक्ति' के व्यापार कार्य से ही (संकोच-प्रसरण से ही) जगत का सृजन एवं संहार होता है। योगी इस मूल शक्ति का ध्यान कर जगत की सृष्टि और संहार कर सकता है। मूलाधार चक्रस्थिता महेश्वरी शक्ति **'मूल शक्ति'** है। यही कारण है कि सारे सिद्ध **मूलाधाररत होते** हैं।[२]

(५) **मध्याशक्ति**—यह कुण्डलिनी चिद्रूप होने से जीवात्मा, का यथार्थ स्वरूप है। अविद्या के कारण संसार-बंधन में एवं विषयादि मृगतृष्णा में आसक्त जीवात्मा को यह **'मध्या शक्ति'** अपने चिद्रूप स्वप्रकाश में धारण करने में समर्थ है। कुण्डलिनी शक्ति— (क) स्थूल (ख) सूक्ष्म दो प्रकार की है।

कुण्डलिनी के दो रूप हैं— स्थूल कुण्डलिनी (१) सूक्ष्म कुण्डलिनी (२)

गोरक्षनाथ कहते हैं कि तरङ्गित स्वभाव वाली जो जीवात्मायें व्यर्थ में भटकती रहती हैं वे भी अपने आत्मप्रकाश के मध्य स्वस्वरूप प्राप्त कर सकती हैं, क्योंकि **'मध्या शक्ति' कुण्डलिनी** अपने चिद्रूप स्वप्रकाश में जीवात्मा को धारण करने में समर्थ है।[३]

स्थूल-सूक्ष्म कुण्डलिनी—'स्वस्वरूपतया सदा धारयितुं समर्था या सा कुण्डलिनी मध्याशक्तिर्गीयते।''

''**स्थूलसूक्ष्मरूपेण** महासिद्धानां प्रतीयते।।''

[४]यद्यपि मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी योग-सिद्ध पुरुषों के अतिरिक्त संसार में

---

१. 'यस्माच्चराचरं जगदिदं चिदचिदात्मकं प्रभवति तदेव मूलाधारं संवित्प्रसरं प्रसिद्धम्।।' (४।१९)

२. 'सर्वशक्तिप्रसरसंकोचाभ्यां जगत्सृष्टिः संहतिश्च भवत्येव न सन्देहस्तस्मात्सा मूलमित्युच्यते। अतः प्रायेण सर्वे सिद्धा मूलधाररता भवन्ति। (४।२०)।।

३. तरङ्गितस्वभावं जीवात्मानं वृथाभ्रमन्तीमपि स्वप्रकाश मध्ये स्वस्वरूपतया सदा धारयितुं समर्था या सा कुण्डलिनी मध्याशक्तिर्गीयते स्थूलसूक्ष्मरूपेण महासिद्धानां प्रतीयत इति निश्चयः।।—(सि० सि० प० ४।२१)

४. 'स्थूलेति निखिलग्राह्या धारविग्राह्य स्वरूपापि पदार्थन्तरे भ्राम्यमाणा चिद्रूपा या वर्तते सा कुण्डलिनी साकारास्थूलापुनस्त्वियमेव स्वप्रसारचातुर्यतया वर्तमाना योगिनां परमानन्दतया कुण्डलिया निश्चयभूता वर्तते सा सूक्ष्मा निराकारा प्रबुद्धा महासिद्धानां मते प्रसिद्धाः।। (सि०सि०प०४।२२)

विषयासक्त एवं परिबद्ध जीवमात्र के लिए सूक्ष्म है तथापि यह शब्दात्मक **स्थूल जगत** की सृष्टि करने के कारण **साकार स्थूल कही जाती है।** वह रूपादि विषयों में भ्रमण-संचार करती रहती है यही निज विस्तार-कौशल से नाभिस्थान (मणिपूरक) में अपने आनन्ददायक व्यापक अखण्ड आत्मा का निश्चय कराती है। जागृत होने पर यह **सूक्ष्म** रूप से **निराकार** और सर्वत्र व्यापक रहती है।

सृष्टि कुण्डलिनी—भगवती कुण्डलिनी के दो स्वरूप हैं—(१) स्थूल (२) सूक्ष्म।

'सृष्टि कुण्डलिनी'—यह कुण्डलिनी स्थूल जगत की सृष्टि करती है। यह नाभिचक्र (मणिपूर) में प्रबुद्ध होकर उपाधि-सम्बंध छोड़कर अखण्डस्वरूप में ऊध्वमुखी होकर प्रतिष्ठित होती है।

(१) स्थूल रूप।

***सृष्टि कुण्डलिनी** * (२) प्रत्यगात्मिका अपरा, सर्वगा, सूक्ष्म

'सृष्टिकुण्डलिनी ख्याता द्विधा भागवती तु सा।।
एकधा स्थूलरूपा च लोकानां प्रत्यगात्मिका।
अपरा सर्वगा सूक्ष्मा व्यापि-व्यापकवर्जिता।
तस्या भेदं न जानाति मोहिता प्रत्ययेन तु।।''

—सिद्धसिद्धान्त पद्धतिः (४।२३)

(१) स्थूल जगत की निर्मात्री कुण्डलिनी = सृष्टि कुण्डलिनी।

(२) इसके दो स्वरूप हैं—

(क) 'एकधा **स्थूलरूपा** च **लोकानां प्रत्यगात्मिका।**

(ख) **अपरा सर्वगा सूक्ष्मा व्यापि-व्यापकवर्जिता।।**

(३) जब यह कुण्डलिनी नाभिचक्र (मणिपुर) में प्रबुद्ध होकर अपने अखण्डस्वरूप में ऊर्ध्वमुखी होती है तब **सूक्ष्म, सर्वव्यापक** एवं व्याप्यव्यापकभाव से रहित होती है। अज्ञानी उसे नही जान पाते।

(४) सूक्ष्मा, चिद्रूपिणी एवं निर्विषया मध्य कुण्डलिनी को देहसिद्धि हेतु गुरु के उपदेश से अपनी आत्मस्वरूप की अभिव्यक्ति हेतु जगाना चाहिए। यह **संवित्स्वरूपा** मध्य कुण्डलिनी नितान्त प्रबोधनीया है।[१]

---

१. तस्मात् सूक्ष्मापंरा **संवित्स्वरूपा मध्या शक्ति कुण्डलिनी** योगिभिर्देहसिद्धयर्थ सद्गुरुमुखाज्ज्ञात्वा स्वस्वरूप दशायां प्रबोधनीया।। (४।२४)

ऊर्ध्वशक्तिनिपात और ऊर्ध्व कुण्डलिनी—

(१) मध्य शक्ति कुण्डलिनी का सहस्त्रदलपद्म में प्रवेश ही **'ऊर्ध्वशक्तिनिपात'** कहलाता है।

(२) भौतिक पदार्थों, लौकिक एषणाओं एवं नि:शेष विषयों से ऊपर विद्यमान रहने की स्थिति ही **'ऊर्ध्व'** है।

(३) नामरूपातीत आदिनाथ ही **'परमपद'** है।

(४) परमात्मा की स्वरूपाभिव्यक्ति करने वाली शक्ति ही—**'ऊर्ध्वशक्ति'** (परम प्रबुद्धा भगवती कुण्डलिनी) कही जाती है।

(५) षट्चक्रों का भेदन करके महाकुण्डलिनी सहस्त्रार में शिव से ऐक्य प्राप्त करके शिव में ऐकात्म्य प्राप्त करती है॥[1]

'परमपद' और उसकी प्राप्ति की प्रक्रिया—गोरक्षनाथ कहते हैं कि—

'अत ऊर्ध्वशक्तिनिपातेन योगिभि: परमं पदं प्राप्यत इति सिद्धम् ॥''

अर्थात् ऊर्ध्वशक्तिनिपात के द्वारा योगी परमपद प्राप्त करते हैं।

ऊर्ध्व शक्ति निपात — परमपद और उसकी प्राप्ति[2]

'ऊर्ध्व शक्ति' (भगवती कुण्डलिनी का सहस्त्रारस्थ प्रबुद्ध स्वरूप के निपात से परमपद की प्राप्ति होती है।

परासंवितस्वरूप और उसका व्यापक स्वरूप—गोरक्षनाथ कहते हैं—

''सत्वे-सत्वे सकलरचना राजते संविदेका।
तत्त्वे-तत्त्वे परममहिमा संविदेवावभाति।
भावे-भावे बहुलतरला लम्पटा संविदेषा।
भासे-भासे भजनचतुरा बृंहिता संविदेव॥'' (४।२८)

परासंवित्स्वरूप शिवशक्ति के **सामरस्य** का स्वरूप यह है कि व्यष्टि-समष्टिस्वरूप समस्त भौतिक पदार्थों के साथ वह एक है और वह निखिल पिण्डों का मूलाधार है—

---

१. 'अथ **ऊर्ध्वशक्तिनिपात:** कथ्यते। सर्वेषां तत्त्वानामुपरिवर्तमानत्वात्रिनमि **परमंपदमेवमूर्ध्व प्रसिद्धं**। तस्या: स्वसंवेदन नानासाक्षात्कारसूचनशीलाया **सोऽर्ध्वशक्तिरभिधीयते**। तस्या निपातनमिति स्वस्वरूपद्विधाभासनिरास: किन्तु स्वस्वरूपाखण्डत्वेन भवति। (४।१५)

२. सि०सि०प० (४।२७)

'किमुक्तं भवति परापरविमर्शरूपिणी संविन्नाना शक्तिरूपेण निखिलपिण्डाधारत्वेन वर्तते इति सिद्धान्तः॥' —सि०सि०प० (४।२९)

* पिण्डपदसामरस्य *

गोरक्षनाथ जी कहते हैं कि—

(१) परपिण्डादि से लेकर स्वपिण्ड पर्यन्त सारे पिण्डज्ञान को जानकर उसका परमपद में समरसीकरण कर देना चाहिए—

'महासिद्धयोगिभिः पूर्वोक्तक्रमेण परपिण्डादिस्वपिण्डान्तं ज्ञात्वा परम पदे समरसं कुर्यात्॥'' (५।१)

[१]परासंवित् स्वरूप शिवशक्ति को अभिन्न जानकर, 'अधःशक्ति' (मूलाधार में सोई हुई कुण्डलिनी) को जगाकर **'मध्यशक्ति'** के प्रबोधन के साथ **'ऊर्ध्वशक्ति'** का सहस्रार में निपात करना चाहिए।[१]

(२) **'व्यष्टि पिण्ड'** एवं सच्चिदानन्द परमात्मस्वरूप **'परपिण्ड'** का ज्ञान प्राप्त करके **'परमपद'** (परमात्मा) में उसका सामरस्य करना चाहिए।

'परमपद' का क्या स्वरूप है?

(१) परमपद **द्वैताद्वैतविवर्जित** है।

(२) यह अत्यन्त **स्वानुभवैकगम्य** है। यह **स्वसंवेद्य** है।

(३) यह अत्यन्त भासाभासकमय है।[२]

(४) **यह वह पद है** जहाँ बुद्धि, मन, तत्ववित्, अपरा, कला, ऊहापोह, वाणीगोचरता, वाग्मिता एवं वाणी की पहुँच नहीं है तथा जो स्वसंवेद्य एवं अनिर्वाच्य है और जो गुरु द्वारा भी वर्ण्य नहीं है।[३]

(५) यह निरुपाधिक है और प्रमाणादि साधनों से भी अप्राप्य है।

(६) गुरुचरणैकप्रवण शिष्य पर गुरु की परमकरुणा होने पर ही इसका बोध होना संभव है। यह स्वसंवेद्य मात्र है।[४]

---

१. सि०सि०प० (४)

२. **परमपदमिति** स्वसंवेद्यमत्यन्तभासाभासकमयम्। (५।१)

३. यत्र बुद्धिर्मनोनास्ति तत्त्वविन्नापराकला।
ऊहापोहौ कर्तव्यौ, वाचा तत्र करोति किम्।
वाग्मिनागुरुणा सम्यक् कथं तत्पदमीर्यते।
तस्मादुक्तं शिवेनैव स्वसंवेद्यं परपदपदम्।

४. अतएव नानाविधविचार्यचातुर्यचर्चाविस्मयाङ्गत्वाद् गुरु चरणकृपातत्त्वमात्रेणा, निरूपाधिकत्वेन निर्णेतुं शक्यत्वात् स्वसंवेद्यमेव परमपदं प्रसिद्धमिति सिद्धान्तः। (५।४)

* सन्मार्ग, पाखण्ड मार्ग एवं गुरु *

(१) **सन्मार्ग** = योगमार्ग

(२) **पाखण्ड मार्ग**—योगमार्ग से इतर समस्त साधन-मार्ग

(३) **गुरु** = सन्मार्ग सन्दर्शनशील

'गुरुत्रय सम्यक् सन्मार्ग सन्दर्शनशीलो भवति
सन्मार्गो योगमार्गस्तिदितर: पाखण्ड मार्ग:॥'

—गोरक्षनाथ : सिद्धसिद्धान्तपद्धति (५।४)

आदिनाथ ने कहा है—

'योगमार्गेषु तन्त्रेषु दीक्षितास्तांश्च दूषका:।
तेहि पाखण्डिन: प्रोक्तास्तथा तै: सहवासिन:॥'

गुरुवाद = जिस समय सिद्ध गुरु द्वारा परमपद की प्राप्ति के उपायभूत योगमार्ग के उपदेश से परमात्मबोध कराया जाता है उसी समय स्वसंवेद्य अलख निरञ्जन परमेश्वर का साक्षात्कार हो जाता है। परमपद की प्राप्ति का **गुरुकृपा ही एक मात्र उपाय है**[१] 'गुरु रेवात्र कारणमुच्यते॥'

गुरु और सामरस्य—यही कारण है कि सिद्ध योगी गुरु के **कृपाकटाक्ष** और अपनी योगसाधनासंभूत स्वरूपबोधात्मक स्वसंवेद्यता के द्वारा अपने व्यष्टि शरीर की निरुत्थानानुभूति (व्यष्टि-समष्टि पिण्ड-अभेदता) द्वारा व्यष्टि पिण्ड से परपिण्ड के सामरस्य की अनुभूति करते हैं।[२]

निरुत्थान-प्राप्ति के उपाय—

(१) महासिद्ध योगी स्वस्वरूपानुन्धान के द्वारा (स्व-परपिण्ड की अभेदता द्वारा) **'निजावेश'** का साक्षात्कार करता है अर्थात् साधक परमेश्वर को अपने ही स्वरूप में प्रतिष्ठित देखता है।

(२) **स्वपिण्ड-परपिण्ड की अभेदता की अनुभूति** से परमात्मपिण्ड में **'निजावेश'** (आत्माभिव्यक्ति) का संचार होता है।

(३) **'निजावेश'** के परिणामस्वरूप **'निरुत्थान'** या **'सामरस्य'** का उदय होता है। योगी को **स्वाभिव्यक्तिपूर्वक** यह अनुभूति होती है कि यह **परपिण्ड (परमात्म पिण्ड)** मेरा ही **व्यष्टिपिण्ड** है।

---

१. 'यस्मिन् दर्शिते सति तत् क्षणात् स्वसंवेद्य साक्षात्कार: समुत्पद्यते ततो गुरु रेवात्र कारणमुच्यते॥ (सिद्धसिद्धान्त पद्धति ५।६)

२. 'तस्मात् गुरुकटाक्षपातात् स्वसंवेद्यतयाच महासिद्धयोगिभि स्वकीय पिण्डनिरुत्थानानु भवेन समरसं क्रियत इति सिद्धान्त:। (५।७)

(४) सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा की स्वसंवेद्य अनुभूति के चमत्कार से अद्भुत प्रकाश स्वरूप **आत्मबोध** का उदय होता है।

(५) इन व्यापारों से (निरुत्थान, निजावेश एवं सामरस्य से) 'द्वन्द्व' (**स्वपिण्ड एवं परमात्मपिण्ड में भेद दृष्टि**) का अवसान हो जाता है और फिर अखण्ड परमात्म स्वरूप **'परमपद'** का प्रत्यक्षीकरण होता है।

निरुत्थान-प्राप्ति के उपाय[1]

(१) स्वस्वरूपानुसन्धान → (२) निजावेश → (३) निरुत्थान दशा का उदय → (४) परमात्म चमत्कार द्वारा अद्भुत प्रकाश बोध → (५) चैतन्यभासक परात्पर पद

(५) परात्पर पद
(४) अद्भुत प्रकाश प्रबोध
(३) निरुत्थानावस्था का उदय
(२) निजावेश का उदय
(१) स्वस्वरूपानुसन्धान

(६) इस प्रकार हम देखते हैं कि **महासिद्धयोगी गुरुप्रसाद** प्राप्त करके अपने अवधान बल से **स्वपिण्ड एवं परपिण्ड में ऐक्यानुभूति** के द्वारा तत्क्षण **परमपद** की अनुभूति प्राप्त कर लेते हैं।[2]

(७) योगी अपने अनुभव के द्वारा **'व्यष्टिपिण्ड' के साथ 'परपिण्ड' (परमात्मा) का अभेद-ज्ञान** प्राप्त करके अपने व्यष्टि पिण्ड का **'परमपद' से एकीकरण** करते हैं। अपने व्यष्टि पिण्ड की उस परमपद के साथ एकात्मता की

---

१. निरुत्थान प्राप्युपायः कथ्यते—

(१) महासिद्धयोगिनः **स्वस्वरूपतयानुसन्धानेन निजावेशो** भवति। (२) निजावेशान्नि: पीडित **निरुत्थानदशामहोदयः** कश्चिज्जायते। (३) ततः **सच्चिदनन्दचमत्काराद्भुताकार प्रकाशप्रबोधो** जायते। (४) प्रबोधाद्खिलमेतद् द्वयाद्वयप्रकटतया **चैतन्यभासकं परात्परपरपदमेव** प्रस्फुटं भवति।। (गोरक्षनाथ : सि०सि०प० ५।८)

२. अतएव महासिद्धयोगिभिः सम्यग् गुरुप्रसादं लब्ध्वावधानबलेनैक्यं भजमानैस्ततक्षणात् परमं पदमेवानुभूयते।। (५।८)

अनुभूति करते हुए योगी अपने पिण्ड को सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा में अभिव्यक्त करके (परपिण्ड के साथ अभेदता की अनुभूति करके) परमपदानुभूति करते हैं।[१]

समरसीकरण—निजपिण्ड परीक्षा (अपने शरीर में भी परमात्मस्वरूप रश्मि रूपआनन्द का विकास) और इस प्रकाशोन्मेष को अपने ही व्यष्टिपिण्ड के भीतर समेट कर परमात्मा से अभिन्नता (अभेद) की अनुभूति करना ही **'समरसकरण' है।**[२]

(८) अपने व्यष्टिपिण्ड के भीतर परमात्मप्रकाश का प्रत्याहरण करने के परिणाम स्वरूप यह शरीर **महाप्रकाश पुञ्ज के रूप में आकार ग्रहण** करता है अर्थात् यह सच्चिदानन्दस्वरूप हो उठता है। इस प्रकार अपने व्यष्टि पिण्ड से परमात्मप्रकाश के प्रत्याहरण-समरसकरण द्वारा सिद्धयोगी देहसिद्धि (चिन्मय स्वानन्द विग्रह) की प्राप्ति से चिरकाल तक अमर रहते हैं।[३]

'पिण्डसिद्ध' का आचार एवं उसकी वेषभूषा—पिण्ड योगी को—

(१) शंखमुद्रा धारण करने के साथ ही केश रोम भी धारण करना चाहिए।

(२) अमरी क्रिया द्वारा सहस्रार स्रवित अमृत का पान करना चाहिए।

(३) एकान्त वास, संध्या जप, भैरव की पूजा, शंखनाद, कौपीन, पादुका, अङ्गवस्त्र, बहिर्वस्त्र, कम्बल, छाता, वेत्र, कमण्डल, भस्मधारण, त्रिपुण्ड्र एवं गुरु वन्दन भी उसके लिए आवश्यक है।

पिण्ड-सिद्धि के कारण योगी को समस्त योग-सिद्धयाँ प्राप्त हो जाती हैं।[४]

योगमार्ग की श्रेष्ठता—गोरक्षनाथ जी कहते हैं कि श्रुति एवं स्मृति दोनों में योग से बढ़कर कोई मार्ग बताया ही नहीं गया है अतः योगमार्ग ही श्रेष्ठतम मार्ग है इसी बात को गोरक्षनाथ ने 'योगशतक' में भी कहा है—

---

१. अतएव महासिद्धयोगिभिः सम्यग् गुरुप्रसादं लब्ध्वा..............तदनुभवबलने स्वकीयं सिद्धं सम्यङ् **निजपिण्डं** ज्ञात्वा तमेव परमपद एकीकृत्य तस्मिन् प्रत्यावृत्या रूढ़ैवाभ्यन्तरे स्वपिण्ड सिद्धयर्थे महत्वमनुभूयते।। (सि०सि०प० ५।१०)

(२) निजपिण्डपरीक्षा च स्वस्वरूप-किरणानन्दोन्मेषमात्रं यस्योन्मेषस्य प्रत्याहरणमेव समरसकरणं भवति।। (५।११)

३. अतएव स्वकीयं पिण्डं महद्रश्मिपुञ्जं स्वेनैवाकारेण प्रतीयमान स्वानुसन्धानेन स्वस्मिन्नुरीकृत्य महासिद्धयोगिनः पिण्डसिद्धयर्थं तिष्ठन्तीति प्रसिद्धम् ।। (५।१२)

४. तेषां पिण्डसिद्धौ सत्यां सर्वसिद्धयः संनिधाना भवन्ति।। (५।१७)

यस्मिञ्ज्ञाते जगत्सर्वसिद्धं भवति लीलया।
सिद्ध्यः स्वयमायान्ति तस्माज्ज्ञेयं परंपदम् ।।१८।।
परंपदं न वेषेण प्राप्यते परमार्थतः।
देहमूलं हि वेषः स्याल्लोकप्रत्ययहेतुकः।।१९।।

५. योगमार्गात्परो मार्गो नास्ति नास्ति श्रुतौ स्मृतौ।
शास्त्रेष्वन्येषु सर्वेषु शिवेन कथितः पुरा।। (५।२१)

'द्विजसेवितशाखस्य श्रुतिकल्पतरोः फलम्।
शमनं भवतापस्य योगं भजत सत्तमाः॥' (गो०श०६)

गोरक्षनाथ जी ने यहाँ **'योग'** को 'संहननोपाय' कहा है—

'योगः संहननोपायः ज्ञानसङ्गतियुक्तिषु॥' (५।२२)

योग दो वस्तुओं के सम्मिलन को कहते हैं।

नाथयोगियों का अद्वैतवाद—गोरक्षनाथ जी कहते हैं कि—

(१) पिण्ड-सिद्धि हो जाने पर

(२) अखण्ड ज्ञान प्राप्त्यर्थ (**महासिद्धों के मत में**) शिवतत्त्व रूप **'परमपद'** ही ध्येय एवं उपास्य है।

(३) उस **आत्मस्वरूप अखण्ड शिवतत्त्व** में यह भावना करनी चाहिए कि—"मैं ही शिव हूँ। मुझमें और शिव में पूर्ण तादात्म्य है॥'

(४) परमशिव से अभिन्न जीवात्मा का यथार्थ आत्म स्वरूप **'सहज संयम' 'सोपान'** एवं **'अद्वैतक्रम'** से लक्षित है—

'तस्मिन्नहं भावे जीवात्मा च सहजसंयम सोपायाद्वैतक्रमेणोपलक्ष्यते॥'' (५।१५)

'सहज' 'संयम' 'सोपाय' एवं 'अद्वैत' क्या हैं?

(१) **'सहज'** क्या है?

विश्वातीत परमेश्वर के विषय में यह समझना चाहिए कि **विश्व के रूप में तो वही अवभासित हो रहा है और वही** अद्वैततत्त्व एकात्मक है और मैं भी उसके एकीभूत (अभिन्न) हूँ। इस प्रकार का स्वस्वभावज जो ज्ञान है वही **'सहज'** है।

(२) **'संयम'** क्या है?

अपने विषय-ग्रहण में निरन्तर संलग्न इन्द्रियों को विषयाभिमुख होने से निरुद्ध करके उन्हें आत्मा में लगाना ही **'संयम'** है।

(३) **'सोपाय'** क्या है?

'मैं स्वयमेव स्वप्रकाश स्वरूप परमात्मा हूँ'—इस प्रकार अपनी परमात्मा के

---

१. **'सहज'**—तत्र सहजमिति विश्वातीतं परमेश्वरं विश्वं रूपेणावभासमानमिति ज्ञात्वै कमेवास्तीति स्वस्वभावेन यज्ज्ञानं तत्सहजं प्रसिद्धम् ॥ (सि०सि०प० ५।२६)

२. **'संयम'**—संयम इति सावधानानां प्रस्फुरदव्यापाराणां निज वर्तिनां संयमं कृत्वाऽऽत्मनि धीयत इति संयमः॥ (२७।

३. **'सोपाय'**—'सोपायमिति स्वयमेव प्रकाशमयं स्वेनैव स्वात्मन्येकीकृत्य सदा तत्त्वेन स्थातव्यम् ॥ (५।२८)

साथ तत्त्वत: अभिन्नता मानते हुए आत्मस्वरूप में संलीन रहना चाहिए। जिस ज्ञान से इस अखण्डस्वरूपता का बोध होता है, वही **'सोपायज्ञान'** है।

(४) **'अद्वैत'** क्या है?

योगी कुछ किये बिना ही नित्यतृप्त, निर्विकल्प, एवं निरुत्थानदशावस्थित रहता है। उसकी यह अवस्था ही अद्वैत है।

(५) जीवात्मा और परमात्मा में पूर्ण अभेद है—इत्याकारक ज्ञान ही **'सहज'** है। इन्द्रियों के सहित मन को निगृहीत करके आत्मा में संलग्न रखना ही **संयम** है। अपने सत्स्वरूप में विश्रान्ति ही **सोपाय** है। अद्वैतस्वरूप ही 'परमपद' है

'सहजं' स्वात्मसंवित्तिः, **'संयमः'** स्वस्वनिग्रहः।
सोपायं स्वस्वविश्रान्तिर**द्वैतं परमं पदम्** ॥' (५।३०)

सद्गुरु का सर्वोच्च स्थान—गोरक्षनाथ कहते हैं कि चाहे करोड़ों शास्त्रों का अध्ययन कर लिया जाय, चाहे विज्ञान, तर्क, आचार, वेद, वेदान्त, तत्त्वमसि 'सोऽहं हंस: जप', जीवात्मा-परमात्मा में एकात्म्य, ध्यान एवं जप आदि में कितना भी कौशल, सिद्धि एवं विज्ञता प्राप्त कर ली जाय किन्तु—

'असाध्या: सिद्ध्य: सर्वा: सद्गुरो: करुणां विना।
अतस्तु गुरुरासेव्य: सत्यमीश्वरभाषितम्॥३५॥'[२]

सद्गुरुशरणागत योगी के योग साफल्य के क्रमिक-सोपान

	वर्ष
खेचरत्व	सातवें वर्ष
शस्त्रादि से अप्रभावित	छठवें वर्ष
वाक्सिद्धि	पाँचवें वर्ष
शीतोष्ण आदि द्वन्द्वों से मुक्ति	चौथे वर्ष
देहसिद्धि। दिव्यतेज	तीसरे वर्ष
कृतार्थता। सर्वभाषण	दूसरे वर्ष
मलादि दोषों से निर्मुक्त एवं निरोग	पहले वर्ष

	वर्ष
शिव एव भैरव की समतुल्यता	१२वें वर्ष
सर्वज्ञता सर्वसिद्धि प्राप्ति	११वें वर्ष
वायुगति	१०वें वर्ष
शरीर का वज्री करण	९ वें वर्ष
अणिमादिक सिद्धयाँ प्राप्ति	आठवें वर्ष

१. **'अद्वैत'**—अद्वैतमित्यकर्तृतयैव योगी नित्यतृप्तो निर्विकल्प: सदा निरुत्थानत्वेन तिष्ठति। (५।२९)

२. सिद्धसिद्धान्तपद्धति (५।३१-३५)

यथाक्रम इस प्रकार सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं—

(१) एवं द्वादशवर्षैऽस्तु सिद्धयोगी महाबलः।
जायते सद्गुरोः पादप्रभावन्नात्रसंशयः।।[1]

(२) अनुवुभूषित योनिजविश्रमं स गुरुपादसरोरुहमाश्रयेत्।
तदनुसरणात्परमं पदं **समरसीकरणे** न च दूरतः।।[2]

गुरु कुल सन्तान

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
आई-सन्तान	विलेश्वर-सन्तान	विभूति-सन्तान	नाथ-सन्तान	योगीश्वर सन्तान

सारांश—(१) पारमार्थिक दृष्टि से **सारे पदार्थ पाञ्चभौतिक** हैं।

(२) **आत्मा अजन्मा** है।

(३) आत्मा सद्ज्ञानस्वरूप शिव है।

(४) शिव से इतर सारे पदार्थ अज्ञान मात्र हैं। अज्ञान प्रकृति है।

(५) शिव मात्र ही ज्ञानहै।[3]

गुरु-सन्तान—ये संख्या में ५ हैं।

(शिव की सन्तान) गुरु सन्तान (५ अधिष्ठाता देवता)

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
ब्रह्मा	विष्णु	इन्द्र	ईश्वर	सदाशिव

आदिनाथ शिव ही **परमगुरु** हैं।

गुरु सन्तानों की अवस्थायें

स्थूलावस्था	सूक्ष्मावस्था	कारणावस्था	तुर्यावस्था	तुर्यातीतावस्था
(ब्रह्मा)	(विष्णु)	(रुद्र)	(ईश्वर)	(सदाशिव)

१. सि०सि०प० (५।४४)

२. तत्रैव (५।४५)

३. परमार्थतः **सर्वपाञ्चभौतिकं न जाताः पुरुषाः** सम्बोध मात्रैकरूपः **शिव-स्तदितरत्सर्वमज्ञानमव्यक्तं** भवति तत्र **शिवस्तु** ज्ञानम् ।। (सि०सि०प० ५।४७)

'ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च
ईश्वरश्च सदाशिवः।
एताश्च देवताः प्रोक्ता,
सन्तानानां क्रमेण तु॥''[१]

गुरु का महत्व—गोरक्षनाथ कहते हैं कि गुरु से अधिक कोई है ही नहीं।[२] गुरु (१) अपने कथन (२) शक्तिपाद (३) अवलोकन एवं (४) प्रसाद से शिष्य को 'परमपद' प्राप्त करा देता है।

'कथनाच्छक्तिपाताद्वा यद्वापादाव लोकनात्।
प्रसादात्स्वगुरोः सम्यक् प्राप्यते परमं पदम्॥' (५।६५)

योगी को चाहिए कि वह—

(१) सम्यक निजविश्रान्तिकारक महायोगी **सद्गुरु की सेवा** करे।

(२) सम्यक रूप से सावधान होकर **परमपद का ज्ञान** प्राप्त करे।

(३) फिर अपने व्यष्टिपिण्ड में **समरसभाव** या परमपद रूप में अपने **व्यष्टि पिण्ड में व्याप्त आत्मा का सामरस्य या** ऐक्य स्थापित करे।

(४) अद्वैत स्वरूप में परमात्मा में स्थित होकर परमपद में स्वरूपावस्था प्रतिष्ठित करे॥

'परमपद' की प्राप्ति—यह विधि, शौच, पुण्य, विज्ञान, वैराग्य, नैराश्य, अनाहार, प्राणधारण, मुद्राधारण, विरक्ति, कायक्लेश, देवार्चन, भक्ति, षडदर्शन, मुण्डन, जप, तप, अनन्त उपाय, ध्यान, यज्ञ एवं तीर्थ सेवन आदि से संभव नहीं है। यह केवल गुरुकृपा-प्राय है।[३] ये सारे साधन देहसाध्य हैं। इनमें आसक्ति त्याज्य है। साधक केवल **'परमपद'** (आत्मस्वरूप) में ही स्थिर रहते हैं।[४]

---

१. स्थूल-सूक्ष्म-कारण-तुर्य-तुर्यातीतमिति पञ्चावस्थाः क्रमेण लक्ष्यन्ते। एतेषामपि सर्वेषां विज्ञाता यः स योगी **सिद्धपुरुषः** स योगीश्वरेश्वर इति पररहस्यं प्रकाशितम् ॥ (५।५५)

२. न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं।
शिवशासनतः शिवशासनतः शिवशासनतः शिवशासनतः॥ (५।६६)

३. अतएव सम्यग् निजविश्रान्तिकारकं महासिद्धयोगिनं सद्गुरुं सेवयित्वा सम्यक् सावधानेन **परमंपदं** सम्पाद्य तस्मिन्**निजपिण्डे** च **समरसभावं** कृत्वात्यन्त**निरुत्थानेन** सर्वानन्दत्वे निश्चलं स्थातव्यं ततः स्वयपेव महासिद्धो भवतीति सत्यम् ॥ (५।५६)

४. न जपान्न तपो ध्यानान्न यज्ञतीर्थ सेवनात् । नानन्तोपायत्नेन प्राप्यते परमं पदम् ॥ (५।६२)

दत्तात्रेय योग शास्त्र
Dattatrey Yoga Shastra

Hindi & English Translation

Rishi Dattatrey

Edited & Translated by
Swami Anant Bharti
(M.M. Dr. Brama Mitra Awasthi)
English. Translation by
Abhay Kumar Shandilya

Contents

भूमिका

योग शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ जुड़ना या जोड़ होता है। जुड़ने की क्रिया क्योंकि दो या अधिक पदार्थों के बीच ही हो सकती है, अतः सामान्य रूप से दो या अधिक पदार्थों के मिलने को 'योग' कहना चाहिए; जबकि पतंजलिकृत योग-परिभाषा 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' के अनुसार योग शब्द का अर्थ चित्त के व्यापार का रुकना, जिसमें उसका समस्त विषयों के सम्पर्क से रहित होना मुख्तया अभीष्ट है, स्वीकार किया गया है। सामान्यतः ये दोनों अर्थ परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं, यद्यपि वास्तविकता इससे भिन्न है। दत्तात्रेय के अनुसार प्राण और अपान का मन और प्राण का तथा जीवात्मा और परमात्मा का मिलन योग कहलाता है।[1] यहाँ यद्यपि युक्त होनेवाले तीन युग्म हैं, किन्तु इनमें प्रथम युग्म की एकता द्वितीय युग्म की एकता के प्रति और द्वितीय युग्म की एकता तृतीय युग्म की एकता के प्रति सहायक है, अतः इन्हें एक भी माना जा सकता है। क्योंकि प्राण और अपान की एकता के प्रयत्न के क्रम में तथा उसके फल के रूप में चित्त का विश्व के सभी बाह्य पदार्थों के सम्पर्क से रहित होना आवश्यक है, अतः यह स्वीकार करना अनुचित नहीं है कि पतंजलि की चित्तवृत्ति निरोध रूप योग की परिभाषा और यौगिक (व्युत्पत्ति) अर्थ में वास्तविक रूप से कोई विरोध नहीं है। इसे ही ध्यान में रखकर पाणिनि ने भी धातु-पाठ में समाधि अर्थ में युज् धातु का पाठ करके (युज् समाधौ) योग शब्द के यौगिक और परिभाषा प्राप्त अर्थ के बीच विरोध के आभास का दूर करने का प्रयत्न किया है।

---

1. (क) प्राणापानौ मनोवायू जीवात्मपरमात्मनौ।
अन्योन्यख्याविरोधेन एकतां घटते यदा।

(ख) प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम्।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं गच्छते नात्र संशयः।। वही 288-289

योगशास्त्र का प्रारम्भ कब हुआ और इसके प्रवर्त्तक कौन है, इस प्रसंग में ऐतिहासिक निर्णय प्रस्तुत कर सकना सम्भव नहीं है। पतञ्जलि का योगसूत्र सम्भवतः इस विषय का सबसे प्राचीन व्यवस्थित ग्रन्थ है, किन्तु उसमें ही कुछ ऐसे संकेत प्राप्त होते हैं, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि पतञ्जलि से पूर्व कम-से-कम आठ योग की परस्पर भिन्न परम्पराएँ प्रचलित रही हैं।[1] भगवान् बुद्ध के जीवन विवरणों में भी उनके द्वारा दुःख नाश के लिए उपायों के अनुसन्धान के क्रम में योग साधना किये जाने की सूचना मिलती है। अतः निश्चित ही ढाई तीन हजार वर्ष पूर्व भी योग की साधना प्रचलित रही है। योग सम्बन्धी उपनिषदों की परम्परा भी[2] योगशास्त्र को बहुत प्राचीन सिद्ध करती है, यद्यपि उन उपनिषदों का भाषाई कलेवर और अधिक प्राचीन नहीं है। इन उपनिषदों में अथवा घेरण्डसंहिता, हठयोगप्रदीपिका आदि ग्रन्थों में कथानक में शिव आदि विशिष्ट देवों का वक्ता के रूप में निबन्धन कोई ऐतिहासिक सामग्री भले ही नहीं देता, किन्तु उससे यह भी माना जा सकता है कि योग की विशेष शाखा से उनका सम्बन्ध अवश्य रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ दत्तात्रेयप्रोक्त योगशास्त्र में भी लययोग के उपदेष्टा के रूप में आदिनाथ के नाम से शंकर को ही स्मरण किया गाया है।[3]

शिव को चाहे ऐतिहासिक पुरुष मानें, चाहे महादेव, दोनों ही स्थितियों में उपर्युक्त सन्दर्भों में ऐतिहासिक निर्णय लेना सम्भव नहीं हो पाता क्योंकि शिव के ऐतिहासिक पुरुष मानने के पक्ष में इतिहास में शिव के काल निर्णय के सूत्र नहीं मिलते और देवाधिदेव महादेव मानने के पक्ष में प्रथम उपदेश ग्रहणकर्त्ता के सम्बन्ध में ऐतिहासिक निर्णय के लिए कोई सामग्री नहीं मिल पाती। अतः अनिवार्यतः यही मानना पड़ता है कि योग के मूल प्रवर्त्त का

1. विशेष विवरण के लिए लेखककृत पातंजल योगशास्त्र 'एक अध्ययन' उपसंहार तथा विश्वज्योति-योग विशेषांक (1978) एवं विमर्श 1981 (अक्टूबर) में लेखक के लेख देखें।

2. योग सम्बन्धी 21 से अधिक उपनिषदें हिन्दी अंग्रेजी अनुवाद के साथ शीघ्र प्रकाश्य है।

3. आदिनाथेन संकेता अष्टकोटि प्रकीर्त्तिताः। योगशास्त्र 30

महादेवस्य नामानि आदिनाथादिकान्यपि।। योगशास्त्र 32

अथवा उसके आरंभ काल का निर्णय कर सकना यदि असम्भव नहीं, तो अत्यन्त दुःसाध्य कार्य है, हाँ योग और उसकी अनेक शाखाएँ अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित रही है। पतञ्जलि आदि ने उन परम्पराओं का या उनमें से किसी एक का समीक्षात्मक या विवरणात्मक परिचय का निबन्धन मात्र किया है।

योगसाधना पद्धति में सम्प्रदाय भेद के आधार पर यद्यपि अनन्त भेद माने जा सकते हैं, तथापि मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग ये उसके चार मुख्य प्रकार माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त ज्ञानयोग, भक्तियोग, क्रियायोग आदि योग की अनेक अन्य शाखाएँ भी प्रचलित हैं, किन्तु इन्हें उपर्युक्त चार में समाहित माना जा सकता है। जहाँ तक इन चार प्रकारों की बात है, साधना पद्धति के अनुसार इनमें भी परस्पर भेद होते हुए भी परस्पर सहयोगी भाव है। सभी एक दूसरे के पूरक हैं।[1] अन्तर इतना है कि प्रत्येक में किसी एक अंश को कैवल्य के लिए प्रधान अथवा सरलतम साधन मान लिया जाता है। इसीलिए प्रत्येक सम्प्रदाय में दूसरे सम्प्रदाय का कुछ सन्दर्भ अंग के रूप में अवश्य मिल जाता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ योगशास्त्र का लेखक कौन है? अथवा इसकी रचना कब हुई है? इसके सम्बन्ध में कुछ निर्णय ले सकना प्रमाण के अभाव में सम्भव प्रतीत नहीं होता। इसकी सरल और सुबोध भाषा के आधार पर इसे पर्याप्त प्राचीन माना जा सकता है, कुछ अपाणिनीय प्रयोगों[2] को देखकर भी इसकी प्राचीनता का अनुमान होता है, दूसरी ओर इसका ग्रन्थ का अन्यत्र उल्लेख न मिलने के कारण तथा इस पर किसी व्याख्या के उपलब्ध न होने के कारण इसकी प्राचीनता अत्यन्त ही सन्दिग्ध हो जाती है। इन विरोधी स्थितियों में यह स्वीकार करना मुझे अधिक संगत लगता है कि यह ग्रन्थ अपने मूल रूप में साधक परम्परा में अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित रहा है। क्योंकि योग–"

---

1. एतैः सैर्वैस्तु कथितेरभ्यसेत्कालकालतः।

   ततो भवेद् राजयोगोनान्तरा भवति ध्रुवम्।। योगशास्त्र 317-318

2. एतैः सैर्वैस्तु कथितैरभ्यसेत्कालकालतः।

   ततो भवेद् राजयोगोनान्तरा भवति ध्रुवम्।। योगशास्त्र 317-318

साधना को विधि का उपदेश सदा ही केवल निष्ठावान् शिष्य को ही किया जाता रहा है, सम्भव है इस कारण ही विद्वानों की परम्परा में यह ग्रन्थ सदा ही अविदित रहा है। यह भी सम्भव है कि इसकी वर्तमान पद्य रचना में कभी-कभी कुछ परिवर्तन भी हुआ हो। इसके अतिरिक्त इस सम्भावना का भी खण्डन नहीं किया जा सकता है कि इस शास्त्र का उपदेश तो शिष्य परम्परा में अत्यन्त प्राचीन हो, किन्तु इसका प्रस्तुत श्लोकों में निबन्धन उत्तरकाल में किसी साधन विद्वान ने कर लिया हो। जहाँ तक भाषा के अत्यन्त सरल होने तथा उसमें अपाणिनीय प्रयोगों का प्रश्न है, साधन परम्परा में भाषाई कृत्रिमता को अथवा उसकी शुद्धता की ओर ध्यान देने की अपेक्षा न समझने के कारण सहज भाव से यह हो गया हो, इन अनेक सम्भावनाओं के बीच किसी एक पक्ष को निर्णायक मानना मेरे लिए न शक्य है और न प्रासङ्गिक। अत: इसके इतिहास पक्ष को यहीं छोड़कर विषय वस्तु की ओर मैं पाठकों का ध्यान खींचना चाहूँगा।

विषय वस्तु की दृष्टि से यह लघु-ग्रन्थ योगशास्त्र; योगसाधना के प्रेमीजनों के लिए प्रशस्त राजमार्ग प्रस्तुत करता है। इस ग्रन्थ में योगशास्त्र की भूमिका में सांकृति को श्रोता के रूप में एवं दत्तात्रेय को वक्ता के रूप में निबद्ध किया गया है। इसी आधार पर इस ग्रन्थ को दत्तात्रेय-प्रोक्त योगशास्त्र कहा गया है।

योग के प्रकार

दत्तात्रेय के अनुसार योग के मुख्यत: चार प्रकार हैं—मन्त्रायोग, लययोग, हठयोग और राजयोग। इन चारों में मन्त्रयोग वह है जिसमें साधन अंग न्यासपूर्वक मन्त्र विशेष का जप करता है। यदि मन्त्र का निष्ठापूर्वक जप चलता रहे तो बारह वर्षों में मन्त्रयोगी को भी अजिमा आदि सिद्धियों की प्राप्ति हो सकती है। दत्तात्रेय के अनुसार मन्त्रयोग की व्यवस्था मृदुसाधकों के लिए ही की गयी है। वे ऐसे साधकों को कनिष्ठ साधक मानते हैं।

लययोग को ध्यानयोग के नाम से अधिक जाना जाता है। ध्यान को परम्परा में अभीष्ट देवों के स्वरूप के ध्यान का विधान प्राय: सर्वत्र वर्णित हुआ है, किन्तु शरीर के अंग विशेष में ध्यान करते हुए वहीं चित्त को लय करने की विधि साधक परम्परा में अविदित नहीं है। दत्तात्रेय के अनुसार

आदिनाथ शंकर ने लययोग के आठ कोटि (आठ करोड़) संकेत अर्थात् ध्यान-स्थल बताये हैं, जिनका समग्र वर्णन असम्भव मान, उनमें से केवल कुछ का वर्णन किया है। इनका अभ्यास सहज भाव से किया जा सकता है। ये हैं–शून्य का ध्यान, जिसे आज की भाषा में भावातीत-ध्यान कहा जा सकता है, इसे चलते-फिरते सोते-जागते कभी भी किसी भी स्थिति में किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त नासिका के अग्र भाग, शिर के पश्चभाग, भ्रू मध्य, ललाट तट आदि संकेतों पर भी ध्यान को केन्द्रित करके वहाँ भी चित्त का लय किया जा सकता है। शव आसन की स्थिति में पैर के दोनों अंगूठों पर भी ध्यान करके चित्त का लय किया जाता है, इसे सदा एकान्त स्थल में ही करना चाहिए।

राजयोग, जो इस ग्रन्थ का प्रधानतया प्रतिपाद्य है, के आठ अंग है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। दत्तात्रेय के अनुसार इस राजयोग का प्रारम्भ आचार्य शुक्र (कवि), जिन्हें असुरों का गुरु माना गया है, से हुआ है। वही इसके प्रथम उपदेष्टा हैं जिसका (राजयोग का) विस्तृत विवरण आगे दिया जाएगा।

दत्तात्रेय के अनुसार प्राचीन मुनि कपिल आदि ने हठयोग की साधना की थी। हठयोग को साधना में यद्यपि आसन और बन्धों के अतिरिक्त आन्तरिक शरीर शुद्धि के साधन नेती, धौती, कुञ्जर, वज्रोलि आदि का विशेष प्रचलन है, जिनका आज भी प्रशिक्षण भारत में विशेष प्रचलित है। किन्तु दत्तात्रेय ने हठयोग के प्रकरण में महामुद्रा, महाबन्ध, खेचरीमुद्रा, जालन्धरबन्ध, उड्डयाणबन्ध, मूलबन्ध, विपरीतकरणीमुद्रा 'जिसे शीर्षासन भी कहते हैं', वज्रोलि अमरोलि और सहजोलि का ही वर्णन किया गया है। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

महामुद्रा

महामुद्रा के प्रवर्त्तक भैरव माने जाते हैं। इसे पश्चिमोत्तान आसन के बहुत निकट रखा जा सकता है। इसे करने के लिए साधक को अपने दाहिने पैर को आगे फैलाकर तथा बायें पैर को मोड़कर इस प्रकार रखना चाहिए कि उसकी एड़ी योनिस्थान को दबातीं रहे तथा पूरा तलवा दाहिनी जाँघ से सटा हुआ रहे। अब पीठ सीधी रखते हुए दाहिने हाथ के अंगूठे से दाहिनी नाक

के छिद्र को बन्द करते हुए, बायीं नाक से पूरक करके गर्दन को सामने की ओर दबाते हुए चिबुक को वक्ष में सटाये और वायु को पेट में रोकते हुए आगे की ओर झुककर दोनों हाथों से दाहिने पैर के पंजे को तलवे सहित पकड़ते हुए शिर के अग्रभाग के घुटने में लगाए। इस स्थिति में तब तक रहे जब तक कुम्भक कर सके। जब रेचक करने अर्थात् वायु को पेट से बाहर निकालने की इच्छा हो तब सीधा होकर नाक के बायें छिद्र को दाहिने हाथ की मध्यमा और अनामिका की सहायता से बन्द करते हुए बायीं नाक से वायु को बाहर निकाले और पुनः बायीं नाक से वायु लेकर पूर्व प्रकार से क्रिया करे। इसमें ध्यान रखना चाहिए कि जिस नासिका विवर से श्वास ले, उससे भिन्न दूसरे से वायु को निकाले, और जिससे निकाले उससे ही वायु को अन्दर लेवे। इच्छानुसार दाहिने पैर को फैलाकर जितने बार कुम्भक आदि क्रिया करे उतनी ही बार बाद में बायें पैर को सामने फैलाकर दाहिने पैर की एड़ी से योनिस्थान को दबाते हुए पूर्वोक्त प्रकार से रखकर अभ्यास करें।

इसके अभ्यास से तीन मास में पूर्ण नाड़ी शुद्धि होती है और शरीर के सभी रोग दूर हो जाते हैं।

महाबन्ध

महामुद्रा की ही सम्पूर्ण क्रियायें महाबन्ध में भी उसी प्रकार को जाती हैं, अन्तर केवल इतना है कि जो पैर सामने फैलाया हुआ है उससे भिन्न दूसरा पैर योनिस्थान और जंघा के निकट भूमिपर न रखकर जांघ के ऊपर रखा जाता है। यह पूर्व की उपेक्षा कुछ क्लिष्ट है। लाभ दोनों के समान ही हैं।

खेचनी मुद्रा

खेचरी मुद्रा में जिह्वा को ऊपर उठाकर तालुमूल में छिद्र में प्रवेश कराया जाता है। इस ग्रन्थ में इसका विशेष वर्णन नहीं हुआ है। किन्तु इसके प्रारंभिक अभ्यास के लिए दो कार्य आवश्यक हैं, प्रथम-बारह अंगुल लम्बे चार अंगुल चौड़े शुद्ध कोमल वस्त्र से जिह्वा, जिसे सरस्वती भी कहते हैं, को दोनों हाथों के अंगूठे ओर अंगुलियों की सहायता से पकड़कर उसके चालन का प्रतिदिन याम मात्र अर्थात् तीन घण्टे अभ्यास करना और दूसरे जिह्वा के निचले तन्तु का क्रमशः थोड़ा-थोड़ा छेदन। इन दोनों क्रियाओं का

अभ्यास गुरु के अभाव में अत्यनत हानिकारक हो सकता है, अतः स्वयं इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए। इससे न केवल मृत्युजय सम्भव है, अपितु सर्वज्ञता भी प्राप्त हो जाती है, ऐसी साधक परम्परा में मान्यता है।

जालन्धरबन्ध

इस बन्ध को करने के लिए कण्ठ का संकोचन करके हृदय पर स्थापित किया जाता है। इसके करने से सहस्र-दल-कमल अर्थात् चन्द्र स्थान से निरन्तर टपकने वाले अमृत द्रव को नीचे गिरने से रोका जा सकता है। यह अमृत द्रव ऊपर से गिरकर नाभि में स्थित अग्नि पर गिरता है, और जलकर समाप्त हो जाता है। किन्तु यदि जालन्धरबन्ध के द्वारा ऊपर से गिरने से रोककर वहीं इसके शोषण की व्यवस्था हो जाती है, तो इसके द्वारा साधक को अमरता प्राप्त हो जाती है।

उड्ड्याणबन्ध

उड्ड्याणबन्ध में पेट के नाभि के ऊपर और नीचे के भाग को अधिक से अधिक पीछे की ओर ताना जाता है। इसके केवल छः महीने तक अभ्यास से ही मृत्यु पर विजय प्राप्त हो सकती है और कुण्डलिनी जागृत हो सकती है।

मूलबन्ध

मूलबन्ध गुदा मार्ग का यथासंभव अधिक से अधिक संकोच न करके किया जाता है। इससे अभ्यास के लिए पैर की ऐड़ी से योनिस्थान को दबाकर बैठना चाहिए एवं अपान वायु को ऊपर को खींचना चाहिए। इससे सिद्ध होने पर ही प्राणायाम की सिद्धि हो पाती है प्राण और अपान की, नाद और बिन्दु की एकता इस बन्ध की साधना का फल है, जो योग का लक्ष्य है, जिसके होने पर ही मन और प्राण तथा जीवात्मा और परमात्मा की एकता हो पाती है।

विपरीतकरण (शीर्ष आसन)

शिर को नीचे रखकर पैरों को सीधा ऊपर उठाकर अधिक-से-अधिक समय तक स्थिर रहना विपरीतकरण या शीर्षासन कहलाता है। इसका प्रथम

अभ्यास एक क्षण ही करना चाहिए। शीर्षासन के अभ्यास के समय आहार पर बहुत ध्यान देना चाहिए, अन्यथा प्रदीप्त अग्नि शरीर को भी जला डालती है। इसके अतिरिक्त इसके अभ्यास के समय नेत्रों को खोलकर सामने की ओर किसी भी स्थल पर केन्द्रित करना चाहिए। 6 मास पर्यन्त इसका विधिपूर्वक अभ्यास करने से बालों का पकना और गिरना बन्द हो जाता है।

वज्रोलि

वज्रोलि अमरोलि और सहजोलि को अत्यन्त गुप्त और रहस्यपूर्ण माना गया है। सभी इसके अभ्यास के अधिकारी भी नहीं है। इस ग्रन्थ में वज्रोलि की ओर कुछ संकेत हुआ है, किन्तु अमरोलि और सहजोलि के प्रसंग में ग्रन्थकार मौन है।

वज्रोलि की साधना में मूत्रमार्ग में जल, दूध, घृत आदि पदार्थों को अन्दर खींचा जाता है। इन विविध पदार्थों में दूध और आंगिरस द्रव से वज्रोलि करना सर्वश्रेष्ठ माना गया है। इसका विवरण ग्रन्थ में ही द्रष्टव्य है।

हठयोग की अन्य क्रियाओं का वर्णन अथवा संकेत इस ग्रन्थ में नहीं हुआ है किन्तु इन कुछ क्रियाओं का वर्णन करके ग्रन्थकार ने कहा है कि ये सभी क्रियाएँ राजयोग की सहायक क्रियाएँ हैं, इनकी उपेक्षा करके राजयोग की सिद्धि सम्भव नहीं है।

राजयोग

राजयोग के आठ अंग हैं–यम, नियम आदि की चर्चा पहले हो चुकी है। साधना के क्रम में साधक योग की चार अवस्थाओं से होता हुआ सिद्धि तक पहुँचता है। ये अवस्थाएँ हैं–आरम्भ अवस्था, घट अवस्था, परिचय अवस्था और निष्पत्ति अवस्था। पतंजलिकृत योगसूत्र और प्रस्तुत योगशास्त्र में यम और नियमों के विषय में परस्पर सर्वथा भिन्न मत है। पतञ्जलि के अनुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यम कहलाते हैं और शौच, सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वरप्राणिधान नियम। प्रस्तुत ग्रन्थ में अहिंसा को नियमों में गिना है, और केवल उसे ही आवश्यक माना है, ग्रन्थकार ने अन्य नियमों का परिगणन नहीं किया है अतः उनके मत के रूप में कुछ कह सकना संभव नहीं है, किन्तु अहिंसा को पतञ्जलि ने यमों में गिना था

नियमों में नहीं। योगतत्त्व उपनिषद् भी इस उपर्युक्त मत को ही स्वीकार करते हैं।[1] इस ग्रन्थ में लघ्वाहार, जिसे मिताहार भी कहा जाता है, यमों में अन्यतम माना है, और केवल इस एक यम का पालन ही आवश्यक कहा है। पतञ्जलि ने मिताहार या लघ्वाहार की कोई चर्चा नहीं की थी, किन्तु जाबाल दर्शनोपनिषद् शांडिल्य-उपनिषद् आदि में मिताहार को यमों में अन्यतम माना है।[2] योगतत्त्व उपनिषद में प्रस्तुत ग्रन्थ के समान ही यमों में मिताहार (लघ्वाहार) को ही आवश्यक माना है।[3] आसनों में पद्मासन को ही ग्रन्थकार ने सर्वाधिक प्रशस्त माना है और केवल उसका ही वर्णन किया है। इसके अनुसार इस पद्म आसन में बैठकर ही प्राणायाम आदि की साधना करनी चाहिए। इसके अभ्यास से शरीर के सभी रोग दूर हो जाते हैं। यम, नियम और आसन केवल एक-एक का विवरण और उपयोगिता की चर्चा करके ग्रन्थकार ने प्राणायाम से योग साधना का साधन-क्रम बताया है।

योग के अधिकारी और वातावरण

प्राणायाम योग साधना का गोपुर है जहाँ सफलता मिलने पर योगी अपने अन्तिम लक्ष्य तक पहुँच जाता है। ग्रन्थकार ने प्राणायाम की चर्चा के प्रारम्भ में योग के अभ्यास के अधिकारी की चर्चा की है। उनके अनुसार योगसाधना में आयु का कोई बन्धन नहीं है, युवा अथवा वृद्ध दोनों ही इसके अधिकारी हैं। रोगी भी साधना प्रारम्भ कर सकता है और थोड़े समय में स्वस्थ होकर वह भी सिद्धि प्राप्त कर लेता है। योग एक वैज्ञानिक पद्धति है, अतः योगसाधना के लिए वर्ण, कुल, धर्म इत्यादि का भी कोई बन्धन नहीं है ब्राह्मण-अब्राह्मण, जैन-बौद्ध, कापालिक, नास्तिक-चार्वाक सभी साधना करके सफलता प्राप्त कर सकते हैं। ग्रन्थकार के अनुसार केवल शास्त्र के पाठ से

---

1. अहिंसा नियमेष्वेका मुख्य वै चतुरानन। योगतत्त्वोपनिषद् 28 1/2

2. (क) अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम्।
   क्षमा धृतिः मिताहारः शौचं चैव यमाः दश।।
   जावालदर्शनोपनिषद् 1, 6

   (ख) तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यदयार्जक्षमाधृतिमिताहारशौचानि चेति यमाः दशः। शांडिल्योपनिषद् 1

3. लघ्वाहारो यमेष्वेको मुख्यो भवति नेतरः। योग तत्त्वोपनिषद् 28

अथवा वेषधारण से, नाम जपने से, देवी-देवताओं की पूजा मात्र से, तब तक सिद्धि नहीं हो सकती जब तक साधना सबल न हो, क्रियावत्ता न हो। ग्रन्थकार के अनुसार साधना के प्रसंग में आलसी, विकत्थन अर्थात् गप्पे हाँकने वाला, धूर्तों की संगति में फँसा हुआ अथवा केवल मन्त्रों का जप करके ही सफलता की कामना करने वाला अथवा धातुवादी और खाने-पीने के चक्कर में पड़ा हुआ व्यक्ति कभी सफल नहीं हो सकता। साधना प्रारम्भ करने के पहले साधक को उचित स्थान का चुनाव करना चाहिए। साधनागृह पूर्ण स्वच्छ लिपापुता मच्छर, खटमल आदि से रहित सुगन्ध द्रव्यों से सुगन्धित, गुग्गुल आदि से धूपित होना चाहिए, घर का द्वार छोटा होना चाहिए। साधना करते समय उसे भी बन्द कर लेना चाहिए, जिससे स्थान निरापद रहे। साधना के लिए बैठने का आसन मृगचर्म या वस्त्र का होना चाहिए, किन्तु यह अधिक छोटा न हो। जहाँ चाहे वहाँ बैठकर साधना करने पर सफलता नहीं मिलती। अधिक अच्छा हो कि साधना स्थलपर दूसरे लोगों का आना-जाना न हो। साधकों को भी जन-सम्पर्क नहीं रखना चाहिए।

साधना का प्रवेशद्वार प्राणायाम

जैसाकि पहले कहा जा चुका है प्राणायाम योग-साधना का मुख्य द्वार है, उसमें सफल हो गये, तो सर्वत्र सफलता ही सफलता है। प्राणायाम करने के लिए पूर्वनिर्दिष्ट स्थान और आसन पर पद्मासन में बैठकर दाहिने हाथ की अंगुली से पिङ्गला अर्थात् दक्षिणनासिका छिद्र को बन्द करके इडा अर्थात् बायें नासिका छिद्र से वायु को अन्दर खींचकर कुम्भक करे और वायु को अन्दर रोकने में जब असमर्थ होने लगे तो पिङ्गला से वायु को बाहर निकाले, और पुनः पिङ्गला से वायु लेकर यथाशक्ति कुम्भक करके इडा से वायु का रेचन करे। इसमें ध्यान रहे कि जिससे पूरक किया है उससे भिन्न से रेचक और जिससे रेचक किया है उससे ही पूरक करे। इस प्रकार प्रातः, मध्याह्न, सायं और मध्यरात्रि चार बार बीस-बीस बार, इस प्रकार कुल अस्सी बार प्राणायाम करे। कुम्भक करते समय प्राणवायु को कन्द स्थान अर्थात् नाभि के नीचे मूलाधार चक्र से ऊपर के स्थान पर रोके। साथ ही मूलबन्ध का भी अनुष्ठान करके अर्थात् गुदामार्ग संकोचन करते हुए अपान वायु को ऊपर की ओर उठाने का प्रयत्न करे; जिससे प्राण और अपान का संयोग हो सके।

इस प्राणायाम साधना के समय नमक, सरसों या उसका तेल, उष्ण और रूक्ष पदार्थ मिर्च, मसाले मद्य, अग्नि सेंकना, धूर्त गोष्ठी आदि का पूर्णतः त्याग करे, साथ ही ब्रह्मचर्य का भी पूर्णतया पालन करना आवश्यक है।

इस प्रकार तीन मास पर्यन्त प्रतिदिन अस्सी कुम्भक (20 × 4 = 80) करने से नाड़ी शुद्धि हो जाती है। उसके फलस्वरूप शरीर में लघुता तेज में वृद्धि जठराग्नि का प्रदीपन और शरीर में कृशता आ जाती है। इन्हें सफलता का चिह्न मानना चाहिए। नाड़ी शुद्धि के बाद रेचक पूरक के बिना ही कुम्भक करने की क्षमता प्राप्त हो जाती है अर्थात् एक बार प्राणों के अन्दर पहुँचने के बाद उन्हें इच्छानुसार वहीं रोका जा सकता है। इस स्थिति को **केवलकुम्भक** कुम्भक कहते हैं, जबकि पूर्व स्थिति में कुम्भक **सहितकुम्भक** कहलाता है।

केवलकुम्भक की स्थिति आने पर प्रथम योगी के शरीर में स्वेद (पसीना) वेग के साथ आने लगता है, उस समय शरीर का मर्दन कराना चाहिए। इस स्थिति में भी साधना का क्रम चलते रहने पर शरीर में कम्पन प्रारम्भ होता है, फिर भी कुम्भक का क्रम बढ़ता रहे तो दर्दुरों वृत्ति उत्पन्न हो जाती है, अर्थात् योगी पद्मासन में बैठा हुआ दर्दुर (मेढक) की भाँति इधर-उधर उछलने लगता है। इस स्थिति में भी और अधिक अभ्यास बढ़ने पर साधक पद्मासन में ही भूमि से ऊपर उठ जाता है और निराधार ही आकाश में स्थित होने लगता है।

इस स्थिति में पहुँचने पर योगी में अपार सामर्थ्य आ जाता है, वह कम या अधिक कितना भी आहार लेने पर व्यथित नहीं होता; मूत्र और पुरीष और निद्रा अत्यन्त अल्प हो जाते हैं। शरीर में दुर्गन्ध, पसीना, कृमि आदि नहीं होते। उसे भूचरसिद्धि मिल जाती है, अर्थात् योगी के हाथ के ही प्रहार से शेर, बाघ, भैंसा, हाथी आदि की मृत्यु तक हो जाती है। इस स्थिति में एक महान विघ्न भी प्राप्त होता है, वह यह कि स्त्रियाँ उसके रूपराशि पर मुग्ध होकर उससे संगम की कामना करती हैं और यदि योगी कहीं चूक गया तो स्त्री सम्पर्क में आ गया तो उसकी मृत्यु तक हो सकती है। अतः इस महाविघ्न से उसे पूर्णतया बचना चाहिए। इस स्थिति में पहुँचने पर साधक को प्लुत मात्रा में प्रणव महामन्त्र का उच्चारण करते हुए जप करना चाहिए, जिससे उसके सभी पूर्व उपार्जित पाप कर्मों का नाश हो जाए। साधना के क्रम में यहाँ तक आरम्भ अवस्था कहलाती है।

इसके बाद भी निरन्तर **केवलकुम्भक** का अभ्यास करते रहने पर **घटावस्था** आती है। इस स्थिति में प्राण और अपान में, मन और प्राण में, जीवात्मा और परमात्मा में एकता हो जाती है, इसी कारण इस अवस्था को घटाद्वारावस्था भी कहते हैं। इस स्थिति में पहुँचने पर चार बार कुम्भक प्राणायाम की आवश्यकता नहीं रहती। योगी एक बार ही एक याम अर्थात् तीन घंटे **केवलकुम्भक** का अभ्यास करे।

इस स्थिति में पहुँच कर योगी को **प्रत्याहार** का अभ्यास करना चाहिए। प्रत्याहार का अर्थ है इन्द्रिय आदि के विषयों की आत्मा में ही भावना। इसका अभ्यास करने पर दूरदृष्टि, दूरश्रवण अथवा अत्यन्त परोक्ष पदार्थों का साक्षात् अनुभव, वाक् सिद्धि, इच्छानुसार रूप और गति दूर से दूर स्थानों में पहुँच जाने का सामर्थ्य योगी में आ जाता है। उसके मलमूत्र के सम्पर्क (लेप) से लोहा आदि भी स्वर्ण बन जाता है। ये सामर्थ्य यद्यपि सिद्धियाँ प्रतीत होते हैं, किन्तु ग्रन्थकार के अनुसार योग मार्ग के ये महान् विघ्न हैं। योगी को इनके प्रलोभन में नहीं पड़ना चाहिए। इनका प्रदर्शन भी कभी नहीं करना चाहिए। अन्यथा इतने शिष्य इकट्ठे होने लगते हैं कि उनका कार्य करते-करते योगी को साधना का समय ही नहीं मिलता। अतः योगी को चाहिए कि वह मूर्ख और मूढ (पागल) की भाँति लोक में व्यवहार करे और अपनी साधना निरन्तर करता रहे। योगी की यहाँ तक **घटावस्था** कहलाती है।

इस उपर्युक्त घटावस्था के बाद **परिचयावस्था** आती है, जब वायु अग्नि के साथ कुण्डलिनी को जागृत कर सुषुम्ना में प्रवेश कर जाता है। इस सुषुम्ना को ही महापथ या श्मशान भी कहते हैं। प्राणों का सुषुम्ना में प्रवेश कराने की साधना को ही कुछ सम्प्रदायों में **श्मशान साधना** के नाम से स्मरण किया जाता है। इसके बाद **भूतधारणा** प्रारम्भ होती है। **भूतधारणा** का अर्थ है नाभि के नीचे गुदा से ऊपर अर्थात् स्वाधिष्ठान चक्र में प्राणों को धारण करना, नाभिस्थान मणिपूर चक्र में प्राणों का धारण, नाभि से ऊपर हृदय स्थान अनाहत चक्र में प्राणों का धारण, हृदय से ऊपर भ्रूस्थान के मध्य अर्थात् विशुद्ध चक्र में प्राणों का धारण और भ्रूस्थान या उससे ऊपर आज्ञाचक्र में प्राणों को धारण करना। ये पाँचों स्थान क्रमशः पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश के स्थान कहे जाते हैं, अतः इन उपर्युक्त पाँच चक्रों में प्राण की धारणा को

क्रमशः पृथ्वीधारणा, जलधारणा, अग्निधारणा, वायुधारणा और आकाशधारणा भी कहा जाता है। इन धारणाओं के फलस्वरूप योगी को उत्तरोत्तर पृथ्वी आदि से मृत्यु का भय समाप्त हो जाता है। पृथ्वी-धारणा सिद्ध होने पर पार्थिव पदार्थों से चोट खाकर, जल धारण सिद्ध होने पर जल के अभाव में या जल में डूबने या शीत से, तथा आग्नेय धारण सिद्ध होने पर अग्नि में जलने आदि से योगी की मृत्यु नहीं हो सकती। शरीर टूटता, सड़ता, गलता या जलता नहीं। इस प्रकार **पंचभूत धारणा** से मृत्यु पर पूर्ण विजय योगी को मिल जाती है।

पंचभूत धारणा की सिद्धि होने पर योगी यदि सगुण ध्यान करता है, तो उसे अणिमा आदि सिद्धियाँ प्रकट रहती हैं, किन्तु मोक्षमार्ग नहीं खुलता। निर्गुण ध्यान करने पर साधक मोक्षमार्ग को प्राप्त करता है। इस निर्गुण ध्यान से योगी को केवल बारह दिनों में समाधि प्राप्त हो जाती है। उस समय साधक चाहे, तो शरीर त्यागकर ब्रह्म में लीन हो जाए और चाहे तो विविध सिद्धियों के साथ लोक में जीवन्मुक्त होकर विचरण करें। योगी की यह अवस्था **निष्पत्ति अवस्था** कही जाती है।

इस ग्रन्थ के सर्वाङ्गीण अध्ययन के क्रम में एक बात स्मरणीय है कि पं. जगदीश शास्त्रीद्वारा सम्पादित होकर, मोतीलाल बनारसीदास द्वारा प्रकाशित, उपनिषद्संग्रह के प्रथम–भाग में मुद्रित तैंतालिसवीं उपनिषद् योग तत्त्वोपनिषद् के साथ पर्याप्त साम्य है। यह साम्य ऐसा तो नहीं है कि दोनों को अभिन्न कहा जा सके किन्तु इतना सुनिश्चित है कि वह साम्य आकस्मिक नहीं है। इस ग्रन्थ में कुल एक सौ उनहत्तर श्लोक अथवा तीन सौ छत्तीस श्लोकार्ध है। योगतत्त्व उपनिषद् में श्लोकार्धों की संख्या एक सौ बयासी (श्लोक संख्या 142) है। इनमें से एक सौ छत्तीस (136) श्लोकार्ध दोनों में सम्पूर्ण रूप से अथवा एकआध शब्दों के अन्तर के साथ समान हैं। यह साम्य भागवत ही नहीं भाषागत (शब्दगत) भी है, अतः निश्चित ही इन दोनों के लेखकों में अन्यतम जो भी परवर्ती है, दूसरे ग्रन्थ से न केवल परिचित है अपितु उसे आदर्श रूप से स्वीकार्य मानता है। योग के भेद और अवस्थाएँ दोनों में समान शब्दावली में वर्णित है, मन्त्रयोग के साधक को दोनों ही अल्पबुद्धि और कनिष्ठ साधक समान रूप से स्वीकार करते हैं। इनके अतिरिक्त

प्राणायाम का स्थल, प्राणायाम की विधि, क्रम, सोपानिक सफलता के चिह्न, **केवलकुम्भक** की प्राप्ति के विघ्न, **केवलकुम्भक** सिद्धि के क्रमिक चिह्न, प्रणवजप और उसके उद्देश्य साधन के क्रम में उत्तर स्थिति में परिवर्तन, पूर्णसिद्धि के चिह्न, सिद्धि प्रदर्शन का निषेध और उसमें हानि आदि का विवरण समान शब्दावली में किया गया है। एक प्रकरण में तो छत्तीस श्लोकार्ध एक क्रम से ही उद्धृत प्रतीत होते हैं, मध्य में एकाध पंक्ति कहीं-कहीं प्रासंगिक रूप से दोनों में भिन्न है। यह भिन्नता दोनों में समान है, अर्थात् कभी योगतत्त्व उपनिषद् में कुछ बढ़ गया है; तो कभी प्रस्तुत ग्रन्थ में। इस स्थिति में यह निर्णय करना असम्भव लगने लगता है कि कौन किसका अनुकरण करता है। कुछ स्थलों में विधि में अन्तर है, किन्तु साधना का फल समान शब्दावली में वर्णित है। इसके उदाहरण के रूप में पंचभूत-धारणा को ले सकते हैं। इस प्रकरण में प्रस्तुत ग्रन्थ योगशास्त्र में नाभि स्थान से नीचे गुदा स्थान के मध्य प्राण धारणा को **पृथ्वीधारणा**, नाभि स्थानों में प्राण निरोध **जलधारणा**, नाभि से ऊर्ध्व मंडल में प्राणों का धारण, **अग्निधारणा**, नाभि से और भौहों के मध्य प्राणों के धारण को **वायुधारणा** और भ्रू मध्य से ऊपर प्राणधारणा को **आकाशधारणा** स्वीकार किया गया है। जबकि योगतत्त्व भ्रू उपनिषद् में पैर से जानु के मध्य प्राण रोककर चतुर्मुख हिरण्मय देव का ध्यान **पृथ्वीधारणा**, जानु से गुदा के मध्य प्राण रोककर चतुर्भुज पीतवस्त्रधारी स्फटिक वर्ण नारायण का ध्यान **जलधारणा**, हृदय से भ्रू के मध्य प्राण धारण कर, सर्वज्ञ ईश्वर का ध्यान **वायुधारणा** तथा भ्रू मध्य से मूर्धा के मध्य प्राण धारण कर बिन्दु रूप व्योमाकार महादेव सदाशिव का ध्यान **आकाशधारणा** माना है।

क्योंकि सुषुम्ना का स्थान मूलाधार और मणिपुर के मध्य से मूर्धा पर्यन्त है, अतः सुषुम्ना में प्राण प्रवेश के अनन्तर केवल कुम्भक सुषुम्ना मुख के ऊपर की ओर ही धारण होनी चाहिए, पाद जानु मध्य में तथा जानु पायु मध्य में नहीं, अतः **पृथ्वीधारणा** एवं **जलधारणा** के सन्दर्भ में योगतत्त्व उपनिषद् का वचन विचारणीय है। योगिराज गुरुवर स्वामी विष्णुदेवानन्दजी सरस्वती की मान्यता भी इस प्रसंग में यही है।

अतः योगतत्त्व उपनिषद् के लेखक ने योगप्रसंग में अन्य ग्रंथों के मतों को ही संकलित कर सामंजस्य की भावना और कल्पना; इन दोनों का आश्रय लेकर ही अपने मतों को निबद्ध कर रहा है, ऐसा अनुमान होता है।

प्रत्याहार के विवरण क्रम में नेत्र आदि के विषय; रूप आदि का आत्मा के रूप में भावना योगतत्त्वोपनिषद् में वर्णित है, जबकि प्रस्तुत योगशास्त्र में उसकी आत्मा में भावना वर्णित है। इस परस्पर भेद में योगतत्त्वोपनिषद् का वर्णन केन उपनिषद् के वचन 'भूतेषु भूतेषु विचिन्त्यधीराः प्रत्यस्माल्लोकादमृताः भवन्ति' के प्रभाव में किया गया संशोधन प्रतीत होता है।

इन उपर्युक्त दो परस्पर अन्तर (पारस्परिक भेद) की समीक्षा के आधार पर यह कल्पना करना अनुचित होगा कि योगतत्त्वोपनिषद् में प्राप्त समान सामग्री इस ग्रन्थ योगशास्त्र से मूल रूप से अविकल अथवा संशोधित होकर गृहीत हुई है। अतः इस ग्रन्थ को योगतत्त्व उपनिषद् से प्राचीन और उसका उपजीव्य मानना चाहिए।

समग्र रूप से यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि दत्तात्रेय-प्रोक्त अज्ञात कर्तृक यह ग्रन्थ योगियों की परम्परा में प्रचलित एक प्राचीन ग्रन्थ है इसमें राजयोग की साधना का राजमार्ग प्रतिपादित हुआ है, इसी कारण यह केवल साधकों के मध्य ही प्रचलित रहा है। इसे निरन्तर गोपनीय अथवा अध्येताओं से निरन्तर दूर रखा गया है, जैसाकि इसमें स्वयं केवल पाठमात्र से कोई लाभ न होने तथा वृथा गोष्ठी को निरर्थक माना गया है। केवल साधकों में ही प्रचलित रहने के कारण ही इस पर अन्य भाष्य या टीका ग्रन्थों का सर्वथा अभाव है। परम्परा प्राचीन होने के कारण ही लेखक ने इसे दत्तात्रेय प्रोक्त कहकर अपने में कर्तृत्व की कल्पना बिल्कुल नहीं की है, अतः इसे अज्ञात कर्तृक कहना ही प्रशस्त होगा। मुझे विश्वास है कि इसके प्रचार-प्रसार और प्रायोगिक साधना से मानव-मात्र को कल्याण मिल सकेगा

नाड़ीचक्र-विवरण

योग विषयक प्राय: सभी ग्रन्थों के अनुसार प्रस्तुत ग्रन्थ में भी शरीर में विद्यमान विविध नाड़ियों के वाचक शब्दों का यथास्थान प्रयोग किया गया है; अत: अध्येताओं और साधकों की सुविधा की दृष्टि से बहत्तर हजार नाड़ियों में से प्रमुख चौदह नाड़ियों का संक्षिप्त परिचय **जावालदर्शनोपनिषद्** के अनुसार वर्णित है। कोष्ठक में निर्दिष्ट अंक [] उक्त उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय को मन्त्र संख्या को सूचित करते हैं।

कन्दस्थान–गुदास्थान (मूलाधार) से नौ अंगुल ऊपर नाभि के निकट **कन्दस्थान** माना जाता है। [4, 3-4] सभी नाड़ियों का प्रारम्भ स्थान कन्द ही माना गया है।

कुण्डलिनी–नाभिकन्द [कन्दस्थान] के दो अङ्गुल नीचे **कुण्डलिनी** का स्थान है। यह **कुण्डलिनी** आठ बार कुण्डलित है, अत: इसे अष्टप्रकृतिरूपा अथवा अष्टधाकुण्डलित भी कहा जाता है [4, 11-12] इसके मुख (अग्रभाग) में ही सुषुम्ना नाड़ी का मुख बन्द रहता है [4-13]। जिसे **प्राणायाम** द्वारा अनावृत किया जाता है। कुण्डलिनी मुख से सुषुम्ना मुख बाहर आ जाने पर सुषुम्ना में ही **कुण्डलिनी** का प्रवेश प्रारम्भ हो जाता है; और क्रमश: वह अपनी कुण्डलित अवस्था को छोड़कर सुषुम्ना के अन्दर-ही-अन्दर ऊपर को उठती हुई ब्रह्मरन्ध्र द्वारा **सहस्रारचक्र** तक पहुँचती है। इसे ही **कुण्डलिनी** का जागरण कहते हैं।

सुषुम्ना–इसे ब्रह्मनाड़ी भी कहते हैं। यह कन्द के मध्य से प्रारम्भ होकर मेरुदण्ड के मध्यसे होती हुई **ब्रह्मरन्ध्रा (सहस्रारचक्र)** पर्यन्त स्थित है। सामान्यत: इसका मुख कुण्डलिनी मुख में स्थित रहता है। [4, 9-10]

इडा–इडानाड़ी कन्दस्थान में सुषुम्ना के दाहिनी ओर से प्रारम्भ होकर दक्षिण नासिका पर्यन्त जाती है। इसे ही **सूर्यनाड़ी** भी कहते हैं। [4.13]

पिङ्गला–पिङ्गलानाड़ी का दूसरा नाम **चन्द्रनाड़ी** है। यह कन्दस्थान में सुषुम्ना के बाएँ भाग से प्रारम्भ होकर बाईं नासिका पर्यन्त जाती है। [4-13] सामान्यत: प्राणों का संचार कभी इडा (सूर्यनाड़ी) और कभी पिङ्गला (चन्द्रनाड़ी) में होता है किन्तु प्राणायाम साधना के द्वारा योगी सुषुम्ना में प्राणों को प्रवाहित करते हैं।

सरस्वती–नाभिकन्द में सुषुम्ना के पार्श्व से (सुषुम्ना और इडा के बीच) से प्रारम्भ होकर जिह्वा के अग्रभाग तक स्थित है। इसी कारण उत्थित जिह्वा को भी **सरस्वती** कहा जाता है। [4.14]

पूषा–नाभिकन्द में पिङ्गला के पीछे से प्रारम्भ होकर दक्षिणनेत्र पर्यन्त स्थित है [4.15]। योगचूड़ामणि के अनुसार यह नाभिकन्द से प्रारम्भ होकर दाहिने कान पर्यन्त स्थित रहती है।

वरुण–नाभिकन्द में यशस्विनी और कुहू के मध्य से आरम्भ होकर दाहिने हाथ के अग्रभाग तक स्थित है। [4.16]

हस्तिजिह्वा–नाभिकन्द में इडा के पृष्ठ पार्व से प्रारम्भ होकर बाएँ पैर के अङ्गुष्ठ तक स्थित है [4.21]। योग चूड़ामणि के अनुसार इसकी स्थिति दक्षिणनेत्र पर्यन्त है।

यशस्विनी–नाभिकन्द में पिङ्गला से पूर्व पूषा और सरस्वती के मध्य से प्रारम्भ होकर दक्षिण पादाङ्गुष्ठ पर्यन्त स्थित है [4.19]। योगचूड़ामणि के अनुसार इसकी स्थिति बायें कान पर्यन्त है।

अलम्बुषा–नाभिकन्द में पिङ्गला के सामने से प्रारम्भ होकर पायु (गुदा) पर्यन्त स्थित है [4.17]। योगचूड़ामणि के अनुसार यह पायु की ओर न जाकर आनन (मुख) पर्यन्त स्थित रहती है।

कुहू–नाभिकन्द में सुषुम्ना के पूर्व पार्श्व से प्रारम्भ होकर बाएँ हाथ पर्यन्त जाती है। इसके एक ओर विश्वोदरी स्थित है [4.14–15]

विश्वोदरी–नाभिकन्द में कुहू और हस्ति जिह्वा के बीच से प्रारम्भ होकर लिङ्ग स्थान तक स्थित है।

गान्धारी–यह नाभिकन्द में इडा के पृष्ठ पार्श्व से प्रारम्भ होकर बायें नेत्र पर्यन्त स्थित है [4.14]। इसे कहीं-कहीं गान्धारी भी कहा गया है।

शंखिनी–यह नाभिकन्द में गान्धारी और सरस्वती के बीच से प्रारम्भ होकर बाएँ कान तक स्थित रहती है।

पयस्विनी–कन्दस्थान में पिङ्गला के पार्श्व से प्रारम्भ होकर दाहिने कान पर्यन्त स्थित है।

योगशास्त्र

1. नृसिंहरूपिणे चिदात्मने सुखस्वरूपिणे।
2. पदैस्त्रिभिः तदादिभिर्निरूपिताय वै नमः।

1-2. 'तत् त्वम् असि' इन तीन पदों द्वारा जिसका वर्णन किया गया है, उस सुखरूप चिदात्मरूप (चेतन आत्मारूप) नृसिंह स्वरूप में विद्यमान परमेश्वर को नमस्कार है।

1-2. I salute to lord Vishnu who appeared like Narasimha, but in reality he is Chidatma (knowledge itself), Anandamaya (pleasure itself) thus he is described through three words i.e. Sat-chit-and Ananda.

3. सांकृति र्मुनिवर्योऽसौ भूतये योगलिप्सया।
4. सकलं भू,[1] परिभ्राम्यान् नैमिषारण्यमाप्तवान्।।

3-4. सांकृति नामक श्रेष्ठ, मुनि ऐश्वर्य और कल्याण की प्राप्ति के लिए योग का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से सम्पूर्ण संस्कार का भ्रमण करते हुए नैमिषारण्य में पहुँचे।

3-4. The Saint Sankriti, (having desire for salvation through yoga) came to Naimisharanya (a forest which is called with this name) wandering the whole world to get knowledge about yoga.

5. सुगन्धि नाना कुसुमैः स्वादुसत्फलसंयुतैः।
6. शाखिभिः शोभितं पुण्यं जलकासारमंडितम्।।
7. स मुनिर्विचरंस्तत्र ददर्शाम्रतरोरधः।
8. वेदिकायां समासीनं दत्तात्रेयं महामुनिम्।।

---

1. चक.

5-8. विविध सुगन्धित फूलों, स्वादिष्ट सुन्दर फूलों से युक्त वृक्षों से सुशोभित पुण्यजलयुक्त सरोवर से अलंकृत उस नैमिषारण्य में विचरण करते हुए, आम के वृक्ष के नीचे एक वेदी (चबूतरे) पर बैठे हुए, महामुनि दत्तात्रेय को देखा।

5-6. This forest Naimisharanya was pure and decorated by trees which have various fragrant flowers and sweet fruits, It was also embellished with lakes and fountains.

9. बद्धपद्मासनासीनम्[1] नासाग्रार्पितया दृशा।
10. उरुमध्यगतोत्तानमणियुग्मेन शोभितम्।।
11. ततः प्रणम्य मखिलं दत्तात्रेयं महामुनिम्।
12. तच्छिष्यै सह तत्रैव सम्मुखश्चोपविष्टवान्।।

9-12. नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि लगाये हुए, **पद्मासन** में बैठे हुए, यज्ञों के समान पूज्य (मखिलं) जंघाओं के मध्य दो उत्तान (चित्त) पड़े हुए दो मणियों से शोभित महामुनि दत्तात्रेय के चरणों को प्रणाम करके सांकृति उनके शिष्यों के साथ वहीं सामने बैठ गये।

7-10. Tha saint Sankriti roaming in this forest saw the great saint Muni Dattatreya who was sitting on a raised platform (vedika) under a mango tree. He was in posture of lotus that is called Padmasana, His eyes were centred at his nose point and hands were posed on the middle of thigh with palms upward.

11-12. There he (Sankriti) saluted the honourable great saint Dattatreya, and sat down there in front of him with his pupils.

13. तदैव स मुनिर्योगाद् विरम्य स्वपुरः स्थितम्।
14. उवाच सांकृति प्रीतिपूर्वकं स्वागतं वचः।।
15. सांकृते कथय त्वं मां किमुद्दिश्य इहागतः।
16. इति पृष्टस्तु स प्राह योगं ज्ञातुमिहागतः।।

1. बद्धपद्मासनं नाम क.

13-16. उसी समय महामुनि दत्तात्रेय योगक्रिया (साधना) को विराम देकर अपने सामने बैठे हुए सांकृति से प्रेमपूर्वक स्वागत वचन बोले, 'हे सांकृति, कहो कि तुम किस लिए यहाँ आये हो?' ऐसा पूछने पर सांकृति ने उनसे (दत्तात्रेय से) कहा कि मैं योगविद्या को जानने के लिए यहाँ आपके पास आया हूँ।

13-14. At the same time the great saint broke his yogic concentration and welcoming Sankriti lovingly, who was sitting in front of him, he asked.

15-16. 'O Sankriti tell me for what purpose have you come here?'

After hearing the quetion from Guru Dattatreya, Sankriti replied "Sir I came here to get knowledge of yoga from you".

दत्तात्रेय उवाच–

17. योगो हि बहुधा ब्रह्मन् तत्सर्वं कथयामि ते।[1]

18. मन्त्रयोगो लयश्चैव हठयोगस्तथैव च।[2]

19. राजयोगश्चतुर्थः स्याद् योगानामुत्तमस्तु सः।।

17-19. हे ब्रह्मन्, योग के अनेक प्रकार हैं–मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग। राजयोग नामक चतुर्थ योग प्रकार इन सबमें श्रेष्ठ है।

17. O my dear Sankriti, although the yoga is very vast, but I will teach it to you in detail.

18-19. It (the yoga) has been divided in four parts i.e. **Mantrayoga Layayoga, Hathayoga** and the fourth is **Rajayoga** which is superior to others.

20. आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयः स्मृतः।[3]

21. निष्पत्तिश्चेत्यवस्था च चतुर्थी परिकल्पिता।[4]

---

1. तुलनीय योग तत्त्वोपनिषद् 1.19 ।
2. तुलनीय वही 1.19 ।
3. वही 1.20 ।
4. तुलनीय 1.20 ।

22. एतेषां विस्तरं वक्ष्ये यदि त्वं श्रोतुमिच्छसि।।

20-22. योग की अवस्थाएँ भी चार हैं—आरम्भ, घट, परिचय और निष्पत्ति। यदि तुम सुनना चाहते हो, तो मैं इनके विस्तार का भी वर्णन करूँगा।

20-22. The Rajayoga has its four stages and there are **Arambha** (beginning) **Ghata** (effort) **Parichaya** (acquantance) and the **Nishpatti** is the forth stage of it. Now I will define them in detail if you want to hear it.

मन्त्रयोग–

23. अङ्गेषु मातृकान्यासपूर्वं मन्त्रं जपन्सुधीः।

24. यं कञ्चनाभिसिद्ध्यै स्यान्मन्त्रयोगः स कथ्यते।।

23-24. बुद्धिमान् व्यक्ति जिस किसी भी सिद्धि की प्राप्ति के लिए अङ्गों में **मातृकान्यास** पूर्वक **मन्त्र** का जाप करते हुए सिद्धि प्राप्त करता है, इसे **मन्त्रयोग** कहते हैं।

The Mantra Yoga

23-24. An intelligent man (Sadhaka), keeping the Matrikas in his parts, utters the Mantra to achieve any kind of Siddhis (attainment). this is called **Mantra-yoga.**

25. मृदुस्तस्याधिकारी स्याद् द्वादशाब्दैस्तु साधनात्।

26. प्रायेण लभते ज्ञानं सिद्धिश्चैवाणिमादिकाः।।

25-26. मन्त्रयोग का अधिकारी कोमल साधक होता है, प्रायः बारह वर्ष तक साधना करने से उसे अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त हो ही जाती है।

25-26. A man of tender nature is the appropriate person (Adhikari) for it. He may achieve the knowledge and also Siddhis i.e. Anima etc. through it by practising it at least for twelve years.

27. अल्पबुद्धिरिमं योगं सेवते साधकाधमः।

28. मन्त्रयोगोह्ययं प्रोक्तो योगानामधमस्तथा।।

27-28. अल्पबुद्धि कनिष्ठ साधक इस योग की साधना करता है, यह **मन्त्रयोग** योगों में निकृष्ट है।

27-28. The Mantra yoga is practised only by him who has lack of knowledge and is called **adhama sadhaka** (practitioner of lowest category). This Mantra yoga is generally called **Adhama yoga**.

लययोग–

29. लययोगश्चित्तलय:[1] संकेतैस्तु प्रजायते।[2]

30. आदिनाथेन संकेता अष्टकोटि: प्रकीर्त्तिता:।।

29-30. विविध संकेतों से चित्त का लय करना लययोग कहलाता है। इसके लिए आदिनाथ ने आठ कोटि के संकेतों का उपदेश किया है।

Layayoga

29-30. The Laya-yoga is that where the mind stuff (chitta) is completely absorbed. It is achieved through Sanketas (the places where mind is concentrated). Adinatha taught eight crores of sanketas to different pupils.

सांकृतिरुवाच

31. भगवन्नादिनाथस्स: किं रूप: क: स उच्यताम्।

31. सांकृति बोले–हे भगवान्, ये आदिनाथ कौन है? तथा इनका क्या परिचय है?

SANKRITI ASKED :

31. Sir (Bhagavan) tell me! "Who is the Adinatha and how he should be recognised?"

दत्तात्रेय उवाच–

32. महादेवस्य नामानि 'आदिनाथा' दिकान्यपि।

33. शिवेश्वरश्च देवोऽसौ[3] लीलया व्यचरत्प्रभु:।।

---

1. चित्तलयात् क. पुस्तक में अधिक है।
2. तुलनीय वही 1.23 ।
3. यं क.

34. श्रीकण्ठपर्वते गौर्या सह प्रमथनायकान्।
35. हिमाक्षपर्वते चैव कदलीवनगोचरे।।
36. गिरिकूटे चित्रकूटे सुपादपयुते गिरौ।
37. कृपयैकैकसंकेतं शंकरः प्राह तत्र तान्।।

दत्तात्रेय बोले-

32-37. 'आदिनाथ' आदि नाम भी महादेव के ही हैं। शिव और ईश्वर भी इनके ही नाम हैं। ये महादेव एकबार लीलापूर्वक गौरी के साथ श्रीकण्ठ पर्वत पर विचरण कर रहे थे। वहाँ केले के वनों से शोभित हिमाक्ष पर्वत खण्ड के पर्वत शिखर चित्रकूट, जो कि सुन्दर वृक्षों से अलंकृत था, पर प्रथमगण के नायकों पर कृपा करके उन्हें एक-एक संकेत का उपदेश दिया था।

Dattatreya

32-37. Adinatha Shiva and Ishvara etc. also are the names of Mahadeva. While wandering at Shreekantha Mountain doing his *leelas* with his wife Gauri, he out of mercy taught one sanketa to each the leaders of Pramathas, his ganas; at the Himaksha mountains at chitrakuta peak, which was covered with forest of bananas.

38. तानि सर्वाणि वक्तुं हि न शक्नोमि तु विस्तरात्।
39. कानिचित्कथयिष्यामि सहजाभ्यासवत्सुखम्।।

38-39. उन सभी संकेतों का विस्तारपूर्वक वर्णन तो मैं नहीं कर सकता, किन्तु इनमें से कुछ का मैं कथन करूँगा, जो बहुत सहज और सुखद है।

38-39. It is impossible to explain all of them (Sanketas) in detail, Thus I will try to explain some of them which may be practised easily.

40. तिष्ठन् गच्छन्स्वपन्भुञ्जन्ध्यायन्छून्यमहर्निशम्।
41. अयमेको हि संकेत आदिनाथेन भाषितः।

40-41. दिन रात बैठे हुए, सोते हुए और भोजन करते हुए शून्य को ध्यान करते रहना। आदिनाथ द्वारा कथित यह एक संकेत है।

40-41. The first sanketa is the meditation of **shoonya** (or vacuity) which may be called an **transcendental meditation**. This is the one sanketa taught by Adinatha which can be practised every where, while standing or walking, sleeping or eating.

42. नासाग्रदृष्टिमात्रेण अपरः परिकीर्त्तितः।

43. शिरःपश्चाच्च भागस्य ध्यानं मृत्युं जयेत् परम्।।

42-43. नाक के अग्रिम भाग पर दृष्टि को केन्द्रित करना, यह एक अन्य **संकेत** है। इसी प्रकार शिर के पिछले भाग में ध्यान करना एक **संकेत** है, इसके द्वारा मृत्यु पर भी विजय प्राप्त की जा सकती है।

42-43. The next Sanketa is to meditate in front of his nostril point looking it continously. The third one is to concentrate his mind at the back portion of his head and by this practice a man can overcome the death.

44. भ्रूमध्यदृष्टिमात्रेण परः संकेत उच्यते।

45. ललाटे भ्रूतले यश्च उत्तमः सः प्रकीर्त्तितः।।[1]

44-45. भौहों के मध्य में दृष्टि को एकाग्र करना भी एक संकेत है। इसी प्रकार ललाट और भौहों के नीचे दृष्टि की एकाग्रता उत्तम **संकेत** माने गये हैं।

44-45. The next Sanketa is to concentrate the vision in between the two eyebrows. The concentration of mind and vision at forhead or near the eyebrows are also most elevated sanketas.

46. सव्यदक्षिणपादस्य अङ्गुष्ठे लयमुत्तमम्।

47. उत्तानशववद् भूमौ शयनं चोक्तमुत्तमम्।।

48. शिथिलो निर्जने देशे कुर्यात् चेत्सिद्धिमाप्नुयात्।।

46-48. बायें और दाहिने पैर के अंगूठे पर भी दृष्टि का लय करना उत्तम है, इसी प्रकार मुर्दे की भाँति उत्तान (चित्त) होकर भूमि पर लेटकर

1. परिवर्त्तितः क.

मन और दृष्टि का लय भी उत्तम संकेत है। इस स्थिति में पूर्ण शिथिल हो जाना चाहिए। एकान्त देश में इसके अभ्यास से चित् का लय हो जाता है, और साधना सिद्ध (पूर्ण) हो जाती है।

46-48. To concentrate his eyes and mind at the thumb of left of right foot lying down at ground by posing his mouth to sky-ward like a dead body, is also a good Sanketa. If a yogin practises it at a lonely place keeping his body in loose position he must get Siddhi (the Success).

49. एवं च बहुसंकेतान्कथयामास शंकरः।

50. संकेतैर्बहुभिश्चान्यै र्यस्य चित्तलयो भवेत्

51. स एव लययोगः स्यात्, कर्मयोगं ततः शृणु।।

49-51. इसी प्रकार शंकर ने बहुत से संकेत बताये हैं, इन सभी संकेतों अथवा अन्य संकेतों से चित्त का लय होना **लययोग** कहलाता है। अग्रिम पंक्तियों में कर्मयोग अर्थात् राजयोग का विवरण सुनिये।

49-51. In this way Bhagwan Sankara taught them numerous Samketas, By these or other Sanketas if one concentrates his mind it is called **Layayoga**. Now I will teach you the **Karma Yoga** (Kriya-Yoga) which is called **Raja-Yoga** also.

राजयोग–

52. यमश्च नियमश्चैव आसनं च ततः परम्।[1]

53. प्राणायामश्चतुर्थः स्यात्प्रत्याहारस्तु पञ्चमः।।[2]

54. ततस्तु धारणा प्रोक्ता ध्यानं सप्तममुच्यते।[3]

55. समाधिरष्टमः प्रोक्तः सर्वपुण्यफलप्रदः।[4]

56. एवमष्टाङ्गयोगं च याज्ञवल्क्यादयो विदुः।।[5]

52-56. यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा ध्यान और

1. तुलनीय वही 1.24 ।

2-5. तुलनीय वही 1.25 ।

समाधि ये योग के आठ अंग है। इनमें आठवाँ अंग समाधि सभी प्रकार के पुण्यों का फल प्रदान करता है। याज्ञवल्क्य आदि मुनि योग के उपर्युक्त आठ अंग मानते हैं।

52-56. This Karma Yoga has eight parts in it. These are Yama, Niyama, Asana (Posture), Pranayama (The Breathing exercise), Pratyahara (Full control of sense-organs from their objects), Dharana (Control of mind to a perticular place), Dhyana (Concentration of mind) and the eight one is Samadhi i.e. control of mind in which he intends object and nothing more. This practice can give the fruits of all the punyas (good works). The great saints like **Yajnavalkya** etc. knew this **Ashtanga-yoga** (the eight fold yoga).

57. कपिलाद्यास्तु शिष्याश्च हठंकुर्यस्ततो यथा।

58. तद्यथा च महामुद्रा महाबन्धस्तथैव च।[6]

59. ततः स्यात्खेचरीमुद्रा बन्धो जालन्धरस्तथा।[7]

60. उड्डियाणं मूलबन्धो विपरीतकरणीतथा।[8]

61. वज्रोलिरमरोलिश्च सहजोलिस्त्रिधा मता।[9]

62. एतेषां लक्षणं वक्ष्ये कर्त्तव्यं च विशेषतः।।1

57-62. कपिल आदि मुनि और इनके शिष्यों ने **हठयोग** किया था। जिसमें महामुद्रा, महाबन्ध, खेचरीमुद्रा, जालन्धरबन्ध, उड्डयाणबन्ध, मूलबन्ध, विपरीतकरणी अर्थात् शीर्ष आसन तथा वज्रोलि के तीन प्रकार **वज्रोलि, अमरोलि** और **सहजोलि** हैं। अग्रिम पंक्तियों में इनके लक्षण और करने का ढंग बताया जाएगा।

57-62. The **Maharshi Kapila** and his discriples practised **Hatha-yoga**. There are eight main Kriyas named Mahamudra,Mahabandha, Khechari-Mudra, Jalandhara bandha, Uddiyana bandha, Moola bandha, Viparitakarani (Sirsa-asana) and Vajroli. Vajroli has its three parts named Vajroli, Amaroli, and Sahajoli. Now I will tell you the laksana (definition) of them and the way to practise them.

6-8. तुलनीय 1.26 ।

9. तुलनीय 1.27।

63. यमा ये दश सम्प्रोक्ता ऋषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः।
64. लघ्वाहारस्तु तेष्वेको मुख्यो भवति नापरे।
65. अहिंसा नियमेष्वेका मुख्या भवति नापरे।

63-65. तत्त्वदर्शी ऋषियों ने जो दस यम कहे हैं, उनमें एक मिताहार (लघ्वाहार) मुख्य है, अन्य नहीं। इसी प्रकार नियमों में भी केवल एक अहिंसा ही मुख्य है, अन्य नहीं।

63-65. There are ten **Yamas**, according to some Rishis who realised *the truth* (Tattva), and the path of salvation. The Laghu-Ahara (Proper control on diet or taking meagre meal) is the main among them and others are not so necessary. In the same way the **Ahimsa** is the main among **Niyamas** and not others.

66. चतुरशीतिलक्षेषु आसनेषूत्तमं शृणु।
67. आदिनाथेन सम्प्रोक्तं यद् आसनमिहोच्यते।।

66-67. चौरासी लाख आसनों में सर्वोत्तम आसन पद्मासन है, आदिनाथ ने उसकी जो विधि बताई है, उसे सुनो।

66-67. In eighty four lacs of **Asanas** (postures), according to Adinatha, the **Padma-Asana** (posture of lotus) is the best one among them. The detail of it is given below:

68. उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः।
69. ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणीकृत्वा ततो दृशौ।
70. नासाग्रे विन्यसेद् राजदन्तमूलं च जिह्वया।
71. उत्तभ्य चिबुकं वक्षः संस्थाप्य पवनं शनैः।
72. यथाशक्तिः[1] समाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः।
73. यथाशक्त्येव पश्चात्तु रेचयेत् पवनं शनैः।

1. यथाशक्त्या क।

74. इदंपद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम्।।

75. दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते भुवि।।

68-75. पैरों को उत्तान करके प्रयत्न पूर्वक जांघों पर रखे। फिर दोनों हाथों को उत्तान करके जांघों के मध्य में रखे, और नेत्रों को नाक के अग्रभाग पर स्थिर करे और जीभ को दाँतों के मूल के पास रखे। उसके बाद ठुड्ढी को थोड़ा आगे करके वक्षःस्थल पर रखकर प्राणों को धीरे-धीरे अन्दर खींचकर उदर को पूर्ण करे, और यथाशक्ति रोक कर बाद में वायु को बाहर निकाल दे। इसे **पद्मासन** कहते हैं, इससे सभी रोग नष्ट होते हैं। यह सर्व साधारण के लिए दुर्लभ है, किन्तु बुद्धिमान् साधक इसे भली प्रकार कर लेते हैं।

68-75. To come in the posture which is called Padma-asana, Yogi should sit first in the position so that the sole of one foot (right or left) should be on the thigh of the next foot in upward position, then the other foot should be placed on the next thigh taking upward position of its sole, the heel of both feet should touch each other near the navel. The back bone should be straight. The palms of hands should be placed on the heels of the both legs infront to navel, Yogi should look at nosepoint constantly, the tongue should be placed as such that its point should touch to upper portion of upper front teeth. The chin should be placed on chest, taking body in this position the Sadhaka (the practitioner of yoga) should try to breath in taking as much air as possible in stomach slowly. Then he should try to stop it there, for as much time as possible, then he should breath out slowly.

It is called Padma-asana (Posture of Lotus). Practice of this Asana uproots all type of diseases. It is practiced only by the inteligent sadhakas, and the perfection in it is obtained by them only.

76. सांकृते श्रणु सत्त्वस्थो योगाभ्यासक्रमं यथा।

77. वक्ष्यमाणं प्रयत्नेन योगिनां सर्वलक्षणैः।।

76-77. हे सांकृति, सावधान होकर योगाभ्यास के क्रम को सुनो, योगिजन प्रयत्नपूर्वक सम्पूर्ण लक्षणों के साथ इसे करते हैं।

76-77. O Sankriti, listen it with attention the way of young practice which I will tell you. Yogins try to practice it fully.

78. युवावस्थोऽपि वृद्धो वा व्याधितो वा शनैः शनैः।

79. अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति योगे सर्वोऽप्यतन्द्रितः।।

78-79. चाहे युवा हो या वृद्ध अथवा रोगी, धीरे-धीरे आलस्य रहित होकर अभ्यास करने से सबको ही सिद्धि प्राप्त होती है।

78-79. The practitioner of yoga whether young, old or sick, he shall get siddhi (perfection) in yoga if he practises it attentively.

80. ब्राह्मणः श्रमणो वापि बौद्धो वाप्यार्हतोऽथवा।

81. कापालिको वा चार्वाकः श्रद्धया सहितः सुधीः।।

82. योगाभ्यासरतो नित्यं सर्वसिद्धिमवाप्नुयात्।

80-82. ब्राह्मण हो अथवा संन्यासी, बौद्ध हो अथवा आर्हत (जैन), कापालिक हो या चार्वाक जो बुद्धिमान् श्रद्धापूर्वक योगाभ्यास में नित्य लगा रहता है, वह अवश्य सभी सिद्धियों को प्राप्त करता है।

80-82. The practitioner of yoga whether Brahmana or Samyasin, Bauddha or Jaina, Kapalika or Charvaka (who does not believe in God or rebirth), if he practises yoga having faith in it, he will get perfection, undoubtedly.

83. क्रिया युक्तस्य सिद्धिः स्यादक्रियस्य कथं भवेत्।

84. न शास्त्रपाठमात्रेण काचित्सिद्धिः प्रजायते।

85. मुण्डितो दण्डधारी वा काषाय वसनोऽपि वा।

86. नारायणवदो वापि जटिलो भस्मलेपनः।

87. नमः शिवाय वाची वा बाह्यार्चापूजकोऽपि वा।

88. स्थानद्वादशपूजो वा बहुवत्सलभाषितम्।

89. क्रियाहीनोऽथवा क्रूरः कथं सिद्धिमवाप्नुयात्।।

83-89. क्रिया में लगे हुए व्यक्ति को ही सिद्धि प्राप्त होती है, क्रियाहीन को वह मिल भी कैसे सकती है? केवल शास्त्र को पढ़ने से कोई सिद्धि नहीं मिलती। कोई मुण्डित हो या दण्डी या गेरुवा वस्त्र धारी हो, चाहे कोई नारायण नाम को जपता हो, या जटाधारी हो, या भस्म का लेपन करने वाला हो, चाहे 'शिवाय नमः' जपता हो या बाह्य मूर्ति आदि की पूजा करने वाला हो, चाहे द्वादश (बारह) स्थानों अर्थात् बारह ज्योतिर्लिंगों की पूजा करने वाला हो, ऐसे क्रियाहीन अथवा क्रूर व्यक्ति को कोई सिद्धि नहीं मिल पाती।

83-89. The man who practises yoga must get success. But how is it possible to get siddhis without practice. It is impossible to get success only by reading books on yoga. A man who does not practises yoga can not get siddhi. How can a man who has left all types of actions or who is very cruel, can attain siddhis even if he is Mundita or Dandin wears *mud* colour clothes or chants the name of Narayana, or Jatila (does not cut his hair) or *smears* ashes on his body, utters regularly "Namah Shivaya", or is a Pujari (Preist) by profession, or devotee of twelve places which are called jyotirlingas or speaks very sweet.

90. न वेष धारणं सिद्धेः कारणं न च तत्तथा।

91. कृपैव कारणं सिद्धेः सत्यमेव तु सांकृते!

90-91. हे सांकृति, यह सत्य है कि सिद्धियों की प्राप्ति वेष धारण से नहीं बल्कि कृपा से उनकी प्राप्ति होती है।

90-91. It must be known that it is impossible to get siddhis or perfection in yoga only by bearing the signs of saints. The perfection comes only by the mercy of Guru. This is a truth, the only truth.

92. शिश्नोदरार्थं योगस्य कथया वेषधारिणः।

93. अनुष्ठानविहीनास्तु वञ्चयन्ति जनान्किल।।

92-93. कुछ लोग अपने लौकिक सुखों की पूर्ति के लिए (लिङ्ग और पेट के लिए) योग की चर्चा करते, यद्यपि स्वयं वे करते कुछ नहीं, लोगों को धोखा देते हैं।

92-93. There are some persons who do discourses on yoga or

bear the signs of yogin, without practising it, they are deceiving people, only getting food and fulfilling their desires.

94. उच्चावचैर्विप्रलम्भैः यतन्ते कुशलाः नराः।

95. योगिनो वयमित्येवं मूढाः भोगपरायणाः।

94–95. उपर्युक्त प्रकार के योगहीन चतुर मनुष्य विविध प्रकार से छल करने के लिए प्रयत्न करते हैं और हम योगी हैं, ऐसा दिखाते हैं। वस्तुतः ऐसे लोग मूर्ख और भोगी हैं।

94-95. There are expert deceivers, who are deceiving by talking on yoga like *high way* and wants to show that they are great yogins although they are only fools and live to satisfy their desires.

96. शनैस्तथाविधान् ज्ञात्वा योगाभ्यासविवर्जितान्।

97. कृतार्थन्वचनैरेव वर्जयेद् वेषधारिणः।

96–97. योगाभ्यास से रहित केवल वचनों से ही स्वयं को कृतार्थ मानने वाले योगाभ्यास न करने वाले केवल वेषधारी लोगों को धीरे-धीरे पहचान कर उनका परित्याग करें।

96-97. He who never practises yoga but feels satisfied only by discourses and wears *signs* gradually be known and be discarded.

98. एते तु विघ्नभूतास्ते योगाभ्यासस्य सर्वदा।[1]

99. वर्जयेत्तान् प्रयत्नेन, ईदृशी सिद्धिदा क्रिया।।[2]

98–99. इस प्रकार के लोग योग के अभ्यास में विघ्नभूत हैं, प्रयत्नपूर्वक इनका परित्याग करें। सिद्धि के लिए मार्गभूत क्रियाएँ इस प्रकार सम्पन्न की जाती हैं।

98-99. This type of persons are only obstacle in practice of yoga, they must be discarded any how. The way of siddhis or geting perfection, in yoga, is thus :

1–2. तुलनीय वही 1 76 ।

100. प्रथमाभ्यासकाले तु प्रवेशस्तु महामुने।[1]
101. आलस्यं प्रथमो विघ्नो द्वितीयस्तु प्रकथ्यते।[2]
102. पूर्वोक्तधूर्त्तगोष्ठी च तृतीयो मन्त्रसाधनम्।[3]
103. चतुर्थो धातुवादस्यात् पञ्चमः खाद्यवादकम्।[4]
104. एवं च बहवो दृष्टा मृगतृष्णा समा:मुने:।[5]
105. स्थिरासनस्य जायन्ते तांस्तु ज्ञात्वा सुधीस्त्यजेत्।
106. प्राणायामं ततः कुर्यात्पद्मासनगतः स्वयम्।[6]

100–106. हे महामुनि! प्रथम अभ्यास के समय स्थिर आसन वाले साधक की **प्रवेश अवस्था** होती है, इस स्थिति में प्रथम विघ्न के रूप में आलस्य उपस्थित होता है, पूर्वोक्त धूर्त्तगोष्ठी द्वितीय विघ्न है, मन्त्र-साधना तृतीय विघ्न है। धातुवाद अर्थात् किसी भी लोहा आदि धातुओं को स्वर्ण में परिवर्तित करने की सिद्धि पाने का प्रयास चौथा महान् विघ्न है, इस प्रकार विविध भोग्य साधन प्राप्त करना या उत्पन्न करने की शक्ति पाना और उसमें रम जाना पाँचवाँ विघ्न है। इसी प्रकार साधक के समक्ष मृगतृष्णा के समान बहुत विघ्न प्रगट होते हैं। योगसाधक को चाहिए कि वह इन विघ्नों को जानकर इतना त्याग कर देवे और पद्मासन में बैठकर प्राणायाम का स्वयं अभ्यास करे।

100-106. O great saint Sankriti! when a person starts practice of yoga the first stage is called Pravesha-Avastha, and there are so many hurdles, the first of them is Alasya (sluggishness), second one is gossip among deceivers, third one is Mantra-japa, (the idea that every thing could be get through Mantra-sadhana) fourth is Dhatuvad, (it means that Amritatva can be obtained through use of medicines made of metals like gold or mercury,) the fifth hurdle is food and music etc. In this way there are many things which make false ideas that they can

1–5. तुलनीय वही 1.30–31 ।

6. वही 1.32 ।

7. तुलनीय वही 1.32 ।

provide pleasure appears to a yogin in the very begining, but all those must be left aside and Pranayama should be practised by sitting in Padma-asana.

107. सुशोभनं मठं कुर्यात्सूक्ष्मद्वारं तु निर्धुणम्।[1]

108. सुष्ठु लिप्तं गोमयेन सुधया वा प्रयत्नत:।[2]

109. मत्कुणै: मशकै: भूतै: वर्जितं च प्रयत्नत:।[3]

110. दिने दिने सुसम्मृष्टं सम्मार्जन्या ह्यतन्द्रित:।[4]

111. वासितं च सुगन्धेन धूपितं गुग्गुलादिभि:।।[5]

107–111. साधना के लिए सर्वप्रथम एक सुन्दर घर का चयन या निर्माण करे, जिसका द्वार छोटा हो, बहुत छिद्र न हों, यह साधनागृह गोबर या चूने से पुता होना चाहिए, इसमें ऐसा प्रयत्न करे कि वह खटमल मच्छर आदि प्राणियों से प्रयत्न पूर्वक पूर्णत: रहित रहे, प्रतिदिन झाड़ू आदि द्वारा जिसकी सफाई की जा रही हो, तथा वह सुगन्धित द्रव्यों से सुवासित एवं गुग्गुल आदि जलाकर धूपित किया जाता हो।

107-111. To do practice of pranayama, first of all, yogi should prepare or select a cleister (matha). Door of this eleister should be small and germs of any kind must not be there. It should be polished by cowdung or lime carefully, so that it remains free from bugs, mosquitoes and spiders. It should be swept with broom daily and be perfumed with incense and incensed with resin (guggula).

112. मलमूत्रादिभिर्वर्गैरष्टादशभिरेव च।

113. वर्जितं द्वार सम्पन्नम्, ...वस्त्रंवाऽजिनमेव वा।

1–3. वही 1.33 ।

4. तुलनीय वही 1.34 ।

5. वही 1.34।

112-113. साथ ही वह घर मलमूत्र आदि अठारह पदार्थों से रहित, द्वारयुक्त (कपाट युक्त) होना चाहिए।

112-113. There must not be excreta etc. which are eighteen in numbers and there should be a door to close it.

114. नान्यत्र स्तरणासीनः परसंसर्गवर्जितः।

115. तस्मिंस्स तु समास्तीर्य आसनं विस्तृतांशकम्।।

114-115. वहाँ वस्त्र अथवा मृगचर्म का आसन बिछाकर वहीं योग-साधना करें अन्यत्र आसन लगाकर साधना न करें। दूसरे के संसर्ग से सर्वथा दूर रहे, इस प्रकार पूर्वोक्त प्रकार के घर में विस्तार वाले अर्थात् लम्बे-चौड़े आसन को लगाकर....[साधना प्रारम्भ करे]।

114-115. He (yogin) seat should be made either of cloth or skin of deer. He should not sit on others seat. He should also avoid others and not to be touched by others. In that cleister he should have a wide seat.

116. तत्रोपविश्य मेघावी पद्मासनसमन्वितः।[6]

117. समकायः प्राञ्जलिश्च प्रणम्य स्वेष्टदेवताम्।[7]

118. ततो दक्षिणहस्तस्य अङ्गुष्ठेनैव पिङ्गलाम्।[8]

119. निरुध्य पूरयेद् वायुमिडया च शनैः शनैः।[9]

116-119. उस (पूर्वोक्त लगाये हुए) आसन पर बैठकर पद्मासन लगाकर शरीर सीधा रखते हुए हाथ जोड़कर पहले अपने इष्ट देवता को प्रणाम करे; उसके अनन्तर दाहिने हाथ के अंगूठे से पिङ्गला अर्थात् दाहिने नासिका छिद्र को बन्द करके इड़ा अर्थात् बायें नासिका मार्ग से वायु को धीरे-धीरे अन्दर लेवे।

120. यथाशक्त्यनिरोधेन ततः कुर्यात्तु कुम्भकम्।[10]

---

6. वही 1.35 ।

7. तुलनीय 1.36 ।

8-9. वही 1-36-37 ।

10. वही 1.37 ।

116-120. Sitting on that place in keeping his body straight, the wise man, should salute his diety whom he likes the most with folded hands. There after he should close his right nostril which is called Pingala with the thumb of his right hand and should breath in slowly through left nostil, which is calle Ida. And then he should hold the air in side the belly without any effort to the best of his ability. This is called **Kumbhaka Pranayama**.

121. ततस्त्यजेत्पिङ्गलया शनैः पवनवेगतः।[1]
122. पुनः पिङ्गलयाऽऽपूर्य पूरयेदुदरं शनैः।[2]
123. यथा त्यजेत्तथा तेन पूरयेदनिरोधतः।[3]

120–123. उसके अनन्तर (वायु को पूर्णतया अन्दर भर लेने के अनन्तर) बिना बल प्रयोग के ही कुम्भक करें अर्थात् उदर के अन्दर वायु को रोके। तदनन्तर वायु को वेग से, किन्तु अधिक तीव्रता से नहीं, पिङ्गला अर्थात् दाहिनी नासिका छिद्र से बाहर निकाले। फिर पिङ्गला से वायु को खींचकर उदर को पूर्ण करे। इस प्रकार क्रमशः जिस नाक से वायु को निकाले, उसी मार्ग से बाहर बिना रोके ही वायु को अन्दर परिपूर्ण करे।

121-123. Then he should throw-out the prana-vayu through his right-nostril (pingala) slowly. Again without taking any rest he should fill-in the prana (air) through Pingala (right nostril) and hold it there again to the best of his ability. In this way he should breath in through the nostril by which air was thrown out, and breath out through other side without any rest. This is the way of Pranayama, it is called Sahita **Kumbhaka**.

124. एवं प्रातः समासीनः कुर्याद् विंशति कुम्भकान्।
125. कुम्भकः सहितो नाम सर्वग्रहविवर्जितः॥

1. तुलनीय 1.38 ।
2. वही 138 ।
3. तुलनीय वही 1.37।

124-125. इस विधि से साधक को चाहिए कि प्रातःकाल बैठकर बीस **कुम्भक** करे। इसे **सहित कुम्भक** कहते हैं, इसके करने से सभी बाधाएँ दूर हो जाती हैं।

124-125. With this the Yogin (the practitioner of yoga) should practise Kumbhaka Pranayama by the above side way twenty times in the morning, This Kumbhaka Pranayama is called Sahita Kumbhaka. The man who practises this Sahita Kumbhaka becomes free from all the grahas or troubles.

126. एवं मध्याह्नसमये कुर्याद् विंशतिकुम्भकान्।
127. एवं सायं प्रकुर्वीत पुनर्विंशतिकुम्भकान्।।
128. एवमेवार्धरात्रेऽपि कुर्याद् विंशतिकुम्भकान्।

126-128. इस प्रकार मध्याह्न काल में, सायं काल में तथा अर्धरात्रि में पूर्वोक्त प्रकार से बीस-बीस कुम्भक करे।

126-128. In the same way the above said Sahita kumbhaka should be practised twenty times at mid day and again it should be practised in the evening and at mid night.

129. कुर्वीत रेचपूराभ्यां सहितान्प्रतिवासरम्।
130. सहितो रेचपूराभ्यां तस्मात् सहितकुम्भकः।।

129-130. इस उपर्युक्त प्रकार से रेचक और पूरक के सहित प्रतिदिन कुम्भक का अभ्यास करे। रेचक और पूरक के साथ करने के कारण इस कुम्भक प्रकार को **सहित कुम्भक** कहते हैं।

129-130. Because this Kumbhaka Pranayama is performed daily with **Rechaka** (breathing out) and **Pooraka** (breathing in) thus it is called Sahita Kumbhaka.

131. कुर्यादेवं चतुर्वारमनालस्यो दिने दिने।
132. एवं मासत्रयं कुर्यान्नाडीशुद्धिस्ततो भवेत्।।

131-132. इस प्रकार बिना आलस्य किये प्रतिदिन चार बार अभ्यास

करे। इसके फलस्वरूप तीन मास में **नाड़ी शुद्धि** हो जाती है।

131-132. This Sahita Kumbhaka should be practised four times daily for three months without any laziness, on doing this all vains will be purified.

133. यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात्तदा चिह्नानि बाह्यतः।[1]

134. जायन्ते योगिनो देहे तानि वक्ष्याम्यशेषः।।[2]

133–134. नाड़ी शुद्धि हो जाने पर योगी के शरीर में जो बाहर से चिह्न प्रकट होते हैं, अग्रिम पंक्तियों में मैं समग्र रूप से उनका वर्णन करूँगा।

133-134. When the purification of vains (Nadishuddhi) is occured these signs appear in the body of yogin. I will tell you all of them. These are—

135. शरीरलघुता दीप्तिः जठराग्निविवर्द्धनम्।[3]

136. कृशत्वं च शरीरस्य तदा जायेत्तु निश्चितम्।[4]

135–136. उस स्थिति में शरीर में लघुता (हलकापन), तेजस्विता, जठराग्नि की वृद्धि और शरीर में कृशता अवश्य होती है।

135-136. By this way Lightness (want of weight) and brightness of body appears, appetite increases and body becomes certainly lean and thin.

137. तदा वर्ज्यानि वक्ष्यामि योगबिघ्नकराणि तु।

138. लवणं सर्षपञ्चाम्लमुष्णं रूक्षं च तीक्ष्णकम्।[5]

139. अतीव भोजनं त्याज्यं स्त्रीसंगमनमेव च।

140. अग्निसेवा तु सन्त्याज्या धूर्त्तगोष्ठीश्च सन्त्यजेत्।

137–140. इस स्थिति में निम्नलिखित जो बातें योग में विघ्नकारी हैं, मैं उनका वर्णन कर रहा हूँ, इन्हें पूर्णतया छोड़ देना चाहिए। ये हैं–नमक,

---

1–2. वही 1.44–46 ।

3–4. वही 1.44–46 ।

5. वही 1.47 ।

सरसों अथवा उसका तेल या शाक, खटाई, गरम रूक्ष और चटपटे पदार्थ, अधिक भोजन, स्त्री का संग (संगम) अग्नि का सेवन करना और धूर्त्त लोगों की गोष्ठी इनका पूर्णतया त्याग कर देवे।

137-140. Now I will tell those things which create obstructions in the practice of yoga and these things must be given up. These are— salt, mustard or its oil ect., sour things, hot things, the things resulting heat in the body, harsh and bitter things, taking food in large quantity, company of women for enjoyment, use of fire, gossips with deceivers also must be avoided.

141. उपायं च प्रवक्ष्यामि क्षिप्रं योगस्य सिद्धये।

142. घृतं क्षीरं च मिष्टान्नं मिताहारश्च शस्यते।।[6]

141-142. अब मैं योग में शीघ्र सिद्धि प्राप्त करने के लिए उपाय बताऊँगा। योग साधना के क्रम में घृत, दूध, मिष्ठान और मिताहार अच्छा माना गया है।

141-142. I will tell you the means to get success in yoga quickly– Use of Butter oil, milk, sweet food and less quantity of food recommended to get success in yoga with-in no time.

143. पूर्वोक्तकाले कुर्वीत पवनाभ्यासमेव च।

144. ततः परं यथेष्टं तु शक्तिः स्याद् वायुधारणे।।[7]

145. यथेष्टं धारणाद् वायोः सिध्येत्केवलकुम्भकः।[8]

143-145. उपर्युक्त नियमों का पालन करता हुआ पूर्वोक्त चारों समय अर्थात् प्रातः मध्याह्न सायं और मध्यरात्रि में प्राणायाम का अभ्यास करे, उसके बाद वायु धारण करने की यथेष्ट शक्ति आ जाती है, तथा वायु के यथेष्ट धारण करने से **केवल कुम्भक** की सिद्धि हो जाती है।

---

6. तुलनीय 1.48

7-8. वही 1.49-51 ।

143-145. Following the above said rule a Yogabhyasin should practice pranayama in four sittings are twenty times per sitting. By this he will be efficiently able to retain the air (prana) in side as long as he desires. Through this kind of practice of pranayama the Kevala Kumbhaka can be acheived.

146. केवले कुम्भके सिद्धे रेचकपूरकवर्जिते।[1]

147. न तस्य दुर्लभं किञ्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते।।[2]

रेचक और पूरक से रहित केवल कुम्भक की सिद्धि हो जानेपर योगी के लिए तीनों लोकों में कुछ भी दुर्लभ नहीं रह जाता।

146-147. There is nothing unachievable in the whole world for a man who has acheived the Kevala Kumbhaka without Rechaka (breathing out) and Pooraka (breathing in).

148. प्रस्वेदो जायते पूर्वं मर्दनं तेन कायरेत्।[3]

149. ततोऽति धारणाद् वायोः क्रमेणैव शनैः शनैः।[4]

150. कम्पो भवति देहस्य आसनस्थस्य योगिनः।[5]

148-150. इस साधना क्रम में पहले शरीर में पसीना उत्पन्न होता है, उस स्थिति में उसका मर्दन (मालिस) कराये। उसके बाद क्रमशः अधिक अभ्यास करते हुए अधिक काल तक प्राणायाम के द्वारा आसन में बैठे हुए योगी के शरीर में धीरे-धीरे कम्पन होता है।

148-150. During the practice of Kevala Kumbhaka Pranayama the body start first swesating, there fore it should be rubbed and pressed properly. Even then If the Yogabhyasin practises the Kumbhaka further, he feels trembling in his body when he sits on his seat (asana).

151. ततोऽधिकतराभ्यासाद् दर्दुरी जायते ध्रुवम्।[6]

1-2. वही 1.49-51 ।

3-5. वही 1.51 ।

6- . तुलनीय 1.53 ।

152. यथा तु दुर्दरो गच्छेदुत्प्लुत्योत्प्लुत्य भूतले।[7]

153. पद्मासनस्थितो योगी तथा गच्छति भूतले।[8]

151-153. उसके बाद और अधिक अभ्यास से **दुर्दरी स्थिति** निश्चित ही प्राप्त हो जाती है, और जैसे मेढक उछल-उछल कर पृथिवी पर चलता है, उसी प्रकार योगी भी पद्मासन में बैठे हुए ही पृथिवी पर गतिशील होने लगता है।

151-153. By more and more practice of the Kumbhaka, the **Darduri vritti** (jumping action like a frog) appears. In this stage the yogin, sitting in Padma-asana, can move or jump like a frog on the ground.

154. ततोऽधिकतराभ्यासाद् भूमित्यागश्च जायते।[9]

155. पद्मासनस्थ एवासौ भूमिमुत्सृज्य वर्त्तते।।[10]

156. निराधारोऽपि, चित्रं हि तदा सामर्थ्यमुद्भवेत्।

157. स्वल्पं वा बहु वा भुक्त्वा योगी न व्यथते तदा।।[11]

154-157. उसके बाद और भी अधिक अभ्यास करने से योगी का भूमि त्याग हो जाता है, अर्थात् योगी पद्मासन लगाए हुए ही बिना आधार के भूमि को छोड़ कर ऊपर उठ जाता है। उस समय उसमें विचित्र सामर्थ्य आ जाता है, वह योगी बहुत कम भोजन करे या बहुत अधिक कर ले, उसे कोई कष्ट नहीं होता।

154-157. There after doing more practice of Kumbhaka Pranayama, a stage of rising up leaving the ground appears, the yogin stays up in the air with out any support or help. In this stage super human power appears there in, and yogin never feels any trouble or pain even by eating too much food or by taking meagre meals.

---

7. तुलनीय 1.53 ।

8-10. वही 1.54-55 ।

11. तुलनीय वही 56-57 ।

158. अल्पमूत्रपुरीषस्तु स्वल्पनिद्रश्च जायते।[1]

159. क्रिमयो दूषिका लाला स्वेदो दुर्गन्धिता तनो:।[2]

160. एतानि सर्वदा तस्य न जायन्ते तत: परम्।।[3]

158–160. उस समय उसके शरीर में मलमूत्र बहुत कम बनता है, निद्रा बहुत कम अपेक्षित होती है, क्रिमि, शरीर को दूषित करने वाले तत्त्व, लार, पसीना, शरीर में दुर्गन्ध–ये सब उसके शरीर में होते ही नहीं।

158-160. Due to perfection in the practice of Kumbhaka the yogin feels lesser exertion and sleep. The worms and other exertion like saliva, sweating or foul smell from mouth or body etc. does not take place in his body.

161. ततोऽधिकतराभ्यासाद् बलमुत्पद्यते भृशम्।[4]

162. येन भूचरसिद्धि:स्याद् भूचराणां जये क्षम:।[5]

163. व्याघ्रो लुलायो वन्यो वा गवयो गज एव वा।[6]

164. सिंहो वा योगिना तेन म्रियन्ते हस्तताडनात्।[7]

165. कन्दर्पस्य यथारूपं तथा तस्यापि योगिन:।[8]

161–165. उसके बाद भी क्रमश: अधिक अभ्यास करने पर अत्यधिक बल उत्पन्न हो जाता है, जिससे उसे भूचर सिद्धि हो जाती है, और वह पृथिवी पर चलने वाले सभी प्राणियों को जीतने में समर्थ हो जाता है। चाहे बाघ हो या जंगली भैंसा, अथवा नील गाय हाथी या सिंह हो, योगी के हाथ द्वारा ही आघात करने (पीटने) पर मर जाते हैं। उस समय योगी का रूप कामदेव की भाँति सुन्दर हो जाता है।

161-165. There after, by way of further practice, the vigorous strength take place by which Bhoochara Siddhi is attained so that

---

1–2. तुलनीय वही 1.55 ।

3–4. वही 1.58 ।

5. वही 1.59।

6–8. तुलनीय वही 59–62।

yogin can win over all the creatures of the earth. This tigers, sharbhas, elephants and the wild bulls or the lions can be killed even by a slap of hand of yogin. At this stage yogin acheives the personality like Kamadeva, the god of love.

166. तस्मिन्काले महाविघ्नो योगिनः स्यात्प्रमादतः।

167. तद्रूपबशगा नार्यः कांक्षन्ते तस्य संगमम्।।[9]

168. यदि सङ्गं करोत्येष विन्दुस्तस्य विनश्यति।।[10]

169. आयुःक्षयो बिन्दुनाशादसामर्थ्यं च जायते।।

170. तस्मात् स्त्रीणां सङ्गवर्जं कुर्यादभ्यासमादरात्।।[11]

166-170. उस समय योगी के थोड़े भी प्रमाद (लापरवाही) से महान् विघ्न उत्पन्न हो जाते हैं, क्योंकि स्त्रियाँ उसके रूप की वशवर्त्तिनी होकर उसके संगम की कामना करती हैं, उस समय यदि कहीं योगी स्त्रीसंग कर बैठता है, तो उसका बिन्दु क्षय (वीर्यनाश) हो जाता है, जिससे उसकी आयु का नाश हो जाता है, उसका सामर्थ्य नष्ट हो जाता है, अतः योगी को चाहिए कि अत्यन्त आदरपूर्वक स्त्रीसंग का परित्याग करे।

166-170. At that time there may come a great interruption to yogin due to his pramada (heedlessness). Ladies, being atracted to his beauty, desire to come with him for intercourse. At this stage if he does intercourse with them, and looses his bindu (semen) he becomes strengthless and death comes nearer to him. Therefore he should avoid the company of ladies and should continue the practice of yoga having great regard to it.

171. योगिनोऽङ्गे सुगन्धिः स्यात् सततं बिन्दुधारणात्।[12]

172. तस्मात्सर्वप्रयत्नेन बिन्दूरक्ष्यो हि योगिना।

9-11. तुलनीय वही 59-62।

12. तुलनीय वही 1.62

171-172. इस प्रकार **बिन्दुधारण** के फलस्वरूप योगी के शरीर में सुगन्धि निकलने लगती है। अतः पूर्ण प्रयत्न पूर्वक योगी को चाहिए कि वह **बिन्दु** की रक्षा करे।

173. ततो रहस्युपाविष्टः प्रणवं प्लुतमात्रया।[1]
174. जपेत्पूर्वार्जितानां च पापानां नाशहेतवे।[2]
175. सर्वविघ्नहरश्चायं प्रणवः सर्वदोषहा।[3]

173-175. तदनन्तर साधक एकान्त में बैठकरपूर्व संचित पापों के नाश के लिए प्लुत मात्रा से प्रणव का जप करे। यह प्रणव समस्त विघ्नों और दोषों को दूर करता है।

171-175. If a yogin does not loses his semen an odour comes out from the body of him and thus he should try with all efforts to get the semen preserved. After achieving command over Kumbhaka Pranayama, sitting in solitary in practice he should utter Pranava the word Omkara, in a prolated way forgetting rid of the sins result of the former bad deeds. The utterance of Pranava mantra removes all the obstacles and diminishes the evil.

176. एवमभ्यासयोगेन सिद्धिरारम्भसम्भवा।[4]
177. ततो भवेद् घटावस्था पवनाभ्यासिनः सदा।[5]

176-177. अब तक योग साधना का जो वर्णन हुआ है, यहाँ तक की स्थिति को **प्रवेशावस्था** कहते हैं, जिसके अभ्यास से आरम्भिक सिद्धियाँ प्राप्त होती है। उसके बाद भी प्राणायाम करते रहने पर साधक को **घटावस्था** प्राप्त होती है।

176-177. By this practice yogin can acheive primary perfection for

---

1-2. वही 1.63।

3. तुलनीय वही 1.64 ।

4. वही 1-64 ।

5. तुलनीय वही 1.79 ।

Kevala-kumbhaka i.e. he acheives Arambha-avastha, the first stage of Kevala-kumbhaka. There after if the yogin continues his yoga practice (The Practice of Pranayama) then the second stage (**Ghataavastha**) take place.

178. प्राणापानौ मनोवायू जीवात्मपरमात्मनौ।[6]

179. अन्योन्यस्याविरोधेन एकता घटते यदा।[7]

180. तदा घटाद्वयावस्था प्रसिद्धा योगिनां स्मृता।[8]

178–180. जब प्राण और अपान, मन और प्राण, जीवात्मा और परमात्मा में परस्पर विरोध के बिना ही एकता हो जाती है, तब योगियों की उस अवस्था को **घटाद्वयावस्था** कहा जाता है।

178-180. When the unity of Prana -Apana, Manas - Prana and Atman - Paramatman is attained and their distinctness (differences) removed, this stage is called **Ghatadvayavastha** or **Ghatavastha** for which a regular practice of restraining and sustaining of Prana (breath) is essential. This stage is known by yogins only.

181. ततश्चिह्नानि यानि स्युः तानि वक्ष्यामि कानिचित्।

182. पूर्वं यः कथितोऽभ्यासश्चतुर्धा तं परित्यजेत्।[9]

183. दिवा वा यदि वा रात्रौ याममात्रं समभ्यसेत्।[10]

184. एक बारं प्रतिदिनं कुर्यात् केवलकुम्भकम्।[11]

181. When yogin reaches this stage, some signs appear in the body of yogin, these signs will be explained further.

---

6. तुलनीय वही 1.65

7. वही 1.66

8. तुलनीय वही 1.67

9–11. तुलनीय वही 1.67–68

181-184. तदनन्तर योगी में जो चिह्न प्रगट होते हैं, उनमें कुछ की मैं चर्चा करूँगा। किन्तु पहले जो चार बार अभ्यास करने को कहा गया है, उसे छोड़ दें। दिन में अथवा रात्रि में केवल एक याम अभ्यास करें और प्रतिदिन केवल एक बार रेचक पूरक रहित **केवल कुम्भक** करे।

182-184. After reaching this stage there is no need of afore-said practice for four times of Kumbhaka Pranayam, it should be left aside and only to practise it once a day is enough either in the day or in night. But it is necessary to practise Keval Kumbhaka-Pranayama once daily positively.

185. प्रत्याहारो हि एवं स्यादेवं कर्त्तुर्हि योगिनः।

186. इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो यत्प्रत्याहरति स्फुटम्।[1]

187. योगी कुम्भकमास्थाय प्रत्याहारः स उच्यते।।[2]

185-187. इस पूर्वोक्त प्रकार से अभ्यास करने वाले योगी को प्रत्याहार की सिद्धि हो जाती है। योगी जब **कुम्भक** लगाकर इन्द्रियों को उनके विषयों से खींच लेता है, तो उसे प्रत्याहार कहते हैं।

185-187. By this practice yogin acheives Pratyahara in which performing Kevala Kumbhaka yogin takes away his sense organs from their objects perfectly, it is called Pratyahara.

188. यद्यत्पश्यति चक्षुर्भ्यां तत्तदात्मनि भावयेत्।[3]

189. यद्यज्जिघ्रति नासाभ्यां तत्तदात्मनि भावयेत्।[4]

190. जिह्वया यद्रसयति तत्तदात्मनि भावयेत्।[5]

191. त्वचा यद्यत्संस्पृशति तत्तदात्मनि भावयेत्।

192. एवं ज्ञानेन्द्रियाणां हि तत्संख्यावस्तु सन्धयेत्।[6]

1-6. वही 68-72 ।

188-192. इस प्रत्याहार के क्रम में साधक योगी को चाहिए कि जो कुछ भी नेत्रों से देखा जाता है, घ्राण से सूँघा जाता है, या जिह्वा से जिसका आस्वादन किया जाता है, या त्वचा से स्पर्श किया जाता है, सबकी ही आत्मा में भावना करे। इस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जिन-जिन वस्तुओं संख्येय पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है, उन सभी का सन्धान आत्मा में ही करे।

188-193. In the practice of Pratyahara, Yogin should feel that what ever he looks, listens, smells tastes and touches through his sense organs i.e. eyes, ears, nose, tongue or skin it is the Supreme only. In this way yogin should feel all the objects of sense organs in the Atman only. Here remaining well vigilant, the yogin should maintain this felicity of sense organs by way of practice Pratyahara three hours daily.

193. याममात्रं प्रतिदिनं योगी यत्नादतन्द्रितः।[7]

194. तदा विचित्रसामर्थ्यं योगिनां जायते ध्रुवम्।।[8]

195. दूरश्रुतिर्दूरदृष्टिः क्षणाद्दूरगमस्तथा।[9]

196. वाक्सिद्धिः कामचारित्वमदृश्यकरणं तथा।[10]

197. मलमूत्रप्रलेपेन लोहादीनां सुवर्णता।[11]

198. खेचरत्वं तथान्यत्तु सतताभ्यासयोगिनः।[12]

193-198. योगी को चाहिए कि एक याम प्रतिदिन बिना सुस्ती लाये अभ्यास करे, इससे योगियों को निश्चय ही विचित्र शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं, वह बहुत दूर से ही सुन या देख सकता है, क्षण में ही बहुत दूर पहुँच सकता है, उसे वाक्सिद्धि प्राप्त हो जाती है, अर्थात् जो मुख से कहता है वह सभी सत्य होता है, इच्छानुसार गति कर सकता है, अदृश्य हो सकता है, उसके मल और मूत्र के स्पर्श से ही लोहा इत्यादि सुवर्ण हो जाते हैं। आकाश में गमन कर सकता है, और भी कितने ही विचित्र सामर्थ्य उसे सतत अभ्यास से प्राप्त हो जाते हैं।

---

7. वही 72

8-12. तुलनीय वही 73-77

194-198. By the practice of Pratyahara, yogin gets miraculous (super natural) power in himself. Due to it, he can hear or see the things of distance. He can reach any where within seconds. He can achive the distinct power of speach. He can take any form or can go every where; where ever he likes. He can disappear at his will and the iron can be converted into the gold by rubing or applying his ordure and urine, the yogin gets the power to fly in sky by virtue of practice of Pratyahara.

199. तदा बुद्धिमता भाव्यं योगिना योगसिद्धये।[1]

200. एते विघ्नाः महासिद्धेर्न रमेत्तेषु बुद्धिमान्।[2]

201. न दर्शयेच्च कस्मैचित् स्वसामर्थ्यं हि सर्वदा।

202. कदाचिद् दर्शयेत्प्रीत्या भक्तियुक्ताय वा पुनः।

199-202. इस स्थिति में योगी को योग में सफलता प्राप्त करने के लिए अत्यन्त बुद्धिपूर्वक व्यवहार करना चाहिए। ये क्षणिक सिद्धियाँ वस्तुतः महासिद्धि के मार्ग में विघ्न हैं, बुद्धिमान योगी को उसमें रमना नहीं चाहिए। साथ ही उसे चाहिए कि वह अपने सामर्थ्य कभी किसी पर न प्रकट करें। हाँ यदि कोई बहुत भक्तियुक्त हो, तो उसे ही कभी प्रेमवश अपना सामर्थ्य दिखाये अन्यथा नहीं।

199-200. Yogin should remain judicious to attain the Mahasiddhi (the perfection) in yoga and should not enjoy with these siddhis (achievements), because these (siddhis) are obstacles in getting the **Mahasiddhi**.

203. यथा मूर्खो यथा मूढो यथा बधिर एव वा।[3]

204. तथा वर्त्तेत लोकेषु स्वसामर्थ्यस्य गुप्तये।[4]

203-204. योगी को चाहिए कि अपने सामर्थ्य को गुप्त रखने के लिए मूर्ख की भाँति, मूढ (पागल) की भाँति, बहरे व्यक्ति की भाँति वर्त्ताव करे।

1-3. तुलनीय वही 73-77 ।.

4. वही 77 ।

201-204. The yogin should not exhibit his power to any one and should keep it secret. He may exhibit if pleased only to the person who is devotee to him. Otherwise he should behave like a fool, mad or a deaf so as to keep his power top secret.

205. नोचेच्छिष्या हि बहवो भवन्त्येव न संशयः[5]

206. तत्कर्मकरणव्यग्रः स्वाभ्यासे विस्मृतो भवेत्।[6]

207. अभ्यासेन विहीनस्तु ततो लौकिकतां व्रजेत्।।

205-207. अन्यथा योगी के बहुत शिष्य हो जाएँगे और उनके कार्य सम्पादन में व्यग्र होकर योगी अपने अभ्यास को ही भूलने लगेगा, अर्थात् नियमित अभ्यास न कर सकेगा तथा अभ्यास रहित होने पर वह सामान्य लौकिक व्यक्ति जैसा ही हो जाएगा।

205-207. Otherwise, undoubtedly many persons will become his pupils. The yogi will be busy in their work and will have no time for his own practice. Without yoga-practice he will be a common man.

208. अविस्मृत्य गुरोर्वाक्यमभ्यसेत्तदहर्निशम्।[7]

209. एवं भवेद् घटावस्था सदाभ्यासस्य योगिनः।।[8]

208-209. अतः गुरु के वाक्य (उपदेश) को स्मरण रखते हुए निरन्तर योग-अभ्यास **केवल कुम्भक** करता रहे। इस प्रकार निरन्तर अभ्यासी योगी की यह स्थिति **घटावस्था** कही जाती है।

208-209. Keeping the advice of his teacher in the mind he should continue regular practice day and night and by this; he attains the Ghatavastha.

---

5. तुलनीय 1.78
6. वही 1.78
7-8. तुलनीय 1.79

210. अनभ्यासेन योगस्य वृथा गोष्ठ्या न सिध्यति।[1]

211. तस्मात् सर्वप्रयत्नेन योगमेव सदाभ्यसेत्।[2]

210-211. योग का अभ्यास न करके व्यर्थ गोष्ठियों से योगी की यह घटावस्था सिद्ध नहीं होती; अतः योगी को चाहिए कि वह सम्पूर्ण प्रयत्न करके योग का ही अभ्यास करे।

210-211. The attainment of this stage (Ghatavastha) is never possible by unneccessary discussion. It needs regular practice of yoga. Therefore the yogin should keep practice with full devotion.

212. ततः परिचयावस्था जायतेऽभ्यासयोगतः।[3]

213. वायुः संप्रेरितो यत्नाद् अग्निना सह कुण्डलीम्।[4]

214. बोधयित्वा सुषुम्नायां प्रविशेदविरोधतः।[5]

215. वायुना सह चित्तन्तु प्रविशेच्च महापथम्।[6]

212-215. इसके अनन्तर योग के अभ्यास से **परिचय अवस्था** आती है। इस अवस्था में अग्नि के द्वारा यत्नपूर्वक प्रेरित वायु कुण्डली को जाग्रत करके बिना बाधा के सुषुम्ना में प्रवेश करती है, वायु के साथ चित्त भी उस महापथों (सुषुम्ना) में प्रवेश करता है।

212-215. The stage of **Parichayavastha** comes there after if the yogi continues his yoga practice. The Prana (the air), acquented with internal fire, awakens the Kundalini (the Serpentine), and enters without obstacle into the Sushumna Nadi, the mind (Chitta) also enters into the great path (Sushumna-nadi) with the Prana (air).

216. महापथं श्मशानञ्च सुषुम्नाप्येकमेव हि।

217. नाम्नां मतान्तरे भेदः फले भेदो न विद्यते।।

1-2. वही 1.80

2-3. वही 79

4-6. तुलनीय 1.81-82

216-217. महापथ श्मशान सुषुम्ना एक ही है, यह नाम का भेद विविध शास्त्र या परम्पराओं में पाया जाता है, उनकी साधना के फलों में कोई भेद नहीं है।

216-217. The **Mahapatha Shmashana** and Sushumna are one and the same thing. There different names are used in different cults, but the result is the same.

218. वर्त्तमानं भविष्यच्च भूतार्थं चापि वेत्यसौ।

219. यस्य चित्तं सपवनं सुषुम्नां प्रविशेदिह।[7]

218-219. जिस साधक का, चित्त प्राणों सहित सुषुम्ना में प्रवेश कर जाता है, वह भूत भविष्यत् और वर्तमान के विषयों को जान जाता है।

218-219. The yogin, whose chitta (mind) enters into Sushumna with the air (prana) percieves the present, future and past at the same time.

220. भाव्यानर्थान् स विज्ञाय योगी रहसि यत्नतः।

221. पञ्चधा धारणं कुर्यात् तत्तद्भूतभयापहम्।[8]

220-221. योगी एकान्त में यत्नपूर्वक भावी विषयों को जानकर भिन्न-भिन्न भूतों के भय को दूर करने में सक्षम पाँच प्रकार की धारणा को करे।

220-221. Due to this achievement yogin should try to know with all efforts by sitting in lonely place, what is going to be in future and then he should practise for five types of **Dharana** to attain control over five Bhootas (the five main elements of the world, namely earth, water, fire, air and ether).

222. पृथिवीधारणं वक्ष्ये पार्थिवेभ्यो भयापहम्।

223. नाभेरधो गुदस्योर्ध्वं घटिकाः पञ्च धारयेत्।

---

7. वही 1.83

8. पञ्चभूत धारणा में साम्य वैषम्य तुलनीय योगतत्त्वो. 84-101

224. वायुं भवेत्ततो पृथ्वीधारणं तद्भयापहम्।।
225. पृथिवीसंभवस्तस्य न मृत्युर्योगिनो भवेत्।।

हे ब्रह्मन्, सर्वप्रथम पृथिवी के **धारणा का** उपदेश करता हूँ, जिससे पार्थिव पदार्थों का भय समाप्त हो जाता है—नाभि के नीचे और गुदा के ऊपर पाँच घटी अर्थात् दो घंटे (120 मिनट) पर्यन्त वायु को धारण करना **पृथिवीधारणा** कहलाता है, इससे योगी को पार्थिव पदार्थों का भय नष्ट हो जाता है। फलतः पृथिवी से अर्थात् पार्थिव पदार्थों के आघात आदि से योगी की मृत्यु नहीं हो सकती।

222-225. Now I will say the method of practice of **Prithivi-Dharana** by which the fear of the danger through earth (Prithivi) can be avoided. For Prithivi-Dharana Yogin should retain his prana (air) under the navel and above to the anus (Guda) for five ghatis i.e. two hour. This practise is called Prithivi-dharana, because the place between navel and anus is called the place of earth in the body. This Prithivid Dharana removes all the dangers which may come through earthly objects and it eaves the yogin from the death which may come through earthly objects.

226. नाभिस्थाने ततो वायुं धारयेत्पञ्चनाडिकाः।
227. ततो जलाद् भयं नास्ति जलमृत्युर्न योगिनः।

226-227. नाभि के स्थान में पाँच घटी अर्थात् दो घंटे वायु को धारण करना **जल धारणा** है, इससे योगी को न तो जल से भय रह जाता है, और न जल द्वारा उसकी मृत्यु ही संभव है।

226-227. If yogi retains his Prana Vayu for five ghatis i.e. two hours near the navel it is called the **Jala-Dharana**. Then there is no danger from water. The practitioner never dies due to water.

228. नाभ्यूर्ध्वमण्डले वायुं धारयेत्पञ्चनाडिकाः।
229. आग्नेयधारणा सेयं न मृत्युस्तस्य वह्निना।

228-229. नाभि में ऊपर हृन्मण्डल में पाँच घटी (दो घंटे) प्राणों को

धारण करने को आग्नेय-धारणा कहते हैं, इसकी सिद्धि से योगी की मृत्यु अग्नि से भी नहीं हो सकती।

228-229. The retaining of Prana for five ghatis in the upper side of navel is called **Agneya-dharana**. After achieving Agneya-dharana, the yogin would never burn or die due to fire.

230. सदा विचित्रसामर्थ्यं योगिनो जायते ध्रुवम्।
231. न दह्यते शरीरं च प्रक्षिप्तो वह्निकुण्डके।।

230-231. आग्नेय धारणा की सिद्धि से योगी में निश्चय ही विचित्र सामर्थ्य आ जाता है और अग्नि कुण्ड में डाल देने पर भी उसका शरीर जलता नहीं।

230-231. Due to the Agneya-dharna yogin achieves miraculous super natural power undoubtedly. His body does not burn even if it would be dropped in the Agni Kunda (collection of fire).

232. नाभि-भ्रुवोहि मध्ये तु प्रदेशत्रयसंयुते।
233. धारयेत्पञ्चघटिकाः वायुं, सैषा हि वायवी।
234. धारणान्नतु वायोस्तु योगिनो हि भयं भवेत्।।

232-234. नाभि और भौहों के मध्य जहाँ तीन प्रदेश नासिका मूल एवं दो नेत्र मूल संयुक्त होते हैं, वहाँ पाँच घटी पर्यन्त वायु को धारण करना **वायवी धारणा** कहलाती है। इस वायवीय धारणा से योगी को वायु का भय नहीं रहता।

232-234. The retaining of prana for five ghatis between the navel and middle of the eye-brows at three main places i.e. **Anahatachakra** near to heart, **Vishuddha-chakra** near to neck and **Ajna-chakra** between the two eyebrows, is called **Vayu-dharana** or **Vayavi-dharana**. Due to perfection in Vayavi-dharana the possibility or danger from Vayu is removed.

235. भ्रूमध्यादुपरिष्टात्तु धारयेत्पञ्चनाडिकाः।
236. वायुं योगी प्रयत्नेन सेयमाकाशधारणा।।[1]

1. पञ्चभूत धारणा में साम्य वैषम्य तुलनीय योगतत्त्वोपनिषद् 1-84-101

237. आकाशधारणां कुर्वन्मृत्युं जयति तत्त्वतः।[1]

238. यत्र तत्र स्थितो वापि सुखमत्यन्तमश्नुते।।[2]

235-238. भ्रूमध्य से ऊपर प्राणों को पाँच नाड़ी (2 घंटे) तक प्रयत्न पूर्वक धारण करना **आकाश-धारणा** कहलाती है। **आकाश-धारणा** द्वारा योगी तत्त्वतः मृत्यु को जीत लेता है और जहाँ कहीं भी रहता है वहाँ अत्यन्त सुख अनुभव करता है।

235-236. The retaining Prana with effort for two hours above the middle of the eyebrows (Ajna chakra) is called **Akasha-dharana.**

237-238. The Yogin, who practises Akasha-dharana conquers the death permanently through it. He enjoys every where extremely and gets eternal pleasure.

239. एवं च धारणाः पञ्च कुर्याद्योगी विचक्षणः।[3]

240. ततो दृढशरीरः स्यात्मृत्युस्तस्य न विद्यते।।[4]

241. इत्येवं पञ्चभूतानां धारणां यः समभ्यसेत्।

242. ब्रह्मणः प्रलये वापि मृत्युस्तस्य न विद्यते।[5]

239-242. कुशल योगी को उपर्युक्त प्रकार की पाँच **भूत धारणाओं** के करने से दृढ़ शरीर हो जाता है और उसकी मृत्यु नहीं होती। तो साधक इन पाँच **भूत धारणाओं** का अभ्यास करता है, **ब्राह्मप्रलय** में भी उसकी मृत्यु नहीं होती।

239-242. In this way the yogin, if he is a wise man, should practise five Dharanas, after that his body becomes very hard and he over comes the death, even in the **Brahma-pralaya**, when the whole world gets its end he will not die.

1-4. तुलनीय योगतत्त्वोपनिषद् 102-103

5. तुलनीय योगतत्त्वोपनिषद् 102-103 ।

243. समभ्यसेत्तदा ध्यानं घटिकाः षष्टिमेव च।[6]

244. वायुं निरुद्धय ध्यायेत्तु देवतामिष्टदायिनीम्।।[7]

243-244. इस प्रकार **धारणा** का अभ्यास करने के अनन्तर योगी साठ घटी अर्थात् पूर्ण अहोरात्र पर्यन्त ध्यान का अभ्यास करे। इसके लिए प्राणों का निरोध करके अपने इष्टफलप्रद देवता का ध्यान करें।

243-244. (After achieving the perfection in Dharana) The yogin should practise for Dhyana (Meditation) for 24 hours retaining his prana (air) at the place aforesaid remembering his tutelary deity.

245. सगुणध्यानमेवं स्यादणिमादिगुणप्रदम्।[8]

246. निर्गुणं खमिव ध्यात्वा मोक्षमार्गं प्रपद्यते।।[9]

245-246. इस पूर्वोक्त प्रकार से सगुण ध्यान करने से अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं एवं आकाश की भाँति निर्गुण ब्रह्म का ध्यान करके योगी मोक्षमार्ग समाधि को प्राप्त कर लेता है।

245-246. This type of Dhyana (meditation) is called **Saguna-dhyana** (Qualitative meditation) which provides the power like Anima, Mahima, Laghima, Garima, Prapti, Prakamya, Ishitva and Vashitva siddhis. If yogi meditate at nirguna Brahma (The ultimate reality which is beyond the qualities), i.e. the supreme God like Akasha (ether) (not as a giver of the worldly things, having no desire of any worldly affair) he may reach to the path of Mukti the salvation.

247. निर्गुणध्यानसम्पन्नः समाधिं च ततोऽभ्यसेत्।[10]

248. दिनद्वादशकेनैव समाधिं समवाप्नुयात्।[11]

247-248. निर्गुण ध्यान में सफलता प्राप्त करके योगी समाधि का अभ्यास करे। ऐसे साधक को बारह दिन में ही समाधि प्राप्त हो जाती है।

6-10. तुलनीय वही 104-106।

11. वही 1.107।

249. वायुं निरुध्य मेधावी जीवन्मुक्तो भवेद् ध्रुवम्।[1]

250. समाधिः समताऽवस्था जीवात्मपरमात्मनोः।[2]

249-250. **समाधि** स्थिति में प्राण निरोध करके योगी निश्चय ही **जीवन्मुक्त** हो जाता है। यहाँ **समाधि** का अर्थ जीव और परमात्मा की समता अवस्था है।

247-250. There after the yogin, who meditates at Nirguna Brahma, The supreme God, having no epithet, should practise to achieve Samadhi, the last stage of yoga. The Samadhi can be attained by him within twelve days. By the practice of samadhi yogin becomes wiser, (he obtains **Ritambhara Prajna**, the constituent knowledge which contains the ultimate truth), and attains **jeevan-mukti**, (the salvation living in the body). The Samadhi or salvation means the similar stage of Jivatman and Paramatman, the equalness of the two.

251. यदि स्याद् देहमुत्स्रष्टुमिच्छा तदुत्सृजेत्स्वयम्।[3]

252. परब्रह्मणि लीयते त्यक्त्वा कर्म शुभाशुभम्।।[4]

253. अथ चेन्नो समुत्स्रष्टुं स्वशरीरं यदि प्रियम्।[5]

254. सर्वलोकेषु विचरेदणिमादिगुणान्वितः।।[6]

251-254. इस स्थिति में यदि शरीर विसर्जन की इच्छा हो तो स्वयं अपनी इच्छानुसार देह का त्याग करे। उस स्थिति में योगी अपने शुभ और अशुभ कर्मों का त्याग करके परब्रह्म में लीन हो जाए।

किन्तु यदि शरीर प्रिय हो और उसे छोड़ने की इच्छा न हो तो अणिमा आदि ऐश्वर्यों से युक्त होकर सभी लोकों में विचरण करे।

---

1. वही 1.107।

2-5. तुलनीय वही 107-111 ।

6 वही 1.112-114 ।

251-252. After attaining this stage if yogin wants to leave his body he may leave it himself, may achieve the unity of the soul with the supreme soul (Parabrahma), giving up all types of good or bad Karmas i.e. Prarabdha, Samchita and Kriyamana karmas, they may be Shubha or Ashubha.

255. कदाचित्स्वेच्छया देवो भूत्वा स्वर्गेऽपि संचरेत्।[7]

256. मनुष्यो वापि यक्षो वा स्वेच्छया हि क्षणाद् भवेत्।[8]

257. सिंहो व्याघ्रो गजो वा स्यादिच्छया जन्तुतां व्रजेत्।[9]

258. यथेष्टमेवं वर्त्तेत योगी विद्वान्महेश्वरः।[10]

255-258. उपर्युक्त स्थिति में वह कभी स्वेच्छा से देव होकर स्वर्ग में भी चाहे विचरण करे, वह क्षण में ही मनुष्य, यक्ष अथवा सिंह, व्याघ, हाथी आदि किसी जन्तु के रूप में स्वयं को परिवर्त्तित कर लेता है और महेश्वर होकर वह योगी इच्छानुसार रूप में विचरण करता है।

253-258. If he likes his body and does not want to leave it, he may ramble in the universe having the siddhis like Anima. (the power to change himself into as small as an atom). Mahima, (the power through which he changes himself as big as the sky), and others, or he may change himself into devine body to enjoy the pleasure of heaven at his will. He may further manifest himself as human being or demi god (Yaksha) within no time. He can change himself into a lion, tiger, elephant or horse etc.

259. कविमार्गोऽयमुक्तस्ते सांकृतेऽष्टाङ्गयोगतः।

260. सिद्धानां कपिलादीनां मतं वक्ष्ये ततः परम्।

261. अभ्यासभेदतो भेदः फलं तु सममेव हि।[11]

---

7 वही 1.112-114 ।

8-10. तुलनीय वही 1.114-115 ।

11. तुलनीय वही 1.114-115 ।

259-261. हे सांकृति, वह उपर्युक्त अष्टाङ्ग योग का मार्ग कवि मार्ग अर्थात् **शुक्राचार्य** उपदिष्ट मार्ग है। अग्रिम पंक्तियों में **सिद्ध मुनि कपिल** आदि के मतों का कथन करूँगा। वस्तुतः अभ्यास भेद के कारण ही ये भेद हैं, फल दोनों के समान हैं।

259-261. O Samkriti! I told you the ashtanga-yoga, the yoga which has eight parts in it i.e. Yama, Niyama, Asana, Pranayama, Pratyahara, Dharana, Dhyana, and Samadhi, the **Ashtanga yoga** was investigated and taught first time by Kavi **Shukracharya**. Now I will teach you the way of yoga which was accepted by Siddhas like **Kapila** etc. The difference of the two is only in the way of practice, the result of the two is the same.

262. महामुद्रां प्रवक्ष्यामि भैरवेणोक्तमादरात्।
263. पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्।[1]
264. प्रसार्य दक्षिणं पादं हस्ताभ्यां धारयेद् दृढम्।[2]
265. चिबुकं हृदि विन्यस्य पूरयेद् वायुना पुनः।[3]
266. कुम्भकेन यथाशक्त्या धारयित्वा तु रेचयेद्।[4]
267. वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षिणाङ्गेन चाभ्यसेत्।[5]

262-267. इसके अनन्तर मैं **महामुद्रा** का कथन करूँगा, जिसका उपदेश भैरव ने अत्यन्त आदरपूर्वक किया था। महामुद्रा करने के लिए बायें पैर की एड़ी को योनि स्थान पर रखते हुए दक्षिण पैर को फैलाकर दोनों हाथों से पकड़ें और ठुड्ढी को हृदय से लगाकर वायु अन्दर खीचें तथा यथाशक्ति कुम्भक करके प्राणों का रेचन करें। इस प्रकार बायें अंग (पैर) से अभ्यास करके दाहिने पैर से उतने ही काल तक अभ्यास करें।

[नोट—चिबुक को हृदय पर लगाना जालन्धर बन्द कहलाता है, यह बन्ध कुम्भक के समय पूरक के बाद लगाया जाता है, अतः यहाँ बायां पैर फैलाकर दाहिने नासारन्ध्र से पूरक करके जालन्धर बन्ध करते हुए हाथों से पैर के तलवे को पकड़ना और कुम्भक करना यह क्रम विवक्षित है।]

1-5. वही 1.112-114 ।

263. Now I will teach you Mahamudra which was taught by Bhairava with great regard to it.

Mahamudra :

263-267. While performaing the Mahamudra the heel of the left foot should be put at the base of the vagina, stretching the right leg at the length, it should be held firmly by both hands, the chin should be put at the place of heart (chest), inhaling the breath, Kumbhaka should be performed for as much time as he can. There after he should exhale the breath. After exercising it by left side, it should be practised by right side too.

268. प्रसारितस्तु यः पादस्तमूरूपरि विन्यसेत्।[6]

269. अयमेव महाबन्धो मुद्रावच्चामुमभ्यसेत्।[7]

268-269. जो पैर फैलाया हुआ है, उसकी जंघा पर दूसरे पैर को रखे यह **महाबन्ध** कहलाता है। **महामुद्रा** के समान ही इसका भी अभ्यास करे।

Mahabandha:

268-269. If the leg, which was stretched in Mahamudra pose, be kept on the thigh, then this posture is called Mahabandha. This too should be practised like Mahamudra.

270. महाबन्धस्थितो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः।

271. अयमेव महाबन्धः सिद्धैरभ्यस्यते नरैः।।[8]

270-271. **महाबन्ध** में स्थित योगी अपने कूल्हों (नितम्बों) पर धीरे-धीरे वायु का आघात करे। इस महाबन्ध का अभ्यास सिद्ध पुरुष करते हैं।

270-271. Yogin sitting in Mahabandha on the earth should strike the ground with the buttocks gradually (so that Prana courses through Sushumna). This Mahabandha is generally practised by siddhas (siddha-yogins).

272. अन्तः कपालकुहरे जिह्वां व्यावर्त्य बन्धयेत्।[9]

273. भ्रूमध्ये दृष्टिरप्येषा मुद्रा भवति खेचरी।।[10]

6-8. तुलनीय वही 1.114-115 ।

9-10. तुलनीय वही 1.117-119 ।

272–273. जिह्वा को ऊपर की ओर पलटकर अन्तःकपाल के छिद्र में निबद्ध करे और दृष्टि को भ्रूमध्य में स्थिर करे इसे **खेचरी मुद्रा** कहते हैं।

Khechari-Mudra :

272-273. To turn and put the tongue into the palatel hole and to concentrate the vision in the centre place in between the two eyebrows, is called the **khechari Mudra.**

274. कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेद् दृढमिच्छया।[1]

275. जालन्धरो बन्ध एष ह्यमृतद्रवपालकः।।[2]

274–275. दृढ़ इच्छा पूर्वक कण्ठ को सिकोड़कर हृदय पर स्थापित करे, इसे जालन्धर बन्ध कहते हैं। इसे **अमृतद्रव** का रक्षक माना जाता है।

Jalandhara Bandha :

274-275. Putting the chin on the chest with well concentrated mind is called Jalandhara-Bandha. This bandha is the protecter of the Amrita-drava, the liquid which can make a man immortal.

276. नाभिस्थोऽग्निः कपालस्थसहस्त्रकमलच्युतम्।

277. अमृतं सर्वदा तावद् अन्तर्ज्वलति देहिनाम्।।

276–277. कपाल (शिरा) में स्थित सहस्रदल कमल से टपकनेवाले अमृतद्रव (अमृतस्राव) को सभी प्राणियों की नाभि में स्थित अग्नि अन्दर ही जलाती रहती है।

276-277. This Amrita-drava comes out from thousand patalled-lotus which exists at skull, this dripping Amrita-drava is burnt immediately by the fire residing at navel in the body of every man.

278. यथा चाग्निस्तदमृतं न पिबेत्तु पिबेत्स्वयम्।

279. याति पश्चिममार्गेण एवमभ्यासतः सदा।।

280. अमृतं कुरुते देहं जालन्धरमतोऽभ्यसेत्।

1–2. तुलनीय वही 1.117–119 ।

278-280. अग्नि उस अमृत को न जलाए बल्कि स्वयं उसका पान कर सके, इसी प्रकार इसका अभ्यास करे, फलतः वह अमृत विपरीत धारा से चलने लगता है, और शरीर को अमृत कर देता है, अतएव जालन्धर का अभ्यास अवश्य करे।

278-280. By practice of this bandha, the navel-fire would not be able to burn it, but it would dry in the lotus itself, the result of this pratice of Jalandhara-bandha is that the body of yogin becomes immortal; thus it must be practised.

281. उड्ड्याणं तु सहजं गुणौघात् कथितं सदा।
282. अभ्यसेत्तदस्ततन्द्रस्तु वृद्धोऽपि तरुणो भवेत्।
283. नाभेरुर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः।
284. षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयेदेव न संशयः।।

281-284. उड्ड्याणबन्ध तो अपने गुणों के कारण सहज भाव से ही उड्ड्याण कहा गया है, इसके अभ्यास से वृद्ध भी युवा हो जाता है, अतः निरालस होकर इसका अभ्यास करे। इसे करने के लिए नाभि के नीचे और ऊपर दोनों ही भाग को प्रयत्नपूर्वक पीछे की ओर ताने। छः महीने तक इसके निरन्तर अभ्यास से निस्सन्देह साधक योगी मृत्यु पर विजय पा लेता है।

Uddiyana-bandha :

281-282. The Uddiyana-bandha is most easy (moderate) and most useful. When a yogin makes its practice, he would become a young man even in old age.

283-284. To practice Uddiyana-bandha yogin should try to pull draw back the abdomen above and below so that it is drawn against the back of the body. When a yogin practises the Uddiyana-bandha contineously at least for six months, he can over power the death undoubtedly.

285. मूलबन्धं तु यो नित्यमभ्यसेत्स च योगवित्।
286. गुदे पार्ष्णिं तु सम्पीड्य वायुमाकुञ्चयेद् बलात्।

287. बारं बारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः।

285–287. योगविद् साधक को चाहिए कि वह मूलबन्ध का नित्य अभ्यास करे, इसके लिए गुदा में एड़ी को दबाकर वायु का बारबार आकुंचन करे, वायु को ऊपर खींचे, जिससे अपान वायु ऊपर आ सके।

Mula-bandha:

285-286. The man who practises Mool-bandha daily is only well verse in yoga. To do practice of Mulabandha yogi should place the heel of a leg under the anus so that it may press the anus, then he should try to force the Apana-vayu to go upward. Yogin should practise it repeatedly so that the Apana-vayu is forced to go upward, although its course is downwards.

288. प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम्।[1]

289. गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतौ नात्र संशयः।[2]

288–289. मूलबन्ध के निरन्तर अभ्यास से प्राण और अपान, नाद और बिन्दु एक हो जाते हैं, जिसके फलस्वरूप साधकों को योग की सिद्धि अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा की एकता प्राप्त हो जाती है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

288-289. Prana and Apana, Nada and Bindu become one through Mulabandha, although these two are separate. When these two becomes one, this makes yogin successful in yoga undoubtedly.

290. करणं विपरीताख्यं सर्वव्याधिविनाशनम्।[3]

291. नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निर्विवर्द्धते।[4]

292. आहारो बहुलस्तस्य सम्पाद्यः सांकृते ध्रुवम्।[5]

293. अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दाहं करोति वै।।[6]

294. ऊर्ध्वं भानुरधश्चन्द्रः, तद्यथा शृणु सांकृते!

290–294. विपरीतकरण जिसे विपरीतकरणी मुद्रा और शीर्षासन भी

1–2. वही, 1.121–122 ।

3–6. तुलनीय वही 1.122–124 ।

कहते हैं, सभी रोगों को नष्ट कर देता है। इसके नित्य अभ्यास से जठराग्नि बढ़ जाती है, अतः साधक के लिए पर्याप्त आहार का प्रबन्ध करना चाहिए। यदि कहीं भोजन में कमी रही, तो अग्नि शरीर को ही जलाने लगता है क्योंकि इसमें सूर्य ऊपर हो जाता है और चन्द्र नीचे। इसका अभ्यास किस प्रकार किया जाए इसका विवरण नीचे दिया जा रहा है।

Viparitakarani:

290-294. The Viparitakarana annihilates all type of ailment (diseases). If a yogin exercises it daily the gastric fire increases. Thus O Sankriti! sufficient diet should be provided to the practitioner of it (Viparitakarana) positively. If there is unsufficient diet in quality and quantity both, the gastric fire will consume his body within no time, because in this mudra (Posture) the sun comes up and moon comes down.

295. अधः शिरश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने।[7]

296. क्षणात्तु किञ्चिदधिकमभ्यासेन दिने दिने।[8]

297. वलिश्च पलितश्चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते।[9]

298. याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु योगवित्।[10]

295-298. पहले दिन केवल एक क्षण शिर को नीचे और पैर को ऊपर करे, दूसरे दिन एक क्षण से कुछ अधिक करे, इस प्रकार प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा अभ्यास को बढ़ावे। इसे अभ्यास से छः मास में ही बालों का पकना और गिरना बन्द हो जाता है। जो साधक इसका अभ्यास एक याम करता है, वही योग का वेत्ता है।

295-296. O Sankriti! now I will explain the way of it's practice. In the Viparitakarana posture the practictioner should stand on his head putting his feet raised upward for a minute in the begining, thereafter the duration of it (standing on his head) should be increased gradually little more than a minute and then minute by minute.

7-8. वही 1.124-125 ।

9-10. तुलनीय वही 1.125-126 ।

297-298. When a yogin practises it for one Yama i.e. three hours daily, the diseases like decay (falling) of hair or of gray hair vanishes after six months and he becomes a knower of yoga.

299. वज्रोलिं कथयिष्यामि गोपितं सर्वयोगिभिः।

300. अतीवैतद् रहस्यं हि न देयं यस्य कस्यचित्।

301. स्वप्राणैस्तु समो यो स्यात्तस्मै च कथयेद् ध्रुवम्।

299-301. अब अग्रिम पंक्तियों में मैं सभी योगियों द्वारा गुप्त रखी गयी क्रिया वज्रोलि का कथन करूँगा। यह अत्यन्त रहस्यभूत है, अतः जिस किसी को इसे न दे अर्थात् न सिखाये। जो साधक शिष्य प्राणों के समान प्रिय हो उसे इसका उपदेश, इसकी विधिपूर्वक शिक्षा अवश्य देवे।

Vajroli:

299-301. No I will teach you the Vajroli kriya. This is concealed by all yogins, for it is secret one. Thus it should not be given to any one. It should be taught only a person who is very dear and closed to him like his soul itself.

302. स्वेच्छया वर्त्तमानोऽपि योगोक्तनियमैर्विना।

303. वज्रोलिं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनः।।

302-303. योग की अन्य साधना न करता हुआ भी स्वेच्छा पूर्वक विचरण (व्यवहार) करके भी जो **वज्रोलि** को जानता है, वह सिद्धियों को प्राप्त करता है।

302-303. The yogin, who knows Vajroli, must get success in the yoga, whether he follows the rules of yoga, or he lives a life according to his will only.

304. तत्रवस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं येन केनचित्।

305. लभ्यते यदि तस्यैव योगसिद्धिकरं स्मृतम्।।

304-305. **वज्रोलि** साधना के क्रम में जिन दो वस्तुओं का कथन कर रहा हूँ वे उसे योग में सिद्धि प्रदान कर देती है, वे हैं–

304-305. In connection on Vajroli I am telling you two thing which are generally rare for any one, If these two could be got, it gives perfection in yoga.

306. क्षीरमाङ्गिरसं चेति द्वयोराद्यं तु लभ्यते।
307. द्वितीयं दुर्लभं पुंसां स्त्रीभ्य: साध्यमुपायत:।
308. योगाभ्यासरता स्त्री च पुंसा यत्नेन साधयेत्।

306-308. दूध और आङ्गिरस अर्थात् वीर्य। इसमें प्रथम तो मिल जाता है, किन्तु द्वितीय अत्यन्त दुर्लभ है। पुरुष साधक स्त्रियों की सहायता से इसे उपाय पूर्वक प्राप्त कर सकते हैं। इसी प्रकार योग का अभ्यास करने वाली स्त्री, पुरुष की सहायता से यत्नपूर्वक इसे प्राप्त कर सकती हैं।

306-308. These two things are the milk and Angirasa-drava i.e. the semen. Vajroli should be performed with these two, but the second one is very rare. It should be obtained by a yogin through woman by personal contact, and a woman yogin (yogini) should try to get it from male person by efforts.

309. पुमान् स्त्री वा यदन्योऽन्यं स्त्रीपुंस्त्वानपेक्षया।
310. स्वप्रयोजनमात्रैकसाधनात्सिद्धिमाप्नुयात् ॥

309-310. अथवा स्त्री और पुरुष साधक एक दूसरे की सहायता से इसकी साधना कर सकते हैं। इस साधना क्रम में उनमें स्त्री-पुरुष अर्थात् पति-पत्नी भाव नहीं आना चाहिए अर्थात् उभयगत संभोग सुख आस्वाद की कामना भी नहीं होनी चाहिए, केवल अपने प्रयोजन मात्र की साधना के लिए सहायता लेते हैं तो उन्हें अवश्य सिद्धि प्राप्त होती है।

309-310. If the male and female sadhakas (yoga-practitioners) leaving aside the feeling that the helper (partner) is a person of opposite sex (and saxual feeling) contacts each other only for Vajroli practice they will get siddhis in it through practice.

311. चलितो यदि बिन्दुतमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत्।
312. एवं च रक्षितो बिन्दुर्मृत्युं जयति तत्त्वत:॥

313. मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।

314. बिन्दुरक्षाप्रसादेन सर्वं सिध्यति योगिनः।।

311-314. इस साधना क्रम में यदि **बिन्दु** चलित हो जाए तो उसको ऊपर खींच करके रक्षा करे। इस प्रकार से रक्षित बिन्दु तत्त्वतः मृत्यु पर विजय प्रदान करता है क्योंकि बिन्दु के पतन से मृत्यु और बिन्दु की रक्षा से जीवन अर्थात् अमरता प्राप्त होती है। बिन्दु रक्षा के फलस्वरूप योगी को सभी प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती है।

311-312. When the sadhaka or sadhika comes in contact with the person of apposite sex (In the position of sexual intercourse) the semen comes out form male-organ. Then he or she should try to take it back. If the sadhaka (or sadhika) gets success to take it back, he gets victory on the death perfectly.

313-314. Because this is the fact that death comes only by loss of bindu i.e. semen, and the life stands still by bindu-dharana (by the protection of semen). Thus by proteching the bindu, the yogin gets success everywhere.

315. अमरोलिस्तद्यथा स्यात् सहजोलिस्ततो यथा।

316. तदभ्यासक्रमः शस्यः सिद्धानां सम्प्रदायतः।

315-316. वज्रोलि के समान ही **अमरोलि** और उसके बाद **सहजोलि** भी की जाती हैं, किन्तु इनके अभ्यास का क्रम सिद्ध सम्प्रदाय से सीखना चाहिए।

315-316. Amaroli and Sahajoli kriyas should be practised after getting perfection in the Vajroli, and the way of practice of the two may be known through traditional school of siddhas.

317. एतैः सर्वैस्तु कथितैरभ्यसेत्कालकालतः।

318. ततो भवेद् राजयोगो नान्तरा भवति ध्रुवम्।[1]

319. न दिङ्मात्रेण सिद्धिस्स्यादभ्यासेनैव जायते।

1. वही 1.129

317-319. योगी को चाहिए कि इन सबका समय-समय से अभ्यास करे, तभी राजयोग की साधना पूर्ण सफल हो पाती है, अन्यथा नहीं। साथ ही यह सिद्धि निरन्तर अभ्यास से मिलती है दिङ्मात्र से अर्थात् नमूने की भाँति थोड़ा कुछ कर लेने से नहीं।

317-319. A yogin who wants to get success in these should practise all these above said kriyas one by one. Only then he will get success in Rajayoga, otherwise it is impossible. The perfection can be achieved by constant practice only, not by learning it merelly.

320. राजयोगं वरं प्राप्य सर्वसत्त्ववशङ्करम्।
321. सर्वं कुर्यान्न वा कुर्याद् यथारुचिविचेष्टितम्।

320-321. सभी प्राणियों को वश में करने में समर्थ इस श्रेष्ठ राजयोग में सिद्धि पूर्ण सफलता मिल जाने पर योगी और कुछ चाहे करे या न करे। वह अपनी इच्छानुसार व्यवहार करे।

320-321. After getting perfection in Rajayoga, which gives the power to control all the creatures, he may or may not do any kind of Sadhana. He can act according to his will.

322. यथान्तरा च योगेन निष्पन्ना योगिनः क्रिया।
323. तदावस्था हि निष्पत्तिर्भुक्तिमुक्तिफलप्रदा।

322-323. इसके अनन्तर साधक योगी जो क्रियाएं करता है, वह **निष्पन्ना** अवस्था कहलाती हैं। यह अवस्था हर प्रकार के भोग और मुक्ति दोनों प्रदान करती है।

322-323. Even after achieving this stage if yogin performs practice of it (Rajayoga), he reaches the stage of Nishpatti, the full perfection in yoga. This stage (Nishpatti avastha) provides the full enjoyment and Moksha, the final liberation from bondage.

324. सर्वं ते कथितं ब्रह्मन् सांकृते योगमाचर।
325. इति तस्य वचः श्रुत्वा सांकृतिर्योगमाप्तवान्।
326. सर्वसिद्धिमवाप्यासौ दत्तात्रेयप्रसादतः।।

324-326. इसके अनन्तर दत्तात्रेय सांकृति से कहते है कि 'हे सांकृति मैंने तुम्हें सम्पूर्ण **योगविद्या** का उपदेश दिया है, अब तुम योग करो।'

दत्तात्रेय के इन पूर्वोक्त वचनों को सुनकर सांकृति ने योग को प्राप्त कर लिया अर्थात् उसका पूर्ण अभ्यास किया और दत्तात्रेय की कृपा से सम्पूर्ण सिद्धियों को प्राप्त किया।

324-326. O Sankriti! I taught you the way of yoga practice. You should practise it in this way. Hearing this teaching of Dattatreya, Sankriti got perfection in yoga and its all the siddhis through blessings of Dattatreya.

327. य इदं पठते नित्यं साधुभ्यः श्रावयेदपि।
328. तस्य योगः क्रमेणैव सिध्यत्येव न संशयः।।

327-328. जो व्यक्ति दत्तात्रेय द्वारा उपदिष्ट इस योगशास्त्र को नित्य पढ़ता है अथवा साधुजनों को सुनाता भी है, उसे क्रमशः योग की सिद्धि हो जाती है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

327-328. There is no doubt that the man, who studies it or listens it from Sadhus (gentlemen), gets perfection in the yoga gradually.

329. योगिनोऽभ्यासयुक्ता ये ह्यरण्येषु गृहेषु वा।
330. बहुकालं रमन्ते स्म बहुकालविवर्जिताः।
331. तस्मात्सर्वप्रयत्नेन योगमेव सदाभ्यसेत्।
332. योगाभ्यासो जन्मफलं विफला हि तथा क्रियाः।

329-332. जो योगी जंगल में अथवा घर में कहीं भी रहकर अभ्यास में निरन्तर संलग्न हैं; वे काल से मुक्त होकर अर्थात् मृत्यु के भय से छूटकर बहुत काल तक अत्यन्त आनन्द से जीवन यापन करते हैं।

अतः साधकों को चाहिए कि पूर्ण प्रयत्न से नित्य ही योग का अभ्यास करे, क्योंकि योग का अभ्यास ही जन्म की सफलता है, और सभी क्रियाएं निष्फल है।

329-330. Yogins, who practise yoga daily living either in forest or at home, enjoys long time in the world. They do not fear to death even.

331-332. Thus, the yoga should be practised constantly with all efforts. The yogabhyasa (practice of yoga) is the main achievement of life, without it all activities of life become unsuccessful and usless.[1]

1. One more shloka is read in mss. at G.N. Jha Research Institute Allahabad, that is—

महामायाप्रसादेन सर्वेषास्तु तत्सुखम्।
एतत्सर्व. यथायुक्तं तामेवाराधयेत्ततः॥

333. महामायाप्रसादेन सर्वेषामस्तु तत्सुखम्।
334. एतत्सर्वं यथायुक्तं तामेवाराधयेत् ततः।

333-334. यह पूर्वोक्त **योगविद्या महामाया** की कृपा से ही सबको प्राप्त हो सकती है, अर्थात् इसमें किसी को सिद्धि मिल सकती है, और वह सबको सुख पूर्वक सिद्ध हो इसके लिए उसकी ही आराधना करनी चाहिए।

333-334. I salute the lotus feet of lord Vishnu in the form of Dattatreya, who removes away all sins only by remembering him, and gives all siddhis in yoga, who blesses through his teachings and stands as a friend, and first teacher of the yoga-Shastra, although I could not have full devotion, but he is a father of all, and jwel Chintamani of devotion, thus I am coming under protection of his lotus-feet.

335. यः संस्मृत्या मुनीनामपि दुरितहरो योगसिद्धिप्रदश्च।
कारुण्याद्यः प्रवक्ता सुखदुःखसुहृद् योगशास्त्रस्य नाथः।
336. तस्याहं भक्तिशून्योऽप्यखिलजनगुरोर्भक्तिचिन्तामणेर्हि।
दत्तात्रेयस्य विष्णोः पदनलिनयुग नित्यमेव प्रपद्ये॥

जो स्मरण मात्र से मुनिजनों के भी पापों का क्षय करता है, योग में सिद्धि प्रदान करता है, जो करुणा के वशीभूत होकर ही, सुखदुःख को हरने वाले हैं, और जो योगशास्त्र के स्वामी हैं, समस्त जनों के गुण चिन्तामणि स्वरूप भगवान विष्णु दत्तात्रेय के चरण कमलों की शरण में भक्ति से शून्य होकर भी मैं प्राप्त हो रहा हूँ।

इति श्री दत्तात्रेयप्रोक्तं योगशास्त्रं सम्पूर्णम्।

केशवानन्दशिष्येन ब्रह्ममित्रेण योगिना।
विहिता लोकभाषया दीपिका सरला शुभा।

दृष्टिः स्थिरा यस्य विनैव दृश्यात्
वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नात्।
चित्तं स्थिरं यस्य विनाऽवलम्बात्
स एव योगी स गुरुः ससेव्यः।

(अमनस्कयोग 2.45)

वर्णानुक्रमा-अर्धालिः

प्रमुख शब्द एवं विषय

परमहंस स्वामी अनन्तभारती जी की कुछ महत्वपूर्ण रचनाएं

1.	पातञ्जल योगशास्त्र : एक अध्ययन	500.00
2.	पातञ्जलयोग पर बौद्धधर्म का प्रभाव	50.00
3.	योग रत्नाकर	200.00
4.	राजयोग साधना और सिद्धान्त	100.00
5.	प्राणायामसाधना	55.00
6.	योग और मानसिक स्वास्थ्य	80.00
7.	शाण्डिल्य योग शास्त्र हिन्दी व्याख्या सहित	100.00
8.	योगसूत्र-योगप्रभाकर भाष्यसंहिता	500.00
9	कुण्डलिनी साधना	40.00
10.	योग और स्वास्थ्य	100.00
11.	योग चूडामणि हिन्दी व्याख्या सहित	45.00
12.	Dattatrey Yoga Shastra with English & Hindi Transtation	140.00
13.	Yoga Beja with English Hindi Commentary	50.00
14.	Rajayoga and its Practice	100.00

कुछ अन्य प्रमुख पुस्तकें

1.	अभिघावृत्त मातृका विस्तृत हिन्दी भूमिका एवं व्याख्या सहित	50.00
2.	शब्दव्यापार विचार विस्तृत हिन्दी भूमिका एवं व्याख्या सहित	50.00
3.	वृत्तिवार्त्तिक विस्तृत हिन्दी भूमिका एवं व्याख्या सहित	50.00
4.	कोविदानन्द विस्तृत हिन्दी भूमिका एवं व्याख्या सहित	50.00
5.	त्रिवेणिका विस्तृत हिन्दी भूमिका एवं व्याख्या सहित	50.00
6.	वाक्यार्थ मातृकावृत्ति विस्तृत हिन्दी भूमिका एवं व्याख्या सहित	100.00
7.	अलंकार कोश	700.00
8.	एकावली (मू० ले० विद्याधर) हिन्दी व्या[illegible] सहित	500.00

ISBN 818686325-7
9788186863251

इन्दु प्रकाशन

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्

मूल्य : 140/-

मुख्य कार्यालय

इन्दु प्रकाशन

29/5, शक्ति नगर, नांगिया पार्क, दिल्ली-110007

ई-मेल: induprakashan17@yahoo.in

मो.: 9818884003
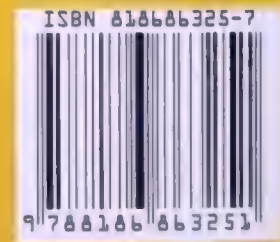
शाखा कार्यालय

शॉप नं. 26, सुभाष मार्केट, बस स्टॉप नं. 6, शिवाजी नगर, भोपाल-462016

मो.: 9968536565

सप्तमोऽधिकारः

*** नेत्रोद्योतः ***

चक्राधारवियल्लक्ष्यग्रन्थिनाड्यादिसंकुलम् ।
स्वामृतैर्देहमासिञ्चत् स्मराम्यूर्ध्वेक्षणं विभोः ॥

अथ सूक्ष्मध्यानं निर्णेतुं भगवानुवाच—

अतः परं प्रवक्ष्यामि ध्यानं सूक्ष्ममनुत्तमम् ।

न विद्यते उत्तममन्यत् सूक्ष्मध्यानं यतः, परं त्वतोऽप्युत्तमं भविष्यति ॥

तदुपक्रमते—

ऋतुचक्रं स्वराधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ॥ १ ॥

*** ज्ञानवती ***

षट्चक्रं रविग्रन्थिलक्ष्यत्रितयं धामत्रयादीनि यः
सम्यग् वेत्ति सुयोगविच्च सततं यो वेत्ति नाडीगणम् ।
तं योगप्रवणं विशुद्धवपुषं यन्मोचयेद् बन्धना-
न्नेत्रं नित्यमनन्तशक्ति शिवयोर्मोक्षप्रदं तन्नुमः ॥

चक्र, आधार, व्योम, लक्ष्य, ग्रन्थि, नाडी आदि से व्याप्त देह को अपने अमृत से सिञ्चित करने वाले, परमात्मा के नेत्र का हम स्मरण करते हैं ।

अब सूक्ष्म ध्यान का निर्णय करने के लिये भगवान् ने कहा—

इसके बाद (मैं) उत्तमोत्तम सूक्ष्म ध्यान को कहूँगा ॥ १- ॥

अनुत्तम का अर्थ है—जिससे बढ़कर कोई दूसरा सूक्ष्म ध्यान नहीं है । पर ध्यान तो इससे भी उत्तम होगा ॥

उसका उपक्रम करते हैं—

ग्रन्थिद्वादशसंयुक्तं शक्तित्रयसमन्वितम् ।
धामत्रयपथाक्रान्तं नाडित्रयसमन्वितम् ॥ २ ॥
ज्ञात्वा शरीरं सुश्रोणि दशनाडिपथावृतम् ।
द्वासप्तत्या सहस्रैस्तु सार्धकोटित्रयेण च ॥ ३ ॥
नाडिवृन्दैः समाक्रान्तं मलिनं व्याधिभिर्वृतम् ।
सूक्ष्मध्यानामृतेनैव परेणैवोदितेन तु ॥ ४ ॥
आप्यायं कुरुते योगी आत्मनो वा परस्य च ।
दिव्यदेहः स भवति सर्वव्याधिविवर्जितः ॥ ५ ॥

ऋतवः षट् जन्म-नाभि-हृत्-तालु-विन्दु-नादस्थानानि नाडिमायायोगभेदनदीप्ति-शाण्ताख्यानि नाडिमायादिप्रसराश्रयत्वात् चक्राणि यत्र, स्वराः षोडश अङ्गुष्ठ-गुल्फ-जानु-मेढ्र-पायु-कन्द-नाडि-जठर-हृत-कूर्मनाडी-कण्ठ-तालु-भ्रूमध्य-ललाट-ब्रह्म-रन्ध्रद्वादशान्ताख्या जीवस्याधारकत्वादाधारा यत्र, यदि वा सर्वसहत्वादस्य नयस्य कुलप्रक्रियया—

'मेढ्रस्याधः कुलो ज्ञेयो मध्ये तु विषसंज्ञितः ।
मूले तु शाक्तः कथितो बोधनादप्रवर्तकः ॥
अग्निसंज्ञस्ततश्चोर्ध्वमङ्गुलानां चतुष्टये ।

हे सुन्दरनितम्बों वाली ! इस शरीर को ऋतुचक्र, स्वराधार, तीन लक्ष्य, पाँच आकाश, बारह ग्रन्थियों, तीन शक्तियों, तीन धामपथों, तीन नाडियों, दश नाडीपथों, बहत्तर हजार और साढ़े तीन करोड़ नाडियों से युक्त, व्याधियों से पीड़ित और मलिन समझकर योगी पर उदित सूक्ष्म ध्यानामृत से सींचता है तो चाहे अपना शरीर हो या दूसरे का, (वह) समस्त व्याधियों से रहित दिव्य हो जाता है ॥ -१-५ ॥

यह शरीर ऋतु = छह, चक्रों वाला है । वे चक्र जन्मस्थान (= मूलाधार), नाभि, हृदय, तालु, बिन्दु और नाद में रहते हैं । उनके नाम हैं—नाडी, माया, योग, भेदन, दीप्ति और शान्त । यतो हि वे जन्मस्थान आदि नाडी माया आदि के प्रसरस्थान हैं इसलिये चक्र हैं । स्वरों की संख्या सोलह है—पैर का अङ्गूठा, टखना, जाँघें, मेढ्र (= नाभि और लिङ्ग के बीच का भाग) पायु (= मलद्वार), कन्द (= मेढ्र के ऊपर और नाभि के नीचे पक्षी के अण्डे के समान वह अवयव जहाँ से ७२००० नाड़ियाँ निकलती हैं), नाडी, पेट, हृदय, कूर्म नाडी, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट, ब्रह्मरन्ध्र और द्वादशान्त । ये जीव के आधार के होने के कारण आधार कहे जाते हैं । अथवा यह शास्त्र सब के सिद्धान्तों को मानने वाला है इसलिये कौल मत के अनुसार—

'मेढ्र के नीचे कुल (१) मध्य में विष (२) मूल में बोधनाद का प्रवर्त्तक (३)

नाभ्यधः पवनाधारे नाभावेव घटाभिधः ॥
नाभिहृन्मध्यमार्गे तु सर्वकामाभिधो मतः ।
सञ्जीवन्यभिधानाख्यो हृत्पद्मोदरमध्यगः ॥
वक्षःस्थले स्थितः कूर्मो गले लोलाभिधः स्मृतः ।
लम्भकस्य स्थितश्चोर्ध्वे सुधाधारः सुधात्मकः ॥
तस्यैव मूलमाश्रित्य सौम्यः सोमकलावृतः ।
भ्रूमध्ये गगनाभोगे विद्याकमलसंज्ञितः ॥
रौद्रस्तालुतलाधारो रुद्रशक्त्या त्वधिष्ठितः ।
चिन्तामण्यभिधानाख्यश्चतुष्पथनिवासि यत् ॥
ब्रह्मरन्ध्रस्य मध्ये तु तुर्याधारस्तु मस्तके ।
नाड्याधारः परः सूक्ष्मो घनव्याप्तिप्रबोधकः ॥
इत्युक्ताः षोडशाधाराः............................ ॥' इति ।

त्रीण्यन्तर्बहिरुभयरूपाणि लक्ष्याणि लक्षणीयानि यत्र । निरावरणरूपत्वात्

'खमनन्तं तु जन्माख्यं ।' (७।२७)

इति वक्ष्यमाणानां जन्म-नाभि-हृद्-बिन्दु-नादरूपाणां व्योम्नां पञ्चकं विद्यते यत्र,

'जन्ममूले तु मायाख्यो ।' (७।२७)

इत्यभिधास्यमानाश्चैतन्यावृतिहेतुत्वाद् ग्रन्थयो माया-पाशव-ब्रह्म-विष्णु-रुद्र-ईश्वर-

---

उसके चार अंगुल ऊपर अग्नि (४) नाभि के नीचे पवनाधार नाभि में ही घट नामक आधार है (५) नाभिहृदय के मध्यमार्ग में सर्वकाम (६) हृदयकमल के बीच सञ्जीवनी (७) वक्षःस्थल में कूर्म (८) गले में लोल (९) लम्बिका के ऊपर सुधापूर्ण सुधाधार (१०) उसके मूल में सोमकला से युक्त सौम्य (११) गगन के समान विस्तृत भ्रूमध्य में विद्याकमल (१२) तालु के तल में रुद्रशक्ति से समन्वित रौद्र (१३) चतुष्पथ में रहने वाला चिन्तामणि (१४) ब्रह्मरन्ध्र के मध्य में तुर्याधार (१५) मस्तक में नाड्याधार (१६) है जो कि पर सूक्ष्म और घनव्याप्ति का प्रबोधक है । इस प्रकार सोलह आधार कहे गये ॥'

तीन लक्ष्य = अन्दर-बाहर और उभय रूप लक्षणीय है जिसमें वह । आवरणरहित होने के कारण—

'जन्म नामक आकाश अनन्त है ।' (७-२७)

इस प्रकार वक्ष्यमाण जन्मस्थान, नाभि, हृदय, बिन्दु और नादरूप पाँच आकाश उस शरीर में हैं ।

'जन्म के मूल में माया नामक ग्रन्थि है ।' (७-२७)

सदाशिव-इन्धिका-दीपिका-बैन्दव-नाद-शक्त्याख्या ये पाशास्तैः संयुक्तम् । इच्छादिना शक्तित्रयेण सम्यगन्वितमेषणीयादिविषये प्रवर्तमानम् । सोम-सूर्य-वह्निरूप-धामत्रयपथैः सव्यापसव्यपवनैर्मध्यमपवनेन चाधिष्ठितम् । इडापिङ्गलासुषुम्नाख्येन पवनाश्रयेण नाडित्रयेण युक्तम् । गान्धारी-हस्तिजिह्वा-पूषा-यशा-अलम्बुसा-कुहू-शङ्खिनीभिश्च युक्तत्वाद् दश नाडयः पन्थानो येषां प्राणापानसमानोदानव्याननाग-कूर्मकृकरदेवदत्तधनञ्जयाख्यास्तैः आ समन्ताद् वृतमोतप्रोतम् । दिग्दशकावस्थित-नाडिदशकप्रपञ्चभूताभिर्द्वासप्तत्या सहस्रैर्मध्यव्याप्त्या सार्धकोटित्रयेण च महा-व्याप्त्या नाडिवृन्दैः समाक्रान्तम् । आणवमायीयकार्ममलयोगान्मलिनम् । योगिना-मपि—

'येनेदं तद्धि भोगतः ।'

इति स्थित्यावश्यंभाविक्रोडीकृतं शरीरं ज्ञात्वा योगी यस्य आत्मनः परस्य वा, परेणैवेति पररूपतामनुज्झतापि समनन्तरभाविना सूक्ष्मध्यानामृतेनोदितेन स्फुटीभूतेनाप्यायं करोति, स गतव्याधिर्दिव्यदेह इति सूक्ष्मध्यानामृतोन्मिषच्छाक्त-मूर्तिर्भवति ॥ ५ ॥

इस प्रकार आगे कही जाने वाली, चैतन्य का आवरक होने से ये ग्रन्थियाँ हैं, जिनके नाम हैं—माया, पाशव, ब्रह्म, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव, इन्धिका, दीपिका, वैन्दव, नाद और शक्ति, इन पाशों से युक्त, इच्छा आदि (= ज्ञान और क्रिया) इन तीन शक्तियों से युक्त अर्थात् एषणीय आदि विषय में प्रवर्त्तमान सोम सूर्य वह्नि रूप तीन तेजरूपी रास्ते अर्थात् दायें बायें तथा बीच के पवन से अधिष्ठित है । वायु के आधार इडा पिङ्गला सुषुम्ना नामक तीन नाडियों से (यह शरीर) युक्त है । (इडा आदि के सहित) गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशा, अलम्बुसा, कुहू और शंखिनी इन दश नाडी रूपी पथ वाले प्राण, अपान, समान, उदान व्यान तथा नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय नामक वायु से ओत-प्रोत है । ये दशों नाडियाँ शरीर की दशों दिशाओं में व्याप्त हैं । इन्ही का विस्तार ७२ हजार नाडियाँ हैं और साढ़े तीन करोड़ नाडियाँ भी महाव्याप्ति कर इस शरीर में वर्त्तमान हैं । यह शरीर आणव मायीय और कार्ममल से युक्त होने के कारण मलिन है ।

योगियों का भी शरीर

'जिससे यह (शरीर) है वह भोग के कारण ।'

इस स्थिति के कारण अवश्यभवनीयता के द्वारा आक्रान्त है । शरीर को उक्त प्रकार से जानकर जब योगी अपने या दूसरे के शरीर की पररूपता को न छोड़ते हुए भी समनन्तरभावी उदित = स्फुटीभूत, सूक्ष्म ध्यानामृत के द्वारा (इसका) आप्यायन करता है तो वह (अपना या दूसरे का शरीर) व्याधिरहित दिव्य देह हो जाता है अर्थात् सूक्ष्म ध्यान के अमृत से उन्मिषत् शाक्त शरीर वाला हो जाता

'सूक्ष्मध्यानामृतेनैव परेणैवोदितेन ।'

इति यदुक्तं तत्सोपक्रमं स्फुटयति—

यत्स्वरूपं स्वसंवेद्यं स्वस्थं स्वव्याप्तिसंभवम् ।
स्वोदिता तु परा शक्तिस्तत्स्था तद्गर्भगा शिवा॥ ६ ॥
तां वहेन्मध्यमप्राणे प्राणापानान्तरे ध्रुवे ।
अहं भूत्वा ततो मन्त्रं तत्स्थं तद्गर्भगं ध्रुवम् ॥ ७ ॥
स्वोदितेन वरारोहे स्पन्दनं स्पन्दनेन तु ।
कृत्वा तमभिमानं तु जन्मस्थाने निधापयेत् ॥ ८ ॥
भावभेदेन तत्स्थानान्मूलाधारे नियोजयेत् ।
नादसूच्या प्रयोगेन वेधयेत् सूक्ष्मयोगतः ॥ ९ ॥
आधारषोडशं भित्त्वा ग्रन्थिद्वादशकं तथा ।
मध्यनाडिपथारूढो वेधयेत् परमं ध्रुवम् ॥ १० ॥
तत्प्रविश्य ततो भूत्वा तत्स्थोऽसौ व्यापकः शिवः।
सर्वामयपरित्यागान्निष्कलाक्षोभशक्तितः ॥ ११ ॥
पुनरापूर्य तेनैव मार्गेण हृदयान्तरम् ।
तत्र प्रविष्टमात्रं तु ध्यायेल्लब्धं रसायनम् ॥ १२ ॥

है ॥ ५ ॥

'सूक्ष्म ध्यानामृत से उदित पर से'—

यह जो कहा गया उसी को उपक्रम के साथ स्पष्ट करते हैं—

जो स्वरूप स्वसंवेद्य स्वस्थ और स्वव्याप्ति से उत्पन्न है पराशक्ति शिवा उसमें स्थित उसके गर्भ में वर्त्तमान तथा स्वयं उदित है । उस (= शिवा) को प्राण और अपान के बीच वर्त्तमान ध्रुव मध्यम प्राण में ले जाना चाहिये । हे वरारोहे ! इसके बाद उसके गर्भ में वर्त्तमान ध्रुवमन्त्र को अहं के रूप में होकर स्वोदित स्पन्दन से स्पन्दित कर उस अभिमान (= वीर्य) को जन्मस्थान में स्थापित कर देना चाहिये । भाव का भेदन कर उसे मूलाधार में जोड़ देना चाहिये । फिर सूक्ष्म योग से नादरूपी सूची के द्वारा प्रयोग कर उसका वेधन करे । तत्पश्चात् षोडशाधार एवं द्वादशग्रन्थियों का भेदन कर मध्य नाडीपथ पर आरुढ़ होकर परम ध्रुव का भेदन करे । पुनः उसमें प्रवेश कर उसमें स्थित हुआ यह (= साधक) समस्त रोग का परित्याग करने के कारण निष्कल अक्षोभ शक्ति के कारण व्यापक शिव हो जाता है । तत्पश्चात् उसी मार्ग से हृदय के मध्य को आपूरित कर उसमें प्रविष्ट होकर रसायन को प्राप्त हुआ ध्यान करे । विश्राम का अनुभव

विश्रामानुभवं प्राप्य तस्मात् स्थानात् प्रवाहयेत् ।
सर्वं तदमृतं वेगात् सर्वत्रैव विरेचयेत् ॥ १३ ॥
अनन्तनाडिभेदेन अनन्तामृतमुत्तमम् ।
अनन्तध्यानयोगेन परिपूर्य पुरं स्वकम् ॥ १४ ॥
अजरामरस्ततो भूत्वा सबाह्याभ्यन्तरं प्रिये ।
एवं मृत्युजिता सर्वं सूक्ष्मध्यानेन पूरितम् ॥ १५ ॥
ततोऽसौ सिद्ध्यति क्षिप्रं सत्यं देवि न चान्यथा ।

यदिति प्रथमाधिकारनिर्दिष्टपरधामात्मवीर्यम्, स्वरूपमिति विशेषानिर्देशात् सर्वस्य, स्वसंवेद्यं स्वप्रकाशम् न तु स्वसंवेदनान्यप्रमाणप्रमेयम्,

'तस्य देवातिदेवस्य परापेक्षा न विद्यते ।
परस्य तदपेक्षत्वात् स्वतन्त्रोऽयमतः स्थितः ॥'

इति कामिकोक्तनीत्याऽस्य भगवतः प्रमाणागोचरत्वात् अत एव स्वतन्त्रात्मन्यवतिष्ठते न त्वन्यत्र तद्विविक्तस्यान्यस्याभावात्, प्रत्युतान्यद्विश्वं तद्व्याप्तत्वात्तन्मयमेव संभवतीत्याह—स्वव्याप्तिसंभवम्, स्वव्याप्त्या संभवो विश्वरूपतयोन्मज्जनं यस्य । अस्य च भगवतः परा स्वातन्त्र्यात्मा शक्तिः स्वा अव्यभिचारिणी चासौ उदिता प्रस्फुरद्रूपा, तत्रैव च भगवद्रूपे स्थिता, न चाधाराधेयभावेन, अपि तु सामरस्येने-

---

कर उस स्थान से समस्त अमृत को वेग के साथ सर्वत्र शरीर में प्रवाहित करे। अनन्त ध्यान के साथ अनन्त नाडी के भेद से अनन्त उत्तम अमृत से अपने शरीर को पूरित करे। हे प्रिये ! इसके बाद बाहर भीतर सर्वत्र अजर अमर होकर मृत्युजित् के द्वारा सब कुछ सूक्ष्म ध्यान से पूरित करे । इस प्रकार यह (= साधक) शीघ्र सिद्ध हो जाता है । यह कथन अन्यथा नहीं है ॥ ६-१६- ॥

जो = प्रथम अधिकार से निर्दिष्ट पर तेज रूप वीर्य । स्वरूप = विशेष का निर्देश न होने से सबका रूप । स्वसंवेद्य = स्वप्रकाश न कि स्वसंवेदन से भिन्न प्रमाण से प्रमेय ।

'उस देवातिदेव को दूसरे की अपेक्षा नहीं होती । (इसके विपरीत) दूसरे को उसकी अपेक्षा होने से यह स्वतन्त्ररूप में स्थित है ।'

कामिक तन्त्र में कथित इस नीति के अनुसार यह भगवान् दूसरे किसी भी प्रमाण के विषय नहीं होते हैं । इसलिये ये स्वतन्त्र अपने में ही स्थित रहते हैं न कि अन्य में, क्योंकि उनसे भिन्न कोई दूसरा नहीं होता है । उल्टे अन्य विश्व उनसे व्याप्त होने के कारण तन्मयरूप में उत्पन्न होता है—यह कहते हैं— स्वव्याप्तिसम्भव । स्वव्याप्ति से, सम्भव = विश्व के रूप में उन्मज्जन, है जिसका (वह परधाम) । इस भगवान् की परा = स्वातन्त्र्यरूपा शक्ति स्वा = अव्यभिचारिणी

त्याह—तद्गर्भगा । अतश्च शिवा परमार्थशिवाभिन्नरूपत्वात् शिवा । एवं परं रूपं भित्तिभूतत्वेन प्रकाश्य सूक्ष्मध्यानं वक्तुमुपक्रमते—तामित्यादिना । तां परां चितिशक्तिम्, मध्यमप्राणे सुषुम्नास्थोदानाख्यप्राणब्रह्मणि, वहेत् निमज्जितप्राणापान-व्याप्तिं उन्मग्नतया विमृशेत् । कथम् ? अहं भूत्वा, देहादिप्रमातृताप्रशमनेन पूर्णाहन्तामाविश्येत्यर्थ: । तत उक्तवक्ष्यमाणवीर्यव्याप्तिकं मूलमन्त्रं तत्स्थं तद्गर्भ-गमिति पराशक्तिसामरस्यमयम्, अत एव स्पन्दनमिति सामान्यस्पन्दरूपं कृत्वा कथं ? स्वोदितेन स्पन्दनेन अप्राणाद्यवष्टम्भेन । एवं मन्त्रवीर्यसारमामृश्य तमभि-मानं तदसामान्यचमत्कारमयं स्वं वीर्यं जन्माधारे आनन्दचक्रे निधापयेत् प्रतिष्ठा-पयेत् । कथम् ? भावस्य देहप्राणादिमिताभिमानमयस्य भेदेन प्रशमनेन । ततोऽपि मूलाधारे कन्दे तमभिमानं भावभेदेनैव नियोजयेद् निरूढं कुर्यात् । ततोऽपि स्फुरत्तोन्मिषत्तारूपमन्त्रनाथप्राणसूच्या हेतुना कृतो य: प्रकृष्ट: क्रमात्क्रम-मूर्ध्वारोहात्मा योगस्तेन । तथा सूक्ष्मयोगत इति—उन्मिषत्स्फुरत्तोत्तेजनप्रकर्षेण । मध्यनाडीपथमारूढ: पूर्वोद्दिष्टकुलशास्त्रादिष्टमाधारषोडशकं तथोपक्रान्तनिर्णेष्यमाणं ग्रन्थिद्वादशकं च भित्त्वा परमं ध्रुवं द्वादशान्तधाम वेधयेदाविशेत् । तच्च प्रविश्य,

---

तथा उदित = नित्य प्रस्फुरद् रूपा होती है । यह उसी भगवत् रूप मे स्थित होती है वह भी आधाराधेय भाव से नहीं बल्कि समरसता के साथ होती है । 'तद्गर्भगा' पद से यही कहा गया । इसलिये परमार्थ शिव से अभिन्नरूपा होने के कारण वह शिवा है । इस प्रकार पररूप को आधार के रूप में प्रकाशित कर सूक्ष्म ध्यान को बतलाने का उपक्रम करते हैं—उसको इत्यादि । उसको = परा चिति शक्ति को । मध्यमप्राण में = सुषुम्ना मे स्थित उदान नामक प्राणब्रह्म में । वहन करे = निमज्जित प्राणअपान व्याप्ति का उन्मग्न के रूप में विमर्श करना चाहिए । कैसे ?—अहं होकर = देहादिप्रमातृता को शान्त कर पूर्ण-अहन्ता में आविष्ट होकर । इसके बाद उक्त वक्ष्यमाण व्याप्ति वाले मूल मन्त्र और उसमें स्थित उसके गर्भ में वर्त्तमान पराशक्तिसामरस्यमय इसीलिये स्पन्दन = सामान्य स्पन्दन रूप बनाकर । यह कैसे होगा (इसके उत्तर में कहते हैं—) स्वोदित स्पन्दन से अप्राण आदि के अवष्टम्भन से । इस प्रकार मन्त्रवीर्य के सामरस्य का आमर्शन कर उस अभिमान को = उस असामान्य चमत्कारमय अपने वीर्य को, जन्माधार = आनन्दचक्र, में, स्थापित करना चाहिए । कैसे ?—देह प्राण आदि परिमित अभिमानमय भाव के भेदन = प्रशमन से । इसके बाद मूलाधार में = कन्द में, उस अभिमान को भावभेद के द्वारा ही नियोजित करे = निरूढ़ बनाये । इसके बाद स्फुरत्ता उन्मिषत्ता रूप मन्त्रनाथप्राणसूची के द्वारा किया गया जो प्रकृष्ट = क्रमश: ऊर्ध्वारोहण रूप, योग उससे तथा सूक्ष्म योग से = उन्मिषत् स्फुरत्तोत्तेजन प्रकर्ष के द्वारा, मध्यनाडीपथ पर आरूढ़ (साधक) पूर्व में वर्णित कुलशास्त्र में कथित सोलह आधारों तथा उपक्रान्त निर्णेष्यमान बारह ग्रन्थियों का भेदन कर परम ध्रुव द्वादशान्त धाम का वेध करना चाहिए = उसमें आविष्ट हो जाय । और उसमें प्रविष्ट होकर

सर्वस्यामयस्य महामायापर्यन्तस्य बन्धस्य परित्यागात्, तत्रैव ध्रुवपदे स्थितः सन्, व्यापको नित्योदितपराशक्तिसमरसः परमशिवैकरूपो भूत्वा, तेनैव द्वादशान्तादन्तःप्रसृतेन मध्यमेन मार्गेण हृदयमध्यमापूर्य परानन्दप्रसरणाच्छुरितं कृत्वा, तत्र हृदि प्रविष्टमात्रं तत् परमानन्दरूपं रसायनमासादितं ध्यायेद्विमृशेत् तावद्यावत्तत्र विश्रान्तिमेति. ततस्तस्माद्धृदयादुच्छलितं तदमृतं प्रवाहयेत् नानाप्रवाहाभिमुखं कुर्यात् । ततस्तेनैवामृतेन अनन्तनाडीप्रवाहप्रसृतेन बहलध्यानध्यातेन सबाह्याभ्यन्तरं स्वं पूरं देहं परिपूर्य तदनन्तरं सर्वममृतं वेगाद् द्रुतप्रवाहेन सर्वरोमरन्ध्रैः सर्वत्र गोचरे रेचयेद् अव्युच्छिन्नप्रवाहं प्रेरयेत् । एवं परवीर्यात्मना भगवता मृत्युजिता प्रोक्तसूक्ष्मशाक्तानन्दध्यानेन यदा सर्वमापूरितं चिन्तयति योगी तदासौ अजरामरो भूत्वा क्षिप्रं सिद्ध्यति मृत्युजिद्भट्टारकतामाप्नोति । नात्र प्रमातृसुलभः संशयः कार्यः ॥ १५ ॥

एवं शाक्तानन्दमार्गावष्टम्भात्मककौलिकप्रक्रियोक्ताधारादिभेदेन सूक्ष्मध्यानमुक्त्वा, स्थूलयुक्तिक्रमेण तन्त्रप्रक्रियोक्ताधारादिभेदेन पूर्णासितामृतकल्लोलचिन्तनात्मसूक्ष्मध्यानं वक्तुमुपक्रमते—

जन्मस्थाने समाश्रित्य स्पन्दस्थां मध्यमां कलाम् ॥ १६ ॥

सब आमय के = महामाया पर्यन्त बन्ध के, परित्याग से उसी ध्रुवपद में स्थित हुआ व्यापक = नित्योदित, परा शक्ति से समरस परशिव के साथ एक रूप होकर उसी = द्वादशान्त, से अन्तः फैले हुए मध्यमार्ग से हृदय के मध्य को पूरित कर = परानन्द के प्रसरण से अलङ्कृतकर, वहाँ = हृदय में, प्रविष्टमात्र उस = परम आनन्द रूप, रसायन को तब तक प्राप्त हुआ ध्यान करना चाहिए जब तक विश्रान्ति न मिल जाय । उसके बाद उस = हृदय, से उच्छलित उस अमृत को प्रवाहित करना चाहिए = अनेक दिशा में प्रवाहाभिमुख करना चाहिए । इसके बाद अनन्तनाडीप्रवाह से फैले हुए बहल (= दृढ़) ध्यान के द्वारा ध्यात उस अमृत से अपने शरीर को बाहर और भीतर पूरित कर बाद में समस्त अमृत को वेग से = द्रुत प्रवाह के साथ, समस्त रोमकूपों से सभी विषयों पर रेचन करना चाहिए = अव्युच्छिन्न प्रवाह के रूप में प्रेरित करना चाहिए । इस प्रकार योगी जब परवीर्यात्मक भगवान् मृत्युञ्जय के द्वारा प्रोक्त सूक्ष्म शाक्त आनन्द के ध्यान से सबको आपूरित चिन्तन करता है तब यह अजर अमर होकर शीघ्र सिद्ध हो जाता है = मृत्युञ्जयभट्टारक बन जाता है । इस विषय में प्रमातृसुलभ संशय नहीं करना चाहिये ॥ १५ ॥

इस प्रकार शाक्तानन्दमार्गावष्टम्भात्मक कौलिक प्रक्रिया में उक्त आधार आदि भेद से सूक्ष्म ध्यान का कथन कर स्थूल युक्ति के क्रम से तन्त्रप्रक्रियोक्त आधार आदि के भेद से पूर्ण असितामृतकल्लोलचिन्तनात्मक सूक्ष्म ध्यान को बतलाने का उपक्रम करते हैं—

तत्स्थं कृत्वा तदात्मानं कालाग्निं तु समाश्रयेत् ।
गत्वा गृहीतविज्ञानं वीर्यं तत्रैव निक्षिपेत् ॥ १७ ॥
तद्वीर्यापूरिता शक्तिः क्रियाख्या मध्यमोत्तमा ।
विज्ञानेनोर्ध्वतो भित्त्वा ग्रन्थिभेदेन चेच्छया ॥ १८ ॥
मूलस्पन्दं समाश्रित्य त्यक्त्वा वाहद्वयं ततः ।
मध्यमार्गप्रवाहिन्या सुषुम्नाख्यां समाश्रयेत् ॥ १९ ॥
तामेवाश्रित्य विरमेत्तत्सर्वेन्द्रियगोचरात् ।
तदा प्रत्यस्तमायेन विज्ञानेनोर्ध्वतः पुनः ॥ २० ॥
ब्रह्मादिकारणानां तु त्यागं कृत्वा शनैः शनैः ।
षण्णां शक्तिमतां प्राप्य कुण्डलाख्यां निरोधिकाम् ॥ २१ ॥
मायादिग्रन्थिभेदेन हृदादिव्योमपञ्चकम् ।

पूर्वं जन्मस्थानमानन्देन्द्रियमुक्तम् इह तु कन्दः, तत्र स्पन्दस्थामिति स्पन्दाविष्टाम्, मध्यमां कलां प्राणशक्तिमाश्रित्य मत्तगन्धस्थानसङ्कोचविकासाभ्यां शतश उन्मिषितां सूक्ष्मप्राणशक्तिमध्यास्य, आत्मानं मनस्तदवसरे तत्स्थं तन्निभालनैकाविष्टं कृत्वा, कालाग्निमिति पादाङ्गुष्ठाधारं गत्वा, समाश्रयेत् भावनयाध्यासीत । तत्रैव

जन्मस्थान में स्पन्दस्थ मध्यमा कला का आश्रयण कर, उसमें अपने को स्थित कर कालाग्नि का आश्रयण कर लेना चाहिये । वहीं पर गृहीत-विज्ञान वाले वीर्य का प्रक्षेप करना चाहिए । उस वीर्य से आपूरित क्रिया नामक शक्ति उत्तम (अतिशय से निर्गत होकर) मध्यमा हो जाती है । इच्छा और विज्ञान के द्वारा ऊपर से ग्रन्थिभेद से भेदन कर मूल स्पन्द में जाकर दोनों वाह (= इडा पिंगला) को छोड़कर मध्यमार्गप्रवाहिनी के द्वारा सुषुम्ना में पहुँचना चाहिये । उसका आश्रयण कर समस्त इन्द्रिय विषयों से विराम ले लेना चाहिये । फिर शान्तमाया वाले विज्ञान के द्वारा ऊपर से ब्रह्मा आदि कारणों का धीरे-धीरे त्याग कर (ब्रह्मा आदि) छह शक्तिमानों की कुण्डल नामक निरोधिका शक्ति को प्राप्त कर माया आदि ग्रन्थियों का भेदन कर हृदय आदि पाँच आकाश का त्याग कर विराम करना चाहिये ॥ -१६-२२- ॥

पहले श्लोकों में जन्मस्थान का अर्थ था—उपस्थेन्द्रिय, यहाँ जन्मस्थान का अर्थ है—कन्द । उसमें स्पन्दस्थ = स्पन्द से आविष्ट, मध्यमा कला = प्राण शक्ति का आश्रयण कर, मत्तगन्ध (= गुदा) के संकोचविकास के द्वारा सैकड़ों बार उन्मिषित सूक्ष्म प्राणशक्ति को अध्यासित कर, अपने को = अपने मन को, उस अवसर में तत्स्थ = उसके निभालन से आविष्ट, कर कालाग्नि = पैर के अंगूठे रूपी आधार, के पास जाकर, समाश्रयण करे = भावना से वहाँ स्थित हो । उसी

च गृहीतविज्ञानं वीर्यमिति कन्दभूम्यासादितं शाक्तस्पन्दात्म वीर्यं निक्षिपेद् भावना-प्रकर्षेण स्फुटयेत् । इत्थं तद्वीर्येत्युक्तवीर्येणापूरिता लब्धोदया, प्राणस्पन्दात्मा क्रियाशक्तिरुत्तमातिशयेनोद्गता सती मध्यमा भवति, समस्तदेहस्य नाभिर्मध्यं तत्र प्राप्ता जायते । कथम् ? इच्छया सङ्कोचक्रमोत्थोर्ध्वारोहणप्रयत्नेन, विज्ञानेन च भावनया, ऊर्ध्वत इत्युपरितनगुल्फजानुमेढ्रकन्दनाभ्याख्यानां ग्रन्थीनां भेदेन वेधन-व्यापारेण भित्त्वा, अर्थात् तान्येवोर्ध्वस्थानान्याक्रम्य 'भेदिता माण्डलिका भूभुजा,—इतिवदद्भिः (वद् भिदिः) स्वीकारार्थः । अथ मूलस्पन्दं समाश्रित्येति मत्तगन्धस्थानं विकासाकुञ्चनपरम्परापुरःसरं निरोध्य । एतच्च श्रीस्वच्छन्दोक्तदिव्य-करणोपलक्षणपरम् । अत एव वाहद्वयं पार्श्वनाड्यौ त्यक्त्वा परिहृत्य, तत इति प्रोक्तेच्छाज्ञानावष्टम्भयुक्त्या, मध्यमार्गप्रवाहिण्या प्रोक्तया मध्यप्राणब्रह्मशक्त्या सुषुम्नाख्यां नाडीं सम्यगाश्रयेत् । तामाश्रित्य तत इत्यभ्यस्तात् सर्वेन्द्रिय-गोचराद्विरमेद् अन्तर्मुखीकृतसर्वेन्द्रियस्तिष्ठेत् । तदा च प्रत्यस्ता प्रतिक्षिप्ता माया प्राणादिप्रधानतात्माख्यातिर्येन तादृशा, प्रकाशानन्दात्मना ज्ञानेन हृत्कण्ठादिगत-सृष्ट्यादिसंवित्स्वभावब्रह्मादिकारणानि क्रमात् त्यक्त्वा, वक्ष्यमाणमायादिग्रन्थिभेदेन सह हृदादिव्योमपञ्चकं च त्यक्त्वा, षण्णां ब्रह्मविष्णुरुद्रेश्वरसदाशिवशिवाख्यानां कारणानामूर्ध्वत ऊर्ध्वे स्थितां कुण्डलाख्यां शक्तिं शून्यातिशून्यान्तमशेष-

---

में गृहीतविज्ञान = कन्दभूमि से प्राप्त शाक्तस्पन्दात्मक वीर्य, का निक्षेप करे = भावना के प्रकर्ष से स्फुट करें । इस प्रकार उस = उक्त वीर्य, से आपूरित = उदय को प्राप्त, प्राणस्पन्दात्मक क्रियाशक्ति उत्तम अतिशय से उद्गत होती हुई मध्यमा हो जाती है = समस्त देह का मध्य जो नाभि, उसमें पहुँच जाती है । कैसे ? इच्छा के द्वारा संकोच क्रम से उठे हुए । ऊर्ध्वतः = (पादाङ्गुष्ठ के) ऊपर गुल्फ, जानु, मेढ्र, कन्द, नाभि नामक ग्रन्थियों के भेदन = वेधनव्यापार के द्वारा भिन्न कर, अर्थात् उन-उन ऊर्ध्व स्थानों को आक्रान्त कर । यहाँ भिद् धातु स्वीकार अर्थ में है । जैसे कि—'राजा के द्वारा माण्डलिक लोग भेदित (= स्वीकृत) हुए ।' इसके बाद मूलस्पन्द का आश्रयण कर = मत्तगन्धस्थान का विकास एवं संकोच परम्परा के द्वारा निरोध कर । यह स्वच्छन्दतन्त्र में वर्णित दिव्यकरण का उपलक्षण है । इसलिये दोनों वाह (इडा पिङ्गला) वाली = पार्श्वनाडी, को छोड़कर उक्त इच्छा ज्ञान के अवष्टम्भ की युक्ति से मध्यमार्ग में बहने वाली उक्त मध्यप्राण ब्रह्मशक्ति के द्वारा सुषुम्ना नाड़ी का आश्रयण करे । इसका आश्रयण कर पूर्व में अभ्यस्त समस्त इन्द्रियविषयों से विराम कर ले । अर्थात् समस्त इन्द्रियों को अन्तर्मुखी कर ले । इसके बाद माया अर्थात् प्राण आदि को आत्मा मानने के अज्ञान को नष्ट करने वाले प्रकाशानन्दरूप ज्ञान के द्वारा हृदय कण्ठ आदि में रहने वाले संवित्स्वभाव रूप ब्रह्मा विष्णु आदि कारणों को क्रमशः त्यक्त कर वक्ष्यमाण माया आदि ग्रन्थियों को भिन्न करने के साथ-साथ हृदय आदि पाँच आकाशों को छोड़कर, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव और अनाश्रित शिव

विश्वगर्भाकारात्मककुण्डलरूपतयावस्थितां समनाख्यां शक्तिं प्राप्य, विज्ञानेनोर्ध्वं विरमेद् उन्मनापरतत्त्वात्मतामाविशेदिति दूरेण संबन्धः । विरमेदिति पूर्वस्थमिहापि योज्यम् ॥

तत्र निर्भेद्यग्रन्थ्यादीनां स्वरूपं तावत्क्रमेणादिशति—

जन्ममूले तु मायाख्यो ग्रन्थिर्जन्मनि पाशवः ॥ २२ ॥
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः ।
कारणस्थास्तु पञ्चैवं ग्रन्थयः समुदाहृताः ॥ २३ ॥
इन्धिकाख्यस्तु यो ग्रन्थिर्द्विमार्गाशमनः शिवः ।
तदूर्ध्वे दीपिका नाम तदूर्ध्वे चैव बैन्दवः ॥ २४ ॥
नादाख्यस्तु महाग्रन्थिः शक्तिग्रन्थिरतः परः ।

जन्ममूलमानन्देन्द्रियम् तच्छरीरोत्पत्तिहेतुर्मायारूपतया मायाख्यो ग्रन्थिः, जन्मनि कन्दे पाशवः पशूनां संकुचितदृक्शक्तित्वात् पाश्यानामयमाधारनानानाडी-प्राणादीनां प्रथमोद्भेदकल्पः । हृत्कण्ठतालुभ्रूमध्यललाटस्थानां ब्रह्मादीनां कारणानां पशुं प्रति सृष्ट्यादिकर्तृत्वेन निरोधकत्वाद् ग्रन्थिरूपकत्वात् तत्स्थाः पञ्च ग्रन्थयः निरोधिकोर्ध्वे—

कारणों के ऊपर स्थित कुण्डल नामक शक्ति = शून्यातिशून्यपर्यन्त समस्त विश्वगर्भाकारात्मक कुण्डलरूप में स्थित समना नामक शक्ति, को प्राप्त कर विज्ञान के साथ ऊपर विराम करे = उन्मना रूपी परतत्त्व रूप हो जाय । इतना दूर से सम्बन्ध है ।

अब निर्भेद्य ग्रन्थि आदि के स्वरूप को क्रम से दिखलाते हैं—

जन्म के मूल में माया नामक ग्रन्थि और जन्म में पाशव नामक ग्रन्थि रहती है । ब्रह्मा विष्णु रुद्र ईश्वर सदाशिव ये पाँच ग्रन्थियाँ कारणों में रहती हैं । इन्धिका नामक जो ग्रन्थि है वह द्विमार्ग के सम्पूर्ण शमन का हेतु है इसीलिये शिव है उसके ऊपर दीपिका उसके ऊपर बैन्दव ग्रन्थि है । नाद नामक महाग्रन्थि है और इसके बाद शक्ति ग्रन्थि है ॥ -२२-२५- ॥

जन्ममूल = आनन्द देने वाली इन्द्रिय अर्थात् उपस्थ । वह शरीर की उत्पत्ति का कारण है । माया रूप होने के कारण मायाग्रन्थि ही जन्म के कन्द में पाशव ग्रन्थि है । (यह) संकुचित ज्ञान शक्ति होने के कारण पशु अर्थात् पाश में बाँधने योग्य जीवों का आधार रूप अनेक नाड़ी प्राण आदि का प्रथम उद्भेद रूपी है । हृदय, कण्ठ तालु, भ्रूमध्य और ललाट में रहने वाले क्रमशः ब्रह्मा आदि (= विष्णु रुद्र, ईश्वर और सदाशिव) कारणों का सृष्टि आदि के कर्त्ता के रूप में निरोधक होने से पशु के प्रति ग्रन्थिरूप होने के कारण उनमें स्थित पाँच ग्रन्थियाँ हैं । निरोधिका के ऊपर—

'इन्धिका दीपिका चैव रोचिका मोचिकोर्ध्वगा ।' (१०।१२२६)

इति श्रीस्वच्छन्दे नादशक्तयो या उक्ताः, ता एवेह परचित्प्रकाशावारकरूपत्वाद् ग्रन्थय उक्ताः । तत्रेन्धिकाख्यो यो ग्रन्थिरसौ द्विमार्गाशमन इति निरोधिकास्पृष्टवामदक्षिणवाहनिःशेषप्रशमनहेतुः, अत एव शिव ऊर्ध्वैकमार्गारोहकत्वात् श्रेयोरूपः । तदूर्ध्वे किंचिद्दीप्तिहेतुत्वाद् दीपिकाख्यो ग्रन्थिः, अतोऽपि किंचिदधिकप्रकाशहेतुत्वाद् बैन्दवः । रोचिकेत्यन्यत्र योक्ता शक्तिस्तद्रूपो ग्रन्थिः । तदुपरि नादाख्यो महाग्रन्थिरिति । मोचिकोर्ध्वगेत्यन्यत्र यच्छक्तिद्वयमुक्तं तत्रोर्ध्वगा नादान्तेति तत्रैव योक्ता सैवेहान्तर्भावितमोचिका नादाख्यो महाग्रन्थिरित्युक्तः । महत्त्वं चास्य ग्रन्थ्यन्तर्भावादेव । अतः परः शक्तिस्थानस्थो ग्रन्थिः शक्तिग्रन्थिः ॥

यदेवं निर्णीतं तत्—

ग्रन्थिद्वादशकं भित्त्वा प्रविशेत् परमे पदे ॥ २५ ॥

उन्मनापरतत्त्वात्मनि धाम्नि ॥ २५ ॥

अत्र ब्रह्मादिकारणग्रन्थिभेदनादेव तदधिष्ठितहृदादिस्थानानि शक्तिग्रन्थिभेदेन च शक्तिस्थानं तदुपरि च व्यापिनीधामशिवस्थाने दलयेदित्याह—

'इन्धिका दीपिका रोचिका और मोचिका—ये ऊर्ध्वगामी है ।'

इस प्रकार स्वच्छन्दतन्त्र (१०.१२२६) में जो नादशक्तियाँ कही गयी हैं वे ही पर चैतन्यरूप प्रकाश का आवरक होने के कारण ग्रन्थि कही गयी हैं । उनमें इन्धिका नामक जो ग्रन्थि है वह द्विमार्गाशमन = निरोधिका से स्पृष्ट बायीं दायीं नाडी (= इडा पिङ्गला) के प्रवाह का आ = (पूर्णरूप से) प्रशमन करने का कारण है इसलिये शिव = ऊर्ध्वमार्ग, का आरोहक होने से श्रेयोरूप है । उसके ऊपर कुछ प्रकाश का कारण होने से दीपिका नामक ग्रन्थि है । इससे भी थोड़ा अधिक प्रकाशक होने से बैन्दव ग्रन्थि है । जो अन्यत्र शक्ति कही गयी है वह यहाँ रोचिका ग्रन्थि है । उसके ऊपर नाद नामक महाग्रन्थि है । मोचिका और ऊर्ध्वगा ये दोनों शक्तियाँ जो कि अन्यत्र कही गयी है, उनमें ऊर्ध्वगा को अन्यत्र नादान्त कहा गया है वही यहाँ अन्तर्भावित मोचिका नाद नामक महाग्रन्थि कही गयी है । दूसरी ग्रन्थियों का अपने अन्दर अन्तर्भाव करने से यहाँ 'महा' ग्रन्थि है । इसके ऊपर शक्तिस्थान में स्थित ग्रन्थि शक्तिग्रन्थि कही जाती है ।

जो कि ऐसा कहा गया इसलिये—

इन बारह ग्रन्थियों का भेदन कर परमपद में योगी प्रवेश करे ॥ २५॥

(परमपद =) उन्मना परतत्त्वरूप स्थान में ॥ २५ ॥

ब्रह्मा आदि कारण ग्रन्थि के भेदन से ही उनके द्वारा अधिष्ठित हृदय आदि

ब्रह्माणं च तथा विष्णुं रुद्रं चैवेश्वरं तथा ।
सदाशिवं तथा शक्तिं शिवस्थानं प्रभेदयेत् ॥ २६ ॥

अन्ते स्थानशब्दो ब्रह्मादिशब्दानामपि तत्स्थानप्रतिपादकत्वसूचनाय ॥ २६ ॥

अथ पूर्वोद्दिष्टं शून्यपञ्चकं षट्चक्रं च प्रदर्शयति—

खमनन्तं तु जन्माख्यं नाभौ व्योम द्वितीयकम् ।
तृतीयं तु हृदि स्थाने चतुर्थं बिन्दुमध्यतः ॥ २७ ॥
नादाख्यं तु समुद्दिष्टं षट्चक्रमधुनोच्यते ।
जन्माख्ये नाडिचक्रं तु नाभौ मायाख्यमुत्तमम् ॥ २८ ॥
हृदिस्थं योगिचक्रं तु तालुस्थं भेदनं स्मृतम् ।
बिन्दुस्थं दीप्तिचक्रं तु नादस्थं शान्तमुच्यते ॥ २९ ॥

अनन्तवद्विश्वाश्रयत्वादनन्तम् । नादाश्रयत्वाद् नादाख्यम् । नाडिप्रसरहेतुत्वात्,

'नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ।' (पा०यो० ३।२५)

इति नीत्या समस्तमायाप्रपञ्चख्यातिहेतुत्वात्, योगिनां चित्तैकाग्र्यप्रदत्वात्,

---

स्थान और शक्तिग्रन्थि के भेदन से शक्तिस्थान और उसके ऊपर व्यापिनी धाम जो शिवस्थान है उसका भी भेदन करना चाहिये—यह कहते हैं—

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव, शक्ति के स्थानों तथा शिवस्थान का भेदन करना चाहिये ॥ २६ ॥

अन्त में पठित 'स्थान' शब्द को ब्रह्मा आदि के साथ जोड़ना चाहिये—इस प्रकार ब्रह्मस्थान विष्णुस्थान आदि बतलाने के लिये 'स्थान' शब्द का प्रयोग है ॥ २६ ॥

अब पूर्वोद्दिष्ट पाँच शून्यों और छह चक्रों को बतलाते हैं—

जन्मस्थान पहला शून्य है । नाभि में दूसरा शून्य है । तीसरा हृदय स्थान में, चौथा बिन्दु के मध्य में है । पाँचवा नाद कहा गया है । अब षट्चक्र को कहते हैं । जन्मस्थान में नाड़ीचक्र, नाभि में मायाचक्र, हृदय में योगीचक्र, तालु में भेदन, बिन्दु में दीप्ति एवं नाद में शान्त चक्र स्थित कहा जाता है ॥ २७-२९ ॥

अनन्त की भाँति विश्व का आश्रय होने से शून्य का नाम अनन्त है । नाद का आश्रय होने से इसका नाद नाम है । नाड़ियों के विस्तार का कारण होने से,

'नाभिचक्र में (धारणा ध्यान समाधि लगाने से) कायव्यूह (= शरीरसंरचना) का ज्ञान होता है ।' (पा०यो०सू० ३.२५)

प्रयत्नेन भेदनीयत्वात्, दीप्तिरूपत्वात्, शान्तिप्रदत्वादिति क्रमेण नाडिचक्रादौ हेतवः । एतानि शून्यानि सौषुप्तावेशप्रदत्वात्, चक्राणि तु भेदप्रसरहेतुत्वात् हेयानीति कृत्वा ॥ २९ ॥

तैः सह—

पूर्वोक्तानि च सर्वाणि ज्ञानशूलेन भेदयेत् ।

पूर्वोक्तनीत्याधारग्रन्थ्यादीनि । ज्ञानशूलं मन्त्रवीर्यभूतचित्स्फुरत्ता ॥

ज्ञानशूलोत्तेजनं युक्तिमाह—

आक्रम्य जन्माधाराख्यं तन्मूलं पीडयेच्छनैः ॥ ३० ॥

चित्तप्राणैकाग्र्येण कन्दभूमिमवष्टभ्य, तन्मूलमिति मत्तगन्धस्थानम्, शनैरिति सङ्कोचविकासाभ्यासेन, शक्त्युन्मेषमुपलक्ष्य पीडयेद् यथा शक्तिरूर्ध्वमुखैव भवति ॥ ३० ॥

अथ प्रसङ्गान्नानाशास्त्रप्रसिद्धान् पर्यायान् जन्माधारस्याह—

नियम के अनुसार समस्त मायाप्रपञ्च के ज्ञान का हेतु होने के कारण (इसे नाडीचक्र कहा जाता है । इसी प्रकार) योगियों को चित्त की एकाग्रता देने के कारण, प्रयत्नपूर्वक भेदनीय होने के कारण, दीप्तिरूप होने के कारण, शान्तिप्रद होने के कारण क्रमशः योगीचक्र आदि कहे जाते है । चूंकि ये शून्य (शरीर के अन्दर) सौषुप्त आवेश उत्पन्न करते हैं तथा चक्रभेद की भावना को बढ़ाते हैं, इसलिये हेय हैं ॥ २७-२९ ॥

उनके साथ—

(योगी को चाहिये कि वह) पूर्वोक्त सभी (ग्रन्थि आदि) का ज्ञानशूल से भेदन करे ॥ ३०- ॥

पूर्वोक्त नीति से आधारग्रन्थि आदि का (भेदन करे)। ज्ञानशूल = मन्त्र की वीर्यभूत चित्स्फुरत्ता ॥

ज्ञानशूल की उत्तेजना में युक्ति बतलाते हैं—

जन्माधार को आक्रान्त कर उसके मूल का धीरे-धीरे पीड़न करना चाहिये ॥ -३० ॥

चित्त और प्राण को एकाग्र कर कन्दभूमि को अवष्टम्भित (= स्थिर) करे । उसके मूल को = मत्तगन्धस्थान (= गुदामार्ग) को । धीरे-धीरे = संकोच विकास के अभ्यास से । शक्ति के उन्मेष को ध्यान में रख कर पीड़ित करे ताकि कुण्डलिनी शक्ति का मुख ऊपर होने लगे ॥ ३० ॥

जन्माधारस्य सुश्रोणि पर्यायान् शृण्वतः परम् ।
जन्मस्थानं तु कन्दाख्यं कूर्माख्यं स्थानपञ्चकम्॥ ३१ ॥
मत्स्योदरं तथैवेह मूलाधारस्तथोच्यते ।

मरुदुद्भवहेतुत्वात्, मध्यनाडीकन्दरूपत्वात्, कूर्माकारत्वात्, पृथिव्यादि-व्योमान्ततत्त्वपञ्चकस्थानत्वात्, मत्स्योदरवत् स्फुरणात्, मूलभूतत्वाच्च जन्मादि आख्यायते ॥

एवं महामाहात्म्याच्छास्त्रेषु निरुच्यते या कन्दभूः—

तत्स्थां वै खेचराख्यां तु मुद्रां विन्देत योगवित् ॥ ३२ ॥
मुद्रया तु तया देवि आत्मा वै मुद्रितो यदा ।
तदा चोर्ध्वं तु विसरेद्विज्ञानेनोर्ध्वतः क्रमात् ॥ ३३ ॥

तत्स्थामिति कन्दभूमिविस्फुरितां शक्तिम्, मुदो हर्षस्य राणात् पाशमोचनभेद-द्रावणात्मत्वात् परसंविद्द्रविणमुद्रणाच्च मुद्राम्, खे बोधगगने चरणात् खेचर्याख्यां योगी लभेत । लब्धया तु तया यदा आत्माणुर्मुद्रितः तद्वशः संपन्नः, तदामन्त्र-

---

अब प्रसङ्गात् अनेक शास्त्रों में प्रसिद्ध जन्माधार के पर्यायवाची शब्दों को बतलाते हैं—

हे सुश्रोणि ! इसके बाद जन्माधार के पर्यायों को सुनो । इसे जन्मस्थान, कन्द, कूर्म, स्थानपञ्चक, मत्स्योदर और मूलाधार कहा जाता है ॥ ३१-३२- ॥

वायु की उत्पत्ति का कारण होने से, मध्यनाडी का कन्दरूप होने से, कछुये के आकार का होने से, पृथ्वी से लेकर आकाश तक पाँच का (मूल) स्थान होने से, मछली के पेट के समान स्फुरण वाला होने से, मूल होने से यह जन्माधार आदि कहा जाता है ॥

इस प्रकार महामाहात्म्य के कारण शास्त्रों में जो यह कन्दभूमि कही जाती है—

योगी उसमें स्थित हुई खेचरी मुद्रा को प्राप्त करता है । हे देवि ! जब उस मुद्रा से आत्मा मुद्रित (= वशीभूत) होता है तब विज्ञान के द्वारा योगी क्रमशः ऊपर-ऊपर चलने लगता है ॥ -३२-३३ ॥

उसमें स्थित को = कन्द भूमि में विस्फुरित शक्ति को । मुद के = हर्ष के, राण (= दान) से, पाशमोचन भेदद्रावण रूप होने से, परसंवित् रूप धन के मुद्रण के कारण (इसका मुद्रा नाम पड़ा है) । ख = बोधगगन में, चरण = सञ्चरण करने से—खेचरी नामक मुद्रा को योगी प्राप्त करता है । उपलब्ध उस मुद्रा के द्वारा जब यह आत्मा = अणु (= जीव) मुद्रित होता है = उसके वश में होता है,

वीर्यस्फुरत्तात्मना विज्ञानेनोर्ध्वं द्वादशान्तं यावद्विसरेत् प्रसरेत् ॥ ३३ ॥

एतदेव स्फुटयति—

भिन्द्याद्भिन्द्यात् परं स्थानं यावत् स्वरवरार्चिते ।
तत्स्थानं चैव संप्राप्य योगी समरसो भवेत् ॥ ३४ ॥
निष्कलं भावमापन्नो व्यापकः परमः शिवः ।

परं स्थानं द्वादशान्तम् । भिन्द्यादिति वीप्सया क्रमादित्युक्तिः स्फुटीकृता । समरस इति सर्वस्याधस्तनस्याध्वनस्तन्मयीभावप्राप्तेः । परमः शिव इति, न तु भेदवाद्युक्तव्यतिरिक्तमुक्तशिवरूपः ॥

अथ श्लोकार्धेन परमशिवाभेदव्याप्तिमनुवदन् शक्तेरवरोहक्रमेण व्याप्तिमादेष्टुमुपक्रमते—

एवं भूत्वा समं सर्वं निःस्पन्दं सर्वदोदितम् ॥ ३५ ॥
ततः प्रवर्तते शक्तिर्लक्ष्यहीना निरामया ।
इच्छामात्रविनिर्दिष्टा ज्ञानरूपा क्रियात्मिका ॥ ३६ ॥
एका सा भावभेदेन तस्य भेदेन संस्थिता ।

भूत्वेत्यन्तर्भावितणिजर्थः । तेन सर्वं समनान्तम्, एवं द्वादशान्तारोहणेन, समं

तब (वह) मन्त्रवीर्य की स्फुरत्ता रूप विज्ञान के द्वारा ऊर्ध्व = द्वादशान्त तक, प्रसरण करता है ॥ ३३ ॥

इसी को स्पष्ट करते हैं—

हे श्रेष्ठस्वरों से पूजित ! पर स्थान का बार-बार तब तक भेदन करना चाहिये जब तक उस स्थान को प्राप्त करने के बाद योगी निष्कल भाव को प्राप्त कर समरस, व्यापक परम शिव न हो जाय ॥ ३४-३५- ॥

पर स्थान = द्वादशान्त । भेदन करे—इसको दो बार कहने का अर्थ है—क्रमशः । समरस = समस्त अधस्तन अध्वा के तन्मयीभाव की प्राप्ति के कारण । परम शिव—न कि भेदवादियों के द्वारा उक्त भिन्न मुक्त शिवरूप (परम शिव) ॥ ३४ ॥

अब श्लोकार्द्ध के द्वारा परमशिव के साथ अभेदव्याप्ति को कहते हुए शक्ति के अवरोहक्रम से व्याप्ति को बतलाने का उपक्रम करते है—

इस प्रकार सबको सम निःस्पन्द और सर्वदा उदित सम्पादित करने के बाद लक्ष्यहीन, निरामय, इच्छाज्ञानक्रियारूपा शक्ति प्रवृत्त होती है । यद्यपि वह एक है फिर भी उसके (= परम शिव के) भावभेद के कारण वह भेदपूर्वक स्थित है ॥ ३५-३७- ॥

समरसम्, नि:स्पन्दं प्रशान्तकल्लोलम्, सर्वदोदितं प्राप्तपरचित्प्रकाशैक्यम्, भावयित्वा संपाद्य, तत एव द्वादशान्तधाम्नो लक्ष्यहीना परस्फुरत्तात्मा, निष्क्रान्त आमयो महामाया यस्यास्तादृशी महामायाद्युल्लासिका परा शक्ति:, प्रवर्तते समुन्मिषति इच्छा-ज्ञान-क्रियारूपतया क्रमेण स्फुरतीत्यर्थ: । तत एवैका, तस्येति परमशिवस्य, संबन्धिना भावभेदेन एषणीयज्ञेयकार्यावभासनोदयवैचित्र्येण हेतुना, भेदेन संस्थिता गृहीतेच्छादिनानात्वा ।

यत एवं परमशिवाच्छक्ति: स्वयं प्रवर्तते, तेन—

खेचरीमुद्रयापूर्य शक्त्यन्तं तत्र सर्वत: ॥ ३७ ॥
यावच्च नोदितश्चन्द्रस्तावत् सूक्ष्मं निरञ्जनम्।
भावग्राह्यमसंदिग्धं सर्वावस्थोज्झितं परम् ॥ ३८ ॥
व्यापकं पदमैशानमनौपम्यमनामयम् ।
भवन्ति योगिनस्तत्तु तदारूढौ वरानने ॥ ३९ ॥

तत्र—

'बद्ध्वा पद्मासनं योगी नाभावक्षेश्वरं न्यसेत् ।
दण्डाकारं तु तावत्तन्नयेद्यावत् कखत्रयम् ॥

भूत्वा—यहाँ अन्तर्भावित 'णिच्' प्रत्यय है (= इससे 'भूत्वा' का अर्थ है—भावयित्वा = सम्पादित कर) । सब = समना पर्यन्त । इस प्रकार द्वादशान्त तक आरोहण के द्वारा सबको समरस नि:स्पन्द = कल्लोलरहित, सर्वदा उदित = पर संवित् की प्रकाशैकता को प्राप्त, बनाकर, उसी से = द्वादशान्तधाम से, लक्ष्यहीन = परस्फुरत्तारूप, निरामया = निकल गया है आमय = महामाया जिससे वह अर्थात् महामाया आदि की उल्लासिका परा शक्ति, प्रवृत्त होती है = समुन्मिषित होती है = इच्छा-ज्ञान-क्रिया रूप में क्रम से स्फुरित होती है । इसीलिये वह एक होते हुए भी, उसके = परमशिव के, भावभेद से = एषणीय ज्ञेय कार्य के अवभासन के उदयवैचित्र्य के कारण, (वह शक्ति) भेदपूर्वक स्थित है = इच्छा आदि नानारूप धारण किये है ॥

चूँकि परमशिव से शक्ति स्वयं प्रवृत्त होती है; इस कारण—

खेचरी मुद्रा के द्वारा शक्तिपर्यन्त सब प्रकार से आपूरण कर जब तक चन्द्र का उदय नहीं होता तब तक उस (= शक्ति) पर आरूढ़ होने पर सूक्ष्म, निरञ्जन, भावग्राह्य, असन्दिग्ध, सब अवस्था से परे, पर, व्यापक, उपमारहित, अनामय (जो परधाम उपलब्ध होता है) योगिजन वैसे ही हो जाते हैं ॥ -३७-३९ ॥

योगी पद्मासन लगाकर नाभि में अक्ष के स्वामी (= क्षकार) का न्यास करे ।

निगृह्य तत्र तत्तूर्णं प्रेरयेत् खत्रयेण तु ।
एतां बद्ध्वा महायोगी खे गतिं प्रतिपद्यते ॥' (७।१५-१७)

इति श्रीमालिनीविजयलक्षितया पूर्वोद्दिष्टखेचरीमुद्रया शक्त्यन्तं यावत्, सर्वतः सर्वप्रकारेणापूर्य, यावत् तत्र चन्द्र इत्यपानो नोदितो भवेत् तावत् तदारूढौ तच्छक्तिपदारोहे सति, योगिनः, सूक्ष्ममतीन्द्रियम्, निरञ्जनमनावरणम्, भावग्राह्यं स्वप्रकाशम्, असन्दिग्धं स्वविमर्शसारम्, सर्वाभिर्जागराद्यवस्थाभिरुज्झितम् सर्वसामरस्यावस्थानात्परम्, दिग्देशाद्यनवच्छेदाद् व्यापकम्, परमेशानं स्वतन्त्रम्, अद्वितीयत्वाद् अनौपम्यम्, न विद्यते आमयो महामायावच्छेदो यतो भक्तिभाजां तदनामयम्, यत् परं धाम तद्भवन्ति तन्मया जायन्त इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

एवं प्राप्तपरतत्त्वाभेदस्य योगिनः 'तत् प्रवर्तते शक्तिः' इत्यनेन योन्मिषन्ती परा शक्तिरुक्ता—

सा योनिः सर्वदेवानां शक्तीनां चाप्यनेकधा ।
अग्नीषोमात्मिका योनिस्तस्याः सर्वं प्रवर्तते ॥ ४० ॥
तत्र संग्रथिता मन्त्रास्त्राणवन्तो भवन्ति हि ।
सर्वेषां चैव संहारस्तदेव परमं पदम् ॥ ४१ ॥

उसे दण्डाकार में तब तक ले जाय जब तक क ख त्रय (= क = शिर में, ख त्रय = शक्ति व्यापिनी और समना) का निग्रह कर ख तीन (= शक्ति व्यापिनी और समना) से उसे प्रेरित करे । इसका बन्धन कर महायोगी आकाश में गति प्राप्त करता है । (मा०वि०तं० ७।१५-१७)

इस मालिनीविजयतन्त्र से लक्षित पूर्वोद्दिष्ट खेचरी मुद्रा के द्वारा शक्तिपर्यन्त, सर्वतः = सब प्रकार से, (नाडी समूह को) आपूरित कर जब तक चन्द्र = अपान, उदित नही होता तब तक उसके आरूढ़ होने पर = (योगी के) उस शक्ति पद पर आरूढ़ होने पर, योगी लोग सूक्ष्म = अतीन्द्रिय, निरञ्जन = आवरणरहित, भावग्राह्य = स्वप्रकाश, असन्दिग्ध = स्वविमर्शमात्र तत्त्व वाले, सब = जाग्रत स्वप्न आदि, अवस्थाओं से उज्झित, सब के साथ समरस होने से पर, दिशा देश आदि से अवच्छिन्न न होने से व्यापक, परमेश्वर = स्वतन्त्र, अद्वितीय होने से अनुपम, भक्त लोगों के लिये जहाँ महामाया अवच्छेद रूपी आमय नही है ऐसा अनामय जो परमधाम, उसके रूप वाले या तन्मय = वही हो जाते हैं ॥ ३९ ॥

इस प्रकार परतत्त्व से अभेद को प्राप्त योगी की 'उसके प्रति शक्ति प्रवृत्त होती है' उक्ति के द्वारा जो उन्मिषन्ती पराशक्ति कही गयी है—

वह समस्त देवों की कारण है; शक्तियों की अनेक प्रकार है, अग्नि और सोमरूपी योनि है । उसी से सब उत्पन्न होता है । उसमें संग्रथित मन्त्र त्राण करते हैं । सबकी संहारस्थली वह परम पद है । परमशिव को

तस्मात् प्रवर्तते सृष्टिर्विक्षोभ्य परमं शिवम् ।
अनौपम्यामृतं प्राप्य बिन्दुं विक्षोभ्य लीलया ॥ ४२ ॥
चन्द्रोदये तदा ख्याते परमामृतमुत्तमम् ।
बहलामृतकल्लोलमनन्तं तत्र संस्मरेत् ॥ ४३ ॥
तस्मात् प्राप्यामृतं शुद्धं स्वशक्त्या चैव कर्षयेत्।
मध्यमार्गेण सुश्रोणि कारणादि प्रभेदयेत् ॥ ४४ ॥
आप्यायनं प्रकुर्वीत् स्थाने स्थाने ह्यनुक्रमात् ।
यावद् ब्रह्मपदं प्राप्तं तस्मादाप्याययेदधः ॥ ४५ ॥
जन्मस्थानपथाच्चैव कालाग्नौ तु प्रवर्तयेत् ।
तदापूर्य समन्तात्तु परिपूर्णं स्मरेत् पुरम् ॥ ४६ ॥
सुषुम्नामृतेनाखिलं परिपूर्णं विभावयेत् ।
अनन्तनाडिभिस्तत्र रोमकूपैः समन्ततः ॥ ४७ ॥
निष्क्रम्य व्यापको भूत्वा ह्यमृतोर्मिभिराकुलम् ।
अमृतार्णवसंरूढं मज्जन्तममृतार्णवे ॥ ४८ ॥
तदूर्ध्वे ह्यमृतार्णं तु प्रद्रुतं व्यापकं शिवम् ।
एवं समरसीभूतं ह्यमृतं सर्वतोमुखम् ॥ ४९ ॥
इच्छाज्ञानक्रियारूपं शिवमात्मस्वरूपकम् ।
निरामयमनुप्राप्य स्वानुभूत्या विभावयेत् ॥ ५० ॥
अमृतेशपदं सूक्ष्मं संप्राप्यैवामृतीभवेत् ।

विक्षुब्ध कर उसी से सृष्टि होती है। योगी (को चाहिये कि वह) अनुपम अमृत को प्राप्त कर, बिन्दु को लीला के द्वारा क्षुब्ध कर चन्द्रोदय होने पर बहल (= प्रचुर) अमृत कल्लोलवाले अनन्त उत्तम परम अमृत का वहाँ स्मरण करे ॥ ४०-४३ ॥

उससे शुद्ध अमृत प्राप्त कर अपनी शक्ति से उसे मध्यमार्ग से (नीचे) ले जाय । तत्पश्चात् कारण आदि का भेदन करे । तात्पर्य यह है कि स्थान-स्थान पर क्रम से तब तक आप्यायन करे जब तक कि ब्रह्मपद न प्राप्त हो जाय । उससे नीचे-नीचे आप्यायन करे । जन्मस्थान पथ से कालाग्नि में प्रवर्त्तित करे । उस (अमृत) से अपने शरीर को सब ओर से परिपूर्ण होता हुआ ध्यान करे । सुषुम्ना के अमृत से सबको परिपूर्ण ध्यान करे । इसके बाद अनन्त नाड़ियों अर्थात् रोमकूपों से सब ओर से निकल कर व्यापक होकर अमृतकिरणों से व्याकुल अमृतसमुद्र में संरूढ़ उसमें डूबते हुए तथा उसके बाद अमृतवर्ण को प्रद्रुत व्यापक शिव के साथ समरसीभूत सब दिशाओं में प्रसृत इच्छा ज्ञान क्रिया रूप

तदासावमृतीभूय मृत्युजिन्नात्र संशयः ॥ ५१ ॥
कालजित् सुभगो धीरो मृत्युस्तं च न बाधते।

सर्वदेवानामित्यनाश्रितसदाशिवेश्वरानन्तरुद्रादीनाम्, शक्तीनामिति वामाज्येष्ठादीनां च, यतश्च सा शक्तिरग्नीषोमात्मिका योनिस्तत एव सोमप्रधाना, यतस्तस्याः सर्वं प्रवर्तते उद्भवति, अत एवाग्नीषोमात्मशक्तिप्रकृति विश्वमग्नीषोममयमेव । तथा चाग्निरप्याह्लादयति हिममपि च दहति, इति तत्त्वविद आहुः । किं च, तत्राग्नीषोमात्मशक्तिधाम्नि संग्रथितास्तद्वीर्यसारत्वेनोच्चारिता मन्त्रास्त्राणवन्तः सिद्धिमुक्तिदाः, इति शक्तेः स्थितिहेतुत्वमुक्तम् । तदेवेत्यग्नीषोमात्मनः शक्तेरग्निरूपत्वात् संहर्तृत्वं च । एवं सृष्टिस्थितिसंहारहेतुत्वं शक्तेः प्रदर्श्य प्रकृतमाह-तस्मादिति । यत एवंभूतैषा शक्तिस्तस्मात्परं शिवं विक्षोभ्य समनापदावरोहणेन सृष्ट्युन्मुखं कृत्वा, तत्रानौपम्यमिति परमानन्दमयममृतं प्राप्य, बिन्दुमिति महाप्रकाशात्म समनारूढं धाम, लीलया स्वातन्त्र्यक्रीडया, विक्षोभ्य सृष्टिप्रसरोन्मुखं विधाय, तदा चन्द्रोदयेऽपानोल्लासे ख्याते सति, तत एव शाक्ताद्धाम्न उदितं परमामृतमुत्तममानन्दरसप्रधानं बहला अमृतकल्लोलाः सुसितसुधाप्रसारा यस्य तादृक्, अनन्त-

---

शिव का निरापद आत्मस्वरूप में चिन्तन करे । इस प्रकार सूक्ष्म अमृतेश पद को प्राप्त कर अमृत हो जाय । इस प्रकार यह (साधक) अमृत, मृत्युजित्, कालजयी, सुभग और धीर हो जाता है । मृत्यु उसको बाधित नहीं करती ॥ ४४-५२- ॥

सब देवों का = अनाश्रित शिव, सदाशिव ईश्वर अनन्तेश रुद्र आदि का । शक्तियों का = वामा ज्येष्ठा तथा ब्राह्मी आदि का । चूँकि वह शक्ति अग्नीषोमरूपा योनि है इसीलिये सोमप्रधान है । चूँकि उससे सब प्रवृत्त = उत्पन्न होता है इसलिये अग्निसोमरूप शक्तिवाला विश्व अग्निसोममय ही है । इस प्रकार अग्नि भी आनन्द देती है हिम भी दाह करता है—ऐसा तत्त्ववेत्ता लोग कहते हैं । उस अग्निसोमात्मक शक्तिधाम में संग्रथित = उसके वीर्यसार के रूप में उच्चारित, मन्त्र त्राण करते हैं = भोग और मोक्ष देते हैं । इस प्रकार शक्ति ही स्थिति का कारण है—यह कहा गया । वही—अग्नीषोमात्मक शक्ति के अग्निरूप होने के कारण वह संहर्त्री भी है । इस प्रकार शक्ति को सृष्टि स्थिति संहार का कारण बतलाकर प्रस्तुत को कहते हैं—इस कारण । यतो हि यह शक्ति इस प्रकार की है इस कारण योगी को चाहिये कि वह परशिव को विक्षोभित कर समना स्तर पर उतर कर सृष्टि के प्रति (उन्हें) उन्मुख बनाये । वहाँ पर अनौपम्य—परमानन्दमय अमृत, को प्राप्त कर बिन्दु अर्थात् महाप्रकाशरूप समनारूढ धाम को लीला अर्थात् स्वातन्त्र्यवश विक्षोभित कर अर्थात् सृष्टिप्रसर की ओर प्रवृत्त करे उसके बाद चन्द्र अर्थात् अपान का उल्लास होने पर उसी शाक्तधाम से उदित परम अमृत = उत्तम आनन्द रसप्रधान बहल अमृतलहरियों = सुसित सुधारसप्रसर वाले अनन्त अनवच्छिन्न का स्मरण

मनवच्छिन्नम्, तत्र स्मरेद् ध्यायेत् । तस्मात् चन्द्रोदयाच्छुद्धममृतं प्राप्यान्तर्मुखीभूतया स्वशक्त्या मध्यमार्गेण कर्षयेदधोऽधः प्रवर्तयेत् । तेन च कारणादीति कारणानि ब्रह्मादीनि, आदिशब्दात्, पूर्वोक्तं चक्राधारादि सर्वं प्रभेदयेद् निषिञ्चेत् । एतदेवाप्यायनमित्यादिनानेन स्फुटीकृतम् । ब्रह्मस्थानं हृद्धाम यावत्तदमृतं प्राप्तं भवति, ततोऽप्यधो नाभेरधःस्थाने निषिच्य कालाग्न्यन्तमापूर्य समन्तात् परिपूर्णं देहं स्मरेत् । ततः सर्वरोमकूपैः प्रसृत्यान्तर्बहिरासादितव्याप्ति सर्वदिक्कममृतार्णवप्लावनसमरसीभूतपरमामृतरूपम्, इच्छाज्ञानक्रियाशक्तिकचितं परमशिवरूपं निरामयमात्मानं चिन्तयेत् । एवं सूक्ष्मध्यानाद्विजितमृत्युरासादितपरमसौभाग्योऽमृतेशतुल्यो भवति ॥ ५१ ॥

उपसंहरति—

कालस्य वञ्चनं सूक्ष्मं मया ते प्रकटीकृतम् ॥ ५२ ॥
न कस्यचिन्मयाख्यातं त्वदृते भक्तवत्सले ॥ ५३ ॥

तवैव परानुग्रहैकव्रताया एवं प्रकटीकृतम् ॥ ५३ ॥

अर्थात् ध्यान करे । उस चन्द्रोदय से शुद्ध अमृत को प्राप्त कर अन्तर्मुखीभूत अपनी शक्ति से मध्यमार्ग से (उस अमृत को) नीचे-नीचे ले जाय । उसके द्वारा कारण आदि = ब्रह्मा आदि कारणों एवं चक्र आधार आदि सबका, प्रभेदन = सिञ्चन, करे । यही बात 'आप्यायन' इत्यादि के द्वारा ग्रन्थकार ने स्पष्ट किया है । जबतक वह अमृत ब्रह्मस्थान = हृदयधाम को प्राप्त होता है तबतक उसको और नीचे = नाभि के नीचे, स्थान से गिराकर कालाग्नि तक पूरित कर समस्त शरीर को उससे परिपूर्ण चिन्तन करे । इसके बाद उस अमृत को समस्त रोम कूपों के माध्यम से बाहर निकाल कर समस्त दिशाओं में व्याप्त होकर अमृत-समुद्र के प्लावन जैसा, इच्छा ज्ञान क्रिया शक्ति वाले परमशिव रूप अपने को निरामय सोचे। इस प्रकार सूक्ष्मध्यान से योगी मृत्यु को जीत कर परम सौभाग्य वाला एवं अमृतेश के समान हो जाता है ॥ ५१ ॥

(अधिकार का) उपसंहार करते हैं—

हे भक्तवत्सले ! मेरे द्वारा तुम्हें काल का सूक्ष्म वञ्चन (= परिचय) बतलाया गया। इसे तुम्हारे अतिरिक्त मैंने किस को नहीं कहा ॥५२-५३॥

इस प्रकार मृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के सप्तम अधिकार की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदी कृत ज्ञानवती नामक हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ७ ॥

परानुग्रह का नियम रखने वाली तुम्हीं को बतलाया ॥ ५३ ॥

सूक्ष्मध्यानसमुल्लासिसुधाकल्लोलकेलिभिः ।
प्लावयन्निखिलं नौमि नेत्रमुच्चैर्महेशितुः ॥

**॥ इति श्रीनेत्रतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचिते-
नेत्रोद्योते सूक्ष्मध्याननिरूपणं नाम सप्तमोऽधिकारः ॥ ७ ॥**

सूक्ष्मध्यान को समुल्लसित करने वाले, अमृत लहरियों की लीला के द्वारा समस्त विश्व को प्लावित करने वाले, परमेश्वर के उच्च नेत्र को मैं (उच्च रूप से) प्रणाम करता हूँ ।

॥ इस प्रकार श्रीमदमृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के सप्तम अधिकार की आचार्यवर्य श्रीक्षेमराजविरचित 'नेत्रोद्योत' नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ७ ॥

अष्टमोऽधिकारः

*** नेत्रोद्योतः ***

अमन्दानन्दसन्दोहि स्पन्दान्दोलनसुन्दरम् ।
स्वज्योतिश्चिन्महाज्योतिर्नेत्रं जयति मृत्युजित् ॥

सूक्ष्मध्यानानन्तरं परध्याननिर्णयाय श्रीभगवानुवाच—

अथ मृत्युञ्जयं नित्यं परं चैवाधुनोच्यते ।
यत्प्राप्य न प्रवर्तेत संसारे त्रिविधे प्रिये ॥ १ ॥

अथशब्दः सूक्ष्मध्यानानन्तर्यप्रथनाय, नित्यमेव च यन्मृत्युञ्जयं कालग्रासि, परमनुत्तरं परमेशस्वरूपम् । त्रिविध इति मायान्तसदाशिवान्तशिवान्तभवाभवातिभवरूपे ॥ १ ॥

*** ज्ञानवती ***

यमाद्यष्टाङ्गयोगेन साकमावेशलक्षणम् ।
वर्णयज्जयते नेत्रमुपायानां विवेचकम् ॥

अमन्द आनन्द की राशि वाला, स्पन्द के आन्दोलन से सुन्दर, स्वयं प्रकाश, चैतन्य की महाज्योतिरूप मृत्युजित्नेत्र सर्वोत्कृष्ट है ।

सूक्ष्म ध्यान के बाद पर ध्यान के निर्णय के लिये श्री भगवान् ने कहा—

हे प्रिये ! इसके बाद अब नित्य पर मृत्युञ्जय ध्यान को बतलाता हूँ जिसको प्राप्त कर (योगी) इस त्रिविध संसार में नहीं आता ॥ १ ॥

(श्लोकोक्त) 'अथ' शब्द सूक्ष्म ध्यान के आनन्तर्य को बतलाने के लिये है । नित्य जो मृत्युञ्जय = काल को निगलने वाला, पर = अनुत्तर परमेश्वररूप, त्रिविध = मायान्त, सदाशिवान्त तथा शिवान्त जो कि क्रमशः भव, अभव और अतिभव रूप है, (में योगी प्रवेश नहीं करता) ॥ १ ॥

किं च—

> योगी सर्वगतो भाति सर्वदृक् सर्वकृच्छिवः ।
> तदहं कथयिष्यामि यस्मादन्यन्न विद्यते ॥ २ ॥
> यत्प्राप्य तन्मयत्वेन भवति ह्यजरामरः ।

परयोगिनोऽस्य देहादिप्रमातृताऽस्पर्शाद् जरामरणादिकथैव न काचिदस्तीत्यर्थः॥

तदेतद्वक्तुमुपक्रमते—

> यन्न वाग्वदते नित्यं यन्न दृश्येत चक्षुषा ॥ ३ ॥
> यच्च न श्रूयते कर्णैर्नासा यच्च न जिघ्रति ।
> यन्नास्वादयते जिह्वा न स्पृशेद्यत् त्वगिन्द्रियम् ॥ ४ ॥
> न चेतसा चिन्तनीयं सर्ववर्णरसोज्झितम् ।
> सर्ववर्णरसैर्युक्तमप्रमेयमतीन्द्रियम् ॥ ५ ॥
> यत्प्राप्य योगिनो देवि भवन्ति ह्यजरामराः ।
> तदभ्यासेन महता वैराग्येण परेण च ॥ ६ ॥
> रागद्वेषपरित्यागाल्लोभमोहक्षयात् प्रिये ।
> मदमात्सर्यसंत्यागान्मानगर्वतमःक्षयात् ॥ ७ ॥
> लभ्यते शाश्वतं नित्यं शिवमव्ययमुत्तमम् ।

साथ ही—

(उसको प्राप्त कर) योगी सर्वगामी, सर्वद्रष्टा और सर्वकर्त्ता रूप शिव हो जाता है । मैं उस (तत्त्व) को बतलाऊँगा जिससे भिन्न और कुछ नहीं है । जिसको प्राप्त कर तन्मय होने के कारण योगी अजर अमर हो जाता है ॥ २-३- ॥

देहादिप्रमातृता का स्पर्श न होने के कारण जरा मरण आदि की कोई बात ही नहीं है ॥

उसको कहने का उपक्रम करते हैं—

जिस नित्य को वाणी नहीं बताती; जो आँखों से देखा नहीं जाता, जिसको कानों से सुना नहीं जाता, नासिका जिसको सूँघ नहीं सकती; जिह्वा जिसका आस्वादन नहीं करती, त्वगिन्द्रिय जिसका स्पर्श नहीं करती, चित्त जिसका चिन्तन नहीं कर सकता, जो समस्त वर्ण रस (आदि) से रहित होकर भी समस्त वर्ण रसों से युक्त है; जिसको प्राप्त कर योगीजन अजर और अमर हो जाते हैं । हे प्रिये ! शाश्वत नित्य उत्तम अव्यय शिवस्वरूप वह (तत्त्व) अत्यन्त महान् अभ्यास, परवैराग्य, रागद्वेष के

पश्यन्त्यादित्रिरूपापि वाग् यत्र भाषते, यच्च बहिरन्तःकरणागोचरः, वर्णयन्तीति वर्णा वाचकाः, वर्ण्यन्त इति वर्णा वाच्याः, सर्वे च ते वर्णास्तेषां रसाः प्रसरास्तैरुज्झितमवाच्यवाचकात्मेत्यर्थः । अथ च तैः सर्वैर्युक्तं विश्वात्मकत्वात्, अतश्चातीन्द्रियत्वान्न प्रमेयमपि तु परप्रमात्रेकरूपमिति पर्यवसितम्, यदेवंभूतं तत्त्वं प्राप्य समाविश्य,

'योगमेकत्वमिच्छन्ति ।' मा० वि० (४।४)

इति स्थित्या योगिनः परतत्त्वैकशालिनस्तत्त्वतो जरामृत्युरहिता भवन्ति । तन्महताभ्यासेन—

'मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।' (भ गी० १२।२)

इति सततसमावेशप्रयत्नेन परेण वैराग्येण दृष्टागमिकधराद्यनाश्रितान्तसमस्तभोगवैतृष्ण्येन, अत एव रागद्वेषादिसर्वदोषप्रशमाच्च लभ्यते, मानाच्छङ्करपूजातो तस्य क्षयात् शाश्वतमविवर्तात्मकम्, नित्यं लोकोत्तरं शिवं परश्रेयोरूपमव्ययमपरिणामि, अतश्चोत्तमं सर्वोत्कृष्टम् ॥

परित्याग, लोभ मोह के सम्यक् नाश, मदमात्सर्य के सन्त्याग, मान गर्व अज्ञान के क्षय से प्राप्त होता है ॥ ३-८- ॥

पश्यन्ती आदि तीनों प्रकार की वाणी जिसको नहीं बतलाती । जो बाह्य और आभ्यन्तर इन्द्रियों का विषय नहीं बनता । जो वर्णन करे वह वर्ण (कहलाता है) अर्थात् वाचक । जो वर्णित किया जाय वह भी वर्ण (कहलाता है) अर्थात् वाच्य । वे सभी (= वाचक वाच्य) वर्ण हैं । उनका रस = प्रसार, उनसे त्यक्त अर्थात् अवाच्य अवाचकरूप । वह उन सबसे युक्त है क्योंकि वह विश्वरूप है । इसलिये अतीन्द्रिय होने के कारण वह प्रमेय नहीं है वरन् परप्रमातामात्र है । इस प्रकार के तत्त्व को प्राप्त कर = उससे समविष्ट होकर,

'योग का अर्थ है—एकत्व—(ऐसा विद्वान्) मानते हैं ।' (मा०वि० ४.४)

उस स्थिति से परतत्त्व से ऐक्य को प्राप्त योगी जरामृत्यु से रहित हो जाते हैं । वह तत्त्व महा अभ्यास से—

'जो लोग मन को मुझ में आविष्ट कर नित्य योग में लगे हुये मेरी उपासना करते हैं' (भ०गी० १२।२)

इस प्रकार सतत समावेश रूपी प्रयत्न से तथा परवैराग्य = प्रत्यक्ष एवं आगमवर्णित पृथ्वी से अनाश्रित शिव पर्यन्त प्राप्य समस्त भोगों के प्रति अनिच्छा, के कारण, इसीलिये राग द्वेष आदि समस्त दोषों के प्रशमन के कारण प्राप्त होता है । मान = शङ्कर पूजा के कारण जो गर्व—मेरे जैसा कोई नहीं है इस प्रकार का—वही तम अर्थात् अनात्मा में आत्माभिमानरूप अज्ञान, उसके क्षय से, शाश्वत = विवर्त्तरहित, नित्य = लोकोत्तर, शिव = पर श्रेयोरूप, अव्यय = अपरिणामी,

इयांश्चास्य स्फारोऽयम्—

निमेषोन्मेषमात्रेण यदि चैवोपलभ्यते ॥ ८ ॥
ततः प्रभृति मुक्तोऽसौ न पुनर्जन्म चाप्नुयात् ।

केनचिदिति मध्येऽध्याहार्यम् । उपलभ्यते समाविश्यते । ततःप्रभृति न तु कालान्तरे । मुक्तः स्थितैरपि देहप्राणैरगुणीकृतः । न च तद्देहत्यागे पुनर्जन्म देहान्तरसंबन्धमाप्नोति, अपि तु परमशिव एव भवति ॥

ततश्च योगी—

अष्टाङ्गेन तु योगेन प्राप्नुयान्नान्यतः क्वचित् ॥ ९ ॥

तमष्टाङ्गयोगमन्यशास्त्रप्रतिपादितरूपवैलक्षण्येन क्रमेणादिशति देवः—

संसाराद्विरतिर्नित्यं यमः पर उदाहृतः ।
भावना तु परे तत्त्वे नित्यं नियम उच्यते ॥ १० ॥

स्पष्टम् ॥ १० ॥

मध्यमं प्राणमाश्रित्य प्राणापानपथान्तरम् ।

इस कारण उत्तम = सर्वोत्कृष्ट (शिव तत्त्व प्राप्त होता है) ॥

यदि कोई निमेष या उन्मेष मात्र से उसे प्राप्त कर ले तो उसके बाद वह मुक्त हो जाता है और पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता ॥ ८-९- ॥

बीच में, 'केनचित्' का अध्याहार कर लेना चाहिये । (तब अन्वय होगा— 'किसी के द्वारा') उपलब्ध किया जाता हैं = समाविष्ट किया जाता है । तब से— न कि कालान्तर में, मुक्त = देह प्राण के रहते हुए भी उनसे असम्बद्ध । उस शरीर का त्याग होने पर पुनर्जन्म = दूसरे देह से सम्बन्ध, नहीं होता वरन् वह परम शिव ही हो जाता है ॥ -८-९- ॥

इसके बाद योगी—

अष्टाङ्ग योग से ही उसे प्राप्त करता है अन्य किसी साधक से नहीं ॥ -९ ॥

देव (= परमेश्वर) प्रकृत अष्टाङ्ग योग को अन्य शास्त्रों में प्रतिपादित अष्टाङ्ग योग से भिन्न रूप में बतलाते हैं—

संसार से शाश्वत विरति को पर (= उत्कृष्ट) यम कहा गया है । पर तत्त्व में नित्य भावना नियम कहा जाता है ॥ १० ॥

कारिकार्थ स्पष्ट है ॥ १० ॥

प्राण और अपान मार्गों के बीच में उपस्थित मध्य प्राण को आधार

आलम्ब्य ज्ञानशक्तिं च तत्स्थं चैवासनं लभेत ॥ ११ ॥

प्राणापानमार्गयोः सव्यापसव्ययोरान्तरं मध्यनाड्यां भवं प्राणमित्यूर्ध्वगामिनमुदानमाश्रित्य, ततश्च प्राणीयव्याप्तिनिमज्जनेन चिद्व्याप्त्युन्मज्जनाद् ज्ञानशक्तिमुन्मिषत्स्फुरत्तारूपां संविदमालम्ब्यावष्टभ्य, तत्स्थमेवासनं योगी लभते निजज्ञानशक्त्यासनासीनश्चिन्महेशरूपो भवतीत्यर्थः ॥ ११ ॥

प्राणादिस्थूलभावं तु त्यक्त्वा सूक्ष्ममथान्तरम् ।
सूक्ष्मातीतं तु परमं स्पन्दनं लभ्यते यतः ॥ १२ ॥
प्राणायामः स उद्दिष्टो यस्मान्न च्यवते पुनः ।

प्राणादौ प्राणापानसमानेषु यः स्थूलो रेचकपूरकादिर्भावः स्वभावस्तं त्यक्त्वा उज्झित्वा, अथेत्येतत्स्थूलप्राणायामानन्तरभावि, सूक्ष्ममान्तरमिति मध्यपथेन रेचनाचमनादिरूपं च तं त्यक्त्वा, यतो यस्मात् सूक्ष्ममप्यतीतं परममिति प्राणाद्यचित्स्फुरत्तात्म स्पन्दनं लभ्यते, तस्मात्तदेव परं स्पन्दनं यत् स एव स्थूलसूक्ष्मभेदभाजां प्राणानामायामः प्रशमितप्राधान्यावभासात्मा नियम उत्कृष्टतयादिष्टो निरूपितः । यस्मादिति यं प्राणायाममासाद्य न पुनश्च्यवते चित्प्रमातृमयतां न कदाचिज्जहाति ॥

बनाकर ज्ञानशक्ति के आलम्बन के द्वारा उसी में स्थित होना आसन है ॥ ११ ॥

प्राण अपान (= इड़ा पिङ्गला) ये ही सव्यापसव्य (= बाँयाँ-दाँयाँ) मार्ग हैं, इन दोनों के बीच मध्यनाड़ी (= सुषुम्ना) है । उसमें उत्पन्न होने वाले प्राण = ऊर्ध्वगामी उदान का आश्रयण कर, उसके बाद प्राणीय व्याप्ति के निमज्जन से चिद्व्याप्ति का उन्मज्जन होने के कारण उन्मिषित स्फुरत्तारूपा ज्ञानशक्ति = संविद्, का आलम्बन कर उस पर स्थित हुआ योगी आसन प्राप्त करता है अर्थात् अपनी ज्ञानशक्तिरूपी आसन पर आसीन हुआ वह चिन्महेश्वर रूप हो जाता है ॥ ११ ॥

प्राण आदि स्थूल भाव का तत्पश्चात् सूक्ष्मभाव का त्याग कर जिसके द्वारा सूक्ष्मातीत पर स्पन्दन प्राप्त किया जाता है वह प्राणायाम कहा गया है जिसको प्राप्त कर योगी च्युत नहीं होता ॥ १२-१३- ॥

प्राण आदि = प्राण अपान और समान में जो स्थूल रेचक पूरक आदि भाव = स्वभाव, उसको छोड़कर, इसके बाद = इस स्थूल प्राणायाम के बाद होने वाले भीतरी सूक्ष्म = मध्यमार्ग से रेचन आचमन (= ग्रहण) आदि रूप उसका त्याग कर, जिस कारण सूक्ष्म से भी परे पर अर्थात् प्राण आदि अचित्स्फुरत्ता वाला स्पन्दन उपलब्ध होता है, वही पर स्पन्दन स्थूल सूक्ष्म भेदवाले प्राणों का आयाम = प्रशमित प्राधान्यावभासरूप नियम उत्कृष्ट रूप से कहा गया है । जिसकारण = जिस प्राणायाम को प्राप्त कर, (साधक) पुनः च्युत नहीं होता = चित्प्रमातृमयता को कभी भी नहीं छोड़ता ॥

शब्दादिगुणवृत्तिर्या चेतसा ह्यनुभूयते ॥ १३ ॥
त्यक्त्वा तां प्रविशेद्धाम परमं तत्स्वचेतसा ।
प्रत्याहार इति प्रोक्तो भवपाशनिकृन्तकः ॥ १४ ॥

शब्दस्पर्शादीनां गुणानां सत्त्वादिरूपाणां या काचिद्वृत्तिर्दशा चेतसा संविदाऽनुभूयते, तां त्यक्त्वानादरेणापहस्त्य, स्वचेतसा विकल्पसंवित्परामर्शेनैव परचिद्धामप्रवेशो हीति यस्माच्चितिभूमेः प्रसृतस्य चित्तस्य तत्प्रतीपप्रापणात्मा प्रत्याहारोऽतश्च भवपाशानां निकृन्तकः ॥ १४ ॥

धीगुणान् समतिक्रम्य निर्ध्येयं चाव्ययं विभुम् ।
ध्यात्वा ध्येयं स्वसंवेद्यं ध्यानं तच्च विदुर्बुधाः ॥ १५ ॥

धियो बुद्धेः सत्त्वादिगुणान् समतिक्रम्य समावेशेन प्रशमय्य, निर्ध्येयमिति ध्येयेभ्यो नियत्याकृत्यादिरूपेभ्यो निष्क्रान्तं, निष्क्रान्तानि च तानि यस्मात् तम्, विभुं व्यापकमव्ययं नित्यम्, स्वसंवेद्यं स्वप्रकाशम्; ध्येयं ध्यानार्हमथ चाध्येयमध्येतव्यम् विम्रष्टव्यं स्मर्तव्यं च, अर्थाच्चिदानन्दघनं परमेश्वरं ध्यात्वा विमृश्य ये बुधास्तत्त्वज्ञास्ते, तच्चेति तद्विमर्शात्मैव, ध्यानं विदुरविच्छिन्नेन पारम्पर्येण जानन्ति । च एवार्थे ॥ १५ ॥

चित्त के द्वारा शब्द आदि गुणों की जिस वृत्ति का अनुभव किया जाता है (योगी) उस (वृत्ति) को छोड़कर अपने चित्त से उस परम धाम में प्रवेश करे । संसारबन्धन का नाशक यही प्रत्याहार कहा गया है ॥ -१३-१४ ॥

सत्त्व आदि रूप वाले शब्द स्पर्श आदि गुणों की जो कोई वृत्ति = दशा, चित्त के द्वारा = संविद् के द्वारा अनुभूत होती है, उसका त्यागकर = अनादर के साथ अपसारण कर, अपने चित्त से = विकल्प संवित् परामर्श के द्वारा, परचित् धाम में प्रवेश ही प्रत्याहार है । प्रत्याहार शब्द को स्पष्ट करते हैं—क्योंकि चिति भूमि से (बाहर) फैले हुए चित्त का पुनः उल्टी दिशा में (चिति की ओर) आहरण प्रत्याहार होता है इसलिये वह संसार के पाशों का छेदक होता है ॥ १४ ॥

बुद्धि के गुणों का अतिक्रमण कर निर्ध्येय अव्यय व्यापक स्वसंवेद्य ध्येय के ध्यान को विद्वानों ने ध्यान माना है ॥ १५ ॥

धी के = बुद्धि के, सत्त्व आदि गुणों को अतिक्रान्त कर = समावेश के द्वारा शान्त कर, निर्ध्येय = नियति आकृति आदि रूप ध्येयों से निष्क्रान्त अथवा वे ध्येय निष्क्रान्त हैं जिससे, उसको; विभु = व्यापक, अव्यय = नित्य, स्वसंवेद्य = स्वप्रकाश, ध्येय = ध्यान के योग्य, (ध्यात्वा ध्येयं में ध्यात्वाऽध्येयं ऐसी पूर्वरूप सन्धि मान कर व्याख्या करते हैं—) अध्येय = अध्ययन विमर्श स्मरण के योग्य, अर्थात् चित् आनन्दघन परमेश्वर का ध्यान = विमर्श, कर जो बुध = तत्त्वज्ञ हैं, वे

धारणा परमात्मत्वं धार्यते येन सर्वदा ।
धारणा सा विनिर्दिष्टा भवबन्धविनाशिनी ॥ १६ ॥

येन योगिना सर्वदा परमात्मत्वं चैतन्यं धार्यते समावेशेनावलम्ब्यते, तस्य या धारणा चैतन्यविमर्शनात्मा वृत्तिः, सा भवबन्धविनाशहेतुर्धारणान्यधारणा-वैलक्षण्येन विनिर्दिष्टा ॥ १६ ॥

एवं यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारध्यानधारणा लोकोत्तरदृष्ट्या प्रतिपाद्य, समाधिमपि परस्वरूपविषयमाणवशाक्तशाम्भवोपायप्राप्यमनुपायं चादिशति श्लोक-चतुष्केण—

समं सर्वेषु भूतेषु आधानं चित्तनिग्रहः ।
समाधानमिति प्रोक्तमन्यथा लोकदाम्भिकम् ॥ १७ ॥

सर्वप्राणिषु चित्तस्य समं वैषम्यप्रतिपत्तिनिग्रहात्म आधानं चित्तनिग्रहः समाधानमिति चोक्तम् । स्वात्मतुल्यताचिन्तनं यत्तत्समाधानं प्रोक्तम् । अन्यथा लोचननिमीलनादिप्रकारेणैतद्विपरीतं यत् समाधानं तत् लोकदम्भैक-प्रयोजनम् ॥ १७ ॥

उस = विमर्शस्वरूप को ध्यान मानते हैं अर्थात् अविच्छिन्न परम्परा से जानते हैं । 'च' का प्रयोग 'एव' अर्थ में है ॥ १५ ॥

धारणा का अर्थ है—जिसके द्वारा सर्वदा परमात्मता का धारण किया जाय वह धारणा कही गयी है । यह भी संसाररूपी बन्धन की विनाशिनी है ॥ १६ ॥

जिस = योगी, के द्वारा सर्वदा परमात्मत्व = चैतन्य, धारण किया जाता है = समावेश के द्वारा जिसका अवलम्बन किया जाता है उस (= योगी) की जो धारणा = चैतन्य का विमर्शन रूप वृत्ति, वह भवरूपीबन्ध के विनाश का कारण होने से धारणा कही गयी है । यह अन्य धारणाओं से विलक्षण है ॥ १६ ॥

इस प्रकार यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार ध्यान धारणा का लोकोत्तर दृष्टि से प्रतिपादन कर, आणव शाक्त और शाम्भव उपायों से प्राप्य परस्वरूपविषयक अनुपाय रूप समाधि को चार श्लोकों के द्वारा बतलाते हैं—

(समाधि शब्द का विग्रहार्थ—सम + आधि =) समस्त प्राणियों में चित्त का आधान = निग्रह ही समाधान (= समाधि) कहा गया है । इसके विपरीत (लोक प्रचलित समाधि) लोकदम्भ है ॥ १७ ॥

सब प्राणियों के विषय में चित्त का सम = वैषम्यज्ञान का निग्रहरूप जो आधान = चित्त का निग्रह, वह समाधान कहा गया है । जो स्वात्मतुल्यता का चिन्तन है वह समाधान कहा गया है । अन्यथा अर्थात् आँख बन्द करना आदि

एतद्ध्यानोपायकमाणवं समाधानम्, शुद्धविकल्पोपायं शाक्तम् । तदाह—

स्वपरस्थेषु भूतेषु जगत्यस्मिन् समानधीः ।
शिवोऽहमद्वितीयोऽहं समाधिः स परः स्मृतः ॥ १८ ॥

सर्वमिदमहमेव, इत्यहन्तेदन्तासामानाधिकरण्यात्मशुद्धविद्योत्थाध्यवसायरूपः परः समाधिः स्मृतः पारम्पर्यतः प्रसिद्धः ॥ १८ ॥

अथैकवारोपायप्राप्यमपि पुनरुपायानपेक्षतयानुपायं सततोदितं समाधिमादिशति—

सम्यक्स्वरूपसंवेद्यं संविद्रूपं स्वभावजम् ।
स्वसंवेद्यस्वरूपं च समाधानं परं विदुः ॥ १९ ॥

सम्यगेकवारोपायतः संवेद्यं स्फुरितं यत्स्वाभाविकं संविद्रूपं चकासच्चिद्धाम, तत् स्वसंवेद्यस्वरूपमिति स्वप्रकाशं नित्योदितत्वेनाव्युत्थानं समाधानम् ॥ १९ ॥

अविकल्पोपायं शाम्भवं समाधिमाह—

जो कि पूर्वोक्त के विपरीत समाधान है वह लोक में प्रदर्शन के लिये पाखण्ड करना है ॥ १७ ॥

इस प्रकार के ध्यान से आणवोपाय समाधि होती है । शुद्ध विकल्प के द्वारा शाक्त (समाधि होती है) । वह कहते हैं—

अपने या दूसरे प्राणियों में यहाँ तक कि इस संसार के विषय में भी समान बुद्धि रखना, जिसका स्वरूप है—'मैं शिव हूँ' 'मैं ही एकमात्र हूँ', (इत्यादि), पर समाधि मानी गयी है ॥ १८ ॥

'यह सब मैं ही हूँ' इस प्रकार अहन्ता इदन्ता के समानाधिकरण्यरूप शुद्धविद्या से उत्पन्न निश्चय ही परसमाधि स्मृत है = परम्परया प्रसिद्ध है ॥ १८ ॥

अब सतत् उदित उस समाधि का वर्णन करते हैं जो एक बार उपाय के द्वारा प्राप्त हो जाने पर फिर उपाय की अपेक्षा नहीं रखती अत एव अनुपाय कही जाती है—

जो सम्यक्स्वरूपसंवेद्य, स्वभाव से उत्पन्न संविद्रूप तथा स्वसंवेद्य रूप है, उसे (विद्वान् लोग) पर समाधि मानते हैं ॥ १९ ॥

सम्यक् = एक बार उपाय के द्वारा, संवेद्य = स्फुरित, जो स्वाभाविक संविद्रूप = प्रकाशमान चित् धाम, वह स्वसंवेद्यस्वरूप = स्वप्रकाश = नित्योदित होने के कारण व्युत्थानरहित होता है, समाधान है ॥ १९ ॥

विकल्पोपाय से रहित शाम्भव समाधि को बतलाते हैं—

राशिभ्यां चिज्जडाभ्यां च विचार्य निपुणं पदम्।
यन्नित्यं शाश्वतं रूपं समाधानं तु तद्विदुः ॥ २० ॥

जडराशिर्भुवनभावदेहादिः । चिद्राशिः सकलप्रलयाकलविज्ञानाकलमन्त्रमन्त्रेश-मन्त्रमहेशशिवाख्यः प्रमातृवर्गः । ततो मध्यात् पदं विश्वप्रतिष्ठास्थानं निपुणं विचार्य बाढं विमृश्य यन्नित्यमविनाशि शाश्वतं विवर्तपरिणामशून्यं सदा स्वप्रकाशं च रूपमर्थात् स्फुरति, तत्समाधानं विदुस्तत्त्वज्ञाः ॥ २० ॥

'अष्टाङ्गेन तु योगेन' इत्युपक्रान्तमुपसंहरन् प्रकृते योजयति—

एवमष्टाङ्गयोगेन स्वभावस्थं परं ध्रुवम् ।
दृष्ट्वा वञ्चयते कालममृतेशं परं विभुम् ॥ २१ ॥
मृत्युजित् स भवेद्देवि न कालः कलयेच्च तम् ।

एवमित्युक्तरूपेण न त्वन्यशास्त्रोक्ताहिंसासत्याद्यात्मना, परममृतेशं चिन्नाथं परं विभुमनाश्रितान्ताशेषकारणस्वामिनम्, दृष्ट्वा कालं वञ्चयति, अकालकलितचिदानन्दैकघन एव जायते । अत एव तत्त्वतोऽयमेव सङ्कोचात्ममृत्युविदलनाद् मृत्युजित् । सुचिरमपि स्थिरीकृतदेहस्तु न वस्तुतो मृत्युजिदित्याशयशेषः ॥

चित्राशि एवं जडराशि के बीच से पद का भली भाँति विचार कर जो नित्यशाश्वत रूप है वह समाधि है ॥ २० ॥

जड राशि = भुवन, पदार्थ, शरीर आदि । चिद्राशि = सकल, प्रलयाकल, विज्ञानाकल, मन्त्र, मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर, शिव नामक प्रमातृवर्ग । इनके मध्य से पद = विश्वप्रतिष्ठा का स्थान, का निपुण = भली-भाँति, विचार कर जो नित्य = अविनाशी, शाश्वत = विवर्त्त अथवा परिणाम से शून्य, सदा स्वप्रकाशरूप है अर्थात् स्फुरण करता है उसे तत्त्वज्ञ लोग समाधि कहते है ॥ २० ॥

श्लोक सं० ९ में 'अष्टाङ्गेन तु योगेन' कथन के द्वारा प्रारम्भ किये गये का उपसंहार करते हुए प्रस्तुत से उसको जोड़ते हैं—

हे देवि ! इस प्रकार अष्टाङ्गयोग के द्वारा स्वभावस्थ, पर, ध्रुव, व्यापक परम अमृतेश का साक्षात्कार कर योगी काल को दूर हटा देता है और मृत्युजित् हो जाता है । काल उसको प्रभावित नहीं करता ॥ २१-२२- ॥

इस प्रकार = उक्तरूप से, न कि अन्य शास्त्रों में उक्त अहिंसा सत्य आदि से, पर अमृतेश = चित् के स्वामी, पर विभु = (ब्रह्मा से लेकर) अनाश्रित शिवपर्यन्त अशेष कारणों के स्वामी को देखकर (योगी) काल का वञ्चन करते हैं = अकालकलित चिदानन्दैकघन हो जाते हैं । इसलिये वस्तुतः यही संकोचरूपी मृत्यु का विदलन करने से मृत्युजित् है । बहुत काल तक देह को स्थिर रखने वाला वस्तुतः मृत्युजित् नहीं है ॥

किं च—

तत्त्वषट्त्रिंशतस्त्यागाद् भुवनानन्त्यवर्जनात् ॥ २२ ॥
एकाशीतिपदोर्ध्वं वै वर्णपञ्चाशतः परम् ।
व्यापकं सर्वमन्त्रेषु सर्वेष्वेव हि जीवनम् ॥ २३ ॥
अष्टात्रिंशत्कलोर्ध्वं तु सर्वान्तः सर्वमध्यगम् ।
आदिर्मध्यं न चैवान्तो लभ्यते यस्य केनचित्॥ २४ ॥
तदप्रमेयमतुलं प्राप्य सर्वं न लभ्यते ।

पृथ्व्यादिशिवान्तानि तत्त्वानि, कालाग्न्याद्यनाश्रितान्तानि भुवनानि च त्यक्त्वा नवात्मादिप्रक्रियया प्रणवादिपदानामकारादिवर्णपञ्चाशत ईशानपुरुषाघोरादिकलाष्टात्रिंशतश्चोर्ध्वं सर्वमन्त्रव्यापकम्, एवं च षड्विधाध्वोत्तीर्णम्, अतश्च सर्वजीवितभूतं सर्वेषामन्तः पूर्वापरकोट्यात्म, तन्मयत्वादेव च विश्वस्य सर्वमध्यगतम्, न चास्य केनाप्यादिमध्यान्ता लभ्यन्ते दिक्कालादिकथोत्तीर्णत्वात्, अतश्चाप्रमेयम्, अद्वितीयत्वादतुलम्, प्राप्य षड्विधाध्वमयदेहप्राणाद्युल्लङ्घनेन योगिभिरासाद्य, सर्वमित्यध्वप्रपञ्चात्म निखिलं न लभ्यते न प्राप्यते तेन प्राग्वत् नाव्रियते, अथ च काक्वा

और भी—

छत्तीस तत्त्वों के त्याग से, अनन्त भुवनों का निषेध करने से, इक्यासी पदों एवं पचास वर्णों के परे जो सब मन्त्रों में व्यापक और सबका जीवन है, जो अँड़तीस कलाओं से ऊपर, सबके भीतर और सबके मध्य में है और जिसका आदि मध्य और अन्त किसी के द्वारा प्राप्त नहीं होता उस अतुल अप्रमेय को प्राप्त कर क्या सब कुछ प्राप्त नहीं हो जाता? ॥ २२-२५- ॥

(छत्तीस) तत्त्व = पृथिवी से लेकर शिवपर्यन्त, भुवन = कालाग्नि से लेकर अनाश्रित शिव पर्यन्त, इनको छोड़ कर नव आत्मा आदि की प्रक्रिया से प्रणव आदि (९ × ९ = ८१) पदों तथा 'अ' से लेकर 'क्ष' तक पचास वर्ण, उसी प्रकार ईशान तत्पुरुष अघोर आदि अँड़तीस कलाओं से ऊपर सब मन्त्रों में व्यापक रूप से रहने वाले, षट्प्रकार के अध्वाओं से उत्तीर्ण इसलिये सबका जीवनभूत, सबके अन्तः = पूर्वापर कोटिरूप, और तन्मय होने के कारण विश्व = सबके मध्य में वर्तमान तत्त्व, जिसका कि आदि मध्य और अन्त किसी के द्वारा प्राप्त नहीं होता क्योंकि वह दिक् काल आदि से परे हैं, इसलिये अप्रमेय है । तथा अद्वितीय होने से अतुल है, उसको प्राप्त कर अर्थात् छह प्रकार के अध्वा वाले देहप्राण आदि का उल्लङ्घन के द्वारा योगियों के द्वारा प्राप्य होकर, सब = अध्वप्रपञ्चरूप समस्त विश्व, प्राप्त नहीं किया जाता = उस (योगी) के द्वारा पूर्व की भाँति आवृत नहीं होता । अथवा काकुध्वनि के द्वारा-क्या सब कुछ नहीं प्राप्त

सर्वं न लभ्यते, अपितु लभ्यते (एव), सर्वसर्वात्मामृतेशभैरवता विद्यत इत्यर्थः ॥

तथा—

येनैकेन जगत् सर्वमप्रमेयेन पूरितम् ॥ २५ ॥
तज्ज्ञात्वा मुच्यते क्षिप्रं घोरात् संसारबन्धनात् ।

ज्ञात्वा दार्ढ्र्येन निश्चित्य ॥

अपि च—

तत्त्वत्रयविनिर्मुक्तं शाश्वतं चाचलं ध्रुवम् ॥ २६ ॥
दिव्येन योगमार्गेण दृष्ट्वा भूयो न जायते ।
सर्वेन्द्रियविनिर्मुक्तमवेद्यं चाप्यनामयम् ॥ २७ ॥

तत्त्वत्रयं नरशक्तिशिवाख्यम् । शाश्वतं विवर्तवाद इव नासत्यविभक्तान्यरूपोपग्राहि, अचलमपरिणामि, ध्रुवं नित्यम्, इन्द्रियविनिर्मुक्तमनामयमिति मायेन्द्रियानावृतम्, अवेद्यं च, दिव्येन योगमार्गेण विकल्पहानोन्मिषदविकल्पविमर्शावष्टम्भोपायेन, दृष्ट्वा साक्षात्कृत्य, न पुर्जन्मैति ॥ २७ ॥

एवमाणवेन शाक्तेन शाम्भवेन चोपायेनासादितं परं तत्त्वं मुक्तिदं न

किया जाता ? अर्थात् प्राप्त किया ही जाता है अर्थात् वह सर्वसर्वात्मा अमृतेश भैरव हो जाता है ॥

तथा—

जिस एक अप्रमेय तत्त्व के द्वारा समस्त जगत् व्याप्त है उसको जानकर (योगी) शीघ्र ही संसारबन्धन से मुक्त हो जाता है ॥ २५-२६- ॥

जानकर = दृढ़तापूर्वक निश्चय कर ॥

और भी—

तीन तत्त्वों से रहित, शाश्वत, अचल, ध्रुव, समस्त इन्द्रियों से विनिर्मुक्त अवेद्य और अनामय (पर तत्त्व) को दिव्य योगमार्ग से देखकर योगी पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होता ॥ -२६-२७ ॥

तीन तत्त्व = नर शक्ति और शिव । शाश्वत = न कि विवर्त्तवाद के समान असत्य पृथक् रूप का ग्रहण करने वाला । अचल = अपरिणामी । ध्रुव = नित्य । इन्द्रिय विनिर्मुक्त अनामय = माया और इन्द्रियु से अनावृत एवं अवेद्य तत्त्व को, योगमार्ग से = विकल्पों का त्याग कर उन्मिषित होते हुए निर्विकल्प विमर्श के उपाय से, देखकर = साक्षात् कर, पुनर्जन्म नहीं होता ॥ २७ ॥

इस प्रकार आणव शाक्त और शाम्भव उपायों से प्राप्त हुआ पर तत्त्व मोक्ष

केवलमिहैवोपादेयमुक्तम्, यावत् सर्वशास्त्रेषु इत्याह—

परमात्मस्वरूपं तु सर्वोपाधिविवर्जितम् ।
चैतन्यमात्मनो रूपं सर्वशास्त्रेषु कथ्यते ॥ २८ ॥

यत् सर्वैः समनान्तैरुपाधिभिरवच्छेदकैर्विशेषेण वर्जितं तत्सङ्कोचासंकुचितं चैतन्यमात्मनो ग्राहकस्य रूपम्, तदेव परमात्मनः परमशिवस्य स्वरूपम्, न तु व्यतिरिक्तं यथा भेदवादिनो मन्यन्ते । अत एव शिवोऽहमद्वितीयोऽहमिति तात्त्विकसमाधिनिर्णयावसरे उक्तम् । सर्वशास्त्रेषु चैतत्कथ्यते, न तु क्वचि-देवेत्यनेन सिद्धान्तानामपि रहस्याद्वयसारता अन्तःसंभवन्त्यपि गाढप्ररूढसांसारिक-द्वैतवासनानां न स्फुटीकृता । यथोक्तं श्रीकुलपञ्चाशिकायाम्—

'यत्रास्ति सर्वलोकस्य तदस्तीति विरुध्यते ।
निगद्यते यदा देवि हृदये न प्ररोहति ॥
एतस्मात् कारणाद्देवि देवताभिः प्रगोपितम् ।
तेन सिद्धेन देवेशि किं न सिद्ध्यति भूतले ॥' इति ।

तत एव समस्तशैवशास्त्रसारसंग्रहरूपेषु शिवसूत्रेषु 'चैतन्यमात्मा' इति प्रारम्भ एवोक्तम् ॥ २८ ॥

प्रदान करता है इसलिये केवल इसी शास्त्र में नहीं बल्कि सब शास्त्रों में उसे उपादेय कहा गया—यह कहते हैं—

समस्त उपाधियों से रहित जो आत्मा का चैतन्य रूप है वही समस्त शास्त्रों में परमात्मा का रूप कहा जाता है ॥ २८ ॥

जो सभी = समनापर्यन्त उपाधियां अर्थात् अवच्छेदकों से विशेष रूप से रहित है = उनके संकोच से असंकुचित चैतन्य, आत्मा का = ग्राहक (प्रमाता) का रूप है वही परमात्मा = परमशिव, का स्वरूप है । न कि भिन्न, जैसा कि भेदवादी लोग मानते हैं । इसीलिये तात्त्विक समाधि के निर्णय के अवसर पर 'मैं शिव हूँ', 'मैं अद्वितीय हूँ',—ऐसा कहा गया । यह सब शास्त्रों में कहा जाता है न कि किसी-किसी शास्त्र में । इसलिये सिद्धान्तों का रहस्य अथवा सार अद्वयतत्त्व ही है—यह धारणा हृदय में उत्पन्न हो सकती है किन्तु गाढ़ एवं दृढ सांसारिक द्वैतवासना वालों के लिये यह स्पष्ट नहीं होती । जैसा कि कुलपञ्चाशिका में कहा गया है—

'हे देवि ! जब सब लोगों के बीच 'वह नहीं है', 'वह है'—इस प्रकार का विरोधी वर्णन होने लगता है (तब वह तत्त्व हृदय में परिलक्षित नहीं होता) इसलिये देवताओं ने (संशयात्मा लोगों से) उसे छिपाये रखा । हे देवेशि ! उसके सिद्ध होने पर भूतल पर क्या सिद्ध नहीं होता अर्थात् सब कुछ मिल जाता है ।'

इसीलिये समस्त शैवशास्त्र के सार के संग्रहरूप शिवसूत्रों में पहले ही

एवंभूतमपि चैतदात्मनो रूपम्—

निर्मलं न भवेद्देवी यावच्छक्त्या न बोधितम् ।

'शैवी मुखमिहोच्यते ।' (२०)

इति श्रीविज्ञानभट्टारकादिष्टनीत्या परमेश्वरस्यैव शक्त्यां शक्त्याभासात्मनोऽणोः स्वस्फुरत्ताप्रवेशनयाऽणुत्वं निमज्ज्य, परमशिवत्वमुन्मील्यते ॥

ननु दीक्षयाभिव्यक्तशिवत्वा अपि मुक्तशिवा भिन्ना एव परमशिवात्, तत्कथं परमात्मस्वरूपैक्यमात्मचैतन्यस्योक्तम् ?—इत्याशङ्कां शमयति—

दीक्षाज्ञानादिना शोध्यमात्मानं चैव निर्मलम् ॥ २९ ॥
ये वदन्ति न चैवान्यं विन्दन्ति परमं शिवम् ।
त आत्मोपासकाः शैवे न गच्छन्ति परं पदम्॥ ३० ॥

दीक्षाज्ञानयोगचर्याभिः शोध्यमात्मानं निर्मलमन्यमेव परमशिवाद् व्यक्तिरिक्तमेव वदन्ति, न तु परमशिवं विन्दन्ति परमशिवरूपं नासादयन्ति, ते आत्मोपासकाः शुद्धात्मतत्त्वाराधकाः शैवे यत् परं पदं परमशिवत्वम्, तन्न गच्छन्ति नाप्नुवन्ति ।

'चैतन्यमात्मा' कहा गया ॥ २८ ॥

आत्मा का इस प्रकार का भी रूप—

हे देवि ! जब तक शक्ति के द्वारा बोधित नहीं होता तब तक निर्मल नहीं होता ॥ २९- ॥

'(यह शक्ति) इस शास्त्र में शिव का मुख कही जाती है ।' (२०)

इस विज्ञानभट्टारक (= विज्ञानभैरव) की नीति के अनुसार परमेश्वर की ही शक्ति में शक्त्याभास रूप अणु का अणुत्व जब स्वस्फुरत्ताप्रवेश के कारण तिरोहित हो जाता है तब परम शिवत्व का उन्मीलन होता है ॥

प्रश्न है कि दीक्षा के द्वारा जिनका शिवत्व अभिव्यक्त हो गया है ऐसे मुक्त शिव परमशिव से भिन्न ही होते हैं तो फिर आत्म चैतन्य को परमात्मस्वरूप से अभिन्न कैसे कहा गया?—इस शङ्का को दूर करते हैं—

जो लोग आत्मा को दीक्षा ज्ञान आदि के द्वारा शोध्य अत एव निर्मल एवं भिन्न कहते हैं, वे परमशिव को प्राप्त नहीं करते । वे आत्मोपासक शिव स्थानीय पर पद को नहीं प्राप्त करते (अथवा शैवविधि के द्वारा ही पर पद को प्राप्त करते हैं)॥ -२९-३० ॥

जो लोग दीक्षा ज्ञान योग चर्या के द्वारा शोध्य आत्मा को निर्मल अत एव परमशिव से भिन्न कहते हैं, वे परमशिव का लाभ नहीं प्राप्त करते = परमशिवरूप को नहीं प्राप्त करते । आत्मोपासक = शुद्ध आत्म तत्त्व की आराधना करनेवाले वे

यदि तु कदाचित् तीव्रशक्तिपाताद् गच्छन्ति, तच्छैवेन शिवादिष्टाद्वयज्ञानेनैव न त्वन्येन ज्ञानेनेति सप्तमीतृतीये तन्त्रेण योज्ये । तदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे समनान्तस्थशुद्धात्मनिर्णयावसरे—

> अविदित्वा परं तत्त्वं शिवत्वं कल्पितं तु यैः ।
> त आत्मोपासका शैवे न गच्छन्ति परं शिवम् ॥' (४।३९२)

इति ॥ ३० ॥

एतदेव भङ्ग्यन्तरेण स्फुटयति—

> **यद्वा तु परमाशक्तिः सर्वज्ञादिगुणान्विता ।**
> **आपादादिविकासिन्या न विकास्येत निर्मला ॥ ३१ ॥**
> **तावन्न निर्मलो ह्यात्मा बद्धः शैवे तदोच्यते ।**

तावच्छब्दापेक्षया यावच्छब्दोऽध्याहार्यः । तेनापादादि पाङ्गुष्ठात्प्रभृति विकासिन्या प्राणप्राधान्यनिमज्जनेन चित्प्राधान्यमुन्मज्जयन्त्या दीक्षाज्ञानादिरूपया अनुग्रहिकया शक्त्या यावत् सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वस्वतन्त्रताद्यात्मा परमा शक्तिर्न विकास्येत नोन्मिष्येत, न तावदात्मा जीवो निर्मलः । यदा चैवं तदा

लोग शैव में जो परमपद = परमशिवत्व उसको नहीं प्राप्त होते और यदि कदाचित् तीव्र शक्तिपात से (परम शिव के पास) जाते भी हैं तो वह भी शैवेन = शिवादिष्ट अद्वय ज्ञान के द्वारा । (इस प्रकार 'शिव' शिव पद में सप्तमी विभक्ति लगाकर 'न' को अलग कर 'शैवे न' गच्छन्ति ऐसा अन्वय करना चाहिये अथवा 'शैवेन' इस प्रकार शैव शब्द से तृतीया विभक्ति जोड़कर 'शैवेन गच्छन्ति' ऐसा अन्वय करना चाहिये) । वही स्वच्छन्द तन्त्र में समनान्तस्थशुद्धात्मनिर्णय के अवसर पर कहा गया—

'जिन लोगों ने शिवतत्त्व को जाने बिना शिवत्व की कल्पना की है वे शुद्ध आत्मोपासक हैं तथा शिवतत्त्ववर्ती परशिवरूपता को नहीं प्राप्त करते' ॥ ३० ॥

इसी को दूसरे ढंग से स्पष्ट करते हैं—

जब तक पैर से लेकर (शिरपर्यन्त) विकासवाली शक्ति के द्वारा सर्वज्ञत्व आदि गुणों वाली निर्मल परमाशक्ति विकसित नहीं होती यह निर्मल आत्मा शैवशास्त्र के अनुसार बद्ध कहा जाता है ॥ ३१-३२- ॥

'तावत्' शब्द को दृष्टि मे रखकर 'यावत्' शब्द को अपनी ओर से जोड़ना चाहिये । पैर से लेकर = पैर के अंगूठे से लेकर, विकास करने वाली = प्राण की प्रधानता को दूर कर चित् के प्राधान्य का आहरण करने वाली, दीक्षा ज्ञानादिरूपा अनुग्राहिका शक्ति के द्वारा जब तक सर्वज्ञत्व सर्वकर्तृत्व स्वतन्त्रत्व आदि रूप परमशक्ति का विकास = उन्मेष, नहीं होता तब तक आत्मा = जीव, निर्मल

शैवेऽसावात्मा जीवन्मुक्तेरनासादाद्बद्ध एवोच्यते ॥

विकासितायाः शक्तेः स्वरूपं दर्शयति—

यत्रस्थः पुरुषः सर्वं वेत्त्यतीतमनागतम् ॥ ३२ ॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तत्तत्त्वं शक्तिलक्षणम् ।

इन्द्रियाण्यन्तर्मुखीकृत्य यत्र तुटिपातात्मनि आद्योन्मेषस्थितौ लब्धावस्थिति-र्योगी, अतीतानागतादि सर्वं वेत्ति, तत् प्रतिभात्म तत्त्वं शक्तिलक्षणम् ॥

तथा—

यत्र यत्र भवेदिच्छा ज्ञानं वापि प्रवर्तते ॥ ३३ ॥
क्रियाकृत्यस्वरूपा वा तत्तत्त्वं शक्तिलक्षणम् ।

न कृत्यं निष्पाद्यं स्वरूपं यस्यास्तादृश्यकृत्रिमा निर्विकल्पा इच्छा ज्ञप्तिः स्फुरत्तात्मा क्रिया वा यत्र यत्रावसरे प्रवर्तते, तत्र तत्र तद् एषणीयाद्यनारूषित-शुद्धेच्छादिमात्रात्मतत्त्वं शक्तिलक्षणम् ॥

तथा—

नहीं होता । जब ऐसा होता है तब शैवशास्त्र के अनुसार यह आत्मा जीवन्मुक्ति को न प्राप्त करने के कारण बद्ध ही कहा जाता है ॥

विकसित शक्ति का स्वरूप दिखलाते हैं—

जिसमें स्थित (= जिससे सम्पन्न) पुरुष इन्द्रियसमूह का नियमन कर अतीत अनागत सब को जान लेता है वह तत्त्व शक्ति है ॥ -३२-३३- ॥

इन्द्रियों को अन्तर्मुख कर जहाँ तुटिपात रूप प्रथम उन्मेष की स्थिति में रहकर योगी अतीत अनागत आदि (= दूरस्थ अतीन्द्रिय) सब को जान लेता है वह प्रतिभारूपी तत्त्व शक्तिपद का वाच्य है । (पातञ्जल योगसूत्र 'प्रातिभाद्वा सर्वम्' ३।३३—से यही अर्थ निकलता है) ॥

तथा—

जिस-जिस विषय की अकृत्यस्वरूपा इच्छा होती है या जिस-जिस विषय का (= वैसा) ज्ञान होता है अथवा (उस प्रकार की) क्रिया जहाँ प्रवृत्त होती है । वह तत्त्व शक्ति है ॥ -३३-३४- ॥

नहीं है कृत्य = निष्पादन के योग्य स्वरूप जिसका वैसी अकृत्रिमा = निर्विकल्पा इच्छा, ज्ञान अथवा स्फुरत्ता रूपा क्रिया जिस-जिस अवसर पर प्रवृत्त होती है उस-उस अवसर पर वह = एषणीय आदि से अनारूषित शुद्ध इच्छा ज्ञान क्रिया तत्त्व ही शक्ति है ॥

व्यापकस्य यतो देवि चिद्रूपस्यात्मनः शिवात् ॥ ३४ ॥
प्रसरत्यद्भुतानन्दा सा शक्तिः परमा स्मृता ।

व्यापकचिन्मात्रमयतामात्मनो भावयतो योगिनो या आश्चर्यरूपा आनन्दात्मा शक्तिः शिवात् प्रसरत्युन्मिषति, सा परमा स्मृता तत्तत्त्वं शक्तिलक्षणमित्यर्थः ॥

एवं लक्षितशक्त्यवष्टम्भविस्फारेण—

विप्रसार्य तमात्मानं सर्वज्ञादिगुणैर्गुणी ॥ ३५ ॥
साभासः कथ्यते देवि शिवः परमकारणम् ।

सर्वज्ञादिगुणैरिति तद्विमर्शनेनात्मानं विप्रसार्य—

'बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा यतः प्रकाशावरणक्षयः' (यो०सू० ३।४३) इति स्थित्या विकास्य यो योगी तैरेव सर्वज्ञत्वादिगुणैर्गुणी संपन्नः, स सर्वज्ञत्वाद्याभासविमर्शनादेव साभासः शिवः कथ्यते ॥

एतदेव स्फुटयति—

सर्वज्ञः परितृप्तश्च यस्य बोधो ह्यनादिमान् ॥ ३६ ॥
स्वतन्त्रो ह्यप्रलुप्तश्च यश्च वानन्तशक्तिकः ।

तथा—

हे देवि ! व्यापक एवं चिद्रूप (योगी) के जिस आत्मा रूपी शिव से जो अद्भुत आनन्दस्वरूपा शक्ति प्रसृत होती है वह परमा (शक्ति) मानी गयी है ॥ -३४-३५- ॥

अपनी व्यापक चिन्मात्रमयता की भावना करने वाले योगी के अन्दर जो आश्चर्यमयी आनन्दरूपा शक्ति शिव से उन्मिषित होती है वह परमाशक्ति मानी गयी है । वह तत्त्व (या उसका तत्त्व) शक्ति है ॥

हे देवि ! गुणवान् (साधक) सर्वज्ञत्व आदि गुणों से अपना विकास कर परमकारण साभास शिव कहा जाता है ॥ -३५-३६- ॥

सर्वज्ञता आदि गुणों के विमर्शन से अपने को—

'(शरीर के) बाहर (मन की) अकल्पिता वृत्ति महाविदेहा (धारणा) होती है । इसके बाद प्रकाश के आवरण का नाश हो जाता है ।' (पा०यो०सू० ३।४३)

इस स्थिति से विकसित कर जो योगी उन्हीं सर्वज्ञत्व आदि गुणों से गुणी हो जाता है वह सर्वज्ञत्व आदि आभासों का विमर्शन करने से साभास शिव कहा जाता है ॥

उसी को स्पष्ट करते हैं—

शक्तिमान् गुणभेदेन स्वगुणान् विन्दते गुणी ॥ ३७ ॥
पृथग्भेदविभेदेन नानात्वं विमृशेदिह ।
स साभास इति प्रोक्तो निराभासस्तु कथ्यते ॥ ३८ ॥

परितृप्तो नैराकांक्ष्येण चिदानन्दघनः, अनादिमान् न तु भावनोत्थः, स्वतन्त्रो न तु भेदेश्वरवत् कर्ममलपरिपाकाद्यपेक्षः, अप्रलुप्तो न तु ब्रह्मादिवत् स्वापाद्यावृतः, अनन्तशक्तिकः

'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नम् ।'

इति स्थित्या मरीचिरूपाशेषविश्वशरीरः, शक्तिमानिति समुत्पन्नयथालक्षितपरशक्तिस्वरूपः, गुणानां सत्त्वरजस्तमसां भेदेन चिद्भुवि देहादिप्रमातृतानिमज्जनोत्थेन विदारणेन, स्वगुणान् सर्वज्ञत्वादीन् लभते । तैरेव च गुणैर्गुणी, भेदानां सर्वज्ञत्वादिविशेषाणां व्याख्यातदृशा व्यावृत्तिकृतो यः पृथग्विभेदस्तेन नानात्वं विचित्राभासरूपतां य आत्मनो विमृशेत्, स साभास इत्युक्तः । निराभासस्तु उच्यते ॥

तमाह—

जो सर्वज्ञ, परितृप्त है; जिसका बोध अनादि है; जो स्वतन्त्र, अलुप्त और अनन्त शक्तिवाला है; शक्तिमान्, सत्त्वादि गुणों के भेद से अपने गुणों को प्राप्त करता है वही गुणी है । पृथक् भेद विभेद के कारण जो यहाँ नानात्व का विमर्श करता है । वह साभास शिव कहा जाता है । आगे निराभास का वर्णन कर रहे हैं ॥ -३६-३८ ॥

परितृप्त = निराकाङ्क्ष होने के कारण चिदानन्दघन । अनादिमान् न कि भावना से उठा हुआ । स्वतन्त्र, न कि भेदवादियों के ईश्वर की भाँति कार्म मल के परिपाक आदि की अपेक्षा वाला । अप्रलुप्त, न कि ब्रह्मा आदि की भाँति निद्रा आदि से आवृत । अनन्त शक्तिवाला—

'इसकी शक्तियाँ ही सम्पूर्ण संसार है ।'

इस स्थिति से मरीचिरूप समस्त विश्वशरीर वाला, शक्तिमान् = समुत्पन्न यथालक्षित परशक्तिरूप । गुणों = सत्त्व रजस् तमस्, के भेद से चिद्भूमि में देहादिप्रमातृता के निमज्जन से उत्पन्न विदारण से, अपने गुणों = सर्वज्ञत्व आदि, को प्राप्त करता है । उन्हीं गुणों के कारण वह गुणी है । भेदों अर्थात् सर्वसत्त्व आदि विशेषों का ऊपर व्याख्यात रीति से व्यावृत्ति करने वाला जो पृथक् विभेद उससे जो अपनी अनेकरूपता = विचित्राभासरूपता, का विमर्श करता है वह साभास कहा जाता है । निराभास का कथन करते हैं ॥ ३६-३८ ॥

उसी (= निराभास) को कहते है—

नाहमस्मि न चान्योऽस्ति निराभासस्तदा भवेत् ।
सावस्था परमा प्रोक्ता शिवस्य परमात्मनः ॥ ३९ ॥

आभासेभ्यो ग्राह्यग्राहकविमर्शात्मकेभ्यो निष्क्रान्तः चिद्विमर्शैकपरमार्थः । तदुक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्—

'सर्वथा त्वन्तरालीनानन्ततत्त्वौघनिर्भरः ।
शिवश्चिदानन्दघनः परमाक्षरविग्रहः ॥' (४।१।१४)

इति ॥ ३९ ॥

एतद्दशासमापन्नस्य च योगिन ईदृशी स्फुरत्तेत्याह—

नाहमस्मि न चान्योऽस्ति ध्येयं चात्र न विद्यते ।
आनन्दपदसंलीनं मनः समरसीगतम् ॥ ४० ॥

अहमिति देहादिर्ग्राहकः । अन्यो मद्व्यतिरिक्तो नीलादिः । ध्येयमित्यनुग्राहकत्वेन बुद्ध्योपस्थापितम् ॥ ४० ॥

एतत्पदलाभाय शाम्भवोपायमादिशति देवः—

नोर्ध्वे ध्यानं प्रयुञ्जीत नाधस्तान्न च मध्यतः ।
नाग्रतः पृष्ठतः किञ्चित् पार्श्वयोरुभयोरपि ॥ ४१ ॥

'न मैं हूँ, न कोई दूसरा है' (जब इस प्रकार की चेतना प्रस्फुरित होती है तब वह) निराभास शिव होता है । वह परमात्मा शिव की परम अवस्था कही गयी है ॥ ३९ ॥

ग्राह्यग्राहक के विमर्शरूप आभासों से ऊपर उठकर जो केवल चिद्विमर्शमात्र हो जाता है (वह निराभास कहलाता है) । ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में कहा गया है—

अनन्त तत्त्वों के समूह को जो सर्वथा भीतर लीन कर लेता है वही परमाक्षर विग्रह चिदानन्दघन शिव है (४.१.१४) ॥ ३९ ॥

इस दशा को प्राप्त योगी की ऐसी स्फुरत्ता होती है—यह कहते हैं—

'न मैं हूँ', 'न कोई दूसरा है'; यहाँ कोई ध्येय (= ध्यान करने योग्य वस्तु) नहीं है; आनन्दपद में संलीन मेरा मन समरस (= एकरूप) हो गया है ॥ ४० ॥

मैं = देह आदि प्रमाता रूप ग्राहक । अन्य = मुझसे भिन्न लीन सुख आदि (ग्राह्य)। ध्येय = अनुग्राहक के रूप में बुद्धि के द्वारा उपस्थापित ॥ ४० ॥

इस पद के लाभ के लिये भगवान् शाम्भवोपाय को बतलाते हैं—

न ऊपर ध्यान करना चाहिये न नीचे और न मध्य में, आगे-पीछे

नान्त:शरीरसंस्थाने न बाह्ये भावयेत् क्वचित् ।
नाकाशे बन्धयेल्लक्ष्यं नाधो दृष्टिं निवेशयेत् ॥ ४२ ॥
न चाक्ष्णोर्मीलनं किञ्चिन्न किञ्चिद् दृष्टिबन्धनम्।
अवलम्बं निरालम्बं सालम्बं न च भावयेत् ॥ ४३ ॥
नेन्द्रियाणि न भूतानि शब्दस्पर्शरसादि यत् ।
सर्वं त्यक्त्वा समाधिस्थ: केवलं तन्मयो भवेत्॥ ४४ ॥

ऊर्ध्वे द्वादशान्ते, अध: कन्दादौ, मध्ये हृदादौ, अग्रत: पृष्ठत: पार्श्वयो:. तत्पुरुषसद्योजातादिरूपम् । अन्त:शरीर इति—

'आमूलात्किरणाभासां सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरात्मिकाम्।
चिन्तयेत्तां द्विषट्कान्ते शाम्यन्तीं भैरवोदय: ॥' (वि०भै० २८)

इतिवत् । न बाह्य इति—

'वस्त्वन्तरे वेद्यमाने सर्ववेद्येषु शून्यता ।
तामेव मनसा ध्यायन् विदितोऽपि प्रशाम्यति ॥'(वि०भै० १२२)

इतिवत् । नाकाश इति—

अगल-बगल भी नहीं । न शरीरसंस्थान के भीतर न कहीं बाहर भावना करनी चाहिये । न आकाश में लक्ष्यबन्ध करना चाहिये और न दृष्टि को कहीं स्थिर करना चाहिये । न आखों को थोड़ा बन्द करे न दृष्टिबन्धन (= करना चाहिये)। अवलम्ब, सालम्ब, निरालम्ब भावना नहीं करनी चाहिये । इन्द्रिय पञ्चमहाभूत और शब्द स्पर्श आदि भी नहीं है—ऐसा समझना चाहिये । इस प्रकार सब को छोड़ कर समाधिस्थ होकर केवल तन्मय होना चाहिये ॥ ४१-४४ ॥

ऊर्ध्व में = द्वादशान्त में । नीचे = कन्द आदि में । मध्य = हृदय आदि में। आगे पीछे दोनों पार्श्वों में, तत्पुरुष सद्योजात आदि रूप की भावना भी नहीं करनी चाहिये । शरीर के भीतर—

'किरण के समान सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर मूलाधार से लेकर द्विषट्कान्त (द्वादशान्त) तक पहुँचकर शान्त होने वाली प्राण वायु का चिन्तन करना चाहिये । इससे भैरव (स्वरूप) का उदय होता है ॥' (वि०भै०२८)

के समान (चिन्तन करना चाहिये)। बाहर नहीं—

'किसी एक वस्तु का ज्ञान होते समय दूसरी समस्त वेद्यवस्तुओं में शून्यता की भावना करनी चाहिये । उस (= शून्यता) का ही मन से ध्यान करता हुआ योगी ज्ञान से भी ऊपर हो जाता है अर्थात् शान्त ब्रह्मरूप हो जाता है ।' (वि०भै० १२२)

तेजसा सूर्यदीपादेराकाशे शबलीकृते ।
दृष्टिं निवेश्य तत्रैव स्वात्मरूपं प्रकाशते ॥ (वि०भै० ७६)

इतिवत् । नाध इति—

कूपादिके महागर्ते स्थित्वोपरि निरीक्षणात् ।
अविकल्पमतेः सम्यक् सद्यश्चित्तलयः स्फुटम् ॥ (वि०भै० ११५)

इतिवत् । न चाक्ष्णोर्मीलनमिति—

एवमेव निमील्यादौ नेत्रे कृष्णाभमग्रतः ।
प्रसार्य भैरवं रूपं भावयंस्तन्मयो भवेत् ॥ (वि०भै० ८८)

इतिवत् । न दृष्टिबन्धनमिति—

निर्वृक्षगिरिभित्त्यादिदेशे दृष्टिं विनिक्षिपेत् ।
निलीने मानसे भावे वृत्तिक्षीणः प्रजायते ॥ (वि०भै० ६०)

इतिवत् । अवलम्ब्यत इति अवलम्बो ध्येय आकारस्तम्—

भावे त्यक्ते निरुद्धा चिन्नैव भावान्तरं व्रजेत्।

के समान । आकाश में नहीं—

'सूर्य दीपक आदि के तेज से आकाश के चित्रित होने पर उसमें दृष्टि लगाकर (= देखने से) उसी में अपना रूप प्रकाशित होता है ।' (वि०भै० ७६)

के समान । नीचे नहीं—

'कूप आदि किसी बड़े गहरे गड्ढे में खड़ा होकर ऊपर देखने से निर्विकल्पक बुद्धि वाले (व्यक्ति) का तत्काल पूर्णतया स्पष्ट चित्तलय हो जाता है ।' (वि०भै०११५)

के समान । आँखों का बन्द करना भी नहीं—

'इस प्रकार पहले दोनों आँखों को बन्द कर सामने काले रंग के भैरव के रूप को उपस्थापित कर उस रूप की भावना करने वाला तन्मय हो जाता है ।' (वि०भै० ८८)

के समान । दृष्टिबन्धन नहीं—

'वृक्ष, पर्वत, दीवाल आदि (आधार) से रहित शून्य आकाश में दृष्टि स्थित करनी चाहिये । मन में उत्पन्न भाव के विलीन होने पर (साधक की) वृत्तियाँ क्षीण हो जाती है ॥' (वि०भै० ६०)

के समान । जिसका अवलम्बन किया जाय वह अवलम्बन है अर्थात् ध्येय आकार, उसको—

'भाव का त्याग करने पर निरुद्धा चित् किसी दूसरे भाव पर स्थित नहीं

तदा तन्मध्यभावेन विकसत्यतिभावना ॥ (वि०भै० ६२)

इतिवत् । निरालम्ब इति—

उभयोर्भावयोर्ज्ञाने ज्ञात्वा मध्यं समाश्रयेत् ।
युगपच्च द्वयं त्यक्त्वा मध्ये तत्त्वं प्रकाशते॥ (वि०भै० ६१)

इतिवत् । सहालम्बेन वर्तते सालम्बं साकारं ज्ञानम्—

'इच्छायामथवा ज्ञाने जाते चित्तं निवेशयेत् ।
तत्र बुद्ध्यानन्यचेतास्ततः स्यादात्मदर्शनम् ॥' (वि०भै० ९८)

इतिवत् । नेन्द्रियाणि न भूतानीति तत्तद्धारणापटलोक्तनीत्या सर्वं त्यक्त्वा समाधिस्थ इति अकिञ्चिच्चिन्तकत्वेन स्वस्वरूपविमर्शनप्रवणस्तन्मय इत्यानन्दपद-संलीनसमरसज्ञानमयः ॥ ४४ ॥

या चैवंभूता दशा—

सावस्था परमा प्रोक्ता परस्य परमात्मनः ।
निराभासं पदं तत्तु तत्प्राप्य विनिवर्तते ॥ ४५ ॥

सांसारिकीं स्थितिमुज्झति ॥ ४५ ॥

होती । तब उस (= व्यक्ताव्यक्त भाव) के मध्य में भावना करने पर अतिक्रान्त-भावना विकसित होती है ।' (वि०भै० ६२)

के समान । निरालम्ब—

'दोनों (भावों) का ज्ञान होने पर मध्य का आश्रयण करना चाहिये, फिर दोनों का एक साथ त्याग करने पर मध्य में आत्मतत्त्व प्रकाशित होता है ॥' (वि०भै० ६१)

के समान । जो आलम्बन के साथ हो वह सालम्ब होता है अर्थात् साकार ज्ञान—

'इच्छा अथवा ज्ञान के उत्पन्न होने पर चित्त को वहाँ लगाये । बुद्धि के द्वारा एकाग्रचित होने पर आत्मदर्शन हो जाता है ॥' (वि०भै० ९८)

के समान । न इन्द्रियाँ हैं न भूत हैं अर्थात् तत्तद् धारणापटल में कथित नीति के अनुसार सब कुछ छोड़ कर समाधिस्थ = किसी का चिन्तन किये बिना केवल अपने स्वरूप का विमर्श करने वाला, आनन्दपद में संलीन समरस ज्ञानमय हो जाता है ॥ ४४ ॥

इस प्रकार की जो दशा है—

वह परमात्मा की परम अवस्था कही गयी है । वही निराभास पद है । उसको प्राप्त कर (योगी) विनिवृत्त हो जाता है ॥ ४५ ॥

अतश्च यः—

भावयेदेवमात्मानमात्मनो भावनाबलात् ।
स गच्छेत् परमं शान्तं शिवमत्यन्तनिर्मलम् ॥ ४६ ॥

आत्मनो निर्विकल्पसंवेदनस्य या भावना विकल्पहानेन संपादना, तस्या यद्बलं विमर्शदार्ढ्यं तेन भावयेत् ॥ ४६ ॥

किं च—

तत्तत्त्वमेकं सर्वत्र भवति(ते) मृत्युजिच्छिवम् ।
तच्चामृतेशं परमं तृतीयं पदमुत्तमम् ॥ ४७ ॥
आख्यातं तव देवेशि किमन्यत् कथयामि ते ।

सर्वत्र क्षित्याद्यनाश्रितान्ते, तदेवैकमद्वितीयम्, तत्त्वं पारमार्थिकं स्वरूपम्, शिवं श्रेयोरूपम्, मृत्युजिद्भवति । तृतीयमिति प्रोक्तस्थूलसूक्ष्मज्ञानद्वयापेक्षया, तवेत्यनुग्रहैकपरायाः, किमन्यत् कथयामीति नातोऽन्यद्रहस्यं कथनीयं किञ्चिदस्तीत्यर्थः ॥

एतदुपसंहरति—

(विनिवृत्त हो जाता है =) सांसारिक स्थिति को छोड़ देता है ॥ ४५ ॥

इसलिये जो (साधक)—

अपने भावना के बल से आत्मा की इस प्रकार भावना करता है । वह अत्यन्त निर्मल परम शान्त शिवभाव को प्राप्त हो जाता है ॥ ४६ ॥

अपने निर्विकल्पक संवेदन की जो भावना = विकल्प के परित्याग से सम्पादना, उसका जो बल = विमर्श की दृढ़ता, उसके द्वारा भावना करनी चाहिये ॥ ४६ ॥

और भी—

वही एक तत्त्व जो कि सर्वव्यापी और शिव है, मृत्युञ्जय (के नाम से ज्ञात) होता है । वही परम अमृतेश और उत्तम तृतीय पद है । हे देवेशि ! (मैंने उसको) तुम्हें बतलाया, तुमको और क्या बतलाऊँ ॥ ४७-४८- ॥

सर्वत्र = पृथिवी से लेकर अनाश्रित शिवपर्यन्त; वही एक = अद्वितीय; तत्त्व = पारमार्थिक स्वरूप; शिव = कल्याणकारी, मृत्युजित् होता है । तीसरा = उपर्युक्त स्थूल सूक्ष्म दो ज्ञानों की अपेक्षा । तुमको जो कि अनुग्रहपरायणा हो; दूसरा क्या कहूँ—इसके अतिरिक्त कोई और रहस्य कथनीय नहीं है ॥

इसका उपसंहार करते हैं—

एवं मृत्युजिता सर्वं ध्यात्वा व्याप्तं विमुच्यते ॥ ४८ ॥

योगी ॥ ४८ ॥

एतच्च—

सर्वकालं तु कालस्य वञ्चनं कथितं प्रिये ।

अकालकलितचिद्धामसमावेशोपदेशात् ॥

प्रकृतमुपसंहृत्य पूर्वप्रस्तुतमुपसंहरति—

एवं तु त्रिविधं देवि मया ते प्रकटीकृतम् ॥ ४९ ॥
कालस्य वञ्चनं नाम..........

एष च—

................योगः परमदुर्लभः ।

किं च—

अनेनाभ्यासयोगेन मृत्युजिद् भवति(ते) नरः ॥ ५० ॥

न केवलमात्मनः, यावत्—

इस प्रकार योगी सब कुछ को मृत्युञ्जय से व्याप्त हुआ ध्यान कर मुक्त हो जाता है ॥ ४८ ॥

योगी (मुक्त हो जाता है) ॥ ४८ ॥

और यह—

हे प्रिये ! काल का अपसारक सर्वकाल तुमको बतलाया गया ॥४९-॥

अकालकलित चिद्धाम के समावेश के उपदेश के कारण (यह कहा गया) ॥

प्रस्तुत का उपसंहार कर पूर्वप्रस्तुत को उपसंहृत करते हैं—

हे देवि ! इस प्रकार मैंने तुम्हें काल का तीन प्रकार का वञ्चन (= त्याग) बतलाया ॥ -४९-५०- ॥

यह—

योग परम दुर्लभ है ॥ -५०- ॥

और भी—

इसके अभ्यासयोग से मनुष्य मृत्युजित् हो जाता है ॥ -५० ॥

न केवल अपनी मृत्यु बल्कि—

अनेनैव तु योगेन लोकानुग्रहकाम्यया।
भवते मृत्युजिद्योगी सर्वप्राणिषु सर्वदा ॥ ५१ ॥

एतज्ज्ञाननिष्ठो विश्वानुग्रहकरणक्षम इत्यर्थः ।

यत्त्वत्राधिकारे परं ज्ञानमुक्तम्—

एष मृत्युञ्जयः ख्यातः शाश्वतः परमो ध्रुवः ।
अस्मात् परतरो नास्ति सत्यमेतद्वदाम्यहम् ॥ ५२ ॥

शिष्याणामत्रार्थे दृढ आश्वासो जायतामित्याशयेनादरादुक्तमर्थमत्युपादेयत्वात् पुनः पुनरादिशति—

यत्परामृतरूपं तु त्रिविधं चोदितं मया ।
तदभ्यासाद् भवेज्जन्तुरात्मनोऽथ परस्य वा ॥ ५३ ॥
अमृतेशसमो देवि मृत्युजिन्नात्र संशयः ।

किञ्चेमं मृत्युजिन्नाथम्—

येन येन प्रकारेण यत्र यत्रैव संस्मरेत् ॥ ५४ ॥
तेन तेनैव भावेन स योगी कालजिद् भवेत् ।

संसारी लोगों के ऊपर कृपा करने की इच्छा से इस योग के द्वारा योगी सभी प्राणियों के विषय में सर्वदा मृत्युजित् होता है । (अर्थात् अन्य प्राणियों को भी मृत्यु से छुटकारा दिला सकता है) ॥ ५१ ॥

इस ज्ञान में परिनिष्ठित योगी विश्व के ऊपर अनुग्रह करने में सक्षम होता है ॥

इस अधिकार जो पर ज्ञान कहा गया—

वह शाश्वत परम ध्रुव मृत्युञ्जय कहा गया है । इससे बढ़कर कुछ नहीं है । यह मैं सत्य कह रहा हूँ ॥ ५२ ॥

इस विषय में शिष्यों को दृढ़ विश्वास उत्पन्न हो इस आशय से आदरपूर्वक कहे गये अर्थ को, अत्यन्त ग्राह्य होने के कारण, बार-बार कह रहे हैं—

जो तीन प्रकार का पर अमृत मैंने (तुमको) बतलाया उसके अभ्यास से मनुष्य अपने और दूसरे के लिये अमृतेशतुल्य होकर मृत्युजित् हो जाता है । हे देवि ! इसमें संशय नहीं है ॥ ५३-५४- ॥

इस मृत्युञ्जयभट्टारक का—

योगी जिस-जिस प्रकार से जहाँ-जहाँ (उसका) स्मरण करता है उसी-उसी भाव से वह कालजयी हो जाता है ॥ -५४-५५- ॥

येन येनेत्याणवेन शाक्तेन शाम्भवेन वा । यत्र यत्रेति नात्र देशकालावस्थादिनियम इत्यर्थः ॥

अयं च योगी—

यत्र यत्र स्थितो वापि येन येन व्रतेन वा॥ ५५ ॥
येन येन च योगेन भावभेदेन सिद्ध्यति ।

येन येन योगेन तत्तत्संहितासु योगपादोक्तेन, भावभेदेनेत्येतत्तत्त्वनिष्ठभावनाविशेषेण ॥

यच्चेदममृतेशनाथाख्यं परं तत्त्वम्—

तदेकं बहुधा देवि ध्यातं वै सिद्धिदं भवेत्॥ ५६ ॥
द्वैताद्वैतविमिश्रे वा एकवीरेऽथ यामले ।
सर्वशास्त्रप्रकारेण सर्वदा सिद्धिदं भवेत्॥ ५७ ॥

एकमिति पराद्वयस्वतन्त्रचित्सतत्त्वम्, अत एव बहुधेत्येतत्स्वातन्त्र्यावभासितभाविपटलवक्ष्यमाणश्रीसदाशिवतुम्बुरुभैरवकुलेश्वरादिरूपतया ध्यातं सिद्धिं ददात्येवेत्यर्थः । परमाद्वैतरूपत्वाच्चास्य नाथस्य द्वैताद्वैतादिसर्वप्रकारक्रोडीकारित्वं न विरुध्यते । वक्ष्यति चैकविंशाधिकारे—

जिस-जिस = आणव, शाक्त अथवा शाम्भव उपाय से । जहाँ-जहाँ = इस विषय में देश काल अवस्था का नियम (= प्रतिबन्ध) नहीं है—यह तात्पर्य है ॥

और यह योगी—

जहाँ-जहाँ, जिस-जिस व्रत से तथा जिस-जिस योग से स्थित होता है, भावना के भेद से (वहाँ-वहाँ) उसे (वह) सिद्धि मिलती है ॥ ५५-५६- ॥

जिस-जिस योग से = भिन्न-भिन्न संहिताओं में योगपाद में कथित (योग) से । भाव के भेद से = इस तत्त्व में स्थित भावनाविशेष के द्वारा ॥

जो यह अमृतेशनाथ नामक पर तत्त्व है—

एक होने पर भी अनेक प्रकार से ध्यात होने पर यह सिद्धिदाता हो जाता है । द्वैत, अद्वैत, विमिश्र (= द्वैताद्वैत), एकवीर, यामल, सब में सब शास्त्रों के प्रकार में यह सिद्धि प्रदान करता है ॥ -५६-५७ ॥

एक = पर अद्वय स्वतन्त्र चित्तत्त्व । इसीलिये बहुधा = स्वातन्त्र्य के कारण अवभासित भावी पटल में वक्ष्यमाण सदाशिव तुम्बुरु भैरव कुलेश्वर आदि के रूप में ध्यात होने पर सिद्धि को देता ही है । यतो हि यह अमृतेशनाथ परम अद्वैत रूप है इसलिये इनके यहाँ द्वैत अद्वैत आदि सभी भेदों का क्रोडीकारित्व (= सङ्क्रम)

'अद्वैतं कल्पनाहीनं चिद्घनम् ।' (२१।२३) इति ॥ ५७ ॥

किं च—

चिन्तारत्नं यथा लोके चिन्तितार्थफलप्रदम् ।
तथैव मन्त्रराजस्तु चिन्तितार्थफलप्रदः ॥ ५८ ॥

अत्रत्य इत्यर्थः ॥ ५८ ॥

किं च—

मन्त्राणां सप्तकोटीनामालयः परमो बली ।

तेषामपि पराद्वयैकवीर्यत्वात् ॥

अपि च—

भावहीनास्तु ये मन्त्राः शक्तिहीनास्तु कीलिताः ॥ ५९ ॥
वर्णमात्राविहीनास्तु गुर्वागमविवर्जिताः ।
भ्रष्टाम्नायविहीना ये आगमोज्झितविघ्निताः ॥ ६० ॥
न सिद्ध्यन्ति यदा देवि जप्ता इष्टाः सहस्रशः ।
असिद्धा रिपवो ये च सर्वांशकविवर्जिताः ॥ ६१ ॥
आद्यन्तसंपुटेनैव साद्यर्णेन तु रोधिताः ।
मन्त्रेणानेन देवेशि अमृतेशेन जीविताः ॥ ६२ ॥

परस्पर विरुद्ध नहीं होता । इक्कीसवें अधिकार में कहेंगे भी—

'वह तत्त्व अद्वैत कल्पनाहीन और चिद्घन है' ॥ ५७ ॥

और भी—

संसार में जिस प्रकार चिन्तामणिरत्न चिन्तितविषयक फल देता है उसी प्रकार यह मन्त्रराज चिन्तित अर्थरूपी फल को देने वाला है ॥ ५८ ॥

और भी—

यह सात करोड़ मन्त्रों का आलय है अत एव परम बली है ॥ ५९-॥

क्योंकि वे (सात करोड़ मन्त्र) भी परमवीर्य वाले हैं ॥

और भी—

जो मन्त्र भावहीन, शक्तिहीन, कीलित, वर्णमात्राविहीन, गुरु की परम्परा से रहित, भ्रष्ट आम्नाय के कारण नष्ट, आगम से त्यक्त, विघ्नित हैं तथा इष्टरूप में हजारों बार जप किये जाने पर भी सिद्ध नहीं होते, उसी प्रकार जो असिद्ध शत्रु हैं सर्वांश से रहित है आदि वर्ण के सहित आद्यन्त सम्पुट

सिद्ध्यन्ति ह्यप्रयत्नेन जप्ता इष्टा न संशयः ।
ध्याताः सर्वप्रदा देवि भवन्ति न वचोऽनृतम् ॥ ६३ ॥

भावहीना अज्ञातवीर्याः, शक्तिहीनाः साञ्जनाः । यथोक्तम्—

'साञ्जनास्तेऽण्डमध्यस्थाः सात्त्वराजसतामसाः ।' इति ।

कीलिता व्यत्यस्तवर्णपदाः, गुर्वाम्नायविवर्जिताः शिष्यैः स्वयमेव पुस्तकाद् गृहीताः, भ्रष्टाम्नाया अज्ञातसंहितोत्थानाः, तत एव विनष्टाः, आगमोज्झितैर्विघ्निता नित्यं क्षुद्रसिद्धिविनियोगेन विघ्नाभिभूताः कृताः । असिद्धा रिपवो ये इति नामाक्षरान्मन्त्राक्षरं मातृकाक्रमेणाङ्गुलिपर्वचतुष्टये पुनःपुनरावर्तनया गण्यमानं यदि (प्रथमं पर्व स्पृशति तदा सिद्धं भवति यदि) द्वितीयं पर्व स्पृशति, तदा सिद्धं साध्यं तदुच्यते । यदि तृतीयं पर्व स्पृशति, तदा सुसिद्धं भवति । अथ चतुर्थं पर्व स्पृशति, तदास्य विरुध्यते । सर्वे अंशका भावस्वभावपुष्पपाताद्याख्याः । एवमादि च श्रीस्वच्छन्दादेर्ज्ञेयम् । एवमीदृशा अपि मन्त्रा नेत्रनाथसंपुटीकारेण इष्टा ध्याता जप्ताश्च सर्वसिद्धिप्रदा भवन्ति । न संशय इति, न वचोऽनृतमिति

होने से रोधित हैं, हे देवेशि ! वे सब इस अमृतेशमन्त्र से जीवित होने पर यथेष्ट जाप किये जाने पर बिना प्रयत्न के सिद्ध हो जाते हैं—इससे सन्देह नहीं । हे देवि ! ध्यान किये जाने पर ये सर्वप्रद होते हैं यह वचन झूठा नहीं है ॥ -५९-६३ ॥

भावहीन = जिनकी शक्ति ज्ञात नहीं है अर्थात् शक्तिरहित, मलिन । जैसा कि कहा गया—

'वे (जीव) साञ्जन है जो अण्ड (= ब्रह्माण्ड) के मध्य में स्थित हैं और सत्त्व रजस् तमस् से युक्त है ।'

कीलित = अक्षरों को या पदों को उलट-पलट कर बनाये गये । गुरु आम्नाय से रहित = शिष्यों के द्वारा स्वयं पुस्तक से गृहीत । भ्रष्टाम्नाय = अज्ञात संहिता से प्राप्त, इसी कारण विनष्ट । आगम के उज्झित होने से विघ्नित = सदा छोटी सिद्धियों में प्रयुक्त होने के कारण विघ्नाभिभूत । असिद्ध रिपु = असिद्ध मन्त्र एवं रिपुमन्त्र । साधक का नाम और मन्त्रों के अक्षरों को मातृका के क्रम से स्वर एवं व्यञ्जन को अलग-अलग कर चारो अंगुलियो के पर्वो से आवर्त्तन के साथ गणना करने पर यदि (पहले पर्व का स्पर्श करता है तो सिद्ध होता है); दूसरे पर्व को छूता है तो सिद्धसाध्य कहा जाता है । यदि तृतीय पर्व का स्पर्श करता है तो सुसिद्ध होता है । चतुर्थ को छूता है तो इसका विरोधी होता है । सर्वांश = भावस्वभाव = मन्त्रों के छह प्रकार के भाव स्वभाव पुष्पपात आदि सभी अंशक मन्त्रनाथ के जप से दूर हो जाते हैं । इस सबको स्वच्छन्द[1] आदि से जानलेना

---

१. द्रष्टव्य—स्व०तं० अष्टमपटल

चोक्त्यानाश्वस्तानामप्याश्वासं रोहयति ॥ ६३ ॥

उपसंहरति—

इति सर्वं समाख्यातं रहस्यं परमं प्रिये ॥ ६४ ॥

प्रथमाधिकारे यत् परमं रहस्यं प्रश्नितम्, तदित्युक्तदृशा सर्वं समाख्यातमिति शिवम् ॥ ६४ ॥

चिदानन्दघनं धाम शाङ्करं परमामृतम् ।
मृत्युजिज्जयति श्रीमत् स्वावेशेनोद्धरज्जगत् ॥

**॥ इति श्रीनेत्रतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचित-
नेत्रोद्योते अष्टमोऽधिकारः ॥ ८ ॥**

चाहिये । ऐसे भी मन्त्र नेत्रनाथ से सम्पुटित कर इष्ट ध्यात और जप्त होने पर सर्व सिद्धिप्रद होते हैं । 'संशय नहीं हैं' 'वचन झूठा नहीं है' इन वचनों से अविश्वासी लोगों के मन में भी विश्वास उत्पन्न करते हैं ॥

उपसंहार करते हैं—

हे प्रिये ! इस प्रकार समस्त परम रहस्य कहा गया ॥ ६४ ॥

**इस प्रकार मृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के
अष्टम अधिकार की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदी कृत ज्ञानवती
नामक हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ८ ॥**

प्रथम अधिकार में जो परम रहस्य पूछा गया था वह उक्त रीति से सब का सब कह दिया गया ॥ ६४ ॥

चिदानन्दघन, परमअमृत, श्रीमान् तथा अपने आवेश से जगत् का उद्धार करने वाला शाङ्कर तेज सबसे बढ़कर है ।

॥ इस प्रकार श्रीमदमृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के अष्टम अधिकार की आचार्यवर्य श्रीक्षेमराजविरचित 'नेत्रोद्योत' नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ८ ॥

नवमोऽधिकारः

*** नेत्रोद्योतः ***

स्वच्छस्वच्छन्दचिन्नेत्रं चित्रानुग्रहहेतुतः ।
सदाशिवादिभी रूपैः प्रस्फुरज्जयति प्रभुः ॥

अथाधिकारसङ्गतिं कुर्वती श्रीदेव्युवाच—

श्रुतं देव मया सर्वं माहात्म्यं मन्त्रनायके[1] ।
अधुना श्रोतुमिच्छामि यदुक्तं विभुना मम ॥ १ ॥
सर्वागमविधानेन भावभेदेन सिद्धिदम् ।
वामदक्षिणसिद्धान्तसौरवैष्णववैदिके ॥ २ ॥
यथेष्टसिद्धिदं देवं यथेष्टाचारयोगतः ।
तदाख्याहि सुरेशान चिन्तारत्नफलोदयम् ॥ ३ ॥

*** ज्ञानवती ***

अधिकार इहाङ्गे प्रभोर्वामाद्यं ह्यनुसृत्य पूजनम् ।
सुशिवस्य समर्चनं ब्रुवन् जयतात् कोऽपि मणेः फलप्रदः ॥

प्रभु (= समर्थ) एवं स्वच्छ-स्वच्छन्द चित् नेत्र विचित्र अनुग्रह के कारण सदाशिव आदि रूपों से स्फुरित होते हुए सर्वोत्कृष्ट हैं ।

अब अधिकार की सङ्गति बैठाती हुयी देवी ने कहा—

हे देव ! मैंने मन्त्रनायक (= अमृतेश मन्त्र) का सम्पूर्ण माहात्म्य सुना । अब मैं, जैसा कि विभु आपने मुझसे कहा—समस्त आगमों के विधान से भावभेद के अनुसार सिद्धि देने वाले देव, वाम, दक्षिण, सिद्धान्त, सौर, वैष्णव एवं वैदिक प्रक्रियाओं में यथेष्ट आचारद्वारा यथेष्ट सिद्धि देने वाले हैं, हे सुरेशान ! उस चिन्तामणिरत्न के समान फल देने वाले को बतलाइये ॥ १-३ ॥

---

१. यहाँ षष्ठी अर्थ में सप्तमी का प्रयोग आर्ष है ।

काम बीज का ध्यान।

(१९)

मुखं बिन्दुं कृत्वा कुचयुगमधस्तस्य तदधो
हरार्धं ध्यायेद्यो हरमहिषि ते मन्मथकलाम् ।
स सद्यः संक्षोभं नयति वनिता इत्यतिलघु
त्रिलोकीमप्याशु भ्रमयति रवीन्दुस्तनयुगाम् ॥

कठिन शब्दः—मन्मथ कला=क्लीं अथवा ईं ।

अर्थः—मुख को बिन्दु बना कर दोनों स्तनों को उसके नीचे दो और बिन्दु बनाना चाहिये उसके नीचे हर के अर्ध-भाग का ध्यान करना चाहिये। हे हर महिषी ! इस प्रकार जो तेरी काम कला का ध्यान करता है, वह तुरन्त स्त्रियों के चित्त में क्षोभ ले आता है यह अति छोटी बात है, (उसका सामर्थ्य तो इतना अधिक होता है कि) अपितु वह सूर्य और चन्द्र रूपी दो स्तन वाली त्रिलोकी को भ्रमा सकता है।

सं० टि०:—हरमहिशी पद से आदि शक्ति ग्रहण करना चाहिये। 'हरतीति हर'। मन्मथकला, कामकला। कामकला से हमने त्रिपुरोपनिषद् की श्रुति ११ के प्रकाश में काम बीज लिया है। परन्तु ईं को काम कला कहते हैं। ईं में भी तीन बिन्दु माने जा सकते हैं। ईकार का नीचे क भाग हकार का आधा भाग समझा जा सकता है। इस लिये

नीचे व्याख्या में क्लीं के स्थान पर ईं भी पढा जा सकता है। विन्दु तीन हैं ब्रह्मा विष्णु और रुद्र। उनमें एक मुख है और दो स्तन।

इस श्लोक में काम कला का ध्यान बताया गया है। जो क्लींमें ककार के बिन्दु रूपी मुख के नीचे लकार के दो बिन्दुओं को दोनों स्तनों से उपमित कर के ईकार रूपी हरार्धांगिनी के योग से बनती है। इस मंत्र के प्रयोग का फल, इह लोक की स्त्रियों का वश करना तो क्या तीनों लोक वश में किये जा सकते हैं। त्रिलोकी भी एक विराट स्त्रीवत् ही है, जिसके सूर्य और चन्द्रमा दो स्तन सदृश हैं। परिशिष्ट नं. २ में त्रिपुरोपनिषद की श्रुति ११ भी देखें। इस उपमा से स्त्री मात्र में साधक का पूज्य मातृभाव जागृत किया गया है। क्योंकि सूर्य प्राण रूपी और चन्द्रमा अमृत रूपी दुग्धपान कराकर विश्व का पालन करते हैं। कहा भी है।

विद्याः समस्तास्तवदेविभेदाः स्त्रियाः समस्ताः सकला जगत्सु।

यद्यपि योगी के रूप लावण्य और तेजस्वी रूप को देखकर कामिनियों के चित्त में क्षोभ उत्पन्न होना स्वाभाविक है, अपितु योगी की इतनी महानता है कि त्रिलोकी भी उस पर अपना सर्वस्व निछावर करने को तय्यार रहती है। क्या उसके हृदय में सामान्य रमणियां काम का उद्वेग ला सकती हैं? वह प्रकृति देवी के विराट देह के सूर्य चन्द्ररूपी स्तनों के दूध को पीकर दोनों का योग करता है। स्तन पान करने वाला शिशु कितना सुन्दर होता है, जिसके रूप लावण्य पर सब ही मोहित होकर उसका कितने स्नेह से लालन-पालन किया करते हैं, परन्तु क्या उस शिशु में भी कभी युवतियों

को देखने से काम की भावना का उदय होना संभव है। प्रकृति देवी के सूर्य चन्द्र रूपी स्तनों के दूध से पुष्ट होने वाला योगी फिर इन सामान्य स्त्रियों की मायामयी मोहिनी से कैसे प्रभावित हो सकता है? वह प्रकृति जननी का बालक तो दिव्यामृत पीकर जडोन्मत्त बालवत् क्रीडा करता है। कामी पुरुष के चित्त में स्त्री के मुख और कुच युग पर दृष्टि पडने से विकार उत्पन्न होता है, परन्तु जो पुरुष इनको देखकर स्त्री के रूप में कामकला की भावना कर के, उसमें उपास्य बुद्धि उत्पन्न कर लेते हैं, उनके वश में त्रिलोकी हो जाती है। अर्थात् वे काम को जीतकर मन्मथारि हो जाते हैं।

सूर्य जगत् का प्राण है और चन्द्रमा जगत् का मन। श्रुतियां कहती हैं।

'प्राणः प्रजाना मुदत्येषः सूर्याः'। और 'चन्द्रमा मनसो जातः'। दोनों का संबंध सूर्य और चन्द्र मण्डलों से है। अनाहत चक्र के १२ पत्र १२ आदित्यों से और विशुद्ध चक्र के १६ पत्र चन्द्रमां की १६ कलाओं से उपमित किये जाते हैं। इसी प्रकार मणिपूर के १० पत्र अग्नि की १० कलाओं से उपमित किये जाते हैं। ईडा को चन्द्र नाडी, पिंगला को सूर्य नाडी कहते हैं और सुषुम्ना में तीनों का समावेश है। हृदय प्राण का स्थान है और आज्ञा चक्र मन रूपी चन्द्रमा का। जो योगी सूर्य को उन्मुख कर के सोमामृत का पान करते हैं और दिव्यानन्द का आस्वाद लेते हैं, उनको कामाग्नि का संताप नहीं संतप्त करता। ज्ञानी, भक्त, योगी अथवा समयाचार के उपासक किसी को भी काम प्रयोग इष्ट नहीं

होता। इसलिये इन श्लोकों को एक ज्ञानी अथवा योगी के हृदय में वैराग्य उत्पन्न करने के निमित्त ही लिखा जाना समझना चाहिये। परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री शंकर भगवत्पाद की लेखिनी से निकले हुए श्लोकों का अभिप्राय किसी सांसारिक काम वासना से संतप्त मनुष्य की स्त्री लोलुपता की सहायतार्थ काम प्रयोगों के लिये लिखा जाना सर्वथा असंभव है। और उनमें काम सिद्धि के तुच्छ प्रयोगों का विनियोग देखना अथवा करना भगवत्पाद की महानता पर कलंक लगाना मात्र है।

शक्तिपात करने की सिद्धि

[२०]

किरन्तीमङ्गेभ्यः किरणनिकुरुम्बामृतरसं
हृदित्वामाधत्ते हिमकरशिलामूर्तिमिव यः।
स सर्पाणां दर्पं शमयति शकुन्ताधिप इव
ज्वरप्लुष्टान् दृष्ट्या सुखयति सुधाधारसिरया॥

कठिन शब्दः— किरन्ती=किरणें फैलाती हुई (radiating) निकुरम्ब=समूह, हिमकर=चन्द्र, शकुन्ताधिप=गरुड, सिरा=नाडी। सुधाधार सिरा=अमृत नाडी, जिससे अमृत का स्राव होता है।

अर्थः— जो मनुष्य अंगों से अमृत रस रूपी किरणों के समूह का निकास करती हुई तुझ को हृदय में धारण करता है, और तेरा चन्द्रकान्त शिला की मूर्तीवत हृदय में ध्यान करता है,

वह गरुड के सदृश सर्पों के दर्प का शमन कर देता है और अपनी सुधा की वर्षा करने वाली (आज्ञा चक्रस्थ) नाडी के द्वारा दृष्टि मात्र से ज्वर संतप्त मनुष्यों को सुख पहुंचाता है।

हिमकर शिला, हिम बनाने वाले चन्द्रमा की चांदनी से द्रवीभूत होने वाली चन्द्रकान्त मणि जैसे चन्द्रमा की किरणों से पिघलने लगती है, वैसे ही चन्द्रमण्डल के आज्ञा चक्रस्थ अधोमुख चन्द्र बिंब से भगवती की मूर्ति भी हृदय में धारण किये जाने पर अंग प्रत्यंग से अमृत रस की किरणें निकालने लगती हैं। वह योगी सर्पों के दर्प को भी शान्त कर सकता है, जैसे गरुड को देखकर सर्प भयभीत होकर चुप हो जाता है। जिस मनुष्य को कुण्डलिनी रूपी नागन ने डस रखा है और अपनी कुंकुम सदृश दिव्य अरुण मूर्ति के लिये उसके हृदय को निवास स्थान बना रखा है, उस योगी पर सामान्य सर्पों के विष का प्रभाव नहीं हो सकता। मानो कुण्डलिनी देवी की चन्द्रकान्त मणि तुल्य मूर्ति चन्द्रमा की सोम प्रभा पडने पर अमृत का स्राव करने लगती है और हलाहल को भी शान्त करने का सामर्थ्य रखती है। इतना ही नहीं, उस योगी की शांभवी मुद्रा में स्थिरीभूता दृष्टि, अवलोकन मात्र से आज्ञा चक्र की नाडी द्वारा कुण्डलिनी के उगले हुए गरलामृत को सींचकर मनुष्यों का ज्वर शांत कर देती है। यहां ज्वर से साधारण ज्वरों का भाव मात्र ही नहीं लेना चाहिये, यह संसार संताप भी एक व्यापी ज्वर है, जिसके त्रिताप से भी वह योगी शक्तिपात् दीक्षा द्वारा मुक्त कर देता है, यह प्रसिद्ध ही है। क्योंकि

[२१]

तडिल्लेखातन्वीं तपनशशिवैश्वानरमयीं
निषण्णां षण्णामप्युपरि कमलानां तव कलाम्।
महापद्माटव्यां मृदितमलमायेन मनसा
महान्तः पश्यन्तो दधति परमाल्हादलहरीम्[1]

१ पाठान्तर= परमानन्दलहरीम्

कठिन शब्द:— अटवी=बन, महापद्माटव्यां=सहस्रार में।

अर्थः— महापुरुष तेरी, विद्युत् रेखा जैसी पतली, सूर्य चन्द्र और अग्नि की त्रिमयी कला को, छः कमलों के भी ऊपर कमलों के महाबन में, मलमाया से विशुद्ध मन द्वारा देख २ कर परम आनन्द की लहर को धारण किया करते हैं।

सं० टि० इस श्लोक में अभ्यन्तर आज्ञा चक्र के ऊपर मूर्धागत ज्योति दर्शन का स्वरूप दिखाया गया है। इससे पूर्व जो ध्यान बताये गये हैं, वे सब नीचे के स्तरों के ध्यान हैं। कला से चित्स्वरूपा शक्ति का अभिप्राय है। महा पद्माटवी से सहस्रार का अभिप्राय है।

षट् चक्र का बेध कर के कुण्डलिनी शक्ति जब सहस्रार में उठती है, तब उसकी कला बिजली के सदृश चमकती हुई रेखा के सदृश दृष्टिगोचर हुआ करती है। वह सोम सूर्य और अग्नि तीनों के तेज से युक्त होती है। उसके दर्शन वे ही महापुरुष योगी कर सकते हैं जिनके मन मल माया से बिशुद्ध हो चुके हैं, जिसका

दर्शन परम आल्हादकारी होता है। ब्रह्मविद्योपनिषद् में उक्त कला का वर्णन नीचे उद्धृत् श्लोकों में किया गया है।

सूर्यमण्डल मध्येऽथ ह्यकारः शंख मध्यगः।
उकारश्चन्द्रसंकाशस्तस्य मध्ये व्यवस्थितः॥ ७॥
मकारस्त्वग्निसंकाशो विधूमो विद्युतोपमः।
तिस्रो मात्रास्तथाज्ञेया सोमसूर्याग्निरूपिणः॥ ८॥
शिखातु दीपसंकाशा तस्मिन्नुपरि वर्तते।
अर्ध मात्रा तथा ज्ञेया प्रणवस्योपरि स्थिता॥ ९॥
पद्मसूत्रनिभा सूक्ष्मा शिखा सा दृश्यते परा॥

अर्थः— 'शंख के मध्य भाग में, (ध्वनि के सदृश) प्रणव की प्रथम मात्रा अकार सूर्य मण्डल के मध्य है, उकार दूसरी मात्रा चन्द्रमा के सदृश उसके मध्य में स्थित है, तीसरी मात्रा मकार अग्नि सदृश जिसमें धूआं न हो, विद्युत् वत् चमकती हुई उसके मध्य में है। इस प्रकार तीनों मात्राओं को सोमसूर्याग्निमयी जानना चाहिये। उसके ऊपर दीप शिखा के सदृश लौ है, उसको प्रणव के ऊपर आधी मात्रा समझना चाहिये। वह कमल सूत्र जैसी सूक्ष्म शिखा योगियों को दृष्टिगोचर होती है? उक्त प्रणव कला जो शक्ति की ही कला है, सहस्रार में दिखती है। शुद्ध अन्तःकरण वाले योगी ही उसे देख सकते हैं, और उसका दर्शन परम आल्हाद का देने वाला होता है। इसके दर्शन के पश्चात् ज्ञान की भूमिका का उदय होता है। सिद्धियों की भूमिका भी नीचे ही रह जाती है, क्योंकि प्रत्येक चक्र की सिद्धियां भिन्न २ हैं।
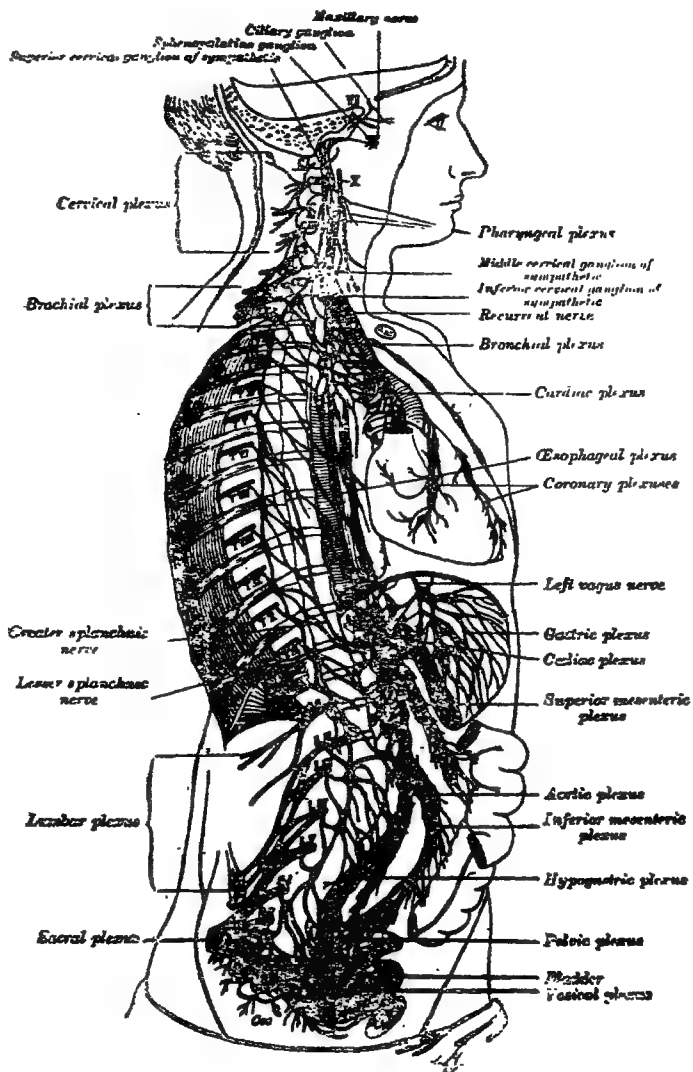
Borrowed from Gray's Anatomy

चक्रों और सहस्रार का सविस्तार वर्णन

स्थूल देह सप्त धातुओं का बना है। जो अन्न जल खाया पिया जाता है, वह जठराग्नि से पचकर रस बनाता है, रस से रुधिर, रुधिर से मांस, मांस से मेदा, मेदा से स्नायु, स्नायु से अस्थि, अस्थि से मज्जा, और मज्जा से शुक्र। रुधिर, मांस, मेदा (चर्बी,) स्नायु, अस्थि, मज्जा, और शुक्र (वीर्य) सप्त धातु कहलाती हैं। रक्त को अंग प्रत्यंग में पहुंचाने के लिये रक्त वाहिनी (arteries) नलिकाओं सदृश नाडियां हैं, जब वह रक्त दूषित होकर नीला हो जाता है तब उसको स्वच्छ करने के लिये हृदय में खेंचकर फुफुसों में पहुंचाया जाता है, वहां श्वास द्वारा वह फिर स्वच्छ हो जाने पर हृदय में खेंच लिया जाता है और रक्त वाहिनी नाडियों में भेज दिया जाता है। हृदय पंप का कार्य करता रहता है, जिसका एक ओर फुफुसों से संबंध है दूसरी ओर रक्त को लाने और ले जाने वाली नलिकाओं से। नीले रंग के दूषित रक्त को हृदय में खेंचने वाली नलिकायें पित्त नाडियां (veins) कहलाती हैं। इसी प्रकार मेदस् (चर्बी) बनाने वाले द्रव्य की भी नलिकायें होती हैं जिनको कफ वाहिनी (Lymphs) नाडियां कहते हैं। मेदा से स्नायु की उत्पत्ति बताई जाती है। ये स्नायु वात, अर्थात् प्राण वाहिनी नाडियां (nerves) कहलाती हैं। मज्जा अस्थियों की नलिकाओं में होती है और शुक्र, शुक्राशय में अण्डकोषों द्वारा बनता है। यहां हम स्नायुओं को ही नाडी नाम से संबोधित करते हैं। ये नाडियां सुषुम्ना नाडी के द्वारा आनख शिख देह का मस्तिष्क से संबंध जोडती हैं। इनकी सख्या ७२ हजार कही

जाती हैं। सुषुम्ना नाडी मेरु दण्ड के भीतर सुरक्षित है। जिसकी आकृति ∞ के सदृश मिलती हुई सी समझनी चाहिये। किसी पदार्थ के ऐसे पुर्जों को एक दूसरे पर रखकर और दोनों ओर के बड़े छिद्रों में दोनों ओर बारीक तारों के गुच्छों को पिरोकर सब पुर्जों को ग्रथित कर लिया जाय तो वह सर्पाकार सुषुम्ना का ढांचासा दिखने लगेगा। सुषुम्ना में तारों के स्थान पर वे स्नायु हैं जो मस्तिष्क को देह में फैले हुए समस्त नाडी जाल से संबंधित करते हैं। और बीच के छिद्र से बनी नलिका में एक द्रव्य पदार्थ भरा रहता है जिसको चन्द्र मण्डल से निकलने वाला अमृत कहते हैं, इसे सुषुम्ना मानों पान कर के पुष्ट होती है। अंग्रेजी में इसे (cerebro spinal fluid) अर्थात् मास्तिष्क सौष्मन द्रव्य कहते हैं। सुषुम्ना के अन्दर गुदा, उपस्थ, नाभि, वक्षस्, ग्रीवा के ५ प्रदेशों से संबंधित् ५ चक्र हैं, जिनको विभिन्न अंगों की नाडियों से सुषुम्ना का संबंध होता है। सुषुम्ना के दोनों तरफ के स्नायु भ्रूमध्य प्रदेश में एक बिन्दु पर मिलकर दक्षिण भाग से वाम ओर और वाम भाग से दक्षिण ओर होकर सहस्रार में चढ़ जाते हैं, इस भ्रूमध्य स्थान को आज्ञा चक्र कहते हैं। ग्रीवा प्रदेश के चक्र को विशुद्ध, वक्षस् के चक्र को अनाहत्, नाभि प्रदेश के चक्र को मणिपूर, उपस्थ देश के चक्र को स्वाधिष्ठान और गुदा प्रदेश के चक्र को मूलाधार कहते हैं। भ्रूमध्य से ऊपर कपाल सपुट में सुषुम्ना का ऊद्र्ध्व भाग चार रूपों में परिणत हो जाता है। सब से नीचे का भ्रूमध्यस्थ अघोभाग (modula oblangata) कहलाता है, उसके ऊपर छोटा मस्तिष्क (cerebellum or hind brain) कहलाता है, इसको कपाल कंद कहते हैं, यहां पर पांचों ज्ञानेद्रियों

और स्वप्न की नाडियों का स्थान है, इसी को मनश्चक्र भी कहते हैं। इसके ऊपर एक अति सूक्ष्म नलिका है जो सुषुम्ना के मध्यवर्ती विल का वह भाग है जो छोटे दिमाग अर्थात् कपाल कंद को सहस्रार (cerebrum) के मध्यवर्ती ब्रह्मरंध्र (Third Ventrical) से जोडता है। इस भाग के नीचे कपाल कंद के सामने भी एक त्रिकोणाकृति कपाल रंध्र (Fourth ventrical) है। (Third Ventrical) ब्रह्म रंध्र भी त्रिकोणा कृति ही है जो पीछे से सामने की ओर फैला हुआ है। ब्रह्मरंध्र पर एक पुलसा बना हुआ है, जिस पर सुषुम्ना पथ से आने वाले स्नायु समूह स्पर्श कर के फिर सारे मस्तिष्क (cerebrum) के विभिन्न केन्द्रों को फैल जाते हैं। इसलिये इस स्नायु समूह के प्रसार को सहस्रार कहते है।

गुदा के पीछे एक मांस पेशी है, जिसे कंद कहते हैं। वह ९ अंगुल लंबी और ४ अंगुल मोटी कही जाती है। इसके मध्यवर्ती नाभिवत् केन्द्र पर कुण्डलिनी के सोने का स्थान है। उस स्थान को विषु चक्र भी कहते हैं, क्योंकि यहां शक्ति निष्क्रिय सुप्तवत् रहती है, अथवा वह ईडा और पिंगला का एक स्थानीय उद्गम स्थान होने के कारण, वहां चन्द्रमा और सूर्य दोनों का अभाव सा रहता है अर्थात् दिन रात्रि एक समान गति रहित रहते हैं। विषु दिन रात्रि के एक समान होने के समय को कहते हैं। कुण्डलिनी को नाभि में धारण करने वाली मांस पेशी का कंद अधः सहस्रार कहलाता है। क्योंकि योगियों के समष्टि प्राण देह की सब नाडियों से खिंचकर पहिले यहां एकत्रित होते हैं और फिर सुषुम्ना में प्रवेश करते हैं।

ग्रीवा के ऊपर तालु का अन्तिम भाग नीचे की ओर लटका करता है, उसे लंबिका (काग) कहते हैं। वह भी एक चक्र माना जाता है। तैत्तिरीयोपनिषद् के छटे अनुवाक् में इसको इन्द्रयोनि नाम दिया गया है, जिसका शीर्षकपाल से संबंध है। और नीचे उसका हृदयाकाश से भी संबंध है। इस प्रकार अहंवृत्ति को हृदयाकाश से ब्रह्म रंध्र में ले जाने का लंबिका द्वारा सुषुम्ना से बाहर भी एक मार्ग है, जिसका कपाल कंद से सीधा संबंध है, अर्थात् वह हृदय के अष्टदल पद्म का सीधा मनश्चक्र से संबंध जोडता है। इसीलिये हृदय के इस चक्र को सुषुम्नागत षट् चक्रों से पृथक चक्र माना जाता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि कपाल कंद से पांचों ज्ञानेन्द्रियों और उनके गोलकों से संबंध रखने वाली नाडियों का निकास है। उनमें से एक नाडी ग्रीवा से नीचे उतरकर वक्षस्, उदर, कटि भाग में गुदा तक नीचे उतरती है, उसे अंग्रेजी में Vagus nerve कहते हैं, योग के आचार्यों ने उस के विभिन्न स्तरों पर विभिन्न नाम दिये हैं, जैसे कूर्म, विश्वोदरी, कुहू इत्यादि। इस नाडी की वाम शाखा निरर्थक सी है, परन्तु दक्षिण शाखा के तीन विभाग हैं, अर्थात् वक्ष, उदर और कटि देश के भाग। वक्ष के भाग में प्राण, उदर के भाग में समान और नीचे के भाग में अपान के स्थान हैं। इस नाडी का संबंध ईडा और पिंगला की मुख्य नाडियों (sympathetic columns) से भी है, और उनका संबंध सुषुम्ना के चक्रों से है। इसलिये यह प्राण समान अपान की नाडी

स्वतंत्र है और मन के आधीन कार्य नहीं करती। इसको स्वतत्र नाडीविभाग (autonomous system) कहते हैं।

सुषुम्ना के तीन परत होते हैं ऊपर के परत वाले भाग को वज्रा कहते हैं, उसके नीचे का परत चित्रा कहलाता है जिसके बीच में एक नलिका है। सुषुम्नागत छः चक्र अथवा कमल चित्रा में होते हैं और बीच वाली नलिका को पुष्प के बीच वाली नलिका सदृश समझना चाहिये, उसे ही ब्रह्म नाडी या विरजा कहते हैं।

इस श्लोक में जिन छः पद्मों के ऊपर महापद्मावटी में भगवती की कला की स्थिति कही गई, वे चित्रास्थित छः चक्र अपवा पद्म हैं। छओं चक्रों के छः अधिदेवता हैं। मूलाधार के ब्रह्मा, स्वाधिष्ठान के विष्णु, मणिपूर के रुद्र, अनाहत के ईश्वर, विशुद्ध के सदाशिव और आज्ञा के पर शिव। इनके अरों अथवा दलों की संख्या तत्वों की कला के अनुसार है। अग्नि की १०, सूर्य की १२, चन्द्रमा की १६, कलाएं क्रमशः मणिपूर अनाहत और विशुद्ध के दलों के बरावर हैं। ब्रह्मा विष्णु और रुद्र प्रत्येक की दस २ कलायें हैं, ईश्वर की चार और सदाशिव की १६ कलायें हैं। मूलाधार की ४, स्वाधिष्ठान की ६, और आज्ञा की दो शिराओं को भी कला कहें तो सब का योग पूरा १०० होता है। आज्ञा में परशिव निष्कल है, जिसकी शक्ति की ही ये सब कलाए कही जा सकी हैं, अर्थात् सहस्रार स्थित भगवती की कला के ये सब अवान्तर भेद हैं, अथवा वे निम्न स्तरों पर चमकने वाली प्रतिबिंब सदृश कही जा सकती हैं। कलाओं के नाम नीचे दिये जायेंगे।

ऊपर कहा जा चुका है कि अनाहत चक्रस्थ सूर्य उन्मुख होकर आज्ञा के ऊपर स्थित अधोमुख चन्द्रमा पर अपना प्रकाश डालता है तब दोनों के योग से चन्द्रमा में से अमृत स्रवने लगता है, जिसका प्रमाण कलाओं के अनुसार समझना चाहिये। अनाहत चक्र के १२ पत्रों पर १२ आदित्य हैं और विशुद्ध चक्र के १६ पत्रों पर चन्द्र की १६ कलायें।

चन्द्र सूर्य

चन्द्रमा का संबंध मन से है और सूर्य का संबंध प्राण से। कहा है 'चन्द्रमा मनसो जातः' 'आदित्यो वै प्राणः' 'आत्मन एषः प्राणो जायते'। चन्द्रमा ईश्वर के मन से उत्पन्न हुआ है, और आदित्य स्वयं समष्टि ब्रह्माण्ड को जीवन प्रदान करने वाला प्राण है। प्राण का उदय सीधा आत्मा से होता है। शरीर में मुख्यतः दो प्रकार की नाडियों के विभाग हैं। एक प्रकार की नाडियां वे हैं जो मेरु दण्ड के मध्य में स्थित सहस्रार से नीचे उतरने वाली सुषुम्ना से निकल कर सारे शरीर में फैलती हैं और सुषुम्नागत छवों चक्र, जिनके स्थान ग्रीवा, वक्षः स्थल, कटि, मूत्र और अधो भाग हैं, उनके निकास के केन्द्र हैं। इन नाडियों का मन और प्राण दोनों से संबंध है। और दूसरे प्रकार की वे नाडियां हैं जो आज्ञा चक्र के पास के मनश्चक्र (hind brain) से निकल कर श्रोत्र, नेत्र, मुख, जिह्वा में फैल जाती हैं, और उनमें से एक कूर्म (विश्वोदरी) (Vagus nerve) नीचे उतर कर गुदा तक फैली हुई है। इसका वाम भाग छोटा है और कुछ विशेष कार्य नहीं करता, परन्तु दक्षिण भाग फेफडों, और हृदय में श्वास प्रश्वास का कार्य, उदर में पाचन और रस वितरण का कार्य और अधो भाग

AUTONOMIC NERVOUS SYSTEM

PARASYMPATHETIC

SYMPATHETIC

PARASYMPATHETIC SYSTEM

1- Optical, 2- Other sensory nerves. 3. Right Vagus nerve, 4. Coccygeal connections.

SYMPATHETIC SYSTE■

Different connections of the symp thetic columns (Ida & Pingala) with spin cord on one side and different limbs ‹ the other.

में मलविसर्जन का कार्य करती है। पंच प्राणों की क्रियायें इसही नाडी से संबंध रखने वाली क्रियायें है। जो मन के आधीन नहीं हैं और सोते जागते सदा अपना कार्य किया करती हैं। क्योंकि प्राण कभी सोता नहीं, मन सोता जागता है। इस दक्षिण वैगस नाडी का संबंध सुषुम्ना के दक्षिण पार्श्व की पिंगला से है, ईडा से नहीं है। इसलिये चन्द्रमा का संबंध ईडा से, सूर्य का संबंध पिंगला से रहता है और ईडा को चन्द्र नाडी और पिंगला को सूर्य नाडी कहते हैं।

सूर्य की किरणों में प्रकाश, उष्णता और प्राण शक्ति अर्थात् जीवन प्रद शक्ति की त्रिधा शक्ति होती है। उनमें उष्णता विष का कार्य करती है, परन्तु विष भी अल्प मात्रा में अमृत का कार्य करता है, इसलिये सूर्य की उष्णता एक परिमित ताप मान की अवधि में जीवन की रक्षा के लिये सहायक होती है और उस अवधि के बाहर मारक सिद्ध हो जाती है। चन्द्रमा सूर्य की उष्णता को स्वयं पान कर लेता है और प्रकाश और प्राण शक्ति को अमृत के रूप में भूमि पर अपनी कलाओं द्वारा बरसाया करता है। यह बाह्य क्रिया प्राणि मात्र के शरीर पर ईडा और पिंगला नाडियों द्वारा प्रभाव डालती है।

शुक्ल पक्ष में अमृत की वृद्धि होती है और कृष्ण पक्ष में कमी। साधारण प्राणियों में अमृत का संचय नहीं होने पाता, अधोमुख अनाहत चक्र अपनी उष्णता से सब अमृत को सुखाता रहता है। इसलिये उसको विष की वर्षा करने वाला माना गया है। कुण्डलिनी के जागने पर उसके उर्ध्व मुख होने पर उसकी क्रिया

चन्द्र मण्डल पर होने लगती है और चन्द्र मण्डल से प्रसवित अमृत सब नाडियों को सींचने लगता है।

इस विषय पर विशेष जानकारी के लिये लेखक की Divine Power नाम की अंग्रेजी पुस्तक देखें।

श्रीमद् भागवत के प्रथम स्कन्द के १५ वें अध्याय में ४१, ४२ श्लोक संपूर्ण योग मार्ग के अनुष्ठान का वडा सुन्दर वर्णन करते हैं। जब धर्मराज युधिष्ठिर ने भगवान के परम धाम चले जाने का समाचार जाना तो उन्होंने जिस क्रम से ब्रह्मात्मैक्य कर के उत्तरा खण्ड की ओर प्रस्थान किया था। उक्त श्लोक इस प्रकार हैं।

वाचं जुहाव मनसि तत्प्राणे इतरे च तं।
मृत्यावपानं सोत्सर्गं तं पञ्चत्वेह्यजोहवीत् ॥ ४१
त्रित्वे हुत्वाथ पंचत्वं तच्चैकत्वेऽजुहोन्मुनिः।
सर्वमात्मन्यजुहवीद्ब्रह्मण्यात्मानमव्यये ॥ ४२

अर्थः— उस मुनि (युधिष्ठिर) ने बाणि की मन में आहुति दी, और मन की प्राण में, प्राण की अपान में और उत्सर्ग सहित अपान की मृत्यु में और मृत्यु की आहुति पञ्चत्व में दी, फिर पञ्चत्व की त्रित्व में आहुति देकर, उस (त्रित्व) की एकत्व में आहुति दी, इस प्रकार सब की आत्मा में आहुति देकर आत्मा की आहुति अव्यय ब्रह्म में दी। अर्थात मौन धारण कर के और मन को संकल्प विकल्प रहित एकाग्र कर के बाणि को मन में लीन कर लिया, फिर मन का प्राण से और प्राण का अपान से योग किया,

और तीनों को सुषुम्ना द्वार में प्रवेश कर के मृत्यु को जीत लिया, मानों मृत्यु को षट् चक्र वेध द्वारा पांचों तत्वों के वेध में लीन कर दिया, फिर पांचों तत्वों को तीनों ब्रह्म, विष्णु और रुद्र ग्रंथियों के वेध द्वारा तीनों गुणों में लीन कर दिया और तीनों गुणों को उनके एक कारणभूत महत् तत्व में लीन कर दिया. इस प्रकार सब को आत्मा में और आत्मा को परमात्मा अक्षर ब्रह्म में लीन कर दिया। तत्पश्चात् 'अहं ब्रह्मास्मि' के ज्ञान में निदिध्यासन द्वारा स्थिति रखते हुए सायुज्य मोक्ष की प्राप्ति की।

तत्वों और चक्रों के अधि देवों की कलाओं के नाम

मणिपूर में अग्नि की दस कलाएं सारे शरीर के व्यापार को धारण किये हुए हैं। अग्नि का स्थान योनि स्थान में बताया जा चुका है उसकी दस कलाएं मणिपूर में उठा करती हैं। मणिपूर के दस दलों का प्रत्येक दल इन कलाओं का एक २ दल है। अग्नि की कलाओं के नाम ये हैं:—

धूम्रार्चि, ऊष्मा, ज्वलिनी, ज्वालिनी, विस्फुलिंगी, सुश्रिया, सुरूपा, कपिला, हव्यवाहिनी और कव्यवाहिनी।

अनाहत् चक्र के १२ दल सूर्य की १२ कलायें हैं, उनके नाम ये हैं—तपिनी, तापिनी, धूम्रा, मरीची, ज्वालिनी, रुची, सुषुम्ना, भोगदा, विश्वा, बोधिनी, धारिणी और क्षमा।

विशुद्ध चक्र के १६ दल चन्द्रमा की १६ कलायें हैं, उनके नाम ये हैं—अमृता, मानदा, पूषा, तुष्टी, पुष्टी, रती, धृति,

शशिनी, चन्द्रिका, कान्ति, ज्योत्स्ना, श्री, प्रीति, अङ्गदा, पूर्णा और पूर्णामृता।

आज्ञाचक्र के नीचे वायु और आकाश में रुद्रग्रन्थि है, रुद्रकी १० कलायें हैं, जिनके नाम ये हैं—तीक्ष्णा, रौद्री, भया, निद्रा, तन्द्रा, क्षुधा, क्रोधिनी, क्रिया, उद्गारी, और मृत्यु।

मणिपूर के ऊपर अग्नि और सूर्य मण्डलों में विष्णुग्रन्थि है, विष्णु की भी १० कलायें हैं, जिनके नाम ये हैं। जरा, पालिनी, शान्ति, ईश्वरी, रति, कामिका, वरदा, ह्लादिनी, प्रीति, और दीर्घा।

मूलाधार और स्वाधिष्ठान में पृथिवी और जलकी ब्रह्मग्रन्थि है, ब्रह्माकी १० कलायें ये हैं।—सृष्टि, ऋद्धि, स्मृति, मेधा, कान्ति, लक्ष्मी, द्युति, स्थिरा, स्थिति, और सिद्धि। तीनों के मध्य चार रंग की दीप शिखा तुल्य ईश्वर कला है, जिसके रंग पीत, श्वेत, अरुण और कृष्ण (असित) हैं। इसका स्थान हृदय में है। शिखा के ऊपर उसीका अग्रभागवत् सदाशिव कला है। जो विद्युत् सदृश कही जाती है।

तस्य मध्ये वन्हिशिखा अणीयोर्द्ध्वा व्यवस्थिता।
नीलतोयद मध्यस्थाद्विद्युल्लेखेव भास्वरा॥
नीवारशूकवत्तन्वी पीताभास्वत्यणूपमा।
तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः॥
सब्रह्मा सशिवः सहरिः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्॥

नारायणोपनिषद् खण्ड (१३-२)

अर्थः—उसके मध्य अग्नि की शिखा, पतली ऊपर को उठी हुई खड़ी है। जो नीले मेघों में विद्युत् रेखा के सदृश चमकती है, वह नीवारशूक के सदृश पतली, पीत वर्णा, अणु के सदृश चमकती है। उसकी शिखा के मध्य में परमात्मा विराजता है, वह ही ब्रह्मा, शिव, हरि, इन्द्र और परम स्वराट् अक्षर ब्रह्म है।

इसी को सदाख्य कला समझना चाहिये। सदाख्य तत्व की १६ कलायें नीचे दी जाती हैं। निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति, इन्धिका, दीपिका, रेचिका, मोचिका, परा, सूक्ष्मा, सूक्ष्मामृता, ज्ञाना, ज्ञानामृता, आप्यायिनी, व्यापिनी और व्योमरूपा।

सब कलाओं का योग ८८ होता है, इनमें मूलाधारस्थ पृथिवी की ४, जल की छः और आज्ञाचक्र की ईडा, पिंगला अथवा सहस्रार की ओर बहनेवाली वरणा और असी दो कलायें मिलाने से सब की संख्या पूरी १०० होती है। ये सब भगवती कुण्डलिनी देवी की ही कलायें हैं। मूलाधार से उठकर सारे कुलपथ में उक्त कलाओं के विविध रूपों में प्रकाशित होती हुई, कुण्डलिनी शक्ति सहस्रार में अपने पति शिवजी से मिलने जब जाती है तब मानों अनेक शृंगारों को धारण करती है।

आज्ञा के ऊपर ९ स्तर

मूलाधार से नीचे विषु संज्ञक और अधः सहस्रार दो चक्र और भी माने जाते हैं और आज्ञा के ऊपर बिन्दु अर्धेन्दु अथवा अर्धचन्द्रिका, निरोधिका, नाद, महानाद अथवा नादान्त, शक्ति, व्यापिका,

समनी और उन्मनी ९ स्तर हैं। इनमें प्रथम चार स्तरों की पांच २ कलायें ५ महाभूतों के अनुसार हैं। नादान्त में वाच्य वाचक का भेद लीन हो जाता है। नाद को वाचक अर्थात् शब्दात्मक समझना चाहिये, उसके ५ स्तर ५ तत्वों के योग से उत्पन्न होने वाले शब्द कहे जा सकते हैं। नीचे के ३ स्तर रूपात्मक हैं, निरोधिका में रूप का निरोध हो जाता है। शक्ति स्तर पर तीव्र आनन्द लहरी का अनुभव होता है, व्यापिका पर शून्य स्थान है, इसका वेध दिव्यकरण की विशेष क्रिया द्वारा होता है। समनी में सास्मिता समाधि होती है, और उन्मनी में उन्मनी अवस्था। इन स्तरों को पातञ्जल योग दर्शन के अनुसार निरोधिका पर निर्वितर्क, नादान्त पर निर्विचार, व्यापिका पर सानन्द, और समनी पर सास्मिता संप्रज्ञात समाधियों का स्तर समझा जा सकता है।

सुषुम्नायै कुण्डलिन्यै सुधायै चन्द्र मण्डलात्
मनोन्मन्यै नमस्तुभ्यं महाशक्तै चिदात्मने। यो. शि. (६, ३)

सुषुम्ना शांभवी शक्तिः शेषात्वन्ये निरर्थकाः।
***हृल्लेखे** परमानन्दे **तालुमूले** व्यवस्थिते॥ (६, १९)

अत उर्द्ध्वं ***निरोधेतु** मध्यमं मध्यमध्यमं।
उच्चारयेत्पराशक्तिं ब्रह्मरंध्र निवासिनीम्॥ (६, १९)

गमागमस्थं गगनादि शून्यं
चिद्रूपदीपं तिमिरन्धनाशम्।

*नोटः—हृल्लेखा और निरोधिका स्त्रीवाचक पद हैं, परन्तु यहां पुरुष वाचक प्रयुक्त किये गये हैं ये छान्दस प्रयोग हैं।

पश्यामि तं सर्व जनान्तरस्थं
नमामि हंसं परमात्मरूम् ॥ (६, २०)

अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः ।
ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योतिषोऽन्तर्गतं मनः ॥ (६, २१)

तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ।
तस्मात्सर्व प्रयत्नेन गुरुपादं समाश्रयेत् ॥ (६, २२)

आधार शक्ति निद्रायां विश्वं भवति निद्रया ।
तस्यां शक्ति प्रवोधेतु त्रैलोक्यं प्रतिवुध्यते ॥ (६, २३)

ब्रह्मरंध्रे महास्थाने वर्तते सततं शिवा ।
चिच्छक्तिः परमा देवी मध्यमे सुप्रतिष्ठिता ॥ (६,४७)

माया शक्ति ललाटाग्रभागे व्योमाम्बुजे तथा ।
नादरूपा पराशक्तिर्ललाटस्यतु मध्यमे ॥ (६, ४८)

भागे बिन्दुमयी शक्तिर्ललाटस्या परांशके ।
बिन्दु मध्ये च जीवात्मा सूक्ष्मरूपेण वर्तते ॥ (६, ४९)

हृदये स्थूल रूपेण मध्यमेन त मध्यमे ।

अर्थः— सुषुम्ना, कुण्डलिनी, चन्द्र मण्डल से टपकने वाली सुधा और मनोन्मनी के रूपों में प्रकट होने वाली चिदात्मिका महाशक्ति को नमस्कार है । सुषुम्ना शांभवी शक्ति है, और शेष अन्य सब नाडियां निरर्थका हैं । तालु मूल अर्थात् ६टे लंबिका स्थान पर परमानन्द स्वरूपिणी हृल्लेखा (ह्रीं) शक्ति व्यवस्थित है । वहां पर

ब्रह्मरंध्र में निवास करने वाली पराशक्ति का उच्चारण करना चाहिये। फिर उसके ऊपर निरोधिका के (१० वें स्थान) के मध्य होते हुए मध्य २, जहां गमनागमन की स्थिरता है, गमनादि से शून्य है और तिमिरांध का नाश करने वाला चिद्रूप दीपक का स्थान है, जाना चाहिये। सब मनुष्यों के अन्तर में विराजने वाले उस परमात्म-रूप हंस कला को नमस्कार है। अनाहत् (४ थे) चक्र से उदय होने वाले शब्द, और उस शब्द में जो ध्वनि (११ वें और १२ वें स्तर पर), उस ध्वनि के अन्तर्गत जो ज्योति (१३ वां स्तर) है, उस ज्योति में मन लगाकर जहां मन का लय हो जाता है वहां (१४ वें) से सहस्रार तक का स्तर विष्णु का परम पद है। उसके लिये पूर्ण प्रयत्न के साथ श्री गुरु की शरण में जाना चाहिये। (क्योंकि १४ वें स्तर का बेध बिना दिव्य करण के नहीं होता।) कहा है कि मूलाधार शक्ति के सोते रहने पर सारा विश्व मोह निद्रा में सोता रहता है, और उस शक्ति के प्रबुद्ध होने पर त्रिलोकी की शक्तियां जाग उठती हैं। ब्रह्मरंध्र रूपी महास्थान (सहस्रार) में शिवा शक्ति सदा रहती है, वहां ही परमा चिति शक्ति देवी मध्य में सुप्रतिष्ठित है, विशुद्ध (५ वें) व्योम चक्र में और ललाट के अग्र भाग में माया शक्ति है। नाद रूपा परा शक्ति ललाट के मध्य भाग (११) में है और बिन्दुमयी शक्ति (८ वें स्तर पर) ललाट के अपरांश भाग में है। बिन्दु में जीवात्मा सूक्ष्म रूप से रहता है, हृदय में स्थूल रूप से रहता है और दोनों के मध्य में मध्य रूप [illegible] रहता है।

माला के लिये प्रवाल, मोती, स्फटिक, शंख, सोना, चांदी, चन्दन, पुत्र जीविक (जीयापोता), कमलगट्टा, और रुद्राक्ष में से किसी प्रकार के मणिके लिये जा सकते हैं। माला को गंध और पंचगव्य से स्नान कराकर अष्टगंध से लेपकर, अक्षत् पुष्पादि से पूजन करके, अ से क्ष पर्यन्त चिन्तामणियों की उक्त उपनिषदुक्त मंत्रों से भावना-युक्त प्रतिष्ठा करनी चाहिये। देखें अक्षमालोपनिषद्।

षोडशी विज्ञान

श्लोक ११ की व्याख्या में श्री चक्र का रहस्य समझाया जा चुका है। मंत्र का यंत्र से संबंध है पहिले मंत्र का स्वरूप समझना आवश्यक है, फिर मंत्र, यंत्र (श्री चक्र), षट् चक्र, मातृका और ब्रह्माण्ड पिण्ड का पारस्परिक संबंध समझा जा सकेगा।

मंत्र के तीन कूट हैं और १५ अक्षर हैं, सोलहवां अक्षर गुरुमुख से लेकर वह ही मंत्र षोडशी मंत्र बन जाता है। प्रथम *वाग्भव कूट अग्नेय भगवती का मुख है। दूसरा काम कला कूट सूर्य से संबंध रखता है, वह शक्ति का कण्ठ से नीचे कटि पर्यंत रूप है। दोनों के बीच में हृल्लेखा ब्रह्म ग्रंथि है। तीसरा शक्ति कूट चन्द्र से संबंधित कटिके नीचे का भाग है, वह सर्जन शक्ति का रूप है। दूसरे और तीसरे कूट के बीच की हृल्लेखा विष्णु ग्रंथि है।

---

*श्रीमद्वाग्भव कूटैकस्वरूप मुखपंकजा।
कण्ठाधः कटिपर्यन्त मध्यकूट स्वरूपिणी॥
शक्तिकूटैकतापन्नकट्यधोभाग धारिणी।
मूलमंत्रात्मिका मूलकूटत्रयकलेवरा॥
ललिता सहस्रनाम (८५, ८६, ८७,)

चौथा पाद एकाक्षरी लक्ष्मी बीज है जो गुरु मुख से ही प्राप्त किया जाना चाहिये। इसको चन्द्रकला कहते हैं। इसके और तीसरे शक्ति कूट के बीच की हृल्लेखा रुद्र ग्रंथि है। १६ अक्षरों का यह मंत्र षोडशी विद्या के नाम से प्रसिद्ध है। १६ अक्षरों को १६ नित्या समझना चाहिये। वास्तव में अन्तिम एकाक्षरी लक्ष्मी बीज ही नित्या है, क्योंकि वह परा कला है, और उसके कारण ही समस्त विद्या श्री विद्या कहलाती है। यह शुद्ध चिति शक्ति स्वरूपा सहस्रारस्थ चन्द्र की १६ वीं कला है, जो विशुद्ध चक्र के १६ पत्रों पर प्रतिबिंबित हुआ करती है। प्रथम कला का प्रकाश पूर्व से आरम्भ होकर १६ वीं कला का ईशान पूर्व कोण के पत्र पर समझना चाहिये। सोलहवीं कला के आधीन ही अन्य कलाएं घटती बढती हैं, वे स्वतंत्र नहीं हैं। इस लिये इस विद्या का नाम श्री विद्या पडा है। शुक्ल और कृष्णपक्ष की १४ तिथियां, पूर्णिमा और अमावस्या सहित १६ चन्द्र कलाएं कहलाती हैं। ये सब कलाएं शुक्ल पक्ष में सूर्य के योग से उदय होती हैं और कृष्ण पक्ष में सूर्य में ही अस्त हो जाती हैं। यथा प्रथम कला शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को उदय होकर कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा में अस्त हो जाती है, दूसरी कला शुक्ल पक्ष की द्वितीया को उदय होकर कृष्ण पक्ष की द्वितीया में अस्त हो जाती है, इसी प्रकार अन्य कलाओं को भी समझना चाहिये। पूर्णिमा की पूर्ण कला अमावस्या में अस्त होती है। अमावस्या को पूर्णिमा की कला अस्त हो जाने पर जो चन्द्र कला रहती है वह ही १६ वीं नित्या कला है। क्योंकि वह ही चन्द्रमा का वास्तविक बिंब प्रत्येक कला में सूर्य के प्रकाश से घटती बढती कलाओं के रूप में चमका

करता है। शुद्ध चिति शक्ति की १५ कलाएं पंचदशी के १५ अक्षरों से क्रमशः संबद्ध हैं और १६ वीं कला शुद्ध चिति शक्ति चिन्मात्र निर्विकल्प समाधि में विराजने वाली स्वयं महात्रिपुर-सुन्दरी है क्योंकि अन्य सब कलाएं घटती बढती हैं, चन्द्र का बिंब सदा एक समान रहता है। इसलिये प्रत्येक कला को १६ वीं कला का अंग समझना चाहिये और प्रत्येक कला का पूजन और ध्यान तदनुसार उस कला की संबंधित तिथि में १६ वीं कला सहित किया जाता है। कुण्डलिनी के सहस्रार में चढते समय वह मानस चक्रस्थ चन्द्र मंडल में छिद्र कर देती है, उससे अमृत टपक कर आज्ञा चक्र को अमृत मय कर देता है, जिससे वहां पर चन्द्रमा की सब कलाएं नित्य चमकने लगती हैं, और उनका नाम नित्या कहलाने लगता है। ये कलायें फिर विशुद्ध चक्र पर उतर कर उसकी १६ पंखडियों पर प्रकाशमान हो जाती हैं। सहस्रार के मध्यस्थ चन्द्र मण्डल को बैन्दव स्थान कहते हैं यह शुद्ध चिति शक्ति की आनन्दमयी कला का स्थान है, जिसको श्री अथवा महा त्रिपुर सुन्दरी कहते हैं।

आधार चक्र अन्धकारमय चक्र है, स्वाधिष्ठान जल का स्थान है, इसलिये वह भी कुछ थोडा प्रकाशयुक्त अन्धकारमय चक्र है, मणिपुर में अग्नि का प्रकाश भी उज्वल न होने से उसका स्थान भी अन्धकार युक्त ही है। इसलिये नीचे का अग्नि मंडल अन्धकार मिश्रित प्रकाश युक्त मण्डल है। अनाहत् में सूर्य का प्रकाश रहता है और विशुद्ध में चन्द्र का। आज्ञा चक्र अमृत का स्थान है। इसलिये विशुद्ध और आज्ञा स्वयं प्रकाशमान नहीं हैं, वे सहस्रार में स्थित चन्द्रकला से प्रकाशित होते हैं। सहस्रार में स्वतंत्र रूप

से चन्द्रकला नित्य पूर्ण रहती है, इसलिये वह ही वास्तविक नित्या है। श्री चक्र का तीनों मण्डलों और चक्रों से संबंध पहिले बताया जा चुका है। यदि श्री चक्र के त्रिकोण को मूलाधार, अष्टार चक्र को स्वाधिष्ठान, अन्तर्दशार को मणिपूर, बहिर्दशार को अनाहत, चतुर्दशार को विशुद्ध, ४ श्री कंठों को आज्ञा चक्र समझा जाय और विन्दु को सहस्रार, चतुष्कोण भूगृह को ब्रह्माण्ड, तो विन्दु स्थान में स्थित चिति रूपा चन्द्रकला की चन्द्रिका का प्रकाश सब पर प्रतिबिंबित होता समझना चाहिये। इसका अभिप्राय यह है कि मनरूपी चन्द्रमा में चेतना देने वाला चेतन प्रकाश (Consciousness) सहस्रार में स्थित चिन्मात्र सत्ता का प्रतिबिंब है। जो अनाहत् चक्र में स्थित प्राणरूपी सूर्य के उद्र्ध्वगामी होने पर अपने विशुद्ध स्वरूप में अनुभवगम्य होता है जो प्राणरूपी सूर्य और मनरूपी चन्द्र दोनों की क्रियाओं का निःस्पन्द स्वरूप योग (neutralization) होने पर अनुभव में आता है। प्राण और मन दोनों को चिति शक्ति से उद्भूत क्रमशः सत्तात्मिका और चिदात्मिका शक्तियों के दो स्रोत (currents) समझना चाहिये। जैसे विद्युत् शक्ति की धनात्म (positive) और ऋणात्म (negative) स्रोत हुआ करते हैं। जहां दोनों का उदय और अस्त होता है वह परम कला है।

पंचदशी के अक्षरों की सुषुम्नापथ पर सहस्रार में चढते समय इस प्रकार भावना की जाती है। प्रथम अक्षर को अधःसहस्रार से उठाकर उसका विषुस्थान पर लय किया जाता है, दूसरे अक्षर को विषुस्थान से उठाकर उसका मूलाधार में लय किया जाता, तीसरे को मूलाधार से उठाकर स्वाधिष्ठान में, चौथे को स्वाधिष्ठान से

उठाकर मणिपुर में, पांचवे को मणिपुर मे उठाकर अनाहत् में, छंटे को अनाहत् से उठाकर विशुद्ध में, सातवे को विशुद्ध से उठाकर लंबिका में, आठवें को लंबिका से उठाकर आज्ञा में, नवें को आज्ञा से उठाकर विन्दु में, दसवें को विन्दु से उठाकर अर्धचंद्रिका में, ११वें को अर्धचन्द्रिका से उठाकर निरोधिका में, १२वें को निरोधिका से उठाकर नाद में, १३ वें को नाद से उठाकर नादान्त में, १४ वें को नादान्त से उठाकर शक्ति में, १५ वें को शक्ति से उठाकर व्यापिका में, इस क्रम से प्रत्येक पूर्व अक्षर को अगले अक्षर में लीन करते हुए पूरा मंत्र उन्मनी में, जो पराकला स्वरूपा श्री कला है, लीन कर दिया जाता है। ललिता सहस्रनाम के श्लोक ११३ की व्याख्या में भासकरराय कहते हैं कि त्रिपुरसुन्दरी निर्विवाद षोडशकलात्मिका है जैसा कि वासना सुभगोदय में कहा है:—

दर्शाद्याः पूर्णिमान्ताद्या कलाः पंचदशैवतु ।
षोडशी तु कला ज्ञेया सच्चिदानन्द रूपिणी ॥

चन्द्र मण्डल में वह कला वृद्धि ह्रासरहिता है, शेष अन्य १५ कलायें आने जाने वाली होती हैं। दर्शा शुक्ल प्रतिपदा को कहते हैं, अर्थात् शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से पूर्णमासी तक १५ कलाएं होती हैं जो पञ्चदशी मंत्र के १५ अक्षरों के अनुरूप समझी जानी चाहियें। उक्त १५ कलायें नन्दा, भद्रा, जया, रिक्ता और पूर्णा भेद से और वाग्भव, कामकला, और शक्ति कूट ऐसे त्रिरावृत्त

भेद से बढती हैं। परन्तु दूसरे कूट में ६ अक्षर और शुक्ति कूट में ४ अक्षर होने से पंचदशी के पांच २ अक्षरों से तीन खंड इस प्रकार समझने चाहिये। कामराज कूटकी अन्तिम हृल्लेखा एकादशी होती है और दशमी से विद्धा होने के कारण वह दशमी कला के ही अन्तर्गत माननी चाहिये परन्तु उसका योग शक्ति कूट के प्रथम अक्षर के साथ, जो द्वादशी हैं तीसरे खण्ड की पूर्ति करता है और 'उपोष्या द्वादशी शुद्धा' इस वचन के अनुसार द्वादशी को ही एकादशी मानकर दोनों कूटों का योग समझ लेना चाहिये। और उन्नेय भूमिका में तदनुसार ही भावना करनी चाहिये। इस प्रकार भावना करने से प्रथम कूट को अधः सहस्रार से उठाकर अनाहत् म उसका विलिनीकरण होता है, दूसरे कूट को अनाहत् से उठाकर उसका निरोधिका में और तीसरे को निरोधिका से उठाकर व्यापिका में विलीनीकरण होता है, परन्तु निरोधिका से नाद तक एकादशी का द्वादशी में संक्रमण समझना चाहिये और नीचे अर्धचन्द्रिका से दशमी में। मंत्र के तीनों कूटों के पांच पांच अक्षरों के खण्ड करने से प्रथम, छटा, और ग्यारहवां अक्षर नन्दा, दूसरा, सातवां और बारहवां अक्षर भद्रा, तीसरा, आठवां और तेरहवां जया, चौथा, नवां और चौदहवां रिक्ता और पांचवां, दसवां और पन्द्रहवां अक्षर पूर्णा समझना चाहिये।

इस प्रकार मंत्र का वाग्भव कूट रूपी मुख जो नीचे था, और शक्ति कूट रूपी कटि के नीचे का भाग जो ऊपर को था, सीधा ऊर्द्ध्वमुख हो जाता है।

दूसरे प्रकार की भावना में विशुद्ध चक्र के १६ पत्रों पर पूर्व से अग्नि, दक्षिण, नैऋत, पश्चिम, वायव्य, उत्तर और ईशान क्रमानुसार १६ अक्षरों की भावना की जाती है. जो चन्द्रमा की कलाओं के सदृश चमकती हैं और सहस्रार की पूर्ण कला के बिंब से आज्ञाचक्र पर होती हुई नीचे के विशुद्धचक्र पर प्रतिबिंबित होती हैं। इस प्रकार चितिशक्ति का सम्बन्ध १६ नित्याकलाओं से, उनका संबन्ध मन्त्र से, मन्त्र का संबन्ध सुषुम्ना से, सुषुम्ना का मातृका से, मातृका का संबन्ध इडा पिंगला से, और तत्सम्बन्धी सूर्याग्निचन्द्र से और सबका श्रीचक्र से, जो देह (पिण्ड) और विराट् देह (ब्रह्माण्ड) दोनों का प्रतीक है, सबका पारस्परिक सम्बन्ध समझना चाहिये।

नाद, विन्दु और कला

सबका उपरोक्त पारस्परिक सम्बन्ध जानने के साथ नाद विन्दु और कला का अर्थ और उनका मन्त्र, यंत्र और देहस्थ चक्रों से सम्बन्ध भी समझना आवश्यक है और यह जानना आवश्यक है कि इन तीनों का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है।

बिन्दुः शिवात्मको बीजं शक्ति नादस्तयोर्मितः।
समवायः समाख्यातः सर्वागम विशारदैः॥
सच्चिदानन्द विभवात् संकलात्परमेश्वरात्।
आसीच्छक्तिस्ततो नादा नादाद्विन्दु समुद्भवः॥
पर शक्तिमयः साक्षात् त्रिधासौ भिद्यते पुनः।
विन्दुनादो बीजमिति तस्यभेदाः समीरिताः॥
रौद्री विन्दोस्ततो नादाज्ज्येष्ठा बीजादजायत।
वामा ताभ्यः समुत्पन्नाः रुद्रब्रह्मारमाधिपाः॥

ते ज्ञानेच्छाक्रियात्मानो वन्हीन्द्वर्क स्वरूपिणः ।
इच्छा क्रिया तथा ज्ञान गौरी ब्राह्मी तु वैष्णवी ॥
त्रिधा शक्तिःस्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ संग्रहीत् श्लोक

शिव (पर बिन्दु)
|
शक्ति
|
सदाख्यशिव (नाद)
|
ईश्वर (बिन्दु)
|
शुद्ध विद्या ,,

*नाद	बीज	बिन्दु
ज्येष्ठा	वामा	रौद्री
ब्रह्मा इच्छा	विष्णु क्रिया	रुद्र ज्ञान
ब्राह्मी क्रिया	वैष्णवी ज्ञान	गौरी इच्छा
सूर्य	अग्नि	चन्द्र
प्राण	चिति	मन

अर्थः—आगमो के विद्वानों का ऐसा मत है कि विन्दु शिवात्मक है, बीज शक्त्यात्मक है और दोनों के समवाय से उत्पन्न होने वाला तत्व नाद कहलाता है। सत् चित् आनन्द स्वरूप विभु परमेश्वर के स्पन्द रूपी संकलन से शक्ति उत्पन्न होती है, फिर नाद और नाद से विन्दु उत्पन्न होता है। जो साक्षात् परा शक्ति से युक्त है। वह विन्दु फिर तीन रूपों में फट जाता है अर्थात् विंदु, बीज और नाद।

अर्थः—विन्दु से रौद्री, नाद से ज्येष्ठा और बीज से वामा, और उनसे क्रमशः रुद्र ब्रह्मा और विष्णु हुए। वे क्रमशः ज्ञान इच्छा और क्रियात्मा हैं और अग्नि, चन्द्र और सूर्य के रूप हैं। इच्छा, क्रिया और ज्ञान क्रमशः गौरी, ब्राह्मी और वैष्णवी शक्तियां हैं, जहां पर तीनों का आधार है वह ॐ स्वरूप परं ज्योति है। बीज को शक्त्यात्मिका कला समझना चाहिये।

* नोटः—विंदुनाद कला ब्रह्मन् विष्णु ब्रह्मेश देवताः (यो० शि० ६, ७०) यहां विष्णु को विन्दु, ब्रह्मा को नाद और ईश (रुद्र) को कला माना गया है।

भासकरराय विरचित वरिवास्यारहस्य में विन्दु, अर्धचन्द्रिका रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका, और उन्मनी इन नौ स्तरों की समष्टि को नाद संज्ञा दी गई है।

विंद्वादीनां नवानां तु समष्टिर्नाद उच्यते। (१.३)।

अर्थात् हृल्लेखा के उच्चारण होने पर अनुनासिक ध्वनि उक्त नौ स्तरों से होती हुई उन्मनी में समाप्त होती है, जिसके काल की मात्रा उत्तरोत्तर आधी होती जाती है और सबके योग का काल $\frac{१}{२}$ मात्रा होता है। जो विन्दु की आधी मात्रा सहित पूरी १ मात्रा बनाती है। अर्थात्

$$\frac{१}{२}+\frac{१}{४}+\frac{१}{८}+\frac{१}{१६}+\frac{१}{३२}+\frac{१}{६४}+\frac{१}{१२८}+\frac{१}{२५६}+\frac{१}{२५६}=१$$

पंचदशी के ३ अनुस्वार तीन विन्दु हैं, हृल्लेखा नाद, और १५ अक्षर १५ कला। नाद विन्दु और कला तीनों को भी त्रिविन्दु कह सकते हैं। श्री चक्र को भी नाद विन्दु कला भेद से त्रिधा माना जाता है।

नाद से विन्दु, विन्दु से कला, नाद से कला, कला से विन्दु और कला से नाद का पांच प्रकार का ऐक्य संबंध जानने से अन्तर्याग की सिद्धि होती है।

ब्रह्म को विन्दु, शक्ति को कला और जीव को नाद समझकर उक्त पांच प्रकार का संबंध स्थापित होता है। प्रथम में जीव ब्रह्मैक्य भाव है, दूसरे में ब्रह्म से सृष्टि का प्रभव, तीसरे से देहा-

ध्यास, चौथे से प्रलय, और पांचवे से प्रलय के पश्चात् बन्धन में पड़े हुए जीवों की फिर उत्पत्ति। बिन्दु से नाद का संबंध न बताने का यह अभिप्राय है कि ब्रह्म कभी जीव नहीं बनता, आत्मा सदा ब्रह्म स्वरूप है, और जीव भाव की एक मिथ्या प्रतीति मात्र है।

यदि बिन्दु को शिव शक्ति भेद से दो प्रकार का माना जाय तो शक्त्यात्म बिन्दु ही बीज है, और दोनों से शब्द ब्रह्म नाद की उत्पत्ति समझनी चाहिये और शब्द से कला अर्थात् अर्थात्मक सृष्टि की उत्पत्ति।

शिव शक्ति का अङ्गी और अङ्गवत् सम्बन्ध

[३४]

शरीरं त्वं शंभोः शशि मिहिरवक्षो रुहयुगं,
तवात्मानं मन्ये भगवति नवा (भवा) त्मानमनघम्।
अतः शेषः शेषीत्ययमुभयसाधारणतया
स्थितः संबंधो वां समरस परानन्दपरयोः॥

अर्थः— हे भगवति! मैं ऐसा समझता हूं कि तू शंभु का शरीर है, जिसके वक्षः स्थल पर सूर्य और चन्द्र दो स्तन उभरे हुए हैं, और तेरी आत्मा सारे भव की आत्मा शंकर है, अथवा नवात्मा शंकर है। इसलिये तुम दोनों परा शक्ति और आनन्द का एक समरस होने के कारण शेष और शेषी वत् संबंध स्थित् है।

सं० टि० शक्ति को शिव का स्थूल देह समझना चाहिये। शंकर का एक नाम चिदंबर भी है। सारा विश्व (ब्रह्माण्ड) शक्ति का रूप है और वह विराट् भगवान का स्थूल देह है। इसलिये शिव और शक्ति का आधार आधेय संबंध यहां दिखाया गया है। यदि पर पद शिव है तो आनन्द पद को शक्ति का रूप समझना चाहिये। दोनों की एकता का समरसपना दोनों की अभिन्नता प्रकट करता है। जैसे शक्कर और उसकी मधुरता। यह अधिदैव रूप है अर्थात् चित् और आनन्द का जोडा ही ब्रह्म और शक्ति का जोडा है। अधि भौतिक स्तर पर भी ऐसा ही समझना चाहिये, सत् प्रकृति है और चिदानन्द शिव्

व्याख्या— वेदों और पुराणों में सूर्य और चन्द्र को विराट् भगवान के नेत्र माना गया है, परन्तु यहां उन्हें जगज्जननी प्रकृति के दोनों स्तनों से उपमित किया गया है, क्योंकि प्राण और सोम दोनों से विश्व का पोषण होता है। सूर्य से विश्व को प्राण शक्ति प्राप्त होती है और चन्द्रमा से सोम रस। आध्यात्मिक स्तर पर भी सूर्य हृदय में रहकर और चन्द्र मस्तिष्क में रहकर रक्षा करते है। सत् चित् आनन्द स्वरूप ब्रह्म के सत् स्वरूप का परिणाम सारा विश्व है, और आध्यात्म स्तर पर चेतन सत्ता दो स्तरों पर दृष्टि-गोचर होती है, आनन्द के रूप में और ज्ञान के रूम में। इस श्लोक में ज्ञान के रूप को शिव अथवा परम भाव कहा है और आनन्द को शक्ति भाव। दोनों भाव समरस वत् एक ही हैं जैसे

शक्कर और मीठापन। परम भाव शक्कर सदृश विशेष्य है और आनन्द मीठेपन के सदृश विशेषण, प्रथम रूप शिव का है और दूसरा शक्ति का। परानन्द का मार्ग शक्ति का योग मार्ग है। और ज्ञान मार्ग वैदिक वेदान्त का मार्ग है। यहां यह दिखाया गया है कि दोनों मार्गों का इतना एकरस पना है कि जैसे विशेषण और विशेषी का, अर्थात् दोनों मार्ग पारस्परिक सापेक्षिक हैं और एक दूसरे के विना अपूर्ण हैं। आनन्द के मार्ग को भाव योग कहते हैं जो कुण्डलिनी शक्ति के जागने पर प्राप्त होता है और ज्ञान मार्ग आत्म चिन्त रूप ध्यान योग का मार्ग है। गीता के १२ वें अध्याय में श्री भगवान ने प्रथम भाव योग को सरल बताकर उसकी श्लाघा की है और ज्ञानमार्ग को कठिन कहकर उसकी प्राप्ति को दुःख साध्य बताया है।

नवात्म=शंकर। शिव, शक्ति और श्री चक्र तीनों ९ व्यूहात्म हैं। तीनों के ९ नौ २ व्यूह नीचे दिये जाते हैं। शिव के ९ व्यूह:— काल, कुल, नाम, ज्ञान, चित्त, नाद, विन्दु, कला और जीव।

शक्ति के ९ व्यूह:— वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, अंबिका, इच्छा, ज्ञान, क्रिया, शान्ति और परा।

श्री चक्र के ९ व्यूह:— ११ श्लोकोक्त ४ श्रीकंठ और ५ शिव युवतियां अर्थात् ९ मूल त्रिकोण। इसलिये शिवजी सब के आधिष्ठातृ देव अर्थात् आत्मा होने के कारण नवात्मा कहे गये हैं।

सारा विश्व शक्ति का परिणाम है

(३५)

मनस्त्वं व्योमस्त्वं मरुदसि मरुत्सारथिरसि
त्वमापस्त्वं भूमिस्त्वयि परिणतायां नहि परम् ।
त्वमेव स्वात्मानं परिणमयितुं विश्ववपुषा
चिदानन्दाकारं शिवयुवति भावेन बिभृषे ॥

अर्थः—हे शिवयुवति ! तू मन है, आकाश तू है और वायु है सारथी जिसका वह अग्नि भी तू ही है, तू जल है और तू भूमि है; तेरी परिणति के बाहर कुछ भी नहीं । अर्थात् सारा विश्व तेरे परिणाम का ही रूप है । तू ने ही अपने आप को परिणत करने के लिये, चिदानन्दाकार को विराट देह के भाव द्वारा व्यक्त किया हुआ है

सं० टि०:—जैसे श्लोक (३४) विश्व और शिव की एकता दिखाता है, वैसे ही (३५) श्लोक में चिदानन्द को समझना चाहिये, अर्थात् यह अध्यात्म स्वरूप है । यहां चित् और आनन्द का जोड़ा भी उसी प्रकार समझना चाहिये । मन, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी सत् शक्ति के विकार हैं उनसे आज्ञा, विशुद्ध, अनाहत, मणिपूर, स्वाधिष्ठान और आधार चक्रों से संबंधित तत्त्वों के अधि देवताओं का संकेत है, जिनका अगले श्लोकों में वर्णन है । वे चिदानन्दाकारा भगवती के ही रूप हैं ।

ब्रह्म सत् स्वरूप है अर्थात् उसकी सत्ता है। श्रुति छा० ६,२)
कहती है 'सदेवसौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'। 'तदैक्षत'—उसने
इच्छा की, कि 'बहुस्यां प्रजायेय'—सृष्टि के लिये मैं अनेक हो
जाऊँ (अर्थात् वह चेतन चित् स्वरूप है)। उसकी सत् शक्ति
में क्रिया की प्रवृत्ति होती है और चेतन चित्शक्ति में अधिष्ठातृत्व
शक्ति रहती है। और 'अग्रे' अर्थात् सृष्टि के पूर्व वह एक ही
अद्वितीय था। और वह स्वय ही अनेक हो गया, अर्थात् तेज,
जल, अन्न में परिणत हो गया और उनसे अनेक रूप की सृष्टि
होती गई। इसीलिये श्रुतिवचन है कि 'सर्वंखल्विद ब्रह्म'। 'एक-
मेव' में 'एव' का प्रयोग इस बात का निश्चय कराता है कि
अद्वितीय होने के कारण दूसरा कुछ न था।

तस्माद्धान्यन्न परः किंचनाऽऽस। (नासदासीय सूक्त)
ऋग्वेद परिशिष्ट (१)

अर्थः—उससे अन्य दूसरा कुछ भी न था।

इसलिये ब्रह्म की सत् शक्ति का परिणाम यह सारा विश्व है
और उसका अधिष्ठातृत्व आधार चिदानन्द स्वरूप है। यह भाव
इस श्लोक में दिखाया गया है। मन, आकाश, वायु, अग्नि, जल
और पृथिवी ब्रह्म की सत् शक्ति के परिणाम हैं और चेतना और
आनन्द का प्रकाश उस परिणाम के प्रत्येक स्तर प्रत्याभासित हो
रहा है। ५ महाभूत, ५ तन्मात्रा, ५ कर्मेन्द्रियां और ५ ज्ञानेन्द्रियां
और मन बुद्धि चित्त अहंकार का अन्तःकरण चतुष्टय सब सत् शक्ति
के परिणाम हैं, जो चिति शक्ति के प्रकाश से चेतन और अचेतन

दिखते हैं। जैसे अंधकार प्रकाश की अपेक्षा रखता है, इसी प्रकार अचेतन चेतन प्रकाश की अपेक्षा रखता है। क्योंकि प्रकाश का तिरोभाव अंधकार का कारण है, और चेतना का तिरोभाव अचेतना का कारण। जैसे समुद्र की तरंगों के उठाव उतार पर अथवा भूमि की ऊंचे नीचे धरातल पर प्रकाश पड़ने से कहीं प्रकाश दिखता है, कहीं छाया का अंधकार, उसी परकार सत् शक्ति के परिणाम की विषमता पर प्रतिबिंबित् चिदानन्दाकार के कारण कहीं चेतनता कहीं अचेतनता की अनुभूति समझनी चाहिये। वेदानुवचन है कि

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबल क्रिया च।
(श्वे० ६, ८)

इच्छा, ज्ञान और क्रिया भेद से वह पराशक्ति त्रिधा दिख रही है। चितिशक्ति का स्थान सहस्रार में है और उन्मनी समनी दोनों स्तरों पर व्यक्त होती है, उन्मनी में सूक्ष्म सामान्य रूप से और समनी पर विशेष रूप से। चिदानन्द की अभिव्यक्ति व्यापिका और शक्ति के स्तरों पर होती है, व्यापिका पर सूक्ष्म अविशेष सामान्य अभिव्यक्ति है और शक्ति के स्तर पर विशेष घनानन्द स्वरूप की अभिव्यक्ति है। नीचे के स्तरों पर सत् शक्ति का शब्द और अर्थ अथवा नाम और रूप दो भेद से फटाव हो जाता है। पहिले शब्द, फिर रूप की अभिव्यक्ति होती है। महानाद और नाद दो स्तरों पर शब्दात्मज्ञान के हैं, महानाद पर अविशेष और नाद पर सविशेष ज्ञान की अनुभूति रहती है। उनके नीचे बिन्दु अर्धेन्दु और निरोधिका के उत्तरोत्तर स्तर रूपों के संप्रज्ञात भेद हैं। मन का

स्थान आज्ञाचक्र है, आकाश का विशुद्ध, वायु का अनाहत्, अग्नि का मणिपूर, जल का स्वाधिष्ठान, और पृथिवी का स्थान मूलाधार है। पातंजल दर्शनोक्त वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता से संबंधित् चार प्रकार की मानसिक संप्रज्ञात समापत्ति के अंतर्गत् क्रमशः आज्ञा से ऊपर के ३, २, २, २ स्तर हैं। इसलिये इन सबका समावेश आज्ञाचक्र में है जो मन का स्थान है, और मन एवं पांचों महाभूतों के छः ही चक्र मुख्य माने जाते हैं। जिनका विशेष उल्लेख शंकर भगत्पाद् अगले छः श्लोकों में करते हैं। मन का स्थूल ध्येयाकार हो जाना उसकी रूपापत्ति कहलाती है, उस अवस्था को वितर्क संप्रज्ञात समापत्ति कहा गया है, मन का शब्दात्म होना विचार संप्रज्ञात समापत्ति के अन्तर्गत है, आनन्दाकार होना सानंद समापत्ति है और चिदात्म होना सास्मिता समापत्ति कहलाती है। समता की प्राप्ति को समापत्ति कहते हैं और प्रज्ञा से संयुक्ति को संप्रज्ञात कहते हैं। अर्थात् इन अवस्थाओं में मन प्रज्ञा से संयुक्त रहकर स्थूलाकार, सूक्ष्माकार, आनन्दाकार और चिदाकार रहता है।

आज्ञाचक्र

(३६)

तवाज्ञाचक्रस्थं तपनशशिकोटिद्युतिधरं
परं शम्भुं वन्दे परिमिलितपार्श्वं परचिता।
यमाराध्यन् भक्त्या रविशशिशुचीनामविषये
१ निरातङ्के लोको निवसति हि भालोक भ (भु) वने॥

१ पाठांतर=निरालोके लोके

कठिन शब्द:—निरालोके लोके=जिस लोक मे सूर्य चन्द्र और अग्नि का प्रकाश नहीं है। लोकः=मनुष्य।

अर्थः—तेरे आज्ञा चक्र में स्थित किरोड़ों सूर्य और चन्द्र के तेज से युक्त पर शिव को वन्दना करता हूं, जिसका वाम पार्श्व् पराचिति से एकीभूत है। उसका जो मनुष्य भक्तिपूर्वक आराधन करते हैं, वे उस प्रकाशमान लोक में निवास करते हैं जो सूर्य चन्द्र और अग्नि का विषय नहीं है अथवा सब आतङ्कों से मुक्त है। अथवा सूर्यचन्द्र और अग्नि का विषय न होने के कारण उन के प्रकाश से प्रकाशित नहीं है।

तब आज्ञा चक्र कहने का क्या अभिप्राय है ? भगवती की काल्पनिक मूर्ति को ध्यान में लाकर उसके भ्रूमध्यस्थ स्थान में पराचिति को वामांक में लिये हुए पर शिव की आराधना करने का यहां विधान किया गया है, अथवा साधकों को अपने ही आज्ञा चक्र में इस प्रकार ध्यान करने की ओर संकेत है, यह बात विचारणीय है। भगवती के देह के अन्तर्गत सारा ब्रह्माण्ड और पिंड दोनों हैं। अथवा श्री चक्र जो भगवती के देह का प्रतीक है, उसके षोडश और अष्ट दलों में आज्ञा चक्र की भावना पूर्वक अर्चन करने से श्लोकोक्त भालोक भवन की प्राप्ति कही गई है। ब्रह्माण्ड रूपी विराट देह में आज्ञा अथवा अन्य चक्रों का स्थिर करना असंभव है। और काल्पनिक मूर्ति के ध्यान में भी चक्रों को कल्पना करने पर साधक को अपने भीतर ही ध्यान करना पड़ेगा, अन्यथा ध्यान नहीं हो सकता। आकाश में तो चक्रों की कल्पना करना वृथा है। पार्थिव

अथवा चित्र की प्रतिमा में चक्रों की कल्पना करना आकाश में ही कल्पना करने के सदृश है। हां! श्री चक्र पर अर्चन तो किया जा सकता है, परन्तु ध्यान तो अपने अन्दर ही करना पडेगा। इसलिये इस श्लोक और आगे आने वाले श्लोकों में बताए गये ध्यान अपने ही शरीरस्थ चक्रों में किये जाने चाहियें। 'तव' अर्थात् 'तेरे' पद का प्रयोग किये जाने का एक अभिप्राय यह भी हो सकता है कि साधक को अपना देहाभिमान त्याग कर अपना स्थूल सूक्ष्म देह रूव भगवती का ही रूप समझना चाहिये। जैसा कि गत श्लोक में कहा जा चुका है कि मन, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी सब भगवती की परिणति के कार्य हैं। जब सारा प्रपंच भगवती की परिणति के अन्तर्गत है तो 'मेरा' कहने के लिये स्थान नहीं रहता। २२ वें श्लोकोक्त 'भवानित्वं' अथवा ३० वें श्लोकोक्त 'त्वामहमिति' की भावना करने वाले साधक के मुख से 'तवाज्ञा चक्र' इत्यादि शब्दों का उद्गार अनन्यता का सूचक है। और सुषुम्ना को भी जिसमें सब चक्रों की स्थिति है चिदात्मिका महा शक्ति का ही एक रूप समझा जाता है। जैसे नीचे दी हुई श्रुति से प्रकट है।

सुषुम्नायै कुण्डलिन्यै सुधायै चन्द्र मण्डलात्।
मनोन्मन्यै नमस्तुभ्यं महाशक्त्यै चिदात्मने॥ यो. शि.(६,३)

इसलिये सुषुम्ना में स्थित सब चक्र चिति शक्ति के विभिन्न केन्द्र होने के कारण भगवती के ही चक्र हैं। आज्ञा चक्र से सहस्रार में उठने वाली दोनों ओर की नाडियों का नाम वरणा और असी है, इस स्थान को वाराणसी कहते हैं। यह ही स्थान काशी है

जहां शंभु विराजते हैं और उनके वाम अंग में चिति शक्ति शोभायमान है। प्रयाण समय आज्ञा चक्र में लेजाकर प्राणों का त्याग करने वाले योगी को शिवजी तारक मंत्र का उपदेश दे कर उसे निज लोक प्रदान करते हैं, जो स्वयं प्रकाशमान है और जहां अग्नि सूर्य और चन्द्र की गति नहीं।

निरालोके लोके:—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं, नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेवभान्तमनुभातिसर्वं, तस्यभासा सर्वमिदं विभाति॥ (मु. २, २, १०)

मूलाधार स्वाधिष्ठान दोनों अग्नि मंडल के अन्तर्गत हैं, मणिपूर अनाहत् सूर्य मण्डल के अन्तर्गत और विशुद्ध आज्ञा चन्द्र मण्डल के अन्तर्गत, आज्ञा से ऊपर सहस्रार में जो सदा पूर्ण ज्योति का परम स्थान है, तीनों से ऊपर है। वहां जाकर साधक जन्म मरण के आतंक से छूट जाता है।

१४ श्लोकोक्त ६४ किरणें आधी परशंभु की और आधी परचिति की किरणें जाननी चाहियें।

विशुद्धचक्र

(३७)

विशुद्धौ ते शुद्धस्फटिकविशदं व्योमजनकं
शिवं सेवे देवीमपि शिवसमानव्यवसिताम्।
ययोःकान्त्यायान्त्या शशिकिरण सारूप्य सरणि (णेः)
विधूतान्तर्ध्वान्ता विलसति चकोरीव जगती॥

अर्थः—तेरे विशुद्ध चक्र में आकाशतत्त्व के जनक, शुद्ध स्फटिकवत् स्वच्छ शिव की और शिव के समान सुव्यवसित् देवी की भी, मैं सेवा करता हूं। जिन दोनों की चन्द्रमा की किरणों के सदृश कान्ति से जगत्, जिसका अन्तरन्धकार नष्ट हो गया है, चकोरी की तरह आनन्दित होता है,

विशुद्ध चक्र में कुण्डलिनी शक्ति सोती है, वह योगियों को मोक्षदायिनी होती है।

सा कुण्डलिनी कण्ठोर्ध्वभागे सुप्ता चेद्योगिनां मुक्तये भवति।

शांडिल्योपनिषत् (१.३७)

विशुद्ध चक्र आकाश तत्त्व का स्थान है, जिसके अधिष्ठातृ देव सदाशिव हैं। आकाश तत्त्व के उपादान होने के कारण उनको व्योमेश्वर और भगवती को व्योमेश्वरी कहते हैं। आकाश के कारण स्वरूप चिदम्बर सदाशिव शुद्ध स्फटिक सदृश कान्तिमान हैं। श्रुति का वचन है कि

सत्यंज्ञानमनन्तंब्रम्ह यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रम्हणा विपश्चितेति।
एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, उद्भ्य. पृथिवी। तै०ब्राम्हानन्दवल्ली प्रथमोनुवाकः।

अर्थः— ब्रह्म सत्य स्वरूप, ज्ञान स्वरूप और अनन्त है, जो उसको गुहा में निहित परमाकाशवत् जानता है वह ब्रह्म ज्ञान सहित सब कामनों को प्राप्त कर लेता है। इस आत्मा से आकाश उत्पन्न होता है, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी उत्पन्न होती है।

श्लोक १४ में बताई गई ७२ मयूखायें आधी २ व्योमेश्वर और व्योमेश्वरी की समझनी चाहिये। बहुधा आकाश का अर्थ अवकाश अथवा अभावात्मक शून्य किया जाता है। परन्तु अभाव से भावात्मक वायु की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती, इसलिये आकाश को एक भावात्मक तत्व मानना पडेगा। पाश्चात्य भौतिक विज्ञानवादी भी आकाश के स्थान पर एक तत्व की सत्ता मानते हैं जिस के माध्यम द्वारा प्रकाश, उष्णता, विद्युत् और चुंबक (magnetic rays) की किरणें प्रसारित होती हैं। यह बात आधुनिक रेडिओ विज्ञान के अविष्कार से सर्व साधारण के सामने प्रत्यक्ष रूप से सिद्ध है। उक्त किरणों का माध्यम भौतिक आकाश कहा जा सकता है। भौतिक वायु की उत्पत्ति उससे किस प्रकार होती है, यह अभी भौतिक विज्ञान नहीं समझ सका है। वायु को जमाकर गरमी निकाली जा सकती है, जैसे भाप को जल के रूप में जमाने से उष्णता निकाली जाती है, उसे वायुगत गुप्त तेज (latent heat) कहते हैं। और जल को बरफ के रूप में जमाने में भी उष्णता खेंचनी पडती हैं। उसे जल का गुप्त तेज (latent heat) कहते हैं। भौतिक विज्ञान ने भिन्न २ तत्वों के गुप्त तेज का कैलोरियों (calories) में नाप भी किया हुआ है। जब बरफ को

तपाया जाता है तब जब तक सब बरफ नहीं पिघलती जल का ताप-मान बरफवत् ही रहता है। श्रुति का भी वचन है कि 'आपो वा अर्कस्तद्यदपां शर आसीत्समहन्यत सा पृथिव्यभवत्तस्यामश्राम्यत् तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजो रसो निरवर्ततग्निः।' (बृ. १, २, २)

अर्थः—जल सूर्य ही है, जो जल रूपी शर अर्थात् किरण थीं, उनको उसने छोडा, वे पृथिवी बन गईं। उस परिश्रम से श्रान्त और सन्तप्त उसका जो तेज रूपी रस निकला वह अग्नि थी।

यह पूर्व श्लोक के नीचे कहा जा चुका है कि सारा भौतिक जगत् परमात्मा की सत् शक्ति का परिणाम है और उसपर चमकने वाली चैतन्य सत्ता उसकी चित् शक्ति की छाया है। इस प्रकार सारा चेतन अचेतन विश्व का उपादान कारण सच्चिदेकं ब्रह्म ही है।

हृदय कमल

(३८)

समुन्मीलत्संवित्कमलमकरन्दैकरसिकं
भजे हंसद्वन्द्वं किमपि महतां मानसचरम्।
यदालापादष्टादशगुणितविद्यापरिणति
र्यदादत्ते दोषाद्गुणमखिलमद्भ्यः पय इव॥

अर्थः—हृद्देश में विकसित संवित् कमल से निकलने वाले मकरन्द के एकमात्र रसिक उस किसी (अद्भुत) हंसों के जोडे का मैं भजन करता हूं, जो महान् पुरुषों के मन रूपी मानसरोवर में

विहार करता है, जिसकी वार्तालाप का परिणाम १८ विद्याओं की व्याख्या है, और जो दोषों से समस्तगुण को इस प्रकार निकाल लेता है जैसे जलमिश्रित दूध से सब दूध को हंस निकाल लेता है।

संवित् का अर्थ ज्ञान है। १२ अरों का अनाहत् चक्र जो सुषुम्ना में स्थित है, उससे यह अष्टदल पद्म पृथक है। इसका स्थान वक्षस् में है।

संवित् कमल

अरुणाचल के विख्यात रमणमहर्षि की श्रीरमण गीता में इस कमल का स्थान दक्षिण भाग में होना बताया गया है। रमणगीता के तत्संबंधी श्लोक हम नीचे उद्धृत करते हैं।

अहंवृत्तिः समस्तानां वृत्तीनां मूलमुच्यते।
निर्गच्छति यतोऽहंधीर्हृदयं तत्समासतः॥ (५, ४)
हृदस्य यदि स्थानं भवेच्चक्रमनाहतं।
मूलाधारं समारभ्य योगस्योपक्रमः कुतः॥ (५, ३)
अन्यदेव ततो रक्तपिण्डाद्धृदयमुच्यते
अहंह्वीदितिवृत्या तदात्मनो रूपमीरितम्॥ (५, ७)
तस्य दक्षिणतो धाम हृत्पीठे नैव वामतः।
तस्मात्प्रवहति ज्योतिः सहस्रारं सुषुम्नया॥(५, ६)

अर्थः—सब वृत्तियों का मूल अहम्-वृत्ति है, और जिस स्थान पर अहम्-बुद्धि का उदय होता है, वह हृदय है। यदि हृदय

का स्थान अनाहत् चक्र माना जाय, तो मूलाधार से आरम्भ होने वाले योग का उपक्रम कहां रहता है (अर्थात् नहीं रहता)। इसलिये हृदय उससे अन्य है, और वह रक्त पिण्ड से भी अन्य है। अयंहृद् इस वाक्य से आत्मा का स्वरूप कहा गया है। (देखें छांदोग्योपनिषद् (८, ३, ३), हृद्+अयम्=हृदयं, यहां 'अयम्' पद आत्मा के लिये प्रयुक्त किया गया है)। उसका स्थान दक्षिण की ओर है, वाम ओर नहीं। उस स्थान से ज्योति का प्रवाह उठ कर सुषुम्ना में जाकर सहस्रार में जाता है।

अहंसंवित् अर्थात् अहंवृत्ति का ज्ञान जिस स्थान से उदय होता हुआ अनुभव में आवे वह ही हृदय का स्थान जानना चाहिये। वह स्थान आत्मा का स्थान है, वहां पर ही मन का स्फुरण होता है और वहां पर ही परमात्मा विराजते हैं। इस स्थान पर 'हंसः' मन्त्र का जप किया जाता है।

हंसोपनिषद् में हंस का ध्यान इस प्रकार किया जाना कहा गया है कि

हृदयेऽष्टदले हंसात्मानं ध्यायेत्। अग्निषोमौ पक्षौ, ॐ कारः शिरो विन्दुस्तुनेत्रं मुखो रुद्रो रुद्राणि चरणौ बाहूकालश्चाग्निश्च ... एषोऽसौ परमहंसो भानुकोटिप्रतीकाशः।

अर्थः— हृदय में अष्ट दल पद्म पर आत्मा स्वरूप हंस का ध्यान करना चाहिये। अग्नि और चन्द्र उसके दो पंख हैं, ॐ कार शिर, विन्दु नेत्र, मुख रुद्र, चरण रुद्राणी, अग्नि और काल बाहू। ऐसा

यह परम हंस कोटि सूर्य के प्रकाश से युक्त है। हंसः इस मंत्र का एक कोटि जप करने से यह कमल खिलता है। हं और सः दोनों को हंस और हंसिनी का जोडा कहते हैं। हं पुमान् है और सः शक्ति का रूप है। प्रत्येक दल के क्रम से आठों दलों पर उसके बैठने का फल इस प्रकार है। पूर्व पर पुण्य मति, आग्नेय कोण पर निद्रा आलस्य, दक्षिण पर क्रूर बुद्धि, नैर्ऋत् पर पाप बुद्धि, पश्चिम पर क्रीडा की इच्छा, वायव्य कोण पर यात्रा की इच्छा, उत्तर पर रति इच्छा और ईशान कोण पर धनेच्छा, मध्य में वैराग्य, केशर पर जाग्रत, कर्णिका में स्वप्न, सूक्ष्म में सुषुप्ति और पद्म का त्याग कर के ऊपर उडने पर तुरीया समाधि की अवस्था होती है।

हंस का जोडा जब वार्तालाप करता है, तब योगियों को १८ विद्याएं आ जाती हैं, मानो दोनों की वार्ता का विषय उनकी व्याख्या स्वरूप होती है। १८ विद्याओं के नाम ये हैं:— शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द, चार वेद, दोनों मीमांसा दर्शन, न्याय, पुराण, धर्मशास्त्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गांधर्व विद्या और नीति शास्त्र। चारों वेदों की चार विद्याओं में और दोनों मीमांसा दर्शनों की एक विद्या में गणना करनी चाहिये।

गौडपादाचार्य रचित सुभगोदय के भाष्य में श्री भगवत्पाद ने हंसके जोडे का रूप एक दीप शिखा के सदृश बताया है। उसके दक्षिण और वाम भाग ही हंसेश्वर और हंसेश्वरी हैं। हंसेश्वर को शिखी और हंसेश्वरी को शिखिनी भी कहते हैं उनका ध्यान हृदय पद्म के मध्य में करना चाहिये।

नारायणोपनिषद् में भी हृद्देश में दीपशिखा का ध्यान करने का उपदेश मिलता है। उसका वर्णन इस प्रकार है:—

तस्य मध्ये (हृदयस्य) वन्हिशिखा अणीयोर्द्ध्वा व्यवस्थिता नीलतोयदमध्यस्थाद्विद्युल्लेखेवभास्वरा, नीवारशूकवत्तन्वी पीता भास्वत्यणूपमा। तस्याः शिखायामध्ये परमात्मा व्यवस्थितः, सब्रह्मा, सशिवः, सहरिः, सेन्द्रः सोऽक्षरः परमःस्वराट् (ना० खण्ड १३)

अर्थः—उस हृदय कमल के मध्य में अग्नि की छोटीसी शिखा है। नीलवर्ण के मेघों में चमकने वाली विद्युत् रेखा के सदृश पीले रंग की धान्य के तिनके के अग्रभाग जैसी पतली होती है। उस शिखा के मध्य में परमात्मा रहते हैं, वह ही ब्रह्मा, शिव, हरि, इन्द्र और अक्षर परब्रह्म है। विद्युत् प्रकाश में दिखने वाले श्याम मेघ सदृश रंग हंसेश्वर का और पीत वर्ण हंसेश्वरी का समझना चाहिये। वैष्णव सम्प्रदाय में पीतवर्णा श्रीजी और श्यामवर्ण भगवान का हृदय में ध्यान इसी आधार पर बताया जाता है। १४ श्लोकोक्त ५४ वायव्य किरणें आधी हंसेश्वर की और आधी हंसेश्वरी की हैं।

बृहदारण्यकोपनिषद् में भी इसका वर्णन मिलता है, वह इस प्रकार है:—

मनोमयोयं पुरुषो भाःसत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहि-र्वा यवो वा स एष सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किंच॥ (५, ६, १)

अर्थः— यह मनोमय पुरुष प्रकाशमान सत्य स्वरूप है, वह अन्तर्हृदय में धान अथवा जौ के सदृश चमकता है। वह सब का ईश्वर, सबका अधिपति इस जगत में जो कुछ है सब पर शासन करता है।

छान्दोग्योपनिषद् के अष्टम अध्याय में जो दहर विद्या का वर्णन है वह भी इस संवित् कमल में ही अहं संवित् के ध्यान पूर्वक ज्योति दर्शन द्वारा ब्रह्म प्राप्ति की विद्या है।

स्वाधिष्ठान चक्र

(३९)

तव स्वाधिष्ठाने हुतवहमधिष्ठाय निरतं
तमीडे संवर्तं जननि महतीं तां च समयाम् ।
यदालोके लोकान् दहति महतिक्रोधकलिते
***दयार्द्राया दृष्टिः शिशिरमुपचारं रचयति ॥**

*पाठान्तर—**दयार्द्राभिर्दृग्भिः**

अर्थः—हे जननि ! तेरे स्वाधिष्ठान चक्र में अग्नितत्त्व को अधिष्ठान (प्रभाव) में रखने के लिये जो संवर्ताग्नि रहता है, उसकी और उस महती समया देवी की मैं स्तुति करता हूं, जिस समय संवर्ताग्नि बडी क्रोध भरी दृष्टि से लोकों को जलाने लगता है, उस समय समया देवी की दयार्द्र दृष्टि शीतल उपचार करती है।

स्वाधिष्ठान=स्व+अधि+स्थान, कुण्डलिनी शक्ति का जागने के पश्चात् सुषुम्ना के भीतर रहने का अपना स्थान।

संवर्ताग्नि=अच्छी तरह से वर्तमान रहने वाला अग्नि। प्रलयाग्नि को संवर्ताग्नि कहते हैं। यह रुद्र का रूप है।

समया देवी=समयाचार की देवी।

कुंण्डलिनी शक्ति के जागने का फल समाधि है। कुण्डलिनी महायोग का एक अंग लययोग भी है और षट् चक्र वेध द्वारा तत्वों का वेध पूर्वक प्रतिप्रसवक्रम भी एक अंग है। प्रतिप्रसवक्रम प्रसव के उलट क्रम को कहते हैं। अर्थात् योगी प्रतिप्रसवक्रम का आश्रय लेकर ही षट् चक्र वेध करता है और पंच महाभूतों पर जय प्राप्त करता है। प्रलय के समय भी संवर्ताग्नि पृथिवी को जल में, जल को तेज में, तेज को वायु में और वायु को आकाश में लीन करता हुआ, सब तत्वों को प्रकृति लीन कर देता है।

सृष्टिक्रम में शक्ति प्रभवाभिमुख होकर फिर विविध रचना करने लगती है, मानो वह देवी दयार्द्रदृष्टि से संवर्ताग्नि को शान्त करके लोकानुग्रह करती है। वास्तव में सृष्टि स्थिति और संहार की त्रिधा शक्ति निरंतर अणु २ में कार्य करती रहती है, परन्तु योगी क षट्चक्र वेध के समय लयक्रम प्रधान रहता है इसलिये कहा गया है कि स्वाधिष्ठान चक्र में अग्नितत्व का संयम पूर्वक प्रयोग होकर पृथिवी और जल दोनों का वेध मूलाधार में होता है और अग्नि का वेध मणिपूर में होता है। जैसा श्लोक ९ में समझाया जा चुका है। यदि यह लयक्रम तीव्र हो तो शरीर के नष्ट होने की सम्भावना

हो सकती है, परन्तु ऐसा होता नहीं, शरीर ही तो दोनों मोक्ष का और भोग का साधन है। जब तक जीवन मुक्ति की दशा की प्राप्ति नहीं होती, शरीर की रक्षा करना परम कर्तव्य है। इसलिये षट्चक्रवेध द्वारा लयक्रम और शरीर का पुनः निर्माण एवं संगठन अथवा जीर्णोद्धार रूपी सृष्टि स्थिति क्रम भी युगपद् चलता रहता है। इसी अभिप्राय से संवर्ताग्नि की संहार क्रिया को संयम में रखने के लिये समयादेवी अपनी दयार्द्र दृष्टि से शीतल उपचार करती रहती है।

अनाहत् चक्र के नीचे नाभिस्थान में मणिपूर, और उसके नीचे उपस्थ के पीछे स्वाधिष्ठान, और गुदा के पास मूलाधार की स्थिति है। दोनों के बीच में योनि स्थान है, जो अग्नि की पीठ मानी जाती है। योनिस्थान का संबंध स्वाधिष्ठान से भी है, इसलिये अग्नि को स्वाधिष्ठान चक्र में रहने वाला कहा गया है। श्लोक ९ की पद रचना, इस दृष्टिकोण को सामने रख कर, समझनी चाहिये। यह कहा जा चुका है:—'महींमूलाधारे कमपि, मणिपूरे हुतवहं स्थितं स्वाधिष्ठाने, इत्यादि भित्वा....। अर्थात् मूलाधार में पृथिवी और जल को भी, और मणिपूर में अग्नि को, **जो स्वाधिष्ठान में स्थित है,** बेध करके इत्यादि'। उस श्लोक में तत्वों के वेध का स्थान एवं क्रम बताया गया है, और उनकी स्थिति के लिये केवल अग्नि तत्त्व के स्थान का संकेत है, अन्य तत्वों के स्थान का नहीं, क्योंकि अन्य तत्वों के स्थान और उनके वेध के स्थान एक ही हैं। केवल स्वाधिष्ठान चक्र में जल और अग्नि दोनोंका संधि स्थान है। इसलिये वायु के पश्चात् अग्नि का वर्णन करने के लिये पहिले उसकी स्थिति के स्थान स्वाधिष्ठान का और फिर वेध के स्थान मणिपूर का अगले

श्लोक में वर्णन किया गयाहै। जल तत्व का मूलाधार में बेध होकर वह मणिपूर रूपी अन्तरिक्ष में मेघों के रूप में प्रकट होता है और मेघों की सहायता से अग्नि का बेध होकर वह विद्युताग्नि में परिणत हो जाती है। जिसका सुन्दर वर्णन अगले श्लोक में है।

स्वाधिष्ठान में संवर्ताग्नि शिव स्वरूप है और समयादेवी जल की शिवात्मिका शक्ति, और मणिपूर में मेघेश्वर पर्जन्य जल की शिवात्मिका शक्ति है और सौदामिनी अग्नि की शक्त्यात्मिका शक्ति। इसलिये स्वाधिष्ठान में संवर्ताग्नि की ३१ और समयादेवी की २६, और मणिपूर में मेघेश्वर की २६ और सौदामिनी की ३१ किरणें माननी चाहिये। परन्तु स्वाधिष्ठान में जल की ५२ किरणों का स्थान है और मणिपूर में अग्नि की ६२ किरणों का, परन्तु दोनों का संक्रमण होने से विपरीतता दृष्टिगोचर होती है।

विभिन्न स्तरों पर शक्ति के विभिन्न रूप

ब्रह्माण्ड और पिण्ड में शक्ति का अनुभव आधि भौतिक, आधि दैविक और आधित्यात्मिक दृष्टि से तीन प्रकार का किया जाता है। सारा विश्व किसी शक्ति के आधार पर कार्य कर रहा है उस शक्ति का हम अनुभव, ताप, शब्द, प्रकाश, चुम्बक, और विद्युत् के रूप में सदा देखते हैं और उनकी सहायता से अनेक कार्य करते हैं। परन्तु विज्ञान इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि ये सब रूप किसी एक ही शक्ति के परिणाम है। शक्ति का यह रूप अधि भौतिक (physical) कहलाता है। दूसरा रूप हम अपने शरीर में अनुभव करते हैं, जो देह, इन्द्रियों और मन बुद्धि में काम करता है। उसे हम अध्यात्म रूप कहते हैं। परन्तु अध्यात्म शक्तियां

बाह्य शक्तियों की अपेक्षा रखती हैं, जैसे दृष्टि सूर्य की, रसना जल की इत्यादि। इस संबंध को अधि देव कहते हैं। इसलिये प्रत्येक इन्द्रिय का पृथक २ अधिदेवता है। उनके नाम ये हैं अहंकार का रुद्र, चित्त का क्षेत्रज्ञ, बुद्धि का ब्रह्मा, मन का चन्द्रमा, श्रवण का आकाश, स्पर्श का वायु, दृष्टि का सूर्य, रसनेन्द्रिय का वरुण, गन्ध का पृथिवी, वाणी का सरस्वती, हाथों का इन्द्र, पैरों का सर्वाधार विष्णु, मैथुन का प्रजापति और मल त्याग का यमराज मृत्यु। अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय में उक्त देवताओं की शक्तियां कार्य करती हैं, जो उनका ब्रह्माण्ड से संबंध जोडती हैं। प्राण का सूर्य, अपान का पृथिवी, समान का आकाश, व्यान का वायु और उदान का अग्नि अधिदेव हैं। पृथिवी की आकर्षण शक्ति (gravitation) को ही अपान शक्ति कहा जाता है, उसका संबंध विष्णु और मृत्यु दोनों से है, इसलिये उसे मर्त्य लोक भी कहते हैं। कहा है— 'पृथिवि त्वया धृता लोका देवि त्वं विष्णुना धृता।' ऊपर उठाने वाली शक्ति उसकी प्रति पक्षी शक्ति उदान है, उसका संबंध अग्नि से है। अग्नि की ज्वालायें ऊपर उठती हैं, वायु तप्त होकर ऊपर उठता है, इसी तरह मृत्यु के पश्चात् उदान ही जीव को कर्मानुसार अन्य लोकों को ले जाता है।

जिस प्रकार बाह्य शक्तियों का एक आधार शेष नाग माना जाता है, उसी प्रकार अभ्यन्तर शक्तियों का आधार कुण्डलिनी शक्ति मानी जाती है। परन्तु सब शक्तियों का, जिनमें शेष नाग और कुण्डलिनी रूपी आधार भी सम्मिलित है, उदय और अस्त पद परमात्मा ही है। इसलिये परमात्मा की अपेक्षा से सब शक्तियों के

रूप अनित्य हैं, परन्तु आधार आधेय की अपेक्षा से आधार को अचल कहते हैं। इसलिये कुण्डलिनी का प्रसुप्त रूप भी अचल समझना चाहिये। कुछ लोगों की धारणा है कि कुण्डलिनी जागकर सब सुषुम्ना में प्रवेश कर जाती है। परन्तु यह धारणा गलत है, वह अपने आधार स्थान पर स्थिर स्थिति में नित्य रहकर भी सुषुम्ना में शक्ति का संचार करती रहती है। और सुषुम्ना में भी स्वाधिष्ठान चक्र पर जागृत अवस्था में नित्य रहती है, जैसे के चक्र के नाम से स्पष्ट है, परन्तु इस चक्र पर उसका रूप पिण्डात्मक होता है। कहा है

> पिण्डं कुण्डलिनी शक्तिः पदं हंसः प्रकीर्तितः।
> रूपं विन्दुरितिख्यातं रूपातीतस्तु चिन्मयः॥

अर्थः— कुण्डलिनी, हंस, विन्दु, और चिति शक्ति सब एक ही शक्ति के रूप हैं। पिण्ड रूपा कुण्डलिनी, त्राण पद* स्वरूपा हंस, रूपात्मिका विन्दु और रूपातीता चिति शक्ति है।

प्रसुप्त कुण्डलिनी का स्थान आधार चक्र के नीचे, और जाग्रत कुण्डलिनी का स्थान स्वाधिष्ठान में है। हंस रूपा हृदय चक्र में रहती है। विन्दु के विषय में अन्यत्र लिखा जाना है, और चिति शक्ति का स्थान सहस्रार है। विशुद्ध चक्र में शक्ति का विशुद्ध स्वरूप रहता है। यद्यपि इन केन्द्रों पर जगाने के पश्चात् शक्ति सदा रहती है परन्तु उनके विकास की तारतम्यता में अन्तर होता रहता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि ग्रंथियां तीन हैं—ब्रह्मग्रंथि, विष्णुग्रंथि और रुद्रग्रंथि। ग्रंथि गांठ को कहते हैं। दो भिन्न वस्तुओं को जोडने या बांधने के लिये गांठ से काम लिया जाता है और प्रायः एक ही वस्तु में विकार आ जाने पर उलझनों की ग्रंथियां पड जाया करती हैं। जैसे केशों अथवा धागों में। अध्यात्म ग्रंथि के स्वरूप का वर्णन श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी ने इन शब्दों में किया है—

ग्रंथि त्रय और अध्यास

जड चेतन की ग्रंथि पड गई। जदपि मृषा छूटत कठनई॥

अर्थात् जड प्रकृति और चेतन आत्मा की गांठ पड गई है, यद्यपि वह झूठी है, तो भी बडी कठिनता से खोली जा सकती है।

आत्मा शुद्ध चेतन स्वरूप निर्विकारी है और देह इंद्रियों और मनबुद्धि का संघात प्रकृति के विकार हैं, दोनों में गठबंधन होना असंभव है, परन्तु दोनों का भिन्न-भिन्न स्तरों पर ऐसा तादात्म्य दिखता है कि उनके प्रथक होने का ज्ञान अति दुर्लभ हो रहा है। जैसे देह के अभिमान से आत्मा अपने को देह के धर्मवाला समझता है। दार्शनिक परिभाषा में इस मिथ्या प्रतीति को अध्यास, विपर्य्यय ज्ञान अथवा ख्याति कहते हैं।

श्रीमच्छंकर भगवत्पाद ने अध्यास शब्द को इस प्रकार समझाया है। आत्मा अहं अथवा अस्मत् पद है, और प्रकृति युष्मत् पद है। पहिला विषयी है और दूसरा विषय दोनों प्रकाश और तमवत् विरूद्ध स्वभाव वाले हैं परन्तु दोनों एक दूसरे के भाव को

प्राप्त हो जाते हैं, अर्थात् चिदात्मक आत्मा विषयी में युष्मत् प्रत्यय की प्रतीति गोचर विषय और उसके धर्मों का भाव और इसके विपरीत विषय और विषय के धर्मों में विषयी का और उसके धर्मों का आभास दिखने लगता है। इस इतरेतर अध्यारोपण के मिथ्या ज्ञान को अध्यास कहते हैं। यह स्मृतिरूप होता है और पूर्व दृष्ट अर्थात् पहिले देखे हुए किसी पदार्थ के अन्यत्र अवभास द्वारा उत्पन्न हुआ करता है। पूर्व मिमांसा वाले इसे अख्याति, वैशेषिक और नैयायिक इसे अन्यथा ख्याति, शून्यवादी असत् ख्याति, बौद्ध लोग आत्म-ख्याति, सांख्यवादी सदसत् ख्याति और वेदान्तवादी उसे अनिर्वचनीय ख्याति कहते हैं। परन्तु इस सिद्धांत में सब एक मत हैं कि यह एक वस्तु का अन्यत्र मिथ्या अवभास मात्र है। उक्त मिथ्या अवभास की निवृत्ति को और आत्म तत्व के शुद्धचेतन ब्रह्म स्वरूप ज्ञान को ज्ञान कहते हैं। आत्मा में देहाध्यास अथवा देह में आत्माध्यास की निवृत्ति स्वरूप ही चडचेतन की ग्रंथि का छुडाना है, जिसका सुन्दर निरूपण श्रीगोस्वामीजी ने ज्ञान दीपक में किया है। अध्यात्माध्यास प्रकृति के तीन गुणों के योग से तीन स्तरों पर प्रतीत होता है, सत्वगुण के योग से उत्पन्न हुए अध्यास को विष्णुग्रंथि, रजोगुण के योग से उत्पन्न अध्यास को ब्रह्म ग्रंथि और तमोगुण के योग से उत्पन्न अध्यास को रुद्र ग्रंथि कहते हैं। इसलिये स्थूल देहाध्यास को रुद्रग्रंथि, इंद्रियजनित अध्यास को ब्रह्मग्रंथि और अन्तःकरण के योग से उत्पन्न अध्यास को विष्णुग्रंथि

कहते हैं। ब्रह्मग्रंथि का स्थान मूलाधार में, विष्णुग्रंथि का स्थान हृदय में और रुद्रग्रंथि का स्थान आज्ञाचक्र में समझना चाहिये। ललितासहस्रनाम में ग्रंथित्रय के स्थानों का वर्णन इस प्रकार है:—

मूलाधारैकनिलया ब्रह्मग्रंथि विभेदिनी।
मणिपूरान्तरुदिता विष्णुग्रंथि विभेदिनी॥ ८९
आज्ञाचक्रान्तरालस्था रुद्रग्रंथि विभेदिनी।
सहस्राराम्बुजारूढा सुधासाराभिवर्षिणी॥ ९०

भूतजय होने पर रुद्रग्रंथि का, इंद्रिय जय होने पर ब्रह्मग्रंथि का और मनोजय होने पर विष्णुग्रंथि का बेध जानना चाहिये। भूतजय होने पर मधुमतीका भूमिका का उदय होता है और इंद्रिय एवं मनोजय होने पर मधुप्रतीका भूमिका का। इनसे पूर्व कुण्डलिनी जागरणोपरान्त रजतमोमिश्रित सत्व गुण की भूमिका का नाम प्रारम्भ कल्पिका और ऋतंभरा प्रज्ञा के उदय होनेपर शुद्धसत्व गुण प्रधान भूमिका का नाम मधुमती भूमिका है। देखें योगदर्शन विभूतिपाद सूत्र (५१) पर व्यास भाष्य और श्लोक १८ पृष्ठ (१३०)।

बिन्दु त्रय पंचाग्नि विद्या और ब्रह्मचर्य

संवर्ताग्नि प्रलयाग्नि को कहते हैं, उसे पाताल स्थित कालाग्नि भी कहते हैं। शंकर भगवत्पाद ने निम्न चक्रों में स्थित अग्नि को जो लयाभिमुख होकर सब तत्वों को अपने २ कारण में लीन करता है, संवर्ताग्नि कहा है। क्योंकि केवल तीन ही अग्नियों का यहां वर्णन है, अर्थात स्वाधिष्ठानस्थ संवर्त अग्नि, मणिपूरस्थ वैद्युताग्नि

और हृदय में सूर्य अग्नि। वास्तव में ५ अग्नि जानना चाहिये। इस विषय पर योग शिखोपनिषत् में पांच ही अग्नियों का ध्यान बताया गया है। वह इस प्रकार है:—

स्थूलं सूक्ष्मं परंचेति त्रिविधं ब्रह्मणो वपुः।
स्थूलं शूक्रात्मकं विन्दुः सूक्ष्मं पंचाग्निरूपकम्॥ (५,२८)
सोमात्मकः परः प्रोक्तः सदासाक्षी सदाच्युतः॥

अर्थः— ब्रह्म का शरीर त्रिविध है — स्थूल, सूक्ष्म और पर। शुक्र (वीर्य) स्थूल रूप है, पञ्चाग्नि सूक्ष्म रूप है और सोम पर रूप है, जो अच्युत सदा साक्षी है। स्थूल विन्दु से पंचाग्नि का संबंध प्रथम ग्रंथि है; पंचाग्नि से पर विन्दु का संबंध दूसरी ग्रंथि है और पर विन्दु से आत्मा का संबंध तीसरी ग्रंथि है। आगे पंचाग्नियों का वर्णन करते हैं:—

पातालानामधो भागे कालाग्निर्यः प्रतिष्ठितः॥ (५,२९)
मूलाग्निः शरीरेऽग्निर्यस्मान्नादः प्रजायते।
वडवाग्नि शरीरस्थो स्वाधिष्ठाने प्रवर्तते॥ (५,३०)
काष्ठपाषाणयोर्वन्हिर्ह्यस्थिमध्ये प्रवर्तते।
काष्ठपाषाणजो वन्हिः पर्थिवो ग्रहणंगतः॥ (५,३१)
अन्तरिक्षगतो वन्हिर्वैद्युतः स्वान्तरात्मकः।
नभःस्थः सूर्य रूपोऽग्नि र्नाभिमण्डलमाश्रितः॥ (५,३२)
विषं वर्षति सूर्योऽसौ स्रवत्यमृतमुन्मुखः।
तालु मूले स्थितश्चन्द्रः सुधां वर्षत्यधोमुखः (५,३३)

भ्रूमध्य निलयो बिन्दुः शुद्ध स्फटिक संनिभः।
महा विष्णोश्च देवस्य तत्सूक्ष्मं रूपमुच्यते ॥ (५. ३४)
एतत्पंचाग्निरूपं यो भावयेद्बुद्धिमान् धियः।
तेन भुक्तञ्च पीतंच हुतमेव न संशयः ॥ (५. ३५)

अर्थः— पातालों के अधोभाग में जो कालाग्नि रहता है, वह शरीर में मूलाधार का अग्नि है, जिससे नाद उत्पन्न होता है। स्वाधिष्ठान में वडवाग्नि रहता है। काष्ठ पाषाण का जो अग्नि है वह अस्थियों में रहता है, उसे पर्थिव अग्नि कहते हैं। अन्तरिक्ष में जाकर अर्थात् मणिपूर में वह ही स्वान्तरात्मा स्वरूप विद्युत् अग्नि है। आकाशस्थ अग्नि सूर्य है वह नाभि (सूर्य) मण्डल में आश्रित है। यह सूर्य विष की वर्षा करता रहता है परन्तु उन्मुख होकर अमृत का स्राव करता है। बिन्दु भ्रूमध्य में लीन होकर शुद्ध स्फटिक सदृश हो जाता है, जो महा विष्णु देव का सूक्ष्म रूप कहलाता है। इस प्रकार पंचाग्नि का जो बुद्धिमान ध्यान करता है, उसका खाया-पीया हुआ आहुति के तुल्य है, इसमें सन्देह नहीं।

छान्दोग्य उपनिषद् के पांचवें अध्याय के खण्ड ३ से नवम खण्ड तक जिस पंचाग्नि विद्या का वर्णन मिलता है, उसीका यहां लय क्रम बताया गया है। छान्दोग्य कथित पंचाग्नि विद्या की गाथा इस प्रकार है। अरुणि के पुत्र श्वेतकेतु से पांचाल देश के राजा प्रवाहण जैबलि ने ५ प्रश्न किये, परन्तु वह एक का भी उत्तर न दे सका, तब उसने अपने पिता से पूछा, परन्तु वह भी नहीं जानता था। इसलिये अरुणि अपने पुत्र को साथ लेकर राजा के

पास गया और उससे उन प्रश्नों का उत्तर जानने की जिज्ञासा की। राजा ने कहा यह पंचाग्नि विद्या कहलाती है। वे प्रश्न इस प्रकार हैं:-क्या तुम जानते हो कि सब जीव मरकर यहां से जाते हैं, क्या तुम जानते हो कि फिर यहां लौटकर आते हैं, क्या पितृयान और देवयान दोनों मार्गों को जानते हो, क्या जानते हो कि क्यों यह लोक कभी नहीं भरता, अर्थात् इस अवागमन का चक्र कभी बन्द क्यों नहीं होता, और क्या यह भी जानते हो कि पांचवीं आहुति में जल से यह देह कैसे बनता है? इन प्रश्नों को पूछने का राजा का अभिप्राय स्पष्ट है कि जो मनुष्य प्रभव क्रम को जानता है, वह ही आवागमन से छूटने के लिये देवयान मार्ग का द्वार खोलते समय, इसका प्रतिकार स्वरूप प्रति प्रसव क्रम भी जानने का यत्न करेगा, नहीं तो आवागमन का चक्र कभी बन्द नहीं होता।

राजा ने जो प्रभव क्रम बताया वह इस प्रकार है:—

(१) द्युलोक प्रथम अग्नि है, जिसमें सूर्य रूपी ईंधन जल रहा है, उसमें देवता श्रद्धा की आहुति देते हैं, और उससे सोम उत्पन्न होता है।

(२) पर्जन्य दूसरी अग्नि है, उसमें सोम की आहुति दी जाती है और वर्षा उत्पन्न होती है।

(३) पृथिवी तीसरी अग्नि है, उसमें वर्षा की आहुति दी जाती है और अन्न उत्पन्न होता है।

(४) मनुष्य का देह चौथी अग्नि है, उसमें अन्न की आहुति दी जाती है और शुक्र उत्पन्न होता है।

(५) स्त्री का गर्भ पांचवीं अग्नि है, उसमें शुक्र की आहुति दी जाती है और बालक का देह उत्पन्न होता है।

जो मनुष्य इस क्रम को उलटना चाहते हैं, उनको ब्रह्मचर्यव्रत अर्थात् ऊर्द्ध्व रेता रहने का व्रत धारण करके तप करना चाहिये। तब देवयान का मार्ग खुलता है।

बहिर्मुख शुक्र संतानोत्पादक होने से सृष्टिक्रमाभिमुख रहता है, परन्तु ऊर्द्ध्व होकर अभ्यन्तर पंचाग्नियों द्वारा उत्तरोत्तर सूक्ष्म होकर भ्रूमध्य में सोमात्मक परविन्दु के रूप में लौट जाता है। मूलाधार से शक्ति का उत्थान होना प्रथम अभ्यन्तर अग्नि है, जिसके योग से शुक्र की ऊर्द्ध्वगति होती है, फिर वह स्वाधिष्ठान की अग्नि से सूक्ष्म होकर सब अस्थियों में पृथिवीतत्व का बेध करता है और मांस एवं रुधिर में भी जल का बेध करके मणिपूर चक्र में विद्युत्-रूप अधिक सूक्ष्म होकर सूर्य को उन्मुख करता हुआ चन्द्र मण्डल में पहुंच कर सोम में परिणत हो जाता है। प्रसव क्रम में सोम ही शुक्र के रूप में परिणत हुआ था, प्रतिप्रसव क्रम में वह फिर अपने पूर्व रूप में आ जाता है। श्रद्धा के सकाम होने से सोम प्रसवाभिमुख होता है और उस ही श्रद्धा के निष्काम होने पर वह अपने कारण हैरण्यगर्भ रूपी समष्टि प्राण में लीन हो जाता है। समष्टि प्राण स्वयं ब्रह्म की किरण ही है। कहा है

स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खंवायुर्ज्योतिरापः पृथिवी इत्यादि। (प्र० ६, ४)

अर्थः—उसने प्राण की सृष्टि की, प्राण से श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी इत्यादि। उक्त प्रतिप्रसव क्रम षड्चक्र बेध का विषय है।

इस संबंध में यह बात भी जानने योग्य है कि विशुद्धचक्र की डाकिनी शक्ति का संबंध त्वचा से, अनाहत् की राकिनी शक्ति का रुधिर से, मणिपूर् की लाकिनी शक्ति का मांस से, स्वाधिष्ठान की काकिनी शक्ति का मेदा से, मूलाधार की साकिनी शक्ति का अस्थि से, आज्ञा की हाकिनी शक्ति का मज्जा से और सहस्रार की याकिनी शक्ति का संबंध शुक्र से है। देखें ललिता सहस्रनाम श्लोक (१४९—१६१)

पृथिवी के गर्भ रूपी पातालों में जो अग्नि है, वह अग्नि का एक रूप है, दूसरा रूप भूतल पर काष्टपाषाणादि में है, जल में रहने वाला तीसरा रूप है, विद्युत् अग्नि का चौथा रूप है और सूर्य में अग्नि का पांचवा रूप है। उष्णता, प्रकाश और प्राणशक्ति तीनों का सूर्य के ताप में युगपद समावेश रहता है। चन्द्रमा सूर्य के ताप को स्वयं पी लेता है और शीतल प्रकाश एवं सोम के रूप में प्राणशक्ति को अपनी चंद्रिका के साथ पृथिवी पर भेजा करता है। प्राण ही जीवन शक्ति है, जिसको चेतन शक्ति भी कहते हैं। प्राणमय कोष की प्राण अपानादि ५ वृत्तियां चेतन शक्ति की स्थूल क्रियायें हैं। चिति स्वरूप प्राण ही उपरोक्त श्रुति में ब्रह्म से उत्पन्न होने वाला सोम कहा गया है अग्नि के ऊपरोक्त पांचों रूप अधिभौतिक स्तर पर बताये गये हैं, वे परस्पर में संबंधित हैं और एक अग्नि के ही रूपान्तर हैं और उन

का चन्द्रमा से भी संबंध है। अब आध्यात्म रूप समझाते हैं। जैसे पृथिवी के गर्भ में सात पाताल माने जाते हैं, वैसे ही देह के अधो-भाग में चरणों का तलभाग, ऊपर का भाग, गुल्फ, जंघा, जानू, उरु और नितंब सात पाताल समझे जाते हैं इनमें फैली हुई नाडियां मणिपूर चक्र से निकलती हैं, इनके द्वारा जो अग्नि इन अंगों को तप्त रखता है वह पातालाग्नि है। उसका स्थान मूलाधार तक है। वह ही अग्नि ऊपर के भाग में हड्डियों में व्याप्त है उसे पार्थिव अग्नि कहा गया है। आस्थि, मज्जा और शुक्र में भी यह ही पार्थिव अग्नि कार्य करता है। शुक्र में भी दो शक्तियां कार्य करती हैं, मज्जा से बनने के कारण उसमें एक प्रजनन शक्ति वाला भाग है; दूसरा प्राण शक्ति वाला भाग। प्रजनन के लिये प्राण शक्ति आवश्यक नहीं होती, इसलिये प्रश्नोपनिषद् में कहा है कि रात्रि में रतिक्रिया के रमण करने वालों की प्राण शक्ति का ह्रास नहीं होता, और वह ब्रह्मचारी के ही तुल्य हैं, परन्तु दिन में रमण करने वालों के प्राण भी नष्ट होते हैं, इसलिये दिन को रतिक्रिया का निषेध है।

प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्यासंयुज्यन्ते,
ब्रह्मचर्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्यासंयुज्यन्ते।

(प्र० १, १३)

प्रजनन द्रव्य में सातों धातुओं का बीज है, वह भाग ऊर्ध्व होकर अन्नमय कोष को पुष्ट करेगा, और दूसरा प्राण वाला भाग प्राणमय को पुष्ट करेगा। और इस स्तर पर दोनों का पृथक्करण होने से अन्नमय कोष से प्राणमय कोष का पृथक्करण

होगा। शुक्र में दोनों कोषों की बीजरूप से ग्रंथि रहती है, उसके टूटने से दोनों कोषों की गांठ खुल जायगी। इसलिये कामवासना की वृद्धि से यह ग्रंथि दृढ होती है और ब्रह्मचर्य अर्थात् उर्द्ध्वरेता होने से यह ग्रंथि शिथिल होती है। प्रजनन शक्ति वाले द्रव्य से प्राण शक्ति का पृथक्करण होने पर वह विद्युताग्नि, सूर्याग्नि-क्रम से सोम में परिणत हो जायगी। प्राण का सोम से पृथक्कर दूसरी ग्रंथि का और सोम का आत्मत्व में लयकरण तीसरी ग्रंथि का बंध है।

दूसरा प्रजनन शक्तियुक्त द्रव्य जो रुधिर के और अण्डकोषों के रस के योग से बनता है वह भी प्राण शक्तियुक्त होता है, परन्तु वहां दोनों का वीर्य में एकीकरण रहता है। स्वाधिष्ठान में जल और अग्नि का संधि स्थान है, इसलिये जलस्थ अग्नि को बडवाग्नि नाम दिया गया है। समुद्र में रहने वाले अग्नि को बडवानल कहते हैं। मणिपूर में सौदामिनी स्वरूपा विद्युत् अग्नि है, जिसको अन्न को पचाने वाला वैश्वानर अग्नि भी कहते हैं, उसको समान वायु भी कहते हैं और उसे ही स्वान्तरात्मा कहा गया है।

जब कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होता है, तब उसे मूलाग्नि का प्रज्वलन समझना चाहिये। जिसकी क्रिया नीचे पैरों में और ऊपर हड्डियों में होती है, और साथ ही जल में भी। अर्थात् मांस, रुधिर मेदा, स्नायु, अस्थि, मज्जा, शुक्र सातों धातुएं संतप्त हो जाती हैं। इनके क्षुब्ध अथवा मथन होने से शुक्र (वीर्य) की आहुति मूलाधार में पडती है। वह बहिर्मुख होकर जब स्त्री के गर्भाशय में पोषण पाता है तो एक नये शरीर की रचना करता है, परन्तु जब अन्तर्मुखी होकर उसकी मूलाग्नि में आहुति दी जाती है

तो वह उर्द्ध्व मुख होकर सूक्ष्म स्तरों पर चढने लगता है। जिसको ब्रह्मचर्य कहते हैं। उन सूक्ष्म स्तरों पर चढने की क्रिया को अन्तः पंचाग्नि याग कहते हैं। छान्दोग्य उपनिषद में प्राकृतिक बाह्य पंचाग्नियाग का वर्णन है, योग शिखोपनिषद् में लयाभिमुख अन्तर्याग का संकेत है।

जैसे सूर्य का ताप वायु मण्डल के भूमि के निकटस्थ निम्न स्तरों को ही संतप्त कर सकता है, ऊपर के पर्वत शिखरों के स्तर को नहीं तपा सकता. जिसका कारण यह है कि निम्न स्तरों की वायु भूमि की उष्णता से अथवा समुद्र के जल की उष्णता से तप्त होकर उष्ण हो जाती है, परन्तु ऊपर के स्तरों की तरल वायु उतनी तप्त नहीं हो सकती। इसी प्रकार जब सूर्य अधोमुख होता है तो देह की सब धातुओं को संतप्त कर देता है, और उसको विष बरसाने वाला कहा जाता है। परन्तु जब वह उर्द्ध्व मुख होता है तब सुषुम्ना पथ के सूक्ष्म स्तरों पर चमकने लगता है, और उसकी देह को संतप्त करने वाली शक्ति ऊर्द्ध्व गामिनी हो जाती है, जिससे ऊपर के भ्रूमध्यस्थ चन्द्र मण्डल पर प्रकाश पडने लगता है। उस प्रकाश को सोम कहते हैं। चन्द्रमा का नाम सोम भी है। और मध्य के विशुद्ध चक्र पर विशुद्ध सोम का ही प्रकाश चमकने लगता है।

वास्तव में अग्नि, विद्युत् और सूर्य तीनों एक ब्रह्म तेज से ही प्रकाशमान है। इसीप्रकार पांचों अग्नियां एक चिति शक्ति से प्रकाशमान समझनी चाहियें, और चिति शक्ति का स्थान आज्ञा

चक्र के ऊपर है, और सोम ही उसका शुद्ध स्वरूप है, इसलिये उसे पर विन्दु अथवा ब्रह्म का पर रूप कहते हैं।

श्रद्धा का ब्रह्मचर्य से सम्बन्ध

जिन साधकों की कुण्डलिनी शक्ति का जागरण नहीं हुआ है, परन्तु ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं, उनको अपनी श्रद्धा पर संयम करना अत्यावश्यक है। क्योंकि जब तक काम वासना का वेग कार्य करता रहता है, शुक्र अन्तर्मुखी नहीं हो सकता। काम वासना भी स्त्रीसंग की ओर प्रेरणा करने वाली एक प्रकार् की राजसी श्रद्धा का ही रूप है। जब सात्विक श्रद्धा का उदय होता है और देव बुद्धि अथवा पूज्य बुद्धि उत्पन्न होती है, तब तुरन्त काम वासना शान्त हो जाया करती है। श्रद्धा ही बहिर्मुखी होकर सृष्टि का कारण बन जाती है जैसा ऊपर पंचाग्नि विद्या में कहा गया है और अन्तर्मुखी रहने पर श्रद्धा ही मोक्ष का साधन होती है। इसलिये श्रद्धा को सात्विक रखने पर स्थूल विन्दु की ऊर्द्ध्व गति संभव है, अन्यथा नहीं। देवता उसकी आहुति सृष्टि के हेतु बहिर्यागार्थ निम्न स्तरों पर देते हैं और मुमुक्षु आत्मचिन्तन रूपी अन्तर्याग द्वारा उसको उलट क्रम का अनुष्ठान करता है।

गुरु शिष्य का संबंध भी श्रद्धा के सूत्र से बंधा होता है। इसलिये गुरु शिष्य के संबंध पर भी कुछ विचार प्रकट कर के हम यहां विषयान्तर के दोष को पाठकों के लाभार्थ ग्रहण करते हैं।

गुरु और शिष्य का सम्बन्ध और श्रद्धा।

गुरु और शिष्य में जो संबंध होता है, उसका सूत्र एक मात्र शिष्य की गुरु के प्रति श्रद्धा ही है। यदि शिष्य की श्रद्धा शिथिल

हो जाय, तो वह संबंध भी शिथिल हो जाता है। यह संबंध वास्तव में एक-पक्षी ही है, उभय-पक्षी नहीं। क्योंकि गुरु की शिष्य के प्रति श्रद्धा की भावना का होना संभव नहीं, श्रद्धा सदा अपने से बड़ों के प्रति ही हुआ करती है। परन्तु श्रद्धा की प्रतिक्रिया भी प्रेम के रूप में प्रकट हुआ करती है, जिससे शिष्य को गुरु की विद्या फलीभूत होती है। शिष्य गुरु की शरण में श्रद्धा की प्रेरणा से प्रेरित होकर जाता है, कि उसको वहां से उसकी जिज्ञास्य विद्या की उपलब्धि होगी। और आध्यात्म पथ का पथिक गुरु से भौतिक स्तर पर उस प्रकाश की जिज्ञासा रखता है जो उसे तीनों तापों से मुक्त करदे। इसलिये वह ज्ञानी गुरु की खोज करता है परोक्षज्ञानी की नहीं, वरन् अनुभवी तत्व ज्ञानी की। श्री भगवान ने भी ऐसे ही ज्ञानी गुरु की शरण में जाने का आदेश किया है:— यथा,

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः॥ गीता॥

ज्ञानी गुरु योगी तो होना ही चाहिये, क्योंकि बिना योग संसिद्धि के ज्ञान नहीं होता, श्री भगवान् स्वयं कहते हैं कि:—

'तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति। गीता।

परन्तु योग से भोग और भोगों से रोग भी होते हैं, यह देखने में आता है। इसलिये यदि गुरु में योग के साथ-साथ भोग भी हों तो हर्ष की बात है, क्योंकि योगी के पास भोगों की समृद्धि उसकी सिद्धियों का परिचय देती है। परन्तु भोगों के साथ रोग भी गुरु की

सेवा में आ उपस्थित हों और रोगों के निवारणार्थ गुरु घबरा कर साधारण डाक्टरों वैद्यों का आश्रय ढूंढता फिरे, तो उसके योग को बट्टा लग जाने की आशंका है। और उससे शिष्य की श्रद्धा में भी ठेस लगने की संभावना है।

भोग और रोग दोनों पूर्वार्जित् प्रारब्ध कर्मों का भी फल हो सकते हैं, जिनका योग की सिद्धि से कोई संबंध नहीं होता, परन्तु एक योगी और ज्ञानी महापुरुष से यह भी आशा की जाती है कि वह वीतराग होने के कारण भोगों में फंसेगा नहीं, और योगज और प्रारब्धज दोनों प्रकार के भोगों को पास नहीं पठकने देगा, यदि उनसे रोग उत्पन्न होते दिखते हैं, और यदि प्रारब्धवश रोगों का आक्रमण भी हो, तो अपने योग बल से उनको परास्त करता हुआ उन्हें वह सहन करेगा, न कि साधारण मनुष्य के सदृश भोगासक्ति का कुपथ्य करके उनका पोषण करेगा।

यदि किसी गुरु को भोगासक्त और रोगाक्रांत देखा जाय, तो स्वभावतः शिष्य की श्रद्धा भंग हो जाने में आश्चर्य नहीं। परन्तु उसका दुष्परिणाम शिष्य के लिये उसके सर्व-नाश का कारण बन जाता है।

तैत्तिरीयोपनिषत् की ब्रह्मानन्दवल्ली के चतुर्थ अनुवाक् में श्रद्धा को विज्ञानात्मा का शिर बताया गया है, और योग को उसकी आत्मा। विज्ञानात्मा के ऋत् और सत्य दोनों पक्ष हैं और महत् उसकी प्रतिष्ठा पुच्छ है। शिर के कट जाने पर आत्मा शरीर को छोड देती है, और शिर के विकार से दोनों हाथ निकम्मे अर्थात्

पक्षाघात के रोगी हो जाते हैं, और प्रतिष्ठा भी नहीं रहती। अर्थात् श्रद्धा की कमी होते ही उससे योग, सत्य और ऋत तीनों विदा होने लगते हैं और महत् का सहारा छूट जाता है। महत् से आनंदमय सगुण ब्रह्म का ही यहां अभिप्राय है, क्योंकि साधक की प्रतिष्ठा उसी के आधार पर होती है, न कि लोक प्रतिष्ठा पर। विज्ञानमय कोष का आधार आनन्दमय आत्मा ही है, उसे स्वयं परमात्मा का प्रतीक समझना चाहिये।

जब विज्ञानात्मा ही न रहा, तो मनोमय, प्राणमय और अन्नमय आत्मा की क्या दशा होगी यह पाठकगण स्वयं समझ सकते हैं।

मणिपूर चक्र

(४०)

तडित्वन्तं शक्त्या तिमिरपरिपन्थिस्फुरणया
स्फुरन्नानारत्नाभरणपरिणद्धेन्द्रधनुषम् ।
तव श्यामं मेघं कमपि मणिपूरैकशरणं
निषेवे वर्षन्तं हरमिहिरतप्तं त्रिभुवनम् ॥

शब्द: कमपि=जलको भी, हर=अग्नि।

अर्थः—तेरे मणिपूर की शरण में गये हुए श्याम मेघों के रूप धारण करने वाले के जल की भी सेवा करता हूं, जिन में अंधकार की परिपंथिनी अर्थात् प्रतिद्वंद्विनी बिजली की चमक आभरणों में जटित नाना रत्नों की चमक सदृश इन्द्रधनुष का

रूप धारण किये हुए हैं, और जो अग्नि और सूर्य के ताप से संतप्त त्रिभुवन पर वर्षा कर रहे हैं।

मणिपूर चक्र में मेघेश्वर और सौदामिनी के रूप में शिव शक्ति का ध्यान बताया गया है। सूर्य का स्थान ऊपर सूर्य मण्डल में और अग्नि का स्थान नीचे स्वाधिष्ठान चक्रस्थ अग्नि मण्डल में होने के कारण, दोनों के ताप से सारा देहरूपी तीन खण्डों का त्रिभुवन नष्ट होने पर जल बाष्प रूप से मणिपूर चक्र मे मेघों का रूप धारण कर लेता है और मेघों मे अग्नि वि॒ताकार चमकने लगती है। जिन को मेघेश्वर और सौदामिनी कहते हैं, और दोनों के योग से वर्षावत् सारे शरीर मे रस का सिंचाव होने लगता है।

मूलाधार

(४१)

तवाधारे मूले सह समयया लास्यपरया
शिवा (नवा) त्मान मन्ये नवरस महाताण्डवनटम् ।
उभाभ्यामेताभ्यामुद(भ)य विधिमुद्दिश्य दयया
सनाथाभ्यां जज्ञे जनक जननीमज्जगदिदम् ॥

अर्थः— तेरे मूलाधार में लास्यपरा अर्थात् नृत्य करती हुई समया देवी के साथ, नवधा रसपूर्ण ताण्डव नृत्य करने वाले नटेश्वर नवात्मा-शिवजी का मैं चिन्तन करता हूं। यह जगत् इन दोनों की जनक जननीवत् दया से प्रभवाभिमुख होने के कारण अपने को सनाथ मानता है।

समया देवी में समयाचार की उपास्य देवी निर्दिष्ट है, लास्य भगवती के नृत्य का नाम है और ताण्डव शंकर के नृत्य का नाम है। नवरस युक्त ताण्डव नृत्य को महा ताण्डव कहते हैं। नौ रस ये हैं— १. शृंगार, २. विभत्स, ३. रौद्र. ४. अद्भुत, ५. भयानक ६. वीर, ७. हास्य, ८. करुणा, ९. शान्त। ये नौरस साहित्य, कविता, नृत्य और गान विद्या के अंग हैं। नवात्मा शिवजी को कहते हैं, जिसकी व्याख्या ऊपर श्लोक ३४ के नीचे दी जा चुकी है।

आधार चक्र में प्राण के निरोध होने पर योगी नृत्य करने लगता है, कहा है

आधार वात रोधेन शरीरं कम्पते यदा,
आधारवात रोधेन योगी नृत्यति सर्वदा ॥ यो. शि. ६ २८)
आधारवात रोधेन विश्वं तत्रैव दृश्यते।
सृष्टिराधारमाधारमाधारे सर्व देवताः
आधारे सर्ववेदाश्चतस्मादाधारमाश्रयेत् ॥ (६, २९.)

अर्थः— आधार चक्र में जब प्राण शक्ति का निरोध होता है, तब शरीर कांपने लगता है योगी नृत्य करने लगता है, और वहां ही विश्व दिखने लगता है। आधार चक्र में जो सृष्टि का आधार है, सब देवता, सब वेद रहते हैं। इसलिये आधार चक्र का आश्रय लेना चाहिये।

समया देवी का नाम मूलाधार और स्वाधिष्ठान चक्रों के ध्यान में मिलता है, अन्य चक्रों के ध्यान में नहीं, इससे यह प्रतीत

होता है कि शंकर भगवत्पाद ने इन दोनों चक्रों में विशेष रूप से समयाचार की ओर लक्ष्य कराया है, क्योंकि उनका ध्यान कौल मत वालों को ही अभिष्ट है। समयाचार वालों को ऊपर के चक्रों पर विशेष ध्यान् देना चाहिये, मूलाधार और स्वाधिष्ठान चक्रों पर नहीं। इसका कारण हम अन्यत्र भी कह आये हैं। देखें श्लोक ९। स्वाधिष्ठान चक्र के वेध से वीर्यपात इत्यादि की क्रियायें होने की सम्भावना है, और ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम के साधकों का उन क्रियाओं से पतन होने की आशंका है, इसलिये वेध क्रम को भी इसी प्रकार बताया गया है कि स्वाधिष्ठान चक्र को नहीं छोडा जाता। यह स्मरण रहे कि ऊपर के अनाहत् अथवा आज्ञा चक्र का पूर्ण वेध होने पर नीचे के चक्रों का भी वेध स्वयं हो जाता है। इसलिये काम वासना की दीप्ति से रक्षा करने के लिये अनाहत् चक्र और आज्ञा चक्रों का अथवा नादानु-सन्धान का आश्रय लेना श्रेयस्कर है। हृदय चक्र में दहर विद्या, आज्ञा चक्र में शांभवी विद्या और नाद श्रवण तीनों के साधन शुद्ध और ऊंचे हैं। एक शांभवी मुद्रा के साधन से ऊर्द्ध्वरेतस् की सिद्धि के साथ २ खेचरत्व की सिद्धि हो जाती है। फिर बज्रौली क्रिया की झंझट वृथा मोल लेकर पथभ्रष्ट होने की संभावना का क्यों आवाहन किया जाय।

पृथिवी तत्व की ६४ किरणें आधी २ ताण्डवनटेश्वर और लास्य परा समया देवी से उद्भूत समझनी चाहियें।

स्थान है। यह अन्तः विश्रान्ति का एक कमनीय आकलन है। इन भेदों के पहले की परावाक् की विश्रान्ति निजानन्दमयी होती है और स्वसत्ता के सन्दर्भ में ही पुलकित होती है।

प्राणोदय—प्राक् संवित् प्राणे परिणता[2] के अनुसार संवित् स्वप्रमातृ-संमित आनन्द से बाहर विलक्षण दशाविशेष के रूप में प्रमाणभूत प्राण रूप में ज्यों ही परिणत हुई, उसी समय आन्तरिकता, बाह्यस्पन्दन में स्फुरित हो उठी। प्राण के उदय की आध्यात्मिक कल्पना या घटना बाह्य-विश्रान्ति की भावना का मूल उत्स है।

अपानोदय—इसके बाद ही बाह्य का विकास अनवरत चलता हुआ प्राण से अपान तक पहुँचा। एक तरह से प्राण का अधः प्रवाह ही अपान है। प्राण को यदि सूर्य कहें, तो अपान चन्द्र है। प्राण यदि प्रमाण है, तो अपान प्रमेय है। यह प्रमेयोदय है। आज्ञा और मूलाधार चक्रों के अन्तर्गत स्वाधिष्ठान, मणिपूर और अनाहत की सीमा में इस अपान चन्द्र को पूरक क्रम से भर कर रोक लेना प्राणायाम प्रक्रिया में कुम्भक व्यापार कहलाता है।

समानोदय—कुम्भक के सध जाने पर साधक का शरीर भार हीन हो जाता है। वह 'स्व' से ऊपर उठकर सार्वात्म्य की संवेदनात्मकता में प्रवेश पा जाता है। लगता है कि, सारा प्रमेयरूप जगत् उसकी परम प्रमातृता में समाहित हो गया है। उसे अब किसी की अपेक्षा नहीं होती, कोई आकाङ्क्षा नहीं होती। अन्य निराकाङ्काक्ष अवस्था में परमानन्दसन्दोह की उपलब्धि साधक को होने लगती है।

अब विकास की गति आगे बढ़ जाती है। कुम्भक ही समान वायु के उदय का व्यापार है। समान वायु में जल, पृथ्वी और आकाश तत्त्वों पर अग्नि का विशिष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। ये अनेक प्रतिभासमान पदार्थ परस्पर संघट्टित से हो जाते हैं। प्राण की सीमा में समा जाते हैं। इनके इस संघट्टात्मक सामरस्य की अनुभूति का आधार 'समान' ही होता है। यह शरीरादि का पोषक वायु है।[2] समग्र मेय का स्वीकरण ही समान भूमि है।

---

१. तं० ५।८३-९४ २. अ० तं० ५ पृ० ३१० पं० ११

उदानोदय—समान के बाद उदानवह्नि का उदय होता है। इसका स्थान हृदय ही है। वह हृदय जो कदली दल संपुटाकार है।[1] जिसके पर्यन्तभाग में परमोपादेय पुष्पभाग परिशोभित है। उसी प्रकार उदान भूमि में साधक बाह्य शरीर तत्त्वसमूह का परित्याग कर आभ्यन्तर परिस्फुरित आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है।[2]

सोम, सूर्य और अग्नि का संघट्ट, प्राण, अपान और उदानका ही संघट्ट है।[3] उदान वह्नि के उदय हो जाने पर प्राण और अपान का जो संघट्ट समग्र मान और मेय का जो ओघ अथवा सामरस्य या प्रवाह अथवा सूर्य, सोम और अग्नि का पारस्परिक सम्मेलनात्मा सौभाग्य वैभव, उससे विभूतिमान् योगी मध्यम मार्ग से अर्थात् सुषुम्णा से ऊर्ध्व प्रवाह प्राप्त करने वाली उदान वह्नि के द्वारा समग्रता का ग्रास कर लेता है। प्राण, अपान-समान जन्य क्षोभ से अब वह विक्षुब्ध नहीं होता वरन् प्राणायाम की आतिशायिनी दशा का अनुसन्धान करता हुआ वह प्रमात्रंश में समाहित होने का विमर्श करता है और महानन्द नामक महार्चि में विश्रान्ति प्राप्त कर परा शान्ति का अनुभव करता है। भेद से स्फुरित मातृमान मेयादि रूपा उपाधियाँ वहाँ निरस्त हो जाती हैं।

व्यानोदय--उपाधियों के निरसन की इस निरुपाधि महादशा को व्यान नामक महाव्याप्ति के रूप से स्वीकार करते हैं। उसी महाव्याप्ति में व्यापकतापूर्वक आनयन के कारण इसे व्यान कहते हैं। क्षिति से कला पर्यन्त व्याप्ति होने के कारण भी यह व्यान है। माया शक्ति का सारा आवरण व्यापार यहाँ ध्वस्त हो जाता है। साधक विज्ञानाकलता का आकलन कर शुद्ध विद्या के क्षेत्र में प्रवेश का अधिकारी बन जाता है और वह सत् की सत्ता से ऊपर उठकर चित् के चर्वण को आनन्द प्राप्त करने लगता है।

एवं शून्यात्प्रभृति व्यानान्तं या एता विश्रान्तयः ता एव निजानन्दो, निरानन्दः, परानन्दो, ब्रह्मानन्दो, महानन्दः, चिदानन्दः इति षट् आनन्दभूमयः उपदिष्टाः यासामेकः अनुसन्धाता उदयास्तमय—विहीनः अन्तर्विश्रान्तिपरमार्थरूपो जगदानन्दः।

1. म० मं० पृ० ४९ पं० २३ का० १९ 2. तं० ५।२१-३३
3. तं० ५।२२ पृ० ३३२ पं० ९; ११-१२

इस प्रकार शून्य से व्यान तक की ये विश्रान्तियाँ ही 'निजानन्द' 'निरानन्द', 'परानन्द', ब्रह्मानन्द, महानन्द और चिदानन्द नामक छः आनन्द की भूमियाँ हैं। इनका एकमात्र अनुसन्धाता उदयास्त विहीन अन्तर्विश्रान्तिपरमार्थरूप जगदानन्द है।

शून्य में विश्रान्ति स्वप्रमात्रंश की विश्रान्ति को कहते हैं। शून्य विशुद्ध-प्रमातृ-पद का मूल विश्रामस्थल है। संविद् की और स्वात्म की सामरस्य भूमि है। इसी पुण्यभूमि पर उच्चिचारयिषा होती है। संविद् प्राण रूप में परिणत होती है और प्राण का परिस्पंद प्राणना वृत्ति का सृजन करता है। आन्तरिकता पुलकित हो उठती है और परिणामतः बाह्य का अभिषेक हो उठता है। प्राण की प्राणवत्ता का वैशिष्ट्य संविद् की सामान्य भूमि से अलग उल्लसित होने लगता है। पार्थक्य की परम्परा का प्रादुर्भाव हो जाता है और भेदवादिता की अनुभूति हो जाती है। सामान्य को इसी प्राथमिक आकलना की उत्स भूमि शून्य है। उसमें विश्रान्ति के आनन्द को शास्त्र की भाषा में निजानन्द कहते हैं। विशेष के प्रथम स्तर की बाह्य विश्रान्ति की अवस्था को निरानन्द कहते हैं। क्योंकि निज प्रमातृ संमत आनन्द से निष्क्रान्त दशा विशेष का यह पहला आनन्द होता है। इसमें प्राण का हृदय से किसी प्रकार बहिरौन्मुख्य व्यापार प्रारम्भ हो जाता है।

तीसरी भूमि अपान के उदय की है। यह दूसरा विशेष सृजन है। इसमें पर अर्थात् प्रमेयजन्य आनन्द की अनुभति होती है। इसलिए इसे परानन्द कहते हैं। प्रमाता की अपेक्षा इस दशा में प्रमेय का अत्यधिक विस्तार हो जाता है। उनका अर्थ ग्रहण होने लगता है। विषय ग्रहण ही पान है।

पान के अनन्तर जिस मनस्तोष या निराकांक्षता का अनुभव होता, उसी अर्थ में नञ् समास का 'अ' प्रयुक्त है। इस प्रकार निष्पन्न अपान शब्द पृथक् पृथक् विषय ग्रहण करने में होने वाले आनन्दों और उनकी निराकांक्षा से होने वाले द्विविध आनन्दों का प्रतीक है। यह परानन्द है। यह आप्यायन करता है। परिणामतः इसे चन्द्र कहते हैं। प्राण यदि सूर्य है, तो अपान सोम है क्योंकि द्वादशान्त से हृदय तक को पूरक क्रम से यह आप्यायित किया करता है।

प्राणायाम में कुम्भक का क्रम पूरक के बाद आता है। कुम्भक में क्षणभर के लिये अनन्त प्रतिभासमान मेयों का अन्योन्य मेलन होता है। यहाँ सद्यः समानरूप से समग्र मेयता की स्वीकृति होती है। इस लिये इस वायु को समान कहते हैं। इस सद्यः विश्रान्ति से उत्पन्न परानन्द से भी उत्तम आनन्द को ब्रह्मानन्द कहते हैं क्योंकि इसमें आनन्द का उपबृंहण होता रहता है।

प्राण और अपान के इस समान प्रवाह में श्वास प्रश्वासों का सहस्राधिक उच्छलन जीव जगत् को जीवन प्रदान करता रहता है। किन्तु योगी इन श्वास स्पन्दनों को जीत लेता है और उसी समय मध्यम मार्ग का अनुयायी बन जाता है। सुषुम्ना का आम्नाय उसे मिल जाता है और वह उसी मार्ग से प्राणापान-समान जन्य क्षोभ का क्षय कर ऊर्ध्वगमन करता है। इस ऊर्ध्वगति में उसे प्राण रूप प्रमाण और अपानादि प्रमेयांशों के आनन्दों को भी अतिक्रान्त करने वाले महानन्द की उपलब्धि होती है। आनन्द का यह उत्सव उदान वायु के उत्कर्ष का परिणाम है। ऊर्ध्वगति-शील प्राण ही उदान है। वह एक चिरन्तन अर्चिका चमत्कार है। उसी प्रकाशराशि में प्रवेश प्राप्त कर योगी महानन्द की महानुभूति प्राप्त करता है।

महानन्द में विश्रान्ति प्राप्त कर योगी माता-मान और मेयात्मक समस्त उपाधियों की भेदवादिता का भेदन कर उससे ऊपर उठ जाता है। वहाँ वह धरा से माया के महा विस्तार तक की महव्याप्ति में स्वयं व्याप्त हो जाता है। उस समय चित् की चिन्मय भूमि में प्रवेश हो जाता है। अध्वा का अशुद्ध आवरण भग्न हो जाता है। वहाँ योगी जिस आनन्द का अनुभव करता है, उसे चिदानन्द कहते हैं। यह व्याप्ति के द्वारा सर्वत्र आनयन की प्रक्रिया है और व्यानवह्नि का वैभव है। सर्वमयत्व के बावजूद सर्वोत्तीर्णता के कारण चिन्मय भूमि में योगी संप्रतिष्ठित हो जाता है।

यह छः आनन्द की भूमियाँ पूज्य गुरुवर्यों द्वारा शतशः उपदिष्ट हैं। इनका सतत अनुसन्धान योगी करता है। यह साधना की उच्च भूमियाँ है। वस्तुतः इनका एक मात्र अनुसंधाता तो एक ही है। वही परप्रमाता है। प्रकाश है। प्रकाश का विमर्श है। वहाँ भौतिक विश्व की भाँति उदय और अस्त की

कल्पना नहीं, वृत्तियों की उच्छलता नहीं, पार्थक्य की पृथुलता नहीं, बाह्य का ऊहापोह नहीं, वरन् अन्तर का उजास है, चिदैक्य की परमार्थ सत्ता है और छहों आनन्दों का जो आनन्दात्मक विश्व है—उसमें पराविश्रान्ति परमानन्द है, उसमें ही आनन्द परम्परा का सर्वातिशायी सर्वविस्फार है। तन्त्रालोक और तन्त्रसार के रचयिता महामाहेश्वराचार्य आचार्य अभिनव के पूज्य गुरुवर्य की वाणी का यह वरेण्य वरदान है।[1]

तत् एतासु उच्चारभूमिषु प्रत्येकं द्व्यादिशः सर्वशो वा विश्राम्य अन्यत् तद्देह-प्राणादिव्यतिरिक्त-विश्रान्ति-तत्त्वम् आसादयति। तदेव सृष्टि-संहारबीजोच्चारणरहस्यम् अनुसंदधत् विकल्पं संस्कुर्वीत, आसु च विश्रान्तिषु प्रत्येकं पञ्च अवस्था भवन्ति प्रवेश-तारतम्यात्।

उच्चार की इन भूमियों में प्रत्येक दो आदि क्रम से या सर्वात्म रूप से विश्राम करके देह, प्राण आदि के व्यतिरिक्त विश्रान्ति तत्त्व को प्राप्त करता है। यही सृष्टि और संहार बीजों के उच्चार का रहस्य है। इसका अनुसंधान करते हुए विकल्प का संस्कार करना चाहिये। इन विश्रान्तियों की प्रत्येक की प्रवेश तारतम्य से पाँच अवस्थायें होती हैं।

तात्त्विक विश्रान्ति का उच्चदार्शनिक दृष्टि से बड़ा महत्त्व है। विश्रान्ति की दशा में स्तरीय लय हो जाता है। शून्य से व्यान दशा की विश्रान्तियों को क्रमशः 'निरानन्द', 'परानन्द', ब्रह्मानन्द', महानन्द चिदानन्द और जगदानन्द कहते हैं। ये भूमियाँ प्रथमतः उपदिष्ट हैं। यही प्राण उच्चार भूमियाँ हैं, जहाँ साधक की परा विश्रान्ति होती है। इनमें प्रत्येक में, एक से दूसरी भूमि में अथवा सार्वात्म्य को उच्चभूमिका में उक्त छहों के सामरस्य में विश्रान्ति का आनन्द लेते हुए साधक देह, प्राण और बुद्धि के अतिरिक्त एक विलक्षण विश्रान्ति तत्त्व की उपलब्धि करता है। वस्तुतः इस दशा को इच्छा, ज्ञान और क्रिया की समत्व भूमि कहना चाहिए।[2] यह क्रम ही षट्चक्र भेदन का गुप्त रहस्य है।

मन्त्रव्याप्ति का दूसरा ही क्रम है। जैसे दण्ड से आहत सर्प अपनी

१. तं० ५।४४-५१ २. तं० ५।५६

कुण्डली छोड़ कर दण्ड के समान बन जाता है, उसी प्रकार कुण्डलिनी शक्ति भी परमेश्वर प्रेरित अथवा गुरु से प्रतिबोधित होकर ऊर्ध्वमुखीन होकर जागृत हो उठती है। इसके जागृत होते ही आनन्द में विश्रान्ति हो जाती है। कभी अकेले प्राण में कभी प्राणापान में विश्रान्ति हो सकती है। साधक प्राणापान की समत्व दशा में—मध्यधाम में—विषुवद्धाम में प्रवेश कर ,चतुष्किका (ब्रह्मरन्ध्र के अधोभाग में वर्त्तमान चिन्तामणि नामक चतुष्पथ रूप आधार) के अवलम्बन से धन्य हो उठता है। कभी भ्रूमध्य में विद्यमान विद्याकमल नामक अम्बुज रूप आधार को ग्रहण कर वहीं परमानन्द की उपलब्धि करता है। कभी लम्बिका सौध में विश्रान्ति प्राप्त कर आनन्दित होता है। कभी इडा, पिंगला और सुषुम्ना के सामरस्य से निर्मित त्रिशूल भूमि पर आरोहण कर अपने भौतिक अस्तित्व का उपबृंहण कर भैरवीभाव में अनुप्रवेश कर जाता है। उक्त सभी परा-विश्रान्ति के क्षण हैं। उच्चारभूमियों के सौध हैं। इसी भौतिकता की भूमि में शिवता के सामरस्य-सुधासार-सौरभ का साम्राज्य परमानन्द सन्दोह सर्वस्व आराध्य के अनुग्रह से प्राप्त हो जाता है। इच्छा, क्रिया और ज्ञान के समत्व से निष्पन्न भैरवीय भाव प्रकर्ष से रमण करता हुआ विन्दु की वैन्दवी और नाद की आह्लादमयी आनन्दवादिता में विभोर हो उठता है। समना की शाश्वतविकस्वर आनन्द सम्पदा के अमृत से आप्यायित होता रहता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि, साधना के धनी वे लोग सचमुच धन्य हैं, जिन्हें आनन्दवादिता के सौध के आरोह के लिये उपाय रूप सोपानपरम्परा की प्राप्ति हो जाती है। इसका अनुसन्धान करना भी बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है।[१] सृष्टिस्थिति और संहार के बीज का रहस्य उन्हें हस्तामलकवत् ज्ञात हो जाता है। विकास संकोचमयी सृजन संहारात्मकता के आनन्द की अनुभूति उसे इसी उच्चारण क्रम में प्राप्त हो जाती है। उच्चार की इन चिन्तन भूमियों में विकल्पों का संस्कार होता रहता है।

इन विश्रान्तियों और आनन्द की क्रमशः ५ अवस्थायें होती हैं। यह क्रमिकता प्रवेश के तारतम्य से ही होती हैं। इन सब में विश्रान्ति और इनमें अनुप्रवेश गुरुवर्य प्रभु की अकारण कृपा से सम्भव है। भाग्यशाली

१. तं० ५।६०. १३२

साधक परमशिव के परमानुग्रह से अनुगृहीत होता है और तन्मयी भाव की प्राप्ति कर सद्यः भैरवीय महाभावरूप परामुक्ति प्राप्त कर लेता है।[1]

तत्र प्रागानन्दः पूर्णतांशस्पर्शात्, तत उद्भवः क्षणं निःशरीरतायां रूढेः, ततः कम्पः स्वबलाक्रान्तौ देहतादात्म्यशैथिल्यात्, ततो निद्रा बहिर्मुखत्वविलयात्। इत्थम् अनात्मनि आत्मभावे लीने स्वात्मनः सर्वमयत्वात् आत्मनि अनात्मभावो विलीयते इति, अतो घूर्णिः महाव्याप्त्युदयात्। ता एता जाग्रदादिभूमयः तुर्यातीतान्ताः। एताश्च भूमयः त्रिकोणकन्दहृत्तालूर्ध्वकुण्डलिनीचक्रप्रवेशे भवन्ति।

वहाँ [मंत्रव्याप्ति के अनुसार उच्चारभूमि में प्रवेश करते समय] पूर्णताके आंशिक संस्पर्श के कारण 'प्रागानन्द' [प्राप्त होता है]। उससे आगे 'उद्भव' [की स्थिति होती है] क्योंकि निःशरीर की रूढि [हो जाती है]। उसके बाद स्वात्म स्वातन्त्र्य में अनुप्रवेश की दशा में देहतादात्म्य शिथिल हो जाता है। फलस्वरूप 'कम्प' होता है। तदनन्तर बहिरौन्मुख्य के विलय हो जाने से 'निद्रा' आ जाती है। इस प्रकार अनात्म पदार्थों में [अज्ञान के कारण उत्पन्न आत्मभाव के नष्ट हो जाने पर स्वात्म की सर्वमयता के कारण आत्मा में अनात्मभाव विलीन हो जाता है। इस महादशा में 'महाव्याप्ति' का उदय होता है] इसे 'घूर्णि' कहते हैं। ये सभी जाग्रत आदि भूमियाँ तुर्यातीतान्त हैं और त्रिकोण, कन्द, हृदय, तालु और ऊर्ध्व कुण्डलिनीचक्र में प्रवेश के समय होती हैं।

परमशिव सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व और सर्वव्यापकत्व की पाँच शक्तियों से शाश्वत समन्वित है। जीव कंचुकांचित कलङ्कों से कीलित होने के कारण किंचित्कर्तृत्व, अल्पज्ञत्व और अपूर्णत्व से संचालित हो जाता है। उसकी नित्यता छिन जाती है और व्यापकता विनष्ट हो जाती है। वह पशु बन जाता है। जब गुरुवर्य की अकारण कृपा से, परा-

१. तं० ५।९०-९६

त्पर के परानुग्रह से, उसकी प्रवृत्ति साधना की दिशा में उन्मुख धावित होती है, तो सर्वप्रथम उसे परमात्मा की पूर्णता का आंशिक संस्पर्श होने लगता है। उस समय साधक की अपूर्णता पावन होने लगती है। उस प्राथमिक आनन्द को 'प्रागानन्द' कहते हैं।

अब तक तो साधक शरीर को ही आत्मा मानता आया था। अब वह कुछ ऊँचाई पर चढ़ने लगता है। सोचता है—यह शरीर मैं नहीं हूँ। इस संस्कृत अनुसंधान के कारण वह ऊपर उठता है। यही 'उद्भव' दशा है। इसमें—निःशरीरता की रूढि हो जाती है। सशरीरता की कुण्ठा से उन्मुक्त होकर अशरीरता की असीमता में वह आरोहण करता है। आरोहण का निश्चय ही रूढ़ि है।

स्वात्मशक्ति का विस्मरण महती विनष्टि[1] है। क्रमशः पदे-पदे जागरूता से गतिशील होना आक्रान्ति कहलाता है। स्वात्मसत्ता का स्मरण और उसकी अविस्मरणीय शक्तिमत्ता में—बलवत्ता में प्रवेश साधक के सौभाग्य का विषय है। वहाँ पहुँचने पर देहतादात्म्य शिथिल हो जाता है। एक झूठा सपना टूटता है और इस देह में ही देहात्मवादी वृत्तियों का जो अम्बार हो गया होता है, वह चकनाचूर हो जाता है। इस अवस्था में 'कम्प' होता है। वृत्तियाँ काँप-काँप उठती हैं—इन ऊँचे विचारों के कारण इस लिये इस दशा को 'कम्प' कहते हैं।

इसके बाद बाहरी आकर्षण समाप्त होने लगते हैं। व्यक्ति, अन्तर्मुख होने लगता है। बाह्य वृत्तियों से उपराम हो जाता है। परमतत्त्व का सांमुख्य उसे आनन्दविभोर कर देता है। और एक अलौकिक अद्भुत नींद आ जाती है। यही निद्रा है।

उपर्युक्त कथनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि, इस स्थिति में आते-आते स्वात्मसत्ता का संकोच विगलित हो जाता है और स्वात्मप्रसार हो जाता है। अब तक अनात्म पदार्थों में आत्मभाव का आग्रह था; वह मिट गया और 'स्व' ही 'सर्व' बन गया। 'स्' विसर्ग और सृष्टि सीत्कार का प्रतीक है। 'व' अनुत्तर और उन्मेष का अमृत है। इसमें ज्ञान की गतिशीलता की प्रतीक 'ऋ' 'अर्' गुण बन कर मध्य में समाहित हो उठी। इन अक्षर

---

१. उपनिषद् केन ।१५

सन्दर्भों के अनुसन्धान से उत्पन्न 'स्वरूप सर्व' का साक्षात्कार हो जाता है और साधक संकुचित 'स्व' से ऊपर उठ कर सर्वमयता की महानुभति से धन्य हो उठता है। इससे आत्मतत्त्व में अनात्मभाव का विलयन हो जाता है। सार्वात्म्य की संविद् सत्ता में आरूढ़ होकर वह घूर्णन करता है। इस लिये इस विकसित अवस्था को 'घूर्णि' कहते हैं। इसे महाव्याप्ति की उदयावस्था का परिणाम भी कहते हैं। इसमें दश अवस्थाओं का व्युदास हो जाता है।[1] विश्रान्ति की ये ५ अवस्थायें हैं। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तुरीय और तुर्यातीत रूप वे पाँच अवस्थायें भी इसी उद्बोधन क्रम की प्रतीक है।[2] किन्तु इन्हें क्रमशः प्रागानन्द, कम्प, उद्भव, निद्रा और घूर्णि की शास्त्रीय भाषा में परिभाषित करते हैं।[3] प्रागानन्द योगिनी वक्त्र रूप त्रिकोण, उद्भव—कन्द, कम्प—हृदय, तालु-निद्रा और घूर्णि ऊर्ध्व कुण्डलिनी को कहते हैं[4] वास्तव में आणव समावेश ५० प्रकार का होता है। ५ प्रकार का भूतसमावेश, तत्त्वसमावेश ३० प्रकार का, आत्म समावेश तीन प्रकार का मन्त्र समावेश दश प्रकार का, और शक्ति समावेश दो प्रकार का होता है। ये भूत, तत्त्व, आत्म, मन्त्रेश और शक्ति समावेश हैं। इन्हें आणव समावेश कहते हैं। यही उच्चार, करण, ध्यान, वर्ण और स्थान भेद से ५ प्रकार का होता है। यह प्रत्येक समावेश जाग्रत् स्वप्नादि भेद से ५ प्रकार का होता है। ये सभी साधकों के लिये विशेषतः ध्यातव्य हैं। जाग्रत् पिंडस्थ, स्वप्न (द्विसंज्ञ) पदस्थ और व्याप्ति, रूपस्थ महाव्याप्ति, तुर्य रूपातीत प्रचय, तथा तुर्यातीत को महाव्याप्ति कहते हैं।[5] यह सब परिभाषा भेद से एक पदार्थ के ही प्रतिपादन की शास्त्रीय शैली है।

यह सारे के सारे समावेश त्रिकोण और ऊर्ध्व कुण्डलिनी के मध्य में ही अवस्थित हैं या इससे ही सम्बन्धित हैं। प्रत्येक प्रतिनियतचक्र में प्रवेश से विशेष-विशेष प्रकार के अलौकिक आनन्दों की उपलब्धि होती है। ठीक उसी प्रकार जैसे विषय सन्निकर्ष से इन्द्रियजन्य विशिष्ट आनन्दों की उपलब्धि होती है। आँख से रूप तन्मात्रा का ही ग्रहण सम्भव है। विप्रकर्ष संवलित गन्ध का नहीं। यह सब कुछ संविद् सन्निकर्ष के अनुसन्धान से

१. तं० ५-९४ २. मा० वि० ८-२६
३. तं० ५।१०१-१०८ ४. तं० ५।१११ मा० ११।३५
५. मा० वि० २।१८-२५-४२

साधकों को स्वतः, शास्त्रतः या गुरुदेव के महदनुग्रह से प्राप्त होता रहता है। यही उच्चार विश्रान्ति का रहस्य है।

एवम् उच्चारविश्रान्तौ यत् परं स्पन्दनं गलिताशेषवेद्यं, यच्च उन्मिषद्वेद्यं, यच्च उन्मिषितवेद्यं; तदेव लिङ्गत्रयम् इति वक्ष्यामः स्वावसरे। परं चात्र लिङ्गं योगिनीहृदयम्। तत्र मुख्या स्पन्दनरूपता। संकोचविकासात्मतया यामलरूपतोदयेन विसर्गकलाविश्रान्तिलाभात् इत्यलम्। अप्रकाशः अत्र अनुप्रवेशः।

इस उच्चार विश्रान्ति में तीन लिङ्ग यथावसर वक्ष्यमाण हैं। प्रथम सर्वोत्कृष्ट स्पन्दन गलिताशेषवेद्य, दूसरा उन्मिषद्वेद्य और तीसरा उन्मिषित वेद्य स्पन्दन है। यहाँ [यह ध्यातव्य है कि] योगिनी हृदय को ही परम लिङ्ग कहते हैं। इसमें मुख्य स्पन्दनरूपता का क्रम है। संकोच विकासात्मकता के कारण यामलरूपता उदित होती है। विसर्गकला विश्रान्ति के लाभ से [संवलित] है। यहाँ अनुप्रवेश अप्रकाशरूप है।

उच्चार विश्रान्ति की व्याख्या ऊपर की गयी है। इसमें तीन प्रकार के लिङ्गों का स्पन्दन होता है। स्पन्दन का तात्पर्य अहंपरामर्शमय संविद् विश्रान्ति है। संविद् के इसी अहमात्मक विमर्शन को स्पन्द, हृदय, योगिनी-हृदय, अव्यक्तलिङ्ग आदि शब्दों से व्यपदिष्ट करते हैं। इस अहमात्मक संविद्विमर्श की तीन स्थितियाँ होती हैं। पहली स्थिति में विभाग और पार्थक्य की कल्पना नहीं रहती। अविभाग की अलौकिक अवस्था का क्रमनीय निदर्शन यह स्पन्दन होता है। उसमें वेद्य की संवेदना नहीं होती। सम्पूर्णतया अहमात्मक परामर्श ही वहाँ होता है। उस अवस्था को शिव शक्ति की सामरस्य दशा कह सकते हैं। विगलित-वेद्यान्तर चितिचर्वण-चमत्कृतिचारु अहमात्मक विमर्श रूप यह उच्चार-विश्रान्ति-सम्भूत-स्पन्दन योगियों एवम् साधकों के लिये महत्त्वपूर्ण है। यही पर-स्पन्दन है। यहाँ यह उल्लेख आवश्यक है कि, यह दशा भी अनुत्तर दशा नहीं है। अनुत्तर ही इन तीन अवस्थाओं में स्पन्दित होता है।[१]

१. त० ५।१२०

दूसरी श्रेणी का स्पन्दन, वह दशा है, जिसमें वेद्य वर्ग का उन्मेष अपनी प्रारम्भिक अवस्था में रहता है। इस अनुभूति की परम्परा का श्री गणेश होता है कि, यह अमुक पदार्थ है—यह अमुक वस्तु है, यह अमुक स्थान और व्यक्ति है। पार्थक्य की भेद प्रथा का अंकुरण इस दशा की विशिष्टता है। तदनन्तर भेद भूधर अपने भैरव सार्वभौम आयाम में विश्व-चेतना को आत्मसात् करने का उपक्रम कर लेता है। समग्र वेद्य वर्ग आक-र्षण का केन्द्र बन कर सर्वात्मा को आकृष्ट करता रहता है।

यही तीन लिङ्ग हैं। लय होने और पुनः आ जाने के कारण अथवा लीन रहस्य को अवगम कराने के कारण इन स्पन्दनों को लिङ्ग कहते है।[1] यह विश्व अविभागत्वेन अवस्थित है फिर भी अन्तःस्थ रहता हुआ भी गम्य है। यह परा संविद् का विस्मयकारी प्रभाव है कि, विश्व उसी से उन्मिषित होता है और उसी में लीन हो जाता है। इन तीनों स्पन्दनों को क्रमशः अव्यक्त, व्यक्ताव्यक्त और व्यक्तलिङ्ग भी कहते हैं। इनमें सर्वोत्तम अव्यक्तलिङ्ग है। यह अहं परामर्शमय नरशक्ति शिवात्मक संवित्स्पन्दनात्मक योगिनी हृदय नामक लिङ्ग है। इस स्पन्दन की दशा में संकोच और विकास की यामलरूपता की विसर्गकला में विश्रान्ति होती है।

देह आदि में आत्माभिमान रहने पर भी परा संवित्-समावेश, दूषित नहीं होता वरन् बहिः उल्लसित इदन्ता से सम्पृक्त होकर भी मन्त्रवीर्यात्मक इदम् अहम् की प्रतीति से संचलित होता हुआ पुलकित रहता है। यह परापर दशा है—सद्विद्या की यही अनुभूति है। यहाँ अहन्ता और इदन्ता का सामानाधिकरण्य ही उल्लसित रहता है। शुद्ध अहं परामर्श का अभाव हो जाता है। नररूपता और शक्तिरूपता का यहाँ समन्वय होता है। इसी लिये इसे परापर व्यक्ताव्यक्त लिङ्ग कहते हैं। किन्तु इससे भी आगे बढ़ कर जब पराद्वय शिवोहं परामर्श गौण हो जाता है और इदन्ता ही प्रधान हो जाती है, तब केवल पुंस्तत्त्व जड़ता से आच्छादित हो जाता है। ऊपर परतत्त्व की परिणामातिशयित दशा और नीचे पुंस्तत्त्व की जड़ता दोनों में मन्त्र का विनियोजन नहीं होता है। यह मध्य दशा में ही फलप्रद होता है। व्यक्तलिङ्गों से सिद्धि का उपक्रम, व्यक्ताव्यक्त से सिद्धि का सद्भाव, अव्यक्त से मोक्ष और अनुत्तर निर्विचार निर्विकार परमानन्द—

1. तं० ५।११३

यही वस्तु स्थिति है। इस विश्लेषण में संकोच विकास का पूरा इतिहास प्रतिबिम्बित है। वस्तुतः अहं परामर्शात्मक स्पन्दन एक ही है। उसकी यह त्रैध भेदवादिता उपचारात्मक है; आनन्द धारा के उच्छलन का उद्भावन है और विसर्ग विश्रान्ति की करवट है।

इसमें अनुप्रवेश अर्थात् परतत्त्व की चित्प्राधान्य और विमर्श प्राधान्य-संवलित अवस्थाओं का आकलन गुरु कृपा पर ही निर्भर है। जब भैरव-मुद्रानुप्रवेशात्मक निर्विशेषतत्त्व की अनुभूति हो जाती है, तो उसके चर्वण चमत्कार की चिदानन्दात्मकता प्रकाश की सामान्य परिभाषा से परिभाषित नहीं होती है। यही अप्रकाश अनुप्रवेश का तात्पर्य है।

पूर्वं स्वबोधे तदनुप्रमेये,
विश्रम्य, मेयं परिपूरयेत।
पूर्णेऽत्र विश्राम्यति मातृमेय-
विभागमाश्वेव स संहरेत ॥
व्याप्त्याथ विश्राम्यति ता इमा स्युः
शून्येन साकं षडुपाय-भूम्यः।
प्राणादयो व्याननपश्चिमास्त-
ल्लीनश्च जाग्रत्प्रभृति-प्रपञ्चः॥
अभ्यासनिष्ठोऽत्र तु सृष्टि-संहृद्-
विमर्शधामन्यचिरेण रोहेत।
इत्यान्तरश्लोकाः । इति उच्चारणम् ॥

पहले इच्छारूप स्वात्मबोध परामर्श[1] में, फिर प्रमेय में विश्रान्ति लाभकर मेय को परिपूरित करके, पूर्ण परतत्त्व की विश्रान्ति दशा में माता, मान और मेय का पार्थक्य शीघ्र ही समाप्त करे।

व्याप्ति में अवस्थान के द्वारा विश्रान्ति लाभ होने पर प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान और शून्य ये छः उच्चार भूमियाँ होती हैं। इसी

१. तं० ११४६

प्रकार जाग्रत्, स्वप्न सुषुप्ति, तुरीय और तुर्यातीत रूप समस्त स्पन्दन प्रपञ्च भी ज्ञातव्य है।[१] जो साधक सतत अभ्यास में लगा रहता है, वह सृष्टि, संहार, तिरोधान, अनुग्रहादि भूमियों में निश्चय ही आरोहण का अधिकारी बन जाता है। ये सम्बन्धित श्लोक हैं। इस प्रकार उच्चारण की प्रक्रिया का आकलन सम्पन्न होता है।

पाँचवें आह्निक में अब तक जो विश्लेषण किया गया है, इन श्लोकों में उन्हीं तथ्यों का पद्यात्मक आकलन है। पहले प्रत्यभिज्ञा का उपक्रम, फिर अहंता और इदन्ता का बोध, फिर इदम्-अहम् की अनुभूति, पुनः इदन्ता में से उत्तीर्ण अहंता की प्रबल अनुभूति और संसार में रहते हुए भी माता, मान और मेय बुद्धि की पूर्णतः प्रक्षीणता—यह योगी की तत्त्वचिति-विनियोजन प्रक्रिया का ऊर्ध्वारोहण क्रम है।

इसी प्रकार प्राण आदि पञ्च उच्चार, शून्य (अनुत्तर) को मिला कर छः प्रकार के होते हैं।[२] जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुर्यातीत रूप पाँच अवस्थाओं के प्रपञ्च भी उसी परम को ही परिभाषित करते हैं। निरन्तर अनुसन्धान संलग्न अनुसंधाता योगी सृष्टिस्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह की कलना से कलित होता है और उस परमतत्त्व का अधिगम कर लेता है। यह सारा रहस्योद्भावन उसी परमतत्त्व की प्राप्ति की प्रक्रिया का प्रतीक है। यहाँ तक ग्रन्थकार ने उच्चार विधि का विश्लेषण किया है।

अथ सूक्ष्मप्राणात्मा वर्णः

अस्मिन् एव उच्चारे स्फुरन् अव्यक्तानुकृतिप्रायो ध्वनिः वर्णः। तस्य सृष्टिसंहार बीजे मुख्यं रूपं, तदभ्यासात् परसंवित्तिलाभः। तथाहि—कादौ मान्ते साच्के अनच्के वा अन्तरुच्चारिते स्मृते वा समाविशिष्टः संवित्स्पन्दस्पर्शः समयानपेक्षित्वात् परिपूर्णः। समयापेक्षिणोऽपि शब्दाः तदर्थभावका मनोराज्यादिवत्, अनुत्तर संवित्स्पर्शात् एकीकृतहृत्कण्ठोष्ठो द्वादशान्तद्वयम् हृदयं च एकीकुर्यात् इतिवर्णरहस्यम्।

१. तं० ५।४९
२. तं० ५।५४

सूक्ष्म प्राणात्मा वर्ण के इस प्रकरण में उसका रहस्य [वर्णित] है इसी उच्चार में स्फुरित अव्यक्तानुकृति प्राय ध्वनिको वर्ण कहते हैं। वर्ण के दो मुख्य रूप हैं १—सृष्टि बीज और २-संहार बीज। इनके अभ्याससे परा संविद् में अनुप्रवेशका लाभ होता है। उदाहरण रूप से 'क' से 'म' तकके स्वर सहित या स्वररहित ध्वनियों के आन्तरिक उच्चार की स्थिति में या उनकी स्मृति दशा मे समानवैशिष्ट्य सवलित संवित् शक्तिक स्पन्दनका स्पर्श, किसी 'समय' की अपेक्षा नहीं करता। [अतएव उसदशा में वह] परिपूर्ण है। समयसापेक्ष शब्द मनोराज्य को तृप्त करते हैं। तथा इच्छित अर्थ के भावक होते ही हैं। अनुत्तर संवित् स्पर्श से एकीकृत हृदय कंठ ओष्ठ आदि स्थानों का रहस्य-प्राप्त [साधक] द्वादशान्त-द्वय और हृदय दोनों की एकरूपता का आकलन करता है। यही वर्ण का रहस्य है।

पाणिनीय शिक्षा के अनुसार बुद्धि और मन की अर्थानुसारी आत्म-विवक्षा ही प्राणस्पन्द की हेतु बन कर ५ प्रकार के वर्णों की उत्पत्ति करती है।[१] प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार भी प्राणोच्चार में स्फुरित अव्यक्तानु-कृतिमयी ध्वनि को वर्ण कहते हैं।[२] अनाहत रूप अव्यक्तप्राय नाद, वर्णो-त्पत्ति के हेतु के कारण वर्ण कहलाता है।[३] बैखरी [स्थूल वाणी] मध्यमा से, मध्यमा पश्यन्ती से और पश्यन्ती परावाक् से निष्यन्दमान विद्या-धारुणी की विभूति है। इससे भी सूक्ष्म परमेश्वर के स्वरूप में अनुप्रवेश करने वाली, मयूराण्डरसन्याय के अनुसार उक्त वाक्त्रय-शबल स्वभावा परावाक्[४] है। परमशिवरूप परप्रकाश का विमर्श ही परावाक् है। इसे नाद भी कहते हैं क्योंकि समस्त विश्व की प्राणकला के रूप में यही परिस्फुरित होती है। नदति क्रिया का यही भाव है।[५] नाद ही ध्वनि है। यह अव्यक्त पर-तत्त्व की अनुकृति के समान ही भासित है। यही नाद वस्तुतः वर्ण है। वर्ण शब्दराशिरूप परम भैरव के प्रतीक हैं। यद्यपि वर्ण ५ प्रकार के [ज्ञानसिद्ध, मन्त्रसिद्ध, मेलापकसिद्ध, शाक्तसिद्ध और शाम्भवसिद्ध] होते हैं।[६] किन्तु इनका मुख्यरूप सृष्टिबीज और संहारबीज ही हैं।

१. पा० शिक्षा ६।१०

२. तं० ५।१३१-१३२ ३. त० ६।२१६

४. म० मं० ५० ५. तं० ३।११३ ६. मं० म० ३८ पृ० ९२

सृष्टि और संहार[१] बीज से तात्पर्य वर्ण की उस शक्तिमत्ता से है, जिसके द्वारा विसर्ग सुख [विकास] और विश्रान्ति सुख [संकोच] की उपलब्धि होती है। निस्तरङ्ग महोदधि की तरह शान्त पूर्णप्रकाश संकोच और विकास से रहित होता है। किन्तु वही महोदधि जब उत्ताल तरङ्गों की अपनी महोच्छलता से, बलवती बृंहित लेलिहान लहरों से लहराने लगता है, तो उसका रूप ही बदल जाता है। इसी प्रकार परप्रकाश की विमर्शमयी मधुस्रवा मञ्जुल महोर्मियों की स्पन्दनशीलता का परमानन्द सन्दोह संवलित महाप्रवाह जब सृष्टि के रूप में उच्छलित होता हुआ वह निकलता है, तब भेद प्रथा का प्रौढ़ पार्थक्य भव्यतया भासमान हो जाता है। यह परमेश्वर की स्वातंत्र्य शक्ति का ही विशद विलास है। विश्वका यह विपुल विस्फार और शश्वत् सुनियोजित [संविद् विलीनता के उत्पादक] संहार दोनों का बीज उसी महाप्रकाश में विद्यमान हैं। शास्त्र की भाषा में मातृका शक्ति के माध्यम से इसे इस प्रकार समझा जा सकता है। 'अ' अनुत्तर परमशिव, 'इ' परमशिव की विमर्शमयी इच्छा, और 'उ' विश्व का विसर्गात्मक उन्मेष हैं। यह तीनों वर्ण सूर्यरूप हैं। यहां मूल ह्रस्व स्वर दीर्घ होकर क्रमशः आनन्द, ईशितृ और ऊर्मिके प्रतीक बन कर विसर्गबीज के विस्फार के प्रतीक बनते हैं। अन्य स्वर और व्यंजन वर्ण समुदाय मातृका रूप में इन्हीं तीनों के विशेषतः व्यक्त विस्फुरण हैं। इन सबका संकोच नाद और विन्दु में होता है। विन्दु से वाक्‌रूप बाह्यविलास पश्यन्ती आदि शक्तियों में विलसित होता है। सृष्टि और संहार [विकास और संकोच] का यह क्रम परमेश्वर के स्वातन्त्र्य का ही चमत्कार है। दोनों बीजरूप से वही हैं। इनमें कोई अन्तर नहीं है। बस प्रत्यभिज्ञा का उदय ही अपेक्षित है। उक्त ऊहापोह और तत्त्वानुसन्धान सतत आवश्यक है। अभ्यास से अनिवार्यतः पर-संवित्ति का सम्वेदन होता है।

नील पीत आदि पदार्थों में नीलत्व और पीतत्व की अनुभूति और उन पदार्थों से उत्पन्न होने वाले सुख और दुःख बाह्यविश्व के अपरिहार्य कार्य है। इनमें हान और उपादान क्रिया के द्वारा हेय का परित्याग तथा उपादेय का अङ्गीकार पशु के वैवश्य के विनाश के लिये आवश्यक है।

१. तं० ४।१८०-१५४

इसके द्वारा साधक के विकल्पों का संस्कार होता है, विश्वविषयक भेद वृत्तियों का क्षय हो जाता है तथा परमानन्द सामरस्य का आस्वाद सुलभ हो जाता है।[1]

'क' से लेकर 'म' तक स्पर्श वर्ण हैं।[2] ये कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग रूप ५ वर्णक्रमों में २५ है। इनके दो स्वरूप है। १—स्वर के साथ और २—स्वर से रहित। जिस समय प्राणवायु से प्रेरित होकर इनका उच्चारण करते हैं अथवा बुद्धि द्वारा इनका स्मरण होता है—इन दोनों दशाओं में इस बात की आकाङ्क्षा नहीं होती कि, इनका अर्थ क्या है! हाँ, संवित् में स्पन्दन का स्पर्श वहाँ पूर्ण ही रहता है। विना संवित्स्पन्दन के न प्राणवायु द्वारा इनका उच्चारण और न बुद्धि द्वारा इनका स्मरण हो सकता है। दोनों अवस्थाओं में समविशिष्ट स्पर्श है। अतएव ये पूर्ण वर्ण हैं। जब वर्ण उच्चरित हो जाते हैं। उनके परस्पर विनियोग से शब्दों की निष्पत्ति हो जाती है और आप्त पुरुषों द्वारा अभिधेयार्थ का निर्धारण हो जाता है।

तब उन सभी शब्दों का उन-उन विशिष्ट अर्थों का बोध मनोगत वासना के अनुसार ही होता है। परिणामतः शब्दों के अर्थ समय-सापेक्ष और अपूर्ण विवरण देने वाले हो जाते हैं। यह मनोराज्य का शब्दगत प्रभाव है। घड़ा कहने से उसका लघुवृहत् आकार, उसका मूल [पेंदा] और उसका आन्तर अवकाश का भान होता ही है, यद्यपि वे स्वयं अपने शब्दार्थ से अनभिज्ञ ही हैं।

विचारक जब इन सापेक्ष पार्थक्यों का अनुसन्धान करता है और इनके अन्तराल में प्रवेश करते हुए अनुत्तर संवित् का स्पर्श करता है, उस समय उच्चारण के सभी स्थान मानो एक ही हो जाते हैं और हृदय, कण्ठ ओष्ठ सब एक साथ ही 'अ' का आत्मत्व प्राप्त कर लेते हैं। इस अवस्था में पूर्व वर्णित द्वादशान्तों का, विमर्श स्पन्द रूप हृदय का समभाव उपस्थित हो जाता है। प्राणपर्व में, संवित्क्रम में और वाक् भूमि तीनों में यह वर्ण-रहस्य प्रस्फुटित होता है। यही वर्ण सम्बन्धी विचार का क्रम है।

---

१. तं० ४।१८२-१८३, ५।१२५-१२६

२. कादयो मावसानाः स्पर्शाः, सि० कौ०

अन्तःस्फुरद्विमर्शानन्तरसमुद्भूतं सितपीताद्यान्तरं वर्णम्
उद्भाव्यमानं संविदम् अनुभावयति इति केचित् ।

वाच्यविरहेण संवित्-स्पन्दादिन्द्वर्कगतिनिरोधाभ्याम् ।
यस्य तु समसंप्रवेशात् पूर्णा चिद्बीजपिण्डवर्णविधौ ॥

इति आन्तरश्लोकः । इति वर्णविधिः । करणं तु मुद्राप्रकाशने वक्ष्यामः ।

विकल्पः कस्यापि स्वयमनुपयन् पूर्णमयता-
मुपायात् संस्कारं व्रजति स उपायोऽत्र बहुधा ।
धियि प्राणे देहे तदनु बहिरित्याणवतया,
स निर्णीतो नैषां परफलविधौ क्वापि हि भिदा ॥

सुणणउ रवि ससिदहन, स उ उस्संउ एहु सवीरु ।
उंह अच्छन्तउ परमपउ, पावइ अचिरे वीरु ॥

सं. छा.-[स्वोपज्ञ]-शृण्वन्तु, रविशशिदहनाः! एष तु उत्सवः एव सवीराः। येन आच्छादितं परमपदम् प्राप्नुयात् अचिरादेव वीरः ॥

इति श्रीमदभिनवगुप्ताचार्यविरचिते तन्त्रसारे आणवं प्रकाशनं नाम पञ्चममाह्निकम् ॥

अन्तः स्फुरणशील विमर्श के पश्चात् उत्पन्न श्वेत पीत आदि आन्तर उद्भाव्यमान वर्ण, संविद् अनुभूति की प्रेरणा देता है—वर्ण के विषय में यह कुछ लोगों का विचार है ।

वाच्य के विरह के कारण संवित् स्पन्द जन्य चन्द्र और सूर्य, सम्बन्धी गति और निरोध के फल स्वरूप समसंवित् में अनुप्रवेश हो जाता है । यह पूर्ण चिद्बीज रूप पिण्ड वर्ण की विधि का रहस्य है । ये आन्तर श्लोक हैं । यह वर्ण की विधि है । करण का वर्णन मुद्रा प्रकाश के सन्दर्भ में होगा ।

विकल्प किसी का भी हो वह पूर्ण नहीं है । उपाय करने से विकल्प संस्कृत हो जाते हैं । प्रत्यभिज्ञाशास्त्र में अनन्त उपायों पर प्रकाश डाला

गया है। बुद्धि, प्राण और देह और इसके अतिरिक्त बाहर भी आणव रूप से वह निर्णीत है, चरम परम फल प्रदान करने में सहायक है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

सूर्य, सोम और अनल रूप प्रमाताओं सुनो, यह संविद् विमर्श का का उत्सव है। इससे परमपद आच्छादित है। वीर भाव प्राप्त साधक इसे तुरंत प्राप्त करे।

अन्तः स्फुरित विमर्श से तात्पर्य "मैं कोई अलौकिक प्रमाता हूँ" इसी प्रत्यभिज्ञानात्मक परामर्श से है। इसके बाद भी आँख की खिड़कियों पर बैठकर पार्थक्यप्रथापर्यवेक्षण-प्रगल्भ पराम्बा रूपमाधुरी का पान करती हैं। अन्य इन्द्रिय गवाक्षों से भी अनन्त कल्पित स्तम्भ कुम्भादि रूप ग्राह्य-ग्राह्य संवित्ति का उद्भावन होता है। अवच्छिन्न और अनवच्छिन्न द्विविध प्रमाताओं की अनुभूति ही विश्व के व्यवहार की कारण बनती है। 'इदम्' विमर्श विच्छिन्न विमर्श ही है। इसमें ही सितत्व पीतत्व की संवित्ति का बोध होता है। किन्तु जब इदन्ता, अहन्ता के अतिरिक्त कुछ भी भासित नहीं होती, जब स्मृति के द्वारा स्वात्मतत्त्व प्रत्यभिज्ञात हो जाता है; अहंता की अनुभूति और सम्प्राप्ति हो जाती है, तभी पारमार्थिक संवित्ति उत्पन्न मानी जाती है। अहन्ता की स्मृति वस्तुतः 'स्व'रूप की जनिका है। उस समय यद्यपि निर्विषयता की प्रधानता होती है फिर भी अनेक आकारों में सर्वत्र अवस्थित होने के कारण वह रञ्जक-स्वभाव-संवलित शक्ति रूप से ही संस्फुरित होती है। स्वर्णघट में स्वर्णत्व का और घटत्व का बोध सर्व-रञ्जक बोध है। जब स्वर्णत्व बोध समाप्त होकर केवल घटत्व बोध अवशिष्ट रह जायं, तो स्वर्णत्व-निष्ठ पीतत्व आदि की पार्थक्य प्रथा भी निरस्त हो जाती है।' इस प्रकार यह स्पष्ट है कि, आन्तर वर्णात्मक सित और पीत स्मृति संवित्क्रम का ही चमत्कार है। विश्व का पृथक् रूप से इदन्तामय दर्शन और प्रत्यभिज्ञा के बाद विराट् स्वात्म दर्शन, दोनों स्थितियों के आकलन में द्वितीय स्वात्म वैराज्य की स्मृति, आन्तर, श्वेतत्व और पीतत्व आदि को आत्मसात् कर अवस्थित होती है। वह स्मृति ही आन्तर बोधरूप परप्रकाशविमर्शसंविद् का शाश्वत उद्भावन करती है।

प्राणात्मक उच्चार और बुद्धि द्वारा स्मृति के समय वाच्यार्थ का आकलन नहीं होता। हाँ संविद् समुद्र में स्पन्द-ऊर्मियों की रमणीयता तो

उल्लसित होती ही रहती है। इस अवस्था में साधक सूर्यात्मक और सोमात्मक गतिशीलता और उनके निरोध के द्वारा समता में प्रवेश प्राप्त करता है। सूर्य प्रमाणात्मक होता है और सोम प्रमेयात्मक। जब प्रमाण प्रमेय रूप में उल्लसित होता है, तब सृष्टि प्रक्रिया गतिशील होती हुई बाह्योन्मुख प्रवाह में बहती रहती है। किन्तु जब प्रमेयांश का प्रमाण की ओर उन्मुख रहकर अनुत्तर विश्रान्तिरूप निरोध प्रारम्भ होता है, तो उस अवस्था से सुख-सीत्कार-सत्-सम्यक् के आदि वर्ण साम्यक्षेत्र में अनुप्रवेश हो जाता है। सृष्टि संहार की उभयात्मक शक्तिमत्ता बीजपिण्डों में पूर्णतया विद्यमान रहती है। अर्थात् प्रत्येक वर्ण, अपने में पूर्ण होता है किन्तु वहीं वर्ण जब घट आदि शब्दबोध के आश्रय बन जाते हैं, तब समय-सापेक्ष बन जाते हैं अर्थात् अपूर्ण बन जाते हैं। यही इस आन्तर श्लोक का विश्लेषण है। यही वर्ण की संक्षिप्त विधि है [जो पुनरुक्ति भय से विस्तारपूर्वक नहीं लिखी गयी है]—उच्चार, ध्यान और वर्ण की व्याख्या तो ऊपर हुई किन्तु करण का विश्लेषण मुद्रा के प्रकरण में किया जायेगा।

विकल्पों का संस्कार पूर्णता प्राप्ति के लिए आवश्यक होता है। इनके उपाय भी अनेक हैं। बुद्धि, प्राण और देह रूप पुर्यष्टक और बाह्य विस्फार में आणव उपाय की उपयोगिता सर्वोत्कृष्ट है। परतत्त्व की उपलब्धि में इनकी भेदप्रथा का कोई स्थान नहीं है।

इतना विश्लेषण करने के उपरान्त ग्रन्थकार इस आह्निक का उपसंहार कर रहे हैं। श्रुति के अनुसार यह विश्व अग्निसोमात्मक है। पर इस शास्त्र के अनुसार सूर्यसोमात्मक है। सूर्य, सोम और अग्नि की शक्तियों का समुल्लास ही सर्वत्र उल्लसित है। चाहे वह संवित् क्रम हो, प्राणपर्व हो अथवा वाङ्मय विमर्श हो, सार्वत्रिक परसंविद्विलास रूपी उत्सव स्वातन्त्र्य शक्ति द्वारा शाश्वत आयोजित है।

महामाहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य विरचित तन्त्रसार के आणव-प्रकाश नामक पंचम आह्निक का नीर-क्षीर-विवेक भाष्य सम्पूर्ण।

साक्षात्कार लाभ करते हैं । उस समय योगी शोधित अध्वा या समग्र विश्व का अनुग्राहक बन जाता है, यह जो अमृत-प्लावन है इसी का नाम 'पूर्णाभिषेक' है । योगी इस अवस्था में प्रतिष्ठित होकर जगद्-गुरु पद में अधिष्ठित होते हैं । इस प्रकार का पूर्णत्व प्राप्त करने पर भी उसे भी अतिक्रम करके उठना पड़ता है क्योंकि यह अपूर्ण स्थिति है । इसके बाद यथार्थतः पूर्ण ख्याति का उदय होता है । उसी का नाम शिवत्व या परम शिव की अवस्था है । यही वास्तविक पूर्णत्व है, इस अवस्था में पूर्णस्वातन्त्र्य का आविर्भाव होता है । इस अवस्था में इच्छा-मात्र से भुवन-रचना का अर्थात् विश्व-रचना के अधिकार की प्राप्ति होती है, पञ्चकृत्यकारित्व का आविर्भाव भी इसी समय होता है ।

बौद्धशास्त्र में सुखावती की रचना अमिताभ बुद्ध के द्वारा हुई थी, कहा जाता है कि यह इसी स्थिति के अनुरूप व्यापार है । **विश्वामित्र** प्रभृतियों की जगद् रचना का विवरण-प्रकार भी शास्त्र में परिचित है । तान्त्रिक अध्यात्म संस्कृति का लक्ष्य इसी परिपूर्ण अवस्था को प्राप्त करना है, केवल मात्र स्वर्गादि ऊर्ध्व लोक तथा लोकान्तरों में गति या कैवल्य अथवा निरञ्जन भाव की प्राप्ति अथवा मायातीत अधिकारी पद का लाभ मात्र नहीं है । मनुष्य-मात्र की आत्मा में इस अवस्था की प्राप्ति की स्वरूप-योग्यता है । इस प्रकार यह तान्त्रिक-संस्कृति का अवदान तुच्छ नहीं समझा जा सकता है ।

रुद्रयामल और अष्टाङ्गयोग — बिना यौगिक क्रियाओं के शरीर शुद्ध नहीं होता है और बिना शरीर शुद्धि के कुण्डलिनी जागरण या लय योग असम्भव है । अतः रुद्रयामल के २३वें से लेकर २७ पटलों में संक्षिप्त रूप से अष्टाङ्ग योगगत प्राणायाम की चर्चा की गई है । इनका विस्तृत विवरण होना अत्यन्त आवश्यक है । इनमें भी सर्वप्रथम हमें प्राणवायु (जिससे शरीर संचालित है) को समझना चाहिए क्योंकि प्राणायाम के द्वारा योगी योग में प्रवेश करता है ।

प्राणायाम की प्रक्रिया

प्राणायाम का अर्थ है श्वास की गति को कुछ काल के लिये रोक लेना । साधारण स्थिति में श्वासों की चाल दस प्रकार की होती है—पहले श्वास का भीतर जाना, फिर रुकना, फिर बाहर निकलना; फिर रुकना, फिर भीतर जाना, फिर बाहर निकलना इत्यादि । प्राणायाम में श्वास लेने का यह सामान्य क्रम टूट जाता है । श्वास (वायु के भीतर जाने की क्रिया) और प्रश्वास (बाहर जाने की क्रिया) दोनों ही गहरे और लम्बे होते हैं और श्वासों का विराम अर्थात् रुकना तो इतनी अधिक देर तक होता है कि उसके सामने सामान्य स्थिति में हम जितने काल तक रुकते हैं वह तो नहीं के समान और नगण्य ही है । योग की भाषा में श्वास खींचने को 'पूरक', बाहर निकालने को 'रेचक' और रोक रखने को 'कुम्भक' कहते हैं । प्राणायाम कई प्रकार के होते हैं और जितने प्रकार के प्राणायाम हैं, उन सबमें पूरक, रेचक और कुम्भक भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं । पूरक नासिका से करने में हम दाहिने छिद्र का अथवा बायें का अथवा

दोनों का ही उपयोग कर सकते हैं । रेचक दोनों नासारन्ध्रों से अथवा एक से ही करना चाहिये । कुम्भक पूरक के भी पीछे हो सकता है और रेचक के भी, अथवा दोनों के ही पीछे न हो तो भी कोई आपत्ति नहीं । पूरक, कुम्भक और रेचक के इन्हीं भेदों को लेकर प्राणायाम के अनेक प्रकार हो गये हैं ।

पूरक, कुम्भक और रेचक कितनी-कितनी देर तक होना चाहिये, इसका भी हिसाब रखा गया हैं । यह आवश्यक माना गया है कि जितनी देर तक पूरक किया जाय, उससे चौगुना समय कुम्भक में लगाना चाहिये और दूना समय रेचक में अथवा दूसरा हिसाब यह है कि जितना समय पूरक में लगाया जाय उससे दूना कुम्भक में और उतना ही रेचक में लगाया जाय । प्राणायाम की सामान्य प्रक्रिया का दिग्दर्शन कराकर अब हम प्राणायाम सम्बन्धी उन खास बातों पर विचार करेंगे जिनसे हम यह समझ सकेंगे कि प्राणायाम का हमारे शरीर पर कैसा प्रभाव पड़ता है ।

पूरक करते समय जब कि साँस अधिक-से-अधिक गहराई के साथ भीतर खींची जाती है तथा कुम्भक के समय भी, जिसमें बहुधा साँस को भीतर रोकना होता है, आगे की पेट की नसों को सिकोड़कर रखा जाता है । उन्हें कभी फुलाकर आगे की ओर नहीं बढ़ाया जाता । रेचक भी जिसमें साँस को अधिक-से अधिक गहराई के साथ बाहर निकालना होता है, पेट और छाती को जोर से सिकोड़ने से ही बनता है । कुम्भक करते समय मूलबन्ध साधने के लिये तो गुदा को सिकोड़ना पड़ता है और उड्डीयान–बन्ध के लिये पेट को भीतर की ओर खींचा जाता है । प्राणायाम के अभ्यास के लिये कोई-सा उपयुक्त आसन चुन लिया जाता है, जिसमें सुखपूर्वक पालथी मारी जा सके और मेरुदण्ड सीधा रह सके ।

एक विशेष प्रकार का प्राणायाम होता है जिसे भस्त्रि का प्राणायाम कहते हैं । उसके दो भाग होते हैं, जिनमें से दूसरे भाग की प्रक्रिया वही है जो ऊपर कही गयी है । पहले भाग में साँस को जल्दी-जल्दी बाहर निकालना होता है, यहाँ तक कि एक मिनट में २४० बार साँस बाहर आ जाते हैं । योग में एक श्वास की क्रिया होती है जिसे 'कपालभाति' कहते हैं । भस्त्रिका के पहले भाग में ठीक वैसी ही क्रिया की जाती है ।

प्राणायाम का शरीर पर प्रभाव

सामान्य शरीरविज्ञान में मानवशरीर के अंदर काम करने वाले भिन्न-भिन्न अङ्गसमूह हैं । इन अङ्गसमूहों में प्रधान ये हैं —स्नायुजाल (Nervous system), ग्रन्थिसमूह (Glandular system), श्वासोपयोगी अङ्गसमूह (Pespiratory system) रक्तवाह, अङ्गसमूह (Digestive system) । इन सभी पर प्राणायाम का गहरा प्रभाव पड़ता है । मल को बाहर निकालने वाले अङ्गों में हम देखते हैं कि आँतें और गुर्दा तो पेट के अंदर हैं और फेफड़े छाती के अन्दर । साधारण तौर पर साँस लेने में उदर की मांसपेशियाँ क्रमशः ऊपर और नीचे की ओर जाती हैं, जिससे आँतों और गुर्दे में भी निरन्तर हलचल और हलकी-हलकी मालिश होती रहती है । प्राणायाम में

पूरक एवं रेचक तथा कुम्भक करते समय यह हलचल और मालिश और भी स्पष्टरूप से होने लगती है । इससे यदि कहीं रक्त जमा हो गया हो तो इस हलचल के कारण उस पर जोर पड़ने से वह हट सकता है । यही नहीं, आँतों और गुर्दे के व्यापार को नियन्त्रण में रखने वाले स्नायु और मांसपेशियाँ भी सुदृढ़ हो जाती हैं । इस प्रकार आँतों और गुर्दे को प्राणायाम करते समय ही नहीं, बल्कि शेष समय में भी लाभ पहुँचता है । स्नायु और मांसपेशियाँ जो एक बार मजबूत हो जाती हैं, वे फिर चिरकाल तक मजबूत ही बनी रहती हैं और प्राणायाम से अधिक स्वस्थ हो जाने पर आँतें और गुर्दे अपना कार्य और भी सफलता के साथ करने लगते हैं ।

यही हाल फेफड़ों का है । श्वास की क्रिया ठीकर तरह से चलती रहे, इसके लिये आवश्यकता है श्वासोपयोगी मांसपेशियों के सुदृढ़ होने की और फेफड़ों के लचकदार होने की । शारीरिक दृष्टि से प्राणायाम के द्वारा इन मांसपेशियों और फेफड़ों का संस्कार होता है और कार्बनडाई आक्साइड नामक दूषित गैस का भी भली भाँति निराकरण हो जाता है । इस प्रकार प्राणायाम आँतों, गुर्दे तथा फेफड़ों के लिये, जो शरीर से मल को निकाल बाहर करने के तीन प्रधान अङ्ग हैं, बड़ी मूल्यवान् कसरत है ।

आहार का परिपाक करने वाले और रस बनाने वाले अङ्गों पर भी प्राणायाम का अच्छा असर पड़ता है । अन्न-जल के परिपाक में आमाशय, उसके पृष्ठभाग में स्थित Pancreas नामक ग्रन्थि और यकृत् मुख्य रूप से कार्य करते हैं और प्राणायाम में इन सबकी कसरत होती है । क्योंकि प्राणायाम में उदर और वक्षःस्थल के बीच का स्नायु, जिसे अंग्रेजी में Diaphragm कहते हैं और पेट की मांसपेशियाँ, ये दोनों ही बारी-बारी से खूब सिकुड़ते हैं और फिर ढीले पड़ जाते हैं, जिससे उपर्युक्त पाकोपयोगी अङ्गों की एक प्रकार से मालिश हो जाती है । जिन्हें अग्निमान्द्य और बद्धकोष्ठता की शिकायत रहती है, उनमें से अधिक लोगों के जिगर में सदा ही रक्त जमा रहता है और फलतः उसकी क्रिया दोषयुक्त होती है । इस रक्तसंचय को हटाने के लिये प्राणायाम एक उत्तम साधन है ।

किसी भी मनुष्य के स्वास्थ्य के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसकी नाड़ियों में प्रवाहित होने वाले रक्त को ऑक्सिजन प्रचुर मात्रा में मिलता रहे । योगशास्त्र में बतायी हुई पद्धति के अनुसार प्राणायाम करने से रक्त को जितना अधिक ऑक्सिजन मिल सकता है, उतना अन्य किसी व्यायाम से नहीं मिल सकता । इसका कारण यह नहीं कि प्राणायाम करते समय मनुष्य बहुत-सा ऑक्सिजन पचा लेता है, बल्कि उसके श्वासोपयोगी अङ्गसमूह का अच्छा व्यायाम हो जाता है ।

जो लोग अपने श्वास की क्रिया को ठीक करने के लिये किसी प्रकार का अभ्यास नहीं करते, वे अपने फेफड़ों के कुछ अंशों से ही साँस लेते हैं, शेष अंश निकम्मे रहते हैं । इस प्रकार निकम्मे रहने वाले अंश बहुधा फेफड़ों के अग्रभाग होते हैं । इन अग्रभागों में ही जो निकम्मे रहते हैं और जिनमें वायु का संचार अच्छी तरह से नहीं

होता, राजयक्ष्मा के भयङ्कर कीटाणु बहुधा आश्रय पाकर बढ़ जाते हैं । यदि प्राणायाम के द्वारा फेफड़ों के प्रत्येक अंश से काम लिया जाने लगे और उनका प्रत्येक छिद्र दिन में कई बार शुद्ध हवा से धुल जाया करे तो फिर इन कीटाणुओं का आक्रमण असम्भव हो जायगा और श्वास सम्बन्धी इन भयंकर रोगों से बचा जा सकता है ।

प्राणायाम के कारण पाकोपयोगी, श्वासोपयोगी एवं मल को बाहर निकालने वाले अङ्गों की क्रिया ठीक होने से रक्त अच्छा बना रहेगा । यही रक्त विभक्त होकर शरीर के भिन्न-भिन्न अङ्गों में पहुँच जायगा । यह कार्य रक्तवाहक अङ्गों का खास कर हृदय का है । रक्तसंचार से सम्बन्ध रखने वाला प्रधान अङ्ग हृदय है और प्राणायाम के द्वारा उसके अधिक स्वस्थ हो जाने से समस्त रक्तवाहक अङ्ग अच्छी तरह से काम करने लगते हैं।

परन्तु बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती । भस्त्रिका प्राणायाम में, खास कर उस हिस्से में जो कपालभाति से मिलता-जुलता है, वायवीय स्पन्दन प्रारम्भ होकर मानव - शरीर के प्रायः प्रत्येक सूक्ष्म--से--सूक्ष्म अङ्ग को, यहाँ तक कि नाड़ियों एवं सूक्ष्म शिराओं तक को हिला देते हैं । इस प्रकार प्राणायाम से सारे रक्तवाहक अङ्गसमूह की कसरत एवं मालिश हो जाती है और वह ठीक तरह से काम करने के योग्य बन जाता है ।

रक्त की उत्तमता और उसके समस्त स्नायुओं और ग्रन्थियों में उचित मात्रा में विभक्त होने पर ही इनकी स्वस्थता निर्भर है । प्राणायाम में विशेष कर भस्त्रिका प्राणायाम में रक्त की गति बहुत तेज हो जाती है और रक्त भी उत्तम हो जाता है । इस प्रकार प्राणायाम से Endocerine ग्रन्थिसमूह को भी उत्तम और पहले की अपेक्षा प्रचुर रक्त मिलने लगता है, जिससे वे पहले की अपेक्षा अधिक स्वस्थ हो जाती हैं । इसी रीति से हम मस्तिष्क, मेरुदण्ड और इनकी नाड़ियों तथा अन्य सम्बन्धित नाड़ियों को स्वस्थ बना सकते हैं ।

प्राणायाम का मस्तिष्क पर प्रभाव

सभी शरीरविज्ञानविशारदों का इस विषय में एक मत है कि साँस लेते समय मस्तिष्क में से दूषित रक्त प्रवाहित होता है और शुद्ध रक्त उसमें संचरित होता है । यदि साँस गहरी हो तो दूषित रक्त एक साथ बह निकलता है और हृदय से जो शुद्ध रक्त वहाँ आता है वह और भी सुन्दर आने लगता है । प्राणायाम की यह विधि है कि उसमें साँस गहरे-से गहरा लिया जाय, इसका परिणाम यह होता है कि मस्तिष्क से सारा दूषित रक्त बह जाता है और हृदय का शुद्ध रक्त उसे अधिक मात्रा में मिलता है । योग उड्डीयान--बन्ध को हमारे सामने प्रस्तुत कर इस स्थिति को और भी स्पष्ट कर देने की चेष्टा करता है । इस उड्डीयानबन्ध से हमें इतना अधिक शुद्ध रक्त मिलता है, जितना किसी श्वास सम्बन्धी व्यायाम से हमें नहीं मिल सकता । प्राणायाम से जो हमें तुरन्त बल और नवीनता प्राप्त होती है उसका यही वैज्ञानिक कारण है ।

प्राणायाम का मेरुदण्ड पर प्रभाव

मेरुदण्ड एवं उससे सम्बन्धित स्नायुओं के सम्बन्ध में हम देखते हैं कि इन अङ्गों के चारों ओर रक्त की गति साधारणतया मन्द होती है । प्राणायाम से इन अङ्गों में रक्त की गति बढ़ जाती है और इस प्रकार इन अङ्गों को स्वस्थ रखने में प्राणायाम सहायक होता है ।

योग में कुम्भक करते समय मूल, उड्डीयान और जालन्धर-तीन प्रकार के बन्ध करने का उपदेश दिया गया है । इन बन्धों का एक काल में अभ्यास करने से पृष्ठवंश का, जिसके अंदर मेरुदण्ड स्थित है तथा तत्सम्बन्धित स्नायुओं का उत्तम रीति से व्यायाम हो जाता है । इन बन्धों के करने से पृष्ठवंश को यथास्थान रखने वाली मांसपेशियाँ, जिनमें तत्सम्बन्धित स्नायु भी रहते हैं, क्रमशः फैलती हैं और फिर सिमट जाती हैं, जिससे इन पेशियों तथा मेरुदण्ड एवं तत्सम्बन्धित स्नायुओं में रक्त की गति बढ़ जाती है । बन्ध यदि न किये जायँ तो भी प्राणायाम की सामान्य प्रक्रिया ही ऐसी है कि उससे पृष्ठवंश पर ऊपर की ओर हल्का-सा खिंचाव पड़ता है, जिससे मेरुदण्ड तथा तत्सम्बन्धित स्नायुओं को स्वस्थ रखने में सहायता मिलती है ।

स्नायुजाल के स्वास्थ्य पर अच्छा प्रभाव डालने के लिये तो सबसे उत्तम प्राणायाम भस्त्रिका है । इस प्राणायाम में श्वास की गति तेज होने से शरीर के प्रत्येक सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अङ्ग की मालिश हो जाती है और इसका स्नायुजाल पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है ।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि प्राणायाम हमारे शरीर को स्वस्थ रखने के लिये सर्वोत्तम व्यायाम है । इसीलिये भारत के प्राचीन योगाचार्य प्राणायाम को शरीर की प्रत्येक आभ्यन्तर क्रिया को स्वस्थ रखने का एकमात्र साधन मानते थे । उनमें से कुछ तो प्राणायाम को शरीर का स्वास्थ ठीक रखने में इतना सहायक मानते हैं कि वे इसके लिये अन्य किसी साधन की आवश्यकता ही नहीं समझते । प्राणायाम से शरीर की आभ्यन्तर क्रियाओं का नियन्त्रण ही नहीं होता, अपितु इस शरीरयन्त्र को जीवन देने वाले प्रत्येक व्यापार पर अधिकार हो जाता है ।

श्वाससम्बन्धी व्यायामों से श्वासोपयोगी अङ्गसमूह को तो लाभ होता ही है, किंतु उनका असली महत्त्व तो इस बात को लेकर है कि उनसे अन्य अङ्गसमूहों को भी, खासकर स्नायुजाल को विशेष लाभ पहुँचता है ।

कुछ उपयोगी बन्ध एवं मुद्राएँ

योगसाधना में बन्धों एवं मुद्राओं का विशेषरूप से उल्लेख आया है । इनमें से कुछ उपयोगी बन्धों एवं मुद्राओं का यहाँ संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है जिनका उल्लेख रुद्रयामल में आया है ।

बन्ध

१. **मूलबन्ध**—मूल गुदा एवं लिङ्ग-स्थान के रन्ध्र को बन्द करने का नाम मूलबन्ध है । वाम पाद की एड़ी को गुदा और लिङ्ग के मध्यभाग में दृढ़ लगाकर गुदा को सिकोड़कर योनिस्थान अर्थात् गुदा और लिङ्ग एवं कन्द के बीच के भाग को दृढ़तापूर्वक संकोचन द्वारा अधोगत अपानवायु को बल के साथ धीरे-धीरे ऊपर की ओर खींचने को मूलबन्ध कहते हैं । सिद्धासन के साथ यह बन्ध अच्छा लगाया जा सकता है । अन्य आसनों के साथ एड़ी को सीवनी पर बिना लगाये हुए भी मूलबन्ध लगाया जा सकता है ।

फल—इससे अपानवायु का ऊर्ध्व-गमन होकर प्राण के साथ एकता होती है । कुण्डलिनी-शक्ति सीधी होकर ऊपर की ओर चढ़ती है । कोष्ठबद्धता दूर करने, जठराग्नि को प्रदीप्त करने और वीर्य को ऊर्ध्वरितस् बनाने में यह बन्ध अति उत्तम है । साधकों को न केवल भजन के अवसर पर किन्तु हर समय मूल बन्ध को लगाये रखने का अभ्यास करना चाहिये ।

२. **उड्डीयानबन्ध**—दोनों जानुओं को मोड़कर पैरों के तलवों को परस्पर भिड़ाकर पेट के नाभि से नीचे और ऊपर के आठ अंगुल हिस्से को बलपूर्वक खींचकर मेरुदण्ड (रीढ़ की हड्डी से) ऐसा लगा दे जिससे कि पेट के स्थान पर गढडा-सा दीखने लगे । पेट को अंदर की ओर जितना अधिक खींचा जायगा, उतना ही यह बन्ध अच्छा होगा । इसमें प्राण पक्षी के सदृश सुषुम्ना की ओर उड़ने लगता है, इसलिये यह बन्ध उड्डीयान कहलाता है । इस बन्ध को पैरों के तलवों को बिना भिड़ाये हुए भी किया जा सकता है ।

फल—प्राण और वीर्य का ऊपर की ओर दौड़ना, मन्दाग्नि का नाश, क्षुधा की वृद्धि, जठराग्नि का प्रदीप्त और फेफड़े का शक्तिशाली होना है, इस बन्ध के फल हैं ।

३. **जालन्धरबन्ध**—कण्ठ को सिकोड़कर ठोढ़ी को दृढ़तापूर्वक कण्ठकूप में इस प्रकार स्थापित करे कि हृदय से ठोडी का अन्तर केवल चार अंगुल का रहे, सीना आगे की ओर तना रहे । यह बन्ध कण्ठस्थान के नाड़ी-जाल के समूह को बाँधे रखता है, इसलिये इसका नाम जालन्धर-बन्ध है ।

फल—कण्ठ का सुरीला, मधुर और आर्कषक होना, कण्ठ के संकोच द्वारा इडा, एवं पिङ्गला नाडियों के बंद होने पर प्राण का सुषुम्ना में प्रवेश करना है ।

प्राय: सभी आसन, मुद्राएँ और प्राणायाम मूलबन्ध और उड्डीयानबन्ध के साथ किये जाते हैं । किन्तु राजयोग में ध्यानावस्था में जालन्धरबन्ध लगाने की बहुत कम आवश्यकता होती है ।

४. महाबन्ध—महाबन्ध की दो विधियों में पहली विधि इस प्रकार है—बायें पैर की एड़ी को गुदा और लिङ्ग के मध्यभाग में जमाकर बायीं जंघा के ऊपर दाहिने पैर को रख, समसूत्र में हो, वाम अथवा जिस नासारन्ध्र से वायु चल रहा हो उससे ही पूरक करके जालन्धर-बन्ध लगाये । फिर मूलद्वार से वायु का ऊपर की ओर आकर्षण करके मूलबन्ध लगाये । मन को मध्य नाड़ी में लगाये हुए यथाशक्ति कुम्भक करे । तत्पश्चात् पूरक के विपरीत वाली नासिका से धीरे- धीरे रेचन करे । इस प्रकार दोनों नासिका से अनुलोम एवं विलोम रीति से समान प्राणायाम करे ।

इसकी दूसरी विधि इस प्रकार है—पद्म अथवा सिद्धासन से बैठे, योनि और गुह्यप्रवेश सिकोड़, अपानवायु को ऊर्ध्वगामी कर, नाभिस्थ समानवायु के साथ मिलाकर और हृदयस्थ प्राणवायु को अधोमुख करके प्राण और अपानवायुओं के साथ नाभिस्थल पर दृढ़रूप से कुम्भक करे ।

फल—प्राण का ऊर्ध्वगामी होना-वीर्य की शुद्धि, इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना का सङ्गम प्राप्त होना, बल की वृद्धि आदि इसके गुण है ।

५. महाबन्ध—यह दो प्रकार से किया जाता है – महाबन्ध की प्रथम विधि के अनुसार मूलबन्धपूर्वक कुम्भक करके दोनों हाथों की हथेली भूमि में दृढ़ स्थिर करके, हाथों के बल ऊपर उठकर दोनों नितम्बों को शनैःशनैः ताड़ना दे और ऐसा ध्यान करे कि प्राण इडा एवं पिङ्गला को छोड़कर कुण्डलिनी-शक्ति को जगाता हुआ सुषुम्ना में प्रवेश कर रहा है । तत्पश्चात् वायु को शनैः-शनैः महाबन्ध की विधि के अनुसार रेचन करे इसकी दूसरी विधि इस प्रकार है –

मूलबन्ध के साथ पद्मासन से बैठे, अपान और प्राणवायु को नाभिस्थान पर एक करके (मिलाकर) दोनों हाथों को तानकर नितम्बों से मिलते हुए भूमि पर जमाकर नितम्ब को आसनसहित उठा-उठाकर भूमि पर ताड़ित करते रहें ।

फल—कुण्डलिनी-शक्ति का जाग्रत् होना, प्राण का सुषुम्ना में प्रवेश करना इसके प्रमुख गुण हैं । महाबन्ध, महावेध और महामुद्रा – तीनों को मिलाकर करना अधिक फलदायक है ।

मुद्रा

१. खेचरी मुद्रा— जीभ को ऊपर की ओर उलटी ले जाकर तालु-कुहर (जीभ के ऊपर तालु के बीच के गढ़े) में लगाये रखने का नाम 'खेचरी-मुद्रा' है । इसके निमित्त जिह्वा को बढ़ाने के तीन साधन किये जाते हैं—छेदन, चालन और दोहन ।[१]

(१) छेदन—जीभ के नीचे के भाग में सूताकार वाली एक नाड़ी नीचे वाले दाँतों की जड़ के साथ जीभ को खींचे रखती है । इसलिये जीभ को ऊपर चढ़ाना कठिन

---

१. द्र० रुद्र० २५.९८.१०३

होता है । प्रथम इस नाड़ी के दाँतों के निकट वाले एक ही स्थान पर स्फटिक (बिल्लौर) का धार वाला टुकड़ा प्रतिदिन प्रातःकाल चार-पाँच बार फेरते रहें । कुछ दिनों तक ऐसा करने के पश्चात् वह नाड़ी उस स्थान में पूर्ण कट जायगी । इसी प्रकार क्रमशः उससे ऊपर-ऊपर एक-एक स्थान को जिह्वामूल तक काटते चले जायँ । स्फटिक फेरने के पश्चात् माजूफल का कपड़छन चूर्ण (टेरिन ऐसिड) जीभ के ऊपर-नीचे तथा दाँतों पर मलें और उन सब स्थानों से दूषित पानी निकलने दें । माजूफल-चूर्ण के अभाव में अकरकरा, नून, हरीतकी और कत्थे का चूर्ण छेदन किये हुए स्थान पर लगाये । यह छेदन-विधि सबसे सुगम है और इससे किसी प्रकार की हानि पहुँचने की सम्भावना नहीं है, यद्यपि इसमें समय अधिक लगेगा । साधारणतया छेदन का कार्य किसी धातु के तीक्ष्ण यन्त्र से प्रति आठवें दिन उस शिरा को बाल के बराबर छेदकर घाव पर कत्था और हरड़ का चूर्ण लगाकर करते हैं । इसके छेदन के लिये नाखून काटने वाला-जैसा एक तीक्ष्ण यन्त्र और खाल छीलने के लिये एक दूसरे यन्त्र की आवश्यकता होती है, जिससे कटा हुआ भाग फिर न जुड़ने पावे । इसमें नाड़ी के सम्पूर्ण अंश के एक साथ कट जाने से वाक् तथा आस्वादन-शक्ति के नष्ट हो जाने का भय रहता है । इसलिये इसे किसी अभिज्ञ पुरुष की सहायता से ही करना चाहिये । छेदन की आवश्यकता केवल उनको होती है, जिनकी जीभ और यह नाड़ी मोटी होती है । जिनकी जीभ लंबी और यह नाड़ी पतली होती है, उन्हें छेदन की अधिक आवश्यकता नहीं है ।

(२-३) चालन व दोहन—अँगूठे और तर्जनी अँगुली से अथवा बारीक वस्त्र से जीभ को पकड़कर चारों तरफ उलट-फेरकर हिलाने और खींचने को चालन कहते हैं । मक्खन अथवा घी लगाकर दोनों हाथों की अँगुलियों से जीभ का गाय के स्तनदोहन जैसे पुनः-पुनः धीरे-धीरे आकर्षण करने की क्रिया का नाम दोहन है ।

निरन्तर अभ्यास करते रहने से अन्तिम अवस्था में जीभ इतनी लम्बी हो सकती है कि नासिका के ऊपर भ्रूमध्यतक पहुँच जाय । इस मुद्रा का बड़ा महत्त्व बतलाया गया है, इससे ध्यान की अवस्था परिपक्व करने में बड़ी सहायता मिलती है । जिह्वाओं के भी नाना प्रकार के भेद देखने में आये हैं । किसी जिह्वा में सूताकार नाड़ी के स्थान में मोटा मांस होता है, जिसके काटने में अधिक कठिनाई होती है । किसी-किसी जिह्वा में न यह नाड़ी होती है, न मांस । उसमें छेदन की आवश्यकता नहीं है । केवल चालन एवं दोहन होना चाहिये ।

२. महामुद्रा—इसकी पहली विधि इस प्रकार है—मूलबन्ध लगाकर बायें पैर की एड़ी से सीवन (गुदा और अण्डकोष के मध्य का चार अँगुल स्थान) दबाये और दाहिने पैर को फैलाकर उसकी अँगुलियों को दोनों हाथों से पकड़े । पाँच घर्षण करके बायीं नासिका से पूरक करे और जालन्धर-बन्ध लगाये । फिर जालन्धर-बन्ध-खोलकर दाहिनी नासिका से रेचक करे । वह वामाङ्ग की मुद्रा समाप्त हुई । इसी प्रकार दक्षिणाङ्ग में इस मुद्रा को करना चाहिये तथा दूसरी विधि इस प्रकार है—बायें पैर की एड़ी को सीवन (गुदा और उपस्थ के मध्य के चार अङ्गुल-भाग) में बलपूर्वक जमाकर दायें पैर

को लम्बा फैलाये । फिर शनैः-शनैः पूरक के साथ मूल तथा जालन्धर बन्ध लगाते हुए दायें पैर का अँगूठा पकड़कर मस्तक के दायें पैर के घुटने पर जमाकर यथाशक्ति कुम्भक करे । कुम्भक के समय पूरक की हुई वायु को कोष्ठ में शनैः-शनैः फुलावे और ऐसी भावना करे कि प्राण कुण्डलिनी को जाग्रत् करके सुषुम्ना में प्रवेश कर रहा है । तत्पश्चात् मस्तक को घुटने से शनैः-शनैः रेचक करते हुए उठाकर यथास्थिति में बैठ जाय । इसी प्रकार दूसरे अङ्ग से करना चाहिये । प्राणायाम की संख्या एवं समय बढ़ाता रहे ।

फल—मन्दाग्नि, अजीर्ण आदि उदर के रोगों तथा प्रमेह का नाश, क्षुधा की वृद्धि और कुण्डलिनी का जाग्रत् होना है ।

३. अश्विनीमुद्रा -सिद्ध अथवा पद्मासन से बैठकर योनिमण्डल को अश्व के सदृश पुनः-पुनः सिकोड़ना अश्विनीमुद्रा कहलाती है ।

फल—यह मुद्रा प्राण के उत्थान और कुण्डलिनी-शक्ति के जाग्रत् करने में सहायक होती है । अपानवायु को शुद्ध और वीर्यवाही स्नायुओं को मजबूत करती है।

४. शक्तिचालिनीमुद्रा—सिद्ध अथवा पद्मासन से बैठकर हाथों की हथेलियाँ पृथ्वी पर जमा दे । बीस-पचीस बार शनैः-शनैः दोनों नितम्बों को पृथ्वी से उठा-उठाकर ताड़न करे । तत्पश्चात् मूलबन्ध लगाकर दोनों नासिकाओं से अथवा वाम से अथवा जो स्वर चल रहा हो उस नासिका से पूरक करके प्राणवायु को अपानवायु से संयुक्त करके जालन्धर-बन्ध लगाकर यथाशक्ति कुम्भक करे । कुम्भक के समय अश्विनीमुद्रा करे अर्थात् गुह्य-प्रदेश का आकर्षण-विकर्षण करता रहे । तत्पश्चात् जालन्धर-बन्ध खोलकर यदि दोनों नासिकापुट से पूरक किया हो तो दोनों से अथवा पूरक के विपरीत नासिकापुट से रेचक करे और निर्विकार होकर एकाग्रतापूर्वक बैठ जाय ।

घेरण्डसंहिता में इस मुद्रा को करते समय बालिश्त भर चौड़ा, चार अङ्गुल लंबा, कोमल, श्वेत और सूक्ष्म वस्त्र नाभि पर कटिसूत्र से बाँधकर सारे शरीर पर भस्म मलकर करना बतलाया गया है ।

फल—सर्वरोग-नाशक और स्वास्थ्यवर्धक होने के अतिरिक्त कुण्डलिनी-शक्ति को जाग्रत् करने में अत्यन्त सहायक है । इससे साधक अवश्य लाभ प्राप्त करता है ।

५. योनिमुद्रा—सिद्धासन से बैठ सम-सूत्र हो षण्मुखी मुद्रा लगाकर अर्थात् दोनों अँगूठों से दोनों कानों को, दोनों तर्जनियों से दोनों नेत्रों को, दोनों मध्यमाओं से नाक के छिद्रों को बंद करके और दोनों अनामिका एवं कनिष्ठिकाओं को दोनों ओठों के पास रखकर काफी मुद्रा द्वारा अर्थात् जिह्वा को कौए की चोंच के सदृश बनाकर उसके द्वारा प्राणवायु को खींचकर अधोगत अपानवायु के साथ मिलाये । तत्पश्चात् ओ३म् का जाप करता हुआ ऐसी भावना करे कि उसकी ध्वनि के साथ परस्पर मिली हुई वायु कुण्डलिनी को जाग्रत् करके षट्चक्रों का भेदन करते हुए सहस्रदल-कमल में जा रही है । इससे अन्तर्ज्योति का साक्षात्कार होता है ।

६. **योगमुद्रा**—मूलबन्ध के साथ पद्मासन से बैठकर प्रथम दोनों नासिकापुटों से पूरक करके जालन्धरबन्ध लगाये । तत्पश्चात् दोनों हाथों को पीठ के पीछे ले जाकर बायें हाथ से दायें हाथ की और दायें हाथ से बायें हाथ की कलाई को पकड़े, शरीर को आगे झुकाकर पेट के अन्दर एड़ियों को दबाते हुए सिर को जमीन पर लगा दें । इस प्रकार यथाशक्ति कुम्भक करने के पश्चात् सिर को जमीन से उठाकर जालन्धर-बन्ध खोलकर दोनों नासिकाओं से रेचन करे ।

फल—पेट के रोगों को दूर करने और कुण्डलिनी-शक्ति को जागृत् करने में यह मुद्रा सहायक होती है ।

७. **शाम्भवीमुद्रा**—मूल और उड्डीयानबन्ध के साथ सिद्ध अथवा पद्मासन से बैठकर नासिका के अग्रभाग अथवा भ्रूमध्य में दृष्टि को स्थिर करके ध्यान जमाना 'शाम्भवी मुद्रा' कहलाती है ।

८. **तड़ागी मुद्रा**—तड़ाग (तालाब) के सदृश कोष्ठ को वायु से भरने को तड़ागी मुद्रा कहते हैं । शवासन से चित्त लेटकर जिस नासिका का स्वर चल रहा हो, उससे पूरक करके तालाब के समान पेट को फैलाकर वायु से भर लेना चाहिए । तत्पश्चात् कुम्भक करते हुए वायु को पेट में इस प्रकार हिलावे, जिस प्रकार तालाब का जल हिलता है । कुम्भक के पश्चात् सावधानी से वायु का शनैः-शनैः रेचन कर दे, इससे पेट के सर्वरोग समूल नष्ट होते हैं ।

९. **विपरीतकरणीमुद्रा—शीर्षासन-कपालासन**—पहिले जमीन पर मुलायम गोल लपेटा हुआ वस्त्र रखकर उस पर अपने मस्तक को रखे । फिर दोनों हाथों के तलों को मस्तक के पीछे लगाकर शरीर को उलटा ऊपर उठाकर सीधा खड़ा कर दे । थोड़े ही प्रयत्न से मूल और उड्डीयान स्वयं लग जाता है । यह मुद्रा पद्मासन के साथ भी की जा सकती है । इसको ऊर्ध्व-पद्मासन कहते हैं । आरम्भ में इसको दीवार के सहारे करने में आसानी होगी ।

फल—वीर्यरक्षा, मस्तिष्क, नेत्र, हृदय तथा जठराग्नि का बलवान् होना, प्राण की गति स्थिर और शान्त होना, कब्ज, जुकाम, सिरदर्द आदि का दूर होना, रक्त का शुद्ध होना और कफ के विकार का दूर होना है ।

१०. **उन्मनी मुद्रा**—किसी सुख-आसन से बैठकर आधी खुली हुई और आधी बंद आँखों से नासिका के अग्रभाग पर टकटकी लगाकर देखते रहना यह 'उन्मनी मुद्रा' कहलाती है । इससे मन एकाग्र होता है ।

रुद्रयामलगत स्वरयोग

एकादश पटल में स्वरोदय पर विचार प्रस्तुत किया गया है । इस सम्बन्ध में द्वादश चक्रों का निर्माण और उनके स्वरज्ञान एवं वायु की गति को जानकर अपने प्रश्नों का विवेचन करना चाहिए । स्वर–योग के अन्य ग्रन्थों से इसे लेकर यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है –

नरपतिजयचर्या स्वरोदय: के 'मात्रास्वराऽध्याय:' में मात्रा स्वरों के विषय में इस प्रकार कहा गया है —

अथात: सम्प्रवक्ष्यामि ख्याता ये ब्रह्मयामले ।
मात्रादिभेदभिन्नानां स्वराणां षोडशोदयान् ॥ १ ॥
मातृकायां पुरा प्रोक्ता: स्वरा: षोडशसंख्यया ।
अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अ: ।
तेषां द्वावन्तिमौ (अं अ:) त्याज्यौ-चत्वारश्च(ऋ ॠ ऌ ॡ)नपुंसकौ ॥ २ ॥
शेषा दश स्वरास्तेषु स्यादेकैको द्विके द्विके ।
ज्ञेयास्तत्र स्वरा आद्या ह्रस्वा: (अ इ उ ए ओ) पञ्च स्वरोदये ॥ ३ ॥
लाभालाभं सुखं दु:खं जीवितं मरणं तथा ।
जय: पराजयश्चेति सर्वं ज्ञेयं स्वरोदये ॥ ४ ॥
स्वरादिमात्रिकोच्चारो मातृव्याप्तं जगत्त्रयम् ।
तस्मात्स्वरोद्भवं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ ५ ॥
अकाराद्या: स्वरा: पञ्च ब्रह्माद्या: पञ्चदेवता: ।
निवृत्त्याद्या: कला: पञ्च इच्छाद्या: शक्तिपञ्चकम् ॥ ६ ॥

अब मैं ब्रह्मयामल में कहे हुये मात्राभेद से भिन्न मातृकाचक्र में कहे हुये सोलह स्वरों को कह रहा हूँ । अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अ:—ये सोलह स्वर हैं । इनमें से दो अन्त के अं अ: त्याग देना चाहिए और चार ऋ ॠ ऌ ॡ—ये नपुंसक स्वर हैं । शेष दशस्वर (अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ) हैं । इनमें दो दो स्वरों का एक ही स्वर मानना चाहिए—जैसे अ आ को केवल अ मानना चाहिये । इस प्रकार पाँच ही अ, इ, उ, ए ओ स्वर मुख्य हैं । सभी चराचर पदार्थों के नामोच्चारण करने में अकारादि मातृका के बिना वर्णों का उच्चारण नहीं हो सकता है । इसलिये मातृका से तीनों जगत् व्याप्त है । अत: शुभाशुभ फल के कहने के लिये स्वरों की ही प्रधानता है । अकारादि अ, इ, उ, ए ओ स्वरों के क्रम से ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, सूर्य और चन्द्रमा स्वामी हैं, अर्थात् अकारादि स्वरों के उदयकाल में प्रश्नकर्त्ता इन्हीं देवताओं का स्मरण कर कार्य को करे एवं इन्हीं स्वरों के उदयकाल में निवृत्ति आदि क्रम से पाँच कलायें होती हैं । (निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति और अतिशान्ति) ये पाँच कलाओं के नाम हैं और इन्हीं स्वरों के उदयकाल में इच्छादि पाँच शक्तियाँ भी होती हैं । उनके नाम इच्छा, ज्ञान, प्रभा, श्रद्धा और मेधा है ॥ १-६ ॥

मायाद्याश्चक्रभेदाश्च धराद्यं भूतपञ्चकम् ।
शब्दादिविषयास्ते च कामबाणा इतीरिता: ॥ ७ ॥
पिण्ड पदं तथा रूपं रूपातीतं निरञ्जनम् ।
स्वरभेदस्थितं ज्ञानं ज्ञायते गुरुत: सदा ॥ ८ ॥
अकाराद्या: स्वरा: पञ्च तेषामष्टविधास्त्वमी ।
मात्रा वर्णो ग्रहो जीवो राशिर्भं पिण्डयोगकौ ॥ ९ ॥

प्रसुप्तो बुध्यते येन येनागच्छति शब्दितः ।
तत्र नामाद्यवर्णे या मात्रा मात्रास्वरः स हि ॥ १० ॥

अ, इ, उ, ए, ओ, ये प्रसिद्ध पाँच स्वर (ज्योतिषशास्त्र के स्वर भाग में) हैं । इन्हीं पाँच स्वरों के मायादि पाँच (चतुरस्र, अर्धचन्द्र, त्रिकोण, षट्कोण, वर्तुल) चक्रभेद हैं, अर्थात् इन स्वरों के उदय वाले अपने अपने चक्रों का पूजन करें या ग्रहण करें । ये ही स्वर गन्धादि पाँच विषय वाले हैं, अर्थात् अकार के उदय में गन्ध विषयक, इकारोदय में रसविषय, उकार में रूपविषय, एकारोदय में स्पर्शविषय और ओकार में शब्दविषय है । इन्हीं पाँच स्वरों के धरा आदि (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) पाँच तत्त्व हैं, अर्थात् अकार स्वर के उदय में पृथ्वीगत प्रश्न, इकार के उदय में जलगत, उकार में अग्निगत, एकार में वायुगत और ओकर के उदय में आकाशगत अर्थात् ऊर्ध्वगत प्रश्न है । इन्हीं पाँच स्वरों के पाँच कामबाण (शोषण, मोहन, दीपन, संतापन, प्रमथन) हैं । पिण्ड अर्थात् शरीर का जो तत्त्व, उसका जो स्वरूप, उसके ज्ञान को रूपातीत कहते हैं । उसको भी अतिक्रमण करने को निरंजन अर्थात् शून्य कहते हैं ।

अथवा इन पाँच स्वरों की जो पाँच (बाल, कुमार, युवा, वृद्ध मृत्यु या शून्य) अवस्थायें हैं । उन्हीं को क्रम से पिण्ड, पद, रूप, रूपातीत और निरंजन कहते हैं । यही पाँच अवस्थायें जीवधारियों की भी होती हैं । वेदान्तशास्त्र के पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश इन पञ्चतत्त्वों के पञ्चीकरण से जैसे ब्रह्म प्राप्ति होती है, वैसे ही यहाँ भी योगाभ्यास और गुरुमुख से अध्ययन द्वारा रहस्यमय उक्त ज्यौतिषशास्त्र का एवं रहस्यमय स्वरशास्त्र का ज्ञान भी परमार्थप्राप्ति का परम साधन बताया गया है । किन्तु इन पाँच स्वरों का भेद स्वरों में ही स्थित है जो कि गुरुमुख से ही जाना जा सकता है । जैसे सदानन्द के नाम में अकार है । अतः सदानन्द का अकार मात्रास्वर हुआ । शेष चक्र से स्पष्ट है ॥ ७-१० ॥

कादिहान्तं लिखेद्वर्णान् स्वराधो ङञणोज्झितान् ।
(ककारादिहकारान्ताल्लिखेद्वर्णान्स्वराधो ङञणोज्झितान्)
तिर्यक्पंक्तिक्रमेणैव पञ्चत्रिंशत्प्रकोष्ठके ॥ ११ ॥
नरनामादिमो वर्णो यस्मात्स्वरादधः स्थितः ।
स स्वरस्तस्य वर्णस्य वर्णस्वर इहोच्यते ॥ १२ ॥
न प्रोक्ता ङञणा वर्णा नामादौ सन्ति ते नहि ।
चेद्भवन्ति तदा ज्ञेया गजडास्ते यथाक्रमम् ॥ १३ ॥
यदि नाम्नि भवेद्वर्णः संयुक्ताक्षरलक्षणः ।
ग्राह्यस्तदादिमो वर्ण इत्युक्तं ब्रह्मयामले ॥ १४ ॥

श्लोक ११-१४ को समझने के लिये आचार्य ने चक्र बनाने का संकेत दिया है, उसे देखकर विषय अतिस्पष्ट हो जाता है । अकारादि पाँचों स्वरों के नीचे क्रम से आरम्भ कर ह पर्यन्त वर्णों को तिर्यक् क्रम से ३५ कोष्ठों में लिखे । किन्तु ङ ञ ण वर्णों को न लिखे । मनुष्य के नाम का प्रथम वर्ण, जिस स्वर के नीचे हो वही उसका

वर्णस्वर होता है । ङ ञ, ण, वर्णों को नहीं कहा गया है क्योंकि प्राय: मनुष्य के नाम के आदि में ये वर्ण नहीं पाये जाते हैं । यदि कहीं किसी के नाम के आदि में हो तो इनके स्थान में क्रम से ग, ज, ड वर्णों को समझना चाहिये, अर्थात् ग, ज, ड वर्णों के जो वर्णस्वर हों वही उन वर्णों के होंगे । यदि नाम के आदि में संयुक्ताक्षर हो तो वहाँ संयुक्ताक्षर में पहला वर्ण लेना चाहिये—ऐसा ब्रह्मयामल में कहा है । जैसे सदानन्द के नाम में आदि वर्ण स है । वह चक्र में ए स्वर के नीचे है । अत: सदानन्द का एकार वर्णस्वर है । इसी प्रकार श्रीपति के नाम में संयुक्ताक्षर का प्रथम वर्ण श है और वह इकार के नीचे है । इसलिये श्रीपति का इकार वर्णस्वर है । वर्णों में विशेष – स्वरशास्त्र में अ ब, श स, च ख, ङ, ञ, ये सजातीय माने जाते हैं । इतिवर्णस्वर: ॥ ११-१४ ॥

यदि एक व्यक्ति के दो तीन नामोपनाम हों तो कौन नाम से स्वर विचारा जाय? इसका यही समाधान शास्त्र में है । **प्रसुप्तो भासते येन येनागच्छति शब्दित:** अर्थात् सोया हुआ पुरुष जिस नाम के उच्चारण से जागरूक हो उसके उसी नाम से स्वर विचारना चाहिए ।

मात्रास्वरचक्रम्

बाल	कुमार	युवा	वृद्ध	मृत	अवस्था
अ	इ	उ	ए	ओ	स्वरा:
क	कि	कु	के	को	
ख	खि	खु	खे	खो	
ग	गि	गु	गे	गो	
घ	घि	घु	घे	घो	
च	चि	चु	चे	चो	
छ	छि	छु	छे	छो	
ज	जि	जु	जे	जो	
झ	झि	झु	झे	झो	
ट	टि	टु	टे	टो	
ठ	ठि	ठु	ठे	ठो	
ड	डि	डु	डे	डो	
ढ	ढि	ढु	ढे	ढो	
त	ति	तु	ते	तो	
थ	थि	थु	थे	थो	
द	दि	दु	दे	दो	
ध	धि	धु	धे	धो	

बाल	कुमार	युवा	वृद्ध	मृत	अवस्था
प	पि	पु	पे	पो	
फ	फि	फु	फे	फो	
ब	बि	बु	बे	बो	
भ	भि	भु	भे	भो	
म	मि	मु	मे	मो	
य	यि	यु	ये	यो	
र	रि	रु	रे	रो	
ल	लि	लु	ले	लो	
व	वि	वु	वे	वो	
श	शि	शु	शे	शो	
ष	षि	षु	षे	षो	
स	सि	सु	से	सो	
ह	हि	हु	हे	हो	
ब्रह्मा	विष्णु	रुद्र	सूर्य	चन्द्र	देवता
निवृत्ति	प्रतिष्ठा	विद्या	शान्ति	अतिशान्ति	कलाः
इच्छा	ज्ञान	प्रभा	श्रद्धा	मेधा	शक्ति
चतुरस्र	अर्द्धचन्द्र	त्रिकोण	षट्कोण	वर्तुल	चक्र
धरा	जल	अग्नि	वायु	आकाश	पञ्चभूत
गंध	रस	रूप	स्पर्श	शब्द	विषय
पिण्ड	पद	रूप	रूपातीत	निरंजन	संज्ञा

वर्णस्वरचक्रम्

बाल	कुमार	युवा	वृद्ध	मृत (शून्य)
अ	इ	उ	ए	ओ
क	ख	ग	घ	च
छ	ज	झ	ट	ठ
ड	ढ	त	थ	द
ध	न	प	फ	ब
भ	म	य	र	ल
व	श	ष	स	ह

स्वर-विज्ञान और बिना औषध रोगनाश के उपाय

विश्वपिता विधाता ने मनुष्य के जन्म के समय में ही देह के साथ एक ऐसा आश्चर्यजनक कौशलपूर्ण अपूर्व उपाय रच दिया है, जिसे जान लेने पर सांसारिक, वैषयिक किसी भी कार्य में असफलता का दु:ख नहीं हो सकता । हम इस अपूर्व कौशल को नहीं जानते । इसी कारण हमारा कार्य असफल हो जाता है, आशा भङ्ग हो जाती है । हमें मनस्ताप और रोग भोगना पड़ता है । यह विषय जिस शास्त्र में है, उसे **स्वरोदयशास्त्र** कहते हैं । यह स्वरशास्त्र जैसा दुर्लभ है, स्वरज्ञ गुरु का भी उतना ही अभाव है । स्वरशास्त्र प्रत्यक्ष फल देने वाला है । मुझे पद-पद पर इसका प्रत्यक्ष फल देखकर आश्चर्यचकित होना पड़ा है । समग्र स्वरशास्त्र को ठीक-ठीक लिपिबद्ध करना बिलकुल असम्भव है । केवल साधकों के काम की कुछ बातें यहाँ संक्षेप में दी जा रही हैं ।

स्वरशास्त्र सीखने के लिये श्वास-प्रश्वास की गति के सम्बन्ध में सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है ।

कायानगरमध्ये तु मारुत: क्षितिपालक: ।

'देहरूपी नगर में वायु राजा के समान है ।' प्राणवायु 'नि:श्वास' और 'प्रश्वास'—इन दो नामों से पुकारा जाता है । वायु ग्रहण करने का नाम 'नि:श्वास' और वायु के परित्याग करने का नाम 'प्रश्वास' है । जीव के जन्म से मृत्यु के अन्तिम क्षण तक निरन्तर श्वास-प्रश्वास की क्रिया होती रहती है । यह नि:श्वास नासिका के दोनों छेदों से एक ही समय एक साथ समानरूप से नहीं चला करता । कभी बायें और कभी दाहिने पुट से चलता है । कभी-कभी एकाध घड़ी तक एक ही समय दोनों नाकों से समानभाव से श्वास प्रवाहित होता है ।

बायें नासापुट के श्वास को इडा में चलना, दाहिनी नासिका के श्वास को पिंगला में चलना और दोनों पुटों से एक समान चलने पर उसे सुषुम्ना में चलना कहते हैं । एक नासापुट को दबाकर दूसरे द्वारा श्वास को बाहर निकालने पर यह साफ मालूम हो जाता है कि एक नासिका से सरलतापूर्वक श्वास-प्रवाह चल रहा है और दूसरा नासापुट मानो बन्द है, अर्थात् उससे दूसरी नासिका की तरह सरलतापूर्वक श्वास बाहर नहीं निकलता । जिस नासिका से सरलतापूर्वक श्वास बाहर निकलता हो, उस समय उसी नासिका का श्वास कहना चाहिये । किस नासिका से श्वास बाहर निकल रहा है, इसको पाठक उपर्युक्त प्रकार से समझ सकते हैं । क्रमश: अभ्यास होने पर बहुत आसानी से मालूम होने लगता है कि किस नासिका से नि:श्वास प्रवाहित होता है । प्रतिदिन प्रात:काल सूर्योदय के समय से ढाई-ढाई घड़ी के हिसाब से एक-एक नासिका से श्वास चलता है । इस प्रकार रात-दिन में बारह बार बायीं और बारह बार दाहिनी नासिका से क्रमानुसार श्वास चलता है । किस दिन किस नासिका से पहले श्वास-क्रिया होती है, इसका एक निर्दिष्ट नियम है । यथा -

आदौ चन्द्रः सिते पक्षे भास्करस्तु सितेतरे ।
प्रतिपत्तो दिनान्याहुस्त्रीणि त्रीणि क्रमोदये ।। (पवनविजयस्वरोदय)

शुक्लपक्ष की प्रतिपदा तिथि तीन-तीन दिन की बारी से चन्द्र अर्थात् बायीं नासिका से तथा कृष्णपक्ष की प्रतिपदा तिथि से तीन-तीन दिन की बारी से सूर्यनाडी अर्थात् दाहिनी नासिका से पहले श्वास प्रवाहित होता है । अर्थात् शुक्लपक्ष की प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, त्रयोदशी, चतुर्दशी, पूर्णिमा-इन नौ दिनों में प्रातःकाल सूर्योदय के समय पहले बायीं नासिका से तथा चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, दशमी, एकादशी, द्वादशी-इन छः दिनों को प्रातःकाल पहले दाहिनी नासिका से श्वास चलना आरम्भ होता है और वह ढाई घड़ी तक रहता है । उसके बाद दूसरी नासिका से श्वास जारी होता है । कृष्णपक्ष की प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, त्रयोदशी, चतुर्दशी, अमावास्या—इन नौ दिनों में सूर्योदय के समय पहले दाहिनी नासिका से तथा चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, दशमी, एकादशी, द्वादशी-इन छः दिनों में सूर्य के उदयकाल में पहले बायीं नासिका से श्वास आरम्भ होता है और ढाई घड़ी के बाद दूसरी नासिका से चलता है । इस प्रकार नियमपूर्वक ढाई-ढाई घड़ी तक एक-एक नासिका से श्वास चलता है । यही मनुष्य-जीवन में श्वास की गति का स्वाभाविक नियम है ।

वहेत्तावद् घटीमध्ये पञ्चतत्त्वानि निर्दिशेत् । (स्वरशास्त्र)

प्रतिदिन रात-दिन की ६० घड़ियों में ढाई-ढाई घड़ी के हिसाब से एक-एक नासिका से निर्दिष्ट क्रम से श्वास चलने के समय क्रमशः पञ्चतत्त्वों का उदय होता है । इस श्वास-प्रश्वास की गति को समझकर कार्य करने पर शरीर स्वस्थ रहता है और मनुष्य दीर्घजीवी होता है, फलस्वरूप सांसारिक, वैषयिक-सब कार्यों में सफलता मिलने के कारण सुखपूर्वक संसार-यात्रा पूरी होती है ।

वाम नासिका (इडा नाड़ी) का श्वासफल

जिस समय इडा नाडी से अर्थात् बायीं नासिका से श्वास चलता हो, उस समय स्थिर कर्मों को करना चाहिये । जैसे—अलंकारधारण, दूर की यात्रा, आश्रम में प्रवेश, राजमन्दिर तथा महल बनाना एवं द्रव्यादि का ग्रहण करना । तालाब, कुआँ आदि जलाशय तथा देवस्तम्भ आदि की प्रतिष्ठा करना । इसी समय यात्रा, दान, विवाह, नया कपड़ा पहनना, शान्तिकर्म, पौष्टिक कर्म, दिव्यौषधसेवन, रसायनकार्य, प्रभुदर्शन, मित्रतास्थापन एवं बाहर जाना आदि शुभ कार्य करना चाहिये । बायीं नाक से श्वास चलने के समय शुभ कार्य करने पर उन सब कार्यों में सिद्धि मिलती है । परंतु वायु, अग्नि और आकाश तत्त्व के उदय के समय उक्त कार्य नहीं करना चाहिये ।

दक्षिण नासिका (पिङ्गला नाड़ी) का श्वासफल

जिस समय पिंगला नाडी अर्थात् दाहिनी नाक से श्वास चलता हो, उस समय कठिन कर्म करना चाहिये । जैसे—कठिन क्रूर विद्या का अध्ययन और अध्यापन,

स्त्रीसंसर्ग, नौकादि आरोहण, तान्त्रिकमतानुसार वीरमन्त्रादिसम्मत उपासना, वैरी को दण्ड, शस्त्राभ्यास, गमन, पशुविक्रय, ईंट, पत्थर, काठ तथा रत्नादि का घिसना और छीलना, संगीत अभ्यास, यन्त्र-तन्त्र बनाना, किले और पहाड़ पर चढ़ना, हाथी-घोड़ा तथा रथ आदि की सवारी सीखना, व्यायाम, षट्कर्मसाधन, यक्षिणी-बेताल तथा भूतादिसाधन, औषध सेवन, लिपि-लेखन, दान, क्रय-विक्रय, युद्ध, भोग, राजदर्शन, स्नानाहार आदि।

दोनों नासिका (सुषुम्ना नाड़ी) का श्वासफल

दोनों नासा छिद्रों से श्वास चलने के समय किसी प्रकार का शुभ या अशुभ कार्य नहीं करना चाहिये । उस समय कोई भी काम करने से वह निष्फल होगा । उस समय योगाभ्यास और ध्यानधारणादि के द्वारा केवल भगवान् को स्मरण करना उचित है । सुषुम्ना नाडी से श्वास चलने के समय किसी को भी शाप या वरप्रदान करने पर वह सफल होता नहीं है ।

इस प्रकार श्वास-प्रश्वास की गति जानकर, तत्त्वज्ञान के अनुसार, तिथि-नक्षत्र के अनुसार, ठीक-ठीक नियमपूर्वक सब कर्मों को करने पर आशाभङ्गजनित मनस्ताप आदि नहीं भोगना पड़ता ।

रोगोत्पत्ति का पूर्ण ज्ञान और उसका प्रतीकार

प्रतिपदा आदि तिथियों को यदि निश्चित नियम के विरुद्ध श्वास चले तो समझना चाहिये कि निस्संदेह कुछ अमङ्गल होगा । जैसे,

१. शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को सबेरे नींद टूटने पर सूर्योदय के समय पहले यदि दाहिनी नाक से श्वास चलना आरम्भ हो तो उस दिन से पूर्णिमा तक के बीच गर्मी के कारण शरीर में कोई पीड़ा होगी और

२. कृष्णपक्ष की प्रतिपदा तिथि को सूर्योदय के समय पहले बायीं नाक से श्वास चलना आरम्भ हो तो उस दिन से अमावास्या तक के अंदर कफ या सर्दी के कारण कोई पीड़ा होगी, इसमें संदेह नहीं ।

दो पखवाड़ों तक इसी प्रकार विपरीत ढंग से सूर्योदय के समय निःश्वास चलता रहे तो किसी आत्मीय स्वजन को भारी बीमारी होगी अथवा मृत्यु होगी या और किसी प्रकार की विपत्ति आयेगी । तीन पखवाड़ों से ऊपर लगातार गड़बड़ होने पर निश्चय ही अपनी मृत्यु हो जायेगी ।

प्रतीकार — शुक्ल अथवा कृष्णपक्ष की प्रतिपदा के दिन प्रातःकाल यदि इस प्रकार विपरीत ढंग से निःश्वास चलने का पता लग जाय तो उस नासिका को कई दिनों तक बंद रखने से रोग उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं रहती । उस नासिका को इस तरह बंद रखना चाहिये, जिसमें उससे निःश्वास न चले । इस प्रकार कुछ दिनों तक दिन-रात निरन्तर (स्नान और भोजन का समय छोड़कर) नाक बंद रखने से उक्त तिथियों के भीतर बिलकुल ही कोई रोग नहीं होगा ।

यदि असावधानी के कारण निःश्वास में गड़बड़ी हो और कोई रोग उत्पन्न हो जाय तो जब तक रोग दूर न हो जाय, तब तक ऐसा करना चाहिये कि जिससे शुक्लपक्ष में दाहिनी और कृष्णपक्ष में बायीं नासिका से श्वास न चले । ऐसा करने से रोग शीघ्र दूर हो जायगा और यदि कोई भारी रोग होने की सम्भावना होगी तो वह भारी न होकर बहुत सामान्य रूप में होगा और फिर थोड़े ही दिनों में दूर हो जायगा । ऐसा करने से न तो रोगजनित कष्ट भोगना पड़ेगा और न चिकित्सक को धन ही देना पड़ेगा ।

नासिका बन्द करने का नियम

नाक के छेद में घुस सके इतनी-सी पुरानी साफ रूई लेकर उसकी गोल पोटली-सी बना ले और उसे साफ बारीक कपड़े से लपेटकर सी ले । फिर इस पोटली को नाक के छिद्र में घुसाकर छिद्र को इस प्रकार बन्द कर दे जिसमें उस नाक से श्वास-प्रश्वास का कार्य बिल्कुल ही न हो । जिन लोगों को कोई शिरो रोग है अथवा जिनका मस्तक दुर्बल हो, उन्हें रूई से नाक बंद न कर, सिर्फ साफ पतले कपड़े की पोटली बनाकर उसी से नाक बंद करनी चाहिये ।

किसी भी कारण से हो, जितने क्षण या जितने दिन नासिका बंद रखने की आवश्यकता हो उतने क्षण या उतने दिनों तक अधिक परिश्रम का कार्य, धूम्रपान, जोर से चिल्लाना, दौड़ना आदि नहीं करना चाहिये । जब जिस-किसी कारण से नाक बन्द रखने की आवश्यकता हो, तभी इन नियमों का पालन अवश्य करना चाहिये । नयी अथवा बिना साफ की हुई मैली रूई नाक में कभी नहीं डालनी चाहिये ।

निःश्वास बदलने की विधि

कार्यभेद से तथा अन्यान्य अनेक कारणों से एक नासिका से दूसरी नासिका में वायु की गति बदलने की भी आवश्यकता हुआ करती है । कार्य के अनुकूल नासिका से श्वास चलना आरम्भ होने तक, उस कार्य को न करके चुपचाप बैठे रहना किसी के लिये भी सम्भव नहीं । अतएव अपनी इच्छानुसार श्वास की गति बदलने की क्रिया सीख लेना नितान्त आवश्यक है । इसकी क्रिया अत्यन्त सहज है, सामान्य चेष्टा से ही श्वास की गति बदली जा सकती है ।

१. जिस नासिका से श्वास चलता हो, उसके विपरीत दूसरी नासिका को अँगूठे से दबा देना चाहिये और जिससे श्वास चलता हो उसके द्वारा वायु खींचना चाहिये । फिर उसको दबाकर दूसरी नासिका से वायु को निकालना चाहिये । कुछ देर तक इसी तरह एक से श्वास लेकर दूसरी से निकालते रहने से अवश्य श्वास की गति बदल जायगी ।

२. जिस नासिका से श्वास चलता हो उसी करवट सोकर यह क्रिया करने से बहुत जल्द श्वास की गति बदल जाती है और दूसरी नासिका में श्वास प्रवाहित होने लगता है । इस क्रिया के बिना भी जिस नाक से श्वास चलता है, केवल उस करवट कुछ समय तक सोये रहने से भी श्वास की गति पलट जाती है ।

इस प्रकार जो अपनी इच्छानुसार वायु को रोक सकता है और निकाल सकता है वही पवन पर विजय प्राप्त करता है ।

बिना औषध के रोगनिवारण

अनियमित क्रिया के कारण जिस तरह मानव-देह में रोग उत्पन्न होते हैं, उसी तरह औषध के बिना ही भीतरी क्रियाओं के द्वारा नीरोग होने के उपाय भगवान् के बनाये हुए हैं । हमलोग उस भगवत्प्रदत्त सहज कौशल को नहीं जानते, इसी कारण दीर्घकाल तक रोग का दु:ख भोगते रहते हैं । यहाँ रोगों के निदान के लिय स्वरशास्त्रोक्त कुछ यौगिक उपायों का उल्लेख किया गया है । इनके प्रयोग से विशेष लाभ हो सकता है –

१. ज्वर में स्वर परिवर्तन—ज्वर का आक्रमण होने पर अथवा आक्रमण की आशङ्का होने पर जिस नासिका से श्वास चलता हो, उस नासिका को बंद कर देना चाहिये । जब तक ज्वर न उतरे और शरीर स्वस्थ न हो जाय, तब तक उस नासिका को बंद ही रखना चाहिये । ऐसा करने से दस-पंद्रह दिनों में उतरने वाला ज्वर पाँच ही सात दिनों में अवश्य ही उतर जायगा । ज्वरकाल में मन-ही-मन सदा चाँदी के समान श्वेत वर्ण का ध्यान करने से और भी शीघ्र लाभ होता है । सिन्दुवार की जड़ रोगी के हाथ में बाँध देने से सब प्रकार के ज्वर निश्चय ही दूर हो जाते हैं ।

अँतरिया ज्वर—श्वेत अपराजिता अथवा पलाश के कुछ पत्तों को हाथ से मलकर, कपड़े से लपेटकर एक पोटली बना लेनी चाहिये और जिस दिन ज्वर की बारी हो उस दिन सबेरे से ही उसे सूँघते रहना चाहिये । अँतरिया ज्वर बंद हो जायगा ।

२. सिरदर्द में स्वर परिवर्तन—सिरदर्द होने पर दोनों हाथों की केहुनी के ऊपर धोती के किनारे अथवा रस्सी से खूब कसकर बाँध देना चाहिये । इससे पाँच-सात मिनट में ही सिरदर्द जाता रहेगा । केहुनी पर इतने जोर से बाँधना चाहिये कि रोगी को हाथ में अत्यन्त दर्द मालूम हो । सिरदर्द अच्छा होते ही बाँहें खोल देनी चाहिये ।

एक दूसरे प्रकार का सिरदर्द होता है, जिसे साधारणत: 'अधकपाली' या 'आधासीसी' कहते हैं । कपाल के मध्य से बायीं या दाहिनी ओर आधे कपाल और मस्तक में अत्यन्त पीड़ा मालूम होती है । प्राय: यह पीड़ा सूर्योदय के समय आरम्भ होती है और दिन चढ़ने के साथ-साथ यह भी बढ़ती जाती है । दोपहर के बाद घटनी शुरू होती है और शाम तक प्राय: नहीं ही रहती । इस रोग का आक्रमण होने पर जिस तरफ के कपाल में दर्द हो, ऊपर लिखे-अनुसार उसी तरफ की केहुनी के ऊपर जोर से रस्सी बाँध देनी चाहिये । थोड़ी ही देर में दर्द शान्त हो जायगा और रोग जाता रहेगा । दूसरे दिन यदि फिर दर्द शुरू हो और रोज एक ही नासिका से श्वास चलते समय शुरू होता हो तो सिरदर्द मालूम होते ही उस नाक को बंद कर देना चाहिये और हाथ को भी बाँध रखना चाहिये । 'अधकपाली' सिरदर्द में इस क्रिया से होने वाले आश्चर्यजनक फल को देखकर साधक चकित रह जाते हैं ।

शिर: पीडा—शिर:पीडाग्रस्त रोगी को प्रात:काल शय्या से उठते ही नासापुट से शीतल जल पीना चाहिये । इससे मस्तिष्क शीतल रहेगा, सिर भारी नहीं होगा और सर्दी नहीं लगेगी । यह क्रिया विशेष कठिन भी नहीं है । एक बरतन में ठंडा जल भरकर उसमें नाक डुबाकर धीरे-धीरे गले के भीतर जल खींचना चाहिये । क्रमश: अभ्यास से यह क्रिया सहज हो जायगी । शिर:पीडा होने पर चिकित्सक रोगी के आरोग्य होने की आशा छोड़ देता है, रोगी को भी भीषण कष्ट होता है, परंतु इस उपाय से काम लेने पर निश्चय ही आशातीत लाभ पहुँचता है ।

३. उदरामय, अजीर्णादि में स्वर परिवर्तन—भोजन, जलपान आदि जब जो कुछ खाना हो वह दाहिनी नाक से श्वास चलते समय खाना चाहिये । प्रतिदिन इस नियम से आहार करने से वह बहुत आसानी से पच जायगा और कभी अजीर्ण का रोग नहीं होगा । जो लोग इस रोग से कष्ट पा रहे हैं, वे भी यदि इस नियम के अनुसार रोज भोजन करें तो खाए हुए पदार्थ पच जायेगें और धीरे-धीरे उनका रोग दूर हो जायगा । भोजन के बाद थोड़ी देर बायीं करवट सोना चाहिये । जिन्हें समय न हो उन्हें ऐसा उपाय करना चाहिये कि जिससे भोजन के बाद दस-पंद्रह मिनट तक दाहिनी नाक से श्वास चले अर्थात् पूर्वोक्त नियम के अनुसार रूई द्वारा बायीं नाक बंद कर देनी चाहिये । गुरुपाक (भारी) भोजन होने पर भी इस नियम से वह शीघ्र पच जाता है ।

यौगिक उपाय

स्थिरता के साथ बैठकर एकटक नाभिमण्डल में दृष्टि जमाकर नाभिकन्द का ध्यान करने से एक सप्ताह में उदरामय रोग दूर हो जाता है । श्वास रोककर नाभि को खींचकर नाभि की ग्रन्थि को एक सौ बार मेरुदण्ड से मिलाने से आमादि उदरामयजनित सब तरह की पीड़ाएँ दूर हो जाती हैं और जठराग्नि तथा पाचनशक्ति बढ़ जाती है ।

१. प्लीहा— रात को बिछौने पर सोकर और सबेरे शय्या-त्याग के समय हाथ और पैरों को सिकोड़कर छोड़ देना चाहिये । फिर कभी इस करवट कभी उस करवट टेढ़ा-मेढ़ा शरीर करके सारे शरीर को सिकोड़ना और फैलाना चाहिये । प्रतिदिन चार-पाँच मिनट ऐसा करने से प्लीहा-यकृत् (तिल्ली, लीवर) रोग दूर हो जायगा । सर्वदा इसका अभ्यास करने से प्लीहा-यकृत् रोग की पीड़ा कभी नहीं भोगनी पड़ेगी।

२. दन्तरोग—प्रतिदिन जितनी बार मल-मूत्र का त्याग करे, उतनी बार दाँतों की दोनों पंक्तियों को मिलाकर जरा जोर से दबाये रखे । जब तक मल या मूत्र निकलता रहे तब तक दाँतों से दाँत मिलाकर इस प्रकार दबाये रहना चाहिये । दो-चार दिन ऐसा करने से कमजोर दाँतों की जड़ मजबूत हो जायगी । सदा इसका अभ्यास करने से दन्तमूल दृढ़ हो जाता है और दाँत दीर्घ काल तक काम देते हैं तथा दाँतों में किसी प्रकार की बीमारी होने का कोई डर नहीं रहता ।

३. स्नायविक वेदना—छाती, पीठ या बगल में—चाहे जिस स्थान में स्नायविक वेदना या अन्य किसी प्रकार की वेदना हो, वेदना मालूम होते ही जिस

नासिका से श्वास चलता हो उसे बंद कर देना चाहिये, दो-चार मिनट बाद अवश्य ही वेदना शान्त हो जायगी ।

४. दमा या श्वासरोग—जब दमें का जोर का दौरा हो तब जिस नासिका से नि:श्वास चलता हो, उसे बंद करके दूसरी नासिका से श्वास चला देना चाहिये । दस-पंद्रह मिनट में दमे का जोर कम हो जायगा । प्रतिदिन इस प्रकार करने से महीने भर में पीड़ा शान्त हो जायेगी । दिन में जितने ही अधिक समय तक यह क्रिया की जायगी, उतना ही शीघ्र यह रोग दूर होगा । दमा के समान कष्टदायक कोई रोग नहीं, दमा का जोर होने पर यह क्रिया करने से बिना किसी दवा के बीमारी अच्छी हो जाती है ।

५. वात—प्रतिदिन भोजन के बाद कंघी से सिर वाहना चाहिये । कंघी इस प्रकार चलानी चाहिये जिसमें उसके काँटे सिर को स्पर्श करें । उसके बाद वीरासन लगाकर अर्थात् दोनों पैर पीछे की ओर मोड़कर उनके ऊपर दबाकर १५ मिनट बैठना चाहिये । प्रतिदिन दोनों समय भोजन के बाद इस प्रकार बैठने से कितना भी पुराना वात क्यों न हो, निश्चय ही अच्छा हो जायगा । अगर स्वस्थ आदमी इस नियम का पालन करे तो उसके वातरोग होने की कोई आशङ्का नहीं रहेगी । कहना न होगा कि रबड़ की कंघी का व्यवहार नहीं करना चाहिये ।

६. नेत्ररोग—प्रतिदिन सबेरे बिछौने से उठते ही सबसे पहले मुँह में जितना पानी भरा जा सके, उतना भरकर दूसरे जल से आँखों को बीस बार झपटा मारकर धोना चाहिये । प्रतिदिन दोनों समय भोजन के बाद हाथ-मुँह धोते समय कम-से-कम सात बार आँखों में जल का झपटा देना चाहिये । जितनी बार मुँह में जल डाले, उतनी बार आँख और मुँह को धोना न भूले । प्रतिदिन स्नान के वक्त तेल मालिश करते समय सबसे पहले दोनों पैरों के अँगूठों के नखों को तेल से भर देना चाहिये और फिर तेल लगाना चाहिये ।

ये कुछ नियम नेत्रों के लिये विशेष लाभदायक हैं । इनसे दृष्टिशक्ति सतेज होती है, आँखें स्निग्ध रहती हैं और आँखों में कोई बीमारी होने की सम्भावना नहीं रहती । नेत्र मनुष्य के परम धन हैं । अतएव प्रतिदिन नियम-पालन में कभी आलस्य नहीं करना चाहिये ।

हठयोग के षट्कर्म

रुद्रयामल के चौंतीसवें और पैंतीसवें पटल में नेती, दन्ती, धौती, नेउली और क्षालन – इन पञ्च स्वर योगों को कहा गया है । हठयोग प्रदीपिका में इन्हीं का विस्तार है । अत: उन्हें वहीं से लेकर यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है ।

इस परिदृश्यमान चराचर विश्व प्रपञ्च का उपादान कारण प्रकृति है । मूल प्रकृति त्रिगुणात्मक होने से प्राणिमात्र के शरीर वात, पित्त, कफ—इन त्रिधातुओं के नाना प्रकार के रूपान्तरों के सम्मिश्रण हैं । अत: अनेक शरीर वातप्रधान, अनेक पित्तप्रधान

और अनेक कफप्रधान होते हैं । वातप्रधान शरीरों में आहार-विहार के दोष से तथा देश-कालादि हेतु से प्राय: वातवृद्धि हो जाती है । पित्तप्रधान शरीरों में पित्तविकृति और कफोल्वण शरीरों में प्राय: कफ-प्रकोप हो जाता है । कफ-धातु के विकृत होने पर दूषित श्लेष्म, आमवृद्धि या मेद का संग्रह हो जाता है । पश्चात् इन मलों के प्रकुपित होने से नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होने लगते हैं । इन व्याधियों को उत्पन्न न होने देने के लिये और यदि हो गये तो उन्हें दूर करके पुन: देह को पूर्ववत् स्वस्थ बनाने के लिये जैसे आयुर्वेद के प्राचीन आचार्यों ने स्नेहपान, स्वेदन, वमन, विरेचन और वस्ति-ये पञ्चकर्म कहे हैं, वैसे ही हठयोग के प्रवर्तक महर्षियों ने साधकों के कफप्रधान शरीर की शुद्धि के लिये षट्कर्म निश्चित किये हैं । ये षट्कर्म सब साधकों को करने ही चाहिये, ऐसा आग्रह नहीं है ।

हठयोग के ग्रन्थों में षट्कर्म के कर्तव्याकर्तव्यपर विचार किया गया है । हठयोग के षट्कर्म से जो लाभ होते हैं, वे लाभ प्राणायाम से भी प्राप्त होते हैं । अन्तर केवल समय का है । परन्तु जिस घर में गंदगी इतनी फैल गयी हो कि साधारण झाड़ू से न हटायी जा सके, उसमें कुदाल और टोकरी की आवश्यकता आ पड़ेगी । इसी प्रकार शरीर के एकत्रित मल को शीघ्र हटाने के लिये षट्कर्म की आवश्यकता है । इसी कारण –

मेद: श्लेष्माधिक: पूर्वं षट् कर्माणि समाचरेत् ।
अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावत: ।। (हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् जिस पुरुष के मेद और श्लेष्मा अधिक हों वह पुरुष प्राणायाम के पहले इन छ: कर्मों को करे और इनके न होने से दोषों की समानता के कारण न करे । इतना ही नहीं, योगीन्द्र स्वात्माराम कारण न करे । इतना ही नहीं, योगीन्द्र स्वात्माराम आगे चलकर षट्कर्मों को 'घटशोधनकारकम्' अर्थात् देह को शुद्ध करने वाले और 'विचित्रगुणसंधायि' अर्थात् विचित्र गुणों का संधान करने वाले भी कहते हैं ।

यह बात सत्य है कि षट्कर्मों के बिना ही पहले योगसाधन किया जाता था । समय और अनुभव ने दिखाया कि प्राणायाम से जितने समय में मल दूर किया जाता था, उससे कम समय में षट्कर्मों द्वारा मल दूर किया जा सकता है । इन कर्मों की उन्नति होती गयी और छ: से ये कर्म दस हो गये । पीछे गुरुपरम्परा से प्राप्त गुप्तविद्या लुप्त होने लगी । तब तो ये कर्म पूरे जाँचे हुए षट्कर्म तक ही परिमित रह गये । इन षट्कर्मों से लाभ है, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता । यह बात दूसरी है कि सबकी इधर प्रवृत्ति न हो और सब इन्हें न कर सकते हों ।

एक बात और है । वर्तमान समय में अनेक योगाभ्यासी मूल उद्देश्य को न समझने के कारण शरीर में त्रिधातु सम होने पर भी नित्य षट्कर्म करते रहते हैं और अपने शिष्यों को भी जीवनपर्यन्त नियमित रीति से करते रहने का उपदेश देते हैं । यदि शरीरशुद्धि के लिये अथवा इन क्रियाओं पर अपना अधिकार रखने के लिये प्रारम्भ में

सिखाया जाय तो कोई आपत्ति नहीं । कारण, भविष्य में कदाचित् देश-कालपरिवर्तन, प्रमाद या आहार-विहार में भूल से वातादि धातु विकृत हो जायँ तो शीघ्र क्रिया द्वारा उनका शमन किया जा सकता है । परंतु आवश्यकता न होने पर भी नित्य करते रहने से समय का अपव्यय, शारीरिक निर्बलता और मानसिक प्रगति में शिथिलता आ जाती है ।

षट्कर्म के नाम— 'हठयोगप्रदीपिका' ग्रन्थ के कर्ता स्वात्माराम योगी ने १. धौति, २. वस्ति[१], ३. नेति, ४. नौलि, ५. कपालभाति और ६. त्राटक को षट्कर्म कहा है । आगे चलकर गजकरणी का भी वर्णन किया है । परन्तु हिन्दी में 'भक्तिसागर' ग्रन्थ के रचयिता चरणदास ने १. नेति, २. धौति, ३. वस्ति, ४. गजकर्म, ५. न्योली और ६. त्राटक को षट्कर्म कहा है । फिर १. कपालभाति, २. धौंकनी, ३. बाघी और ४. शंखपषाल—इन चार कर्मों का नाम लेकर उन्हें षट्कर्मों के अन्तर्गत कर दिया है । दोनों में गजकर्म और कपालभाति को षट्कर्म के अंदर रखने में अन्तर पड़ता है । चूँकि ये षट्कर्म के शाखामात्र हैं, अतएव इस विभेद का कोई वास्तविक अर्थ नहीं होता ।

षट्कर्म में नियम—षट्कर्म-साधक को हठयोग में दर्शाये हुए स्थान, भोजन, आचार-विचार आदि नियमों को मानना परमावश्यक है । यहां यही कहा जा सकता है कि स्थान रमणीक और निरापद, भोजन सात्त्विक तथा परिमित होना चाहिये । एकान्तसेवन, कम बोलना, वैराग्य, साहस इत्यादि बातें आचार-विचार से समझनी चाहिये ।

१. नौलि (= नौलिक, नलक्रिया या न्योली)—

अमन्दावर्त्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्यतः ।
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्ष्यते ॥ (हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् कन्धों को नवाये हुए अत्यन्त वेग के साथ, जलभ्रमर के समान अपनी तुन्द को दक्षिण-वाम भागों से भ्रमाने को सिद्धों ने नौलि-कर्म कहा है ।

पद्मासन (सिद्धासन या उत्कटासन) लगाकर, जब शौच, स्नान, प्रातःसन्ध्या आदि से निवृत्त हो लिये हों और पेट साफ तथा हल्का हो गया हो, तब रेचक कर वायु को बाहर रोककर बिना देह हिलाये, केवल मनोबल से पेट को दायें से बायें और बायें से दायें चलाना सोचे और तदनुकूल प्रयास करे । इसी प्रकार सायं-प्रातः स्वेद आने पर्यन्त प्रतिदिन अभ्यास करते-करते पेट की स्थूलता जाती रहती है । तदनन्तर यह सोचना चाहिये कि दोनों कुक्षियाँ दब गयीं और बीच में दोनों ओर से दो नल जुटकर मूलाधार से हृदय तक गोलाकर खम्भ खड़ा हो गया । यही खम्भा जब बँध जाय तब नौलि सुगम हो जाती है । मनोबल और प्रयासपूर्वक अभ्यास बढ़ाने से दायें-बायें घूमने लगती है । इसी को चलाने में छाती के समीप, कण्ठ पर और ललाट पर भी नाडियों

---

१. रुद्रयामल में वस्तिकर्म का उल्लेख नहीं है ।

का द्वन्द्व मालूम पड़ता है । एक बार न्योली चल जाने पर चलती रहती है । पहले-पहल चलने के समय दस्त ढीला होता है । जिसका पेट हल्का है तथा जो प्रयासपूर्वक अभ्यास करता है उसको एक महीने के भीतर ही न्योली सिद्ध हो जायगी।

इस क्रिया का आरम्भ करने से पहले पश्चिमोत्तानासन और मयूरासन का थोड़ा अभ्यास कर लिया हो तो यह क्रिया शीघ्र सिद्ध हो जाती है । जब तक आँत पीठ के अवयवों से भलीभाँति पृथक् न हो तब तक आँत उठाने की क्रिया सावधानी के साथ करे, अन्यथा आँतें निर्बल हो जायँगी । किसी-किसी समय आघात पहुँचकर उदर रोग, शोथ, आमवात, कटिवात, गृध्रसी, कुब्जवात, शुक्रदोष या अन्य कोई रोग हो जाता है । अतः इस क्रिया को शान्तिपूर्वक करना चाहिये । अँतड़ी में शोथ, क्षतादि दोष या पित्तप्रकोपजनित अतिसारप्रवाहिका (पेचिश), संग्रहणी आदि रोगों में नौलि-क्रिया हानिकारक है ।

मन्दाग्निसंदीपनपाचनादि संधापिकानन्दकरी सदैव ।
अशेषदोषामयशोषणी च हठक्रियामौलिरियं च नौलिः ॥

(हठयोगप्रदीपिका)

यह नौलि मन्दाग्नि का भली प्रकार दीपन और अन्नादि का पाचन और सर्वदा आनन्द करती है तथा समस्त वात आदि दोष और रोग का शोषण करती है ।[१] यह नौलि हठयोग की सारी क्रियाओं में उत्तम है ।

अँतड़ियों के नौलि के वश होने से पाचन और मल का बाहर होना स्वाभाविक हैं नौलि करते समय साँस की क्रिया तो रुक ही जाती है । नौलि कर चुकने पर कण्ठ के समीप एक सुन्दर अकथनीय स्वाद मिलता है । यह हठयोग की सारी क्रियाओं से श्रेष्ठ इसलिये है कि नौलि जान जाने पर तीनों बन्ध सुगम हो जाते हैं । अतएव यह प्राणायाम की सीढ़ी है । धौति, वस्ति में भी नौलि की आवश्यकता होती है । शंखपखाली क्रिया में भी, जिसमें मुख से जल ले अँतड़ियों में घुमाते हुए पायु-द्वारा ठीक उसी प्रकार निकाल दिया जाता है जैसे शंख में एक ओर से जल देने पर घूमकर जल दूसरी राह से निकल जाता है, नौलि सहायक है ।

२. वस्तिकर्म—

वस्ति मूलाधार के समीप है । रंग लाल है और इसके देवता गणेश हैं । वस्ति को साफ करने वाले कर्म को 'वस्तिकर्म' कहते हैं । 'योगसार' पुस्तक में पुराने गुड़, त्रिफला और चीते की छाल के रस से बनी गोली देकर अपानवायु को वश में करने को कहा है । फिर वस्तिकर्म का अभ्यास करना कहा है ।

वस्तिकर्म दो प्रकार का है । १. पवनवस्ति, २. जलवस्ति । नौलिकर्म द्वारा अपानवायु को ऊपर खींच पुनः मयूरासन से त्यागने को 'वस्तिकर्म' कहते हैं ।

---

१. **नेउलीयोगमात्रेण आसने नेउलोपमः ।**
नेउलीसाधनादेव चिरजीवी निरामयः ॥ — रुद्र० ३५.२२

पवनवस्ति पूरी सध जाने पर जलवस्ति सुगम हो जाती है, क्योंकि जल को खींचने का कारण पवन ही होता है । जब जल में डूबे हुए पेट से न्योली हो जाय तब नौलि से जल ऊपर खिंच जायगा ।

नाभिदघ्नजले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः ।
आधाराकुञ्चनं कुर्यात् क्षालनं वस्तिकर्म तत् ।। (हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् गुदा के मध्य में छः अंगुल लम्बी बाँस की नली को रखे, जिसका छिद्र कनिष्ठिका अँगुली के प्रवेश योग्य हो, उसे घी अथवा तेल लगाकर सावधानी के साथ चार अंगुल गुदा में प्रवेश करे और दो अंगुल बाहर रखे । पश्चात् बैठने पर नाभि तक जल आ जाय, इतने जल से भरे हुए टब में उत्कटासन से बैठे अर्थात् दोनों पार्ष्णियों (पैर की एड़ियों) को मिलाकर खड़ी रखकर उन पर अपने स्फिच (नितम्बों) को रखे और पैरों के अग्रभाग पर बैठे और उक्त आसन से बैठकर आधाराकुञ्चन करे जिससे बृहद् अन्त्र में अपने-आप जल चढ़ने लगेगा । बाद में भीतर प्रविष्ट हुए जल को नौलि क्रम से चला कर त्याग दे । इस जल के साथ अन्त्रस्थित मल, आँव, कृमि, अन्त्रोत्पन्न सेन्द्रियविष आदि बाहर निकल आते हैं । इस उदर के क्षालन (धोने) को वस्तिकर्म कहते हैं ।

नियम — धौति, वस्ति दोनों कर्म भोजन से पूर्व ही करने चाहिये और इनके करने के अनन्तर हलका भोजन शीघ्र कर लेना चाहिये, उसमें विलम्ब नहीं करना चाहिये । वस्तिक्रिया करने से जल का कुछ अंश बृहद् अन्त्र में शेष रह जाता है, वह धीरे-धीरे मूत्रद्वारा बाहर आयेगा । यदि भोजन नहीं किया जायगा तो वह दूषित जल अन्त्रों से सम्बद्ध सूक्ष्म नाडियों द्वारा शोषित होकर रक्त में मिल जायगा । कुछ लोग पहले मूलाधार से प्राणवायु के आकर्षण का अभ्यास करके और जल में स्थित होकर गुदा में नालप्रवेश के बिना ही वस्तिकर्म का अभ्यास करते हैं । उस प्रकार वस्तिकर्म करने से उदर में प्रविष्ट हुआ सम्पूर्ण जल बाहर नहीं आ सकता और उसके न आने से धातुक्षय आदि नाना दोष होते हैं । इससे उस प्रकार वस्तिकर्म नहीं करना चाहिये, अन्यथा **'न्यस्तनालः'** (अपनी गुदा में नाल रखकर) ऐसा पद स्वात्माराम क्यों देते ? यहाँ यह भी जान लेना आवश्यक है कि छोटे-छोटे जलजन्तुओं का नलद्वारा पेट में प्रविष्ट हो जाने का भय रहता है । अतएव नल के मुख पर महीन वस्त्र देकर आकुञ्चन करना चाहिये और जल को बाहर निकालने के लिये खड़ा पश्चिमोत्तान आसन करना चाहिये ।

वस्तिकर्म में मूलाधार के पीड़ित और प्रक्षालित होने से लिङ्ग और गुदा के रोगों का नाश होना स्वाभाविक है ।

गुल्मप्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवाः ।
वस्तिकर्मप्रभावेन क्षीयन्ते सकलामयाः ।। (हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् वस्तिकर्म के प्रभाव से गुल्म, प्लीहा, उदर (जलोदर) और वात, पित्त, कफ इनके द्वन्द्व वा एक से उत्पन्न हुए सम्पूर्ण रोग नष्ट होते हैं ।

धात्विन्द्रियान्तःकरणप्रसादं दद्याच्च कान्तिं दहनप्रदीप्तिम् ।
अशेषदोषोपचयं निहन्यादभ्यस्यमानं जलवस्तिकर्म ॥

(हठयोगप्रदीपिका)

अभ्यास किया हुआ यह वस्तिकर्म साधक के सप्त धातुओं, दस इन्द्रियों और अन्तःकरण को प्रसन्न करता है । मुख पर सात्त्विक कान्ति छा जाती है । जठराग्नि उद्दीप्त होती है । वात, पित्त, कफ आदि दोषों की वृद्धि और न्यूनता दोनों को नष्ट कर साधक साम्यरूप आरोग्यता को प्राप्त करता है । एक बात इस सम्बन्ध में अवश्य ध्यान देने की है कि वस्ति क्रिया करनेवालों को पहले नेति और धौतिक्रिया करनी ही चाहिये, जिसका वर्णन नीचे दिया जाता है । अन्य क्रियाओं के लिये ऐसा नियम नहीं है ।

राजयक्ष्मा (क्षय), संग्रहणी, प्रवाहिका, अधोरक्तपित्त, भगंदर, मलाशय और गुदा में शोथ, संततज्वर, आन्त्रसंनिपात, आन्त्रशोथ, आन्त्रव्रण एवं कफवृद्धि जनित तीक्ष्ण श्वासप्रकोप इत्यादि रोगों में वस्तिक्रिया नहीं करनी चाहिये ।

यह वस्तिक्रिया भी प्राणायाम का अभ्यास चालू होने के बाद नित्य करने की नहीं है । नित्य करने से आन्त्रशक्ति परावलम्बिनी और निर्बल हो जायगी, जिससे बिना वस्तिक्रिया के भविष्य में मलशुद्धि नहीं होगी । जैसे तम्बाकू और चाय के व्यसनी को तम्बाकू और चाय लिये बिना शौच नहीं होता, वैसे ही नित्य वस्तिकर्म अथवा षट्कर्म करने वाले की स्वाभाविक आन्तरिक शक्ति के बल से शरीरशुद्धि नहीं होती ।

३. धौतिकर्म—

चतुरङ्गुलविस्तारं हस्तपञ्चदशायतम् ।
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत् ॥
पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौतिकर्म तत् ॥ (हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् चार अंगुल चौड़े और पंद्रह हाथ लंबे महीन वस्त्र को गरम जल में भिगोकर थोड़ा निचोड़ ले । फिर गुरूपदिष्ट मार्ग से धीरे-धीरे प्रतिदिन एक-एक हाथ उत्तरोत्तर उसे निगलने का अभ्यास बढ़ाता जाय । आठ-दस दिन में पूरी धोती निगलने का अभ्यास हो सकता है । करीब एक हाथ कपड़ा बाहर रहने दिया जाय । मुख में जो वस्त्र प्रान्त रहे उसे दाढ़ों से भली प्रकार दबा नौलिकर्म करे । फिर धीरे-धीरे वस्त्र निकाले । यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि वस्त्र निगलने के पहले पूरा जल पी लेना चाहिये । इससे कपड़े के निगलने में सुभीता तथा कफ-पित्त का उसमें सटना आसान हो जाता है और कपड़े को बाहर निकलने में भी सहायता मिलती है । धौति को रोज स्वच्छ रखना चाहिये । अन्यथा धौति में लगे हुए दूषित कफरूप विजातीय द्रव्य के परमाणु पुनः दूसरे दिन भीतर जाकर हानि पहुँचायेंगे ।

पाश्चात्यों ने स्टमक ट्यूब बनाया है । कोई एक सवा हाथ की रबर की नली रहती है, जिसका एक मुख खुला रहता है और दूसरे सिरे के कुछ ऊपर हटकर बगल

में एक छेद होता है । जल पीकर खुला सिरा ऊपर रखकर दूसरा सिरा निगला जाता है और जल रबर की नलिका द्वारा गिर जाता है ।

चाहे किसी प्रकार की धौति क्यों न हो, उससे कफ, पित्त और रंग-बिरंगे पदार्थ बाहर गिरते हैं । ऊपर की नाडी में रहा हुआ एकाध अन्न का दाना भी गिरता है । दाँत खट्टा-सा हो जाता है । परंतु मन शान्त और प्रसन्न हो जाता है । वसन्त या ग्रीष्मकाल में इसका साधन अच्छा होता है ।

घटिका, कण्ठनलिका या श्वासनलिका में शोथ, शुष्क काश, हिक्का, वमन, आमाशय में शोथ, ग्रहणी, तीक्ष्ण अतिसार, ऊर्ध्व रक्तपित्त (मुँह से रक्त गिरना) इत्यादि कोई रोग हो तब धौतिक्रिया लाभदायक नहीं होती ।

४. नेतिकर्म—

नेति दो प्रकार की होती है -जलनेति और सूत्रनेति । पहले जलनेति करनी चाहिये । प्रात:काल दन्तधावन के पश्चात् जो साँस चलती हो, उसी से चुल्लू में जल ले और दूसरी साँस बंदकर जल नाक द्वारा खींचे । जल मुख में चला जायगा । सिर के पिछले सारे हिस्से में, जहाँ मस्तिष्क का स्थान है, उस कर्म के प्रभाव से गुदगुदाहट और सनसनाहट या गिनगिनाहट पैदा होगी । अभ्यास बढ़ने पर आगे ऐसा नहीं होगा । कुछ लोग नासिका के एक छिद्र से जल खींचकर दूसरे छिद्र से निकालने की क्रिया को 'जलनेति' कहते हैं । एक समय में आध सेर से एक सेर तक जल एक नासापुट से चढ़ाकर दूसरे नासापुट से निकाला जा सकता हैं एक समय एक तरफ से जल चढ़ा कर दूसरे समय दूसरी तरफ से चढ़ाना चाहिये ।

जलनेति से नेत्रज्योति बलवान् होती है । स्कूल और कॉलेज के विद्यार्थियों के लिये भी हितकर है । तीक्ष्ण नेत्ररोग, तीक्ष्ण अम्लपित्त और नये ज्वर में जलनेति नहीं करनी चाहिये । अनेक मनुष्य रोज सुबह नासापुट से जल पीते हैं । यह क्रिया हितकर नहीं है । कारण, जो दोष नासिका में संचित होंगे वे आमाशय में चले जायँगे । अत: उष:पान तो मुँह से ही करना चाहिये ।

नियम — घर्षणनेति — जलनेति के अनन्तर सूत्र लेना चाहिये । महीन सूत की दस-पन्द्रह तार की एक हाथ लंबी बिना बटी डोर, जिसका छ:-सात इंच लम्बा एक प्रान्त बटकर क्रमश: पतला बना दिया गया हो, पिघले हुए मोम से चिकना बनाकर जल में भिगो लेना उचित है । फिर इस स्निग्ध भाग को इस रीति से थोड़ा मोड़कर जिस छिद्र से वायु चलती हो उस छिद्र में लगाकर और नाक का दूसरा छेद अँगुली से बन्दकर, खूब जोर से बारंबार पूरक करने से सूत का भाग मुख में आ जाता है । तब उसे तर्जनी और अङ्गुष्ठ से पकड़कर बाहर निकाल ले । पुन: नेति को धोकर दूसरे छिद्र में डालकर मुँह में से निकाल ले । कुछ दिन के अभ्यास के बाद एक हाथ से सूत को मुख से खींचकर और दूसरे से नाक वाला प्रान्त पकड़कर धीरे-धीरे चालन करे । इस क्रिया को 'घर्षणनेति' कहते हैं । इस प्रकार नाक के दूसरे रन्ध्र से भी, जब वायु उस रन्ध्र से चल

रहा हो, अभ्यास करे । इससे भीतर लगा हुआ कफ पृथक् होकर नेति के साथ बाहर आ जाता है । नाक के एक छिद्र से दूसरे छिद्र में भी सूत चलाया जाता है, यद्यपि कुछ लोग इसे दोषयुक्त मानकर इसकी उपेक्षा करते हैं । उसका क्रम यह है कि सूत नाक के एक छिद्र से पूरक द्वारा जब खींचा जाता है, तो रेचक मुख द्वारा न कर दूसरे रन्ध्र द्वारा करना चाहिये । इस प्रकार सूत एक छिद्र से दूसरे छिद्र में आ जाता है । इस क्रिया के करने में किसी प्रकार का भय नहीं है । सध जाने पर तीसरे दिन करना चाहिये । जलनेति प्रतिदिन कर सकते हैं । नेति डालने में किसी-किसी को छींक आने लगती है, इसलिये एक-दो सेकेण्ड श्वासोच्छ्वास की क्रिया को बन्द करके नेति डालनी चाहिये ।

कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी ।
जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु निहन्ति च ॥ (हठयोगप्रदीपिका)

'नेति कपाल को शुद्ध करती है, दिव्य दृष्टि देती है । स्कन्ध, भुजा और सिर की सन्धि के ऊपर के सारे रोगों को नेति शीघ्र नष्ट करती है ।'

त्राटककर्म –

'समाहित अर्थात् एकाग्रचित्त हुआ मनुष्य निश्चल दृष्टि से सूक्ष्म लक्ष्य को अर्थात् लघु पदार्थ को तब तक देखे, जब तक अश्रुपात न होवे । इसे मत्स्येन्द्र आदि आचार्यों ने 'त्राटककर्म' कहा है ।'[१]

सफेद दिवाल पर सरसों-बराबर काला चिह्न कर दे उसी पर दृष्टि ठहराते-ठहराते चित्त समाहित होता है, और दृष्टि शक्तिसम्पन्न हो जाती है । मैस्मेरिज्म में जो शक्ति आ जाती है वही शक्ति त्राटक से भी प्राप्य है ।

'त्राटक नेत्ररोगनाशक है । तन्द्रा-आलस्यादि को भीतर नहीं आने देता । त्राटककर्म संसार में इस प्रकार गुप्त रखने योग्य है जैसे सुवर्ण की पेटी संसार में गुप्त रखी जाती है ।'[२] क्योंकि - **'भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या तु प्रकाशिता ।'**

उपनिषदों में त्राटक के आन्तर, बाह्य और मध्य-इस प्रकार तीन भेद किये गये हैं । हठयोग के ग्रन्थों में प्रकार-भेद नहीं है ।

नियम – पाश्चात्यों का अनुकरण करने वाले कुछ लोग मद्यपान, मांसाहार तथा अम्ल-पदार्थादि अपथ्य-सेवन करते हुए भी 'मैस्मेरिज्म' विद्या की सिद्धि के लिये त्राटक किया करते हैं । परन्तु ऐसे लोगों का अभ्यास पूर्ण नहीं होता । अनेक लोगों के नेत्र चले जाते हैं और अनेक पागल हो जाते हैं । जिन्होंने पथ्य का पालन किया है वही सिद्धि प्राप्त कर सके हैं ।

---

१. **निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः ।**
अश्रुसम्पातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम् ॥ (हठयोगप्रदीपिका)

२. **मोचनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकम् ।**
यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम् ॥ (हठयोगप्रदीपिका)

यम-नियमपूर्वक आसनों के अभ्यास से नाडी समूह मृदु हो जाने पर ही त्राटक करना चाहिये । कठोर नाडियों को आघात पहुँचते देरी नहीं लगती । त्राटक के जिज्ञासुओं को आसनों के अभ्यास के परिपाक काल में नेत्र के व्यायाम का अभ्यास करना विशेष लाभदायक है । प्रातःकाल में शान्तिपूर्वक दृष्टि को शनैः शनैः बायें, दायें, नीचे की ओर, ऊपर की ओर चलाने की क्रिया को नेत्र का व्यायाम कहते हैं । इस व्यायाम से नेत्र की नसें दृढ़ होती है । इसके अनन्तर त्राटक करने से नेत्र को हानि पहुँचने की भीति कम हो जाती है ।

त्राटक के अभ्यास से नेत्र और मस्तिष्क में उष्णता बढ़ जाती है । अतः नित्य जलनेति करनी चाहिये तथा रोज सुबह त्रिफला के जल से अथवा गुलाब जल से नेत्रों को धोना चाहिये । भोजन में पित्तवर्धक और मलावरोध (कब्ज) करने वाले पदार्थों का सेवन न करे । नेत्र में आँसू आ जाने के बाद फिर उस दिन दूसरी बार त्राटक न करे । केवल एक ही बार प्रातःकाल में करे । वास्तव में त्राटक का अनुकूल समय रात्रि के दो से पाँच बजे तक है । शान्ति के समय में चित्त की एकाग्रता बहुत शीघ्र होने लगती है । एकाध वर्षपर्यन्त नियमित रूप से त्राटक करने से साधक के संकल्प सिद्ध होने लगते हैं, दूसरे मनुष्यों के हृदय का भाव मालूम होने लगता है, सुदूर स्थान में स्थित पदार्थ अथवा घटना का सम्यक् प्रकार से बोध हो जाता है ।

५. क्षालन—

रुद्रयामल प्रोक्त पञ्चस्वर (पञ्चकर्म – षट्कर्म) योग में क्षालन से अर्थ है नाड़ियों का प्रक्षालन । यहाँ मुख्य रूप से शीर्षासन से इसे करने को कहा गया है । हठयोग में इसकी अन्य विधि है ।

उद्र्ध्वे मुण्डासनं कृत्वा अधोहस्ते जपं चरेत् ।
यदि त्रिदिनमाकर्तुं समर्थो मुण्डिकासनम् ॥
तदा हि सर्वनाड्यश्च वशीभूता न संशयः ।
नाडीक्षालनयोगेन मोक्षदाता स्वयं भवेत् ॥ (रुद्र० ३५.३२,३३)

(क) गजकर्म या गजकरणी—

हाथी जैसे सूँड से जल खींच फिर फेंक देता है, वैसे गजकर्म में किया जाता है । अतः इसका नाम गजकर्म या गजकरणी हुआ । यह कर्म भोजन से पहले करना चाहिये । विषयुक्त या दूषित भोजन करने में आ गया हो तो भोजन के पीछे भी किया जा सकता है । प्रतिदिन दन्तधावन के पश्चात् इच्छा भर जल पीकर अँगुली मुख में उलटी कर दे । क्रमशः बढ़ा हुआ अभ्यास इच्छामात्र से जल बाहर फेंक देगा । भीतर गये जल को न्योलीकर्म से भ्रमा कर फेंकना और अच्छा होता है । जब जल स्वच्छ आ जाय तब जानना चाहिये कि अब मैल मुख की राह नहीं आ रहा है । पित्तप्रधान पुरुषों के लिये यह क्रिया हितकर है ।

(ख) कपालभातिकर्म—

अर्थात् लोहकार की भस्त्रा (भाथी) के समान अत्यन्त शीघ्रता से क्रमशः रेचक-पूरक प्राणायाम को शान्तिपूर्वक करना योगशास्त्र में कफदोष का नाशक कहा गया है तथा यह क्रिया 'कपालभाति' नाम से विख्यात है ।[1]

जब सुषुम्ना में से अथवा फुफ्फुस में से श्वासनलिका द्वारा कफ बार-बार ऊपर आता हो अथवा प्रतिश्याय (जुकाम) हो गया हो तब सूत्रनेति और धौतिक्रिया से इच्छित शोधन नहीं होता । ऐसे समय पर यह कपालभाति लाभदायक है । इस क्रिया से फुफ्फुस और समस्त कफवहा नाडियों में इकट्ठा हुआ कफ कुछ जल जाता है और कुछ प्रस्वेदद्वार से बाहर निकल जाता है, जिससे फुफ्फुस-कोशों की शुद्धि होकर फुफ्फुस बलवान् होते हैं । साथ-साथ सुषुम्ना, मस्तिष्क और आमाशय की शुद्धि होकर पाचनशक्ति प्रदीप्त होती है ।

नियम — परंतु उरःक्षत, हृदय की निर्बलता, वमनरोग, हुलास (उबाक), हिक्का, स्वरभङ्ग, मन की भ्रमित अवस्था, तीक्ष्ण ज्वर, निद्रानाश, ऊर्ध्वरक्तपित्त, अम्लपित्त इत्यादि दोषों के समय, यात्रा में और वर्षा हो रही हो, ऐसे समय पर इस क्रिया को न करे ।

अजीर्ण, धूप में भ्रमण से पित्तवृद्धि, पित्तप्रकोपजन्य रोग, जीर्ण कफ-व्याधि, कृमि, रक्तविकार, आमवात, विषविकार और त्वचारोगादि व्याधियों को दूर करने के लिये यह क्रिया गुणकारी है । शरद् ऋतु में स्वाभाविक पित्तवृद्धि होती रहती है । ऐसे समय पर आवश्यकतानुसार यह क्रिया की जा सकती है ।

षट्कर्म से रोग निवारण

हठयोग के अनुसार भौतिक शरीर के दोषों को दूर करने के लिये एवं स्वस्थ बने रहने के लिये षट्कर्म, आसन, प्राणायाम, मुद्रा, धारण एवं ध्यान का आलम्बन लेना चाहिये । षट्कर्म का उपयोग प्रवृद्ध कफ-दोष को दूर करके वात, पित्त एवं कफ इन तीनों दोषों को समभाव में स्थापित करने के लिये होता है । यदि कफ-दोष बढ़ा न हो तो, जिस अङ्ग में विकार या अशक्ति प्रतीत हो, उसी अङ्ग को बलवान् बनाने या उक्त अङ्ग से विकार को दूर करने के लिये षट्कर्मों में से यथावश्यक दो या तीन या चार कर्मों का अभ्यास करना चाहिये । १. धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलिक एवं कपालभाति-इन छः क्रियाओं को षट्कर्म कहते हैं । धौति कर्म कण्ठ से आमाशय तक के मार्ग को स्वच्छ करके सभी प्रकार के कफ-रोगों का नाश कर देता है । यह विशेषरूप से कफप्रधान कास, श्वास, प्लीहा एवं कुष्ठरोग में लाभकारी है । २. वस्ति-कर्मद्वारा गुदामार्ग एवं छोटी आँत के निचले हिस्से की सफाई हो जाती है । इससे अपानवायु एवं मलान्त्र के विकार से उत्पन्न होने वाले रोगों का शमन हो जाता है । आँतों की गर्मी शान्त होती है, कोष्ठबद्धता दूर होती है । आँतों में स्थित-संचित दोष नष्ट होते हैं । जठराग्नि

---

१. **भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससम्भ्रमौ ।**
कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी ॥ (हठयोगप्रदीपिका)

की वृद्धि होती है । अनेक उदररोग नष्ट होते हैं । वस्तिकर्म करने से वात-पित्त एवं कफ से उत्पन्न अनेक रोग तथा गुल्म, प्लीहा और जलोदर दूर होते हैं । ३. नेतिकर्म नासिकामार्ग को स्वच्छ कर कपाल-शोधन का कार्य करता हैं यह विशेषरूप से नेत्रों को उत्तम दृष्टि प्रदान करता है और गले से ऊपर होने वाले दाँत, मुख, जिह्वा, कर्ण एवं शिरोरोगों को नष्ट करता है । ४. त्राटक-कर्मद्वारा नेत्रों के अनेक रोग नष्ट होते हैं एवं तन्द्रा, आलस्य आदि दोष नष्ट होते हैं । ५. उदर-रोग एवं अन्य सभी दोषों का नाश करने के लिये नेति प्रमुख है । यह मन्दाग्नि को नष्टकर जठराग्नि की वृद्धि करता है तथा भुक्तान्न को सुन्दर प्रकार से पचाने की शक्ति प्रदान करता है । इसका अभ्यास करने से वातादि दोषों का शमन होने से चित्त सदा प्रसन्न रहता है । ६. कपालभाति विशेषरूप से कफ-दोष का शोषण करने वाली है । षट्कर्मों का अभ्यास करने से जब शरीरान्तर्गत कफ-दोष -मलादिक क्षीण हो जाते हैं, तब प्राणायाम का अभ्यास करने से अधिक शीघ्र सफलता मिलती है ।

अन्य क्रियाओं द्वारा शरीर शोधन

जिन्हें पित्त की अधिक शिकायत रहती है, उनके लिये गजकर्णी या कुजल-क्रिया लाभदायक रहती है । इस क्रिया में प्रातःकाल शौचादि से निवृत्त होने के बाद पर्याप्त मात्रा में नमक मिश्रित कुनकुना जल पीकर फिर वमन कर दिया जाता है । इससे आमाशयस्थ पित्त का शोधन होता है । जिन्हें मन्दाग्नि की शिकायत है या जिनका स्वास्थ्य उत्तम भोजन करने पर भी सुधरता नहीं है, उन्हें अग्निसार नामक क्रिया का अभ्यास करना चाहिये । इस क्रिया में नाभिग्रन्थि को बार-बार मेरु-पृष्ठ में लगाना होता है । एक सौ बार लगा सकने का अभ्यास हो जाने पर समझना चाहिये कि इस क्रिया में परिपक्वता प्राप्त हो गयी है । अतः यह सभी प्रकार के उदर-रोगों को दूर करने में सहायक है ।

अष्टाङ्गयोग से रोग निवारण

आसन का अभ्यास शरीर से जड़ता, आलस्य एवं चञ्चलता को दूर कर सम्पूर्ण स्नायु-संस्थान एवं प्रत्येक अङ्ग को पुष्ट बनाने के लिये होता है । इसके अभ्यास से शरीर के अङ्गों के सभी भागों में एवं सूक्ष्मातिसूक्ष्म नाड़ियों में रक्त पहुँचता है, सभी ग्रन्थियाँ सुचारुरूप से कार्य करती हैं । स्नायु-संस्थान बलवान् हो जाने पर साधक काम, क्रोध, भय आदि के आवेगों को सहने में समर्थ होता है । वह मानस-रोगी नहीं बनता । शरीर का स्वास्थ्य, मस्तिष्क, मेरुदण्ड, स्नायु-संस्थान, हृदय एवं फेफड़े तथा उदर के बलवान् होने पर निर्भर है । अतः आसनों का चुनाव इन पर पड़ने वाले प्रभावों को दृष्टि में रखकर करना चाहिये । जिसका जो अङ्ग कमजोर हो उसे सार्वाङ्गिक व्यायाम के आसनों का अभ्यास करने के साथ-साथ उन दुर्बल अङ्गों को पुष्ट करने वाले आसनों का अभ्यास विशेषरूप से करना चाहिये ।[१]

---

१. द्र० रुद्र० २५.२८–३०

ध्यान के उपयोगी पद्मासन आदि को सर्वरोगनाशक इसलिये कहा जाता है कि इन आसनों से ध्यान या जप में बैठने पर शरीर में साम्यभाव, निश्चलता, शान्ति आदि गुण आ जाते हैं। जो भौतिक स्तर पर सत्त्वगुण की वृद्धि करने में सहायक होते हैं। आरोग्य की दृष्टि से किये जाने वाले आसनों में पश्चिमोत्तान, मत्स्येन्द्र, गोरक्ष, सर्वाङ्ग, मयूर, भुजंग, शलभ, धनु, कुक्कुट, आकर्षणधनु एवं पद्म-आसन मुख्य हैं।

आसनों को शनैः-शनैः किया जाय, जिससे अङ्गों एवं नाड़ियों में तनाव, स्थिरता, संतुलन, सहनशीलता एवं शिथिलता आ सके। अपनी पूर्ववत् स्थिति में धीरे-धीरे ही आना चाहिये। जो अङ्ग रोगी हो, उस अङ्ग पर बोझ डालने वाले आसनों का अभ्यास अधिक नहीं करना चाहिये। जैसे जिनके पेट में घाव है या जो स्त्रियाँ मासिक-धर्म से युक्त हैं, उन्हें उन दिनों पेट के आसन नहीं करने चाहिये। जिस आसन का प्रभाव जिस ग्लैंड्स या नाड़ी-चक्र पर पड़ता है—आसन करते समय वहीं ध्यान केन्द्रित करना चाहिये तथा गायत्री आदि मन्त्रों का या तेज, बल, शक्ति देने वाले मन्त्रों का यथाशक्ति स्मरण करना चाहिये। एक आसन के बाद उसका प्रतियोगी आसन भी करना चाहिये। यथा-पश्चिमोत्तान आसन का प्रतियोगी भुजंगासन और शलभासन है। हस्तपादासन का प्रतियोगी चक्रासन है। सर्वाङ्गासन का अभ्यास आवश्यक है। सूर्यनमस्कार को अन्य आसनों के अभ्यास के पूर्व कर लेना लाभकारी है।

प्राणायाम का अभ्यास शरीरस्थ सभी दोषों का निराकरण कर प्राणमयकोष एवं सूक्ष्म शरीर को नीरोग तथा पुष्ट बनाता है।[१] नाड़ी-शोधन का अभ्यास करने के बाद ही कुम्भक प्राणायामों का अभ्यास करना चाहिये। प्राणायाम के सभी अभ्यास युक्तिपूर्वक शनैः-शनैः ही करने चाहिए तथा भस्त्रिका प्राणायाम को छोड़कर सभी शेष प्राणायामों में रेचक एवं पूरक, दोनों की क्रियाएँ बहुत धीरे-धीरे करनी चाहिये। प्रत्येक कुम्भक की अपनी-अपनी दोषनाशक विशेष शक्ति है। अतः प्रवृद्ध दोष का विचार करके ही उसके दोषनाशक कुम्भक का अभ्यास करना चाहिये। सूर्यभेद प्राणायाम पित्तवर्धक, जरादोषनाशक, वातहर, कपालदोष एवं कृमिदोष को नष्ट करने वाला है। उज्जायी कफ-रोग, क्रूरवायु, अजीर्ण, जलोदर, आमवात, क्षय, कास, ज्वर एवं प्लीहा को नष्ट करता है। स्वास्थ्य एवं पुष्टि की प्राप्ति के लिये उज्जायी प्राणायाम का विशेष रूप से अभ्यास करना चाहिये। शीतली प्राणायाम अजीर्ण, कफ, पित्त, तृषा, गुल्म, प्लीहा एवं ज्वर को नष्ट करता है। भस्त्रिका प्राणायाम वात-पित्त-कफ-हर, शरीराग्निवर्धक एवं सर्वरोगहर है। व्यवहार में संध्योपासना के उपरान्त एवं जप से पूर्व नाड़ी-शोधन, उज्जायी एवं भस्त्रिका प्राणायाम का नित्य अभ्यास करने का प्रचलन है।

स्वरयोग से रोग निवारण

रोग-निवारण के लिये स्वर-योग का आश्रय भी लिया जाता है। नीरोगता के लिये भोजन सदा दाहिना स्वर (श्वास) चलने पर करना चाहिये। वामस्वर शीतल एवं

---

१. द्र० रुद्र० २५.३१—९७

दक्षिणस्वर उष्ण माना जाता है । इसके अनुसार ही वात एवं कफ-प्रधान रोगों में दक्षिण नासिका के श्वास को चलाया जाता है एवं पित्तप्रधान रोग में वाम-स्वर से श्वास को चलाया जाता है । सामान्य नियम यह है कि रोग के प्रारम्भकाल में जिस नासिका से श्वास चल रहा होता है, उसे बंद करके दूसरी नासिका से श्वास रोग-शमन होने तक चलाया जाता है । इस स्वर-परिवर्तन से प्रवृद्ध दोष का संशमन हो जाता है । स्वरयोग की जानकारी के लिये शिव स्वरोदय एवं स्वर-चिन्तामणि नामक ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिये ।

योग सम्बन्धी बन्ध एवं मुद्राओं से रोग निवारण

मुद्राओं के अभ्यास नें महामुद्रा, विपरीतकरणी, खेचरी, मूलबन्ध, उड्डीयान–बन्ध एवं जालन्धरबन्ध मुख्य हैं । महामुद्रा क्षय, कुष्ठ, आवर्त, गुल्म, अजीर्ण आदि रोगों एवं सभी दोषों को नष्ट करती है । इसके अभ्यास से पाचन-शक्ति की प्रचण्ड वृद्धि होकर विष को भी पचाने की क्षमता प्राप्त होती है । महामुद्रा के साथ महाबन्ध एवं महावेध का भी अभ्यास किया जाता है । इन तीनों के अभ्यास से वृद्धत्व दूर होता है एवं अनेक शारीरिक सिद्धियों की प्राप्ति होती है । खेचरी मुद्रा के अभ्यास से शरीर में अमृतत्व-धर्म की वृद्धि होती है । सिद्धियों की प्राप्ति होती है । शरीर की सोमकला का विकास होता है तथा देह-क्षय की प्रक्रिया रुक जाती है । उड्डीयान का अभ्यास उदर एवं नाभि से नीचे स्थिति अङ्गों के रोगों को दूरकर पुरुषत्व की अभिवृद्धि करता है । जननाङ्ग एवं प्रजननाङ्ग के रोगों से पीड़ित नर नारियों को उड्डीयानबन्ध का विशेष अभ्यास करना चाहिये । जालन्धर बन्ध से कण्ठ-रोगों एवं शिरोरोगों का नाश होता है तथा मूलबन्ध का अभ्यास गुदा एवं जननेन्द्रिय पर प्राण एवं अपान पर नियन्त्रण प्रदान करता है । उड्डीयान एवं जालन्धरबन्ध का अभ्यास तो प्राणायाम के समय ही किया जाता है, परंतु मूलबन्ध का अभ्यास सतत करना चाहिये । विपरीतकरणी मुद्रा का ठीक-ठीक अभ्यास वलीपलित को दूर कर युवावस्था प्रदान करता है ।

उपर्युक्त मुद्राओं के अतिरिक्त घेरण्डसंहिताप्रोक्त कुछ अन्य मुद्राओं का अभ्यास भी रोगनाश, वलीपलितविनाश एवं स्वास्थ्य-लाभ के लिये उपयोगी है । इनमे से नभोमुद्रा एवं माण्डूकीमुद्रा तालुस्थित अमृतपान में सहायक होने के कारण सभी रोगों का नाश करने वाली है । अश्विनी मुद्रा गुह्यरोगों का नाश करने वाली, अकालमृत्यु को दूर करने वाली तथा बल एवं पुष्टि को प्रदान करने वाली है । पाशिनी मुद्रा से बल एवं पुष्टि की प्राप्ति होती है । तड़ागी मुद्रा एवं भुजंगिनी मुद्रा-ये दोनों ही उदर के अजीर्णादि रोगों को नष्टकर दीर्घ जीवन प्रदान करती हैं ।

रोगों को दूर करने में ध्यान अथवा चिन्तन का महत्त्वपूर्ण स्थान है । ध्यान से शरीर, प्राण, मन, हृदय एवं बुद्धि में शान्ति, पवित्रता एवं निर्मलता आती है । 'सदा प्राणिमात्र के कल्याण का विचार करने से एवं सभी सुखी हों, नीरोग हों, शान्त हों' – इस प्रकार की भावनाओं की तरंगों को सभी दिशाओं में प्रसारित करने से स्वयं को सुख

तथा शान्ति की प्राप्ति होती है । व्यक्ति जैसा चिन्तन करता है, प्रायः वह वैसा बन जाता है । 'मैं नीरोग हूँ, स्वस्थ हूँ — ऐसा चिन्तन निरन्तर दृढ़तापूर्वक करते रहने से आरोग्य बना रहता है । इसे आत्मसम्मोहन 'ऑटो सजेशन' की विधि कहते हैं । इसी प्रकार प्रबल संकल्पशक्ति के द्वारा अपने या दूसरे के रोगों को भी दूर किया जाता है । रोगनिवारण के लिये प्रमुख बात यह है कि रोग होने पर उसका चिन्तन ही न करे, उसकी परवाह ही न करे । रोग का चिन्तन करने से रोग बद्धमूल हो जाता है एवं व्यक्ति का मनोबल दुर्बल हो जाता है । मानसिक रोगों का संकल्पशक्ति एवं प्रज्ञाबल से निवारण करना चाहिये एवं शारीरिक रोगों का औषधों से । इन रोगों के उन्मूलन में यौगिक साधनों का अद्भुत योगदान रहा है ।

शारीरिक एवं मानसिक रोगों से मुक्ति चाहने वालों को योग-क्रियाओं का अभ्यास करने के साथ-साथ रोगोत्पादक सभी मूल कारणों का त्याग करना चाहिये तथा अपने लिये अनुकूल एवं चिकित्साशास्त्र द्वारा निर्दिष्ट सात्त्विक पथ्य, सदाचार एवं सत्कर्म का सेवन करना चाहिये । यथासम्भव अनिष्ट-चिन्तन से बचना चाहिये तथा चित्त को राग-द्वेष-मोहादि दोषों से दूर करना चाहिये । सम्पूर्ण दुःखों का मूल कारण तमोगुणजनित अज्ञान, लोभ, क्रोध तथा मोह है । त्रिगुण के प्रभाव तथा अज्ञान के बन्धन से मुक्त होने का एकमात्र उपाय योग है तथा योग-बल से भी बड़ी शक्ति है भगवान् की अनुग्रह शक्ति ।

अतएव अहंता-ममता का त्याग करके भगवच्चरणों का एकमात्र आश्रय लेकर योगसाधना करने से शारीरिक व्याधि के साथ-साथ त्रिविध ताप एवं भवव्याधि भी कट जाती है और ऐसा साधक पूर्णतम आनन्द को प्राप्त करने में सर्वथा समर्थ हो जाता है ।

कुण्डलिनीयोग

कुण्डलिनीयोग, कुण्डलिनीशक्ति, षट्चक्र आदि का पतञ्जलि के योगसूत्रों में कहीं उल्लेख नहीं है, किन्तु यह निश्चित है कि कुण्डलिनीयोग प्राचीन भारतीय योग की एक विशिष्ट पद्धति है । आगम और तन्त्रशास्त्र की विभिन्न शाखाओं में इसका वर्णन मिलता है । कुछ आचार्य **'अष्टा चक्रा नवद्वारा'** (१० । २ । ३१) इत्यादि अथर्ववेदीय मन्त्र में कुण्डलिनी योग का उल्लेख मानते हैं । प्रायः सभी आगमिक और तान्त्रिक आचार्य प्रसुप्तभुजगाकारा, सार्धत्रिवलाकृति, मृणालतन्तुतनीयसी मूलाधार स्थित शक्ति को कुण्डलिनी के नाम से जानते हैं । जिस योगपद्धति की सहायता से इस कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर सुषुम्णा मार्ग द्वारा षट्चक्र का भेदन कर सहस्रारचक्र तक पहुँचाया जाता है और वहाँ उसका अकुल शिव से सामरस्य सम्पादन कराया जाता है, उसी का नाम कुण्डलिनीयोग है । आधारों अथवा चक्रों आदि के विषय में मतभेद होते हुए भी मूलाधार स्थित कुण्डलिनी शक्ति का सहस्रार स्थित अपने इष्टदेव से सामरस्य का सम्पादन सभी मतों में निर्विवाद रूप से मान्य है ।

कुण्डलिनीयोग की विधि —

यहाँ संक्षेप में उसकी विधि इस प्रकार वर्णित है-यम और नियम के नित्य-नियमित आदरपूर्वक निरन्तर अभ्यास में लगा योगी साधक गुरुमुख से मूलाधार से सहस्रार-पर्यन्त कुण्डलिनी के उत्थापन क्रम को ठीक से समझ लेने के उपरान्त, पवन और दहन के आक्रमण से प्रतप्त कुण्डलिनीशक्ति को, जो कि स्वयम्भू लिंग को वेष्टित कर सार्धत्रिवलयाकार में अवस्थित है, हूँकार बीज का उच्चारण करते हुए जगाता है और स्वयम्भू लिंग के छिद्र से निकाल कर उसे ब्रह्मद्वार तक पहुँचा देता है । कुण्डलिनीशक्ति पहले मूलाधार स्थित स्वयम्भू लिंग का, तब अनाहतचक्र स्थित बाण लिंग का और अन्त में आज्ञाचक्र स्थित इतर लिंग का भेद करती हुई ब्रह्मनाडी की सहायता से सहस्रदल चक्र में प्रविष्ट होकर परमानन्दमय शिवपद में प्रतिष्ठित हो जाती है । योगी अपने जीवभाव के साथ इस कुलकुण्डलिनी को मूलाधार से उठाकर सहस्रारचक्र तक ले जाता है और वहाँ उसको परबिन्दु स्थान में स्थित शिव (पर लिंग) के साथ समरस कर देता है । समरसभावापन्न यह कुण्डलिनीशक्ति सहस्रारचक्र में लाक्षा के वर्ण के समान परमामृत का पान कर तृप्त हो जाती है और इस परमानन्द की अनुभूति को मन में संजोये वह पुनः मूलाधारचक्र में लौट आती है । यही है कुण्डलिनीयोग की इतिकर्तव्यता । इसके सिद्ध हो जाने पर योगी जीवभाव से मुक्त हो जाता है और शिवभावापन्न (जीवन्मुक्त) हो जाता है ।

कुलकुण्डलिनी शक्ति कैसे सहस्रार स्थित अकुलशिव की ओर उन्मुख होती है और वहाँ शिव के साथ सामरस्य भाव का अनुभव कर पुनः कैसे अपने मूल स्थान में आ जाती है, इसकी अति संक्षिप्त प्रक्रिया नित्याषोडशिकार्णव (४ ।१२-१६) में वर्णित है । इसी प्रकार चार पीठों और चार लिंगों का स्वरूप हमें योगिनी हृदय (१ ।४१-४७) में अधिक स्पष्ट रूप में मिलता है ।

कुण्डलिनीशक्ति

मानवलिंग शरीर में सुषुम्नानाडी के सहारे ३२ पद्मों की स्थिति मानी गई है । सबसे नीचे और सबसे ऊपर दो सहस्रारपद्म स्थित हैं । नीचे कुलकुण्डलिनी में स्थित अरुण वर्ण सहस्रारपद्म ऊर्ध्वमुख तथा ऊपर ब्रह्मरन्ध्र स्थित श्वेत वर्ण सहस्रारपद्म अधोमुख हैं । इनमें से अधः सहस्रार को कुलकुण्डलिनी और ऊर्ध्व सहस्रार को अकुलकुण्डलिनी कहा जाता है । अकुलकुण्डलिनी प्रकाशात्मक अकारस्वरूपा और कुलकुण्डलिनी विमर्शात्मक हकारस्वरूण मानी जाती है ।

इन दो कुण्डलिनियों के अतिरिक्त तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में प्राणकुण्डलिनी का भी वर्णन मिलता है । मूलाधार में जैसे कुण्डलिनी का निवास है, उसी तरह से हृदय में भी 'सार्धत्रिवलया प्राणकुण्डलिनी' रहती है । मध्यनाडी सुषुम्ना के भीतर चिदाकाश (बोधगमन) रूप शून्य का निवास है । उससे प्राणशक्ति निकलती है । इसी को अनच्क कला भी कहते हैं । इसमें अनच्क (अच् = स्वर से रहित) हकार का निरन्तर नदन होता

रहता है । यह नाद भट्टारक की उन्मेष दशा है, जिससे कि प्राणकुण्डलिनी की गति ऊर्ध्वोन्मुख होती है, जो श्वास-प्रश्वास, प्राण-अपान को गति प्रदान करती है और जहाँ इनकी एकता का अनुसन्धान किया जा सकता है । मध्यनाडी में स्थित बिना क्रम के स्वाभाविक रूप से उच्चरित होने वाली यह प्राणशक्ति ही अनच्क कला कहलाती है । इस अनच्क कला रूप प्राणशक्ति को कुण्डलिनी इसलिये कहते हैं कि मूलाधार स्थित कुण्डलिनी की तरह इसकी भी आकृति कुटिल होती है । जिस प्राणवायु का अपान अनुवर्तन करता है, उसकी गति हकार की लिखावट की तरह टेढ़ी-मेढ़ी होती है । प्राणशक्ति अपनी इच्छा से ही प्राण के अनुरूप कुटिल (घुमावदार) आकृति धारण कर लेती है । प्राणशक्ति की यह वक्रता (कुटिलता=घुमावदार आकृति) परमेश्वर की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का खेल है । प्राणशक्ति का एक लपेटा वाम नाडी इडा में और दूसरा लपेटा दक्षिण नाडी पिंगला में रहता हैं इस तरह से इसके दो वलय (घेरे) बनते हैं । सुषुम्ना नाम की मध्य नाडी सार्ध कहलाती है । इस प्रकार यह प्राणशक्ति भी सार्धत्रिवलया है । वस्तुतः मूलाधार स्थित कुण्डलिनी में ही प्राणशक्ति का भी निवास है, किन्तु हृदय में इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति होने से ब्राह्मणवसिष्ठन्याय से उसका यहाँ पृथक् उल्लेख कर दिया गया है । इसका प्रयोजन अजपा (हंसगायत्री) जप को सम्पन्न करना है ।

नाडीचक्र का रहस्य

षट्चक्र का निरूपण करते समय यहाँ नाडियों के सम्बन्ध समझ लेना चाहिए कि मेरुदण्ड के बाहर वाम भाग में चन्द्रात्मक इडा नाडी और दक्षिण भाग में सूर्यात्मक पिंगला नाडी अवस्थित है । मेरुदण्ड के मध्य भाग में वज्रा और चित्रिणी नाडी से मिली हुई त्रिगुणात्मिका सुषुम्ना नाडी का निवास है । इनमें सत्त्वगुणात्मिका चित्रिणी चन्द्ररूपा है, रजोगुणात्मिका वज्रा सूर्यरूपा है और तमोगुणात्मिका सुषुम्ना नाडी अग्निरूपा है । यह त्रिगुणात्मिका नाडी कन्द के मध्य भाग में सहस्रार-पर्यन्त विस्तृत है । इसका आकार खिले हुए धतूरे के पुष्प के सदृश है । इस सुषुम्ना नाडी के मध्य भाग में लिंग से मस्तक तक विस्तृत दीपशिखा के समान प्रकाशमान वज्रा नाडी स्थित है । उस वज्रा नाडी के मध्य में चित्रिणी नाडी का निवास है । यह प्रणव से विभूषित है और मकड़ी के जाले के समान अत्यन्त सूक्ष्म आकार की है । योगी ही इसको योगज ज्ञान से देख सकते हैं ।

मेरुदण्ड के मध्य में स्थित सुषुम्ना और ब्रह्मनाडी के बीच में मूलाधार आदि छः चक्रों को भेद कर यह नाडी सहस्रार चक्र में प्रकाशमान होती है । इस चित्रिणी नाडी के मध्य में शुद्ध ज्ञान को प्रकाशित करने वाली ब्रह्म नाडी स्थित है । यह नाडी मूलाधार स्थित स्वयम्भू लिंग के छिद्र के सहस्रार में विलास करने वाले परमशिव पर्यन्त व्याप्त है । यह नाडी विद्युत् के समान प्रकाशमान है । मुनिगण इसके कमलनाल के तन्तुओं के समान अत्यन्त सूक्ष्म आकार का मानस प्रत्यक्ष ही कर सकते हैं । इस नाडी के मुख में ही ब्रह्मद्वार स्थित है और इसी को योगीगण सुषुम्ना नाडी का भी प्रवेश द्वार मानते हैं ।

अथ द्वाविंशः पटलः

श्रीआनन्दभैरवी उवाच

शृणु शम्भो प्रवक्ष्यामि षट्चक्रस्य फलोदयम् ।
यज्ज्ञात्वा योगिनः सर्वे चिरं तिष्ठन्ति भूतले ॥ १ ॥

श्री आनन्दभैरवी ने कहा—हे शम्भो ! अब षट्चक्र में होने वाले फलों को कहती हूँ जिसे जान कर सभी योगी पृथ्वी पर बहुत काल तक जीते रहते हैं ॥ १ ॥

मूलाधारं महापद्मं चतुर्दलसुशोभितम् ।
वादिसान्तं स्वर्णवर्णं शक्तिब्रह्मपदं व्रजेत् ॥ २ ॥
क्षित्यप्तेजोमरुद्व्योममण्डलं षट्सु पङ्कजे ।
क्रमेण भावयेन्मन्त्री मूलविद्याप्रसिद्धये ॥ ३ ॥

मूलाधार नाम का महापद्म चार दलों से सुशोभित है, उस पर व, श, ष, स—ये चार वर्ण हैं जो स्वर्ण के समान चमकीले हैं। उसका ध्यान करने वाला साधक शक्तिब्रह्म का पद प्राप्त करता है क्षिति जल, तेज, वायु, व्योम तथा शून्य ये छः चक्रों में निवास करते हैं । अतः मन्त्रज्ञ साधक मूल विद्या की प्राप्ति के लिए इन चक्रों का ध्यान करे ॥ २-३ ॥

मूलाधार महापद्म

चतुर्दल

महाविष्णु के चरणकमल का ध्यान

ष

स

श

व
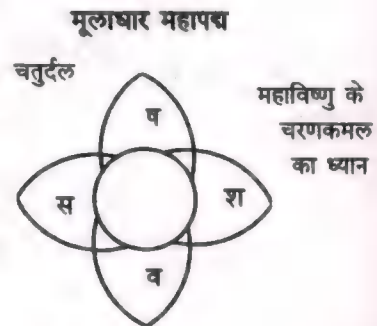
मूलपद्मोदूर्ध्वदिशे च स्वाधिष्ठानं महाप्रभम् ।
षड्दलं राकिणीं विष्णुं कर्णिकायां स्मरेद्यतिः ॥ ४ ॥

मूलाधार वाले महापद्म के ऊपर अत्यन्त तेजस्वी स्वाधिष्ठान नामक महाचक्र हैं जिसमें छः पत्ते हैं, साधक यति उसकी कर्णिका में राकिणी शक्ति के साथ विष्णु का स्मरण करे ॥ ४ ॥

षड्दलं बादिलान्तं च वर्णं ध्यात्वा सुराधिपः ।
कन्दर्पवायुना व्याप्तलिङ्गमूले भजेद्यतिः ॥ ५ ॥

स्वाधिष्ठान महाचक्र

षट्दल कमल

राकिणी एवं विष्णु का ध्यान

उस स्वाधिष्ठान के षड्दल पर ब, भ, म, य, र, ल, इन छः वर्णों का ध्यान करने से मनुष्य इन्द्र पदवी प्राप्त कर सकता है, यह लिङ्ग के मूल में संस्थित हैं तथा कामवायु से व्याप्त हैं, यति को उस स्वाधिष्ठान का आश्रय लेना चाहिए ॥ ५ ॥

तदूर्ध्वे नाभिमूले च मणिकोटिसमप्रभम् ।
दशदलं योगधर्मं डादिफान्तार्थगं भजेत् ॥ ६ ॥
लाकिनीसहितं रुद्रं ध्यायेद्योगादिसिद्धये ।
महामोक्षपदं दृष्ट्वा जीवन्मुक्तो भवेद् ध्रुवम् ॥ ७ ॥

मणिपूरचक्र

दशदल कमल
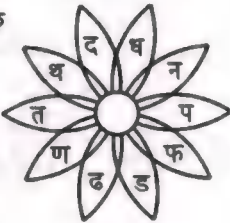
लाकिनी एवं रुद्र का ध्यान

उस स्वाधिष्ठान के ऊपर नाभिमूल में करोड़ों मणि के समान प्रकाश वाला मणिपूर चक्र है जिसमें डकार से लेकर प फ पर्यन्त दश वर्ण हैं योगधर्म की प्राप्ति के लिए साधक को उनका ध्यान करना चाहिए ॥ ६ ॥

उस मणिपूर चक्र में योग सिद्धि के लिए साधक लाकिनी सहित रुद्र का ध्यान करे । फिर वह महामोक्ष पद का दर्शन कर निश्चित रूप से जीवन्मुक्त हो जाता है ॥ ७ ॥

बन्धूकपुष्पसङ्काशं दलद्वादशशोभितम् ।
कादिठान्तार्णसहितमीश्वरं काकिनीं भजेत् ॥ ८ ॥
तदूर्ध्वे षोडशोल्लासपदे साक्षात् सदाशिवम् ।
महादेवीं साकिनीगं कण्ठे ध्यात्वा शिवो भवेत् ॥ ९ ॥

अनाहतचक्र

द्वादशदल कमल

काकिनी ईश्वर का ध्यान

बन्धूक पुष्प के समान अरुण वर्ण वाले क से लेकर ठ पर्यन्त द्वादश वर्ण से सुशोभित द्वादश पत्र वाले चक्र पर काकिनी सहित ईश्वर का ध्यान करना चाहिए ।

उसके ऊपर सोलहदल वाले पद्म पर साकिनी सहित सदाशिव का ध्यान कर साधक सदाशिव बन जाता है ॥ ८-९ ॥

विमर्श—द्वादशशब्दस्य संख्यापरत्वमभ्युपेत्य दलशब्देन षष्ठीतत्पुरुषः । अथवा-द्वादशसंख्यकानि दलानि इति मध्यमपदलोपिसमासे पूर्वनिपातव्यत्यासेन दलद्वादशेति सिध्यति, तैः शोभितमिति ।

विशुद्धाख्यं महापुण्यं धर्मार्थकाममोक्षदम् ।
धूम्रधूमाकरं विद्युत्पुञ्जं भजति योगिराट् ॥ १० ॥
आज्ञानामोत्पलं शुभ्रं हिमकुन्देन्दुमन्दिरम् ।
हंसस्थानं बिन्दुपदं द्विदलं भ्रूकुटे भजेत् ॥ ११ ॥

यह महापुण्यदायक **विशुद्ध** नामक महापद्म है जो धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष को देने वाला है । यह धुएं के आकार से परिपूर्ण विद्युत्पुञ्ज के समान है । योगिराज इसका भजन करते हैं । इसके बाद हिम, कुन्द, इन्दु के मन्दिर के समान **आज्ञा** नामक महापद्म है जो भ्रूकुटी में है । यह चक्र दो पत्तों वाला है । बिन्दु पद से युक्त हंस मन्त्र का स्थान है, उसका भजन करना चाहिए ॥ १०-११ ॥

आज्ञाचक्र महापद्म **विशुद्धचक्र महापद्म**

शाकिनी सदाशिव का ध्यान

द्विदल कमल

लं क्षं

हंस मन्त्र

शाकिनी सदाशिव का ध्यान

षोडशदल कमल

लक्षवर्णद्वयाढ्यं यद् बिन्दुयुक्तं मनोलयम् ।
तयोः स्त्रीपुंप्रकृत्याख्यं कोटिचन्द्रोज्ज्वलं भजेत् ॥ १२ ॥

इस पर ल और क्ष दो वर्ण हैं जो बिन्दु से युक्त हैं । यहीं पर मन का लय होता है । उन दोनों में एक स्त्री दूसरा पुरुष प्रकृति वाला है । यह करोड़ों चन्द्रमा के समान उज्ज्वल है, साधक को इसका भजन करना चाहिए ॥ १२ ॥

कण्ठे षोडशपत्रे च षोडशस्वरवेष्टितम् ।
अकारादिविसर्गान्तं विभाव्य कुण्डलीं नयेत् ॥ १३ ॥

ऊपर कहा गया (द्र० २२. ९) कण्ठ में रहने वाला षोडश पत्रात्मक पद्मचक्र षोडश स्वर से परिवेष्टित है । अकार से लेकर विसर्ग पर्यन्त वर्ण सोलह स्वर कहे गए हैं । इन स्वरों का ध्यान कर फिर कुण्डली को ऊपर ले जाना चाहिए ॥ १३ ॥

आज्ञाचक्रे समानीय कोटिचन्द्रसमोदयाम् ।
कण्ठाधारां कुण्डलिनीं जीवन्मुक्तो भवेदिह ॥ १४ ॥

करोड़ों चन्द्रमा के समान प्रकाश वाली कुण्डली को कण्ठाश्रित-चक्र से ऊपर उठा कर आज्ञा-चक्र (द्विदल कमल) में लाकर उसका ध्यान करने से साधक यहाँ पर ही जीवन्मुक्त हो जाता है ॥ १४ ॥

यदि श्वासं न त्यजति बाह्यचन्द्रमसि प्रभो ।
भ्रूमध्ये चन्द्रनिकरे त्यक्त्वा योगी भवेदिह ॥ १५ ॥

हे प्रभो ! यदि साधक अपनी श्वास बाह्य चन्द्रमा में न छोड़े किन्तु भ्रू के मध्य में रहने वाले चन्द्र समूह में छोड़े तो वह यती योगी बन जाता है ॥ १५ ॥

सूक्ष्मवायूद्गमेनैव त्यजेद् वायुं मुहुर्मुहुः ।
सहस्रादागतं मूले मूलात्तत्रैवमानयेत् ॥ १६ ॥

साधक को सूक्ष्म वायु को ऊपर चढ़ाकर उसे धीरे धीरे छोड़ना चाहिए । सहस्रार चक्र (सहस्रदल कमल) से आए हुए वायु को मूलाधार में, फिर मूलाधार से सहस्रार के मध्य में ले आना चाहिए ॥ १६ ॥

चन्द्रः सूर्ये लयं याति सूर्यश्चन्द्रमसि प्रभो ।
यो बाह्ये नानयेत् शब्दं तस्य बिन्दुचयो भवेत् ॥ १७ ॥

चन्द्रमा सूर्य में लय को प्राप्त होता है । सूर्य चन्द्रमा में लय प्राप्त करता है । जो बाहर में शब्द का आनयन नहीं करता, उसमें बिन्दु (वीर्य) एकत्रित होता है ॥ १७ ॥

यावद् बाह्ये चन्द्रमसि मनो याति रविप्लुते ।
अन्तर्गते चन्द्रसूर्ये न तस्य दुरितं तनौ ॥ १८ ॥

जब चन्द्र एवं सूर्य का लय हो जाता है, तब चन्द्र सूर्य दोनों ही भीतर हो जाते हैं, इस प्रकार रवि प्लुत बाह्य चन्द्र में जब मन चला जाता है तो शरीर में पाप नहीं रहता ॥ १८ ॥

केवलं सूक्ष्मवायुस्थं वायवीशक्तिलालितम् ।
मानसं यः करोतीति तस्य योगादिवर्द्धनम् ॥ १९ ॥

वायवी शक्ति से सुरक्षित सूक्ष्म वायु में जो अपना मन स्थापित करता है उसके योग की अभिवृद्धि होती है ॥ १९ ॥

प्राप्ते यज्ञोपवीते यः श्रीधरो ब्राह्मणोत्तमः ।
योगाभ्यासं सदा कुर्यात् स भवेद्योगिवल्लभः ॥ २० ॥

यज्ञोपवीत हो जाने पर उत्तम ब्राह्मण श्रीसम्पन्न हो जाता है, उसे सर्वदा योगाभ्यास करते रहना चाहिए । ऐसा करने से वह योगी वल्लभ होता है ॥ २० ॥

यावत्कालं स्थितं बिन्दुं बाल्यभावे यथा यथा ।
तथा तथा योगमार्गं बिन्दुपातान्मरिष्यति ॥ २१ ॥

बाल्यकाल में जिस जिस प्रकार से बिन्दु (वीर्य) स्थित रहता है, उस उस प्रकार से योगमार्ग भी वृद्धिगत होता है, जब बिन्दु पात की स्थिति आती है तो साधक मरने की स्थिति में आ जाता है ॥ २१ ॥

तथापि यदि मासं वा पक्षं वा दशभिर्दिनम् ।
यदि तिष्ठति बिन्दूग्रः साक्षादभ्यासतो जयी ॥ २२ ॥

फिर भी यदि एक मास एक पक्ष अथवा दश दिन तक बिन्दु स्थित रखे तो वह साक्षात् अभ्यास से योग में विजयी हो जाता है ॥ २२ ॥

कामानल[1]महापीडाविशिष्टः पुरुषो यदा ।
तत्कामादिसंहरणे विना योगेन कः क्षमः ॥ २३ ॥

जब पुरुष कामानल की महापीड़ा से ग्रस्त हो जाता है, तो वह योग नहीं कर सकता कामादि को रोके बिना योग में कौन समर्थ हो सकता है ॥ २३ ॥

समसंसर्गगूढेन कामो भवति निश्चितम् ।
तत्कामात् क्रोध उत्पन्नो महाशत्रुर्विनाशकृत् ॥ २४ ॥
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशाद् विनाशनम् ॥ २५ ॥

अपने समान (पुरुष या स्त्री) के साथ संबन्ध स्थापित करने पर निश्चित रूप से काम उत्पन्न होता है, उस काम से क्रोध उत्पन्न होता है जो विनाशकर्ता एवं महाशत्रु है । क्रोध से गाढ़ा मोह उत्पन्न होता है, उससे स्मृति नष्ट हो जाती है । इस प्रकार स्मृति के विनाश होने पर बुद्धि का विनाश होने लगता है । जब बुद्धि विनष्ट होती है तब पुरुष का विनाश हो जाता है ॥ २४-२५ ॥

विमर्श—गीता में भी कहा है—कामात् क्रोधेऽभिजायते ।

अतः सम्बुद्धिमाधार्य मूलादिब्रह्ममण्डले ।
ध्यात्वा श्रीनाथपादाब्जं सिद्धो भवति साधकः ॥ २६ ॥
ईश्वरस्य कृपाचिन्हमादौ शान्तिर्भवेद् हृदि ।
शान्तिभिर्जायते ज्ञानं ज्ञानान्मोक्षमवाप्नुयात् ॥ २७ ॥

इसलिए साधक को अपनी बुद्धि को सुरक्षित रख कर उससे मूलाधार स्थित ब्रह्म मण्डल में महाविष्णु के चरण कमलों का ध्यान कर सिद्धि प्राप्त करनी चाहिए । जब सर्वप्रथम हृदय में शान्ति होने लगे तो उसे ईश्वर की कृपा का चिन्ह समझना चाहिए । क्योंकि शान्ति से ज्ञान होता है और ज्ञान से मोक्ष प्राप्ति होती है ॥ २६-२७ ॥

शान्तिर्विद्या प्रतिष्ठा च निवृत्तिरिति ताः स्मृताः ।
चतुर्व्यूहस्ततो देवः प्रोच्यते परमेश्वरः ॥ २८ ॥

---

१. कामानामनलेन महापीडा, तया विशिष्ट इति तत्पुरुषसमासः ।

इदं ज्ञानमिदं ज्ञेयमिति चिन्तासमाकुलाः ।
पठन्त्यहर्निशं शास्त्रं परतत्त्वपराङ्मुखाः ॥ २९ ॥

प्रथम शान्ति, फिर विद्या, फिर प्रतिष्ठा, तदनन्तर निवृत्ति ये चार व्यूह हैं । इसके निवास के कारण परमेश्वर चतुर्व्यूह कहे जाते हैं । यह ज्ञान है, यह ज्ञेय है, इस प्रकार के विचार से समाकुल लोग दिन रात शास्त्र पढ़ते हैं, तब भी वे तत्त्व से पराङ्मुख रहते हैं ॥ २८-२९ ॥

शिरो वहति पुष्पाणि गन्धं जानाति नासिका ।
पठन्ति मम तन्त्राणि दुर्लभा भावबोधकाः ॥ ३० ॥

शिर पुष्प का भार जानता है, किन्तु उसके गन्ध का ज्ञान नासिका को ही होता है । इसी प्रकार लोग हमारे तन्त्र को पढ़ते हैं, किन्तु उसके भाव का ज्ञान जानने वाले साधक यति दुर्लभ हैं ॥ ३० ॥

यज्ञोपवीतकाले तु पशुभावाश्रयो भवेत् ।
यावद्योगं न सम्प्राप्तं तावद् वीराचरं न च ॥ ३१ ॥

यज्ञोपवीत काल में साधक पशुभाव का आश्रय ग्रहण करे । जब तक योग ज्ञान की संप्राप्ति न हो, तब तक वीराचार ग्रहण करना मना है ॥ ३१ ॥

आचारो विनयो विद्या प्रतिष्ठा योगसाधनम् ।
तस्यैव जायते सिद्धिरिष्टपादाम्बुजे मतिः ॥ ३२ ॥
देवे गुरौ महाभक्तिर्यस्य नित्यं विवर्धते ।
संवत्सरात्तस्य सिद्धिर्भवत्येव न संशयः ॥ ३३ ॥

ऐसा आचरण करने वाले साधक को ही आचार, विनय, विद्या, प्रतिष्ठा, योगसाधन और अपने इष्ट देवता के चरण कमलों में बुद्धि उत्पन्न होती है । जिस साधक को अपने गुरु में और देवता में निरन्तर भक्ति की अभिवृद्धि होती रहती है । उसे एक संवत्सर मात्र में सिद्धि प्राप्त हो जाती है, इसमें संशय नहीं ॥ ३२-३३ ॥

वेदागमपुराणानां सारमालोक्य यत्नतः ।
मनः संस्थापयेदिष्टपादाम्भोरुहमण्डले ॥ ३४ ॥

वेद आगम (मन्त्र शास्त्र) तथा पुराण का तत्त्व यत्नपूर्वक जान कर तदनन्तर अपने इष्ट देवता के चरण कमल मण्डल में मन संस्थापित करे ॥ ३४ ॥

चेतसि क्षेत्रकमले षट्चक्रे योगनिर्मले ।
मनो निधाय मौनी यः स भवेद् योगवल्लभः ॥ ३५ ॥

क्षेत्र रूपी कमल में रहने वाले, योग से सर्वथा विशुद्ध और चेतना संयुक्त षट्चक्र में मन स्थापित कर जो साधक मौन धारण करता है, वह योग का वल्लभ होता है ॥ ३५ ॥

मनः करोति कर्माणि मनो लिप्यति पातके ।
मनःसंयमनी भूत्वा पापपुण्यैर्न लिप्यते ॥ ३६ ॥

मन ही कर्म करता है । मन ही पाप पङ्क से लिप्त रहता है । अतः जो मन को अपने वश में रखता है, वह पाप पुण्य से लिप्त नहीं होता ॥ ३६ ॥

श्री भैरव उवाच

वद कान्ते रहस्यं मे येन सिद्धो भवेन्नरः ।
तत्प्रकारं विशेषेण योगिनामप्यगोचरम् ॥ ३७ ॥
यत्रैव[1] गोपयेद्यद्यदानन्देन निरीक्षयेत् ।
पूजयेद् भावयेच्चैव वर्जयेन्न जुगुप्सयेत् ॥ ३८ ॥
क्रमेण वद तत्त्वञ्च यदि स्नेहोऽस्ति[2] मां प्रति ।
न[3] ज्ञात्वापि च भूतत्त्वं योगी मोहाश्रितो भवेत् ॥ ३९ ॥

श्री भैरव ने कहा—हे कान्ते ! अब उस रहस्य को बताइए, जिससे पुरुष को सिद्धि प्राप्त होती है । विशेष कर उसके प्रकार को जो योगियों के लिए भी अगोचर है । जिसमें जो जो गोपनीय हो, जो जो आनन्दपूर्वक निरीक्षण के योग्य हो, जो जो पूजनीय हो, जो जो ध्यान के योग्य हो, जो जो वर्जनीय हो तथा जो जो जुगुप्सा के योग्य न हो, हे प्रिये ! यदि मुझमें आपका स्नेह हो तो क्रमशः उन तत्त्वों को प्रकाशित कीजिए । क्योंकि इन्हें बिना जाने योगी भूत के समान रहता है और मोह के वशीभूत हो जाता है ॥ ३७-३९ ॥

आनन्दभैरवी उवाच

त्रैलोक्ये योगयोग्योऽसि षट्चक्रभेदने रतः ।
त्वमेव परमानन्द महाधिष्ठाननिर्मल ॥ ४० ॥
सङ्घातयेन्महावीर एतान्दोषान् महाभयान् ।
कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यसञ्ज्ञकान् ॥ ४१ ॥

आनन्दभैरवी ने कहा—हे परमानन्द ! हे महाधिष्ठान निर्मल ! मात्र आप ही योग की योग्यता रखते हैं तथा षट्चक्र भेदन की क्रिया में समर्थ हैं । हे महावीर, महाभय देने वाले काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मात्सर्य संज्ञक इन दोषों का साधक को संहार करना चाहिए ॥ ४०-४१ ॥

सङ्घातयेन्महावीरो विकारं चेन्द्रियोद्भवम् ।
निद्रा-लज्जा-दौर्मनस्यं दशकालानलान् प्रभो ॥ ४२ ॥
सङ्गोपयेन्महावीरो महामन्त्रं कुलक्रियाम् ।
मुद्राक्षसूत्रतन्त्रार्थं गोपिनां वीरसङ्गमम् ॥ ४३ ॥

---

१. घातयेत्—क० ।
२. योगिनी—ग० ।
३. अज्ञात्वा पीठतत्त्वं च—ग० ।

हे प्रभो ! महावीर को इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले सभी विकारों को निद्रा लज्जा दौर्मनस्य तथा **दश कालाग्नियों** का विनाश करना चाहिए । महावीर को महामन्त्र, कुण्डलिनी के उत्थान की क्रिया, मुद्रा, अक्ष (माला) सूत्र, तन्त्रार्थ गोपनीय वीर का सङ्गम गुप्त रखना चाहिए ॥ ४२-४३ ॥

अत्याचारं भैरवाणां योगिनीनां च साधनम् ।
नाडीग्रथनमानञ्च गोपयेन्मातृजारवत् ॥ ४४ ॥

भैरवों के आचार का अतिक्रमण, योगिनियों के साधन के प्रकार और नाड़ियों का मान माता के जार (उपपति) की तरह गुप्त रखना चाहिए ॥ ४४ ॥

न निन्देत् प्राणनिधने देवतां गुरुमीश्वरम् ।
सुरां विद्यां महाक्षेत्रं पीठं योगाधिकारिणम् ॥ ४५ ॥
योगिनी जडमुन्मत्तं जन्मकर्मकुलक्रियाम् ।
प्रयोगे धर्मकर्तारं न निन्देत् प्राणसंस्थितौ ॥ ४६ ॥
पत्नीं भ्रातृवधूञ्चैव बौद्धाचारञ्च योगिनीम् ।
कर्म शुभाशुभञ्चैव महावीरो न निन्दयेत् ॥ ४७ ॥

साधक जीवन मरण की, देवता की, गुरु की तथा ईश्वर की निन्दा न करे । इसी प्रकार सुरा की, महाविद्या की, महाक्षेत्र, सिद्धपीठ, योग के अधिकारी, योगिनी, जड़, उन्मत्त, जन्म कर्म, कुण्डलिनी, क्रिया तथा प्रकृष्ट योग में धर्म करने वाले की प्राण रहते कदापि निन्दा न करनी चाहिए । पत्नी, भाई की भार्या, बौद्धाचार, योगिनी, शुभाशुभ कर्म की महावीर निन्दा न करे ॥ ४५-४७ ॥

निरीक्षयेन्न कदापि कन्यायोनिं दिने रतिम् ।
पशुक्रीडां[1] दिग्वसनां कामिनीं[2] प्रकटस्तनीम् ॥ ४८ ॥
विग्रहं द्यूतपाशार्थं क्लीबं विष्ठादिकं शुचौ ।
अभिचारभारञ्च क्रियामप्रमत्तस्य[3] नेक्षयेत् ॥ ४९ ॥

कन्या की योनि, दिन में रति, पशुओं का मैथुन, नङ्गी स्त्री तथा खुले स्तन वाली कामिनी, जूआ के लिए लड़ने वाले जुआड़ी, नपुंसक, शुचि रहने पर विष्टा आदि घृणित वस्तु अभिचार (मारणादि क्रिया) तथा असमत्त की क्रिया वीर पुरुष न देखे ॥ ४८-४९ ॥

पूजयेत्परया भक्त्या देवतां गुरुमीश्वरम् ।
शक्तिं साधुमात्मरूपं स्थूलसूक्ष्मं प्रयत्नतः ॥ ५० ॥
अतिथिं मातरं सिद्धं पितरं योगिनं तथा ।
पूजयेत् परया भक्त्या सिद्धमन्त्रं सुसिद्धये ॥ ५१ ॥

---

१. विवसनाम्—ग० ।
२. प्रकटौ स्तनौ यस्याः सा, ताम् ।
३. अज्ञस्य—क० ।

देवता गुरु, ईश्वर शक्ति, साधु, स्थूल तथा सूक्ष्म अपने आत्मस्वरूप की अत्यन्त भक्ति के साथ प्रयत्न पूर्वक पूजा करे । अतिथि, माता, सिद्ध, पिता योगी इनकी भी परा भक्ति से पूजा करे । इसी प्रकार सिद्धि के लिए प्रयुक्त सिद्ध मन्त्र को भी आदर की दृष्टि से देखे ॥ ५०-५१ ॥

भावयेदेकचित्तेन साधूक्तं योगसाधनम् ।
गुरोर्वाक्योपदेशं च स्वधर्मं तीर्थदेवताम् ॥ ५२ ॥
कुलाचारं [१] वीरमन्त्रमात्मानं परमेष्ठिनम् ।
भावयेद्विधिविद्यां च तन्त्रसिद्धार्थनिर्णयम् ॥ ५३ ॥

साधुओं का उपदेश, योग का साधन, गुरुवाक्य, उपदेश, अपना धर्म, तीर्थ, देवता कुलाचार, वीरमन्त्र, आत्मा, परमेष्ठी, विधिपूर्वक प्राप्त की गई विद्या, तन्त्र तथा सिद्धार्थ निर्णय इनका अनन्य मन से ध्यान करना चाहिए ॥ ५२-५३ ॥

वर्जयेत् साधकश्रेष्ठोऽगम्यागमनादिकम् ।
धूर्तसङ्गं वञ्चकञ्च प्रलापमनृताशुभम् ॥ ५४ ॥
वर्जयेत् पापगोष्ठीयमालस्यं बहुजल्पनम् ।
अवेदकर्मसञ्चारं गोसवं [२] ब्राह्मणस्य च ॥ ५५ ॥
जुगुप्सयेन्न कदापि विण्मूत्रं क्लेदशोणितम् ।
हीनाङ्गीं पिशितं नाथ कपालाहरणादिकम् ॥ ५६ ॥
सुरां गोपालनञ्चैव निजपापं रिपोर्भयम् ।
जुगुप्सयेन्न सुधर्म्मं यदि सिद्धिमिहेच्छति ॥ ५७ ॥

श्रेष्ठ साधक अगम्या स्त्री से संभोग जैसे पतित कार्य, धूर्त का साथ, ठगहारी, प्रलाप, झूठ, अशुभ इनको वर्जित करे । पापियों की गोष्ठी, आलस्य, बकवाद, वेद विरुद्ध कर्म का प्रचार, गोहत्या, ब्रह्महत्या जैसे पापों का वर्जन करे । हे नाथ ! विष्ठा मूत्र, कफ, खून, हीन अङ्ग वाली स्त्री, मांस तथा कपाल हरणादि की निन्दा कदापि न करे । सुरा, गोपालन, अपना पाप और शत्रु से होने वाले भय की निन्दा न करे । इसी प्रकार सिद्धि चाहने वाला साधक श्रेष्ठ धर्म की भी निन्दा न करे ॥ ५४-५७ ॥

समयाचारमेवेदं योगिनां वीरभाविनाम् ।
गुर्वाज्ञया यः करोति जीवन्मुक्तो भवेद् भुवि ॥ ५८ ॥
वृथा धर्म वृथा चर्यं वृथा दीक्षा वृथा तपः ।
वृथा सुकृतमाख्येति गुर्वाज्ञालङ्घनं नृणाम् ॥ ५९ ॥

वह वीरभाव प्राप्त करने वालों के लिए इस प्रकार का समयाचार है । जो गुरु की आज्ञा से इनका पालन करता है वह पृथ्वी पर ही जीवन्मुक्त हो जाता है । मनुष्य को, गुरु की

---

१. तन्त्रम्—ग० ।
२. गोरसम्—ग० ।

आज्ञा उल्लंघन जैसा पाप, उसके धर्म को, आचरण की दीक्षा को, तप को, पुण्य को तथा यश को व्यर्थ बना देता है ॥ ५८-५९ ॥

ब्राह्मणक्षत्रियादीनामादौ योगादिसाधनम् ।
पश्चात् कुलक्रिया नाथ [१]योगविद्याप्रसिद्धये ॥ ६० ॥
विना भावेन वीरेण पूर्णयोगी कुतो भवेत् ।
आदौ कुर्यात् पशोर्भावं पश्चात् कुलविचारणम् ॥ ६१ ॥

हे नाथ ! योग विद्या में प्रकृष्ट सिद्धि चाहने के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि को प्रथम योगादिसाधन करना चाहिए । उसके पश्चात् कुल क्रिया कुण्डलिनी का उत्थान करना चाहिए। वीरभाव के बिना कोई मनुष्य किस प्रकार पूर्णयोगी बन सकता है । उसमें भी प्रथम पशुभाव का आचरण करे । पश्चात् कुण्डलिनी का आचरण करे ॥ ६०-६१ ॥

मम तन्त्रे महादेव केवलं सारनिर्णयम् ।
अकस्माद् भक्तिसिद्ध्यर्थं कुलाचारं च योगिनाम् ॥ ६२ ॥
ब्राह्मणानां कुलाचारं केवलं ज्ञानसिद्धये ।
ज्ञानेन जायते योगी योगादमरविग्रहः ॥ ६३ ॥
भूत्वा योगी कुलीनश्च योगाभ्यासमहर्निशम् ।
षट्चक्रं भूतनिलयं भावयेद् भावसिद्धये ॥ ६४ ॥

हे महादेव ! हमारे (शक्ति) तन्त्र में केवल सार निर्णय यह है कि अकस्माद् भक्ति की सिद्धि के लिए योगियों का कुलाचार करे । ब्राह्मणों को कुलाचार (कुण्डलिनी का अभ्युत्थान) केवल ज्ञान की सिद्धि के लिए करना चाहिए । क्योंकि ज्ञान से योगी, तदनन्तर योग से अमर शरीर प्राप्त होता है । कुलीन (कुण्डलिनी का उपासक) योगी दिन रात योगाभ्यास करे और पञ्चभूत के स्थानभूत षट्चक्रों का भावसिद्धि के लिए ध्यान करे ॥ ६२-६४ ॥

मूलपद्मस्योद्ध्वदिशे लिङ्गमूले महाशुचिः ।
स्वाधिष्ठाने महापद्मं पद्दले वायुना यजेत् ॥ ६५ ॥
एतत् षड्दलवर्णानां भावनां यः करोति हि ।
तस्य साक्षाद् भवेद्विष्णुः राकिणीसहितः प्रभो ॥ ६६ ॥

मूलाधार में स्थित महापद्म के ऊपर लिङ्गमूल के स्वाधिष्ठान नामक महापद्म के पाद के (नीचे) दल में पवित्र साधक वायु द्वारा यजन करे । स्वाधिष्ठान स्थित छः पत्तों पर स्थित रहने वाले वर्णों की जो भावना करता है, हे प्रभो ! उसे राकिणी सहित महाविष्णु का साक्षात्कार हो जाता है ॥ ६५-६६ ॥

स्वाधिष्ठानषड्दलस्य कर्णिकामध्यमण्डले ।
दलाष्टकं भावयित्वा नागयुक्तं स ईश्वरः ॥ ६७ ॥

---

१. योगस्य विद्या, तस्याः प्रकर्षेण सिद्धिस्तस्यै ।

अष्टौ नागा अष्टदले प्रतिभान्ति यथारुणाः ।
जलस्योपरि पद्मे च ध्यायेत्तन्नागवल्लभाम् ॥ ६८ ॥

स्वाधिष्ठान के छः पत्तों वाले कर्णिका के मध्य मण्डल में स्थित नाग युक्त आठ पत्तों का ध्यान कर साधक साक्षात् सदाशिव हो जाता है । जिस प्रकार अष्टदल पर अरुण वर्ण के आठ नाग शोभित होते हैं, उसी प्रकार जल के ऊपर रहने वाले उस महापद्म पर नागपत्नियों का भी ध्यान करना चाहिए ॥ ६७-६८ ॥

अनन्तं वासुकिं पद्मं महापद्मं च तक्षकम् ।
कुलीरं कर्कटं शङ्खं दक्षिणादौ दले भजेत् ॥ ६९ ॥
अष्टदलोपरि ध्यायेत् कर्णिकावृत्तयुग्मकम् ।
तदूर्ध्वे षड्दलं वादिलान्तयुक्तं सबिन्दुकम् ॥ ७० ॥

अनन्त, वासुकि, पद्म, महापद्म, तक्षक, कुलीर, कर्कट तथा शंख इन आठ नागों का दक्षिण दल से प्रारम्भ कर ध्यान करना चाहिए । उस अष्टदल के ऊपर कर्णिका से युक्त दो वृत्तों का ध्यान करे । उसके ऊपर षड्दल का ध्यान करना चाहिए, जिस पर बिन्दु के सहित व भ म य र ल ये छः वर्ण हैं ॥ ६९-७० ॥

पूर्वादिक्रमयोगेन दक्षिणावर्त्तवायुना ।
पुनः पुनः कुम्भयित्वा ध्यायेत् षड्वर्णवायवीम् ॥ ७१ ॥
केशरं युगलं ध्यायेत् कुलोर्ध्वे साकृतिं मुदा ।
अष्टदले षड्दले च विभाव्य योगिराड् भवेत् ॥ ७२ ॥
अष्टदलस्योर्ध्वदिशे वृत्तयुग्मं मनोहरम् ।
तस्योपरि पुनर्ध्यायेत् षड्दले वादिलान्तकम् ॥ ७३ ॥

पूर्व दिशा के क्रम से दक्षिणावर्त वायु द्वारा पुनः पुनः कुम्भक कर वायु देवता वाले इन छः वर्णों का ध्यान करे । कुल के ऊर्ध्व भाग में अष्टदल पर तथा षड्दल पर आकृति सहित दो केशरों का प्रसन्नता पूर्वक ध्यान करे । ऐसा करने से साधक योगिराज बन जाता है । उस अष्टदल के ऊर्ध्व देश में मनोहर दो वृत्त हैं । उसके ऊपर षड्दल पर पुनः 'व भ म य र ल' इन छः वर्णों का ध्यान करना चाहिए ॥ ७१-७३ ॥

दलाष्टकाधो ध्यायेद्यो वृत्तयुग्मं मनोहरम् ।
वृत्ताधोमण्डलाकारं वं बीजं व्याप्य तिष्ठति ॥ ७४ ॥
वृत्तलग्नं समाव्याप्तं यं बीजं विद्युदाकरम् ।
कोटिसूर्यसमाभासं विभाव्य योगिनां पतिः ॥ ७५ ॥
यान्तबीजकलानां तु अधः षट्कोणमण्डलम् ।
षट्कोणे दक्षिणादौ च भावयेद् यादिलान्तकम् ॥ ७६ ॥

अष्टदल के नीचे पुनः दो मनोहर वृत्तों का ध्यान करना चाहिए । जिस वृत्त के अधः मण्डल के आकार वाला 'वं' बीज व्याप्त हो कर स्थित है । वृत्त में लगा हुआ उसी के समान, विद्युदाकर, करोड़ों सूर्य के समान तेज वाला 'यं' बीज का ध्यान कर साधक योगियों का

अधिपति हो जाता है । यान्त बीज 'रं' कला के नीचे षट्कोण का मण्डल है । उस षट्कोण मण्डल में दक्षिण दिशा से आरम्भ कर य र ल वर्णों का ध्यान करना चाहिए ॥ ७४-७६ ॥

तत्षट्कोणमध्यदेशे षट्कोणं धूम्र[१]मण्डलम् ।
तत्कोणे दक्षिणादौ च द्रव्यादिषट्कमाश्रयेत् ॥ ७७ ॥
द्रव्यं गुणास्तथा कर्म सामान्यं सविशेषकम् ।
समवायं क्रमेणैव षट्कोणेषु विभावयेत् ॥ ७८ ॥

उस षट्कोण के मध्य भाग में धूम्र मण्डल युक्त एक षट्कोण और है । उस षट्कोण में द्रव्यादि छः पदार्थ अर्थात् १. द्रव्य, २. गुण, ३. कर्म, ४. सामान्य, ५. सविशेष तथा ६. समवाय—इन छः पदार्थों का ध्यान करना चाहिए ॥ ७७-७८ ॥

पूर्वादिक्रमयोगेन दक्षिणावर्तवायुना ।
सर्वत्र भावयेन्मन्त्री कुम्भयित्वा पुनः पुनः ॥ ७९ ॥
द्रव्यषट्कोणमध्ये तु षट्कोणं चारुतेजसम् ।
कोणे कोणे च षड्वर्गान् भावयेत् स्थिरचञ्चलान् ॥ ८० ॥
तन्मध्ये च त्रिकोणे च राकिणीसहितं हरिम् ।
कोटिचन्द्रमरीचिस्थं ध्यायेद्योगी विशालधीः ॥ ८१ ॥

षट्कोण के मध्य में अत्यन्त सुन्दर तेजस्वी एक षट्कोण और है । उसके प्रत्येक कोण में स्थिर तथा चञ्चल प्रकृति वाले, क वर्ग, च वर्ग, ट वर्ग, त वर्ग, प वर्ग और य वर्ग—इन छः वर्गों का ध्यान करना चाहिए । उसके मध्य में रहने वाले त्रिकोण में विशाल बुद्धि वाले योगी को करोड़ों चन्द्रमा की किरणों के समान राकिणी के सहित श्री हरि का ध्यान करना चाहिए ॥ ७९-८१ ॥

षड्दलान्तर्गतं पद्मं योगिनामपि साधनम् ।
यो नित्यं कुरुतेऽभ्यासं तस्य योगः प्रसिद्ध्यति ॥ ८२ ॥
एतच्चक्रप्रसादेन नीरोगी निरहङ्कृतः ।
सर्वज्ञो भवति क्षिप्रं श्रीनाथपदभावनात् ॥ ८३ ॥

इस प्रकार षट्दल में रहने वाला पद्म योगियों का साधन है । जो इस पद्म का ध्यान करता है, उसका योग सिद्ध हो जाता है । इस चक्र की कृपा से महाविष्णु के चरण कमल में की गई भावना से साधक नीरोग और अहङ्कार रहित हो कर बहुत शीघ्र सर्वज्ञ हो जाता है ॥ ८२-८३ ॥

ज्योतीरूपं योगमार्गं सूक्ष्मातिसूक्ष्मनिर्मलम् ।
त्रैलोक्यकामनासिद्धिं षट्चक्रे भावयेद्धरिम् ॥ ८४ ॥
यो हरिः शेषशम्भुश्च यः शम्भुः सूक्ष्मरूपधृक् ।
सूक्ष्मरूपस्थितो ब्रह्मा ब्रह्माधीनमिदं जगत् ॥ ८५ ॥

---

१. धूम्रतेजसम्—क० ।

योग मार्ग प्रकाश स्वरूप है, सूक्ष्म से सूक्ष्म तथा अत्यन्त निर्मल है । अतः उक्त षट्चक्र में त्रिलोकी के समस्त कामनाओं की सिद्धि करने वाले श्री हरि का ध्यान करना चाहिए । जो हरि हैं वही शेष और वही शम्भु हैं । सूक्ष्म रूप धारण करने वाले जो शम्भु हैं वही सूक्ष्म रूप में स्थित रहने वाले ब्रह्मा हैं । यह सात लोक उन्हीं ब्रह्मदेव के अधीन है ॥ ८४-८५ ॥

एकमूर्तिस्त्रयो देवा ब्रह्मविष्णुपितामहाः ।
मम विग्रहसंश्लिष्टाः सृजत्यवति हन्ति च ॥ ८६ ॥
प्राणायामोद्गता एते योगविघ्नकराः सदा ।
प्राणायामेन निष्पीड्य प्रसभं सिद्धिमाप्नुयात् ॥ ८७ ॥

ऐसे ब्रह्मा, विष्णु तथा पितामह नाम वाले देवता तीन हैं, किन्तु उनकी एक ही मूर्ति है। ये सभी मेरे शरीर से संश्लिष्ट हैं जो सृष्टि, पालन तथा उसका संहार करते हैं । ये प्राणायाम से उत्पन्न हुए हैं और सर्वदा योगमार्ग में विघ्न डालने वाले हैं । इसलिए साधक प्राणायाम के द्वारा इनका निष्पीड़न कर सिद्धि प्राप्त करे ॥ ८६-८७ ॥

अकारं ब्रह्मणो वर्णं शब्दरूपं महाप्रभम् ।
प्रणवान्तर्गतं नित्यं योगपूरकमाश्रयेत् ॥ ८८ ॥
उकारं वैष्णवं वर्णं शब्दभेदिनमीश्वरम् ।
प्रणवान्तर्गतं सत्त्वं योगकुम्भकमाश्रयेत् ॥ ८९ ॥

ओम् का स्वरूप—महातेजस्वी शब्दरूप **अकार** ब्रह्मा का वर्ण है । यह प्रणव के अन्तर्गत नित्य रहने वाला है । यह योग का पूरक है अतः इसका आश्रय लेना चाहिए । शब्द को भिन्न भिन्न करने वाला सबका ईश्वर **उकार** वैष्णव वर्ण है, जो प्रणवान्तर्गत सत्त्व है और कुम्भक प्राणायाम योग है । साधक को इसका भी आश्रय लेना चाहिए ॥ ८८-८९ ॥

मकारं शाम्भवं रूपं बीजभूतं विधूद्गतम् ।
प्रणवान्तस्थितं कालं लयस्थानं समाश्रयेत् ॥ ९० ॥
वर्णत्रय[1]विभागेन प्रणवं परिकल्पितम् ।
प्रणवाज्जायते हंसो हंसः सोऽहं परो भवेत् ॥ ९१ ॥
सोऽहं ज्ञानं महाज्ञानं योगिनामपि दुर्लभम् ।
निरन्तरं भावयेद्यः स एव परमो भवेत् ॥ ९२ ॥

मकार श्री शम्भु का बीजभूत रूप है जो चन्द्रमा से उत्पन्न है । प्रणव के भीतर रहने वाला लय का स्थान तथा काल स्वरूप है, इसका आश्रय लेना चाहिए । तीन वर्ण के अलग अलग रूपों को एक में मिलाने से प्रणव का रूप बनता है, इस प्रणव से 'हंस' मन्त्र बनता है, फिर यही हंस, सोऽहं का रूप बन जाता है । सोऽहं का ज्ञान महाज्ञान है, जो योगियों के लिए भी दुर्लभ है, जो निरन्तर इसकी भावना करता है वह परब्रह्म हो जाता है ॥ ९०-९२ ॥

---

१. वर्णत्रयस्य अकारोकारमकारेति त्रयस्य ।

हं पुमान् श्वासरूपेण चन्द्रेण प्रकृतिस्तु सः ।
एतद्धंसं विजानीयात् सूर्यमण्डलभेदकम् ॥ ९३ ॥
विपरीतक्रमेणैव सोऽहं ज्ञानं यदा भवेत् ।
तदैव सूर्यगः सिद्धः [1]स्वधास्वरप्रपूजितः ॥ ९४ ॥

श्वास रूप चन्द्र से 'हं' पुमान् है और 'सः' प्रकृति है यही हंस मन्त्र है जो सूर्य मण्डल का भी भेदक है । इस हंस को उलट देने पर 'सोऽहं' ज्ञान हो जाता है । तब साधक सूर्यमण्डल में गमन करने वाला सिद्ध हो जाता है और स्वधा स्वर से पूजित होता है ॥ ९३-९४ ॥

हकारार्णं सकारार्णं लोपयित्वा ततः परम् ।
सन्धिं कुर्यात्ततः पश्चात् प्रणवोऽसौ महामनुः ॥ ९५ ॥
एतद् हंसं महामन्त्रं स्वाधिष्ठाने मनोगृहे ।
मनोरूपं भजेद्यस्तु स भवेत् सूर्यमध्यगः ॥ ९६ ॥

हकार वर्ण तथा सकार वर्ण का लोप कर जब शेष की सन्धि कर दे तो वही प्रणव रूप महामन्त्र बन जाता है । यह हंस रूप महामन्त्र मन के गृहभूत स्वाधिष्ठान चक्र में रहता है । अतः साक्षात् मनोरूप से इसका जो जप करता है वह सूर्य मण्डल में गमन करता है ॥ ९५-९६ ॥

हंसं सूर्यं विजानीयात् सोऽहं चन्द्रो न संशयः ।
विपरीतो यदा भूयात्तदैव मोक्षभाग् भवेत् ॥ ९७ ॥
यदि हंसमनोरूपं स्वाधिष्ठाने हरेः पदे ।
विभाव्य श्रीगुरोः पादे नीयते नात्र संशयः ॥ ९८ ॥

'हंस' का अर्थ सूर्य है और सोऽहं का अर्थ चन्द्रमा है, इसमें संशय नहीं जब 'हंस' 'सोऽहं' इस विपरीत रूप में हो जाता है तब साधक मोक्ष का भागी बन जाता है । यदि साधक हंस मनोरूप को स्वाधिष्ठान स्थित विष्णु के पद में ध्यान कर श्री गुरु के चरण में समर्पित कर दे तो भी साधक मोक्ष का गामी बन जाता है इसमें संशय नहीं ॥ ९७-९८ ॥

सोऽहं यदा शक्तिकूटं अकाराकारसम्पुटम् ।
कृत्वा जपति यो ज्ञानी स भवेत् कल्पपादपः ॥ ९९ ॥
जपहोमादिकं सर्वं हंसेन यः करोति हि ।
तदैव चन्द्रसूर्यं स्यात् हंसमन्त्रप्रसादतः ॥ १०० ॥

जब साधक 'सोऽहं' इस शक्ति कूट को ॐकार से सम्पुटित कर ॐ सोऽहं ॐ का जप करता है तो वह महाज्ञानी तथा कल्पवृक्ष हो जाता है । जो हंस मन्त्र से जप होमादि कार्य करता है, तब उस हंस मन्त्र की कृपा से वह चन्द्र एवं सूर्य बन जाता है ॥ ९९-१०० ॥

---

१. स्यात् सुरासुरप्रपूजितः—ग० ।

एतज्जपं महादेव देहमध्ये करोम्यहम् ।
एकविंशसहस्राणि षट्शतानि च हंमनुः ॥ १०१ ॥

हे महादेव ! मैं इस हंस मन्त्र का अपने देह के मध्य में जप करती रहती हूँ, इस हंस मन्त्र की जप संख्या २१ हजार छः सौ है ॥ १०१ ॥

पुंरूपेण हकारञ्च स्त्रीरूपेण सकारकम् ।
जप्त्वा रक्षां करोतीह [१] चन्द्रबिन्दुशतेन च ॥ १०२ ॥

चन्द्र बिन्दु से संयुक्त पुरुष रूप से हकार (हं) तथा स्त्री रूप सकार का जप कर साधक अपनी रक्षा करने में समर्थ हो जाता है ॥ १०२ ॥

प्रणवान्तं महामन्त्रं नित्यं जपति यो नरः ।
वायुसिद्धिर्भवेत्तस्य वायवी सुकृपा भवेत् ॥ १०३ ॥
बृहद् हंसं प्रवक्ष्यामि येन सिद्धो भवेन्नरः ।
कामरूपी [२] क्षणादेव वाक्सिद्धिरिति निश्चितम् ॥ १०४ ॥

जो मनुष्य आदि में प्रणव लगाकर उसके अन्त में इस महामन्त्र का जप करता है उस पर वायवी कृपा हो जाती है और वायु की सिद्धि हो जाती है । अब मैं उस बृहद्धंस मन्त्र को कहती हूँ, जिसके जप से पुरुष सिद्ध हो जाता है । वह इच्छानुसार रूप धारण कर लेता है और उसे निश्चित रूप से वाक्सिद्धि हो जाती है ॥ १०३-१०४ ॥

आदौ प्रणवमुच्चार्य ततो हंसपदं लिखेत् ।
तत्पश्चात् प्रणवं ज्ञेयं ततः परपदं स्मरेत् ॥ १०५ ॥
तर्पयामि [३] पदस्यान्ते प्रणवं फडिति स्मरेत् ।
एतद्धि [४] हंसमन्त्रस्तु वीराणामुदयाय च ॥ १०६ ॥

पहले प्रणव (ॐ) का उच्चारण करे । उसके बाद 'हंस' इस पद को लिखे, उसके बाद फिर प्रणव (ॐ), तदनन्तर 'पर पद' इसके बाद 'तर्पयामि' उसके अन्त में प्रणव (ॐ) से युक्त 'फट्' पद लिखे । यह वृहद्धंस मन्त्र वीरभाव वालों के अभ्युदय के लिए है ॥ १०५-१०६ ॥

विमर्श—बृहद् हंस मन्त्र का स्वरूप—ॐ हंस ॐ पर तर्पयामि ॐ फट् ।

बृहद् हंसप्रसादेन षट्चक्रभेदको भवेत् ।
षट्चक्रे च प्रशंसन्ति सर्वे देवाश्चराचराः ॥ १०७ ॥

---

१. चन्द्रबिन्दुः—ग० ।
२. कुलादेव—ग० ।
३. परमान्ते हंसपदं ततः प्रणवमेव च—क० ।
४. फडितिमन्त्रस्मरणमेव, एतदित्यस्यार्थः ।

साधक इस 'बृहद्धंस की कृपा से षट्चक्र का भेदन करने वाला हो जाता है। षट्चक्रों की सभी देवता तथा चराचर प्रशंसा करते हैं ॥ १०७ ॥

योगसिद्धिं विघाताय[1] भ्रमन्ति योगिनस्तनौ ।
यदि हंसं बृहद्धंसं जपन्ति वायुसिद्धये ॥ १०८ ॥
तदा सर्वे पलायन्ते राक्षसान्मानुषा यथा ॥ १०९ ॥

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने भावनिर्णये पाशवकल्पे षट्चक्रसारसङ्केते योगशिक्षाविधिनिर्णये सिद्धमन्त्रप्रकरणे भैरवीभैरवसंवादे द्वाविंशः पटलः ॥ २२ ॥

योगसिद्धि में विघात करने के लिए योगी के शरीर में विघ्न घूमते रहते हैं, यदि साधक वायु सिद्धि के लिए हंस तथा परमहंस मन्त्र का जप करे तो वे सभी इस प्रकार भाग जाते हैं जैसे राक्षस से मनुष्य ॥ १०८-१०९ ॥

॥ श्रीरुद्रयामल के उत्तरतन्त्र में महातन्त्रोद्दीपन में भावार्थनिर्णय के पाशव-कल्प में षट्चक्रसारसङ्केत में योगशिक्षाविधिनिर्णय में सिद्धमन्त्रप्रकरण में भैरवी-भैरव-संवाद में बाइसवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ २२ ॥

---

१. विदाया मे भ्रमन्ति क्रोधिनस्तनौ—ग० ।

अथ सप्तदशः पटलः

आनन्दभैरवी[1] उवाच

अथ वक्ष्ये महादेव अथर्ववेदलक्षणम् ।
सर्ववर्णस्य सारं हि शक्त्याचारसमन्वितम् ॥ १ ॥
अथर्ववेदादुत्पन्नं सामवेदं तमोगुणम् ।
सामवेदाद्यजुर्वेदं महासत्त्वसमुद्भवम् ॥ २ ॥
रजोगुणमयं ब्रह्मा ऋग्वेदं यजुषः स्थितम् ।
मृणालसूत्रसदृशी[1] [2]अथर्ववेदरूपिणी ॥ ३ ॥

आनन्दभैरवी ने कहा—हे महादेव ! अब इसके अनन्तर अथर्ववेद का लक्षण कहती हूँ, जो शक्त्याचार से समन्वित समस्त वर्णों का स्थिरांश है । अथर्ववेद से तमोगुण वाला सामवेद उत्पन्न हुआ । पुनः उस सामवेद से समस्त महासत्त्व का उत्पत्ति स्थान भूत यजुर्वेद उत्पन्न हुआ। उस यजुर्वेद से रजोगुणमय ऋग्वेद उत्पन्न हुआ, जहाँ ब्रह्मदेव की स्थिति है ॥ १-३ ॥

अथर्वे सर्ववेदाश्च जलखेचरभूचराः ।
निवसन्ति महा विद्या[3] कुलविद्या महर्षयः ॥ ४ ॥
समाप्तिपत्रशेषार्थं समीपं लोकमण्डले ।
शक्तिचक्रसमाक्रान्तं दिव्यभावात्मकं शुभम् ॥ ५ ॥

अथर्ववेद रूपिणी यह महाशक्ति मृणालतन्तु के सदृश है । इस अथर्व वेद में सभी वेद समस्त जलचर, खेचर तथा भूचर समाहित है । इसमें महाविद्यायें, अन्य विद्यायें, कुल विद्या तथा समस्त महर्षिगण निवास करते हैं । समाप्त होने वाले पत्र पर शेष सभी वस्तुयें हैं जो इस लोकमण्डल की सीमा से संयुक्त हैं । यह पत्र शक्तिचक्र से समाक्रान्त तथा कल्याण करने वाला दिव्यभावात्मक है ॥ ३-५ ॥

तत्रैव वीरभावञ्च तत्रैव पशुभावकम् ।
सर्वभावात् परं तत्त्वमथर्व वेदपत्रकम् ॥ ६ ॥
द्विबिन्दुनिलयस्थानं ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम् ।
चतुर्वेदान्वितं तत्त्वं शरीरं दृढनिर्मितम् ॥ ७ ॥

उसी पर वीरभाव तथा पशुभाव भी रहता है । इस प्रकार सबको उत्पन्न करने के

---

१. शूकसूत्रसदृशी—क० ।   २. विद्या—क० ख० ।
३. मृणालसूत्रेण कमलतन्तुना सदृशी ।

कारण वेद पत्र वाला यह अथर्व सबका तत्त्व है । वह दो बिन्दुओं के निलय का स्थान, ब्रह्मा, विष्णु, शिवात्मक यह शरीर तत्त्व चारों वेदों से युक्त है, इसकी रचना दृढ़तापूर्वक की गई है ॥ ६-७ ॥

चतुर्विंशतितत्त्वानि सन्ति गात्रे मनोहरे ।
ब्रह्मा रजोगुणाक्रान्तः पूरकेणाभिरक्षति ॥ ८ ॥
विष्णुः सत्त्वगुणाक्रान्तः[१] कुम्भकैः स्थिरभावनैः ।
हरस्तमोगुणाक्रान्तो रेचकेणापि विग्रहम् ॥ ९ ॥

इस मनोहर शरीर में चौबीस तत्त्व हैं, इसकी रक्षा रजोगुण से आक्रान्त ब्रह्मदेव पूरक प्राणायाम से करते हैं । सत्त्वगुण से आक्रान्त विष्णुदेव स्थिरभावना वाले कुम्भक प्राणायाम से तथा तमोगुण से आक्रान्त सदाशिव रेचक के द्वारा इस शरीर की रक्षा करते हैं ॥ ८-९ ॥

अथर्ववेदचक्रस्था कुण्डली परदेवता ।
एतन्माया तु यो नैव ब्रह्मविष्णुशिवेन च ॥ १० ॥
शरीरं देवनिलयं भक्तं ज्ञात्वा प्रवक्ष्यति ।
सर्ववेदमयी देवी सर्वमन्त्रस्वरूपिणी ॥ ११ ॥

कुण्डलिनी की महिमा—अथर्ववेद के चक्र पर रहने वाली कुण्डलिनी परा शक्ति हैं । यही माया है जो ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव से अलग रहती है । यह शरीर देवताओं का निवास स्थान है, जिसे सर्वदेवमयी, सर्व मन्त्र स्वरूपिणी यह कुण्डलिनी अपने भक्त को ही प्रदान करती है ॥ १०-११ ॥

सर्वयन्त्रात्मिका विद्या वेदविद्याप्रकाशिनी ।
चैतन्या सर्वधर्मज्ञा स्वधर्मस्थानवासिनी ॥ १२ ॥
अचैतन्या ज्ञानरूपा हेमचम्पकमालिनी ।
अकलङ्का निराधारा शुद्धज्ञानमनोजवा ॥ १३ ॥

यह सर्व यन्त्रात्मिका है । यह विद्या है तथा वेद विद्या का प्रकाश इसी से होता है । यह चैतन्य है । यह सब प्रकार के धर्मो को जानने वाली है तथा अपने धर्मस्थान पर निवास करती है । यह अचैतन्या एवं ज्ञानरूपा है । यह सुवर्ण के समान पीत वर्ण की चम्पकमाला धारण करने वाली हैं और कलङ्क से रहित सर्वथा स्वच्छ एवं किसी के आधार पर न रहने वाली शुद्ध ज्ञान स्वरूपा तथा मन के समान वेगवती है ॥ १२-१३ ॥

सर्वसङ्कटहन्त्री च सा शरीरं प्रपाति हि ।
तस्याः कार्यमिदं विश्वं तस्याः पुण्यानि हन्ति हि ॥ १४ ॥
तस्याश्चैतन्यकरणे सदा व्याकुलचेतसः ।
महात्मानः प्रसिद्ध्यन्ति यदि कुर्वन्ति चेतनाम् ॥ १५ ॥

---

४. सत्त्वगुर्णराक्रान्तः ।

तस्या अनुग्रहादेव किं न [1]सिद्ध्यति भूतले ।
षण्मासाभ्यासयोगेन चैतन्या कुण्डली भवेत् ॥ १६ ॥

यह सारे सङ्कटों का विनाश करने वाली है । वही शरीर की रक्षा भी करती है, यह समस्त विश्व उसी का कार्य है, उसी के पुण्य इस विश्व का विनाश भी करते हैं । महात्मा लोग उसी को सचैतन्य बनाने के लिए सदा व्याकुल हो कर यत्न करते रहते हैं यदि उसे सचेतन बना लेते है । तब उसके अनुग्रह से इस भूतल पर क्या सिद्ध नहीं होता ? छः महीने निरन्तर अभ्यास करते रहने पर यह कुण्डलिनी चेतना प्राप्त करती है ॥ १४-१६ ॥

सा देवी वायवी शक्तिः परमाकाशवाहिनी ।
तारिणी वेदमाता च बहिर्याति दिने दिने ॥ १७ ॥
द्वादशाङ्गुलमानेन आयुः क्षरति नित्यशः ।
द्वादशाङ्गुलवायुश्च क्षयं कुर्याद्दिने दिने ॥ १८ ॥
यावद् यावद् बहिर्याति कुण्डली परदेवता ।
तावत्तावत्खण्डलयं भवेद्धि पापमोक्षणम् ॥ १९ ॥

यही वायवी शक्ति है जो सर्वदा परमाकाश में बहती रहती है । यह तारने वाली है । वेदों की जननी है तथा प्रतिदिन (शरीर के) बाहर जाती रहती है । मनुष्य की आयु १२ अंगुल के प्रमाण से नित्य संक्षरण करती है । इसलिए पुरुष को चाहिए कि वह १२ अंगुल के वायु को नित्य क्षय करता रहे । यह पर देवता स्वरूपा, कुण्डलिनी, जब जब बाहर जाती है तब तब खण्डलय होता रहता है, और पाप से छुटकारा मिलता रहता है ॥ १७-१९ ॥

यदा यदा न क्षरति वायवी सूक्ष्मरूपिणी ।
बाह्यचन्द्रे महादेव आग्नेयी सोममण्डले ॥ २० ॥
मूलाधारे कामरूपे ज्वलन्ती चण्डिका शिखा ।
यदा शिरोमण्डले च सहस्रदलपङ्कजे ॥ २१ ॥
तेजोमयी सदा याति शिवं कामेश्वरं प्रभुम् ।
अच्युताख्यं महादेवं तदा ज्ञानी स योगिराट् ॥ २२ ॥

हे महादेव ! जब यह सूक्ष्मरूपिणी अग्निदेवता वाली वायवी शक्ति वाह्य चन्द्र वाले सोम-मण्डल में संक्षरण नहीं करती तब तक कामरूप मूलाधार में यह चण्डिका बन कर शिखा के समान जलती रहती है। जब यह तेजोमयी शिरो मण्डल में स्थित सहस्त्र दल कमल में कामेश्वर सदाशिव अच्युत महादेव के समीप जाती है, तब साधक ज्ञानी एवं योगिराज बन जाता है ॥ २०-२२ ॥

यदि क्षरति सा देवी बाह्यचन्द्रे मनोलये ।
तदा योगं समाकुर्यात् यावत् शीर्षेण[2] गच्छति ॥ २३ ॥

---

१. किं न सिद्धयति, सर्व सिध्यति इति तात्पर्यम् ।

२. वैदिकोऽयं शब्दः क्वचिल्लोकेऽपि ।

यदि शीर्षे समागम्यामृतपानं करोति सा ।
वायवी सूक्ष्मदेहस्था सूक्ष्मालयप्रिया सती ॥ २४ ॥
तदेव[1] परमा सिद्धिर्भक्तिमार्गो न संशयः ।
चतुर्वेद ज्ञानसारं अथर्वं परिकीर्तितम् ॥ २५ ॥

जब यह देवी मन को लीन करने वाले बाह्य चन्द्र में क्षरण करती हैं तब योगारम्भ करना चाहिए, जिससे यह शिरः प्रदेश से सहस्त्र दल पङ्कज में गमन करे । यदि सूक्ष्म देह में रहने वाली सूक्ष्मालय प्रिया यह वायवी शक्ति शिरः स्थान के सहस्त्रदल पङ्कज में जाकर अमृत पान करती है, तभी साधक को परमा सिद्धि प्राप्त होती है । वही भक्ति मार्ग है । इसमें संशय नहीं । इसलिए अथर्व चारों वेदों के ज्ञान का सार कहा जाता है ॥ २३-२५ ॥

अथर्ववेदविद्या च देवता वायवी मता ।
तस्याः सेवनमात्रेण रुद्ररूपो भवेन्नरः ॥ २६ ॥
केवलं कुम्भकस्था सा एका ब्रह्मप्रकाशिनी ।

भैरव उवाच

केन वा वायवी शक्तिः[2] कृपा भवति पार्वति ॥ २७ ॥

अर्थव वेद विद्या की देवता वायवी शक्ति कही गई है । उसके सेवन मात्र से मनुष्य रुद्रस्वरूप बन जाता है । वह केवल कुम्भक प्राणायाम में अकेले रह कर ब्रह्मविद्या का प्रकाश करती है ॥ २६-२७ ॥

भैरव ने कहा—हे पार्वती ! यह वायवी शक्ति किससे उत्पन्न होती है और किस प्रकार कृपा करती है ? ॥ २७ ॥

स्थिरचेता भवेत् केन विवेकी वा कथं भवेत् ।
मन्त्रसिद्धिर्भवेत् केन कायसिद्धिः कथं भवेत् ॥ २८ ॥
विस्तार्य वद चामुण्डे आनन्दभैरवेश्वरी ।

आनन्दभैरवी उवाच

शृणुष्वैकमनाः शम्भो मम प्राणकुलेश्वर ॥ २९ ॥

साधक अपने चित्त को किस प्रकार स्थिर करता है ? और किस प्रकार विवेकी बनता है? किस प्रकार से मन्त्र की सिद्धि की जाती है तथा काय की सिद्धि कैसे होती है ? । हे आनन्द भैरवेश्वरि चामुण्डे ! विस्तार पूर्वक इसका वर्णन कीजिए । **आनन्द भैरवी ने कहा**—हे मेरे प्राणकुलेश्वर ! हे शम्भो ! अब सावधान होकर सुनिए ॥ २८-२९ ॥

एकवाक्येन सकलं कथयामि समासतः ।
श्रद्धया परया भक्त्या मनोनियमतत्परः ॥ ३० ॥

---

१. रूपिणी—ग० । २. आनन्दभैरव—ग० ।

स प्राप्नोति पराशक्तिं वायवीं [१]सूक्ष्मरूपिणीम् ।
धैर्यक्षमामिताहारी[२] शान्तियुक्तो यतिर्महान् ॥ ३१ ॥
सत्यवादी ब्रह्मचारी दयाधर्मसुखोदयः ।
मनसः संयमज्ञानी दिगम्बरकलेवरः ॥ ३२ ॥
सर्वत्र समबुद्धिश्च परमार्थविचारवित् ।
शरशय्या भूमितले वायवीं परमामृतम् ॥ ३३ ॥

वायवी सिद्धि का वर्णन—मैं आपके सभी प्रश्नों का संक्षेप में एक वाक्य से उत्तर दे रही हूँ । श्रद्धा एवं पराभक्ति से जो साधक अपने मन को नियम में तत्पर रखता है, वह सूक्ष्मरूपिणी वायवी पराशक्ति को प्राप्त कर लेता है । जो धैर्य धारण करने वाला क्षमावान् परिमित आहार करने वाला शान्ति युक्त, चित्त को संयम में रखने वाला महान् है । सत्यवादी, ब्रह्मचारी, दयावान् धर्मवान्, सुख पूर्वक अभ्युदय चाहने वाला, मन के संयम का उपाय जानने वाला, नग्न वेश में रहने वाला, सभी में समान बुद्धि रखने वाला, परमार्थ के विचार को जानने वाला, भूमितल पर अथवा चटाई पर सोने वाला साधक है वही वायवी परमामृत शक्ति को प्राप्त करता है ॥ ३०-३३ ॥

य एवं पिबति क्षिप्रं तत्रैव वायवी कृपा ।
गुरुसेवापरे धीरे [३] शुद्धसत्त्वतनुप्रभे ॥ ३४ ॥
भक्ते अष्टाङ्गनिरते वायवी सुकृपा भवेत् ।
अतिथिं भोजयेद्यस्तु न भुक्त्वा स्वयमेव च ॥ ३५ ॥

वायवी कृपा—जो इस प्रकार रह कर उस वायवी परमामृत का पान करता हैं उसी पर वायवी शक्ति की कृपा होती है, जो गुरु की सेवा में सर्वदा निरत रहने वाला धैर्यवान् शुद्ध सत्त्व से युक्त शरीर वाला, अष्टाङ्ग योग से युक्त भक्त है उस पर वायवी शक्ति की सुकृपा होती है, जो स्वयं बिना भोजन किए, अतिथि को भोजन कराता है, उस पर वायवी शक्ति की कृपा होती है ॥ ३४-३५ ॥

सर्वपापविनिर्मुक्तो वायवी सुकृपा ततः ।
अन्तरात्मा महात्मा यः कुरुते वायुधारणम् ॥ ३६ ॥
देवगुरौ सत्यबुद्धिर्वायवी सुकृपा ततः ।
एककालो वृथा याति नैव यस्य महेश्वर ॥ ३७ ॥
वायव्यां चित्तमादाय तत्रानिलकृपा भवेत् ।
विचरन्ति महीमध्ये योगशिक्षानिबन्धनम् ॥ ३८ ॥
प्राणायामेच्छुको यो वा वायवी सुकृपा ततः ।
प्रतिवत्सरमानेन पीठे पीठे वसन्ति ये ॥ ३९ ॥

---

१. गामिनीम्—ग० ।
२. केन हेतुना या वायवी शक्तिः तन्त्रशास्त्रप्रसिद्धा, तस्याः कृपा भवति, पार्वति ! इति सम्बोधनम् । ३. परमाणु—ग० ।

वायवीं प्रजपन्तीह वायवी सुकृपा ततः।
अल्पाहारी निरोगी च विजयानन्दनन्दितः ॥ ४० ॥

जो सभी पापों से विनिर्मुक्त है उस पर वायवी कृपा होती हैं, जो अन्तः करण से महात्मा है और वायु को धारण करता है। देवता तथा गुरुजनों में सात्त्विक बुद्धि रखता है उस पर वायवी सुकृपा होती है, हे महेश्वर ! वायवी शक्ति को चित्त में धारण करने से जिसका एक काल भी व्यर्थ नहीं जाता, उस पर वायवी कृपा होती है, जो लोग योग शिक्षा से निपुणता प्राप्त कर पृथ्वी मण्डल में विचरण करते हैं, अथवा जो प्राणायाम में अभिलाषा रखते हैं उन पर वायवी कृपा होती है। जो एक-एक संवत्सर के क्रम से शक्ति के एक एक पीठ में निवास करते हैं और वायवी शक्ति का जप करते हैं उन पर वायवी शक्ति की कृपा समझनी चाहिए ॥ ३६-४० ॥

वायवीं भजतो योगी वायवी सुकृपा भवेत्।
अन्तर्यागे पीठचक्रे चित्तमाधाय यत्नतः ॥ ४१ ॥
नामनिष्ठो धारणाख्यो वायवी सुकृपा ततः।
पशुभाव समाक्रान्तः सदा रेतोविवर्जितः ॥ ४२ ॥

जो स्वल्प आहार करने वाला, नीरोग, विजया के आनन्द से मस्त रहने वाला योगी वायवी शक्ति का भजन करता है उस पर वायवी कृपा होती है। जो साधक यत्न पूर्वक अन्तर्याग रूप पीठचक्र में चित्त को स्थिर कर नाम में निष्ठा रखता हुआ धारण करता है, उस पर वायवी कृपा होती है ॥ ४०-४२ ॥

शुक्रमैथुनहीनश्च वायवी सुकृपा ततः।
अकालेऽपि सकालेऽपि नित्यं धारणतत्परः ॥ ४३ ॥
योगिनामपि सङ्गी यो वायवी सुकृपा ततः।
बन्धुबान्धवहीनश्च विवेकाक्रान्तमानसः ॥ ४४ ॥

जो पशुभाव से समाक्रान्त होकर रेतः का स्खलन नहीं करता तथा शुक्रपात वाला मैथुन नहीं करता उस पर वायवी सुकृपा होती है। अकाल में अथवा उत्तम काल में जो नित्य 'धारणा' में लगा रहता है और योगियों का साथ करता है, उस पर वायवी कृपा समझनी चाहिए ॥ ४२-४४ ॥

शोकाशोकसमं[१] भावं वायवी सुकृपा ततः।
सर्वदानन्दहृदयः कालज्ञो भौतसाधनः ॥ ४५ ॥
मौनधारणजापश्च वायवी सुकृपा ततः।
निर्जनस्थाननिरतो[२] निश्चेष्टो दीनवत्सलः ॥ ४६ ॥

---

१. शोकः, अशोकः शोकाभावः, उभाभ्यां समं भावमधिगच्छति वायवीकृपया इति भावः।
२. सर्वशास्त्रार्थवेत्ता च विधिवेत्ता च धार्मिकः। सूक्ष्मवायुप्रसादज्ञो वायवी सुकृपा ततः ॥
सहसा बहु इष्टज्ञो निन्दाधर्मविवर्जितः। शिल्पकर्माभिमानी यो वायवी सुकृपा ततः ॥
इति क० अ० पु० पाठः।

जो बन्धु-बान्धव से हीन तथा विवेक युक्त चित्त वाला है, शोक और हर्ष के भाव जिसके लिए समान है, उस पर वायवी कृपा समझनी चाहिए। जिसका हृदय सर्वदा आनन्द से परिपूर्ण है, जो काल का ज्ञाता है, पञ्चभूत शरीर जिसका साधन है, जो मौन धारण करने वाला तथा जप करने वाला है, उस पर वायवी कृपा समझनी चाहिए ॥ ४४-४६ ॥

बहुजल्पनशून्यश्च स्थिरचेताः प्रकीर्तितः ।
हास्य सन्तोषहिंसादिरहितः[१] पीठपारगः ॥ ४७ ॥
योगशिक्षासमाप्त्यर्थी स्थिरचेताः प्रकीर्तितः ।
मत्कुलागमभावो ज्ञो महाविद्यादिमन्त्रवित् ॥ ४८ ॥

निर्जन स्थान में रहने वाला, किसी प्रकार की चेष्टा न करने वाला, दीनों के ऊपर प्रेम करने वाला, अधिक न बोलने वाला पुरुष स्थिरचित्त कहा जाता है। हास्य, असंतोष, हिंसादि से रहित, पीठ (आसन) का पारवेत्ता योग शिक्षा की समाप्ति चाहने वाला साधक स्थिरचित्त कहा जाता है ॥ ४७-४८ ॥

शुद्धभक्तियुतः शान्तः स्थिरचेताः प्रकीर्तितः ।
मूलाधारे कामरूपे हृदि जालन्धरे तथा ॥ ४९ ॥

मेरे कुलागम के समस्त प्रक्रियाओं को जानने वाला महाविद्या आदि मन्त्रों का जानकार शुद्ध भक्ति से युक्त तथा शान्त साधक स्थिर चित्त वाला कहा जाता है ॥ ४८-४९ ॥

ललाटे पूर्णगिर्याख्ये उड्डीयाने तदूर्ध्वके ।
वाराणस्यां भ्रुवोर्मध्ये ज्वलन्त्यां लोचनत्रये ॥ ५० ॥
मायावत्यां सुखवृत्ते कण्ठे चाष्टपुरे तथा ।
अयोध्यायां नाभिदेशे कट्यां काञ्च्यां महेश्वर ॥ ५१ ॥
पीठेष्वेतेषु भूलोके चित्तमाधाय यत्नतः ।
उदरे पूरयेद् वायुं सूक्ष्मसङ्केतभाषया ॥ ५२ ॥

मूलाधार रूपी कामरूप पीठ में, हृदय रूपी जालन्धर पीठ में, ललाट रूपी पूर्णगिरि पीठ में, उससे ऊपर (मूर्धा) उड्डीयान में, भ्रू के मध्य रूपी वाराणसी में, लोचनत्रय रूपी ज्वालामुखी में, मुखवृत्त रूपी माया तीर्थ में, कण्ठ रूपी अष्टपुरी में, नाभिदेश रूपी अयोध्या में, कटिरूपी काञ्चीपुरी में हे महेश्वर ! जो भूलोक के इन पीठों में यत्न पूर्वक चित्त को लगाकर सूक्ष्म सङ्केत की भाषा से उदर में वायु को पूर्ण बनाता है ॥ ४९-५२ ॥

पादाङ्गुष्ठे च जङ्घायां जानुयुग्मे च मूलके ।
चतुर्दले षड्दले च तथा दशदले तथा ॥ ५३ ॥
दले द्वादशके चैव सिद्धिसिद्धान्तनिर्मले[२] ।
कण्ठे षोडशपत्रे च द्विदले पूर्णतेजसि ॥ ५४ ॥

---

१. हास्यसन्तोषहिंसादिभिः रहितः, तृतीयातत्पुरुषः ।

२. सिद्धिसिद्धान्ताभ्यां निर्मले ।

कैलासाख्ये [१]ब्रह्मरन्ध्रपदे निर्मलतेजसि ।
सहस्रारे महापद्मे कोटिकोटिविधुप्रभे ॥ ५५ ॥
चालयित्वा महावायुं कुम्भयित्वा पुनः पुनः ।
पूरयित्वा रेचयित्वा रोमकूपाद्विनिर्गतम् ॥ ५६ ॥

अपने पैर के दोनों अंगूठों को जंघा पर तथा दोनो जानुओं को मूलाधार में स्थापित कर चार दल वाले छः दल वाले, दश दल वाले, सिद्धि सिद्धान्त से निर्मल द्वादश दल वाले, कण्ठ में रहने वाले सोलह पत्र वाले, पूर्णतेजःस्वरूप में दो दल वाले, करोड़ों करोड़ों चन्द्रमा की प्रभा के समान सहस्र पत्र वाले महापद्म में महावायु को चला चला कर, पुनः पुनः उसे कुम्भक कर, फिर पूरक करे । तदनन्तर रेचक कर रोमकूप से निकले हुये ॥ ५३-५६ ॥

तिस्रः कोट्यर्धकोटि च यानि लोमानि मानुषे ।
नाडीमुखानि सर्वाणि धर्मबिन्दुं च्यवन्ति हि ॥ ५७ ॥
यावत्तद्बिन्दुपातश्च तावत्कालं लयं[२] स्मृतम् ।
तावत्कालं प्राणयोगात् प्रस्वेदाधमसिद्धिदम् ॥ ५८ ॥

अधम सिद्धि का लक्षण—मनुष्य के शरीर में होने वाले साढ़े तीन करोड़ रोम हैं वे तथा सभी प्रमुख नाडियाँ घर्म बिन्दु को चुआते रहते हैं । जब तक इस प्रकार का बिन्दु पात होता रहता है तब तक लय की स्थिति रहती है, उतने समय तक अर्थात् प्रस्वेद पर्यन्त किया गया प्राणायाम अधम प्रकार की सिद्धि प्रदान करता है ॥ ५७-५८ ॥

सूक्ष्मवायुसेवया च किन्न सिद्ध्यति भूतले ।
लोमकूपे मनो दद्यात् लयस्थाने मनोरमे ॥ ५९ ॥
स्थिरचेता भवेत् शीघ्रं नात्र कार्या विचारणा ।
वायुसेवां विना नाथ कथं सिद्धिर्भवेद् भवे ॥ ६० ॥

स्थिरचित्त साधक के लक्षण—सूक्ष्म वायु की सेवा से (= प्राणायाम) इस पृथ्वी तल में कौन सी वस्तु है जो सिद्ध न हो लोभकूप में जो मनोरम लय का स्थान है उसमें अपने मन को लगाना चाहिए । ऐसा करने से साधक अपने चित्त को स्थिर कर लेता है, इसमें संदेह या विचार की आवश्यकता नहीं । हे नाथ ! वायु सेवा (प्राणायाम) किए बिना इस संसार में भला सिद्धि किस प्रकार प्राप्त हो सकती है ॥ ५९-६० ॥

स्थिरचित्तं बिना नाथ मध्यमापि न जायते ।
स्थाने स्थाने मनो दत्वा वायुना कुम्भकेन च ॥ ६१ ॥
धारयेन्मारुतं मन्त्री कालज्ञानी दिवानिशम् ।
एकान्तनिर्जने स्थित्वा स्थिरचेता भवेद् ध्रुवम् ॥ ६२ ॥

---

१. लोकमुखात्—ग० ।
२. लयमिति लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्येति नियमेन नपुंसकता, अन्यथा 'घञजपाः पुंसि' इति सूत्रेणाच्प्रत्ययान्ततया पुंल्लिङ्गता स्यात् ।

हे नाथ ! चित्त को स्थिर किए बिना मध्यमा सिद्धि भी नहीं होती । इसलिए कुम्भक रूप वायु के द्वारा उन उन स्थानों में मन को लगाना चाहिए । काल का ज्ञान रखते हुये मन्त्रज्ञ साधक किसी एकान्त निर्जन स्थान में रह कर वायु धारण (प्राणायाम) करे । ऐसा करने से वह निश्चय ही स्थिर चित्त वाला हो जाता है ॥ ६१-६२ ॥

स्थिरचित्तं विना शम्भो सिद्धिः स्यादुत्तमा कथम् ॥ ६३ ॥
निवार्य पञ्चेन्द्रियसञ्ज्ञकानि यत्नेन धैर्यायतिरीश्वरस्त्वम् ।
प्राप्नोति मासन्नयसाधनेन विषासवं भोक्तुमसौ समर्थः ॥ ६४ ॥

हे शम्भो ! जब तक चित्त स्थिर न हो तब तक उत्तमा सिद्धि भी क्या किसी प्रकार प्राप्त हो सकती है ? पञ्चेन्द्रिय संज्ञक वालों को अपने वश में कर यति यत्नपूर्वक धीरता धारण करते हुये एक महीने पर्यन्त वायु का साधन करने से ईश्वरत्व प्राप्त कर लेता है, और वह विष के आसव को भी पान करने में समर्थ हो जाता है ॥ ६३-६४ ॥

मासत्रयाभ्यास-सुसञ्चयेन स्थिरेन्द्रियः स्यादधमादिसिद्धिः ।
सा खेचरी सिद्धिरत्र प्रबुद्धा चतुर्थये मासे तु भवेद्विकल्पनम् ॥ ६५ ॥

तीन महीने तक इस प्रकार के अभ्यास के सञ्चय से साधक की इन्द्रियाँ स्थिर हो जाती है और उसे अधम प्राणायाम की सिद्धि हो जाती है । फिर चार महीने में उसे प्रबुद्ध होने वाली खेचरी (आकाशगमत्व) सिद्धि भी प्राप्त होती है ऐसा विकल्प संभव है ॥ ६५ ॥

तदाधिकारी पवनाशनोऽसौ स्थिरासनानन्दसुचेतसा भुवि ।
प्रकल्पने सिद्धिं यथार्थगामिनीमुपेति शीघ्रं वरवीरभावम् ॥ ६६ ॥

इस भूमण्डल में वह अधिकारी तब हो सकता है जब स्थिरासन होकर आनन्द युक्त चित्त से वायु पीता रहे अर्थात् प्राणायाम करता रहे, ऐसा करते रहने से उसे यथार्थ गामिनी सिद्धि प्राप्त होती है, तथा वह शीघ्र ही श्रेष्ठ वीरभाव को प्राप्त कर लेता है ॥ ६६ ॥

सा वयवी शक्तिरनन्तरूपिणी लोभावलीनां कुहरे महासुखम् ।
ददाति सौख्यं गतिचञ्चलं जयं स्थिराशयत्वं सति शास्त्रकोविदम् ॥ ६७ ॥

यह वायवी शक्ति अनन्त स्वरूपिणी है, जो रोम समूहों से कुहर में रह कर साधक को महासुख प्रदान करती है, सौख्य देती है तथा गति चाञ्चल्य प्रदान करती है, जय देती है, अन्तःकरण में स्थिरता देती है तथा शास्त्र का ज्ञान प्रदान करती है ॥ ६७ ॥

षण्मासयोगासननिष्ठदेहा[१] वायुश्रमानन्दरसाप्तविग्रहः ।
विहाय कल्पान्वितयोगभावं श्रुत्यागमान् कर्तुमसौ समर्थः ॥ ६८ ॥

जो साधक छः महीने तक योगासन (के अभ्यास) में शरीर को लगा देता है, उसे वायु के श्रम से आनन्द रस की प्राप्ति होती रहती है, फिर वह कल्प युक्त योगभाव

---

१. सर्वत्रगामिनो भावात्—ग० ।

को त्याग कर श्रुति (वेद) तथा आगम (मन्त्र या तन्त्र शास्त्र) की रचना करने में भी समर्थ हो जाता है ॥ ६८ ॥

स्थिरचेता महासिद्धिं प्राप्नोति नात्र संशयः ।
संवत्सरकृताभ्यासे महाखेचरतां व्रजेत् ॥ ६९ ॥
यावन्निर्गच्छति प्रीता वायवी शक्तिरुत्तमा ।
नासाग्रमववार्यैव स्थिरचेता महामतिः ॥ ७० ॥

जिसका चित्त स्थिर होता है, वही महासिद्धि प्राप्त करता है इसमें संशय नहीं । संवत्सर पर्यन्त अभ्यास करते रहने पर साधक महाखेचरत्त्व प्राप्त कर लेता है । जब तक यह उत्तमा वायवी शक्ति, सुखपूर्वक बाहर निकलती रहती है, तब तक महाबुद्धिमान् नासा के अग्रभाग में चित्त को लगावे, ऐसा करने से वह स्थिर चित्त हो जाता है ॥ ६९-७० ॥

चण्डवेगा यदा क्षिप्रमन्तरालं न गच्छति ।
सर्वत्रगामी स भवेत् तावत्कालं विचक्षणः ॥ ७१ ॥
यदि शीर्षादूर्ध्वदिशे द्वादशाङ्गुलकोपरि ।
गन्तुं समर्थो भगवान् शिवतुल्यो गणेश्वरः ॥ ७२ ॥
सर्वत्रगामी प्रभवेत् खेचरो योगिराड् वशी ।
इति सिद्धिर्वत्सरे स्यात् स्थिरचित्तेन शङ्कर ॥ ७३ ॥

प्रचण्ड वेग वाली वायु जब शीघ्रता से भीतर न प्रवेश करे तब तक वह विचक्षण सर्वत्रगामी हो सकता है । यदि शिरःप्रदेश के ऊपर १२ अंगुल ऊपर तक साधक जाने में समर्थ हो जावे तो वह शिव के सदृश भगवान् एवं गणेश्वर है । हे शङ्कर ! एक वर्ष के भीतर स्थिर चित्त होने से सिद्धि अवश्य हो जाती है, वह साधक आकाशचारी, सर्वत्रगामी, योगिराट् तथा जितेन्द्रिय हो जाता है ॥ ७१-७३ ॥

योगी भूत्वा मनःस्थैर्यं न करोति यदा भुवि ।
कृच्छ्रेण पदमारुह्य प्रपतेन्नारकी यथा ॥ ७४ ॥
अत एव महाकाल स्थिरचेता भव प्रभो ।
तदा मां प्राप्स्यसि क्षिप्रं वायवीमष्टसिद्धिदाम्[1] ॥ ७५ ॥

यदि साधक इस भूलोक में योगी बन कर भी मन की स्थिरता का अभ्यास न करे तो वह बड़े कष्ट से ऊंचाई पर जा कर भी नारकीय मनुष्य के समान नीचे गिर जाता है । इसलिए, हे महाकाल ! हे प्रभो ! चित्त को स्थिर रखिए, तब बड़ी शीघ्रता से आठों प्रकार की सिद्धियों को देने वाली मुझे आप प्राप्त कर लेंगे ॥ ७४-७५ ॥

यदि सिद्धो भवेद् भूमौ वायवीसुकृपादिभिः ।
सदा कामस्थिरो भूत्वा गोपयेन्मातृजारवत्[2] ॥ ७६ ॥

---

१. अष्टौ सिद्धयोऽष्टसिद्धयस्ता ददाति या सा ताम् ।
२. मातुः जारो यथा गोपनीयो भवति, तद्वत् ।

यदि साधक वायवी शक्ति की सुन्दर कृपा आदि के द्वारा सिद्धि प्राप्त कर ले तो वह सभी कामनाओं से स्थिर हो कर अपनी सिद्धि को इस प्रकार गोपनीय रखे जैसे कोई अपनी माता के जार (उपपति) को प्रगट नहीं करता ॥ ७६ ॥

यदा यदा महादेव योगाभ्यासं करोति यः ।
शिष्येभ्योऽपि सुतेभ्योऽपि दत्वा कार्यं करोति यः ॥ ७७ ॥
तदैव स महासिद्धिं प्राप्नोति नात्र संशयः ।
संवत्सरं चरेद्धर्मं योगमार्गं हि दुर्गमम् ॥ ७८ ॥

हे महादेव ! जो पुरुष जैसे-जैसे योगाभ्यास करता है । उसे वह अपने शिष्यों को तथा अपने पुत्रों को भी शिक्षित करते हुये साधना कार्य करता रहे । उस समय ही वह महासिद्धि प्राप्त कर लेता है, इसमें संशय नहीं । यतः योगमार्ग बहुत दुर्गम है । अतः संवत्सर पर्यन्त धर्म का आचरण करते रहना चाहिए ॥ ७७-७८ ॥

प्रकाशयेन्न कदापि कृत्वा मृत्युमवाप्नुयात् ।
योगयोगाद् भवेन्मोक्षो मन्त्रसिद्धिरखण्डिता ॥ ७९ ॥
न प्रकाश्यमतो योगं भुक्तिमुक्तिफलाय च ।
नित्यं सुखं महाधर्मं प्राप्नोति वत्सराद् बहिः ॥ ८० ॥

योगमार्ग में सिद्धि प्राप्त कर लेने पर साधक उसे कदापि प्रगट न करे । यदि सबको प्रगट कर देता है तो वह मृत्यु को प्राप्त करता है । योग से युक्त हो जाने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है और मन्त्रसिद्धि भी खण्डित नहीं होती । यतः योग 'भोग और मोक्ष' दोनों प्रकार का फल देने वाला है, इसलिए उसे प्रकाशित न करे । एक संवत्सर से ऊपर बीत जाने पर साधक योगाभ्यास से सुख तथा महाधर्म प्राप्त करने लग जाता है ॥ ७९-८० ॥

आत्मसुखं नित्यसुखं मन्त्रं यन्त्रं तथागमम् ।
प्रकाशयेन्न कदापि कुलमार्गं कुलेश्वर ॥ ८१ ॥
यद्येवं कुरुते धर्मं तदा मरणमाप्नुयात् ।
योगभ्रष्टो विज्ञानज्ञोऽजड़ो मृत्युमवाप्नुयात् ॥ ८२ ॥

आत्मानन्द का सुख, नित्य सुख, मन्त्र, यन्त्र तथा आगम शास्त्र तथा कुलमार्ग कुण्डलिनी का ज्ञान हो जाने पर, हे कुलेश्वर ! उसे कदापि प्रकाशित नहीं करना चाहिए । यदि इस प्रकार के धर्म का आचरण करे तो उसकी मृत्यु नहीं होती । योग से भ्रष्ट हो जाने वाला एवं विधान को न जानने वाला चाहे कितना भी पण्डित हो वह मृत्यु अवश्य प्राप्त करता है ॥ ८१-८२ ॥

येन मृत्युवशो याति तत्कार्यं नापि दर्शयेत् ।
दत्तात्रेयो महायोगी शुको नारद एव च ॥ ८३ ॥
येन कृतं सिद्धिमन्त्रं वर्णजालं कुलार्णवम् ।
एकेन लोकनाथेन योगमार्गपरेण च ॥ ८४ ॥

तथा मङ्गलकार्येण ध्यानेन साधकोत्तमः[1] ।
उत्तमां सिद्धिमाप्नोति वत्सराद् योगशासनात् ॥ ८५ ॥

जिसके प्रकाशित करने से साधक मृत्यु के वश में जा सकता हैं उस कार्य को कदापि प्रकाशित न करे । दत्तात्रेय, महायोगी शुक, और नारद इनमें से प्रत्येक लोगों ने कुलार्णव के समस्त मन्त्र जालों को सिद्ध किया था । योगमार्ग प्रदर्शित करने वाले, लोक को वश में करने वाले एवं समस्त मङ्गल प्रदान करने वाले केवल एक ही मन्त्र से साधकोत्तम अपने ध्यान की सहायता से योगशास्त्र के अनुसार एक संवत्सर में ही सिद्धि प्राप्त कर लेता है ॥ ८३-८५ ॥

आदौ वै ब्रह्मणो ध्यानं पूरकाष्टाङ्गलक्षणैः ।
कुर्यात् सकलसिद्ध्यर्थमम्बिकापूजनेन च ॥ ८६ ॥
ऋग्वेदं चेतसि ध्यात्वा मूलाधारे चतुर्द्दले ।
वायुना चन्द्ररूपेण धारयेन्मारुतं सुधीः ॥ ८७ ॥

सर्वप्रथम पूरक प्राणायाम कर (अष्टाङ्ग विशिष्ट) लक्षण योग से ब्रह्मदेव का ध्यान करना चाहिए । फिर समस्त प्रकार की सिद्धि की प्राप्ति के लिए अम्बिका का पूजन करे । मूलाधार स्थित चतुर्दल कमल में अपने चित्त में ऋग्वेद का ध्यान कर सुधी साधक चन्द्ररूप वायु से वायु धारण (प्राणायाम) करे ॥ ८६-८७ ॥

अथर्वान्निर्गतं सर्वं ऋग्वेदादि चराचरम् ।
तेन पूर्णचन्द्रमसा जीवेनार्यामृतेन च ॥ ८८ ॥
जुहुयादेकभावेन कुण्डलीसूर्यगोऽनले ।
कुम्भकं कारयेन्मन्त्री यजुर्वेदपुरःसरम् ॥ ८९ ॥

अथर्ववेद से समस्त ऋग्वेदादि चराचर निकले हुये है। इसलिए उस चन्द्रमा से निर्गत अमृत द्वारा कुण्डलिनी रूप सूर्याग्नि में होम करना चाहिए । मन्त्र वेत्ता यजुर्वेद को आगे रखकर कुम्भक प्राणायाम करे ॥ ८८-८९ ॥

सर्वसत्त्वाधिष्ठितं तत् सर्वविज्ञानमुत्तमम् ।
वायव्याः पूर्णसंस्थानं योगिनामभिधायकम् ॥ ९० ॥
पुनः पुनः कुम्भयित्वा सत्त्वे निर्मलतेजसि ।
महाप्रलयसारज्ञो[2] भवतीति न संशयः ॥ ९१ ॥
रेचकं शम्भुना व्याप्तं तमोगुणमनोलयम्[3] ।
सर्वमृत्युकुलस्थानं व्याप्तं धर्मफलाफलैः ॥ ९२ ॥

कुम्भक समस्त सत्त्वों से अधिष्ठित है, और वह सभी विज्ञानों में उत्तम है ।

---

१. साधकेषु उत्तमः, सुप्सुपेति समासः । २. महाप्रलयस्य सारं जानाति ।
३. तमोगुणविशिष्टस्य मनसो लयो यस्मिन् रेचके, तत् ।

वायवी शक्ति का पूर्ण रूप से स्थान है तथा योगियों के द्वारा प्रशंसित है । बारम्बार निर्मल तेज वाले सत्त्व में कुम्भक प्राणायाम कर साधक महा प्रलय के सार का मर्मज्ञ हो जाता है इसमें संशय नहीं । रेचक प्राणायाम शिव से व्याप्त है । वह तमोगुण वाले मन को अपने में लीन कर लेता है । समस्त मृत्यु रूप कुल का स्थान है तथा धर्म के फलाफल से व्याप्त है ॥ ९०-९२ ॥

पुनः पुनः क्षोभनिष्ठो रेचकेन निवर्तते ।
रेचकेन लयं याति रेचनेन परं पदम् ॥ ९३ ॥
प्राप्नोति साधकश्रेष्ठो रेचकेनापि सिद्धिभाक् ।
रेचकं वह्निरूपञ्च कोटिवह्निशिखोज्ज्वलम् ॥ ९४ ॥
द्वादशाङ्गुलमध्यस्थं ध्यात्वा बाह्ये[1] लयं दिशेत् ।
चन्द्रव्याप्तं सर्वलोकं सर्वपुण्यसमुद्भवम् ॥ ९५ ॥

पुनः पुनः होने वाली चञ्चलता रेचक से दूर हो जाती है । रेचक से चञ्चलता लय को प्राप्त होती है, रेचक से परम पद की प्राप्ति होती है । श्रेष्ठ साधक केवल रेचक से भी सिद्धि का अधिकारी हो जाता है । **रेचक** वह अग्नि है जो करोड़ों-करोड़ों अग्नि ज्वाला से उज्वल है । यह बारह अंगुल के मध्य में रहने वाला है इसका ध्यान कर बाह्य लय करना चाहिए । सब प्रकार के पुण्यों से उत्पन्न यह समस्त लोक चन्द्रमा से व्याप्त है ॥ ९३-९५ ॥

रेचकाग्निर्दहतीह वायुसख्यो महाबली ।
तत् शशाङ्कजीवरूपं पीत्वा जीवति वायवी ॥ ९६ ॥
आग्नेयी दह्यति क्षिप्रं एष होमः परो मतः ।
एतत् कार्यं यः करोति स न मृत्युवशो भवेत् ॥ ९७ ॥

वायु की मित्रता वाली महाबली रेचकाग्नि उसे जलाती रहती है । इस प्रकार वायवी कला शशाङ्क जीवरूप को पी कर वह सर्वदा जीवित रहती है । आग्नेयी उस वायु को शीघ्र जलाती रहती हैं, यह सबसे उत्कृष्ट होम है जो इस कार्य को करता है, वह मृत्यु के वश में नहीं जाता ॥ ९६-९७ ॥

एतयोः सन्धिकालञ्च कुम्भकं तत्त्वसाधनम् ।
तदेव भावकानाञ्च परमस्थानमेव च ॥ ९८ ॥
महाकुम्भकलाकृत्या स्थिरं स्थित्वा च कुम्भके ।
अथर्वगामिनीं देवीं भावयेदमरो महान् ॥ ९९ ॥

कुम्भक—इस वायवी तथा रेचकाग्नि को मिलाने वाला कुम्भक उस तत्त्व का साधन है, जो उन भावुकों के लिए परमस्थान कहा जाता है । महाकुम्भ की कला की आकृती वाले कुम्भक में स्थिर रूप से स्थित रह कर अमर महान् साधक अथर्व वेद में रहने वाली (योगिनी) देवी का ध्यान करे ॥ ९८-९९ ॥

---

१. राज्ये—ग० ।

अनन्तभावनं शम्भोरशेषसृष्टिशोभितम् ।
अथर्वं भावयेन्मन्त्री शक्तिचक्रक्रमेण तु ॥१००॥
आज्ञाचक्रे वेददले चतुर्दलसुमन्दिरे ।
अथर्वयोगिनीं ध्यायेत् समाधिस्थेन चेतसा ॥१०१॥

यह अथर्व अनन्त भावना वाला है । सदाशिव की समस्त सृष्टि से शोभित है । उसका शक्ति चक्र के क्रम से मन्त्रवेत्ता साधक ध्यान करे । आज्ञाचक्र में चार पत्तों वाला कमल है उस चतुर्दल कमल कोष में अथर्व रूप योगिनी का समाधि में स्थित चित्त से ध्यान करे ॥१००-१०१ ॥

ततोऽच्युताख्यं जगतामीश्वरं शीर्षपङ्कजे ।
प्रपश्यति जगन्नाथं नित्यसूक्ष्मसुखोदयम्[१] ॥१०२॥
आज्ञाचक्रे शोधनमशेषदलमथर्वं परिकीर्तितम् ।
ज्योतिश्चक्रे तन्मध्ये योगमार्गेण सद्बिलम् ॥१०३॥

तदनन्तर शीर्षस्थ कमल में जगत् के ईश्वर जिन्हें अच्युत कहा जाता है उन जगन्नाथ का दर्शन होता है, जो नित्य सूक्ष्म तथा सुखोदय स्वरूप हैं । इस आज्ञाचक्र में जिसका संपूर्ण दल शुद्ध करने वाला है वही अथर्व नाम से पुकारा जाता है उसी के मध्य में ज्योतिश्चक्र है जिसका उत्तम बिल (द्वार) योगमार्ग से जाना जाता है ॥ १०२-१०३ ॥

प्रपश्यति महाज्ञानी बाह्यदृष्ट्या यथाम्बुजम् ।
कालेन सिद्धिमाप्नोति ब्रह्मज्ञानी च साधकः ॥१०४॥
ततो भजेत् कौलमार्गं ततो विद्यां प्रपश्यति ।
महाविद्यां कोटिसूर्यज्वालामालासमाकुलम् ॥१०५॥

महाज्ञानी बाह्य दृष्टि से जिस प्रकार कमल देखते हैं उसी प्रकार उस द्वार का भी दर्शन करते है, जिससे ब्रह्मज्ञानी साधक काल (समय) पाकर सिद्धि प्राप्त करते हैं । इसलिए कौलमार्ग का आश्रय लेना चाहिए । तभी महाविद्या का दर्शन संभव है । वह महाविद्या करोड़ों सूर्य की ज्वालामाला से व्याप्त है ॥ १०४-१०५ ॥

एतत्तत्त्वं विना नाथ न पश्यति कदाचन ।
वसिष्ठो ब्रह्मपुत्रोऽपि चिरकालं सुसाधनम् ॥१०६॥
चकार निर्जने देशे कृच्छ्रेण तपसा वशी ।
शतसहस्रं वत्सरं च व्याप्य योगादिसाधनम् ॥१०७॥

बुद्ध-वशिष्ठ वृत्तान्त--हे नाथ ! यही तत्त्व है, जिसके बिना महाविद्या का दर्शन नहीं होता । ब्रह्मा के पुत्र वशिष्ठ जी ने भी बहुत काल तक निर्जन स्थान में निवास कर बहुत बड़ी कठिन तपस्या से श्रेष्ठ साधन किया । इस प्रकार वे योगादि साधन निरन्तर एक लाख वर्ष तक करते रहे ॥ १०६-१०७ ॥

---

१. नित्यं सूक्ष्मसुखोदयो यस्मिन्, तं जगन्नाथमित्यर्थः ।

अथ त्रयोविंशः पटलः

श्रीभैरवी[1] उवाच

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि ब्रह्ममार्गमनुत्तमम् ।
यद् यज्ज्ञात्वा सुराः सर्वे जयाख्याः [2]परमं जगुः ॥ १ ॥

श्री आनन्दभैरवी ने कहा—हे महाभैरव अब इसके अनन्तर मैं सर्वश्रेष्ठ ब्रह्ममार्ग का वर्णन करूँगी । जिसके ज्ञान करने मात्र से सभी देवताओं ने उत्कृष्ट विजय प्राप्त की ॥ १ ॥

न तत्तेजःप्रकाशाय[3] महतां धर्मवृद्धये ।
योगाय योगिनां देव[4] भक्षप्रस्थनिरूपणम् ॥ २ ॥

भक्तों में तेजःप्रकाश के लिए, महान् लोगों में धर्म की वृद्धि के लिए और योगियों में योग के लिए, हे देव ! प्रस्थ मात्रा में भक्ष का निरूपण किया गया है ॥ २ ॥

योगाभ्यासं यः करोति न जानातीह भक्षणम् ।
कोटिवर्षसहस्रेण न योगी भवति ध्रुवम् ॥ ३ ॥
अतो वै भक्षमाहात्म्यं प्रवदामि[5] समासतः ।
यज्ज्ञात्वा सिद्धिमाप्नोति स्वाधिष्ठानादिभेदनम् ॥ ४ ॥
आदौ विवेकी यो भूयाद् भूतले परमेश्वर ।
स एव भक्षनियमं[6] गृहेऽरण्ये समाचरेत् ॥ ५ ॥

जो योगाभ्यास करता है, किन्तु भक्षण की प्रक्रिया नहीं जानता वह करोड़ों वर्षों में भी योगी नहीं बन सकता यह निश्चित है । इसलिए भक्ष का माहात्म्य मैं संक्षेप में कहती हूँ, जिसके जान लेने पर साधक सिद्धि प्राप्त कर लेता है तथा स्वाधिष्ठान नामक चक्र के भेदन को भी जान लेता है । हे परमेश्वर ! इस भूतल पर सर्वप्रथम जो ज्ञानी बनना चाहता है, उसे घर पर अथवा अरण्य प्रदेश में भक्ष के नियम का आचरण करना चाहिए ॥ ३-५ ॥

वाय्वासन[7]दृढानन्दपरमानन्दनिर्भरः ।
मिताहारं सदा कुर्यात् पूरकाह्लादहेतुना ॥ ६ ॥
तदा पूरकसिद्धिः स्याद् भक्षणादिनिरूपणात् ।
उदरं पूरयेन्नित्यं कुम्भयित्वा पुनः पुनः ॥ ७ ॥

---

१. भैरवी उवाच—ग० ।
२. परमा जगुः—क० ।
३. मनः स्थैर्य—क० ।
४. नाथ—क० ।
५. प्रवक्ष्यामि—क० ।
६. भक्षणोयज्च—क० ।
७. वाय्वासने दृढानन्द एव परमानन्दः, तत्र निर्भरः ।

वायु, आसन, दृढ़ानन्द तथा परमानन्द में निर्भर साधक पूरक प्राणायाम के आह्लाद प्राप्ति हेतु सदैव प्रमित (संतुलित) आहार करना चाहिए । भक्षणादि नियम का पालन करने से पूरक प्राणायाम की सिद्धि होती है । उदर को कुम्भक प्राणायाम के द्वारा बारम्बार परिपूर्ण करते रहना चाहिए ॥ ६-७ ॥

निजहस्तप्रमाणाभिः[१] पूरयेत् पूर्णमेव च ।
तत्पूरयेत् स्थापयेन्नाथ विश्वामित्रकपालके ॥ ८ ॥
हंसद्वादशवारेण शिलायामपि घर्षयेत् ।
नित्यं तत्पात्रपूर्णं च [२]पाकेनैकेन भक्षयेत् ॥ ९ ॥
तण्डुलान् शालिसम्भूतान्कपालप्रस्थपूर्णकान् ।
दिने दिने क्षयं कुर्याद् भक्षणादिषु कर्मसु ॥ १० ॥

अपने हाथ का जितना प्रमाण हो उतने ही ग्रासों से उदर को पूर्ण करे । हे नाथ ! जितनी अञ्जलि पूर्ण करे उसे विश्वामित्रकपाल (तावा) में स्थापित करे । १२ बार हंस मन्त्र का जप करते हुये उस कपाल की शिला पर घर्षण करे । तदनन्तर उस पूर्ण पात्र को एक बार पका (?) कर भक्षण करे । शालिधान्य का तन्दुल (चावल) कपाल में एक प्रस्थ परिमाण में स्थापित कर प्रतिदिन उसका भक्षण करे और प्रतिदिन भक्षण कर उसे खाली कर दे ॥ ८-१० ॥

हंसद्वादशवारेण जपेन संक्षयं चरेत् ।
शिलायां तत्कपालं च वर्द्धयेत् पूरकादिकम्[३] ॥ ११ ॥
यावत्कालं क्षयं याति निजभक्षणनिर्णयम् ।
तत्कालं वायुनापूर्य [४]नोदरं काकचञ्चुभिः ॥ १२ ॥

नियमपूर्वक १२ बार हंस मन्त्र का जप कर कपालस्थ तण्डुल का भोजन करे । पूरकादि प्राणायाम से युक्त उस कपाल को नित्य शिला पर अभिवर्द्धित करे । जब तक भक्षण से उस कपाल का क्षय हो तब तक उदर को वायु से पूर्ण करे किन्तु काकचञ्चु के समान वायु का आकर्षण कर उसे पूर्ण न करे ॥ ११-१२ ॥

आकुञ्चयेत् सदा मूले कुण्डली भक्षधारणात्[५] ।
तत्र[६] सम्पूरयेद्योगी भक्षप्रस्थावनाशनात् ॥ १३ ॥
कालक्रमेण तत् सिद्धिमवाप्नोति जितेन्द्रियः[७] ।
यत्स्थानं भक्षणस्यैव तत्स्थाने पूरयेत्सुखम् ॥ १४ ॥
पुनः[८] पुनर्भक्षणेन[९] भक्षसिद्धिमुपैति हि ।
विना पूरकयोगेन भक्षणं नापि सिद्ध्यति ॥ १५ ॥

---

१. प्रमाणेनाभिप्रस्थं पूर्णमेव च—क० । २. वायुनैकेन—क० ।
३. पूरकानिलम्—क० । ४. सोदरम्—क० । ५. वारणात्—क० ।
६. तत्र सम्पूरयेत् योगी भक्षणस्य विनाशनात्—अ० पा० क० ।
७. निजेन्द्रियः—क० । ८. यत् स्थानं भक्षणस्यैव तत्स्थानं पूरयेत्सुखम्—क० ।
९. प्रमादेव—क० ।

अथवान्यप्रकारेण भक्षत्यागं विनिर्णयम् ।
येन हीना न सिद्ध्यन्ति [१]नाडीचक्रस्थदेवताः ॥ १६ ॥

योगी साधक भक्षण कर लेने पर सदैव मूलाधार में स्थित कुण्डली का सङ्कोचन करे और वायुप्राशन के द्वारा उसे पूर्ण करता रहे । यदि साधक भक्षण का जो नियत स्थान है उस स्थान में सुखपूर्वक वायु पूर्ण करता रहे तो ऐसा जितेन्द्रिय योगी धीरे-धीरे काल बीतने पर सिद्धि प्राप्त कर लेता है ।

इस प्रकार बारम्बार वायुभक्षण से भक्ष पदार्थ पच जाता है । क्योंकि बिना पूरक प्राणायाम के भक्षण किया गया पदार्थ नहीं पचता । अथवा इस प्रकार के भक्षण को त्याग कर अन्य प्रकार से भक्षण करना चाहिए । क्योंकि भक्षण के बिना नाड़ी समूह पर स्थित देवता तृप्त नहीं होते ॥ १३-१६ ॥

द्वात्रिंशद्[२] ग्रासमादाय त्रिपर्व्वाणि यथास्थितम् ।
अर्द्धग्रासं विहायापि नित्यं भक्षणमाचरेत् ॥ १७ ॥
सदा सम्पूरयेद् वायुं भावको गतभीर्महान् ।
भक्षस्थाने समायोज्य पिबेद् वायुमहर्निशम् ॥ १८ ॥

साधक बत्तीस ग्रास अन्न तीन सन्ध्याओं में जैसा भी हो उसे लेकर आधा ग्रास छोड़कर नित्य भक्षण करे । फिर वह महान् एवं भावुक साधक निडर हो कर वायु से (उदर) पूर्ण करता रहे । उसकी विधि इस प्रकार है कि भक्ष स्थान में वायु को संयुक्त कर दिन रात वायु पान करता रहे ॥ १७-१८ ॥

चतुःषष्टिदिने[३] सर्वं क्षयं कृत्वा ततः सुधीः ।
पयोभक्षणमाकुर्यात् स्थिरचेता जितेन्द्रियः ॥ १९ ॥
पयः प्रमाणं वक्ष्यामि हस्तप्रस्थत्रयं त्रयम् ।
शनैः शनैर्विजेतव्याः प्राणा मत्तगजेन्द्रवत् ॥ २० ॥

इस प्रकार चौसठ दिन लगातार करते हुए सुधी साधक सब का परित्याग कर स्थिर चित्त तथा जितेन्द्रिय हो दूध का भक्षण करे । अब दूध का प्रमाण कहती हूँ । दूध की मात्रा हाथ के द्वारा ३, ३ प्रस्थ होना चाहिए । इस प्रकार की प्रक्रिया से साधक पञ्च प्राणों को मत्त गजेन्द्र के समान अपने वश में करे ॥ १९-२० ॥

षण्मासाज्जायते सिद्धिः पूरकादिषु लक्षणम् ।
क्रमेणाष्टाङ्गसिद्धिः स्यात् यतीनां कामरूपिणाम् ॥ २१ ॥
बद्धपद्मासनं कृत्वा विजयानन्दनन्दितः ।
धारयेन्मारुतं मन्त्री मूलाधारे मनोलयम्[४] ॥ २२ ॥

---

१. चक्रस्य—ग० ।
२. द्वात्रिंशत्संख्याको ग्रासः, ग्रामसमुदायः, अनया रीत्या अर्थबोधः कार्यः ।
३. चतुःषष्टिशब्दः चतुःषष्टितमपरः, अत एव दिनेति एकवचनान्तस्य प्रयोगः ।
४. नलोदयम्—क० ।

इस प्रकार की पूरक की प्रक्रिया में छः मास में सिद्धि हो जाती है यही (प्राणायाम की पूर्णता का) लक्षण है । ऐसा करने वाले कामरूप यतियों को क्रमशः योगमार्ग के प्राणायामादि अष्टाङ्ग योग सिद्ध हो जाते हैं । बद्ध पद्मासन कर विजया के आनन्द में मस्त साधक मूलाधार में वायु धारण करे और वहीं अपने मन का भी लय करे ॥ २१-२२ ॥

अथासनप्रभेदञ्च शृणु मत्सिद्धिकाङ्क्षिणाम् ।
येन विना पूरकाणां सिद्धिभाक् न महीतले ॥ २३ ॥
अधो मुण्डासनं वक्ष्ये सर्वेषां प्राणिनां सुखम् ।
ऊर्द्ध्वमार्गे पदं दत्त्वा धारयेन्मारुतं सुधीः ॥ २४ ॥

आसन निरूपण—हे महाभैरव ! अब मेरी सिद्धि चाहने वाले साधकों के लिए आसन के प्रभेदों को सुनिए जिन आसनों को बिना किए पूरक प्राणायाम करने वाले पृथ्वी पर सिद्धि के अधिकारी नहीं बनते । सर्वप्रथम **मुण्डासन** कहती हूँ जिससे सारे प्राणियों को सुख प्राप्त होता है । अपने पैर को ऊपर की ओर खड़ा करे, फिर नीचे मुख करके वायु का पान करे ॥ २३-२४ ॥

सर्वासनानां श्रेष्ठं हि ऊर्द्ध्वपादो यदा चरेत् ।
तदैव महतीं सिद्धिं ददाति वायवी कला ॥ २५ ॥
एतत्पद्मासनं कुर्यात् प्राणवायुप्रसिद्धये ।
शुभासनं तदा ध्यायेत्पूरयित्वा पुनः पुनः ॥ २६ ॥

पैर को ऊपर खड़ा करने वाला मुण्डासन का आचरण सभी आसनों में श्रेष्ठ है, क्योंकि वायवी कला उसी समय साधक को महती सिद्धि प्रदान करती है । प्राणवायु की सिद्धि के लिए **पद्मासन** उत्तम आसन है, इस आसन पर स्थित होकर पूरक प्राणायाम करते हुए ध्यान करे । इसे इस प्रकार करे ॥ २५-२६ ॥

ऊरुमूले वामपादं पुनस्तद्दक्षिणं पदम् ।
वामोरौ स्थापयित्वा च पद्मासनमितिस्मृतम् ॥ २७ ॥
सव्यपादस्य[1] योगेन आसनं परिकल्पयेत् ।
तदैकासनकाले तु द्वितीयासनमाभवेत् ॥ २८ ॥

दाहिने ऊरु के मूल में वामपाद, फिर दाहिना पैर बायें पैर के ऊरुमूल में स्थापित करे, तब उसी को पद्मासन कहते हैं । यह आसन प्रथम सव्यपाद को दाहिने पैर के ऊरुमूल में, तदनन्तर दाहिने पैर को बायें पैर के ऊरु पर रख कर करे अर्थात् एक पैर से आसन के बाद दूसरा पैर बदल कर आसन करे ॥ २७-२८ ॥

पृष्ठे करद्वयं नीत्वा वृद्धाङ्गुष्ठद्वयं सुधीः ।
कायसङ्कोचमाकृत्य[2] धृत्वा बद्धासनो भवेत् ॥ २९ ॥
बद्धपद्मासनं[3] कृत्वा वायुबद्धं पुनः पुनः ।
चिबुकं स्थापयेद्यत्नाद् हलादितेजसि भास्करे ॥ ३० ॥

---

१. सव्यापसव्य—क० । २. माहृत्य—क० । ३. इति बद्धपद्मासनम्—क० ।

पीछे की ओर दोनों हाथ कर शरीर को सिकोड़ कर बायें हाथ से दाहिने पैर का अंगूठा और दाहिने हाथ से बायें पैर का अंगूठा पकड़कर (पद्म की तरह) बद्धासन हो जावे । इस प्रकार बद्धपद्मासन कर वायु से बँधे चिबुक को सुखदायक प्रकाश वाले सूर्य में प्रयत्नपूर्वक स्थापित करे ॥ २९-३० ॥

इत्यासनं हि सर्वेषां प्राणिनां सिद्धिकारणम् ।
वायुवश्याय यः कुर्यात् स योगी नात्र संशयः ॥ ३१ ॥

यह आसन समस्त प्राणियों की सिद्धि में हेतु है, इसलिए वायु को वश में करने के लिए योगी को अवश्य करना चाहिए इसमें संशय न करे ॥ ३१ ॥

स्वभावसिद्धिकरणं सर्वेषां स्वस्तिकासनम् ।
वामपादतले कुर्यात्पाददक्षिणमेव च ॥ ३२ ॥
सव्यापसव्ययोगेन आसनद्वयमेव च ।
सर्वत्रैवं प्रकारं च कृत्वा नाडीव[1] सारमेत् ॥ ३३ ॥

सभी को स्वभावतः सिद्धि प्रदान करने वाला **स्वस्तिकासन** है । बायें पैर के तलवे पर दाहिना पैर अथवा दाहिने पैर के तलवे पर बायाँ पर रखे इस प्रकार सव्यापसव्य के योग से दोनों आसन करे । सर्वत्र इस प्रकार का आसन कर नाड़ियों का संचालन करे ॥ ३२-३३ ॥

आसनानि [2]शृणु ह्येतत्त्रिंशतासंख्यकानि च ।
सव्यापसव्ययोगेन द्विगुणं प्रभवेदिह ॥ ३४ ॥
चतुःषष्ट्यासनानीह वदामि वायुसाधनात् ।
द्वात्रिंशद्बिन्दुभेदाय[3] कल्पयेद् वायुवृद्धये ॥ ३५ ॥

अब, हे महाभैरव ! तीस आसनों को सुनिए, ये सव्यापसव्य के योग से दूनी संख्या में हो जाते हैं । वायु साधन के लिए चौसठ आसनों को मैं कहती हूँ, जिसमें से वायु की वृद्धि के लिए एवं बिन्दु का भेद करने के लिए बत्तीस आसन अवश्य करे ॥ ३४-३५ ॥

कार्मुकासनमाकृत्य[4] उदरे पूरयेत् सुखम् ।
तदा वायुर्वशो याति कालेन सूक्ष्मवायुना ॥ ३६ ॥
कृत्वा पद्मासनं मन्त्री वेष्टयित्वा प्रधारयेत् ।
करेण दक्षिणेनैव वामपादान्तिकं तटम्[5] ॥ ३७ ॥
सव्यापसव्यद्विगुणं कार्मुकासनमेव च ।
कार्मुकद्वययोगेन शरवद् वायुमानयेत् ॥ ३८ ॥

कार्मुकासन—धनुष के समान शरीर को बढ़ाकर सुख से उदर में वायु को पूर्ण करे तो इस सूक्ष्म वायु के प्रभाव से समय आने पर वायु स्वयं वश में हो जाता है । मन्त्रज्ञ

---

१. सावसेत्—क० । २. शृणुष्वैतत् द्वात्रिंशत्—क० ।
३. ग्रन्थिभेदाय—क० । ४. माहत्य—क० ।
५. पादाङ्गुलि—क० ।

साधक पद्मासन कर दाहिने हाथ से पृष्ठभाग में घुमाकर बायें पैर की अंगुली को पकड़े। इसी प्रकार बायें हाथ से पृष्ठभाग में घुमाकर दाहिने पैर की अंगुली को पकड़े तो सव्यापसव्य योग से यह आसन दुगुना हो जाता है, इसी प्रकार कार्मुकासन भी सव्यापसव्य से दुगुना हो जाता है, कार्मुकासन के द्वारा सीधे बाण की तरह वायु को भीतर ले जावे ॥ ३६-३८ ॥

कुक्कुटासनमावक्ष्ये नाडीनिर्मलहेतुना।
मत्कुलागमयोगेन[१] कुर्याद् वायुनिषेवणम् ॥ ३९ ॥
निजहस्तद्वयं भूमौ पातयित्वा जितेन्द्रियः[२]।
पद्भ्यां बद्धं यः करोति कूर्परद्वयमध्यतः ॥ ४० ॥
सव्यापसव्ययुगलं कुक्कुटं ब्रह्मणा कृतम्।
बद्धं कृत्वा अधःशीर्षं यः करोति खगासनम् ॥ ४१ ॥
खगासन प्रसादेन श्रमलोपो[३] भवेद् द्रुतम्।
पुनः पुनः श्रमादेव[४] विषयश्रमलोपकृत् ॥ ४२ ॥

अब नाड़ियों को निर्मल करने के लिए मैं **कुक्कुटासन** की विधि कहती हूँ। मेरे सम्प्रदाय के आगम के अनुसार कुक्कुटासन से वायु सेवन करे। साधक अपने इन्द्रियों को वश में कर, दोनों हाथों को भूमि पर स्थापित कर, फिर दोनों पैरों को दोनों हाथ के केहुनी में घुमा कर दोनों हाथों को उससे आबद्ध करे। सव्यापसव्य योग से यह आसन भी दो की संख्या में हो जाता है। इसे ब्रह्मदेव ने किया है। शिर के नीचे वाले भाग को अपने हाथ मे बाँध कर जो किया जाता है वह **खगासन** है। खगासन की कृपा से निश्चय ही थकावट शीघ्रता से दूर हो जाती है। यह पुनः पुनः श्रम करने से तथा विषयों से होने वाले श्रम को विनष्ट करता है ॥ ३९-४२ ॥

लोलासनं सदा कुर्याद् वायुलोलापघातनात्।
स्थिरवायुप्रसादेन स्थिरचेता भवेद्द्रुतम्[५] ॥ ४३ ॥
पद्मासनं समाकृत्य पादयोः सन्धिगह्वरे।
हस्तद्वयं मध्यदेशं नियोज्य कुक्कुटाकृतिः ॥ ४४ ॥

वायु की चञ्चलता को दूर करने के लिए सर्वदा **लोलासन** का अभ्यास करना चाहिए क्योंकि वायु के स्थिर होने से ही शीघ्रता से चित्त स्थिर हो जाता है। दोनों पैरों के छिद्र के भीतर पद्मासन को समान रूप से करके हाथों को शरीर के मध्य भाग में नियुक्त करे तो **कुक्कुटाकृति आसन** होता है ॥ ४३-४४ ॥

निजहस्तद्वयद्वन्द्वं[६] निपात्य हस्तनिर्भरम्।
कृत्वा शरीरमुल्लाप्य[७] स्थित्वा पद्मासनेऽनिलः ॥ ४५ ॥

---

१. मार्गेण—क०। २. द्विजोत्तमः—क०।
३. लेप—ग०। ४. श्रयादेव—क०।
५. ध्रुवम्—क०। ६. तत्रद्वन्द्वम्—क०।
७. मुत्थाप्य—क०।

स्थित्वैतदासने मन्त्री अधःशीर्षं करोति चेत् ।
उत्तमाङ्गासनं ज्ञेयं योगिनामतिदुर्लभम् ॥ ४६ ॥

दोनों हाथ के द्वन्द्व (जोड़े) को नीचे कर हाथ के बल शरीर को ऊपर उठाकर पद्मासन पर वायु के समान ऊपर उठ जावे । फिर इस आसन पर स्थित हो कर अपने शिर को नीचा करले तो वह **उत्तमाङ्गासन** हो जाता है, जो योगियों के लिए अत्यन्त दुर्लभ है ॥ ४५-४६ ॥

एतदासनमात्रेण शरीरं शीतलं भवेत् ।
पुनः पुनः प्रसादेन[१] चैतन्या कुण्डली भवेत् ॥ ४७ ॥
सव्यापसव्य[२]योगेन यः करोति पुनः पुनः ।
पूरयित्वा मूलपद्मे सूक्ष्मवायुं विकुम्भयेत्[३] ॥ ४८ ॥
कृत्वा कुम्भकमेवं हि सूक्ष्मवायुलयं विधौ ।
मूलादिब्रह्मरन्ध्रान्ते स्थापयेल्लयगे पदे[४] ॥ ४९ ॥
एतत् शुभासनं कृत्वा सूक्ष्मरन्ध्रे मनोलयम् ।
सूचीरन्ध्रे[५] यथासूत्रं पूरयेत् सूक्ष्मवायुना ॥ ५० ॥

इस आसन के करने मात्र से शरीर शीतल हो जाता है । बारम्बार इस आसन के करने से कुण्डलिनी चेतनता को प्राप्त करती है । सव्यापसव्य योग से जो बारम्बार उत्तमाङ्गसन करता है और मूलाधार पद्म में सूक्ष्म वायु भर कर फिर कुम्भक करता है । इस प्रकार कुम्भक प्राणायाम करने से सूक्ष्मवायु को चन्द्र नाड़ी में लय कर उसे मूलाधार से लय करने वाले ब्रह्मरन्ध्र में स्थापित करना चाहिए । इस शुभासन को करने के बाद जिस प्रकार सूई के छिद्र को सूत डालकर पूर्ण किया जाता है, उसी प्रकार सूक्ष्म वायु से सूक्ष्म रन्ध्र को पूर्ण करे तब मन का लय हो जाता है ॥ ४७-५० ॥

एतत् क्रमेण षण्मासान् पूरकस्यापि लक्षणम् ।
महासुखं समाप्नोति योगाष्टाङ्गनिषेवणात् ॥ ५१ ॥
अथ वक्ष्ये महादेव पर्वतासनमङ्गलम् ।
यत्कृत्वा स्थिररूपी स्याद् षट्चक्रादिविलोपनम्[६] ॥ ५२ ॥

इसी क्रम से ६ महीने तक योग के आठों अङ्गों को करता हुआ साधक पूरक द्वारा सूक्ष्म रन्ध्र पूर्ण करे तो महान् सुख प्राप्त करता है । हे महादेव ! अब मैं मङ्गलकारी **पर्वतासन** कहती हूँ जिसके करने से साधक स्थिर स्वरूप हो जाता है । षट्चक्रादि का भेदन ही पर्वतासन है ॥ ५१-५२ ॥

योन्यासनं पर्वतेन योगं योगफलेऽनिलम्[७] ।
तत्कालफललन्तावत्[८] खेचरो यावदेव हि ॥ ५३ ॥

---

१. प्रमादेव—क० । २. सव्यापसव्ययोर्योगः, तेनेत्यर्थः ।
३. निकुम्भयेत्—क० । ४. लयगोपथे—क० ।
५. शुचिरन्ध्रे—क० । ६. विलोडनम्—क० ।
७. फलोल्वणम्—क० । ८. सफलस्तावत्—क० ।

पादयोगेन[१] चक्रस्य लिङ्गाग्रं यो नियोजयेत् ।
अन्यत्पदमूरौ दत्त्वा तत्र योन्यासनं भुवि ॥ ५४ ॥

पर्वत आसन के साथ योन्यासन का संयोग करने से योग के फलस्वरूप अनिल तब तक फल प्रदान करता है जब तक वह खेचर हो जाता है । जो पृथ्वी पर अपने लिङ्ग के अग्रभाग को एक पैर के अंगूठे से दबाकर रखता है तथा दूसरे पैर को दूसरे पैर के ऊरु पर स्थापित करता है, तो वह योन्यासन हो जाता है ॥ ५३-५४ ॥

तत्र मध्ये[२] महादेव बन्द्धयोन्यासनं शृणु ।
यत्कृत्वा खेचरो भूत्वा विचरेदीश्वरो यथा ॥ ५५ ॥
कृत्वा योन्यासनं नाथ लिङ्गगुह्यादिबन्धनम् ।
मुखनासा[३]नेत्रकर्णकनिष्ठाङ्गुलिभिस्तथा ॥ ५६ ॥
ओष्ठाधरं कनिष्ठाभ्यामनामाभ्याञ्च नासिके ।
मध्यमाभ्यां[४] नेत्रयुग्मं तर्ज्जनीभ्यां[५] परै: श्रुती[६] ॥ ५७ ॥

हे महादेव ! अब उसके मध्य में **बद्धयोन्यासन** सुनिए, जिसके करने से साधक खेचरता प्राप्त कर ईश्वर के समान सर्वत्र विचरण करता है । उक्त विधि से लिङ्ग गुह्यादि स्थान को बाँधकर योन्यासन कर मुख को दोनों कनिष्ठा से, नासिका को दोनों अनामिका से, दोनों नेत्रों को दोनों मध्यमा से और दोनों कानों को दोनों तर्जनी से आच्छादित करे । यह बद्ध योन्यासन है ॥ ५५-५७ ॥

कृत्वा योन्यासनं नाथ योगिनामति दुर्लभम् ।
कृत्वा य: पूरयेद्द वायुं मूलमाकुञ्च्य स्तम्भयेत् ॥ ५८ ॥
सव्यापसव्ययोगेन सिद्धो भवति साधक: ।
शनै: शनै: समारुह्य कुम्भकं परिपूरयेत् ॥ ५९ ॥

हे नाथ ! योगियों को अत्यन्त दुर्लभ बद्ध योन्यासन कर जो शरीर में वायु को पूर्ण करता है तथा मूलाधार का सङ्कोच कर उसे स्तम्भित करता है । इस प्रकार बायें से दाहिने तथा दाहिने से बायें के क्रम से जो पूरक तथा स्तम्भन प्राणायाम करता है तो वह साधक सिद्ध हो जाता है ॥ ५८-५९ ॥

अरुणोदयकालाच्च वसुदण्डे[७] सदाशिव ।
सव्यापसव्ययोगेन [८]गृह्णीयाद्वायुगानिलम् ॥ ६० ॥

हे सदाशिव ! अरुणोदय काल से आठ दण्ड पर्यन्त धीरे-धीरे पूरक द्वारा वायु पूर्ण

---

१. पादाङ्गुष्ठेन चाक्रम्य—क० । २. एतन्मध्ये—क० ।
३. अथ——क० । ४. मध्यमाख्यम्—क० ।
५. छादयित्वा परै: श्रुतिम्—क० ।
६. श्रूयते आभ्यामिति श्रुती । करणे स्त्रियां क्तिन् । प्रथमाद्विवचनान्तं पदम्
७. वत्स्वदण्डे (दन्ते)—क० । ८. गृहणत्वं बाह्यगानिलम्—क० ।

कर कुम्भक करे । बायें से दाहिने तथा दाहिने से बायें दोनों प्रकार से सव्यापसव्य योग से नासिका से वायु ग्रहण करे ॥ ५९-६० ॥

द्वितीयप्रहरे कुर्याद् वायुपूजां[१] मनोरमाम् ।
एतदासनमाकृत्य[२] सिद्धो भवति साधकः ॥ ६१ ॥
अथान्यदासनं वक्ष्ये यत्कृत्वा सोऽमरो भवेत् ।
मत्साधकः शुचिः श्रीमान् कुर्याद्गत्वा निराविले ॥ ६२ ॥

इसके बाद द्वितीय प्रहर प्राप्त होने पर मन को रमण करने वाली वायु की पूजा करनी चाहिए । यह पूजा भी किसी आसन विशेष को करते हुए करनी चाहिए । अब इसके बाद अन्य आसन कहती हूँ, जिसके करने से साधक अमर हो जाता है । मेरा साधक पवित्र एवं शोभा सम्पन्न हो कर किसी निर्दोष स्थान में जाकर इन आसनों को करे ॥ ६१-६२ ॥

भेकानामासनं[३] योगं निजवक्षसि सम्मुखम्[४] ।
निधाय पादयुगलं स्कन्धे बाहू पदोपरि ॥ ६३ ॥
ध्यायेद्धि[५] चित्पदं भ्रान्तमासनस्थः सुखाय च ।
यदि सर्वाङ्गमुत्तोल्य गगने खेचरासनम् ॥ ६४ ॥

साधक अपने दोनों पैरों को आमने-सामने वक्षः स्थल पर स्थापित करे । तदनन्तर दोनों हाथों को पैर के ऊपर से ले जाकर अपने कन्धे पर रखे । इस प्रकार के **भेकासन** पर बैठकर सुख प्राप्ति के हेतु प्रकाशमान चित्पद का ध्यान करे । सभी अङ्गों को समान समान भाग में ऊपर आकाश में स्थापित करे तो **खेचरासन** हो जाता है ॥ ६३-६४ ॥

महाभेकासनं[६] प्रोक्तं सर्वसिद्धिप्रदायकम् ।
महाविद्यां महामन्त्रं प्राप्नोति जपतीह यः ॥ ६५ ॥
एतत् प्रभेदं वक्ष्यामि करोति यः स चामरः ।
एकपादमूरौ बद्ध्वा स्कन्धेऽन्यत्पादरक्षणम् ॥ ६६ ॥
एतत्प्राणासनं नाम सर्वसिद्धिप्रदायकम् ।
वायुमूले समारोप्य ध्यात्वाऽऽकुञ्च्य प्रकारयेत् ॥ ६७ ॥

सम्पूर्ण सिद्धियों को देने वाला भेकासन हम पहले कह आए हैं । इस आसन पर बैठकर जो महाविद्या के मन्त्र का जप करता है वह अवश्य ही महाविद्या को प्राप्त कर लेता है । अब इस (भेकासन) के भेद को कहती हूँ जो इसे करता है वह अमर हो जाता है । एक पैर को ऊरु पर और दूसरा पैर कन्धे पर रखे तो उसे **प्राणासन** कहते हैं । यह सभी प्रकार की सिद्धियों को देने वाला है । वस्तुतः वायु को मूलाधार में स्थापित कर ध्यान करते हुए उसे संकुचित कर प्राणासन करना चाहिए ॥ ६५-६७ ॥

---

१. बाह्यपूजाम्—क० । २. माहत्य—क० ।
३. भेकनामासनम्—क० । ४. षण्मुखम्—क० ।
५. ध्यायेदिष्टपदं श्रीमानासनस्थः—क० ।
६. महाँश्चासौ भेकश्चेति महाभेकः, महान् दर्दुरः, तस्यासनम् ।

केवलं पादमेकञ्च स्कन्धे चारोप्य यत्नतः ।
एकपादेन गगने तिष्ठेत् स दण्डवत् प्रभो ॥ ६८ ॥
अपानासनमेतद्धि सर्वेषां पूरकाश्रयम् ।
कृत्वा सूक्ष्मे शीर्षपद्मे समारोप्य[1] च वायुभिः ॥ ६९ ॥
तदा सिद्धो भवेन्मर्त्यः प्राणापानसमागमः ।
अपानासनयोगेन कृत्वा योगेश्वरो भुवि ॥ ७० ॥

केवल एक पैर यत्न पूर्वक कन्धे पर स्थापित करे और दूसरा पैर ऊपर आकाश में डण्डे की तरह तान कर स्थित रहे, तो हे प्रभो ! यह **अपान** नामक आसन हो जाता है । यदि वायु के द्वारा सूक्ष्म शीर्षपद्म में पूरक प्राणायाम करते हुए इसे करे तो साधक मनुष्य सिद्ध हो जाता है । इसमें प्राण और अपान दोनों परस्पर एक हो जाते हैं । अपान आसन करने से साधक पृथ्वी में योगेश्वर बन जाता है ॥ ६८-७० ॥

समानासनमावक्ष्ये सिद्धमन्त्रादिसाधनात् ।
एकपादमूरौ दत्त्वा गुह्येऽन्यल्लिङ्गवक्त्रके[2] ॥ ७१ ॥
एतद् वीरासनं नाथ समानासनसंज्ञकम् ।
इत्याकृत्य जपेन्मन्त्रं धृत्वा वायुं चतुर्दले ॥ ७२ ॥

अब सिद्धमन्त्र का कारणभूत **समानासन** (=वीरासन) कहती हूँ । एक पैर ऊरु पर रखे दूसरा पैर गुह्य तथा लिङ्ग के मुख भाग पर रखे तो इसे वीरासन और समानासन दोनों कहा जाता है । इस आसन को करते हुए मूलाधार में स्थित चतुर्दल पर वायु धारण कर मन्त्र का जप करे ॥ ७१-७२ ॥

कुण्डलीं [3]भावयेन्मन्त्रं कोटिविद्युल्लताकृतिम् ।
आत्मचन्द्रामृत[4]रसैराप्लुतां योगिनीं सदा ॥ ७३ ॥
वीरासनं तु वीराणां योगवायुप्रधारणम् ।
यो जानाति महावीरः स योगी भवति ध्रुवम् ॥ ७४ ॥

अथवा मन्त्रज्ञ साधक आत्मा रूप चन्द्रमा से निकले हुए अमृत रस से परिपूर्ण योगिनी स्वरूपा करोड़ों विद्युल्लता के समान कुण्डलिनी का ध्यान करे । यही वीरासन वीरों को योगवायु धारण करने के लिए है, जो महावीर इस आसन को जानता है वह निश्चित रूप से योगी हो जाता है ॥ ७३-७४ ॥

अथ वक्ष्ये महाकाल समानासनसाधनम्[5] ।
भेदक्रमेण यज्ज्ञात्वा वीराणामधिपो भवेत् ॥ ७५ ॥

---

१. स्वं समारोप्य—क० । २. लिङ्गरन्ध्रके—क० ।
३. मन्त्री—क० ।
४. आत्मा च चन्द्रश्चेति आत्मचन्द्रौ, तयोरमृतरसैरित्यर्थः ।
५. सज्ज्ञकम्—क० ।

समानासनमाकृत्य वृद्धाङ्गुष्ठं करेण च ।
एकेन सोऽधिकारी स्यात् स्वरयोगादिसाधने ॥ ७६ ॥

हे महाकाल ! अब समानासन के साधन को कहती हूँ, जिसके भेदों को क्रमशः जान कर साधक वीरेश्वर बन जाता है । समानासन कर एक हाथ से अंगूठा बाँध रखे । ऐसा करने से साधक स्वरयोगादि के साधन में अधिकारी बन जाता है ॥ ७५-७६ ॥

आसनं यो हि जानाति वायूनां हरणं तथा ।
कालादीनां निर्णयं तु स कदाचिन्न नश्यति ॥ ७७ ॥
कालेन लभ्यते सिद्धिः कालरूपो महोज्ज्वलः ।
साधकैर्योगिभिर्ध्येयः सिद्धवीरासनात्मना ॥ ७८ ॥

जो आसन करना जानता है, वायु का हरण करना जानता है तथा कालादि का निर्णय करना जानता है, वह कभी नष्ट नहीं होता । काल प्राप्त करने पर सिद्धि होती है । काल का स्वरूप उज्ज्वल (प्रकाश करने वाला) है । इसलिए साधक योगियों को सिद्ध वीरासन से उसका ध्यान करना चाहिए ॥ ७७-७८ ॥

अथ वक्ष्ये नीलकण्ठ ग्रन्थिभेदासनं शुभम् ।
ज्ञात्वा रुद्रो भवेत् क्षिप्रं सूक्ष्मवायुनिषेवणात् ॥ ७९ ॥
कृत्वा पद्मासनं मन्त्री जङ्घयोः हृदये करौ ।
कूर्परस्थान[1]पर्यन्तं विभेद्य स्कन्धधारणम् ॥ ८० ॥

अब हे नीलकण्ठ ! परम कल्याणकारी **ग्रन्थि भेद** नामक आसन कहती हूँ । जिसके द्वारा सूक्ष्म वायु ग्रहण कर साधक शीघ्रता से रुद्र बन जाता है । मन्त्रज्ञ साधक पद्मासन कर दोनों जंघा और हृदय में दोनों हाथों को कूर्पर (केहुनी) पर्यन्त उसमें डालकर कन्धे पर धारण करे ॥ ७९-८० ॥

भित्वा पद्मासनं मन्त्री सहस्रार्द्धेन[2] घाटनम् ।
येन शीर्षं भावनम्रं[3] सर्वाङ्गुलिभिराश्रमम् ॥ ८१ ॥
ग्रन्थिभेदासनञ्चैतत् खेचरादिप्रदर्शनम् ।
कृत्वा सूक्ष्मवायुलयं परमात्मनि भावयेत् ॥ ८२ ॥

मन्त्रवेत्ता साधक पद्मासन के भीतर हाथ डालकर ५०० बार सिर को नीचे की ओर झुका कर नम्र करे । यह ग्रन्थिभेद नामक आसन है । ऐसा करने से आकाश में रहने वाले समस्त खेचर दिखाई पड़ते हैं अतः साधक इससे सूक्ष्म वायु में मन का लय कर परमात्मा में ध्यान करे ॥ ८१-८२ ॥

---

१. कूर्परस्तनपर्यन्तम्—क० ।
२. हस्तोर्ध्वेन स्वाघाटनम्—क० ।
३. येन शीर्षं भवेन्नम्रं सर्वाङ्गुलिभिराश्रयम्—क० ।

अथान्यासनमावक्ष्ये योगपूरकरक्षणात् ।
कृत्वा पद्मासनं पादा[1] अङ्गुष्ठजङ्घयोः स्थितम् ॥ ८३ ॥
हस्तमेकं तु जङ्घायाः कार्मुकं कूर्परोर्द्धकम् ।
पद्मासने समाधाय अङ्गुष्ठं परिधावयेत् ॥ ८४ ॥
कार्मुकासनमेतद्धि सव्यापसव्ययोगतः ।
पद्मासनं वेष्टयित्वा अङ्गुष्ठाग्रं प्रधावयेत्[2] ॥ ८५ ॥

इसके बाद अन्य आसन कहती हूँ यह योग में पूरक प्राणायाम के रक्षण में कारण है । पद्मासन कर दोनों पैर के अंगूठों को जङ्घा पर रक्खे । एक हाथ जङ्घा पर रखे, दूसरा हाथ धनुष के समान टेढ़ा कर कूर्पर के अग्रभाग पर और पद्मासन पर रक्खे अपने पैर के अंगूठों को चलाता रहे । सव्यापसव्य के योग से इसे **कार्मुकासन** कहते हैं ॥ ८३-८५ ॥

यः करोति सदा नाथ कार्मुकासनमुत्तमम् ।
तस्य रोगादिशत्रूणां क्षयं नीत्वा सुखी भवेत् ॥ ८६ ॥
अथ वक्ष्येऽत्र संक्षेपात् सर्वाङ्गासनमुत्तमम् ।
यत्कृत्वा योगनिपुणो विद्याभिः पण्डितो यथा ॥ ८७ ॥
अधो निधाय शीर्षं च ऊर्द्ध्वपादद्वयं चरेत् ।
पद्मासनं तु तत्रैव भूमौ कूर्परयुग्मकम् ॥ ८८ ॥

हे नाथ ! जो इस उत्तम कार्मुकासन को करता है, उसके रोगादि समस्त शत्रु नष्ट हो जाते हैं और वह सुखी हो जाता है । अब इसके अनन्तर संक्षेप में सर्वश्रेष्ठ **सर्वाङ्गासन** कहती हूँ । जिसके करने से साधक योगशास्त्र में इस प्रकार निपुण हो जाता है जैसे विद्या में पण्डित निपुण होता है । यह आसन नीचे शिर रख कर तथा दोनों पैरों को ऊपर कर करना चाहिए । भूमि में दोनों हाथों की केहुनियों को पद्मासन की तरह स्थापित करे ॥ ८६-८८ ॥

दण्डे दण्डे सदा कुर्यात् [3]श्रमशान्तिपरः सुधीः ।
नित्यं सर्वासनं हित्वा न कुर्याद् वायुधारणम् ॥ ८९ ॥
मासेन[4] सूक्ष्मवायूनां गमनं चोपलभ्यते ।
त्रिमासे[5] देवपदवीं त्रिमासे शीतलो भवेत् ॥ ९० ॥

बुद्धिमान् साधक को अपने श्रमापनोदन के लिए एक एक दण्ड के अनन्तर यह आसन करना चाहिए । सर्वाङ्गासन को छोड़कर नित्य वायु धारण न करे । ऐसा करने वाले

---

१. जंघा बहिःस्थितम्—क० । २. प्रधारयेत्—क० ।

३. श्रमश्च शान्तिश्च श्रमशान्ती, तयोः परः । अथवा—श्रमजनिता शान्तिः श्रमशान्तिः, मध्यमपदलोपिसमासः, तत्र परः ।

४. यामेन—क० । ५. द्विमासे—क० ।

साधक के शरीर में एक महीने में सूक्ष्म वायु चलने लगती है और वह तीन मास में देव पदवी प्राप्त कर शीतल हो जाता है ॥ ८९-९० ॥

अथ वक्ष्ये महादेव मयूरासनमुत्तमम् ।
भूमौ निपात्य हस्तौ द्वौ कूर्परोपरि देहकम् ॥ ९१ ॥
कूर्परोपरि संस्थाप्य सर्वदेहं स्थिराशयः ।
केवलं हस्तयुगलं निपात्य भुवि सुस्थिरः ॥ ९२ ॥

हे महादेव ! अब इसके अनन्तर सर्वश्रेष्ठ **मयूरासन** कहती हूँ । दोनों हाथों को पृथ्वी पर स्थापित करे तथा दोनों केहुनी पर समस्त शरीर स्थापित करे और आशय (उदर) को केहुनी पर स्थिर रखे तो मयूरासन हो जाता है ॥ ९१-९२ ॥

एतदासनमात्रेण नाडीसम्भेदनं भवेत् ।
पूरकेण दृढो याति सर्वत्राङ्गाश्रयेण च ॥ ९३ ॥
अथान्यदासनं कृत्वा[१] सर्वव्याधिनिवारणम् ।
योगाभ्यासी भवेत्क्षिप्रं ज्ञानासनप्रसादतः ॥ ९४ ॥

केवल दोनों हाथों को पृथ्वी पर रखकर सुस्थिर होकर बैठ जावे । इस आसन के करने मात्र से सभी नाड़ियाँ परस्पर एक हो जाती हैं । पूरक प्राणायाम के द्वारा सर्वाङ्ग का आश्रय हो जाने से साधक दृढ़ता प्राप्त करता है । इसके बाद अन्य ज्ञानासन करने से सभी व्याधियों का विनाश हो जाता है और साधक शीघ्रता से योगाभ्यासी बन जाता है ॥ ९३-९४ ॥

दक्षपादोरुमूले[२] च वामपादतलंतथा ।
दक्षपादतलं दक्षपार्श्वे संयोज्य धारयेत् ॥ ९५ ॥
एतज्ज्ञानासनं नाथ ज्ञानाद्विद्याप्रकाशकम् ।
निरन्तरं यः करोति तस्य ग्रन्थिः श्लथी भवेत् ॥ ९६ ॥

दाहिने पैर के ऊरुमूल पर बायें पैर का तलवा रखे । फिर दाहिने पैर के तलवे को दाहिने बगल के पार्श्वभाग से संयुक्त कर धारण करे । हे नाथ ! इसे ज्ञानासन कहा जाता है । इस ज्ञानासन से विद्या का प्रकाश होता है । अतः जो इस आसन का अभ्यास निरन्तर करता है उसकी अज्ञान ग्रन्थि ढ़ीली पड़ जाती है ॥ ९५-९६ ॥

सव्यापसव्ययोगेन मुण्डासनमिति स्मृतम् ।
कृत्वा ध्यात्वा स्थिरो भूत्वा लीयते परमात्मनि ॥ ९७ ॥
गरुडासनमावक्ष्ये येन ध्यानं स्थिरं भुवि ।
सर्वदोषाद्विनिर्मुक्तो भवतीह महाबली ॥ ९८ ॥

---

१. वक्ष्ये—क० ।

२. दक्षपादस्य ऊरुमूले इत्यर्थः ।

सव्यापसव्य के योग से इसे **मुण्डासन** भी कहा जाता है। इसको करने से, ध्यान करने से और स्थिर रखने से साधक परमात्मा में लीन हो जाता है। अब मैं **गरुड़ासन** कहती हूँ जिसके करने से पृथ्वी पर ध्यान स्थिर रहता है, साधक सारे दोषों से मुक्त हो जाता है और महाबलवान् हो जाता है॥ ९७-९८॥

एकपादमुरौ बद्ध्वा एकपादेन दण्डवत्।
जङ्घापादसन्धिदेशे ज्ञानव्यग्रं व्यवस्थितम्॥ ९९॥
एतदासनमाकृत्य पृष्ठे संहारमुद्रया।
आराध्य योगनाथं च सदा सर्वेश्वरस्य च॥ १००॥

एक पैर को ऊरु पर रखे दूसरे पैर से दण्ड के समान खड़ा रहे तो गरुड़ासन होता है। एक पैर को जंघा और पैर के सन्धि स्थान में रखे दूसरे को डण्डे के समान खड़ा रखे तो वह व्यवस्थित किन्तु ज्ञानव्यग्र होता है। इस आसन को करने के पश्चात् पीछे से संहार मुद्रा द्वारा योगनाथ की तथा सर्वेश्वर की आराधना करनी चाहिए॥ ९९-१००॥

अथान्यदासनं वक्ष्ये येन सिद्धो भवेन्नरः।
अकस्माद् वायुसञ्चारं कोकिलाख्यासनेन[1] च॥ १०१॥
ऊर्ध्वे हस्तद्वयं कृत्वा तदग्रे पादयोः सुधीः।
वृद्धाङ्गुष्ठद्वयं नाथ शनैः शनैः प्रकारयेत्॥ १०२॥

अब मैं अन्य आसन कहती हूँ जिससे मनुष्य सिद्धि प्राप्त करता है। वह है **कोकिल** नामक आसन, जिससे शरीर में अकस्मात् वायुसञ्चार होता है। पैर को आगे पसार कर उस पर दोनों हाथ रख कर पैर के आगे का अंगूठा पकड़े, इस क्रिया को धीरे-धीरे सम्पन्न करे॥ १०१-१०२॥

पद्मासनं समाकृत्य कूर्परोपरि संस्थितः[2]।
अथ[3] वक्ष्ये वीरनाथ आनन्दमन्दिरासनम्॥ १०३॥
यत्कृत्वा अमरो धीरो भवत्येवेह साधकः।
हस्तयुग्मं पाददेशे पादयुग्मं प्रदापयेत्॥ १०४॥
प्रकृत्य दण्डवत् कौल नितम्बाग्रे प्रतिष्ठति।
खञ्जनासनमावक्ष्ये यत्कृत्वा सुस्थिरो भवेत्॥ १०५॥

अथवा पद्मासन कर दोनों कूर्पर के बल स्थित हो जावे तो **कोकिलासन** होता है। हे वीरनाथ! अब मैं **आनन्दमन्दिरासन** कहती हूँ, जिसके करने से धीर साधक अमर बन जाता

---

१. कोटिलाख्यामलेन च—क०।

२. रञ्जसम्—क०।

३. स्थापयेत् कौलिकानाञ्च कौलिकासनमुत्तमम्।
एतदासनमाकृत्य वायुस्थम्भाङ्गनिर्मलम्॥
तिष्ठेत् ऊर्ध्वमुखो वीरः लिककासनमुत्तमम्॥ क० अ० पा०।

है । हे कौल ! दोनों पैरों के ऊपर किसी देश पर क्रमशः दोनों हाथों को रखकर फिर उन्हें दण्डे के समान खड़ा कर नितम्ब के अग्रभाग में स्थापित करे ॥ १०३-१०५ ॥

पृष्ठे पादद्वयं बद्ध्वा हस्तौ भूमौ प्रधारयेत् ।
भूमौ हस्तद्वयं नाथ पातयित्वानिलं पिबेत् ॥ १०६ ॥
पृष्ठे पादद्वयं बद्ध्वा खञ्जनेन जयी भवेत् ।
अथान्यदासनं वक्ष्ये साधकानां हिताय वै ॥ १०७ ॥

अब **खञ्जनासन** कहती हूँ, जिसके करने से साधक सुस्थिर हो जाता है । दोनों पैरों को पीठ पर बाँधकर दोनों हाथ पृथ्वी पर रखे । हे नाथ ! भूमि पर दोनों हाथों को रख कर वायु पान करे । पीठ पर दोनों पैर को बाँध कर खञ्जनासन करने से साधक जयी हो जाता है ॥ १०५-१०७ ॥

पवनासनरूपेण खेचरो योगिराड्भवेत् ।
स्थित्वा बद्धासने[1] धीरो नाभेरधःकरद्वयम् ॥ १०८ ॥
ऊर्द्ध्वमुण्डः पिबेद् वायुं निरुद्ध्येत[2] यमाविले ।

अब साधकों के लिए अन्य आसन कहती हूँ । **पवनासन** करने से साधक खेचर तथा योगिराज हो जाता है । धीर हो कर पद्मासन पर स्थित हो कर नाभि के नीचे दोनों हाथ रखकर शिर को ऊपर उठा कर वायु पान करे और दो छिद्र वाले इन्द्रियों (कान, आँख, नासिका) को रोके ॥ १०८-१०९ ॥

अथ सर्पासनं वक्ष्ये वायुपानाय केवलम् ॥ १०९ ॥
शरीरं दण्डवत्तिष्ठेद्रज्जुबद्धस्तु[3] पादयोः ।
वायवी कुण्डली देवी कुण्डलाकारमङ्गुले ॥ ११० ॥
मण्डिता भूषणाद्यैश्च वक्ष्ये सर्पासनस्थितम् ।
निद्रालस्यभयान् त्यक्त्वा रात्रौ कुर्यात्पुनः पुनः ॥ १११ ॥

अब केवल वायु पान के लिए सर्पासन कहती हूँ । दोनों पैरों में रस्सी बाँधकर शरीर को डण्डे के समान खड़ा रखे । कुण्डली देवी वायवी हैं । उनका आकार कुण्डल के समान गोला है । वे भूषणादि से मण्डित हैं तथा सर्पासन पर स्थित रहने वाली हैं इसे आगे कहूँगी । साधक निद्रा आलस्य तथा भय का त्याग कर बारम्बार इस सर्पासन को करे ॥ १०९-१११ ॥

सर्वान् विघ्नान् वशीकृत्य निद्रादीन् वायुसाधनात् ।
अथ वक्ष्ये [4]काकरूपस्कन्धासनमनुत्तमम् ॥ ११२ ॥

---

१. पद्मासने—क० ।
२. निरुद्धेन्द्रियमारिणे—क० ।
३. रज्वा—क० ।
४. कालरूप कल्पदासनमनुत्तमम्—क० ।
—काकरूपं यत्स्कन्धासनम्, इत्यर्थः ।

कलिपापात् प्रमुच्येत वायवीं वशमानयेत् ।
निजपादद्वयं बद्ध्वा स्कन्धदेशे च साधकः ॥ ११३ ॥
नित्यमेतत्[३] पदद्वन्द्वं भूमौ पुष्टिकरद्वयम् ॥ ११४ ॥

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने भावासननिर्णये पाशवकल्पे षट्चक्रसारसङ्केते सिद्धमन्त्रप्रकरणे भैरवीभैरवसंवादे त्रयोविंशः पटलः ॥ २३ ॥

— ❖ —

इस आसन से वायु साधन करने के कारण सभी प्रकार के विघ्न तथा निद्रादि उसके वश में हो जाते हैं । अब सर्वश्रेष्ठ **काकस्कन्ध** आसन कहती हूँ । इस आसन से साधक कलि के पापों से मुक्त हो जाता है । वायवी कुण्डलिनी को वश में कर लेता है । साधक अपने दोनों पैरों को बाँधकर कन्धे पर रखे । अथवा दोनों पैरों को पृथ्वी पर ही बाँध कर रखे । ये दोनों प्रकार के आसन पुष्टिकारक हैं ॥ ११२-११४ ॥

॥ श्रीरुद्रयामल के उत्तरतन्त्र में महातन्त्रोद्दीपन में भावासन निर्णय में पाशवकल्प में षट्चक्रसारसङ्केत में सिद्धमन्त्रप्रकरण में भैरवी-भैरव संवाद के तेइसवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ २३ ॥

— ❖ —

३. निपात्य—क० ।

अथ चतुर्विंशः पटलः

आनन्दभैरवी उवाच

अथ वक्ष्ये महादेव योगशास्त्रार्थनिर्णयम् ।
येन विज्ञानमात्रेण षट्चक्रग्रन्थिभेदकः ॥ १ ॥

योगसाधननिरूपणम्

पर्व्वातिरिक्तदिवसे कुर्यात् श्रीयोगसाधनम् ।
कालिकाकुलसर्वस्वं कला[1] कालसमन्वितम् ॥ २ ॥

आनन्दभैरवी ने कहा—हे महादेव ! अब इसके अनन्तर योगशास्त्र के अर्थ का निर्णय कहती हूँ जिसके ज्ञानमात्र से पुरुष षट्चक्र का भेदन करने वाला बन जाता है । पर्व के दिनों को छोड़कर श्रीविद्या के योग का साधन करना चाहिए । यह श्रीयोग महाकाल से युक्त कालिका कुल सर्वस्व की कला है ॥ १-२ ॥

आसनं विधिना ज्ञानं कोटिकोटिक्रियान्वितम् ।
शतलक्षसहस्राणि आसनानि महीतले ॥ ३ ॥
स्वर्गे पातालमध्ये तु सम्मुक्तानि महर्षिभिः ।
भेदाभेदक्रमेणैव कुर्यान्नित्यं सदासनम् ॥ ४ ॥

करोड़ों करोड़ों क्रियाओं से युक्त आसन का ज्ञान विधिपूर्वक करना चाहिए । इस पृथ्वी पर ही सौ लाख हजार आसन कहे गए हैं । जिन्हें महर्षियों ने स्वर्ग में एवं पाताल में किया था । अतः भेदाभेद के क्रम से उन अच्छे अच्छे आसनों को सर्वदा करना चाहिए ॥ ३-४ ॥

तत्प्रकारं च विविधं यत्कृत्वा सोऽमरो भवेत् ।
अमरः सिद्ध इत्याहुरष्टैश्वर्यसमन्वितम् ॥ ५ ॥
प्रतिभाति स एवार्थो मूलमन्त्रार्थवेदिनः[2] ।
अमरास्ते प्रशंसन्ति सर्वलोकनिरन्तरम् ॥ ६ ॥

अष्टैश्वर्य समन्वित उस आसन के अनेक प्रकार हैं, जिन्हें करने पर साधक अमर हो जाता है । ऐसा लोग कहते हैं कि देवता लोग आसन के प्रभाव से सिद्ध हो गए हैं । यही बात मूलमन्त्र के अर्थवित्ताओं को भी भासित होती है । देवता लोग भी सभी लोकों में निरन्तर आसन की प्रशंसा करते हैं ॥ ५-६ ॥

---

१. काली (?)—क० ।

२. मूलमन्त्रार्थं विदन्ति, तच्छीला मूलमन्त्रार्थवेदिनः, ताच्छील्ये णिनिः ।

देवाः श्रीकामिनीकान्ताः प्रभवन्ति जगत्त्रये ।
कालं हि वशमाकर्त्तुं नियुक्तो यश्च भावकः ॥ ७ ॥
ते सर्वे विचरन्तीह कोटिवर्षशतेषु च ।
तत्तदासननामानि शृणु तत्साधनानि च ॥ ८ ॥
येन विज्ञानमात्रेण साक्षादीशस्य भक्तिमान् ।
अथ कूर्मासनं नाथ कृत्वा वायुं प्रपूरयेत् ॥ ९ ॥

ऐसे तो देवता लोग श्री (कामिनी) में प्रेम करने वाले होते हैं, किन्तु जो आसन में भावना करने वाले हैं, वे काल को भी वश में करने में समर्थ हैं । ऐसे भावक इस लोक में सैकड़ों करोड़ों वर्षों तक विचरण करते हैं । अब हे सदाशिव ! उन-उन आसनों के नाम तथा उनके सिद्धि के साधनों को सुनिए, जिनके ज्ञानमात्र से साधक ईश्वर की भक्ति करने वाला बन जाता है ॥ ७-९ ॥

कामरूपो भवेत् क्षिप्रं कलिकल्मषनाशनम् ।
समानासनमाकृत्य लिङ्गाग्रे स्वीयमस्तकम् ॥ १० ॥
नितम्बे हस्तयुगलं भूमौ सङ्कोचितः पतेत् ।
कुम्भीरासनमावक्ष्ये वायूनां धारणाय च ॥ ११ ॥

आसन निरूपण—हे नाथ ! **कूर्मासन** कर वायु से शरीर को पूर्ण करे । यह कूर्मासन कलि के समस्त पापों को नष्ट करने वाला है । इसके करने से साधक कामनानुसार रूप धारण करने वाला बन जाता है ! **समानासन** (द्र० . २३ . ७१) करके लिङ्ग के आगे अपना मस्तक तथा नितम्ब पर दोनों हाथ रखकर शरीर को सिकोड़ते हुए पृथ्वी पर गिर जावे ॥ ९-११ ॥

तिष्ठेत् कुण्डाकृतिर्भूमौ करौ शीर्षोपरि स्थितौ ।
पदोपरि पदं दत्त्वा शीर्षोपरि करद्वयम् ॥ १२ ॥
तिष्ठेत् कुण्डाकृतिर्भूमौ कुम्भीरासनमेव तत् ।
अथ मत्स्यासनं पृष्ठे हस्तोपरि कराङ्गुलिः ॥ १३ ॥
पादयुग्मप्रमाणेन[1] वृद्धाङ्गुष्ठस्य योजनम् ।

अब वायु धारण के लिए कुम्भीरासन कहती हूँ । दोनों हाथों को शिर के ऊपर रखे, पैर के ऊपर पैर रखकर कुण्ड की आकृति में पृथ्वी पर गिर जावे, यह कुम्भीरासन कहा जाता है । अब मत्स्यासन सुनिए । हाथ की फैली हुई अङ्गुलियों के ऊपर दोनो पैरों को फैलाकर शरीर को मयूर के समान बनाते हुए पैर के अंगुष्ठ का समायोजन मत्स्यासन कहलाता है ॥ १३-१४ ॥

मकरासनमावक्ष्ये वायुपानाय कुम्भयेत् ॥ १४ ॥
पृष्ठे पादद्वयं दत्त्वा हस्ताभ्यां पृष्ठबन्धनम् ।
अथ सिंहासनं नाथ कूर्परोपरि जानुनी ॥ १५ ॥

---

१. समानन—क० ।

स्थापयित्वा ऊर्द्ध्वमुखो वायुपानं समाचरेत् ।
अथ वक्ष्ये महादेव कुञ्जरासनमुत्तमम् ॥ १६ ॥

अब **मकरासन** कहती हूँ जिससे वायुपान के लिए कुम्भक किया जाता है । पीठ पर दोनों पैर रखकर दोनों हाथों से पीठ को बाँध लेवे—यह मकरासन है । अब **सिंहासन** कहती हूँ । क्रमशः दोनों हाथ की केहुनी पर दोनों पैर का जानु स्थापित करे । तदनन्तर मुख को ऊपर कर वायु पान करे । यह सिंहासन है ॥ १४-१६ ॥

करेणैकेन पादाभ्यां भूमौ तिष्ठेत् शिरः करः ।
व्याघ्रासनमथो वक्ष्ये [१]क्रोधकालविनाशनम् ॥ १७ ॥
एकपादं शीर्षमध्ये मेरुदण्डोपरि स्थितम् ।
भल्लूकासनमावक्ष्ये यत्कृत्वा योगिराड् भवेत् ॥ १८ ॥

हे महादेव ! अब इसके बाद सर्वश्रेष्ठ **कुञ्जरासन** कहती हूँ—एक हाथ तथा दोनों पैरों के सहारे पृथ्वी पर स्थित रह कर शिर पर दूसरा पैर रखे तो सिंहासन होता है । अब क्रोधरूपी काल को विनाश करने वाले **व्याघ्रासन** को कहती हूँ । मेरुदण्ड के ऊपर से ले जाकर एक पैर शिर के मध्य में स्थापित करे तो व्याघ्रासन हो जाता है ॥ १७-१८ ॥

नितम्बे च पादगोष्ठी [२]हस्ताभ्यामङ्गुलीयकम् ।
अथ कामासनं वक्ष्ये कामसङ्गेन[३] हेतुना ॥ १९ ॥
गरुडासनमाकृत्य कनिष्ठाग्रं स्पृशोद्भवम्[४] ।
वर्त्तुलासनमावक्ष्ये यत्कृत्वा भैरवो भवेत् ॥ २० ॥
आकाशस्थितपादाभ्यां पृष्ठदेशं निबन्धयेत् ।

अब **भल्लूकासन** कहती हूँ जिसके करने से साधक योगिराज बन जाता है । दोनों नितम्ब पर पैर रखकर हाथों से (पैर की) अंगुली पकड़ रखे—यह भल्लूकासन है ।

अब काम का मर्दन करने वाले **कामासन** को कहती हूँ । गरुड़ासन (द्र०. २३. ९९) कर उसे कनिष्ठा अंगुली से पकड़े रहे । अब **वर्तुलासन** कहती हूँ जिसके करने से साधक साक्षात् भैरव बन जाता है । दोनों पैर को आकाश में खड़ाकर पीठ को बाँध लेवे ।

अथ मोक्षासनं वक्ष्ये यत्कृत्वा मोक्षमन्दिरम्[५] ॥ २१ ॥
दक्षहस्तं दक्षपादं केवलं स्थापयेत्सुधीः ।
अथ मालासनं नाथ यत्कृत्वा वायवीप्रियः ॥ २२ ॥
शुभयोगं समाप्नोति एकहस्तस्थितो नरः ।
अथ दिव्यासनं वक्ष्ये पृष्ठं हस्तेन बन्धयेत् ॥ २३ ॥

अब **मोक्षासन** कहती हूँ जिसके करने से मोक्षाधिकारी बन जाता है ।

---

१. क्रोध एव कालस्तस्य विनाशनं विनाशकमित्यर्थः ।
२. अङ्गुलीद्वयम्—क० ।
३. काममर्दनम्—क० ।
४. भुवि—क० ।
५. क्षेम—क० ।

सुधी साधक दाहिना हाथ दाहिना पैर केवल पृथ्वी पर स्थापित करे । अब **मालासन** कहती हूँ जिसके करने से वायु देवता कुण्डलिनी प्रसन्न होती हैं । केवल एक हाथ के बल पृथ्वी पर स्थित रहने वाला साधक उत्तम योग प्राप्त कर लेता है । अब **दिव्यासन** कहती हूँ । पीठ को एक हाथ से बाँधे ॥ २१-२३ ॥

एकहस्तमध्यदेशं भूमिहस्तञ्च नासया ।
अर्द्धोदयासनं नाथ सर्वाङ्गं खे नियोजयेत् ॥ २४ ॥
केवलं हस्तयुगलं भूमिमालोक्य[1] नासया ।
अथ चन्द्रासनं वक्ष्ये पादाभ्यां स्वशरीरकम् ॥ २५ ॥
पुनः पुनः धारयेद्[2] यो वायुधारणपूर्वकम् ।

हे नाथ ! अर्द्धोदयासन उसे कहते हैं जिसमें अपने सभी अङ्गो को आकाश में स्थापित करे और नासिका से पृथ्वी का घर्षण करते हुए दोनों हाथों को पृथ्वी पर रखे । अब **चन्द्रासन** कहती हूँ । बारम्बार वायु को धारण करते हुए दोनों पैरों के बल पर अपना समस्त शरीर बारम्बार स्थापित करे ॥ २४-२६ ॥

अथ हंसासनं वक्ष्ये शरीरेण पुनः पुनः ॥ २६ ॥
भूमौ सन्ताडयेत् श्वासैः प्राणवायुदृढः[3] सुधीः ।
अथ सूर्यासनं वक्ष्ये पृष्ठात् पादेन बन्धनम् ॥ २७ ॥
पृष्ठे[4] भेदान्वितं पादं तस्य हस्तेन[5] बन्धयेत् ।
अथ योगासनं वक्ष्ये यत्कृत्वा योगिराड् भवेत् ॥ २८ ॥

अब **हंसासन** कहती हूँ । सुधी साधक प्राणवायु को दृढ़ करते हुए अपने शरीर से निर्गत श्वासों द्वारा पृथ्वी को बारम्बार प्रताड़ित करे । अब **सूर्यासन** कहती हूँ । इससे पीछे से पैर के द्वारा सारा शरीर बाँधा जाता है । पीठ पर भेदयुक्त पैर रखकर उसे हाथ से बाँध रखे । अब **योगासन** कहती हूँ जिसके करने से साधक योगिराज बन जाता है ॥ २७-२८ ॥

सर्वाः[6] पादतलद्वन्द्वं स्वाङ्के बद्ध्वा करद्वयम् ।
गदासनमतो वक्ष्ये गदाकृतिर्वसेद् भुवि ॥ २९ ॥
ऊर्द्ध्वबाहुर्भवेद्येन कायशोधनहेतुना ।
अथ लक्ष्म्यासनं वक्ष्ये लिङ्गाग्रेऽङ्घ्रितलद्वयम् ॥ ३० ॥
गुह्यदेशे हस्तयुग्मं तलाभ्यां बन्धयेद् भुवि ।
अथ कुल्यासनं वक्ष्ये यत्कृत्वा कौलिको भवेत्[7] ॥ ३१ ॥

दोनों ऊरु पर दोनों पैर के तलवे रखकर अपने गोद में दोनों हाथों को परस्पर बाँध

---

१. भुवि व्यालोड्य—क० ।
२. भ्रामयेत् यो वायुधारणतत्परः—क० ।
३. प्राणवायुं दृढं सुधीः—क० ।
४. पृष्ठ—क० ।
५. अन्यहस्तेन—क० ।
६. उर्वो—क० ।
७. कौलिको मुनिः—क० ।

लेवे । अब **गदासन** कहती हूँ । गदा की आकृति में पृथ्वी पर स्थित हो जावे । और कायशुद्धि के लिए बाहुओं को ऊपर उठाए रखे । अब **लक्ष्म्यासन** कहती हूँ—लिङ्ग के अग्रभाग पर दोनों पैर का तलवा रखे तथा गुह्यदेश पर दोनों हाथ रख कर उसके तलवे से भूमि को पकड़ लेवे । अब **कुल्यासन** कहती हूँ, जिसके करने से साधक कुलमार्ग का अधिकारी बन जाता है ॥ ३०-३१ ॥

एकहस्तं मस्तकस्योऽधः शीर्षेऽभिन्नगे[1] करम् ।
ब्राह्मणासनमावक्ष्ये यत्कृत्वा ब्राह्मणो भवेत् ॥ ३२ ॥
एकपादमूरौ दत्त्वा तिष्ठेद् दण्डाकृतिर्भुवि ।
क्षत्रियासनमावक्ष्ये यत्कृत्वा धनवान् भवेत् ॥ ३३ ॥
केशेन पादयुगलं बद्ध्वा तिष्ठेदधोमुखः ।
अथ वैश्यासनं वक्ष्ये यत्कृत्वा सत्यवान्भवेत् ॥ ३४ ॥

एक हाथ को मस्तक के ऊपर रखे, दूसरे हाथ को शीर्ष के नीचे भाग में रखे । अब **ब्रह्मणासन** कहती हूँ, जिसके करने से साधक ब्राह्मण बन जाता है । एक पैर को ऊरु पर स्थापित करे तथा दूसरे पैर को डण्डे के समान पृथ्वी पर खड़ा रखे । अब **क्षत्रियासन** कहती हूँ, जिसके करने से साधक धनी हो जाता है । केश से दोनों पैरों को बाँधकर नीचे अधोमुख स्थित रहे ॥ ३२-३४ ॥

वृद्धाङ्गुष्ठेन यस्तिष्ठेत्[2] हस्तयुग्मं स्वकोरसि[3] ।
अथ शूद्रासनं वक्ष्ये यत्कृत्वा सेवको भवेत् ॥ ३५ ॥
धृत्वाङ्गुष्ठद्वयं योज्यं नासाग्रपादमध्यके[4] ।
अथ जात्यासनं वक्ष्ये येन जातिस्मरो भवेत् ॥ ३६ ॥
हस्ताङ्घ्रियुग्मं भूमौ च गमनागमनं ततः ।
पाशवासनमावक्ष्ये कृत्वा पशुपतिर्भवेत् ॥ ३७ ॥
पृष्ठे हस्तद्वयं दत्त्वा कूर्पराग्रे स्वमस्तकम् ।
एतेषां साधनादेव चिरजीवी भवेन्नरः ॥ ३८ ॥

अब **वैश्यासन** कहती हूँ जिसे कर के वैश्य सत्यनिष्ठ हो जाता है । दोनों हाथों को वक्षःस्थल पर स्थापित करे और दोनों पैर के अंगूठे को एक में सटा पर पृथ्वी पर खड़ा रहे । अब **शूद्रासन** कहती हूँ, जिसे करके साधक सेवक बन जाता है । दोनों अंगूठों को पकड़कर एक को नासिका के अग्रभाग में तथा दूसरे को पैर के मध्य भाग में स्थापित करे । अब **जात्यासन** कहती हूँ, जिसे करने पर साधक को पूर्वजन्म का ज्ञान होता है । दोनों हाथ और दोनों पैर को पृथ्वी पर रखकर गमनागमन करे ।

अब **पाशवासन** कहती हूँ, जिसके करने से साधक पशुपति बन जाता है । पीठ पर दोनों हाथ रखे, दोनों कूर्पर के आगे अपना मस्तक रखे, इन सभी आसनों की साधना से

---

१. एकहस्तमस्तकस्याऽधःशीर्षेऽतिगे करम्—क० ।
२. सन्तिष्ठेत्—क० ।
३. स्ववक्षसि—क० ।
४. नासाग्रम्—क० ।

मनुष्य चिरञ्जीवी बन जाता है ॥ ३४-३८ ॥

संवत्सरं साधनाद्वै जीवन्मुक्तो भवेद् ध्रुवम् ।
श्रीविद्यासाधनं पश्चात् कथितव्यं तव प्रभो ॥ ३९ ॥
आसनं योगसिद्ध्यर्थं [1]कायशोधनहेतुना ।
इदानीं शृणु देवेश रहस्यं कोमलासनम् ॥ ४० ॥
योगसिद्धिविचाराय [2] रहस्यं चर्मासनं शुभम् ।
अथ नरासनं वक्ष्ये षोडशादिप्रकारकम् ॥ ४१ ॥
येन साधनमात्रेण योगी भवति साधकः ।
प्रकारं षोडशप्रोक्तं मत्कुलागमसम्भवम् ॥ ४२ ॥

किं बहुना एक संवत्सर की साधना से निश्चित रूप से मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है । हे प्रभो ! अब इसके आगे श्री विद्या के आसन का साधन आपसे कहूँगी । आसन कायशुद्धि के लिए है । कायशुद्धि से योगसिद्धि होती है । हे देवेश ! अब **कोमलासन** के गुप्त रहस्य को श्रवण कीजिए । योगसिद्धि के लिए चर्मासन शुभकारक गोपनीय रहस्य है ।

अब मैं सोलह प्रकार वाले नरासन को कहती हूँ, जिसके साधन से साधक योगी बन जाता है । नरासन का उक्त सोलह प्रकार हमारे शाक्तागम से उत्पन्न हुआ है ॥ ३९-४२ ॥

येन साधनमात्रेण साक्षाद्योगी महीतले ।
एकमासाद् भवेत्कल्पो [3] द्विमासे द्रुतकल्पनम् [4] ॥ ४३ ॥
त्रिमासे योगकल्पः [5] स्याच्चतुर्मासे स्थिराशयः [6] ।
पञ्चमासे सूक्ष्मकल्पे [7] षष्ठमासे विवेकगः ॥ ४४ ॥
सप्तमासे ज्ञानयुक्तो भावको भवति ध्रुवम् ।
अष्टमासेऽन्नसंयुक्तो [8] जितेन्द्रियकलेवरः ॥ ४५ ॥
नवमे सिद्धिमिलनो दशमे चक्रभेदवान् ।
एकादशे महावीरो द्वादशे खेचरो भवेत् ॥ ४६ ॥

इसके साधन से पृथ्वी पर साधक एक मास में योगी के समान हो जाता है । दो मास में योग कल्पक, तीन मास में योगीकल्प, चार मास में स्थिराशय, पाँच मास में सूक्ष्मकल्प तथा षष्ठमास में ज्ञान का पात्र हो जाता है ।

भावक सात मास में निश्चित रूप से ज्ञानवान् हो जाता है । आठ महीने में सत्त्वसम्पन्न तथा इन्द्रिय विजेता बन जाता है । नव महीनें में सिद्धि का मिलन होता है, दश मास में चक्रों का भेदन करने वाला, एकादश में महावीर तथा द्वादश मास में खेचर हो जाता है ॥ ४५-४६ ॥

---

१. कायसाधन—क० । २. योगशिक्षा—क० ।
३. कम्पो—क० । ४. कम्पनम्—क० । ५. कम्पः—क० ।
६. स्थिर आशयोऽन्तःकरणं यस्यासौ । आ समन्तात् शेते यस्मिन्नसौ आशयः ।
७. सूक्ष्मकम्पो—क० । ८. अष्टमे सत्त्वसंयुक्तो—क० ।

इति योगासनस्थश्च[१] योगी भवति साधकः।
नरासनं यः करोति स सिद्धो नात्र संशयः ॥ ४७ ॥
तत्प्रकारं प्रवक्ष्यामि येन सिद्धो भवेत्प्रभो ।
अधोमुखं महादेव नरासनस्य साधने ॥ ४८ ॥

इस प्रकार योग और आसन से संयुक्त साधक योगी बन जाता है, जो नरासन करता है वह सिद्ध हो जाता है इसमें संशय नहीं ॥ ४७ ॥

शवसिद्धिकथन—हे प्रभो ! अब नरासन का प्रकार कहती हूँ, जिससे साधक सिद्ध बन जाता है । नरासन के साधन काल में अधोमुख रहना चाहिए ॥ ४८ ॥

करणीयं साधकेन्द्रैर्योगशास्त्रार्थसम्मतैः ।
अक्षीणं यौवनोद्दामं सुन्दरं [२]चारुकुन्तलम् ॥ ४९ ॥
लोकानां श्रेष्ठमेवं हि पतितं रणसम्मुखे ।
तत्सर्वं[३] हि समानीय मङ्गले वासरे निशि ॥ ५० ॥
चन्द्रसूर्यासनं कृत्वा साधयेत्तत्र कौलिकः ।
अथान्यत् सम्प्रवक्ष्यामि सर्वसिद्धिप्रकारकम्[४] ॥ ५१ ॥
भेकासनं यः करोति स एव योगिनीपतिः ।

योगशास्त्र में निष्ठा रखने वाले साधकेन्द्रों को जिस प्रकार नरासन करना चाहिए उसका प्रकार कहती हूँ । जिसकी उत्कृष्ट जवानी क्षीण न हुई हो, जिसके केश अत्यन्त सुन्दर हों, जो शरीर से सुन्दर हो, युद्धभूमि में सामने मारा गया है, ऐसे लोक श्रेष्ठ युवक के शरीर को सर्वाङ्गतया लाकर मङ्गलवार के दिन रात्रि के समय चन्द्रासन और सूर्यासन कर कौलिक (शाक्त) साधक उसकी सिद्धि करे । इसके अतिरिक्त एक और सर्वसिद्धि का प्रकार कहती हूँ । जो उक्त शव पर बैठकर भेकासन करता है वही योगिनीपति होता है ॥ ४९-५२ ॥

अथान्यत् सम्प्रवक्ष्यामि यत्कृत्वा योगिराड् भवेत् ॥ ५२ ॥
तत्सर्वोत्तरशिरसि[५] स्थित्वा चन्द्रासने जपेत् ।
अथान्यत् तत्प्रकारञ्च महाविद्यादिदर्शनात् ॥ ५३ ॥
मत्सरे[६] गौरवर्णे च तत्र शैलासने जपेत् ।
अथान्यत्तत्प्रकारं च योगिकौलो न संशयः ॥ ५४ ॥
यद्येवं म्रियते सोऽपि तदा भद्रासने जपेत् ।
तत्तत्साधनकाले च एवं कुर्याद्दिने दिने ॥ ५५ ॥

अब दूसरा आसन कहती हूँ जिसको करके साधक योगिराज बन जाता है । उस शव के शिर के पीछे चन्द्रासन पर स्थित हो जप करे । अब उसका और प्रकार कहती हूँ, जो महाविद्या के दर्शन में कारण है ॥ ५२-५३ ॥

---

१. योगासनद्वन्द्वम्—क० । २. मण्डलम्—क० । ३. शवम्—क० ।
४. सर्वसिद्धिप्रकारणात्—क० ।—सर्वासां सिद्धीनां प्रकृष्टं कारणम्, तस्मात् ।
५. शवोत्तरशिरसि—क० । ६. यत् शवे—क० ।

मत्सर युक्त किन्तु गौरवर्ण के शवासन पर शैलासन से जप करे। अब उसका एक और प्रकार कहती हूँ, जिससे निस्सन्देह योगी शाक्त बन जाता है। जो उक्त प्रकार से मरा हुआ शव है उस पर भद्रासन से स्थित हो कर जप करे। उसकी सिद्धिकाल में प्रतिदिन ऐसा करे ॥ ५४-५५ ॥

नृत्यवाद्यगीतरागभोगोनविंशतौ[१] दिने।
चतुर्दशं न वीक्ष्येत[२] भैरवाणां भयाद्दर्दनात् ॥ ५६ ॥
मनोनिवेशमात्रेण योगी भवति भैरव।
स्वेच्छासनं[३] समाकृत्य मन्त्रं जपति यो नरः ॥ ५७ ॥
महासारो[४] वीतरागः सिद्धो भवति निश्चितम्।

शवसाधनानिरूपणम्

अथान्यत् शवमाहात्म्यं शृणुष्वावहितो मम ॥ ५८ ॥

उन्नीसवें दिन साधक नृत्य, वाद्य, गीत, राग तथा भोग इन १४ का दर्शन न करे क्योंकि दर्शन से भैरवों का भय होता है। हे भैरव ! इस प्रकार मन के सन्निवेश मात्र से साधक योगी हो जाता है। स्वेच्छासन करके जो मनुष्य जप करता है, दृढ़ सत्त्ववान्, वीतराग तथा निश्चित रूप से योगी होता है। अब हे सदाशिव ! सावधान हो कर अन्य प्रकार के शव माहात्म्य को सुनिए ॥ ५६-५८ ॥

तत्सर्वं[५] गृहमानीयाच्छाद्य शार्दूलचर्मणा।
तत्र मन्त्री महापूजां कृत्वा[६]प्रविश्य संजपेत् ॥ ५९ ॥
पद्मासनस्थस्तस्यैव[७] झटिद् योगी न संशयः ॥ ६० ॥
एतत्प्रकाररासनमाशु कृत्वा
जितेन्द्रियो योगफलार्थविज्ञः।
भवेन्मनुष्यो मम चाज्ञया हि
सिद्धो गणोऽसौ[८] जगतामधीशः ॥ ६१ ॥

उस शव को घर पर लाकर व्याघ्र चर्म से उसे आच्छादित करे। फिर उसकी महापूजा कर उस पर बैठ कर जप करे। पद्मासन लगाकर जप करने से शीघ्र ही योगी बन जाता है इसमें संशय नहीं। इस प्रकार शवसिद्धि का प्रकार सम्पादन कर साधक जितेन्द्रिय और योगफल के अर्थ का ज्ञाता हो जाता है। मेरी आज्ञा से ऐसा साधक सिद्ध हो जाता है, शिवगण हो जाता है तथा जगत् का स्वामी बन जाता है ॥ ५९-६१ ॥

---

१. भोगीन—क०।—नृत्यवादित्र। २. न वेक्षेत् (ना रक्षेत्)—क०।
३. देहासनम्—क०। ४. महाशवे—क०।
५. तत् शवं गृहमानीयच्छाद्यं शार्दूलचर्मणा—क०।—शार्दूलस्य चर्मणा, इति षष्ठीतत्पुरुषः।
६. कृत्वोपविश्य—क०। ७. पद्मासनस्थस्तु सैव—क०।
८. गणेशो—क०।

मूलखड्ग[१] यष्टिपरडितरवारादिना युतम् ।
.... भूतसर्पराज[२] व्याघ्रं सद्यो मृतं यजेत् ॥ ६२ ॥
यस्य मृत्युर्भवेन्नाथ भैरवस्य सुरापतेः ।
रणे सम्मुखयुद्धस्य तदानीय जपं चरेत् ॥ ६३ ॥
तत्र कौलासनं कृत्वा अथवा कमलासनम् ।
महाविद्यामहामन्त्रं जप्त्वा लिङ्गमवाप्नुयात्[३] ॥ ६४ ॥

मरे हुए भूत सर्प, राजा और व्याघ्र के शव पर मूल, खड्ग, यष्टि, परडि ?, तलवार लेकर जप करे । हे नाथ ! सुरा पीने वाले जिस भैरवोपासक की सम्मुख युद्ध करते हुए मृत्यु हो गई हो उसे लाकर जप किया जा सकता है । उस पर कौलासन अथवा कमलासन (=पद्मासन) से बैठकर महाविद्या के महामन्त्र का जप करे तो स्पष्ट रूप से महाविद्या के चिन्ह दिखाई पड़ने लगते हैं ॥ ६२-६४ ॥

एतत्सर्वं[४] न गृह्णीयाद् यदीच्छेदात्मनो हितम्[५] ।
कुव्याधिमरणं [६]कुष्ठं स्त्रीवश्यं पतितं [७]मृतम् ॥ ६५ ॥
दुर्भिक्षमृतमुन्मत्तमव्यक्तलिङ्गमेव च ।
हीनाङ्गं भूचरवृद्धं[८] पलायनपरं तथा[९] ॥ ६६ ॥
अन्यद्युो[१०] यद् विचारेण हत्वा लोकं जपन्ति ये ।
ते सर्वे व्याघ्रभक्षा[११] स्युः खादन्ति व्याघ्ररूपिणः ॥ ६७ ॥

शवसाधना में त्याज्य शव—यदि साधक अपना कल्याण चाहे तो निम्न प्रकार के शवों को जप के लिए न ग्रहण करे । जिसकी कुव्याधि से मृत्यु हो, जो कोढ़ी हो, स्त्री-वश्य हो अथवा पतित होकर मरा हो, जो दुर्भिक्ष में मरा हो, उन्मत्त हो कर मरा हो, जो स्त्री पुरुष के लिङ्ग से रहित (नपुंसक) होकर मरा हो, हीनाङ्ग होकर मरा हो, पृथ्वी पर विचरण करने वाला वृद्ध तथा युद्ध में भागते हुए मरा हो अथवा जिसने जिस विचार से किसी की हत्या कर दी हो, ऐसे शव पर बैठकर जो जप करते हैं वे सब व्याघ्र के भक्ष्य हो जाते हैं, उन्हें प्रेत बाघ का रूप धारण कर खा जाते हैं ॥ ६५-६७ ॥

पर्युषितं तथाशवस्थमधिकाङ्गं[१२] कुकिल्बिषम् ।
ब्राह्मणं गोमयं वीरं धार्मिकं सन्त्यजेत् सुधीः ॥ ६८ ॥
स्त्रीजनं योगिनं त्यक्त्वा साधयेद्वीरसाधनम् ।
तदा सिद्धो भवेन्मन्त्री आज्ञया मे न संशयः ॥ ६९ ॥

---

१. ग० नास्ति । २. श्रृणु शङ्क तव वारादिनायुतम् वृद्ध अथवा बहु—क० । ३. सिद्धिम्—क० । ४. शवम्—क० । ५. यदिच्छेत्—क० । ६. कुष्ठिम्—क० । ७. गुरुम्—क० । ८. तु वरं वृद्धम्—क० । ९. परायणः—क० । १०. अन्यायादविचारेण—क० । ११. व्याघ्रभक्षाः स्यात्—मूले क० । १२. तथास्पृश्यम्—क० ।

जो शव बासी हो गया हो, अश्व पर स्थित होकर मरा हो, अधिकाङ्ग हो, बुरे से बुरा पाप किया हो. ब्राह्मण हो, गोबर पर स्थित हो, वीरमार्ग में रहने वाला हो, धार्मिक हो ऐसे शव का परित्याग कर देना चाहिए। स्त्रीजन का शव और योगी का शव इन्हें छोड़कर वीर साधन करना चाहिए। तब मन्त्रज्ञ मेरी आज्ञा से सिद्ध हो जाता है इसमें संशय नहीं ॥ ६९ ॥

तरुणं सुन्दरं शूरं मन्त्रविद्यं समुज्ज्वलम्।
गृहीत्वा जपमाकृत्य सिद्धो भवति नान्यथा ॥ ७० ॥
मनुष्यशवहृत्पद्मे सर्वसिद्धिकुलाकुलाः[१]।
तत्र सर्वासनान्येव सिद्ध्यन्ति नात्र संशयः ॥ ७१ ॥
अथान्यत्तत्प्रकारं तु यत्कृत्वा योगिराट्[२] भवेत्।
कोमलाद्यासने स्थित्वा धारयन्[३] मारुतं सुधीः ॥ ७२ ॥

तरुण, सुन्दर, शूर, मन्त्रवेत्ता, प्रकाश से उज्ज्वल शव को ग्रहण कर उस पर जप करने से साधक सिद्ध हो जाता है, अन्यथा नही। मनुष्य के हृत्पद्म में कुल अथवा अकुल सभी सिद्धियाँ रहती हैं। उन पर उन-उन आसनों से जप करने से सिद्धि होती हैं इसमें संशय नहीं। इसके अतिरिक्त **एक अन्य प्रकार** है। कोमलादि आसन पर स्थित रहने वाला सुधी साधक वायु को धारण करने से योगिराज हो जाता है ॥ ७०-७२ ॥

तत्कोमलासनं[४] वक्ष्ये शृणुष्व मम तद्वचः।
अवृद्धकं[५] मृतं बालं षण्मासात् कोमलं परम् ॥ ७३ ॥
तद्विभेदं प्रवक्ष्यामि गर्भच्युत महाशवम्।
तद्धि व्याघ्रत्वचारूढं कृत्वा तत्र जपेत् स्थितः ॥ ७४ ॥

अब मैं उस कोमलासन को कहती हूँ, मेरी बात सुनिए। जो बहुत बड़ा न हुआ हो ऐसा ६ महीने के भीतर का मरा हुआ बालक अत्यन्त कोमल कहा जाता है। उनके भेदों को कहती हूँ। गिरे हुए गर्भ वाला बालक महाशव कहा जाता है। उसे व्याघ्र के चमड़े के ऊपर रख कर सुधी साधक जप करे ॥ ७३-७४ ॥

षण्मासानन्तरं यावद्दशमासाच्च पूर्वकम्।
मृतं चारुमुखं बालं गर्भाष्टमपुरःसरम् ॥ ७५ ॥
एकहस्ते द्विहस्ते वा चतुर्हस्ते समन्ततः।
विशुद्ध आसने कुर्यात् संस्कारं पूजनं ततः ॥ ७६ ॥

६ महीने के बाद दश महीने की अवस्था वाले सुन्दर मुख वाले मरे बालक को जो आठवें गर्भ से उत्पन्न हो, उसे लाकर एक हाथ दो हाथ, अथवा चार हाथ वाले विशुद्ध आसन पर बैठकर उसका संस्कार तथा पूजन करे ॥ ७५-७६ ॥

---

१. सर्वसिद्धिकलाकुला—क०। २. योगिनी—मूले क०।
३. धारयेन् मारुतं सुधीः—क०। ४. तत्कोमलादिमाहात्म्यं शृणुष्वासनं तत्त्वतः—क०।
५. अचूडकम्—क०।

पूर्णे पञ्चमवर्षे च साधको वीतभीः स्वयम् ।
हीनवीतोपनयनो[1] यो मृतस्तं हि कोमलम् ॥ ७७ ॥
गर्भच्युतफलं नाथ शृणु तत्फलसिद्धये ।
अणिमाद्यष्टसिद्धिः स्यात् संवत्सरस्य साधनात् ॥ ७८ ॥

पाँच वर्ष पूर्ण हो जाने पर साधक सर्वथा निर्भय हो जाता है । बिना यज्ञोपवीत हुए अथवा वीतोपनयन (?) वाला मरा हुआ बालक भी कोमल कहा जाता है । हे नाथ ! अब गिरे हुए गर्भ वाले बालकों के विषय में होने वाले फलों को सुनिए । जिस पर एक संवत्सर पर्यन्त साधन करने से अणिमा आदि अष्टसिद्धियों की सिद्धि होती है ॥ ७७-७८ ॥

मृतासने जपेन्मन्त्री महाविद्याममुं शुभम् ।
अचिरात्तस्य सिद्धिः स्यान्नात्र कार्या विचारणा ॥ ७९ ॥
अथान्यत् शवमाहात्म्यं शृणु सिद्धिश्च[2] साधनात् ।
साधको योगिराट् भूत्वा मम पादतले वसेत् ॥ ८० ॥

गर्भच्युत मरे हुए बालक के आसन पर बैठकर साधक महाविद्या के मन्त्र का जप करे तो उसे शीघ्र ही सिद्धि होती है इसमें विचार की आवश्यकता नहीं है । अब हे नाथ ! अन्य प्रकार से शव माहात्म्य का श्रवण कीजिए, जिसकी साधना से सिद्धि होती है । ऐसा साधक योगिराज बन कर मेरे पैर के नीचे निवास करता है ॥ ७९-८० ॥

दशसंवत्सरे पूर्णे यो म्रियेत शुभे दिने ।
शनौ मङ्गलवारे च तमानीय प्रसाधयेत् ॥ ८१ ॥
तत्र वीरासनं कृत्वा यो जपेद् भद्रकालिकाम् ।
अथवा बद्धपद्मे च स सिद्धो भवति ध्रुवम् ॥ ८२ ॥

ठीक दश वर्ष बीत जाने पर जो किसी शुभ दिन में मरा हो साधक उसे शनिवार अथवा मङ्गलवार के दिन लाकर सिद्ध करे । इस प्रकार के शव पर वीरासन लगाकर भद्रकाली मन्त्र का जप करे अथवा पद्मासन लगाकर जप करे तो वह निश्चित रूप से सिद्ध हो जाता है ॥ ८१-८२ ॥

अथ भावफलं वक्ष्ये येन शवादिसाधनम् ।
अकस्मात् प्राप्तिमात्रेण शवस्य विहितस्य च ॥ ८३ ॥
यं पञ्चदशवर्षीयं सुन्दरं पतितं रणे ।
तमानीय जपेद्विद्यां निशि वीरासने स्थितः ॥ ८४ ॥

शव के अकस्मात् प्राप्त होने पर उसकी साधना से होने वाले फल कहती हूँ, जो शवादि के साधन से प्राप्त होता है । सुन्दर १५ वर्ष की अवस्था वाला जो रणभूमि में मारा गया हो, ऐसे शव को लाकर वीरासन पर स्थित हो रात्रि के समय महाविद्या मन्त्र का जप करे ॥ ८३-८४ ॥

---

१. हीनवृद्धोपनयनम्—क० । २. तत् सिद्धिसाधनात्—क० ।

शीघ्रमेव सुसिद्धिः स्यात् खेचरी वायुपूरणी ।
धारणाशक्तिसिद्धिः स्यात् यः करोतीह साधनम् ॥ ८५ ॥
अथ [१]षोडशवर्षीयं सर्वसिद्धिकरं नृणाम् ।
भोगमोक्षौ करे तस्य शवेन्द्रस्य च साधनात् ॥ ८६ ॥

ऐसा करने से खेचरी वायुपूरणी सिद्धि होती है । इस प्रकार से साधन करने वाले की धारणा शक्ति की सिद्धि होती है । ऐसे ही षोडश वर्षीय शव पर वीरासन से स्थित हो साधना करे तो पुरुष को सारी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं । ऐसे शवेन्द्र साधन करने से साधक के हाथ में भोग और मोक्ष दोनों हो जाते हैं ॥ ८५-८६ ॥

एवं क्रमेण पञ्चाशद् वर्षीयं सुन्दरं वरम् ।
आनीय साधयेद्यस्तु स योगी भवति ध्रुवम् ॥ ८७ ॥
शवं [२] रणस्थमानीय साधयेत्सुसमाहितः ।
इन्द्रतुल्यो भवेन्नाथ रणस्थशवसाधनात् ॥ ८८ ॥

इसी प्रकार क्रमशः पचास वर्ष तक की अवस्था वाले युद्ध में मरे हुए श्रेष्ठ शव को लाकर उसके ऊपर जो साधना करता है, वह निश्चित रूप से योगी हो जाता है । रण में मरे हुए शव को लाकर बड़ी सावधानी के साथ सिद्ध करना चाहिए । हे नाथ ! रण में मरे हुए शव के साधन से साधक इन्द्र के समान बलवान् हो जाता है ॥ ८७-८८ ॥

यदि सम्मुखयुद्धे वा [३] शृणु पट्टीशघातनम् ।
शवमानीय वीरेन्द्रो जपेद्वीरासनस्थितः ॥ ८९ ॥
तत् शवं तु महादेव पूजार्थं निजमन्दिरे ।
देवालये निर्णये च स्थापयित्वा जपं चरेत् ॥ ९० ॥

हे नाथ ! और भी सुनिए । यदि सम्मुख युद्ध में पट्टिश अस्त्र से कोई मर गया हो तो ऐसे शव को लाकर उस पर वीरेन्द्र साधक वीरासन से स्थित हो कर जप करे । हे महादेव ! उस शव को पूजा के लिए अपने घर पर देवालय में अथवा किसी निर्जन स्थान में स्थापित कर जप करना चाहिए ॥ ८९-९० ॥

तत्र वीरासनं किं वा योनिमुद्रासनादिकम् ।
पद्मासनं तथाकृत्य वायुं धृत्वा जपं चरेत् ॥ ९१ ॥
मासैकेन भवेद्योगी विप्रो गुणधरः शुचिः ।
सूक्ष्मवायुधारणज्ञो जपेद् यौवनगे शवे ॥ ९२ ॥

उस पर न केवल वीरासन अपितु योनिमुद्रासनादि अथवा पद्मासन लगाकर वायु को

---

१. षोडशसंख्याकानि वर्षाणि इति षोडशवर्षाणि, मध्यमपदलोपिसमासः, तत्र भवं षोडशवर्षीयम् । गहादित्वाच्छप्रत्ययः ।

२. एतद्रणस्थम्—क० । ३. शूल—क० ।

धारण करते हुए जप करे। ऐसा करने से ब्राह्मण साधक गुणी, पवित्र और योगी बन जाता है। युवावस्था वाले शव पर जप करने से सूक्ष्म वायु के धारण का ज्ञान हो जाता है ॥ ९१-९२ ॥

शवसाधनकालेन[1] यद्यत् कर्म करोति हि।
तत्कर्मसाधनादेव योगी स्यादमरो नरः ॥ ९३ ॥

आनन्दभैरवी[2] उवाच

कालक्रियादिकं ज्ञात्वा सूक्ष्मानिलनिधारणम्।
साधको विचरेद्वीरो वीराचारविवेचकः ॥ ९४ ॥

शव साधन काल से लेकर साधक जो जो कर्म करता है उस कर्म की साधना से मनुष्य योगी तथा अमर हो जाता है ॥ ९३ ॥

आनन्दभैरवी ने पुनः कहा—काल-क्रिया का ज्ञानकर सूक्ष्म वायु धारण करना चाहिए। ऐसा वीराचार का विवेचन करने वाला वीर साधक भूमण्डल में विचरण करे ॥ ९४ ॥

शवादे[3] रणयातस्य क्रियामाहात्म्यमुत्तमम्।
शृणु सङ्केतभाषाभिः शिवेन्द्रचन्द्रशेखर ॥ ९५ ॥
एकहस्तार्द्धमाने[4] तु भूम्यधोविधिमन्दिरे[5]।
संस्थाप्य सुशवं नाथ मायादवगतः प्रभो ॥ ९६ ॥

अब हे शिवेन्द्र ! हे चन्द्रशेखर ! रण में मरे हुए शव की उत्तम क्रिया के माहात्म्य को सुनिए। पृथ्वी में डेढ़ हाथ नीचे खने हुए गड्डे में विधिपूर्वक मन्दिर बनाकर उसमें शव स्थापन कर हे प्रभो ! माया मन में निम्न धारणा करे ॥ ९५-९६ ॥

एकाहं जगदाधारा आधारान्तर्गता सती।
पतिहीना सूक्ष्मरूपादधरादिचराचरम् ॥ ९७ ॥
मदीयं साधकं पुण्यं धर्मकामार्थमोक्षगम्।
प्रकरोमि[6] सदा रक्षां धात्रीरूपा सरस्वती ॥ ९८ ॥

आधार के अन्तर्गत रहने वाली जगत् की आधारभूता केवल मैं ही हूँ। मेरा कोई स्वामी नहीं है। यह सारा चराचर जगत सूक्ष्मरूप से मेरा ही है। मेरा साधक बहुत पुण्य वाला है। वह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का अधिकारी है। सरस्वती रूप से मैं उसकी धात्री बनकर रक्षा करती हूँ ॥ ९७-९८ ॥

केवलं तदभावेन[7] शम्भो योगपरायण।
मग्ना संसारकरणात्त्वयि त्वञ्चाहमेव च ॥ ९९ ॥

---

१. वै—क० । २. इति श्रीरुद्रयामले विशतिपटलः समाप्तः—क० ।
३. रणघातस्य—क० । ४. हस्तोर्ध्व—क० ।
५. भूमेरधः स्थिते विधिमन्दिरे इत्यत्र षष्ठीतत्पुरुषः । विधिर्ब्रह्मा।
६. एकावामि—क० । ७. तवभावेन—क० ।

यद्यत्पदार्थनिकरे तिष्ठसि त्वं सदा मुदा।
तत्रैव संस्थिरा हृष्टा चाहमेव न संशयः ॥ १०० ॥

हे योगपरायण शम्भो ! केवल मेरा ज्ञान न होने से अपके द्वारा संसार बनाने के कारण लोग आप में मग्न हो जाते हैं, ऐसे जो आप हैं वही मैं भी हूँ। हे सदाशिव ! जिन पदार्थ समूहों में आप प्रसन्नता से निवास करते हो, उन-उन पदार्थों में प्रसन्नता पूर्वक मैं भी निवास करती हूँ, इसमें संशय नहीं ॥ ९९-१०० ॥

एतद्भावं त्वं करोषि कस्य हेतोस्तव प्रिया।
वामाङ्गे संस्थिरा नित्यं कामक्रोधविवर्जिता ॥ १०१ ॥

आनन्दभैरव उवाच

किं प्रयोजनमेवं हि शवादीनाञ्च साधनात्।
यदि ते श्रीपदाम्भोजमधून्मत्तो भवेद्यतिः ॥ १०२ ॥

आप भी यही भावना करते हो, इसी हेतु से मैं भी आपको प्यारी हूँ, और काम क्रोधादि दोषों से वर्जित रहकर नित्य आपके वामाङ्ग में स्थित रहती हूँ ॥ १०१ ॥

आनन्दभैरव ने कहा—हे भद्रे ! शवादि के साधन से क्या प्रयोजन है ? साधक यदि तुम्हारे चरण कमलों के मधु को पीकर उन्मत्त बना रहे ॥ १०२ ॥

त्रैलोक्यपूजिते भीमे वाग्वादिनीस्वरूपिणी।
शवसाधनमात्रेण केन योगी भवेद्वद ॥ १०३ ॥
आनन्दरस [1]लावण्यमन्द हासमुखाम्बुजे।
योगी भजति योगार्थं केन तत्फलमावद ॥ १०४ ॥

हे त्रैलोक्यपूजिते ! हे भीमे ! हे वाग्वादनस्वरूपिणि ! किस प्रकार शव साधन मात्र से साधक योगी बन जाता है उसे कहिए। आनन्द रस के लावण्य से युक्त मुखाम्बुज से मन्द हास्य करने वाली हे देवी ! साधक लोग योग के लिए जब योगी होते हैं, फिर किस प्रकार शव साधन करते हैं उसका फल कहिए ॥ १०३-१०४ ॥

आनन्दभैरवी[2] उवाच

यदि शङ्कर भक्तोऽसि मम जापपरायणः।
तथापि शवभावेन शववत् शवसाधनम् ॥ १०५ ॥
रात्रियोगे प्रकर्त्तव्यं दिवसे न कदाचन।
शवे स्थिरो यो बभूव स भक्तो मे न संशयः ॥ १०६ ॥

आनन्द भैरवी ने कहा—हे शङ्कर ! यद्यपि आप मेरे भक्त हैं, मुझ शक्ति के जप में परायण है फिर भी शव भाव से शव के समान बनकर शव साधन करना चाहिए। शव

---

१. आनन्दरसलावण्यं च मन्दहासश्च मुखाम्बुजे यस्याः सा।
२. आनन्दभैरवी—क०।

साधन रात्रि में ही करे । दिन में कदापि न करे जो शव पर स्थिर रह गया वह मेरा भक्त है इसमें संशय नहीं ॥ १०५-१०६ ॥

मे [१]शवाकृतिमद्द्रव्यं मम तुष्टिनिबन्धनम् ।
ममाज्ञापालने योग्यः कुर्याद् वीरः शवासनम् ॥ १०७ ॥
यद्यहं तत्र गच्छामि तदैव स शिवो भवेत् ।
निःशेषत्यागमात्रेण शवत्वं प्रलयं तनोः ॥ १०८ ॥

शव के समान आकृति वाली वस्तु सदैव मेरे संतुष्टि का साधन है । मेरी आज्ञा पालन की योग्यता रखने वाला वीर साधक शव साधन करे । मैं जिस समय उसके पास जाती हूँ, उसी समय वह शिव स्वरूप बन जाता है । शरीर का सब कुछ त्याग देने पर अथवा प्रलय कर देने पर शवत्व प्राप्त होता है ॥ १०७-१०८ ॥

यः करोति भावराशिं मयि देव्यां महेश्वर ।
त्रैलोक्यपूजितायां तु स शिवः शवमाश्रयेत् ॥ १०९ ॥
अधिकारी[२] तु भक्तस्य पालनं [३]परपृष्ठतः ।
करोमि कामिनीनाथ सन्देहो नात्र भूतले[४] ॥ ११० ॥

हे महेश्वर ! त्रैलोक्य पूजित मुझ देवी में जो साधक अपनी समस्त भावराशि समर्पित कर देता है और शव का आश्रय ले लेता है, वह शिव है । हे कामिनी नाथ ! मैं पृथ्वी पर भक्त पर अधिकार रखती हूँ और शव की पीठ से उसका पालन करती हूँ इसमें संदेह नहीं ॥ १०९-११० ॥

यदाहं त्यज्यते गात्रं पशूनां मारणाय च ।
तदैते च मृताः सर्वे [५]जीवन्ते केन हेतुना ॥ १११ ॥
तदाहुतिमहाद्रव्यं[६] शवेन्द्रं रणहानिगम् ।
आनीय साधयेद्यस्तु स स्थिरो मे सुभक्तिगः ॥ ११२ ॥

पशुमारण के लिए जब शरीर उपस्थित किया जाता है तभी वह अहङ्कार त्याग देता है । इसी प्रकार सभी मरे हुए अपना अहङ्कार त्याग देते हैं वे किस हेतु के बल पर जीवित रहें । रण में प्राण त्याग करने वाला शवेन्द्र हमारी आहुति का महान् द्रव्य है । अतः उसको लाकर जो साधक उससे साधन करता है वह स्थिर रूप से मेरी भक्ति का अधिकारी हो जाता है ॥ १११-११२ ॥

सदा क्रोधी भवेद्यस्तु स क्रूरो नात्र संशयः ।
स कथं [७]वीररात्रौ च साधयेद् विह्वलः शवम् ॥ ११३ ॥
भयविह्वलचेता यः स क्रोधी नात्र संशयः ।

---

१. मे शवा इति सद्द्रव्यम्—क० ।　२. अधिकालाय भक्तस्य—क० ।
३. शव—क० ।　४. नात्र विद्यते इति—क० ।
५. केवलाकृतिहेतुना—क० ।　६. तदाकृति—क० ।　७. घोररात्रौ—क० ।

नास्ति क्रोधसमं पापं पापात् क्षिप्तो भवेत् शवे ॥ ११४ ॥

जो सर्वदा क्रोध करता है वही क्रूर है इसमें संशय नहीं । ऐसा विह्वल (क्रूर) वीर साधक रात्रि में किस प्रकार शव साधन करने में समर्थ हो सकता है ? । जिसका चित्त भय से विह्वल है वहीं क्रोधी है इसमें संशय नहीं । क्रोध के समान कोई पाप नहीं है अतः पाप से शव साधन करने वाला साधक विक्षिप्त हो जाता है ॥ ११३-११४ ॥

योे भक्तः पापनिर्मुक्तः सिद्धरूपी निराश्रयः ।
विवेकी ध्याननिष्ठश्च स्थिरः संसाधयेत् शवम् ॥ ११५ ॥
यावत्कालं स्थिरचित्तं न प्राप्नोति जितेन्द्रियः ।
तावत्कालं नापि कुर्यात् शवेन्द्रस्यापि साधनम् ॥ ११६ ॥

शवसाधना के अधिकारी—जो भक्त पाप से निर्मुक्त है और किसी (क्रोधादि) का आश्रय नहीं लेता वह सिद्ध का स्वरूप है, विवेकी है और ध्यान निष्ठ है । अतः स्थिर रहने के कारण वह शव साधन का अधिकारी है । जब तक चित्त स्थिर न हो जब तक इन्द्रियाँ अपने वश में न हों तब तक शवेन्द्र का साधन कदापि नहीं करना चाहिए ॥ ११५-११६ ॥

शवमानीय तद्द्वारे तेनैव परिखन्य च ।
तद्दिनात्तद्दिनं यावत् यद्बद्ध्वा[1] व्याप्य साधयेत् ॥ ११७ ॥
एवं कृत्वा हविष्याशी महाविद्यादिसाधनम् ।
जितेन्द्रियो मुदा कुर्याद् अष्टाङ्गसाधनेन च ॥ ११८ ॥

साधक उस शव को द्वार पर ले आवे, उसे खन कर पृथ्वी में गाड़ देवे, फिर उसी से उस दिन से आरम्भ कर उसी दिन पर्यन्त अर्थात् संवत्सर पर्यन्त साधना करनी चाहिए । इस प्रकार जितेन्द्रिय होकर हविष्यान्न भोजन करते हुए प्रसन्नता के साथ अष्टाङ्ग साधन द्वारा महाविद्या की साधना करे ॥ ११७-११८ ॥

शवसाधनाफलश्रुतिकथनम्

तदष्टाङ्गफलं ह्येतत् यत्कृत्वा सिद्धिभाग् भवेत् ।
नाडीमुद्राभेदकञ्च कुलाचारफलान्वितम् ॥ ११९ ॥
अष्टाङ्गसाधनादेव सिद्धरूपो महीतले ।
पश्चादन्य[2]स्वर्गगामी भवेन्न भूतलं विना ॥ १२० ॥

शवसाधन की फलश्रुति—अष्टाङ्ग साधन योग की साधना का यही फल है कि साधक सिद्धि का सत्पात्र हो जावे । अष्टाङ्ग साधना से कुलाचार के फल से संयुक्त नाडी भेद तथा मुद्रा भेद का ज्ञान हो जाता है । इसी पृथ्वी पर साधक सिद्ध हो जाता है । इसके पश्चात् वह भूलोक को छोड़कर स्वर्गगामी हो जाता है ॥ ११९-१२० ॥

---

१. वत्सरं व्याप्य साधयेत्—क० । बद्ध्वा इति पाठे बन्धनार्थकबन्धधातोः क्त्वाप्रत्ययः । अनिदितामिति नलोपः । २. शून्य—क० ।

आदौ भूतलसिद्धिः[१] स्याद्भुवोलोकस्य सिद्धिभाक् ।
जनलोकस्य[२] सिद्धीशस्तपोलोकस्य सिद्धिभाक् ॥ १२१ ॥
सत्यलोकस्य सिद्धीशः पश्चाद् भवति साधकः ।
एवं क्रमेण सिद्धिः स्यात् स्वर्गादीनां महेश्वर ॥ १२२ ॥

प्रथम भूलोक में सिद्धि, फिर भुवर्लोक में सिद्धि, फिर जनलोक में सिद्धि, फिर तपोलोक में वह सिद्धि का पात्र बन जाता है । इसके बाद वही साधक सत्यलोक में सिद्धेश्वर हो जाता है । हे महेश्वर ! इसी प्रकार स्वर्गादि लोकों में वह साधक सिद्धि प्राप्त कर लेता है ॥ १२१-१२२ ॥

अष्टाङ्गसाधनार्थाय देवा भवन्ति भूतले ।
भूतले सिद्धिमाहृत्य गच्छन्ति ब्रह्ममन्दिरे ॥ १२३ ॥
क्रमेणैवं विलीनास्ते अतो भूतलसाधनम् ।

शवसाधकस्य विधिनिषेध—कथनम्

भूतले शवमास्थाय ब्रह्मचारी दिवा शुचिः ॥ १२४ ॥

इस अष्टाङ्ग योग की सिद्धि के लिए देवता भी पृथ्वी तल पर अवतार लेते हैं फिर भूतल में सिद्धि प्राप्त कर वे ब्रह्मलोक चले जाते हैं । इस प्रकार क्रमशः वे ब्रह्मलोक में विलीन हो जाते है । अतः भूतल ही भूतलसाधन के लिए श्रेष्ठ है । साधक दिन में ब्रह्मचारी और पवित्र रहे ॥ १२३-१२४ ॥

निशायां पञ्चतत्त्वेन दिवसेऽष्टाङ्गसाधनम् ।
जितेन्द्रियो [३]निर्विकारो वित्तवानपरो नरः ॥ १२५ ॥
शवं संसाधयेद्धीरश्चिन्तालस्यविवर्जितः ।
चिन्ताभिर्जायते लोभो लोभात् कामः प्रपद्यते ॥ १२६ ॥
कामाद्भवति सम्मोहो मोहादालस्य सञ्चयः ।
आलस्यदोषजालेन निद्रा भवति तत्क्षणात्[४] ॥ १२७ ॥

रात्रि के समय शव पर बैठकर पञ्चतत्त्व की साधना करे और दिन में अष्टाङ्ग योग करे । जितेन्द्रिय एवं विकाररहित पुरुष चाहे वह धनवान् हो चाहे दरिद्र हो धीर होकर चिन्ता आलस्य का त्याग कर शव सिद्धि करे । चिन्ता से लोभ, लोभ से काम उत्पन्न होता है । काम से मोह, मोह से आलस्य का सञ्चय होता है, आलस्य दोष समूहों से सद्यः तत्क्षण निद्रा उत्पन्न होती है ॥ १२५-१२७ ॥

महानिद्राविपाकेन मृत्युर्भवति निश्चितम् ।
अपक्षनिद्राभङ्गेन[५] क्रोधो भवति निश्चितम् ॥ १२८ ॥

---

१. भुवोलोकस्य—क० ।
२. पश्चात् स्वरलोकसिद्धिः स्यात् महालोकस्य सिद्धिभाक्—क० ।
३. वित्तध्यानपरो—क० ।
४. स चासौ क्षणश्चेति कर्मधारयसमासः ।
५. अपक्व—क० ।

तत्क्रोधाच्चित्तविकलो विकलात् श्वासवर्द्धनः।
वृथायुः क्षयमाप्नोति विस्तरे श्वाससंक्षये ॥ १२९ ॥
बलबुद्धिक्षयं याति बुद्धिहीनो जडात्मकः ।
जडभावेन मन्त्राणां जपहीनो भवेन्नरः ॥ १३० ॥
जपहीने[१] श्वासनाशः श्वासनाशे तनुक्षयम् ।
अतस्तनुं समाश्रित्य जपनिष्ठो भवेत् शुचिः ॥ १३१ ॥

महानिद्रा के परिणाम स्वरूप निश्चित रूप में मृत्यु होती है । असमय में निद्रा भङ्ग होने से निश्चित रूप से क्रोध उत्पन्न होता है । क्रोध से चित्त विकल होता है, चित्त विकल होने से श्वास की वृद्धि होती है, फिर जो अधिक श्वास के संक्षय होते ही आयु का क्षय होने लगता है ॥ १२८-१२९ ॥

श्वास की अधिकता से बल एवं बुद्धि का क्षय होने लगता है । बुद्धि के नष्ट होने से जड़ता आती है । जड़ता से मन्त्र का जप नहीं हो पाता । जपहीन होने से श्वास का नाश और श्वसन प्रश्वसन का नाश होने पर मृत्यु होती है । इसलिए शरीर की रक्षा करते हुए पवित्रता पूर्वक जप करना चाहिए ॥ १३०-१३१ ॥

अष्टाङ्गधारणेनैव सिद्धो भवति नान्यथा ।
अष्टाङ्गलक्षणं वक्ष्ये साक्षात् सिद्धिकरं परम् ॥ १३२ ॥
जन्मकोटिसहस्राणां फलेन कुरुते नरः ।
यमेन लभ्यते ज्ञानं ज्ञानात् कुलपतिर्भवेत् ॥ १३३ ॥

अष्टाङ्गयोग निरूपण—मनुष्य अष्टाङ्ग योग से ही सिद्ध होता है । सिद्ध होने का और कोई दूसरा उपाय नहीं है । अब साक्षात् सिद्धि देने वाले अष्टाङ्ग योग के विषय में कहती हूँ । मनुष्य करोड़ों जन्म के पुण्य के फल से अष्टाङ्ग योग में प्रवृत्त होता है अष्टाङ्ग योग के प्रथम सोपानभूत यम से ज्ञान उत्पन्न होता है । ज्ञान से कुलपति बनता है ॥ १३२-१३३ ॥

यो योगेशः स कुलेशः शिशुभावस्थनिर्मलः ।
नियमेन भवेत् पूजा पूजया लभते शिवम् ॥ १३४ ॥
यत्र कल्याण[२] सम्पूर्णा सम्पूर्णः शुचिरुच्यते ।
आसनेन दीर्घजीवी रोगशोकविवर्जितः ॥ १३५ ॥

वही कुलेश्वर योगेश्वर बनता है, जो शिशुभावापन्न होकर सर्वथा निर्मल रहता है । द्वितीय सोपानभूत **नियम** का फल यह है कि नियम से ठीक प्रकार से पूजा होती है और पूजा से कल्याण होता है । **जहां पूर्ण रूप से कल्याण होता है वहां संपूर्ण शुचिता होती है । आसन** का यह फल है कि आसन से दीर्घ जीवन प्राप्त होता है । रोग और शोक सन्निकट नहीं आते ॥ १३४-१३५ ॥

---

१. बलहीने—क० ।
२. यत्र कन्या न सम्पूर्णः सम्पूर्णः शुचिरुच्यते—ख० ।

ग्रन्थिभेदनमात्रेण साधकः शीतलो भवेत् ।
प्राणायामेन शुद्धः स्यात् प्राणवायुवशेन च ॥ १३६ ॥
वशी भवति देवेश आत्मारामेऽपि[1] लीयते ।
प्रत्याहारेण चित्तं तु चञ्चलं कामनाप्रियम् ॥ १३७ ॥
तत्कामनाविनाशाय स्थापयेत् पदपङ्कजे ।
धारणेन वायुसिद्धिरष्ट[2]सिद्धिस्ततः परम् ॥ १३८ ॥

साधक जब नाड़ियों की ग्रन्थि तोड़ देता है तो वह शीतल हो जाता है । चतुर्थ सोपानभूत **प्राणायाम** से प्राणवायु को वश में कर लेने से वह शुद्ध हो जाता है । हे देवेश ! वह जितेन्द्रिय हो जाता है और आत्माराम होकर आत्मा में रमण करता है । चित्त स्वभावतः चञ्चल और कामना चाहता रहता है ॥ १३६-१३७ ॥

अतः उस काम के विनाश के लिए **प्रत्याहार** द्वारा भगवत्पादपङ्कज में चित्त को स्थापित करें । षष्ठ सोपानभूत **धारणा** से वायुसिद्धि, फिर वायुसिद्धि से अष्टसिद्धि प्राप्त होती है ॥ १३८ ॥

अणिमासिद्धिमाप्नोति अणुरूपेण वायुना ।
ध्यानेन लभते मोक्षं मोक्षेण लभते सुखम् ॥ १३९ ॥
सुखेनानन्दवृद्धिः स्यादानन्दो ब्रह्मविग्रहः ।
समाधिना महाज्ञानी सूर्याचन्द्रमसोर्गतिः ॥ १४० ॥

इतना ही नहीं, अणुरूप वायु से अष्टसिद्धियाँ प्राप्त होती हैं । सप्तम सोपान **ध्यान** से मोक्ष प्राप्ति होती है । मोक्ष से सुख प्राप्त होता है । सुख से आनन्द की वृद्धि होती है और आनन्द साक्षात् ब्रह्म का स्वरूप है । अष्टम सोपान **समाधि** से महा ज्ञानी होता है । सूर्य तथा चन्द्रमा तक समाधि के बल से जा सकता है ॥ १३९-१४० ॥

महाशून्ये लयस्थाने श्रीपदानन्दसागरः ।
तत्तरङ्गे मनो दत्त्वा परमार्थविनिर्मले ॥ १४१ ॥
श्रीपादमूर्तिमाकल्प्य ध्यायेत् कोटिरवीन्दुवत् ।
श्रीमूर्तिं कोटिचपलां समुज्ज्वलां सुनिर्मलाम् ॥ १४२ ॥

महाशून्य में जहाँ लय का स्थान है वहाँ महाश्री के चरणों में आनन्द का सागर प्रवाहित होता है, उस परमार्थ विनिर्मल आनन्द सागर की तरंगों में मन को स्थापित करना चाहिए । करोड़ों सूर्य एवं चन्द्रमा के समान प्रकाशमान् भगवती महाश्री के पादारविन्द की कल्पना करे तथा करोड़ों विद्युत के समान प्रभा से उज्ज्वल शुभ्र श्री मूर्ति की भी कल्पना करे ॥ १४१-१४२ ॥

ध्यायेद्योगी सहस्रारे कोटिसूर्येन्दुमन्दिराम् ॥ १४३ ॥

---

१. आत्मारामोऽपि—क० ।
२. रिष्टसिद्धि—क० ।—अष्टसंख्याका सिद्धिरष्टसिद्धिः, मध्यमपदलोपिसमासः ।

श्रीविद्यामतिसुन्दरीं त्रिजगतामानन्दपुञ्जेश्वरीं
कोट्यर्कायुत तेजसि प्रियकरीं योगादरीं शाङ्करीम् ।
तां मालां स्थिरचञ्चलां गुरुवनां[1] व्यालाचलां केवलां
ध्यायेत्[2] सूक्ष्मसमाधिना स्थिरमतिः सश्रीपतिर्गच्छति ॥ १४४ ॥

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने भावनिर्णये पाशवकल्पे
षट्चक्रसारसङ्केते योगविद्याप्रकरणे मन्त्रसिद्धिशक्त्युपाये
भैरवीभैरवसंवादे चतुर्विंशः पटलः ॥ २४ ॥

— ❖ —

योगी को सहस्रार चक्र में रहने वाली करोड़ों सूर्य तथा चन्द्रमा के समान मन्दिर में रहने वाली भगवती महा श्रीविद्या की मूर्ति का ध्यान करना चाहिए । श्रीविद्या अत्यन्त सुन्दरी हैं और तीनों जगत् के आनन्द पुञ्ज की स्वामिनी हैं । वह करोड़ों अयुत सूर्य तेज में निवास करती हैं । स्वामिनी सब का प्रिय करती हैं योग का आदर करने वाली हैं और शङ्कर वल्लभा हैं । ऐसी स्थिर तथा चञ्चल रहने वाली, महाविद्या का स्थिर चित्त से समाधि द्वारा ध्यान करना चाहिए । इस प्रकार ध्यान करने वाला साधक श्रीपति श्रीविद्या को प्राप्त कर लेता है ॥ १४३-१४४ ॥

॥ श्रीरुद्रयामल के उत्तरतन्त्र में महातन्त्रोद्दीपन में भावनिर्णय में पाशवकल्प में षट्चक्रसारसङ्केत में योगविद्याप्रकरण में मन्त्रसिद्धि के उपाय कथन में भैरवी-भैरव संवाद में चौबीसवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ २४ ॥

— ❖ —

---

१. व्यालोचनाय—क० ।
२. यः सुसमाधिना—क० ।

अथ पञ्चविंशः पटलः

आनन्दभैरव उवाच

वद कान्ते रहस्यं मे तत्त्वावधानपूर्वकम् ।
यद् यज्ज्ञात्वा महायोगी प्रविशत्यनलाम्बुजे ॥ १ ॥
यदि स्नेहदृष्टिरस्ति मम ब्रह्मनिरूपणम् ।
योगसारं तत्त्वपथं निर्मलं वद योगिने ॥ २ ॥

आनन्दभैरव ने कहा—हे कान्ते ! निश्चयपूर्वक तत्त्वों के रहस्यों को कहिए, जिसे जानकर महायोगी वायुरूप में पद्म में प्रवेश करता है । यदि मुझमें आपका स्नेह है, तो योग का सारभूत तत्त्व का प्रदर्शक सर्वथा निर्मलब्रह्म निरूपण मुझ योगी के लिए कहिए ॥ १-२ ॥

आनन्दभैरवी उवाच

शृणु प्राणेश वक्ष्यामि योगनाथ क्रियागुरो ।
योगाङ्गं योगिनामिष्टं तत्त्वब्रह्मनिरूपणम् ॥ ३ ॥
एतत्[1] सृष्टिप्रकारञ्च प्रपालनविधिं तथा ।
असंख्यसृष्टिसंहारं वदामि तत्त्वतः शृणु ॥ ४ ॥

सूक्ष्मसृष्टिस्थितिसंहारकथनम्

त्वमेव संहारकरो[2] वरप्रियः प्रधानमेषु त्रितयेषु शङ्कर ।
संहारभावं मलभूतिनाशनं[3] प्रधानमाद्यस्य जगत्प्रपालनम् ॥ ५ ॥

आनन्दभैरवी ने कहा—हे योगनाथ ! हे क्रियागुरो ! हे प्राणेश ! योगिजनों के लिए इष्टसाधनभूत योग का अङ्गतत्त्व ब्रह्म निरूपण कहती हूँ, सुनिए । इस जगत् की सृष्टि का प्रकार, उसके प्रकृष्ट रूप से पालन का विधान तथा इस असंख्य सृष्टि का संहार तत्त्वतः कहती हूँ, इसे सुनिए ॥ ३-४ ॥

हे शङ्कर ! सृष्टि, पालन और संहार इन तीनों के क्रम में आप ही संहार करने वाले वरदाता तथा प्रधान हैं । त्रिलोक के मलभूत विभूतियों का विनाश ही संहार का लक्षण है । इसके बाद जगत् का पालन प्रधान है ॥ ५ ॥

तत्राधनं[4] मेरुभुजङ्गमङ्गं सृष्टिप्रकारं खलु तत्र मध्यमम् ।
तत्पालनञ्चेति[5] मयैव राज्ये संहाररूपं प्रकृतेर्गुणार्थकम् ॥ ६ ॥

---

१. तत्र दृष्टिप्रकारञ्च—क० । २. कलेवरप्रियः—क० ।
३. भवभूतिनाशनात्—क० । जननाशनात् सदा—इति जीव० पाठः ।
४. तत्राधमम्—क० । ५. तत्पालनं चोक्तमेव बाह्ये—क० ।

एतत्त्रयं नाथ भयादिकारणं तन्नाशनाम्ने[1] प्रणवं गुणात्मकम् ।
त्रयं गुणातीतमनन्तमक्षरं सम्भाव्य योगी भवतीह साधकः ॥ ७ ॥

मेरु के समान अङ्ग को भुजङ्ग के समान रखना यह सृष्टि का प्रकार अधम है । उसका पालन करना मध्यम है प्रकृति के गुणों के अर्थ को बाहर कर देना 'संहार' है ॥ ६ ॥

हे नाथ ! सृष्टि, पालन और संहार ये तीनों ही योगयों के लिए भयप्रद हैं इसके नाश हो जाने पर गुणात्मक प्रणव ही शेष रहता है । यह तीन अक्षरों वाला प्रणव गुणातीत है, अनन्त है और अक्षर है । अतः उस प्रणव का ध्यान करने से योगी सच्चा साधक बन जाता है ॥ ७ ॥

अव्यक्तरूपात् प्रणवाद्धि सृष्टिस्तल्लीयते व्यक्ततनोः समासा ।
सूक्ष्माद्यकारात् प्रतिभान्ति खे सदा प्रणश्यति स्थूलकलान्निरक्षरात् ॥ ८ ॥

अव्यक्त रूप प्रणव से ही सृष्टि होती है उस प्रणव के व्यक्त आकार होने पर सृष्टि संक्षिप्त होकर उसी में लीन हो जाती है । आदि में रहने वाले 'अ उ म' ये तीनों अक्षर आकाश में सर्वदा भासित होते हैं, निरक्षर स्थूल कला से वह 'ॐ' नष्ट हो जाता है ॥ ८ ॥

अतीव चित्रं जगतां विचित्रं नित्यं चरित्रं कथितुं न शक्यते ।
हंसाश्रितास्ते भववासिनो जना ज्ञात्वा न देहस्थमुपाश्रयन्ते ॥ ९ ॥

जगत् के इस विचित्र नित्य चरित्र का वर्णन करना अशक्य है । संसारी मनुष्य इस हंस मन्त्र का आश्रय ले लेने पर पुनः देहबन्धन के झञ्झट में नहीं पड़ते ॥ ९ ॥

देहाधिकारी प्रणवादिदेव मायाश्रितो निद्रित एष[2] कालः ।
प्रलीयते दीर्घपथे च काले तदा प्रणश्यन्ति जगत् स्थिता जनाः ॥ १० ॥
कालो[3] जगद्भक्षक ईशवेशो तरी तु जीर्णा पतिहीनदीना ।
स एव मृत्युर्विहितं चराचरं प्रभुञ्जति श्रीरहितं पलायनम् ॥ ११ ॥
पञ्चेन्दुतत्त्वेन महेन्द्रसृष्टिः प्रतिष्ठिता यज्ञविधानहेतुना ।
सदैव यज्ञं कुरुते भवार्णवे निःसृष्टिकाले वरयज्ञसाधनम् ॥ १२ ॥

प्रणव रूप ये आदिदेव ही इस देह के अधिकारी हैं, जब देहधारी जीव माया का आश्रय ले लेता है तब वह काल उसके निद्रा का काल कहा जाता है । जब जीव इस दीर्घमार्ग वाले (माया रूप) काल में अपने को लीन कर लेता है तब उसके लिए जगत् में स्थित समस्त जन लीन हो जाते हैं । जब 'आप डूबे तो जग डूबा' ईश्वर रूप धारण करने वाला यह काल जगत् का भक्षक हो जाता है । स्वामी विहीन मेरी जीर्ण नाव दीन हीन है और वही चराचर जगत् का मृत्यु है । श्री से हीन, अहितकारी एवं भगने वाले को वह माया खा जाती है ॥ ११ ॥

यज्ञों के विधान के लिए महेन्द्र से लेकर मनुष्य पर्यन्त यह सारी सृष्टि पञ्च शून्य तत्त्व से रची गई है । योगी जन इस संसार सागर में नित्य यज्ञ करते रहते हैं, क्योंकि निःसृष्टि काल में यज्ञ ही उत्तम साधन कहा गया है ॥ १२ ॥

---

१. तन्नाशनाशे—क० । २. एव—क० ।
३. कालो जगद्भक्षक ईशरोषात् विस्तीर्णगात्रो गतिहीनमीनः—कः । अयमेव पाठो युक्तः ।

हिताहितं तत्र महार्णवे भयं विलोक्य लोका भयविह्वलाः सदा ।
विशन्ति ते कुत्सितमार्गमण्डले अतो महानारकिबुद्धिहीनाः ॥ १३ ॥
मायामये धर्मकुलानले भवे लीनो हरेर्याति[1] पथानुसारी ।
म्रियेत कालानलतुल्यमृत्युना कथं तु योगी कथमेव साधकः ॥ १४ ॥

इस संसार रूप समुद्र में हित और अहित दोनों ही महाभय हैं, फिर भी लोक में अभय होने के लिए व्याकुल वे जन इसी भय को देखकर लोग भयविह्वल हो जाते हैं और कुत्सित मार्ग मण्डल में प्रवेश करते हैं । ऐसे लोग महानारकी एवं बुद्धिहीन हैं ॥ १३ ॥

यह संसार मायामय है । मानव अधर्म समूह रूप अग्नियों से घिरा हुआ है, ऐसा सोचकर जो भगवत्प्राप्ति के पथ से जाकर उसमें लीन हो जाता है, वही श्रेष्ठ है । किन्तु जो कालाग्नि के समान मृत्यु से मर जाता है, भला वह किस प्रकार योगी हो सकता है तथा किस प्रकार साधक हो सकता है ॥ १४ ॥

यः साधकः प्रेम-कलासुभक्त्या स एव मूर्खो यदि याति संसृतौ ।
संसारहीनः प्रियचारुकाल्याः सिद्धो भवेत् कामदचक्रवर्ती ॥ १५ ॥
वसेन्न सिद्धो गृहीणीसमृद्ध्यां महाविपद्दुःखविशोषिकायाम् ।
यदीह काले प्रकरोति वासनां तदा भवेन्मृत्युरतीव निश्चितम् ॥ १६ ॥

जो साधक प्रेम कला सुभक्ति के होते हुए भी इस संसृति में भटकता है वही मूर्ख है किन्तु जो संसार की वासना से हीन है, अत्यन्त सुन्दरी महाकाली का प्रेमी है, वही कामद चक्रवर्ती साधक सिद्ध होता है ॥ १५ ॥

सिद्ध साधक को कभी भी गृहिणी की समृद्धि में निवास नहीं करना चाहिये क्योंकि वह समृद्धि महाविपत्ति दुःख तथा शरीर का शोषण करने वाली है । यदि इस संसार में गृहिणी विषयक कामना हुई तो मृत्यु भी निश्चित है ॥ १६ ॥

कृपावलोक्यं वदनारविन्दं तदैव हे नाथ ममैव चेद्यदि ।
सदैव यः साधुगणाश्रितो नरो ध्यात्वा निगूढमतिभागगद्वतः[2] ॥ १७ ॥
स एव साधुः प्रकृतेर्गुणाश्रितः कृती वशी वेदपुराणवक्ता[3] ।
सत्त्वं महाकाल इतीह चाहं प्रणिश्चयं ते कथितं श्रिये मया ॥ १८ ॥

हे नाथ ! यदि साधक का मुखारविन्द मेरी कृपा के अवलोकन का पात्र बना, तो वह सदैव सज्जनों का समाश्रित हो जाता है और मेरा ध्यान कर गुप्त रहस्य में मतिमान् हो जाता है ॥ १७ ॥

वही साधु है, प्रकृति के गुणों से आश्रित, कृती, वशी और पुराण वक्ता है । हे महाकाल ! मैं सत्त्वगुण स्वरूपा हूँ । मैने श्रीप्राप्ति के लिए यहाँ पर यह सब आप से कहा ॥ १८ ॥

---

१. यतो वेदपथानुसारी—क० ।
२. अतिभावलग्नः—क० ।
३. वेदानां पुराणानां च वक्ता, षष्ठीतत्पुरुषः, तृजकाभ्यामित्यस्यानित्यत्वात् । वक्तेत्यस्य तृन्नन्तपक्षे गम्यादीनामिति द्वितीयाघटितः समासः ।

गुणेन भक्तेन्द्रगणाधिकानां साक्षात् फलं योगजपाख्यसङ्गतिम् ।
अष्टाङ्गभेदेन शृणुष्व कामप्रेमाय भावाय जयाय[1] वक्ष्ये ॥ १९ ॥
मायादिकं यः प्रथमं वशं नयेत् स एव योगी जगतां प्रतिष्ठितः ।
रविप्रकारं यमवासनावशे शृणुष्व तं कालवशार्थकेवलम् ॥ २० ॥

भक्तेन्द्र गुणों में सब से श्रेष्ठ होने वाला फल योगजय की सङ्गति है । अब उस योग के अष्टाङ्ग भेद से होने वाले फलों को सुनिए । यह काम प्रेम के लिए, भावना के लिए तथा जय के लिए कहती हूँ ॥ १९ ॥

जो इस जगत् में रह कर सर्वप्रथम माया को अपने वश में कर लेता है, वही योगी प्रतिष्ठा का पात्र है । निम्नलिखित १२ प्रकार के यम से (द्र० २५. २३-२५) माया को अपने वश में करना चाहिए । अब उन यमों का समय आने पर केवल श्रवण करना चाहिए ॥ २० ॥

सर्वत्र कामादिकमाशु जित्वा जेतुं समर्थो यमकर्मसाधकः ।
कामं तथा क्रोधमतीव लोभं मोहं मदं मात्सरितं[2] सुदुष्टकृतम् ॥ २१ ॥
अतो मया द्वादश शब्द घातकं वशं समाकृत्य महेन्द्रतुल्यम् ।
सर्वत्र वायोर्वशकारणाय करोति योगी सचलान्यथा भवेत् ॥ २२ ॥

यम क्रिया को सिद्ध करने वाला साधक ही कामादि दोषों को अपने वश में कर माया पर विजय प्राप्त कर सकता है । काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद (अहङ्कार), मत्सरादि—ये सभी बड़े दुर्घट पाप हैं ॥ २१ ॥

इनको विनष्ट करने वाला द्वादश प्रकार का यम ही है । ये इन्द्र के समान बलवान् है, अतः इन्हे अपने वश में करे । शरीर में सर्वनाम वायु को वश में करने के लिए यम का अनुष्ठान अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा योगी अस्थिर हो जाता है ॥ २२ ॥

अहिंसनं सत्यसुवाक्यसुप्रियमस्तेयभावं कुरुते वसिष्ठवत् ।
सुब्रह्मचर्यं सुदृढार्ज्जवं सदा क्षमाधृतिं सेवसुसूक्ष्मवायुनः ॥ २३ ॥
तथा मिताहारमसंशयं मनः शौचं प्रपञ्चार्थविवर्जनं प्रभो ।
करोति यः साधकचक्रवर्ती वाद्योत्सवाज्ञानविवर्जनं[3] सदा ॥ २४ ॥

प्रथम यम अहिंसा है, दूसरा सत्य और प्रिय वाक्य है, तीसरा अस्तेय 'अदत्तानामुपादानम्' है । साधक को इन्हें वशिष्ठ के समान संयम करना चाहिए । चौथा ब्रह्मचर्य, पाँचवा अत्यन्त ऋजुता, छठवाँ क्षमा, सातवाँ धैर्य, आठवाँ सुसूक्ष्मवायु की सेवा (प्राणायाम), नवाँ मिताहार का सेवन, दसवाँ मन में किसी प्रकार का संशय न आने देना, ग्यारहवाँ शौच, बारहवाँ प्रपञ्चार्थ का विवर्जन—ये द्वादश संख्या वाले यम हैं । जो इनका अनुष्ठान करता है, वह साधक चक्रवर्ती है । इसके अतिरिक्त उस साधक को वाद्य, उत्सव तथा अज्ञान का त्याग करना चाहिए ॥ २३-२४ ॥

---

१. यमाय—क० । २. त्वहङ्कृतम्—क० ।
३. वाद्योत्सवम्—क० ।

वशी यमद्वादशसंख्ययेति करोति चाष्टाङ्गफलार्थसाधनम् ।
वरानना श्रीचरणारविन्दं [१]सत्त्वादशाच्छन्नत्रिनेत्रगोचरम् ॥ २५ ॥
तपश्च सन्तोषमनस्थिरं सदा आस्तिक्यमेवं द्विजदानपूजनम् ।
नितान्तदेवार्चनमेव भक्त्या सिद्धान्तशुद्धश्रवणं च ह्रीर्मतिः ॥ २६ ॥
जपोहुतं तर्पणमेव सेवनं तद्भावनं चेष्टनमेव नित्यम् ।
इतीह शास्त्रे नियमाश्चतुर्दशा भक्तिक्रियामङ्गलसूचनानि ॥ २७ ॥

जितेन्द्रिय साधक को योग के अष्टाङ्ग के फल की प्राप्ति के लिए उसके साधन भूत १२ यमों का अभ्यास करना चाहिए । ऐसा करने से वरानना महाश्री के चरणारविन्द उसके नेत्र के सामने प्रकट हो जाते हैं ॥ २५ ॥

१. तप, २. संतोष, ३. मन की स्थिरता, ४. आस्तिक्य, ५. द्विजदम्पती की पूजा, ६. मन लगाकर देवार्चन, ७. भक्तिपूर्वक शुद्ध सिद्धान्त का श्रवण, ८. लज्जा, ९. बुद्धि, १०. जप, ११. होम, १२. तर्पण, १३. भगवान् की सेवा और १४. भावनापूर्वक चेष्टा—ये १४ नियम हैं, जो शास्त्र प्रतिपादित हैं और भक्ति, क्रिया तथा मङ्गल के सूचक हैं ॥ २६-२७ ॥

पूर्वोक्तयोन्यासनमेव सत्यं भेकासनं बद्धमहोत्पलासनम् ।
वीरासनं भद्रसुभकासनं[२] च पूर्वोक्तमेवासनमाशु कुर्यात् ॥ २८ ॥
सर्वाणि तन्त्राणि कृतानि नाथ सूक्ष्माणि[३] नालं वशहेतुना मया ।
तथापि मूढो यदि वायुपान[४]माहत्य योनौ भ्रमतीह पातकी ॥ २९ ॥

पूर्व में कहा गया योन्यासन भेकासन, बद्धपद्मासन, वीरासन, भद्रासन, सुभकासन तथा अन्य पूर्वोक्त आसनों को करना चाहिए । हे नाथ ! मैंने सभी सूक्ष्म तन्त्रों का निर्माण किया, किन्तु कोई भी मन को वश में करने के लिए समर्थ नहीं है, फिर भी मूर्ख व पापी वह है जो वायु पान को छोड़कर ८४ लक्ष योनियों में भटकता रहता है ॥ २८-२९ ॥

प्राणानिलानन्दवशेन मत्तो गजेन्द्रगामी[५] पुरुषोत्तमं[६] स्मृतम् ।
तस्यैव[७] सेवानिपुणो भवेद्वशी ब्रह्माण्डलोकं परिपाति यो बली ॥ ३० ॥
वदामि देवादिसुरेश्वर प्रभो सूक्ष्मानिलं प्राणवशेन धारयेत् ।
सिद्धो भवेत् साधकचक्रवर्ती सर्वान्तरस्थं परिपश्यति प्रभुम् ॥ ३१ ॥

जो प्राण वायु के आनन्द के वश में हो कर मस्ती में गजेन्द्र के समान चलता है वही पुरुषोत्तम है । ब्रह्माण्ड लोक का परिपालन करने वाला, महाबलवान् वशी परमात्मा उसी की सेवा सर्वोत्तम मानता है ॥ ३०॥

हे देवादि सुरेश्वर ! हे प्रभो ! मैं कहती हूँ कि सूक्ष्मवायु को अपने प्राण द्वारा धारण

---

१. सत्वादशाब्दमतिनेत्रगोचरम्—क० । २. भद्रसु भद्रकासनम्—क० ।
३. सूक्ष्मानिलानाम्—क० । ४. नाहत्य योनौ—क० ।
५. गजेन्द्र इव गच्छति, तच्छीलो गजेन्द्रगामी, ताच्छील्ये णिनिः ।
६. पुरुषोत्तमः स्मृतः—क० । ७. तस्यैवमेवानिपुणो—मूले ।

करे । ऐसा साधक साधन चक्रवर्ती तथा सिद्ध हो जाता है और सभी की अन्तरात्मा में परमात्मा प्रभु को देखता है ॥ ३१ ॥

आनन्दभैरव उवाच

वद कान्ते महाब्रह्मज्ञानं सर्वत्र शोभनम् ।
येन वायुवशं कृत्वा खेचरो भूभृतां पतिः ॥ ३२ ॥
साधको ब्रह्मरूपी स्यात् ब्रह्मज्ञानप्रसादतः ।
ब्रह्मज्ञानात् परं ज्ञानं कुत्रास्ति वद सुन्दरि ॥ ३३ ॥

श्री आनन्दभैरव ने कहा—हे कान्ते ! अब सर्वत्र शोभा देने वाले उस महा ब्रह्मज्ञान को कहिए, जिससे साधक वायु को अपने वश में कर राजाधिराज बन जाता है । जिस ब्रह्मज्ञान की कृपा से ब्रह्मज्ञान द्वारा ब्रह्मरूप हो कर साधक पर ज्ञान प्राप्त कर लेता है, हे सुन्दरि ! ऐसा ज्ञान कहाँ प्राप्त होता है ॥ ३२-३३ ॥

आनन्दभैरवी उवाच

शृणुष्व योगिनां नाथ धर्मज्ञो ब्रह्मसञ्ज्ञक[१] ।
अज्ञानध्वान्तमोहानां निर्मलं ब्रह्मसाधनम् ॥ ३४ ॥
ब्रह्मज्ञानसमो धर्मो नान्यधर्मो विधीयते ।
यदि[२] ब्रह्मज्ञानधर्मी स सिद्धो नात्र संशयः ॥ ३५ ॥

श्री आनन्दभैरवी ने कहा—आप धर्मज्ञ हैं । अतः हे योगेश्वर ! हे ब्रह्म संज्ञा वाले ! अज्ञान रूपी अन्धकार से मोहित होने वालों के लिए ब्रह्मसाधन अत्यन्त निर्मल मार्ग है । ब्रह्मज्ञान के धर्म के समान अन्य धर्म का कहीं कोई विधान नहीं प्राप्त होता । यदि साधक ब्रह्मज्ञान का धर्मवेत्ता हो गया तो वह सिद्ध है इसमें संशय नहीं ॥ ३४-३५ ॥

कोटिकन्याप्रदानेन कोटिजापेन किं फलम् ।
ब्रह्मज्ञानसमो धर्मो नान्यधर्मो विधीयते ॥ ३६ ॥
सरोवरसहस्रेण कोटिहेमाचलेन च ।
कोटिब्राह्मणभोज्येन कोटितीर्थेन किं फलम् ॥ ३७ ॥

करोड़ों कन्यादान से, करोड़ों संख्या के जप से क्या फल है, जब कि ब्रह्मज्ञान की बराबरी करने वाला कोई अन्य धर्म नहीं है । हजारों तीर्थों में करोड़ों सुवर्ण पर्वत से, करोड़ों ब्राह्मण के भोजन से, तथा करोड़ों तीर्थों से क्या फल है, जबकि ब्रह्मज्ञान सबसे श्रेष्ठ है ॥ ३६-३७ ॥

---

१. ब्रह्मसाधक—इति क० पुस्तके पाठः।

२. गयायां पिण्डदानेन वाराणस्यां मृतेन किम् । किं कुरुक्षेत्रदानेन प्रयागे वपनं यदि ॥
अश्वमेधसहस्रेण राजसूयशतेन किम् । ब्रह्मज्ञानसमो धर्मो नान्यधर्मो विधीयते ॥—क०।

कामरूपे महापीठे साधकैर्लभ्यते यदि ।
ब्रह्मज्ञानसमो धर्मो नान्यधर्मो विधीयते ॥ ३८ ॥
ब्रह्मज्ञानं तु द्विविधं प्राणायामजमव्ययम् ।
भक्तिवाक्यं शब्दरसं स्वरूपं ब्रह्मणः पथम्[१] ॥ ३९ ॥
प्राणायामं तु द्विविधं सुगर्भञ्च निगर्भकम् ।
जपध्यानं सगर्भं तु तदा[२] युक्तं निगर्भकम् ॥ ४० ॥
अव्यया[३]लक्षणाक्रान्तं प्राणायामं परात् परम् ।
ब्रह्मज्ञानेन जानाति साधको विजितेन्द्रियः ॥ ४१ ॥

कामरूप महापीठ में साधक को भले ही लाभ प्राप्त हो जावे, फिर भी ब्रह्मज्ञान के समान कोई अन्य धर्म का विधान नहीं है । ब्रह्मज्ञान दो प्रकार का है—एक अव्यय प्राणायाम जन्य है तथा दूसरा भक्ति वाक्य जो शब्द रस से परिप्लुत ब्रह्म का स्वरूप है । प्राणायाम भी दो प्रकार का है—पहला सुगर्भ तथा दूसरा अगर्भ । मन्त्र, जप, ध्यान सहित प्राणायाम सगर्भ है । बिना जप ध्यान के जो प्राणायाम है वह अगर्भ है । अव्ययालक्षण से आक्रान्त प्राणायाम सबसे श्रेष्ठ है । जितेन्द्रिय साधक ब्रह्मज्ञान होने पर उसका ज्ञान कर पाता है ॥ ३८-४१ ॥

तत्प्रकारद्वयं नाथ [४]मालावृत्तिं जपक्रमम् ।
मालावृत्ति[५]द्वादशकं जपक्रमं तु षोडश ॥ ४२ ॥
नासिकायां महादेव लक्षणत्रयमनुत्तमम्[६] ।
पूरकं कुम्भकं तत्र रेचकं देवतात्रयम् ॥ ४३ ॥
एतेषामप्यधिष्ठाने ब्रह्मविष्णुशिवाः प्रजाः ।
त्रिवेणी सङ्गमे यान्ति सर्वपापापहारकाः ॥ ४४ ॥

उस प्राणायाम के भी दो भेद है—पहला मालावृत्ति तथा दूसरा जपक्रम । मालावृत्ति में द्वादश संख्या तथा जपक्रम में षोडश संख्या होती हैं । हे महादेव ! नासिका में प्राणायाम के तीन लक्षण हैं—पहला पूरक, दूसरा कुम्भक तथा तीसरा रेचक है । इनके भी तीन देवता हैं । ब्रह्मा, विष्णु तथा सदाशिव इन प्राणायामों के अधिष्ठातृ देवता हैं । जिस प्रकार प्रजा अपने समस्त पापों को विनष्ट करने के लिए त्रिवेणी सङ्गम में जाती है, उसी प्रकार साधक को इस त्रिवेणी में जाना चाहिए ॥ ४२-४४ ॥

योगिनां सूक्ष्मतीर्थानि

ईडा च भारती गङ्गा पिङ्गला यमुना मता ।
ईडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्ना च सरस्वती ॥ ४५ ॥

योगियों के शरीर में ईडा भागीरथी गङ्गा है । पिङ्गला यमुना है । ईडा और पिङ्गला के मध्य में सुषुम्ना भारती सरस्वती हैं ॥ ४५ ॥

---

१. पदम्—क० ।
२. तदयुक्तम्—क० ।
३. अव्ययलक्षणाक्लान्तम्—क० ।
४. मालावर्ति—क० ।
५. मात्रावर्ति—क० ।
६. लक्षणत्रयमुत्तमम्—क० ।

त्रिवेणीसङ्गमो यत्र तीर्थराजः स उच्यते ।
त्रिवेणीसङ्गमे वीरश्चालयेत्तान् पुनः पुनः ॥ ४६ ॥
सर्वपापाद् विनिर्मुक्तः सिद्धो भवति नान्यथा ।
पुनः पुनः [१]भ्रामयित्वा महातीर्थे निरञ्जने ॥ ४७ ॥
वायुरूपं महादेवं सिद्धो भवति नान्यथा ।
चन्द्रसूर्यात्मिकामध्ये वह्निरूपे महोज्ज्वले ॥ ४८ ॥

वहाँ जहाँ त्रिवेणी का सङ्गम है उसे तीर्थराज कहा जाता है । यहाँ इस त्रिवेणी सङ्गम में साधक ईडा, पिङ्गला और सुषुम्ना का बारम्बार सञ्चालन करे । इस माया रहित महातीर्थ में बारम्बार इन तीन नाडियों का संचालन करने वाला साधक सभी प्रकारों के पाप से मुक्त हो जाता है और कोई अन्य उपाय नहीं है । चन्द्रात्मक नाडी ईडा, सूर्यात्मक नाडी पिङ्गला, इनके मध्य में रहने वाली अग्निस्वरूपा, महोज्वला सुषुम्ना में वायु स्वरूप महादेव का ध्यान करे, यही सिद्धि का उपाय है और कोई अन्य उपाय नहीं है ॥ ४६-४८ ॥

ध्यात्वा कोटि(रवि)करं कुण्डलीकिरणं वशी ।
त्रिवारभ्रमणं वायोरुत्तमाधममध्यमाः ॥ ४९ ॥
यत्र यत्र गतो वायुस्तत्र तत्र त्रयं त्रयम् ।
इडादेवी च चन्द्राख्या सूर्याख्या पिङ्गला तथा ॥ ५० ॥
सुषुम्ना जननी मुख्या सूक्ष्मा पङ्कजतन्तुवत् ।
सुषुम्ना मध्यदेशे च वज्राख्या नाडिका शुभा ॥ ५१ ॥

करोड़ों सूर्य के समान देदीप्यमान कुण्डली की किरण का ध्यान कर तीन बार वायु का संचालन करे तो उत्तम, मध्यम तथा अधम प्राणायाम होता है ? जहाँ जहाँ वायु जाती है, वहाँ ये तीनों नाडियाँ भी जाती हैं । इडा नाडी चन्द्रा है, पिङ्गला सूर्या है, इन दोनों के मध्य में सुषुम्ना जननी मुख्या है और पङ्कज तन्तु के समान वह सूक्ष्म है । सुषुम्ना के मध्य में कल्याणकारिणी वज्रा नाम की नाडी है ॥ ४९-५१ ॥

तत्र सूक्ष्मा चित्रिणी च तत्र श्रीकुण्डलीगतिः ।
तया सङ्ग्राह्य तं नाड्या षट्पद्मं सुमनोहरम् ॥ ५२ ॥
ध्यानगम्यापरं ज्ञानं षट्शरं शक्तिसंयुतम् ।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः ॥ ५३ ॥
ततः परशिवो नाथ षट्शिवाः परिकीर्तिताः ।
डाकिनी राकिणी शक्तिर्लाकिनी काकिनी तथा ॥ ५४ ॥
साकिनी[२] तत्र षट्पद्मे शक्तयः षट्शिवान्विताः ।
मूलाधारं स्वाधिष्ठानं मणिपूरं सुपङ्कजम् ॥ ५५ ॥

---

१. भावयित्वा—क० ।

२. शाकिनी हाकिनी तत्र षट्पद्मे षट्शिवात्मिका—क० ।

उस वज्रा में अत्यन्त सूक्ष्मा चित्रिणी है । उसी में से कुण्डली जाती है । वह कुण्डलिनी उस नाडी से अत्यन्त मनोहर षट् पद्मों को ग्रहण कर चलती है । उन षट् पद्मों पर शक्ति से संयुक्त ६ शिव निवास करते हैं । ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव तथा परशिव ये ६ शिव हैं । डाकिनी, राकिणी, शक्ति, लाकिनी, काकिनी तथा साकिनी ये षट् पद्मों पर षट् शिव के साथ निवास करने वाली उनकी शक्तियाँ हैं ॥ ५२-५५ ॥

अनाहतं [१]विशुद्धाख्यमाज्ञाचक्रं महोत्पलम् ।
आज्ञाचक्रादिमध्ये तु चन्द्रं शीतलतेजसम् ॥ ५६ ॥
प्रपतन्तं मूलपद्मे तं ध्यात्वा [२] पूरकानिलम् ।
यावत्कालं स्थैर्यगुणं तत्कालं कुम्भकं स्मृतम् ॥ ५७ ॥
पिङ्गलायां प्रगच्छन्तं रेचकं तं वशं नयेत् ।
अङ्गुष्ठैकपर्वणा [३] च दक्षनासापुटं वशी ॥ ५८ ॥
धृत्वा [४] षोडशवारेण प्रणवेन जपं चरेत् ।
एतत्पूरकमाकृत्य कुर्यात्कुम्भकमद्भुतम् [५] ॥ ५९ ॥

मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्र ये ६ महाचक्र रूप पद्म हैं । आज्ञाचक्र के आदि से लेकर मध्य के पद्मों में होते हुए शीतल तेज वाले चन्द्रमा को नीचे के मूलाधार में आते हुए ध्यान करे तथा पूरक प्राणायाम करे । जब तक वायु को खींचकर स्थिर रखे तब तक कुम्भक प्राणायाम कहा जाता है ॥ ५६-५७ ॥

साधक पिङ्गला में जाते हुए रेचक को अपने वश में करे । अंगूठे के किसी एक पर्व से दाहिने नासिका का छिद्र पकड़कर सोलह बार प्रणव का जप करते हुए वायु को खींचे । यह पूरक प्राणायाम है । इसके बाद अत्यन्त अद्भुत कुम्भक प्राणायाम करे ॥ ५८-५९॥

चतुःषष्टिप्रणवेन जपं ध्यानं समाचरेत् ।
कुम्भकानन्तरं नाथ रेचकं कारयेद् बुधः ॥ ६० ॥
द्वात्रिंशद्वारजापेन मूलेन प्रणवेन वा ।
द्विनासिकापुटं बद्ध्वा कुम्भकं सर्वसिद्धिदम् ॥ ६१ ॥

चौसठ बार प्रणव का जप तथा ध्यान करते हुए वायु को रोके । हे नाथ ! इस प्रकार कुम्भक प्राणायाम करने के बाद बुद्धिमान् साधक रेचक प्राणायाम करे । यह प्राणायाम बत्तीस बार प्रणव का जप करते हुए अथवा ध्यान करते हुए करना चाहिए । कुम्भक प्राणायाम के समय दोनों नासिकाच्छिद्र बन्द रखे, यह प्राणायाम सब प्रकार की सिद्धियों को देने वाला है ॥ ६०-६१ ॥

---

१. आनाख्यं षण्मनोहरम्—क० । २. ध्यायेत्—क० ।
३. अङ्गुष्ठस्य एकं पर्व इति षष्ठीतत्पुरुषगर्भः कर्मधारयसमासः ।
४. ध्यात्वा—क० । ५. मुत्तमम्—क० ।

कनिष्ठानामिकाभ्यां तु वाममङ्गुष्ठदक्षिणम् ।
पुनर्दक्षिणनासाग्रे[1] वायुमापूरयेद् बुधः ॥ ६२ ॥
मनुषोडशजापेन[2] कुम्भयेत् [3]पूर्ववत्ततः ।
ततो वामे रेचकञ्च द्वात्रिंशत्प्रणवेन तु ॥ ६३ ॥

पुनः कनिष्ठा और अनामिका से बायें नासिका छिद्र को बन्द कर दाहिने हाथ के अंगूठे से दाहिना नासिका पुट पकड़े हुए दाहिनी नासिका से वायु को पूर्ण कर पूरक करे । तदनन्तर १६ बार मन्त्र का जप करते हुए पूर्ववत् कुम्भक करें, फिर बत्तीस बार प्रणव का जप करते हुए बायीं नासिका से रेचक प्राणायाम करे ॥ ६२-६३ ॥

पुनर्वामेन सम्पूर्य षोडशप्रणवेन तु ।
पुनर्दक्षिणनासाग्रे द्वादशाङ्गुलमानतः ॥ ६४ ॥
कुम्भयित्वा रेचयेद्यः सर्वत्र पूर्ववत् प्रभो ।
प्राणायामत्रयेणैव प्राणायामैकमुत्तमम् ॥ ६५ ॥
द्विवारं मध्यमं प्रोक्तं मध्यमं चैकवारकम् ।
त्रिकालं कारयेद्यत्नात् अनन्तफलसिद्धये ॥ ६६ ॥

इसके बाद फिर सोलह प्रणव का जप कर बाईं नासिका से वायु खींचे फिर दाहिनी नासिका से बारह अंगुल पर्यन्त वायु को रोक कर हे प्रभो ! पूर्ववत् रेचक करे (द्र० . २५, ६०-६१) । तीन बार पूरक, कुम्भक, रेचक प्राणायाम से एक उत्तम प्राणायाम होता है । केवल दो बार का (पूरक कुम्भक) प्राणायाम मध्यम तथा केवल एक बार मात्र पूरक प्राणायाम अधम कहा जाता है । किन्तु साधक को अनन्त फल की सिद्धि के लिए तीन बार वाला उत्तम प्राणायाम यत्नपूर्वक करना चाहिए ॥ ६४-६६ ॥

प्रातर्मध्याह्नकाले च सायह्ने नियतः शुचिः ।
जपध्यानादिभिर्मु(र्यु)क्तं सगर्भं यः करोति हि ॥ ६७ ॥
मासात् सल्लक्षणं प्राप्य षण्मासे पवनासनः ।
तालुमूले समारोप्य जिह्वाग्रं योगसिद्धये ॥ ६८ ॥

साधक को प्रातः काल, मध्याह्न काल तथा सायङ्काल, नियमपूर्वक पवित्र हो कर प्राणायाम करना चाहिए । जो जप ध्यान से युक्त सगर्भ प्राणायाम करता है, एक महीने के बाद उसे प्राणायाम सिद्धि के लक्षण मालुम पड़ने लगते हैं । इसके बाद योगसिद्धि प्राप्त करने के लिए वायु पान करना चाहिए । जिह्वा के अग्रभाग को तालु के मूल में स्थापित करना चाहिए ॥ ६७-६८ ॥

त्रिकाले सिद्धिमाप्नोति प्राणायामेन षोडश ।
सदाभ्यासी वशीभूत्वा पवनं[4] जनयेत् पुमान् ॥ ६९ ॥

---

१. सम्पूरयेत् ततः—क० । २. मनोः षोडशजापेन—क० ।
३. पूरयेत्ततः—क० । ४. पवनः पाचयेत्—क० ।

षण्मासाभ्यन्तरे सिद्धिरिति योगार्थनिर्णयः ।
योगेन लभ्यते सर्वं योगाधीनमिदं जगत् ॥ ७० ॥

योगाभ्यास प्रशंसा—१६-१६ प्राणायाम तीनों काल में करने से साधक सिद्ध हो जाता है । इस प्रकार जितेन्द्रिय हो कर सदाभ्यास करने के बाद मनुष्य वायु पान करे । ऐसा करने से ६ महीने में सिद्धि प्राप्त हो जाती है । यह योगशास्त्र का निर्णय है । क्योंकि योग से सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है, यह सारा जगत् योग के आधीन है ॥ ६९-७० ॥

तस्माद् योगं परं कार्यं यदा योगी तदा सुखी ।
बिना योगं न सिद्धेऽपि कुण्डली परदेवता ॥ ७१ ॥
अथ योगं सदा कुर्यात् ईश्वरीपाददर्शनात् ।
योगयोगाद् भवेन्मोक्ष इति योगार्थनिर्णयः ॥ ७२ ॥

इसलिए सर्वश्रेष्ठ योग सदैव करना चाहिए । इससे योगी सर्वदा सुखी रहता है । बिना योग के परदेवता कुण्डली सिद्ध नहीं होती । यह योग ईश्वर पद प्राप्ति कराने वाला है । इस कारण सर्वदा योग करना चाहिए । योग से युक्त होने पर ही मोक्ष होता है—ऐसा योग के अर्थ का निर्णय है ॥ ७१-७२ ॥

मन्त्रसिद्धीच्छुको यो वा सैव योगं सदाभ्यसेत् ।
मात्रावृत्तिं प्रवक्ष्यामि काकचञ्चुपुटं तथा ॥ ७३ ॥
सूक्ष्मवायु भक्षणं तत् चन्द्रमण्डलचालनम् ।
त्र्यावृत्तिञ्चैव[१] विविधं तन्मध्ये उत्तमं त्रयम् ॥ ७४ ॥

जो मन्त्र के सिद्धि की इच्छा रखता हो उसे योगाभ्यास सदैव करते रहना चाहिए । अब (प्राणायाम के अन्य प्रकार) मालावृत्ति (द्र० . २५ . ४२) तथा काकचञ्चुपुट कहती हूँ । मालावृत्ति वह है जिसमें सूक्ष्म वायु का भक्षण किया जाता है, वायु भक्षण से चन्द्रमण्डल का संचालन होता है । उसकी तीन आवृत्तियाँ हैं तथा प्रकार अनेक हैं, उसमें भी तीन उत्तम हैं ॥ ७३-७४ ॥

वर्णं सचन्दं संयुक्तं मूलं त्र्यक्षरमेव वा ।
जानुजङ्घामध्यदेशे तत्तत्सर्वासनस्थितः ॥ ७५ ॥
वामहस्ततालुमूलं भ्रामयेद् द्वादशक्रमात् ।
द्वादशक्रमशः कुर्यात् प्राणायामं हि पूर्ववत् ॥ ७६ ॥

१ . अनुस्वार युक्त वर्ण, मूलमन्त्र का जप, अथवा त्र्यक्षर (ॐकार) का जप ये तीन उत्तम हैं । जानु, जंघा के मध्य में जो जो आसन है, उनमें से किसी एक पर स्थित होकर इसका जप करना चाहिए ॥ ७५ ॥

२ . बायाँ हाथ तथा तालु का मूल भाग क्रमशः बारी बारी से घुमावें और इसी क्रम से बायें से दाहिनें तथा दाहिने से बायें १२ प्राणायाम भी करे ॥ ७६ ॥

---

१ . मात्रावृत्तिञ्च—क० ।

मात्रावृत्तिक्रमेणैव जपमष्टसहस्रकम् ।
प्राणायामद्वादशैकैर्भवेत्तदष्टसहस्रकम् ।
कृत्वा सिद्धीश्वरो नाम निष्पापी चैकमासतः ॥ ७७ ॥
त्रिसन्ध्यं कारयेद्यत्नाद् ब्रह्मज्ञानी निरञ्जनः ।
भवतीति न सन्देहः सदाभ्यासी हि योगिराट् ॥ ७८ ॥

३. मालावृत्ति का क्रम से आठ हजार जप करना चाहिए । यह आठ हजार जप उक्त १२ प्राणायाम को करते हुए करे, ऐसा एक मास करने से साधक सिद्धिश्वर बन जाता है तथा निष्पाप हो जाता है । इस क्रिया को तीनों सन्ध्या में करने से साधक माया से रहित ब्रह्मज्ञानी हो जाता है तथा सदैव अभ्यास करने से योगिराज बन जाता है इसमें संदेह नहीं ॥ ७७-७८ ॥

योगाभ्यासाद् भवेन्मुक्तो योगाभ्यासात् कुलेश्वरः ।
योगाभ्यासाच्च संन्यासी ब्रह्मज्ञानी निरामयः[1] ॥ ७९ ॥
सदाभ्यासाद् भवेद्योगी सदाभ्यासात् परन्तपः ।
सदाभ्यासात् पापमुक्तो [2]विधिविद्याशकृत् शकृत् ॥ ८० ॥
काकचञ्चुपुटं कृत्वा पिबेद्वायुमहर्निशम् ।
सूक्ष्मवायुक्रमेणैव सिद्धो भवति [3]योगिराट् ॥ ८१ ॥

योगिनां जपनियमः

बद्धपद्मासनं कृत्वा योगिमुद्रां विभाव्य च ।
मूले सम्पूरयेद् वायुं काकचञ्चुपुटेन तु ॥ ८२ ॥

योगाभ्यास से साधक मुक्त हो जाता है । योगाभ्यास से कुलेश्वर (महाशाक्त) हो जाता है, योगाभ्यास से सन्यासी ब्रह्मज्ञानी और नीरोग हो जाता है । सदैव योग के अभ्यास से योगी, सदैव योगाभ्यास से उत्तम तपस्वी अथवा शत्रुहन्ता तथा सदैव योगाभ्यास से वह निष्पाप हो जाता है । काक के समान चञ्चुपुट बना कर दिन रात वायु पान करे । सूक्ष्म वायु के क्रम से साधक सिद्ध तथा योगिराज बन जाता है । पद्मासन लगाकर योगीमुद्रा प्रदर्शित कर मूलाधार में काकचञ्चुपुट से वायु को पूर्ण करे ॥ ७९-८२ ॥

मूलमाकुञ्च्य सर्वत्र प्राणायामे मनोरमे ।
प्रबोधयेत् कुण्डलिनीं[4] चैतन्यां चित्स्वरूपिणीम् ॥ ८३ ॥
ओष्ठाधरकाकतुलं[5] दन्ते दन्ताः प्रगाढकम् ।
बद्ध्वा[6] वा यद् यजेद् योगी जिह्वां नैव प्रसारयेत् ॥ ८४ ॥
राजदन्तयुगं नाथ न स्पृशेज्जिह्वया सुधीः ।
काकचञ्चुपुटं कृत्वा बद्ध्वा वीरासने[7] स्थितः ॥ ८५ ॥

---

१. निर्गता आमया आधिव्याध्यादयो यस्य सः, बहुव्रीहिसमासः ।
२. विधिविद्यात् प्रकाशकृत्—क० ।
३. नान्यथा—क० ।
४. कुण्डलिनी चैतन्या चेन्न महासुखी—क० ।
५. ओष्ठाधारं काकतुल्यम्—क० ।
६. बद्धराजद्विजो योगी जिह्वां नैव—क० ।
७. बद्धवीरासनस्थितः—क० ।

तदनन्तर मूलाधार को संकुचित कर उत्तम प्राणायाम से चैतन्या चित्स्वरूपिणी कुण्डलिनी को उद्‌बुद्ध करे। कौवे के तुण्ड के समान अपने ओष्ठ और अधर को तथा दाँतों को दाँत पर प्रगाढ़ रूप से बाँधकर स्थापित करे। जीभ को न प्रसारे, इस प्रकार काकचञ्चुपुट से वायु पान करे। हे नाथ! सुधी साधक गजदन्त (आगे के प्रधान दो दाँत) जिह्वा से स्पर्श न करे। वीरासन पर स्थित होकर काक के चञ्चुपुट के समान ओष्ठाधर को स्थापित करे ॥ ८३-८५ ॥

तालुजिह्वामूलदेशे चान्यजिह्वां प्रयोजयेत्।
तदुद्भूतामृतरसं काकचञ्चुपुटे पिबेत् ॥ ८६ ॥
यः काकचञ्चुपुटके सूक्ष्मवायुप्रवेशनम्।
करोति स्तम्भनं योगी सोऽमरो भवति ध्रुवम्[1] ॥ ८७ ॥

तालु तथा जिह्वा के मूल स्थान में अन्य जिह्वा को संयुक्त करे और उससे गिरते हुए अमृत रस को काकचञ्चुपुट में पान करे। जो काकचञ्चुपुट में सूक्ष्म वायु का प्रवेश कर उसका संस्तम्भन करता है वह योगी निश्चित रूप से अमर हो जाता है ॥ ८६-८७ ॥

एतद्योगप्रसादेन जीवन्मुक्तस्तु साधकः।
जराव्याधि[2]महापीडारहितो भवति क्षणात् ॥ ८८ ॥
अथवा मात्रया कुर्यात् षोडशस्वरसम्पुटम्।
स्वमन्त्रं प्रणवं वापि जप्त्वा योगी भवेन्नरः ॥ ८९ ॥
अथवा[3] वर्णमालाभिः पुटितं मूलमन्त्रकम्।
मालासंख्याक्रमेणैव जप्त्वा कालवशं नयेत् ॥ ९० ॥

इस योग की क्रिया के सिद्ध हो जाने पर साधक जीवन्मुक्त हो जाता है और क्षण भर में जरा व्याधि तथा महापीड़ा से रहित हो जाता है। अथवा मातृका वर्णों से षोडश स्वर का सम्पुट करे, अथवा अपने मन्त्र को अथवा प्रणव को सम्पुटित करे ऐसा जप करने से मनुष्य योगी हो जाता है। अथवा वर्णमाला से मूलमन्त्र को सम्पुटित करे, वर्णमाला के संख्या के क्रम से मूलमन्त्र को सम्पुटित करने से साधक काल को अपने वश में कर लेता है ॥ ८८-९० ॥

वदने नोच्चरेद्वर्णं वाञ्छाफलसमृद्धये।
केवल जिह्वया जप्यं कामनाफलसिद्धये ॥ ९१ ॥
नाभौ सूर्यो वह्निरूपी ललाटे चन्द्रमास्तथा।
अग्निशिखास्पर्शनेन गलितं चन्द्रमण्डलम् ॥ ९२ ॥
तत्परामृतधाराभिः दीप्तिमाप्नोति भास्करः।
सन्तुष्टः पाति सततं पूरकेण च योगिनाम् ॥ ९३ ॥

---

१. सूक्ष्मवायुक्रमेणैव सिद्धो भवति योगिराट्—ग० ।
२. जरा च व्याधिश्च महापीडा च, ताभिः रहितः । ३. अथर्व—ग० ।

मनोरथ फल की समृद्धि के लिए मुख से वर्णों का (वैखरी) उच्चारण न करे, कामना फल सिद्धि के लिए केवल जिह्वा से ही जप करे । नाभि में अग्निरूप से सूर्य का निवास है, ललाट में चन्द्रमा का निवास है । प्राणवायु की अग्नि शिखा के स्पर्श से चन्द्रमण्डल द्रवित होता है । उस चन्द्र मण्डल से चूने वाली अमृतधारा से सूर्य प्रकाशित होता है । जब वह संतुष्ट रहता है तो पूरक से योगी की रक्षा करता है ॥ ९१-९३ ॥

ततः पूरकयोगेन अमृतं श्रावयेत् सुधीः ।
कुर्यात्प्रज्वलितं वह्निं रेचकेन वराग्निना ॥ ९४ ॥
अथ मौनजपं कृत्वा ततः सूक्ष्मानिलं मुदा ।
सहस्रारे गुरुं ध्यात्वा योगी भवति भावकः ॥ ९५ ॥
प्राणवायुस्थिरो यावत् तावन्मृत्युभयं कुतः ।
ऊर्ध्वरिता भवेद्यावत्तावत्कालभयं कुतः ॥ ९६ ॥
यावद्बिन्दुः स्थितो देहे विधुरूपी सुनिर्मलः ।
सदागलत्सुधाव्याप्तस्तावन्मृत्युभयं कुतः ॥ ९७ ॥

तदनन्तर पूरक प्राणायाम के द्वारा सुधी साधक अमृत को गिरावे और रेचक रूप श्रेष्ठ अग्नि से वह्नि को प्रज्वलित करे । इसके बाद मौन हो कर जप करे फिर सूक्ष्म वायु को सहस्रार चक्र में ले जाकर गुरु का ध्यान करे, ऐसा करने से साधक योगी हो जाता है । जब तक प्राणवायु स्थिर है तब तक भला मृत्यु का भय किस प्रकार हो सकता है । जब तक ऊर्ध्वरिता है तब तक भला काल का भय किस प्रकार हो सकता है ॥ ९४-९६ ॥

जब तक चन्द्रमण्डल से गिरे हुए अमृत से व्याप्त वीर्य शरीर में स्थित है, तब तक किस प्रकार मृत्यु का भय हो सकता है ॥ ९७ ॥

आनन्दभैरव उवाच

वद कान्ते कुलानन्दरसिके ज्ञानरूपिणि ।
सर्वतेजोऽग्रदेवेन येन सिद्धो भवेन्नरः ॥ ९८ ॥
महामृता खेचरी च सर्वतत्त्वस्वरूपिणी[१] ।
कीदृशी शाङ्करीविद्या श्रोतुमिच्छामि तत्क्रियाम् ॥ ९९ ॥
अध्यात्म[२]विद्यायोगेशी कीदृशी भवितव्यता ।
कीदृशी परमा देवी तत्प्रकारं वदस्व मे ॥ १०० ॥

आनन्दभैरव ने कहा—हे कुलानन्दरसिके ! हे ज्ञान स्वरूपिणि ! हे कान्ते ! जिस सर्वगा सर्वतेजोग्र देवता से मनुष्य सिद्ध होता है उसे कहिए । सर्वतत्त्वस्वरूपिणी महामृता खेचरी तथा शाङ्करी विद्या क्या है मैं उसकी क्रिया सुनना चाहता हूँ । समस्त योगों की अधीश्वरी वह अध्यात्म विद्या क्या है ? परमा देवी भवितव्यता क्या है ? उसका प्रकार मुझ से कहिए ॥ ९८-१०० ॥

---

१. सर्वाणि च तानि तत्त्वानि च संवतत्त्वानि, पूर्वकालैकसर्वजरदित्यादिना समासः, तेषां स्वरूपमस्ति यस्यामिति नित्ययोगे इनिः । २. अध्याय—ग० ।

आनन्दभैरवी उवाच

यस्य नाथ मनस्थैर्यं महासत्त्वे सुनिर्मले ।
भक्त्या सम्भावनं यत्र विनावलम्बनं प्रभो ॥ १०१ ॥
यस्या मनश्चित्तवशं स्वमिन्द्रियं
स्थिरा स्वदृष्टिर्जगदीश्वरीपदे ।
न खेन्दुशोगे च विनावलोकनं
वायुः स्थिरो यस्य बिना निरोधनम् ॥ १०२ ॥
त एव मुद्रा विचरन्ति खेचरी पापाद्विमुक्ताः प्रपिबन्ति वायुम् ।
यथा हि बालस्य च तस्य चेष्टी निद्राविहीनाः प्रतियान्ति निद्राम् ॥ १०३ ॥

खेचरी मुद्रा—आनन्दभैरवी ने कहा—हे नाथ ! जो साधक बिना अवलम्बन वाले मन को भक्तिपूर्वक सुनिर्मल महासत्त्व में भक्तिपूर्वक स्थापित कर उसका ध्यान करता है, जगदीश्वर पद में उस भक्ति से मन, चित्त तथा समस्त इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं, आकाश स्थित इन्दु के बिना जो देखने में समर्थ है तथा वायु के निरोध के बिना ही जिसका वायु स्थिर है, वही खेचरी मुद्रा है । पाप से विमुक्त साधक उसी खेचरी मुद्रा में वैसे ही विचरण करता है और वायु का पान करता है जिस प्रकार बालक (विचरण करता है) ॥ १०१-१०३ ॥

शाङ्करी-विद्यानिरूपणम्

पथापथज्ञानविवर्जिता ये धर्मार्थकामाद्धि विहीनमानसाः ।
विनावलम्बं जगतामधीश्वर एवैव मुद्रा विचरन्ति शाङ्करी ॥ १०४ ॥

आध्यात्मनिरूपणम्

ज्ञाने साध्यात्मविद्यार्थं जानाति कुलनायकम् ।
अध्याज्ञाचक्रपद्मस्थं शिवात्मानं सुविद्यया ॥ १०५ ॥
अध्यात्मज्ञानमात्रेण सिद्धो योगी न संशयः ।
षट्चक्रभेदको यो हि अध्यात्मज्ञः स उच्यते ॥ १०६ ॥
अध्यात्मशास्त्रसङ्केतमात्मना मण्डितं शिवम् ।
कोटिचन्द्राकृतिं शान्तिं यो जानाति षडम्बुधे ॥ १०७ ॥

शाङ्करी मुद्रा—हे जगत् के अधीश्वर ! जिन्हें मार्ग कुमार्ग का ज्ञान नहीं है तथा जिनका मन धर्म, अर्थ तथा काम से रहित है, ऐसे लोग जिसमें बिनावलम्ब के विचरण करते हैं, वही शाङ्करी मुद्रा है ॥ १०४ ॥

विमर्श—जिस प्रकार बक निद्राविहीन होकर जगत् के प्रति जागरूक नहीं रहता उसी प्रकार शाङ्करी मुद्रा में योगी हो जाता है । (पथापथज्ञानविवर्जिता-) पथे गतौ इत्यस्मात् कर्तरि पचाद्यच्, पथम् इति सिध्यति, तच्चापथं चेति पथापथे, ताभ्यां विहीनाः ॥ १०४ ॥

अध्यात्म के सहित महाविद्या के लिए ज्ञान सम्पन्न होने पर साधक आज्ञा चक्र रूप पद्म में रहने वाले कुल नायक शिव स्वरूप आत्मा को जान लेता है । ऐसा योगी मात्र

अध्यात्म के ज्ञान से सिद्ध हो जाता है इसमें संशय नहीं । अध्यात्म का ज्ञाता वह है जो षट्चक्र का भेदन करना जानता है । वह षट्चक्र रूप समुद्र में रहने वाले, अध्यात्म शास्त्र के सङ्केत से जानने योग्य, आत्मा से मण्डित, करोड़ों चन्द्रमा के समान शीतल सदाशिव को जान लेता है और अन्ततः वह शान्ति प्राप्त कर लेता है ॥ १०५-१०७ ॥

स ज्ञानी सैव योगी स्यात् सैव देवो महेश्वरः ।
स मां जानाति हे कान्त विस्मयो नास्ति शङ्कर ॥ १०८ ॥
मम सर्वात्मकं रूपं जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
सृष्टिस्थितिप्रलयगं[1] यो जानाति स योगिराट् ॥ १०९ ॥

हे कान्त ! हे सदाशिव ! वही ज्ञानी है । वही योगी है । वही महेश्वर देव है और वही मुझे जानता है इसमें विस्मय नहीं करना चाहिए । स्थावर जङ्गमात्मक सारा जगत् मेरा सर्वात्मक रूप है, जो सृष्टि में उसकी स्थिति में तथा उसके प्रलय काल में भी विद्यमान रहता है, ऐसा जो जानता है, वह योगिराज है ॥ १०८-१०९ ॥

आध्यात्मज्ञाननिरूपणम्

अध्यात्मविद्यां विज्ञाप्य[2] नानाशास्त्रं प्रकाशितम् ।
तच्छास्त्रजालयुग्मा[3] ये तेऽध्यात्मज्ञाः कथं नराः ॥ ११० ॥
त्रिदण्डी स्यात्सदाभक्तो[4] वेदाभ्यासपरः कृती ।
वेदादुद्भवशास्त्राणि त्यक्त्वा मां भावयेद्यदि ॥ १११ ॥

अध्यात्म विद्या को उद्देश्य कर अनेक शास्त्र प्रकाशित किए गए हैं । किन्तु जो उस शास्त्र जाल में उलझ गए हैं वे मनुष्य किस प्रकार अध्यात्म ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं । जो त्रिदण्ड धारण करे सर्वदा मुझ में भक्ति रखे, वेदाभ्यास करे, कृतज्ञ हो, ऐसा पुरुष यदि वेद से उत्पन्न समस्त शास्त्रों का त्याग कर मेरा ध्यान करे, तो वह अध्यात्मज्ञ हो सकता है ॥ ११०-१११ ॥

वेदाभ्यासं समाकृत्य नानाशास्त्रार्थनिर्णयम् ।
समुत्पन्नां महाशक्तिं समालोक्य भजेद्यतिः ॥ ११२ ॥
सर्वत्र व्यापिकां शक्तिं कामरूपां[5] निराश्रयाम् ।
व्यक्ताव्यक्तां स्थिरपदां वायवीं मां भजेद्यतिः ॥ ११३ ॥

वेदाभ्यास का आचरण करते हुए नाना शास्त्रों के अर्थ के निर्णय से उत्पन्न मुझ महाशक्ति को जान कर यति मेरा भजन करे । सब जगह व्यापक रूप से रहने वाली बिना किसी आधार के अधिष्ठित इच्छानुसार रूप धारण करने वाली, व्यक्त तथा अव्यक्त सर्वथा स्थिर मुझ वायवी शक्ति का यति भजन करे ॥ ११२-११३ ॥

---

१. सृष्टिश्च स्थितिश्च प्रलयश्चेति सृष्टिस्थितिप्रलयाः, तान् गच्छति, इति गमेर्डप्रत्ययः ।
२. संगोप्य—क० ।
३. मुग्धा—क० ।
४. सदा भोक्ता—क० ।
५. कालरूपाम—क० ।

यस्या आनन्दमतुलं [१]ज्ञानं यस्य फलाफलम् ।
योगिनां निश्चयज्ञानमेकमेव न संशयः ॥ ११४ ॥
यस्याः प्रभावमात्रेण [२] तत्त्वचिन्तापरो नरः ।
तामेव परमां देवीं सर्पराजसु कुण्डलीम् ॥ ११५ ॥
तामेव वायवीं शक्तिं सूक्ष्मरूपां स्थिराशयाम् ।
आनन्दरसिकां गौरीं ध्यायेत् श्वासनिवासिनीम् ॥ ११६ ॥

जिसके आश्रय में अतुल आनन्द है, जिसमें ज्ञान है, जो फलाफल देने वाली है, जो योगियों में निश्चय ज्ञान देने वाली है, वह तत्त्व एक ही है । जिसके प्रभाव मात्र से मनुष्य तत्त्व की चिन्ता में लग जाता है । सर्पराज पर अधिष्ठित वह परमा देवी कुण्डली वायवीशक्ति हैं, सूक्ष्मस्वरूपा हैं, स्थिर रहने वाली हैं और आनन्द की रसिका हैं । ऐसी श्वास में रहने वाली उस गौरी का ध्यान करे ॥ ११४-११६ ॥

आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तत्त्वदेहे [३] व्यवस्थितम् ।
तस्याभिव्यञ्जकं द्रव्यं योगिभिः परिपीयते ॥ ११७ ॥

आनन्द ही ब्रह्म का स्वरूप हैं, वह तत्त्व साक्षात्कर्ता के देह में निवास करता है । उस आनन्द के अभिव्यञ्जक द्रव्य को योगीजन पान करते हैं ॥ ११७ ॥

तद्द्रव्यस्थां महादेवीं नीलोत्पलदलप्रभाम् ।
मानवीं परमां देवीमष्टादशभुजैर्युताम् ॥ ११८ ॥
कुण्डलीं चेतनाकान्तिं चैतन्यां परदेवताम् ।
आनन्दभैरवीं नित्यां घोरहासां [४] भयानकाम् ॥ ११९ ॥
तामेव परमां देवीं सर्ववायुवशङ्करीम् ।
मदिरासिन्धुसम्भूतां मत्तां रौद्रीं वराभयाम् ॥ १२० ॥
योगिनीं योगजननीं ज्ञानिनां मोहिनीसमाम् [५] ।
सर्वभूत [६]सर्वपक्षस्थितिरूपां महोज्ज्वलाम् ॥ १२१ ॥
षट्चक्रभेदिकां सिद्धिं तासां नित्यां मतिस्थिताम् ।
विमलां निर्मलां ध्यात्वा योगी मूलाम्बुजे यजेत् ॥ १२२ ॥

उन द्रव्यों में रहने वाली, नीलकमल पत्र के समान कान्ति वाली, मन्त्रस्वरूपा, अष्टादश भुजा से युक्त परमा महादेवी ही हैं । उस चैतन्या, चेतना से संयुक्त कान्ति वाली, परदेवतास्वरूपा कुण्डली आनन्दभैरवी नित्य घोर हास करने वाली, भयानक, समस्त वायु मण्डल को अपने वश में करने वाली, मदिरा समुद्र से उत्पन्न मस्ती से युक्त, रुद्र स्वरूपा, वर तथा अभय धारण करने वाली योगिनी, योगीजनों की जननी, ज्ञानियों को

---

१. ज्ञानात्—क० (ज्ञानाज्ञस्य)—क० । २. प्रसाद—क० ।
३. तत्त्व—क० । ४. धीरहासाम्—ग० ।
५. मोहिनीमुमाम्—क० । ३. सर्वभूतेषु सर्वपक्षेषु च या स्थितिः, सा रूपं यस्याः सा ताम् ।

भी मोह के फन्दे में डालने वाली, सब में समभाव से विराजमान, समस्त प्राणियों में तथा समस्त पक्षों में रहने वाली महान् उज्ज्वल स्वरूपा, षट्चक्रों का भेदन करने वाली सिद्धि, नित्या, बुद्धि में स्थित रहने वाली विमला एवं निर्मला का ध्यान कर योगी मूलाधार में उनका यजन करे ॥ ११८-१२२ ॥

एतत्पटलपाठे तु पापमुक्तो विभाकरः।
यथोर्द्ध्वरेता धर्मज्ञो विचरेत् ज्ञानसिद्धये ॥ १२३ ॥
एतत्क्रियादर्शनेन ज्ञानी भवति साधकः।
ज्ञानादेव हि मोक्षः स्यान्मोक्षः समाधिसाधनः ॥ १२४ ॥

इस (२५ वें) पटल के पाठ से साधक पाप मुक्त हो जाता है । सूर्य के समान तेजस्वी हो जाता है । जिस प्रकार ऊर्ध्वरेता विचरण करता है, उसी प्रकार वह धर्मज्ञ भी ज्ञान सिद्धि के लिए विचरण करता है । इस क्रिया को देखने से भी साधक ज्ञानी हो जाता है । ज्ञान से ही मोक्ष होता है । जो मोक्ष समाधि के साधन से प्राप्त होता है ॥ १२३-१२४ ॥

यदुद्धरति[१] वायुश्च धारणाशक्तिरेव च।
तन्मन्त्रं[२] वर्द्धयित्वा प्राणायामं समाचरेत् ॥ १२५ ॥
प्राणायामात् परं नास्ति पापराशिक्षयाय च।
सर्वपापक्षये याते किन्न सिद्ध्यति भूतले ॥ १२६ ॥

जो मन्त्र वायु को धारण कराता है, जिससे धारणा शक्ति उत्पन्न होती है, उस मन्त्र के जप को बढ़ाकर प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए । पापराशि के क्षय के लिए प्राणायाम से बढ़कर अन्य कोई साधन नहीं है । जब सभी पापों का क्षय हो जाता है तब वह कौन सा पदार्थ है जो इस पृथ्वी पर सिद्ध न हो ? ॥ १२५-१२६ ॥

प्राणवायुं महोग्रं तु महत्तेजोमयं परम्।
प्राणायामेन जित्वा च योगी मत्तगजं यथा[३] ॥ १२७ ॥
प्राणायामं विना नाथ कुत्र सिद्धो भवेन्नरः।
सर्वसिद्धिक्रियासारं[४] प्राणायामं परं स्मृतम् ॥ १२८ ॥
प्राणायामं त्रिवेणीस्थं यः करोति मुहुर्मुहुः।
तस्याष्टाङ्गसमृद्धिः स्याद्योगिनां योगवल्लभः ॥ १२९ ॥

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने भावनिर्णये पाशवकल्पे
षट्चक्रसारसङ्केते सिद्धमन्त्रप्रकरणे प्राणायामोल्लासे
भैरवीभैरवसंवादे पञ्चविंशः पटलः ॥ २५ ॥

---

१. यद् यद्वर्धति—क० । २. तत्तन्मन्त्रम्—ग० ।
३. तथा—क० । ४. सर्वासां सिद्धीनां क्रियाः, तासां सारं सारभूतम् ।

प्राणवायु बडा प्रचण्ड है । महातेजस्वी है । योगी उस प्राणवायु को मत्त गजेन्द्र के समान प्राणायाम द्वारा अपने वश में कर लेता है । हे नाथ ! प्राणायाम के बिना कौन मनुष्य कब सिद्ध हुआ है । यह प्राणायाम सभी क्रियाओं की सिद्धि का सार है तथा सबसे श्रेष्ठ है । जो साधक त्रिवेणी में रहने वाले इस प्राणायाम का बारम्बार अभ्यास करते हैं, उन्हें अष्टाङ्ग सिद्धि प्राप्त हो जाती है और वे योगियों के प्रेमपात्र हो जाते हैं ॥ १२७-१२९ ॥

॥ श्रीरुद्रयामल के उत्तरतन्त्र में महातन्त्रोद्दीपन में भावनिर्णय में पाशवकल्प में षट्चक्रसारसङ्केत में सिद्धमन्त्रप्रकरण में प्राणायामोल्लास में भैरवी-भैरव संवाद के मध्य पच्चीसवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ २५ ॥

— ❖ —

अथ षड्विंशः पटलः

आनन्दभैरवी उवाच

शृणु प्राणेश सकलं प्राणायामनिरूपणम् ।
प्राणायामे जपं ध्यानं तत्त्वयुक्तं वदामि तत् ॥ १ ॥
प्रकारयेय[1]मुल्लासं प्राणायामेषु शोभितम् ।
देवताविधिविष्णवीशास्ते तु मध्यममध्यमाः ॥ २ ॥
रजस्तमोगुणं नाथ सत्त्वे संस्थाप्य यत्नतः ।
कामक्रोधादिकं त्यक्त्वा योगी भवति योगवित् ॥ ३ ॥

आनन्दभैरवी ने कहा—हे प्राणेश ! अब सब प्रकार के प्राणायाम का निरूपण कर रही हूँ उसे सुनिए । जिस प्राणायाम में तत्त्वयुक्त जप और ध्यान है उसे कहती हूँ । प्राणायाम क्रिया में शोभा पाने वाले इस उल्लास के कई प्रकार हैं । इसके ब्रह्मा, विष्णु और ईश्वर—ये देवता वे तो मध्यम से भी मध्यम हैं । हे नाथ ! साधक सत्त्व में रज तम गुणों को स्थापित कर तथा काम क्रोधादि दोषों को त्याग कर प्राणायाम करे तो वह योगी योगवेत्ता हो जाता है ॥ १-३ ॥

रजोगुणं नृपाणां तु तमोगुणमतीव च ।
अधिकं तु पशूनां हि साधूनां सत्त्वमेव च ॥ ४ ॥
सत्त्वं विष्णुं वेदरूपं[2] निर्मलं द्वैतवर्जितम् ।
आत्मोपलब्धिविषयं त्रिमूर्तिमूलमाश्रयेत् ॥ ५ ॥

राजाओं में रजोगुण रहता है उससे भी अधिक तमोगुण रहता है, उससे भी अधिक तमोगुण पशुओं में रहता है, किन्तु साधुओं में मात्र सतोगुण की स्थिति रहती है । विष्णु में सत्त्वगुण है वे वेद के स्वरूप निर्मल तथा द्वैत से वर्जित हैं । आत्मोपलब्धि के विषय हैं, तीनों मूर्तियों के मूल हैं, अतः उनका ही आश्रय लेना चाहिए ॥ ४-५ ॥

सत्त्वगुणाश्रयादेव निष्पापी सर्वसिद्धिभाक् ।
जितेन्द्रियो भवेत् शीघ्रं ब्रह्मचारिव्रतेन च ॥ ६ ॥
प्राणवायुवशेनापि वशीभूताश्चराचराः ।
तस्यैव[3] कारणे नाथ जपं ध्यानं समाचरेत् ॥ ७ ॥

---

१. प्रकारत्रयमुल्लासम्—क० । २. विष्णु वेदरूपम्—क० ।
३. करणे—क० ।

वक्ष्यामि तत्प्रकारं जपध्यानं विधिद्वयम् ।
एतत्करणमात्रेण योगी स्यान्नात्र संशयः ॥ ८ ॥

सत्त्वगुण का आश्रय लेने से साधक पाप रहित और सभी सिद्धियों का पात्र होता है, किं बहुना ब्रह्मचर्य व्रत से वह शीघ्र जितेन्द्रिय हो जाता है । हे नाथ ! प्राणवायु को भी वश में कर लेने से संसार के सभी चराचर वश में हो जाते हैं । इसलिए प्राणवायु को वश में करने के लिए जप और ध्यान भी करते रहना चाहिए । प्राणवायु को वश में करने के लिए जप और ध्यान दो ही विधियाँ हैं । उनका प्रकार आगे कहूँगी । इनके कारण ही साधक योगी बन जाता है इसमें संशय नहीं ॥ ६-८ ॥

जपं च त्रिविधं प्रोक्तं व्यक्ताव्यक्तातिसूक्ष्मगम् ।
व्यक्तं वाचिकमुपांशुमव्यक्तं[१] सूक्ष्ममानसम् ॥ ९ ॥
तत्र ध्यानं प्रवक्ष्यामि प्रकारमेकविंशतिम् ।
ध्यानेन जपसिद्धिः स्यात् जपात् सिद्धिर्न संशयः ॥ १० ॥

जप के प्रकार - १. व्यक्त रूप से होने वाला, २. अव्यक्त रूप से होने वाला तथा ३. अत्यन्त सूक्ष्म रूप से होने वाला—ये जप के तीन भेद हैं । व्यक्त जप वह है जिसे वचन रूप से उच्चारण किया जाय, उपांशु (जिह्वा संचालन) से जो जप किया जाय वह अव्यक्त है और मन से किया जाने वाला जप अत्यन्त सूक्ष्म है । अब ध्यान के विषय में कहती हूँ । उस ध्यान के २१ प्रकार हैं । ध्यान से जप कर सिद्धि होती है और जप से वास्तविक सिद्धि होती है इसमें संशय नहीं ॥ ९-१० ॥

आदौ विद्यामहादेवीध्यानं वक्ष्यामि शङ्कर ।
एषा देवी कुण्डलिनी [२]यस्या मूलाम्बुजे मनः ॥ ११ ॥
मनः करोति सर्वाणि धर्मकर्माणि सर्वदा ।
यत्र गच्छति स श्रीमान् तत्र वायुश्च गच्छति ॥ १२ ॥

हे शङ्कर ! सर्वप्रथम मैं विद्यामहादेवी का ध्यान कहती हूँ । यह कुण्डलिनी, ही महाविद्या हैं जिनके मूलाधार रूप कमल में मन का निवास है । यह मन ही समस्त धर्म कर्म सर्वदा किया करता है जहाँ-जहाँ वह जाता है वायु भी उसी स्थान पर उसके साथ जाता है ॥ ११-१२ ॥

अतो मूले समारोप्य मानसं वायुरूपिणम् ।
द्वादशाङ्गुलकं बाह्ये नासाग्रे चावधारयेत् ॥ १३ ॥
मनःस्थं रूपमाकल्प्य मनोधर्मं मुहुर्मुहुः ।
मनस्तत् [३]सदृशं याति गतिर्यत्र[४] सदा भवेत् ॥ १४ ॥
मनोविकाररूपं तु एकमेव न संशयः ।
अज्ञानिनां हि देवेश ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥ १५ ॥

---

१. स व्यक्तम्—ग० । २. अस्या—क० ।
३. सहस्रम्—ग० । ४. मतिर्यत्र—ग० ।

अव्यक्तं ब्रह्मरूपं हि तच्च देहे व्यवस्थितम् ।
धर्मकर्मविनिर्मुक्तं मनोगम्यं भजेद्यतिः ॥ १६ ॥

अतः मूलाधार में वायु स्वरूप मन को स्थापित कर नासा के अग्रभाग के बाहर १२ अंगुल पर्यन्त वायु धारण करे । मन में रहने वाले धर्म के स्वरूपभूत (इष्टदेव) की मन में कल्पना करे । मन भी उस स्वरूप के अनुसार ही चलता है जहाँ उसकी गति है । मन में रहने वाला विकार एक ही है, इसमें संशय नहीं । हे देवेश ! परब्रह्म के रूप की कल्पना तो अज्ञानियों की है । वस्तुतः ब्रह्म का स्वरूप अव्यक्त है और वह ब्रह्म शरीर में व्यवस्थित रूप से वर्तमान है । वह धर्म कर्म से सर्वथा निर्लेप है । अतः मनोगम्य होने से साधक यति को उसका भजन करना चाहिए ॥ १३-१६ ॥

पद्मं चतुर्दलं मूले स्वर्णवर्णं मनोहरम् ।
तत्कर्णिकामध्यदेशे स्वयम्भूवेष्टितां भजेत् ॥ १७ ॥
कोटिसूर्यप्रतीकाशां सुषुम्नारन्ध्रगामिनीम्[१] ।
ऊर्द्ध्वं गलत्सुधाधारामण्डितां कुण्डलीं भजेत् ॥ १८ ॥

मूलाधार में स्थित कमल चार दलों वाला है, जो मनोहर तथा सुवर्ण के समान वर्ण वाले हैं उसकी कर्णिका के मध्य में स्वयंभू लिङ्ग को वेष्टित करने वाली कुण्डलिनी का भजन करना चाहिए । वह कुण्डलिनी करोड़ों सूर्य के समान दीप्तिमती है जो सुषुम्ना रन्ध्र से ऊपर जाती है और बहते हुए सुधा धारा से मण्डित है । यति साधक को उस कुण्डलिनी का भजन करना चाहिए ॥ १७-१८ ॥

स्वयम्भूलिङ्गं परमं ज्ञानं [२]चिरविवर्द्धनम् ।
सूक्ष्मातिसूक्ष्ममाकाशं कुण्डलीजडितं भजेत् ॥ १९ ॥
पूर्वोक्तयोगपटलं तत्र मूले विभावयेत् ।
कुण्डलीध्यानमात्रेण षट्चक्रभेदको भवेत् ॥ २० ॥
ध्यायेद् देवीं कुण्डलिनीं परापरगुरुप्रियाम् ।
आनन्दां[३] भुवि मध्यस्थां योगिनीं योगमातरम् ॥ २१ ॥

उससे परिवेष्टित स्वयंम्भू लिङ्ग है, जो सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म है और आकाश के समान निर्लेप है तथा जो परम ज्ञान को निरन्तर बढ़ाता रहता है, उसका भजन करना चाहिए । साधक उस मूलाधार में कुण्डली तथा तत् परिवेष्टित स्वयंभू लिङ्ग के उभय योग का ध्यान करे । इस प्रकार के कुण्डलिनी के ध्यान मात्र से वह सिद्ध साधक षट्चक्रों का भेदक हो जाता है । पर और अवर गुरुओं की प्रेमास्पदा, आनन्दस्वरूपा, मूलाधार रूप भूलोक में रहने वाली योगी जनों की योगमाता कुण्डलिनी का ध्यान करना चाहिए ॥ १९-२१ ॥

---

१. वज्रगामिनीम्—ग० । सुषुम्नाया रन्ध्रे गच्छति तच्छीला, ताम् ।
२. ज्ञानाङ्कुर—क० । ३. आनन्दार्णव—क० ।

कोटिविद्युल्लताभासां सूक्ष्मातिसूक्ष्मवर्त्मगाम्[1] ।
ऊर्द्ध्वमार्गव्याचलन्तीं प्रथमारुणविग्रहाम् ॥ २२ ॥
प्रथमोद्गमने कौलीं[2] ज्ञानमार्गप्रकाशिकाम् ।
प्रति[3] प्रयाणे प्रत्यक्षाममृतव्याप्तविग्रहाम् ॥ २३ ॥
धर्मोदयां भानुमतीं जगत्स्थावरजङ्गमाम् ।
सर्वान्तस्थां निर्विकल्पाञ्चैतन्यानन्दनिर्मलाम् ॥ २४ ॥

करोड़ों विद्युल्लता के समान देदीप्यमान, सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म मार्ग में गमन करने वाली, ऊपर की ओर के चलने वाली और सर्वश्रेष्ठ अरुण वर्ण के शरीर वाली कुण्डलिनी का ध्यान करना चाहिए । प्रथम गमन के समय कौलीय रूप धारण करने वाली, ज्ञान मार्ग का प्रकाश करने वाली और ऊपर से नीचे की ओर आने के समय अमृत से व्याप्त विग्रह वाली कुण्डलिनी का ध्यान करना चाहिए । धर्म से उदय होने वाली, किरणों से व्याप्त, जगत् के स्थावर-जङ्गम स्वरूप वाली, सभी के अन्तःकरण में निवास करने वाली, निर्विकल्पा चैतन्य एवं आनन्द से सर्वथा निर्मल स्वरूप वाली कुण्डलिनी का ध्यान करना चाहिए ॥ २२-२४ ॥

आकाशवाहिनीं नित्यां [4]सर्ववर्णस्वरूपिणीम् ।
महाकुण्डलिनीं ध्येयां ब्रह्मविष्णुशिवादिभिः ॥ २५ ॥
प्रणवान्तःस्थितां शुद्धांशुद्धज्ञानाश्रयां शिवाम् ।
कुलकुण्डलिनीं सिद्धिं चन्द्रमण्डलभेदिनीम् ॥ २६ ॥

आकाश में उड़ने वाली नित्य स्वरूपा, समस्त वर्ण स्वरूपा, ब्रह्मा, विष्णु, शिवादि, देवताओं से ध्यान करने योग्य श्रीकुण्डली का ध्यान करना चाहिए । प्रणव के मध्य में रहने वाली, शुद्ध स्वरूपा, शुद्ध ज्ञानाश्रया, सबका कल्याण करने वाली, चन्द्र मण्डल का भेदन करने वाली एवं सिद्धि स्वरूपा कुल कुण्डलिनी का ध्यान करना चाहिए ॥ २५-२६ ॥

मूलाम्भोजस्थितामाद्यां जगद्योनिं जगत्प्रियाम् ।
स्वाधिष्ठानादिपद्मस्थां सर्वशक्तिमयीं पराम् ॥ २७ ॥
आत्मविद्यां शिवानन्दां पीठस्थामतिसुन्दरीम् ।
सर्पाकृतिं रक्तवर्णां [5]सर्वरूपविमोहिनीम् ॥ २८ ॥

मूलाधार के कमल पर निवास करने वाली, आद्या जगत् की कारणभूता, समस्त जगत् से प्रेम करने वाली, स्वाधिष्ठानादि पद्मों में रहने वाली, सर्वशक्तिमयी परा कुण्डलिनी का ध्यान करना चाहिए । आत्म विद्या, शिवानन्दा पीठ में निवास करने वाली, अत्यन्त सुन्दरी, साँप के समान आकृति वाली, रक्तवर्णा रूप से सबको संमोहित करने वाली कुल कुण्डलिनी का ध्यान करना चाहिए ॥ २७-२८ ॥

---

१. सूक्ष्मवर्णगाम्—क० ।—सूक्ष्मातिसूक्ष्मं यद् वर्त्म (मार्गः) तद् गच्छति—इति । गमेर्डप्रत्ययः ।
२. प्रथमोद्धमने कौला—ग० ।
३. प्रति प्रमाणे प्रत्यक्षाममृतव्याप्तविग्रहाम्—ग० ।
४. निर्बिवर्ण—ग० ।
५. सर्प—ग० ।

कामिनीं कामरूपस्थां [१]मातृकामात्मदायिनीम् ।
कुलमार्गानन्दमयीं कालीं कुण्डलिनीं भजेत् ॥ २९ ॥
इति ध्यात्वा मूलपद्मे निर्मले योगसाधने ।
धर्मोदये ज्ञानरूपीं साधयेत् परकुण्डलीम् ॥ ३० ॥

कामिनी, कामरूप में रहने वाली मातृका स्वरूपा, आत्मविद्या देने वाली, कुलमार्ग के उपासकों को आनन्द देने वाली महाकाली कुण्डलिनी का ध्यान करना चाहिए । पवित्र योगसाधन काल में इस प्रकार मूलपद्म में कुण्डलिनी का ध्यान कर धर्म के उदय हो जाने पर ज्ञानरूपी पर कुण्डलिनी की सिद्धि करनी चाहिए ॥ २९-३० ॥

कुण्डलीभावनादेव खेचराद्यष्टसिद्धिभाक् ।
ईश्वरत्वमवाप्नोति साधको भूपतिर्भवेत् ॥ ३१ ॥
योगाभ्यासे भावसिद्धौ स्मृतो वायुर्महोदयः ।
प्राणानामादुर्निवार्यो यत्नेन तं प्रचालयेत् ॥ ३२ ॥
प्रतिक्षणं समाकृष्य मूलपद्मस्थ कुण्डलीम् ।
तदा प्राणमहावायुर्वशी भवति निश्चितम् ॥ ३३ ॥

कुण्डलिनी की भावना के करने से ही खेचरता तथा अष्टसिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं और साधक ईश्वरत्व प्राप्त कर लेता है, । किं बहुना वह राजा भी हो जाता है । योगाभ्यास में महोदय वायु भावना से सिद्ध होता है । इन प्राण नाम के वायु को रोकना बड़ा कठिन कार्य है । अतः धीरे-धीरे इनका संचालन करे । मूलपद्म में रहने वाली कुण्डली को प्रतिक्षण ऊपर की ओर खींचते रहना चाहिए तभी प्राणरूप महावायु निश्चित रूप से वश में हो जाती है ॥ ३२-३३ ॥

ये देवाश्चैव ब्रह्माण्डे क्षेत्रे पीठे सुतीर्थके ।
शिलायां [२]शून्यगे नाथ सिद्धाः स्युः प्राणवायुना ॥ ३४ ॥
ब्रह्माण्डे यानि संसन्ति तानि सन्ति कलेवरे ।
ते सर्वे प्राणसंलग्नाः प्राणातीतं निरञ्जनम् ॥ ३५ ॥
यावत्प्राणः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः ।
गते प्राणे समायान्ति देवताश्चेतनास्थिताः ॥ ३६ ॥

ब्रह्माण्ड में, क्षेत्र में, पीठ में तथा उत्तम तीर्थ में, शिला में, शून्य स्थान में रहने वाले जितने तत्त्व भी हैं वे सभी प्राणवायु से सिद्ध हो जाते हैं । वस्तुतः जितने तीर्थ ब्रह्माण्ड में है उतने ही तीर्थ इस शरीर में भी हैं, वे सभी प्राण से जुड़े हुए हैं, किन्तु निरञ्जन परब्रह्म प्राण से सर्वथा परे हैं । जब तक इस शरीर में प्राण है, तब तक मरने का भय किस प्रकार हो सकता है । प्राण के जाते ही चेतना में रहने वाले सभी देवता भी (शरीर से) चले जाते हैं ॥ ३४-३६ ॥

---

१. मातृकामर्यदायिनीम्—क० ।
२. मृण्मये—क० ।—'मृन्मये' इति पाठान्तरमुचितम्, न तु मृण्मये इति ।णत्वस्याप्राप्तेः।

सर्वेषां मूलभूता सा कुण्डली भूतदेवता[१] ।
वायुरूपा पाति सर्वमानन्दचेतनामयी ॥ ३७ ॥
जगतां चेतनारूपी कुण्डली योगदेवता ।
आत्ममनःसमायुक्ता ददाति मोक्षमेव सा ॥ ३८ ॥
अतस्तां भावयेन्मन्त्री भावज्ञानप्रसिद्धये ।
भवानीं भोगमोक्षस्थां यदि योगमिहेच्छसि ॥ ३९ ॥

सभी का मूलभूत कुण्डलीभूत देवता है, जो आनन्द युक्त एवं चेतनामयी है इस प्रकार यही वायु रूपा कुण्डलिनी सबकी रक्षा करती है । समस्त जगत् में चेतना रूपी कुण्डलिनी योग की अधिष्ठातृ देवता है जो आत्मा और मन से संयुक्त रह कर मोक्ष प्रदान करती है । इसलिए मन्त्रज्ञ साधक भावज्ञान की सिद्धि के लिए उसका ध्यान करे । यदि कोई योग चाहता हो तो वह भोग और मोक्ष में रहने वाली उस भवानी का ध्यान करें ॥ ३७-३९ ॥

वायुरोधनकाले च कुण्डली चेतनामयी[२] ।
ब्रह्मरन्ध्रावधि ध्येया योगिनं पाति कामिनी ॥ ४० ॥
वायुरूपां[३] परां देवीं नित्यां योगेश्वरीं जयाम् ।
निर्विकल्पां त्रिकोणस्थां[४] सदा ध्यायेत् कुलेश्वरीम् ॥ ४१ ॥
अनन्तां कोटिसूर्याभां ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम् ।
अनन्तज्ञाननिलयां यां भजन्ति मुमुक्षवः ॥ ४२ ॥
अज्ञानतिमिरे घोरे सा लग्ना मूढचेतसि ।
सुप्ता सर्पासना मौला पाति साधकमीश्वरी ॥ ४३ ॥

वायु के रोकने के समय चेतनामयी कुण्डली का ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त ध्यान करें क्योंकि वह कामिनी योगी की रक्षा करती है । वायुरूपा, परादेवी, नित्या, योगीश्वरी, जया, निर्विकल्पा, त्रिकोण में रहने वाली कुलेश्वरी कुण्डलिनी का ध्यान करना चाहिए । वह अनन्ता करोड़ों सूर्य के समान आभा वाली और ब्रह्मा, विष्णु, शिव स्वरूपा वह अनन्तज्ञान निलया है । मुमुक्षु जन उसी का भजन करते हैं । वह मूर्खों के चित्त में घोर अज्ञानान्धकार में पड़ी रहती हैं । सर्पासन पर सवार रहती हैं, सोई रहती है और मूलाधार में स्थित रहने वाली वह ईश्वरी साधक का पालन करती है ॥ ४०-४३ ॥

ईश्वरीं सर्वभूतानां ज्ञानाज्ञानप्रकाशिनीम् ।
धर्माधर्मफलव्याप्तां करुणामयविग्रहाम् ॥ ४४ ॥
नित्यां ध्यायन्ति योगीन्द्राः काञ्चनाभाः कलिस्थिताः ।
कुलकुण्डलिनीं देवीं चैतन्यानन्दनिर्भराम् ॥ ४५ ॥

उस सर्व प्राणियों की ईश्वरी, ज्ञान और अज्ञान का प्रकाशन करने वाली, धर्म और

---

१. परदेवता—क० । २. चेतनमुखी—ग० । ३. जयारूपाम्—क० ।
४. त्रिलोकस्थाम्—क० ।—त्र्यवयवो लोकस्त्रिलोकस्तत्रस्थिताम् । मध्यमपदलोपिसमासगर्भस्तत्पुरुषः ।

अधर्म के फल से व्याप्त करुणामय विग्रह वाली नित्या भगवती का स्वर्ण के समान आभा वाले कलिकाल में उत्पन्न योगेन्द्र ध्यान करते हैं ॥ ४४-४५ ॥

ककारादिमान्तवर्णां मालाविद्युल्लतावृताम्[१] ।
हेमालङ्कारभूषाङ्गीं[२] ये मां सम्भावयन्ति ते ॥ ४६ ॥
ये वै[३] कुण्डलिनीं विद्यां कुलमार्गप्रकाशिनीम् ।
ध्यायन्ति[४] वर्षसंयुक्तास्ते मुक्ता नात्र संशयः ॥ ४७ ॥

चैतन्य और आनन्द से परिपूर्ण, वकार से सकार वर्ण वाली, विद्युल्लता से आवृत सुवर्ण के अलङ्कार से भूषित इस प्रकार के रूप में मेरा जो ध्यान करते हैं वे मुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार जो कुलमार्ग का प्रकाश करने वाली कुण्डलिनी विद्या का ध्यान वर्ण पर्यन्त करते हैं वे मुक्त हो जाते हैं इसमें संशय नहीं ॥ ४६-४७ ॥

ये मुक्ता[५] पापराशेस्तु धर्मज्ञानसुमानसाः ।
तेऽवश्यं ध्यानमाकुर्वन् स्तुवन्ति[६] कुण्डलीं पराम् ॥ ४८ ॥
कुलकुण्डलिनीध्यानं भोगमोक्षप्रदायकम् ।
यः करोति महायोगी भूतले नात्र संशयः ॥ ४९ ॥

जो पापराशि से मुक्त हैं, जिनके मन में धर्म ज्ञान हो गया है, वे अवश्य ही कुण्डलिनी का ध्यान कर उस पराकुण्डलिनी की स्तुति करते हैं। कुल कुण्डलिनी का ध्यान भोग और मोक्ष दोनों प्रदान करता है और जो उसका ध्यान करते हैं वह इस भूतल में महायोगी हैं इसमें सन्देह नहीं ॥ ४८-४९ ॥

त्रिविधं कुण्डलिनीध्यानं दिव्यवीरपशुक्रमम् ।
पशुभावादियोगेन सिद्धो भवति योगिराट् ॥ ५० ॥
दिव्यध्यानं प्रवक्ष्यामि सामान्यानन्तरं प्रभो ।
आदौ सामान्यमाकृत्य दिव्यादीन् कारयेत्ततः ॥ ५१ ॥

दिव्य, वीर और पशुभाव से कुण्डलिनी का ध्यान तीन प्रकार का कहा गया है। प्रथम पशुभाव, फिर वीरभाव, फिर दिव्यभाव, इस क्रम से प्राप्त होने पर योगिराज सिद्ध हो जाता है। हे प्रभो ! अब पशु भावादि कहने के बाद दिव्य ध्यान कहूँगी पहले सामान्य पशुभाव का ध्यान, फिर वीरभाव का ध्यान तदनन्तर दिव्यभाव का ध्यान करे ॥ ५०-५१ ॥

कोटिचन्द्रप्रतीकाशां[७] तेजोबिम्बां[८] निराकुलाम् ।
ज्वालामाला[९]सहस्राढ्यां कालानलशतोपमाम् ॥ ५२ ॥

---

१. च्युताम्—ग० । मालाविद्युतां लताभिरावृताम् । २. मन्त्याम्—क० ।
३. ये कुलीनाः कुलाधिस्याम्—क० । ४. हर्ष—क० ।
५. भक्ताः—क० । ६. कुलकुण्डलीम्—क० ।
७. सूर्य—क० । ८. विध्याम्—ग० । ९. प्राणायाम—ग० ।

द्रंष्ट्राकरालदुर्धर्षां जटामण्डलमण्डिताम् ।
घोररूपां महारौद्रीं सहस्रकोटिचञ्चलाम् ॥ ५३ ॥
कोटिचन्द्रसमस्निग्धां सर्वत्रस्थां भयानकाम् ।
अनन्तसृष्टिसंहारपालनोन्मत्तमानसाम् ॥ ५४ ॥
सर्वव्यापकरूपाद्यामादिनीलाकलेवराम् ।
अनन्तसृष्टिनिलयां ध्यायन्ति तां मुमुक्षवः ॥ ५५ ॥

करोड़ों चन्द्रमा के समान सुशीतल, तेज का बिम्ब, सर्वथा स्थिर सहस्रों ज्वालामाला से युक्त, सैकड़ों कालाग्नि के समान भयङ्कर, कराल दाँतों से एवं महाभयानक जटामण्डल से मण्डित, घोर रूपा, महारौद्री सहस्र करोड़ विद्युत के समान चञ्चल, करोड़ों चन्द्रमा के समान मनोहर, सर्वत्र व्याप्त रहने वाली, महाभयानक, अनन्त जगत् की सृष्टि एवं अनन्त सृष्टि का पालन तथा अनन्त सृष्टि के संहार में उन्मत्त रहने वाली सर्व व्यापक रूप से रहने वाली, आद्या, आदि नील कलेवर वाली तथा अनन्त सृष्टि की निलयभूता उस महाविद्या का मुमुक्षु जन ध्यान करते हैं ॥ ५२-५५ ॥

वीरध्यानं प्रवक्ष्यामि यत्कृत्वा वीरवल्लभः ।
वराणां वल्लभो यो हि मुक्तो[1] भोगी स उच्यते ॥ ५६ ॥
वीराचारे[2] सत्त्वगुणं निर्मलं दिव्यमुत्तमम् ।
सम्प्राप्य च महावीरो योगी भवति तत्क्षणात् ॥ ५७ ॥

अब वीर ध्यान कहती हूँ, जिसके करने से वीर वल्लभ होता है और जो वीरों का वल्लभ हो जाता है, वह योगी भी मुक्त कहा जाता है । वीराचार में सत्त्वगुण की प्रधानता रहती है, दिव्यभाव से साधक निर्मल होता है । इन भावों को प्राप्त कर योगी तत्क्षण महावीर बन जाता है ॥ ५६-५७ ॥

वीराचारं बिना नाथ दिव्याचारं न लभ्यते ।
ततो वीराचारधर्मं कृत्वा दिव्यं समाचरेत् ॥ ५८ ॥
वीराचारं कोटिफलं वारैकजपसाधनम् ।
कोटिकोटिजन्मपापदुःखनाशं स भक्तकः ॥ ५९ ॥

हे नाथ ! बिना वीराचार के दिव्याचार प्राप्त नहीं होता, इसलिए वीराचार करने के बाद दिव्यभाव का आचरण करना चाहिए । वीराचार करोड़ गुना फल देने वाला है और उसका साधन एकमात्र जप है जिससे करोड़ों करोड़ों जन्म के पापों एवं दुःखों का नाश हो जाता है । अन्ततः वही भक्त भी होता है ॥ ५८-५९ ॥

---

१. मुक्तिभागी—क० ।
२. यदि वीराचारभावं करोति भूभृतां पतिः ।
स योगी भोगवक्ता स्यादानन्दपूर्णभावकः ॥
मुषि दाता विधाता विधाता वेदवाचकैः ।
वेदवक्ता महारुद्रो वीराचारेण सम्भवेत् ॥ क० अधिकः ।

कुलाचारं समाचारं वीराचारं महाफलम् ।
कृत्वा सिद्धिश्च[1] वै ध्यानं कुलध्यानं[2] मदीयकम् ॥ ६० ॥
कुलकुण्डलिनीं देवीं मां ध्यात्वा पूजयन्ति ये ।
मूलपद्मे[3] महावीरो ध्यात्वा भवति योगिराट् ॥ ६१ ॥

कुलाचार, समाचार (समयाचार) और वीराचार महान् फल देने वाला है । इसलिए मेरा ध्यान अर्थात् कुल ध्यान करके ही साधक सिद्धि प्राप्त करता है । जो महावीर मूलाधार के पद्म में स्थिर रहने वाली कुल कुण्डलिनी देवी के रूप में ध्यान करते हैं, वे ध्यान कर महावीर एवं योगिराज हो जाते हैं ॥ ६०-६१ ॥

कालीं कौलां कुलेशीं कलकल-कलिजध्यानकालानलार्का
कल्योल्कां कालकवलां किलिकिलिकलिकां केलिलावण्यलीलाम् ।
सूक्ष्माख्यां संक्षयाख्यां क्षयकुलकमले सूक्ष्मतेजोमयीन्ता-
माद्यन्तस्थां भजन्ति प्रणतगतजनाः[4] सुन्दरीं चारुवर्णाम् ॥ ६२ ॥

काली, कौला, कुलमार्ग की ईश्वरी, कलकल कलिजों के ध्यान के लिए कालानल का सूर्य, कलि युग की उल्का, काल को कवलित करने वाली, किलिकिलि की कलिका केलि में अपने लावण्य से लीला करने वाली, सूक्ष्म नाम से अभिहित होने वाली, सूक्ष्म नाम से अभिहित होने वाली, संक्षय नाम से अभिहित होने वाली, क्षयकुल कमल में तेजोरूप से विराजमान, आदि और अन्त में रहने वाली, उन चारुवर्णा सुन्दरी को प्रणत रहने वाले भक्त जन निरन्तर भजते हैं ॥ ६२ ॥

अष्टादशभुजैर्युक्तां नीलेन्दीवरलोचनाम् ।
मदिरासागरोत्पन्नां चन्द्रसूर्याग्निरूपिणीम् ॥ ६३ ॥
चन्द्रसूर्याग्निमध्यस्थां सुन्दरीं वरदायिनीम् ।
कामिनीं कोटिकन्दर्पदर्पान्तकपतिप्रियाम् ॥ ६४ ॥
आनन्दभैरवाक्रान्तामानन्दभैरवीं पराम् ।
भोगिनीं कोटिशीतांशुगलद्गात्रमनोहराम् ॥ ६५ ॥
कोटिविद्युल्लताकारां सदसद्व्यक्तिवर्जिताम् ।
ज्ञानचैतन्यनिरतां तां वीरा भावयन्ति हि ॥ ६६ ॥

अट्ठारह भुजाओं वाली, नीले कमल के समान मनोहर नेत्रों वाली, मदिरा के सागर से उत्पन्न होने वाली, चन्द्र, सूर्य तथा अग्नि स्वरूपा, चन्द्र, सूर्य एवं अग्नि के मध्य में रहने वाली परम सुन्दरी, वरदायिनी, करोड़ों कन्दर्प के दर्प को दलन करने वाली, पति प्रिया, कामिनी, आनन्दभैरव से आक्रान्त, पर स्वरूपा, आनन्दभैरवी, भोगिनी, करोड़ों चन्द्रमा से गिरते हुए अमृतमय गात्र से मनोहर, करोड़ों विद्युल्लता के समान आकार वाली, सदसत् की

---

१. सिद्धश्च—क० । २. यद् यद्—क० ।
३. मूलपद्मे महावीरां भैरवीं ते वशेन्द्रियाम्—ग० । ४. जलाम्—ग० ।

अभिव्यक्ति से वर्जित, ज्ञान एवं चैतन्य में निरत रहने वाली उस महाविद्या का ध्यान वीराचार के लोग करते हैं ॥ ६३-६६ ॥

अस्या ध्यानप्रसादेन त्वं तुष्टो भैरवः स्वयम्।
अहं च तुष्टा संसारे सर्वे तुष्टा न संशयः ॥ ६७ ॥
प्राणायामान् स करोति साधकः स्थिरमानसः ।
ध्यात्वा देवीं मूलपद्मे वीरो योगमवाप्नुयात् ॥ ६८ ॥
वीरभावं सूक्ष्मवायुधारणेन महेश्वर ।
साधको भुवि जानाति स्वमृत्युं जन्मसङ्कटम् ॥ ६९ ॥

हे प्रभो ! इस देवी के ध्यान से स्वयं आप भैरव संतुष्ट होते हैं और मैं भी संतुष्ट होती हूँ, फिर तो सारा संसार ही संतुष्ट रहता है इसमें संशय नहीं । जो वीर साधक स्थिर चित्त से प्राणायाम करता है और मूलाधार पद्म में देवी का ध्यान करता है वह योग प्राप्त कर लेता है । हे महेश्वर ! सूक्ष्म वायु के धारण करने से वीरभाव को प्राप्त करने वाला साधक इस पृथ्वी पर अपनी मृत्यु तथा जन्म में होने वाले सङ्कटों को जान लेता है ॥ ६७-६९ ॥

मासादाकर्षणीसिद्धिर्वाक्सिद्धिश्च द्विमासतः ।
मासत्रयेण[१] संयोगाज्जायते देववल्लभः[२] ॥ ७० ॥
एवञ्चतुष्टये मासि भवेद्दिकपालगोचरः ।
पञ्चमे पञ्चबाणः स्यात् षष्ठे रुद्रो न संशयः ॥ ७१ ॥

एक महीने में आकर्षण की सिद्धि, दो महीने में वाक्सिद्धि तथा तीन महीने में वायु के संयोग से साधक देवताओं का वल्लभ हो जाता है । इसी प्रकार ऐसा करते रहने से उसे दिक्पालों के दर्शन हो जाते हैं । पाँचवें महीने में वह काम के समान सुन्दर, छठें महीने में (साक्षात्) रुद्र हो जाता है इसमें संशय नहीं ॥ ७०-७१ ॥

वीरभावस्य माहात्म्यं कोटिजन्मफलेन च ।
जानाति साधकश्रेष्ठो [३]देवीभक्तः स योगिराट् ॥ ७२ ॥
वीराचारं महाधर्मं चित्तस्थैर्यस्य कारणम् ।
यस्य प्रसादमात्रेण दिव्यभावाश्रितो भवेत् ॥ ७३ ॥

जो साधक श्रेष्ठ एवं करोड़ों जन्मों के फल से वीरभाव का माहात्म्य जान लेता है वही देवी का भक्त तथा योगिराज है । चित्त को स्थिर रखने में कारणभूत वीराचार महान् धर्म है, जिसकी कृपा होने पर साधक दिव्यभाव का आश्रित बन जाता है ॥ ७२-७३ ॥

स्वयं रुद्रो महायोगी महाविष्णुः कृपानिधिः ।
महावीरः स एवात्मा[४] मोक्षभोगी न संशयः ॥ ७४ ॥

---

१. संयोगी—ग० । २. देवानां वल्लभः प्रिय इत्यर्थः ।
३. देव—ग० । ४. स तु वात्मा—ग० ।

अथ नाथ महावीर भावस्नानं कुलाश्रयम् ।
यत्कृत्वा शुचिरेव स्यात् शुचिश्चेत् किं न सिद्ध्यति ॥ ७५ ॥

वीराचार के प्रभाव से रुद्र स्वयं महायोगी हुए और महाविष्णु कृपा के निधान हो गए। इस प्रकार वही आत्मा महावीर है, वही मोक्ष का भोक्ता है, इसमें संशय नहीं । हे नाथ ! हे महावीर ! कुल (= शाक्तों) का यह आश्रय है और भाव स्नान हैं जिसके करने से साधक शुचि हो जाता है और शुचि होने पर क्या नहीं सिद्ध होता ॥ ७४-७५ ॥

कुलस्नानं महास्नानं योगिनामतिदुर्लभम् ।
कृत्वा जितेन्द्रियो वीरः कुलध्यानं समाचरेत् ॥ ७६ ॥
स्नानं तु त्रिविधं प्रोक्तं मज्जनं गात्रमार्जनम् ।
मन्त्रज्ञानादिभिः[१] स्नानमुत्तमं परिकीर्तितम् ॥ ७७ ॥

कुल (शाक्तों) का स्नान (वीराचार) है । यह महास्नान योगियों को भी अत्यन्त दुर्लभ हैं । अतः जितेन्द्रिय वीर साधक इसे कर के कुल का ध्यान करे । स्नान तीन प्रकार का कहा गया है—पहला डुबकी लगाकर, दूसरा शरीर का मार्जन कर, तीसरा मन्त्र और ज्ञान पूर्वक स्नान जो सर्वोत्तम कहा गया है ॥ ७६-७७ ॥

तत्प्रकारं शृणु प्राणवल्लभ प्रियकारक ।
स्नानमात्रेण मुक्तः स्यात् पापशैलादनन्तगः ॥ ७८ ॥
स्नानञ्च[२] विमले तीर्थे हृदयाम्भोजपुष्करे ।
बिन्दुतीर्थेऽथवा स्नायात् सर्वजन्माघमुक्तये ॥ ७९ ॥

हे प्राण वल्लभ ! हे प्रिय करने वाले ! अब उस स्नान का प्रकार सुनिए, जिस स्नान मात्र से स्नानकर्ता पाप के पहाड़ से मुक्त हो जाता है और अनन्त को प्राप्त कर लेता है । सभी जन्म के पापों से छुटकारा पाने के लिए, हृदय रूपी कमल में होने वाले विमल पुष्कर नाम वाले तीर्थ में स्नान करे अथवा बिन्दुतीर्थ में स्नान करना चाहिए ॥ ७८-७९ ॥

इडासुषुम्ने शिवतीर्थकेऽस्मिन् ज्ञानाम्बुपूर्णे वहतः शरीरे ।
ब्रह्मादिभिः[३] स्नाति तयोस्तु नीरे किं तस्य गाङ्गैरपि पुष्करैर्वा ॥ ८० ॥

इस शरीर में कल्याणकारी तीर्थ ईडा और सुषुम्ना नाडियाँ विद्यमान हैं जिसमें ज्ञान का जल बह रहा है, ब्रह्मादि देवता भी उस जल में स्नान करते हैं, जिसने इसमें स्नान कर लिया उसे गङ्गा जल में अथवा पुष्कर में स्नान से क्या लाभ ? ॥ ८० ॥

इडामलस्थान[४]निवासिनी या सूर्यात्मिकायां यमुना प्रवाहिका[५]।
तथा सुषुम्ना मलदेशगामिनी[६] सरस्वती मज्जति[७] भक्षणार्थकम् ॥ ८१ ॥

---

१. मन्त्रजलादिभिः—क० ।—मन्त्रश्च ज्ञानं च मन्त्रज्ञाने, ते आदिर्येषां तैः ।
२. स्नायाच्च—क० ।
३. ब्रह्माम्बुभिः—क० ।
४. इडामलस्थाम्बुनि नाथकन्या—क० ।
५. प्रकाशिका—क० ।
६. वासिनी—क० ।
७. रक्षति मज्जनात्मकम्—क० ।

ईडा जो सर्वथा पवित्र स्थान से निकलने वाली गङ्गा है तथा पिङ्गला सूर्य से उत्पन्न होने वाली यमुना है, उनके बीच में ब्रह्मलोक तक जाने वाली सरस्वती है। अतः जो उसमें स्नान करता है, वह उसके पापों को खा जाती हैं ॥ ८०-८१ ॥

मनोगतस्नानपरो मनुष्यो मन्त्रक्रियायोग विशिष्ट तत्त्ववित् ।
महीस्थतीर्थे विमले जले मुदा मूलाम्बुजे स्नाति च मुक्तिभाग् भवेत् ॥ ८२ ॥
सर्वादितीर्थे सुरतीर्थपावनी गङ्गा महासत्त्वविनिर्गता सती ।
करोति पापक्षयमेव मुक्तिं ददाति साक्षादतुलार्थपुण्यदा ॥ ८३ ॥

मन में ही स्नान करने वाला मनुष्य मन्त्र की क्रिया के योग का जानने वाला है, जो मूलाधार कमल रूप मही में रहने वाले इस तीर्थ में प्रसन्नता पूर्वक स्नान करता है वह मुक्ति का भागी हो जाता है। देवताओं के तीर्थ को पवित्र करने वाली गङ्गा इस सर्वादि तीर्थ में महासत्त्व से निकली हुई हैं। जो पापों का क्षय करती हैं और मुक्ति प्रदान करती हैं। किं बहुना वे साक्षात् इतना पुण्य प्रदान करती हैं, जिसकी कोई तुलना नहीं है ॥ ८२-८३ ॥

सर्गस्थं यावदातीर्थं स्वाधिष्ठाने सुपङ्कजे ।
मनो निधाय योगीन्द्रः स्नाति गङ्गाजले तथा[१] ॥ ८४ ॥
मणिपूरे देवतीर्थे[२] पञ्चकुण्डं सरोवरम् ।
एतत् श्रीकामनातीर्थं स्नाति यो मुक्तिमिच्छति ॥ ८५ ॥

इस सृष्टि में जहाँ तक जितने तीर्थ है वे सभी तीर्थ स्वाधिष्ठान के कमल में निवास करते हैं, योगीन्द्र उसी में अपना मन उस प्रकार लगाकर स्नान करते हैं जैसे गङ्गा जल में स्नान किया जाता है। देवताओं के तीर्थरूप मणिपूर हैं जो पाँच कुण्डों वाला सरोवर है। इसे श्रीकामना तीर्थ भी कहते हैं। जो मुक्ति चाहता है वह इस तीर्थ में स्नान करता है ॥ ८४-८५ ॥

अनाहते सर्वतीर्थं सूर्यमण्डलमध्यगम्[३] ।
विभवः[४] सर्वतीर्थानि स्नाति यो मुक्तिमिच्छति ॥ ८६ ॥
विशुद्धाख्ये महापद्मे अष्टतीर्थं समुद्भवम्[५] ।
कैवल्यमुक्तिदं ध्यात्वा स्नाति वीरो विमुक्तये ॥ ८७ ॥

सूर्य मण्डल के मध्य में रहने वाला अनाहत तीर्थ है जिसमें सभी तीर्थ रहते हैं। किं बहुना यहाँ सभी विभव तथा सभी तीर्थ हैं जो साधक मुक्ति चाहता है वह इसमें स्नान करता है। **विशुद्ध** नामक महापद्म में आठ तीर्थ उत्पन्न हुए हैं, वीराचार वाला पुरुष विमुक्ति के लिए कैवल्य मुक्ति देने वाले परमात्मा का ध्यान कर इसमें स्नान करता है ॥ ८६-८७ ॥

---

१. यथा—क० । २. देवतीर्थम्—क० ।
३. सूर्यस्य मण्डलं सूर्यमण्डलम्, तस्य मध्यं गच्छति—इति सूर्यमण्डलमध्यगम् ।
४. विभाव्य—क० । ५. हस्ततीर्थमधूद्भवम्—क० ।

मानसं बिन्दुतीर्थञ्च कालीकुण्डं[1] कलात्मकम् ।
आज्ञाचक्रे[2] सदा ध्यात्वा स्नाति निर्वाणसिद्धये ॥ ८८ ॥
एतत् कुले प्रियस्नानं कुर्वन्ति योगिनो मुदा ।
अतो वीराः सत्त्वयुक्ताः सर्वसिद्धियुताः सुराः ॥ ८९ ॥

आज्ञाचक्र में मानस तीर्थ, बिन्दु तीर्थ, कलात्मक कालीकुण्ड नामक तीर्थों का निवास है । अतः निर्वाण चाहने वाला उनका ध्यान करते हुए स्नान करता है । योगी लोग कुल में रहने वाले इन तीर्थों में प्रसन्नता पूर्वक स्नान करते हैं, इसलिए वीराचार वाले सत्त्व से संयुक्त हैं और देवतागण समस्त सिद्धियों से युक्त हैं ॥ ८८-८९ ॥

नाना पापं सदा कृत्वा ब्रह्महत्याविनिर्गतम् ।
कृत्वा स्नानं महातीर्थे सिद्धाः स्युरणिमादिगाः ॥ ९० ॥
स्नानमात्रेण निष्पापी शक्तः स्याद्वायुसङ्ग्रहे ।
तीर्थानां दर्शनं येषां शक्तो योगी भवेद् ध्रुवम् ॥ ९१ ॥

सदैव ब्रह्म हत्यादि से होने वाले अनेक प्रकार के महा पापों को सदैव करके भी इस महातीर्थ में स्नान कर मनुष्य अणिमादि से उत्पन्न होने वाली सिद्धि प्राप्त कर लेता है । वह इस तीर्थ में स्नान मात्र से पाप रहित हो जाता है और वायु ग्रहण करने में समर्थ हो जाता है । जिन्हें इन तीर्थों का दर्शन भी हो गया है, वे सर्वसमर्थ योगी बन जाते हैं यह निश्चय है ॥ ९०-९१ ॥

अथ सन्ध्यां महातीर्थे कुलनिष्ठः समाचरेत् ।
कुलरूपां योगविद्यां योगयोगाद् यतीश्वरः ॥ ९२ ॥
शिवशक्तौ समायोगो यस्मिन् काले प्रजायते ।
सा सन्ध्या कुलनिष्ठानां समाधिस्थे प्रजायते ॥ ९३ ॥
शिवं सूर्यं हृदि ध्यात्वा भालशक्तीन्दुसङ्गमम् ।
सा सन्ध्या कुलनिष्ठानां समाधिस्थे प्रजायते ॥ ९४ ॥

कुलमार्ग के साधक की सन्ध्या—इस प्रकार स्नान करने के बाद कुलमार्ग का अधिकारी सन्ध्या करे । कुलरूपा महाविद्या रूप योग में युक्त होने के कारण साधक यतीश्वर हो जाता है । जिस समय शिव की महाशक्ति से साधक युक्त हो जाता है, शाक्तों की समाधि में होने वाली वही महासन्ध्या है । हृदय में शिव का तथा सूर्य का ध्यान कर भाल प्रदेश में शक्ति तथा चन्द्रमा के सङ्गम का ध्यान करे तो शाक्तों की समाधि में होने वाली यही सन्ध्या है ॥ ९२-९४ ॥

अथवेन्दुं[3] शिवं ध्यात्वा हृत्सूर्यशक्तिसङ्गमम् ।
संयोगविद्या सा सन्ध्या समाधिस्थे प्रजायते ॥ ९५ ॥

---

१. कलाधरम्—क० । २. आज्ञाचक्रम्—क०
३. अथ बिन्दुम्—क० ।

इति[1] सन्ध्या च कथिता ज्ञानरूपा जगन्मयी ।
सा नित्या वायवी शक्तिः छिन्नभिन्ना विनाशनात् ॥ ९६ ॥

अथवा, इन्दु तथा शिव का ध्यान कर हृदय में शक्ति और सूर्य के सङ्गम का ध्यान करें, तो यही शाक्तों की समाधि में होने वाली संयोग विद्या सन्ध्या हो जाती है । इस प्रकार ज्ञानरूपा जगन्मयी सन्ध्या का निरूपण हमने किया । वही नित्या वायवी शक्ति है जिसके विनष्ट होने से सन्ध्या भी छिन्न-भिन्न हो जाती है ॥ ९५-९६ ॥

तत्त्वतीर्थे[2] महादेव तर्पणं यः करोति हि ।
त्रैलोक्यं तर्पितं तेन तत्प्रकारं शृणु प्रभो ॥ ९७ ॥
मूलाम्भोजे कुण्डलिनीं चन्द्रसूर्याग्निरूपिणीम् ।
समुत्थाप्य कुण्डलिनीं परं बिन्दुं निवेश्य च ॥ ९८ ॥
तदुद्भवामृतेनेह तर्पयेद् देहदेवताम् ।
कुलेश्वरीमादिविद्यां स सिद्धो भवति ध्रुवम् ॥ ९९ ॥

हे महादेव ! जो तत्त्वतीर्थ में तर्पण करता है उसने सारे त्रिलोकी को तृप्त कर दिया, हे प्रभो अब उस तर्पण के प्रकार को सुनिए । मूलाधार रूप कमल में रहने वाली चन्द्र सूर्याग्नि स्वरूपा कुण्डलिनी को ऊपर उठाकर उसमें पर बिन्दु (सहस्रार चक्र में स्थित चन्द्र मण्डल से झरने वाली सुधा) सन्निविष्ट कर उसमें रहने वाले अमृतमय देह में रहने वाली कुलेश्वरी महाविद्या स्वरूप देवता को तृप्त करे तो वह निश्चय ही सिद्ध हो जाता है ॥ ९७-९९ ॥

चन्द्रसूर्यमहावह्निसम्भूतामृतधारया ।
तर्पयेत् कौलिनीं नित्याममृताक्तां विभावयेत् ॥ १०० ॥
एतत्परपदा काली [3]स्त्रीविद्यादिप्रतर्पणम् ।
कृत्वा योगी भवेदेव सत्यं सत्यं कुलेश्वर ॥ १०१ ॥

चन्द्रमा सूर्य तथा महाग्नि से उत्पन्न हुई अमृतधारा से नित्या कौलिनी का तर्पण करे । तदनन्तर अमृत से भीङ्गी हुई उन देवता का ध्यान करे । यह पर-पद में निवास करने वाली, काली स्त्रीविद्यादि का तर्पण कर साधक योगी हो जाता है । हे कुलेश्वर ! यह सत्य है यह सत्य है ॥ १००-१०१ ॥

मूले पात्रं चान्द्रमसं ललाटेन्द्वमृते न च ।
सम्पूर्य ज्ञानमार्गेण तर्पयेत्तेन खेचरीम् ॥ १०२ ॥

---

१. किं वा देहस्थिता शक्तिर्वायवी सुशिवान्विता ।
नासाग्रसन्धिनिलया सा सन्ध्या वायुसङ्गमा ॥
किं वा बाह्यगता शक्तिः सुन्दरि शिवसङ्गमम् ।
सा सन्ध्या तत्त्वनिष्ठानां सामाधिस्थे प्रजायते ॥ क० ।

२. तत्तु तीर्थे—क० ३. श्रीविद्या—क० ।

सुधासिन्धोर्मध्यदेशे कुलकन्यां प्रतर्पयेत् ।
मदिरामृतधाराभिः सिद्धो भवति योगिराट् ॥ १०३ ॥

मूलाधार रूप पात्र के ललाटस्थ चन्द्रमण्डल से निर्गत अमृत से ज्ञानमार्ग द्वारा पूर्ण करे । फिर उससे खेचरी देवता का तर्पण करे । सुधा-सिन्धु के मध्य देश में कुल कन्या का तर्पण मदिरा रूप अमृत धारा से करे तो वह योगिराज सिद्ध हो जाता है ॥ १०२-१०३ ॥

तत्र तीर्थे महाज्ञानी ध्यानं कुर्यात्[१] प्रयत्नतः ।
तद्गर्भमध्य[२]सेन्नित्यं ध्यानमेतद्धि योगिनाम् ॥ १०४ ॥
स्वीयां कन्यां भोजयेद्वै परकीयामथापि वा ।
परितोषाय सर्वेषां युवतीं वा प्रतोषयेत् ॥ १०५ ॥

उस तीर्थ में महाज्ञानी प्रयत्नपूर्वक ध्यान करे और उसके बाद सगर्भ प्राणायाम करे - यही योगियों का ध्यान है । अपनी कन्या को अथवा दूसरों की कन्या को भोजन करावे । अथवा सबको तृप्त करने के लिए युवती को संतुष्ट करे ॥ १०४-१०५ ॥

स्तोत्रेणानेन[३] दिव्येन तोषयेत् शङ्कर प्रभो ।
सहस्रनाम्ना कौमार्याः स्तुत्वा देवीं प्रतोषयेत् ॥ १०६ ॥
यः करोति पूर्णयज्ञं पञ्चाङ्गं जपकर्मणि ।
पुरश्चरणकार्यं च प्राणायामेन[४] कारयेत् ॥ १०७ ॥
प्राणवायुः स्थिरो गेहे पूजाग्रहणहेतुना ।
येऽन्तरस्थं न कुर्वन्ति तेषां सिद्धिः कुतः स्थिता ॥ १०८ ॥

फिर हे प्रभो शङ्कर ! दिव्य कुमारी के सहस्रनाम वाले स्तोत्र से स्तुति कर देवी को संतुष्ट करे । जो जप कर्म में पञ्चाङ्ग पूर्ण यज्ञ (द्र० . २५ . ७८-१०६) स्नान, सन्ध्या, तर्पण, ध्यान एवं कुमारी भोजनपूर्वक सहस्रनाम से स्तुति करता है तथा प्राणायाम के साथ पुरश्चरण कार्य करता है उनके शरीर रूपी गृह में पूजा ग्रहण करने के कारण प्राणवायु स्थिर रहता है । हे प्रभो ! जो अन्तरस्थ इस कर्म को नहीं करता उन्हें सिद्धि कैसे मिले ? ॥ १०६-१०८ ॥

अतोऽन्तर्यजनेनैव[५] कुण्डलीतुष्टमानसा ।
यदि तुष्टा महादेवी तदैव सिद्धिभाक् पुमान् ॥ १०९ ॥

---

१. दहर्निशम्—क० ।
२. प्राणायामपरो भूत्वा एतत्सर्वं विभावयेत् ।
   किरणस्थं तदग्निस्थं चन्द्रभास्करमध्यगम् ॥
   महाशून्ये त्वयं कृत्वा पूर्णः तिष्ठति योगिराट् ।
   निरालम्बे पदे शून्ये यत्तेज उपपद्यते ॥ क० ।
३. पूर्वोक्तस्तोत्रसारेण कवचाङ्केन शङ्कर—क० ।
४. प्राणायामम्—ग० ।
५. जलेनापि—क० ।

अभिषिच्य जगद्धात्रीं प्रत्यक्षपरदेवताम् ।
मूलाम्भोजात् सहस्रारे पूजयेद् बिन्दुधारया ॥ ११० ॥

इससे यह सिद्ध होता है कि कुण्डलिनी अन्तर्यजन से ही संतुष्ट मन वाली होती है, जब कुण्डली महादेवी संतुष्ट हो गई तो उसी समय मनुष्य सिद्धि का भाजन बन जाता है । प्रत्यक्ष रूप से पर देवता स्वरूपा जगद्धात्री का अभिषेचन कर मूलाम्भोज से सहस्रार चक्र में जाने वाली उस कुण्डलिनी का बिन्दुधारा द्वारा पूजन करे ॥ १०९-११० ॥

गलच्चन्द्रामृतोल्लासिधारयासिच्य[1] पार्वतीम् ।
पूजयेत् परया भक्त्या मूलमन्त्रं स्मरन् सुधीः ॥ १११ ॥
अर्च्चयन्विषयैः पुष्पैस्तत्क्षणात्तन्मयो भवेत् ।
न्यासस्तन्मयताबुद्धिः सोऽहंभावेन पूजयेत् ॥ ११२ ॥

चन्द्रमा के द्वारा गिरती हुई, अमृत से सुशोभित धारा से पार्वती को अभिषिक्त कर मूलमन्त्र का स्मरण करते हुए सुधी साधक उनका पूजन करे । उनके पूजा के विषय में एकत्रित किए गए पुष्पों से ध्यान कर तत्क्षण तन्मय हो जावें, उनमें तन्मय हो जाने वाली बुद्धि को **न्यास** कहते हैं । इसलिए जो वह हैं, वही मैं हूँ । अतः इस सोऽहं भाव से उनका पूजन करे ॥ १११-११२ ॥

मन्त्राक्षराणि चिच्छक्तौ प्रोतानि परिभावयेत् ।
तामेव[2] परमे व्योम्नि परमानन्दसंस्थिते ॥ ११३ ॥
दर्शयत्यात्मसद्भावं[3] पूजाहोमादिभिर्विना[4] ।
तदन्तर्यजनं ज्ञेयं योगिनां शङ्कर प्रभो ॥ ११४ ॥

परमानन्द स्वरूप उस पराकाश में रहने वाली उस महाशक्ति का ध्यान करे जिस चिच्छक्ति में समस्त मन्त्राक्षर ओत प्रोत हैं । ऐसा करने से वह महाविद्या, पूजा, होमादि, के बिना ही अपनी आत्मीयता प्रगट कर देती है । हे शङ्कर ! हे प्रभो ! योगियों का यही अन्तर्याग है ॥ ११३-११४ ॥

अन्तरात्मा महात्मा च परमात्मा स उच्यते ।
तस्य स्मरणमात्रेण साधुयोगी भवेन्नरः ॥ ११५ ॥
अमायमनहङ्कारमरागममदं तथा ।
अमोहकमदम्भञ्च [5]अनिन्दाक्षोभकौ तथा ॥ ११६ ॥
अमात्सर्यमलोभश्च दशपुष्पाणि योगिनाम् ।
अहिंसा परमं पुष्पं पुष्पमिन्द्रियनिग्रहः ॥ ११७ ॥

---

१. ल्लास—ग० । २. भासेव—ग० ।
३. दर्शयेत्यात्म—ग० ।
४. ध्यानपूजादिभिर्विना—क० ।
५. अद्वेष्टा—क० ।—निन्दा च क्षोभश्च (क्षोभकश्च) निन्दाक्षोभकौ, स्वार्थे कप्रत्ययः, ततो नञ्तत्पुरुषः ।

दया पुष्पं क्षमा पुष्पं ज्ञानपुष्पं च पञ्चमम् ।
इत्यष्टसप्तभिः पुष्पैः पूजयेत् परदेवताम् ॥ ११८ ॥

ऐसा साधक अन्तरात्मा, महात्मा और परमात्मा कहा जाता है उसके स्मरण मात्र से मनुष्य उत्तम योगी बन जाता है । १. अमाय (माया से रहित), २. अहङ्कार, ३. अराग, ४. अमद, ५. अमोह, ६. अदम्भ, ७. अनिन्दा और ८. अक्षोभ, ९. अमात्सर्य, १०. अलोभ, पूजा में योगियों के लिए ये दश पुष्प कहे गए हैं । इसके अतिरिक्त अहिंसा सर्वोत्कृष्ट पुष्प है, इन्द्रिय निग्रह दूसरा पुष्प है, दया तीसरा पुष्प है, क्षमा चौथा पुष्प है, ज्ञान पाँचवा पुष्प है—इस प्रकार कुल १५ पुष्पों से परदेवता का पूजन करे ॥ ११५-११८ ॥

अथ होमविधिं वक्ष्ये पुरश्चरणसिद्धये ।
सङ्केतभाषया नाथ कथयामि शृणुष्व तत् ॥ ११९ ॥
आत्मानमपरिच्छिन्नं विभाव्य सूक्ष्मवत् स्थितः ।
आत्मत्रयस्वरूपं तु चित्कुण्डं चतुरस्रकम् ॥ १२० ॥
आनन्दमेखलायुक्तं नाभिस्थज्ञानवह्निषु ।
अर्द्धमात्राकृतिर्योनिभूषितं जुहुयात् सुधीः ॥ १२१ ॥

होमविधि—हे नाथ ! अब पुरश्चरण की सिद्धि के लिए सङ्केत भाषा द्वारा **होम का विधान** कहती हूँ, उसे सुनिए । आत्मा अपरिच्छिन्न है और वह सूक्ष्म रूप में स्थित है, ऐसा ध्यान कर आत्मा के तीन स्वरूप की कल्पना करे । चित्त को चौकोर कुण्ड, जिसमें आनन्द की मेखला तथा नाभि ज्ञान की वह्नि हो, जिसकी योनि अर्द्धमात्रा वाली आकृति से भूषित हो साधक को उसी में होम करना चाहिए ॥ ११९-१२१ ॥

इतिमन्त्रेण तद्वह्नौ सोऽहंभावेन होमयेत् ।
बाह्यनारीविधिं त्यक्त्वा मूलान्तेन स्वतेजसम् ॥ १२२ ॥
नाभिचैतन्यरूपाग्नौ हविषा मनसा स्रुचा ।
ज्ञानप्रदीपिते नित्यमक्षवृत्तिर्जुहोम्यहम् ॥ १२३ ॥
इति प्रथममाहुत्या मूलान्ते सञ्चरेत्[1] क्रियाम् ।
द्वितीयाहुतिदानेन होमं कृत्वा भवेद्वशी ॥ १२४ ॥

इस प्रकार मन्त्र से उस वह्नि में सोऽहं भाव से होम करे । वाह्न्यादि में विहित विधान का त्याग कर मूल मन्त्र से अपने तेज को छवि मानकर ज्ञान से प्रदीप्त नाभि स्थित चैतन्य रूप अग्नि में मन रूपी स्रुचा के द्वारा अक्षवृत्ति वाला मैं यह नित्य होम करता हूँ, इस प्रकार की प्रथम आहुति से मूल मन्त्र पढ़ते हुए क्रिया का आरम्भ करें, फिर दूसरी आहुति दे कर होम करने से जितेन्द्रिय हो जावे ॥ १२२-१२४ ॥

धर्माधर्मप्रदीप्ते[2] च आत्माग्नौ मनसा स्रुचा ।
सुषुम्ना वर्त्मना नित्यमक्षवृत्तिं जुहोम्यहम् ॥ १२५ ॥

---

१. मन्त्रमुच्चरेत्—क० । २. हविर्दीप्तिम्—क० ।

स्वाहान्तं[१] मन्त्रमुच्चार्य आद्ये[२] मूलं नियोज्य च ।
जुहुयादेकभावेन मूलाम्भोरुहमण्डले ॥ १२६ ॥

धर्माधर्म से प्रदीप्त हुई आत्मा रूप अग्नि में मन की स्रुचा से सुषुम्ना मार्ग द्वारा मैं अपनी अक्षवृत्ति का हवन करता हूँ । प्रथम मूल मन्त्र पढ़कर अन्त में स्वाहा का उच्चारण कर एक भाव से मूलाधार के पद्म मण्डल में होम करे ॥ १२५-१२६ ॥

चतुर्थे पूर्णहवने एतन्मन्त्रेण कारयेत् ।
एतन्मन्त्रचतुर्थं तु पूर्णविद्याफलप्रदम् ॥ १२७ ॥
अन्तर्निरन्तरनिरन्धनमेधमाने
मायान्धकारपरिपन्थिनि संविदग्नौ ।
कस्मिंश्चिदद्भुतमरीचिविकासभूमौ
विश्वं जुहोमि वसुधादिशिवावसानम् ॥ १२८ ॥

चौथी बार पूर्णाहुति के होम में इसी मन्त्र से होम करे । यह चौथा वक्ष्यमाण मन्त्र पूर्ण विद्या का फल प्रदान करता है । अन्तःकरणावच्छिन्न देश में बिना इन्धन के निरन्तर प्रज्वलित होने वाले, माया रूप अन्धकार को नष्ट करने वाले, अद्भुत प्रकाश के विकास की भूमि वाले, ज्ञानरूप अग्नि में वसुधा से लेकर शिव पर्यन्त मैं सबकी आहुति दे देता हूँ ॥ १२७-१२८ ॥

इत्यन्तर्यजनं कृत्वा साक्षाद् ब्रह्ममयो भवेत् ।
न तस्य पुण्यपापानि जीवन्मुक्तो भवेद् ध्रुवम् ॥ १२९ ॥
ज्ञानिनां योगिनामेव अन्तर्यागो हि सिद्धिदः ।

इस प्रकार अन्तर्याग कर साधक साक्षात् ब्रह्ममय हो जाता है, उसको पुण्य पाप नहीं लगते, वह निश्चय ही जीवन्मुक्त हो जाता है । ज्ञानी योगियों को उक्त अन्तर्याग सिद्धि प्रदान करता है ॥ १२९-१३० ॥

अथान्तः पञ्चमकारयजनं शृणु शङ्कर ॥ १३० ॥
अन्तर्यजनकाले तु दृढभावेन भावयेत् ।
त्वां मां नाथैकतां ध्यात्वा दिवारात्र्यैकतां यथा ॥ १३१ ॥
सुराशक्तिः शिवो मांसं तद्भक्तो भैरवः स्वयम् ।
तयोरैक्यसमुत्पन्न आनन्दो मोक्षनिर्णयः ॥ १३२ ॥

अब हे शङ्कर ! अन्तःकरण में किए जाने वाले पञ्च मकार के यजन को

---

१. द्वितीयाहुतिमेतत्तु तृतीयाहुतिमाशृणु ।
प्रकाशाकाशहस्ताभ्यामवलम्ब्योन्मनीस्रुचा ॥
धर्माधर्मकलास्नेहपूर्णमग्नौ जुहोम्यहम् ॥ क० ।
२. मूलान्ते सञ्चरेत् क्रियाम्—क० ।

सुनिए । हे नाथ ! पञ्चमकार के द्वारा किए जाने वाले अन्तर्याग में दृढ़तापूर्वक आपकी और हमारी एकता का इस प्रकार ध्यान करे, जिस प्रकार दिन और रात्रि की एकता का । पञ्चमकार में प्रथम सुरा (मद्य) शक्ति हैं । मांस शिव हैं, उनका भक्त स्वयं भैरव है, जब शिव-शक्ति रूप मास और सुरा एक में हो जाते हैं तो आनन्द रूप मोक्ष उत्पन्न होता है, ऐसा निर्णय है ॥ १३०-१३२ ॥

आनन्दं ब्रह्मकिरणं देहमध्ये व्यवस्थितम् ।
तदभिव्यञ्जकैर्द्रव्यै: कुर्याद् ब्रह्मादितर्पणम्[1] ॥ १३३ ॥
आनन्दं जगतां सारं ब्रह्मरूपं तनुस्थितम् ।
तदभिव्यञ्जकं द्रव्यं योगिभिस्तै: प्रपूजयेत्[2] ॥ १३४ ॥

इस शरीर के मध्य में आनन्द रूप में ब्रह्म की किरण व्यवस्थित है । इसलिए आनन्द रूप ब्रह्मकिरण के अभिव्यञ्जक द्रव्य से ब्रह्मादि का तर्पण करना चाहिए । आनन्द सारे जगत् का सार है, शरीर में रहने वाला ब्रह्म का स्वरूप है, उसका अभिव्यञ्जक द्रव्य है, योगी जन उन्हीं द्रव्यों से ब्रह्मा का पूजन करते हैं ॥ १३३-१३४ ॥

लिङ्गत्रयं[3] च षट्पद्माधारमध्येन्दुभेदक:[4] ।
पीठस्थानानि चागत्य महापद्मवनं व्रजेत् ॥ १३५ ॥
मूलाम्भोजो ब्रह्मरन्ध्रं चालयेदसुचालयेत्[5] ।
गत्वा पुन: पुनस्तत्र चिच्चन्द्र: परमोदय: ॥ १३६ ॥

साधक षट् पद्माधार के मध्य में रहने वाले तीनों लिंगों के तथा इन्दुमण्डल (चन्द्रमण्डल) को भेदन करते हुए पीठ स्थान में पहुँच कर सहस्रदल कमल रूप महापद्मवन में प्रवेश करे । वहाँ जा कर मूलाम्भोज युक्त ब्रह्मरन्ध्र को संचालन करते हुए प्राण वायु का भी संचालन करे । इस प्रकार बारम्बार करते हुए चिच्चन्द्र (ज्ञान रूप चन्द्र) का परमोदय होता है ॥ १३५-१३६ ॥

चिच्चन्द्र: कुण्डलीशक्ति: सामरस्यमहोदय: ।
व्योमपङ्कजनिस्पन्दसुधापानरतो नर: ॥ १३७ ॥
मधुपानमिदं नाथ बाह्ये चाभ्यन्तरे सताम् ।
इतरं मद्यपानं तु योगिनां योगघातनात् ॥ १३८ ॥
इतरं तु महापानं भ्रान्तिमिथ्याविवर्जित: ।
महावीर: सङ्करोति योगाष्टाङ्गसमृद्धये ॥ १३९ ॥

कुण्डलिनी शक्ति चिच्चन्द्र है । उसकी समरसता महान् अभ्युदयकारक है । साधक व्योम पङ्कज से चूते हुए आनन्द पान में निरत हो जावे । हे नाथ ! सज्जन योगियों के लिए

---

१. ब्रह्मामृतापर्णम्—क० । २. प्रपूज्यते—क० । ३. लिङ्गत्रयज्ञ:—क० ।
४. भेदन:—क० ।—षट्पद्माधारमध्येन्दुं भिनत्ति इति फलितार्थ: ।
५. दनुचालयेत्—क० ।

बाह्य और अभ्यन्तर में होने वाला यही **मधु पान** है और बाह्य मद्यपान तो योगियों के योग का घातक है । इतर (दूसरा) तो महायान है । भ्रान्ति तथा मिथ्या दोष से विवर्जित महावीर तो योग के अष्टाङ्ग की समृद्धि के लिए प्रथम (= योग पङ्कजनिष्यन्दपरामृत) सुधा का पान करता है ॥ १३७-१३९ ॥

पुण्यापुण्यपशुं हत्वा ज्ञानखड्गेन[1] योगवित् ।
परशिवेन[2] यश्चित्तं नियोजयति साधकः ॥ १४० ॥
मांसाशी[3] स भवेदेव इतरे[4] प्राणिघातकाः ।
शरीरस्थे महावह्नौ दग्धमत्स्यानि पूजयेत् ॥ १४१ ॥
शरीरस्थजलस्थानि इतराण्यशुभानि च ।
महीगतस्निग्धसौम्योद्भवमुद्रामहाबलाः ॥ १४२ ॥
तत्सर्वं ब्रह्मकिरणे आरोप्य तर्पयेत्[5] सुधीः ।
तत्र मुद्राभोजनानि[6] आनन्दवर्द्धकानि च ॥ १४३ ॥

योगवेत्ता साधक तो ज्ञान खड्ग से पुण्यापुण्य रूप पशु को मार कर अपने चित्त को परशिव में समर्पण करता है । वही मांसाशी है । इतर तो पशुओं के हत्यारे हैं । शरीर में रहने वाली महावह्नि में शरीरस्थ जल में रहने वाली जलती हुई मानस इन्द्रिय गणों को रोके—यही **मत्स्य-भोजन** (अलौकिक) है और प्रकार का मत्स्य भोजन तो अशुभ है ।

महीगत स्निग्ध सौम्य से उत्पन्न होने वाली **मुद्रा** महाबल प्रदान करती है । उन सभी को ब्रह्म किरण में आरोपित कर सुधी साधक कुण्डलिनी को तृप्त करे । इस प्रकार की मुद्रा के द्वारा किया जाने वाला भोजन आनन्द का वर्द्धक होता है ॥ १४०-१४३ ॥

इतराणि च भोगार्थे एतद्धि योगिनां परम् ।
परशक्त्यात्ममिथुनसंयोगानन्दनिर्भराः ॥ १४४ ॥
मुक्तास्ते मैथुनं तत्स्यादितरे स्त्रीनिषेवकाः ।
एतत्पञ्चमकारेण पूजयेत् परनायिकाम् ॥ १४५ ॥

और (लौकिक) मुद्रायें तो भोग के लिए बनाई गई हैं, योगियों के लिए तो उक्त मुद्रा ही हैं । परशक्ति के साथ आत्मा को मिथुन में संयुक्त करने वाले आनन्द से मस्त हो जाते हैं वही **(अलौकिक) मैथुन** है जिसे मुक्त साधक लोग करते हैं और (लौकिक) मैथुन तो स्त्री का सहवास करने वाले करते हैं । इस प्रकार कहे गए पञ्चमकार से कुण्डलिनी का पूजन करे ॥ १४४-१४५ ॥

---

१. ज्ञानलभ्यो—क० । २. परे शिवे त्रयं चित्तं मांसाशी स महीतले—क० ।
३. बाह्यस्थानं पशूनान्तु मासं वीरेन्द्रभोजनम् ।
यदि तद्बुद्धिमाप्नोति तदा तत्कर्म प्राचरेत् ॥
मानसेन्द्रियगणं संयम्यात्मनि विनियोजयेत्—क० ।
४. प्राण—ग० । ५. तर्पयेत्—क० । ६. एतन्नमुद्रा—क० ।

पुरश्चरणगूढार्थसारमन्त्रप्रपूजनम् ।
एतद्योगं[1] सदाभ्यसेद् निद्रालस्यविवर्जितः ॥ १४६ ॥
प्राणवायुरयं[2] कुर्यात्[3] कालकारणवारणात् ।
एतत्क्रियां प्राणवशे यः करोति निरन्तरम् ॥ १४७ ॥
तस्य योगसमृद्धिः स्यात् कालसिद्धिमवाप्नुयात् ॥ १४८ ॥

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने भावनिर्णये सूक्ष्मयोगसिद्ध्यधिकरणे पाशवकल्पे षट्चक्रसारसङ्केते सिद्धिमन्त्रप्रकरणे भैरवभैरवीसंवादे षड्विंशः[4] पटलः ॥ २६ ॥

— ❖ —

यहीं तक पुरश्चरण के गूढार्थ का सारभूत मन्त्र प्रपूजन है—निद्रालस्य को त्याग कर इस योग का सदाभ्यास करे । कालरूपी महामत्त गजराज से बचने के लिए यह प्राण वायु करे । निरन्तर इस क्रिया द्वारा जो प्राणवायु को अपने वश में कर लेता है वह योग में समृद्ध होता है तथा कालसिद्धि प्राप्त करता है ॥ १४६-१४८ ॥

॥ इस प्रकार श्रीरुद्रयामल के उत्तरतन्त्र में महातन्त्रोद्दीपन में भावार्थनिर्णय में, पाशवकल्प में, षट्चक्रसङ्केत में सिद्धमन्त्रप्रकरण में सूक्ष्मयोगसिद्ध्याधिकरण में भैरवी-भैरव संवाद के छब्बीसवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ २६ ॥

— ❖ —

---

१. एतद्योगसदाभ्यासात्—ग० ।
२. प्राणश्चासौ वायुश्च, तस्य रयो वेगः, तम् ।
३. वारणकारणात्—ग० ।—कालकारणस्य वारणम्, तस्मात् ।
४. अष्टाविंशः पटलः—क० ।

अथ सप्तविंशः पटलः

आनन्दभैरव उवाच

विविधानि त्वयोक्तानि योगशास्त्राणि भैरवि ।
सर्वरूपत्वमेवास्या[1] मम कान्ते प्रियंवदे ॥ १ ॥
योगाष्टाङ्गफलान्येव सर्वतत्त्वजलानि[2] च ।
इदानीं श्रोतुमिच्छामि शक्तितत्त्वक्रमेण[3] तु ॥ २ ॥
पूर्वोक्तप्राणवायूनां हरणं वायुधारणम् ।
प्रत्याहारं धारणाख्यं ध्यानं [4]समाधिमावद ॥ ३ ॥

आनन्दभैरव ने कहा—हे भैरवी ! हे कान्ते ! हे प्रियम्वदे ! तुमने अनेक प्रकार के योगशास्त्र, इसकी सर्वरूपता तथा सभी तत्त्वों में उज्ज्वल अष्टाङ्गयोग के फलों का प्रतिपादन किया । अब मैं शक्ति-तत्त्व के क्रम से पूर्वोक्त प्राणवायु का ग्रहण, उस प्राणवायु का धारण, फिर प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि सुनना चाहता हूँ उसे कहिए ॥ १-३ ॥

आनन्दभैरवी उवाच

शृणु लोकेश वक्ष्यामि प्राणायामफलाफलम् ।
न गृह्णीयाद्विस्तरं तु [5]स्वल्पं नैव तु कुम्भयेत् ॥ ४ ॥

आनन्दभैरवी ने कहा—हे प्राणेश ! अब प्राणायाम के फलाफल को कहती हूँ । बहुत विस्तार पूर्वक प्राणवायु को ग्रहण न करे और स्वल्प रूप में कुम्भक भी न करे ॥ ४ ॥

शनैः शनैः प्रकर्तव्यं [6]सङ्घातञ्च विवर्जयेत् ।
पूरकाह्लादसिद्धेश्च[7] प्राणायामशतं शतम् ॥ ५ ॥
वृद्ध्यै[8] प्राणलक्षणं तु यस्मिन् यस्मिन् दिने गतिः ।
कृष्णपक्षे शुक्लपक्षे तिथित्रिंशत्फलोदयः ॥ ६ ॥

---

१. सर्वरूपा त्वमेवात्मा—क० ।   २. सर्व तत्त्वोज्ज्वलानि च—क० ।
३. शान्ति—क० ।   ४. मादर—ग०
५. आल्पम्—क० ।   ६. सहारञ्च—क० ।
७. सिद्धेश्च—ग० ।—पूरकेण जनिता याऽऽह्लादसिद्धिः, तस्या इत्यर्थः ।
८. वक्ष्ये—क० ।

प्राणायाम धीरे धीरे करना चाहिए, संघात (= एक साथ तेजी से वायु खींचना) विवर्जित रखे । पूरकाह्लाद की सिद्धि के लिए सौ सौ की संख्या में प्राणायाम का विधान है प्राण लक्षण की वृद्धि के लिए जिस जिस दिन प्राण वायु की गति जहाँ से होती है उसका फलोदय इस प्रकार है - कृष्ण पक्ष में तथा शुक्लपक्ष में कुल ३० तिथियाँ होती है ॥ ५-६ ॥

शुक्लपक्षे इडायां तु कृष्णपक्षेऽन्यदेव हि ।
कुर्यात् सर्वत्र गमनं सुषुम्ना बहुरूपिणी ॥ ७ ॥
तिथित्रयं सितस्यापि प्रतिपदादिसम्भवम् ।
तद्द्वयं दक्षनासायां वायोर्ज्ञेयं महाप्रभो ॥ ८ ॥

शुक्लपक्ष में ईळा से कृष्णपक्ष में पिङ्गला द्वारा वायु को सर्वत्र गमन कराना चाहिए । सुषुम्ना तो बहुरूपिणी है । शुक्लपक्ष में प्रतिपदा से लेकर तीन तिथि पर्यन्त हे महाप्रभो ! दाहिनी नासिका से पिङ्गला से दोनों से वायुसञ्चार होता है ॥ ७-८ ॥

चतुर्थीं पञ्चमीं षष्ठीं व्याप्योदयति देवता ।
वामनासापुटे ध्येया वायुधारणकर्मणि ॥ ९ ॥
सप्तमीमष्टमीञ्चैव नवमीं व्याप्य तिष्ठति ।
वामनासापुटे ध्येया साधकैः कुलपण्डितैः ॥ १० ॥

इसके बाद शुक्ल पक्ष से चतुर्थी पञ्चमी, षष्ठी, पर्यन्त वायुधारण कर्म में बायें नासिका से देवताओं का उदय होता है, अतः उसी से वायु ग्रहण करना चाहिए । इसके अनन्तर शाक्त विद्या के उपासकों को सप्तमी अष्टमी, नवमीं पर्यन्त बाई नासिका से ही वायु ग्रहण करना चाहिए ॥ ९-१० ॥

दशम्येकादशीं चैव द्वादशीं व्याप्य तिष्ठति ।
वायुर्दक्षिणनासाग्रे ध्येयो योगिभिरीश्वरः ॥ ११ ॥
त्रयोदशीं व्याप्य वायुः पौर्णमासीं चतुर्दशीम् ।
वामनासापुटे ध्येयः संहारहरणाय च ॥ १२ ॥
कृष्णपक्षफलं वक्ष्ये यज्ज्ञात्वा अमरो भवेत् ।
कालज्ञानी भवेत् शीघ्रं नात्र कार्या विचारणा ॥ १३ ॥

इसके बाद दशमीं, एकादशी तथा द्वादशी, को वायु दक्षिण नासापुट में व्याप्त हो कर चलता है, अतः उसी से वायु ग्रहण करना चाहिए । फिर त्रयोदशी, चतुर्दशी तथा पूर्णमासी को बायें नासिका के छिद्र से वायु ग्रहण करना चाहिए । अब कृष्णपक्ष में चलने वाले वायु का फल कहती हूँ, जिसे जान कर साधक अमर हो जाता है तथा काल का ज्ञानी हो जाता है, इसमें विचार की आवश्यकता नहीं ॥ ११-१३ ॥

प्रतिपद्द्वितीयामस्य तृतीयामपि तस्य च ।
पिङ्गलायां समावाप्य वायर्निःसरते सदा ॥ १४ ॥

चतुर्थी पञ्चमीं षष्ठीं वामे व्याप्य प्रतिष्ठति ।
सप्तमीमष्टमीं वायुर्नवमीं दक्षिणे ततः ॥ १५ ॥

कृष्णपक्ष में प्रतिपदा, द्वितीया तथा तृतीया तक पिङ्गला में व्याप्त हो कर वायु निकलता रहता है । फिर कृष्णपक्ष के चतुर्थी, पञ्चमी तथा षष्ठी, तिथि को बायें नासिका के छिद्र से वायु संचरण होता है, इसके बाद सप्तमी, अष्टमी, नवमी, तिथि पर्यन्त दक्षिण नासिका से वायु सञ्चार होता है ॥ १४-१५ ॥

दशम्येकादशीं वायुर्व्याप्य भ्रमति[1] सर्वदा ।
वामे च दक्षिणेऽन्यानि तिथ्यादीनि सदानिशम् ॥ १६ ॥
यदा[2] एतद्व्यस्तभावं समाप्नोति नरोत्तमः ।
तदैव मरणं रोगं बन्धुनाशं त्रिपक्षके ॥ १७ ॥

इसके बाद दशमी एकादशी पर्यन्त वायु सर्वदा वामनासापुट से चलता है अन्य तिथियों में सर्वदा दक्षिण नासापुट से वायु प्रवाहित होती है । जब मनुष्य इससे विपरीत वायु का सञ्चार प्राप्त करता है तब उस विपक्ष की अवस्था में उसे मरण रोग तथा बन्धुनाश प्राप्त होता है ॥ १६-१७ ॥

भिन्नजन्मतिथिं ज्ञात्वा तस्मिन् काले विरोधयेत् ।
आरभ्य जन्मनाशाय प्राणायामं समाचरेत् ॥ १८ ॥
यदा प्रत्ययभावेन देहं त्यक्त्वा प्रयच्छति[3] ।
तदा निरुध्य श्वसनं कालाग्नौ धारयेदधः ॥ १९ ॥

इस लक्षण को देखकर अपनी जन्म तिथि से भिन्न तिथि में उसे रोकने का प्रयत्न करे और जन्म नाश के लिए प्राणायाम करने का प्रयत्न करे । जब मरण का ज्ञान निश्चित हो जाय और देह त्याग कर जाने की बारी आ जाय तब अपनी श्वास रोक कर कालाग्नि में नीचे वायु धारण करें ॥ १८-१९ ॥

यावत् स्वस्थानमायाति तावत्कालं[4] समभ्यसेत् ।
यावन्न चलते देहं यावन्न चलते मनः ॥ २० ॥
क्रमादभ्यसतः पुंसो देहे स्वेदोद्गमोऽधमः ।
मध्यमं कम्पसंयुक्तो भूमित्यागः परस्य तु ॥ २१ ॥
षण्मासाद्भूतदर्शी स्यात् दूरश्रवणमेव च ।
संवत्सराभ्यासयोगात् योगविद्याप्रकाशकृत् ॥ २२ ॥

---

१. जप्त्वा—क० । २. दन्तभावम्—क० ।

३. प्रगच्छति—क० ।—'प्रयच्छति' इति पाठे दाण्—दाने इत्यस्य रूपम्, यच्छादेश घटितम् । 'प्रगच्छति' इति पाठे तु गम्धातो रूपम् । प्रकृष्टगमनेऽर्थे प्रयोगः ।

४. तत्त्वमस्य—ग० ।

जब तक वायु अपने स्थान पर न आ जाय तब तक इस क्रिया का अभ्यास करे, जिससे देह चलायमान न हो और न तो मन ही चञ्चल हो । प्राणायाम के धीरे धीरे अभ्यास करने से पुरुष के देह में स्वेद का उद्गम होने लगता है - यह **अधम प्राणायाम** है । इसके बाद जब शरीर में कम्पन होने लगे तो **मध्यम प्राणायाम** होता है । जबकि भूमित्याग कर ऊपर उठने की अवस्था तो **उत्तम प्राणायाम** का लक्षण है । ६ महीने के अनन्तर उसे समस्त भूत तत्त्वों के दर्शन हो जाते हैं । इतना ही नही वह दूर की भी बात सुनने में समर्थ हो जाता है । इस प्रकार एक संवत्सर के अभ्यास से वह योग विद्या प्रकाश करने लगता है ॥ २०-२२ ॥

योगी जानाति सर्वाणि तन्त्राणि स्वक्रमाणि च ।
यदि दर्शनदृष्टिः स्यात्तदा योगी न संशयः ॥ २३ ॥
प्रत्याहारफलं वक्ष्ये यत्कृत्वा खेचरो भवेत् ।
ईश्वरे भक्तिमाप्नोति धर्मज्ञानी भवेन्नरः ॥ २४ ॥

योगी को सूक्ष्म दर्शन दृष्टि प्राप्त होने लगे तो वह वास्तव में योगी बन जाता है । ऐसा योगी सारे तन्त्रों का तथा अपने क्रमों का जानकार हो जाता है । इस प्राकर प्राणायाम का फल कहा । अब **प्रत्याहार का फल** कहती हूँ, जिसके करने से साधक खेचर बन जाता है । वह ईश्वर में भक्ति प्राप्त करता है और सारे धर्मों का साक्षात्कार करने लगता है ॥ २३-२४ ॥

उत्तमस्य गुणप्राप्तिर्यावच्छीलनमिष्यते ।
तावज्जपेत् सूक्ष्मवायुः प्रत्याहारप्रसिद्धये ॥ २५ ॥
इन्द्रियाणां विचरतां [१]विषयेषु निवर्तनम् ।
बलादाहरणं तेभ्यः प्रत्याहारो विधीयते ॥ २६ ॥

जब तक अभ्यास करने से उत्तम गुणों की प्राप्ति हो तब तक प्रत्याहार की प्राप्ति के लिए सूक्ष्म वायु धारण करें । विषयों में चलायमान इन्द्रियों को विषयों से हठपूर्वक निवृत्त करना या हटा लेना यही प्रत्याहार का लक्षण है ॥ २५-२६ ॥

नान्यकर्मसु धर्मेषु शास्त्रधर्मेषु योगिराट् ।
पतितं चित्तमानीय स्थापयेत् पादपङ्कजे ॥ २७ ॥
दुर्निवार्यं दृढचित्तं दुरत्ययमसम्मतम् ।
बलादाहरणं तस्य प्रत्याहारो विधीयते ॥ २८ ॥

योगिराज अपने चित्त को अन्य कर्मों में अन्य धर्मों में तथा अन्य शास्त्र धर्मों में न लगावे । किन्तु उसमें आसक्त हुए चित्त को वहाँ से हटाकर भगवती के चरण कमलों में लगावे । यह चित्त बहुत दृढ़ एवं दुर्निवार्य है । इसको रोकना बड़ा कठिन काम है । अपने वश के बाहर है । फिर भी हठपूर्वक उसे विषयों से हटाना प्रत्याहार कहा जाता है ॥ २७-२८ ॥

एतत् प्रत्याहारबलात् योगी स्वस्थो भवेद् ध्रुवम् ।
अकस्माद् भावमाप्नोति भावराशिस्थिरो नरः ॥ २९ ॥

---

१. विषाय वनिवर्गणम्—क० ।

भावात् परतरं नास्ति भावाधीनमिदं जगत् ।
भावेन लभ्यते योगं तस्माद्भावं समाश्रयेत् ॥ ३० ॥

इस प्रत्याहार के बल से निश्चित रूप से योगी स्वस्थ हो जाता है उसे अकस्मात् भाव की प्राप्ति होने लगती है । इस प्रकार वह भाव राशि से स्थिर हो जाता है । इस जगत् में भाव से बढ़कर कोई भी श्रेष्ठ पदार्थ नहीं है । यह सारा जगत् भावाधीन है । भाव से ही योग प्राप्त होता है । अतः भाव प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते रहना चाहिए ॥ २९-३० ॥

अथ धारणमावक्ष्ये यत्कृत्वा धैर्यरूपभाक् ।
त्रैलोक्यमुदरे कृत्वा पूर्णः तिष्ठति[1] योगिराट् ॥ ३१ ॥
अङ्गुष्ठगुल्फजानूरुसीमनि लिङ्गनाभिषु ।
हृद्ग्रीवाकण्ठदेशेषु लम्बिकायां तथा नसि[2] ॥ ३२ ॥
भ्रूमध्ये मस्तके मूर्ध्नि द्वादशान्ते यथाविधि ।
धारणं प्राणमरुतो धारणेति निगद्यते ॥ ३३ ॥
सर्वनाडीग्रन्थिदेशे षट्चक्रे देवतालये ।
ब्रह्ममार्गे धारणं यद् धारणेति निगद्यते ॥ ३४ ॥

अब **धारणा** कहती हूँ जिसके करने से साधक धीर हो जाता है । धारणा वाला योगी सारे त्रैलोक्य को अपने उदर में रख कर पूर्णता प्राप्त कर लेता है । १. अंगूठा, २. गुल्फ, ३. जानु, ४. ऊरु, ५. अण्डकोश, ६. लिङ्ग, ७. नाभि, ८. हृदय, ९. ग्रीवा, १०. कण्ठ प्रदेश में, ११. जिह्वा में एवं १२. नासिका इन द्वादश स्थानों के बाद मस्तक के भ्रूमध्य में अथवा शिरःप्रदेश में प्राणवायु के धारण करने को धारणा कहा जाता है । अथवा सभी नाडियों के ग्रन्थि स्थल में, षटचक्र में जहाँ देवताओं का स्थान है अथवा ब्रह्ममार्ग (सहस्रारचक्र) में प्राणवायु को धारण करना ही धारणा कहा जाता है ॥ ३१-३४ ॥

धारणं मूलदेशे तु कुण्डलीं नासिकातटे ।
प्राणवायोः प्रशमनं[3] धारणेति निगद्यते ॥ ३५ ॥
तत्र श्रीचरणाम्भोजमङ्गले चारुतेजसि ।
भावेन स्थापयेच्चित्तं धारणाशक्तिमाप्नुयात् ॥ ३६ ॥
अथ ध्यानं प्रवक्ष्यामि यत् कृत्वा सर्वगो भवेत् ।
ध्यानयोगाद् भवेन्मोक्षो मत्कुलागमनिर्गमः ॥ ३७ ॥

अथवा, मूलाधार में, कुण्डली में तथा नासिका प्रदेश में प्राणवायु को शान्त रखना **धारणा** कहा जाता है । अथवा अत्यन्त सुन्दर तेज वाले श्री भगवती के मङ्गलदायी चरणाम्भोज में भावपूर्वक चित्त को स्थापित करना चाहिए, जिससे धारणा शक्ति प्राप्त हो । अब **ध्यान** कहती हूँ, जिसके करने से साधक सर्वज्ञ हो जाता है । ध्यान योग से साधक को मोक्ष मिलता है और वह मेरे कौलिक आगम का ज्ञाता हो जाता है ॥ ३५-३७ ॥

---

१. स्त्रष्टति—ग० । २. निशि—क० । ३. प्रसम्बन्धो—क० ।

समाहितेन मनसा चैतन्यान्तर्वर्तिना ।
आत्मन्यभीष्टदेवानां[1] योगध्यानमिहोच्यते ॥ ३८ ॥
श्रीपदाम्भोरुहद्वन्द्वे नखकिञ्जल्कचित्रिते ।
स्थापयित्वा मनःपद्मं ध्यायेदिष्टगणं[2] महत् ॥ ३९ ॥

मन को अत्यन्त समाहित कर अन्तःकरणवर्ती चैतन्य द्वारा अपनी आत्मा में अथवा अभीष्ट देवता में ध्यान करना ही योग ध्यान कहा जाता है । अथवा भगवती महाश्री के नख किञ्जल्क से चित्रित दोनों चरण कमलों में मन रूपी कमल को स्थापित कर इष्टदेवता का ध्यान करना ही ध्यान कहा जाता है ॥ ३८-३९ ॥

अथ समाधिमाहात्म्यं वदामि तत्त्वतः शृणु ।
यस्यैव कारणादेव पूर्णयोगी भवेन्नरः ॥ ४० ॥
समत्वभावना नित्यं जीवात्मपरमात्मनोः ।
समाधिना जयी भूयादानन्दभैरवेश्वर ॥ ४१ ॥
संयोगसिद्धिमात्रेण समाधिस्थं महाजनम् ।
प्रपश्यति महायोगी समाध्यष्टाङ्गलक्षणैः ॥ ४२ ॥

हे सदाशिव ! अब समाधि का माहात्म्य तत्त्वतः कहती हूँ, उसे सुनिए जिसके साधन से साधक मनुष्य पूर्णयोगी बन जाता है । जीवात्मा और परमात्मा में नित्य समत्व की भावना ही समाधि है । हे आनन्दभैरवेश्वर ! इस समाधि से साधक विजय प्राप्त करता है । जीवात्मा तथा परमात्मा के संयोग की सिद्धि हो जाने पर महायोगी साधक, समाधि में स्थित महाजन का दर्शन प्राप्त करता है, यह अष्टाङ्ग लक्षण योग के आठवें भेद समाधि का फल कहा गया है ॥ ४०-४२ ॥

एतत्समाधिमाकृत्य योगी योगान्वितो भवेत् ।
अथ[3] चन्द्रे मनः कुर्यात् समारोप्य विभावयेत् ॥ ४३ ॥
एतदष्टाङ्गसारेण योगयोग्यो भवेन्नरः ।
योगयोगाद् भवेन्मोक्षो मन्त्रसिद्धिरखण्डिता ॥ ४४ ॥
योगशास्त्र प्रकारेण सर्वे वै भैरवाः स्मृताः ।
योगशास्त्रात् परं शास्त्रं त्रैलोक्ये नापि वर्तते ॥ ४५ ॥

इस समाधि के पूर्ण हो जाने पर ही योगी योगान्वित होता है । चन्द्रमा में मन लगाकर योगी उसी का ध्यान करे । इस समाधि रूपयोग के आठवें लक्षण से साधक योग के योग्य हो जाता है । योग से युक्त होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है और उसके मन्त्र की सिद्धि कभी खण्डित नहीं होती । योगशास्त्र के विधान के पालन करने से सभी साधक भैरव के समान हो जाते हैं ॥ ४३-४५ ॥

---

१. ध्यानम्—ग० । २. गुणम्—ग० ।
३. क० नास्ति ।

त्रैलोक्यातीतशास्त्राणि योगाङ्गविविधानि च ।
ज्ञात्वा या[१] पश्यति क्षिप्रं नानाध्यायेन शङ्कर ॥ ४६ ॥

ऐसे तो त्रैलोक्य में अतीत काल में कितने शास्त्र बने हुए हैं, अनेक प्रकार के योगाङ्ग भी बताए गए हैं, किन्तु योग शास्त्र से बढ़कर अन्य कोई दूसरा शास्त्र नहीं है। हे शङ्कर ! योग के अङ्गभूत इन नाना प्रकार के ध्यानों से साधक मेरा दर्शन शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है ॥ ४५-४६ ॥

कामादिदोषनाशाय कथितं ज्ञानमुत्तमम् ।
इदानीं शृणु वक्ष्यामि मन्त्रयोगार्थनिर्णयम् ॥ ४७ ॥
विश्वं [२]शरीरमाक्लेशं पञ्चभूताश्रयं प्रभो ।
चन्द्रसूर्याग्नितेजोभिः जीवब्रह्मैकरूपकम् ॥ ४८ ॥

कामादि दोषों के नाश के लिए हमने यहाँ तक उत्तम योग का ज्ञान (प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि) कहा । अब मन्त्र के योगार्थ निर्णय को सुनिए । हे प्रभो ! पञ्चभूतों का आश्रयभूत यह सारा शरीर क्लेश से व्याप्त है । इसमें चन्द्रमा, सूर्य एवं अग्नि के तेज से ब्रह्म का अंशभूत जीव निवास करता है ॥ ४७-४८ ॥

तिस्रः कोट्यस्तदर्धेन शरीरे[३] नाड्यो[४] मताः ।
तेषु मुख्या दश प्रोक्तास्तासु तिस्रो व्यवस्थिताः ॥ ४९ ॥
प्रधाना मेरुदण्डेऽत्र सोमसूर्याग्निरूपिणी ।
नाडीत्रयस्वरूपेण योगमाता प्रतिष्ठिता ॥ ५० ॥

इस शरीर में साढ़े तीन करोड़ नाड़ियाँ हैं । उसमें भी दश मुख्य हैं । उन दशों में भी तीन व्यवस्थित हैं । ये तीन नाड़ियाँ मेरुदण्ड में रहने वाली सोम, सूर्य तथा अग्नि स्वरूपा हैं । इन तीन नाड़ियों के रूप में इस शरीर में योगमाता प्रतिष्ठित हैं ॥ ४९-५० ॥

इडा वामे स्थिता नाडी शुक्ला तु चन्द्ररूपिणी ।
शक्तिरूपा च सा नाडी साक्षादमृतविग्रहा ॥ ५१ ॥
दक्षिणे पिङ्गलाख्या तु [५]पुंरूपा सूर्यविग्रहा ।
दाडिमीकुसुमप्रख्या विषाख्या परिकीर्तिता ॥ ५२ ॥

मेरुदण्ड के वामभाग में चन्द्ररूपा शुक्लवर्णा इड़ा नाड़ी है जो साक्षात् शक्ति का स्वरूप एवं अमृतमय शरीर वाली है । मेरु के दक्षिण भाग में पिङ्गला नाम की नाड़ी, पुरुष रूप में सूर्य विग्रह स्वरूप से स्थित है, जो अनार के पुष्प के समान लालवर्ण वाली है । इसे विष भी कहा जाता है ॥ ५१-५२ ॥

---

१. सम्प्राप्यते क्षिप्तम् इति—क० ।
२. माकाशम् इति—ग० । आक्लेशमिति पाठे आ समन्तात् क्लेशो यस्य तदिति बहुव्रीहिसमासो बोध्यः ।
३. दक्षिणत इति—ग० ।
४. शरीरेण तयोः इति—ग० ।
५. स इति—ग० ।

मेरुमध्ये स्थिता या तु सुषुम्ना बहुरूपिणी ।
विसर्गाद्बिन्दुपर्यन्तं व्याप्य तिष्ठति तत्त्वतः ॥ ५३ ॥
मूलाधारे त्रिकोणाख्ये इच्छाज्ञानक्रियात्मके ।
मध्ये स्वयंभूलिङ्गं तं कोटिसूर्यसमप्रभम् ॥ ५४ ॥

मेरु के मध्य में जो स्थित है, उसका नाम सुषुम्ना है जो बहुरूपिणी है और विसर्ग से बिन्दु पर्यन्त तत्त्वतः व्याप्य हो कर स्थित है । इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया को उत्पन्न करने वाले त्रिकोणात्मक मूलाधार के मध्य में करोड़ों सूर्य के समान तेजस्वी स्वयम्भू लिङ्ग स्थित हैं ॥ ५३-५४ ॥

तदूर्ध्वे कामबीजं तु कलाशान्तीन्दुनायकम् ।
तदूर्ध्वे तु शिखाकारा कुण्डली ब्रह्मविग्रहा ॥ ५५ ॥
तद्बाह्ये हेमवर्णाभं वसुवर्णचतुर्दलम् ।
द्रुतहेमसमप्रख्यं पद्मं तत्र विभावयेत् ॥ ५६ ॥

उसके ऊपर कला, शान्ति तथा इन्दु रूप में सर्वश्रेष्ठ कामबीज का निवास है । उसके ऊपर शिखा के आकार वाली ब्रह्मस्वरूपा कुण्डलिनी रहती है । उसके बाहर वाले भाग में सुवर्ण के समान आभा वाला 'व श ष स' - इन चार वर्णों से युक्त चार पत्तों वाला द्रवीभूत सुर्वण के समान कमल है उसका ध्यान करना चाहिए ॥ ५५-५६ ॥

तदूर्ध्वेऽग्निसमप्रख्यं[१] षड्दलं हीरकप्रभम् ।
वादिलान्तं[२] तु षड्वर्णसहितं[३] रसपत्रकम् ॥ ५७ ॥
स्वाधिष्ठानाख्यममलं[४] योगिनां हृदयङ्गमम् ।
मूलमाधारषट्कानां[५] मूलाधारं प्रकीर्तितम् ॥ ५८ ॥

उसके ऊपर अग्नि के समान प्रदीप्त एवं हीरे के समान प्रदीप्त ६ पत्तों का कमल है । उसमें 'ब भ म य र ल' - ये ६ वर्ण हैं । इस प्रकार षड्दलों पर ६ वर्णों वाले कमल का ध्यान करना चाहिए । इसके ऊपर योगियों द्वारा जानने योग्य अत्यन्त निर्मल स्वाधिष्ठान नाम का चक्र है, मूल आधार में रहने वाले ६ चक्रों में मूलाधार नामक चक्र हमने पहले (बाइसवें पटल में) कह दिया है ॥ ५७-५८ ॥

स्वशब्देन परं लिङ्गं स्वाधिष्ठानं स्वलिङ्गकम् ।
तदूर्ध्वे नाभिदेशे तु मणिपूरं महाप्रभम् ॥ ५९ ॥
मेघाभं विद्युताभं च बहुतेजोमयं ततः ।
मणिमद्भिन्नतत्पद्मं मणिपूरं शशिप्रभम् ॥ ६० ॥

स्वाधिष्ठान के स्वशब्द से कहा जाने वाला सर्वश्रेष्ठ स्वाधिष्ठान नामक लिङ्ग ही स्व

---

१. सद्ग्रन्थम् इति—ग० । २. लान्तार्ण इति—ग० । ३. वत्स इति—ग० ।
४. सदनम् इति—ग० । ५. षड्कोणम् इति—ग० ।

शब्द का अर्थ है । उसके ऊपर नाभि देश में महाकान्तिमान् मणिपूर नामक चक्र है । मेघ की आभा वाला तथा विद्युत् की आभा वाला अनेक वर्ण के तेजों वाली मणियों से युक्त वह मणिपूर नामक पद्म चन्द्रमा के समान कान्तिमान् है ॥ ५९-६० ॥

कथितं [1]सकलं नाथ हृदयाब्जं शृणु प्रिय ।
दशभिश्च दलैर्युक्तं डादिफान्ताक्षरान्वितम् ॥ ६१ ॥
शिवेनाधिष्ठितं पद्मं विश्वालोकनकारकम् ।
तदूर्ध्वेऽनाहतं पद्मं हृदिस्थं [2]किरणाकुलम् ॥ ६२ ॥

वह पद्म 'ड ढ ण त थ द ध न प और फ' इन दश वर्णों वाले दश दलों से युक्त है । हे नाथ ! उसके विषय में सब कुछ कह दिया । अब हृदय पर विराजमान पद्म चक्र के बारे में सुनिए । हे नाथ ! उस पद्म पर शिव अधिष्ठित हैं, जो चारों ओर अपना प्रकाश विकीर्ण करते रहते हैं । वहाँ पर किरणों से युक्त अनाहत नाम का पद्म है ॥ ६१-६२ ॥

उद्यदादित्यसङ्काशं कादिठान्ताक्षरान्वितम् ।
दलद्वादशसंयुक्तमीश्वराद्यसमन्वितम् ॥ ६३ ॥
तन्मध्ये बाणलिङ्गं तु सूर्यायुतसमप्रभम् ।
शब्दब्रह्ममयं [3]वक्ष्येऽनाहतस्तत्र दृश्यते ॥ ६४ ॥

जो उदीयमान सूर्य के समान प्रकाश वाला तथा 'क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट और ठ' इन द्वादश वर्णों से युक्त द्वादश पत्तों वाला है । उस पद्म के मध्य में हजारों सूर्य के समान आभा वाला बाणलिङ्ग है वह शब्द ब्रह्ममय है और अनाहत रूप में दिखाई पड़ता है ॥ ६३-६४ ॥

तेनानाहतपद्माख्यं योगिनां योगसाधनम् ।
आनन्दसदनं तत्तु सिद्धेनाधिष्ठितं परम् ॥ ६५ ॥
तदूर्ध्वं तु विशुद्धाख्यं दलषोडशपङ्कजम् ।
वर्णैः षोडशभिर्युक्तं धूम्रवर्णं महाप्रभम् ॥ ६६ ॥

वह अनाहत होने के कारण '**अनाहत पद्म**' नाम से कहा जाता है, जो योगियों के योग का साधन है, आनन्द का सदन है और सिद्धों से अधिष्ठित है । उसके ऊपर **विशुद्धाख्य** नामक पद्म है जिसके दल में १६ पत्ते हैं, वे दल १६ वर्णों से विराजमान हैं । धूम्र के समान उनका वर्ण है तथा महाकान्तिमान् हैं ॥ ६५-६६ ॥

योगिनामद्भुतस्थानं [4]सिद्धिवर्णं समभ्यसेत् ।
विशुद्धं तनुते यस्मात् जीवस्य हंसलोकनात् ॥ ६७ ॥

---

१. सफलम् इति—क० ।
२. विकलाकुलम् इति—ग० । किरणाकुलमिति पाठे किरणैः आकुलमिति तृतीयासमासः ।
३. शब्दो । ४. वर्ग यः इति—ग० ।

विशुद्धं पद्ममाख्यातमाकाशाख्यं महाप्रभम् ।
आज्ञाचक्रं तदूर्ध्वे तु अर्थिनाधिष्ठितं परम् ॥ ६८ ॥

योगियों के अद्भुत स्थानभूत उन सिद्ध वर्णों का सर्वदा अभ्यास करना चाहिए । हंस का परम प्रकाश होने के कारण वह जीव को विशुद्ध ज्ञान देता है । इसलिए उसे विशुद्ध कहते हैं । वह आकाश के समान निर्मल है और अत्यन्त कान्तिमान् है । उसके ऊपर आज्ञाचक्र है जो अनेक प्रकार के अर्थों से अधिष्ठित है ॥ ६७-६८ ॥

आज्ञासंक्रमणं तत्र गुरोराज्ञेति कीर्तितम् ।
कैलासाख्यं तदूर्ध्वे तु तदूर्ध्वे बोधनं ततः ॥ ६९ ॥
एवंविधानि चक्राणि कथितानि तव प्रभो ।
तदूर्ध्वस्थानममलं सहस्राराम्बुजं परम् ॥ ७० ॥

वहाँ से आज्ञा का संक्रमण होता है । वह आज्ञा गुरु के द्वारा होती है । ऐसा कहा गया है और उसके ऊपर कैलास है उसके ऊपर ज्ञान का निवास है । हे प्रभो ! इस प्रकार हमने चक्रों के विषय में आपसे कहा । उन सबसे ऊपर अत्यन्त निर्मल सर्वश्रेष्ठ सहस्रदल कमल है ॥ ६९-७० ॥

बिन्दुस्थानं परं ज्ञेयं गणानां मतमाशृणु ।
बौद्धा वदन्ति चात्मानमात्मज्ञानी न ईश्वरः ॥ ७१ ॥
सर्वं नास्तीति चार्वाका नानाकर्मविवर्जिताः ।
वेदनिन्दापराः सर्वे बौद्धाः शून्याभिवादिनः[१] ॥ ७२ ॥

वही सर्वश्रेष्ठ बिन्दु स्थान है, अन्य मतावलम्बियों का मत सुनिए । ज्ञानीजन उसी को आत्मा कहते हैं और आत्मज्ञानी उसी को ईश्वर कहते हैं । नाना कर्म न करने वाले मात्र शरीरवादी चार्वाक 'कुछ भी नहीं हैं' ऐसा कहते हैं । वेद की निन्दा करने वाले सभी बौद्ध शून्य वादी हैं । वे किसी की सत्ता नहीं मानते ॥ ७१-७२ ॥

मम ज्ञानाश्रिताः कान्ताश्चीनभूमिनिवासिनः ।
आत्मानमपरिच्छिन्नं विभाव्य भाव्यते मया ॥ ७३ ॥
श्रीपदाब्जे बिन्दुयुग्मं नखेन्दुमण्डलं शुभम् ।
शिवस्थानं प्रवदन्ति शैवाः शाक्ता महर्षयः ॥ ७४ ॥

ये बौद्ध चीनभूमि में निवास करने वाले मेरे ज्ञानाश्रित होने के कारण मुझे प्रिय हैं । मैं तो अपने को अपरिच्छिन्न समझकर उस बिन्दु स्थान का ध्यान करती हूँ । भगवती महाश्री के चरण कमलों में नखेन्दु मण्डल के रूप में उन दो बिन्दुओं को शैव, शाक्त तथा महर्षिगण शिव का स्थान देते हैं ॥ ७३-७४ ॥

---

१. शून्यमभिवदन्ति तच्छीलाः शून्याभिवादिनः, शून्योपासनारता इत्यर्थः ।

परमं पुरुषं नित्यं वैष्णवा:[१] प्रीतिकारकाः ।
हरिहरात्मकं रूपं संवदन्ति परे जनाः ॥ ७५ ॥
देव्याः पदं नित्यरूपाश्चरणानन्दनिर्भराः ।
वदन्ति मुनयो मुख्याः पुरुषं प्रकृतात्मकम् ॥ ७६ ॥
पुंप्रकृत्याख्यभावेन मग्ना मान्ति महीतले ।
इति ते कथितं नाथ मन्त्रयोगमनुत्तमम् ॥ ७७ ॥

सबसे प्रेम करने वाले वैष्णव उस बिन्दु मण्डल को परम पुरुष के रूप में मानते हैं । अन्य जन उन दोनों बिन्दुमण्डलों को हरिहरात्मक रूप में मानते हैं । भगवती के चरणानन्द में निर्भर भक्त उस बिन्दु को देवी का साक्षात् पद मानते हैं । मुख्य मुख्य मुनिगण उसे प्रकृत्यात्मक पुरुष मानते हैं । इस पृथ्वीतल में प्रायः सभी उस बिन्दु को प्रकृत्यात्मक भाव से मान कर उसी में निमग्न हैं । हे नाथ ! इस प्रकार हमने सर्वश्रेष्ठ मन्त्रयोग कहा ॥ ७५-७७ ॥

योगमार्गानुसारेण भावयेत् सुसमाहितः ।
आदौ [२]महापूरकेण मूले संयोजयेन्मनः ॥ ७८ ॥
गुदमेढ्रान्तरे शक्तिं तामाकुञ्च्य प्रबुद्धयेत् ।
लिङ्गभेदक्रमेणैव प्रापयेद्बिन्दुचक्रकम् ॥ ७९ ॥
शम्भुलाभां परां [३]शक्तिमेकीभावैर्विचिन्तयेत् ।
तत्रोत्थितामृतरसं द्रुतलाक्षारसोपमम् ॥ ८० ॥
पाययित्वा परां शक्तिं कृष्णाख्यां योगसिद्धिदाम् ।
षट्चक्रभेदकस्तत्र सन्तर्प्यामृतधारया ॥ ८१ ॥

योग मार्ग के अनुसार साधक समाहित चित्त से उस बिन्दु का ध्यान करे । सर्वप्रथम महापूरक के द्वारा मूलाधार में अपने मन को लगावे । गुदा और मेढ्र के मध्य में रहने वाली शक्ति को संकुचित कर जागृत करे । इस प्रकार तत्तच्चिन्हों का भेदन कर उसे सहस्रार स्थित बिन्दु चक्र में ले जावे । वहाँ से उस पर शक्ति का शिव के साथ एकीभाव के रूप में ध्यान करे । वहाँ से पिघले हुए द्राक्षारस के समान उत्पन्न हुए अमृत रस का उसे पान करावें । इस प्रकार षट्चक्र का भेदन करने वाला साधक अमृत धारा के द्वारा योग में सिद्धि प्रदान करने वाली उस महाकाली शक्ति को तृप्त करावे ॥ ७८-८१ ॥

आनयेत्तेन मार्गेण मूलाधारं ततः सुधीः ।
एवमभ्यस्यमानस्य अहन्यहनि मारुतम् ॥ ८२ ॥
जरामरणदुःखाद्यैर्मुच्यते भवबन्धनात् ।
तन्त्रोक्तकथिता मन्त्राः[४] सर्वे सिद्ध्यन्ति नान्यथा ॥ ८३ ॥

---

१. प्रतिकारकाः इति—क० । २. प्रकरणे इति—ग० ।
३. भावम् इति—क० । ४. दूषिता इति—क० ।

उसे तृप्त कराने के बाद सुधी साधक पुनः उसी मार्ग से उसे मूलाधार में ले आवे। इस प्रकार प्रतिदिन वायु का अभ्यास करते हुए साधक जरा मरण तथा समस्त दुःखों से छुटकारा पा जाता है और वह संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है, किं बहुना तन्त्र शास्त्र में कहे हुए वे, सभी मन्त्र उसे सिद्ध हो जाते है, जिसे सिद्ध करने का कोई अन्य उपाय नहीं है ॥ ८२-८३ ॥

स्वयं सिद्धो भवेत् क्षिप्रं योगे हि योगवल्लभा।
ये गुणाः सन्ति देवस्य पञ्चकृत्यविधायिनः[१] ॥ ८४ ॥
ते गुणाः साधकवरे भवन्त्येव न चान्यथा।
इति ते कथितं नाथ मन्त्रयोगमनुत्तमम् ॥ ८५ ॥

वह स्वयं शीघ्रतापूर्वक सिद्ध हो जाता है, योग में रहने वाली योगवल्लभा उस पर कृपा करती हैं, पञ्चकृत्य विधायी सदाशिव देव में जितने गुण हैं वे सभी गुण उस साधक श्रेष्ठ में आ जाते हैं। अन्यथा नहीं। हे नाथ! इस प्रकार हमने श्रेष्ठ मन्त्र योग कहा ॥ ८४-८५ ॥

इदानीं धारणाख्यञ्च शृणुष्व परमाञ्जनम्।
दिक्कालाद्यनवच्छिन्नं त्वयि चित्तं निधाय च ॥ ८६ ॥
मयि वा साधकवरो ध्यात्वा तन्मयतामियात्।
तन्मयो भवति क्षिप्रं जीवब्रह्मैकयोजनात् ॥ ८७ ॥

वैष्णव ध्यान - अब सर्वश्रेष्ठ अञ्जन के समान दृष्टि प्रदान करने वाले **धारणा** के विषय में सुनिए। देश और काल से सर्वथा अनवच्छिन्न आप शङ्कर में अथवा मुझमें साधक अपना चित्त सन्निविष्ट कर तन्मयता प्राप्त करे। इस प्रकार जीव और **ब्रह्म में एकत्व** की भावना कर शीघ्र ही तन्मयता प्राप्त करे, इस प्रकार जीव और ब्रह्म में एकत्व की भावना करने से शीघ्र ही तन्मयता प्राप्त हो जाती है ॥ ८६-८७ ॥

इष्टपादे मति दत्वा नखकिञ्जल्कचित्रिते।
अथवा मननं चित्तं यदा क्षिप्रं न सिद्ध्यति ॥ ८८ ॥
तदावयवयोगेन योगी योगं समभ्यसेत्।
पादाम्भोजे मनो दद्याद् नखकिञ्जल्कचित्रिते ॥ ८९ ॥

अथवा नखकिञ्जल्क से चित्रित अपने इष्टदेव के पाद में मन लगावे तब भी चित्त स्थिर हो जाता है। अथवा मनन करने वाला यह चञ्चल चित्त यदि शीघ्रता से सिद्धक (स्थिर) न हो तो शरीर के अवयवभूत एक-एक अङ्गों में योगी योग द्वारा चित्त स्थिर रखे। प्रथम नखकिञ्जलक चित्रित इष्टदेव के चरण कमलों में मन लगावे ॥ ८८-८९ ॥

---

१. पञ्चसंख्याकानि च तानि कृत्यानि चेति पञ्चकृत्यानि, मध्यमपदलोपिसमासः। तानि विदधति तच्छीला इत्यर्थः।

जङ्घायुग्मे तथाराम[1]कदलीकाण्डमण्डिते ।
ऊरुद्वये मत्तहस्तिकरदण्डसमप्रभे ॥ ९० ॥
गङ्गावर्त्तगभीरे तु नाभौ सिद्धिबिले ततः ।
उदरे वक्षसि तथा हस्ते श्रीवत्सकौस्तुभे ॥ ९१ ॥

इसके बाद वाटिका स्थित कदली काण्ड के समान प्रभा वाले दोनों जाँघों में मन लगावे । फिर मदमत्त हाथी के शुण्डाग्रदण्ड के समान दोनों ऊरु में मन को स्थिर करे । इसके बाद सिद्धि के लिए प्रवेश किए जाने वाले बिल के समान गङ्गा के आवर्त के समान गम्भीर नाभि स्थान में मन लगावे । इसके बाद श्रीवत्सकौस्तुभ से विराजमान उदर एवं वक्षःस्थल में, तदनन्तर कर कमल में मन लगावे ॥ ९०-९१ ॥

पूर्णचन्द्रामृतप्रख्ये ललाटे चारुकुण्डले ।
शङ्खचक्रगदाम्भोजदोर्दण्डपरिमण्डिते ॥ ९२ ॥
सहस्रादित्यसङ्काशे किरीटकुण्डलद्वये ।
स्थानेष्वेषु भजेन्मन्त्री विशुद्धः शुद्धचेतसा ॥ ९३ ॥
मनो निवेश्य श्रीकृष्णे वैष्णवो भवति ध्रुवम् ।
इति वैष्णवमाख्यातं ध्यानं सत्त्वं सुनिर्मलम् ॥ ९४ ॥

इसके बाद अमृत से संयुक्त पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान तथा मनोहर कुण्डल से मण्डित ललाट में मन लगावे । फिर शंख, चक्र गदा और कमल से मण्डित चार भुजाओं से संयुक्त सहस्रों सूर्यों के समान देदीप्यमान किरीट एवं दो कुण्डलों से युक्त श्रीकृष्ण परमात्मा में मन लगावे । भगवान् श्रीकृष्ण के इन स्थानों में विशुद्ध चित्त से मन को लगाने वाला मन्त्रज्ञ साधक निश्चित रूप से विष्णुभक्त बन जाता है । यहाँ तक हमने सत्त्वगुण से संयुक्त अत्यन्त निर्मल वैष्णव ध्यान का वर्णन किया ॥ ९२-९४ ॥

विष्णुभक्ताः प्रभजन्ति [2]स्वाधिष्ठानं मनः स्थिराः ।
यावन्मनोलयं याति कृष्णे [3]आत्मनि चिन्तयेत् ॥ ९५ ॥
तावत् स्वाधिष्ठानसिद्धिरिति योगार्थनिर्णयः ।
तावज्जपेन्मनुं मन्त्री जपहोमं समभ्यसेत् ॥ ९६ ॥

जिनका मन स्थिर है, ऐसे विष्णुभक्त स्वाधिष्ठान चक्र में विष्णु का ध्यान करते हैं । जब तक मन श्रीकृष्ण में लय को न प्राप्त होवे, तब तब तक आत्मा में उक्त प्रकार से श्री कृष्ण का ध्यान करना चाहिए । तभी स्वाधिष्ठान चक्र की सिद्धि होती है, ऐसा योगशास्त्र का निर्णय है तभी तक मन्त्रज्ञ मन्त्र का जप करे तथा जप और होम का अभ्यास करे ॥ ९५-९६ ॥

---

१. सिद्धवने इति—ग० ।
२. चन्द्रायुत इति—ग० ।
३. स्वात्मनि चिन्तयेत् इति—ग० ।

अतः परं न किञ्चिच्च कृत्यमस्ति मनोहरे[1] ।
विदिते परतत्त्वे तु समस्तैर्नियमैरलम् ॥ ९७ ॥
अत[2] एव सदा कुर्यात् ध्यानं योगं मनुं जपेत् ।
तमः परिवृते गेहे घटो दीपेन दृश्यते ॥ ९८ ॥

सिद्धि प्राप्त कर लेने के पश्चात् और कोई कृत्य शेष नहीं रह जाता । क्योंकि मन को हरण करने वाले परतत्त्व परमात्मा का साक्षात्कार हो जाने पर समस्त नियम व्यर्थ ही हैं । इसीलिए सर्वदा ध्यान करे, योग करे, मन्त्र का जप करे, जिस प्रकार अन्धकारपूर्ण घर में रहने वाला घड़ा दीप से दिखाई पड़ता है ॥ ९७-९८ ॥

एवं स यो वृतो ह्यात्मा मनुना गोचरीकृतः ।
इति ते कथितं नाथ मन्त्रयोगमनुत्तमम् ॥ ९९ ॥
कृत्वा पापोद्भवैर्दुःखैर्मुच्यते नात्र संशयः ।
दुर्लभं विषयासक्तैः सुलभं योगिनामपि ॥ १०० ॥

उसी प्रकार माया से आवृत आत्मा मन्त्र के द्वारा प्रत्यक्ष हो जाती है । हे नाथ ! यहाँ तक हमने सर्वश्रेष्ठ मन्त्र योग कहा । ऐसा करने से साधक पापों से तथा सब प्रकार के दुःखों से छूट जाता है इसमें संशय नहीं । यह ध्यान विषयी लोगों के लिए दुर्लभ है तथा योगियों के लिए सुलभ हैं ॥ ९९-१०० ॥

सुलभं न त्यजेद्विद्वान् यदि सिद्धिमिहेच्छति ।
ब्रह्मज्ञानं योगध्यानं मन्त्रजाप्यं क्रियादिकम् ॥ १०१ ॥
यः करोति सदा भद्रो वीरभद्रो हि योगिराट् ।
भक्तिं कुर्यात् सदा शम्भोः श्रीविद्यायाः परात्पराम् ॥ १०२ ॥

विद्वान् साधक यदि सिद्धि चाहे तो उसे इस सुलभ मार्ग का त्याग नहीं करना चाहिए। जो ब्रह्मज्ञानी ! योग, ध्यान, मन्त्र का जाप तथा अपनी क्रिया करता रहता है वह सदा कल्याणकारी योगिराज वीरभद्र बन जाता है । इसलिए सदैव सदाशिव की भक्ति करनी चाहिए अथवा परात्परा श्रीविद्या की भक्ति करनी चाहिए ॥ १०१-१०२ ॥

योगसाधनकाले च केवलं भावनादिभिः ।
मननं कीर्त्तनं ध्यानं स्मरणं पादसेवनम् ॥ १०३ ॥
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ।
एतद्भक्तिप्रसादेन जीवन्मुक्तस्तु साधकः ॥ १०४ ॥

---

१. हरति इति हरा, पचाद्यच् टाप् । मनसो हरा-मनोहरा, तत्सम्बोधने मनोहरे ! इति रूपम्।
२. तालवृन्तेन किं कार्यं लब्धे मलयमारुते ।
मन्त्राभ्यासेन योगेन ज्ञानं ज्ञानाय कल्प्यते ॥
न योगेन बिना मन्त्रो न मन्त्रेण विना हि सः ।
द्वयोरभ्यासयोगो हि ब्रह्मत्वं सिद्धिकारणम् ॥ इति—क० अधिकः पाठः ।

योगिनां वल्लभो भूत्वा समाधिस्थो भवेद्यतिः ॥ १०५ ॥

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने भावार्थनिर्णये पाशवकल्पे षट्चक्रसारसङ्केते सिद्धमन्त्रप्रकरणे भैरवीभैरवसंवादे[१] सप्तविंशः पटलः ॥ २७ ॥

— ❖ —

योगसाधन काल में केवल भावनादि से ही भक्ति करे । मनन, कीर्तन, ध्यान, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन उक्त प्रकार वाली भक्ति के सिद्ध हो जाने पर साधक जीवन्मुक्त हो जाता है और योगियों का वल्लभ हो कर समाधि में स्थित (प्रज्ञ) योगी बन जाता है ॥ १०३-१०५ ॥

॥ श्रीरुद्रयामल के उत्तरतन्त्र में महातन्त्रोद्दीपन में भावार्थ निर्णय में, पाशवकल्प में, षट्चक्रसङ्केत में सिद्धमन्त्रप्रकरण में भैरवी-भैरव संवाद में सत्ताइसवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ २७ ॥

— ❖ —

१. ऊनविंशः पटल इति—क० ।

अथ त्रयस्त्रिंशः पटलः

श्री आनन्दभैरवी उवाच[1]

अथ वक्ष्ये महादेव कुण्डलीकवचं शुभम् ।
परमानन्ददं सिद्धं सिद्धवृन्दनिषेवितम् ॥ १ ॥

आनन्दभैरवी ने कहा—हे महादेव ! अब इसके अनन्तर कल्याणकारी कुण्डलिनी कवच कहती हूँ । यह कवच परमानन्द देने वाला तथा सिद्ध है और सिद्ध समूहों से सुसेवित है ॥ १ ॥

यत्कृत्वा योगिनः सर्वं धर्माधर्मप्रदर्शकाः ।
ज्ञानिनो मानिनो धर्मा विचरन्ति यथामराः ॥ २ ॥
सिद्धयोऽप्यणिमाद्याश्च करस्थाः सर्वदेवताः ।
एतत् कवचपाठेन देवेन्द्रो योगिराड् भवेत् ॥ ३ ॥

इसके पाठ करने से सभी योगी, धर्म-अधर्म का ज्ञान करने वाले, ज्ञानी, मानी तथा धर्मवान् हो जाते हैं और देवताओं के समान पृथ्वी पर विचरण करते हैं । उनके हाथ में सभी अणिमादि सिद्धियाँ तथा सभी देवता हो जाते हैं । इस कवच के पाठ से पाठकर्ता देवेन्द्र तथा योगिराज बन जाता है ॥ २-३ ॥

ऋषयो योगिनः सर्वे जटिलाः कुलभैरवाः ।
प्रातःकाले त्रिवारं च मध्याह्ने वारयुग्मकम् ॥ ४ ॥
सायाह्ने वारमेकं तु पठेत् कवचमेव च ।
पठेदेवं महायोगी कुण्डलीदर्शनं भवेत् ॥ ५ ॥

सभी योगीजन इसका पाठ करने से ऋषि एवं जटा धारण करने वाले भैरव बन जाते हैं । प्रातः काल में तीन बार, मध्याह्नकाल में दो बार, सायङ्काल में एक बार यदि महायोगी इस कवच का पाठ करें तो उन्हें साक्षात् कुण्डलिनी का दर्शन प्राप्त हो जाता है ॥ ४-५ ॥

कुलकुण्डलीकवचस्य ब्रह्मेन्द्र ऋषिर्गायत्री छन्दः, कुलकुण्डली
देवता सर्वाभीष्टसिद्ध्यर्थे विनियोगः ॥

इस कुलकुण्डलीकवच के ब्रह्मेन्द्र ऋषि है; गायत्री छन्द है और कुलकुण्डली देवता है, सभी अभीष्टसिद्धि के लिए इनका विनियोग है ।

---

१. पुस्तके नास्ति—क० ।

कुलकुण्डलीकवचम्

ॐ ईश्वरी जगतां धात्री ललिता सुन्दरी परा ।
कुण्डली कुलरूपा च पातु मां कुलचण्डिका ॥ ६ ॥

विधि—हाथ में जल लेकर 'अस्य कुलकुण्डलीकवचस्य ब्रह्मेन्द्र ऋषिर्गायत्री छन्दः, कुलकुण्डली देवता सर्वाभीष्टसिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः' पर्यन्त वाक्य पढ़कर पाठकर्ता उस जल को पृथ्वी पर अथवा किसी पात्र में गिरा देवे ।

ॐ ईश्वरी, कुलरूपा, जगत् का पालन करने वाली परा, सुन्दरी, ललिता, कुण्डलिनी कुल चण्डिका मेरी रक्षा करें ॥ ६ ॥

शिरो मे ललिता देवी पातूग्राख्या कपोलकम् ।
ब्रह्ममन्त्रेण[1] पुटिता भ्रूमध्यं पातु मे सदा ॥ ७ ॥
नेत्रत्रयं महाकाली कालाग्निभक्षिका शिखाम् ।
दन्तावलीं विशालाक्षी ओष्ठमिष्टानुवासिनी ॥ ८ ॥

ललिता देवी मेरे शिर की रक्षा करें । उग्रनाम वाली देवी मेरे कपोल की तथा ब्रह्ममन्त्र से सम्पुटित देवी मेरे भ्रूमध्य की रक्षा करें । महाकाली तीनों नेत्रों की, कालाग्नि भक्षिका देवी शिखा की, विशालाक्षी दन्त समूहों की एवं इष्ट (यज्ञकर्म में) में निवास करने वाली मेरे ओष्ठ की रक्षा करें ॥ ७-८ ॥

कामबीजात्मिका विद्या अधरं पातु मे सदा ।
लृयुगस्था गण्डयुग्मं माया विश्वा रसप्रिया ॥ ९ ॥
भुवनेशी कर्णयुग्मं चिबुकं क्रोधकालिका ।
कपिला मे गलं पातु सर्वबीजस्वरूपिणी ॥ १० ॥

कामबीजात्मिका महाविद्या सर्वदा मेरे अधर की रक्षा करें । दो प्रकार के लृकार में रहने वाली, रस से प्रेम करने वाली, विश्वा एवं माया दोनों गण्डस्थलों की रक्षा करें । भुवनेशी दोनों कानों की, क्रोधकालिका देवी चिबुक की और सर्व बीजस्वरूपिणी कपिला मेरे गले की रक्षा करें ॥ ९-१० ॥

मातृकावर्णपुटिता कुण्डली कण्ठमेव च ।
हृदयं कालपृथ्वी[2] च कङ्काली पातु मे मुखम् ॥ ११ ॥
भुजयुग्मं चतुर्वर्गा चण्डदोर्द्दण्डखण्डिनी ।
स्कन्धयुग्मं स्कन्दमाता हालाहलगता मम ॥ १२ ॥

मातृका वर्णों से सम्पुटित कुण्डलिनी कण्ठ की और कालपृथ्वी हृदय की तथा कङ्काली देवी मेरे मुख की रक्षा करें । चण्ड के दोनों बाहुओं को खण्ड खण्ड करने वाली चतुर्वर्गा

---

१. ब्रह्मरन्ध्रेण—क० । २. कौल—क० ।

देवी मेरे दोनों भुजाओं की, हालाहल (विष) में रहने वाली स्कन्दमाता मेरे दोनों कन्धों की रक्षा करें ॥ ११-१२ ॥

अङ्गुल्यग्रं कुलानन्दा श्रीविद्या नखमण्डलम् ।
कालिका भुवनेशानी पृष्ठदेशं सदावतु ॥ १३ ॥
पार्श्वयुग्मं महावीरा वीरासनधराभया ।
पातु मां कुलदर्भस्था नाभिमुदरमम्बिका ॥ १४ ॥
कटिदेशं पीठसंस्था महामहिषघातिनी ।
लिङ्गस्थानं महामुद्रा भगं मालामनुप्रिया ॥ १५ ॥

कुलानन्दा अंगुली के अग्रभागों की, श्रीविद्या समस्त नखमण्डलों की, कालिका तथा भुवनेशानी सर्वदा मेरे पृष्ठदेश की रक्षा करें । वीरासन धारण करने वाली महावीरा और अभया मेरे दोनों पार्श्व भाग की, कुलदर्भस्था मेरी तथा अम्बिका मेरे नाभि और उदर प्रदेश की रक्षा करें । पीठ में निवास करने वाली देवी महामहिषघातिनी मेरे कटिदेश की, महामुद्रा लिङ्गस्थान की और माला से प्रेम करने वाली मेरे भग (= ऐश्वर्य) की रक्षा करें ॥ १३-१५ ॥

भगीरथप्रिया धूम्रा मूलाधारं गणेश्वरी ।
चतुर्दलं कक्ष्यपूज्या दलाग्रं मे वसुन्धरा ॥ १६ ॥
शीर्षं राधा रणाख्या च ब्रह्माणी[१] पातु मे मुखम् ।
मेदिनी पातु कमला वाग्देवी पूर्वगं[२] दलम् ॥ १७ ॥

भगीरथ प्रिया धूम्रा और गणेश्वरी मेरे मूलाधार की, कक्ष्य पूज्या देवी मेरे (कुण्डली के) चतुर्दल की तथा वसुन्धरा देवी दल के अग्रभाग की रक्षा करें । राधा तथा रणाख्या मेरे शिरोभाग की, ब्रह्माणी मुख की और मेदिनी वाग्देवी कमला मेरी कुण्डलिनी के पूर्वदल की रक्षा करें ॥ १६-१७ ॥

छेदिनी दक्षिणे पातु पातु चण्डा महातपा ।
चन्द्रघण्टा सदा पातु योगिनी वारुणं दलम् ॥ १८ ॥
उत्तरस्थं दलं पातु पृथिवीमिन्द्रपालिता ।
चतुष्कोणं कामविद्या ब्रह्मविद्याब्जकोणकम् ॥ १९ ॥
अष्टशूलं सदा पातु सर्ववाहनवाहना ।
चतुर्भुजा सदा पातु डाकिनी कुलचञ्चला ॥ २० ॥
मेढ्रस्था मदनाधारा पातु मे चारुपङ्कजम् ।
स्वयम्भूलिङ्गं चार्वाका कोटराक्षी[३] ममासनम् ॥ २१ ॥
कदम्बवनमापातु कदम्बवनवासिनी ।

---

१. ब्राह्मणं पातु मे सदा—ग० । २. सर्वगम् —क० ।
३. कोटरे इवाक्षिणी यस्याः सा ।

वैष्णवी परमा माया पातु मे वैष्णवं पदम् ॥ २२ ॥

छेदिनीदेवी दक्षिण दल की, महातपा, चण्डा, चन्द्रघण्टा एवं योगिनी पश्चिम दल की रक्षा करें । उत्तर दल की, इन्द्र पालिता पृथ्वी (भूपुर) की, कामविद्या चतुष्कोणों की तथा ब्रह्मविद्या कमलरूप कोणों की रक्षा करें ॥ १८-१९ ॥

सर्ववाहन वाहना चतुर्भुजा कुलचञ्चला डाकिनी सदैव मेरे अष्टशूल की रक्षा करें । मेढ्र पर रहने वाली मदनाधारा मेरे सुन्दर कमल की रक्षा करें । चार्वाका स्वयंभू लिङ्ग की तथा कोटराक्षी मेरे आसन की रक्षा करें । कदम्ब वनवासिनी कदम्बवन की रक्षा करें तथा वैष्णवी परमा माया मेरे वैष्णव पद की रक्षा करें ॥ २०-२२ ॥

षड्दलं[१] राकिणी पातु राकिणी कामवासिनी।
कामेश्वरी कामरूपा श्रीकृष्णं पीतवाससम् ॥ २३ ॥
वनमालां वनदुर्गा शङ्खं मे शङ्खिनी[२] शिवा ।
चक्रं चक्रेश्वरी पातु कमलाक्षी गदां मम ॥ २४ ॥
पद्मं मे पद्मगन्धा च पद्ममाला मनोहरा ।
रादिलान्ताक्षरं[३] पातु लाकिनी लोकपालिनी ॥ २५ ॥
षड्दले[४] स्थितदेवांश्च पातु कैलासवासिनी।
अग्निवर्णा सदा पातु गणं[५] मे परमेश्वरी ॥ २६ ॥

कामवासना वाली राकिणी देवी षड्दल की तथा कामरूपा कामेश्वरी उस पर रहने वाले पीताम्बरधारी श्रीकृष्ण की रक्षा करें । मेरी वनमाला की रक्षा वनदुर्गा करें । शिवा शङ्खिनी शङ्ख की, चक्रेश्वरी चक्र की तथा कमलाक्षी मेरे गदा की रक्षा करें ॥ २३-२४ ॥

पद्मगन्धा पद्म की, मनोहरा पद्ममाला की, ब भ म य र ल इन छः अक्षरों की लोकपालिनी लाकिनी रक्षा करें । कैलास वासिनी षड्दल पर स्थित देवताओं की, अग्निवर्णा परमेश्वरी मेरे गणों की सदैव रक्षा करें ॥ २५-२६ ॥

मणिपूरं सदा पातु मणिमालाविभूषणा ।
दशपत्रं दशवर्णं डादिफान्तं त्रिविक्रमा ॥ २७ ॥
पातु नीला महाकाली भद्रा भीमा सरस्वती ।
अयोध्यावासिनी देवी महापीठनिवासिनी ॥ २८ ॥
वाग्भवाद्या महाविद्या कुण्डली कालकुण्डली ।
दशच्छदगतं[६] पातु रुद्रं रुद्रात्मकं मम ॥ २९ ॥

मणिमाला विभूषणा मणिपूर की सदा रक्षा करें । त्रिविक्रमा मणिपूर में रहने वाले ड ढ ण त थ द ध न प फ इन दश वर्णों से युक्त दश पत्ते वाले पद्म की रक्षा करें ॥ २७ ॥

नीला, महाकाली, भद्रा, भीमा, सरस्वती, अयोध्यावासिनी देवी, महापीठाधिवासिनी,

---

१. षड्वर्गम्—ग० । २. शक्तिक्षणी—ग० । ३. वादि—क० ।
४. षड्वर्गस्थितदेवीश्च—ग० । ५. जलम्—ग० । ६. शतम्—क० ।

वाग्भवाद्या, महाविद्या, कुण्डली और कालकुण्डली, दशच्छद पर रहने वाले मेरे रुद्रात्मक रुद्र की रक्षा करें ॥ २८-२९ ॥

सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरा पातु सूक्ष्मस्थाननिवासिनी ।
राकिणी लोकजननी पातु कूटाक्षरस्थिता ॥ ३० ॥
तैजसं पातु नियतं रजकी राजपूजिता ।
विजया कुलबीजस्था तवर्गं तिमिरापहा ॥ ३१ ॥

(मेरे) सूक्ष्म से सूक्ष्म (पाप की) रक्षा करें । सूक्ष्म स्थान में रहने वाली, कूटाक्षर स्थिता, लोकजननी राकिणी नियमपूर्वक मेरे तेज की रक्षा करें । राजपूजिता, रजकी, कुलबीजस्था, तिमिरापहा विजया त वर्ग की रक्षा करें ॥ ३०-३१ ॥

मन्त्रात्मिका मणिग्रन्थिं भेदिनी पातु सर्वदा ।
गर्भदाता भृगुसुता पातु मां नाभिवासिनी ॥ ३२ ॥
नन्दिनी पातु सकलं कुण्डली कालकम्पिता ।
हृत्पद्मं पातु कालाख्या धूम्रवर्णा मनोहरा ॥ ३३ ॥

मन्त्रात्मिका भेदिनी सर्वदा मणिग्रन्थि की रक्षा करें । नाभि में रहने वाली, गर्भदाता भृगुसुता (लक्ष्मी) मेरी रक्षा करें । नन्दिनी, कालकम्पिता, कुण्डली सम्पूर्ण वस्तुओं की रक्षा करें । मनोहरा, धूर्मवर्णा एवं कालाख्या हृत्पद्म की रक्षा करें ॥ ३२-३३ ॥

दलद्वादशवर्णं च भास्करी भावसिद्धिदा ।
पातु मे परमा विद्या कवर्गं कामचारिणी ॥ ३४ ॥
चवर्गं चारुवसना व्याघ्रास्या टङ्कधारिणी ।
चकारं पातु कृष्णाख्या काकिनीं[1] पातु कालिका ॥ ३५ ॥
टकुराङ्गी टकारं मे जीवभावा महोदया ।
ईश्वरी पातु विमला मम हृत्पद्मवासिनी ॥ ३६ ॥
कर्णिकां कालसन्दर्भा योगिनी योगमातरम् ।
इन्द्राणी वारुणी पातु कुलमाला कुलान्तरम् ॥ ३७ ॥

भावसिद्धि प्रदान करने वाली भास्करी द्वादशवर्ण वाले दल की रक्षा करें । कामचारिणी परमा विद्या क वर्ग की रक्षा करें । मनोहर वेश भूषा वाली व्याघ्रमुखी टङ्कधारिणी च वर्ग की रक्षा करें । कृष्णा नाम वाली काकिनी कालिका चकार की रक्षा करें ॥ ३४-३५ ॥

जीवभाव को प्राप्त होने वाली, महान् अभ्युदय देने वाली, टकुराङ्गी टकार की रक्षा करें । मेरे हृदयरूप कमल में निवास करने वाली विमला ईश्वरी मेरी रक्षा करें । कालसंदर्भा कर्णिका की, योगिनी योगमाता की, इन्द्राणी, वारुणी एवं कुलमाला कुलान्तर की रक्षा करें ॥ ३६-३७ ॥

तारिणी शक्तिमाता च कण्ठवाक्यं सदावतु ।
विप्रचित्ता महोग्रोग्रा प्रभा दीप्ता घनासना ॥ ३८ ॥

---

१. काकानी—क० ।

वाक्स्तम्भिनी वज्रदेहा[१] वैदेही वृषवाहिनी ।
उन्मत्तानन्दचित्ता च क्षणोशीशा भगान्तरा ॥ ३९ ॥
मम षोडशपत्राणि पातु मातृतनुस्थिता[१] ।
सुरान् रक्षतु वेदज्ञा सर्वभाषा च कर्णिकाम् ॥ ४० ॥

तारिणी तथा शक्ति माता मेरे कण्ठगत वाक्य की सदा रक्षा करें । १. विप्रचित्ता, २. महोग्रा, ३. उग्रा, ४. प्रभा, ५. दीप्ता, ६. घनासना, ७. वाक्स्तम्भिनी, ८. वज्रदेहा, ९. वैदेही, १०. वृषवाहिनी, ११. उन्मत्ता, १२. आनन्दचित्ता, १३. क्षोणीशा (क्षणोशी?), १४. ईशा, १५. (?) तथा १६. भगान्तरा मेरे षोडश पत्रों की रक्षा करें । मातृतनुस्थिता देवताओं की रक्षा करें, वेदज्ञा सर्वभाषा कर्णिका की रक्षा करें ॥ ३८-४० ॥

ईश्वरार्द्धासनगता प्रपायान्मे सदाशिवम् ।
शाकम्भरी महामाया साकिनी पातु सर्वदा ॥ ४१ ॥
भवानी भवमाता च पायाद् भ्रूमध्यपङ्कजम् ।
द्विदलं व्रतकामाख्या अष्टाङ्गसिद्धिदायिनी ॥ ४२ ॥
पातु नासामखिलानन्दा मनोरूपा जगत्प्रिया ।
लकारं लक्षणाक्रान्ता सर्वलक्षणलक्षणा ॥ ४३ ॥
कृष्णाजिनधरा देवी क्षकारं पातु सर्वदा ।
द्विदलस्थं सर्वदेवं सदा पातु वरानना ॥ ४४ ॥

ईश्वर के आधे आसन पर रहने वाली मेरे सदाशिव की रक्षा करें । शाकम्भरी, महामाया एवं साकिनी मेरी सर्वदा रक्षा करें । भवानी, भवमाता मेरे भ्रूमध्यस्थ पङ्कज की रक्षा करें । अष्टाङ्ग सिद्धि देने वाली व्रतकामाख्या भ्रू पङ्कज में रहने वाले द्विदल की रक्षा करें ॥ ४१-४२ ॥

जगत्प्रिया, मनोरूपा एवं अखिलानन्दा मेरे नासिका की रक्षा करें । लक्षणाक्रान्ता एवं सर्वलक्षणलक्षणा लकार की रक्षा करें । कृष्णमृग का चर्म धारण करने वाली देवी सर्वदा क्षकार की रक्षा करें । वरानना देवी द्विदल पर रहने वाले सभी देवों की रक्षा करें ॥ ४३-४४ ॥

बहुरूपा विश्वरूपा हाकिनी पातु संस्थिता ।
हरापरशिवं पातु मानसं पातु पञ्चमी ॥ ४५ ॥
षट्चक्रस्था सदा पातु षट्चक्रकुलवासिनी ।
अकारादिक्षकारान्ता बिन्दुसर्गसमन्विता ॥ ४६ ॥
मातृकार्णा सदा पातु कुण्डली ज्ञानकुण्डली ।
देवकाली गतिप्रेमा पूर्णा गिरितटं शिवा ॥ ४७ ॥
उड्डीयानेश्वरी देवी सकलं पातु सर्वदा ।
कैलासपर्वतं पातु कैलासगिरिवासिनी ॥ ४८ ॥

---

१. मातुलसंस्थिता—ग० । २. नासा सुनानन्दा—क० ।

पातु मे [२]डाकिनीशक्तिर्लाकिनी राकिणी कला ।
साकिनी हाकिनी देवी षट्चक्रादीन् प्रपातु मे ॥ ४९ ॥

बहुरूपा, विश्वरूपा, संस्थिता हाकिनी, हरा परशिव की रक्षा करें तथा पञ्चमी मेरे मन की रक्षा करें । षट्चक्रो में रहने वाली एवं षट्चक्र कुल में निवास करने वाली बिन्दु तथा सर्ग अर्थात् विसर्ग युक्त अकारादि से लेकर क्षकारान्त वर्ण समुदाय की रक्षा करें ॥ ४५-४६ ॥

ज्ञान का कुण्डल धारण करने वाली कुण्डली मातृका वर्णों की रक्षा करें । देवकाली, गतिप्रेमा तथा पूर्ण शिवा गिरितट से रक्षा करें । उड्डीयानेश्वरी देवी सर्वदा हमारे सम्पूर्ण वस्तुओं की रक्षा करें । कैलास गिरिवासिनी देवी कैलास पर्वत की रक्षा करें । डाकिनी, लाकिनी, राकिणी, साकिनी, हाकिनी तथा कला ये छः शक्ति देवी हमारे षट्चक्रों की सर्वदा रक्षा करें ॥ ४७-४९ ॥

कैलासाख्यं सदा पातु पञ्चानन[१]तनूद्भवा ।
हिरण्यवर्णा रजनी चन्द्रसूर्याग्निभक्षिणी ॥ ५० ॥
सहस्रदलपद्मं मे सदा पातु कुलाकुला ।
सहस्रदलपद्मस्था दैवतं पातु खेचरी ॥ ५१ ॥
काली तारा षोडशाख्या मातङ्गी पद्मवासिनी ।
शशिकोटिगलद्रूपा पातु मे सकलं तमः ॥ ५२ ॥
वने[२] घोरे जले देशे युद्धे वादे[३] श्मशानके ।
सर्वत्र गमने ज्ञाने सदा मां पातु शैलजा ॥ ५३ ॥

पञ्चाननतनूद्भवा देवी कैलास नाम की रक्षा करें, हिरण्यवर्णा रजनी चन्द्र सूर्याग्नि भक्षिणी तथा कुलाकुला हमारे सहस्रदल पद्म की सदा रक्षा करें । खेचरी सहस्रदल पद्म पर रहने वाले समस्त देवताओं की रक्षा करें ॥ ५०-५१ ॥

काली, तारा, षोडशी, मातङ्गी, महालक्ष्मी जिनका स्वरूप करोड़ों चन्द्रमा के समान कान्तिमान् है वे मेरे समस्त अज्ञान रूप अन्धकार की रक्षा करें । घोर वन में, जल प्रदेश में, युद्ध में, विवाद में, श्मशान में और सभी स्थानों की यात्रा में तथा ज्ञान में शैलजा मेरी रक्षा करें ॥ ५२-५३ ॥

पर्वते विविधायासे विनाशे पातु कुण्डली ।
पादादिब्रह्मरन्ध्रान्तं सर्वाकाशं सुरेश्वरी ॥ ५४ ॥
सदा पातु सर्वविद्या सर्वज्ञानं सदा मम ।
नवलक्षमहाविद्या दशदिक्षु प्रपातु माम् ॥ ५५ ॥

पर्वत पर, अनेक प्रकार के आयास साध्य कार्य में तथा विनाश में कुण्डली हमारी रक्षा

---

१. मानं मन—ग० । २. रणे— क० ।
३. युद्धे वा देश शानेके—ग० ।

करें । पैर से लेकर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त तथा सभी सर्वाकाश में सुरेश्वरी हमारी रक्षा करें । सर्वविद्या सदैव मेरे सर्वज्ञान की रक्षा करें । नव लाख की संख्या में होने वाली महाविद्या देवियाँ दशों दिशाओं में हमारी रक्षा करें ॥ ५४-५५ ॥

इत्येतत् कवचं देवि कुण्डलिन्याः प्रसिद्धिदम् ।
ये पठन्ति ध्यानयोगे योगमार्गव्यवस्थिताः ॥ ५६ ॥
ते यान्ति मुक्तिपदवीमैहिके नात्र संशयः ।
मूलपद्मे मनोयोगं कृत्वा हृदासनस्थितः ॥ ५७ ॥
मन्त्रं ध्यायेत् कुण्डलिनीं मूलपद्मप्रकाशिनीम् ।
धर्मोदयां दयारूढामाकाशस्थानवासिनीम्[१] ॥ ५८ ॥

फलश्रुति—प्रकृष्ट सिद्धि देने वाले कुण्डलिनी देवी के इस कवच का जो लोग योगमार्ग का पालन करते हुए ध्यान पूर्वक पाठ करते हैं वे इसी लोक में मुक्त हो जाते हैं इसमें संशय नहीं । मूलाधार के चतुर्दल पद्म में हृदयासन पर स्थित हो मन लगाकर मन्त्र का जप करते हुए मूलाधार पद्म को प्रकाशित करने वाली, धर्म की अभ्युदयकारिणी दयावती आकाश स्थान में रहने वाली कुण्डलिनी का ध्यान करना चाहिए ॥ ५६-५८ ॥

अमृतानन्दरसिकां विकलां सुकलां शिताम् ।
अजितां[२] रक्तरहितां विशक्तां रक्तविग्रहाम् ॥ ५९ ॥
रक्तनेत्रां कुलक्षिप्तां ज्ञानाञ्जनजयोज्ज्वलाम् ।
विश्वाकारां मनोरूपां मूले ध्यात्वा प्रपूजयेत् ॥ ६० ॥

वह कुण्डलिनी देवी अमृतानन्द की रसिक कला रहित (निराकार) सुकला (साकार) शुभ्रवर्णा, अजिता, राग रहित, विशेष आसक्ति वाली, रक्तवर्ण की विग्रह वाली, रक्तनेत्रा, कुल में निवास करने वाली, ज्ञान रूप अञ्जन से विजयोज्ज्वला, विश्वाकारा, मनोरूपा हैं । मूलाधार में स्थित इस प्रकार के स्वरूप वाली उन कुण्डलिनी का ध्यान कर साधक को पूजा करनी चाहिए ॥ ५९-६० ॥

यो योगी कुरुते एवं स सिद्धो नात्र संशयः ।
रोगी रोगात् प्रमुच्येत बद्धो मुच्येत बन्धनात् ॥ ६१ ॥
राज्यं श्रियमवाप्नोति राज्यहीनः पठेद्यदि ।
पुत्रहीनो लभेत् पुत्रं योगहीनो भवेद्वशी ॥ ६२ ॥

जो योगी ऐसा करता है वह सिद्ध हो जाता है इसमें संशय नहीं । इसका पाठ करने से रोगी रोग से मुक्त हो जाता है, बन्धन में पड़ा हुआ व्यक्ति बन्धन मुक्त हो जाता है । यदि राज्य भ्रष्ट इसका पाठ करे तो वह राज्य तो प्राप्त करता ही है श्री भी प्राप्त करता है पुत्रहीन पुत्र प्राप्त करता है, योग न जानने वाला जितेन्द्रिय हो जाता है ॥ ६१-६२ ॥

---

१. वाहिनीम्—ग० । —आकाशस्थाने वसति तच्छीला ताम् ।
२. असिताम्—ग० । —कृष्णामित्यर्थः ।
३. शिखाकाराम्—ग० ।

कवचं धारयेद्यस्तु शिखायां[२] दक्षिणे भुजे ।
वामा वामकरे धृत्वा सर्वाभीष्टमवाप्नुयात् ॥ ६३ ॥
स्वर्णे रौप्ये तथा ताम्रे स्थापयित्वा प्रपूजयेत् ।
सर्वदेशे सर्वकाले पठित्वा सिद्धिमाप्नुयात् ॥ ६४ ॥
स भूयात् कुण्डलीपुत्रो नात्र कार्या विचारणा ॥ ६५ ॥

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने सिद्धिविद्याप्रकरणे षट्चक्रप्रकाशे भैरवीभैरवसंवादे कन्दवासिनीकवचं नाम त्रयस्त्रिंशः[१] पटलः ॥ ३३ ॥

— ❖ —

जो साधक शिखा में अथवा दक्षिण भुजा में इस कवच को धारण करता है अथवा स्त्री बाई भुजा में धारण करे तो उनके सारे अभीष्टों की तत्काल सिद्धि हो जाती है । स्वर्ण के या चाँदी के अथवा ताम्रपात्र में देवी की स्थापना कर पूजा करनी चाहिए । सभी स्थान पर सभी काल में (कवच) पढ़ने से सिद्धि प्राप्त होती है । ऐसा पुरुष कुण्डली का पुत्र बन जाता है, इसमें विचार की आवश्यकता नहीं ॥ ६३-६५ ॥

॥ श्री रुद्रयामल के उत्तरतन्त्र के महातन्त्रोद्दीपन के सिद्धि विद्या प्रकरण में षष्टचक्र प्रकाश में भैरवी भैरव संवाद में कन्दवासिनी कवच नामक तैंतीसवें पटल की डा० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ३३ ॥

— ❖ —

१. पञ्चत्रिंशत्—क० ।

अथ चतुस्त्रिंशः पटलः

आनन्दभैरवी उवाच[1]

अथ भेदान् प्रवक्ष्यामि हिताय जगतां प्रभो ।
निर्मलात्मा शुचिः श्रीमान् ध्यानात्मा[2] च सदाशिवः ॥ १ ॥

आनन्दभैरवी ने कहा—हे प्रभो ! इसके अनन्तर जगत् के हित के लिए (योग को) कहती हूँ । सदाशिव निर्मलात्मा शुचि श्रीमान् ध्यानात्मा हैं ॥ १ ॥

स मोक्षगो ज्ञानरूपी स षट्चक्रार्थभेदकः[3] ।
त्रिगुणज्ञानविकलो[4] न पश्यति दिवानिशम् ॥ २ ॥
दिवारात्र्यज्ञानहेतोर्न पश्यति कलेवरम् ।
इति कृत्वा हि मरणं नृणां जन्मनि जन्मनि ॥ ३ ॥

वही मोक्ष देने वाले ज्ञान स्वरूप तथा षट्चक्रों का भेदन करने वाले हैं । किन्तु मनुष्य दिन रात त्रिगुणात्मक ज्ञान (सत्त्व, रज, तम) से विकल रहने के कारण उनको नहीं देख पाता । दिन रात का ज्ञान न रहने के कारण वह अपने शरीर का भी ध्यान नहीं करता । इसी कारण वह प्रत्येक जन्म में मृत्यु को प्राप्त होता रहता है ॥ २-३ ॥

तज्जन्मक्षयहेतोश्च[5] मम योगं समभ्यसेत् ।
पञ्चस्वरं[6] महायोगं कृत्वा स्यादमरो नरः ॥ ४ ॥

इसलिए जन्म के क्षय के लिए हमारे द्वारा बताए गए योग का अभ्यास करना चाहिए। उस महायोग का नाम पञ्चस्वर है, जिसके करने से मनुष्य अमर हो जाता है ॥ ४ ॥

तत्प्रकारं शृणुष्वाथ[7] वल्लभ प्रियदर्शन ।
तव भावेन[8] कथये न कुत्र वद शङ्कर ॥ ५ ॥

हे वल्लभ ! हे प्रिय दर्शन ! हे शङ्कर ! अब उस पञ्चस्वर नामक महायोग के प्रकार को सुनिए । मैं आपके ऊपर स्नेह के कारण उसे कहती हूँ । अतः उसे अन्यत्र प्रकाशित न कीजिये ॥ ५ ॥

---

१. श्रीभैरवी उवाच—क० । २. ध्यानाचार—ग० । ३. विभेदकः—ग० ।
४. त्रिगुणो विकुको देवोऽनुपश्यति दिवानिशम्—ग० ।
५. तज्जन्य—ग० ।—तज्जन्मनः क्षयस्य हेतुः, तस्येत्यर्थः ।
६. पञ्चामरा—क० । ७. प्राण—ग० ।
८. तदभावेन कायेन कुत्रापि वद शङ्कर—ग० ।

यदि लोकस्य निकटे कथ्यते योगसाधनम्[1] ।
विघ्ना घोरा वसन्त्येव गात्रे योगादिकं कथम् ॥ ६ ॥
योगयोगाद् भवेन्मोक्षः[2] तत्प्रकाशाद्विनाशनम् ।
अतो न दर्शयेद् योगं यदीच्छेदात्मनः शुभम् ॥ ७ ॥

यदि लोगों के सामने योग साधन प्रकाशित हो जाता है तो साधक को महान् विघ्न होने लगते हैं फिर शरीर से किस प्रकार योग संभव हो सकता है । योग से युक्त हो जाने पर मोक्ष प्राप्ति संभव है । यदि योग प्रकाशित हो जाता है तो साधक का विनाश हो जाता है । इसलिए यदि अपना कल्याण चाहे तो अपना योग किसी के सामने प्रगट न करे ॥ ६-७ ॥

कृत्वा पञ्चामरा[3] योगं प्रत्यहं भक्तिसंयुतः ।
पठेत् श्रीकुण्डलीदेवीसहस्रनाम चाष्टकम् ॥ ८ ॥
महायोगी भवेन्नाथ षण्मासे नात्र संशयः ।
पञ्चमे वा[4] योगविद्या सर्वविद्याप्रकाशिनी ॥ ९ ॥

पञ्चामरयोग प्रतिदिन भक्तिपूर्वक निष्पन्न कर श्री कुण्डली देवी के एक हजार आठ नाम का पाठ करना चाहिए । हे नाथ ! ऐसा करने से साधक छः महीने में अथवा पाँच महीने में महायोगी बन जाता है इसमें संशय नहीं । वस्तुतः योगविद्या समस्त विद्याओं को प्रकाशित करने वाली हैं ॥ ८-९ ॥

कृत्वा पञ्चस्वरा सिद्धिं ततोऽष्टाङ्गादिधारणा ।
आदौ पञ्चस्वरा सिद्धिस्ततोऽन्या योगधारणा ॥ १० ॥

पञ्चस्वरों की सिद्धि कर तब अष्टाङ्ग योग वर्णित धारणा करनी चाहिए । अर्थात् पञ्चस्वर की सिद्धि प्रथमतः करके, तदनन्तर अन्य योग धारण का विधान कहा गया है ॥ १० ॥

तत्प्रकारं प्रवक्ष्यामि सावधानावधारय ।
अहं जानामि संसारे केवलं योगपण्डितान् ॥ ११ ॥
तत् साक्षिणी ह्यहं नाथ भक्तानामुदयाय च ।
इदानीं कथये तेऽहं मम वा योगसाधनम् ॥ १२ ॥

हे नाथ ! उसका प्रकार कहती हूँ, सावधान होकर धारण कीजिए । क्योंकि सभी योग पण्डितों में केवल मैं ही उसका विधान जानती हूँ । हे नाथ ! मैं उसकी साक्षिणी हूँ, इसलिए इस समय भक्तों के कल्याण के लिए उसे कहती हूँ, क्योंकि योग साधन आपके पास है अथवा हमारे पास है ॥ ११-१२ ॥

एवं कृत्वा नित्यरूपी योगानामष्टधा यतः ।
ततः कालेन पुरुषः सिद्धिमाप्नोति निश्चितम् ॥ १३ ॥

---

१. योगधारणम्—ग० । २. योगानां योगस्तस्मादित्यर्थः ।
३. स्वरा—ग० । ४. स्वरा—ग० ।

इसे नित्य करके तब अष्टाङ्ग योग करना चाहिए । फिर तो कुछ काल के अनन्तर पुरुष को निश्चित रूप से सिद्धि प्राप्त होती है ॥ १३ ॥

पञ्चामरा विधानानि क्रमेण शृणु शङ्कर ।
नेतीयोगं हि सिद्धानां महाकफविनाशनम् ॥ १४ ॥
दन्तियोगं[1] प्रवक्ष्यामि[2] पश्चाद् हृदयभेदनात् ।
धौतीयोगं ततः पश्चात् सर्वमलविनाशनात्[3] ॥ १५ ॥

हे शङ्कर ! अब पञ्चामर विधान को एक एक के क्रम से सुनिए ! **नेती योग** सिद्धों के समस्त कफ को विनष्ट करने वाला है । उसके पश्चात् हृदय का भेदन करने वाले **दन्तीयोग** कहूँगी । इसके पश्चात् सम्पूर्णमल के विनाश करने वाले **धौती योग** कहूँगी ॥ १४-१५ ॥

नेउलीयोगमपरं सर्वाङ्गोदरचालनात् ।
क्षालनं परमं योगं नाडीनां क्षालनात्[4] स्मृतम् ॥ १६ ॥
एतत् पञ्चामरायोगं यमिनामतिगोचरम्[5] ।
यमनियमकाले[6] तु पञ्चामराक्रियां यजेत् ॥ १७ ॥

फिर सर्वाङ्ग तथा उदर को संचालित करने वाले **नेउली योग** इसके बाद **क्षालन** नामक परमयोग को कहूँगी । नाडियों का प्रक्षालन करने के कारण इसका नाम क्षालन हैं । यह पञ्चामर योग संयम करने वाले योगियों की जानकारी से बाहर है । इसलिए यम नियम के समय योगी को पञ्चामर क्रिया करनी चाहिए ॥ १६-१७ ॥

अमरा साधनादेव[7] अमरत्वं लभेद् ध्रुवम् ।
एतत्करणकाले च तथा पञ्चामरासनम्[8] ॥ १८ ॥
पञ्चामराभक्षणेन[9] अमरो योगसिद्धिभाक् ।

अमरा के साधन से साधक अवश्य ही अमरता प्राप्त कर लेता है, इसके करने के समय पञ्चामरासन तथा पञ्चामरा का भक्षण करने से योग की सिद्धि प्राप्त हो जाती है और साधक अमर हो जाता है ॥ १८-१९ ॥

तानि द्रव्याणि वक्ष्यामि तवाग्रे परमेश्वर ॥ १९ ॥
येन हीना न सिद्ध्यन्ति कल्पकोटिशतेन च ।
एका तु अमरा दूर्वा तस्या ग्रन्थिं समानयेत् ॥ २० ॥

हे परमेश्वर ! अब भक्षण के लिए आपके आगे उन पञ्चामर द्रव्यों को कहती हूँ ।

---

१. दन्तीं—क० । २. ततः पश्चात् हृदयग्रन्थिभेदनात्—ग० ।
३. विनाशनम्—ग० । ४. क्षालनम्—ग० ।
५. स्वरा—ग० । ६. यमाश्च नियमाश्च यमनियमाः, तेषां काले इति भावः ।
७. त्वरक्रियाञ्चरेत्—ग० । ८. पञ्चाखर—ग० । ९. पञ्चमद्या—ग० ।

जिनके बिना सेवन किए कोई सैकड़ों करोड़ कल्प में भी सिद्ध नहीं हो सकता । एक **अमरा दूर्वा** है उसकी ग्रन्थि ले आनी चाहिए ॥ १९-२० ॥

अन्या तु विजया देवी सिद्धिरूपा सरस्वती ।
अन्या तु बिल्वपत्रस्था शिवसन्तोषकारिणी ॥ २१ ॥
अन्या तु योगसिद्ध्यर्थे निर्गुण्डी[1] चामरा मता ।
अन्या तु कालितुलसी श्रीविष्णोः परितोषिणी ॥ २२ ॥

दूसरी अन्य **विजया** देवी हैं जो सिद्धि स्वरूपा सरस्वती हैं, तीसरी **अमरा बिल्वपत्र** में रहने वाली है, जो सदाशिव को तृप्त करने वाली हैं । इसके अतिरिक्त योगसिद्धि के लिए चौथी **निर्गुण्डी अमरा** कही गई है । इसके बाद पाँचवी अमरा **काली तुलसी** हैं, जो श्री विष्णु को संतुष्ट करने वाली हैं ॥ २१-२२ ॥

एताः पञ्चस्वराः ज्ञेया योगसाधनकर्मणि ।
एतासां द्विगुणं ग्राह्यं विजयापत्रमुत्तमम्[2] ॥ २३ ॥

इन्हें पञ्चस्वरा भी कहते हैं, योगसाधन कर्म में इनका उपयोग करना चाहिए । इन सभी का दुगुना उत्तम विजया पत्र ग्रहण करना चाहिए ॥ २३ ॥

ब्राह्मणी क्षत्रिया वैश्या शूद्राः सर्वत्र पूजिताः ।
एतद्द्रव्याणि सङ्ग्राह्य भक्षयेच्चूर्णमुत्तमम् ॥ २४ ॥
तच्चूर्णभक्षसमये एतन्मन्त्रादिपञ्चमम् ।
पठित्वा भक्षणं कृत्वा नरो मुच्येत सङ्कटात् ॥ २५ ॥

ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या और शूद्रा जाति की सभी विजया सर्वत्र पूजनीय हैं । इन द्रव्यों को एकत्रित कर इनका श्रेष्ठ चूर्ण भक्षण करना चाहिए । इनके चूर्ण को भक्षण करते समय इन पाँच मन्त्रों को पढ़कर भक्षण करना चाहिए ऐसा करने से मनुष्य सङ्कटों से छूट जाता है ॥ २४-२५ ॥

ॐ त्वं दूर्वेऽमरपूज्ये त्वं अमृतोद्भवसम्भवे ।
अमरं मां सदा भद्रे कुरुष्व नृहरिप्रिये ॥ २६ ॥
ॐ दूर्वायै नमः स्वाहा इति दूर्वायाः ।
पुनर्विजयामन्त्रेण शोधयेत् सर्वकन्यकाः ।
ॐ संविदे ब्रह्मसम्भूते ब्रह्मपुत्रि सदाऽनघे ।
भैरवाणां च तृप्त्यर्थे पवित्रा भव सर्वदा ॥ २७ ॥
ॐ ब्राह्मण्यै नमः स्वाहा ।
ॐ सिद्धिमूलकरे देवि हीनबोधप्रबोधिनि ।

---

१. नृत्यन्ती—ग० ।
२. विजयाया भङ्गायाः पत्रम् । भङ्गा इति तु 'भाँग' इति लोके प्रसिद्धम् ।

राजपुत्रीवशङ्करि शूलकण्ठत्रिशूलिनि ॥ २८ ॥
ॐ क्षत्रियायै नमः स्वाहा ।
ॐ अज्ञानेन्धनदीप्ताग्नि ज्ञानाग्निज्ज्वालरूपिणि[१] ।
आनन्दाद्याहुतिं कृत्वा[२] सम्यक्ज्ञानं प्रयच्छ मे ॥ २९ ॥
ह्रीं ह्रीं वैश्यायै नमः स्वाहा
ॐ नमस्यामि नमस्यामि योगमार्गप्रदर्शिनि ।
त्रैलोक्यविजये मातः समाधिफलदा भव ॥ ३० ॥
श्रीं शूद्रायै नमः स्वाहा ।
ॐ काव्यसिद्धिकरी[३] देवी बिल्वपत्रनिवासिनि ।
अमरत्वं सदा देहि शिवतुल्यं कुरुष्व माम् ॥ ३१ ॥
ॐ शिवदायै नमः स्वाहा ।
निर्गुण्डि परमानन्दे योगानामधिदेवते ।
सा मां रक्षतु अमरे भावसिद्धिप्रदे नमः ॥ ३२ ॥
ॐ शोकापहायै नमः स्वाहा ।
ॐ विष्णोः प्रिये महामाये महाकालनिवारिणी[४] ।
तुलसी मां सदा रक्ष मामेकममरं कुरु ॥ ३३ ॥
ॐ ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं अमरायै नमः स्वाहा ।
पुनरेव समाकृत्य सर्वासां शोधनञ्चरेत् ॥ ३४ ॥

१. 'ॐ त्वं दूर्वे ... ... नमः स्वाहा' पर्यन्त मन्त्र दूर्वा के लिए है । फिर विजया मन्त्र पढ़कर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र जाति वाली विजया कन्याओं का इस प्रकार शोधन करें ।

२. 'ॐ सम्विदे ... ... ॐ ब्राह्मण्यै नमः स्वाहा' पर्यन्त मन्त्र पढ़कर ब्राह्मण जाति वाली विजया का संशोधन करे । तदनन्तर 'ॐ सिद्धिमूल करे ... ... क्षत्रियायै नमः स्वाहा' पर्यन्त मन्त्र पढ़कर क्षत्रिय जाति वाली विजया का शोधन करे । इसके बाद 'ॐ अज्ञानेन्धन ... ... वैश्यायै नमः स्वाहा' पर्यन्त मन्त्र पढ़कर वैश्या जाति वाली विजया का शोधन करना चाहिए । इसके पश्चात् 'ॐ नमस्यामि ... ... शूद्रायै नमः स्वाहा' पर्यन्त मन्त्र पढ़कर शूद्रा जाति वाली विजया का संशोधन करे ।

३. तदनन्तर 'ॐ काव्यसिद्धिकरी ... .. शिवदायै नमः स्वाहा' पर्यन्त मन्त्र पढ़कर बिल्वपत्र का संशोधन करे ।

४. फिर 'निर्गुण्डि परमानन्दे ... ... शोकापहायै नमः स्वाहा' पर्यन्त मन्त्र पढ़ कर निर्गुण्डी का संशोधन करे ।

५. फिर 'ॐ विष्णो. प्रिये ... ... मामेकममरं कुरु' पर्यन्त पढ़कर काली तुलसी का

---

१. ज्ञानाग्निज्वल—ग० । २. दत्वा—ग० ।

३. काम—ग० ।

४. कालजालविधारिणी—ग० ।—महाकालं निवारयति, तच्छीला ।

संशोधन करे । इसके बाद 'ॐ ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं अमरायै नमः स्वाहा' पर्यन्त मन्त्र पढ़कर सभी को एक में मिलाकर सभी का संशोधन करे ॥ २६-३४ ॥

ॐ अमृते अमृतोद्भवेऽमृतवर्षिणि अमृतमाकर्षय ।
आकर्षय सिद्धिं देहि स्वाहा ।
धेनुमुद्रां योनिमुद्रां मत्स्यमुद्रां प्रदर्शयेत् ।
तत्त्वमुद्राक्रमेणैव तर्पणं कारयेद् बुधः ॥ ३५ ॥

इसके बाद 'ॐ अमृते अमृतोद्भवेऽमृतवर्षिणि अमृतमाकर्षय आकर्षय सिद्धिं देहि स्वाहा' पर्यन्त मन्त्र पढ़कर धेनु मुद्रा,. योनिमुद्रा तथा मत्स्य मुद्रा प्रदर्शित करे । तदनन्तर तत्त्व मुद्रा के क्रम से बुद्धिमान् पुरुष तर्पण भी करावे ॥ ३५ ॥

अमन्त्रकं सप्तवारं[१] गुरोर्नाम्ना शिवेऽर्पयेत् ।
सप्तकञ्च स्वेष्टदेव्या नाम्ना शुद्धिं[२] प्रदापयेत् ॥ ३६ ॥
ततस्तर्पणमाकुर्यात्तर्पयामि नमो नमः ।
एतद्वाक्यस्य पूर्वे च इष्टमन्त्रं समुच्चरेत् ॥ ३७ ॥

उस चूर्ण को बिना मन्त्र पढ़े केवल सात बार गुरु का नाम लेकर सदाशिव को अर्पण करे । तदन्तर सात बार अपनी इष्टदेवी का नाम ले कर शुद्धि करवावे । इसके बाद 'तर्पयामि नमो नमः' मन्त्र पढ़कर तर्पण करें । किन्तु इसके पहले अपने इष्ट देवता का मन्त्र उच्चारण करे ॥ ३६-३७ ॥

परदेवतां समुद्धृत्य सर्वाद्यप्रणवं स्मृतम् ।
ततो मुखे प्रजुहुयात् कुण्डलीनामपूर्वकम् ॥ ३८ ॥

फिर सर्वाद्य प्रणव, तदनन्तर परदेवता, फिर कुण्डली का नाम ले कर अपने मुख में उस चूर्ण की आहुति देवे । मन्त्र का स्वरूप इस प्रकार है 'ॐ परदेवता मे कुण्डल्यै स्वाहा' ॥ ३८ ॥

ॐ ऐं वद वद वाग्वादिनि मम जिह्वाग्रे स्थिरीभव ।
सर्वसत्त्ववशङ्करि[३] शत्रुकण्ठत्रिशूलिनि स्वाहा ।
एतज्जप्त्वा साश्रमी[४] च वशी साधकसत्तमः ।
पञ्चामरा[५] शासनज्ञः कुलाचारविधिप्रियः ॥ ३९ ॥
स्थिरचेता भवेद्योगी यदि पञ्चामरागतः[६] ।

इसके बाद 'ॐ ऐं वद वद वाग्वादिनि मम जिह्वाग्रे स्थिरीभव सर्वसत्त्ववशङ्करी शत्रुकण्ठत्रिशूलिनि स्वाहा' मन्त्र का जप करे । आश्रम युक्त जितेन्द्रिय साधक इस मन्त्र

---

१. सप्तबारमिष्ट—ग० । २. सिद्धिम्—ग० ।
३. स्वर—ग० । ४. यशस्वी—ग० ।
५. पञ्चस्वरा साधकज्ञः—ग० । ६. पञ्चमद्यागतः—ग० ।

का जप कर पञ्चामरा के शासन को जानकार, कुलाचार विधि मे प्रेम रखने वाला, स्थिर चित्त योगी तथा पञ्चाङ्ग का सेवक हो जाता है ॥ ३९-४० ॥

नेतीयोगविधानानि शृणु कैलासपूजिते ॥ ४० ॥
येन सर्वमस्तकस्थकफानां दहनं भवेत् ।

अब हे कैलास पूजित ! नेती के योग के विधान को सुनिए । इसके करने से मस्तक में रहने वाले समस्त कफ जल जाते हैं ॥ ४०-४१ ॥

सूक्ष्मसूत्रं दृढतरं प्रदद्यात् नासिकाबिले[१] ॥ ४१ ॥
मुखरन्ध्रे समानीय सन्धानेन समानयेत् ।
पुनः पुनः सदा योगी यातायातेन[२] घर्षयेत् ॥ ४२ ॥

अत्यन्त पतला किन्तु परिपुष्ट सूत्र नासिका के बिल में डालना चाहिए । फिर उसे मुख के छिद्र से बाहर निकाल कर पुनः पुनः यातायात द्वारा घर्षण करना चाहिए ॥ ४१-४२ ॥

क्रमेण वर्द्धनं कुर्यात् सूत्रस्य परमेश्वर ।
नेतीयोगेन नासाया रन्ध्रं निर्मलकं भवेत् ॥ ४३ ॥
वायोर्गमनकाले तु महासुखमिति प्रभो ।
दन्तीयोगं ततः पश्चात्कुर्यात् साधकसत्तमः ॥ ४४ ॥

हे परमेश्वर ! क्रमशः क्रमशः सूत्र को बढ़ाता रहे । इस प्रकार के नेती योग से नासा का छिद्र सर्वथा निर्मल हो जाता है । जब नासिका छिद्र से वायु का सञ्चार होता है तब, हे प्रभो ! नेती करने वाले को महासुख की अनुभूति होती है । नेती योग के बाद उत्तम साधक दन्ती योग करे ॥ ४३-४४ ॥

दन्तधावनकाले तु योगमेतत् प्रकाशयेत् ।
दन्तधावनकाष्ठञ्च सार्धहस्तैकसम्भवम् ॥ ४५ ॥
नातिस्थूलं नातिसूक्ष्मं नवीनं नम्रमुत्तमम् ।
अपक्वं यत्नतो ग्राह्यं मृणालसदृशं तरुम् ॥ ४६ ॥

यह योग दन्तधावन काल में प्रदर्शित करना चाहिए । दन्तधावन वाला काष्ठ लगभग डेढ़ हाथ का बनाना चाहिए । जो अत्यन्त मोटा न हो और अत्यन्त पतला भी न हो । सर्वथा नवीन कोमल और उत्तम होना चाहिए । यह बहुत पका भी न हो, मृणाल के सदृश न टूटने वाले पेड़ का होना चाहिए ॥ ४५-४६ ॥

गृहीत्वा दन्तकाष्ठं वै योगी[३] नित्यं प्रभक्षयेत् ।
दन्तकाष्ठाग्रभागञ्च कनिष्ठाङ्गुलिपर्वतः ॥ ४७ ॥
एवं दन्तावलिभ्याञ्च चर्वणं सुन्दरं चरेत् ।

---

१. नासिकाया बिलं छिद्रम् ।
२. यातं चायातं चानयोः समाहारस्तेनेत्यर्थः ।
३. तत् क्रमेण तु—ग० ।

ततः प्रक्षाल्य तोयेन शनैर्गिलनमाचरेत् ॥ ४८ ॥
शनैः शनैः प्रकर्त्तव्यं कायावाक्चित्तशोधनम् ।

योगी इस प्रकार के दन्त काष्ठ को लेकर नित्य उसको चबाना चाहिए । दन्त काष्ठ का अग्रभाग कानी अंगुली के पर्व के समान होना चाहिए । ऐसे दन्तकाष्ठ को दाँतों के बल चबाते रहना उत्तम प्रक्रिया है, उसे जल से धो कर धीरे धीरे निगलते रहना चाहिए । इस प्रकार धीरे धीरे शरीर, वाणी एवं चित्त का शोधन करना चाहिए ॥ ४७-४९ ॥

यावदभिन्नकाष्ठाग्रं[१] नाभिमूले त्वनाक्षतम् ॥ ४९ ॥
तावत् सूक्ष्मतरं ग्राह्यमवश्यं प्रत्यहञ्चरेत् ।
हृदये जलचक्रञ्च यावत् खण्डं न जायते ॥ ५० ॥
तावत्कालं सर्वदिने प्रभाते दन्तधावनम्[२] ।
हृदये कफभाण्डस्य खण्डनं जायते ध्रुवम् ॥ ५१ ॥

जब तक काष्ठ का अग्रभाग बिना टूटे हुए बिना क्षति के नाभिमूल में पहुँच न जाय तब तक सूक्ष्मतर दन्त धावन प्रतिदिन आवश्यक रूप से करते रहना चाहिए । जब तक हृदय में रहने वाला जलचक्र खण्डित न हो, तब तक प्रतिदिन प्रभात समय में उक्त दन्तधावन करें, जिससे हृदय में स्थित कफभाण्ड निश्चित रूप से खण्डित हो जाए ॥ ४९-५१ ॥

पवनागमने सौख्यं प्रयाति योगनिर्भरम् ।
खेचरत्वं[३] स लभताम् अम्लानञ्च कटूद्भवम् ॥ ५२ ॥
मिष्टान्नं शाकदध्यन्नं द्विवारं रात्रिभोजनम् ।
अवश्यं सन्त्यजेद्योगी यदि योगमिहेच्छति ॥ ५३ ॥

ऐसा करने से वायु के मुख से वायु का आना सुखपूर्वक होता है, वह आकाश गमन में समर्थ हो जाता है ऐसा करने वाले योगी को खट्टा, कडुआ, मीठा, शाक तथा दधि से मिला हुआ अन्न, दो बार भोजन तथा रात्रि भोजन अवश्यमेव त्याग देना चाहिए ॥ ५२-५३ ॥

एकभागं मुद्गबीजं द्विभागं तण्डुलं मतम् ।
उत्तमं पाकमाकृत्य घृतदुग्धेन भक्षयेत् ॥ ५४ ॥
अथवा केवलं दुग्धं तर्पणं कारयेद् बुधः ।
कुण्डलीं कुलरूपाञ्च दुग्धेन परितर्पयेत् ॥ ५५ ॥

यदि वह योग चाहता हो तो एक भाग मूँग का बीज, उसका दूना चावल मिलाकर उत्तम पाक बनावे, फिर घृत मिश्रित दूध से उसका भक्षण करें । अथवा केवल

---

१. यावन्नायाति काष्ठाग्रं नाभिमूले त्वनाकुलम्—क० ।—न भिन्नं छिन्नं यत् काष्ठं तस्य अग्रमित्यर्थः ।

२. वद् धारणम्—ग० ।

३. खेचरान्नं लवणजं अम्लान्नं कटूद्भवम् —क० ।

दूध से ही बुद्धिमान् साधक उदर की तृप्ति करे क्योंकि कुलरूपा कुण्डलिनी दुग्ध से ही संतुष्ट रहती हैं ॥ ५२-५५ ॥

कुण्डलीतर्पणं योगी यदि जानाति शङ्कर ।
अनायासेन योगी स्यात् स ज्ञानीन्द्रो भवेद्ध्रुवम् ॥ ५६ ॥

हे शङ्कर ! यदि योगी कुण्डली का तर्पण जान ले तो वह अनायास ही योगी बन जाता है और निश्चित रूप से ज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ हो जाता है ॥ ५६ ॥

यमनियमपरो यः कुण्डलीसेवनस्थो
विभवविरहितो वा भूरिभाराश्रितो[१] वा ।
स भवति परयोगी सर्वविद्यार्थवेद्यो
गुणगणगगनस्थो मुक्तरूपी गणेशः ॥ ५७ ॥

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने षट्चक्रप्रकाशे भैरवभैरवीसंवादे पञ्चामरासाधनं[२] नाम चतुस्त्रिशः[३] पटलः ॥ ३४ ॥

— ❖ —

जो यम नियम का अभ्यास करते हुए कुण्डलिनी का सेवन करता है, वह भले ही वैभव रहित हो अथवा भूमिभार से आक्रान्त हो, वह अवश्य ही सर्वश्रेष्ठ योगी बन जाता है, सभी विद्याओं का अर्थ उसे भासित होने लगता है और गुणगणों में सबसे ऊँचा मुक्त स्वरूप तथा गणेश बन जाता है ॥ ५७ ॥

॥ श्री रुद्रयामल के उत्तरतन्त्र में महातन्त्रोद्दीपन के षट्चक्रप्रकाश प्रकरण में भैरवीभैरव संवाद में चौंतीसवें पटल की डा० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ३४ ॥

— ❖ —

---

१. भूति—ग० ।—भूरिभारमाश्रित इत्यर्थः ।
२. पञ्चस्वरायोग—ग० ।   ३. षट्त्रिंशः—क० ।

अथ पञ्चत्रिंशः पटलः

आनन्दभैरवी उवाच

अथ वक्ष्ये महाकाल रहस्यं चातिदुर्लभम् ।
यस्य विज्ञानमात्रेण नरो ब्रह्मपदं लभेत् ॥ १ ॥
आकाशे तस्य राज्यञ्च खेचरेशो भवेद् ध्रुवम् ।
धनेशो भवति क्षिप्रं ब्रह्मज्ञानी भवेन्नरः ॥ २ ॥

श्री आनन्दभैरवी ने कहा—हे महाकाल ! अब अत्यन्त दुर्लभ रहस्य कहती हूँ जिसके जान लेने मात्र से मनुष्य ब्रह्मपद प्राप्त कर लेता है । उसका राज्य आकाश मण्डल में हो जाता है अवश्यमेव वह खेचरगामी हो जाता है । ऐसा मनुष्य शीघ्र ही धनपति बन जाता है तथा ब्रह्मज्ञानी हो जाता है ॥ १-२ ॥

योगानामधिपो राजा वीरभद्रो यथाकविः ।
विरिञ्चिगणनाथस्य[१] कृपा भवति सर्वदा ॥ ३ ॥

वह वीरभद्र के समान योगेश्वर तथा शुक्र के समान हो जाता है । उसके ऊपर सर्वदा विरिञ्चि (ब्रह्मा) तथा गणनाथ (गणेश) की कृपा रहती है ॥ ३ ॥

यः करोति पञ्चयोगं स स्यादमरविग्रहः ।
धौतीयोगं प्रवक्ष्यामि यत्कृत्वा निर्मलो भवेत् ॥ ४ ॥

जो पञ्चयोग (नेती आदि) की क्रिया करता है वह शरीर से अमर हो जाता है । अब मैं धौत योग कहूँगी, जिसके करने से साधक निष्पाप हो जाता है ॥ ४ ॥

अत्यन्तगुह्यं योगं च समाधिकरणं नृणाम् ।
यदि न कुरुते योगं तदा मरणमाप्नुयात् ॥ ५ ॥

यह योग अत्यन्त, गुप्त है, मनुष्यों को समाधि प्रदान करता है । यदि इस योग का अनुष्ठान नहीं किया गया तो मृत्यु की प्राप्ति होती है ॥ ४-५ ॥

धौतीयोगं विना नाथ कः सिद्ध्यति महीतले ।
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं वस्त्रं द्वात्रिंशद्धस्तमानतः[२] ॥ ६ ॥

---

१. गोविन्द—क० ।   २. कुम्भमानकम्—ग० ।

एकहस्तक्रमेणैव यः करोति शनैः शनैः ।
यावद् द्वात्रिंशद्धस्तञ्च[१] तावत्कालं क्रियाञ्चरेत् ॥ ७ ॥

हे नाथ ! इस भूतल पर धौती योग के बिना कौन सिद्ध हो सकता है ? पतला से पतला वस्त्र जो प्रमाण में ३२ हाथ लम्बा हो उसे ग्रहण करे । एक एक हाथ के क्रम से धीरे-धीरे जो प्रतिदिन निगलता है जब तक ३२ हाथ का निगलन न कर ले तब तक इस क्रिया को करते रहना चाहिए ॥ ६-७ ॥

एतत्क्रिया[२] प्रयोगेण योगी भवति तत्क्षणात् ।
क्रमेण मन्त्रसिद्धिः स्यात् कालजालवशं नयेत् ॥ ८ ॥
एतन्मध्ये चासनानि शरीरस्थानि चाचरेत् ।
दृढासने योगसिद्धिरिति तन्त्रार्थनिर्णयः[३] ॥ ९ ॥

इस क्रिया के अनुष्ठान से साधक तत्क्षण योगी बन जाता है, उसे मन्त्र की सिद्धि हो जाती है तथा वह काल समूहों को अपने वश में कर लेता है । इस क्रिया के करते समय शरीर में होने वाले आसनों को करता रहे । क्योंकि आसन के दृढ़ होने पर ही योगसिद्धि होती है, ऐसा तन्त्र शास्त्रों के द्वारा अर्थ निर्णय किया गया है ॥ ८-९ ॥

सिद्धे मनौ परावाप्तिः पञ्चयोगासनेन च ।
पार्श्वे चाष्टाङ्गुलं वस्त्रं दीर्घे द्वात्रिंशदीश्वर ॥ १० ॥
एतत् सूक्ष्मं सुवसनं गृहीत्वा कारयेद् यतिः ।
जितेन्द्रियः सदा कुर्याद् ज्ञानध्याननिषेवणः ॥ ११ ॥
कुलीनः पण्डितो मानी विवेकी सुस्थिराशयः ।
धौतीयोगं सदा कुर्यात्तदेव शुचिगो भवेत् ॥ १२ ॥

पञ्चयोगासन से मन्त्र सिद्ध होता है और मन्त्र सिद्ध होने पर तत्त्व प्राप्त होता है । हे ईश्वर ! आठ अंगुल चौड़ा तथा ३२ अंगुल लम्बा अत्यन्त पतला सुन्दर वस्त्र ले कर यति को इस क्रिया का आरम्भ करना चाहिए । जितेन्द्रिय, ज्ञान और ध्यान में परायण कुलीन, पण्डित, मानी, विवेकी तथा स्थिर अन्तःकरण वाले साधक को धौतीयोग सर्वदा करना चाहिए, इसके करने से वह सर्वथा पवित्र हो जाता है ॥ १०-१२ ॥

अनाचारेण हानिः स्यादिन्द्रियाणां बलेन च ।
महापातकमुख्यानां सङ्गदोषेण हानयः ॥ १३ ॥

अनाचार करने से हानि तो होती ही है इन्द्रियों के बलवान् होने से तथा प्रधान महापातकों के सङ्ग दोष से भी अनेक हानियाँ उठानी पड़ती है ॥ १३ ॥

सम्भवन्ति महादेव कालयोगं सुकर्म च ।
वृद्धो वा यौवनस्थो वा बालो वा जड एव च ॥ १४ ॥

---

१. घात्रि कुम्भकञ्च—ग० ।

२. एषा चासौ क्रिया च, तस्याः प्रयोगः, तेनेत्यर्थः ।　　　३. मन्त्रार्थ—ग० ।

करणाद्दीर्घजीवी स्यादमरो लोकवल्लभः ।
मन्त्रसिद्धिरष्टसिद्धिः स सिद्धीनामधीश्वरः ॥ १५ ॥

हे महादेव ! उत्तम काल में इस पुण्यधर्म को करना चाहिए । चाहे वृद्ध हो, चाहे जवानी की अवस्था में, चाहे बालक अथवा जड़ ही क्यों न हो, इस क्रिया के करने से दीर्घजीवी, अमर तथा लोकप्रिय होता है, मन्त्रसिद्धि (और अणिमा, महिमा आदि) अष्टसिद्धि प्राप्त करता है तथा सिद्धों का अधीश्वर बन जाता है ॥ १४-१५ ॥

शनैः शनैः सदा कुर्यात् कालदोषविनाशनात् ।
हृदयग्रन्थिभेदेन[1] सर्वावयववर्धनम्[2] ॥ १६ ॥

यह क्रिया धीरे-धीरे और सर्वदा करते रहना चाहिए, फिर काल के दोषों के विनष्ट हो जाने पर तथा हृदयान्तर्गत ग्रन्थि के नष्ट हो जाने पर साधक के शरीरावयवों की वृद्धि होने लगती है ॥ १७ ॥

तदा महाबलो ज्ञानी चारुवर्णो महाशयः ।
धौतीयोगोद्भवं कामं महामरणकारणम् ॥ १७ ॥

वह महाबलवान्, ज्ञानी, मनोहर वर्ण का तथा महाशय हो जाता है । धौती योग का अनुष्ठान करते समय यदि कामवासना उत्पन्न हो गई तो उसे महामरण का कारण समझना चाहिए ॥ १७ ॥

तस्य त्यागं यः करोति स नरो देवविक्रमः ।
श्वासं त्यक्त्वा स्तम्भनञ्च मनो दद्यान्महानिले ॥ १८ ॥

जो उस कामवासना का परित्याग कर देता है, वह साधक साक्षात् देवता के समान पुरुषार्थी है । श्वास का परित्याग कर उसे स्थिर रखे तथा मन को महानिल (प्राणायाम) में लगावे ॥ १८ ॥

श्वासादीनाञ्च गणनमवश्यं भावयेद् गृहे ।
प्राणायामविधानेन सर्वकालं सुखी भवेत् ॥ १९ ॥
वायुपानं सदा कुर्यात् ध्यानं कुर्यात्सदैव हि ।
प्रत्याहारं सदा कुर्यात् मनोनिवेशनं सदा ॥ २० ॥

घर पर प्राणायाम करते समय श्वास की गणना अवश्य करते रहना चाहिए । इस प्रकार के प्राणायाम के विधान से साधक सभी कालों में सुखी रहता है । सर्वदा वायुपान करें तथा सदैव ध्यान करे । इसी प्रकार इन्द्रियों को समेट कर सदा प्रत्याहार करे । जिससे मन परमात्मा में सन्निविष्ट हो जावे ॥ १९-२० ॥

---

१. हृदयस्य ग्रन्थिस्तस्य भेदेनेत्यर्थः ।
२. सर्वे च ते अवयवास्तेषां वर्धनम् ।

मानसादिप्रजाप्यञ्च सदा कुर्यान्मनोलयम् ।
धौतीयोगान्तरं हि नेउलीङ्कर्म चाचरेत् ॥ २१ ॥
नेउलीयोगमात्रेण[१] आसने नेउलोपमः ।
नेउलीसाधनादेव चिरजीवी निरामयः ॥ २२ ॥

मानस जाप कर सदा मन का (ध्यान में) लय करे । धौतीयोग करने के अनन्तर नेउली कर्म का अनुष्ठान करना चाहिए । साधक नेउली के योग मात्रा से आसन पर नेउली के समान हो जाता है नेउली की साधना मात्रा से वह चिरञ्जीवी तथा नीरोग हो जाता है ॥ २१-२२ ॥

अन्तरात्मा सदा मौनी निर्मलात्मा सदा सुखी ।
सर्वदा समयानन्दः कारणानन्दविग्रहः ॥ २३ ॥
योगाभ्यासं सदा कुर्यात् कुण्डली साधनादिकम् ।
कृत्वा मन्त्री खेचरत्वं प्राप्नोति नात्र संशयः ॥ २४ ॥

उसकी अन्तरात्मा सदा मौन हो जाती है वह निर्मलात्मा हो कर सदा सुखी हो जाता है वह योगाचार के समय से आनन्द प्राप्त करता है और इस नेउली के कारण उसका शरीर आनन्द से प्रफुल्लित रहता है । साधक को कुण्डलिनी साधनादि योगाभ्यास सदा करते रहना चाहिए । कुण्डलिनी साधन करने पर मन्त्रवेत्ता खेचरता प्राप्त कर लेता है, इसमें संशय नहीं ॥ २३-२४ ॥

तत्प्रकारं प्रवक्ष्यामि सावधानावधारय ।
भुक्त्वा मुद्गान्नपक्वञ्च बारैकं प्रतिपालयेत् ॥ २५ ॥
प्रपालयेत्सोदरञ्च कटिनासाविवर्जितः[२] ।
पुनः पुनश्चालनञ्च कुर्यात्[३] स्वोदरमध्यकम् ॥ २६ ॥

हे सदाशिव ! अब उस नेउली का प्रकार कहती हूँ सावधान हो कर सुनिए । मात्र एक बार पका हुआ अन्न खाकर उसके पचने तक प्रतीक्षा करे । फिर कटि तथा नासा को छोड़कर उदर का मध्य भाग बारम्बार संचालन करे ॥ २५-२६ ॥

कुलालचक्रवत् कुर्यात् भ्रामणञ्चोदरस्य च ।
सर्वाङ्गचालनादेव कुण्डलीचालनं भवेत् ॥ २७ ॥
चालनात् कुण्डलीदेव्याश्चैतन्या सा भवेत् प्रभो ।

उदर का सञ्चालन कुम्हार के चक्र के समान करना चाहिए । उदर के सर्वांग संचालन से कुण्डलिनी भी चलने लगती है । कुण्डली देवी के सञ्चालन से, हे प्रभो ! वह चेतनता प्राप्त करती है । (यहाँ तक नेउली क्रिया कही गई) ॥ २७-२८ ॥

---

१. कर्मयोगेन इति—ग० ।—कर्मणां योगेनेति षष्ठीतत्पुरुषः । अत्र कुमति चेति सूत्रेण नित्यं णत्वं भवितुमर्हति । किन्तु युवादेर्नेति वार्तिकेन निषेधः ।

२. कटि इति—ग० । ३. शीलनञ्च इति—क० ।

एतस्यानन्तरं नाथ क्षालनं परिकीर्तितम् ॥ २८ ॥
नाडीनां क्षालनादेव सर्वविद्यानिधिर्भवेत् ।
सर्वत्र जयमाप्नोति कालिकादर्शनं भवेत् ॥ २९ ॥

अब इसके बाद क्षालन की क्रिया करनी चाहिए । नाड़ियों के प्रक्षालन से साधक सभी विद्याओं का निधि बन जाता है । वह सर्वत्र विजय प्राप्त करता है तथा कालिका का दर्शन उसको होता है ॥ २८-२९ ॥

वायुसिद्धिर्भवेत्तस्य पञ्चभूतस्य सिद्धिभाक् ।
तस्य कीर्तिस्त्रिभुवने कामदेवबलोपमः ॥ ३० ॥
सर्वत्रगामी स भवेदिन्द्रियाणां पतिर्भवेत् ।
मुण्डासनं[१] हि सर्वत्र सर्वदा कारयेद् बुधः ॥ ३१ ॥

उस साधक को वायुसिद्धि हो जाती है तथा वह पञ्चभूतों के साधन का अधिकारी हो जाता है उसकी त्रिभुवन में कीर्ति होती है तथा कामदेव के समान बलवान् होता है । उसकी सर्वत्र अबाध गति हो जाती है, वह अपने इन्द्रियों का स्वामी हो जाता है । बुद्धिमान् साधक सर्वत्र सर्वदा मुण्डासन (शीर्षासन) करे ॥ ३०-३१ ॥

ऊर्द्ध्वे मुण्डासनं[२] कृत्वा अधोहस्ते जपं चरेत् ।
यदि त्रिदिनमाकर्तुं समर्थो मुण्डिकासनम् ॥ ३२ ॥
तदा हि सर्वनाड्यश्च वशीभूता न संशयः ।
नाडीक्षालनयोगेन मोक्षदाता स्वयं भवेत् ॥ ३३ ॥

ऊपर की ओर पैर, नीचे अपने शिर का आसन (द्र० २३, २४, २५) बनावे तदनन्तर नीचे की ओर रहने वाले हाथ से जप करें । यदि साधक मात्र तीन दिन तक मुण्डिकासन करने में समर्थ हो तो उसके शरीर की सभी नाडियाँ वशीभूत हो जाती हैं इसमें संशय नहीं । नाड़ी क्षालन नामक योग करने से वह स्वयं मोक्ष का अधिकारी हो जाता है ॥ ३२-३३ ॥

नाडीयोगेन सर्वार्थसिद्धिः स्यान्मुण्डिकासनात् ।
मुण्डासन यः करोति नेऊलि-सिद्धिगो यदि ॥ ३४ ॥
नेऊलीसाधनगतो नेऊलीसाधनोत्तमः ।
तदा क्षालनयोगेन सिद्धिमाप्नोति साधकः ॥ ३५ ॥

मुण्डिकासन करने से तथा नाडी क्षालन योग से सभी अर्थों की सिद्धि हो जाती है । नेउली की सिद्धि करने वाला जो पुरुष है, वही मुण्डासन करे । नेउली साधन करने वाला जब नेउली साधन में निपुण हो जाय तब वह साधक नाडियों का क्षालन योग कर सिद्धि प्राप्त करता है ॥ ३४-३५ ॥

---

१. मुद्रासनम् इति—क० । २. पद्मासतम् इति—ग० ।

नेऊलीं यो न जानाति स कथं कर्तुमुत्तमः ।
स धीरो मानसचरो मतिमान् स[१] जितेन्द्रियः ॥ ३६ ॥

जो नेउली क्रिया नहीं जानता वह उससे आगे की क्रिया करने में किस प्रकार समर्थ हो सकता है । वही धीर है वही मानस राज्य में सञ्चरण करने वाला है वही मतिमान् तथा जितेन्द्रिय भी है ॥ ३६ ॥

यो नेऊली योगसारं कर्तुमुत्तमपारगः ।
स चावश्य क्षालनञ्च कुर्यात् नाड्यादिशोधनात्[२] ॥ ३७ ॥
नेऊलीयोगमार्गेण नाडीक्षालनपारगः ।
भवत्येव महाकाल राजराजेश्वरो यथा ॥ ३८ ॥

जो साधक नेउली योगसार करके उसके अनन्तर उसका उत्तम पारगामी बन जाता है, उसे नाड्यादि शोधन के विधान से अवश्य ही क्षालन योग करना चाहिए नेउली योग के मार्ग से नाडी क्षालन का पारगामी पुरुष, हे महाकाल ! राज राजेश्वर के समान हो जाता है ॥ ३६-३८ ॥

पृथिवीपालनरतो विग्रहस्ते प्रपालनम् ।
केवलं प्राणवायोश्च धारणात्[३] क्षालनं भवेत् ॥ ३९ ॥

वह पृथ्वीपालन में निरत रहकर मात्र शरीर धारण करता है । केवल प्राणवायु (प्राणायाम) के धारण करने से भी नाडियों का संक्षालन हो जाता है ॥ ३९ ॥

विना क्षालनयोगेन देहशुद्धिर्नजायते ।
क्षालनं नाडिकादीनां कफपित्तमलादिकम् ॥ ४० ॥
करोति यत्नतो योगी मुण्डासननिषेवणात्[४] ।
वायुग्रहणमेवं हि नेऊलीवशकालके ॥ ४१ ॥

क्षालन क्रिया के किए बिना देह शुद्धि कदापि संभव नहीं है । मुण्डासन का अभ्यास करने वाला योगी साधक नाडी में रहने वाले कफ, पित्तादि समस्त मलों को अपने प्रयत्न से प्रक्षालित कर देता है । इसी प्रकार हे नाथ ! नेउली के वश करने वाले काल में केवल वायु भी ग्रहण नहीं करना चाहिए ॥ ४०-४१ ॥

न कुर्यात् केवलं नाथ अन्यकाले सदा चरेत् ।
यावन्नेऊलीं न जानाति तावत् वायुं न संपिबेत् ॥ ४२ ॥
बहुतरं न सङ्ग्राह्यं वायोरागमनादिकम्[५] ।
केवलं श्वासगणनं यावन्नेऊली न सिद्ध्यति ॥ ४३ ॥

---

१. त्रिदिनमाकर्णय (?) इति—ग० ।
२. धारणम् इति—ग० ।
३. हार्ये इति—ग० ।
४. नादिमासनम् इति—ग० ।
५. आगमनमादिर्यस्य तदिति बहुव्रीहिसमासः ।

अन्यकाल में सर्वदा वायु ग्रहण करे । जब तक नेउली का ज्ञान न हो तब तक वायुपान न करे । अधिक संख्या में वायु का आगमन ग्रहण न करें । जब तक नेउली सिद्ध न हो तब तक केवल श्वास गणना (प्राणायाम) ही करे ॥ ४२-४३ ॥

पञ्चस्वरा[१] प्रकथिता[२] योगिनी सिद्धिदायिका ।
पञ्चस्वरसाधनादेव[३] पञ्चवायुर्वशो भवेत् ॥ ४४ ॥
प्रतापे सूर्यतुल्यः स्यात् शोकदोषापहारकः ।
सर्वयोगस्थिरतरं संप्राप्य योगिराड् भवेत् ॥ ४५ ॥

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने षट्चक्रप्रकाशे भैरवभैरवी संवादे पञ्चस्वरयोगसाधनं नाम पञ्चत्रिंशः[४] पटलः ॥ ३५ ॥

— ❖ —

योगिनी सिद्ध करने वाले पञ्चस्वरों का वर्णन हमने पूर्व में कर दिया है । पञ्चस्वरों की साधना से ही पञ्च प्राणवायु वशीभूत हो जाते हैं । पञ्चवायु को वश में करने वाला साधक प्रताप में सूर्य के समान शोक और दोषों को दूर कर देता है तथा सर्वयोग से स्थिर वायु को प्राप्त कर योगिराज बन जाता है ॥ ४४-४५ ॥

॥ श्री रुद्रयामल के उत्तर तन्त्र में महामन्त्रोद्दीपन प्रकरण के षट्चक्र प्रकाश वर्णन में भैरवीभैरव संवाद में साधन नामक पैंतीसवें पटल की डा० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ३५ ॥

— ❖ —

१. श्वासोच्छ्वासं प्रगणयेत यावन्नेऊली न सिव्यति इति—क अधिकः पाठः ।
२. पञ्चामरा इति—क० । ३. पञ्चमे साधनादेव इति—ग० ।
४. सप्तत्रिंशः इति—क० ।

सप्तमः पटलः

प्रातःकृत्यादि शौचान्तकर्मनिरूपणम्

एवं सद्भावमापन्नो मन्त्राराधनमाचरेत् ।

तत्प्रथमतः प्रातःकृत्यमेव निरूप्यते । यदकरणे दोषमाह यामले—

प्रातःकृत्यमकृत्या तु यो देवं भक्तितोऽर्चयेत् ।
तस्य पूजा तु विफला शौचहीना यथा क्रिया ॥ १ ॥

इस प्रकार शक्ति को ही सर्वप्राधान्य मानकर साधक मन्त्राराधन में प्रवृत्त हो जावे—इसलिये सर्वप्रथम प्रात:कृत्य का निरूपण किया जा रहा है जिसके न करने से दोष होता है ऐसा यामल का वचन है—

जो साधक प्रात:कृत्य किये बिना देवता की भक्तिपूर्वक अर्चना करता है उसकी सारी पूजा व्यर्थ है और उसी प्रकार फलहीन है जिस प्रकार अशौचावस्था में किया गया सारा कर्म व्यर्थ रहता है ॥ १ ॥

अतः—

ब्राह्मे मुहूर्त्ते चोत्थाय चिन्तयेद् गुरुदैवतम् ।
स्वमूर्धनि सहस्रारे शिवाख्यपुरविन्दुके ॥ २ ॥ इति।

इसलिये—साधक ब्राह्ममुहूर्त्त में उठकर गुरु और देवता का ध्यान करे । वह ध्यान अपने शिर स्थान में स्थित सहस्रार चक्र में स्थित बिन्दु में करे जहाँ शिव का निवास है ॥ २ ॥

ब्राह्ममुहूर्त्तमाह यामले—

द्वौ दण्डौ रात्रिशेषे तु मुहूर्त्तं ब्राह्मकं विदुः ॥ ३ ॥ इति ।

अब ब्राह्ममुहूर्त्त का लक्षण, जैसा यामल में कहा है, उसे कहते हैं—जब रात्रि दो दण्ड अर्थात् एक मुहूर्त्त शेष रहे, तो उसे 'ब्रह्ममुहूर्त्त' कहते हैं ॥ ३ ॥

गुरुध्यानञ्च तत्रैव—

ब्राह्मे मुहूर्त्ते चोत्थाय कृत्वा शौचादिकं सुधीः ।

परिधायाम्बरं शुद्धं मन्त्रस्नानं समाचरेत् ॥ ४ ॥

सुधी साधक ब्राह्ममुहूर्त्त में उठकर, शौचादि क्रिया सम्पन्न कर, शुद्ध वस्त्र धारण कर प्रथम मन्त्र स्नान करे ॥ ४ ॥

मन्त्रस्नानं यथा यामले—

प्राणायामप्रयोगेन चिन्तयेन्मूलमात्मनः ।
मन्त्रदैवतयोरैक्यं मन्त्रस्नानं विदुर्बुधाः ॥ ५ ॥

मन्त्रस्नान का प्रकार जैसा यामल में कहा है उसे कहते हैं—प्राणायाम का प्रयोग करते हुये अपने मूल (कुतोऽहं समागतः) का चिन्तन करे । बुद्धिमान् लोग मन्त्र और मन्त्रदेवता की एकता को मन्त्र स्नान कहते हैं ॥ ५ ॥

तद्यथा—

इडा भगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी ।
तयोरन्तर्गता नाडी सुषुम्णाख्या सरस्वती ॥ ६ ॥

वह इस प्रकार—इडा भगवती गङ्गा है, पिङ्गला यमुना नदी है और उन दोनों के बीच में रहने वाली नाडी सुषुम्ना है जो सरस्वती है ॥ ६ ॥

ज्ञानह्रदे ध्यानजले रागद्वेषसमाकुले ।
यः स्नाति मानसे तीर्थे तस्य जन्म न विद्यते ।
इदं मानसिकं स्नानं प्रोक्तं हरिहरादिभिः ॥ ७ ॥ इति।

ज्ञान ह्रद है, उसमें ध्यान जल है, जिसमें रागद्वेष का निवास है, ऐसे मानस तीर्थ में जो स्नान करता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता । हरिहर आदि आचार्यों ने इसी को मानसिक स्नान कहा है ॥ ७ ॥

मन्त्रतन्त्रप्रकाशे—

स्मृत्युक्तेन विधानेन सम्यक् शौचं विधाय च।
प्रक्षाल्य पादावाचम्य कृत्त्वा न्यासं यतात्मवान्॥ ८ ॥

मन्त्रतन्त्रप्रकाश में भी बतलाया गया है—स्मृति में कहे गये नियम के अनुसार जितेन्द्रिय पुरुष शौच क्रिया कर पाद प्रक्षालन करे । फिर आचमन कर न्यास करे ॥ ८ ॥

प्रविश्य देवतास्थानं निर्माल्यमपकृष्य च ।
दद्यात् पुष्पाञ्जलिं विद्वानर्घ्यपाद्ये तथैव च ॥ ९ ॥

फिर देवतास्थान (मन्दिर) में प्रवेश कर निर्माल्य का अपसारण करे । फिर विद्वान् अर्घपात्र में पुष्पाञ्जलि देवे ॥ ९ ॥

मुखप्रक्षालनं दद्यात् दद्याद् वै दन्तधावनम् ।
दद्यादाचमनीयं च दद्याद् वासोऽमलं शुभम् ॥ १० ॥

तदनन्तर मुख प्रक्षालन देवे, फिर दन्तधावन देवे, फिर आचमन करावे, तदनन्तर शुद्ध श्वेत वस्त्र देवे ॥ १० ॥

नमस्कृत्यासने शुद्धे उपविश्य गुरुं स्मरेत् ।
शिरस्थशुक्लपद्मस्थं प्रसन्नं द्विभुजाक्षिकम् ॥ ११ ॥
शशाङ्कामृतसङ्काशं वराभयलसत्करम् ।
शुक्लाम्बरधरं श्रीमच्छुक्लमाल्यानुलेपनम् ॥ १२ ॥
वामोरौ रक्तशक्त्या च युतं पद्मकरस्थया ।
एवं ध्यात्वा पुनश्चैनं पञ्चभूतमयैर्यजेत् ॥ १३ ॥

तदनन्तर साधक देवता को नमस्कार कर, शुद्ध आसन पर बैठ कर, गुरु का इस प्रकार स्मरण करे—जो शिर पर रहने वाले शुक्ल वर्ण के पद्म पर स्थित हैं, जिनकी दो भुजायें तथा दो नेत्र हैं । जो चन्द्रमा में रहने वाले अमृत के समान शुक्ल वर्ण का शुद्ध अम्बर धारण किये हुये हैं और शुक्ल माल्य तथा शुक्ल अनुलेपन धारण किये हुये हैं । जो अपने बायें ऊरु पर रक्त पद्म धारण की हुई शक्ति विराजमान है, इस प्रकार गुरु का ध्यान करने के बाद पञ्चभूतमय पदार्थों से उनकी इस प्रकार पूजा करे ॥ ११-१३ ॥

गन्धतत्त्वं पार्थिवस्य कनिष्ठाङ्गुष्ठयोगतः ।
खमयं च महापुष्पं तर्जन्यङ्गुष्ठयोगतः ॥ १४ ॥
वायुरूपं महाधूपं तर्जन्या विनियोजयेत् ।
तेजोरूपं महादीपं मध्यमाङ्गुष्ठयोगतः ॥ १५ ॥
अमृतं चैव नैवेद्यमनामाङ्गुष्ठयोगतः ।
अञ्जल्याऽथ नमस्कारं ताम्बूलं वाग्भवात्स्मृतम् ॥ १६ ॥

१. 'गुरवे नमः पार्थिवं गन्धतत्त्वं समर्पयामि', ऐसा कहकर कनिष्ठा अङ्गुष्ठ के योग से गन्ध देवे । २. इसी प्रकार खमयं महापुष्पं समर्पयामि, कहकर तर्जनी अङ्गुष्ठ के योग से महापुष्प देवे । ३. फिर 'वायुरूपं महाधूपं समर्पयामि' कहकर तर्जनी अङ्गुष्ठ के योग से धूप देवे । ४. 'तेजोरूपं महादीपं समर्पयामि' कहकर मध्यमा अङ्गुष्ठ मिलाकर दीप प्रदान करे । फिर 'अमृतं चैव नैवेद्यं समर्पयामि' कहकर अनामा अङ्गुष्ठ मिलाकर नैवेद्य समर्पित करे । अञ्जलि से नमस्कार करे और वाग्भव बीज (ऐं) से ताम्बूल प्रदान करे ॥ १४-१६ ॥

स्वस्वबीजेन सर्वं तु नमस्कारेण योजयेत् ।
गुरोर्मन्त्रं प्रयत्नेन प्रजपेत् सुरवन्दिते ॥ १७ ॥

पञ्चभूतों के बीज—पृथ्वी का 'लं', जल का 'वं', अग्नि का 'रं', वायु का 'यं' और आकाश का 'हं' । इसी प्रकार स्व स्व बीज के साथ नमस्कार करते हुये सभी उपचार निवेदन करे । तदनन्तर हे सुरवन्दिते! गुरु का मन्त्र प्रयत्नपूर्वक जप करना चाहिए ॥ १७ ॥

बाला च भुवनेशानी रमा चैव सुरेश्वरि ।
भावत्रयमिदं प्रोक्तं गुरुमन्त्रे प्रतिष्ठितम् ॥ १८ ॥

हे सुरेश्वरि! गुरु के मन्त्र में बाला, भुवनेश्वरी और रमा—इन तीनों के मन्त्रों की भावना प्रतिष्ठित कही गई है ॥ १८ ॥

ततः स्वगुरुनामान्ते आनन्दनाथमालिखेत् ।
रक्तशक्तिपदान्ते च अम्बापदमथालिखेत् ॥ १९ ॥
श्रीपादुकां समुच्चार्य पूजयामीति सञ्जपेत् ।
तेजोरूपं समर्प्याऽथ स्तवेन तोषयेद् गुरुम् ॥ २० ॥

अन्यदपि पादुकाम्भेदमुत्तरार्धे बृहद्दीक्षापटले लिखामः ।

इसके बाद गुरु के नाम के अन्त में 'आनन्दनाथ' लिखे । फिर 'रक्तशक्ति' पद के अन्त में अम्बा पद लिखे । तदनन्तर 'पादुका' पद का उच्चारण कर 'पूजयामि' लिखे । इस प्रकार उनके तेजो रूप का समर्पण कर स्तोत्र द्वारा गुरु को सन्तुष्ट करे ॥ १९-२० ॥

स्वरूप यथा—आनन्दनाथ रक्तशक्ति अम्बा श्रीपादुकां पूजयामि ।

अथ श्रीगुरुस्तोत्रं यथा भूतशुद्धौ—

ॐ नमामि सद्गुरुं शान्तं प्रत्यक्षं शिवरूपिणम् ।
शिरसा योगपीठस्थं मुक्तिकामार्थसिद्धये ॥ २१ ॥
श्रीगुरुं परमानन्दं नमाम्यानन्दविग्रहम् ।
यस्य सन्निधिमात्रेण चिदानन्दायते परम् ॥ २२ ॥

अब श्रीगुरुस्तोत्र, जैसा भूतशुद्धि में है, उसे कहते हैं—मैं मुक्ति की कामना की सिद्धि के लिये योगपीठ पर स्थित, शिर से प्रत्यक्ष शिवस्वरूप, शान्त, सद्गुरु को नमस्कार करता हूँ । जिनके सन्निधान में होने मात्र से साधक को चिदानन्द की प्राप्ति हो जाती है । आनन्दविग्रह परमानन्द श्रीगुरु को नमस्कार करता हूँ ॥ २१-२२ ॥

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ २३ ॥

जिन गुरु ने अज्ञानान्धकार से अन्धे शिष्य के चक्षु का ज्ञानाञ्जनशलाका द्वारा

उन्मीलन किया है, उन गुरु को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २३ ॥

अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् ।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ २४ ॥

जो अखण्डमण्डलाकार स्वरूप से समस्त जगत् में व्याप्त हैं और जिन्होंने तत्पद (ब्रह्मस्वरूप) का दर्शन कराया, उन गुरु को नमस्कार है ॥ २४ ॥

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ २५ ॥

गुरु ब्रह्मा हैं, गुरु विष्णु हैं, गुरु साक्षात् महेश्वर देव हैं और गुरु ही परमब्रह्म है, उन श्रीगुरु को मेरा नमस्कार है ॥ २५ ॥

एवं च श्रीगुरुं नत्वा मूले कुण्डलिनीं ततः ।
स्मरेत् षट्पद्मयोगेन तत्तद्वर्णं तदीश्वरम् ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीगुरु को नमस्कार कर मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी का स्मरण करे । तत्तद् पद्म के योग के साथ तत्तद् वर्ण वाले ईश्वर का भी स्मरण करे ॥२६॥

तिस्रः कोट्यस्तदर्धेन शरीरे नाडिका मताः ।
तासु मुख्या दश प्रोक्तास्तासु तिस्रो व्यवस्थिताः॥ २७ ॥

मनुष्य के शरीर में साढ़े तीन करोड़ नाडियाँ स्थित हैं । उनमें दश नाडियाँ प्रधान कही गई हैं और उनमें भी तीन व्यवस्थित कही गई हैं ॥ २७ ॥

प्रधानं मेरुदण्डोऽत्र सोमसूर्याग्निरूपिणी ।
इडा नाम्नी तु या नाडी शुक्ला तु चन्द्ररूपिणी॥ २८ ॥
शक्तिरूपा च सा नाडी साक्षादमृतविग्रहा ।
पिङ्गलाख्या द्वितीया च पुंरूपा सूर्यविग्रहा ॥ २९ ॥

इन नाडियों में मेरुदण्ड सबसे प्रधान है । जिसमें सोम, सूर्य एवं अग्नि रूपिणी तीन नाडियाँ हैं । इडा नाम वाली नाडी शुक्ल वर्ण की है, जो चन्द्ररूपिणी है । वह नाडी शक्ति स्वरूपा और अमृत विग्रहा है । दूसरी नाडी का नाम पिङ्गला है, जो पुरुष स्वरूपा एवं सूर्य विग्रहा है ॥ २८-२९ ॥

दाडिमीकुसुमप्रख्या विषाख्या चापरा मता ।
मेरुमध्ये स्थिता या तु मूलादाब्रह्मरन्ध्रगा ॥ ३० ॥

पिङ्गला नाडी का वर्ण अनार के पुष्प के समान है । इसके अतिरिक्त तीसरी नाडी 'विष' नाम से प्रसिद्ध है, जो मेरुदण्ड के मध्य में स्थित है । वह मूल स्थान से ब्रह्मरन्ध्र तक जाती है ॥ ३० ॥

सर्वतेजोमयी शक्तिः सुषुम्णा वह्निरूपिणी ।
सुषुम्णान्तर्गता चित्रा चन्द्रकोटिसमप्रभा ॥ ३१ ॥

यह अग्निस्वरूपा 'सुषुम्णा' शक्ति सर्वतेजोमयी है । उस सुषुम्णा के भीतर रहने वाली 'चित्रा' नाडी करोड़ों चन्द्रमा के समान प्रकाशमयी है ॥ ३१ ॥

सर्वदेवमयी सा तु योगिनां हृदयङ्गमा ।
तस्य मध्ये ब्रह्मनाडी मृणालतन्तुरूपिणी ।
ब्रह्मरन्ध्रं तु तन्मध्ये हरवक्त्रात् सदाशिवम् ॥ ३२ ॥
वामावर्तक्रमेणैव वेष्टितं बिसतन्तुवत् ।
सुषुम्णामध्यसंस्थानि षट्पद्मानि यथाक्रमात् ॥ ३३ ॥

वह सर्वदेवमयी है । उसका ध्यान योगी लोग हृदय में करते हैं । उस चित्रा के मध्य में मृणालतन्तु के समान सूक्ष्म ब्रह्मनाडी है, उसी के मध्य में ब्रह्मरन्ध्र है । वहाँ सुषुम्णा नाडी शिवजी के मुख से लेकर सदाशिव पर्यन्त स्वयम्भू लिङ्ग को वामावर्त्त क्रम से विसतन्तु के समान वेष्टित किए हुए है । उस सुषुम्णा के मध्य में यथाक्रम छह पद्म चक्र स्थित हैं ॥ ३२-३३ ॥

आधाराख्ये मूलचक्रे रक्तवर्णे चतुर्दले ।
वादिसान्तार्णसंयुक्ते क्षेत्रे गोदावरीसमे ॥ ३४ ॥

प्रथम आधार चक्र नामक मूल चक्र में रक्तवर्ण का चार दलों वाला पद्म स्थित है । इस पर 'व श ष स'—ये चार वर्ण स्थित बतलाये गये हैं जो 'गोदावरी' का क्षेत्र कहा जाता है ॥ ३४ ॥

कर्णिकायां स्थिता योनिस्त्रिकोणं परमेश्वरि! ।
तद्योनिः परमेशानि इच्छाज्ञानक्रियात्मिका ॥ ३५ ॥

हे परमेश्वरि! उसकी कार्णिका में त्रिकोण योनि स्थित है । हे परमेशानि! वही योनि इच्छा, ज्ञान एवं क्रियात्मिका कही जाती है ॥ ३५ ॥

अपराख्यं हि कन्दर्पमाधारे तत्त्रिकोणके ।
स्वयम्भुलिङ्गं तन्मध्ये सरन्ध्रं पश्चिमाननम् ॥ ३६ ॥
ध्यायेच्च परमेशानि! शिवं चामलसुन्दरम् ।
कुण्डली तेन मार्गेण यातायातं करोति हि ॥ ३७ ॥

उस त्रिकोण के आधार में अपर नाम का कन्दर्प (=कामदेव) है । उस त्रिकोण के ठीक मध्य में छिद्र सहित पश्चिमाभिमुख 'स्वयम्भू लिङ्ग' है । हे परमेशानि! वहीं स्वच्छ सुन्दर सदाशिव का ध्यान करे । क्योंकि कुण्डलिनी उसी मार्ग से यातायात करती है ॥ ३६-३७ ॥

भित्त्वा भित्त्वा पुरीं याति आयाति कुण्डली सदा।
तत्र विद्युल्लताकारा कुण्डली परदेवता ॥ ३८ ॥

वह कुण्डलिनी उन षट्चक्रों का भेदन कर ब्रह्मरन्ध्र तक जाती है और पुनः उसी मार्ग से लौटती है । यह विद्युल्लता के आकार वाली परदेवता है ॥ ३८ ॥

प्रसुप्तभुजगाकारा सार्द्धत्रिवलयान्विता ।
शिवं वेष्ट्य महेशानि! सर्वदा परितिष्ठति ॥ ३९ ॥

सोती हुई सर्पिणी के समान कुण्डलिनी साढ़े तीन वलय (गोला) में स्थित हैं। हे महेशानि! वह शिव को वेष्टित कर सर्वदा निवास करती है ॥ ३९ ॥

येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारं निरामयम् ।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥ ४० ॥

जिस मार्ग से निरामय एवं पर देवता ब्रह्मद्वार तक जाना चाहिये, वह प्रसुप्ता परमेश्वरी कुण्डलिनी, उसी द्वार को मुख से बन्द कर सोती रहती है ॥ ४० ॥

मूलमाधारषट्कानां मूलाधारं ततो विदुः ।
लिङ्गमूले पुष्कराख्ये स्वाधिष्ठानं तु षड्दलम् ॥ ४१ ॥
बादिलान्तार्णसंयुक्तं विद्रुमाभं मनोहरम् ।
नाभौ तु गण्डकीक्षेत्रं मणिपूरेऽथ नीलभम् ॥ ४२ ॥

यतः वह छह अक्षरों का मूल आधार है, इसलिये उसे 'मूलाधार' कहते हैं । पुष्कर नाम क्षेत्र वाले लिङ्ग के मूल में स्वाधिष्ठान नामक छह पत्तों वाला दूसरा पद्म चक्र है, जहाँ 'व भ म य र ल' वर्ण हैं । वह मूँगे के समान लाल वर्ण का अत्यन्त मनोहर चक्र है । नाभि में गण्डकी क्षेत्र है, जहाँ नीलमणि के समान मणिपूर चक्र स्थित है ॥ ४१-४२ ॥

डादिफान्तार्णसंयुक्तदलैश्च दशभिर्युतम् ।
हृदये द्वादशदले काश्यां पिङ्गलवर्णके ॥ ४३ ॥
कादिठान्तार्णसंयुक्तं तप्तहाटकसन्निभम् ।
तन्मध्ये बाणलिङ्गं तु सूर्यायुतसमप्रभम् ॥ ४४ ॥
शब्दब्रह्ममयः शब्दोऽनाहतस्तत्र दृश्यते ।
तेनाऽऽहतं तु तत्पद्मं योगीष्टं परिकीर्तितम् ॥ ४५ ॥

वह ड से लेकर फ पर्यन्त दश वर्णों से युक्त है । हृदय में काशी क्षेत्र है, जो पिङ्गल वर्ण का है । वह क से लेकर ठ पर्यन्त द्वादश वर्णों से युक्त है । देदीप्यमान सुवर्ण के समान उसका वर्ण है और उसके मध्य में 'बाणलिङ्ग' है, जो दश हजार सूर्य की प्रभा वाला है । वही शब्दब्रह्ममय शब्दस्वरूप 'अनाहत चक्र'

है। वह पद्म उस शब्द से आहत नहीं होता। यह योगियों का अभीष्ट स्थान कहा गया है ॥ ४३-४५ ॥

कण्ठदेशे विशुद्ध्याख्यं धूम्रवर्णं मनोहरम् ।
स्वरैः षोडशभिर्युक्तं कुरुक्षेत्रमनुत्तमम् ॥ ४६ ॥

हे देवि! कण्ठ देश में 'विशुद्ध' नाम का चक्र स्थित है, जिसका वर्ण धूयें के समान है, किन्तु यह मनोहर है। वह चक्र षोडश स्वरों से युक्त है जो सर्वश्रेष्ठ 'कुरुक्षेत्र' है ॥ ४६ ॥

विशुद्धिस्तन्मयं यस्मादाकाशाख्यं महाद्भुतम् ।
आज्ञानाम भ्रुवोर्मध्ये द्विदलं तन्मनोहरम् ।
हंसाक्षरयुतं देवि! त्रिवेणीक्षेत्रमुत्तमम् ॥ ४७ ॥

यतः 'विशुद्धि' नाम का चक्र आकाश के समान अत्यन्त विशुद्ध तथा अद्भुत है, इसलिये उसे 'विशुद्ध' कहा जाता है। हे देवि! दोनों भ्रू के मध्य में आज्ञा नामक चक्र हैं जो 'ह स' दो दलों से युक्त अत्यन्त मनोहर है। उसे सर्वश्रेष्ठ 'त्रिवेणी क्षेत्र' कहा जाता है ॥ ४७ ॥

इतराख्यं महालिङ्गं तन्मध्ये काञ्चनप्रभम् ।
आज्ञासंक्रमणं तत्र गुरोराज्ञेति कीर्तितम् ॥ ४८ ॥

वहाँ सुवर्ण के समान देदीप्यमान 'इतर' नामक 'महालिङ्ग' स्थित है। क्योंकि वहाँ तक गुरु की आज्ञा का संक्रमण होता है, इसलिये उसे 'आज्ञा' चक्र कहा जाता है ॥ ४८ ॥

कैलासाख्यं तदूर्ध्वे तु रोधिनीति तदूर्ध्वतः।
तत्र पद्मं सहस्रारं नादविन्दुत्रयान्वितम् ॥ ४९ ॥

उसके ऊपर 'कैलास' है और उसके ऊपर 'रोधिनी' क्षेत्र है, जहाँ नाद, बिन्दु समन्वित 'सहस्रार' नामक पद्म है ॥ ४९ ॥

अकथादित्रिरेखाभिर्हळक्षत्रयकोणके ।
तन्मध्ये परविन्दुं च सृष्टिस्थितिलयात्मकम् ॥ ५० ॥
वामावर्तस्थितं देवि अकथादित्रयं शुभे ।
शून्यरूपं शिवं साक्षाद् विन्दुं परमकुण्डलीम् ॥ ५१ ॥
सार्धत्रिवलयाकारां कोटिविद्युत्समप्रभाम् ।
वृत्ता कुण्डलिनीशक्तिर्गुणत्रयसमन्विता ॥ ५२ ॥

अ आदि (अ से लेकर अः तक सोलह स्वर), ककारदि (क से लेकर त

पर्यन्त) सत्रह वर्ण और थादि से लेकर ह पर्यन्त सत्रह वर्ण, इस प्रकार कुल (पचास वर्ण) तीन रेखाओं के ह ळ क्ष इन त्रिकोण में स्थित है। उस त्रिकोण के मध्य में सृष्टि, स्थिति एवं लयात्मक पर बिन्दु है। हे शुभे! वह अ क थ (आदि, कादि एवं थादि) वामावर्त्त स्थित है। वहाँ शिव शून्य रूप है और बिन्दु परमकुण्डली है जो साढ़े तीन वलय वाली है। करोड़ों सूर्य के समान देदीप्यमान इसकी प्रभा है। वह कुण्डलिनी गुणत्रय समन्विता तथा गोलाकार है॥ ५०-५२॥

शून्यभागं महादेवि! शिवशक्त्यात्मकं प्रिये।
सर्पाकारा शिवं वेष्ट्य सर्वदा तत्र संस्थिता॥ ५३ ॥

हे महादेवि! उस ब्रह्मरन्ध्र में शून्यभाग शिव-शक्त्यात्मक है। हे प्रिये! वहाँ सर्पाकारा कुण्डली शिव को वेष्टित कर सर्वदा स्थित रहती है॥ ५३ ॥

शिवशक्त्यात्मकं विन्दुं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम्।
नादरूपेण सा देवी योनिरूपा सनातनी॥ ५४ ॥ इति।

शिवशक्त्यात्मक बिन्दु, भोग और मोक्ष दोनों फल प्रदान करता है। योनिरूपा सनातनी देवी 'नाद' रूप से वहीं स्थित है॥ ५४ ॥

गन्धर्वमालिकायाम्—

शिवविष्णुब्रह्ममयं विन्दुं योनिं शुचिस्मिते।
सर्पोपरि महेशानि विन्दुब्रह्मस्वरूपिणी॥ ५५ ॥ इति।
भवो विन्दुरितिख्यातं भवं च तत्त्रिकोणकम्।
भवनं भवसम्बन्धात् जायते भुवनत्रयम्॥ ५६ ॥ इति।

अब गन्धर्वमालिका तन्त्र में भी बतलाया गया है—हे शुचिस्मिते! सर्प के ऊपर बिन्दु ब्रह्मस्वरूप है और बिन्दु एवं योनि शिव, विष्णु एवं ब्रह्ममय हैं। भव (अर्थात् शिव) 'बिन्दु' नामक हैं। हे महेशानि! इस प्रकार भव (शिव) तथा त्रिकोणक (योनि) के सम्बन्ध से तीनों भुवनों की उत्पत्ति होती है॥ ५५-५६ ॥

अन्यच्च यामले—

पञ्चभूतानि देवेशि! षष्ठं मानसमीश्वरि।
षट्चक्रस्थस्थितान्येव चक्रमार्गे विचिन्तयेत्॥ ५७ ॥

अन्य स्थान पर यामल में भी कहा है—हे ईश्वरि! चक्रमार्ग के छहों चक्रों में पञ्चमहाभूत तथा एक मन की स्थिति है। अतः छह चक्रों में क्रमशः साधक उन्हीं का चिन्तन करे॥ ५७ ॥

शिवरूपं सहस्त्रारं सुखदुःखविवर्जितम्।
मन्दारपुष्परचितं नानागन्धानुमोदितम्।

तत्रोपरि महादेवः सदा तिष्ठति सुन्दरि ॥ ५८ ॥

सहस्रार चक्र को सुख-दुःख से रहित शिव रूप समझे । हे सुन्दरि! नाना गन्धों से सुगन्धित मन्दार पुष्प से विरचित आसन पर सहस्रार में महादेव सर्वदा स्थित रहते हैं ॥ ५८ ॥

ध्यायेत् सदाशिवं देवं शुद्धस्फटिकसन्निभम् ।
महारत्नलसद्भूषं दीर्घबाहुं मनोहरम् ॥ ५९ ॥
सुखप्रसन्ननयनं स्मेरास्यं सततं प्रिये ।
सकुण्डलं महारत्नहारेण च विभूषितम् ॥ ६० ॥
गोलपद्मसहस्राणां मालया शोभितं वपुः ।
अष्टबाहुं त्रिनयनं विभुं पद्मदलेक्षणम् ॥ ६१ ॥
किङ्किणीकटिसंयुक्तं नूपुरादिविभूषितम् ।
एवं स्थूलं वपुस्तस्य भावयेत् कमलेक्षणे ॥ ६२ ॥

शुद्ध स्फटिक के समान ऐसे सदाशिव का साधक सर्वदा ध्यान करे । जो महारत्नों से विभूषित हैं । जिनकी भुजायें विशाल हैं और जो अत्यन्त सुन्दर हैं । सुख से जिनके नेत्र अत्यन्त प्रसन्न हैं । हे प्रिये! जो मन्द-मन्द हास से युक्त हैं । जिनके कानों में कुण्डल तथा गले में महारत्न का हार सुशोभित हो रहा है । जिनके आठ बाहू एवं कमल के समान तीन नेत्र हैं । उनका शरीर सहस्रों कमलों की माला से भूषित हो रहा है एवं कटि में किङ्किणी और पद में नूपुर शोभा दे रहा है। हे कमलेक्षणे! साधक को सहस्रार चक्र में उनके इस प्रकार के स्थूल शरीर का ध्यान करना चाहिए ॥ ५९-६२ ॥

पद्ममध्ये स्थितं देवं निरीहं शब्दरूपकम् ।
एवं सर्वेषु चक्रेषु शक्तिरुद्रौ विचिन्तयेत् ॥ ६३ ॥

सहस्रार पद्म में जो सदाशिव स्थित हैं, वे ईहारहित तथा शब्दस्वरूप हैं । साधक इस प्रकार सभी चक्रों में शक्ति और रुद्र का ध्यान करे ॥ ६३ ॥

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः ।
ततः परशिवश्चैव षट्शिवाः परिकीर्तिताः ॥ ६४ ॥

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव और इसके बाद पर-शिव—ये छह शिव कहे जाते हैं ॥ ६४ ॥

विशुद्धौ डाकिनी देवी अनाहते च राकिनी।
लाकिनी मणिपूरस्था काकिनी लिङ्गगोचरे ॥ ६५ ॥
आधारे शाकिनी देवी आज्ञायां हाकिनी तथा ।

याकिनी ब्रह्मरन्ध्रस्था सर्वकामफलप्रदा ॥ ६६ ॥

विशुद्ध चक्र में डाकिनी देवी, अनाहत में राकिनी, मणिपूर में लाकिनी, लिङ्गचक्र (स्वाधिष्ठान) में काकिनी तथा आधार में शाकिनी देवी एवं छठे आज्ञा चक्र में हाकिनी देवी और ब्रह्मरन्ध्र में याकिनी देवी रहती हैं, जो समस्त कामनाओं को देने वाली है ॥ ६५-६६ ॥

ध्यायेत् कुण्डलिनीं देवीं स्वयम्भूलिङ्गसंस्थिताम् ।
श्यामां सूक्ष्मां सृष्टिरूपां सृष्टिस्थितिलयात्मिकाम् ।
विश्वातीतां ज्ञानरूपां चिन्तयेदूर्ध्ववाहिनीम् ॥ ६७ ॥

रक्तामिति सुन्दरीविषये ।

साधक मूलाधार में स्वयंभूलिङ्ग को वेष्टित करने वाली कुण्डलिनी देवी का ध्यान करे । जो श्यामा, सूक्ष्मा, सृष्टिरूपा, सृष्टिस्थितिलयात्मिका, विश्वातीता एवं ज्ञानरूपा हैं ऐसी ऊपर की ओर जाने वाली कुण्डलिनी का ध्यान करे ॥ ६७ ॥

यहाँ श्यामापद कुण्डलिनी के लिये है । जहाँ 'रक्ताम्' यह पाठ है, वहाँ सुन्दरी के विषय में जानना चाहिये ।

हूङ्कारवर्णसम्भूता कुण्डली परदेवता ।
विभक्तं कुण्डलीदेहमात्मानं हंसमन्त्रतः ॥ ६८ ॥

परदेवता कुण्डली हुङ्कार वर्ण से उत्पन्न है, इन कुण्डली का देह 'हं सः' इस मन्त्र से दो भागों में प्रविभक्त है ॥ ६८ ॥

प्रवृद्धवह्निसंयोगे मनसा मारुतैः सह ।
ऊर्ध्वं नयेत् कुण्डलिनीं जीवात्मसहितां पराम् ।
गच्छन्ती ब्रह्मरन्ध्रं सा भित्त्वा च ग्रन्थिपञ्चकम् ॥ ६९ ॥

ग्रन्थिपञ्चकं तु स्वाधिष्ठानमणिपूरकानाहतविशुद्ध्याज्ञान्तानि । तत्राधोग्रन्थि-मारभ्योर्ध्वोर्ध्वग्रन्थिपर्यन्तं ग्रन्थिसमाप्तिः ।

वायु के कारण जब मन का प्रबुद्ध अग्नि के साथ संयोग होता है, तब 'जीवात्मसंहिता परा कुण्डलिनी' को ऊपर ले जाना चाहिये । उस समय पाँच ग्रन्थियों का भेदन कर वह ब्रह्मरन्ध्र में जाती है ॥ ६९ ॥

स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध एवं आज्ञा—ये पाँच ग्रन्थिपञ्चक हैं । इस प्रकार अधोग्रन्थि (आधारचक्र) से लेकर ऊर्ध्वग्रन्थि (आज्ञा चक्र) पर्यन्त समस्त ग्रन्थि की समाप्ति हो जाती है ।

षट्चक्रमध्यमार्गेण सुषुम्णावर्त्मना तथा ।
हंसेन मनुना देवीं सहस्रारं सामनयेत् ॥ ७० ॥

सदाशिवो महेशानि यत्रास्ते परमेश्वरः ।
तत्र गत्वा महादेवी कुण्डली परदेवता ॥ ७१ ॥
देवी रूपवती कामसमुल्लासविहारिणी ।
मुखारविन्दगन्धेन मोदयित्त्वा परं शिवम् ॥ ७२ ॥
प्रबोध्य परमेशानं तत्रोपरि वसेत् प्रिये ।
शिवस्य मुखपद्मं हि चुम्बते कुण्डली तदा ॥ ७३ ॥

हे देवि! छह चक्रों के मध्यमार्ग से तथा सुषुम्ना मार्ग से हंस मन्त्र के साथ साधक कुण्डलिनी को सहस्रार में ले जावे । हे महेशानि! यह वही स्थान है, जहाँ परमेश्वर 'सदाशिव' रहते हैं और काम के समुल्लास से विहार करने वाली वह रूपवती परदेवता कुण्डलिनी वहाँ जाकर सर्वप्रथम अपने मुख के दिव्य गन्ध से पर-शिव को प्रसन्न करती है । फिर परमेशान को जगाकर उनके ऊपर निवास करती है । फिर हे प्रिये! वह कुण्डलिनी भगवान् शिव के मुख कमल का चुम्बन करती है ॥ ७०-७३ ॥

सदाशिवेन सा देवी रमते क्षणमात्रकम् ।
अमृतं जायते तत्र तत्क्षणात् परमेश्वरी ॥ ७४ ॥
तदुद्भवामृतं देवि! साक्षात् लाक्षारसोपमम् ।
तेनामृतेन देवेशि! तर्पयेत् परदेवताम् ॥ ७५ ॥

फिर सदाशिव के साथ एक क्षण रमण करती है । हे परमेश्वरि! उस समय तत्क्षण अमृत उत्पन्न होता है । हे देवि! उस रमण से उत्पन्न हुआ वह अमृत साक्षात् लाक्षारस के समान लाल होता है । हे देवेशि! उसी अमृत से पर देवता का तर्पण करे ॥ ७४-७५ ॥

षट्चक्रदेवतास्तत्र सन्तर्प्याऽमृतधारया ।
आनयेत्तेन मार्गेण मूलाधारं क्रमात् सुधीः ॥ ७६ ॥
यतस्ततः क्रमेणैव तत्र कुर्यान्मनो लयम् ।
एवमभ्यस्यमानस्तु अहन्यहनि पार्वति ॥ ७७ ॥
जरामरणदुःखाद्यैर्मुच्यते भवबन्धनैः ।
इत्युक्तं परमं योगं योनिमुद्राप्रबन्धनम् ॥ ७८ ॥

पुनः उसी अमृतधारा से षट्चक्र के देवताओं का भी तर्पण करे । फिर सुधी साधक उसी मार्ग से कुण्डली को मूलाधार में ले आवे । उसी क्रम से उस कुण्डली में अपने मन का लय करता रहे । हे पार्वति! इस प्रकार प्रतिदिन अभ्यास करते हुये साधक, संसार के बन्धनों से तथा जरा-मरण के दुःखों से छूट जाता है । इस प्रकार हमने 'योनिमुद्रा प्रबन्धन' नामक योग कहा ॥ ७६-७८ ॥

कुलयोषित् कुलं त्यक्त्वा परं पुरुषमेति सा ।
रमते सेयमव्यक्ता पुनरेकाकिनी सती ॥ ७९ ॥ इति ।

वह आधारचक्र में रहने वाली कुल (आधार चक्र) को त्याग कर परं पुरुष (परमात्म स्वरूप सदाशिव) के पास जाती है और वह वहाँ पर अव्यक्त रूप से अकेले सदाशिव से रमण करती है ॥ ७९ ॥

संकेतपद्धत्याम्—

पिण्डं कुण्डलिनी शक्तिः पदं हंसः प्रकीर्तितम् ।
रूपं विन्दुरितिख्यातं रूपातीतं तु निष्कलम् ॥ ८० ॥

एतेन 'हंस' इत्यक्षरद्वयं देव्याः पादपद्मयुगं ज्ञात्वा हंसेति मन्त्रेण षट्चक्रभेद-क्रमेण सहस्रारं नीत्वा चन्द्रमण्डलामृतेनाप्लाव्य तदमृतेन षट्चक्रस्थशिवशक्त्या-दीनाप्लाव्य सोऽहमिति मन्त्रेण स्थानं नयेदित्यर्थः ।

संकेतपद्धति में भी बतलाया गया है—'पिण्ड' कुण्डलिनी शक्ति है, 'पद' हंस कहा जाता है, बिन्दु 'रूप' है और निष्कल 'रूपातीत' है ॥ ८० ॥

इससे यह सिद्ध हुआ कि 'हंसः' यह वह अक्षर देवी का पद है । इसे जान कर 'हंसः' इस मन्त्र से षड्चक्र भेद क्रम से कुण्डली को सहस्रार में ले जावे । फिर चन्द्रमण्डल से अमृत निकालकर उस अमृत से षट्चक्रस्थ शिव एवं शक्ति को आप्लावित करते हुये पुनः 'सोऽहम्' इस मन्त्र से अपने स्थान पर ले आवे ।

तथा चोक्तं योगतत्त्वे—

हंसेन मनुना देवीं सहस्रारं समानयेत् ।
सोऽहं मन्त्रेण च पुनः स्वस्थानमानयेत् सुधीः ॥ ८१ ॥ इति ।

स्वस्थानं = मूलाधारम् ।

जैसा कि योगतत्त्व में कहा गया है—सुधी साधक 'हंस' इस मन्त्र से कुण्डलिनी को सहस्रार में ले जावे और पुनः 'सोहम्' इस मन्त्र से अपने स्थान (मूलाधार) पर ले आवे ॥ ८१ ॥

स्वस्थानम् अर्थात् मूलाधार में (ले आए)।

समयातन्त्रे देवीवाक्यम्—

देवदेव! महादेव! सृष्टिस्थित्यन्तकारक ।
मूर्ध्नि पद्मं सहस्रारं रक्तवर्णमधोमुखम् ॥ ८२ ॥
तन्मध्यस्थं गुरुं ध्यायेत् शान्तरूपं सशक्तिकम् ।
मूलाधारे महाशक्तिः कुण्डलीरूपधारिणी ॥ ८३ ॥
अधोमुखं क्रमेणैव सर्वं पद्मं विभावयेत् ।

तदा कथं भवेत्तत्र चिन्तनं गुरुदेवयोः ॥ ८४ ॥

जैसा कि समयातन्त्र में देवी का वाक्य इस प्रकार है—हे देवदेव! हे सृष्टि स्थित्यन्तकारक! शिर में रहने वाला सहस्रार चक्र रूप पद्म रक्त वर्ण वाला एवं अधोमुख है । उसके मध्य में शक्ति सहित शान्तरूप गुरु का ध्यान करे । कुण्डली रूप धारिणी महाशक्ति 'मूलाधार' में रहती है और सभी षट्चक्र रूप पद्म भी अधोमुख हैं, जिनका ध्यान करना चाहिये । जब ऐसी स्थिति है तो उन पद्मों पर गुरु और सदाशिव देव का ध्यान एक साथ किस प्रकार सम्भव है? इसे कहिये ॥ ८२-८४ ॥

एतदाकर्ण्य शिवो वदति—

यथायुक्तं त्वया देवि! कथितं वीरवन्दिते।
एवमेव तु सन्देहो जायते नात्र संशयः ॥ ८५ ॥

देवी का वाक्य सुनकर भगवान् शिव कहते हैं—हे वीरवन्दिते देवि! आपका कथन सत्य है । इस प्रकार का सन्देह भी सम्भव है, इसमें सन्देह नहीं ॥ ८५ ॥

कथ्यते परमेशानि सन्देहच्छेदकारणम् ।
तानि पद्मानि देवेशि सुषुम्णान्तः स्थितानि च ॥ ८६ ॥

अब हे परमेशानि! उस सन्देह को दूर करने वाले कारण को मैं कहता हूँ । आप सुनिए । हे देवेशि! उक्त सभी पद्म सुषुम्णा के भीतर स्थित हैं ॥ ८६ ॥

परब्रह्मस्वरूपाणि शब्दब्रह्ममयानि च ।
तत्सर्वं पङ्कजं देवि सर्वतोमुखमेव च ॥ ८७ ॥
प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च द्वौ भावौ जीवसंस्थितौ ।
प्रवृत्तिमार्गः संसारी निवृत्तिः परमात्मनि ॥ ८८ ॥

सभी पद्म परब्रह्मस्वरूप तथा शब्दब्रह्ममय हैं । हे देवि! उन सभी पद्मों का मुख सभी दिशाओं की ओर है । प्रवृत्ति और निवृत्ति—ये दो भाव (= मार्ग) जीव में रहते हैं। प्रवृत्तिमार्ग वाला संसारी है और निवृत्ति मार्ग वाला जीव परमात्मा का उपासक होता है ॥ ८७-८८ ॥

प्रवृत्तिभावचिन्तायामधोवक्त्राणि चिन्तयेत्।
निवृत्तियोगमार्गेषु सदैवोर्ध्वमुखानि च ॥ ८९ ॥

प्रवृत्तिभाव की चिन्ता में अधोमुख कमल का ध्यान करे और निवृत्ति रूप योगमार्ग में सदैव उन चक्र कमलों को ऊर्ध्वमुख चिन्तन करे ॥ ८९ ॥

एवमेतद् भावभेदात् कः सन्देहोऽभिजायते ।

इत्येतत् कथितं देवि मम ज्ञानावलोकितम् ॥ ९० ॥

जिस प्रकार जब भाव में ही भेद है तब फिर कैसा सन्देह? हे देवि! यहाँ तक हमने अपने ज्ञान से जो समझा है, उसे कहा ॥ ९० ॥

अथ योगं प्रवक्ष्यामि येन देवमयो भवेत् ।
मूलपद्मे कुण्डलिनी यावन्निद्रायिता भवेत् ॥ ९१ ॥
तावत् किञ्चिन्न सिद्ध्येत मन्त्रयन्त्रार्चनादिकम् ।
यदि जागर्त्ति सा देवी बहुभिः पुण्यसञ्चयैः ॥ ९२ ॥
तदा प्रसादमायान्ति मन्त्रयन्त्रार्चनादयः ।
योगोयोगाद् भवेन्मुक्तिर्भवेत् सिद्धिरखण्डिता ॥ ९३ ॥

अब उस योग को कहता हूँ जिससे साधक देवमय हो जाता है। मूल पद्म में कुण्डलिनी जब तक निद्रा निमग्न रहती है, तब तक मन्त्र, यन्त्र एवं अर्चन आदि कुछ भी सिद्ध नहीं हो पाता। यदि बहुत पुण्य सञ्चय होने पर वह देवी जाग जाती है; तब मन्त्र, यन्त्र एवं अर्चन स्वयं प्रसन्न हो जाते हैं। यही योग है; इसी योग से मुक्ति होती है और अखण्डित सिद्धि होती है ॥ ९१-९३ ॥

सिद्धे मनौ पराप्राप्तिरिति शास्त्रस्य निर्णयः ।
जीवन्मुक्तश्च देहान्ते परं निर्वाणमाप्नुयात् ॥ ९४ ॥

मन्त्र की सिद्धि होने पर परा भगवती प्राप्त होती हैं; ऐसा शास्त्र का निर्णय है। वह साधक जीवन्मुक्त तो हो ही जाता है, मरने के बाद मोक्ष भी प्राप्त कर लेता है ॥ ९४ ॥

संसारोत्तारणं मुक्तिर्योगशब्देन कथ्यते ।
प्राणायामैर्जपैर्योगैस्त्यक्तनिद्रा जगन्मयी ॥ ९५ ॥
तदा सिद्धिर्भवेदेव नाऽत्र कार्या विचारणा ।
चतुर्दलं स्यादाधारं स्वाधिष्ठानं तु षड्दलम् ॥ ९६ ॥

योग शब्द से संसार सागर को पार कर लेना अर्थ किया जाता है, वही मुक्ति है। वह जगन्मयी भगवती प्राणायाम से, जप से एवं योग से निद्रा का त्याग करती है। तभी साधक को सिद्धि होती है; इसमें विचार की आवश्यकता नहीं। आधारचक्र चार दलों वाला है तथा अधिष्ठान चक्र षड्दलों वाला है ॥९५-९६॥

नाभौ दशदलं पद्मं सूर्यसंख्यादलं हृदि ।
कण्ठे स्यात् षोडशदलं भ्रूमध्ये द्विदलं तथा ॥ ९७ ॥

नाभि में रहने वाले मणिपूर में दश दल, हृदय में रहने वाले अनाहत में बारह दल, कण्ठ में रहने वाले अ ज्ञाचक्र में सोलह दल और भ्रूमध्य में रहने

वाले विशुद्धि चक्र में दो दल हैं ॥ ९७ ॥

ब्रह्मरन्ध्रे सहस्त्रारं मातृकाक्षरमण्डितम् ।
अधोवक्त्रं शुक्लवर्णं रक्तकिञ्जल्कभूषितम्॥ ९८ ॥

रक्तवर्णं सुन्दरीविषये ज्ञेयम्, समयातन्त्रोक्तत्वात् ।

ब्रह्मरन्ध्र में रहने वाला सहस्त्रार चक्र सभी मातृका अक्षरों से मण्डित है । वह सहस्त्रार चक्र नीचे मुख वाला है तथा उसका वर्ण शुक्ल है और रक्त किञ्जलक से भूषित है ॥ ९८ ॥

रक्त वर्ण सुन्दरी के विषय में जानना चाहिये । क्योंकि समयातन्त्र में ऐसा ही कहा गया है ।

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः ।
ततः परशिवश्चैव षट्शिवाः परिकीर्तिताः ॥ ९९ ॥

१. ब्रह्मा, २. विष्णु, ३. रुद्र, ४. ईश्वर, ५. सदाशिव, ६. परशिव—ये छह शिव सञ्ज्ञक कहे गये हैं ॥ ९९ ॥

डाकिनी राकिनी चैव शाकिनी लाकिनी तथा ।
काकिनी हाकिनी चैव शक्तिरेषां प्रकीर्तिता ॥ १०० ॥

१. डाकिनी, २. राकिनी, ३. शाकिनी, ४. लाकिनी, ५. काकिनी और फिर ६. हाकिनी—उन छह शिवों की शक्तियाँ कही गई है ॥ १०० ॥

आधारे हृत्प्रदेशे च भ्रुवोर्मध्ये विशेषतः ।
स्वयम्भुसञ्ज्ञो बाणाख्यः तथैवेतरसञ्ज्ञकः ॥ १०१ ॥
लिङ्गत्रयं महेशानि प्रधानत्वेन चिन्तयेत् ।

आधार में 'स्वयम्भू' सञ्ज्ञक, हृदय में 'बाण' सञ्ज्ञक तथा भ्रूमध्य में 'इतर' सञ्ज्ञक—इन तीन लिङ्गों का प्रधान रूप में चिन्तन करे ॥ १०१-१०२ ॥

मूलाधारे स्थिता भूमिः स्वाधिष्ठाने जलं तथा ॥ १०२ ॥
मणिपूरे स्थितं तेजो हृदये मारुतं तथा ।
विशुद्धौ तु महेशानि आकाशं कमलेक्षणे ॥ १०३ ॥
आज्ञाचक्रे महेशानि मनः सर्वार्थसाधकम् ।
तदूर्ध्वे परमेशानि युगपद्ममुखं सदा ।
तस्योपरि महेशानि विभुं ध्यायेत् सदाशिवम् ॥ १०४ ॥

ऊर्ध्वमुखाऽधोमुखसहस्त्रारपद्मान्तर्गतमूर्ध्वमुखद्वादशदलपद्मोपरि शिवं ध्यायेदिति भावः ।

मूलाधार में भूमि, स्वाधिष्ठान में जल, मणिपूर में तेज, हृदय में वायु और विशुद्ध चक्र में आकाश स्थित है । हे महेशानि! आज्ञाचक्र में मन सभी मनोरथों को पूर्ण करता है । हे परमेशानि! उसके ऊपर दो पद्म मुख हैं । उस पद्म के ऊपर विभु 'सदाशिव' का ध्यान करे ॥ १०२-१०४ ॥

सहस्रार पद्म में ऊर्ध्वमुख तथा अधोमुख दो पद्म हैं उसमें ऊर्ध्वमुख द्वादश दल वाले पद्म पर सदाशिव का ध्यान करे ।

तदेव यामले—

ब्रह्मरन्ध्रसरसीरुहोदरे
नित्यलग्नमवदातमद्भुतम् ।
कुण्डलीविवरकाण्डमण्डितं
द्वादशान्तसरसीरुहं भजे ॥ १०५ ॥

यही बात यामल में कही गई है—ब्रह्मरन्ध्र में स्थित कमल के मध्य में नित्य खिले हुये स्वच्छ अद्भुत कुण्डलीविवरकाण्ड से मण्डित द्वादश कमल के अन्त में किसी विशिष्ट कमल का ध्यान करता हूँ ॥ १०५ ॥

षट्चक्रं परमेशानि ऊर्ध्वचक्रं सदाशिवम् ।
शक्तेः पुरं महेशानि सदाशिवपुरोपरि ॥ १०६ ॥

हे परमेशानि! षट्चक्र के ऊपर ऊर्ध्वचक्र (=आज्ञाचक्र) में सदाशिव का निवास है । हे महेशानि! उस सदाशिव के पुर के ऊपर महाशक्ति का पुर है ॥ १०६ ॥

एतदेव यामले श्रीशिवेन प्रपञ्चितम्—

शिवस्थानं शैवाः परमपुरुषं वैष्णवगणाः
लपन्तीति प्रायो हरिहरपदं केचिदपरे ।
पदं देव्या देवीचरणयुगलानन्दरसिका
मुनीन्द्रा अप्यन्ये प्रकृतिपुरुषस्थानममलम् ॥ १०७ ॥ इति ।

तेन हंस इत्यक्षरद्वयरूपं पादपद्मयुगलं ध्यायेदित्यर्थः ।

इसी बात को यामल में शिव ने विस्तार रूप से कहा है—शैवलोग उसे 'शिवस्थान' कहते हैं । वैष्णव लोग उसे 'परमपुरुष' का स्थान कहते हैं । अन्य लोग उसे 'हरिहरपुरी' कहते हैं; किन्तु देवी के चरण युगलों की सेवा से आनन्दित रहने वाले उस स्थान को 'देवी का पद' कहते हैं । मुनीन्द्र लोग उसी को 'अमल परमपुरुष का स्थान' कहते हैं ॥ १०७ ॥

इस कारण साधक भगवती के 'हंसः'—इन दो अक्षरों वाले पादपद्म का ध्यान करे ।

पुनश्च समयातन्त्रे—

वसित्वा शम्भुना सार्धं कुण्डली परदेवता ।
रमते तन्मयीभूता मन्त्रप्राणमयीश्वरी ॥ १०८ ॥

और समयातन्त्र में भी बतलाया गया है—परदेवता मन्त्रप्राणमयी ईश्वरी कुण्डली सदाशिव के साथ तन्मयी (=शिवमयी) होकर रमण करती है ॥ १०८ ॥

एकीभावं तयोस्तत्र चिन्तयेद् गतमानसः ।
इष्टदेवस्वरूपां तां भावयेत् कुण्डलीं पराम् ॥ १०९ ॥

अतः साधक उन शिव और शक्ति दोनों के एकीभाव को एकाग्रचित्त से स्मरण करे । इतना ही नहीं, उन परा कुण्डली को अपने इष्टदेव का स्वरूप समझे ॥ १०९ ॥

सदा षोडशवर्षीयां पीनोन्नतपयोधराम् ।
नवयौवनसम्पन्नां सर्वावयवशोभिनीम् ॥ ११० ॥

अब कुण्डली के ध्यान में उसका स्वरूप कहते हैं—कुण्डली षोडशवर्षीया है और उसके स्तन पीन एवं समुन्नत हैं । वह नवयौवन से सम्पन्न है और उसके सभी अङ्गावयव शोभा सम्पन्न हैं ॥ ११० ॥

सर्वशृङ्गारभूषाढ्यां मदचञ्चललोचनाम् ।
एवं ध्यात्वा जपेन्मन्त्रमष्टोत्तरशतं शिवे ॥ १११ ॥

वह सभी प्रकार के अङ्गारों से भूषित है, उसके नेत्र यौवन मद से अत्यन्त चञ्चल हैं । हे शिव! इस प्रकार कुण्डली का ध्यान करते हुये साधक मूल मन्त्र का एक-सौ आठ बार जप करे ॥ १११ ॥

मातृकामालया देवि तथाऽज्ञाचक्रमानयेत् ।
तत्रैवेतरलिङ्गेन योजयेत् कुण्डलीं पराम् ॥ ११२ ॥

हे देवि! वह सभी मातृकाओं की उत्पत्ति का स्थान है, उस परा देवी को आज्ञाचक्र में ले आकर वहाँ रहने वाले 'इतर' नामक लिङ्ग में मिला देवे ॥११२॥

तामिष्टदेवतां ध्यात्वा जपेदष्टशतं प्रिये ।
हृत्पद्मे तां समानीय शिवेन सह योजयेत् ॥ ११३ ॥

फिर, हे प्रिये! उस इष्टदेवता का ध्यान कर एक-सौ आठ बार जप करे । पुनः उसे हृत्पद्म में लाकर शिव के साथ संयुक्त करे ॥ ११३ ॥

देवीरूपां च तां ध्यात्वा जपेदष्टशतं प्रिये ।
मणिपूरे तु तां नीत्वा शिवेन सह योजयेत् ॥ ११४ ॥

फिर, हे प्रिये! उसे देवी रूप में ध्यान कर एक-सौ आठ बार जप करे। फिर 'मणिपूर चक्र' में लाकर शिव के साथ संयुक्त करे ॥ ११४ ॥

देवीरूपां च तां ध्यात्वा शतमष्टोत्तरं जपेत् ।
स्वाधिष्ठाने ततो नीत्वा शिवेन सह योजयेत्॥ ११५ ॥

तदनन्तर देवी रूप में ध्यान कर एक-सौ आठ बार जप करे। फिर स्वाधिष्ठान में लाकर शिव के साथ संयुक्त करे ॥ ११५ ॥

शतमष्टोत्तरं मन्त्रं जपेद् ध्यायन् पराम्बिकाम् ।
ततः पूर्वक्रमेणैव मूलाधारं समानयेत् ॥ ११६ ॥

वहाँ उस पराम्बिका का ध्यान करते हुये एक-सौ आठ बार जप करे। फिर पूर्वक्रम से उसे मूलाधार में ले आवे ॥ ११६ ॥

तत्र लिङ्गं स्वयम्भुं च ध्यायेदिन्दुसमप्रभम् ।
शुक्लवर्णं रक्तबाहुं पञ्चवक्त्रं त्रिलोचनम् ॥ ११७ ॥

वहाँ चन्द्रमा के समान स्वयम्भू लिङ्ग का ध्यान करे। जिनका वर्ण शुक्ल है, जिनके बाहु रक्त वर्ण के हैं, जिनके पाँच मुख तथा तीन नेत्र हैं ॥ ११७ ॥

प्रसन्नवदनं शान्तं नीलकण्ठविराजितम् ।
कपर्दिनं स्फुरत्सर्वलक्षणं कुन्दसन्निभम् ॥ ११८ ॥

उनका मुख प्रसन्न है, कण्ठ नीलवर्ण है, जो शान्त है। शिर पर जटा धारण किये हुये हैं, वह सभी लक्षणों से देदीप्यमान हैं और कुन्द के समान स्वच्छ प्रभा वाले हैं ॥ ११८ ॥

षट्चक्रे परमेशानि ध्यात्वा देवीं जगन्मयीम् ।
भुजङ्गरूपिणीं देवीं नित्यां कुण्डलिनीं पराम् ॥ ११९ ॥
बिसतन्तुमयीं साक्षाद् देवीममृतरूपिणीम् ।
अव्यक्तरूपिणीं रम्यां ध्यानगम्यां वरानने ॥ १२० ॥

हे परमेशानि! षट्चक्र में साधक जगन्मयी, भुजङ्गरूपिणी, नित्या एवं परा कुण्डलिनी का ध्यान करे। जो विसतन्तुमयी, अमृतरूपिणी, अव्यक्तरूपिणी, रम्या तथा ध्यानगम्या है ॥ ११९-१२० ॥

ध्यात्वा जप्त्वा च देवेशि! साक्षाद् ब्रह्ममयो भवेत् ।
एवं द्वादशधा देवि यातायातं करोति यः ॥ १२१ ॥
स मुक्तः सर्वपापेभ्यो मन्त्रसिद्धिर्न चान्यथा।

हे देवेशि! इस प्रकार कुण्डलिनी देवी का बारम्बार ध्यान कर साधक साक्षाद्

ब्रह्ममय हो जाता है । इस प्रकार जो साधक भगवती को बारह बार ऊपर से नीचे तथा नीचे से ऊपर यातायात कराता है । वह सभी पापों से मुक्त हो जाता है अन्यथा और कोई मन्त्र सिद्धि का उपाय नहीं है ॥ १२१-१२२ ॥

यत्रकुत्र मृतश्चायं गङ्गायां श्वपचालये ॥ १२२ ॥
ब्रह्मविद् ब्रह्मभूयाय कल्प्यते नान्यथा प्रिये ।
ततः सम्प्रार्थयेत् देवं मनुभिः प्रार्थनामयैः ॥ १२३ ॥ इति ।

ऐसा साधक जहाँ कहीं भी मरे, चाहे गङ्गा में; चाहे चाण्डाल के घर में, वह ब्रह्मवित् होकर 'ब्रह्ममय' हो जाता है । हे प्रिये! अन्यथा और कोई उपाय नहीं है । तदनन्तर प्रार्थना युक्त मन्त्रों से विष्णु से प्रार्थना करे ॥ १२२-१२३ ॥

संसारयात्रा प्रार्थनामन्त्राः

त्रैलोक्यचैतन्य! मयाऽऽदिदेव!
श्रीनाथ! विष्णो! भवदाज्ञयैव ।
प्रातः समुत्थाय तव प्रियार्थं
संसारयात्रामनुवर्तयिष्ये ॥ १२४ ॥

संसार यात्रा के प्रार्थना मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—हे त्रैलोक्यचैतन्य! हे आदिदेव! हे श्रीनाथ! हे विष्णो! मैं आपकी आज्ञा से प्रातःकाल उठकर संसार यात्रा के कार्य में लग रहा हूँ ॥ १२४ ॥

संसारयात्रामनुवर्तमानं
त्वदाज्ञया देव! परेश विष्णो ।
स्पर्धातिरस्कारकलिप्रमाद
भयानि मां माऽभिभवन्तु नाथ! ॥ १२५ ॥

हे परेश! हे देव! हे नाथ! इस प्रकार आपकी आज्ञा से संसार यात्रा का अनुवर्त्तन करने में मुझे स्पर्धा, तिरस्कार, कलह, प्रमाद तथा भय अभिभूत न करे (अर्थात् नीचा न दिखावें) ॥ १२५ ॥

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति-
र्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।
त्वया हृषीकेश! हृदि स्थितेन
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥ १२६ ॥

एतत्श्लोकत्रयेणैव दैवतं प्रार्थयेद् बुधः ।
श्रीनाथ विष्णोः स्थाने तु कार्य ऊहोऽन्यदैवते ॥ १२७ ॥

आदिदेव, श्रीनाथ, विष्णो, हृषीकेश इत्यादीनि पदानि औपलक्षणिकानि । अस्मिन् स्थाने विश्वेश शम्भो इति शैवे, शाक्ते भवानि दुर्गेति पाठः । इति सम्प्रार्थ्य स्वं देवमजपामपि चिन्तयेत् ।

मैं धर्म जानता हूँ पर मेरी प्रवृत्ति उसमें नहीं होती और मैं अधर्म भी जानता हूँ, किन्तु उससे हमारी निवृत्ति नहीं होती। हे भगवन्! आप मेरे हृदय में विराजमान हैं । मुझसे जैसा करवा रहे हैं; उसी प्रकार मैं कर रहा हूँ । बुद्धिमान् इन तीन श्लोकों से अपने इष्टदेवता की प्रार्थना करे । यदि इष्टदेवता शिव हैं या दुर्गा हैं तब ऊहापोह कर उन-उन देवता को सम्बोधित करे ॥ १२६-१२७ ॥

आदिदेव, श्रीनाथ, विष्णो, हृषीकेश इत्यादि पद उपलक्षण प्रयुक्त है । अतः इनं स्थानों में विश्वेश, शम्भो इत्यादि शैव देवताक में शक्ति, भवानि, दुर्गे इत्यादि शक्तिदेवताक शब्द का प्रयोग करे । इस प्रकार प्रार्थना कर 'अजपा' रूप स्व देवता का ध्यान करे ।

अजपा गायत्रीक्रमः

तच्च अजपामाहात्म्यं यामले—

अजपा नाम गायत्री मुनीनां मोक्षदायिनी ।
तस्याः सङ्कल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १२८ ॥

जैसे अजपा का महत्त्व यामल में बतलाया गया है—अजपा नाम वाली गायत्री मुनियों को भी मोक्ष प्रदान करती है । उसके सङ्कल्प मात्र से साधक सभी पापों से विमुक्त हो जाता है ॥ १२८ ॥

अजपामन्त्रोद्धारः

तद्यथा शारदायाम्—

वियदर्धेन्दुसहितं तदादिःसर्गसंयुतम् ।
अजपाख्यो मनुः प्रोक्तो द्व्यक्षरः सुरपादपः ॥ १२९ ॥

ऋष्यादिकथनम्

ऋषिर्ब्रह्मा स्मृतो देवी गायत्री छन्द ईरितम् ।
देवता जगतामादिः सम्प्रोक्तो गिरिजापतिः ।
हसा षड्दीर्घयुक्तेन कुर्यादङ्गक्रियां मनोः ॥ १३० ॥

अजपामन्त्रमाह वियदिति । अग्नीषोमात्मकत्वादस्याऽत्र पटले उक्तिः । तयोराद्यन्तयोरुक्तेः । वियत् हः अर्द्धेन्दुः बिन्दुः तदादिः सः सर्गो विसर्गः । द्व्यक्षरः सुरपादप इत्यनेनैतदुक्तं भवति । जपकाले एवं ध्यायेदिति । तदुच्यते । मन्त्रोच्चारण-काले मन्त्रं सुषुम्णारन्ध्रपूर्णं विश्वरूपं सदानन्दात्मकं सप्तविंशकं ब्रह्म ध्यात्वा तत्प्रभया

विद्धसर्वाङ्गमात्मानम् अर्द्धनारीश्वररूपं षड्विंशकमीश्वरं चिन्तयेत् । पिङ्गलारन्ध्रस्थ-मादिबीजपञ्चविंशकं पुरुषबीजरूपं प्राणात्मना ध्यात्वा द्वितीयबीजमिडारन्ध्रमध्यस्थ-चतुर्विंशकप्रकृतिरूपम् अपानात्मना चिन्तयेत् । विश्वरूपान् मन्त्रान् दीपाद्दीपान्तप्रभेव निर्गच्छन्तौ वामदक्षिणभागौ इडापिङ्गले परिपूर्णसुषुम्णायाः स्त्री- पुरुषचिह्नितौ कृतौ ध्यायेत् । हं बीजं सः शक्तिः ॥

हसेति संयुक्तेन । साम्प्रदायिका अन्यथा षडङ्गमाहुः । सूर्यात्मने हृत् । सोमात्मने शिरः । निरञ्जनात्मने शिखा । निराभासात्मने कवचम् । अव्यक्तात्मने नेत्रम् । अतनु सूक्ष्मः प्रचोदयात्मने अस्त्रम् । हसा (ह्रा) मित्याद्यैरेभिरिति केचित् ॥

शारदातिलक (१४।८०-८३) में भी बतलाया गया है—वियत् (ह), उस पर अर्द्धेन्दु (अनुस्वार), तदादि स जो विसर्ग युक्त हो । इस प्रकार अजपा मन्त्र का उद्धार कहा गया है । इसका स्वरूप (हंसः) हुआ । दो अक्षर का यह मन्त्र साधक के लिए कल्पवृक्ष के समान कहा गया है ।

इस मन्त्र के ब्रह्मा ऋषि हैं, गायत्री छन्द हैं और जगदादि गिरिजापति इस मन्त्र के देवता कहे गए हैं । षड्दीर्घ युक्त 'हंस'—इस मन्त्र से अङ्गन्यास करना चाहिये । यथा—आं हंसः हृदयाय नमः, ईं हंसः शिरसे स्वाहा, ऊं हंसः शिखायै वषट्, ऐं हंसः कवचाय हुं, औं नेत्रद्वयाय वौषट् और अः हंसः अस्त्राय फट् इत्यादि षडङ्गन्यास मन्त्र हैं ॥ १२९-१३० ॥

अजपामन्त्रध्यानम्

उद्यद्भानुस्फुरिततडिदाकारमर्द्धाम्बिकेशं
पाशाभीती वरदपरशू सन्दधानं कराब्जैः[1]।
दिव्याकल्पैर्नवमणिमयैः शोभितं विश्वमूलं
सौम्याग्नेयं वपुरवतु वश्चन्द्रचूडं त्रिनेत्रम् ॥ १३१ ॥ इति।

वामोर्ध्वादि दक्षिणोर्ध्वान्तमायुधध्यानम् ॥

अब **अजपा मन्त्र का ध्यान** कहते हैं—आधा अम्बिका तथा आधा सदाशिव के रूप में रहने वाले सोम-अग्नि देवताक शरीर वाले 'सदाशिव' सदा हमारी रक्षा करें । जिनके शरीर का आधा भाग उदीयमान सूर्य के समान तथा शेष आधा भाग चमकती हुई बिजली के समान शोभित हो रहा है । जिन्होंने अपने कर-कमलों में पाश, अभय, वर और परशु धारण किया हुआ है । जो मणिमय विरचित नवीन आभूषणों से युक्त हैं और जो विश्व के एक मात्र मूल हैं तथा चन्द्रमा को अपने जटाजूट में धारण किये हुये हैं । इस प्रकार के त्रिनेत्र भगवान् शङ्कर हम लोगों की रक्षा करें ॥ १३१ ॥

---

१. 'कराग्रैः' इति शारदातिलके पाठः ।

अन्यत्रापि—

एवं ध्यात्वा महेशानं मानसैरर्चयेत् ततः ।
मूलाधारादिचक्रेषु स्थितान् देवान् क्रमात् सुधीः॥ १३२ ॥

अन्यत्र भी बतलाया गया है—इस प्रकार साधक महेश्वर का ध्यान कर मानस उपचारों से उनकी पूजा करे । फिर सुधी साधक आधारादि षट्चक्रों में स्थित तत्तद्देवताओं का ध्यान कर क्रमशः अर्चना करे ॥ १३२ ॥

ध्यात्वाभ्यर्च्य तथा वर्णान् तत्रस्थानजपापुटान् ।
संस्मृत्य चक्रदेवाय तत्संख्याकं जपं ततः॥ १३३ ॥

फिर उन-उन चक्रों में स्थित वर्णों को 'अजपा' मन्त्र से सम्पुटित कर चक्र देव का स्मरण करते हुये उतनी ही संख्या में जप करे ॥ १३३ ॥

समर्प्य क्रमतो मन्त्री श्वासरूपं महामनुम् ।
क्रमोत्क्रमगतं जप्त्वा मुक्तः सिद्धिमवाप्नुयात्॥१३४॥ इति ।

तदनन्तर उन-उन देवताओं को जप समर्पण कर, क्रम एवं उत्क्रम रूप वाले, (ऊपर-नीचे) श्वास-प्रश्वास रूप महामन्त्र का जप करे । ऐसा करने से वह मुक्त हो जाता है और उसे सिद्धि प्राप्त हो जाती है ॥ १३४ ॥

अन्यत्रापि—

वीरहंसात्मिकाविद्यासङ्कल्पं कारयेद् बुधः ।

हंसाख्यसाधननिरूपणम्

हंसाख्या साधनं वक्ष्ये मन्त्रिणां हितकाम्यया॥ १३५ ॥

अन्यत्र भी बतलाया गया है—बुद्धिमान् आचार्य साधक को वीरहंसात्मिका विद्या का सङ्कल्प करावे । अब मन्त्रियों की हितकामना से हंस नामक साधन को कहता हूँ ॥ १३५ ॥

यस्य विज्ञानमात्रेण सर्वज्ञो भुवि जायते ।
हंसात्मिकां भगवतीं जीवो जपति सर्वदा ॥ १३६ ॥

जिसके जान लेने मात्र से साधक पृथ्वी पर सर्वज्ञ बन जाता है । वह जीव हंसात्मिका भगवती को सर्वदा जपता रहता है ॥ १३६ ॥

अस्याः स्मरणमात्रेण जीवन्मुक्तो भवेन्नरः ।
ऋषिर्हंसः समाख्यातः परहंसोऽस्य देवता ।
छन्दश्चाव्यक्तगायत्री नियोगो योगसिद्धिदः॥ १३७ ॥

इन भगवती के स्मरणमात्र से मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है । इस हंसमन्त्र के ऋषि 'हंस' कहे गये हैं । इसके देवता 'परहंस' हैं । अव्यक्त गायत्री छन्द है और योगसिद्धि के लिये इसका विनियोग कहा गया है ॥ १३७ ॥

सुरेन्द्रसंहितायाम्—

ऋषिर्हंसोऽव्यक्तपूर्वो गायत्रं छन्द उच्यते ।
देवता परमादिस्थं हंसो हं बीजमुच्यते ॥ १३८ ॥

सुरेन्द्रसंहिता में भी बतलाया गया है—इस हंस मन्त्र के अव्यक्त हंस ऋषि हैं और गायत्री इसके छन्द हैं । परमादिस्थ हंस इसके देवता हैं और हं बीज कहा गया है ॥ १३८ ॥

सः शक्तिः कीलकः सोऽहं प्रणवस्तत्त्वमेव हि ।
उदात्तस्वर इत्येवं मनोरस्य प्रकीर्तितः ।
मोक्षार्थे विनियोगः स्यादेवं कुर्यात् सदा नरः ॥ १३९ ॥

'सः' शक्ति है, सोऽहं कीलक है, प्रणव तत्त्व है, उदात्त स्वर है और मोक्ष के लिये इसका विनियोग है । इस प्रकार इस मन्त्र के ऋष्यादि कहे गये हैं । साधक सर्वदा इसी प्रकार इनका विनियोगादि करे ॥ १३९ ॥

वीरचूडामणौ—

सूर्यात्मने च हृद् देवि सोमात्मने शिरस्तथा ।
निरञ्जनं शिखा ज्योतिर्निराभासा तथापरे ॥ १४० ॥

वीरचूडामणितन्त्र में भी इस प्रकार बतलाया गया है—'सूर्यात्मने नमः' से हृदय का, 'सोमात्मने नमः' से शिर का और 'निरञ्जनाय नमः' से शिखा का न्यास होता है । किन्तु अपर लोग 'ज्योतिर्निराभासा' इस मन्त्र से शिखा का स्पर्श कहते हैं ॥ १४० ॥

अव्यक्तं नेत्रयोर्न्यस्य अनन्तोऽस्त्रे न्यसेत् ततः ।
एवं न्यासविधिं कृत्वा ध्यायेद् देवं सनातनम् ॥ १४१ ॥

'फिर अव्यक्ताय नमः' मन्त्र से नेत्र में न्यास करे और 'अनन्ताय नमः' से अस्त्राय फट् न्यास करे । इस प्रकार विद्वान् साधक न्यास विधान कर सनातन देव का ध्यान करे ॥ १४१ ॥

द्यां मूर्धानं यस्य विप्रा वदन्ति
खं वै नाभिं चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे ।
दिशःश्रोत्रे यस्य पादौ क्षितिश्च
ध्यातव्योऽसौ सर्वभूतान्तरात्मा ॥ १४२ ॥

ब्राह्मण लोग जिस सर्वान्तरात्मा भगवान् को द्यौः मूर्धा है, आकाश नाभि है, चन्द्रमा एवं सूर्य नेत्र हैं, दिशायें श्रोत्र हैं तथा जिसके दोनों पैर पृथ्वी है ऐसा कहते हैं। उस सर्वान्तरात्मा का ध्यान करना चाहिये ॥ १४२ ॥

षट्चक्रस्थदेवताध्यानकथनम्

एवं ध्यात्वा प्रसन्नात्मा गणेशादिभ्य अर्पयेत् ।

इस प्रकार ध्यान कर गणेशादि देवताओं को समर्पित करे ।

एतच्च यामले—

ध्यात्वा जपं प्रजप्याथ षट्चक्रदेवतां स्मरेत् ।
मूलाधारे गणेशानं वादिसान्तार्णसंयुते ॥ १४३ ॥
रक्तवर्णं त्रिनयनं वारणास्यं चतुर्भुजम् ।
अभयं च वरं चारु पाशांकुशयुतं विभुम् ॥ १४४ ॥
वल्लभासहितं देवि! गणनाथं विभाव्य च ।
तद्भागं षट्शतं तत्तु समर्प्यास्मै पुनस्तथा ॥ १४५ ॥

यही बात यामलतन्त्र में भी बतलायी गयी है—इस प्रकार ध्यान के पश्चात् मूल मन्त्र का जप कर षट्चक्र के देवताओं का स्मरण करे । १. मूलाधार में भगवान् गणेश का स्मरण करे, जहाँ व से लेकर स पर्यन्त वर्ण स्थित हैं । वहाँ रक्त वर्ण वाले तीन नेत्रों से युक्त, हाथी के समान मुख वाले, चार भुजा समन्वित अपने हाथों में अभय, वर, पाश एवं अङ्कुश धारण किये हुये वल्लभा सहित विभु गणेश का ध्यान करना चाहिए । फिर उसका षड्शत भाग छह सौ जप उन्हें समर्पित करे ॥ १४३-१४५ ॥

स्वाधिष्ठाने च ब्रह्माणं वाणीसहितमीश्वरि ।
ध्यायेत् षड्दलपद्मे तु बादिलान्तार्णसंयुते ॥ १४६ ॥
तप्तचामीकरप्रख्यं पङ्कजस्थं चतुर्भुजम् ।
अभयं च वरं कुण्डीमक्षमालां कराम्बुजैः ॥ १४७ ॥
बिभ्राणं सस्मितं ध्यात्वा सम्पूज्य च दलस्थितान् ।
वर्णान् स्मृत्वाऽस्य भागं वै षट्सहस्त्रं समर्प्य च ॥ १४८ ॥

२. पुनः स्वाधिष्ठान में, हे ईश्वरि! वाणी सहित ब्रह्मदेव का ध्यान करे । वह स्वाधिष्ठान षट्दल पद्म से संयुक्त है । जहाँ ब से लेकर ल पर्यन्त वर्ण स्थित हैं। वहाँ देदीप्यमान स्वर्ण के समान चमकीले पद्म पर चतुर्भुज स्थित हैं । वे अपने हाथों में अभय एवं वर, कुण्डी तथा अक्षमाला धारण किये हुये हैं । मन्द-मन्द हास से युक्त हैं । इस प्रकार उन चतुर्भुज का ध्यान कर दल पर स्थित देवताओं

का पूजन कर वर्णों का स्मरण करते हुये उनका छह-छह हजार भाग समर्पित करे और उनसे प्रार्थना करे ॥ १४६-१४८ ॥

सम्प्रार्थ्य मणिपूरे तु विष्णुं लक्ष्मीयुतं स्मरेत् ।
डादिफान्तार्णसंयुक्तं इन्द्रनीलमणिप्रभम् ॥ १४९ ॥
सर्वभूषणसंशोभिगात्रं त्रिभुवनेश्वरम् ।
पीताम्बरधरं देवं तथा श्रीवत्सकौस्तुभैः ॥ १५० ॥
शोभितं बाहुभिः शङ्खचक्रकौमोदकीकजैः ।
लक्षितं चिन्त्य सम्पूज्य स्मृत्वा वर्णान् दलान्तगान् ॥ १५१ ॥
तज्जपं षट्सहस्त्रं तु देवायास्मै निवेद्य च ।
प्रणम्य प्रार्थ्य श्रीनाथमनाहतविभुं स्मरेत् ॥ १५२ ॥

३. तदनन्तर मणिपूर में लक्ष्मीयुक्त विष्णु का स्मरण करे । जो डकार से लेकर फकार पर्यन्त वर्णों से युक्त है । इन्द्र नीलमणि के समान उनकी कान्ति है। उस मणिपूर में सभी आभूषणों से शोभित जिनका शरीर है । जो पीताम्बर धारण किये हुये हैं । श्रीवत्स चिन्ह कौस्तुभमणि से सुशोभित हैं । जिनके बाहुओं में शङ्ख, चक्र, कौमोदकी गदा तथा कमल लक्षित हो रहा है । ऐसे त्रिभुवनेश्वर का ध्यान करे और फिर उनकी पूजा करे । फिर उन वर्णों पर रहने वाले देवताओं का स्मरण करते हुये षट्सहस्त्र जप उन-उन देवता को निवेदित करे । तदनन्तर उनको प्रणाम कर उनसे प्रार्थना करे ॥ १४९-१५२ ॥

कर्पूरसदृशं त्र्यक्षं गिरिजासहितं शिवम् ।
शान्तं चन्द्रधरं नागधरं चर्माम्बरं तथा ॥ १५३ ॥

४. इसके बाद अनाहत चक्र में कपूर सदृश धवल वर्ण वाले गिरिजा सहित विभु सदाशिव, जो शान्त चन्द्रमा को धारण करने वाले, नागधर तथा व्याघ्राम्बर से युक्त है; उनका स्मरण करे ॥ १५३ ॥

कादिठान्तार्णसंयुक्ते दले द्वादशके हरम् ।
चिन्त्य सम्पूज्य तद्वर्णान् दलगानजपापुटान् ॥ १५४ ॥
संस्मृत्य षट्सहस्त्रं तज्जपमस्मै निवेद्य च ।
सम्प्रार्थ्य परमेशानं विशुद्धिं चिन्तयेद् बुधः ॥ १५५ ॥

उस क से लेकर ठ पर्यन्त द्वादश वर्ण वाले अनाहत चक्र पर साधक सदाशिव का ध्यान कर पूजन करे । उस पर रहने वाले देवताओं को अजपा मन्त्र से सम्पुटित द्वादश वर्णों वाले मातृका वर्णों का जप करे । फिर छह सहस्त्र जप उन्हें निवेदन करे । तदनन्तर परमेशान से प्रार्थना कर बुद्धिमान् साधक विशुद्धचक्र का ध्यान करे ॥ १५४-१५५ ॥

षोडशारं स्वरयुतं तत्रस्थं परमेश्वरम् ।
ज्योतिर्मयं तत्त्वरूपं जीवात्मानं विचिन्त्य च ॥ १५६ ॥
इच्छाशक्तियुतं देवं परमात्मानमव्ययम् ।
पूज्य वर्णान् विचिन्त्याऽथ तज्जपं तु सहस्रकम्॥ १५७ ॥
समर्प्य प्रार्थ्य देवेशमाज्ञाचक्रं विचिन्तयेत् ।

५. यह 'विशुद्ध चक्र' षोडश अराओं वाला स्वर वर्णों से युक्त है । साधक वहाँ ज्योतिर्मय तत्त्वरूप जीवात्मा परमेश्वर का ध्यान करे । वह देव इच्छाशक्ति से युक्त हैं, परमात्मा हैं और अव्यय हैं । मन्त्रज्ञ उनकी पूजा करे और वर्ण का ध्यान करे । उनका सहस्र संख्याक जप कर वर्ण देवताओं को निवेदित करे । फिर मन्त्रज्ञ साधक देवाधिदेव को जप समर्पित कर उनकी प्रार्थना करे । तदनन्तर आज्ञा चक्र का ध्यान करे ॥ १५६-१५८ ॥

द्विदलं हक्षवर्णाढ्यं शुक्लरक्तपदं गुरुम् ॥ १५८ ॥
चिच्छक्तिसहितं देवं श्रीनाथं करुणाकरम् ।
ध्यात्वा सम्पूज्य चिन्त्यार्णावजपापुटितौ तथा ॥ १५९ ॥
सहस्रं तज्जपं तस्मै समर्प्य च प्रणम्य च ।

६. उस आज्ञा चक्र में वहाँ 'ह क्ष' दो वर्ण हैं और वहाँ शुक्ल रक्त वर्ण वाले गुरु का निवास है । वहीं चिच्छक्ति सहित करुणाकर श्रीनाथ हैं । मन्त्रज्ञ साधक को उनका ध्यान और पूजन करना चाहिए । फिर अजपा सम्पुटित दोनों वर्णों का सहस्र बार जप करे । उस जप को गुरु को समर्पित करे और उन्हें प्रणाम कर प्रार्थना करे ॥ १५८-१६० ॥

सम्प्रार्थ्य चिन्तयेदित्थं सहस्रारं शिवालयम् ।
मातृकार्णयुतं शश्वत् पदं परशिवं तथा ॥ १६० ॥

तदनन्तर शिवालय भूत सहस्रार चक्र का स्मरण करे । जो समस्त मातृका वर्णों से संयुक्त है और पर-शिव का स्थान है ॥ १६० ॥

पराशक्तियुतं शान्तं स्मृत्वा पूज्य विचिन्त्य च ।
सहस्रं तज्जपं तस्मै देवाय च परात्मने ॥ १६१ ॥
समर्प्याऽनम्य मनसा पुनर्न्यासादिकं चरेत् ।
प्राणायामं विधायाथ तन्मयं भावयन् पठेत् ॥ १६२ ॥

फिर पराशक्ति से युक्त शान्त स्वरूप उन सदाशिव का ध्यान कर उनका पूजन करे । उनका सहस्र बार जप कर उन परात्मन देव को जप निवेदन कर उन्हें प्रणाम करे और प्रार्थना करे । फिर मन से न्यासादि कर्म करे । तदनन्तर

प्राणायाम कर अपने को तन्मय समझते हुये 'सच्चिदानन्द रूपोऽहं' इत्यादि श्लोक पढ़े ॥ १६१-१६२ ॥

अहं ब्रह्मास्मि सद्रूपं नित्यमुक्तं न शोकभाक् ।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं सर्वदा सर्वगस्तथा ॥ १६३ ॥

प्रातःप्रभृति सायान्तं सायादिप्रातरन्ततः ।
यत् करोमि जगद्योने! तदेव तव पूजनम् ॥ १६४ ॥

गुरुदेवात्मनामित्थमैक्यं स्मृत्वा भुवं स्पृशेत् ।
वहन् नाडीस्थपादेन मन्त्रमेनमुदीरयन् ॥ १६५ ॥

श्लोकार्थ—मैं ब्रह्म हूँ, सत्स्वरूप हूँ, नित्यमुक्त हूँ और मुझे कोई शोक नहीं है । मैं सर्वदा सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ और सर्वत्र व्यापक हूँ । हे जगद्योने! प्रातःकाल से लेकर सायङ्काल पर्यन्त तथा सायङ्काल से लेकर प्रातःकाल पर्यन्त मैं जो-जो भी कार्य करता हूँ वह सब आपका ही पूजन है । इस प्रकार गुरुदेव और अपने को एक समझ कर पृथ्वी का स्पर्श करना चाहिए और फिर 'समुद्रमेखले' आदि मन्त्र पढ़ना चाहिए ॥ १६३-१६५ ॥

समुद्रमेखले देवि! पर्वतस्तनमण्डले ।
विष्णुपत्नि! नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे ॥ १६६ ॥

मन्त्रार्थ—हे समुद्र रूप मेखलाओं वाली! हे पर्वत रूप स्तनमण्डल वाली! हे विष्णुपत्नि! आपको मेरा नमस्कार है । मेरे द्वारा किये गये पादस्पर्श को क्षमा कीजिए ॥ १६६ ॥

शरक्षेपं भुवं गत्वा निर्ऋत्यां निर्जने तथा ।
तृणास्तरितभूदेशे श्वासोच्छ्वासविवर्जितः ॥ १६७ ॥

मलोत्सर्गं ततः कुर्याद् रात्रौ दक्षिणदिङ्मुखः ।
उदङ्मुखो दिवा भूत्वा सन्ध्ययोरप्युदङ्मुखः ॥ १६८ ॥

शौचं कृत्वा प्रयत्नेन बाह्याभ्यन्तरयोरपि ।
देवतागुणनामानि स्मरन् तीर्थमथो व्रजेत् ॥ १६९ ॥

एतत्कृत्यं स्फुटतयोत्तरभागे पद्धतिखण्डे लिखामः ।

॥ इतिश्रीमदागमरहस्ये सत्संग्रहे प्रातःकृत्यादि शौचान्तकथनं नाम सप्तमः पटलः ॥ ७ ॥

तदनन्तर नैर्ऋत्य दिशा में निर्जन वन में जहाँ तक बाण जा सकता है। वहाँ तृण से आच्छादित भूमि पर बिना श्वासोच्छ्वास लिये मलोत्सर्ग करे। यदि रात्रि हो तो दक्षिणाभिमुख और यदि दिन हो तो उत्तराभिमुख मलोत्सर्जन करे। दोनों सन्ध्याओं में भी उत्तराभिमुख होकर ही मलोत्सर्जन करे। इस प्रकार प्रयत्नपूर्वक शौच कर बाहर-भीतर उभयत्र देवता के गुण और नाम का स्मरण करते हुये स्वयं तीर्थमय हो जावे॥ १६७-१६९ ॥

यह साराकृत्य स्पष्टरूप से इस ग्रन्थ के उत्तरभाग के पद्धतिखण्ड में लिखा जायगा।

महाकवि पं० रामकुबेर मालवीय के द्वितीय आत्मज डॉ० सुधाकर मालवीय कृत आचार्य श्रीसरयूप्रसाद द्विवेद विरचित आगमरहस्य में प्रातःकृत्यादि-शौचान्तकथन नामक सप्तम पटल की सुधा नामक हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई॥ ७ ॥

सप्तविंशः पटलः

योगचर्याकथनम्

अथ योगं ब्रवीम्यद्य महासंवित्प्रदं नृणाम् ।
मुक्तात्मा येन विहरेत् स्वर्गे मर्त्ये रसातले ॥ १ ॥
जीवन्मुक्तश्च देहान्ते परं निर्वाणमाप्नुयात् ।
विना योगेन सिध्येत् कुण्डलीचंक्रमः कथम् ॥ २ ॥

अब मैं मनुष्यों को महा ज्ञान देने वाला योग कह रहा हूँ, जिसके अनुष्ठान से मनुष्य मुक्तात्मा होकर स्वर्ग, मृत्युलोक तथा पाताल में विहार करता है । योगनिष्ठ पुरुष इस लोक में जीवन्मुक्त रह कर देहान्त होने पर निर्वाण प्राप्त करता है । यदि योग न किया जाय, तब कुण्डली का उत्थान किस प्रकार हो सकता है?॥ १-२ ॥

मूलपद्मे कुण्डलिनी यावन्निद्रायिता प्रभो ।
तावत् किञ्चित् न सिध्येत मन्त्रयन्त्रार्चनादिकम् ॥ ३ ॥
यदि जागर्ति सा देवी बहुभिः पुण्यसञ्चयैः ।
तदा प्रसादमायान्ति मन्त्रयन्त्रार्चनादयः ॥ ४ ॥
तस्माज्जागरणार्थं तत्साधको योगमभ्यसेत् ।
योगयोगाद् भवेन्मुक्तिर्मन्त्रसिद्धिरखण्डिता ॥ ५ ॥
सिद्धे मनौ परा प्राप्तिरिति शास्त्रस्य निर्णयः ।
तस्मात् सर्वात्मना योगमभ्यसेत् साधकाग्रणीः ॥ ६ ॥

हे प्रभो! जब तक आधार पद्म में कुण्डलिनी सोती रहती है, तब तक मन्त्र यन्त्र एवं अर्चन कार्यो में सिद्धि नहीं होती । अत्यन्त पुण्यसञ्चय होने पर यदि वह देवी जाग जावे तभी मन्त्र, तन्त्र एवं अर्चनादि कार्य सिद्ध होते हैं । इस कारण कुण्डलिनी को जगाने के लिये साधक को योग का अभ्यास करना चाहिये । योग से युक्त होने पर मुक्ति तो होती ही है, मन्त्र की सिद्धि में कोई बाधा भी नहीं पड़ती । फिर मन्त्र सिद्ध होने पर परा शक्ति प्राप्त होती है; ऐसा शास्त्र का निर्णय है । इस कारण श्रेष्ठ साधक सभी प्रकार के प्रयत्नों से योगाभ्यास करे ॥ ३-६ ॥

योगलक्षणं शारदायाम्—

ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः ।
जीवात्मनोरभेदेन प्रतिपत्तिं परे विदुः ।
शिवशक्त्यात्मकं ज्ञानं जगुरागमवेदिनः ॥ ७ ॥
पुराणपुरुषस्यान्ये ज्ञानमाहुर्मनीषिणः ।
चित्तवृत्तिनिरोधं तु योगमाहुश्च योगिनः ॥ ८ ॥ इति ।

अब शारदातिलक के अनुसार योग लक्षण कहते हैं—विशारद लोग जीव और आत्मा की एकता को 'योग' कहते हैं । अन्य आचार्य जीव और आत्मा का अभेदज्ञान होना 'योग' कहते हैं । आगमशास्त्र के जानकार शिवशक्त्यात्मक ज्ञान को 'योग' कहते हैं । अन्य मनीषिगण पुराण पुरुष के ज्ञान को 'योग' कहते हैं । योगी लोग चित्तवृत्ति निरोध को 'योग' कहते हैं ॥ ७-८ ॥

प्रयोगसारेऽपि—

निष्कलस्याप्रमेयस्य देवस्य परमात्मनः ।
सन्धानं योगमित्याहुः संसारोच्छित्तिसाधनम् ॥ ९ ॥ इति ।

प्रयोगसार में भी कहा गया है—निष्कल (मायारहित) अप्रमेय (परिच्छेदरहित) परमात्म देव का सन्धान योग कहते हैं, जो संसार के उच्छेद का कारण है ॥ ९॥

तद्योगश्चतुर्विधो यथा योगशास्त्रे—

योगश्चतुर्विधः प्रोक्तो योगज्ञैस्तत्त्वदर्शिभिः ।
मन्त्रयोगो लयश्चैव राजयोगो हठस्तथा ॥ १० ॥
योगाङ्गैरात्मनः शत्रून् जित्वा योगं समभ्यसेत्।
नियमैश्च यमैश्चैव कामादीन् षट् षडूर्मिगान् ॥ ११ ॥

वह योग चार प्रकार का कहा गया है । जैसा कि योगशास्त्र में भी बतलाया गया है—योगज्ञ तत्त्वदर्शी पुरुषों ने मन्त्रयोग, लययोग, राजयोग तथा हठयोग के भेदों से योग को चार प्रकार कहा है । योगी नियम और यम के द्वारा कामादि षट् शत्रुओं को तथा शोक मोहादि षड् ऊर्मी रूप आत्म शत्रुओं को दो गाङ्गी से जीत कर योगाभ्यास करे ॥ १०-११ ॥

तान् हठयोगे वक्ष्यामः ।

आसनं प्राणसंरोधो ध्यानं चैव समाधिकः ।
एतच्चतुष्टयं विद्धि सर्वयोगेषु सम्मतम् ॥ १२ ॥

यम नियमादि का वर्णन आगे चलकर हठयोग में कहेंगे । १. आसन २. प्राणायाम ३. ध्यान और ४. समाधि—ये चार योग के और प्रकार हैं; ऐसा

सर्वयोग सम्मत सिद्धान्त है ॥ १२ ॥

तत्र मन्त्रयोगो द्विधा—आभ्यन्तरो बाह्यश्च । बाह्यः कथित एव । आभ्यन्तरो यथा यामले—

मङ्कारेण मनः प्रोक्तस्त्रकारः प्राण उच्यते ।
मनःप्राणसमायोगाद् योगो वै मन्त्रसञ्ज्ञकः ॥ १३ ॥
ब्रह्मविष्णवीशशक्तीनां मन्त्रं जपविशारदैः ।
साधितो मन्त्रयोगस्तु वत्सराजादिभिर्यथा ॥ १४ ॥

मन्त्रयोग आभ्यन्तर और बाह्य भेद से दो प्रकार का कहा गया है । अब तक २६ पटलों में बाह्य कहा गया है । अब आभ्यन्तर योग यामल के अनुसार कहते हैं—मन्त्र शब्द का अर्थ इस प्रकार है—मङ्कार शब्द का अर्थ मन है, त्र शब्द का अर्थ प्राण है । अतः मन और प्राण का संयुक्त होना मन्त्र सञ्ज्ञक योग कहा जाता है । जप विशारदों ने ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर तथा शक्ति के मन्त्रों को सिद्ध करना 'मन्त्रयोग' कहा है, जैसा कि वत्सराजादि ने सिद्ध किया था ॥ १३-१४ ॥

मन्त्रयोगो यथा यामले गौतमीये च—

इदानीं कथयिष्येऽहं मन्त्रयोगमनुत्तमम् ।

१. मन्त्रयोगकथनम्

विश्वं शरीरमित्युक्तं पञ्चभूतात्मकं शिवे ॥ १५ ॥
षणनवत्यङ्गुलायामं शिवशक्त्यात्मकं तथा ।
चन्द्रसूर्याग्नितेजोभिर्जीवब्रह्मैक्यरूपिणम् ॥ १६ ॥
गुदध्वजान्तरे कन्दमुत्सेधाद् द्व्यङ्गुलं विदुः ।
तस्माद् द्विगुणविस्तारं वृत्तरूपेण शोभितम् ॥ १७ ॥
तिस्रः कोट्यस्तदर्धेन नाड्यस्तत्र प्रकीर्तिताः ।
तासु मुख्या दश प्रोक्तास्तासु तिस्रो व्यवस्थिताः॥ १८ ॥
प्रधाना मेरुदण्डे तु सोमसूर्याग्निरूपिणी ।
इडा वामे स्थिता नाडी शुक्ला तु चन्द्ररूपिणी॥ १९ ॥
शक्तिरूपा च सा नाडी साक्षादमृतविग्रहा ।

अब मन्त्र योग कह रहा हूँ । हे शिवे! पञ्चभूतात्मक इस विश्व को शरीर कहा जाता है । इसकी लम्बाई ९६ अङ्गुल है और यह शिवशक्त्यात्मक है । यह चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि के तेज से जीव-ब्रह्मैक्यरूप वाला है । गुदा और लिङ्ग के बीच में दो अङ्गुल ऊँचा एक कन्द है । उसके बाद उसके दूने विस्तार से युक्त वृत्त से वह सुशोभित है । उस शरीर में साढ़े तीन करोड़ नाडियाँ हैं । उसमें मुख्य रूप से दश नाडी तथा उसमें भी मुख्य रूप से तीन नाडी व्यवस्थित है । सोम

सूर्याग्नि रूपिणी प्रधान तीन नाडियाँ मेरुदण्ड में रहती है । उस मेरुदण्ड के बायें इडा नाडी है । जिसका वर्ण श्वेत है जो चन्द्र स्वरूपा है । वही नाडी शक्तिरूपा है जो साक्षात् अमृत विग्रहा है ॥ १५-२० ॥

दक्षिणे पिङ्गला ख्याता पुंरूपा सूर्यविग्रहा ॥ २० ॥
दाडिमीकुसुमप्रख्या मुनिभिः परिकीर्तिता ।
मेरुमध्ये स्थिता या तु मूलादाब्रह्मरन्ध्रगा ॥ २१ ॥
सर्वतेजोमयी सा तु सुषुम्णा ब्रह्मरूपिणी ।
तस्या मध्ये विचित्राख्या अमृतप्लाविनी शुभा ॥ २२ ॥
सर्वदेवमयी सा तु योगिनां हृदयङ्गमा ।
विसर्गाद् बिन्दुपर्यन्तं व्याप्य तिष्ठति तत्त्वतः ॥ २३ ॥
ब्रह्मरन्ध्रं विदुस्तस्यां पद्मसूत्रनिभं परम् ।
आधारांश्च विदुस्तत्र मतभेदादनेकधा ॥ २४ ॥
केचन द्वादश प्राहुः षोडशान्ये बहूनि च ।
दिव्यं मार्गमिदं प्राहुरमृतानन्दकारणम् ॥ २५ ॥

मेरु के दक्षिण भाग में 'पिङ्गला' नाडी है । जो पुरुष रूपा एवं सूर्य विग्रहा है। मुनियों ने उसे अनार पुष्प के समान लाल वर्ण वाली कहा है । जो मेरु के मध्य में स्थित होकर मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त जाती है, वह सर्वतेजोमयी ब्रह्मस्वरूपा 'सुषुम्णा' नाडी है । उसी की मध्य में 'विचित्रा' नाम की नाडी है जो कल्याणकारिणी, अमृतप्लाविनी एवं सर्वदेवमयी है । वह केवल योगीजनों द्वारा प्रत्यक्ष की जाती है और तत्त्व के द्वारा विसर्ग से बिन्दु पर्यन्त व्याप्त होकर स्थित रहती है । उसका आकार पद्मसूत्र (मृणाल) के समान है और स्थान ब्रह्मरन्ध्र है । मतभेद होने से उसके आधार अनेक प्रकार के कहे गये हैं । कोई उसका आधार द्वादश मानते हैं तो कोई षोडश मानते हैं—कोई अनेक मानते हैं यह मार्ग दिव्य है जो अमृतानन्द का कारण है ॥ २०-२५ ॥

इडायां संस्थितश्चन्द्रः पिङ्गलायां च भास्करः।
सुषुम्णा शम्भुरूपेण शम्भुर्हंसस्वरूपकः ॥ २६ ॥

इडा पर चन्द्रमा का निवास है । पिङ्गला पर सूर्य का निवास है । सुषुम्णा स्वयं शिव का स्वरूप है और शम्भु स्वयं हंस स्वरूप हैं ॥ २६ ॥

हकारो निर्गमे प्रोक्तः सकारोऽन्तः प्रवेशने ।
हकारः शिवरूपः स्यात्सकारः शक्तिरुच्यते ॥ २७ ॥

श्वास वायु के निकलने की स्थिति में हकार वर्ण होता है । श्वास वायु के प्रवेश के समय सकार का प्रयोग होता है । हकार शिवस्वरूप है और सकार

शक्त्यात्मक है ॥ २७ ॥

शक्तिरूपः स्थितश्चन्द्रो वामनाडीप्रवाहकः ।
दक्षनाडीप्रवाहश्च शम्भुरूपी दिवाकरः ॥ २८ ॥
आधारकन्दमध्यस्थं त्रिकोणमतिसुन्दरम् ।
ज्योतिषां निलयं दिव्यं प्राहुरागमवेदिनः ॥ २९ ॥
मूलाधारे त्रिकोणाख्ये इच्छाज्ञानक्रियात्मके ।
मध्ये स्वयम्भूलिङ्गं तु कोटिसूर्यसमप्रभम् ।
तदूर्ध्वे कामबीजं तु कला स्याद् बिन्दुनादकम्॥ ३० ॥

शक्तिरूप से चन्द्रमा स्थित है जो वामनाडी को चलाता है । बायें नाडी को प्रवाहित करने वाले स्वयं सूर्यस्वरूप सदाशिव हैं । आधारकन्द के मध्य में अत्यन्त सुन्दर त्रिकोण है । आगमवेत्तागण उसे समस्त दिव्य ज्योतिःपुञ्जों का स्थान मानते हैं । मूलाधार में, जिसे त्रिकोण कहते हैं, जो इच्छा, ज्ञान, क्रियात्मक है उसके मध्य में स्वयम्भू लिङ्ग है । जिसका प्रकाश करोड़ों सूर्य के समान देदीप्यमान है । उसके ऊपर कामबीज का निवास है और उसके ऊपर कला, फिर बिन्दु, फिर नाद की स्थिति है ॥ २८-३० ॥

कामबीजध्यानं यथा प्रयोगसारे—

तडित्कोटिप्रख्यं स्वरुचिजितकालानलरुचिं
सहस्रादित्यांशुप्रकरसदृशोद्योतकलितम् ।
स्फुरन्तं योन्यन्तस्फुटदरुणवन्धूककुसुम-
प्रभं कामं ध्यायेत् शरदशशभृत्कोटिशिशिरम् ॥३१॥

प्रयोगसार के अनुसार कामबीज का ध्यान कहते हैं—वह कामबीज करोड़ों विद्युत् के समान चमकीला है जो अपनी कान्ति से प्रलयकालीन अग्नि की दीप्ति को भी तुच्छ बना देता है । उसका प्रकाश सहस्रों आदित्य के किरणों के समान चमकीला है । वह योनि में खिले हुये लाल वर्ण के बन्धूक पुष्प के समान स्फुरित हो रहा है । ऐसे शरत्कालीन करोड़ों चन्द्रमा के समान शिशिर रूप काम का ध्यान करना चाहिये ॥ ३१ ॥

तत्र विद्युल्लताकारा कुण्डली परदेवता ।
परिस्फुरति सर्वात्मा सुप्ताहि सदृशाकृतिः ॥ ३२ ॥
बिभर्त्ति कुण्डलीशक्तिरात्मानं हंसमाश्रिता ।
हंसः प्राणाश्रयो नित्यं प्राणो नाडीपथाश्रयः ॥ ३३ ॥
आधारादुद्गतो वायुर्यथावत् सर्वदेहिनाम् ।
देहं व्याप्य स्वनाडीभिः प्रयाणं कुरुते बहिः ॥ ३४ ॥

उसी त्रिकोण में त्रिवलयाकार सोते हुये साँप के समान आकृति वाली, विद्युल्लता के आकार के समान, सर्वात्मा, परदेवता कुण्डलिनी स्फुरित होती रहती है। वह कुण्डली शक्ति 'हंस' का आश्रय लेकर अपने को धारण करती है। हंस का आश्रय प्राण है, जो नाडी पथ से बराबर गतिमान् रहता है। आधार से निकला हुआ वायु ठीक प्रकार से सभी चराचर जगत् के प्राणियों के शरीर में व्याप्त होकर बाहर निकलता रहता है ॥ ३२-३४ ॥

द्वादशाङ्गुलमानेन तस्मात् प्राण इतीरितः ।
रम्ये मृद्वासने शुद्धे यद्वाजिनकुशोत्तरे ॥ ३५ ॥
बध्वैकमासनं योगी योगमार्गपरो भवेत् ।
ज्ञात्वा भूतोदयं देहे विधिवत् प्राणवायुना ॥ ३६ ॥
तत् तद् भूतं जयेद् देहे दृढत्वावाप्तये सुधीः ।
अङ्गुलीभिर्दृढं बध्वा करणानि समाहितः ॥ ३७ ॥

वह वायु बारह अङ्गुल तक बाहर निकलता है। इसलिये उसे 'प्राण' कहते हैं। योगी, कुशा का आसन, उसके ऊपर मृगचर्म के शुद्ध, कोमल एवं मनोहर आसन बिछाकर, एक आसन से बैठकर योगमार्ग में तत्पर होवे। फिर प्राणवायु से भूतोदय का ज्ञान कर दृढ़ता की प्राप्ति के लिये देह में विद्यमान् तत्तद् भूतों पर विजय प्राप्त करे। योगी अङ्गुलियों से समस्त ज्ञानेन्द्रियों को सावधानी से बन्द कर देवे ॥ ३५-३७ ॥

अङ्गुष्ठाभ्यामुभे श्रोत्रे तर्जनीभ्यां विलोचने ।
नासारन्ध्रे मध्यमाभ्यामन्याभिर्वदनं दृढम् ॥ ३८ ॥
बध्वात्मप्राणमनसामेकत्वं समनुस्मरन् ।
धारयेन् मारुतं सम्यग्योगोऽयं योगिवल्लभः ॥ ३९ ॥

दोनों अङ्गूठों से दोनों कान, दोनों तर्जनी से दोनों नेत्र, दोनों मध्यमा से दोनों नासिका के छिद्र और अन्यों से दृढ़तापूर्वक मुख बन्द करे। इस प्रकार अङ्गुलियों से इन्द्रियों को बन्द कर आत्मा, प्राण और मन की एकता का ध्यान करते हुये, प्राणवायु धारण करे। इस प्रकार का योग योगियों का वल्लभ है ॥ ३८-३९ ॥

अव्ययोगकथनम्

एवं धारणया युक्तश्चिन्तयेद् योगमव्ययम् ।
मूलत्रिकोणात् परितो बाह्ये च हेमवर्णकम् ॥ ४० ॥
वादिसान्तार्णसंयुक्तं चतुर्दलमनोहरम् ।
द्रुतहेमसमप्रख्यं पद्मं तत्र विभावयेत् ॥ ४१ ॥
मूलमाधारषट्कानां मूलाधारं ततो विदुः ।

तदूर्ध्वेऽग्निसमप्रख्यं षड्दलं हीरकप्रभम् ॥ ४२ ॥
वादिलान्तषडर्णेन स्वाधिष्ठानं हि तद्युतम् ।
स्वशब्देन परं लिङ्गं स्वाधिष्ठानं ततो विदुः ॥ ४३ ॥
तदूर्ध्वे नाभिदेशे तु मणिपूरं महत्प्रभम् ।
मेघाभं विद्युताभं च बहुतेजोमयं ततः ॥ ४४ ॥
मणिवद् भिन्नताप्तं यन्मणिबन्धं तदुच्यते ।
दशभिश्च दलैर्युक्तं डादिफान्ताक्षरान्वितम् ॥ ४५ ॥
शिवेनाधिष्ठितं पद्मं विश्वलोकनकारकम् ।
तदूर्ध्वेनाहतं पद्ममुद्यदादित्यसन्निभम् ॥ ४६ ॥
कादिठान्ताक्षरैरर्कपत्रैश्च समधिष्ठितम् ।
तन्मध्ये बाणलिङ्गं तु सूर्यायुतसमप्रभम् ॥ ४७ ॥
शब्दब्रह्ममयं शब्दानाहतस्तत्र दृश्यते ।
तेनानाहतपद्मं तु मुनिभिः परिकीर्तितम् ॥ ४८ ॥
आनन्दसदनं तत्तु पुरुषाधिष्ठितं परम् ।

इसी प्रकार की धारणा से युक्त होकर योगी 'अव्यय योग' का अभ्यास करे । १. मूल त्रिकोण के चारों ओर बाहर सुवर्ण वर्ण का व से लेकर सान्त वर्ण (व श ष स) चार वर्ण वाले, चतुर्दल युक्त, पिघले हुये सुवर्ण के समान कमल का ध्यान करे । यह छह प्रकार के कमलों का मूल है । इसलिये इसे 'मूलाधार' कहा जाता है । २. उसके ऊपर अग्नि के समान देदीप्यमान बादि से लान्त (ब भ म य र ल) वर्ण वाले षड्दल हीरा के समान चमकीले पद्म का ध्यान करे । स्व शब्द का अर्थ परलिङ्ग है । यत: यह परलिङ्ग से युक्त है इसलिये इसे 'स्वाधिष्ठान' कहा जाता है । ३. उसके ऊपर नाभिदेश में अत्यन्त प्रकाशमान 'मणिपूर चक्र' है जो मेघ के समान विद्युत् के समान बहुतेजोमय है । मणि के समान होकर भी वह मणि से भिन्न है । इसलिये उसे मणिबन्ध कहा जाता है । यह ड से लेकर फ वर्ण (ड ढ ण त थ द ध न प फ) दश वर्ण रूप दश दलों वाला है । वह पद्म शिव से अधिष्ठित है और विश्व का अवलोकन करने वाला है । ४. उसके ऊपर उदीयमान सूर्य के समान 'अनाहत पद्म' है । जो क से लेकर ठ पर्यन्त (क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ) द्वादश वर्ण युक्त दलों से अधिष्ठित है । उसके मध्य में दश हजार सूर्य के समान किरणों वाला बाण लिङ्ग है । वह शब्द ब्रह्ममय है और वह शब्दों से अनाहत है । इसलिये मुनियों ने उसे अनाहत कहा है । वह आनन्द का सदन है और पर-पुरुष से अधिष्ठित है ॥ ४०-४९ ॥

तदूर्ध्वं तु विशुद्ध्याख्यं पङ्कजं षोडशच्छदम् ॥ ४९ ॥
स्वरैः षोडशकैर्युक्तं धूम्रवर्णं मनोहरम् ।

विशुद्धिं तनुते यस्माज्जीवस्य हंसलोकनात् ॥ ५० ॥
विशुद्धं पद्ममाख्यातमाकाशाख्यं महाद्भुतम् ।
आज्ञाचक्रं तदूर्ध्वे तु आत्मनाधिष्ठितं परम् ॥ ५१ ॥
आज्ञासंक्रमणं तत्र गुरोराज्ञेति कीर्तिता ।
कैलासाख्यं तदूर्ध्वे तु रोधिनी तु तदूर्ध्वतः ॥ ५२ ॥
एवं तु सर्वचक्राणि प्रोक्तानि तव सुव्रते ।

५. उसके ऊपर विशुद्ध नाम का कमल है जो सोलह स्वरों से संयुक्त षोडश पत्रों वाला है । उसका वर्ण धूम है किन्तु मनोहर है । यतः वह हंस (सूर्य) अपने आलोक से जीव को 'विशुद्ध' करता है इसलिये उसे 'विशुद्ध' कहा जाता है । वह आकाशात्मक है और अद्भुत है । ६. उसके ऊपर आत्मा से अधिष्ठित 'आज्ञा चक्र' है । वह गुरु की आज्ञा से संक्रमण होता है । इसलिये उसे 'आज्ञा चक्र' कहा जाता है । उसके ऊपर 'कैलास' है । उसके ऊपर रोधिनी है । इस प्रकार हे सुव्रते! हमने आपसे सारे चक्रों का वर्णन किया ॥ ४९-५३ ॥

सहस्राराम्बुजं पद्मं बिन्दुस्थानं तदीरितम् ॥ ५३ ॥
इत्येतत् कथितं सर्वं योगमार्गमनुत्तमम् ।
आदौ पूरकयोगेन आधारे योजयेन्मनः ॥ ५४ ॥
गुदमेढ्रान्तरे शक्तिं तामाकुञ्च्य प्रबोधयेत् ।
पद्मभेदक्रमेणैव बिन्दुचक्रं समानयेत् ॥ ५५ ॥
शम्भुना तां परां शक्तिमेकीभावं विचिन्तयेत् ।
तदुत्थितामृतं देवि द्रुतलाक्षारसोपमम् ॥ ५६ ॥
तर्पयित्वा च तां शक्तिमिष्टदेवस्वरूपिणीम् ।
षट्चक्रदेवतास्तत्र सन्तर्प्यामृतधारया ॥ ५७ ॥
आनयेत् तेन मार्गेण मूलाधारं पुनः सुधीः ।
एवमभ्यस्यमानस्य अहन्यहनि पार्वति ॥ ५८ ॥
जरामरणदुःखाद्यैर्मुच्यते भवबन्धनैः ।
पूर्वोक्तदूषिता मन्त्राः सर्वे सिध्यन्ति योगतः ॥ ५९ ॥

इसके बाद 'सहस्राम्बुज पद्म' है, जिसे 'बिन्दुस्थान' भी कहा जाता है । इस प्रकार अत्युत्तम योग मार्ग हमने आपसे कहा । साधक सर्वप्रथम पूरक प्राणायाम से मन को आधार चक्र में स्थापित करे । गुदा और लिङ्ग के मध्य में रहने वाली शक्ति को सङ्कुचित (सिकोड़) कर उसे प्रबुद्ध करे (जगावे) । फिर क्रमशः छ पद्मों का भेदन करते हुये उसे बिन्दु चक्र में ले आवे । फिर उस शक्ति को सदाशिव के साथ मिलाकर उनकी एकता का ध्यान करे । हे देवि! उन दोनों के एकीभाव से

द्रुत लाक्षारस के समान उत्पन्न अमृत से इष्टदेव स्वरूपा उस शक्ति का तर्पण करे। फिर उसकी अमृतधारा से षट्चक्र के देवताओं का भी तर्पण करे। तदनन्तर सुधी साधक उस शक्ति को उसी मार्ग से मूलाधार में ले आवे। हे पार्वति! इस प्रकार प्रतिदिन अभ्यास करते हुये साधक अब बन्धन से तथा जरामरण के दुःखों से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार योग करने से पूर्वोक्त छिन्नादि दोष दूषित सभी मन्त्र उसे सिद्ध हो जाते हैं ॥ ५३-५९ ॥

ये गुणाः सन्ति देवस्य पञ्चकृत्यविधायिनः।
ते गुणाः साधकवरे भवन्त्येव न चान्यथा ॥ ६० ॥
इति ते कथितं देवि वायुधारणमुत्तमम् ।
नादः सञ्जायते तस्य क्रमादभ्यसतः शनैः ॥ ६१ ॥
मत्तभृङ्गाङ्गनागीतसदृशः प्रथमो ध्वनिः ।
वंशिकास्यानिलापूर्णवंशध्वनिनिभोऽपरः ॥ ६२ ॥
घण्टारवसमः पश्चात् घनमेघस्वनोऽपरः ।
एवमभ्यसतः पुंसः संसारध्वान्तनाशनम् ।
ज्ञानमुत्पद्यते पूर्वं हंसलक्षणमव्ययम् ॥ ६३ ॥

पञ्चकृत्य करने वाले देवता के जितने गुण हैं, वे सभी गुण इस योग से साधक में स्वयं आ जाते हैं, इसमें सन्देह नहीं। हे देवि! इस प्रकार हमने सर्वोत्तम वायुधारण का प्रकार कहा। इस प्रकार शनैः शनैः इस योग का अभ्यास करते रहने से नाद उत्पन्न हो जाता है। उस नाद की प्रथम गति मदमाती भ्रमरी के गीत समान होती है। फिर वायु से पूर्ण होने पर बाँस की वंशी जैसी ध्वनि निकलती है। वैसा शब्द होता है इसके बाद घण्टा के शब्द के समान, फिर घने मेघ के गर्जन के समान शब्द सुनाई पड़ने लगता है। इसी प्रकार शब्द के सुनने से संसार के अज्ञान रूप अन्धकार का नाश हो जाता है। फिर हंस लक्षण अव्यय ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ ६०-६३ ॥

प्रयोगसारे तु विशेषः—

बिम्बीति प्रथमः शब्दश्चिञ्चिणीति द्वितीयकः ।
चिरिचाकी तृतीयस्तु चतुर्थो घर्घरस्वनः ॥ ६४ ॥
पञ्चमस्तु मनागुच्चः षष्ठो मदकलध्वनिः ।
सप्तमः सूक्ष्मनादः स्यादष्टमो वेणुवर्धनः ॥ ६५ ॥
नवमो मधुरध्वानो दशमो दुन्दुभिस्वनः ।
कम्परोमोद्गमानन्दवैमल्यस्थैर्यलाघवम् ॥ ६६ ॥
प्रकाशज्ञानवैदुष्यभावो द्वैतात्मसञ्चयः ।

सम्भवन्ति दशावस्था योगिनः सिद्धिसूचकाः ॥ ६७ ॥

अब प्रयोगसार में विशेष कहते हैं—बिम्बी प्रथम शब्द, चिञ्चिणी द्वितीय शब्द, चिरिचाकी तृतीय शब्द, घर्घर चौथा शब्द, 'मनागुच्च' पाँचवाँ शब्द, षष्ठी मदकलध्वनि, सप्तम सूक्ष्मनाद, अष्टम वेणुवर्धन, नवम मधुरध्वान और दशम दुन्दुभी शब्द सुनाई पड़ता है । इसी प्रकार कम्पन, रोमाञ्च, आनन्द, वैमल्य, स्थिरता, लाघव, प्रकाश, ज्ञान, वैदुष्यभाव तथा द्वैतात्मसञ्चय—ये दश अवस्थायें योगियों की होती है, जो उनकी सिद्धियों की सूचिका है ॥ ६४-६७ ॥

ततस्त्रैकाल्यविज्ञानग्रहा प्रज्ञामनोज्ञता ।
छन्दन्तः प्राणसंरोधो नाडीनां क्रमणं तथा ॥ ६८ ॥
वाचां सिद्धिश्चिरायुश्च कालानुवर्तनं तथा ।
देहाद् देहान्तरप्राप्तिरात्मज्योतिःप्रकाशनम् ।
प्रत्यया दश दृश्यन्ते प्राप्तयोगस्य योगिनः ॥ ६९ ॥ इति ।

इसके बाद त्रिकालविज्ञान का ग्रह, प्रज्ञा, मनोज्ञता इच्छानुसार प्राणों का निरोध, नाडियों का संक्रमण, वाणी की सिद्धि, चिरायु, कालानुवर्त्तन, एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश, आत्मज्योति का प्राश । इस प्रकार योग-प्राप्त योगी की अन्य दश अवस्थायें होती है ॥ ६८-६९ ॥

शारदायामन्यच्च—

पुम्प्रकृत्यात्मकौ प्रोक्तौ बिन्दुसर्गौ मनीषिभिः ।
ताभ्यां क्रमात् समुत्पन्नौ बिन्दुसर्गावसानकौ ॥ ७० ॥
हंसौ तौ पुम्प्रकृत्याख्यौ हं पुमान् प्रकृतिस्तु सः ।
अजपा कथिता ताभ्यां जीवोऽयमुपतिष्ठते ॥ ७१ ॥
पुरुषं स्वाश्रयं मत्वा प्रकृतिर्नित्यमास्थिता ।
यदा तद् भावमाप्नोति तदा सोऽहमयं भवेत् ॥ ७२ ॥
सकारार्णं हकारार्णं लोपयित्वा ततः परम् ।
सन्धिं कुर्यात् पूर्वरूपं तदासौ प्रणवो भवेत् ॥ ७३ ॥
परानन्दमयं नित्यं चैतन्यैकगुणात्मकम् ।
आत्माभेदस्थितं योगो प्रणवं भावयेत् सदा ॥ ७४ ॥

शारदातिलक में कुछ अन्य बात कहते हैं—मनीषियों ने बिन्दु और सर्ग को पुरुष और प्रकृत्यात्मक कहा है । उनसे क्रमशः बिन्दु और सर्गावसान उत्पन्न हुये । हं सः ये दोनों शब्द क्रमशः पुमान् और प्रकृत्यात्मक हैं । इसमें 'हं' पुरुष है, सः प्रकृति है, ये दोनों मिलाकर 'अजपा' कहे जाते हैं । जिसे जीव निरन्तर

जपता रहता है । प्रकृति पुरुष को अपना समझकर नित्य उसी में आश्रित रहती है । जब ऐसी स्थिति आती है । तब हंस 'सोऽहम्' का रूप धारण करता है । फिर जब सकार और हकार का लोप हो जाता है और सन्धि कर ली जावे तब वह ओम् (प्रणव) का रूप हो जाता है । अतः योगी परानन्दमय नित्य चैतन्य-गुणात्मक आत्माभिन्न प्रणव का ही निरन्तर अभ्यास करे ॥ ७०-७४ ॥

आम्नायवाचामतिदूरमाद्यं
वेद्यं स्वसंवेद्यगुणेन सन्तः ।
आत्मानमानन्दरसैकसिन्धुं
पश्यन्ति तारात्मकमात्मनिष्ठाः ॥ ७५ ॥

सत्यं हेतुविवर्जितं श्रुतिगिरामाद्यं जगत्कारणं
व्याप्तं स्थावरजङ्गमं निरुपमं चैतन्यमन्तर्गतम् ।
आत्मानं रविचन्द्रवह्निवपुषं तारात्मकं सन्ततं
नित्यानन्दगुणालयं सुकृतिनः पश्यन्ति रुद्धेन्द्रियाः ॥ ७६ ॥

आत्मनिष्ठ सन्त स्व संवेद्य गुण से, वेद वाणी से अत्यन्त दूर, आदि वेद्य आनन्दरस के एकमात्र समुद्र, आत्मस्वरूप, तारात्मक (ॐ) का दर्शन करते हैं । जो सत्य है और हेतुरहित है । वेद वाणी का आद्य है और समूचे जगत् का कारण है । स्थावर जङ्गम सर्वत्र व्याप्त है, उपमारहित है, अन्तर्गत चैतन्यस्वरूप है, आत्मा है, रवि, चन्द्र एवं अग्नि शरीर वाला है । सर्वदा प्रणवात्मक है । ऐसे नित्यानन्द समस्त गुणों के आलय प्रणव का दर्शन पुण्यात्मा जितेन्द्रिय योगीजन करते हैं ॥ ७५-७६ ॥

पिण्डं भवेत् कुण्डलिनी शिवात्मा
पदं तु हंसः सकलान्तरात्मा ।
रूपं भवेद् बिन्दुरमन्दकान्ति-
रतीतरूपं शिवसामरस्यम् ॥ ७७ ॥

जिसका पिण्ड (शरीर) कुण्डलिनी है, शिव आत्मा है, हंस पद है, जो सकलान्तरात्मा है, बिन्दु जिसका रूप है, जिसकी कान्ति अलौकिक है और जो शिव सामरस्य है तथा जिसका रूप मन वाणी से परे है ॥ ७७ ॥

पिण्डादियोगं शिवसामरस्यात्
सबीजयोगं प्रवदन्ति सन्तः ।
शिवे लयं नित्यगुणाभियुक्ते
निर्बीजयोगं फलनिर्व्यपेक्षम् ॥ ७८ ॥

शिव सामरस्य से जिसका पिण्डादियोग होता है । सन्त लोग उसे सुबीजयोग कहते हैं । नित्य गुणाभियुक्त शिव में फल की आकाङ्क्षा के बिना जिसका लय होता है उसे 'निर्बीजयोग' कहा जाता है ॥ ७८ ॥

मूलोन्निद्रभुजङ्गराजसदृशीं यान्तीं सुषुम्णान्तरं
भित्वाधारसमूहमाशु विलसत्सौदामिनीसन्निभाम् ।
व्योमाम्भोजगतेन्दुमण्डलगलद्दिव्यामृतौघप्लुतिं
सम्भाव्य स्वगृहं गतां पुनरिमां सञ्चिन्तयेत् कुण्डलीम् ॥ ७९ ॥

जो जाग जाने पर मूलाधार से सर्पराज के समान अत्यन्त वेग से सुषुम्णा के भीतर से जाती हुई, षट् षट् चक्र रूप आधार समूहों का भेदन करती हुई, चमकती हुई बिजली के समान देदीप्यमान होकर सहस्त्रार मण्डल में स्थित चन्द्र मण्डल से झरती हुई, अमृत समूहों की धारा में स्नान कर, पुनः अपने आधार मण्डल में लौट आती है ऐसी कुण्डलिनी का योगी ध्यान करे ॥ ७९ ॥

हंसं नित्यमनन्तमव्ययगुणं स्वाधारतो निर्गता
शक्तिः कुण्डलिनी समस्तजननी हस्ते गृहीत्वा च तम् ।
यातां शम्भुनिकेतनं परसुखं तेनानुभूय स्वयं
यान्ती स्वाश्रयमर्ककोटिरुचिरा ध्येया जगन्मोहिनी ॥ ८० ॥

अपने आधार से निकल कर समस्त जननी कुण्डलिनी शक्ति, अनन्त, अव्यय गुणों से युक्त हंस को अपने हाथों से पकड़कर, सदाशिव के सहस्त्रार चक्र रूप गृह को जाया करती है । फिर उनके साथ सम्भोग के सुख का अनुभव कर अपने घर में पुनः लौट आती है । ऐसी करोड़ों सूर्य के समान जाज्वल्यमान 'जगन्मोहिनी कुण्डलिनी' का ध्यान करना चाहिये ॥ ८० ॥

अव्यक्तं परबिन्दुसञ्चितरुचिं नीत्वा शिवस्यालयं
शक्तिः कुण्डलिनी गुणत्रयवपुर्विद्युल्लतासन्निभा ।
आनन्दामृतमध्यगं पुरमिदं चन्द्रार्ककोटिप्रभं
संवीक्ष्य स्वपुरं गता भगवती ध्येयानवद्या गुणैः ॥ ८१ ॥
इत्येवं भावनासक्तो स्वेष्टं धारणया भजेत् ।

विद्युल्लता के समान प्रदीप्त, त्रिगुणा, कुण्डलिनी शक्ति अव्यक्त, परबिन्दु रुचि को सञ्चित कर, शिवालय को ले जाकर, पुनः करोड़ों चन्द्रमा और करोड़ों सूर्य के समान प्रकाशमान, अमृतानन्द के समुद्र में बसे हुये, उनके पुर को देखकर अपने घर वापस आ जाती है । अनवद्य (निर्दोष) गुणों से युक्त ऐसी कुण्डलिनी का ध्यान करना चाहिये । साधक इस प्रकार की धारणा से युक्त होकर अपने इष्टदेवता का भजन करे ॥ ८१-८२ ॥

सा च गौतमीये—

इदानीं धारणाख्यां तु शृणुष्वावहितो मम ॥ ८२ ॥
दिक्कालाद्यनवच्छिन्ने कृष्णे चेतो निधाय च ।
तन्मयो भवति क्षिप्रं जीवब्रह्मैक्ययोजनात् ॥ ८३ ॥

वह 'धारणा' गौतमीय में इस प्रकार कही गई है—अब मैं धारणा के विषय में कहता हूँ सावधान होकर सुनिए। दिक् काल से परे प्रभु श्रीकृष्ण में चित्त को स्थापित कर देवे। इस प्रकार जीव ब्रह्म की एकता करने से साधक तन्मय हो जाता है ॥ ८२-८३ ॥

अथवा निष्कलं चित्तं यदि क्षिप्रं न सिद्ध्यति ।
तदावयवयोगेन योगी योगान् समभ्यसेत् ॥ ८४ ॥

अथवा यदि चित्त शीघ्रतापूर्वक निष्कल (=मायारहित) न होवे, तब भगवान् के शरीर के अङ्गावयवों के ध्यान का योगी योग द्वारा अभ्यास करे ॥ ८४ ॥

पादाम्भोजे मनो दध्यान् नखकिञ्जल्कशोभिते ।
जङ्घायुग्मे मनोरामे कदलीकाण्डशोभिते ॥ ८५ ॥
ऊरुद्वये मत्तहस्तिकरदण्डसमप्रभे ।
गङ्गावर्तगभीरे च नाभौ सिद्धिबिले ततः ॥ ८६ ॥
उदरे वक्षसि तथा हारे श्रीवत्सकौस्तुभे ।
पूर्णचन्द्रायुतप्रख्ये ललाटे चारुमण्डले ॥ ८७ ॥
शङ्खचक्रगदाम्भोजदोर्दण्डपरिमण्डिते ।
सहस्रादित्यसङ्काशकिरीटकुण्डलोज्ज्वले ॥ ८८ ॥
स्थाने नियोजयेन् मन्त्री विशुद्धेन च चेतसा ।
मनो निवेश्य कृष्णे वै तन्मयो भवति ध्रुवम् ॥ ८९ ॥

नख, किञ्जल्क से शोभित भगवान् के पादकमल में मन स्थापित करे। फिर कदली काण्ड शोभित मनोहर भगवान् के दोनों जङ्घा में मन स्थापित करे। फिर मदमत्त हाथी के कर दण्ड के समान शोभा वाले दोनों उरुओं में ध्यान लगावे। फिर गङ्गावर्त्त के समान गम्भीर नाभि में, फिर सिद्ध बिल के समान उदर में, श्रीवत्स एवं कौस्तुभ से विराजमान हार युक्त वक्षःस्थल में, फिर हजारों चन्द्रमा के समान मनोहर मण्डल वाले ललाट में, फिर शङ्ख, चक्र, गदा एवं कमल से सुशोभित हाथों में, फिर सहस्रों आदित्य के समान देदीप्यमान किरीट एवं उज्ज्वल कुण्डल में मन स्थापित करे। इस प्रकार मन्त्रज्ञ अपने विशुद्ध चित्त को तत्-तत् स्थानों में नियोजन करे। ऐसा करने से वह शीघ्र ही निश्चित रूप से भगवन्मय हो जाता है ॥ ८५-८९ ॥

यावन् मनो लयं याति कृष्णे स्वात्मनि चिन्मये ।
तावदिष्टमनुर्मन्त्री जपहोमैः समभ्यसेत् ॥ ९० ॥

कृष्ण इत्युपलक्षणम् ।

जब तक चिन्मय आत्मस्वरूप श्रीकृष्ण में मन का लय न हो तब तक इष्ट मन्त्र का साधक जप एवं होम करता रहे ॥ ९० ॥

यहाँ इष्ट के लिए कृष्ण शब्द उपलक्षण प्रयुक्त है ।

अतः परं न किञ्चिच्च कृत्यमस्ति वशे हरेः ।
विदिते परतत्त्वे तु समस्तैर्नियमैरलम् ॥ ९१ ॥

भगवान् को वश में कर लेने के बाद कोई भी कृत्य शेष नहीं रह जाता है । परतत्त्व के ज्ञान हो जाने पर समस्त नियमों की आवश्यकता नहीं रहती ॥ ९१ ॥

तालवृन्तेन किं कार्यं लब्धे मलयमारुते ।
मन्त्राभ्यासेन योगेन ज्ञेयं ज्ञानाय कल्प्यते ॥ ९२ ॥

यदि मलयाचल वायु चल रहा हो, तब ताड़ के पङ्खे से क्या करना है । मन्त्राभ्यास से तथा योग से ही ज्ञान प्राप्त हो जाता है ॥ ९२ ॥

न योगेन विना मन्त्रो न मन्त्रेण विना हि सः ।
द्वयोरभ्यासयोगेन मन्त्रं संसिद्धिकारणम् ॥ ९३ ॥

योग के बिना मन्त्र नहीं और मन्त्र के बिना योग नहीं । दोनों ही अभ्यास करने पर मन्त्र संसिद्धि में कारण बनते हैं ॥ ९३ ॥

तमःपरिवृते गेहे घटो दीपेन दृश्यते ।
एवं मायावृतो ह्यात्मा मनुना गोचरीकृतः ॥ ९४ ॥

घर जब अन्धकार पूर्ण हो, तब दीप से घट दिखाई पड़ता है । इसी प्रकार माया से आवृत आत्मा मन्त्र से गोचरीकृत होती है ॥ ९४ ॥

एवं ते कथितं ब्रह्मन् मन्त्रयोगमनुत्तमम् ।
दुर्लभं विषयासक्तैः सुलभं त्वादृशैरपि ॥ ९५ ॥

इति मन्त्रयोगः ।

हे ब्रह्मन्! इस प्रकार हमने सर्वश्रेष्ठ मन्त्रयोग कहा । जो विषयासक्तों के लिये अत्यन्त दुर्लभ है । किन्तु तुम्हारे जैसे सत्पात्रों के लिये सुलभ है ॥ ९५ ॥

अथ लययोगः—

कृष्णद्वैपायनाद्यैस्तु साधितो लयसञ्ज्ञकः ।

नवस्वेव हि चक्रेषु लयं कृत्त्वा महात्मभिः ॥ ९६ ॥

२. लययोगकथनम्

प्रथमं ब्रह्मचक्रं स्यात् तृणावर्तं भगाकृति ।
अपाने मूलकन्दाख्यं कामरूपं च तज्जगुः ॥ ९७ ॥
तदेव वह्निकुण्डं स्यात् तत्र कुण्डलिनी परा ।
तां जीवरूपिणीं ध्यायेज्ज्योतिष्कं मुक्तिहेतवे ॥ ९८ ॥

अब लययोग के विषय में कहते हैं—कृष्ण द्वैपायनादि ने लय योग सिद्ध किया था । उन महात्माओं ने नव चक्रों में आत्मा का लय किया था । प्रथम ब्रह्मचक्र, फिर जो तृणावर्त्त और भगाकृति है, अपान में मूलकन्द है, जिसे कामरूप भी कहा जाता है, वहाँ वह्निकुण्ड है जहाँ परा कुण्डलिनी का निवास है। वह जीवरूपिणी है । अतः साधक योगी को उस ज्योतिःसमूह का मुक्ति के लिये ध्यान करना चाहिये ॥ ९६-९८ ॥

स्वाधिष्ठानं द्वितीयं स्याच्चक्रं तन्मध्यगं विदुः ।
पश्चिमाभिमुखं लिङ्गं प्रवालाङ्कुरसन्निभम् ॥ ९९ ॥
तत्रोड्डीयानपीठे तु तद् ध्यात्वाऽऽकर्षयेज्जगत् ।
तृतीयं नाभिचक्रं स्यात् तन्मध्ये भुजगी स्थिता ॥ १०० ॥
पञ्चावर्त्ता मध्यशक्तिश्चिद्रूपाविद्युदाकृतिः ।
तां ध्यात्वा सर्वसिद्धीनां भाजनं जायते बुधः ॥ १०१ ॥

दूसरा चक्र स्वाधिष्ठान है । उसके मध्य में प्रवाल (मूँगा) के अङ्कुर के समान पश्चिमाभिमुख लिङ्ग है । वहाँ उड्डीयान पीठ में उस लिङ्ग का ध्यान कर साधक समस्त जगत् का आकर्षण कर लेता है । तृतीय नाभिचक्र है, जिसके मध्य में भुजगी (सर्पिणी) का निवास है । वह पाँच आवर्त्तों में स्थित है और मध्य की शक्ति है । वह चिद्रूपा विद्युत् के आकार वाली है अतः बुद्धिमान् उसका ध्यान कर सभी सिद्धियों का भाजन हो जाता है ॥ ९९-१०१ ॥

चतुर्थं हृदये चक्रं विज्ञेयं तदधोमुखम् ।
ज्योतिः स्वरूपं तन्मध्ये हंसं ध्यायेत् प्रयत्नतः ॥ १०२ ॥
तं ध्यायतो जगत्सर्वं वश्यं स्यान्नात्र संशयः ।
पञ्चमं कण्ठचक्रं स्यात् तत्र वामे इडा भवेत् ॥ १०३ ॥
दक्षिणे पिङ्गला ज्ञेया सुषुम्णा मध्यतः स्थिता ।
तत्र ध्यात्वा शुचिज्योतिः सिद्धीनां भाजनं भवेत् ॥ १०४ ॥

चौथा चक्र हृदय में स्थित है । उसका मुख नीचे की ओर है । उसके मध्य में ज्योतिःस्वरूप हंस का ध्यान साधक को प्रयत्नपूर्वक करना चाहिये । उसका ध्यान

करने से समस्त जगत् वशीभूत हो जाता है; इसमें कोई संशय नहीं । पाँचवाँ कण्ठचक्र है जिसके बायें ओर इडा नाडी है, दक्षिण में पिङ्गला तथा मध्य में सुषुम्णा नाडी स्थित है । उस ज्योतिः का पवित्रात्मा साधक ध्यान कर सिद्धियों का भाजन बन जाता है ॥ १०२-१०४ ॥

षष्ठं च तालुकाचक्रं घण्टिकास्थानमुच्यते ।
दशमद्वारमार्गं तु राज्यदं तत् प्रकीर्तितम् ॥ १०५ ॥
तत्र शून्ये लयं कृत्त्वा मुक्तो भवति निश्चितम् ।

छठाँ तालुका चक्र है जिसे घण्टिका स्थान भी कहा जाता है । वह शरीर में दशम द्वारमार्ग है । वह राज्य देने वाला कहा जाता है । वहाँ उस शून्य में आत्मलय कर साधक निश्चित रूप से मुक्त हो जाता है ॥ १०५-१०६ ॥

भूचक्रं सप्तमं विद्याद् बिन्दुस्थानं च तद् विदुः ॥ १०६ ॥
भ्रुवोर्मध्ये वर्तुलं च ध्यात्वा ज्योतिः प्रमुच्यते ।
अष्टमं ब्रह्मरन्ध्रे स्यात् परं निर्वाणसूचकम् ॥ १०७ ॥
तद् ध्यात्वा सूचिकाग्राभं धूमाकारं विमुच्यते।
तच्च जालन्धरं श्रेयं मोक्षदं लीनचेतसाम् ॥ १०८ ॥

सातवाँ 'भूचक्र' है उसे 'बिन्दुस्थान' भी कहा जाता है । वह दोनों भ्रू के मध्य में गोलाकार स्थित है । उस ज्योति का ध्यान करने से साधक मुक्त हो जाता है । आठवाँ 'ब्रह्मरन्ध्र चक्र' है जो 'पर-निर्वाण' का सूचक है । वहाँ धूम्र के समान कान्तिमान्, सूचिका के अग्र के समान आभा वाले, अनिर्वचनीय प्रकाश का ध्यान कर साधक मुक्त हो जाता है । उसे जालन्धर पीठ भी कहा जाता है जो लीन चित्त वालों को मोक्ष प्रदान करता है ॥ १०६-१०८ ॥

नवमं ब्रह्मचक्रं स्याद्दलैः षोडशभिर्युतम् ।
संविद्रूपा च तन्मध्ये शक्तिरूर्ध्वा स्थिता परा ॥ १०९ ॥
तत्र पूर्णगिरौ पीठे शक्तिं ध्यात्वा विमुच्यते।
एतेषां नवचक्राणामेकैकं ध्यायतो मुनेः ॥ ११० ॥
सिद्धयो मुक्तिसहिताः करस्थाः स्युर्दिने दिने ।
कोदण्डद्वयमध्यस्थं पश्यति ज्ञानचक्षुषा ॥ १११ ॥
कदम्बगोलकाकारं ब्रह्मलोकं व्रजन्ति ते ।
ऊर्ध्वशक्तिनिपातेन अधः शक्तेर्निकुञ्चनात् ।
मध्यशक्तिप्रबोधेन जायते परमं सुखम् ॥ ११२ ॥

नवम षोडश दलों से युक्त 'ब्रह्मचक्र' है उसके मध्य में संवित्स्वरूपा परा-शक्ति ऊर्ध्वमुख स्थित है । वहाँ पूर्णगिरि पीठ पर उस शक्ति का ध्यान करने से

साधक मुक्त हो जाता है । हे मुने! इन नव चक्रों में एक-एक का ध्यान करने से मुक्ति सहित सभी सिद्धियाँ दिन प्रतिदिन हाथ में हो जाती हैं । ऐसा सिद्ध साधक अपने ज्ञान चक्षु से समस्त ब्रह्मलोक को दो धनुष् के मध्य में देख लेता है । ऐसे लोग कदम्बगोलाकार ब्रह्मलोक में चले जाते हैं । इस प्रकार ऊर्ध्व शक्ति के निपात से और नीचे की शक्ति के सिकोड़ने से लय योगी के मध्य शक्ति का प्रबोध होने से हो जाता है और उसे परम सुख प्राप्त होता है ॥ १०९-११२ ॥

अथ राजयोगः—

अपानवृत्तिमाकृष्य प्राणे गच्छति मध्यमे ।
राजते गगनाम्भोजे राजयोगस्तु तेन वै ॥ ११३ ॥

अब राजयोग कहते हैं—जब प्राण अपान वृत्ति को खींच कर सुषुम्णा मार्ग से गगना भोज (ब्रह्मरन्ध्र) में विराजने लगता है तब उसे 'राजयोग' कहते हैं ॥११३॥

३. राजयोगकथनम्

न दृष्टिलक्षाणि न चित्तबन्धो
न देशकालौ न च वायुरोधः ।
न धारणाध्यानपरिश्रमो वा
समेधमाने सति राजयोगे ॥ ११४ ॥

इस राजयोग के बढ़ जाने पर दृष्टि का कोई लक्षण नहीं होता अर्थात् दूरदृष्टि हो जाती है और न चित्त को बाँधने की आवश्यकता होती है, देश काल की अपेक्षा नहीं होती तथा न वायु को रोकना पड़ता है । धारणा एवं ध्यान का परिश्रम भी नहीं करना पड़ता है ॥ ११४ ॥

न जागरो नास्ति सुषुप्तिभावो
न जीवितं नो मरणं विचित्रम् ।
अहं ममत्वाद्यपहाय सर्वं
श्रीराजयोगे स्थिरचेतनानाम् ॥ ११५ ॥

इस राजयोग में जिनका चित्त स्थिर हो गया है और जिन्होंने अहन्ता ममता का सर्वथा त्याग कर दिया है, उनके लिये जागरभाव अथवा सुषुप्तिभाव तथा जीवन और मरण कुछ नहीं होता । यह विचित्र एवं अनिर्वचनीय है ॥ ११५ ॥

दत्तात्रेयादिभिः पूर्वं साधितोऽयं महात्मभिः ।
राजयोगो मनोवायू स्थिरौ कृत्त्वा प्रयत्नतः ॥ ११६ ॥

इस राजयोग को दत्तात्रेय आदि महर्षियों ने मन और वायु को प्रयत्नपूर्वक स्थिर करके प्राप्त किया था ॥ ११६ ॥

पूर्वाभ्यस्तौ मनोवातौ मूलाधारनिकुञ्चनात् ।
पश्चिमं दण्डमार्गं तु शङ्खिन्यन्तः प्रवेशयेत् ॥ ११७ ॥
ग्रन्थित्रयं भेदयित्वा नीत्वा भ्रमरकन्दरम् ।
ततस्तु नादयेद् बिन्दुं ततः शून्यालयं व्रजेत् ॥ ११८ ॥
अभ्यासात्तु स्थिरस्वान्त ऊर्ध्वरेताश्च जायते ।
परानन्दमयो योगी जरामरणवर्जितः ।

इस राजयोग में प्रयत्नपूर्वक मन और वायु को स्थिर किया जाता है । इस प्रकार पूर्वाभ्यस्त मनोवात को मूलाधार को सिकोड़ते हुये, मेरु के पश्चिम शङ्खिनी नाडी में प्रवेश करावे । फिर तीन ग्रन्थियों का भेदन कर भ्रमर कन्दरा में ले जावे । वहाँ बिन्दु को निनादित करे । फिर शून्यालय में जावे । इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करते रहने से योगी साधक का स्वान्त स्थिर हो जाता है और वह ऊर्ध्वरिता बन जाता है । ऐसा योगी जरामरण से वर्जित होता है और परानन्दमय हो जाता है ॥ ११७-११९ ॥

अथवा मूलसंस्थानमुद्यतैस्तु प्रबोधयेत् ॥ ११९ ॥
सुप्तां कुण्डलिनीं शक्तिं बिसतन्तुतनीयसीम् ।
सुषुम्णान्तःप्रवेश्यैव पञ्चचक्राणि भेदयेत् ॥ १२० ॥
ततः शिवे शशाङ्केन स्फुरन्निर्मलरोचिषि ।
सहस्रदलपद्मान्तस्थिते शक्तिं नियोजयेत् ॥ १२१ ॥
अथ तत्सुधया सर्वां सबाह्याभ्यन्तरां तनुम् ।
प्लावयित्वा ततो योगी न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ १२२ ॥
तत उत्पद्यते तस्य समाधिर्निस्तरङ्गिणी ।
एवं निरन्तराभ्यासाद् योगसिद्धिः प्रजायते ॥ १२३ ॥

अथवा मूल स्थान (आधारचक्र स्थित कुण्डलिनी) को ऊपर उठाते हुये प्रबुद्ध करे । विस तन्तु के समान, अत्यन्त सूक्ष्म, सुप्त कुण्डलिनी शक्ति का, सुषुम्णा के भीतर ले जाकर पञ्च चक्रों का भेदन करावे । फिर सहस्र दल पद्म के भीतर चन्द्रमा की चन्द्रिका के समान निर्मल कान्ति वाले सदाशिव में शक्ति को मिला देवे । दोनों के सामरस्य से उत्पन्न सुधा से बाहर भीतर समस्त शरीर को आप्लावित करे । फिर योगी किसी अन्य की चिन्ता न करे । ऐसा करने से उस योगी की स्थिर समाधि लग जाती है । इस प्रकार निरन्तर अभ्यास से योगसिद्धि हो जाती है ॥ ११९-१२३ ॥

अथ हठयोगः—

द्विधा हठः स्यादेकस्तु मत्स्येन्द्राद्यैरुपासितः ।

अन्यो मृकण्डुपुत्राद्यैः साधितश्चिरजीविभिः ॥ १२४ ॥

अब हठयोग कहते हैं—हठयोग दो प्रकार का कहा गया है । जिसमें एक की उपासना मत्स्येन्द्रादि योगियों ने की थी और अन्य हठयोग की उपासना चिरजीवी मृकण्डु पुत्रादि ने की थी ॥ १२४ ॥

४. हठयोगनिरूपणम्

तत्र मत्स्येन्द्रसदृशैः साधितो यः स कथ्यते ।
धीरैरपि हि दुस्साध्यः किं पुनः प्राकृतैर्जनैः ॥ १२५ ॥

उसमें जिस हठयोग की साधना मत्स्येन्द्र सदृश योगियों ने की थी उसको कह रहा हूँ । यह हठयोग बड़े-बड़े धैर्यशालियों से भी दुःसाध्य है । फिर साधारण जनों की बात क्या ? ॥ १२५ ॥

हकारेणोच्यते सूर्यष्ठकारश्चन्द्रसञ्ज्ञकः ।
सूर्यचन्द्रसमीभूते हठश्च परमार्थदः ॥ १२६ ॥

हकार का अर्थ सूर्य है, ठकार का अर्थ चन्द्रमा है, जब सूर्य चन्द्र दोनों ही नाडी समान रूप में हो जावें तो 'हठ' कहा जाता है और यह साधक को मुक्ति प्रदान करता है ॥ १२६ ॥

षड्योगाङ्गानि

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा ।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि स्मृतानि षट् ॥ १२७ ॥

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये छह योग के अङ्ग कहे गये हैं ॥ १२७ ॥

एकान्ते विजने देशे पवित्रे निरुपद्रवे ।
कम्बलाजिनवस्त्राणामुपर्य्यासनमभ्यसेत् ॥ १२८ ॥

पद्मासनलक्षणम्

उत्तानौ चरणौ कृत्त्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः ।
ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी पद्मासनं त्विदम् ॥ १२९ ॥

एकान्त, निर्जन, पवित्र एवं उपद्रवरहित किसी पवित्र स्थान में कम्बल, फिर उसके ऊपर अजिन, फिर उसके ऊपर वस्त्र बिछाकर आसन लगावे । फिर योगाभ्यास आरम्भ करे । दोनों चरणों को उतान कर प्रयत्नपूर्वक उन्हें ऊरुओं पर स्थापित करे । फिर दोनों ऊरु के मध्य में उतान हाथ स्थापित करे तो 'पद्मासन' हो जाता है ॥ १२८-१२९ ॥

अथ प्राणायामः—

तत्र पद्मासनं बध्वा ततः सङ्कोचयेदधः ।
समदण्डं शिरः कृत्त्वा नासिकान्तर्दृशं नयेत् ॥ १३० ॥
यथैवोत्पलनालेन आकर्षति नरो जलम् ।
योगी योगसमाविष्टस्तथाकर्षति मारुतम् ॥ १३१ ॥
काकचञ्चुपुटीकृत्य ओष्ठौ शक्त्याऽनिलं पिबेत्।
ओंकारध्वनिनाकृष्य पूरयेद्यावदन्तरम् ॥ १३२ ॥

अब प्राणायाम कहते हैं—साधक इस प्रकार प्राणायाम कर मेरुदण्ड को दण्डे के समान शिर:पर्यन्त सीधा रखे । नेत्र को नासिका के मध्य में स्थापित करे । जिस प्रकार मनुष्य कमल नाल से जल खींचता है, उसी प्रकार योग समाविष्ट योगी नासिका से वायु का आकर्षण करे । दोनों ओठों को काक के चञ्चु के समान बनाकर शक्ति के अनुसार वायु पान करे । फिर ॐकार पढ़ते हुये भीतर जितना अवकाश हो, उतने वायु से उसे पूर्ण करे ॥ १३०-१३२ ॥

पूरणात् पूरकं प्रोक्तं कुम्भकस्तु निकुम्भनात् ।
रेचनं रेचनात् सूक्ष्मं ततोऽन्तःशोधयेत् त्रिभिः॥ १३३ ॥
प्राणायामान्नरः षष्टिं कुर्यादेवमहर्मुखे ।
चत्वारिंशच्च मध्याह्ने सन्ध्यायां विंशतिर्भवेत्॥ १३४ ॥
अर्धरात्रे विंशतिः स्यादेवं प्राणविनिग्रहः ।
शरीरलघुता दीप्तिर्जठराग्निविवर्धनम् ॥ १३५ ॥
कृशत्वं च शरीरस्य जायते वै ध्रुवं तदा ।
लवणं सर्षपान् साम्लमुष्णं रूक्षं च तीक्ष्णकम्।
स्त्रीसेवामग्निसेवां च बह्वाशित्वं च वर्जयेत् ॥ १३६ ॥

पूर्ण करने के कारण उसे 'पूरक' कहा जाता है निकुम्भन (रोकने) से उसे 'कुम्भक' कहा जाता है और रेचन करने से उसे 'रेचक' कहा जाता है । इस प्रकार साधक पूरक, कुम्भक और रेचक—इन तीन से अन्त:करण को शुद्ध करे। मनुष्य दिन में ६० प्राणायाम करे । मध्याह्न में ४० प्राणायाम और सायङ्काल में २० प्राणायाम करे । इसके अतिरिक्त अर्धरात्रि में २० प्राणायाम और करे । इस प्रकार प्राण का निग्रह करे । ऐसा करने से शरीर हल्का हो जाता है और शरीर पर दीप्ति होती है । जठराग्नि का विवर्धन होता है । शरीर कृश होता है यह निश्चित है । लवण, सरसों, खट्टा, उष्ण, रुक्ष और तीक्ष्ण पदार्थ का तथा स्त्री सेवा, अग्नि सेवा और अधिक भोजन वर्जित रखे ॥ १३३-१३६ ॥

अन्यत्रापि—

मांसं दधि कुलुत्थं च लशुनं शाकमेव च ।

कट्वम्लतिक्तपिण्याकहिङ्गुसौवीरसर्षपाः ॥ १३७ ॥
तैलं च वर्ज्याण्येतानि यत्नतो योगिना सदा ।
क्षीरं घृतं च मिष्टान्नं मिताहारश्च शस्यते ।
मितोक्तिः पवनाभ्यासे निद्रायाश्च जयस्तथा ॥१३८॥ इति ।

अन्यत्र भी बतलाया गया है—मांस, दधि, कुल्थी की दाल, लशुन, शाक, कटु, अम्ल, तिक्त, पिण्याक, हिंगु, सौवीर (?), सरसों और तैल का वर्जन योगी प्रयत्नपूर्वक करे । दूध, घी, मिष्ठान्न, मिताहार योग में प्रशस्त कहा गया है । स्वल्प भाषण, प्राणायाम और निद्रा पर विजय प्राप्त करे ॥ १३७-१३८ ॥

अन्यत्रापि—

गोधूमशालियवषष्टिकशोभनान्नं
क्षीराज्यखण्डनवनीतसितामधूनि ।
शुण्ठीपटोलपलकादिकपञ्चशाकं
मुद्गादिचाल्पमुदकं च मुनीन्द्रपथ्यम् ॥ १३९ ॥

अन्यत्र भी बतलाया गया है—गेहूँ, चावल, यव, साठी का चावल इस प्रकार के शोभन अन्न, दूध, घी, खाँड, नवनीत, मिश्री, मधु, सोंठ, परवर, पालकादि पञ्चशाक, मूँग आदि और स्वल्प जल—ये वस्तुयें मुनीन्द्रों के लिये पथ्य बतलायी गई है ॥ १३९ ॥

क्षीरपर्णी च जीवन्ती मत्स्याक्षी च पुनर्नवा ।
मेघनादेति पञ्चैते शाकनाम प्रकीर्तिताः ॥ १४० ॥

क्षीरपर्णी, जीवन्ती, मत्स्याक्षी, पुनर्नवा और मेघनादा (आयुर्वेदिक जड़ी-बूटी, द्र. भावप्रकाश निघण्टु)—ये पञ्चशाक कहे जाते हैं ॥ १४० ॥

मिष्टं सुमधुरं स्निग्धं गव्यं धातुप्रपोषणम् ।
मनोभिलषितं दिव्यं योगी भोजनमाचरेत् ॥ १४१ ॥
केवले कुम्भके सिद्धे रेचपूरविवर्जिते।
न तस्य दुर्लभं किञ्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥ १४२ ॥

मीठा, मधुर, चिकना और गाय का दूध—यह धातु को पुष्ट करने वाले पदार्थ कहे गये हैं । योगी सदैव मनोऽभिलषित दिव्य भोजन करे । रेचक एवं पूरक बिना केवल कुम्भक प्राणायाम के सिद्ध हो जाने पर उस योगी के लियें तीनों लोकों में कोई भी पदार्थ दुर्लभ नहीं होता ॥ १४१-१४२ ॥

ततोऽधिकतराभ्यासाद् भवतः स्वेदकम्पने ।
ततोऽधिकतराभ्यासाद्दर्दुरो जायते ध्रुवम् ॥ १४३ ॥

यथैव दर्दुरो गच्छेदुत्प्लुत्योत्प्लुत्य भूतले ।
पद्मासनस्थितो योगी तथा गच्छति भूतले ॥ १४४ ॥
ततोऽधिकतराभ्यासाद् भूमित्यागश्च जायते ।
स्वल्पं वा बहु वा भुक्त्वा योगी न व्यथते तदा ॥ १४५ ॥
अल्पमूत्रपुरीषश्च स्वल्पनिद्रश्च जायते ।
किट्टिभो दूषिका लाला स्वेदो दुर्गन्धिता तथा ।
एतानि सर्वथा तस्य न जायन्ते ततः परम् ॥ १४६ ॥
स्त्रीसङ्गं वर्जयेत् यत्नाद् बिन्दुं रक्षेत् प्रयत्नतः ।
आयुःक्षयो बिन्दुनाशादसामर्थ्यं च जायते ॥ १४७ ॥

प्राणायाम के अधिक अभ्यास से स्वेद और कम्पन होता है । उससे भी अधिक अभ्यास से योगी मेढक के समान हो जाता है, जिस प्रकार मेढक कूद-कूद कर पृथ्वी पर चलता है । पद्मासन पर स्थित हुआ योगी उस प्रकार पृथ्वी पर कूद-कूद कर चलता है । उससे भी अधिक प्राणायाम के अभ्यास से योगी सर्वथा पृथ्वी त्याग कर आकाशमार्ग से चलता है । योगी चाहे स्वल्पाहार करे अथवा बह्वाहार करे; उसे व्यथा नहीं होती । प्राणायाम से मल-मूत्र स्वल्प होता है और निद्रा भी स्वल्प आती है । किं वा दूषिका, लाला, स्वेद और शरीर से दुर्गन्ध—ये सभी दोष योगी को सर्वथा नहीं होते । योगी स्त्रीजनों का संसर्ग त्याग देवे और प्रयत्नपूर्वक बिन्दु (वीर्य) की रक्षा करे । क्योंकि बिन्दु के नाश से ही आयु का क्षय और शक्ति की हानि होती है ॥ १४३-१४७ ॥

अथ प्रत्याहारः—

विषयद्वारनिष्क्रान्तं यावत् स्वविषयान् प्रति।
चित्तं निवार्यते यत्र प्रत्याहारः स उच्यते ॥ १४८ ॥

अब प्रत्याहार के विषय में बतलाते हैं—जिस क्रिया से अपने विषय के प्रति विषय द्वार से निकले हुये चित्त को रोका लिया जाता है; उसको ही प्रत्याहार कहते हैं ॥ १४८ ॥

अथ पञ्चधारणा—

गुरूपदेशतश्चित्तमेकस्मिन् स्थानके यदि ।
वायुश्च रुध्यते यत्र धारणा सा विधीयते ॥ १४९ ॥
नाभेरधो गुदस्योर्ध्वे घटिकाः पञ्च धारयेत्।
वायुं ततो लभेत् पृथ्वीधारणं तद् भयापहम् ॥ १५० ॥

अब पञ्चधारणा कहते हैं—यदि गुरु के उपदेश से किसी एक स्थान में अपने चित्त को तथा वायु को रोक लिया जाता है तब उसे 'धारणा' कहते हैं । यह

धारणा गुदा से ऊपर और नाभि के नीचे पाँच घड़ी तक धारण करनी चाहिये । उससे समस्त भय को दूर करने वाले पृथ्वी को भी धारण करने वाले वायु की प्राप्ति होती है ॥ १४९-१५० ॥

नाभिस्थाने ततो वायुं धारयेत् पञ्चनाडिकाः ।
ततो जलाद् भयं नास्ति जलमृत्युर्न योगिनः ॥ १५१ ॥
नाभ्यूर्ध्वमण्डले वायुं धारयेत् पञ्च नाडिकाः ।
आग्नेयी धारणा सेयं मृत्युस्तस्य न वह्निना ॥ १५२ ॥

इसके बाद नाभि स्थान पर पाँच घड़ी पर्यन्त वायु धारण करे । ऐसा करने वाले योगी को जल से कोई भय नहीं रहता और न जल से उसकी मृत्यु ही सम्भावित होती है । इसके बाद शरीर में नाभि के ऊपरी भाग में पाँच घड़ी तक वायु धारण करे । इसे 'आग्नेयी धारणा' कहते हैं । ऐसे योगी की मृत्यु अग्नि से नहीं होती ॥ १५१-१५२ ॥

नासाभ्रूमध्यदेशे तु तथा वायुं च धारयेत् ।
वायवी धारणा सेयं मृत्युस्तस्य न वायुना ॥ १५३ ॥
भ्रूमध्यस्योपरिष्टाच्च धारयेत् पञ्च नाडिकाः ।
वायुं योगी प्रयत्नेन सेयमाकाशधारणा ॥ १५४ ॥
आकाशधारणां कुर्वन् मृत्युं जयति निश्चितम् ।
यत्र यत्र स्थितो वापि सुखमत्यन्तमश्नुते ॥ १५५ ॥

नासिका और भ्रूमध्य प्रदेश में पाँच घड़ी तक वायु धारण करे । उसे 'वायवीय धारणा' कहते हैं । ऐसे योगी की मृत्यु वायु से नहीं होती । भ्रूमध्य के ऊपर पाँच घड़ी तक वायु धारण करे, तो उसे आकाश धारणा कहते हैं । जो इस प्रकार आकाश धारणा करता है; वह योगी निश्चय ही मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है । इस प्रकार का योगी चाहे जहाँ भी निवास करे, उसे अत्यन्त सुख की प्राप्ति होती रहती है ॥ १५३-१५५ ॥

अथ ध्यानम्—

वायुः परिचितो यत्नादग्निना सह कुण्डलीम् ।
बोधयित्वा सुषुम्णायां प्रविशेदनिरोधतः ॥ १५६ ॥
महापथं प्रविश्यैव शून्यस्थाने लयं व्रजेत् ।
यदा तदा भवेद् योगी त्रिकालामलदर्शनः ॥ १५७ ॥

अब ध्यान के विषय में कहते हैं—जब परिचित वायु प्रयत्न कर अग्नि के साथ मिलकर, कुण्डली को प्रबुद्ध कर, बिना रोक-टोक सुषुम्णा में प्रवेश करे । फिर महापथ में प्रवेश कर जब शून्यालय विलीन हो जावे, तब वह योगी

त्रिकालदर्शी बन जाता है ॥ १५६-१५७ ॥

अथ समाधिः—

यदेतद् ध्यानमाख्यातं तच्चेत् परिणमत्यपि ।
चैतन्यानन्दरूपेण सा समाधिरुदीरिता ॥ १५८ ॥

अब समाधि के विषय में कहते हैं—अभी जिस ध्यान को हमने कहा है, वह यदि चैतन्यानन्द रूप से परिणामी हो जावे तो उसे 'समाधि' कहते हैं ॥ १५८ ॥

अथ जाग्रदाद्यवस्थाः—

बुद्धिपूर्वं तु यद् ज्ञानं बहिर्विषयसेवितम् ।
प्रत्यक्षमविरुद्धं च तज्जागरितमुच्यते ॥ १५९ ॥
अर्थाभावे तु यज्ज्ञानं प्रत्यक्षमिव दृश्यते ।
गन्धर्वनगराकारं स्वप्नं तदुपलक्षयेद् ॥ १६० ॥
जाग्रत्स्वप्नावुभावेतौ नित्यं यत्र प्रतिष्ठितौ ।
उत्पत्तिः प्रलयश्चैव सौषुप्तमवधारयेत् ॥ १६१ ॥
स्वप्नाभावो विनिद्रा च द्वयं यत्र न विद्यते ।
तत्तुरीयमिति प्रोक्तमुत्पत्तिलयवर्जितम् ॥ १६२ ॥

अब जाग्रदवस्था के विषय में कहते हैं—बुद्धिपूर्वक जिसका ज्ञान बाह्य विषयों में प्रत्यक्ष रूप से आसक्त है और अविरुद्ध है तो उसे 'जाग्रत् अवस्था' कहा जाता है । वस्तु रूप अर्थ के न रहने पर भी जो ज्ञान गन्धर्व नगर के समान झूठा होने पर भी प्रत्यक्ष दिखलाई पड़े उसे 'स्वप्न' कहा जाता है । जिसमें जाग्रत् और स्वप्न—ये दोनों नित्य प्रतिष्ठित रहते हैं । जिसमें उत्पत्ति और प्रलय दोनों ही होते रहते हैं, उसे 'सुषुप्ति' कहा जाता है । जिसमें स्वप्नाभाव तथा जाग्रत् दोनों ही दिखाई न पड़े उसे 'तुरीयावस्था' कहते हैं । उसमें न उत्पत्ति दिखाई पड़ती है और न प्रलय ही । यहाँ तक अवस्था के विषय में कहा गया ॥ १५९-१६२ ॥

अथ शुद्धिकर्माणि

अथ देहं स्थिरीकर्तुं योगिनां सिद्धिमिच्छताम् ।
कथ्यन्ते शुद्धिकर्माणि यैः सिद्धिं प्रापुरुत्तमाः ॥ १६३ ॥
महामुद्रां नभोमुद्रामुड्डीयानं जलन्धरम् ।
मूलबन्धं स्थिरं दण्डं तद्वच्च शक्तिचालनम् ॥ १६४ ॥
चिबुकं हृदि विन्यस्य पूरयेद् वायुना पुनः ।
कुम्भकेन यथाशक्त्या धारयित्वा तु रेचयेत् ।
वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षिणाङ्गेन चाभ्यसेत् ॥१६५॥ इति ।

अब सिद्धि की इच्छा रखने वाले योगीजनों के शरीर की स्थिरता के लिये शुद्ध कर्मों को कहता हूँ। जिससे श्रेष्ठ महात्माओं ने उत्तम सिद्धि प्राप्त की है। महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान बन्ध, जलन्धर बन्ध, मूल बन्ध, स्थिर दण्ड, उसी प्रकार स्थिर चालन—ये उपाय हैं। चिबुक को हृदय से सदा लगा देवे। फिर वायु से उसे पूर्ण करे। फिर अपनी शक्ति के अनुसार कुम्भक से उसे रोके और फिर उसका विरेचन करे। इस प्राणायाम की क्रिया में बायें नासा पुट से वायु ऊपर खींचे और दाहिने से बाहर करे। अथवा दाहिने नासा पुट से वायु खींचे और बायें से बाहर करे। इस प्रकार प्राणायाम का अभ्यास करे॥ १६३-१६५॥

अन्यच्च—

महामुद्रां प्रवक्ष्यामि वसिष्ठेनोदितां पुरा।

महामुद्राविधानम्

पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणम्॥ १६६॥
पादं प्रसारितं कृत्वा स्वराभ्यां पूरयेन्मुखम्।
कण्ठे बन्धं समारोप्य पूरयेद् वायुमूर्ध्वतः॥ १६७॥
यथा दण्डाहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते।
ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत्॥ १६८॥
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटीस्थिता।
न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः॥ १६९॥
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते।
क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्मप्लीहपुरोगमाः॥ १७०॥
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत्।
कथितेयं महामुद्रा जरामृत्युविनाशिनी॥ १७१॥
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित्।

और भी बतलाया गया है—अब मैं पूर्वकाल में वशिष्ठ द्वारा कही गई महामुद्रा को कहता हूँ—बायें पैर के मूल से दाहिनी ओर की योनि को पीड़ित कर दूसरा पैर फैला देवे, फिर दोनों स्वरों से मुख को पूर्ण करे और कण्ठ में बाँध कर, रोक कर, ऊपर से वायु खीचकर, उस बन्ध को पूर्ण करे। जिस प्रकार डण्डे से आहत साँप दण्डाकार हो जाता है, उसी प्रकार कुण्डली शक्ति सहसा सीधी हो जाती है। उस समय उसके दोनों पुट पूँछ और मुख अलग-अलग होकर स्थित हो जाते हैं और वह 'मरणावस्था' को प्राप्त हो जाती है। उस समय योगी को पथ्यापथ्य का विचार नहीं रहता। सभी नीरस पदार्थ उसे सरस लगते हैं। यहाँ तक कि विष भी खा लेने पर अमृत के समान जीर्ण हो जाता है। उस समय उस योगी के क्षय, कोढ़, उदावर्त्त, गुल्म, प्लीहादि समस्त

दोष नष्ट हो जाते हैं । इस महामुद्रा का अभ्यास करने वाले योगी की ऐसी दशा होती है । हमने जरा-मृत्यु का विनाश करने वाली इस 'महामुद्रा' को कहा । इसे प्रयत्नपूर्वक साधक गुप्त रखे; जिस किसी को कदापि न देवे ॥ १६६-१७२ ॥

अथास्याङ्गभूतो महाबन्धः—

पार्ष्णिर्वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
वामोरुपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं पुनः ॥ १७२ ॥
पूरयेन्मुखतो वायुं हृदये चिबुकं दृढम् ।
निभृत्य योनिमाकुञ्च्य मनो मध्ये नियोजयेत् ॥ १७३ ॥
रेचयेच्च शनैरेवं महाबन्धोऽयमुच्यते ।
अयं योगी महाबन्धः सर्वसिद्धिप्रदायकः ॥ १७४ ॥

अब इसके अङ्गभूत अन्य महाबन्धों को कहते हैं—बायें पैर की पार्ष्णि योनि स्थान पर स्थापित करे । पुनः दाहिना पैर बायें पैर के ऊरु पर स्थापित करे । फिर ठुड्डी को हृदय में दृढ़तापूर्वक सटा कर उसमें मुख से वायु पूर्ण करे । फिर योनि को सिकोड़ कर मन को मध्य भाग में स्थापित करे । फिर धीरे-धीरे उस वायु का रेचन करे । इस योग को 'महाबन्ध' कहा जाता है; जो सभी सिद्धियाँ प्रदान करता है ॥ १७२-१७४ ॥

सव्याङ्गे च समभ्यस्य दक्षिणाङ्गे समभ्यसेत् ।
अयं च सर्वनाडीनां गतिमूर्ध्वां विबोधकः ॥ १७५ ॥
त्रिवेणीसङ्गमं धत्ते केदारं प्रापयेत् पुनः ।
रूपलावण्यसम्पूर्णा यथा स्त्री पुरुषं विना ॥ १७६ ॥
महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ।

बायें भाग में इसका अभ्यास कर पुनः दक्षिण भाग में भी इसका अभ्यास करे। यह 'महाबन्ध' योग समस्त नाडियों की गति को ऊर्ध्व की ओर पहुँचाने वाला है । यह योग त्रिवेणी के सङ्गम को धारण करता है और पुनः इसे ऊपर उठाकर केदारेश्वर में पहुँचा देता है । जिस प्रकार रूप लावण्य से सम्पन्न स्त्री पुरुष के बिना निष्फल है; उसी प्रकार महामुद्रा और महाबन्ध दोनों ही वेधरहित होने के कारण निष्फल जानना चाहिये ॥ १७५-१७७ ॥

वायूनां गतिमाकृष्य निभृतं कण्ठमुद्रया ।
अष्टधा क्रियते चैतद् यामे यामे दिने दिने ॥ १७७ ॥
पुण्यसङ्घातसन्धायी पापौघभिदुरं सदा ।
सम्यक् श्रद्धावतामेव सुखं प्रथमसाधने ॥ १७८ ॥
वह्निस्त्रीपथसेवानामादौ वर्जनमादिशेत् ।

समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ सन्ताडयेत् शनैः ॥ १७९ ॥
अयमेव महावेधः सिद्धिदोऽभ्यासतो भवेत् ।
एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ॥ १८० ॥
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ।

कण्ठ की मुद्रा से जो वायु का आकर्षण आठ-आठ बार प्रत्येक याम और प्रत्येक दिन निरन्तर करता है; वह पुण्य समूहों का धारण करता है तथा पाप समूहों का भेदन करने वाला योगी होता है । इसका सुख प्रथम साधन में श्रद्धावानों को ही प्राप्त होता है । योगी वह्नि, स्त्री तथा रास्ते की सेवा, योगाभ्यास में प्रथम ही वर्जित करे । दोनों हाथों को समतल बनाकर, दोनों स्फिचों (नितम्ब चूतड़) को पृथ्वी पर ताडन धीरे-धीरे करे । यही 'महावेध' है जो अभ्यास करने से सिद्धिप्रद हो जाता है । यह महाबन्ध, महामुद्रा तथा वेध—ये तीनों ही जरा-मृत्यु का विनाश करने वाले हैं । यह जठराग्नि को प्रदीप्त करते हैं तथा अणिमादि सिद्धियों के गुणों को भी प्रदान करते हैं ॥ १७७-१८१ ॥

अथ नभोमुद्रा—

अन्तःकपालकुहरे जिह्वामाकुञ्च्य धारयेत् ।
भ्रूमध्यदृष्टिरमृतं पिबेत् खेचरिमुद्रया ॥ १८१ ॥

अब नभोमुद्रा कहते हैं—कपाल कुहर के भीतर जिह्वा को संकुचित कर धारण करे । फिर दोनों भ्रू के मध्य में दृष्टि स्थापित कर 'खेचरी मुद्रा' से अमृतपान करे ॥ १८१ ॥

दत्तात्रेयस्तु—

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ १८२ ॥

दत्तात्रेयतन्त्र के अनुसार बतलाया गया है—कपाल कुहर में विपरीत रीति से जिह्वा प्रविष्ट करे और दृष्टि को दोनों भ्रुवों के मध्य में स्थापित करे । तब 'खेचरी मुद्रा' बन जाती हे ॥ १८२ ॥

न रोगी मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न च मूर्च्छा भवेत् तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ १८३ ॥
पीड्यते न च रोगाद्यैर्लिप्यते न च कर्मणा ।
वध्यते न च कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ १८४ ॥
स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।
समतायास्तु जिह्वाया रोममात्रं समुच्छिदेत् ॥ १८५ ॥

रोममात्रस्य भेदेन विलम्बेन हि लम्बिका ।
हृदयं ग्रन्थकाराणामाकूतं भणितं मया ॥ १८६ ॥

ऐसे योगी को रोग नहीं होता, मरण नहीं होता, निद्रा, क्षुधा और प्यास नहीं लगती । किं बहुना; उसे मूर्च्छा नहीं होती जो इस खेचरी मुद्रा को जान लेता है । रोगादि उसे पीड़ित नहीं करते, कर्म उसे लिप्त नहीं करता और काल उसका वध नहीं कर सकता जो खेचर मुद्रा को जानता है । अत्यन्त तीक्ष्ण, चिकना, निर्मल, स्नुही पत्र के समान पतला शस्त्र हो, उससे समान रूप वाली (समतल) जिह्वा पर उत्पन्न समस्त रोम का उच्छेद करे । उस रोम मात्र के भेदन से लम्बिका (=जिह्वा) के विलम्बन से ग्रन्थकारों का हृदय आकूत (?) हो जाता है; यह मैंने लम्बिका के विषय में कहा ॥ १८३-१८६ ॥

खेचरीपटले तु विशेषः—

छेदनचालनदोहैः कलाक्रमेण वर्धयेत् तावत् ।
सा याति यावद् भ्रूमध्यं स्पृशति तदानीं हि खेचरीसिद्धिः ॥ १८७ ॥
छेदनस्य प्रकारोक्तेरभावान्मूढता यतः ।
साधारणोक्तिदुर्बोधान् नाङ्गीकार्यमिदं मतम् ॥ १८८ ॥
गुरुदर्शितमार्गेण सङ्केतः कथ्यते मया ।
सङ्केतशृङ्खलाभावे खेचरी तु कथं भवेत् ॥ १८९ ॥

अब खेचरी पटल में विशेष कहते हैं—जिह्वा को छेदन, चालन और दोहन करते रहने से उसे तब तक बढ़ावे, जब तक वह दोनों भ्रुवों के मध्य में जाकर उसका स्पर्श न करे; यही 'खेचरी सिद्धि' कही जाती है । जिह्वा का च्छेदन असम्भव है । अतः उसका अभाव होने के कारण जिह्वा छेदनोक्ति मूर्खता की उक्ति है । अतः इस मत को अङ्गीकार नहीं करना चाहिये । यह साधारणोक्ति दुर्बोध होने के कारण कही गई है । अब आपको गुरु दर्शित मार्ग से मैं सङ्कतों को बतलाता हूँ । यदि सङ्केत रूप शृङ्खला न हो, तब खेचरी की सिद्धि भला किस प्रकार हो सकती है?॥ १८७-१८९ ॥

सर्पाकारं सवलयं शृङ्खलाद्वयसंमितम् ।
स खर्परं षड्वितस्तेर्दैर्घ्यं सङ्केतलक्षणम् ॥ १९० ॥
शृङ्खलाद्वितयनिर्मितां वरां सर्पवद्वलयखर्परान्विताम् ।
विंशदङ्गुलमितां सुदीर्घिकां लम्बिकोत्पादकारिणीं विदुः ॥ १९१ ॥

सर्पाकार जो वलय के सहित हो, जो दो शृङ्खला से युक्त हो, वह खर्पर से संयुक्त हों, जिसकी लम्बाई छह वित्ते की हो, ऐसा सङ्केत का लक्षण है । दो शृङ्खला में बनाई गई, साँप के समान वलय और खर्पर से युक्त हो, जिसकी

लम्बाई २० अङ्गुल हो, चौड़ाई अत्यन्त सुन्दर हो, जो लम्बिका उत्पन्न करने में समर्थ हो, ऐसी शृङ्खला होनी चाहिये ॥ १९०-१९१ ॥

शृङ्खलायाश्च वलये जिह्वां तत्र प्रवेशयेत् ।
कपालकुहरे पश्चाज्जिह्वां चैव प्रवेशयेत् ॥१९२॥ इति ।

उस शृङ्खला के वलय में जिह्वा को प्रविष्ट करे । इसके पश्चात् उस शृङ्खला के द्वारा जिह्वा को कपाल कुहर में प्रविष्ट करावे ॥ १९२ ॥

अथ जालन्धरबन्धः—

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं सुधाव्ययनिवारणः ॥ १९३ ॥

अब जालन्धर बन्ध कहते हैं—कण्ठ को हृदय तक संकुचित कर, उसमें चिबुक (ठुड्डी) दृढ़तापूर्वक स्थापित करे । यह जालन्धर बन्ध कहा जाता है; जिससे अमृत का व्यय होना रुक जाता है ॥ १९३ ॥

नाभिस्थोऽग्निः कपालस्थसहस्त्रकमलच्युतम् ।
अमृतं सर्वदा सर्वं पिबन् ज्वलति देहिनाम् ॥ १९४ ॥

नाभि में रहने वाली अग्नि, कपालस्थ सहस्त्रकमल से गिरने वाले अमृत को पीते हुये, समस्त प्राणियों के शरीर में जलती रहती है ॥ १९४ ॥

यथा सोऽग्निस्तदमृतं न पिबेत् तद् व्यधात् स्वयम्।
यान्ति दक्षिणमार्गेण एवमभ्यसता सदा ॥ १९५ ॥
अमृतीकुरुते देहं जरामृत्युं विनाशयेत् ।
बध्नाति हि शिराजालं नाधो याति नभोजलम् ॥ १९६ ॥

अतः जिस प्रकार वह नाभिस्थ अग्नि उस अमृत का पान न कर सके, उसका एक मात्र यही उपाय है । इस प्रकार अभ्यास करने से समस्त नाडियाँ दक्षिण मार्ग से जाने लगती हैं । तब वह अमृत व्यय न होने के कारण समस्त देह को अमृत बना देता है और जरा-मृत्यु को विनष्ट कर देता है । समस्त नाडियों में ऊपर से गिरता हुआ वह अमृत प्रवाह रुक जाता है और नीचे जाने नहीं पाता ॥ १९५-१९६ ॥

ततो जालन्धरो बन्धः कृतो दुःखौघनाशनः ।
जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसङ्कोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥१९७॥ इति ।

वह नाडी जाल को बाँध देता है । इसलिये वह जालन्धर बन्ध कहा जाता है । जो समस्त दुःख समूहों को नष्ट करने वाला है । कण्ठ सङ्कोच लक्षण

जालन्धर बन्ध के करने से अमृत 'नाभिस्थ अग्नि' में न जाकर जलने से बच जाता है और वायु का प्रकोप भी नहीं होता ॥ १९७ ॥

अथ उड्डीयानबन्धः—

मूलस्थानं समाकुञ्च्य उड्डीयानं तु कारयेत् ।
उड्डीयानं तु सहजं कथितं गुरुणा सदा ॥ १९८ ॥
अभ्यसेत् सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणो भवेत् ।
इडां च पिङ्गलां बध्वा वाहयेत् पश्चिमां पथम् ॥ १९९ ॥
अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम् ।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥२००॥ इति ।

अब उड्डीयान बन्ध के विषय में कहते हैं—मूलस्थान को आकुञ्चित कर 'उड्डीयान बन्ध' करना चाहिये । उड्डीयान सहज है । ऐसा हमारे गुरु जी का कहना है जो सर्वदा इसका अभ्यास करता है वह वृद्ध होते हुये भी युवावस्था सम्पन्न हो जाता है । इडा और पिङ्गला को बाँधकर पश्चिम नासा पुट से वायु निकाले । इस विधान से वायु लय हो जाता है । ऐसा करने से जरा-मृत्यु नहीं होती और न रोगादि होते हैं ॥ १९८-२०० ॥

अन्यत्रापि—

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि पानं कुर्यात् प्रयत्नतः ।
षण्मासाभ्यासतो मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥२०१॥ इति ।

अन्यत्र भी बतलाया गया है—साधक प्रयत्नपूर्वक प्राणवायु को नाभि के ऊपर और नीचे करे । छह मास के अभ्यास से नि:सन्देह साधक मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है ॥ २०१ ॥

अथ मूलबन्धः—

मूलबन्धं तु यो नित्यमभ्यसेत् स हि योगवित् ।
पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद् गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽयमुच्यते ॥ २०२ ॥
अधोगतिमनेनैव चोर्ध्वगं कुरुते बलात् ।
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं हि योगिनः ॥ २०३ ॥
गुदं पाष्ण्या च सम्पीड्य वायुमाकुञ्चयेद् बलात् ।
वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥ २०४ ॥

अब मूलबन्ध कहते हैं—जो नित्य 'मूलबन्ध' का अभ्यास करता है वही योगवेत्ता योगी है । योनि को पार्ष्णि भाग से दबाकर गुदास्थान को सिकोड़े

(संकुचित करे), अपान को ऊपर ले जावे, इसे 'मूलबन्ध' कहा जाता है। साधक इस आकुञ्चन विधान से नीचे जाने वाले अपान को बलात् ऊर्ध्वगति बनाता है, इसलिये इसे मूलबन्ध कहते हैं। गुदा स्थान को पार्ष्णि से दबा कर वायु को बलात् आकुञ्चित करे। इस क्रिया को बारम्बार इस प्रकार करे जिससे वायु ऊपर की ओर गतिमान् होवे ॥ २०२-२०४ ॥

प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम् ।
गते योगस्य संसिद्धिं प्राप्नोत्येव न संशयः ॥ २०५ ॥
अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥ २०६ ॥
अपाने चोर्ध्वगं याते प्रयाते वह्निमण्डले ।
यथानले शिखादीप्तं वह्निना प्रेरितं तथा ॥ २०७ ॥
यातायातौ वह्न्यपानौ प्राणमूलस्वरूपकौ ।
तेनात्यन्तप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ॥ २०८ ॥
तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता सम्प्रबुध्यति ।
दण्डाहता भुजङ्गीव निश्वस्य ऋतुतां व्रजेत् ॥ २०९ ॥
विलं प्रविष्टे च ततो ब्रह्मनाड्यन्तरे व्रजेत् ।
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्त्तव्यो योगिभिः सदा ॥२१०॥ इति ।

मूलबन्ध के द्वारा प्राण, अपान, नाद एवं बिन्दु के एक करने से योग संसिद्धि हो जाती है; इसमें संशय नहीं। मूलबन्ध से प्राण, अपान की एकता और मूत्र पुरीष का क्षय होता है। मूलबन्ध करने से वृद्ध पुरुष भी युवावस्था सम्पन्न हो जाता है। अपान ऊपर की ओर उठते हुये जब वह्निमण्डल में पहुँच जाता है। तब जिस प्रकार अग्नि में दीप्त ज्वाला उठती है, उसी प्रकार वह्नि से प्रेरित वह अपान भी ज्वाला युक्त हो जाता है। प्राण स्वरूप और मूल स्वरूप जब अग्नि और अपान यातायात करते हैं, तब शरीर में रहने वाली जठराग्नि अत्यन्त प्रदीप्त हो जाती है। उस ज्वाला से सन्तप्त होने के कारण सुप्त कुण्डलिनी जाग जाती है। जिस प्रकार दण्ड से आहत होने पर सर्पिणी क्रुद्ध हो जाती है और क्रोध से भयङ्कर श्वास लेती है, वैसे ही कुण्डलिनी निश्वास लेती हुई ऋतुमती (कामार्त्त!) हो जाती है। फिर बिल में प्रवेश करते हुये ब्रह्मनाडी तक पहुँच जाती है। इस कारण योगिजनों को निरन्तर ही 'मूलबन्ध' का अभ्यास करते रहना चाहिये ॥ २०५-२१० ॥

अथ दण्डधारणम्—

पृष्ठबन्धं दृढं कुर्यादनम्रं स्थिरसञ्चयम् ।
दण्डधारणमेतद्धि योगिनां परमं मतम् ॥ २११ ॥

अब दण्डधारण कहते हैं—पृष्ठबन्ध अर्थात् रीढ़ की हड्डी को अत्यन्त कड़ा रखे और स्थिर रखे। यही दण्डधारण कहा जाता है। जो योगीजनों द्वारा परम आदरणीय कहा गया है ॥ २११ ॥

अथ मार्कण्डेयादिसाधितो द्वितीयो हठयोगः—

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं व्यासकोटिभिः ।
ममेति मूलं दुःखस्य निर्ममेति सुखस्य च ॥ २१२ ॥

अब मार्कण्डेयादि साधित द्वितीय हठयोग कहते हैं—करोड़ों व्यासों ने जो कहा है उसे मैं आधे श्लोक में कह रहा हूँ। 'मम' यह शब्द दुःख का मूल है और 'न मम' यह शब्द सुख का मूल है ॥ २१२ ॥

निर्ममत्वं विरागाय वैराग्याद् योगसन्ततिः ।
योगाच्च जायते ज्ञानं ज्ञानान्मुक्तिः प्रजायते ॥ २१३ ॥
उपभोगेन पुण्यानां प्राकृतानां तथांहसाम् ।
कर्त्तव्यमिति नित्यानामकामकरणात्तथा ॥ २१४ ॥
असञ्चयादपूर्वस्य क्षयात्पूर्वार्जितस्य च ।
कर्मणो बन्धमाप्नोति शारीरं न पुनः पुनः ॥ २१५ ॥

निर्ममत्व से विराग उत्पन्न होता है, वैराग्य से योग सिद्धि होती है, योग से ज्ञान प्राप्त होता है और ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है। पूर्व जन्म में किये गये पुण्यों के तथा पूर्वजन्म में किये गये पापों के भोग से नित्य कर्म तथा निष्काम कर्म करने से तथा पूर्वार्जित सञ्चय के नष्ट होने से, किसी अपूर्व अनिर्वचनीय के सञ्चय होने से मनुष्य कर्म के बन्धन में नहीं पड़ता है। अतः पुनः-पुनः शरीर भी धारण नहीं करता ॥ २१३-२१५ ॥

अथेह कथ्यतेऽस्माभिः कर्मणां येन बन्धनम्।
छिद्यते सदुपायेन श्रुत्वा तत्र प्रवर्तताम् ॥ २१६ ॥
जित्वाऽऽदावात्मनः शत्रून् कामादीन् योगमभ्यसेत् ।
कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यसञ्ज्ञकान् ।
योगाङ्गैस्तांश्च निर्जित्य योगिनो योगमाप्नुयुः ॥ २१७ ॥
अष्टावङ्गानि योगस्य यमो नियम आसनम् ।
प्राणायामः प्रत्याहारो धारणाध्यानतत्परौ ॥ २१८ ॥

तत्परः = समाधिरिति ।

अब हम जिस कर्म से मनुष्य बन्धन में पड़ता है, उस कर्म को कहते हैं— यह कर्म बन्धन उत्तम उपाय से छिन्न-भिन्न होकर टूट जाता है। अतः आप

सुनकर उस कर्म बन्धन को तोड़ने का प्रयत्न करें । साधक सर्वप्रथम आत्मा के शत्रुभूत कामादि विकारों पर विजय प्राप्त कर योगाभ्यास करे । काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं मात्सर्य—ये आत्मा के शत्रु कहे गए हैं । योगियों ने योग साधन द्वारा इन पर विजय प्राप्त कर योगसिद्धि प्राप्त की है । यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये आठ योग के अङ्ग बतलाए गये हैं ॥ २१६-२१८ ॥

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम् ।
क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चेति यमा दश ॥ २१९ ॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव, क्षमा, धृति, मिताहार और शौच—ये दश यम कहे गये हैं ॥ २१९ ॥

अस्यार्थः—न कञ्चन हन्मीत्याभासप्रवणताहिंसा । असत्यं न वच्मि इत्याभासप्रवणचित्तता सत्यम् । चौर्यनिवृत्तिरस्तेयम् । स्त्रीभोगेच्छा निवृत्तिर्ब्रह्मचर्यम् । प्राणिषु क्रूरचित्तनिवृत्तिर्दया । चित्तकौटिल्यनिवृत्तिरार्जवम् । अभिभावकं प्रति अक्रोधप्रवणचित्तता क्षमा । इष्टवस्त्वाद्यलाभतश्चिन्ताभावो धृतिः । क्रमेणाहारापकर्षणाद् यावत् शरीरस्थितिमात्रभोजनं मिताहारम् । चित्तनैर्मल्यार्थे यथोक्तशीलता शौचमिति । यमा इति । यम उपरमे कामादेर्निवृत्तिरूपा इत्यर्थः । तत्र धृतिः सर्वानुषक्तता । अहिंसा ब्रह्मचर्याभ्यां कामस्य जयः । दयाक्षमाभ्यां क्रोधस्य । अस्तेयसत्यार्जवेभ्यो लोभस्य । मिताहारशौचाभ्यां मोहस्य । क्षमार्जवाभ्यां मदस्य । अहिंसाकृपार्जवक्षमाभ्यो मत्सरस्येति यमाः ।

'मैं किसी को न मारुँगा' इस प्रकार के आभास की प्रवणता 'अहिंसा' है । 'मैं झूठ न बोलूँगा' इस प्रकार की आभासप्रवणचित्तता 'सत्य' है । 'चोरी न करूँगा' यह 'अस्तेय' है । स्त्री के सम्भोगेच्छा की निवृत्ति 'ब्रह्मचर्य' है । प्राणियों के विषय में क्रूरता के त्याग की भावना 'दया' है । चित्त में रहने वाली कुटिलता का त्याग आर्जव है । अपराधी के प्रति भी क्रोध न करने की भावना 'क्षमा' है । अभीष्ट वस्तु के प्राप्त न होने पर चिन्ता का अभाव 'धृति', क्रमशः आहार को स्वल्प करते हुये शरीर की स्थिति मात्र भोजन करना 'मिताहार', चित्त को निर्मल बनाये रखने के लिये अपनी शक्ति के अनुसार शीलता का पालन 'शौच' है । (यमा इति यम उपरमे अर्थात् कामादि से निवृत्त होना) इसमें धृति उसे कहते हैं किसी भी पदार्थ में आसक्ति न रखना । १. अहिंसा ब्रह्मचर्य से काम पर विजय हो जाता है, २. दया और क्षमा से क्रोध निवृत्त हो जाता है । ३. अस्तेय, आर्जव और सत्य से लोभ पर विजय हो जाता है । ४. मिताहार और शौच से मोह पर विजय प्राप्त करना चाहिये । ५. क्षमा और आर्जव से अहङ्कार पर विजय प्राप्त करना चाहिये । ६. अहिंसा, कृपा, आर्जव और क्षमा से मात्सर्य पर विजय प्राप्त करना चाहिये । ये दश यम कहे गये हैं ।

अथ नियमाः—

तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानं देवस्य पूजनम् ।
सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो हुतम् ।
दशैते नियमाः प्रोक्ताः योगशास्त्रविशारदैः ॥ २२० ॥

अस्यार्थः—कृच्छ्रादिव्रतचर्या तपः । बहुतरानभिलाषः सन्तोषः । अस्ति परलोक इति मतिर्यस्य स आस्तिकः । आस्तिकस्य भावः आस्तिक्यम् । परलोक-बुद्ध्या धर्माद्याचरणमिति । यथाविभवं देवपितृमनुष्योद्देशेन वितरणं दानम् । देवस्य पूजनमुक्तरीत्यानुष्ठानम् । सिद्धान्तं उपनिषन्मोक्षोपायोपदेशशास्त्रं तस्य श्रवणम् । परिमलादि कुत्सिताचारात् स्वत उद्वेगो ह्रीः, तथा सति चित्तमालिन्ये ज्ञानानुदयात् । मतिर्मननम् ।

अब नियम कहते हैं—तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, देवता पूजन, सिद्धान्तश्रवण, लज्जा, मति, जप और होम इन दशों को योग विशारदों ने नियम कहा है ॥ २२० ॥

इसका अर्थ इस प्रकार है—१. कृच्छ्रादि व्रतचर्या को 'तप' कहा जाता है । २. बहुत अभिलाषा न करना यह सन्तोष है । ३. परलोक है जिसकी ऐसी बुद्धि है उसे 'आस्तिक' कहा जाता है । आस्तिक का भाव आस्तिक्य है अर्थात् परलोक बुद्धि से धर्माचरण ही आस्तिक्य है । ४. अपने विभव के अनुसार देवता, पितर और मनुष्य के उद्देश्य से धन वितरण करना 'दान' है । ५. शास्त्रीय रीति से देवता का अनुष्ठान 'देव पूजन' कहा जाता है । ६. सिद्धान्त उपनिषदों में कहे गये मोक्षोपाय के उपदेश रूप शास्त्र का श्रवण 'सिद्धान्त श्रवण' कहा जाता है तथा ७. दूसरों की निन्दा कुत्सिताचार से स्वयं उद्विग्न होना 'ह्री' कहा जाता है । क्योंकि कुत्सिताचार से चित्त मलीन होता है और ज्ञान का उदय नहीं हो पाता । ८. मति = मनन को कहते हैं । (९. जप = मन्त्र जप और १०. होम = तद्देवताक हवन को कहते हैं ।)

तथा च स्मृतिः—

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः । इति ।

जैसा कि स्मृति में कहा भी गया है—पहले श्रुतिवाक्यों से श्रवण करना पश्चात् अनेक उपपत्तियों से उसका मनन करना चाहिये ॥ २२१ ॥

उक्तप्रकारेष्टमन्त्रस्मरणं जपः । 'जपतो नास्ति पातकम्' इत्युक्तेश्चित्तशुद्धावुप-योगात् । हुतमग्निहोत्रादि होमः । यदकरणे प्रत्यवायात् चित्तमालिन्ये ज्ञानानुदयात् । यद्वा हुतं मन्त्रजपस्य दशांशहोमः ।

९. इसी प्रकार इष्टमन्त्र का बारम्बार स्मरण करना जप है । कहा भी है—जप करने से पाप नहीं आता । अतः चित्त की शुद्धि के लिये जप का प्रयोग

आवश्यक है । १०. अग्निहोत्रादि विधिपूर्वक होम को 'हुत' कहा जाता है । जिसके न करने से प्रत्यवाय होता है और चित्त मलिन होता है तथा चित्त मालिन्य से ज्ञान का उदय नहीं होता । अथवा किये गये मन्त्र के जप का दशांश होम 'हुत' कहा जाता है ।

तथा चोक्तम्—

नाजपात् सिद्ध्यते मन्त्रो नाहुताच्च फलप्रदः ।
अनर्चितो हरेत् कामान् तस्मात् त्रितयमाचरेत् ॥ २२१ ॥

अवश्यकर्त्तव्यतया नियमत्वमेषाम् । अतः कदाचिदालस्यादिना त्यागो न कार्यः।

कहा भी है—जप के बिना मन्त्र सिद्धि नहीं होती । जप भी बिना होम के फलप्रद नहीं होता । बिना अर्चना के जप से अभिलषित प्राप्ति नहीं होती । अतः जप, होम और अर्चन तीनों आचरणीय है ॥ २२१ ॥

अवश्यकर्त्तव्य होने के कारण ही इन्हें 'नियम' कहा जाता है । अतः आलस्यादिवश इनका त्याग कदापि नहीं करना चाहिये ।

अन्यच्च—

प्रत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमग्रहः ।
जनसङ्गश्च लौल्यं च षड्भिर्योगो विनश्यति ॥ २२२ ॥
उत्साहात् साहसाद् धैर्यात् तत्त्वज्ञानाच्च निश्चयात् ।
जनसङ्गपरित्यागात् षड्भिर्योगः प्रसिद्ध्यति ॥ २२३ ॥

और भी बतलाया गया है—प्रत्याहार (एक बार आहार के पश्चात् पुनः आहार), परिश्रम, बहुत बोलना, अपने नियम में आग्रह, जनसङ्ग और इन्द्रिय लौल्य इन छह के कारण योग विनष्ट होता है । १. उत्साह, २. साहस, ३. धैर्य, ४. तत्त्वज्ञान, ५. निश्चय एवं ६. जनसङ्ग का परित्याग—इन छह कर्मों से योग सिद्ध होता है ॥ २२२-२२३ ॥

अथ आसनम्—

नाध्मातः क्षुधितोऽशान्तो न च व्याकुलचेतनः ।
युञ्जीत योगं योगज्ञो नित्यं सिद्ध्यर्थमादृतः ॥ २२४ ॥

अब आसन के विषय में कहते हैं—परिश्रम से थके रहने पर, भूखे होने पर, अशान्त तथा चित्त की व्याकुलता की स्थिति में, योग की सिद्धि का आदर करने वाला योगी योग न करे ॥ २२४ ॥

न शीते नातिचैवोष्णे न दुर्गे नाम्बुनस्तटे ।
न च सोपद्रवे देशे योगः सन्धीयते क्वचित् ॥ २२५ ॥

अत्यन्त शीत, अत्यन्त उष्ण, दुर्गम स्थान, जल के सन्निकट और उपद्रव युक्त देश में योगानुसन्धान न करे ॥ २२५ ॥

एकान्ते विजनेऽरण्ये पवित्रे निरुपद्रवे ।
सुखासीनः समाधिः स्याद् वस्त्राजिनकुशोत्तरे ॥ २२६ ॥

एकान्त, निर्जन, अरण्य, पवित्र, उपद्रवरहित स्थान में, वस्त्र, उसके नीचे अजिन, उसके नीचे कुशा बिछा कर, उस पर सुखासीन होकर, योग करने से 'समाधि' लगती है ॥ २२६ ॥

पद्ममर्धासनं चापि तथा सिद्धासनादिकम् ।
आस्थाय योगं युञ्जीत कृत्त्वा च प्रणवं हृदि ॥ २२७ ॥

साधक पद्मासन, अर्धासन, अथवा सिद्धासन से बैठकर प्रणव का जप करते हुये योग करे ॥ २२७ ॥

समः समासनो भूत्वा संहत्य चरणावुभौ ।
संवृतास्यस्तदाचम्य सम्यग् विष्टभ्य चाग्रतः ॥ २२८ ॥
पाणिभ्यां लिङ्गवृषणावस्पृशन् प्रयतः स्थितः ।
किञ्चिदुन्नामितशिरो दन्तैर्दन्तानसंस्पृशन् ॥ २२९ ॥
सम्पश्यन् नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ।
कुर्यात् दृष्टं पृष्ठवंशमुड्डीयानं तथोत्तरे ॥ २३० ॥

सम होकर, दोनों चरणों को संकुचित कर, समासन से बैठकर, मुख ढक कर, आगे की ओर स्थिर होकर सम्यक् आचमन करे । लिङ्ग तथा अण्डकोश का हाथ से स्पर्श न करे । सावधानतया स्थित होकर साधक शिर को किञ्चित् उन्नमित करते हुये, दाँतों से दाँत का स्पर्श न करते हुये, अपनी नासिका के अग्रभाग को देखते हुये, अपनी ओर तथा दिशाओं की ओर न देखकर, उसके बाद उड्डीयान बन्ध करे ॥ २२८-२३० ॥

त्रिभिर्विशेषकम्—

उत्तानौ चरणौ कृत्त्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः ।
ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी पद्मासनं त्विदम् ॥ २३१ ॥
दक्षिणोरुतले वामं पादं न्यस्य तु दक्षिणम् ।
वामोरोरुपरि स्थाप्यमेतदर्धासनं त्विदम् ॥ २३२ ॥
पार्ष्णिं तु वामपादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
वामोरोरुपरि स्थाप्य दक्षिणः सिद्धमासनम् ॥ २३३ ॥

अब तीन श्लोकों में विशेष कहते हैं—प्रयत्नपूर्वक चरणों को उतान कर एक

दूसरे के ऊरु के ऊपर स्थापित करे । फिर दोनों ऊरुओं के मध्य में हाथ उतान कर डाल देवे तो 'पद्मासन' बन जाता है । दाहिने चरण के ऊरु के नीचे वाम पाद तथा दाहिने पैर को बायें ऊरु के ऊपर स्थापित करे, तब 'अर्धासन' बन जाता है । बायें पैर की पार्ष्णि को योनि स्थान में स्थापित करे । फिर बायें पैर के ऊरु पर दाहिना पैर स्थापित करे यह 'सिद्धासन' कहा जाता है ॥ २३१-२३३ ॥

एषां फलं वसिष्ठसंहितायाम्—

आसनेन रुजो हन्ति प्राणायामेन पातकम् ।
विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण सर्वदा ॥ २३४ ॥
धारणाभिर्मनो धैर्यं ज्ञानादैश्वर्यमुत्तमम् ।
समाधेर्मोक्षमाप्नोति त्यक्तसर्वशुभाशुभः ॥२३५॥ इति ।

इन आसनों का फल वशिष्ठसंहिता में भी बतलाया गया है—योगी सर्वदा आसन से रोग का नाश, प्राणायाम से पातक और प्रत्याहार से मानसिक विकारों का नाश करे । धारणाओं से मन वश में करे और धैर्य धारण करे । ज्ञान से उत्तम ऐश्वर्य प्राप्त करे । इस प्रकार शुभाशुभ का त्याग कर समाधि द्वारा मोक्ष प्राप्त करे ॥ २३४-२३५ ॥

अन्यत्राभियुक्तवाक्यम्—

प्राणायामैर्दहेद् दोषान् प्रत्याहारेण पातकम् ।
धारणाभिश्च दुःखानि ध्यानेनानीश्वरान् गुणान् ॥ २३६ ॥
यथा पर्वतधातूनां ध्मातानां दह्यते मलम् ।
तथेन्द्रियकृता दोषा दह्यन्ते प्राणनिग्रहात् ॥ २३७ ॥
वश्यं कर्तुं यथेच्छातो नागं नयति हस्तिपः ।
तथैव योगी योगेन प्राणं नयति साधितुम् ॥ २३८ ॥
यथाहि साधितः सिंहो मृगान् हन्ति न मानवान् ।
तथैव साधितः प्राणः किल्विषं न नृणां तनुम् ॥ २३९ ॥
प्राणायामं विना योगं साधयेद् यस्तु मन्दधीः ।
स न साध्वीं गतिं याति पङ्गुर्वाजिगतिं यथा ॥ २४० ॥
तस्मात्तु साधनं कुर्यात् प्राणायामस्य योगवित् ।
प्राणापाननिरोधेन प्राणायामः प्रकीर्तितः ॥ २४१ ॥
चक्षुस्स्पन्दनमात्रस्य यावत् द्वादशसञ्ज्ञकाः ।
तावन्निरुध्यते प्राणः प्राणायामः स एव हि ॥ २४२ ॥

अब अन्यत्र विद्वानों के द्वारा कहे गए प्रामाणिक वाक्य कहते हैं—योगी प्राणायाम से शारीरिक दोषों का नाश करे । प्रत्याहार (इन्द्रियों के विषयों का त्याग

कर) पातक का नाश करे । धारणा से सब प्रकार के दुःखों का तथा ध्यान से कृत्रिम गुणों का नाश करे । जिस प्रकार पर्वतीय धातुओं का मल अग्नि में जलाने से जल जाता है उसी प्रकार प्राणायाम से इन्द्रियों में होने वाले दोष नष्ट हो जाते हैं । जिस प्रकार पीलवान् हाथी को वश में कर अपनी इच्छानुसार उसे ले चलता है, उसी प्रकार योगी योग से साधना के अनुसार प्राण को अपनी इच्छानुसार चलावे । जिस प्रकार शिक्षित सिंह मृगों का ही वध करता है; मनुष्यों का नहीं, उसी प्रकार प्राणायाम से सिद्ध किया गया प्राण मात्र किल्विष (=पाप) का विनाश करता है । वह साधक के शरीर का विनाश नहीं करता है । जो मूर्ख प्राणायाम के बिना योग साधना करता है वह साध्वी गति नहीं प्राप्त कर सकता । जैसे पङ्गु घोड़ा तीव्र गति से नहीं चल सकता । इस कारण योगवेत्ता को प्राणायाम का साधन करना चाहिए । प्राण और अपान के निरोध से प्राणायाम होता है । जब तक बारह संख्या में पलकों का निमेष-उन्मेष हो, उतनी ही मात्रा में प्राण का निरोध प्राणायाम कहा जाता है ॥ २३६-२४२ ॥

अन्यत्रापि—

इडया कर्षयेद् वायुं बाह्यं षोडशमात्रया ।
धारयेत् पूरितं योगी चतुःषष्ट्या तु मात्रया ॥ २४३ ॥
सुषुम्णामध्यगं सम्यग् द्वात्रिंशन्मात्रया शनैः ।
नाड्या पिङ्गलया चैनं रेचयेद् योगवित्तमः ॥ २४४ ॥
प्राणायाममिदं प्राहुर्योगशास्त्रविशारदाः ।

अन्यत्र भी बतलाया गया है—इडा (बायीं नासिका) से सोलह मात्रा में बाह्य वायु को भीतर खींचे । फिर पूरित वायु को ६४ मात्रा की संख्या में सुषुम्णा के मध्य में सम्यग् रूप से धारण करे । फिर पिङ्गला से धीरे-धीरे ३२ मात्रा में रेचन करे । योगशास्त्र विशारद इसी को 'प्राणायाम' कहते हैं ॥ २४३-२४५ ॥

मात्रालक्षणं वायवीयसंहितायाम्—

जानुं प्रदक्षिणीकृत्य न द्रुतं न विलम्बितम् ।
अङ्गुलिस्फोटनं कुर्यात् सा मात्रेति प्रकीर्त्यते॥ २४५ ॥
भूयोभूयः क्रमात् तस्य व्यत्यासेन समाचरेत् ।
मात्रावृद्धिक्रमेणैव क्रमाद् द्वादश षोडश ॥ २४६ ॥
जपध्यानादिभिर्युक्तं सगर्भं तं विदुर्बुधाः ।
तदपेतं विगर्भं च प्राणायामं परे विदुः ॥ २४७ ॥
क्रमादभ्यसतां पुंसां देहे स्वेदोद्गमोऽधमः ।
मध्यमः कम्पसंयुक्तो भूमित्यागः परो मतः ।
उत्तमस्य गुणावाप्तिर्यावत् शीलनमिष्यते ॥२४८॥ इति ।

मात्रा का लक्षण वायवीय संहिता में भी बतलाया गया है—जानु को न बहुत जल्दी और न बहुत शीघ्र (साधारण रूप से) प्रदक्षिण क्रम से घुमाकर अङ्गुली स्फोटन करे, तो उसे 'मात्रा' कहते हैं । नासिका के व्यत्यास क्रम से एक-एक मात्रा की वृद्धि करते हुये द्वादश अथवा षोडश प्राणायाम करे । जिस प्राणायाम में योगी जप अथवा ध्यान करता रहता है, उस प्राणायाम को बुद्धिमानों ने 'सगर्भ प्राणायाम' कहा है । इसके अतिरिक्त जप एवं ध्यान रहित जो प्राणायाम किया जाता है, उसे 'विगर्भ प्राणायाम' कहा जाता है ऐसा अन्य लोग कहते हैं । इस प्रकार अभ्यास करते रहने से जब स्वेदोद्गम होने लगे तो वह अधम प्रकार का प्राणायाम कहा जाता है । कम्पन उत्पन्न होने की अवस्था में मध्यम, भूमित्याग की अवस्था में श्रेष्ठ प्राणायाम माना जाता है । प्राणायाम का अभ्यास तब तक करे, जब तक उत्तम प्राणायाम की अवस्था न आ जावे ॥ २४५-२४८ ॥

एतदेव तन्त्रान्तरे—

शुचिः प्राणायामान् प्रणवसहितान् षोडश वशी
प्रभाते सायं च प्रतिदिवसमेवं वितनुते ।
द्विजो यस्तं भ्रूणप्रहननकृतांहोऽधिकलितं
पुनन्त्येते मासादपि दुरिततूलौघदलनान् ॥ २४९ ॥

यही बात तन्त्रान्तर में कही गई है—जो योगी प्रतिदिन प्रभात और सायङ्काल के समय प्रणव सहित षोडश प्राणायाम करता है वह शुचि होकर अपने द्वारा किये गये भ्रूणहत्या जनित पाप को भी एक मास में उसी प्रकार नष्ट कर देता है, जिस प्रकार अग्नि रुई के ढेर को समाप्त कर देती है ॥ २४९ ॥

अयं प्राणायामः सकलदुरितध्वंसनकरो
विगर्भः प्रोक्तोऽसौ शतगुणफलो गर्भकलितः ।
जपध्यानापेतः स तु निगदितो गर्भरहितः
सगर्भस्तद्युक्तो मुनिपरिवृढैर्योगनिरतैः ॥ २५० ॥

यह विगर्भ प्राणायाम समस्त पापसमूहों का विनाशक कहा गया है । सगर्भ प्राणायाम का फल सौ गुना होता है । जिस प्राणायाम में जप एवं ध्यान नहीं होता वह गर्भरहित (विगर्भ) कहा जाता है । किन्तु जप एवं ध्यान युक्त जो प्राणायाम किया जाता है, वह 'सगर्भ प्राणायाम' होता है । ऐसा योगनिरत श्रेष्ठ मुनियों का कथन है ॥ २५० ॥

योगे—

प्राणायामो लघुस्त्वेको द्विगुणो मध्यमः स्मृतः ।
उत्तमस्त्रिगुणो ज्ञेय इत्येषा वैदिकी स्थितिः ॥ २५१ ॥

प्रथमेन जयेत् स्वेदं द्वितीयेन च वेपथुम् ।
विषादं च तृतीयेन जयेद् दोषाननुक्रमात् ॥ २५२ ॥
द्विगुणोत्तरया वृद्ध्या प्रत्याहारस्तु धारणा ।
ध्यानं समाधिरित्येवं प्राणायामादनुक्रमात् ॥ २५३ ॥

योग में भी बतलाया गया है—एक प्राणायाम लघु होता है, द्विगुणित प्राणायाम मध्यम है तथा त्रिगुणित को उत्तम प्राणायाम जानना चाहिये । यह वैदिकी स्थिति है। प्रथम प्राणायाम से स्वेद पर विजय प्राप्त करे । दो से कम्पन पर तथा तृतीय से विषाद पर विजय प्राप्त करे । इस प्रकार अनुक्रम से साधक दोषों पर विजय प्राप्त करे । इसके दुगुने प्राणायाम के बाद उत्तम प्राणायाम की वृद्धि के क्रम से प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—इस प्रकार प्राणायाम का अनुक्रम करे ॥ २५१-२५३ ॥

तस्माद् युक्तः सदा योगी प्राणायामपरो भवेत् ।
श्रूयतां मुक्तिफलदं तस्यावस्थाचतुष्टयम् ॥ २५४ ॥

इस कारण युक्त योगी सदा प्राणायाम में संलग्न रहे । अब उस प्राणायाम की चारों अवस्थाओं को सुनिये; जो मुक्ति रूप फल देने वाली है ॥ २५४ ॥

ध्वस्तिः प्राप्तिस्तथा संवित् प्रसादश्च तुरीयकः ।
स्वरूपं शृणु चैतेषां कथ्यमानाननुक्रमात् ॥ २५५ ॥

ध्वस्ति, प्राप्ति, संवित् और चतुर्थी 'प्रसाद' नाम की अवस्था है । अब मेरे द्वारा कहे जाने वाले उनके स्वरूपों को क्रमशः सुनिए ॥ २५५ ॥

प्राणायामस्य अवस्था चतुष्टयकथनम्

कर्मणामिष्टदुष्टानां जायते फलसङ्क्षयः ।
चेतसोऽर्थे कषायत्वाद् यत्र सा ध्वस्तिरुच्यते ॥ २५६ ॥
ऐहिकामुष्मिकान् कामान् लोभमोहात्मकाँश्चयान् ।
निरुध्यास्ते यदा योगी प्राप्तिः स्यात्सर्वकामिकी ॥ २५७ ॥
अतीतानागतानर्थान् विप्रकृष्टतिरोहितान् ।
विजानाति यदा योगी तदा संविदिति स्मृता ॥ २५८ ॥
याति प्रसादं येनास्य मनः पञ्च च वायवः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च स प्रसाद इति स्मृतः ॥ २५९ ॥

१. जिस प्राणायाम से अभीष्ट दुष्ट कर्मों के फल का सङ्क्षय हो जावे । चित्त सोचे हुये विषय में कषायपना बढ़ जावे उसे 'ध्वस्ति' कहा जाता है । २. जिससे योगी लोभात्मक, मोहात्मक, ऐहिक, आमुष्मिक कामों को रोक लेता है उसे

'सर्वकामिकी प्राप्ति' कहते हैं । ३. जिस प्राणायाम के करने से योगी अतीत, अनागत, सन्निकट एवं दूर के तथा इन्द्रियातीत पदार्थों को जान लेता है उसे 'संविदित' कहा जाता है । ४. जिस प्राणायाम से योगी का मन प्रसन्न हो जाता है पञ्च वायु, इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के विषय अपने आप प्राप्त हो जाते हैं उसे 'प्रसाद' कहा जाता है ॥ २५६-२५९ ॥

प्राणायामस्य युक्तिस्तु पूर्वाभ्यासस्य कथ्यते ।
यं चक्रुर्मुनय सर्वे नाडीसंशुद्धिहेतवे ॥ २६० ॥
पूर्वं दक्षिणहस्तस्य स्वाङ्गुष्ठेनैव पिङ्गलाम् ।
निरुद्ध्य पूरयेद् वायुमिडया तु शनैः शनैः ॥ २६१ ॥
यथाशक्ति निरोधेन ततः कुर्याच्च कुम्भकम्।
पुनस्त्यजेत् पिङ्गलया शनै रेचनकं गतः ॥ २६२ ॥
पुनः पिङ्गलया पूर्वं पूरयेदुदरं शनैः ।
यथा त्यजेत् तथा पूर्वं धारयेदनिरोधतः ।
नाडीविशुद्धौ जातायां ततः कुर्याद् यथेच्छया ॥२६३॥ इति ।

जिस प्राणायाम को मुनियों ने नाडी शुद्धि के लिये किया था अब उस पूर्वाभ्यास वाले प्राणायाम की युक्ति कहता हूँ । प्रथम योगी दाहिने हाथ के अङ्गूठे से पिङ्गला नाडी से धीरे-धीरे वायु द्वारा उदर को पूर्ण करे । फिर उसे धारण करे । फिर धीरे-धीरे वायु को बाहर निकाले । इस प्रकार नाडी शुद्ध हो जाने पर अपनी इच्छानुसार प्राणायाम करे ॥ २६०-२६३ ॥

अथ प्रत्याहारः—

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु निरर्गलम् ।
बलादाहरणं तेभ्यः प्रत्याहारोऽभिधीयते ॥ २६४ ॥

अब प्रत्याहार के विषय में कहते हैं—इन्द्रियाँ बेरोक-टोक अपने-अपने विषयों में स्वतन्त्र रूप से विचरण करती हैं । उन्हें विषयों से अलग करना (हटाना) ही 'प्रत्याहार' कहा जाता है ॥ २६४ ॥

अन्यच्च—

शब्दादिभ्यः प्रपन्नानि यदक्षाणि यतात्मभिः ।
प्रत्याह्रियन्ते योगेन प्रत्याहारस्ततः स्मृतः ॥ २६५ ॥
सबाह्याभ्यन्तरं शौचं निष्पाद्याकण्ठनाभितः ।
पूरयित्वा बुधः प्राणैः प्रत्याहारमुपक्रमेत् ॥ २६६ ॥

और भी बतलाया गया है—शब्दादि विषयों में प्रपन्न रहने वाली इन्द्रियों को

संयतात्मा योगीजन योग से उन्हें अपने-अपने विषयों से हटा देते हैं, वही प्रत्याहार कहा गया है । बुद्धिमान् योगी भीतर और बाहर से शुद्ध होकर, नाभि से लेकर कण्ठ पर्यन्त स्थान को प्राणवायु से पूर्ण कर, तदनन्तर प्रत्याहार का उपक्रम करे ॥ २६५-२६६ ॥

रजसा तमसो वृत्तिं सत्त्वेन रजसस्तथा ।
संछाद्य निर्मले सत्त्वे स्थितो युञ्जीत योगवित् ॥ २६७ ॥

योगवेत्ता योगी रज से तमोगुण की वृत्ति को तथा सत्त्व से रजोगुण की वृत्ति को आच्छादित कर निर्मल सत्त्व में स्थित होकर योगारम्भ करे ॥ २६७ ॥

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः प्राणादीन् मन एव च ।
निगृह्य समवायेन प्रत्याहारमुपक्रमेत् ॥ २६८ ॥
यस्तु प्रत्याहरेत् कामान् सर्वाङ्गानीव कच्छपः ।
सत्त्वात्मरतिरेकस्थः पश्यत्यात्मानमात्मना ॥२६९॥ इति ।

साधक इन्द्रियों को उनके विषयों से, उसी प्रकार प्राणादिकों को मन के समवाय (समूह) रूप से हटाकर प्रत्याहार का प्रारम्भ करे । जिस प्रकार कच्छप अपने सभी अङ्गों को सिकोड़ कर रहता है उसी प्रकार साधक सभी कामनाओं को समेट कर सत्त्व स्वरूप 'आत्मरति' (=स्वयं में सन्तुष्ट) में जब स्थित हो जावे तब स्वयं अपने को अपने से देख लेता है ॥ २६८-२६९ ॥

अथ धारणा—

अङ्गुष्ठगुल्फजानूरुसीमनीलिङ्गनाभिषु ।
हृद्ग्रीवाकण्ठदेशेषु लम्बिकायां ततो नसि ॥ २७० ॥
भ्रूमध्ये मस्तके मूर्ध्नि द्वादशान्ते यथाविधि ।
धारणं प्राणमरुतो धारणेति निगद्यते ॥ २७१ ॥

अब धारणा के विषय में कहते हैं—अङ्गूठा, गुल्फ, जानु, ऊरु, सीमनी, लिङ्ग, नाभि, हृदय, ग्रीवा, कण्ठ, लम्बिका, नासा, भ्रूमध्य, मस्तक, शिर तथा द्वादशान्त में विधान के अनुसार योगी द्वारा प्राणवायु का धारण करना ही 'धारणा' कही जाती है ॥ २७०-२७१ ॥

अन्यत्रापि—

प्राणायामा दश द्वौ च धारणेत्यभिधीयते ।
द्वे धारणे स्मृते योगे मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ २७२ ॥
गुरूपदेशमासाद्य एकस्मिन् स्थानके यदि ।
रुध्येते जन्मनो वातौ धारणा सा निगद्यते ॥ २७३ ॥

अन्यत्र भी बतलाया गया है—बारह बार के प्राणायाम को 'धारणा' कहते हैं। तत्त्वदर्शी मुनिगणों ने योग में दो प्रकार की 'धारणा' बतलायी है। गुरु का उपदेश प्राप्त कर यदि साधक एक ही स्थान पर जन्मजात दोनों प्रकार के वातों को रोक लेवे तब उसे 'धारणा' कहते हैं ॥ २७२-२७३ ॥

वसिष्ठसंहितायां पञ्च धारणा अप्युक्ताः—

भूतानां मानसं चैकं धारणा च पृथक् पृथक् ।
मनसो निश्चलत्वेन धारणा साऽभिधीयते ॥ २७४ ॥

वशिष्ठसंहिता में और पाँच धारणायें कही गई हैं—पञ्चभूतों को पृथक्-पृथक् केवल एक मन में धारण करना और मन को निश्चल रखना ही 'धारणा' कही जाती है ॥ २७४ ॥

१. क्षमाधारणाकथनम्

प्राप्तश्रीहरितालहेमरुचिरा तन्वी कलालांछिता
संयुक्ता कमलासनेन च चतुष्कोणा हृदि स्थायिनी ।
प्राणं तत्र विनीय पञ्चघटिकाचित्तान्वितं धारये-
देषास्तम्भकरी सदा क्षितिपरा ख्याता क्षमा धारणा ॥ २७५ ॥

अब पञ्चभूतों में प्रथम 'पृथ्वी धारणा' कहते हैं—जो हरिताल एवं हेम के समान पीतवर्ण होने से अत्यन्त मनोहर है, जो ब्रह्मदेव से संयुक्त चौकोर है। उसे हृदय में स्थित कर योगी साधक वहाँ चित्त से संयुक्त प्राण को ले जाकर पाँच घड़ी तक धारण करे। यह सदा स्तम्भन करने वाली क्षितिपरक 'क्षमा धारणा' कही जाती है ॥ २७५ ॥

२. वारुणीधारणाकथनम्

अर्धेन्दुप्रतिमं च कुन्दधवलं कण्ठे च तत्त्वान्वितं
तत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना ।
प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिकाचित्तान्वितं धारये-
देषा दुःसहकालकालकरणी स्याद् वारुणी धारणा ॥ २७६ ॥

अब 'वारुणी धारणा' कहते हैं—जिसका आकार अर्धचन्द्र के समान कहा गया है। जो कुन्द के समान धवल वर्ण वाला बतलाया गया है। जो पञ्चतत्त्वों में एकतत्त्व वाला कहा गया है। जो पीयूष के 'वकार' (वं) सहित बीज है, किं बहुना; विष्णु से युक्त है। मन्त्रज्ञ साधक वहाँ चित्तान्वित प्राण को पाँच घड़ी तक स्थापित करे। यह दुःसह काल की भी काल करने वाली 'वारुणी धारणा' बतलायी गई है ॥ २७६ ॥

३. वैश्वानरीधारणाकथनम्

तत्त्वस्थं शिवमिन्द्रगोपसदृशं तत्र त्रिकोणेऽनलं
तेजोनेकमयं प्रवालरुचिरं रुद्रेण तत् सङ्गतम् ।
प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिकाचित्तान्वितं धारये-
देषा वह्निसमं वपुर्विदधती वैश्वानरी धारणा ॥ २७७ ॥

जो तत्त्वों में स्वयं शिव है (अग्निर्वै रुद्र इति श्रुत:)। जिसका आकार इन्द्र गोप (=वीरबहूटी) के सदृश (प्रथम वर्षा में आकाश से गिरा हुआ लालवर्ण का कीट विशेष) वर्ण वाला बतलाया गया है । जो त्रिकोण स्थित अनल है, अनेक तेजों से युक्त है, प्रवाल के समान रुचिर है और जो रुद्र से युक्त बतलाया गया है, वहाँ मन्त्रज्ञ साधक को चित्त से संयुक्त प्राण को पाँच घड़ी तक स्थापित करना चाहिए । अग्नि के समान तेजस्विनी रूप धारण करने वाली यह 'वैश्वानरी धारणा' कही गई है ॥ २७७ ॥

४. वायोः धारणाकथनम्

यन्मूलं च जगत् प्रपञ्चसहितं दृष्टं भ्रुवोरन्तरे
तद्वत् सत्त्वमयं यकारसहितं यत्रेश्वरो देवता ।
प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिकाचित्तान्वितं धारये-
देषा खे गमनं करोति नियतं वायोः सदा धारणा ॥ २७८ ॥

प्रपञ्च सहित यह सारा जगत् जिसका मूल है, जो दोनों भ्रुवों के मध्य में देखा जा सकता है, जो यकार सहित सत्त्वमय कहा गया है, जिसके स्वयं महेश्वर देवता हैं, बुद्धिमान साधक को उससे चित्त संयुक्त प्राण को पाँच घड़ी तक स्थापित करना चाहिए । यह आकाश में नियमपूर्वक सदा गमन करती है इसे 'वायु की धारणा' कहते हैं ॥ २७८ ॥

५. नभो धारणाकथनम्

आकाशं च विशुद्धवारिसदृशं यद् ब्रह्मरन्ध्रस्थितं
तन्नाथेन सदाशिवेन सहितं युक्तं हकारेण यत् ।
प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिकाचित्तान्वितं धारये-
देषा मोक्षकपाटभेदनकरी प्रोक्ता नभो धारणा ॥ २७९ ॥

जो विशुद्ध वारि के समान स्वच्छ है, जो ब्रह्मरन्ध्र में स्थित है, सदाशिव के सहित उनके हकार बीज से संयुक्त है । मन्त्रज्ञ साधक को उस भ्रूमध्य में चित्तान्वित प्राण को पाँच घड़ी तक धारण करना चाहिए । यह मोक्षकपाट का भेदन करने वाली 'नभो धारणा' कही गई है ॥ २७९ ॥

अथ ध्यानम्—

शून्येषु चावकाशेषु गुहासूपवनेषु च ।
नित्ययुक्तः सदायोगी ध्यानं सम्यगुपक्रमेत् ॥ २८० ॥

यहाँ तक पञ्चभूतमयी धारणा पृथक्-पृथक् कही गई । अब ध्यान के विषय में कहते हैं—शून्य स्थान में, अवकाश में, गुफा में या उपवन में नियमवान् योगी सदा ध्यान का आरम्भ करे ॥ २८० ॥

त्यक्तसङ्गो जितमना लध्वाहारो जितेन्द्रियः ।
पिधाय बुद्धिद्वाराणि मनो ध्याने नियोजयेत् ॥ २८१ ॥
समाहितेन मनसा चैतन्यान्तरवर्तिना ।
आत्मन्यभीष्टदेवानां ध्यानं ध्यानमिहोच्यते ॥ २८२ ॥

ध्यान करने वाला योगी सङ्ग का ध्यान करे और मन को अपने वश में रखे । मिताहार करे और इन्द्रियों को वश में रखे । बुद्धि के सभी द्वारों को आच्छन्न कर मन को ध्यान में लगावे । अपने भीतर चैतन्य को जागरुक रखे । फिर समाहित मन से योगी अपनी आत्मा में अभीष्ट देवता का ध्यान करे । इसी को 'ध्यान' कहा जाता है ॥ २८१-२८२ ॥

यत् तत्त्वे निश्चलं चित्तं तद्ध्यानं परमुच्यते ।
द्विधा भवति तद् ध्यानं सगुणं निर्गुणं तथा ॥ २८३ ॥
सगुणं वर्णभेदेन निर्गुणं केवलं तथा ।
अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च ॥ २८४ ॥
एकस्य ध्यानयोगस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।

जिस तत्त्व में मन निश्चल हो उसी का ध्यान करे । वह ध्यान सगुण और निर्गुण भेद से दो प्रकार का कहा गया है । वर्णभेद से सगुण का ध्यान तथा वर्ण रहित केवल का निर्गुण ध्यान करे । सहस्रों अश्वमेध तथा सैकड़ों वाजपेय यज्ञ ध्यानयोग की एक कला की भी बराबरी नहीं कर सकते ॥ २८३-२८५ ॥

अन्तश्चेतो बहिश्चक्षुरधः स्थाप्य सुखासनम् ॥ २८५ ॥
समत्वं च शरीरस्य ध्यानमाहुश्च सिद्धिदम् ।
नासाग्रे दृष्टिमाधाय ध्यात्वा मुञ्चति बन्धनात् ॥ २८६ ॥
आत्मानं च जगत् सर्वं दृशा नित्याविभिन्नया ।
चिदाकाशमयं ध्यायन् योगी याति परां गतिम् ॥ २८७ ॥

चित्त को भीतर रखे । नेत्र को बाहर नीचे की ओर रखे और सुखासन से बैठे । शरीर को सीधा समान रूप में रखे, ऐसा ध्यान सिद्धि प्रदान करता है ।

योगी अपनी दृष्टि नासा के अग्रभाग में स्थापित करने से संयुक्त हो जाता है। साधक अपनी नित्य अभिन्न दृष्टि से अपने को तथा समस्त जगत् को चिदाकाशमय रूप में देखे ऐसा योगी मुक्त हो जाता है ॥ २८५-२८७ ॥

अथवा प्रोच्यते ध्यानमन्यदेवात्र योगिनाम्।
रहस्यं परमं मुक्तेः कारणं प्रथमं च यत् ॥ २८८ ॥
वायुवच्चलितं चित्तं स्थिरीकर्तुं न शक्यते।
तदर्थं सकले योज्यं ततो भवति निष्कलम् ॥ २८९ ॥

अथवा योगियों के लिये एक दूसरे प्रकार का ध्यान कहता हूँ—जो परम रहस्य है और मुक्ति में प्रथम कारण है। यह चित्त वायु के समान अत्यन्त चञ्चल कहा गया है, इसका स्थिर करना शक्य नहीं है। इसलिये उसे स्थिर करने के लिये सकल परमात्मा में ध्यान लगावे। ऐसा करने से वह 'निष्कल' (= माया रहित) हो जाता है ॥ २८८-२८९ ॥

मूलाधारस्थितं जीवं प्रदीपकलिकाकृतिम्।
प्रणवेन समाकृष्य दशमान्ते निवेशयेत् ॥ २९० ॥
ततो जपेच्च सततं मूलाधारात् समुत्थितम्।
नियतिं दशमद्वारे मनसा दानरूपिणम् ॥ २९१ ॥

प्रदीप कलिका के समान आकार वाले मूलाधार में स्थित जीव को प्रणव के द्वारा खींच कर दशम के अन्त में स्थापित करे। तदनन्तर मूलाधार से ऊपर उठाये गये उठे हुये जीव मन्त्र (हंसः) का जप करे ॥ २९०-२९१ ॥

यथा प्रयुक्तमोङ्कारः प्रतिनिर्याति मूर्धनि।
तथोङ्कारमयो योगी ह्यक्षरे त्वक्षरो भवेत् ॥ २९२ ॥
कुर्वन्नेव यथा पश्येत् मनो नेत्रेण योगवित्।
हंसं बिन्दुशिखां ज्योतिस्ततो लयमवाप्नुयात् ॥ २९३ ॥

जिस प्रकार उच्चारण किया गया प्रणव शिरः स्थान में पहुँचता है, उसी प्रकार अक्षर ॐकारमय योगी अक्षर परमात्मा में लीन हो जाता है। ऐसा करते हुये योगी उसी प्रकार मनो नेत्र से हंस, बिन्दु एवं शिखा, फिर ज्योति को देखता हुआ पुनः उसी में लय हो जाता है ॥ २९२-२९३ ॥

ब्रह्मद्वारे मुखे सूक्ष्मं निर्विकल्पं परात् परम्।
परमं ज्योतिरासाद्य योगी तन्मयतां व्रजेत् ॥ २९४ ॥
निर्विकल्पपदे प्राप्ते जीवे तन्मयतां गते।
नश्यन्ति सर्वकर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥ २९५ ॥

वृक्षमूर्ध्नि यथा पक्षी ह्यकस्मादेव प्राप्यते ।
बुद्धिस्थो दृश्यतामेति झटित्येव तथा विभुः॥ २९६ ॥

योगी ब्रह्मद्वार के मुख में सूक्ष्म, निर्विकल्प, परात्पर, परम ज्योति को प्राप्त कर तन्मय हो जाता है । जीव के तन्मय हो जाने पर उसके निर्विकल्पपद के प्राप्त कर लेने पर, उस परावर परमात्मा के दर्शन कर लेने पर, मनुष्य के सारे कर्म प्रकृष्ट रूप से नष्ट हो जाते हैं । जिस प्रकार पक्षी वृक्ष के ऊपरी भाग को अनायास प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार 'बुद्धिस्थ विभु योगी भी शीघ्रातिशीघ्र दृश्यता को प्राप्त कर लेता है ॥ २९४-२९६ ॥

अग्रतः पृष्ठतो मध्ये पार्श्वतोऽथ समन्ततः ।
विद्युच्चकितवद् भाति सूर्यकोटिसमप्रभः॥ २९७ ॥
रतान्ते स्त्री यथात्मानं क्षणं क्वाहं न बुध्यते ।
रमणोऽपि न जानाति कोऽहं योगे तथा पुमान्॥ २९८ ॥
श‍ृणोत्याश्चर्यवत् कोऽपि कोऽप्याश्चर्यवदीक्षते ।
श्रुत्वा दृष्ट्वा तथाप्येनं सम्यग् वेद न कश्चन ॥ २९९ ॥
गुरुप्रसादतो लक्ष्यं लब्ध्वा यत्नात् समभ्यसेत्।
अभ्यासाद् दृश्यते देवो ज्ञानदृष्ट्या महेश्वरः ॥ ३०० ॥

सहस्र करोड़ सूर्य के समान कान्तिमान् उस योगी के आगे, पीछे, मध्य में, अगल-वगल, किं बहुना; चारो ओर विभु परमात्मा विद्युत्प्रकाश के समान भासित होने लगता है । रति के अन्त में जिस प्रकार स्त्री 'मैं कहाँ हूँ'; इस बात को नहीं जानती । उसी प्रकार रमण कर्त्ता पुरुष को भी यह पता नहीं चलता कि 'मैं कहाँ हूँ' । उसी प्रकार योगी साधक को भी योगावस्था में 'मैं कौन हूँ'; इसका पता नहीं होता । कोई योगी किसी बात को आश्चर्यवत् सुनता है तो कोई आश्चर्यवत् देखता है । कोई सुनकर और देखकर भी उसे ठीक प्रकार से समझ नहीं पाता । योगी गुरु के प्रसाद से अपना लक्ष्य प्राप्त कर प्रयत्नपूर्वक योगाभ्यास करे । क्योंकि अभ्यास करते रहने पर ज्ञान दृष्टि होने पर ही महेश्वर देव का दर्शन किया जा सकता है ॥ २९७-३०० ॥

तेजः परं द्युतिमतां तमसः परस्ता-
दादित्यवर्णममलं कनकस्वरूपम् ।
आत्मानमात्मनि गतं प्रकृतेर्विभिन्न-
मानन्दमात्रमिति पश्यति यः स मुक्तः ॥ ३०१ ॥

जो योगी समस्त तेजस्वियों में श्रेष्ठ तेज वाले, तम से परे, आदित्य वर्ण वाले, अमल एवं कनकस्वरूप प्रकृति से भिन्न आनन्दमात्र आत्मा को अपने में

देख लेता है, वह मुक्त हो जाता है ॥ ३०१ ॥

अथ समाधिः—

समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः ।
निस्तरङ्गपदप्राप्तिः परमानन्दरूपिणी ॥ ३०२ ॥

अब समाधि के विषय में कहते हैं—जीवात्मा और परमात्मा की समतावस्था 'समाधि' कही जाती है । जो कि निस्तरङ्ग पद (शान्ति) की प्राप्ति हेतु तथा परमानन्दरूपिणी है ॥ ३०२ ॥

निःश्वासोच्छ्वासयुक्तो वा निस्पन्दोऽचललोचनः ।
शिवध्यायी सुलीनश्च स समाधिस्थ उच्यते ॥ ३०३ ॥
न शृणोति यदा किञ्चिन्न पश्यति न जिघ्रति ।
न च स्पर्शं विजानाति स समाधिस्थ उच्यते ।
इत्थं तु मुनयः प्राहुर्योगमष्टाङ्गलक्षणम् ॥ ३०४ ॥

जो निःश्वास एवं उच्छ्वास से युक्त, निःस्पन्द, अचललोचन होकर शिव का ध्यान करता है वह शिव में लीन हो जाता है । उसे समाधिस्थ कहा जाता है । जब योगी कुछ न सुने, कुछ न देखे, कुछ न आघ्राण करे और जब स्पर्श का ज्ञान भी उसे न हो तब उसे समाधिस्थ कहा जाता है । मुनियों ने योग के अष्टाङ्ग लक्षणों को इस प्रकार कहा है ॥ ३०३-३०४ ॥

अथ तुर्यातीतम्—

अत्यन्तशुद्धचिन्मात्रे परिणामश्चिरादपि ।
तुर्यातीतं पदं तत् स्याद् भूयः तत्स्थो न शोचति ॥ ३०५ ॥
निद्रादौ जागरस्यान्ते यो भाव उपपद्यते ।
तद्भावभावितो योगी मुक्तो भवति नान्यथा ॥ ३०६ ॥
य आकाशवदेकात्मा सर्वभावगतोऽपि सन् ।
न भावरञ्जनामेति स महात्मा महेश्वरः ॥ ३०७ ॥

अब तुर्यातीत अवस्था को कहते हैं—अत्यन्त शुद्ध चिन्मात्र में चिरकाल तक होने वाला परिणाम 'तुर्यातीत' पद कहा जाता है । उस तुर्यातीत पद में रहने वाला योगी शोक नहीं करता किन्तु आनन्दमय रहता है । निद्रा के आदि तथा जागरण के अन्त में जो अनिर्वचनीय भाव उत्पन्न होता है उस भाव से भावित योगी मुक्त होता है; यह अन्यथा नहीं है । जिस प्रकार सभी भावों में रहने पर भी आकाश एक ही समान रहता है उसी प्रकार वह महात्मा महेश्वर किसी पदार्थ से रञ्जित नहीं होता है ॥ ३०५-३०७ ॥

यथा जलं जलेनैक्यं निक्षिप्तमुपगच्छति ।
तथात्मा साम्यतामेति योगिनः परमात्मना ॥ ३०८ ॥
ततो न जायते नैव वर्धते न विनश्यति ।
नापि क्षयमवाप्नोति परिणामं न गच्छति ॥ ३०९ ॥
छेदं क्लेदं तथा दाहं शोषं भूरादितो न च ।
भूतचक्रादवाप्नोति शब्दाद्यैर्दूयते न च ॥ ३१० ॥

जिस प्रकार से जल में निक्षिप्त कर देने पर उसके साथ मिलकर एक हो जाता है उसी प्रकार जीवात्मा परमात्मा में मिल जाने पर उसके साथ ऐक्यभावापन्न हो जाता है । परमात्मा में एकत्व को प्राप्त कर लेने पर जीव न तो उत्पन्न होता है, न ही बढ़ता है, न ही विनष्ट होता है, न ही क्षय प्राप्त करता है और न किसी परिणाम को ही प्राप्त होता है । उसका भूतचक्र से छेद, क्लेद, दाह, शोष तथा उत्पत्ति आदि कुछ भी नहीं होता और वह किसी प्रकार के शब्दादि से निकृत भी नहीं होता ॥ ३०८-३१० ॥

अथ मनःस्थिरीकरणभावः—

यत्र यत्र मनो याति ध्यायतो योगिनस्तथा ।
तत्रैव हि लयं कुर्यात् शिवः सर्वगतो यतः ॥ ३११ ॥
युक्त्यानया भवेच्चेतश्छिन्नपक्षमचञ्चलम् ।
सर्वत्रैकं शिवं ज्ञात्वा निर्विकल्पं विधीयते ॥ ३१२ ॥
कामक्रोधादयः सर्वे मतिरक्षाण्यहंकृतिः ।
गुणा विविधकर्माणि विलीयन्ते मनःक्षयात् ॥ ३१३ ॥

अब मन के स्थिरीकरण के विषय में कहते हैं—ध्यान करने वाले योगी का जहाँ-जहाँ मन जावे, वहाँ-वहाँ उसी में मन को लय करे क्योंकि शिव सर्वगत हैं । इस युक्ति से चित्त का पक्ष छिन्न हो जाता है और वह स्थिर हो जाता है । सर्वत्र एक शिव ही है, ऐसा समझ कर निर्विकल्प (निःसन्देह) रहे । मन के क्षय होने पर सभी काम-क्रोधादि, मति, इन्द्रियाँ, अहङ्कार, दया, दाक्षिण्यादि गुण तथा नाना प्रकार के कर्म अपने आप नष्ट हो जाते हैं ॥ ३११-३१३ ॥

अमनस्कं गते चित्ते जायते कर्मणां क्षयः ।
यथा चित्रपटे दग्धे दह्यते चित्रसञ्चयः ॥ ३१४ ॥
तन्त्रयोगात् यथा क्षीरं काठिन्यमुपगच्छति ।
तथा जीवो मनस्थैर्यात् परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ३१५ ॥
यथा हिमप्रभावेन जलं स्थास्नुत्वमाप्नुयात् ।
तथा मनः स्थिरत्त्वेन जीवः शिवमयो भवेत् ॥ ३१६ ॥

शिवस्य शक्तिर्जीवोऽस्ति जीवशक्तिर्मनः स्मृतम् ।
जीवं शिवं प्रापयितुं मन एव हि कारणम् ॥ ३१७ ॥
जीवः शिवः शिवो जीवो न भेदोऽस्त्यनयोः क्वचित् ।
मनोलिप्तो भवेज्जीवो मनोमुक्तः सदाशिवः ॥ ३१८ ॥

चित्त के अमनस्क हो जाने पर कर्म का क्षय अपने आप ही हो जाता है, जैसे चित्रपट के जल जाने पर उस पर चित्रित चित्रसञ्चय भी अपने आप नष्ट हो जाता है । जिस प्रकार उपायतन्त्र से दूध कठिन्य भाव को प्राप्त करता है उसी प्रकार जीव भी मन के स्थिर हो जाने पर ब्रह्मस्वरूप हो जाता है । जिस प्रकार हिम के प्रभाव से जल स्थिर हो जाता है उसी प्रकार मन के स्थिर हो जाने पर जीव स्वयं शिवमय हो जाता है । शिव की शक्ति जीव है और जीव की शक्ति मन कहा गया है । जीव को शिव की प्राप्ति कराने में केवल मन ही कारण कहा गया है । जीव स्वयं शिव है और शिव जीव है, इनमें रञ्चमात्र भी भेद नहीं है । मन से लिप्त होने के कारण ही वह जीव है और मन से मुक्त हो जाने पर वह सदा शिव स्वरूप हो जाता है ॥ ३१४-३१८ ॥

अथ योगिमहिमा—

अलौल्यमारोग्यमनिष्ठुरत्वं
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पम् ।
कान्तिः प्रसादः स्वरसौम्यता च
योगप्रवृत्तेः प्रथमं हि चिह्नम् ॥ ३१९ ॥

अब योग की महिमा के विषय में कहते हैं—लोलुपता से रहित होना, आरोग्य सम्पन्न रहना, क्रूरता से रहित होना, शरीर से शुभ गन्ध निकलना, मल मूत्र का स्वल्प होना, शरीर पर कान्ति एवं मन में प्रसन्नता और वाणी के स्वर में माधुर्य होना; इतने चिन्ह योग प्रवृत्ति की प्रथमावस्था में उत्पन्न होते हैं ॥ ३१९ ॥

अनुरागं जनो याति परोक्षगुणकीर्तनात् ।
न विभ्यति च सत्त्वानि सिद्धेलक्षणमुत्तमम् ॥ ३२० ॥
शीतोष्णादिभिरत्युग्रैर्यस्य बाधा न जायते ।
न भीतिमेति चान्येभ्यस्तस्य सिद्धिरुपस्थिता ॥ ३२१ ॥

मनुष्य परोक्ष में गुण कीर्त्तन से योगी से अनुराग करने लगते हैं । कोई भी जन्तु योगी से भयभीत नहीं होता । यह योगसिद्धि के उत्तम लक्षण कहे गये हैं । अत्यन्त भयानक शीत अथवा गर्मी से जिसे कोई बाधा नहीं पहुँचे और जो अन्य किसी से भयभीत नहीं होता, उस साधक को योगसिद्धि उपस्थित है ऐसा जानना चाहिये ॥ ३२०-३२१ ॥

अथ योगिचर्या—

वाग्दण्डः कर्मदण्डश्च मनोदण्डश्च ते त्रयः ।
यस्यैते नियता दण्डाः स त्रिदण्डी निगद्यते ॥ ३२२ ॥
या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्त्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥ ३२३ ॥

अब योगीचर्या कहते हैं—वागृदण्ड, कर्मदण्ड और मनोदण्ड—इन तीनों को जिसने अपने हाथ में ले लिया है, वह त्रिदण्डी कहा जाता है । जो सभी प्राणियों की रात्रि है उसमें संयमी योगी जागता रहता है और जिसमें सारे जगत् के प्राणी जागते हैं वह ज्ञानी मनुष्य की रात्रि कही गई है ॥ ३२२-३२३ ॥

येन केनचिदाच्छन्नो येन केनचिदाशितः ।
यत्र क्वचन शायी च तं देवा योगिनं विदुः ॥ ३२४ ॥

जिस किसी से आच्छन्न रह, जिस किसी भी वस्तु का भोजन कर, जहाँ-तहाँ जैसे-तैसे सोकर, दिन बिताने वाले को देवता लोग भी 'योगी' कहते हैं ॥ ३२४॥

मानापमानौ यावेतौ प्रीत्युद्वेगकरौ नृणाम् ।
तावेव विपरीतार्थौ योगिनः सिद्धिकारकौ ॥ ३२५ ॥

मान और अपमान, सामान्यजनों के लिये प्रीति और उद्वेग का कारण होता है किन्तु योगियों के लिये वह विपरीत होता है । मान उद्वेग का कारण तथा अपमान प्रीति का कारण होता है । जिससे योगी को सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ३२५ ॥

चक्षुःपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं पिबेज्जलम् ।
सत्यपूतां वदेद् वाणीं बुद्धिपूतं विचिन्तयेत् ॥ ३२६ ॥
सर्वसङ्गविहीनश्च सर्वपापविवर्जितः ।
जडवन्मूकवद् योगी विचरेत महीतले ॥ ३२७ ॥
असिधारां विषं वह्निं समत्वे यः प्रपश्यति ।
मालासुधातुषाराणां स योगी कथ्यते बुधैः ॥ ३२८ ॥
यस्मिन् स्थाने क्षणं तिष्ठेदीदृग् योगी कथञ्चन।
आयोजनं चतुर्दिक्षु पवित्रं तत् प्रचक्षते ॥ ३२९ ॥
चतुःसागरपर्यन्तां पृथिवीं यो ददाति च ।
तत्त्वज्ञस्य च यो भिक्षां समं वा नाथवा समम् ॥ ३३० ॥

योगी नेत्र से देख कर पैर रखे, वस्त्र से छान कर जल पीवे, सत्य से पवित्र वाणी बोले और बुद्धिपूर्वक विचार करे । योगी पृथ्वी तल में सर्वसङ्गविहीन, सर्वपाप विवर्जित, जडवत् एवं मूकवत् विहरण करे । जो माला और असिधारा में,

सुधा और विष में, तुषार और अग्नि में भी समता देखता है, बुद्धिमान् लोग उसी को 'योगी' कहते हैं। इस प्रकार का योगी जिस स्थान पर एक क्षण भी ठहरता है; वह स्थान चारों दिशाओं में एक योजन दूरी तक पवित्र हो जाता है। जो चतुःसागर पर्यन्त समस्त पृथ्वी का दान करे और जो गृहस्थ उक्त प्रकार के तत्त्वज्ञ योगी को भिक्षा दान देने वाले को अधिक समझना चाहिये ॥ ३२६-३३० ॥

आतिथ्ये श्राद्धयज्ञे वा देवयात्रोत्सवेषु वा ।
महाजने च सिद्धार्थो न गच्छेद् योगवित् क्वचित् ॥ ३३१ ॥
जाते विधूमे चाङ्गारे सर्वस्मिन् मुक्तवज्जने ।
अटेत योगविद् भैक्ष्यं न तु तेष्वेव नित्यशः ॥ ३३२ ॥
यथैवमवमन्यन्ते जनाः परिभवन्ति च ।
तथायुक्तश्चरेद् योगी सतां धर्ममदूषयन् ॥ ३३३ ॥
भैक्षं गृह्णन् गृहस्थेषु श्रोत्रियेषु चरेद् यदि ।
फलं मूलं यवाग्वन्नं पयस्तक्रं च सक्तवः ॥ ३३४ ॥
ब्रह्मचर्यमलोभं च दयाक्रोधः सुचित्तता ।
आहारलाघवं शौचं योगिनां नियमाः स्मृताः ॥ ३३५ ॥
सारभूतमुपासीत ज्ञानं तत् कार्यसाधनम् ।
ज्ञानानां बहुता येयं योगविघ्नकरी हि सा ॥ ३३६ ॥
इदं ज्ञेयमिदं ज्ञेयमिति यस्तृषितश्चरेत् ।
अपि कल्पसहस्रेषु नैव ज्ञेयमवाप्नुयात् ॥ ३३७ ॥

सिद्धार्थ योगी को किसी के आतिथ्य में, श्राद्धयज्ञ में, देवयात्रा में, उत्सव में, अथवा किसी धनपति के यहाँ कभी भी नहीं जाना चाहिए। जब घर में चूल्हा के आग से धूआँ दिखलाई न पड़े, सब लोग भोजन कर चुके हो, मुशल की आवाज समाप्त हो गई हो, उस समय योगवेत्ता साधक भिक्षा के लिये निकले किन्तु सर्वदा केवल उन्हीं लोगों से भिक्षा न लेवे। योगी जहाँ लोग अपमान करें या जहाँ लोग पराभव करे, उन्हीं से प्रसन्न रहे, किन्तु धर्म को दूषित न करे। यदि गृहस्थ अथवा श्रोत्रिय से भिक्षा ग्रहण करे, तब जहाँ तक हो सके फल-मूल, यवागू, अन्न, दूध और मट्ठा तथा सत्तू भी भिक्षा में ग्रहण करे। ब्रह्मचर्य, लोभराहित्य, दया, अक्रोध, सुचित्तता, आहार लाघव और शौच—इतने योगियों के नियम बतलाये गये हैं। अतः जो सारभूत हो और जिसमें कार्य का साधन हो, वही ज्ञान ग्रहण करना चाहिए। ज्ञान की अधिकता योग के लिए विघ्नकारी कही गई है। जो साधक यह जान ले, वह जान ले, इस प्रकार के ज्ञान की पिपासा से भटकता रहता है, वह सहस्रों कल्प तक भी ज्ञेय वस्तु को नहीं प्राप्त कर सकता ॥ ३३१-३३७ ॥

समाहितो ब्रह्मपरोऽप्रमादी
बुधस्तथैकान्तरसंयतेन्द्रियः ।
विशुद्धबुद्धिः समलोष्ठकाञ्चनः
प्राप्नोति योगी परमव्ययं पदम्॥ ३३८ ॥

॥ इतिश्रीमदागमरहस्ये सत्संग्रहे योगचर्याकथनं
नाम सप्तविंशः पटलः ॥ २७ ॥

जो समाहित है तथा ब्रह्म में आसक्ति रखता है या किसी प्रकार का प्रमाद नहीं करता एवं बुद्धिमान् है, एकान्त प्रेमी तथा संयमशील है, बुद्धि से विशुद्ध है, काञ्चन और मिट्टी को एक समान रूप से देखता है; ऐसा योगी उस पर अव्यय पद को प्राप्त करता है ॥ ३३८ ॥

महाकवि पं० रामकुबेर मालवीय के द्वितीय आत्मज डॉ० सुधाकर मालवीय कृत आचार्य श्रीसरयूप्रसाद द्विवेद विरचित आगमरहस्य में योगचर्याकथन नामक सप्तविंश पटल की सुधा नामक हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ २७ ॥

अष्टाविंशः पटलः

योगाङ्गकथनम्

अथो योगमयी सप्त धारणा योगिवल्लभाः ।
वक्ष्ये यया युतो योगी पञ्चकृत्यत्वमाप्नुयात् ॥ १ ॥
योगयुक्तः सदा योगी लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ।
सूक्ष्मास्तु धारणाः सप्त भूराद्या मूर्ध्नि धारयेत् ॥ २ ॥

अब मैं योगीजनों को प्रिय लगने वाली योगमयी उन सात धारणाओं को कहता हूँ जिसके करने से योगी पञ्चकृत्यता प्राप्त करता है । योग करने वाला योगी साधक सर्वदा लघुआहार करे और जितेन्द्रिय रहे । भू आदि सात सूक्ष्म धारणाओं को योगी शिर पर धारण करे ॥ १-२ ॥

धरित्रीं धारयेद् योगी ततः सूक्ष्मं प्रवर्तते ।
आत्मानं मन्यते तद्धि तद्गन्धं च जहाति सः ॥ ३ ॥
तथैवाप्सु रसं सूक्ष्मं तद्वद् रूपं च तेजसि ।
स्पर्शं वायौ तथा तद्वद् विभ्रतस्तस्य धारणा ॥ ४ ॥
व्योम्नि सूक्ष्मप्रवृत्ते च शब्दं तद्वज्जहानि सः ।
मनसा सर्वभूतानां मनश्चाविशते यदा ॥ ५ ॥
मानसीं धारणां विभ्रन्मनः सौक्ष्म्यं प्रजायते ।
तद्वद् बुद्धिमशेषाणां सत्त्वमानेत्ययोगवित् ॥ ६ ॥
परित्यजति सम्प्राप्य बुद्धिसौक्ष्म्यमनुत्तमम् ।
यस्मिन् यस्मिंस्तु कुरुते भूते रागं महामतिः ॥ ७ ॥
तस्मिंस्तस्मिन् समासक्तिं सम्प्राप्य स विनश्यति।
तस्माद् विदित्त्वा सूक्ष्माणि संसक्तानि परस्परम् ॥ ८ ॥
परित्यजति यो योगी स परं प्राप्नुयात् पदम् ।

१. योगी जब धरित्री को धारण करता है तब वह सूक्ष्म में प्रवेश करता है । वह अपने को ही सूक्ष्म मानने लग जाता है और पृथ्वी के गन्ध का त्याग कर देता है। २. उसी प्रकार जल के सूक्ष्म रस को त्याग देता है । ३. इसी प्रकार

रूप को तेज में और ४. स्पर्श को वायु में प्रवेश करने वाली उसकी धारणा हो जाती है । ५. जब आकाश सूक्ष्म में प्रवेश करता है तब वह उसके गुण शब्द का त्याग कर देता है । इस प्रकार सभी पञ्चभूतों को मन से धारण करता है । ६. पुनः 'मानसी-धारणा' धारण करने से मन भी सूक्ष्म में प्रवेश कर जाता है । ७. फिर वह मानस सूक्ष्म बुद्धि में प्रवेश करता है । फिर वह उस बुद्धि की सूक्ष्मता का भी त्याग कर देता है । वह महामति जिस-जिस भूत में राग करता है उसमें-उसमें समासक्ति प्राप्त कर विनष्ट हो जाता है । इसलिये सभी सूक्ष्मों को परस्पर संसक्त समझकर जो योगी उसका परित्याग कर देता है वही परम पद प्राप्त करता है ॥ ३-९ ॥

एतान्येव तु बन्धाय सप्त सूक्ष्माणि सर्वदा ॥ ९ ॥
भूतादीनां विरागोऽत्र सम्भवेद् यस्तु मुक्तये ।
गन्धादिषु समासक्तमित्येतदखिलं जगत् ॥ १० ॥
पुनरावर्तते सौख्यात् स ब्रह्मासुरमानुषम् ।
सप्तैता धारणा योगी समतीत्य यदीच्छति ॥ ११ ॥
तस्मिंस्तस्मिन् तदा भूते लयं याति विधानतः ।
देवानामसुराणां च गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
देहेषु लयमायाति सङ्गमाप्नोति न क्वचित् ॥ १२ ॥

यही सात सूक्ष्म सर्वदा बन्धन के कारण होते हैं । जब इन सप्त भूतों से विराग उत्पन्न हो जावे, तभी मुक्ति सम्भव है । यह सारा जगत् सूक्ष्म गन्धादि में समासक्त है । इसमें समासक्ति के सुख के कारण ब्रह्मा, देवता और मानुष बारम्बार जन्म लेते रहते हैं । जब योगी सात धारणाओं को पार कर मुक्ति की इच्छा करे, तब वह उन-उन भूतों में विधानतः लय प्राप्त करता है तथा वह इस धारणा के बल से देवता, असुर, गन्धर्व और राक्षस के शरीर में लय प्राप्त कर लेता है । किन्तु कहीं उसकी समासक्ति नहीं होती ॥ ९-१२ ॥

अथ विदेहमुक्तिः—

पूर्वाह्णे वा पराह्णे वा मध्याह्णे वा परे क्वचित् ।
यदि वा रजनीभागे अरिष्टमुपलक्ष्यते ॥ १३ ॥
तदैव सावधानः सन् योगं युञ्जीत योगवित् ।
विदेहमुक्तये ज्ञानी त्यक्त्वा मरणजं भयम् ॥ १४ ॥

अब विदेहमुक्ति के विषय में कहते हैं—यदि पूर्वाह्ण में, पराह्ण में, मध्याह्ण में, अथवा अन्य किसी समय, अथवा रात्रि के पश्चिम भाग में यदि कहीं अरिष्ट दिखाई पड़े, तब ज्ञानी व योगी सावधान होकर विदेह मुक्ति के लिये मरणज भय त्याग कर योग साधन में लग जावे ॥ १३-१४ ॥

बद्धपद्मासनो धीमान् समसंस्थानकन्धरः ।
निरुध्य प्राणपवनं दन्तैर्दन्तानसंस्पृशन् ॥ १५ ॥
बुद्ध्या निरुध्य द्वाराणि निमीलितविलोचनः ।
ॐकारं तु धनुः कृत्वा गुणं सत्त्वं नियोज्य च॥ १६ ॥
तत्रात्मानं शरं सोऽपि वृतो भूतेन्द्रियादिभिः ।
प्राणवायुं मनःक्षेपैः क्षिपेत् हृत्कमलस्थितः ॥ १७ ॥
दशमद्वारमार्गेण लक्ष्यं प्राप्य ततः परम् ।
द्वात्रिंशत्तत्त्वसंयुक्तः परमात्मनि लीयते ॥ १८ ॥
ततः परममाकाशमतीन्द्रियमगोचरम् ।
यद् बुध्वा चैनमाख्यातुं शक्यते न तमश्नुते ॥ १९ ॥ इति ।

धीमान् पद्मासन लगावे, कन्धों को सीधा रखें और दाँतों पर दाँत न रखकर बुद्धि से सभी द्वारों को तथा नेत्रों को बन्द कर प्राणायाम में लग जावे । ॐकार को धनुष समझते हुए उसमें सत्त्व की प्रत्यञ्चा बनाकर, पञ्चभूतों एवं इन्द्रियों से युक्त आत्मा को बाण बनाकर, हृत्कमल पर स्थित होकर मन क्षेप से उस बाण को प्रक्षिप्त करे । जिससे वह बाण दशमद्वार मार्ग से जाते हुये लक्ष्य को प्राप्त कर बत्तीस तत्त्वों से युक्त जीवात्मा परमात्मा में लीन हो जावे । इस प्रकार अतीन्द्रिय, अगोचर, परम आकाश स्वरूप उस परमात्मा को जीवात्मा प्राप्त कर लेता है । जिसका वर्णन वाणी से नहीं किया जा सकता ॥ १५-१९ ॥

अथ दोषोपसर्गचिकित्सा—

प्रमादाद् योगिनो दोषा यद्येते स्युश्चिकित्सिता ।
तेषां नाशाय कर्त्तव्या योगिना तन्निबोध मे ॥ २० ॥
वाधिर्यं जडता लोपः स्मृतेर्मूकत्वमन्धता ।
ज्वरश्च जीर्यतः सद्यस्तद्वदज्ञानयोगिनः ॥ २१ ॥

अब दोषोपसर्ग की चिकित्सा कहते हैं—यदि प्रमादवश योगी को इतने दोष उत्पन्न हो जावे, तब उनके विनाश के लिये जिन चिकित्साओं की कर्त्तव्यता हो जाती है, उसे सुनिए । प्रथम दोषों को कहते हैं—बधिरता, जडता, स्मृति, लोप, मूकता, अन्धता एवं ज्वर, उसी प्रकार अज्ञान, इतने दोष योगी को प्रमादवश योग साधन में हो जाते हैं ॥ २०-२१ ॥

स्निग्धां यवागूं नात्युष्णां चित्ते तत्रैव धारयेत् ।
तावद् गुल्मप्रशान्त्यर्थमुदावर्ते तथाविधे ।
यवागूं चापि पवने वायुग्रन्थ्युपरि क्षिपेत् ॥ २२ ॥
तद्वत् कम्पे महाशैलं स्थिरं मनसि धारयेत् ।

विघाते वचसो वाचं वाधिर्य्ये श्रवणेन्द्रिये ।
तथैवाम्लं फलं ध्यायेत् तृषार्तो रसनेन्द्रिये ॥ २३ ॥
यस्मिन् यस्मिन् पदादेशे तस्मिंस्तदुपकारणम्।
धारयेद् धारणामुष्णे शीतां शीते विदाहिनीम् ॥ २४ ॥

अब चिकित्सा कहते हैं—तब अपने चित्त में चिकना यवागू जो अत्यन्त उष्ण न हो, उसकी धारणा करे । इसी प्रकार गुल्म प्रशान्ति के लिये उदावर्त्त में वाताधिक्य में यवागू वायु ग्रन्थि के ऊपर स्थापित करे । उसी प्रकार शरीर में कम्प होने पर स्थिर महाशैल मन में धारण करे । वाणी बन्द (मूक) होने की स्थिति में वाक् को, बधिरता होने पर श्रवणेन्द्रिय में भी वाक् धारण करे । अत्यन्त तृषार्त्त होने पर रसनेन्द्रिय में अम्ल फल का ध्यान करे । इस प्रकार जिस-जिस स्थान में आपत्ति हो उस-उस स्थान में उसी उपकारण को धारण करे । उष्णता के आधिक्य में दाह उत्पन्न करने वाली धारणा तथा शीताधिक्य में शीत धारणा मन में धारण करे ॥ २२-२४ ॥

काष्ठं शिरसि संस्थाप्य तथा काष्ठेन ताडयेत्।
लुप्तस्मृतेः स्मृतिः सद्यो योगिनस्तेन जायते ॥ २५ ॥
अमानुषं सत्त्वमन्तर्योगिनं प्रविशेद् यदि ।
वाय्वग्निधारणा चैनं देहसंस्थं विनिर्दहेत् ॥ २६ ॥
एवं सर्वात्मना कार्या रक्षा योगविदानिशम् ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां शरीरं साधनं यतः ॥ २७ ॥
प्रवृत्तिलक्षणाख्यानात् योगिनो विस्मयात्तथा ।
विज्ञानं विलयं याति तस्माद् हेयाः प्रवृत्तयः ॥ २८ ॥

यदि काष्ठ शिर पर रखकर उस पर काष्ठ से ताडन करे । तो जिस योगी की स्मृति लुप्त हो गई है उसे सद्यः स्मृति होने लगती है । यदि योगी के भीतर किसी कारण वश अमानुष सत्त्व का प्रवेश हो गया हो, तब वाय्वग्नि को धारण कर, देह में स्थित उस अमानुष सत्त्व को जला देवे । इस प्रकार योगवेत्ता सब प्रकार से आत्मा सुरक्षित रखे । क्योंकि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का साधन शरीर ही है । प्रवृत्ति लक्षण के कहने सुनने से अपने में विस्मय उत्पन्न होने वाली घटना के उजागर करने से विज्ञान नष्ट हो जाता है । इस कारण प्रवृत्तियों का त्याग कर देवे ॥ २५-२८ ॥

उपसर्गाः प्रवर्तन्ते दृष्टेऽप्यात्मनि योगिनः ।
एतांस्ते सम्प्रवक्ष्यामि समासेन निबोध मे ॥ २९ ॥

अब जिसके दिखाई पड़ने से योगी जनों की आत्मा में उपसर्ग प्रवृत्त हो जाते

हैं, उन उपसर्गों को सङ्क्षेप में कहता हूँ; मुझसे सुनिए ॥ २९ ॥

काम्याः क्रियास्तथा कामान् मानुषानभिवाञ्छति ।
स्त्रियो दानफलं विद्यामायुर्दैर्घ्यं धनं दिवम् ॥ ३० ॥
देवत्वममरेशत्वं रसायनवयः क्रियाः ।
मरुत्युत्पतनं यज्ञजलाग्न्यावेशनं तथा ॥ ३१ ॥
चित्तमित्थं प्रवृत्तं हि लयाद् योगी निवर्तयेत् ।
ब्रह्मासङ्गि मनः कुर्यादुपसर्गात् प्रमुच्यते ।
उपसर्गजितैरेभिर्जितसर्गस्ततः पुनः ॥ ३२ ॥
योगिनः सम्प्रवर्तन्ते सत्त्वराजसतामसाः ।

योगी जब काम्य क्रिया तथा मनुष्योचित्त अभिलाष, जैसे स्त्री देने वाले के दान का फल, विद्या, दीर्घ आयु, धन, स्वर्ग, देवत्व, अमरेशत्व, रसायन से वयसाधिक्य की क्रिया, वायु के समान आकाश में उड़ान, यज्ञ, जल पर चलना, या आविष्ट होना, अग्नि पर आविष्ट होना, या चलना आदि चाहे, तब इस प्रकार की प्रवृत्ति उसे लय मार्ग में जाने ही नहीं देती, वहीं से वह उस योगी साधक को वापस लौटा देती है । अतः साधक मन को ब्रह्म में ही समासक्त करे । ऐसा करने से वह प्रवृत्ति रूप उपसर्ग से बच जाता है । सर्ग को जीत लेने पर भी यदि योगी उपसर्ग द्वारा जीत लिया जाता है, तब पुनः उसमें सत्त्व, रज और तामस भाव उत्पन्न होने लगते हैं ॥ ३०-३३ ॥

प्रातिभः श्रावणो देवो भ्रमावर्तौ तथापरौ ॥ ३३ ॥
पञ्चैते योगिनो योगविघ्नाय कटुकोदयाः ।
वेदार्थशास्त्रकाव्यार्था विद्याशिल्पान्यशेषतः ॥ ३४ ॥
प्रभवन्ति यदस्येति प्रातिभः स तु योगिनः ।
शब्दार्थानखिलान् वेत्ति शब्दं गृह्णाति चैव यत् ॥ ३५ ॥
योजनानां सहस्रेभ्यः श्रावणः सोऽभिधीयते ।
अष्टौ यदा तु दृश्यन्ते समन्ताद् देवयोनयः ॥ ३६ ॥
उपसर्गं तमित्याहुर्देवमुन्मत्तवद् बुधाः ।
भ्राम्यते यन्निरालम्बे मनोदोषेण योगिनः ॥ ३७ ॥
समस्ताधारविभ्रंशाद् भ्रमः स परिकीर्तितः ।
आवर्त्त इव तोयस्य ज्ञानावर्त्ते यदाकुलः ॥ ३८ ॥
चित्तमासकृदावर्त्तमुपसर्गः स उच्यते ।

प्रातिभ, श्रावण, दैव तथा अन्य भ्रम और आवर्त्त—ये पाँच कटुकोदय दोष योगियों के योग में विघ्न उत्पन्न करने वाले हैं । १. जब उसमें वेदार्थ, शास्त्रार्थ,

काव्यार्थ, सम्पूर्ण विद्या, सम्पूर्ण शिल्प उत्पन्न होने लगे तब वह योगियों का 'प्रातिभ दोष' कहा जाता है । २. जब वह सहस्त्रों योजन से आये हुये सब प्रकार के शब्दों और अर्थों को जानने लगे और उन्हें समझने लगे, तब वह 'श्रावण दोष' कहा जाता है । ३. जब आठों प्रकार की देवयोनियों का उसे दर्शन चारो ओर से होने लगे, तब उस उपसर्ग को 'दैवोपसर्ग' कहा जाता है । ४. हे बुद्धिमानो! जब योगी मन के दोषों से पागलों की तरह निरालम्ब होकर घुमाया जावे, फिर उन समस्त आधारों से गिरा दिया जावे, तो उसे 'भ्रम दोष' कहा जाता है । ५. जब जल के आवर्त्त (भँवर) की तरह ज्ञानावर्त्त में डूबता हुआ योगी व्याकुल हो जावे, चित्त उसमें कई बार डूबने उतराने लगे, तब उसे 'आवर्त्त' नामक उपसर्ग कहा जाता है ॥ ३३-३९ ॥

एभिर्नाशितयोगास्तु सकला देवयोनयः ।
उपसर्गैर्महाघोरैरावर्तन्ते पुनः पुनः ॥ ३९ ॥ इति ।

सभी देवयोनियाँ इस प्रकार के दोषों से विनष्ट होकर इन महाघोर उपसर्गों से बारम्बार आवर्त्तन करती रहती है ॥ ३९ ॥

अथारिष्टज्ञानम्—

अक्षीणकर्मबन्धस्तु ज्ञात्वा कालमुपस्थितम् ।
उत्क्रान्तिकाले संस्मृत्य पुनर्योगित्वमृच्छति ।
तस्मादसिद्धयोगेन सिद्धयोगेन वा पुनः ॥ ४० ॥
ज्ञेयान्यरिष्टानि सदा येनोत्क्रान्तो न सीदति ।

अब अरिष्ट ज्ञान के विषय में कहते हैं—यदि अक्षीणकर्म बन्धन वाला योगी जब अपने उपस्थित काल को जानकर, उत्क्रान्ति काल में योग का स्मरण करता है तब पुनः 'योगित्व' प्राप्त करता है । इसलिये असिद्धयोग वाला अथवा सिद्धयोग वाला योगी पुनः अपने अरिष्टों का ज्ञान करे । जिससे उसे मरण का भय न होवे ॥ ४०-४१ ॥

अरिष्टानि विशिष्टानि शृणु वक्ष्यामि तानि ते ॥ ४१ ॥
येषामालोकनान्मृत्युं निजं जानाति योगवित् ।
त्रिविधानि च प्रोक्तानि तज्ज्ञैरेकमथान्तरम् ।
बाह्यं द्वितीयमन्यच्च स्वाप्नं तल्लक्षणं ब्रुवे ॥ ४२ ॥

अब मैं उन विशिष्ट अरिष्टों को आपसे कहता हूँ सुनिए । जिसके देखने से योगी अपने मरने का काल जान लेता है । ये अरिष्ट तीन प्रकार के कहे गये हैं—पहला आन्तर अरिष्ट, दूसरा बाह्य अरिष्ट और तृतीय स्वाप्न अरिष्ट । अब इनका लक्षण कहता हूँ ॥ ४१-४२ ॥

अथ आन्तरम्—

मासादौ वत्सरादौ वा पक्षादौ वा यथाक्रमम् ।
क्षयकालं परीक्षेत वायुचारवशात् सुधीः ॥ ४३ ॥
पञ्चभूतात्मकं दीपं शशिस्नेहेन सिञ्चितम् ।
रक्षयेत् सूर्यवातेन तेन जीवः स्थिरो भवेत् ॥ ४४ ॥

अथ आन्तर अरिष्ट सुधी योगी मास के आदि में, संवत्सर के आदि में, अथवा पक्ष के आदि में, क्रमशः वायुचार से अपने क्षयकाल का ज्ञान करे । यह शरीर पञ्चभूतात्मक दीप है, जो चन्द्र नाडी रूप तेल से जल रहा है, उसे सूर्य नाडी रूप वात से रक्षित करे जिससे जीवन स्थिर रहे ॥ ४३-४४ ॥

अहोरात्रं यदैकश्च वहते यस्य मारुतः ।
तदा तस्य भवेदायुः सम्पूर्णं वत्सरत्रयम् ॥ ४५ ॥
अहोरात्रद्वयं यस्य पिङ्गलायां सदा गतिः ।
तस्य वर्षद्वयं प्रोक्तं जीवितं तत्त्ववेदिभिः ॥ ४६ ॥
त्रिरात्रं वहते यस्य वायुरेकपुटे स्थितः ।
तदा संवत्सरायुष्यं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ४७ ॥
रात्रौ चन्द्रो दिवा सूर्यो वहेद् यस्य निरन्तरम् ।
जानीयात् तस्य वै मृत्युः षण्मासाभ्यन्तरे भवेत् ॥ ४८ ॥
एकादिषोडशाहानि यस्य भानुर्निरन्तरम् ।
वहते तस्य वै मृत्युः शेषाहे तच्च मासकैः ॥ ४९ ॥

जिस मनुष्य की दिन रात केवल एक ही नासिका पुट से वायु चले, तब उसकी सम्पूर्ण आयु केवल तीन वर्ष जाननी चाहिये । जिस मनुष्य की केवल पिङ्गला नाडी दो दिन रात तक निरन्तर चले, तत्त्ववेदियों ने उसकी कुल आयु दो वर्ष तक कही है । जिसकी नासिका के केवल एक पुट से तीन रात तक वायु बहे, तब मनीषी लोग उसकी कुल आयु एक वर्ष की कहते हैं । जिस पुरुष के चन्द्र (बायीं) नाडी रात में और दिन में सूर्य नाडी (पिङ्गला) निरन्तर चले । उसकी मृत्यु छह महीने के भीतर समझनी चाहिये । जिस पुरुष की नासिका पुट की भानु नाडी (दाहिनी पिङ्गला) निरन्तर एक से लेकर सोलह दिन पर्यन्त लगातार बहे, उसकी मृत्यु का शेष दिन एक मास समझना चाहिये ॥ ४५-४९॥

सम्पूर्णं वहते सूर्यश्चन्द्रमा नैव दृश्यते ।
पक्षेण जायते मृत्युः कालज्ञैरिति निश्चितम् ॥ ५० ॥
सम्पूर्णं वहते चन्द्रस्त्वर्यमा नैव दृश्यते ।
मासेन जायते मृत्युः कालज्ञैरिति निश्चितम् ॥ ५१ ॥

जब निरन्तर नासपुट की सूर्य नाडी चले और चन्द्र नाडी का कही पता न हो, तब कालज्ञों ने उसकी मृत्यु एक पक्ष में होगी ऐसा कहा है । जब सर्वदा केवल चन्द्र नाडी चले और सूर्य नाडी का पता न हो, तब कालज्ञों ने उसकी मृत्यु एक मास में होगी ऐसा कहा है ॥ ५०-५१ ॥

अथ बाह्यम्—

देवमार्गं ध्रुवं शुक्रं सोमच्छायामरुन्धतीम् ।
यो न पश्येन्न जीवेत नरः संवत्सरात् परम् ॥ ५२ ॥
अरश्मिबिम्बं सूर्यस्य वह्निं चैवांशुमालिनम् ।
दृष्ट्वैकादशमासाच्च नरो नोर्ध्वं स जीवति ॥ ५३ ॥
अरुन्धतीं ध्रुवं चैव विष्णोस्त्रीणि पदानि च ।
आयुर्हीना न पश्यन्ति चतुर्थं मातृमण्डलम् ॥ ५४ ॥
अरुन्धती भवेज्जिह्वा ध्रुवो नासाग्रमेव च ।
भ्रुवोर्विष्णुपदं ज्ञेयं तारका मातृमण्डलम् ॥ ५५ ॥
न च भ्रुवोः सप्त वाथ पञ्चतारा त्रिनासिका ।
जिह्वा एकदिनं प्रोक्तं म्रियते मानवो ध्रुवम् ॥ ५६ ॥

अब बाह्य अरिष्ट के विषय में कहते हैं—देव मार्ग, ध्रुव, शुक्र, सोमछाया और अरुन्धती जो न देख सके वह एक सम्वत्सर से अधिक नहीं जीवित रहता । जिसे सूर्य का बिम्ब रश्मि रहित दिखलाई पड़े और अग्नि में सूर्य जैसा प्रकाश दिखलाई पड़े; वह ग्यारह महीने से अधिक नहीं जीता है । अरुन्धती, ध्रुव, विष्णु का तीन पद और चौथा मातृमण्डल—ये आयुरहितों को दिखलाई नहीं पड़ते । अब इनका लक्षण कहते हैं—अरुन्धती जिह्वा है, नासाग्र ध्रुव है, दोनों भ्रू विष्णु-पद है और तारका मण्डल मातृकायें हैं । मृत्यु से सात मास पहले दोनों भ्रू दिखलाई नहीं पड़ते। पञ्चतारा मृत्यु से तीन मास पहले तथा जिह्वा मृत्यु से एक दिन पहले दिखलाई नहीं पड़ती । अतः निश्चय ही उस पुरुष की मृत्यु होने वाली होती है ॥ ५२-५६ ॥

कोणावक्ष्णोंऽगुलीभ्यां तु किञ्चित् पीड्य निरीक्षयेत् ।
यदा न दृश्यते बिन्दुर्दशाहेन च सो मृतः ॥ ५७ ॥
वात्या मूत्रं पुरीषं यः सुवर्णरजतं वमेत् ।
प्रत्यक्षमथवा स्वप्ने जीवितं दशमासिकम् ॥ ५८ ॥
दृष्ट्वा प्रेतपिशाचादीन् गन्धर्वनगराणि च ।
सुवर्णवर्णवृक्षांश्च नवमासान् स जीवति ।

दोनों आँखों का कोना, दो अङ्गुलियों से दबाकर देखे । जब उसमें से बिन्दु

(अश्रु) न आवे, तब वह दश दिन के भीतर ही मरने वाला है; ऐसा समझना चाहिए। जो वात समूहों से मूत्र, सुवर्ण के समान मल, रजत के समान प्रत्यक्ष अथवा स्वप्न में वमन करे, उसका कुल जीवन दश मास समझना चाहिये। जिसे प्रेत, पिशाचादि तथा गन्धर्व नगर एवं सुवर्णमय वृक्ष दिखाई पड़े, वह मात्र नवमास तक ही जीवित रहता है ॥ ५७-५९ ॥

स्थूलः कृशः कृशः स्थूलो योऽकस्मादेव जायते ॥ ५९ ॥
प्रकृतेश्च निवर्तेत तस्यायुश्चाष्टमासिकम्।
खण्डं यस्य पदं पार्ष्णी पादस्याग्रेऽथवा भवेत् ॥ ६० ॥
पांशुकर्दममध्ये वा सप्तमासान् स जीवति।

जो अकस्मात् स्थूल होकर कृश, अथवा कृश होकर स्थूल हो जावे, अथवा जिसकी प्रकृति बदल जावे, उसकी आयु मात्र आठ महीने जाननी चाहिये। जिसे दोनों पार्ष्णि का स्थान अथवा पैर का अग्रभाग खण्डित दिखाई पड़े, अथवा जिसका पैर धूल में, अथवा कीचड़ के मध्य में दिखाई पड़े, वह सात महीने तक जीवित रहता है ॥ ५९-६१ ॥

कपोतगृध्रकाकोला वायसो वापि मूर्धनि ॥ ६१ ॥
क्रव्यादो वा परो लीनः षण्मासायुःप्रदर्शकः।
हन्यते काकततिभिः पांशुवर्षेण वा नरः ॥ ६२ ॥
स्वच्छायां वान्यथा दृष्ट्वा चतुर्मासान् स जीवति।

कबूतर, गृध, काक और उलूक जिसके शिर पर बैठे, अथवा मांसहारी पक्षी बैठे, इस प्रकार वे उस पुरुष की छह मास की आयु प्रदर्शित करते हैं। जो काक समूहों से हनन किया जाय, अथवा जिसके शिर पर धूलि की वर्षा हो, अथवा अपनी छाया अन्य रूप में जिसे दिखलाई पड़े, वह केवल चार मास तक जीवित रहने वाला है ॥ ६१-६३ ॥

अनभ्रे विद्युतं दृष्ट्वा दक्षिणां दिशमाश्रिताम् ॥ ६३ ॥
पश्येदिन्द्रधनुर्वापि जीवित त्रिद्विमासिकम्।
घृते तैले तथादर्शे तोये वाप्यात्मनस्तनुम् ॥ ६४ ॥
यः पश्येदशिरस्कन्धां मासादूर्ध्वं न जीवति।
यस्य वह्निसमो गन्धो गात्रे शवसमोऽपि वा ॥ ६५ ॥
तस्य मासाधिकं ज्ञेयं योगिनः किल जीवितम्।

बिना बादल के ही जिसे बिजली दिखलाई पड़े, अथवा अपने को जो दक्षिण दिशा की ओर जाते हुये देखे, अथवा जो इन्द्र धनुष देखे, उसका जीवन दो या तीन मास जानना चाहिये। घृत में, तेल में, आदर्श में, जल में, जिसे अपना

शरीर दिखलाई न पड़े, अथवा साधक शिर कन्धा रहित अपने आप को देखे, वह एक मास से अधिक नहीं जीता । जिसके शरीर से अग्नि के समान गन्ध, अथवा शव के समान गन्ध निकले; उस योगी का जीवन एक मास से कुछ अधिक जानना चाहिये ॥ ६३-६६ ॥

यस्य वै स्नातमात्रस्य हृत्तोयमवशुष्यति ॥ ६६ ॥
पिबतश्च जलं शुष्को दशाहं सोऽपि जीवति ।
यश्चापि हन्यतेऽदृष्टैर्भूतै रात्रावथो दिवा ॥ ६७ ॥
स मृत्युं सप्तरात्रान्ते पुमान् प्राप्नोत्यसंशयः ।
पिधाय कर्णौ च निजौ न शृणोत्यात्मसम्भवम् ।
नश्यते चक्षुषो ज्योतिर्यस्य सोऽपि न जीवति ॥ ६८ ॥

जिसके स्नान करते समय हृदयस्थित जल सूख जावे । जल के पीते ही जो शुष्क हो जावे, वह दश दिन तक जीवित रहता है, जब रात, अथवा दिन में, अदृष्ट भूतों द्वारा मारा जावे, वह पुरुष सात रात बीतने पर निश्चय ही मृत्यु प्राप्त करने वाला होता है । जो पुरुष कान को बन्द कर अपने शरीर के भीतर होने वाले शब्दों को न सुन पावे, अथवा जिसके नेत्र की ज्योति नष्ट हो जावे, वह भी जीवित रहने वाला नहीं है ॥ ६६-६८ ॥

अथ स्वाप्नम्—

रक्तकृष्णाम्बरधरा गीतहास्यपरा च यम् ।
दक्षिणाशां नयेन्नारी स्वप्ने सोऽपि न जीवति ॥ ६९ ॥
नग्नं क्षपणकं स्वप्ने हसन्तं नृत्यतत्परम् ।
एकं विलक्ष विभ्रान्तं विद्यान्मृत्युमुपस्थितम् ॥ ७० ॥
पततो यस्य वै गर्ते स्वप्ने द्वारं पिधीयते ।
न चोत्तिष्ठति यः स्वप्नात् तदन्तं तस्य जीवनम् ॥ ७१ ॥
स्वप्नेऽग्निं प्रविशेत् यस्तु न च निष्क्रमते पुनः ।
जलप्रवेशादपि वा तदन्तं तस्य जीवितम् ॥ ७२ ॥
करालैर्विकटैः कृष्णैः पुरुषैरुद्यतायुधैः ।
पाषाणैस्ताडितः स्वप्ने सद्यो मृत्युमवाप्नुयात् ॥ ७३ ॥
दीपादिगन्धं नो वेत्ति पश्यत्यग्निं तथा निशि ।
नात्मानं परनेत्रस्थं वीक्ष्यते यः स मृत्युमान् ॥ ७४ ॥

अब स्वप्नारिष्ट कहते हैं—रक्त और काले रङ्ग के वस्त्र वाली स्त्री, गीत गाती हुई स्त्री, हँसती हुई जिसे स्वप्न में दक्षिण दिशा की ओर ले जावे, वह पुरुष जीने वाला नहीं है ऐसा समझना चाहिए । जो हँसते हुये, नाचते हुये, नङ्गे क्षपणक

(बौद्ध सन्यासी) को स्वप्न में बिना लक्ष के विभ्रान्त् देखे, वह पुरुष अपनी मृत्यु को उपस्थित देखता है। स्वप्नावस्था में गड्ढे में गिरते ही जिसका द्वार बन्द हो जावे, ऐसे स्वप्न से जो उस गड्ढे से अपने को निकलता हुआ न देखे; बस उसके जीवन का अन्त समझना चाहिये। जो स्वप्न में अग्नि में प्रवेश तो करे, किन्तु उसके बाहर न निकले ऐसा स्वप्न देखने वाला जीवित नहीं रहता। इसी प्रकार स्वप्न में जल में प्रवेश कर उस जल से बाहर न निकले; बस उतना ही उसका जीवन है। जिस पुरुष को स्वप्न में कराल, विकट, काले पुरुष आयुधों से उद्यत होकर, अथवा पाषाण लेकर हनन करे, वह सद्यः मृत्यु प्राप्त करने वाला है ऐसा समझना चाहिए। जो दीपादि के गन्ध को नहीं जान पाता और रात्रि के समय जिसे अग्नि दिखलाई न पड़े। जो अपने को दूसरे के नेत्र में न देख पाये वह मृत्यु प्राप्त करने वाला है ॥ ६९-७४ ॥

स्वभाववैपरीत्ये तु शरीरस्य विपर्यये।
कथयन्ति मनुष्याणां समापन्नो यमान्तकौ ॥ ७५ ॥
आरक्ततामेति मुखं जिह्वा चायसिता भवेत्।
तदा प्राज्ञो विजानीयान्मृत्युमासन्नमागतम् ॥ ७६ ॥
नासिका वक्रतामेति कर्णयोर्नमनं यदि।
नेत्रं च वामं स्त्रवति यस्य तस्यानु तद्गतम् ॥ ७७ ॥
योगिनां ज्ञानविदुषामन्येषां वा महात्मनाम्।
प्राप्ते तु काले पुरुषैस्तद्विचार्यं विचक्षणैः ॥ ७८ ॥

जब स्वभाव में विपरीतता हो, शरीर में विपर्यय (विपरीतता) हो, तब ये दोनों ही मनुष्यों को यम और अन्तक के उपस्थित होने की सूचना देते हैं। जब मुखमण्डल रक्त वर्ण का और जिह्वा स्तम्भित हो जावे, तब बुद्धिमान् साधक को मृत्यु अपने सन्निकट उपस्थित समझना चाहिए। जब नासिका टेढ़ी हो जावे, कान नीचे की ओर लटक जावे, बायें नेत्र से आँसू गिरने लगे, तब मृत्यु उसके पीठ पीछे पड़ गई है; ऐसा समझना चाहिए। योगिजनों को, ज्ञानियों को, विद्वानों को, अथवा अन्य महात्माओं को काल ज्ञान प्राप्त हो जाने पर, विचक्षण पुरुषों को विचार करना चाहिये ॥ ७५-७८ ॥

अथ कालवञ्चना—

तीर्थस्नानेन दानेन तपसा सुकृतेन च।
जपैर्ध्यानेन योगेन जायते कालवञ्चना ॥ ७९ ॥

अब कालवञ्चना के विषय में कहते हैं—तीर्थ स्नान से, दान से, तपस्या से, पुण्य से, जप और ध्यान से काल की वञ्चना हो जाती है ॥ ७९ ॥

जीवन्मुक्तः सदेहोऽहं विचरामि जगत्त्रयम् ।
इति चेज्जायते वाञ्छा योगिनस्तन्निबोध मे ॥ ८० ॥
शरीरं न नयत्येव कालः कस्यापि कुत्रचित् ।
अतः शरीररक्षार्थं यत्नः कार्यस्तु योगिना ॥ ८१ ॥
योगिना सततं यत्नादरिष्टानां विचारणा ।
कर्त्तव्या येन कालोऽसौ ज्ञातो हन्ति छलान्न तम्॥ ८२ ॥

मैं सदेह होकर भी जीवमुक्त होकर तीनों लोकों में विचरण कर रहा हूँ । जब योगी को इस प्रकार की इच्छा हो, तब उसके कर्त्तव्यों को मुझसे जानो । काल किसी के शरीर को नहीं ले जाता । अतः योगियों को शरीर की रक्षा के लिये प्रयत्न करना चाहिये । योगियों को सर्वदा यत्नपूर्वक अपने अरिष्ट पर विचार करना चाहिये और ऐसा यत्न करना चाहिये कि यह ज्ञान (परिचित) काल छल से उसका हनन न कर पावे ॥ ८०-८२ ॥

ज्ञात्वा कालं च तं सम्यक् लयस्थानं समाश्रितः ।
युञ्जीत योगं कालोऽस्य यथासौ विफलो भवेत् ॥ ८३ ॥
मारुतं बन्धयित्वा तु सूर्यं बोधयते यदि ।
अभ्यासाज्जीवते जीवं सूर्यकालेऽपि वञ्चिते ।
गगनात् स्रवते चन्द्रः कायपद्मानि सिञ्चयन् ॥ ८४ ॥
कर्मयोगसदाभ्यासैरमरः शशिसंस्रवान् ।

उस काल को अच्छी तरह ज्ञात कर किसी लय स्थान का आश्रय लेकर योग साधना में इस प्रकार लग जावे, जिससे काल विफल हो जावे । योगी यदि वायु को बाँधकर सूर्य को उद्बुद्ध करे, तो इस प्रकार के अभ्यास से सूर्य के द्वारा कालवञ्चित हो जाता है और जीव जी जाता है । आकाश मण्डल से चन्द्रकाय रूपी कमल को सींचते हुये अमृत की वर्षा करते हैं । इस कर्मयोग के सतत अभ्यास से चन्द्रमा के अमृत से जीव अमर हो जाता है ॥ ८३-८५ ॥

शशाङ्कं चारयेद् रात्रौ दिवा चार्यो दिवाकरः ॥ ८५ ॥
इत्यभ्यासरतो यस्तु स भवेत् कालवञ्चकः ।

रात्रि में चन्द्र नाडी चलावे और दिन में सूर्य नाडी चलावे । साधक इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करने वाला काल की वञ्चना कर लेता है ॥ ८५-८६ ॥

बद्ध्वा सिद्धासनं देहं पूरयेत् प्राणवायुना ॥ ८६ ॥
कृत्वा दण्डं स्थिरं बुद्ध्या शब्दद्वाराणि रुन्धयेत् ।
बन्धयेत् खेचरीं मुद्रां ग्रीवायां च जलन्धरम् ॥ ८७ ॥

अपाने मूलबन्धं च उड्डीयानं तथोदरे ।
उत्थाप्य भुजगीं शक्तिं मूलोद्घातैरधः स्थिताम् ॥ ८८ ॥
सुषुम्णान्तर्गतां पञ्च चक्राणां भेदिनीं शिवाम् ।
जीवं हृदाश्रयं नीत्वा यान्तीं बुद्धिं मनोयुताम् ॥ ८९ ॥
सहस्त्रदलपद्मस्थशिवे लीनां सुधामये ।
पीत्वा सुधाकरोद्भूतममृतं तेन मूलतः ॥ ९० ॥
सिञ्चन्तीं सकलं देहं प्लावयन्तीं विचिन्तयेत् ।
तया सार्धं गतो योगी शिवेनैकात्मतां व्रजेत् ॥ ९१ ॥

सिद्धासन से बैठकर प्राणवायु से अपने शरीर को पूर्ण करे । मन्त्रज्ञ साधक शरीर दण्ड को स्थिर कर बुद्धि द्वारा शब्द द्वार को बन्द करे । फिर मुख में खेचरी मुद्रा तथा ग्रीवा में जलन्धर मुद्रा बनावे । अपान में मूलबन्ध और उदर में उड्डीयान बन्ध लगावे । फिर मन्त्रज्ञ को मूलाधार को ताडित् कर अधःस्थित कुण्डली रूपी भुजगी को ऊपर उठावे, जो शिवारूपा सुषुम्णा के भीतर से जाती हुई, पञ्च चक्र का भेदन करती हुई, हृदय में रहने वाले जीव को तथा मनो युक्त बुद्धि को लेकर, सुधामय सहस्रदल कमल के भीतर पहुँच कर, चन्द्र स्रवित अमृत को पीकर, मूल पर्यन्त समस्त देह को सींचती है उस कुण्डलिनी का ध्यान करना चाहिए । उस कुण्डलिनी के साथ जाने वाला योगी शिव से एकात्मता प्राप्त कर लेता है ॥ ८६-९१ ॥

परानन्दमयो भूत्वा चिद्वृत्तिमपि संत्यजेत् ।
ततो लक्षमनाभासमहम्भावविवर्जितः ॥ ९२ ॥
सर्वांगकल्पनाहीनं कथं कालो निहन्ति तम् ।
स एव कालः स शिवः स सर्वं नापि किञ्चन॥ ९३ ॥
कः केन हन्यते तत्र म्रियते नापि कश्चन ।
ततो व्यतीते समये कालस्य भ्रान्तिरूपिणः ॥ ९४ ॥
योगी सुप्तोत्थित इव प्रबोधं याति बोधितः ।
एवं सिद्धो भवेद् योगी वञ्चयित्वा विधानतः ॥ ९५ ॥

ऐसी अवस्था में योगी परानन्द को प्राप्त कर चिद्वृत्ति को भी त्याग देता है । जब वह योगी अलक्षमन वाला और अहम्भाव से विवर्जित हो जाता है तथा सर्वाङ्ग कल्पना से हीन हो जाता है तब काल उसे किस प्रकार मार सकता है? वही काल हो जाता है, वही शिव है, वह सब कुछ हो जाता है और कुछ रहता ही नहीं है । जब वही सबकुछ है, तब कौन किसको मारे, कौन मरे, कौन मारे? जब कुछ और रहता ही नहीं । इस प्रकार भ्रान्ति रूप काल को समय बीत जाने

पर योगी सोकर उठे हुये के समान जाग कर प्रबुद्ध हो जाता है । इस विधान से काल की वञ्चना कर योगी सिद्ध हो जाता है ॥ ९२-९५ ॥

कालं कलितसंसारं पौरुषेणाद्भुतेन हि ।
ततस्त्रिभुवने योगी विचरत्येक एव सः ॥ ९६ ॥
पश्यन् संसारवैचित्र्यं स्वेच्छया निरहंकृतिः ।
यथार्करश्मिसंयोगादर्ककान्तो हुताशनम् ॥ ९७ ॥
आविष्करोति नैकः सन् दृष्टान्तः स तु योगिनः ।
मृद्देहिकाल्पदेहेऽपि मुखाग्रेनोत्फणी यथा ॥ ९८ ॥
करोति मृद्भारचयमुपदेशः स योगिनः ।
पिङ्गला कुररः सर्पसारङ्गान्वेषकस्तथा ।
इषुकारः कुमारी च षडैते गुरवो मताः ॥ ९९ ॥ इति ।

इस प्रकार समस्त संसार को कवलित करने वाले काल को योगी अपने अद्भुत पौरुष से वञ्चित कर, संसार की विचित्रता देखते हुये, अहङ्कार रहित होकर, अकेले समस्त त्रिलोक में विचरण करता है । जिस प्रकार सूर्यकान्त मणि सूर्यरश्मि के संयोग से अनेक 'हुताशन' पैदा करता है उसी प्रकार का दृष्टान्त योगी का भी हो जाता है । जिस प्रकार उत्कणी (विशेष प्रकार का चिऊटा) अपने मुख के अग्रभाग से, मिट्टी के समान लघु शरीर होने पर भी, मिट्टी का ढेर लगा देता है; वही योगियों का भी उपदेश बतलाया गया है । इस विषय में पिङ्गला, कुरर, सर्प, सारङ्गान्वेषक (व्याध), बाण बनाने वाला और कुमारी—ये छह गुरु बतलाये गये हैं ॥ ९६-९९ ॥

अथ योगाङ्गभूतं कर्माष्टकं हठाभ्यासिनां शरीरशोधकं लिखामः—

आदौ नाडीविशुद्ध्यर्थमष्टाङ्गानि समभ्यसेत् ।
शोधकानि शरीरस्य प्रोक्तान्यष्टौ महात्मभिः ॥ १०० ॥
चक्रिनौलिधौतिनेती वस्तिश्च गजकारिणी ।
त्राटकं मस्तकभ्रान्तिरिति कर्माष्टकं स्मृतम् ॥ १०१ ॥

अब योग के अङ्गभूत कर्माष्टकों को कहते हैं जो योगियों के शरीर का शोधक है—योगी प्रारम्भ में नाडी शुद्धि के लिये अष्टाङ्ग का अभ्यास करे । महात्माओं ने शरीर शोधक आठ तत्त्वों की गणना की है—चक्री, नौली, धौति, नेती, वस्ती, गजकारिणी, त्राटक और मस्तकभ्रान्ति ॥ १००-१०१ ॥

यच्च हठदीपिकायाम्—

कर्माष्टकमिदं विद्धि घटशोधनकारकम् ।
कस्यचिन्न च वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ॥ १०२ ॥

इसी को हठयोगप्रदीपिका में भी इस प्रकार कहा गया है—शरीर को शुद्ध करने वाले इन कर्माष्टकों को जानो । इसे उसी प्रकार किसी को नहीं बताना चाहिये, जिस प्रकार कुलीन स्त्री रति का प्रकाश नहीं करती ॥ १०२ ॥

अथ चक्रिः—

पायुनाले प्रसार्योर्ध्वमङ्गुलीं भ्रामयेदभि ।
यावद् गुदविकाशः स्याच्चक्रिकर्म निगद्यते ॥ १०३ ॥
मूलव्याधिर्गुल्मरोगो नश्यत्यत्र महोदरः ।
मलशुद्धिर्दीपनं च जायते चक्रिकर्मणा ॥१०४॥ इति ।

अब चक्री का व्याख्यान करते हैं—वायु नाल में अङ्गुली फैलाकर ऊपर की ओर घुमावे । जितना गुद का विकाश है उतना ही घुमावे । इसे ही 'चक्रि कर्म' कहा जाता है । इसके करने से मूल में होने वाली व्याधि, गुल्म रोग एवं महोदर रोग नष्ट हो जाते हैं । शरीर में मल की शुद्धि हो जाती है और जठराग्नि का उद्दीपन होता है ॥ १०३-१०४ ॥

अथ नौलिः—

सा च नौलिर्द्विधा प्रोक्ता भारी चैकान्तराभिधा ।
भारी स्याद् बाह्यरूपेण जायतेऽन्तोऽन्तराभिधा ॥ १०५ ॥

अब नौलि क्रिया कहते हैं—यह नौलि दो प्रकार की कही गई है १. भारी, २. एकान्तरा । भारी बाह्य रूप में और आन्तरी अन्तर रूप में होती है ॥ १०५॥

अथ आद्या—

अमन्दावर्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्यतः ।
नतांसो भ्रामयत्येषा नौलिर्गौडैः प्रशस्यते ॥ १०६ ॥
तुन्दाग्निसन्दीपनपाचनाति
सन्दीपिकानन्दकरी सदैव ।
अशेषदोषामयशोषिणी च
हठक्रियामौलिरियं च नौलिः ॥ १०७ ॥

अब पहली नौली (भारी का लक्षण) कहते हैं—अपने तुन्द (= पेट) को बाईं ओर से दाहिनी ओर, कन्धे को नीचा कर घुमावे, गौड़ लोग इस नौलि की प्रशंसा करते हैं । यह तुन्द को कम करती है और अग्नि को उद्दीप्त करती है । अन्न का पाचन करती है । यह सदैव अग्नि को उद्दीप्त करने के कारण आनन्दमयी कही जाती है । यह अशेष दोषों को और रोगों को सुखा डालती है । बहुत क्या कहें; यह नौलि क्रिया हठयोग की मौलि है ॥ १०६-१०७ ॥

अथ द्वितीयान्तरा—

इडयावर्तवेगेन तथा पिङ्गलया पुनः ।
उभाभ्यां भ्रामयेच्चैव ह्यन्तरा कीर्तिता मया॥ १०८ ॥ इति ।

अब द्वितीय अन्तरा नौलि कहते हैं—पहले वेग से इडा का आवर्त्तन करे । फिर पिङ्गला से आवर्त्तन करे । फिर दोनों को घुमावे । यह अन्तरा नौलि कही जाती है ॥ १०८ ॥

अथ धौतिः—

विंशद् हस्तप्रमाणेन धौतेर्वस्त्रं सुदीर्घकम् ।
चतुरङ्गुलविस्तारं सिक्तं चैव शनैर्ग्रसेत् ॥ १०९ ॥
ततः प्रत्याहरेच्चैतदुत्खातं धौतिरुच्यते ।
दिने दिने ततः कुर्याज्जठराग्निविवर्धनम् ॥ ११० ॥
कासश्वासप्लीहकुष्ठकफरोगांश्च विंशतिः ।
धौतिकर्मप्रभावेण धुनोत्येव न संशयः ॥ १११ ॥

अब धौति के विषय में कहते हैं—धौति के लिये बीस हाथ लम्बा और चार अङ्गुल चौड़ा पतला वस्त्र निर्माण करे । फिर उसे सींच कर (आर्द्र नरम) धीरे-धीरे लीले । फिर लीलने के बाद धीरे-धीरे इसे निकाले । यह धौति क्रिया दिन प्रतिदिन करने से जाठराग्नि विवर्धित करती है । कास, श्वास, प्लीहा, कुष्ठ तथा कफ से होने वाले बीस रोगों को यह धौति क्रिया अपने प्रभाव से निश्चय ही नष्ट करती है ॥ १०९-१११ ॥

अथ नेतिकर्म—

आखुपुच्छाकारनिभं सूत्रं तु स्निग्धनिर्मितम् ।
षड्वितस्तिमितं सूत्रं नेतिसूत्रस्य लक्षणम् ॥ ११२ ॥
नासानाले प्रवेश्यैनं मुखान् निर्गमयेत् क्रमात् ।
सूत्रस्यान्तं प्रबद्ध्वा तु भ्रामयेन्नासनालयोः ॥ ११३ ॥
मथनं च ततः कुर्यान्नेतिसिद्धैर्निगद्यते ।
कपालशोधनकरी दिव्यदृष्टिप्रदायिनी ।
जत्रूर्ध्वजातरोगघ्नी जायते नेतिरुच्यते ॥ ११४ ॥

अब नेति कर्म कहते हैं—चूहे के पुच्छ के समान अत्यन्त कोमल चिकने पदार्थों से छह वित्ते का सूत्र निर्माण करे । यही 'नेति' का लक्षण है । इस सूत्र को नासिका के छिद्र से प्रवेश कर क्रमशः धीरे-धीरे मुख से बाहर करे । सूत्र का अन्त और आदि भाग हाथ में लेकर नासा के दोनों छिद्रों में घुमावे । इसे नेति

-सिद्धि कहते हैं । यह कपाल का शोधन करने वाली, दिव्य दृष्टि प्रदान करने वाली और जत्रू के ऊपर होने वाले समस्त रोगों को नष्ट करने वाली 'नेति क्रिया' कही गई है ॥ ११२-११४ ॥

अथ बस्तिः—

बस्तिस्तु द्विविधा प्रोक्ता जलवायू प्रभेदयेत् ।
चक्रिं कृत्त्वा यथाशक्त्या जलवस्तिमथो ब्रुवे ॥ ११५ ॥
नाभिजघ्नजले स्थित्वा पायुनाले स्थिताङ्गुलिः ।
चक्रिमार्गेण जठरं पायुनालेन पूरयेत् ।
विचित्रकरणीं कृत्त्वा निर्भीतो रेचयेज्जलम् ॥ ११६ ॥
यावद् बलं प्रपूर्यैव क्षणं स्थित्वा विरेचयेत् ।
घटीत्रयं न भोक्तव्यं वस्तिमभ्यसतो ध्रुवम् ।
निर्वातभूमौ सन्तिष्ठेद् वशी हितमिताशनः ॥ ११७ ॥
गुल्मप्लीहोदरं वापि वातपित्तकफादिकम् ।
वस्तिकर्मप्रभावेण धवत्येव न संशयः ॥ ११८ ॥

अब बस्ति के विषय में कहते हैं—जल वायु के भेद से वस्ति क्रिया दो भेदों वाली कही गई है । साधक को यथाशक्ति चक्रि-क्रिया कर जल-बस्ति करनी चाहिये । बुद्धिमान् साधक नाभि प्रमाण जल में स्थित होकर 'चक्रि' मार्ग से जठर को पायु नाल द्वारा ले जाकर पूर्ण करे । फिर विचित्रकरणी क्रिया कर साधक निर्भय हो जल को बाहर करे । पेट में जितना भी जल आ सके उतना जल पेट में पूर्ण कर क्षण भर स्थित रहकर जल का विरेचन कर देवे । बस्ति का अभ्यास करने वाला योगी बस्ति करने के पश्चात् तीन घड़ी (२४ मिनट की एक घड़ी होती है) तक भोजन न करे । मन्त्रज्ञ वातरहित स्थान में निवास करे और हितकारी एवं मिताहारी होकर रहे । योगी साधक इस बस्ति कर्म के प्रभाव से गुल्म, प्लीहा और उदर रोग, वातरोग, पित्तरोग, कफरोग दूर कर देता है; इसमें संशय नहीं ॥ ११५-११८ ॥

धात्विन्द्रियान्तःकरणप्रसादं
दद्याच्च कान्तिं दहनप्रदीप्तिम् ।
अशेषदोषोपचयं निहन्याद-
भ्यस्यमानं जलवस्तिकर्म ॥ ११९ ॥

यह 'जल-बस्ति कर्म' धीरे-धीरे अभ्यास करते रहने से धातु, इन्द्रिय और अन्तःकरण को प्रसन्न रखता है । कान्ति प्रदान करता है एवं जाठराग्नि को उद्दीप्त करता है तथा सम्पूर्ण दोष समूहों को नष्ट करता है ॥ ११९ ॥

अथ गजकरणी—

उदरगतपदार्थमुद्वहन्ती
पवनमपानमुदीर्य कण्ठनाले ।
क्रमपरिचयतस्तु वायुमार्गे
गजकरणीति निगद्यते हठज्ञैः ॥ १२० ॥
पीत्वाकण्ठमतिगुडजलं नालिकेरोदकं वा
वायुं मार्गे पवनजलयुतः कुम्भयेद् वाथ शक्त्या ।
निःशेषं शोधयेद् वा परिभवपवनो वस्तिवायुप्रकाशात्
कुम्भाम्भः कण्ठनाले गुरुगजकरणी प्रोच्यते या हठज्ञैः ॥ १२१ ॥

अब गजकरणी के विषय में कहते हैं—उदर गत पदार्थों का उद्वहन करते हुये, अपानवायु को कण्ठ नाल में पहुँचा कर, धीरे-धीरे एकत्र करने वाली क्रिया हठयोग करने वाले विद्वानों द्वारा 'गजकरणी' कही जाती है । अत्यन्त गुड़मिश्रित जल अथवा नारिकेलोदक कण्ठ तक पीकर, पवन जल से युक्त योगी वायु को रोक कर, शक्ति के अनुसार कुम्भक करे । वह परिभव पवन वाला योगी वस्ति वायु के प्रकाश से सम्पूर्ण कुम्भ जल को शोधन करे । हठयोग के विद्वान् इसी को गुरु गजकरणी क्रिया कहते हैं ॥ १२०-१२१ ॥

यथैव गजयूथानां राजते राजकुञ्जरः ।
तथेयं गजकरणीति प्रोच्यते हठयोगके ॥ १२२ ॥

जैसे हस्ति समूहों में हस्तिराज (यूथप) शोभा पाता है; उसी प्रकार हठयोग में यह 'गजकरणी क्रिया' शोभित होती है ॥ १२२ ॥

अथ त्राटनम्—

निरीक्षेन् निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्षं समाहितः ।
अश्रुसम्पातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं मतम् ॥ १२३ ॥
स्फोटनं नेत्ररोगाणां मन्त्रादीनां कपाटकम् ।
प्रयत्नात् त्राटनं गोप्यं यथा रत्नसुपेटकम् ॥ १२४ ॥

अब त्राटन क्रिया कहते हैं—योगी समाहित चित्त हो, स्थिर दृष्टि से, अत्यन्त सूक्ष्म लक्ष्य पर ध्यान लगावे । यह ध्यान अश्रुसम्पात पर्यन्त स्थापित करे । आचार्यों ने इसी को 'त्राटन क्रिया' कहा है । यह त्राटन समस्त नेत्र रोगों का स्फोटन करने वाला है । मन्त्रादि का कपाट है । अतः रत्नपेटिका के समान प्रयत्नपूर्वक त्राटन को गोपनीय रखे ॥ १२३-१२४ ॥

अथ कपालभ्रान्तिः—

भस्त्रीवल्लोहकाराणां रेचपूरकसम्भ्रमौ ।

कपालभ्रान्तिर्विख्याता सर्वरोगविशोषिणी ॥ १२५ ॥

अब कपालभ्रान्ति कहते हैं—लोहार की भाथी के समान रेचनक एवं पूरक को घुमाना 'कपाल भ्रान्ति क्रिया' कही जाती है, जो सर्वरोग निवारण करने वाली होती है ॥ १२५ ॥

यद्वा—

कपालं भ्रामयेत् सव्यमपसव्यं तु वेगतः ।
रेचपूरकयोगेन कापालभ्रान्तिरुच्यते ॥ १२६ ॥
कफदोषं निहन्त्येव पित्तदोषं जलोद्भवम् ।
कपालशोधनेनापि ब्रह्मचक्रं विशुद्ध्यति ॥ १२७ ॥

अथवा बाईं ओर से दाहिनी ओर, अपने कपाल को रेचक पूरक को मिला कर, वेग से घुमावे । इसी को 'कपाल भ्रान्ति' कहते हैं । यह क्रिया कफ दोष को नष्ट करती है और पित्त दोष तथा जल से होने वाले जलोदरादि रोगों को नष्ट करती है ॥ १२६-१२७ ॥

वपुः कृशत्वं वदने प्रसन्नता
नादस्फुटत्वं नयने च निर्मले ।
अरोगता बिन्दुजयोऽग्निदीपनं
नाडीविशुद्धिर्हठयोगके कृते ॥ १२८ ॥

शरीर का कृश होना, मुख पर प्रसन्नता का होना, स्पष्ट वाणी का उच्चारण, नेत्र का निर्मल रहना, आरोग्य, बिन्दु जय, जाठराग्नि की प्रदीप्ति और नाडी की शुद्धि हठयोग करने के इतने गुण कहे गये हैं ॥ १२८ ॥

कर्माष्टभिर्गतस्थौल्यकफमेदोमलादिकः ।
प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिध्यति ॥ १२९ ॥
षट्चक्रशोधनं सम्यक् प्राणायामस्य कारणम् ।
नाशनं सर्वरोगाणां मोक्षमार्गस्य साधनम् ॥ १३० ॥
देहारोग्यं च लभते ह्यष्टकर्मप्रभावतः ।

उपर्युक्त कहे गये अष्टकर्म से योगी स्थूलता को दूर कर, कफ, मेद, मलादि दोषों को नष्ट कर, प्राणायाम करे, तो वह अनायास सिद्ध हो जाता है । यह सम्यक् षट्चक्र शोधन प्राणायाम में कारण है और सभी रोगों का विनाशक है । किं बहुना; मोक्ष मार्ग का साधन है । इस अष्टकर्म के प्रभाव से साधक शारीरिक आरोग्यता प्राप्त करता है ॥ १२९-१३१ ॥

इतीत्थं पटलैरष्टाविंशैः पूर्वार्धकं गतम् ।

सदागमरहस्येतद्गुरूणां प्रीतिदायकम् ॥ १३१ ॥

यहाँ तक हमने २८ पटलों में पूर्वार्ध कहा । यह सभी सदागमों का रहस्य है जो गुरुजनों को प्रीतिं प्रदान करता है ॥ १३१ ॥

भगवती अरुणावन्दना

सदागमरहस्याब्धिसमुद्भूतमणिस्त्रजा ।
भूषिता करुणामूर्तिररुणा वितनोतु शम् ॥ १३२ ॥
यत्कृपालेशमालम्ब्य भक्ता भवमया भवे ।
भवीयन्ति भवं सर्वं नुमस्तां भवनाशिनीम् ॥ १३३ ॥

सदागम रहस्य रूप समुद्र से उत्पन्न इस मणिमाला से भूषित करुणामूर्त्ति भगवती अरुणा कल्याण करें । जिस अरुणा भगवती की कृपा का लेश प्राप्त कर सदाशिव के भक्त इस संसार में भव स्वरूप हो जाते हैं और फिर संसार में जन्म नहीं लेते उस भवनाशिनी अरुणा को नमस्कार करता हूँ ॥ १३२-१३३ ॥

श्रीमद्गुरुपदाम्भोजमकरन्दमधुव्रताः ।
देशिकाः सन्तु सन्तुष्टा दृष्ट्वागमरहस्यकम् ॥ १३४ ॥
शिवयोः प्रीतिदं भूयात् पूर्वापरविभागतः ।
पूर्वार्द्धे श्रीशिवः तुष्येदुत्तरार्द्धे तथाम्बिका ॥ १३५ ॥
श्रीनाथदृष्टिपूतानां भक्तानां तद्गतात्मनाम् ।
अभेदज्ञानिनां हेतोरर्द्धं तदपि लक्षये ॥ १३६ ॥
ते कृतार्थाः स्वयं सन्तः स्वात्मलाभैकमानसाः ।
तथापि तुष्टिमायान्तु मत्कृतैः साहसैरलम् ॥ १३७ ॥
शिष्टा यदपि सर्वज्ञास्तथापि शिशुलीलया ।
मुदमादधते चित्ते यदानन्दमया हिते ॥ १३८ ॥
गुरुणा लक्षितं यच्च दृष्टं यच्चागमादिषु ।
तत्रत्यं सारभूतं यदुत्तरार्धे लिखाम्यहम् ॥ १३९ ॥
आत्मानन्दप्रबोधाय विनोदाय महात्मनाम् ।
सरस्वत्यानंन्दनाथो दुर्गानन्दपदाश्रितः ॥ १४० ॥

॥ इतिश्रीमदागमरहस्ये सत्संग्रहे द्विवेदिवंशोद्भवसाकेतपुरप्रान्तस्थायि सरयूप्रसादविरचिते योगाङ्गकथनं नामाष्टाविंशः पटलः ॥ २८ ॥

॥ समाप्तः पूर्वार्द्धः । वर्षे सम्वत् १९३७ का लिपिकृतं नानूराम ब्राह्मण दायमा ॥ श्रीरस्तु ॥

...✿...

प्रसंग दस

योग की प्राचीनता

योग शास्त्र प्राचीन काल से ही भारतीय हिन्दु धर्मावलम्बियों का एक सबसे समीचीन सम्पदा है। यही एक ऐसी विद्या है जिसमें तर्क का कोई स्थान नहीं है। योग ही मोक्ष और परम चेतना का मार्ग है और भक्ति तथा ज्ञान का प्रधान सहायक है। आदि ऋषियों के तपस्या, अन्तर्दृष्टि की उत्पत्ति में योग ही प्रधान कारण था। योग एक स्वतंत्र दर्शन भी है। यह मानव के जीवन में एक सच्चा पथ प्रदर्शक है, विज्ञान है। योग मनोविज्ञान का प्रायोगिक अंश है। इसलिए किसी न किसी रूप में योग हर दर्शन में आ ही जाता है। अतः इसकी प्राचीनता निर्विवाद है।

योग दर्शन पर अनेक भाष्य हुए हैं। वर्तमान काल में प्राप्त सभी भाष्यकारों का मत है कि महर्षि पतञ्जली योग दर्शन के प्रथम प्रणेता नहीं है। योग का वर्णन श्रुति और स्मृति में आया है।

याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा गया है कि "हिरण्यगर्भो योगस्थ वक्ता मान्य पुरातन" अर्थात् हिरण्यगर्भ ही आदि वक्ता हैं योग दर्शन के। सांख्य ऋषि ने भी कहा है हिरण्यगर्भ ने ही प्रथम बार योग का परिचय जगत से कराया। हिरण्यगर्भ किसी मानव का नाम नहीं है। हिरण्यगर्भ ही सर्वप्रथम उत्पन्न प्रजापति है। इसकी पुष्टि वेदों में भी की गई है। योग शास्त्र एक प्रकार से प्राचीन शास्त्र है। इसी से इसकी प्राचीनता सिद्ध होती है। भारतवर्ष में योग का महत्व और क्षेत्र काफी विस्तृत है। ज्ञान का जीवन से सीधा सम्बन्ध होने के कारण हर क्षेत्र में क्रियात्मक ज्ञान की आवश्यकता रही है। जीवन के लक्ष्य को क्रियात्मक रूप देना प्राचीन काल से ऋषियों ने आवश्यक समझा है। सभी शास्त्रों ने लक्ष्य प्राप्ति के मार्ग बतलाये हैं। इन लक्ष्यों तक पहुंचने के मार्गों को ही योग कहा जाता है। धर्म, दर्शनविज्ञान सभी में योग का विशेष स्थान है।

भारत में कोई भी सैद्वान्तिक ज्ञान, व्यवहारिक ज्ञान के बिना नहीं रहा। हर सैद्धान्तिक ज्ञान को क्रियांत्मक रूप दिया गया है। क्योंकि क्रियात्मक रूप योग है। इसलिए कोई भी शास्त्र योग के बिना पूर्ण नहीं माना गया है। वेद, पुराण, उपनिषद, दर्शन और श्रीमद्भागवत आदि सभी में योग शास्त्र का वर्णन मिलता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि योग शास्त्र भारतवर्ष का सबसे प्राचीन शास्त्र है और इसका क्षेत्र अति विस्तृत है। ऋग्वेद में योग के बारे में विस्तृत वर्णन मिलता है जिससे यह पता चलता है कि योग शास्त्र कितना प्राचीन है। कर्मवाद के विषय में भी वेदों में उल्लेख मिलता है। मानव को अपने अच्छे-बुरे कर्मों का फल भोगना पड़ता है। देवता भी कर्म फल से मुक्त नहीं हैं। शुभ कर्मो द्वारा ही मानव अमर होता है। हर मनुष्य अपने कर्मो द्वारा ही निरन्तर जन्म-मरण के चक्र में घूमता रहता है। पूर्वजन्म कृत दोषों से छुटकारा के लिए मानव प्रार्थना-पूजा और योग का शरण लेता है। मनुष्य अपनी सारी क्रियाओं के लिए स्वतंत्र है। वह जिस प्रकार क्रिया करेगा उसी के अनुकूल प्रतिक्रिया होगी। कर्म के प्रेरक कारण पूर्व जन्म के संस्कार होते हैं। मनुष्य में ही पूर्ण आत्मा की अभिव्यक्ति होती है। यही कारण है कि उसे सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो सकता है। ब्राम्हण और आरण्यक ग्रन्थों में ज्ञान के सभी अवस्थाओं का वर्णन है। पांच ज्ञानेन्द्रियों, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच वायु, पंचभूत और मन से बने भौतिक शरीर की धारणा है। वेद में सभी आध्यात्मिक कर्मो को योग माना है यानि यज्ञ आदि के पूर्व योग करना माना गया है।

ऋग्वेद में सभी योग साधना में प्राण साधना का यथार्थ वर्णन मिलता है। जिसमें सभी इन्द्रियों का रक्षक और कभी भी नष्ट न होने वाला बतलाया गया है। उस प्रवाह का मार्ग नाड़ियां हैं। प्राणों की श्रेष्ठता बतला कर इन्द्रियां, मन आदि सब क्रियाओं का निरूपण किया गया है यानि योग साधना में प्राण साधना मुख्य है बिना प्राण साधना के कोई साधना पूर्ण नहीं हो सकती।

उपनिषद और योग

किसी न किसी रूप में सभी उपनिषदों में योग का वर्णन मिलता है और योग को विशेष महत्व भी दिया गया। योग को एक प्रकार से मुक्ति

प्राप्ति का ज्ञान और परम ज्ञान का साधन माना गया है। श्वेताश्ररोपनिषद में योग और उसकी विशेष क्रिया और फल का विवेचन किया गया है। जिसमें प्राण साधना, नाड़ी साधना, ध्यान साधना आदि है। मुण्डकोपनिषद और कठोपनिषद्र में भी वर्णन है। नचिकेता को यम ने अमरत्व प्राप्त करने का उपाय योग में ही बतलाया है। वृहदारण्यकोपनिषद में आत्म उपलब्धि प्राप्त करना बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे उपनिषद है जिनमें केवल योग के महत्व का विस्तारपूर्वक वर्णन है। जैसे योग कुण्डल्योपनिषद, योग शिखोपदनिषद, योग चूड़ामण्युपनिषद, योग तत्वोपनिषद आदि।

उपनिषदों में मनस यानि मन को शरीर और आत्मा का माध्यम माना गया है। उपनिषदों में जगत को प्रपंचात्मक माना है केवल आत्मा ही सत्य है। जिसकी सत्ता पर संदेह नहीं किया जा सकता। अज्ञान के कारण जीवबद्ध है। ब्रम्ह की शक्ति माया के द्वारा आत्मा का वास्तविक रूप छिपा रहता है। जब आत्मा अपने को शरीर समझने लगती है तब वह सुख-दुख भोगने वाली बन जाती है। वह शरीर, मन, इन्द्रिय आदि के साथ सम्बन्धित होकर अपना सर्वव्यापक रूप भूल कर सांसारिक बन्धन में बंध जाती है और शरीर को ही सब कुछ समझ लेती है। इसी को माया कहते हैं। अविद्या कहते हैं।

उपनिषदों में शरीर के तीन भेद बतलाये गये हैं स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर। स्थूल शरीर पंचभूतों द्वारा निर्मित है जिसे भौतिक शरीर भी कहते हैं। मृत्यु के बाद भौतिक शरीर पुनः पंचभूतों में मिल जाता है। सूक्ष्म शरीर भौतिक होते हुए भी दृष्टिगोचर नहीं होता। वह आत्मा का वाहक बन जाता है। अन्य शरीर प्राप्त करने के लिए कारण शरीर द्वारा आत्मा पुनः जन्म लेती है।

प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान ये पंच प्राण हैं। इन्ही के ऊपर सम्पूर्ण जीवन चलता है यानि जीवन का आधार यही पंच प्राण ही हैं। आत्मा, ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां, मन और पंच प्राणों सहित मृत्यु के समय भौतिक शरीर को छोड़ देती है। लेकिन इनमें कर्माश्रय भी सम्मलित होता है जो मानव के जीवन काल में किये गये कर्मो का कोश है। इसी कर्माश्रय द्वारा शरीर निकल कर आत्मा के साथ चला जाता है। इसी से जीव का भविष्य निर्धारित होता है। इसी के अनुसार पुनः जन्म होता है।

इसी कर्माश्रय को पूर्वजन्म का संस्कार कहते हैं।

अद्वैत वेदान्त भारतीय विचार दर्शन के विकास में सर्वोच्च स्थान रखता है। वेदान्त में भारतीय दर्शन का सूक्ष्म विवेचन है। भारतीय दर्शन एकमात्र दर्शन नहीं है। तत्व ज्ञान के अलावा जीवन दर्शन पर विशेष ध्यान दिया गया है। सच तो यह है कि यहां जीवन के लिए ही दर्शन है। यही कारण है कि भारतीय दर्शन केवल सैद्धान्तिक ही नहीं है बल्कि व्यवहारिक भी है। परम लक्ष्य और आत्मोपलब्धि के लिए साधन भी बतलाये गये हैं।

सत्य को साक्षात्कार करने का मार्ग प्रायः सभी भारतीय दर्शनों में पाया गया है। वेदान्त के द्वारा जो साधना बतलायी गई है वह मुख्यतया ज्ञान साधना है यानि वेदान्त की साधना ज्ञान के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। साधना अवस्था में भी निर्विकार निर्गुण ब्रम्ह ही है। आदि शंकराचार्य ने विवेक चूड़ामणि में कहा है-

उद्धरेदात्मनात्मना मग्नं संसारवारिधौ।

योगारुढ़त्वमासाद्य सम्यग्दर्शन निष्ठया।।

अर्थात् संसार सागर में डूबी आत्मा का हर क्षण आत्मदर्शन में मग्न रहता हुए योगारुढ़ होकर स्वयं ही उद्धार करे।

वेदान्त का प्रमुख वाक्य है। ब्रम्ह सत्य है और जगत मिथ्या है अर्थात् ब्रम्ह ही एकमात्र नित्य है उसके अतिरिक्त सभी अनित्य है। दूसरा सांसारिक सुखों को अनित्य मान कर उसका त्याग ही वैराग्य है। तीसरा है षष्ट सम्पत्ति- शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान। विषय भोगों के प्रति विरक्त रहना और अपने ध्येय में अपने को स्थिर रखना शम है। कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियों के विषयों से अपने को हटा लेना ही दम है। बाह्य विषयों का आलम्बन यानि रूचि न लेना ही उपरति है। विकार-प्रतिकार भावना से रहित होना, शोक-चिन्ता से रहित रहना तथा शीत, उष्ण आदि किसी भी प्रकार के कष्टों में भी प्रसन्न रहना अथवा सहन करना ही तितिक्षा कहलाती है। अध्यात्म शास्त्र और गुरु वचन और वाक्य पर विश्वास रखना ही श्रद्धा है। ब्रम्ह में सदैव लीन रखना ही समाधान कहलाता है। वेदान्त, ज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित है। साधन अवस्था निर्विकार निर्गुण ब्रम्ह ही है। वेदान्त योग में ब्रम्ह और जीव के एकत्व की स्थापना

होती है। वेदान्त साधना के द्वारा ध्याता, ध्यान और ध्येय की त्रिपुटी समाप्त हो जाती है। वेदान्त योग साधना से अहं भाव आदि दोष निवृत्त हो जाते हैं। उसमें ब्रम्ह की अनुभूति होने लगती है। साधक स्वयं ब्रम्ह में लीन हो जाता है। ब्रम्ह का साक्षात्कार ही मोक्ष है। यही वेदान्त की अपनी विशिष्ठ योग साधना है। वेदान्त के अनुसार आत्म तत्व के अतिरिक्त कोई दूसरी सत्ता नहीं है। ब्रम्ह और आत्मा भिन्न नहीं है। दोनों एक ही हैं। माया के आवरण में आत्मा का वास्तविक रूप छिपा रहता है। माया ब्रम्ह की उद्भुत शक्ति है। सत्ता एक ही है अनेकता भ्रममात्र है। निर्गुण ब्रम्ह, सगुण ब्रम्ह तथा जीव में कोई भेद नहीं है।

वेदान्त योग का कहना है कि आत्म साक्षात्कार ही ब्रम्ह ज्ञान है। वेदान्त में निर्विकल्प समाधि (योग शास्त्र का विशेष अंग) से ही अज्ञानता का नाश होकर आत्मोपलब्धि बतलायी गई है। समाधि के निरन्तर अभ्यास से अज्ञानता के कारण उत्पन्न हुए दोष तथा अज्ञान नष्ट हो जाते हैं। योगी निरन्तर समाधि से अपने में ब्रम्ह भाव का अनुभव करने लगता है। अनेकत्व में एकत्व की भावना वेदान्त में बतलायी गई है। उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट होता है कि वेदान्त में भी योग साधना है। योग का उद्देश्य है आत्मा के ऊपर माया के आवरण को हटाना। योग साधना के द्वारा अभेद की स्थापना होती है। ब्रम्ह के सगुण रूप का एकनिष्ठ ध्यान और उसमें लीन होना ही वेदान्त योग का वास्तविक रूप है। वेदान्त योग में ब्रम्ह और जीव के एकत्व की स्थापना होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि वेदान्त में योग का पूर्ण समावेश है यानि वेदान्त बिना योग के पूर्ण नहीं कहा जा सकता है।

आयुर्वेद ने भी योग को एक अंग माना है। महाभारत, गीता, बौद्ध धर्म और जैन धर्म में भी योग का विशेष स्थान है। देखा जाये तो वैदिक काल से लेकर वर्तमान काल में भी योग साधना अपना महत्व रखता है। योग भारतीय साधना की आधारभूमि है। भारत में निर्वाण यानि मोक्ष जीवन का अन्तिम लक्ष्य रहा है। अध्यात्म और आध्यात्मिक साधना परम निर्वाण ही परम लक्ष्य है। लेकिन मोक्ष कोई बौद्धिक विवेचन मात्र नहीं है। बल्कि अस्तित्वगत बोध है। इसलिए इसे केवल सैद्धान्तिक स्थापनाओं के द्वारा जाना नहीं जा सकता है। इसलिए क्रियात्मक प्रयास भी आवश्यक

है। एकमात्र योग ही क्रियात्मक प्रयास का आधार है। यही कारण है कि भारतीय साधना भूमि में चाहे तंत्र मार्ग हो या अन्य मार्ग सबके सूत्र योग से ही जुड़े हैं। कुण्डलिनी साधना तंत्र का मार्ग है। फिर भी इसके समस्त क्रिया पक्ष योग से ही सम्बन्ध रखते हैं।

योग शब्द संस्कृत के 'युज' धातु से बना है। 'युज' धातु का अर्थ है जुड़ना और समाधि व्याकरण के आधार पर 'युज समाधौ, युजिर योगे' युजिर योग से योग शब्द की उत्पत्ति होती है। यह शब्द युज समाधौ से उत्पन्न होता है जिसका अर्थ होता है समाधि। योग शास्त्र के अनुसार योग की परम अवस्था आत्मा-परमात्मा का मिलन है और समाधि का अर्थ है स्वयं का साक्षात्कार। लेकिन अर्थ भिन्नता के कारण इस आवरण को भेद कर अन्दर जाया जाये तो ज्ञात होता है कि इन दोनों अर्थों में योग का उद्देश्य एक ही है मोक्ष की प्राप्ति यानि परम निर्वाण की प्राप्ति। चाहे वह आत्मा-परमात्मा का मिलन हो या स्वयं से साक्षात्कार दोनों की परिणति एक ही है। जैसाकि प्रसंगवश आगे वर्णन किया जा चुका है कि योग शास्त्र का उल्लेख आदि ग्रन्थ वेदों में मिलता है। वेद मंत्रों द्वारा इसके उद्देश्य और उपयोग को स्पष्ट किया गया है। जैसाकि ऋग्वेद में वर्णन है। बिना योग साधना के ज्ञानी पुरुष का भी यज्ञ कर्म सिद्ध नहीं होता। देखा जाये तो वेदों और उपनिषदों के बाद गीता में योग पर विशेष प्रकाश पड़ा। यद्यपि महाभारत में अनुशासन पर्व, शान्ति पर्व और भीष्म पर्व आदि में योग का विस्तृत वर्णन मिलता है। लेकिन भगवान कृष्ण द्वारा गीता उपदेश में योग के कई महत्वपूर्ण विषयों पर अर्जुन को ज्ञान दिया गया था।

"समत्व योग उच्चते" अर्थात् समत्व की प्राप्ति योग से ही होती है। योग कर्मशुः कौशलम यानि कर्म की कुशलता ही योग है। गीता में ज्ञान योग, भक्ति योग और कर्म योग के रूप में इसका विभाजन भी किया गया है। यह विभाजन धार्मिक-व्यवहारिक चेतना के अनुकूल है।

देखा जाये तो जीवन के तीन आयाम होते हैं। चाहे उसे व्यवहारिक रूप से देखा जाये या धार्मिक रूप से। वह है ज्ञान, भक्ति और कर्म। योग इन तीनों से सम्बन्धित होकर क्रमशः ज्ञान योग, भक्ति योग और कर्म योग का रूप ले लेता है। योग के तीनों मार्ग पर चलकर जीवन के लक्ष्य को

प्राप्त किया जा सकता है। चाहे वह व्यवहारिक जीवन हो या आध्यात्मिक जीवन।

इस प्रकार योग की एक लम्बी परम्परा रही है। जिसे उच्चतम् शिखर पर पहुंचाने का कार्य महर्षि पतञ्जली ने पूर्ण किया। उन्होने तमाम योग सम्बन्धित बिखरे सूत्रों को संकलित कर, उन्हे व्यवस्थित कर नया आयाम दिया। देखा जाये तो महर्षि पतञ्जली ही सबसे महत्वपूर्ण योग के विवेचक थे। क्योंकि उन्होने न केवल योग के भिन्न प्रक्रियाओं का संकलन किया बल्कि योग सम्बन्धित विभिन्न मान्यताओं, दर्शन को एकत्र कर सम्पादन किया और साथ ही सांख्य तत्व दर्शन से समन्वित कर प्रमाणित भी किया। देखा जाये तो महर्षि पतञ्जली योग शास्त्र के जन्मदाता ही नहीं बल्कि महान प्रवर्तक माने जाते हैं। योग दर्शन के जिस रूप को हम आज देख रहे हैं और उस पर चल कर हजारों साधक योग की उच्चावस्था को प्राप्त किये इस महान कार्य का देन केवल महर्षि पतञ्जली ही हैं।

योग प्रसंग

महर्षि पतञ्जली ने सामाजिक और आध्यात्मिक मार्ग को अष्टांग योग में निरूपित किया। योग केवल अध्यात्म मार्ग नहीं है। समाज और जीवन में इसका क्या उपयोग है उन्होने भलीभांति वर्णन किया है। चाहे वह सांसारिक हो या हो आध्यात्मिक। अगर वह योग मार्ग के साथ चलता है तो उसका जीवन सुखमय होगा। हम लोग योग की बहुत सारी पुस्तके पढ़ते हैं और योग का अभ्यास भी करते हैं। लेकिन आसन-प्राणायाम के साथ-साथ उन तथ्यों पर विचार करें और जीवन पर उसे अपनाये तो जीवन सच्चे अर्थों में सत्य का मार्गी हो जायेगा।

महर्षि पतञ्जली ने योग को केवल आसन, प्राणायाम, ध्यान तक ही सीमित नहीं रखा उसे आठ भागों में विभक्त भी किया। जिसे हम अष्टांग योग के नाम से जानते हैं। योग साधना में ये आठों अंग काफी महत्वपूर्ण हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार यह योग की बाह्य साधना है। ध्यान, धारणा और समाधि यह अन्तरंग साधना है।

अन्तरंग साधना तभी पूर्ण होती है अथवा साधक को तभी सफलता मिलती है जब वह बाह्य साधना को भी लेकर चलता है। एक प्रकार से ये

बाह्य साधना अन्तरंग साधना की नींव है। इस पर गम्भीरता से विचार करना आवश्यक है। अगर विचारपूर्वक देखा जाये तो यम-नियम का महत्व केवल योग साधक के लिए नहीं बना है। बल्कि समस्त मानव जाति और समाज के लिए भी बना है। आज जो समाज और देश में अशान्ति हिंसा आदि फैली है उसके मूल कारण है कि हम यम-नियम से दूर हैं। यम का पालन तो हर जाति, देश, समाज तथा हर मत के मनुष्यों के लिए है। अगर हमें समाज में शान्ति चाहिए, सामाजिक उन्नति चाहिए तो यम के नियमों को लेकर चलना होगा। तभी हम मानव कहलायेंगे।

मानव कभी भी हिंसक नहीं हो सकता। सच्चे मानव का सबसे बड़ा गुण है दया, प्रेम, करूणा और शान्ति। अगर ये गुण नहीं है तो मानव नहीं है वह पशु है। यम के अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रम्हचर्य और अपरिग्रह है और नियम के अन्तर्गत शौच, सन्तोष तप स्वाध्याय तथा ईश्वर चिन्तन आता है।

अहिंसा

हिंसा तीन प्रकार की होती है शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक। किसी भी प्राणी मात्र को शारीरिक चोट पहुंचाना शारीरिक हिंसा होती है। अपशब्द बोलना, अपमान करना, उपेक्षा करना मानसिक हिंसा है। मन में द्वेष, ईर्ष्या, जलन रखना, अन्तःकरण को मलिन रखना आध्यात्मिक हिंसा है। इन तीनों प्रकार के हिंसा से दूर रहना ही अहिंसा कहलाती है। योग में आध्यात्मिक हिंसा को प्रमुख माना है यानि मन के मलिन होने को प्रमुख माना गया है। अगर एक बार मन मलिन हो गया तो वह जल्दी समाप्त नहीं होता। वह विष की तरह बढ़ता रहता है। जो क्रोध, घृणा, मानसिक अवसाद का कारण भी बन जाता है। वैसे किसी भी प्रकार की हिंसा नहीं करनी चाहिए। मानसिक, शारीरिक और वाचिक हिंसा न करना ही परम अहिंसा है। वैसे हिंसा का विचार तो अति सूक्ष्म विषय है। इसे समझना या समझाना इतना सरल कार्य नहीं है। हम इस सूत्र से समझ सकते हैं। जैसा कर्म और व्यवहार हम सामने वाले से अपेक्षा करते हैं वैसा सामने वाला भी आप से चाहता है यानि जिस व्यवहार से स्वयं को कष्ट होता है वैसा व्यवहार हम न करें। जिस मनुष्य के अन्दर दूसरों के प्रति करूणा, दया

होगी उससे हिंसा कभी नहीं हो सकती। बौद्ध धर्म का प्रथम सूत्र ही अहिंसा है। जब साधक और योगी अहिंसा व्रत को परम दृढ़ कर लेता है तब उसके पास आये हिंसक प्राणियों की भी हिंसा वृत्ति समाप्त हो जाती है। ऐसे बहुत सारे उदाहरण है। योग में मन की मलिनता ही हिंसा मानी गई है। योग का प्रथम चरण अहिंसा से ही प्रारम्भ होता है। योग का कहना है कि जब मन दूषित वृत्तियों से भरा रहेगा तब साधना कैसे होगी। पहले मन के मलिनता को दूर करना होगा। नहीं तो यह विष मन के साथ-साथ पूरे शरीर में फैलने लगता है। मन को स्वच्छ रखने का उपाय है अहिंसक होना, तटस्थ होना। अहिंसा व्रत का पालन वीर-चरित्रवान पुरुषों का काम है। निर्बल, चरित्रहीन और कायर पुरुष कभी भी अहिंसक नहीं हो सकता है। ऐसे लोग ही समाज में हिंसा को प्रोत्साहित करते हैं। वीर, धीर, और योगी ही सच्चे अर्थों में अहिंसक होता है। जो अपने आत्मबल, चरित्रबल से हिंसक प्राणी को भी अहिंसक बना देता है। तथागत इसके प्रबल उदाहरण हैं।

सत्य

सत्य वह है जो मन, वचन और कर्म से वस्तु के यथार्थ रूप में अभिव्यक्त किया जाये। स्वय का ज्ञान जिस प्रकार हुआ उसी ज्ञान को उसी रूप में दूसरों को अवगत कराने के लिए कही गई वाणी तथा कर्म ही सत्य है। मन, वचन के एकरूपता को ही सत्य कहते हैं। जिस वचन से किसी भी प्राणी का अहित नहीं होता उस वचन का प्रयोग करना उचित है। वहीं अहितकारी वचन सत्य प्रतीत होते हुए भी पापजनक हैं। प्राणियों को पीड़ा पहुंचाने या हानि पहुंचाने वाली वाणी कभी भी किसी काल में उचित नहीं है।

सत्य बूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः।।

(मनुस्मृति)

अर्थात् सत्य बोलें। लेकिन प्रिय बोले। अप्रिय सत्य न बोले तथा प्रिय असत्य भी न बोले। सत्य वही सत्य है जो हितकर हो। जिसमें किसी का आत्मिक शारीरिक, मानसिक व सामाजिक का थोड़ा सा भी नुकसान

न हो। सत्य का मार्ग अत्यन्त कठिन है। सभी लोग नहीं चल सकते। असत्य का मार्ग सरल है। लेकिन उसका अन्त बड़ा ही भयानक होता है। सत्य कठिन है। लेकिन अन्त परम शान्ति का है। लेकिन लोक व्यवहार के साथ सत्य को लेकर चलना ही ठीक होता है। देखा जाये तो सत्य अहिंसा का ही आधार है। सत्य कठोर होता है। यह भी सत्य है। लेकिन जिस वाणी से जानबूझकर कष्ट पहुंचाने की भावना हो वह वाणी अर्थात् सत्य उचित नहीं है। सत्य एक प्रकार से कर्तव्य भी है और अहिंसा भी कर्तव्य है। जिन वचनों से पारस्परिक द्वेष बढ़ता है। दुख होता है। धोखा होता है उनको न बोलना उचित है।

अध्यात्म योग का कहना है कि सत्य वचन उत्तम है। हितकारक वचन बोलना सत्य से भी उत्तम है। क्योंकि जिससे सब प्राणियों का हित होता है वही सत्य है। योग साधना के अन्तर्गत चलने वाले प्राणी अथवा योग वचन को पालन करने वाले प्राणी के वचन में ऊर्जा बल का स्वाभाविक प्रवाह होने लगता है। उसके बोले हुए वचन कभी असत्य नहीं होते। उसके द्वारा दिये गये आशीर्वाद और श्राप दोनों ही अपना तत्काल प्रभाव दिखलाते हैं यानि सत्य व्रत के पालन से वाणी में ओज आ जाता है और एक विशेष आकर्षण भी पैदा होता है। जिससे लोग आकर्षित होने लगते हैं। सत्य वचन रूपी ज्ञान-प्रवचन जो साधक संन्यासी देता है वह मनुष्य की आत्मा की गहरायी में उतर जाता है। उसके वचन से वह धीरे-धीरे सत्यमार्गी हो जाता है। आध्यात्मिक हो जाता है।

बुद्ध के प्रवचन और कर्म में सत्य था। उन्होने जो आध्यात्मिक अनुभव किया उसे सत्य रूप से लोगों के सामने रख दिया। वे जो भी बोले वह सत्य ही बोलते थे। जहां सत्य होगा वहीं अहिंसा होगी। उनके सत्य में इतनी शक्ति थी कि लोग उनके अनुयायी बनने लगे। अहिंसा और सत्य के मार्ग पर चलने लगे। चाहे वह राजा हो या गरीब लाचार हो सब उनका अनुशरण करने लगे। इससे बड़ा सत्य का प्रमाण और क्या हो सकता है।

अस्तेय

अस्तेय शब्द भी बड़ा आध्यात्मिक है। स्तेय का मतलब चोरी करना और अस्तेय का मतलब चोरी न करना। चोरी भी हिंसा के अन्तर्गत ही

आता है। चोरी न करना अहिंसा है। अहिंसा शब्द बड़ा व्यापक है। अस्तेय एक प्रकार से सत्य का रूपान्तरण है। जब किसी व्यक्ति की प्रिय वस्तु कोई चुरा लेता है तो यह एक प्रकार का हिंसा है। जिस व्यक्ति की वस्तु चोरी हो जाती है उसके अन्दर कितनी तड़प होती है वह चौबीस घण्टे उसे खोजने में जुटा रहता है। उसे एक प्रकार से आत्मिक, मानसिक कष्ट से गुजरना होता है। सामाजिक, प्राकृतिक अधिकार सभी मनुष्यों को मिला है। उसके अधिकार को बलपूर्वक हरण कर लेना या उसे वंचित कर देना या प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कष्ट देना हिंसा है। स्तेय एक प्रकार से हिंसा के अन्तर्गत ही आता है यानि किसी भी मनुष्य के वस्तु, अधिकार का हनन ही स्तेय है।

अगर विचारपूर्वक देखा जाये तो मानव जीवन का चरम लक्ष्य है आत्मोपलब्धि। जो भी उसके इस आत्मोन्नति के नैसर्गिक अधिकारों का हनन करता है सच में चोर है और है हिंसक। क्योंकि उसके अधिकार का हनन करना, परोक्ष-अपरोक्ष रूप से उसके वस्तु आदि पर अधिकार कर लेना इससे बड़ा पाप कोई नहीं हो सकता। सत्य तो यह है कि जो भी मनुष्य अपने नैतिक कर्तव्य का पालन ठीक-ठाक नहीं करता वह चोर है, स्तेय है। कहने की आवश्यकता नहीं कि मनुष्य को सत्य से, अहिंसा से और अस्तेय से वंचित करने वाला उसका अपना शत्रु उसी के आस-पास ही रहता है। उसका नाम है लोभ और राग। इन दो शत्रुओं के कारण मनुष्य अनुचित आचरण अपनाता है। हर मनुष्य को लोभ और राग रहित होने का अभ्यास करना चाहिए। लोभ का ही दूसरा रूप है त्याग और राग का भी दूसरा रूप है विराग यानि आसक्तहीन होना। केवल व्यवहारिक रूप से नहीं बल्कि मानसिक रूप से भी पालन करना ही अस्तेय है। अगर कोई साधक के अन्दर राग उत्पन्न हो जाता है इसका मतलब है वह पूर्णरूप से अस्तेय को प्राप्त नहीं किया यानि मानसिक रूप से भी इच्छा न हो यानि भावना ही पैदा न हो वह अस्तेय है।

अध्यात्म योग कहता है जो अस्तेय का पूर्णरूप से पालन करता है वह राजा जनक के समान सभी सुखों का भोग करता है और परम ज्ञान और परम त्यागी के समान होता है।

ब्रम्हचर्य

काम के प्रति विरक्त अथवा उसे उदय न होने देना ब्रम्हचर्य कहलाता है। अगर विचारपूर्वक देखा जाये तो जब तक समस्त इन्द्रियों पर नियंत्रण नहीं होता तब तक काम के विकार की उत्पत्ति पर नियंत्रण नहीं किया जा सकता है यानि उसे रोका नहीं जा सकता है। मन हर पल अनियंत्रित होता रहता है। उसे धीरे-धीरे साधा जा सकता है। ब्रम्हचर्य की सफलता के लिए खान-पान और रहन-सहन को उसके अनुकूल बनाना पड़ता है।

ब्रम्हचर्य दो प्रकार का होता है। एक है शारीरिक यानि बाह्य ब्रम्हचर्य और दूसरा है आन्तरिक ब्रम्हचर्य। बाह्य ब्रम्हचर्य से ज्यादा महत्वपूर्ण है आन्तरिक ब्रम्हचर्य। आन्तरिक ब्रम्हचर्य का सीधा सम्बन्ध हमारी ऊर्जा यानि ओज से होता है। सात्विक और आध्यात्मिक पुरुष के चेहरे पर विशेष आभा प्रदीप्त होती रहती है। वहीं कामी पुरुष के चेहरे पर क्रूरता दिखती है और वह आभाहीन होता है। क्योंकि वह हर पल काम चिन्तन से पीड़ित रहता है। योग ऋषि दक्षमुनि का कहना है शारीरिक सम्बन्ध से ज्यादा खतरनाक है काम का चिन्तन। काम चिन्तन से मानव का ओज धीरे-धीरे नष्ट होने लगता है। ओज क्षय होने से विभिन्न प्रकार की शारीरिक और मानसिक व्याधि स्वतः उत्पन्न हो जाती है। जिसके कारण तन और मन को भारी क्षति उठानी पड़ती है समय से पूर्व वृद्धावस्था आ जाता है। हर समय मन उद्विग्न सा बना रहता है।

दक्ष संहिता के अनुसार आठ प्रकार से रहित होना ही ब्रम्हचर्य है। हर समय वासना का चिन्तन करना। उसके विषय में चर्चा करना, स्त्री के साथ क्रीड़ा करना। स्त्री के विभिन्न अंगों को चोरी से देखना। स्त्री के साथ कामजनित बातें करना। हर समय भोग इच्छा के लिए आतुर रहना। राह में चलती स्त्रियों को देखकर अश्लील शब्द कहना आदि। योग का कथन है कि मनुष्य जिस भी उम्र का हो अगर ब्रम्हचर्य का संकल्प लेता है तो उसकी आन्तरिक शक्ति उसी समय से उत्थान करने लगती है। विज्ञान कहता है कि मनुष्य का शरीर जैविक तत्वों से बना है। काम को रोका नहीं जा सकता। यह सत्य है। काम को ऊर्जा कहा गया है कि उसका स्वभाव

ही अधोमुखी है। लेकिन योग के अभ्यास से उसे ऊर्ध्वमुखी बनाया जा सकता है। जैसाकि मैंने पहले कहा है बाह्य काम से ज्यादा खतरनाक आन्तरिक काम है उसे संयमित करना है। जब तक हम मानसिक रूप से दृढ़ नहीं होंगे तब तक हम सफल नहीं हो सकते। हमारे विचार और मन तथा शरीर का सीधा सम्बन्ध हमारे खान-पान यानि आहार से है। जब तक हम रसेन्द्रिय पर नियंत्रण नहीं करते तब तक अन्य इन्द्रियों पर नियंत्रण सम्भव नहीं है। अतः ऐसा आहार नहीं लेना चाहिए जोकि ब्रम्हचर्य अथवा साधना में बाधक हो। तामसिक, राजसिक और उत्तेजक आहार से बचना चाहिए यानि उसका उपयोग नहीं करना चाहिए।

कहने की आवश्यकता नहीं कि किसी भी प्रकार वासना जाग्रत करने वाले शब्द, स्पर्श, रस, गंध आदि विषयों से अपने को दूर ही रखना चाहिए। योग साधना में ब्रम्हचर्य पर विशेष बल दिया गया है। क्योंकि बिना संयम से शरीर, मन, इन्द्रिय को बल तथा सामर्थ्य की प्राप्ति होना सम्भव नहीं है। सांसारिक और पारमार्थिक कोई भी कार्य बिना संयम के सम्पन्न नहीं हो सकता। संयम के ठीक-ठीक पालन से साधक के लिए कुछ भी दुलर्भ नहीं है। सत्य तो यह है कि ब्रम्हचर्य संयम से शारीरिक, मानसिक और सहनशीलता का अद्‌भुत विकास होता है। साधना के लिए सहनशीलता परम आवश्यक है।

शास्त्र में यौवन का सम्बन्ध केवल स्वस्थ सन्तान प्राप्ति के लिए बतलाया गया है। काम सन्तुष्टि के लिए नहीं।

समाज और विज्ञान की भ्रान्त धारणा है कि काम का दमन करने से अनेक रोगों की उत्पत्ति होती है। जो शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए ठीक नहीं है। लेकिन सत्य तो यह है कि मन पर नियंत्रण न होने से शरीर और इन्द्रियां निरंकुश हो जाती है और उसे बलपूर्वक रोकते रहने से हानि की सम्भावना बढ़ जाती है।

खासकर साधकों को अवश्य ध्यान देना चाहिए। वैसे तो हर व्यक्ति को संयम पर अवश्य ध्यान देना चाहिए। थोड़े से संयम से चमत्कारिक प्रभाव देखने को मिलता है। मनुष्य की चंचलता खत्म हो जाती है। खासकर आन्तरिक ब्रम्हचर्य संयम अति आवश्यक है। आन्तरिक संयम से

स्वतः बाह्य ब्रम्हचर्य घटने लगता है। वैसे योगमार्ग हो या तंत्र मार्ग हो उस पर चलने वाले साधकों को खासकर आन्तरिक ब्रम्हचर्य पर विशेष ध्यान देना चाहिए। बाह्य और आन्तरिक ब्रम्हचर्य संयम के बिना साधक परम ज्ञान, कैवल्य आदि की ओर एक कदम भी नहीं बढ़ सकता। इसके दृढ़ होने पर साधक के साधना मार्ग की सारी विघ्न बाधाएं स्वतः ही दूर हो जाती है। वह साधक स्वतः ही सिद्ध मार्ग की ओर अग्रसर होने लगता है।

अपरिग्रह

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद दुखभाग्भवेत् ।।

योग साधना में उपरोक्त श्लोक का काफी महत्व है। सभी सुखी हो, सभी निरोग हो, सभी का कल्याण हो, कोई भी दुख न हो। यह श्लोक ही अपरिग्रह है। अपरिग्रह का अर्थ है जरूरत से ज्यादा धन, सम्पत्ति का संचय न करना, शरीर के प्रति मोह न रखना, भोग विषय से दूर रहना आदि। कहने की आवश्यकता नहीं मानव की तृष्णा का अन्त नहीं है। तृष्णा का कोई अन्त नहीं है हम जितना भी उसके पीछे चलते हैं उतना ही वह आगे बढ़ता जाता है। विषय भोग की तृष्णा कभी भी शान्त नहीं होती।

महर्षि भर्तृहरि का कथन कितना सत्य है भोगों को हमने नहीं भोगा। किन्तु उसने हमें भोग लिया। काल नहीं बीता किन्तु हम बीत गये। तृष्णा समाप्त नहीं हुई बल्कि हम ही समाप्त हो गये। अगर इन शब्दों को गम्भीरतापूर्वक कुछ पल विचार करें तो सारा उत्तर मिल जाता है।

मानव की तृष्णा कभी भी कम नहीं हो सकती परन्तु हां उसे संयमित तो किया जा सकता है। जब तक हम मानसिक, शारीरिक रूप से अपने को संयमित नहीं करेंगे तब तक हम सफल नहीं हो सकते। क्योंकि भोग को हम जितना बढ़ाते जायेंगे उतना ही राग बढ़ता जायेगा।

राग बढ़ने से यानि लालच बढ़ने से भोग सामाग्री संचय करने की प्रवृत्ति भी बढ़ती जायेगी। यही प्रवृत्ति एक दिन हमारे विनाश का कारण बन जाती है। इस संसार में संग्रह करके कोई भी मनुष्य सुखी नहीं हुआ। आवश्यकता से अधिक संग्रह ही नाश का कारण बनता है।

देखा जाये तो अपरिग्रह सभी के लिए आवश्यक है। केवल साधक के लिये ही नहीं। खैर,

योग साधना में साधक को अपरिग्रह पर विशेष ध्यान देना चाहिए। उसे उतना ही संग्रह करना चाहिए जिससे उसका और उस पर आश्रित लोगों का काम चलता रहे। योग कहता है जब साधक को अपरिग्रह सध जाता है। तब वह एक प्रकार से निर्मल होने लगता है जो अन्दर है वही बाहर है। कोई भेद नहीं रहता। वह जगत और स्वयं के प्रति निरपेक्ष भाव से रहता है।

तब उसके अन्दर विशेष क्रान्ति स्वतः ही घटित होने लगती है। ध्यान की अवस्था में उसे भूत, भविष्य की घटना का भान होने लगता है। यहां तक देखा जाता है कि साधक अपने पूर्वजन्म का आभास भी कर लेता है। पूर्व जन्म में वह क्या था स्वप्न के माध्यम से देख लेता है और भविष्य में क्या होगा वह भी जान जाता है। त्रिकालदर्शी का प्रथम चरण भी कह सकते हैं।

यम के विषय में संक्षेप में बतलाया गया है। अब थोड़ा नियम पर विचार कर लेते हैं। नियम को भी योग साधना में पांच प्रकार बतलाया गया है।

शौच

बाहरी और आन्तरिक स्वच्छता को शौच कहा जाता है। हमारे शरीर को स्वच्छ करने के बहुत साधन उपलब्ध हैं और स्वच्छ रहने के लिए हम तरह-तरह के उपाय तो करते रहते हैं। लेकिन आन्तरिक शुद्धता पर हमारा ध्यान कम ही जाता है। जिसे योग में अभ्यान्तर शुद्धि कहते हैं।

अभ्यान्तर शुद्धि तभी सम्भव है जब हम ईर्ष्या-द्वेष, मान-अपमान से परे हो जायें। कोई व्यक्ति मुझसे ज्यादा उन्नति कर लेता है उसके प्रति जलन की भावना न रखना। कोई व्यक्ति अपमान कर दे उससे बदला लेने की भावना का त्याग करना। सभी के प्रति समभाव रखना आदि भावना से चित्त निर्मल होता है। निर्मल चित्त ही एकाग्रता को प्राप्त करता है। यह चित्त शुद्धि अभ्यान्तर शौच कहलाती है।

अभ्यान्तर शौच दृढ़ होने पर रज और तम का आवरण हट जाता

है। वह पूर्णतया सत्व प्रधान चित्त हो जाता है और स्फटिक के समान स्वच्छ और निर्मल हो जाता है। तब चित्त को एकाग्र करना सम्भव हो जाता है। एकाग्र चित्त द्वारा धीरे-धीरे इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना सम्भव हो जाता है। अभ्यान्तर शौच सिद्ध होने पर चित्त एकाग्रता, इन्द्रिय नियंत्रण तथा आत्म साधना का ही परिणाम है आत्म साक्षात्कार। आत्म साधना में सफलता मिलने लगती है। इसलिए साधक को बाह्य और आन्तर शुद्धता पर ध्यान देना चाहिए यानि बाह्य और आभ्यान्तर शौच का सदैव पालन करना चाहिए। क्योंकि स्वच्छता का बहुत ज्यादा महत्व है साधना में। कलुषित तन-मन से साधना सम्भव नहीं है।

सन्तोष

समस्त दुखों का मूल है असन्तोष और सभी सुखों के मूल में है सन्तोष। संतोष रहित चित्त में कभी ज्ञान प्रकाशित नहीं हो सकता। सन्तोष का मतलब आलस्य नहीं है। सन्तोष का अर्थ पुरुषार्थ हीनता नहीं है। हम कुछ प्रयत्न न करें और कहें मैं सन्तोषी हूं यह ठीक नहीं है। अपने प्रयत्न और कर्म को सदैव लक्ष्य रख कर करना चाहिए। अपने प्रयत्न और कर्म पर पूर्व निष्ठा और विश्वास रखने से सन्तोष मिलता है।

सन्तोष के पूर्णरूप से दृढ़ होने पर तृष्णा का शमन होता है। तृष्णा के शमन से ही सुख प्राप्त होता है। तृष्णा बिना उद्देश्य के दौड़ने वाला हिरण है और सन्तोष उद्देश्य के साथ चलने वाला हिरण के समान है। बिना सन्तोष के हम कभी भी अपने उद्देश्य को नहीं प्राप्त कर सकते चाहे कर्म हो या साधना।

दूसरे शब्दों में सन्तोष का लोग विरोध भी करते हैं। उनका कहना है कि विकास रूक जाता है। सन्तोषी मनुष्य अपने को कभी भी बदलने का प्रयास नहीं करता। आवश्यकताओं से स्वयं और समाज का विकास होता है। आवश्यकता अविष्कार की जननी है। यह हम बचपन से सुनते आ रहे हैं। अति आवश्यकता हमें असन्तुष्ट और दुखी बनाती है। आज अशान्ति का मूल कारण है अति-आवश्यकता यानि असन्तोष।

असन्तोष से मानव और समाज का कल्याण कभी भी नहीं हो सकता। असन्तोष से मानव का वास्तविक विकास नहीं हो सकता। मानव

का सही विकास ज्ञान की तरफ चलने में है। उसके लिए साधन रूप से भौतिक वस्तुओं का स्थान हो सकता है।

हम भौतिक वस्तुओं का उतना ही उपयोग करें जितनी हमें आवश्यकता है। जब-जब आवश्यकता बढ़ेगी असन्तोष भी बढ़ेगा और यही असन्तोष हमें अच्छे-बुरे का फर्क नहीं बतलाता। हम कब किधर निकल जाये पता ही नहीं चलता। जब पता चलता है तब काफी देर हो चुकी होती है। तब न शरीर पर नियंत्रण रहता और न मन पर। हम उत्थान की जगह पतन की ओर बढ़ने लगते हैं। सन्तोष का तात्पर्य होशपूर्वक कर्म करना है और सदैव अपने लक्ष्य को सामने रखे एकलव्य की तरह। सफलता अवश्य मिलेगी। लेकिन उस सफलता में होगा मन शान्त और होगा सन्तोष। समाज और परिवार के आगे सिर नहीं झुकेगा। आप आत्म सन्तोष से होंगे पूर्ण। यही सन्तोष का अर्थ है।

तप-स्वाध्याय तथा ईश्वर प्राणिधान

अपने परिस्थिति के अनुसार स्वधर्म पालन करना और उसके पालन में शारीरिक, मानसिक कष्ट को सहर्ष स्वीकार करना ही तप है। व्रत, उपवास आदि भी तप के अंग हैं। निष्काम भाव से तप करने से अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। ईश्वर का मनन-चिन्तन, जप करना स्वाध्याय है। स्वयं के प्रति चिन्तन भी स्वाध्यांय के अन्तर्गत आता है। ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण ही ईश्वर प्राणिधान है।

कुण्डलिनी साधना के मुख्य चार चरण या अंग हैं। आसन, प्राणायाम, ध्यान और समाधि।

आसन

कुण्डलिनी साधना का प्रथम चरण है आसन साधना। योग साधना में आसनों का अपना विशेष स्थान है। बिना आसन सिद्ध किये ध्यान, प्राणायाम और साधना करना सम्भव नहीं है। इसलिए योग में, यम-नियम में आसन को विशेष प्रमुखता दी गई है। जिस प्रकार भवन का नींव मजबूत हो तो भवन भी मजबूत होता है। उसी प्रकार समस्त साधना में आसन का विशेष महत्व है। आसन का तात्पर्य एक अवस्था में काफी

समय तक सुखपूर्वक स्थिर रहना। आसन के साथ-साथ श्वांस-प्रश्वांस का भी महत्व है। किस आसन में श्वांस-प्रश्वांस की क्या स्थिति होगी यह अवश्य जानना चाहिये। प्रत्येक आसन का सम्बन्ध हमारी प्राण ऊर्जा से होता है। हमारी हर मुद्रा का सम्बन्ध श्वांस-प्रश्वांस और प्राण ऊर्जा से होता है। बहुत से लोगों का विचार है कि बचपन से आसन करने से फायदा होता है। उम्र बढ़ने के बाद करने से कोई फायदा नहीं है। यह बात तो सही है बचपन में अगर आसन का अभ्यास किया जाये तो फायदा अवश्य होता है। क्योंकि बचपन में हमारी मांस पेशियां और हड्डी सरलता से मुड़ सकती है। लेकिन अधिक उम्र में ऐसा सम्भव नहीं है। मेरा विचार है जब से आपके अन्दर साधना करने की इच्छा जागृत हो गयी उसी दिन से शुरू कर देना चाहिए।

योग में बहुत सारे आसन हैं जिससे हमारा शरीर सध सकता है। कम से कम पांच आसनं का अभ्यास अवश्य करना चाहिए। आसन का सीधा का सम्बन्ध हमारे मांस पेशियों से भी है। प्रतिदिन आसन का अभ्यास करने से हमारा शरीर स्वस्थ होता है। आलस्य, भारीपन दूर कर हल्का और स्फूर्तिवान बनाता है। आसनों के द्वारा हमारा शरीर धीरे-धीरे साधना करने के योग्य होता है। शीत-गर्म का भी कम प्रभाव डालता है और प्राकृतिक प्रभाव को सहने की शक्ति भी पैदा हो जाती है।

हठयोग प्रदीपिका में आसन का विशेष महत्व दर्शाया गया है। वास्तव में आसन एक ऐसा सुगम्य मार्ग है जिसके द्वारा शारीरिक-मानसिक विकास तो होता ही है साथ ही किसी भी प्रकार की बीमारी से भी दूर रखता है। साथ ही वृद्धावस्था को भी नियंत्रित करता है। मैं भ्रमण काल में जिन साधकों से मिला सभी ने साधना के पूर्व आसन और प्राणायाम पर विशेष दक्षता प्राप्त की थी। उनका कहना था सभी साधना के मूल में शरीर ही तो है। इसकी उपेक्षा कर कब तक रह सकते हैं। इसलिए योग साधना का अभ्यास आवश्यक है। योग साधना के बल पर भूख-प्यास, ठण्ड-गर्म के प्रभाव को घटाया-बढ़ाया जा सकता है। योग-तंत्र की साधना में आसन का विशेष महत्व है।

अगर विचारपूर्वक चिन्तन किया जाये तो यह बात सामने आती है।

मानव तन चौरासी लाख योनियों के अतिक्रमण का परिणाम है। मानव तन चौरासी अंगुल का है। कितना सामंजस्य है चौरासी लाख योनि और चौरासी अंगुल में। आर्षकाल में ऋषियों ने वृक्ष-पर्वत, पशु-पक्षियों का गहन अध्ययन कर आसनों का निर्माण किया। आज जो आसन हम देखते हैं वह गुरु-शिष्य के परम्परागत तरीके से मिला और उसे समय-समय पर परिष्कृत भी किया गया। गर्भासन छोड़ कर सभी आसन पशु-पक्षियों के भाव मुद्रा और उनके रहन-सहन पर ही आधारित हैं। क्योंकि पशु-पक्षी हमसे ज्यादा प्रकृति के निकट हैं।

चौरासी आसनों के विषय में घेरण्ड संहिता, हठयोग प्रदीपिका, शिव संहिता आदि में वर्णन मिलता है। हमें चौरासी आसन की आवश्यकता नहीं है। जिस आसन में हमारा शरीर सध जाये उसे ही करना चाहिए। क्योंकि हर मनुष्य का आकार, व्यवहार अलग होता है। जरूरी नहीं है कि जो आसन हमें ठीक लग रहा है अन्य को भी ठीक लगे। शरीर, उम्र और अवस्था के अनुसार आसन का चयन करना श्रेयष्कर है।

मेरे विचार से सूर्यासन में सभी आसनों का सार मिलता है। इसे सभी उम्र के लोग कर सकते हैं। मेरे विचार से आसनों का अभ्यास किसी योग्य प्रशिक्षक के सान्निध्य में ही करना चाहिए। जब एक बार बाह्य साधना सिद्ध हो जाये जैसा कि मैंने वर्णन किया तब आन्तर साधना मुश्किल नहीं होती। आन्त्रर साधना जैसे-जैसे आगे बढ़ेगी वैसे-वैसे मार्ग स्वतः मिलता जायेगा। यह मेरा अनुभव है बन्धु। पहले एक कदम तो बढ़ायें। शक्तियां आपके अन्दर ही हैं। आसन सिद्धि का सबसे बड़ा महत्व है कि साधक गर्मी-सर्दी, भूख-प्यास आदि के द्वन्द से मुक्त रहता है। उसके अन्दर एक प्रकार से सहन करने की शक्ति प्राकृतिक रूप से आ जाती है। आसन सिद्ध होने की यही पहचान है वह शारीरिक रूप से सहनशील हो जाता है।

आसन का सीधा सम्बन्ध हमारे मन से होता है। आसन एक प्रकार से मानसिक सन्तुलन भी पैदा करता है। मन एकाग्र होता है। आसनों के द्वारा हमारे स्नायु मण्डल को भी शक्ति मिलती है। जिसके द्वारा प्राण का प्रवाह शुद्ध होता है। जिसके कारण मानसिक संकल्प शक्ति प्रबल होती है। आसन सिद्धि का सम्बन्ध मन से है और मन का सम्बन्ध प्राण से है। प्राण का सम्बन्ध कुण्डलिनी उत्थान से और कुण्डलिनी उत्थान का सम्बन्ध

आत्मा से समझना चाहिए। सब एक-दूसरे के पूरक हैं। बिना आसन सिद्ध किये मन और प्राण को सिद्ध नहीं कर सकते हैं। जब तक मन और प्राण सिद्ध नहीं होगा कुण्डलिनी की बात करना व्यर्थ है।

प्राण साधना

आसन साधना के बाद प्राण साधना पर विशेष ध्यान देना चाहिए। कुण्डलिनी साधना का दूसरा चरण है प्राण साधना। बिना प्राण सिद्धि के साधना पथ पर आगे बढ़ना सम्भव नहीं है। ईश्वर का सबसे अद्भुत उपहार है मानव के लिए वह है शरीर और शरीर के संचालन के लिए प्राण है। जिसे हम सदैव प्राकृतिक रूप से लेते रहते हैं। अगर श्वांस लेना एक कार्य होता तो जीवन के सारे कार्य बन्द पड़ जाते। देखा जाये तो प्राण ही जीवन है, प्राण ही समस्त चराचर जगत की रक्षा करने वाली महाशक्ति है। बिना प्राण के कोई भी प्राणी एक पल भी जीवित ही नहीं रह सकता। देखा जाये तो सभी प्राण जीवन के लिए औषधि है।

आज के आधुनिक युग में श्वांस-प्रश्वांस की क्रिया एक प्रकार से विकृत सी हो गयी है। क्योंकि हमारा जीवन एक प्रकार से कृत्रिम होता जा रहा है। जिसके कारण अपार रोग-व्याधि की भरमार होती जा रही है।

वर्तमान युग में डायबिटीज, हार्ट अटैक, मानसिक रोग महामारी की तरह फैल रहा है। इसके मूल में है प्राणों का सही संचालन न होना। जिसके कारण मनुष्य रोग-व्याधि के साथ-साथ अल्पायु भी होता जा रहा है। योग सिद्ध साधक कभी भी अल्पायु नहीं होते थे। जिसका कारण था उनके जीवन में योग का गहरा सम्बन्ध होना।

१९३२ में लीडर नामक समाचार पत्र में एक चीनी व्यक्ति के बारे में समाचार प्रकाशित हुआ था। उस समय यह काफी चर्चा का विषय था। चीन के संगयुआं गांव बानसेन के उत्तर में था। जिसका नाम था लीचिंग युंग। उसकी आयु २५५ वर्ष की थी वह पूर्णरूप से स्वस्थ था। उसने अपने जीवन काल में चार विवाह किया था और अस्सी से ज्यादा सन्ताने थी। जब उनसे दीर्घायु होने का रहस्य पूछा गया तो वह चार बातें बतलाये- पहला चित्त को शान्त रखना, कछुए की तरह श्वांस लेना और दूसरा वज्रासन में बैठना यानि शान्त होकर ईश्वर का ध्यान करना। तीसरा है

कबूतर की तरह सीना तान कर रहना और चलना यानि रीढ़ की हड्डी सीधी रहे। चौथा था श्वान (कुत्ते) की तरह सोना। उसने कहा मेरे दीर्घ जीवन का यही सूत्र है। इसी प्रकार काशी के चर्चित योगी तैलंग स्वामी २८० वर्ष का दीर्घ जीवन जिये। ऐसे साधक आज भी हैं जो दीर्घ जीवन का रहस्य जानते हैं और जी रहे हैं, साधना कर रहे हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि सही श्वांस-प्रश्वांस दीर्घ जीवन का सूत्र है। योग साधना में प्राण पर विजय प्राप्त करने वाली क्रिया को प्राणायाम कहते हैं। योग की पांच बहिरंग साधना में प्राण साधना का महत्वपूर्ण स्थान है। प्राण को साधा जाता है। जिसे प्राण सिद्धि कहते हैं।

प्राण का सूक्ष्म सम्बन्ध मन से समझना चाहिए। प्राण के साधने से मन को साधा जा सकता है। प्राण से ही मन जुड़ा है। प्राण धूरी है और मन उसके माध्यम से चारो तरफ घूमता रहता है। प्राण पर नियंत्रण करने से मन पर नियंत्रण होने लगता है यानि प्राण का नियंत्रण मन का नियंत्रण है। मन पर नियंत्रण आध्यात्मिक विकास के लिए आवश्यक है। मन पर नियंत्रण इतना सरल नहीं है। मन को नियंत्रण करते समय प्राण का अभ्यास करना आवश्यक है। प्राण साधना के पूर्व आसन सिद्ध करना आवश्यक होता है। बिना आसन सिद्ध किए हुए मन की चंचलता बनी रहती है। जिसके कारण प्राण भी चंचल बना रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि बिना आसन को सिद्ध किये प्राण पर नियंत्रण नहीं हो सकता। मन को सिद्ध करने के लिए आसन आवश्यक है यानि शरीर की स्थिरता बहुत ही आवश्यक है अर्थात् शरीर को स्थिर करने के लिए आसन और प्राण के सिद्ध होने पर ही मन स्वतः स्थिर होने लगता है।

पातञ्जल योग, घेरण्ड संहिता, शिव संहिता आदि में प्राण साधना के लिये तीन भेदों का विवेचन मिलता है। (पूरक, कुम्भक और रेचक)

रेचक- रेचक का अभ्यास यानि प्राण को मन्द गति से बाहर निकलना है। शरीर से श्वांस पूरी तरह निकाल देना है। बाह्य वृत्ति को रेचक प्राणायाम कहते हैं।

पूरक- श्वांस को धीरे-धीरे खींचकर रोकना ही पूरक प्राणायाम है। इसे अभ्यान्तर वृत्ति पूरक प्राणायाम कहा जाता है।

कुम्भक- श्वांस को रोक कर त्रिनेत्र पर ध्यान लगाना कुम्भक प्राणायाम कहलाता है। यही स्तम्भ वृत्ति कुम्भक प्राणायाम है।

देखा जाये तो सभी प्राण साधना के मूल में रेचक, पूरक और कुम्भक ही है। रेचक प्राणायाम में प्राण को बाहर निकालते समय प्राण की दूरी का भी अभ्यास करना आवश्यक है और धीरे-धीरे बढ़ाते जाना चाहिए। इस प्रकार से जब रेचक सिद्ध होता है और रेचक का अभ्यास १२ अंगुल तक स्थिर हो जाता है। तब इसे दीर्घ सूक्ष्म कहा जाता है।

रेचक प्राणायाम में इस प्रकार के अभ्यास के द्वारा श्वांस परिधि बढ़ जाती है। उसी प्रकार पूरक प्राणायाम में श्वांस की गहरायी अन्दर तक बढ़ जाती है। कुम्भक का अभ्यास रेचक और पूरक दोनों में माना जाता है।

घेरण्ड संहिता में आठ प्रकार के प्राणायाम का वर्णन मिलता है। १.सहित २. सूर्यभेदी ३. उज्जयी ४. शीतली ५. भस्त्रिका ६. भ्रामरी ७. मूर्छा ८. केवली।

सहित प्राणायाम

पहला प्राणायाम सहित है। सहित प्राण साधना दो प्रकार का होता है। एक सगर्भ और निसर्ग। बीज मंत्र के उच्चारण के साथ किया गया कुम्भक सगर्भ और बिना बीजमंत्र के किया गया प्राणायाम निगर्भ कहलाता है। निगर्भ सहित प्राणायाम में बीज मंत्र का जप नहीं किया जाता है और सगर्भ प्राणायाम में बीज मंत्र का जप होता है। बीज मंत्र के साथ प्राणायाम करना प्रभावशाली बतलाया गया है।

सगर्भ कुम्भक प्राणयाम का अभ्यास पूर्व या उत्तर दिशा की ओर और सुखासन पर बैठ कर रक्त वर्ण स्वरूप 'अं' अक्षर के रूप में ब्रम्हा का ध्यान करना चाहिए यानि बांये नाक से श्वांस लेते हुए 'अं' मंत्र को १६ बार जपें। उसके बाद कुम्भक करने के पूर्व उड्डियान बंध बांधें। इसके बाद साधक श्याम वर्ण स्वरूप सत्वगुण नारायण 'ऊं' के बीज मंत्र का ध्यान और जप करें। ६४ बार कुम्भक करें उसके बाद श्वेत वर्ण स्वरूप तमस गुण शिव का ध्यान कर ३२ बार 'मं' मंत्र का जप करते हुए रेचक करें। वैसे तो प्राण साधना में बन्ध का विशेष महत्व है। पूरक प्राणायाम करते समय मूल बन्ध तथा उड्डियान बन्ध, कुम्भक के समय मूल बन्ध और जालन्धर

बन्ध, रेचक के समय मूल बन्ध तथा उड्डियान बन्ध करना चाहिए। मूल बन्ध प्राणायाम में शुरू से अन्त तक रहता है।

साधक को पहले बिना मंत्र के प्राणायाम करना चाहिए। जब अभ्यास सध जाये तब मंत्र के साथ करना चाहिए। यह एक प्रकार से लोम-विलोम प्राणायाम है। प्रथम बार चन्द्रनाड़ी से श्वांस को अन्दर लें फिर कुम्भक करें फिर सूर्य नाड़ी से श्वांस को बाहर निकालें। उसी प्रकार सूर्य नाड़ी से श्वांस लें कुम्भक करें फिर चन्द्र नाड़ी से बाहर निकालें। अनुपात का अवश्य ध्यान रखें जैसे १६ बार श्वांस लें ६४ बार तक रोके रहें और ३२ बार तक निकालते रहें यानि १–४–२ का अनुपात होना चाहिए।

अधम प्राणायाम के अभ्यास से ज्यादा पसीना निकलता है। मध्यम प्राणायाम के अभ्यास से सुषुम्ना में कम्पन्न जैसा अनुभव होता है तथा उत्तम प्राणायाम में शरीर फूल की तरह हल्का होने जैसा अनुभव होता है यानि श्वांस का लयपूर्वक अभ्यास उत्तम प्राणायाम कहलाता है। प्राणायाम परिपक्वता के बाद मूलबन्ध के साथ करना श्रेयष्कर होता है।

सूर्यभेदी प्राणायाम

दूसरा प्राणायाम सूर्यभेदी प्राणायाम है। तीव्र गति से वायु को दाहिने नथुने यानि सूर्य नाड़ी से श्वांस को खींचे फिर सूर्य नाड़ी को बन्द करें जालंधर बन्ध लगाते हुए रोके रहे फिर बांयें नथुने से यानि चन्द्र नाड़ी से वेगपूर्वक बाहर निकाले। प्रारम्भिक समय में पांच बार ही करें फिर धीरे-धीरे बढ़ाते रहें। इसके अभ्यास से कपाल शुद्धि होती है। पित्त प्रधान व्यक्ति को यह प्राणायाम नहीं करना चाहिए। जहां गर्मी अधिक हो वहां पर भी नहीं करना चाहिए। जाड़े या ठण्ड स्थान पर करना श्रेयष्कर माना गया है। क्योंकि इस प्राणायाम से शरीर में उष्णता की वृद्धि होती है। सूर्यभेदी प्राणायाम ठण्ड में करना चाहिए। चन्द्रभेदी प्राणायाम गर्मी में करना चाहिए। चन्द्रभेदी प्राणायाम से शरीर में शीतलता आती है। चन्द्रभेदी प्रांणायाम चन्द्र नाड़ी यानि बांये नथुने से बलपूर्वक लें। कुम्भक करें फिर सूर्य नाड़ी यानि दाहिने नथुने से छोड़े। सूर्यभेदी प्राणायाम के अभ्यास से जरा पर विजय प्राप्त होती ही है और मस्तिष्क के न्यूरान्स और भी सक्रिय हो जाते हैं। कुण्डलिनी जागरण में भी सहयोग मिलता है। शरीर के उष्णता

से पित्त की शुद्धि होती है। कफ और वात से उत्पन्न रोग भी दूर होते हैं। रक्त दोष, त्वचा सम्बन्धित तथा वायु के दोष भी दूर होते हैं।

उज्जयी प्राणायाम

तीसरा प्राणायाम उज्जयी प्राणायाम है। इस प्राणायाम में वायु मुख से ली जाती है, हृदय में रोका जाता है फिर बांये नथुनों से धीरे-धीरे बाहर निकाला जाता है यानि पूरक मुख से धीरे-धीरे लें फिर कुम्भक हृदय में करें उसके बाद रेचक चन्द्र नाड़ी से धीरे-धीरे बाहर निकाले।

प्राण को कुम्भक द्वारा हृदय से नीचे नहीं जाना चाहिए और रेचक जितना धीरे-धीरे करना चाहिए अर्थात पूरक में वायु मुख में लिया जाता है। मुख से कण्ठ तक और कण्ठ से हृदय तक धारण किया जाता है। इस प्राणायाम से साधक के चेहरे पर दिव्यता, फेफड़े सम्बन्धित दोष दूर होते हैं। खांसी ज्वर आदि भी दूर होते हैं। मन शान्त रहता है। सिर गर्म नहीं होता। धातु के पतन को संयम करता है।

शीतली प्राणायाम

चौथा प्राणायाम शीतली प्राणायाम है। सुखासन में बैठ कर जीभ को पक्षी के चोंच की तरह बनाये धीरे-धीरे वायु को लें जब वायु पेट में भर जाये फिर कुम्भक करें। जितनी बार कर सकें उतनी देर तक करें उस समय मुख बन्द रहना चाहिए। फिर दोनों नथुनों से वायु को धीरे-धीरे बाहर निकाले और धीरे-धीरे बढ़ाते जायें। इस क्रिया से चेहरे पर तेज आता है। रक्त शुद्ध होता है। इस प्राणायाम को अत्यन्त शीतकाल में नहीं करना चाहिए। कफ प्रधान व्यक्ति को भी नहीं करना चाहिए।

शीतली प्राणायाम सिद्धासन, पद्मासन अथवा सुखासन में करना चाहिए। इस प्राणायाम से रक्त विकार दूर होता है। भूख-प्यास पर स्वतः नियंत्रण होने लगता है।

भस्त्रिका प्राणायाम

पांचवां प्राणायाम भस्त्रिका प्राणायाम है। भस्त्रिका प्राणायाम का काफी महत्व है कुण्डलिनी साधना में। इसे करने से रक्त में असीम ऊर्जा का प्रवाह बढ़ जाता है। मूलाधार सक्रिय होने लगता है। जिस प्रकार लोहार अग्नि

को तेज करने के लिए विशेष प्रकार से धौंकनी चलाता है उसी प्रकार इस प्राणायाम को करना चाहिए।

सुखासन में बैठकर जल्दी-जल्दी वायु को अन्दर लें फिर तुरन्त बाहर निकाले यानि रेचक और पूरक एक साथ करें। प्रारम्भिक काल में दस बार के ऊपर न करें धीरे-धीरे बढ़ा सकते हैं। ज्यादा से ज्यादा तीस बार के ऊपर न करें। एक प्रकार से सर्प के फुफकार की तरह वायु की आवाज होनी चाहिए। फिर गहरी श्वांस भरकर कुम्भक करें जितना देर तक आसानी से श्वांस रोक सके उतनी देर तक रोके। उसके बाद वायु को धीरे-धीरे बाहर निकाले यानि दस बार रेचक-पूरक के बाद कुम्भक करें। फिर दस बार करें कुम्भक। एक प्रकार से आवृत्ति है। वैसे तीन बार आवृत्ति करना चाहिए। १० बार के बाद कुम्भक एक आवृत्ति मानी जायेगी। ज्यादातर तीन आवृत्ति ही करें।

भस्त्रिका प्राणायाम, कपाल भाति और उज्जयी का मिश्रण है। उज्जयी और कपाल भाती करने से भस्त्रिका प्राणायाम सरल हो जाता है।

कपाल भाति से हमारे मस्तिष्क को शुद्ध वायु मिलती है उसके न्यूरान्स सक्रिय होते हैं। कपाल भाति सुखासन में बैठकर रेचक-पूरक बार-बार करने से इसमें पेट फूलना पचकाना चाहिए। कपाल भाति में कुम्भक नहीं होता। सिर झुकाकर कपाल भाति नहीं करना चाहिए। सिर सामने रहे रीढ़ की हड्डी सीधी रहे।

भस्त्रिका प्राणायाम हर मौसम में किया जा सकता है। पूर्ण वर्णित प्राणायाम के अभ्यास से भस्त्रिका सहज हो जाता है। यह त्रिदोष नाशक है। रक्त के अवरोध को खत्म करता है ताकि रक्त का सरल प्रवाह शरीर पर्यन्त प्रवाहित होता रहे। यह सभी प्राणायामों में श्रेष्ठ भी माना जाता है। क्योंकि यह प्राणायाम ब्रम्ह ग्रन्थि, विष्णु ग्रन्थि और रूद्र ग्रन्थि का भेदन भी करता है। त्रिबन्ध करने के पूर्व यह प्राणायाम करना चाहिए। त्रिबन्ध भेदन कुण्डलिनी साधना के लिए आवश्यक है और त्रिबन्ध भेदन इसी के द्वारा सम्भव है।

भस्त्रिका प्राणायाम मन को स्थिर करता है और कुण्डलिनी जागरण में अत्यन्त उपयोगी है। कब्ज, कफ नाशक और हृदय रोग को दूर भी

करता है। साथ ही शरीर में उष्णता भी प्रदान करता है। साधक को अपने शक्ति के अनुकूल करना चाहिए। ज्यादा करना नुकसान दायक हो सकता है।

भ्रामरी प्राणायाम

छठवां प्राणायाम भ्रामरी प्राणायाम है। सुखासन या पद्मासन में एकान्त स्थान पर बैठ कर, आंखे बन्द कर, दोनों बौंहों के बीच ध्यान लगाकर साधक को दोनों नथुनों से भौरों की तरह आवाज करते हुए, दीर्घ स्वर में पूरक करना चाहिए। फिर शक्ति के अनुसार कुम्भक करके धीमी गति से मन्द स्वर से ध्वनि करते हुए कण्ठ से रेचक करना चाहिए।

अभ्यास दृढ़ होने पर अनहद स्वर सुनाई पड़ता है। उस अनहद ध्वनि की प्रतिध्वनि भी होती है। जिसमें नील या लाल वर्ण की ज्योति प्रस्फुरित होती है। उस ज्योति में मन को लीन करना चाहिए।

भ्रामरी प्राणायाम जब सिद्ध हो जाता है तो समाधि में सफलता सरलता से प्राप्त हो जाती है। साधक का वीर्य ऊर्जामय और वह स्वयं उर्ध्वगामी होता है।

घेरण्ड संहिता के अनुसार मानव के दीर्घ आयु का सीधा सम्बन्ध श्वांसों से है। श्वांस लेते समय हर मनुष्य में स्वतः सः का उच्चारण होता रहता है। इसी प्रकार श्वांस निकालते समय हं का उच्चारण होता है। इस प्रकार सोऽहं अथवा हंस मंत्र का अजपा स्वतः निरन्तर चलता रहता है। जिसका ज्ञान साधारण लोगों को नहीं पता चलता है। यह जप निरन्तर रूप से श्वांस-प्रश्वांस के साथ चलता रहता है। जो साधक सदैव जाग्रत अवस्था में जपता है वही परमहंस है।

हर व्यक्ति दिन-रात में इक्कीस हजार छः सौ बार श्वांस लेता और अजपा जप करता है यानि प्राकृतिक रूप से होता रहता है। इसे अजपा गायत्री भी कहते हैं। अजपा जप का सीधा सम्बन्ध मूलाधार चक्र, अनहद चक्र तथा आज्ञा चक्र पर प्रभाव पड़ता है।

हमारे श्वांस की बाहरी गति बारह अंगुल की मानी जाती है। गाते समय इसकी गति सोलह अंगुल होती है। भोजन करते समय बीस अंगुल तक जाती है। चलने व व्यायाम करते समय चौबीस अंगुल, निद्रा के समय

तीस अंगुल। मैथुन के समय छत्तीस अंगुल तक बाहर निकलती है। चिन्ता, द्वेष, क्रोध में इसकी मात्रा घटती-बढ़ती रहती है। योग का कहना है बारह अंगुल तक श्वांस बाहर निकाले। प्राणायाम कुम्भक के द्वारा बारह अंगुल से भी कम किया जा सकता है। इससे आयु की वृद्धि होती है। बारह अंगुल श्वांस की स्वाभाविक गति होती है। इसकी गति में वृद्धि होने से आयु क्षीण होती है वृद्धावस्था का प्रभाव भी दिखने लगता है। प्राणायाम तो सभी को करना चाहिए। चाहे संसारी हो या हो साधक यदि शरीर रूग्ण है तो न तपस्या हो सकती है न ही संसार का सुख मिल सकता है। प्राण साधना शरीर और जीवनी शक्ति के लिए औषधि है। प्राण ही आधार है शरीर और संसार के बीच उपरोक्त प्राणायाम स्वास्थ्य के साथ-साथ कुण्डलिनी साधना के लिए परम आवश्यक है।

मूर्छा प्राणायाम

सातवां प्राणायाम मूर्छा प्राणायाम है। यह प्राणायाम भ्रामरी प्राणायाम जैसा ही है। अन्तर इसमें केवल इतना ही है कि दोनों कान, नाक, आंख और मुख पर क्रमशः हाथ के अंगूठे, तर्जनी, मध्यमा, अनामिका तथा कनिष्ठिका रख कर किया जाता है। हठयोग प्रदीपिका के अनुसार पूरक करने बाद जालन्धर बन्ध को लगाकर अपनी ठोड़ी को छाती से स्पर्श करना चाहिए। इसके बाद हल्की-हल्की मूर्छा सी आने लगे तब धीरे-धीरे रेचक करना चाहिए। मन को दोनों भौंहों के बीच लगाना चाहिए। इससे मन की लयावस्था उत्पन्न होती है। यह प्राणायाम आधि-व्याधि को नष्ट करने की महान औषधि है। इस प्राणायाम को योग्य शिक्षक के सान्निध्य में करना चाहिए।

केवली प्राणायाम

आठवां प्राणायाम केवली प्राणायाम है। केवली प्राणायाम में कुम्भक का विशेष महत्व है। वैसे कुम्भक के दो भेद हैं एक है सहित कुम्भक, दूसरा है केवल कुम्भक। सहित कुम्भक में पूरक और रेचक जुड़ा रहता है। लेकिन केवल कुम्भक में पूरक और रेचक नहीं होता। सहित कुम्भक को सिद्ध किये बिना केवल कुम्भक सिद्ध नहीं हो सकता है। इसलिए केवल कुम्भक के पहले सहित कुम्भक को सिद्ध करना आवश्यक है।

हठयोग प्रदीपिका में भी कहा गया है कि केवल कुम्भक रेचक और पूरक के बिना ही सुखपूर्वक वायु को धारण करने को कहते हैं। इसमें त्रिबन्ध लगाने की क्रिया है यानि जालन्धर बन्ध, उड्डीयान बन्ध और मूल बन्ध के साथ अपान वायु मूलाधार से ऊपर उठाई जाती है नाभि के पास स्थिर किया जाता है तब जाकर केवल कुम्भक होता है। थोड़ी सी भी असावधानी से लाभ के जगह हानि भी हो सकती है।

उपरोक्त आठों प्राणायाम कुण्डलिनी साधना के लिए महत्वपूर्ण है। जिसे ये आठों प्राणायाम सिद्ध हो जाते हैं उसके लिए कुछ अप्राप्य नहीं रहता। कुण्डलिनी जागरण की बाधाएं समाप्त हो जाती हैं। इसके द्वारा समस्त आधि-व्याधि नष्ट हो जाते हैं और षट्चक्र भेदन करने की शक्ति भी प्राप्त होती है।

ये सभी प्राणायाम किसी योग्य शिक्षक के सान्निध्य करना चाहिए। जिससे सफलता अवश्य सुनिश्चित होगी।

नाड़ी शोधन

योग साधना में नाड़ी शोधन पर विशेष बल दिया गया है। घेरण्ड संहिता के अनुसार शरीर में मल से पूर्ण नाड़ियों में प्राण वायु प्रवेश नहीं हो सकती। प्राण साधना से पूर्व नाड़ी शोधन अति आवश्यक है। नाड़ी शोधन दो प्रकार की होती है समानु और निर्मानु। समानु में बीज मंत्र द्वारा शोधन होता है और निर्मानु में षट्कर्म द्वारा। जैसे धौती, बस्ती, नेति, लोलिकी, त्राटक तथा कपाल भाति आदि।

नाड़ी शोधन साधक अपनी उम्र और सुविधानुसार कर सकता है। वैसे योग में निर्मानु क्रिया का प्रयोग होता है और तंत्र में समानु क्रिया का। दोनों का उद्देश्य नाड़ी शोधन ही है यानि नाड़ी में प्राण वायु का प्रवाह निरन्तर चलता रहे। बिना प्राण वायु के कुण्डलिनी उत्थान नहीं हो पाता। यही कारण है कि योग हो या तंत्र प्राण साधना पर विशेष बल दिया गया है।

पद्मासन या सुखासन पर बैठ कर आकाश यानि धूर्म रंग स्मरण कर 'यं' बीज मंत्र का जप करें। ६४ बार रेचक यानि वायु को रोके रहें। फिर ३२ बार रेचक यानि जप करते समय वायु को बाहर निकाले दाहिने

नासिका से। प्राण वायु का स्थान सम्पूर्ण शरीर में होता है। निराकार अनन्त आकाश का ध्यान करते हुए करना चाहिए।

अग्नि तत्व का स्थान नाभि क्षेत्र है। सिन्दूरी रंग का यानि अग्नि तत्व का स्मरण करते हुए दाहिने नासिका से श्वांस खींचते हुए अग्नि बीज मंत्र 'र' का १६ बार जप करें। ६४ बार कुम्भक बीज मंत्र जपते हुए बांये नासिका से ३२ बार वायु को निकाले यानि रेचक करना चाहिये। उसी तरह पृथ्वी तत्व का स्मरण कर 'लं' मंत्र का भी जप करें। दोनों की विधि एक ही है। क्योंकि अग्नि का आधार पृथ्वी तत्व ही है। बाद में दोनों मिश्रित तत्व पर ध्यान केन्द्रित करें।

इस तरह भी कर सकते हैं 'र' से श्वांस ले फिर कुम्भक करें 'लं' बीज से रेचक करें श्वांस को बाहर निकाले। नासिका के अग्रभाग पर चन्द्रमा के प्रकाश पर ध्यान केन्द्रित करते हुए १६ बार बीज मंत्र 'ठ' का जप करते हुए बांयें नासिका से श्वांस लेते हुए और ६४ बार 'ठ' मंत्र का जप करते हुए सोचें कि चन्द्रमा का मधुर प्रकाशरूपी अमृत शरीर के समस्त नाड़ियों में प्रवाहित हो रहा है और सभी नाड़ियों को शुद्ध कर रहा है। उसके बाद ३२ बार पृथ्वी बीज मंत्र 'लं' का जप करते हुए दाहिने नासिका से रेचक यानि वायु को बाहर निकाले।

योग-तंत्र में प्राणायाम के पूर्व तीनों प्राणायाम से नाड़ी शोधन होता है। इसके बाद नियमित प्राणायाम करना चाहिए। वैसे योग में बाह्य क्रिया का महत्व ज्यादा है। वहीं तंत्र में आन्तरिक क्रिया का महत्त्व ज्यादा है। बीज मंत्रों द्वारा, भावना द्वारा नाड़ी शोधन किया जाता है। जिसका प्रभाव हमारे आन्तरिक शरीर पर पड़ता है। वैसे दोनों का अपना-अपना स्थान है और है महत्व। वैसे प्राणायाम के मूल में है कुम्भक। जो दो प्रकार का होता है। पहला बाह्य कुम्भक है यानि पूरे श्वांस को बाहर निकाल कर बन्ध लगा कर कुम्भक करें। यह बाह्य कुम्भक है। उसी प्रकार पूर्ण श्वांस भरकर बंध लगा कर कुम्भक करें। जिसे आन्तरिक कुम्भक कहते हैं।

प्राणायाम करते समय मन यानि चित्त शून्यवत् होना चाहिए। जब तक चित्त एकाग्र नहीं होगा प्राणायाम को सफल नहीं माना जा सकता। मन की एकाग्रता से प्राण साधना जल्दी सिद्ध होती है। कुण्डलिनी साधना के

अनुसार प्राण का स्थान भौतिक शरीर अर्थात् अन्नमय कोश नहीं है। भौतिक शरीर केवल आधार है इसका स्थान प्राणमय कोश है। यह अन्नयमय कोश से भी सूक्ष्म है। उसके भीतर स्थित रहकर समस्त कार्य सम्पादन करता है। प्राणमय कोश के द्वारा ही प्राण प्रवाह समस्त शरीर के अंगों में होकर प्रवाहित होता रहता है और अनेक प्रकार से शक्ति प्रदान भी करता है। अनेक नामों से जाना जाता है। वैसे प्राण दस प्रकार के होते हैं- प्राण, अपान, समान, उदान, वयान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त तथा धनञ्जय। इन दसों का शरीर में अपना-अपना स्थान है। प्रथम पांच प्राणवायु अभ्यान्तर यानि आन्तर शरीर में अवस्थित होते हैं और नागादि अन्तिम प्राणवायु बाह्य शरीर में अवस्थित होते हैं।

प्राण का स्थान हृदय, अपान का गुदा, समान का नाभि, उदान का कण्ठ, वयान का समस्त शरीर में स्थान होता है। श्वांस क्रिया प्राण के द्वारा, मल निष्कासन क्रिया अपान के द्वारा, पाचन क्रिया समान के द्वारा, भोजन निगलना उदान के द्वारा तथा रक्त संचालन क्रिया वयान के द्वारा होती है। खांसी और डकार लेना नाग, पलक झपकाना क्रिया कूर्म के द्वारा, छींकना आदि कृकट के द्वारा, जम्हाई लेना देवदत्त और सम्पूर्ण शरीर स्थल में व्याप्त रहना धनञ्जय प्राण का कार्य है। वैसे नाग चेतना, कूर्म नेत्र ज्योति, कृकर भूख-प्यास, देवदत्त जम्हाई तथा धनञ्जय प्राण शब्द उत्पन्न करता है। जैसे-जैसे शरीर क्षीण होने लगता है उपरोक्त प्राण शरीर से निकलने लगता है या शरीर रूग्ण होने लगता है। तब प्राण में अवरोध आ जाता है। वह अपना कार्य बन्द कर देता है। शरीर से सभी प्राण निकल जाते हैं मृत्यु के समय। लेकिन धनञ्जय प्राण सबसे अन्तिम में छूटता है। यह आत्मा के साथ निकलता है अगले शरीर में प्रवेश करने के लिए।

प्राकृतिक रूप से शरीर में जो कार्य नहीं हो रहा है यह अवश्य समझ लेना चाहिए वह प्राण कहीं अवरूद्ध हो रहा है। वैसे योग के समस्त साधना में प्राण साधना मुख्य है प्राण साधना से ही प्राण शक्ति नियंत्रित होती है। यह केवल वायु का नियंत्रण नहीं है। वह एक प्रकार से सूक्ष्म शक्ति पर नियंत्रण है। देखा जाये तो प्राण और श्वांस में अन्तर है। श्वांस मानव सामान्य रूप से लेता रहता है। प्राण सामान्य रूप से उसके साथ प्रवेश करता रहता है।

वैसे प्राण साधना से वायु में प्राण शक्ति बढ़ जाती है। जैसे विद्युत और विद्युत की गति में अन्तर है उसी प्रकार प्राण और वायु में अन्तर समझना चाहिए। लेकिन दोनों का एक-दूसरे से गहरा सम्बन्ध है। उसी प्रकार प्राण और वायु को भी समझना चाहिए। प्राण वायु के माध्यम से शरीर अपना कार्य करता है। प्राणायाम से बढ़कर कोई तप नहीं है। जिस प्रकार अग्नि में तपकर स्वर्ण का मल नष्ट हो जाता है उसी प्रकार प्राण साधना से नाड़ियों का मल नष्ट होता है और चित्त शुद्ध हो जाता है।

प्राण साधना मन को स्थिर करके धारणा शक्ति प्रदान करता है। जब साधक को प्राण सिद्धि प्राप्त हो जाती है तब स्वतः उसके मुख पर तेज आ जाता है। दिव्य दृष्टि, दिव्य श्रवण, वाक सिद्धि, सूक्ष्म शरीर सिद्धि गमन तथा समस्त व्याधि से मुक्त रहता है। रूग्ण व्यक्ति पास हो या दूर अपने प्राण शक्ति व संकल्प शक्ति से उसमें अपने प्राण प्रवाहित कर उसे रोग मुक्त भी कर सकता है। भारत में प्रसिद्ध सन्त-साधक अपने प्राण शक्ति द्वारा लोगों का भला किये ऐसा जनश्रुतियों द्वारा पता चलता है।

चक्र साधना में प्राणायाम द्वारा मन, प्राण केन्द्रित कर उन्हे जाग्रत किया जा सकता है। बिना प्राण सिद्धि के चक्र भेदन सम्भव नहीं है।

कहने का तात्पर्य यह है कि प्राण सिद्धि अति आवश्यक है। चक्रों के जाग्रत करने और उनके ऊर्जा को नियंत्रण करने के लिए चक्रों के उत्थान और ऊर्जा को प्राण साधना द्वारा ही नियंत्रित किया जा सकता है।

प्रत्याहार

प्रत्याहार को योग का एक विषय मान कर या पढ़ कर छोड़ देते हैं। आपको यह अवश्य जानना चाहिये समस्त साधना का मूल है आन्तर जगत में प्रवेश करना। बिना आन्तर जगत के प्रवेश के बिना हम विराट शक्तियों को कभी भी जान नहीं सकते।

प्रत्याहार साधना समस्त साधना का प्रवेश द्वार है यानि बाह्य और आन्तर जगत का केन्द्र है। योग के पांच बहिरंग साधना में प्रत्याहार पांचवां साधन है। देखा जाये तो प्राण साधना का परिणाम ही प्रत्याहार है। प्राण साधना के बाद ही साधक योग्य होता है प्रत्याहार साधना के लिए।

प्राण साधना से हमारे शरीर के समस्त नस, नाड़ी शुद्ध हो जाते हैं।

सभी मल नष्ट हो जाते हैं। तब मन स्वतः ही सक्रिय हो जाता है आन्तर जगत में प्रवेश करने के लिए। तब प्रत्याहार साधना द्वारा उसके मार्ग को प्रशस्त किया जाता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त न होकर चित्त में लीन होना ही प्रत्याहार है। जब तक इन्द्रियां मन में लीन नहीं हो जाती तब तक प्रत्याहर की सिद्धि नहीं समझी जा सकती है। प्रत्याहार के अभ्यास से बहिर्मुख इन्द्रियों का अन्तर्मुख होना होता है। योग साधना में प्रत्याहार का अर्थ है बहिर्जगत से अन्तर्जगत में प्रवेश करना या जाना। प्रत्याहार से इन्द्रियां पूर्णरूप से मन के अधीन हो जाती हैं। जो प्रबल अभ्यास से ही सम्भव है। वैसे सामान्य व्यक्ति इन्द्रियों के वश में होता है। इन्द्रियां जैसा कहती हैं व्यक्ति वैसा ही करता जाता है। जहां इन्दियां जायेंगी वहां मन भी जायेगा। जहां मन जायेगा वहां इन्द्रियां भी जायेंगी। यह क्रम जीवन भर चलता रहता है। यही दुख, क्लेश का कारण भी है। देखा जाये तो मन के संयोग से ही इन्द्रियां सक्रिय हो जाती हैं। कभी-कभी हम वो ध्वनि नहीं सुन पाते या कोई दृश्य नहीं देख पाते सामने होते हुए भी उसका कारण है इन्द्रियां तो देख रही हैं, सुन रही हैं। परन्तु वहां मन नहीं होता। मन के संयोग से ही इन्द्रियां सक्रिय होती हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि मन विवश हो जाता है। वह जितना भी हटना चाहे उतना ही फंसता जाता है। उस समय मन और शरीर दोनों विवश हो जाते हैं। इन्द्रियां प्रबल हो जाती हैं। यह मन की विवशता है। लेकिन प्रत्याहार साधना से यह सम्भव है। मन और इन्द्रियों को वश में किया जा सकता है।

प्रत्याहार सिद्ध साधक जिस शब्द को सुनना चाहेगा तभी सुनेगा। जिस दृश्य को देखना चाहेगा तभी देखेगा। जिस गन्ध को सूंघना चाहेगा तभी सूंघेगा। वैसे प्रत्याहार की साधना कठिन है। लेकिन साधक जब प्रत्याहार साध लेता है तब मन और इन्द्रियां किसी भी विषय की ओर आकृष्ट नहीं हो पाती। प्रत्याहार साधना से मन और इन्द्रियां साधक के नियंत्रण में हो जाती है। प्रत्याहार सिद्ध साधक सूक्ष्म विषयों को भी देखने में समर्थ होता है। उसकी इन्द्रियों की शक्ति क्षीण नहीं होती बल्कि वे तो

पूर्ण स्वस्थ होने के कारण पूर्ण सामार्थ्यवान हो जाती है। वह मन के नियंत्रण में हो जाती है और मन साधक के नियंत्रण में।

उदाहरण के तौर पर इसे ऐसे समझा जा सकता है। जैसे सम्मोहन कर्ता किसी व्यक्ति को सम्मोहित करता है। वह व्यक्ति की इन्द्रियां और मन को सम्मोहित करता है। सम्मोहनकर्ता जैसा कहता है वैसा ही सम्मोहित व्यक्ति करता है। देखा जाये तो उसका सम्बन्ध बाह्य जगत से एकदम नहीं रहता। उसका चित्त स्वनियंत्रित नहीं रहता। सम्मोहित व्यक्ति के हाथ पर अग्नि भी रख दे फिर भी उसे अग्नि का आभास नहीं होगा। लेकिन प्रत्याहार साधक का चित्त उसके नियंत्रण में होता है। वह अपनी इन्द्रियों पर पूरा नियंत्रण रखने के कारण जिन विषयों को वह देखना, सुनना, सूंघना, स्वाद आदि का अनुभव करना चाहेगा कर लेगा। जब तक सम्मोहनकर्ता नहीं चाहेगा सम्मोहित व्यक्ति न सुन सकता, न देख सकता, न ही स्वाद का अनुभव कर सकता है। सम्मोहनकर्ता जैसा आदेश देगा वह वैसा ही सुनेगा, देखेगा, गन्ध, स्वाद आदि का अनुभव करेगा।

प्रत्याहार सिद्ध साधक का भी यह हाल होता है। बिना उसकी इच्छा से इन्द्रियां विषयों को ग्रहण नहीं कर सकती। दोनों में इतना अन्तर स्पष्ट है कि एक व्यक्ति दूसरे के अधीन है उसका शरीर, मन और इन्द्रियां आदि रहती है किन्तु दूसरे में शरीर, इन्द्रियां आदि स्वयं उसके अधीन रहती हैं।

प्रत्याहार सिद्ध साधक पूर्णरूप से जितेन्द्रिय होता है। एक प्रकार से आन्तर जगत में प्रवेश मार्ग प्रशस्त हो जाता है साधक के लिए।

योग साधना यम, नियम, प्राणायाम और प्रत्याहार आदि बहिरंग साधना से साधक का चित्त और शरीर पूर्णतया निर्मल भी हो जाता है। चेतना का प्रवाह समस्त शरीर में प्रवाहित होने लगता है। तब आन्तर साधना यानि धारणा, ध्यान और समाधि साधना के लिए पूर्णतया योग्य हो जाता है।

धारणा

चित्त वृत्तियों का निरोध ही योग साधना है। साधक को सर्वप्रथम बाह्य विक्षेपों को दूर करना आवश्यक है। क्योंकि बाह्य विक्षेप यानि काम, क्रोध, राग-द्वेष, लोभ, मोह आदि हमारे चित्त को विक्षिप्त करते हैं।

प्रत्याहार साधना सिद्ध होने पर साधक बाह्य आकर्षण से एक प्रकार से मुक्त हो जाता है। वह परमहंस अवस्था को हो जाता है उपलब्ध।

कुण्डलिनी साधना के लिए उपरोक्त साधना आवश्यक है। बिना इन योग अंगों को साधे अगर साधक सीधे ध्यान करता है तो उसमें सफलता सम्भव ही नहीं है। योग की समस्त साधना ही मुक्ति और परमज्ञान का सोपान है। वैसे बहुत से साधक भी हुए हैं जिनकी साधना पूर्व जन्म से ही चली आ रही है। ऐसे लोग बचपन से ही विरक्त, वैरागी स्वभाव के होते हैं। ऐसे लोग उच्चावस्था प्राप्त होकर जन्म लेते हैं। उन्हे प्रारम्भिक अवस्था से चलने की आवश्यकता नहीं पड़ती। क्योंकि वे अपना मार्ग पूर्ण करके ही पुनः जगत में जन्म लिये होते हैं। ऐसे साधकों के चमत्कार और सिद्धि जग जाहिर है। वैसे योग साधना एक जन्म की नहीं होती।

धारणा का तात्पर्य एकाग्रता से समझना चाहिए। जब तक मन एक लय में एकाग्र नहीं होगा तब तक ध्यान को उपलब्ध नहीं हो सकता। ध्यान लय है और समाधि है उस लय में पूर्णरूप से डूब जाना है यानि बाह्य जगत का भान ही न रहे। वह आन्तर भाव में लीन हो जाये वह समाधि है।

योग विज्ञान के अनुसार मन को पूर्णरूप से स्थिर करना सम्भव नहीं है। उच्चतम् अवस्था में भी मन चलता रहता है। इसलिए धारणा का तात्पर्य है मन की गति का एक सीमा में नियमन है। परन्तु योग के साधना से मन को मनोनिग्रह की स्थिति में पहुंचाया जा सकता है और उस उच्चतम् अवस्था में पहुंचने पर मन पूर्णरूप से स्थिर हो जाता है।

धारणा द्वारा ही षट्चक्र भेदन होना सम्भव है। एक-एक चक्रों की धारणा करते हुए उसी ज्योतिर्मयी उर्ध्वगामी धारा की धारणा के द्वारा आज्ञा चक्र तथा सहस्रार चक्र तक पहुंचा जा सकता है। नब्बे मिनट तक प्रतिदिन धारणा करने पर साधक दिव्य दृष्टि को उपलब्ध हो सकता है।

जलाशय, पहाड़, अग्नि, दीपक, शब्द आदि पर मन एकाग्र करना या स्थिर करना यह बाह्य धारणा है। उसी प्रकार नेत्र बन्द करके आन्तर धारणा करना ज्यादा श्रेयष्कर है। अपने इष्ट, गुरु, नाभि, हृदय, दोनों भौं के बीच नील ज्योति पर मन एकाग्र करना आन्तर धारणा है।

ध्यान

कुण्डलिनी साधना का तीसरा चरण ध्यान है। योग साधना में ध्यान का महत्वपूर्ण स्थान है। बिना ध्यान के आत्मा के स्वरूप का ज्ञान सम्भव नहीं है। धारणा समाधि का प्रवेश मार्ग है और ध्यान समाधि में प्रवेश कर लीन होने का मार्ग है और ध्यान की पराकाष्ठा समाधि है।

कहने की आवश्यकता नहीं मानव एकमात्र ऐसा प्राणी है जो बुद्धिजीवि और हृदयजीवि प्राणी है। मनुष्य के चिन्तन का आधार उसकी प्रतिभा है। सांसारिक ज्ञान के लिए वह अपने मस्तिष्क का प्रयोग करता है। और अपनी भौतिक कामनाओं के लिए भी इसी का प्रयोग करता है। लेकिन आध्यात्मिक ज्ञान और विकास के लिए हृदय का उपयोग करता है। देखा जाये तो मस्तिष्क इन्द्रियजन ज्ञान का आधार है और इसकी सहायता से बड़ी से बड़ी सांसारिक उपलब्धियां प्राप्त होती है। मानसिक क्षमता का विकास करके मानव विज्ञान की चरम अवस्था को प्राप्त कर चुका है और अपने चारो तरफ सारी सुख-सुविधा जुटा चुका है या जुटा रहा है। भौतिक सुख के लिए पृथ्वी के अलावा, आकाश, ग्रहों पर भी अपना प्रभुत्व बना रहा है और विध्वंस के सारे सामान की भी व्यवस्था करता जा रहा है और कर भी चुका है। जहां से उसे वापस लौटना सम्भव नहीं है। इस प्रकार मानव, मस्तिष्क की असाधारण ऊंचाईयां को स्पर्श कर लिया है। लेकिन उसका सबसे महत्वपूर्ण केन्द्र हृदय है जिससे वह काफी दूर होता जा रहा है।

मानव का अन्तःप्रेरणा केन्द्र मात्र हृदय है। मानव और उसके व्यक्तित्व के विकास का सर्वाधिक महत्वपूर्ण केन्द्र है हृदय। मानव के सद्वृत्तियों का विकास हृदय ही है। हृदय रक्त प्रवाह का केन्द्र है। जो मानव के सम्पूर्ण तंत्र को शुद्ध करता है। इसीलिए नाभि ब्रम्हा स्थान यानि विकास का मार्ग और हृदय विष्णु का स्थान यानि सन्तुलन का, कण्ठ प्रदेश शिव है जहां से आत्मा मुक्त होकर परमतत्व में विलीन हो जाती है। इसलिए योग में ध्यान का स्थान हृदय स्थल कहा गया है।

अध्यात्म आत्मा पर आधारित ज्ञान है। जो मानव को शरीर और मन की सीमा का अतिक्रमण कर आत्मा के क्षेत्र में ले जाता है। सीमित को असीमित से जोड़ने वाली कड़ी को ही अध्यात्म कहते हैं। इसका सम्बन्ध

शरीर से न हो कर मन और आत्मा से है। मन का शुद्धिकरण ही भावातीत अवस्था है और इस अवस्था के लिए जो विधि है वह है ध्यान।

ध्यान का सम्बन्ध मन से है। क्योंकि मन ही हमारे सारे कर्म और शरीर का नियंत्रक है। जो भी कार्य हम करते हैं उसका सूक्ष्म रूप मनः शरीर में उत्पन्न होता है यानि उसका बीज रूप मन में पैदा हो जाता है और उसके बाद भौतिक शरीर द्वारा ही पूर्ण होता है। योग साधना के द्वारा इसे नियंत्रित करने की जो विधि है वह है ध्यान। ध्यान ही वह आधार है जो मन को परिष्कृत कर आत्म तल तक पहुंचाता है यानि ध्यान को छोड़ कर कोई भी मार्ग नहीं है आत्म ज्ञान को उपलब्ध होने के लिए।

कुण्डलिनी साधना में छः चक्रों का जो विवेचन है उसमें ध्यान के लिए अनाहद चक्र यानि हृदय चक्र को महत्वपूर्ण बतलाया गया है। हृदय ध्यान के लिए इसलिए महत्वपूर्ण बतलाया गया क्योंकि उसका सम्बन्ध सभी कोशिकाओं और चक्रों के केन्द्र स्थल से है। रक्त कोशिकाओं में जो रक्त प्रवाहित हो रहा है उसका सम्बन्ध सूक्ष्म और स्थूल रूप से समस्त शरीर से है। हृदय हमारे भाव का उद्‌गम स्थान है और भाव का साधना में महत्वपूर्ण स्थान है मस्तिष्कजन्य विचार का नहीं। हृदय की पवित्रता सम्पूर्ण शरीर को पवित्रता प्रदान करती है। आध्यात्मिकता की नींव प्रेम है और प्रेम आत्मा का परम धर्म है और प्रेम का स्थल हृदय क्षेत्र है। आध्यात्मिक विकास में प्रेम, श्रद्धा की उत्पत्ति हृदय में होती है। संसार में जिन लोगों को सफलता मिली है उसमें हृदय का महत्व अवश्य रहा होगा। आत्मज्ञान के क्षेत्र में सफलता के लिए आत्म विश्वास आवश्यक है और आत्म विश्वास हृदय की दृढ़ता द्वारा ही पैदा होता है। जिसका हृदय दिव्य भाव से भरा है उसका संकल्प भी प्रबल होता है। इसलिए ध्यान की प्रथम साधना विष्णु पद हृदय से ही प्रारम्भ करना चाहिए। वैसे ध्यान छः चक्रों पर होता है। लेकिन ध्यान की प्रारम्भिक अवस्था हृदय ही है। क्योंकि हृदय भाव का स्थान है। बिना भाव के कुछ भी पाया नहीं जा सकता है। भाव ही समस्त साधना का मूल है।

वैसे ध्यान करने की बहुत सारी विधि प्रचलित है। बाह्य ध्यान और आन्तर ध्यान उसका वर्णन धारणा और ध्यान के वर्णन में किया जा चुका है। अब ध्यान पर कुछ विस्तारपूर्वक चर्चा कर लेते हैं।

कुण्डलिनी साधना में प्राणायाम और ध्यान का प्रमुख स्थान है। दोनों में सतत अभ्यास की आवश्यकता है। दोनों क्रिया बाह्य से आन्तर में प्रवेश की क्रिया है। वैसे देखा जाये तो कुण्डलिनी साधना प्राण, मन और आत्मा की साधना है। जहां तक कुण्डलिनी का प्रश्न है वह हठ योग, राज योग और ज्ञान योग का समन्वय रूप है यानि साधना है।

हठ योग द्वारा प्राण साधना, राज योग द्वारा मन की साधना और ज्ञान योग के द्वारा आत्मा की साधना है। हठ योग का सीधा सम्बन्ध प्राणायाम से है। हठ योग का तात्पर्य श्वांस-प्रश्वांस से समझना चाहिए। हकार श्वांस, उकार प्रश्वांस का बोधक है। श्वांस का मतलब प्राण से है और प्रश्वांस का मतलब अपान से है। हठ शब्द का प्रयोग इड़ा-पिगला के लिए भी किया जाता है। 'ह' यानि इडा नाड़ी और 'ठ' यानि पिगला नाड़ी। श्वांस का प्रवाह इडा नाड़ी में और प्रश्वांस का प्रवाह पिगला नाड़ी में होने के कारण सम्भवतः हठ शब्द का प्रयोग इन दोनों नाड़ियों के लिए किया गया है। तीसरी महत्वपूर्ण नाड़ी है सुषुम्ना। यह नाड़ी शून्य नाड़ी है। शून्य शब्द शक्ति वाचक है। अतः सुषुम्ना शक्तिवाहिनी नाड़ी है। इस नाड़ी में शक्ति का प्रवाह माना जाता है। शक्ति का मतलब चेतना से समझना चाहिए।

मानव शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियों का विशाल जाल फैला है। सुषुम्ना मार्ग से शक्ति प्रवाहित होकर चेतना के रूप में बहत्तर हजार नाड़ियों में फैली रहती है। प्राणायाम के द्वारा प्राण की साधना हठयोग का मुख्य लक्ष्य है यानि प्राण साधना से चेतना के द्वारा कुण्डलिनी जागरण समझना चाहिए।

नाथ सम्प्रदाय में हठयोग साधना को प्रमुखता दी जाती है। उनके मत के अनुसार प्राण ही आधार है समस्त साधना का। नाथ सम्प्रदाय प्राण साधना का विशेष महत्व है।

देखा जाये तो राज योग का विषय है ध्यान। ध्यान का सीधा सम्बन्ध मन से समझना चाहिए। ध्यान के द्वारा मन पर अधिकार प्राप्त करना राज योग का परम उद्देश्य है।

आन्तर जगत में प्रवेश के लिए ध्यान ही एकमात्र साधन है यानि ध्यान की चरम अवस्था ही आन्तर जगत में प्रवेश का मार्ग है और यही

एकमात्र कारण है कि सभी सम्प्रदाय और धर्म ध्यान को स्वीकार करते हैं। जीवन में आनन्द का मार्ग ध्यान से ही होकर जाता है। परम अवस्था उपलब्ध होने के लिए ध्यान ही एकमात्र साधन है।

ध्यान का अपना विज्ञान है। उसे गहरायी से समझना होगा। ध्यान की पहली अवस्था बैखरी का सम्बन्ध वाणी जगत से है और मध्यमा का सम्बन्ध विचार जगत से समझना चाहिए और तीसरी अवस्था पश्यन्ति है। पश्यन्ति का सीधा सम्बन्ध भाव जगत से है। वहां विचारों के भाव उत्पन्न होते हैं। देखा जाये तो तीनों अवस्था वाणी के तीन तल है। पहला है बोलने का तल और दूसरा है विचार का तल और तीसरा है भाव का यानि दर्शन का तल। पश्यन्ति का तात्पर्य देखना जहां शब्द का साकार रूप है। वह है भाव जगत इसलिए साधना में भाव की प्रधानता है। भाव ही सर्वोपरि है। यह तीसरी अवस्था है।

ऋषियों ने कहा है कि वे वेदों के दृष्टा हैं। उन्होने वेदों के एक-एक अक्षर अथवा शब्दों को देखा। उन्होने यह नहीं कहा कि उन्होने वेदों को सुना। जहां विचार चित्रों की भांति दिखते हैं, सुनाई देते हैं। तीसरी अवस्था पूर्ण नहीं है। एक चौथी अवस्था है वह है परा। परा ही भावातीत जगत है। जहां विचार दृश्य रूप से न दिखलायी पड़ते हैं और न ही सुनायी पड़ते हैं। परा ही शब्द शक्ति का केन्द्र है। जहां से भाव, विचार और शब्द के रूप में प्रगट होते हैं।

ध्यान साधना का एक और तल है जो चौथे जगत के पार है जिसे ध्यान जगत कहते हैं। चारों अवस्थाओं के पार ध्यान जगत में हमारी आत्मा निवास करती है। देखा जाये तो हमारा सारा जीवन शब्दों में उलझ कर ही समाप्त हो जाता है। हमारा सारा जीवन बाहर ही बीत जाता है। महल है। लेकिन हम द्वार पर ही पूरा जीवन बिता देते हैं। जीवन का वास्तविक सुख और आनन्द बाहर नहीं है हमारे भीतर ही है। इसलिए योग साधना हो या तंत्र साधना सभी ने एक स्वर में कहा- अन्दर पहुंचने का कोई साधन है तो वह है ध्यान की साधना। ध्यान ही एकमात्र परम मार्ग है। अपार आनन्द भीतर है। हम क्षणिक आनन्द के लिए अमूल्य समय और शरीर व्यर्थ गवां देते हैं।

जिसे हम जीवन कहते हैं। वह संसाररूपी बाजार के अलावा कुछ नहीं है। यहां पर केवल लेना-देना है। कुछ अपना नहीं है। ऐसा जीवन परेशानी, चिन्ता और खालीपन के अलावा कुछ भी नहीं है।

ध्यान हमारे जीवन की उस आयाम की खोज है जहां केवल हम होते हैं। एकमांत्र हम जहां आलौकिक आनन्द है उसके अलावा कुछ भी नहीं। ध्यान विधि है और समाधि है उपलब्धि। बस दोनों में यही अन्तर है। जिस प्रकार निद्रा और ध्यान में है। ध्यान का निराकार और साकार से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह केवल आन्तर जगत में प्रवेश मार्ग का माध्यम मात्र है। ध्यान है विषय वस्तु रहित प्रगाढ़ निद्रा की भांति। जिस प्रकार निद्रा की अवस्था में तन-मन का होश नहीं रहता उसी प्रकार ध्यान की अवस्था में होता है। निद्रा में चेतना नहीं है और ध्यान में चेतना पूर्णरूपेण है। मन संसार का द्वार है। ध्यान निर्वाण का द्वार। मन जिसे खोता है ध्यान में वह मिल जाता है। ध्यान अवस्था में हम होशपूर्वक प्रवेश करते हैं। जब वापस आते हैं तो बदल कर आते हैं। नये रूप में आते हैं लेकिन निद्रा में ऐसा नहीं होता। आकार या निराकार पर ध्यान करते-करते डूब जाओ और कर जाओ प्रवेश आन्तर जगत में यही ध्यान है।

समाधि प्रसंग

कुण्डलिनी साधना का चौथा चरण समाधि है। जिस प्रकार राज योग का विषय ध्यान है। उसी प्रकार ज्ञान योग का विषय समाधि से समझना चाहिए। समाधि की गहन अवस्था में ही आत्म जगत में प्रवेश किया जाता है। यहां प्रवेश करते ही सारे रहस्यमय सत्य को एकबारगी में प्रगट कर देता है यानि इस अवस्था के उपलब्ध होते ही प्रकृति के सारे रहस्य प्रगट हो जाते हैं। जिससे वह अनजान रहता था। इसे ही परम ज्ञान की अवस्था कहते हैं।

कुण्डलिनी की साधना एकमात्र प्राण, मन और आत्मा की साधना है और उसका साधन है प्राणायाम, ध्यान और समाधि। कुण्डलिनी साधना हठ योग, राज योग और ज्ञान योग. का समन्वय योग है। इसलिए कुण्डलिनी को महायोग भी कहते हैं। सभी कर्मो का योग ज्ञान में ही होता है। भगवान श्रीकृष्ण का कहना है कि 'सर्वकर्माविलं पार्थ! ज्ञाने परिसमाप्यते'

यानि जगत में जितने भी ज्ञान उपलब्ध हुए हैं वे सब समाधि द्वारा ही उपलब्ध हुए हैं। इसलिए ज्ञान योग समाधि का विषय है। योग अथवा तंत्र में जितनी भी साधना भूमि या अवस्थाएं हैं उसमें समाधि को सर्वोच्च और अन्तिम अवस्था यानि बहिरंग और अंतरंग साधना की अन्तिम और महत्वपूर्ण अवस्था मानना चाहिए। उसके बाद ही निर्वाण, मोक्ष, परमपद, कैवल्य आदि की अवस्था समझनी चाहिए।

वास्तव में आत्मा की सम्पत्ति 'स्व' का ज्ञान है। जिसे योग में आत्म ज्ञान या परम ज्ञान कहते हैं यह परम ज्ञान समाधि की अवस्था में आप की अपनी सम्पदा है। जिसके एकमात्र स्वामी आप होते हैं यानि पहले आप इन्द्रियों के दास थे अब इन्द्रियां आपके वश में हैं। आप सहज हो गये। इसलिए संन्यास में एक शब्द है स्वामी यानि साधक। आत्म जगत में जो प्रवेश कर उसका अतिक्रमण कर लेता है वही स्वामी होता है यानि मन और इन्द्रियां उसके वश में होती है। लेकिन यह इतना सरल नहीं है। सतत साधना के बाद ही ऐसी अवस्था को उपलब्ध हुआ जा सकता है।

कुण्डलिनी साधना के शोध और अध्ययन के दौरान बहुत सारे साधकों से सत्संग लाभ हुआ। उसी का परिणाम है कुण्डलिनी साधना। वैसे समाधि की बहुत सारी अवस्थाएं हैं। लेकिन उनमें से जो साधना के लिए हैं उन समाधियों का वर्णन कर रहा हूं जो अति आवश्यक है। वैसे ध्यान की गहन अवस्था समाधि है। वैसे धारणा, ध्यान, समाधि एक ही अवस्था है। उत्तरोत्तर विकसित रूप है। तीनों में एकाग्रता के भिन्नता के कारण भेद है। एकाग्रता की निम्नतम् अवस्था धारणा से प्रारम्भ होती है तथा ध्यान की अवस्था को पार करती हुई समाधि अवस्था तक पहुंच जाती है। योग में इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को संयम कहते हैं।

कुण्डलिनी साधना में समाधि चार प्रकार की बतलायी गयी है। जड़ समाधि, प्राणमय समाधि, मनोमय समाधि और आत्ममय समाधि।

जड़ समाधि जमीन के अन्दर गुफा आदि या एकान्त स्थान में लगायी जाती है। इसका सम्बन्ध स्थूल शरीर से समझना चाहिए। इस समाधि में नाड़ी तन्तु शुद्ध होते हैं। मस्तिष्क में प्राण वायु का संचार होता है। जब यह समाधि सिद्ध होती है तो स्वतः ही साधक प्राणमय समाधि

में प्रवेश करता है यानि जड़ समाधि का सम्बन्ध स्थूल शरीर से है। उसी प्रकार प्राणमय समाधि का सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर से है। प्राणवहा नाड़ियां शुद्ध हो जाने पर साधक को सूक्ष्म शरीर का आभास हो जाता है। वह जो भी चिन्तन करता है दृश्यवत् उसके सामने आ जाता है। वह भौतिक शरीर से देखता है और अनुभव करता है तो भौतिक शरीर के प्रति आकर्षण कम हो जाता है। वह दोनों शरीर में समान रूप से जीने लगता है। प्राणमय समाधि का सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर से समझना चाहिए। जब सूक्ष्म शरीर का साधक अतिक्रमण कर लेता है तब उसे मनोमय शरीर का ज्ञान हो जाता है। इसे ही मनोमय समाधि कहते हैं।

मनोमय समाधि की भी दो अवस्थाएं हैं। सविकल्प अवस्था और निर्विकल्प अवस्था। सविकल्प अवस्था का सम्बन्ध चेतन मन से और निर्विकल्प अवस्था का सम्बन्ध अवचेतन मन से है। सविकल्प अवस्था में परिपक्व हो जाने पर निर्विकल्प अवस्था में प्रवेश होता है। यह साधक की परम अवस्था है। क्योंकि इसी अवस्था में साधक को अपने आत्म शरीर का बोध होता है। आत्म शरीर में रह कर जिस समाधि को उपलब्ध होता है वह है आत्ममय समाधि।

इसी को धर्ममेद्य समाधि कहते हैं। यह कुण्डलिनी साधना की सर्वोच्च अवस्था है। यही सामरस्य भाव है। चारो समाधियों का सम्बन्ध क्रम से स्थूल जगत, सूक्ष्म जगत, मनोमय जगत और आत्म जगत से समझना चाहिए। नरमेद्य समाधि प्राप्त योगीगण के मस्तिष्क में बीटा, डेल्टा और थीटा तरंगे निकलती रहती हैं। जो ब्रम्हाण्डीय ऊर्जा के सम्पर्क में आकर विशेष प्रकार से चुम्बकीय तरंगे उत्पन्न करने लगती हैं। योगीगण ब्रम्हाण्डीय ऊर्जाओं से सम्पर्क स्थापित कर लेते हैं। इच्छानुसार किसी भी लोक को देख सकते हैं और आवश्यकतानुसार सम्पर्क भी कर लेते हैं और पहुंचने में भी सक्षम होते हैं।

पुनरूक्त दोष

अनादि अनन्त संसार में हमारी जीवन यात्रा कब से प्रारम्भ हुई है यह न बतलाया जा सकता और न समझाया जा सकता है। हमारी यात्रा कहां जाकर समाप्त होगी यह भी बतलाया नहीं जा सकता। लेकिन हम

अपने जन्म-जन्मान्तरों में करोड़ों कर्म इकट्ठा कर लेते हैं। हर जन्म का कर्म इकट्ठा होता चला जाता है। हम उसके बोझ तले दबते चले जाते हैं। लेकिन कर्मो से छुटकारा मात्र साधना से ही प्राप्त कर सकते हैं यानि जब तक स्व का ज्ञान न हो कर्म बन्धन से छुटकारा पाना सम्भव नहीं है। स्व की अवस्था हमें केवल समाधि के द्वारा ही उपलब्ध होती है। हमारे लिए सबसे सरल बात यह है कि कर्म और धर्म दोनों से बंधे रहते हैं। हम जो करते हैं वह है कर्म। हमारा स्वभाव ही हमारा धर्म है।

कर्म का तात्पर्य यह है कि हम अपने से अतिरिक्त किसी अन्य से जुड़ जाते हैं और धर्म का अर्थ है हमारा आन्तरिक स्वभाव और गुण। कर्म में गल्ती होती है। लेकिन धर्म में नहीं। हम जितना कर्म में उलझते जाते हैं हमारा आंतरिक स्वभाव दबता जाता है यानि हमारा होना भी और अन्त में ऐसी स्थिति आ जाती है कि हम भूल जाते हैं कि कर्म के अतिरिक्त भी कुछ है। हम अपना जो भी परिचय देते हैं वह हम अपने कर्मो का देते हैं कभी अपने स्व का परिचय नहीं देते। क्योंकि उसका हमें ज्ञान ही नहीं होता है।

केवल हम इतना ही जानते हैं हम क्या कर सकते हैं और क्या कर रहे हैं? हम बराबर कर्म ही एकत्र करते जा रहे हैं। बाहर तो कर्म ही हो रहा है। न जाने कितने कर्म किये जा रहे हैं और उन कर्मो की छाया स्मृति और उसके संस्कार हमारे आत्म परत अथवा आत्म पटल पर अंकित होते जा रहे हैं। आज जो कर रहे हैं वही कल भी किया। यही कर्म जन्म-जन्मान्तर से करते चले आ रहे हैं। इसलिए जीवन में ऊबन (बोरियत) भरा रहता है। क्योंकि कुछ नया नहीं होता। योग में एक शब्द है पुनरूक्त यानि जीवन भर दोहराया जा रहा है यानि पूरा जीवन पुनरूक्त दोष से भरा है। इसी को भारतीय मनीषियों ने 'आवागमन' कहा है यानि पिछले जन्म में वही कर्म, वर्तमान जन्म में भी वही कर्म और अगले जन्म में भी वही कर्म। वही क्रोध, घृणा, धन कमाना, बाल-बच्चे पैदा करना आदि। इसी को संसार कहते हैं यानि चक्र जो अपनी धूरी पर निरन्तर घूमता रहता है।

कर्म से कर्म नहीं कटता। वह कटता है अकर्म से और अकर्म उपलब्ध होता है समाधि से।

अकर्म का तात्पर्य है जिसमें कर्ता का भाव अथवा बोध न हो। समाधि में कर्ता रहता ही नहीं है। हम समाधि की स्थिति में चेतना की उस अवस्था में पहुंचते हैं जहां केवल होना ही है। जहां करने का भाव ही नहीं होता। जहां होने के भाव का केवल अस्तित्व है।

उस क्षण हमें पता चलता है कि जो कर्म किया था उसे हमने किया ही नहीं था। कुछ कर्म थे जिसे शरीर ने किया और कुछ कर्म थे जिसे मन ने किया था। हमने तो कुछ किया ही नहीं। यही अकर्म अवस्था है। ऐसा बोध एकमात्र समाधि में होता है और इसी बोध के साथ ही समस्त कर्मों का जाल कट जाता है समाधि में। यहीं आत्म भाव का जन्म होता है। यहीं आत्म भाव का बोध होता है। आत्म भाव का मतलब समस्त कर्मों का कट जाना। आत्म भाव के अभाव के ही कारण हमें भ्रम होता है कि हमने कर्म किया। हम जो भी कर्म करते हैं या तो शरीर तल या मन तल द्वारा ही होता है अथवा इन्द्रियों के कारण होता है।

शरीर की प्रेरणा द्वारा किया गया कर्म शारीरिक कर्म और मन की प्रेरणा द्वारा किया गया कर्म मानसिक कर्म कहलाता है। लेकिन आत्मा साक्षी भाव से सब अन्तर्भूत करती रहती है। जब आप आत्म भाव को उपलब्ध होंगे तब आपको पता चलेगा कि आत्मा की उपस्थिति में सारे कर्म घटित हुए जीवन में। लेकिन उसका किसी कर्म में प्रवेश नहीं था। किसी भी कर्म में उसका मोह भी नहीं था। वह केवल साक्षी थी।

समाधि में जब हम आत्मभाव को उपलब्ध होते हैं उस दिन हम सारे कर्मों से मुक्त हो जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि कर्मों ने हमें बांधा नहीं है। हम बन्धन महसूस करते हैं। जब आत्म तल पर हम पहुंचते हैं। तब भान होता है हम तो बंधे ही नहीं थे। यह तभी होगा जब आप साक्षी भाव को होंगे उपलब्ध। चाहे वह कैसा भी कर्म हो साक्षी भाव को ही होना होगा उपलब्ध। कर्ता भाव को हटाना होगा। आप कर्ता नहीं हैं आप अपने कर्मों के साक्षी हैं। यही साक्षी भाव आपको निरपेक्ष बनायेगा। आत्म तल का प्रथम सोपान है यही समाधि भाव है। समाधि एक या दो घण्टे की नहीं है। यह चौबीस घण्टे की साधना है। इसमें निरन्तर डूबे रहना है। आन्तर द्वार कब खुल जाये कहा नहीं जा सकता है।

नींद से जागने की अवस्था और समाधि में प्रवेश की अवस्था देखा जाये तो एक समान ही होती है। नींद के आगोश में हम कब चले जाते हैं पता ही नहीं चलता। उसी प्रकार समाधि के समय हम कब आन्तर जगत में प्रवेश कर जाते हैं पता नहीं होता। लेकिन वह अवस्था जाग्रत ही होती है।

जिस प्रकार जागने पर स्वप्न असत्य सा प्रतीत होता है उसी प्रकार समाधि से वापस आने पर जगत का सत्य खुल जाता है। सारे जगत का सत्य सामने होता है। इतना ही नहीं पूर्व जन्म के भी सत्य प्रगट हो जाते हैं। उस समय जीवन और शरीर का मूल्य समझ में आता है। पश्चाताप के अलावा कुछ भी नहीं रहता। उस समय एक ऐसी अवस्था उत्पन्न होती है। जिसे परम वैराग्य कहते हैं। जिस प्रकार आत्मा तृप्त होकर स्वच्छ और निर्मल हो जाती है। पतञ्जली योग में इसी परम वैराग्य की चर्चा की है। वह यही परम वैराग्य है।

यहां पर प्रसंगवश चर्चा करना उचित समझता हूं। योग में कैवल्य शब्द का प्रयोग है। ज्यादातर साधक इससे परिचित भी होंगे। वास्तव में कैवल्य न कोई पद है न ही कोई विशेष योगिक अवस्था। यह बोध का विषय है। समाधि को उपलब्ध योगी पहली बार जानता है या बोध होता है मैं केवल हूं अनन्त जन्मों के कर्म हुए हैं स्वप्न की तरह। न वह दुखी होता है, न ही पश्चाताप होता है और न ही आत्म प्रशंसा रह जाती है। सारा कुछ विलीन हो जाता है उस अवस्था में।

अब केवल 'मैं हूं'। जिस समय सारा जीवन और सारे कर्म स्वप्न के समान प्रतीत होते हैं उस अवस्था में केवल 'मैं हूं' का बोध रह जाता है। योगी का न जीवन रह जाता है न ही कर्म यदि कुछ शेष रह जाता है तो केवल मात्र 'वह' रह जाता है। यही केवल शब्द 'कैवल्य' शब्द में परिवर्तित हो गया। जहां कर्म, भाव, विचार भी शेष न रह जाये बस रह जाती है आत्मा।

इसी कैवल्य में सर्वप्रथम अपने आपका और अपनी अवस्था का बोध होता है यानि केवल मैं और कुछ भी नहीं। यदि विचारपूर्वक देखा जाये तो समाधि योग साधना का महत्वपूर्ण स्थान है। जहां सारे कर्म नष्ट हो जाते

हैं। तब धर्म का उदय होता है तब हमें पता चलता है जो हम हैं, जो हमें होना है, जो हमारा स्वभाव है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि हमारा होना अथवा हमारा स्वभाव ही हमारा धर्म है। जिसका ज्ञान और बोध हमें तब होता है जब सारे कर्म कट जाते हैं। हम निरपेक्ष हो जाते हैं यानि स्वभाव ही धर्म का उदय है। इसलिए योगीगण इस समाधि को धर्ममेघ समाधि कहते हैं। इसलिए सभी समाधियों में धर्ममेघ सामधि को उत्तम बतलाया गया है।

वास्तव में आत्मा का परम धर्म है स्व का ज्ञान। इसी स्व ज्ञान को योगीगण आत्म ज्ञान और परम ज्ञान कहते हैं। यही परम ज्ञान समाधि की अवस्था में उपलब्ध आपकी सम्पदा है। जिसके एकमात्र स्वामी आप होते हैं। इसी को धर्ममेघ समाधि कहते हैं। योग कहता है कि इस समाधि द्वारा हजारों जन्मों की वासनाओं का समूल नष्ट हो जाता है। कुण्डलिनी साधना की गहरी चिन्तन है इस विषय में। पाप-पुण्य दोनों का समूल यानि आपने जो अच्छा किया था वह भी और जो बुरा किया था वह भी। दोनों का समूल नष्ट हो जाता है।

संसार की भाषा में पाप-पुण्य, अच्छा-बुरा समाज की दृष्टि में ठीक है। लेकिन कुण्डलिनी साधना की दृष्टि में पाप-पुण्य दोनों व्यर्थ हैं। क्योंकि उसकी दृष्टि में कर्ता होना ही सबसे भारी पाप है और अकर्ता होना पुण्य है। जो अकर्ता है वही सिद्धावस्था को प्राप्त करता है। वही कैवल्य को उपलब्ध होता है।

◆◆◆

मूलाधार चक्र

नाम - मूलाधार चक्र	दलों के अक्षर - वँ, शँ, षँ, सँ	देव - ब्रह्मा	ध्यानफल -
स्थान - योनि	नामतत्व - पृथिवी	देवशक्ति - डाकिनी	वक्ता, मनुष्यों में श्रेष्ठ,
दल - चतुर्थ	दल - लँ	यंत्र - चतुष्कोण	सर्वविद्या, विनोदी, आरोग्य,
वर्ण - रक्त	बीजकावाहन - ऐरावत हाथी	ज्ञानेन्द्रिय - नासिका	आनन्दचित्त, काव्य प्रवंध में
लोक - भूः	गुण - गन्ध	कर्मेन्द्रिय - गुदा	समर्थ होता है।

स्वाधिष्ठान चक्र
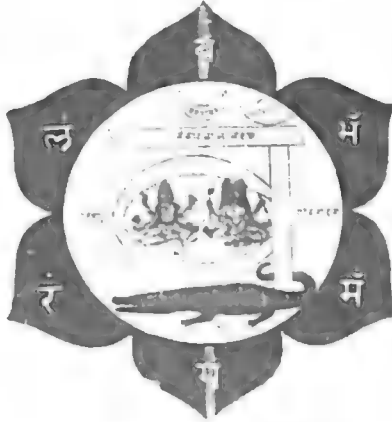
नाम - स्वाधिष्ठान चक्र	दलों के अक्षर - वँ से लँ तक	देव - विष्णु	ध्यानफल -
स्थान - पेडू	नामतत्व - जल	देवशक्ति - राकिनी	अहंकारादि विकार नाश,
दल - षष्ठ	दल - वँ	यंत्र - चन्द्राकार	योगियों में श्रेष्ठ, मोहरहित
वर्ण - सिन्दुर	बीजकावाहन - मकर	ज्ञानेन्द्रिय - रसना	और गद्य-पद्य की रचना
लोक - भुवः	गुण - रस	कर्मेन्द्रिय - लिंग	में समर्थ होता है।

मणिपुर चक्र
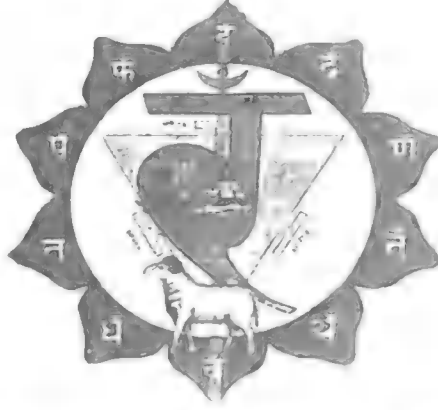
नाम - मणिपुर चक्र	दलों के अक्षर - डँ से फँ तक	देव - वृद्धरुद्र	ध्यानफल -
स्थान - नाभि	नामतत्व - अग्नि	देवशक्ति - लाकिनी	संहार पालन में समर्थ, वचन
दल - दश	दल - रँ	यंत्र - त्रिकोण	और रचना में चतुर हो जाता
वर्ण - नील	वीजकावाहन - मेष	ज्ञानेन्द्रिय - चक्षु	है एवं उसके जिह्वा पर सरस्वती
लोक - स्वः	गुण - रूप	कर्मेन्द्रिय - चरण	निवास करती है।

अनाहद चक्र
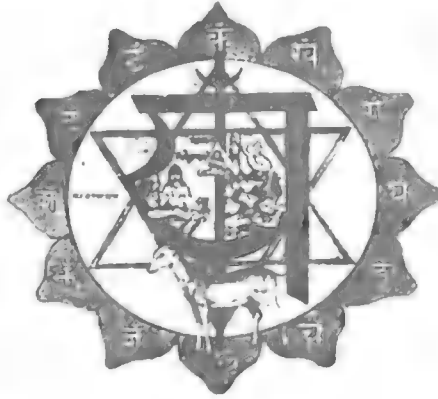
नाम - अनाहद चक्र	दलों के अक्षर - कँ से ठँ तक	देव - ईशानरुद्र	ध्यानफल -
स्थान - हृदय	नामतत्व - वायु	देवशक्ति - काकिनी	वचन रचना में समर्थ, ईशत्व सिद्धि-
दल - द्वादश	दल - यँ	यंत्र - षटकोण	प्राप्त, योगीश्वर, ज्ञानवान, इन्द्रियजीत,
वर्ण - अरुण	वीजकावाहन - मृग	ज्ञानेन्द्रिय - त्वचा	काव्यशक्ति वाला होता है और पर
लोक - महः	गुण - स्पर्श	कर्मेन्द्रिय - कर	कायाप्रवेश करने को समर्थ होता है।

विशुद्ध चक्र

नाम - विशुद्ध चक्र	दलों के अक्षर - अ से अः तक	देव - पन्चवक्त्र	ध्यानफल -
स्थान - कण्ठ	नामतत्व - आकाश	देवशक्ति - शाकिनी	काव्य रचना में समर्थ, ज्ञानवान,
दल - षोडश	दल - हँ	यंत्र - गोलाकार (शून्य)	उत्तम वक्ता, शान्तचित्त, त्रिलोकदर्शी,
वर्ण - धूम्र	बीजकावाहन - हस्ती	ज्ञानेन्द्रिय - कर्ण	सर्व हितकारी, आरोग्य, चिरजीवी
लोक - जनः	गुण - शब्द	कर्मेन्द्रिय - वाक	और तेजस्वी होता है।

आज्ञा चक्र
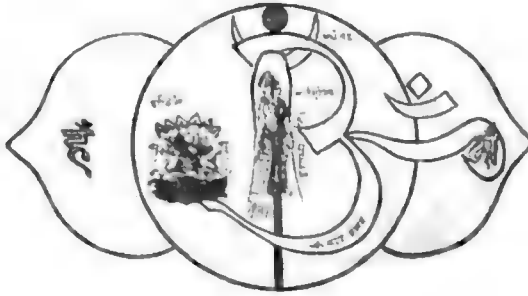
नाम - आज्ञा चक्र	दलों के अक्षर - हँ, क्षँ	देव - लिंग	ध्यानफल -
स्थान - भ्रूमध्य	नामतत्व - महत्तत्व	देवशक्ति - हाकिनी	वाक्य सिद्धि
दल - द्विदल	दल - ओ3म्	यंत्र - लिंगाकार	प्राप्त होती है।
वर्ण - श्वेत	बीजकावाहन - नाद	लोक - तपः	

सहस्त्रार चक्र

विसर्ग - परमशिव

नाम - शून्यचक्र	दलों के अक्षर - अँ से क्षँ तक	देव - परब्रह्म	ध्यानफल -
स्थान - मस्तिष्क	नामतत्व - तत्वातीत	देवशक्ति - महाशक्ति	अमर, मुक्त, उत्पत्ति पालक
दल - सहस्त्र	तत्वबीज - विसर्ग	यंत्र - पूर्णचन्द्र निराकार	में समथ, आकाशगामी
लोक - सत्यः			और समाधियुक्त होता है।

अहो स्वजनभाग्यस्य यथावत्तत् क्षयं भवेत्।।34।।
अतो ब्रह्मविदां द्वेषो न कर्त्तव्यः शुभेच्छुभिः[2]।
निन्दा चैव न कर्त्तव्या हितमेव समाचरेत्।।।35।।

अपने कुटुम्बों के भाग्य की तरह उनका भी ह्रास होता है। अतः जो अपनी भलाई चाहते हों, वे ब्रह्मज्ञानियों से द्वेष न करें. उनकी निन्दा न करें; केवल भलाई का कार्य करें।

ये स्तुवन्त्यनुमोदन्ति ददत्यस्मै मनीषिणः।
तत्पुण्यमखिलं लब्ध्वा तद्गतिं प्राप्नुवन्त्यपि।।36।।

जो उनकी स्तुति करते हैं; उनका समर्थन करते हैं, उन्हें दान देते हैं वे बुद्धिमान् व्यक्ति अपने सभी कर्मों से उनके पुण्यों को पाकर उनकी गति को भी प्राप्त करते हैं।

ज्ञात्वा तमेवमात्मानं कृत्यं कुरु निरन्तरम्।
एतेनैव तवाभीष्टं भविष्यति न संशयः।।37।।

उसी आत्मा को जानकर लगातार कर्म करो। इसी से तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध होगा, इसमें सन्देह नहीं।

त्यज[1] दुर्जनगोष्ठीषु विहारेच्छां समाचर।
हितमेव सतां नित्यमहिंसातत्परो भव।।38।।

दुर्जनों की गोष्ठी में स्वच्छन्द होकर रंगरेलियाँ मनाने की इच्छा न करो; प्रतिदिन सज्जनों के कल्याण की बात करो और अहिंसा के लिए कमर कस लो।

तत्प्राप्तिसाधनान्यष्टौ तानि वक्ष्यामि तच्छृणु।
यमो नियमसंज्ञश्च आसनं च तृतीकम्।।39।।
प्राणायामश्चतुर्थश्च प्रत्याहारश्च पञ्चमः।
धारणा च तथा ध्यानं समाधिरिति सत्तम।।40।।

हे सत्तम! उस श्रीराम को पाने के आठ साधन हैं, जिन्हें सुनो– यम, नियम और तीसरा आसन, चौथा प्राणायाम, पाँचवाँ प्रत्याहार इसके बाद धारणा, ध्यान और समाधि।

---

1. घ. त्यजन्।

प्रत्येकमेषां वक्ष्यामि लक्षणानि च सुव्रत।
तद्विविच्य प्रवक्ष्यामि तत्तल्लक्षणमप्यहो।।41।।

हे सुव्रत! इनके प्रत्येक का लक्षण मैं कहूँगा फिर उनका विवेचन कर उनका लक्षण कहूँगा।

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम्।
क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चेति यमाः दश।।42।।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, कोमलता, क्षमा, धैर्य, मिताहार, शौच ये दश यम हैं।

सर्वेषामपि जन्तूनामक्लेशजननं पुनः।
वाङ्मनः कर्मभिर्नूनमहिंसेत्यभिधीयते।।43।।

सभी प्राणियों को वचन, मन एवं कर्म से कष्ट न पहुँचाना अहिंसा कही जाती है।

यथादृष्टश्रुतार्थानां स्वरूपकथनं पुनः।
सत्यमित्युच्यते धीरैस्तद् ब्रह्मप्राप्तिसाधकम्।।44।।

जैसा देखा गया हो और सुना गया हो, उसी रूप में यदि पुनः कहा जाये तो उसे धीरों ने सत्य कहा है, यह सत्य ब्रह्म की प्राप्ति का साधक है।

तृणादेरप्यनादानं परस्य चेत् तपोधन।
अस्तेयमेतदप्यङ्ग ब्रह्मप्राप्तेः सनातनम्।।45।।

हे अंग! सुतीक्ष्ण! दूसरे का घास तक नहीं लेना अस्तेय है, जो ब्रह्म की प्राप्ति का सनातन साधन है।

अवस्थास्वपि सर्वासु कर्मणा मनसा गिरा।[1]
स्त्रीसंगतिपरित्यागो ब्रह्मचर्य्यं प्रशिक्षते।।46।।

सभी अवस्थाओं में कर्म, मन एवं वचन से स्त्री की संगति का परित्याग ब्रह्मचर्य कहलाता है।

परेषां दुःखमालोक्य स्वस्येवालोच्य तस्य तु।
उत्सादनानुसंधानं दयेति प्रोच्यते बुधैः।।47।।

1. घ. मनसापि वा।

दूसरों का दु:ख देखकर 'यह दु:ख मेरा है' ऐसा समझकर उसे हटाने हेतु जो चिन्तन किया जाये, उसे बुद्धिमान् दया कहते हैं।

व्यवहारेषु सर्वेषु मनोवाक्कायकर्मभिः।
सर्वेषामपि कौटिल्यराहित्यं त्वार्जवं भवेत्।।48।।

सभी प्रकार के व्यवहारों में मन, वचन एवं कर्म से सबके प्रति कुटिलता का त्याग करना कोमलता हैं, वह लाना चाहिए।

सर्वात्मना सर्वदापि सर्वत्राप्यपकारिषु।
बन्धुष्विव समाचारः क्षमा स्याद् ब्रह्मवित्तम।।49।।

हे ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ! हर प्रकार से, हमेशा, हर स्थान पर अपकार करनेवालों के प्रति भी भाई-बन्धु के समान आचरण करना क्षमा है।

इच्छाप्रयत्नराहित्यं यातेषु विषयेष्वपि।
नो भवेत् तां धृतिं धीराः प्रवदन्ति सतां वरः।।50।।

बीती हुई बातों के सम्बन्ध में इच्छा और उसके लिए प्रयत्न न करना धृति कहलाता है ऐसा धीर लोग कहते हैं।

भोज्यस्यैव चतुर्थांशं भोजनं स्वस्थचेतसः।
अत्युष्णकटुतिक्ताम्ललवणादिविवर्जितम्[1] ।।51।।
हितं मेध्यं सुतीक्ष्णैतन्मिताहारं प्रवक्ष्यते।

जितना भोजन कर सकते हों, उसका चौथाई भाग ही भोजन है। वह अधिक गरम, कड़वा, तीता, खट्टा, नमकीन नहीं होना चाहिए। भोजन हितकर हो और पवित्र हो। वैसा भोजन करना **मिताहार** कहलाता है।

निर्गतं रोमकूपेभ्यो नवरन्ध्रेभ्य एव च।।52।।
मलं वदन्ति द्वाराणां क्षालनं शौचमुच्यते।
मृज्जलाभ्यां बहिः सम्यक् निर्मलीकरणं पुनः।।53।।
पूर्वोक्तभूतशुद्धान्तं शौचमाचक्षते बुधाः।
एते दश यमाः ब्रह्मन् ब्रह्मसम्प्राप्ति हेतवः।।54।।

शरीर के नौ छिद्र एवं रोमकूपों से निकले हुए पदार्थ को मल कहते हैं। इनके द्वारों को प्रक्षालित करना **शौच** कहा जाता है। मिट्टी और जल से शरीर के

1. घ. अत्युष्णकटुताम्बूललवणादिविवर्जितम्। 2. घ. सिद्धान्तलक्षणम्।

बाहरी अंगों का शुद्धीकरण होता है तथा पूर्वोक्त विधि से भूतशुद्धि पर्यन्त शुद्धि को बुद्धिमान् लोग शौच कहते हैं। हे ब्रह्मन्! ये दश यम हैं, जो ब्रह्म-प्राप्ति के साधन हैं।

तपश्च तुष्टिरास्तिक्यं ईश्वराराधनं तथा।
सिद्धान्तावेक्षणं[2] चैव लज्जा दानं मतिस्तथा।।55।।
जपो व्रतं दशैतानि सुतीक्ष्ण नियमाः स्मृताः।

तप, तुष्टि, आस्तिक्य भावना, ईश्वर की आराधना, सिद्धान्तों का अवलोकन करना, लज्जा, दान, मति, जप और व्रत ये दश **नियम** कहे गये हैं।

प्रत्येकमेषां वक्ष्यामि लक्षणानि तपोनिधे।।56।।
तपस्त्वनशनं नाम विधिपूर्वकमिष्यते।
अनायासोपवासेन तृप्त्यर्थं[1] नैव जीवनम्।।57।।
तुष्टिरेषावधार्य्यैतत् तत्प्राप्तिर्नानया विना।
श्रुत्याद्युक्तेषु विश्वास आस्तिक्यं स प्रचक्षते।।58।।

हे तपोनिधि सुतीक्ष्ण! इनमें से अब प्रत्येक का लक्षण कहता हूँ। विधानपूर्वक और विना प्रयास किये हुए भोजन नहीं करना **तप** कहलाता है। 'मेरा जीवन तृप्ति के लिए नहीं है' तथा 'जीवन तृप्ति के विना भी व्यर्थ नहीं है' यह धारणा बनाकर रहना **तुष्टि** है। वेदादि शास्त्रों में उक्त सिद्धान्तों पर विश्वास करना **आस्तिक्य** है।

इष्टदेवार्चनं सम्यक् विधिपूर्वकमन्वहम्।
त्रिसन्ध्यमेकवारन्तु भवत्येवेश्वरार्चनम्।।59।।

प्रतिदिन तीनों सन्ध्या में अथवा एक बार प्रातःकाल में विधानपूर्वक अपने इष्टदेव की आराधना **ईश्वर की आराधना** है।

वैष्णवागमसिद्धान्तश्रवणं मननं तथा।
श्रुतिस्मृतिपुराणादिमध्यान्तोदर्कदर्शनम् ।।60।।
सिद्धान्तश्रवणं ह्येतत् प्रोच्यते तत्त्वदर्शिभिः।

वैष्णवागम के सिद्धान्त का श्रवण, मनन, वेद, स्मृति, पुराण आदि के श्रवण के मध्य तथा अन्त में उसके परिणाम के भी दर्शन को तत्त्वज्ञानियों ने सिद्धान्त-श्रवण कहा है।

---

1. घ. तृप्त्युत्पत्त्यैव जीवनम्।

श्रुत्यादिभिर्लौकिकैश्च यद्यदत्यन्तनिन्दितम्।।61।।
तत्राप्रवर्तनं लज्जा वाङ्मनःकर्मणामपि।

वेद या लोक में जो अत्यन्त निन्दित कर्म माना गया हो, उन कार्यों को को नहीं करना वाणी, मन और कर्मों की **लज्जा** है।

यदिष्टदेवतां ध्यात्वा तदर्पणधियान्वहम्।।62।।
सत्पात्रे दीयतेन्नादि[1] तद्दानमभिधीयते।

अपने इष्टदेव का ध्यान कर उन्हें समर्पित करने की बुद्धि से प्रतिदिन जो अन्नादि दिया जाता है, उसे **दान** कहते हैं।

तर्कैस्तदनुसन्धानं[2] सम्यक् सदसतोरपि।।63।।
शास्त्रोक्तयोर्मतिरयं तत्त्वविद्भिरुदीर्य्यते।

तर्क कर शास्त्र में उक्त अच्छे और बुरे का अनुसंधान कर तत्त्व-ज्ञान तत्त्वज्ञानियों के द्वारा **मति** कही गयी है।

गुरोर्लब्धस्य मन्त्रस्य शश्वदावर्त्तनं हि यत्।।64।।
अन्तरङ्गाक्षराणां च न्यासपूर्वो जपो भवेत्।

न्यास करके करना गुरु से प्राप्त मन्त्र के अन्तर्गत आये अक्षरों की बार बार आवृत्ति **जप** कहलाता है।

कर्तव्यस्य समस्तस्य नियमग्रहणं व्रतम्।।65।।

सभी कर्तव्यों को नियमपूर्वक स्वीकार करना **व्रत** कहलाता है।

नियमव्यतिरेकेण सर्वं भवति निष्फलम्।
अतो नियमतः सर्वं कृत्यं साफल्यमाप्नुयात्।[3]।66।।

नियम के विपरीत सभी कार्य निष्फल हो जाते हैं, अतः नियमपूर्वक सभी कृत कर सफलता पायें।

इत्यगस्त्यसंहितायां परमरहस्ये यमनियमव्रतो नाम एकोनविंशोऽध्यायः।

---

1. घ. दीयतेऽर्थादि। 2. घ. स्वतस्तदनुसंधानम्।3. घ. यमैश्च नियमैश्चैव कृतं यत् सफलं भवेत्।

अथ विंशोऽध्यायः

अगस्त्य उवाच

एकत्रैव स्थिरीभावः पूर्वोक्तनियमैः सह।
मूलार्पितशरीरस्य एतदासनमुच्यते।।1।।

पूर्वोक्त नियमों का पालन करते हुए मूलाधार में अर्पित शरीर का एक स्थान पर स्थिर रहना आसन कहलाता है।

प्राणायामाँस्तथा वक्ष्ये मुमुक्षोरुपकारकान्।
यैः कृतैर्दह्यतेऽघौघः शुष्केन्धनगिरिर्मुने।।2।।

अब मोक्ष चाहनेवालों के उपकारक प्राणायामों के विषय में कहता हूँ, जिन्हें करने से पाप समूह रूपी सूखी लकड़ी का पहाड़ भस्म हो जाता है।

इन्द्रियेष्वपि ये दोषा वातपित्तकफोद्भवाः।
त्वगसृङ्मांसमेदोत्थाः मज्जास्थिचर्मसम्भवाः।[1]।3।।
एतेऽपि सर्वे दह्यन्ते प्राणस्यान्तर्निरोधनात्।
प्रायश्चित्तमघौघानां मुख्यमेतद् वदन्ति हि।।4।।

वात, पित्त एवं कफ के कारण त्वचा, रक्त, मांस, मेद, मज्जा, अस्थि एवं चर्म में उत्पन्न जो इन्द्रियों में दोष हैं, वे भी प्राणवायु को अन्तः में रोकने से जल जाते हैं। पाप समूह का भी यह मुख्य प्रायश्चित्त कहा गया है।

पुनरावृत्तिरहितं शाश्वतं ब्रह्मकांक्षिभिः।
प्राणायामश्च सततं कर्तव्यो विधिवन्मुने।।5।।

पुनर्जन्म से रहित तथा शाश्वत पद एवं ब्रह्म का साक्षात्कार करने की इच्छा रखनेवालों के द्वारा विधानपूर्वक प्राणायाम सदा करना चाहिए।

सम्यङ्निरुध्य च प्राणानन्तःकरणमात्मनि।
स्वयमेवात्र शिष्टः सन् ब्रह्मभूयाय कल्प्यते।।6।।

प्राणवायु को सम्यक् रूप से रोककर आत्मा में अन्तःकरण को प्रविष्ट कराकर स्वयं को इस स्थिति में तटस्थ रखकर साधक ब्रह्म स्वरूप हो जाता है।

---

1. घ. त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जान्त्रशुक्रसम्भवाः।

जानुबिम्बं कराग्रेण त्रिः परामृश्य सत्त्वरम्।
प्रदद्याच्छोटिकामेकामियं मात्रा कनीयसी।।7।।
मध्यमा द्विगुणा चैव सा ज्येष्ठा त्रिगुणा स्मृता।
अधमो मध्यमश्चैव प्राणायामस्तथोत्तमः।।9।।

जानुमण्डल के ऊपर हथेली को शीघ्रतापूर्वक तीन बार फिराकर एक बार चुटकी बजाने में जो समय लगता है, उसे छोटी मात्रा कहते हैं। इसी दुगुनी मात्रा मध्यमा कहलाती है और तीन गुनी श्रेष्ठ मात्रा कहलाती है। इसी प्रकार प्राणायाम भी अधम, मध्यम और उत्तम भेद से प्राणायाम तीन प्रकार के होते हैं।

अधमः पञ्चदशभिः त्रिंशद्भिर्मध्यमो भवेत्।
मात्राभिरुत्तमः पञ्चचत्वारिंशद्भिरुच्यते।।10।।
प्राणायामैः कृते शश्वत् कृतैः षोडशभिर्मुने।
दिने दिने च च यत्पापं तत्सर्वं नश्यति ध्रुवम्।।11।।
परोपतापजं पापं परद्रव्यापहारजम्।
परस्त्रीमैथुनोत्पन्नं प्राणायामैः शतं दहेत्।।12।।

पन्द्रह मात्राओं से अधम, तीस मात्राओं का मध्यम तथा पैंतालीस मात्राओं का उत्तम प्राणायाम है। नियमित रूप से सोलह बार प्राणायाम कर प्रतिदिन के पाप को नाश कर लेता है। दूसरे को कष्ट देने से, दूसरे का धन छीनने से, परायी स्त्री से मैथुन करने से जो पाप होते हैं, वे सौ बार प्राणायामों से जल जाते हैं।

महापातकजातानि ब्रह्महत्याशतानि च।
सर्वाण्यपि प्रदह्यन्ते प्राणायामैश्चतुःशतैः।।13।।

महापातकों का समूह तथा सैकड़ो ब्रह्महत्या का पाप, ये सभी चार सौ प्राणायाम से जल जाते हैं।

आदावन्ते च यत्नेन प्राणायामं समाचरेत्।
कर्मस्वपि समस्तेषु शुभेष्वप्यशुभेषु च।।14।।

सभी शुभ एवं अशुभ कर्म के प्रारम्भ और अन्त में यत्नपूर्वक प्राणायाम करना चाहिए।

---

1. घ. [0]विधिवन्मुने।

प्राणायामैर्विना यद्यत् कृतं कर्म निरर्थकम्।
अतो यत्नेन कर्तव्या प्राणायामाः शुभार्थिना।।15।।

प्राणायाम के विना जो जो कर्म किए जाते हैं, वे व्यर्थ हो जाते हैं। अतः शुभ चाहनेवाले यत्नपूर्वक प्राणायाम करें।

यावच्छक्यं नियम्यासून् मनसैव जपेन्मनुम्।
रामं मुहुर्मुहुर्ध्यायन् पूर्वोक्तविधिवत्सुधीः[1]।।16।।

जबतक सम्भव हो प्राणवायु को रोककर श्रीराम का ध्यान करते हुए मन ही मन मन्त्र पूर्वोक्त विधि से जप करें।

[1]धारयन्नन्तरं वासून् नेत्रे किञ्चिन्निमील्य च।
परं ज्योतिः परं ध्यायन्नन्तरेव मनुर्जपेत्।।17।।

अथवा प्राणवायु को भीतर में धारण कर दोनों आँखें थोड़ा बन्द कर परम ज्योतिःस्वरूप परमात्मा का ध्यान करते हुए मन ही मन मन्त्र का जप करें।

आपादमस्तकं सम्यक् प्रविशत्यनिलो यथा।
यावतीभिस्तुमात्राभिरिन्द्रियाण्यपि धावतः।।18।।
प्रक्षुभ्यति शरीरं च तावन्मात्रं सुसंयमः।

जितनी मात्राओं के बराबर समय में मस्तक से पैर तक तथा सभी इन्द्रियों तक जैसे वायु प्रविष्ट हो रहा हो तथा शरीर हिलने लगे, उतनी मात्राओं तक प्राणायाम करना चाहिए।

प्राणायामैर्विना यस्य जपहोमार्चनादिकाः।।19।।
न फलन्त्येव ताः सर्वाः यत्नेनापि कृताः क्रियाः।

प्राणायाम के विना जप, होम, अर्चन आदि क्रियाएँ करते हैं, वे सफल नहीं होते हैं; चाहे वे क्रियाएँ यत्न से क्यों न किये जाएँ।

इन्द्रियाणां हृदा सार्द्धं विषयेभ्यो निवर्तनम्।।20।।
प्रत्याहारो भवेदेतत् सम्यगिन्द्रियनिग्रहः।

इन्द्रियों को अपने अपने विषयों से विमुख करनेवाला तथा हृदय के साथ संयोग करानेवाला प्रत्याहार है; इससे सम्यक् प्रकार से इन्द्रिय-निग्रह होता है।

---

1. घ. यहाँ से छह चरण अनुपलब्ध।

जीवस्य ब्रह्मरूपेण निर्द्धारो वाथ युक्तिभिः।।21।।
पूर्वोक्ता या तु मात्राख्या प्राणायामत्रयोद्भवा।
आत्मन्यपि स्थिरीकारश्चित्तस्येवात्र धारणा।।22।।

जीव को ब्रह्म के रूप में युक्तियों के द्वारा निर्धारित करना धारणा है अथवा पूर्व में कही गयी मात्रा से तीन बार प्राणायाम कर आत्मा में चित्त को स्थिर करना **धारणा** है।

सम्यगालोकनं ध्यानं रामं हृदि निधाय च।
अङ्गादिभूषणैः सार्द्धं बाहुना चरणैरपि।।23।।

सभी अंगों, भूषणों, बाहुओं और चरणों सहित श्रीराम को हृदय में धारण कर उन्हें भली भाँति देखना **ध्यान** है।

सत्यज्ञानसुखैकत्वप्राप्तये प्राप्तिसाधनम्।
समाधिधर्मचिन्ता स्याद् भवान्तरशतेष्वपि।।24।।
समाधिरथवा जीवब्रह्मणोरैक्यचिन्तनम्।
ब्रह्मीभूय स्वयं जीवो निरुद्धासुर्विलीनभूः।।25।।

सैकड़ो जन्मों में सत्य, ज्ञान और सुख की प्राप्ति के लिए साधन के रूप में धर्म-चिन्तन समाधि है। अथवा जीव और ब्रह्म में एकत्व का चिन्तन करना समाधि है। इस अवस्था में जीव के प्राण अवरुद्ध हो जाते हैं और पृथ्वी का संसार विलीन हो जाता है; वह साधक ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।

[1]अतोऽप्यनन्यसद्भावात् स्वयमेवावशिष्यते।
मूहूर्तावस्थितौ वापि समाधिरथवोच्यते।।

इसके बाद जीव और ब्रह्म की एकात्मकता के कारण केवल ब्रह्म की सत्ता रह जाती है। इस अवस्था में मुहूर्त भर भी रहना **समाधि** की दूसरी परिभाषा है।

एवमष्टाङ्गसम्पन्नो योगयुक्तः सुसंयतः।
सूर्यस्य मण्डलं भित्वा याति ब्रह्म सनातनम्।26।।

इस प्रकार आठो अंगों को नियमपूर्वक पूरा कर योग से संयुक्त योगी होकर सूर्यमण्डल का भेदन कर सनातन ब्रह्म को प्राप्त करते हैं।

स एवमभ्यसेन्नित्यं वीतभीः[2] शान्त एव च।
वशीकृतरिपुग्रामः[3] सोऽमृतत्वाय कल्पते।।27।।

1. क. यह श्लोक अनुपलब्ध।2. घ. विनीतः। 3. वशीकृतेन्द्रियग्रामः।4. स याति परमां गतिं।

जो प्रति दिन इस प्रकार का अभ्यास करे, वह भयमुक्त तथा शान्त होकर सभी काम-क्रोधादि शत्रुओं को वश में कर अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है।

निरस्ताशेषदुरितः कामक्रोधादिवर्जितः।
एवमभ्यासयोगेन योगी याति परां[4] गतिम्।।28।।

सभी पापों का नाश कर काम, क्रोध आदि का त्याग कर इस प्रकार अभ्यास कर योगी परम गति को प्राप्त करते हैं।

कर्मयोगेन वा ज्ञानयोगेनाथोभयेन च।
प्राप्यते पुनरावृत्तिरहितं ब्रह्मशाश्वतम्।।29।।

कर्मयोग से, ज्ञान से अथवा दोनों से वह साधक पुनर्जन्म से रहित शाश्वत ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

करोत्यनुदिनं यस्तु तत्तत्फलगतस्पृहः।
जपहोमात्मकं कर्म समुन्नीयेत तत्फलम्।।30।।
सगुणं निर्गुणं चाथ ध्यायेद् यो रघुवंशजम्।[1]
कर्मानपेक्षध्यानेन स यात्येव परं पदम्।।31।।
ध्यानेन कर्मणा चैव योऽभ्यसेद्योगमन्वहम्।
स यात्येवोत्तमं स्थानं यद् गत्वा न निवर्तते।।32।।

जो प्रतिदिन कर्मों के फल के प्रति निःस्पृह होकर जप, होम आदि कर्म करते हैं अथवा उस फल को मन में लाकर सगुण अथवा निर्गुण श्रीराम का ध्यान करते हैं, वे कर्म के विना भी ध्यान से उस उत्तम स्थान को प्राप्त करते हैं, जहाँ जाकर कोई लौटता नहीं। ध्यान अथवा कर्म से जो प्रतिदिन योग का अभ्यास करते हैं, वे उत्तम स्थान को प्राप्त करते हैं, जहाँ पहुँच जाने पर पुनः कोई लौटता नहीं।

अतः[2] सुतीक्ष्ण यत्नेन योगी भव तपोनिधे।
व्रतोपवासनियमैः जन्मकोटिष्वनुष्ठितैः।।33।।
यज्ञैश्च विविधैः सम्यक् भक्तिर्भवति राघवे।
संसारसागरस्यास्य पारं प्राप्तुं यदीच्छसि।।34।।
कर्मयोगेऽथवा ज्ञानयोगे प्रविश सत्वरम्।

1. घ. रघुनन्दनम्।2. घ. ततः।

हे सुतीक्ष्ण! इसलिए योगी बनो। करोड़ो जन्मों में व्रत, उपवास आदि नियमों से तथा अनेक प्रकार के यज्ञों से श्रीराम में सम्यक् भक्ति का उदय होता है। इस संसार के समुद्र को यदि पार करना चाहते हो, तो कर्मयोग में अथवा ज्ञानयोग में शीघ्रता से प्रवेश करो।

सर्वदुःखाभिभूतानां भ्रान्तानां गतचेतसाम्।।35।।
त्राता स एव संसारे राघवः स्वयमेव हि।

सभी प्रकार के दुःखों से दुःखी, भटके हुए तथा चैतन्यहीन प्राणियों की रक्षा करनेवाले स्वयं श्रीराम है।

प्रक्षीणशेषपापानां ज्ञानयोगः प्रशस्यते।।36।।
कर्मयोगैस्तु सर्वेषां भवे निर्वाणसाधनम्।

जिनके सभी पाप नष्ट हो गये हैं, उनके लिए ज्ञान योग प्रशस्त हैं; किन्तु इस संसार में सबके लिए कर्मयोग के द्वारा मुक्ति का साधन मिल जाता है।

ज्ञानेन कर्मणा वापि रामं सम्यगिहार्चयेत्।।37।।
सुतीक्ष्णैतच्छरीरं तु क्षयिष्ण्वपि पतिष्णु च।[1]।
त्वगसृङ्मांसमज्जास्थिमेदश्शुक्रमयं तनुः।।38।।
शास्त्रोपपादितं सम्यगनुतिष्ठ सनातनम्।

ज्ञान से अथवा कर्म से इस संसार में श्रीराम की सम्यक् आराधना करनी चाहिए। हे सुतीक्ष्ण! यह शरीर विनाशशील है और संयमित करने योग्य है। त्वचा, रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि, मेद और शुक्र से बना हुआ यह शरीर है इसलिए शास्त्रों में प्राचीन काल से जो विधान किया गया है, उसका पालन करो।

कर्मयोगं तथा ज्ञानयोगं वा योगवित्तम।।39।।
श्वः करिष्यामि कर्त्तव्यमिति कश्चिद् विचिन्तयेद्।
स्वस्यास्ये स्वयमेवार्य्य मन्दाक्षो धूलिं निक्षिपेत्।।40।।

हे योग के ज्ञाताओं में श्रेष्ठ सुतीक्ष्ण! हे आर्य! 'कर्मयोग अथवा ज्ञानयोग मैं कल करूँगा' यह जो कोई सोचता है, वह अन्धा जैसा अपने मुँह पर धूल झोंक रहा है।

सम्यग्वैराग्यनिष्ठस्य पारतत्त्वस्थचेतसः।
छर्दितान्ननिभाः सर्वे दृश्यन्ते विषयाः स्वयम्।।41

1. घ. क्षयिष्णु पिपतिष्णु च।

व्यामोहयति चेतांसि विषयेषु बलान्मुने।
दृष्टा स्यात् सर्वजन्तूनां सुखदुःखादिलक्षणा।[1]।21।।

वह अविद्या चित्त को मोह में डालकर विषयों में जबरदस्ती लगाती रहती है। सुख और दुःख इसी अविद्या का लक्षण है। यह अविद्या सभी प्राणियों में देखी जाती है।

अदृष्टान्तर्हिताः सर्वे नापि सर्वत्र संस्थितम्।
पश्यन्ति पुरतः साक्षाच्चैतन्यं सर्वगोचरम्।।22।।

इसी अदृष्ट अविद्या से ढके हुए सभी लोग सर्वत्र विद्यमान् और सामने में स्थित सर्वगोचर चैतन्य को नहीं देख पाते हैं।

शुद्धिमानप्रमत्तो यः कदाचिद् विषयैरपि।
नैव प्रलोभितः साक्षादात्मानं परमीक्षते।।23।।

जो शुद्ध आचरण करनेवाले और प्रमाद रहित हैं, उन्हें विषय कभी लुभा नहीं पाते और वे परम आत्मा को साक्षात् देखेते हैं।

एवंविधोऽपि यः कश्चित् सच्चिदानन्दलक्षणम्।
आत्मानं सर्वगं सम्यक् जानात्येव न संशयः।।24।।

इस प्रकार भी कोई व्यक्ति सत् चित् और आनन्द-स्वरूप सबके द्वारा प्राप्त करने योग्य आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, इसमें सन्देह नहीं।

स जीवन्नेव मुक्तः स्याद्यद्येवं वायुमानयेत्।
बहिः सर्वं समानीय चैतन्यं स्वगतं पुनः।।25।।

यदि मनुष्य अपने अन्दर अवस्थित वायु को रेचक क्रिया के द्वारा बाहर लावे और चैतन्य को अपने अन्दर स्थापित करे तो इसी जीवन में मुक्त हो जाते हैं।

पूरकेनैव योगेन सर्वतः स्थितमन्ततः।
सम्यगाधाय चाधारे ध्यायेद् राममनन्यधीः।।26।।

प्राणायाम के अन्तर्गत पूरक के योग से (वायु को भीतर करते हुए) सर्वत्र स्थित श्रीराम को अन्ततः आधार-चक्र पर स्थापित कराकर एकाग्र होकर ध्यान करना चाहिए।

शरीरान्तर्गतं वायुं दशधा तत्र तत्र तु।
एकीकृत्य प्रयत्नेन कुम्भकेनैव योगतः[2]।।27।।

---

1. घ. दृष्टा स्यात् सुखदुःखादाविच्छाद्वेषादिलक्षणा।2. घ. यत्नतः।

तत्रैव सुदृढं बद्ध्वा पवनं सात्मना समम्।
स्थित्वैवं तु मुहूर्तार्द्धमुन्मीलय मुखं मुने।।28।।

शरीर के अन्दर में स्थित वायु को दश प्रकार से प्रयत्नपूर्वक कुम्भक द्वारा एकीकृत कर वहीं पर दृढ़ रूप से वायु को आत्मा के साथ बाँधकर इस तरह आधा मुहूर्त (24 मिनट) स्थिर रहें, तब मुख खोलें।

सुषुम्णायाः प्रयत्नेन सम्यक् सर्पमुखाकृतिः।
वायुना पूरकाभ्यासं कर्तव्यं साधयेत्ततः[1]।।29।।
ग्रन्थिभेदक्रमेणैव चैतन्यानि समीरणैः।

सुषुम्णा नाड़ी के प्रयत्न से सर्प के समान मुख की आकृति बनाकर वायु से पूरक का अभ्यास करना चाहिए। तब ग्रन्थियों एक एक कर वायु से भेदन कर विभिन्न स्तर के चैतन्यों की साधना करनी चाहिए।

उन्नीय पवनं यत्नात् कुर्यात् तन्मुखगोचरम्।।30।।
चिद्घनानन्दचैतन्यसमीरस्तन्मुखागतः [2] , ।
नयेदूर्ध्वं परन्नुन्नं[3] पुनः पुनरपि स्वयम्।।31।।
अभ्यासातिशयेनैव भिनत्यूर्द्धवमनन्यधीः।

वायु को खींचकर यत्नपूर्वक उसे मुखेन्द्रिय में संचारित करावें। यह चित् स्वरूप और आनन्द स्वरूप चैतन्य रूप वायु तब मुख में आ जाती है। बार बार धकेलते हुए उसे स्वयं ऊपर की ओर ले जायें। अतिशय अभ्यास करने से एकाग्रचित्त साधक ऊपर मूर्द्धा का भेदन कर लेता है।

तत्परं परया[4] तत्र निःसृतान्तरगोचरः।।32।।
भूमौ वीरासनं बद्धमन्तरालं नयेदपि।

इसके बाद परा चक्र से निर्गत तथा बीच में स्थित पवन को वहाँ बीच में लावें। भूमि पर वीरासन में बैठकर यह योग करें।

पुनर्यदेवमेवायं द्वितीयमपि भेदयेत्।।33।।
तदन्तान्तर्गतो वायुः शरीरं चोर्ध्वमानयेत्।

फिर इसी प्रकार दूसरे चक्र का भी भेदन करना चाहिए। उस चक्र के भीतर जाकर वायु शरीर को ऊपर उठाता है।

---

1. घ. कर्तव्यस्तेन।2. ग. विधूतानन्द°, घ. विमलानन्द°।3. घ. परं मूर्द्धनं।4. घ. उद्धृत्यापूर्य्य तत्रैव।

हृदयग्रन्थिभेदेन सम्यगभ्यासयोगतः।।34।।

तत्र सन्धिषु सम्बद्धं तत्ताल्वाद्यन्तगो मरुत्।

सम्यक् संशोध्य स्वं देहं भ्रूमध्यमुपसर्पति।।35।।

भलीभाँति अभ्यास करने पर हृदय की ग्रन्थि का भेदन करने से वहाँ सन्धियों से होकर वायु तालु आदि प्रदेशों में संचरित होकर अपने शरीर का संशोधन कर भ्रू-मध्य में चली जाती है।

तत्र स्याद् द्विदले पद्मे सुधानिधिरलौकिकम्।

अनृतं बाहयेत्तेन अमृतत्वाय कल्पते।।36।।

वहाँ द्विदल कमल में अमृत का अलौकिक खजाना है। इस अमृत के प्रवाह में असत्य को प्रवाहित करावें अर्थात् उसका शोधन करें। इससे अमरत्व की प्राप्ति होती है।

भेदेन पञ्चमस्येव पर्वणोऽधिगते पुनः।

शब्दब्रह्मापि निखिलं तेन[1] सर्वज्ञता भवेत्।।37।।

पाँचवीं गाँठ के खुल जाने पर पर्वों का ज्ञान होने पर उनमें स्थित शब्दब्रह्म की गाँठ खुल जाती है, तब वह सर्वज्ञ हो जाता है।

मूलाधारे स्थितं वायु सुषुम्णानाडिमध्यगम्।

तत्तद् ग्रन्थिविभेदेन ब्रह्मरन्ध्रं नयेदपि।।38।।

मूलाधार में स्थित वायु जो सुषुम्णा नाडी से होकर गजरती है, उस वायु के वेग से बीच में स्थित ग्रन्थियों को खोलते हुए वायु को ब्रह्मरन्ध्र में ले जायें।

पूर्वोक्ताभ्यासयोगेन द्वादशान्तर्गतं पुनः।

तदेव निखिलं ज्ञानं जन्मापि सफलं ततः।।39।।

पूर्वोक्त प्रकार से अभ्यास करते हुए द्वादशार चक्र तक जब वायु पहुँच जाती है, तब समग्र ज्ञान की प्राप्ति होती है और उससे यह जन्म भी सफल हो जाता है।

वैराग्येण तदप्येति त्यागेनैव हि तत्परम्।

संन्यासेनैव योगीन्द्र नान्यो मार्गोऽस्ति तस्य तु।।40।।

1. ग. येन।

हे योगीन्द्र सुतीक्ष्ण! वैराग्य से ही वह स्थिति भी आती है, त्याग से ही उससे भी ऊपर की स्थिति आती है। यह सब संन्यास से सिद्ध होता है। इस पृथ्वी पर इससे भिन्न कोई रास्ता नहीं है।

बहिरन्तर्गतं कृत्वा मूलाधाराच्च चिन्मयम्।
द्वादशान्तं समुत्क्रम्य यावन्नावर्तते पुनः।।41।।

बाहर स्थित चैतन्य को अपने अन्दर लेकर तथा मूलाधार से चित् तत्त्व लेकर द्वादशार चक्र को पारकर साधक पुनः लौटता नहीं, अर्थात्, मुक्त हो जाता है।

योगीन्द्र मुक्तिमार्गोऽयं सर्वस्मिन्नपि दर्शने।
नैवाप्यत्र मतं भिन्नं सर्वैरपि सुशोभितम्।।42।।

योगीन्द्र सुतीक्ष्ण! सभी दर्शनों में कहा गया यह मुक्ति का मार्ग है। यहाँ मत में कोई भिन्नता नहीं है और इसे सबने सँबारा है।

विरजेत् संन्यसेद् ब्रह्म साक्षात्कुर्यात् सुखी भवेत्।
पुरुषार्थोऽयमेवात्र नातः किञ्चिन्न् विद्यते।।43।।

रजोगुण से निवृत्त होकर कर्मों को सौंपकर ब्रह्म से साक्षात्कार कर जीव सुखी हो जाता है। यही इस लोक में पुरुषार्थ है, इससे आगे कुछ भी नहीं है।

अखण्डानन्दयोगेन नैवात्मानं वियोजयेत्।
स्ववर्णाश्रमधर्मेण नैव तावद् वियोजयेत्।[1]।44।।

अखण्ड आनन्द के साथ आत्मा का कभी विच्छेद न करावें। अपने वर्ण और आश्रम के कारण यह विच्छेद न करावें।

इदं सत्यमिदं सत्यं सत्येनैवाति वर्तयेत्।
रामः सत्यं परं ब्रह्म रामात् किञ्चिन्न विद्यते।।45।।

यह सत्य है, यह सत्य है। इस सत्य के विपरीत आचरण न करें। श्रीराम परम सत्य हैं, परम ब्रह्म हैं। श्रीराम से आगे कुछ भी नहीं है।

सर्वशास्त्ररहस्यज्ञ मया तव महात्मनः।
अगस्ति-संहिता नाम प्रोक्तेयं सर्वकामधुक्।।46।।
अध्यात्मालोकने दीपकलिकाज्ञाननाशनी।
भोगमोक्षप्रदा नित्यमायुरारोग्यवर्द्धिनी।।47।।

1. ग. में अनुपलब्ध।

सभी शास्त्रों का रहस्य जाननेवाले हे सुतीक्ष्ण! आप महात्मा हैं, इसलिए मैंने आपको अगस्त्य-संहिता सुनायी, जिससे सभी कामनाएँ पूर्ण होती है। अध्यात्म को प्रकाशित करनेवाली और अज्ञान का नाश करनेवाली यह दीपशिखा है। यह नित्य रूप से भोग और मोक्ष देनेवाली है, आयु और आरोग्य बढ़ानेवाली है।

श्रुता दृष्टापि लिखिता बहिरन्तश्च पावयेत्।
आदिमध्यावसानान्तं यः सकृद् वा निरीक्षयेत्।।48।।
पापात्मापि समुत्क्रम्य ब्रह्मभूयाय कल्पते।
सर्वदालोकयेद्यस्तु ब्रह्मविद् याति सद्गतिम्।।49।।
प्राप्नोति लोकमखिलं सद्योऽभीष्टमवाप्नुयात्।

इस ग्रन्थ के श्रवण, दर्शन और लेखन से बाहर-भीतर पवित्र हो जाता है। इसका आदिभाग, मध्यभाग अथवा अन्तभाग का एक बार भी कोई दर्शन करे तो पापी भी उससे निकलकर ब्रह्मलीन हो जाता है। प्रतिदिन जो इसका दर्शन करते हैं, वे ब्रह्मज्ञानी होकर उत्तम गति प्राप्त करते हैं, सभी लोकों को प्राप्त करते हैं तथा तुरत अभीष्ट फल प्राप्त करते हैं।

पुस्तकं लिखितं यस्य[1] गृहे तिष्ठति पूजितम्।।50।।
आयुरारोग्यमैश्वर्यं वर्द्धतेऽस्य दिने दिने।
पुत्रैः पौत्रैः कुलं वास्य वर्द्धते सुश्रिया सह[2]।।51।।

जिनके घर में इस लिखित एवं पूजित पुस्तक रहती है, उनकी आयु आरोग्य और ऐश्वर्य प्रतिदिन बढ़ते हैं। पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदि से उनका वंश सुन्दर लक्ष्मी के साथ बढ़ता है।

इत्यगस्त्यसंहितायां परमरहस्ये योगवर्णनम् नाम त्रयोविंशतितमोऽध्यायः।

अथ चतुर्विंशोऽध्यायः

अगस्त्य उवाच

अयमेव परो मार्गः कर्माप्येतत् परात् परम्।
राम एव परं ज्योतिः सच्चिदानन्दलक्षणम्।।1।।

1. ग. सम्यक्।2. क. पुत्रपौत्रप्रपौत्राद्यैः कुलं वास्य प्रवर्द्धते ।

योगीगुरु

प्रथम अंश

योगकल्प

ग्रन्थकारका साधन-पद्धति संग्रह

नमः शिवाय शान्ताय कारणत्रय हेतवे।
निवेदयामि चात्मानं त्वं गतिः परमेश्वर ॥

भूतभावन भवानीपतिके भवभीतिभञ्जन, भक्तहृदिरञ्जन चरण-युगलका स्मरण एवं पदाङ्कका अनुसरण कर ग्रन्थारम्भ करता हूँ।

विश्वपिता विधाताके विश्वराज्यमें सर्वत्र एक ही नियम है, कि "चिरदिन समान नहीं बीतते"। आज जो सुधाधवलित प्रासादके मध्यमें सुखसे शयन कर चतुर्विध रसास्वादनसे रसनाकी तृप्ति करता है, कल वही वृक्षतलका आश्रय लेकर एक मुष्टि अन्नके लिये दूसरोंके दरवाज़े पर जा खड़ा होता है। आज जो, पिता, पुत्रके जन्मोत्सवमें मुक्तहस्त होकर अजस्र धनव्यय करके अपनेको सौभाग्यवान् समझता है; कल वह उसी नयनानन्द-दायक पुत्रकी मृतदेह

छातीसे लगाकर श्मशानमें छिन्नकण्ठ कपोतकी भाँति फड़फड़ाने लगता है। आज जो विवाहवासरमें अवगुण्ठनवती बाल-वधूका चन्द्र-वदन देखते-देखते भावी सुखसे विभोर होकर आशाका हार पिरोता है; कल वह उसी प्राणसमा प्रियतमाको दूसरेकी प्रणयाकांक्षिणी समझकर प्राण छोड़नेको तैयार हो जाता है। आज जो पलङ्गपर प्यारे पतिके पास बैठ, प्रेमके लहरसे प्राण परितृप्त करती है, कल वही बिखरे केश एवं छिन्न-भिन्न मलिन-वेशधारी पगलीकी भाँति मृत पतिके पार्श्वमें गिरकर धूलिमें लोटती है। अन्य देशोंमें जब दूसरे लोग नंगे रह कर वृक्षकी खोह या पहाड़की गुफामें वास करके कषाय कन्द-मूल-फलोंसे क्षुधा-निवृत्ति किया करते थे, उस समय आर्य्यावर्त्तमें आर्य्यगण सरस्वतीके पुलिनपर निवास करके सुललित स्वरमें सामध्वनिसे दश-दिशाओंको गुञ्जयमान करते थे। समय पाकर मुसल्मान-धर्म्मके अभ्युदयसे राज्यविप्लव उपस्थित होनेपर हिन्दुगण स्वाधीनताके साथ-साथ क्रमशः अपने विपुल ज्ञान-गरिमा, आर्य्यवीर्य्य, आचार-व्यव-हार और धर्म्मसे भी च्युत हो गये, भारत-गगन घोर अज्ञानके अन्ध-कारसे आच्छन्न हो गया। वीर्य्यैश्वर्य्यशाली आर्य्यगण अन्तमें सब विषयोंमें सर्वतोभावेन परमुखापेक्षी बन गये। समयके परिवर्त्तनसे मुसल्मानी राज्यका अन्त और बृटिश आधिपत्यका विस्तार हुआ। पाश्चात्य शिक्षासे हिन्दुओंका मस्तिष्क बिगड़ा और वे स्वपथ भूल गये। जो हिन्दू-धर्म्म कितने ही युग-युगान्तरसे अपनी विमल स्निग्ध किरणोंको विकीर्ण करता आ रहा है, कितने ही अतीत कालसे जिस धर्म्मकी आलोचना, आन्दोलन और साधन-रहस्यका

उद्भेद चला आ रहा है, कितने ही वैज्ञानिकोंने, कितने ही दार्शनिकोंने जिसके सम्बन्धमें तर्क-वितर्क और वादानुवाद किया है, उसी सनातन हिन्दूधर्म्मके आश्रित हिन्दुगणको वर्त्तमान युगके सभ्य-शिक्षित पाश्चात्य-देशीय लोग तथा पाश्चात्य-शिक्षा-विकृत मस्तिष्क कितने ही भारतवासी—मूर्त्तिपूजक, जड़ोपासक एवं कुसंस्काराच्छन्न बता कर घृणा करते हैं। किन्तु हिन्दु-धर्म्मकी मूल-भित्ति अत्यन्त दृढ़ होनेके कारण ही वर्त्तमान युगमें राष्ट्रविप्लव और धर्म्मविप्लवके समय वह अशेष अत्याचार सहन करके भी जीवित रहा है।

किन्तु पहले ही मैं बता चुका हुँ, कि "चिरदिन समान नहीं बीतते"—स्रोत पल्टा है। इस समय हिन्दुओंके हृदयमें ज्ञान, धर्म्म और स्वाधीनताकी लिप्सा जाग्रत हो उठी है। हिन्दुगण समझ चुके हैं, कि इस अति वैचित्र्यमय सृष्टि-राज्यकी सीमा कहाँ है ? हिन्दु-धर्म्म गभीर, सूक्ष्म, आध्यात्मिक-विज्ञान-सम्मत दार्शनिकतासे परि-पूर्ण है। हिन्दूधर्म्मका निगूढ़ मर्म्म कुछ-कुछ समझ कर पाश्चात्य जड़-विज्ञान चकित बन जाता है। दिन-दिन हिन्दूधर्म्मकी जैसी उन्नति दिखाई देती है, उसीसे आशा होती है कि, थोड़े ही दिनोंमें इस धर्म्मकी अमल धवल चंद्रिकासे समग्र-देशके सर्व-मानव, सर्व-जाति, उद्भासित एवं प्रफुल्लित हो उठेंगे।

आजकल हिन्दू-सन्तान हिन्दूशास्त्र पर विश्वास करती और हिन्दूधर्म्मको मानती एवं हिन्दू मतसे उपासना करती है। स्कूल-कालेजके छात्रोंसे लेकर युवकों और प्रौढ़ोंतक अनेकोंकी ही साधन-भजनमें प्रवृत्ति है, किन्तु उपयुक्त उपदेष्टाके अभावसे कोई भी

व्यक्ति साधनके विषयमें प्रकृत पथ देख नहीं पाते। हमारे देशके प्रख्यात-नामा पण्डितगण साधनका जैसा कठिन उपाय बताते हैं, उसे देखकर साधनमें प्रवृत्त होना तो दूरकी बात है, उसे सुनकर ही इस आशाको जन्म-भरके लिये जलाञ्जलि दे देनी पड़ती है। वे धर्म्म-कर्म्मकी जैसी लम्बी चौड़ी तालिका प्रस्तुत करते हैं, आजीवन कष्टो-पार्जित धन-व्यय करके भी उसे पूरा करना बहुतोंके लिये अत्यन्त कठिन है। धर्म्म करना हो तो स्त्री-पुत्रका परित्याग करना होगा, धन-रत्नको जलाञ्जलि देनी होगी, घरबार छोड़ना पड़ेगा, अनाहारसे देह शुष्क करनी पड़ेगी और स्वांग बनाकर वृक्ष-तलमें आश्रय लेकर शीत-वात सहन करना होगा, नहीं तो भगवान्‌की कृपा नहीं हो सकेगी ! धर्म्ममें जो इतनी विडम्बना उठानी पड़ती है, यह बड़े ही आश्चर्य्यकी बात है । मैं जानता हूँ कि सुख ही के लिये धर्म्माचरण है; शास्त्रमें भी इस बातका प्रमाण मिलता है;—

सुखं वाञ्छति सर्वो हि तच्च धर्म्म समुद्भवम् ।
तस्माद्धर्म्मः सदा कार्य्यः सर्ववर्णैं प्रयत्नतः ॥

दक्षसंहिता।

तभी देखिए, धर्म्माचरणका उद्देश्य ही सुख काम है। अनाहार और अर्थव्यय करके कायिक तथा मानसिक कष्ट उठाना अज्ञानताका परिचायक है। दुःखकी बात है, कि उपयुक्त उपदेष्टाके अभावसे ही घरमें प्रचुर अन्न रहते हुए भी हमें उपवास करके समय बिताना पड़ता है। हमारे शास्त्र असीम और साधन कौशल अनन्त हैं। हम वर्षभरमें भादोंके महीनेमें केवल एक दिन शास्त्र-समूहको धूपमें

सुखानेके बाद गठरी बांधकर रख देते और सूखे मुंहसे दूसरेकी ओर दृष्टिपात करते हैं; किम्वा किसी विकृत साधनमें प्रवृत्त होकर विड़म्बना भोगते हैं, नहीं तो कलि-कालके कन्धेपर बोझ रखकर निश्चिन्त हो जाते हैं। पाठक ! मैंने कैसी विड़म्बना भोगकर अन्तमें सर्वमङ्गलमय, सत्यस्वरूप, सच्चिदानन्द सदाशिवके सदानुग्रहसे सद्गुरुको पाया था, यह आपको बताये बिना मैं प्रतिपाद्य विषयके वर्णनमें प्रवृत्त नहीं हो सकता। सुनिये—

मैं त्रयोविंश वर्षकी अवस्थामें प्रफुल्ल प्राणकी समस्त सुख-शान्ति आशा-भरोसा, उद्यम और अध्यवसायको मादोंसे भरे भैरवनद तीरस्थ कदम्बके नीचे भस्मीभूत करते हुए स्मृतिकी ज्वलन्त चिन्ता-चिता छातीपर रख घरसे बाहर निकला था। बादमें कितने ही नगर, गांव और पुरोंमें परिभ्रमण करके सुचारु-कारु-कार्य्य खचित, सुधाधवलित और सदृश्य सौधराजीका निरीक्षण किया, किन्तु प्राणकी आग न बुझी; कितने ही नद, नदी ह्रदादिका उत्ताल-तरङ्ग-समाकुल और हृदय-कँपानेवाला कल-कल नाद कानोंमें पड़ा, किन्तु कराल-कालकी दंष्ट्राजनित कातरता न घटी। कितने ही पर्वत, कितनी ही उपत्यका अधित्यकाओंका आरोहण अवरोहण करके विश्वपिता विधाताकी विश्वसृष्टिके कौशलका विचित्र व्यापार अवलोकन किया, किन्तु जीवनकी ज्वाला ठण्डी न पड़ी। कितने ही श्वापद-संकुल-वन-भूमिमें अपूर्व प्रकृति-पद्धति और वनकुसुमके सुदृश्य एवं सुन्दर सुखमाका सन्दर्शन किया, किन्तु अन्तरकी ज्वाला अन्तर्हित न हुई। बहुत दिन पीछे आद्या, ब्रह्मा-विष्णु-शिवाराध्या, विन्ध्याद्रि-

निलया, महामायाकी कृपासे सावित्री पहाड़पर (पुष्करमें) साधकाग्र-गण्य परमहंस श्रीमत् सच्चिदानन्द सरस्वतीके साथ साक्षात् सन्दर्शन संघटित हुआ। परमज्ञानी परमहंसदेवके उपदेशसे जीवका जन्म-जन्मान्तर रहस्य, गतागति, कर्म्म-फल-भोग और मायादि-निगमका निगूढ़-तत्त्व अवगत होनेपर मायाका मोह छूट गया। पार्थिव पदार्थकी असारता समझ पड़ी। हृदय-निकुञ्जमें कोकिलाने पहली तान छोड़ी,—क्या ही एक अभूतपूर्व आनन्दमें चित्त डूब गया। मैंने मन ही मन स्थिर संकल्प किया,—"मर्त्य जगत्‌में फिर मदन-मरणका अभिनय करते न घूमेंगे। हम किसके हैं? कौन हमारा है? वृथा रोनेका झगड़ा क्यों? अकेले आये हैं; अकेले जायँगे! तब लोभमें पड़ क्यों अशान्तिकी ज्वालामें जलें!" उसी क्षण हृदयके निगूढ़तम-प्रदेशसे शास्त्रका यह वाक्य फूट निकला,—

पिता कस्य कस्य माता कस्य भ्राता सहोदराः।
काया प्राणेन सम्बन्धः का कस्य परिवेदना॥

माया मोहका आवरण बहुत-सा दूर हट गया, किन्तु प्राणमें एक प्रबल पिपासा जाग उठी; मैंने स्थिर कर लिया, कि किसी भी एक साधक सम्प्रदायमें सम्मिलित होकर एक सुख साध्य साधनका अनुष्ठान करके लीलामयकी विचित्र लीलाका मधुर स्वाद आस्यादन करते करते जीवनके शेष दिन काट डालूंगा। यह सोचकर मैं किसी सिद्ध महापुरुषके अनुसन्धानमें प्रवृत्त हुआ। बहुतसे साधु संन्यासियोंका अनुसरण किया। किसीने धूनीकी राखको चिनी बनाना बताया, किसीने गर्म तेलमें हाथ डालनेका कौशल दिखाया,

किसीने कपड़ेमें आग बांधनेकी पन्था प्रदर्शन की, किन्तु मेरे प्राणकी प्रबल पिपासा न मिटी। एक ख्यात-नामा तान्त्रिक साधकका संवाद पाकर मैं उनके पास जा पहुँचा और चेला बन नौकरकी तरह सेवा करने लगा। कुछ दिन पीछे उन्होंने एक अस्वाभाविक वस्तु लाने का आदेश दिया। "शनि और मंगलकी वज्राहत गर्भवती चण्डाल रमणीके उदरस्थ मृत सन्तानपर आसन लगाकर मन्त्र न जपे तो, तन्त्रोक्त साधनामें सिद्धिलाभ होना अति कठिन है।" मैं यह बात सुनकर ही उनके पाससे चल दिया। जो योगी नामसे परिचित हैं, उन्होंने नेती, धौती प्रभृति ऐसी कठिन क्रियायोंके अनुष्ठान करनेका उपदेश दिया कि हमारे वंशमें कोई भी उनका अभ्यास न कर सकता। वैरागी वावाजियोंमें से एकने कहा,—"बिल्व-फल जैसा मस्तकका सुदृश्य बना कर खूब लम्बी चोटी रखो और गलेकी मालामें पीतलके दाने डालकर काठकी मालासे गुरुदत्त मन्त्रको जपो—नियमित रूपसे हरिवासर (भजनगान) और प्रत्यह किञ्चित् गोपीमृत्तिका गात्रमें न लगाने पर गोपीवल्लभ कृपा न करेंगे।" फिर एक आधुनिक सम्प्रदायके वैरागीने शास्त्रका कितना ही सूक्ष्मांश निकाला और अपने अनुकूल कदर्थ बनाकर बताया,—"सिवाय शक्तिके मुक्तिका और कोई भी दूसरा उपाय नहीं हैं।" उन्होंने दादी की अवस्थावाली एक माता भी बनानेकी व्यवस्था बताई। इस हेतुवादसे श्रीश्रीवृन्दावनके राधाकुण्डमें रहनेवाले परोपकार-परायण एक बाबाजी अपनी अनाथा कन्याको निःस्वार्थ भावसे दान करके मेरा मुक्तिका मार्ग खोलने पर भी तैयार हो गये; किन्तु मैं बड़ा अकृतज्ञ

हूँ ! नहीं तो क्या ऐसे उदार-हृदय निःस्वार्थ परायण और परोप-कारी व्यक्तिकी प्रार्थना न सुनकर भाग खड़ा होता ? पञ्जाब-प्रदेशमें रहनेवाले अमृतसरके उदासी सम्प्रदायने उपदेश दिया,—"यज्ञोप-वीत आदि छोड़कर छत्तीस जातिका अन्न खाते हुए घूमनेसे ही ब्रह्म-भाव जाग्रत होगा।" संन्यासियोंने अखण्ड विभूति-लेपन, सुदीर्घ जटा-जूट धारण, चिमटेका ग्रहण और त्वरितानन्दसे दमका कौशल सिखाया। नागा सम्प्रदायने नंगे होकर कमरमें लोहेकी जंजीर बांधने एवं अन्नादि परित्याग करके फल-मूल खानेकी व्यवस्था दी। किन्तु सावित्री पहाड़के पूज्यपाद परमहंसदेवने पहले ही मुझे कुछ पक्का कर दिया था, इसीसे इन सब फक्कड़ोंकी कोरी बातोंपर मन न मुड़ा। इतनेपर भी भग्नोत्साह न होकर जगतगुरु योगेश्वरके चरणका स्मरण करके अपनी कार्य्यसिद्धिके लिये मैं फिर घूमने लगा।

पश्चिम प्रदेशमें कुछ दिन भ्रमण करके मैं कामाख्या मांके चरणोंके दर्शनाभिलाषसे कई साधु-संन्यासियोंके साथ आसाम विभागमें गया। आसाम पहुँचनेपर परशुरामतीर्थ देखनेको मन चाहा। गौहाटीसे जहाज़पर बैठकर डिबरूगढ़ और डिबरूगढ़से वाष्पीय शकटारोहण कर सदिया जा उतरा। सदियासे कोई २०।२५ साधु-संन्यासियोंके साथ दुर्गम और श्वापद-संकुल वनभूमि एवं छोटे-छोटे पहाड़ी टीले लांघनेपर बड़े कष्टसे परशुराम तीर्थपर पहुँचा। तीर्थ, नयन-मन-प्राण प्रफुल्लप्रद स्वभाव-सौन्दर्यसे परिपूर्ण है ! शास्त्रोंमें लिखा है, कि भार्गवने सब तीर्थोंमें घूमनेके बाद इसी ब्रह्म-

कुण्डमें अवगाहन करके मातृहत्या-जनित महापातकसे छुटकारा पाया था; एवं इसी कुण्डके प्रभावसे हाथमें लगा परशु भी निकल गया था। उसी दिनसे इस स्थानका नाम "परशुराम तीर्थ" पड़ गया है। इस ब्रह्मकुण्डसे ही ब्रह्मपुत्र नद निकला है, किन्तु आजकल ब्रह्मकुण्डसे उक्त नदका कोई लगाव नहीं। ब्रह्मकुण्डपर पहुँचकर मैंने भी सबकी तरह स्नान-पूजा आदि करके परिश्रम सार्थक किया और जीवनको धन्य समझा!

जिस दिन ब्रह्मकुण्ड पहुँचा, ठीक उसके दो दिन बाद में प्रबल ज्वर एवं आमशय रोगसे आक्रान्त हो गया। राहमें कई दिनके अनियमित परिश्रमसे मैं पहलेसे ही कातर हो गया था। इसके ऊपर ज्वर और आमाशयसे चार पांच दिनमें ही उठने बैठनेकी ताकत जाती रही। साथके संन्यासिगण लौटनेके लिये घबड़ा उठे; मैं बड़े सोच-विचारमें पड़ गया; क्योंकि उस समय मेरे शरीरमें एक पैर भी चलनेकी ताकत नहीं थी, तब कैसे उस दुर्गम वनभूमि और पर्वतश्रेणीको लांघता ? अतः मैंने संन्यासियोंसे दो चार दिन राह देखनेके लिये हाथ जोड़कर अनुनय विनय किया; किन्तु कुछ भी फल नहीं निकला। वे एक रातको मुझसे छिपकर और साधुजनोचित सहृदयता दिखाते हुए चुपकेसे चलते बने! फलतः मुझे अकेले उस जन-मानवशून्य पार्वत्य प्रदेशमें विषम विपद झेलनी पड़ी। पास ही असभ्य पहाड़ी लोगोंका एक छोटा-सा गाव था। मैंने निरुपाय हो उनसे गिड़गिड़ाकर रहनेको जगह मांगी। वे लोग साधु ब्राह्मणोंको नहीं मानते; किन्तु मेरी नई अवस्था और कातर शरीर देखकर

या दूसरे किसी कारणसे हो, उन्होंने सादर जगह दे दी। नया देश, नये, लोग और नई भाषा थी, इसीसे पहले-पहल जड़की तरह रहनेमें बड़ा कष्ट हुआ, किन्तु दो तीन ही दिनमें मैंने उनकी भाषा सीख ली और धीरे-धीरे उनसे मेल-जोल बढ़ गया। वे नौकरकी तरह मेरी सेवा करने लगे। मैं उनके सद्व्यवहारसे मुग्ध हो गया। आशातीत यत्न और सेवासुश्रुषा पाकर भी पूरे तौरसे स्वस्थ और सबल होनेमें एक माससे कुछ अधिक समय बीत गया। मैं बंगाल वापस पहुँचनेकी आशासे ब्रह्मकुण्डपर गया; किन्तु वहां जाकर सुना, कि "आगामी कार्तिक माससे पहले सदिया जानेके लिये साथी न मिलेगा।" उस श्वापद-संकुल वनभूमि को अकेले पार करना किसीके वशकी बात नहीं। सुतरां भग्नोत्साह होकर फिर मैं पहले आश्रय देनेवालेका शरणापन्न बना। वे खुशीसे छः सात महीनेके लिये जगह देनेपर राज़ी हो गये। कहना वृथा है, कि यह समग्र स्थान भारतवर्षमें तो है, किन्तु वृटिश शासनके अधीन नहीं है।

सर्वनियन्ता विश्वपिता विधाताके चरणोंका भरोसा रख, "जब जैसा—तब तैसा" सोचकर इन सब अशिक्षित असभ्योंके साथ एक प्रकारका सुख स्वच्छन्दतासे समय काटने लगा। उनके उदार स्वभाव, सरल-प्राण, सत्यनिष्ठा, परोपकार, सहानुभूति आतिथेयिता प्रभृति जो अनेक सद्गुण देखनेमें आये, वर्त्तमान युगमें शिक्षित और सभ्यताभिमानी भारतवासियोंके बीच वे कहीं भी नहीं दिखाई देंगे। किसी भी देश और किसी भी जातिमें ऐसी भद्रता और मनुष्यत्व

इस दुर्दिनमें देखनेको न मिलेगा। इन्हें हम असभ्य और अशिक्षित बताकर घृणा करते हैं, किन्तु मैं मुक्त-कण्ठसे कहता हूँ, कि यदि आप प्रकृत मनुष्यत्व इस मर्त्य जगत्‌में कहीं देखना चाहते हैं, तो सिवाय इन असभ्योंके वह और कहीं न पाइयेगा। फिर यदि हम मनुष्य समझे जावें, तो इन्हें देवता मानना पड़ेगा। हाय ! क्या ही बुरे समयमें हम लोगोंने सभ्यताकी शिक्षा पाई है। किसी सभ्य शिक्षित बाबूके घर दास-दासी और कुत्ते-बिल्ली अन्न खाकर समाप्त नहीं कर सकते; किन्तु वही बाबू देश या ग्रामके निरन्न व्यक्तिको सहायता देना तो दूरकी बात है, उनके भाई जब घरके पास ही रह कर, सारा दिन भूखे मरते हों और अन्न संग्रह करनेमें असमर्थ हों, यहां तक कि अन्त समयमें भूखे मुंह आहें भरते हों; तब भी क्या वे उस ओर दृष्टि डालते हैं ? क्षुधातुर अतिथिको एक मुट्ठी अन्न देना हम अपव्यय समझते हैं; विपदापन्न और निराश्रय पथिकको एक रातके लिये जगह देनेमें हम हिचकते हैं; इस पर भी यदि हम सभ्य शिक्षित और मनुष्य हैं तो फिर अभद्र, पाखण्डी और पिशाच किसे कहेंगे ? कुरता धोती पहनने और घड़ी छड़ी डाटकर गाड़ीपर बैठनेसे कोई सभ्य नहीं हो जाता। सभा करके दो चार अंगरेजी बातें बघारनेसे भी कोई शिक्षित नहीं कहलाता। हाय ! किस अशुभ समयमें भारतमें पाश्चात्य सभ्यता घुसी थी, कि जो हम प्रकृत मनुष्यत्व खोकर पशुसे भी अधम बन गये। यही कारण है, कि अपनी अवस्था आप ही न समझकर शिक्षा और सभ्यताके अभिमानमें हम हिताहित ज्ञान-शून्य हो गये। मैंने इन असभ्यों और अशिक्षितों

के बीच जिस भद्रता और मनुष्यत्वको पाया है, मालूम होता है, कि इस जीवनमें फिर उसकी सुध बिसार न सकूंगा। जगन्माता जगदम्बासे गिड़गिड़ाकर प्रार्थना करता हूँ कि हमारे हिन्दुस्थानी भाईयोंके घर-घरमें ऐसी ही असभ्यता प्रतिष्ठित हो जाय।

एक जगह बहुत दिन रहनेके कारण धीरे-धीरे सर्वसाधारणसे जान पहचान बढ़ गई। आस पासवाले दूसरे गांवोंके लोग भी मेरे यहाँ आने जाने लगे। मैं भी अनेक दिनोंतक बराबर एक ही जगह रहनेके कारण कुछ कष्ट बोध होनेसे, नई नई बस्तियोंमें परिभ्रमण करने लगा। इसी तरह ब्रह्मकुण्ड से कोई बीस कोस उत्तर जा पहुँचा। इस जगह समतल भूमि नहीं, केवल स्तर-स्तरमें पहाड़ोंकी कतार लगी है। पहाड़के पाद देशमें आठदश घरका एक एक छोटा गांव बसा है। मैं प्रतिदिन खाता, सोता और किसी दिन हिम्मत बाँधकर पहाड़पर प्रकृतिका सौन्दर्य देखने चला जाता। एक दिन तीसरे पहर इसी तरह मैं घूमने निकला। उस समय वर्षाकाल था, गहरी वृष्टिकी आशङ्कासे मैंने पैबन्द लगा हुआ एक टूटा छाता मांग लिया और कितने ही जङ्गल तथा पहाड़ोंका अतिक्रम करके एक नई जगह जा पहुँचा। वह स्थान पर्वतका एक एकान्त और सौन्दर्यमय प्रदेश था। वहाँ जन-मानवकी गन्ध तक नहीं थी। वहाँ केवल चारों ओर पहाड़ ही पहाड़, पहाड़की गोदमें झरने, झरनोंकी गोदमें हरी-भरी-नीलिमामय वनभूमि, वनभूमिकी गोदमें श्वेत, पीत और लोहित (लाल) कुसुमोंके गुच्छे खिले हुए थे एवं कुसुमोंकी गोदमें सुगन्ध और शोभा भरी हुई थी। नयन और मनको आनन्द

देनेवाले उस स्थानकी शोभा देखकर अनेक क्षण भ्रमण करते हुए अन्तमें थक जानेसे मैं वहाँ बैठ गया और बैठे बैठे स्रष्टाका अपूर्व सृष्टि-रचना-कौशल एवं प्रकृतिकी विचित्र गति-विधि पर विचार करने लगा। धीरे धीरे नदीकी तरङ्गोंकी तरह एक एक कर कितने ही प्रकारकी चिन्ताएं मेरे मनमें उठने लगीं; कितने ही देशोंकी बातें, कितने ही लोगोंकी कथाएँ; उनके आचार-व्यवहार, प्रेम-प्रीति, मेल-जोल, रहन-सहन एवं अन्तमें अपनी जन्मभूमिकी बातें स्मरण हो आईं। वही लड़कपन, पिता-माता, उनके प्यार दुलारकी बात, भाई बहनका प्यार, आत्मीय-स्वजनोंका स्नेह, बाल्य-बन्धुओंका सरल एवं प्राणोपम सच्चा प्यार, प्रणयिनीकी हृदयको मस्त बनानेवाली मधुर वाणी—इन सब बातोंका स्मरण आते ही मनमें एकदम बड़ी खलबली मच गई। हृदयका दृढ़ सङ्कल्प टूट गया, छाती धड़कने लगी, आंखसे चिनगारी उठी, मुहूर्त्त मात्रमें परमहंसदेवके उपदेश-वाक्य तृणकी तरह उस स्मृतिके प्रबल स्रोतमें न जाने कहाँ बह गये—दर्शन, विज्ञान, गीता, पुराणादिका शास्त्रज्ञान रसातलमें पहुँच गया—यहाँ तक कि अन्तको मैं आत्मविस्मृत हो गया।

नहीं जानता, उस हालतमें मैं कितनी देरतक रहा। किन्तु जब फिर पूर्वज्ञान (होश) आया, तब मैंने देखा, कि भगवान् मरीचिमाली सूर्य्यदेव अपनी मयूखमालाको उपसंहृत कर अस्ताचलके शिखरपर आरोहण कर रहे हैं। सन्ध्या देवी नई बालिका-वधूकी भाँति अन्धेरे के घूंघटसे अपना चन्द्र-वदन आवृत्त करती दिखाई दी। पहलेसे ही पक्षिगणने अपने अपने घोसलोंमें आश्रय ले लिया था, कहीं कहीं दो

एक पक्षी डालियोंपर बैठकर सुललित स्वरसे कर्णकुहरमें पीयूषधारा निचोड़ रहे थे। महामायाके माया-मोहका प्रभाव देख कर मैं आश्चर्य्य-चकित बन गया। विचार किया कि—"मैं जो था, वही हूँ। एक ही लहरकी चोटसे जब हृदयका समस्त सङ्कल्प ढीला पड़ गया, तब शास्त्रादिके ज्ञानका अभिमान वृथा है।" जो हो, अब अधिक सोचनेका समय कहाँ है? इसी-क्षण गांवको लौटना होगा, अतः मैंने भय-भीत चित्तसे चलना आरम्भ किया। कुछ देर चलने पर मालूम हुआ, कि मैं मार्ग भूल कर बेराह हो गया हूँ। उस समय वनमें घोर अन्धेरा छा गया था। प्राणके भयसे घबड़ाकर मैं बाहर निकलनेके लिये तरह तरहकी कोशिशें करने लगा, लेकिन समस्त यत्न और परिश्रम व्यर्थ गया। जिस ओर जाता केवल असीम जङ्गल और दुर्भेद्य अन्धेरा ही देख पड़ता था। हताश हो कर मैं एक स्थान पर बैठ गया। शरीरसे पसीना बहने लगा। अब उपाय ही क्या है?—उस निविड़ अंधेरेमें दुर्भेद्य वनभूमि अतिक्रमण करना मेरी पहुँचके बाहर था। मुझे यह भी बिल्कुल पता नहीं था, कि पहाड़की किस बगलमें गांव है। ऐसी दशामें अनुमान लगाकर गांवकी तलाश करना भी निरर्थक था; इतना ही नहीं, बल्कि उस तरह निरर्थक घूमनेसे तो कहीं शेर भालूके पैने दांतोंकी चोटसे भव-लीला संवरण करने तककी सम्भावना थी;—अथवा जङ्गली हाथियोंके पैर तले दब जानेका संदेह था। इसीलिए मैंने सोचा, अकारण गांव ढूंढ़नेकी तकलीफ क्यों उठाऊँ? अन्तको मैंने हर हालतमें उसी जगह रहनेकी ठहराई—जो होना है, हो जयगा।

विपद्-चिन्ता भयका कारण है, किन्तु विपदमें फँस जानेसे आप ही आप हिम्मत पैदा हो जाती है। अतः अकेले ही उस भयावह वन-भूमिमें बैठकर मैं प्रतिक्षण मृत्युकी प्रतीक्षा करने लगा। कभी मनमें आता कि, कराल-वदन विस्तारकर शिकारी हिंस्र जन्तु मुझे निगलने आ रहा है। फिर कभी मनमें आता कि, भीमदर्शन भूत, प्रेत और पिशाचगण विकट दांत निकालकर अट्टहास्यसे वनभूमिको हिला रहे हैं। मैं प्रतिमुहूर्त्तमें मृत्यु-यन्त्रणा भोगने लगा। मैंने मनमें विचार किया कि ऐसी यन्त्रणा-भोगनेकी अपेक्षा तो मैं मर जाता तो भी अच्छा होता। जो हो किसी न किसी तरह इसी सोच विचारमें समय कट गया। अन्तमें कुछ हिम्मत बाँधी और नाना प्रकारसे मैं मनको दृढ़ करने लगा। उसी समय शास्त्र-कारोंका यह मधुर उपदेश स्मरण हो आया।—

मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह जायते।
अद्य वाब्द शतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः॥

श्रीमद्भागवत् १०।१।२६

जब एक दिन मृत्यु निश्चित ही है, तब उस मृत्युके लिये इतना घबड़ाना किस कामका ?

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्य्येऽर्थे नत्वं शोचितुमर्हसि॥

गीता २ य अ० २७ श्लोक।

पूजनीय परमहंस-देवका वह प्राणस्पर्शी वाक्य भी स्मरण हो आया,—

"नासौ न तव न तस्य त्वं, वृथा का परिवेदना।"

इस प्रकार आपही आप मृत्युका वह भय अनेकांशसे अन्तरसे अन्त-र्हित हो गया। किन्तु निश्चेष्ट होकर उस तरह बैठे रहना नितान्त कायरका लक्षण था। अलबत्ता वृक्षपर चढ़ जानेसे शिकारी हिंस्र प्राणियोंके पंजेसे बचाव अवश्य हो सकता था; लेकिन वृक्षपर चढ़नेका उपाय क्या है ? मैं तो वृक्षपर चढ़नेमें सम्पूर्णतः अक्षम था। पल्लीग्राममें जन्म होनेपर भी बचपनमें वृक्षारोहण की शिक्षा मुझे नहीं मिली थी, तथापि मैं चेष्टा करने लगा। पास ही एक बड़े पहाड़ी वृक्षकी शाखा प्रायः जमीनसे लगी हुई लटक रही थी। थोड़ी ही कोशिशसे मैं उस शाखा पर चढ़ गया और धीरे धीरे काँपते हाथों उसके सहारे मूलतक जा पहुँचा। वहाँ जाते ही मैंने एक अदृष्टपूर्व आश्चर्य्य-जनक गह्वर देखा। वह गह्वर अनोखा था, जैसा कभी किसीने न देखा न सुना हो। जहाँ वह शाखा पूरी हुई थी, ठीक उसीकी बगल तनेके भीतर एक गहरा गह्वर था। विशेष सावधानीके साथ देखनेसे साफ मालूम हुआ कि गड़हेके भीतर मिट्टी भरी हुई है और केवल एक मनुष्य आरामसे उठ-बैठ सके, इतनी जगह उसमें है। मैंने हिम्मत बांध कर धीरे धीरे खोहमें प्रवेश किया और डरका कोई कारण न देख मैं नीचे बैठ गया एवं छाता तान कर मैंने खोहका मुंह ढांप दिया। इसके बाद कुछ निश्चिन्त होकर मैंने उस अपार-करुणा-निलय जगत्पिता जगदीश्वरको धन्यवाद दिया एवं आँखें मून्द कर इष्टमन्त्र को जपना आरम्भ कर दिया। कितना ही समय बीत गया, लेकिन

कालरात्रिने मानो जाना ही न चाहा। बहुत देर बाद प्रभातके लक्षण देख पड़े; वन्य कुक्कुट एवं अन्यान्य दो एक पक्षियोंने जागरणका संदेश सुनाया। हृदय प्रफुल्लित हुआ और इस यात्रामें बच गया सोचकर मन ही मन में भगवान्‌के प्रति कृतज्ञता दिखाने लगा। रातभर जगनेसे और मरनेकी चिन्ताके कारण मैं बहुत घबड़ा गया था। अतः अब निश्चिन्त होने एवं उषःकालकी मन्द-मन्द सुशीतल समीरणके शरीरमें लगनेसे नींदका बड़ा जोर बँधा। फलतः उसी तरह बैठे-बैठे वृक्षके सहारे मैं सो गया।

नींद टूटने पर देखा कि वनभूमि सूर्य किरणों से चमक उठी है। आश्चर्यान्वित हो मैंने छाता बन्द करके डरते डरते शिर उठाकर देखा कि—मैं जिस वृक्षपर अधिष्ठित हूँ, ठीक उसीके नीचे सूखे पत्तोंमें अग्नि प्रज्ज्वलित करके एक मनुष्य बैठा हुआ है। रात्रिके अन्तमें सहसा ऐसे निविड़ जङ्गलमें मनुष्य कहाँसे आया? क्या वह भी मेरी ही तरह विपदापन्न है? इतने समय तक वह कहाँ था? नाना प्रकार की चिन्ता करके मैं इस विषय की कुछ भी मीमांसा नहीं कर सका। चिन्तानुरूप भूत-प्रेतादिकी कल्पना भी एक बार मनमें पैदा हुई। किन्तु अन्तमें दुर्गाका नाम स्मरण कर हिम्मत बाँध मैं खोहसे बाहर निकला और पहिली ही वृक्षशाखासे नीचे उतर कर उसके सामने जा खड़ा हुआ। किन्तु इस प्रकार मुझे एकाएक वृक्षसे उतरते देख कर भी वह भीत, चकित या

विस्मित न हुआ। यहाँतक कि मुँह उठाकर उसने मेरी तरफ देखा भी नहीं। मैंने देखा, कि वह शिर नीचा करके अपनी धुनमें मस्त हो गांजा मल रहा था। सिवा कौपीनके उसके पास दूसरा कोई कपड़ा न था। उसकी बग़लमें एक बड़ा चिमटा एवं लम्बी नलीकी चिलम पड़ी हुई थी। इन चीज़ोंको देख मैंने उसे गृहत्यागी संन्यासी समझ लिया। लेकिन ऐसी पार्वत्य वन-भूमिमें संन्यासियोंका कोई आश्रम है, ऐसा तो किसी भी दिन मैंने किसीके मुँहसे नहीं सुना था? जो हो, मैं किसी प्रकारका साहस कर उससे कुछ भी पूछ न सका—पास जाकर बैठ गया। गांजा तैयार होनेपर उसने चिलमपर चढ़ाया एवं आग रखकर क़ायदेसे दम लगाया और मुझे भी चिलम देनेको हाथ बढ़ाया। यद्यपि मुझे गांजा पीनेकी आदत न थी, तथापि डरते-डरते चिलम लेकर मैंने दो एक फूंक मारी और चिलम उसे वापस दे दी। उसने फिर दम लगाया और आग नीचे गिरा दी। इसके बाद जमीन परसे चिमटा उठा कर वह खड़ा हो गया और हाथके संकेतसे मुझे अपने पीछे पीछे आनेका आदेश देकर चलने लगा। मन्त्रमुग्ध व्यक्तिकी भाँति मैं भी उसके पीछे-पीछे चल दिया। चलते चलते मैंने सोचा—'मैं कहाँ जा रहा हूँ? यह व्यक्ति कौन है? इसके मनका उद्देश्य क्या है? इसका क्या कारण है कि मुझसे न कुछ पूछा, न कुछ जाँचा, न परिचय लिया, बल्कि चुप-चाप साथ चलनेका आदेश कर दिया!"

एकवार वङ्किम वावूकी "कपाल-कुण्डला" के कापालिककी बात स्मरण हो आई। उसी समय छाती धड़कने लगी। तथापि काल-वारिणी, काल-वरणी कालीके चरणका भरोसा बांधे मैं उसके साथ-साथ चलता रहा। वह गुल्म-लता-कण्टकादि की परवाह न कर दानवकी तरह चला जाता था। गांजेके नशेसे मेरी आंखोंमें सरसोंके फूल जैसी चिनगारियाँ उठने लगीं, लज्जावती बेलके कांटेके चुभनेसे पैर फट जाने पर खून बहने लगा। तथापि जहाँतक हो सका कष्ट सहन करके भी मैंने उसके पीछे चले जानेमें कुछ भी उठा न रखा। कहना वृथा है, कि उस समय सवेरा हो गया था।

कुछ देर इसी तरह वह निविड़-वनभूमि अतिक्रमण करके हम एक पहाड़ी टीलेके पास जा पहुँचे। वह स्थान स्वाभाविक सौन्दर्य्यसे पूर्ण था। एक ओर पहाड़ी टीला अपना उन्नत शिर उठाये वीरकी भाँति ताल ठोंक कर खड़ा था; तो दूसरी तीनों ओर दुर्भेद्य नीलिमामय हरी-भरी भूमि थी। बीचका कुछ स्थान परिष्कृत एवं वृक्षादिसे शून्य था; एक छोटासा झरना भी टीलेके बगलमें वेगसे सुमधुर शब्द करता हुआ वह रहा था। उस जगह पहुँचने पर वह साधु मेरी ओर घूम कर खड़ा हो गया। वहीं उसका यथार्थ स्वरूप देख पड़ा! अहा! वह क्या ही विराट् मूर्त्ति थी!—तपे सोने जैसा रङ्ग, प्रशस्त ललाट, विशाल वक्षःस्थल, घुटनों तक लम्बे-लम्बे मांसल हाथ, रक्ताभ होंठ और भौंरे जैसे झूमते हुए काले दीर्घ बाल, कानतक लम्बी आंखें तथा समस्त शरीर सरलता-मय एवं ब्रह्म-

तेजसे चमक रहा था। उस अदृष्टपूर्व अपूर्व मूर्त्तिको देख मैं स्तम्भित, विस्मित और रोमाञ्चित होगया! इस जीवनमें मैंने कितने ही साधु-संन्यासियोंको देखा है; किन्तु वैसी मधुर मूर्त्ति उस दिन तक एक भी देखनेमें नहीं आई थी। अतः क्या ही एक अभूतपूर्व आनन्द हृदयमें भर आया और प्राणाधार पर भक्तिका प्रवाह प्रवाहित हो गया। क्या ही एक अपूर्व भावमें मैं विभोर हो गया और उस अचेतनावस्थामें भी आप ही आप मेरी देह उनके चरणों पर लोटने लगी।

उन्होंने स्नेहके साथ मेरा हाथ पकड़ा और उठाकर धीर-गम्भीर एवं मधुर वाणीमें कहा—"बाबा! सहसा रात्रिके अंतमें मुझे वृक्षके नीचे देखने और तुम्हारा हाल कुछ न पूछ कर चुपचाप साथ चलनेको कहनेसे, तुम कुछ घवड़ा गये और आश्चर्य्यान्वित भी हुए थे। किन्तु, इसके पूर्व ही तुम कौन हो? किस मतलबसे घूम रहे हो? आज वृक्षकी खोहमें ही कैसे रह गये थे?—यह सब मुझे मालूम हो गया था; इसीसे मैंने कोई बात नहीं पूछी। रातमें तुम्हारा विषय जानकर तुम्हें इस जगह लानेके लिये ही उस वृक्षके नीचे बैठ कर मैं तुम्हारी राह देख रहा था।"

मैं अवाक् हो गया!—वह मेरी बात पहले ही कैसे जान गया था? सहसा मैं उनको सिद्ध-महापुरुष समझने लगा और गत रात्रिका दारुण कष्ट भूल कर मैंने जीवनको सार्थक समझा। मैं अपनेको उन्हें सौंप कर उनके शरणागत हो गया।

उन्होंने मीठी-मीठी बातोंसे मुझे सान्त्वना देकर मेरे पूर्व-पूर्व

और वर्तमान जन्मका कितना ही गुह्य रहस्य प्रकाशित किया और योग एवं साधन-कौशल सिखाना भी स्वीकार कर लिया। मैंने विस्मित और आनन्दित होकर विनीत भावसे कृतज्ञता प्रकट की और गत रात्रिकी विपद् सम्पद्का कारण समझ कर सर्वमंगलमय परमेश्वरको मन ही मन धन्यवाद दिया। इतने दिनोंमें मनोरथ सिद्ध होते देख हृदय प्रफुल्ल और उल्लासित हो उठा।

फिर उसी महापुरुषने टीलेके पास जाकर कौशलसे एक बृहत् लम्बा-चौड़ा पत्थर हटाया। बड़ा ही आश्चर्य्य-कारक दृश्य था! आहा! हा!! क्या ही प्रकाण्ड गुफ़ा!!! मैंने उसमे घुसकर देखा, कि गुफा एक छोटे घरकी तरह प्रशस्त और परिष्कृत है। उन्होंने मुझे हाथके लिखे योग और स्वरोदय-शास्त्रके कितने ही ग्रंथ पढ़नेको दिये। मैं अपनेको सौभाग्यवान् समझ सिद्ध महापुरुषके साथ उनके आश्रममें सुख-स्वच्छन्दतासे निवास करने लगा।

प्रतिदिन वे मुझे लड़केकी तरह प्यार कर स्नेहके साथ योग और स्वरशास्त्रके गूढ़ स्थानोंकी विशद व्याख्या करके शिक्षा देने लगे एवं मौखिक उपदेश और साधनका सहज तथा सुखसाध्य कौशल सिखाने लगे। मैंने वहाँ तीन महीनेसे कुछ अधिक समय अवस्थान किया और सिद्ध मनोरथ होकर कृतज्ञ एवं भक्ति गद्-गद्-चित्तसे उनकी चरण-वन्दना कर विदाके लिए प्रार्थना की। उन्होंने भी प्रफुल्लित चित्तसे मुझे पहलेके पहाड़ी गांवमें पहुँचा दिया।

पहले जान-पहचानके आश्रयदातागण एकाएक मुझे पीछे लौटते देखकर आश्चर्य्यान्वित और आनन्दित हुए। उन्होंने तीन-चार

दिन पार्वत्य वनभूमिमें मेरा अनुसन्धान किया था। किन्तु जब कोई पता न लगा तब यह समझ कर कि किसी हिंस्र जानवरके पंजेमें पड़ कर मैं मर गया हूँ; वे लोग विशेष खिन्न एवं दुखी हुए थे; अस्तु। मैंने उनको सब बातें कह सुनाई; और दो-एक दिन उनके यहाँ निवास कर मैं ब्रह्मकुण्ड पर आ पहुँचा और वहाँसे तीर्थयात्रियोंके साथ बङ्गदेशको वापस लौट आया।

सिद्ध महापुरुषकी दिखाई राहसे क्रिया-अनुष्ठान करके मैंने शास्त्रोक्त साधनाकी सफलताके सम्बन्धमें विशेष सत्यताका प्रमाण पा लिया। इसीसे आज स्वदेशी साधन-पथके खोजनेवाले भाईयोंके उपकारार्थ कई एक सद्यः प्रत्यक्षफल देनेवाली सहज और सुख-साध्य साधन-पद्धतियाँ सन्निवेशित करके यह पुस्तक प्रकाशित कर रहा हूँ। साधन-पथमें अग्रसर होकर साधकगणको जिससे विड़म्बना भोगनी न पड़े, यही मेरी एकान्त इच्छा है। अब इस कार्यमें मैं कहाँतक कृतकार्य्य हुआ हूँ, पाठकगण ही इसका विचार कर सकते हैं। यदि किसीको कोई भी विषय समझनेमें सन्देह हो तो पत्र लिखने या मेरे पास आनेसे मैं सविशेष समझानेकी चेष्टा करूंगा। किन्तु मेरा पता स्थिर नहीं है। अतः "कार्य्याध्यक्ष—सारस्वत मठ, पोष्ट कोकिलामुख, जोरहाट, आसाम" (Manager—Saraswat Math, P. O. Kokilamukh, Jorhat, Assam.)के,—पते पर जवाबी कार्ड लिखकर मेरे अवस्थानका पता जान लेना चाहिये।

योगकी श्रेष्ठता ।

सब साधनाओंकी जड़ और सर्वोत्कृष्ट साधना योग है। शास्त्रमें लिखा है, कि वेदव्यासके पुत्र शुकदेव पूर्वजन्ममें किसी वृक्षकी शाखामें छिपे रहकर भगवान शिवजीके मुँहसे निकला हुआ योगोपदेश श्रवण करके पक्षियोनीसे उद्धार पा परजन्ममें परम योगी बन गये थे। योगके उपदेश श्रवणसे जब यह फल है, तब योग साधन करनेसे ब्रह्मानन्द और सर्वसिद्धि मिलनेमें कोई सन्देह ही नहीं रह जाता। योगके विषयमें शास्त्र यही कहता है, कि अविद्यामें फँस कर आत्मा जीव-संज्ञा प्राप्त करके आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीनों तापोंके अधीन हो गया है। उसी तापत्रयसे मुक्तिलाभका उपाय योग है। योगके अभ्यासके अतिरिक्त प्रकृतिका मायाजाल ज्ञात नहीं होता। जो व्यक्ति योगी है, उसके सामने प्रकृति अपना मायाजाल नहीं फैला सकती; वरन् लाजके मारे भाग खड़ी होती है। सीधी बात तो यह है, कि उसी योगी पुरुषमें प्रकृति लयको प्राप्त हो जाती है। प्रकृतिके लयको प्राप्त होनेसे वही पुरुष फिर पुरुष-पद-वाच्य नहीं रहता; तब वह केवल आत्माके नामसे सत्स्वरूपमें अवस्थित होता है, इस सत्स्वरूपमें अवस्थान करनेके कारण योग श्रेष्ठ साधन कहा जाता है।

योग ही धर्म्मजगत्का एकमात्र पथ है। तन्त्रका मन्त्र, मुसलमानोंका अल्लाह और खृष्टानोंका खृष्ट, पृथक् होने पर भी

जब वे अपने-अपने अभ्याससे आत्म-लीन हो जाते हैं; तब अज्ञात-रूपसे वे भी योगाभ्यासके सिवाय और क्या किया करते हैं ? परन्तु किसी भी देशका कोई भी धर्म्मशास्त्र आर्य्य-योग-धर्म्मकी भाँति परिणति या परिपुष्टिको प्राप्त नहीं हुआ है। फलतः अन्यान्य जातियोंके सम्बन्धमें चाहे जो हो ; किंतु भारतीय तन्त्र, मन्त्र, पूजा-पद्धति प्रभृति सभी कुछ योग-मूलक ही हैं।

योगाभ्यासके द्वारा चित्तकी एकाग्रता हो जानेपर, ज्ञान समुत्पन्न होता है एवं उसी ज्ञानसे मानवात्माकी मुक्ति होती है। वह मुक्तिदाता परमज्ञान, योगके सिवाय अन्य शास्त्रोंके पढ़नेसे प्राप्त नहीं हो सकता।

भगवान् शङ्करदेवने कहा है—

अनेकशतसंख्याभिस्तर्कव्याकरणादिभिः।
पतिताशास्त्रजालेषु प्रज्ञया ते विमोहिताः॥

—योगवीज। ८

सैकड़ों तर्कशास्त्र और व्याकरणादि अनुशीलन पूर्वक मानवगण शास्त्रजालमें फँसकर केवल विमोहित होते हैं। वास्तवमें प्रकृत ज्ञान योगाभ्यासके विना उत्पन्न नहीं होता।

मथित्वा चतुरो वेदान् सर्वशास्त्राणि चैव हि।
सारस्तु योगिभिः पीतस्तक्रं पिबन्ति पण्डिताः॥

ज्ञान सङ्कलिनी तन्त्र। ५१

वेदचतुष्टय और सब शास्त्रोंको मथकर उसका मक्खन स्वरूप सारभाग तो योगिगण चाट गये हैं और उसका असार-भाग

तक्र (छाछ) पण्डित लोग पी रहे हैं। शास्त्र पढ़नेसे जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह मिथ्या और कोरी डींग है, वह प्रकृत ज्ञान नहीं। बाहरकी तरफ मुँह फेरे हुए मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको सब बाहरी विषयोंसे निवृत्त करके अन्तर्मुखी करते हुए सर्वव्यापी परमात्मामें मिलानेका नाम ही प्रकृत ज्ञान है।

एकबार भरद्वाज ऋषिने पितामह ब्रह्मासे पूछा था—"किं ज्ञानमिति ?" इसके उत्तरमें ब्रह्माने कहा,—"एकादशेन्द्रिय निग्रहेण सद्गुरूपासनया श्रवण-मनन-निदिध्यासनैर्दृग्दृश्य-प्रकारं-सर्वं निरस्य सर्वान्तरस्थं घट-पटादि विकारपदार्थेषु चैतन्यं विना न किञ्चिदस्तीति साक्षात्कारानुभव—ज्ञानम्।" अर्थात् "चक्षु-कर्ण-जीभ-नाक-चर्म इन पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा हाथ, पैर, मुँह, पायु, उपस्थ-इन पांच कर्मेन्द्रिय एवं मन—इन ग्यारह इन्द्रियोंका निग्रह करके सद्गुरुकी उपासना द्वारा श्रवण-मनन-निदिध्यासनके साथ घट-पट-मठादि सारे विकारमय दृश्य-पदार्थोंका नाम-रूप परित्याग कर उन सब वस्तुओंके बाहर भीतर रहनेवाले एकमात्र सर्वव्यापी चैतन्यके अतिरिक्त और कुछ भी सत्य पदार्थ नहीं है, ऐसा अनुभवात्मक जो ब्रह्मसाक्षात्कार है, उसीका नाम ज्ञान है।" योगाभ्यास न करने पर कभी ज्ञान प्राप्त नहीं होता। साधारण लोगोंका जो ज्ञान है, वह भ्रान्त ज्ञान है। क्योंकि सभी जीव मायाके फन्देमें जकड़े हुए हैं, मायाका फन्दा तोड़ न सकनेसे सच्चा ज्ञान का उदय नहीं होता। माया-पाश तोड़कर सच्चा-ज्ञानालोक प्राप्त करनेका उपाय योग है। योग-साधनके अनुष्ठानके अतिरिक्त

किसी प्रकारसे भी मोक्षलाभका हेतुभूत जो दिव्यज्ञान है, वह नहीं उदय होता। योगविहीन सांसारिक ज्ञान वास्तवमें अज्ञानमात्र है; उससे केवल सुख-दुःखका अनुभव होता है; मुक्तिके पथमे चलनेकी सहायता नहीं मिलती। परमयोगी महादेवजीने अपने मुँहसे कहा है—

"योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीश्वरि !"—योगबीज। १८

हे परमेश्वरि ! योगविहीन ज्ञान कैसे मोक्षदायक हो सकता है ? सदाशिवजीने योगकी श्रेष्ठता बता कर पार्वतीको सुनाया था !—

ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्म्मज्ञोऽपि जितेन्द्रियः ।
विना योगेन देवोऽपि न मुक्तिं लभते प्रिये ! योगबीज। ३१

हे प्रिये ! ज्ञानवान्, संसारविरक्त, धर्म्मज्ञ, जितेन्द्रिय, किम्वा कोई देवता भी योगके सिवाय मुक्ति नहीं पा सकता। विना योग के मिले केवल साधारण सूखे ज्ञानसे ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं होता। योगरूपी अग्नि अशेष पाप-पञ्जर जला देती है एवं योगके द्वारा दिव्य-ज्ञान मिलता है और उस ज्ञानसे ही लोग दुर्लभ निर्वाण पद पाते हैं। योगानुष्ठान में समाधिका अभ्यास पक्का हो जाने पर ही अन्तःकरणके असम्भवादि दोषकी निवृत्ति हो जाती है। ऐसा होते ही उस विशुद्ध-अन्तःकरण में आत्मदर्शन मात्रसे ही अज्ञानका नाश हो जाता है। सुतरां आप ही आप दिव्य ज्ञान प्रकाश पाने लगता है। योग-सिद्धिके अतिरिक्त कभी प्रकृत ज्ञान प्रकाशित नहीं होता। योगीके सिवाय दूसरेका ज्ञान प्रलाप मात्र है।

यावन्नैव प्रविशति चरन् मारुतो मध्यमार्गे-
र्यावद्विन्दुर्न भवति दृढः प्राणवातप्रबन्धात्।
यावद् ध्यानं सहज सदृशं जायते नैव तत्त्वं
तावद्-ज्ञानं वदति तदिदं दम्भमिथ्या प्रलापः ॥

गोरक्षा संहिता चतुर्थ अंश

जबतक प्राणवायु सुषुम्णाविवरमें विचरणकर ब्रह्मरन्ध्रमें नहीं प्रवेश करता, जबतक वीर्य्य दृढ़ नहीं होता एवं जबतक चित्तका स्वाभाविक ध्यायाकार वृत्ति प्रवाह नहीं उमड़ता, तबतक जो ज्ञान है, वह मिथ्या प्रलापमात्र है; वह प्रकृत ज्ञान नहीं है। प्राण, चित्त और वीर्य्यको वशीभूत न कर सकनेसे प्रकृत ज्ञानका उदय नहीं हो सकता। किन्तु चित्त तो सतत ही चञ्चल है, अतः वह स्थिर कैसे होगा? शास्त्रमें इसका भी उत्तर है। यथाः—

योगात् संजायते ज्ञानं योगो मय्येक चित्तता। आदित्य पुराण।

योगाभ्यासके द्वारा ज्ञान उत्पन्न होता है एवं योगसे ही चित्तकी एकाग्रता होती। सुतरां चित्त स्थिर करनेका उपाय प्राण संरोध अर्थात् प्राण-वायुको रोकना है, कुम्भकसे प्राणवायुके स्थिर होनेपर चित्त आप ही आप स्थिर हो जाता है। चित्तके स्थिर होने पर ही वीर्य्य स्थिर होता है और वीर्य्यके स्थिर होने से ही प्रकृत ज्ञानोदय होता है। कुम्भकके समय प्राणवायु जब सुषुम्णा नाड़ीके बीचसे भ्रमण करता करता ब्रह्मरन्ध्रस्थ महदाकाशमें जा पहुँचता है, तब स्थिरता प्राप्त होती है; प्राणवायु स्थिर होनेपर ही चित्त स्थिर होता है। कारण—

इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः ।

हठयोग प्रदीपिका । २६

मन इन्द्रियोंका मालिक है, जो प्राणवायुके अधीन है। सुतरां प्राणवायुके स्थिर होते ही चित्त अवश्य स्थिर हो जाता है। चित्त की स्थिरता प्राप्त होते ही ज्ञानचक्षु उन्मीलन होनेपर आत्मा या ब्रह्मका साक्षात्कार प्राप्त होता है। सुतरां सबको ही योगकी आवश्यकताकी उपलब्धि करके उसके अभ्यासमें नियुक्त होना चाहिये। योगके सिवाय दिव्य-ज्ञान लाभ वा आत्माकी मुक्ति नहीं होती।

इससे पहले कह आये हैं कि सबसे श्रेष्ठ साधन योग है। इसी योगसे सभी व्यक्ति, सभी समयमें, सभी अवस्थाओंमें सिद्धि लाभ कर सकते हैं। योगबलसे अनोखी और अपूर्व क्षमता प्राप्त कर सकते हैं; कर्म्म, उपासना, मनःसंयम अथवा ज्ञान—इन्हें पीछे रखकर हम समाधिपद प्राप्त कर सकते हैं। मत, अनुष्ठान, कर्म्म, शास्त्र और मन्दिरमें जाकर उपासना करना उसके गौण अंग-प्रत्यङ्ग हैं। सब क्रिया कर्मोंमें रहकर भी साधक इसी योग साधनासे कैवल्य-पद प्राप्त कर सकता है; दूसरे धर्म्मावलम्बीगण भी आर्य्य-शास्त्रोक्त योगानुष्ठानकर सिद्धि पा सकते हैं।

योगबलसे अत्याश्चर्य्य और अमानुषिक क्षमता प्राप्त होती है। योगसिद्ध व्यक्ति अणिमादि अष्टैश्वर्य्य प्राप्त करके स्वेच्छा विहार कर सकता है। उसको वाक्‌सिद्धि हो जाती है, साथ ही दूरसे देखने, दूरसे सुनने, वीर्य्य-रोकने, देह बनाने और दूसरेके शरीरमें प्रवेश करने आदिकी क्षमता भी प्राप्त हो जाती है; विण्मुत्र लेपनसे स्वर्णादि

धात्वन्तर होता है एवं अन्तर्धान होनेकी शक्ति भी आ जाती है। योगके प्रभावसे यह सब सिद्धियाँ मिलती हैं एवं अन्तर्यामित्व तथा बिना रोक-टोक आकाश-मार्गमें जाने आनेकी शक्ति भी उसमें आ जाती है, किन्तु सावधान! केवल अलौकिक-शक्ति प्राप्त करनेके अभिप्रायसे योग साधन करना उचित नहीं है; क्योंकि इससे लोक-समाजमें, दशजनोंके बीच शाबासी अवश्य मिलती है, किन्तु जो जैसा है, वह वैसा ही बना रहेगा। अतः ब्रह्मके उद्देश्यसे योग-साधन करना आवश्यक है—विभूति आप ही आप प्रकाशित होगी। योगाभ्याससे आशक्तिशून्य होनेको जाकर फिर आशक्तिकी ही अग्निसे जलना किम्वा कर्म्म-बन्धन तोड़नेको अग्रसर होकर पुनः कण्टक-पिञ्जरमें न फंस जाना चाहिए।

एक बात और है, सिद्धि प्राप्त करनेमें जितने प्रकारकी रुकावटें हैं, उनमें "सन्देह" ही सबसे भारी रुकावट है। यह सन्देह ही साधन-पथका कांटा है, कि मैं जो इतना कष्ट उठाकर साधन करता हूँ, इससे कुछ फल निकलेगा या नहीं? किन्तु योगमें यह आशंका नहीं, जितना अभ्यास करेंगे, उतना ही फल मिलेगा। किसीको योग साधनकी प्रबल इच्छा रहते हुए भी सांसारिक प्रति-बन्धके कारण सफलता नहीं दिखने पाती; किन्तु फिर भी यदि वह उसी इच्छाको लेकर मर जाय तो परजन्ममें उसे जन्मस्थानादिरूप ऐसा उत्कृष्ट एवं अनुकूल सुविधा प्राप्त होगी, कि जिससे योगाव-लम्बनकी सुविधा होकर उसके लिए मुक्तिका मार्ग एकदम मुक्त हो जायगा। यदि कोई योगानुष्ठान कर सिद्धि पानेके पहले ही मर

जाय, तो इस जन्ममें जितना अनुष्ठान किया है, पर जन्ममें आप ही आप वह ज्ञान जाग्रत होकर फिर उसी स्थानसे आरम्भ होगा। ऐसे व्यक्तिको योगभ्रष्ट कहते हैं। योगभ्रष्टकी मृत्युके पीछेकी अवस्था भगवान् श्री कृष्णजीने गीतामें अर्जुनको बतलाई थी—"योग-भ्रष्ट व्यक्ति पुण्यकारी व्यक्तियोंके प्राप्यस्थानमें बहुत दिन अवस्थान करके पीछे सदाचार-सम्पन्न धनीके घर या ब्रह्मबुद्धि-सम्पन्न ऊंचे वंशमें जन्म लेता है। इसीलिये उस जन्ममें पहले देहकी बुद्धिको प्राप्त होकर मुक्ति-लाभके विषयमें विशेष रूपसे यत्न किया करता है।" * इस प्रकार योगकी श्रेष्ठता अवगत होकर योगा-नुष्ठानमें सबको यत्न करना चाहिये। अब देखना चाहिये कि—

योग क्या है?

सर्वचिन्तापरित्यागो निश्चिन्तो योग उच्यते।—योगशास्त्र।

'जिस समय मनुष्य सर्वचिन्ता परित्याग कर देता है, उस समय उसके मनकी उस लयावस्थाको योग कहते हैं। अपिच—

---

* प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥

गीता ६।४१-४२

योगश्चित्तवृत्ति निरोधः ।

पातञ्जल समाधिपाद । २

अर्थात् चित्तकी सभी वृत्तियोंको रोकने या हटानेका नाम योग है। वासना और कामनासे संलिप्त चित्तको वृत्ति कहा है। इस वृत्तिका प्रवाह स्वप्न, जाग्रत और सुषुप्ति—इन तीनों प्रकारकी अवस्थाओंमें मनुष्यके हृदयपर प्रवाहित होता रहता है। चित्त सदा-सर्वदा ही अपनी स्वाभाविक अवस्थाको पुनः प्राप्त करनेके लिये कोशिश करता रहता है, किन्तु इन्द्रियाँ उसे बाहर आकर्षित कर लेती हैं। उसको रोकना एवं उसके बाहर निकलनेकी प्रवृत्तिको निवृत्त करके, उसको फिर पीछे घुमाकर चिद्घन पुरुषके पास पहुँचानेके पथमें ले जानेका नाम ही योग है। चित्त परिष्कृत न होनेसे उसे रोक नहीं सकता—जैसा कि मैले कपड़े पर रंग नहीं चढ़ता ; अतः उसे रंगनेके पहिले परिष्कृत कर लेना पड़ता है। हमें जलाशयका तलदेश नहीं देख पड़ता है, इसका कारण क्या है ? जलाशयका जल अपरिष्कृत होने एवं सर्वदा तरङ्ग प्रवाहित रहनेके कारण उसके तलदेशपर दृष्टि नहीं जाती। यदि जल निर्म्मल रहे और बिन्दुमात्र भी तरङ्ग न उठें तो हमें उसका तलदेश अवश्य देख पड़ेगा। जलाशयका तलदेश हमारा प्रकृत स्वरूप है—चित्तको जलाशय और उसकी तरङ्गको वृत्तिस्वरूप समझना चाहिये। हम अपने हृदयस्थ चैतन्यघन पुरुषको क्यों नहीं देख पाते ? इसी कारण, कि हमारा चित्त हिंसादि पापसे मैला एवं आशादि वृत्तिसे तरंगायित है, सुतरां हम हृदय नहीं

देख पाते। यम-नियमादिके साधनसे चित्तका मैल छुड़ाकर चित्त-वृत्तिको रोकनेका नाम योग है। यम-नियमादिके साधनसे हिंसा-काम-लोभादि पाप मैलको छुड़ाकर एवं कामना-वासनासे संयुक्त चित्त-वृत्ति-प्रवाहको रोकने पर ही हृदयस्थ चैतन्य पुरुपका साक्षात् दर्शन हो सकता है। ऐसा दर्शन होनेपर "मैं कौन हूँ?" "वह कौन है?" यह भ्रम दूर हो जाता है। तब जगत् क्या है, पुत्र कलत्र क्या हैं, सोनेका फन्दा क्या है और लोहेका फन्दा क्या है, यह ज्ञान भी उत्पन्न हो जाता है। हृदय दृढ़-भक्ति और अहेतुक-प्रेम सम्पन्न हो जाता है; तब वह श्यामसुन्दर, चिद्घनरूप कभी भूला नहीं जा सकता तथा तभी दिव्यज्ञान भी उत्पन्न होता है एवं विशिष्ट-रूपसे समझ पड़ता है, कि—दारा-पुत्र-धन-ऐश्वर्य्य कुछ नही है, देह कुछ नहीं है, घट-पट-प्रेम-प्रीति भी कुछ नहीं है, वही आदि अन्तहीन चराचर विश्वव्यापी विश्वरूप ही सत्य है। सत्यस्वरूपके सत्य ज्ञानसे असत्य दूर भाग हो जाता है—राधे-श्यामके महारासके महामञ्चपर आनन्दसे मतवाला होकर एक रस हो जाता है।

चित्तकी यह अवस्था प्राप्त करनेके लिये योगकी आवश्यकता होती है। किन्तु यह अवस्था प्राप्त करनी हो तो चित्त की वृत्तिको रोकना पड़ेगा। इसी चित्तकी वृत्तिको रोकनेका नाम योग है। अब देखना चाहिये, कैसे हम उस चित्तवृत्तिको रोक सकते हैं। किन्तु इससे पहले शरीर-तत्त्वका जान लेना आवश्यक है।

शरीर-तत्त्व।

योगकी शिक्षा प्राप्त करनेके पहले अपने शरीरका विषय जान लेना आवश्यक है। शरीर और प्राण इन दोनों विषयोंका सम्यक् तत्त्व न जान लेनेपर योग-साधना विड़म्बना मात्र होती है; इसलिये योगी बननेके पहले वा उसके साथ-साथ इसे जान लेना आवश्यक है। कारण, शरीर और प्राणका परस्पर सम्बन्ध न जानने पर कोई भी साधक प्राणका संयम नहीं कर सकता और न शरीरको ही नीरोग रख सकता है एवं कौनसी नाड़ीमें किस प्रकार प्राणवायु वहती है और कैसे प्राणको अपानसे संयोग करना होता है, यह भी नहीं जान सकता। सुतरां योग-साधन भी नहीं बनता। शास्त्रमें भी लिखा है कि—

> नवचक्रं षोड़शाधारं त्रिलक्ष्यं व्योम पञ्चकम्।
> स्वदेहे यो न जानन्ति कथं सिध्यन्ति योगिनः॥

उत्पत्ति तन्त्र।

नवचक्र, षोड़शाधार, त्रिलक्ष्य और पञ्चाकाशको अपने शरीरमें जो व्यक्ति नहीं जानता है, उसको योग-सिद्धि कैसे होगी? जिस किसी भी साधनके लिये जो कुछ भी आवश्यक है, वह सभी शरीरमें मौजूद है।

> त्रैलोक्ये यानि भूतानि तानि सर्वाणि देहतः।
> मेरुं संवेष्ट्य सर्वत्र व्यवहारः प्रवर्त्तते॥

शिव संहिता॥

"भूर्भुवः स्वः" इन तीनों लोकोंमें जितने प्रकारके जीव हैं, वे सभी शरीरमें अवस्थान कर रहे हैं। वे सब पदार्थ मेरुको वेष्टन करके अपना-अपना विषय सम्पादन कर रहे हैं।

देहेऽस्मिन् वर्त्तते मेरुः सप्तद्वीप समन्वितः।
सरितः सागराः शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्र-पालकाः ॥
ऋषयो मुनयः सर्वे नक्षत्राणि ग्रहास्तथा।
पुण्यतीर्थानि पीठानि वर्त्तन्ते पीठदेवताः ॥
सृष्टिसंहारकर्त्तारौ भ्रमन्तौ शशिभास्करौ।
नभो वायुश्च वह्निश्च जलं पृथ्वी तथैव च ॥

शिव संहिता।

जीवके शरीरमें सात द्वीपोंके साथ सुमेरु पर्वत, सब नद, नदी, समुद्र, पर्वत, क्षेत्र और क्षेत्रपाल प्रभृति भी अवस्थान करते हैं। सब मुनि-ऋषि, ग्रह-नक्षत्र, पुण्य-तीर्थ, पुण्य-पीठ और पीठ-देवतागण इसी शरीरमें नित्य अवस्थान कर रहे हैं। सृष्टिको नाश करनेवाले चन्द्र-सूर्य इसी शरीरमें सर्वदा भ्रमण करते रहते हैं। फिर पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश प्रभृति पञ्चमहाभूत भी इसी शरीरमें अधिष्ठित हैं।

जानाति यः सर्वमिदं स योगी नात्र संशयः।

शिव संहिता।

जो व्यक्ति शरीरका यह सब वृत्तान्त जानता है, वही प्रकृत योगी है। सुतरां सबसे पहले शरीरका तत्त्व जान लेना आवश्यक है।

प्रत्येक जीवका शरीर ही शुक्र, शोणित, मज्जा, मेद, मांस,

अस्थि और त्वक् इन सात धातुओंसे बना है। मृत्तिका, वायु, अग्नि, जल और आकाश, इन्हीं पञ्चभूतसे शरीरके बनानेमें समर्थ ये सप्तधातु एवं क्षुधा, तृष्णादि शरीरके धर्म्म उत्पन्न हुए हैं। पञ्चभूतसे यह शरीर उत्पन्न होनेके कारण यह भौतिक देह कहलाता है। भौतिक-देह निर्जीव एवं जड़ स्वभावापन्न है, किन्तु चैतन्यरूपी पुरुषके अवस्थानकी भूमि होनेके कारण यह सचेतनकी भाँति देख पड़ता है। शरीरके भीतर पञ्चभूतोंमें प्रत्येकके अधिष्ठानके लिये स्वतन्त्र-स्वतन्त्र स्थान नियत हैं, उन्हीं स्थानोंको चक्र कहते हैं। वे सब अपने-अपने चक्रमें अवस्थान करते हुए शरीरके सब काम कर रहे हैं। गुह्य देशमें मूलाधार-चक्र पृथ्वीतत्त्वका स्थान है, लिङ्गमूलमें स्वाधिष्ठान-चक्र जलतत्त्वका स्थान है, नाभिमूलमें मणिपूर-चक्र अग्नितत्त्वका स्थान है, हृद्देशमें अनाहत-चक्र वायुतत्त्वका स्थान है और कण्ठदेशमें विशुद्ध चक्र आकाश-तत्त्वका स्थान है। योगिगण इन्हीं पाँच चक्रोंमें पृथिवी आदिके क्रमसे पञ्चमहाभूतका ध्यान किया करते हैं। इनके सिवाय ध्यान-योग और भी कईएक चक्र हैं। ललाटदेशके आज्ञा नामक चक्र पञ्चतन्मात्रतत्त्व, इन्द्रियतत्त्व, चित्त और मनका स्थान है। उसके ऊपर ज्ञान नामक चक्रमें अहंतत्त्वका स्थान है। उसके भी ऊपर ब्रह्मरन्ध्रमें एक शतदल चक्र है, उसमें महत्तत्त्वका स्थान है। उससे भी ऊपर महाशून्यमें सहस्रदल चक्रमें प्रकृति-पुरुष परमात्माका स्थान है। योगिगण पृथ्वीतत्त्वसे परमात्मा तक सब तत्त्वोंका इसी भौतिक शरीरमें ध्यान किया करते हैं।

नाड़ीकी बात।

सार्द्धलक्षत्रयं नाड्यः सन्ति देहान्तरे नृणाम्।
प्रधानभूता नाड्यस्तु तासु मुख्याश्चतुर्दश ॥

शिवसंहिता २।१३

भौतिक देहको कार्यक्षम बनानेके लिये मूलाधारसे प्रधानभूता साढ़े तीन लाख नाड़ियाँ उत्पन्न होकर "सड़े हुए पीपल या कमलके पत्तेपर जैसे नसें देख पड़ती हैं," वैसे ही अस्थिमय शरीरके ऊपर ओतप्रोत भावसे व्याप्त होकर अङ्ग-प्रत्यङ्गका सब काम सम्पन्न कर रही हैं। इन साढ़े तीन लाख नाड़ियोंमें चौदह नाड़ियाँ प्रधान हैं। यथा—

सुषुम्णेड़ा पिङ्गला च गान्धारी हस्तिजिह्विका।
कुहूः सरस्वती पूषा शङ्खिनी च पयस्विनी ॥
वारुण्यलम्बुषा चैव विश्वोदरी यशस्विनी।
एतासु तिस्रो मुख्याः स्युः पिङ्गलेड़ासुषुम्णिकाः ॥

शिव संहिता २।१४-१५

इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्णा, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, कुहू, सरस्वती, पूषा, शङ्खिनी, पयस्विनी, वारुणी, अलम्बुषा, विश्वोदरी और यशस्विनी, इन चौदह नाड़ियोंमें भी इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्णा ये तीन नाड़ियाँ ही प्रधान हैं। सुषुम्णा नाड़ी मूलाधारसे उत्पन्न होकर नाभि-मण्डलमें जो अण्डाकार नाभीचक्र है, उसके ठीक बीचमें होती हुई

ब्रह्मरन्ध्र तक चली गई है। सुषुम्णाकी बाईं ओरसे इड़ा एवं दाहिनी ओरसे पिङ्गला उत्थित होकर स्वाधीष्ठान, मणिपूर, अनाहत और विशुद्ध चक्रको धनुषाकारसे वेष्टन करती हुई इड़ा दाहने नथने तक एवं पिङ्गला बायें नथने तक चली गई हैं। मेरुदण्डके इन्द्राभ्यन्तरसे (छेदसे) होकर सुषुम्णा नाड़ी और मेरुदण्डकी बाहरी ओरसे होकर पिङ्गला एवं इड़ा नाड़ी चली गई हैं। इड़ा चन्द्रस्वरूपा, पिङ्गला सूर्य्यस्वरूपा, एवं सुषुम्णा चन्द्र, सूर्य्य और अग्निस्वरूपा है, सत्त्व रजः और तम इन तीन गुणोंसे युक्त एवं खिले हुए धतूरेके पुष्पके सदृश श्वेतवर्णा है।

पहले बताई हुई अन्यान्य प्रधान नाड़ियोंमें कुहू नाड़ी सुषुम्णाकी बाईं ओरसे उत्थित होकर मेढ्र देशतक चली गई है, वारुणी नाड़ीने देहका ऊर्द्ध एवं अधः प्रभृति समस्त भाग घेर रखा है। यशस्विनी नाड़ी दाहने पैरके अंगूठेकी नोकतक, पूषानाड़ी दाहिनी आँख तक, पयस्विनी दाहने कानतक, सरस्वती जिह्वाग्र तक, शङ्खिनी बायें कान-तक, गान्धारी बाईं आँखतक, हस्तिजिह्वा बायें पैरके अंगूठेतक, अलम्बुषा मुंह तक एवं विश्वोदरी पेट तक पहुँच गई है। इसी प्रकार सारा शरीर नाड़ियोंसे आवृत्त हो रहा है। नाड़ीकी उत्पत्ति और उसके विस्तारके सम्बन्धमें मनको स्थिर करके विचार करने पर जान पड़ेगा कि मानो कन्दमूल पद्मबीजकोपके चारों ओर लगे हुए केशरकी तरह नाड़ियोंसे वेष्टित हैं एवं बीजकोपके बीचसे इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्णा नाड़ी परागकेशरकी तरह उत्थित होकर पूर्वोक्त स्थानोंपर पहुँच गई हैं। क्रमशः इन सब नाड़ियोंसे शाखा-

प्रशाखाऐं उत्थित होकर शरीरको शिरसे पैरतक वस्त्रके ताने और वानेकी तरह व्याप्त किये हुए हैं।

योगिगण प्रधानभूता इन चौदह नाड़ियोंको पुण्यनदी कहा करते हैं। इन कुहूनाम्नी नाड़ीको नर्म्मदा, शङ्खिनी नाड़ीको ताप्ती, अलम्बुपा नाड़ीको गोमती, गान्धारी नाड़ीको कावेरी, पूपा नाड़ीको ताम्रपर्णी एवं हस्तिजिह्वा नाड़ीको सिन्धु नदी कहते हैं। इड़ा गङ्गारूपा, पिङ्गला यमुनास्वरूपा एवं सुपुम्णा सरस्वती रूपिणी हैं; येही तीनों नाड़ियाँ आज्ञाचक्रके ऊपर जिस स्थानपर जा मिली हैं, उस स्थानका नाम त्रिकुट या त्रिवेणी है। प्रयागकी त्रिवेणीमें लोग कष्टसे कमाया रुपया पैसा खर्च करके किम्वा शारीरिक क्लेश उठाकर स्नान करने जाते हैं, किंतु इन सब नदियोंमें बाह्य स्नान (बाहरसे नहाना) करने पर यदि मुक्ति प्राप्त होती तो आज तीर्थादिके जलमें जलचर-जीवजन्तु नहीं मिलते, क्योंकि वे भी सबके सब मुक्त हो जाते। शास्त्रमें भी कहा है—

"अन्तः स्नान विहीनस्य वहिः स्नानेन किं फलम् ?"

अन्तःस्नान विहीन व्यक्तिके बाह्यस्नानसे कोई फल नहीं निकलता। गुरुकी कृपासे जो आत्म-तीर्थको जानकर आज्ञाचक्रके ऊपर इस तीर्थराज त्रिवेणीमें मानस स्नान या यौगिक स्नान करता है, वह निश्चय ही मुक्तिपद लाभ करता है। इस शिव-वाक्यमें कोई भी सन्देह नहीं।

इड़ा, पिङ्गला और सुपुम्णा इन तीनों प्रधान नाड़ियोंमें सुपुम्णा सर्व प्रधान है। इसके गर्भमें वज्राणी नामक एक नाड़ी है। यह

नाड़ी शिश्नदेशसे निकल कर शिरःस्थान तक छा रही है। वज्र नाड़ीके बीचमें आद्यन्त प्रणवयुक्ता अर्थात् चन्द्र, सूर्य्य और अग्नि-स्वरूप ब्रह्मा, विष्णु और शिवसे आदि एवं अन्तमें मिली हुई मकड़ीके जालेकी तरह बहुत सूक्ष्म चित्राणी नामकी और एक नाड़ी है। इस चित्राणी नाड़ीमें पद्म वा चक्र सब गुंथे हुए हैं। चित्राणी नाड़ीके बीचमें दूसरी और एक विद्युत्वर्णा (बिजली जैसी) नाड़ी है, उसे ब्रह्मनाडी कहते हैं। ब्रह्मनाड़ी मूलाधारपद्मस्थित महादेवके मुखसे उत्थित होकर शिरस्थित सहस्रदल तक फैली हुई है। यथा—

तन्मध्ये चित्रणी सा प्रणव विलसिता योगिनां योगगम्यां,
तां तन्तूपमेयां सकलसरसिजान् मेरुमध्यान्तरस्थान्।
भित्वा देदीप्यते तद् ग्रथनरचनया शुद्ध बुद्धि प्रबोधा,
तस्यान्तर्ब्रह्मनाड़ी हरमुख कुहरा दादिदेवान्तसंस्था ॥

पूर्णानन्द परमहंस कृत "षट्चक्र"

इस ब्रह्मनाड़ीके विषयमे रात-दिन योगियोंको ध्यान करना चाहिये; कारण योग-साधनाका चरमफल इसी ब्रह्मनाड़ीसे प्राप्त होता है। इसी ब्रह्मनाड़ीके अन्दरसे गमन कर सकने पर आत्म-साक्षात्कार प्राप्त होता है एवं योगका उद्देश्य सिद्ध होकर मुक्ति लाभ होता है। अब किस नाड़ीमें कैसे वायु चलता है, यह जान लेनेकी आवश्यकता है।

वायुकी बात

भौतिक देहमें जितने प्रकारके शारीरिक कार्य्य होते हैं, वे सभी वायुकी सहायतासे सम्पन्न होते हैं। चैतन्यकी सहायतासे इस जड़ देहमें वायु ही जीवरूपसे दैहिक कार्य्य सम्पन्न कर रहा है। देह केवल यन्त्र मात्र है; वायु उसके चलानेका उपकरण है। सुतरां वायुको वश करनेके उपायका नाम ही योगसाधन है। वायुके वशमें होजाने पर ही मन वशीभूत होता है, मनके वशमें आनेसे इन्द्रिय जय हो सकता है, इन्द्रिय जय होने पर सिद्धि मिलनेमें कुछ भी बाकी नहीं रह जाता। वायु जय करके जिससे चैतन्य स्वरूप पुरुषके साथ साक्षात् हो जाय, इसीके लिये योगिगण योगसाधन करते हैं; सुतरां सबसे पहिले वायुकी बात जान लेना बहुत ही आवश्यक है।

मानवदेहके अन्दर हृद्देशमें अनाहत नामक एक रक्तवर्ण पद्म है, उसके बीचमें त्रिकोनी पीठपर वायुबीज (यं) है। यह वायुबीज वा वायुयन्त्रको प्राण कहा जाता है; प्राणवायु शरीरके नाना स्थानोंमें अवस्थान कर दैहिक कार्य्यभेदसे दश नामोंसे पुकारा जाता है।

प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च वायवः।
नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः ॥

गोरक्ष संहिता। २६

प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय इन्हीं दशनामसे प्राणवायु अभिहित होता है। इन दश वायुओंमें प्राणादि पञ्चवायु अन्तस्थ एवं नागादि पञ्चवायु वहिस्थ हैं। अन्तस्थ पञ्च प्राणके देहमें अलग अलग स्थान निर्दिष्ट हैं। यथा—

हृदि प्राणोवसेन्नित्यमपानो गुह्यमण्डले।
समानो नाभिदेशेतु उदानः कण्ठमध्यगः।
व्यानो व्यापी शरीरेतु प्रधानाः पञ्चवायवः॥

गोरक्ष संहिता। ३०

प्रधान पञ्चवायुके बीचमें हृद्देशमें प्राणवायु, गुह्यदेशमें अपान वायु, नाभिमण्डलमें समान वायु, कण्ठदेशमें उदान वायु और सारे शरीरमें व्यान वायु व्याप्त होकर अवस्थान कर रहा है। यद्यपि ये अलग-अलग नाम हैं, तथापि एक प्राणवायु ही इनमें मूल और प्रधान है।

प्राणस्य वृत्तिभेदेन नामानि विविधानि च।

शिवसंहिता।

प्राण वायुके वृत्तिभेदसे विविध नाम हुवे हैं। अब इन

दश वायुके गुण

जान लेना आवश्यक है। प्राणादि अन्तस्थ पञ्चवायु और नागादि वहिस्थ पञ्चवायु अपने-अपने स्थानमें अवस्थान करके, शारीरिक समस्त कार्य्य सम्पन्न कर रहे हैं। यथा—

निःश्वासोच्छ्वासरूपेण प्राणकर्म्म समीरितम् ।
अपानवायोः कर्म्मैतद्विन्मूत्रादि विसर्ज्जनम् ।'
हानोपादान चेष्टादिर्व्यानकर्मेति चेष्यते ।
उदान कर्म्म तच्चोक्तं देहस्योन्नयनादि यत् ॥
पोषणादि समानस्य शरीरे कर्म्म कीर्त्तितं ।
उद्गारादिर्गुणो यस्तु नागकर्म्म समीरितम् ॥
निमीलनादि कूर्म्मस्य क्षुत्तृष्णे कृकरस्य च ।
देवदत्तस्य विप्रेन्द्र तन्द्राकर्म्मेति कीर्त्तितम् ।
धनञ्जयस्य शोपादि सर्वकर्म्म प्रकीर्त्तितम् ॥

योगी याज्ञवल्क्य ४।६६—६६

नाकसे श्वास-प्रश्वास लेना, पेटमें गये अन्न-जलको पचाना व अलग करना, नाभिस्थलमें अन्नको विष्ठारूपसे, जलको स्वेद और मूत्ररूपसे एवं रसादिको वीर्य्यरूपसे बनाना प्राण वायुका कार्य्य है। पेटमें अन्नादि पचानेके लिये अग्नि प्रज्वालन करना, गुह्यमेंसे मल निकालना, उपस्थमेंसे मूत्र निकालना, अण्डकोषमें वीर्य्य डालना एवं मेढ्र, ऊरु, जानु, कमर और जङ्घाद्वयके कार्य्यसम्पन्न करना अपान वायुका काम है। पक्व रसादिको बहत्तर हज़ार नाड़ियोंमें पहुँचाना, देहका पुष्टिसाधन करना और स्वेद निकालना समान वायुका काम है। अङ्ग-प्रत्यङ्गका सन्धिस्थान एवं अंगका उन्नयन करना उदान वायुका काम है। कान, नेत्र, ग्रीवा, गुल्फ, कण्ठदेश और कमरके नीचेके भागकी क्रिया सम्पन्न करना व्यान वायुका

काम है। उद्गारादि नाग वायु, सङ्कोचनादि कूर्म्म वायु, क्षुधातृष्णादि कृकर वायु, निद्रातन्द्रादि देवदत्त वायु और शोषणादि कार्य्य धनञ्जय वायु सम्पन्न करता है। वायुके ये सब गुण जान करके वायु जय कर सकनेसे हम अपने शरीरपर इच्छानुरूप आधिपत्य स्थापन कर सकते हैं एवं शरीर स्वस्थ, नीरोग और पुष्टि-कान्ति-विशिष्ट (तन्दुरस्त) बना सकते हैं।

शरीरमें जबतक वायु विद्यमान रहता है, तभीतक देह जीवित रहता है। वही वायु देहसे निकलकर पुनः न पहुँचने पर मृत्यु हो जाती है। प्राणवायु नथनेके रन्ध्रसे आकर्षित होकर नाभिग्रन्थि तक गमनागमन करता है और योनि-स्थानसे नाभिस्थानतक अपान वायु नीचेके भागमें गमनागमन करता है। जब नासारन्ध्र द्वारा प्राणवायु आकर्षित होकर नाभिमण्डलका ऊर्द्ध्व भाग विकसित करता रहता है, ठीक उसी समय अपान वायु योनिदेशसे आकर्षित होकर नाभि-मण्डलका अधोभाग विकसित करता है। इसी प्रकार नासारन्ध्र और योनिस्थान, इन दोनों जगहसे प्राण और अपान ये दोनों वायु ही पूरक-कालमें नाभिग्रन्थिमें आकृष्ट होते हैं एवं रेचक-कालमें दोनों वायु दोनों तरफ़ अपने-अपने स्थानमें गमन करते हैं। यथा—

अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानञ्च कर्षति।
रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोऽप्याकृष्यते पुनः॥
तथा चैतौ विसम्वादे सम्वादे सन्त्यजेदिदम्॥

षट्चक्रभेद टीका।

अपान प्राणवायुको आकर्षण करता है एवं प्राण अपान वायुको आकर्षण करता है। जैसे श्येनपक्षी रस्सीसे बन्धा रहनेसे उड़ जाने पर भी फिर लौट आता है, प्राणवायु भी वैसे ही नासारान्ध्रसे निकल जाने पर भी अपान वायु द्वारा आकर्षित होकर फिर देहमें पहुँच जाता है; इन्हीं दोनों वायुके विसम्वादसे अर्थात् नाक और योनिकी ओर विपरीत भावसे चलनेसे ही जीवन-रक्षा होती है। फिर जब ये दोनों वायु नाभिग्रन्थ भेद कर एकत्र मिलकर चलते हैं, तभी ये (दोनों वायु) देह त्याग करते हैं; पृथिवीकी भाषामें तभी जीवकी मृत्यु हो जाती है। मृत्यु समयके ऐसे भावको नाभिश्वास कहते हैं। वायुका यह सब तत्त्व जानकर ही योगाभ्यासमें नियुक्त होना उचित है। अब शरीरस्थ हंसाचारका विषय जान लेना आवश्यक है।

हंस-तत्त्व।

मानव देहके भीतर हृद्देशमें अनाहत नामक पद्मकी त्रिकोनी पीठ (आसन) पर वायुबीज 'यं' विद्यमान है। इस वायुमण्लके बीचमें कामकलारूप, तेजोमय और रक्तवर्ण पीठ (आसन)पर कोटि-विद्युत् सदृश भास्कर सुवर्णवर्ण वाणलिङ्ग शिव विराजित हैं। उनके मस्तकपर श्वेतवर्ण तेजोमय अति सूक्ष्म एक मणि है, उसमें निर्वात दीपकलिका की (वायु रहित स्थानमें स्थित—स्थिर दीपककी)

भाँति हंस-बीज-प्रतिपाद्य विशेष तेज (ज्योति) है। यही जीवका जीवात्मा है। अहंभावको आश्रय करके वही जीवात्मा मानव देहमें अवस्थान कर रहा है। हम जो मायासे मुह्यमान और शोकसे कातर होते हैं एवं सब तरहके सुख-दुःख इत्यादि फल भोगते हैं—वे सब हम सबका हृदयस्थ वही जीवात्मा भोग करता है। अनाहत पद्ममें यह जीवात्मा रातदिन साधन वा योग अथवा ईश्वर-चिन्तन करता है। यथा—

सोऽहं हंसः पदेनैव जीवो जपति सर्वदा।

हंसका विपरीत (उल्टा) "सोऽहं" जीव सर्वदा जप करता है। श्वास-प्रश्वासमें हंस उच्चारित होता है। श्वासवायुको छोड़नेके समय हं एवं ग्रहण करनेके समय सः यही शब्द उच्चारित होते हैं। हं शिव-स्वरूप और सः शक्तिरूपिणी है। यथा—

हंकारो निर्गमे प्रोक्तः सकारस्तु प्रवेशने।
हंकारःशिवरूपेण सकारः शक्तिरुच्यते।

स्वरोदय शास्त्र ११।७

श्वास छोड़कर यदि ग्रहण नहीं किया जाय, तो उसीसे ही मृत्यु हो जाती है, अतएव 'हं' शिवस्वरूप वा मृत्यु है। 'सः' कारसे जो श्वास ग्रहण करता है, वही शक्ति—स्वरूप है। अतएव यह श्वास-प्रश्वास ही जीवका जीवत्त्व है; श्वास रुक जानेसे मृत्यु होती है। सुतरां हंस ही जीवका जीवत्त्व है। शास्त्रमें भी भूतशुद्धि पर लिखा है, कि "हंस इति जीवात्मानं" अर्थात् हंस ही जीवात्मा है।

इस हंस शब्दको ही अजपा गायत्री कहते हैं। जितनी वार श्वास-प्रश्वास होता है, उतनी ही वार "हंस" रूपी परम मंत्रका अजपा-जप होता है। जीव रातदिनमे २१६०० इक्कीस हज़ार छः सौ वार अजपा गायत्रीका जप करता है। यही मानवका स्वाभाविक जप और साधन है। इसको जान लेने पर फिर झोली और माला लेकर वाह्यानुष्ठान वा उपवासादिका कठोर कायक्लेश नहीं उठाना पड़ता। दुःखकी वात है कि इसके प्रकृत तत्त्व और संकेतके उपदेशके अभावसे ऐसा सहज जपसाधन कोई नहीं समझता। गुरुके उपदेशसे यही हंसध्वनि थोड़ी ही चेष्टासे साधकको कर्णगोचर हो जाती है। इस हंसका विपरीत (उल्टा) "सोऽहं" ही साधककी साधना है। जीवात्मा सर्वदा यही 'सोऽहं" (अर्थात् मैं वही हूँ, मैं वही परमेश्वर हूँ) शब्द जपा करता है। किन्तु हमारा अज्ञान-तमसाच्छन्न विषयसे विमूढ़ मन उसे उपलब्ध नहीं कर सकता। साधक सामान्य प्रयत्नसे यह स्वतः उत्थित (आपसे निकली) अश्रुतपूर्व (पहले न सुनी हुई) अलोक सामान्य (अनोखी) "हंस" और "सोऽहं" की ध्वनि श्रवण करके अपार्थिव परमानन्दका उपभोग कर सकता है।

प्रणव-तत्त्व।

अनाहत पद्मकी पूर्वोक्त "हंस" ध्वनिको प्रणव ध्वनि कहते हैं। यथा—

शब्द ब्रह्मे ति तां प्राह साक्षाद्देवः सदाशिवः।
अनाहतेषु चक्रेषु स शब्दः परिकीर्त्यते ॥

परापरिमलोल्लास ।

अर्थात् शब्द ब्रह्म है। वह साक्षात् देवता सदाशिव है। वही शब्द अनाहत-चक्रमें है। अनाहत पद्ममें हंस उच्चारित होता है। वह हंस ही प्रणव वा ओंकार होता है। यथा—

हकारश्च सकारश्च लोपयित्वा ततः परं ।
सन्धिं कुर्य्यात्ततः पश्चात् प्रणवोऽसौ महामनुः ॥

योग स्वरोदय ।

अर्थात् "हंस" का उल्टा "सोऽहं" होता है; किन्तु 'स' और 'ह' लय होनेसे केवल 'ओं' रह जाता है। यह ही हृदयस्थ शब्द-ब्रह्मरूप ओंकार होता है। साधकगण शब्दब्रह्मरूप प्रणवध्वनि (ओंकार) को सुननेकी लालसासे द्वादश-दल (वारह-पँखुरी) वाले अनाहत पद्मका ऊर्द्ध्वमुख ध्यान करके गुरुके उपदेशानुसार क्रिया करें, तो उससे हंस वा ओंकार ध्वनि कानमें भर जायगी।

इस शब्द-ब्रह्मरूप ओंकारके सिवाय और एक वर्णब्रह्म रूप ओंकार है। वह आज्ञा-चक्रके ऊपर निरालम्बपुरमें नित्य विराजमान है। भौंहोंके बीचमें दो-दल (पँखुरी) वाला श्वेतवर्ण आज्ञा-चक्र है। इस चक्रके ऊपर जहाँ सुषुम्णा-नाड़ीका अन्त हुआ है एवं शङ्खिनी-नाड़ी का आरम्भ हुआ है, उसी स्थानको निरालम्बपुरी कहते हैं। वही तेजोमय तारक-ब्रह्मका स्थान है। इसी स्थानमें

ब्रह्मनाड़ीके आश्रित तारंकबीज-प्रणव (ओंकार) वर्त्तमान है। यही प्रणव वेदका प्रतिपाद्य ब्रह्मरूप एवं शिव-शक्ति योगसे प्रणवरूप है। शिव-शब्दमें ह-कार और उसका आकार गज-कुम्भ जैसा अर्थात् "ओ" कार है। ओ-कार रूप पलङ्गपर नादरूपिणी देवी है; उनके ऊपर विन्दुरूप परमशिव विद्यमान हैं। ऐसा होनेसे ही ओंकार होता है। सुतरां शिव-शक्ति वा प्रकृति-पुरुषके संयोगसे ही ओंकार बनता है। तन्त्रमें इस ओंकारकी स्थूलमूर्त्ति वा राजराजेश्वरी रूप महाविद्या प्रकाशिता हुई है। * उसका गूढ़ रहस्य और विस्तृत विवरण इस ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय नहीं है।

साधक योगानुष्ठानसे यथा-विध षट्-चक्र भेदकर ब्रह्मनाड़ीकी सहायतासे इस निरालम्ब-पुरीमें पहुँचनेपर महाज्योतिरूप ब्रह्म ओंकार अथवा अपने-अपने इष्ट देवताका दर्शन कर सकता है एवं प्रकृत निर्वाण पदको प्राप्त होता है। सब देवदेवीका बीज-स्वरूप वेद प्रतिपाद्य ब्रह्मरूप प्रणव तत्त्व जानकर साधन करनेसे वह इस तारक ब्रह्मके स्थानपर ज्योतिर्म्मय देवदेवीका साक्षात् लाभ कर सकता है। ऐसा होनेपर फिर तीर्थ-तीर्थमें दौड़-धूप कर अकारण कष्टभोग नहीं करना पड़ता।

---

* श्रीमत् स्वामी विमलानन्द कृत कलकत्ता चोरबागानके आर्ट स्टुडियो से प्रकाशित श्री श्री कालिकामूर्त्ति प्रणवका स्थूल रूप है। पञ्चप्रेतासन पर महाकाल पड़े हैं एव उनके नाभि-कमलमें शिवशक्ति विराजती है—बड़ा ही अपूर्व मिलन है।

ओंकार प्रणवका केवल दूसरा नाम मात्र है। ओंकारके तीन रूप हैं—श्वेत, पीत और रक्त। 'अ', 'उ', 'म्' के मिलनसे प्रणव हुआ है एवं ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर प्रणवमें प्रतिष्ठित हैं। यथा—

शिवो ब्रह्मा तथा विष्णुरोङ्कारे च प्रतिष्ठिताः।
अकारश्च भवेद्ब्रह्मा उकारः सच्चिदात्मकः॥
मकारो रुद्र इत्युक्तः············।

अ-कार ब्रह्मा, उ-कार विष्णु और म-कार महेश्वर है। सुतरां प्रणवमें ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर—ये तीनों देवता; इच्छा, क्रिया और ज्ञान—ये तीन शक्तियाँ एवं सत्त्व, रजः और तमः—ये तीन गुण प्रतिष्ठित हैं। इसीलिये इसको त्रयी कहते हैं। शास्त्रमें लिखा है, कि "त्रयीधर्म्मः सदाफलः" अर्थात् त्रयी अ-कार, उ-कार और म-कार विशिष्ट शब्द प्रणव-धर्म्म सर्वदा फल देता है। जो तीन प्रणवयुक्त गायत्री जप करता है, वह परमपदको प्राप्त होता है। ब्राह्मणोंकी गायत्री जपमें तीन प्रणव संयुक्त एवं इष्टमन्त्रके आदि और अन्तमें प्रणव द्वारा सेतुबन्धन कर जप न करनेसे गायत्री वा इष्ट मन्त्रका जप निष्फल हो जाता है। हमारे देशके ब्राह्मणगण गायत्रीके आदि और अन्तमें दो प्रणव योग करके जप करते हैं, किन्तु यह शास्त्रके विरुद्ध है; आदिमें, व्याहृतिके पीछे और अन्तमें—इन तीनों स्थानोंमें प्रणव संयुक्त करके जप करना चाहिये।

यह हम पहले ही बता चुके हैं, कि अ, उ, म् के संयोगसे प्रणव होता है। प्रणवका यही अ-कार नादरूप, उ-कार विन्दुरूप, म-कार कलारूप और ओंकार ज्योतिःरूप है। साधकगण साधनाके समय

पहले नादको सुनकर नाद-लुब्ध, फिर बिन्दु-लुब्ध और तदनन्तर कला-लुब्ध होकर अन्तमें ज्योतिर्दर्शन करते हैं।

प्रणवमें आठ अंग, चार पाद, तीन स्थान, पञ्च देवता प्रभृति और भी अनेक गुह्य रहस्य हैं। किन्तु उन सबका सम्यक् तत्त्व वा विशद वर्णन करना इस ग्रन्थका उद्देश्य नहीं है।

कुलकुण्डलिनी-तत्त्व।

गुह्यदेशसे दो अंगुल ऊपर और लिङ्गमूलसे दो अंगुल नीचे चार अंगुल विस्तृत मूलाधार-पद्म विद्यमान है। उसके बीच पूर्वोक्त ब्रह्मनाड़ीके मुखमें स्वयम्भू-लिङ्ग विद्यमान है। उसके गात्रमें दक्षिणावर्त्तसे साढ़े तीन फेरे लगाकर कुण्डलिनी शक्ति है। यथा—

पश्चिमाभिमुखी योनिर्गुदमेढ्रान्तरालगा।
तत्र कन्दं समाख्यातं तत्रास्ते कुण्डली सदा॥
संवेष्टा सकलानाड़ीः सार्धत्रिकुटिलाकृति।
मुखे निवेश्य सापुच्छः सुषुम्णा विवरे स्थिता॥

शिव संहिता

गुह्य और लिङ्ग इन दोनोंके बीचमें पीछेको मुंह किये योनिमण्डल है—उस योनिमण्डलको कन्द भी कह सकते हैं।

योनिमण्डलके बीचमें कुण्डलिनी-शक्ति सब नाड़ीको लपेट करके सार्ध त्रिकुटिलाकार (साढ़े तीन चक्कर लगाकर) सर्प रूपसे अपनी पूंछको मुंहमें डाल सुषुम्णा विवरको रोक करके अवस्थान कर रही है।

यह कुण्डलिनी ही नित्यानन्द-स्वरूपा परमा प्रकृति है; इसके दो मुंह हैं एवं यह विद्युल्लताकार (बिजलीके समान) तथा अति सूक्ष्मा है, जो देखनेमें आधे ओंकारकी प्रतिकृति जैसी मालूम होती है। नर-अमर-असुरादि सभी प्राणियोंके शरीरमें कुण्डलिनी विराज रही है। पद्मके मध्यमें जैसे भ्रमरकी अवस्थिति है, वैसे ही देहके बीचमें कुण्डलिनी विराजित रहती है। इस कुण्डलिनीके अभ्यन्तरमें केलेके कोष जैसी कोमल मूलाधारमें चित्शक्ति विराजित है। उसकी गति अति दुर्लक्ष्य है।

कुलकुण्डलिनी-शक्ति प्रचण्ड स्वर्णवर्णा, तेजः स्वरूपा, दीप्तिमती और सत्त्व, रजः व तमः—इन तीन गुणोंको प्रसूती ब्रह्मशक्ति है। यह कुण्डलिनी शक्ति ही इच्छा, क्रिया और ज्ञान—इन तीन नामोंमें विभक्त होकर समस्त शरीरके चक्रोंमें भ्रमण करती है। यह शक्ति ही हमारी जीवनी-शक्ति है। इस शक्तिका अपने वशमें लाना ही योग-साधनका उद्देश्य है।

यह कुण्डलिनी-शक्ति ही जीवात्माकी प्राणस्वरूप है; किन्तु कुण्डलिनी-शक्ति ब्रह्मद्वारको रोककर सुखसे सोती है; उसीसे जीवात्मा रिपु और इन्द्रियगण द्वारा चालित होकर अहंभावापन्न

हुआ है एवं अज्ञानकी मायासे आच्छन्न होकर सुख-दुःखादिके भ्रान्ति-ज्ञानसे कर्म्मफलका भोग कर रहा है। कुण्डलिनी-शक्तिके न जागने पर शत-शत शास्त्र पढ़नेसे वा गुरुके उपदेश सुनने पर भी प्रकृत ज्ञान उत्पन्न नहीं होता एवं तप-जप और साधन-भजन सब ही वृथा हो जाता है। यथा—

मूलपद्मे कुण्डलिनी यावन्निद्रायिता प्रभो।
तावत् किञ्चिन्न सिध्येत मन्त्रयन्त्रार्च्चनादिकम्॥
जागर्त्ति यदि सा देवि बहुभिः पुण्यसञ्चयैः।
तदा प्रसादमायाति मन्त्रयन्त्रार्च्चनादिकम्॥

गौतमीय तन्त्र।

मूलाधार-स्थित कुण्डलिनी-शक्ति जबतक न जागे, तबतक मन्त्र-जप और यन्त्रादिसे पूजार्च्चना सब विफल हैं। यदि पुण्यके प्रभावसे यह शक्ति-देवी जाग उठे तो मन्त्र जपादिका सब फल भी सिद्ध हो सकता है।

योगके अनुष्ठानद्वारा कुण्डलिनीका चैतन्य सम्पादन करना ही मानव जीवनका पूर्णत्व है। भक्तिपूर्ण चित्तसे प्रतिदिन कुण्डलिनी-शक्तिका ध्यान पाठ करने पर साधकको इस शक्तिके सम्बन्धमें ज्ञान उत्पन्न होता है एवं यह शक्ति धीरे-धीरे जाग्रत होती है। ध्यान यथा—

ध्यायते कुण्डलिनीं सूक्ष्मां मूलाधारनिवासिनीम्
तामिष्टदेवतारूपां सार्द्धत्रिवलयान्विताम्।
कोटिसौदामिनीभासां स्वयम्भूलिङ्गवेष्टिताम्॥

अब शरीरके नवचक्रादिका विवरण जान लेना आवश्यक है ; नहीं तो योगका साधन करना विड़म्बना मात्र होगा।

नवचक्रं कलाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।
स्वदेहे यो न जानाति स योगी नामधारकः ॥

योग स्वरोदय।

शरीरके नवचक्र, षोड़शाधार, त्रिलक्ष्य और पञ्चप्रकारके व्योम जो व्यक्ति नहीं जानता, वह व्यक्ति केवल नामधारी योगी है अर्थात् वह योगतत्त्वको कुछ भी नहीं जानता है। किन्तु नवचक्रका विस्तृत वर्णन करना इस निःस्व (अर्थहीन) लेखककी शक्तिसे बाहर है। फिर भी इस ग्रन्थमें जितने साधन-कौशल लिखे हैं, उनके (साधनके) लिये उपयोगी, सामान्य प्रकारसे नवचक्रका वर्णन किया गया है। जो सम्यक् प्रकारसे जानना चाहते हैं, वे पूर्णानन्द परमहंस कृत "षट्चक्र" का मनन करें। योगके साधनके अतिरिक्त नित्य-नैमित्तिक और काम्य जप पूजादि करने पर भी चक्रादिका विवरण जान लेना परम आवश्यक है

नवचक्र।

मूलाधारं चतुष्पत्रं गुह्योर्द्ध्वे वर्त्तते महत्।
लिङ्गमूले तु पीताभं स्वाधिष्ठानन्तु षड़्दलम् ॥
तृतीयं नाभिदेशेतु दिग्दलं परमाद्भुतम्।
अनाहतमिष्टपीठं चतुर्थकमलं हृदि ॥

कलापत्रं पञ्चमन्तु विशुद्धं कण्ठदेशतः ।
आज्ञायां षष्ठकं चक्रं भ्रुवोर्मध्ये द्विपत्रकम् ॥
चतुःषष्टिदलं तालुमध्ये चक्रन्तु मध्यमम् ।
ब्रह्मरन्ध्रेऽष्टमं चक्रं शतपत्रं महाप्रभम् ॥
नवमन्तु महाशून्यं चक्रन्तु तत् परात्परम् ।
तन्मध्ये वर्त्तते पद्मं सहस्रदलमद्भुतम् ॥

प्राणतोषिणीधृत तन्त्रवचन ॥

इस तन्त्रके वचनकी व्याख्यासे साधकगण नवचक्रका विवरण कुछ भी समझ न सकेंगे, अतएव षट्चक्रका संस्कृतांश परित्याग करके अनुवाद मात्रसे साधकके लिये आवश्यकीय विषयका वर्णन किया जाता है ।

प्रथम-मूलाधारचक्र ।

मानव-देहके गुह्यदेशसे दो अंगुल ऊपर और लिङ्ग मूलसे दो अंगुल नीचे चार अंगुल विस्तृत जो योनिमण्डल विद्यमान है, उसके ही ऊपर मूलाधार पद्म अवस्थित है। यह अल्प (थोड़ा) रक्तवर्ण और चतुर्दल विशिष्ट है, जिसकी चारों पँखुरियां व, श, ष, स-इन चार वर्णोंसे सजी हैं। इन चार वर्णोंका रङ्ग सोने जैसा है। इस पद्मकी कर्णिकाके वीचमें अष्टशूलसे शोभित चतुष्कोन (चौकोना) पृथ्वीमण्डल है। उसकी एक बगलमें पृथ्वीवीज लं विद्यमान है।

उसके बीचमें पृथ्वीबीजका प्रतिपाद्य इन्द्रदेव विराजित है। इन्द्रदेवके चार हाथ हैं और उनका पीतवर्ण है एवं वे सफेद हाथी पर बैठे हुए हैं। इन्द्रदेवकी गोदमें शैशवावस्थामें चतुर्भुज ब्रह्मा विराजित हैं। ब्रह्माजीकी गोदमें रक्तवर्ण, चतुर्भुजा और सालंकृता डाकिनी नाम्नी उनकी शक्ति विराजती है।

'लं' बीजके दक्षिण भागमें कामकला-रूप रक्तवर्ण त्रिकोणमण्डल विद्यमान है। उसके बीचमें तेजोमय, रक्तवर्ण क्लीं बीज-रूप कन्दर्प नामक रक्तवर्ण स्थिरतर वायुकी वसती है। उसके बीचमें ठीक ब्रह्मनाड़ीके मुख पर स्वयम्भूलिङ्ग विद्यमान है। यह लिङ्ग रक्तवर्ण और कोटिसूर्यकी भाँति तेजोमय है। इसके शरीरमें साढ़े तीन फेर (आँटे) लगी हुई कुण्डलिनी-शक्ति विद्यमान है। इस कुल-कुण्डलिनी-शक्तिके अभ्यन्तर चित्तशक्ति विराज रही है। यह कुण्डलिनी-शक्ति सबके लिये इष्ट देवी स्वरूपिणी है एवं मूलाधार-चक्र मानव-देहका आधार स्वरूप है, इसलिये इसका दूसरा नाम आधारपद्म है। साधन-भजनका मूल इसी स्थानमें है, इसीलिये इसको मूलाधार पद्म कहते हैं।

इस मूलाधार पद्मका ध्यान करनेसे गद्य-पद्यादि, वाक्सिद्धि और आरोग्यादि मिलते हैं।

द्वितीय—स्वाधिष्ठानचक्र।

लिङ्गके मूलमें रहनेवाले द्वितीय पद्मका नाम स्वाधिष्ठान है। यह सुप्रदीप्त (खूब चमकीला) अरुण वर्ण और षड्दल विशिष्ट है—ब, भ, म, य, र, ल—ये छः मातृका वर्णात्मक हैं। प्रत्येक दलमें अवज्ञा, मूर्च्छा, प्रश्रय, अविश्वास, सर्वनाश और क्रूरता—ये छह वृत्तियाँ भरी हुई हैं। इसके कर्णिकाभ्यन्तरमें श्वेतवर्ण अर्धचन्द्राकार वरुण-मण्डल विराजमान है। उसके बीचमें श्वेतवर्ण वरुणबीज वं विद्यमान है। उसके बीचमें वरुणबीजके प्रतिपाद्य श्वेतवर्ण द्विभुज वरुण देवता मकर पर अधिष्ठित हैं। उनकी गोदमें जगत्के पालने वाले नवयौवन सम्पन्न हरि विराज रहे हैं। उनके चार भुजाएँ हैं, जिनमें वे शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये हैं। वक्ष-स्थलमें श्रीवत्स कौस्तुभ शोभित है एवं पीताम्बर पहिने हुए हैं। इनकी गोदमें दिव्यवस्त्र और आभरण-भूषिता, चतुर्भुजा गौरवर्णा राकिनी नाम्नी इनकी शक्ति विराज रही है।

इस पद्मका ध्यान करनेसे भक्ति, आरोग्य और प्रभुत्वादिकी सिद्धि मिलती है।

तृतीय—मणिपुरचक्र ।

नाभिदेशमें तृतीय पद्म मणिपुर अवस्थित है। यह मेघवर्ण (बादल जैसा) दशदलयुक्त है, दश-दल—ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ—ये दश मातृका वर्णात्मक हैं। इसके दशों वर्ण नीले हैं। प्रत्येक दल (पँखुरी) में लज्जा, पिशुनता, ईर्ष्या, सुषुप्ति, विषाद, कषाय, तृष्णा, मोह, घृणा और भय—ये दश वृत्तियाँ हैं। मणिपुर पद्मकी कर्णिकाके बीचमें रक्तवर्ण त्रिकोण वह्निमण्डल विद्यमान है। उसके बीचमें विह्न (' बीज रं विद्यमान है; यह भी रक्तवर्ण है। इस वह्निबीजके बीचमें उसके प्रतिपाद्य चार हाथवाले रक्तवर्ण अग्नि देव मेषारोहण कर अधिष्ठित हैं। उनकी गोदमें जगत्का नाश करने वाले भस्म-भूषित सिन्दूरवर्ण रुद्र व्याघ्र चर्म्मके आसन पर बैठे हैं। उनके दो हाथ हैं, इन दोनों हाथोंमें वर और अभय शोभा पा रहे हैं। उनके तीन आँखें हैं और वे व्याघ्रचर्म्म पहने हुए हैं। उनकी गोदमें पीत-वसन परिधाना, नानालङ्कार भूषिता, चतुर्भुजा, सिन्दुरवर्णा लाकिनी नाम्नी उनकी शक्ति विराज रही है।

इस पद्मका ध्यान करनेसे आरोग्य, ऐश्वर्य्यादि मिलते हैं एवं जगत्के नाशादि करनेकी शक्ति उत्पन्न होती है।

चतुर्थ—अनाहतचक्र ।

हृदयमें वन्धूक पुष्प सदृश (कुँदरूके फूल जैसा) वर्ण-विशिष्ट द्वादशदलयुक्त (बारह पँखुरीवाला) चतुर्थ पद्म अनाहत विद्यमान है। द्वादशदल—क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ— ये बारह मातृका वर्णात्मक हैं। इन वर्णोंका रङ्ग सिन्दूरवर्ण है। प्रत्येक दलमें आशा, चिन्ता, चेष्टा, ममता (मेरापन), दम्भ (अहंकार), विकलता (चञ्चलता), विवेक, अहङ्कार, लोलुपता (लोभ) कपट, वितर्क और अनुताप ये बारह वृत्तियां हैं। इस पद्मकी कर्णिकाके भीतर अरुणवर्ण सूर्य्यमण्डल एवं धूम्रवर्ण षट्कोन् विशिष्ट वायु-मण्डल विद्यमान है। इसकी एक बगलमें धूम्रवर्ण, वायुबीज यं विद्यमान है। इस वायु बीजके बीचमें उसके प्रतिपाद्य धूम्रवर्ण, चतुर्भुज वायु देव कृष्णसार (कालेहरिण) पर अधिरोहन कर अधिष्ठित हैं। उनकी गोदमें वराभयलसिता, त्रिनेत्रा, सर्वालङ्कार-भूषिता, मुण्डमाला-धरा, पीतावर्ण काकिनी नाम्नि उनकी शक्ति विराजित हैं। इस अनाहतपद्मके बीचमें विद्यमान बाणलिङ्ग शिव और जीवात्माका विषय हंस तत्त्वमें वर्णित है।

इस अनाहत पद्मका ध्यान करनेसे अणिमादि अष्टैश्वर्य्योंका लाभ होता है।

पञ्चम—विशुद्धचक्र ।

कण्ठदेशमें धूम्रवर्ण षोड़शदल (सोलह पँखुरी) विशिष्ट विशुद्ध पद्म अवस्थित है । षोड़शदल—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः—इन्हीं सोलह मातृका वर्णात्मक हैं। इन वर्णोंका वर्ण काञ्चनार पुष्प जैसा होना है । प्रत्येक दलमें निषाद, ऋषभ, गान्धार, षड्ज मध्यम, धैवत और पञ्चम—ये सप्तस्वर और हुँ, फट्, वौषट्, वषट्, स्वाहा, नमः, विष और अमृत प्रभृति विद्यमान हैं। इस पद्मकी कर्णिकामें श्वेतवर्ण चन्द्रमण्डलके बीचमें स्फटिक समान वर्णविशिष्ट हं विद्यमान है। उसके बीचमें हं-बीजके प्रतिपाद्य आकाश देवता श्वेत हाथीपर सवार हैं। उनके चार हाथ हैं, । उन्ही चार हाथोंमें पास, अंकुश, वर और अभय शोभा पा रहे हैं। इसी आकाश देवताके गोदमें त्रिलोचनान्वित पञ्चमुखलसित दशभुज वाले, सदसत्-कर्म्म-नियोजक व्याघ्र-चर्म्माम्बर पहनेवाले सदाशिव विराजमान हैं। उनकी गोदमें शर, चाप, पास और शूलयुक्ता, चतुर्भुजा, पीत-वसना रक्तवर्णा शाकिनी नाम्नी तत्शक्ति अर्द्धांगिनी रूपमें विराजित हैं। इन अर्द्ध नारीश्वर शिवके पास सभी के बीजमन्त्र या मूलमन्त्र विद्यमान हैं।

इस विशुद्ध पद्मका ध्यान करने पर जरा और मृत्युपाश दूर होकर भोगादि प्राप्त होते हैं।

षष्ठ—आज्ञाचक्र ।

दोनों भौंहोंके बीच श्वेतवर्ण द्विदलविशिष्ट आज्ञापद्म विद्यमान है। वे दो दल ह और क्ष—वर्णात्मक हैं। इस पद्मकी कर्णिकाके भीतर शरत्के चन्द्र जैसा निर्म्मल श्वेतवर्ण त्रिकोणमण्डल विद्यमान है। त्रिकोणके तीनों कोणोंमें सत्त्व, रजः और तमः—ये तीन गुण एवं तीनों गुणवाले ब्रह्मा, विष्णु और शिव यह तीन देव विराज रहे हैं। त्रिकोण मण्डलके बीचमें शुक्लवर्ण चन्द्रबीज ठं दीप्तिमान है। त्रिकोण मण्डलके एक बग़लमें श्वेतवर्ण बिन्दु विराजित है। उसकी बग़लमें चन्द्रबीजके प्रतिपाद्य वर और अभयसे शोभित द्विभुज देवविशेषकी गोदमें जगन्निधान-स्वरूप श्वेतवर्ण, द्विभुज, त्रिनेत्र ज्ञान-दाता शिव विराजित हैं। उनकी गोदमें चन्द्रमाकी भाँति श्वेतवर्णा, षड् वदना, विद्या-मुद्रा-कपाल-डमरू-जपवटिका-वराभय-शर- चापांकुश- पास- पङ्कज- लसिता द्वादशभुजा हाकिनी नाम्नी तत्शक्ति विराजती हैं।

आज्ञाचक्रके ऊपर इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्णा—इन तीनों नाड़ियोंके मिलनेका स्थान है। इस स्थानका नाम त्रिकूट या त्रिवेणी है। इस त्रिवेणीके ऊपर सुषुम्णाके मुंहसे नीचे अर्द्ध-चन्द्राकार मण्डल विद्यमान है। अर्द्धचन्द्रके ऊपर तेजःपुञ्ज-स्वरूप एक बिन्दु है। इस बिन्दुके ऊपर उच्च-नीच भावसे दण्डाकार नाद विद्यमान है। यह नाद देखनेमें ठीक एक तेजोरेखाके समान है।

इसके ऊपर श्वेतवर्ण एक त्रिकोण मण्डल विद्यमान है। उसके बीचमें शक्तिरूप शिवाकार ह—कारार्द्ध है! इस स्थानमें वायुक्रियाका अन्त हो गया है। इसकी दूसरी वातें प्रणवतत्त्वमें वर्णित है।

इस आज्ञापद्मका एक दूसरा नाम ज्ञानपद्म भी है। परमात्मा इसका अधिष्ठाता हैं एवं इच्छा उनकी शक्ति है। यहाँ प्रदीप्तशिखा-रूपिणी आत्मज्योतिः सुन्दर पीले स्वर्णरेणुकी भाँति विराजमान है। इस स्थानमें जो ज्योतिर्दर्शन होता है, वही साधकका आत्म-प्रतिविम्व है।

इस पद्मका ध्यान द्वारा दिव्यज्योतिके दर्शन पानेपर योगका चरमफल अर्थात् प्रकृत निर्वाण प्राप्त हो जाता है।

सप्तम—ललनाचक्र।

तालुकी मूलमें रक्तवर्ण चौंसठ दलवाला ललनाचक्र अधिष्ठित है। इस पद्ममें अहंतत्त्व का स्थान है। यहाँ श्रद्धा, संतोप, स्नेह, दम, मान, अपराध, शोक, खेद, अरति, सम्भ्रम, ऊर्म्मि और शुद्धता—ये वारह वृत्तियाँ एवं अमृतस्थाली विद्यमान हैं।

इस पद्मका ध्यान करनेसे उन्माद, ज्वर, पित्तादि जनित-दाह, शूलादि वेदना, शिरःपीड़ा और शरीरकी जड़ता मिट जाती है।

अष्टम—गुरुचक्र ।

ब्रह्मरन्ध्रमें श्वेतवर्ण शतदल (सौ पँखुरीवाला) अष्टमपद्म गुरुचक्र अवस्थित है। इस पद्मकी कर्णिकामें त्रिकोण मण्डल विद्यमान है। इस त्रिकोण मण्डलके तीनों कोणमें यथाक्रम ह, ल, क्ष—ये तीन वर्ण हैं। इसके सिवा तीनों ओर समुदाय मातृकावर्ण विद्यमान है। इसी त्रिकोणमण्डलको योनीपीठ और शक्ति-मण्डल भी कहते हैं। इस शक्ति-मण्डलके बीचमें तेजोमय कामकला-मूर्ति विद्यमान है। मस्तकमें एक तेजोमय बिन्दु है। उसके ऊपर दण्डाकार तेजोमय नाद विद्यमान है।

इस नादके ऊपर निर्धूम अग्निशिखाकी भाँति (बिना धूएंके अग्निकी ज्वालाकी तरह) तेजःपुञ्ज विद्यमान है। उसके ऊपरमें हंसपक्षीके पलंग-जैसा तेजोमय पीठ है। उसके ऊपर एक श्वेत हंस विराजमान है; इस हंसका शरीर ज्ञानमय है, और उसके दोनों पक्ष (बाजू) आगम और निगम हैं। उसके दोनों चरण शिव-शक्तिमय, चोंच प्रणव-स्वरूप एवं आँख और कण्ठ कामकलां-रूप है। यह हंस ही गुरुदेवके पादपीठ स्वरूप है।

इस हंसके ऊपर श्वेतवर्ण वाग्भव बीज (गुरुबीज) ऐं विद्यमान है। उसकी बगलमें तद् बीज प्रतिपाद्य गुरुदेव विराज रहे हैं। उनका वर्ण श्वेत एवं कोटि सूर्य्यकी भाँति तेजःपुञ्ज स्वरूप है। उनके दो हाथ हैं—एक हाथमें वर और दूसरे हाथमें

अभय शोभा पा रहे हैं। वे श्वेतमाला और श्वेत गन्ध धारण किये हुए हैं एवं श्वेतवस्त्र पहन कर हास्यमुखसे गुरुदेव करुण दृष्टिसे कृपाका अमृत बरसा रहे हैं। इनकी बाईं तरफकी गोदमें रक्तवर्ण कपड़े पहनी हुई सर्व-भूषण-भूषिता तरुण-अरुण-सदृश रक्तवर्णा गुरुपत्नी विराज रही हैं। इनके बायें हाथमें एक कमल एवं दाहिने हाथसे श्रीगुरुदेवके शरीरको लपेटे बैठी हैं। श्रीगुरु और गुरुपत्नीके मस्तक पर सहस्रदल पद्म छत्रीकी भाँति शोभा पा रहा है।

इस शतदल पद्ममें हंसपीठके ऊपर गुरुपादुका एवं सबहीके गुरु विराजमान हैं। ये ही अखण्ड मण्डलाकारसे चराचरमें व्याप्त हो विराजमान हैं। इसी पद्ममें ऊपर लिखे हुए प्रकारसे सपत्निक गुरुदेवका ध्यान करना होता है।

इस शतदल पद्मका ध्यान करनेसे सर्वसिद्धि और दिव्य ज्ञानका प्रकाश होता है।

नवम—सहस्रार।

ब्रह्मरन्ध्रके ऊपर महाशून्यमें रक्त किञ्जल्क (केसररेणु) श्वेत-वर्ण सहस्रदल-विशिष्ट नवां चक्र सहस्रार अवस्थित है। सहस्रदल पद्मके चारों ओर पचास दल विराजित हैं एवं लगातार एक दूसरे पर बीस स्तरमें सजे हुए हैं। प्रत्येक स्तरके पचास दलमें पचास मातृकावर्ण विद्यमान हैं।

सहस्रदल कमलकी कर्णिकाके भीतर त्रिकोण चन्द्रमण्डल विद्यमान है। उसका दूसरा नाम शक्तिमण्डल है। इस शक्ति-मण्डलके तीनों कोणोंपर यथाक्रमसे ह, ल, क्ष—यह तीन वर्ण एवं तीनों ओर सब स्वर और व्यञ्जन वर्ण सन्निविष्ट हैं।

इस शक्ति-मण्डलके बीचमें तेजोमय विसर्गके आकारसे मण्डल विशेष विद्यमान है। उसके ऊपर दो-पद्मके कोटि सूर्य्य-स्वरूप तेजःपुञ्ज एक बिन्दु विराजमान है; वह विशुद्ध स्फटिककी भाँति श्वेतवर्ण है। यह बिन्दु ही परमशिव नामक जगत्के उत्पादक, पालक और नाशकारक परमेश्वर होते हैं। यही अज्ञानके अन्धकारको नाश करनेवाले सूर्य्यस्वरूप परमात्मा हैं। इसीको भिन्न-भिन्न सम्प्रदायने भिन्न-भिन्न नामसे निर्धारित किये हैं। साधनके बलसे इस बिन्दुको प्रत्यक्ष करनेका नाम ब्रह्मसाक्षात्कार है।

परमशिव स्वरूप यही बिन्दु सर्वदा गले हुए सुधा (अमृतद्रव) के समान है। इसके बीचमें सारे सुधाके आधार गोमूत्रके वर्ण जैसी अमा नामकी कला विद्यमान है। यही आनन्दभैरवी है। इसके बीचमें अर्द्धचन्द्राकार निर्वाण कामकला विद्यमान है। यह निर्वाण कामकला ही सबकी इष्टदेवता है। उसके बीचमें तेजोरूप परम निर्वाण शक्ति शोभित है—इसके आगे नि-रा का-र-म-हा-शू-न्य है।

इस सहस्रदल पद्ममें कल्पवृक्ष विद्यमान है। इसकी जड़में चार दरवाजेवाला ज्योतिर्म्मन्दिर है; उसके बीचमें पञ्चदश अक्षरात्मिका

वेदिका है। उसके ऊपर रत्नके सिंहासनमें चणकाकार महाकाली और महारुद्र विराज रहे हैं; वे महाज्योतिर्म्मय हैं। इन्हींका नाम चिन्तामणिके घरमें मायासे आच्छादित परमात्मा है।

इस सहस्रदलका ध्यान करनेसे जगदीश्वरत्व प्राप्त होता है।

अब कामकलातत्त्वको जाननेकी आवश्यकता है। किन्तु श्रीश्रीगुरुदेवके भक्त और पूर्णाभिषिक्त व्यक्तिके सिवाय

कामकला-तत्त्व—

को साधारण लोगोंके सम्मुख प्रकाशित करनेको मना किया गया है; इसीसे साधारण पाठकोंके सामने वह गुह्य तत्त्व प्रकाश नहीं किया जा सकता। इस पुस्तकमें जहाँ-जहाँ कामकला लिखा गया है, वहाँ-वहाँ उसे त्रिकोणाकार समझना चाहिये। उपर्युक्त नौ चक्रोंके अतिरिक्त मनश्चक्र, सोमचक्र प्रभृति और भी अनेक गुप्तचक्र विद्यमान हैं एवं पहले बताये हुए नौ चक्रका प्रत्येक चक्रके नीचे एक एक करके प्रस्फुटित ऊर्द्धमुख चक्र है। मैंने यही सोचकर इसका पूरा तत्त्व विस्तारसे प्रकट नहीं किया कि, विषय बहुत बढ़ जायगा और रुपयाके अभाव तथा छापनेके झगड़ेसे पुस्तक न छप सकेगी। फिर भी मैं समझता हूँ, कि जहाँतक वर्णन किया गया है, वही साधकोंके लिये यथेष्ट होगा। प्रोक्त नव चक्रका ध्यान करते समय साधकगणको एक—

के जानलेनेकी आवश्यकता है। उन पद्मोंके सभी ओर मुह हैं ; किन्तु जो भोगी अर्थात् फल-कामना करते हैं, उनको सब पद्मोंका नीचेकी तरफ मुख किये हुए रूपमें ध्यान करना चाहिये एवं जो योगी अर्थात् जिन्हें मोक्ष पानेकी इच्छा है, उन्हें पद्मको ऊपर मुंह वाले जानकर ध्यान करना चाहिये। इसी प्रकार भावके भेदसे ऊर्द्ध और अधः मुह वाले पद्मोंका ध्यान करना उचित है। साथ ही ये सब पद्म बहुत ही सूक्ष्म हैं—अतः उनकी भावना न हो सकने के कारण उन्हें चार अंगुलके आकारकी कल्पना करके ध्यान करना चाहिये।

षोड़शाधार।

पादांगुष्ठौ च गुल्फौ च।
पायुमूलं तथा पश्चात् देहमध्यञ्च मेढ्रकं॥
नाभिश्च हृदयं गार्गि कण्ठकूपस्तथैव च।
तालुमूलञ्च नासायां मूलं चाक्ष्णोश्च मण्डले।
भ्रुवोर्मध्यं ललाटञ्च मूर्द्धा च मुनिपुङ्गवे॥

योगी याज्ञवल्क्य।

पहले-दाहने पैरका अंगूठा, दूसरा—पैरके गुल्फ (पादमूल), तीसरा—गुह्यदेश, चौथा—लिङ्गमूल, पांचवां—नाभिमण्डल

(तोंदिका चक्कर), छठां—हृदय, सातवां—कण्ठकूप (गलेका गड्ढा), आठवां जीभकी नोक, नवां—दाँतका मसूड़ा (मसूढ़े), दशवां तालुमूल, ग्यारहवां—नाककी नोक, बारहवाँ भौंहका मध्यभाग, तेरहवां—आँखका आधार, चौदहवां—ललाट,— पन्द्रहवां—मूर्द्धा (खोपड़ा), सोलहवां—सहस्रार—यही सोलह आधार हैं। इनके एक एक स्थानमें क्रिया-विशेषके अनुष्ठानसे लय योगका साधन करना होता है। इन क्रियाओंका कौशल साधन-कल्पमें लिखा गया है।

त्रिलक्ष्य ।

आदिलक्ष्यः स्वयम्भूश्च द्वितीयं बाण संज्ञकम्।
इतरं तत्परे देवि ज्योतिरूपं सदाभज ॥

स्वयम्भूलिङ्ग बाणलिङ्ग और इतरलिङ्ग, इन्हीं तीन लिङ्गोंको त्रिलक्ष्य कहते हैं। ये तीनों लिङ्ग यथाक्रम मूलाधार, अनाहत और आज्ञा चक्रमें अधिष्ठित हैं।

व्योम-पञ्चक ।

आकाशन्तु महाकाशं पराकाशं परात्परम्।
तत्त्वाकाशं सूर्य्याकाशं आकाशं पञ्चलक्षणम् ॥

आकाश, महाकाश, पराकाश, तत्त्वाकाश और सूर्य्याकाश—इसीको पञ्च-व्योम कहते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—इन्हीं पञ्च-तत्त्वोंको पञ्चाकाश कहते हैं। इस पञ्चाकाशके रहनेकी जगह शरीर तत्त्वमें वर्णन की गई है।

ग्रन्थित्रय।

ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि—इन्हीं तीनको ग्रन्थित्रय कहते हैं। मणिपुर पद्म-ब्रह्मग्रन्थि, अनाहत पद्म-विष्णुग्रन्थि और आज्ञा-पद्म रुद्रग्रन्थिके नामसे अभिहित हैं।

शक्तित्रय।

ऊर्द्ध्वं शक्तिर्भवेत् कण्ठः अधःशक्तिर्भवेद् गुदः।
मध्यशक्तिर्भवेन्नाभिः शक्त्यतीतं निरञ्जनम्॥

ज्ञान सङ्कलिनी तंत्र।

कण्ठदेशके विशुद्धचक्रमें ऊर्द्ध्वशक्ति, गुह्यदेशके मूलाधार चक्रमें अधःशक्ति और नाभिदेशके मणिपुर चक्रमें मध्यशक्ति विराजित हैं। इन शक्तियोंको दूसरे नाममें ज्ञान, इच्छा और क्रिया अथवा गौरी, ब्राह्मी और वैष्णवी भी कहते हैं। ये तीनों शक्तियाँ ही प्रणवकी ज्योतिः स्वरूप हैं। यथा—

इच्छा क्रिया तथा ज्ञानं गौरी ब्राह्मी च वैष्णवी।

त्रिधा शक्तिः स्थिता लोके तत्परं ज्योतिरोमिति॥

महानिर्वाणतन्त्र।४

मूल प्रकृति सत्त्व, रजः और तमः इन तीन गुणोंके भेदसे तीनों गुणोंमें विभक्त होकर सृष्टिका काम चलाती है।

सर्वार्थ-साधिनी, सर्वशक्ति-प्रदायिनी, सच्चिदानन्द-स्वरूपिणी, शम्भू-सीमन्तिनी, शिवाणीकी शक्तिसे सुधी साधकगणकी साधन-सरणीके सुगम साधनोद्देश और सुविधाके लिये, सर्वप्रथम सानन्द साध्यमत् सम्यक् शरीर-तत्त्व सुश्रृङ्खल और सुन्दर भावसे सन्निवेशित करके अब—

योगतत्त्व

की

आलोचनामें प्रवृत्त होते हैं। योग किसको कहते हैं ?—

संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मा परमात्मनोः।

योगी याज्ञवल्क्य।

जीवात्मा और परमात्माका मेल ही योग है। इसके अतिरिक्त देहको मजबूत बनानेका नाम योग है, मनको उत्तम रूपसे स्थिर करनेका नाम योग है, चित्तको एक स्थानमें लगानेका नाम योग है, प्राण और अपान वायुको मिलानेका नाम योग है, नाद और बिन्दुको जोड़नेका नाम योग है, प्राण वायुको रोकनेका नाम योग है, सहस्रारमें स्थित परमशिवके साथ कुण्डलिनी-शक्तिका संयोग करनेका नाम

योग है। इसके सिवाय शास्त्रमें असंख्य प्रकारके योगकी बातोंका उल्लेख है ; यथा—सांख्ययोग, क्रियायोग, लययोग, हठयोग, राज-योग, कर्म्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, विज्ञानयोग, ब्रह्म-योग, विवेकयोग, विभूतियोग, प्रकृति-पुरुषयोग, मन्त्रयोग, पुरुषोत्तम-योग, मोक्षयोग और राजाधिराज योग अर्थात् भाव-व्यापक कर्म्म मात्रको ही योग कहा जा सकता है। इस भाँति जितने प्रकारके योग हैं, वे सब एक प्रधान योगके अर्थात् जीवात्मा और परमात्माके मिलनेके ही अंग-प्रत्यङ्ग मात्र हैं। असलमें योग एक ही प्रकारका है, दो या अधिक प्रकारका नहीं। तथापि उस एक ही प्रकारके योग-साधनकी सिढ़ी स्वरूप जो सब प्रक्रियाएँ हैं, वे सभी स्थान-विशेषमें—उपदेश विशेषमें एक एक स्वतंत्र योगके नामसे पुकारी गई हैं। किन्तु जीवात्मा और परमात्माका संयोग-साधन ही योगका प्रकृत उद्देश्य है। अब देखना चाहिये, कि जीवात्मा और परमात्माका संयोग कैसे हो सकता है? उसका सहज उपाय वक्ष्यमाण (आगे कही जानेवाली) योगकी प्रणाली है। योगके आठ अंग हैं। योग-साधनमें फल प्राप्त करनेके लिये—

योगके आठ अंग

—का साधन करना होगा। साधनका अर्थ अभ्यास है ; योगके आठों अङ्ग ये हैं ; तथा—

यमश्च नियमश्चैव आसनञ्च तथैवच।
प्राणायामस्तथा गार्गि प्रत्याहारश्च धारणा।

ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि वरानने ॥

योगी याज्ञवल्क्य १।४५

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—यही आठ योगके अंग हैं। योगका साधन करना हो अर्थात् पूर्ण मानुष बनकर स्वरूप-ज्ञान लाभ करना हो तो योगके इन आठों अंगोंकी साधना अर्थात् अभ्यास करना चाहिये। सबसे पहले—

यम

किसको कहते हैं, उसकी साधन प्रणालीको जान लेना आवश्यक है।

अहिंसा-सत्यास्तेय-ब्रह्मचर्य्यापरिग्रहा यमाः ॥

पातञ्जल, साधन-पाद। ३०

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य और अपरिग्रह—इन्हींको यम कहते हैं।

अहिंसा,—

मनोवाक्कायैः सर्वभूतानामपीड़नं अहिंसा ॥

मन, वाक्य और देहसे सर्वभूत (किसी भी प्राणी) को कष्ट न पहुँचनेका नाम **अहिंसा** है। जब मनमें हिंसाकी छायातक न देख पड़ेगी, तब ही अहिंसा सिद्ध हुई समझनी चाहिये।

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।

पातञ्जल, साधन-पाद। ३५.

जब हृदयमें दृढ़ रूपसे अहिंसा प्रतिष्ठित हो जायगी, तब दूसरा उसके प्रति अपने आप वैर भावका परित्याग कर देगा। अर्थात् चित्त हिंसाशून्य होने पर साँप, बाघ, प्रभृति हिंस्र जानवर भी उसकी हिंसा नहीं करेंगे।

सत्य,—

परहितार्थं वाङ्मनसो यथार्थत्वं सत्यम्।

दूसरेके हितके लिये वाक् और मनका जो यथार्थ भाव है, उसको सत्य कहते हैं। सरल चित्तके अकपट वाक्यको, जिसमें दुर्विचारका लेश भी न हो, वही सत्य भाषण कहलाता है। जब सत्य स्वभाव गत हो जायगा और जब मनमें मिथ्याका लेश तक न रहेगा, तभी सत्य का साधन समाप्त हो सकेगा।

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।

पातञ्जल, साधन-पाद। ३६

अन्तरमें सत्य प्रतिष्ठित हो जाने पर, कोई कार्य्य न करके भी फल प्राप्त हो जाता है। अर्थात् सत्य प्रतिष्ठित व्यक्ति वाक्य- सिद्ध हो जाता है।

अस्तेय,—

परद्रव्यापहरणत्यागोऽस्तेयम्।

दूसरेकी चीज़को चुराना छोड़ देनेका नाम अस्तेय है। जिस समय दूसरेकी चीज़को लेनेकी ज़रा भी इच्छा न होगी, तभी अस्तेय का साधन सिद्ध होगा।

अस्तेय प्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ।

पातञ्जल, साधन-पाद । ३७

मनुष्यके हृदयमें अस्तेयकी प्रतिष्ठा हो जाने पर, उसके सामने संसारके सब रत्न अपने आप ही आ पहुँचते हैं। अर्थात् अस्तेयकी प्रतिष्ठा करनेवाले व्यक्तिको कभी धन रत्नका अभाव नहीं होता।

ब्रह्मचर्य्य,—

वीर्य्यधारणं ब्रह्मचर्य्यम् ।

शरीरस्थ वीर्य्यको अविचलित और अविकृत अवस्थामें धारण करनेका नाम ब्रह्मचर्य्य है। शुक्र या वीर्य्य ही ब्रह्म है। सुतरां सब जगह, सर्वदा, सर्वावस्थामें, मैथुनका परित्याग करके वीर्य्य धारण करना सबका कर्त्तव्य है। आठ प्रकारका मैथुन परित्याग करनेसे ब्रह्मचर्य्य सिद्ध होता है।

ब्रह्मचर्य्य प्रतिष्ठायां वीर्य्यलाभः

साधन-पाद, पातञ्जल। ३८

ब्रह्मचर्य्य-प्रतिष्ठा होनेसे वीर्य्य-लाभ होता है। अर्थात् ब्रह्मचर्य्य प्रतिष्ठित व्यक्तिके देहमें ब्रह्मण्य देवकी विमल-ज्योति प्रकाशित होती है। *

अपरिग्रह,—

देहरक्षातिरिक्तभोगसाधनास्वीकारोऽपरिग्रहः ।

---

* हमारे "ब्रह्मचर्य्य साधन" नामक ग्रन्थमें इस विषय पर विशेष रूपसे प्रकाश डाला गया है और वीर्य्य रक्षाका उपाय भी वर्णन किया गया है।

शरीर-रक्षाके अतिरिक्त भोगविलासके साधनोंके परित्याग करनेका नाम **अपरिग्रह** है। कहनेका मतलब यह है, कि लोभके परित्याग ही का नाम अपरिग्रह है, जब "यह मांगता हूं, वह मांगता हूं" यह भाव मनमें पैदा ही नहीं होगा, तभी अपरिग्रह सिद्ध हो सकेगा।

अपरिग्रह प्रतिष्ठायां जन्मकथन्तासंबोधः।

पातञ्जल, साधन-पाद। ३९

अपरिग्रहकी प्रतिष्ठा होनेपर पूर्वजन्मकी बातें स्मरण होने लगती हैं।

इन सब बातोंका साधन होने पर यम साधना समाप्त हो जाती है। प्रकृत मनुष्यत्व लाभ करना हो तो सब देशोंके सभी श्रेणीके लोगोंको इस यमकी साधनामें सिद्धिलाभ करना चाहिये। इसे न पालनेपर मनुष्य और जानवरमें कोई भेद नहीं रहता। अब—

नियम

किसे कहते हैं और उसे कैसे साधन करना होता है, सो समझना चाहिये।

शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमः।

पातञ्जल, साधन-पाद। ३२

शौच, सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान—इन्हीं पांच प्रकारकी क्रियाओंको नियम कहते हैं। इसके अभ्यासका नाम **नियम-साधन** है।

शौच,—

शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं वाह्यमाभ्यन्तरन्तथा ।
मृज्जालाभ्यां स्मृतं वाह्यं मनः शुद्धिस्तथान्तरं ॥

योगी याज्ञवल्क्य ।

शरीर और मनकी मलिनता दूर करनेको शौच कहते हैं। परन्तु साबुन, फुलेल तथा एसेन्स इत्यादि विलासिताकी सामग्रियाँ शौचके साधन नहीं हैं। गोमय, मृत्तिका तथा जल इत्यादिके द्वारा ही शरीर एवं दया इत्यादि सद्गुणोंके द्वारा मनकी मलिनताको दूर करना चाहिये।

शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसङ्गश्च ।

पातञ्जल, साधन-पाद । ४०

हृदयमें पवित्रता रहनेसे शरीरमें यदि कहीं ज़रा भी अपवित्रता मालूम पड़ेगी तो उससे घृणा होने लगेगी एवं दूसरेके साथ संगति करनेमें भी घृणा होगी। उस समय अवधूत गीताका यह महान् वाक्य मनमें जाग्रत हो उठेगा, कि—

विष्ठादिनरकं घोरं भगं च परिनिर्मितम् ।
किमु पश्यसि रे चित्तं कथं तत्रैव धावसि ॥ ८।१४

अर्थात्—विष्ठा आदि परिपूरित इस भगको (स्त्रीके गुह्य अंगको) नरकका द्वार बनाया है। अरे चित्त! क्या तू यह नहीं देखता जो उसीकी ओर बारंबार दौड़ता है।

सन्तोष,—

यदृच्छालाभतो नित्यं मनः पुंसो भवेदिति ।
या धीस्तामृषयः प्राहुः सन्तोषं सुखलक्षणं ॥

योगी याज्ञवल्क्य ।

प्रतिदिन जो कुछ मिल जाय उसीसे मनको सन्तुष्ट रखनेका नाम सन्तोष है। अर्थात् दुराकांक्षा परित्याग करनेका नाम ही सन्तोष है।

सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः ।

पातञ्जल, साधन-पाद। ४२

सन्तोषकी सिद्धि होनेपर अनुपम सुख प्राप्त होता है। वह सुख वर्णनातीत है, विषय निरपेक्ष सुख है, अर्थात् बाहरी वस्तुओंसे इस सुखका कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

तपस्या,—

विधिनोक्तेन मार्गेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः ।
शरीरशोषणं प्राहुस्तपस्यां तप उत्तमम् ॥

योगी याज्ञवल्क्य ।

वेदकी विधिके अनुसार कृच्छ्रचान्द्रायण इत्यादि व्रतोपवास द्वारा शरीरको शुष्क करनेका नाम उत्तम तपस्या है। तपस्या न करने पर योगमें सिद्धि लाभ नहीं हो सकती। यथा—

नातपस्विनो योगः सिध्यति ।

तपस्या साधन करनेसे ही अणिमादि ऐश्वर्य्योंका लाभ होता है। यथा—

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ।

पातञ्जल, साधन-पाद, ४३ ।

तपस्याके द्वारा शरीर और इन्द्रियोंकी अशुद्धियाँ नष्ट हो जाती हैं। अर्थात् शरीरके शुद्ध हो जाने पर इच्छानुसार सूक्ष्म तथा स्थूल करनेकी शक्ति उत्पन्न हो जाती है एवं इन्द्रियाँ शुद्ध हो जाने पर सूक्ष्म दर्शन, श्रवण, घ्राण, स्वाद ग्रहण, स्पर्शन इत्यादि सूक्ष्म विषयोंके ग्रहण करनेकी शक्ति उत्पन्न होती है।

स्वाध्याय,—

स्वाध्यायः प्रणवश्रीरुद्रपुरुषसूक्तादिमन्त्राणां
जपः मोक्षशास्त्राध्ययनञ्च ।

प्रणव और सूक्तमन्त्रादिके अर्थका चिन्तन करके जप एवं वेद और धर्मशास्त्र इत्यादिके भक्तिपूर्वक अध्ययन करनेको स्वाध्याय कहते हैं।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ।

पातञ्जल, साधन-पाद । ४४

स्वाध्यायके द्वारा इष्ट देवताका दर्शन प्राप्त होता है।

ईश्वर प्रणिधान,—

ईश्वर प्रणिधानाद्वा ।

पातञ्जल दर्शन ।

भक्ति तथा श्रद्धापूर्वक ईश्वरमें चित्त समर्पण करके, उसकी पूजा करनेका नाम ईश्वर प्रणिधान है।

समाधिरीश्वरप्रणिधानात्

पातञ्जल, साधन पाद।

ईश्वर प्रणिधानके द्वारा योगके सर्वोच्च फल समाधिकी सिद्धि होती है।

ईश्वर प्रणिधान द्वारा जितनी शीघ्रतासे चित्तकी एकाग्रता होकर शुद्धि हो जाती है, उतनी और किसी प्रकारके कार्य्यसे नहीं हो सकती। क्योंकि उनकी चिन्तासे उनकी ही भास्कर ज्योति हृदयमें आकर सब मलिनताको दूर कर देती है। अब योगका तीसरा अङ्ग—

आसन

कैसे सिद्ध करना होता है, वह मार्ग जानना चाहिये।

स्थिरसुखमासनम्।

पातञ्जल, साधन-पाद। ४३

शरीर न हिले, न डुले, न दुखे और चित्तमें किसी प्रकारका उद्वेग न हो, ऐसी अवस्थामें सुखसे बैठनेको आसन कहते हैं। योगशास्त्रमें अनेक-प्रकारके आसन बताये गये हैं। उनमेंसे कईएक प्रधान आसन और उनका साधन कौशल "साधन-कल्पमें" प्रदर्शित किया गया है।

ततो द्वन्द्वानभिघातः।

साधन-पाद, पातञ्जल। ४८

आसनके अभ्याससे सर्वप्रकारका द्वन्द्व छूट जाता है। अर्थात् शीत, ग्रीष्म, (जाड़ा-गरमी) क्षुधा, तृष्णा, राग, द्वेष प्रभृति किसी प्रकारके द्वन्द्व योग-सिद्धिमें बाधा नहीं डाल सकते। आसनका अभ्यास होनेके बाद योगका श्रेष्ठ और गुरुतर विषय जो चतुर्थ अङ्ग

प्राणायाम

—है, उसका अभ्यास करना उचित है। अब देखना चाहिये कि प्राणायाम किसे कहते हैं—

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥

पातञ्जल, साधन-पाद। ४८

श्वास-प्रश्वासकी स्वाभाविक चालका विच्छेद करके शास्त्रोक्त नियमसे चलानेका नाम **प्राणायाम** है। इसके सिवाय प्राण और अपान वायुके संयोगको भी प्राणायाम कहते हैं। यथा—

प्राणापानसमायोगः प्राणायाम इतीरितः।
प्राणायाम इति प्रोक्तो रेचकपूरककुम्भकैः ॥

योगी याज्ञवल्क्य ६।२

प्राणायाम कहनेसे हम साधारणतः रेचक, पूरक और कुम्भक इन्हीं तीन प्रकारकी क्रियाओंको समझते हैं। बाहरकी वायुका आकर्षण करके भीतर भरनेको पूरक तथा जलसे पूर्ण घड़ेकी तरह भीतर ही वायु धारण करनेको कुम्भक और उसी धृत वायुको बाहर निकालनेको रेचक कहते हैं। पहले हाथके दहिने अँगूठेसे दाहने नथनेको बंद

करते हुए वायुको रोक कर प्रणव (ॐ) अथवा अपने-अपने इष्ट-मन्त्रका सोलह बार जप करते-करते बायें नथनेसे वायु पूर्ण करके (भीतर खींचकर) कनिष्ठिका और अनामिका उँगलीसे बायें नथनेको बंद करके वायुको रोकते हुए ॐ वा मूलमन्त्रका चौंसठ बार जप करते-करते कुम्भक करे; इसके बाद अँगूठा दाहने नथनेसे उठा कर ॐ या मूलमन्त्र बत्तीस बार जप करते-करते दाहिने नथनेसे वायुको निकाल दे। इस प्रकारसे फिर उलटे तौर पर अर्थात् श्वास छोड़नेके बाद उसी दाहिने नथनेसे ही ॐ या मूलमन्त्रका जप करते-करते पूरक एवं दोनों नथनोंको बंद करके कुम्भक करे, इसके बाद बायें नथनेसे रेचन करे। इस प्रकार ठीक पहलेकी तरह फिर नाकको कथित रीतिके अनुसार पूरक, कुम्भक और रेचक करे और बायें हाथकी उँगलियोंके पोरोंसे जपकी संख्या करता रहे।

पहले-पहल पूर्वोक्त संख्यासे प्राणायाम करनेमें कष्ट हो तो, ८।३२।१६ या ४।१६।८ बार जप करते-करते प्राणायाम करे। दूसरे धर्म्मावलम्बिगण वा जिनको मन्त्र जप करनेकी सुविधा नहीं है, उनको एक, दो, तीन आदि संख्यासे ही प्राणायाम करना चाहिए; नहीं तो फल मिलनेकी सम्भावना नहीं रहेगी। क्योंकि ताल ताल पर श्वास-प्रश्वासकी क्रिया सम्पन्न करनी होती है। परन्तु सावधान! ध्यान रहे कि जोरसे रेचक या पूरक न होने पावे। रेचकके समय विशेष सतर्क एवं सावधान रहना चाहिए। इतना धीरे-धीरे श्वास परित्याग करना चाहिये, कि हाथपर रखा हुआ सत्तू भी निःश्वासके वेगसे उड़ न सके। प्राणायामके समय सुखासनसे बैठ कर मेरुदण्ड

(रीढ़), गर्दन, मस्तक सीधा और भौंहोके बीचमें दृष्टि रखना चाहिये। इसे सहित-कुम्भक कहते हैं। योगशास्त्रमें आठ प्रकारके कुम्भककी बात लिखी है। यथा—

सहितः सूर्य्यभेदश्च उज्जायीशीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा केवली चाष्टकुम्भिका।
गोरक्ष संहिता। १६५

सहित, सूर्य्यभेद, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और केवली—यही आठ प्रकारके कुम्भक होते हैं। * इसका विशेष विवरण केवल मुंहसे कहकर क्रिया कौशल न दिखानेसे जनसाधारणका कोई उपकार नहीं हो सकता, इसीलिये रुक जाना पड़ा। विशेषतः तङ्का (रुपया) का अभाव है; अगर तङ्का होता तो किसी प्रकारकी शङ्का नहीं थी, डङ्का बजाकर बहुत कुछ लिख सकता था।

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।
पातञ्जल, साधन-पाद। ५२

प्राणायाम सिद्ध होनेपर मोहावरण क्षय होकर दिव्यज्ञानका प्रकाश होता है; प्राणायाम करनेवाला व्यक्ति सर्व-रोगसे मुक्त होता है; किन्तु अनुष्ठानके व्यतिक्रमसे (बिगड़ जानेसे) नाना प्रकारके रोगोंकी भी उत्पत्ति हो जाती है। यथा—

प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत्।
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुद्भवः॥

* मत्प्रणीत "ज्ञानीगुरु" ग्रन्थमें ऊपर्युक्त आठों प्रकारके प्राणायामोंकी साधन-पद्धति लिखी गई है।

हिक्का श्वासश्च कासश्च शिरः कर्णाक्षिवेदना।
भवन्ति विविधा दोषाः पवनस्य व्यतिक्रमात् ॥

सिद्धियोग ।

नियम पूर्वक प्राणायाम करने पर साधक सर्व-रोगसे मुक्त होता है ; किन्तु अनियम और वायुका व्यतिक्रम हो जाने पर हिचकी, दमा, खाँसी, आँख, कान और सिरकी नाना प्रकारकी बीमारियाँ पैदा हो जाती हैं ।

प्राणायामका अच्छी प्रकारसे अभ्यास हो जाने पर योगके पाँचवें अंग—

प्रत्याहार

का साधन करना होता है। प्राणायामसे प्रत्याहार और भी कठिन है। यथा,—

स्व स्व विषयसम्प्रयोगाभावे चित्त-
स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ।

पातञ्जल, साधन-पाद । ५४

प्रत्येक इन्द्रियके अपना अपना ग्राह्य विषय परित्याग करके, अविकृत अवस्थामें चित्तके वशमें रहनेका नाम प्रत्याहार है। इन्द्रियगण स्वभावतः भोग्य विषयके ऊपर दौड़ा करती हैं, उन्हीं विषयोंसे इन्द्रियगणके निवृत्त करनेको प्रत्याहार कहते हैं ।

ततः परमवश्यतेन्द्रियाणाम् ।

पातञ्जल, साधन-पाद । ५५

प्रत्याहारकी साधनासे इन्द्रियाँ वशमें होती हैं। प्रत्याहर करने वाले योगी प्रकृतिको चित्तके वशमें लाकर परम-स्थिरता लाभ कर लेते हैं ; इसीसे बाहरकी प्रकृति वशमें आ जाती है।

प्रत्याहारके बाद योगके छठे अंग—

धारणा

का साधन करना होता है। धारणा किसे कहते हैं ?

देशवन्धश्चित्तस्य धारणा।

पातंजल, विभूति पाद। १

चित्तको देशविशेषमें वन्धन करके (किसी खास स्थान पर रोक) रखनेका नाम धारणा है अर्थात् पूर्वोक्त षोड़शाधारमें किम्वा किसी देवदेवीकी प्रतिमूर्त्तिमें चित्तको लगाये रखना धारणा कहलाता है।

दूसरे विषयकी चिन्ताका परित्याग करके जो किसी भी एक विषयमें चित्तको लगाते हुए रोकनेकी कोशिश करने पर धीरे धीरे चित्त एकमुखी हो जाता है ; उसीका नाम धारणा है। धारणाके स्थिर होनेपर क्रमशः वही धारणा—

ध्यान

नामक योगके सातवें अंगमें परिणत हो जाती है। यथा—

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।

पातञ्जल, विभूतिपाद। २

धारणा द्वारा धारणीय पदार्थमें चित्तकी जो एकाग्रताका भाव उत्पन्न होता है, उसका नाम ध्यान है। चित्त द्वारा आत्माके स्वरूपकी चिन्ता करनेको ध्यान कहते हैं। सगुण और निर्गुण भेदसे ध्यान दो प्रकारका होता है।

परब्रह्म किम्वा सहस्रारमें स्थित परमात्माके ध्यान करनेका नाम निर्गुण ध्यान है।

सूर्य्य, गणपति, विष्णु, शिव, आद्या-प्रकृति किम्वा षट्‌चक्रोंमें स्थित भिन्न-भिन्न देवताओंका ध्यान करनेका नाम सगुण-ध्यान है।

सगुण और निर्गुण ध्यानके सिवा अनेक लोग ज्योतिःका ध्यान भी करते हैं। ध्यानकी पहुंची हुई अवस्था ही

समाधि

है। ध्यानके गंभीर हो जानेसे अपना और ध्येयवस्तुका भेद-ज्ञान नहीं रहता। उस समय चित्त ध्येयवस्तुमें ही लय हो जाता है; अथवा यों कहना चाहिये कि चित्त उसीमें लीन हो जाता है। इस लय अवस्थाको ही समाधि कहते हैं।

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।

पातञ्जल, विभूतिपाद। ३

केवल वही पदार्थ (स्वरूप आत्मा) विद्यमान है, यह आभास (ज्ञान) मात्र रहेगा; दूसरा कुछ भी ज्ञान नहीं रहेगा। चित्तकी

ध्येय वस्तुमें ऐसी जो तन्मयता (एक हो जाना) है, उसीका नाम **समाधि** है। जीवात्मा और परमात्माकी समतावस्थाको भी (एक-जैसी अवस्था) समाधि कहते हैं। यथा—

समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः।

दत्तात्रेय संहिता।

वेदान्तके मतसे समाधिके दो प्रकार हैं, यथा—सविकल्प समाधि और निर्विकल्प समाधि। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—इन तीनों पदार्थोंका भिन्न-भिन्न ज्ञान होते हुए भी अद्वितीय ब्रह्म वस्तुमें अखण्डाकार चित्तवृत्तिके अवस्थानका नाम—**सविकल्प समाधि** है। पातञ्जल दर्शनमें इसीको **सम्प्रज्ञात** समाधिके नामसे बताया गया है।

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इन तीनों पदार्थोंका भिन्न-भिन्न ज्ञान न रह कर अद्वितीय ब्रह्मवस्तुमें अखण्डाकार चित्तवृत्तिके अवस्थानका नाम **निर्विकल्प समाधि** है। पातञ्जलके मतसे यह ही **असम्प्रज्ञात** समाधि है।

यही वक्ष्यमाण (आगे कही जानेवाली) अष्टाङ्ग योगकी प्रणाली सर्वोत्कृष्ट है। धीरे धीरे इस अष्टाङ्ग योगकी साधनामें सिद्धि लाभ कर सकनेसे मर्त्यजगत्में अमरत्व प्राप्त हो जाता है। अधिक क्या कहूं, किसी प्रकारकी क्रियाका अनुष्ठान न करके भी इन यम-नियमका पालन करनेसे ही प्रकृत मनुष्यत्वका ज्ञान उत्पन्न होता है। अष्टाङ्ग साधन कर लेने पर और क्या चाहिये ?—मनुष्य जन्म धारण करना

ही सार्थक हो जाता है। परन्तु यह जैसा सबसे उत्कृष्ट है, वैसा ही कठिन और गुरुतर व्यापार भी है। सर्वसाधारणकी शक्तिसे बाहर का काम है। इसीलिये सिद्ध योगीगणने इस मूल अष्टाङ्ग योगमें न्यूनाधिकता करके सहज और सुख-साध्य योगका कौशल-निर्माण किया है। मैंने भी इसी कारणसे पहले बताये हुए अष्टाङ्ग योगका विशेष विवरण विस्तृत भावसे न बतला कर थोड़े ही में सुना दिया है।

ब्रह्मा, विष्णु और शिव, इन तीनों देवताओंने भी योग-साधन का अनुष्ठान किया था। इनमें परमयोगी सदाशिवके पञ्चम आम्नाय पर दस प्रकारकी योगकी विधियाँ लिखी मिलती हैं। जिनमें प्रधानतः

चार प्रकारके योग

प्रचलित हैं। यथा—

मन्त्रयोगोहठश्चैव लययोगस्तृतीयकम् ।
चतुर्थो राजयोगः स्यात् स द्विधाभाव वर्ज्जितः ॥

शिवसंहिता, ५।१७

मन्त्रयोग, हठयोग लययोग और राजयोग—इन्हीं चार प्रकारके योगकी व्याख्या योगशास्त्रमें लिखी हुई है। किन्तु आजकल

मन्त्र योग

की साधना करके सिद्धिलाभ करना एक प्रकारसे असम्भव बात है।

मन्त्रजपान्मनोलयो मन्त्रयोगः ।

मन्त्र जप करते करते जो मनका लय हो जाता है, उसे **मन्त्रयोग** कहते हैं। मन्त्रजप-रहस्य और जप-समर्पणके अतिरिक्त मन्त्रजप सिद्ध नहीं होता है। विशेषतः उपयुक्त उपदेष्टाका भी अभाव है। गुरु या उपदेशकका अभाव न होने पर भी, अनेक जन्म तक चेष्टा न करते रहनेसे मन्त्रयोगकी सिद्धि नहीं हो सकती। इसीसे सब प्रकारकी साधनाके बीचमें मन्त्रयोग अधम बताया गया है। यथा—

मन्त्रयोगश्च यः प्रोक्तो योगानामधमः स्मृतः
अल्पबुद्धिरिमं योगं सेवते साधकाधमः ॥

दत्तात्रेय-संहिता ।

योग मन्त्रयोग सबसे अधम है; अधम अधिकारी और अल्प-बुद्धिवाला व्यक्ति ही मन्त्रयोगकी साधना करता है। दूसरा

हठयोग

साधन भी आजकल एक प्रकारसे साधनाके बाहर है। हठयोगके लक्षणमें कहा है—

हकारः कीर्त्तितः सूर्य्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते ।
सूर्य्याचन्द्रमसोर्योगाद्धठयोगी निगद्यते ॥

सिद्ध सिद्धान्तपद्धति ।

"ह" शब्दसे सूर्य्य एवं "ठ" शब्दसे चन्द्र समझा जाता है। हठ-शब्दमें चन्द्र-सूर्य्यको एक जगह मिलाना है। अपान वायुका नाम

चन्द्र एवं प्राण वायुका नाम सूर्य्य है। अतएव प्राण और अपान वायु को एकमें मिलानेका नाम हठयोग है। हठ योगादि साधनकी उपयुक्त अवस्था और शरीर आज कलके जमानेमें बहुत कम हैं। और

राजयोग

द्वैतभावका त्याग करने पर भी संसारी लोगोंके लिये कष्ट साध्य है, इसमें सन्देह नहीं। विशेषतः राजयोगकी क्रियादि ठीक ठीक न समझ लेने पर केवल पुस्तक पढ़ कर उसको हृदयंगम कर लेना एक प्रकारसे असम्भव बात है। इसीलिये स्वल्पजीवी (कम जीनेवाले) निरन्न कलिकालके मनुष्योंके लिये सहज और सुख-साध्य

लययोग

बतलाया गया है। दूसरे सब योगोंको छोड़कर केवलमात्र लययोगका अनुष्ठान करके कितनों-हीने सहजमें और शीघ्र सिद्धिलाभ कर लिया है तथा कर रहे हैं। मैंने भी उसी सद्यः प्रत्यक्ष फलप्रद लययोगका सर्व-साधारणमें प्रचार करनेकी इच्छासे इस ग्रन्थका आरम्भ किया है।

लययोग अनन्त प्रकारका है। बाहरी और भीतरीके भेदसे जितनी प्रकारकी चीजोंका होना सम्भव हो सकता है, उन सबमें ही लययोगका साधन हो सकता है। अर्थात् चित्तको किसी भी एक

चीजमें निविष्ट करके (लगाकर) उसमें एकतान हो जाने (डूबजाने) से ही **लययोग** सिद्ध होता है।

सदाशिवोक्तानि सपादलक्षलयावधानानि वसन्ति लोके।

योगतारावली।

जगत्‌में सदाशिवका बनाया हुआ एक लाख पचीस हजार प्रकारका लययोग विद्यमान है। किन्तु साधारणतः योगिगण चार प्रकारके लययोगका अभ्यास करते हैं। वह यह है—

शाम्भव्या चैव भ्रामर्य्या खेचर्य्या योनिमुद्रया।
ध्यानं नादं रसानन्दं लयसिद्धिश्चतुर्विधा॥

घेरण्ड संहिता॥

शाम्भवी मुद्रासे ध्यान लगाना, खेचरी मुद्रासे रसास्वादन करना, भ्रामरी-कुम्भकसे नादको सुनना और योनि-मुद्रासे आनन्द भोग करना—इन चार प्रकारके उपायसे ही लययोगकी सिद्धि होती है।

इन चार प्रकारके लय योगका और भी सहज कौशल सिद्ध योगिगण द्वारा प्रकट किया गया है। उन्होंने लययोगके बीचमें नादानुसन्धान, आत्मज्योतिः-दर्शन और कुण्डलिनी उत्थापन—इन्हीं तीन प्रकारकी प्रक्रियाओंको श्रेष्ठ और सुख साध्य बतलाया है। इनमें कुण्डलिनी उत्थापन कुछ कठिन है। क्रिया विशेषका अवलम्बन करके मूलाधारको भिफोड़ कर जागती हुई कुण्डलिनी शक्तिको उत्थापन करना होता है। तालावमें जोंक जैसे एक तृणको छोड़ करके दूसरे तृणको पकड़ती है, वैसे ही कुण्डलिनीको मूलाधारसे

धीरे धीरे क्रमानुसार सारे चक्रमें उठाकर अन्तमें सहस्रारमें ले जाकर परमशिवके साथ संयोग कराना होता है। किन्तु मूलाधारको संकुचित कैसे किया जाता है एवं अत्यन्त कठिन क्रिया जो ग्रन्थित्रय भेद करना है, वह कैसे किया जाता है, यह सामने करके न दिखा देने तक लिखनेकी ऐसी कोई भाषा नहीं, जिससे लोग समझ सकें। सुतरां अकारण कुण्डलिनीके उत्थापनकी क्रियाको लिखकर पुस्तकका कलेवर बढ़ाना मैं ठीक नहीं समझता हूँ। यदि किसीको इसका क्रम जाननेकी इच्छा हो तो, मेरे पास आनेसे संकेत बता सकता हूँ।* किन्तु अनुपयुक्त व्यक्तिको मैं वह रहस्य कभी नहीं बताऊँगा।

लययोगमें नादानुसन्धान और आत्मज्योतिः दर्शनका काम बहुत सीधा और आरामसे होनेवाला है। इन दोनों कामोंका साधन-कौशल प्रकाश करके पाठकगणका उपकार करना ही इस पुस्तकका उद्देश्य है ।

साधुसंन्यासी अथवा गृहस्थोंमें पश्चादुक्त संकेत थोड़ेसे लोग भी जानते हैं या नहीं इसमें सन्देह है। नादानुसन्धान और आत्म-ज्योतिः-दर्शन, इन दो कामोंमें एक-एकका दो-तीन प्रकारका कौशल लिखता हूँ। जो जिसे अच्छा, सीधा और अपने करने योग्य जान पड़े, वह उसीका अनुष्ठान करे। जिससे मैंने फल प्राप्त किया है, वैसा सद्यः प्रत्यक्ष फल देनेवाला साधनका संकेत "साधन कल्प"

---

* मत् प्रणीत "ज्ञानीगुरु" ग्रन्थमें कुण्डलिनीके उत्थापनका साधनोपाय वर्णन किया गया है ।

में वर्णन किया है। इसकी किसी भी क्रियाके अनुष्ठानमें प्रवृत्त होनेपर क्रमशः मनमें अपार आनन्द और तृप्ति लाभ होगी एवं आत्माकी भी मुक्ति होगी।

वर्त्तमान समयमें हमारे देशके लोगोंकी जैसी अवस्था है, उसमें पूर्वोक्त क्रियाका अभ्यास भी अनेकके लिये कठिन हो जायगा, इसमें सन्देह नहीं ; इसीलिये उनके निमित्त साधन-कल्पके पहले ही लय-संकेत लिखे हैं। जो कई एक लयसंकेत लिखे हैं, उनमेंसे किसी भी एक प्रकारके संकेतका अनुष्ठान करने पर चित्तका लय हो जाता है। साधकगणमें जिसे जैसी सुविधा हो, वह वैसी ही क्रिया करके मनोलय कर लेवे।

जपाच्छतगुणं ध्यानं ध्यानाच्छतगुणं लयः।

जपसे ध्यानमें सौगुणा अधिक फल होता है। ध्यानकी अपेक्षा सौगुणा अधिक फल लाभ होता है—लययोगसे। अतएव जपादिकी अपेक्षा सबको किसी भी प्रकारके लययोगका साधन करना चाहिये।

योगाभ्याससे आत्माकी मुक्तिके सिवा अनेक आश्चर्य्य-जनक और अमानुषी क्षमता (शक्ति) प्राप्त हो जाती है। किन्तु विभूति लाभ करना योग-साधनका प्रकृत उद्देश्य नहीं है; इसीलिये मैंने भी इस ग्रन्थमें उस विषयकी आलोचना नहीं की है। इच्छाके बिना भी विभूति आपसे आप फूट पड़ती है, किन्तु उसकी ओर लक्ष्य न करके मुक्तिकी राहमें आगे बढ़ना चाहिये। विभूति पर मुग्ध होनेसे मुक्तिकी आशा बहुत दूरकी बात हो जाती है।

आज युरोपखण्डमें इसी योग-साधना पर विशेष आन्दोलन और आलोचना चल रही है। पाश्चात्य नरनारिगण आर्य्य-शास्त्रोक्त योगसाधनकी शिक्षा लेकर थियासफिष्ट बन गये हैं। मेसमेरिज़म्, हिपनोटिज़म्, क्लेयारवेन्स, सायिकोपेथी और मेण्टल-टेलिग्राफी प्रभृति विद्याओंका प्रचार करके वे जगतके नरनारियोंको मुग्ध और अचम्भेमें डाल रहे हैं। हम अपने घरकी पोथी धूपमें सुखाकर बस्तेमें बांध देते और घरके चूहों, आरशुलाओं (छिपकली) और कीड़ोंके आहारकी सुव्यवस्था करते हैं एवं फिर दूसरोंके सामने "हमारे अनेक ग्रंथ हैं" कहकर गौरव करते हैं। किन्तु क्या उनमें कुछ सार भी है? यदि कुछ है, तो उसे न ढूंढकर या साधन करके क्यों नहीं देखते? यह दोष नितान्त हमारा ही नहीं है। शास्त्रमें योग-योगाङ्गके जो सब विषय और नियम लिखे हैं, वे अत्यन्त संक्षिप्त और जटिल (पेचीदा) हैं। कोई जानने पर भी, उसे प्रकाशित नहीं करता। वह यही कहता है, कि यह अति—

गुह्य विषय

है। किन्तु योग जटिल वा गुह्य-विषय नहीं है। तारसे संवाद भेजना, आकाशके चन्द्र वा सूर्य्यका ग्रहण देखना, फोनोग्राफ़से गाना सुनना जैसे बाहरी विज्ञानका काम है, योग भी वैसे ही अध्यात्म विज्ञानका काम है। परन्तु वे जान बूझकर भी प्रकाशित क्यों नहीं करते? इसीलिये कि शास्त्रमें मना किया गया है, यथा :—

वेदान्तशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव।
इयन्तु शाम्भवी विद्या गुप्ता कुलवधूरिव ॥

वेद और पुराणादि सब शास्त्र बाजारमें बैठी हुई साधारण वेश्या जैसे हैं ; किन्तु शिवोक्त शाम्भवी विद्या घरकी कुलवती वधूके समान है। अतएव यत्नके साथ इसे छिपा कर रखना चाहिये—ये सर्व-साधारणके सामने प्रकाशित करनेकी चीजें नहीं हैं।

न देयं परशिष्येभ्योऽप्यभक्तेभ्यो विशेषतः।

शिववाक्यम्।

परशिष्य, विशेषतः अभक्त लोगोंके सामने यह शास्त्र कभी प्रकाशित नहीं करना चाहिये। और भी लिखा है, कि—

इदं योगरहस्यञ्च न वाच्यं मूर्खसन्निधौ।

योगस्वरोदय।

योग रहस्य मूर्खसे कभी न कहना चाहिये। निन्दक, वंचक, धूर्त्त, खल, दुराचारी और तामसिक व्यक्तियोंके सामने भी योग रहस्य प्रकाशित नहीं करना चाहिये—

अभक्ते वञ्चके धूर्त्ते पाषण्डे नास्तिके नरे।
मनसापि न वक्तव्यं गुरुगुह्यं कदाचन ॥

भक्तिहीन, वञ्चक, धूर्त्त, पाषण्डी और नास्तिक—इन सब हेतुवादियोंसे गुरुका कहा हुआ गुह्य-विषय कभी प्रकट नहीं करना चाहिये। इन्हीं सब कारणोंसे शास्त्रज्ञ योगिगण सर्व-साधारणके सम्मुख आत्मतत्त्व-विद्या प्रकाशित न करके "गुह्य विषय" कहकर

छिपा देते हैं। किसीको भी सिखानेके पहले सर्वसाधारणके सामने प्रकाशित न करनेका विशेषरूपसे आदेश भी कर देते हैं। इस प्रकार निषेध होनेके कारण ही मैं समस्त विषय प्रकाशित नहीं कर सका। जो बातें साधारणमें प्रकाशित करनेके योग्य हैं एवं सभी व्यक्ति कर सकते हैं, वेही इसमें सन्निवेशित की गई हैं। इसके अनुसार काम करने पर प्रत्यक्ष फल मिलेगा। अब सुधी साधकगण !

क्षन्तव्यो मेऽपराधः।

ॐ शान्तिः।

द्वितीय अंश

साधन-कल्प

योगीगुरु

द्वितीय-अंश ।

साधन-कल्प ।

साधकोंके प्रति उपदेश ।

दुर्गादेवि जगन्मात जगदानन्ददायिनि ।
महिषासुरसंहन्त्रि प्रणमामि निरन्तरम् ॥

मदन-मद-दमन-मनोमोहिनी, महिषासुरमर्दिनी भवानीके मृत्युपति-लाञ्छित और मरामर-वाञ्छित पदपङ्कजमें प्रणाम करते हुवे साधन-कल्पका लिखना शुरू करता हूँ।

योगाभ्यासके समय साधकगणको कितने ही नियम संयमके अधीन रहना पड़ता है। साधारण लोगोंकी भाँति चलनेसे साधन नहीं बनता। योग-कल्पमें अष्टाङ्ग योग बताते समय यम तथा नियम पर भी थोड़ा सा वर्णन किया गया है। लेकिन गृह-संसारमें रहनेसे उस नियम का पालन नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार

नियम पालन कर सकने पर भी कभी-कभी गुणी ग्रामवासियोंके कौशलसे हारकर सारे विषय-सम्पत्ति व विद्याबुद्धिको भूलते हुए पेड़के नीचे आश्रय लेना पड़ता है। सुतरां घर-संसार करना हो तो शिवत्वको छोड़कर बाहरमें सोलह आना जीवत्व कायम न रखने पर साधन नहीं बनता। ऐसी अवस्थामें क्या उपाय हो सकता है? यही कि, पूर्वज्ञानी सर्पकी तरह "फुसकारते रहो, किन्तु किसीको काटो मत।"

किसी एक राहकी बगलमें एक कालाकराल-चक्रधारी भयानक विषाक्त साँप रहता था। लोगोंको राह चलते देख कर तत्काल ही वह फुसकारके साथ तर्जन-गर्जन करते हुए जोरसे दौड़कर काट खाता और जिसे काटता वह उसी जगह गिरकर मर जाता था। धीरे-धीरे साँपकी यह बात सब जगह फैल गई। फिर तो कोई भी भयके मारे उस राहसे न चलने लगा। इस तरह कुछ ही दिनोंमें उस राहसे लोगोंका आना जाना एकदम बन्द हो गया।

एक दिन कोई एक महापुरुष उसी राहसे होकर जाने लगे; अतः साँपकी बात बताकर अनेक लोगोंने उन्हें उस रास्ते जानेसे रोका; लेकिन वे किसीकी बात न सुन चलते बने। साँपके पास पहुँचते ही वह फुसकारते हुए काटनेको दौड़ा। यह देख वे महापुरुष वहीं खड़े हो गये और साँपके पास आते ही उन्होंने एक मुट्ठी धूल उसकी देहपर डाल दी। तत्काल ही वह शिर झुकाकर शान्त भावसे जहांका तहां ठहर गया। इसके बाद महापुरुषने जलद-गम्भीर स्वरमें उससे कहां,—"बेटा! पूर्वजन्मकी हिंसाके कारण

तो तूने यह सर्पयोनि पायी है और फिर भी तू हिंसा छोड़ नहीं सका ?"

इस बातको सुनते ही साँपके मनमें दिव्य ज्ञानका उदय हुआ और उसने नम्रताके साथ शिर झुकाकर कहा,—"प्रभो ! मुझे अपने पूर्वजन्मकी बातका तो स्मरण हो आया, किन्तु अब मेरे उद्धारका उपाय क्या है ?"

"सर्वतोभावसे हिंसाका परित्याग करो" इतना कहकर वे महापुरुष चल दिये। उस दिनसे साँपने एकदम शान्तभाव धारण कर लिया। दो-दो एक-एक करके सबने ही यह बात सुनी और पहले-पहल डरते-डरते सावधानीके साथ लोग फिर उधरसे आने जाने लगे। यथार्थमें ही अब वह साँप किसीकी हिंसा नहीं करता और राहमें ही चुपचाप पड़ा रहता था। बगलसे होकर किसीके आने जाने पर भी वह शिरतक उठाकर न देखता था। उसकी यह दशा देखकर सबका साहस बढ़ गया। फिर तो कोई उसे मारता तो कोई डण्डेसे उठाकर दूर फैंक देता। बालक-बालिकाएँ भी पूंछ पकड़कर उसे खींचते हुए घूमते फिरते थे। किन्तु फिर भी साँप किसीको काटना तो दूरकी बात, उस पर झपटता तक नहीं था। लेकिन लोगोंके इस तरहके अत्याचारसे कुछ ही दिनोंमें वह अत्यन्त दुर्बल और अधमरा हो गया।

कुछ दिन बाद पूर्वोक्त महापुरुष फिर उसी मार्गसे लौटे और साँपको मुर्दे जैसा पड़ा देखकर बोले,—"तेरी ऐसी अवस्था क्यों हो गई ?"

साँपने जवाब दिया,—"आपके उपदेशसे हिंसा छोड़ देनेके कारण ही यह अवस्था हुई है।"

तब महापुरुषने हँस कर कहा,—"मैंने तुझे हिंसा छोड़नेको कहा था, लेकिन फुसकारनेसे तो नहीं रोका था। अगर अब कोई अत्याचार करने आवे तो साँपके स्वभावानुसार तुझे फुसकारना अवश्य चाहिये ; लेकिन किसीको काट न खाना चाहिये।"

यह उपदेश देकर जैसे ही महापुरुष आगे बढ़े, कि फिर उसी दिनसे लोगोंको नज़दीक देखने पर साँपने पहलेका स्वभाव दिखलाना आरम्भ कर दिया। अर्थात् वह फुसकारता तो था ; लेकिन किसीको काटता न था। इस प्रकार फिरसे उसमें पहले जैसा तेज देखकर कोई भी उसके पास नहीं पहुँच पाता और वह अपनी रक्षा करनेमें समर्थ हो गया।

मेरी बात भी ठीक इसी कहानी जैसी ही है, कि बाहरसे सोलह आने जीवत्व (जीवका स्वभाव) बनाये रखो, लेकिन मनमें दृढ़ निश्चय कर लो, कि किसीका अनिष्ट न करेंगे। क्योंकि मन पवित्र रहने पर बाहरके कामोंसे क्या बनता बिगड़ता है ?

मनः करोति पापानि मनो लिप्येत पातकैः ।
मनश्च तन्मना भूत्वा न पुण्यै र्न च पातकैः ॥

ज्ञान संकलिनी तन्त्र । ४५

अतएव मनको दृढ़ रखकर सब काम करना चाहिये। किन्तु यह स्मरण रहे, कि जैसे कोई मुझपर अत्याचार—उत्-पीड़न करे या कोई मेरी किसी वस्तुको चुरा ले, या कोई बुरे अभिप्रायसे मेरे

घरमें प्रवेश करे तो, इससे जैसा मुझे कष्ट होता है, ठीक वैसे ही किसीके प्रति मेरे द्वारा भी वे सब काम होनेपर वह व्यक्ति भी मेरी ही तरह कष्ट पाता है। अतः अपने हृदयकी वेदना (दर्द) का अनुभव करके दूसरेके साथ व्यवहार करना चाहिये। जब सड़े हुये पत्ते और वन्यजात कड़ुए कसैले कन्द-मूल-फल खाकर भी मानव जीते रह सकते हैं, तब दूसरेके प्राणोंको कष्ट पहुँचाकर एवं दुर्बलके ऊपर अत्याचार करके पेट भरनेमें कौनसा बड़प्पन है ? प्रतिदिन समय पर जो कुछ मिल जाय, उसीमें सन्तुष्ट रहना चाहिये। धनीके साथ अपनी अवस्थाका मिलान कर क्यों कष्ट उठाते हो ? दुराकांक्षा-परायण (बुरी इच्छाओंमें फँसा हुआ) व्यक्ति कभी भी सुखी नहीं हो सकता। निर्धन व्यक्ति अनाहारी (भूखों मरने वाले) की बातका विचार करके दिनान्तमें शाक-पत्रादि खाकर सुखी रहे, निराश्रय लोगोंको देखकर टूटे-फूटे झोंपड़ेमें बिछी हुई फटेला चटाई पर शान्तिलाभ करे, जाड़ेमें जूता पहननेके लिये असमर्थ होनेपर अपनेको न धिक्कारते हुए लंगड़े मनुष्यकी बात स्मरण कर अपने सबल पैरोंकी ओर दृष्टि-पात करते हुए अपनेको महान् भाग्यशाली समझना चाहिये। पुत्रहीन व्यक्ति असत् पुत्रके पिताकी अवस्थाका विचार कर खुश रहे। क्योंकि मंगलमय परमेश्वर सभी कुछ जीवके मंगलके लिये ही किया करते हैं। पुत्र मर जानेसे शोकमे न घबड़ाकर, घर जल जानेसे ज्ञानशून्य न होकर तथा धन-दौलत नष्ट हो जानेसे कायरता न दिखाकर यह सोचना चाहिये, कि वह पुत्र जीता तो शायद उसके असद् व्यवहारसे जीवन भरके लिये

हृदय पर आघात सहन करना पड़ता ; घर रहता तो शायद उसमें रहनेवाले साँपके काटनेसे जीवन त्याग करना पड़ता ; धन-दौलतके रहनेसे शायद कोई उसके लोभमें मुझे मार ही डालता ; इसलिये जब जिस अवस्थामें रहना पड़े, उसीमें परमेश्वरको धन्यवाद देकर सन्तुष्ट-चित्तसे कालक्षेप करना चाहिये। भला, यह संसारका वैभव कितने दिनके लिये है ? जब शैशवकी विमल ज्योत्स्ना देखते देखते छिप जाती है, यौवनका बल-विक्रम (पुरुषार्थ और शक्ति) ज्वारके जलकी तरह उतर जाता है, प्रौढ़ावस्था (बुढ़ापा) तीन दिनका खेल—संसार करते न करते अन्त हो जाता है ; "अबतक उचित रूपसे जीवन नहीं बीताया" या "अमुकके मनको कष्ट दिया" अथवा "अमुकके साथ ऐसा अनुचित्त व्यवहार करना अच्छा नहीं हुआ," इत्यादि पश्चात्ताप करते करते जब वार्द्धक्य (बुढ़ापा) चला जाता है, तब थोड़ेसे समयके लिये आसक्ति क्यों ? दूसरे पर बल-प्रकाश करनेकी क्या आवश्यकता ? दुर्बल पर अत्याचार क्यों किया जाय ? पर-निन्दा करनेमें इतनी स्फूर्त्ति क्यों ? पार्थिव पदार्थों (पृथ्वीकी चीजों) के लिये इतना पछतावा क्यों ? किन्तु मैं क्या कह रहा था, भूल गया !

हाँ, तो सिवाय मनके बाहरी काम देख कर कोई भी सदसद् विवेक नहीं कर सकता। कोई व्यक्ति बड़ी ही धूम-धामसे दोल-यात्रा, रामलीला या दुर्गादेवीकी पूजा कराता है और कङ्गाल—गरीबोंको भोजन भी देता है ; किन्तु यदि उसके हृदयमें इसके लिये अहंकार यानी अहंता भी उत्पन्न हो जाय तो सारा प्रयत्न मिट्टीमें

मिलकर नरकका दरवाजा उसे खुला मिलेगा। एक ही काममें मनकी विभिन्न गतिसे भिन्न-भिन्न फल प्राप्त होते हैं। सभी प्रकारके व्यक्ति ही देहको धोते हैं; लेकिन असत्-चित्त तथा मैलसे पूर्ण नर-नारिगण देह धोते समय अपनी देहके प्रति दृष्टिपात करते हुए इस बातको अधिक सोचते हैं, कि "मेरा सुनहरा रङ्ग देख कर कितने ही नर-नारिगण मुग्ध हो जायँगे, कितने ही मुझसे मिलनेके लिये प्रार्थना करेंगे।" इसी विचारसे वे विशेप कोशिशके साथ देहका यत्न करते हैं। इसके फलस्वरूप निश्चय ही उनके लिये एकमात्र नरकका द्वार खुला मिल सकेगा, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु सत्ज्ञानसम्पन्न व्यक्ति उसी देहको भगवान्का भोगमन्दिर समझकर साफ़ रखते हुवे हरि-मन्दिरके मार्ज्जनका फल प्राप्त करते हैं। साथ ही विवेक-शील व्यक्तियोंको अपनी देह धोते-धोते उसके प्रति एक प्रकारकी घृणा पैदा हो जाती है। जब यह नवद्वार विशिष्ट देह, जो रक्त-क्लेद-मलमूत्र—फेनादिसे दुर्गन्धित हो जाती है और इसे यदि नियमितरूप से साफ़ न रखा जाय तो बहुत मैली हो जाती है, इतना ही नहीं, बल्कि इससे बहुत बदबू तक आने लगती है, तब इसके प्रति इतनी आसक्ति क्यों? इस पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करनेसे फिर रमणी विषयक कवि-कल्पना-सम्भूत-स्वर्णकान्ति, आकर्ण-विश्रान्त हरिणी-सदृश नयन, रक्ताभ गण्ड, तरुण-अरुण भाँति अधरोष्ठ और क्षीण कटिकी ओर चित्त कभी आकर्षित न होगा। अथवा व्यवहारमें धर्म्म और अधर्म्मके विषयमें कोई खास नियम निर्दिष्ट नहीं है। एक अवस्थामें जो काम पापजनक है, अवस्थान्तरमें वही

काम पुण्यमय समझा जा सकता है। किसी पुराणमें लिखा है, कि—"वलाक नामक व्याधने प्राणि-हिंसा करके भी स्वर्गलाभ किया था और कौशिक नामक ब्राह्मणको सच वात कहने पर भी नरकमें जाना पड़ा था।" सुतरां वाहरी कामोंसे कुछ भी भला-बुरा नहीं हो सकता और मनके संलिप्त न होनेसे उसका फलाफल भी भोगना नहीं पड़ता। क्योंकि मनुष्यका मन ही उसके लिए वन्धनका कारण होता है। यथा:—

मन एव मनुष्याणां कारणं वन्धमोक्षयोः।
वन्धाय विषयासक्तं मुक्तौ निर्विषयं स्मृतम्॥

अन्यमनस्क गीता। ५५

मन ही मानवके वन्धन और मोक्षका कारण है, क्योंकि विषयमें आसक्त होने पर ही मन वन्धनका कारण होता है एवं विषयोंसे वैराग्य पैदा होने पर ही मुक्ति हो जाती है; शङ्करावतार श्री शङ्कराचार्य्यने कहा है, कि:—

वन्धो हि को ? यो विषयानुरागः।
को वा विमुक्ति ? विषये विरक्तिः॥

मणिरत्नमाला।

वन्धन किसे कहते हैं ?—विषयके भोगमें मनका जो अनुराग वढ़ता है, वही वन्धन कहाता है। तव फिर मुक्ति किसे कहते हैं ?—विषय वासनासे रहित होना या विषयमें विरक्ति हो जानेका नाम ही मुक्ति है। सुतरां आसक्तिसे अलग रह सकने पर किसी काममें भी कोई दोष नहीं है। कामकी आसक्ति ही दोष है,—

न मद्यभक्षणे दोषो न मांसे न च मैथुने ।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला: ॥

मनुसंहिता ।

मद्य-पान, मांस-भक्षण या मैथुनमें कोई दोष नहीं है, ये सब जीवोंकी प्रवृत्तियाँ है, इनकी निवृत्ति ही महाफल-दायक है। अर्थात् जिस काममे आसक्ति नहीं है, वही सबसे श्रेष्ठ है। सत् पथमें रहकर कितने ही रुपये कमा लो, लेकिन रुपयोंके लिये व्याकुलता न दिखलाओ ; क्योंकि व्याकुलता (बेचैनी-हायतोबा) ही आसक्ति है। इसलिये निरन्तर यह स्मरण रखना चाहिये, कि सब कुछ भगवान्‌का है ; हम तो केवल अनिर्दिष्ट समयके लिए उसके चौकीदार बने हुए हैं। इसीलिये पुत्र, कलत्र (स्त्री), भाई बन्धु, आत्मीय-स्वजन, रुपये-पैसे, घर-द्वार, विषय-सम्पत्ति—आदि सब पर "मेरा है" की छाप ज़ोरसे न मारना चाहिये। हमारे शिरपर कराल-मृत्यु नाच रही है। कर्म्मसूत्रके फलसे ही यह संसार हैं ; यह विषय-सम्पत्ति पड़ी रहेगी—अनादि अनन्त कालसे ही यह पड़ी हुई है—हम जैसे कितने ही लोग—हमारे ही पिता, पितामह, प्रपितामह प्रभृतिने इस स्थान पर—इस खेती-बाड़ीकी ओर—इस तालाब या बागके प्रति दो दिनके लिये दानव जैसी दृष्टि डालकर अपनेको विषय-वासनासे बांधनेकी बहुतेरी कोशिश की थी; लेकिन कालमें या कालकी लहरोंमें वे न जाने कहाँ बह गये ; जिसका अक्षय भंडार वस्तुओंसे भरा हुआ है, उनके ही अक्षय भंडारमें पड़े रहेंगे, वह तो कुछ भी साथमें न ले जा सकेगा। क्योंकि हम तो उनके केवल मात्र नौकर

हैं, इस संसारसे मौतका परवाना आते ही सब कुछ यहीं छोड़-छाड़ कर चल देना पड़ेगा। नौकर जैसे मालिकके घर पर काम करके मालिकका रुपया-पैसा, धन-दौलत आदि सब चीज ठीक रखनेका समधिक यत्न करता है, लेकिन वह इस बातको अवश्य ही जानता और समझता है, कि "मैं नौकरी करनेको आया हूँ, यह सब धन-दौलत तो मेरे नहीं है, मालिकके जबाब देते ही मुझे यहाँसे चल देना पड़ेगा।" ठीक इसी तरह हमलोगोंको भी सदैव स्मरण रखना चाहिये। नहीं तो, धन-दौलतमें आसक्ति हो जाने पर इस पृथ्वीके राज्यमें प्रेतयोनि धारण करके कितने ही दीर्घकाल तक घूम-घूम कर चक्कर खाना होगा।

स्त्री-पुत्र, कन्यादिके प्रति जो माया है, उसमें भी इसी ज्ञानको आगे रखकर अपना सम्बन्ध रखना चाहिये, कि भगवान्ने मुझ पर उनके देखने भालने और खिलाने-पिलानेका बोझ लाद दिया है, इसीलिये मैं प्रेमपूर्वक उन लोगोंका लालन-पालन कर रहा हूँ। किन्तु उनके द्वारा आगे मुझे सुख मिलेगा, ऐसी आशा मनमें उठते ही मुझे आसक्तिकी आगमें जलना पड़ेगा। इसी प्रकार पुत्र वा कन्याकी मृत्युसे शोकमें न घबड़ा कर, यह सोचते हुए आनन्द करना चाहिये, कि "भगवान्के भारी भारसे छुटकारा मिल रहा है।" अपने सुखके लिये जो कुछ किया जाता है, वह बन्धनका कारण होता है, और ईश्वरके प्रेममें मतवाला होकर उसके प्रसन्न करनेके लिये जो कुछ किया जाता है, उससे पद्मपत्र परके जलकी भाँति आसक्ति वा पापमें लिप्त नहीं होना पड़ता। भक्तियोगके श्रेष्ठाधिकारी कविराज गोस्वामीजीने लिखा है, कि:—

आत्मेन्द्रिय प्रीति इच्छा तारे बलि काम ।
कृष्णेन्द्रिय प्रीति इच्छा धरे प्रेम नाम ॥
कामेर तात्पर्य्य निज सम्भोग केवल ।
कृष्णसुख तात्पर्य्य मात्र प्रेमत प्रबल ॥

चैतन्य चरित्रामृत ।

इसका तात्पर्य्य यह है, कि "अपनी इन्द्रियोंकी परितृप्तिके लिये जो काम किया जाता है, उसे काम कहते हैं एवं कृष्ण यानी ईश्वरेन्द्रियकी परितृप्तिके लिये जो कुछ किया जाता है, उसे प्रेम कहते हैं।" सब काम अपने सम्भोगमें न लाकर कृष्ण-सुख-तात्पर्य्यमें उसको प्रयोग करनेसे उसके लिये फिर फल भोग न करना पड़ेगा। किसीको दूसरेका उपकार करनेसे आनन्द होता है, इसलिये वह परोपकारी कहलाता है ; किसीको गरीबोंको भोजन करानेसे सुख होता है, इसलिये वह दाता बन जाता है ; इसी प्रकार किसीको खूब नाम और यश मिलनेसे ही सुख होता है, इसीलिये वह याग-यज्ञ व्रत-उपवासादि किया करता है ; किन्तु इनमेंसे किसीका भी कार्य्य मतलबसे खाली नहीं है ; सभीकी जड़में अपनी इन्द्रिय वाली प्रीतिकी इच्छा भरी हुई है। क्योंकि ऐसा करनेसे हमें सुख होता है, इसलिये हम ये सब काम करते हैं। किन्तु भगवान् तो सर्व भूतोंके हृदयमें अधिष्ठित हैं ; उन्हींकी प्रीतिके लिये हम सब काम करते एवं उनकी सेवामें आनन्द पाते हैं, इसीसे मानों हम उन्हें सुख देनेके लिये सब काम करते हैं। वे जब रूप (सौन्दर्य्य) को पसन्द करते हैं, तो हम रूपका ही उत्कर्ष साधन क्यों न करें ? उन्हें चन्दन या चोया

अच्छा लगता है, तो हम लेवेण्डर या युडीकोलन व्यवहार क्यों न करें ? वे फूलोंकी माला पसन्द करते हैं, तो हमारे चेन (जञ्जीर) और अंगूठी पहननेमें दोष क्या है ? उनका आनन्द ही तो हमारा आनन्द है ! धनी, दरिद्र, पण्डित, मूर्ख, काने, कुबड़े, रोगी, भोगी— इनका उपकार करनेसे इन्हें जो आनन्द होता है, उस आनन्दका प्रतिघात ही तो हमारा भी आनन्द है ! तब फिर अलग आनन्द और क्या हो सकता है ? इसीका नाम ही तो ईश्वरानन्द है ! भगवान् को सौन्दर्य्य उपभोग कराके, भगवान्की सेवा करके, आनन्दका जो पूर्णतम भाव है, उसे ही प्रेम कहते हैं। धर्म्म जगत्के एक श्रेष्ट महाजनने लिखा है, कि:—

आर एक अद्भुत गोपी-भावेर स्वभाव।
बुद्धिर गोचर नहे याहार प्रभाव ॥

गोपीगण करे यबे कृष्ण दरशन्।
सुख वाञ्छा नाहीं सुख हय कोटि गुण ॥

गोपिका दर्शने कृष्णेर ये आनन्द हय।
ताहा हते कोटि गुण गोपी आस्वादय ॥

ताँ सबार नाहि निज-सुख अनुरोध।
तथापि बाड़ये सुख पड़िल विरोध ॥

ए विरोधेर एक एई देखि समाधान।
गोपिकार सुख कृष्ण सुखे पर्य्यवसान ॥

चैतन्य चरित्रामृत।

इसका तात्पर्य्य यह है, कि "गोपियाँ कृष्णके दर्शनसे सुख नहीं चाहतीं, किन्तु फिर भी उनके हृदयमें कोटि गुण सुखका उदय होता है। बड़ी ही मुश्किलकी बात है! इसका भाव अनुभव करना पण्डितोंकी बुद्धिके वशकी बात नहीं है। गोपिगणको देखकर कृष्णको जो आनन्द होता है, उससे गोपियोंको करोड़ गुणा ज्यादा आनन्द होता है। क्यों?—गोपियोंका सुख कृष्णके सुखमें समाया हुआ है। कृष्णको सुखी हुवा देख कर गोपियोंको सुख होता है; अर्थात् उन लोगोंका अपनी इन्द्रियोंका सुख नहीं है, कृष्णका सुख ही उनका सुख है।" आह! हा!! क्या ही मधुर भाव है!!! इसीलिये तो गोपी-भाव श्रेष्ठ है! कितने ही अल्पमति, ज्ञान-शून्य व्यक्ति इस निर्म्मल भावको अनुभव करनेमें असमर्थ हो, बुरे तौरसे इसकी आलोचना किया करते हैं।

इसीसे कहता हूँ, कि हमें कृष्णमय सर्वभूतोंके सुखसे ही सुखी होना पड़ेगा। मैंने अच्छा काम किया है, केवल इसीसे आनन्दित होनेसे काम न चलेगा; बल्कि यह सोचना होगा, कि मेरे कामसे विश्वरूप भगवानको सुख हुआ है, इसीमें मेरा भी सुख है। स्त्री—पुत्रकी, वंशकी या देशकी और समाजकी सेवा करनेसे उन्हें जो आनन्द पहुँचता है; वही हमारा भी आनन्द है। सारे भूतकी—सारे विश्वकी प्रीतिवाली इच्छाका साधन ही प्रेम है। भोजन, बल-संग्रह, सौन्दर्य्य-संरक्षण, वसन-भूषण परिधान, सभी विश्वके सर्वभूतके प्रयोजनके लिये है। जब जिस काममें जो लगेगा, तब उसको उसी काममें लगाना पड़ेगा। हमें वे सभी काम करने होंगे,

नहीं तो सब भूतोंका काम कैसे होगा? विश्वके काममें उपयोग करनेके लिये ही तो देहका इतना यत्न करना पड़ता है। लेकिन, यदि आसक्तिकी छाया छू गई, तो फिर प्रेम दुर्लभ हो जायगा। क्योंकि आसक्ति ही काम है।

अतएव फलकी आशा परित्याग करके भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये जो काम किया जाता है, वही श्रेष्ठ है। पुत्र-कलत्र कहिये, या विषय विभव कहिये अथवा दान-ध्यान या याग-यज्ञ कहिये, सभी भगवान्‌का है, मेरा तो कुछ भी नहीं है। जैसे नौकर मालिकके संसारमें रह कर सब कुछ काम करता है, किन्तु उसका फल उसके लिये कुछ भी नहीं है, यह सब उसके स्वामीके लिये है; ठीक वैसे ही हम लोग भी भगवान्‌के इस विराट घरके किसी एक कोनेमें रह कर उनका ही काम कर रहे हैं। इसमें हमारे लिये शोक-दुःख, अच्छे या बुरे अथवा आनन्द या निरानन्दकी क्या बात है?

इस तरह निर्लिप्त भावसे काम करना सीखनेसे फिर आसक्तिका धब्बा न लगेगा। किन्तु एक तृणमें भी यदि आसक्ति रही तो, उसके लिये फिर कितने जन्म चक्कर खाना पड़ेगा—इसे कौन जानता है? सर्वस्वत्यागी परमयोगी राजा भरतको ससागरा वसुन्धराकी माया छोड़कर भी तुच्छ हरिणके बच्चेकी आसक्तिमें कितनी बार जन्म लेना पड़ा था! इसीसे तो कहता हूँ कि इन्द्रिय द्वारा काम करो, किन्तु उनसे व्याकुलता पैदा न होने पावे—प्राणमें वासना-कामनाका दाग न लगे। पहले ही सोच विचार कर, व्याकुल न होकर, जब जो काम आ जावे, धैर्य्यके साथ उसे सम्पन्न करना

चाहिये। जीवकी चिन्ता निष्फल है, सुतरां वृथा चिन्ता या आशाका हार (माला) न पिरो कर परमपिताके चरणकमलोंमें चित्त समर्पण-पूर्वक सामने आया हुआ काम करते जाओ।

या चिन्ता भुवि पुत्र-पौत्र-भरण-व्यापार-सम्भाषणे।
या चिन्ता धन-धान्य-भोग-यशसां लाभे सदा जायते।
मा चिन्ता यदि-नन्द-नन्दन-पद-द्वन्द्वारविन्दे क्षणं।
का चिन्ता यमराज-भीम-सदन-द्वारप्रयाणे प्रभो॥

अर्थात्—इस संसारमें आकर अपनेको भूल, पुत्र-पौत्रादिके भरण, पोषण और सम्भाषणकी हम जितनी चिन्ता करते हैं, धन-धान्य-भोग-यश प्रभृति पानेके लिये जितने चिन्तातुर होते हैं, उतनी ही चिन्ता यदि क्षणकालके लिये भी नन्द-नन्दन श्रीकृष्णके पद-युगलारविन्दके चिन्तनकी करें, तो यमराजके भीम भवनके द्वारपर पहुँचनेमें क्या कुछ भी डर मालूम पड़ सकता है? अतएव वृथा चिन्ता या दुराशाके दास न बन कर फलाफल भगवान्को अर्पण करके अवश्य कर्तव्य करते जाओ। साधकाग्रगण्य श्रीतुलसीदासजी अपने मनको सम्बोधन कर कहते हैं, कि:—

तुलसी ऐसो ध्यान धर, जैसे ब्यानी गाय।
मुखतें तृण चारा चुगे, चित् बछराके मायँ॥

अर्थात्—"हे तुलसी! ऐसा ध्यान धरो, जैसा ब्याई हुई गाय, मुंहसे तृण, दाना खाती है, किन्तु चित्त बछड़ेकी ओर लगाये रखती है; ठीक वैसे ही संसारका काम करो, किन्तु चित्त भगवान्को अर्पण करके रखो।"

और भी एक बात यह है कि हमें सदा-सर्वदा सब अवस्थामें यह स्मरण रखना चाहिये, कि "मुझे मरना होगा।" हमारे मस्तक पर यमका भीमदण्ड बराबर घूम रहा है। किस पलमें मौतकी दुन्दुभि बज उठेगी इसका कोई निश्चय नहीं है। कब किस अज्ञात प्रदेशसे अचानक आकर वह हमे ग्रास करेगा—कौन जानता है? अतः कोई भी भला बुरा काम करनेसे पहले "मुझे एक दिन मरना पड़ेगा," यह सोचकर उसमें हाथ डालना चाहिये। मौतकी बात मनमें दृढ़ होजानेसे फिर मर्त्यजगत्में मदन-मरणके अभिनयपर मन आगे नहीं बढ़ने पावेगा।

मृत्यु ही जगत्पिता जगदीश्वरकी परम कारुणिक व्यवस्था है। मृत्युका नियम ठीक न रहनेसे निःसन्देह संसार अत्यन्त अशान्तिका घर बन जाता और धर्म्म-कर्म्मका मर्म्म कोई भी हृदयमें नहीं लाता। सतीके सतीत्व, दुर्बलके धन और निर्धनके मानकी रक्षा करना कठिन होजाता। मानव मृत्युके डरसे परकालकी बात सोच कर ही धर्म्मका अनुष्ठान करता है। नहीं तो वह स्वेच्छाचारी बनकर अपने अपने बलवीर्य्य एवं धन-सम्पदके गौरवसे निराश्रित दुर्बलोंको पैर तले कुचल डालता। दुर्बल और दरिद्र लोग प्रबलके अत्याचार-उत्पीड़नसे अस्तव्यस्त होकर आँखोंके आंसुओंसे गण्ड धोते हुए अपना दुःख हल्का करते और तब गालपर प्रचण्ड चपेटाघात (थप्पड़) लगा कर अदृष्टको धिक्कार या अदृष्ट-पूर्वविधिके विषम विधानकी निन्दा करते। मृत्यु है, इसीलिये तो हमारा मनुष्यत्व कायम रहा है। इस परिवर्त्तनशील (बदल जाने वाले) जगत्में तो

सभी अनिश्चित है, किसी विषयकी स्थिरता और निश्चित दशा नहीं है ; लेकिन मृत्यु निश्चित है। छाया जैसे चीज़ोंके पीछे चलती है, ठीक वैसे ही मृत्यु भी देहकी साथी बनी रहती है। श्रीश्रीमद्भागवत्‌में लिखा है, कि:—

अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः।

आज हो वा कल हो या दो, दस अथवा सौ वर्ष पीछे हो, किन्तु एक दिन सभीको उस सर्वग्रासी (सबको खानेवाले) शमन-सदनमें जाना अवश्य पड़ेगा। अगणित सैन्यसे घिरे हुए एवं शस्त्रादिसे भूषित लोक-संहार-कारी सम्राट (राजाधिराज) से लेकर वृक्षतलवासी फटी कंथा बिछानेवाले भिक्षुक तक सभीको एकदिन मौतके मुंहमें जाना होगा। मृत्यु अनिवार्य्य है। मृत्यु उम्रकी राह नहीं देखता, सांसारिक कार्यसम्पादनकी असम्पूर्णता भी नहीं सोचता; मौतको कोई माया या ममता (आदर-यत्न) नहीं है, कालाकालका विचार भी नहीं है; मौत किसीका भी अनुरोध-उपरोध नहीं सुनती है—वह किसीकी भी सुविधा या असुविधा नहीं देखती है ; किसीका भी सुख-दुःख नहीं समझती है, किसीका भला-बुरा भी वह नहीं सोचती है, किसीकी पूजा-अर्चना भी नहीं मानती है ; किसीके संतोष या रोष अथवा प्रलोभन पर भी नहीं भूलती है, किसीके रूप-गुण या कुल-मानको भी नहीं मानती और न किसीके धन-दौलत या गौरव पर ही दृष्टि डालती है। कितने ही दोर्दण्ड और प्रतापशाली महारथियोंने इस भारतमें जन्म लेकर अपने-अपने बल वीर्य्यसे ससागरा बसुन्धराको हिला दिया, किन्तु आज उनमेंसे कोई भी

जीता नहीं है, सबके सब कराल मृत्युके मुंहमें चले गये हैं। वास्तव में मानवकी ऐसी कोई शक्ति ही नहीं है, कि जिससे भयानक मौतकी राह रोकी जा सकती है। शारीरिक बलवीर्य्य, धन, जन, सम्पद, मान, गौरव, दौर्दण्ड-प्रताप, प्रभुत्व प्रभृति सर्व गर्व मृत्युके सामने हट जायेंगे। इस मौतकी बात समझकर ही महादस्यु (बड़े भारी डाकू) रत्नाकरजी सब कुछ छोड़-छाड़ धर्म्म जगतमें महाजन (वाल्मीक) बन गये थे। श्मशानमें शव जलाने जाकर इस नश्वर देहका परिणाम देख, क्षण कालके लिये अनेकोंके मनमें श्मशान-वैराग्य उदय हो जाता है।

इसीलिये कहता हूँ, कि सदा सर्वदा मृत्युकी चिन्ता जाग्रत रख कर काम करनेसे हृदयमें पापकी इच्छाका उदय ही नहीं होगा और न दुर्बल पर अत्याचार करनेके लिये ही चित्त छट-पटायगा; विषय-विभव (धन दौलत), आत्मीय स्वजनकी माया सैकड़ों हाथ बना करके भी आसक्तिकी जञ्जीरमें न बाँध सकेगी। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये, कि हमारे जैसे कितने ही महाशय इस संसारमें आये और उन्होंने इन धन-ऐश्वर्य्य, इस घर-द्वारको "हमारा" "हमारा" कहकर पुकारा था; हमारी तरह स्त्री-पुत्र, कन्याओंको स्नेहके हजारों बाहु-सृजन करके छातीमें चिपटा लिया था—किन्तु अब वे कहाँ हैं? जिस अज्ञात देशसे वे आये थे, उसी अज्ञात देशमें वे फिर चले गये। इसलिये स्मरण रखना चाहिये, कि धन-सम्पदका अहंकार, बल-विक्रमका अहंकार, रूप-यौवनका अहंकार, विद्या बुद्धिका अहंकार, कुल-मानका अहंकार सब वृथा है। एक दिन सारे अहंकार—यहाँ

तक कि अहंकारका अहंकार भी चूर चूर हो जायगा। अतः स्मरण रखना चाहिये, कि भले ही आज मैं पार्थिव (दुनियाका) पदार्थके (विषय) अहंकारमें मतवाला होकर एक निराश्रय दुर्बलपर पदाघात कर रहा हूँ ; किन्तु एक दिन ऐसा अवश्य आवेगा, कि जब मुझे श्मशानमें शवाकारमें सोना होगा और तब शृगाल-कुत्ते मेरे शव पर पदाघात (ठोकर लगाना) करेंगे, भूत-प्रेत उसकी छातीपर चढ़कर छमाछम नाचेंगे और उस दिन चुपचाप ये सब बातें सहन करनी पड़ेंगी। इस तरह सोच-विचार करनेसे ही धीरे धीरे पार्थिव (दुनिया) विषयोंकी असारता हृदयङ्गम होगी और तब आसक्तिकी गांठें ढीली हो जायेंगी।

आजकल कितने ही लोग शिक्षाके दोष या संसर्गके गुणसे अथवा उम्रकी चञ्चलताके कारण परकाल और कर्म्मगुणके विषयमें जन्म-कर्म्म-अदृष्ट (भाग्य) को स्वीकार नहीं करते ; लेकिन अन्तमें किसी दिन उन्हें यह बात अवश्य ही स्वीकार करनी होगी। स्वीकार न करने पर भी जीवन चिरकालके लिये नहीं है ; एक दिन मरना तो होगा ही, धन-जन-गृह-राजत्व परित्याग कर चल देना पड़ेगा ही। तब, भला दो दिनके लिये इतनी माया क्यों ? वृथा आसक्ति क्यों ? मृत्युकी चिन्तासे, उसी सुदूर अतीतकी सुस्थूल-यवनिकाके अन्तराल में यानी सुदूर अतीतके मोटे परदेके पीछे दृष्टि डालने पर तत्त्वज्ञानका उदय होगा। पाठक ! मैं भी जबतक मृत्युकी गोदमें न गिरूंगा, तबतक मृत्युकी चिन्ता सदा जाग्रत रखूंगा ; इसीलिये मौतके महाक्षेत्र-महाश्मशानमें मेरा वास स्थान है, मानवास्थिकी दग्धावशेष

चिताभस्म मेरे अंगका भूषण है, नरकपाल (मानवकी खोपड़ी) मेरा जलपात्र है, मैं मरणपथका पथिक हूँ; रात दिन मरणकी गोदमें बैठा हुआ हूँ।

सिद्ध योगिगण उपदेश देते हैं, कि दूसरेका सुख, दुःख, पाप और पुण्य देखनेसे यथाक्रम मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा करना चाहिये। अर्थात् दूसरेको सुखी देखनेसे सुखी होना और ईर्षा नहीं करना चाहिये। दूसरेके सुखमें सुखी होनेका अभ्यास डालनेसे तुम्हारा ईर्षानल (हिंसारूप अग्नि) शीघ्र वुझ जायगा। तुम जैसे सदा आत्म-दुःख हटानेकी इच्छा रखते हो, ठीक वैसी ही इच्छा तुम्हें दूसरेको दुखी देखने पर भी करनी चाहिये। अपने पुण्य या शुभानुष्ठानसे जैसे तुम्हें संतोष होता है, दूसरेके पुण्य या शुभानुष्ठानसे भी वैसे ही प्रसन्न होना चाहिये। दूसरेके पाप देखकर झगड़ा या घृणा न करना और भला या वुरा किसी भी प्रकारका आन्दोलन न करना चाहिये। सर्वतोभावसे उदासीन रहना चाहिये। इस तरह चलनेसे हमारे चित्तका अमर्षमल (गाढ़ा-मैल) दूर हो जायगा। इसी प्रकार चित्तकी सारी वृत्तिका भी अनुशीलन करना चाहिये; क्योंकि वास्तवमें हरएक असत्-वृत्तिके वदले सद्वृत्तिका अनुशीलन करनेसे धीरे धीरे चित्तका मैल दूर हो जायगा। क्रोधके वदले दया, कामके वदले भक्ति,- इसी तरह हरएक राजस और तामस वृत्तिके बदले सात्त्विक वृत्तियोंका उदय करते करते चित्त धीरे धीरे निर्म्मल (मैलशून्य) होकर अच्छी तरहसे एकाग्रता-शक्ति-सम्पन्न होगा। जिसका चित्त जितना निर्म्मल है, भगवान् भी उसके उतने ही

नजदीक है ; इसी प्रकार जिसका चित्त जितना ही पाप-तमसाच्छन्न है, वह भगवान्‌से उतना ही दूर है। और भी एक बात यह है, कि पोष्यवर्ग (बालबच्चे आदि) को पालनेके लिये उद्योगी बनो। जहां तक हो सके, यत्न और चेष्टा करो ; लेकिन, इसीलिये हमें कभी भी पापमें लिप्त नहीं होना चाहिये। असत् पथमें रहकर रुपये कमानेसे उसका फल भी हमें ही भोगना पड़ेगा, दूसरा कोई भी उस पापमें हिस्सा नहीं बटावेगा। पोष्यवर्ग समाजके योग्य उपयोगी भोजन या परिच्छद (धोती कपड़ा आदि) प्रभृति न पानेसे अवश्य ही मुंह बिगाड़ेंगे, यह बात सत्य है, किन्तु इसके लिये हम क्या कर सकते हैं ?

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म्म शुभाशुभम्। स्मृति।

कृत-कर्म्म शुभ या अशुभ जैसा भी हो,अवश्य ही उसका फल हमें भोगना पड़ेगा। इसी प्रकार पोष्यवर्गमें जो जैसा भाग्य ले आया है, वह भी वैसा ही फल भोग करेगा—और हजार कोशिश करने पर भी हम उसे पलट न सकेंगे। तब व्यर्थके लिये क्यों अहंकारकी आग छाती पर रख दौड़ धूप करते हुए जन्मभर परिताप का संग्रह किया करते हैं ? असत् उपायसे रुपया कमाकर वासनाकी आगमें हम क्यों जलें ? थोड़े दिनके लिये जन्म-जन्मान्तरके कष्टोंकी आग सुलगाकर आसक्तिके दानवी निःश्वासमें हम क्यों जलें ? इसी प्रकार यदि हम पुत्र या कान्याके मलिन मुख न देख सकें, तो फिर त्यागी कैसे होंगे ? लेकिन किसी प्रकारका काम न करते हुए भी काममें संसिद्धि लाभकी आशा करना केवल जड़का

लक्षण है ! इसी प्रकार हमें इस प्रतिज्ञा पर भी दृढ़ रहना चाहिये कि, मैं भूलकर भी असत् पथमें नहीं जाऊंगा—न किसीके चित्तको कष्ट ही पहुँचाऊंगा। सत्पथमें रहकर जिस भावसे चले सो चलने दो। वृक्षके फल और नदीके जल—इन दोनोंका तो फिर अभाव ही न होगा। इसीलिए सबको ही भगवान् पर आत्मनिर्भर करनेकी शिक्षा लेनी चाहिये। क्योंकि, वे किसीको भूखा नहीं रखते हैं। हमारे जन्म लेनेसे कितने ही पहले भगवान् माँकी छातीमें स्तन बना रखते हैं, जन्मसे ही उसी स्तनको पीकर हम मोटे-ताजे होते हैं। जिनकी ऐसी सुन्दर व्यवस्था है और जिनकी ऐसी सुन्दर शृङ्खला (कायदा) है, जिनकी ऐसी अहैतुकी दया है, हम उन्हींको तथा उनके कामके नियमादि भूलकर क्यों छटपटाएँ और दौड़ धूप करके मरें ?

अन्तमें एक बात और कहकर मैं इस विषयका उपसंहार (अन्त) करता हूं। वह यह कि, जिससे जगज्जीव अत्यन्त आकृष्ट (खिंच) हो रहे हैं, वह रमणीका मोहिनी मोह है। इसलिए योग-साधन करते समय सबको ही—

ऊर्ध्वरेता

होना उचित है। योगाभ्यासके समय स्त्री-संगमादि किसी भी कारणसे शुक्र (वीर्य्य) नष्ट होनेपर आत्मक्षय होता है।

यथा :—

यदि सङ्गं करोत्येव विन्दुस्तस्य विनश्यति ।
आत्मक्षयो बिन्दुहीनादसामर्थ्यञ्च जायते ॥

दत्तात्रेय ।

यदि स्त्री-संग करे तो विन्दु (वीर्य्य) नष्ट होता है ; और विन्दुनाश होनेसे आत्मक्षय होता है एवं शक्ति भी चली जाती है । अतएव—

तस्मात् सर्वं प्रयत्नेन रक्ष्यो बिन्दुर्हि योगिना ।

दत्तात्रेय ,

योगाभ्यास करने वालोंको यत्नके साथ विन्दु (वीर्य्य) की रक्षा करनी चाहिये । शुक्र (वीर्य्य) नष्ट होनेसे ओजः धातु बिगड़ जाता है, क्योंकि वीर्य्य ही ओजः स्वरूप अष्टम धातुके आश्रयका स्थान है । वीर्य्य ही ब्रह्मतेज कहकर कथित होता है । इसका अभाव होनेपर मानवका सौन्दर्य, शारीरिक बल, इन्द्रियोंकी स्फूर्त्ति, स्मरण शक्ति, बुद्धि, धारणा-शक्ति आदि सभी कुछ नष्ट हो जाते हैं । वीर्य्य नष्ट होनेसे यक्ष्मा, प्रमेह, अशक्ति (कमजोरी) आदि नाना प्रकारके रोग उत्पन्न होकर अकालमें ही कालके गालमें चला जाना पड़ता है । अथवा जब अस्वाभाविक आलस्य पैदा होकर सब कामोंमें उदासीनता उत्पन्न कर देगा, तब जड़की तरह जीवन व्यतीत करना पड़ेगा । इसीलिये सबको ही अत्यन्त यत्नके साथ वीर्य्यरक्षा करना चाहिये । लेकिन यह बड़ी ही कठिन बात है, कि :—

पीत्वा मोहमयीं प्रमोदमदिरामुन्मत्तभूतं जगत् ।

भर्तृहरि ।

मोहमयी प्रमोदरूप मदिरा पीकर यह अनन्त जगत् उन्मत्त (पागल-सा) हो रहा है। कोई भी जीव हो, उसके पुरुषवर्गको उसकी स्त्रीजातिने अपने मोहाकर्षणसे खींच रखा है। सभी रिपु (इन्द्रियों) की उत्तेजनाके कारण अज्ञानताके दबावसे नरककी आगमें कूद रहे हैं। विद्यालयके बालकसे लेकर वृद्धे व्यक्ति तक सभी मानव मुहुर्त्तमात्र सुखके लिये वीर्य्य-क्षय करके जीवनका सुख नाश करते हुए वज्रदग्ध (बिजलीसे जले हुए) पेड़की भाँति विचरण कर रहे हैं ! उनकी पैदा की हुई सन्तानें उनसे भी अधिक निर्वीर्य्य होकर जन्म-ग्रहण करके दुर्ज्जय (भयंकर) बीमारियोंसे आक्रान्त हो संसारको अशान्तिका घर बनाती जा रही हैं। इसी तरह निकृष्ट (खराब) वृत्तिके वशमें होनेसे नरनारियोंके हृदयकी वृत्ति भी एकदम ही बिगड़ जाती है ; किसी भी वस्तुका वास्तविक ज्ञान भी उन्हें नहीं रहता है। सिर्फ हमलोग ही ऐसे नहीं हैं, देवतागण भी प्रमोदकी मदिरामें उन्मत्त (पागल) हो रहे हैं ; जैसा कि महामुनि दत्तात्रेयजीने प्रकाश किया है :—

भगेन चर्म्मकुण्डेन दुर्गन्धेन व्रणेन च।
खण्डितं हि जगत् सर्वं सदेवासुरमानुषम् ॥

अवधूतगीता ८।१६।

तब इस आकर्षणसे उद्धार (छुटकारा) पा लेनेका उपाय क्या है ? यही कि, अभ्यास और संयमसे सब कुछ सिद्ध हो सकता है। तत्त्वज्ञान एवं संयमके अभ्याससे हृदयमें यह धारणा दृढ़ करनी होगी, कि जो नरकका कारण है—जो रोगोंका कारण है—जो

आत्माकी अवनतिका कारण है—उस कामको हम क्यों करें? जिसके लिए कर्त्तव्य-पथसे विचलित होना पड़े, वह स्त्री क्या है!

कौटिल्यदम्भसंयुक्ता सत्यशौचविवर्ज्जिता।
केनापि निर्म्मिता नारी बन्धनं सर्वदेहिनाम्।

अवधूत गीता ८।१४

अतएव विचार करना चाहिये, कि—क्या देखकर हम प्यारके मारे छटपटाते हैं और किसके लिये ऐसी पाशव-वासनाकी आग सुलगाते हैं?—केवल दैहिक सौन्दर्य्यके लिये! किन्तु देह क्या है? केवल पञ्चमहाभूतकी एकीभूत (इकट्ठा) अवस्थाके अतिरिक्त और क्या है? तब जिसका विकाश (प्रकाश) समस्त जगत्में फैला हुआ है—जो विश्वकी समस्त वस्तुओंमें विद्यमान है, उसके लिये एक निर्द्दिष्ट स्थानपर ही आकर्षण क्यों? विशेषतः रूप-यौवन कितने मुहुर्त्तके लिये है? वह बाल्यावस्थामें क्या था—यौवनमें क्या हुआ और फिर प्रौढ़वार्द्धक्यमें ही क्या हो जायगा?—ऐसे परिवर्त्तनशील देहका परिणाम क्या है, इस बातका विचार करके देखना चाहिये। वह वृद्धा जो जीर्ण-शीर्ण अवस्थामें मौतकी खाटपर सो रही है, किसी दिन वह अवश्य ही युवती थी; किन्तु अब किस दशामें है? इसी प्रकार यौवनमें भी जब रोग उत्पन्न होकर इस सुन्दर देहको सड़ा-गला कर प्रेतसे भी खराब बना सकते हैं, तब इसके लिये इतनी आसक्ति क्यों? इसलिये सदैव स्मरण रखो कि:—

मगादि कुच पर्य्यंतं संविद्धि नरकार्णवम्।
ये रमन्ते पुनस्तत्र तरन्ति नरकं कथम्॥ *

अवधूत गीता ८।१७

दूसरी और भी एक बात यह है, कि—स्त्री-सहवाससे आनन्द मिलता है, इसे मैं स्वीकार करता हूँ; लेकिन तत्त्व विचार करके देखना चाहिये, कि वह आनन्द किसके पास रहता है? ब्रह्मवस्तु वीर्य्य जब हमारे पास है, तभी तो आनन्द प्राप्त होता है, नहीं तो रमणीके देहमें तो कुछ भी नहीं है। बालकगण रमणीके रमणीय देहको देखकर मुग्ध न होते हुए माताकी गोदमें रहनेकी क्यों इच्छा

---

* इन कई श्लोकोंके लिये ब्रह्मज्ञानमें प्रतिष्ठित महात्मागण और जगन्माता की अंशभूता भारतीय माताएँ लेखकको क्षमा करें। गुरुकी कृपासे इस तरहका ज्ञान मेरे हृदयमें संबद्ध नहीं है। मैं जानता हूँ, कि स्त्री और पुरुष चैतन्यका ही विकाश है—आधार और गुणके भेदसे ये भिन्न-भिन्न देख पड़ते हैं। सुतरां, इस तरहका विचार मैं अन्याय समझता हूँ। मैं जानता हूँ कि :—

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स लक्ष्यते॥

श्वेताश्वतरोपनिषत् ।५ अः।

अतएव हि योगीन्द्रः स्त्रीपुंभेदं न मन्यते।
सर्वं ब्रह्ममयं ब्रह्मन् शश्वत् पश्यति नारद॥

ब्रह्मवैवर्त्त पुराण, प्रकृतिखण्ड ।१ अः।

सारांश : मैं स्त्री और पुरुषके बीच कोई भिन्न भाव नहीं समझता।

रखते हैं ? हिजड़ों (नपुंसक) के लिये तो बाला, युवती, वृद्धा सभी समान हैं। एक दृष्टान्त देकर इस बातको समझाये देता हूँ।

गांवके रहनेवाले सम्भवतः इस बातको देखते रहे होंगे, कि गांवके पालतू कुत्ते गांवमें खानेको न पाने पर चमढ़ौघेमें जाकर बहुत पुरानी गायकी हड्डी संग्रह कर लाते हैं और किसी निर्ज्जन स्थानमें बैठ कर वही सूखी और निरस हड्डियाँ भूखके मारे चबाते रहते हैं। लेकिन उन हड्डियोंमें क्या रखा है ? फलतः जब उन सूखी और कठोर (कड़ी) हड्डियोंकी चोटसे कुत्तेका मुंह चिथड़ा हो जाने पर खून निकलने लगता है और अपना खून जिह्वामें लगनेसे उसे स्वाद मालूम होता है, तब वह और भी यत्न एवं आग्रहके साथ उसी सूखी हड्डीको चबाने लगता है। इसके बाद जब उसके मुंहमें जलन पैदा होती है, तब वह समझता है कि मैं अपने खूनसे अपनी जिह्वाको तृप्त कर रहा हूँ। सुतरां तब हड्डीको फेंक कर वह दूसरी वस्तुकी प्राप्तिके लिये चल देता है। हम लोग भी ठीक इसी तरह वास्तविक आनन्द देने वाली वस्तुको जो कि अपने देहके भीतर भरी हुई है; उसे समझ न सकनेके कारण रमणीके सौन्दर्य्य पर मतवाले होकर मुहुर्त्त भरके आनन्दके लिये उस आनन्द-प्रद वस्तुका नाश कर रहे हैं। सुखकी आशासे दौड़ कर अन्तमें प्राणभरा अनुताप लेकर लौट आते हैं। किन्तु सुख जो कि हमारे ही पास है, उसे उपलब्ध नहीं कर सकते ! पतङ्गकी तरह रूपकी आगमें फांद कर हम जल रहे हैं। किन्तु जो चीज देहसे निकलते समय क्षणकालके लिये अनिर्वचनीय (अनोखा) आनन्द दे जाती है, हम नहीं जानते कि उसकी विशेष यत्नके साथ

देहमें रक्षा करनेसे कितने अनुभवनीय आनन्दकी प्राप्ति हो सकती है। अर्थात् हम ऐसे अज्ञ हैं, कि उसी पदार्थको वृथा नाश करनेके लिये अपने जीवन और मन दोनोंका उत्सर्ग कर रहे हैं।

इस तरह तत्त्वज्ञानसे मनको दृढ़ करके जो ऊर्ध्वरेता हो गये हैं, वही असलमें मानवके नामसे देवता हैं। भगवान् महादेवने कहा है—

न तपस्तप इत्याहु र्ब्रह्मचर्य्यं तपोत्तमम्।
ऊर्ध्वरेता भवेद्यस्तु स देवो न तु मानुषः॥

ब्रह्मचर्य्य अर्थात् वीर्य्य धारण ही सबसे बड़ी और उत्कृष्ट तपस्या है। जो लोग इस तपस्यामें सिद्धिलाभ करके ऊर्ध्वरेता बन गये हैं, वही मनुष्यके रूपमें असली देवता हैं। जो ऊर्ध्वरेता हैं, मृत्यु उनके लिये इच्छाधीन है, वीरत्व उनके हाथका खेल है। वीर्य्यके ऊर्द्धगमनसे अतुल आनन्द लाभ करता है। *

वीर्य्य धारण न करनेसे योग साधन करना केवल विड़म्बना मात्र होता है। सुतरां योगाभ्यास करने वालेको यत्नके साथ वीर्य्य-रक्षा करनी चाहिये।

---

* योगमें ऐसी भी क्रियाएँ हैं, जिनसे काम प्रवृत्तिकी निवृत्ति की जा सकती है और फिर वीर्य्य क्षय नहीं होने पाता। योग-शास्त्रमें वह कार्य अत्यन्त गोपनीय है। क्योंकि आनन्द देनेवाला कार्य होने पर भी उससे आसक्ति बढ़ती है। मैंने "ज्ञानीगुरु" पुस्तकमें उसका वर्णन किया है एवं मत्प्रणीत "ब्रह्मचर्य्य साधन" नामकी पुस्तकमें भी वीर्य्य धारणकी साधना और नियमावली प्रकाशित की गई है। मत्प्रणीत "प्रेमिक गुरु" पुस्तकमें इस विषयको और भी अधिक गभीर आलोचना की गई है।

योगिनस्तस्य सिद्धिः स्यात सततं बिन्दु धारणात्।

अर्थात् सतत बिन्दु यानी वीर्य्य धारण करनेसे ही योगियोंको सिद्धिलाभ होता है। वीर्य्य संचित होनेसे मस्तिष्कमें प्रबल शक्ति आ जाती है और इस महती शक्तिके सहारे एकाग्रताका साधन करना सहज हो जाता है। जिन्होंने विवाह कर लिया है, वह पूरे तौरसे ऊर्ध्वरेता नहीं बन सकेंगे। क्योंकि ऋतुरक्षा न करनेसे यानी रजस्वला होनेपर गर्भाधान न करनेसे शास्त्रके अनुसार पाप होता है। सुतरां पुत्रकी कामनासे, वंशकी रक्षाके लिये एवं भगवान्का सृष्टि-प्रवाह कायम रखनेके लिये योगकी राहमें चलनेवाला साधक, संयत चित्तसे हरेक महीनेमें केवल मात्र एक दिन अपनी स्त्री की ऋतु-रक्षा करे।

पहले कहे हुए नियमसे चित्त सुसयंत करके जो जिस किसी साधनमें लग जायगा, उसमें ही वह जल्दी सफलता प्राप्त कर सकेगा। अन्यथा पार्थिव (दुनियाकी) वस्तुओंकी आसक्तिसे हृदय पूर्ण करके आँख मूंदते हुए ईश्वरके ध्यानमें नियुक्त होनेसे उसे अंधेरेके सिवाय दूसरा कुछ भी न देख पड़ेगा। ब्रह्मज्ञान लाभ करना कोई सीधी बात नहीं है। जहाँ तहाँ बैठ कर ईश्वरचिन्तन तो कर सकते हो, किन्तु ब्रह्मज्ञान उससे भिन्न वस्तु है। त्याग ही इसका प्रधान कार्य्य है। त्यागकी साधना न करने पर ब्रह्म-चिन्तन निष्फल है।

इसलिये पहले कहे हुए तत्त्वके विचारसे आसक्ति न छोड़ सकने पर, केवल केश बढ़ाने एवं नाना प्रकारके रंगीन कपड़े पहनकर देश-

देशमें घूमनेसे कुछ फल नहीं निकलेगा। भवके (संसारके) भावमें न रहकर भावके भावमें डूबनेसे यानी संसारकी बातोंमें न फँसकर ईश्वरका ध्यान लगानेसे सभी कार्य सफल होते हैं। इस प्रकारकी भावनासे युक्त हो, घरमें बैठकर भी वनिता (स्त्री) और बेटाबेटी, साज-सामान, लोटा-लोटी (कटोरा) घरद्वार एवं विषयकी मायामें युक्त रहकर भी सच्चे तौरपर अगर कोई परिश्रम करे, तो उसका फल भी अच्छा ही निकलेगा। इस तीर्थसे उस तीर्थमें दौड़ने या संन्यासियोंके झुण्डमें मिलने अथवा ढोंगी साधुओंके चक्करमें भी न पड़ना होगा। प्रत्युत भस्म या मिट्टी लगानेसे—जटाजूट रखनेसे—रंगीन कपड़े पहननेसे—उपवास कर भूखों मरनेसे—संसारका धर्म्म छोड़नेसे—अनेक कर्म्म करनेसे—अनेक पथमें चलनेसे—अनेक शास्त्र ढूंढनेसे—अनेक बातें समझनेसे भी अन्तमें रम्भा (केला) न चूसना पड़ेगा।

केवल माला-झोला लेकर हरिबोला होनेसे—मिट्टी लगाकर चैतन-चोटी रख गोपी-वल्लभ बोल कर चिल्लानेसे—जटाजूट बांधे तथा भस्म लगा कर बम्-बम् बोलते हुए हमेशा गांजेकी चिलमका दम लगानेसे—काली काली कहकर गंगाकी रेतमें पड़ शराब पीनेसे—मदन-मोहनके चरण नहीं मिलते। निश्चय जानिये, कि ईश्वरका भजन केवल वनमें रहनेसे ही नहीं होता—किन्तु मनको वश करनेसे होता है, तीर्थवाससे नहीं होता, किन्तु घरमें रहनेसे भी हो सकता है, रोष (क्रोध) से रस नहीं मिलता है—काम रहनेसे राम नहीं मिलता है—लोभ रहनेसे क्षोभ (दुःख) होता है, अभिमान

रहनेसे अपरिमाण पाप होता है—पाप रहनेसे ताप होता है—कपट (छल) रहनेसे अपटुता होती है—माया रहनेसे काया नहीं छूटती है—वासना रहनेसे साधना नहीं होती—आशा रहनेसे प्यास (लालच) बढ़ती है—गौरवके ज्ञानसे रौरव नरक मिलता है—प्रतिष्ठाकी इच्छा रखनेसे इष्ट-चिन्तन नहीं होता है—गुरुत्व (अपने को बड़ा समझना) ज्ञानसे गुरु कृपा नहीं करते—गुरुको न पकड़नेसे बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है—वाञ्छा (इच्छा) रहनेसे वाञ्छा-कल्पतरु (भगवान्) को चाहना वृथा है—अहंके ज्ञानसे सोहं नहीं मिलता है। केवल भण्डामि (पाखंड-रचना) से सब पण्ड (नाश) हो जाता है अन्तमें दण्डधारीके प्रचण्ड प्रतापसे लण्ड-भण्ड (विताड़ित) होकर दण्डभोग करते करते आँखके आंसुओंसे गण्ड (गाल) धोना पड़ता है। अतएव यदि सच्चे मानव होनेकी इच्छा हो तो, मिट्टीकी इस देहका अभिमान मिट्टीमें मिलाकर—मिट्टी होकर—मिट्टी खाकर—मिट्टीमें मिलकर—काम करना चाहिये। ऐसा करनेसे ही सब सच्चा हो जायगा—मिट्टीकी देह भी सच्ची सोना हो जायगी। अन्ततः सीधे-साधे भावसे सब मिट्टी करके यदि मिट्टीके मानव नहीं हो सके तो साधन-भजन सब मिट्टी—मिट्टीका देह भी मिट्टी और सारा मानव-जीवन भी मिट्टी ही हो जायगा।

कितने ही ऐसे व्यक्ति हैं जो कहते हैं, कि संसारमें रह कर साधन-भजन नहीं बनता। क्यों ?—संसारी लोग धर्म्म वा साधन किंवा सद्गति लाभ नहीं कर सकते इसका कारण क्या है ? संसार तो भगवान्का ही है, तुम संसारका "सं" छोड़कर "सार" को ग्रहण

करो ; यानी "सार" को पकड़ो। दुराशाकी (दुश्चिन्ताके) असारमें डूब, असार रूपमें "सं" न सज़कर "सार" बनकर, असार संसारमें आशाका सुसार करो एवं संसारमें "सार" का प्रसार (विस्तार) कर उसीका पसार (दूकान) करो। केवल सांसारिक गोलमाल (झगड़ा) के बीच फँसकर घोर रोल (शब्द) से गण्ड-गोल (झगड़ा) न करके, गोलमालका "गोल" छोड़कर "माल" चुन लेनेसे सर्वदा सामाल-सामाल (हुसियार-हुसियार) करके भी सारे मानव-जीवनको पायमाल (नाश) करनेसे बचा लोगे। यही नहीं प्रत्युत, सारा-सारके सार भगवान्के सृष्ट संसारके सारमें सारी बन कर आशाका अधिक सुसार और अपार आनन्द भोग करोगे। इसी तरह कर्त्तव्यके ज्ञानमें कर्त्तव्य-कर्म्म सम्पादन-पूर्वक निष्कपट मनके साथ भगवान्को पुकारनेकी तरह पुकारनेसे एवं उसीकी तरह चिन्तन की तरह चिन्तन कर सकनेसे संसार-धर्म्म कायम रखकर भी हम परम गति लाभ कर सकते हैं।

कोई-कोई व्यक्ति फिर समयका भी बहाना किया करते हैं। उनका कहना कि "परिवारादिके पालनके लिये रुपया कमानेमें ही जब सारा दिन बीत जाता है, तब साधन-भजन कब कर सकते हैं ?" किन्तु यदि अर्थ कमाने और सांसारिक कार्य सम्पादन करनेमें ही सारा दिन बीत जाता है, प्रतिदिन रातमें जितनी देर तक हम निद्रा-सुखका उपभोग करते हैं, उसमेंसे एक घण्टा निद्रा कम करके, उसी घण्टे भर निश्चिन्त चित्तसे नित्य निरञ्जनकी अराधना करने पर भी आशातीत फल लाभ हो सकेगा। किसी-किसीको तो अर्थके

अभावके कारण परमार्थकी चिन्ता नहीं होती है। क्योंकि, अर्थ होनेसे वे सम्भवतः खूब चावल-केला, चीनी मिठाईका संग्रह कर रसमें डूबते ; रस द्वारा रोशनाई करते तथा रङ्ग चढ़ाकर बकरे या भैंसेका बलि देकर खूब धूमधामके साथ ताशा, ढोल बजाकर लोगों को रूआब दिखा सकते हैं ; यद्यपि अर्थकेअभावसे सिर्फ ये सब नहीं बन पड़ते हैं ; किन्तु पूजाका जितना सामान है, वह तो सभी उस भगवान्‌का ही है। सुतरां उसकी चीजें उसे ही देनेमें हमारी बहादुरी ही क्या है ? अतएव हमारे अर्थका प्रयोजन क्या है ? हम सर्वान्तःकरण-पूर्वक सर्व प्रकारसे चिन्मय चिन्तामणिके श्रीचरण-कमलोंमें चित्त समर्पण करके उसके भक्तकी-सी भाषामें—उसके भक्त जैसे प्रेम-करुण कण्ठसे पुकारकर कहते हैं :—

"रत्नाकर स्तव गृहं गृहिणी च पद्मा
देयं किमस्ति भवते पुरुषोत्तमाय।
आभीर-वाम-नयनाहृतमानसाय
दत्तं मनो यदुपते त्वमिदं गृहाण ॥"

हे यदुपति ! सब रत्नोंकी खानि समुद्र तुम्हारे रहनेका घर है, निखिल सम्पद्‌की अधिष्ठात्री देवी कमला तुम्हारी स्त्री है, तुम स्वयं ही पुरुषोत्तम हो, अतएव तुमको देनेके लिये मेरे पास क्या है ? सुन रहा हूँ, कि आभीर-तनया, वामनयना प्रेममयि रमणियोंने तुम्हारा मन हरणकर लिया है, यदि यथार्थमें ऐसा हुवा है, तो केवल तुम्हारे पास मनका अभाव है। अतएव मैं अपना मन तुमको समर्पण कर रहा हूँ—हे प्रेमवश्य गोपीवल्लभ ! तुम कृपा करके इसे ग्रहण

करो ! अब तो आपका झगड़ा-झंझट यानी सारी आपत्तियाँ निवृत्त हो गई। फल-स्वरूप—यह सब कुछ भी नहीं। क्योंकि मेरा विश्वास है कि, जिसका प्राण प्रेममयके श्रीचरणकमलको प्राप्त करनेके लिये व्याकुल होता है, उसे कोई भी सांसारिक झगड़े फँसा नहीं सकते हैं। देखिये, बालक प्रह्लाद् विष्णुद्वेषी पिताके पुत्र थे, वे पागल हाथीके पैरके नीचे दबे, गहरे समुद्रमें डूबे, हुताशनके तीव्र तेजमें जले एवं काले साँपके तीक्ष्ण दंशनसे पीड़ित होकर भी हरिनाम लेते रहे—कभी हरिनामको नहीं छोड़ते; किन्तु कितने ही पाखण्डी धर्म्म-समाजमें लालित-पालित एवं उपदेश प्राप्त होकर भी भगवान्के नाम उच्चारण करनेमें वृश्चिकदंशन (बिच्छू काटने) की तरह कष्ट अनुभव करते हैं। बुद्धदेवने तो अतुल साम्राज्य, अगणित वैभव, वृद्ध पितामाताका विमल-स्नेह, प्रेममयि पतिव्रता प्रणयिनी (स्त्री) का अनन्त प्रेम और शिशु-संतानके सुललित कण्ठकी तोतली बोली आदि समस्त धनोंकी उपेक्षा करके भी संन्यास ग्रहण किया था; किन्तु हम तो अनन्त प्रकारकी निराशाओंमें सड़कर भी टूटे-फूटे झोपड़ेकी मायाका परित्याग नहीं कर सकते ! कोई कोई ईश्वर-सृष्ट जगत्में केवल वाक्छल और अर्थ विन्यासका उपादान ढूंढ़ते हैं; कोई उसी जगत्में चिन्मयी महाशक्तिकी वैचित्रमयी लीलाएँ देखते हैं। कोलरिज साहब काव्य-ग्रन्थ पढ़कर कहते थे, कि—"Poetry has given me the habit of wishing to discover the **good** and the **beautiful** in all that meets and surrounds me." ऐसे ही दूसरे किसी एक प्रतिभा परायण

साहबने भी उसी काव्य-ग्रन्थको पढ़ करके कहा है, कि—"The end of Poetry is the elevation of the soul * * * the improvement and elevation of the moral and spiritual nature of man." इसका कारण क्या है? कहना वृथा है, कि इन्द्रिय-शक्तिके भिन्नाभिन्न फलसे ऐसा हो जाता है। जिसने जितनी प्रतिमा और चिन्ताशक्तिके साथ जन्मग्रहण किया है, उसके चित्तकी गति भी वैसी ही होगी। यह स्वतःसिद्ध बात है। अतएव नाना प्रकारके उज्र, वहाने निकालकर अपने अपने स्वभावको छिपाते हुए सर्वसाधारणकी आँखोंमें धूल झोंकनेसे अन्तमें आक्षेप ही सहन करने पड़ेंगे—इसमें कोई संदेह नहीं है।

अनेक फूलट्राकिङ्ग धारी फेशनेबल फूल-बाबू यह कहा करते हैं, कि "धर्म्म कर्म्म करनेकी जब उम्र होगी, तभी वह किया जायगा," और फिर शास्त्रकी बातोंमें अपनी बात मिलाते हुए मुक्तिके विषयमें विशेष पंडिताई प्रकाशित करते हैं। क्योंकि उन्हें विश्वास है, कि जबतक शक्ति रहे, तबतक संसारमें मदन-मरणका अभिनय करो यानि संसारका खूब आनन्द लूट लो, पीछे जब इन्द्रियोंके ढीली पड़ जाने पर ईश्वर भजनमें शरीर असमर्थ हो जायेगा, तब अक्षमता के लिये हरिनाममें मतवाले हो जायेंगे। किन्तु धर्म्मकी क्या कोई अवस्था बँधी हुई है? अथवा क्या मर्त्यजगत्में आते समय यम राजासे मौरूसी हक्का पट्टा प्राप्त हो जानेसे "पञ्चाशोर्द्धं वनं व्रजेत" के वचन पर विश्वास रखकर निश्चिन्त हो सकते हो? अरे! जबकि क्षणभरके बाद ही क्या होनेवाला है यह तक समझना लोक-

लोचनकी दृष्टिके बाहर है, तब पचास वर्षकी आशा तो सर्वथा ही दुराशा मात्र होनी चाहिये। इन्द्रियोंके ढीली पड़ जाने पर जब हम मामूली सांसारिक काम करनेमें भी असमर्थ हो जायँगे तब भला, उस अनन्तके अनन्त भावको कैसे धारण कर सकेंगे? सद्यो विकशित (ताजी खिली हुई) फूलकी कली जैसी सुगन्धि (खुशबू) देती है, बासी फूलमें वैसी खुशबू पाना बहुत दूरकी बात है। विशेषतः यौवनके न रुकनेवाले प्रभावसे चित्तके एक बार यथेच्छाचारी (मन-मानी) हो जाने पर, तो फिर उसे अपने वशमें लाना साध्यातीत (न बन सकने योग्य) हो जाता है। इस विषयमें एक कहानी यहाँ दी जाती है—

किसी एक व्यक्तिने आजीवन चोरी करके जीवन-यात्रा सम्पन्न की; लेकिन उसका लड़का अपने कर्म्मफलसे डिपुटि मजिष्ट्रेट बन गया। इस प्रकार जो भी लड़केकी यथेष्ट वेतनवाली नौकरी होनेसे उसके लिये संसारमें किसी भी बातका अभाव तो नहीं रह गया था; तथापि वह (चोर) अपनी वृत्तिको छोड़ न सका! फलतः सर्वसाधारण लोग सर्वदा इस विषयमें नाना प्रकारके आन्दोलन—आलोचना करने लगे। तब एक दिन चोरको उसके पुत्रने कहा, कि "पिताजी! आप क्या खाने-पहननेको नहीं पाते, जो आज भी चोरी करते हैं? आपके सबबसे मैं शर्मके मारे लोक समाजमें मुंह नहीं दिखा सकता।"

पुत्रकी इस धमकीसे उसके सामने चोरने स्वीकार किया, कि "अब मैं फिर कभी चोरी न करूँगा।"

उस दिनसे वह दूसरेकी कोई चीज चोरी करके अपने घर तो न लाता, किन्तु फिर भी एक व्यक्तिकी चीज दूसरेके घर, दूसरेकी चीज तीसरेके घर अवश्य रख आता था। कुछ दिन पीछे यह बात भी सब जगह फैल गई। उसके लड़केने जब यह सुना तो पिताको खूब धमकाकर पूछा, कि "इस तरह उलट-फेर करनेका क्या मतलब है?"

तब चोरने जवाब दिया—"मैं अब चोरी तो नहीं करता, किन्तु चोरी न करनेसे मुझे रातको नींद ही नहीं आती और न किसी तरह शान्ति ही मिलती है; इसीलिये चोरी न करके एक व्यक्तिकी चीज दूसरेके घर डाल आनेसे ही मेरा जी थोड़ा बहुत खुश हो जाता है।" इस उत्तरको सुनकर बेचारा पुत्र लाचार हो गया। अस्तु

अतएव यौवनके आरम्भ-कालमें जबकि चित्तकी वृत्ति भली-भाँति खिलती है, तब दृढ़ अभ्यास द्वारा उसका संयम न करनेसे अन्तमें उसकी उच्छृङ्खल (शृङ्खल-रहित) गतिको रोकनेका प्रयत्न करना विडम्बना मात्र होता है। फिर भी, तुलसीदास और बिल्व-मङ्गलकी प्रतिभा तो सामान्य कर्म्मके आवरण (पर्दे) से ढँकी हुई थी, अतः उससे छुटकारा पाते ही तत्काल दौड़ कर वे धर्म्म-जगत्में महाजन (महात्मा) के पदपर अभिषिक्त हो गये। किन्तु कितने व्यक्ति ऐसे भाग्य लेकर संसारमें जन्म लेते हैं? अतएव:—

अशक्तस्तस्करः साधुः कुरूपा चेत् पतिव्रता।
रोगी च देवभक्तः स्यात् वृद्धवेश्या तपस्विनि॥

की तरह न बनकर समय पर सावधान होना मुख्य कर्त्तव्य है। अन्यथा अन्तस्तलको विषय-चिन्ता, कपट-भाव, कुटिलता, स्वार्थपरता, द्वेष एवं अहंभावसे परिपूर्ण करके इन्द्रियोंकी अक्षमता निवन्ध (प्रयोजन) के लिए माला-झोला लेकर लोक-समाजमें वैड़ालिक व्रत (विल्लीचाल) का अवलम्बन करनेसे हम कभी अन्तरके घन अन्तर्य्यामी पुरुषका साक्षात् लाभ नहीं कर सकते हैं।

पहले बताये हुए निर्लिप्त भावसे संसार-धर्म्मका पालन करके भगवान्‌को चित्त समर्पण कर सकने पर तो घर छोड़ने वाले साधु संन्यासीसे भी अधिक फल प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु हम दोनों ओर एक साथ संभाल नहीं सकते, क्योंकि संसार-धर्म्म छोड़ कर आत्मिय-स्वजनको शोक-सागरमें डुबा हमने एक किनारेका अवलम्बन किया है। जो इस तरह नियम पालन करके एवं सांसारिक कामोंमें रहकर भी सर्वदा इष्ट देवताका नाम स्मरण और उनके श्रीचरणोंका ध्यान कर सकते हैं, उनके लिये तो निःसंदेह सोनेमें सोहागा है। लेकिन लिखने-पढ़ने एवं बोलने और सुननेमें ये बातें जितनी सीधी जान पड़ती हैं, नियम पालन करना असलमें उतना सहज नहीं है। जो हो, योग-साधन करते करते दृढ़ अभ्यासके साथ अनुशीलन करनेसे सांसारिक-आसक्ति अवश्य मिट जायगी। तथापि योगाभ्यास आरंभ करना हो तो मामूली तौरसे कई एक—

विशेष नियमों

का पालन करना होगा ; नहीं तो योग साधन नहीं हो सकता। उनमें सबसे पहला विषय भोजनका है। क्योंकि भोजनकी चीजोंके साथ शरीरका विशेष सम्बन्ध है। फिर शरीर स्वस्थ न रहनेसे साधन-भजन नहीं बन पाता। इसीलिये शास्त्रमें कहा है, कि—

धर्म्मार्थकाममोक्षाणां शरीरं साधनं यतः।

योगशास्त्र।

धर्म्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों वस्तुओंको प्राप्त करना हो तो सर्वतोभावसे शरीर-रक्षा करना अत्यावश्यक कर्त्तव्य है। शरीर रोगग्रस्त या अकर्म्मण्य (निकम्मा) होनेसे साधन नहीं होने पाता ; किन्तु शरीर स्वस्थ रखना हो तो आहार के विषयमें विशेष सावधान होना चाहिए। जो चीज देह और मनको उन्नत करने वाली एवं मङ्गल-जनक है, वही चीज अच्छी और खाने योग्य है। जिस चीजके उदरस्थ होने पर देहमें कोई रोग पैदा नहीं होता और शरीर बलिष्ठ होता है, चित्तकी प्रसन्नता संसाधित होती है, धर्म्म-प्रवृत्तिका सम्प्रसारण (विस्तार) होता है, शौर्य्य, वीर्य्य, दया दाक्षिण्य प्रभृतिकी वृद्धि होती है, उसीको भोजनमें उपयोग करना चाहिये। केवल-मात्र इन्द्रिय-प्रीतिकर (इन्द्रियोंको तृप्त करने वाली) भोजनकी चीजोंका उपयोग करना, भोजनका श्रेष्ठ उद्देश्य नहीं है। जिससे इहकाल-परकालमें सुख मिलता है, इहकालमें रोग नहीं सताते एवं धर्म्मकी प्रवृत्तिका विकाश होता है, उन्हीं चीजोंका

भोजनमें उपयोग करनेसे पर-जीवनमें हम सुखी बन सकेंगे। असल बात तो यह है, कि खाने योग्य चीजोंके गुणके अनुसार मनुष्यका गुण बनना बिगड़ता है। अतएव भोजनके विषयमें विशेष सावधान होना चाहिए। भोजनके सम्बन्धमें शास्त्रोंने यही कहा है, कि :—

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धे ध्रुवा स्मृतिः।
स्मृतिलाभे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः॥

छान्दोग्योपनिषत्।

भोजनकी शुद्धिसे सत्त्वकी शुद्धि होती है, सत्त्वशुद्धि होने पर निश्चय स्मृति-लाभ होता है एवं स्मृतिलाभ होनेसे मुक्ति बहुत ही सुलभ हो जाती है। अतएव सभी तरहके यत्न और चेष्टा द्वारा आहार-शुद्धिके विषयमें विशेष सावधानी रखना चाहिए। सत्त्वगुण ही सबका श्रेष्ठ लक्ष्य होना चाहिए, सुतरां साधकगणको रजः तमोगुण विशिष्ट खाद्य-पदार्थ (भोजनकी चीज) कदापि भोजन नहीं करना चाहिये। चावल, पका केला, ईखकी शक्कर, दुग्ध और घी योगियोंका प्रधान खाद्य हैं।

बहुत ज्यादा नमकीन, बहुत ज्यादा कड़वा, बहुत ज्यादा खट्टा, बहुत ज्यादा गर्म, बहुत ज्यादा तीक्ष्ण, बहुत ज्यादा रूखी और जलन पैदा करनेवाली चीजें—प्याज, लहसुन, हींग, साग पात, दही, छांछ प्रभृतिका त्याग करना चाहिये। परिष्कृत (साफ), सुरस, स्नेह-युक्त (जैसा मक्खन आदि) और कोमल (मुलायम) चीजोंसे उदरका पौन हिस्सा पूर्ण कर चौथाई हिस्सा वायु आने जानेके लिये खाली रखना चाहिये।

सागमें वालशाक, कालशाक, परवरकी पत्ती, वथुआ और हिञ्चा (हरहुल)--इन पाँच किस्मका शाक योगीके खाने योग्य होता है। लाल मिर्च खाना ठीक नहीं है। रोज परिमित परिमाणसे (हिसावसे) दूध और घी आदि तेजको बढ़ाने वाली चीजें भोजन करना चाहिये।

योग साधते समय अग्निसेवा, स्त्री-संग, ज्यादा घूमने फिरने, सूर्य्य-दर्शन, प्रातःस्नान, उपवास, गुरुभोजन एवं बोझ ढोने आदि किसी भी तरहसे शरीरको तकलीफ न पहुंचाना चाहिये।

शराब पीना या कोई भी नशेकी चीज खाना ठीक नहीं है। भोजन करके या भूखे होकर, मलमूत्रका जोर रोक कर परिश्रान्त (थके-मांदे) या चिन्ता-युक्त होकर योगाभ्यास न करना चाहिये। योग क्रियाके पीछे मेहनतसे निकले हुये पसीनेसे हाथ पैर मल डालना चाहिये ; नहीं तो शरीरका सारा धातु नष्ट हो जायगा।

पहले वायु-धारणा यानी वायु रोकनेका अभ्यास करते समय खूब थोड़ा थोड़ा वायु धारण करो, जिससे रोकनेके बाद दम न फूल चले। योग-साधन करते समय मन्त्र-जपादि ठीक नहीं है। उत्साह धैर्य्य, निश्चिन्त-विश्वास, तत्त्वज्ञान, साहस और लोकसङ्गका परित्याग—यही छः योग-सिद्धिके प्रधान कारण हैं।

आलस्य (सुस्ती) योग साधनमें एक बड़ा भारी विघ्न है ; आलस्य छोड़कर साधन-कार्य्य करना आवश्यक है। योगशास्त्रका पाठ किंवा योगकी बातका अनुशीलन करनेसे योगमें सिद्धिलाभ नहीं होता। क्रिया ही सिद्धिका कारण है। मेहनत न करनेसे किसी

भी काममें सफलता नहीं मिलती है। महाजनों (महात्मा) की यही बात है, कि :—

"उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्य्याणि न मनोरथैः ॥"

मनुष्य कोशिश न करनेसे कुछ भी लाभ नहीं कर सकता है। एक एक विषयमें सिद्धिलाभ करनेके लिये मानवको कितना यत्न, कितना क्लेश, कितना अनुष्ठान करना पड़ता है, कितने प्रकारका उपाय अवलम्बन करना पड़ता है ; वह सब केवल काम करनेवाले प्रत्येक व्यक्तिको ही मालूम है। अतएव सर्वदा आलस्य छोड़कर काम करना चाहिए ; साधन कार्य्यमें मेहनत न करनेसे फलका लाभ नहीं होता। एकाग्र चित्तसे नित्य नियमित रूपसे आगे कही जाने वाली किसी भी क्रियाका यथानियम अभ्यास करने पर प्रत्यक्ष फल लाभ करोगे, इसमें कोई संदेह नहीं है।

योगाभ्यास करते समय अन्याय-पूर्वक दूसरेका धन उठा लेना, जीवोंके ऊपर हिंसा करना तथा उन्हें कष्ट देना, लोगोंसे द्वेष करना, अहंकार, कौटिल्य (कुटिलता), असत्य-भाषण एवं संसारमें अत्यासक्तिका अवश्य परित्याग करना चाहिए। दूसरे धर्म्मकी निन्दा भी न करना चाहिये। अपने ही धर्मका पक्षपात करना अच्छा नहीं है—धर्म्मके नाम पर गोँड़ामि* करनेसे महापातक लगता है। धर्म्मकी निन्दा नरकका कारण बनती है। सबको सोचना चाहिये, कि ईश्वरको कोई किसी भी नामसे पुकारे, या कोई

* गोड़ामि उसे कहते हैं, जिसके चित्तमें ऐसा भाव हो कि सिर्फ अपना धर्म्म ही अच्छा है, दूसरेका धर्म्म खराब है।

किसी भी भावसे पुकारे अथवा किसी भी प्रकारका क्रियानुष्ठान करे, किन्तु उसका उद्देश्य क्या है ? कोई भी भगवान्‌के सिवाय मेरी या तुम्हारी उपासना तो नहीं करता है—इस बातको तो अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा। धर्ममें कोई श्रेष्ठता या नीचता यानी छोटा-बड़ापन नहीं है ; जो अपने धर्ममें रहकर अपने धर्मके नियमानुसार क्रियाका अनुष्ठान करता है, वही श्रेष्ठ है। इसीलिए गीताकी भगवदुक्ति है, कि :—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥

इस वाक्य पर दृढ़ रहो, किन्तु कभी तुम्हें दूसरे धर्मकी निन्दा नहीं करना चाहिये। महात्मा तुलसीदास बता गये हैं, कि :—

सबसे बसिये सबसे रसिये, सबका लीजे नाम।
हाँजी हाँजी करते रहिये बैठिये अपने ठाम॥

सबके साथ बैठो, सबके साथ आनन्द करो, सबका नाम लो, सबको ही हाँजी, हाँजी कहो, लेकिन अपनी जगह पर बराबर डटे रहो यानी अपने धर्मके भावमें दृढ़ रहो।

योगियोंका शास्त्रपर वादानुवाद करना उचित नहीं है। इस शास्त्र या उस शास्त्रके नामपर अनेक पुस्तकें पढ़ना भी अच्छा नहीं है। क्योंकि शास्त्र अनन्त हैं, हमारी स्थूल बुद्धिसे शास्त्रोंकी आलोचना करने पर शास्त्रकी बात एक दूसरेसे अलग देख पड़ती है। किन्तु असलमें समझो तो सब शास्त्र और सर्व प्रकारकी साधनाका मुख्य उद्देश्य एक है एवं फल भी एक ही है। गुरुकी कृपाके बिना

प्रकृत ज्ञान न होनेपर केवल शास्त्रको पढ़नेसे वह समझमें नहीं आता है। शास्त्र पढ़कर केवल विराट तर्कजाल फैलाकर लोग व्यर्थ ही झक बाँधा करते हैं। किन्तु ऐसे पल्लव-ग्राही (थोड़े ज्ञानवाले) कभी सच्चा ज्ञान लाभ नहीं कर सकते। योगशास्त्रमें कहा है, कि :—

सारभूतमुपासीत ज्ञानं यत् कार्य्यसाधनम्।
ज्ञानानां वहुता सेयं योगविघ्नकरी हि सा ॥

साधनके पथका सारभूत और कार्य-साधन करने योग्य उपयोगी ज्ञानलाभ करनेके लिये कोशिश करना चाहिये। इससे सिवाय ज्ञानियोंमें विज्ञ (ज्ञानी) वननेका छिछलापन योगमें विघ्न वढ़ाता है। अतएव—

अनन्तशास्त्रं वहुवेदितव्यं स्वल्पश्च कालो वहवश्च विघ्नाः।
यत्सारभूतं तदुपासितव्यं हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात् ॥

इस महाजनके वाक्यानुसार ही लोगोंको काम करना चाहिये। इसीसे कहते हैं, कि हिन्दू शास्त्र अनन्त हैं, मुनि-ऋषि भी अनन्त हैं, लेकिन हमारी उम्र बहुत थोड़ी है ; सर्वदा सांसारिक कामोंकी झंझट वराबर लगी रहती है ; सुतरां एक व्यक्तिके जीवनमें समस्त शास्त्र पढ़ना एवं प्रकृत भाव ग्रहण करना असम्भव है। अतएव नाना शास्त्रों की आलोचनारूप खिचड़ी न पकाकर सव लोगोंके आदरणीय मानव-जीवनके उपदेष्टा एकमात्र धर्म्मज्ञानकी शेप शिक्षास्थल श्रीश्रीमद्भगवद्-गीताको पढ़ना चाहिये। यद्यपि गीताका प्रकृत अर्थ वतलानेवाले लोगोंका मिलना समाजमें सुलभ नहीं है, तथापि वारम्वार गीता पढ़ना एवं भक्तिशास्त्र पढ़ना सवका ही कर्त्तव्य है। लोकदिखावेके

लिये पाखण्ड करना एवं लोगोंको धोखा देनेके लिये छल कपट न करके पहले बताये हुये नियमोंका पालन करते हुए योगाभ्यासमें नियुक्त होनेसे धीरे-धीरे संसारासक्तिसे निवृत्त होकर चित्त लय होगा। मनोलय हो जाने पर फिर दूसरी किस चीजकी जरूरत है? अतुलज्ञानी तुलसीदासजीने कहा है :—

"राजा करले राज्यवश, युद्धकरे जय वीर।
आपन मनको वश करे, सोई जानो मीर॥"

वास्तवमें अपने मनको जय करके, उसे वशीभूत रखना बड़ी ही कठिन बात है; जिन्होंने मनोजय किया है, उनका ही मानव-जीवन सार्थक समझना चाहिये। महात्मा कबीरजीने कहा है :—

तनथिर मनथिर वचनथिर, सुरत निरत थिर होय।
कहे कबीर इस पलकको, कलप न पावे कोय॥

अतएव साधकगणको योग साधते समय इन समस्त नियमोंका पालन करनेमें उपेक्षा न करनी चाहिये। दूसरी भी एक बात है, कि जो जिस भावसे साधन कार्यमें प्रवृत्त हो, वह उसे सर्वतोभावसे गुप्त रखे। कितने ही लोगोंका ऐसा स्वभाव है, कि वे अपनी बहादुरी बताकर लोक-समाजमें वाहवाही (शाबाशी) पाने एवं नाम-यश और मान-लाभके लिये अपने साधनकी बात सर्वसाधारणके सामने सुनाया करते हैं। और यदि किसी साधनका फल जरा-सामी समझ सके, कि तत्काल लोगोंके सामने उसे प्रकट कर देते हैं। बेशक, यह बड़ी ही बेवकूफी है। क्योंकि इससे साधकका ही विशेष नुकसान होता है। योगेश्वर महादेवने कहा है :—

योगविद्या परा गोप्या योगिनां सिद्धिमिच्छताम् ।
देवी वीर्य्यवती गुप्ता निर्वीर्य्या च प्रकाशिता ॥

योगशास्त्र ।

जो योगी योग सिद्धिकी वासना रखता है, वह अत्यन्त गुप्त भावसे साधन कार्य्य सम्पादन करे। यह बात किसीके सामने प्रकट न करके गुप्त भावमें रखनेसे वीर्य्यवती (शक्तिशालिनी) होती है, किन्तु प्रकट कर देनेसे यही निर्वीर्य्य और निष्फल हो जाती है। इसीलिये जो जिस भावसे साधन करे, किम्वा साधन-फलका उसे जो-कुछ अनुभव होता रहे, कदापि प्राणका अन्त होनेपर भी उसे प्रकाशित न करना चाहिये। वल्कि फलाफल भगवान्‌को अर्पण करके उसके श्रीचरणकमलोंपर पूरा भरोसा रखते हुए आत्मसमर्पण करके साधनकार्यमें लगे रहना चाहिये। भगवान्‌ने अपनी गीतामें कहा है :—

सर्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

गीता १८।६६ ।

अतएव सर्वतोभावसे उन्हीं कृष्ण-चरणोंमें * शरणापन्न

---

* कृष्णका नाम लिखा है, इससे कोई किसी साम्प्रदायिकताका भाव लेकर किसी प्रकारके कुसंस्कारके वशीभूत न होवे। मैंने नीचे लिखे हुवे अर्थपर कृष्णशब्द प्रयोग किया है। जैसे :—

कृषिर्भू वाचकः शब्दो नश्च निर्वृत्तिवाचकः। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥ किम्वा कर्षयेत सर्वं जगत् कालरूपेण यः स कृष्णः। किम्वा

(शरणमें जाकर) होकर भक्ति और विश्वासके साथ साधनमें प्रवृत्त होनेसे शीघ्र ही सफलता लाभ होती है। क्योंकि उसके चिन्तनसे उसकी भास्कर ज्योतिः हृदयमें पड़ते हुवे दिव्यज्ञानका उदय होकर मुक्तिका पथ सुगम (सरल) हो जायगा। यह बात स्मरण रहे, इसलिये फिर कहता हूं, कि :—

ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः।
अब्दादूर्द्ध भवेत् सिद्धो नात्र कार्य्या विचारणा॥
गोरक्ष संहिता॥ ४६ ॥

योगिगण ब्रह्मचारी बनें यानी उन्हें स्त्री-संगका परित्याग करना चाहिये। मिताहारी यानी उन्हें ज्यादा भोजन न करना चाहिये, त्यागी यानी वे किसी चीजके लिये लालच न रखें। ऐसी अवस्थामें रहकर योगाभ्यास करनेसे एक वर्षमें सिद्धि लाभ होता है।

कृपिश्च परमानन्दो नश्च तद्दास्य कर्म्मणि इति कृष्णः। दूसरी बात यह भी मनमें याद रखो—

काली बलो कृष्ण बलो किछुतेई क्षति नाई।
चित्त परिष्कार रेखे एकमने डाका चाई॥

यानि तुम काली बोलकर पुकारो या कृष्ण बोलकर पुकारो इसमें कुछ भी नुकसान नहीं है, किन्तु चित्त निर्म्मल रखकर एक मनसे पुकारना चाहिये। अथवा—

राम चहे रब ही कहो, काहूमें क्षति नाहिं।
निर्म्मल चित्त बनायके, भक्ति दिखावहु ताहि॥

केशभस्मतुषाङ्गारकीकसादिप्रदूषिते
नाभ्यसेत् पूतिगन्धादौ न स्थाने जनसंकुले ।
न तोयवह्निसामीप्ये न जीर्णारण्यगोष्ठयोः
न दंशमशकाकीर्णे न चैत्ये न च चत्वरे ॥

स्कन्दपुराण ।

अतएव ऐसे योगविघ्नके स्थान परित्याग करके जहाँतक हो सके गुप्त (निर्जन) स्थानमें एवं समस्त इन्द्रिय सुखी रहें तथा अन्तःकरण प्रसन्न रहे, ऐसे स्थानको ताजे गोबरसे लीपलाप करके कुशासन या कम्बलासन किम्वा व्याघ्र-मृगादिके चर्म्म (खालपर) उत्तर या पूर्वमुख बैठ पुष्प, चन्दन और धूपादि सुगन्धसे आमोदित (सौरभ युक्त) करके अनन्य मनसे निश्चिन्त चित्त होकर योगाभ्यास करे।

आसन साधन ।

स्थिर भावसे बैठनेका नाम आसन है। योगशास्त्रमें चौरासी लाख आसन बताये गये हैं ; उनमें पद्मासन श्रेष्ठ है। यथा :—

आसनं पद्मकाद्युत्तमम् । गारुड़ ।४१ ।

पद्मासन—

वामोरूपरि दक्षिणं हि चरणं संस्थाप्य वामन्तथा ।
दक्षोरूपरि चैव वन्धनविधिं कृत्वा कराभ्यां दृढं ॥

तत्पृष्ठे हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकयेत्।
एतद्व्याधिविकारनाशनकरं पद्मासनं प्रोच्यते ॥
गोरक्ष-संहिता।

बायीं जांघपर दाहना पैर एवं दाहनी जांघपर बायां पैर रखकर, दोनों हाथ पीठकी ओर घुमा बायें हाथसे बायें पैरका अंगूठा एवं दाहिने हाथसे दाहने पैरका अंगूठा पकड़ना चाहिये और छातीमें ठोढ़ी टिकाकर नाककी नोकपर दृष्टि-स्थापन पूर्वक बैठनेका नाम पद्मासन है।

पद्मासन दो प्रकारके हैं; यथा—मुक्त और बद्ध। उपर्युक्त नियमसे बैठनेको बद्ध-पद्मासन कहते हैं एवं हाथसे पीठकी ओर पैरका अंगूठा न पकड़ दोनों जांघोंपर दोनों हाथ चित् रखकर बैठनेका नाम मुक्त-पद्मासन है।

पद्मासन लगानेसे निद्रा, आलस्य, जड़ता प्रभृति देहकी ग्लानि निकल जाती है। पद्मासनके प्रभावसे कुण्डलिनी चैतन्य हो जाती है एवं दिव्य ज्ञान मिलता है। पद्मासनमें बैठकर दाँतकी जड़में जीभकी नोक जमानेसे सब बीमारी छूट जाती है।

सिद्धासन —

योनिस्थानकमंघ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसेत्
मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये धृत्वा समं विग्रहम्।
स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्यन् भ्रुवोरन्तरं
चैतन्याख्यकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥
गोरक्ष संहिता।

योनि स्थानको वाम-पदके मूलदेशसे दबा और एक चरण मेढ्रदेशमें दृढ़ रूपसे आबद्ध कर एवं हृदयमें ठोढ़ी जमाते हुए देहको बराबर रख दोनों भौंहोंके मध्यदेशमें दृष्टि स्थापन-पूर्वक यानी शिवनेत्र होकर निश्चल भावसे बैठनेका नाम **सिद्धासन** है।

सिद्धासन सिद्धिलाभके लिये सहज और सरल आसन है। सिद्धासनका अभ्यास करनेसे अति शीघ्र योगकी निष्पत्ति मिलती है। इसका कारण यही है, कि लिङ्गमूलमें जीव और कुण्डलिनी शक्ति अवस्थित है। सिद्धासनके द्वारा वायुका पथ सरल और सहजगम्य हो जाता है। इससे स्नायुके विकाश और समस्त शरीरकी बिजलीके लिये चलने-फिरनेका सुभीता होता है। योग-शास्त्रमें कहा है, कि सिद्धासन मुक्तिवाले दरवाजेके किवाड़ खोलता है एवं सिद्धासनसे आनन्दकारी उन्मनी-दशा मिलती है।

स्वस्तिकासन—

जानूर्वोरन्तरे सम्यक् कृत्वा पादतले उभे।
समकायः सुखासीनः स्वस्तिकं तत् प्रचक्षते॥

शिव संहिता।

जानु और ऊरु—इन दोनोंके बीच दोनों पैरके तलवोंको अच्छी तरह संस्थापन पूर्वक समकायविशिष्ट होकर सुखसे बैठनेका नाम **स्वस्तिकासन** है। स्वस्तिकासन लगाकर वायु साधन करनेसे साधकको थोड़े समयमें ही वायुकी सिद्धिलाभ होती है एवं वायुके साधनसे उत्पन्न व्यभिचारमें भी किसी प्रकारकी बीमारी आक्रमण नहीं कर सकती।

इन तीन प्रकारके आसनोंके सिवाय भद्रासन, उग्रासन, वीरासन, मण्डूकासन, कूर्म्मासन, कुक्कुटासन, गुप्तासन, योगासन, शवासन, सिंहासन, मयूरासन आदि अनेक प्रकारके आसन प्रचलित हैं। किन्तु अनेक प्रकारके आसनोंका अभ्यास करके समय नष्ट करनेका कोई प्रयोजन नहीं है; उपर्युक्त तीन आसनोंमें जिसे जिस आसनका सुभीता हो, उसे उसी आसनका अवलम्बन करके योगाभ्यास करना चाहिये।

आजकल पाश्चात्य शिक्षाके प्रभावसे चौंधियाए हुए लोगोंमेंसे कितने ही आसनके नामपर हँस कर डवाँडोल हो जाते हैं। वे कहते हैं, कि "इस तरह न बैठनेसे क्या साधन नहीं बनता? हम अपनी इच्छाके अनुसार बैठकर साधन करेंगे, इतने बखेड़ेकी क्या जरूरत है?" किन्तु इसमें भी कुछ रहस्य है, क्योंकि भिन्न-भिन्न भावसे बैठनेसे ही भिन्न भिन्न चिन्ता-वृत्तिकी ऐकान्तिकता उत्पन्न होती है। ऐसे अनेक लोग देखे होंगे, कि जो दुःखकी चिन्ता या निराशामें गाल पर हाथ रखकर बैठते हैं। उस समय वैसी अवस्थामें बैठना मानो स्वाभाविक एवं वैसी चिन्ताके उपयोगी ही होता है। सिद्ध योगीगण कहते हैं, कि "विभिन्न साधनामें विभिन्न आसनसे शरीर और मनका विशेष लगाव रहता है।" फिर दूसरी बात यह है कि योग साधन करते समय दीर्घकाल तक एक ही भावसे बैठे रहना योगाभ्यासका एक प्रधान-तम (सबसे बड़ा) काम है; लेकिन वह ऐसा बन नहीं पड़ता, इसीलिये आसनकी जरूरत होती है। योगाभ्यासके समय योगीकी देहमें नई क्रिया उत्पन्न होती हैं

एवं स्नायुप्रवाह भी नये पथमें चलता है ; और वह सारा मेरुदण्ड या रीढ़के बीचमें ही होता है। सुतरां मेरुदण्डको जिस भावसे एवं जिस अवस्थामें रखनेसे वह क्रिया उत्तमरूपसे सम्पन्न होती है, वह सभी आसन प्रणालीमें विधिसे बतया गया है। मेरुदण्ड, वक्षोदेश यानी छाती, ग्रीवा यानी गला, मस्तक और पञ्जरास्थि—ये सब जिस भावमें रखनेकी आवश्यकता है, वह सब इन आसनों पर बैठनेके नियमोंमें ही ठीकसे वर्णन किया गया है। इसीलिये आसन करने पर उसके लिये दूसरी और किसी भी प्रकारकी शिक्षा लेनेका प्रयोजन नहीं होता है। विशेषतः आसन-सिद्धि करना ऐसा कोई कठिन काम भी नहीं है। यत्न-पूर्वक केवल मात्र थोड़े दिन अभ्यास करनेसे ही साधक उसमें सिद्धिलाभ कर सकते हैं।

उपर्युक्त तीन प्रकारके आसनोंमेंसे जिसे जैसा आसन लगानेमें किसी प्रकारका कष्ट अनुभव न हो, उसे उसी प्रकारके आसनका ही अभ्यास करना चाहिये। आसन लगाकर बैठनेसे जब शरीरमें वेदना (दर्द) वा किसी प्रकारका कष्ट अनुभव न होकर एक प्रकारके आनन्दका उदय होगा, तभी समझना चाहिये, कि आसनकी सिद्धि मिली है। अच्छी तरह आसनका अभ्यास होने पर ही योगसाधन शुरू करना चाहिये।

तत्त्व-विज्ञान

एकमात्र देवदेव महेश्वर निराकार तथा निरञ्जन है। उसीसे ही आकाश उत्पन्न हुवा है। इसके बाद उस आकाशसे वायु, वायुसे

तेज, तेजसे जल और जलसे पृथ्वीकी उत्पत्ति हुई है। ये पाँच महाभूत पञ्चतत्त्वके नामसे कहे जाते हैं। उक्त पञ्चतत्त्वसे ही ब्रह्माण्ड परिवर्त्तित और विलयको प्राप्त होता है एवं उससे ही फिर उत्पन्न हुवा करता है ; यथा—

पञ्चतत्त्वाद् भवेत सृष्टिस्तत्त्वे तत्त्वं विलीयते।
पञ्चतत्त्वं परं तत्त्वं तत्त्वातीतं निरञ्जनम् ॥

ब्रह्मज्ञान-तन्त्र।

पञ्चतत्त्वसे ही ब्रह्माण्ड-मण्डलकी सृष्टि हुई है एवं इस तत्त्वमें ही वह लय (नाश) को प्राप्त होगा। पञ्चतत्त्वके आगे जो परम-तत्त्व है, उसीको तत्त्वातीत निरञ्जन कहते हैं। मानवशरीर पञ्चतत्त्वसे ही उत्पन्न हुवा है। मिट्टीसे अस्थि, मांस नाखून, त्वक (खाल) और रोआँ—इन पाँचकी उत्पत्ति हुई है ; जलसे शुक्र (वीर्य्य) रक्त, मज्जा, मल, मूत्र—ये पाँच ; वायुसे धारण करना, चलना, फेंकना, सिकोड़ना और फैलाना—ये पाँच ; अग्निसे निद्रा, भूख, प्यास, क्लान्ति (थकावट) और आलस्य (सुस्ती)—ये पाँच एवं आकाशसे काम, क्रोध, लोभ, मोह और लज्जा उत्पन्न हुए हैं।

आकाशका गुण शब्द, वायुका गुण स्पर्श (छूना), अग्निका गुण रूप, जलका गुण रस एवं पृथ्वीका गुण गन्ध है। इसमें भी फिर आकाशमें शब्द सिर्फ एक ही गुण विशिष्ट है ; वायुमें शब्द, और स्पर्श—ये दोनों गुण विशिष्ट हैं ; अग्निमें शब्द, स्पर्श और रूप—ये तीन गुण विशिष्ट हैं ; जलमें—शब्द, स्पर्श, रूप और रस—ये चार गुण विशिष्ट हैं ; एवं पृथ्वी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन

पञ्चगुणोंसे संयुक्त है। आकाशका गुण कानसे, वायुका गुण त्वचासे अग्निका गुण आँखसे, जलका गुण जिह्वासे (जीभसे) एवं पृथ्वीका गुण नाकसे मालूम पड़ता ।

पञ्चतत्त्वमये देहे -ञ्चतत्त्वानि सुन्दरि।
सूक्ष्मरूपेण वर्त्तन्ते ज्ञायन्ते तत्त्वयोगिभिः ॥

पवन-विजय स्वरोदय।

इस पंचतत्त्वमय देहमें पंचतत्त्व सूक्ष्मरूपमें विराजित हैं। तत्त्ववित् (तत्त्व समझनेवाले) योगीगण उनके सम्बन्धमें समस्त बातें जानते हैं। गुह्यदेशमें मूलाधार-चक्र पृथ्वी तत्त्वका स्थान है, लिङ्गमूलमें साधिष्ठान-चक्र जल तत्त्वका स्थान है, नाभिमूलमें (तोन्दीकी जड़में) मणिपुर-चक्र अग्नितत्त्वका स्थान है; हृद्देशमें (छातीमें) अनाहत-चक्र वायु तत्त्वका स्थान है एवं कण्ठदेशमें विशुद्ध-चक्र आकाश-तत्त्वका स्थान है। सूर्य्योदयके समयसे लेकर यथाक्रम अढ़ाई घड़ी यानी एक घंटेके हिसाबसे एक एक नथनेसे प्राणवायु चलता है। बायें या दाहिने नथनेसे साँस चलते समय यथाक्रम (सिलसिलेसे) इन पञ्चतत्त्वोंका उदय होता है। तत्त्ववित् योगीगण उसे प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

तत्त्व-लक्षण

पञ्चतत्त्वके आठ प्रकारके लक्षण स्वरशास्त्रमें लिखे गये हैं। पहला तत्त्व-संख्या, दूसरा श्वास-सन्धि, तीसरा स्वरचिह्न, चौथा स्थान,

पाँचवां तत्त्वका वर्ण, छठां परिमाण (माप), सातवां स्वाद एवं आठवा गति।

मध्ये पृथ्वी ह्यधश्चापश्चोर्ध्वं वहति चानलः ।
तिर्य्यग् वायुप्रचारश्च नभो वहति संक्रमे ॥

स्वरोदय शास्त्र ।

यदि नथनेके बीचसे श्वास-प्रश्वास आय-जाय, तो पृथ्वी तत्त्वका उदय हुवा समझना चाहिये। इसी तरह नथनेके नीचेसे निःश्वास चलनेसे जल-तत्त्वका, ऊपरसे चलनेसे अग्नि तत्त्वका, बगलसे चलनेसे वायु-तत्त्वका एवं नथनेकी सब जगह छूते हुये घूमकर निःश्वास वायु चलनेके आकाश-तत्त्वका उदय हुवा समझना चाहिये।

माहेयं मधुरं स्वादु कषायं जलमेव च ।
तिक्तं तेजो वायुरम्ल आकाशः कटुकस्तथा ॥

स्वरोदय शास्त्र ।

यदि मुहमें मीठा स्वाद अनुभव हो, तो पृथ्वी-तत्त्वका, कषाय (कसैले) स्वादसे जल-तत्त्वका, तिक्त (तीते) स्वादसे अग्नि-तत्त्वका, अम्ल (खट्टे) स्वादसे वायु-तत्त्वका एवं कटु (कड्वे) स्वाद मालूम होने पर अकाश-तत्त्वका उदय हुवा समझना चाहिये।

अष्टांगुलं वहेद्वायुरनलश्चतुरंगुलम् ।
द्वादशांगुल माहेयं षोड़शांगुल वारुणम् ॥

स्वरोदय शास्त्र ।

जब वायु-तत्त्वका उदय होता है, तब निःश्वास वायुका परिमाण (माप) आठ अंगुल होता है। अग्नितत्त्वमें चार अंगुल, पृथिवी-

तत्त्वमें बारह अंगुल, जल-तत्त्वमें सोलह अंगुल एवं आकाश तत्त्वमें वीस अंगुल सांसकी वायुका परिमाण होता है।

आपः श्वेतः क्षितिः पीता रक्तवर्णो हुताशनः।
मारुतो नीलजीमूत आकाशो भूरिवर्णकः॥

स्वरोदय शास्त्र।

पृथिवी-तत्त्व पीत यानी पीले रङ्गका, जल-तत्त्व श्वेत वर्ण, अग्नि-तत्त्व रक्त यानी लाल वर्ण, वायु-तत्त्व नीले बादल जैसा और आकाश-तत्त्व नाना प्रकारके वर्णयुक्त होता है।

चतुरस्रं चार्द्धचन्द्रं त्रिकोणं वर्त्तुलं स्मृतम्॥
विन्दुभिस्तु नभो ज्ञेयमाकारैस्तत्त्व लक्षणम्॥

स्वरोदय शास्त्र।

दर्पण यानी आईनेके ऊपर सांस छोड़नेसे जो भाफ निकलती है, उसका आकार (स्वरूप) चौकोना होनेसे पृथिवी-तत्त्वका, आधे चन्द्रमा-जैसी होनेसे जल-तत्त्वका, तिकोना होनेसे अग्नि-तत्त्वका, गोल होनेसे वायु-तत्त्वका एवं बूंद-बूंद जैसा देख पड़नेसे आकाश-तत्त्वका उदय हुवा है, ऐसा समझना चाहिये।

मानवकी देहमें जब जिस नाकसे सांस चलती है, तब उसी क्रमसे उपर्युक्त पञ्चतत्त्वोंका उदय हुआ करता है। कब किस तत्त्वका उदय होता है, इसका ज्ञान प्राप्त कर एवं तत्त्वके गुणादि समझ कर उस तत्त्वके अनुकूल गमन (यात्रा), मुकद्दमा व्यवसायादि जिस किसी प्रकारके काममें हाथ बटावेंगे, उसमें सिद्धिलाभ अवश्य होगा। किन्तु भगवान्के दिये हुवे, ऐसे सहज उपाय हम नहीं जानते

हैं, इसीलिये तो हमारे काम नष्ट हो जाते हैं, आशा टूट जाती है एवं मनस्ताप (मनमें जलन) भोग करना पड़ता है। किस तत्त्वके उदयमें किस तरह हाथ बटानेसे उसमे सफलता मिलती है, इस विषयका प्रकाश करना इस पुस्तकका प्रतिपाद्य (वास्तविक) विषय नहीं है ; अतएव विषय बढ़ जानेके डरसे कुछ नहीं लिखा है।

इन पञ्चतत्त्वोंका साधन कर लेनेसे सब तरहके साधन कार्यों में सिद्धिलाभ होता है एवं साधक बीमार नहीं होता और बहुत दिन जीता रहता है। मोटी बात यह है, कि तत्त्वसाधनमें कृतकार्य्य होनेसे शारीरिक, वैषयिक और पारमार्थिक सभी कामोंमें सुख और सिद्धिलाभ होता है।

तत्त्व-साधन

दोनों हाथके दोनों अंगूठेसे कानके दोनों छेद, बीचकी दोनों अंगुलियोंसे दोनों नथने, दोनों अनामिका और दोनों कनिष्ठा अंगुलियोंसे मुंह एवं दोनों तर्ज्जनीसे दोनों आँख बन्द करने पर, यदि पीला रंग देख पड़े, तो पृथिवी-तत्त्वका, सफेद रङ्ग देख पड़नेसे जल तत्त्वका, लाल रङ्ग देख पड़नेसे अग्नि-तत्त्वका, श्याम (सांवला) रङ्ग देख पड़नेसे वायु-तत्त्वका एवं बूंद-बूंद नाना प्रकारका रङ्ग देख पड़नेसे आकाश-तत्त्वका उदय हुवा है, ऐसा समझना चाहिये।

एक पहर रात रह जाने पर जमीन पर दोनों पैर पीछेको घुमाओ और उसको दबा कर बैठ जाओ। पीछे दोनों हाथ उलटा

कर दोनों उरुपर रखो ; अर्थात् उरुपर दोना हाथ ऐसे चित् रखने होंगे, जिसमें उङ्गलीकी नोक पेटकी ओर रहे। इस तरह बैठ कर नाककी नोकपर दृष्टि जमाने और श्वास-प्रश्वासका लक्ष्य रख एक मनसे (स्थिर मनसे) क्रमशः पञ्च-तत्त्वका ध्यान करना चाहिये। ध्यान यथा—

पृथ्वी-तत्त्वका ध्यान—

लं बीजां धरणीं ध्यायेत् चतुरस्रां सुपीतभाम्।
सुगन्धां स्वर्णवर्णत्वमारोग्यं देहलाघवम्॥

'लं' बीज पृथ्वी-तत्त्वके ध्यानका मंत्र है। इस बीजको उच्चारण करते हुवे इस तरह पृथ्वीका ध्यान करना होगा ; यथा—यह तत्त्व खूब पीले रङ्गका, सोने—जैसा लावण्य-संयुक्त (सुन्दरतासे भरा हुआ), चौकोन विशिष्ट, उत्तम् गन्ध-युक्त (खुशबूदार) एवं आरोग्य तथा देहको हलका बनाने वाला है।

जल-तत्त्वका ध्यान —

वं बीजं वारुणं ध्यायेदर्द्धचन्द्रं शशिप्रभम्।
क्षुत् पिपासासहिष्णुत्वं जलमध्येषु मज्जनम्॥

'वं' बीज जल-तत्त्वके ध्यानका मन्त्र है। इस बीजको उच्चारण करते हुवे इस तरह जलतत्त्वका ध्यान करना चाहिये ; यथा—इस तत्त्वकी आधे चन्द्रमा जैसी आकृति विशिष्टा है, और चन्द्रमाकी भाँति उज्ज्वल प्रभा-युक्त एवं भूख-प्यासको सहन करनेवाला और जलमें डूबनेकी शक्तिसे भरा हुआ है।

रोज पहर भर रात रहते उठकर जमीन पर बैठ प्रातःकाल पर्य्यन्त अच्छी तरहसे ध्यान लगाने पर छः महीनेमें अवश्य ही तत्त्वकी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। तब दिन रातके बीचमें अपने शरीर पर कब किस तत्त्वका उदय होता है, वह जब चाहोगे, बड़ी आसानीसे प्रत्यक्ष देख सकोगे ; एवं शरीर स्वस्थ रखकर सांसारिक, वैषयिक कामोंमें भी सफलता प्राप्त कर सकोगे। तत्त्वमें सिद्धिलाभ होनेसे लययोग एवं अन्याय योग-साधन विशेष सहज और सुगम आसान हो जाते हैं। आकाश तत्त्वके उदयमें सांसारिक कार्य्यादि न करके योगाभ्यास करना चाहिये।

तत्त्व साधन करते समय किसी प्रकारका योग साधन भी कर सकते हैं। अतएव तत्त्वका साधन साधते समय चुपचाप न बैठकर किसी प्रकारका योग साधन करना भी कर्त्तव्य है।

तस्य रूपं गतिः स्वादो मण्डलं लक्षणन्त्विदम्।
यो वेत्ति वै नरो लोके स [illegible] शूद्रोऽपि योगवित्॥

पवन-विजय-स्वरोदय।

इस तरह जो व्यक्ति सब तत्त्वके रूप, गति, स्वाद, मण्डल और सारे लक्षण जानता है, वह शूद्र होनेपर भी योगी नामसे पुकारा जा सकता है।

नाड़ी-शोधन।

शरीरमें रहनेवाली सब नाड़ियाँ मलादिसे खराब रहती हैं, और नाड़ीका शोधन (साँफ) न करनेसे वायु नहीं रुक सकता। सुतरां

योग साधन आरम्भ करनेसे पहले नाड़ी-शोधन करना चाहिये। हठयोगमें षट्कर्म्म द्वारा (छः कामसे) शरीर शोधन करनेकी व्यवस्था है। यथा—

धौतिर्वस्तिस्तथा नेति लौलिकिस्त्राटकस्तथा।
कपालभातिश्चैतानिषट्कर्म्माणि समाचरेत्॥

गोरक्ष संहिता। ४अः

धौति, वस्ति, नेति, लौलिकी, त्राटक और कपालभाति—इन छः तरहकी बाह्य (ऊपरी) क्रियाओंसे शरीर शोधन करनेकी व्यवस्था है, लेकिन ये सब गृहत्यागी साधु संन्यासीसे ही बन पड़ती हैं, सर्वसाधारणके लिये ये बहुत ही मुशकिल हैं। विशेषतः ये उपर्युक्त रूपसे अनुष्ठित न होने पर नाना प्रकारके दुःसाध्य (कठिनाईसे) दूर होनेवाले रोगकी उत्पत्ति होनेकी सम्भावना है। परमयोगी शङ्कराचार्यने भीतरी प्रयोगसे जैसी नाड़ी-शोधनकी व्यवस्था बताई है, उसी नियमको मैं भी यहाँ लिखता हूँ। वही सबके लिये सुलभ और सुगम है।

पहले आसनका अभ्यास करना पड़ता है, आसनमें सिद्धिलाभ हो जाने पर नाड़ी-शोधन शुरू करना चाहिये।

स्थिरभावसे सुखासनमें बैठ सीधे हाथके अंगूठेसे दाहने नथनेको कुछ दबा बायें नथनेसे जहाँतक हो सके वायुको खींचे एवं जरा-सी देर भी न ठहर कर अनामिका और कनिष्ठा उङ्गलीसे बायें नथनेको बन्द कर दाहिने नथनेसे वायुका रेचन करे यानी वायुको निकाल दे; फिर दाहिने नथनेसे वायु खींचकर यथाशक्ति बायें नथनेसे

निकाल दे, लेकिन खींचनेका काम पूरा होते ही उसी वक्त वायुको निकाल देना चाहिये, जरा-देर भी न रोकना चाहिये। पहले अभ्यास करते समय उपर्युक्त क्रिया एक वार हिसावसे तीन वार करनी चाहिये। इसके वाद तीन वार अच्छी तरहसे अभ्यास हो जाने पर पाँचवार, फिर सातवार इस प्रकार बढ़ाना चाहिये।

सारे दिन रातके बीचमें इसी तरह एकवार उषःकाल एकवार दोपहरमें एकवार सन्ध्याको और एक वार अर्द्ध रात्रिके समय—कुल चार वार यह काम करना चाहिये। रोज नियमसे चार वार यत्नके साथ अभ्यास कर सकने पर एक महीनेके भीतर ही सिद्धि मिलेगी, किसी-किसीको डेढ़ या दो महीने भी लग सकते हैं।

नाड़ी-शोधनमें सिद्धि लाभ हो जानेसे देह खूब हल्की मालूम पड़ेगी; आलस्य, काहिली प्रभृति सब दूर हो जायेंगे। कभी कभी आनन्दसे मन उभर उठेगा एवं समय समय पर खुशबूसे नाक भर जायेगी। यह सब लक्षण प्रकट होनेपर समझना चाहिये, कि नाड़ी-शोधनमें सिद्धि मिल गई है। इसके वाद आगे बताये किसी भी साधनमें नियुक्त होना चाहिये।

मन स्थिर करनेका उपाय।

मन स्थिर न होनेसे कोई काम ही नहीं बनता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम और भूचरी, खेचरी मुद्रादि जो कुछ अनुष्ठान हैं,

समीका उद्देश्य यह है, कि चित्त वृत्तिको रोककर मनको वशमें किया जाय। मतवाले पागल हाथी जैसे प्रमत्त (पागल-सा) मनको वशीभूत करना भी बहुत ही मुश्किल काम है ; लेकिन इसके लिये उपाय अवश्य हैं।

जिसे जिस आसनका अभ्यास हो वह उसी आसनको लगाकर मस्तक, गर्दन, पीठ और उदर बराबर सीधे रख अपने शरीरको सीधा करके बैठे। इसके बाद नाभिमण्डलमें (तोंदीकी जगह) दृष्टि जमाकर कुछ देर तक पलक न मारे। नाभिस्थानमें दृष्टि और मन रखनेसे निःश्वास धीरे धीरे जितना कम पड़ता जायगा, मन भी उतना ही स्थिर होता जायगा। इसी भावसे नाभिके ऊपर दृष्टि और मन लगाकर बैठनेसे कुछ दिन बाद मन स्थिर होगा। मन स्थिर करनेका ऐसा सरल उपाय दूसरा और नहीं है। अपिच—

यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात्।
मनसो धारणञ्चैव धारणा सा परा मता ॥

त्रिपष्ठ्यांग योग।

इष्टदेवकी चिन्ता या किसी ध्यान-धारणामें मन नियुक्त करते समय यदि नाना विषयोंमें विक्षिप्त (चंचल) होनेके कारण चित्त स्थिर न कर सको, तो मन जिस विषयमें दौड़े, उसी विषयको आत्मानुभावमें समरस (बराबर-रस) ज्ञान करते हुए सर्वत्र इष्टदेव या ब्रह्ममय विचारकर चित्तमें धारणा करनी चाहिये। ऐसा करनेसे विषय और इष्टदेवता किम्वा विषय और ब्रह्म अभिन्न हैं—ऐसा मालूम होनेपर चित्तकी धारणा बढ़कर बहुत ही जल्दी काम निकल

सकता है। इस उपायके अतिरिक्त चित्तको जय करनेकी सीधी राह एवं सीधा उपाय और कुछ भी नहीं है। जो व्यक्ति अपनेको और जगत्‌की सब चीजको इष्टदेवसे भिन्न नहीं देखता एवं उसीको ही अद्वितीय ब्रह्म-स्वरूप समझता है, मुक्ति उसके हाथ आ जाती है। इन दो उपायके अतिरिक्त—

त्राटक योग

का अभ्यास करनेसे भी सहजमें ही मन स्थिर होता है एवं नानाप्रकारकी शक्तिका लाभ होता है; इसका अभ्यास करना भी सीधा ही है। यथा—

निमेषोन्मेषकं त्यक्त्वा सूक्ष्मलक्ष्यं निरीक्षयेत्।
यावदश्रुनिपातश्च त्राटकं प्रोच्यते बुधैः॥

स्थिर भावसे सुखासनमें बैठकर धातु या पत्थरकी बनी हुई किसी सूक्ष्म चीजपर लक्ष्य करके निर्निमेष यानी बिना पलक मारे देखता रहे। इस तरह टकटकी बाँधते समय शरीर न हिले, मन किसी प्रकार चञ्चल न होवे—इस तरह जब तक आँखसे आँसू न गिरे, तब तक बराबर देखता रहे। अभ्यास करने पर बहुत देर तक इस तरह टकटकी बाँधनेकी शक्ति पैदा होगी।

दोनों भौंहोंके बीचवाले बिन्दु-केन्द्रमें दृष्टि-पूर्वक एकाग्र बन जबतक आँखसे जल न आवे, तबतक दृष्टि लगाकर वहाँ देखनेसे

धीरे धीरे दृष्टि (नजर) उसी स्थान पर जम जायगी। ऐसा होनेपर त्राटक सिद्ध हो जाता है।

त्राटकमें सिद्धि मिलनेसे आँखके दोष (बुराइयाँ) मिटते हैं ; निद्रा, तन्द्रा आदि काबूमें आती है एवं आँखकी रोशनी निकालनेकी राह विशुद्ध हो जाती है। पाश्चात्य विज्ञानमें जो मेस्मेरीजम् (mesmerism) है, वह त्राटक योगकी ही सिर्फ एक झलक मात्र है। त्राटक-योगमें सिद्धि लाभ होनेसे, मेस्मेराइज़ बड़ी आसानीसे कर सकते हैं। फिर भी पाश्चात्य मेस्मेरिजम् और त्राटक-योगमें बहुत कुछ अन्तर है। क्योंकि, मेस्मेराइज़ करने वाला नहीं जानता कि किससे क्या होता है ; किन्तु त्राटक-योगी मोहिष्णु (जिसको मेस्मेराईज़ किया जाता है) की एवं अपनी, दोनोंकी सारी खबर रखता है। त्राटक-सिद्ध होनेसे हिंस्र जानवर तक वशमें आ जाते हैं।

एक दिन अपने योग-शिक्षादाता महापुरुषके साथ मैं पार्वत्य वनभूमिमें भ्रमण कर रहा था, कि एकाएक एक शेर हमारे सामने आ खड़ा हुआ। मैं तो शेरके आक्रमण (झपटने) के भयसे विशेष डरा और घबराया, किन्तु महापुरुषने मुझे पीछे हटाकर अपनी दोनों आँखें शेरकी दोनों आँखके सामने ठीक बराबर जमाकर अपनी आँखोंकी रोशनीको इकट्ठा किया। फिर तो शेरमें एक पैर भी आगे बढ़नेकी शक्ति न रही ; वह कागजकी तस्वीर-जैसा खड़ा होकर पूंछ हिलाने लगा। महापुरुषने जबतक नजर न हटाई, शेर तबतक स्थिर भावसे खड़ा रहा ; उसकी आँखों परसे महापुरुषके अपनी नजर हटाते ही वह तत्काल जङ्गलमें भाग गया। हमारी ओर उसने घूमकर देखा

भी नहीं। तब महापुरुषने मुझे त्राटक-योगकी शक्तिके सम्बन्धमें उपदेश प्रदान किया। त्राटक-योगका अभ्यास कर सकनेसे हम सहज ही में लोगोंको निद्रित, वशीभूत और इच्छानुसार (मनमाने) काममें लगा सकते हैं।

कुण्डलिनी चैतन्यका कौशल।

कुण्डलिनी तत्त्वमें ही कहा गया है, कि कुण्डलिनी चैतन्य न होनेसे तप-जप और साधन-भजन वृथा है। कुण्डलिनीके अचैतन्य रहनेसे मानवका प्रकृत ज्ञान कभी उदय नहीं हो सकता है। मानव-जीवनका प्रधान काम और योगमें सिद्धि-लाभका उपाय—कुण्डलिनी को चैतन्य करना ही है। जितने प्रकारकी साधनाएँ हैं, सभी कुण्डलिनीको चैतन्य करनेके लिये हैं। सुतरां सबसे पहले यत्नके साथ कुण्डलिनीको जगाना चाहिये। मूलाधार-पद्ममें कुण्डलिनी-शक्ति स्वयम्भू लिङ्गको साढ़े तीन फेरसे लपेटे साँपके आकारमें नींद ले रही है। जबतक वह देहमें नींद लेती है, तबतक मानव पशुकी तरह अज्ञानमें मग्न रहता है, तब तक कोटि-कोटि योगाभ्याससे भी उसे ज्ञान नहीं मिलता। जैसे कोई चाभीसे ताला खोलकर दरवाजा खोल देता है,—वैसे ही कुण्डलिनी शक्तिको जगाकर मूलादेशसे सहस्रार पद्मपर पहुँचा सकनेसे ही ब्रह्मद्वार का भेद होकर ब्रह्मरन्ध्रकी राह खुल जाती है। इसीसे मानवको दिव्य-ज्ञानका लाभ होता है।

बायें पैरकी एड़ीसे योनिदेशको मजबूतीसे दबाकर दाहिने पैरको बिलकुल सीधा और सरल भावसे सामने रखकर बैठे, उसके बाद दाहिने पैरको दोनों हाथोंसे जोरसे दबाये रखे एवं कण्ठ (गले) में ठुड्डी लगाकर कुम्भकसे वायु रोके। पीछे प्राणायामकी चालसे धीरे-धीरे उस वायुको निकाल दे। डण्डाहत (डण्डेसे मारा गया) साँप जैसे सरल भाव धारण करता है, वैसे ही इस क्रियाको करने पर कुण्डलिनी-शक्ति ऋजु (सीधा) आकार धारण कर लेती है।

बित्तेके बराबर लम्बे, चार अंगुल चौड़े, कोमल, श्वेतवर्ण सूक्ष्म कपड़ेसे नाभिदेश (तोंदीकी जगह) को लपेटकर कमरके डोरेसे बाँध दे। पीछे भस्म द्वारा देह लेपन करके गोपनीय (छिपे) घरमें सिद्धासन पर बैठे, दोनों नथनेसे प्राण-वायुको आकर्षण करके, बल-पूर्वक अपान वायुमें मिलावे एवं जबतक सुषुम्णा विवरमें (गड्ढेमें) वायु पहुँचकर प्रकाश न पावे, तब तक अश्विनी-मुद्रासे धीरे धीरे गुह्यदेशको सिकोड़े और फैलाये। इसी तरह साँस रोककर कुम्भक योगसे वायु रोध करनेसे कुण्डलिनी-शक्ति जागकर सुषुम्ना पथसे ऊपरकी तरफ चढ़ती है।

इस तरह साधन करनेसे कुण्डलिनीके जागनेपर योनिमुद्रा योगसे उठायी जाती है। मूलाधारसे क्रमानुसार समस्त चक्रोंको भेद करते हुए सहस्र दलको पद्ममें उठा कर परमशिवके साथ संयुक्त करने एवं दोनोंको एक बनानेसे उन दोनोंके संयोगसे निकले हुये सामरस्य-सम्भूत अमृत द्वारा शरीर उमड़ने लगता है। उस समय साधक समस्त जगत्को भूल जाता है एवं बाह्य-ज्ञान शून्य होकर

जिस अनिर्वचनीय अपार आनन्दमें डूब जाता है, वह स्वतः अनुभवकी वस्तु है, लिख कर मैं उसे प्रकाश नहीं कर सकता। स्त्री-संसर्गसे शरीर और मनमें जैसा अनिर्देश्य (जो कहा न जा सके) आनन्द अनुभव होता है, उसकी अपेक्षा कोटि-कोटि गुण अधिक आनन्द इसमें प्राप्त होता है। उस अव्यक्त भावको व्यक्त (प्रकाश) करनेकी शक्ति भाषामें नहीं है। *

कुण्डलिनी-शक्ति किस तरह उठायी जाती है, वह केवल मुंहसे बतानेसे नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष दिखाये बिना किसीकी भी समझमें नहीं आ सकती। सुतरां वह गुह्य (गुप्त) विषय अकारण सर्व साधारणके सामने प्रकाशित करना वृथा है। साधकको केवल मात्र कुण्डलिनी शक्तिको चैतन्य करनेके लिये ऊपर कही हुई क्रियाओंका अनुष्ठान करना चाहिये। कुण्डलिनी चैतन्य करनेका और भी एक सहज उपाय है। वह इस प्रकार है :—

सिद्धासनसे बैठ कर हृदयपर मजबूतीसे ठुड्ढी रखे, पीछे दोनों हाथसे मुट्ठी बांधकर दोनों हाथकी कुहनी हृदय पर दृढ़रूपसे रख नाभि देशमें वायु धारण करे एवं गुह्य-देशको अश्विनी मुद्रासे सिकोड़ता और फैलाता रहे। ऐसा नित्य अभ्यास करनेसे भी कुण्डलिनी शीघ्र ही चैतन्य होगी।

---

* कुण्डलिनीको कैसे जगाकर उत्थापन करना होता है, इसकी क्रिया मत्प्रणीत "ज्ञानीगुरु" ग्रन्थमें वर्णन की गई है।

कुण्डलिनीके चैतन्य होकर सुषुम्णा-नाड़ीमें प्रवेश करनेसे साधक स्पष्ट अनुभव कर सकता है। उसी समय पीठकी रीढ़के बीचमें चींटी रेंगने जैसी सरसराहट होने लगती है।

लययोग साधन।

जिनके पास समय थोड़ा है एवं जो योगके नियमोंका पालन करनेमें असमर्थ हैं, वे पहले बतायी हुई विधिसे कुण्डलिनीको चैतन्य करके यदि किसी भी प्रकारके आगे बताए लययोगका साधन करेंगे तो अवश्य चित्त लय होगा। विषय बढ़ जानेके डरसे मैं विस्तार-पूर्वक यहाँ न लिख सका। फिर भी जो कई-एक लय-संकेत मैंने लिखे हैं, उनमेंसे किसीकी भी क्रियाका अनुष्ठान करके मनोलय किया जा सकता है। यह बहुत सीधा और थोड़ी मेहनतसे सिद्ध होनेवाला एवं शीघ्र फल देनेवाला साधन है।

(१) मूलाधार-चक्र भगाकृति है; इस चक्रमें स्वयम्भूलिङ्गमें तेजोरूपा कुण्डलिनी-शक्ति साढ़े तीन फेरे लपेटे हुए अधिष्ठिता है। इस ज्योतिर्म्मयी-शक्तिका जीवरूपमें ध्यान करनेसे चित्त लय होता है एवं मुक्ति मिल जाती है।

(२) स्वाधिष्ठान-चक्रमें प्रवालांकुर जैसे उड्डीयान नामक पीठ (आसन) पर कुण्डलिनी-शक्तिका चिन्तन करनेसे भी मनोलय होगा एवं जगत्के आकर्षणकी शक्ति आवेगी।

(३) मणिपुर-चक्रमें पाँच फेरे लगाये बिजली जैसे रङ्गकी चित्स्वरूपा भुजंगी-शक्तिका ध्यान करनेसे अवश्य ही साधक सर्व-सिद्धि पाता है।

(४) अनाहत-चक्रमें ज्योतिः-स्वरूप हंसका ध्यान करनेसे भी चित्त लय हो जाता है एवं जगत् वशीभूत होता है।

(५) विशुद्ध-चक्रमें निर्म्मल-ज्योतिःका ध्यान करनेसे सर्व सिद्धियाँ मिलती हैं।

(६) तालुमूलके ललना-चक्रको घण्टिका स्थान और दशम द्वार-मार्ग कहते हैं। इस चक्रपर ध्यान लगानेसे मुक्ति मिलती है।

(७) आज्ञा-चक्रमें वर्त्तुलाकार ज्योतिःका ध्यान करनेसे साधक मोक्ष पद पाते हैं।

(८) ब्रह्मरन्ध्रमें अष्टम-चक्रस्थित सुईकी नोक-जैसे धूम्राकार जालन्धर नामक स्थानपर ध्यान द्वारा चित्त लय करनेसे निर्वाण-पद मिलता है।

(९) सोम-चक्रमें पूर्णा सच्चिद्रूपा अर्द्धशक्तिका ध्यान करनेसे मनोलय होता है एवं मोक्षपद लाभ होता है।

इन नवचक्रके बीचमें एक एक चक्रके ध्यान करनेवाले साधक-गणको सिद्धि और मुक्ति हाथों हाथ मिलती है। क्योंकि, वे ज्ञानकी आँखसे दोनों कोदण्डके बीच कदम्ब जैसे गोलाकार ब्रह्मलोकके दर्शन करते एवं अन्तमें ब्रह्मलोकमें भी पहुँच जाते हैं। कृष्णद्वैपायनादि ऋषिगण नवचक्रमें लययोगका साधन करके यम-दण्डको तोड़कर ब्रह्मलोकमें जा पहुँचे थे। यथा—

कृष्णद्वैपायनाद्यैस्तु साधितो लय संज्ञितः।
नवस्वेव हि चक्रेपु लयं कृत्वा महात्मभिः॥
योगशास्त्र।

अर्थात् वेदव्यासादि महात्माओंने नवचक्रमें मनोलय करके लययोग साधन किया था। सिवा इसके और भी बहुत तरहका लय और लक्ष्ययोग संकेत शास्त्रमें लिखा है। यथा—

(१०) परम आनन्दके साथ अपने हृदयके बीचमें इष्ट देवताकी मूर्तिका ध्यान करनेसे साधक आत्मलीन हो जाता है।

(११) एकान्तमें शववत् (मुरदे जैसा) चित्त लेटकर एकाग्र चित्तसे अपने दाहिने पैरके अंगूठे पर दृष्टि स्थिर करके ध्यान करनेसे शीघ्र ही चित्त लय होता है। यह चित्त लय करनेका प्रधान और सहज उपाय है।

चित्ते लेटकर नींद लेनेसे कितने ही लोगोंको अपने घिग्घी बँध जाने जैसा मुंह पर दबाव-सा मालूम पड़ता है। उस वक्त उसको यह भी मालूम होता है, मानो कोई आदमी छातीको ज़ोरसे दबा कर बैठा है,—शरीर भारी हो जाता है, डरसे चिल्लानेकी कोशिश करने पर भी साफ़ बात मुंहसे न निकल कर घें-घें शब्द उच्चारण होता है। इसी दशामें लययोगकी झलक देख पड़ती है।

(१२) जीभको तालुमूलमें लगा ऊपर उठाये रखे; इससे चित्त एकाग्र होकर परमपदमें लीन हो जाता है।

(१३) नाकके ऊपर दृष्टि रख कर बारह अंगुल पीली या आठ अंगुल लाल वर्णकी ज्योतिःका ध्यान करनेसे चित्त लय हो जाता एवं वायु स्थिर हो जाता है।

(१४) ललाटके ऊपर शरत्के चन्द्र-जैसी श्वेतवर्ण ज्योतिः का ध्यान करनेसे मनोलय हो जाता है एवं आयु बढ़ती है।

(१५) देहके बीचमें निर्वात् निष्कम्प दीपकलिका जैसी अष्टांगुल ज्योतिःका ध्यान करनेसे जीव मुक्त हो जाता है।

(१६) दोनों भौहोंके बीच सूर्य्य जैसे तेजः-पुञ्जका ध्यान करनेसे ईश्वरका सन्दर्शन मिलता है।

इनमेंसे जिसे जो क्रिया सुभीतेकी जँचे, वह उसीसे मनोलय कर सकता है।

शब्दशक्ति और नाद साधन।

शब्द ही ब्रह्म है। सृष्टिके पहले प्रकृति-पुरुष मूर्त्तिहीन केवल एक ज्योतिः मात्र था। सृष्टिके आरम्भ-कालमें वही सर्वव्यापी ज्योतिः आत्मा अभेद भावसे नादबिन्दुरूपमें प्रकाशमान हुई थी। बिन्दु परम शिव और कुण्डलिनी निर्वाण कलारूपा, भगवती त्रिपुरा-देवी स्वयं नादरूपा है। यथा :—

आसीद्बिन्दु स्ततो नादो नादाच्छक्तिः समुद्भवः।
नादरूपा महेशानि चिद्रूपा परमा कला॥

वायवी संहिता।

आदि प्रकृति देवीका नाम परा प्रकृति है; सुतरां परा प्रकृति आद्याशक्ति ही नादरूपा होती है। इसी प्रकृतिसे पञ्च महाभूतकी सृष्टि हुई है। पहले आकाश उत्पन्न हुवा है। आकाशका गुण शब्द

है, अतएव सृष्टिके पहले शब्द उत्पन्न हुवा है। शब्दसे सिलसिलेवार अन्य दूसरे महाभूत एवं यह चराचर विश्व उत्पन्न हुवा। इसीलिये शास्त्रकारोंने "नादात्मकं जगत्" कहकर बताया है। तभी तो देखिये, कि शब्द कैसा क्षमताशाली होता है। योगबलशाली ऋषिगणके हृदयसे यही शब्द ग्रंथ एवं मन्त्रके रूपमें निकल कर एक अलौकिक शक्तिसम्पन्न एवं वीर्य्यशाली बना है। शब्दसे क्या नहीं होता? कोई व्यक्ति अपने मित्रोंके साथ मौजें मार रहा है, ठीक उसी समय यदि अदूरमें (पासमें) करुण क्रन्दन-ध्वनि (फूट-फूट कर रोनेका शब्द) सुनाई दे तो वह कभी उस तरह हँस खेल न सकेगा। मान लो कि मैं किसी व्यक्तिसे प्रेम नहीं करता, किन्तु वह यदि गिड़-गिड़ाकर करुण एवं समुचित शब्दोंसे मेरी स्तुति करने लगे तो अवश्य ही मेरा कठिन हृदय पिघल जायगा। सारांश, शब्दसे ही सब परस्पर आबद्ध हैं। कोयलकी कूक (शब्द) सुननेसे या भौंरेका भन् भन् शब्द कानमें आनेसे मनमें न जाने क्यों एक अजीव आकांक्षा पैदा होती है, न जाने किस जन्म-जन्मान्तरकी पुरानी बात याद आ जाती है। इसी प्रकार मेघ (बादल) की गड़गड़ाहट गर्ज्जन या मोरका के-का शब्द सुननेसे दूसरे ही प्रकारके भावका उदय होता है; मनमें किसी अमूर्त्त प्रतिमाकी मूर्त्ति स्थापित हो जाती है। शब्द ही सङ्गीतका प्राण है; इसीलिये गाना सुनकर लोग आत्माको खो देते और पागल जैसे बन जाते हैं। शब्दसे जीव मुग्ध हो जाता है; शब्दसे विश्व-ब्रह्माण्ड संगठित हुआ है; हरि एवं हर भी नादसे अभिन्न नहीं हैं।

न नादेन विना ज्ञानं न नादेन विना शिवः ।
नादरूपं परं ज्योतिर्नादरूपी परो हरिः ॥

नादका अन्त नहीं है, नाद असीम और अपार है। इसीलिये हिन्दू शास्त्र-कर्त्ताओंने लिखा है—

नादाब्धेस्तु परं पारं न जानाति सरस्वती ।
अद्यापि मज्जनभयात् तुम्बं वहति वक्षसि ॥

बात सच्ची है। नादका अनुसन्धान करनेवाला तत्त्वज्ञानी योगी ही इस बातकी सचाई उपलब्ध कर सकता है। नादरूप समुद्रका परपार (दूसरा किनारा) जब सरस्वतीको भी मालूम नहीं है, तब मुझ-सदृश सामान्य व्यक्तिका नादके स्वरूपको समझाने जाना विड़म्बना मात्र ही है।

नादका दूसरा नाम परा है ; यही मूलाधारमें परा, स्वाधिष्ठानमें पश्यन्ति, हृदयमें मध्यमा और मुखमें वैखरी कहाती है।

आवेदमान्तरं ज्ञानं सूक्ष्मवागात्मना स्थितम् ।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन निवर्त्तते ॥

वाक्यप्रदीप ।

सूक्ष्म वागात्मामें स्थित अन्तरज्ञान, अपने रूपको दिखानेके लिये शब्द-रूपसे वैखरी अवस्थामें चला जाता है। अर्थात् हमारे सूक्ष्म वागात्मामें जो भीतरी ज्ञान अव्यक्त (छिपी) अवस्थामें रहता है, मनमें किसी भावका उदय होनेपर, वही अव्यक्त भीतरी ज्ञान प्रव्यक्त (खुला) होकर वैखरी अवस्थामें मुखसे प्रकाश पाता है।

मूलाधार पद्मसे पहले निकले हुवे नाद-रूप वर्ण उठकर हृदयमे पहुँच जाते हैं। यथा—

स्वयं प्रकाश्या पश्यन्ती सुषुम्णासाश्रिता भवेत्।
सैव हृत्पङ्कजं प्राप्य मध्यमा नादरूपिणी ॥

हृदयमें रहनेवाले अनाहत पद्ममें यही नाद आप ही आप ध्वनित (शब्द) हो रहा है। अन+आहत=अनाहत ; अर्थात् विना आघातसे (चोटसे) ध्वनि (शब्द) होती है, इसीलिये हृदयस्थ जीवाधार पद्मका नाम अनाहत हुवा है। सद्गुरुके अभावसे एवं हमारा मन विषय चिन्तामें विभोर होकर अज्ञान-तमसाच्छन्न (अज्ञानके अन्धेरेसे घिरा हुआ) होनेके कारण नाद-ध्वनि उपलब्ध नहीं कर सकता है। सुकृतिवान साधकगण लिखे हुए कौशलका अनुष्ठान करने पर आपसे आप निकली हुई अश्रुतपूर्व (पहले न सुनी हुई) अनोखी अनाहत-ध्वनि सुनते सुनते अपार्थिव परमानन्दका उपभोग कर सकते हैं। इस प्रक्रियासे बहुत आसानीके साथ और बहुत जल्दी ही :मनोलय किया जा सकता है एवं मुक्ति-पद भी लाभ होता है।

जितने प्रकारके लययोग हैं, उनमेसे यह नाद-साधन सबसे श्रेष्ठ है। क्रिया भी बहुत सीधी एवं सुखसाध्य (सुखसे करने योग्य) होती है। शिवावतार शङ्कराचार्य्यने कहा है—

"नादानुसन्धानसमाधिमेकं मन्यामहे मान्यतमं लयो नाम्।"

नियमके अनुसार साधन करनेसे नादध्वनि साधकको सुन पड़ती है एवं समाधिभावसे वे परमानन्दका उपभोग कर सकते हैं। यह नाद-तत्त्व जिसे मालूम है, वही प्रकृत योगीगुरु होता है। यथा—

योो वा पराञ्च पश्यन्ति मध्यमामपि वैखरीम्।
चतुष्टयीं विजानाति स गुरुः परिकीर्त्तितः॥

नवचक्रेश्वर ॥

अर्थात् जो व्यक्ति परा, पश्यन्ति, मध्यमा और वैखरी आदि नाद तत्त्वको अच्छी तरह समझ चुका है, वही प्रकृत गुरु है। ऐसे ही गुरुके पाससे योगके उपदेश लेकर साधना करना चाहिये ; नहीं तो तड़क-भड़क देख एवं बात-चीत सुनकर भूल जानेसे अवश्य ही धोखा खाना पड़ेगा।

यहाँ नाद-तत्त्वकी जितनी झलक दिखायी गई है, उससे पाठकगण अवश्य ही समझ सकेंगे कि नाद ही आद्याशक्ति है। पहले भी कई जगह बता चुके हैं, कि तप-जप, साधन-भजनका मुख्य उद्देश्य कुण्डलिनी-शक्तिका चैतन्य सम्पादन करना है। अतएव शैव, वैष्णव, गाणपत्य प्रभृति कोई भी सम्प्रदाय पाखण्ड रचकर कितनी ही अपनी बड़ाई क्यों न करें, प्रकारान्तरमें सभी शक्तिकी ही उपासना करते हैं। "बिना शक्तिके मुक्ति नहीं है"—यह प्रवाद (लोकोक्ति) वाक्य ही इसकी सत्यता प्रमाणित कर रहा है ! धर्म्मका मूलतत्त्व कितने लोग समझते हैं ? यदि जानते होते तो आडम्बर-पाखण्ड करके नरककी राह साफ न करते। मैं जानता हूं, कि वैष्णवोंमें कितने ही शक्ति-मूर्त्तिको प्रणाम नहीं करते एवं न उनके निवेदित प्रसाद को ही पाते हैं। कैसी मूर्खता है ? जब प्रकृति और पुरुष एक हैं, सुतरां भगवान् एवं दुर्गा-काली प्रभृति सभी अभिन्न—एक हैं कृष्ण, विष्णु, शिव, काली, दुर्गादि सबको ही अभेद

भावसे एक न समझने पर साधनकी ओर पहुंचनेका उपाय ही नहीं है। शास्त्रमें कहा है, कि:—

नानाभावे मनो यस्य तस्य मोक्षो न विद्यते।

जिसका मन भेदज्ञान संयुक्त है, उसकी मुक्ति नहीं होती। फिर देखिये,—

नाना तन्त्रे पृथक् चेष्टा मय्योक्ता गिरिनन्दिनि।
ऐक्यज्ञानं यदा देवी तदा सिद्धिमवाप्नुयात्॥

महानिर्वाण तन्त्र।

हे गिरिनन्दिनि! नाना तन्त्रमें मैंने भिन्न भिन्न बातें कही हैं; जो व्यक्ति उन सबको एक समझकर अभिन्न ज्ञान करेगा, उसे सिद्धि लाभ होगा। महादेवजीने अपने ही मुंहसे बताया है—

शक्तिज्ञानं विना देवि मुक्तिर्हास्याय कल्पते।

हे देवि! शक्तिज्ञानके अतिरिक्त मुक्तिकी कामना हास्यजनक और वृथा है। यह शक्ति वैरागियोंकी महिमान्विता माताजी महाशया नहीं है; बल्कि वह निर्वाणपद देनेवाली आद्याशक्ति-भगवती कुण्डलिनी है। उसके स्वरूपका तत्त्व वर्णन करना साध्यातीत है।

यच्च किञ्चित् क्वचिद्वस्तु सदसद्वाखिलात्मके।
तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वं किं स्तूयसे तदा॥

चण्डि०।

जगत्में सदसत् जो कुछ भी शक्ति है, वह उसी आद्याशक्तिकी शक्तिस्वरूपा है। सुतरां उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म परा ब्रह्मज्ञान-विनोदिनी कुलकुठारघातिनी कुलकुण्डलिनी शक्तिकी स्वरूपशक्तिका वर्णन करने

की शक्ति मुझमें नहीं है। अतएव पाठकोंको चाहिये, कि धर्म्मका आडम्बर तथा रूढ़ीपन परित्याग करके उस चतुर्वर्णस्वरूपा, खेचरी-वायुरूपा, सर्वशक्तीश्वरी, महाबुद्धि-प्रदायिनी, मुक्ति-दायिनी, प्रसुप्त-भुजगाकारा (सोई हुई नागिनकी तरह) कुण्डलिनी शक्तिकी आराधना (भक्ति-भावना) करें, यही उनके लिये कर्त्तव्य है।

पराप्रकृति आद्याशक्ति ही नादरूपा है। सुतरां हृद्देशके जीवाधार पद्मसे स्वतः उत्थित यानी खुद-ब-खुद निकली हुई अनाहत-ध्वनि सुनकर साधकगण परमानन्द भोग कर सकते हैं एवं मुक्तिकी राहमें आगे बढ़ सकते हैं। शास्त्रकारगण सुनाते हैं, कि—

इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः।
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः॥

हठयोग प्रदीपिका।

मन ही इन्द्रियोंका मालिक है, क्योंकि मन संयोग न होने यानी मन न लगानेसे कोई इन्द्रिय भी काम करनेमें समर्थ नहीं रहती। मन प्राणवायुके अधीन है। इसीलिये वायु वशीभूत होते ही मनका लय हो जाता है। मन लय होकर नादमें अवस्थान करता है। नादका अर्थ अनाहत ध्वनि है। जब तक जीवात्मा और परमात्माका संयोग नहीं होता तबतक अनाहत-ध्वनिकी निवृत्ति नहीं होती। योगकी चरम सीमापर जीवात्मा और परमात्मा एकमें मिल जाते हैं। एवं इसके साथ ही साथ वह अनाहत-ध्वनि परब्रह्ममें लय हो जाती है।

शृणोति श्रवणातीतं नादं मुक्तिर्न संशयः॥

योगतारावली।

अतएव अश्रुतपूर्व (पहले कभी न सुना हुवा) अनाहत-नाद सुननेसे जीवकी मुक्ति होती है, इसमें जरा भी सन्देह नहीं है। मैं आशा करता हूं कि पाठकगण ये सब बातें समझकर दृढ़ विश्वासके साथ नाद-साधनमें प्रवृत्त होंगे। नाद-साधनका सहज उपाय यही है—

पहले कहे हुये जिस किसी भी कौशलसे हो सके कुण्डलिनी के चैतन्य होनेपर एवं ब्रह्मद्वार परिष्कार होने (खुल जाने) पर नाद की साधना शुरू करना चाहिये।

पहले पहल इड़ा-नाड़ी यानी बायें नथनेसे थोड़ी थोड़ी वायु आकर्षण करके फेफड़ेको वायुसे पूर्ण करना होगा। उसी समय स्नायुके प्रवाहमें मनः संयोग यानी मन लगाकर सोचना पड़ेगा कि मानो उस स्नायुका प्रवाह इड़ा-नाड़ीके भीतरसे नीचेकी ओर उतरकर कुण्डलिनी शक्तिके आधारभूत मूलाधार पद्मके उसी त्रिकोण पीठपर जोरसे चोट पहुँचा रहा है। ऐसा करके उस स्नायु-प्रवाहको थोड़े समयके लिये उसी स्थान पर धारण करना चाहिये। इसके बाद सोचना चाहिये, कि वह सब स्नायुओंकी सारी शक्तिके प्रवाहको साँस के साथ दूसरी ओर खींच रहा हैं। इसके बाद दाहिने नथनेसे धीरे धीरे वायु रेचन करना चाहिये। ऐसी ही प्रक्रिया रोज उषः-कालमें एकबार, दोपहरमें एकबार, शामको एकबार करनी पड़ेगी। फिर आधी रातको भी इसी तरह फेफड़ेको वायुसे पूर्ण करके दोनों हाथके अंगूठेसे दोनों कानके छेद बन्दकर वायु धारण करना चाहिये। अपनी शक्तिके अनुसार वायुको रोककर थोड़ी थोड़ी निकालना

चाहिये। बार-बार वायु धारण करते करते क्रमशः अभ्यास होनेपर दाहिने कानमें शरीरके भीतर शब्द सुनाई दिया करेगा।

जो व्यक्ति कुण्डलिनीको चैतन्य करना या इस सारी क्रियाको गोलमाल समझते हैं, उनके लिये और भी दूसरा सीधा उपाय है। यथाः—

नाभ्याधारो भवेत् षष्ठस्तत्र प्राणं समभ्यसेत्।
स्वयमुत्पद्यते नादो नादतो मुक्तिरन्ततः॥

योग स्वरोदय।

योग साधनके उपयुक्त स्थानमें जो किसी भी आसनसे माथा, गर्दन, और मेरुदण्ड (रीढ़) सीधे रखकर बैठे और एकाग्रचित्त एवं निश्चिन्त मनसे नाभि यानी तोंदीकी ओर टकटकी बांधके देखता रहे, तो इसी तरह तोंदीके स्थानमें दृष्टि और मन रखनेसे धीरे धीरे निःश्वास छोटा होकर कुम्भक होगा। नित्य होशियारीके साथ दिन-रातके बीचमें तीन-चार बार ऐसा ही अभ्यास करनेसे कुछ रोज बाद स्वयं (आपसे आप) नाद निकलेगा। थोड़ी थोड़ी वायु धारण करनेसे नाद-ध्वनि बहुत ही जल्द सुन पड़ती है।

इन दो कौशलोंमेंसे किसी भी क्रियाका अनुष्ठान करनेसे ही कृतकार्य्य हो जाओगे। पहले झींगुरकी झनझनाहट-जैसा यानी भृंगी जैसा झि-झि शब्द करते हैं, वैसा ही शब्द सुनाई देगा। उसके बाद क्रमशः साधन करते करते एकके बाद एकके हिसाबसे वंशीकी तान, बादलका गर्जन, झांझकी झनकार, भौंरेकी गुंज, घण्टा, घड़ियाल, तुरही, करताल, मृदङ्ग, प्रभृति नाना प्रकारके बाजोंके शब्द सिलसिलेसे

सुन पड़ेंगे ; ऐसे ही रोज अभ्यास करते करते नाना प्रकारकी ध्वनियाँ सुनी जाती हैं।

ऐसी ध्वनि सुनते सुनते कभी शरीर रोमाञ्चित हो जाता है ; कभी किसी प्रकारका शब्द सुननेसे शिर चक्कर खाने लगता है, कभी कण्ठकूप (गलेका गड्ढा) जलसे पूर्ण हो जाता है ; लेकिन साधक किसी ओर भी लक्ष्य न करके अपना काम करता रहे। मधु पीने वाला भौंरा जैसे पहले मधुकी खुशबूसे आकृष्ट होता है ; किन्तु मधु पीते समय मधुके स्वादमें इतना डूब जाता है, कि तब उसका खुशबूकी तरफ कुछ भी ध्यान नहीं रहता है ; वैसे ही साधक भी नादकी ध्वनिसे मोहित न होकर शब्द सुनते सुनते चित्तको लय करे।

इस प्रकार अधिक अभ्यास करने पर हृदयके भीतरसे अभूतपूर्व शब्द एवं उससे द्रुत प्रतिशब्द कानमें पहुँचेगा। उस समय साधक आँख बन्द करके अनाहत पद्ममें स्थित बाणलिङ्ग शिवके मस्तकपर निर्वात-निष्कम्प दीप-शिखा (दिएकी लौ) की भाँति ज्योतिःका ध्यान करे। ऐसे ही ध्यान लगाते लगाते अनाहत पद्मस्थ प्रतिध्वनिके भीतर ज्योतिः दर्शन करोगे।

अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः।
ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योतिरन्तर्गतं मनः॥

गोरक्ष संहिता।

उस दीप-कलिका (दिएकी लौ) के आकारमें ज्योतिर्म्मय ब्रह्ममें साधकका मन संयुक्त होकर ब्रह्मरूपी विष्णुके परम-पदमें लीन हो जायगा। उस समय शब्द बन्द हो जायगा एवं मन आत्म-तत्त्वमें

डूब जायगा। साधक सर्व-व्याधिसे मुक्त होकर तेजोयुक्त हो अतुल आनन्दका उपभोग करेगा। उस समयका वह भाव अनिर्वचनीय है! अवर्णनीय है!! उल्लेखनीय है!!!

आत्मज्योतिः दर्शन।

ज्योतिः ही ब्रह्म है। सृष्टिके पहले केवल एक मात्र ज्योतिः ही थी। पीछे सृष्टि शुरू होते ही ब्रह्मा, विष्णु शिवसे लेकर यह विश्व-ब्रह्माण्ड तक इसी ज्योतिःसे समुत्पन्न (पैदा) हुआ है।

स ब्रह्मा स शिवो विष्णुः सोऽक्षरः परमः स्वराट्।
सर्वे क्रीड़न्ति तत्रैते तत्सर्वेन्द्रियसम्भवम्॥

वही स्वप्रकाशरूपी अक्षर परम ज्योतिः ही ब्रह्मा, विष्णु, शिव वाच्य है। निखिल विश्व-ब्रह्माण्ड उसी ज्योतिःके बीचमें क्रीड़ा (खेल) कर रहा है एवं जो कुछ इन्द्रियके ग्राह्य (ग्रहण करनेके) विषय हैं, वे सभी उस ब्रह्मज्योतिःसे उत्पन्न हुए हैं। यह ज्योतिः ही आत्माके रूपमें मानवकी देहके भीतर सब जगह व्याप्त होकर अवस्थान कर रही है। आत्मा ब्रह्मका रूप होने पर भी मायाके प्रभावसे विषयाशक्त हो जाने पर अपनेको आप नहीं जानता है। परम ब्रह्मस्वरूप परमात्मा सभी देहमें विराज रहा है। यथा :—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्म्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेतो केवलोनिर्गुणश्च॥

श्रुतिः।

एकदेव परमात्मा ही सर्वभूतमें गूढ़रूपसे अधिष्ठित है। वह सर्वव्यापी, सर्वभूतका अन्तरात्मा, कर्म्मका अध्यक्ष, सकल भूताधिवास, साक्षी, चैतन्य, केवल और निर्गुण है। जैसे दूधमें मक्खन, फूलमें खुशबू एवं लकड़ीमें आग रहती है, वैसे ही देहमें आत्मा अधिष्ठित है।

सभी मानवोंकी प्रकाश्य (बाहरी) दो आँखोंको छोड़कर और एक गुप्त आँख होती है, उस तीसरी आँखको ही गुरुनेत्र कहते हैं। योगसाधनके द्वारा चित्त निर्म्मल (साफ) और स्थिर होनेसे ही वह गुरुनेत्र प्रकाशित होता है, तब भूत, भविष्यत् और बहुत दूर-दूरान्तरकी घटना (कार्य) प्रत्यक्ष देखी जाती है। उसी गुरुनेत्र या ज्ञानचक्षु द्वारा आज्ञा-चक्रके ऊर्ध्वपर निरालम्ब-पुरीमें ईश्वर-दर्शन वा इष्टदेव संदर्शन वा कुल-कुण्डलिनीका स्वरूप-रूप-प्रत्यक्ष देख पड़ता है। उसी ज्ञान-नेत्रसे ही देहमें रहनेवाले ब्रह्मस्वरूप परमात्माका स्वप्रकाश ज्योतिः-दर्शन किया जाता है। यथा :—

चिदात्मा सर्वदेहेषु ज्योतिरूपेण व्यापकः।
तज्ज्योतिश्चक्षुरग्रेषु गुरुनेत्रेण दृश्यते॥

योगशास्त्र।

चिदात्मा ज्योतिःरूपसे सभी देहमें परिव्याप्त (फैला हुआ) है; गुरुनेत्र द्वारा आँखके आगे वह देखनेमे आता है। वह आत्मज्योतिः सर्वथा शान्त, निश्चल, निर्म्मल, निराधार, निर्विकार, निर्विकल्प और दीप्तिमान है। दूधको मथनेसे जैसे मक्खन निकलता है, वैसे ही क्रियाके अनुष्ठानसे आत्मदर्शन होने पर ही जीवात्मा मुक्ति लाभ

करता है। अतएव सबसे पहले यत्नके साथ आत्मदर्शन करना कर्त्तव्य है। शास्त्रवाक्य यह है :—

आत्मदर्शन मात्रेण जीवन्मुक्तो न संशयः ॥

अर्थात् "केवलमात्र आत्मदर्शनसे ही मानव अवश्य जीवन्मुक्त हो जाता है।" अतएव सभीको आत्मज्योतिःका दर्शन करना कर्त्तव्य है। दूसरे प्रकारके योग साधनकी अपेक्षा आत्मज्योतिः दर्शन-क्रिया सीधी और आरामसे होनेवाली है। उस ब्रह्मस्वरूप ज्योतिःके दर्शनका उपाय यह है :—

योग साधनके उपयोगी स्थानमें, साधक स्थिरचित्तसे नियमानुसार आसनपर (जिसको जिस आसनका अच्छी तरहसे अभ्यास है) बैठे और ब्रह्मरन्ध्रमें विराजने वाले शुभ्राब्जमें (सफेद कमलमें) गुरुदेवका ध्यान करनेके बाद प्रणाम करे। गुरुकृपाके अतिरिक्त ज्योतिःरूप आत्म दर्शन नहीं होता है। शास्त्रमें लिखा है—

अनेकजन्मसंस्कारात् सद्गुरुः सेव्यते बुधः।
सन्तुष्टः श्रीगुरुर्देव आत्मरूपं प्रदर्शयेत् ॥

योगशास्त्र ॥

अनेक जन्म-जन्मान्तरके संस्कारके कारण ही पण्डित व्यक्ति सद्गुरुके आनन्द दान कर सकने पर गुरुदेवकी कृपासे ही साधकके नाते आत्मरूप दर्शन कर सकता है। अतएव गुरुदेवके ध्यान और प्रणामके बाद मनःस्थिर करके मस्तक (माथा), गर्दन, पीठ और उदर बराबर रखकर अपने शरीरको सीधा संभाल कर बैठ जाये। इसके बाद नाभिमण्डलपर (तोंदीके चक्कर पर) दृष्टि स्थिर रख कर

यानी टकटकी बांध कर उड्डीयान बन्धका साधन करे। अर्थात् तोंदीके नीचे रहनेवाले अपान वायुको गुह्यदेशसे उठाकर नाभिदेशमें कुम्भक द्वारा धारण करे। इसमें यथाशक्ति बार-बार वायुको धारण करना पड़ेगा।

त्रिसन्ध्यां मानसं योगं नाभिकुण्डे प्रयत्नतः।

महानिर्वाण तन्त्र। १३ पः

इस तरहका मानस-योग त्रिसन्ध्या करना पड़ेगा; यानी रोज ब्राह्ममुहूर्त्तमें, मध्याह्नकालमें (दोपहर) और सन्ध्याकालमें (शामको) —इन तीनों समय पर कही हुई विधिसे वायुको धारण करे; और जबतक नाभिमें रहनेवाली अग्निको जय नहीं कर ले, तबतक उसे अनन्यमनसे इसी तरह अनुष्ठान करना चाहिये।

नाभिकमलसे (तोंदीके चक्रसे) तीन नाड़ी तीन तरफको गयी हैं। एक ऊर्ध्वमुखसे सहस्र दल पद्म तक, एक अधोमुखसे आधार पद्म तक, और एक मणिपुर पद्मके नाल स्वरूप है। यह नाड़ी सुषुम्णाके बीचमें रहनेवाले मणिपुरपद्मके साथ ऐसे ढंगसे संयुक्त है, कि मानो मणिपुर पद्मनालमें ही नाभिपद्म अवस्थित हो। इसीलिये सब तरहके योग साधनका सीधा और श्रेष्ठ पन्था (राह) नाभिपद्म है। नाभिदेशसे साधन शुरू करनेसे शीघ्र सफलता मिलती है। नाभिस्थानमें वायु धारण करनेसे प्राण और अपान वायुका एकत्व (एकमें मिल जाना) होता है एवं कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्णा द्वार (दरवाजा) परित्याग करती है, उस समय प्राणवायु सुषुम्णाके भीतर घुसता है।

पहली क्रिया नाभिस्थानसे शुरू न करनेसे कृतकार्य्य होना—सफलता लाभ करना—मुश्किल है। अनेक लोग पहलेसे ही एकदम आज्ञाचक्रमें ध्यान लगानेका उपदेश देते हैं, लेकिन वह चेष्टा विफल होती है। मैंने योग क्रियाकी आलोचनासे जो क्षुद्र-ज्ञान लाभ किया है, उससे समझ लिया है, कि "घोड़ा डिंगाईया घास खावार न्याय" यानी जिसकी सहायतासे दूसरेके पास स्वीय-कार्य साधनके लिये गया था, उसकी उपेक्षा कर चुपकेसे अपना कार्य-सम्पन्न करनेकी चेष्टा करनेकी भाँति पहले ही वैसा करनेसे कभी भी मनकी स्थिरता या चित्तकी एकाग्रता अथवा कुण्डलिनीका चैतन्य नहीं होगा। जो लोग प्रकृत साधनके अभिलाषी यानी इच्छा रखनेवाले हैं, वे तोंदीसे काम शुरू करें ; ऐसा करनेसे फल भी प्रत्यक्ष देख पड़ेगा।

नित्य नियमित रूपसे इसी तरह नाभिस्थानमें वायु धारण करनेसे प्राणवायु अग्निस्थानमें गमन करता है। उस समय अपान वायु द्वारा शरीरस्थ अग्नि क्रमशः उद्दीप्त (जलना) हो उठेगी। इस तरह क्रिया करते करते आठ-दश महीनेमें ही नाना प्रकारके लक्षणोंका अनुभव होगा। नादकी अभिव्यक्ति यानी ध्वनि सुन पड़ना, देहका हलकापन, मलमूत्रकी कमी एवं जठराग्निकी दीप्ति यानी उदरकी अग्निकी उद्दीपना आदि नानारूप लक्षण प्रकाश पाते हैं। नियमित रूपसे रोज इस तरह अनुष्ठान कर सकनेसे तीन चार महीनेके बीचमें भी ऊपर कहे हुये लक्षण प्रकाश पा सकते हैं।

ऊपर कहे हुए लक्षण प्रकट होनेपर भी नाभिस्थानमें कुम्भक करके प्रसुप्त नागेन्द्रकी भाँति (सर्पकी तरह) पञ्चावर्त्ता (पाँच बार

गुछली खाई हुई) बिजलीकी जैसी कुण्डलिनीका ध्यान करे। इस तरह वायुको धारण करनेसे एवं कुण्डलिनी का ध्यान धरनेसे, कुण्डलिनी आगसे जलकर वायु द्वारा फनको फैलाकर जग उठेगी। जितने दिन मन पूर्णतम भावसे नाभिस्थानमें संलीन (एकाग्र) नहीं होगा, उतने दिनों तक इसी तरह क्रियाका अनुष्ठान करना होगा।

कुण्डलिनी जगकर ऊर्ध्वमुखसे चलने पर प्राणवायु सुषुम्णाके भीतर पहुँचेगा ; एवं समस्त वायु एकमें मिलकर अग्निके साथ सारे शरीरमें घूमा करेगा। योगिगण इस अवस्थाको "मनोन्मनी" सिद्धि कहते हैं। इस समय अवश्य ही सर्वव्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं और शरीरमें बल बढ़ता है एवं कभी कभी समुज्ज्वल दीप-शिखाकी भाँति ज्योतिः दर्शन भी मिला करता है। इस तरहके लक्षणोंका अनुभव होनेसे उस समय नाभिस्थान त्याग करके अनाहत पद्ममें काम शुरू करना चाहिये। इस जगह भी रोज त्रिसन्ध्याको यथा-नियम आसन पर बैठ मूल-बन्ध साधन करे। अर्थात् मूलाधारको सिकोड़ कर अपान वायुको आकर्षण करके प्राणवायुमें मिलाकर कुम्भक करे। प्राणवायु हृदयमें रुकनेसे सभी पद्म ऊर्ध्वमुख यानी ऊपरकी तरफ मुंह उठाकर फैलेंगे। अनाहत पद्ममें वायु धारण करनेका अभ्यास करते करते प्राणवायु अनाहत पद्ममें घुसकर स्थिर हो जायगी। उस समय दोनों भौंहोंके बीचकी जगह तक सुषुम्णा विवरमें नव-जलद् जालमें सौदामिनीकी भाँति यानी नये बादलकी घन-घटामें जैसे बिजली चमकती है, वैसी ज्योतिः सदाके लिये प्रकाशित होती रहेगी। उस समय साधककी आँखें खुली हो

या वन्द हों, सर्वावस्थामें—भीतर एवं बाहर निर्वात् दीप-कलिकाकी भाँति ज्योतिः देख पड़ेगी ।

उक्त तथा अन्य सब लक्षण भली भाँति समझ लेनेपर वीजमन्त्र (ब्राह्मणगण प्रणव उच्चारण भी कर सकते हैं) उच्चारण करते करते अग्निके साथवाले प्राणवायुको आकर्षण पूर्वक दोनों भौंहोंके वीचवाले आज्ञा-चक्रमें धारण करके आत्माका ध्यान करे । आज्ञा-चक्रमें वायुको धारण करके इस तरह ध्यान करते करते चित्त एकदम लय प्राप्त होगा । इसी समय सहस्रारसे गिरी हुई अमृत-धारासे साधकका कण्ठकूप पूर्ण हो जायगा—ललाटमें बिजलीकी भाँति समुज्वल आत्म-दर्शन लाभ होगा । उस समय देवता, देवोद्यान, मुनि, ऋषि, सिद्ध, चारण, गन्धर्व आदि अदृष्ट पूर्व, अपूर्व दृश्य साधकको दिखाई देंगे । साधक उस अभूत-पूर्व परमानन्दमें डूब जायगा । फल-स्वरूप—गुरुकी कृपासे मैंने इस समयका जो भाव अनुभव किया है, उस अव्यक्त भावको लेखनीके सहारे प्रकाश करना मेरी पहुँचके बाहर है । भुक्तभोगीके सिवा वह भाव दूसरेके लिये हृदयङ्गम कर सकना (समझना) असम्भव है ।

जब तक कोदण्डके बीचमें चित्त पूर्ण रूपसे लीन न हो जाय, तबतक यथानियम वार-वार वायुको धारण करे एवं ललाटके बीचमें वीजमन्त्ररूप पूर्ण चन्द्रमाकी भाँति आत्म-ज्योतिःका ध्यान करे । धीरे धीरे वे सारे लक्षण देख पड़ेंगे । साधक काम कलाके त्रिविन्दुके साथ मिल जायगा एवं ललाटमें रहनेवाला ऊर्ध्व विन्दु प्रकाश पायगा । फिर और चाहिये ही क्या ?—मानव-जीवन धारण करना सार्थक

होगा ! ज्ञान उपार्जन करना सार्थक होगा !! साधन-भजन सार्थक होगा !!!

जिसका मस्तिष्क (दिमाग) सबल है एवं जिसे सिर और आँखकी कोई बीमारी नहीं है, वह और भी सीधे उपायसे आत्म-ज्योतिः दर्शन कर सकता है। रातको घरके भीतर निर्वात् स्थानमें (जहाँ हवा नहीं लगती है) सीधे बैठकर अपनी आँखके ठीक सामने किसी भी उच्च स्थान पर मिट्टीसे बना हुवा दीपक सरसों या रेड़ीके तेलसे जलाकर रखे। इसके बाद पहले बताये हुवे नियमसे गुरुके ध्यान एवं प्रणामके बाद उस जलते हुए दीकपकी रोशनी स्थिर दृष्टिसे देखता रहे। जबतक आँखोंमें जल नहीं आने लगे तब तक देखता रहे। इस तरह अभ्यास करते करते जब दृष्टि (नजर) जम जायगी, तब एक मटर जैसी नीले रंगकी ज्योतिः देख पड़ेगी। क्रमशः और भी ज्यादा अभ्यास करनेसे उस दियेकी रोशनीसे दृष्टि (नजर) हटाकर जिस ओर देखोगे दृष्टिके सामने वही नीलाभ ज्योतिः दीख पड़ेगी। उस समय साधक आँख मूंद कर भी इस तरहकी ज्योतिः देख सकेगा। इस क्रियाको शुरू करनेसे पहले मन स्थिर करनेके लिये कुछ देर टकटकी बांधकर नाभिस्थानको देखना पड़ता है।

इस तरह अभ्यास करते करते जब भीतर और बाहरमें नीले रङ्गकी ज्योतिः देख पड़ेगी, तब अनन्यमन या एक दिलसे इस दृष्टिको हृद्देशमें लाना चाहिये। वहाँसे नाककी नोकपर एवं उसके बाद भौंहोंके बीचकी जगह ले जाय। भौंहोंके बीचमें दृष्टि जम

जाने पर शिवनेत्र बनाना चाहिये। शिवनेत्र बनकर जब आँखकी पुतलीका थोड़ा-सा अंश या वह सारी ही घूम सकेगी, तब बिजलीकी भाँति दिएकी ज्योतिः देख पड़ेगी। आँखकी पुतली घुमाने पर पहले कुछ अँधेरा-सा मालूम होगा, लेकिन साधक उससे न घबड़ाकर धीरजके साथ कुछ देर ठहरेगा वो, बादमें उसे ज्योतिः देख पड़ेगी। वह परमात्मा-स्वरूप ज्योःतिका दर्शन लाभ करके शान्त-चित्तसे परमानन्द लाभ करेगा। इसी प्रकार जलके बीचमें, सूर्य्यके प्रतिबिम्ब पर दृष्टि (नजर) साधन करके भी आत्मज्योतिःका दर्शन किया जा सकता है। यदि किसीको—

इष्ट-देवताका दर्शन

—करनेकी इच्छा हो तो थोड़ीसी कोशिशसे ही वे कृतकार्य्य हो सकते हैं। साधन-प्रणाली या कोई दूसरा नियम भी कुछ नहीं है ; सिर्फ चित्तकी एकाग्रता सम्पादन करनी पड़ती है। इन्द्रियकी राहसे बाहर गई हुई, भिन्न भिन्न विषयोंमें विक्षिप्त (चञ्चल) और अनेक स्थान पर फैली हुई चित्त-वृत्तिको यदि यत्न और अभ्यासके द्वारा, मार्ग रोककर एकाग्र कर सकें, यानी सिलसिलेके नियमानुसार सिकोड़कर पुञ्जीकृत (सटाया या इकट्ठा किया) वा केन्द्रीकृत (मिलाना) किया जा सके, तो उस पुञ्जीकृत वा केन्द्रीकृत चित्तवृत्ति के सामने कोई भी बात क्यों न हो, उसका सारा भेद अवश्य ही

प्रकाश हो जायेगा। इसी तरह किसी भी चीज पर चित्त-वृत्तिको निरोध कर सकनेसे यानी अटकानेसे, वह ध्येयाकारमें यानी सोची जानेवाली चीजके आकारमें हृदयमें उदय हो जाती है। पूर्वोक्त आत्मज्योतिःके दर्शनके ही नियमानुसार यदि किसी भी क्रियाका अनुष्ठान करके कृतकार्य्य यानी फल लाभ होनेपर, जब भौंहोंके बीचमें ज्योतिः-शिखा देखनेमें आवेगी एवं चित्त शान्त हो जायगा, तब गुरुकी बताई हुई इष्ट मूर्त्तिका चिन्तन करते करते आत्मा ध्येयानुरूप मूर्त्ति यानी जैसी चिन्तन की जाती है, वैसे ही मूर्त्ति ज्योतिःके भीतर प्रकाश पाती है। इसी तरह काली, दुर्गा, अन्नपूर्णा, जगद्धात्री, शिव, गणपति, विष्णु, राम, कृष्ण या राधाकृष्ण, शिव-दुर्गाका युगल रूप आदि उसी ज्योतिःके बीचमें देखे जा सकते हैं।

सूर्य्यमण्डलके बीचमें भी इष्टदेव किम्वा दूसरे देव देवीका दर्शन मिल सकता है। क्योंकि सूर्य्यमण्डलके बीचमें ही हमारे भजनीय पुरुष अवस्थान कर रहे हैं।

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्त्ती
नारायणः सरसिजासन सन्निविष्टः ॥

इससे साफ प्रकट हो रहा है, कि सूर्य्यमण्डलके बीचवाले सरसिज आसन पर हमारे ध्येय नारायण अवस्थान कर रहे हैं। हम लोग गायत्रीके द्वारा भी उन्हें सूर्य्यमण्डलके बीचमें रहनेवाला कहकर ध्यान लगाया करते हैं। ऋग्वेदमें भी इस सूर्य्यमण्डलके बीचमें रहनेवाले परम-पुरुषका स्वरूप जाननेके लिये अनेक स्थानपर आलोचना हुई है। यथाः—

इह ब्रवीतु य इमं गां वेदास्य वामस्य निहितं पदं वः ।
शीर्ष्णः क्षीरं दुह्यते गावो अस्य वव्रिं वसना ऽउदकं पदापुः ॥

ऋग्वेद, १ मण्डल, १६४ सूक्त ।

यानी जिस ऊंचे आदित्यकी किरणें पानी बरसाती हैं, एवं जो अपना रूप बढ़ाकर किरणसे उदक पीते हैं, उन्हीं आदित्यके भीतर भजनीय पुरुषका स्वरूप जो अवगत हैं, वे कौन हैं ? वह मुझे शीघ्र बताओ ।

तभी तो देखिये, कि सबके ही ध्येय पुरुष सूर्य्यमण्डलके बीचमें विराजित हैं । कोशिश करनेसे ही साधक उनके दर्शन कर सकते हैं । दर्शनका उपाय यह है ;—

पहले साधक टकटकी बांधकर सूर्य्यकी ओर दृष्टिपात करनेका (नजर जमानेका) अभ्यास करे । इसमें पहले पहल तकलीफ हो सकती है ; किन्तु अभ्याससे दृष्टि (नजर) दृढ़ हो जानेपर निर्म्मल और निश्चल ज्योतिः प्रत्यक्ष आँखमें चमकने लगेगी । उस समय गुरूपदिष्ट अपनी अपनी इष्ट-मूर्त्तिका चिन्तन करते करते सूर्य्यकी ज्योतिःमें इष्ट देवताका दर्शन पा सकते हैं ।

जिसका मस्तिष्क कमजोर है, किम्वा जिसे आँखकी कोई बीमारी है, उसे सूर्य्यमण्डलमें दृष्टि साधन करनेसे मना करता हूँ, वे पहले कहे हुये नियमोंसे ही इष्ट-देवका दर्शन करें ।

अन्यान्य देवताओंके दर्शन पानेमें जैसे साधनकी जरूरत होती है, उससे बहुत कम कोशिश करने पर ही राधाकृष्णके युगलरूपका दर्शन हो सकता है । क्योंकि भाव तो कृष्ण और प्राण राधा है ;

ये दोनों सर्वदाके लिये सारे जगत्‌में मिले हुए एवं समस्त जीवनमें व्याप्त होकर अवस्थान कर रहे हैं। सुतरां भाव और प्राणके ऊपर चित्त-वृत्तिको रोक सकनेसे, भाव और प्राण दोनों एकमें मिलकर युगल रूपमें हृदय पर उदय होते हैं। फिर कालीकी साधनामें तो और भी थोड़े समयमें ही सफलता लाभ कर सकते हैं। क्योंकि काली देवी हमारे सर्वाङ्गमें समायी हुई हैं। अज्ञ लोक हिन्दूधर्म्मके गूढ़ (कठिन) रहस्यको न समझ सकनेसे ही हिन्दुओंको जड़ोपासक और कुसंस्काराच्छन्न कहा करते हैं। उनकी दृष्टि चिर प्ररूढ़ (बहुत दिनोंसे जमे हुए) संस्कारोंके शासनसे मोटी बनायी गयी पत्थरकी चहार-दीवारी पार करना नहीं चाहती—जड़के अतिरिक्त और भी कुछ है, ऐसा वे नहीं समझते हैं ; इसीलिये वे ऐसा कहते हैं। हिन्दू धर्म्मके गहरे और सूक्ष्म आध्यात्मिक भाव एवं देवी-देवताओंके निगूढ़ तत्त्वको हिन्दू जितने समझते हैं, उनके पैरोंतक पहुँचना भी दूसरे धर्म्मावलम्बियोंके लिये बड़ी देरका काम है। हिन्दू जड़ोपासक और पौत्तलिक (मूर्ति पूजा करनेवाले) क्यों हैं ? इसका रहस्य किसी आध्यात्मिक तत्त्वदर्शी हिन्दूसे पूछने पर सदुत्तर मिल सकता है। हिन्दुगण निखिल विश्व-ब्रह्माण्डमें इन्द्रियोंसे सम्बन्ध रखनेवाले जो कुछ भी विषय हैं—उन सभीमें ही भगवान्‌का रूप प्रत्यक्ष करते हैं—इसीलिये तो मिट्टी, पत्थर, वृक्ष, पश्वादिकी पूजाका आयोजन (तैयारी) करके भी भगवान्‌की विराट विभूति पर ही वे लक्ष्य करते हैं। हिन्दू जिस भावसे भूले हैं, जड़वादीका उसे हृदयङ्गम कर सकना अत्यन्त कठिन है। हिन्दू धर्म्मके गहरे

ज्ञानवाले समुद्रकी उछलती हुई लहर इस छोटेसे ग्रन्थरूपी गोष्पदमें प्रकाश नहीं हो सकती ; विशेषतः उस विषयको इस पुस्तकमें लिखने का उद्देश्य भी नहीं है। *

आत्म-प्रतिविम्ब दर्शन।

साधक इच्छा करनेसे अपने भौतिक देहका ज्योतिर्म्मय प्रतिविम्ब भी देख सकता हैं। उसके साधनका नियम भी बहुत सीधा एवं सर्वसाधारणके करने योग्य भी है। आत्म-प्रतिविम्ब दर्शनका उपाय यही है,—

गाढ़ातपे स्वप्रतिविम्वमीश्वरं
निरीक्ष्य विस्फारितलोचनद्वयम्।
यदाऽङ्गणे पश्यति स्वप्रतीकं,
नभोऽङ्गणे तत्क्षणमेव पश्यति ॥

जब आकाश निर्म्मल और साफ हो, तब बाहर धूपमें खड़े होकर स्थिर दृष्टिसे आत्म-प्रतिविम्ब यानी अपनी छाया देखते हुये पलक न झपकाकर आकाश पर दोनों आँखें फैलाये। ऐसा करनेसे आकाशमें शुक्ल-ज्योतिः विशिष्ट अपनी छाया देख पड़ेगी। ऐसा अभ्यास करते करते चत्वरमें (चबूतरे और आंगनमें) भी आत्म-

---

* मत् प्रणीत "ज्ञानीगुरु" ग्रन्थमें इन सब विषयोंका सविशेष गुह्-तत्त्व आलोचित किया गया है।

प्रतिविम्ब देख पड़ेगा। उसके बाद धीरे धीरे वही प्रतिविम्ब चारों ओर देख पड़ेगा। इस प्रक्रियामें सिद्ध हो जानेपर साधक आकाशमें चलनेवाले सिद्ध पुरुषोंके दर्शन पा सकता है।

रातको चाँदनीमें भी यह क्रिया साधन कर सकते हैं। योगिगण इसे "छाया-पुरुष साधन" कहते हैं। इस आत्म-प्रतिविम्बको देख कर साधक अपना शुभाशुभ (भला-बुरा) और मृत्युका समय भी आसानीसे समझ सकता है।

देवलोक दर्शन।

साधक इच्छा करनेसे वैकुण्ठ, कैलाश, ब्रह्मलोक, सूर्य्यलोक इन्द्रलोक, आदि देवलोक एवं देवताओंकी विगत हुई लीलाएँ भी देख सकता है। क्षुद्र-हृदयवाले कम ज्ञानी व्यक्तिगण शायद-यह बात सुनकर उच्चहास्यसे (खिल-खिल हँसकर) दिग्दिगन्त प्रतिध्वनित करके कहेंगे, कि—"जो शास्त्र ग्रन्थमें लिखा है, अथवा साधु-संन्यासी या शास्त्रज्ञ पण्डितगणके कण्ठमें अवस्थित है, उसे कैसे देख सकते हैं? यह बात तो सिर्फ विकृत (बिगड़े) मस्तिष्कका प्रलाप मात्र है।"

अनभिज्ञताके कारण कोई कुछ भी कहे, लेकिन मुझे मालूम है, कि हम उसे जरूर देख सकते हैं। देव-देवीकी लीला-कथा शास्त्रोंमें पढ़ते-पढ़ते या सुनते-सुनते मानवके चित्तमें उसकी सौन्दर्य्य-ग्राहिताके

फलके अनुसार देव मूर्तिका रूप बैठ जाता है ; उस समय वह उसी देवताकी लीला-कथा अत्यन्त तन्मयताके (एकाग्र मनके) साथ सुना करता है। सुनते-सुनते वह सब विषय स्वप्नमें देखने लगता है। उसके बाद जागनेकी अवस्थामें भी वह विषय उसके सामने प्रकाश पाता है। दूसरी बात यह है कि—जो एकबार हुवा है, वह कभी नहीं मिटता ; उसका संस्कार जगत् अपनी छाती पर कितने ही युग-युगान्तर तक धारण कर रखता है। फिर एक बात यह भी है, कि जो काम जितना ही शक्तिशाली (ताकतवर) होता है, उसका संस्कार भी उतना ही प्रस्फुट (खिली हुई) अवस्थामें रहता है। साधनाके बलसे उसी संस्कारको जगा देने पर फिर वह लोगोंकी आँखके सामने भी उदय हो जाता है।

साधनासे चित्तको एक ओर लगा सकनेसे हृदयमें जो कँप-कँपी पैदा होती है, वही (कँप-कँपी) भावके राज्यमें जा पहुँचती है। भाव खिलकर उसकी क्रियाको मूर्त्तिमती (शकल देकर) आँखके सामने लाता है। अतएव अपने चित्तके अनुसार किसी भी देवलोककी ओर मनकी एकाग्रता सम्पादन कर सकनेसे ही, साधक उसके दर्शन कर सकता है।

योगके साधनसे जिसका चित्त स्थिर और निर्म्मल होकर ज्ञान-नेत्रोंका प्रकाश हो गया है, उसके सिवाय विषयासक्त चञ्चल चित्त व्यक्तिके लिये देवलोक वा गतलीलाका दर्शन करना मामूली बात नहीं है। दिव्य चक्षुके बिना भगवान्के ऐश्वर्य्यका कोई भी दर्शन नहीं कर सकता है। गीतामें लिखा है, कि—नाना प्रकारके

योगोपदेशसे भी जब अर्ज्जुनका भ्रम (अज्ञान) दूर न हुवा, तब भगवान्‌ने विश्वरूपको धारण किया ; लेकिन उनकी विराट मूर्त्ति अर्ज्जुनकी आँखें न देख सकीं ; तब उससे भगवान् श्रीकृष्णने कहा :—

न तु मां शक्यसि द्रष्टु मनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥

गीता ११।८।

तब ही देखिये, जब भगवान्‌का प्राण-प्रिय मित्र होकर भी अर्ज्जुन उनकी विराट मूर्त्ति देख न सका तब दूसरेकी कौन बात है ? पहले-पहलका साधन करके चित्त निर्म्मल होने पर एवं एकाग्रता साधनेसे ही देवलोक और गतलीलाको देखनेकी कोशिश करनी चाहिये। देवलोक-दर्शनका उपाय यह है :—

"आत्मज्योतिः-दर्शन" के नियमानुसार साधन करते हुए जब चित्त लय होगा एवं ललाटमें बिजली-जैसी समुज्ज्वल आत्मज्योतिः देख पड़ेगी, तब इस ज्योतिःके भीतर अपने मनके अनुसार जिस किसी भी देवलोकका चिन्तन करने लगोंगे, उसी चिन्तनके अनुसार वह स्थान मूर्त्तिमान होकर आत्म-ज्योतिःके भीतर प्रकाशित होगा। सर्वसाधारणके लिये और भी उपाय है :—

एक टुकड़ा धातु या पत्थरका सामने रख उस पर मनःसंयोग पूर्वक (मन लगा कर) विना पलक मारे आँखसे देखते रहो। पहले-पहल एक मिनट, फिर दो मिनट इस हिसाबसे समयको बढ़ाते जाओ। धीरे धीरे देख पड़ेगा कि चित्तकी एकाग्रताकी लम्बाईके

साथ ही साथ वह स्थान (धातु या पत्थर) भी मनमानी जगहकी तरह सर्वप्रकारकी शोभाओंसे शोभायमान दिखाई देता है।

चित्तकी एकाग्रताके साधनमें सिद्धिलाभ करनेसे जगत्में ऐसा कुछ भी नहीं है, जो उसके हाथमें नहीं आ सकता एवं जगत्में ऐसा कठिन काम भी कुछ नहीं है, जिसे वह नहीं कर सकता। अनन्तमना मन जो अनन्तकी ओर फैला है, उसकी उस गतिको रोक कर एक ओर लगा सकनेसे ही अलौकिक (अनोखी) शक्तिलाभ की जा सकती है। न्यायके मतमें इच्छा आत्माका गुण मानी गयी है। यथा—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति।

न्याय दर्शन।

अतएव चित्तको एकाग्र करके इच्छा-शक्तिके साधन बलसे जगत्में हम असम्भवको भी सम्भव बना सकते हैं। भारतके मुनि-ऋषिगण जो मानवको पत्थरमें, लकड़ीकी नावको सोनेकी नावमें, चूहेको शेरके रूपमें बना देते थे—वह भी इसी साधनके बलसे। इच्छा-शक्तिके प्रभावसे पल भरमें बीमारकी बीमारी छूट जाती है, मानव वशीभूत हो जाता है, आकाशके ग्रह नक्षत्र भूतलमें लाये जा सकते हैं, जेठकी गर्मीसे जलते हुये आकाश पर नये बादलकी सृष्टि की जा सकती है, नवद्वीपमें बैठकर वृन्दावनकी खबर ला सकते हैं, फल-स्वरूप सारे ही असाध्य काम सुसाध्य किये जा सकते हैं। पाश्चात्य देशोंमें रहनेवाले जो मेस्मेरीज्म, मीडियम, हिपनोटिज्म, मानसिक वार्त्ता-विज्ञान, साईकोपेथी, क्लायारमयेन्स आदि अनोखी

अनोखी बातें दिखाकर जीव जगत्को मोहते और अचम्भेमें डालते हैं ; वे भी इसी चित्तकी एकाग्रता और इच्छा-शक्तिके बलसे ही सम्पादन करते हैं। 'पायोनियर' नामक अंगरेजी अखबारके सम्पादक सिनेट साहेबने थियासफिष्ट सम्प्रदायके चलानेवाले मेडम ब्लावाटास्कि (Madam Blavatasky) चित्तकी एकाग्रता और इच्छाशक्तिका साधन करके कैसे अनोखे और अचम्भेके तमाशे दिखला कर मर्त्यजगत्के मानवगणको मुग्ध (मोहित) करते थे, वह सब प्रत्यक्ष देखकर पत्रमें प्रकाशित किया था। मानव इच्छा करनेसे जब इस नर-देहमें देवत्त्व लाभ कर सकता है, तब देवलोकके दर्शन करना कौनसी बड़ी बात है ?

हिन्दू शास्त्रोंमें ऐसे सैकड़ों प्रमाण रहने पर भी विलायती प्रमाण लिखनेके कारण, कोई नाक-भौं न सिकोड़े ; क्योंकि वर्त्तमान युगमें यही नियम सब जगह चलता है। देशकी जूही, चमेलीको कोई नहीं पूछता, लेकिन उसीका फूल विलायत पहुँच कर रसायनिक विश्लेषणसे एसेन्सके रूपमें वापस आने पर नव्य-सभ्यगण अत्यन्त यत्नके साथ—समादरसे उसे व्यवहार करते हैं। कितने ही लोग माँ-बहनसे बात करते भी दो-चार अङ्गरेजी शब्दकी चटनी पीस डालते हैं। मैंने उसी सभ्य-सम्मत सनातन नियमको जारी रखनेके लिये यह पाश्चात्य प्रमाण सन्निवेशित किया है। अतएव कोई इससे नाराज न हो या लाल-लाल आँखें निकाल कर कड़ी बात न सुनाये। आशा है कि पाठकगण सुसंयत चित्तसे अनन्य मन-पूर्वक क्रियाका अनुष्ठान करके देवलोक दर्शनकी सत्यता (सचाई) उपलब्ध करेंगे।

यदि किसी एक चीजको दश व्यक्तियोंने दश दिशाओंसे भी आकर्षण किया तो उसकी गति बराबर ही रहेगी ; लेकिन दश व्यक्तिने यदि एक ओर ही खींचा तो उसकी गति कैसी होगी, यह आसानीसे ही मालूम पड़ सकता है। इसी तरह अनन्त दिग्में चलनेवाले मनकी गति रोक कर सर्वतोभावसे एकमुखी (एक ओर) कर सकने पर जगत्में कुछ भी असम्भव नहीं रहता है, फिर भी नियमके अनुसार क्रमशः विचार और युक्तिके द्वारा साधन करना चाहिये। वाह्य-विज्ञानमें जैसी शक्ति, जैसे विचार और बुद्धिका प्रयोजन होता है, इसमें भी उनकी वैसी ही आवश्यकता होती है। अन्तमें कहना यही है, कि सभी लोग चित्तकी एकाग्रताके साधन-पूर्वक समस्त दुःख दूर करके जीवनमें सुखका वसन्त लानेकी चेष्टा करें। किन्तु यह स्मरण रहे, कि चित्तकी एकाग्रता साधना ही योगका मुख्य उद्देश्य है।

मुक्ति।

नित्य और अनित्य वस्तुके विचारसे नित्यवस्तुके निश्चित होने पर अनित्य संसारके समस्त संकल्प जब क्षय पाते हैं, उसीका नाम मोक्ष है। यथा—

नित्यानित्यवस्तुविचारादनित्य संसार
समस्त संकल्प क्षयो मोक्षः।
निरालम्बोपनिषत्।

संकल्प-विकल्प मनका धर्म्म है ; मन बहुत ही ज्यादा चंचल है। चंचल मनको एकाग्र न कर सकनेसे मुक्तिलाभ नहीं होता है। मनकी एकाग्रता होनेसे उसी मनको ज्ञानी व्यक्तिगण मृत बताया करते हैं। यही मृत मन साधनके फलसे मोक्षका रूप बन जाता है। जीवका अन्तःकरण जिस समय बहुत ज्यादा उदास भाव धारण कर निश्चलावस्था (स्थिर भाव) को प्राप्त होता है, उसी समय मोक्षका उदय होता है ; अतएव मोक्षके लिये अवधारण (निश्चय) करना चाहिये।*

संसारकी आसक्ति छूटनेसे ही वैराग्य होता है एवं वैराग्य साधनके सधने पर ही मोक्ष मिलती है। मोटी बात यह है, कि संसारमें आत्यन्तिक विरक्तिको ही मुक्ति कहते हैं। सांसारिक भोगाभिलाष पूर्ण न होनेसे निवृत्ति नहीं होती है ; भोगाभिलाष पूर्ण होनेसे ही सांसारिक सुख-दुःखकी निवृत्ति होकर संसारके काममें विराग, अरुचि या विरक्ति उपजती है। चित्त-वृत्तिका निरोध होने पर ही सांसारिक सुख-दुःख भोगके कारण-स्वरूप इन्द्रियगणकी बहिर्मुखताकी निवृत्ति हो जाती है। इस तरह निवृत्ति पानेका नाम ही मुक्ति है।

इन्द्रियगणकी बहिर्मुखताके लिये संसारमें जो प्रवृत्ति फैली हुई हैं, उसका नाम बन्धन है। उसी बन्धनके कारणको कर्म्म शब्दमें लिख दिया गया है। कर्म्म नाना प्रकारके हैं, इसीलिये बन्धन भी

* मुक्ति और उसकी साधनाके सम्बन्धमें भी मत् प्रणीत "प्रेमिकगुरु" ग्रन्थमें विस्तार रूपसे लिखा गया है।

नाना प्रकारके हैं। इन्हीं नाना प्रकारके वन्धनोंमें फँस कर जीव अपनेको वहुत क्लिष्ट समझता है एवं उसके लिये ही दुःख भोग भी करता है। सांख्यकारगण इसी दुःख भोग करनेको ही हेय नामसे पुकारते हैं। यथा :—

त्रिविधं दुःखं हेयम्।

सांख्यदर्शन।

आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक—इन तीन तरहके दुःखोंका नाम ही हेय है। प्रकृति-पुरुषका संयाग होनेसे जो विषय ज्ञान उत्पन्न होता है, वही तीनों प्रकारके दुःखोंका कारण है। यथा :—

प्रकृतिपुरुषसंयोगेन चाविवेको हेयहेतुः।

सांख्यदर्शन।

अर्थात् प्रकृति-पुरुषके संयोग हेतुसे जो अविवेक पैदा होता है, वही हेय हेतु है।

तदत्यन्तनिवृत्तिर्हानम्।

सांख्यदर्शन।

तीनों दुःखकी अत्यन्त निवृत्तिको हान अर्थात् मुक्ति कहते हैं। उस आत्यन्तिक दुःखकी निवृत्तिका उपाय—

विवेकख्यातिस्तु हानोपायः।

सांख्यदर्शन।

विवेक-ख्याति ही हानोपाय है। क्योंकि—प्रकृति-पुरुषके संयोगमें अविवेक उत्पन्न होकर दुःख पैदा करता है एवं प्रकृति-

पुरुषके वियोगमें दुःखकी निवृत्ति होती है। प्रकृति-पुरुषका वियोग या अन्तर जिस विवेकसे उत्पन्न होता है, उस विवेकको ही हानोपाय कहते हैं। फल-स्वरूप विवेकसे ही दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति होकर मोक्षपद मिलता है। यथा—

प्रधानाविवेकादन्याविवेकस्य तद्धानौहानं।

सांख्यदर्शन।

प्रकृति पुरुषका अविवेक ही बन्धनका कारण है, एवं प्रकृति पुरुष का विवेक ही मोक्षका कारण है। देह आदिका अभिमान जब तक रहता है, तबतक मोक्ष नहीं हो सकता है। इसीलिये जिससे पुरुषका विवेक उत्पन्न होता है, उस कामका अनुष्ठान करना चाहिये।

योगाङ्गीभूत कर्म्मानुष्ठानसे पापादिका परिक्षय होने पर ज्ञानके प्रकाशसे विवेक उत्पन्न होता है। विवेकसे मोह-पाश कट जाता है, पाश कटनेसे ही मुक्ति हो जाती है। कपट वैराग्यके द्वारा, वाक्या-डम्बर द्वारा किम्वा वलपूर्वक पाश नहीं कटता ; केवल साधन द्वारा ही कट सकता है। वह पाश या वन्धन नाना प्रकारका है ; उनमेंसे आठ प्रकारका अत्यन्त दृढ़ होता है। उसे ही अष्टपाश कह कर शास्त्रमें प्रसिद्ध किया गया है। यथा—

घृणा शङ्का भयं लज्जा जुगुप्सा चेति पञ्चमी।
कुलं शीलञ्च मानञ्च अष्टौ पाशाः प्रकीर्त्तिताः॥

भैरव यामल।

घृणा, शङ्का, भय, लज्जा, जुगुप्सा, कुल, शील और मान इन्हीं आठको अष्टपाश कहते हैं। जो व्यक्ति घृणा-रूप पाश या फन्देमें

फँसा रहता है, उसे नरक जाना पड़ता है। जो व्यक्ति शङ्कारूप पाशमें फँसा है, उसकी भी वैसी ही अधोगति होती है। भयरूप पाश रहनेसे सिद्धि लाभ नहीं हो सकता। जो व्यक्ति लज्जा (शर्म) रूप पाशमें फँसा हुआ है, उसकी अवश्य ही अधोगति होगी। जुगुप्सारूप पाशमें फँसा रहनेसे धर्म्म-हानि होती है, एवं कुलरूप पाशमें फँसे रहनेसे बार बार जठरमें जन्म लेना पड़ता है। शीलरूप पाशसे फँसा हुवा व्यक्ति मोहसे छुटकारा नहीं पाता है। मानरूप पाशसे बँधा रहने पर पारलौकिक उन्नति पाना बहुत दूरकी बात है।

इत्यष्टपाशाः केवलं बन्धनरूपा रज्जवः ॥

ये अष्ट पाश केवल जीवको बांधनेके लिये रस्सी जैसे होते हैं। जो इस अष्ट पाशसे बँधा रहता है, उसे जानवर कहते हैं। फिर इस अष्ट पाशसे जो मुक्त हो गया, वही सदाशिव बन जाता है यथा—

एतैर्बद्धः पशुः प्रोक्तो मुक्त एतैः सदाशिवः ॥

भैरव यामल।

इस बन्धनके तोड़नेका उपाय विवेक है। विवेक ही जीवका पाश काटनेके लिए तलवार जैसा होता है। विवेक-ज्ञान आसानीसे उत्पन्न नहीं होता। योगाङ्गीभूत कर्म्मानुष्ठानसे वासना और मनको नाश कर सकने पर ही विवेक ज्ञान उत्पन्न होता है। क्योंकि अविवेक-ज्ञान जन्म-जन्मान्तरसे पीछे पड़ा हुआ है। यथा—

जन्मान्तरशताभ्यस्ता मिथ्या संसारवासना।
सा चिराभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित् ॥

मुक्तोकोपनिषत् २।१५

जो मिथ्या संसार-वासना अति-पूर्व शत-शत जन्मसे चली आ रही है, वह बहुत दिनोंतक योगाभ्यास किये विना दूसरे किसी भी उपायसे क्षयको प्राप्त नहीं होती ; यानी नष्ट नहीं होती है। अर्थात् कठोर अभ्यासके द्वारा मन और वासनाको परिक्षय (मारना) करना होता है। दीर्घकालतक योग साधन करनेसे मन स्थिर होकर वृत्ति-शून्य हो जाता है। मनके वृत्ति-शून्य होनेसे ही विज्ञान और वासनात्रय (लोकवासना, शास्त्रवासना और देहवासना) आपसे ही क्षय (नष्ट) हो जाती हैं। वासनाका क्षय होनेसे ही मनुष्य निस्पृह हो जाता है, निस्पृह रहनेसे फिर किसी प्रकारका बन्धन नहीं रहता है, उसी समय मुक्ति-लाभ होती है। वासना-शून्य अचेतन चक्षु आदि इन्द्रियगण जो वाहरी विषयोंसे आकृष्ट (खींचना) होते हैं, जीवकी वासना ही उसका कारण है।

समाधिमथ कर्म्माणि मा करोतु करोतु वा।
हृदये नष्टसर्वेहा मुक्त एवोत्तमाशयः ॥

मुक्तिकोपनिषत् २।२०

समाधि वा क्रियाका अनुष्ठान करे या न करे, किन्तु जिस व्यक्तिके हृदयमें वासनाका उदय नहीं होता है, वही व्यक्ति मुक्त है। जो व्यक्ति विशुद्ध बुद्धिके द्वारा स्थावर जङ्गमादि (चर और अचर) समस्त पदार्थोंके वाह्य और अभ्यन्तरमें (वाहर और भीतर) आत्माको आधार-स्वरूपमें देखते हुवे समस्त उपाधि परित्याग (छोड़) पूर्वक अखण्ड परिपूर्ण स्वरूपमें अवस्थान करता है, वही मुक्त है। किन्तु वासना-कामनामें फँसे हुए कितने लोगोंने उस

सौभाग्यको लेकर जन्म लिया है ? सुतरां साधना द्वारा वासना क्षय करनी होगी।

साधना नाना प्रकारकी हैं ; सुतरां नाना प्रकारके उपायसे मानव को मुक्ति मिल सकती है। कोई कहता है कि भगवान्‌का भजन करनेसे मुक्ति मिल सकती है तो कोई कोई कहते हैं, कि सांख्ययोग द्वारा मुक्तिलाभ होता है। कोई कहते हैं, कि भक्तियोगसे मुक्ति मिलती है तो कोई महर्षि कहते हैं, कि वेदान्त राज्यके वाक्योंका विचार करके काम करनेसे मुक्ति मिलती हैं, लेकिन सालोक्यादि भेदसे मुक्ति चार प्रकारकी बतायी गयी है। किसी दिन सनत्कुमारके अपने पिता ब्रह्मासे मुक्तिका प्रकार-भेद पूछने पर लोक-पितामह ब्रह्माने कहा था :—

मुक्तिस्तु शृणु मे पुत्र सालोक्यादि चतुर्विधं।
सालोक्यं लोकप्राप्तिः स्यात् सामीप्यं तत् समीपता।
सायुज्यं तत्स्वरूपस्थं सार्ष्टिस्तु ब्रह्मणो लयं।
इति चतुर्विधा मुक्ति निर्वाणञ्च तदुत्तरम्॥

हेमाद्रौ धर्म्मशास्त्रम्।

हे पुत्र ! मैं सालोक्यादि चार प्रकारकी मुक्तिकी बात कहता हूँ। सुनो,—उनमें देवलोककी प्राप्ति सालोक्य कहाती है ; और देवताओं के पास वास करनेका नाम सामीप्य है। उनके स्वरूपमें अवस्थान करनेका नाम सायुज्य है, ब्रह्मके मूर्त्ति-भेदमें लय करनेको सार्ष्टि कहते हैं। इन चार तरहकी मुक्तिके बाद निर्वाण मुक्ति है।

जीवे ब्रह्मणि संलीने जन्ममृत्यु विवर्जिता।
या मुक्तिः कथिता सद्भिस्तन्निर्वाणं प्रचक्षते॥

हेमाद्रौ धर्म्मशास्त्रम्।

जीवके परब्रह्ममें लय प्राप्त होनेसे जो मुक्ति होती है, ज्ञानी-गण उसे ही निर्वाण मुक्ति कहते हैं। निर्वाण मुक्ति होनेसे फिर जन्म-मृत्यु नहीं होती है। महेश्वरने रामचन्द्रसे कहा था,—

सालोक्यमपि सारूप्यं सार्ष्टिं सायुज्यमेव च।
कैवल्यं चेति तां विद्धि मुक्तिं राघव पञ्चधा।

शिवगीता १३।३

हे राघव! मुक्ति पाँच तरहकी होती है—सालोक्य, सारूप्य, सायुज्य, सार्ष्टि और कैवल्य। अतएव देखते हैं कि निर्वाण-मुक्ति कैवल्य मुक्तिका सिर्फ दूसरा नाम ही है। बाह्य और अन्तःप्रकृतिको वशीभूत करके आत्माका ब्रह्म भाव प्रकाश करना ही योगका उद्देश्य है। इस परम फलका पाना ही कैवल्य कहाता है।

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्या पूरात्।

पातञ्जल दर्शन, कैवल्य पाद २

प्रकृतिके आपूरणसे एक जाति दूसरी जातिमें बदल जाती है। यथा—

यत्र यत्र मनो देही धारयेत् सकलं धिया।
स्नेहाद्द्वेषाद्भयाद्वापि याति तत्तत् स्वरूपताम्॥
कीटः पेशस्कृतं ध्यायन् कुड्यान्तेन प्रवेशितः।
याति तत्सात्मतां राजन् पूर्वरूपञ्च संत्यजन्॥

श्रीमद्भागवत् ६।११।२२-२३

देही व्यक्ति स्नेह, द्वेष, किम्वा भयसे ही हो, जिस जिस वस्तु को सर्वतोभावसे बुद्धिके साथ एकाग्र रूपसे मनमें धारण करते हैं, उसे वैसे ही रूपकी प्राप्ति होती है। जैसे पेशस्कृत कीट (लखोड़ी कीड़े) से तेलपायिका (तिलचट्टा) पकड़ा जाकर और गड्ढे में पहुँच भयसे उसके रूपका ध्यान करते हुए अपने पूर्वरूप (असली सूरत) को परित्याग न करके भी उसके जैसा भाव पा जाता है। पुरुष जब केवल वा निर्गुण हो जाता है अर्थात् जब प्रकृति और प्राकृतिक-विकार आत्मचैतन्यमें प्रकाश नहीं पाते हैं—आत्मामें जब किसी प्रकार प्रकृति और प्राकृतिक द्रव्य नहीं झलकता है, आत्मा जब चैतन्यमात्रमें प्रतिष्ठित रहता है, जब विकार नहीं देख पड़ता है, तब इस तरह निर्विकार वा केवल होनेको ही निर्वाण वा कैवल्य-मुक्ति कहते हैं। दीर्घकाल तक (बहुत दिन) योग साधने पर जब स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीन तरहके देह नाश होकर जीव और आत्माका ऐक्य-ज्ञान हो जाता है, तब केवल मात्र निरुपाधि परमात्मा की प्रतीति (विश्वास) होती है। इसी प्रकार हृदयाकाशमें अद्वितीय पूर्णब्रह्मके ज्ञानका उदय होना ही कैवल्य मुक्ति के नामसे विख्यात हैं।

जगत्में जो कुछ साधन-भजनकी विधि-व्यवस्था प्रचलित है, वह सभी सिर्फ ब्रह्मज्ञानके उपायके लिये होती है। ज्ञानके उदयसे भ्रमरूप अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है; अज्ञानकी निवृत्ति यानी नाश होते ही माया, ममता, शोक, ताप, सुख, दुःख, मान, अभिमान, राग, द्वेष, हिंसा, लोभ, क्रोध, मद, मोह, मात्सर्य्य आदि अन्तःकरण

की सब वृत्तियोंका निरोध (रुक) हो जाता है। उस समय केवल विशुद्ध चैतन्यमात्र स्फूर्त्ति पाता है। उस केवलमात्र चैतन्यका स्फूर्त्ति पाना ही जीव-दशामें (जीवित अवस्थामें) जीवन्मुक्ति एवं अन्तमें निर्वाण लेना कहाता है। सिवा इसके तीर्थ-स्थानमें घूमने या साधु-संन्यासी अथवा वैरागियोंके दलमें मिलने-मिलानेसे या कौपिन, तिलक, माला-झोलाके आडम्बरसे, साधन-भजनके समयमें काट-छाँट करनेसे एवं कर्म्मकाण्ड द्वारा या किसी दूसरी तरहसे मुक्तिका मिलना असम्भव बात है। यथा—

यावन्न क्षीयते कर्म्म शुभञ्चाशुभमेव वा।
तावन्न जायते मोक्षो नृणां कल्पशतैरपि॥
यथा लोहमयैः पाशैः पाशैः स्वर्णमयैरपि।
तथा बद्धो भवेज्जीवः कर्म्मभिश्चाशुभैः शुभैः॥

महानिर्वाण तन्त्र १४।१०६-११०

जबतक शुभ वा अशुभ कर्म्मोंका क्षय नहीं होता है, तबतक सौ कल्पमें भी जीवको मुक्ति नहीं मिल सकती है। जैसे लोहे या सोने दोनों ही प्रकारकी जञ्जीरसे बन्धन हो सकता है, वैसे ही जीवगण शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके कर्म्मोंसे बद्ध हो जाते हैं। इसी कारण मैं कर्म्मकाण्डका दोष नहीं दिखाता हूँ। अधिकारके भेदसे काम भी भिन्न भिन्न होता है। जो कम समझनेवाला है, वह कर्म्मकाण्डसे चित्त शुद्धि होने पर ही ऊँचे अधिकारीके कार्य्यका अनुष्ठान करे ; नहीं तो जो एकदम निराकार ब्रह्म लाभ करनेके लिये

दौड़ता है, वह बेशक समधिक (बहुत) भूला हुवा है। अतः अधिकारके अनुसार ही काम करना ठीक होगा।

सकामाश्चैव निष्कामा द्विविधा भुवि मानवाः।
सकामानां पदं मोक्षो कामिनी फलमुच्यते॥
महानिर्वाणतन्त्र १३ उ० ।

इस संसारमें सकाम और निष्काम दो श्रेणीके मानव हैं। इसमें जो निष्काम हैं, वे मोक्षपथके अधिकारी हैं; किन्तु जो सकाम हैं, वे कर्म्मके अनुसार स्वर्गलोकादि गमनपूर्वक (जाकर) नाना प्रकारकी भोग्य वस्तुओंका भोग करके कृत कर्म्मका क्षय (नाश) होने पर, फिर भूलोकमें आकर जन्म ग्रहण करते हैं। इसीसे कहता हूँ, कि कर्म्मकाण्डके द्वारा मुक्ति मिलनेकी सम्भावना नहीं है। महायोगी महेश्वरने कहा है :—

विहाय नामरूपाणि नित्य ब्रह्मणि निश्चले।
परिनिश्चततत्त्वो यः स मुक्तः कर्म्मबन्धनात्॥
न मुक्तिर्ज्जपनाद्धोमादुपवासशतैरपि।
ब्रह्मैवाहमिति ज्ञात्वा मुक्तो भवति देहभृत्॥
आत्मासाक्षी विभुः पूर्णः सत्योऽद्वैतः परात्परः।
देहस्थोऽपि न देहस्थो ज्ञात्वैवं मुक्तिभाग्भवेत्॥
बालक्रीड़नवत् सर्वं नामरूपादि कल्पनम्।
विहाय ब्रह्मनिष्ठो यः स मुक्तो नात्र संशयः॥
मनसा कल्पिता मूर्त्ति नृणां चेन्मोक्षसाधनी।
स्वप्नलब्धेन राज्येन राजानो मानवास्तदा॥

मृच्छिलाधातुदार्वादि मूर्तावीश्वर बुद्धयः ।
क्लिश्यन्तस्तपसा ज्ञानं विना मोक्षं न यान्ति ते ॥
आहार संयमक्लिष्टा यथेष्टाहारतुन्दिलाः ।
ब्रह्मज्ञानविहीनाश्च निष्कृतिं ते व्रजन्ति किम् ।
वायूपर्णकण तोयव्रतिनो मोक्षभागिनः ।
सन्तिचेत् पन्नगा मुक्ताः पशुपक्षिजलेचराः ॥
उत्तमो ब्रह्मसद्भावो ध्यानभावस्तु मध्यमः ।
स्तुतिर्जपोऽधमो भावो बहिः पूजाधमाधमा ॥

महानिर्वाण तन्त्र, १४ उ०

महानिर्वाण तन्त्रके इन कई श्लोकोंसे साफ प्रमाणित होता है, कि ब्रह्मज्ञानके अतिरिक्त वाह्याडम्बरसे (ऊपरी तड़क-भड़कसे) मुक्तिकी सम्भावना नहीं रहती । वासना कामनाको परित्याग करके मनोवृत्ति शून्य न होने पर ब्रह्मज्ञानका उदय नहीं होता है । त्यागी या संसारी सभीके लिये एक ही नियम है । साधु-संन्यासी वा वैरागी होनेसे ही मुक्ति नहीं मिलती है ; मनको साफ करके क्रियाका अनुष्ठान करना चाहिये । किसीने संसारको त्यागकर वैराग्य तो ले लिया है ; लेकिन, वह बाल-बच्चे, नाती-पोते, जमीन-दौलत, बैल-घोड़े और घर-द्वारके लिये तो गृहीका पितामह बन बैठा है ।— ऐसे वैरागी वर्त्तमान युगमें विरल नहीं हैं ।

आकीट ब्रह्म पर्य्यन्तं वैराग्यं विषयेष्वनु ।
यथैव काकविष्ठायां वैराग्यं तद्धि निर्म्मलम् ॥

फिर भी देखिये अवधूत-लक्षणमें दत्तात्रेयने क्या कहा है :—

अ,—आशापाश विनिर्मुक्तः आदिमध्यान्तनिर्म्मलः।
आनन्दे वर्तते नित्यमकारस्तस्य लक्षणम् ॥
व,—वासना वर्जिता येन वक्तव्यं च निरामयम्।
वर्त्तमानेषु वर्त्तेत वकारस्तस्य लक्षणम् ॥
धू,—धूलिधूसरगात्राणि धूतचित्तो निरामयः ॥
धारणाध्याननिर्मुक्तो धूकारस्तस्य लक्षणम् ॥
त,—तत्त्वचिन्ता धृता येन चिन्ताचेष्टा विवर्जितः।
तमोऽहंकार निर्मुक्तस्तकारस्तस्य लक्षणम् ॥

अवधूत गीता । ८ अः

शास्त्रमें जैसा त्यागीका लक्षण देखा जाता है, वैसा वैरागीका देख पड़ना मुशकिल है। खेती—बारीमें, व्यवसाय-वाणिज्यमें (कारोबारमें) यदि गृहीको हटानेकी इच्छा थी, तो आत्मिय-स्वजनको छोड़ जाति आदिको जलाञ्जली देकर भेक लेनेकी क्या जरूरत ? विवाह करके, स्त्री-पुत्र लेकर घरमें रहनेसे क्या धर्म्म नहीं होता ?— कौपीन लगाकर वैष्णवीनामा-वारविलासिनी न ग्रहण करनेसे क्या गोपीवल्लभकी कृपा नहीं होगी ? आजकल वैष्णव अपनी एक जाति बना बैठे हैं ! जितने आलसी निकम्मे हैं, वे खाना न पाकर, पेटकी चपेटसे, विवाहके अभावसे, इन्द्रियोंकी उत्तेजनासे वैष्णव-धर्म ग्रहण करके आसानीके साथ सर्व अभावकी पूर्ति कर रहे हैं। ज्ञानके लिये तो अंगूठा ही है; लेकिन बाह्यदृश्ये (बाहरी दृश्यसे) विश्व कँपाते हैं। एक, एक महाप्रभु मानो पक्की टट्टी-सा ! पक्की टट्टीके

ऊपर चूनेके अस्तरसे जैसे सफेदीमें घप्-घप् करते हैं और भीतरमें वह मल-मूत्रसे परिपूर्ण रहती है, वैसे ही वह भी सर्वाङ्ग अलका-तिलकासे सजाकर मालाझोला लेकर सर्वदा माला सरकाते हैं; लेकिन अन्तरमें विषय-चिन्ता, कपट, कुटिलता, स्वार्थपरता, हिंसा-द्वेष और अहंभावसे भरे हुए हैं। ऐसे वर्णके चोरके झूंठे आदमीके खप्परमें भोले भावुक भूलकर माथा फोड़ते हैं। मुलम्मेकी तरह झूठी कलई ठीक नहीं है एवं अन्तरमें (भीतरमें) मैलेसे पूर्ण रख बाहर लोगोंको धोखा देनेवाले साधुका ढङ्ग बिलकुल अच्छा नहीं है। फिर कोई तर्कमें तो मूर्त्तिमान हैं, लेकिन पेटमें अंगुली घुसेड़नेसे 'क' का पता नहीं चलता। जो ज्ञानमें पका (पूरा) है, धर्म्मका प्रकृत मर्म्म जिसने समझ लिया है, वह कभी तर्क (वहम नहीं) करता है। जलते हुये घीमें पूड़ी छोड़ देनेसे पहले वह अधिक शब्द करती है एवं डूब जाती है, लेकिन जब उसमें रहा हुआ पानीका हिस्सा जल जाता है, तब शब्द कम निकलता है एवं पूड़ी भी ऊपर उठ आती है। गवारामगण (बेवकूफ गण) इस बातको न समझ अपनी बुद्धि अपने ही सर्व-साधारणके सामने प्रकाशित करते हैं। वास्तवमें यदि किसीको सचा बननेकी वासना है, तो उसे मिट्टी बनना पड़ेगा। अहंभावकी प्रतिष्ठाशा, यश-गौरवकी प्रत्याशा बिन्दु मात्र भी मनमें रहनेसे प्रेम और भक्ति पासमें ही नहीं आ सकते हैं। वासना बन्धनकी जड़ है। अहङ्कारकी अवधि तक सर्वांशा परित्याग करनेसे फिर चिरबद्ध (हमेशा बन्धनमें) नहीं रहना पड़ता है, आसानीसे त्रिताप-मुक्त होकर जीव निर्वाण मुक्ति लाभ कर सकता

है। जीव वासना-कामनाके खादके कारण ब्रह्मसे स्वगत भेदसम्पन्न है, उस वासना-कामनाके खादको ज्ञानकी धोकनीसे जलाकर दूर कर सकनेसे मुक्त होकर जीव जो ब्रह्म है, वही ब्रह्म बन जाता है।

दूसरे नियमसे निर्वाण मुक्त लाभ करना इस ग्रंथका आलोच्य विषय नहीं है। योगसे सर्वश्रेष्ठ मुक्ति निर्वाणपद लाभ होता है। साधक क्रियाके अनुष्ठानसे कुण्डलिनी शक्तिको चेतन करके जीवात्माके साथ अनाहत पद्ममें पहुँचने पर सालोक्य लाभ करता है; विशुद्ध-चक्र तक पहुँचेनेसे उसे सारूप्य लाभ होता है; आज्ञा-चक्र तक पहुँचेनेसे सायुज्य लाभ होता है; आज्ञा-चक्रके ऊपर निरालम्बपुरमें आत्मज्योतिः दर्शन वा ज्योतिके बीचमें इष्टदेव दर्शन करनेसे किम्वा नादमें मनोलय कर सकनेसे निर्वाण मुक्ति मिलती है।

जीवः शिवः सर्वमेव भूते भूते व्यवस्थितः।
एवमेवाभिपश्यन् यो जीवन्मुक्तः स उच्यते॥

जीवन्मुक्ति गीता।

यह जीव ही शिवस्वरूप है, जो सब जगह सर्वभूतमें घुसकर विराजित है, ऐसे दर्शन-कारीको ही जीवन्मुक्त कहते हैं। अतएव पाठकगण! इस ग्रन्थमें लिखी हुई किसी भी क्रियाके अनुष्ठान-पूर्वक जीवन्मुक्त होकर इस संसारमें परमानन्द भोग करके, अन्तमें निर्वाण मुक्ति लाभ कर सकते हैं। जो व्यक्ति योगकी साधनामें असमर्थ है, वह संस्कार, वासना-कामना, सुख-दुःख, शीत-आतप,

मान-अभिमान, माया-मोह, क्षुधा-तृष्णा, सब भूलकर प्राणके प्यारे ठाकुरके शरणमें पहुँचनेसे मुक्ति लाभ करता है। *

पाश्चात्य शिक्षासे विकृत (बिगड़े) मस्तिष्क व्यक्तियोंके भीतर यदि एक व्यक्ति भी इस ग्रन्थको पढ़ योग साधनमें लग जाय तो, मेरा लेखनी धारण करना सार्थक होगा। मुसलमान, खृष्टान आदि एवं दूसरे धर्म्मावलम्बीगण भी इस प्रक्रियासे साधन करके फल पा सकते हैं; इसमें शंका नहीं है। यदि कोई नियमित रूपसे योग सीखना चाहे, तो अनुग्रह करके इस ग्रन्थकारके पास पहुँचनेसे, मुझे जितनी शिक्षा मिली है एवं आलोचना-आन्दोलनसे मैंने जितना ज्ञान लाभ किया है, उसके अनुसार समझाने एवं यत्नके साथ क्रियादि सिखानेमें मैं कुछ भी कसर न रक्खूंगा। लेकिन मैं—

जानामि धर्म्मं न च मे प्रवृत्ति-
र्जानामि धर्म्मं न च मे निवृत्तिः।
त्वया हृषीकेश हृदिस्थितेन यथा
नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥

ॐ महाशान्तिः।

---

* भक्तिपथमें मुक्ति, भक्तिका साधन, प्रेमभक्तिका माधुर्य्यस्वाद, वैराग्य संन्यास आदि हिन्दुधर्म्मके चरम विषय मत्प्रणीत 'प्रेमिकगुरु' ग्रन्थमें विस्तारसे समझाये गये हैं।

तन्त्र में योग का स्थान

पातजलि ने चित्तवृत्तियो के निरोध को योग कहा है। तन्त्र के अपने मापदड हैं। शारदा तिलक (५१२-३) मे लिखा है कि वेदात के अनुसार जीव और आत्मा का मिलन योग है। शैवो के अनुसार शिव और आत्मा की एकता को योग कहते हैं। वैष्णव पुराण पुरुष के ज्ञान को योग कहते हैं। तत्र मे शिव और शक्ति के ऐक्य को योग कहा गया है। यहाँ चेतन रूप से किए गए शक्ति और ज्योति के किसी भी प्रयत्न को योग कहा जाता है। एक तात्रिक विद्वान् के अनुसार योग के दो अर्थ होते हैं—प्रथम तो विश्व मे व्याप्त दिव्य जीवन से एकात्म लाभ करना, जो कि मानव-जीवन का उद्देश्य है। दूसरा अर्थ बुद्धिपूर्वक नियोजित आत्मानुशासन के साधन-क्रम और इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किया जाने वाला स्वाध्याय और अभ्यास है।

तन्त्र मे योग का पर्याप्त अ श सम्मिलित है। षट्चक्र निरूपण, त्रिपुरासार समुच्चय, गन्धर्व तत्र जैसे ग्रन्थो में इडा, पिगला, सुषुम्ना, कुडलिनी व अन्य यौगिक विषयो का वर्णन है। महाकालोक्त 'पादुका-प चकम्' स्तोत्र मे द्वादश दल पद्म का विशेष विवेचन है। शारदा तिलक मे तो अध्याय-के-अध्याय भरे पडे हैं। अन्य तत्रो मे भी योग विषय को उचित स्थान दिया गया है। योग की महिमा का इस प्रकार वर्णन है—

योगहीन कथ ज्ञान मोक्षद भवतीश्वरि।

—योगबीज १०

हे परमेश्वरि ! योग रहित ज्ञान रहित ज्ञान किस तरह मोक्ष दायक हो सकता है ?

ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञोऽपि जितेन्द्रिय ।
विना योगेन देवोऽपि न मुक्ति लभते प्रिये ॥
(योग बीज ३१)

"हे प्रिये ! ज्ञान निष्ठ, विरक्त, धर्मज्ञ, जितेन्द्रिय ,और देवता भी योग के विना मोक्ष लाभ नही कर सकते ।

मथित्वा चतुरो वेदान् सर्वशास्त्राणि चैव हि ।
सारस्तुत् योगिभि पीतस्तक पिबन्ति पण्डिता ॥
(ज्ञानसकालिनी तन्त्र ५१)

"चारो वेद और समस्त शास्त्रो को मथ कर सार मक्खन तो योगी चाट गये हैं और असार भाग पण्डित पी रहे हैं ।"

ऊर्ध्वरेता भवेद्यस्तु सदेवो न तु मानुष्य. (तन्त्र)
"ऊर्ध्वरेता योगी मनुष्य नही ईश्वर ही होता है ।"

अनेक शत सख्याभिस्तर्क व्याकरणादिभि ।
पतित शास्त्रा जालेषु प्रज्ञया ते विमोहिता. ॥
(योग बीज ८)

'सैकडो तर्कशास्त्र तथा व्याकरण आदि पढकर मनुष्य शास्त्र जाल मे फस कर विमोहित हो जाते हैं । वास्तविक ज्ञान तो योग से ही होता है ।"

देहेस्मिन् वर्तते मेरु. सप्त द्वीप समाविन्त ।
सरित. सागरा, शैला क्षेत्राणि क्षेत्रपालका. ॥
ऋषयो मुनये सर्वे नक्षत्राणि ग्रहास्तथ्या ।
पुण्यतीर्थानि पाणेनि वर्तन्ते पीठ देवता ॥
सृष्टि सहार कर्तारौ भ्रमन्तौ शशिभास्करौ ।
नमो वायुश्च वान्हिश्च जल पृथ्वी तथैवच ॥
त्रैलोक्ये यानि भूतानि यानि सर्वाणि देहत· ।

मेरु सवेष्ठ्य सर्वत्र व्यवहारा प्रवर्त्तते ॥
जानाति य सर्वमिद स योगी नात्र सशय ।
ब्रह्माण्ड सज्ञके देहे यथा देश व्यवास्थित ॥
(शिव सहिता प० २)

"इस मानव-देह मे मेरु पर्वत, सातो द्वीप, समस्त नदियां और समुद्र, पर्वत, समस्त प्रदेश, ऋषि, मुनि, नक्षत्र, ग्रह, पुण्यतीर्थ, सिद्धपीठ और इनके देवता सृष्टि का सहार करने वाले, सूर्य, चन्द्रमा, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी पाचो तत्व सब कुछ पाया जाता है। तीनो लोक मे जो कुछ है वह सब इस देह मे भी मौजूद है। जो इस रहस्य को पूर्ण रूप से जानता है वही सच्चा योगी है। जो कुछ ब्रह्माण्ड में है वह इस मानव देह रूप पिण्ड मे भी पाया जाता है।"

योग महिमा के ऐसे सैकडो श्लोको का वर्णन तन्त्रो मे आया है। डा० राधाकमल मुकर्जी के अनुसार "वास्तव मे इस उपासना का प्रारम्भ कामना तथा मनोभावो से होता है और इसका पर्यवसान यौगिक समाधि मे होता है। योग सम्बन्धी अनुकूल नाडियो, चक्रो तथा चक्रो के अन्दर रहने वाली शिराओ को ध्यान के द्वारा जागृत कर उपासक अपने शरीर और मन पर अधिकार कर लेता है और अत मे जाकर निराकार के ध्यान से स्थित प्राप्त करने मे समर्थ होता है।

तत्र अष्टाग योग का भी अनुकरण करता है। यथा—

यमनियमगुणौश्च स्वात्मशुद्धि विधाय
स्ववशविविधपीठैरेव भूत्वा स्थिरात्मा ।
असुनियमजलेन स्नापयेद्दिव्यलिङ्ग
प्रकटितचतुरङ्ग बाह्यमेतदविधानम् ॥
शम्भोरर्थेन्द्रियनिवर्तनमेव गन्धो
ध्यान प्रासूननिचयो दृढधारणा सा ।
धूप· समाधिरथशुद्धमहोपहार
आभ्यन्तराख्यचतुरङ्गविधानमेतत् ॥

एवमष्टागयोगेन मदान्त पद्ममध्यनि ।
पूज्येन्परम देव किं वाह्यैर्देवपूजनै ॥

"यम नियमो से सम्बन्धित २४ गुणो से आत्म-शुद्धि करना, आसनो से शरीर की स्थिरता करना, प्राणायाम रूपी जल से दिव्य-लिंग का अभिषेक करना ही वाह्य चतुरग कहा जाता है। शम्भू की इन्द्रियो का विषय निवृत्ति रूप प्रत्याहार को गन्ध कहते हैं। पुष्प की सज्ञा इन्द्रिय निवृत्ति से अन्तर्मुख हुए मन मे शिव-ध्यान जमाना है, उन्हे दृढतापूर्वक धारण करने को धारणा कहा गया है और ज्ञाताज्ञात रूप-समाधि ही नैवेद्य है। इसे आभ्यन्तर चतुरग कहते हैं। शिव-योगी को इस तरह अष्टाग योग की साधना करते हुए अपने हृदय मे शिव का पूजन करना चाहिए।"

तन्त्रो में अष्टाग योग के सभी अङ्गो का विस्तृत विवेचन है। शारदातिलक (२५।७) मे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, आर्जव, क्षमा, धृति, मिताहार व शौच का वर्णन है, जिन्हें यम कहा जाता है। अगले श्लोक (८) मे तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, देव-पूजन, सिद्धान्तश्रवण, ह्री, मति, जप व होम दस नियम बताये गये हैं। आसनो का वर्णन श्लोक ६।१५ में है। प्राणायाम का वर्णन १६।२२ मे है। पाँच प्राणो—प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान और उप-प्राण—नाग, कूम, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय का वर्णन १।४४ मे है। (२५।२३) मे प्रत्याहार की व्याख्या है। २४, २५ मे धारणा का विवेचन है। २६ वें श्लोक में ध्यान की परिभाषा की गई है।

साधना के लिए ध्यान के विधि-विधान भी दिए गये हैं। यथा—

ब्रह्मरन्ध्रसरसीरुहोदरे नित्यलग्नमवदातमद्भुतम् ।
कुण्डली विवरकाण्ड मंडित द्वादशार्ण सरसीरुह भजे ॥

—पादुका पचक

"सब मनुष्यों के मस्तक में जो अधोमुखी सहस्र दल कमल है। उसके उदर में कुलकुण्डलिनी के जानने के लिए जो नित्य लग्न और अद्भुत पथ रूपी नाडी है, उससे संलग्न द्वादश वर्ण पद्म का मैं ध्यान करता हूँ।"

व-बीजं वारुणं ध्यायेदर्धचन्द्रं शशिप्रभम्।
क्षुत्पिपासा सहिष्णुत्वं जलमध्येषु मज्जनम्॥

"व बीज वाले अर्द्ध चन्द्राकार चन्द्रमा की तरह कांति वाले जल तत्व का स्वाधिष्ठान में ध्यान करे। इससे भूख-प्यास मिटकर सहनशक्ति पैदा होगी और जल में अव्याहृत गति हो जायेगी।"

यं बीजं पवनं ध्यायेद् वर्तुलं श्यामल प्रभाम्।
आकाश गमनाद्यञ्च पक्षिवद्गमनं तथा॥

"य बीज वाले गोलाकार तथा हरी प्रभा वाले वायु तत्व का अनाहत चक्र में ध्यान करे। इससे आकाश गमन तथा पक्षियों की तरह उड़ने की सिद्धि प्राप्त होती है।"

र-बीजं शिखिनं ध्यायेत् त्रिकोणमरुण प्रभम्।
वह्वन्न पान भोक्तृत्वमातपाग्नि सहिष्णुता॥

"र बीज वाले त्रिकोण और अग्नि के समान लाल प्रभा वाले अग्नि का मणिपुर चक्र में ध्यान करे। सिद्ध होने पर अत्यन्त अन्न ग्रहण करने की, पीने की शक्ति तथा धूप और अग्नि सहन करने की शक्ति आ जाती है।"

ल-बीजां धरणीं ध्याये चतुरस्रां सुपीतभाम्।
सुगन्ध स्वर्ण वर्णत्वमारोग्यं देहलाघवम्॥

"ल बीज वाली चौकोण, पीली पृथ्वी का ध्यान करे। इस प्रकार करने से नासिका सुगन्ध से भर जायगी शरीर स्वर्ग के समान कांति वाला स्वस्थ और हलका हो जायगा।"

ह-बीजं गगनं ध्यायोन्नराकारं बहुप्रभम्।
ज्ञानं त्रिकालविषयं मैश्वर्यमणिमादाकम्॥

"ह बीज का विशुद्ध चक्र मे जाप करते हुए निराकार चित्र-विचित्र रग वाले आकाश का ध्यान करे। इसमे तीनो कालो का ज्ञान, ऐश्वय तथा अर्थ-मानादि अष्ट सिद्धियां प्राप्त होती हैं।"

सहस्रदलपद्मस्थमन्तरात्मात् उज्ज्वलम् ।
तस्योपरि नादबिन्दोर्मध्ये सिंहासनोज्ज्वले ॥
तत्र निजगुरु नित्य रजताचलसन्निभम् ।
वीरासनसमासीन सर्वाभरणभूषितम् ॥
शुक्लमाल्याम्बरधर वरदाभयपाणिकम् ।
वामारुशक्तिसहित कारुण्येनावलोकितम् ॥
प्रियया सव्यहस्तेन धृतचारुकलेवरम् ।
वामेनोत्पलधारिण्या, रक्ताभरणभूषया ॥
ज्ञानानन्दसमायुक्त स्मरेतन्नामपूर्वकम् ॥

"योगी को ऐसा ध्यान करना चाहिए कि जिस सहस्र दल कमल मे उज्ज्वल अन्तरात्मा विद्यमान है, उसके ऊपर के नाद-बिन्दु के बीच मे एक प्रदीप्त सिंहासन स्थित है। उसी पर अपने इष्ट देवता प्रतिष्ठित हैं, उनकी स्थिति वीरासन की-सी है। चाँदी के पहाड की तरह उनके शरीर सफेद हैं, अनेकों प्रकार के आभूषण धारण किए हुए है, माला, फूल और वस्त्रो से विभूषित हैं, हाथो मे वर और अभय मुद्राएँ हैं। उनके बायें ओर शक्ति का स्थान है, गुरु करुणा दृष्टि से चारो ओर निहार रहे हैं, शक्ति दाहिने हाथ से उनको छू रही है। शक्ति के बायें हाथ मे लाल पद्म है और लाल रग के आभूषण ग्रहण किये हैं। इस तरह से उन ज्ञान समायुक्त गुरु का नाम स्मरण करते हुए ध्यान करना चाहिए।"

शारदा तिलक (२५।२७) मे जीवात्मा और परमात्मा के निरतर अभेद मे अनुभूति को समाधि कहा गया है। गौडपाद स्वामी ने कहा है —

सर्वाभिलापविगत सर्वचिन्तासमुत्थित ।

सुप्रशान्त सकृज्ज्योति समाधिरचलोऽभय ।।

(प्रा० ३।३७)

"सारे वाह्य शब्दादि व्यवहार के बिना, सारे सूक्ष्म प्रपञ्च रूप चिंता के बिना, सारे अविद्यादि क्लेशो के बिना, सदा स्वय प्रकाशमान, ज्योति-स्वरूप अचल भयादि दैव रहित स्व-स्वरूप का नाम ही समाधि है ।

समाधि से पूर्णता का आश्वासन देते हुए शिवसंहिता मे कहा गया है'—

निरालम्ब मन कृत्वा न किञ्चिद्वापि चिन्तयेत् ।
वृत्तिहीन मन कृत्वा पूर्णरूप स्वय भवेत् ।।

"जिस काल मे सविकल्प समाकल्प के साधन से निर्विकल्प समाधि सिद्ध हो जाती है, मन दृश्य का चितन छोडकर वृत्ति रहित हो जाता है। उस समय साधक स्वय पूर्ण बन जाता है ।"

तन्त्र मे कुण्डलिनी का विस्तृत वर्णन है । शारदा तिलक(१।५१-५७) मे कुण्डलिनी-शक्ति को चैतन्यरूप सर्वव्यापी, विद्युत सरीखी, सब तत्त्वो और देवो मे व्याप्त और शब्द-ब्रह्म कहा है । (५८-१०७) मे कहा है कि वह किस तरह मन्त्रो, यन्त्रो और हर वस्तु मे है । १०८-१०६ मे कहा है कि कुण्डलिनी से, जो कि शब्दब्रह्म है और सर्वव्यापी है, स्त्री शक्ति, ध्वनि, नाद, निरोधिका आदधेन्दु, बिन्दु की उत्पत्ति होती है । विन्दु से परावाणी, फिर पश्यन्ति, मध्यमा और वैखरी वाणी। २६ वे अध्याय मे परा से पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी तक पहुँचने के साधन भी दिए गए हैं । २५।६४ मे कहा गया है कि जब कुण्डलिनी जाग्रत होती है और बिजली की तरह मूलाधार चक्र से ऊपर सुषुम्ना के मार्ग से चढती है, तो वह षट्चक्रो को भेदन करती चलती है । जब वह सहस्रार मे पहुँचती है, तो वह अपने इष्ट पर-शिव मे मिल जाती है । २५।७७ ८२ मे कुण्डलिनी का ध्यान दिया गया है ।

नाद योग का वर्णन शिव महिम्ना मे इस प्रकार है—

नासन सिद्धसदृश न कुम्भकसमं बलम् ।
न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लय' ।।

"सिद्धासन के समान कोई आसन नही, कुम्भक के समान कोई बल नही, खेचरी के समान कोई मुद्रा नही और मनोलय के लिए अनहद नाद के समान कोई साधन नही ।"

स्वे महिम्नि स्वय स्थित्वा स्वयमेव प्रकाशते ।

"नाद और बिन्दु का साधक अपनी महिमा मे स्वय स्थित होकर स्वय प्रकाशता है ।"

शारदा तिलक १।४०-४३ मे यौगिक नाडियो का वर्णन है और इनकी सख्या अनगिनत बताई है । 'षट्चक्र निरूपण' मे नाडियो का वृहद् विवेचन है । षट्चक्रो की भी पूरी जानकारी दी गई है ।

यौगिक नाडियो का अलङ्कारिक भाषा मे इस प्रकार वर्णन है—

इडा योगवती गगा, पिगला यमुना नदी ।
इडा पिगल योर्मध्ये सुषुम्ना च सरस्वती ।।

"इडा नाडी गगा है, पिगला यमुना, इन दोनो के बीच मे सुषुम्ना है, वही सरस्वती है ।"

इस तरह से तान्त्रिक साधनाओ और योग मे इतनी घनिष्ठता उत्पन्न हो गई है कि उनको अलग करना भी कठिन हो गया है । तन्त्र मे यौगिक साधनाओ को प्रमुखता दी गई है । इससे इनका महत्व बढा ही है । अत तान्त्रिक साधनाओ मे यौगिक क्रियाये उच्चासन पर स्थित हैं ।

• • •

शक्तिपात की वैज्ञानिक प्रक्रिया

परिभाषा—

जीव का परम उद्देश्य है जीवत्व से मुक्त होकर शिवत्व मे प्रवेश करना। यह तभी सम्भव है जब जीव वस्तुस्थिति का ज्ञान कर लेता है, वह अपनी आत्मस्थिति का अनुसधान करते हुए उसमे अवस्थित हो जाता है। स्वरूप स्थिति मे स्थायित्व प्राप्त करना ही मुक्ति द्वार तक पहुँचने का लक्षण है। इसके अभाव मे यह सफलता प्राप्त करना असम्भव है। इस स्वरूप स्थिति तक पहुँचने के लिए जो उपाय काम मे लाया जाता है, उसे 'शक्तिपात' कहते हैं।

तन्त्राचार्यो का मत है कि मुक्ति-मार्ग अवरुद्ध करने वाले मलावरण हैं। जब तक इन्हे नही हटाया जाता, मुक्ति का मार्ग प्रशस्त नही होता। इन मलो को ज्ञान और कर्म की सहायता से पूर्णत हटाने की क्षमता से तन्त्र असहमत है। सत्तात्मक पदार्थ होने के कारण मल की उपमा आँखो की जाली से दी जाती है। जिस तरह से मोतियाबिन्द के परिपक्व होने पर उसे शस्त्र-क्रिया से ही दूर किया जाना सम्भव है, उसी तरह मलो से निवृत्ति का उपाय तन्त्रो मे परम शिव का अनुग्रह ही बताया गया है। इस कृपा अथवा भगवदनुग्रह को ही शक्तिपात कहा जाता है।

शक्तिपात एक ऐसी आध्यात्मिक प्रक्रिया है जिसके माध्यम से सद्गुरु अपनी शक्ति को शिष्य मे सचरित करता है ताकि उसकी सुप्त

आध्यात्मिक शक्तियों का जागरण हो जाए अथवा उसकी बुद्धि अतीन्द्रिय विषय को समझ सके।

शास्त्रों में भी कहा है—

तत्पात शिष्येषु।

"उस शक्ति का पात शिष्यों में होता है।"

शिष्य पर गुरु द्वारा शक्ति उतारने की प्रक्रिया को शक्तिपात कहा जाता है।

माधवाचार्य का मत यह है—

परमेश्वरस्वरूप भूतत्वेन सवगताया परशक्ते पतनासम्भवा-च्छिष्यस्यात्मनि प्रागेवावस्थिता सा पाशजालावृतत्वेनतिरोहिता सतीदीक्षासस्कारेणावरणापगमे सत्यभिव्यक्तिमासादयन्ती पतिते त्युपचयते। ऊर्ध्वदेशादधोदेशप्राप्तिर्हि पतन न खलु तादृशमस्या सम्भवतीति।

इसका अभिप्राय यह है कि परमेश्वरस्वरूप सर्वगत पराशक्ति का पात नहीं हो सकता। शिष्य में मल-कर्मादि पाश बन्धनों से घिरी हुई पूर्व अवस्थित आत्म-स्वरूपभूत पराशक्ति के दीक्षा-संस्कार के माध्यम से (मल-आवरणों को दूर करके) अभिव्यक्त किया जाता है। इस अभिव्यक्ति को ही शक्तिपात की संज्ञा दी गई है।

गुरु-कृपा—

शक्तिपात गुरु कृपा पर निर्भर करती है। सद्गुरु सर्वतत्व वेत्ता और अध्यात्म-विद्या के जानने वाले होते हैं। 'मालिनी विजय' में भी कहा है—

स गुरुर्मत्समः प्रोक्तो मन्त्रवीर्य प्रकाशकः।

अर्थात् "वही गुरु मेरे समान कहा गया है, जो मन्त्रों के वीर्य का प्रकाश करने वाला हो।"

सिद्धि के लिए शक्तिपात आवश्यक माना गया है, जिसके लिए गुरु ही एकमात्र साधन है—

शक्तिपातानुसारेण शिष्योऽनुग्रहमर्हति ।
यत्र शक्तिर्न पतति तत्र सिद्धिर्न जायते ।।

"शक्तिपात न होने से सिद्धि की प्राप्ति नहीं हो सकती। शक्तिपात के अनुसार ही तो शिष्य अनुग्रहीत होता है।"

सन्त तुकाराम ने भी अपने एक अभंग मे इसी तथ्य पर बल देते हुए कहा है—"गुरु के बिना बिना मार्ग प्राप्त नहीं होता। अत सर्वप्रथम उनके चरणारविन्दो का स्पर्श करो।" वह शरणागत वत्सल शिष्य को अपनी तरह ही बना लेते हैं। उन्हें इसमे कुछ भी समय नही लगता।"

इस गुरु-कृपा को शास्त्रो मे गुरुप्रसाद कहा गया है। इसके प्राप्त होने पर ही शिष्य का उद्धार होता है—

परिपक्वमला ये तानुत्सादनहेतुशक्तिपातेन ।
योजयति परे तत्वे स दीक्षयाचार्यमूर्तिस्थ. ।।

अर्थात् "जो परिपक्व मल वाले हैं और उनका उत्सादन करने के लिये शक्तिपात के द्वारा परतत्व मे जो योजित करता है, वही दीक्षा से आचार्य की मूर्ति मे स्थित रहने वाला है।"

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ

अर्थात् "जिसकी देव मे पराभक्ति है, वैसी ही गुरु में भी पराभक्ति देव की ही भाँति होनी चाहिए।"

अय गुरु प्रसाद स्ततोषात्प्रोप्यो न चान्यथा ।

अर्थात् "यह गुरु का प्रसाद है जो तोष से प्राप्त करने के योग्य होता है अन्यथा नहीं मिलता है।"

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिश्नेन सेवया ।

अर्थात् "उसको प्रणिपात के द्वारा—परिप्रश्न से और सेवा के द्वारा जानना चाहिए।"

आत्मविद्या चानन्तमुंखस्य गुरुकारुण्यरतितस्य न वेदशास्त्रमात्रेणोत्पद्यते।

"आत्म-विद्या अनन्तमुंख—गुरु की दया से शून्य को केवल वेद-शास्त्र से उत्पन्न नही होती है।"

गुरु-कृपा से ही इस ससार को पार किया जा सकता है—

सद्‌गुरो. सम्पसादेऽस्य प्रतिवन्धक्षयस्तत ।
दुर्भावना तिरस्काराद्विज्ञाना मुक्तिदःक्षणात् ॥

अर्थात् "सद्‌गुरु के सत्प्रसाद के होने पर मनुष्य के जो प्रतिवन्ध हुआ करते हैं, उनका क्षय हो जाता है। दुर्भावना का जव तिरस्कार होता है, तो विज्ञान एक ही क्षण मे मुक्ति देने वाला हो जाता है।"

माहात्म्य—

सूत सहिता मे शक्तिपात की महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है—

तत्वज्ञानेन मायाया बाधो नान्येन कर्मणा।
ज्ञान वेदान्तवाक्योत्थ ब्रह्मात्मैकत्वगोचरम् ॥
तच्च देवप्रसादेन गुरो साक्षान्निरीक्षणात् ।
जायते शक्तिपातेन वाक्यादेवाधिकारिणाम् ॥

'तत्व-ज्ञान के अतिरिक्त और किसी उपाय से माया का निराम नही हो सकता। यह तत्व-ज्ञान ब्रह्म और आत्मा की अभेद सिद्धि का निरूपण करने वाले वेदान्त वाक्यो से प्राप्त होता है। इसका अधिकार गुरु द्वारा शिष्य को शक्तिपात मे ही दिया जाता है।"

शक्तिपात समायोगादृते तत्वानितत्वत ।
तद्व्याप्ति स्तद्विशुद्धिश्च ज्ञातुमेव न शक्यते ॥
—शिवपुराण वायवो सहिता

अर्थात् "शक्तिपात के समायोग के अभाव मे तत्वत तत्वो का ज्ञान, आत्मा की व्यापकता और उसके शुद्ध-बुद्ध स्वरूप का ज्ञान कभी भी सम्भव नही है।"

तन्त्र का यही मत है कि शक्तिपात अथवा भगवत् कृपा के बिना जीव को पूर्णत्व की प्राप्ति नही हो सकती।

सन्त ज्ञानेश्वर ने 'ज्ञानेश्वरी' टीका मे लिखा है कि शक्तिपात होने पर, होने को तो वह जीव ही रहता है परन्तु वह महेश्वर के समान माना जाता है।

लाभ—

शक्तिपाताद्विशेषेण।

शक्तिपात के द्वारा विशेषता से शक्ति जाग उठती है। इसमे विशेषता यही है कि बिना शिष्य के परिश्रम के गुरु-कृपा से शक्ति का जागरण हो जाता है। इस लक्ष्य तक पहुंचने के लिए शिष्य को बहुत कष्ट सहने पडते हैं और साधना मे असावधानी बरती जाए तो हानि उठाने की भी सम्भावना रहती है।

शक्तिपात होने पर यौगिक क्रियाओ की अपेक्षा नही रहता। वह साधक की प्रकृति के अनुरूप स्वरूप होने लगती है। प्रबुद्ध कुण्डलिनी ब्रह्मरन्ध्र की ओर प्रवाहित होने के लिए छटपटाती है, इसी से सभी क्रियाएँ होने लगती हैं। व्यवहारिक रूप मे ऐसा देखा गया है कि जिन साधको ने कोई अभ्यास नहीं किया था और न ही विशेष अध्ययन किया था, वह इन क्रियाओ को ऐसे करने लगते हैं, जैसे वह वर्षों से इसका अभ्यास कर रहे हो। हठयोग की क्रियाओ मे थोडी-सी त्रुटि होने पर बहुत हानि उठाने की सम्भावना रहती है, परन्तु इस साधक के अभ्यास मे आ जाती है और आसन, प्राणायाम, मुद्रा आदि अपने आप होने लगते हैं। इसे गुरु-कृपा का ही प्रसाद समझना चाहिए।

शक्तिपात से साधक के आत्मिक क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन हो जाता है। उसमे भगवद्भक्ति का विकास, विश्वात्मा का प्रकाश होता है, मन्त्र-सिद्धि होती है जिससे श्रद्धा-विश्वास का जागरण होता है, सब शास्त्रो का अर्थज्ञान हो जाता है, सब तत्वो को स्वायत्त करने की सामर्थ्य प्राप्त होती है, शरीर-भाव जाता रहता है, शिवत्व लाभ होता है। रत्नमाला आगम की साक्षी है—

यस्मिन्काले तु गुरुणा निर्विकल्प प्रकाशितम् ।
तदैव किल मुक्तोऽसौ यन्त्र तिष्ठति केवलम् ॥

"जिस समय गुरु-कृपा से निर्विकल्प बोध हो जाता है, तब उसे मुक्ति-लाभ होता है, केवल वह यंत्र की तरह ही जीवन व्यतीत करता है।"

कृष्ण के शक्तिपात से किस तरह अर्जुन को आत्मानुभूति हुई, इसका हृदयानुग्राही वर्णन ज्ञानेश्वरी गीता मे हुआ है – "तब भगवान ने अर्जुन को दाया हाथ फैलाकर अपने हृदय से लगा लिया। दोनो हृदय एक हो गए। जो कुछ एक मे था, वह दूसरे मे डाल दिया। द्वैत भी बना रहा परन्तु अर्जुन को भगवान ने अपने जैसा बना लिया।" यही गुरु-कृपा का विशेष लाभ होता है।

शास्त्र के अनुसार—

शक्तिपातेन सयुक्ता विद्या वेदान्तवाक्यजा ।
यदा यस्य तदा तस्य विमुक्तिर्नात्र सशय ॥

"शक्तिपात से सयुक्त साधक को जब वेदान्त वाक्यो की विद्या प्राप्त होती है, उसी समय से उसे मुक्ति प्राप्त होती है, इसमे कुछ भी सशय नही है।"

लक्षण—

शक्तिपात का मुख्य लक्षण है—साधक मे भगवद्भक्ति का उन्मेष होना। सत्वर मन्त्र की सिद्धि भी प्राप्त होती है। वह सभी प्राणधारियो को अपने अनुकूल बनाने की योग्यता वाला हो जाता है।

उसके प्रारब्ध कर्म समाप्त हो जाते हैं, उनके बिना भोगे ही उसकी मुक्ति हो जाती है। ऐसा तब तक होता रहता है जब तक शरीर रहता है, उसके साथ सुख-दुःख तो संयुक्त रहते ही है, उनका उस पर कोई विशेष प्रभाव नही पडता, वह अलिप्त भाव से उन्हे ग्रहण करता है। सभी परिस्थितियो मे आनन्द की मुद्रा ही उसकी विशेष मुद्रा बन जाती है। साधक पर समस्त शास्त्रो का ज्ञान प्रकट हो जाता है और उसे कविता रचने की सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है।

शास्त्रो मे शक्तिपात के लक्षण इस प्रकार से वर्णित किए गए हैं।

देहपातस्तथा कम्प परमानन्दहर्षणे।
स्वेदो रोमञ्च इत्येतच्छक्तिपातस्य लक्षणम् ॥
शिष्यस्य देहे विप्रेन्द्रा, धरण्या पतितेसति।
प्रसाद, शाङ्करस्तस्य द्विज सञ्जात एव हि ॥
यस्य प्रसाद सञ्जातो देहपातावसानक ।
कृतार्थ एव विप्रेन्द्रा न स भूयोऽभिजायते ॥

"शक्तिपात होते ही शरीर भूमि पर गिर जाता है, कम्पन होने लगते हैं, मन मे अपार प्रसन्नता का उदय होता है और परम आनन्द की प्राप्ति होती है, जिससे रोमांच होता है, प्रस्वेद होता है। इस तरह से शक्तिपात से देहपात के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगें तो यह जानना चाहिए कि शिव की कृपा हुई। शक्तिपात से देहपात के लक्षण आने पर कृतार्थता का भ[illegible] ना चाहिए, क्योंकि इसके बाद फिर जन्म करने [illegible] ी रहती।"

प्रमादस्य स्वरूप तु मया नारायणेन च ।
रुद्रे णापिमुरा वक्त् न शक्य कल्पकोटिभि ॥
केवल लिङ्गगम्य तु न प्रत्यक्ष शिवम्य च ।
शिवायाश्च हरे साक्षान्मम,चान्यस्य चास्तिका ॥

"देहधारियो के कर्मों की समता होने पर भी रुद्र का प्रसाद आचार्य के अवलोकन से हे सुरगण ! विशिष्ट अतिशय वाला जाना गया था। उस प्रसाद का स्वरूप मेरे द्वारा, नारायण के द्वारा और रुद्र के द्वारा भी हे सुरगण ! करोडो कल्पो मे भी बताया नहीं जा सकता है। केवल लिंगगम्य है, शिव का प्रत्यक्ष तो होता ही नही। हे नास्तिको ! शिव का—हरि का—मेरा और अन्य का भी साक्षात् नहीं होता है।

प्रहर्ष स्वरनेत्राङ्गविक्रिया कम्पन तथा।
स्तोम शरीरपातश्च भ्रमण चोद्गतिस्तथा ॥
आकाशेऽवस्थितिर्देवा शरीरान्तरसस्थिति ।
अदर्शन च देहस्य प्रकाशत्वेन भासनम् ॥
अनधीतस्य शास्त्रस्य स्वत एव प्रकाशनम् ।
निग्रहानुग्रहे शक्ति पर्वतादेश्च भेदनम् ॥
एवमादीनि लिङ्गानि प्रकाशस्य सुरर्षभा ।
तीव्रतीव्रतर शम्भो प्रसादो न समो भवेत् ॥
एवरूप प्रसादश्च शिवया च शिवेन च।
ज्ञायते न माया नान्यैर्नैव नारायणेन च ॥
अत. सर्वं परित्यज्य शिवादन्यत्त् दैवतम् ।
तमेव शरण गच्छेत्सद्यो मुक्ति यदीच्छति ॥

अर्थात् "प्रकृष्ट हर्ष का उत्पन्न होना, स्वर, नेत्र और अङ्गो विशेष की क्रिया का होना, कम्पन, स्तोम, शरीर का पात, भ्रमण, उद्-गति, आकाश मे अवस्थान, अन्य शरीर में सस्थिति हे देवगण ! देह का

दिखलाई न देना, प्रकाशरूप में भासित होना, अधीत शास्त्र का स्वत ही प्रकाशन होना, निग्रह और अनुग्रह शक्ति तथा पर्वत आदि का भेदन हे सुरश्रेष्ठो ! इसी प्रकार के लिंग हैं, जो प्रकाश के होते हैं। तीव्र से भी तीव्रतर शम्भु का प्रसाद सम नहीं होता है। इस प्रकार के रूप वाले प्रसाद को शिवा—शिव के द्वारा ही जाना जाता है। मेरे द्वारा, अन्यो के द्वारा और नारायण के द्वारा नहीं जाना जाता है। अतएव अन्य सभी देवो को त्याग शिव की शरण मे जाओ, यदि सच हो मुक्ति की इच्छा रखते हो।"

सति तस्मिश्च चिह्नानि तस्यैतानि विलक्षयेत ।
तत्रैतत्प्रथम चिह्न रुद्र भक्ति. सुनिश्चला ।।
द्वितीयमन्त्रसिद्धिस्स्यात्सद्य प्रत्ययकारिका ।
सर्वगत्व वशित्व च तृतीय तस्य लक्षणम् ।।
प्रारब्ध कर्म निष्पन्निश्चिह्नमाहुश्चतुर्थकम् ।
कवित्व पञ्चम ज्ञेय सालङ्कारमनोहरम् ।।
सर्व शास्त्रार्थ वेतृत्व अकस्मात्तस्य जायते ।।

अर्थात् "उसके होने पर उसके इन चिन्हो को देखना चाहिए। उनमे प्रथम चिन्ह यही है कि रुद्र मे सुनिश्चल भक्ति है। दूसरा मन्त्र की सिद्धि है जो तुरन्त ही विश्वास कराने वाली है। तीसरा उसका लक्षण यह है कि समस्त जीवो को वश मे कर लेना है। प्रारब्ध कर्म की निष्पत्ति चौथा चिन्ह है। कवित्व पाँचवाँ चिन्ह है, जो अलकारो से युक्त परम सुन्दर हो। अकस्मात ही सब शास्त्रो का ज्ञाता होना उसको पैदा हो जाता है।"

राम को गुरु वशिष्ठ से जब यह प्रसाद प्राप्त हुआ था अर्थात् वशिष्ठ ने जब राम को शक्तिपात का प्रसाद दिया था, तो राम को इस भौतिक जगत् से वैराग्य हो गया, राजवैभव की सभी सुख-सुविधाओ को तो त्याग ही दिया। खाना, पीना, पहनना और ओढ़ना आदि साधारण क्रियाएँ भी उनसे छूट गई तो किसी तरह से उन्हे राज-सभा मे बुलवाया

गया। वहाँ ऋषियों ने उन्हें उपदेश दिया। वहाँ पर महर्षि विश्वामित्र भी उपस्थित थे। उन्होंने महर्षि वशिष्ठ को सम्बोधित करते हुए कहा—

हे वशिष्ठ महाभाग ब्रह्मपुत्र महानसि।
गुरुत्वं शक्तिपातेन तत्क्षणादेव दर्शितम्॥

"हे महाभाग वशिष्ठ! तुम ब्रह्मा के पुत्र हो। तुमने राम के प्रति शक्तिपात करके अपने गुरुत्व का तत्क्षण ही प्रदर्शन कर दिया है।"

घटनाएँ—

शास्त्रों में यत्र तत्र गुरु-कृपा से शिष्य के शक्तिपात के उदाहरण उपलब्ध हो जाते हैं। कहा जाता है कि स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने स्वामी विवेकानन्द पर शक्तिपात कर उनकी शक्ति का जागरण किया था। तभी नास्तिक नरेन्द्र स्वामी विवेकानन्द बन सके। सन्त ज्ञानेश्वर के अनुसार भगवान कृष्ण ने अर्जुन पर शक्तिपात किया था।

सन्त एकनाथ की भागवत टीका में यदु-अवधूत संवाद में दत्तात्रेय द्वारा यदु पर शक्तिपात करने की घटना दी गई है। इसमें स्पर्श-दीक्षा से आत्मबोध कराया गया। आलिंगन करते ही आनन्द का स्रोत उमड़ पड़ा। जब वह अन्दर न रोका जा सका, तो बाहर स्वेद और नेत्राश्रुओं के रूप में निकल पड़ा। शरीर का अंग-अंग खिलखिला-सा उठा। रोमांच होने लगा, मन अमन हो गया, देहभाव की सुधि बुधि न रही। अंगों में कम्पन आ गया। संकल्प-विकल्प की समाप्ति हुई। शिष्य ने अपना जीव भाव गुरु को समर्पित किया। इसमें शक्तिपातके सभी लक्षण आ गए हैं।

सन्त एकनाथ ने भागवत टीका में अपने जनार्दन स्वामी का भी उदाहरण दिया है कि उन्हें किस प्रकार दत्तात्रेय द्वारा शक्तिपात का अनुग्रह प्राप्त हुआ। वह अपने गुरु को दत्तात्रेय की शिष्य-परम्परा में

मानते हैं। गुरु ने शिष्य के मस्तक पर हाथ रखा और शक्ति का जागरण हो गया।

प्रकार—

शक्तिपात तीन प्रकार का होता है—तीव्र, मध्य और मन्द। इन तीनो के तीन भेद होते हैं। भेद होने के कारण उनके लाभो मे अन्तर तो स्वाभाविक ही है, जैसे विद्युत्चालित पखे मे मन्द, मध्य और तीव्र गति का प्रभाव तुरन्त वायु की गति से परिलक्षित होने लगता है। उदाहरण के लिए तीव्र शक्तिपात के तीन प्रकार हैं—तीव्र-तीव्र, मध्य तीव्र और मन्द तीव्र। तीव्र तीव्र शक्ति के आगे तीन भेद हैं—अत्यन्त तीव्र, मध्य तीव्र और मन्द तीव्र। अत्यत तीव्र से उसी समय शरीर छूट जाता है। मध्य-तीव्र तीव्र मे कुछ समय लगता है और मन्द तीव्र-तीव्र से अपने आप ही शरीर का नाश होता है। अत्यत तीव्र-तीव्र मे तो प्रारब्ध कर्मों का भी नाश ही हो जाता है। शेष मे भी प्रारब्ध का नाश शक्तिपात की तीव्रता पर निर्भर करता है।

तीव्र तीव्र शक्तिपात से तो शरीर का नाश होना है, परन्तु मध्य तीव्र मे ऐसा नही होता, उसमे अज्ञान का नाश और ज्ञान का उदय होता है। इस ज्ञानार्जन से कर्मों का क्षय होता है। गीता के शब्दो मे—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥

अर्थात् "हे अर्जुन! तेजी से जली हुई अग्नि जिस तरह ईंधनो को जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार ज्ञान रूपी अग्नि भी समस्त कर्मों को भस्मसात् कर दिया करती है।"

मन्द तीव्र शक्तिपात से मन मे विवेक के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न होती है, सद्गुरु की प्राप्ति की इच्छा जाग्रत होती है। तत्व को जानने की उत्कंठा ही इसका लक्षण है। इच्छा होने पर सद्गुरु की प्राप्ति भी

होती है। गुरु की प्राप्ति होने पर जिज्ञासाओं का शमन होता है। शिष्य मुक्तिपथ की ओर अग्रसर होता है।

अधिकार—

शक्तिपात के लिए गुरु की सामर्थ्य का होना तो आवश्यक है, परन्तु शिष्य को इसके लिए कोई तैयारी नहीं करनी पडती। तैयारी की आवश्यकता न होने पर भी उसका अधिकार तो उसे प्राप्त होना ही चाहिए अन्यथा शक्तिपात तो एक खेल मात्र बनकर रह जायेगा। इस अधिकार के लिए शास्त्र ने कुछ मर्यादाएँ नियत की हैं, उनका पालन व विकास आवश्यक है, तभी वह सद्गुरु का पात्र बन पाता है। शिष्य में किन गुणों का विकास होना चाहिए। इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

"जो इन्द्रियों को जीतने वाला, ब्रह्मचारी, गुरुभक्त हो, उसी के सम्मुख यह रहस्य प्रकट करना उचित है।'

—हंसोपनिषद्

"इस पैप्पलाद ऋषि को प्राप्त हुए महाशास्त्र को चाहे जिस किसी को न देना चाहिए। नास्तिक, कृतघ्न, दुर्वृत्त, दुरात्मा, दाम्भिक, नृशंस, शठ और असत्यभाषी को इसे कदापि न दे। जो सुव्रतधारी, सच्चा भक्त, शुद्ध वृत्ति वाला, सुशील, गुरुभक्त, शमदम वाला, धर्मबुद्धि वाला, ब्रह्मचर्य में चित्त लगाने वाला, भक्ति-भावना वाला हो, कृतघ्न न हो उसी को इसे देना चाहिए। यदि ऐसा न मिले, तो किसी को न देकर उसकी रक्षा करनी चाहिए।"

—शरभोपनिषद्

"यह ज्ञान शंकर का महान् शास्त्र है। उसे जो कोई नास्तिक, कृतघ्नी, दुराचारी, दुरात्मा हो उसको नहीं देना। पर जिसका अन्तःकरण गुरु भक्ति से शुद्ध हो, ऐसे व्यक्ति को एक महीना, छः

महीना या वर्ष भर तक परीक्षा करने के उपरान्त ही इस शास्त्र को देना ।"

—तेज बिन्दु उपनिषद्

"यह ब्रह्म का ज्ञान उसे नही देना चाहिए, जो अत्यन्त शान्त न हो, जो पुत्र न हो, शिष्य न हो और एक वर्ष पास न रहा हो। अनजान कुल शील वाले को भी नही देना चाहिए और न सुनाना चाहिए। जिसको परमात्मा के ऊपर और परमात्मा के समान ही गुरु के ऊपर परम भक्ति हो, उसी के लिये यह वाक्य कहे गये हैं और ऐसी आत्मा को ही ये प्रकाशवान करते हैं।"

—सुबाल उपनिषद्

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्
प्रशान्त चित्ताय शमान्विताय।
येनाक्षर पुरुप वेद सत्य
प्रोवाच ता तत्वतो ब्रह्म विद्याम्।

—मुण्डक १।२।१३

"वह ज्ञानी गुरु उस श्रद्धापूर्ण, शान्तचित्त एव तितिक्षा और साधना निष्ठ शिष्य को ब्रह्म-विद्या का उपदेश करे, जिससे वह अविनाशी सत्स्वरूप आत्मा को जानले।"

यह भी ध्यान रखने की बात है कि सत्पात्र, श्रद्धालु और विश्वासी शिष्य ही गुरु कृपा का लाभ उठा सकता है। जिसमे यह गुण नही, उस ऊसर भूमि मे किसी भी गुरु का बोया गया ज्ञान-बीज नही जम सकता है। गुरु के एक पक्षीय प्रयत्न से भी शिष्य का कल्याण नहीं हो सकता। दोनो ही पक्षो की श्रेष्ठता से गुरु-शिष्य सयोग का सच्चा लाभ मिलता है। कहा भी है—

गुरुश्चेदुद्धरत्यज्ञमात्मीयात्पौरुषाहृते।
उष्ट्र दान्त बलीवर्द तत्कस्मान्नोद्धरत्यसौ।

—योग वशिष्ठ ५।४३।१६

"यदि गुरु किसी अविचारी और पुरुषार्थहीन का उद्धार कर सकते होते तो ऊंट, हाथी, बैल आदि का उद्धार क्यों न करते ?"

मच्छिष्यन्तु कुलेशानि शुभलक्षणसंयुतम् ।
समाधिसाधनोपेन गुणशीलसमन्वितम ।।
स्वच्छदेहाम्बर प्राज्ञ धार्मिक शुद्धमानसम् ।
दृढव्रत सदाचार श्रद्धाभक्तिसमन्वितम् ।।
दक्षमल्पाशिन गूढचित्त निर्व्याजसेवकम् ।
विनृष्यकारिण वीर मनोदारिद्र्यवर्जितम ।।

अर्थात् "जो व्यक्ति समाधि के साधनों, गुण और शील से समन्वित हो, वही दीक्षा का श्रेष्ठ अधिकारी है। जो स्वच्छ वस्त्र धारण करने वाला, धार्मिक शुद्ध मन वाला, दृढ व्रती, सदाचारी, श्रद्धा-भक्ति से युक्त, विचारवान, उदारचित्त, गम्भीर, मिताहारी, समस्त कर्मों मे दक्ष, अभिमान शून्य, वीर और निष्काम भाव वाला है, वही दीक्षा का अधिकार रखता है।"

शिष्य के भी गुरु के प्रति अनेक कर्तव्य हैं। उन सबमे आवश्यक कर्तव्य है सच्ची श्रद्धा और भक्ति-भावना का होना। यही वह आकर्षण है, जिसके बल पर शिष्य गुरु के हृदय मे से आवश्यक सहायता और कृपा प्राप्त कर सकता है। यदि बछडा थन को चूमेगा नही, तो गाय उसके मुख मे अपना दूध उडेल नही सकेगी। जिसके मन मे भक्ति-भावना का अभाव है, केवल चिन्ह-पूजा के लिए अथवा प्रयोजन विशेष के लिए किसी गुरु को वरण किया है, तो ऐसे लोग वह प्रसाद प्राप्त नही कर सकते, जो श्रद्धा-भावना वाले शिष्य प्राप्त करते हैं।

शिष्य को आरम्भ मे गुरु-भक्ति की स्थापना हृदय मे करनी पडती है और यही आगे चलकर ईश्वर-भक्ति के रूप मे परिणित हो जाती है। गुरु-भक्ति ईश्वर-भक्ति का ही प्रारम्भिक एव स्थूल रूप है। प्रारम्भिक शिष्यो के लिए इसकी उपयोगिता बताते हुए कहा गया है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यार्था प्रकाशन्ते महात्मन । प्रकाशन्ते महात्मन ।

—श्वेताश्वतरोपनिषद्

"जिसके मन मे परमात्मा की भक्ति के समान ही गुरु की भी भक्ति है, उसी महान् आत्मा वाले के हृदय मे यह ज्ञान प्रकाशित होता है।"

शक्तिपात का अधिकार प्राप्त करने के लिए निष्काम भाव का विकास अत्यन्त आवश्यक है। गीता मे भी कहा है—

कर्मज बुद्धियुक्ता हि फल त्यक्त्वा मनीषिण.।
जन्मबन्ध विनिर्मुक्ता पद गच्छन्त्यनामयम्।

——गीता २।५१

अर्थात् "समत्व बुद्धि से युक्त जो ज्ञानी पुरुष कर्मफल का त्याग करते हैं, वे जन्म के बन्धन से मुक्त होकर ईश्वर के दु ख विरहित पद को जा पहुँचते हैं।"

तभी भगवान ने कहा है——

न मा कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मा योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥

——गीता ४।१४

अर्थात् "मुझे कर्म का लेप अर्थात् बाधा नही होती, क्योकि कर्म के फल मे मेरी इच्छा नही है। जो मुझे इस प्रकार जानता है, उसे कर्म की बाधा नही होती।"

ऐसा निष्काम साधक ही शक्तिपात का उत्तम अधिकारी माना जाता है। इसे पर-शक्तिपात कहा जाता है।

जिनमे निष्कामता का अभाव रहता है और फल की इच्छा रहती है, उन्हे निम्न कोटि का अधिकार प्राप्त होता है। इसे अपर-शक्तिपात कहा जाता है। निष्काम साधक के लिए गुरु को बाह्य उपकरणो की आवश्यकता नही रहती परन्तु जिनमे इस गुण का अभाव रहता है,

उनके लिये बाह्य उपकरणो की अपेक्षा रहती है और शास्त्रीय मर्यादा का पालन करना पड़ता है।

वैज्ञानिक प्रक्रिया—

शक्तिपात एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है, जिसमे गुरु शक्ति का सचार शिष्य मे करता है। गुरु को आध्यात्मिक शक्तियो से ओत-प्रोत होना आवश्यक बताया गया है। उनके षट्चक्र और कुडलिनी का जागरण होना आवश्यक है, तभी वह शिष्य के इन महत्वपूर्ण केन्द्रो को प्रभावित कर सकता है। शिष्य की यह शक्तियाँ सुप्त अवस्था मे होती हैं, उन्हे जगाना मात्र होता है। माचिस की डिब्बी पर जलाने की सामर्थ्य वाली सामग्री लगी रहती है, परन्तु वह अपने आप नही जल सकती। उसे जलाने के लिए बाह्य उपकरण की अपक्षा रहती है जो उसमे विद्यमान शक्तियो को उत्तेजित कर सके। माचिस की तीली पर भी ऐसी रासायनिक सामग्री लगी रहती है, जो डिब्बी पर लगी सामग्री को उत्तेजित करने की क्षमता रखती है। शक्तिपात वही व्यक्ति कर सकता है, जो अपनी आध्यात्मिक शक्तियो को एकत्रित करना जानता है।

साधारणत हाथ के स्पर्श से शक्तिपात किया जाता है। आधुनिक विज्ञान की भी यही मान्यता है कि हाथ के पोरुओ मे विद्युत का सचार रहता है और अपनी प्राण-विद्युत को दूसरे के शरीर मे प्रवेश करके उसके शरीर व मन मे परिवतन लाये जा सकते हैं। हिप्नोटिज्म आदि कुछ ऐसी वैज्ञानिक प्रणालियो का आविष्कार किया जा चुका है, जिनमे हाथ की विद्युत मे चमत्कारिक अनुभूतियाँ दिखाई देती हैं। भारतीय सन्त तो लाखो वर्षों से इस अभ्यास को करते आ रहे हैं। वे हाथ के स्पर्श व मार्जन आदि क्रियाओ से कष्टसाध्य रोगो का निवारण तक करते देखे गये हैं। यह जादू नही, वैज्ञानिक सत्य है कि हमारे प्राणो में रोग-निवारक शक्ति होती है। जब बच्चे को चोट लगती है, तो माँ उस स्थान पर फूँक देती है और बच्चा सुख अनुभव करता है। रोता

हुआ बच्चा जब गोद मे आता है, चुप हो जाता है, क्योकि वह व्यक्ति के शरीर की विद्युत के स्पर्श मे आता है और उसके शरीर मे एक शक्तिशाली प्रवाह दोडने लगता है। प्रियजनो का चुम्बन, उनसे आलिंगन, हाथ मिलाना और गुरुजनो के चरण स्पर्श से असाधारण प्रसन्नता प्राप्त होती है। इन क्रियाओ की सफलता मे भी यही रहस्य निहित है कि एक व्यक्ति की विद्युत दूसरे के शरीर मे उस क्रिया विशेष के माध्यम से प्रवेश करती है।

भारतीय ऋषि जानते थे कि किस माध्यम से शक्ति का सचार सरल रीति से होना सम्भव है। प्राण-विद्युत तो सारे शरीर मे रहती है, परन्तु उसका सचार प्रमुख रूप से हाथो से ही किया जा सकता है, वैसे आलिंगन भी एक सशक्त प्रक्रिया है। सामर्थ्यवान गुरु के सारे शरीर मे शक्ति की विद्युत का प्रवाह चलता है, जो भी उससे स्पर्श करता है, उस शक्ति से लाभान्वित होता है, परन्तु यदि उसका सचार एक विशेष विधि-विधान और प्रबल इच्छा-शक्ति से किया जाए तो उसका प्रभाव विशेष होता है। शक्तिपात जिन परिस्थितियो मे किया जाता है, दोनो पक्षो की ओर से पवित्र और अनुकूल भावनाओ का आदान-प्रदान होता है, इससे उस प्रक्रिया को और अधिक बल प्राप्त होता है।

शक्तिपात मे निष्कामता परिलक्षित होती है। जिसके पास शक्ति का भडार एकत्रित हो गया है, वह उसे अपने तक सीमित नही रखना चाहता वरन् योग्य पात्रो को वितरण करना चाहता है। यह जनहित की भावना ही समाज मे सुव्यवस्था लाने मे सहायक सिद्ध होती है। आजकल स्थिति विपरीत है। अपने अह की पुष्टि और विस्तार के लिए वह अपनी विद्या को अपने तक ही सीमित रखना चाहता है। जिनके पास किसी प्रकार का भी भडार एकत्रित हो गया है, वह उसका नाजायज लाभ उठाना चाहता है। प्राचीन काल मे ऐसा न था। वे समाज के उत्थान मे विश्वास करते थे। शिष्य की शक्तियो को विकसित

करने के लिए गुरु प्रयत्नशील रहते थे, चाहे वे विद्या भौतिक हो या आध्यात्मिक। शक्तिपात तो उदार हृदय का प्रत्यक्ष प्रमाण है,जिससे गुरु अपनी शक्ति का व्यय करके शिष्य की सामर्थ्य को बढाता है। अपने तप की पूँजी मे से खर्च करके शिष्य को देना परमार्थ और नि स्वार्थ भावनाओ का परिणाम है। यह परम्परा निरन्तर चलती रहती है। जब शिष्य की शक्तियो का पूर्ण विकास हो जाता है, तो वह अपने से कम विकसित व्यक्तियो को ऊँचा उठाने का प्रयत्न करता है। वह इसे अपना नैतिक उत्तरदायित्व समझता है।

अत शक्तिपात एक ऐसा वैज्ञानिक और आध्यात्मिक साधन है, जिससे सुप्त शक्तियो का जागरण किया जाता है।

• • •

कुण्डलिनी शक्ति-जागरण और प्रभाव

पिंड को ब्रह्मांड का एक छोटा नमूना बताया गया है। वृक्ष का सारा कलेवर एक छोटे-से बीज मे समाया रहता है। नन्हे-से क्षुद्र कीट मे मनुष्य-शरीर का ढाँचा विद्यमान है। सौर-मण्डल के ग्रहो का पारस्परिक आकर्षण और क्रिया-कलाप जिस ढग से चलता है, उसकी एक नन्ही-सी प्रक्रिया परमाणु परिवार के इलेक्ट्रोन, न्यूट्रोन, प्रोटोन आदि प्रदर्शित करते हैं। इसी प्रकार समस्त ब्रह्माड मनुष्य-देह-पिंड मे—एक लघु कलेवर मे दृष्टिगोचर होना है। हमारी इस छोटी-सी देह मे वह सब कुछ विद्यमान है, जो इस निखिल विश्व ब्रह्मांड मे उपस्थित दृश्य और अदृश्य इकाइयो मे पाया जाता है। इस पृथ्वी की समस्त विशेषताओ को भी हम अपनी इस छोटी-सी देह मे विद्यमान देख सकते हैं।

पृथ्वी की समस्त शक्तियो, विशेषताओ और विभूतियो के केन्द्र उसके सन्तुलन बिन्दु उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव हैं। यहीं से वह सूत्र-सचालन होता है, जिसके कारण यह धरती एक सजीव पिंड एव अगणित जीवधारियो की क्रीडा-स्थली बनी हुई है। यदि ध्रुवो की स्थिति मे किसी प्रकार आघात पहुँच जाय या परिवर्तन उपस्थित हो जाय, तो फिर इस भू-मडल का स्वरूप बदलकर कुछ और ही तरह का हो जायगा। कहा जाता है कि किसी ध्रुव के सन्तुलन केन्द्र-बिन्दु पर यदि

एक घूँसा मार देने जितना आघात भी पहुँचा दिया जाय, तो यह पृथ्वी अपनी कक्षा से लाखों करोड़ों मील इधर-उधर हट जायगी और तब दिन, रात्रि, ऋतु, वर्षा, गर्मी आदि का सारा स्वरूप ही बदलकर किसी दूसरे क्रम में परिणत हो जायगा। यह छोटा-सा घूँसा-आघात भू पिंड को किसी अन्य ग्रह-नक्षत्र से टकराकर चूर-चूर हो जाने की स्थिति में डाल सकता है। कारण स्पष्ट है—ध्रुव ही तो सारी धरती का नियन्त्रण करते हैं और उन्हीं के शक्ति सन्धान कठपुतली की तरह इस भू-मंडल का विभिन्न क्रीडा-कलाप करने की प्रेरणा एव क्षमता प्रदान करते हैं। दोनों ध्रुव ही तो उसकी क्रिया और चेतना के केन्द्र-बिन्दु हैं।

जिस प्रकार पृथ्वी में चेतना एव क्रिया उत्तरी-दक्षिणी ध्रुवों में से प्राप्त होती है, उसी प्रकार मानव पिंड-देह के भी दो ही अति सूक्ष्म शक्ति-सस्थान हैं। उत्तरी ध्रुव है—ब्रह्मरन्ध्र—मस्तिष्क सहस्रार कमल। दक्षिणी ध्रुव है—सुषुम्ना सस्थान—कुंडलिनी केन्द्र मूलाधार चक्र। पौराणिक कथा के अनुसार क्षीर-सागर में, सहस्र फन वाले सर्प पर विष्णु भगवान शयन करते हैं। यह क्षीर-सागर मस्तिष्क में भरा श्वेत सघन स्नेह सरोवर ही है। सहस्रार कमल एक ऐसा परमाणु है, जो अन्य कोषों की तरह गोल न होकर आरी के दाँतों की तरह कोण-कलेवरों में आवेष्ठित है। इन दाँतों को सर्प-फन कहते हैं। चेतना का केन्द्र-बिन्दु—इसी ध्रुवकण में प्रतिष्ठित है। चेतन और अचेतन मस्तिष्कों के अगणित घटकों को जो इन्द्रियजन्य एव अतीन्द्रिय ज्ञान प्राप्त होता है, उसका आधार यही ध्रुव-विष्णु अथवा सहस्रार कमल हैं। ध्यान से लेकर समाधि तक और आत्मा-चिन्तन से भक्तियोग तक की सारी आध्यात्मिक साधनायें तथा मनोबल, आत्म-बल एव सकल्पजन्य सिद्धियों का केन्द्र-बिन्दु इसी स्थान पर है।

दूसरा दक्षिण ध्रुव—मूलाधार चक्र, सुमेरु-सस्थान, सुषुम्ना-केन्द्र है। जो मल-मूत्र के स्थानों के बीचो-बीच अवस्थित है। कुंडलिनी,

महासर्पिणी, प्रचड क्रिया-शक्ति इसी स्थान पर सोई पडी है। उत्तरी ध्रुव का महासर्प अपनी सहचहरी सर्पिणी के बिना और दक्षिणी ध्रुव की महासर्पिणी अपने सहचर महासर्प के बिना निरानन्द मूर्छित जीवन व्यतीत करते हैं। मनुष्य-शरीर विश्व की समस्त विशेषताओ का प्रतीक प्रतिबिम्ब होते हुए भी तुच्छ-सा जीवन व्यतीत करते हुए—कीट पतगो की मौत मर जाता है, कोई महत्वपूर्ण उपलब्धि प्राप्त नही कर पाता। इसका एकमात्र कारण यही है कि हमारे पिड के, देह के दोनो ध्रुव मूर्छित पडे है, यदि वे सजग हो गये होते, तो ब्रह्माड जैसी महान् चेतना अपने पिड मे भी परिलक्षित होती।

मूत्र-स्थान यो एक प्रकार मे घृणित एव उपेक्षित स्थान है। पर तत्त्वत उसकी सामर्थ्य मस्तिष्क मे अवस्थित ब्रह्मरन्ध्र जितनी ही है। वह हमारी सक्रियता का केन्द्र है। नाक, कान आदि छिद्र भी मल विसर्जन के लिए प्रयुक्त होते है, पर उन्हें कोई ढकता नही। मूत्र-यन्त्र को ढकने की अनादि एव आदिम परिपाटी के पीछे वह सतर्कता है, जिसमे यह निर्देश है कि इस सस्थान से जो अजस्र शक्ति प्रवाह बहता है, उसकी रक्षा की जानी चाहिये। शरीर के अन्य अङ्गो की तरह यो प्रजनन अवयव भी मांस-मज्जा मात्र से ही बने हैं, पर उनके दर्शन मात्र से मन विचलित हो उठना है। अश्लील चित्र अथवा अश्लील चिन्तन जब मस्तिष्क मे उथल-पुथल पैदा कर देता है, तब उन अवयवो का दर्शन यदि भावनात्मक हलचल को उच्छृङ्खल बनादे तो अशचर्य ही क्या? यहाँ यह रहस्य जान लेना ही चाहिये। मूत्र सस्थान के मूल मे बैठी हुई कुडलिनी शक्ति प्रसुप्त स्थिति मे भी इतनी तीव्र है कि उसकी प्रचड धारायें खुली प्रवाहित नही रहने दी जा सकती है। उन्हे आवरण मे रखने से उनका अपव्यय बचता है और अन्यो के मानसिक सतुलन को क्षति नही पहुँचती। छोटे बच्चो को भी कटिबन्ध इसीलिये पहनाते है। ब्रह्मचारियो को धोती के अतिरिक्त लंगोट भी बाधे रहना पडता है। पहलवान भी ऐसा ही करते हैं। सन्यास और वानप्रस्थ मे भी यही प्रक्रिया अपनानी पडती है।

ब्रह्मरंध्र मस्तिष्ककी सामर्थ्य से हम सभी परिचित हैं पर कुंडलिनी क्रिया-शक्ति के केन्द्र बिन्दु मूलाधार का रहस्य बहुत कम लोगों को मालूम है। उसी संस्थान का जादू है कि मनुष्य अपने समान एक नये मनुष्य को बना कर तैयार कर देता है, जबकि भगवान् भी अपने जैसा नया भगवान् बना सकने का साहस न कर सका। इन अवयवों का पारस्परिक स्पर्श होने से नर नरी के बीच एक असाधारण भावना प्रवाह बहने लगता है। साथी के दुश्चरित्र और अविश्वस्त होने की बात मानते हुए भी परस्पर इतना आकर्षण हो जाता है कि व्यभिचार परायण नर-नारी भी एक दूसरे के लिये सभी मर्यादाओं को तोड़कर रोग,कलंक, पाप, परिवार-विग्रह एवं धन हानि की क्षति उठाते देखे गये हैं। विशुद्ध दाम्पत्य जीने वाले पति-पत्नी के पारस्परिक आकर्षण का केन्द्र जहाँ उनकी धर्म भावना है, वहाँ वह शारीरिक क्रिया कलाप भी हैं, जिनके कारण कुंडलिनी बिन्दुओं का स्पर्श एक दूसरे के शरीर एवं मन पर जादुई प्रभाव डालता है और एक दूसरे को अपना वशवर्ती कर लेता है।

शिव लिंग के पूजा-प्रचलन में एक महान् आध्यात्मिक तत्व-ज्ञान का संकेत है, जिसमें व्यक्ति को सचेत किया गया है कि वह शरीर के इस अवयव में ईश्वरीय दिव्य शक्ति का अति उत्कृष्ट अंश समाविष्ट समझे और इस ब्रह्मांड को ईश्वर की क्रियाशक्ति—कुंडलिनी का प्रतीक माने। शिवलिंग का जल-अभिषेक करने का एक तात्पर्य यह भी है कि इस शक्ति के महान् लाभों को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि उसे शीतल रखा जाय, उद्दीप्त न होने दिया जाय। योगी-यती अपनी साधनाओं में यह तत्वज्ञान संजोये ही रहते हैं कि उन्हें ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना चाहिए, ताकि पिंड की—देह की—मूलाधार क्रियाशक्ति कुंडलिनी का अपव्यय न हो और वह बहिर्मुखी होकर अस्त-व्यस्त बनने, उच्छृङ्खल होने की अपेक्षा लौटकर ऊर्ध्वगामी दिशा पकड़ती हुई ब्रह्मरन्ध्र अवस्थित महासर्प के साथ तादात्म्य होकर परमानन्द—ब्रह्मानन्द का लक्ष्य प्राप्त कर सके।

कुंडलिनी का एक अमोघ चमत्कार प्रजनन-शक्ति—काम-क्रीडा और उसकी अनुभूतियो और प्रतिक्रियाओ के रूप में देखा और समझा जाता रहा है। इस रूप मे उसका उपयोग करने की इच्छा बोधवान् बालको से लेकर अशक्त वयोवृद्धो तक मे पाई जाती है, भले ही वे उसे मूर्त्त रूप देने मे तरुणो की तरह सफल न हो सके। इतना मात्र परिचय वस्तुत बहुत ही स्वल्प है। कुंडलिनी काम-वासना के रूप मे हमे जितना प्रभावित करती है, उससे लाखो गुना अधिक प्रभावित वह कर सकती है, सर्वांगीण—सर्वतोमुखी—क्रिया शक्ति के रूप मे। भू-खडो को काटकर वीरान बनाती चलने वाली उच्छृङ्खल नदियो को जब बाँध के रूप मे रोका और नहरो के रूप मे प्रवाहित किया जाता है, तो उससे सहस्रो एकड जमीन सीची जाती और उससे प्रचुर धन-धान्य की उत्पत्ति होती है। ठीक इसी प्रकार प्रजनन-शक्ति को कामुकता की उच्छृङ्खलता से रोककर यदि अन्य रचनात्मक कार्यों मे लगा दिया जाय, तो उसके सत्परिणाम आश्चर्यजनक होते हैं। इस तथ्य को ध्यान मे रखते हुए आध्यात्मिक साधनाओ मे इन्द्रिय सयम को—ब्रह्मचर्य को बहुत महत्व दिया गया है।

मल मूत्र स्थान के मध्य अवस्थित मूलाधार चक्र का केन्द्र-बिन्दु एक तिकोना कण है, जिसे 'सुमेरु' अथवा कूर्म कहते कहते हैं। शरीर मे समस्त जीवन-कण गोल हैं, केवल दो ही ऐसे हैं जिनकी आकृति मे अन्तर है—एक ब्रह्मरन्ध्र स्थित सहस्रार कमल नाम से पुकारा जाने वाला आरी की नोको जैसी आकृति का ब्रह्मरध्र—उत्तरी ध्रुव। दूसरा मूलाधार मे अवस्थित चपटा, बीच मे उठा हुआ—कछुए की आकृति वाला—दक्षिणी ध्रुव। इन दोनो पर ही जीव की सारी आधारशिला रखी है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर के—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोशो के—अन्त करणचतुष्टय मे, सप्त प्राणो के—मूलाधार यही दो ध्रुव हैं। इन्ही की शक्ति और प्रवृत्ति मे हमारा वाह्य और अन्तरङ्ग जीवन-क्रम चलते रहने मे समर्थ होता है।

उत्तरी ध्रुव सहस्रार कमल में विक्षोभ उत्पन्न करने और उसकी शक्ति को अस्त-व्यस्त करने का दोष, लोभ, मोह, अहङ्कार जैसी दुष्प्रवृत्तियों का है। मस्तिष्क उन चिन्तनों में दौड़ जाता है, तो उसे आत्म-चिन्तन के लिए—ब्रह्मशक्ति सचय के लिये अवसर ही नहीं मिलता। इसी प्रकार दक्षिणी ध्रुव—मूलाधार में भरी प्रचण्ड क्षमता को कार्य-शक्ति में लगा दिया जाय, तो मनुष्य पर्वत उठाने एव समुद्र मथने जैसे कार्यों को कर सकता है। क्रियाशक्ति मानव-प्राणी में असीम है। किन्तु उसका क्षय कामुकता के विषय-विकारों में होता रहता है। यदि इस प्रवाह को गलत दिशा से रोककर सही दिशा में लगाया जा सके, मनुष्य की कार्य-क्षमता साधारण न रहकर दैत्यों अथवा देवताओं जैसी हो सकती है।

पुराणों में समुद्र-मन्थन की कथा आती है। यह सारा चित्रण सूक्ष्म रूप से मानव शरीर में अवस्थित कुण्डलिनी शक्ति के प्रयोग प्रयोजन का है। हमारा मूत्र संस्थान खारी जल से भरा समुद्र है। उसे अगणित रत्नों का भाण्डागार भी कह सकते हैं। स्थूल और सूक्ष्म शक्तियों की सुविस्तृत रत्नराशि इसमें छिपी हुई है। प्रजापति के सकेत पर एक बार समुद्र मथा गया। देव और दानव इसका मन्थन करने में जुट गये। असुर उसे अपनी ओर खींचते थे अर्थात् कामुकता की ओर घसीटते थे और सुर उसे रचनात्मक प्रयोजनों में नियोजित करने के लिए तत्पर थे। इसी खींच तान को दूध में से मक्खन निकालने वाली बिलोने की, मन्थन-की क्रिया चित्रित की गई है।

समुद्र-मन्थन उपाख्यान में यह भी वर्णन है कि भगवान ने कछुए का रूप बनाकर आधार स्थापित किया, उनकी पीठ पर सुमेरु पर्वत 'रई' के स्थान पर अवस्थित हुआ। शेषनाग के साढ़े तीन फेरे उस पर्वत पर लगाये गये और उसके द्वारा मन्थन-कार्य सम्पन्न हुआ। कच्छप और सुमेरु मूलाधार चक्र में अवस्थित वह शक्ति-बीज है, जो

जो दूसरे कणों की तरह गोल न होकर चपटा है और जिसकी पीठ, नाभि, की ओर उभरी हुई है। इसके चारों ओर महासर्पिणी, कुण्डलिनी साढ़े तीन फेरे लपेटकर पड़ी हुई है। इसे जगाने का कार्य मन्थन का प्रकरण उद्दाम वासना के उभार और दमन के रूप में होता है। सुर और असुर दोनों ही मनोभाव अपना-अपना जोर आजमाते हैं और मन्थन आरम्भ हो जाता है। कामुकता भड़काने और उसे रोकने का खेल ऐसा है, जैसे सिंह को क्रुद्ध और उत्तेजित करने के उपरांत उससे लड़ने का साहस करना। कृष्ण की रासलीला का अध्यात्म-रहस्य कुछ इसी प्रकार का है। तन्त्र में वर्णित पाँच भावों (मद्य, मांस, मीन, वा मुद्रा, मैथुन सेवन) में पाँचवा भाग मैथुन का है। उस प्रकरण की गहराई में जाने और विवेचन करने का यह अवसर नहीं। यहाँ तो इतना ही समझ लेना पर्याप्त है कि कामुकता की उद्दीप्त स्थिति को प्रतिरोध द्वारा नियन्त्रित करने का पुरुषार्थ—समुद्र-मन्थन का प्रयोजन पूरा करता है।

समुद्र-मन्थन कुंडलिनी की स्थूल प्रेरणा कामुकता को अन्य दिशा में नियोजित करना है। यों कामुकता भी विषयानन्द और सन्तान लाभ का सुख देती है, पर यह दो छोटे लाभ नगण्य है। समुद्र-मन्थन में १४ रत्न निकले थे। जिनमें अमृत, कल्प-वृक्ष, कामधेनु, जैसे अति उत्कृष्ट और अति महत्त्वपूर्ण भी थे। यह ऐतिहासिक अथवा पौराणिक उपाख्यान हमारे जीवन में चरितार्थ किया जा सकता है। कुंडलिनी जागरण साधना में काम वासना का निग्रह समुद्र-मन्थन की भूमिका प्रस्तुत करता है। यों आगे चलकर आत्म-प्राण और महा-प्राण को इड़ा-पिंगला के द्वारा सुषुम्ना तक पहुँचाने की साधना भी समुद्र-मन्थन का दूसरा कार्यक्रम प्रस्तुत करती है, पर उसका प्रथम सोपान तो इन्द्रिय निग्रह पर ही अवलम्बित है। उत्तरी ध्रुव सहस्रार विचार-शक्ति का और दक्षिणी ध्रुव, मूलाधार क्रिया शक्ति का केन्द्र है। यह दोनों ही

शक्तियाँ अद्भुत एवं महान् हैं इनका समन्वय ही व्यक्ति की भौतिक एवं आत्मिक स्थिति को समुन्नत बनाने में समर्थ होता है। सहस्रार की क्रियात्मक साधनायें प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि स्तर की हैं। उनके अनेक प्रयोग और प्रयोजन हैं। उनकी चर्चा भी अन्यत्र की गई है। यहाँ तो कुण्डलिनी शक्ति का आरम्भिक परिचय कराना और उसका प्रथम सोपान प्रस्तुत करना ही अभीष्ट है। अस्तु यहाँ इतना समझना और समझाना ही पर्याप्त है कि हम कुण्डलिनी के स्थूल स्वरूप की महत्ता समझें अनुमान लगावें कि यदि इसे अन्तर्मुखी बनाकर प्रसुप्त दिव्य शक्तियों के जागरण में विधिवत् प्रयुक्त किया जा सके तो अद्भुत एवं अनुपम लाभ उपलब्ध किये जा सकते हैं।

लौकिक आनन्द का भी यदि कोई मूल्यांकन किया जाय, तो वह भी संयमी व्यक्तियों को ही प्राप्त होता है। कुण्डलिनी की संचित, परिपुष्ट एवं परिष्कृत शक्ति ही भौतिक प्रयोजनों को पूरा कर सकती है। जो इसके साथ खिलवाड़ करते रहते हैं, उन्हें तो शारीरिक अशक्ति और मानसिक अवसाद ही हाथ लगने वाले हैं। गृहस्थ जीवन में भी ब्रह्मचर्य की अधिकाधिक मर्यादाओं का पालन किया जाता रहे, तो उससे मनुष्य की शारीरिक एवं मानसिक दृढ़ता अक्षुण्ण बनी रह कर अनेक महान् उद्देश्यों की पूर्ति हो सकती है।

• • •

नाद-साधना

सत-समाज का एक बहुत बडा वर्ग अनहद या अनाहत नाद की उपासना करता है। राधास्वामी, रैदास, कबीर और नानक आदि ने तो विशेष रूप से इसी योग का प्रचार किया था। इन सतो के अलग-अलग सम्प्रदाय बने, जिन्हे इसी साधना का उपदेश दिया गया।

आत्मोत्थान के लिए हमारे वेद-शास्त्रो मे जितने भी उपायो का प्रतिपादन किया गया है, उनमे नादयोग को उत्कृष्ट की सज्ञा दी गई है क्योकि मन की स्थिरता के लिए यह उपयोगी साधन सिद्ध हुआ है। योग और तान्त्रिक सभी प्रकार की साधनाओ मे इसका उच्च स्थान है। तान्त्रिक आचार्यों का मत है कि "जब (प्राणव शब्द) नाद सुनने में नही आता, वह विक्षिप्त, क्षिप्त अथवा मूढ दशा है, किन्तु जब नाद श्रुतिगोचर होता है, वह एकाग्र अवस्था ज्ञान की अवस्था है और जब नाद-श्रवण स्थगित हो जाता है—वह चित्त की निरोध अवस्था है, तब मन की वृत्ति नही रहती। सस्कार-मात्र रूप से मन विद्यमान रहता है, किन्तु यह सस्कार भी जब नही रहता, तब चिन्मात्र या शुद्ध आत्मा की स्वरूप स्थिति जाननी चाहिए।

हठयोग मे भी नाद-साधना का प्रतिपादन किया गया है। यहाँ इसे श्रेष्ठ साधना माना जाता है। इस योग में चार नाद-भूमियो का आरम्भ, घट, परिचय और निष्पत्ति का उल्लेख आता है। अन्तिम भूमि को सिद्धावस्था माना जाता है।

योगियों का विचार है कि जिस तरह गंगा का अवतरण विष्णु-पद से शिव के मस्तक पर हुआ था, उसी तरह यह नाद-गंगा के प्रवाह का अवतरण भी विश्व-कल्याण के लिए हुआ है। तान्त्रिकाचार्यों का कथन है कि यह नाद प्रवाह ऊपर से भ्रू-मध्य में गिरता है। इसीसे सारे विश्व की उत्पत्ति होती है और उत्पन्न होकर सारे जगत् में यही प्राण और जीवनी शक्ति के रूप में विद्यमान रहती है। मानव-शरीर में श्वास-प्रश्वास का खेल प्राण करता है। तान्त्रिक भाषा में इसे हंस कहते हैं। 'ह' शिव या पुरुष तत्त्व का और 'स' शक्ति या प्रकृति-तत्त्व का पर्याय है। जहाँ इन दोनों का मिलन होता है, वहीं नाद की अनुभूति होती है। तभी शिव-संहिता में कहा गया है—

न नादसदृशो लयः।

"मन को लय करने वाले साधनों में, नाद की तुलना करने वाला और कोई साधन नहीं है।"

भगवान शङ्कराचार्य ने भी 'योग तारावली' में नाद-तत्त्व की प्रशंसा की है—

सदा शिवोक्तानि सपादलक्ष—
लयावधानानि वसन्ति लोके।
नादानुसन्धानसमाधिमेकं
मन्यामहे मान्यतमं लयानाम् ॥
नादानुसन्धान नमोऽस्तु तुभ्यं
त्वामन्महे तत्त्वपदं लयानाम्।
भवत्प्रसादात् पवनेन साकं
विलीयते विष्णुपदे मनो मे ॥
सर्वचिन्ता परित्यज्य सावधानेन चेतसा।
नाद एवानुसन्धेयो योगसाम्राज्यमिच्छता ॥

"भगवान शिव ने मन के लय के लिये सवा लक्ष साधनों का

निर्देश किया है, परन्तु उन सबमे नादानुसधान ! सुलभ और श्रेष्ठ है। है। हे नादानुसधान ! आपको नमस्कार करता हूँ। आप परमपद मे स्थिति-लाभ कराते हैं। आपकी कृपा से मेरे प्राण और मन दोनो विष्णु के परम पद में लीन हो जायेंगे। यदि योग-साम्राज्य मे गति प्राप्त करने की आकाक्षा हो, तो समस्त चिन्ताओ से मुक्त होकर सावधानी से मन को एकाग्र करके अनहद नाद का श्रवण करो।"

परिभाषा—

ब्रह्मबिन्दोपनिषद् मे नाद-साधक को वेदज्ञ की सज्ञा दी गई है।

'शब्द' को ब्रह्म कहा है क्योंकि ईश्वर और जीव को एक शृङ्खला मे बाँधने का काम शब्द द्वारा ही होता है। सृष्टि की उत्पति का प्रारम्भ भी शब्द से हुआ है। पच तत्वो मे सबसे पहिले आकाश बना, आकाश की की तन्मात्रा शब्द है। अन्य समस्त पदार्थों की भाँति शब्द भी दो प्रकारका हैं सूक्ष्म और स्थूल। सूक्ष्म शब्द को विचार कहते हैं और स्थूल शब्द को नाद।

ब्रह्म लोक से हमारे लिये ईश्वरीय शब्द-प्रवाह सदैव प्रवाहित होता है ईश्वर हमारे साथ वार्तालाप करना चाहता है, पर हम में से बहुत कम लोग ऐसे है जो उसे सुनना चाहते हैं या सुनने की इच्छा करते हैं। ईश्वर निरन्तर एक ऐसी विचारधारा प्रेरित करता है, जो हमारे लिए अतीव कल्याणकारी होती है। उसको यदि सुना और समझा जा सके तथा उसके अनुसार मार्ग निर्धारित किया जा सके तो निस्सन्देह जीवनोद्देश्य की ओर द्रुत गति से अग्रसर हुआ जा सकता है। यह विचारधारा हमारी आत्मा मे टकराती है।

हमारा अन्त करण एक रेडियो है, जिसकी ओर यदि अभिमुख हुआ जाय, अपनी वृत्तियो को अन्तर्मुख बनाकर आत्मा मे प्रस्फुटित होने वाली दिव्य विचार-लहरियो को सुना जाय, तो ईश्वरीय वाणी हमे प्रत्यक्ष मे सुनाई पड सकती है। इसी को आकाशवाणी कहते हैं। हमे क्या करना चाहिए, क्या नही ? हमे क्या उचित है और क्या

अनुचित ? इसका प्रत्यक्ष सन्देश ईश्वर की ओर से प्राप्त होता है। अन्त करण की पुकार आत्मा का आदेश, ईश्वरीय सन्देश, आकाशवाणी-विज्ञान आदि नामो से इसी विचारधारा को पुकारते हैं। अपनी आत्मा के यन्त्र को स्वच्छ करके जो इस दिव्य सकेत को सुनने में सफलता प्राप्त कर लेते हैं, वे आत्मदर्शी एव ईश्वर-परायण कहलाते हैं।

ईश्वर उनके लिए बिलकुल समीप होता है, वे ईश्वर की बातें सुनते हैं और अपनी उससे कहते हैं। इस दिव्य मिलन के लिए हाड-मास के स्थूल नेत्र या कानो का उपयोग करने की आवश्यकता नहीं पडती। आत्मा की समीपता मे बैठा हुआ अन्त करण अपनी दिव्य इन्द्रियो की सहायता से इस कार्य को आसानी से पूरा कर लेता है। यह अत्यन्त सूक्ष्म ब्रह्म शब्द, विचार तब तक धुँधले रूप मे दिखाई पडता है, जब तक कषाय-कल्मष आत्मा मे बने रहते हैं। जितनी आन्तरिक पवित्रता बढती जाती है, उतने ही वह दिव्य सन्देश बिलकुल स्पष्ट रूप मे सामने आते हैं। आरम्भ मे अपने लिए कर्तव्य का बोध होता है, पाप-पुण्य का सकेत होता है। बुरा कर्म करते समय अतर मे भय, घृणा, लज्जा, सकोच आदि का होना तथा उत्तम कार्य करते समय—आत्मसन्तोष, प्रसन्नता, उत्साह आदि का होना इसी स्थिति का बोधक है।

यह दिव्य सदेश आगे चलकर भूत, भविष्य वर्तमान की सभी घटनाओ को प्रकट करता है, किसके लिये क्या मन्तव्य बन रहा है और भविष्य मे किसके लिए क्या घटना घटित होने वाली है, यह सब कुछ उसमे प्रकट हो जाता है। और भी ऊँची स्थिति पर पहुँचने पर उसके लिए सृष्टि के सब रहस्य खुल जाते हैं। कोई ऐसी बात नहीं होती, जो उससे छिपी हो, परन्तु जैसे ही इतना बडा ज्ञान उसे मिलता है, वैसे ही वह उसका उपयोग करने मे अत्यन्त सावधान हो जाता। बाल-बुद्धि के लोगो के हाथों में यह दिव्य ज्ञान पड जाय, तो उसे बाजीगरी के खिलवाड खडे करने मे ही नष्ट कर दें, पर अधिकारी पुरुष अपनी

निर्देश किया है, परन्तु उन सबमे नादानुसन्धान ! सुलभ और श्रेष्ठ है। है। हे नादानुसन्धान ! आपको नमस्कार करता हूँ। आप परमपद मे स्थिति-लाभ कराते हैं। आपकी कृपा से मेरे प्राण और मन दोनो विष्णु के परम पद मे लीन हो जायेंगे। यदि योग-साम्राज्य मे गति प्राप्त करने की आकांक्षा हो, तो समस्त चिन्ताओं से मुक्त होकर सावधानी से मन को एकाग्र करके अनहद नाद का श्रवण करो।"

परिभाषा—

ब्रह्मबिन्दोपनिषद् में नाद-साधक को वेदज्ञ की संज्ञा दी गई है।

'शब्द' को ब्रह्म कहा है क्योंकि ईश्वर और जीव को एक श्रृङ्खला मे बाँधने का काम शब्द द्वारा ही होता है। सृष्टि की उत्पत्ति का प्रारम्भ भी शब्द से हुआ है। पंच तत्वों मे सबसे पहिले आकाश बना, आकाश की की तन्मात्रा शब्द है। अन्य समस्त पदार्थों की भाँति शब्द भी दो प्रकारका है सूक्ष्म और स्थूल। सूक्ष्म शब्द को विचार कहते हैं और स्थूल शब्द को नाद।

ब्रह्म लोक से हमारे लिये ईश्वरीय शब्द-प्रवाह सदैव प्रवाहित होता है ईश्वर हमारे साथ वार्तालाप करना चाहता है, पर हम में से बहुत कम लोग ऐसे है जो उसे सुनना चाहते हैं या सुनने की इच्छा करते हैं। ईश्वर निरन्तर एक ऐसी विचारधारा प्रेरित करता है, जो हमारे लिए अतीव कल्याणकारी होती है। उसको यदि सुना और समझा जा सके तथा उसके अनुसार मार्ग निर्धारित किया जा सके तो निस्सन्देह जीवनोद्देश्य की ओर द्रुत गति से अग्रसर हुआ जा सकता है। यह विचारधारा हमारी आत्मा से टकराती है।

हमारा अन्तःकरण एक रेडियो है, जिसकी ओर यदि अभिमुख हुआ जाय, अपनी वृत्तियों को अन्तर्मुख बनाकर आत्मा मे प्रस्फुटित होने वाली दिव्य विचार-लहरियों को सुना जाय, तो ईश्वरीय वाणी हमे प्रत्यक्ष मे सुनाई पड सकती है। इसी को आकाशवाणी कहते हैं। हमे क्या करना चाहिए, क्या नही ? हमे क्या उचित है और क्या

अनुचित ? इसका प्रत्यक्ष सन्देश ईश्वर की ओर से प्राप्त होता है। अन्त करण की पुकार आत्मा का आवेश, ईश्वरीय सन्देश, आकाशवाणी-विज्ञान आदि नामो से इसी विचारधारा को पुकारते हैं। अपनी आत्मा के यन्त्र को स्वच्छ करके जो इस दिव्य संकेत को सुनने मे सफलता प्राप्त कर लेते हैं, वे आत्मदर्शी एव ईश्वर-परायण कहलाते हैं।

ईश्वर उनके लिए बिल्कुल समीप होता है, वे ईश्वर की बातें सुनते हैं और अपनी उससे कहते हैं। इस दिव्य मिलन के लिए हाड-मास के स्थूल नेत्र या कानो का उपयोग करने की आवश्यकता नही पडती। आत्मा की समीपता मे बैठा हुआ अन्त करण अपनी दिव्य इन्द्रियो की सहायता से इस कार्य को आसानी से पूरा कर लेता है। यह अत्यन्त सूक्ष्म ब्रह्म शब्द, विचार तब तक धुँधले रूप मे दिखाई पडता है, जब तक कषाय-कल्मष आत्मा मे बने रहते हैं। जितनी आतरिक पवित्रता बढती जाती है, उतने ही वह दिव्य सन्देश बिल्कुल स्पष्ट रूप से सामने आते हैं। आरम्भ मे अपने लिए कर्तव्य का बोध होता है, पाप-पुण्य का संकेत होता है। बुरा कर्म करते समय अंतर मे भय, घृणा, लज्जा, संकोच आदि का होना तथा उत्तम कार्य करते समय--आत्मसन्तोष, प्रसन्नता, उत्साह आदि का होना इसी स्थिति का बोधक है।

यह दिव्य संदेश आगे चलकर भूत, भविष्य वर्तमान की सभी घटनाओं को प्रकट करता है, किसके लिये क्या मन्तव्य बन रहा है और भविष्य मे किसके लिए क्या घटना घटित होने वाली है, यह सब कुछ उससे प्रकट हो जाता है। और भी ऊँची स्थिति पर पहुँचने पर उसके लिए सृष्टि के सब रहस्य खुल जाते हैं। कोई ऐसी बात नही होती, जो उससे छिपी हो, परन्तु जैसे ही इतना बडा ज्ञान उसे मिलता है, वैसे ही वह उसका उपयोग करने मे अत्यन्त सावधान हो जाता। बाल-बुद्धि के लोगो के हाथो में यह दिव्य ज्ञान पड जाय, तो उसे बाजीगरी के खिलवाड खडे करने मे ही नष्ट कर दें, पर अधिकारी पुरुष अपनी

इस शक्ति का किसी को परिचय नही होने देते और उसे भौतिक बखेडो से पूर्णतया बचाकर अपनी तथा दूसरो की आत्मोन्नति मे लगाते हैं।

शब्द ब्रह्म का दूसरा रूप जो विचार-सदेश की अपेक्षा कुछ सूक्ष्म है, वह नाद है। प्रकृति के अन्तराल मे एक ध्वनि प्रतिक्षण उठता रहती है, जिसकी प्रेरणा से आघातो के द्वारा परमाणुओ में गति उत्पन्न होती है और सृष्टि का समस्त क्रिया-कलाप चलता है। यह प्रारम्भिक शब्द 'ॐ' है। यह ॐ ध्वनि जैसे-जैसे अन्य तत्वो के क्षेत्र मे होकर गुजरती है, वैसे ही उसकी ध्वनि मे अन्तर आता है। वशी के छिद्रो मे हवा फूँकते हैं, तो उसमे एक ध्वनि उत्पन्न होती है। पर आगे के छिद्रो में से जिस छिद्र मे जितनी हवा निकाली जाती, उसी के अनुसार भिन्न-भिन्न स्वरो की ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं, इसी प्रकार ॐ ध्वनि भी विभिन्न तत्वो के सम्पर्क मे आकर विविध प्रकार की स्वर-लहरियो मे परिणत हो जाती है। इन स्वर लहरियो का सुनना ही नादयोग है।

डा० सम्पूर्णानन्द ने नाद तत्व की व्याख्या इस प्रकार की है—

इस जगत् मे पञ्चीकृत महाभूत काम कर रहे हैं। उनके एक-एक अणु मे कम्पन है। उस कम्पन मे यह जगत् शब्दायमान हो रहा है। जहाँ कम्पन है, वहाँ शब्द है। सूक्ष्मभूत अपचीकृत हैं, पर उनके परमाणुओ मे भी कम्पन है, और उस कम्पन से एक सूक्ष्म शब्द-राशि उत्पन्न होती है। जो साधक को 'अनाहत शब्द' प्रतीत होता है। कबीर ने कहा है—'तत्व झकार ब्रह्म डमाही'। उस शब्द-राशि का नाम अनाहत नाद है, पीछे के महात्माओ के शब्दो मे भी अनहद नाद है। जिस समय तक अभ्यासी इस अनाहत नाद को नही सुन पाता, तब तक उसका अभ्यास कच्चा है। पुन कबीर के शब्दो मे—'जोग जगा अनहद धुनि सुनिके।' जब अनाहत सुन पडने लगा, तब इसका अर्थ यह है कि योगी का धीरे धीरे अन्तर्जगत मे प्रवेश होने लगा। वह अपने भूले

हुए स्वरूप को कुछ-कुछ पहचानने लगा। शक्ति, वैभव और ज्ञान के भडार की झलक पाने लगा अर्थात् महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती के दर्शन पाने लगा, जो अभ्यासी वही उलझकर रह गया—और दुख का विषय है कि सचमुच बहुत-से अभ्यासी इसके आगे नही बढते। पर जो तल्लीनता के साथ बढता जाता है, वह क्रमश. ऊपर के लोको मे प्रवेश करता जाता है। अन्त मे वह अवस्था आती है, जहाँ वह आकाश की सीमा का उल्लघन करने का अधिकारी हो जाता है। वही शब्द का अन्त है।

शिव और शक्ति का सयोग और पारस्परिक सम्बन्ध ही "नाद" कहलाता है। इसे अव्यक्त ध्वनि और अचल अक्षर मात्र भी कहा जाता है।

मध्यम वाणी को नाद की सज्ञा दी जाती है। नवनादो की समष्टि को भास्कर राय ने मध्यमा कहा है। यह परा-वाणी की तरह न तो अत्यन्त सूक्ष्म है और न वैखरी की तरह अत्यन्त स्थूल। इसलिए इसे मध्यमा कहते हैं। (वरिवस्या रहस्य १ अश पृ १७)

नाद को सदाशिव कहा जाता है। प्रपञ्चसार विवरण (प्रथम पटल) मे कहा है—

बिन्दुरीश्वर नादस्तस्याश्चिन्मिश्र रुप पुरुषाख्यम। बीजमचिदश।

अर्थात् "बिन्दु ईश्वर का नाद है। उससे मिश्रित चित् स्वय पुरुष नाम वाला अचित् का अश है।"

एक तन्त्रशास्त्री के अनुसार "यह शिव बिन्दु, सम्पूर्ण प्राणियो में नादात्मक शब्द के रूप मे विद्यमान रहता है। अपने से अभिन्न विश्व का परामृष्ट करने वाला परावग्रुर विमर्श ही शब्द है। सब भूतो मे 'जीवकला' के रूप में स्फुरित होने के कारण उसे नाद कहते हैं।"

अनहद नाद का शुद्ध रूप है—अनाहत नाद। 'आहत' नाद वे

होते हैं, जो किसी प्रेरणा या आघात से उत्पन्न होते हैं। वाणी के आकाश तत्व से टकराने अथवा किन्ही दो वस्तुओ के टकराने वाल शब्द 'आहत' कहे जाते है। बिना किसी आघात के दिव्य प्रकृति के अन्तराल से जो ध्वनियां उत्पन्न होती हैं, उन्हे 'अनाहत' या 'अनहद' कहते हैं। इस शब्द को सुनने की साधना को 'सुख कहते हैं। अनहद नाद एक बिना नाद की दैवी सन्देश-प्रणाली है। साधक इसे जानकर सब कुछ जान सकता है। इन शब्दो मे 'ॐ' ध्वनि आत्म-कल्याणकारक और विभिन्न प्रकार की सिद्धियो की जननी है।

तन्त्र का मत है कि प्राणात्मक उच्चार से जो एक अव्यक्त ध्वनि निकलती है, उसी को अनाहत नाद कहा जाता है। इसका कर्ता और बाधक कोई नही हैं। यह नाद हर प्राणी के हृदय मे अपने आप ध्वनित होता रहता है—

एको नादात्मको वर्ण. सर्ववर्णाविभागवान्।
सोऽनस्तमितरूपत्वाद् अनाहत इवोदित ॥

अर्थात् 'एक ही नाद के स्वरूप वाला वर्ण है, जो सब वर्णों क अविभाग वाला है। वह अनस्तमित रूप वाला होने से अनाहत की भांति उदित होता है।"

नाद-प्रवाह का प्रतिपादन करते हुए 'सेतुबन्ध' मे कहा गया है— "नाद सबसे पहले परा स्वरूप होकर मूलाधार से उठकर मणिपूर और अनाहत चक्रो मे आता है। वहाँ प्राण और मन मे मिलकर पश्यन्ती और मध्यमा का रूप ग्रहण करता है। फिर गले मे आकर वैखरी रूप वर्णों मे परिणत हो जाता है। नाद को समस्त वर्णों का कारण रूप कहा गया है। जिस तरह बीज मे फल और पुष्प रहते हैं, उसी तरह नाद मे सूक्ष्म रूप से वर्ण रहते है।

प्रकार—

अनाहत या अनहद शब्द प्रमुखत दस माने जाते हैं, जिनकी

ध्वनियाँ अलग-अलग हैं—१ महारक की पायजेब की झंकार जैसी, २ पालक की सागर की लहर-सी, ३ सृजक की मृदङ्ग-सी, ४ सहस्र-दल कमल की शङ्ख-सी, ५ चिदानन्दमंडल की मुरली-सी, ७ सच्चिदानंद मंडल की वीन-सी ८ अखंड अर्द्धमात्रा की सिंह-गर्जन-सी, ९ अगम मंडल की नफोरी-सी, १० अलखमंडल की बुलबुल-सी।

जैसे अनेक रेडियो-स्टेशनों से एक ही समय में अनेक प्रोग्राम ब्राडकास्ट होते रहते हैं, वैसे ही अनेक प्रकार के अनाहत शब्द भी प्रस्फुटित होते रहते हैं। उनके कारण, उपयोग और रहस्य अनेक प्रकार के हैं। चौंसठ अनाहत अब तक गिने गये है, पर उन्हे सुनना हर किसी के लिये सम्भव नही। जिनकी आत्मिक शक्ति जितनी ऊँची होगी वे उतने ही सूक्ष्म शब्दों को सुनेंगे। पर उपयुक्त दस शब्द सामान्य आत्म-बल वाले भी आसानी से सुन सकते हैं।

विराट रूप—

नाद के विराट रूप का वर्णन करते हुए स्वामी नयनानन्द सरस्वती ने लिखा है—

"विराट् मे जितने मंडल है—उनमें से दस मंडलों ने शब्द भी जारी किए हैं। इन मंडलो मे प्रत्येक मंडल अपना एक शब्द रखता है। विराट् मे कुल छत्तीस मंडल हैं और वे सब अपना-अपना एक-एक शब्द रखते हैं। परन्तु केवल दस का शब्द प्रकट स्वर मे चालू है और शेष छब्बीस मंडलों के शब्द स्वर रूप से गुप्त आवाज में चालू रहते हैं। उपर्युक्त ३६ मंडल अलग-अलग अपना रंग, रूप, शब्द और अधिकार रखते हैं। उन सबकी अर्द्ध मात्राएँ अलग हैं, उनके बीज यानी शिव भी अलग-अलग हैं। प्रत्येक मंडल से जो सूत्र यहाँ आता है, वह स्वर या शब्द के रूप में ही होता है। हंसराज नामक बाजे में जो ३६ तार होते हैं, वे ३६ मंजिल के स्मारक हैं और ३६ प्रकार के अनाहत नाद के द्योतक हैं। दस प्रकार का अनहद कान से सुना जाता है। बाकी २६

प्रकार का अनहद—जो स्वर-रूप है—केवल अनुभव के कान से सुनाई पड़ता है। वे लोग यथार्थ नही जानते, जो अनहद को केवल दस ही प्रकार का जानते या मानते हैं। कारण यह कि जो दस मण्डल अखड अर्द्धमात्रा के नीचे अर्द्ध चन्द्राकार घेरे मे आबाद हैं—वहीं से प्रकट शब्द हुआ करता है और अनहद नाद के जितने प्रचारक ससार मे आये, वे सब उन मडलो के ही 'शिव' लोग थे। अखण्ड अर्द्धमात्रा से लेकर पूर्ण मात्रा तक जितनी मजिले है—या जितने मडल हैं, उनके शिव या कारण—शरीर इस मायिक भूमिका पर नही आये। इसीलिए उनके मडलो का स्वर लोगो को सुनाई नही पडा। हाँ, परमरम्य भविष्य महाकाल मे वे सब इस भूमि पर अवतार लेगे, उसी समय छत्तीस तार वाला इसराज बजेगा।"

लाभ—

पच तत्वो से प्रतिध्वनित हुई ॐकार की स्वर-लहरियो को सुनने की नाद योग-साधना कई दृष्टियो से बडी महत्वपूर्ण है। प्रथम तो इस दिव्य सगीत को सुनने मे इतना आनन्द आता है, जितना किसी मधुर-से-मधुर वाद्य या गायन सुननेमे नही आता। दूसरे,इस नाद-श्रवण से मानसिक तन्तुओ का प्रस्फुटन होता है। साप जब सगीत सुनता है, तो उसकी नाडियो मे एक विद्युत-लहर प्रवाहित हो उठती है, मृग का मस्तिष्क मधुर सगीत सुनकर इतना उत्साहित हो जाता है कि उसे तन-बदन का होश नही रहता। योरोप मे गायें दुहते समय मधुर बाजे बजाये जाते हैं, जिससे उनका स्नायु-समूह उत्तेजित होकर अधिक मात्रा मे दूध उत्पन्न करता है। नाद का दिव्य सगीत सुनकर मानव मस्तिष्क मे भी ऐसी स्फुरणा होती है, जिसके कारण अनेक गुप्त मानसिक शक्तियां विकसित होती हैं, इस प्रकार भौतिक और आत्मिक दोनो ही दिशाओ मे प्रगति होती है।

तीसरा लाभ एकाग्रता है। एक वस्तु पर—नाद पर ध्यान एकाग्र होने से मन की बिखरी हुई शक्तियां एकत्रित होती हैं और इस

प्रकार मन को वश मे करने तथा निश्चित कार्य पर उसे पूरी तरह ध्यान देने की साधना सफल हो जाती है। यह सफलता कितनी शानदार है, इसे प्रत्येक अध्यात्म-मार्ग का जिज्ञासु भली प्रकार जानता है। आतशी काच द्वारा एक-दो इंच जगह की सूर्य-किरणें एकत्रित कर देने से अग्नि उत्पन्न हो जाती है। मानव प्राणी अपने सुविस्तृत शरीर मे बिखरी हुई अनन्त दिव्य-शक्तियो का एकीकरण कर ऐसी महान् शक्ति उत्पन्न करता है, जिसके द्वारा इस ससार को हिलाया जा सकता है और अपने लिए आकाश मे मार्ग बनाया जा सकता है।

नाद मडल यमलोक से बहुत ऊँचे बताए जाते है। इसलिए नाद-साधक को यमदूत पकडने की सामर्थ्य नही रखते।

नाद साधक की बुद्धि का विकास इतना होता रहता है, जिससे वह सत्य का अन्वेषण करता रह सके और विवेक की अनुभूति प्राप्त कर सके।

नाद-मडलो का विवरण ऊपर दिया गया है। उनमे से साधक जिस स्तर तक पहुँच जाता है और मृत्यु-समय जिस शब्द को पकडने की स्थिति मे होता है, उसकी आत्मा उसी मडल मे जा पहुँचती है।

नाद साधक का इतना आत्मिक उत्थान हो जाता है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहकार आदि षट्रिपु उस पर कोई प्रभाव नही दिखा सकते। आक्रमण करना तो इनका स्वभाव ही है, परन्तु नाद-साधक पर यह विजय प्राप्त नही कर सकते। वह सदा इनसे अप्रभावित ही रहता है, इसलिए दिनो-दिनो उसकी शक्तियो का विकास होता चलता है।

नाद-साधना से अन्तिम सीढी तक पहुँचना सम्भव है।

साधना—१

नाद की स्वर-लहरियो को पकडते-पकडते साधक 'ॐ' की रस्सी पकडता हुआ उस उद्गम ब्रह्म तक पहुँच जाता है, जो आत्मा का अभीष्ट

स्थान है। ब्रह्मलोक की प्राप्ति, दूसरे शब्दो मे मुक्ति, निर्वाण, परमपद आदि नामो से पुकारी जाती है। नाद के आधार पर मनोलय करता हुआ साधक योग की अन्तिम सीढी तक पहुँचता है और अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। नाद का अभ्यास किस प्रकार करना चाहिये अब इस पर कुछ प्रकाश डालते हैं —

अभ्यास के लिये ऐसा स्थान प्राप्त कीजिये जो एकान्त हो और जहाँ बाहर की सार्थक आवाज न आती हो। तीक्ष्ण प्रकाश इस अभ्यास मे बाधक है। इसलिये कोई अंधेरी कोठरी ढूँढनी चाहिये। एक पहर रात हो जाने के बाद से लेकर सूर्योदय से पूर्व तक का समय इसके लिये बहुत ही अच्छा है। यदि इस समय की व्यवस्था न हो तो प्रात ६ बजे तक और शाम को दिन छिपे बाद का कोई समय नियत किया जा सकता है। नित्य नियमित समय पर अभ्यास करना चाहिये। अपने नियत कमरे मे एक आसन या आराम कुर्सी बिछाकर बैठो। आसन पर बैठो तो पीठ पीछे कोई मसनद या कपडे की गठरी आदि रखलो। यह भी न हो तो अपना आसन एक कोने मे लगाओ। जिस प्रकार शरीर को आराम मिले, उस तरह बैठ जाओ और शरीर को ढीला छोडने का प्रयत्न करो।

भावना करो कि मेरा शरीर रुई का ढेर मात्र है और मैं इस समय इसे पूरी तरह स्वतन्त्र छोड रहा हूँ। थोडी देर मे शरीर बिल्कुल ढीला हो जायगा और अपना भार अपने आप न सहकर इधर-उधर को ढुलने लगेगा। आराम कुर्सी, मसनद या दीवार का सहारा ले लेने मे शरीर ठीक प्रकार अपने स्थान पर बना रहेगा। साफ रुई की मुलायम सी दो डाटें बनाकर उन्हें कानो से लगाओ कि बाहर की कोई आवाज भीतर प्रवेश न सके। उङ्गलियो से कान के छेद बन्द करके भी काम चल सकता है। अब बाहर की कोई आवाज तुम्हे सुनाई न पडेगी भी उस ओर ध्यान से हटाकर अपने मूर्धा स्थान पर ले जाओ और वहाँ जो शब्द हो रहे हैं, उन्हें ध्यानपूर्वक सुनने का प्रयत्न करो।

आरम्भ में शायद कुछ भी सुनाई न पड़े, पर दो चार दिन प्रयत्न करने के बाद जैसे-जैसे सूक्ष्म कर्णेन्द्रिय निर्मल होती जायगी, वैसे शब्दों की स्पष्टता बढ़ती जायगी। पहिले पहल कई शब्द सुनाई देते हैं। शरीर में जो रक्त प्रवाह हो रहा है, उसकी आवाज रेल की तरह धक्-धक्-धक् सुनाई पड़ती है। वायु के आने-जाने की आवाज बादल गरजने जैसी होती है, रसों के पकने और उनके आगे की ओर गति करने की आवाज चटकने की-सी होती है। यह तीन प्रकार के शब्द शरीर की क्रियाओं द्वारा उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार दो तरह के शब्द मानसिक क्रियाओं के हैं। मन में चचलता की लहरें उठती हैं, वे मन पर विशिष्ट प्रक्रिया करती हैं। वे मानस-तन्तुओं पर टकराकर ऐसे शब्द करती हैं, मानो टीन के ऊपर मेह बरस रहा हो और जब मस्तिष्क बाह्य-ज्ञान को ग्रहण करके अपने में धारण करता है तो ऐसा मालूम होता है मानो कोई प्राणी सांस ले रहा हो। यह पांचों शब्द शरीर और मन के हैं। कुछ ही दिन के अभ्यास से साधारणत दो-तीन सप्ताह के प्रयत्न से यह शब्द स्पष्ट रूप से सुनाई पड़ते हैं। इन शब्दों के सुनने से सूक्ष्म इन्द्रियाँ निर्मल होती जाती हैं और गुप्त शक्तियों को ग्रहण करने की उनकी योग्यता बढ़ती जाती है।

जब नाद श्रवण करने की योग्यता बढ़ जाती है, तो वंशी या सीटी से मिलती जुलती अनेक प्रकार की शब्दावलियाँ सुनाई पड़ती हैं, यह सूक्ष्म लोक में होने वाली क्रियाओं की परिचायक है। बहुत दिनों से बिछुड़े हुए बच्चे को यदि उसकी माता की गोद में पहुँचाया जाता है, तो वह आनन्द से विभोर हो जाता है— ऐसा ही आनन्द सुनने वाले को आता है।

जिन सूक्ष्म शब्द-ध्वनियों को आज वह सुन रहा है, वास्तव में यह उसी तत्व के निकट से आ रही हैं, जहाँ से आत्मा और परमात्मा का विलगाव हुआ है और जहाँ पहुचकर दोनों फिर एक हो सकते हैं।

स्थान है। ब्रह्मलोक की प्राप्ति, दूसरे शब्दो मे मुक्ति, निर्वाण, परमपद आदि नामो से पुकारी जाती है। नाद के आधार पर मनोलय करता हुआ साधक योग की अन्तिम सीढी तक पहुँचता है और अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। नाद का अभ्यास किस प्रकार करना चाहिये अब इस पर कुछ प्रकाश डालते हैं —

अभ्यास के लिये ऐसा स्थान प्राप्त कीजिये जो एकान्त हो और जहाँ बाहर की सार्थक आवाज न आती हो। तीक्ष्ण प्रकाश इस अभ्यास मे बाधक है। इसलिये कोई अँधेरी कोठरी ढूँढनी चाहिये। एक पहर रात हो जाने के बाद से लेकर सूर्योदय से पूव तक का समय इसके लिये बहुत ही अच्छा है। यदि इस समय की व्यवस्था न हो तो प्रात ६ बजे तक और शाम को दिन छिपे बाद का कोई समय नियत किया जा सकता है। नित्य नियमित समय पर अभ्यास करना चाहिये। अपने नियत कमरे में एक आसन या आराम कुर्सी बिछाकर बैठो। आसन पर बैठो तो पीठ पीछे कोई मसनद या कपडे की गठरी आदि रखलो। यह भी न हो तो अपना आसन एक कोने मे लगाओ। जिस प्रकार शरीर को आराम मिले, उस तरह बैठ जाओ और शरीर को ढीला छोडने का प्रयत्न करो।

भावना करो कि मेरा शरीर रुई का ढेर मात्र है और मैं इस समय इसे पूरी तरह स्वतन्त्र छोड रहा हूँ। थोडी देर मे शरीर बिल्कुल ढीला हो जायगा और अपना भार अपने आप न सहकर इधर-उधर को ढुलन लगेगा। आराम कुर्सी, मसनद या दीवार का सहारा ले लेने मे शरीर ठीक प्रकार अपने स्थान पर बना रहेगा। साफ रुई की मुलायम सी दो डाटें बनाकर उन्हे कानो से लगाओ कि बाहर की कोई आवाज भीतर प्रवेश न सके। उङ्गलियो से कान के छेद बन्द करके भी काम चल सकता है। अब बाहर की कोई आवाज तुम्हे सुनाई न पडेगी भी उस ओर ध्यान से हटाकर अपने मूर्धा स्थान पर ले जाओ और वहाँ जो शब्द हो रहे हैं, उन्हें ध्यानपूर्वक सुनने का प्रयत्न करो।

आरम्भ में शायद कुछ भी सुनाई न पड़े, पर दो चार दिन प्रयत्न करने के बाद जैसे-जैसे सूक्ष्म कर्णेन्द्रिय निर्मल होती जायगी, वैसे शब्दों की स्पष्टता बढ़ती जायगी। पहिले पहल कई शब्द सुनाई देते हैं। शरीर में जो रक्त प्रवाह हो रहा है, उसकी आवाज रेल की तरह धक्-धक्-धक् सुनाई पड़ती है। वायु के आने-जाने की आवाज बादल गरजने जैसी होती है, रसों के पकने और उनके आगे की ओर गति करने की आवाज चटकने की-सी होती है। यह तीन प्रकार के शब्द शरीर की क्रियाओं द्वारा उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार दो तरह के शब्द मानसिक क्रियाओं के हैं। मन में चंचलता की लहरें उठती हैं, वे मन पर विशिष्ट प्रक्रिया करती हैं। वे मानस-तन्तुओं पर टकराकर ऐसे शब्द करती हैं, मानो टीन के ऊपर मेह बरस रहा हो और जब मस्तिष्क बाह्य-ज्ञान को ग्रहण करके अपने में धारण करता है तो ऐसा मालूम होता है मानो कोई प्राणी साँस ले रहा हो। यह पाँचों शब्द शरीर और मन के हैं। कुछ ही दिन के अभ्यास से साधारणतः दो-तीन सप्ताह के प्रयत्न में यह शब्द स्पष्ट रूप से सुनाई पड़ते हैं। इन शब्दों के सुनने से सूक्ष्म इन्द्रियाँ निर्मल होती जाती हैं और गुप्त शक्तियों को ग्रहण करने की उनकी योग्यता बढ़ती जाती है।

जब नाद श्रवण करने की योग्यता बढ़ जाती है, तो वंशी या सीटी से मिलती जुलती अनेक प्रकार की शब्दावलियाँ सुनाई पड़ती हैं, यह सूक्ष्म लोक में होने वाली क्रियाओं की परिचायक है। बहुत दिनों से बिछुड़े हुए बच्चे को यदि उसकी माता की गोद में पहुँचाया जाता है, तो वह आनन्द से विभोर हो जाता है—ऐसा ही आनन्द सुनने वाले को आता है।

जिन सूक्ष्म शब्द-ध्वनियों को आज वह सुन रहा है, वास्तव में यह उसी तत्व के निकट से आ रही हैं, जहाँ से आत्मा और परमात्मा का विलगाव हुआ है और वहाँ पहुँचकर दोनों फिर एक हो सकते हैं।

धीरे-धीरे यह शब्द स्पष्ट होने लगते है और अभ्यासी को उनके सुनने मे अद्भुत आनन्द आने लगता है। कभी-कभी तो वह उन शब्दो मे मस्त होकर आनन्द से विह्वल हो जाता है और अपने तन-मन की सुध भूल जाता है। अन्तिम शब्द ॐ है, यह बहुत ही सूक्ष्म है। इसकी ध्वनि घटा-ध्वनि के समान होती है। घडियाल मे हथोडी मार देने पर जसे वह कुछ देर तक झनझनाती रहती है, उसी प्रकार 'ॐ' का घन्टा-शब्द सुनाई पडता है।

ॐकार ध्वनि जब सुनाई पडने लगती है, तो निद्रा, तन्द्रा या बेहोशी जैसी दशा उत्पन्न होने लगती है। उसी स्थिति के ऊपर बढने वाली आत्मा परमात्मा मे प्रवेश करती जाती है और पूर्णतया परमात्म-अवस्था प्राप्त कर लेती है।

• • •

बिन्दु-सधाना

महिमा--

शास्त्रो मे बिन्दु-साधना का महत्त्व इस प्रकार वर्णित है—

सिद्धे बिन्दो महादेवि किं न सिध्यति भूतले ।

"हे पार्वती ! बिन्दु के सिद्ध हो जाने पर ऐसी कौन-सी सिद्धि है, जो साधक को प्राप्त न हो सके ।"

ऊर्ध्वरेता भवेद्यावत तावत कालभय कुत ।

—हठयोग प्रदीपिका

"जब तक साधक बिन्दु को ऊर्ध्वगामी रखता है, तब तक उसको मृत्यु का भय नही होता ।"

मर बिन्दुपातेन जीवन बिन्दुधारणात् ।

—शिव-सहिता

"बिन्दु का पतन ही मृत्यु और बिन्दु का धारण (स्थिरता) ही जीवन है ।"

परिभाषा और व्याख्या—

बिन्दु-साधना का एक अर्थ ब्रह्मचर्य है । इस बिन्दु का अर्थ 'वीर्य' भी है । आनन्दमय कोश की साधना मे बिन्दु का अर्थ होगा—परमाणु । सूक्ष्म-से-सूक्ष्म जो अणु है, वहाँ तक अपनी गति हो जाने पर भी ब्रह्म की समीपता तक पहुँचा जा सकता है और सामीप्य-सुख का अनुभव किया जा सकता है ।

किसी वस्तु को कूटकर यदि चूर्ण बनालें और चूर्ण को खुर्दबीन से देखें, तो छोटे-छोटे टुकडो का एक ढेर दिखाई पडेगा। यह टुकडे कई और टुकडो से मिलकर बने हैं। इन्हे भी वैज्ञानिक यन्त्रो की सहायता से कूटा जाये, तो अन्त मे जो न टूटने वाले, न कुटने वाले टुकडे रह जायेंगे, इन्हे परमाणुओ कहेगे। इन परमाणु की लगभग सौ जातियाँ अब तक पहचानी जा चुकी हैं, जिन्हे अणुतत्व कहा जाता है।

अणुओ के दो भाग हैं—एक सजीव, दूसरा निर्जीव। दोनो ही एक पिंड या ग्रह के रूप मे पूर्ण मालूम पडते हैं। पर वस्तुत उनके भीतर और भी टुकडे हैं। प्रत्येक अणु अपनी धुरी पर बडे वेग से परिभ्रमण करता है। पृथ्वी भी सूर्य की परिक्रमा के लिए प्रति सैकिंड १८॥ मील की चाल से चलती है, पर १०० परमाणुओ की गति चार हजार मील प्रति सैकिंड मानी जाती है।

यह परमाणु भी अनेक विद्युत कणो से मिलकर बने हैं, जिनकी दो जातियाँ हैं—१ ऋण-कण और २ धन-कण। धन-कणो के चारो ओर ऋण-कण प्रति सैकिंड एक लाख अस्सी हजार मील की गति से परिभ्रमण करते हैं। उधर धन-कण, ऋण की परिक्रमा के केन्द्र होते भी शान्त नहीं बैठते। जैसे पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा लगाती है और सूर्य अपने सौर-मडल को लेकर कृत्तिका नक्षत्र की परिक्रमा करता है, वैसे ही धन कण भी परमाणु की 'अन्तरगति' का कारण होते हैं। ऋण-कण, जो कि द्रुतगति से निरन्तर परिभ्रमण मे सलग्न हैं, अपनी शक्ति सूर्य से अथवा विश्व-व्यापी अग्नि-तत्व से प्राप्त करते हैं।

वैज्ञानिको का कथन है कि यदि एक परमाणु के अन्दर का शक्ति-पुञ्ज छूट पडे तो क्षण भर मे लन्दन जैसे तीन नगरो को भस्म कर सकता है, इस परमाणु के विस्फोट की विद्या मालूम करके ही एटम बम का आविष्कार हुआ है। एक परमाणु के फोड देने से जो भयङ्कर विस्फोट होता है, उसका परिचय गत महायुद्ध मे मिल चुका

है, इसकी और भी भयकरता का पूर्ण प्रकाश होना अभी वाकी है, जिसके लिए वैज्ञानिक लगे हुए हैं।

यह तो परमाणु-शक्ति की वात रही, अभी उनके अङ्ग—ऋण-कण और घन-कणो के भी सूक्ष्म भागो का पता चला है। वे भी अपने से अनेक गुने सूक्ष्म परमाणुओ मे बने हुए हैं जो ऋण-कणो के भीतर एक लाख छियासी हजार तीन सौ तीस मील प्रति सैकेण्ड की गति से परिभ्रमण करते हैं। अभी उनके भी अन्तर्गत कर्पाणुओ की खोज हो रही है और विश्वास किया जाता है कि उन कर्पाणुओ की अपेक्षा ऋण-कण तथा घन-कणो की गति तथा शक्ति अनेको गुनी है। उसी अनुपात से इन सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम अणुओ की गति तथा शक्ति होगी।

जब परमाणुओ के विस्फोट की शक्ति लन्दन जैसे तीन शहरो को जला देने की है, तो सर्वाणु की शक्ति एव गति की कल्पना करना भी हमारे लिए कठिन होगा। उसके अन्तिम सूक्ष्म-केन्द्र को अप्रतिम, अप्रमेय, अचिन्त्य ही कह सकते हैं।

देखने मे पृथ्वी चपटी मालूम पडती है पर वस्तुत वह लट्टू की तरह अपनी धुरी पर घूमती रहती है। चौबीस घण्टे मे उसका एक चक्कर पूरा हो जाता है। पृथ्वी की दूसरी चाल भी है, वह सूर्य की परिक्रमा करती है। इस चक्कर मे उसे एक वर्ष लग जाता है। तीसरी चाल पृथ्वी की यह है कि सभी अपने ग्रह-उपग्रहो को साथ लेकर वडे वेग से अभिजित नक्षत्र की ओर जा रही है। अनुमान है कि वह कृतिका नक्षत्र की परिक्रमा करता है, इसमे पृथ्वी भी उसके साथ है। लट्टू जब अपनी कील पर घूमता है, तो वह इधर-उधर झुकता-उठना भी रहता है, इसे मॅडराने की चाल कहते हैं। जिसका एक चक्कर करीव २६ हजार वर्ष मे पूरा होता है। कृत्तिका नक्षत्र भी सौर मडल आदि मे अपने उपग्रहो को लेकर ध्रुव की परिक्रमा करता है, उस दशा मे पृथ्वी की गति पाँचवी हो जाती है।

सूक्ष्म परमाणु के सूक्ष्मतम भाग तक मानव-बुद्धि की पहुँच हुई है और बडे से-बडे महापरमाणुओ के रूप मे पाँच गति तो पृथ्वी की विदित हुई। आकाश के असख्य ग्रह नक्षत्रो का पारस्परिक सम्बन्ध न जाने कितने बडे महा-अणु के रूप मे पूरा होता होगा, उस महानता की कल्पना भी मस्तिष्क को थका देती है। इसे भी अप्रतिम, अप्रमेय और अचिन्त्य ही कहा जायेगा।

सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और महन्-से-महन् केन्द्रो पर जाकर बुद्धि थक जाती है और उससे छोटे या बडे की कल्पना नही हो सकती, उस केन्द्र को बिन्दु कहते हैं।

अणु को योग की भाषा मे 'अण्ड' भी कहते हैं। वीर्य का एक कण 'अण्ड' है। वह इतना छोटा होता है कि खुर्दबीन से भी मुश्किल से ही दिखाई देता है, पर जब वह विकसित होकर स्थूल रूप मे आता है, तो वही बडा अण्डा हो जाता है। उस अण्डे के भीतर जो पक्षी रहता है, उसके अनेक अ ग-प्रत्यग होते हैं, उन विभागो मे असख्य सूक्ष्म विभाग और उनमे भी अगणित कोषाणु रहते हैं। इस प्रकार शरीर भ एक अणु है, इसी को अ ड या पिंड कहते हैं। अखिल विश्व ब्रह्माड मे अगणित सौर-मडल, आकाश-गगा और ध्रुव-चक्र हैं।

इन हो की दूरी और विस्तार का कुछ ठिकाना नही। पृथ्वी बहुत बडा पिंड है, पर सूर्य तो पृथ्वी से भी तेरह लाख गुना बडा है। सूर्य से भी करोडो गुने ग्रह आकाश मे मौजूद हैं। इनकी दूरी का अनुमान इससे लगाया जाता है कि प्रकाश की गति प्रति सैकिण्ड पौने दो लाख मील है और उन ग्रहो का प्रकाश पृथ्वी तक आने मे तीस लाख वर्ष लगते हैं। यदि कोई ग्रह आज नष्ट हो जाय, उसका अस्तित्व न रहने पर भी उसकी प्रकाश-किरणें आगामी तीस लाख वर्ष तक यहाँ आती रहेंगी। जिन नक्षत्रो का प्रकाश पृथ्वी पर आता है, उनके अति-रिक्त ऐसे ग्रह बहुत अधिक हैं, जो अत्यधिक दूरी के कारण पृथ्वी पर

दूरबीनों से भी दिखाई नहीं देते इतने बड़े और दूरस्थ ग्रह जब अपनी परिक्रमा करते होंगे, अपने ग्रह-मंडल को साथ लेकर परिभ्रमण को निकलते होंगे, तो वे अपने अधिक विस्तृत शून्य में घूम जाते होंगे, इस शून्य के विस्तार की कल्पना कर लेना मानव-मस्तिष्क के लिए बहुत कठिन है।

इतना बड़ा ब्रह्मांड भी एक अणु या अण्ड है। इसलिए इसे ब्रह्म + अण्ड = ब्रह्मांड कहते हैं। पुराणों में वर्णन है कि जो ब्रह्मांड हमारी जानकारी में है, उसके अतिरिक्त भी ऐसे ही और अगणित ब्रह्मांड हैं और उन सबका एक महान् अंड है। इस महा-अंड की तुलना में पृथ्वी उससे छोटी बैठती है, जितना कि परमाणु की तुलना में सर्गाणु छोटा होता है।

इस लघु-से-लघु और महान्-से-महान् अंड में जो शक्ति व्याप्त है, इन सबको गतिशील, विकसित, परिवर्तित और चैतन्य रखती है उस सत्ता को 'बिन्दु' कहा गया है। यह बिन्दु ही परमात्मा है, इसी को छोटे से-छोटा और बड़े-से-बड़ा कहा जाता है। "अणोरणीयान् महतो-महीयान्" कहकर उपनिषदों ने इस परब्रह्म का परिचय दिया है।

जर्मन दार्शनिक इमेन्युएल कांट ने इन दोनों शक्तियों के सम्बन्ध में अपनी एक पुस्तक के उपसंहार में लिखा है—

"संसार में मुझे केवल दो बातों से भय लगता है—पहिली बात यह है कि जब मैं रात को सितारों से भरे आकाश की ओर देखता हूँ तो मेरे मन में विचार आता है कि यह सृष्टि कितनी विशाल है। जिस तरह से पृथ्वी को भी वैज्ञानिक एक सितारा मानते हैं, केवल इसी की विशालता का अनुमान लगायें, तो मस्तिष्क चकराने लगता है। इससे सूर्य पाँच लाख गुना बड़ा है। सूर्य से बड़ा एक ज्येष्ठा तारा है, वह उससे कई लाख गुना बड़ा है। पृथ्वी सूर्य के आस-पास चक्कर काट रही है। इसका नियन्त्रण कैसे होता है और कौन करता है? इन लाखों

करोडो तारो को देखकर तो मुझे भय लगता है। विचार आता है कि उनका सचालक कितना शक्तिशाली है, कितना महान् है? उसके सामने मेरी शक्ति कितनी सीमित है, नगण्य है। जब सृष्टि के सचालक की असीम शक्ति और अपनी सीमित शक्ति मे बहुत अन्तर पाता हूँ तो मुझे भय लगता है, मेरा मन कांप उठता है।

दूसरे प्रकार के भय का कारण यह है कि मैं जब कोई बुरा काम करने लगता हूँ, तो मेरे अन्तर मे एक शक्तिशाली आवाज आती है कि यह अनुचित कार्य है, इसे मत करो। उस ध्वनि मे एक प्रकार का अनुशासन होता है, आज्ञा होती है। ऐसा लगता है कि वह मुझसे बडा है, जो अधिकारपूर्वक आदेश देता है। तब मैं सोचता हूँ कि जिस प्रकार का आदेश मेरे अन्तर मे आता है, उस प्रकार का जीवन मैं नही बना पाता। जब उस आदेश और अपने जीवन की यथार्थता की बात मेरे मन मे आती है, तो मुझे भय लगता है क्योकि उन दोनो मे बहुत अन्तर है।"

आगे काट साहब लिखते हैं—"आकाशस्थ तारो का सचालन करने वाली महान् शक्ति और मेरे अन्दर छिपी शक्ति मुझे एक ही जान पडती हैं।"

तान्त्रिक शास्त्रियो ने विभिन्न प्रकार से बिन्दु की परिभाषा की है। कहा है कि "यह बिन्दु शक्ति की वह अवस्था विशेष है, जहां से उसकी सृष्टि-क्रिया प्रारम्भ होती है। बिन्दु तत्त्वो को ईश्वर तत्व के नाम से भी पुकारते है। इस अवस्था मे शक्ति चिद्रूपिणी होकर अव्यक्त इदम् को तादात्म्य-भाव मे लाकर उसके साथ चिद्बिन्दु का रूप धारण करती है। दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि इस अवस्था मे (अहम्) अपनी चेतना मे अखिल (इदम्) को देखता है।"

पाचरात्र और भागवत सम्प्रदाय मे वैष्णव आगम के अन्तर्गत जो 'विशुद्ध तत्व' कहा जाता है, उसी को बिन्दु कहते हैं।

शिव की समवायिनी शक्ति दो तरह की है—एक ज्ञान शक्ति और दूसरी क्रिया-शक्ति। क्रिया-शक्ति को ही 'विन्दु' नाम से अभिहित किया गया है।

महामहोपाध्याय प० गोपीनाथ कविराज ने अपनी पुस्तक 'भारतीय संस्कृति और साधना' में लिखा है—

"तत्त्वातीत अवस्था में शिव और शक्ति का सामंजस्य रहता है। उस समय शिव-शक्ति के गर्भ में अनन्त महत्व भाव में अर्थात् शक्ति के साथ अभिन्न रूप से, विद्यमान रहता है। परन्तु, जब पराशक्ति स्वेच्छा से अपने स्फुरण को स्वयं ही देखती है, तभी विश्व की सृष्टि होती है, वस्तुतः, इस स्फुरण का दर्शन ही विश्व-दर्शन है और विश्व-दर्शन ही सृष्टि है। इस अवस्था में दृष्टि ही सृष्टि है। अनुत्तर दशा में स्वरूप में अभिन्नतया रहने पर भी विश्व देखा नहीं जाता। इसी से वह अवस्था सृष्टि-व्यापार नहीं है। इस दृष्टि या सृष्टि-व्यापार में शिव तटस्थ रहते हैं। उनकी स्वरूपभूता स्वातन्त्र्य-शक्ति ही सब कुछ करती है। शिव अग्निस्वरूप हैं, संवर्त्तानल अथवा प्रलयानल स्वरूप। शक्ति सोमस्वरूपा। दोनों का साम्य ही तान्त्रिक भाषा में विन्दु नाम से कहा जाता है।"

श्री वीरमणिप्रसाद उपाध्याय (एम० ए०, डी० लिट०) के अनुसार—

"परशिव-स्वरूप प्रकाश जब प्रपंच के अनुसंधान अथवा उन्मीलन की इच्छा से अपने में ही विश्रान्त, परा, प्रकृति, माया, अविद्या, आदि पदों से व्यवह्रियमाण, जगद्बीजभूत विमर्श को परमार्थतः अपने में ही कायम रखते हुए भी वाह्य सा विसर्जन करता है, तब विमर्श 'विसृज्यते इति विसर्ग' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'विसर्ग' कहलाता है। पुनः वही शिवरूप प्रकाश जब प्रपंच के संहार अर्थात् निगिरण की इच्छा से प्रकृति को अपने में निमीलित करने लगता है, तब प्रकाश 'विन्द्यतेऽविच्छद्यते' इस व्युत्पत्ति के अनुसार विन्दु कहलाता है।

डा० शिवशङ्कर अवस्थी ने 'मन्त्र और मातृकाओ का रहस्य' पुस्तक मे इसका विभिन्न प्रकार से स्पष्टीकरण किया है।

समस्त सृष्टि-चक्र का मूल बिन्दु के नाम से अविहित किया गया है। यह आख्या वस्तुत आकारहीन ब्रह्म के सृष्टिरूप मन्त्र की रचना के अनुरूप ही है। अपार ससार के विविध भावी स्थूल आकार-प्रकारो को अपने मे सूक्ष्म रूप से समेटे हुए अवाङ्गमनसगोचर पर-तत्व सर्वप्रथम बिन्दु के रूप मे आकलित होता है। शब्दातीत परतत्व की ही सज्ञा महाबिन्दु है, जिसे अनिर्देश्य, अग्राह्य, अशन आदि निषेधो द्वारा कहा जाता है।

जगत् रूप अकुर का कन्द होने के कारण उसे ही कारण-बिन्दु कहते हैं। प्रपचसार तत्र मे कहा गया है--

विचिकीर्षुर्घनीभूता सा चिन्भ्येति बिन्दुताम्।

— (प्र० सा० प्रथम पटल)

अर्थात् 'विशेष रूप से करने की इच्छा वाला पुरुष का वह घनीभूत वह ज्ञान बिन्दु के स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।"

कर्माभिन्न रूप ही बिन्दु है। प्रकृति का ही, प्रलयावस्था से जो परिपक्व दशा के अनन्तर सृष्ट्युन्मुख कर्मों से अभिन्न, स्व आकार से निरूपित रूप है, वही बिन्दु है।

कार्य, बिन्दु, नाद और बीज का—पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के रूप मे वर्णन किया गया है। चित्प्रधान काल-लक्षण ईश्वर ही कार्य-बिन्दु है। आचार्य पद्मपाद ने लिखा है—"यह बिन्दु परम पुरुष रूप है।"

ह्लाद, तीक्ष्णता और दाहकता से अविच्छिन्न, प्रमाण, प्रमेय और परिमित प्रमात रूप सोम, सूर्य और अग्नि की आश्रयभूत क्रिया-शक्ति के भिन्न-भिन्न रूपो मे प्रस्फुरित होने पर भी उपाधिशून्य, पूर्ण, पर-प्रकाश, विदिक्रिया मे स्वतन्त्र, पर-प्रमातृ रूप परमेश्वर शिव ही बिन्दु के नाम से कहे जाते हैं।

'तत्व रक्षा-विधान' नामक ग्रन्थ मे स्वय परमेश्वर ने हृदय,

भ्रूमध्य, द्वादशान्त—स्थानों में विश्रान्ति-भेद से नर, शक्ति, शिवात्मक, इच्छाद्यात्मक तथा शिवतत्त्व, विद्यातत्त्व और आत्मतत्त्व के रूप में वेदयिता परप्रकाश रूप बिन्दु ही विश्व के अवभासन की इच्छा में प्रस्फुरित होता है, ऐसा कहा है।

बिन्दु का स्थान आज्ञाचक्र के बाद बतलाया जाता है। योग की भाषा में इसे तृतीय नेत्र और ज्ञान-चक्षु भी कहते हैं।

ध्यानबिन्दूपनिषद् (३७) में बिन्दु-साधक को वेदज्ञ माना गया है—

तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत्।
अवाच्यं प्रणवस्याग्रं यस्तं वेद स वेदवित्।

अर्थात् "तेल की धारा के समान अविच्छिन्न और दीर्घ घण्टा-निनाद के सदृश्य बिन्दु, नाद, कला से अतीत को जो जानता है, वह वेदज्ञ है।"

एक तन्त्राचार्य ने ईश्वर-साक्षात्कार के लिए बिन्दु-साधना को आवश्यक बताया है—"बिन्दु की बात पहले ही कही गई है। इस भूमि में ज्योतिर्मय ज्ञानरूप से ईश्वरबोध की सूचना होती है। यहाँ प्रवेश हुए बिना जागतिक ज्ञान विलुप्त नहीं हो सकता। समाधिजनित प्रज्ञा से यह ऊपरी अवस्था है, समाधिजनित ज्ञान उत्कृष्ट होने पर भी जागतिक ज्ञान ही है। किन्तु *अर्द्धमात्रा का ज्ञान चिन्मय अनुभव* है, इसलिए यह श्रेष्ठ है। लौकिक ज्ञान त्रिपुटीका लोप नहीं होता, विराट् अभेद ज्ञान का उदय से भी भेदज्ञान की निवृत्ति क्रमशः होती है। वह भेदज्ञान क्रमशः स्तर-भेद करते-करते कटता है। तब पहले के देश-काल का ज्ञान रहता है सही, पर वह तनिक दूसरे प्रकार का होता है। योगियों को जिन पञ्च-शून्यों का परिचय मिलता है, उसमें बिन्दु ही प्रथम शून्य है। बिन्दु के स्तर में बीज नहीं रहता अर्थात् प्रकृति का स्फुरण नहीं रहता इसलिए उनको पुरुष का अभिन्न स्वरूप भी कहा जा सकता है।"

वैज्ञानिक स्पष्टीकरण—

बिन्दु का वैज्ञानिक स्पष्टीकरण करते हुए श्री सत्यव्रत शर्मा ने लिखा है—

"शाक्त मत के अनुसार विश्व-प्रपंच का पर्यवसान एक 'बिन्दु' में होता है। इस बिन्दु को हम 'आयामरहित गणितीय बिन्दु' कह सकते हैं। इस बिन्दु को एक गणितीय रेखा लपेटे हुए है, जो इसके प्रत्येक पृष्ठभाग को स्पर्श भी करती है अर्थात् यह दोनों मिलकर एक 'बिन्दुमय' हो जाते हैं। ब्रह्माण्ड-संकोच की इस प्रक्रिया पर विचार प्रकट करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त खगोल-शास्त्री अर्नेस्ट जे० विपिक ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है—

'सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड (सारा गैलेक्सी समुदाय अपने जीवित या मृत सूर्यों और ग्रहों के साथ) अपने को एक सूक्ष्म आकाश या बिन्दु में लय कर देगा।'

रेखा शक्ति की तृतीय प्रकृति है, इसलिए वस्तुओं में गोलाई और वक्रता (Curvature) है। 'सापेक्षतावाद' के अनुसार, चूँकि सरल रेखा में गति सम्भव ही नहीं है, इसलिए प्रत्येक ग्रह-उपग्रह वक्र पथों पर गतिशील हैं। और इस प्रकार विविध ब्रह्माण्डों (Spheroids) का निर्माण करते हैं।

शक्ति अपने दो रूपों—स्थैतिक अर्थात् कुण्डलिनी और गत्यात्मक अर्थात् प्राण में प्रकट होती है। यह एक सामान्य बात है कि प्रत्येक संचार की एक स्थैतिक पृष्ठभूमि होती ही है। शरीर में यह स्थिति केन्द्र मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी शक्ति है। यह शक्ति ही सम्पूर्ण शरीर और इसमें प्रवाहित सभी प्राण शक्तियों का आधार है। यह शक्ति-केन्द्र चित् का स्थूल रूप है।

'इलेक्ट्रन थियरी' के अनुसार 'अणु' सौर मण्डल से मिलता-जुलता एक सूक्ष्म ब्रह्माण्ड है। अणु-केन्द्र में धनात्मक आवेश वाले

'प्रोटोन' का निवास है। इसके चारो ओर ऋणात्मक आवेश के तमाम इलेक्ट्रोन विभिन्न कक्षाओ मे गतिशील हैं। दोनो आवेश मिलकर अणु को सन्तुलित रखते हैं, जिससे यह साधारण रूप में भग्न न हो जाय—'पिंडे पिंडे ब्रह्माडे ब्रह्माडे' के अनुसार अणु मे घटने वाली यही घटना समग्र विश्व मे हो रही है। विश्व मे सारे ग्रह सूर्य के चारो ओर घूमते हैं और सूर्यसहित सारा ग्रह-मडल भी किसी अन्य सापेक्ष स्थिर केन्द्र के चारो ओर घूमता है और इस प्रकार हम 'ब्रह्म-बिन्दु' तक पहुँच जाते हैं, जिस निरपेक्ष स्थिर बिन्दु के चारो ओर सारे मडल घूमते हैं और यही बिन्दु सर्वनियन्ता है।

साधना—

इस बिन्दु का चिन्तन करने से आनन्दमय कोश स्थित जीव को इस परब्रह्म के रूप की कुछ झाँकी होती है और उसे प्रतीत होता है कि परब्रह्म की—महा ब्रह्माड की तुलना में मेरा अस्तित्व, मेरा पिंड कितना तुच्छ है। इस तुच्छता का भान होने से अहङ्कार और विगलित हो जाते हैं। इसी ओर जब अपने पिंड की—शरीर की—तुलना करते हैं, तो प्रतीत होता है कि अटूट शक्ति के अक्षय भडार सर्गाणु की इतनी अटूट सत्ता और शक्ति जब हमारे भीतर है, तो हमे अपने को अशक्त समझने का कारण नही है। उस शक्ति का उपयोग जान लिया जाय, तो ससार मे होने वाली कोई भी बात हमारे लिए असम्भव नही रह सकती।

जैसे महा-ब्रह्माड की तुलना मे हमारा शरीर अत्यन्त क्षुद्र है और हमारी तुलना मे उसका विस्तार अनुपमेय है। इसी प्रकार सर्गाणुओ की दृष्टि मे हमारा पिंड (शरीर) एक महाब्रह्माड जैसा विशाल होगा। इससे जो स्थिति समझ मे आती है वह प्रकृति ब्रह्माड से भिन्न एक दिव्य शक्ति के रूप मे विदित होती है। लगता है कि मैं मध्य-बिन्दु हूं, केन्द्र हू, सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल मे मेरी व्यापकता है।

लघुता-महत्ता का एकान्त चिन्तन ही बिन्दु-साधन कहलाता है।

इस साधना के साधक को सांसारिक जीवन की अवास्तविकता और तुच्छता का भली प्रकार बोध हो जाता है कि मैं अनन्त शक्ति का उद्गम होने के कारण इस सृष्टि का महत्वपूर्ण केन्द्र हूँ। जैसे जापान पर फटा हुआ परमाणु बम ही 'ऐतिहासिक एटम बम' के रूप मे चिरस्मरणीय रहेगा वैसे ही जब अपने शक्ति पुञ्ज का सदुपयोग किया जाता है, तो उसके द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से संसार का भारी परिवर्तन करना सम्भव हो जाता है।

विश्वामित्र ने राजा हरिश्चन्द्र के पिंड को एटम बम बनाकर 'असत्य' के साम्राज्य पर इस प्रकार विस्फोट किया था कि लाखो वर्ष बीत जाने पर भी उसकी एक्टिव किरणें अभी समाप्त नही हुई हैं और अपने प्रभाव से अनेको को बराबर प्रभावित करती चली आ रही हैं। महात्मा गांधी ने बचपन में राजा हरिश्चन्द्र का चरित्र पढा था, उनने अपने आत्म-चरित्र मे लिखा है कि मैं उसे पढकर इतना प्रभावित हुआ कि स्वय भी हरिश्चन्द्र बनने की ठान, ठान ली। अपने सकल्प-बल द्वारा वे सचमुच हरिश्चन्द्र बन भी गये। राजा हरिश्चन्द्र आज नही हैं, पर उनकी आत्मा आज भी उसी प्रकार अपना महान कार्य कर रही है, न जाने कितने अप्रकट गांधी उसके द्वारा निर्मित होते रहते होगे। गीताकार आज नही है, पर आज उनकी गीता कितनो को अमृत पिला रही है। यह पिंड का सूक्ष्म प्रभाव ही है, जो प्रकट या अप्रकट रूप से स्वपर कल्याण का महान् आयोजन प्रस्तुत करता है।

कालमार्क्स के सूक्ष्म शक्ति-केन्द्र मे प्रस्फुटित हुई चेतना आज आधी दुनिया को कम्युनिस्ट बना चुकी है। पूर्वकाल मे श्रीकृष्ण, महात्मा ईसा, मुहम्मद, बुद्ध आदि ऐसे अनेक महापुरुष हुए हैं, जिन्होने संसार पर बडे महत्वपूर्ण प्रभाव डाले हैं। इन प्रकट महापुरुषो के अतिरिक्त ऐसी अनेक अप्रकट आत्मायें भी हैं, जिन्होने संसार की सेवा मे, जीवो के कल्याण में गुप्त रूप से बडा भारी काम किया है। हमारे देश मे

योगी अरविन्द, महर्षि रमण, रामकृष्ण परमहंस, समर्थ गुरु रामदास आदि द्वारा जो कार्य हुआ तथा आज भी अनेक महापुरुष जो कार्य कर रहे हैं, उसको स्थूल दृष्टि से नही समझा जा सकता है। युग-परिवर्तन निकट है, उसके लिए रचनात्मक और ध्वंसात्मक प्रवृत्तियो का सूक्ष्म जगत् मे जो महान् आयोजन हो रहा है, उस महाकार्य को हमारे चर्मचक्षु देख पावें तो जानें कि कैसा अनुपम एव अभूतपूर्व परिवर्तन-चक्र प्रस्तुत हो रहा है और वह चक्र निकट भविष्य में ही कैसे-कैसे विलक्षण परिवर्तन करके मानव-जाति को एक नये प्रकाश की ओर ले जा रहा है।

विषयान्तर चर्चा करना हमारा प्रयोजन नही है। यहाँ तो हमे यह बताना है कि लघुता और महत्ता के चिन्तन की बिन्दु-साधना से आत्मा का भौतिक अभिमान और लोभ विगलित होता है। साथ ही उस आंतरिक शक्ति का विस्तार होता है, जो स्वपर कल्याण के लिए अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है।

बिन्दु-साधक की आत्म-स्थिति उज्ज्वल होती जाती है, उसके विकार मिट जाते हैं। फलस्वरूप उसे उस अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति होती है, जिसे प्राप्त करना जीवन-धारण का प्रमुख उद्देश्य है।

एक तन्त्र-शास्त्री ने बिन्दु साधना का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—"इसी बिन्दु से ज्ञान-भूमि की सूचना मिलती है। चित्त को एकाग्र करके उपसहृत किये बिना अर्थात् विक्षिप्त अवस्था मे, बिन्दु मे स्थित नहीं हो सकती। बिन्दु-अवस्था में स्थित होने पर भी यथार्थ लक्ष्य की प्राप्ति मे अनेको व्यवधान रह जाते हैं। यद्यपि बिन्दु भूमि मे साधक अहंभाव मे प्रतिष्ठित होकर आपेक्षिक द्रष्टा बनकर निम्नवर्ती समस्त प्रपच को निरपेक्ष भाव से देखने मे समर्थ होता है, तथापि जब तक वह बिन्दु पूर्णत तिरोहित नही हो जाता अर्थात् पूर्णत अहंभाव का विसर्जन अथवा आत्म-समर्पण नही होता, तब तक महाबिन्दु अथवा शिव-भाव की अभिव्यक्ति नही हो सकती। इसीलिए बिन्दु-भाव को

प्राप्त होकर साधक को क्रमश कर्नाश्रय करते करते पूर्णतया विगतकर्म अवस्था में उपनीत होना पड़ता है।"

बिन्दु-साधक के लिए अहंकार का नाश आवश्यक है। बड़े-बड़े तपस्वी साधक भी इस महारोग में फँसे देखे गये हैं। ऋषि मुनि भी इससे नहीं बच सके हैं, परन्तु बिन्दु साधक का तो लक्ष्य ही यही है। इससे इस साधना की महत्ता की कल्पना सहज में ही की जा सकती है।

हमारे शास्त्रों ने भी आत्म-विकास के जिज्ञासु को इससे बचने का आग्रह किया है।

गीता १८।१६ "जो संस्कृत बुद्धि न होने के कारण यह न समझे कि मैं ही अकेला कर्ता हूं, समझना चाहिए कि वह दुर्मति कुछ नहीं जानता।" १८।५८ "मुझमें चित रखो तू मेरे अनुग्रह से संकटों को अर्थात् कर्म के शुभाशुभ फलों को पार कर जावेगा। परन्तु यदि अहंकार के वश हो मेरी न सुनेगा, तो नाश पावेगा।" ईशावास्योपनिषद् (६) "जो मनुष्य अविद्या की उपासना करते हैं, वे अज्ञान-घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो मनुष्य विद्या में रत हैं अर्थात् मिथ्याभिमान में रत हैं, वे उससे भी मानो अधिकार अन्धकार में प्रवेश करते हैं।" महोपनिषद् में "अहंकार के कारण विपत्ति आती है, अहंकार के कारण दुष्ट मनो-व्याधियां उत्पन्न होती हैं। अहंकार के कारण कामनायें उत्पन्न होती हैं। अहंकार से बढ़कर मनुष्य का कोई दूसरा शत्रु नहीं है।"

अहंकार हमारी आत्मिक शक्तियों पर जोंक का-सा काम करता है, यह ठीक है। इससे बचना आवश्यक है, परन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं कि हम अपने आत्मगौरव को सर्वथा भूल जायें और अपने को पतित, पापी, नीच, दुष्ट, दुर्गामी, निर्बल, निस्सहाय और असमर्थ समझने लगें। हमें शरीर-भाव से ऊपर उठकर आत्म-भाव में स्थित होना होगा। वेदों की मन्त्रात्मा को प्रकट करने वाली उपनिषदों की

होता है, छन्द है और वह मुख में ही स्थान पाने का अधिकारी है । मन्त्र का देवता, जो अपने हृदय का धन है, जीवन का सञ्चालक है, समस्त भावों का प्रेरक है, हृदय का अधिकारी है, हृदय में ही उसके न्यास का स्थान है । इस प्रकार जितने भी न्यास हैं, सबका एक विज्ञान है और यदि ये न्यास विधिवत् किए जायँ तो शरीर और अन्तःकरण को दिव्य बनाकर स्वयं ही अपनी महिमा का अनुभव करा देते हैं ।

अष्टाङ्गयोग—

शारदातिलक के पच्चीसवें पटल में अष्टाङ्गयोग साधना का वर्णन है । अन्य ग्रन्थों से लेकर यहाँ अष्टाङ्गयोग का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत है—

अष्टाङ्गयोग का साधन मन्त्रसिद्धि के लिए परमावश्यक है । 'अष्टांगयोग' जगत् के त्रिविध ताप से छुटकारा दिलाने का साधन है । ब्रह्म को प्रकाशित करने वाला ज्ञान भी 'योग' से ही सुलभ होता है । एकचित्त होना-चित्त को एक जगह स्थापित करना 'योग' है । चित्तवृत्तियों के निरोध को भी 'योग' कहते हैं । जीवात्मा एवं परमात्मा में ही अन्तःकरण की वृत्तियों को स्थापित करना उत्तम 'योग' है । (१) यम और (२) नियम—

(१) अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रह—ये पाँच '**यम**' कहे गए हैं । (i) किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुँचाना '**अहिंसा**' है । 'अहिंसा' सबसे उत्तम धर्म है । जैसे राह चलने वाले अन्य सभी प्राणियों के पदचिन्ह हाथी के चरणचिन्ह में समा जाते हैं, उसी प्रकार धर्म के सभी साधन 'अहिंसा' में गतार्थ माने जाते हैं । 'अहिंसा' के दस भेद हैं—किसी को उद्वेग में डालना, संताप देना, रोगी बनाना, शरीर से रक्त निकालना, चुगली खाना, किसी के हित में अत्यन्त बाधा पहुँचाना, उसके छिपे हुए रहस्य का उद्घाटन करना, दूसरे को सुख से वञ्चित करना, अकारण कैद करना और प्राणदण्ड देना । (ii) जो बात दूसरे प्राणियों के लिये अत्यन्त हितकर है, वह '**सत्य**' है । 'सत्य' का सही लक्षण है—सत्य बोले, किन्तु प्रिय बोले; अप्रिय सत्य कभी न बोले । इसी प्रकार प्रिय असत्य भी मुँह से न निकाले; यह सनातन धर्म है । (iii) '**ब्रह्मचर्य**' कहते हैं—'मैथुन के त्याग को' । 'मैथुन' आठ प्रकार का होता है—स्त्री का स्मरण, उसकी चर्चा, उसके साथ क्रीडा करना, उसकी ओर देखना, उससे लुक-छिपकर बातें करना, उसे पाने का संकल्प, उसके लिये उद्योग तथा क्रियानिर्वृत्ति (स्त्री से साक्षात् समागम)—ये मैथुन के आठ अंग हैं—ऐसा मनीषी पुरुषों का कथन है । 'ब्रह्मचर्य' ही सम्पूर्ण शुभ कर्मों की सिद्धि का मूल है; उसके बिना सारी क्रिया निष्फल हो जाती है । वसिष्ठ, चन्द्रमा, शुक्र, देवताओं के आचार्य बृहस्पति तथा पितामह ब्रह्माजी—ये तपोवृद्ध और वयोवृद्ध होते हुए भी स्त्रियों के मोह में फँस गये । गौडी, पैष्टी और माध्वी—ये तीन प्रकार की सुरा जाननी चाहिये । इनके बाद चौथी सुरा—'स्त्री' है, जिसने सारे जगत् को मोहित कर रक्खा है । मदिरा

को तो पीने पर ही मनुष्य मतवाला होता है, परंतु युवती स्त्री को देखते ही उन्मात्त हो उठता है। नारी देखने मात्र से ही मन में उन्माद करती है, इसलिये उसके ऊपर दृष्टि न डाले। (iv) मन, वाणी और शरीर द्वारा चोरी से सर्वथा बचे रहना '**अस्तेय**' कहलाता है। यदि मनुष्य बलपूर्वक दूसरे की किसी भी वस्तु का अपहरण करता है, तो उसे अवश्य तिर्यग्योनि में जन्म लेना पड़ता है। यही दशा उसकी भी होती है, जो हवन किये बिना ही (बलिवैश्वदेव द्वारा देवता आदि का भाग अर्पण किये बिना ही) हविष्य (भोज्यपदार्थ) का भोजन कर लेता है। (v) कौपीन, अपने शरीर को ढकनेवाला वस्त्र, शीत का कष्ट-निवारण करने वाली कन्था (गुदडी) और खडाऊँ—इतनी ही वस्तुएँ साथ रक्खे। इनके सिवा और किसी वस्तु का संग्रह न करे—(यही अपरिग्रह है)। शरीर की रक्षा के साधनभूत वस्त्र आदि का संग्रह किया जा सकता है। धर्म के अनुष्ठान में लगे हुए शरीर की यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये।

(२) '**नियम**' भी पाँच ही हैं, जो भोग और मोक्ष प्रदान करने वाले हैं। उनके नाम ये हैं—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वराराधन (ईश्वरप्राणिधान)।

(i) '**शौच**' दो प्रकार का बताया गया है—'ब्राह्य' और 'आभ्यन्तर'। मिट्टी और जल से 'बाह्यशुद्धि' होती है और भाव की शुद्धि को 'आभ्यन्तर शुद्धि' कहतें हैं। दोनों ही प्रकार से जो शुद्ध है, वही शुद्ध है, दूसरा नहीं। (ii) प्रारब्ध के अनुसार जैसे-तैसे जो कुछ भी प्राप्त हो जाय, उसी में हर्ष मानना '**संतोष**' कहलाता है। मन और इन्द्रियों की एकाग्रता को '**तप**' कहते हैं। (iii) मन और इन्द्रियों पर विजय पाना सब धर्मों से श्रेष्ठ धर्म कहलाता है। 'तप' तीन प्रकार का होता है—वाचिक, मानसिक और शारीरिक। मन्त्रजप आदि 'वाचिक', आसक्ति का त्याग 'मानसिक' और देवपूजन आदि 'शारीरिक' तप हैं। यह तीनों प्रकार का तप सब कुछ देने वाला है। (iv) वेद प्रणव से ही आरम्भ होते हैं, अतः प्रणव में सम्पूर्ण वेदों की स्थिति है।

वाणी का जितना भी विषय है, सब प्रणव है; इसलिये प्रणव का अभ्यास करना चाहिये (यह स्वाध्याय के अन्तर्गत है)। 'प्रणव' अर्थात् 'ओंकार' में अकार, उकार तथा अर्धमात्राविशिष्ट मकार है। तीन मात्राएँ तीनों वेद, भूः आदि तीन लोक, तीन गुण, जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीन अवस्थाएँ तथा ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र, स्कन्द, देवी और महेश्वर तथा प्रद्युम्न, श्री और वासुदेव—ये सब क्रमशः ॐकार के ही स्वरूप हैं। ॐकार मात्रा से रहित अथवा अनन्त मात्राओं से युक्त है। वह द्वैत की निवृत्ति करने वाला तथा शिवस्वरूप है। ऐसे ॐकार को जिसने जान लिया, वही मुनि है, दूसरा नहीं। प्रणव की चतुर्थीमात्रा (जो अर्धमात्रा के नाम से प्रसिद्ध है) 'गान्धारी' कहलाती है। वह प्रयुक्त होने पर मूर्द्धा में लक्षित होती है। वही 'तुरीय' नाम से प्रसिद्ध परब्रह्म है। वह ज्योतिर्मय

है । जैसे घड़े के भीतर रक्खा हुआ दीपक वहाँ प्रकाश करता है, वैसे ही मूर्द्धा में स्थित परब्रह्म भी भीतर अपनी ज्ञानमयी ज्योति छिटकाये रहता है । मनुष्य को चाहिये कि मन से हृदयकमल में स्थित आत्मा या ब्रह्म का ध्यान करें और जिह्वा सदा प्रणव का जप करती रहे । (यही 'ईश्वरप्राणिधान' है ।) 'प्रणव' धनुष है, 'जीवात्मा' बाण है तथा 'ब्रह्म' उसका लक्ष्य कहा जाता है । सावधान होकर उस लक्ष्य का भेदन करना चाहिये और वाण के समान उसमें तन्मय हो जाना चाहिये । यह एकाक्षर (प्रणव) ही ब्रह्म है, यह एकाक्षर ही परम तत्त्व है, इस एकाक्षर ब्रह्म को जानकर जो जिस वस्तु की इच्छा करता है, उसको उसी की प्राप्ति हो जाती है । इस प्रणव का देवी गायत्री छन्द है, अन्तर्यामी ऋषि है, परमात्मा देवता हैं तथा भोग और मोक्ष की सिद्धि के लिये इसका विनियोग किया जाता है ।

इसके अंगन्यास की विधि इस प्रकार है—'ॐ भूः अग्न्यात्मने हृदयाय नमः ।'—इस मन्त्र से हृदय का स्पर्श करे । 'ॐ भुवः प्राणापत्यात्मने शिरसे स्वाहा ।' ऐसा कहकर मस्तक का स्पर्श करे । 'ॐ भूर्भुवः स्वः सत्यात्मने कवचाय हुँ ।' इस मन्त्र से दाहिने हाथ की अँगुलियों द्वारा बायीं भुजा के मूलभाग का और बायें हाथ की अँगुलियों से दाहिनी बाँह के मूलभाग का एक ही साथ स्पर्श करे । तत्पश्चात् पुनः 'ॐ भूर्भुवः स्वः सत्यात्मने अस्त्राय फट् ।' कहकर चुटकी बजाये । इस प्रकार अंगन्यास करके भोग और मोक्ष की सिद्धि के लिये भगवान् विष्णु का पूजन, उनके नामों का जप तथा उनके उद्‌देश्य से तिल और घी आदि का हवन करे; इससे मनुष्य की समस्त कामनाएँ पूर्ण होती है । (यही ईश्वरपूजन है; इसका निष्कामभाव से ही अनुष्ठान करना उत्तम है ।) जो मनुष्य प्रतिदिन बारह हजार प्रणव का जप करता है, उसको बारह महीने में परब्रह्म का ज्ञान हो जाता है । एक करोड जप करने से अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती है, एक लाख के जप से सरस्वती आदि की कृपा होती है ।

विष्णु का यजन तीन प्रकार का होता है—वैदिक, तान्त्रिक और मिश्र । तीनों में से जो अभीष्ट हो, उसी एक विधि का आश्रय लेकर श्रीहरि की पूजा करनी चाहिये । जो मनुष्य दण्ड की भाँति पृथ्वी पर पड़कर भगवान् को साष्टांग प्रणाम करता है, उसे जिस उत्तम गति की प्राप्ति होती है, वह सैकड़ों यज्ञों के द्वारा दुर्लभ है । जिसकी आराध्य देव में पराभक्ति है और जैसी देवता में है, वैसी ही गुरु के प्रति भी है, उसी महात्मा को इन कहे हुए विषयों का यथार्थ ज्ञान होता है ।

आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार—

पद्‌मासन आदि नाना प्रकार के 'आसन' बताये गये हैं । उनमें से कोई भी आसन बाँधकर परमात्मा का चिन्तन करना चाहिये । पहले किसी पवित्र स्थान में अपने बैठने के लिये स्थिर आसन बिछावे, जो न अधिक ऊँचा हो और न

अधिक नीचा। सबसे नीचे कुशका आसन हो, उसके ऊँपर मृगचर्म और मृगचर्म के ऊपर वस्त्र बिछाया गया हो। उस आसन पर बैठकर मन और इन्द्रियों की चेष्टाओं को रोकते हुए चित्त को एकाग्र करे तथा अन्त:करण की शुद्धि के लिये योगाभ्यास में संलग्न हो जाय। उस समय शरीर, मस्तक और गले को अविचलभाव से एक सीध में रखते हुए स्थिर बैठे। केवल अपनी नासिका के अग्रभाग को देखे; अन्य दिशाओं की ओर दृष्टिपात न करे। दोनों पैरों की एडियों से अण्डकोष और लिंग की रक्षा करते हुए दोनों ऊरुओं (जाँघों) के ऊपर भुजाओं को यत्नपूर्वक तिरछी करके रक्खे तथा बायें हाथ की हथेली पर दाहिने हाथ के पृष्ठभाग को स्थापित करे और मुँह को कुछ ऊँचा करके सामने की ओर स्थिर रक्खे। इस प्रकार बैठकर प्राणायाम करना चाहिये।

अपने शरीर के भीतर रहने वाली वायु को 'प्राण' कहते हैं। उसे रोकने का नाम है—'आयाम'। अत: प्राणायाम का अर्थ हुआ—'प्राणवायु को रोकना'। उसकी विधि इस प्रकार है—अपनी अँगुली से नासिका के एक छिद्र को दबाकर दूसरे छिद्र से उदरस्थित वायु को बाहर निकाले। 'रेचन' अर्थात् बाहर निकालने के कारण इस क्रिया को 'रेचक' कहते हैं। तत्पश्चात् चमड़े की धौंकनी के समान शरीर को बाहरी वायु से भरे। भर जाने पर कुछ काल तक स्थिरभाव से बैठा रहे। बाहरी वायु की पूर्ति करने के कारण इस क्रिया का नाम 'पूरक' है। वायु भर जाने के पश्चात् जब साधक न तो भीतरी वायु को छोड़ता है और न बाहरी वायु को ग्रहण ही करता है, अपितु भरे हुए घड़े की भाँति अविचलभाव से स्थिर रहता है, उस समय कुम्भवत् स्थिर होने के कारण उसकी वह चेष्टा 'कुम्भक' कहलाती है।

बारह मात्रा (पल) का एक 'उद्घात' होता है। इतनी देर तक वायु को रोकना कनिष्ठ श्रेणी का प्राणायाम है। दो उद्घात अर्थात् चौबीस मात्रा तक किया जाने वाला कुम्भक मध्यम श्रेणी का माना गया है तथा तीन उद्घात अर्थात् छत्तीस मात्रा तक का कुम्भक उत्तम श्रेणी का प्राणायाम है। जिससे शरीर से पसीने निकलने लगे, कँपकँपी छा जाय तथा अभिघात लगने लगे, वह प्राणायाम अत्यन्त उत्तम है। प्राणायाम की भूमिकाओं में से जिस पर भलीभाँति अधिकार न हो जाय, उन पर सहसा आरोहण न करे, अर्थात् क्रमश: अभ्यास बढ़ाते हुए उत्तरोत्तर भूमिकाओं पर आरूढ होने का यत्न करे। प्राण को जीत लेने पर हिचकी और साँस आदि के रोग दूर हो जाते हैं तथा मलमूत्रादि के दोष भी धीरेधीरे कम हो जाते हैं। नीरोग होना, तेज चलना, मन में उत्साह होना, स्वर में माधुर्य आना, बल बढ़ना, शरीर वर्ण में स्वच्छता का आना तथा सब प्रकार के दोषों का नाश हो जाना—ये प्रणायाम से होने वाले लाभ हैं।

प्राणायाम दो तरह के होते है—'अगर्भ' और 'सगर्भ'। जप और ध्यान के बिना जो प्राणायाम किया जाता है, उसका नाम '**अगर्भ**' है तथा जप और ध्यान

के साथ किये जाने वाले प्राणायाम को '**सगर्भ**' कहते हैं । इन्द्रियों पर विजय पाने के लिये सगर्भ प्राणायाम ही उत्तम होता है; उसी का अभ्यास करना चाहिये । ज्ञान और वैराग्य से युक्त होकर प्राणायाम के अभ्यास से इन्द्रियों को जीत लेने पर सब पर विजय प्राप्त हो जाती है । जिसे 'स्वर्ग' और 'नरक' कहते है, वह सब इन्द्रियाँ ही हैं । वे ही वश में होने पर स्वर्ग में पहुँचाती हैं और स्वतन्त्र छोड़ देने पर नरक में ले जाती है । शरीर को 'रथ' कहते है, इन्द्रियाँ ही उसके 'घोड़े' हैं मन को 'सारथि' कहा गया है और और प्राणायाम को 'चाबुक' माना गया है । ज्ञान और वैराग्य की बागडोर में बँधे हुए मनरूपी घोड़े को प्राणायाम से आबद्ध करके जब अच्छी तरह काबू में कर लिया जाता है तो वह धीरे धीरे स्थिर हो जाता हैं जो मनुष्य सौ वर्षों से कुछ अधिक काल तक प्रतिमास कुश के अग्रभाग से जल की एक बूँद लेकर उसे पीकर रह जाता है, उसकी वह तपस्या और प्राणायाम—दोनों बराबर है ।

विषयों के समुद्र में प्रवेश करके वहाँ फँसी हुई इन्द्रियों को जो आहूत करके, अर्थात् लौटाकर अपने अधीन करता है, उसके इस प्रयत्न को '**प्रत्याहार**' कहते हैं । जैसे जल में डूबा हुआ मनुष्य उससे निकलने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार संसार समुद्र में डूबे हुए अपने-अपने को स्वयं ही निकालने का प्रयत्न करे । भोगरूपी नदी का वेग अत्यन्त बढ़ जाने पर उससे बचने के लिये अत्यन्त सुदृढ़ ज्ञानरूपी वृक्ष का आश्रय लेना चाहिये ।

(६) ध्यान—

'**ध्यै-चिन्तायाम्**'—यह धातु है । अर्थात 'ध्यै' धातु का प्रयोग चिन्तन के अर्थ में होता है । 'ध्यै' से ही 'ध्यान' शब्द की सिद्धि होती है । अतः स्थिरचित्त से भगवान् विष्णु का बारंबार चिन्तन करना 'ध्यान' कहलाता है। समस्त उपाधियों से मुक्त मनसहित आत्मा का ब्रह्मविचार में परायण होना भी 'ध्यान' ही है । ध्येय रूप आधार में स्थिर एवं सजातीय प्रतीतियों से युक्त चित्तको जो विजातीय प्रतीतियों से रहित प्रतीति होती है, उसको भी 'ध्यान' कहते हैं । जिस किसी प्रदेश में भी ध्येय वस्तु के चिन्तन में एकाग्र हुए चित्त को प्रतीति के साथ जो अभेद भावना होती है, उसका नाम भी '**ध्यान**' है । इस प्रकार ध्यानपरायण होकर जो अपने शरीर का परित्याग करता है, वह अपने कुल, स्वजन और मित्रों का उद्धार करके स्वयं भगवत्स्वरूप हो जाता है । इस तरह जो प्रतिदिन एक या आधे मुहूर्त तक भी श्रद्धापूर्वक श्रीहरि का ध्यान करता है, वह भी जिस गति को प्राप्त करता है, उसे सम्पूर्ण महायज्ञों के द्वारा भी कोई नहीं पा सकता ।

तत्त्ववेत्ता योगी को चाहिये कि वह ध्याता, ध्यान, ध्येय तथा ध्यान का प्रयोजन—इन चार वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करके योग का अभ्यास करे । योगाभ्यास से मोक्ष तथा आठ प्रकार के महान् ऐश्वर्यों (अणिमा आदि सिद्धियों) की प्राप्ति होती है । जो ज्ञान-वैराग्य से सम्पन्न, श्रद्धालु, क्षमाशील, विष्णुभक्त

तथा ध्यान में सदा उत्साह रखने वाला हो, ऐसा पुरुष ही '**ध्याता**' माना गया है। 'व्यक्त और अव्यक्त, जो कुछ भी प्रतीत होता है, सब परब्रह्म परमात्मा का ही स्वरूप है'—इस प्रकार विष्णु का चिन्तन करना '**ध्यान**' कहलाता है। सर्वज्ञ परमात्मा श्रीहरि को सम्पूर्ण कलाओं से युक्त तथा निष्कल जानना चाहिये। अणिमादि ऐश्वर्यों की प्राप्ति तथा मोक्ष—ये **ध्यान के प्रयोजन** हैं। भगवान् विष्णु ही कर्मों के फल की प्राप्ति कराने वाले हैं, अत: उन परमेश्वर का ध्यान करना चाहिये। वे ही **ध्येय** हैं। चलते-फिरते, खड़े होते, सोते-जागते, आँख खोलते और आँख मिचते समय भी, शुद्ध या अशुद्ध अवस्थाओं में भी निरन्तर परमेश्वर का ध्यान करना चाहिये।

अपने देहरूपी मन्दिर के भीतर मन में स्थित हृदय कमलरूपी पीठ के मध्य भाग में भगवान् केशव की स्थापना करके ध्यान योग के द्वारा उनका पूजन करे। ध्यान यज्ञ श्रेष्ठ, शुद्ध और सब दोषों से रहित है। उसके द्वारा भगवान् का यजन करके मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है। बाह्य शुद्धि से युक्त यज्ञों द्वारा भी इस फल की प्राप्ति नहीं हो सकती। हिंसा आदि दोषों से मुक्त होने के कारण ध्यान अन्त:करण की शुद्धि का और चित्त को वश में करने का प्रमुख साधन है। इसलिये ध्यानयज्ञ सबसे श्रेष्ठ और मोक्षरूपी फल प्रदान करने वाला है; अत: अशुद्ध एवं अनित्य बाह्य साधन रूप यज्ञ आदि कर्मों का त्याग करके योग का ही विशेष रूप से अभ्यास करे। पहले विकारयुक्त, अव्यक्त तथा भोग्य-भोग से युक्त तीनों गुणों का क्रमशः अपने हृदय में ध्यान करे। तमोगुण को रजोगुण से आच्छादित करके रजोगुण को सत्त्वगुण से आच्छादित करे। इसके बाद पहले कृष्ण, फिर रक्त, तत्पश्चात् श्वेतवर्ण वाले तीनों मण्डलों का क्रमशः ध्यान करे। इस प्रकार जो गुणों का ध्यान करके 'शुद्ध ध्येय' का चिन्तन करे। पुरुष (आत्मा) सत्त्वोपाधिक गुणों से अतीत चौबीस तत्त्वों से परे पचीसवाँ तत्त्व है, यह 'शुद्ध ध्येय' है। पुरुष के ऊपर उन्हीं की नाभि से प्रकट हुआ एक दिव्य कमल स्थिर है, जो प्रभु का ऐश्वर्य ही जान पडता है। उसका विस्तार बारह अंगुल है। वह शुद्ध, विकसित तथा श्वेत वर्ण का है। उसका मृणाल आठ अंगुल का है। उस कमल के आठ पत्तों को अणिमा आदि आठ ऐश्वर्य जानना चाहिये। उसकी कर्णिका का केसर 'ज्ञान' तथा नाल 'उत्तम वैराग्य' है। 'विष्णु-धर्म' ही उसकी जड है। इस प्रकार कमल का चिन्तन करे। धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं कल्याणमय ऐश्वर्य-स्वरूप उस श्रेष्ठ कमल को, जो भगवान् का आसन है, जानकर मनुष्य अपने सब दु:खों से छुटकारा पा जाता है। उस कमल कर्णिका के मध्य भाग में ओंकारमय ईश्वर का ध्यान करे। उनकी आकृति शुद्ध दीपशिखा के समान देदीप्यमान एवं अँगूठे के बराबर है। वे अत्यन्त निर्मल हैं। कदम्बपुष्प के समान उनका गोलाकार स्वरूप है जो तारे की भाँति स्थिर है। अथवा कमल के ऊपर प्रकृति और पुरुष से भी अतीत परमेश्वर विराजमान हैं, ऐसा ध्यान करे तथा परम अक्षर ओंकार का निरन्तर जप करता रहे। साधक को अपने मन को स्थिर करने

के लिये पहले स्थूल का ध्यान करना चाहिये । फिर क्रमशः मन के स्थिर हो जाने पर उसे सूक्ष्म तत्त्व के चिन्तन में लगाना चाहिये ।

कमल आदि का ध्यान दूसरे प्रकार से भी किया जाता है—नाभि-मूल में स्थित जो कमल की नाल है, उसका विस्तार दस अंगुल है । नाल के ऊपर अष्टदल कमल है, जो बारह अंगुल विस्तृत है । उसकी कर्णिका के केसर में सूर्य, सोम तथा अग्नि-तीन देवताओं का मण्डल है । अग्नि-मण्डल के भीतर शंख, चक्र, गदा एवं पद्म धारण करने वाले चतुर्भुज विष्णु अथवा आठ भुजाओं से युक्त भगवान् श्रीहरि विराजमान हैं । अष्टभुज भगवान् के हाथों में शंख-चक्रादि के अतिरिक्त शार्ङ्गधनुष, अक्षमाला, पाश तथा अंकुश शोभा पाते है। उनके श्रीविग्रह का वर्ण श्वेत एवं सुवर्ण के समान उद्दीप्त है । वक्षःस्थल में श्रीवत्स का चिन्ह और कौस्तुभमणि शोभा पा रहें हैं । गले में वनमाला और सोने का हार है । कानों में मकराकार कुण्डल जगमगा रहे है । मस्तक पर रत्नमय उज्ज्वल किरीट सुशोभित हैं । श्रीअंगो पर पीताम्बर शोभा पाता है । वे सब प्रकार के आभूषणों से अलंकृत हैं । उनका आकार बहुत बडा अथवा एक वित्ते का है । जैसी इच्छा हो, वैसी ही छोटी या बडी आकृति का ध्यान करना चाहिये ।

ध्यान के समय ऐसी भावना करे कि 'मैं ज्योतिर्मय ब्रह्म हूँ—मैं ही नित्यमुक्त प्रणवरूप वासुदेव संज्ञक परमात्मा हूँ ।' ध्यान से थक जाने पर मन्त्र का जप करे और जप से थकने पर ध्यान करे । इस प्रकार जो जप और ध्यान आदि में लगा रहता है, उसके ऊपर भगवान् विष्णु शीघ्र ही प्रसन्न होते हैं । दूसरे-दूसरे यज्ञ जपयज्ञ की सोलहवीं कला के बराबर भी नही हो सकते । जप करने वाले पुरुष के पास आधि, व्याधि और ग्रह नहीं फटकने पाते । जप करने से भोग, मोक्ष तथा मृत्यु विजयरूप फल की प्राप्ति होती है ।

(७) धारणा—

ध्येय वस्तु में जो मन की स्थिति होती है, उसे '**धारणा**' कहते हैं । ध्यान की ही भाँति उसके भी दो भेद हैं—'साकार' और 'निराकार' । भगवान् के ध्यान में जो मन को लगाया जाता है, उसे क्रमशः 'मूर्त' और 'अमूर्त' धारणा कहते हैं। इस धारणा से भगवान् की प्राप्ति होती है । जो बाहर का लक्ष्य है, उससे मन जबतक विचलित नहीं होता, तब तक किसी भी प्रदेश में मन की स्थिति को '**धारणा**' कहते हैं । देह के भीतर नियत समय तक जो मन को रोक रक्खा जाता है और वह अपने लक्ष्य से विचलित नहीं होता यही अवस्था '**धारणा**' कहलाती है । बारह आयाम की 'धारणा' होती है, बारह 'धारणा' का 'ध्यान' होता है तथा बारह ध्यानपर्यन्त जो मन की एकाग्रता है, उसे 'समाधि' कहते है । जिसका मन धारणा के अभ्यास में लगा हुआ है, उसी अवस्था में यदि उसके प्राणों का परित्याग हो जाय तो वह पुरुष अपने इक्कीस पीढी का उद्धार करके अत्यन्त उत्कृष्ट स्वर्गपद को प्राप्त होता है ।

योगियों के जिस जिस अंग में व्याधि की सम्भावना हो, उस-उस अंग को बुद्धि से व्याप्त करके तत्त्वों की धारणा करनी चाहिये । आग्नेयी, वारुणी, ऐशानी और अमृतात्मिका-ये विष्णु की चार प्रकार की धारणा करनी चाहिये । उस समय अग्नियुक्त शिखामन्त्र का, जिसके अन्त में 'फट्' शब्द का प्रयोग होता है, जप करना उचित है । नाडियों के द्वारा विकट, दिव्य एवं शुभ शूलाग्र का वेधन करे। पैर के अँगुठे से लेकर कपोल तक किरणों का समूह व्याप्त है और वह बडी तेजी से साथ ऊपर-नीचे तथा इधर-उधर फैल रहा है, ऐसी भावना करे । श्रेष्ठ साधक को तबतक रश्मिमण्डल का चिन्तन करते रहना चाहिये, जबतक कि वह अपने सम्पूर्ण शरीर को उसके भीतर भस्म होता न देखे । तदनन्तर उस धारणा का उपसंहार करे । इस धारणा के द्वारा द्विजगण शीत और श्लेष्मा आदि रोग तथा अपने पापों का विनाश करते हैं । यह 'आग्नेयी धारणा' है ।

तत्पश्चात् धीरभाव से विचार करते हुए मस्तक और कण्ठ के अधोमुख होने का चिन्तन करे । उस समय साधक का चित्त नष्ट नहीं होता । वह पुनः अपने अन्तःकरण द्वारा ध्यान में लग जाय और ऐसी धारणा करे कि जलके अनन्त कण में प्रकट होकर एक-दूसरे से मिलकर हिमराशि को उत्पन्न करते हैं और उससे इस पृथ्वी पर जल की धाराएँ प्रवाहित होकर सम्पूर्ण विश्व को आप्लावित कर रही हैं । इस प्रकार उस हिमस्पर्श से शीतल अमृतस्वरूप जल के द्वारा क्षोभवश ब्रह्मरन्ध्र से लेकर मूलाधारपर्यन्त सम्पूर्ण चक्र-मण्डल को आप्लावित करके सुषुम्णा नाडी के भीतर होकर पूर्ण चन्द्रमण्डल का चिन्तन करना चाहिये तथा उस समय आलस्य छोडकर विष्णुमन्त्र का जप करना भी उचित है । यह 'वारुणी धारणा' बतलायी गयी है ।

ऐशानी धारणा—प्राण और अपान का क्षय होने पर हृदयाकाश में ब्रह्ममय कमल के ऊपर विराजमान भगवान् विष्णु के प्रसाद (अनुग्रह) का तबतक चिन्तन करता रहे, जबतक कि सारी चिन्ता का नाश न हो जाय । तत्पश्चात् व्यापक ईश्वररूप से स्थित होकर परम शान्त, निरञ्जन, निराभास एवं अर्द्धचन्द्रस्वरूप सम्पूर्ण महाभाव का जप और चिन्तन करे । जबतक गुरु के मुख से जीवात्मा को ब्रह्म का ही अंश (या साक्षात् ब्रह्मरूप) नहीं जान लिया जाता, तब तक यह सम्पूर्ण चराचर जगत् असत्य होनेपर भी सत्यवत् प्रतीत होता है । उस परम तत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर ब्रह्मा से लेकर यह सारा चराचर जगत्, प्रमाता, मान और मेय (=ध्याता, ध्यान और ध्येय)—सब कुछ ध्यानगत हृदयकमल में लीन हो जाता है । जप, होम और पूजन आदि को माता की दी हुई मिठाई की भाँति मधुर एवं लाभकर जानकर विष्णुमन्त्र के द्वारा उसका श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करे ।

अमृतमयी धारणा—मस्तक की नाडी के केन्द्रस्थान में पूर्ण चन्द्रमा के समान आकार वाले कमल का ध्यान करे तथा प्रयत्नपूर्वक यह भावना करे कि 'आकाश में दस हजार चन्द्रमा के समान प्रकाशमान एक पूर्ण चन्द्रमण्डल उदित

हुआ है, जो कल्याणमय कल्लोलों से परिपूर्ण है ।' ऐसा ही ध्यान अपने हृदय कमल में भी करे और उसके मध्य भाग में अपने शरीर को स्थित देखे । धारणा आदि के द्वारा साधक के सभी क्लेश दूर हो जाते हैं ।

(८) समाधि—

चैतन्य स्वरूप से जो युक्त और प्रशान्त समुद्र की भाँति स्थिर हो, जिसमें आत्मा के सिवा अन्य किसी वस्तु की प्रतीति न होती हो, उस ध्यान को 'समाधि' कहते है । जो ध्यान के समय अपने चित्त को ध्येय में लगाकर वायुहीन प्रदेश में जलती हुई अग्निशिखा की भाँति अविचल एवं स्थिर भाव से बैठा रहता है, वह योगी 'समाधिस्थ' कहा गया है । जो न सुनता है न सूँघता है, न देखता है न रसास्वादन करता है, न स्पर्श का अनुभव करता है न मन में संकल्प उठने देता है, न अभिमान करता है और न बुद्धि से दूसरी किसी वस्तु को जानता ही है, केवल काष्ठ की भाँति अविचलभाव से ध्यान में स्थिर रहता है, ऐसे ईश्वरचिन्तनपरायण पुरुष को 'समाधिस्थ' कहते है । जैसे वायुरहित स्थान में रक्खा हुआ दीपक कम्पित नहीं होता, यही उस समाधिस्थ योगी के लिये उपमा मानी गयी है । जो अपने आत्मस्वरूप श्रीविष्णु के ध्यान में संलग्न रहता है, उसके सामने अनेक दिव्य विघ्न उपस्थित होते हैं । वे सिद्धि की सूचना देने वाले है । साधक ऊपर से नीचे गिराया जाता है, उसके कान में पीडा होती है, अनेक प्रकार के धातुओं के दर्शन होते है तथा उसे अपने शरीर में बडी वेदना का अनुभव होता है । देवता लोग उस योगी के पास आकर उससे दिव्य भोग स्वीकार करने की प्रार्थना करते है, राजा पृथ्वी का राज्य देने की बात कहते और बड़े-बड़े धनाध्यक्ष धन का लोभ दिखाते हैं । वेद आदि सम्पूर्ण शास्त्र स्वयं ही (बिना पढ़े) उसकी बुद्धि में स्फुरित हो जाते हैं । उसके द्वारा मनोनुकूल छन्द और सुन्दर विषय से युक्त उत्तम काव्य की रचना होने लगती है । दिव्य रसायन, दिव्य ओषधियाँ तथा सम्पूर्ण शिल्प और कलाएँ उसे प्राप्त हो जाती हैं । इतना ही नहीं, देवेश्वरों की कन्याएँ और प्रतिभा आदि सन्दुण भी उसके पास बिना बुलाये जाते है; किन्तु जो इन सबको तिनके के समान निस्सार मानकर त्याग देता है, उसी पर भगवान् विष्णु प्रसन्न होते हैं ।

अणिमा आदि गुणमयी विभूतियों से युक्त योगी पुरुष को उचित है कि वह शिष्य को ज्ञान दे । इच्छानुसार भोगों का उपभोग करके लययोग की रीति से शरीर का परित्याग करे और विज्ञानानन्दमय ब्रह्म एवं ईश्वररूप अपने आत्मा में स्थित हो जाय । जैसे मलिन दर्पण शरीर का प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में असमर्थ होने के कारण शरीर का ज्ञान कराने की क्षमता नहीं रखता, उसी प्रकार जिसका अन्तःकरण परिपक्व (वासनाशून्य) नहीं है, वह आत्मज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ है । देह सब प्रकार के रोगों और दुःखों का आश्रय है; इसलिये

देहाभिमानी जीव अपने शरीर में वेदना का अनुभव करता है । परंतु जो पुरुष योगयुक्त है, उसे योग के ही प्रभाव से किसी भी क्लेश का अनुभव नहीं होता । जैसे एक ही आकाश घट आदि भिन्न-भिन्न उपाधियों में पृथक्-पृथक् सा प्रतीत होता है और एक ही सूर्य अनेक जलपात्रों में अनेक सा जान पड़ता है, उसी प्रकार आत्मा एक होता हुआ भी अनेक शरीरों में स्थित होने के कारण अनेकवत् प्रतीत होता है ।

आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—ये पॉचों भूत ब्रह्म के ही स्वरूप हैं। ये सम्पूर्ण लोक आत्मा ही है; आत्मा से ही चराचर जगत् की अभिव्यक्ति होती है। जैसे कुम्हार मिट्टी, डंडा और चाक के संयोग से घड़ा बनाता है, अथवा जिस प्रकार घर बनाने वाला मनुष्य तृण, मिट्टी और काठ से घर तैयार करता है, उसी प्रकार जीवात्मा इन्द्रियों को साथ ले, कार्य करण संघात को एकचित्त करके भिन्न-भिन्न योनियों में अपने को उत्पन्न करता है । कर्म से, दोष और मोह से तथा स्वेच्छा से ही जीव बन्धन में पड़ता है और ज्ञान से ही उसकी मुक्ति होती है । योगी पुरुष धर्मानुष्ठान करने से कभी रोग का भागी नहीं होता । जैसे बत्ती, तैलपात्र और तैल—इन तीनों के संयोग से ही दीपक की स्थिति है—इनमें से किसी एक के अभाव में भी दीपक रह नहीं सकता, उसी प्रकार योग और धर्म के बिना विकार (रोग) की प्राप्ति देखी जाती है और इस प्रकार अकाल में ही प्राणों का क्षय हो जाता है ।

हमारे हृदय के भीतर जो दीपक की भाँति प्रकाशमान आत्मा है, उसकी अनन्त किरणें फैली हुई हैं, जो श्वेत, कृष्ण, पिंगल, नील, कपिल, पीत और रक्त वर्ण की हैं । उनमें से एक किरण ऐसी है, जो सूर्यमण्डल को भेदकर सीधे ऊपर को चली गयी है और ब्रह्मलोक को भी लाँघ गयी है; उसी के मार्ग से योगी पुरुष परमगति को प्राप्त होता है । उसके सिवा और भी सैकड़ों किरणें ऊपर की ओर स्थित हैं । उनके द्वारा मनुष्य भिन्न-भिन्न देवताओं के निवासभूत लोकों में जाता है । जो एक ही रंग की बहुत सी किरणें नीचे की ओर स्थित हैं, उनकी कान्ति बड़ी कोमल है । उन्ही के द्वारा इस लोक में जीव कर्मभोग के लिये आता है ।

समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, कर्मेन्द्रियाँ, अहंकार, बुद्धि, पृथिवी आदि पाँच भूत तथा अव्यक्त प्रकृति—ये 'क्षेत्र' कहलाते हैं और आत्मा ही इस क्षेत्र का ज्ञान रखने वाला 'क्षेत्रज्ञ' कहलाता है । वही सम्पूर्ण भूतों का ईश्वर है । सत्, असत् तथा सदसत्—सब उसी के स्वरूप हैं । व्यक्त प्रकृति से समष्टि बुद्धि (महत्तन) की उत्पत्ति होती है, उससे अहंकार उत्पन्न होते हैं, जो उत्तरोत्तर एकाधिक गुणों वाले हैं । शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये क्रमशः उन पॉचों भूतों के गुण हैं । इनमें से जो भूत जिसके आश्रय में है,

वह उसी में लीन होता है । सत्त्व, रज और तम—ये अव्यक्त प्रकृति के ही गुण हैं । जीव रजोगुण ओर तमोगुण से आविष्ट हो चक्र की भाँति घूमता रहता है । जो सबका 'आदि' होता हुआ स्वयं 'अनादि' है, वही परमपुरुष परमात्मा है ।

मन और इन्द्रियों से जिसका ग्रहण होता है, वह 'विकार' (विकृत होने वाला प्राकृत तत्त्व) कहलाता है । जिससे वेद, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, भाष्य तथा अन्य वाङ्मय की अभिव्यक्ति हुई है, वही 'परमात्मा' है । पितृयानमार्ग की उपवीथी से लेकर अगस्त्य तारे के बीच का जो मार्ग है, उससे संतान की कामना वाले अग्निहोत्री लोग स्वर्ग में जाते हैं । जो भलीभाँति दान में तत्पर तथा आठ गुणों से युक्त होते हैं, वे भी उसी भाँति यात्रा करते हैं । अठासी हजार गृहस्थ मुनि हैं, जो सब धर्मों के प्रवर्तक है; वे ही पुनरावृत्ति के बीज (कारण) माने गये हैं । वे सप्तर्षियों तथा नागवीथी के बीच के मार्ग से देवलोक में गये है । उतने ही (अर्थात अठासी हजार) मुनि और भी हैं, जो सब प्रकार के आरामों से रहित हैं । वे तपस्यां, ब्रह्मचर्य, आसक्ति, त्याग तथा मेघाशक्ति के प्रभाव से कल्पपर्यन्त भिन्न-भिन्न दिव्यलोक में निवास करते हैं ।

वेदों का निरन्तर स्वाध्याय, निष्काम यज्ञ, ब्रह्मचर्य, तप, इन्द्रिय-संयम, श्रद्धा, उपवास तथा सत्य-भाषण—ये आत्मज्ञान के हेतु हैं । समस्त द्विजातियों को उचित है कि वे सत्त्वगुण का आश्रय लेकर आत्मतत्त्व का श्रवण, मनन, निदिध्यासन एवं साक्षात्कार करें । जो इसे इस प्रकार जानते हैं, जो वानप्रस्थ आश्रम का आश्रय ले चुके हैं और परम श्रद्धा से युक्त हो सत्य की उपासना करते हैं, वे क्रमशः अग्नि, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण, देवलोक, सूर्यमण्डल तथा विद्युत् के अभिमानी देवताओं के लोकों में जाते हैं । तदन्तर मानस पुरुष वहाँ आकर उन्हें साथ ले जा, ब्रह्मलोक का निवासी बना देता है; उनकी इस लोक में पुनरावृत्ति नहीं होती । जो लोग यज्ञ, तप और दान से स्वर्ग लोक पर अधिकार प्राप्त करते हैं, वे क्रमशः धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन, पितृलोक तथा चन्द्रमा के अभिमानी देवताओं के लोकों में जाते हैं और फिर आकाश, वायु एवं जल के मार्ग से होते हुए इस पृथ्वी पर लौट आते है । इस प्रकार वे इस लोक में जन्म लेते हैं और मृत्यु के बाद पुनः उसी मार्ग से यात्रा करते हैं । जो जीवात्मा के इन दोनों मार्गों को नहीं जानता, वह साँप, पतंग अथवा कीड़ा-मकोड़ा होता है । हृदयाकाश में दीपक की भाँति प्रकाशमान ब्रह्म का ध्यान करने से जीव अमृतस्वरूप हो जाता है । जो न्याय से धन का उपार्जन करने वाला, तत्त्वज्ञान में स्थित, अतिथि-प्रेमी, श्राद्धकर्ता तथा सत्यवादी है, वह गृहस्थ भी मुक्त हो जाता है । अतः मन्त्रशास्त्र का आश्रय लेकर गृहस्थ मनुष्य को चाहिए कि वह अपने को मुक्त कर ले ।

श्रवण एवं मननरूप ज्ञान से मुक्ति—

संसाररूप अज्ञानजनित बन्धन से छुटकारा पाने के लिये 'ब्रह्मज्ञान' आवश्यक है। 'यह आत्मा परब्रह्म है और वह ब्रह्म मैं ही हूँ।' ऐसा निश्चय हो जानेपर मनुष्य मुक्त हो जाता है। घट आदि वस्तुओं की भाँति यह देह दृश्य होने के कारण आत्मा नहीं है; क्योंकि सो जाने पर अथवा मृत्यु हो जाने पर यह बात निश्चित रूप से समझ में आ जाती है कि 'देह से आत्मा भिन्न है'। यदि देह ही आत्मा होता तो सोने या मरने के बाद भी पूर्ववत् व्यवहार करता; (आत्मा) 'अविकारी' आदि विशेषणों के समान विशेषण से युक्त निर्विकाररूप में प्रतीत होता है। नेत्र आदि इन्द्रियाँ भी आत्मा नहीं है; क्योंकि वे 'करण' हैं। यही हाल मन और बुद्धि का भी है। वे भी दीपक की भाँति प्रकाश के 'करण' हैं, अतः आत्मा नहीं हो सकते। 'प्राण' भी आत्मा नहीं है; क्योंकि सुषुप्तावस्था में उस पर जड़ता का प्रभाव रहता है। जाग्रत् और स्वप्नावस्था में प्राण के साथ चैतन्य मिला सा रहता है, इसलिये उसका पृथक् बोध नहीं होता; परंतु सुषुप्तावस्था में प्राण विज्ञानरहित है—यह बात स्पष्ट रूप से जानी जाती है। अतएव आत्मा इन्द्रिय आदि रूप नहीं है। इन्द्रिय आदि आत्मा के करणमात्र हैं। अहंकार भी आत्मा नहीं है; क्योंकि देह की भाँति वह भी आत्मा से पृथक् उपलब्ध होता है। पूर्वोक्त देह आदि से भिन्न यह आत्मा सब के हृदय में अन्तर्यामी रूप से स्थित है। यह रात में जलते हुए दीपक की भाँति सब का द्रष्टा और भोक्ता है।

समाधि के आरम्भ काल में मुनि को इस प्रकार चिन्तन करना चाहिये—'ब्रह्म से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी तथा पृथ्वी से सूक्ष्म शरीर प्रकट हुआ है।' अपञ्चीकृत भूतों से पञ्चीकृत भूतों की उत्पत्ति हुई है। फिर स्थूल शरीर का ध्यान करके ब्रह्म में उसके लय होने की भावना करे। पञ्चीकृत भूत तथा उनके कार्यों को 'विराट्' कहते हैं। आत्मा का वह स्थूल शरीर अज्ञान से कल्पित है। इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान होता है, उसे धीर पुरुष 'जाग्रत-अवस्था' मानते हैं। जाग्रत के अभिमानी आत्मा का नाम 'विश्व' है। ये (इन्द्रिय-विज्ञान, जाग्रत-अवस्था और उसके अभिमानी देवता) तीनों प्रणव की प्रथम मात्रा 'अकारस्वरूप' हैं। अपञ्चीकृत भूत और उनके कार्य को 'लिंग' कहा गया है। सत्रह तत्त्वों (दस इन्द्रिय, पञ्चतन्मात्रा तथा मन और बुद्धि) से युक्त हो आत्मा सूक्ष्म शरीर है, जिसे 'हिरण्यगर्भ' नाम दिया गया है, उसी को 'लिंग' कहते है।

जाग्रत् अवस्था के संस्कार से उत्पन्न विषयों की प्रतीति को 'स्वप्न' कहा गया है। उसका अभिमानी आत्मा 'तैजस' नाम से प्रसिद्ध है। वह जग्रत् के प्रपञ्च से पृथक् तथा प्रणव की दूसरी मात्रा 'उकाररूप' है। स्थूल और सूक्ष्म-दोनों शरीरों का एक ही कारण है—'आत्मा'। आभासयुक्त ज्ञान को 'अध्याहृत ज्ञान' कहते हैं। इन अवस्थाओं का साक्षी 'ब्रह्म' न सत् है, न असत् है और न

सदसत् रूप ही है। वह न तो अवयवयुक्त है और न अवयवरहित; न भिन्न है न अभिन्न और भिन्नाभिन्नरूप भी नहीं है। वह सर्वथा अनिर्वचनीय है। इस बन्धनभूत संसार की सृष्टि करने वाला भी वही है। ब्रह्म एक है और केवल ज्ञान से प्राप्त होता है; कर्मों द्वारा उसकी उपलब्धि नहीं हो सकती। अतः शब्दब्रह्म (मन्त्रशास्त्र) की उपासना के माध्यम से हमें ब्रह्मज्ञानी होने का प्रयत्न करना चाहिए।

प्रणवोपासना—जब बाह्यज्ञान के साधनभूत इन्द्रियों का सर्वथा लय हो जाता है, केवल बुद्धि की ही स्थिति रहती है, उस अवस्था को 'सुषुप्ति' कहते हैं। 'बुद्धि' और 'सुषुप्ति' दोनों के अभिमानी आत्मा का नाम 'प्राज्ञ' है। ये तीनों 'मकार' एवं प्रणवरूप माने गये हैं। यह प्राज्ञ ही अकार, उकार और मकारस्वरूप है। 'अहम्' पद का लक्ष्यार्थभूत चित्स्वरूप आत्मा इन जाग्रत् और स्वप्न आदि अवस्थाओं का साक्षी है। उसमें अज्ञान और उसके कार्यभूत संसारादिक बन्धन नहीं हैं। मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य, आनन्द एवं अद्वैतस्वरूप ब्रह्म हूँ। मैं ज्योतिर्मय परब्रह्म हूँ। सर्वथा मुक्त प्रणव (ऊँ) वाच्य परमेश्वर हूँ। मैं ही ज्ञान एवं समाधिरूप ब्रह्म हूँ। बन्धन का नाश करने वाला भी मैं ही हूँ। चिरन्तर, आनन्दमय, सत्य, ज्ञान और अनन्त आदि नामों से लक्षित परब्रह्म मैं ही हूँ। 'यह आत्मा परब्रह्म है, वह ब्रह्म तुम हो'—इस प्रकार (प्रणवोपासना रूप) गुरु द्वारा बोध कराये जाने पर जीव यह अनुभव करता है कि मैं इस देह से विलक्षण परब्रह्म हूँ। वह जो सूर्यमण्डलों में प्रकाशमय पुरुष है, वह मैं ही हूँ। मैं ही ॐकार तथा अखण्ड परमेश्वर हूँ। इस प्रकार ब्रह्म को जानने वाला पुरुष इस असार संसार से मुक्त होकर ब्रह्मरूप हो जाता है और यही शारदातिलक तन्त्र का मुख्य प्रयोजन है।

शारदातिलक के संस्करण—

शारदातिलक का मूल पं० रसिकमोहन चट्टोपाध्याय के द्वारा कलकत्ता से प्रथमतया १८८० में प्रकाशित किया गया। यह संस्करण मूल रूप से बंगला लिपि में था। कुछ ही दिनों बाद पं० जीवानन्दविद्यासागर ने देवनागरी में एक शारदातिलक का संस्करण प्रकाशित किया। राघवभट्ट की पदार्थादर्श व्याख्या के साथ १८८६ में बनारस से प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ। यह शारदातिलक महादेव भट्ट की गूढ़ार्थदीपिका व्याख्या के साथ संवत् १९४१ में भी छपा था। यह गूढ़ार्थदीपिका राघवभट्ट की व्याख्या से पुरातन है। क्योंकि राघवभट्ट ने इस व्याख्या को कई स्थानों पर आलोचित किया है। राघवभट्ट ने अपनी व्याख्या में कहा है कि इन्होंने संवत् १५५१ (ई० १४८४) में अपनी व्याख्या को लिखा था। तन्त्र जगत के प्रसिद्ध विद्वान् आर्थव एँवलोन के द्वारा संपादित होकर राघवभट्ट की टीका के साथ शारदातिलक आगमानुसंधान समिति से १९३३ में प्रकाशित हुआ। यह तान्त्रिक टेक्स्ट सिरीज़ का १७वाँ वैल्यूम था।

॥ श्रीः ॥

श्रीलक्ष्मणदेशिकेन्द्रविरचितं

शारदातिलकम्

श्रीमद्राघवभट्टकृत'पदार्थादर्श'टीकासहितम्
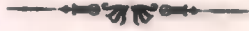
अथ प्रथमः पटलः

अथ मङ्गलाचरणम्

महः स्तुतिः

नित्यानन्दवपुर्निरन्तरगलत्पञ्चाशदर्णैः क्रमाद्
व्याप्तं येन चराचरात्मकमिदं शब्दार्थरूपं जगत् ।
शब्दब्रह्म यदूचिरे सुकृतिनश्चैतन्यमन्तर्गतं
तद्वोऽव्यादनिशं शशाङ्कसदनं वाचामधीशं महः॥ १ ॥

* पदार्थादर्शः *

श्रीकण्ठं निजताण्डवप्रवणताप्रोद्दाममोदोदयं
पश्यन्त्याः कुतुकाद्भुतप्रियतया सञ्जातभावं मुहुः ।
मन्दान्दोलितदुग्धसिन्धुलहरी लीलालसं लोचन-
प्रान्तालोकनमातनोतु भवतां भूतिं भवान्याः शुभम् ॥ १ ॥
संसेव्यमानमृषिभिः सनकादिमुख्यै-
र्योगेन गम्यमविनश्वरमादिभूतम् ।
संसारहन्त्रिगमसारविचारसारं
शैवं महो मनसि मे मुदमादधातु ॥ २ ॥
भद्राय भवतां भूयाद् भारती भक्तिभाविता ।
स्मृतिरुज्जृम्भते यस्या वाग्विलासोऽतिदुर्लभः ॥ ३ ॥
शारदातिलके तन्त्रे गुरूणामुपदेशतः ।
पदार्थादर्शटीकेयं राघवेण विरच्यते ॥ ४ ॥
सम्प्रदायागतं किञ्चिद् गणितागमसम्मतम् ।
यदुक्तमत्र तत् सन्तो विचारयितुमर्हथ ॥ ५ ॥
पिशुनो दूषकश्चेत् स्यात्र तद्दोषाय दूषणम् ।
दोषावहा हि विकृतिर्न स्वभावो हि दुस्त्यजः ॥ ६ ॥

अथेश्वरः सर्वा अपि श्रुतीर्भवपाशबद्धानां जन्तूनां स्वर्गाय मुक्तये च समुपदिशति स्म । अन्येषां तु स्मृतिशास्त्रादीनां तन्मूलकत्त्वेन तदर्थप्रतिपादकत्त्वेन च प्रामाण्यमिति सुप्रसिद्धतरम् । अस्यास्त्वागमस्मृतेः कथं तन्मूलकत्त्वम् । अन्यच्च तैरेव विशेषेण पर्यालोचितैः स्वर्गोऽथवा मुक्तिरपि भविष्यतीति किमनयेति प्राप्ते ब्रूमः ।

'स ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इति ।

तथा च 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व' इत्युपक्रम्य 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' इत्यादि । 'इदं सर्वं यदयमात्मा एव' इत्यन्तेनोपसंहृतम् । अथ—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वताफलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥

इत्युक्तत्त्वादुपक्रमोपसंहाराभ्यां स्वलीलारूपानाद्यनिर्वाच्याविद्यासहायसम्पन्नं परमानन्दस्वरूपं नित्यशुद्धबुद्धस्वभावं परब्रह्मैव स्वात्मविवर्त्तरूपं सकलं जगत् ससर्जेति श्रुतिवाक्यप्रतिपादितोऽर्थः ।

नन्वस्तु जगत्सृष्टिकर्त्तृत्वं ब्रह्मणः अनाद्यविद्याङ्गीकरणं किमर्थम् इति चेन्न । तया विना असङ्गस्य तस्य कारणतैवानुपपन्ना । तथेममर्थं श्रुत्यागमावपि वदतः ।

'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इति ।

'शिवो हि शक्तिरहितः शक्तः कर्त्तुं न किञ्चन' इति । एवं जाते जगति निजकर्मपाशबद्धा जन्तवोऽनात्मज्ञा उत्पत्तिमरणप्रवाहपतिता नाशक्नुवन् संसारसिन्धुं तरीतुम् । एवं भूतान् तानवलोक्य परमकरुणतया किञ्चिदुपाधिविशिष्टः सर्वाः श्रुतीः समुपदिशति स्म ।

तत्र सर्वासु श्रुतिषु काण्डत्रयं कर्मोपासनाब्रह्मभेदेन । तत्र कर्मकाण्डं जैमिनिप्रभृतिभिः सम्यक्तया विवृतम् । इदमुपासनाकाण्डं नारदादिभिः ब्रह्मकाण्डं भगवद्व्यासादिभिरपि । श्रुतिमूलकताऽस्य प्रत्यक्षोपलब्धश्रुतिमूलकता अप्रत्यक्षोपलब्धश्रुतिमूलकता च । रामपूर्वोत्तरतापनीय नृसिंहपूर्वोत्तरतापनीयसौराष्टाक्षरशैवपञ्चाक्षरात्मिका तु साक्षात्श्रुतिरूपलभ्यत एव । तत्र कर्मकाण्डे सर्वोऽप्यधिकारी । मुमुक्षोरपि तत्त्वज्ञानपर्यन्तं स्वचित्तशुद्ध्यर्थं प्रत्यवायपरिहारार्थञ्च कर्मकरणेऽधिकारसम्भवात् । तद्वदुपासनाकाण्डेऽपि ।

यतः साकारोपासनातः स्वर्गादिबहुफलं भवति क्रमतो मुक्तिश्च । कर्मकाण्डात्तु स्वर्गादिकं बहुतरव्ययायासेन भवति । ब्रह्मकाण्डान्मुक्तिरपि आदरनैरन्तर्यदीर्घकालाभ्याससाध्यानेकेषु जन्मसु तादृशेषु एव गतेषु भवति । 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' इति वचनात् । अत एतदुपासनाकाण्डमेवागमशास्त्रात्मकं गरीय इति सिद्धम् ।

तत्रोत्पलाचार्यपूज्यपादशिष्यः श्रीलक्ष्मणाचार्यः पूर्वतन्त्राणामनेकेषामेकैकमन्त्रविधानकथनप्रवृत्तानामतिविततानां गम्भीराणामिदानीन्तनानामल्पबुद्धीनामल्पायुषामेकस्मिन् सर्वमन्त्रविधानमभीप्सूनां पुंसामशक्त्या दुरवगाहत्वमत्रावलोक्याति-

कृपालुः शारदातिलकं तन्त्रं चिकीर्षुश्चिकीर्षितस्याविघ्नेन समाप्त्यर्थं प्रचयगमनार्थञ्च सकलशिष्टैकवाक्यतयाऽभिमतकर्मभारम्भसमये तत्समाप्तिकामैर्मङ्गलमाचरणीयमिति सदाचारानुमितश्रुतिबोधितपरदेवतानुस्मरणलक्षणं मङ्गलं शिष्यशिक्षार्थमुपनिबध्नन्नाह—नित्येति । तन्महोऽनिशं वोऽव्यादित्यन्वयः । तन्मह एतावतैव परदेवतानुस्मरणस्य सिद्धौ सत्यामप्यस्य पदस्य यत्किञ्चित् क्रियापेक्षायां विघ्नोपशमनद्वाराऽभिलषितफलवितरणरूपावनक्रियानिर्देशेन देवतासाम्मुख्यं दर्शितम् । तत्र सामान्य कर्मसम्बन्धे प्राप्ते क्रियमाणस्य ग्रन्थस्य निर्विघ्नं पाठमभिप्रेप्सोः शिष्योपरि कृपां सूचयतो व इति कर्मणो निर्देशः। वो युष्मान् शिष्यानित्यर्थः। एषामेवात्र सम्बोधनयोग्यत्वात् सम्बोधनप्रधानत्त्वाच्च युष्मच्छब्दस्य । यतः शिष्यकृपयैव विदितवेद्य आचार्यो ग्रन्थकरणे प्रवृत्तः । तेषां कञ्चित्कालमवने सिद्धे स्वशिष्याणां तच्छिष्याणामपि निर्विघ्नं पाठसिद्ध्यसम्भवेन ग्रन्थप्रचारो न भवतीत्युक्तमनिशमिति । तथा च तेषां चिरकालावने सिद्धे स्वशिष्याणां तच्छिष्याणामपि निर्विघ्नं पाठसिद्धौ ग्रन्थप्रचारो भविष्यतीत्याशयः ।

किं तन्मह इत्यपेक्षायामाह—नित्यानन्दवपुरिति । नित्यो योऽयमानन्दः स वपुर्यस्य एतेन शक्त्यभिन्नं परशिवस्वरूपमुक्तम् । ननु 'शक्त्या विना शिवे सूक्ष्मे नाम धाम न विद्यते' इत्युक्तेर्निर्गुणस्याऽसङ्गस्य निराकारस्य तस्य कथमवनक्रियाकर्तृत्त्वम् इत्याह—वाचामधीशमिति । अनेन शक्त्युपहितं सदाशिवात्मकं रूपं वागुपदेष्टृत्त्वेनोक्तम् । ननु वागुपदेष्टृत्त्वं चतुर्मुखोपाध्युपहितस्यापि वर्त्तते तन्निवृत्त्यर्थमाह —शशाङ्कसदनमिति । शशाङ्कस्य चन्द्रस्य सदनं स्थानं चन्द्रकलावतंसमित्यर्थः । शब्दसृष्टेरत्र मुख्यत्वात् मन्त्रमयं तत्स्वरूपं सूचयति । यदाध्यामः विष्णुस्तेन सङ्कर्षणः तेन औ एतेन सहिता निशा हकारो यत्रेत्युत्तरपदलोपी बहुव्रीहिस्तेन हाविति सिद्धम् । शशाङ्केत्यादिना बिन्दुरुक्तः । तत्र वागैश्वर्यमुपबृंहयन् वक्ष्यमाणां शब्दार्थसृष्टिं सूचयन् व्यापकतामाह—येन चराचरात्मकमिदं स्थावरजङ्गमात्मकं शब्दार्थरूपं जगत् क्रमाद् व्याप्तम् । कैः निरन्तरगलत्पञ्चाशदर्णैः निरन्तरमनवरतं गलन्तो व्यक्तीभवन्तः पञ्चाशदर्णा वर्णास्तैः ।

अत्र समासे वर्णशब्दस्य वावलोपो वक्तव्य इति स्वर्णशब्द इव वलोपे अर्णशब्दो वर्णवाची । केचित्तु नित्येत्याद्यर्णैरित्यन्तमेकमेव पदमित्याहुः । अत्र वर्णानामेकपञ्चाशत्त्वेऽपि सामीप्यसम्बन्धेन लक्षणया पञ्चाशत्त्वमुक्तम् । अन्वयानुपपत्तिवत्तात्पर्या-नुपपत्तेरपि लक्षणाबीजस्याभ्युपगतत्वात् । अथवा 'मकारः पुरुषो यतः' इत्युक्तेः तस्य स्वस्वरूपत्वात् पञ्चाशदित्युक्तिः । यद्वा क्षकारस्य क-ष संयोगात्मकत्वात् तयोरुपदेशेनैवास्योपदेश इत्यपुनरुक्तं पञ्चाशद्ग्रहणम् । यद्वा विसर्गस्य केवलं शक्तित्वात् पञ्चभूतात्मकत्वाभावात् सर्ववर्णोत्पत्तिहेतुत्वाच्च तं त्यक्त्वा तथोक्तिः । तदुक्तम्—

'अमायोऽनन्त्य एव वा' इति ।

क्वचिद्बाह्येऽपि तावतामेवोपयोगाद्वा तथोक्तिः । यद्वा मूलाधारादि आज्ञापर्यन्तं षट्चक्रेषु पञ्चाशद्वर्णानामेव स्थितत्वात् पञ्चाशदित्युक्तिः । अनयोर्व्याख्यानयोः बहिरान्तरभेदेन व्यवस्था ज्ञेया । आन्तरस्य च मुख्यत्वात् शास्त्रे सर्वत्र मुख्येन व्यवहार इति ज्ञेयम् । अनेनान्तर्मातृकान्यासोऽपि सूचितः । स चान्त्यपटले (२५) कुण्डली-

प्रस्तावे स्फुटीभविष्यति । अतएव द्वितीयादिचतुर्विंशतिपटलान्तं यत् प्रपञ्चितं तत् सर्वं मातृकाविकार इत्यपि सूचितम् ।

ननु 'सर्वव्यापी सदाशिवः' (शा. १. १५) इति वक्ष्यमाणत्वात् तस्य स्वत एव सर्वव्यापित्वे कुतः कैरिति कारणापेक्षा इति चेत्, सत्यम्। तस्य स्वत एव सर्वव्यापित्वं किन्तु अत्र शास्त्रे शब्दसृष्टेः मुख्यत्वद्योतनाय निरन्तरगलत्पञ्चाशदर्णै-रिति कारणतोक्तिः । किञ्च पूर्वमपि यत्किञ्चिच्छक्त्युपाधिविशिष्टत्वे वक्तव्ये या वाचामधीशमित्युक्तिः सा अत्र च वर्णानामर्थरूपव्यापकतोक्तिरपि । तत्र शब्दस्वरूप-मभिव्याप्य एव अर्थरूपं व्याप्नोतीति क्रमादित्युक्तिः । तेषां शब्दरूपव्यापकता सम्भवत्येव । अर्थरूपव्यापकता तु सर्वस्याप्यर्थस्य शब्दप्रकाश्यत्वंनियमात् ज्ञेया । तदुक्तं भगवता भर्तृहरिणा—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिदं ज्ञानं सर्वं शब्देन गृह्यते ॥ इति । (वा.)

अथवा येषां मते शब्दार्थयोरभेदस्तन्मतमालम्ब्योक्तम् । तदुक्तं तेनैव—

एकस्यैवात्मनो भेदः शब्दार्थावपृथक्स्थितौ । इति । (वा.)

अतएव मन्त्रदैवतयोरैक्यां मन्त्रशास्त्रे । अतएव पूर्वं सदाशिवमन्त्रोद्धारः । यद्वा शक्तिसम्भिन्नत्वात्तस्य शक्त्यंशत्वेन शब्दरूपव्यापकत्वं शिवांशत्वेन अर्थरूप-व्यापकत्वं ज्ञेयम् । तदुक्तं वायवीयसंहितायाम्—

शब्दजातमशेषन्तु धत्ते शङ्करवल्लभा ।
अर्थस्वरूपमखिलं धत्ते मुग्धेन्दुशेखरः ॥ इति ।

एतत्पक्षे तृतीया उपलक्षणत्वेन ज्ञेया । उपलक्षणत्वन्तु तदुत्पन्नत्वात्तेषाम् । शब्दसृष्टिप्राधान्यमेवोपबृंहयन्नाह—सुकृतिनो यदन्तर्गतं चैतन्यं शब्दब्रह्म इत्यूचिरे । सुकृतिनस्तत्त्वज्ञा इत्यर्थः । 'चैतन्यं सर्वभूतानां शब्दब्रह्मेति मे मतिः' (शा. १. १३) इति वक्ष्यमाणत्वात् । तस्य सर्वव्यापित्वात् तदंशस्यैव सर्वजन्तुचैतन्यरूपत्वात् शुद्धब्रह्मणः शब्दब्रह्मत्वं सम्भवत्येव । किञ्च यस्माद् बिन्दोः शब्दब्रह्मण उत्पत्ति-स्तस्मादेव बिन्दोः सदाशिवस्याप्युत्पत्तिरित्यपि सम्भवति । तत्र शब्दसृष्टौ शब्द-ब्रह्मेत्युक्तिः अर्थसृष्टौ सदाशिव इति परं विशेषः ।

भिद्यमानात् पराद्बिन्दोरव्यक्तात्मा रवोऽभवत् ।
शब्दब्रह्मेति तं प्राहुः सर्वागमविशारदाः ॥ (शा. १. ११, १२)
अथ बिन्द्वात्मनः शम्भोः कालबन्धोः कलात्मनः ।
अजायत जगत्साक्षी सर्वव्यापी सदाशिवः ॥ (शा. १. १५)

इति वक्ष्यमाणत्वात् ।

अथवा हेतु-हेतुमद्भावेन योजना कार्या । यतः सुकृतिनः यत् अन्तर्गतं चैतन्यं शब्दब्रह्म इत्यूचिरे अतो येन निरन्तरगलत्पञ्चाशदर्णैः जगत् व्याप्तमिति ।

तत् प्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां देहमध्यगम् ।
वर्णात्मनाऽऽविर्भवति गद्यपद्यादिभेदतः ॥ (शा. १. १४)

इति वक्ष्यमाणत्वात् ।

अन्ये त्वन्यथा योजयन्ति । यत् परमशिवस्वरूपं सुकृतिनो वेदान्तिनः तत् शब्देन ब्रह्म इत्यूचिरे । अयमर्थः—अस्माभिः परमशिव इत्युच्यते, तैस्तु ब्रह्म इत्युच्यत इति शब्दमात्रेण परं भेदः । वस्तुतस्तु नित्यानन्दादिस्वरूपत्वं तैरिवास्माभिरपि अङ्गीक्रियत एव । तत् कीदृक् वाचामधीशम् 'यस्य निःश्वसितं वेदाः' इत्यादिश्रुतेः वाचामधीशत्वं प्रसिद्धमेव । यतो वाचामधीशमतएव निरन्तरगलत्पञ्चाशदर्णैर्येन जगद्व्याप्तमिति यथासम्भवं तत्रापि योजनीयम् । यतो वेदस्य वर्णमयत्वात् ।

यद्वाऽत्र शास्त्रे शब्दसृष्टेरर्थसृष्टेरपि कुण्डलिन्या एवोत्पत्तेस्तस्या एव 'कुण्डली परदेवता' (शा. १. ५७) इति परदेवतात्वोक्तेस्तदनुस्मरणमेवोचितमिति महःशब्देन तेजोरूपा कुण्डलिनीत्युच्यते । 'आदित्येन्द्वग्नितेजोमद्यद्यत्तत्तन्मयी विभुः' इत्युक्तेः। सा कीदृशी नित्यानन्दवपुः । असावेवान्त्यपटले कुण्डलीस्वरूपं वक्ष्यति 'नित्यानन्दमयी गलत्परसुधावर्षैः' (शा. २५. ६९) इत्यादिना । यया कुण्डल्या शब्दार्थरूपं परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी-रूपत्वेन शब्दजनकत्वात् कार्ये कारणोपचारात् शब्दरूपं विषयत्वात् अर्थरूपस्वभावेन चरम् पृथिव्यंशाधिक्यात् कार्ये कारणोपचारात् अचरम्, एवम्भूतं गच्छतीति जगद् विनश्वरं शरीरं व्याप्तम् ।

यद्वा, यया शब्दार्थरूपं चराचरात्मकं जगद् विश्वं व्याप्तम् । 'सर्वगा विश्वरूपिणी, दिक्कालाद्यनवच्छिन्ना' (शा.१. ५३) इत्यग्रत उक्तेः। कैः निरन्तरगलत्पञ्चाशदर्णैः 'पञ्चाशद्वारगुणिता पञ्चाशद्वर्णमालिकां सूते' (शा. १. १११) इति वक्ष्यमाणत्वात् । सुकृतिनः पुण्यात्मानस्तत्त्वज्ञा इत्यर्थः । यां शब्दब्रह्ममयीमाहुः 'सा प्रसूते कुण्डलिनी शब्दब्रह्ममयी विभुः' (शा. १. १०८) इति वक्ष्यमाणत्वात्। चैतन्यं चिच्छक्तिस्वरूपा । अयमेव वक्ष्यति 'ततश्चैतन्यरूपा सा' (शा. १. ५१) इति । अन्तर्गतं सुषुम्नान्तर्गतमित्यर्थः। 'या मूलाधारदण्डान्तरविवरगता' इत्युक्तेः। शशाङ्कसदनं सहस्रारगमने चन्द्रमण्डलगतत्वात् । वाचामधीशं सर्वशब्दोत्पादकत्वात् सर्वमन्त्रोत्पादकत्वाच्च । तथायमेव वक्ष्यति—'विश्वात्मना प्रबुद्धा सा सूते मन्त्रमयं जगत्' (शा. १. ५७) इति । यद्वा, वाचामधीशं वागृदेवतारूपेत्यर्थः । 'शक्तिः कुण्डलिनीति या निगदिता आईमसंज्ञा' इत्युक्तेः । यद्वा ग्रन्थारम्भे प्रकृते सरस्वती देवता तस्या एव स्मरणाद् ग्रन्थरूपा स्फूर्त्तिर्भवित्री । किञ्चात्र ग्रन्थे प्रथमतः सरस्वतीमन्त्राणामेव वक्ष्यमाणत्वात् । तेन सरस्वतीदेवतानुस्मरणमेवोचितमिति । तद्वाचामधीशं महः सारस्वतं तेजः वोऽव्यात् । अथ वाचामधीशमित्यनेन केवलं वाग्भवस्य सरस्वतीमन्त्रत्वमुक्तम् ।

एतज्जपन्नरवरो भुवि वाग्भवाख्यं ।
वाचां सुधारसमुचां लभते स सिद्धिम् ॥

इत्युक्तेः । तत् कीदृक् शशाङ्कसदनम् अनेन चन्द्रकलावतंसत्वेन ध्यानमुक्तम् ।

यदाहुः— धृतशशधरखण्डोल्लासिकोटीरचूडा ।
भवतु सपदि वाचामीश्वरी भूतये वः ॥ इति ।

पुनः कीदृक् नित्यं सर्वदा आनन्दयतीत्यानन्दं आनन्दजनकं वपुर्यस्य तत् । साधकानां सुधारससहोदरसरससूक्तिसंस्फुरणादाह्लादजनकमित्यर्थः । तथा च सरस्वतीस्तवे आचार्याः—

क्षौमाम्बरपरीधाने मुक्तामणिविभूषणे, मुदावासे । इति ।

पुनः कीदृक् चैतन्यमन्तर्गतम् अनेन सूक्ष्मा परपर्याया पराख्या उक्ता । यदाहुः—

स्वरूपज्योतिरेवाहुः सूक्ष्मा वागनपायिनी । इति ।

अन्यत्रापि—सूक्ष्मा कुण्डलिनी मध्ये ज्योतिर्मात्रा परा मता । इति ।

येन महसा निरन्तरगलत्पञ्चाशदर्णैश्चराचरात्मकं शब्दार्थरूपं जगद् व्याप्तम् । अत्र पञ्चाशदर्णैरित्यनेन वर्णरूपा पश्यन्ती उक्ता । शब्दार्थरूपमित्यनेन पदरूपा मध्यमा उक्ता । यत् सारस्वतं महः सुकृतिनः शब्दब्रह्मेत्यूचिरे । अत्र शब्दब्रह्मशब्देन वेदा उच्यन्ते । तेन वेदात्मकमित्यर्थः । तदुक्तं वार्त्तिककारपादैर्ग्रहाधिकरणे—

शब्दब्रह्मेति यद् वेदशास्त्रं वेदाख्यमुच्यते । इति ।

अनेन वाक्यरूपा वैखरी उक्ता । यदाहुः—

ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यमित्यास्पदचतुष्टयम् ।
यस्याः सूक्ष्मादिभेदेन वागधीशामुपास्महे ॥ इति ।

अन्यत्रापि— आदिक्षान्तविलाससलालसतया तासां तुरीया तु या
क्रोडीकृत्य जगत्त्रयं विजयते वेदादिविद्यामयी । इति ।

अपरे त्वत्र ग्रन्थकृता भैरवीमन्त्रोद्धारः कृत इति वदन्ति । तद् यथा । तत् त्रैपुरं महो वोऽव्यात् । कीदृक् अगलत् अविनश्वरम् । पुनः कीदृक् नित्यानन्दवपुः नित्यः पुरुषः तेन हकारः आनन्दमयीत्वात् आनन्दोत्पादकत्वात् वा आनन्दः शक्तिः तेन सः एतौ वपुः शरीरं यस्य । एतेनैतयोः बीजत्रयेऽपि सत्त्वमुक्तम्भवति । अन्तः मध्यं मध्यबीजमित्यर्थः । तत् कीदृक् क्रमात् कश्च रश्च मश्च करमाः तान् अत्ति लक्षणया गृहणातीति क्रमात् । तेन ककारः तदधो लकारः । अत्र रेफेण लकारस्य ग्रहणं व्याकरणपरिभाषया । उक्तञ्च 'रेण लोऽपीष्यते ग्रहणं तेन' इति । संहितायामपि— 'अतएव महेशानि र-लयोः समता भवेत् ।' इति । तदधो मकारः पुरुषः तेन हः। पुनः कीदृक् अन्तर्गतं अन्ते रो रेफः गतः सङ्गतो यत्र तत् । पुनः कीदृक् व्याप्तं विः चतुःसंख्या चतुर्थस्वरः तेनाप्तं गृहीतम् । अत्र ग्रन्थकृतो वाररुचः सङ्केतोऽभिप्रेतः । स द्वितीयपटले स्फुटीभविष्यति । 'नञि च शून्यं ज्ञेयम्' इति वाररुचः सङ्केतः । तेन शून्यं तस्य बिन्दुरूपत्वात् बिन्दुरुद्धृतः । एतेन षट्कूटं मध्यबीजमुद्धृतम् । अतएव वक्ष्यते 'षट्कूटं त्रिपुरामन्त्रम्' इति ॥ एवं मध्यमं बीजमुक्त्वा प्रथमबीजे हकारसकारयोः पूर्वमेवोक्तत्वात् एवम् ऐकारोऽपि योजनीयः । कीदृक् प्रथमं शशाङ्कसदनम् एतेन बिन्दुस्थम् । एवं प्रथमबीजमुद्धृतम् । अन्त्यं कीदृक् शब्दार्थरूपम् अत्र शब्दशब्देन शब्दादयो गृह्यन्ते, अर्थशब्दो विषयवाची । तेन शब्दादयो विषयास्ते च दशेति दशसंख्या तया औकारः तद्रूपं यत्र तत्तथा । अन्यच्च 'अङ्कानां वामतो गतिः' इत्युक्तेः वाररुचेन सङ्केतेन तकारस्य षट्संख्या । 'पिण्डान्त्यैरक्षरैरङ्काः' इत्युक्तेः न्यकारान्तयकारस्य एकाङ्कः । एवं षोडश तेन विसर्गः । एवं तृतीय-बीजमुद्धृतम् । तदुक्तं सिद्धेश्वरीमते—

हंसास्त्रयो दन्त्यसकारयुक्ता वस्वब्धिपंक्तिस्वरसंविभिन्नाः ।
अन्त्यो विसर्गी इतरौ सबिन्दू मध्यो विरिञ्चीन्द्रहराग्नियुक्तः ॥ इति ।

अस्यायमर्थः—वसु अष्टसंख्या । अब्धिश्चतुःसंख्या । पंक्तिर्दशसंख्या । तथा च 'पंक्तिर्दशाक्षरच्छन्दो दशसंख्यावली अपि' इत्यमरः । हंसा हकारास्त्रयः । कीदृशाः दन्त्यसकारयुक्ताः । तथा क्रमाद् वस्वब्धिपंक्तिस्वरैः क्लीवान् विना अष्टम ऐ चतुर्थ ई दशम औ तैर्युक्ताः । ऋकारादि स्वरचतुष्टयं नपुंसकं 'स्वराणां मध्यकं यत्तु तच्चतुष्कं नपुंसकम्' (शा. २. ६) इत्युक्तत्वात् । नपुंसकस्वरपरित्यागेन बिन्दु-विसर्गसहितानां स्वराणामष्टम ऐकारः दशम औकार इति बोध्यम् । विशेषमाह तृतीयो विसर्गयुक्तः, इतरौ प्रथमद्वितीयौ सानुस्वरौ । मध्यः पुनः विरिञ्च्यादियुतः विरिञ्चिः कः इन्द्रो लः, हरो हः, अग्नी रेफः एतैर्युतः । इदं षट्कूटं मध्यबीजम् । इयं त्रिबीजा भैरवी ।

अथ च ऐचेति स्वतन्त्रतया निर्देशात् व्याप्तमित्याप्तशब्दग्रहणात् शब्दार्थ-रूपमिति रूपशब्दोपादानात् केवलास्त्रयः स्वरा एवास्य मन्त्रस्य चेतनीमन्त्र इति सूचितम् । यदाहुः—

शिवाष्टमं केवलमादिबीजं भगस्य पूर्वाष्टमबीजमन्यत् ।
परं शिरोऽन्तं गदिता त्रिवर्गा सङ्केतविद्या गुरुवक्त्रगम्या ॥ इति ।

शिव उकारः, तस्याष्टम ऐकारः । भगम् एकारः, तस्य पूर्वाष्टमश्चतुर्थः स्वरः। शिरो बिन्दुः सोऽन्ते यस्य शिरोऽन्त औकारः ।

उक्तबीजानां क्रमेण वाग्भव-कामराज-शाक्तत्वमाह । वाचामधीशमित्यने-नाद्यस्य वाग्भवत्वमुक्तम् । चराचरात्मकं मैथुनसृष्टजगतः कामोत्पन्नत्वात् मध्यम-बीजस्य कामराजतोक्ता । सुकृतिनः यदन्त्यबीजं शब्दब्रह्मेत्यूचिरे इत्यनेनान्त्यस्य शाक्तत्वमुक्तम् । 'त्रिधामजननी देवी शब्दब्रह्मस्वरूपिणी' (शा. १. ५६) इति वक्ष्य-माणत्वात् । यदुक्तं सिद्धेश्वरीमते—

वाग्भवं प्रथमं बीजं कामराजं द्वितीयकम् ।
शक्तिबीजं तृतीयन्तु चतुर्वर्गफलप्रदम् ॥ इति ।

अथ च—'ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः' इत्युक्तेः शब्दात्मकं ब्रह्म शब्दब्रह्मेति प्रणवम् । चराचरात्मकं जगद् येनेति मैथुनसृष्टेः कामादुत्पत्तेः कामबीजम् । वाचा नकारः । बृहत्तत्त्वन्यासे नकारेण सह शब्दतत्त्वन्यासात् । मश्च[१]। धीः शक्तिरूपः । ईशः प्रभुः अनेन विसर्गः । 'मायाशक्त्यभिधः सर्गः सर्वभूतात्मकः प्रभुः' इत्युक्तेः । एवं नमः शब्दः । एवमस्य मन्त्रस्य ह्लादिनी मन्त्र उक्तः । यदाहुः—

कमलं परिलुप्तमध्यमान्त्यस्वरमीशादियुतं सबिन्दुनादम् ।
निगमादिनमोऽन्तरे विराजद्भुवि देवीहृदयं प्रदिष्टमेतत् ॥ इति ।

त्रयाणां बीजानां सामान्येन विशेषणमाह—अनिशमिति । न विद्यते निशा हकारो यत्र आदाविति शेषः । केशवादिन्यासे निशा हकारः शक्तिः । तेनादौ हका-राभावे सकारस्यादित्वमुक्तम् । तेनादौ सकारः पश्चात् हकारः । यद्वा, निरित्यनेनैव

---

१ मस्वरूपं ग्राह्यमित्यर्थः ।

आद्यबीजस्यापि बिन्दोरुद्धृतत्वात् अनिशं हकाररहितं शशाङ्कसदनम् शशाङ्कः सकारः सदने स्थाने यस्य। अनेन हकारस्य स्थाने सकारः तदधो हस्त्वर्थायातः। उक्तञ्च—

भैरवीयमुदिताऽकुलपूर्वा देशिकैर्यदि भवेत् कुलपूर्वा।
सैव शीघ्रफलदा भुवि विद्येत्युच्यते पशुजनेष्वतिगोप्या॥ इति।

अनेनास्य मन्त्रत्वं विद्यात्वमप्युक्तम्। यत् पिङ्गलामते—

शक्त्याद्या तु भवेद् विद्या शिवाद्यो मन्त्र उच्यते।
दीक्षाभिषेकपूजा तु प्राणिनां भुक्तिमुक्तिदा॥ इति।

अन्यदपि बीजत्रयसामान्यविशेषणमाह पञ्चाशदर्णैरुपलक्षितमित्यर्थः। अनेन सर्वस्य मन्त्रस्य मातृकान्तरितत्वेन जप उक्तः। यदाहुः—

मन्त्रराजममुं समस्तजगद्विमोहनकारणं।
मातृकान्तरितं जपेदनुलोमतोऽपि विलोमतः॥ इति।

अथवा अनेन विशेषणेन च हहसैं सहसैं इत्यादि 'हसकलह्रीं सहकलह्रीं' इत्यादि अहसौः आहसौः इत्याद्यन्तर्मातृकान्यासोऽपि सूचितः। यदाहुः—

क्रमेण षट्चक्रवर्णान् तद्दलेषु प्रविन्यसेत्।
चक्रद्वयक्रमेणैव देवीरुद्धांश्च मन्त्रवित्॥ इति।

अन्यत्रापि मूलाधारकथनप्रस्तावे

चतुर्ष्वब्जपत्रेषु देवीनिरुद्धान् जलेन्द्राग्निवायून् न्यसेत् केवलान् वा।
सबिन्दूनमन्दप्रभावान् प्रसिद्धान्। इति।

अथवा पञ्चाशच्छब्देन सामीप्यसम्बन्धेन लक्षणया एकपञ्चाशद्ग्रहणे तैरूपलक्षितमित्यनेन बीजत्रयस्यापि दीपिन्युद्धारः सूचितः। तत्र प्रथमबीजदीपिनी तु व्यञ्जनस्वरैः पृथक्कृतैः सप्तदशवर्णात्मिका। द्वितीयबीजदीपिनी तु पूर्ववदेव पञ्चविंशत्यक्षरा। तृतीयबीजदीपिनी पूर्ववन्नवाक्षरा। एवमेकपञ्चाशद्वर्णात्मिका। तत्र द्वितीयतृतीययोः क्षकारस्य सत्त्वात् तस्य चैकमेव व्यञ्जनं गृहीतम्। मातृकायां पृथगुपदेशात्। यद्ययं व्यञ्जनद्वयात्मैव स्यात् तदा क्षवदस्यापि पृथगुपदेशो न स्यात्। तयोरेव बिन्दुद्वयमस्ति तदपि न पृथग्गणितम्। तादृशस्यैव पञ्चदशस्वरत्वात्। प्रणवेऽपि बिन्दुः प्रणवान्तर्गत एवेति न पृथग्गणित इति सर्वमनवद्यम्। अयञ्च दीपिन्युद्धारो ग्रन्थकृताऽत्र सूचितः। मया तु भैरवीपटले (१२) स्फुटीकरिष्यते।

अथवा बालामन्त्रोद्धारो ग्रस्थकृतोऽभिप्रेत इति। यतो भैरव्यादीनामपि स एव मूलभूतः। यदाहुः बालामुक्त्वा—

विद्यामूलोत्पत्तिरेषा मयोक्ता ज्ञातव्येयं देशिकैः सिद्धिकामैः। इति।

तद्यथा—वाचामधीशमिति वाग्भवम्। अन्तर्मध्यं मध्यस्थम्। क्रमात् कश्च रश्च मा लक्ष्मीः तेन ईकारः। रेण पूर्ववल्लस्य ग्रहणम्। निरिति बिन्दुः। एवं मध्यमं बीजम्, शशाङ्कः सकारः, सत् ओंकारः। अकारो नकारश्च शून्यद्वयं तेन विसर्गः। 'नेत्रे च शून्यं ज्ञेयं तथा स्वरे केवले कथिते' इत्युक्तेः। सच्छब्देन कथमोंकारग्रहणमिति चेदुच्यते। ॐकारस्य तावत् 'ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मण-

स्त्रिविधः स्मृतः' इत्युभयोः ब्रह्मवाचकत्वात् 'सदोंकारो निगद्यते' इत्युक्तेश्च सच्छब्द-वाचकता, सोऽत्राकृतपररूप एव केवलं विवक्षितः । स च सामीप्यसम्बन्धेन अग्रिमस्य लक्षकः।

यद्वा 'तस्यैवोकारयोगेन स्यादौकाराक्षरं तथा' इति आचार्योक्तेः ओकार एव स्वजन्यस्य औकारस्य लक्षकः । यद्वा शशो रूपमस्मिन् इति मत्वर्थीयोऽच् । तेन शशश्चन्द्रः, तेन सः, शशन् गमनशीलः, शशो हंसः, तेन वा सः । अङ्कशब्देन पिण्डन्यायात् अकारः । यथा 'स वामदृक् पवनगुणान्वितः करः' इत्यत्र करशब्देन ककारः । यथा 'हरिहयषष्ठवत्' वनम् इत्यत्र वनशब्देन वकारः । सच्छब्देन ओकार एव । तस्य पूर्वेन सह सन्धौ औकारः । अनाभ्यां विसर्गः । ननु प्रणवस्य सबिन्दु-कत्वात् बालान्त्यबीजे ग्रन्थकारो विसर्गमात्रं वक्ष्यति । अत्र च बिन्दुविसर्गावुद्धृताविति विरोध इति चेन्न । बालाया मन्त्रभेदेषु क्वचिद् बिन्दुः क्वचिद् विसर्गः क्वचिद्बिन्दु-विसर्गावप्युद्धृतौ । तदपि सूचयितुमत्रेदृश उद्धारः कृतः । यदाहुः सनत्कुमारे—

अष्टमस्य तृतीयन्तु चतुर्दशसमन्वितम् ।
दण्डकुण्डलमेतद्धि सारस्वतमुदाहृतम् ॥ इति ।

अन्यत्र तु—दन्तान्तेन युतं तु दण्डिसकलं सम्मोहनाख्यं कुलम् । इति ।

अन्यत् पूर्ववदिति संक्षेपः । एतच्च व्याख्यानद्वयं गुरुवचननियन्त्रितेन मया कृतमिति क्षन्तव्यं देशिकेन्द्रैः ॥ १ ॥

* सुधा *

साम्बं सदाशिवं नत्वा भानुं विष्णुं गणेश्वरम् ।
सर्वश्रेयस्करीं नित्यां मन्त्ररूपां सरस्वतीम् ॥ १ ॥
सर्वलोकस्य जननीं सर्वाभीष्टफलप्रदाम् ।
शब्दब्रह्मात्मिकां देवीं नत्वा कुण्डलिनीं पराम् ॥ २ ॥
मालवीयकुलोत्पन्नः कुबेरविदुषः सुधीः ।
पुत्रः सुधाकरो नाम्ना पदार्थानां प्रकाशिकाम् ॥ ३ ॥
पाठकानां हितार्थाय तन्त्रस्य प्रतिपत्तये ।
शारदातिलकस्यास्य 'सुधां' टीकां तनोम्यहम् ॥ ४ ॥

जिनका शरीर नित्य आनन्द स्वरूप है, निरन्तर प्रवाहित हो रहे पचास वर्णों से जिसके द्वारा शब्दार्थ रूप चराचरात्मक यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, तत्त्वज्ञ लोग जिसे शब्दब्रह्ममय कहते हैं, जो सुषुम्ना के अन्तर्गत चैतन्य रूप से स्थित रहकर सहस्रार पद्म स्थित चन्द्रमण्डल तक गमन करते हैं, जो सभी वर्णों के उत्पादक तथा सम्पूर्ण मन्त्रों के जनक होने के कारण वाणी के अधीश्वर हैं—ऐसे तेज:स्वरूप वाग्देवता आप सभी शिष्यों की रक्षा करें ॥ १ ॥

विमर्श—आरम्भ में ग्रन्थकार क्रियमाण ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिये तथा शिष्य प्रशिष्यों की शिक्षा के लिये शिष्टाचारानुमितकर्तव्यताक मङ्गल करते

हैं । यत: इस ग्रन्थ में सर्वप्रथम सरस्वती के मन्त्रों का प्रतिपादन किया गया है, अत: ग्रन्थारम्भ में सरस्वती का स्मरण करना उचित है । इसलिए ग्रन्थकार सर्वप्रथम वाग्देवता रूप तेज का स्मरण करते है । श्लोक का अन्य अर्थ इस प्रकार भी है—

(१) शिवशक्त्यात्मक जिस तेज का आनन्दमय शरीर है, चन्द्रकला को मस्तक में धारण करने से जो शशाङ्कसदन हैं और जो (अनिशम् अश्च अश्च औ तेन सहिता निशा अर्थात् हकार उस पर शशाङ्कसदन अर्थात् अनुस्वार देने से) हौँ इस मन्त्र के देवता हैं और वाणी रूप सृष्टि का उपबृंहण करने के कारण क्रमश: व्यक्त हो रहे अपने पचास वर्णों से सारे शब्दार्थ रूप चराचर जगत् में व्याप्त हैं, पुण्यात्मा लोग जिसके अन्तर्गत चैतन्य को शब्दब्रह्म कहते हैं इस प्रकार का कोई अभूतपूर्व तेज आप सब शिष्यों की रक्षा करे ।

अथवा शब्दसृष्टि एवं अर्थसृष्टि दोनों ही प्रकार की सृष्टि कुण्डलिनी से होती है इसलिए ग्रन्थकार कुण्डलिनी रूप महातेज का स्मरण करते हैं ।

(२) जिस कुण्डलिनी रूप तेज का नित्य आनन्दस्वरूप शरीर है, जो परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूप वाणी को उत्पन्न करने से वाणी का अधीश्वर है, जो सुषुम्नान्तर्गत चैतन्य रूप में चन्द्रमण्डल तक गमन करता है और पचास बार में पचास बर्णो को उत्पन्न कर उसी से इस शरीर में व्याप्त है, वह कुण्डलिनी रूप तेज आप सभी शिष्यों की रक्षा करें ॥ १ ॥

शक्तिस्तुतिः

अन्तःस्मितोल्लसितमिन्दुकलावतंस-
मिन्दीवरोदरसहोदरनेत्रशोभि ।
हेतुस्त्रिलोकविभवस्य नवेन्दुमौले-
रन्तःपुरं दिशतु मङ्गलमादराद् वः ॥ २ ॥

यदुपहितस्य शिवस्य सृष्टिकर्तृत्वं तामुपस्तौति—अन्तरिति । नवेन्दुमौलेरन्तःपुरं वो मङ्गलमादराद् दिशत्विति योजना । अत्रापि वो मङ्गलं दिशतु इत्यनेन शिष्यकृपा सूचिता । यद्यपि तत्त्वतः शैवदर्शने—

न शिवेन विना शक्तिर्न शक्तिरहितः शिवः ।
न तत्त्वतस्तयोर्भेदश्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥ इति

शक्ति-शिवयोरैक्यमेव तथापि द्वितीयेन विना सृष्ट्यनुपपत्तेः लीलागृहीतं रूपं स्त्रीस्वरूपं वर्ण्यते । एतेन मैथुनसृष्टिः सूचिता । तस्या जगत्कारणतामाह— त्रिलोकविभवस्य हेतुरिति । चराचरात्मकत्वेन विस्तारो विभवः । कीदृशं अन्तः-स्मितोल्लसितं कल्पितमिदं जगद् विलसतीति हास्यकारणम् । ईश्वरे साभिलाषतया वा हासः । एतेनास्या ईश्वरक्षोभकता सूचिता । किञ्च 'यत्रानुकूल्यं दम्पत्योस्त्रि-वर्गस्तत्र वर्द्धते'

इति स्मृतेः दम्पत्यानुकूल्यतो विचित्रजगन्निर्माणं सूचितम् । पुनः कीदृक् इन्दुकलावतंसम् । अत्रावतंसशब्देन मुकुटाभरणमुच्यते । तथा नामलिङ्गानुशासने—

'पुंस्युत्तंसावतंसौ द्वौ कर्णपूरेऽपि शेखरे' इति ।

पुनः कीदृक् । इन्दीवरोदरसहोदरनेत्रशोभि । एतेन सर्वातिशायि सौन्दर्यं वर्णितम् । यद्वा नवेन्दुमौलेरित्यनेन भुवनेशीमन्त्र उक्तः । विशेषणैस्तदुद्धारः । त्रिलोकविभवस्य हेतुः शिवस्तेन हकारः । अन्तः स्मितं प्रकाशो यस्यासावन्तः-स्मितोऽग्निः रेफः तेनोल्लसितं युतम् । इन्दुकलावतंसमिति बिन्दुः । इन्दीवरोदर-सहोदरे नेत्रे यस्याः सा लक्ष्मीः तेन दीर्घ ईकारः । यद्वा इन्दीवरोदरस्य सहोदरं सुहृत् यन्नेत्रं चन्द्ररूपं तच्च वाममिति दीर्घ ईकारः तेन शोभि युक्तम् । एवं मिलित्वा भुवनेशीबीजम् ॥ २ ॥

अब ग्रन्थकार **सदाशिव एवं शक्ति की** स्तुति करते हैं—

क्योंकि शिव शक्ति से संयुक्त होने पर ही सृष्टि करने में समर्थ होते हैं । यद्यपि शिव शक्ति की एकात्मकता है तथापि सृष्टि में शक्ति की आवश्यकता होती है । उनके बिना सृष्टि संभव नहीं है। अतः शिव ही लीला से शक्ति का रूप धारण करते हैं ।

अपने अन्तःस्मित मात्र से इस समस्त विश्व की रचना कर देने वाले, इन्दुकला को मुकुटाभरण में धारण करने वाले, कमल के समान विशाल नेत्रों से सुशोभित तथा त्रैलोक्य रूप अनन्त ऐश्वर्य के हेतुभूत भगवान् सदाशिव का अन्तःपुर आदरपूर्वक आप सभी शिष्यों को मङ्गल प्रदान करे ॥ २ ॥

विमर्श—प्रस्तुत श्लोक में श्लेष से भुवनेश्वरी मन्त्र का भी निर्देश है—यथा त्रिलोक विभव 'हकार', अन्तःस्मित अग्नि 'रकार', इन्दीवरसहोदर लक्ष्मी 'दीर्घ ईकार', चन्द्रकलावतंस 'अनुस्वार'—इस प्रकार सब मिलाकर 'ह्रीँ' यह भुवनेश्वरी मन्त्र भी निर्दिष्ट है ॥ २ ॥

गुरुस्तुतिः

संसारसिन्धोस्तरणैकहेतून्
दधे गुरून् मूर्ध्नि शिवस्वरूपान् ।
रजांसि येषां पदपङ्कजानां
तीर्थाभिषेकश्रियमावहन्ति ॥ ३ ॥

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

इत्यागमात् परदेवताभक्तिवद् गुरुभक्तेरपि विद्याप्राप्तावन्तरङ्गसाधनत्वावगमात् परदेवतायाः स्मरणानन्तरं गुरुनमस्कारमाह—संसारेति । शिवस्वभावान् गुरून् मूर्ध्नि दधे इत्यन्वयः । शिवस्वभावान् शिवस्वरूपानित्यर्थः । एतेन गुरुध्यानं तत्तद्देवता-रूपतया कर्त्तव्यमित्युक्तं भवति । तदुक्तम्—

गुरुं न मर्त्यं बुध्येत यदि बुध्येत तस्य तु ।
कदापि च भवेत् सिद्धिर्न मन्त्रैर्देवपूजनैः ॥ इति ।

अन्यत्रापि— तस्मादेवं विदित्वा तु गुरुं देवञ्च नान्यथा ।
त्रिकालप्रणिपातेन ध्यानयोगेन संयजेत् ॥ इति ।

अन्यत्रापि— ललाटे नयनं चान्द्रीं कलामपि च दोर्द्वयम् ।
अन्तर्निधाय वक्ष्यामि गुरुर्मर्त्ये महीयते ॥ इति ।
मूर्ध्नि दधे इत्यनेन गुरुध्यानं मूर्द्धनि कर्त्तव्यमित्युक्तं भवति ।

तदुक्तम्— प्रातः शिरसि शुक्लेऽब्जे द्विनेत्रं द्विभुजं गुरुम् ।
प्रसन्नवदनं शान्तं स्मरेत्तन्नामपूर्वकम् ॥ इति ।

अन्यत्रापि— श्रीमद्गुरुपदाम्भोजं मूर्द्धन्येव सदास्थितम् ।
यः स्मरेत् सात्त्विकैर्भावैः सोऽचिरात् खेचरो भवेत् ॥ इति ।

गुरूनिति बहुवचनं पूजार्थं गुरु-परमगुरु-परापरगुरु-परमेष्ठिगुर्वपेक्षया वा । तथा च ग्रन्थकृद्गुरुपङ्क्तिः । 'श्रीकण्ठं वसुमन्तं श्रीसोमानन्दमुत्पलाचार्यान्' इति । 'लक्ष्मणमभिनवगुप्तं वन्दे श्रीक्षेमराजञ्च' इति तच्छिष्याः । कीदृशान् संसारसिन्धोस्तरणैकहेतून् । अनेन विना गुरूपदेशं संसारतरणमशक्यमित्यप्युक्तम् । तथाच श्रुतिः—

'आचार्यवान् पुरुषो वेद' 'स गुरुमेवाभिगच्छेत्' इति ।

आगमश्च अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः ॥ इति ।

गुरुप्रणाममाहात्म्यमाह रजांसीति । एतेन पादोपसंग्रहणपूर्वकं गुरुनमस्कारः कर्त्तव्य इत्युक्तं भवति ॥ ३ ॥

अब 'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ' इस आगम वचन के अनुसार गुरुभक्ति भी विद्या प्राप्ति में अन्तरङ्ग साधन है । इसलिए परदेवता के स्मरण के अनन्तर गुरु को ग्रन्थकार नमस्कार करते हैं—

संसार रूपी समुद्र के तारण में एकमात्र कारण शिवस्वरूप को मैं अपने शिर पर धारण करता हूँ, जिनके चरण कमलों की धूलि तीर्थाभिषेक का फल प्रदान करती है ॥ ३ ॥

विमर्श—श्लोक में 'गुरुन्' इस बहुवचन का प्रयोग है जो आदरार्थ है अथवा 'गुरु, परमगुरु, परापरगुरु और परमेष्ठि गुरु की अपेक्षा से बहुवचन का प्रयोग है—'येषां रजांसि' इस पद से यह व्यक्त किया गया है कि पादोपसंग्रहणपूर्वक गुरु को नमस्कार करना चाहिए ।

ग्रन्थ-प्रयोजनम्

सारं वक्ष्यामि तन्त्राणां शारदातिलकं शुभम् ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राप्तेः प्रथमकारणम् ॥ ४ ॥

ग्रन्थ प्रतिपाद्यविषयाः

शब्दार्थसृष्टिर्मुनिभिश्छन्दोभिर्दैवतैः सह ।
विधिश्च यन्त्रमन्त्राणां तन्त्रेऽस्मिन्नभिधीयते ॥ ५ ॥

सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्त्तते ।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥

इत्युक्तेः शिष्यबुद्ध्यनुकूलनार्थं ग्रन्थमाहात्म्यं प्रकाशयन् श्रोतृप्रवृत्तिनिमित्त-भूतान् विषय-प्रयोजन-सम्बन्धाधिकारिणो दर्शयति सारमित्यादिश्लोकद्वयेन । तन्त्राणां सारं श्रेष्ठं संग्रहरूपञ्च इत्यनेनास्योपादेयताऽतिसंक्षिप्तता चोक्ता । तत्र तन्त्राणामिति वैष्णव-शैव-शाक्त-गाणपत्य-सौराणां यतः सारम् अतएव शुभम् । शब्दसंक्षेपेऽप्याकांक्षित सकलार्थप्रतिपादकत्वमेव शुभत्वम् । धर्मार्थकामेत्यादि वक्ष्यति । तदुपयिको नामनिर्देशः शारदातिलकमिति । शीर्यत इति शारं स्थूलं कर्मफलं तद्ददातीति शारदा। तत्तत्कारणत्वेन ब्रह्मविद्याधिरूढा सती द्यति खण्डयतीति वा शारदा चिच्छक्तिः । यद्वा शरः स्वतन्त्रं तस्य भावः शारं स्वातन्त्र्यां तद्ददातीति अनाद्यविद्यां परिछेद्यजीवभावनिरासेन परमैश्वर्यप्रदायिका । तदुक्तं गौतमेन तन्त्रव्याकरणे—

शरः स्वतन्त्रं हृदयं स्फुरत्ता परमेशिता ।
शारश्चेत्युदिताः शब्दाः पर्यायाः स्वार्थवाचकाः॥ इति ।

तस्यास्तिलको भूषणम् । अनेनोत्कृष्टता दर्शिता । तत्रापि भूषणान्तरं न भवति किन्तु तिलकरूपः । तेन यथा मुखे वर्त्तमानस्तिलकाः सर्वतः प्रथमं दृश्यो भवति तद्वदयमपीत्यभिप्रायः । प्रथमं कारणं मुख्यकारणम् । यथा चास्य मुख्यत्वं तथा ग्रन्थसङ्गतिकथनप्रस्तावेऽस्माभिः पूर्वमेव प्रपञ्चितम् । शब्दार्थसृष्ट्यादि विषयः । चतुर्वर्गः फलम् । अनयोः प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभावः सम्बन्धः । तदर्थी चाधिकारी । अस्य शास्त्रस्य च व्युत्पाद्य-व्युत्पादकभावः सम्बन्धः । शास्त्रविषयस्य फलस्य च साध्यसाधनभावः सम्बन्धः । इत्याद्यन्योऽपि यथायथमूहनीयः । सहेति त्रिभिः सम्बध्यते । मुनिभिः तपोयोगबलेन मन्त्रप्रथमज्ञातृभिः प्रथमाराधकैः ।

तदुक्तं गौतमेन— महेश्वरमुखाज्ज्ञात्वा गुरुर्यस्तपसा मनुम् ।
संसाधयति शुद्धात्मा पूर्वं च ऋषिरीरितः ॥ इति ।

तथाऽन्यत्र— येन यदृषिणा दृष्टं सिद्धिः प्राप्ता च येन वै ।
मन्त्रेण तस्य तत् प्रोक्तमृषेर्भावस्तदार्षकम् ॥ इति ।

छन्दः शब्दव्युत्पत्तिरुक्ताऽन्यत्र—

छादनाच्छन्द उद्दिष्टं वाससी इव चाकृतेः ।
आत्मनाच्छादितो देवैर्मृत्योर्भीतैस्तु वै पुरा ।
आदित्यैर्वसुभी रुद्रैस्तेन च्छन्दांसि तानि वै ॥ इति ।

तथाऽन्यत्रापि— मृत्युभीतैः पुरा देवैरात्मनश्छादनाय च ।
छन्दांसि संस्मृतानीह छादितास्तैस्ततोऽमराः ।
छादनाच्छन्द उद्दिष्टं सर्वं छन्दोभिरावृतम् ॥ इति ।

तत्तु गायत्र्यादि प्रसिद्धम् । दैवतं तत्तन्मन्त्रोद्दिष्टम् । यदाहुः—

यस्य यस्य च मन्त्रस्य उद्दिष्टा या तु देवता ।
तदाकारं भवेत्तस्य देवत्वं देवतोच्यते ॥ इति ।

दैवतैरिति विनियोगस्याप्युपलक्षणम् ।

तत्स्वरूपमुक्तमन्यत्र—

पुराकल्पे समुत्पन्ना मन्त्राः कर्मार्थमेव च ।
अनेन चेदं कर्त्तव्यं विनियोगः स उच्यते ॥ इति ।

अन्यत्रापि— धर्मार्थकाममोक्षेषु शास्त्रमार्गेण योजनम् ।
सिद्धमन्त्रस्य सम्प्रोक्तो विनियोगो विचक्षणैः ॥ इति ।

तज्ज्ञानाभावे दोष उक्तोऽन्यत्र—

दौर्बल्यं याति तन्मन्त्रो विनियोगमजानतः ॥ इति ।

छन्द-ऋषि-देवताज्ञानं मन्त्रसाफल्यार्थमवश्यमपेक्षितम् ।

तदुक्तं छन्दोगानामार्षेयब्राह्मणे—

यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्त्तं वा पद्यति प्र वा मीयते पापीयान् भवति । यातयामान्यस्य छन्दांसि भवन्ति । अथ यो मन्त्रे मन्त्रे वेद सर्वमायुरेति श्रेयान् भवति अयातयामान्यस्य छन्दांसि भवन्ति । तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्यादृषीणां संस्थानो भवति संस्थानो भवति ब्रह्मणः स्वर्गे लोके महीयते स्मरन्न जायते पुनरिति ।

कात्यायनोऽपि—एतान्यविदित्वा योऽधीतेऽनुब्रूते जपति जुहोति यजते याजयति वा तस्य ब्रह्मवीर्यं यातयामं भवति । अनुविज्ञायैतानि योऽधीते वीर्यवत्तरं यो यथार्थवित् तस्य वीर्यवत्तमं भवति । जपित्वा हुत्वेष्ट्वा फलं प्राप्नोतीति ।

'यश्च जानाति तत्त्वेन आर्षं छन्दश्च दैवतम् ।' इत्यादिना आगमेऽपि ।

याज्ञवल्क्योऽपि—आर्षं छन्दश्च दैवत्यं विनियोगस्तथैव च ।
वेदितव्यं प्रयत्नेन ब्राह्मणेन विशेषतः ॥

अविदित्वा तु यः कुर्याद्याजनाध्ययनं जपम् ।
होममन्यच्च यत् किञ्चित् तस्य चाल्पं फलं भवेत् ॥ इति ।

विधिरिति । न्यास-जप-पूजा-होम-तर्पणाभिषेकसम्पातपातादिः । चकारः शब्दसृष्ट्यादेः प्रधानाप्रधानस्य समुच्चये । मन्त्रयन्त्राणामित्येकपदोपादानेऽपि मुन्यादीनां यथायोगं सम्बन्धः । तत्र मुनिच्छन्दसी होमतर्पणे च मन्त्र एव । देवतादीनि अन्यान्युभयत्रापि । सम्पातपातस्तु यन्त्रे तदुपलक्षितेषु प्रतिकृतिकुम्भशिलाप्रतिमाङ्गुलिकातैलघृतादिषु सम्बध्यते । एतानि देवतोपासकस्य स्थूलरूपतयोक्तानि । येषां सूक्ष्मरूपं यथा । यदाहुः—

स्वात्मैव देवता प्रोक्ता मनोज्ञा विश्वविग्रहा ।
न्यासस्तु देवतात्मत्वात् स्वात्मनो देहकल्पना ॥
जपस्तन्मयतारूपभावनं सम्यगीस्तिम् ।

पूजा तु चञ्चलत्वेऽपि तन्मयत्वाप्रमत्तता ॥
होमो विश्वविकल्पानामात्मन्यस्तमयो मतः ।
एषामन्योन्यसम्मेलभावनं तर्पणं स्मृतम् ॥
अभिषेकस्तु विद्या स्यादात्मैव स्वाश्रयो महान् ।
प्रयोगाः स्युरुपाधीनां हेतोः स्वात्मविमर्शनम् ॥
सन्ध्यासु भजनं तासामादिमध्यान्तवर्जनम् ।
मोहाज्ञानादिदुःखानामात्मन्यस्तमयो दृढम् ॥ इति ॥ ४-५ ॥

अब इस ग्रन्थ में शिष्य को प्रवृत्त करने के लिये ग्रन्थ का माहात्म्य तथा ग्रन्थ के विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध एवं अधिकारी रूप चार अनुबन्धों का दिग्दर्शन कराते हैं, क्योंकि इन चार के होने पर ही श्रोता की प्रवृत्ति ग्रन्थ में होती है ।

(वैष्णव, शैव, शाक्त, गाणपत्य एवं सौर) सभी तन्त्रों का सार होने से सर्वथा कल्याणकारक, धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति में प्रथम कारण भूत इस शारदा तिलक नामक ग्रन्थ को कहता हूँ ॥ ४ ॥

विमर्श—शारदातिलक का अर्थ है स्थूलकर्म का फल जो प्रदान करे उसे 'शारदा' कहते हैं, उसका तिलक अर्थात् भूषण स्वरूप शारदातिलक । अथवा शरः/स्वतन्त्रम्, तस्य भावः शारम्/स्वातन्त्र्यम् तद् ददातीति शारदा, तस्याः तिलकम् । प्राणी का जीवभाव निरस्त कर उसे अनन्त ऐश्वर्य प्रदान करने वाली शारदा का तिलक है । तिलक कहने का एक अभिप्राय यह भी है कि शरीर में सर्वप्रथम तिलक दिखाई पड़ता है उसी प्रकार यह भी तन्त्र के सभी ग्रन्थों में मुख्य एवं अपने ढङ्ग का अनूठा ग्रन्थ है । इस ग्रन्थ में शब्दार्थ सृष्टि आदि विषय हैं, धर्मार्थादि पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति **फल** है प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव **सम्बन्ध** है । पुरुषार्थ चतुष्टय को चाहने वाला **अधिकारी** है ॥ ४ ॥

अब **इस ग्रन्थ का विषय** कहते हैं—इस शारदातिलक नामक तन्त्र ग्रन्थ में ऋषि, छन्द और देवता के सहित शब्दार्थ की सृष्टि तथा यन्त्र एवं मन्त्रों की विधि न्यास, जप पूजा होम, तर्पण, अभिषेक, संपात पातादि का निरूपण करता हूँ ।

विमर्श—किसी भी मन्त्र में मुनि, छन्द, देवता तथा विनियोग की आवश्यकता होती है, इसके जाने बिना मन्त्र की सिद्धि नहीं होती । मुनि वे हैं जिन्हें तपोयोगबल से मन्त्रों का साक्षात्कार हुआ है, अथवा उस मन्त्र के जप द्वारा उन्हें सिद्धि प्राप्त हुई हैं, वे ही उस मन्त्र के ऋषि कहे जाते हैं ।

जिस प्रकार शरीर को वस्त्र से आच्छादित किया जाता है उसी प्रकार मृत्यु से भयभीत ऋषियों ने जिससे अपने को ढक लिया वही छन्द है, देवताओं को आच्छादित करने के कारण ही उसकी छन्द संज्ञा कही गई है । यह छन्द गायत्री आदि नामों से प्रसिद्ध हैं । जिस जिस देवता को उद्देश्य कर जो जो मन्त्र कहे जाते हैं वे ही उस मन्त्र के देवता कहे जाते हैं, अतः उन मन्त्रों का भी उस देवता

के समान आकार होता है, इसलिये मन्त्र और देवता में कोई भेद नहीं अतः मन्त्र देवता स्वरूप ही होते हैं।

विनियोग का अर्थ है, कर्त्तव्य। मन्त्रों के उत्पत्ति कर्म के लिये ही हुई है, जिस मन्त्र से जो कार्य कर्त्तव्य हो, उस मन्त्र का वह विनियोग होता है, जैसे जपे विनियोगः। न्यासे विनियोगः। पाठे विनियोगः। अथवा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप कार्यों में शास्त्रीय रीति से सिद्ध मन्त्रों की योजना करने का नाम विनियोग है। मन्त्र की फल प्राप्ति के लिये उसके ऋषि छन्द, देवता तथा विनियोग की आवश्यकता है। इसके बिना मन्त्र फलवान् नहीं होता ॥ ५ ॥

शिवस्य निर्गुणसगुणभेदेन द्वैविध्यम्

निर्गुणः सगुणश्चेति शिवो ज्ञेयः सनातनः।
निर्गुणः प्रकृतेरन्यः सगुणः सकलः स्मृतः ॥ ६ ॥

सृष्टिं वक्तुमुपोद्घातमाह निर्गुण इति। सनातनो नित्यः शिवो निर्गुणः सगुणश्च ज्ञेयः। आद्यस्य स्वरूपमाह निरिति। प्रकृतेरन्यः तत्सम्बन्धशून्यः। षष्ठ्या एवात्र प्राधान्येनोद्देश्यत्वात्। तेन सूक्ष्म इत्यर्थः। अतएवान्यशब्दार्थाभावात् न पञ्चमीयम्। तथा सत्यनुवादे पर्यवसानं स्यात्। यदुक्तं प्रयोगसारे—

नित्यः सर्वगतः सूक्ष्मः सदानन्दो निरामयः।
विकाररहितः साक्षी शिवो ज्ञेयः सनातनः ॥ इति।

नारायणीयेऽपि— निष्क्रियं निर्गुणं शान्तमानन्दमजमव्ययम्।
अजरामरमव्यक्तमज्ञेयमचलं ध्रुवम् ॥
ज्ञानात्मकं परं ब्रह्म स्वसंवेद्यं हृदिस्थितम्।
सत्यं बुद्धेः परं नित्यं निर्मलं निष्कलं स्मृतम् ॥ इति।

द्वितीयस्य स्वरूपमाह स इति। सगुणः सकलः कला प्रकृतिः तत्संहितः। सांख्यमते सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रधाना परपर्याया प्रकृतिः। अतएव सगुण इत्युक्तिः। वेदान्तनये तु अविद्या। शिवतन्त्रे शक्तिः।

उक्तञ्च नारायणीयप्रयोगसारयोः—

तच्छक्तिभूतः सर्वेशो भिन्नो ब्रह्मादिमूर्त्तिभिः।
कर्त्ता भोक्ता च संहर्त्ता सकलः स जगन्मयः ॥ इति ॥ ६॥

अब **शिव के निर्गुण एवं सगुण भेद** को कहते हैं—सनातन शिव निर्गुण और सगुण दो प्रकार के कहे गये हैं, प्रकृति सम्बन्ध से शून्य शिव निर्गुण हैं और प्रकृति के साथ रहने से सगुण हैं ॥ ६ ॥

विमर्श—वेदान्त मत में प्रकृति को अविद्या कहते हैं तथा उसी को शैव लोग शक्ति कहते हैं। सांख्य के मत में सत्त्व, रज और तम की साम्यावस्था को प्रधान या प्रकृति कहते हैं।

शक्त्याविर्भावः, नादोत्पत्तिः, ततो बिन्दूद्भवः

सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात् ।
आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद् बिन्दुसमुद्भवः ॥ ७ ॥

सृष्टिमाह सदिति । तस्याविद्याशबलितत्वेन जडत्वे कथं सृष्टिकर्तृत्वम् इति शङ्कां वारयति सच्चिदानन्दविभवादिति । अनेनाविद्योपहितत्वेऽपि तस्य न स्वरूपहानिरित्यर्थः । सकलाच्छक्तिरासीदिति योजना । शक्तिसहितादेव पुनः शक्तिः कथमासीदिति चेत् सत्यम् । या अनादिरूपा चैतन्याध्यासेन महाप्रलये सूक्ष्मा स्थिता तस्या गुणवैषम्यानुगुणतया सात्त्विक-राजस-तामसस्रष्टव्यप्रपञ्चकार्य साधने उच्छूनावस्थात्वमेव उपचारादुत्पत्तिः। इयञ्च सदुत्पत्तिवादिसांख्यमतमाश्रित्य ग्रन्थकारस्योक्तिरिति ज्ञेयम् । तदुक्तं प्रयोगसारे—

तस्माद् विनिर्गता नित्या सर्वगा विश्वसम्भवा । इति ।

वायवीयसंहितायामपि—शिवेच्छया पराशक्तिः शिवतत्त्वैकतां गता ।
ततः परिस्फुरत्यादौ सर्गे तैलं तिलादिव ॥ इति ।

पञ्चरात्रेऽपि—एवमालोक्य सर्गादौ सच्चिदानन्दरूपिणीम् ।
समस्ततत्त्वसङ्घात्मस्फुर्त्त्यधिष्ठानरूपिणीम् ।
व्यक्तां करोति नित्यां तां प्रकृतिं परमः पुमान् ॥ इति ।
तस्या एव नादबिन्दू सृष्ट्युपयोगावस्थारूपौ ।

तदुक्तं प्रयोगसारे—
नादात्मना प्रबुद्धा सा निरामयपदोन्मुखी ।
शिवोन्मुखी यदा शक्तिः पुंरूपा सा तदा स्मृता ॥
सैव सर्गक्षमा तेन । इति ।
आचार्यास्तु-सा तत्त्वसंज्ञा चिन्मात्रज्योतिषः सन्निधेस्तदा ।
विचिकीर्षुर्घनीभूता क्वचिदभ्येति बिन्दुताम् ॥ इति ।

अन्यत्रापि— अभिव्यक्ता परा शक्तिरविनाभावलक्षणा ।
अखण्डपरचिच्छक्तिर्व्याप्ता चिद्रूपिणी विभुः ॥
समस्ततत्त्वभावेन विवर्त्तेच्छासमन्विता ।
प्रयाति बिन्दुभावञ्च क्रियाप्राधान्यलक्षणम् ॥ इति ।

अतएव वक्ष्यमाणशैवतत्त्वेषु शुद्धानां पञ्चानामेव ग्रहणम्। अत्र यद्यप्यन्यैर्ग्रन्थकृद्भिर्नादावस्था नोक्ता तथापि ग्रन्थकृता तारस्य सप्तात्मकत्वं सूचयितुमेतदुक्तिः कृता । कालं प्रस्तुवद्भिराचार्यैः सूचितैव नादावस्था । यदाहुः—'रवात्मन्यथो कालतत्त्वे' इति । भुवनेशीस्तुतावप्याचार्याः 'नमस्ते रवत्वेन तत्त्वाभिधाने' इति ॥ ७ ॥

अब **सृष्टि का क्रम** कहते हैं—सत् चित् एवं आनन्द रूप ऐश्वर्य से पूर्ण उस सगुण परमेश्वर के प्रकृति से युक्त हो जाने पर शक्ति उत्पन्न हुई, शक्ति से नाद और नाद से बिन्दु की उत्पत्ति हुई ॥ ७ ॥

विमर्श—परमेश्वर की प्रथम कला (शक्ति या प्रकृति) जो प्रलय काल में अत्यन्त सूक्ष्म अनादि और चैतन्य युक्त थी वही परमेश्वर के संयोग होने पर पुनः सत्त्व, रज और तमोगुण से युक्त हो कर सृष्टि के योग्य, प्रपञ्च कार्य में साधन में सक्षम हो कर स्थूल रूप से उत्पन्न हुई । इसीलिये शैवागम में प्रधानतया, शक्ति, नाद और बिन्दु पाँच तत्त्व निष्कल, सकल माने गये हैं ।

नादोत्थबिन्दोस्त्रिभेदः

परशक्तिमयः साक्षात् त्रिधाऽसौ भिद्यते पुनः ।
बिन्दुर्नादो बीजमिति तस्य भेदाः समीरिताः ॥ ८ ॥
बिन्दुः शिवात्मको बीजं शक्तिर्नादस्तयोर्मिथः ।
समवायः समाख्यातः सर्वागमविशारदैः ॥ ९ ॥

इच्छाशक्त्या(सत्त्वा)दिरूपतया बिन्दोस्त्रैविध्यमाह परेति । साक्षात् परशक्तिमयः अतः पश्चात्तदवस्थात्मकत्वमेवोक्तम् । अथवा परः शिवः तन्मयः शक्तिमयः एवमुभयात्मकः । 'बिन्दुः शिवात्मकः' इति वक्ष्यमाणत्वात् । असौ त्रिधा भिद्यते । एतौ नादबिन्दू प्रथमोक्तनादबिन्दुभ्यामन्यौ तत्कार्यरूपौ ज्ञेयौ । तदुक्तं 'स बिन्दुर्भवति त्रिधा' इति ॥ ८ ॥

बिन्द्वादेर्भेदत्रयस्य परम्परास्वरूपमाह बिन्दुरिति । धर्मिणावुक्त्वा तत् सम्बन्धो वाच्य इत्यभिप्रायेण व्युत्क्रमः शक्त्युत्पत्त्यनुरोधात् पूर्वत्र तथाक्रमः । समवायः सम्बन्धः क्षोभ्यक्षोभकरूपः सृष्टिहेतुः । उक्तेऽर्थे प्रमाणमाह सर्वागमविशारदैरिति ॥ ९ ॥

वह परशक्तिमय बिन्दु पुनः तीन रूपों में प्रविभक्त हुआ । १. बिन्दु, २. नाद और ३. बीज—ये उसके तीन भेद हैं । इसमें कहे गये बिन्दु और नाद प्रथम कहे गये (१, ७) नाद और बिन्दु से भिन्न हैं ।

बिन्दु शिवात्मक है, बीज शक्त्यात्मक है, शिव शक्ति के सम्बन्ध से नाद की उत्पत्ति हुई है ऐसा तत्त्वागम विशारदों ने कहा है । शिव जब शक्ति में क्षोभ उत्पन्न करता है तो उससे उत्पन्न हुआ नाद सृष्टि का हेतु हो जाता है ।

विमर्श—यहाँ बिन्दु के कथन के बाद नाद कहना चाहिए था किन्तु शक्ति का कथन किये बिना नाद नहीं कहा जा सकता था, इसलिये यहाँ क्रम विरुद्ध कहा गया है ॥ ८-९ ॥

रौद्री बिन्दोस्ततो नादाज्ज्येष्ठा बीजादजायत ।
वामा ताभ्यः समुत्पन्ना रुद्रब्रह्मरमाधिपाः ॥ १० ॥

रौद्रीति । ततस्तस्माद् बिन्दो रौद्री यतस्तस्य शिवमयत्वम् अतोऽन्वर्थतापि । नादात् ज्येष्ठा इति मध्योच्चारितत्वे तत्त्वेनान्वर्थत्वं ज्ञेयम् । बीजाद् वामा अजायतेति सम्बन्धः । तस्य शक्तिमयत्वादन्वर्थत्वम् । तदुक्तं प्रयोगसारे—

बिन्दुः शिवात्मकस्तत्र बीजं शक्त्यात्मकं स्मृतम् ।
तयोर्योगे भवेन्नादस्तेभ्यो जातास्त्रिशक्तयः ॥
रौद्री बिन्दोः समुद्भूता ज्येष्ठा नादादजायत ।
वामा बीजादभूच्छक्तिस्ताभ्यो देवास्त्रयोऽभवन् ॥ इति ॥ १० ॥

बिन्दु से रौद्री, नाद से ज्येष्ठा और बीज से वामा की उत्पत्ति हुई । पुनः उनसे क्रमशः रुद्र, ब्रह्मा और विष्णु उत्पन्न हुये ॥ १० ॥

शब्दब्रह्मोत्पत्तिः

संज्ञानेच्छाक्रियात्मानो वह्निन्द्वर्कस्वरूपिणः ।
भिद्यमानात् परात् बिन्दोरव्यक्तात्मा रवोऽभवत् ॥ ११ ॥

संज्ञाने इति । संज्ञाने इच्छाक्रियो तदात्मानः तेन रुद्रब्रह्मरमाधिपाः क्रमेण इच्छाशक्ति-क्रियाशक्ति-ज्ञानशक्तिस्वरूपाः । क्वचित् ते ज्ञानेच्छेति पाठः सः असाम्प्रदायिक एव । एते वह्नीन्द्वर्कस्वरूपिणो रुद्रब्रह्मरमाधिपाः शब्दसृष्ट्यन्तर्गताः निरोधिकार्द्धेन्दु बिन्दुरूपाः शक्तेरेवावस्थाविशेषा ज्ञेयाः । एषामिच्छाक्रियाज्ञानात्मत्वं शक्तित उत्पन्नत्वात् । वक्ष्यति च—'इच्छाज्ञानक्रियात्माऽसौ' इति ।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञायामपि—

यत इच्छन्ति तज्ज्ञातुं कर्त्तुं वा स्वेच्छया क्रियाः ।
अनन्तरं हि तत्कार्यज्ञानदर्शनशक्तिता ॥
ज्ञानशक्तिस्तदर्थं हि योऽसौ स्थलः समुद्यमः ।
सा क्रियाशक्तिरुदिता ततः सर्वं जगत् परम् ॥ इति ।

यतः पुनस्तेषां वक्ष्यमाणत्वात् ततो रुद्रसमुद्भवस्ततो विष्णुस्ततो ब्रह्मा इति । अन्यथा पूर्वापरविरोधोऽपि स्यात् । यतो ग्रन्थकृत् तस्यां सूर्येन्दुपावकान् 'प्रणवस्य त्रिभिर्वर्णैरिति' वक्ष्यति । तत्र प्रणवांशा अकारोकारमकारा ब्रह्मविष्णु रुद्रात्मकाः । 'अकाराद् ब्रह्मणोत्पन्नः' इत्यादेर्वक्ष्यमाणत्वात् । आगमान्तरे च—ब्रह्मविष्णवीश्वरास्तत्तन्मण्डलेषु व्यवस्थिताः । इति ।

तेन तत्र सूर्यरूपः अकारो ब्रह्मा अत्र च सूर्यरूपो विष्णुरिति । अतो वक्ष्यमाणक्रमोऽर्थसृष्ट्यनुसारेणानुसन्धेयः । ग्रन्थकृच्च वक्ष्यति—

शब्दार्थभाविभुवनं सृजतीन्दुरूपा या तद्विभर्त्ति पुनरर्कतनुः स्वशक्त्या । वह्न्यात्मिका हरति तत् सकलं युगान्ते तां शारदां मनसि जातु न विस्मरामि ॥ इति।

गोरक्षसंहितायामपि—

इच्छा क्रिया तथा ज्ञानं गौरी ब्राह्मी तु वैष्णवी ।
त्रिधा शक्तिः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥
आचार्या अपि—आद्यैस्त्रिभेदै स्तपनान्तिकैर्यत् । इति—

शब्दब्रह्मण उत्पत्तिमाह भिद्यमानादिति । पराद् बिन्दोरित्यनेन शक्त्यवस्थारूपो यः प्रथमो बिन्दुस्तस्मादव्यक्तात्मा वर्णादिविशेषरहितोऽखण्डो नादमात्र उत्पन्नः ॥ ११ ॥

वे रुद्र ब्रह्मा और विष्णु, क्रमशः इच्छा, क्रिया और ज्ञानात्मा हैं तथा अग्नि, चन्द्र और सूर्य स्वरूप हैं (प्रथम इच्छा, तदनन्तर कार्य, तदनन्तर ज्ञान यही क्रम है और ये शक्ति से उत्पन्न हुये हैं) इच्छा शक्ति गौरी, क्रिया शक्ति ब्राह्मी और ज्ञान शक्ति वैष्णवी शक्ति है पर बिन्दु के (शक्त्यवस्था रूप) प्रथम बिन्दु (द्र० १. ७) से वर्ण विशेष रहित अखण्ड नाद उत्पन्न हुआ ॥ ११ ॥

शब्दब्रह्मेति तं प्राहुः सर्वागमविशारदाः।
शब्दब्रह्मेति शब्दार्थं शब्दमित्यपरे जगुः॥ १२ ॥

तस्य चैतन्यात्मकता

न हि तेषां तयोः सिद्धिर्जडत्वादुभयोरपि ।
चैतन्यं सर्वभूतानां शब्दब्रह्मेति मे मतिः ॥ १३ ॥

तत्स्वरूपमाह शब्देति । सर्वागमविशारदाः सर्वश्रुत्यर्थविदः। तदुक्तमाचार्यैः—

स रवः श्रुतिसम्पन्नैः शब्दब्रह्मेति कथ्यते। इति । सृष्ट्युन्मुखपरमशिवप्रथमोल्लासमात्रम् अखण्डोऽव्यक्तो नादबिन्दुमय एवं व्यापको ब्रह्मात्मकः शब्दः शब्दब्रह्मेत्यर्थः ॥ उक्तञ्च—

क्रियाशक्तिप्रधानायाः शब्दः शब्दार्थकारणम् ।
प्रकृतेर्विन्दुरूपिण्याः शब्दब्रह्माऽभवत् परम् ॥

अथान्तरस्फोटवादिमतं जातिव्यक्तिस्फोटात्मकं वा बाह्यस्फोटमतञ्च दूषयितुमुपक्रमते शब्देति । एके आचार्याः शब्दार्थमान्तरस्फोटं शब्दब्रह्मेत्याहुः । यथाहि—

'निरंश एवाभिन्नो नित्यो बोधस्वभावः शब्दार्थमयान्तरः स्फोटः' इति । अपरे वैयाकरणाः पूर्ववर्णोच्चारणाभिव्यक्तं तत्तत्पदसंस्कारसहायचरमपदग्रहणोद्बुद्धं वाक्यस्फोटलक्षणं शब्दमखण्डैकार्थप्रकाशकं शब्दब्रह्मेति वदन्ति । यदाह—

'एक एव नित्यो वाक्याभिव्यङ्ग्योऽखण्डो व्यक्तिस्फोटो जातिस्फोटो वा वहोरूपः' इति ॥ १२ ॥

तदुभयमतं दूषयन् स्वमतमाह नहीति । तेषां वादिनां मते तयोः शब्दशब्दार्थयोः सिद्धिः शब्दब्रह्मत्वसिद्धिर्न । उभयोस्तयोर्जडत्वात् । यदि शब्दार्थः शब्दो वा शब्दब्रह्मेत्युच्यते तदा ब्रह्मपदवाच्यत्वं नोपपद्यते । यतः सच्चिदानन्दरूपो ब्रह्मपदार्थः । तौ च जडौ । तदुक्तं भर्तृहरिणा—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥ इति ।

अन्यत्रापि—शब्दब्रह्मेति शब्दावगम्यमर्थं विदुर्बुधाः ।
स्वतोऽर्थानवबोधत्वात् प्रोक्तो नैतादृशो रवः ॥
स तु सर्वत्र संस्यूतो जाते भूताकरे पुनः ।
आविर्भवति देहेषु प्राणिनामर्थविस्तृतः ॥ इति ।

तेन सर्वागमविशारदा इत्यनेन सहैकवाक्यतैवास्य । तद्बिन्दुरूपरवस्यैव सर्वशरीरेष्वाविर्भूतत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् ।

यदुक्तं प्रयोगसारे—

सोऽन्तरात्मा तदा देवी नादात्मा नदते स्वयम् ।
यथासंस्थानभेदेन स भूयो वर्णतां गतः ।
वायुना प्रेर्यमाणोऽसौ पिण्डाद् व्यक्तिं प्रयास्यति ॥ इति ।

केचित्तु शब्दब्रह्मेति शब्दस्यार्थं शब्दमेवाहुरिति योजनां कृत्वा सर्वागमविशारदा इत्येकः पक्षः । अपरे बिन्दुरिति द्वितीयः, तयोर्दूषणमित्याहुः । तत्र । जडत्वादिति हेतुः प्रथमपक्षे न सम्भवति आचार्यमतविरोधश्चापद्येत । तेन सर्वागमविशारदा इत्ययमेवपक्षो ग्रन्थकृदभिमत इति ॥ १३ ॥

संपूर्ण आगम शास्त्र के विद्वान् उसे **शब्दब्रह्म** कहते हैं कोई शब्दार्थ को **शब्दब्रह्म** कहते हैं, कोई केवल अखण्ड स्फोटात्मक शब्द को **शब्दब्रह्म** कहते हैं। किन्तु ये दोनों ही जड़ होने से सृष्टि के योग्य नहीं, अतः वे **शब्दब्रह्म** नहीं हो सकते। ग्रन्थकार कहते हैं कि हमारा मत तो यह है कि बिन्दु से उत्पन्न हुआ संपूर्ण प्राणियों के भीतर चैतन्य रूप से विद्यमान अखण्डनाद ही **शब्दब्रह्म** है (द्र. १.·११-१२) यहाँ तक शब्दसृष्टि कही गई । अब नीचे के श्लोक में उसका समापन करते हैं ॥ १२-१३ ॥

तस्य कुण्डलीरूपेण प्राणिदेहे स्थितिः

तत् प्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां देहमध्यगम् ।
वर्णात्मनाऽविर्भवति गद्यपद्यादिभेदतः ॥ १४ ॥

एवं परां तां शब्दसृष्टिमुक्त्वा सामान्यतः समापयति तत् प्राप्येति । प्राणिनां देहमध्यगं कुण्डलीरूपं कुण्डलिनीस्वरूपं तच्चैतन्यं गद्यपद्यादिभेदतो वर्णात्मना आविर्भवतीति सम्बन्धः । किं कृत्वा । प्राप्य कण्ठादिकरणानीति शेषः । अतएव वक्ष्यमाणा सृष्टिः कुण्डलिनीत इति ज्ञेयम् ॥ १४ ॥

प्राणियों के शरीर के मध्य में कुण्डली रूप को प्राप्त हुआ वही चैतन्य कण्ठादि स्थानों को प्राप्त कर गद्य पद्यादि भेद से वर्णात्मक स्वरूप से आविर्भूत होता है । इसलिये ये सारी शब्द सृष्टि कुण्डलिनी से ही होती है ॥ १४ ॥

पश्यन्तीशब्दसृष्टिकथनारम्भः

अथ बिन्द्वात्मनः शम्भोः कालबन्धोः कलात्मनः।
अजायत जगत्साक्षी सर्वव्यापी सदाशिवः ॥ १५ ॥

सदाशिवेशरुद्रविष्णुब्रह्मोत्पत्तिः

सदाशिवाद् भवेदीशस्ततो रुद्रसमुद्भवः ।
ततो विष्णुस्ततो ब्रह्मा तेषामेवं समुद्भवः ॥ १६ ॥

एवं प्राधान्यद्योतनाय प्रथमोद्दिष्टां परां तां शब्दसृष्टिमुक्त्वा पश्यन्त्यादीनां शरीरसृष्टिव्यतिरेकेण वक्तुमशक्यत्वात् तां वक्तुमर्थसृष्टिमारभते अथेति । कला माया तदात्मनः तत उत्पन्नत्वात् । बिन्दुरपि तस्यैवावस्थान्तरम् । तदात्मन इत्युभयत्र कार्ये कारणोपचारात् । तदुक्तम्—

सर्वज्ञादिगुणोपेतामभिन्नामात्मनः सदा । इति ।

यद्वा कला निवृत्त्याद्या अधिष्ठातृसदाशिवादीनां प्रातिलोम्येनोत्पादिकाः तदात्मनः। कालबन्धोरिति । अनाद्यनन्ते काले सृष्टिरूपकालसहायान्नादात्मन इत्यर्थः। शम्भोः परमशिवात् सृष्टिस्थितिध्वंसनिग्रहानुग्रहकार्यपञ्चककर्त्ता, अतएव जगन्निर्माणबीजरूपो जगत्साक्षी सदाशिवो जातः । अथ च कालबन्धोः, अतएव कालात्मन इति हेतुहेतुमद्भावेन योजना ।

'सा तु कालात्मना सम्यक् मयैव ज्ञायते सदा' इति आचार्योक्तेः ।

अनेन विशेषणद्वयेन प्रकृतेः कालस्य च महाप्रलयेऽप्यवस्थानमुक्तम् । अतएव अनयोरापेक्षकनित्यता । स्वतो नित्यत्वं पुरुषस्यैव । सर्वविनाशस्य पुरुषावधित्वादन्यथाऽनवस्थानादित्यादियुक्तिः द्रष्टव्या । अथ च कालबन्धोरिति बन्धुशब्देन कालस्य निमित्तत्वं सूचितम् । यदाहुः—

लवादिप्रलयान्तोऽयं तमः शक्तिविजृम्भितः ।
निमित्तभूतः कालोऽयं भावानां जन्मनाशयोः ॥ इति ।

अन्यत्रापि—अनादिर्भगवान् कालो नान्तोऽस्य द्विज विद्यते ।
अव्युच्छिन्नास्ततस्त्वेते सर्गस्थित्यन्तसंयमाः ॥ इति ।

कालबन्धोरित्यनेन अपरो लवादिप्रलयान्तः कालोऽपि सूचितः । तेनैव परकालस्योक्तत्वात् । स च—

'नलिनीपत्रसंहत्या सूक्ष्मसूच्यभिवेधने ।
दले दले तु यः कालः स कालो लवसंज्ञकः ॥
लवैस्त्रुटिः स्यात् त्रिंशद्भिः' इत्यादिना
'तवायुर्मम निश्वासः कालेनैव प्रचोद्यते ।'

इत्यन्तेन ग्रन्थसन्दर्भेणाचार्यैः विवेचितः । अस्माभिस्तु ग्रन्थगौरवभयात् नोक्तः । अन्ये त्वेवं व्याचक्षते कालबन्धोः कालात्मनः कश्च लश्च इति प्रत्याहारेण व्यञ्जनानि गृहीतानि । अश्चेत्यनेन स्वरा अपि गृहीताः । तदात्मन इति । अन्ये त्वन्यथा व्याचक्षते—कश्च लश्च आत्मा दीर्घेकारः । चतुर्णामात्मनां चतुर्थ इत्युक्तेः । कालशब्देनार्कस्तेन मः । यद्वा कालशब्देन महाकालो मकारस्य रुद्रमूर्त्तिर्गृहीता । भीमो भीमसेन इतिवत् । तेन मकारः। एवं मिलित्वा कामबीजमुद्धृतम् । तस्मादित्युक्तं भवति । तस्य जगन्मूलत्वात् शम्भोः भ्रमन्तं योन्यन्तःस्फुरदरुणबन्धककुसुमप्रभं कामं ध्यायेज्जठरशशभृत्कोटिशिखरम् ।

इत्यादिना शरीरे मूलाधारे तेजस्त्रयरूपस्य तस्यैवोक्तत्वात् शक्तिरूपत्वाच्च बिन्द्वात्मन इति । तदुक्तम्—

विश्वं भूतेन्द्रियान्तःकरणमयमिनेन्द्वग्निरूपं समस्तं
वर्णात्मैतत् प्रधाने कमलनयनमये बीजरूपे क्रमेण ।
नीत्वा तां पुंसि बिन्द्वात्मनि तमपि रवात्मन्यथो कालतत्त्वे
तं वै शक्तौ चिदात्मन्यपि नयतु च तां केवले धाम्नि शान्ते ॥ इति ।

अन्ये तु शम्भोः हकारात् कलाऽर्द्धेन्दुरात्मा ईकारः बिन्दुः बिन्दुरेव कालोऽग्निः प्रलये सर्वविनाशकत्वात् । एवं मायाबीजमुद्धृतम् । तस्मादित्युक्तम् अस्य जगन्मूलबीजभूतत्वं प्रसिद्धमेव । इदञ्च व्याख्यानमाचार्यचरणसम्मतमिति । तदुक्तमाचार्यैः—

स्वामिन् प्रसीद विश्वेश के वयं केन भाविताः ।
किं मूलाः किं क्रियाः सर्वमस्मभ्यं वक्तुमर्हथ ।
इति पृष्टः परं ज्योतिरुवाच प्रमिताक्षरम् ॥

इत्यस्य पद्यस्य व्याख्याने पद्मपादाचार्यैर्व्याख्यातम्—सर्वेश्वर उपादानादिकं संग्रहेणोक्तवान् इत्याह—इति पृष्टेति । प्रकर्षेण मीयते ज्ञायते इति प्रमिता प्रकृतिः प्रमिनोति जानातीति प्रमितः पुरुषः प्रमिनोति परिच्छिनत्तीति प्रमितः कालः । तेषां प्रमितानां वाचकमक्षरं तदभिन्नं प्रमिताक्षरम् । परा वाक् सतत्त्वं हकार इत्यर्थः । तस्य बीजबिन्दुनादरूपेण प्रकृत्यादिवाचकत्वं द्रष्टव्यम् । एतेन इत्युत्तरमुवाचेत्यर्थः । संग्रहेणोक्तस्याप्रतिपत्तिमालक्ष्य तदेव विवृणोति—

यूयमक्षरसम्भूताः सृष्टिस्थित्यन्तहेतवः । इति ।

न क्षरत्यश्नुते वेति व्युत्पत्त्या 'अक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्' इत्यादिना । तेषामिति । शब्दसृष्टौ तेषामुद्भव उक्त एव । तेषामेवं समुद्भवः अर्थसृष्टा वित्यर्थः ॥ १५-१६ ॥

अब परा, पश्यन्ती आदि वाणियों के उत्पत्तिस्थानभूत शरीर की सृष्टि का उपक्रम बताते हैं, क्योंकि शरीर के बिना परा, पश्यन्ती आदि वाणियों का उत्पन्न होना संभव नहीं है । इसलिये अर्थ सृष्टि का आरम्भ करते हैं—

माया (प्रकृति) से संवलित बिन्द्वात्मक शरीर वाले उस परम शिव से अनादि अनन्त काल की सहायता से सृष्टि, स्थिति, ध्वंस, निग्रह और अनुग्रह में समर्थ जगन्निर्माणबीजरूप जगत्साक्षी सदाशिव उत्पन्न हुये ।

विमर्श—लव से लेकर प्रलयान्त समय की काल संज्ञा है । सूक्ष्म सूई से कमल पत्र समूह में एक पत्र के भेदन में जितना समय लगता है वह लव कहा जाता है ।। १५ ।।

सदाशिव से ईश्वर उत्पन्न हुये, ईश्वर से रुद्र उत्पन्न हुये रुद्र से विष्णु और विष्णु से ब्रह्मदेव की उत्पत्ति हुई ।

विमर्श—इस प्रकार त्रिदेवों की उत्पत्ति का क्रम कहा गया । शब्द सृष्टि के प्रकरण में इनके उत्पत्ति का क्रम पूर्व (१. ८-११) में कह दिया गया है । इस प्रकार यहाँ अर्थ सृष्टि में इनकी उत्पत्ति कही गई है ॥ १६ ॥

तत्त्वसृष्टिकथनारम्भः

मूलभूतात् ततोऽव्यक्ताद् विकृतात् परवस्तुनः।

महत्तत्त्वोत्पत्तिः

आसीत् किल महत्तत्त्वं गुणान्तः करणात्मकम् ॥ १७ ॥

एवं प्रकृतायामर्थसृष्टौ तत्त्वसृष्टिं वक्तुमारभते मूलेति। मूलभूतात् सर्वसृष्टिमूलरूपादतएव परवस्तुनः अव्यक्ताद् बिन्दुरूपात् । यद्वा शब्दब्रह्मणः विकृतात् सृष्ट्युन्मुखात् महत्तत्त्वं महन्नामपदार्थः आसीत् उत्पन्नः । यस्य शैवमते बुद्धितत्त्वमिति संज्ञा । किं रूपं सत्वरजस्तमोगुणात्मकम् मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तस्वरूपम् । अन्तः-करणचतुष्टयात्मकता तु तत्कारणत्वेन कार्ये कारणोपचारात् । एवं शैव-सिद्धान्तविदः । तदुक्तमीशानशिवेन—

बोद्धव्यलक्षणा सैव प्रकृतिः शक्तिजृम्भिता ।
बुद्धितत्त्वं भवेद्व्यक्तं सात्त्विकं गुणमाश्रिता ।
सैव बुद्धिर्महन्नाम तत्त्वं सांख्ये निगद्यते ॥ इति ।

वामकेश्वरेऽपि—

अव्यक्तविग्रहाच्छब्दब्रह्मणः सर्वकारणम् ।
व्यक्तसत्त्वगुणं व्यक्तं बुद्धितत्त्वमजायत ॥ इति ।

सांख्यमते तु—सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थारूपं प्रकृतिः प्रधानापरपर्यायम-व्यक्तशब्देनोच्यते । तत् परवस्तु सर्वमूलभूतम् । गुणन्यूनातिरेकेण विकृतात्तस्मात् महानुत्पन्नः । स कीदृशः । गुणान्तःकरणात्मा । गुणाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध-तन्मात्राणि । येषामन्तःकरणचतुष्टयस्यापि कारणरूपः । उपचारादुभयात्मकः । तथा तत्सृष्टिक्रमोऽपि प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कार इति ॥ १७ ॥

जगत् के कारण भूत उस अव्यक्त मूल प्रकृति (परवस्तु) में (सत्त्वादि) गुणों के वैषम्य के कारण पञ्चतन्मात्रायें एवं अन्तःकरण चतुष्टय का कारणभूत इस प्रकार उभयात्मक महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ ॥ १७ ॥

अहङ्कारोत्पत्तिः । तस्य त्रैविध्यम्

अभूत्तस्मादहङ्कारस्त्रिविधिः सृष्टिभेदतः ।
वैकारिकादहङ्काराद्देवा वैकारिका दश ॥ १८ ॥

ततो देवेन्द्रियभूतानामुत्पत्तिः

दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रकाः ।

पञ्चतन्मात्रोत्पत्तिः

तैजसादिन्द्रियाण्यासंस्तन्मात्राक्रमयोगतः ॥ १९ ॥

अभूदिति । तस्मान्महतस्त्रिविधोऽहङ्कारः सृष्टिभेदतो जातः । वैकारिकास्तैजसो भूतादिश्चेति । तदुक्तम्—

अव्यक्तमेव तु व्यक्तं तन्महन्नामलक्षणम् ।
ततोऽहङ्कारतत्त्वं स्यात् सत्त्वादिगुणभेदकम् ॥
सोऽहङ्कारस्त्रिभेदः स्यात् पृथक् सत्त्वादिभेदतः ।
वैकारः सात्विको नाम तैजसो राजसः स्मृतः ।
भूतादिस्तामसस्तेऽपि पृथक् तत्त्वान्यवासृजन् ॥ इत्यादि ।

तत्तत्कार्यं वदन्नेवं त्रैविध्यमुन्मीलयति वैकारिकादित्यादिना। शक्तिसामरस्यविकृतपरमेश्वरादुत्पन्नत्वात् वैकारिकत्वमस्य । तदुत्पन्नत्वाद् देवानामपि तथात्वम् । सांख्यमतेऽपि गुणोद्रेकविकृतप्रधानोत्पत्तेस्तादृक्त्वम् ॥ १८ ॥

तानेवाह दिगित्यादि । अश्वीत्यश्विनीकुमारौ यद्यप्येतौ द्वौ तथापि सहचारित्वात् सहजातत्वादेकत्वेनोक्तिः । उपेन्द्रो विष्णोरेकामूर्त्तिः । मित्रस्तृतीयः सूर्यः । तदुक्तं 'मित्रो भानुस्तृतीयकः' इति । को ब्रह्मण एका मूर्त्तिः । चन्द्रोऽपि ज्ञेयः । एते इन्द्रियाधिष्ठातृदेवा इति ज्ञेयम् । यदाहुः—

वैकारिका दिगाद्या ये चन्द्रेणैकादश स्मृताः ।
इन्द्रियाणामधिष्ठातृदेवास्ते परिकीर्त्तिताः ॥ इति ।

तैजसादिति । तैजसादहङ्कारादिन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि मनश्च । तदुक्तम्—

यच्चापरं मनस्तत्त्वं ससङ्कल्पविकल्पकम् ।
तैजसादेव सञ्जातम् । इति ।

अन्यत्रापि—तैजसतस्तत्र मनो वैकारितो भवन्ति चाक्षाणि ।
भूतादेस्तन्मात्राण्येषां यत् सर्गोऽयमेतस्मात् ॥ इति ।

अक्षाणि अक्षाधिष्ठातृदेवताः । सांख्यमते वैकारिकादहङ्कारात् तैजसाहङ्कारमिलितात् इन्द्रियाण्यासन्निति । एवं तैजसाहङ्कारसहिताद् भूतादेरपि तन्मात्रोत्पत्तिः । तदुक्तम्—

सात्त्विक एकादशकः प्रवर्त्तते वैकारिकादहङ्कारात् ।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसः तैजसादुभयम् ॥ इति ॥ १९ ॥

उस महत्तत्त्व से सृष्टिभेद के कारण वैकारिक, तैजस एवं भूतादि रूप तीन अहंकारों की उत्पत्ति हुई । वैकारिक अहंकार से दश वैकारिक देव, १. दिक्, २. वात, ३. अर्क, ४. प्रचेता, ५. अश्विनी, ६. अग्नि, ७. इन्द्र, ८. उपेन्द्र, ९. मित्र (द्वादश आदित्यों में तृतीय) और १०. ब्रह्मा उत्पन्न हुये । वैकारिक अहंकार से उत्पन्न होने के कारण ये देव भी वैकारिक कहे जाते हैं जो इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवता हैं । ग्यारहवाँ चन्द्रमा भी हैं जो मन के अधिष्ठातृ देवता हैं । तैजस अहंकार से पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, एकादश मन तथा तन्मात्राओं (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द) की उत्पत्ति हुई ॥ १८-१९ ॥

पञ्चभूतोत्पत्तिः

भूतादिकादहङ्कारात् पञ्चभूतानि जज्ञिरे ।
शब्दात् पूर्वं वियत् स्पर्शाद् वायू रूपाद्धुताशनः ॥ २० ॥

भूतवर्णनिरूपणम्

रसादम्भः क्षमा गन्धादिति तेषां समुद्भवः ।
स्वच्छं वियन्मरुत् कृष्णो रक्तोऽग्निर्विशदं पयः ॥ २१ ॥
पीता भूमिः पञ्चभूतान्येकैकाधारतो विदुः ।
शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा भूतगुणाः स्मृताः ॥ २२ ॥

भूतेति । भूतादिकादहङ्कारात्तन्मात्राक्रमयोगतः पञ्चभूतानि जज्ञिरे इति सम्बन्धः । कः स्वार्थिकः । तत्रादौ आकाशादीनां कारणभूताः पञ्चतन्मात्रा जाताः । शब्दतन्मात्रास्पर्शतन्मात्रा-रूपतन्मात्रा-रसतन्मात्रा-गन्धतन्मात्राः । एताभ्य आकाश-वायुतेजोजलपृथिवीरूपाणि पञ्चभूतान्युत्पन्नानि । उक्तञ्च—

शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
तन्मात्राण्येव विषया भूतादेरभवन् क्रमात् ॥
ततः समभवद्व्योम शब्दतन्मात्ररूपकम् ।
स्पर्शात्मकस्ततो वायुस्तेजोरूपात्मकं ततः ॥
आपो रसात्मिकास्तस्मात् ताभ्यो गन्धात्मिका मही ।
ततः स्थूलानि भूतानि पञ्च तेभ्यो विराडपि ॥ इति ।

तत्र भूतोत्पत्तिप्रकारमाह शब्दादिति । शब्दतन्मात्रात् आकाशः स्पर्शतन्मात्रातो वायुः रूपतन्मात्रातोऽग्निः रसतन्मात्रातो जलं गन्धतन्मात्रातः पृथिवी । केचित् पूर्वपूर्वानुविद्धानामेषां कारणत्वमाहुः पूर्वशब्दसामर्थ्यात् । तदुक्तम्—

शब्दाद्व्योम स्पर्शतस्तेन वायुस्ताभ्यां रूपाद्वह्निरेभ्यो रसाच्च ।
अम्भांस्येभिर्गन्धतो भूः । इति ।

पञ्चभूतवर्णानुपदिशति स्वच्छमिति । स्वच्छं श्वेतम् । अत्र केषाञ्चिदरूपि द्रव्याणां वर्णकथनम् उपासनार्थं स्वशास्त्रानुरोधेन । तेषां स्वरूपमन्यत्रोक्तम्—

खमपि सुषिरचिह्नमीरणः स्याच्चलनपरः परिपाकवान् कृशानुः ।
जलमपि रसवद् घना धरा । इति ।

एतैस्तानि ज्ञायन्ते इत्यर्थः । एकैकाधारत इति । स्वस्वकारणाधाराणीत्यर्थः ।

तदुक्तम्— परस्परानुप्रविष्टैर्महाभूतैश्चतुर्विधैः ।
व्याप्ताकाशैर्जगत् सर्वं दृश्यं निष्पाद्यतेऽखिलम् ॥ इति ।

अन्यत्रापि—व्योम्नि मरुदत्र दहनस्तत्रापस्तासु संस्थिता पृथ्वी । इति ।

भूतगुणाः तत्तद्विशेषगुणा इति नैयायिकाः । यद्वा शब्दो गुणो वियतः । शब्दस्पर्शौ वायोः । तौ रूपञ्चाग्नेः । रसेन सह तानि जलस्य । गन्धेन सह पञ्च

पृथिव्या इति सांख्याः । इदमेव स्फोटयितुमेकैकाधारत इत्युक्तिः । उक्तञ्च ईशान-शिवेनशब्दैकगुण आकाशः शब्दस्पर्शगुणो मरुत् ।

शब्दस्पर्शरूपगुणैस्त्रिगुणं तेज इष्यते ॥
शब्दस्पर्शरूपरसगुणैरापश्चतुर्गुणाः ।
शब्दस्पर्शरूपरसगन्धैः पञ्चगुणा मही ॥ इति ॥ २०-२२ ॥

भूतादि अहंकारों से (तन्मात्राओं के योग द्वारा) पृथ्वी आदि पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति हुई । सर्वप्रथम शब्द तन्मात्रा से आकाश, स्पर्श तन्मात्रा से वायु, रूप तन्मात्रा से हुताशन (तेज), रस तन्मात्रा से जल और गन्ध तन्मात्रा से पृथ्वी उत्पन्न हुई । इसप्रकार पञ्चमहाभूत उत्पन्न हुये । उसमें आकाश का वर्ण स्वच्छ है, वायु का काला, अग्नि (तेज) का लाल तथा जल का विशद (स्वच्छ) और पृथ्वी का वर्ण पीत है । ये सभी अपने अपने कारणों के गुण को भी धारण करते हैं । यथा—आकाश में शब्द, वायु में स्पर्श और शब्द, तेज में रूप, स्पर्श एवं शब्द, जल में रस, रूप, स्पर्श और शब्द तथा पृथ्वी में गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द—ये गुण हैं ॥ २०-२२ ॥

भूतमण्डलस्वरूपम्

वृत्तं दिवस्तत् षड्बिन्दुलाञ्छितं मातरिश्वनः।
त्रिकोणं स्वस्तिकोपेतं वह्नेरर्धेन्दुसंयुतम् ॥ २३ ॥
अम्भोजमम्भसो भूमेश्चतुरस्रं सवज्रकम् ।
तत्तद्भूतसमाभानि मण्डलानि विदुर्बुधाः ॥ २४ ॥

भूतमण्डलान्याह—वृत्तमिति । दिवः आकाशस्य वृत्तम् । तद्वृत्तमेव समभागेन वृत्तपरिधिरेखामध्ये षड्बिन्दुलाञ्छितं मातरिश्वनः वायोः । त्रिकोणमूर्द्धाग्रम् । 'ऊर्द्ध्वं वह्निरधः शक्तिः' इत्युक्त्वात् । अन्यत्रापि—

इन्द्रराक्षसवायव्यकोणैस्तद्वह्निमण्डलम् । इति ।

स्वस्तिकोपेतं त्रिकोणसम्पातरेखाः सम्वर्द्ध्य तत्र स्वस्तिकाकारं कुर्यादित्यर्थः ।

तदुक्तम्—हृदि त्रिकोणं निर्गच्छत् स्वस्तिके रक्ततेजसि । इति ।

स्वस्तिकं नाम परस्परसम्बद्धं विदिग्गतचतुर्वक्त्रं रेखाद्वयम् । वह्नेरिति पूर्वेणान्वयेति । अर्द्धेन्दुसंयुतम् अम्भोजमम्भस इति सम्बन्धः । अर्द्धेन्दौ संयुतम् अर्द्धेन्दुसंयुतमिति । सप्तमीति योगविभागात् समासः । यद्वा अर्द्धेन्दु अम्भोजं संयुतम् उभयं मिलितम् अम्भसो मण्डलं तेनार्द्धेन्दु कृत्वा तदुभयभागे सरोजद्वयं कुर्यादिति ।

यदुक्तमाचार्यैः—अब्जोपेतार्द्धेन्दुमद् बिम्बमाप्यम् । इति ।

अन्यत्रापि—अर्द्धचन्द्रं द्रवं सौम्यं शुभ्रमम्भोजसंयुतम् । इति ।

प्रयोगसारेऽपि—अब्जाङ्कोऽर्द्धेन्दुरम्भसः । इति ।

अन्यत्रापि—तेषां क्रमेण शशिबिम्ब समन्तदेव
षड् बिन्दुमद्दहनशस्त्रयुतं त्रिकोणम् ।
अम्भोजयुग्मशशिखण्ड समानरूपं
वेदास्त्रकं सदशनन्विह मण्डलानि ॥ इति ।

मन्त्रतन्त्रप्रकाशेऽपि—चन्द्रार्द्धमण्डलं वापि श्वेतं पङ्कजयुग्मयुक् । इति ।

स्वायम्भुवे नारसिंहेऽपि—आप्यमर्द्धेन्दुपद्माङ्कितम् । इति ।

यस्तु अष्टदलपद्मं कृत्वा तद्दलाग्रेषु अर्द्धचन्द्राकारान् कुर्यात् इति वदति स्म स भ्रान्त एव । अन्ये तु अर्द्धचन्द्रं कृत्वा तन्मध्ये पद्मं लिखेदिति वदन्ति । तदपि भूतलिपिपटले वक्ष्यमाणत्वात् अत्र न वाच्यम् । सवज्रकं चतुरस्रं भूमेरिति सम्बन्धः। चतुरस्रसम्पातरेखाः सम्वर्द्ध्य अष्टवज्राणि कुर्यादिति केचित् । सम्प्रदायविदस्तु चतुरस्ररेखास्वेव अष्टवज्राणि कार्याणीति वदन्ति । तदुक्तम् शौनककल्पे—

भूम्रहं चतुरस्रं स्यादष्टवज्रविभूषितम् । इति ।

हिरण्यगर्भसंहितायामपि—बाह्ये वज्राष्टभूषितं चतुष्कोणं शुभमथो । इति । आचार्यास्तु—'वसुकुलिशगम्' इति । ग्रन्थकारोऽपि—'वज्रेष्वष्टसु' इति ।

अन्योन्याभिमुखतया त्रिवक्त्रं रेखाद्वयं परस्परसंबद्धं वज्रम् । परस्परसम्बद्धमध्यं रेखाद्वयमिति केचित् । मण्डलध्यानमाह तत्तदिति । अनेन भूम्यादौ मण्डललिखने तत्तद्वर्णरजोभिश्च पूरणमप्युक्तं भवति ॥ २३-२४ ॥

अब इन **पञ्चभूतों का मण्डल** कहते हैं—आकाश का मण्डल वृत्ताकार (गोला) है, उस वृत्त परिधि की रेखा में छः बिन्दु अंकित कर देने से वह वायु का मण्डल हो जाता है । त्रिकोण की संपात रेखाओं को बढ़ाकर उसे स्वस्तिकाकार बना देने पर उससे युक्त त्रिकोण अग्नि का मण्डल होता है । कमल को चन्द्राकार दो भागों में विभक्त कर देने पर निष्पन्न अर्धचन्द्राकार दो कमल जल का मण्डल हो जाता है । तथा चौकोर और अष्ट वज्र विभूषित मण्डल पृथ्वी का मण्डल कहा जाता है । पञ्चभूतों में जिस नाम के जो जो मण्डल बनाए जायँ उन्हें उन उनके वर्णों से पूर्ण भी करना चाहिए ॥ २३-२४ ॥

विमर्श—दो परस्पर संबद्ध रेखाओं को आमने सामने तीन जगह मोड़ देवे तो उसे वज्र कहते हैं । इस प्रकार चतुरस्र में एक ओर की रेखा में दो वज्र हुये चारों रेखाओं में कुल ८ वज्र हुये । भूमि में जिसका मण्डल बनावे, उसे उसके वर्ण से पूर्ण करना चाहिए ॥ २३-२४ ॥

पञ्चभूतकलाः

वर्णैः स्वैरञ्चितान्याहुः स्वस्वनामावृतान्यपि ।
धरादिपञ्चभूतानां निवृत्त्याद्याः कलाः स्मृताः ॥ २५ ॥
निवृत्तिः सप्रतिष्ठा स्याद् विद्या शान्तिरनन्तरम् ।
शान्त्यतीतेति विज्ञेया नाददेहसमुद्भवाः ॥ २६ ॥

वर्णैर्द्वितीये वक्ष्यमाणभूतवर्णैः । स्वस्वनामावृतान्यपीत्यस्याप्ययमर्थः । वक्ष्यमाणभूतलिपियन्त्रेषु यः कर्णिकालिखितो मन्त्रस्तेनावृतानीति । साम्प्रदायिकाश्चैवं मन्यन्ते । 'कलात्मनः' इति पूर्वमुक्तेः भूतकारणभूताः बिन्दुतत्त्वनिर्गताः शक्तीः । संहारक्रमेण प्रयोगाद्यर्थमाह धरेति । धरादिपञ्चभूतानामुत्यादिका इति शेषः । तदुक्तं वायवीयसंहितायाम्—

शक्तिः प्रथमसम्भूता शान्त्यतीतपदोत्तरा ।
शान्त्यतीतपदं शक्तेस्ततः शान्तिपदं क्रमात् ॥
ततो विद्यापदं तस्मात् प्रतिष्ठापदसंग्रहः ।
निवृत्तिपदमुत्पन्नं प्रतिष्ठापदतः परम् ॥
एवमुक्ता समासेन सृष्टिरीश्वरचोदिता ।
आनुलोम्यादथैतेषां प्रातिलोम्येन संहतिः ॥
अस्मात् पञ्चपदोद्दिष्टात्र सृष्ट्यन्तरमिष्यते ।
कलाभिः पञ्चभिर्व्याप्तं यस्माद् विश्वमिदं जगत् ॥ इति ।

नादेति । नादाद् देहो यस्य स नाददेहो बिन्दुः तत्समुद्भवा इति । यद्वा तासां स्थूलवाचकांशमाह नाददेहसमुद्भवा इति । नादो हकारः नादस्य ध्वनेर्देह उत्पत्तिर्यस्मात् स नाददेहो वायुस्तेन यः । धर्मधर्मिणोरभेदात् देहशब्देनोत्पत्तिरुक्ता । 'मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति ध्वनिम्' इत्युक्तेर्नादोत्पत्तिहेतुत्वं तस्य । समुद्दीप्यमाना भा दीप्तिर्यस्येति समुद्धोऽग्निस्तेन रः । व स्वरूपम् । तत्र हयरवलानां क्रमेण ग्रहणे कर्त्तव्ये यच्चतुर्णामेव ग्रहणं कृतवान् तेन लकारोऽप्यस्तीति ज्ञेयम् । प्रथमतो नादग्रहणाद् बिन्दुयोगोऽप्येषां ज्ञेयः । एतानि विलोमेन तन्मात्राबीजानि । अथवा नादो हकारस्तस्य देहः स्वरूपं तत्र समुद्भवः स्थितिर्येषां एवम्भूता आईकारादयः आ ई ऊ ऐ औकाराः । एषां सबिन्दुकत्वञ्च ज्ञेयम् । तदुक्तं त्रिकोणोत्तरे—

नादाख्यं यत् परं बीजं सर्वभूतेष्ववस्थितम् ।
मूर्त्तिदं परमं दिव्यं सर्वसिद्धिप्रदायकम् ।
शान्तं सर्वगतं शून्यं मात्रापञ्चकसंस्थितम् ॥ इति ।

केचन क्रमेण एषां ल व र य ह योगमाहुः । तद्यथा—ह्लाँ ह्वीँ ह्रूँ ह्यैँ ह्हौँ । एतानि अपञ्चीकृतभूतबीजानि । अथवा नादो हकारः । शरीरस्य पृथिव्यंशाधिक्याद् देहशब्देन लकारस्तस्य समुद्भवः स्थितिर्यत्र स नाददेहसमुद्भवः । येषु आकारादिषु ते नाददेहसमुद्भवाः । अत्र क्रमेण लवरयह योगमाहुः । तद्यथा—ह्लां हल्वीं ह्रूं हल्यैं ह्हौं । एतानि पञ्चीकृतभूतबीजानि । भूतबीजानामेव तदभिमानिनिवृत्त्यादिबीजत्वं ज्ञेयम् । तदुक्तमाचार्यैः 'नादकलादिभूता' इति ॥ २५-२६ ॥

अब **पृथ्व्यादि पञ्च महाभूतों की कला** कहते हैं—पृथ्व्यादि पञ्चभूतों की निवृत्ति आदि कलायें कही गई हैं ॥ २५ ॥

विमर्श—यहाँ प्रथम आकाश की कला कहनी चाहिए थी—किन्तु संहार क्रम से कलाओं का वर्णन करते हैं ॥ २५ ॥

पृथ्वी की कला का नाम निवृत्ति, जल की कला का नाम प्रतिष्ठा, तेज की

कला का नाम विद्या, वायु की कला का नाम शान्ति तथा आकाश की कला का नाम शान्त्यतीता है जो वायु से समुद्भूत है ॥ २६ ॥

जगतः पञ्चभूतात्मकत्वम्

पञ्चभूतात्मकं सर्वं चराचरमिदं जगत् ।

चराचरस्वरूपम्

अचरा बहुधा भिन्ना गिरिवृक्षादिभेदतः॥ २७ ॥

एवं भूतान्युक्त्वा जगतस्तदात्मकत्वमाह पञ्चेति । एतेन त्रिवृत्करणपक्षः पञ्चीकरणपक्षोऽपि सूचितः । तत्र ये तैजसा देवाः तेषामपि शरीरार्द्धो भागः तैजसः पृथिव्याश्चतुर्थांशः चतुर्थांशो जलस्येति त्रिवृत्करणपक्षः । पञ्चीकरणपक्षे तु पृथिव्याश्चत्वारोंऽशा अन्येषामष्टमोऽष्टमोंऽशः । एवमन्यत्रापि । तदुक्तम्—

द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः ।
स्वस्वेतर द्वितीयांशैर्योजनात् पञ्च पञ्च ते ॥ इति ।

अथवा—षडंशास्तेजसः पृथिवीजलवाय्वाकाशानां दशमो दशमोंऽशः । एवं पार्थिवे अस्मदादिशरीरेऽपि षड्भागाः पृथिव्याः अन्येषां दशमो दशमोंऽशः । एवं वरुणादिलोकनिवासिनामाप्यादिशरीराणामपि अवगन्तव्यम् । तदुक्तम्—

पृथिव्यादीनि भूतानि प्रत्येकं विभजेद् द्विधा ।
एकैकं भागमादाय पञ्चधा विभजेत् पुनः ॥
एकैकभागमेकैकं भूते संवेशयेत् क्रमात् ।
तत आकाशभूतस्य स्वभागाः षड् भवन्ति हि ॥
वाय्वादिभागाश्चत्वारो वाय्वादिष्वेवमादिशेत् ।
पञ्चीकरण मेतत्स्यादित्याहुस्तत्त्ववेदिनः ॥ इति ।

अन्यत्र विशेषः—

अस्थि मांसं त्वचं स्नायु रोम एव तु पञ्चमम् ।
इति पञ्चविधा प्रोक्ता पृथिवीं कठिनात्मिका ॥
लाला मूत्रं तथा शुक्रं शोणितं मज्ज पञ्चमम् ।
अपां पञ्च गुणा एते द्रवरूपाः प्रकीर्त्तिताः ॥
क्षुधा तृष्णा भयं निद्रा आलस्यं क्षान्तिरेव च ।
ऊष्णात्मका गुणा एते तेजसः परिकीर्त्तिताः ॥
धावनं वल्गनं भुक्तिराकुञ्चनं प्रसारणम् ।
एते पञ्च गुणा वायोः क्रियारूपा व्यवस्थिताः ॥
रागद्वेषौ तथा लज्जा भयं मोहस्तथैव च ।
व्योम्नः पञ्चगुणा एते शून्याख्ये सुषिरात्मनि ॥ इति ।

चरं जङ्गमम् । अचरं स्थावरम् । चरेषु बहुवक्तव्यत्वात् प्रथमोद्दिष्टं तं विहायाचरानाह अचरा इति । तत्र ते चराः स्वेदाण्डजजरायुजा इति वक्ष्यति । तेन शिष्टत्वादेषामौद्भिदत्वमुक्तम् । यदाहुः—

देहश्चतुर्विधो ज्ञेयो जन्तोरुत्पत्तिभेदतः ।
उद्भिज्जः स्वेदजोऽण्डोत्थश्चतुर्थस्तु जरायुजः ।
उद्भिद्य भूमिं निर्गच्छेदौद्भिदः स्थावरस्तु सः ॥ इति ।

एषामुत्पत्तिप्रकारोऽन्यत्रोक्तः—

उद्भिदः स्थावरा ज्ञेयास्तृणगुल्मादिरूपिणः ।
तत्र सिक्ता जलैर्भूमिरन्तरूष्मविपाचिता ॥
वायुना व्यूह्यमाना तु बीजत्वं प्रतिपद्यते ।
तथा चोप्तानि बीजानि संसिक्तान्यम्भसा पुनः ॥

उच्छूनत्वं मृदुत्वञ्च मूलभावं प्रयान्ति च । तन्मूलादङ्कुरोत्पत्तिस्तस्मात् पर्णसमुद्भवः । पर्णात्मकं ततः काण्डं काण्डाच्च प्रसवः पुनः ॥ इति ॥ २७ ॥

यह सारा चराचरात्मक जगत् पञ्चभूतात्मक है । जिसमें अचरों के गिरि वृक्षादि भेद से अनेक प्रकार होते हैं ।

विमर्श—यहाँ चराचर में पञ्चभूत हैं यह कह कर त्रिवृत्करण पक्ष और पञ्चीकरण पक्ष दोनों ही सूचित करते हैं । जैसे देवताओं का तैजस शरीर हैं किन्तु उसमें आधा तैजस है चतुर्थांश पृथ्वी का और चतुर्थांश जल का यह त्रिवृत्करण पक्ष हुआ । पञ्चीकरण पक्ष में तेज के छः भाग और पृथ्वी जल, वायु, आकाश के दशम दशम भाग समझना चाहिए ॥ २७ ॥

चराणां त्रिभेदः

चरास्तु त्रिविधाः प्रोक्ताः स्वेदाण्डजजरायुजाः ।
स्वेदजाः क्रिमिकीटाद्या अण्डजाः पन्नगादयः ॥ २८ ॥

विभागपूर्वकं चरानुद्दिशति चरास्त्विति । जनेः प्रत्येकं सम्बन्धं दर्शयन् तद्विशेषानाह स्वेदजा इत्यादिना । कृमिकीटाद्या इति उभयोरपिदंशकत्वादंशकत्वाभ्यां भेदः । आदिशब्देन पतङ्गादीनां ग्रहणम् ।

यदाहुः—कृमिकीटपतङ्गाद्याः स्वेदजा नाम देहिनः । इति ।

तदुत्पत्तिप्रकारोऽन्यत्र दर्शितः—

स्वेदजं स्विद्यमानेभ्यो भूवह्न्यद्भ्यः प्रजायते । इति ।

तेनैषामयोनिजत्वमुक्तम् । यदुक्तं प्रयोगसारे-

किन्त्वत्र स्वेदजा ये तु ज्ञेयास्ते चाप्ययोनिजाः ।
स्थिरा विवायवो भिन्नाश्चत्वारिंशत्सहस्रधा ॥ इति ।

पन्नगादय इत्यादिशब्देन पक्षिकच्छपादिग्रहणम् । यदाहुः—

अण्डजाः पक्षिणः सर्वे नक्रमत्स्याश्च कच्छपाः । इति ।

तदुत्पत्तिप्रकारोऽपि—

अण्डजो वर्त्तुलीभूताच्छुक्रशोणितसंयुतात् ।
कालेन भिन्नात्पूर्णात्मा निर्गच्छन् प्रक्रमिष्यति ॥ इति ॥ २८॥

स्त्रीपुंनपुंसकोत्पत्तौ हेतुः

जरायुजा मनुष्याद्यास्तेषु नृणां निगद्यते ।
उद्भवः पुंस्त्रियोर्योगात् शुक्रशोणितसंयुतात् ॥ २९ ॥
बिन्दुरेको विशेद् गर्भमुभयात्मा क्रमादसौ ।
रजोऽधिके भवेन्नारी भवेद्रेतोऽधिकः पुमान् ।
उभयोः समतायान्तु नपुंसकमिति स्थितिः ॥ ३० ॥

जरायुर्गर्भाशयो जालिकारूपः । मनुष्याद्या इत्यादिशब्देन पश्वादयः । एषां संख्योक्ता प्रयोगसारे—

योनिजाः प्राणिनो भिन्नाश्चतुःषष्टिसहस्रधा । इति ।

तेषु नृणां निगद्यते उद्भव इति सम्बन्धः । यतः सर्वशास्त्रस्य मनुष्याधिकारित्वात् । शोणित संयुतादित्यनेन तस्याप्रधानतोक्ता । अतः पुत्रः पितृजात्यादियुक्तः ।

तथाच महाभारते—माता भस्त्रा पितुः पुत्रो येन जातः स एव सः । इति । भस्त्रा वाय्वाधारं चर्ममयम् । उभयात्मा शुक्रशोणितात्मा अतएवाग्नीषोमात्मा एको बिन्दुर्गर्भं विशेत् । क्रमादसावित्युत्तरेण सम्बध्यते । असौ बिन्दुः रजोऽधिकः क्रमान्नारी भवेत् । रेतोऽधिकः क्रमात् पुमान् भवेदिति योजना । अत्राधिक्यमुक्त प्रमाणतो ज्ञेयम् । उक्तप्रमाणसाम्ये नपुंसकोत्पत्तिरित्यपि ज्ञेयम् । यदाहुः—

द्वाविंशती रजोभागाः शुक्रमात्राश्चतुर्दश ।
गर्भसञ्जनने काले पुंस्त्रियोः सम्भवन्ति च ॥
नारी रजोऽधिकेंऽशे स्यान्नरः शुक्राधिकेंऽशके ।
उभयो रुक्तसंख्यायां स्यान्नपुंसकसम्भवः ॥ इति ।

क्रमादित्यनेन नैतदुक्तं भवति । स एवं बिन्दुर्वायुना पृथग् भिन्नः बह्वपत्यतां जनयतीति । यदाहुः—वाग्भटे शारीरस्थाने—शुक्रार्त्तवे पुनः पुनः ।

वायुना बहुशो भिन्ने यथास्वं बह्वपत्यता ॥
वियोनिविकृताकारा जायन्ते विकृतैर्मलैः ।
पूर्णषोडशवर्षा स्त्री पूर्णविंशेन संगता ॥
शुद्धे गर्भाशये मार्गे रक्ते शुक्रेऽनिले हृदि ।
वीर्यवन्तं सुतं सूते ततो न्यूनाब्दयोः पुनः ॥
रोग्यल्पायुरधन्यो वा गर्भो भवति नैव वा ॥ इति ॥ २९-३०॥

स्वेदज, अण्डज और जरायुज भेद से चर के तीन भाग हैं । जिसमें कृमि कीट आदि स्वेदज हैं । पक्षि, कच्छप सर्पादि अण्डज हैं और मनुष्य आदि जरायुज हैं । उन तीनों में मनुष्यों की उत्पत्ति का प्रकार कहते हैं । पुरुष और स्त्री के संयोग से जब शुक्र शोणित योनि में एकत्रित हो जाते हैं तो मनुष्य की उत्पत्ति होती है ॥ २८-२९ ॥

शुक्र शोणित उभयात्मक अथवा अग्नीषोमात्मक एक बिन्दु गर्भ में प्रविष्ट होता है, यदि उस बिन्दु में रज की अधिकता होती है तो स्त्री और रेत की अधिकता होने पर पुरुष पैदा होता है, किन्तु जब दोनों समान समान होते हैं, तो नपुंसक की उत्पत्ति होती है ॥ ३० ॥

बिन्दौ जीवसञ्चारः

पूर्वकर्मानुरूपेण मोहपाशेन यन्त्रितः।
कश्चिदात्मा तदा तस्मिन् जीवभावं प्रपद्यते॥ ३१ ॥

तस्मिन् बिन्दौ जीवसञ्चारमाह पूर्वेति । पूर्वजन्मशतसञ्चितकर्मणां मध्ये फलदानोन्मुखं प्रबलमेकं पुण्यपापात्मकं सुखदुःखोभयात्मकफलकं मनुष्यशरीरोपभोगयोग्यं यत् कर्म तदनुरूपेण मोहपाशेन अविद्यारूपेण यन्त्रितो बद्धः उत्पद्यते । एतेन नित्यस्यात्मनोऽनुत्पत्तिरुक्ता । गृहमिव देहमात्मा प्रविष्ट इत्यर्थः । कश्चिदिति । 'नानात्मानो व्यवस्थातः' इति कणादसूत्रानुसारात् । 'पुरुषबहुत्वं सिद्धम्' इति सांख्योक्तेश्च । वेदान्तनये तु अविद्याकल्पितो भेदोऽङ्गीकर्त्तव्यः । अन्यथा यद्यात्मज्ञानेनाविद्या नष्टा तदा—

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।

इति वचनात् पूर्वसञ्चितकर्मणां फलदानासामर्थ्यादग्रिमकर्मनिर्लेप एव नास्ति ।

न लिप्यते कर्मभिः स पद्मपत्रमिवाम्भसा ।

इति वचनात् तस्यैकत्वात् मुक्तत्वाच्च अवतार एव न स्यात् । इत्यवतारकारणं मोहपाशेनेत्युक्तम् । तदुक्तमध्यात्मविवेके—

अस्ति ब्रह्म चिदानन्दं स्वयंज्योतिर्निरञ्जनम् ।
सर्वशक्तिः च सर्वज्ञं तदंशा जीवसंज्ञकाः ॥
अनाद्यविद्योपहिता यथाग्नेर्विस्फुलिङ्गकाः ।
दीर्घाद्युपाधिसंभिन्नास्ते कर्म्भभिरनादिभिः ॥
सुखदुःखप्रदैः पुण्यपापरूपैर्नियन्त्रिताः ।
तत्तज्जातियुतं देहमायुर्भोगञ्च कर्मजम् ॥
प्रतिजन्म प्रपद्यन्ते । इति ॥ ३१ ॥

अब उस **बिन्दु में जीव सञ्चार की प्रक्रिया का वर्णन** करते हैं—

पूर्वजन्म के किये गये सञ्चित कर्मों (में जब फलदानोन्मुख कोई प्रबल पुण्यपापात्मक कर्म जिसका फल सुख दुःख अथवा उभयात्मक है और जो मनुष्य शरीर के द्वारा भोगा जा सकता है, उस कर्म) के अनुरूप (अविद्या रूप) मोहपाश से बँधने के कारण जीव शरीर में प्रविष्ट होता है, (मनुष्य जैसे घर में प्रवेश करता है, उसी प्रकार कर्म पाश में बँधा हुआ जीव भोगायतन शरीर में प्रवेश करता है) इस प्रकार आत्मा जीवभाव को प्राप्त करता है ॥ ३१ ॥

गर्भाशये जीवसञ्चारः

अथ मात्राहृतैरन्नपानाद्यैः पोषितः क्रमात् ।

गर्भस्थजन्तोर्वृद्धिक्रमः

दिनात् पक्षात् ततो मासाद् वर्द्धते तत्त्वदेहवान् ॥ ३२ ॥

अथेति । अत्र प्रकारो योगार्णवे—

आविश्य भुक्तमाहारं स वायुः कुरुते द्विधा ।
संप्रविश्यान्त्रमध्यस्थं पृथक् किट्टं पृथग् जलम् ॥
अग्नेरूर्द्ध्वं जलं स्थाप्य तदन्नञ्च जलोपरि ।
जलस्याधः स्वयं प्राणः स्थित्वाग्निं धमते शनैः ॥
वायुना व्यूह्यमानोऽग्निरत्युष्णं कुरुते जलम् ।
अन्नं तदुष्णतोयेन समन्तात् पच्यते पुनः ॥
द्विधा भवति तत् पक्वं पृथक् किट्टं पृथग् रसम् ।
रसेन तेन ता नाडीः प्राणः पूरयते पुनः ॥
प्रतर्पयन्ति सम्पूर्णास्ताश्च देहं समन्ततः ।
मातृ रसवहा नाडी मनुविद्धा पराभिधा ॥
नाभिस्थनाडीगर्भस्य मात्राहृतरसावहा । इति ।

दिनादिति । तदुक्तम्—

त्रसरेणुद्वयं जन्तुः क्षणमात्रेण वर्द्धते ।
नाडिकामात्रतो यूका युगलञ्च मुहूर्त्ततः ।
यूकानां वेदसंख्यञ्च दिनमात्राद् यवद्वयम् ॥ इति ।

योगार्णवे च— कललं चैकरात्रेण पञ्चरात्रेण बुद्बुदम् ।
शोणितं दशरात्रेण मांसपेशी चतुर्दशे ॥
घनमांसञ्च विंशाहे पिण्डीभावोपलक्षितम् ।
पञ्चविंशति पूर्णाहे पलं सर्वाङ्कुरायते ॥
एकमासे तु सम्पूर्णे पञ्चभूतानि धारयेत् ।
मासद्वये तु सम्प्राप्ते शिरोमेदः प्रजायते ॥
मज्जास्थि च त्रिभिर्मासैः केशाङ्गुल्यश्चतुर्थके ।
कर्णाक्षिनासिकानाञ्च रन्ध्रं मासे तु पञ्चमे ॥
आस्यरन्ध्रोदरं षष्ठे पायुरन्ध्रञ्च सप्तमे ।
सर्वाङ्गसन्धि सम्पूर्णं मासैरष्टभिरिष्यते ॥ इति ।

अध्यात्मविवेके तु विशेषः—

द्रवत्वं प्रथमे मासे कललाख्यं प्रजायते ।
द्वितीये तु घनः पिण्डः पेशी बड्घनमर्वुदम् ॥
पुंस्त्रीनपुंसकानां तु प्रायोऽवस्थाः क्रमादिमाः ।
तृतीये त्वङ्कुराः पञ्च कराङ्घ्रिशिरसो मताः ॥

अङ्गप्रत्यङ्गभागाश्च सूक्ष्माः स्युर्युगपत्तदा ।
विहाय श्मश्रुदन्तादीन् जन्मानन्तरसम्भवान् ॥
एषा प्रकृतिरन्या तु विकृतिः सम्मता सताम् ।
चतुर्थे व्यक्तता तेषां भावानामपि जायते ॥
मातृजश्चास्य हृदयं विषयानभिकाङ्क्षति ।
अतो मातुर्मनोऽभीष्टं कुर्याद् गर्भविवृद्धये ॥
ताञ्च द्विहृदयां नारीमाहुर्दोहदिनीं बुधाः ।
अदानाद्दोहदानां स्युर्गर्भस्य व्यङ्गतादयः ॥
मातुर्यद्विषयालाभस्तदार्त्तो जायते सुतः ।
गर्भः स्यादर्थवान् भोगी दोहदाद् राजदर्शने ॥
अलङ्कारे सुललितो धर्मिष्ठस्तापसाश्रमे ।
देवतादर्शने भक्तो हिंस्रो भुजगदर्शने ॥
गोधाशने तु निद्रालुर्बली गोमांसभक्षणे ।
माहिषेण तु रक्ताक्षं लोमशं सूयते सुतम् ॥
प्रवृ(बु)द्धं पञ्चमे पिण्डं (त्तं) मांसशोणितपुष्टता ।
षष्ठेऽस्थिस्नायुनखरकेशरोमविविक्तता ॥
बलवर्णौ चोपचितौ सप्तमे त्वङ्गपूर्णता ।
अष्टमे त्वक्श्रुती स्यातामोजश्चेतश्च हृद्भवम् ॥
शुद्धमापीतरक्तञ्च निमित्तं जीविते मतम् ।
पुनरम्बां पुनर्गर्भं चञ्चलं तत् प्रधावति ॥
अतो जातोऽष्टमे मासे न जीवत्योजसोज्झितः ॥ इति ।

याज्ञवल्क्योऽपि— पुनर्धात्रीं पुनर्गर्भमोजस्तस्य प्रधावति ।
अष्टमे मास्यतो गर्भो जातः प्राणैर्वियुज्यते ॥ इति ।

एवं यदा ओजो बाले भवेत्तदा माता न जीवतीति ज्ञेयम् । यदा तूभयोर्हृदि तदोजो न स्यात् तदोभयोरपि जीवनं नेति ज्ञेयम् । तत्त्वदेहवान् चतुर्विंशति तत्त्वात्मकशरीरः । तत्त्वान्यनन्तरमेव वक्ष्यति ॥ ३२ ॥

वहाँ वह माता के द्वारा खाये गये अन्न से पोषित होकर क्रमशः दिन पक्ष और एक महीने में (चतुर्विंशति) तत्त्वात्मक शरीर धारण कर वृद्धि को प्राप्त करता है ॥ ३२ ॥

दोषदूष्यनिरूपणम्

दोषैर्दूष्यैः सुखं प्राप्तो व्यक्तिं याति निजेन्द्रियैः ।
वातपित्तकफा दोषा दूष्याः स्युः सप्त धातवः ।
त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि तान् विदुः ॥ ३३ ॥

दोषैरिति । सुखं यथा स्यात् तथा दोषैः दूष्यैः प्राप्तः निजेन्द्रियैर्व्यक्तिं याति । अनेनाष्टममासपर्यन्तं वृद्धिरुक्ता । दोषादीनेवाह वातेति । तानिति धातून् । एषां पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरं प्रति कारणता ज्ञेया । तदुक्तं सुश्रुते—

रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि धातवः ।
भवन्त्यन्योन्यतः सर्वे प्रचिताः पित्ततेजसा ॥ इति ।

ननु कथं त्वचोऽसृजं प्रति कारणता इति चेत् सत्यम् । त्वगसृजी तु रसत उत्पन्ने ।

तदुक्तम्—रसः न नाडीमध्यस्थः शारीरेणोष्मणा भृशम् ।
पच्यते पच्यमानाच्च भवेत् पाकद्वयं पुनः ।
चर्मावेष्ट्य समन्ताच्च रुधिरञ्च प्रजायते ॥ इति ।

अन्यत्रापि—त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिः मज्जशुक्राणि धातवः ।
सप्त स्युस्तत्र चोक्ता त्वक् रक्तं जाठरवह्निना ॥
पक्वाद्भवेदन्नरसादेवं रक्तादिभिस्तथा ।
स्वस्वकोशाग्निना पक्वैर्जन्यन्ते धातवः क्रमात् ॥ इति ।

नारायणीये तु त्वगित्यादि पठित्वा रसासृगिति पठन्त्येके इत्युक्तम् ॥ ३३ ॥

वह सुखपूर्वक क्रमेण वात, पित्त, कफ तथा सप्त धातुओं को प्राप्त कर धीरे-धीरे अपने इन्द्रियों के द्वारा अभिव्यक्त होता है । वात, पित्त एवं कफ की 'दोष' संज्ञा है और सप्त धातुओं की 'दूष्य' संज्ञा है । वे सप्त धातु १. त्वक्, २. असृङ्, ३. मांस, ४. मेद, ५. अस्थि, ६. मज्जा और ७. शुक्र नामों से कहे गये हैं ॥ ३३ ॥

इन्द्रियव्यापारनिरूपणम्

ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रं त्वग् दृग् जिह्वा नासिका विदुः ।
ज्ञानेन्द्रियार्थाः शब्दाद्याः स्मृताः कर्मेन्द्रियाण्यपि ॥ ३४ ॥
वाक्पाणिपादपाय्वन्धुसंज्ञान्याहुर्मनीषिणः ।
वचनादानगतयो विसर्गानन्दसंयुताः ॥ ३५ ॥

अन्तःकरणस्य चातुर्विध्यम्

कर्मेन्द्रियार्थाः संप्रोक्ता अन्तःकरणमात्मनः ।
मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तञ्च परिकीर्तितम् ॥ ३६ ॥

व्यक्तिं याति निजेन्द्रियैरित्युक्तम् । तानीन्द्रियाणि तत्प्रसङ्गात्तेषां विषयानप्याह ज्ञानेति । अर्थशब्दो विषयवाची उभयत्रापि । शब्दाद्याः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः । पूर्वं भूतगुणेषु उक्तेरत्रादिनोक्तिः इत्यवधेयम् । अन्धु लिङ्गम् । आत्मनः ग्राहकमिति शेषः। तेन मनसो विषय आत्मा इत्युक्तं भवति । अन्तःकरणस्यैव चातुर्विध्यमाह मन इत्यादिना । तत्र सङ्कल्पविकल्पात्मकं मनः । सर्वभावनिश्चयकारिणी बुद्धिः । ज्ञात्रभिमानयुक्तोऽहङ्कारः । निर्विकल्पकं चित्तम् । इत्येतेषां भेदः । तदुक्तम्—

एषा शक्तिः परा जीवरूपिणी प्रोक्तलक्षणा ।
सङ्कल्पश्च विकल्पश्च कुर्वाणा तु मनो भवेत् ॥
बुद्धिरूपा तथा सर्वभावनिश्चयकारिणी ।
ज्ञात्र्यस्मीत्यभिमानाद्या सैवाहङ्कारसंज्ञिता ॥

निर्विकल्पात्मिका सैव खलु चित्तस्वरूपिणी ।
एवमेकैव बहुधा नर्त्तकीव प्रतीयते ॥ इति ॥ ३४-३६ ॥

१. कान, २. त्वक्, ३. नेत्र, ४. जिह्वा और ५. नासिका—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ कही गई हैं । इन ज्ञानेन्द्रियों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये विषय हैं । अब कर्मेन्द्रियों को कहता हूँ ॥ ३४ ॥

वाणी (मुख) हाथ, पैर, गुदा और लिङ्ग नाम से विद्वानों ने इन्हें अभिहित किया है । इनका क्रम से बोलना, ग्रहण करना, चलना, मलत्याग करना और आनन्द करना यह काम कहा गया है ॥ ३५ ॥

इस प्रकार हमने कर्मेन्द्रियों एवं उनसे किये जाने वाले कार्यों को कहा है । मन, बुद्धि, अहङ्कार तथा चित्त के भेद से अन्तःकरण के चार भेद कहे गये हैं ॥ ३६ ॥

सांख्योक्त-तत्त्वकथनम्

दशेन्द्रियाणि भूतानि मनसा सह षोडश ।
विकाराः स्युः प्रकृतयः पञ्च भूतान्यहङ्कृतिः ॥ ३७ ॥
अव्यक्तं महदित्यष्टौ तन्मात्राश्च महानपि ।
साहङ्कारा विकृतयः सप्त तत्त्वविदो विदुः ॥ ३८ ॥

एवं पूर्वं भूतानि इन्द्रियाण्यप्युक्त्वा तेषां मिलितानां संज्ञान्तराण्यप्याह दशेति श्लोकद्वयेन । अथवा तत्त्वदेहवानित्युक्तं तानि तत्त्वान्याह दशेति । विकारादि संज्ञास्तत्प्रसङ्गसङ्गत्या उक्ता इति ज्ञेयम् । यद्वा सूचीकटाहन्यायेन दोषान् दूष्यानुक्त्वा तत्त्वदेहवानित्युद्दिष्टानि तत्त्वानि । तानि कानीत्यपेक्षायामाह ज्ञानेत्यादि । कर्मेन्द्रियार्थाः सम्प्रोक्ताः पृथिव्यादय इत्यर्थः । तेन पञ्चभूतानि दशेन्द्रियाणि दशेन्द्रियार्था एवं पञ्चविंशतितत्त्वानि । यदाहुः—

भूतेन्द्रियेन्द्रियार्थैरुद्दिष्टस्तत्त्वपञ्चविंशतिकः । इति ।

अथच विसर्गानन्दसंयुता इति भिन्नपदकरणेन पायूपस्थयोः विसर्गस्यैव कार्यत्वात् आनन्दरहितत्वेन चतुर्विंशतिरेव तत्त्वमुक्तं भवति । यदाहुः—

व्यानन्दकैश्च तैरपि तत्त्वचतुर्विंशतिस्तथा प्रोक्ता । इति ।

मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तञ्च इत्यनेन वचनादिव्यावर्त्तनेन एतच्चतुष्टययुक्तत्वेन चतुर्विंशतिर्वा तत्त्वानि इत्युक्तं भवति । यदाहुः—

करणोपेतैरेतैस्तत्त्वान्युक्तानि रहितवचनाद्यैः । इति ।

सांख्यमतोक्तचतुर्विंशतितत्त्वानि वदन् तेषां कियतामपि तत्प्रसिद्धाः संज्ञा अप्याह दशेति । अनेन दशेन्द्रियाणि पञ्चभूतानि पञ्चतन्मात्राः मनः अहङ्कारः बुद्धिः प्रधानं प्रकृतिरिति चतुर्विंशतितत्त्वानि इत्युक्तम् । ग्रन्थकृदेव पञ्चमे वक्ष्यति—

पञ्च भूतानि तन्मात्रा इन्द्रियाणि मनस्तथा ।
गर्वो बुद्धिः प्रधानञ्च मैत्राणीति विदुर्बुधाः ॥ इति ।

विकाराः स्युरित्येषां नित्यकार्यरूपत्वेन विकारता । अष्टौ प्रकृतय इति सम्बन्धः । उत्तरोत्तरं प्रतिकारणत्वादेषां प्रकृतित्वम् । अत्र भूतानीति भूतशब्देन तन्मात्रा उच्यन्ते । कारणे कार्योपचारात् । भूतानां केवलकार्यत्वेन विकारेषूक्तत्वात् । अग्रे तन्मात्रा इति परामर्शाच्च । यदाहुः—

अप्राकृतिकानि सप्त प्रकृतिविकृतिसंज्ञकानि स्युः । इति ।

अव्यक्तं प्रधानापरपर्याया प्रकृतिरित्यर्थः । अव्यक्तं महदिति । छन्दोऽनुरोधाद् गोपनार्थं वा व्यत्ययः । साव्यक्तं महदिति वा पाठः । यतोऽत्र संहारक्रमो विवक्षितः।

यदाहुः—चतुर्विंशतितत्त्वानि प्रकृत्यन्तानि संजगुः । इति ।

अन्यत्र सृष्टिक्रमापेक्षयोक्तम् अव्यक्तं महदहङ्कृतिभूतानीति । तन्मात्राश्च इति। साहङ्कार इति तन्मात्रविशेषणं तेन व्यत्ययः । चकारेण प्रकृतय इत्यस्य समुच्चयः । तेनैते सप्तप्रकृतिविकृतिशब्दवाच्या इत्यर्थः । उत्तरोत्तरं प्रति पूर्वपूर्वस्य प्रकृतिभूतत्वात् पूर्वपूर्वं प्रति उत्तरोत्तरस्य विकृतिभूतत्वादेषां प्रकृतिविकृतित्वम् ।

यदाहुः— मूलप्रकृति रविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥ इति ।

उपसंहरति तत्त्वविदो विदुरिति। अयमर्थः । ज्ञानेन्द्रियाणीत्यादि एतदन्तं यत्तत्त्वनिरूपणं मया कृतं तत् तत्त्वविदामपि सम्मतमिति । अथ वा तत्त्वविदो विदुरित्यनेन पूर्वप्रकारत्रयोक्ततत्त्वानि नास्मत्सम्मतानि । अपितु एतानि प्रकृत्यन्तान्येव चतुर्विंशतितत्त्वानि । पुरुषान्तानि पञ्चविंशतिः । परान्तानि षड्विंशतिः अस्मत्सम्मतानीत्युक्तं भवति । इयं योजना साम्प्रदायिकी । तदुक्तं वायवीयसंहितायाम्—

त्रयोविंशतितत्त्वेभ्यः परा प्रकृतिरुच्यते ।
प्रकृतेस्तु परं प्राहुः पुरुषं पञ्चविंशकम् ॥
तस्य प्रकृतिलीनस्य यः परः स महेश्वरः ।
तदधीनप्रवृत्तित्वात् प्रकृतेः पुरुषस्य च ॥ इति ।

केचनान्यथा योजयन्ति । भूतादिकाहङ्कारसृष्टिमुक्त्वा तैजसादिन्द्रियाण्यासन् इत्युद्दिष्टानीन्द्रियाणि तत्प्रसङ्गात्तेषां विषयानप्याह ज्ञानेत्यादि परिकीर्त्तितमित्यन्तेन । उत्तरव्यवहारशेषतया केषाञ्चिन्मन्त्राणां वर्णतत्त्वन्यासयोगादिशेषतया च विकारादि दर्शयति दशेत्यादि । तत्त्वविद इदं विदुः । एषां तत्रान्तर्भावात् तत्त्वविद्भिरेताः संज्ञाः कृता इत्यर्थः ॥ ३७-३८ ॥

दश इन्द्रियाँ, पञ्च महाभूत और मन—ये १६ विकार हैं । पञ्चभूत, अहङ्कार महत्तत्व और अव्यक्त—ये आठ प्रकृतियाँ हैं । पञ्चतन्मात्रा, महत्तत्त्व और अहङ्कार—ये सात विकृतियाँ हैं—ऐसा तत्त्ववेत्ता लोग कहते हैं ॥ ३७-३८ ॥

देहस्य अग्नीषोमात्मकत्वम्

अग्नीषोमात्मको देहो बिन्दुर्यदुभयात्मकः।
दक्षिणांशः स्मृतः सूर्यो वामभागो निशाकरः॥ ३९ ॥

एवं प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रकृतमाह अग्नीति । देहः अग्नीषोमात्मकः । कुत इत्यपेक्षायां हेतुमाह यद् यस्मात् कारणादुभयात्मको बिन्दुः । शुक्रमग्निरूपं रक्तं सोमरूपम् एतदात्मकः । यदाहुः—

> कलाषोडशकश्चन्द्रः स्याद् द्वादशकलो रविः ।
> कलादशयुतो वह्निः कलाष्टत्रिंशदंशभुक् ॥
> सप्त(अष्ट)त्रिंशद् भवन्तीह गर्भाधानस्य हेतवे ।
> अग्नीषोमात्मकं तेन गीयते सचराचरम् ॥
> कलांशकेन योगेन भूयाद् गर्भस्य सम्भवः ॥ इति ।

एवमप्यग्नीषोमात्मकत्वमित्यर्थः । अग्नीषोमात्मको देहः इत्युक्तम् । तयोः प्रयोगादिविशेषतया देशविशेषे व्यवहाराय स्थितिमाह दक्षिणांश इति । अत्र शास्त्रे दक्षिणभागः क्वचिदग्निशब्देन क्वचित् सूर्यशब्देनापि व्यवह्रियते । 'अग्नेर्यो दक्षिणो भागः' इत्युक्तेः । वायवीयसंहितायामपि—

> द्विधा वै तैजसी वृत्तिः सूर्यात्मा चानलात्मिका । इति ॥ ३९ ॥

यह शरीर अग्नीषोमात्मक है, क्योंकि जिस बिन्दु से यह शरीर बना है, उसमें शुक्र शोणित का संयोग है । शुक्र अग्नि स्वरूप है और शोणित सोमात्मक है । इस प्रकार शरीर अग्नीषोमात्मक हुआ । अब शरीर में अग्नीषोमा का स्थान निर्देश करते हैं, इस शरीर का दाहिना भाग सूर्य या अग्नि है और बायाँ भाग चन्द्रमा है ॥ ३९ ॥

नाडीनिरूपणम् । इडादिस्थितिस्वरूपम्

नाडीर्दश विदुस्तासु मुख्यास्तिस्रः प्रकीर्त्तिताः ।
इडा वामे तनोर्मध्ये सुषुम्णा पिङ्गला परे ॥ ४० ॥

पूर्वोक्तसूर्यनिशाकरयोः स्थितिमुपपादयितुं शरीरे नाडीराह नाडीरिति । तासु अनन्तासु दशनाडीः मुख्या विदुरित्यन्वयः । नाड्योऽनन्ता इति वक्ष्यमाणत्वात् । तासु दशस्वपि तिस्रो मुख्याः प्रकीर्त्तिताः । तासु मुख्या इति पदस्य चावृत्त्या योजना । प्रकीर्त्तिता इत्यस्योपादानमन्यथा विदुरित्यनेनैव गतार्थत्वात् । उक्तञ्च तत्राद्यास्तिस्रः । अत्रावृत्तिकरणं मुख्यतमाः स्मृता इति । तासामेव स्थितिमाह इडेति । तनोरिति त्रिषु स्थानेषु सम्बध्यते । वामे इडा वाममुष्कोत्था धनुर्वक्रा सती वामनासापर्यन्तं गतेत्यर्थः। तनोर्मध्ये पृष्ठवंशान्तर्गता सुषुम्णा । 'या मुण्डाधारदण्डान्तरविवरगता' इत्युक्तेः । परे दक्षिणे दक्षिणमुष्कोत्था धनुर्वक्रा दक्षिणनासापर्यन्तं गतेत्यर्थः । यदाहुः—

> या वाममुष्कसम्बद्धा सा श्लिषन्ती सुषुम्णाया ।
> दक्षिणं वृक्कमाश्रित्य धनुर्वक्रा हृदि स्थिता ॥
> वामांशजत्र्वन्तरगा दक्षिणां नासिकामियात् ।
> यथा दक्षिणमुष्कोत्था नासाया वामरन्ध्रगा ॥ इति ।

तन्त्रान्तरेऽपि—

> सुषुम्णाकल्पिता याता मुष्कं दक्षिणमाश्रिता ।
> हृद्गता वामभागस्य जत्रुमध्यं समाश्रिता ॥

दक्षिणं नासिकाद्वारं प्राप्नोति गिरिजात्मजे ।
वाममुष्कसमुद्भूता तथाऽन्या सव्यनासिकाम् ॥ इति ।

अनयोः स्वरूपमुक्तं योगार्णवे—

इडा च शङ्खकुन्दाभा तस्याः सव्ये व्यवस्थिता ।
पिङ्गला सितरक्ताभा दक्षिणं पार्श्वमाश्रिता ॥ इति ।

अनेन पिङ्गलेडयोः क्रमेण सूर्याचन्द्रमसोः स्थितिरुक्ता भवति ।

'इडायां सञ्चरेच्चन्द्रः पिङ्गलायां दिवाकरः'—इत्युक्तेः ॥ ४० ॥

ऐसे तो शरीर में अनन्त नाडियाँ हैं, किन्तु उसमें दश मुख्य नाडियाँ हैं, उन दशों में भी तीन नाड़ियाँ मुख्यतम हैं—१. शरीर के मध्य में **इडा** वाम अण्डकोश से धनुष के समान वक्र होकर बाईं नासिका तक जाती है । २. शरीर के मध्य में **सुषुम्ना** पीठ की ओर से दण्डाकार रीढ़ की हड्डी से होती हुई ब्रह्मरन्ध्र तक जाती है । ३. पिङ्गला दाहिने अण्डकोश से धनुषाकार वक्र होकर दाहिनी नासिका पर्यन्त जाती है ॥ ४० ॥

मध्या तास्वपि नाडी स्यादग्नीषोमस्वरूपिणी ॥ ४१ ॥

सुषुम्णाया मुख्यत्वं वदन् तत्स्वरूपमाह मध्येति । तास्वपीत्यपिशब्दात् मुख्येत्यनुषज्यते । तासु तिसृषु मध्या सुषुम्णा मुख्या । 'सुषुम्णैव च तासु नाडी' इत्युक्तेः । सा कीदृशी अग्नीषोमस्वरूपिणी । मुख्यत्वे हेतुत्वेन योज्यम् । यतः पूर्वोक्तसोमाग्निरूपयोरिडापिङ्गलयोः अत्रैव लयात् । तदुक्तं—'राहोरास्यगतः' इति। अनेनास्या ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं स्थितिरित्यप्युक्तम् । यदाहुः—

तयोः पृष्ठवंशमाश्रित्य मध्ये सुषुम्णा स्थिता ब्रह्मरन्ध्रं तु यावत् ।

इति ॥ ४१ ॥

सुषुम्ना नाड़ी इडा और पिङ्गला के मध्य में रहती है, यह तीनों नाड़ियों में सबसे मुख्य है, जो अग्निषोमात्मिका है । ऊपर हम कह आये हैं कि यह पीठ की ओर से ब्रह्मरन्ध्र तक जाती है ॥ ४१ ॥

गान्धारी हस्तिजिह्वा च सुपूषालम्बुषा मता ।
यशस्विनी शङ्खिनी च कुहूः स्युः सप्तनाडयः ॥ ४२ ॥

शिष्टानां सप्तानां नामान्याह गान्धारीति । आसां स्थितिस्वरूपञ्चोक्तम् योगार्णवे—

इडापृष्ठे तु गान्धारी मयूरगलसन्निभा ।
सव्यपादादिनेत्रान्ता गान्धारी परिकीर्त्तिता ॥
हस्तिजिह्वोत्पलप्रख्या नाडी तस्याः पुरःस्थिता ।
सव्यभागस्य मूर्द्धादिपादाङ्गुष्ठान्तमाश्रिता ॥
पूषा तु पिङ्गलापृष्ठे नीलजीमूतसन्निभा ।
याम्यभागस्य नेत्रान्ताद् यावत् पादतलं गता ॥

अलम्बुषा पीतवर्णा कण्ठमध्ये व्यवस्थिता ।
यशस्विनी शङ्खवर्णा पिङ्गलापूर्वदेशगा ॥
गान्धार्याश्च सरस्वत्या मध्यस्था शङ्खिनी मता ।
सुवर्णवर्णा पादादि कर्णान्ता सव्यभागके ॥
पादाङ्गुष्ठादिमूर्द्धान्तं याम्यभागे कुहूर्मता । इति ।

अन्यैस्तु वारणा सरस्वती विश्वोदरा पयस्विनी एता अपि मुख्यत्वेनोक्ताः । यदाहुः—

ताश्च भूरितरास्तासु मुख्याः प्रोक्ताश्चतुर्दशः ।
सुषुम्णेडापिङ्गला च कुहूरथ सरस्वती ॥
गान्धारी हस्तिजिह्वा च वारणा च यशस्विनी ।
विश्वोदरा शङ्खिनी च ततः पूषा पयस्विनी ॥
अलम्बुषा । इति ।

अन्यत्रापि—चतुर्दशात्र यद्देहे प्राधाना नाडयः स्मृताः । इति ।

आसां ध्यानं संस्थानञ्च ग्रन्थगौरवभयान्नोक्तम् । मुख्या इत्यनेनैव सूचिताः ॥ ४२ ॥

ऊपर दश नाडियाँ मुख्य हैं, यह कह आये हैं जिसमें तीन का विवरण दिया गया शेष सात नाडियों के नाम का निर्देश करते हैं—१. गान्धारी, २. हस्तिजिह्वा, ३. सुपूषा, ४. अलम्बुषा, ५. यशस्विनी, ६. शङ्खिनी और ७. कुहू—ये सात नाडियाँ है ॥ ४२ ॥

नाड्योऽनन्ताः

नाड्योऽनन्ताः समुत्पन्नाः सुषुम्णापञ्चपर्वसु ।
मूलाधारोद्गतप्राणस्ताभिर्व्याप्नोति तत्तनुम् ॥ ४३ ॥

एवं मुख्या नाडीरुक्त्वा सामान्या आह नाड्य इति । सुषुम्णापञ्चपर्वसु अनन्तानाड्यः समुत्पन्नाः । पञ्चपर्वाणि स्वाधिष्ठानमणिपूरकानाहतविशुद्धाज्ञान्तानि । तत्राधोधोग्रन्थिमारभ्योर्द्ध्वोर्द्ध्वग्रन्थिपर्यन्तं पर्वसमाप्तिः । यद्यपि 'ग्रन्थिर्ना पर्वपरुषी' इति कोशः 'इक्षुपर्वावधिः स्मृतः' इति व्यवहारश्च तथाप्यत्र षण्णां ग्रन्थीनां सत्त्वादेवं व्याख्यातम् । आश्वलायनश्रौतसूत्रभाष्यकारेण 'पर्वण्यं जपेत्' इत्यत्र पर्वशब्दस्यैवं व्याकृतत्वात् । एतदभिप्रायेणैव वक्ष्यति 'मध्यमाङ्गुलिपर्वणि' इति । सुषुम्णायामेतेषु पर्वसु इडापिङ्गलयोर्योगो भवतीति ज्ञेयम् । अनन्ता इति गणयितुमशक्यत्वादानन्त्यम् । यदाहुः—

पूर्वोक्तायाः सुषुम्णाया मध्यस्थायाः सुलोचने ।
नाभिहृत्कण्ठदेशभ्रू मध्यपर्वसमुद्भवाः ॥
अधोमुख्यः शिराः काश्चित् काश्चिदूर्द्ध्वमुखास्तथा ।
परास्तिर्यग्गतास्त्याश्च तत्र लक्षत्रयाधिकाः
नाड्योऽर्द्धलक्षसंख्याताः प्रधानाः समुदीरिताः ।
तासु सर्वासु बलवान् प्राणो वायुः समन्ततः ॥
संस्थितः सर्वदा व्याप्तः । इति ।

अध्यात्मविवेके तु विशेषः—

अस्थ्नां शरीरे संख्या स्यात् षष्टियुतं शतत्रयम् ।
त्रीण्येवास्थिशतान्यत्र धन्वन्तरिरभाषत ॥
द्वे शते त्वस्थिसन्धीनां स्यातामत्र दशोत्तरे ।
पेशीस्नायुशिरासन्धिः सहस्रद्वितयं मतम् ॥
नव स्नायुशतानि स्युः पञ्चपेशीशतान्यपि ।
अधिका विंशतिः स्त्रीणां स्तनयोर्दिग् भगे दश ॥
शिराधमनिकानान्तु लक्षाणि नवविंशतिः ।
सार्द्धानिस्युर्नवशती षट्पञ्चाशद्युता तथा ॥ इति ।

तन्नाडीनां फलमाह मूलेति । वक्ष्यमाणेभ्यो भिन्नो मुख्यो देहधारकप्राणाभिधो वायुः । यदाहुः—

राजसः प्राणसंज्ञस्यान्मुख्यो देहस्य धारकः ।
तद्भेदा दश विख्याता यैर्व्याप्तं स्याच्छरीरकम् ॥ इति ।

सा चासौ तनुश्च ताम् पूर्वोक्तं शरीरम् ॥ ४३ ॥

सुषुम्ना नाडी में स्वाधिष्ठान, मणिपूर अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्र—ये पाँच पर्व हैं, इन पर्वों से अनन्त नाडियाँ उत्पन्न हुई हैं । मूलाधार से उद्गत प्राण इन नाडियों से सारे शरीर में व्याप्त रहता है ॥ ४३ ॥

दशवायवः । दशाग्नयः

वायवोऽत्र दश प्रोक्ता वह्नयश्च दश स्मृताः ।
प्राणाद्या मरुतः पञ्च नागः कूर्मो धनञ्जयः ॥ ४४ ॥
कृकलः स्याद् देवदत्त इति नामभिरीरिताः ।
अग्नयो दोषदूष्येषु संलीना दश देहिनः ॥ ४५ ॥

तद्भेदान् वदन् प्रसङ्गादग्नीनप्याह—वायवोऽत्रेति । तन्नामान्येवाह प्राणाद्या इति । आदिशब्देनापानव्यानोदानसमानाः प्रसिद्धत्वेनादिनोक्तिः । तत्र विशेषो योगार्णवे—

इन्द्रनीलप्रतीकाशं प्राणरूपं प्रकीर्त्तितम् ।
आस्यनासिकयोर्मध्ये हृन्मध्ये नाभिमध्यगे ॥
प्राणालय इति प्राहुः पादाङ्गुष्ठेऽपि केचन ।
अपानयत्यपानोऽयमाहारञ्च मलायितम् ॥
शुक्रं मूत्रं तथोत्सर्गमपानस्तेन मारुतः ।
इन्द्रगोपप्रतीकाशः सन्ध्याजलदसन्निभः ॥
स च मेढ्रे च पायौ च ऊरुवङ्क्षणजानुषु ।
जङ्घोदरे कृकाट्याञ्च नाभिमूले च तिष्ठति ॥
व्यानो व्यानशयत्यन्नं सर्वव्याधिप्रकोपनः ।
महारजतसुप्रख्यो हानोपादानकारकः ॥

स चाक्षिकर्णयोर्मध्ये काट्यां वै गुल्फयोरपि ।
घ्राणे गले स्फिगुद्देशे तिष्ठत्यत्र निरन्तरम् ॥
स्पन्दयत्यधरं-वक्त्रं गात्रनेत्रप्रकोपनः ।
उद्वेजयति मर्माणि उदानो नाम मारुतः ॥
विद्युत्पावकवर्णः स्यादुत्थानासनकारकः ।
पादयोर्हस्तयोश्चापि स तु सन्धिषु वर्त्तते ॥
पीतं भक्षितमाघातं रक्तपित्तकफानिलान् ।
समं नयति गात्राणि समानो नाम मारुतः ॥
गोक्षीरसदृशाकारः सर्वदेहे व्यवस्थितः ।
उद्गारे नाग इत्युक्तो नीलजीमूतसन्निभः ॥
उन्मीलने स्थितः कूर्म्मो भिन्नाञ्जनसमप्रभः ।
कृकरस्तु क्षुते चैव जवाकुसुमसन्निभः ॥
विजृम्भने देवदत्तः शुद्धस्फटिकसन्निभः ।
धनञ्जयस्तथा घोषे महारजतवर्णकः ॥
ललाटे चोरसि स्कन्धे हृदि नाभौ त्वगस्थिषु ।
नागाद्या वायवः पञ्च सहैव परिनिष्ठिताः ॥ इति ।

आचार्यास्तुधनञ्जयाख्यो देहेऽस्मिन् कुर्यात् बहुविधान् रवान् ।
स तु लौकिकवायुत्वान्मृतञ्च न विमुञ्चति ॥ इति ।

अन्यैस्तु चत्वारो वायवोऽधिका उक्ताः ।

वैरम्भणः स्थानमुख्यः प्रद्योतः प्रकृतस्तथा ।
वैरम्भणादयस्तत्र सर्ववायुवशङ्गताः ॥ इति

अग्नीनां स्थितिमाह अग्नय इति । तेषां नामान्यन्यत्रोक्तानि—

ते जातवेदसः सर्वे कल्माषः कुसुमस्तथा ।
दहनः शोषणश्चैव तपनश्च महाबलः ॥
पिठरः पतगः स्वर्णस्त्वगाधो भ्राज एव च । इति ।

अन्यत्र तु नामान्तराण्युक्तानि—

जृम्भको दीपकश्चैव विभ्रमभ्रमशोभनाः ।
आवसथ्याहवनीयौ च दक्षिणाग्निस्तथैव च ॥
अन्वाहार्यो गार्हपत्य इत्येते दश वह्नयः । इति ।

अन्यैरन्यथोक्तानि— भ्राजको रञ्जकश्चैव क्लेदकः स्नेहकस्तथा ।
धारको रन्धकश्चैव द्रावकाख्यश्च सप्तमः ॥
व्यापकः पावकश्चैव श्लेष्मको दशमः स्मृतः । इति ।

दोषा वातपित्तकफाः । दूष्याः सप्त धातव इति प्रागेवोक्तम् ॥ ४४-४५ ॥

इस शरीर में दश वायु हैं और दश अग्नियाँ भी हैं । प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान ये पाँच प्राण हैं । इनको नाग, कूर्म, धनञ्जय, कृकल और

देवदत्त नाम से भी कहा गया है । दश अग्नियाँ प्राणियों के शरीर में रहने वाले वात, कफ एवं पित्त में तथा सप्त धातुओं में छिपी हुई रहती हैं ॥ ४४-४५ ॥

षडूर्मयः

बुभुक्षा च पिपासा च प्राणस्य मनसः स्मृतौ ।
शोकमोहौ शरीरस्य जरामृत्यू षडूर्मयः ॥ ४६ ॥

एवं प्राणमुक्त्वा तस्य विशिष्टे अवस्थे वदन् प्रसङ्गात् मनःशरीरयोरप्याह बुभुक्षेति । ऊर्मिर्नाम आर्त्त्युत्पादकः अवस्थाविशेषः ॥ ४६ ॥

भूख और प्यास ये प्राण की ऊर्मियाँ हैं, शोक और मोह मन की ऊर्मियाँ हैं और जरा एवं मृत्यु शरीर की ऊर्मियाँ हैं । इस प्रकार कुल ६ ऊर्मियाँ होती हैं (व्याकुलता उत्पन्न करने वाली अवस्था विशेष को ऊर्मि कहते हैं) ॥ ४६ ॥

षट्कोशोत्पत्तिः

स्नायवस्थिमज्जा शुक्रात् त्वङ्मांसास्राणि शोणितात् ।
षाट्कौशिकमिदं प्रोक्तं सर्वदेहेषु देहिनाम् ॥ ४७ ॥

षडूर्मिप्रसङ्गात् षाट्कौशिकं वदन् शुक्रशोणितकार्याणि विविच्याचष्टे स्नाय्विति। शुक्रात् पितुः शुक्रात् स्नाय्वादि । शोणितात् मातुः शोणितात् त्वगादि ।

तदुक्तम्— मातृतस्त्रीणि पितृतस्त्रीणि । इति ।

अन्यत्र तु— मृदवः शोणितं मेदो-मांसं-प्लीहा-यकृद्-गुदः ।
हृन्नाभीत्येवमाद्यास्तु भावा मातृभवा मताः ॥
श्मश्रुलोमकचाः स्नायुशिराधमनयोनखाः ।
दशनाः शुक्रमित्यादि स्थिराः पितृसमुद्भवाः ॥ इति ॥ ४७ ॥

पिता के शुक्र से स्नायु, अस्थि और मज्जा का निर्माण होता है, माता के शोणित से त्वक्, मांस और शोणित का निर्माण होता है । इस प्रकार प्राणी के समस्त देह में छः कोशों की स्थिति है ॥ ४७ ॥

जन्तोर्गर्भाशयस्थितिवर्णनम्

इत्थम्भूतस्तदा गर्भे पूर्वजन्मशुभाशुभम् ।

शुक्रशोणितकार्याणि

स्मरंस्तिष्ठति दुःखात्मा च्छन्नदेहो जरायुणा ॥ ४८ ॥

गर्भाशये तत्स्थिति प्रकारमाह इत्थम्भूत इति । इत्थम्भूत ऊर्वन्तरितहस्तबद्धश्रोत्रः मातृपृष्ठमाश्रितो मोक्षोपायमभिध्यायन्नित्यर्थः । यदाहुः—

पाल्यन्तरितहस्ताभ्यां श्रोत्ररन्ध्रे पिधाय सः ।
उद्विग्नो गर्भसंवासादास्ते गर्भे भयान्वितः ॥

स्मरन् पूर्वानुभूताः स नानायोनीश्च यातनाः ।
मोक्षोपायमभिध्यायन् वर्त्ततेऽभ्यासतत्परः ॥ इति ।

अन्यत्र विशेषः— कृताञ्जलिर्ललाटेऽसौ मातृपृष्ठमभिश्रितः ।
अध्यास्ते सङ्कुचद्गात्रो गर्भे दक्षिणपार्श्वगः ॥
वामपार्श्वाश्रिता नारी क्लीबं मध्याश्रितं मतम् । इति ॥ ४८॥

जीव इस प्रकार गर्भ में शरीर धारण कर अपने पूर्व जन्मों के शुभाशुभ कर्म का स्मरण करता हुआ निवास करता है । उसका शरीर जरायु से आच्छन्न रहता है, जिससे वह बहुत दुःखी रहता है ॥ ४८ ॥

बालोत्पत्तिः

कालक्रमेण स शिशुर्मातरं क्लेशयन्नपि ।
सम्पिण्डितशरीरोऽथ जायतेऽयमवाङ्मुखः ॥ ४९ ॥
क्षणं तिष्ठति निश्चेष्टो भीत्या रोदितुमिच्छति ॥ ५० ॥

कालक्रमेणेति । कालक्रममाह याज्ञवल्क्याः—'नवमे दशमे वापि' इति ।

अन्यत्रापि—समयः प्रसवस्याथ मासेषु नवमादिषु । इति ।

सम्पिण्डितशरीरः सङ्कुचद्गात्रः अवाङ्मुखः अधोमुखः सन् जायते उत्पद्यते। सूतिमारुतैर्नूत्र इति शेषः । यदाहुः—

नवमे दशमे मासि प्रबलैः सूतिमारुतैः ।
निःसार्यते वाण इव जन्तुश्छिद्रेण सज्वरः ॥ इति ।

अन्यत्रापि—क्रियतेऽधःशिराः सूतिमारुतैः प्रबलैस्ततः ।
निःसार्यते रुजद्गात्रो योनिच्छिद्रेण बालकः ॥ इति ।

क्षणं निश्चेष्टस्तिष्ठति भूमाविति शेषः ॥ ४९-५० ॥

कालक्रम से (नवें या दसवें महीने) वह शिशु माता को क्लेश पहुँचाते हुए संकुचित गात्र होकर अधोमुख होकर पृथ्वी पर जन्म लेता है । वह कुछ क्षण के लिए भूमि पर निश्चेष्ट रहकर भय से रोने की इच्छा करता है अर्थात् रोने लगता है ॥ ४९-५० ॥

कुण्डलीतो मन्त्रमयजगदुत्पत्तिः

ततश्चैतन्यरूपा सा सर्वगा विश्वरूपिणी ।
शिवसन्निधिमासाद्य नित्यानन्दगुणोदया ॥ ५१ ॥

एवं शरीरोत्पत्तिपर्यन्तामर्थसृष्टिमुक्त्वा 'तत् प्राप्य' (१. १४) इति सामान्यत उक्तां शब्दसृष्टिं विविच्य वक्तुं भीत्या रोदितुमिच्छति इत्युक्तरोदनस्याप्यव्यक्त-वर्णात्मकत्वाद् वर्णोत्पत्तिप्रकारश्च वदन् सर्वमन्त्राणां सामान्यतः कुण्डलीत उत्पत्तिमाह तत इत्यादि । तदुक्तम्—

मूलाधारात् प्रथममुदितो यस्तु भावः पराख्यः
पश्चात् पश्यन्त्यथ हृदयगो बुद्धियुङ्मध्यमाख्यः ।
वक्त्रे वैखर्यथ रुरुदिषोरस्य जन्तोः सुषुम्णा
बद्धस्तस्माद्भवति पवनप्रेरितो वर्णसङ्घः ॥
स्त्रोतोमार्गस्याविभक्तत्वहेतोस्तत्रार्णानां जायते न प्रकाशः । इति ।

तत्र ततः शरीरोत्पत्त्यनन्तरं चैतन्यरूपा, अतएव शब्दब्रह्ममयी सा देवी कुण्डली परदेवता सर्वगात्रेण गुणिता, अतएव विश्वात्मना सर्वात्मना प्रबुद्धा जातप्रबोधा मन्त्रमयं जगत् सूते इति दूरेण सम्बन्धः । तत्र मूलाधारे कुण्डलीभूत-सर्पवन्नाडी वर्त्तते। तन्मध्ये वायुवशादस्याः सञ्चरणमेव गुणनम् । तत्र चैतन्यरूपा इति स्वरूपाख्यानम् । सा प्रसिद्धाः । सर्वगेति सामान्यतो व्याप्तिर्दर्शिता । विश्वरूपिणीति विषयव्याप्तिः । शिवसन्निधिमासाद्य स्थितेति शेषः । अनेन शैवसिद्धान्ते शक्ति-शब्दवाच्येयमित्युक्तम् । सन्निधिशब्द औपचारिकः। तन्मते शिवशक्त्योरभेदात् । तदुक्तमभिनवगुप्तपादाचार्यैः-

शक्तिश्च शक्तिमद्रूपाद् व्यतिरेकं न वाञ्छति ।
तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहिकयोरिव ॥ इति ।

यद्वा सम्यङ्निधिः स्वरूपं शिवस्वरूपं प्राप्य इत्यर्थः । वक्ष्यति च—'पिण्डं भवेत् कुण्डलिनी शिवात्मा' इति । गुणानां सत्त्वरजस्तमसां उदयो यस्यां सा । नित्यानन्दा चासौ गुणोदया च सा । नित्यानन्देत्यनेन कुण्डलिनीस्वरूपमुक्तम् । गुणोदयेत्यनेन सांख्यमते प्रकृतिवाच्येत्युक्तम् । यदाहुः—

प्रधानमिति यामाहुर्याशक्तिरिति कथ्यते । इति ॥ ५१ ॥

कुण्डलीशक्तेर्विभुत्वम्

दिक्कालाद्यनवच्छिन्ना सर्वदेहानुगा शुभा ।

कुण्डलीशक्तेः स्फूर्त्तिः

परापरविभागेन परशक्तिरियं स्मृता॥ ५२ ॥

अस्या वर्णमयत्वं भूतलिपित्वञ्च

योगिनां हृदयाम्भोजे नृत्यन्ती नित्यमञ्जसा ।
आधारे सर्वभूतानां स्फुरन्ती विद्युदाकृतिः ॥ ५३ ॥

कुण्डलीशक्तेः स्थितिप्रकारः

शङ्खावर्त्तक्रमाद् देवी सर्वमावृत्य तिष्ठति ।
कुण्डलीभूतसर्पाणामङ्गश्रियमुपेयुषी ॥ ५४ ॥

कुण्डलीशक्तेर्देहादिव्याप्तिः

सर्वदेवमयी देवी सर्वमन्त्रमयी शिवा।
सर्वतत्त्वमयी साक्षात् सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरा विभुः ॥ ५५ ॥

इदानीमाध्यात्माधिभूताधिगुणाधिविषयाधिज्यौतिषक्रमेण तस्या व्याप्तिमाहदिक्कालेति । सर्वदेहानुगेति देहव्याप्तिः । परापरविभागः । काचन परशक्तिः तद्विभागेनापि इयं परशक्तिरेव । यदाहुः—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ इति

यद्वा परः स्थूलः अपरो महास्थूलः महदादिः तद्विभागेन परशक्तिः स्थूला शक्तिः। 'स्थूलात् स्थूला' इत्युक्तेः । अनेन महदादिव्याप्तिः । यद्वा सर्वदेहानुगेत्यनेन शब्दतोऽर्थतश्च पुंस्त्रीनपुंसकलिङ्गव्याप्तिर्दर्शिता । शब्दतो यथा शिव इत्युच्यते कुण्डलिनीत्युच्यते प्रधानमित्युच्यते । एवम्भूतापि सा स्त्रीत्वेनैव निर्दिश्यते इत्याह परापरेति । परा प्रकृतिः अपरं पुंनपुंसकप्रकृतिः तद्विभागेन तत्त्यागेन इयं परशक्तिः स्मृता । अयमर्थः । यद्यपि लिङ्गत्रयवाच्या तथापि तूर्णमेवाचलभक्तिभारपरिश्रान्तभक्तजनसमस्ताकाङ्क्षाकल्पवल्ली परशक्तिशब्दवाच्येति । अत एव शुभा रमणीया । यदाहुराचार्याः—

पुंनपुंसकयोस्तुल्याऽप्यङ्गनासु विशिष्यते । इति ।

नित्यक्लिन्नाम्नायेऽपि—

सर्वत्रापि स्थिता ह्येषा कामिनीषु विशेषतः ।
प्रकाशते ततस्तासामतिवृत्तिं न कारयेत् ॥ इति ।

अञ्जसा तत्त्वेन । योगिनां हृदयाम्भोजे नृत्यन्ती नित्यमित्यनेन तैरेव गुरूपदेशेन ज्ञायत इत्यर्थः । 'दृश्या देशिकदेशितैः' इत्युक्तेः । सर्वभूतानां सर्वजन्तूनां आधारे मूलाधारचक्रे स्फुरन्तीत्यनेन स्थाननिर्देशः । विद्युदाकृतिरित्यनेन ध्यानमुक्तम् । यदाहुः— तडित्कोटिप्रख्यां स्वरुचिजितकालानलरुचिम् । इति ।

अथवा अनेनानेकशब्दोत्पत्तिहेतुत्वेनानेकविलासवतीत्युक्तम् । शङ्खमध्ये य आवर्तः स यथा शङ्खमावृत्य तिष्ठति तद्वदियमपि देवीत्यर्थः । इदमवान्तरवाक्यं भिन्नमेव । शङ्खेति कुण्डलीत्यनयोः हेतुहेतुमद्भावेन योजना । कुण्डलीभूताः कुण्डलाकारतां प्राप्ता ये सर्पास्तेषाम् । केचन कुण्डलीति भिन्नं पदं वर्णयन्ति । भूतानि सर्पाश्च एते तथा कुटिलगतयः तद्वदियमपीत्यर्थ इति । तन्न । कुण्डली परदेवतेत्यनेन पुनरुक्तेः । सर्वदेवमयीति देवव्याप्तिः । दिव्यतीति देवी तेजोरूपेत्यर्थः। अनेन तेजोव्याप्तिः । सर्वमन्त्रमयीति मन्त्रव्याप्तिः । शिवा शिवरूपेत्यर्थः । यद्वा शिवा कल्याणरूपा । अनेन कल्याणव्याप्तिः । साक्षात् सर्वतत्त्वमयीति तत्त्वव्याप्तिः । सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरा विभुः इति विरोध परिहारस्तु सूक्ष्मतरा दुर्ज्ञाना । यद्वा सूक्ष्मात् त्रसरेणोरपि सूक्ष्मतरा अन्तःस्थितत्वात् सूक्ष्मतरा अणुतरा । अनेन अण्वादिव्याप्तिर्दर्शिता । तदुक्तम्—

बालाग्रस्य सहस्रधा विदलितस्यैकेन भागेन या
सूक्ष्मत्वात् सदृशी त्रिलोकजननी । इति ।

विभुः इयत्तया ज्ञातुमशक्या ॥ ५२-५५ ॥

अस्याः सोमसूर्याग्निरूपत्वम्

त्रिधामजननी देवी शब्दब्रह्मस्वरूपिणी ।
द्विचत्वारिंशद्वर्णात्मा पञ्चाशद्वर्णरूपिणी ॥ ५६ ॥
गुणिता सर्वगात्रेषु कुण्डली परदेवता ।
विश्वात्मना प्रबुद्‌वा सा सूते मन्त्रमयं जगत् ॥ ५७ ॥

त्रिधामेति सोमसूर्याग्निरूपम् । यद्वा त्रिधामेति स्थानत्रयम् । पातालभूस्वर्गरूपम् । अनेन स्थानव्याप्तिर्दर्शिता । द्विचत्वारिंशद्वर्णात्मेति भूतलिपिमन्त्रमयी । पञ्चाशद्वर्णरूपिणीति मातृकामयी ॥ ५६-५७ ॥

इस प्रकार शरीर की उत्पत्ति पर्यन्त अर्थसृष्टि का क्रम कहकर सामान्य रूप से उक्त शब्दसृष्टि का विवेचन करने के लिए 'भय से रोने की इच्छा करता है' यह कह कर अव्यक्त वर्णात्मक रोदन होने से वर्णोत्पत्ति का प्रकार कहते हुए सभी मन्त्रों में सामान्यतः कुण्डलिनी की उत्पत्ति बतलाते हैं—

इसके बाद चैतन्यरूपा वह (कुण्डलिनी) सर्वत्र व्याप्त होने वाली, विश्व स्वरूपिणी, शिव के सन्निधान को प्राप्त कर, नित्य आनन्द एवं सत्त्वादि गुणों को प्राप्त करने वाली, दिशा और काल से परे, संपूर्ण शरीर में व्याप्त, परम रमणीय एवं परापर विभाग से परशक्ति कही जाने वाली, योगियों के हृत्कमल में तत्त्वतः नित्य नृत्य करने वाली, सम्पूर्ण जन्तुओं के मूलाधार में विद्युत् के समान स्फुरित होने वाली, शङ्खावर्त्त के समान सभी वस्तुओं को आवृत करने वाली, कुण्डलीभूत सर्प के समान आकारवाली, सर्वदेवमयी देवी सर्वमन्त्रमयी शिवा, सर्वतत्त्वमयी, सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर, विभु, सोम, सूर्य एवं अग्नि—इन तीनों प्रकार के तेजों की जननी (अथवा पाताल, भू एवं स्वर्ग रूप तीन स्थानों में व्याप्त) देवी, शब्दब्रह्मस्वरूपिणी, बयालिस वर्णात्मक भूतलिपिमन्त्रमयी, पञ्चाशद् वर्णमातृकारूपा, सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहने वाली तथा परदेवतास्वरूपा कुण्डलिनी सब प्रकार से प्रबुद्ध होकर मन्त्रमय इस जगत् को उत्पन्न करती है ॥ ५१-५७ ॥

कुण्डलीतो विविधमन्त्रोत्पत्तिः

एकधा गुणिता शक्तिः सर्वविश्वप्रवर्त्तिनी ।
वेदादिबीजं श्रीबीजं शक्तिबीजं मनोभवम् ॥ ५८ ॥
प्रासादं तुम्बुरुं पिण्डं चिन्तारत्नं गणेश्वरम् ।
मार्त्तण्डभैरवं दौर्गं नारसिंहवराहजम् ॥ ५९ ॥
वासुदेवं हयग्रीवं बीजं श्रीपुरुषोत्तमम् ।
अन्यान्यपि च बीजानि तदोत्पादयति ध्रुवम् ॥ ६० ॥

एवं सामान्यत उत्पत्तिमुक्त्वा एकद्वयादिविशेषाकारेण शब्दसृष्टिं वदन् प्रसङ्गादन्तरं तज्जगच्छब्दसूचितामर्थसृष्टिमप्यभिधातुमुपक्रमते एकधेति । सर्वं विश्वं

शब्दार्थरूपं तत्प्रवर्त्तिनी तदुत्पादिका शक्तिः । एकधा गुणिता वेदादिबीजमुत्पादयतीति सम्बन्धः । एवमग्रेऽपि बोद्धव्यम् । वेदादिबीजं प्रणवम् अन्त्ये वक्ष्यति । श्रीबीजम् अष्टमे । शक्तिबीजं नवमे। मनोभवं सप्तदशे। प्रासादम् अष्टादशे । तुम्बुरुमेकोनविंशे। पिण्डमुपान्त्ये । चिन्तारत्नमेकोनविंशे । गणेश्वरं त्रयोदशे । मार्त्तण्डभैरवं चतुर्दशे । दौर्गम् एकादशे । नारसिंहं षोडशे । वाराहं पञ्चदशे । वासुदेवं ग्लौं । इदं गोपाल-बीजत्वेनोद्धृतम् । तद्वासुदेवशब्देनोक्तम् । तत् सप्तदशे । नारदपञ्चरात्रोक्तं वियन्मात्रं वासुदेवबीजं वा । हयग्रीवं पञ्चदशे । श्रीपुरुषोत्तममिति श्रीयुक्तपुरुषोत्तममित्युक्तत्वात् शक्तिशक्तिमतोरभेदात् पुरुषोत्तमशक्तिबीजं श्रीपुरुषोत्तमबीजशब्देनोक्तम् । तत् सप्तदशे । अत्र कामबीजमेव पुरुषोत्तमबीजत्वेनोक्तम् ।

यदाहुः— धरयालिङ्गितो ब्रह्मा मायाबिन्दुविभूषितः ।
पुरुषोत्तमसंज्ञोऽत्र देवो मन्मथविग्रहः ॥ इति ।

अन्यान्यपीति चन्द्रबीजबिम्बबीजादीनि ॥ ५८-६० ॥

शब्दार्थरूप से सारे संसार की उत्पादिका शक्ति जब एक गुणित संख्या में रहती है तो वह वेद का आदि बीज (प्रणव), श्री बीज (श्रीँ), शक्तिबीज (ह्रीँ), मनोभव बीज (क्लीँ) प्रासाद, तुम्बुरु, पिण्ड, चिन्तामणि विनायक का मन्त्र, मार्त्तण्ड, भैरव, दुर्गा, नरसिंह, वराह, वासुदेव, हयग्रीव और श्री पुरुषोत्तम बीज एवं इसी प्रकार अन्य एकाक्षर मन्त्रों (जैसे चन्द्रबीज विम्बबीज) को निश्चित रूप से उत्पन्न करती हैं ॥ ५८-६० ॥

यदा भवति सा संवित् द्विगुणीकृतविग्रहा ।
हंसवर्णौ परात्मानौ शब्दार्थौ वासरक्षपे ॥ ६१ ॥
सृजत्येषा परा देवी तदा प्रकृतिपुरुषौ ।
यद्यदन्यज्जगत्यस्यां युग्मं तत्तदजायत ॥ ६२ ॥
त्रिगुणीकृतसर्वाङ्गी चिद्रूपा शिवगेहिनी ।
प्रसूते त्रैपुरं मन्त्रं मन्त्रं त्रैपुटं चण्डनायकम् ॥ ६३ ॥
सौरं मृत्युञ्जयं शक्तिसम्भवं विनतासुतम् ।
वागीशीत्र्यक्षरं मन्त्रं नीलकण्ठं विषापहम् ॥ ६४ ॥

हंसवर्णौ चतुर्दशे । परात्मानौ वर्णाविति सम्बध्यते । परमात्मवाचकावित्यर्थः । तौ सोहंरूपावन्त्ये । प्रकृतिपुरुषाविति । यद्यपि पुरुषोऽनादिस्तथापि मायाशबलि-तत्वेनात्र प्रादुर्भाव उपचारात् । अन्यद्युग्मं यद्जगति अस्याः सकाशादजायतेति सम्बन्धः । तच्च ज्योतिर्मन्त्रादि । त्रैपुरं मन्त्रद्वयं द्वादशे । शक्तिविनायकं त्रयोदशे । यद्यप्यग्रे नवाक्षरयोगाद् द्वादशाक्षरस्तथापि बीजत्रयात्मकत्वं त्रयाणां बीजरूपत्वेन प्राधान्यात् । ह्रीँ श्रीँ ह्रीँ इति तन्त्रान्तरोक्तो वा । पाशाद्यं नवमे । त्र्यक्षरमिति त्रिकण्टकीद्वयं दशमे । विशेषणविशेष्यभावो वा । त्रैपुटं दशमे । चण्डनायकं चण्डेश्वरं विंशे । सौरं चतुर्दशे । मृत्युञ्जयमष्टादशे । शक्तिसम्भवं मन्त्रद्वयं नवमे । शाक्तं शाम्भवमिति पाठे शाम्भवं तन्त्रान्तरोक्तं प्रणवमायाबीजप्रासादात्मकम् ।

विनतासुतं क्षिप ॐ इति तन्त्रान्तरोक्तम् । वागीशीत्र्यक्षरं सप्तमे । वागीशमिति पाठे त्र्यक्षरमिति नवमस्थं शाक्तमेकम् । विषापहं नीलकण्ठमेकोनविंशे ॥ ६१-६४ ॥

यन्त्रं त्रिगुणितं देव्या लोकत्रयं गुणत्रयम् ।
धामत्रयं सा वेदानां त्रयं वर्णत्रयं शुभम् ॥ ६५ ॥
त्रिपुष्करं स्वरान् देवी ब्रह्मादीनां त्रयं त्रयम् ।
वह्नेः कालत्रयं शक्तित्रयं वृत्तित्रयं महत् ।
नाडीत्रयं त्रिवर्गं सा यद्यदन्यत् त्रिधा मतम् ॥ ६६ ॥

यन्त्रं नवमे । गुणत्रयं धामत्रयं चतुर्थे । यद्यप्यथर्ववेदोऽस्ति तथापि होत्रध्वर्यूद्गातृरूपपदार्थत्रयेण यज्ञनिष्पादनात् वेदत्रयमित्युक्तम् । श्रुतिरपि—'सैषा त्रयी विद्या यज्ञे' इति । वर्णत्रयं प्रणवस्य अकारोकारमकाराः । त्रिपुष्करं तीर्थत्रयम् । तस्य ज्येष्ठमध्यमकनीयस्त्वेन त्रित्वम् । स्वरान् उदात्तानुदात्तस्वरितान् । देव्यः गायत्रीसरस्वतीसावित्र्यः । ब्रह्मादीनां ब्रह्मविष्णुमहेश्वराणां त्रयं नवमे । देवीति भिन्ने पदे कुण्डलीविशेषणम् । वह्नेस्त्रयं दक्षिणाग्निगार्हपत्याहवनीयम् । कालत्रयं अतीतवर्त्तमानभविष्यद्रूपम्, प्रातर्मध्याह्नसायंकालरूपं वा । शक्तित्रयं रौद्रीज्येष्ठावामात्मकं तदाद्ये । प्रभावोत्साहमन्त्ररूपं वा । वृत्तित्रयं यजनाध्यापनप्रतिग्रहरूपम् । 'त्रीणि कर्माणि जीविकेति' स्मरणात् । कृषिपाशुपाल्यवाणिज्यं वा वृत्तित्रयम् । महदिति पाठे नाडीत्रयस्य विशेषणत्वेन महदिति योज्यम् । नाडीत्रयं इडापिङ्गलासुषुम्णारूपमाद्ये । त्रिवर्गं धर्मार्थकामाः । 'त्रिवर्गो धर्मकामार्थैः' इत्युक्तेः । अन्यदिति दोषत्रयादि ॥ ६५-६६ ॥

जब वह ज्ञान स्वरूपा कुण्डलिनी द्विगुणित विग्रहा (दुगुने शरीर वाली) होती है तो परमात्मा के वाचक 'हं' 'सः' इन दो वर्णों को, शब्द अर्थ को दिन रात को तथा प्रकृति पुरुष को उत्पन्न करती है । इस प्रकार इस जगत् में जितने भी युग्म युग्म (जोड़े-जोड़े) पदार्थ हैं वे सभी देवी से उत्पन्न हुये हैं ॥ ६१-६२ ॥

जब वह ज्ञानस्वरूपा शिवगेहिनी त्रिगुणित (तीन गुना शरीर वाली) होती हैं, तब त्रिपुरा मन्त्र, शक्तिविनायक मन्त्र, पाशादि त्र्यक्षर मन्त्र, त्रैपुट चण्डेश्वर, सौर, मृत्युञ्जय, शक्ति से उत्पन्न दो मन्त्र, विनता सुत (गारुड़) मन्त्र (यथा 'क्षिप ॐ'), वागीश्वरी का त्र्यक्षर मन्त्र, नीलकण्ठ का विषापह त्र्यक्षर मन्त्र, देवी का त्रिगुणित यन्त्र, तीन लोक, तीन गुण, तीन धाम, वेदत्रयी, वर्णत्रय (ॐकार अकार मकार उकार वर्ण) ज्येष्ठ मध्यमकनीयस्त्वेन तीर्थत्रय, उदात्त, अनुदात्त, एवं स्वरित तीन स्वर ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र इस प्रकार त्रिदेव और गायत्री, सरस्वती, सावित्री तीन देवियाँ, अग्नित्रय (दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य, आहवनीय), कालत्रय (भूत, भविष्यद् वर्तमान अथवा प्रातः, मध्याह्न, सायाह्न) शक्तित्रय (रौद्री, ज्येष्ठा, वामात्मक) वृत्तित्रय (यजन, अध्यापन, प्रतिग्रह अथवा कृषि, वाणिज्य, पाशुपालन), महान् नाडीत्रय (ईडा, पिङ्गला और सुषुम्ना), त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ,

काम), इसके अतिरिक्त और और जो त्रित्व संख्या विशिष्ट पदार्थ (जैसे दोषत्रय आदि) हैं उन्हें उत्पन्न करती हैं ॥ ६३-६६ ॥

चतुः प्रकारगुणिता शाम्भवी शर्मदायिणी ।
तदानीं पद्मिनीबन्धोः करोति चतुरक्षरम् ॥ ६७ ॥
चतुरर्णं महादेव्या देवीतत्त्वचतुष्टयम् ।
चतुरः सागरानन्तःकरणानां चतुष्टयम् ॥ ६८ ॥

पद्मिनीबन्धोरिति । तन्त्रान्तरोक्तः प्रणवमायाहंसवर्णात्मकः । महादेव्या महालक्ष्म्या अष्टमे । देवीतत्त्वचतुष्टयम् आत्मतत्त्वं विद्यातत्त्वं शिवतत्त्वं सर्वतत्त्वञ्चेति। चतुरः सागरानिति । प्रागादिदिगपेक्षया चतुष्ट्यं वस्तुतस्तस्यैकत्वात् । अन्तःकरणानि मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तरूपाणि ॥ ६७-६८ ॥

सूक्ष्मादींश्चतुरो भावान् विष्णोर्मूर्त्तिचतुष्टयम् ।
चतुष्टयं गणेशानामात्मादीनां चतुष्टयम् ॥ ६९ ॥
ओजापूकादिकं पीठं धर्मादीनां चतुष्टयम् ।
दमकादीन् गजान् देवी यद्यदन्यच्चतुष्टयम् ॥ ७० ॥

सूक्ष्मादीनिति आद्ये—सूक्ष्मा परा । आदिशब्देन पश्यन्तीमध्यमावैखर्यः ।

तदुक्तम्— वैखरी मध्यमा चैव पश्यन्ती चापि सूक्ष्मया ।
व्युत्क्रमेण भवन्त्येताः कुण्डलिन्यादितः क्रमात् ॥ इति ।

भावान् अवस्थाविशेषान् जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयान् । विशेषणविशेष्यभावो वा । विष्णुमूर्त्तिरष्टमे । गणेशानामिति त्रयोदशे । आत्मादीनामिति चतुर्थे । पीठमिति ओडडीयानजालन्धरपूर्णगिरिकामरूपाणि । धर्मादीनामिति चतुर्थे । अधर्मादीनामप्युपलक्षकम् । धर्मार्थादीनां वा तदाद्ये । गजान् इत्यष्टमे । अन्यदिति सिद्धादिमण्डलदीक्षा हेरम्बमन्त्र देवीदूतीबीजादि ॥ ६९-७० ॥

सबकी कल्याणकारिणी वह शाम्भवी (कुण्डलिनी) जब चौगुनी होती है, तब वह पद्मिनीबन्धु (सूर्य) के प्रणव, माया, हं, सः—इस प्रकार चार अक्षरों में व्यक्त होती है । इसी प्रकार वह महालक्ष्मी के चतुरक्षर मन्त्र, देवी के तत्त्व चतुष्टय (आत्मतत्त्व, विद्यातत्त्व, शिवतत्त्व और सर्वतत्त्व), चतुःसमुद्र, चार अन्तःकरण (परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी रूप) वाक् चतुष्टय, (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय रूप) भावचतुष्टय, विष्णुमूर्त्तिचतुष्टय, गणेशचतुष्टय, आत्मचतुष्टय, (उड्डीयान, जालन्धर, पूर्णगिरि, कामरूप रूप) पीठचतुष्टय, धर्मादिचतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष), दमादिचतुष्टय (शम, दम, तितिक्षा उपरति), गजचतुष्टय, इसी प्रकार अन्य अन्य चतुष्टय (जैसे सिद्धादि, मण्डल, दीक्षा, हेरम्बमन्त्र, देवी, दूती बीजादि) को उत्पन्न करती है ॥ ६७-७० ॥

पञ्चधा गुणिता पत्नी शम्भोः सर्वार्थदायिनी ।
त्रिपुरापञ्चकूटं सा तस्याः पञ्चाक्षरद्वयम् ॥ ७१ ॥
पञ्चरत्नं महादेव्याः सर्वकामफलप्रदम् ।
पञ्चाक्षरं महेशस्य पञ्चवर्णं गरुत्मतः ॥ ७२ ॥
सम्मोहनान् पञ्च कामान् बाणान् पञ्च सुरद्रुमान् ।
पञ्च प्राणादिकान् वायून् पञ्च वर्णान् महेशितुः ॥ ७३ ॥
मूर्त्तीः पञ्च कलाः पञ्च पञ्च ब्रह्मऋचः क्रमात् ।
सृजत्येषा पराशक्तिर्वेदवेदार्थरूपिणी ॥ ७४ ॥

पञ्चधेति । क्रमात् पञ्चकूटादिकम् एषा सृजतीति । क्रमस्तु वक्ष्यमाणः शक्तिध्वन्यादिकः । एवमग्रेऽपि षट्क्रमादिति पदानि शब्दसृष्टौ संयोज्य अयमेवार्थस्तेषां व्याख्येयः । पञ्चकूटमिति । ह स क ल र एते पञ्चवर्णाः एकीकृताः कूट शब्देनोच्यन्ते । तस्याः पञ्चाक्षरद्वयमिति । एकः पञ्चकामैरपरे वाणबीजैरेतानि द्वादशे। तदुक्तं दक्षिणामूर्त्तिसंहितायाम्—

त्रिपुरेशी मन्त्रमध्ये वाणाः प्रोक्ता महेश्वरिः ।
तैरेव पञ्चभिर्वाणैर्विद्या पञ्चाक्षरी भवेत् ॥
पूर्वोक्तपञ्चकामैस्तु पञ्चकामेश्वरी भवेत् । इति ।

पञ्चरत्नमिति । ग्लुं स्लुं म्लुं प्लुं न्लुं इति मन्त्रपञ्चकं तन्त्रान्तरोक्तम् ।

सिद्धाद्या विजया श्यामा वाराही सुन्दरीत्यपि । इति ।

महेशस्येत्यष्टादशे । गरुत्मत इति चतुर्विंशे । समोहनानिति बहुवचनमाद्यर्थं समोहनादीन् । कामान् वाणान् द्वादशे । सुरद्रुमान् मन्दारपारिजातसन्तानकल्पद्रुमहरिचन्दनान् । वायून् आद्ये । वर्णान् शुक्लादीन् तृतीये । महेशितुरिति अग्रिमेण सम्बध्यते । मूर्त्तीरष्टादशे । कला निवृत्त्याद्या आद्ये । ब्रह्मऋच ईशानाद्या अष्टादशे । अन्यदिति ज्ञेयम् । तच्च भूतप्रणवभेदादित्यमूर्त्तिपञ्चगव्यादि धत्ते विधत्ते करोतीत्यर्थः ॥ ७१-७४ ॥

जब वह सम्पूर्ण अर्थों को देने वाली शम्भु पत्नी, जो वेद-वेदार्थ रूपिणी, परा, शक्ति है, वह देवी पञ्चगुणित होती है, तब त्रिपुरा के पञ्चवर्ण समूहों (ह् स् क् ल् र इन पाँच वर्णों को एकत्र करने) से वह त्रिपुरा पञ्चकूट हो जाती है । त्रिपुरा के दो प्रकार को पञ्चाक्षर मन्त्रों सर्वकाम फलप्रद महादेवीं के पञ्चरत्न (ग्लुं स्लुं म्लुं प्लुं न्लुं) महेश्वर के पञ्चाक्षर (नमः शिवाय) मन्त्र को, गरुड़ के पञ्चाक्षर मन्त्र, संमोहनादि पञ्चकामों को तथा संमोहनादि पञ्च वाणों को, (मन्दार परिजात सन्तान कल्पद्रुम हरिचन्दन रूप) पञ्च देव वृक्षों को प्राणादि पञ्च वायु, पञ्चवर्ण, महेश्वर की पञ्चमूर्त्ति (ईशान, सद्योजात, वामदेव, अघोर एवं तत्पुरुष), उनकी पाँच कला निवृत्तियों को तथा ब्रह्म ऋचाओं को क्रमशः उत्पन्न करती हैं ॥ ७१-७४ ॥

षोढा सा गुणिता देवी धत्ते मन्त्रं षडक्षरम्।
षट्कूटं त्रिपुरामन्त्रं गाणपत्यं षडक्षरम् ॥ ७५ ॥
षडक्षरं हिमरुचेर्नारसिंहं षडक्षरम् ।
ऋतून् वसन्तमुख्यान् षडामोदादीन् गणाधिपान्॥ ७६ ॥
कोशानूर्मीन् रसान् शक्तीः शाकिन्याद्याः षडध्वनः।
यन्त्रं षड्गुणितं शक्तेः षडाधारानजीजनत्।
षड्विधं यज्जगत्यस्मिन् सर्वं तत् परमेश्वरी ॥ ७७ ॥

षडक्षरं राममन्त्रं पञ्चदशे । षट्कूटमिति त्रिपुरार्णवोक्तम् । षट्कूटं मध्यबीजम्। तदुक्तम्—

कान्तान्तवान्ताकुललान्तवाम नेत्रान्वितं दण्डिकुलं सनादम् ।
षट्कूटमेतत् त्रिपुरार्णवोक्तमत्यन्तगुह्यं स्मर एव साक्षात् ॥ इति ।

गाणपत्यं तन्त्रान्तरोक्तं चतुर्थ्यन्तं वक्रतुण्डं वर्मान्तम् । षडक्षरं शैवमष्टादशे । षडक्षरं कृष्णमन्त्रं सप्तदशे । विशेषणविशेष्यभावो वा । हिमरुचेः षडक्षरं चतुर्दशे । नारसिंहं षोडशे । षडक्षरं पाशुपतास्त्रं विंशे । विशेषणविशेष्य भावो वा । ऋतूनिति त्रयोविंशे । आमोदादीनिति त्रयोदशे । कोशानूर्मीनाद्ये । रसान् मधुरादीन् । शक्तीरामोदादीनां त्रयोदशे । शाकिन्याद्या इति विंशे । शक्तिः शाकिन्याद्या इति विशेषण-विशेष्यभावो वा । षडध्वनः पञ्चमे । यन्त्रं नवमे । आधारान् पञ्चमे । जगति यत् सर्वं षड्विधं षडङ्गसीतामन्त्रषट्कर्मासनादि ॥ ७५-७७ ॥

जब वह देवी छः गुना रूप (छः भागों में प्रविभक्त होकर) रूप धारण करती है, तो षडक्षर मन्त्र, (त्रिपुरार्णव में कहा गया) षट्कूट मन्त्र, षडक्षर गाणपत्य मन्त्र, हिमरुचि (चन्द्रमा) का षडक्षर मन्त्र, नारसिंह का षडक्षर मन्त्र, बसन्तादि षड् ऋतु आमोदादि षड् विनायक, षड्कोश (द्र० १. ४७) षडूर्मि (१. ४६), षड् रस, षड् शक्तियाँ, षडध्वजा, शाकिनी आदि षड्गुणित यन्त्र षडाधार-आदि जितनी भी षड् जगत् में षड्विध वस्तुयें हैं उन सभी को वह परमेश्वरी उत्पन्न करती हैं ॥ ७५-७७ ॥

सप्तधा गुणिता नित्या शङ्करार्धशरीरिणी ।
सप्तार्णं त्रिपुरामन्त्रं सप्तवर्णं विनायकम् ॥ ७८ ॥
सप्तकं व्याहृतीनां सा सप्तवर्णं सुदर्शनम् ।
लोकान् गिरीन् स्वरान् धातून् मुनीन् द्वीपान् ग्रहानपि ॥७९॥
समिधः सप्त संख्याता सप्त जिहवा हविर्भुजः।
अन्यत् सप्तविधं यद्यत् तदस्याः समजायत ॥ ८० ॥

सप्तार्णमिति । सप्तवर्णं पद्मावतीमन्त्रं दशमे । त्रिपुरामन्त्रमिति मायाबीजाद्यनुलोमविलोमभैरवीमन्त्रः । सप्तवर्णं शङ्खमन्त्रं सप्तदशे । विनायकं सुब्रह्मण्यं

त्रयोदशे। यद्वा सप्तार्णं त्रिपुरामन्त्रं विनायकं सप्तवर्णमिति विशेषणविशेष्य भावः। व्याहृतीनामिति एकविंशे। सप्तवर्णमिति अङ्कुशमन्त्रं सप्तदशे। सुदर्शनं षोडशे। विशेषणविशेष्यभावो वा। लोकान् भूरादिकान्। गिरीन् विन्ध्यपारियात्रसह्यऋक्ष-मलयमहेन्द्रशुक्तिमतः। स्वरान् षड्जऋषभगान्धार मध्यमपञ्चमधैवतनिषादान्। धातून् त्वगादीन् आद्ये। मुनीन् वशिष्ठकश्यपात्रिजमदग्निगौतमविश्वामित्रभरद्वाजान् वैवस्वतमन्वन्तरे अत एव ऋषयः सप्तः। द्वीपान् जम्बूप्लक्षशाल्मलीकुश-क्रौञ्चशाकपुष्करान्। ग्रहानिति। केषाञ्चिन्मते राहुकेत्वोर्ग्रहत्वाभावात् सप्तेत्युक्ताः तान् षष्ठे। तथा च वराहमिहिराचार्यैः—

अमृतास्वादविशेषात् छिन्नमपि शिरः किलासुरस्येदम्।
प्राणैरपरित्यक्तं ग्रहभावं नैवमाप्नोति॥ इत्यादिना।
एवमुपरागकारणमुक्तमिदं दिव्यदृग्भिराचार्यैः।
राहुरकारणमस्मिन्नित्युक्तः शास्त्रसद्भावः॥
योऽसावसुरो राहुस्तस्य वरो ब्रह्मणा पुरा दत्तः।
आप्यायनमुपरागे दत्तहुतांशेन ते भवितेति॥

इत्यादिना च बहुना ग्रन्थसन्दर्भेण राहुकेत्वोः ग्रहता निरस्ता। अपिशब्दादजी-जनदिति क्रियाऽनुषज्यते। समिध इत्युत्तरपदमुत्तरक्रिययाऽन्वेति। हविर्भुजः समिधः सप्त श्रुत्युक्ताः। तथाच श्रुतिः—

सप्त ते अग्ने समिधः सप्तजिह्वाः सप्तऋषयः सप्तधाम प्रियाणि। इति।

सप्तग्रहाणां वा—

अर्कः पलाशः खदिरोऽप्यपामार्गोऽथ पिप्पलः। औडुम्बरः शमी। इति। तदा हविर्भुज इत्यत्र न सम्बध्यते। सप्तजिह्वास्त्रिविधा अपि पञ्चमे। अन्यदिति प्रकृतिविकृतित्रिपुरातत्त्वगरुडमन्त्रयन्त्रपटलमन्त्रद्वयवैवस्वतमन्त्रादि॥ ७८-८०॥

जब वह शंकरार्धशरीरिणी (सात भागों में प्रविभक्त होकर) देवी सात गुना मन्त्रात्मक रूप धारण करती हैं, तो सप्ताक्षर त्रिपुरा मन्त्र, सप्तवर्ण विनायक मन्त्र, भूर्भुवः स्वरादि सप्त व्याहृतियाँ, राप्त वर्ण सुदर्शन मन्त्र, सप्त लोक, सप्त मर्यादा पर्वत, सप्त स्वर, सप्त धातु, सप्तर्षि, सप्त द्वीप, सप्त ग्रह (इस ग्रन्थ में राहु केतु को ग्रह की कोटि में नहीं माना गया है), सप्त समिधायें, अग्नि की सात जिह्वायें, आदि जो भी इस जगत के सात सात पदार्थ हैं वे सभी इन देवी से उत्पन्न हुये॥ ७८-८०॥

अष्टधा गुणिता शक्तिः शैवमष्टाक्षरद्वयम्।
विष्णोः श्रीकरनामानं मन्त्रमष्टाक्षरं परम्॥ ८१॥
अष्टाक्षरं हरेः शक्तेरष्टाक्षरयुगं परम्।
भानोरष्टाक्षरं दौर्गमष्टार्णं परमात्मनः॥ ८२॥
अष्टार्णं नीलकण्ठस्य वासुदेवात्मकं मनुम्।
यन्त्रं कामार्गलं दिव्यं देवीयन्त्रं घटार्गलम्॥ ८३॥

गन्धाष्टकं शुभं देवीदेवानां हृदयङ्गमम् ।
ब्रह्माद्या भैरवान् सर्पान् मूर्त्तीराशा वसूनपि ॥ ८४ ॥
अष्टपीठं महादेव्या अष्टाष्टकसमन्वितम् ।
अष्टौ सा प्रकृतीर्विघ्नवक्रतुण्डादिकान् क्रमात् ॥ ८५ ॥
अणिमादिगुणान् नागान् वह्नेर्मूर्त्तीर्यमादिकान् ।
अष्टात्मकं जगत्यस्मिन् सर्वं वितनुते यदा ॥ ८६ ॥

शैवं द्वयमप्येकोनविंशे । विष्णोः श्रीकरनामानं परमष्टाक्षरं कृष्णस्य द्वावपि सप्तदशे । हरेरिति पञ्चदशे । शक्तेरिति नवमे युगलमपि । भानोरिति चतुर्दशे । दौर्गद्वयमप्येकादशे । परमात्मन इति षष्ठे । नीलकण्ठस्येति । नीलकण्ठशब्देन क्षेत्रपालमन्त्रो गृहीतः, स विंशे । तन्त्रान्तरोक्तो वा 'ॐ नीलकण्ठाय स्वाहा' इति । वासुदेवात्मकं मनुं मन्त्रम् । आगमशास्त्रे मनुशब्दो मन्त्रस्य संज्ञा । 'ॐ नमो वासुदेवाय' इति तन्त्रान्तरोक्तम् ।

कामार्गलं सप्तदशे । तस्य कामार्गलत्वेन प्रसिद्ध्यभावात् तन्त्रान्तरोक्तं कामार्गलम् ।

व्योम ब्रह्मेन्द्रलोकेशवह्निवामाक्षिबिन्दुमत् ।
कर्णिकायां लिखेत् साध्यं कामिनीञ्च दलाष्टके ॥
मूलं मासकलापत्रेष्वालिखेत् स्वरभेदितम् ।
दन्तपत्रेषु तद्भिन्नवर्णैः सान्तैश्च कादिभिः ॥
वेष्टयेन्मन्दिरेणैतत् वहिः शक्त्याङ्कुशेन च ।
यन्त्रं घटार्गलेनैतत्तुल्यं कामार्गलं विदुः ॥ इति ।

दिव्यं यमार्गलमित्यर्थः । 'दिव्यं यमार्गलं यन्त्रम्' इत्युक्तेः । इदं चतुर्विंशे । देवी भुवनेशी । 'हृल्लेखा शक्तिदेव्याख्या' इत्युक्तेः । तस्या यन्त्रं घटार्गलं नवमे ।

गन्धाष्टकं त्रिविधमपि तूर्ये । देवो विष्णुः देवः शिवश्च देवौ । देवी च देवौ च देवाः तेषाम् । क्वचिद् दिव्यमिति पाठः । तदा देवानामिति सामान्येन । ब्राह्म्याद्याः षष्ठे । अष्टौ भैरवान् नवमे । सर्पास्त्रयोविंशे । अष्टमूर्त्तीर्विंशे । आशाः पूर्वादिदिशः । वसूनिति—

धरो ध्रुवश्च सोमश्च आपश्चैवानिलोऽनलः ।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च अष्टौ ते वसवः स्मृताः ॥ इति ।

अष्टाष्टकसमन्वितमष्टपीठं चतुःषष्टिविधं यथा—

मायामङ्गलनागवामनमहालक्ष्मीचरित्राभृगु-
च्छायाछत्रहिरण्यहस्तिनमहेन्द्रोडडीश चम्पापुरम् ।
षष्ठक्षीरक मञ्जनेश्वरपुरैलाश्चन्द्रपूः श्रीगिरिः
कोलाकुल्लक पूर्णपर्वत कुरुक्षेत्रैकलिङ्गार्बुदाः ॥
काश्मीरैकाम्रकाञ्चीमलयगिरिवरैकारकन्थूतदेवी
कोट्टाम्रातेशजालन्धरसुरभिमनीषाद्रिकाशीप्रयागाः ।

त्रिस्रोतः कामकोट्टोज्जयिनि समथुरं कोशलाकान्यकुब्जो-
इ्यानौङ्काराट्टहासाविरज इह ततः कुण्डिनं राजगेहम् ॥
नेपालपुण्ड्रवर्द्धनमालवपरसीर कामरूपकेदाराः
विन्ध्यमहामठगोश्रुति काम्पिल्यश्रीपीठमरुदीशाः ॥ इति ।

प्रकृतीराद्ये । विघ्नान् वक्रतुण्डांश्च त्रयोदशे । अणिमादीति ।

अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा ।
ईशित्वञ्च वशित्वञ्च प्राकाम्यं प्राप्तिरेव च ॥ इति ।

नागान् गजान् अष्टमे । वह्नेरिति पञ्चमे । यमादिकान् अन्त्ये । अन्यदिति श्रीवाणरतिप्रिय धूमावतीमन्त्रादि ॥ ८१-८६ ॥

जब वह देवी अठगुनी (आठ भागों में प्रविभक्त) होती है, तब वह शिव के दो प्रकार के अष्टाक्षर मन्त्र, विष्णु के श्रीकर नामक अष्टाक्षर मन्त्र, हरि के अष्टाक्षर मन्त्र, शक्ति के दो प्रकार के अष्टाक्षर मन्त्र, सूर्य के अष्टाक्षर मन्त्र, दुर्गा के अष्टाक्षर मन्त्र, परमात्मा के अष्टाक्षर मन्त्र, नीलकण्ठ के अष्टाक्षर मन्त्र, वासुदेवात्मक अष्टाक्षर मन्त्र, दिव्य कामार्गल मन्त्र, देवी का घटार्गल मन्त्र, तीन प्रकार के गन्धाष्टक, देवी और देवताओं के हृदयङ्गम मन्त्रों, ब्रह्मादि आठ देवताओं को, आठ भैरवों को, अष्ट सर्पों को, अष्टमूर्त्तियों को, अष्टदिशाओं को, अष्ट वसुओं को, आठ-आठ संख्या समन्वित महादेवी के आठ पीठों की, आठ प्रकृतियों को, अष्टविघ्नं, अष्ट वक्रतुण्डादि, अष्ट अणिमादि, अष्ट नाग, अग्नि की अष्टमूर्त्तियों को और अष्ट यमादि जितने भी इस जगत् के अष्टात्मक पदार्थ हैं, वह सब इस देवी से उत्पन्न हुये हैं ॥ ८१-८६ ॥

गुणिता नवधा नित्या सूते मन्त्रं नवात्मकम् ।
नवकं शक्तितत्त्वानां तत्त्वरूपा महेश्वरी ॥ ८७ ॥
नवकं पीठशक्तीनां शृङ्गारादीन् रसान् नव ।
माणिक्यादीनि रत्नानि नववर्गयुतानि सा ॥ ८८ ॥
नवकं प्राणदूतीनां मण्डलं नवकं शुभम् ।
यद्यन्नवात्मकं लोके सर्वमस्या उदञ्चति ॥ ८९ ॥

नवधेति । जगति यावान् नवात्मको नवाक्षरो मन्त्रस्तं सूते । सशार्ङ्ग-नवार्णगोपालमन्त्रादि । सेत्यन्तं पूर्वक्रियया उत्तरपद्यमुत्तरक्रियया सम्बध्यते । शक्ति-तत्त्वानामिति प्रकृतिर्नादो बिन्दुः बिन्दुर्नादो बीजं रौद्री ज्येष्ठा वामेति नवशक्तितत्त्वानि आद्ये । वक्ष्यमाणानि दश सदाशिवव्यतिरिक्तानि नवेत्यन्ये । पीठशक्तीनामिति तत्त-न्मन्त्रेष्वपि तत्र तत्र । शृङ्गारादीन् ।

शृङ्गारवीरकरुणाद्भुतहास्यभयानकाः ।
बीभत्सरौद्रशान्ताश्च नव काव्ये रसाः स्मृताः ॥ इति ।

रत्नानि नव वर्गाश्च षष्ठे । प्राणदूतीनामिति त्रयोविंशे । मण्डलं नवनाभं तृतीये । यद्यदिति । नवकुण्डनवग्रहकूर्मचक्रनवकोष्ठादि ॥ ८७-८९ ॥

नवात्मक सृष्टि—जब वह देवी अपने को नव भागों में विभक्त करती है तब वह जगत् के जितने नवात्मक मन्त्र, नव शक्ति तत्त्व, नव पीठ शक्तियाँ, शृङ्गारादि नव रस, नव प्रकार के माणिक्य आदि रत्न, नव वर्ग आदि उत्पन्न करती है, इसी प्रकार नव प्राणदूती, नव मण्डल आदि जो भी (लोक में ९ कुण्ड, ९ ग्रह और ९ कोष्ठक के कूर्मादि चक सभी) नव संख्यक वस्तुयें हैं उन्हें यह देवी उत्पन्न करती है ॥ ८७-८९ ॥

दशधा विकृता शम्भोर्भामिनी भवदुःखहा ।
दशाक्षरं गणपतेस्त्वरिताया दशाक्षरम् ॥ ९० ॥
दशाक्षरं सरस्वत्या यक्षिण्याः सा दशाक्षरम् ।
वासुदेवात्मकं मन्त्रमश्वारूढादशाक्षरम् ॥ ९१ ॥
त्रिपुरादशकूटं सा त्रिपुराया दशाक्षरम् ।
नाम्ना पद्मावतीमन्त्रं रमामन्त्रं दशाक्षरम् ॥ ९२ ॥
दशकं शक्तितत्त्वानां तत्त्वरूपा महेश्वरी ।
नाडीनां दशकं विष्णोरवतारान् दश क्रमात् ।
दशकं लोकपालानां यद्यदन्यत् सृजत्यसौ ॥ ९३ ॥

गणपतेरिति । क्षिप्रप्रसादनस्य त्रयोदशे । त्वरिताया इति दशमे मायाहीनम् ।

तदुक्तम्— वर्म खे च तदन्त्यः शिवयुक् चरमोऽङ्गनाद्यु सार्विलवम् ।
अन्त्यः सयोनिरस्त्रान्तिकः सतारो मनुर्दशार्णयुतः ॥ इति ।

वर्मेति । वर्म हुं । खे स्वरूपम् । च स्वरूपम् । तदन्त्यः छः शिवयुगेकारयुतः छे । चरमः क्षः । अङ्गना स्त्रीँ । द्यु हकारः सार्विलवं उकारानुस्वारयुतं तेन हुं । अन्त्यः क्षः सयोनिरेयुतः क्षे । अस्त्रं फट् तदन्तः । सतारः प्रणवयुक् आद्यौ । इति त्वरितादशाक्षरोद्धारः । नारायणीयेऽपि—

भुवनेशो भूतदण्डी कलान्तान्त्यं सयोनिकम् ।
तत्पञ्चमं तदन्तं सरुद्रं सामन्तान्तालयम् ॥
वामाख्या दीर्घमाद्यञ्च कोपतत्त्वं हरान्तयुक् ।
एतत् फडन्तं तारादि मन्त्रं विद्यादशाक्षरम् ॥ इति ।

भुवनेति । भुवनेशो हः भूत उः दण्डोऽनुस्वारः तेन हुं । कलाः स्वराः तदन्तः कः तदन्त्यः खः सयोनिकम् एकारयुतं तेन खे । तत्पञ्चमं च तदन्तं छः । सरुद्रम् एकारयुतं तेन छे । सामन्तान्तः विसर्गान्तः । आलयं क्षकारः । वामाख्या स्त्रीँ । आद्यं हुं तद्दीर्घं हूं । कोपतत्त्वं क्षः । हरेण एकारेण अन्ते युक् क्षे । एतत् फडन्तं प्रणवादिकं दशवर्णम् ।

सरस्वत्या इति सप्तमे । यक्षिण्या इति तन्त्रान्तरोक्तं 'श्रीँ श्रीँ यक्षिणि हं हं हं

स्वाहा' इति । वासुदेवात्मकमिति गोपालं सप्तदशे । अश्वारुढेति बीजत्रयं मुक्त्वा दशमे । तन्त्रान्तरे दशाक्षर्या एव उद्धृतत्वात् । तदुक्तम्—

आद्यस्त्रयोदशो दण्डी ततस्त्वेकादशः परम् ।
अष्टमस्य तृतीयं स्यादाद्यतार्त्तीयसंयुतम् ॥
षष्ठाद्यं सप्तमस्यापि द्वितीयं षष्ठपञ्चमम् ।
आद्यैकादशसंयुक्तं पश्चात् सप्तम पञ्चमम् ॥
तत्तूर्येण युतं पश्चात् सप्तमस्य द्वितीयकम् ।
आद्यतार्त्तीयसंयुक्तं द्विठः प्रोक्ता दशाक्षरी ॥ इति ।

दशकूटमिति मध्यबीजस्य षट्कूटत्वमाद्यन्तबीजयोः क्रमेण कूटद्वयम् । कूटद्वयमिति मिलित्वा दशकूटं त्रिपुराया इति तन्त्रान्तरोक्तम् 'ऐं स्हैं स्हीं स्हौं त्रिपुरायै नमः' इति । पद्मावतीमन्त्रं तन्त्रान्तरोक्तं 'ॐ ह्रें पद्मे पद्मावति स्वाहा' इति । रमामन्त्रमष्टमे । राममन्त्रमितिपाठे पञ्चदशे । शक्तितत्त्वानामिति पञ्चमे । नाडीनामित्याद्ये । अवतारानिति सप्तदशे । लोकपालानामिति तूर्ये । अन्यदिति अग्निमन्त्रसंस्कार जयदुर्गामन्त्रादि ॥ ९०-९३ ॥

जब संसार के दुःखों को नष्ट करने वाली यह शम्भु पत्नी अपने को दश भागों में प्रविभक्त करती है तब गणपति के दशाक्षर मन्त्र, त्वरिता देवी के दशाक्षर मन्त्र, सरस्वती देवी के दशाक्षर मन्त्र, यक्षिणी के दशाक्षर मन्त्र, वासुदेव का दशाक्षर मन्त्र, अश्वारुढ़ा का दशाक्षरमन्त्र, त्रिपुरादशकूट, त्रिपुरा दशाक्षर, पद्मावती मन्त्र, दश अक्षर वाले रमा मन्त्र, दश शक्ति तत्त्व को प्रगट करती हैं । इसी प्रकार वह तत्त्वरूपा महेश्वरी दश नाडियाँ, विष्णु के क्रमशः दश अवतार, दश लोकपाल और ऐसे ही जो दश दश पदार्थ हैं उन्हें प्रगट करती हैं ॥ ९०-९३ ॥

एकादशक्रमात् संविद् गुणिता सा जगन्मयी ।
रुद्रैकादशनीमाद्यशक्तेरेकादशाक्षरम् ।
एकादशाक्षरं वाण्या रुद्रानेकादश क्रमात् ॥ ९४ ॥

रुद्रैकादशनीमिति ।

षडङ्गरुद्रैकावृत्ती रुद्राध्यायस्य तादृशः ।
एकादश तु रुद्रस्य रुद्रैकादशनी त्विति ॥

षडङ्गरुद्रस्तु—'यज्जाग्रतः षट्' सहस्रशीर्षा द्वाविंशतिः' ततः 'आशुःशिशानो' 'विभ्राट्' इत्यनुवाकद्वयम् शतम्। सहस्रशीर्षेति षोडशभिर्द्वितीयम्। षड्भिस्तृतीयम्। शतमिति । शतरुद्रीयेणास्त्रम् । शतरुद्रस्तु—

षट्षष्टिर्नीलसूक्तञ्च पुनः षोडशऋग्जपः ।
एष ते हे नमस्ते द्वे नतं विद्वयमेव च ॥
मीढुष्टमचतुष्कञ्च एतत्तु शतरुद्रीयम् । इति ।

आद्यशक्तेः सरस्वत्या एकादशाक्षरं सप्तमे । यद्वा आद्यशक्तेः नित्यक्लिन्नायास्तन्त्रान्तरोक्तम् । 'ह्रीं नित्यक्लिन्ने मदद्रवे स्वाहा' इति । आद्या इति पाठे

देवीविशेषणम् । वाण्या अयमपि सप्तमे । रुद्रानिति—

हरश्च बहुरूपश्च त्र्यम्बकश्चापराजितः ।
वृषाकपिश्च शम्भुश्च कपर्दी रैवतस्तथा ॥
मृगव्याधश्च शर्वश्च कापालीति शिवा मताः । इति ।

अत्राप्यन्यदिति ज्ञेयम् । तच्च शक्तिविनायकमन्त्रादि ॥ ९४ ॥

पुनः वह जगन्मयी, ज्ञान शक्तिस्वरूपा, जगन्माता जब अपने को एकादश भागों में विभक्त करती हैं तब रुद्रैकादशनी, आद्याशक्ति (सरस्वती) के एकादशाक्षर मन्त्र, वाणी के एकादशाक्षर और एकादश रुद्रों को क्रमशः उत्पन्न करती हैं ॥ ९४ ॥

विमर्श—अन्य तन्त्र में नित्यक्लिन्ना आद्या शक्ति हैं । उनका ११ अक्षर का मन्त्र है—'ह्रीँ नित्यक्लिन्ने मदद्रवे स्वाहा' ॥

समुद्गिरति सर्वात्मा गुणिता द्वादशक्रमात् ।
नित्यामन्त्रं महेशान्या वासुदेवात्मकं मनुम् ॥ ९५ ॥
राशीन् भानून् हरेर्मूर्त्तीर्यन्त्रं सा द्वादशात्मकम् ।
अन्यदेतादृशं सर्वं यत् तदस्यामजायत ॥ ९६ ॥

समुद्गिरतीति क्रिया काकाक्षिगोलकन्यायेन पूर्वोत्तरवाक्ययोः सम्बध्यते। अन्त्याद्यो निर्बन्धनात् सर्वोत्तरवाक्ये अन्यदित्यन्तं सम्बध्यते । इत उत्तरं भिन्नमेव वाक्यम् । नित्यामन्त्रं महेशान्या वज्रप्रस्तारिण्याश्च दशमे । वासुदेवं पञ्चदशे । राशीनष्टमे । भानून् हरेर्मूर्त्तीश्च पञ्चदशे । यन्त्रं नवमे ।

अन्यदिति खड्गमन्त्रादि । एतादृशमित्यनेनैतदुक्तं भवति । त्रयोदशधागुणिता वागीश्वर्यश्वारूढामन्त्रं विश्वेदेवादिकम् । चतुर्दशधा लक्ष्मीवासुदेवगोपालमन्त्र-भुवनादिकम् । पञ्चदशधा नित्याशूलिनीमन्त्रतिथ्यादिकम् । षोडशधा चक्रमन्त्रस्वर-कलादिकम् । सप्तदशधा लघुपञ्चमीतारादिविद्यामन्त्रादिकम् । अष्टादशधा कृष्णव-ामनमन्त्रमग्निसंस्कारादिकम् । ऊनविंशतिधा कृष्णधरामन्त्रादिकम् । विंशतिधा हल-धरोमामहेस्वरमन्त्रादिकम् । एकविंशतिधा वटुकनाममन्त्रतद्यन्त्रादिकम् । द्वाविंशतिधा कृष्णात्राधिपतिसुमुखीमन्त्रादिकम् । त्रयोविंशतिधा लघुश्यामा पुरुषोत्तमहृदङ्ग-मन्त्रादिकं सूत इति ॥ ९५-९६ ॥

वही सर्वात्मा भगवती अपने द्वादशात्मक रूप से क्रमशः महेशानी के नित्या मन्त्र, वासुदेवात्मक मन्त्र, द्वादश राशियाँ, द्वादश सूर्य, द्वादश विष्णु की मूर्त्ति और द्वादशात्मक मन्त्र, इसी प्रकार अन्य जितने जितने भी द्वादश पदार्थ हैं उन सभी को उत्पन्न करती हैं ॥ ९५-९६ ॥

चतुर्विंशतितत्त्वा सा यदा भवति शोभना ।
गायत्रीं सवितुः शम्भोः गायत्रीं मदनात्मिकाम् ॥ ९७ ॥

गायत्रीं विष्णुगायत्रीं गायत्रीं त्रिपदात्मनः।
गायत्रीं दक्षिणामूर्त्तेर्गायत्रीं शम्भुयोषितः॥ ९८ ॥
चतुर्विंशतितत्त्वानि तस्यामासन् परात्मनि ॥ ९९ ॥

यद्यपि त्रयोदशविश्वेदेवात्मिका चतुर्दशभुवनात्मिका पञ्चदशतिथ्यात्मिकापि सृष्टेर्भगवत्युत्पादितैव तथापि परार्द्धपर्यन्तं तस्याः सत्त्वात् वह्वीनां वक्तुमशक्यत्त्वात् प्रधानभूता आह चतुरिति । चतुर्विंशतिस्तत्त्वस्वरूपं तद्रूप आत्मा यस्याः सा चतुर्विंशतिधा गुणितेत्यर्थः । सवितुरित्येकविंशे । शम्भोरिति तन्त्रान्तरोक्ता । तत् 'महेशाय विद्महे वाग्विशुद्धाय धीमहि । तन्नः शिवः प्रचोदयात्' इति । मदनात्मिका सप्तदशे ॥ ९७ ॥

विष्णुगायत्री अपि सप्तदशे । पुरुषोत्तमगायत्री च विष्णुगायत्रीशब्देनोक्ता तन्त्रान्तरोक्ता वा ।

'नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि । तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्' इति ।

त्रिपदात्मनस्त्रिपुरायाः सा द्वादशे । दक्षिणामूर्त्तेरिति । 'दक्षिणामूर्त्तये विद्महे ध्यानस्थाय धीमहि । तन्नो घोरः प्रचोदयात्' इति । शम्भुयोषित इति । 'सर्वमोहिन्यै विद्महे विश्वजनन्यै धीमहि । तन्नः क्लिन्ने प्रचोदयात्' इति । तत्त्वानि आद्ये । एता गायत्र्यस्तत्त्वान्यप्यस्यामासन्नुत्पन्नानि । अत्राप्यन्यदिति ज्ञेयम् । तच्चाग्निसमृद्धाग्नि-दक्षिणामूर्त्तिचिटिमन्त्रवक्रतुण्डदुर्गात्वरिताग्निनृसिंहगरुडहयग्रीवगायत्र्यादि ॥ ९७-९९ ॥

जब वह मङ्गलकारिणी चतुर्विंशति तत्त्व स्वरूपा होती हैं, तब वह सविता देवता की चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री, शिव की मदनात्मिका गायत्री, विष्णु की विष्णुगायत्री (पुरुषोत्तम गायत्री), त्रिपुरा देवी की त्रिपुरागायत्री, गुरुरूप दक्षिणामूर्त्ति की दक्षिणामूर्त्तिगायत्री, शम्भु योषिता अम्बा की गायत्री और अन्य चतुर्विंशति तत्त्वों को उत्पन्न करती हैं ॥ ९७-९९ ॥

द्वात्रिंशद्भेदगुणिता सर्वमन्त्रमयी विभुः।
सूते मृत्युञ्जयं मन्त्रं नारसिंहं महामनुम् ॥ १०० ॥
लवणाख्यं मनुं मन्त्रं वरुणस्य महात्मनः।
हयग्रीवं मनुं दौर्गं वाराहं वह्निनायकम् ॥ १०१ ॥
गणेशितुर्महामन्त्रं मन्त्रमन्त्राधिपस्य सा ।
मन्त्रं श्रीदक्षिणामूर्त्तेर्मालामन्त्रं मनोभुवः॥ १०२ ॥
त्रिष्टुभं वनवासिन्या अघोराख्यं महामनुम्।
भद्रकालीमनुं लक्ष्म्या मालामन्त्रं यमात्मकम् ॥ १०३ ॥
मन्त्रं सा देवकीसूनोर्मन्त्रं श्रीपुरुषोत्तमम्।
श्रीगोपालमनुं भूमेर्मनुं तारामनुं क्रमात् ॥ १०४ ॥
महामन्त्रं महालक्ष्म्या मन्त्रं भूतेश्वरस्य सा ।

क्षेत्रपालात्मकं मन्त्रं मन्त्रमापन्निवारणम्।
सूते मातङ्गिनीं विद्यां सिद्धविद्यां शुभोदयाम्॥ १०५ ॥

मृत्युञ्जयं वैदिकं त्रयोविंशे । नारसिंहं षोडशे । महामनुं मन्त्रराजमिति पूर्वविशेषणम् । लवणाख्यं द्वाविंशे । वरुणस्येति श्रुत्युक्तम् । महात्मन इति विशेषणम्, तेन महावारुणमित्यर्थः । हयग्रीवं पञ्चदशे । दौर्गं श्रुत्युक्तम् । 'अम्बिके अम्बालिके' इत्यादिकम् । वाराहं पञ्चदशे । वह्निनायकम् अग्न्युपस्थानमन्त्रं पञ्चमे । गणेशितुर्हरिद्रागणेशस्य 'ॐ हुं गं ग्लौं हरिद्रागणपतये वरवरद सर्वजनहृदयं स्तम्भय स्तम्भय स्वाहा' । आथर्वणिको वक्रतुण्डस्य वा—

रायस्पोषप्रदाता च निधिदो रत्नदो मतः ।
रक्षोहणो वलाहनो वक्रतुण्डाय हूं नमः ॥

महामन्त्रमित्युक्तेः अत्रैव वक्ष्यमाणो महागणपतिमन्त्रो वा । सम्प्रदायेन तस्य द्वात्रिंशदक्षरत्वात् । अन्नाधिपस्य तन्त्रान्तरोक्तः 'ॐ ह्रीँ अन्नरूप रसचतुष्टयरूप नमो नमः अन्नाधिपतये ममान्नं प्रयच्छ स्वाहा' इति दक्षिणामूर्तेरेकोनविंशे । मालामन्त्रं द्वात्रिंशदक्षरं मनोभुवस्तन्त्रान्तरोक्तम् । त्रिष्टुभमिति तदन्तर्गतोक्तोपचारात् द्वात्रिंशदक्षर उच्यते। तदन्तर्द्वासप्ततिमन्त्राणामुद्धृतत्वात् । तन्मध्ये द्वात्रिंशदक्षराणामपि सत्त्वात् । अघोराख्यं तन्त्रान्तरोक्तम् । ग्रन्थकारोक्तस्यैकपञ्चाशदक्षरत्वात् । यदाह—

नकारस्ततो दन्तसम्भिन्नकालं भगस्यान्ततो वाथ ते तस्य चान्ते ।
ततोऽघोररूपा यकारस्य चान्ते हनद्वन्द्वतोऽथो दहद्वन्द्वतश्च ॥
पचाभ्यासमुक्त्वा तथा भ्रामय स्यात् शिरोऽन्तश्च वर्मादिकं फट्पदश्च ।

इति ।

नकारेति । 'नमो भगवते अघोररूपाय हन हन दह दह पच पच भ्रामय भ्रामय हुं फट् स्वाहा' । चतुस्त्रिंशदर्णोऽघोरमन्त्रः अघोरानुष्टुप् अघोरामुनाद्याः (६, ६, ८, १०, २, २=३४) षडङ्गम् । भद्रकालीमनुं चतुर्विंशे । महालक्ष्म्या दशमे । सर्वतोभद्ररूपं यमात्मकमिति मन्त्रद्वयं चतुर्विंशे । देवकीसूनोरिति सुकीर्त्यादिकं सप्तदशे । श्रीपुरुषोत्तममन्त्रं तन्त्रान्तरोक्तम्—'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय पुरुषोत्तम आयुर्मे देहि विष्णवे प्रभविष्णवे नमः' । श्रीगोपालमनुं यन्त्राङ्गद्वयमपि सप्तदशे । भूमेर्मनुम्—

उद्धृताऽसि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना ।
मृत्तिके हर मे पापं यन्मया दुष्कृतं कृतम् ॥

इति तन्त्रान्तरोक्तम् । तारामनुं तन्त्रान्तरोक्तम्—'ॐ ह्रीँ हौं हूं नमस्तारायै महातारायै सकलदुस्तरांस्तारय तारय तर तर स्वाहा' इति । महालक्ष्म्या महामन्त्रं श्रीसूक्तलक्षणम् । भूतेश्वरस्य मन्त्रं तन्त्रान्तरोक्तम्—'ॐ नमो भगवते रुद्राय सर्वभूताधिपतये भूतप्रेतपिशाचिनीर्नाशय नाशय' इति । क्षेत्रपालात्मकं तन्त्रान्तरोक्तम् —'एह्येहि विदुषि विमुखि नर्त्तय नर्त्तय विघ्नमहाभैरव क्षेत्रपाल इमं बलिं गृह्ण गृह्ण स्वाहा' इति । आपन्निवारणं तन्त्रान्तरोक्तम् । अत्र एकविंशत्यक्षरस्य वक्ष्यमाणत्वात्। मातङ्गिनीं तन्त्रान्तरोक्तम्—'ॐ ह्रीँ ऐं श्रीँ नमो भगवति उच्छिष्टचाण्डालि

श्रीमातङ्गेश्वरि सर्वजनवशङ्करि स्वाहा' इति । सिद्धविद्यां तन्त्रान्तरोक्ताम् । पूर्वोक्ताया एव सिद्धेत्यादि विशेषणद्वयं वा । अन्यदित्यपि ज्ञेयम् । तच्च वैष्णवतत्त्वशैवव्यापक-मन्त्रादि ॥ १००-१०५ ॥

जब संपूर्ण मन्त्रमयी वह बत्तीस भेदों में अपना स्वरूप धारण करती हैं, तो मृत्युञ्जय मन्त्र, नारसिंह महामन्त्र, महात्मा महावरुण के लवण नामक महामन्त्र हयग्रीव मन्त्र, दुर्गा मन्त्र, वाराह मन्त्र, अग्नि के उपस्थान मन्त्र, महागणपति मन्त्र, अन्नाधिप का मन्त्र, दक्षिणामूर्त्ति मन्त्र, मालामन्त्र, मनोभुव का मन्त्र, वनवासिनी का त्रिष्टुप् मन्त्र, अघोर नामक महामन्त्र, भद्रकाली मन्त्र, लक्ष्मी के दो दो (=यमात्मक = ४) माला मन्त्र, श्रीकृष्ण का मन्त्र, श्रीपुरुषोत्तम का मन्त्र, श्रीगोपालमन्त्र, भूमि मन्त्र, तारा मन्त्र, महालक्ष्मी का महामन्त्र, भूतेश्वर का मन्त्र, क्षेत्रपालात्मक मन्त्र, त्रिपुरा का आपन्निवारण मन्त्र, मातङ्गिनी विद्या, कल्याणकारिणी सिद्धविद्या आदि इसी प्रकार के मन्त्रों को उत्पन्न करती हैं ॥ १००-१०५ ॥

कुण्डलीतः शैवतत्त्वोत्पत्तिः

अनेन क्रमयोगेन गुणिता शिववल्लभा ।
षट्त्रिंशतश्च तत्त्वानां शैवानां रचयत्यसौ ॥ १०६ ॥

अनेनेति । अनेन क्रमयोगेन गुणिता षट्त्रिंशद्वारगुणिता इत्यर्थः । शैवानामिति पञ्चमे ॥ १०६ ॥

मन्त्रोत्पत्तौ क्रमः

अन्यान् मन्त्रांश्च यन्त्राणि शुभदानि प्रसूयते ।
द्विचत्वारिंशता मूले गुणिता विश्वनायिका ॥ १०७ ॥

अन्यान्मन्त्रानिति । तन्त्रान्तरोक्तोच्छिष्टगणपति पुरुषोत्तमव्यापक मन्त्रादीन् । पूर्वो यथा—'ॐ नमो भगवते एकदंष्ट्राय हस्तिमुखाय लम्बोदराय उच्छिष्टमहात्मने क्रों ह्रुं ह्रीं ह्रूं घे घे स्वाहा' इति । तृतीयं सप्तदशे । यन्त्राणीति यन्त्रपटल-प्रोक्तकोष्टात्मकयन्त्राष्टमपटलप्रोक्तमहालक्ष्मीयन्त्रादीनि । अनेन क्रमयोगेनेति सामा-न्योक्तेर्मन्त्रान् यन्त्राणीति च तथोक्तेरष्टत्रिंशता गुणिता अष्टत्रिंशत्कला मन्त्रास्तद्-बीजादि । (वन) नवदुर्गापुरुषोत्तमनेत्राङ्गमन्त्रादीन् यन्त्राणि वृद्धश्यामा वराहनृसिंह-यन्त्रादीनि सूते इति सूचितम् ॥

द्विचत्वारिंशतेति । मूले मूलाधारे द्विचत्वारिंशता गुणिता विश्वनायिका कुण्डलिनी अनेन क्रमेण अकारादिसकारान्तां द्विचत्वारिंशदात्मिकां भूतलिपि-मन्त्रात्मिकां वर्णमालिकां सृजतीति सम्बन्धः ॥ १०७ ॥

इसी क्रम से वह शिव वल्लभा ३६ स्वरूप में प्रगट हो कर शिव सम्बन्धी ३६ तत्त्वों को उत्पन्न करती हैं एवं शुभदायक ३६ मन्त्रों को तथा मन्त्रों का निर्माण करती हैं ॥ १०६-१०७ ॥

कुण्डलीतः शक्त्याद्युत्पत्तिः

सा प्रसूते कुण्डलिनी शब्दब्रह्ममयी विभुः ।
शक्तिं ततो ध्वनिस्तस्मान्नादस्तस्मान्निरोधिका ॥ १०८ ॥

परादिवागुत्पत्तिः

ततोऽर्धेन्दुस्ततो बिन्दुस्तस्मादासीत् परा ततः ।
पश्यन्ती मध्यमा वाचि वैखरी शब्दजन्मभूः ।
इच्छाज्ञानक्रियात्माऽसौ तेजोरूपा गुणात्मिका ॥ १०९ ॥
क्रमेणानेन सृजति कुण्डली वर्णमालिकाम् ।
अकारादिसकारान्तां द्विचत्वारिंशदात्मिकाम् ॥ ११० ॥
पञ्चाशद्वारगुणिता पञ्चाशद्वर्णमालिकाम् ।
सूते तद्वर्णतोऽभिन्ना कला रुद्रादिकान् क्रमात् ॥ १११ ॥

तमेव क्रममाह शक्तिमिति । सा कुण्डलिनी शक्तिं प्रसूते । (शक्तिर्नाम मूलकारणस्य शब्दस्योन्मुखीकरणावस्थेति गूढार्थदीपिकाकारः)। ततः शक्तेर्ध्वनिः । ततः तस्माद् ध्वनेरित्यादि ज्ञेयम् । अयञ्च क्रमो ग्रन्थकृता सर्वशेषे उक्तोऽपि एकाद्यक्षरोत्पत्तावप्यनुसन्धेयः । तत्र सत्त्वप्रविष्टा चिच्छक्तिवाच्या परमाकाशावस्था, सैव सत्त्वप्रविष्टा रजोऽनुविद्धा सती ध्वनिशब्दवाच्या अक्षरावस्था, सैव तमोऽनुविद्धा नाद शब्दवाच्या अव्यक्तावस्था, सैव तमःप्राचुर्यान्निरोधिकाशब्दवाच्या, सैव सत्त्वप्राचुर्यादर्द्धेन्दु शब्दवाच्या तदुभयसंयोगाद् बिन्दुशब्दवाच्या । यदाहुः—

इच्छाशक्तिबलोत्कृष्टो ज्ञानशक्तिप्रदीपकः ।
पुंरूपिणी च सा शक्तिः क्रियाख्यां सृजति प्रभुः ॥ इति ।

असावेव बिन्दुः स्थानान्तरगतः पराद्याख्यो भवति । तस्मादिति बिन्दोः । परा मूले, पश्यन्ती स्वाधिष्ठाने, मध्यमा हृदये, वैखरी मुखे । तदुक्तम्—

सूक्ष्मा कुण्डलिनीमध्ये ज्योतिर्मात्रात्मरूपिणी ।
अश्रोत्रविषया तस्मादुद्गच्छत्यूर्द्धगामिनी ॥
स्वयंप्रकाशा पश्यन्ती सुषुम्णामाश्रिता भवेत् ।
सैव हृत्पङ्कजं प्राप्य मध्यमा नादरूपिणी ॥
ततः संजल्पमात्रा स्यादविभक्तोर्द्धगामिनी ।
सैवोरः कण्ठतालुस्था शिरोघ्राणरदस्थिता ॥
जिह्वामूलौष्ठनिस्यूतसर्ववर्णपरिग्रहा ।
शब्दप्रपञ्चजननी श्रोत्रग्राह्या तु वैखरी ॥ इति ।

कादिमतेऽपि— स्वात्मेच्छाशक्तिघातेन प्राणवायुस्वरूपतः ।
मूलाधारे समुत्पन्नः पराख्यो नाद उत्तमः ॥
स एवोर्द्धं तया नीतः स्वाधिष्ठाने विजृम्भितः ।
पश्यन्त्याख्यामवाप्नोति तयैवोर्द्धं शनैः शनैः ॥

अनाहते बुद्धितत्त्वसमेतो मध्यमाभिधः ।
तथा तयोर्द्ध्वं नुन्नः सन् विशुद्धौ कण्ठदेशतः ॥
वैखर्याख्यस्ततः कण्ठशीर्षताल्वोष्ठदन्तगः ।
जिह्वामूलाग्रपृष्ठस्थस्तथा नासाग्रतः क्रमात् ॥
कण्ठताल्वोष्ठकण्ठौष्ठाद्दन्तौष्ठद्वयतस्तथा ।
समुत्पन्नान्यक्षराणि क्रमादादिक्षकावधि ॥
आदिक्षान्तरतेत्येषामक्षरत्वमुदीरितम् ॥ इति ।

तथाच श्रुतिः—

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥
इति ।

अथ वा चिच्छक्तिरेव पराख्या चैतन्याभासविशिष्टतया प्रकाशिका माया निष्पन्दा परा वागित्यर्थः । सस्पन्दावस्थाः पश्यन्त्याद्याः । तत्र सामान्यप्रस्पन्दप्रकाशरूपिणीं बिन्दुतत्त्वात्मिकां मूलाधारादिनाभ्यन्तरव्यक्तिस्थानां पश्यन्तीमाह पश्यन्तीति । ज्ञानात्मकत्वात् पश्यन्तीत्यर्थः । बाह्यान्तःकरणात्मिकां हिरण्यगर्भरूपिणीं नादबिन्दुमयीं नाभ्यादिहृदयान्ताभिव्यक्तिस्थानां विशेषसङ्कल्पादिसतत्त्वां मध्यमामाह मध्यमेति । मध्ये मा बुद्धिर्यस्या इति विग्रहः । विराड्रूपिणीं बीजात्मिकां हृदयाद्यास्यान्ताभिव्यक्तिस्थानां शब्दसामान्यात्मिकां वैखरीमाह वाचीति । विशेषेण खरत्वात् वैखरीत्यर्थः । तद्वर्णत इति । ते च ते वर्णाश्च तः अभिन्ना याः कलाः ताः सूते । रुद्रादिकान् सूते । आदिशब्देन तच्छक्तयः विष्णवः विष्णुशक्तयः पञ्चाशदोषधयश्च पञ्चाशत् कामाः तच्छक्तयश्च पञ्चाशद्गणेशास्तच्छक्तयः पञ्चाशत् क्षेत्रपालास्तच्छक्तयश्च । अत्र पञ्चाशदोषधयो यथा—

चन्दनकुचन्दनागुरुकर्पूरोशीररोगजलघुसृणाः ।
कक्कोलजातीमांसीमुरचोरग्रन्थिरोचनापत्राः ॥
पिप्पलबिल्वगुहारुणतृणकलवङ्गाह्वकुम्भिवन्दिन्यः ।
सौदुम्बरी काश्मरिका स्थिराब्जदरपुष्पिकामयूरशिखाः ॥
प्लक्षाग्निमन्थसिंही कुशाह्वदर्भाश्च कृष्णदरपुष्पी ।
रोहिणलुण्डु कबृहती पाटलिचित्रा तुलस्यपामार्गाः ॥
शतमखलता द्विरेफा विष्णुक्रान्तामुसल्यथाञ्जलिनी ।
दूर्वाश्रीदेविसहे तथैव लक्ष्मीसदाभद्रे ॥
आदीनामिति कथिता वर्णानां क्रमवशादथौषधयः ।
गुलिकाकषायभसितप्रभेदतो निखिलसिद्धिदायिन्यः ॥ इति ।

आसामोषधीनां प्रयोजनान्तरमप्युक्तं कादिमते—

यो यो मन्त्रस्तस्य तस्य वर्णौषधिविनिर्मिताः ।
तत्तद्वर्णोत्थसंख्याभिर्गुलिका मन्त्रसिद्धिदा ॥
तयाभिषेकस्तद्धारणं तत्स्वादस्तद्विलेपनम् ।
तत्पूजा च तथा सिद्धिलाभाय स्यान्न चान्यथा ॥ इति ।

पञ्चाशत् कामास्तच्छक्तयश्च यथा—

कामकामदकान्ताश्च कान्तिमान् कामगस्तथा ।
कामाचारश्च कामी च कामुकः कामवर्द्धनः ॥
रामो रमश्च रमणो रतिनाथो रतिप्रियः ।
रात्रिनाथो रमाकान्तो रममाणो निशाचरः ॥
नन्दको नन्दनश्चैव नन्दी नन्दयिता पुनः ।
पञ्चबाणो रतिसखः पुष्पधन्वा महाधनुः ॥
भ्रामणो भ्रमणश्चैव भ्रममाणो भ्रमोऽपरः ।
भ्रान्तश्च भ्रामकश्चैव भ्रान्ताचारो भ्रमावहः ॥
मोहको मोहनो मोहो मोहवर्द्धन एव च ।
मदनो मन्मथश्चैव मातङ्गो भृङ्गनायकः ॥
गायनो गीतिजश्चैव नर्त्तकः खेलकस्तथा ।
उन्मत्तो मत्तकश्चैव विलासो लोभवर्द्धनः ॥
दाडिमीकुसुमाभाश्च वामाङ्के शक्तिसंयुताः ।
सौम्या रक्ताम्बराः सर्वे पुष्पबाणेक्षुकार्मुके ॥
बिभ्राणाः सर्वभूषाढ्याः कामाः पञ्चाशदीरिताः ।
रतिः प्रीतिः कामिनी च मोहिनी कमलप्रिया ॥
विलासिनी कल्पलता (का) श्यामला च शुचिस्मिता ।
विस्मिताक्षी विशालाक्षी लेलिहाना दिगम्बरा ॥
वामा कुब्जा धरा नित्या कल्याणी मोहिनी तथा ।
मदना च सुरश्रेष्ठा लापिनी मर्दिनी तथा ॥
कलहप्रिया चैकाक्षी सुमुखी नलिनी तथा ।
जपिनी पालिनी चैव शिवा मुग्धा रसा भ्रमा ॥
चारुलोला चञ्चला च दीर्घजिह्वा रतिप्रिया ।
लोलाक्षी भृङ्गिणी चैव पाटला मादनी तथा ॥
माला च हंसिनी विश्वतोमुखी नन्दिनी तथा ।
रमणी च तथा कान्तिः कलकण्ठी वृकोदरी ॥
मेघश्यामा मदोन्मत्ता एताः पञ्चाशदीरिताः ।
शक्तयः कुङ्कुमनिभाः सर्वाभरणभूषिताः ।
नीलोत्पलकरा ध्येयास्त्रैलोक्याकर्षणक्षमाः ॥ इति ।

पञ्चाशद्गणेशास्तच्छक्तयश्च यथा—

विघ्नेशो विघ्नराजश्च विनायकशिवोत्तमौ ।
विघ्नकृद् विघ्नहर्त्ता च गणैकद्विसुदन्तकाः ॥
गजवक्त्रनिरञ्जनौ कपर्दी दीर्घजिह्वकः ।
शङ्कुकर्णश्च वृषभध्वजश्च गणनायकः ॥
गजेन्द्रः सूर्पकर्णश्च स्यात् त्रिलोचनसंज्ञकः ।
लम्बोदरमहानन्दौ चतुर्मूर्त्तिः सदाशिवः ॥
आमोददुर्मुखौ चैव सुमुखश्च प्रमोदकः ।

एकरदो द्विजिह्वश्च शूरवीरसषण्मुखाः ॥
वरदो वामदेवश्च वक्रतुण्डो द्विरण्डकः ।
सेनानीर्ग्रामणीर्मत्तो विमत्तो मत्तवाहनः ॥
जटी मुण्डी तथा खड्गी वरेण्यो वृषकेतनः ।
भक्षप्रियो गणेशश्च मेघनादकसंज्ञकः ॥
व्यापी गणेश्वरः प्रोक्ताः पञ्चाशद् गणपा इमे ।
(ध्यानम्) तरुणारुणसङ्काशा गजवक्त्रास्त्रिलोचनाः ॥
पाशाङ्कुशवराभीतिहस्ताः शक्तिसमन्विताः ।
(५० शक्तयः) श्रीर्ह्रीश्च पुष्टिशान्ती च स्वस्तिश्चैव सरस्वती ॥
स्वाहामेधाकान्तिकामिन्यो मोहिन्यपि वै नटी ।
पार्वती ज्वालिनी नन्दा सुपाशा कामरूपिणी ॥
उमा तेजोवती सत्या विघ्नेशा विघ्नरूपिणी ।
कामदा मदजिह्वा च भूतिः स्याद्भौतिका सिता ॥
रमा च महिषी प्रोक्ता भञ्जिनी च विकर्णपा ।
भ्रूकुटिः स्यात्तथा लज्जा दीर्घघोणा धनुर्धरा ॥
यामिनी रात्रिसंज्ञा च कामान्धा च शशिप्रभा ।
लोलाक्षी चञ्चला दीप्तिः सुभगा दुर्भगा शिवा ॥
भर्गा च भगिनी चैव भोगिनी सुभगा मता ।
कालरात्रिः कालिका च पञ्चाशच्छक्तयः स्मृताः ॥
सर्वालङ्करणोद्दीप्ताः प्रियाङ्कस्थाः सुलोचनाः ।
रक्तोत्पलकरा ध्येया रक्तमाल्याम्बरारुणाः ॥ इति ।

पञ्चाशत् क्षेत्रपालाः क्षेत्रपालमन्त्रे वक्ष्यन्ते ॥ १०८-१११ ॥

वही विश्वनायिका शब्द ब्रह्ममयी सर्वव्यापिका कुण्डलिनी शक्ति जब मूल से ४२ गुना रूप धारण करती हैं तो प्रथम शक्ति, शक्ति से ध्वनि, ध्वनि से नाद, नाद से निरोधिका को उत्पन्न करती हैं ॥ १०८ ॥

निरोधिका से अर्द्धेन्दु, पुनः दो अर्द्धेन्दु से बिन्दु, बिन्दु से परा, उससे पश्यन्ती, तदनन्तर मध्यमा, फिर वैखरी उत्पन्न होती हैं, यही वाणियों की उत्पत्ति के स्थान हैं ॥ १०९ ॥

इच्छारूपा ज्ञानरूपा, क्रियारूपा और तेजोरूपा त्रिगुणा, वही कुण्डलिनी इसी क्रम से अकारादि सकारान्त ४२ बयालीस अक्षरों की सृष्टि करती हैं ॥ ११० ॥

जब वह पचास रूप में स्थित होती हैं, तब पच्चास वर्णों की तथा उन वर्णों से अभिन्न रुद्र कलाओं की क्रमशः सृष्टि करती हैं ॥ १११ ॥

निरोधिकार्द्धेन्दुबिन्दूनामर्काग्नीन्दुरूपत्वम्

निरोधिका भवेद्वह्निरर्द्धेन्दुः स्यान्निशाकरः ।
अर्कः स्यादुभयोर्योगे बिन्द्वात्मा तेजसां निधिः ॥ ११२ ॥

वर्णानां सोमसूर्याग्निरूपत्वम्

जाता वर्णा यतो बिन्दोः शिवशक्तिमयादतः ।
अग्नीषोमात्मकास्ते स्युः शिवशक्तिमयाद्रवेः ।
येन सम्भवमापन्नाः सोमसूर्याग्निरूपिणः ॥ ११३ ॥

॥ इति श्रीलक्ष्मणदेशिकेन्द्रविरचिते शारदातिलके
प्रथमः पटलः समाप्तः ॥ १ ॥
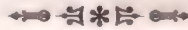
वर्णानामग्नीषोमात्मकत्वं सोमसूर्याग्निरूपत्वञ्च अग्रे उपयोगीति तद्विविक्ष्याह निरोधिकेति । निरोधिकाया अग्निरूपत्वात् शिवस्वरूपत्वम् । अर्द्धेन्दोः सोमरूपत्वात् शक्तिस्वरूपत्वम् । येन कारणेन शिवशक्तिमयाद्रवेः सम्भवमापन्नाः । रवेः शिवशक्तिमयत्वम् । अर्कः स्यादुभयोर्योगे इत्युक्तेः । तेन सोमसूर्याग्निरूपिणो भवन्ति । कार्यकारणयोरभेदात् ॥ ११२-११३ ॥

॥ इति श्रीराघवभट्टविरचित-शारदातिलकटीकायां सत्सम्प्रदायकृतव्याख्यायां पदार्थादर्शाभिख्यायां प्रथमः पटलः ॥ १ ॥
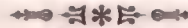
निरोधिका अग्नि स्वरूपा है, इसलिये शिवात्मक है । बिन्दु चन्द्र स्वरूप है, इसलिये शक्त्यात्मक है । शिव शक्ति के योग में वही बिन्द्वात्मा, तेजो निधान सूर्य स्वरूप हो जाता है । यतः शिव शक्तिमय बिन्दु से वर्णों की उत्पत्ति होती है, अतः वे सभी अग्नीषोमात्मक हैं और शिव शक्ति का योग पूर्व में सूर्य स्वरूप कहा गया है इसलिये सभी वर्ण सोम, सूर्य और अग्निस्वरूप हैं ॥ ११२-११३॥

॥ इस प्रकार शारदातिलक के प्रथम पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ १ ॥

अथ पञ्चविंशः पटलः

अथ योगप्रकरणम्

अथ योगं प्रवक्ष्यामि साङ्गं संवित्प्रदायकम् ।
ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः ॥ १ ॥

लैङ्गीक्रियामन्त्रवतीस्ववेध ज्ञानाह्वयाः पञ्च भवन्ति दीक्षाः ।
चतुर्विधास्ताः समयाभिधान सामान्यनिर्वाणविशेषदीक्षाः ॥

एवं दीक्षासु सर्वासु गुरुः शिष्यं प्रबोधयेत् ।
बोधितोऽबोधितश्चेत् स्यान्नाऽन्यथा दीक्षितो भवेत् ॥

इत्युक्तेः योगं विना दीक्षाया अनिर्वाहात् सूर्यमन्त्रादौ च प्रयोगविषये अनेके योगप्रकारा उक्ताः । तेषां च ज्ञानाय योगं वक्तुं प्रतिजानीते अथेति । साङ्गं यम-नियमादियुक्तम् । संवित्प्रदायकं नित्यानन्दानुभवरूपमोक्षदायकमित्यर्थः । एतेन आत्मविशेषगुणोच्छेदो मोक्ष एतन्मतम् निरस्तम् । सुखाभावस्य पुरुषार्थत्वाभावात् ।

वेदान्तपक्षमाश्रित्याह ऐक्यमिति । तच्च 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतिसिद्धम् ।

यत् प्रयोगसारे— निष्कलस्याऽप्रमेयस्य देवस्य परमात्मनः ।
सन्धानं योगमित्याहुः संसारोच्छित्तिसाधनम् ॥ इति ॥ १ ॥

अब ग्रन्थकार योग का प्रतिपादन करने के लिये इस पटल में योग का वर्णन करते हैं—अब नित्यानन्दानुभव रूप मोक्ष को देने वाले साङ्ग योग का वर्णन करता हूँ । योगशास्त्र के विशारद विद्वज्जन जीव और आत्मा के एक हो जाने का नाम योग है, ऐसा मानते हैं ॥ १ ॥

शिवात्मनोरभेदेन प्रतिपत्तिः परे विदुः ।
शिवशक्त्यात्मकं ज्ञानं जगुरागमवेदिनः ॥ २ ॥

शिवप्रोक्तसूत्रमतप्रवृत्तप्रत्यभिज्ञादिग्रन्थमतमाह—शिवेति । प्रतिपत्तिर्ज्ञानम् । परे शैवाः । तदुक्तं शिवसूत्रवृत्तौ—

धीः स्वात्त्विकी विमर्शेन जायते नियतात्मनः ।
चंक्रमन्ती शिवं प्राप्य लीयते चेन्द्रियैः सह ॥ इति ।

त्रिकभेदेऽपि— सत्त्वस्थश्च तमःस्थो गुणभेदकः ।
एवं पर्यटते देही स्थानात् स्थानान्तरं व्रजन् ॥

तन्मात्रोदयरूपेण मनोऽहंबुद्धिवर्त्मना ।
पूर्यष्टकेन संरुद्धो दुःखं तत्प्रत्ययोद्भवम् ॥
भुङ्क्ते परवशो भोगं तत्रस्थं संहरेच्छिवः ॥ इति ।

स्वच्छन्दभैरवेऽपि—अणुमात्रं शिवानन्दस्फुरणं सर्वदोषहृत् ।
मलत्रयविनाशाच्च माया गच्छेत् समूलतः ॥ इति ।

आनन्दभैरवेऽपि—प्राणादिभावनं त्यक्त्वा तथा तद्दृश्यसम्पदः ।
स्वात्मभावेन चित्तेन विशेच्छिवपदं शनैः ॥ इति ।

उत्तराम्नायमतमाह—शिवेति । शिवशक्त्यात्मकं ज्ञानं शिवशक्तोरभेदज्ञान-मित्यर्थः । यदाहुः—एषा बोधमयी शक्तिः परमानन्दरूपिणी ।
सत्त्वादिगुणसंबद्धा स्वमायान्तर्गता विभुः ॥
समस्ततत्त्वजातानामिह सृष्टेरनन्तरम् ।
सर्वैः शरीरैस्तत्संस्थैरपि मर्त्यैः परस्परम् ॥
अनाद्यध्यासम्बद्ध विस्मृत्यात्मस्वरूपिणी ।
शिवा (विश्वा)त्मिका भवेदेषा देवी सर्वात्मना शिवे ॥ इति ॥ २ ॥

अन्य लोग शिव एवं आत्मा की जिससे अभेदेन प्रतिपत्ति (ज्ञान) हो उसे योग कहते हैं और आगम शास्त्र के विद्वान् शिवशक्त्यात्मक ज्ञान को योग कहते हैं ॥ २ ॥

पुराणपुरुषस्याऽन्ये ज्ञानमाहुर्विशारदाः ।
जित्वाऽऽदावात्मनः शत्रून् कामादीन् योगमभ्यसेत् ॥ ३ ॥

भेदवादिवैष्णवादिमतमाह पुराणेति । पुरुषोत्तमः । पुरुषः सांख्यमते । ईश्वरो न्यायमते । नारायणो वैष्णवमते । तत्परिचयो योगः । तत्र पूज्यत्वात् प्रथमोपन्यस्त-त्वाच्च प्रथमं मतं ग्रन्थकृत्सम्मतमिति गम्यते ॥ ३ ॥

कामक्रोधौ लोभमोहौ तत्परं मदमत्सरौ ।
वदन्ति दुःखदानेतानरिषड्वर्गमात्मनः ॥ ४ ॥

कामेति । स्त्रीभोगाद्यभिलाषः कामः । सत्त्वादिजिघांसा क्रोधः । धनादितृष्णा लोभः । तत्त्वाज्ञानं मोहः । अहं सुखी धनी विद्यावानिति गर्वः मदः । अन्यशुभद्वेषो मत्सरः इति । दुःखदानेतान् आत्मनः अरिषड्वर्गमाहुरित्यन्वयः । आत्मस्वरूपचिन्तनव्यापारतिरोधानेन तेषां शत्रुत्वम् ॥ ४ ॥

अन्य विद्वान् लोग जिससे पुराण पुरुष (पुरुषोत्तम, पुरुष, ईश्वर एवं नारायण) का ज्ञान हो उसे योग कहते हैं । अब योग के अधिकारी पात्र का वर्णन करते हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर इन ६ शत्रुओं को जीतकर तब योग का अभ्यास करना चाहिए ।

विमर्श—स्त्री योगादि में अभिलाषा का नाम काम हैं । इच्छा के प्रतिघात होने पर सत्वगुण का विनाश क्रोध हैं । धनादि की तृष्णा का नाम लोभ है, तत्त्व

का अज्ञान मोह है । 'मैं ही सब कुछ हूँ, इस प्रकार का अभिमान मद है और अन्य जन में रहने वाले शुभ गुणों से डाह करना मत्सर है । ये ६ ऐसे शत्रु हैं, जो आत्मा को निरन्तर दुःख देते रहते हैं ॥ ३-४ ॥

योगाष्टाङ्गानि

योगाष्टाङ्गैरिमान् जित्वा योगिनो योगमाप्नुयुः ।
यमनियमावासनप्राणायामौ ततः परम् ॥ ५ ॥
प्रत्याहारं धारणाख्यं ध्यानं सार्द्धं समाधिना ।
अष्टाङ्गान्याहुरेतानि योगिनो योगसाधने ॥ ६ ॥

एतज्जयोपायमाह योगेति । तान्याह यमेति ॥ ५-६ ॥

योगी जन योग के अष्टाङ्गों के अभ्यास से इन कामादि विकारों को जीत कर योग की प्राप्ति करते हैं । (अब योग के अष्टाङ्गों को कहते हैं)—१. यम, २. नियम, ३. आसन, ४. प्राणायाम, ५. प्रत्याहार, ६. धारणा, ७. ध्यान तथा ८. समाधि को योग का आठ अङ्ग कहा गया है । ये अष्टाङ्ग योग सिद्धि के साधन हैं ॥ ५-६ ॥

अहिंसादि दश यमाः

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं कृपार्जवम् ।
क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चेति यमा दश ॥ ७ ॥

क्रमादेषां स्वरूपमाह—अहिंसेति । न कञ्चन हन्मि इत्यभ्यासप्रवणता अहिंसा । असत्यं न वच्मि इत्यभ्यासप्रवणचित्तता सत्यम् । चौर्यनिवृत्तिः अस्तेयम् । स्त्रीभोगेच्छानिवृत्तिः ब्रह्मचर्यम् । प्राणिषु क्रूरबुद्धिनिवृत्तिः कृपा । चित्तकौटिल्य-निवृत्तिः आर्जवम् । अभिभावकं प्रति अक्रोधप्रवणचित्तता क्षमा । इष्टवस्त्वाद्यला-भतश्चिन्ताभावो धृतिः । क्रमेण आहारापकर्षणात् यावच्छरीरस्थितिमात्रभोजनं मिताहारः । चित्तनैर्मल्यार्थं यथोक्तशौचशीलता शौचम् यमा इति 'यमु' उपरमे कामादेर्निवृत्तिरूपा इत्यर्थः । तत्र धृतिः सर्वत्राऽनुषक्ता । अहिंसाब्रह्मचर्याभ्यां कामस्य जयः । कृपाक्षमाभ्यां क्रोधस्य । अस्तेयसत्यार्जवेभ्यो लोभस्य । मिताहार-शौचाभ्यां मोहस्य । क्षमार्जवाभ्यां मदस्य । अहिंसाकृपार्जवक्षमाभ्यो मत्सरस्य । इत्यन्यदपि यथायथमूह्यम् । तदुक्तं संहितायाम्—

सर्वेषामपि जन्तूनामक्लेशजननं मुने ।
वाङ्मनः कर्मभिर्न्यूनमहिंसेत्यभिधीयते ॥
यथादृष्टश्रुतार्थानां स्वरूपकथनं पुनः ।
सत्यमित्युच्यते ॥ इति ।
तृणादेरप्यनादानं परस्वस्य तपोधन ॥
अस्तेयम् ॥ इति ।
अवस्थास्वपि सर्वासु कर्मणा मनसा गिरा ।

स्त्रीसङ्गतिपरित्यागो ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते ॥
परेषां दुःखमालोक्य स्वस्यैवालोक्य तस्य तु ।
उत्सादनानुसन्धानं दया ॥ इति ।
व्यवहारेषु सर्वेषु मनोवाक्कायकर्मभिः ।
सर्वेषामपि कौटिल्यराहित्यमार्जवं भवेत् ॥ इति ।
सर्वात्मना सर्वदाऽपि सर्वत्राऽस्याऽपकारिषु ।
बन्धुष्विव समाचारः क्षमा स्यात् ॥ इति ।
इच्छाप्रयत्नराहित्यं जातेषु विषयेष्वपि ।
लोभवत्सु धृतिः ॥ इति ।
भोज्यस्यैव चतुर्थांशभोजनं स्वच्छचेतसः ।
हितं मेध्यं सुतीक्ष्णेन मिताहारं प्रचक्षते ॥
निर्गतं रोमकूपेभ्यो नवरन्ध्रेभ्य एव च ।
मलं वदन्ति द्वाराणां (तोयैस्तत्) क्षालनं शौचमुच्यते ॥
मृज्जलाभ्यां बहिः सम्यगान्तरं त्वथवा पुनः ।
पूर्वोक्तभूतशुद्ध्यन्तं शौचमाचक्षते बुधाः ॥ इति ॥ ७ ॥

१. **यम**—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, कृपा, आर्जव, क्षमा, धैर्य, परिमित आहार और शौच ये दश यम कहे गये हैं।

विमर्श—इनका लक्षण इस प्रकार है—१. किसी को किसी प्रकार का कष्ट नहीं दूँगा इस प्रकार के संकल्प का नाम **अहिंसा** है । २. 'मैं कभी झूठ न बोलूँगा' इस प्रकार के संकल्प का नाम सत्य है अथवा यथा दृष्टश्रुतार्थ के कथन का नाम **सत्य** है अथवा जिससे प्राणियों का हित हो, अहित न हो उसका नाम सत्य है । ३. किसी की तृण जैसी लघु वस्तु बिना पूछे नहीं लूँगा इस प्रकार की वृत्ति का नाम **अस्तेय** है । ४. स्त्री भोगेच्छा से मनसा, वचसा, कर्मणा निवृत्ति का नाम **ब्रह्मचर्य** है । ५. प्राणियों में के अनिष्ट न करने का संकल्प करना और उनका हित करते रहना यह **कृपा** है । ६. किसी के प्रति अपने चित्त में कुटिलता न रखना इस प्रकार का भाव **आर्जव** है । ७. जो अपना अनिष्ट कर रहा है उसके प्रति भी किसी प्रकार का अनिष्ट न करने के संकल्प का नाम **क्षमा** है । ८. महान् विपत्ति आने पर अथवा इष्ट प्राप्ति के लिये किये जाने वाले प्रयासों के व्यर्थ होने पर सिद्धान्त से विचलित न होने का नाम **धैर्य** है । ९. शरीर स्थितिमात्र स्वल्प सात्विक आहार जो हितकारी एवं लघु हो, उसको ग्रहण करते रहना **मिताहार** है । १०. चित्त की निर्मलता संपादन हेतु शास्त्र में कहे गये शौच के नियमों का पालन **शौच** है । इसके अर्थ—शौच एवं स्त्रीशौचादि अनेक प्रकार के भेद शास्त्रों में कहे गये हैं ॥ ७ ॥

तपआदि दशनियमः

तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानं देवस्य पूजनम् ।
सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो हुतम् ॥ ८ ॥

दशैते नियमाः प्रोक्ताः योगशास्त्रविशारदैः ।

तप इति । कृच्छ्रादिव्रतचर्या तपः । बह्विष्टतरानभिलाषाः सन्तोषः । अस्ति परलोक इति मतिर्यस्य स आस्तिकः । तस्य भाव आस्तिक्यम् । परलोकबुद्धया धर्माद्याचरणमिति यावत् । यथाविभवं देवपितृमनुष्योद्देशेन वितरणं दानम् । देवस्य पूजनम् उक्तरीत्याऽनुष्ठानादेव मोक्षोपायप्रवृत्तस्य विघ्नाभावाय भवति । सिद्धान्त उपनिषन्मोक्षोपायोपदेशपरिमलादिशास्त्रम् तस्य श्रवणम् । कुत्सिताचारात् स्वत उद्वेगो ह्रीः । तथा सति चित्तमालिन्येन ज्ञानानुदयात् । मतिर्मननम् ।

तथा च स्मृतिः—श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः । इति ।

जप इत्युक्तप्रकारेण । 'जपतो नास्ति पातकम्' इत्युक्तेः । चित्तशुद्धावुपयोगात् । हुतमग्निहोत्रादिहोमः । यदकरणे प्रत्यवायात् चित्तमालिन्येन ज्ञानानुदयात् । यद्वा हुतं मन्त्रजपस्य दशांशहोमः । यथा चोक्तम्—

नाऽजपात् सिध्यते मन्त्रो नाऽहुताच फलप्रदः ।
अनर्चितो हरेत् कामान् तस्मात् त्रितयमाचरेत् ॥ इति ।

नियमा इति । अवश्यकर्त्तव्यतया नियमत्वमेषाम् । अतः कदाचिदालस्यादिना त्यागो न कार्यः । तदुक्तं संहितायाम्—

तपस्त्वनशनं नाम विधिपूर्वकमिष्यते ।
अनायासोपवासेन तृप्त्यर्थं भैक्ष्यसेवनम् ॥
तुष्टिरेषा । इति ।
श्रुत्याद्युक्तेषु विश्वास आस्तिक्यं संप्रचक्षते ।
यदिष्टदेवतां ध्यात्वा तदर्पणाधियाऽन्वहम् ॥
सत्पात्रे दीयतेऽन्नादि तद्दानमभिधीयते ।
इष्टदेवार्चनं सम्यक् विधिपूर्वकमन्वहम् ॥
त्रिसन्ध्यमेकदा वा तु भवत्येव तदर्चनम् ।
वैष्णवागमसिद्धान्तश्रवणं श्रावणं (स्मरणं) तथा ॥
श्रुत्यादिभिर्लौकिकैश्च यदत्यन्तविनिन्दितम् ।
तत्राऽप्रवर्त्तनं लज्जा । इति ।
तर्कैर्यदनुसन्धानं सम्यक् शब्दस्थितैरपि ।
शास्त्रोक्तयोर्मतिरियम् ॥ इति ।
गुरोर्लब्धस्य मन्त्रस्य शश्वदावर्त्तनं जपः ।
द्रव्यैः कल्पोदितैर्होमो हुतम् ॥ इति ॥ ८-९ ॥

२. **नियम**—तप, संतोष, आस्तिक्य, दान, देवपूजन, सिद्धान्त श्रवण, ह्रीं (लज्जा), मति, जप एवं होम—ये दश योग शास्त्र विशारदों के द्वारा **नियम** कहे गए हैं ।

विमर्श—१. कृच्छ्र, चान्द्रायण एवं सान्तपन आदि व्रतों के द्वारा शरीर को शोषण करने का नाम **तप** है । शरीर के निर्वाह से अधिक न चाहने का नाम **संतोष** है । ईश्वर परलोक देवता, गुरु एवं शास्त्र वचनों में विश्वास का नाम

आस्तिक्य है। विभवानुसार देश-काल तथा पात्र का विचार कर परलोक देव पितर एवं मनुष्य के उद्देश्य से वितरण करने का नाम **दान** है । कल्याण, परलोक अथवा मुक्ति प्राप्ति में बाधा न आवे इस उद्देश्य से देव पूजा में प्रवृत्त होने का नाम **देवपूजन** है । मोक्षोपाय के साधनभूत उपनिषद् वचनों को सतत् श्रवण करने का नाम **सिद्धान्तश्रवण** है । कुत्सित आचारों से उद्विग्न होकर उनसे दूर रहने का नाम ह्री (लज्जा) है । क्योंकि कुत्सित आचार के परिपालन से बुद्धि मलिन हो जाती है और ज्ञान नहीं हो पाता । शास्त्र के सिद्धान्तों का मनन ही **मति** है । इष्ट देवता मन्त्र अथवा गुरु परम्परा से प्राप्त दीक्षा मन्त्र का त्रिकाल अथवा एक काल पर्यन्त जप करते रहना इसका नाम **जप** है । 'जपः' पौनः पुन्येन आवृत्तिः जपतो नास्ति पातकम्' यह जप का लक्षण एवं फल है । हविमन्त्र, देशकाल, वैध आधार, अग्नि, एवं आचार्य के संयोग का नाम **होम** है। इन्हें नियम इसलिये कहा जाता है कि इन कर्त्तव्यों का पालन अशौच से अतिरिक्त सभी काल में आवश्यक है । इनके पालन में कभी किसी प्रकार का प्रमाद नहीं करना चाहिए । अन्यथा संस्कार लुप्त होने की संभावना हो जाती है ॥ ८ ॥

आसनपञ्चकम्

पद्मासनं स्वस्तिकाख्यं वज्रं भद्रासनं तथा ॥ ९ ॥
वीरासनमिति प्रोक्तं क्रमादासनपञ्चकम् ।
ऊर्वोरुपरि विन्यस्य सम्यक् पादतले उभे ॥ १० ॥
अङ्गुष्ठौ च निबध्नीयाद्धस्ताभ्यां व्युत्क्रमात्ततः ।
पद्मासनमिति प्रोक्तं योगिनां हृदयङ्गमम् ॥ ११ ॥

आसनपञ्चकमिति । स्थितं श्रमः तल्पादौ दण्डवत् पतितं तु निद्राऽभिभवति इति उपविष्टस्यैव ज्ञानाभ्यासाधिकारः । तत्र यथाकथञ्चिदुपवेशने रोगः कुण्डल्यानुगण्याभावश्च । तस्मात् पद्मासनाद्युक्तिः । तदुक्तं वशिष्ठसंहितायाम्—

आसनेन रुजो हन्ति प्राणायामेन पातकम् ।
विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण सर्वदा ॥
धारणाभिर्मनोधैर्यं ज्ञानादैश्वर्यमुत्तमम् ।
समाधौ मोक्षमाप्नोति त्यक्तकर्मशुभाशुभः ॥ इति ।

ऊर्वोरिति । ऊर्वोरुपरि परस्परस्योर्वोरुपरि । व्युत्क्रमात् इत्यस्य अत्रापि सम्बन्धात् । निबध्नीयादित्यत्र व्युत्क्रमादिति पृष्ठभागे हस्तमात्रव्युत्क्रमः । अङ्गुष्ठबन्धने तु तत्तद्धस्तेनैव तत्तदङ्गुष्ठबन्धनम् ॥ ९-११ ॥

अब ग्रन्थकार स्थिति श्रम की अवस्था में शयन पर पड़ जाने से निद्रा आ जाती है, अथवा योग में अनुचित रूप में अवस्थान की स्थिति से रोग होते हैं । इसके अतिरिक्त बैठकर ही योग करना चाहिए, ऐसा नियम भी है । इसलिये (अष्टाङ्ग योग में प्रथम) आसन का वर्णन करते हैं—

३. **आसन**—पद्मासन, स्वास्तिकासन, वज्रासन, भद्रासन एवं वीरासन क्रमशः ये पाँच (मुख्य) आसन हैं । दोनों ऊरु के ऊपर दोनों पादतल को स्थापित कर व्युत्क्रम (हाथों को उलट कर) पूर्वक दोनों हाथों से दोनों हाथ के अंगूठे को बाँध लेने का नाम पद्मासन कहा गया है, यह आसन योगियों को अत्यन्त प्रिय है ॥ ९-११ ॥

जानूर्वोरन्तरे सम्यक् कृत्वा पादतले उभे ।
ऋजुकायो विशेद्योगी स्वस्तिकं तत् प्रचक्षते ॥ १२ ॥

जान्विति । अन्तरे इति दक्षिणे वामपादं वामे दक्षिणम् । पूर्वासने अङ्गुष्ठ-बन्धेनैव ऋजुकायता सिद्धा । अत्र तु तथाऽभावात् ऋजुकाय इति उक्तम् ॥ १२ ॥

पैर के दोनों जानु और दोनों ऊरू के बीच दोनों पादतल को अर्थात् दक्षिण पाद के जानु और ऊरू के मध्य वाम पादतल एवं वामपाद के जानु और ऊरू के मध्य दक्षिण पादतल को स्थापित करे । इस प्रकार शरीर को सीधे कर बैठने का नाम स्वस्तिकासन है ॥ १२ ॥

भद्रासनलक्षणम्

सीवन्याः पार्श्वयोर्न्यस्येद् गुल्फयुग्मं सुनिश्चलम्।
वृषणाधः पार्ष्णिपादौ पाणिभ्यां परिबन्धयेत्॥ १३ ॥
भद्रासनं समुद्दिष्टं योगिभिः पूजितं परम् ।

वज्रासनलक्षणम्

ऊर्वोः पादौ क्रमान्न्यस्येज्जान्वोः प्रत्यङ्मुखाङ्गुली ॥१४॥
करौ निदध्यादाख्यातं वज्रासनमनुत्तमम् ।

वीरासनलक्षणम्

एकं पादमधः कृत्वा विन्यस्योरौ तथेतरम्॥ १५ ॥
ऋजुकायो विशेद्योगी वीरासनमितीरितम् ।

सीवन्या इति । गुदमेढ्रान्तरालोर्ध्वरेखा सीवनी । तस्याः पार्श्वयोः । वाम-पार्श्वे दक्षिणपादगुल्फम् । अन्यस्मिन् अन्यम् । वृषणाधः अण्डकोषाधः पादपार्ष्णी व्यत्यासेन भवत इति शेषः । 'तद्ग्रन्थी घुटिके गुल्फौ पुमान् पार्ष्णिस्तयोरधः' इति कोशः । पाणिभ्यां परिबन्धयेत् पूर्ववत् अङ्गुष्ठाविति शेषः । अङ्गुष्ठबन्धनेन ऋजुकायत्वं सिद्धम् । तदुक्तं योगसारे—

सीवन्या आत्मनः पार्श्वे गुल्फौ निक्षिप्य पादयोः ।
सव्ये दक्षिणगुल्फञ्च दक्षिणे दक्षिणेतरम् ॥
दक्षे सव्यकरं न्यस्य सव्ये न्यस्येतरं करम् ।
अङ्गुष्ठौ च निबध्नीयाद्धस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण तु ॥ इति ।

ऊर्वोरिति । स्वस्योरुमूले क्रमात् पादद्वयं कुर्यात् । प्रत्यङ्मुखाङ्गुली स्वसम्मुखाङ्गुली । प्रत्यङ्मुखाङ्गुली करौ जान्वोरुपरि निदध्यादित्यन्वयः । अत्र ऋजुकायत्वं जानुहस्तदानादेव सिद्धम् ।

एकमिति । अथ इति अपरस्फिचः ॥ १३-१६ ॥

भद्रासन—सीवनी (गुदा और लिङ्ग के बीचोबीच ऊपर जाने वाली रेखा एक जैसी पतली नाडी का नाम सीवन है) के दोनों तरफ दोनों पैर के गुल्फों को अर्थात् वामपार्श्व में दक्षिणपाद के गुल्फ एवं दक्षिण पार्श्व में वाम पाद के गुल्फ को निश्चल रूप से स्थापित कर वृषण (अण्डकोश) के नीचे दोनों पैर की घुट्टी, अर्थात् वृषण के नीचे दाहिनी ओर वाम पाद की घुट्टी तथा बाईं ओर दक्षिण पाद की घुट्टी स्थापित कर पूर्ववत् दोनों हाथों से दोनों अङ्गुष्ठ को बाँध लेने से भद्रासन हो जाता हैं योगी जन इसकी बहुत प्रशंसा करते हैं ॥ १३ ॥

वज्रासन—पैर के परस्पर जानु प्रदेश पर एक दूसरे पैर को स्थापित करे तथा हाथ की अङ्गुलियों को सीधे ऊपर की ओर उठाये रखे तो इस प्रकार के आसन को वज्रासन कहते हैं, यह बड़ा श्रेष्ठ आसन हैं ॥ १४ ॥

वीरासन—एक पैर को दूसरे पैर के नितम्ब के नीचे स्थापित करे, तथा दूसरे पादतल को नितम्ब के नीचे स्थापित किये गये पैर के ऊरू पर रखे तथा शरीर को सीधे रखे तो वह वीरासन कहा जाता है ॥ १५-१६ ॥

प्राणायामः

इडयाऽऽकर्षयेद्वायुं बाह्यं षोडशमात्रया ॥ १६ ॥
धारयेत् पूरितं योगी चतुःषष्ट्या तु मात्रया ।
सुषुम्णामध्यगं सम्यक् द्वात्रिंशन्मात्रया शनैः ॥ १७ ॥
नाड्या पिङ्गलया चैनं रेचयेद्योगवित्तमः ।
प्राणायाममिमं प्राहुर्योगशास्त्रविशारदाः ॥ १८ ॥
भूयो भूयः क्रमात्तस्य व्यत्यासेन समाचरेत् ।
मात्रावृद्धिक्रमेणैव सम्यग्द्वादश षोडश ॥ १९ ॥
प्राणायामो हि द्विविधः सगर्भोऽगर्भ एव च ।
जपध्यानादिभिर्युक्तं सगर्भं तं विदुर्बुधाः ॥ २० ॥
तदपेतं विगर्भं च प्राणायामं परे विदुः ।
क्रमादभ्यसतः पुंसो देहे स्वेदोद्गमोऽधमः ॥ २१ ॥
मध्यमः कम्पसंयुक्तो भूमित्यागः परो मतः ।
उत्तमस्य गुणावाप्तिर्यावच्छीलनमिष्यते ॥ २२ ॥

षोडशमात्रयेति । मात्रालक्षणमुक्तं तन्त्रान्तरे—

कालेन यावता स्वीयो हस्तः स्वं जानुमण्डलम् ।
पर्येति मात्रा सा तुल्या स्वीयैकश्वासमात्रया ॥ इति ।

अन्ये अन्यथा मात्रालक्षणमाहुः—

स्वजानुमण्डलं पूर्वं त्रिः परामृश्य पाणिना ।
प्रपद्य छोटिकामेकां मात्रा सा स्याल्लघीयसी ॥ इति ।

अन्यत्र तु— सोऽङ्गुलिस्फोटतुल्यश्च मात्राष्टाभिश्च तैः स्मृता ॥ इति ।

वायवीयसंहितायां तु—जानु प्रदक्षिणीकृत्य न द्रुतं न विलम्बितम् ।
अङ्गुलिस्फोटनं कुर्यात् सा मात्रेति प्रकीर्त्तिता ॥ इति ।

आकर्षयेदिति पूरकः । पूरितं धारयेदिति कुम्भकः । सुषुम्णामध्यगं सम्यगिति पूर्वेण सम्बध्यते । रेचयेदिति रेचकः । केचन रेचकादिकुम्भकान्तं मन्यन्ते । एवं क्रमाद् भूयोभूयः पौनःपुन्येन क्रमेण एकैकवृद्ध्या द्वित्रिवृद्ध्यादिक्रमेण तस्य व्यत्यासेन उक्तवैपरीत्येन द्वादश षोडश वा प्राणायामान् समाचरेदित्यन्वयः ।

तदुक्तम्— शुचिः प्राणायामान् प्रणवसहितान् षोडश वशी
प्रभाते सायं च प्रतिदिवसमेवं वितनुते ।
द्विजो यस्तु भ्रूणप्रहणनकृतांहोऽभिकलितं
पुनन्त्येते मासादपि दुरिततूलौघदहनाः ॥ इति ।

परमतमाह श्लोकेन जपेति । परे बुधा विदुरित्यन्वयः । अयं च प्राणायामः पूजाविषय इति ज्ञेयम् । तदुक्तम्—

अयं प्राणायामः सकलदुरितध्वंसनकरो
विगर्भः प्रोक्तोऽसौ शतगुणफलो गर्भकलितः ।
जपध्यानोपेतः स तु निगदितो गर्भरहितः
सगर्भस्तद्युक्तो मुनिपरिवृढैर्योगनिरतैः ॥ इति ।

शीलनं प्राणायामस्येति शेषः ॥ १६-२२ ॥

४. अब **प्राणायाम का प्रकार** कहते हैं—योगी सर्वप्रथम इडा नाडी से १६ मात्रा काल पर्यन्त बाहरी वायु को भीतर की ओर खींचे तो वह **पूरक प्राणायाम** कहा जाता हैं पुनः उस खींचे गये वायु को सुषुम्णा के मध्य में ६४ मात्रा काल पर्यन्त धारण करे तो वह **कुम्भक** कहा जाता है, फिर उस धारण किये गये वायु को ३२ मात्रात्मक काल में बाहर निकाल देवे तो **रेचक प्राणायाम** कहा जाता है । इसी को योगशास्त्र **विशारद प्राणायाम** कहते हैं (अपने हाथ को जानु मण्डल के चारों ओर घुमाने में जितना समय लगता हैं उसी काल को मात्रा कहते हैं अथवा इसी को एक श्वास कहते हैं) ॥ १६-१८ ॥

इस प्रकार ऊपर कहा गया प्राणायाम एक एक मात्रा की वृद्धि के क्रम से ६४ मात्रा पर्यन्त, पुनः उसके व्यत्यस्त क्रम (एक एक घटा कर) प्रतिदिन द्वादश अथवा षोडश बार प्राणायाम करना चाहिए ॥ १९ ॥

प्राणायाम सगर्भ एवं अगर्भ भेद से दो प्रकार का कहा गया है। बुद्धिमान् लोग जप और ध्यान पूर्वक किये गये प्राणायाम को सगर्भ प्राणायाम कहते हैं। किन्तु जो प्राणायाम जप ध्यान से रहित किया जाता है उसे दूसरा अगर्भ प्राणायाम कहते हैं। क्रमशः प्राणायाम का अभ्यास करते हुये जब स्वेद निकलने लगे तो उसे अधम प्राणायाम कहा जाता है ॥ २०-२१ ॥

प्राणायाम के अभ्यास से जब शरीर में कम्प होने लगे तो वह मध्यम प्राणायाम कहा जाता है और जब शरीर भूमि से ऊपर की ओर उठने लगे तो उत्तम प्राणायाम कहा जाता है इन तीन प्राणायामों की प्रक्रिया में ज्यों ज्यों उत्तम प्रकार के प्राणायाम का अभ्यास बढ़ने लगता है तब उसमें अधिकाधिक गुण प्रगट होने लगते हैं ॥ २२ ॥

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु निरर्गलम्।
बलादाहरणं तेभ्यः प्रत्याहारोऽभिधीयते ॥ २३ ॥
अङ्गुष्ठगुल्फजानूरुसीवनीलिङ्गनाभिषु ।
हृद्ग्रीवाकण्ठदेशेषु लम्बिकायां ततो नसि ॥ २४ ॥
भ्रूमध्ये मस्तके मूर्ध्नि द्वादशान्ते यथाविधि।
धारणं प्राणमरुतो धारणेति निगद्यते ॥ २५ ॥

इन्द्रियाणामित्यादिना मनस एव एकत्र स्थितिः कार्येत्युक्तं भवति । यतो मनः सहायानामेव एतेषां स्वस्वविषयग्रहणशक्तिः अतस्तन्निरोधेनैव निरोधादिति भावः । लम्बिका तालुमूलम् । मस्तकं ललाटकेशसन्धिः । मूर्ध्नीति तदुपरिभागः । द्वादशान्ते ब्रह्मरन्ध्रे । यथाविधि इति गुरूक्तक्रमेण ।

वशिष्ठसंहितायांपञ्च धारणा उक्ता—

भूतानां मानसञ्चैकं धारणा च पृथक् पृथक् ।
मनसो निश्चलत्वे तु धारणा च विधीयते ॥
या पृथ्वी हरितालहेमरुचिरा तत्त्वं कलालान्वितं
संयुक्ता कमलासनेन च चतुष्कोणा हृदि स्थायिनी ।
प्राणांस्तत्र विलीय पञ्चघटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा स्तम्भकरी सदा क्षितिपरा ख्याता क्षमाधारणा ॥ १ ॥
अर्द्धेन्दुप्रतिमं च कुन्दधवलं कण्ठे च तत्त्वान्वितं
तत् पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना ।
प्राणांस्तत्र विलीय पञ्चघटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा दुःसहकालकूटजरणा स्याद् वारुणीधारणा ॥ २ ॥
तत्त्वस्थं शिवमिन्द्रगोपसदृशं तत्र त्रिकोणेऽनलं
तेजोऽनेकमयं प्रवालरुचिरं रुद्रेण तत् सङ्गतम् ।
प्राणांस्तत्र विलीय पञ्चघटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा वह्निसमं वपुर्विदधती वैश्वानरीधारणा ॥ ३ ॥

यन्मूलं कमलं प्रपञ्चसहितं दृष्टं भ्रुवोरन्तरे
तद्वत् सत्त्वमयं यकारसहितं तत्रेश्वरो देवता ।
प्राणांस्तत्र विलीय पञ्चघटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा खे गमनं करोति नियतं वायोः सदाधारणा ॥ ४ ॥
आकाशं सुविशुद्धवारिसदृशं यद्ब्रह्मरन्ध्रस्थितं
तन्नाथेन सदाशिवेन सहितं युक्तं हकाराक्षरैः ।
प्राणांस्तत्र विलीय पञ्चघटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा मोक्षकपाटभेदनपटुः प्रोक्ता नभोधारणा ॥ ५ ॥
कर्मणां साधकाः सर्वा धारणाः पञ्च दुर्लभाः ।
तासां विज्ञानतो योगो सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ इति ॥ २१-२५ ॥

५. प्रत्याहार—ये इन्द्रियाँ विषयों में बे रोक-टोक दौड़ते रहने से निरन्तर चञ्चल रहती हैं, अतः उन विषयों से इन्द्रियों को निरुद्ध कर मन को स्थिर करने का नाम प्रत्याहार है ॥ २३ ॥

६. धारणा—अङ्गुष्ठ, गुल्फ, जानु, ऊरू, सीवनी (गुदा और लिङ्ग के मध्य में ऊपर की ओर उठी हुई रेखा के सदृश) लिङ्ग नाभि, हृदय, ग्रीवा, कण्ठ, लम्बिका (तालु का मूलभाग) नासिका, भ्रूमध्य, मस्तक, शिर और ब्रह्मरन्ध्र इन स्थानों में प्राणवायु के धारण का नाम **धारणा** है ॥ २४-२५ ॥

ध्यानलक्षणम्

समाहितेन मनसा चैतन्यान्तरवर्तिना ।
आत्मन्य(नो)ऽभीष्टदेवानां ध्यानं ध्यानमिहोच्यते ॥ २६ ॥
समत्वभावना नित्यं जीवात्मपरमात्मनोः ।
समाधिमाहुर्मुनयः प्रोक्तमष्टाङ्गलक्षणम् ॥ २७ ॥

अभीष्टदेवानामिति सगर्भं ध्यानमुक्तम् । विगर्भमपि ध्यानमुक्तं तन्त्रान्तरे । यदाहुः—

यत्तत्त्वे निश्चलं चित्तं तद्ध्यानं परमं मतम् ।
भवति तद्ध्यानं सगुणं निर्गुणं तथा ॥
सगुणं वर्णभेदेन निर्गुणं केवलं तथा ।
अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च ॥
एकस्य ध्यानयोगस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।
अन्तश्चेतो बहिश्चक्षुरधः स्थाप्य सुखासनः ॥
समत्वञ्च शरीराणां ध्यानमाहुश्च सिद्धिदम् ।
नासाग्रे दृष्टिमादाय ध्यात्वा मुञ्चति बन्धनात् ॥ इत्यादिना ॥
गुदे मेढ्रे च नाभौ च हृदये कण्ठदेशके ।
घण्टिकालम्बिकास्थाने भ्रूमध्ये परमेश्वरम् ॥
निर्गुणं गगनाकारं मरीचिजलसन्निभम् ।
शून्ये सर्वमयं ध्यात्वा योगी योगमवाप्नुयात् ॥

इत्यन्तेन ॥ २६-२७ ॥

८.ध्यान—भीतर रहने वाले चैतन्ययुक्त चित्त को मन के साथ समाहित कर अपनी आत्मा में अपने अभीष्ट देवता का ध्यान करना **ध्यान** कहलाता है ॥ २६॥

९. **समाधि**—जीवात्मा एवं परमात्मा में निरन्तर समत्व की भावना ही मुनियों ने **समाधि** कही है । यहाँ तक हमने अष्टाङ्ग लक्षण युक्त योग का वर्णन किया ॥ २७ ॥

शरीरप्रमाणम्

षण्णवत्यङ्गुलायामं शरीरमुभयात्मकम् ।
गुदध्वजान्तरे कन्दमुत्सेधाद् द्व्यङ्गुलं विदुः ॥ २८ ॥

शरीरस्थ नाडीनिर्णयः

तस्मात् द्विगुणविस्तारं वृत्तरूपेण शोभितम् ।
नाड्यस्तत्र समुद्भूता मुख्यास्तिस्रः प्रकीर्त्तिताः ॥ २९ ॥
इडा वामे स्थिता नाडी पिङ्गला दक्षिणे मता ।
तयोर्मध्यगता नाडी सुषुम्णा वंशमाश्रिता ॥ ३० ॥
पादाङ्गुष्ठद्वये याता शिफाभ्यां शिरसा पुनः ।
ब्रह्मस्थानं समापन्ना सोमसूर्याग्निरूपिणी ॥ ३१ ॥
तस्या मध्यगता नाडी चित्राख्या योगिवल्लभा ।
ब्रह्मरन्ध्रं विदुस्तस्यां पद्मसूत्रनिभं परम् ॥ ३२ ॥

योगसिद्ध्यर्थं शरीराभ्यन्तरे मूलाधारमारभ्य तत्तन्नाडीस्थाने वायुसञ्चारं वक्तुं शरीरप्रमाणमाह षडिति । उभयात्मकं शिवशक्त्यात्मकम् । अग्नीषोमात्मकं वा शुक्रशोणितात्मकं वा इति प्रथमपटलोक्तानुवादः । तस्मादित्युत्सेधात् । वंशं पृष्ठवंशम् आश्रिता तदन्तर्गता । यदाहुः—या मुण्डाधारदण्डान्तरविवरगता । इति शिफाभ्यां मूलाभ्याम् ॥ २८-३२ ॥

यह उभयात्मक अर्थात् शिवशक्त्यात्मक अथवा अग्नीषोमात्मक अथवा शुक्रशोणितात्मक शरीर (द्र. १, ३९) छानबे ९६ अङ्गुल लम्बा है । गुदा एवं लिङ्ग के मध्य में एक कन्द है, जो दो अङ्गुल ऊँचा है और वह उससे द्विगुणित विस्तार युक्त एक वृत्त के रूप में स्थित है, उसी कन्द से समस्त नाडियों की उत्पत्ति हुई है जिसमें मुख्य रूप से तीन नाडियाँ प्रधान हैं ॥ २८-२९ ॥

इसी कन्द के बायें भाग से इडा, तथा दक्षिण भाग से पिङ्गला नाडियाँ निकली हैं । इनके मध्य भाग से होकर सुषुम्णा नाडी निकली है । ये तीनों नाड़ियाँ पीठ की रीढ़ के भीतर स्थित हैं ॥ ३० ॥

सुषुम्ना नाडी मूलाधार से हो कर दोनों पैर के अंगूठों तक जाती है पुनः वही शिरः प्रदेश में होती हुई ब्रह्मस्थान तक जाती हैं । यह सोम, सूर्य एवं अग्निस्वरूपा हैं ॥ ३१ ॥

इसके बीच में चित्रा नाम की एक नाड़ी हैं, जो योगियों को अत्यन्त प्रिय हैं इसी चित्रा नाम की नाड़ी में पद्मसूत्र के समान अत्यन्त पतला ब्रह्मरन्ध्र हैं ॥३२॥

आधारांश्च विदुस्तत्र मतभेदादनेकधा ।
दिव्यमार्गमिदं प्राहुरमृतानन्दकारणम् ॥ ३३ ॥
इडायां सञ्चरेच्चन्द्रः पिङ्गलायां दिवाकरः ।
ज्ञातौ योगनिदानज्ञैः सुषुम्णायां तु तावुभौ ॥ ३४ ॥

आधारान् इति केचन द्वादश अन्ये षोडश आहुः । परे बहूनि च । यदाहुः—

ततस्तु ब्रह्मकंकाले ध्यायेच्चक्रक्रमं सुधीः ।
आधारचक्रं प्रथमं कुलदीपमनन्तरम् ॥
वज्र (यज्ञ) चक्रं ततः प्रोक्तं स्वाधिष्ठानात्मकं परम् ।
रौद्रं करालचक्रं च गह्वरात्मकमेव च ॥
विद्याप (प्र)दं च त्रिमुखं त्रिपदं कालदण्डकम् ।
सा (उ) कारचक्रं च ततः कालोदारं करङ्क(बन्ध)कम् ॥
दीपकं क्षोभजनकमानन्दकलिला (ललिता)त्मकम् ।
मणिपूरकसंज्ञञ्च लाङ्गलं का (कु) लभेदनम् ॥
मदोत्साहञ्च परमं माद (र्ग)कं पदमुच्यते ।
कल्पजालं ततश्चिन्त्यं घोषकल्लोलनं ततः ॥
नादावर्त्तपदं प्रोक्तं त्रिपुटञ्च तदुत्तरम् ।
कङ्कालकं तम(मन)श्चक्रं विख्यातं पुटभेदनम् ॥
महाग्रन्थिविकाशं च बन्धोज्ज्वलनसंज्ञितम् ।
अनाहतं पद्मपुटं व्योमचक्रं तथा भवेत् ॥
बोधनं ध्रुवसंज्ञञ्च काल (कला) कन्दलकं ततः ।
क्रौञ्चं भेरण्डविभवं डामरं कुलपीठकम् ॥
कुलकोलाहलं हालाहलावर्त्तं महद्रथम्(द्भयम्) ।
घोरभैरवसंज्ञञ्च विशुद्धिः कण्ठमुत्तमम् ॥
घूर्णकंपदमाख्यातमाज्ञाकाकपुटं तथा ।
शृङ्गाटं कामरूपाख्यं पूर्णगिर्यात्मकं परम् ।
महाव्योमात्मकं चक्रं शक्तिरूपमनुस्मरेत् ॥ इति ॥ ३३-३४ ॥

इसमें कोई विद्वान् बारह, कोई सोलह तथा कोई अनेक आधार चक्र बताते हैं । यही दिव्यमार्ग है और अमृतानन्द की प्राप्ति में हेतु है ॥ ३३ ॥

इडा में चन्द्रमा, पिङ्गला में सूर्य रहते है, किन्तु योगनिदानज्ञों ने सुषुम्णा में सूर्य और चन्द्र दोनों की स्थिति ज्ञात की है ॥ ३४ ॥

आधारकन्दमध्यस्थं त्रिकोणमतिसुन्दरम् ।
ज्योतिषां निलयं दिव्यं प्राहुरागमवेदिनः ॥ ३५ ॥
तत्र विद्युल्लताकारा कुण्डली परदेवता ।

परिस्फुरति सर्वात्मा सुप्ताहिसदृशाकृतिः ॥ ३६ ॥
बिभर्त्ति कुण्डलीशक्तिरात्मानं हंसमाश्रिता ।
हंसः प्राणाश्रयो नित्यं प्राणो नाडीसमाश्रयः ॥ ३७ ॥

कुण्डलीस्थानमाह आधारेति । कुण्डलीशक्तिः आत्मानं परमात्मानं बिभर्त्ति तद्योगभागिनी भवतीत्यर्थः । कीदृक् । हंसं जीवात्मानम् आश्रिता जीवाधिष्ठाना सतीत्यर्थः । हंसः प्राणाश्रयः प्राणवायुसमाश्रय इत्यर्थः । प्राणो नाडीसमाश्रयः ॥ ३५-३७ ॥

आधारकन्द (द्र. २५, २८) के मध्य में एक त्रिकोण है जो अत्यन्त मनोहर है । आगम वेत्ता लोग उसी को संपूर्ण प्रकाशों का स्थान बताते हैं ॥ ३५ ॥

उसी त्रिकोण में विद्युल्लता के आकार वाली परदेवता स्वरूपा कुण्डली जिसकी आकृति सोती हुई सर्पिणी के समान है और निरन्तर परिस्फुरित होती रहती है । वह कुण्डली शक्ति जीव की अधिष्ठानभूता है और परमात्मा को धारण करने वाली है । जीव का आश्रय प्राणवायु है और प्राणवायु की आश्रिता नाडियाँ हैं। नाडी में निरन्तर प्रयाण करते रहने के कारण वायु को **प्राण** कहा जाता है ॥ ३६-३७ ॥

प्राणशब्दव्युत्पत्तिः

आधारादुद्गतो वायुर्यथावत् सर्वदेहिनाम् ।
देहं व्याप्य स्वनाडीभिः प्रयाणं कुरुते बहिः ॥ ३८ ॥
द्वादशाङ्गुलमानेन तस्मात् प्राण इतीरितः ।

कथं तस्य नाडीसमाश्रयत्वमित्यत आह आधारादिति । प्रयाणं कुरुते अतएव प्राण इति प्राणशब्दव्युत्पत्तिः दर्शिता । द्वादशाङ्गुलमानेनेति वामदक्षिणयोरिति ज्ञेयम् । एतत्फलमुक्तं तन्त्रान्तरे—

भोजनं मैथुनं युद्धं फलपुष्पग्रहं तथा ।
कुर्यात् क्रूराणि कर्माणि वायौ दक्षिणसंश्रिते ॥
यात्राविवाहकर्माणि शुभकर्माणि यानि च ।
तानि सर्वाणि कुर्वीत वामे वायौ तु संस्थिते ॥

तथा— व्यायामं शयनं क्रूरं षट्कर्मादिकसाधनम् ।
तानि सिध्यन्ति सूर्येण नात्र कार्या विचारणा ॥ इति ।

अन्यत्र— देवदक्षिणभागगेऽथ पुरुषे रोगातुरे दक्षिणे
स्थित्वा पृच्छति पृच्छकः स पुरुषो जीवत्यरोगश्चिरम् ।
वामायां तु रुजाऽऽकुलीकृततनौ वामाश्रिते चेश्वरे
वामे पृच्छति चेत् स्थिता गतगदा वामा चिरं जीवति ॥ इति ।

देवे गते पृच्छति वामभागं स्थित्वा नरो दक्षिणतो यदीह ।
व्यत्यासतोऽस्मादपि कृच्छ्रसाध्यं वदन्ति सन्तः खलु रोगजातम् ॥ इति ।

अथवा आधारात् उद्गतः बहिः प्रयाणं कुरुत इत्यनेन उत्पत्तिलये सन्ध्ये अहोरात्रमित्यादि सर्वमुक्तम् । यदाहुः—

जानीयादुदयं बुधः स्वजङ्गरे देवस्य कन्दे नृणां
घ्राणास्मिमकराङ्गुले खलु लयं सन्ध्ये च पूर्वापरे ।
उत्पत्तिं च लयं च सन्ततमधोवृत्तिं निशां वासरं
ऊर्ध्वां वृत्तिमधस्तथा हिमकरं चोर्ध्वां दिनेशं गतिम् ॥

इति ॥ ३८-३९ ॥

यह वायु आधार स्थान से ऊपर उठकर सभी प्राणियों के शरीर में नाड़ियों द्वारा व्याप्त हो कर बाहर की ओर प्रयाण करता है । इसका आयाम नासिका में वायीं ओर एवं दाहिनी ओर द्वादश अङ्गुल है । नाडियों में प्रयाण के कारण ही इसकी प्राण संज्ञा है ॥ ३८-३९ ॥

विमर्श—नाडियों में प्रवाहित वायु (=प्राण) का ही प्राणायाम द्वारा नियमन (Control) किया जाता है । दक्षिण नासिका से बहने वाली वायु तीक्ष्णता उत्पन्न करती है । अतः भोजन, मैथुन एवं युद्ध, फूल एवं पुष्प का ग्रहण और अन्य क्रूर कर्मों को दक्षिण नासिकागत वायु के समय करना चाहिए । यात्रा तथा विवाह आदि शुभ कर्मों को वामनासिकागत प्राणवायु के समय करना चाहिए । व्यायाम, शयन, क्रूर आदि षट्कर्म सूर्यगत प्राणवायु से सिद्ध होते हैं । वामनासिकागत वायु जिस पुरुष में होती है वह निरोग एवं चिरञ्जीवी होता है ।

रम्ये मृद्वासने शुद्धे पटाजिनकुशोत्तरे ॥ ३९ ॥

भूतोदयज्ञानकथनम्

बद्धैकमासनं योगी योगमार्गपरो भवेत् ।
ज्ञात्वा भूतोदयं देहे विधिवत् प्राणवायुना ॥ ४० ॥
तत्तद्भूतं जपेद्देहदृढत्वाप्तये सुधीः ।
दण्डाकारा गतिर्भूमेः पुटयोरुभयोरधः ॥ ४१ ॥
तोयस्य पावकस्योर्द्धङ्गतिस्तिर्यङ् नभस्वतः ।
गतिर्व्योम्नो भवेन्मध्ये भूतानामुदयः स्मृतः ॥ ४२ ॥

योगप्रकारमाह—रम्य इति । रम्य एकान्ते इत्यर्थः । अन्यथा चित्तविक्षेपः स्यादिति । काठिन्ये सति देहपीडाया तत्रैव मनो गमिष्यतीति मृद्वासन इत्युक्तम् । भूतपरिचर्यार्थमाह दण्डेति ॥ ३९-४२ ॥

अब **योगाभ्यास का प्रकार** कहते हैं—योगी पहले कुशा, उसके ऊपर मृगचर्म, और उसके ऊपर कपड़ा बिछाये गये सुरम्य मृदु आसन पर (पद्मासन या भद्रासन आदि) एक आसन बाँध कर योगमार्ग का साधन करे (अन्यथा कड़े आसन पर देह पीडा होने से मन चञ्चल हो सकता है) ॥ ३९-४० ॥

बुद्धिमान् साधक प्राणवायु के द्वारा क्रमशः पञ्चभूतों के उदय का विधिवत् ज्ञान कर अर्थात् योगारम्भ काल में जिस भूत का उदय हो, उस उस भूत का जप करे जिससे शरीर में दृढ़ता बनी रहे। दोनों नासा पुटों में भूमि की गति दण्डाकार एवं अधोगामिनी होती है, अतः जब ऐसे लक्षण प्रतीत हों तो भूमि रूप भूत का उदय समझना चाहिए ॥ ४१ ॥

जल एवं पावक की गति ऊर्ध्व की ओर होती है, और पवन की गति तिरछी होती है आकाश तत्त्व के उदय काल में मध्य गति होती है- इस प्रकार नासापुटों में चलने वाले वायु से भूतों के उदय का लक्षण जानना चाहिए ॥ ४२॥

धरणेरुदये कुर्यात् स्तम्भनं वश्यमात्मवित्।
शान्तिकं पौष्टिकं कर्म तोयस्य समये वसोः॥ ४३ ॥
मारणादीनि मरुतो विपक्षोच्चाटनादिकम्।
क्षुद्रा(क्ष्वेडा)दिनाशनं शस्तमुदये च विहायसः॥ ४४ ॥

प्रसङ्गतस्तत्तद्भूतोदयमाह धरणेरिति। वसोरग्नेः ॥ ४३-४४ ॥

मन्त्रवेत्ता पुरुष, भूमितत्त्व के उदय में स्तम्भन तथा वश्य कार्य करे। जल तत्त्व के उदय में शान्तिक पौष्टिक कर्म करे। अग्नितत्त्व के उदय में मारणादि क्रिया करे ॥ ४३ ॥

वायु तत्त्व के उदय काल में शत्रु के उच्चाटन की क्रिया करे तथा आकाश तत्त्व के उदय होने पर क्षुद्रा (?) आदि के विनाश की क्रिया करे ॥ ४४ ॥

अङ्गुलीभिर्दृढं बध्वा करणानि समाहितः।
अङ्गुष्ठाभ्यामुभे श्रोत्रे तर्जनीभ्यां विलोचने॥ ४५ ॥
नासारन्ध्रे मध्यमाभ्यामन्याभिर्वदनं दृढम्।
बद्धात्मप्राणमनसामेकत्वं समनुस्मरन् ॥ ४६ ॥
धारयेन्मरुतं सम्यग्योगोऽयं योगिवल्लभः।
नादः सञ्जायते तस्य क्रमादभ्यसतः शनैः॥ ४७ ॥

दशविधनादोत्पत्तिः

मत्तभृङ्गाङ्गनागीतसदृशः प्रथमो ध्वनिः।
वंशिकस्याऽनिलापूर्णवंशध्वनिनिभोऽपरः ॥ ४८ ॥
घण्टारवसमः पश्चात् घनमेघस्वनोपमः।
एवमभ्यसतः पुंसः संसारध्वान्तनाशनम् ॥ ४९ ॥
ज्ञानमुत्पद्यते पूर्वं हंसलक्षणमव्ययम्।

बद्धेति। अन्यथा यदि इन्द्रियमार्गेण हठात् वायुः निर्गच्छेत् तदुपघातः स्यात्। करणानि इन्द्रियाणि। उभे इति त्रिषु अन्वेति। घनो निविडो मेघस्वनवत्

स्वनो यस्य इति मध्यपदलोपी समासः । एवमित्यनेनाऽन्वेति । ध्वनिदशकमाहुः— चिणीति प्रथमः शब्दश्चिञ्चिणीति द्वितीयकः ।

चिचिचाकी तृतीयस्तु चतुर्थो घर्घरः स्वरः ॥
पञ्चमस्तु मनागुच्चः षष्ठो मदकलध्वनिः ।
सप्तमः सूक्ष्मनादः स्यादष्टमो वेणुवर्द्धनः ॥
नवमो मधुरध्वानो दशमो दुन्दुभिस्वनः ॥ इति ।

हंसोपनिषद्यपि—अथ दशकोषो नादमनुभवति । हंसवशात् नादो दशविधो जायते । चिणीति प्रथमः । चिणिचिणीति द्वितीयकः । घण्टानादस्तृतीयकः । शङ्खनादस्तुर्यः । पञ्चमस्तन्त्रीनादः । षष्ठस्तालनादः । सप्तमो वेणुनादः । अष्टमो भेरीनादः । नवमो मृदङ्गनादः । दशमो मेघनादः । नवमं परित्यज्य दशममभ्यसेत् । अस्मात् मनो विलीयते । विलीने मनसि गते सङ्कल्पविकल्पे दग्धे पुण्यपापे सदाशिवोमिति । सदाशिवः शक्त्यात्मा सर्वत्रावस्थिता स्वयं ज्योतिः शुद्धो बुद्धो नित्यो निरञ्जनः शान्तः प्रकाशत इति । हंसलक्षणं शिवशक्त्यात्मकं जीवात्मकं वा ।

प्रयोगसारे तु— कम्परोमोद्गमानन्दं वैमल्यस्थैर्यलाघवम् ।
प्रकाशज्ञानवैदूष्यं भावोऽद्वैतात्मसञ्चयः ॥
सम्भवन्ति दशाऽवस्था योगिनः सिद्धिसूचकाः ।
ततस्त्रैकाल्यविज्ञानं महाप्रज्ञा मनोज्ञता ॥
छन्दतः प्राणसंरोधो नाडीनां क्रमणं तथा ।
वाचां सिद्धिश्चिरायुष्यमिन्द्रजालानुवर्त्तनम् ॥
देहाद्देहान्तरप्राप्तिरात्मज्योतिः प्रकाशनम् ।
प्रत्यया दश दृश्यते प्राप्तयोगस्य योगिनः ॥ इति ॥ ४५-५० ॥

योगारम्भ के समय साधक समस्त ज्ञानेन्द्रियों को इस प्रकार बाँधे—दोनों अंगूठों से दोनों कान बन्द करे । दोनों तर्जनी से दोनों नेत्र बन्द करे ॥ ४५ ॥

दोनों मध्यमा से दोनों नासा छिद्रों को, तथा शेष अन्य अङ्गुलियों से मुख को अच्छी प्रकार बन्द कर लेवे । इस प्रकार समस्त ज्ञानेन्द्रियों को बाँधकर आत्मा प्राण एवं मन में एकत्व की भावना का स्मरण करते हुये, वायु को भीतर रोक रखे । यह योग योगियों को अत्यन्त प्रिय है । इस प्रकार के योग का क्रमशः अभ्यास करते रहने से नाद का श्रवण होने लगता है ॥ ४६-४७ ॥

मतवाली भ्रमरी के गीत के समान प्रथम ध्वनि, बाँस के छिद्रों में वायु के भर जाने पर जिस प्रकार बाँस से ध्वनि निकलती है उस प्रकार की ध्वनि दूसरी प्रकार की ध्वनि है जो योगी को सुनाई देती है ॥ ४८ ॥

इसके बाद घण्टा के समान तीसरी ध्वनि, पश्चात् मेघ शब्द के समान चौथी ध्वनि सुनाई पड़ती हैं । जब अभ्यास करते करते इस प्रकार के शब्द सुनाई पड़ने लगें तो समझना चाहिए कि अब सांसारिक अँधेरा क्रमशः विनष्ट हो रहा है । सांसारिक अज्ञान के नष्ट हो जाने पर निर्विकार हंस लक्षण ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ ४९-५० ॥

विमर्श—हंस लक्षण अर्थात् शिवशक्त्यात्मक या जीवात्मक ज्ञान । हंसोपनिषद् में नाद के दस प्रकार के नाम इस प्रकार आए हैं—१. चिणि, २. चिणिचिणि, ३. घण्टानाद, ४. शङ्खनाद, ५. तन्त्रीनाद, ६. तालनाद, ७. वेणुनाद, ८. भेरीनाद, ९. मृदङ्गनाद, १०. मेघनाद । प्रयोगसार में योगियों की सिद्धिसूचक ये दस अवस्थाएँ बताई गई हैं—कम्प, रोमोदगम, आनन्द, विमलत्व, स्थिरता, लाघव, प्रकाश, ज्ञान, वैदुष्य और अद्वैतात्मसञ्चय का भाव ।

प्रणवोत्पत्तिः

पुंप्रकृत्यात्मकौ प्रोक्तौ बिन्दुसर्गौ मनीषिभिः ॥ ५० ॥
ताभ्यां क्रमात्समुद्भूतौ बिन्दुसर्गावसानकौ ।
हंसौ तौ पुंप्रकृत्याख्यौ हं पुमान् प्रकृतिस्तु सः ॥ ५१ ॥
अजपा कथिता ताभ्यां जीवोऽयमुपतिष्ठति ।
पुरुषं स्वाश्रयं मत्वा प्रकृतिर्नित्यमास्थिता ॥ ५२ ॥
यदा तद्भावमाप्नोति तदा सोऽहमयं भवेत् ।
सकारार्णं हकारार्णं लोपयित्वा ततः परम् ।
सन्धिं कुर्यात् पूर्वरूपस्तदाऽसौ प्रणवो भवेत् ॥ ५३ ॥

प्रणवोत्पत्तिमाह—पुमिति । क्रमादिति बिन्दोः हं विसर्गात् सः । पुं प्रकृत्याख्यौ इति नाम काल्पनिकम् । तत्त्वतः बिन्दुविसर्गाविव । हं पुमानिति । अतएव अत्र आदौ अकारे निपाते योजिते अहमिति लोकप्रसिद्ध आत्माभिनयः । उपतिष्ठति आराधयति । पुरुषं स्वाश्रयं मत्वा नित्यं तमेव अस्थिता प्रकृतिरिति सम्बन्धः । यदा तु प्रकृतेर्नित्यमात्मन इति पाठः तदा आत्मनः प्रकृतेरिति समानाधिकरणे षष्ठ्यौ । प्रकृतिरविद्या सा ब्रह्मभिन्नत्वेन जीवकल्पकत्वात् तदभिन्नेव स्वाश्रयं सदाश्रयं गत्वा इयं यदा तद्भावमाप्नोतीति सम्बन्धः । तद्भावमिति । प्रकृतिपुरुषयोरभेदात् परमात्मैवाऽहम् इति जीवब्रह्मणोरैक्यम् । अस्यार्थः । अजपाख्यासाच्चैवमैक्यमुदेतीति व्यक्तीकृतम् । लोपयित्वेति । व्यञ्जनयोः कल्पितत्वादेव लोपः। पूर्वरूपं 'एङः पदान्तादति' इत्यनेन ॥ ५०-५३ ॥

अब जिस प्रकार यह ज्ञान उत्पन्न होता है उसे कहते हैं—मनीषियों ने बिन्दु (अनुस्वार) तथा विसर्ग को पुरुष प्रकृत्यात्मक कहा है ॥ ५० ॥

उनसे क्रमशः बिन्दु (अनुस्वारात्मक हं) तथा विसर्गान्तात्मक (सः) इस प्रकार हंसौ दो पुरुष प्रकृत्यात्मक वर्ण उत्पन्न हुये, जिसमें हँ पुरुष है, और सः प्रकृति है ॥ ५१ ॥

इन्हीं दोनों को अजपा कहते हैं, जिसे जीव नित्य जपता रहता है । प्रकृति पुरुष को अपना आश्रय मानकर निरन्तर उसी के आश्रित रहा करती है । जब प्रकृति पुरुष में अभिन्न होकर एक में मिल जाती है तब जीव और ब्रह्म का ऐक्यभाव हो जाता है और फिर जीव को 'सोऽहम्' की प्रतीति होने लगती है ॥ ५२-५३ ॥

अब **'सोऽहम्' रूप प्रणव की उत्पत्ति** कहते है—'हँ' पुरुष के पहले अकार का निपातन कर देने से 'अहम्' होता है जब सः रूप प्रकृति उससे मिलने (सन्धि करने) जाती है तब दोनों (सः और अहम्) के बीच अकार एङः पदान्तादति से पूर्वरूप होकर लुप्त हो जाता है इस प्रकार सोऽहम् रूप प्रणव की उत्पत्ति होती है ॥ ५३ ॥

परानन्दमयं नित्यञ्चैतन्यैकगुणात्मकम् ।
आत्माभेदस्थितं योगी प्रणवं भावयेत्सदा ॥ ५४ ॥

परानन्दमयमिति । 'आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षे प्रतिष्ठितम्' इति श्रुतेः । नित्यं वक्ष्यमाणश्रुतेरेव । चैतन्यं ज्ञानं स चासावेको गुणश्च तदात्मकम् । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति श्रुतेः । यद्वा चैतन्यं ज्ञानरूपमेकम् । 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इति श्रुतेः । संसारोत्पत्तिकर्तृत्वात् कल्पितसत्त्वरजस्तमोगुणरूपम् । आत्माभेदस्थितं सोऽहंशब्दोत्थतया तस्य च तदर्थकत्वात् ॥ ५४ ॥

यह प्रणव परानन्दमय है, नित्य ज्ञान स्वरूप है, अविक्रिय एवं एकरस हैं और आत्मा से अभिन्न होकर स्थित रहता है । अतः योगी जन इस (सोऽहम्) का सर्वदा ध्यान कीजिए ॥ ५४ ॥

आम्नायवाचामतिदूरमाद्यं वेद्यं स्वसंवेद्यगुणेन सन्तः ।
आत्मानमानन्दरसैकसिन्धुं पश्यन्ति तारात्मकमात्मनिष्ठाः ॥ ५५ ॥

आम्नायेति । 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते' इति श्रुतेः । आद्यम् । शास्त्रयोनित्वात् । स्वसंवेद्यगुणेन वेद्यं स्वप्रकाशमित्यर्थः । आनन्दमिति । 'आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्' इति श्रुतेः । तारात्मकमुक्तरीत्या । आत्मनिष्ठा आदरनैरन्तर्यदीर्घकालाभ्यासैस्तच्चिन्तनपरा योगिनः ॥ ५५ ॥

यह आम्नाय रूप वाणी से नहीं जाना जा सकता, समस्त शास्त्रों का कारण होने से आद्य है तथा स्वयं अपने ही प्रकाश से प्रकाशित है । आदरपूर्वक निरन्तर दीर्घकाल पर्यन्त अभ्यास में लगे हुये योगी जन आत्मस्वरूप आनन्द रस के एक मात्र समुद्र इस प्रणवात्मक का दर्शन करते हैं ॥ ५५ ॥

सत्यं हेतुविवर्जितं श्रुतिगिरामाद्यं जगत्कारणं
व्याप्तस्थावर जङ्गमं निरुपमं चैतन्यमन्तर्गतम् ।
आत्मानं रविवह्निचन्द्रवपुषं तारात्मकं सन्ततं
नित्यानन्दगुणालयं सुकृतिनः पश्यन्ति रुद्धेन्द्रियाः ॥ ५६ ॥

सत्यम् । 'सत्यं ज्ञानम्' इति श्रुतेः । हेतुविवर्जितम् । नित्यत्वात् अनुत्पाद्यम् । यद्वा ये हेतवो दुस्तर्कास्तद्विवर्जितम् । श्रुतिगिरामाद्यम् । 'शास्त्रयोनित्वात्' इति सूत्रे वेदकर्तृत्वोक्तेः । प्रणवात्मकत्वाद्वा । जगत्कारणम् । 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' इति श्रुतेः । व्याप्तेति । तद्विवर्त्तरूपत्वात् जगतः । निरूपममिति ।

अद्वितीयत्वेन । चैतन्यमन्तर्गतम् । प्रत्यक्चैतन्यम् आत्मरूपचैतन्यमित्यर्थः । रविचन्द्रवह्निवपुरिव वपुर्यस्य । प्रकाशरूपमित्यर्थः । न तु तद्वदाकारग्राहित्वे अयं दृष्टान्तः । तस्य निराकारत्वात् प्रणवरूपत्वात् वा तद्वदुक्तिः ॥ ५६ ॥

यह सत्य हैं नित्य होने से इसका कोई कारण नहीं है, यह श्रुति का भी आदि हैं, इसी से संसार उत्पन्न होता है, स्थावर एवं जङ्गम में सर्वत्र व्याप्त है, इसकी किसी से उपमा नहीं दी जा सकती, अतः अद्वितीय है। आत्मरूप चैतन्य से अन्तःकरण में स्थित है, सूर्य चन्द्र एवं अग्नि के समान स्वयं प्रकाशित हैं यह तारात्मक एवं शाश्वत है, नित्यानन्द स्वरूप है गुण का आलय है, इन्द्रियों को वश में करने वाले पुण्यात्मा योगीन्द्रगण ही इसका दर्शन करते हैं ॥ ५६ ॥

तारस्य सप्तविभवैः परिचीयमानं
मानैरगम्यमनिशं श्रुतिमौलिमृग्यम् ।
संवित्समस्तगमनश्वरमच्युतं तत्
तेजः परं भजत सान्द्रसुधाम्बुराशिम् ॥ ५७ ॥

तारस्येति । अकारोकारमकारबिन्दुनादशक्तिशान्ताख्यैः परिचीयमानं तद्बुच्यमानम् । तदेवाह मानैरगम्यमिति । श्रुतिमौलिरुपनिषत् तन्मृग्यम् । सत्तात्मकमस्ति इति भानात् । संवित् प्रकाशम् । 'सद्धीदं सर्वं सत् सत्' इति 'चिद्धीदं सर्वं प्रकाशते' इति श्रुतेः । समस्तगं व्यापकम् । अनश्वरम् अविश्वंसि । अच्युतमेकरूपत्वात् । वाक्यान्तरोपदेशात् श्लोकत्रयस्थानां पदानां परस्परं न पौनरुक्त्यम् ॥ ५७ ॥

प्रणव के अकार उकार मकार, बिन्दु, नाद, शक्ति एवं शान्त इन सात भेदों से इसका संकेत प्राप्त होता है, यह किसी भी प्रकार के प्रमाण से परे है, निरन्तर उपनिषदों के अभ्यास से यह मृग्य है संवित् (प्रकाश) स्वरूप है, सब में व्याप्त है, अविनाशी हैं और अच्युत है। अतः हे योगिजनों आप इस प्रकार घने अमृत समुद्र स्वरूप, इस परतेज का भजन कीजिए ॥ ५७ ॥

हिरणमयं दीप्तमनेकवर्णं
त्रिमूर्त्तिमूलं निगमादिबीजम् ।
अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं भजन्ते
चैतन्यमात्रं रविमण्डलस्थम् ॥ ५८ ॥

सगुणब्रह्मोपास्तिरपि सगुणब्रह्म (हिरण्यगर्भ) लोकप्राप्तिद्वारा मुक्तेः क्रमात् कारणमिति शास्त्रोक्तेः निर्गुणब्रह्मोपास्तौ असमर्थानां सगुणब्रह्मोपास्तिमाह— हिरणमयमिति । त्रिमूर्त्तिमूलमित्यनेन अस्याऽभ्यसनीयानि नामानि सूचितानि ।

यदाहुः—ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ॐकारः प्रलयस्तथा । सर्वव्यापी ह्यनन्तश्च तारः सूक्ष्मश्च शुक्लकः ॥ वैद्युतश्च परं ब्रह्म एकश्चाऽप्येकरुद्रकः । ईशानो भगवांश्चैव ततः स्यात्तु महेश्वरः ॥ महादेवः सदापूर्वः शिवः सर्वादयस्त्रयः । रक्षिताव-

गतश्चैव तथा प्रियतमः स्मृतः ॥ नित्यतृप्तश्च सर्वाद्या षोडशान्तः प्रकीर्त्तिताः । आद्यश्चावगमः कान्त प्रदिष्टश्रोतृस्वामिनौ ॥ समर्थो यावकश्चैव क्रियेच्छादीप्त एव च । अवाप्तालिङ्गितौ चैद हिंसको दाहकस्तथा ॥ भाववृद्धौ गुणं बीजं ध्रुवो वेदादिरादियुक् । उमध्यो मपरश्चैव त्रिमात्रो योनिरेव च ॥ देहाश्रयश्च संवादात्मानौ सर्वादिकास्त्रयः ॥ इति ॥ ५८ ॥

अब निर्गुण ब्रह्म स्वरूप की प्राप्ति में असमर्थ लोगों के लिये इसके सगुण स्वरूप का वर्णन करते हैं—यह हिरण्मय है स्वयं प्रकाशित है इसके अनेक वर्ण हैं, यह त्रिमूर्त्ति (ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव इन तीन मूर्त्तियों) का मूल कारण है-निगम का बीज है, अङ्गुष्ठ मात्र पुरुष स्वरूप है, सूर्यमण्डल में रहने वाले चैतन्य स्वरूप उस परमात्मा का योगी जन ध्यान करते हैं ॥ ५८ ॥

ध्यायन्ति दुग्धाब्धिभुजङ्गभोगे
शयानमाद्यं कमलासहायम् ।
प्रफुल्लनेत्राम्बुजमञ्जनाभं
चतुर्मुखेनाश्रि(श्रि)तनाभिपद्मम् ॥ ५९ ॥
आम्नायगं द्विवरणं घननीलमुद्य-
च्छ्रीवत्सकौस्तुभगदाम्बुजशङ्खचक्रम् ।
हृत्पुण्डरीकनिलयं जगदेकमूल-
मालोकयन्ति कृतिनः पुरुषं पुराणम् ॥ ६० ॥

क्रममुक्त्यर्थमन्यां साकारोपास्तिमाह—ध्यायन्तीति श्लोकद्वयेन । आम्नाया वेदास्तद्ग्रथितस्रष्टं (सुष्टु ?) वचनं यस्य ॥ ५९-६० ॥

क्षीर समुद्र में शेष शय्या पर सोये हुये, आद्य, कमला से सुसेवित फूले हुये कमलों के समान नेत्र वाले, अञ्जन के समान शरीर की कान्ति से युक्त, एवं नाभिनिर्गत पद्म से ब्रह्म देव को उत्पन्न करने वाले ऐसे परमात्मा का योगी जन ध्यान करते हैं ॥ ५९ ॥

श्रुतियों में व्याप्त, पृथ्वी तथा लक्ष्मी से आवृत, घन के समान नीले, श्रीवत्स, कौस्तुभ, गदा, पद्म, शङ्ख तथा चक्र धारण करने वाले, हृदय रूपी पुण्डरीक में निवास करने वाले तथा संसार के मूलभूत ऐसे पुराण पुरुष का सुकृती लोग दर्शन करते हैं ॥ ६० ॥

बिन्दोर्नादसमुद्भवः समुदिते नादे जगत्कारणं
तारं तत्त्वमुखाम्बुजं परिवृतं वर्णात्मकैर्भूतजैः ।
आम्नायाङ्घ्रिचतुष्टयं(मुखं)पुररिपोरानन्दमूलं वपुः
पायाद् वो मुकुटेन्दुखण्डविगलद्दिव्यामृतौघप्लुतम् ॥ ६१॥

क्रममुक्त्यर्थमन्यसाकारध्यानयोगमाह—बिन्दोरिति । बिन्दुः शिवात्मा ॐकारस्य शिरोरूपः । तत्त्वमुखाम्बुजं चतुर्विंशतितत्त्वमयमुखकमलम् ॥ ६१ ॥

अब अन्य साकार रूप का वर्णन करते हैं—बिन्दुरूप शिवात्मा से नाद उत्पन्न हुआ, पुनः नाद के उत्पन्न होने पर जगत के कारण भूत शिव हुये प्रणव जिसका शिर हैः २५ तत्त्व जिनके मुख हैं, जो पञ्चमहाभूत जन्य वर्णों से परिवृत हैं, चारों वेद जिनके अङ्घ्रिचतुष्टय है, जिनका शरीर मुकुट में रहने वाले इन्द्र खण्ड से गिरते हुये अमृत समूह से परिप्लुत है ऐसे सदाशिव का आनन्दमूल भूत शरीर आप योगी लोगों की रक्षा करे ॥ ६१ ॥

पिण्डं भवेत् कुण्डलिनी शिवात्मा
पदं तु हंसः सकलान्तरात्मा ।
रूपं भवेद्बिन्दुरनन्त(मन्द) कान्ति
रतीतरूपं शिवसामरस्यम् ॥ ६२ ॥

सबीजयोगमाह—पिण्डमिति । अकारोकारमकारात्मकत्वात् पिण्डं प्रणवः । कुण्डलिनी तद्रूपा सैव शिवात्मा सकलान्तरात्मा हंसः । तस्याः पदं स्थानम् । अनयोरनन्तकान्तिः बिन्दुरूपम् । परमार्थतस्तु शिवयोः सामरस्यमतीतरूपं नीरूपमेव। यद्वा अतीतेति अतिपूर्वस्येणो लोट्मध्यमपुरुषबहुवचनम् । हे लोकाः यूयं सर्वं जगदतिक्रम्यैवं ध्यानात् शिवसामरस्यरूपमतीत आतियात गच्छतेत्यर्थः ॥ ६२ ॥

अकार, उकार तथा मकार रूप होने से पिण्ड अर्थात् (प्रणव) सकलान्तरात्मा कुण्डलिनी हैं । शिवात्मा, सकलान्तरात्मा शिव उसके स्थान हैं, उन दोनों का मिला हुआ स्वरूप बिन्दु है जो अनन्त कान्ति संपन्न हैं अतः हे योगियों आप लोग शिव शक्त्यात्मक उस बिन्दु रूप को प्राप्त कीजिए ॥ ६२ ॥

पिण्डादियोगं शिवसामरस्यात्
सबीजयोगं प्रवदन्ति सन्तः ।
शिवे लयं नित्यगुणाभियुक्ते
निर्बीजयोगं फलनिर्व्यपेक्षम् ॥ ६३ ॥

अनेन सायुज्यमुक्तिर्भवतीत्याह—पिण्डादीति । सारूप्यमुक्तिमाह—शिव इति ॥६३॥

शिव के सामरस्य से पिण्डादियोग को सन्त लोग सबीज योग कहते हैं । इस प्रकार सगुण शिव में लीन होने से सायुज्य मुक्ति प्राप्त होती है । निर्बीज योग का फल निराकार शिव में लीन होना कहा गया है, जो सब प्रकार के अपेक्षाओं से रहित है ॥ ६३ ॥

कुण्डलिनीध्यानम्

मूलोन्निद्रभुजङ्गराज महिषीं यान्तीं सुषुम्णान्तरं
भित्वाऽऽधारसमूहमाशु विलसत्सौदामिनी सन्निभाम् ।

व्योमाम्भोजगतेन्दु मण्डलगलद्दिव्यामृतौघप्लुतं(घैः पतिं)
सम्भाव्य स्वगृहं गतां पुनरिमां सञ्चिन्तयेत् कुण्डलीम् ॥ ६४ ॥

सम्प्रति आत्मानुभवैकगम्यकुण्डलिनीचिन्तनरूपं राजयोगादिप्रकारमाह मूलेति। मूलात् मूलाधारात् । उन्निद्रा जाग्रद्रूपा । कुण्डल्या सर्पाकारत्वात् भुजङ्गराजमहिषी-व्यपदेशः । सुषुम्णान्तरमाशु यान्तीम् । आधारसमूहं स्वाधिष्ठानमणिपूरकानाहतविशुद्धाज्ञारूपम् । व्योमाम्भोजेति । सहस्रदलपतिं शिवम् । स्वगृहं मूलाधारम् ॥ ६४ ॥

मूलाधार से उठी हुई जाग्रत्स्वरूपा जो कुण्डलिनी चमकती हुई बिजली के समान सुषुम्णा के भीतर से जाती हुई समस्त षट्चक्र रूप आधारों का भेदन कर ब्रह्मरन्ध्र में रहने वाले चन्द्रमण्डल से गिरते हुये अमृत समूहों से शिवस्वरूप पति की पूजा कर पुनः अपने स्थान को लौटी आ रही हैं इस प्रकार के कुण्डलिनी का योगी लोग चिन्तन करें ॥ ६४ ॥

हंसं नित्यमनन्तमव्ययगुणं स्वाधारतो निर्गता
शक्तिः कुण्डलिनी समस्तजननी हस्ते गृहीत्वा च तम् ।
याता शम्भुनिकेतनं परसुखं तेनाऽनुभूय स्वयं
यान्ती स्वाश्रयमर्ककोटिरुचिरा ध्येया जगन्मोहिनी ॥ ६५ ॥

तं जीवं जप्यमानं हंसं हस्ते गृहीत्वेति सम्बन्धः । यथा च जीवो जपति तथा हंसमन्त्रप्रस्ताव एव उक्तम् । स्वाश्रयं मूलाधारम् । पूर्वश्लोकाद्धंसं गृहीत्वा यातेति विशेषः ॥ ६५ ॥

समस्त जगज्जननी स्वरूपा जो कुण्डलिनी अपने मूल आधार से निकल कर हंस का जप करते हुये जीव को अपने हाथ में लेकर शम्भुनिकेतन (परब्रह्म शिव जो सहस्रार कमल में स्थित है वहाँ) तक जाती है । पुनः उनके साथ परमानन्द का अनुभव कर स्वाश्रय मूलाधार में प्रविष्ट हो जाती है, ऐसी जगन्मोहिनी, करोड़ों सूर्यों के समान भास्वती भगवती कुण्डलिनी का ध्यान योगिजनों को करना चाहिए ॥ ६५ ॥

अव्यक्तं परबिन्दुमञ्चितरुचिं नीत्वा शिवस्यालयं
शक्तिः कुण्डलिनी गुणत्रयवपुर्विद्युल्लतासन्निभा ।
आनन्दामृतमध्यगं पुरमिदं चन्द्रार्ककोटिप्रभं
संवीक्ष्य स्वपुरं गता भगवती ध्येया न वेद्या गुणैः ॥ ६६ ॥

अव्यक्तं परबिन्दुं नीत्वेति । पूर्वतो विशेषः । स्वपुरं मूलाधारम् ॥ ६६ ॥

सुन्दर कान्ति वाले अव्यक्त पर बिन्दु को साथ लेकर त्रिगुणात्मक शरीर वाली बिजली के समान जगमगाती हुई जो कुण्डलिनी शक्ति, शिव के निवासभूत, आनन्दामृत के मध्य में रहने वाले पुर को, जो करोड़ों चन्द्रमा के समान भासित हो रहा है, उसे देखकर पुनः अपने पुर को लौट आती है योगिजन ऐसी भगवती का ध्यान करें जो गुणों से वेद्य नहीं है ॥ ६६ ॥

मध्ये वर्त्म समीरणद्वयमिथः सङ्घट्टसंक्षोभजं
शब्दस्तोममतीत्य तेजसि तडित्कोटिप्रभाभासुरे।
उद्यन्तीं समुपास्महे नवजवासिन्दूरसन्ध्यारुणां
सान्द्रानन्दसुधामयीं परशिवं प्राप्तां परां देवताम्॥ ६७ ॥

समीरणद्वयेति । अपानवायुनिरोधात् प्राणवायुनिरोधाच्चोर्ध्वाधोगतयोस्तयो-मिथः सङ्घट्ट इत्यर्थः । अत्र प्राणापानसङ्घट्टजशब्दातिक्रमणमेव विशेषः, आरक्त-ध्यानञ्च । तदुक्तम्—श्वेतध्याने वाग्विलास आरक्ते वश्यता भवेत् । इति ।

अन्यत्रापि—ध्यायेद्वश्याकर्षणे तां जपाभां श्वेतां शान्तौ स्तम्भने पीतवर्णाम् ।
श्यामां मुक्तौ मारणे कृष्णवर्णां धूम्राभासां द्वेषणोच्चाटने च ॥

इत्याद्यानुषङ्गिकं फलमपि ज्ञेयम् ॥ ६७ ॥

जो अपने बीच मार्ग में प्राण एवं अपान वायु के सङ्घर्षण से उत्पन्न शब्द समूहों को लाँघकर करोडों बिजली की कान्ति के समान प्रकाश समूह में उदय हो रही हैं ऐसी नवीन खिले हुये जपाकुसुम के समान (रक्त) वर्ण वाली अथवा सिन्दूर के समान अथवा सन्ध्या के समान वर्ण वाली भगवती कुण्डलिनी की मैं उपासना करता हूँ, जो घने आनन्द रूप सुधा स्वरूपा है और पर शिव को प्राप्त करने वाली पर देवता हैं ॥ ६७ ॥

गमनागमनेषु जा(ला)ङ्घिकी सा
तनुयाद्योगफलानि कुण्डली ।
मुदिता कुलकामधेनुरेषा
भजतां काङ्क्षितकल्पवल्लरी ॥ ६८ ॥

गमनेति । अत्र गमनागमनेषु जाङ्घिकीति विशेषः ॥ ६८ ॥

जो गमन एवं आगमन में अत्यन्त त्वरित गति से चलने के कारण बलवान् जङ्घों वाली हैं ऐसी यह कुण्डलिनी योगिजनों को योग फल प्रदान करें । जो प्रसन्न होने पर कौल मार्ग वालों को कामधेनु के समान फल देती हैं और भजन करने वालों के लिये तो साक्षात् कल्पलता ही हैं ॥ ६८ ॥

आधारस्थितशक्तिबिन्दुनिलयां नीवारशूकोपमां
नित्यानन्दमयीं गलत्परसुधावर्षैः प्रबोधप्रदैः।
सिक्त्वा षट् सरसीरुहाणि विधिवत् कोदण्डमध्योदितां
ध्यायेद्भास्वर बन्धुजीवरुचिरां संचि(वि)न्मयीं देवताम् ॥६९॥

आधारेति । आधारो मूलाधारचक्रम् । तत्र स्थिता या शक्तिः त्रिकोणं तस्या मध्यस्थानं बिन्दुः तन्निलयाम् । यद्वा आधारस्थिता या शक्तिः त्रिकोणं अथ च तत्रस्थं कामबीजं तदपि शक्तिबीजमेव । तस्य शिरसि यो बिन्दुः तन्निलयामित्यर्थः ।

यदाहुः—तडित्कोटिप्रख्यं स्वरुचिजितकालानलरुचिं

सहस्रादित्यांशुप्रकरसदृशोद्योतकलितम् ।
स्फुरन्तं योन्यन्तः स्फुटदरुणबन्धूककुसुम
प्रभं कामं ध्यायेद्वुचिरशशभृत्कोटिशिरसम् ॥
तस्योर्ध्वेऽग्निशिखा चिरद्युतिलतापुञ्जप्रभाभासुरा
सूक्ष्मा ब्रह्मपथान्तराम्बरगता चैतन्यमात्रा कला ॥ इति ।

कोदण्डमध्यं भ्रूमध्यम् आज्ञाचक्रम् । तत्रोदिता । अत्रायमेव विशेषः ॥ ६९॥

जो मूलाधार स्थित त्रिकोण रूप शक्ति के मध्य में रहने वाले बिन्दु में निवास करती हैं नीवार के अग्रभाग के समान अत्यन्त सूक्ष्म हैं, नित्यानन्दमयी हैं ज्ञान देने वाले गिरते हुये परसुधा की वर्षा से कमल युक्त षट् चक्रों को विधिपूर्वक सींचती हुई भ्रूमध्य में स्थित आज्ञा चक्र में उदित होती हैं ऐसी उद्दीप्त बन्धुजीव के समान रुधिर वर्ण वाली मोक्ष तथा ज्ञान प्रदात्री परदेवता का योगीजनों को ध्यान करना चाहिए ॥ ६९ ॥

हृत्पङ्केरुहभानु विम्बनिलयां विद्युल्लतामत्सरां
बालार्कारुणतेजसा भगवतीं निर्भर्त्सयन्तीं तमः ।
नादाख्यं पदमर्द्धचन्द्रकुटिलं संविन्मयं शाश्वतं
यान्तीमक्षररूपिणीं विमलधीर्ध्यायेद् विभुं तेजसाम् ॥ ७० ॥

मत्सरशब्दः सदृशार्थः । बालार्कारुणतेजसा तमो निर्भर्त्सयन्तीमिति सम्बन्धः। अत्र हृदयादेव नाथं प्रति गमनं वर्णमयध्यानमिति विशेषः । एतच्च प्रतिचक्रं भिन्नाः कुण्डल्य इति मते तैः कुण्डलिनीषट्कस्य स्वीकृतत्वात् ॥ ७० ॥

हृदय में स्थित कमल के भीतर निवास करने वाली, विद्युल्लता को भी अपनी प्रभा से नीचा दिखाने वाली, प्रातःकालीन उदय होते हुये सूर्य के समान अपने तेज से समस्त अन्धकार को दूर करने वाली, जो अक्षरस्वरूपा कुण्डलिनी अर्द्ध-चन्द्र के समान टेढ़े ज्ञानमय शाश्वतनाद नामक पद की ओर निरन्तर गमन करती हैं, विमल बोध वाला योगी इस प्रकार के तेजों के प्रभु का ध्यान करे ॥ ७० ॥

भाले पूर्णनिशापतिप्रतिजटां नीहारहारत्विषा
सिञ्चन्तीममृतेन देवममितेनानन्दयन्तीं तनुम् ।
वर्णानां जननीं तदीयवपुषा संप्राप्य विश्वं स्थितां
ध्यायेत् सम्यगनाकुलेन मनसा संवि(चि)न्मयीमम्बिकाम् ॥७१॥

भाल इति । अत्राज्ञायां शिवेन सङ्गः वर्णोत्पादकत्वञ्च विशेषः । तदुक्तम्—

स्वयम्भुलिङ्गं निजयोनिमध्यरन्ध्रान्तरे हृत्सरसीरुहान्तः ।
बाणाह्वयं चेतरमन्तराले वदन्ति सन्तो गगनाम्बुजेऽन्यः ॥ इति ॥ ७१ ॥

जो नीहार के हार के समान कान्ति वाले अपने अनन्त अमृत समूहों से सदाशिव के शरीर में आनन्द उत्पन्न करती हुई आज्ञा चक्र में उनके शिरःस्थ

जटाओं को सींच रही हैं, जो समस्त वर्णों की जननी हैं तथा जो शिव से संयुक्त होकर अपने शिव शक्त्यात्मक रूप से जगत् में व्याप्त हो कर स्थित हैं, ऐसी मोक्ष तथा ज्ञान स्वरूपा अम्बिका का योगीजन ध्यान करें ॥ ७१ ॥

मूले भाले हृदि च विलसद्वर्णरूपा सवित्री
पीनोत्तुङ्गस्तनभरनम(लस)न्मध्यदेशा महेशी ।
चक्रे चक्रे गलितसुधया सिक्तगात्रा प्रकामं
दद्यादाद्या श्रियमविकलां वाङ्मयी देवता वः ॥ ७२ ॥

स्थानत्रयेऽपि शिवसङ्गमाह—मूल इति । मूलाधारादाज्ञापर्यन्तं गत्वा ततो निवृत्तिर्विशेषः ॥ ७२ ॥

जो मूलाधार, भाल, आज्ञा तथा हृदय, इन तीन स्थानों में शिव से संयुक्त होती है और वर्णरूपा एवं जगत्प्रसू हैं, पीन एवं उत्तुङ्ग स्तन के भार से जिन महेश्वरी का मध्यभाग नीचे की ओर झुक गया है, जिनका शरीर प्रत्येक चक्रों से गिरती हुयी सुधा से निरन्तर सिञ्चित हो रहा हैं, ऐसी आद्या वाङ्मयी देवता आप योगीजन को स्थिर लक्ष्मी प्रदान करे ॥ ७२ ॥

कुण्डलिनीस्तुतिः

निजभवन निवासादुच्चरन्ती विलासैः
पथि पथि कमलानां चारुहासं विधाय ।
तरुणतरणिकान्तिः कुण्डली देवता सा
शिवसदनसुधाभिर्दीपयेदात्मतेजः ॥ ७३ ॥
आधारबन्धप्रमुखक्रियाभिः
समुत्थिता कुण्डलिनी सुधाभिः ।
त्रिधामबीजं शिवमर्चयन्ती
शिवाङ्गना वः शिवमातनोतु ॥ ७४ ॥
सिन्दूरपुञ्जनिभमिन्दुकलावतंस-
मानन्दपूर्ण नयनत्रयशोभिवक्त्रम् ।
आपीनतुङ्गकुचनम्रमनङ्गतन्त्रं
शम्भोः कलत्रममितां श्रियमातनोतु ॥ ७५ ॥

इतः परं वासनादार्ढ्याय कुण्डलिनीध्यानविशेषान् वदन् स्तुतिमाह—निजभवनेत्यादिना । अपानवायुसंकोचादाधारबन्धः । एवं प्राणवायुनिरोधेऽपि प्रमुखशब्दवाच्यः । अनङ्गतन्त्रम् अनङ्गप्रधानम् ॥ ७३-७५ ॥

अब वासना की दृढ़ता के लिये कुण्डलिनी का ध्यान कहते हैं—जो अपने निवास भूत भवन (मूलाधार) से विलास पूर्वक चलती हुई, अपने मार्ग (षट्चक्रों) में रहने वाले समस्त कमल समूहों को विकसित करती हुई ब्रह्मरन्ध्र

प्रदेश तक जाती है, ऐसी मध्याह्नकालीन सूर्य के समान तेज वाली परदेवता नामक कुण्डलिनी शक्ति सहस्त्रार चक्र में स्थित शिव के सुधा द्वारा हमारी आत्मा का तेज उद्दीप्त करें ॥ ७३ ॥

आधार संकोचादि प्रमुख क्रियाओं से ऊपर की ओर उठी हुई जो कुण्डलिनी अपनी सुधा से त्रिधाम बीज स्वरूप (तीन स्थान, मूलाधार, भाल और हृदय में रहने वाले) शिव का अर्चन करता हैं ऐसी शिवाङ्गना आप सब योगीजनों का कल्याण करें ॥ ७४ ॥

जिनके शरीर की कान्ति सिन्दूर पुञ्ज के समान है-जिनके भाल में पर चन्द्रमा की कला का आभूषण है, जो निरन्तर आनन्द से परिपूर्ण हैं तथा जिनका मुख तीन नेत्रों से सुशोभित है, जिनका मोटा तथा ऊँचा स्तन अनङ्ग का वर्धन करता है, ऐसी शम्भु की कलत्रभूता भगवती आप योगी जनों को अथाह लक्ष्मी प्रदान करें ॥ ७५ ॥

नयनकमलैर्दीर्घा दीर्घैरलङ्कृतदिङ्मुखं
विनतमरुतां कोटीराग्रैर्निघृष्ट पदाम्बुजम् ।
तरुणशकलं चान्द्रं बिभ्रद् घटस्तनमण्डलं
स्फुरतु हृदये बन्धूकाभं कलत्रमुमापतेः ॥ ७६ ॥

दीर्घादीर्घैरिति । कटाक्षेण दीर्घत्वं तत्संकोचेनाऽदीर्घत्वञ्च । विनतमरुतां विनतदेवानाम् । कोटीराग्रैः मुकुटाग्रभागैः ॥ ७६ ॥

अपने नेत्रों के विकास और संकोच से जो समस्त दिशाओं को अलंकृत कर रहीं है, चरण पर विनम्र हुये देवताओं के प्रणाम काल में उनके मुकुटमणियों से जिन भगवती के चरण कमल बारम्बार निघृष्ट हैं, जो पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान घन स्तन मण्डल को धारण की हैं बन्धूक पुष्प की कान्ति के समान (लाल) वर्ण वाली ऐसी शम्भुवनिता हमारे हृदय प्रदेश में स्फुरित होती रहें ॥७६॥

वर्णैरर्णवषड्दिशारविकलाचक्षुर्विभक्तैः क्रमा-
दाद्यैः सादिभिरावृतान् क्षहयुतैः षट्चक्रमध्यानिमान् ।
डाकिन्यादिभिराश्रितान् परिचितान् ब्रह्मादिभिर्दैवतै-
र्भिन्दाना परदेवता त्रिजगतां चित्ते विधत्तां मुदम् ॥ ७७ ॥

अन्तर्मातृकाक्रमेण कुण्डलिनीध्यानमाह—वर्णैरिति । अर्णवाश्चत्वारः, दिशा दश, रवयो द्वादश, कलाः षोडश, चक्षुर्द्वयम् । सादिभिरित्यनेन व्युत्क्रमो दर्शितः । आद्यैरिति मूलाधारस्थितत्वेन आद्यत्वम् । यद्वा साद्यैः सकारादिककारान्तैः । आद्यैः षोडशस्वरैः हक्षयुतैरिति योजना । तत्र विशुद्धचक्रे अकारादीनां क्रमेण स्थितैराद्यै-रिति पृथक्ग्रहणमिति केचित् । अथवाऽन्यत्राकारस्याद्यत्वम् । अत्र वैपरीत्यक्रमेण सकारस्य आद्यत्वमिति आद्यैरित्युक्तम् ।

द्विदले क्षहौ प्रतिलोमार्थमेव क्षहेतिग्रहणम् । डाकिन्यादिभिराश्रितान् । डाकिनी-राकिणी-लाकिनी-काकिनी-शाकिनी-हाकिनीभिः । ब्रह्मादिभिर्दैवतैः परीतान् । ब्रह्मादिस्थितिः दीक्षापटले (=चतुर्थ) उक्ता । एवम्भूतान् षट्चक्रमध्यान् भिन्दानेति सम्बन्धः । तदुक्तम्—

आधारस्तु चतुर्दलोऽरुणरुचिर्वासान्तवर्णाश्रयः
स्वाधिष्ठानमनल्पवैद्युतनिभं बालान्तषट्पत्रकम् ।
रक्ताभं मणिपूरकं दशदलं डाद्यं फकारान्तकं
पत्रैर्द्वादशभिस्त्वनाहतपुरं हैमं कठान्तान्वितम् ॥
मात्राषोडशपत्रकं विशदरुग्युक्तं विशुद्धाम्बुजं
हक्षेत्यक्षरयुग्दलद्वययुतं रत्नाभमाज्ञापुरम् ।
तस्मादूर्ध्वमधोमुखं विकसितं पद्मं सहस्रच्छदं
नित्यानन्दमयं भजे शिवपदं शक्त्यर्णमच्छारुणम् ॥ इति ।

अन्यत्र तु— मूलाधारं ब्रह्मणः स्थानमेतत् सौवर्णाभं डाकिनी देवताऽत्र ।
स्वाधिष्ठानं विष्णुगेहं प्रदिष्टं बालार्काभं राकिणी देवताऽत्र ॥
मणिपूरकं तु नीलं रुद्रस्थानं लाकिनी देवताऽत्र ।
रक्तमनाहतमीश्वरगृहं तु शाकिन्यपीहोक्ता ॥
सदाशिवस्थानमिदं विशुद्धं काकिन्यथेहाऽपि च धूम्रवर्णम् ।
आज्ञापुरं शारदचन्द्रकान्तं हाकिन्यथोक्ता शिवगेहमेतत् ॥ इति ।

अध्यात्मविवेके एषां प्रतिदलं जीवसञ्चारे फलमुक्तम्—

गुदलिङ्गान्तरे चक्रमाधारं तु चतुर्दलम् ।
परमः सहजस्तद्वदानन्दो वीरपूर्वकः ॥
योगानन्दश्च तस्य स्यादीशानादिदले फलम् ।
स्वाधिष्ठानं लिङ्गमूले षट्पत्रञ्च क्रमस्य तु ॥
पूर्वादिषु दलेष्वाहुः फलान्येतान्यनुक्रमात् ।
प्रश्रयः क्रूरता गर्वो नाशो मूर्च्छा ततः परम् ॥
अवज्ञा स्यादविश्वासो जीवस्य चरतो ध्रुवम् ।
नाभौ दशदलं चक्रं मणिपूरकसंज्ञकम् ॥
सुषुप्तिरत्र तृष्णा स्यादीर्ष्या पिशुनता तथा ।
लज्जा भयं घृणा मोहः कषायोऽथ विषादिता ॥
हृदयेऽनाहतं चक्रं दलैर्द्वादशभिर्युतम् ।
लौल्यं प्रणाशः कपटं वितर्कोऽप्यनुतापिता ॥
आशा प्रकाशश्चिन्ता च समीहा ममता ततः ।
क्रमेण दम्भो वैकल्यं विवेकोऽहंकृतिस्तथा ॥
फलान्येतानि पूर्वादिदलस्थस्यात्मनो जगुः ।
कण्ठेऽस्ति भारतीस्थानं विशुद्धिः षोडशच्छदम् ॥
तत्र प्रणव उद्गीथो हुं फट् वषट् स्वधा तथा ।
स्वाहा नमोऽमृतं सप्त स्वराः षड्जादयो विषम् ॥
इति पूर्वादिपत्रस्थे फलान्यात्मनि षोडश ॥ इति ॥ ७७ ॥

अब **अन्तर्मातृका क्रम से कुण्डलिनी का ध्यान** कहते हैं—जो व्युत्क्रम (संहार क्रम) से क्रमशः व श ष स इन चार वर्णों वाले चतुर्दल कमल से युक्त मूलाधार चक्र में, पुनः ब भ म य र ल, इन छः वर्णों वाले षड्दल कमल से युक्त स्वाधिष्ठान चक्र में, ड ढ ण त थ द ध न प फ वर्णों वाले दश दल कमल युक्त मणिपूर चक्र में, क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ इन द्वादश वर्णों वाले द्वादश दल कमल युक्त अनाहत चक्र में, अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः इन सोरह स्वरों वाले सोलह दल कमलयुक्त विशुद्ध चक्र में तथा ह क्ष वर्ण वाले द्विदल कमल से युक्त आज्ञाचक्र में, जहाँ क्रमशः डाकिनी, राकिणी, लाकिनी, काकिनी, शाकिनी, तथा हाकिनी यक्षिणियों का एवं ब्रह्मादि देवता स्थित हैं—इस प्रकार के उन सभी यक्षिणियों एवं देवताओं से युक्त षट्चक्रों का भेदन करती हुई सहस्रार चक्र पर्यन्त जाने वाली परदेवता तीनों लोकों के जनों के चित्त में प्रसन्नता उत्पन्न करें ॥ ७७ ॥

आधाराद् गुणवृत्तशोभिततनुं लिङ्गत्रयं सत्वरं
भिन्दन्तीं कमलानि चिन्मयघनानन्दप्रबोधोत्तराम् ।
संक्षुब्धध्रुवमण्डलामृतकरप्रस्यन्दमानामृत-
स्रोतः कन्दलिता(निभा)ममन्दतडिदाकारां शिवां भावयेत् ॥ ७८

आधारादिति । त्रिकोणकर्णिकं वृत्तं वर्त्तुलमाधारस्वरूपं तस्माद्गुणवृत्तं सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकम् । (लिङ्गत्रयमित्यत्र निर्गच्छन्तीमिति निर्गत्वरीमिति च क्वचित्पाठौ दृश्येते) ॥ ७८ ॥

त्रिकोण कर्णिका युक्त गोलाकार आधार के ऊपर त्रिगुणात्मक स्वरूप शरीर से शोभित होने वाली, तीन लिङ्गों वाली, षट्चक्र स्थित कमलों का भेदन करने वाली, चिन्मय घन सच्चिदानन्द स्वरूपा, जो कुण्डलिनी ध्रुव मण्डल स्थित संक्षुब्ध चन्द्रमण्डल से झरते हुये अमृत कणों के स्रोत से कन्दलित हो रही है, तथा जिसका स्वरूप अत्यन्त प्रकाशित होने वाली बिजली के समान देदीप्यमान है योगीजनों को ऐसी शिवा का ध्यान करना चाहिए ॥ ७८ ॥

आनन्दमौलिमनिशं श्रुतिमौलिमृग्य
मर्द्धेन्दुभूषणमधिष्ठितसर्वलोकम् ।
भक्तार्त्तिभञ्जनपरं पदमीश्वरस्य
दद्याच्छुभानि नियतं वपुरम्बिकायाः ॥ ७९ ॥

आनन्द स्वरूप, निरन्तर श्रुतियों एवं उपनिषदों के अभ्यास से प्राप्त होने वाले अर्धचन्द्र से विभूषित, समस्त जगत् में नाम रूपों से व्याप्त, भक्तों के आर्ति को नाश करने वाले साक्षात् परब्रह्म के निवासभूत स्थान इस प्रकार का अम्बिका का विग्रह आप सभी को निश्चित रूप से कल्याण प्रदान करे ॥ ७९ ॥

मञ्जुसिञ्जितमञ्जीरं वाममर्द्धं महेशितुः।
आश्रयामि जगन्मूलं यन्मूलं वचसामपि॥ ८० ॥
स्थूलेन्द्र नीलरुचिरं कुचभारनम्रं
भास्वत्सुभूषणगणैः प्रविभक्तशोभम्।
विश्वैकमूलमनिशं श्रुतिमौलिमृग्य-
मर्द्धं महेशितुरखण्डितमाश्रयामः॥ ८१ ॥

मधुर और मनोहर शब्द करने वाले मञ्जीर धारण करने वाली और महेश्वर के वाम में अर्धनारी रूप से निवास करने वाली भगवती का मैं आश्रय लेता हूँ, जो जगत् का मूल तो हैं ही कुण्डलिनी रूप से समस्त वाणियों का भी मूल हैं ॥ ८० ॥

जो स्थूल इन्द्रनीलमणि के समान मनोहर कान्ति से युक्त है, कुचभार से नीचे की ओर झुके हुये जिसके कटि प्रदेश हैं, जगमगाते हुये नाना प्रकार के आभूषणों से शोभित होने वाले, समस्त जगत् के मूल कारण, श्रुति तथा उपनिषदों के द्वारा प्राप्य, महेश्वर के अर्द्धभाग में अखण्ड रूप से विराजमान किसी अनिर्वचनीय तेज का मैं आश्रय लेता हूँ ॥ ८१ ॥

दिक्कालादिविवर्जिते परशिवे चैतन्यमात्रात्मके
शून्ये कारणपञ्चकस्य विलयं नीते निरालम्बने।
आत्मानं विनिवेश्य निश्चलधिया निर्लीनसर्वेन्द्रियो
योगी योगफलं प्रयाति सुलभं नित्योदितं निष्क्रियम्॥ ८२॥

दिगिति देशतः कालतः । आदिशब्दात् स्वरूपतश्चाऽनवच्छिन्ने । कारण-पञ्चकस्य उपादानसमवायिनिमित्तप्रयोजकसहकारिकारणपञ्चकस्य । यद्यपि प्रयोजकसहकारिकारणे निमित्तकारणान्तर्गते एवेति तार्किकाः कारणत्रयमेवाहुः । तथापीषद्भेदमाश्रित्य कारणपञ्चकोपन्यासः । यद्वा पञ्चभूतानां पञ्चतन्मात्ररूपाणि कारणानि । तदुक्तं महाकपिलपञ्चरात्रे—

मात्राः पञ्च परित्यज्य ततः कारणपञ्चकम् ।
दिव्यन्तु कारणं कृत्वा योजयेत् परमं पदम् ॥ इति ।

अतएव शून्ये अरूपे । निरालम्बने आधाररहिते । आत्मानं जीवात्मानम् । निश्चलधिया विनिवेश्य योगफलं प्रयाति ॥ ८२ ॥

देशकाल और स्वरूप से परे, परशिव, चैतन्यमात्रात्मक उपादानकारण, समवायिकारण, निमित्त कारण, प्रयोजक कारण तथा सहकारिकारण इन पाँच कारणों के विलीन कर देने पर निरालम्ब, अतएव शून्य में निश्चल बुद्धि से सभी इन्द्रियों को वश में कर लेने वाला साधक जब अपनी जीवात्मा को सन्निविष्ट कर देता है, तब वह नित्योदित एवं निष्क्रिय योग फल को प्राप्त कर लेता है ॥ ८२॥

ग्रन्थकृत्परिचयः

महाबलाय प्रणतोऽस्मि तस्मै
संविल्लतालिङ्गनशीतलाय ।
येनाऽर्पितं मुक्तिफलं विपक्व-
माम्नायशाखाभिरुपाश्रितेभ्यः ॥ ८३ ॥

तस्मादभूदखिलदेशिकवारणेन्द्रः
षट्कर्मसागरविहारविनोदशीलः ।
यस्य त्रिलोकविततं विजयाभिधान-
माचार्यपण्डित इति प्रथयन्ति सन्तः ॥ ८४ ॥

तन्नन्दनो देशिकदेशिकोऽभू-
च्छ्रीकृष्ण इत्यभ्युदितप्रभावः ।
यत्पादकारुण्यसुधाभिषेका-
ल्लक्ष्मीं परामश्नुवते कृतार्थाः ॥ ८५ ॥

आचार्य विद्याविभवस्य तस्य
जातः प्रभोर्लक्ष्मणदेशिकेन्द्रः ।
विद्यास्वशेषासु कलासु सर्वा-
स्वपि प्रथां यो महतीं प्रपेदे ॥ ८६ ॥

ग्रन्थकर्त्ता स्ववंशमाख्याति महाबलायेति । महाबलनाम ग्रन्थकर्त्तुः पूर्वजः । तत्पुत्र आचार्यपण्डितः तत्पुत्रः श्रीकृष्णः ॥ ८३-८६ ॥

अब **ग्रन्थकर्त्ता ग्रन्थ की समाप्ति में अपने वंश का परिचय** देते हैं—

मैं (लक्ष्मण देशिक) संविल्लता के आलिङ्गन से शान्त स्वभाव वाले उन महाबल नामक अपने पूर्वज को प्रणाम करता हूँ, जिन्होंने अपने आश्रितों को वेद की शाखाओं के द्वारा परिपक्व मुक्ता फल (मुक्ति रूपी फल अथवा मोतियों का फल) समर्पित किया ॥ ८३ ॥

उन महात्मा महाबल से आचार्य पण्डित नाम से सन्तों द्वारा विख्यात मेरे पूर्वज हुये, जो संपूर्ण देशिक रूपी हस्ति समूहों के इन्द्र (यूथपति) थे, और ब्राह्मणों के लिये विहित षट्कर्म रूप सागर में बिहार (आचरण) के प्रेमी थे, जिन्हें त्रिलोकी में विख्यात विजय पद से विभूषित, आचार्य पण्डित के नाम से सन्त लोग पुकारते थे ॥ ८४ ॥

उन आचार्य पण्डित के श्री कृष्ण नामक पुत्र हुये, जिनका प्रभाव जगत् में विख्यात था, वे समस्त आचार्यों के भी आचार्य थे, उन महापुरुष की करुणा युक्त सुधामयी दृष्टि के अवलोकन मात्र से मनुष्य कृतार्थ हो जाता था और महान् लक्ष्मी प्राप्त करता था ॥ ८५ ॥

उन आचार्य तथा विद्या विभव संपन्न महाप्रभु पण्डित श्री कृष्ण से लक्ष्मण देशिकेन्द्र उत्पन्न हुये जिन्होंने संपूर्ण विद्याओं में एवं संपूर्ण कलाओ में महान् प्रसिद्धि प्राप्त की ॥ ८६ ॥

ग्रन्थपरिचयः

आदाय सारमखिलं निखिलागमेभ्यः
श्रीशारदातिलकनाम चकार तन्त्रम् ।
प्राज्ञः स एष पटलैरिह तत्त्वसंख्यैः
प्रीतिप्रदानविधये विदुषां चिराय ॥ ८७ ॥

तत्त्वसंख्यैः पञ्चविंशतिसंख्यैः । अत्र आद्यपटलः सृष्टिप्रतिपादकत्वेन मूलप्रकृतिप्रतिपादनपरः । मध्ये त्रयोविंशतिपटलास्तु प्रकृतिविकृतिप्रतिपादनपराः । अन्त्यपटलस्तु प्रकृतिविकृतिव्यतिरिक्तपुरुषप्रतिपादनपरः । एवं पञ्चविंशतितत्त्वात्मकत्वम् अस्य ग्रन्थस्योक्तं भवति ॥ ८७ ॥

उन्हीं लक्ष्मण देशिकेन्द्र ने समस्त आगम शास्त्रों का सार ग्रहण कर श्री शारदातिलक नामक इस तन्त्र ग्रन्थ की रचना की । यतः तत्त्व संख्या २५ है अतः उन्होंने भी २५ पटलों में विद्वानों पर चिरकाल पर्यन्त प्रीति उत्पन्न करने के लिये इस ग्रन्थ की रचना की है ॥ ८७ ॥

अनाद्यन्तात् शम्भोर्वपुषि कलितार्द्धेन वपुषा
जगद्रूपं शश्वत् सृजति महनीयामपि गिरम् ।
सदर्था शब्दार्थस्तनभरनता शङ्करवधू-
र्भवेद् भूत्यै भूयाद् भवजनितदुःखौघशमनीं ॥ ८८ ॥

सुखदा दातृसुभगा शङ्करार्द्धशरीरिणी ।
ग्रन्थपुष्पोपहारेण प्रीता नः पार्वती सदा ॥ ८९ ॥

॥ इति श्रीलक्ष्मणदेशिकेन्द्रविरचिते शारदातिलके
पञ्चविंशः पटलः समाप्तः ॥ २५ ॥

परदेवतैव ध्येयेति सकलतन्त्रार्थमुपसंहरन् आशिषा मङ्गलं करोति— अनादीति । 'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते । वीरपुरुषकाणि भवन्ति आयुष्यपुरुषकाणि च' ।

इति भगवत्पतञ्जलिवचनादिति । शिवम् ॥ ८८-८९ ॥

॥ समाप्तोऽयं पदार्थादर्शः ॥

दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ माला—2

ज्ञानोदयतन्त्रम्

JÑĀNODAYA TANTRAM
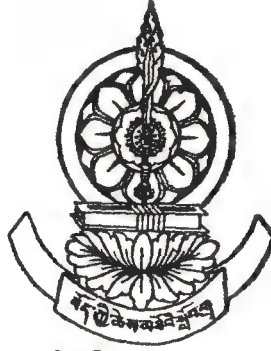
भोट विद्या संस्थानम्

सम्पादक :

प्रो० समदोङ रिनपोछे
योजना निदेशक

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी
उपनिदेशक

दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

बुद्धाब्द २५३१ ख्रीष्टाब्द १९८८

सहायक मण्डल

जनार्दन पाण्डेय डॉ० ठाकुरसेन नेगी
बनारसी लाल महेन्द्ररत्न वज्राचार्य
वङ्छुग दोर्जे

मूल्य : रु० १५.००

प्रकाशक :
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

मुद्रक :
रत्ना प्रिंटिंग वर्क्स, बी० 21/42 ए०, कमच्छा, वाराणसी

RARE BUDDHIST TEXT SERIES—2

JÑĀNODAYA TANTRAM

भोट विद्या संस्थानम्

Editors :

PROF. SAMDHONG RINPOCHE
Project Director

PROF. VRAJVALLABH DWIVEDĪ
Deputy Director

RARE BUDDHIST TEXT PROJECT
Central Institute of Higher Tibetan Studies
SARNATH, VARNASI

B. E. 2531 C. E. 1988

प्रस्तावना

दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना की परामर्शदात्री समिति के दिनांक 11–8–1987 के निर्णय के अनुसार 'धीः' के इस चतुर्थ अंक में ज्ञानोदयतन्त्र का प्रकाशन किया जा रहा है। यह तन्त्र क्रिया, चर्या, योग और अनुत्तर विभागों में विभक्त बौद्ध तन्त्रों के योग विभाग के अन्तर्गत आता है।

इसमें चित्त, वाक् और काय चक्रों के अन्तर्गत ध्येय दस भूमियों और चौबीस पीठों का विवरण देने के बाद शरीर में स्थित नाड़ियों और चक्रों का विवरण देकर उनकी भावना का प्रकार बताया गया है। इसके बाद सहजप्रज्ञा योग, वसन्ततिलक योग, समुत्पन्नक्रम योग और प्रज्ञोपाय योग का विवरण देकर षट्चक्र विशुद्धि और पंचज्ञान विशुद्धि की भावना का विस्तार किया गया है।

यह ग्रन्थ अतिसंक्षेप में बौद्ध तन्त्रों में वर्णित योग का समग्र वर्णन प्रस्तुत करता है। इस ग्रन्थ का तिब्बती अनुवाद उपलब्ध नहीं होता। इन विशेषताओं को देखते हुए ही दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना द्वारा प्रकाशनीय ग्रन्थों में इसका समावेश किया गया था। इसको विज्ञ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

जिन 11 हस्तलेखों के आधार पर इस ग्रन्थ के पाठों का निर्धारण किया गया है, उनका विवरण इस प्रकार है :—

क—राष्ट्रीय अभिलेखालय काठमाण्डू, नेपाल सं० 3।658, पत्र सं० 11, देवनागरी लिपि, पूर्ण। श्री जगन्नाथ उपाध्याय जी के संग्रह की प्रतिलिपि।

ख—रा० अ० का० ने० सं० 5।39, पत्र सं० 19, नेवारी लिपि, पूर्ण। श्री जगन्नाथ उपाध्यायजी के संग्रह की प्रतिलिपि।

ग—रा० अ० का० ने० सं० 3।338, पत्र सं० 20, देवनागरी लिपि, पूर्ण। डा० ठाकुरसेन नेगी के पास की प्रतिलिपि।

घ—इंस्टिट्यूट फार एडवांस स्टडीज आफ वर्ल्ड रिलिजन्स, अमेरिका एम० बी० बी०-II–184, पत्र सं० 13, नेवारी लिपि, पूर्ण। माइक्रोफिश के० ति० उ० शि० सं० सारनाथ, वाराणसी। फोटो प्रिंट तथा जिराक्स प्रति अस्पष्ट है।

ङ—इंस्टिट्यूट फार···अमेरिका, एम० बी० बी०-I–120, पत्र सं० 20, नेवारी लिपि, अपूर्ण (9–11) पत्र नहीं हैं। माइक्रोफिश के० ति० उ० शि० सं०। माइक्रोफिश अस्पष्ट है।

च—इंस्टिट्यूट फार···अमेरिका, एम० बी० बी०-I–72, पत्र सं० 13, नेवारी लिपि, अपूर्ण (अन्त में खण्डित)। माइक्रोफिश के० ति० उ० शि० सं०।

छ—संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट इन टोक्यो युनिवर्सिटी लाइब्रेरी जापान, सं० 143, पत्र सं० 11, नेवारी लिपि, पूर्ण। माइक्रोफिल्म के० ति० उ० शि० सं०।

ज—संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट इन टोक्यो···सं० 142, पत्र सं० 20, देवनागरी लिपि, पूर्ण। माइक्रोफिल्म के० ति० उ० शि० सं०।

झ—आशा सफू कुशी संग्रह, काठमाण्डू, सं० 2।634, पत्र सं० 26, देवनागरी लिपि, पूर्ण। जिराक्स प्रति के० ति० उ० शि० सं०।

ञ—गायकवाड़ ओरियन्टल, इंस्टिट्यूट बड़ौदा, सं० 13279, पत्र सं० 9, देवनागरी लिपि, पूर्ण।

ट—इंस्टिट्यूट फार····अमेरिका, एम० बी० बी०-I-74, पत्र सं० 19, नेवारी लिपि, माइक्रोफिश प्रति के० उ० ति० शि० सं०। अस्पष्ट एवं अपठनीय।

इन 11 हस्तलेखों की सहायता से सावधानी के साथ संशोधन और सम्पादन करने के उपरान्त भी इस ग्रन्थ के कुछ स्थान अभी पूरी तरह से स्पष्ट नहीं हो पाये हैं। इस सम्बन्ध में हम विद्वानों के सुझाव का स्वागत करेंगे।

इस ग्रन्थ के हस्तलेखों को सुलभ कराने में जिन व्यक्तियों और संस्थाओं ने सहायता की है, जिनका कि नाम निर्देश ऊपर किया जा चुका है, उनका हम आभार स्वीकार करते हैं। दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना में कार्यरत विद्वानों को भी हम धन्यवाद देते हैं, जिन्होंने बड़ी तत्परता से पाठसंकलन, सम्पादन अदि कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न कर परिष्कृत रूप में इस ग्रन्थ को प्रस्तुत किया है।

एस० रिन्पोछे
निदेशक
दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना

PREFACE

The *Jñānodaya Tantra* which is of the Yoga genre of the Buddhist Tantra as of the three other classes, the Kriyā, the Caryā and the Anuttara Tantras, is being published here as a part of the first volume of the Rare Buddhist Minor Text Series, appearing in the *Dhī* review.

The text enumerates under wheels of the mind, speech and body the ten grounds (Bhūmis) and the twenty four establishments (Pīṭhas) to be reflected upon. These postulates precede the description of the nervous system and the numerous *Cakras* in the body. The awareness of the vital limbs is important in the comprehension of the esoteric system. The work further elicits understanding of the Sahaja-Prajñā Yoga, Vasanta-Tilaka Yoga, Samutpann-Krama Yoga and the Prajñopāya Yoga with the purifying methods of the six cakras and the five sensory perceptions.

The work presents a total view of yoga, as found in Buddhist esotericism. The Tibetan translation of the text has not been found. Keeping in view these importance the work is included in the texts to be published by The Project. We are happy to bring it out for the readers.

For the presentament of the text in its edited form acknowledgement is due to the following organisations for furbishing the contextual matters.

a. National Archives of kathmandu, Nepal. Ms. No. 3/658 fol. 11, Devanāgarī Script—Complete. Ms-in Prof. J. Upadhyaya's private collections.

b. NAKN. Ms. No. 5/39, fol, 19, Nevārī Script, Complete, J (Ms)

c. NAKN, Ms. No. 3/338, fol. 20, Devanāgarī Script, Complete. Ms with Thakur Sen Negi.

d. Institute for Advanced Studies of World Religions, U S A, Ms. No. MBB. II–184, fol, 13, Nevārī Script, complete, microfische copy in the Śāntarakṣhita Library, Saranath.

e. IASWR, U S A, Ms No. MBB, I-120, fol. 20, Nevārī Script, incomplete, microfische copy in Śāntarakṣhita library, Saranath.

f. IASWR, Ms. No. MBB, I-72, fol. 13-Nevārī Script, incomplete fragile last part. microfische copy. in Śāntarakṣhita Library, Saranath.

g. Sanskrit MSS in Tokyo University Library, Japan. MS. No. 143, fol. 11, Nevārī Script, complete, microfilm, Śāntrakṣhita Library, Saranath.

h. SMTUL, MS. No. 142, fol. 20, Devanāgarī Script, complete, microfilm, Śāntarakṣhita Library, Saranath,

i. Āshā Safu Kuśi collections, Kathmandu, MS. No. 2/634, fol. 26, Devanāgari Script, complete, zyrox copy in the Śāntrakṣhita Library, Saranath.

j. Gaekwad Oriental Institute, Baroda, MS. No. 13279/29 fol. 9. Davanāgarī Script, complete.

k. IASWR, U S A, MS. No. MBB--174, fol. 19, Nevārī Script, microfische copy in the Śāntarakṣhita Library, Saranath, illegible.

We are very grateful to individuals and the Institutes which made the mansuscripts available for us. I also express my pleasure for the work done by the scholars of the project in bringing it out in an accomplished form.

S. Rinpoche
Director
Rare Buddhist text Project

विषयसूची

ज्ञानोदयतन्त्रम्

ॐ नमः [1]सर्वज्ञाय[2]

अथातः संप्रवक्ष्यामि ज्ञानं ज्ञानोदयोत्तमम् ।
शरीरार्थं[3] च सर्वेषां ज्ञात्वा [4]यद्धेतुकारणात् ॥ 1 ॥

गिरिगुहायां महोदधौ नदीतीरे वृक्षमूले मातृकागृहे शिवालये उद्याने श्मशाने[5] चतुष्पथे विहारे चैत्यालये वा गृहे विजने निरुपद्रवेऽनुकूले कृतनिलये एषु स्थानेषु प्रदर्शयेत् ।

स्वभावशुद्धाः सर्वधर्माः स्वभावशुद्धोऽहमिति, प्रकृतिपरिशुद्धाः सर्वधर्माः प्रकृतिपरिशुद्धोऽहमिति निश्चित्य[6] [चित्ते] स्वदेहे [7]वाऽऽधाराधेयमण्डलमधिमुञ्चेत्[8] । अनेन शरीरं कूटागारं[9] समं[10] चतुरस्रं चतुर्द्वारं [11]चाष्टभिरङ्गैरष्टस्तम्भैः शोभितं मध्यमण्डलं रम्यं पञ्चतथागतं [12]पञ्चकामात्मकं [13]पञ्चचक्रम् । तत्र रोमाणि कीरकान्[14] चर्ममांसवज्रप्राकारमस्थिपञ्जरं वज्रपञ्जरं [15]थुलामाला[16]मलजालं च मणिवज्रवितानम्—

[17]वितानं [18]वारसिंहं च मध्ये[19]ऽष्टस्तबकं हृदि ।
कोणे[20]ऽष्टस्तबकं ज्ञात्वा खेटौ[21]फूफुसवुक्कचाः ॥ 2 ॥

चण्डालीज्वाला[22]मालानलार्कः [23]पण्यादिकं वज्रमयमधिमुञ्चेत् । अन्तरालं धर्मोदयमधिमुञ्चेत् । तत्र [24]कबन्धोऽर्धद्वयशूलभिन्नादिसु(सू)चकैश्चक्रं[25]मन[:]स्थानं पश्येत् । निषद्यादिकारकैर्द्विपुट[26]त्वेन द्विगुणं पृथिव्यप्तेजोवायुधात्वात्मकैः परिगतानष्टौ धातुं(तून्) स्वसनि(न्नि)त्यतया युक्ता[न]ष्टौ श्मशानानधिमुञ्चेत् ।

---

1. श्रीसर्व—च. । 2. 'ॐ नमः श्रीचक्रसंवराय' इत्यधिकः पाठः—घ. । 3. र्थश्च—क. ज. । 4. ये हेतु—ख.छ.झ.ञ । 5. नास्ति—च. । 6 निश्चिते—क. ग. ज. झ. । 7. वाधावाधेय—क. ख. ग. घ. ङ. च. छ. । 8. मुच्येत्—क ग घ. ज. । 9. कूटाङ्गारं—घ. छ. ज. ञ. । 10. समचतुरस्रचतुर्द्वारैः—च. । 11. वाष्टाभि—ङ. । 12. पञ्चकात्म—ख., पञ्चकायात्म—क. घ. च. छ. ज. झ. । 13. पञ्चक्रमं—छ. । 14. कील—छ. । 15. थूला—ख.च छ.झ.ञ , थूल—घ. । 16. मालासरजालं—ख. ग. घ. च. ज. झ. ञ. । 17. वीता—क ग. ङ. । 18. वाल—छ. । 19. मध्यष्ठास्ते—ग. ज., मध्यस्थं—घ., ष्ठं—ङ च झ. । 20. कोणष्ठां—ङ. च. ज. झ. । 21. खेर्वे—क. । 22. ज्वालावज्रज्वालानला—ख. घ. ङ. च. झ. ञ. । 23. पक्ष्या—ज.ञ. । 24. कबन्धोर्द्धत्वशायित—क. ख. ग. घ., द्वशा—ङ. झ. ञ., द्वन्द्वशा—च. । 25. चक्रमणस्था—घ छ.ञ., मशस्था—क.ग.ज., मूलस्थानं—ङ. । 26. द्विप्रभ—क., द्विपुल—ग , द्विपूत—झ. ।

ततः पादद्वयं(ये) धन्वाभं वायुमण्डलम्, नाभितले त्रिकोणमाग्नेयमण्डलम्, जठलं(रे) वर्तुलं वारुणमण्डलम्, कक्षस्थं(स्थे) चतुरस्रं माहेन्द्रमण्डलमधिमुञ्चेत् । उत्तमाङ्गमष्टशृङ्गसुमेरुमधिमुञ्चेत् । ततस्तत्पृष्ठेऽधिष्ठितं द्वात्रिंशद्दलकमलं तन्मध्ये चन्द्रमण्डलं तन्मध्यगता नाडी [1]सूक्ष्मं [2]खगमुखाकारमनाहतमालिकालिज[3]हूंकारं वज्रसत्त्वस्वरूपं ष[ट्]त्रिंशन्नाडीजनकं समधिमुञ्चेत् । तदुद्भवचन्द्रफलभवैः[4] शशाङ्क-संकाशं सहजसंभोगकायात्मकं [5]कालिस्वभावमुपायरूपं सुविशुद्धधर्मधातुज्ञानात्मकं श्रीहेरुकम्, ततः सहजनिर्माणनभोनिभं सर्वाङ्गप्रत्यङ्गसर्वाशाकाशव्यापकं स्व[ा]भाविक-कायात्मकमालिस्वभाव(वं) [6]प्रज्ञारूपं [7]शु(सु)विशुद्धधर्मधातुस्वभावं [8]वज्रवाराहीमधि-मुञ्चेत् ।

ततः समयचक्रात्मके तारु(लु)कमले पूर्वदले भगवतः पूर्वमूर्ति[ः] शब्दवहा दर्शनज्ञानरूपा शशानामनाडी डाकिनी, उत्तरमूर्तिर्गन्धवहा समताज्ञानरूपा क्षीरवहानाम-नाडी लामा । पश्चिमदले पश्चिममूर्ति[ः] रसवहा प्रत्यवेक्षणाज्ञानस्वभावस्निग्धा नाडी खण्डरोहा, दक्षिणदले दक्षिणमूर्तिः स्पर्शवहा कृत्यानुष्ठानरूपा मधुरानामनाडी रूपिणी । हृत्कमल इत्यपरमुखचतुर्षु [9]इत्ये[व] लोक[ाः] कथयन्ति, त्रिकोणेषु पत्रेषु च[10] सहस्रं प्रनाडिकाः[11] बोधिचित्तवहा वाहे(बाह्ये) [12]चतुःपूजारूपा बोधिचित्तकरोटकाः ।

इति महासुखचक्रं बुद्धभूमिवज्रमतितत्त्वं त्रिलोकं त्रिकायम्

ततः पूं जां ऊं आं गों लां दं[13]मां कां वं[14] त्रि कां[15] क्रां कां[16] लां[17] कां ह्लीं प्रं[18] गुं सां[19] सुं[20] नं सिं [21]मं कूं[22] इति बीजाक्षराणि यथास्थानं क्रमेण भावयेत् ।

ततः पुल्लीरमलयशिरसि खण्डकपालि[23]नखदन्तवहा अजानाडी प्रचण्डा, जालन्धरशिखायां महाकङ्कालकेशरोमवहा नाडी चण्डाक्षी, ओडियानदक्षिणकर्णे कंकार-(ल)[24]त्वङ्मलवहा [25]महानाडी प्रभामति(ती) । मस्तकपृष्ठे अर्बुदविकटदंष्ट्रि(ष्ट्री) मांसवहा बलानाडी महानासा । इति [26]पीठप्रमुदिता[27]भूमिपोठदानदुःखज्ञानम् ।

---

1. शुष्कं–च. । 2. खङ्ख–ङ.च. । 3. लितः–क. आलिज–छ. । 4. चन्द्रम्भाव–क ग., 'चन्द्रफलभवैः' नास्ति–ज. झ. ञ. । 5. 'कालि' नास्ति–क. ग. च. ज. । 6. प्रत्यङ्ग–ञ. । 7. शुचिशु–क. ख. ग. घ. । 8. वज्रवज्रवा–ङ. । 9. इत्यनो कथ–क. ङ. ज. । 10. चतुरस्रं–क. ख. ग. घ. ङ. च. ज. । 11. डिकां–ख. ग. ङ. छ. । 12. चतुर्भुजा–ङ. च. । 13. दें–ङ च. ज. । 14. भौँ–ङ.च., जां–ख घ., ऊं–ज. ञ. । 15. कौं–ख.घ., कें–ङ.च.छ.झ. । 16. 'कां क्रां' इति विपर्यस्तः पाठः–छ. । 17. लं–ङ. । 18. प्रें–ङ. ज. ञ. । 19. सौं–ङ. च. ज. झ. ञ. । 20. सूं–ख. च. । 21. मुं–ङ., मूं–च. । 22. कुं–ङ. । 23. पाल–ङ. । 24. त्वगाल–क. ख. ग. घ. ङ. च. ज. । 25. मला–छ. । 26. 'पीठ' नास्ति–घ. । 27. 'भूमिपीठ' नास्ति–क. ख. ग. ङ. छ. ज. झ. ञ. ।

गोदावरीवामकर्णे [1]स्वरवैरिणस्नायुवहा रजानाडी वि(वी)रमती, रामेश्वर-भ्रूमध्ये अमिताभा अस्थिवहा [2]पटानाडी खर्वरी। देवीकोटचक्षुर्द्वये वज्रप्रभा वुक्कवहा भगानाडी लङ्केश्वरी, ता(मा)लवस्कन्धद्वयो[3]र्वज्रदेह[4]हृदयवहा [5]चोद्धतानाडी द्रुमच्छाया। इत्युपपीठविमलाभूमि[6] शीलसमुदयज्ञानम्[7]। चित्तचक्रं धर्मं हूँ खर्वरी स्वर्गालयः।

कामरूपकक्षद्वयं अङ्कुरिकः[8] अक्षिवहा महानाडी ऐरावती। ओड्रे स्तनयुगले वज्रजटिले[9] पित्तवहा महानाडी महाभैरवी। इति क्षेत्रं प्रभाकरी[10]क्षान्तिनिरोधज्ञानम्।

[11]त्रिशकुनिनाभौ महावीरफुफ्फुसवहा प्रभानाडी वायुवेगा। कोशले नासि-काग्रे वज्रहूंकार-अन्त्रमालावहा [12]हलानाडी सुराभक्षी। इति उपक्षेत्रम् अर्चिष्मती-[13]भूमिवीर्यमार्गज्ञानम्।

कलिङ्गे मुखे [14]सुभद्रगुणवर्तिवहा महानाडी श्यामादेवी। लम्पाककण्ठे वज्र-भद्रा[15] बलवहा[16] सौख्यदा नाडी सुभद्रा। इति छन्दोह-अभिमुखीभूमि[17]ध्यानक्षय-[18]ज्ञानम्।

काञ्चिद्वय[19](पायु) महाभैरवपुली(री)षवहा [20]घनानाडी हयकर्णा। हिमालये मेढ्रे विरूपाक्षां(क्षा) सीमान्तवहा सितानाडी खगानना। इति उपछन्दोहसुदुर्जयाभूमि-प्रज्ञाऽनुत्पाद[21]ज्ञानम्। इति वाक्चक्रम्। संभोग-आभूचरीमर्त्यभोगः।

प्रेतपुर्यां लिङ्गे महाबला[22] श्लेष्मवहा नाडी चक्रवेगा। गृहदेवतायां गुदे रत्न-वज्रपूयवहा[23] नटीनाडी खण्डरोहा। इति मेलापकदूरङ्गमाभूम्युपायो धर्मज्ञानम्।

सौराष्ट्रे ऊरुद्वयोर्हयग्रीवलोहितवहा स्फुटानाडी शौण्डिनी, सुवर्णद्वीपे जङ्घायामाकाशगर्भ[24]स्वेदवहा लतानाडी चक्रवर्मिणी। इति उपमेलापकम् अचलाभूमि-प्रणिधानमद्वयं ज्ञानम्।

नगल(र)पादाङ्गुलिषु श्रीहेरुकमेदोवहा बलानाडी सुवीरा। सिन्धौ पादपृष्ठे पद्मनर्तेश्वर[25]अश्रुवहा शठानाडी महाबला। इति श्मशानं साधुमतिभूमिबलसंवृत्तिज्ञानम्।

---

1. सुरवै–ख. ग. ङ. च. छ. ञ.। 2. परा–च.। 3. 'द्वयो' नास्ति–ज.। 4. देहा–छ. ज.। 5. छता–ञ.। 6. इतः परं 'भूमि' पदं नास्ति–क. ख. ग. च. छ. ज. झ. ञ। 7. स्थानम्–क. ग. घ.। 8. रिक–छ. ज.। 9. युगलवज्रतिल–क. ग. जटिल–ज.। 10. प्रभास्था-क. ख. ग. ज., प्रभास्य–च.। 11. त्रिशकुली–क. ग. ज. ञ.। 12. हल–क. ग. ज., लतानाडी–च.। 13. 'भूमि' नास्ति–क. ख. ग. च. छ. ज.। 14. सुभद्रा–घ., द्रे–च.। 15. वज्रप्रभा–घ.। 16. दलवहा–ख. ङ. च. छ. झ., उदरवहा–घ.। 17. 'भूमि'नास्ति–क.ख.ग.च.छ.ज.। 18. ध्यानकरं–क.। 19. काञ्चित्रिय–क. ग., हृदय–घ. झ. ञ., घ्रिय–ज.। 20. तना–क.ग.ज.। 21. अनुत्पन्न.–च.। 22. महाचण्डास्यवहा–क. ग.। 23. पूयमहामती–क. ग.। 24. शसंगर्भश्वेत–छ.। 25. नृत्येश्वर–क. ग. ज. झ.।

मरौ[1] अङ्गुष्ठयोर्वैरोचनश्वेत[2]वहा गणानाडी चक्रवर्तिनी। [3]कुलतायां जानुद्वयं(ये) वज्रसत्त्वबालसिंघा[4]वहा समानाडी महावीर्या। इति उपशमशानधर्ममेघा[5]ज्ञानपरचित्तज्ञानम्। इति काय[6]चक्रनिर्माणम्। ॐ पातालवासिनि पातालमधिकारः।

एतेषां दशपीठ-दशभूमि-दशपारमितास्वभावम्। मुखपूर्वद्वारे उग्रानाडी काकास्या, दक्षिणनासा-उत्तरद्वारे घोरानाडी उलूकास्या, गुदे पश्चिमद्वारे अग्निवदनानाडी श्वानास्या, वामनासादक्षिणद्वारे तेजिनीनाडी शूकरास्या, वामकर्णे आग्नेये खड्गधारी नाडी यमदाती[7], दक्षिणकर्णे नैर्ऋत्ये चक्रीनाडी यमदूती, दक्षिणनेत्रे वायव्ये [8]सूचीमुखानाडी यमदंष्ट्री, वामनेत्रे ऐशाने स्वभावकुक्षिनाडी यममथनी।

अत्र केचिदेवं वदन्ति—वामपादस्याग्रोत्तरं गुल्फपार्ष्णिदक्षिणगुल्फेषु[9] स्थिता या[10] द्वारपालिन्यः, दक्षिणपादस्याग्रे दक्षिणगुल्फपार्ष्णिवामगुल्फेषु स्थिताः कोणवासिन्या(न्यो) योगिन्या(न्यः) इति।

एवमध्यात्ममाराध्य मण्डलं भावयेत्। यदि वाराहीमूलं विश्ववज्रतन्मध्य-[11] विश्वपङ्करुह[12]मन्त्र(न्त)श्चतुर्दलं बहिरष्टदलं बिन्दुरूपं[13] विभाव्य तन्मध्यगां निरालम्बां यावद् [14]नाडीत्रयैकरूपां[15] प्रभास्वरां[16] नालरूपां[17] वज्रवाराहीं भावयेत्। तत्र त्रिदलं(ले) बिन्दुरूपास्तिस्रस्तिस्रः शशाद्या नाडिका[18] डाकिन्यादिडाकिनीस्वभावा[19] विभाव्य नाडीचक्रान्तर्वर्तिव्यापकं महाज्ञानं [20]श्रीचक्रसंवरं यावदित्थं(च्छं) चिन्तयेत्। ततः [21]स्फूलयोगेन वाराहीमुत्थाप्य सुखस्थाने[22] सर्वतथागतांश्चोदयेत्। चोदितैरमृतीभूतैर्यथोक्तमण्डलं सेवयेत्। ततोऽभिमुखीकृत्य अमृतरूपपरममन्त्रमावर्तयेत्। सैव पूजा, सैव स्मृतिः, स एवामृतास्वाद इति।

इति[23]ज्ञानोदय(ये) नाडीचक्रात्मकपरमगम्भीरो[24]त्पन्नक्रमः

---

1. मरुत–क. ख. ग. ज. झ. ञ.। 2. खेट–ख.ङ.छ.ज.झ.ञ., विड्–घ.। 3. कुलजा–क., कुलताजा–ख.ग.। 4. भालसिंही–च.। 5. मेघा–ञ.। 6. कायक्रम–झ.ञ.। 7. दाढी–ञ.। 8. शुचिमु–क. छ.ज.ञ.। 9. गुल्फे प्रस्थितात्–क. ग.। 10. प्राद्वारपारिण्या–क. ख. ग. ज. ञ., प्रावारपारिण्या–घ. ङ. च, न्याद्वार–झ.। 11. मध्ये–ङ. च.। 12. सहे–ङ. च.। 13. 'बिन्दुरूपं' नास्ति–क. ख. ग. घ. छ. ज. झ. ञ.। 14. हृदयैक–घ.। 15. रूपात्–क. ग. ज.। 16. स्वरात्–क. ग. ज.। 17 नाड्यरूपात्–क. ख. ग. घ. ङ. च., नाडीरूपात्–झ.। 18. नाडी–च. छ. ङ. ञ.। 19. भावं–क. ख. ग. घ.। 20. श्रीमहाचक्र–छ., श्रीचक्रसंवरसंवरं–झ. ञ.। 21. स्फुलन–क. ग. ज. झ., स्फरण–ङ., स्फलन–ञ.। 22. स्थानेन–घ., स्थान्–ङ.। 23. तत्त्वज्ञानो–छ.। 24 .गभीरो–च.।

जिह्वां तालुगतां कृत्वा योगी योगपरो भवेत् ।
योगजं [1]स्फारयेद् बुद्धं सर्वाशाकाशवस्तुषु ॥ 3 ॥
सिद्धयते जन्मनीहैव मन्दपुण्योऽपि मानवः ।
गुरुपादप्रसादेन योगाभ्यासात्सेन(भ्यासवशेन) च ॥ 4 ॥

तथा [2]चोक्तम्—

वीरस्य वीर[3]जिह्वायां जिह्वा ताल्वन्तरे पुनः ।
तालुदेशे तु वीरेशः कृत्वा ध्यानपरो भवेत् ॥
षण्मासात् सिद्धयते ज्ञानं चिन्तामणिरिवापरम् ॥ 5 ॥ इत्यादि ।

अथा[4]परयोग उच्यते—झटित्यात्मानं श्रीहेरुकं विभाव्य नाभिहृत्कण्ठशीर्षेषु चत्वारि चक्रं(क्राणि) चिन्तयेत् । तत्र नाभिमूले चतुःषष्टिदल[5]विशुद्धया चतुर्देवीनां षोडशशून्यतादिस्वभावषोडशाब्दविशुद्धया वा चतुःषष्टिदलं त्रिकोणं विचित्रं निर्माणचक्रं दलेष्वनुरो(लो)मतः ककारादीनि द्वात्रिंशद्वयञ्जनानि विलोमतस्तानि द्वात्रिंशद्वयञ्जनान्येव च[6] मध्ये अंकारं प्रभास्वरं भावयेत् । हृदये[7] अष्ट[8]दलं चतुरस्रं कृष्टं[9] धर्मचक्रं तस्य दिग्लेषु ॐ[10]हूँ त्रां ह्रीं खँ तद्विदिग्दलेषु लाँ माँ पाँ ताँ तदूर्ध्वतो अ क च ट त प य [11]शं सा(शा)न्तभूतभौतिकरूपं मध्ये[12] हूँकारं भावयेत् । कण्ठे षोडशशून्यताविशुद्धया वा[13]षोडशमर्धचन्द्राभं रक्तं संभोगचक्रम् । तस्य दलेषु षोडशस्वरा मध्ये [14]वंकारं भावयेत् । शिरसि द्वात्रिंशन्नाडीविशुद्धया द्वात्रिंशत्पुरुषलक्षणविशुद्धया द्वात्रिंशद्दलं [15]वर्तुलं शुक्लं महासुखचक्रम् । तस्य दलेषु ककारादिद्वात्रिंशद्वयञ्जनानि तदुपरि षोडशस्वराननुलोमतो मध्ये [16]हूँकारमनाहतश्रवं[17]चित्तधरं[18] विभावयेत् ।

[19]अथवाऽऽहुः—ऊर्ध्वंचक्रमधश्चक्रं त्रिकोणं[20] मध्ये चक्रद्वये [21]हुंकारमिति ।

---

1. स्फुर–क. ग. ज. ञ. । 2. प्रो–क. ग. । 3. वीरं–ञ. । 4. अथ प–ग., परो–घ. । 5. दण्ड–क.ख.ग.घ.च.ज.झ.ञ., दण्डविशुद्धाश्च–ङ, शुद्धांश्च–च. । 6. 'च' नास्ति–छ. ज. झ. ञ. । 7. 'हृदयेऽष्टपते-(त्र)विशुद्धया आर्याष्टाङ्गमार्गविशुद्धया अष्टौ विमोक्षविशुद्धया' इत्यधिकः पाठः–झ. । 8. मण्डलं–छ. । 9. कृष्ट्या–क., कृष्णा–ग. ज. झ., ष्णं–ङ. च. छ. । 10. 'हूं' नास्ति–क. ख. ग. घ. ङ. ज. झ. । 11. शः–च. ञ., सं–ज. । 12. मध्यहुं–क. ख. ग. झ. । 13. 'षोडशान्यप्रज्ञासंभोगविशुद्धया षोडशकान्तिविशुद्धया' इत्यधिकः पाठः–झ., 'वा' नास्ति–ज. ञ. । 14. ॐकारं–झ. भ. । 15. चतुर्दलं–ङ. च. । 16. हंकार–क. ख. ग. घ. ज. ञ. । 17. श्रवचि–ग. घ. ड. ज. ञ. । 18. धारं–ख. ग. घ. ङ. ज. झ. । 19. अथ त्वा–ख. घ. ङ. च. । 20. त्रिकोणमध्य–च., विकारं–क. ग. । 21. हंकार–ख. घ. च. ज., हूँकार–ञ. ।

[1]ततस्तेषु चतुर्षु चक्रेषु चतू[2](तुश्)चतूरूपान् यथाक्रमं विभाव्य विचित्र-विपाक-विमर्दविलक्षण—आनन्द-परमानन्द-विरमानन्द-सहजानन्द—दुःख-समुदय—निरोध-मार्ग[3]—आत्मतत्त्व-मन्त्रतत्त्व-देवतातत्त्व-ज्ञानतत्त्व—स्थावर-सर्वास्ति-संविति[4] - महासंघी—निष्पन्न—विपाक-पुरुषकार - वैमल्यानि—त्वरित-बाष्प - विवर्च - विश्वस्थात्[5]—आचार्य-भिक्षु - श्रावणैरक[6]-चैरक[7]—परपीठ - आत्मपीठ - योगपीठ - तत्त्वपीठ—एकार-वंकार-मकार-यकार—लोचना-मामकी-पाण्डरा-तारा—कर्ममुद्रा - धर्ममुद्रा - ज्ञानमुद्रा-महामुद्रा—शून्यता -निर्मिता[8]- प्रणिहिता-अनभिस्कारा[9]—गंगा-सागर - प्रयाग- कुरुक्षेत्र—गया-वाराणसी - जगन्नाथ - काशी—कृत-त्रेता-द्वापर-कलि—पूर्वाह्ण-मध्याह्न-ऽपराह्ण-अर्धरात्रान्, शरत्-शिशिर - ग्रीष्म - वर्षा ओडियान-जालन्धर-देवीकोट-पुल्लीरान्, वात-पित्त-श्लेष्म-सन्निपातान्, सेवा-उपसाधन-रो(सा)धन-महासाधन—पृथ्वी-आप-तेज-वायु—मैत्री-करुणा-मुदिता- उपेक्षा—मृदुयोग-अनु-योग-नियोग-महायोग—पूर्वविदेह- जम्बूद्वीप - अपरगोदावरि-उत्तरकुरु—चतुःसागरस्वभाव—[10]शुभ्रवर्ण-पीतवर्ण-रक्तवर्ण-हरितवर्ण—ॐकार-आकार - हूँकार - फट्कार—प्रज्ञा[11]-उपाय-कालि-आलि—धर्म-संभोग - निर्माण - महासुख—यंकार - रंकार - लंकार-वंकार—ब्राह्मण - क्षत्री-वैश्य-शूद्र—चन्द्र-सूर्य-तारा-राहु—पाताल-पृथ्वी-आकाश-स्वर्गांश्च क्रमेणाधिमुञ्चेत् ।

एवं बुद्धकायं चतुष्टयस्वभावं चतुश्चक्रं विभाव्य चक्रस्थबीजा[12]क्षरैर्मरीचिमुखेभ्यः सर्वतथागतान् [13]सर्वबोधिसत्त्वान् वीरयोगिनीमण्डलाकारेण संस्फार्य तान् विहितजगदर्थान् गृहीताखिलजिन[14]मतांस्तेष्वेव संहृत्य चक्रचतुष्टयं यावदित्थं(च्छं) भावयेत् । तदिदं [15]भावरत्नं चिरकालं भावयेत् । कायचतुष्टयं(य)लाभो इहैव जन्मनि संपद्येत[16] ।

इति ज्ञानोदये[17]चतुश्चक्रभावनायोगः

अथ नाडीत्रययोग उच्यते ।

कण्ठादारभ्य वामेना(न) प्रवृत्ताऽधोमुखी नाभिमण्डलगता मूत्रवहाऽऽलिव्याप्ता नाभेरारभ्य सव्येन प्रवृत्तोर्द्ध(र्ध्व)मुखी कण्ठपर्यन्तगता रक्तवहा कालिव्याप्ता ।

---

1. तत्र—ङ. । 2. 'चतू' नास्ति—क. ग. घ. । 3. मार्गान्—ग. घ. ङ. च. । 4. संवृति-ञ । 5. स्फात्—क. ग., स्थाने—च. । 6. मैरक—क. ग. घ. झ. । 7. नेरक—घ. च. । 8. निमित्ता—ङ. । 9. नाभिरका—ग., नाभिसंस्था—घ. । 10. श्वेत—च. । 11. उपायप्रज्ञा—ख. ग. च. । 12. वीता—क. ग. । 13. सबोधि—क. ग. ज. झ. ञ., संबोधि—च. छ. । 14. जिनज्ञानमतां—क. ख. ग. घ. ङ. च. ज. झ. । 15. सादरं निरन्तरं—ख.घ.छ. ज. ञ., सारदं—झ. । 16. द्यते—ञ. । 17. 'चतुश्' नास्ति—च. ।

तेन[1] प्रज्ञोपाय–शून्यताकरुणा–चन्द्रसूर्य–आलिकालि–प्रवेशनिष्काश–दिनरात्रि-व(अ)स्तमनोदय–उत्तरायणदक्षिणायां(यन)–संभोगनिर्माण–स्वप्नप्रबोध–परमार्थसंवृति-सूक्ष्म-स्थूल–वेकारवंकार–कंकारअंकार–भावाभाव–ज्ञेयज्ञानौ(न)–ग्राह्यग्राहकौ(क)–ल(र)स-नाललना–इंगलापिंगला–एवमूनविंशत्याकारमधिमुञ्चेत् ।

मध्यमा तु नाडिका द्वयद्वयैकरूपाऽधोमुखी बोधिचित्तवहा कदलीपुष्पसन्निभा लम्बमाना तैलवह्निरिवादी(वोद्दी)प्ता धर्मकाय[2]वाक्चित्तैकरूपा सहजानन्ददायिका । एता एव तिस्रो नाडिका(:) । कुह सन्धिर्भवेत्(?) एकीभावः । योनिनाड्यो भवन्ति । ताः पुनस्त्रि[3]भवपरिणता ग्राह्यग्राहकवर्जिता महासुखकायात्मिका[:] [4]शून्यताकरुणाभिन्नं(न्न)-बोधिचित्तस्वभावा इत्यधिमुञ्चेत् ।

तद्गतैकमानसो[5] मन्त्री यावदिच्छं तिष्ठेत्[6] । नियतं प्रज्ञोपायाद्वयसिद्धिः(द्धीः) संपश्येत[7] ।

इति ज्ञानोदये नाडीत्रयभावनायोगः

अथ सहजप्रज्ञायोग उच्यते—

> निर्माणचक्रमध्यस्था प्रज्ञावर्णाग्ररूपिणी ।
> कर्ममारुतनिर्धूता ज्वलन्ती सहजात्मिका ।। ६ ।।
> विद्यु[8]च्छता(त)प्रतीकाशा सुसूक्ष्मा बिसतन्तुवत् ।
> [9]विभाव्योत्थापयेन्मन्त्री सद्गुरू(रोरु)पदेशतः[10]।। ७ ।।

ततस्तान् धर्मसंभोगचक्रमा(गां)स्तथागतान् सबोधिसत्त्वगणान् दग्ध्वा निष्काश-मार्गेण निष्क्रम्य उपायं त्रि[:] प्रदक्षिणीकृत्य ऊर्णाकोशान्(कोश)गतान् भावयेत् । ततो मर्मोद्घाटकद्वारेण निःसृत्य दशदिग्गतानां बुद्धबोधिसत्त्वानां प्रवेशमार्गेण प्रविश्य जाल-न्धरगतांश्चक्रस्थान् ससुतान् सर्वसुगतान् दग्ध्वा गृहीतं तत्पीयूषरसं शिखारन्ध्रेण निर्गत्य स्वप्रवेशमार्गेण प्रविश्य दग्धांस्तथागतादि(तांस्त्रिः) प्रदक्षिणीकृत्य ओडियानेन निर्गत्य जालन्धरेण प्रविष्टांश्चिन्तयेत् । तत्र तत्र श्रवन्ती क्षीरधारा वहन्तः(न्ती) सीमान्तरगता[न्]

1. ते पुनः–क. ख. ग. घ. ङ. च. झ. । 2. वाग्भिर्नैक–क. ङ., बोधिचित्तैक–च. । 3. विभव–क.ङ., परिरता–क. ग. ङ. । 4. 'शून्यता' नास्ति–क. ख. ग. ङ. ज. । 5. मानसामग्रीं–क. ङ. । 6. तिष्ठतु–ग., इष्टतु–क. ङ. । 7. संपश्यते–ख. घ. ङ. ज. ञ. । 8. विशुद्धता–क. ङ. । 9. विविच्योत्था–क. ग.ङ. । 10. देशक–ज. झ. ञ. ।

दग्धा[न्] तथागतांस्तोषयन्ती[1] पुनरपि निर्माणचक्रे स्थितान् पश्येत् । एवमरहत(ट्ट)-घटिकावच्चित्तविश्रामपूर्वकं पुनः पुनर्भावयेत् । एवम[2]भ्यस्यते(तोऽ)चिरादेव महामुद्रा[3]-सिद्धिरभिमुखी भविष्यति ।

इति ज्ञानोदये सहजप्रज्ञायोगमि(ग इ)ति

[4]अथापरयोगः कथ्यते ।

निर्माणचक्रमध्यस्थां ज्वलन्तीमालीं(लिं) संक्षेपरूपां तिलकाख्यां प्रज्ञामुत्पत्य धर्मचक्रगतेन कालिसंक्षिप्तरूपेण श्रवदमृतधारेण वसन्ताख्येनोपायेन सहजसमापन्नामनु-रक्तामा स(सं)क्षोभ्य सानन्दा(न्दां) भावयेत् । तत्र स्फरणयोगेन व्याप्ताशेषाकाशभावं तामधिमुञ्चेत् ।

इति ज्ञानोदये वसन्ततिलकयोगः

[5]एषामन्यतमो योगः कर्तव्यः सिद्धिमिच्छता ।
तत्राक्षसूत्रेण नियमो जपो ध्यानं तथार्चनम् ॥ ८ ॥
न तिथिर्न च नक्षत्रं नोपवासो न चाहुतिः ।
न च धर्मसमादाय[:] प्रतिमावन्दना न च ॥ ९ ॥
न पूजा [न] परं ध्यानं न मण्डलं तथार्चनम् ।
स एव नियमः[6]पीठे वन्दना सैव योगिनः ॥ १० ॥
सिद्धौ[7] च वसुधादीनां लय[:] [8]स्याद(द्व)शवर्ति ते[9]।
ज्ञानमात्रं [10]सदा तिष्ठेद् [11]भासुरो गगनोपमः ॥ ११ ॥
निमित्तसिद्धि जानीयान्निमित्तानि[12] तु पञ्चधा ।
अतः संलक्ष्य(क्ष)येत्[13]तानि योगि(गी) धारणचेतसा ॥ १२ ॥
प्रथमं मरीचिकाकारं धूमाकारं द्वितीयकम् ।
तृतीयं खद्योताकारं चतुर्थं दीपवज्ज्वलेत् ॥
पञ्चमं तु सदालोकं निरभ्रं गगणसन्निभम् ॥ १३ ॥

इति पञ्चाकारमिति ।

---

1. यन्ति–ञ. । 2. मत्यास्यते–क. ख. ग. घ. ङ. छ. झ., मुत्पश्यते–च. । 3. समुद्रा–ख. घ. च. । 4. 'अथ' नास्ति–ख. छ. ञ., अथ पर–ग. ज. झ., अपरो–च. । 5. यथा मन्यते मायागः–क. ग. घ. ङ. । 6. मोऽपोत्थं–क. घ. ङ. । 7. सिन्धौ–क. घ. ङ. । 8. स्मा–ग. । 9. मे–ज. झ. । 10 तदा–च. छ. ज. झ. ञ. । 11. दास्तरो–क. घ. ङ., हास्त–ग. । 12. त्तहानि–क. ङ. ज. । 13. लक्षताज्ञानि–क. ग. ङ. ज. ।

एवमभ्यस्यतः[1] सम्यग् योगिनो योगसंभवात्[2] ।
महामुद्राह्वया[3] सिद्धिर्जायते नात्र संशयः ॥ 14 ॥
किं पुनः सिद्धयः क्षुद्रा[:] खड्गवेतालकादयः ।
अणिमादिगुणाश्चापि महाभिज्ञादयस्तथा ॥ 15 ॥

समाप्तोऽयं समुत्पन्नक्रमयोगः

शुक्ला याऽस्ति अथ कृष्णा दशम्यां कृतमण्डला(लः) ।
वीरवीरेश्वरीपूजां विदध्याद् विधिवत् सदा ॥ 16 ॥
कृष्णाष्टम्यां चतुर्दश्यां शुक्लपक्षे च साधकः ।
संपूज्य वीरयोगिन्या(न्यो) विधिना मदनैर्बलैः ॥ 17 ॥
एवं संपूजिताः स्तोत्रं(त्रैः) पुष्टिमि(मृ)च्छन्ति सर्वथा ।
तुष्टाः सिद्धिं[4] प्रयच्छन्ति तस्मात्पूजा(ज्याः)सदैव ताः॥ 18 ॥
वामोद्गतं[5] यत्र जगत् सर्वं स्थावरजङ्गमम् ।
अतः सर्वाणि कर्माणि कुर्याद् वामेन पाणिना ॥ 19 ॥
वामोच्चारो[6] भवेद् योगी वामसर्वार्थसाधनः ।
वामजापकरो नित्यं सर्वोपद्रवनाशनम् ॥ 20 ॥
इति सञ्चिन्त्य योगीन्द्रः सर्वशङ्काविवर्जितः ।
सिंहवद् विचरेत् [7]स्त्रीभिः सदा योगेन तत्परः ॥ 21 ॥
पञ्चस्वपि च वर्णेषु विचरेदेकवर्णवत् ।
निर्विकल्पात्मको भूत्वा भुञ्जयेत् कामपञ्चकम् ॥ 22 ॥
योगिनीभिश्च्युतो योगी नीयते परमं पदम् ।
पूजाभि[8]र्बाह्यगुह्याभिः संपूज्या(ज्य) च विधानतः ॥ 23 ॥
कृत्वाऽसौ संवरस्य त्रिभवभवस्वभोः[9] साधनं संवराग्रं
यन्मे पुण्यं प्रसूतिं(तं) विध(धु)करविमर(लं)[10] दोषविध्वंसदक्षम्[11] ।
तेनास्य सर्वसत्त्वास्त्रिभवभयहरश्रीसुखस्फीतगात्रा
वीराः श्रीहेरुकाद्या निजयुवतियुता आत्मगोत्रानुरूपाः ॥ 24 ॥

इति ज्ञानोदये प्रज्ञोपाययोगः

---

1. मत्यस्यते–क. । 2. संभवेत्–घ. । 3. द्रांकया–क.ग.ङ.झ. । 4. ऋद्धि–क.ख. । 5. गता–क.ख.ग.घ.ङ.ज. । 6. वामचारो–ज.झ.ञ. । 7. नित्यं–छ.ञ., त्रिभिः–झ. । 8. रार्यगुह्या–क, वार्यगुह्या–ग. । 9. भवे–क.ख.ग.ङ.च.छ.ज. । 10. विसरं–च. । 11. विद्युत्सुदक्षं–ख. घ. ङ. च. छ., सदक्षं–क. ग. ।

अथ षट्चक्रविशुद्धिमाह—

शिखास्थाने ललाटे च कण्ठे हृदयनाभितः ।
लिङ्गेषु त्रिदलं पद्मं चतुःषष्ट्यष्टषोडशम् ॥ 25 ॥
द्वात्रिंशं[1] चतुर्दलं चैव बोधिबीजेन[2] शोभितम् ।
व्यञ्जनं च स्वरं तेषां मातृकास्वरव्यञ्जनम् ॥ 26 ॥

[3]त्रये दले रं च ह्लींकारं वज्रयोगिनी वंकारं हूँकारं हेरुकं ध्यात्वा षट्चक्र परिकीर्तितम् । षट्चक्रः [4]षट्पटाकारमधिमुञ्चेत् । तद्यथा—

वज्रसत्त्वः, अक्षोभ्यः, अमोघसिद्धिः, वैरोचनः, रत्नसंभवः, अमिताभश्चेति षट्जिन[5]स्वभावम् । सर्वस्कन्ध-विज्ञानस्कन्ध-संसारस्कन्ध[6]-रूपस्कन्ध-वेदनास्कन्ध-संज्ञानस्कन्ध[7]इति षट्[8]स्कन्धाकार.(रम्) । [9]विज्ञानधातु-आकाशधातु-वायुधातु-पृथ्वीधातु-तेजोधातु-तोयधातु इति षट्धातुस्वभावम् । मनः-श्रोत्र-घ्राण-काय-चक्षुर्जिह्वा षडिन्द्रिय-स्वभावम् । शब्द-धर्मधातु-स्पर्श-गन्ध-रस-रूप इति षड्रसः । धर्मधात्वीश्वरी[10]-स्पर्श-वज्री-तारा[11]-लोचना-मामकी-पाण्डरा षट् तारा[12] चेति । हेर-नील-मल्प-मुक्ति-कर्केतन-पद्मराग षड्धातुः । इदं ब्रह्माण्डसदृशाकारं ब्रह्मभुवनं गुह्यचक्रं धर्मोदयाकारम् ।

धर्मोदयामहोद्याने नानाकुसुमविराजिते ।
शुक्लरक्तादिपुष्पेण फलप्रसवमण्डितम्[13] ॥
[14]महाधर्मव्याख्यानस्थाने[15] [16]प्रसवभूमिसम्पदम् ॥ 27 ॥

अथ नाडीत्रयभावना—

ललना प्रज्ञास्वभावेन रसनोपायसंस्थिता ।
अवधूती मध्यदेशे तु ग्राह्यग्राहकवर्जिता ॥ 28 ॥
कदलीपुष्पसंकाशं(शा) लम्बमाना त्वधोमुखं(खी) ।
तैलवह्निरिवोद्दीप्ता बोधिचित्तसमावहा ॥ 29 ॥
सावधूती स(सु)विज्ञाय(ता) सहजानन्ददायिका ।
प्रधाना[17] सर्वनाडीनां ललनाद्यास्तु नाडिकाः ॥ 30 ॥

---

1. शच्चतुर्दले—क.ख.ङ.छ.ज. । 2. वीर्येण—ङ. । 3. त्रयदलरंचनयो—क., त्रयं दं लं रं च ह्लींकारयो—ङ. ज , त्रयदलं च ह्लींकारं वज्रयो—घ. च. । 4. चक्रमध्यपकार—क., चक्रं—ङ., षड्घटाकार—ग. घ. ज. । 5. जित—क. । 6. 'स्कन्ध' नास्ति—च. । 7. संज्ञास्कं—च.छ. । 8. षट्चक्रस्कन्धा—च. । 9. ज्ञान—ज.झ. । 10. धात्वे—ज.ञ. । 11. वती—क. । 12. तारादेवी—च. 13. ते—क.ख.ग.घ.ङ.च. । 14. सद्धर्म—च. । 15. स्थानेन—क. ख.ग.घ.ङ.च.छ. । 16. प्रशस्त—ज.ग. । 17. प्राधान्य—झ ।

अत एवा[1]श्रयामन्या गङ्गासिन्धुपरापगाः[2] ।
ता एव [3]योनिनाड्या(ड्यः) स्युरेकी[4]भूताः खगानना ॥ 31 ॥

संभोगकायरूपात्मा जानीयाद् देहमाश्रिताः ।
तिस्रस्त्रिया[5](स्त्विमाः) प्रधाना या ललनाद्यास्तु नाडिकाः ॥ 32 ॥

ललना संभोगिककायो ल(र)सना निर्माणिकी तनुः[6] ।
अवधूती धर्मकाय[:] स्यादिति कायत्रयो मतः ॥ 33 ॥

एता नाडिकाः सर्वाः शरीरशुभकारिणो ।
तस्याः समूहसंजाता(तं) पिण्डेन देवतात्मकाः ॥ 34 ॥

पिण्डातीतं भवेत् पिण्डं पिण्डातीतं च देवता ।
तस्मादचित्तयोगेन तथतामयसर्वगा ॥ 35 ॥

प्रवेशाद्[7] वै भवेत्सृष्टि[:] स्थिति[:] निश्चलरूपतः ।
विनाशो निर्गतो वायुर्यावज्जीवं प्रवर्तते ॥ 36 ॥

प्रत्यक्षं[8] भावयेत् स्वाङ्गे तिष्ठति[9] चक्र उष्णीषे ।
कर्मनित्यक्रमे चैव ललाटे विधि भावयेत् ॥ 37 ॥

खाद्यभोज्यं तथा पिबेत् [10]कण्ठचक्रं विभावयेत् ।
सम्पूर्णं खादयेत् पश्चाद् हृच्चक्रे सुखं तिष्ठति ॥ 38 ॥

मध्याह्ने भावयेद्योगं [11]नाभ्यक्ता क्रम भावयेत् ।
सन्ध्यान्ते गुह्यचक्रे तु प्रज्ञोपायसुखं भवेत् ॥ 39 ॥

येन येनैव भावेन फुल्लितः सर्वहेतुना ।
तेन तेनैव[12] योगेन साधकी[13] सिद्धि[14]मुक्तिदम् ॥ 40 ॥

वर्षं च बह्वतिक्रान्तं [15]मूर्धंमूर्द्धंगतं भवेत् ।
निर्वाणा[16]कारं जानीयाद्विनिर्गंत्पुष्टिशो[17]षयोः ॥ 41 ॥

---

1. वशया–क. ग. ज. झ. ञ. । 2. परोगया–ख. ङ. च., परायणा–घ. । 3. योगिनीनाड्या–क. ङ. ज. ञ., योगिन्याद्याः–घ. । 4. स्युरकीर्तिताः–क. ग. ज. । 5. स्त्रिमस्त्रिमा–क. ग. ङ. । 6. ततः–ख. घ. ङ. च. । 7. शार्द्धं–क. ग. ज. । 8. प्रत्येकं–क. ग., प्रत्यक्ष–ख. घ. च झ । 9. भोष्टानि–क. ज । 10. घण्ट–ङ. च, चक्रे–ञ. । 11. नानेका–क. ग., नोत्यक्ता–ङ. च., नाङ्का–ज, नात्यक्षा–ञ. । 12. तेन च–क ख. । 13. कीः–क. ख. ग. घ. ङ. च. । 14 मुक्तिसिद्धि–घ. ङ. च. । 15. मुद्रमूर्धं–क ज. । 16. णकालं–च. । 17. त्यष्टिषो ययोः–क. ख. ञ, ययौ–घ. ज., पुष्टिपोषयोः–च. ।

कुतो ध्यायान्मृत्युकाले धर्मचक्रे स्वयंभुवः[1] ।
स(त)एव भावमात्रेण गच्छन्ति च सुखावतीम् ॥ 42 ॥

हृदया[2]ब्जगतं वायुः(युं) शीतहूँकारसन्निभम् ।
ध्यायात् समाहितो योऽसौ भवेन्निर्वाणकारकः ॥ 43 ॥

संसार ऊर्ध्वगो वायुर्निर्वाणं स्यादधोगतम्(तः) ।
अप्रतिष्ठितनिर्वाण(णं) हृदयाम्भोरुहस्थिता(तः) ॥ 44 ॥

[3]चक्रैः षड् ज्ञायते धीमान्[4] गुह्यचक्रं विनिर्गतम् ।
स एवंभूतजातीयान्[5] मलमूत्रेषु [6]ज्वालयेत् ॥ 45 ॥

सैव निर्माणकं ज्ञेयं शरीरे नालके जले ।
धर्मचक्रं शुभकुले नोयते सुखात्मकः(कम्) ॥ 46 ॥

नारके अवीचिकण्ठे ललाटे देवशासने ।
उष्णीषं साधकं ध्यात्वा[7] गच्छन्ति अधिमुक्तिके[8] ॥ 47 ॥

इदं पश्यथ भूतानां धर्मकर्म कुरु क्षणम् ।
संयोगं[9] पवनं भेदं[10] सदृशी(शो) नास्ति कस्यचित् ॥ 48 ॥

द्रव्येषु काष्ठेषु च मृत्तिकासु शिलासु चित्तेषु न सन्ति देवाः ।
सर्वेषु देवा मनसो विकारास्तस्मान्मनसाऽऽचरत्ये[11]तदेवम् ॥ 49 ॥

आत्मना सर्वबुद्धत्वं सर्वस्वं चित्तमेव च ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन आत्मानं पूजयेत् सदा ॥ 50 ॥

न[12] वन्दयेद्धीमान् देवान् काष्ठपाषाणमृण्मयान् ।
चित्तादेव भवन्तीति कल्पते भावहेतुना ॥ 51 ॥

इति ज्ञानोदये षट्चक्रविशुद्धियोगः

---

1. स्वयं भवेत्–क. ग. ज., भुवे–च. । 2 हृदयाक्षि–क. ख. ग. घ. ञ., हृदयाक्रमणं–च. । 3. चक्रे–क. ग. । 4. ऽधिमानं–क ख. ग. । 5 जानीयात्–छ. ज. ञ., यान् नित्यमूल–च. । 6. मेलयेत्–क., जोलयेत्–ग. ङ. ज. ञ. । 7. ज्ञात्वा–क. ख. ग. घ. ङ. च. झ. । 8. मुक्तिवै–क. ख. ग. घ. ङ. च. झ. । 9. योगे–च. । 10. भेदे–च. । 11. चरमेत–क. ख. ग. घ. छ. ज. ञ. । 12. वन्देद्धी–ग. घ. ङ च. छ. ज. झ. ञ. । 'न चापि वन्दयेद् देवान्' इत्यद्वयसिद्धि(15 श्लो०)–सुभाषितसंग्रह(पृ० 54)-स्थितः पाठः ।

अथ बाह्याध्यात्म[1]पञ्चज्ञान[2]विशुद्धिमाह—

ततश्चतुर्दलकमलोपरि मध्ये श्रीवज्रवाराहीरूपं [3]चूर्णीकृतरक्तवर्ष(र्ण)[4]मद्यं पद्मभाजनं पश्येत् ।

(1) पूर्वदले डाकिनीरूपं जलचरं आदिरक्तं मद्यं [5]शुक्तिपात्रम् ।

(2) दक्षिणदले रूपिणीरूपं वनचरं शुभ्रमद्यं नारिकेलपात्रम् ।

(3) पश्चिमदले खण्डरोहारूपमाकाशचरं मार्जाल[6]कमद्यं कूर्मपात्रम् ।

(4) उत्तरदले लामारूपं पृथ्वीचरमग्निमद्यं कांस[7]पात्रम् ।

एते(वं)रूपान् विभाव्य ततः कुण्डेन पातालं वरुणभुवं पात्रेण स्वर्गं त्रिभुवनं त्रिकायं त्रिरत्नं त्र्यक्षरं त्रियानं त्रिशरणं त्रिसन्ध्याः—इति त्रयरूपाख्यं विभाव्य कुण्डं पञ्च[8]सारं पञ्चाकारेण रूपमधिमुञ्चेत् । तद्यथा—प्रथमं गोकुदहनं पञ्चाङ्कुशमिति । चक्षुर्घ्राणश्रोत्रजिह्वामनःपञ्चेन्द्रियधातुम् । मध्यद्वीप-पूर्वविदेह-जम्बूद्वीप-अपरगोदावरी-उत्तरकुरु इति पञ्चद्वीपस्वभावम् । चक्रडाक-वज्रडाक-रत्नडाक-पद्मडाक-विश्वडाक इति पञ्चडाकजिनस्वभावो भवेत् । प्राणवायु-अपानवायु-समानवायु-उदानवायु-व्यानवायु इति पञ्चवायु-[9]रूपेति । [10]पाचिनी-मारणी-आकर्षणी-पद्मनृत्येश्वरी-पद्मज्वालिनी[11] पञ्च-चक्र[12]रूपेति, पीठ-क्षेत्र-छन्दोह-मेलापक-श्मशान इति पञ्चपीठरूपम्[13] । रूप्यधातु-शीशकधातु-सुवर्णधातु-ताम्रधातु-लोहधातु इति पञ्चधातुस्वभावम् । डोम्बि(म्बी)-शूद्री-क्षत्री-वैश्या-ब्राह्मी पञ्चजातीति, नर[14]वज्रधाते(त्वी)श्वरी-हस्तिलोचनी-गोमामकी-अश्व-पाण्डुरा[15]-श्वानतारा पञ्चदेवीसंभवेति[16] । आकाश-आप-पृथ्वी-तेज-वायु पञ्चमण्डल-स्वभावेति । रूप-शब्द-गन्ध-रस-स्पर्श-स्वभावम् । आदर्शण-समता-प्रत्यवेक्षणा-कृत्यानु-ष्ठान-शु(सु)विशुद्धधर्मधातुज्ञानं पञ्चज्ञानमिति । [17]श्रद्धा-वीर्य-स्मृति-समाधि-प्रज्ञा इति पञ्चेन्द्रियरूपं ततोऽभ्यन्तरे भावयेत्[18] ।

---

1. ध्यात्मिकं—क. ख. ग. घ. ङ. च. ज. । 2. पञ्चसार—ङ. ज. ञ., सालि—च. । 3. वर्ण—च. । 4. मयं—क. । 5. मुक्ति—क. ग. ज. ञ. । 6. रकमलं—च. । 7. कंत्रपा—क., कामपा—च., कंसपा—ज. । 8. सारेण—ज. ञ । 9. 'इति' नास्ति—ञ., रुत्पत्तिः—क., रूपम्—घ. । 10. पातनी—ङ., वाचनी—च. । 11. ज्वालो—क. ख. ग. घ. च. ज. झ. । 12. उत्पत्तिः—क. च. । 13. रूपां—क. च. । 14. नरः—ख. घ. । 15. पाण्डरी—ङ. छ ज. । 16. संभोति—ग. घ., संभाति—ङ. ज. ञ, समावेति—च. छ. । 17. शुद्धां—क. ख. ङ. झ. । 18. भावयन्—क. ।

दधिना बोधिचित्तरूपम्, [1]अम्रे(म्ले)न रक्तरूपम्, लवणेन पेयलरूपम्, तैलेन स्वेदरूपम्, चूर्णकृतमांसेन ब्राह्मण्यासारमांसरूपं विभाव्य पुनर्बोधिचित्त[2]रूपेण कोषपानं रक्तेन जलचर[3]रूपम्, पेयलेन वनचररूपम्[4], स्वेदेन आकाशचररूपम्[5], ब्राह्मण्यासारमांसेन पृथ्वीचररूपम्[6], एवंरूपान्[7] विभाव्य ततः स्वशरीरेण कुम्भं बोधिचित्ताद्या(द्य)चरुमयम्, मस्तकेन पात्रम्, अर्बुदेन पात्रस्थामृतस्वभावम्, हस्तद्वयेन [8]कुण्डेष्वनन्तवासुकीरूपम्, कुचद्वयेन [9]चन्द्रार्धसूर्याकारम्—एवं[10]रूपांश्च स्वशरीरे सर्वान् [11]भावयित्वा पूजां च कारयेत्[12] ।

अन्य[द्] विवर्जयन्नित्यं स्वशरीरेषु भावयेत् ।
सर्वं च स्वशरीरेऽस्ति[13] तेन शरीरमुत्तमम् ॥ 52 ॥

पुनर्बाह्यपूजाचूर्णकृतमेकेन अर्चयेत् । ततश्चूर्णकृतमेकेन [14]पञ्चाकारोऽस्ति, कथम् ? दधिना मध्ये कोषपानम्, अम्लेन[15] म्लेच्छरूपम्, लवणेन वनचररूपम्, तैलेन आकाशचररूपम्, चूर्णकृतमांसेन पृथ्वीचररूपम्, तदूर्ध्वस्थ[16]मांसेन गोकुदहनं पञ्चाङ्कुशरूपम् । एवमेतेन[17] बाह्यपूजां च कारयेत् ।

ततः स्वादस्य वर्णनमाह—चूर्णकृतरसून[18]सदृशम् । जलचर-मधु । वनचर-लवणम् । आकाशचर-तिक्तम् । पृथ्वीचर-आर्द्रस्वादम् । पञ्चरस-पञ्चस्वादरूपं बाह्यकषायाम्र(म्लं) [19]इत्येतेन षड्रसमधिमुञ्चेत् ॥

॥ [20]इति ज्ञानोदयतन्त्रं समाप्तम् ॥

---

1. आमिषेण–च छ । 2. चित्तेन–क. ख. ग. घ. ञ. । 3. जलचरं–क. ख. ग. घ. ङ. ज. ञ. । 4. 5. 6. 'रूपम्' नास्ति–क. ख. ग. घ. ङ छ. झ. ञ. । 7. रूपं–च. छ. । 8. कुण्डस्थे–क. ग. ज., कुण्डस्य–घ. च., कण्ठस्थे–ङ. ञ । 9. अर्धचन्द्र–च. । 10. द्वया–क., रूपा–ख. ग. घ. च. झ. । 11. भावित्वा–क ख.ग घ.ङ ज.झ.ञ. । 12 अत्र च. मातृका समाप्ता । 13. स्थितेन–ङ. । 14. पञ्चाकारोऽपि–क.ग.च. । 15 अमृतेन–क.ख.घ च. । 16. तदूर्ध्वमां–ङ., तदर्थस्तमां–क. ग., तदर्धमष्टमां–घ. । 17. मेतेनाचार्यपूजां–क ख. ग. घ. ङ. च. छ. । 18. कृसर–क.ग., कृतरसेन–घ ङ । 19. इत्यनेन–ज. ञ. । 20 इति ज्ञानोदयपञ्जिकायां बाह्यात्मिक कुम्भसाधनं समाप्तम्–ख. ङ. छ. झ. ञ. ।

ज्ञानोदयतन्त्रस्य श्लोकार्धानुक्रमणी

विशिष्टशब्दानुक्रमणी

ऋत्विग्भ्य इति ब्रह्मादिभ्यः । तत्र प्रणीतामार्जनं कृत्वा ब्रह्मणे दक्षिणां दत्त्वा ब्रह्माणमुद्वास्य हुतचरुशेषम् प्राशयेदिति ज्ञेयम् । तदुक्तं संहितायाम्—

प्रणीतामार्जनं कृत्वा दद्याच्च ब्रह्मदक्षिणाम् ।
स्वस्ववित्तानुसारेण लोभमोहविवर्जितः ॥
ततो ब्रह्माणमुद्वास्य ब्राह्मणान् भोजयेदथ ।
आशीर्वचोभिर्विदुषामेधमानः सुखी भवेत् ॥

हुतशेषं ततः प्राश्य कुक्कुटाण्डप्रमाणकम् । मन्त्रितं मन्त्रगायत्र्या । इति ।

अन्यच्च 'त्र्यायुषं यमदग्ने' इति मन्त्रेण भस्म धारयेत् ।

पूर्णपात्रं पूर्यतोयैः सप्तकृत्वोऽभिमन्त्रितैः ।
आत्मानमभिषिञ्चेत्तैः सदूर्वैस्तुलसीदलैः ॥ इति ॥ ११४-११५॥

उसी दिन से वह अनन्य बुद्धि हो गुरु का समस्त प्रिय कार्य करे तथा प्रसन्न मन से समस्त ऋत्विजों को दक्षिणा देवे ॥ ११४ ॥

पुनः भक्ष्य एवं भोज्य पदार्थों का ब्राह्मणों को भोजन करावे और उन्हें दक्षिणा द्वारा संतुष्ट करे । यहाँ तक हमने क्रियावती दीक्षा का वर्णन किया । इस दीक्षा से संपूर्ण समृद्धि प्राप्त होती है ॥ ११५ ॥

वर्णात्मिकादीक्षा

अथ वर्णात्मिकां वक्ष्ये दीक्षामागमवेदिताम् ।
पुंप्रकृत्यात्मका वर्णाः शरीरमपि तादृशम् ॥ ११६ ॥
यतस्तस्मात्तनौ न्यस्येद् वर्णान् शिष्यस्य देशिकः ।
तत्तत्स्थानयुतान् वर्णान् प्रतिलोमेन संहरेत् ॥ ११७ ॥
स्वाज्ञया देवताभावाद् विधिना देशिकोत्तमः ।
तदा विलीनतत्त्वोऽयं शिष्यो दिव्यतनुर्भवेत् ॥ ११८ ॥
परमात्मनि संयोज्य तच्चैतन्यं गुरूत्तमः ।
तस्मादुत्पाद्य तान् वर्णान् न्यस्येच्छिष्यतनौ पुनः ॥ ११९ ॥
सृष्टिक्रमेण विधिवच्चैतन्यञ्च नियोजयेत् ।
जायते देवताभावः परानन्दमयः शिशोः ॥ १२० ॥

क्रमप्राप्तां वर्णात्मिकां दीक्षामाह अथेति । तत्तदिति । देशिकोत्तमः तच्चैतन्यं शिष्यच्चैतन्यं परमात्मनि संयोज्य देवताभावात् स्वस्य देवतात्वात् अतएव आज्ञासिद्धत्वात् । स्वस्याज्ञया विधिना प्रतिलोमेन वर्णस्थानोभयप्रातिलोम्येन तत्तत्स्थानयुतान् वर्णान् संहरेत् । अग्रिमं स्थानं वर्णं पूर्वस्मिन् स्थाने वर्णे च संहरेदित्यर्थः । गुरूत्तम इत्युत्तरेण सम्बध्यते । तस्मात् परमात्मनः । विधिवदिति पूर्वस्मात् स्थानाद् वर्णादग्रिमं स्थानं वर्णञ्च । चैतन्यञ्चेति चकारेण शिष्यतनावित्यनुषज्यते । तदुक्तमाचार्यैः—

अग्नीन्दुयोगविकृता लिपयो हि सृष्टा-
स्ताभिर्विलोमपठिताभिरिदं शरीरम् ।
भूतात्मकं त्वगसृगादियुतं समस्तं
संव्यापयेन्निशितधीर्विधिना यथावत् ॥

अन्त्यावूष्मस्वमून् वादिषु लिपिषु तांस्तांश्चतुर्वर्गवर्णे-
ष्वेतान्नस्यम्पदस्तद्दुति तदपि परेषु स्वरेषु क्रमेण ।
संहृत्य स्थानयुक्तं क्षपितसकलदेहो ललाटस्थितान्तः
प्राप्तिव्याप्तद्विसप्ताधिकभुवनतलो यातु मद्भावमेव ॥

मूलाधारात् स्फुरिततडिदाभाप्रभा सूक्ष्मरूपो-
द्गच्छन्त्यामस्तकमणुतरा तेजसां मूलभूता ।
सौषुम्नाध्वा चरणनिपुणा सा सवित्रानुविद्धा
ध्याता सद्योऽमृतमथ रवेः स्रावयेत् सार्द्धसोमात् ॥

शिरसि निपतिता या बिन्दुधारा सुधाया
भवति लिपिमयी सा ताभिरङ्गं मुखाद्यम् ।
विरचयतु समस्तं पातितान्तश्च तेज-
स्यनल इव घृतस्योद्दीपयेदात्मतेजः ॥

संहृत्य चोत्पाद्य शरीरमेवं
तेजोमयं व्याप्तसमस्तलोकम् ।
सङ्कल्प्य शक्त्यात्मकमात्मरूपं
तच्चिन्हमात्मन्यपि सन्दधीत ॥ इति ॥ ११६-१२० ॥

अब आगम शास्त्र में प्रतिपादित वर्णात्मिका दीक्षा का वर्णन करता हूँ—सभी वर्ण पुरुष रूप हैं तथा शरीर भी पुरुष रूप है । इसलिये आचार्य पुरुष रूप वर्णों को शिष्य के पुरुष शरीर में न्यास करें । पुनः शिष्यगत चैतन्य को परमात्मा में संयुक्त कर, स्वयं देवस्वरूप हो अपनी आज्ञा से प्रतिलोम क्रम से आगे आगे के स्थान युक्त वर्णों को पूर्व पूर्व स्थान युक्त वर्णों में उपसंहृत करें । इस प्रकार शिष्य के शरीर में वर्णों के विलीन कर देने से उसका शरीर देवमय हो जाता है ॥ ११६-११९ ॥

पुनः उत्तम गुरु उन्हीं वर्णों को शिष्य के शरीर से उद्भूत कर शरीर में सृष्टिक्रम के अनुसार न्यास करें और शिष्यगत् चैतन्य को परमात्मा में संयुक्त करें । ऐसा करने से शिष्य में देवताभाव आता है और वह शुद्ध आनन्द स्वरूप हो जाता है । इस प्रकार हमने वर्ण दीक्षा का विधान कहा जो समस्त ज्ञानों की जननी है ॥ ११९-१२१ ॥

कलावतीदीक्षा

एषा वर्णमयी दीक्षा प्रोक्ता सम्वित्प्रदायिनी ।
ततः कलावती दीक्षा यथावदभिधीयते ॥ १२१ ॥

निवृत्त्याद्याः कलाः पञ्च भूतानां शक्तयो यतः ।
तस्माद् भूतमये देहे ध्यात्वा ता वेधयेच्छिशोः ॥ १२२ ॥
निवृत्तिर्जानुपर्यन्तं तलादारभ्य संस्थिता ।
जानुनोर्नाभिपर्यन्तं प्रतिष्ठा व्याप्य तिष्ठति ॥ १२३ ॥
नाभेः कण्ठावधि व्याप्ता विद्या शान्तिस्ततः परम् ।
कण्ठाल्ललाटपर्यन्तं व्याप्ता तस्माच्छिखावधि ॥ १२४ ॥
शान्त्यतीता कला ज्ञेया कलाव्याप्तिरितीरिता ।
संहारक्रमयोगेन स्थानात् स्थानान्तरे गुरुः ॥ १२५ ॥
संयोज्य वेधयेद् विद्वानाज्ञया ताः शिवा(रो)ऽवधि ।
इयं प्रोक्ता कला दीक्षा दिव्यभावप्रदायिनी ॥ १२६ ॥

कलावतीदीक्षाक्रममाह तत इति । ध्यात्वेत्यत्र यद् ध्यानमुद्दिष्टं तन्निवृत्तिरित्यादि ईरितेत्यन्तेनोक्तम् । तलात् पादतलात् । जानुनोर्नाभेः कण्ठात् तस्माल्ललाटादारभ्येति सम्बन्धः । स्थानात् स्थानान्तरे ताः संयोज्य संहारक्रमयोगेन शिशोर्देहे वेधयेदिति सम्बन्धः । संहारः पूर्ववदेव स्वस्वकारणे । शिवावधि शिवपर्यन्तम् । शिवात् सृष्टिमार्गेणोत्पत्तिरनुक्तापि पूर्ववदेवाऽनुसन्धेया ॥ १२१-१२६ ॥

अब **कलावती दीक्षा का विधान** कहता हूँ—

यतः निवृत्ति आदि पाँच कलायें समस्त भूतों की शक्तियाँ हैं अतः आचार्य उन कलाओं का ध्यान कर शिष्य के पञ्चभूतमय शरीर का भेदन कर उन्हें शरीर में प्रवष्टि करावें ॥ १२१-१२२ ॥

शरीर में पैर के तलवे के आरम्भ से जानुपर्यन्त भाग में निवृत्तिकला स्थित है और जानु से नाभि पर्यन्त भाग में प्रतिष्ठाकला व्याप्त होकर स्थित है ॥१२३॥

नाभि से आरम्भ कर कण्ठावधि पर्यन्त भाग में विद्या कला, उसके बाद कण्ठ से ललाट पर्यन्त भाग में शान्तिकला, तथा ललाट से शिखा पर्यन्त भाग में शान्त्यतीता कला व्याप्त है—ऐसा समझना चाहिए । गुरु इन पाँच कलाओं का वेधन संहार क्रम के अनुसार करे । आज्ञाचक्र से शिवचक्र पर्यन्त एक चक्र को दूसरे चक्र में संयुक्त करें । इसे कला दीक्षा कहते हैं । इस दीक्षा से दिव्यभाव की प्राप्ति होती है ॥ १२४-१२६ ॥

वेधमयीदीक्षा

ततो वेधमयीं वक्ष्ये दीक्षां संसारमोचनीम् ।
ध्यायेच्छिष्यतनोर्मध्ये मूलाधारे चतुर्दले ॥ १२७ ॥
त्रिकोणमध्ये विमले तेजस्त्रयविजृम्भिते ।
वलयत्रयसंयुक्तां तडित्कोटिसमप्रभाम् ॥ १२८ ॥

षट्चक्रभेदवर्णनम्

शिवशक्तिमयीं देवीं चेतनामात्रविग्रहाम् ।
सूक्ष्मां सूक्ष्मतरां शक्तिं भित्वा षट्चक्रमञ्जसा ॥ १२९ ॥
गच्छन्तीं मध्यमार्गेण दिव्यां परशिवावधि।
वादिसान्तदलस्थार्णान् संहरेत् कमलासने ॥ १३० ॥
तं षट्पत्रमये पद्मे बादिलान्ताक्षरान्विते ।
स्वाधिष्ठाने समायोज्य वेधयेदाज्ञया गुरुः॥ १३१ ॥
तान् वर्णान् संहरेद् विष्णौ तं पुनर्नाभिपङ्कजे।
दशपत्रे डादिफान्त-वर्णाढ्ये योजयेद् गुरुः॥ १३२ ॥
तान् वर्णान् संहरेद् रुद्रे तं पुनर्हृदयाम्बुजे।
कादिठान्तार्कवर्णाढ्ये योजयित्वेश्वरे गुरुः॥ १३३ ॥
तान् वर्णान् सहरेदस्मिंस्तं भूयः कण्ठपङ्कजे।
स्वराढ्यषोडशदले योजयित्वा स्वरान् पुनः॥ १३४ ॥
सदाशिवे तान् संहृत्य तं पुनर्भ्रूसरोरुहे।
द्विपत्रे हक्षलसिते योजयित्वा ततो गुरुः॥ १३५ ॥
तदर्णौ संहरेद् बिन्दौ कलायां तं नियोजयेत्।
तां नादेऽनन्तर नादं नादान्ते योजयेद् गुरुः॥ १३६ ॥
तमुन्मन्यां समायोज्य विष्णुवक्त्रान्तरे च ताम्।
तां पुनर्गुरुवक्त्रे तु योजयेद् देशिकोत्तमः॥ १३७ ॥

अनया शिष्यस्य दिव्यबोधावाप्तिः

सहैवमात्मना शक्तिं वेधयेत् परमेश्वरे ।
गुर्वाज्ञया छिन्नपाशस्तदा शिष्यः पतेद्भुवि ॥ १३८ ॥
सञ्जातदिव्यबोधोऽसौ सर्वं विन्दति तत्क्षणात्।
साक्षात् शिवो भवत्येष नात्र कार्या विचारणा ॥ १३९ ॥
एषा वेधमयी दीक्षा सर्वसम्वित्प्रदायिनी ।
क्रमाच्चतुर्विधा दीक्षा तन्त्रेऽस्मिन् सम्यगीरिता ॥ १४० ॥

वेधमयीं दीक्षामाह तत इति । तनोर्मध्ये मूलाधारे त्रिकोणमध्ये व्यधिकरण्यः सप्तम्यः । शिष्यतनोर्मध्ये चतुर्दले मूलाधारे त्रिकोणमध्ये एवम्भूतां शक्तिं ध्यायेदिति सम्बन्धः । कीदृशीं शक्तिं वलयत्रयसंयुक्ताम् । अत्र यद्यपि शक्तेरपरिमितानि वलयानि तथापि वेदत्रयादेः प्रधानतमसृष्टेर्वलयत्रयादुत्पत्तेस्तदुक्तिः । पुनः कीदृशीम् । षट्चक्रं भित्त्वा मध्यमार्गेण सुषुम्नामार्गेण परशिवावधि गच्छन्तीम् । षट्चक्राणि तु मूलाधार-स्वाधिष्ठान-मणिपूरकानाहत-विशुद्धाज्ञाख्यानि । कमलासने ब्रह्मणि आधाराधिष्ठातृ-

देवतायाम् । एवं विष्णवादयः स्वाधिष्ठानाद्यधिष्ठातृदेवाः ज्ञेयाः । तं ब्रह्माणम् तान् वर्णान् बादिलान्तान् । तं विष्णुं नाभिपङ्कजे मणिपूरके योजयेत् । ततो वेधयेदित्य-नुषङ्गः । तान् वर्णान् डादिफान्तान् । तं रुद्रम् । अर्कपत्राढ्ये द्वादशपत्राढ्ये । हृदयाम्बुजे अनाहते योजयित्वा वेधयेदित्यनुषङ्गः । गुरुस्तान् वर्णान् कादिठान्तान् ईश्वरे संहरेदित्यन्वयः । भूयोऽनन्तरमीश्वरमस्मिन् कण्ठपङ्कजे विशुद्धौ योजयित्वा वेधयेदित्यनुषङ्गः । तान् स्वरान् सदाशिवे संहृत्येत्यन्वयः । तं सदाशिवं भ्रूसरोरुहे आज्ञायां योजयित्वा वेधयेदित्यनुषङ्गः । अग्रे नियोजयेदित्यादेर्वेधयेदित्यर्थः । तदर्णौ हक्षौ । बिन्दौ शिवे । बिन्दुः शिवात्मकः इत्युक्तेः । तं शिवम् । कलादीनि भ्रूमध्यादुपर्युपरि एतानि षट्चक्राणि । अत एव सहस्रारस्य द्वादशान्तता । एवं पूर्वोक्तक्रमेण आत्मना शिष्यजीवात्मना शक्तिं कुण्डलिनीं परमेश्वरे शिवे वेधयेदिति सम्बन्धः । शक्तिं विना वेधस्य कर्त्तुमशक्यत्वात् । अत एवादौ मूलाधारे शक्तिं ध्यायेदित्युक्तिः । ततश्च स्वाधिष्ठानादावपि शक्त्या एव वेध इति ज्ञेयम् । छिन्नपाशः पाशत्रयविमुक्त इत्यर्थः । यत् प्रयोगसारे—

पाशस्तु सत्सु चासत्सु कर्मस्वास्था समीरिता ।
त्रिविधः स तु विज्ञेयः पाशो बन्धैकसाधनः ॥
प्रथमः सहजः पाशस्तथा चागन्तुकः परः ।
प्रासंगि (संसर्गि) कस्ततीयः स्यादिति पाशत्रयं स्मृतम् ॥ इति ।

यथा ग्रन्थकृत्परमगुरुसोमानन्दाचार्यकृतवेधेन ग्रन्थकृद्गुरव उत्पलाचार्या शिवात्मानो जाताः । ग्रन्थकृद्गुरुपङ्क्तिस्तु तृतीयश्लोकव्याख्याने दर्शिता । तथा चण्डेश्वराचार्यकृतवेधेन शिवस्वामी शिवात्मा जातः । तथा श्रीकण्ठाचार्या ऊचुः—

कालज्ञानं तथा कालवञ्चनान्यतनौ तथा ।
प्रवेशो वेध इत्यादि प्रसन्ने लभ्यते शिवे ॥ इति ।

उपसंहरति क्रमादिति । षडन्वयमहारत्ने इयमाणवी दीक्षा दशविधा इत्युक्तम् ।

तद्यथा— आणवी बहुधा दीक्षा शाक्तेयी शाम्भवी पुनः ।
एकधैवेति विद्वद्भिः पठ्यते शास्त्रकोविदैः ॥
आणवी बहुधेत्युक्ता तद्भेदमधुनोच्यते ।
स्मार्त्ती मानसिकी यौगी चाक्षुषी स्पार्शनी तथा ॥
वाचिकी मान्त्रिकी हौत्री शास्त्री चेत्याभिषेचिकी ।
विदेशस्थं गुरुः स्मृत्वा शिष्यं पाशत्रयं क्रमात् ॥
विश्लिष्य लयभोगाङ्गविधानेन परे शिवे ।
सम्यग् योजनरूपैषा स्मार्त्ती दीक्षेति कथ्यते ॥
स्वसन्निधौ समासीनमालोक्य मनसा शुचिम् ।
मलत्रयादुपायैर्या मोचिका सा तु मानसी ॥
योगोक्तक्रमतो योगी शिष्यदेहं प्रविश्य तु ।
गृहीत्वा तस्य चात्मानं स्वात्मना योजनात्मिका ॥
योगदीक्षेति सा प्रोक्ता मलत्रयविनाशिनी ।
शिवोऽहमिति निश्चित्य वीक्षणं करुणार्द्रया ॥

दृशा सा चाक्षुषी दीक्षा सर्वपापप्रणाशिनी ।
स्वयं परशिवो भूत्वा निःसन्दिग्धमना गुरुः ॥
शिवहस्तेन शिष्यस्य समन्त्रं मूर्द्धिन संस्पृशेत् ।
स्पर्शदीक्षेति सा प्रोक्ता शिवाभिव्यक्तिकारिणी ॥

(शिवहस्तलक्षणं सोमशम्भौ—

गन्धैर्मण्डलकं स्वीये विदध्याद् दक्षिणे करे ।
विधिनात्राऽर्चयेद् देवमित्थं स्याच्छिवहस्तकम् ॥ इति ।)
गुरुवक्त्रं निजवक्त्रं विभाव्य गुरुरादरात् ।
गुरुवक्त्रप्रयोगेन दिव्यमन्त्रादिकं शिशौ ॥
मुद्रान्यासादिभिः सार्द्धं दद्यात् सेयं हि वाचिकी ।
दीक्षा परा तथा मन्त्रन्याससंयुक्तविग्रहः ॥
स्वयं मन्त्रतनुर्भूत्वा सक्रमं मन्त्रमादरात् ।
दद्याच्छिष्याय सा दीक्षा मान्त्री मलविघातिनी ॥
कुण्डे वा स्थाण्डिले वापि निक्षिप्याऽग्निं विधानतः ।
लयभोगक्रमेणैव प्रत्यध्वानं यथाक्रमम् ॥
मन्त्रवर्णकलातत्त्वपदविष्टपमेव च ।
शुद्ध्यर्थं होमरूपैषा हौत्री दीक्षा समीरिता ॥
योग्यशिष्याय भक्ताय शुश्रूषार्चापराय च ।
सार्द्धं शास्त्रपदा त्रय्या शास्त्री दीक्षेति सोच्यते ॥
शिवञ्च शिवपत्नीञ्च कुम्भे सम्पूज्य सादरम् ।
शिवकुम्भाभिषेकात् सा दीक्षा स्यादाभिषेचिकी ॥१२७-१४०॥

अब **संसार से मुक्त करने वाली वेधमयी दीक्षा का वर्णन** करता हूँ—आचार्य सर्वप्रथम शिष्य के शरीर के मूलाधार स्थित त्रिकोण के मध्य में जहाँ विमल चतुर्दल कमल है जो सोम, सूर्य तथा अग्निमय तीनों तेजों से खिला हुआ है वहाँ कुण्डलिनी का ध्यान करें । वह कुण्डलिनी तीन वलय से युक्त है, उसका प्रकाश करोड़ों विद्युत्प्रभा के समान है । उसका शरीर चैतन्य से युक्त है वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है, इस प्रकार शिव शक्तिमयी कुण्डलिनी देवी का ध्यान करना चाहिए ॥ १२७-१२९ ॥

वह अनायास षट्चक्रों (मूलाधार स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध एवं आज्ञा) का भेदन कर सुषुम्नारूप मध्य मार्ग के द्वारा परशिव पर्यन्त जाती है, ऐसी दिव्य कुण्डलिनी देवी का ध्यान करें ॥ १२९-१३० ॥

तदनन्तर उस **मूलाधार** स्थित व र ल श ष स इन अक्षरों वाले षड्दल कमल को ब्रह्म में उपसंहार कर, ब भ म य र ल रूप षट् पत्रमय कमल रूप **स्वाधिष्ठान चक्र** में उसे युक्त कर विष्णु में उपसंहृत करे । पुनः उन वर्णों को भी वहाँ से उठाकर नाभि चक्र स्थित ड ढ ण त थ द ध न प फ रूप दशपत्र कमल वाले **मणिपूर चक्र** में संयुक्त करे ॥ १३०-१३२ ॥

पुनः उन वर्णों का रुद्र में उपसंहार कर हृदय स्थित क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ ट ठ रूप द्वादशपत्रात्मक कमल वाले **आज्ञा चक्र** में स्थापित कर ईश्वर में गुरु उपसंहृत करे ॥ १३३ ॥

पुनः उन वर्णों को वहाँ से ऊपर उठाकर कण्ठ स्थित षोडश स्वरात्मक रूप षोडश पत्र कमल वाले **विशुद्ध चक्र** में स्थापित कर सदाशिव में उनका उपसंहार करे ॥ १३४-१३५ ॥

पुनः उन वर्णों को भी वहाँ से ऊपर उठाकर भ्रूमध्य स्थित ह क्ष वर्ण वाले द्विपत्रात्मक कमल वाले **आज्ञाचक्र** में स्थापित कर बिन्दु में उसे कला से संयुक्त करे । पुनः उसे नाद में एवं नाद को पुनः नाद में तथा उन्हें भी नादान्त में संयुक्त करे । पुनः उसे उन्मनी में संयुक्त कर विष्णु के मुख में, पुनः उसे भी गुरु के मुख में आचार्य संयुक्त करें ॥ १३५-१३७ ॥

इस प्रकार शिष्य की जीवात्मा को कुण्डलिनी शक्ति द्वारा भेदन कर उसे परमात्मा में स्थापित करे । ऐसा करने से शिष्य पाश से मुक्त हो पृथ्वी पर गिर कर गुरु को प्रणाम करे ॥ १३८ ॥

विमर्श—पाशत्रय निम्न हैं—१. सहज प्राप्त भोग, २. आगन्तुक भोग और ३. संसर्ग जन्य भोग । ये तीनों पाश बन्धन करने वाले हैं जैसा कि कहा है—

पाशस्तु सत्सु चासत्सु कर्मस्वास्था समीरित ।
त्रिविधः स तु विज्ञेयः पाशो बन्धैकसाधनः ॥
प्रथमः सहजः पाशस्तथा चागन्तुकः परः ।
प्रासंगि(संसर्गि)कस्तृतीयः स्यादिति पाशत्रयं स्मृतम् ॥

इस प्रकार दीक्षा का प्रयोजन पाशत्रय से मुक्ति है । इनका विधि-विधान अन्य ग्रन्थों से लेकर विस्तृत विवेचन पदार्थादर्श में भी किया गया है । इसे इसी ग्रन्थ की भूमिका में देखना चाहिए ॥ १३८ ॥

वेध के होने से शिष्य में सर्वज्ञता आ जाती है और वह सब कुछ जानने लगता है, वह शिव स्वरूप हो जाता है, इसमें संदेह नहीं ॥ १३९ ॥

यहाँ तक हमने वेधमयी दीक्षा का वर्णन किया । यह वेधमयी दीक्षा संपूर्ण ज्ञान को देने वाली है । इस प्रकार यहाँ तक इस तन्त्र में क्रमशः चार प्रकार की दीक्षा का वर्णन सम्यक् रूप से किया गया है ॥ १४० ॥

होमद्रव्यमानम्

अथाऽत्र होमद्रव्याणां प्रमाणमभिधीयते ।
कर्षमात्रं घृतं होमे शुक्तिमात्रं पयः स्मृतम् ॥ १४१ ॥
उक्तानि पञ्च गव्यानि तत्समानि मनीषिभिः ।
तत्समं मधु-दुग्धान्नमक्षमात्रमुदाहृतम् ॥ १४२ ॥

सांख्यदर्शनमते पञ्चविंशतितत्त्वविमर्शः

❑ प्रो. (डॉ.) हरेराम त्रिपाठी

साङ्ख्यदर्शन षडास्तिकदर्शनों में अन्यतम है। साङ्ख्यशास्त्र का प्रयोजन अन्य दर्शनों की भांति ही परमपुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति है, जो त्रिविध दुःखों का आत्यन्तिक विघातरूप है। त्रिविध दुःखों का आत्यन्तिक नाश व्यक्ताव्यक्तज्ञ के तत्त्वज्ञान (विज्ञान) से सम्भव है। इन तीनों तत्त्वों का विस्तार पञ्चविंशति तत्त्वों में करते हुए साङ्ख्यदर्शन ज्ञ पुरुष, अव्यक्त प्रकृति तथा व्यक्त महत् अहङ्कार मन पञ्चकर्मेन्द्रियाँ पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ पञ्चतन्मात्राएँ और पञ्चमहाभूत, इस प्रकार तत्त्व विभाग करता है। इनको पुनः कार्यकारणविभाग की दृष्टि से चार वर्गों में रखा गया- मूलप्रकृति जो अविकारी है, किसी का कार्य नहीं है, महत् अहङ्कार तथा पञ्चतन्मात्राएं प्रकृतिविकृति अर्थात् किसी का कारण तथा किसी का कार्य हैं। मन, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ, पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ तथा पञ्चभूत विकृति अर्थात् केवल कार्य हैं। तथा पुरुष न प्रकृति न विकृति अर्थात् न तो किसी का कारण है और न किसी का कार्य। इन पच्चीस तत्त्वों का लक्षण तथा स्वरूप साङ्ख्यशास्त्र में विस्तारपूर्वक बतलाया गया है। इनकी सिद्धि प्रत्यक्ष अनुमान तथा आप्तवचन, इन तीन प्रमाणों द्वारा होती है।

प्रकृति के विकाररूप महत् से पञ्चभूत तक सभी तत्त्व प्रकृति के ही समान त्रिगुणात्मक होते हैं। यह प्रतिपादित करने वाला सिद्धान्त सत्कार्यवाद के नाम से ख्यात है। इन तत्त्वों के सत्त्वरजस्तमोगुण के गुणप्राधान्य से विविध अवान्तरभेद होते हैं। त्रिगुणातीत पुरुष हेय अविद्या के कारण सर्ग के प्रयोजन से प्रकृति से पङ्ग्वन्धवत् संयोग को प्राप्त करता है। परिणामतः महत् से लेकर नाना प्रपञ्चात्मक जगत् की सृष्टि होती है। विवेकज्ञान द्वारा कैवल्य की प्राप्ति साङ्ख्यदर्शन का साध्य है।

लेखक ने साङ्ख्यसूत्र तथा साङ्ख्यदर्शनकारिका को विशेषतः सन्दर्भित करते हुए साङ्ख्यसम्मत पञ्चविंशति तत्त्वों का परिचयात्मक विवेचन इस निबन्ध में किया है।

●

भारतीयदर्शनेषु सांख्यशास्त्रस्य प्रमुखं स्थानं विद्यते। धर्मार्थकाममोक्षपुरुषार्थेषु मध्ये नित्यः परमपुरुषार्थः मोक्ष एव वर्तत इति। यथा आयुर्वेदशास्त्रे रोगः, रोगहेतुः, आरोग्यम्, आरोग्योपायश्चेति चत्वारः व्यूहाः[1] भवन्ति तथैव सांख्यशास्त्रे हेयम्, हेयहेतुः, हानम्, हानोपायश्चेति चत्वारः व्यूहाः इति।

---

१. सांख्यप्रवचनभाष्यम्

हेयमनागतदुःखं हेयहेतुः अविद्या वा मिथ्याज्ञानम्, हानम् दुःखानामात्यन्तिकनिवृत्तिः वा मोक्षः, हानोपायः सांख्यशास्त्रोक्तोपायः वा प्रकृतिपुरुषविवेकज्ञानमिति। सर्वेषां दर्शनानां मुख्यप्रयोजनं मोक्ष एव विद्यत इति। अत एव कपिलेन मुनिना उक्तम्–

"अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः"[1] अत्र अथशब्दार्थः मङ्गलम्। शारीरमानसिकयोराध्यात्मिकत्वेन एकत्वमिति। तथा चाध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकभेदेन दुःखं त्रिविधम्। वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनिमित्तत्वम् शारीरदुःखस्य लक्षणम्। कामक्रोधादिजनितत्वम् मानसिकदुःखस्य साधर्म्यमिति। पशुपक्ष्यादिजनितत्वमाधिभौतिकत्वम्। ग्रहभूतादिजनितत्वमाधिदैविकस्य लक्षणम्।[2] मुक्तिदीपिकाकारैरुच्यते शारीरं तावद् वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनिमित्तम्। मानसं कामक्रोधलोभमोहविषादभयेर्ष्याऽसूयाऽरत्यविशेषदर्शननिमित्तम्। आधिभौतिकञ्च मनुष्यपशुमृगसरीसृपस्था-वरनिमित्तम्। आधिभौतिकं शीतोष्णवातवर्षाऽशन्यवश्यायावेशनिमित्तम्।[3] वाचस्पतिमिश्रः आधिभौतिकदुःखस्य स्वरूपं निरूपयन् आह"[4] यक्षराक्षसविनायकग्रहावेशनिबन्धनमाधिभौतिकं दुःखमिति। तथा चेदं निष्पन्नं भवति यद् दुःखानामात्यन्तिकनिवृत्तिरे व मोक्षपदार्थः। दुःखानां निवृत्यर्थं त्रयः उपायाः सन्ति। लौकिकोपायः वैदिकोपायः, सांख्यशास्त्रोपायश्चेति। लौकिकोपायेन आत्यन्तिकनिवृत्तिः न सम्भवति। वैदिकोपायेनापि तन्न अविशुद्धिक्षयातिशयदोषस्य तत्र विद्यमानत्वात्। सांख्यशास्त्रोपायेन दुःखस्यात्यन्तिकनिवृत्तिर्सम्भवति। अत एव सांख्यकारिकाकारः प्रतिपादयति यत् "तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्"[5] इति। व्यक्तं चाव्यक्तं ज्ञश्च व्यक्ताव्यक्तज्ञाः तेषां विज्ञानं विवेकेन ज्ञानम् इति व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानम् तस्मात् इति व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानादिति। व्यक्तं त्रयोविंशतितत्त्वानि अव्यक्तं मूलप्रकृतिः ज्ञः पुरुषश्चेति पञ्चविंशति तत्त्वानां विवेकज्ञानान्मोक्षस्य प्राप्तिर्भवति। सांख्यकारिकाकारैः सांख्यशास्त्रे पदार्थस्य चत्वारः भेदाः[6] निरूपिताः। कश्चित् पदार्थः प्रकृतिरेव कश्चित् पदार्थः विकृतिरेव, कश्चित् पदार्थः प्रकृतिविकृतिः, कश्चिदनुभयरूपश्चेति। ईश्वरकृष्णः आह सांख्यकारिकायाम्–

"मूलप्रकृतिरविकृतिः महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः।।

मूलं च असौ प्रकृतिश्चेति मूलप्रकृतिः, इदं जगत् संघातरूपम् अस्य या मूलं सा प्रकृतिः। यदि विश्वस्य यत्मूलं तस्यापि मूलान्तरं विद्यत इति स्वीक्रियते तर्हि अनवस्थादोषः आपतति। अनवस्थादोषभयादस्य जगतः मूलं मूलप्रकृतिरेव भवितुमर्हतीति। सा प्रकृतिः अविकृतिरेवेति। मूलप्रकृतिविषये सांख्यसूत्रकारः आह "मूले मूलाभावादमूलं मूलम्।[7]" अर्थात् त्रयोविंशतितत्त्वानां मूलम् उपादानकारणं मूलशून्यमनवस्थापत्त्या मूले मूलान्तरं न सम्भवति।

प्रक्रियते कार्यादिकमनया इति व्युत्पत्त्या प्र उपसर्गपूर्वक-कृधातोः क्तिन् प्रत्ययो भवति। प्रकृतिरित्यस्य शब्दार्थः स्वभावः। चरक संहितायां प्रकृतिशब्दस्य वाच्यः स्वभाव[8] एवास्तीति लभ्यते। प्रकृतेः कोशतः अनेके अर्थाः

---

१. सांख्यसूत्रमनिरुद्धवृत्तिसहितम् पृ. सं. ३, २. सांख्यसूत्रमनिरुद्धवृत्ति सहितम् पृ.सं. ४, ३. युक्तिदीपिका पृ.सं. २२
४. सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ.सं. १५, ५. सांख्यकारिका सांख्यतत्त्वकौमुदीसहिता सां.का. २ पृ.सं. ८१
६. सांख्यकारिका ३ पृ.सं. ४५, ७. सांख्यसूत्रम् अध्याय १ सूत्र ६७
८. चरकसंहिता–तत्र प्रकृतिरुच्यते स्वभावो यः स पुनराहारौषधद्रव्याणां स्वाभाविको गुर्वादिगुणः

उपलभ्यन्ते। योनिः, लिङ्गं, स्वामी, अमात्यः, सुहृत्, कोशः, राष्ट्रम्, दुर्गम्, बलम्[1] इति। अत एव मनुस्मृतौ उक्तम्–

स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं, कोषदण्डौ सुहृत्तथा।
सप्तप्रकृतयो ह्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते।।

प्रकृतिशब्दस्यान्येऽपि अर्थाः सन्ति–रूपावस्था,[2] शिल्पी,[3] शक्तिः।[4] व्याकरणशास्त्रे नामधातुभेदेन प्रकृतिः द्विविधा। वस्तुतः प्रकर्षेण सृष्ट्यादिकं करोतीति प्रकृतिः वा सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः इत्यर्थो विवक्षितः सांख्यदर्शने। प्रकृतेः पर्यायवाची प्रधानम्, अव्यक्तम्, माया, शक्तिश्चेति सन्ति। महाभारते उक्तम्–

प्रकृष्टवाचकः प्रश्च कृतिश्च सृष्टिवाचकः।
सृष्टौ प्रकृष्टा या देवी प्रकृतिः सा प्रकीर्तिता।।

केचन वदन्ति प्रकृति इत्यत्र प्रशब्दार्थः सत्त्वगुणः, कृशब्दार्थः रजः तिशब्दार्थः तमः इति। केचित्तु ज्ञानस्य भार्याः तिस्रः भवन्ति।[5] बुद्धिः, मेधा स्मृतिश्चेति। युक्तिदीपिकाकारः मूलप्रकृतिशब्दार्थं मूलमाधार[6]मुक्तवान्। महदादीनां मूलं प्रकृतिर्भवति इयं प्रकृतिः अविकृतिर्वा अनुत्पाद्य इति। नैयायिकवैशेषिकानां नये जगतः कर्त्ता ईश्वर एव विद्यते। परन्तु सांख्याः वदन्ति यत् जगतः कर्त्री प्रकृतिरेव सा च प्रकृतिः मूल प्रकृतिपदवाच्या भवति।

महत्तत्त्वम्, अहङ्कारः, पञ्चतन्मात्राणि चेति सप्त प्रकृतिविकृतयः सन्ति। महत्तत्त्वमहङ्कारस्य प्रकृतिः मूलप्रकृतेः विकृतिः, अहङ्कारतत्त्वं पञ्चतन्मात्राणाम् एकादशेन्द्रियाणाञ्च प्रकृतिः अथ च महत्तत्त्वस्य विकृतिः एवं पञ्चतन्मात्राणि पञ्चमहाभूतानां प्रकृतयः अहङ्कारस्य विकृतयश्च भवन्ति। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशाः पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चकर्मेन्द्रियाणि मनश्चेति एतेषां षोडशतत्त्वानां प्रकृतिः यथाक्रमं पञ्चतन्मात्राणि अहङ्कारश्चेति भवतः। एतानि षोडशतत्त्वानि विकारस्वरूपाणि एव सन्ति। सांख्यकारिकायां षोडशको गणः[7] विकार एव न प्रकृतिः। तु शब्दः अवधारणे भिन्नक्रमः, पञ्चमहाभूतानि एकादशेन्द्रियाणि च षोडशको गणः इति। वस्तुतः "तत्त्वान्तरोपादानत्वं" प्रकृतेः लक्षणम्। "तद्भिन्नत्वे सति उपादानकत्वम्" विकृतेः लक्षणम्। तत्त्वान्तरोपादानत्वे सति उपादानकत्वम् प्रकृतिविकृतेः लक्षणमिति। सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रधानापदवाच्या वा अव्यक्तपदवाच्या भवति। मूल-प्रकृतितः[8] महत्तत्त्वस्य, महत्तत्त्वतः अहङ्कारस्य, सात्त्विकाहङ्कारतः एकादशेन्द्रियाणां तामसिकाहङ्कारतः

---

१. शब्दकल्पद्रुम भाग ३ पृ. २४२, २. मार्कण्डेय पुराणम्। शब्दकल्पद्रुम भा. ३ पृ. २४२
३. हेमचन्द्रः। शब्दकल्पद्रुम भा. ३ पृ. २४२, ४. शारङ्गधरः। शब्दकल्पद्रुम भा. ३ पृ. २४२
५. शब्दकल्पद्रुम भा. ३ पृ. २४४, ६. मूलमाधारः, प्रतिष्ठा इति अर्थान्तरम्। युक्तिदीपिका पृ. ८२
७. मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः।। सां.का. ३ सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ. ४५
८. सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात्पञ्च तन्मात्राणि, उभयमिन्द्रियं, तन्मात्रेभ्यः, स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिगणः सां सू.भ.१-६१ सांख्यसूत्रवृत्तिः पृ. ४६

पञ्चतन्मात्राणां पञ्चतन्मात्रतः पञ्चमहाभूतानाञ्चोत्पत्तिर्भवति इति सांख्यसिद्धान्तः अहङ्कारस्य सात्विकतामसिकसर्गयोः विषये सांख्यशास्त्रे मतभेदो दरीदृश्यते सांख्यकारिकाकारः अहङ्कारस्य स्वरूपं ततः जायमानस्य सर्गस्य भेदं निरूपयनाह–

अभिमानोऽहङ्कारः, तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः।[1]
एकादशकश्च गणः तन्मात्रपञ्चकश्चैव।[2]

अहङ्कारतः एकादशेन्द्रियाणां सृष्टिः सात्त्विकी अथ च पञ्चतन्मात्राणां सृष्टिः तामसी तत्कथं सम्भवति ? इत्यत्र ईश्वरकृष्णः ब्रवीति–

सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात्।
भूतादेस्तन्मात्रः, स तामसस्तैजसादुभयम्।।[3]

एकादशेन्द्रियाणां लाघवत्वात् प्रकाशकत्वात् सात्त्विकादहङ्कारादुत्पत्तिः पञ्चतन्मात्राणां जडत्वाच्च तामसादहङ्कारादुत्पत्तिर्भवति अथ च राजसाहङ्कारः सात्विकसृष्टिं तामससृष्टिं प्रति च कारणं भवति सक्रियत्वात् प्रेरकत्वाच्च इति वाचस्पतिमिश्रादयः वदन्ति।[4] परन्तु उक्तकारिकायाः विवरणं भिन्नरूपेण विज्ञानभिक्षुमहाशयाः कुर्वन्ति। ते वदन्ति यत् एकादशकः इत्यत्र एकादशसंख्यापूरणे क प्रत्ययो भवति तथाच एकादशकः मनः इति एवञ्च सात्त्विकादहङ्कारात् मनो जायते। तामसादहङ्कारात् ज्ञानेन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि चोभयमिति।[5] विज्ञानभिक्षुदिशा उक्तकारिकायाः अर्थस्य क्रमः भिन्न एवास्ति अतः सृष्टिविषये किञ्चिद्वैलक्ष्यमिति।

पञ्विंशति तत्त्वानि प्रमेयाणि सन्ति। एतेषां प्रमेयाणां सिद्धिः प्रमाणादेव भवति। अतः प्रमाणानि निरूप्यन्ते। प्रमीयते अनेन इति व्युत्पत्त्या प्रमाकरणत्वं प्रमाणस्य लक्षणम् सांख्यसूत्रकारः ब्रवीति यत् 'द्वयोरेकतरस्य वाप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा।[6] तत्साधकतमं यत् तत्' इन्द्रियार्थयोः अनधिगतं यत् ज्ञानं तदेव प्रमा प्रत्यक्षप्रमा इति। इन्द्रियार्थयोरेकतरस्यानधिगतं यज्ज्ञानं तज्ज्ञानम् अनुमितिशाब्दप्रमेति। वस्तुतस्तु इत्यनेन परिष्कृतायाः प्रमायाः लक्षणमुच्यते "असन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः[7] एव प्रमायाः लक्षणम्। असन्न्किृष्टशब्दार्थः अनधिगतम् एवञ्च अनधिगतार्थविषयकबोधः प्रमा तस्या करणं[8] प्रमाणं भवति। सांख्यास्तु प्रत्यक्षानुमानशब्दभेदात् त्रीणि प्रमाणानि मन्यन्ते। दृष्टानुमानमाप्तवचनञ्चेत्यनेन।[9] तत्र प्रत्यक्षप्रमाणन्तु विषयेण सह इन्द्रियस्य यदा सम्बन्धो भवति तदा या चित्तवृत्तिः जायते[10] ततः यः बुद्धिधर्मोऽध्यवसायः तच्च प्रत्यक्षप्रमाणं तत्र पौरुषेयो बोधः प्रत्यक्षप्रमेति। प्रत्यक्षस्य

---

१. सांख्यकारिका २२ सांख्यतत्त्वकौमुदी १७६ विद्वत्तोषणी व्याख्या सहित
२. सांख्यकारिका २४ सांख्यकौमुदी पृ.सं. १७६ ३. सांख्यकारिका २५ सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ.सं. १७६
४. सांख्यप्रवचनभाष्यम् पृ.सं., ५. सांख्य प्रवचनभाष्यम् पृ.सं., ६. सांख्यसूत्रमनिरुद्धवृत्तिसहितम् पृ.सं. ५३
७. श्रीप्रमथनाथतर्कभूषण टीका पृ.सं. ५३
८. सांख्यसूत्रवृत्तिः – एतेनाधिगतार्थगन्तृप्रमाणमित्युक्तम्। प्रमासाधकतमं यत् तत् प्रमाणम् इति प्रमाणसामान्यलक्षणम्
९. सांख्यकारिका युक्तिदीपिकासहिता पृ. १०७, १०. युक्तिदीपिका पृ. १०७

लक्षणं सूत्रकारेणोच्यते "यत्सम्बन्धसिद्धं तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत्प्रत्यक्षम्"[1] अर्थात् येन विषयेण इन्द्रियाणां सम्बन्धो भवति तादृशसम्बन्धात् जातम् तद्विषयतानिरूपक-अन्तःकरणवृत्तिः तद्वृत्तिरूपं विज्ञानं प्रत्यक्षं प्रमाणमिति। निर्विकल्पकसविकल्पकसाधारणमिदं लक्षणम्। "प्रतिविषयाध्यवसायो[2] दृष्टमित्यनेन प्रत्यक्षस्य लक्षणं ईश्वरकृष्णः उक्तवान्। अस्य लक्षणस्य विवरणप्रसङ्गे युक्तिदीपिकाकारः आह–"विषिण्वन्तीति विषयाः शब्दादयः। अथवा विषीयन्ते उपलभ्यन्ते इति"। अर्थात् यः ज्ञानं स्वस्मिन् नियोजयति स च विषयः। यथा रूपरसगन्धस्पर्शशब्दाः विपयाः भवन्ति। एते विषयाः द्विविधाः भवन्ति। विशिष्टाः अविशिष्टाश्च। विशिष्टाः पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानि अस्मदादीनां विषयाः भवन्ति। अविशिष्टाः सूक्ष्मभूतानि वा पञ्चतन्मात्राणि। एते विषयाः योगिनामूर्ध्वस्रोतसां च गम्याः भवन्ति। विषयं विषयं प्रति वर्तते इति प्रतिविषयं इन्द्रियं तस्मिन् यः अध्यवसायः तत्प्रत्यक्षं प्रमाणमिति। सांख्यसूत्रकारः अनुमानस्य स्वरूपं निरूपयन् आह– "प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम्"[3] अर्थात् अविनाभावो व्याप्तिः तादृशव्याप्तिविशिष्टात् व्याप्यज्ञानात् अनुः पश्चात् व्यापकज्ञानमनुमानमिति। केचन व्याप्तेः स्वरूपमित्थं वर्णयन्ति साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नसाध्यतावच्छेदकावच्छिन्नसाध्यनिष्ठप्रतियोगिताकसाध्याभावाधिकरणं निरूपितवृत्तित्वाभावो व्याप्तिरिति। तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमिति[4] ईश्वरकृष्णः। अनुमानस्य लक्षणमस्तीदं वाक्यम्। लिङ्गं = व्याप्यं लिङ्गि = व्यापकमिति। तथाच व्याप्यव्यापकभावपूर्वकं यद् भवति तदेवानुमानम्। अथवा लिङ्गं पक्षधर्मता लिङ्गि यस्य व्यापकस्य व्याप्तिः हेतौ तिष्ठति तादृशं व्यापकमिति तथाच व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानमनुमानमिति वाचस्पतिमिश्रोऽपि वदति "तद् व्याप्यव्यापकभावपक्षधर्मताज्ञानपूर्वकमनुमानमिति" अनुमानसामान्यं लक्षितम्।[5] पूर्ववत्-शेषवत् सामान्यतोदृष्टभेदेन अनुमानं त्रिविधम्। कार्यं दृष्ट्वा कारणमनुमीयते तदनुमानं शेषवदिति। कारणेन कार्यं भविष्यतीति यत्रानुमीयते तदनुमानं पूर्ववदिति। यथा मेघोन्नत्या भविष्यति वृष्टिरित्यनुमीयते। पूर्वमस्यामस्तीति पूर्ववत्। शेषोऽस्यास्तीति शेषवदिति। सामान्यतोदृष्टस्य लक्षणमुच्यते यत्रैकदाऽर्थयोरव्यभिचारमुपलभ्य देशान्तरे कालान्तरे च तज्जातीययोरव्यभिचारं प्रतिपद्यते। तद्यथा क्वचिद् धूमाग्निसम्बन्धं दृष्ट्वा क्वचिद्धूमान्तरेणाग्न्यन्तरस्यास्तित्वं प्रतिपद्यते।"[6] वाचस्पतिमिश्रेण अनुमानस्य द्वैविध्यमेव प्रतिपादितम्। वीतमवीतञ्चेति भेदेन। अन्वयसहचारग्रहजन्यव्याप्तिग्रहत्वेन अनुमितिजनकत्वं वीतस्य[7] लक्षणम्। व्यतिरेकसहचारमात्रग्रह-जन्यव्याप्तिग्रहत्वेन प्रवर्तमानत्वे सति निषेधकत्वम् अवीतानुमानस्य लक्षणम्। अवीतं शेषवदनुमानम्। वीतानुमानं द्विविधम् भवति – पूर्ववत्, सामान्यतोदृष्टञ्चेति भेदात्। शिष्यते परिशिष्यते इति शेषः। अतएव न्यायभाष्ये उक्तम् "प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसङ्गाच्च शिष्यमाणे सम्प्रत्ययः परिशेष"[8] इति। दृष्टस्वलक्षणसामान्यत्वं पूर्ववदित्यनुमानस्य लक्षणम्। अदृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयत्वं सामान्यतोदृष्टस्य लक्षणमिति। आप्तोपदेशत्वं[9] शब्दप्रमाणस्य लक्षणमिति

---

१. सांख्यसूत्रवृत्तिः पृ.सं. ५५, २. सांख्यकारिका युक्तिदीपिकासहिता पृ.सं. १२०
३. सांख्यसूत्रमनिरुद्धवृत्तिसहितम् पृ.सं. ६३, ४. सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ.सं. १२६
५. सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ.सं. १३६, ६. युक्तिदीपिका पृ.सं. १३६
७. सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ.सं. १४० तत्र प्रथमं तावद् द्विविधं वीतमवीतञ्च। अन्वयमुखेन प्रवर्तमानं विधायकं वीतम्, व्यतिरेकमुखेन प्रवर्तमानं निषेधकमवीतम्।
८. न्यायवात्स्यायनभाष्य अध्याय १ आह्निक १ सूत्र ५ संख्याकस्य भाष्ये
९. आप्तोपदेशः शब्दः सांख्यसूत्रम् अध्यायः १ सूत्रम् १०१

सांख्यसूत्रकारो वदति। आप्तत्वं नाम अनधिगताबाधितार्थविषयकज्ञानजनकत्वमिति। सांख्यकारिकायामुच्यते ''आप्तश्रुतिराप्तवचनं ''तु'' अत्र आप्तवचनपदेन शब्दप्रमाणस्य ग्रहणं भवति। आप्तश्रुतिरेव तस्य लक्षणं विद्यते। आप्ता = प्राप्ता[1] तस्यार्थः युक्ता इति आप्ता चासौ श्रुतिः इति आप्तश्रुतिः। सत्यार्थबोधनसामर्थ्येन समीचीनः वा दोषरहितः आप्तपदार्थः। श्रुतिपदार्थस्तु वाक्यजनितं वाक्यार्थज्ञानमिति। तथाच दोषरहितत्वे सति वाक्यार्थज्ञानत्वं शब्दप्रमाणस्य लक्षणम्। एतानि त्रीण्येव प्रमाणानि सांख्यमते भवन्ति। परन्तु केचन चत्वारि, केचन पञ्च, केचन षड्, केचन चाष्टप्रमाणानि स्वीकुर्वन्ति दार्शनिकाः। तर्हि कथं त्रीण्येव प्रमाणानि सांख्यमते भवन्तीति। अत्र ईश्वरकृष्णैरुच्यते[2] ''सर्वप्रमाणसिद्धत्वादि'' ति। अस्यार्थो भवति प्रत्यक्षानुमानाप्तवचनेषु एव सर्वेषां प्रमाणानामन्तर्भावात् त्रीण्येव प्रमाणानि भवन्तीति। सूत्रकारोऽपि वदति ''त्रिविधं प्रमाणम्। तत्सिद्धौ सर्वसिद्धेर्नाधिक्यसिद्धिः''।[3] सामान्यतोदृष्टानुमानेन प्रकृतिपुरुषयोर्सिद्धिः[4] जायते।

तथा चोक्तम्-

सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्
तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात्सिद्धम्।।[5]

अर्थात् सामान्यतोदृष्टादनुमानादतीन्द्रियाणां प्रधानपुरुषादीनां ज्ञानं भवति। सूक्ष्मत्वादनयोः प्रत्यक्षं न भवति न तु अभावात्। प्रकृतेः कार्याणि दृष्ट्वा प्रकृतिरनुमीयते। अत एवोच्यते-''महदादि तत्त्वं कार्यं प्रकृतिसरूपं विरूपञ्च''।[6]

अर्थात् महदादित्रयोविंशतितत्त्वानि मूलप्रकृतेः कार्याणि सन्ति। तत्रापि केचन मूलप्रकृतिसरूपाणि सन्ति महत्तत्त्वमहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि चेति। मूलप्रकृतेः विरूपाणि सन्ति एकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानि च। मूलप्रकृतेः सिद्ध्यर्थं पञ्चहेतवः सन्ति। भेदानां परिमाणम्,[7] समन्वयः, शक्तितः प्रवृत्तिः, कार्यकारणविभागः, वैश्वरूप्यस्य अविभागश्चेति।[8] अत एवात्रानुमानप्रकारो भवति भेदानां महदादीनां त्रयोविंशतितत्त्वानां कार्याणां मूलकारणम् अव्यक्तमस्ति बुद्ध्यादीनां परिमाणात् (परिमितत्वात्) अथवा विवादाध्यासिता महदादिभेदा अव्यक्तकारणवन्तः परिमितत्वात् यथा घटः परिमितो विद्यते तथैव। द्वितीयोऽनुमानाकारः ''विवादाध्यासिताः भेदाः (बुद्ध्यादयः) अव्यक्तकारणवन्तः समन्वयात् (सुखाद्यात्मसामान्यान्वितत्वात्) घटादिवत्। तृतीयोऽनुमानाकारः बुद्ध्यादयः अव्यक्तकारणवन्तः शक्तितः प्रवृत्तेः। यथा मृत्तिकागतशक्तितः घटरूपं कार्यं जायते तथैव अव्यक्तनिष्ठशक्तितः बुद्ध्यादीनि कार्याणि जायन्त इति। चतुर्थोऽनुमानाकारः बुद्ध्यादयः अव्यक्तकारणवन्तः

---

१. सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ.सं. १५३, २. सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ.सं. १०५ सांख्यकारिका ४
३. सांख्यसूत्रम् अध्यायः १ सूत्रसङ्ख्या ८८ पृ.सं. ५५, ४. सांख्यकारिका ६ पृ.सं. २०६
५. सांख्यकारिका ६ सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ.सं. ६५, ६. सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ.सं. २१६ सांख्यकारिका ८
७. सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ.सं. २६५ भेदानां परिमाणात् समन्वयात्, शक्तितः प्रवृत्तेश्च।
कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूप्यस्य।। सांख्यकारिका ५
८. सांख्यसूत्रमनिरुद्धवृत्तिसहितम् पृ.सं. ७७ परिमाणात् १/१३० समन्वयात् १/१३१ शक्तितश्चेति १/१३२

कारणकार्यविभागात्। पञ्चमोऽनुमानाकारः बुद्ध्यादयः अव्यक्तकारणवन्तः वैश्वरूप्यस्य अविभागात्। अर्थात् महदादिकं कार्यं स्वीयसूक्ष्मावस्थापूर्वकं भवितुमर्हति आविर्भावतिरोभाववत्त्वात्। यथा कूर्मस्य शरीरे[1] विद्यमानानि एव अङ्गानि निःसरन्ति विभज्यन्ते च तथैव पञ्चमहाभूतानि स्वकारणेभ्यः पञ्चतन्मात्रेभ्यः आविर्भवन्ति विभज्यन्ते च। पञ्चतन्मात्राणि अहङ्कारात्, अहङ्कारः महतः आविर्भवति विभज्यते च। महानपि स्वकारणादाविर्भवति विभज्यते च अतः बुद्धेः यत्कारणं विद्यते तदेव मूलप्रकृतिरिति रीत्या अव्यक्तस्य सिद्धिर्भवति। सामान्यतोदृष्टानुमानेनैव पुरुषस्य सिद्धिर्भवति। पुरे शरीरे तिष्ठति निवसति वा पुरुषः जीवात्मापरपर्यायः इति। स च पुरुष अतीन्द्रियो विद्यते अतिसूक्ष्मत्वात्। पुरुषस्य सिद्धिः संघातपरार्थत्वहेतुना[2] भवति। अव्यक्तादेर्व्यतिरिक्तः पुरुषोऽस्ति संघातपरार्थत्वात् शयनासनवत् यथा शयनासनतैलादयः संघाताः सन्ति। एते सर्वे परार्थाः सन्ति तत्र यत् परं तदेव शरीरमिति तथैव अव्यक्तमहदहङ्कारादयः परार्थाः सन्ति तत्र यः परः स एव पुरुषः इति। तत्र केचन वदन्ति शयनासनादयः संघाताः सन्ति तत्र यत् परं शरीरं तदपि संघातस्वरूपं परन्तु अहङ्कारादीनां यः परः स च न संघातरूपः अपितु तदतिरिक्तः पुरुष इति चेन्न बुद्ध्यादयः संघाताः परार्थाः तत्र परोऽपि संघातः सोऽपि संघातः परार्थः अनया रीत्या अनवस्थादोषः आपतति अतः बुद्ध्यादयः संघाताः परार्थाः तत्र परः पुरुष एव भवितुमर्हति। पुरुषसिद्ध्यर्थं पञ्चहेतवः भवन्ति अतएव पञ्चानुमानाकारोऽपि विद्यत इति। पुरुषः अस्ति संघातपरार्थत्वात्।[3] पुरुषः अस्ति त्रिगुणादिविपर्ययात्। पुरुषः अस्ति अधिष्ठानात्। पुरुषः अस्ति भोक्तृभावात्। पुरुषः अस्ति कैवल्यार्थं प्रवृत्तेः। संहताः अव्यक्तादयः भवन्ति त्रिगुणत्वात्। त्रिगुणानामभावो पुरुषे विद्यते अतः पुरुषः असंहतः इति। अत एव वाचस्पतिमिश्रः निगदति ''तस्मादाचार्येण त्रिगुणादिविपर्ययाद् इति वदताऽसंहतः परो विवक्षितः, स चात्मेति सिद्धम्''।[4] त्रिगुणात्मकानामधिष्ठीयमानत्वेऽपि पुरुषस्य सिद्धिर्जायते। यः व्यापारवान् भवति सः अधिष्ठाता भवति यथा रथे व्यापारो जायते यस्य व्यापारेण रथस्य समीचीना गतिर्भवति तद्वेव सारथी इति। तथैव सुखदुःखमोहात्मकं महदादिसर्वं परेणाधिष्ठीयमानं तत्र यः परः स चात्मा इति। अत्र केचन शङ्कन्ते यत् पुरुषस्तु व्यापारवानेव न भवितुमर्हति निर्गुणत्वात् निष्क्रियत्वाच्च इति चेन्न यथा अयस्कान्तमणिः निष्क्रियो विद्यते तत्र व्यापारो न भवति परन्तु सन्निधिमात्रेण स चाधिष्ठातृपदवाच्यो भवति तथैव व्यापाररहितत्वेऽपि पुरुषः अधिष्ठाता विद्यते। अत एव सूत्रकारोऽपि वदति ''तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्''[5] अनुकूलवेदनीयत्वं सुखं प्रतिकूलवेदनीयत्वं दुःखं, बुद्ध्यादयः सुखदुःखमोहस्वरूपाः एतदतिरिक्तः कश्चन विद्यते असुखादिस्वरूपः, येन अनुकूलत्वं प्रतिकूलत्वञ्चानुभूयते।

---

१. सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ.सं. २६६

२. सांख्य कारिका १७ संघातपरार्थत्वाद् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात्, कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ।।१७।। सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ.सं. ३०७-०८

३. ''संहतपरार्थत्वात्'' अ.१ सूत्राणि ४० पृ. सं. ८० ''त्रिगुणादिविपर्य्ययात्'' अ.१ सूत्राणि १४१ ''अधिष्ठानाच्चेति'' अ.१ सूत्राणि १४२ ''भोक्तृभावात्'' अ.१ सूत्र १४३, ''कैवल्यार्थं प्रवृत्तेः'' अ.१ सूत्राणि १४४ पृ.सं. ८२ पृ.सं. ८१ (सांख्यसूत्रवृत्तिः)

४. सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ.सं. ३१०

५. सांख्यसूत्रम् अ. १ सूत्राणि ९६

तत्र यः परः स च पुरुष इति। आत्यन्तिकदुःखत्रयस्य निवृत्तिः बुद्ध्यादीनां न सम्भवति तेषां दुःखस्वभावत्वात्। यस्य दुःखस्य निवृत्तिर्भवति स च पुरुषः इति। स च पुरुषोऽनेको विद्यते। जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमात्। अद्वैतवेदान्तिनः जीवब्रह्मणोरैक्यं प्रतिपादयन्ति। तेषां नये पुरुषः नानेकः अपितु एक एव। तन्मतं खडयन्नाह ईश्वरकृष्णः "पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययात्[1] पुरुषबहुत्वं सिद्धं जन्मप्रतिनियमात्। पुरुषबहुत्वं सिद्धं मरणप्रतिनियमात्। पुरुष बहुत्वं सिद्धं करणप्रतिनियमात्। पुरुषबहुत्वं सिद्धं अयुगपत्प्रवृत्तेः। पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययादिति। जन्ममरणस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह वाचस्पतिमिश्रः "निकायविशिष्टाभिरपूर्वाभिर्देहेन्द्रियमनोऽहङ्कारबुद्धिवेदनाभिः[2] पुरुषस्य अभिसन्बन्धो जन्म" "देहादीनामुपात्तानां परित्यागः मरणं"[3] करणानि त्रयोदशविधानि सन्ति बुद्धिः अहङ्कारः एकादशेन्द्रियाणि चेति। तेषां जन्ममरणकरणानां व्यवस्था पृथग् पृथग् विद्यते। यदि सर्वेषु शरीरेषु एक एव पुरुषः स्वीक्रियते तदा एकस्मिन् पुरुषे जायमाने सर्वे जायेरन्। एकस्मिन् म्रियमाणे सर्वे म्रियेरन्। एकस्मिन् विचित्ते सर्वे विचित्ताः स्युः। अतः जगतः अव्यवस्था भविष्यति। परन्तु पुरुषभेदे सति सर्वा व्यवस्था समीचीना भविष्यति अतः प्रतिशरीरभेदात् पुरुषस्यापि भेदो विद्यते। सर्वेषां जीवानां स्वकार्ये पृथग् पृथग् प्रवृत्तिः भवति। यदि पुरुषः एकः तर्हि तन्न सम्भवति अतः अयुगपत्प्रवृत्तेः पुरुषस्यानेकत्वं सिद्ध्यति।

सांख्यदर्शनस्य प्रमुखः सिद्धान्तः सत्कार्यवादः वा परिणामवादो विद्यते। इमं सिद्धान्तमाश्रित्यैव पञ्चविंशतितत्त्वानां निरूपणं भवति। सत्कार्यवादस्य प्रतिपादने पूर्वपक्षरूपेण आरम्भवादस्य, विवर्तवादस्य, अभाववादस्य च प्रतिपादनं सांख्यदर्शने दरीदृश्यते। अत एव सांख्यतत्त्वकौमुदीकारैः निगद्यते "कार्यात् कारणमात्रं[4] गम्यते। सन्ति चात्र वादिनां विप्रतिपत्तयः। "असतः सज्जायते"[5] "एकस्य सतो विवर्तः कार्यजातं[6] न वस्तु सत्" 'सतोऽसज्जायते"[7] "सतः सज्जायते"[8] इति। "असतः सज्जायते' अर्थात् असतः कारणात् सतः कार्यस्योत्पत्तिर्भवति इति बौद्धाः वदन्ति। अभावात् भावो जायत इति। विनष्टादेव बीजादङ्कुर उत्पद्यते। यथा नष्टादेव दुग्धाद् दधि, ध्वंसादेव च मृत्पिण्डाद् घटश्चोद्यते। बौद्धाः अत्रानुमानस्याकारम् इत्थं वदन्ति। "सर्वे कार्यरूपा[9] भावा अभावकारणकाः कार्यत्वाद् बीजनाशोत्तरोत्पन्नाङ्कुरादिवत्"। बौद्धमतस्यानुवादं पूर्वपक्षेण गौतमः ऋषिः करोति अभावाद्[10] भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्" अर्थात् कार्यस्याव्यवहितपूर्ववर्ती कारणमेव भवति यथा अङ्कुरादिकार्यादव्यवहितपूर्ववर्ती बीजस्य ध्वंस एव सम्भवति न तु बीजादेरिति अभावस्य कारणत्वं सिद्धं भवति। अत्र श्रुतिरपि प्रमाणं विद्यते। "एक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् तस्मादसतः सज्जायते" इति श्रुतिः। अनया श्रुत्या उत्पत्तेः प्राक् सर्ववस्तूनामभाव एवासीत्। अतः अभावादेव भावोत्पत्तिरित्येवं समीचीनं प्रतिभाति इति बौद्धानां सिद्धान्तः।

---

१. सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ.सं. ३१४ सांख्यकारिका-जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमाद्, अयुगपत्प्रवृत्तेश्च पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ।।१८।।

२. सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ.सं. ३१६, ३. सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ.सं. ३१७, ४. सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ. २१६

५. सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ. २१६, ६. वेदान्तदर्शनस्य सिद्धान्तः

७. सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ. सं. २२३ अभाववादस्य मूलं बौद्धानां सिद्धान्तः।

८. सांख्यानां सिद्धान्तः सत्कार्यवादः पृ. सं. २२३ सां.त.कौ., ९. सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ. सं. २२८

१०. न्यायसूत्रम् अध्याय ४ आ.१ सूत्र ४

अद्वितीयस्य त्रैकालिकबाधविधुरस्य ब्रह्मणः विवर्तः शुक्तेरिव रजतमतात्त्विकान्यथाप्रथात्मकं दृश्यमात्रं परमार्थतो न सदिति। विवर्तस्य स्वरूपमस्ति "अतात्त्विकोऽन्यथाभावः विवर्तः स उदीरितः"[१] इति। वा वस्तुनः असमसत्ताके विवर्तः अथवा कारणसलक्षणोऽन्यथाभावविलक्षणो विवर्तः[२] इति। अर्थादुपादानत्वाभिमत-वस्तुसत्ताविषमसत्ताकत्वे सति तदवस्थाविशेषरूपत्वम् विवर्तस्य लक्षणमिति। अद्वैतवेदान्ते कारणमेव कार्यस्वरूपेण भासते। अत एव कारणस्यैव सत्यत्वं भवति कार्यस्य सत्यत्वं न भवति। यथा शुक्तौ "इदं रजतम्" इति ज्ञाने जाते सति कालान्तरे तस्य यदाधिष्ठानभूतस्य शुक्तेः ज्ञानानन्तरं पूर्वज्ञातं रजतं निवर्तते तथैव ब्रह्मणः ज्ञाने सति जगदादिभेदप्रपञ्चो निवर्तते इति। तथाच एका कारणसत्तैव विविधकार्याकारेण भासिता भवति। घटशरावादयः परस्परं विभिन्ना अपि मृत्तिकातः नातिरिच्यन्ते। तथैव विविधस्वरूपः संसारः सद् ब्रह्मवस्तुनः नातिरिक्तः इति। एवञ्च सदः वस्तुनः एव रूपान्तरं संसारः इति।

न्यायवैशेषिकाः वदन्ति "सतः असज्जायते"[३] अर्थात् भावरूपात् परमाण्वादेः पूर्वमविद्यमानो द्व्यणुकादिः जायते। घटः पूर्वमसदेव आसीत् परन्तु दण्डचक्रचीवरादिसामग्रीसमवहितात् मृदादिकारणाद् भिन्नं सदेवोत्पद्यते। एतेषां नये स्वोत्पत्तेः पूर्वं घटकार्यं नासीदिति। परन्तु समेषां तत्कारणसामग्रीणां समवधाने सति तज्जायते। कार्यकारणयोः भिन्नत्वमत्र विवक्षितं विद्यते। द्व्यणुकादेः उत्पद्यमानत्वादनित्याद् असदिति सिद्धम्। परमाणवः त्रिषु कालेषु विद्यन्ते अतः तस्य नित्यत्वात् सदिति सिद्धम्। तथाच सतः परमाणुतः कारणात् असद्द्वयणुकादयः जायन्ते इति न्यायवैशेषिकाः इति।

"सतः सज्जायते"[४] सतः कारणात् सतः कार्यस्योत्पत्तिर्भवति। इति वृद्धाः इत्यनेन श्रेष्ठत्वमथ च श्रद्धा द्योत्यते। "सतः सज्जायते" इति परिणामवादस्योपलक्षकमिति। तथाच भारतीयदर्शनेषु चत्वारः वादाः प्रसिद्धाः सन्ति। अभावकारणवादः, विवर्तवादः, आरम्भवादश्चेति त्रयः वादाः अत्र पूर्वपक्षरूपेण प्रतिपादिताः सन्ति। परिणामवादोऽत्र सिद्धान्तपक्ष इति। पूर्वपक्षिणां मतं खण्डयन्नाह सांख्यसूत्रकारः "नासदुत्पादो नृश्रृङ्गवत्"[५] नृश्रङ्गस्य अप्रसिद्धत्वात् तस्यासदेव स्वभावो विद्यते। आकाशस्य विद्यमानत्वात् तस्य सदेव स्वभावोऽस्ति। अतः असतः उत्पत्तिर्न सम्भवति नृश्रृङ्गवत्तथाच कारणव्यापारात्प्रागपि कार्यं सत् असदकरणादिति नृश्रृङ्गवत्। एव चत्वारि अन्यान्यपि सत्कार्यवादस्य साधकानि सूत्राणि सन्ति। "उपादाननियमात्"[६] "सर्वत्रसर्वदा[७] सर्वासम्भवात्" "शक्तस्य शक्यकरणात्"[८] "कारणभावाच्च"[९] एतानि सूत्राण्याश्रित्य ईश्वरकृष्णैरुच्यते–

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्।।[१०]

---

१. सांख्यतत्त्वकौमुदी, सारबोधिनी टीका पृ. सं. २२०, २. सिद्धान्तलेशसंग्रहः पृ. सं. ५४
३. सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ. सं. २२३, ४. सत्कार्यवादस्य स्थापनम् सांख्यमतम्।
५. सांख्यसूत्रवृत्तिः प्रथमोऽध्याय सूत्र सं. ११ पृ. ६६, ६. सांख्यसूत्रवृत्तिः प्रथमोऽध्याय ११५ पृ. सं. ७०
७. सांख्यसूत्रवृत्तिः प्रथमोऽध्याय ११६ पृ. सं. ७१, ८. सांख्यसूत्रवृत्तिः प्रथमोऽध्याय ११७ पृ. सं. ७१
९. सांख्यसूत्रवृत्तिः प्रथमोऽध्याय ११८ पृ. सं. ७१
१०. सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ.सं. १०३ (विद्वत्तोषिणी टीका सहित) भारतीय विद्या भवन वाराणसी

यद्यपि बीजस्य ध्वंसानन्तरमेवाङ्कुरस्योत्पत्तिर्भवतीति दृश्यते तथापि ध्वंसरूपस्याभावस्य कारणत्वं न स्वीक्रियते अपितु बीजस्यावयवानामेव कारणत्वं स्वीकार्यमेव। यदि अभावात् भावोत्पत्तिःसम्भवति तदा अभावस्य सर्वत्र सत्त्वात् सर्वत्र सर्वेषां कार्याणाम् उत्पत्तिः स्यादिति। अतः कार्यं सत् असदकरणात् इति। इदमनुमानं समर्थयनाह वाचस्पति मिश्रः "असच्चेत् कारणव्यापारात्पूर्वं कार्यं नास्य सत्त्वं कर्तुं केनापि शक्यं, नहि नीलं शिल्पिसहस्रेणापि पीतं कर्तुं शक्यते"।[1]

कारणव्यापारात्प्रागपि कार्यं सदुपादानग्रहणात्। कारणव्यापारात्प्रागपि कार्यं सत् सर्वसम्भवाभावात्। कारणव्यापारात्प्रागपि कार्यं सत् शक्तस्य शक्यकरणाच्चेति हेतुभिः सत्कार्यवादस्य सिद्धिर्भवति। अत्र शक्तस्य शक्यकरणादित्यत्र सांख्यवादिभिरुच्यते यत् यस्य कार्यस्योत्पादिका शक्तिः यस्मिन् कार्ये विद्यते तेन कारणेन तस्य कार्यस्योत्पत्तिर्भवति। यथा दध्युत्पादिका शक्तिः दुग्धे विद्यते अतः दुग्धेनैव दधिवस्तुनः उत्पत्तिर्भवति। पञ्चमो हेतु कारणभावो विद्यते। अस्यार्थो भवति कार्यं कारणस्वरूपमेव भवति। यदि कारणादभिन्नं कार्यं, कारणञ्च सदस्ति तर्हि तदभिन्नं कार्यमसद् कथं स्यात् इति। अतः कारणव्यापारात्प्रागपि कार्यं सत् कारणभावादिति। कार्यकारणयोः मध्ये तादात्म्यसम्बन्धो विद्यत इत्यत्र साधकानि प्रमाणानि प्रतिपादयन्ति वाचस्पतिमिश्राः "न[2] पटः तन्तुभ्यो भिद्यते तद्धर्मत्वाद् इह यद् यतो भिद्यते तत् तस्य धर्मो न भवति यथा गौरश्वस्य धर्मश्च पटस्तन्तूनां तस्मान्नार्थान्तरम्"। "उपादानोपादेयभावाच्च नार्थान्तरत्वं तन्तुपटयोः"[3] नार्थान्तरत्वं तन्तुपटयोः संयोगाप्राप्त्यभावाद्"[4] "पटस्तन्तुभ्यो न भिद्यते गुरुत्वान्तरकार्याग्रहणात्"।[5] उक्तानुमानेन कार्यकारणयोर्मध्ये तादात्म्यसम्बन्धस्य सिद्धिर्जायते। ततः सत्कार्यवादस्य सिद्धिर्जायते। सांख्यदर्शने जडचेतनभेदेन तत्त्वं द्विविधं भवति। तत्र चेतनः पुरुषः स च प्रतिशरीरभेदेन भिन्नो विद्यते। जडस्वरूपा प्रकृतिरेव तस्याः विकृतयः व्यक्तपदवाच्याः भवन्ति। मूलप्रकृतिस्तु अव्यक्तमेव। व्यक्तन्तु त्रयोविंशतिविधम्। तेषां साधर्म्यन्तु हेतुमत्त्वम् अनित्यत्वम्, अव्यापित्वम्, सक्रियत्वम्, अनेकत्वम्, आश्रितत्वं, लिङ्गत्वं, सावयवत्वं, परतन्त्रत्वञ्चेति। हेतुमत्त्वमनित्यत्वमव्यापित्वं सक्रियत्वमनेकत्वमाश्रितत्वं लिङ्गत्वं, सावयवत्वं परतन्त्रत्वञ्चेति मूलप्रकृतेः अव्यक्तस्य वैधर्म्याणि सन्ति।[6] व्यक्ताव्यक्तयोः साधर्म्याणि त्रिगुणत्वमविवेकित्वं विषमत्वं सामान्यत्वमचेतनत्वं प्रसवधर्मित्वञ्चेति भवन्ति।[7]

दुःखस्वरूपः रजोगुणः, सुखस्वरूपः सत्त्वगुणः मोहस्वरूपश्च तमोगुणो भवति। सत्त्वं लघु प्रकाशकं रजोगुणः उत्तेजकः सक्रियः तमोगुणः गुरुः आवरकश्च भवति। एते गुणाः अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च भवन्ति। पुरुषस्य साधर्म्याणि तु निर्गुणत्वं, विवेकित्वमविषयत्वमसामान्यत्वं चेतनत्वम् अप्रसवधर्मित्वञ्चेति। तस्मादयं पुरुषः साक्षी, केवली, मध्यस्थः द्रष्टा अकर्त्ता[8] च वर्तत इति सिद्धं भवति। पूर्वोक्तप्रकृतिपुरुषयोः साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां

---

१. सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ. सं. १०५, २. सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ. सं. ११०, ३. सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ. सं. १११

४. सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ. सं. १११, ५. सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ. सं. १११

६. हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्।। सांख्यकारिका ।। १० ।। पृ. सं. १२०

७. त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि। व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्।।११।। पृ. सं. १२३

८. तस्माच्च विपर्यासात्, सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य। कैवल्यं माध्यस्थ्यं, द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च।। १९।। पृ.सं. ।। १६६ ।।

चैतन्यकर्तृत्वे भिन्नाधिकरणे सिद्धे ततः "चेतनोऽहं करोमि" इति सामानाधिकरण्यप्रतीतिः भ्रान्तिरेव। भ्रान्तेः कारणन्तु चेतनपुरुषस्य सन्निधानमेव विद्यते। पुरुषसंयोगात् बुद्ध्यादिकमचेतनं चेतनमिव[1] भवति। बुद्धियादिरूपेण परिणतानां गुणानां कृतिमत्त्वेऽपि, बुद्ध्युपरागात् अर्थात् तत्प्रतिबिम्बितत्वात् उदासीनोऽपि पुरुषः कर्ता[2] इव भवति। पङ्ग्वन्धवत्[3] प्रकृतिपुरुषयोः संयोगो भवति तत्र प्रयोजनं भवति प्रधानेन सुखाद्यात्मकस्वस्वरूपानुभवरूपभोगार्थं पुरुषोऽपेक्ष्यते, पुरुषेण च कैवल्यकारणविवेकज्ञानरूपप्रकृतिपरिणामार्थं प्रधानमपेक्ष्यते। प्रकृतिपुरुषयोः संयोगेन सर्गो जायते। अध्यवसायो बुद्धेः लक्षणं भवति। अध्यवसायो नाम मया इदं कर्त्तव्यमित्याकारकनिश्चयः। बुद्धौ अष्टौ धर्माः विद्यन्ते उत्पद्यन्ते वा। तत्र विवेकज्ञानोपयोगिनः धर्माः धर्मः, ज्ञानम्, वैराग्यमैश्वर्यञ्चेति सात्त्विकाः सन्ति। अधर्माज्ञानवैराग्यानैश्वर्यरूपं तामसमिति। तत्र धर्मः अभ्युदयनिःश्रेयसहेतुः, प्रकृतिपुरुषयोः विवेकज्ञानमत्र ज्ञानमिति। रागाभावः वैराग्यम् तच्चतुर्विधम् यतमानव्यतिरेकैकेन्द्रियवशीकारभेदात्। बुद्धेः सात्त्विकधर्मः चतुर्थः ऐश्वर्यमिति ऐश्वर्येणैव अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्तिः, प्राकाम्यं, वशित्वमीशित्वं कामावसायित्वञ्चेति[4] धर्माणां प्राप्तिर्भवति। अत एव ऐश्वर्यमष्टविधं भवति। अणुभावः अणिमातया शिलामपि प्रविशति। लघुभावः लघिमातया सूर्यमरीचीनाश्रित्य सूर्यलोकं स च योगी गच्छति। महतो भावः महिमा यस्मात् योगी महान् भवति। सर्वेषां भावानां सन्निधानं प्राप्तिः यस्मादङ्गुल्यग्रेण स्पृशति चन्द्रमसम्।[5] इच्छानभिघातः प्राकाम्यं यतः पृथिव्यां उन्मज्जति। वशित्वेन भूतभौतिकमवश्यं वशीभवति। पृथिव्यादीनि भूतानि गोघटादीनि भौतिकानि, तेषामुत्पादः अवस्थापनं नाशश्चेति तत्र यः समर्थो भवति सः ईशः तादृशं सामर्थ्यम् ईशत्वेन प्राप्यते। कामावसायित्वं नाम सत्यसङ्कल्पता। कामावसायित्वैश्वर्ययुक्तः योगी यथा वाञ्छति वा तस्य सङ्कल्पो भूतेषु यथा भवति तथैव भूतानि भवन्ति।

अभिमानोऽहङ्कारस्य लक्षणं भवति। संकल्पकत्वं मनसः लक्षणम्।[6] चक्षुःश्रोत्रत्वग्रसनाघ्राणेन्द्रियाणां रूपशब्दस्पर्शरसगन्धेषु सम्मुग्धवस्तुमात्रदर्शनरूपमालोचनं वृत्तिर्भवति। वाक्पाणिपादपायूपस्थानामिन्द्रियाणां यथाक्रमं वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च[7] वृत्तयः वा व्यापाराः भवन्ति। रात्रौ अन्धकारे यदा दिव्यविद्युतः सम्पातो जायते तदा कश्चन पुरुषः व्याघ्रमभिमुखमतिसन्निहितं पश्यति। तदा चक्षुषा आलोचनं मनसा संकल्पः अहङ्कारेणाभिमानं महता अध्यवसायश्च युगपदेव भवन्ति।[8] कुत्रचित् वस्तुनः सामान्यदर्शने एतच्चतुष्टयं क्रमशः भवति।

---

१. "अन्तःकरणस्य तदुज्ज्वलितत्वाल्लोहवदधिष्ठातृत्वम्" सांख्यसूत्रम् अ.१ सूत्राणि ६६

२. उपरागात्कर्तृत्वं चित्सान्निध्याच्चित्सान्निध्यात् सांख्यसूत्रम् अ.२ सूत्र १६४ "अहंकारः कर्त्ता न पुरुषः" सां.सू.अ. ६ सू. ५४।

३. पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः।। सां.का. २१।। सां.त. कौ. संहिता पृ. १७०

४. अध्यवसायो बुद्धिधर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्। सात्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद् विर्पयस्तम्।। ।।२३।। सां.त.कौ. २७३ पृ.

५. नाणिमादियोगोऽप्यवश्यम्भावित्वात्तदुच्छित्तेरितरवियोगवत् ।। सां.सू. अ. ५ सू. ८२

६. उभयात्मकमत्र मनः सङ्कल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात्।। सांख्यकारिकांशः ।।२७।। पृ.सं. ३५१

७. वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम्।। सांख्यतत्त्वकौमुदी २८। पृ.सं. ३५६

८. क्रमशोऽक्रमशश्चेन्द्रियवृत्तिः ।। अ. २ सू. ३२ ।। सांख्यसूत्रवृत्तिः पृ. १०२

त्रयोदशविधानि करणानि स्वस्वकार्याणि कुर्वन्ति अत्र पुरुषार्थ एव हेतुर्विद्यते। त्रयोदशविधेषु करणेषु मुख्या बुद्धिरेव विद्यते यतोहि सैव प्रकृतिपुरुषयोः भेदं कारयति। पञ्चमहाभूतानि विशेषपदवाच्यानि भवन्ति। एतानि विशेषाः शान्ताः घोराः मूढाश्च भवन्ति। विशेषः त्रिविधः सूक्ष्ममातापितृजपञ्चमहाभूतभेदात्। मातापितृजशरीरं निवर्तते सूक्ष्मशरीरं नियतं भवति।[1] सृष्टिकाले एव सूक्ष्मशरीरस्योत्पत्तिर्भवति। सूक्ष्मशरीरे सप्तदशावयवाः[2] भवन्ति। एकादशेन्द्रियाणि पञ्चतन्मात्राणि बुद्धिश्चेति सप्तदशावयवाः सन्ति। अहङ्कारस्यान्तर्भावो बुद्धावेव भवति। मनबुद्ध्यहंकाराणां विशेषवृत्तयः अध्यवसायाभिमानसंकल्पाः सामान्यवृत्तिस्तु प्राणापानव्यानोदानसमानाः वायवः पञ्च भवन्ति। भावैर्युक्तं सूक्ष्मशरीरं जराशरीरं विहाय नूतनशरीरे प्रविशति। भोगापवर्गस्वरूपपुरुषार्थहेतुना सूक्ष्मशरीरं धर्मादिः धर्मादिकारणकं स्थूलदेहादिश्चैतदुभयसम्बन्धेन प्रकृतेर्विभुत्वयोगात् यथा नटः बहूनि रूपाणि गृहीत्वा व्यवहरति तथैव पुरुषः देवादिशरीरं परिगृह्य व्यवहरति।[3]

धर्मेण द्युप्रभृतिषु लोकेषु गमनं भवति। अधर्मेण अतलवितलसुतलरसातलतलातलमहातलपाताललोकेषु गमनं भवति। अतत्त्वज्ञानात् प्राकृतिकः वैकृतिकः दाक्षिणकश्चेति बन्धो जायते। तत्त्वज्ञानेन मोक्षस्य प्राप्तिर्भवति।

सांख्यदर्शने प्रत्ययसर्गः चतुर्विधो भवति। विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यभेदात्।[4] व्यस्तरूपेण प्रत्ययसर्गस्य पञ्चाशत् भेदाः भवन्ति। तमः, मोहः, महामोहः, तामिस्रः, अन्धतामिस्रश्चेति भेदात् विपर्ययः पञ्चविधः।[5] त्रयोदशकरणानां वैकल्यात् अशक्तेरष्टाविंशति भेदाः[6] भवन्ति। तुष्टिर्नवधा, सिद्धिरष्टधा इति। विपर्ययेषु तमः अष्टविधं मोहः अष्टविधः महामोहः दशविधः, अष्टादशधा तामिस्रः, अन्धतामिस्रश्चापि अष्टादशधा भवन्ति। विपर्ययादीनां स्वरूपमधोलिखितं विद्यते।

तमः = अविद्या

१. प्रकृतिरेव आत्मा इति अज्ञानम्।

२. बुद्धिरेवात्मा इति अज्ञानम्।

३. अहङ्कार एवात्मा इति अज्ञानम्।

४. शब्दतन्मात्रा एवात्मा इत्यज्ञानम्।

---

१. मातापितृजं स्थूलं प्रायशः इतरन्न तथा सांख्यसूत्रम्। अ. ३ सूत्राणि ७।। सांख्यसूत्रवृत्तिः पृ.सं. ११०

२. सप्तदशैकं लिङ्गम् ।। अ.३१ सूत्र ८।। सांख्यसूत्रवृत्तिः पृ. १११

३. पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन। प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम्।। सां.का. ४२/सां.त.कौ. २०२ पृ.

४. एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाऽऽशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः।
गुणवैषम्यविमर्दात्तस्य च भेदास्तु पञ्चाशत् सा.का. ४६ सा.त.कौ. २०५

५. सांख्यकारिका ४७ सां.त.कौ. पृ.सं. २०५

६. अशक्तिरष्टाविंशतिधा ।। सांख्यसूत्रम् अ. ३ सू. ३८

५. स्पर्शतन्मात्रा एवात्मा इत्यज्ञानम्।

६. रूपतन्मात्रा एवात्मा इत्यज्ञानम्।

७. रसतन्मात्रा एवात्मा इत्यज्ञानम्।

८. गन्धतन्मात्रा एवात्मा इत्यज्ञानम्।

मोहः = अस्मिता

१. अणिमा मम शाश्वतिकमैश्वर्यमस्ति इत्यभिमानः।

२. महिमा मम शाश्वतिकमैश्वर्यमस्ति इत्यभिमानः।

३. लघिमा मम शाश्वतिकमैश्वर्यमस्ति इत्यभिमानः।

४. प्राप्तिः मम शाश्वतिकमैश्वर्यमस्ति इत्यभिमानः।

५. प्राकाम्यं मम शाश्वतिकमैश्वर्यमस्ति इत्यभिमानः।

६. वशित्वं मम शाश्वतिकमैश्वर्यमस्ति इत्यभिमानः।

७. ईशित्वं मम शाश्वतिकमैश्वर्यमस्ति इत्यभिमानः।

८. कामावसायित्वं मम शाश्वतिकमैश्वर्यमस्ति इत्यभिमानः।

महामोहः = रागः

१. दिव्यशब्दरञ्जनीविषये आसक्तिः।

२. दिव्यस्पर्शरञ्जनीविषये आसक्तिः।

३. दिव्यरूपरञ्जनीविषये आसक्तिः।

४. दिव्यरसरञ्जनीविषये आसक्तिः।

५. दिव्यगन्धरञ्जनीविषये आसक्तिः।

अदिव्यगन्धादिपञ्च विषयाः

६. गन्धरञ्जनीयविषये आसक्तिः।

७. रसरञ्जनीयविषये आसक्तिः।

८. रूपरञ्जनीयविषये आसक्तिः।

९. स्पर्शरञ्जनीयविषये आसक्तिः।

१०. शब्दरञ्जनीयविषये आसक्तिः।

एवं दिव्यादिव्यभेदेन दशविधाः शब्दादिविषयाः परस्परेण उपहन्यमानाः सन्तः द्वेषस्य विषयाः भवन्ति। अष्टविधैश्वर्याणि प्रति द्वेषः तथाचैतेषामष्टादशविधत्वादष्टादशभेदाः[१] तामिस्रस्य भवन्ति। अणिमाद्यष्टैश्वर्याणां दिव्यादिव्यभेदेन शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां मिलित्वा अष्टादशविषयाः भवन्ति। एतेषां कश्चन दुष्टः न अपहरतु इति भयं जायते। भयविषयाणामष्टादशविधत्वात् अन्धतामिस्रः अष्टादशधा[२] भवति। नवतुष्टीनामभावः अष्टसिद्धीनामभावः एकादशेन्द्रियवधाः तादृशतुष्टिसिद्धीनामभावविशिष्टा बुद्धिश्च एतेषां विषयाणामष्टविंशतिविधत्वादष्टाविंशतिभेदाः अशक्तेः[३] भवन्ति। एकादशेन्द्रियाणां वधैः सह बुद्धिवधस्य व्यस्तरूपेण स्वरूपं निम्नलिखितं विद्यते।

१. बाधिर्यम्

२. कुष्ठित्वम्

३. अन्धत्वम्

४. जडत्वम्

५. अजिघ्रत्वम्

६. मूकत्वम्

७. कौण्यम्

८. पङ्गुत्वम्

९. क्लैव्यम्

१०. उदावर्तम्

११. मन्दता[४]

अशक्तिः

१२. अम्भतुष्ट्यभावविशिष्टा बुद्धिः।

१३. सलिलतुष्ट्यभावविशिष्टा बुद्धिः।

१४. ओघतुष्ट्यभावविशिष्टा बुद्धिः।

---

१. अवान्तरभेदाः पूर्ववत् सां.सू. अ. ३ सू. ४१

२. भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः।
तामिस्रोऽष्टादशधा तथा भवत्यन्धतामिस्रः।। सां.का. ।।४८।। पृ.सं. सां.त.कौ. पृ.सं. ४१६

३. एकादशेन्द्रियवधाः सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा।
सप्तदशवधा बुद्धेर्विपर्ययात्तुष्टिसिद्धीनाम्।। सां.का. ४९।। पृ.सं. ४२३

४. बाधिर्यं कुष्ठिताऽन्धत्वं जडताऽजिघ्रता तथा।
मूकता कौण्यपङ्गुत्वे क्लैव्योदावर्तमन्दताः।। सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ. ४२४

१५. वृष्टितुष्ट्यभावविशिष्टा बुद्धिः।

१६. पारतुष्ट्यभावविशिष्टा बुद्धिः।

१७. सुपारतुष्ट्यभावविशिष्टा बुद्धिः।

१८. परापारविशिष्टा बुद्धिः।

१९. अनुत्तमाम्भविशिष्टा बुद्धिः।

२०. उत्तमाम्भविशिष्टा बुद्धिः।

२१. तारसिद्ध्यभावविशिष्टा बुद्धिः।

२२. सुतारसिद्ध्यभावविशिष्टा बुद्धिः।

२३. तारतारसिद्ध्यभावविशिष्टा बुद्धिः।

२४. रम्यकसिद्ध्यभावविशिष्टा बुद्धिः।

२५. सदामुदितसिद्ध्यभावविशिष्टा बुद्धिः।

२६. प्रमोदसिद्ध्यभावविशिष्टा बुद्धिः।

२७. मुदितसिद्ध्यभावविशिष्टा बुद्धिः।

२८. मोदमानसिद्ध्यभावविशिष्टा बुद्धिः।

व्यस्तरूपेण अशक्तेरष्टविंशति भेदाः उक्ताः। नवतुष्टीनामष्टसिद्धीनां लक्षणमिदानीमुच्यते-

तुष्टयः नवविधाः[1] भवन्ति। चतस्रः आध्यात्मिक्यः तुष्टयः, पञ्चबाह्यतुष्टयश्च। आत्मानमधिकृत्य जायमानाः आभ्यन्तराः तुष्टयः आध्यात्मिक्यः तुष्टयः भवन्ति। अत एव वाचस्पतिमिश्रोऽपि ब्रवीति "प्रकृतिव्यतिरिक्तमात्मानम-धिकृत्य यस्मात्ताः तुष्टयस्तस्माद् "आध्यात्मिक्यः" "प्रकृत्युपादानकालभागाख्याः"[2] इति। अनिरुद्धवृत्तिकारोऽपि वदति "अनात्मनि आत्मबुद्ध्या प्रवर्त्तमाना आध्यात्मिक्यः चतस्रः"[3] तुष्टयः भवन्ति। प्रकृतिविवेकदर्शनात् चेत् मुक्तिः अत एव प्रकृतिरेव उपास्या इति मत्वा यः प्रकृतिमुपासते एषा प्रकृतितुष्टिः अम्भपदवाच्येति। विवेकज्ञानात् अपि न साक्षात्, अदर्शनात् व्रतग्रहणात्, वा सन्यासग्रहणात् भविष्यति "प्रव्रज्यामुपाददीथाः, कृतं ते ध्यानाभ्यासेनायुष्मन्"[4] इति उपदेशे या तुष्टिः सोपादानाख्या सलिलमिति।

सन्यासग्रहणेनापि न सद्यः मुक्तिरपितु कालपरिपाकमपेक्ष्य सिद्धिं ते विधास्यन्ति इयं तुष्टिः कालाख्या ओघपदवाच्या भवति।

---

१. आध्यात्मिक्यश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभागाख्याः।
बाह्या विषयोपरमात्पञ्च च नव तुष्टयोऽभिमता।।५०।। सां.का. सां.त.कौ.पृ.४२६

२. सां. तत्त्व कौ. पृ. ४२७, ३. सांख्यसूत्रवृत्तिः पृ.सं. १२३, ४. सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ.सं. ४२८

कालवशादपि न सर्वेषां मुक्तिः अपितु भाग्यादेव भविष्यति। अथवा जन्मान्तरकृतध्यानाभ्यासजनिता दृष्टद्वारैव मुक्तिः भविष्यति इति उपदेशे या तुष्टिः भवति सा भागाख्या वृष्टिपदवाच्या इति। विषयार्जनदुःखादुपरमे पारतुष्टिः, विषयरक्षणदुःखादुपरमे सुपारतुष्टिः, क्षयं भावयतः दुःखादुपरमे पारपारतुष्टिः, भोगदोषं भावयतः दुःखादुपरमे अनुत्तमाम्भतुष्टिः, नानुपहत्य भूतानि भोगसिद्धिः इति दुःखादुपरमे उत्तमाम्भतुष्टिश्च भवन्ति। ऊहः तर्कः मननमिति ऊहसिद्धिः[१] सुतारमिति। ऊहसिद्धेः स्वरूपं प्रतिपादयन्नाह सांख्यतत्त्वकौमुदीकारः "ऊहः तर्कः आगमविरोधिन्यायेन[२] आगमार्थपरीक्षणम्। परीक्षणञ्च संशयपूर्वपक्षनिराकरणेनोत्तरपक्षव्यवस्थापनमिति'। शब्दज्ञानं द्वितीया तारसिद्धिः अथवा शब्दजनितमर्थज्ञानम् शब्दसिद्धिरिति'। अध्ययनं तृतीया सिद्धिः तारतारमिति वा विधिवद्गुरुमुखादध्यात्मविद्यानामक्षरस्वरूपग्रहणमध्ययनसिद्धिरिति।

गुरुब्रह्मचारिणां प्राप्तिः सुहृत्प्राप्तिरूपा सिद्धिः रम्यकमिति, वा न्यायेन स्वयं परीक्षितमप्यर्थं न श्रद्दधते न यावद् गुरुशिष्यसब्रह्मचारिभिः सह संवाद्यते, अतः सुहृदां गुरुशिष्यसब्रह्मचारिणां संवादकानां प्राप्तिः सुहृत्प्राप्तिः। बाह्यान्तः शुद्धिः[३] पञ्चमीसिद्धिः सदामुदितमिति अथवा दानं-शुद्धविवेकज्ञानम्[४] तच्च सवासनसंशयविपर्यासानां परिहारेण विवेकसाक्षात्कारस्य स्वच्छप्रवाहेऽवस्थापनमिति।

आध्यात्मिकदुःखविघातः प्रमोदनामिका सिद्धिः।[५] आधिभौतिकदुःखविघातः मुदितनामिका सिद्धिः। आधिदैविकदुःखविघातः अष्टमी मोदमानाख्या सिद्धिरिति। प्रत्ययसर्गस्य अवान्तरभेदः प्रतिपादितः। भूतादिसर्गस्यावान्तरभेदं प्रतिपादयिष्ये इति। दैवसर्गः अष्टप्रकारो[६] भवति। ब्राह्मः, प्राजापत्यः, ऐन्द्रः, पैत्रो, गान्धर्वो, याक्षो, राक्षसः, पैशाचश्चेति। तैर्यग्योनिश्च पञ्चविधो भवति पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरा इति। मानुषकश्च एकविधो भवति। भुवलोकस्वर्गलोकमहलोकजनलोकतपलोकसत्यलोकेषु सत्त्वगुणस्य बहुलता[७] भवति। भूर्लोके रजोगुणस्य, पश्वादिस्थावरान्तेषु तमोगुणस्य बहुलता च भवति। यथा नर्तकी नृत्यं दर्शयित्वा नृत्यात् निवर्तते तथैव प्रकृतिः आत्मानं दर्शयित्वा निवर्तते। प्रकृतिः सुकुमारतरा वर्तते। स्वं रूपं प्रदर्श्य सा परावृता भवति। पुरुषः गुणरहितः अपरिणामी विद्यते अतः कश्चिद् पुरुषः न बद्धो भवति न प्रेत्यभावापरनामानं संसारं लभते नापि पुरुषः मुक्तो भवति। अपितु प्रकृतिरेव नानापुरुषाश्रया सती बद्धा भवति संसारं लभते मुक्ता च भवति इति। धर्मवैराग्यैश्वर्यानैश्वर्याधर्माज्ञानावैराग्यैरेभिः सप्तभिः[८] आत्मना आत्मानं बध्नाति। विवेकज्ञानरूपेणैकेन पुरुषं विमोचयति इति। तत्त्वविषयज्ञानाभ्यासात् संशयभ्रमराहित्यात् प्रमात्मकं मिथ्याज्ञानरहितं नास्ति परिशेषः ज्ञातव्यो

---

१. ऊहादिभिः सिद्धिरष्टधा ।।४४।। अ. ३ सू. ४४ सांख्यसूत्रवृत्तिः पृ.सं. १२५

२. सांख्यसूत्रवृत्तिः पृ.सं. ४२८, ३. सांख्यसूत्रवृत्तिः पृ.सं. ४२८, ४. सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ.सं. ४४१

५. सांख्यसूत्रवृत्तिः पृ.सं. १२६,

६. अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनिश्च पञ्चधा भवति।
मानुषकश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ।।सां.का. ५३।। सां.त.कौ. पृ. ४५।

७. "ऊर्ध्वं सत्त्वविशाला" ।। अ. ३ सू. ४८।।
तमो विशाला मूलतः अ.३ सू. ४९। "मध्ये रजोविशालः" अ. ३ सू. ।।५०।।

८. रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः। सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण ।। सां.का. ६३ ।।

विषयो यस्मिन् तादृशम् अहं क्रियाशून्योऽस्मि, अहम् अकर्ताऽस्मि स्वामितारहितोऽस्मि इति ज्ञानं जायते। अत्र वाचस्पतिमिश्रोऽपि वदति ''यतश्चात्मनि[1] व्यापारावेशो नास्त्यतो ''नाहम्''। अहमिति कर्तृपरम्। अहं जानामि' 'अहं जुहोमि' 'अहं ददे' 'अहं भुञ्जे' इति सर्वत्र कर्तुः परामर्शात्, निष्क्रियत्वे च सर्वकर्तृत्वाभावः। ततः सुष्ठूक्तम् ''नाहम्'' इति। अत एव ''न मे''। कर्ता हि स्वामितां लभते, तदभावात्तु कुतः स्वाभाविकी स्वामिता ? इत्यर्थः। अथवा ''नास्मि'' इति पुरुषोऽस्मि न प्रसवधर्मा इति।

विवेकज्ञाने जाते सति प्रकृतिः मया दृष्टा इति निश्चित्य पुरुषः प्रकृतिं पुनः सकौतुकं द्रष्टुं नेच्छति। प्रकृतिरपि पुरुषेणाहं दृष्टा इति निश्चित्य विरमति न पुनर्दर्शनाय प्रवर्तते[2] इति। सांख्यनये मोक्षस्तु द्विविधो भवति जीवन्मुक्तिः विदेहमुक्तिश्च। विशुद्धज्ञानप्राप्तेः देहारम्भकानां संचितक्रियमाणानां धर्मादीनां संसारकारणत्वाप्राप्तौ अर्थात् स्वाश्रये स्वफलोत्पादनासामर्थ्यस्य प्राप्तौ देहारम्भकादृष्टवशात् स च तत्त्वज्ञानी धृतशरीरः तिष्ठति यथा कुलालव्यापारात् चक्रे वेगसंस्कारो जायते ततः घटनिर्माणानन्तरमपि चक्र भ्रमिः तिष्ठति तथैव तत्त्वज्ञानीति इयमवस्था जीवन्मुक्तस्य भवति। जीवन्मुक्तौ श्रुतिरपि प्रमाणं विद्यते।

''दीक्षयैव नरो मुच्येत्तिष्ठेन्मुक्तोऽपि विग्रहे।
कुलालचक्रमध्यस्थो विच्छिन्नोऽपि भ्रमेद् घटः''[3] ।।८२।।

सांख्यदर्शने जीवन्मुक्तिः स्वीक्रियत इत्यत्र सूत्रत्रयं प्रमाणं विद्यते। ''जीवन्मुक्तश्च''[4] ''चक्रभ्रमणवद्धृतशरीरः''[5] ''संस्कारलेशतस्तत्सिद्धिः''[6] अर्थात् जीवन्मुक्तः मुक्तो भवति रागाभावात्। यथा दण्डस्यापगमे वेगसंस्कारवशात् चक्रं भ्रमति तथैव तत्त्वज्ञानिनामपि देहधारणकर्मणः अक्षयत्वात् तस्मिन् क्षणे विदेहमुक्तिस्तु न भवति परन्तु सञ्चितकर्मणां क्षयात् जीवन्मुक्तिदशायां संस्कारस्य विद्यमानत्वात् जीवन्मुक्तस्य सिद्धिर्भवति। तदनन्तरमारब्धभोगेन कर्मणोत्पादितस्य शरीरस्य नाशे जाते बुद्धितत्त्वादिद्वारा भोगापवर्गपुरुषार्थयोः प्राप्त्यनन्तरं प्रधानं विनिवर्तते। ततः पुरुषः ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति। अत्र सूत्रकारः वदति-

''विवेकान्निःशेषदुःख निवृत्तौ कृतकृत्यः नेतरान्नेतरात्''[7] अर्थात् अशेषरूपेण त्रिविधदुःखस्यात्यन्तनिवृत्तो कृतकृत्यः पुरुषः परममुक्तिं प्राप्नोति। मोक्षस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह सूत्रकारः - ''द्वयोरेकतरस्य वौदासीन्यमपवर्गः[8] अर्थात् प्रकृतिपुरुषयोः, प्रकृतेः औदासीन्यं विवेकिनं प्रति अप्रवर्तनम्, पुरुषस्य औदासीन्यं प्रकृत्यनभिष्वङ्गः उभयोरेकतरः पुरुषः तस्य स्वस्वरूपे अवस्थानं मोक्षः।

---

१. सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ.सं. ४८४

२. दृष्टा मयेत्युपेक्षत एको दृष्टाहमित्युपरमत्यन्या। सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य।। ।। सां.का. ६६ ।।

३. सांख्यसूत्रवृत्तिः पृ.सं. ४२८, ४. सांख्यसूत्र अ. ३ सू. ७८, ५. सांख्यसूत्रम् अ. ३ सू. ८२

६. सांख्यसूत्रम् अ. ३ सू. ८३, ७. सांख्यसूत्रम् अ. ३ सू. ८४

८. सांख्यसूत्रम् अ. ३ सू. ६५ सांख्यसूत्रवृत्तिः पृ. १३३

संक्षेपेण पञ्चविंशतितत्त्वानां निरूपणे मया विहितं विस्तरभयादत्रैव विरम्यते चित्ररूपेण जगतः विकासक्रम उच्यते-

मूलप्रकृतिः = अव्यक्तम् = प्रधानम्।

पुरुषः पञ्चविंशतितमं तत्त्वमिति।

↓

महान् = बुद्धिः

↓

अहङ्कारः

सात्त्विकी सृष्टिः ↓ तामसीसृष्टिः

मनः | पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि | पञ्च कर्मेन्द्रियाणि | पञ्चतन्मात्राणि

पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि: श्रोतम् चक्षुः घ्राणम् रसना त्वक्

पञ्च कर्मेन्द्रियाणि: वाक् पाणी पादौ पायुः उपस्थः

पञ्चतन्मात्राणि: शब्दतन्मात्रा स्पर्शतन्मात्रा रूपतन्मात्रा रसतन्मात्रा गन्ध-तन्मात्रा

आकाशः वायुः तेजः जलम् पृथिवी
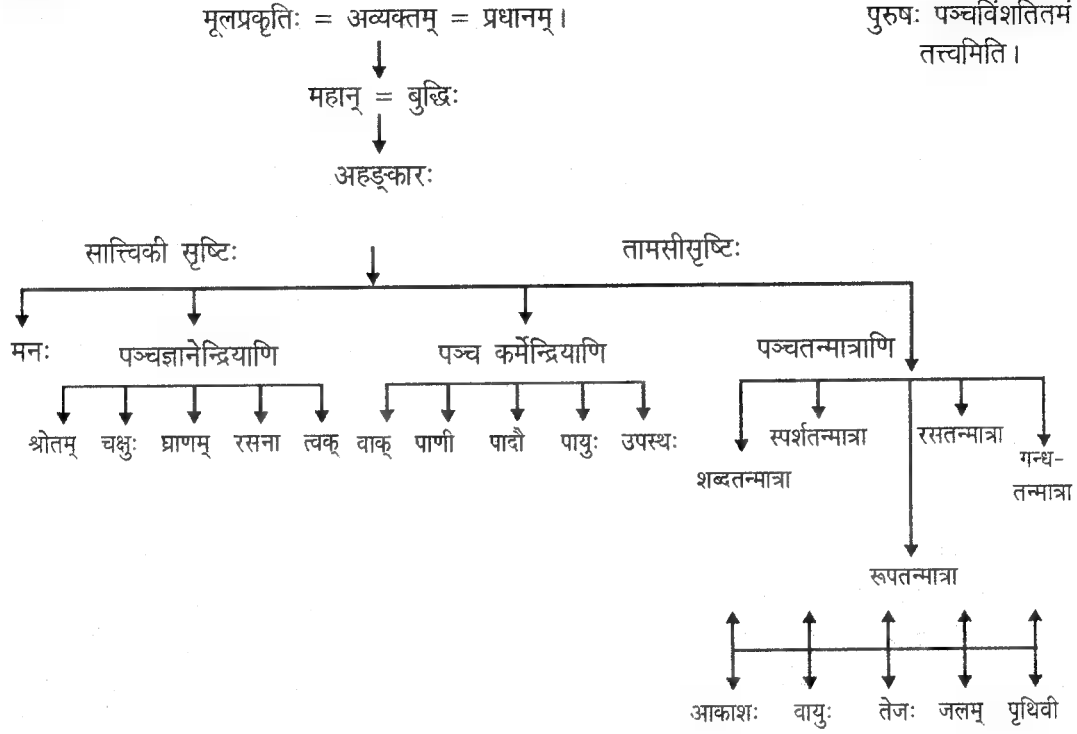
अनया रीत्या समासतः पञ्चविंशतितत्त्वानां स्वरूपं प्रतिपादितमिति।

▢▢ सङ्केतः उपाचार्यः सर्वदर्शनविभागाध्यक्षश्च
श्री लाल बहादुरशास्त्री राष्ट्रिय-संस्कृत-विद्यापीठम्
(मानित-विश्वविद्यालयः)

नादतत्त्वविमर्शः

❑ प्रो. राधेश्याम चतुर्वेदी

भारतीय दर्शन परम्परा में जगत् की सृष्टि के विषय में भिन्न-भिन्न प्रकार से चिन्तन हुआ है। इस क्रम में नाद-ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति हुई है यह अन्यतम सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त को स्वीकार करने वाले दार्शनिक सम्प्रदायों में स्फोटवादी वैयाकरण तथा अनेक तन्त्रागमाश्रित शैव दर्शनादि हैं। तन्त्रागमों के अनुसार जब परम शिव अथवा परम शक्ति स्वातन्त्र्यवशाद् लीलावश सिसृक्षा करता है, तो समवायिनी विमर्श शक्ति शून्य रूप से परिणमित होती है। शून्य से स्पर्श तथा स्पर्श से नाद की उत्पत्ति होती है। शून्य बिन्दु रूप होता है जो प्राणवायु का घनीभूत सङ्घट्ट होता है। प्राण सर्वत्र सञ्चरण करता हुआ ब्रह्माण्ड, प्राकृताण्ड, मायाण्ड आदि क्रम से व्यष्टितया प्रति पिण्ड में स्पन्दित होता है। प्राण ही नादरूप है, जिसका उत्पत्ति स्थान मूलाधारचक्र है। कुछ विद्वान् इसका उत्पत्तिस्थान हृदय मानते है। नाद की व्यक्ति परम पुरुष के वाचक 'हम्' तथा परम प्रकृति के वाचक 'स', जो कि संहार तथा सृष्टि बीज होते हैं, से होती है। इसी कारण प्राणियों के देह में स्वभावतः स्पन्दन रूप प्राण अथवा नाद 'हंस' इस प्रकार उच्चार्यमाण होता है।

ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में वाग्रूप से, उपनिषदों में शब्द ब्रह्म रूप से, योगसाधना में भ्रमरस्वन के समान आन्तर्नादरूप से, शब्दविवर्तमत में अखण्डस्फोट रूप से तथा तन्त्रसाधना में विविध अर्थ वाले ओङ्कार उच्चारण द्वारा कृत्रिमवर्णविभाग के विगलित हो जाने पर अखण्ड नादरूप से गृहीत है। यही नाथ सम्प्रदाय में मन्त्रयोग मन्त्रसाधना नादसाधना आदि नामों से ज्ञेय है। पर बीजरूप नाद समस्त प्राणियों में स्थित होता हुआ परमेश्वर की ज्ञानशक्ति के रूप में नाद तथा क्रियाशक्ति के रूप में बिन्दु कहलाता है। इस नादानुसन्धान को पुरुषार्थलाभ का अन्यतम उपाय बतलाया गया है। यही परावाक् परब्रह्म नाद सृष्टि का कारण है।

विद्वान् लेखक ने नादविमर्श की शास्त्रोक्त प्रक्रिया को अत्यन्त सरल तथा रोचक शैली में प्रतिपादित करते हुए तथा नादसाधना में गुरु की अनिवार्यता आत्मसाक्षात्कार हेतु बतलाते हुए नादतत्त्व के विमर्श पर प्रकाश डाला है।

●

नादस्य स्वरूपम्

जगतः सृष्टिविषये भिन्नभिन्नदार्शनिकसम्प्रदायानां भिन्नभिन्नानि मतानि शास्त्रेषूपलभ्यन्ते। तत्र शब्दब्रह्मणो नादाद्वा जगत उत्पत्तिरिति अन्यतमः सिद्धान्तः। परमा शक्तिः परमशिवो वा यदा निरपेक्षः सन् स्वस्वातन्त्र्यवशाल्लीलान्यायेन जगत् स्रष्टुमिच्छति तदा तस्मिन् समवायसम्बन्धेन वर्त्तमाना तत्समवायिनी विमर्शशक्तिः शून्यरूपेण परिणमते। शून्यात् शक्तिरूपस्य स्पर्शस्योत्पत्तिस्ततो नादः। तदाह स्वच्छन्दतन्त्रे–

'तस्माच्छून्यं समुत्पन्नं शून्यात् स्पर्शसमुद्भवः।
तस्मान्नादः समुत्पन्नः।।' (११।१५)

बिन्दुरेव शून्यम्। यथा बिन्दोः संसरणेन रेखा प्रकटीभवति तथा शक्तेः परिणामभूतेन बिन्दुना नादस्य समुद्भवः।

बिन्दोस्तस्माद् भिद्यमानाद्रवोऽव्यक्तात्मकोऽभवत्।
स एव श्रुतिसम्पन्नैः शब्दब्रह्मेति गीयते।। (प्रपञ्चसार तन्त्रम् १।४३)

अयं बिन्दुः प्राणवायोर्घनीभूतः सङ्घट्टः। परमात्मन एकस्या एव शक्तेः तदिच्छया त्रयः प्रकारा आविर्भूता भवन्ति। तेषां नामानि संविच्छक्तिः सन्धिनीशक्तिः ह्लादिनीशक्तिश्च सन्ति। आसां शक्तीनां मध्ये संविच्छक्तिः प्रधानीभूताऽस्ति। आकाशरूपेयं संविच्छक्तिः पारमेश्वरस्वातन्त्र्येणादौ प्राणरूपेण परिणमते–'प्राक् संवित् प्राणे परिणता।' अयं प्राणवायुर्व्यापकरूपेण ब्रह्माण्डे व्याप्यरूपेण च पिण्डे प्रवहन्नास्ते, पिण्डब्रह्माण्डयोः सादृश्यात्। असंख्यब्रह्माण्डेषु उपाधिवशात् पृथक् पृथग् रूपेणोच्चरमाणोऽप्ययं प्राणः समष्टिरूपेणैक एव। यथा पृथक् पृथक् पिण्डे प्रवहमाणः प्राणः समष्टिरूपेण एक एव सन् तत्तत्पिण्डोपाधिना प्रतिपिण्डं पृथक् पृथग् व्यवहरति जीवनमृत्युरूपेण, तथैव पृथक् पृथग् ब्रह्माण्डे प्रवर्त्तमानः प्राणः ब्रह्माण्डानां समष्टिभूते प्राकृताण्डे एक एव। अनयैव रीत्या नानाप्राकृताण्डेषु पृथक् पृथग् विचरन् प्राणः प्राकृताण्डानां समिष्टभूते मायाण्डेऽपि एक एव। तथैव पद्धत्याऽधिसङ्ख्यमायाण्डेषु प्रवहमाणः प्राणः शाक्ताण्डे एक एव। इत्थं पश्यामो वयं यत् शक्त्यधिष्ठानभूतात् शाक्ताण्डात् प्रचलितः प्राणः प्रतिपिण्डं व्यष्टिरूपेण स्पन्दमान आस्ते। अयमेव प्राणवायुर्नादिति नाम्ना प्रसिद्धः। परमशिवमतिरिच्य नान्यः कोऽपि अस्य प्रेरयितोच्चारयिता वा विश्वस्मिन् वरीवर्त्ति। अयं नादो निखिलेऽपि विश्वस्मिन् अजस्रं प्रवहमान आस्ते। स न तु कदाचिद् विरमति नाप्यवरुध्यते केनचित्–

नास्योच्चारयिता कश्चित् प्रतिहन्ता न विद्यते।
स्वयमुच्चरते देवः प्राणिनामुरसि स्थितः।। (स्व.तं. ७।५८)

एष नादः 'महाशब्दः' इति नाम्नापि प्रसिद्धः। परबीजरूपोऽयं सर्वप्राणिनां हृदयेऽवस्थितः। तदुक्तं कालोत्तरतन्त्रे–'नादाख्यं यत् परं बीजं सर्वभूतेष्ववस्थितम्।' (१।५)

उत्पत्तिस्थानम्

पूर्वमेवोक्तं यत् सृष्टेरादौ संवित् शक्तिः प्राणरूपेण परिणमते। अस्मिन् प्राणे नादस्योत्पत्तिः किं वा प्राण एव नादः। केषाञ्चिन्मते संविदेव परावाग्रूपाऽस्ति। इयं च वाङ्मूलाधारे तिष्ठति–

'परावाङ् मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिदेशगा।
हृदिस्था मध्यमा प्रोक्ता वैखरी कण्ठदेशगा।।' (प.ल.मं.स्फो.)

अत एव नादस्योत्पत्तिस्थानं मूलाधारचक्रम्। प्राणः पारमेश्वरेच्छावशाच्चिदचिदुभयधर्मयुक्तः। चित्त्वाद्धेतोरस्मिन् प्राणे शश्वत् स्पन्दनं स्वाभाविकरूपेण भवति। इदं स्पन्दनमुच्चार इति कथ्यते। अस्मादुच्चारादव्यक्तो ध्वनिरनाहतनादो वा निरन्तरमुत्पद्यमान आस्ते। अन्येषां विदुषां मते यतो हि पिण्डाभिधे शरीरे प्राणस्य स्थानं हृदयं वर्त्तते तस्माच्च हृदयात्प्राणः समग्रे शरीरे धावति अतः हृदयमेव तस्य नादस्योत्पत्तिस्थानम्। अस्यानाहतनादस्याभिव्यक्तिस्थानं बीजद्वयम्– सृष्टिबीजं 'सः' इति, संहारबीजं च 'हम्' इति। इदं बीजद्वयमाधृत्य नादस्याभिव्यक्तिर्भवति। 'हम्' इति परमपुरुषस्य 'सः' इति परमप्रकृतेश्च वाचकः। उभयोर्यामलस्वरूपं 'हंसः' इति। इदमेवास्य ध्वनिरूपेण प्रथमः परिणामः। अयं नित्यतया निखिलेष्वपि ब्रह्माण्डादिषु प्रवहमान आस्ते। प्राणिनां देहेष्वप्ययं नादो 'हंसः' 'हंसः' इति स्वाभाविकतया उच्चरन्नास्ते।

साहित्यम्

नादतत्त्वस्य वाग्रूपेण वर्णनं सर्वप्रथमतया सर्वप्राचीनतया वा ऋग्वेदे प्राप्यते। तत्र वाक्सूक्ते वाक् सर्वकार्यस्य कर्त्रीरूपा कथिता। सर्वेषु देवेष्वन्तः शक्तिरूपेण वर्त्तमाना सा भरणधारणादिकं कर्म करोति। तदाह–

अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमाश्वनोभा। .....अहं दधामि द्रविणं हविष्मते .....अहमेव स्वयमिदं वदामि .....यं कामये तं तमुग्रं करोमि .....। (ऋ.वे. १०।१२५।३) अथर्ववेदेऽप्ययं मन्त्रो लभ्यते। अस्मिन्नेव वेदेऽनेकेषु मन्त्रेषु वाचो वर्णनं क्रियते ऋषिभिः। तद्यथा–

'वाग्वै देवेभ्योऽपाक्रामत् यज्ञायातिष्ठमाना। सा वनस्पतीः प्राविशत्। सैषा वाग् वनस्पतिषु वदति दुन्दुभौ या तूणवे वीणायाम्।' (अथ. ६।१।४।१)। तथा– 'वाग्वै पराच्यव्याकृताऽवदत्। ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुरु.....।' (अथ. ६।४।७।५)। मैत्रायणीसंहितायामपि–

'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।।' (६।२२)

एतेनेदमायातं यद् यत्तत्त्वं वाग्रूपेण वर्णितं तन्नाद एव।
उपनिषत्स्वपि नादतत्त्वस्य चर्चा समायाति। नादबिन्दूपनिषद्युक्तम्–

'ब्रह्मप्रणवसंलग्ननादो ज्योतिर्मयात्मकः।
मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परमं पदम्।।' (ना.वि. ४६)

एष नादो निरतिशयः। अयमेव शब्दब्रह्म, प्रणवनादः, ब्रह्मनादः, परावाक् इत्यादि नानानामभिरभिधीयते। ब्रह्मबिन्दूपनिषद्यपि शब्दब्रह्मणश्चर्चाऽऽयाति–

द्वे विद्ये वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।। इति।

शब्दब्रह्मैव नादतत्त्वमिति पूर्वमेवोक्तम्। इदमेव विष्णोः परमं पदं यत्सूरयः सदा पश्यन्तो विराजन्ते। अवरकोटिकाः सर्वेऽपि नादाः ये आभ्यन्तरीणा बाह्या वा सन्ति ते सर्वे अस्मिन्नेव निरञ्जने नादे उत्पद्यन्ते विलीयन्ते च। एष नादो यद्यपि नित्यनिरञ्जनः सर्वव्यापी योगिजनानुभवगम्योऽस्ति तथापि तत्तदुपाधिभिरुपहितोऽसौ तत्तद्रूपतां व्रजति। अतएव ध्वनिरुत्पद्यते, नादस्तिरोहितो भवति, इत्यादि व्यवहारा लोके प्रचलिता दृश्यन्ते। यथोक्तं योगचूडामण्युपनिषदि–

गगनं पवने प्राप्ते ध्वनिरुत्पद्यते महान्।
घण्टादीनां प्रवाद्यानां नादसिद्धिरुदीरिता।। (यो.चू. ११५)

नादविन्दूपनिषदाह–

'अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम्।
पक्षाद् विपक्षमखिलं जित्वा तुर्यपदं व्रजेत्।।
श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान्।
वर्धमाने तथाभ्यासे श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मतः।।
आदौ जलधिजीमूतभेरीनिर्झरसम्भवः।
मध्ये मर्दलशब्दाभो घण्टाकाहलजस्तथा।।
अन्ते तु किङ्किणीवंशवीणाभ्रमरनिःस्वनः।
इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते सूक्ष्मसूक्ष्मतः।।' (३२-३५)

साधको यदा बाह्यं नादं विस्मृत्यान्तर्नादे समाहितो भवति तदा तस्य मनो बाह्यविषयेभ्यो विरतं भूत्वा तस्मिन् सुनादगन्धे भृङ्गवन्मकरन्दं पिबन्नास्ते। यत्रकुत्रापि नादे साधकस्य मनः स्थिरं भवति तत्र स्थिरीभूय तदूर्ध्वं सूक्ष्मतरं नादमनुसन्दध्याद्योगीति सिद्धान्तः। अयं नादो निशिताङ्कुश इव विषयकान्तारचारिमत्तमनोवारणस्य वारकः। अस्यामवस्थायां योगी मृतवदवतिष्ठते। स शीतोष्णसुखदुःखमानावमानादुत्तीर्णो भवति। एवंप्रकारेणाभ्यस्यन् योगी शाम्भवीमुद्रामापन्नो जाग्रतस्वप्नसुषुप्त्यवस्थात्रयविनिर्मुक्तः तुरीयामवस्थां भजते। यथोक्तं नादबिन्दूपनिषदि–

'अवस्थात्रयमन्वेति न चित्तं योगिनस्तदा।
जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्तः स्वरूपावस्थतामियात्।।' इति।

'दृष्टिः स्थिरा यस्य विना सदृश्यं
वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नम्।
चित्तं स्थिरं यस्य विनावलम्बं
स ब्रह्मतारान्तरनादरूपः।।' इति च।

महाभारतेऽपि–

वेदाः प्रमाणं लोकानां न वेदाः पृष्ठतः कृताः।
द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्द ब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।। (म.भा.शा.प. २७०)

अत्र शब्दब्रह्मेति ओंकारः। ओंकार एव च नादतत्त्वम्। सूतसंहितायां च शब्दब्रह्मणो निरूपणं यथा–

परः परतरं ब्रह्म ज्ञानानन्दादिलक्षणम्।
प्रकर्षेण नवं यस्मात् परं ब्रह्म स्वाभावतः।।
अपरः प्रणवः साक्षाच्छन्दरूपः सुनिर्मलः।
प्रकर्षेण नवत्वस्य हेतुत्वात् प्रणवः स्मृतः।।

प्रणवो द्विविधः, परोऽपरश्चेति। परो ब्रह्मात्मकः, अपरः शब्दात्मकः। अयमेव नाद इति कथ्यते। वैय्याकरणमतमनुसृत्य नादसम्बन्धे किञ्चिदुच्यते। योगी भर्तृहरिः वाक्यपदीये शब्दब्रह्मणश्चर्चां करोति–

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।। (१।१)

नादरूपादस्माद्ब्रह्मणो जगद् विवर्त्तमानं भवति। शान्तब्रह्मणो स्पन्दनमेव शब्दब्रह्म।

नादैराहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह। (वा.प. १।८३)

इति कारिकायां नादशब्देनानित्या ध्वनयः सङ्केत्यन्ते। बीजशब्देन संस्कारो भावना वा कथ्यते। एतेषां सर्वेषां पृष्ठभूमौ परनादः शब्दब्रह्म वा तिष्ठति यो हि अन्यैर्वैयाकरणैः स्फोटशब्देन वाच्यतां नीयते। भर्तृहरिणाऽपि स्फोटशब्दस्य प्रयोगः कृतः–

'स्फोटस्याभिन्नकालस्य ध्वनिकालानुपातिनः।' इति। (वा.प. १।७४)

हेलाराजः परां वाचं शब्दब्रह्मेति कथयति–

'संविच्च पश्यन्तीरूपा भिद्यते। परावाक् शब्दब्रह्ममयी इति ब्रह्मतत्त्वं शब्दात् पारमार्थिकान्न भिद्यते।' (द्रव्यसमुद्देश ११ टी.)

कौण्डभट्टेन वैय्याकरणभूषणसारे नागेशभट्टेन च वैय्याकरणमञ्जूषायां वारं वारं स्फोटशब्दः प्रयुक्तः–

'वाक्यस्फोटोतिनिष्कर्षे तिष्ठतीति मतस्थितिः' इत्यादि। (वै.भू.सा. ६१)

'स चायं स्फोट आन्तरप्रणवरूप एव। तत्राप्यवयवद्वारा प्रणवोपलक्षणत्वम्।' (वै.सि.ल.मं. स्फोटप्रकरणम्)

इत्थमिदं निश्चीयते यद् वैय्याकरणैरपि नादतत्त्वस्य स्फोटरूपेण यत्र तत्र चर्चा कृता। नादतत्त्वमेव अखण्डस्फोटः, शब्दब्रह्म, अनाहतनाद इत्यादि नानाशब्दैरभिव्यज्यते।

नाथसम्प्रदाये नादतत्त्वस्याधिकं महत्त्वं वर्त्तते। अयं सम्प्रदायो भगवता शिवेन प्रवर्त्तितः अतएव भगवान् शिवः 'आदिनाथः' इति नाम्नालङ्कृतः। नाथसम्प्रदाये नवनाथानां चर्चायाति। तत्र मच्छन्दनाथो मत्स्येन्द्रनाथ इति वा प्रथम आचार्य उद्दिष्टः। उक्ता नवनाथा पाशुपतदर्शनस्यानुयायिन आसन्। श्री गोरक्षनाथोऽत्र प्रसिद्धतम आचार्यः। मत्स्येन्द्रनाथस्य शिष्यभूतोऽयं स्वपूर्वप्रचलितं नाथसम्प्रदायं सुव्यवस्थितं सुसङ्घटितं च कृत्वा अपूर्वां साधनपद्धतिं प्रवर्त्तयामास। ८०० ईस्वीतः १७०० ईस्वीपर्यन्तं नाथसम्प्रदायस्य प्रचारो बृहद्रूपेणासीत्। एतन्मते प्राणायाम-साधना-ओंकारसाधना चेति साधनाद्वयी मुख्यतमा मता। ओंकारस्था अ उ म् इति त्रयो वर्णाः त्रयाणां कालानां त्रयाणां वेदानां त्रयाणां लोकानां त्रयाणामग्नीनां त्रयाणां देवानां तिरॄणां पारमेश्वरीशक्तीनां च वाचकाः सन्ति-इति शास्त्रमर्मज्ञाः कथयन्ति। ओंकारसाधनमेव नादानुसन्धानमिति कथ्यते। अकारो वह्निदेशे ब्रह्मग्रन्थ्यभिधे नाभिस्थले, उकारो विष्णुग्रन्थौ हृद्देशे मकारश्च रुद्रग्रन्थौ भ्रुवोर्मध्ये तिष्ठति। ओंकारस्य अउम् इति कृत्रिमो वर्णविभागो नामस्मरणादोङ्कारस्मरणाद्वा यदा विगलितो भवति तदाऽखण्डनादः साधकस्यानुभवपथमायाति। नामस्मरणमेव मन्त्रयोग-मन्त्रसाधना-नादसाधना-इत्यदि नानानामभिर्व्यवह्रियते। इदं नादानुसन्धानमद्वैतशब्दब्रह्मानुसन्धानम्। नादतत्त्वमाश्रित्य परब्रह्मतत्त्वस्य साक्षात्कारो भवति। अयमेवात्मसाक्षात्कारः परमपुरुषार्थलाभो मोक्षावाप्तिर्वेति कथ्यते।

तान्त्रिकवाङ्मये नादतत्त्वस्य वर्णनमनेकेषु ग्रन्थेषूपलभ्यते। ईश्वरप्रत्यभिज्ञायामुक्तमुत्पलदेवेन–

मूर्त्तिवैचित्र्यतो देशक्रममाभासयत्यसौ।
क्रियावैचित्र्यनिर्भासात् कालक्रममपीश्वरः।। (२।१।५)

परमेश्वरः स्वेच्छया स्वाव्यतिरिक्तमपि व्यतिरिक्तमिव जगदाभासयति। तत्र कालक्रमाभासने नादस्याविर्भावः। स्वच्छन्दतन्त्रे च–'अत्रारूढस्तु कुरुते शिवः परमकारणम्।' (१०।१२५८)

इत्युक्तम्। अस्यायमर्थः– परमेश्वरो व्यपिनीशक्तिसदाशिवादिभावाभावात्मकस्वशक्तिभित्तिभूतसमनाशक्तिमवलम्ब्य जगदाभासयति। अर्थाज्जगदाभासने शक्तिव्यापिनीसमनेति त्रीणि कारणानि सन्ति। समनातः शून्यस्योत्पत्तिः। तदनन्तरमन्यानि तत्त्वानि समुद्भवन्ति। तदेवाह–

'तस्माच्छून्यं समुत्पन्नं शून्यात् स्पर्शसमुद्भवः।
तस्मान्नादः समुत्पन्नः ....।।' (स्व.तं. ११।५)

एकैव पारमेश्वरीच्छाशक्तिः परसूक्ष्मस्थूलरूपतया समनाव्यापिनीशक्तिः-इति नामभिर्व्यवह्रियते। शक्तेः स्पर्शाच्छून्यरूपवाच्यवाचकोभयात्मकस्य जगतो मध्यात् प्रथमं वाच्यवाचकाविभागमयो नादः प्रस्फुटितो भवति। ध्वनिप्रभेदतः स घोषरावाद्यष्टधा रूपं गृह्णाति। नवमस्तु प्रकारो 'महाशब्दः' इति। अयं सर्वेषां व्यापको मतः। अयं

नादः स्थावरादिदेवयोन्यन्तेषु सर्वेषु प्राणिषु स्थितः सन्नजस्रं नदन्नास्ते। कालोत्तरतन्त्रानुसारेणायं सृष्टेर्बीजम्। तदाह–**'नादाख्यं यत् परं बीजं सर्वभूतेष्ववस्थितम्।'** इति।

स एव नादो ज्ञानक्रियारूपसदाशिवभट्टारकरूपेणाभिव्यज्यते। परमेश्वरो यदाऽन्तःकृतज्ञानशक्तिप्रधानस्तदा 'नादः' इति, यदा च क्रियाशक्तिरूपः प्रकाशस्तदा बिन्दुरिति कथ्यते। अस्माद् बिन्दोः सदाशिवस्योत्पत्तिः। यथोक्तम्–

'बिन्दोः सदाशिवो ज्ञेयः।' इति (स्व.तं. ११।१०)

सदाशिवात् ईश्वरशुद्धविद्यादिक्रमेण पृथिव्यन्ता जगत उत्पत्तिः।

आकाश एकः सन्नपि उपाधिभेदेन त्रिधा। भूताकाशः, चित्ताकाशश्चिदाकाशश्चेति। चक्षुषि निमीलिते सति यो घनान्धकारो दृश्यते तद् भूताकाशस्य रूपम्। अत्र भेद एव स्फुरति। अस्य भूताकाशस्य दर्शनं चक्षुरिन्द्रियेण भवति। चित्ताकाशस्य दर्शनं हृदये भवति। अयमाकाशो भेदाभेदमयः। यदा भूताकाशादन्धकारमयमावरणं किञ्चित्कालायापसृतं भवति तदा हृदये चित्ताकाशस्य दर्शनमाभ्यन्तरचक्षुषा भवति। चिदाकाशस्य स्थानं सहस्रारम्। भूतशुद्धेः प्रभावाच्चित्ताकाशे चित्तशुद्धेश्च प्रभावाच्चिदाकाशे साधकस्य स्थितिर्भवति। चिदाकाश एव विष्णोः परमं पदं यत् सूरयः सदा पश्यन्ति। नादतत्त्वं त्रिष्वप्याकाशेषु नदति। किं वा चिदाकाशः स्वयमेव नादरूपः। परमात्मनः स्वातन्त्र्यशक्तिः स्वात्मविमर्शकाले दर्पणतुल्ये चिदाकाशे भावराशिमभिव्यनक्ति। भावराशेः स्फुटीभाव एव परनादः। अयं परावागिति नाम्ना प्रसिद्ध इति पूर्वमेवोक्तम्। अत्र शब्दार्थौ अस्फुटरूपेणाभेदेन च तिष्ठतः। अस्याधिष्ठानं सुषुम्णानाडी। कुण्डलिनीशक्तिर्यदा प्रबुद्धा सती मूलाधारादूर्ध्वं व्रजति तदा मनसा सह प्राणवायोरूर्ध्वसञ्चारो भवति। अनेन सञ्चारेण सह कुण्डलिनीनामको बिन्दुरपि नादस्य रूपं दधाति।

नादो द्विधा– एकोऽनित्यो भौतिको नादः द्वितीयश्च नित्योऽनाहतनादः। केनचिदाघातेन कण्ठादिभ्य उत्थितो नादः शब्दवज्ज्ञानवद्वा तृतीयक्षणध्वसंप्रतियोगी। अतएवासौ आनत्यः। अयं मृदुकटुमन्दमध्यतीव्रादिभेदेन नानारूपः सन् सखण्डो भवति। तत्तद्देशकालावच्छिन्नोऽयं क्वाचित्कः कादाचित्कश्च भवति। अपरो यो नित्योऽनाहतो नादः स स्वयमुच्चरते। 'नास्योच्चारयिता कश्चित् प्रतिहन्ता न विद्यते।' इति पूर्वमेवोक्तम्। अत्रेदमवधेयम् नादरूपस्य प्राणस्य गतिर्द्विधा– स्वाभाविकी यत्नजा च। तत्र प्राणस्य नादस्य वा यत् स्पन्दनं किञ्चिच्चलनं तस्माद्धेतोः स्वाभाविकरूपेण वर्णानामुदयः। अत्र कस्यचिदपि यत्नस्यापेक्षा न भवति। स्वप्रकाशो नित्यश्चायं नादः सरलतया ऋजुगत्या वा परिस्फुटति। अत्र परापररूपेण सूक्ष्मं तारतम्यम्। तत्र परनादोऽविभक्तः एकरूपो नित्योऽनाहतश्चास्ति। यथोक्तं तन्त्रालोके–

'एको नादात्मको वर्णः सर्ववर्णाविभागवान्।
सोऽनस्तमितरूपत्वादनाहत इवोदितः।।' (६।२१७)

ब्रह्मप्रणवसंलग्नोऽयं नादो ज्योतीरूपः। अयमेव परावाक्पदवाच्य इत्यसकृदुक्तम्। शैवशास्त्रेऽयं पूर्णाहन्तेति कथ्यते। अयं नादो यद्यपि नित्यस्तथापि पारमेश्वरलीलयाऽस्योदयोऽपि भवति। एतद्विषये– 'प्राक् संवित् प्राणे

परिणता।' इति वचनं प्रमाणम्। एवञ्चेदमायाति यत् परावस्थायामस्योदय एव भवति न चास्तमिता। अन्येषां यत्नजानां नादानामुदयास्तावुभावपि घटतः।

नादोऽयं प्राणमाश्रित्योत्पद्यते। केषाञ्चिन्मते प्राणस्य परिमाणं षट्त्रिंशदङ्गुलम्। प्राणसञ्चारश्च बाह्याहोरात्राधीनः। दिवा प्राणस्य सञ्चारः अष्टशतोत्तरदशसहस्रसंख्याकः (१०८००) भवति। रात्रावपि सञ्चारसंख्या एतावत्येव। इत्थमेकस्मिन्नहोरात्रे प्राणस्य षट्शतोत्तरैकविंशतिसहस्रसंख्याकः सञ्चारो भवति। इयं मनुष्याणां स्वाभाविकी निःश्वासप्रश्वाससंख्या। संहारबीजेन हकारेण बहिर्गमनं प्राणस्य, सृष्टिबीजेन च सकारेणाभ्यन्तरागमनमिति 'हं सः' इति मन्त्रोऽजपा गायत्रीति कथ्यते। प्रातरुत्थायास्या परमेश्वरार्पणसङ्कल्पमात्रेण जीवो मुक्तो भवतीति शास्त्रतात्पर्यविदां ऋषीणां मतम्।

विमर्शप्रक्रिया–

शिवत्वलाभो मनुष्याणां परमः पुरुषार्थः। नादानुसन्धानमस्य पुरुषार्थस्य लाभायान्यतम उपायः। नाद एव परावाक् परं ब्रह्मेत्यसकृत्पूर्वमुक्तम्। अस्मादेव सृष्टिः। मात्रातीतश्चिन्मयो नादप्रवाहोऽयं सृष्टिकाले विश्वकल्याणायोर्ध्वतः पुरुषस्य भ्रूमध्ये पतति। यथा लोकपावनी गङ्गा विष्णुपदाच्छिवमस्तकमवतीर्णा तथैवेयं नादगङ्गा विश्वसृष्ट्यै जीवस्य च परमकल्याणाय अवतीर्णा भवति। भ्रूमध्यमेव चित्तस्य केन्द्रम्। प्रकृतिरस्मिन् केन्द्रे हं क्षं इति तथा तयोर्मध्ये लं बीजं सुसंरक्ष्य सृष्ट्युन्मुखी भवति। एवं हं लं क्षं इति त्रयो वर्णा भ्रूमध्ये संरक्षिता भवन्ति। तदनन्तरं चित्सूत्रमवलम्ब्य भ्रूमध्यादधःप्रदेशे त्रीणि मण्डलानि रचितानि भवन्ति। प्रथमं सोममण्डलम्, द्वितीयं सूर्यमण्डलम्, तृतीयं च वह्निमण्डलम्। तत्र सोममण्डलं स्वरमयं सूर्यमण्डलं कादिमान्तपञ्चविंशतिवर्णमयं वह्निमण्डलं च यकारादिसकारान्तमयं वर्त्तते। एषु त्रिषु मण्डलेषु क्रमशः कारणसूक्ष्मस्थूलशरीराणामुत्पत्तिर्भवति। इच्छामनःप्राणानामभिव्यक्तेरायमेव क्रमः। इयत्पर्यन्तं वर्णमालाया रचना पूर्णतां याति। अस्यां दशायामियं वर्णमाला पूर्णचिन्मयी भवति। एतदनन्तरमियं वर्णसमष्टिरीश्वरेच्छयाऽज्ञानमये कारणसमुद्रे यदा निमग्ना भवति तदास्या नाम 'कुण्डलिनी' इति जायते। अज्ञानाद्धेतोरियं वर्णमालाऽथवा कुण्डलिनी सुप्ततां याति। इयं च सुप्तता समष्टिरूपे विश्वे व्यष्टिरूपे च शरीरे समाना भवति। एतेनेदमायातं यन्नाद एव विश्वसृष्टेः कारणं सत् समष्टौ व्यष्टौ च सर्वत्र प्राणरूपेण जीवनीशक्तिरूपेण वा निहितः सन् विराजते। निखिलमनन्तं विश्वं स्वगर्भे धारयन्त्यसौ प्राणशक्तिः कुण्डलिनी वा प्रसुप्तभुजगाकारेण वर्त्तमाना आस्ते। प्राणो यदा स्वगर्भे विश्वं धारयति तदास्य नाम 'पराकुण्डलिनी' इति भवति। अस्यां दशायामनच्कहकारः स्वयमुच्चरते नादभावश्च तिरोभूतः सन् तिष्ठति। द्वितीयावस्थायां यदाऽयमनच्को हकारो नादात्मकतया स्फुरति तदाऽसौ 'वर्णकुण्डलिनी' इति कथ्यते। तथैव यदा प्राण इदं नादरूपं परित्यज्य निमज्य वा गभीरसुषुप्त्यवस्थां प्राप्नोति तदायं 'प्राणकुण्डलिनी' इति नाम्नाऽभिधीयते। एतास्तिस्रोऽवस्थाः पिण्डे ब्रह्माण्डे विश्वस्मिंश्च सहैव वर्त्तमाना राजन्ते एतावतेदं निश्चीयते यत् नादादेव समस्तविश्वस्य रचना सृष्टिर्वा भवति रचिते चास्मिन्निखिले विश्वे नाद एव प्राणरूपेण निहितो राराजते।

योगश्चतुर्विधः प्रोक्तः– मन्त्रयोगो राजयोगो लययोगो हठयोगश्चेति। तथा चोक्तं योगतत्त्वोपनिषदि–

'योगो हि बहुधा ब्रह्मन् भिद्यते व्यवहारतः।
मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगतः।।' इति।

तत्र लययोगे नादसाधना उपदिश्यते। आदिनाथेन भगवता शिवेन प्रोक्ते सपादकोटिभेदभिन्ने लययोगे नादानुसन्धानात्मको योग एव श्रेष्ठः। अत्र चतस्रो नादभूमयो भवन्ति– आरम्भो घटः परिचयो निष्पत्तिश्चेति। निष्पत्त्यवस्थैव सिद्धावस्था। अष्टाङ्गयोगाभ्यासेन एकैकस्यां नादभूमौ एकैकस्या ग्रन्थेश्चक्रस्य वा भेदो जायते, तेनैव सह एकैकस्य शून्यस्योदयो भवति। तेन शून्योदयेन सह एकैकप्रकारस्य नादस्यानुभवो भवति। ओंकारान्तर्गताकारोकारमकाराणां मध्ये मकारानन्तरमुच्चारो बिन्दुरूपेण परिणमते। अत्र समेषां स्थूलसूक्ष्मादीनामुच्चारणभेदानां लये सत्यविभक्तावस्था भवति। स्वच्छन्दतन्त्रे नवविधनादानां वर्णनं कृतम्–

अष्टधा तु स देवेशि व्यक्तः शब्दप्रभेदतः।
घोषो रावः स्वनः शब्दः स्फोटाख्यो ध्वनिरेव च।।
झङ्कारो ध्वङ्कृतश्चैव अष्टौ शब्दाः प्रकीर्त्तिताः।
नवमस्तु महाशब्दः सर्वेषां व्यापकः स्मृतः।। (११।६-७)

तत्र 'महाशब्दः' इति भेदमतिरिच्यान्येऽष्टभेदाः कल्पिताः सन्ति। 'महाशब्दः' एव बिन्दुः। अस्योच्चारणकालोऽर्धमात्रा भवति। मनो यावत् क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तं वा भवति तावन्नादानुसन्धानस्य प्रारम्भो न भवति। चित्तैकाग्र्यावस्थैवार्धमात्रात्मके बिन्दौ प्रवेशावस्था। अङ्गुलिस्फोटात्मकैकमात्रातोऽर्धमात्रायां प्रवेशोऽतिदुष्करः। यतो हीयमर्धमात्रा चित्तैकाग्र्यचित्त-निरोधयोः सन्धिस्थले स्थिता भवति। अर्धमात्रातोऽपि सूक्ष्माः सूक्ष्मतराः सन्ति नादस्य कालभेदभूमयः। यथा यथा मात्राया ह्रासो वर्द्धते तथा तथा मनसो जडतया स्थूलेन वा सम्बन्धः क्षीयते। तेनैवानुपातेन चित्प्रकाशस्योर्जस्वलता वृद्धिं याति। अयं च क्रमः समनापर्यन्तं प्रचलति। समनात ऊर्ध्वं पूर्णनिरोधावस्थायाति। इयमेवोन्मनावस्था, यत्र मनसः कालस्य क्रमस्य च गतिर्नास्ति। एतेषां गत्यभावे पाशजालं नश्यति। तदुक्तम्–

'समनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तकम्'। इति।
'समनावधिपर्यन्तं कलङ्काधार उच्यते।' इति च (स्व.तं. ७।२२६)

नादतत्त्वस्य साक्षात्काराय जटिलस्य देहतत्त्वस्य भेदनमावश्यकं कर्म। अत्र सोपानत्रयं विद्यते–सकलं सकलनिष्कलं निष्कलञ्चेति। मूलाधारादारभ्याज्ञाचक्रपर्यन्तं सकलं, भ्रूमध्यात् किञ्चिदुपरिस्थिताद् बिन्दोरारभ्य अर्धचन्द्ररोधिनीनादनादान्तशक्तिव्यापिनीसमनोन्मनापर्यन्तं सकलनिष्कलसोपानमस्ति। तदुपरि अर्थादुन्मन्नोपरि स्थितो महाबिन्दुः निष्कलः। ललाटे स्थितोऽयं बिन्दुर्वर्त्तुलाकारो दीपतुल्यः। अस्य परित एकमावरणमस्ति यत्र निवृत्तिः प्रतिष्ठा विद्या शान्ता शान्त्यतीता इति पञ्चकलास्तिष्ठन्ति। शान्त्यतीता कला मध्ये तिष्ठति। शेषाश्चतस्रस्तु शान्त्यतीतां परितो विराजन्ते। यत्परमतत्त्वमव्यक्तावस्थायां 'शिवः' इति कथ्यते तदेव व्यक्तावस्थायां बिन्दुरित्य-भिधीयते। परमशिवस्य सृष्ट्युन्मुख्यवस्थैव बिन्दुः। अयमेवानन्ततत्त्वप्रवेशस्य प्रथमं द्वारम्। पूर्वमुक्तं यत् पिण्डे

ब्रह्माण्डे विश्वस्मिंश्च सर्वत्र नादः स्फुरन्नास्ते। परमात्मनः कृपाशक्तिरर्थाच्चिच्छक्तिर्यदा महामायायां सञ्चरति तदेयं महामाया क्षुब्धा सती नादरूपेण परिणमते।

बिन्दुरूपे चिदाकाशे चिच्छक्तेराघात एव नादाभिव्यक्तेर्मूलम्। इयमेव भगवतो महाकृपेति कथ्यते। भगवत्कृपावशाद् यदा गुरूपदिष्टमार्गेण शास्त्रोक्तविधिना चाभ्यस्यमानः साधकः स्वक्रियाकौशलेन प्रबलेच्छाशक्त्या च यदा मनोऽन्तर्मुखं करोति तदा नादस्य श्रवणप्रारम्भो जायते। लौकिकज्ञाने ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपायास्त्रिपुटेर्लोपो न भवति किन्तु सूक्ष्मचिदनुभूतिसमये भेदज्ञानात्मिकायास्त्रिपुट्याः क्रमशो निवृत्तिर्भवति। योगिजनैरनुभूयमानानां पञ्चशून्यानां मध्ये बिन्दुः प्रथमः शून्यः। अस्यां भूमौ सृष्टेर्बीजभूतायाः प्रकृतेः स्फुरणं न भवति। अत एवायं बिन्दुः पुरुषादभिन्नः कथितुं शक्यते। बिन्दोर्मात्राऽर्धमात्रा भवति। तदुपरि वर्त्तमानानां अर्धचन्द्ररोधिनीनादनादान्तशक्तिव्यापिनीसमनानां मात्राः क्रमशोऽर्धार्धन्यूनताक्रमेण १।४, १।८, १।१६, १।३२, १।६४, १।१२८ तथा १।२५६ भवन्ति। इमा मात्रा येन क्रमेण सूक्ष्मसूक्ष्मतरा भवन्ति तेनैव क्रमेण नादानां स्फुटता विस्तारश्चानुभूयते। केचन विद्वांस उन्मनावस्थायाः १।५१२ मात्रा उच्चारणकालं मन्यन्ते। अपरे कथयन्ति यदस्या अवस्थाया उच्चारणकालो न सम्भवति यतः कालस्य सीमा समनापर्यन्तमेव विद्यते।

चित्तैकाग्र्यदशायां मनसः स्थितिर्विन्दुमध्ये भवति। मनश्च नादद्वारा विन्दौ स्थितिं लभते। अयं नादो नाडीपथा मनो विन्दुं प्रापयति। सुषुम्नैवायं पन्था येन मनस्तत्र स्थितिं लभते। विन्दोः सकाशादसंख्यरश्मीनां निर्गमो भवति। तासां मध्ये यया रश्म्या सह मनसः संयोगो भवति स एव मनसः स्वकीयः पन्थाः। तद्द्वारा आरोहक्रमेण गच्छन् मनः शब्दस्य निवृत्तिधारामवलम्ब्य विन्दुं प्राप्नोति। चिच्छक्तिर्मायायां साक्षात् सञ्चरिता न भवति किन्तु महामायायां प्रतिबिम्बतां प्राप्य मायायां सञ्चरति। सञ्चरणकालसममेव माया क्षुब्धा भवति। अनेन क्षोभेण मायाकाशे यस्य शब्दस्य ध्वनेर्वा उत्पत्तिर्भवति स ध्वनिः शब्दो वाऽशुद्धो भवति। अनेन भेदज्ञानस्य प्रादुर्भावः। भेदज्ञानाद् बन्धो भवति। अशुद्धाः शब्दा विकल्पा इत्युच्यन्ते। आदिक्षान्तमातृकाचक्ररूपेणेयं वर्णमालाऽनन्तविकल्पमयवृत्ताकारं धारयित्वा मायाजालेन जीवं बध्नाति। तस्मान्मायापाशाद् बहिरागमनाय नादमयः शब्द एवैकमात्रमाश्रयः। नादमयः शब्दो जाग्रन्मन्त्ररूपः। अयं साधकानां मनस्यभेदज्ञानमुत्पाद्याशुद्धं वर्णजालं खण्डखण्डं करोति।

चिच्छक्तेर्बिन्दौ निपाताभावे नादस्योत्पत्तिरसम्भवा। एवमेवायं नादो यावद् विन्दौ प्रतयाहतो न भवति तावच्चिच्छक्तेर्लाभोऽप्यसम्भवः। यदा मनः विन्दौ प्रतिष्ठितं भवति तदा विन्दुक्षोभरूपस्य नादस्य विरामो भवति। मनश्च चिच्छक्तौ स्थितिं भजते। नादस्य विरामे सति ज्योतिष आविर्भावः। इदं ज्योतिर्नीरूपं बोधरूपं चैतन्यमेवास्ति। मनस्तत्र स्वेच्छया रूपं निर्मिमीते। शब्देन जागतिकरूपस्याविर्भावः ज्योतिषा च दिव्यरूपस्य प्राकट्यं भवति। नादरूपे शब्दब्रह्मणि मनसो निमज्जनं सविकल्पकसमाधिः, परब्रह्मरूपे ब्रह्मज्योतिषि च निमज्जनं निर्विकल्पकसमाधिरभिधीयते। अयं पातञ्जलसूत्रोक्तसमाधेर्भिन्नरूपा। एतेनेदमायातं यन्नादमुपेक्ष्य ज्योतीराज्ये प्रवेशो न केवलं दुष्करः किन्तु असम्भवः।

अस्माकं सर्वे वाग्व्यवहाराः चिन्तास्मृत्यादयः सर्वा वृत्तयोऽशुद्धशब्दजाः। यदा शुद्धशब्दस्य प्रारम्भो भवति

तदा इमेऽशुद्धशब्दा वह्नाविन्धनवद् भस्मीभूता भवन्ति। शुद्धशब्दस्य नादस्य वा क्रमिकविकासे प्रथमं अस्पष्टालोको दृश्यते। कालक्रमेण साधनक्रमेण चासौ विकासः स्पष्टतां याति। आलोकाज्ज्योतिषः प्रादुर्भावः। कालक्रमेणेदं ज्योतिरादौ विरलभूतं पश्चाद् घनीभूतं सद् दृश्यरूपेण परिणमते। इदं दृश्यं जागतिकवस्तूनि फलं पुष्पं गृहं मन्दिरं वा यत्किञ्चिद् वा भवितुं शक्नोति। आदौ इदं दृश्यं ज्योतिर्मयं सदपि क्षीणज्योतिषा वेष्टितं भवति। पश्चाद् घनीभूतं भवदेतावन्मात्रया घनीभूतं भवति यदिदं ज्योतिर्दृश्यादेवाविर्भूतं प्रतीयते। किञ्चित्कालानन्तरं तद् वेष्टकं ज्योतिर्लुप्ततां याति। तस्मिन् कालेऽनन्ताकाशे चिदानन्दमयं दृश्यं भासते। पश्चादाकाशोऽपि तिरोहितो भवति। तदा केवलमेकं दृश्यमेवावशिष्यते। अयमेव साधकस्यात्मा यः पूर्णो निराधारोऽव्यक्तसत्तात्मको भवति। तस्मादपि परमेकं तत्त्वमस्ति यत्र दृश्यमपि न भवति। द्रष्टैवैकमात्रं तिष्ठति, तत्र द्रष्टृभावो न भवति केवलं सच्चिदानन्दमात्रोऽयमात्मा स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितो भूत्वा स्वशक्त्या स्वस्मिन्नेव स्वयमुल्लसति। इदमेव नादसाधनाया रहस्यमुद्देश्यं लक्ष्यं वा यद् गुरुं विना नैव ज्ञातुं प्राप्तुमनुभवितुं वा शक्यते। स गुरुर्मानवौघसिद्धौघदिव्यौघादन्यतमो भवितुमर्हतीत्यलं नादतत्त्वविमर्शेन।

सङ्केतः–

ऋ.वे.	–	ऋग्वेद
ना.वि.	–	नादविन्दूपनिषत्
प.ल.मं.	–	परमलघुमञ्जूषा स्फोटप्रकरणम्
म.भा.शा.प.	–	महाभारतं शान्तिपर्व
यो.चू.	–	योगचूडामण्युपनिषत्
वा.प.	–	वाक्यपदीयम्
वै.भू.सा.	–	वैयाकरण-भूषणसारः
स्व.तं.	–	स्वच्छन्दतन्त्रम्।

□□ सङ्केत– ज्ञान-आश्रम, गणेशपुरीकालोनी
पो.– सुसुवाही, वाराणसी– २२१००५

योगदर्शन के प्रमुख सिद्धान्तः एक विमर्श

□ प्रो. विमला कर्नाटक

चित्तस्य मलापहारकस्य योगशास्त्रस्य वैदिकदर्शनेषु महती प्रतिष्ठा वर्तते। तस्याः योगविद्यायाः प्रतिनिधिभूते पातञ्जलयोगसूत्रे योगशास्त्रस्य बीजशक्तिकीलकविनियोगरूपेण चतुर्णां सूत्राणां स्मरणं कृत्वा 'योगश्चित्तनिरोधः इति सूत्रेण योगस्य लक्षणं प्रतिपाद्य तन्निर्दुष्टव्याख्यानार्थं वाचस्पतिमिश्रविज्ञानभिक्षुनागेशभट्टोक्तं भाष्यमुद्धरितवती लेखिका। योगस्वरूपञ्चित्तनिरोधरूपं सम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञातभेदेन द्विधोक्तम्। तत्र चोभयोरपि नैके भेदाः उक्ताः। चित्तशब्दः प्रकृतेराद्यपरिणामस्य बुद्धेः वाचकस्तस्य च क्षिप्तमूढविक्षिप्तैकाग्रनिरुद्धाख्याः भूमयः चित्तावस्था एव। प्रमाणविपर्ययविकल्प- निद्रास्मृतिपदाभिधाः पञ्चचित्तवृत्तय उक्ताः योगसूत्रे। तासां चित्तवृत्तीनां निरोधः तन्नाशो नापितु स्वाधिष्ठानलयत्वमिति। तदुपायश्चाभ्यासवैराग्ये योगारूढोत्तमाधिकारिणे क्रियायोगश्च युञ्जानाय मध्यमाधिकारिणे अष्टाङ्गयोगश्चारुरुक्षवे मन्दाधिकारिणे इत्युक्तम्। धारणादिसाधनत्रयं तत्रान्तरङ्गसाधनानि यमादिश्च बहिरङ्गसाधनानि भवन्ति।

उक्तविधया 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध' इति योगसूत्रस्य लक्षणेऽभिहितपदेष्वेव समग्रयोगसिद्धान्तस्य समाहारं कृत्वा योगान्तर्गतसिद्धान्ततया परिणामवादस्य चर्चामपि कृतवती लेखिका। स च सरूपविरूपभेदेन प्रलयकालिकः सृष्टिकालिकश्चेति द्विधा परिणामः तदवान्तरभेदाश्चेति कर्ममीमांसायां योगसम्मतानि चतुर्विधानि कर्माणि च शुक्ल-कृष्ण-शुक्लकृष्णमिश्रितः अशुक्लाकृष्णभेदेनोक्तानि। जीवेश्वरयोरंशांशिभावः कैवल्यप्राप्तिश्चेत्यपि योगसूत्रस्य प्रतिपाद्यम् लेखिकया सर्वमेतद् योगसूत्रवृक्षस्याधःशाखाप्रशाखातया वर्गीकृत्य सिद्धान्तानां समायोजनं कृतमस्मिन् निबन्धे।

प्राचीनपारम्पर्यागत एक प्रसिद्ध पद्य है-

> **योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।**
> **योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि।।**

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड में करणत्रयगत मलत्रयशोधक शास्त्रत्रय के विषय में उक्त आशय का एक पद्य प्रस्तुत किया है-

> **कायवाग्बुद्धिविषया ये मलाः समवस्थिताः।**
> **चिकित्सालक्षणाऽध्यात्मशास्त्रैस्तेषां विशुद्धयः।।** वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड

शरीरशोधक आयुर्वेदशास्त्र, वाक्शोधक व्याकरणशास्त्र तथा चित्तशोधक योगशास्त्र के प्रवर्तक भगवान् पतञ्जलि ने मानवमात्र के कल्याणार्थ अविस्मरणीय कार्य किया। शरीर-वाक्-चित्त शुद्धि के उपजीव्य ग्रन्थों का निर्माण किया।

महर्षि पतञ्जलि का योगसूत्र योगविद्या का पथप्रदर्शक है। सूत्रात्मक शैली में उपनिबद्ध पतञ्जलि का योगदर्शन समाधि-साधन-विभूति-कैवल्य नाम से चार पादों में विभक्त हैं, जिसमें कुल १६५ सूत्र हैं।

सूत्र का लक्षण

शास्त्रों में सूत्र का लक्षण मिलता है-

स्वाल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्।
अस्तोममनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः।।

महर्षि पतञ्जलि के योगसूत्र में सूत्र का यह लक्षण पूर्णतया चरितार्थ होता है। योगदर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों पर चर्चा करने से पूर्व विषय के आधार पर शास्त्रवर्गीकरण के द्वितीय पक्ष को भी देख लेना आवश्यक है। व्याकरणशास्त्र को शब्दशास्त्र, न्याय-वैशेषिक को प्रमाणशास्त्र, मीमांसा को वाक्यशास्त्र तथा सांख्य-योग को प्रमेय शास्त्र कहते हैं। सांख्य के तत्त्व योग की प्रयोगशाला में परीक्षित है। सांख्य तत्त्वों का सिद्धान्तशास्त्र है, तो योग प्रयोगशास्त्र। सांख्य-योग को इसीलिये समानतन्त्र कहते हैं।

सूत्रों का वर्गीकरण

जिस प्रकार मनुष्य की जीवन-यात्रा धर्म और मोक्षरूप दो तटबन्धों के मध्य अर्थ और काम रूप दो भावधाराओं में प्रवाहित होती है उसी प्रकार योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः १/२ तथा तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् १/३ इन दो सूत्रों को आलम्बन बनाकर योग के अन्य सूत्र साधनापथ पर साधक का मार्गदर्शन करते हैं। प्रदीपन्याय से साधक को आशा की किरण दिखाकर योग-दिशा की दशा का मूल्यांकन करते हैं।

बीजसूत्र-प्रत्येक शास्त्र का एक बीज तत्त्व होता हैं जैसे भगवद्गीता का बीजवाक्य है-

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे। भगवद्गीता २/११

यही है भगवद्गीता का बीज - कि हे अर्जुन ! जिनके लिये शोक करना उचित नहीं है उन्हीं के लिये शोकर कर रहे हो किन्तु पण्डित व्यक्तियों की तरह बातें कर रहे हो।

जैसे बीज में वृक्ष की समस्त शक्ति निहित रहती है, किन्तु उचित संरक्षण से बीज अंकुरित, पल्लवित एवं पुष्पित होता है। वैसे शास्त्र का बीज सूत्र विषयविस्तार को प्राप्त होता है। योगशास्त्र का बीजसूत्र है-

बीजसूत्र - योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः १/२

शक्तिसूत्र - **यथाऽभिमतध्यानाद्वा** १/३६

कीलक-**पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति** ४/३४

विनियोगसूत्र-**यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि** २/२६

अभिप्राय यह है कि बीजसूत्र में प्रयुक्त योग, चित्त, वृत्ति और निरोध ये चार पद पतञ्जलि के योगसूत्रात्मक वृक्ष के बीजस्वरूप है। इन चार पदों के व्याख्यान में सम्पूर्ण शास्त्र समाहित हो जाता है। साधना में साधक की अभिमतता को इंगित करने वाला यथाऽभिमतध्यानाद्वा सूत्र को शक्तिसूत्र मान सकते हैं। चक्की के कीलक की भाँति साधना में कीलक-निश्चित उद्देश्य का प्रतिपादक सूत्र पुरुषार्थशून्यानां..... चितिशक्तिरिति है। और विनियोगसूत्र है- अष्टाङ्गयोग का प्रतिपादक सूत्र। वृत्तिनिरोध की यात्रा यम, नियमादि के अनुपालन से पूर्णता को प्राप्त होती है। अष्टाङ्गयोग योगवारिधि का ऐसा मन्थनदण्ड है, जिससे स्वरूपप्रतिष्ठरूप मोक्षामृत निःसृत होता है। परिणामतः साधक की जन्म-जन्मान्तरीय योग साधना की यात्रा पूर्ण हो जाती है।

योग का लक्षण

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः इस बीजसूत्र को आधार बनाकर विषय का पल्लवन किया जाय तो ज्ञात होगा कि इस सूत्र में 'योगः' यह लक्ष्य पद है तथा 'चित्तवृत्तिनिरोधः' यह लक्षण पद है। अभिप्राय यह है कि लक्ष्यभूत 'योग' को चित्तवृत्तिनिरोधः पद से लक्षित किया जा रहा है। योग के लक्षण पद की निर्दुष्टता प्रतिपादित करने के लिये योगसूत्र के भाष्यकार व्यासदेव एवं व्यासभाष्य के टीकाकार वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु एवं नागेशभट्ट ने योग के इसके इस लक्षण के परिष्कार पर बल दिया है।

योगलक्षण का परिष्कार

१. अव्याप्तिदोष का निवारण

२. अतिव्याप्तिदोष का निराकरण

चित्तवृत्तिनिरोधः को यदि योग का लक्षण कहा जाय तो अलक्ष्यभूत क्षिप्तादि भूमियों में होने वाले चित्त के किंचिद्वृत्तिनिरोध को भी योग कहना पड़ेगा जब कि यह वाञ्छित नहीं है, एतावता योग के चित्तवृत्ति-निरोधः लक्षण में अतिव्याप्ति दोष प्रसक्त होगा।

उक्त अतिव्याप्ति के निराकरण के लिये जिससे योग का लक्षण अलक्ष्यभूत क्षिप्तादि में घटित न हो सके, यदि 'सर्वचित्तवृत्तिनिरोधः' को योग का यह लक्षण कहा जाय तो अतिव्याप्तिदोष निराकृत होते ही यह अव्याप्तिदोष से युक्त कहा जायेगा। सम्पूर्ण लक्ष्य में लक्षण का घटित न होना अव्याप्तिदोष है। सम्प्रज्ञात योग का लक्ष्यभूत स्थल है। किन्तु सम्प्रज्ञात में ध्येयाकाराकारित वृत्ति की विद्यमानता रहने से उसमें सर्ववृत्तिनिरोध की स्थिति नहीं बन सकेगी।

योग के लक्षण में अव्याप्ति एवं अतिव्याप्ति दोष की सम्भावित स्थिति के निराकरण के लिए व्यासभाष्य के टीकाकार वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु एवं नागेश भट्ट को योग का परिष्कृत लक्षण करने की आवश्यकता अनुभूत हुई। योग का परिष्कृत लक्षण करने में तीनों टीकाकारों का अपना अपना योगदान है। तीनों पक्ष स्तुत्य एवं निर्भ्रान्त हैं –

१. क्लेशकर्मविपाकाशयपरिपन्थित्वे सति चित्तवृत्तिनिरोधत्वं योगस्तम् - वाचस्पतिमिश्र

२. द्रष्ट्रस्वरूपावस्थितिहेतुश्चित्तवृत्तिनिरोधो योगः - विज्ञानभिक्षु

३. प्रलयकालीनस्य समग्रसुषुप्तिकालस्य च निरोधस्य व्यावृत्तय आत्यन्तिकेति। एतावता द्रष्टुरात्यन्तिकस्वरूपा-वस्थितिहेतुचित्तवृत्तिनिरोधत्वस्यैव लक्षणत्वात् - नागेशभट्ट

वाचस्पति मिश्र के अनुसार क्षिप्तादि तीन भूमियों में होने वाले किंचित् चित्तवृत्तिनिरोध में योग का लक्षण अतिव्याप्त नहीं होता है, क्योंकि क्षिप्तादिभूमिक वृत्तिनिरोध क्लेशादि का परिपन्थी अर्थात् विरोधी नहीं है, अपितु क्लेशादि को पोषक है। जब कि एकाग्र और निरुद्धभूमिक चित्त का वृत्तिनिरोध क्लेशादि का परिपन्थी है। इस प्रकार 'क्लेशकर्मविपाकाशयपरिपन्थित्व' इस विशेषण पद के समावेश से योग का निर्दुष्ट लक्षण किया जा सकता है।

विज्ञानभिक्षु के अनुसार वही चित्तवृत्तिनिरोध योग के लक्षण की परिधि में आता है, जिसमें द्रष्ट्रस्वरूपावस्थितिहेतुत्व' रहे। क्षिप्तादि तीन भूमियों से भिन्न एकाग्र और निरुद्धभूमिक चित्त के वृत्तिनिरोध में ही 'द्रष्ट्रस्वरूपावस्थिति' की हेतुता है। अतः इसे योग का निर्दुष्ट लक्षण कहा जा सकता है।

नागेश भट्ट के अनुसार विज्ञानभिक्षुकृत योग के परिष्कृत लक्षण में 'आत्यन्तिक' पद का समावेश कर योग के लक्षण को प्रलय एवं समग्र सुषुप्ति में अतिव्याप्त होने से बचाना चाहिये। क्योंकि प्रलय और समग्र सुषुप्ति अवस्था में चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध होता है, किन्तु यह सर्वकालिक (आत्यन्तिक) चित्तवृत्तिनिरोध नहीं है। अतः योग के परिष्कृतलक्षण में 'आत्यन्तिक' पद का समावेश अपरिहार्य है। किंवा नागेशभट्ट ने वाचस्पतिमिश्र के योग के परिष्कृत लक्षण का भी समर्थन किया है। एतावता पतञ्जलि के योगसूत्र के अध्ययन के लिये टीकाओं का अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है।

योग का स्वरूप

चित्तवृत्तिनिरोध की प्रक्रिया से सम्पादित योग दो प्रकार का है –

१. सम्प्रज्ञातयोग

२. असम्प्रज्ञातयोग

सम्प्रज्ञातयोग

दर्पण में दर्शक को अपनी मुखाकृति भली-भांति दिखलाई पड़े, इसके लिये दर्पण की स्वच्छता अपरिहार्य

है। इसी प्रकार योगदर्शनसम्मत पदार्थों के अपरोक्षज्ञान के लिये चित्त को क्षिप्तादि भूमियों से ऊपर उठाकर एकाग्रभूमि में प्रतिष्ठित करना आवश्यक है। चित्त और चित्तभूमि का स्वरूप आगे प्रतिपादित किया जायेगा।

चित्त की एकाग्रावस्था में सम्प्रज्ञातयोग साधित होता है। चूँकि सम्प्रज्ञातयोग विषय साक्षात्कार की अवस्था है अतः धनुर्विद्या के अभ्यासी की भाँति, सम्प्रज्ञातयोग में विषयसाक्षात्कार का क्रम स्थूल से सूक्ष्म ध्येय की ओर अभिमुख होता है। सम्प्रज्ञातयोग का अभ्यासी सर्वप्रथम पाञ्चभौतिक स्थूल ध्येय का साक्षात्कार करता है, तदनन्तर सूक्ष्म ध्येय का। वाचस्पति ने लिखा है –**यथा हि प्राथमिको धानुष्कः स्थूलमेव लक्ष्यं विध्यत्यथ सूक्ष्मम्।** तत्त्ववैशारदी १/१७

सम्प्रज्ञातयोग के चार भेद हैं। योगसूत्र है -

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः योगसूत्र १/१७

१. वितर्कानुगतसम्प्रज्ञातयोग

इसमें स्थूलपदार्थविषयक प्रज्ञा (समापत्ति) होती है।

२. विचारानुगतसम्प्रज्ञातयोग

इसमें सूक्ष्मपदार्थविषयक प्रज्ञा होती है।

३. आनन्दानुगतसम्प्रज्ञातयोग

वाचस्पतिमिश्र के अनुसार सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न सत्त्वगुणप्रधान इन्द्रियाँ आनन्दानुगतयोग का विषय हैं।

विज्ञानभिक्षु के अनुसार ह्लाद (स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों के साक्षात्कार से जन्य उल्लास) आनन्दानुगतयोग का विषय है।

४. अस्मितानुगतयोग

वाचस्पति मिश्र के अनुसार इस अवस्था में साधक को इन्द्रियों का कारणभूत अहंकार ग्रहीतृपुरुष के साथ एकीकृत हुआ प्रतिभासित होता है।

विज्ञानभिक्षु के अनुसार अस्मितानुगतयोग शुद्ध आत्मविषयक है।

समापत्तित्रय

सम्प्रज्ञातयोग के चार भेदों को तीन समापत्तियों में वर्गीकृत किया है -

ग्राह्यसमापत्ति में वितर्क और विचारानुगतयोग है। ग्रहणसमापत्ति में आनन्दानुगतयोग है तथा ग्रहीतृसमापत्ति में अस्मितानुग्रतयोग है। समापत्तित्रय का प्रतिपादक सूत्र है - **क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः** योगसूत्र १/४१

सम्प्रज्ञातयोग की किस अवस्था में किस विषय का साक्षात्कार होता है, इसमें योगी का अनुभव प्रमाण है। चित्तैकाग्रभूमिक सम्प्रज्ञात विषयबीज से संवलित होने से 'सबीजयोग' कहा गया है और निरुद्धभूमिक असम्प्रज्ञात विषयात्मक वृत्तिबीज से रहित होने के कारण 'निर्बीजयोग' कहलाता है।

असम्प्रज्ञातयोग

असम्प्रज्ञातयोग का प्रतिपादक सूत्र है–**विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वो संस्कारशेषोऽन्यः।** योगसूत्र १/१८

अभिप्राय यह है कि सम्प्रज्ञातयोग में एकाग्रभूमिक चित्त ध्येयाकाराकारित वृत्ति से युक्त रहता है, किन्तु असम्प्रज्ञातयोग में ध्येयाकारा वृत्ति भी निरुद्ध हो जाती है और निर्वृत्तिक चित्त संस्कारशेष अवस्था में रहता है। व्युत्थानसंस्कार और निरोधसंस्कारों का ही आविर्भाव-तिरोभावरूप व्यापार ही निरुद्धभूमिक चित्त में चलता है। इन्धन के भस्मीभूत होने पर अग्नि जैसे स्वतः शान्त हो जाती है उसी प्रकार चरिताधिकार चित्त निरोधात्मक संस्कार के सहित अपने मूलकारण प्रकृति में स्वतः लीन हो जाता है। प्रकृति में प्रज्ञापूर्वक लीन हुए निरोधसंस्कारविशिष्ट चित्त का पुनरुद्भव नहीं होता है, क्योंकि चित्त के पुनरुत्थान की कारणभूता अविद्या प्रसंख्याग्नि से पूर्णतया दग्ध हो चुकती है।

साधनाक्रम की दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि सम्प्रज्ञातयोग को असम्प्रज्ञातयोग का साधन मान लिया जाय। किन्तु स्थिति ऐसी नहीं है। सबीजयोग में विजातीय निर्बीजयोग की साधनता नहीं है। निर्वस्तुत परवैराग्य ही असम्प्रज्ञातयोग का साधन है।

असम्प्रज्ञातयोग के भेद –

असम्प्रज्ञातयोग के दो भेद हैं –

१. भवप्रत्ययक असम्प्रज्ञात।

२. उपायप्रत्ययक असम्प्रज्ञात।

इनमें से भवप्रत्ययक असम्प्रज्ञात मुमुक्षुओं के लिये अनुपादेय है, क्योंकि यह अविद्यामूलक सर्ववृत्ति-निरोध की अवस्था है, जब प्रज्ञामूलक उपायप्रत्ययक असम्प्रज्ञात उपादेय (ग्राह्य) है।

भवप्रत्ययक असम्प्रज्ञात

विदेह एवं प्रकृतिलीन साधकों, अनात्म में आत्मभाव करने वालों के लिये भवप्रत्ययक असम्प्रज्ञात कहा गया है। पतञ्जलि का सूत्र है–**भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्।** योगसूत्र १/१९

भवन्ति जायन्ते जन्तवोऽस्यामिति भवोऽविद्या – इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'भव' शब्द का अर्थ अविद्या है। कुछ टीकाकार 'भव' शब्द का अर्थ अविद्यामूलक 'संसार' करते हैं। अभिप्राय यह है कि किसी एक ध्येय पदार्थ का निरन्तर चिन्तन करने से निरुद्धभूमिक चित्त संस्कारशेष अवस्था को प्राप्त हो जाता है। किन्तु चित्त

की यह सर्ववृत्तिनिरोधकालिक अवस्था; विवेकज्ञानमूलक न होने से आविद्यक संस्कारशेष अवस्था है। अतः कुछ समय तक कैवल्यसम अनुभव करने वाले इन साधकों का अचरितार्थ चित्त उद्बुद्ध आविद्यक संस्कार से पुनः संसार में प्रवेश करता है। भवप्रत्ययक असम्प्रज्ञातवान् साधकों की तुलना मण्डूकदेह से करते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं – **यथा वर्षातिपाते मृद्भावमुपगतो मण्डूकदेहः पुनरम्भोदवारिधाराऽवसेकात् मण्डूकदेहभावमनुभवति**। तत्त्ववैशारदी १/१९

उपायप्रत्ययक असम्प्रज्ञात

शास्त्रसम्मत ज्ञानप्रक्रिया से निरुद्धभूमिक चित्त को प्राप्त होने वाला सर्ववृत्तिनिरोधरूप, असम्प्रज्ञात उपायप्रत्ययक कहा गया है। **सूत्र है–श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्**। योगसूत्र १/२०

चित्त का स्वरूप और उसकी अवस्थाएँ

चित्त शब्द से कौन तत्त्व गृहीत ?

सांख्ययोग को समानतन्त्र कहते हैं। दोनों दर्शनों की सृष्टिप्रक्रिया में समानता है। सांख्यकारिका का वचन है–

प्रकृतेर्महाँस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि॥ सांख्यकारिका २२

योगसूत्र है–

विशेषाऽविशेषलिङ्गमात्राऽलिङ्गानि गुणपर्वाणि। -योगसूत्र २/१९

इन दो उद्धरणों से 'चित्त' शब्द प्रकृति के आद्य परिणाम बुद्धि का वाचक है, ऐसा प्रतीत होता है। सांख्य के बुद्धितत्त्व एवं योग के चित्ततत्त्व की एकतत्त्वात्मकता सिद्ध होती है। सांख्य-योग-दर्शन का बिम्ब-प्रतिबिम्ब-विधान बुद्धि-पुरुष में उपचरित होता है। इससे योगसूत्रगत चित्तशब्द बुद्धि का उपलक्षक है। ज्ञातव्य है कि योगसूत्र में कहीं-कहीं 'चित्त' के अर्थ में 'मन' शब्द का प्रयोग भी मिलता है। पतञ्जलि का सूत्र है– **धारणासु च योग्यता मनसः**। योगसूत्र २/५३

प्रकृति का आद्य परिणाम 'बुद्धि' योगशास्त्र का 'चित्त' तत्त्व है। त्रयोदश करणों (बुद्धि-अहंकार-मन-पञ्चज्ञानेन्द्रिय-पञ्चकर्मेन्द्रिय) में प्रधानतम करण बुद्धि चित्त को लेकर योगसाधना का मार्ग प्रशस्त है।

प्रकृति का प्रथम कार्य 'चित्त' सत्त्वगुणप्रधान है। किन्तु कोई भी गुण एकाकी नहीं है। अतः चित्त की त्रिगुणात्मकता को इंगित करते हुए बलदेव मिश्र ने लिखा है– **चित्तं हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणम्**। योगप्रदीपिका पृ. ३

चित्त की अवस्थाएँ अथवा भूमियाँ

चित्त के स्वरूप को मूल्यांकित करने के लिये व्यासदेव ने चित्त की पांच भूमियाँ बतलाई हैं–

क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तभूमयः। व्यासभाष्य १/२

'भूमि' शब्द का अर्थ 'अवस्था' करते हुए नागेशभट्ट ने लिखा है -

क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमपि पञ्च चित्तस्याऽवस्थाः। नागेशयोगसूत्रवृत्ति १/२

'चित्तस्याऽवस्थाः' कहने से चित्त और उसकी अवस्था (भूमि) में भेद प्रतीत होता है। किन्तु सांख्ययोगदर्शन में धर्म-धर्मी में अभेद विवक्षित होने से भूमिरूप धर्म चित्तरूप धर्मी से भिन्न नहीं अपितु अभिन्न हैं।

योगसूत्र है-

शान्तोदिताऽव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी। योगसूत्र ३/१४

'चित्त' धर्मी शान्त-उदित-अव्यपदेश्य धर्म से अन्वित होता है।

क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र तथा निरुद्ध ये पाँच चित्तभूमियाँ हैं।

क्षिप्तभूमि

यह चित्त की रजोगुणप्रधान अवस्था है। चित्त एक स्थल पर नहीं टिकता है। बलदेव मिश्र का वचन है-

तत्र सदैव रजसा तेषु तेषु विषयेषु क्षिप्यमाणमत्यन्तमस्थिरं क्षिप्तम्।

मूढभूमि

यह चित्त की तमोगुणप्रधान अवस्था है। चित्त की इस अवस्था में आलस्य, दीनता, भय, निद्रा, मोह आदि बना रहता है। योगप्रदीपिका में बलदेव मिश्र ने लिखा है–**तमःसमुद्रेकान्निद्रादिवृत्तिमन्मूढम्।**

विक्षिप्तभूमि

विक्षिप्त अवस्था में रजोगुणप्रधान चित्त कभी-कभी सत्त्वगुण के उद्रेक से किसी एक ध्येय तत्त्व में किञ्चित् काल के लिये स्थिरता को प्राप्त करता है। किन्तु अस्थिरता विक्षिप्तभूमि का स्वाभाविक धर्म है। योगप्रदीपिका में कहा है–**विक्षिप्तं क्षिप्तादिविशिष्टं विशेषोऽस्थैर्यबहुलस्य कादाचित्कं स्थैर्यम्, अस्थैर्यं च स्वाभाविकम्।**

एकाग्रभूमि

एकाग्रता का अर्थ है - चित्त की किसी एक ध्येय तत्त्व के विषय में स्थिरता (निरन्तरता = एकतानता) बनी रहे। योगप्रदीपिका में कहा है-

एकाग्रमेकतानम्।

चित्त समस्त विषयों से अपने को पराङ्मुख कर केवल ध्येय का चिन्तन करता है। नागेशभट्ट ने लिखा है-**एकाग्रत्वं ध्येयातिरिक्तवृत्तिनिरोधः।**

चित्त की एकाग्रभूमि में सम्प्रज्ञातयोग सिद्ध होता है। अतः चित्त की एकाग्रभूमि को योगोपयोगी कहा गया है। प्रथम तीन चित्तभूमियाँ योगोपयोगी नहीं हैं।

निरुद्धभूमि

एकाग्रभूमि की तरह चित्त की निरुद्धभूमि भी योगोपयोगी है। निरुद्ध चित्त की सर्वोत्कृष्ट अवस्था है। यह चित्त की वृत्त्यात्मक नहीं, वृत्तिशून्य अवस्था है, जिसमें चित्त की संस्कारशेषावस्था होती है। नागेश भट्ट का वक्तव्य है-**निरुद्धं निरुद्धसकलवृत्तिसंस्कारमात्रशेषम्। अत्र सर्ववृत्तिनिरोधेऽसंप्रज्ञातः।**

चित्त की निरुद्धभूमि में असम्प्रज्ञातयोग सिद्ध होता है।

चित्तवृत्तियाँ

योगसूत्र १/२ का तृतीय पद 'वृत्ति' है। वृत्ति चित्त का परिणाम है। जिस प्रकार चित्त अर्थात् बुद्धि का तत्त्वान्तरपरिणाम होता है, उसी प्रकार चित्त का वृत्त्यात्मक परिणाम भी होता है। यहाँ 'वृत्ति' शब्द से चित्त का ज्ञानात्मक परिणाम विवक्षित है। प्रमा तथा अप्रमा भेद से ज्ञान दो प्रकार का है। इसी प्रकार क्लिष्टता तथा अक्लिष्टता से भी यह दो प्रकार का है। चित्तवृत्तियाँ पांच हैं-**प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः।** योगसूत्र १/५

प्रमाणवृत्ति

सांख्ययोग शास्त्र को तीन प्रमाण मान्य हैं-प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम। प्रमीयतेऽनेन इति प्रमाणम् इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके द्वारा प्रमात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे प्रमाण कहते हैं और तज्जन्य ज्ञान प्रमा है।

परिणामवादी सांख्ययोगदर्शन के अनुसार चित्त का विषयाकार परिणाम ज्ञानप्रक्रिया का प्रमुख आधार है। इस सिद्धान्त को स्पष्टता प्रदान करते हुए विज्ञानभिक्षु ने लिखा है-**इन्द्रियाण्येव नाडी, चित्तसंचरणमार्गः तैः संयुज्य.... चित्तस्येन्द्रियसाहित्येन एवार्थाकारः परिणामो भवति।** योगवार्तिक १/७

जिस प्रकार सरोवर का जल नाली के माध्यम से खेत में प्रविष्ट होकर क्यारियों के (त्रिकोणाकार गोलाकार) आकार को धारण करता है, उसी प्रकार सत्त्वगुणप्रधान तेजोमय चित्त; जल की भाँति, इन्द्रियरूप छिद्र के द्वारा बाहर निकलकर विषयदेश में पहुँचता है और उसके आकार से आकारित हो जाता है। विषय के आकार में चित्त का परिणाम होना ही चित्त की वृत्ति है। न्यायदर्शन में जिसे इन्द्रियार्थसन्निकर्ष कहते हैं, योगदर्शन में उसे बाह्यवस्तूपराग।

वस्तु के सामान्य और विशेष दो रूप होते हैं। प्रत्यक्षवृत्ति वस्तु के विशेषरूप का प्रधानतया निश्चय करती है और अनुमानवृत्ति सामान्यरूप का। यही प्रत्यक्षवृत्ति और अनुमानवृत्ति का अन्तर है -

विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम्।
सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम्। व्यासभाष्य १/७

व्यासदेव द्वारा प्रस्तुत प्रत्यक्षवृत्ति के लक्षण का अनुशीलन करने से योगसम्मत ज्ञानप्रक्रिया, वस्तुस्वरूपावधारण एवं प्रत्यक्षवृत्ति का परिचय सहज प्राप्त हो जाता है -

इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम्। व्यासभाष्य १/७

विपर्ययवृत्ति

विपर्ययवृत्ति का प्रतिपादक सूत्र है -

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्। योगसूत्र १/८

तद्रूप में अप्रतिष्ठ मिथ्याज्ञान को विपर्ययवृत्ति कहते हैं। जैसे शुक्ति में शुक्तित्वरूप से अप्रतिष्ठ रजतविषयक ज्ञान विपर्यय कहलाता है। शुक्ति में होने वाला 'इदं रजतम्' विपर्ययज्ञान उत्तरवर्ती यथार्थज्ञान 'नेदं रजतम्' से बाधित (खण्डित) हो जाता है। अतः 'अतद्रूपप्रतिष्ठ' में नञ् प्रसज्यप्रतिषेधार्थक है, न कि पर्युदासार्थक। नञ् को पर्युदासार्थक मानने पर 'इदं रजतम्' इत्याकारक भ्रमज्ञान का उत्तरवर्ती 'नेदं रजतम्' ज्ञान से बाध न हो सकेगा।

विकल्पवृत्ति

विकल्पवृत्ति का प्रतिपादक सूत्र है-

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः। योगसूत्र १/९

शब्दों के श्रवण मात्र अर्थात् शब्दज्ञान से अलीक पदार्थ अर्थात् वस्तुशून्यात्मक जो चित्तवृत्ति होती है उसे विकल्पवृत्ति कहते हैं। सूत्र में 'वस्तुशून्य' शब्द से अलीक वस्तु का ग्रहण होता है जैसे खरगोश के सींग आदि।

विपर्यय और विकल्प दोनों वृत्तियाँ अप्रमात्मक हैं किन्तु दोनों वृत्तियों में एक महान् अन्तर यह है कि - विपर्ययवृत्ति उत्तरवर्ती यथार्थवृत्ति से बाधित हो जाती है और उसमें असद्रूप वस्तु 'सत्' होती है। जगत् में शुक्ति के साथ-साथ रजत की भी सत्ता रहती है। किन्तु विकल्पवृत्ति उत्तरवर्ती यथार्थज्ञान से बाधित नहीं होती है और विकल्पवृत्ति का विषय सर्वथा अलीक होता है। जगत् में खगशृङ्ग, बन्ध्यापुत्र, आकाशकुसुम आदि असद्रूप हैं। ऐसा ज्ञान होने पर भी 'खगशृङ्ग' इत्याकारक शब्दज्ञान का अनुसरण होते ही विकल्पवृत्ति का उदय अवश्यंभावी होता है।

निद्रावृत्ति

निद्रावृत्ति का प्रतिपादक सूत्र है–

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा। योगसूत्र १/१०

जाग्रत् और स्वप्नवृत्तियों का अभाव के कारणभूत तमोगुण को विषय बनाने वाली निद्रावृत्ति है। सूत्र में प्रयुक्त 'अभाव' शब्द का अर्थ है - तमोबहुल अज्ञान। निद्रावृत्ति प्रमाणादि वृत्तियों के निरोध के हेतुभूत अज्ञान को विषय बनाती हैं। वाचस्पति मिश्र ने निद्रावृत्ति को व्याख्यायित करते हुए लिखा है–

जाग्रत्स्वप्नवृत्तीनामभावस्तस्य प्रत्ययः = कारणं बुद्धिसत्त्वाऽऽच्छादकं तमस्तदेवालम्बनं = विषयो यस्याः सा तथोक्ता वृत्तिर्निद्रा। तत्त्ववैशारदी १/१०

सुषुप्तिकालिक निद्रावृत्ति का अनुमान जागरितकालिक स्मृतिवृत्ति से होता है। प्रातःकाल उठने पर अनुभव इस प्रकार होता है- **सुखमहमस्वाप्सम् दुःखमहमस्वाप्सम्, गाढं मूढोऽहमस्वाप्सम्।** व्यासभाष्य १/१०

ज्ञातव्य है कि नैयायिक ज्ञानसामान्याभाव अवस्था को सुषुप्ति कहते हैं। उनका कहना है कि त्वङ्मनःसंयोग ज्ञानसामान्य के प्रति कारण है। सुषुप्ति में मन पुरीतत् नाम की नाडी में प्रवेश कर जाता है। अतः त्वङ्मनःसंयोग न होने से सुषुप्ति ज्ञानसामान्याभाव की अवस्था है। जब कि योगदर्शन में निद्रावृत्ति को सप्रमाण स्वीकृत किया गया है।

स्मृतिवृत्ति

स्मृतिवृत्ति का प्रतिपादक सूत्र है–

अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः। योगसूत्र १/११

प्रमाणादि वृत्तियों के अनुभवजन्य संस्कारों से जो चित्तवृत्ति होती है, उसे स्मृतिवृत्ति कहते हैं। 'असम्प्रमोष' शब्द का अर्थ है - **न तु तदधिकविषया।** तत्त्ववैशारदी १/११

इसी को दार्शनिक शब्दावली में कहेंगे- अनुभूतविषयातिरिक्त विषय का अग्रहण। प्रत्यभिज्ञा में स्मृतिवृत्ति का लक्षण अतिव्याप्त न हो सके तदर्थ व्यवस्था करते हुए विज्ञानभिक्षु लिखते हैं कि स्मृतिलक्षण में 'संस्कारमात्रजन्यत्व' इस विशेषण पद का सन्निवेश करना चाहिये-**सूत्रोक्तमेव लक्षणं तच्च संस्कारमात्रजन्यत्वेन विशेषणीयम्।** योगवार्तिक १/११

विज्ञानभिक्षु की यह युक्ति उनके शिष्य भावागणेश द्वारा भी समर्थित है-**अत्र प्रत्यभिज्ञाव्यावृत्तये संस्कारमात्रजन्यत्वं विवक्षणीयम्।** भावागणेशयोगसूत्रवृत्ति १/११

निरोध

'योग' के लक्षणपरक सूत्र का तृतीय पद है- निरोध। यहाँ 'निरोध' शब्द का अर्थ वृत्तियों का अभाव

अर्थात् नाश नहीं है, प्रत्युत वृत्तियों का अपने अभिकरण में लीन (अतीतलक्षण परिणाम को प्राप्त) होना है। वृत्तिनिरोध भी चित्त की एक अवस्था है। विज्ञानभिक्षु ने स्पष्टतः लिखा है–

वृत्तयस्तासां निरोधस्तासां समाख्योऽधिकरणस्यैवावस्थाविशेषः।
अभावस्यास्मन्मतेऽधिकरणावस्थाविशेषरूपत्वात्। योगवार्त्तिक

चित्तवृत्तिनिरोधोपाय

चित्तवृत्तिनिरोध को योग कहा गया है, यह जानने के पश्चात् जिज्ञासा होती है कि किस उपाय = साधन से चित्तवृत्ति का निरोध किया जाय ?

महर्षि पतञ्जलि ने मानवस्वभाव के अनुसार योग साधकों की तीन तीन श्रेणियाँ बतलाई हैं और उनकी क्षमता के अनुरूप चित्तवृत्तिनिरोध के उपाय भी बतलाये हैं। ऋषि चिन्तन किसी एक वर्गविशेष का प्रतिनिधित्व नहीं करता है, वह तो मानवमात्र के लिये सार्वभौमिक एवं सार्वदेशिक सिद्धान्तों की स्थापना करता है। महर्षि पतञ्जलि की यह भावना योगसूत्र में जगह-जगह दिखलाई पड़ती है। अतः उन्होंने कई पादों में चित्तवृत्तिनिरोध के उपायों की चर्चा की है। योगसूत्र के टीकाकारों ने पतञ्जलि के हृद्गत भाव को समझकर चित्तवृत्तिनिरोध के उपायों में समन्वय स्थापित किया है।

योगसारसंग्रह में विज्ञानभिक्षु ने योग के अधिकारियों को वर्गीकृत किया है-

तत्र मन्दमध्यमोत्तमभेदेन त्रिविधा योगाधिकारिणो भवन्त्यारुरुक्षुयुञ्जान योगारूढरूपाः। योगसारसंग्रह

उत्तमाधिकारी : 'योगारूढ' के लिये अभ्यास-वैराग्य

उत्तम साधक वे हैं, जिन्होंने पूर्व जन्मों में कृत योगाभ्यास से यमादि पांच बहिरंग साधनों को विजित कर लिया है। यमनियमादि निष्ठ ऐसे उत्तम साधकों को वर्तमान जीवन में यमादि का पुनः अभ्यास नहीं करना पड़ता है। उत्तम साधकों में परमहंस संन्यासी जड़भरतादि आते हैं। इनके लिये चित्तवृत्तिनिरोधोपाय को इस प्रकार व्यवस्थित किया है - **अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः।** योगसूत्र १/१२

चित्त को नदी से उपमित करते हुए व्यासदेव ने अत्यन्त सुन्दर पद्धति से अभ्यास-वैराग्य दोनों की समान्तर उपयोगिता की है-

चित्तनदी नामोभयतो वाहिनी वहति कल्याणाय वहति पापाय च।
या तु कैवल्यप्राग्भारा विवेकविषयनिम्ना सा कल्याणवहा।
या तु संसारप्राग्भाराऽविवेकविषयनिम्ना सा पापवहा।
तत्र वैराग्येण विषयस्रोतः खिलीक्रियते, विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोत उद्घाट्यते।
इत्युभयाधीनश्चितवृत्तिनिरोधः।

अभिप्राय यह है कि विवेकज्ञानपरायण चित्त कैवल्याभिमुखी होता है और अविवेकविषयपरायण चित्त संसाराभिमुखी होता है। योग का साधक पुरुष 'वैराग्य' के द्वारा विषयासक्ति (विषयप्रवणता) को शिथिल करता है और 'अभ्यास' के द्वारा सत्त्वपुरुषान्यताख्याति द्वारा विवेकस्रोत को उद्घाटित करता है।

अभ्यास का स्वरूप

राजस तथा तामसवृत्ति से रहित चित्त की सात्विक एकाग्रता के निमित्त जो 'यत्न' किया जाता है उसे अभ्यास कहते हैं। पतञ्जलि का सूत्र है- **तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।** योगसूत्र १/१३

यह अभ्यास दृढ़भूमिता को तभी प्राप्त होता है जब यह आदरपूर्वक, निरन्तरता के साथ दीर्घकाल तक आसेवित होता है। सूत्र है - **स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।** योगसूत्र १/१४

मानव जीवन की सफलता अभ्यास के इसी त्रिणोकात्मक चरणों में ध्रुवीकृत है।

वैराग्य का स्वरूप

मोक्षमार्ग के बाधक विषयों के प्रति अनासक्ति जागरित करना वैराग्य है। यह वैराग्य दो प्रकार का है-

१. विषयविषयक वैराग्य को अपर वैराग्य कहते हैं। इसके चार चरण हैं-

२. यतमान, व्यतिरेक एकेन्द्रिय एवं वशीकार। प्रथम तीन सोपानों के विजित होने पर ही उत्तम साधक 'वशीकार' संज्ञक वैराग्य में प्रतिष्ठित होता है -**दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञावैराग्यम्।** योगसूत्र १/५

दृष्ट और आनुश्रविक विषयों के प्रति वशीकार संज्ञक वैराग्य जागरित होने पर साधक के चित्त में विवेकज्ञान के पराकाष्ठा काल में ज्ञानमात्र के प्रति; वृत्तित्वेन बाधक होने से, हेयत्वबुद्धि जागरित होती है। यह वैराग्य की चरमावस्था है। अतः इसे परवैराग्य कहते हैं। सूत्र है - **तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।** योगसूत्र १/१६

इस प्रकार अभ्यास वैराग्य की साधना यात्रा में साधक सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञातयोग को प्राप्त करता हुआ 'स्वप्रतिष्ठ' होता हुआ यात्रा को पूर्णविराम लगाता है। सूत्र है - **तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।** योगसूत्र १/३

मध्यमाधिकारी : 'युञ्जान' के लिये क्रियायोग

मध्यम साधक वे वानप्रस्थी हैं, जो वर्तमान जन्म में योगसाधना में रत हैं; उनके लिये क्रियायोग का उपाय उपदिष्ट है। पतञ्जलि का सूत्र है-**तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।** योगसूत्र २/१

क्रियायोग के अन्तर्गत तीन तत्त्व हैं - तपस्, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान। क्रियैव योगः क्रियायोगः योगसाधनत्वात् - इस व्युत्पत्ति के अनुसार कार्यकारण में अभेद होने से योग की साधनभूत तपादि क्रियाओं को 'क्रियायोग' कहा गया है।

ज्ञातव्य है कि चित्तवृत्तिनिरोध के सर्वाङ्गपूर्ण उपाय 'अष्टाङ्गयोग' में क्रियायोग का समावेश हुआ है। अतः इनका स्वरूप आगे द्रष्टव्य है।

मन्दाधिकारी : 'आरुरुक्षु' के लिये अष्टाङ्गयोग

अत्यन्त चंचल स्वभाव के गृहस्थाश्रमियों के चित्तवृत्तिनिरोध का उपाय अष्टाङ्गयोग कहा गया है। क्योंकि विषय वासनाओं से जर्जर उनका चित्त अभ्यास-वैराग्य अथवा क्रियायोग जैसे दुःसाध्य उपायों से चित्तवृत्ति-निरोध की यात्रा प्रारम्भ करने में अक्षम रहता है। सूत्र है -**यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान-समाधयोऽष्टावङ्गानि।** २/२९

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि ये आठ अङ्ग हैं। इनके सूत्र हैं-

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः - योगसूत्र १/३०

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः - योगसूत्र १/३२

स्थिरसुखमासनम् - योगसूत्र १/४६

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः - योगसूत्र १/४९

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः - योगसूत्र १/५४

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा - योगसूत्र २/१

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् - योगसूत्र २/२

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः - योगसूत्र २/३

अष्टाङ्गयोग के प्रथम पांच-पांच नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार-भेदों को बहिरङ्गसाधन तथा अन्तिम तीन धारणा, ध्यान तथा समाधि - भेदों को अन्तरङ्गसाधन कहते हैं। धारणादि तीन साधनों का सामूहिक नाम 'संयम' है।

यम-नियम के अनुशीलन से चित्तगत भावना परिशुद्ध होती है और रागद्वेषादि कषाय भस्मीभूत होते हैं। आसन से कायस्थैर्य, प्राणायाम से प्राणस्थैर्य, प्रत्याहार से इन्द्रियस्थैर्य तथा संयम (धरणा-ध्यान-समाधि) से ध्येयातिरिक्त चित्तवृत्ति निरोधपूर्वक चित्तस्थैर्य किया जाता है। चित्तवृत्तिनिरोधोपाय में धारणादि साधनत्रय चित्त के अधिक समीप होते हैं अतः इन्हें 'अन्तरङ्गसाधन' और यमादि को 'बहिरङ्गसाधन' कहते हैं।

बहिरङ्ग साधन की अपरिहार्यता

चित्तवृत्तिनिरोध के उपाय प्रकरण में यम-नियम की प्रतिष्ठतता अत्यन्त अपरिहार्य है, उनके अनुपालन की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। चित्तगत भाव की शुद्धि के बिना आसनादि की उत्तरोत्तर साधना वञ्चनामात्र है। यम और नियम योगरूप प्रासाद के सुदृढ़ स्तम्भ हैं। योगरूप बीज की अंकुरोत्पत्ति में ये उर्वरकस्वरूप हैं।

अतः यम-नियम के महत्त्व को कम नहीं समझना चाहिए। अन्यथा महर्षि पतञ्जलि द्वारा उपदिष्ट योगविज्ञान 'योगाभास' मात्र रह जायेगा।

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' सूत्र के लक्ष्यपद 'योगः' तथा लक्षणपद 'चित्तवृत्तिनिरोधः' की व्यापक चर्चा करने के पश्चात् अब उन्हीं में योग के अन्तर्निहित अन्य सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला जा रहा है-

परिणामवाद

जगत् के मूलकारण प्रकृति में दो प्रकार के परिणाम स्वीकृत हैं -

१. प्रलयकालिक सरूपपरिणाम

२. सृष्टिकालिक विरूपपरिणाम

परिणामशीला प्रकृति क्षणमात्र के लिये भी परिणामरहित नहीं होती है। परिणाम प्रकृति का स्वरूप है। अतः प्रलयकाल में त्रिगुणात्मिका प्रकृति के तीनों गुण अपने-अपने रूप में परिणत होते रहते हैं। अर्थात् सत्त्वगुण सत्त्वगुण के रूप में, रजोगुण रजोगुण के रूप में तथा तमोगुण तमोगुण के रूप में परिणत होता है। इसे प्रकृति की साम्यावस्था कहते हैं, जिसमें तत्त्वों का आविर्भाव नहीं होता है।

त्रिगुणात्मिका प्रकृति दूसरी विषमावस्था है, जिसमें गुण न्यूनाधिक परिमाण में संगठित होकर चित्त आदि तत्त्वों की आविर्भाव प्रक्रिया में संलग्न हो जाते हैं। यही प्रकृति का सृष्टिकालिक विरूपपरिणाम कहा जाता है।

विरूपपरिणामशीला प्रकृति में दो प्रकार के परिणाम दृष्टिगत हैं -

१. तत्त्वान्तरोपादानरूप परिणाम

२. तत्त्वान्तरानुपादानरूप परिणाम

लिङ्ग अविशेष तथा विशेष नाम से वर्गीकृत तीन गुणपर्व में तेईस तत्त्व आते हैं-बुद्धि, अहंकार, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, मन, पञ्चतन्मात्र तथा पञ्चमहाभूत। ये तेईस तत्त्व परस्पर विजातीय होने से तत्त्वान्तरोपादानरूप परिणाम के अन्तर्गत हैं। पञ्चमहाभूत के आगे के गो, घट, बीज आदि तत्त्व महाभूत के सजातीय होने से उन्हें तत्त्वान्तरानुपादानरूप परिणाम के अन्तर्गत रखा गया है। यह सिद्धान्त सांख्यतत्त्वकौमुदी में वाचस्पति मिश्र ने प्रतिपादित किया है।

मृत्तिकारूप धर्मी में तीन प्रकार के परिणाम स्वीकृत हैं-

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः - योगसूत्र ३/१३

१. धर्मपरिणाम

२. लक्षणपरिणाम - अनागत, वर्तमान, अतीत - ये तीन प्रभेद।

३. अवस्था परिणाम

धर्म-धर्मी प्रतिपादक पतञ्जलि का सूत्र है - **शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी।** योगसूत्र ३/१४

चित्तधर्मी में तीन प्रकार के परिणाम होते हैं -

१. पदार्थाभिव्यक्ति परिणाम

२. ज्ञानाभिव्यक्ति परिणाम - अर्थाकारपरिणाम तथा प्रतिबिम्बाकार परिणाम।

३. क्रियाभिव्यक्ति परिणाम

वृत्तिनिरोधपरायण चित्त के तीन परिणाम वर्णित हैं -

१. **समाधिपरिणाम-सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः** - योगसूत्र ३/११

२. **एकाग्रतापरिणाम-ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता परिणामः** ३/१२

३. **निरोधपरिणाम-व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो** निरोधपरिणामः- ३/९

क्लेश-चर्चा : विपर्ययवृत्ति : परिणाम

चित्तवृत्ति बन्धन का कारण है, किन्तु विपर्ययवृत्ति तो बन्धन को प्रगाढ़ बनाने में सहायकीभूत होने से विपर्ययवृत्ति के अविद्यादि पांच भेदों को 'पञ्च क्लेश' की संज्ञा प्रदान की गई है। पतञ्जलि का सूत्र है - **अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः।** योगसूत्र २/३

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश इन पञ्च क्लेशों में प्रधान होने से अविद्या को 'क्लेशभूमि' कहा गया हैं अविद्याभूमि में अस्मितादि क्लेश चार अवस्थाओं में रहते हैं- प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार। सूत्र है - **अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्।** योगसूत्र २/४

बीजभावापन्नरूप से प्रसुप्त क्लेश का क्लेशत्व कभी भी प्रकट हो सकता है। अतः योगसाधना अविद्या आदि को दग्धबीजभावापन्न अवस्था में पहुंचाने के लिए की जाती है। क्योंकि दग्धबीज में अंकुरोत्पत्ति की शक्ति निहित नहीं रहती है। पतञ्जलि ने पांच क्लेशों को इस प्रकार सूत्रित किया है -

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या - योगसूत्र २/५

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता - २/६

सुखानुशयी रागः - २/७

दुःखानुशयी द्वेषः - २/८

स्वरसवाहीविदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः - २/९

कर्म-मीमांसा

अन्य वृत्तियों की तुलना में विपर्ययवृत्ति की क्लिष्टता अधिकतम विस्फोटक है। हमारे सारे क्रियाकलाप

क्लेशमूलक हैं। कर्माशय (कर्मजनित संस्कार) का जनक क्लेश है, जो जन्म-जन्मान्तर पर्यन्त मनुष्य का अनुसरण करता है और जाति-आयु-भोग के रूप में अपनी सत्ता का अनुभव कराता रहता है। इसके लिये पतञ्जलि के दो सूत्र हैं-

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः - योगसूत्र २/१२

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः - योगसूत्र २/१३

सत्त्वादिगुणों के अधीन रहकर मनुष्य चार प्रकार के कर्म करता है -

१. शुक्लकर्म

२. कृष्ण कर्म

३. शुक्लकृष्णमिश्रित कर्म

४. अशुक्लाकृष्ण कर्म

इनमें से योगियों का अशुक्लाकृष्ण कर्म होता है, शेष तीन कर्म सामान्यजन के कहे गये हैं। सूत्र है - **कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्।** योगसूत्र ४/७

गहना कर्मणो गतिः वचन से कर्मफल दुर्ज्ञेय है। अतः पतञ्जलि ने अन्य वृत्तियों की भांति विपर्ययवृत्ति के मूलोच्छेद (आत्यन्तिक निरोध) का प्रतिपादन किया है। संसारवृक्ष का स्वरूप और उसका उच्छेद योग के चतुर्व्यूहवाद की परिधि में आता है। गागर में सागर भरने की क्षमता महर्षि पतञ्जलि में रही। चतुर्व्यूहवाद के प्रतिपादक चार सूत्र हैं -

हेय - हेयं दुःखमनागतम् योगसूत्र २/१६

हेयहेतु - द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः - योग सूत्र २/१७

हान - तदभावात्संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम् - योगसूत्र २/२५

हानोपाय - विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः - योगसूत्र २/२६

चित्तवृत्तिनिरोध एवं ईश्वर

चित्तवृत्तिनिरोध के उपायों में 'ईश्वरप्रणिधान' अन्यतम साधन है। साधक को अल्प प्रयास से मोक्षप्राप्ति के अन्तिम एवं मुख्यतम साधन असम्प्रज्ञातसमाधि तक पहुँचाने में भगवत्कृपा सर्वोत्तम उपाय है। सूत्र है - **ईश्वरप्रणिधानाद्वा।** योगसूत्र १/२३

पातञ्जल योगशास्त्र ज्ञानयोग, हठयोग, कर्मयोग, प्रेमभक्तियोग, अद्वैतयोग, लययोग, ध्यानयोग, चर्यायोग, सिद्धियोग, वासनायोग, शिवयोग, ब्रह्मयोग, क्रियायोग, मन्त्रयोग, ज्ञानयोग, लक्ष्ययोग आदि समस्त योगों का महासमुद्र है और राजयोग अर्थात् असम्प्रज्ञातयोग महायोग है। यह एकान्तवादी दर्शन नहीं, अपितु समन्वयवादी

दर्शन है। यह एक व्यक्ति का नहीं अपितु मानवमात्र का सर्वाङ्गीण विकास करने वाला है। ज्ञातव्य है कि **यथाऽभिमतध्यानाद्वा।** योगसूत्र १/३६

सूत्र की अवतारणा कर महर्षि पतञ्जलि ने भिन्न-भिन्न सम्प्रदायानुसार तत्त्वाभ्यास की समस्त सीमाओं को अतिक्रमित कर सामाजिक सौहार्द की स्थापना की है। यह सन्त हृदय की पुकार है। अस्तु पुरुषों में पुरुषविशेष 'ईश्वर' का स्वरूप प्रतिपादक सूत्र है - **क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।** योगसूत्र १/२४

पुरुष और पुरुषविशेष का भेदक तत्त्व है - 'क्लेशकर्मविपाकाशय'। क्लेशादि से सम्पृक्त पुरुष 'जीव' कहलाता है और क्लेशादि से असम्पृक्त पुरुषविशेष 'ईश्वर' की संज्ञा धारण करता है, जबकि चेतनता दोनों का समान धर्म है, जो उसे जड़तत्त्व से पृथक् करता है।

जीवन-ईश्वर-भेद-एक शब्द में एक 'अंश' है दूसरा 'अंशी'; एक अल्पज्ञ है दूसरा सर्वज्ञ; एक सातिशयज्ञानवान् है दूसरा निरतिशयज्ञानवान्; एक बद्ध है दूसरा सर्वथा मुक्त; एक सोपाधिक है दूसरा निरुपाधिक; एक उपेय है दूसरा उपाय; एक अनेक है दूसरा अद्वितीय; एक कालावच्छिन्न है दूसरा कालानवच्छिन्न; एक साधक है दूसरा साध्य है। अतः साध्यकारिक ईश्वरचिन्तन सर्वोपरि है। **तस्य वाचकः प्रणवः।** योगसूत्र १/२७

पतञ्जलि ने ईश्वर के वाचक प्रणव = ॐकार को जप का आधार और उसके अर्थ (ईश्वरवाच्य) के भावन पर बल दिया है-**तज्जपस्तदर्थभावनम्।** योगसूत्र १/२८

चित्तवृत्तिनिरोधोपाय का चरम उद्देश्य : कैवल्यप्राप्ति

विभूति एवं कैवल्य की चर्चा के बिना योगसाधना के परिदृश्य में सम्पादित प्रयास कहीं निष्फल प्रतीत न हो एतदर्थ पतञ्जलि ने वृत्तिनिरोध के प्रत्येक उपाय को फलसहित प्रतिपादित किया है। यहाँ तक कि विभूतिपाद तक की सृष्टि कर डाली किन्तु तत-तत् विभूतियों को सर्वस्व मानने वाले वाले योगमार्ग के पथिकों को सचेत भी किया है। पतञ्जलि का उपदेश है - **स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्। योगसूत्र ३/५१**

अभिप्राय यह है कि मोहनीय, रञ्जनीय एवं कोपनीय विभूतियाँ ऊर्णातन्तु की तरह योगसाधक को जकड़कर उसके जीवन को नष्टप्राय कर देती है।

योगविद्या का दिवाकर पुरुषार्थशून्य गुणों का अस्ताचल है और चितिशक्ति का स्वरूपप्रतिष्ठा रूप उदयाचल है। पतञ्जलि का सूत्र है- **पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिः।** योगसूत्र ४/३४

इसी उद्देश्य से चतुर्थपाद 'कैवल्य' की अवतारणा हुई। सरल शब्दों में जपाकुसुम के अपसारण से जैसे स्फटिक स्वकीय श्वेतिम रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, वैसे ही औपाधिक सम्बन्ध की निवृत्तिपूर्वक पुरुष अपने चैतन्यस्वरूप में प्रत्यावर्तित हो जाता है। सूत्र है - **तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।** योगसूत्र १/३

इस प्रकार तत्-तत् पुरुषीय 'योगयात्रा' को पूर्णविराम लगता है। किञ्च स्थालिपुलाकन्याय से चयनित योगसिद्धान्तों की पक्वता का आकलन किया गया और एक सौ चौरानवे (१९४) सूत्रों को योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः इस एक सूत्र में ग्रथित कर योगरूप जीवनमाला को पहचाना गया।

उपर्युक्त विवेचन को चित्रपट्ट द्वारा भी हस्तामलक किया जा सकता है-

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः
सम्प्रज्ञातयोग असम्प्रज्ञातयोग
वितर्क विचार आनन्द अस्मिता
सवितर्क निर्वितर्क
सविचार निर्विचार
सानन्द निरानन्द
सास्मिता निरस्मिता
भवप्रत्यय उपायप्रत्यय
समापत्ति
ग्राह्यसमापत्ति ग्रहणसमापत्ति ग्रहीतृसमापत्ति
चित्तभूमि
क्षिप्त मूढ विक्षिप्त एकाग्र निरुद्ध
वृत्ति
प्रमाण विपर्यय विकल्प निद्रा स्मृति
प्रत्यक्ष अनुमान आगम
पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्ट
वस्तु क्रिया अभाव
भावितस्मर्तव्या अभावितस्मर्तव्या
अविद्या अस्मिता राग द्वेष अभिनिवेश
परिणाम
सरूपपरिणाम विरूपपरिणाम
सत्त्वान्तरोपादान परिणाम सत्त्वान्तरानुपादान परिणाम
धर्मपरिणाम लक्षणपरिणाम अवस्थापरिणाम
अनागत प. वर्तमान प. अतीत प.
पदार्थाभिव्यक्ति परि. ज्ञानाभिव्यक्ति परि. क्रियाभिव्यक्ति परि.
अर्थाकार परि. प्रतिबिम्बाकार परि.
क्लेश (विपर्यय)
अविद्या अस्मिता राग द्वेष अभिनिवेश
अवस्था
प्रसुप्त तनु विच्छिन्न उदार
बीजाभावापन्न दग्धबीजाभावापन्न
वृत्तिलयकारक अधिकरणावस्था विशेष
निरोधोपाय
अभ्यास-वैराग्य (उत्तम साधक) क्रियायोग (मध्यम साधक) अष्टाङ्गयोग (मन्द साधक)
अपरवैराग्य परवैराग्य
यतमान व्यतिरेक एकेन्द्रिय वशीकार
तपः स्वाध्याय ईश्वरप्रणिधान
यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधि
अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रह
कायिक वाचिक मानस
कथनसत्य आचरणसत्य
शौच संतोष तपः स्वाध्याय ईश्वरप्रणिधान
(बाह्य) आभ्यन्तर
परमगुरु गुरुम गुरुसजातीय गुरुकल्प
पद्मासन वीरासन भद्रासन स्वस्तिकासन
प्राणियों के बैठने के सभी प्रकार
रेचक (बाह्य) पूरक (आभ्यन्तर) कुम्भक (स्तम्भ) बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी
पार्थिवी जलीया आग्नेयी वायवीया आकाशीया
सगुण ध्यान निर्गुण ध्यान
संयम
धारणा ध्यान समाधि
विभूति
अनागतज्ञान, सर्वभूतरुतज्ञान
पूर्वजातिज्ञान, परचित्तज्ञान
अन्तर्धान, भुवनज्ञान आदि
चतुर्दश भुवन विज्ञान
कर्म
कृष्ण शुक्ल कृष्णशुक्ल अशुक्ल अकृष्ण
कर्माशय
दृष्टजन्मवेदनीय अदृष्टजन्मवेदनीय
एकविपाकारम्भी द्विविपाकारम्भी
नियतविपाकारम्भी अनियतविपाकारम्भी
जातिविपाक आयुर्विपाक भोगविपाक
योनि
देव मनुष्य तिर्यक् पशु
दीर्घायु: अल्पायु:
सुख दुःख मिश्रित
फलदान के बिना समाप्ति प्रधानकर्म के प्रभाव में लय चिरकालावस्थान
वासना निर्माण

□□ सङ्केत–संस्कृतविभाग, महिला महाविद्यालय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

*** नाथ-सम्प्रदाय में साधना और उसका स्वरूप ***

डा० राम कुमार वर्मा ने हिन्दी के आलोचनात्मक इतिहास में नाथ-सम्प्रदाय की साधना को इस प्रकार चित्रित किया है—

गुरुमंत्र
|
वैराग्य

इन्द्रिय निग्रह	प्राण-साधना	मन-साधना
आसन (स्थैर्य)	प्राणायाम (जाप)	प्रत्याहार (विपर्यय)

नाड़ी साधना रसायन	सिद्धि (कुण्डलिनी जागरण)

षटचक्र भेद
(अजपा जप)
सुरति शब्दयोग
(अनदह)
|
शून्य (सहज)
|
निरञ्जन
|
शिव — असंप्रज्ञात समाधि — शक्ति

अनेक विद्वानों ने गोरक्षादि नाथ योगियों के प्रतिपाद्य ज्ञान एवं अद्वैतवाद पर शाङ्कर अद्वैतवाद एवं शाङ्कर ज्ञानवाद का प्रभाव माना है।

शाङ्कर अद्वैत और गोरक्ष-योग-मार्ग—योगियों का कथन है कि उसे 'मुक्त' कहा ही नहीं जा सकता, **जिसको सिद्धियाँ प्राप्त न हों** तथा जिसका कभी पिण्डपात हो क्योंकि—

'न हि बहिः प्राण आयाति पिण्डस्य पतनं कुतः?
पिण्डपातेन या मुक्तिः सा मुक्तिस्तु न कथ्यते॥'

क्या यह सिद्धान्त शाङ्कर अद्वैतवाद एवं उनके ज्ञानमार्ग की साधना में भी मान्य है? नहीं।

आचार्य शंकर और गोरक्षनाथ की मोक्ष संबन्धिनी दृष्टि

गोरक्षनाथ कहते हैं कि जिस प्रकार नमक पानी में मिलकर जलरूप हो जाता है, उसी प्रकार जब देह ब्रह्म को प्राप्त करके तन्मय हो जाता है तब उसे मुक्त कहते हैं—

देहो ब्रह्मत्वमायाति जलतां सैन्धवं यथा।
अनन्यतां यदा याति तदा मुक्तः स उच्यते।।

—योगबीज (१८६)

''स्वसंवेद्यमत्यन्तभासाभासकमयम्'' परमंपदम्'—इस स्वरूप वाले परमपद में व्यष्टि एवं पर पिण्डों का ज्ञान प्रथम साधना है और उनका **'परमपद' में समरसीकरण ही सिद्धि है। 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति'** के अनुसार व्यष्टि पिण्ड एवं सच्चिदानन्दपरमात्मस्वरूप **''परपिण्ड''** का ज्ञान प्राप्त करके परमपद परमात्मा में सामरस्य (ऐक्य) स्थापित करना ही मोक्ष है—

''महासिद्धयोगिभिःपूर्वोक्त क्रमेण परपिण्डादिस्वपिण्डान्तं ज्ञात्वा परमपदे समरसं कुर्यात्।।'' —(पिण्डपदसामरस्य : पञ्चम उपदेश।

''अमरौघ शासनम्' की दृष्टि से मोक्ष 'सहज समाधि' में संलीन मन का मन द्वारा साक्षात्कार है। 'अमरौघशासनम्' नामक गोरक्ष-प्रणीत ग्रंथ में **'मोक्ष'** को **समाधि क्रम से मन द्वारा मनावलोकन कहा गया है**—

'अहो मूर्खता लोकस्य।'

(१) केचिद्वदन्ति शुभाशुभकर्मविच्छेदनं **मोक्षः।**

(२) केचिद्वदन्ति वेदपाठाश्रितो **मोक्षः।**

(३) केचिद् वदन्ति निरालम्बनलक्षणो मोक्षः।

(४) केचिद् वदन्ति ध्यानकलाकरणसंबद्धप्रयोग संभवेन।

(५) रूपबिन्दुनादचैतन्यम्, पिण्डाकाशलक्षणो **मोक्षः।**

(६) केचिद् वदन्ति पूजापूजक मद्यमांसादिसुरत
प्रसंगानंद ....**मोक्षः।**

(७) केचिद्वदन्ति मूल कन्दोल्लसित कुण्डली।
पंचार लक्षणो.................**मोक्षः।**

(८) केचिद्वदन्ति सुसमदृष्टिनिपातलक्षणो **मोक्षः।**

(९) इत्येवंविध भावनाश्रितलक्षणो न भवति।

* (१०) अथ **मोक्षपदं** कथ्यते—

"यत्र सहजसमाधिक्रमेण मनसा मनः समालोक्यते स एव मोक्षः॥"

—अमरौघ शासनम् ।

पिण्डपदसमरसीकरण—नाथयोग की उच्चतम साधना का स्वरूप **'पिण्डपदसमरसीकरण'** है। यह 'पिण्डपदसामरस्य' नाथ-योग की परम सिद्धि है। **क्या यही सिद्धि शांकर अद्वैत में भी काम्य है ?**

गोरक्षनाथ तो सिद्धियों को इतना महत्व देते हैं कि वे कहते हैं कि जिनमें सिद्धियाँ नही हैं—

(१) वह बंधन-ग्रस्त है।

(२) वह जीवन्मुक्त नहीं हो सकता।

(३) जीवन्मुक्त की परीक्षा सिद्धियों की कसौटी पर उसी प्रकार की जानी चाहिए, यथा कसौटी पर सोने की।

(क) सिद्धिभिः **परिहीनं तु** नरं बद्धं हि लक्षणम्।

(ख) सिद्धिभिर्लक्षयेत्सिद्धं जीवन्मुक्तं तथैव च॥

(ग) जरामरपिण्डो यो जीवन्मुक्तः स एव हि॥

गोरक्षनाथ—योग बीज—(१८३, १८१)॥

(घ) योगमार्गे तथैवेदं सिद्धिजालं प्रवर्तते॥ (१८०)

—'योगबीज' (१८०)

प्र०—क्या शाङ्कर वेदान्त एवं उसके ज्ञानमार्ग में भी सिद्धियों का इतना ही महत्व है?

कदापि नही।

प्र०—क्या शाङ्कर अद्वैत ज्ञानमार्ग में भी ज्ञान के साथ योग-साधना को उतना ही अपरिहार्य उच्च स्थान दिया गया है, जितना कि नाथमत में?

कदापि नहीं

प्र०—क्या शाङ्कर मार्ग में भी जीवन्मुक्तों की परीक्षा उनकी सिद्धियों की कसौटी पर की जाती रही है?

कदापि नहीं।

प्र०—क्या सिद्धि-हीन मुक्त पुरुष को शाङ्कर दर्शन में भी बंधनग्रस्त माना जाता है।

कदापि नहीं।

प्र०—क्या योगहीन-ज्ञान को शाङ्कर ज्ञानमार्ग में निष्फल माना जाता है?

कदापि नहीं। फिर गोरक्षनाथ के दर्शन पर शाङ्करज्ञान एवं शाङ्कर अद्वैतका प्रभाव कैसे स्वीकार किया जाय?

प्र०—'जब शरीर ब्रह्मत्व प्राप्त कर ले एवं चिन्मय हो जाय (ब्रह्म में लयीभूत हो जाय, ब्रह्म-तादात्म्य प्राप्त कर ले) तभी उसे मुक्त मानना चाहिए।' क्या यही गोरक्ष-दृष्टि शंकर को भी मान्य है?

नहीं।

'निरुत्थान' (**जीवात्मा-परमात्मा** के अभिन्नत्व या **सामरस्य**) की प्राप्ति का उपाय क्या है?

(१) योगी अपने स्वरूपानुसन्धान (स्व-परपिण्ड का ऐक्य) द्वारा निजावेश (परमेश्वर को अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित देखना) प्राप्त करता है। इसी **'निजावेश'** के परिणामस्वरूप **'निरुत्थान'** या **'सामरस्य'** का उदय हुआ करता है। उसे यह अनुभव होता है कि—

'परपिण्ड' (परमात्मपिण्ड) **मेरा ही 'व्यष्टिपिण्ड'** है। इससे परमात्म पिण्ड एवं स्वपिण्ड में दृष्टिगत भेद का अन्त हो जाता है। इससे अखण्ड परमात्मस्वरूप परमपद का प्रत्यक्षीकरण हो जाता है।

(१) "महासिद्धयोगिभिः स्वकीयपिण्डनिरुत्थानानुभवेन समरसं क्रियत इति सिद्धान्तः।।७।।

(२) **निरुत्थानप्राप्त्युपायः** कथ्यते। महासिद्धिभिः **स्वस्वरूपतयानुसन्धानेन निजावेशा** भवति।

निजावेशात्रि:पीडित **निरुत्थानदशा**महोदयः कश्चिज्जायते ततः सच्चिदानन्द चमत्काराद् अद्भुताकार **प्रकाश-प्रबोधो** जायते, **प्रबोधाद्** अखिलमेतद् द्वयाद्वय प्रकटतया चैतन्यभासकं **परात्परपरमपदमेव** प्रस्फुटं भवतीति सत्यम्।।"

गुरुप्रसाद प्राप्त करके चित्तनिरोधपूर्वक स्वरूप ध्यान एवं समाधि द्वारा स्वपिण्ड से परपिण्ड पर्यन्त ऐक्य का अनुभव करना चाहिए। इससे परमपद (द्वैताद्वैतविवर्जित परमात्मपद) की अनुभूति होती है—

'अतएव महासिद्धयोगिभिः सम्यग् गुरुप्रसादं लब्ध्वा **अवधानबलेनैक्यं** भजमानैस्तत्क्षणात् परमं पदमेवानुभूयते।।'

'तदनुभवबलेन स्वकीयं सिद्धं सम्यङ् निजपिण्डं ज्ञात्वा तमेव परमपद एकीकृत्य तस्मिन् प्रत्यावृत्या रूढ़ैवाभ्यन्तरे स्वपिण्डसिद्ध्यर्थे महत्वमनुभूयते।।१०।।

'निजपिण्डपरीक्षा च स्वस्वरूपकिरणानन्दोन्मेषमात्रं यस्योन्मेषस्य प्रत्याहरणमेव **समरसकरणं** भवति।।'

'अतएव स्वकीयं पिण्डं महद्रश्मिपुञ्जं स्वेनैवाकारेण प्रतीयमान् स्वानुसन्धानेन स्वस्मिन्नुरीकृत्य महासिद्धयोगिनः पिण्डसिद्ध्यर्थं निष्ठन्तीति प्रसिद्धम् ॥''[१]

* ''गोरक्षशतक'' के आलोक में गोरक्ष-योग का स्वरूप *

[ब्रिग्स महोदय ने **'गोरक्षशतक'** को अपनी पुस्तक में रोमन लिपि में प्रकाशित किया है तथा उसका अंग्रेजी में अनुवाद भी किया है। उन्होंने इसे गोरक्षनाथ की सच्ची एवं प्रामाणिक रचना कहकर इसको बहुत महत्त्व प्रदान किया है।]

इस पुस्तक के आरंभ में कहा गया है कि इसमें प्रतिपादित **'गोरक्ष का उत्तम ज्ञान'** योगियों के अभीष्ट को सिद्ध करने वाला, **परमानन्दकारक,** योगियों का हितसाधक, **विमुक्ति का सोपान, कालवञ्चक, परमपदप्रदाता, भोगों से निवृत्त करने वाला, परमात्मा में लीन करने वाला, वेद रूपी कल्पतरु का फल** एवं **भवताप को शमित करने वाला है।**

''द्विज सेवित शाखस्य श्रुतिकल्पतरोः कलम्।
शमनं भवतापस्य **योगं** भजत सत्तमाः॥''

[१] **योग के अङ्ग**—गोरक्षोपदिष्ट योग के ६ अङ्ग हैं—

'आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि वदन्ति षट्॥'

आसनों की संख्या—जीवों के प्रकार की संख्या के बराबर ही आसनों की भी संख्या है, किन्तु शिवजी ने ८४ लाख आसनों का वर्णन किया है। इनमें ८४ प्रधान है।

[२] गोरक्ष योग के प्रधान स्तंभ

(१) षडङ्गयोग
(२) षट्चक्र
(३) षोडशाधार
(४) त्रिलक्ष्य
(५) व्योमपञ्चक
(६) एकस्तंभ
(७) नवद्वार
(८) ५ अधिदैवत

''षट्चक्रं षोडशाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः?

१. सिद्धसिद्धान्त पद्धति।

एकस्तंभं नवद्वारं गृहं पञ्चाधिदैवतम्।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः?"

[३] षट्चक्र

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)
आधारचक्र	स्वाधिष्ठानचक्र	नाभिचक्र	अनाहतचक्र	विशुद्धिचक्र	आज्ञाचक्र	सहस्त्रदलचक्र
४ दल	६ दल	१० दल	१२ दल	१६ दल	२ दल	(ब्रह्मरन्ध्र मे स्थित)

खगाण्डवत कन्दयोनि = नाड़ी मण्डल में ७२००० नाड़ियाँ हैं।

[४] प्रधान नाड़ियाँ

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)
'इड़ा' वाम भाग में स्थित	'पिंगला' दक्षिण भाग में स्थित	'सुषुम्णा' मध्यदेश में स्थित	'गांधारी' वामचक्षु में स्थित	'हस्ति' दक्षिणचक्षु में स्थित	'पूषा' दक्षिण कर्ण में स्थित	'यशस्विनी' वामकर्ण में स्थित

(८)	(९)	(१०)
अलम्बुषा (मुख में स्थित)	कुहूनाड़ी (लिङ्ग में स्थित)	शंखिनी नाड़ी (मूलस्थान में स्थित)

ये १० नाड़ियाँ प्राणवाहिनी नाड़ियाँ हैं।

*** इड़ा, पिङ्गला एवं सुषुम्णा नाड़ियाँ ***

'इड़ा पिङ्गला सुषुम्णा च नाड़ी मार्गे समाश्रिताः।
सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः।'

'इड़ा' का देवता-सोम॥ **'पिङ्गला' का देवता**—सूर्य। **'सुषुम्णा' का देवता**—अग्नि।

[५] * प्राण मण्डल और १० प्राण *

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)	(८)	(९)	(१०)
'प्राण'	'अपान'	'समान'	'उदान'	'व्यान'	'नाग'	'कूर्म'	'कृकर'	'देवदत्त'	'धनञ्जय'
हृदय में स्थित वायु	गुदा में स्थित वायु	नाभि में स्थित वायु	कण्ठ के मध्य स्थित	शरीर में व्याप्त वायु	उद्गिरण में स्थित वायु	उन्मीलन में स्थित वायु	भूख में स्थित वायु	विजृंभण में स्थित वायु	मृत्यु की स्थिति में भी न छोड़ने वाली वायु

[६] *** प्राणापान की क्रीड़ा एवं गेंद रूप जीव ***

आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथोच्छलति कन्दुकः।
प्राणपानसमाक्षिप्तस्तथा जीवो न तिष्ठति।

* प्राणापान द्वारा निरन्तर आक्षिप्त जीव क्षण भरके लिये भी स्थिर नहीं हो पाता यथा खेला जाता हुआ कन्दुक॥

[७] *** प्राणापानाकर्षण एवं जीव की दयनीय स्थिति ***

रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोऽप्याकृष्यते पुनः।
गुणबद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कृष्यते॥

प्राण एवं अपान को समरस करना ही योगी की साधना है।

*** प्राणापान का समरसीकरण ***

'अपानः कर्षति प्राणं, प्राणोऽपानं च कर्षति।
ऊर्ध्वाधः संस्थितावेतौ संयोजयति योगवित्॥'

योगी का लक्ष्य है ऊपर-नीचे गतिशील प्राणापान को समरस करना। प्राणपान की गति या क्रियायें—

(१) दोनों परस्पर एक-दूसरे को ऊपर नीचे खींचती हैं और उनके साथ जीव भी रातदिन ऊपर-नीचे खिंचता रहता है।

(२) गुणबद्धजीव प्राणापान द्वारा ऊपर-नीचे लगातार उसी प्रकार खिंचता रहता है यथा रस्सी से बँधा श्येन पक्षी।

[८] *** अजपा जप—जीवों की स्वाभाविक मन्त्र-साधना *** इसे ही 'अजपा गायत्री' या 'हंसमंत्र' भी कहते हैं। इस श्वासोच्छ्वासोच्चारित स्वयंसञ्चरित मंत्र में मन को लीन करना ही अजपा जप की साधना है। यह जप अहर्निश (प्रति अहोरात्र में २१ हजार ६०० बार) चलता रहता है। **'हकार'** के साथ श्वास बाहर आती है और **'सकार'** के साथ बाहर जाती है। इस प्रकार अहर्निश ''हंसः हंसः'' का जप प्रत्येक प्राणी द्वारा निरन्तर किया जाता रहता है—

'हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः।
हंस हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा॥
षट्शतानित्वहो रात्रे सहस्राण्येकविंशतिः।
एतत्संख्यान्वितं **मन्त्रं** जीवो जपति सर्वदा॥'

—(गो० श०)

योगी का लक्ष्य यह है कि वह 'हंसः' अजपा नाम गायत्री मंत्र को उलटकर 'सोऽहं सोऽहं' के रूप में सुने। यही अजपा गायत्री है। अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी। अस्याः संकल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते।।''

अजपा गायत्री की उत्पत्ति कुण्डलिनी से होती है। यह **'प्राणविद्या' 'महाविद्या'** एवं **'गायत्री'** है—

'कुण्डलिन्या समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स **योगवित्**।।'

इस प्राणविद्या का सम्यक् ज्ञाता ही ''**योगविद्**'' कहलाता है।

[९] * **कुण्डलिनी योग और उसकी साधना** *

मनुष्य के **'नाड़ी-केन्द्र'** के ऊर्ध्व में आठ फेंटे लगाकर स्थित, मुख से ब्रह्मद्वार को रोककर अवस्थित तथा स्वयंभूलिंग को वेष्टित करके विद्यमान जो प्रसुप्ता परमेश्वरी **'मूलाधार चक्र'** में विश्राम कर रही है, उसका ही नाम है **'कुण्डलिनी'।** उसे **'वह्नियोग'** से प्रबुद्ध करके सुषुम्णा में स्थित षट्चक्रों एवं ग्रंथित्रय का भेदन कराते हुए साधक का उसे सहस्रारस्थ शिव से मिलाना (सामरस्य कराना) ही **कुण्डलिनी योग की साधना है।** यह **'कुलाकुलयोग'** ही (शिव-शक्ति-सामरस्य ही) **कुण्डलिनी योग की साधना** है। इसी सामरस्य से योगी **'मोक्ष'** पाता है—

'कुण्डलिन्या तथा योगी **मोक्षद्वारं प्रभेदयेत्।।**' 'शक्तिचालनी**मुद्रा**' **'भस्त्रिका-प्राणायाम' 'वज्रासन'** आदि साधन कुलशक्ति के प्रबोधन के प्रधान साधन हैं।

[१०] * **कुण्डलिनी शक्ति के व्यापार** *

कुण्डलिनी की सुषुप्ति ही जीवों का बन्धन है एवं उसको जागृत करके उसको अकुल से मिलाना ही जीवों की भुक्ति है। अतः 'कुण्डलिनी' मूढ़ों के लिए बन्धनकारिणी एवं योगियों के लिए मोक्षदा है—

'कुन्दोर्ध्वं कुण्डली शक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः।
बन्धनाय च मूढानां योगिनां मोक्षदा स्मृता।।'

मुद्राभ्यास—मुक्ति प्राप्त करने के साधनों में **मुद्राभ्यास** भी महत्वपूर्ण है—

'स योगी भुक्तिभाजनम् ।।'

मुख्य मुद्राएँ हैं—**'महामुद्रा' 'नभोमुद्रा' 'उड्डियान' 'जालन्धर'** एवं **'मूलबन्ध'। 'खेचरी मुद्रा'** का अपना विशिष्ट महत्व है।

[११] **अमृतपान एवं 'खेचरीमुद्रा'**—

'कालवञ्चन', 'अमृतत्व की प्राप्ति', 'पिण्डपदसमरसीकरण', 'निरुत्थान' ही **नाथ-योग के मुख्य लक्ष्य हैं।**

[१२] * **बिन्दु-साधना (बिन्दुयोग)** *—

योगी गोरक्षनाथ कहते हैं कि—'बिन्दुमूलं शरीरं तु शिरास्तत्र प्रतिष्ठिता:।'' समस्त शरीर बिन्दु' पर ही तो अवस्थित है, अत:—

'मरणं **बिन्दुपातेन,** जीवनं बिन्दुधारणात् ॥''

बिन्दु के पतन को रोकने के लिए **'खेचरी मुद्रा'** (जिह्वा को उलट कर कण्ठमूल में ले जाना) अत्यन्त सहायक है। **जब तक बिन्दु रक्षित** है मृत्यु संभव नहीं है—

'ब्रह्मचर्येण देवा: मृत्युमुपाघ्नता।' (वेद)

'यावद् बिन्दु: स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुत:?'

'खेचरीमुद्रा' 'नभोमुद्रा' एवं 'वज्रोली'—की साधना से बिन्दु का अध:पतन होता ही नहीं। अत: ये साधनायें आवश्यक हैं। बिन्दु का ऊर्ध्वीकरण एवं 'उर्ध्वरेतसत्व' ही ब्रह्मचर्य-साधना या **बिन्दु-साधना का प्राथमिक लक्ष्य** है। बिन्दुजय से अमृतत्व एवं अनेक सिद्धियों की प्राप्ति **द्वितीय लक्ष्य** है। ब्रह्मत्व-साक्षात्कार एवं समरसीकरण तथा मोक्षाप्ति **अन्तिम लक्ष्य** है।

'बिन्दु' और उसके भेद—'बिन्दु' के दो भेद हैं—

(१) 'पाण्डुर बिन्दु (२) 'लोहित बिन्दु'।
(शुक्र) (महाराज)

(१) शुक्र का स्थान : यह चन्द्रस्थान में स्थित है। 'बिन्दु' **शिव** है। बिन्दु **'चन्द्र'** है।

(२) रज का स्थान : यह नाभि में स्थित 'रज' **शक्ति** है। रज **'रवि'** है।

* इन **दोनों की एकता** अत्यन्त दुर्लभ है। इन दोनों के संगम से **'परमपद'** की प्राप्ति होती है। *

वायु के द्वारा शक्ति का चालन करने से जब महारज ऊर्ध्वमुख होकर एवं बिन्दु से मिलकर एक हो जाता है और तब शरीर दिव्य हो जाता है। बिन्दु-साधना से परमपद की प्राप्ति होती है—'उभयो: सङ्गमादेव प्राप्यते परमं पदम् ।'

* **बिन्दु-साधना मोक्ष का साधन है।** *

[१३] * **ओंकार की साधना** *

एकान्त स्थान में सम्यक रीति से **पद्मासनस्थ** होकर, **कण्ठ एवं शिर को समसूत्र में रखकर, नासाग्रभाग** पर **दृष्टि** रखकर **ओंकार का जप** करना चाहिए—

"पद्मासनं समारुह्य समकायशिरोधरः।
नासाग्रदृष्टिरेकान्ते जपेदोङ्कारमव्ययम्॥"

जिसकी मात्राओं में 'भूः', 'भुवः' एवं 'स्वः' तीनों लोक एवं चन्द्र, सूर्य तथा अग्नि देवता स्थित हैं—वही परम ज्योति ओंकारस्वरूप है। (ओंकार का स्वरूप)

ओंकार का स्वरूप

ॐ
लोकत्रय (भूर्भुवः स्वः)
चन्द्र, सूर्य, अग्नि
भूत, भविष्य, वर्तमान
ऋक्, यजुः एवं साम
स्वर्ग, पाताल, मृत्यु लोक
उदात्त, अनुदात्त, स्वरित
ब्रह्मा, विष्णु, महेश
इच्छा, ज्ञान, क्रिया
अ, उ, म (मात्रायें)

प्रणवाभ्यास की आन्तर साधना—

'(१) **वचसा** तज्जपेद् बीजं' = प्रणव की वाणी-साधना
'(२) **वपुषा** तत्समभ्यसेत्' = शरीर-साधना
'(३) **मनसा** तत्स्मरेन्नित्यं' = मन की साधना
'तत्परं ज्योतिरोमिति।'

'(४) शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि यो जपेत् प्रणवं सदा।
न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥'

(पवित्रापवित्र सभी स्थितियों में प्रणव का निरन्तर जप करते रहना चाहिए। इससे किसी भी पाप का स्पर्श नहीं होता।)

प्राण का बिन्दु से सम्बंध—

'चले वाते चलोबिन्दुर्निश्चले निश्चलो भवेत्॥'
(वातचांचल्य→बिन्दु चाञ्चल्य।
वातस्थिरता→बिन्दु-स्थिरता
बिन्दु-स्थिरता→वात-स्थिरता

मरुत-स्थैर्य, चित्त-स्थैर्य एवं भ्रूमध्य मेंदृष्टि का स्थैर्य होने पर —मृत्यु का भय कहाँ?—

"यावद् बद्धो मरुद्देहे यावच्चित्तं निराभयम्।
यावद् दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः?।।"

प्राणापान की गति—प्राणापान की संचार-मात्रा ३६ अंगुल होती है।
प्राणवायु का संग्रह (प्राणस्थैर्य) आवश्यक है।
प्राणायाम से ही नाड़ी-शोधन होता है।

[१४] **प्राणायाम के पूर्व चन्द्रबिम्ब का ध्यान—**

'कुंभक' एवं 'रेचक' से युक्त प्राणायाम-साधना और उसके साथ—(१) अमृत स्वरूप (श्वेत वर्ण के) (२) दधि (धवल) (३) दुग्ध (धवल) **का ध्यान** करके प्राणायामाभ्यास करने वाला सदैव सुखी रहता है।

*** नाभि में अग्निपुञ्जवत प्रदीप्त सूर्य मण्डल का ध्यान ***

प्राणायाम-साधना के समय कुम्भक के काल में साधक को नाभिदेश में स्थित अग्निपुञ्ज के समान प्रदीप्त सूर्यमण्डल का ध्यान करने से बहुत सुख प्राप्त होता है।

दाहिने नासारन्ध्र से पूरक करके **'सूर्यमण्डल'** का ध्यान करते हुए कुम्भक करना चाहिए।

सूर्य एवं चन्द्र की विधि से दोनों बिम्बों—का ध्यान करने से **तीन माह के भीतर** नाड़ियाँ शुद्ध हो जाती हैं। **नाड़ी-शोधन के परिणाम—**

(१) नाड़ियों का शोधन (शुद्धीकरण)
(२) प्राणवायु को धारण करने की सामर्थ्य
(३) जठराग्नि की दीप्ति
(४) आरोग्याप्ति
(५) नाद-श्रवण

'सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिना बिम्बद्वयं ध्यायतः।
शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनो मात्रत्रयादूर्ध्वतः।
यथेष्टं धारणं वायोरनलस्य प्रदीपकम्।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात्।।'

—गोरक्षशतक

'योगबीज' और उसके सिद्धान्त

'योग की परिभाषा क्या है?
गोरक्षनाथ कहते हैं—
(१) **प्राण एवं अपान** का समायोग ही **'योग'** है।

(२) **चन्द्र एवं सूर्य** की एकता ही **'योग'** है।

(३) **रज एवं रेतस** का योग ही **'योग'** है।

(४) **जीवात्मा एवं परमात्मा** का योग ही **'योग'** है।

'योऽपानप्राणयोर्योगः स्वरजोरेतसोस्तथा।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगो जीवात्मपरमात्मनोः।'

(५) इसके अतिरिक्त द्वन्द्वजाल का संयोग भी **'योग'** है।

'एवं द्वन्द्वजालस्य संयोगो योग उच्यते।।'

—योग बीज

चतुर्विध योग ('अमरौघ प्रबोध' के अनुसार)

(१)	(२)	(३)	(४)
'मंत्रयोग'	**'हठयोग'**	**'लययोग'**	**'राजयोग'**
'यो मंत्रमूर्ति-वशगः स तु **मंत्रयोगः।'**	यस्तु प्रभंजन-विधानरतो **हठस्सः।'**	यच्चित्तसन्तत-लयः सः **लयः** प्रदष्टिः।	यश्चित्तवृत्ति रहितः स तु **राजयोगः।**

'योगबीज' में गोरक्षनाथ कहते हैं कि—

'एक एव चतुर्धाऽयं **महायोगोऽ**भिधीयते।।''

नाथयोग में 'महायोग' और उसके भेद—'महायोग' केवल एक है। **गोरक्षनाथ** ने योग-साधना की विभिन्न प्रणालियों को एक ही **'महायोग'** की विभिन्न पद्धतियाँ कहा।

महायोग की साधना-पद्धतियाँ ('योग तत्त्वं चतुर्विधं')

(१)	(२)	(३)	(४)
'मंत्रयोग'	**'हठयोग'**	**'लययोग'**	**'राजयोग'**

(१) **'मंत्रयोग'** =

'हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेन्मरुत्।
हंसहंसेति मन्त्रोऽयं सर्वजीवा जयन्ति तम्।।
गुरुवाक्यात्सुषुम्णायां विपरीतो भवेज्जपाः।।
सोऽहं सोऽहमिति प्राप्तो **मन्त्रयोगः** स उच्यते।।'

(२) **'हठयोग'** =

'प्रतीतिर्वायुयोगाच्च जायते पश्चिमे पथि।
हकारेण तु सूर्योऽसौ ठकारेणेन्दुरुच्यते।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद् **हठयोगो**ऽभिधीयते।
हठेन ग्रस्यते जाड्यं सर्वदोषसमुद्भवम्॥

(३) **'लययोग'** =

क्षेत्रज्ञपरमात्मानौ तयोरैक्यं यथा भवेत्।
तदैक्ये साधिते देवि ! चित्तं याति विलीनताम्।
पवनः स्थैर्यमायाति **लययोगो**दये सति।
लयात्सम्प्राप्यते सौख्यं स्वात्मानन्दपरं पदम्॥

(४) **'राजयोग'** =

अणिमादिपदे प्राप्ते राजते **राज**योगतः।
प्राणपानसमायोगे ज्ञेयं योगचतुष्टयम्।
संक्षेपात्कथितं देवि ! नान्यथा शिवभाषितम्॥

—योगबीजम्

('योगबीज' के अनुसार) **मतद्वयः 'मर्कटमत' एवं 'काकमत'**

(१) ''मर्कट मत''

(२) ''काकमत''

'चिरात् सम्प्राप्यते सिद्धिः **मर्कटक्रम** एव सः॥'
पूर्वजन्मकृताभ्यासात्सत्वरं फलमश्नुते।
एतदेव हि विज्ञेयं **तत्काकमत**मुच्यते॥

योग की अन्य पद्धतियाँ

(१) 'पिपीलिका योग' (क्रम-साधना)

(२) 'विहंगम योग' (अक्रम ज्ञान-साधना)

लययोग की अन्य विधियाँ—'अमरौघ प्रबोध' में गोरक्षनाथ ने 'लययोग' का स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

साधक को अपने शरीर के 'मूलाधारचक्र' में **मन के प्रतीक के रूप में**

प्रतिष्ठित **'कामरूपपीठ'** में मणि के समान स्वयं प्रकाशित एवं सर्वकारणभूत आत्मा के समान ज्योतिर्मय, सृष्टि-स्थिति-प्रलय के अधिष्ठान (लिंग) रूप मोक्षप्रदाता शिव का **स्वयंभू लिंग के रूप में ध्यान करना चाहिए।** साथ ही यह भावना भी करनी चाहिए कि 'तालु चक्र' में स्थित चन्द्रमण्डल से स्रवित सुधाधारा इस शिवलिङ्ग का अमृताभिषेक करने के साथ उसके **सर्वाङ्ग को भी सोमकला के प्रवाह से आप्लावित** कर रही है। इस प्रकार के ध्यानयोग की भावना का ६ मास तक निरन्तराभ्यास करने पर '**लययोग**' की सिद्धि हो जाती है। सससे शरीरजन्य वलीपलित नष्ट हो जाती है और साधक **तीन सौ वर्ष तक** जीता रहता है—

'कामरूपे शिवं देवं लिङ्गाभं मणिसन्निभम्।
स्रवन्तं चामृतरसं यो ध्यायेन्निजविग्रहे।
निरन्तरकृताभ्यासात् षण्मासात् सिद्धिभाग्भवेत्।
वलीपलितनिर्मुक्तो जीवेदब्दशतत्रयम्।।'[१]

शरीर की पञ्चभूतात्मकता—गोरक्षनाथ कहते हैं कि शरीर में पाँचों तत्त्वों के एक-एक मण्डल विद्यमान हैं। उनकी शरीर में स्थिति इस प्रकार है—

पञ्चभूतात्मको देहः पञ्चमण्डलपूरितः।
काठिन्यात्पृथिवी **पृथ्वी** ज्ञेया पानीयं यद् द्रवाकृतिः।
दीपनं तु भवे**त्तेजः** स्पर्शो वायोस्तथा भवेत्।
आकाशे चेतनं सर्वं ज्ञातव्यं योगमिच्छता।।[२]

वायु तत्त्व और श्वास का सम्बन्ध—

षट्च्छतान्यदधिकान्यत्र सहस्राण्येकविंशतिः।
अहोरात्रं वहेच्छ्वासो वायुमण्डलरेचनात्।।

वायुमण्डल का रेचन—जीव की २१ हजार ६०० श्वासें।

'अमरौघ प्रबोध' के अनुसार **'हठयोग'** एवं **'राजयोग'** दोनों के भी भेद हैं—

'हठयोग'
- (१) प्राणनिरोध
- (२) बिन्दुनिरोध

'राजयोग'
- (१) औषधिपरक
- (२) आध्यात्मिक

---

१. अमरौघ प्रबोध (२८)
२. तत्रैव (५६-५७)

'हठयोग' एवं 'राजयोग' को इस प्रकार भी (अन्यत्र) व्याख्यायित किया गया है—

'हठयोग' ↓	'राजयोग' ↓
(१) ह+ठ+योग = सूंर्य+चन्द्र+योग (२) ह+ठ+योग = प्राण+अपान+योग (३) ह+ठ+योग = दक्षिण+वामस्वर+योगा (४) ह+ठ+योग = यमुना+गंगा+योग (५) ह+ठ+योग = पिंगला+इड़ा+योग (६) ह+ठ+योग = रजस्+रेतस+योग	'योनिमध्ये महाक्षेत्रे जपाबंधूक-सन्निभम्। रजो वसति जन्तूनां देवी तत्त्वं समावृत्तम। रजसो रेतसो योगा-द्राजयोगइति स्मृतः। अणिमादि पदं प्राप्य राजते राजयोगतः॥' योगशिखोपनिषद् (१३६-१३७)

(क) हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद्धठयोगो निगद्यते॥''

—सिद्धसिद्धान्त पद्धति।

(ख) हठाज्ज्योतिर्मयोभूत्वा ह्यन्तरेण शिवोभवेत्।
अतोऽयं **हठयोगः** स्यात् सिद्धिदः सिद्धसेवितः॥

—प्राणतोषिणी।

(ग) **हठयोग की दो योग विधियाँ**—

द्विधा हठः स्यादेकस्तु गोरक्षादिसुसाधितः।
अन्यो मृकण्डुपुत्राद्यैः साधितो हठसंज्ञकः॥

षट् कर्मों में पूर्ण साफल्याप्ति कराने वाला मंत्र कहीं भी दृष्टिगत नहीं होता। यदि मन, भ्रूमध्य, नासिका आदि स्थानों में ध्यान मग्न हो भी जायँ तो भी मूलाधार चक्र में प्राण वायु प्रविष्ट नहीं होती। नित्यानन्द-सम्पन्न **मोक्षश्री** एवं आत्म प्रभाव-निलय **से युक्त 'राजयोग'** के बिना उक्त उद्देश्य की पूर्ति संभव नहीं है। यह उद्देश्य **'हठयोग'** से कथमपि प्राप्त नहीं है—'जायन्ते हठतः कथं वद विभो स्वीयं प्रभावं विना॥'' क्या मात्र ध्यान लगाने से दिव्य नारी का संग एवं हथिनी से अश्व, गर्दभी से हाथी और कोदों से शालिकान्न की प्राप्ति हो सकती है?[१] अतः—

'नैतेषां देहसिद्धिर्विगत निजमनो राजयोगादृतेऽस्मात्॥'[२]

१. अमरौघ प्रबोध
२. तत्रैव

'अमरौघ प्रबोध' में राजयोग का जो प्रथम प्रकार **'औषधिपरक'** बताया गया है, वह यहाँ स्वीकार्य है ही नहीं; क्योंकि यह भी बताया गया है कि—

(१) समस्त प्राणियों के शरीर में **'दो महान औषधियाँ'** विद्यमान हैं—

(क) 'बिन्दु' (ख) 'नाद'

'बिन्दुनादौ महौषध्यौ विद्येते सर्वजन्तुषु।
तावविज्ञाय सर्वेऽपि म्रियन्ते गुरुवर्जिताः॥'[१]

नाथों का परमतत्व—आचार्य शंकर का ब्रह्म निर्गुण निराकार, अकर्ता, निष्क्रिय एवं विश्वातीत है। सारे कार्य केवल माया करती है; किन्तु नाथों का 'देवदेवेश' परमात्मा 'आदिनाथ' 'विश्वनाथ' विश्वरूप' 'विश्वातीत' 'उत्पत्ति-स्थिति-संहारकारी' 'क्लेशहारी' 'परमात्मा', 'महायोगीश्वर', 'परिपूर्ण' एवं 'जगदानन्द हेतु' है।[२]

यह परमात्मा 'शक्ति' से असमवेत 'निर्गुण ब्रह्म' नहीं है। प्रत्युत (शिव की भाँति) **शक्तियुक्त जगद्गुरु** एवं आदिनाथ हैं—

'आदिनाथं नमस्कृत्य **शक्तियुक्तं** जगद्गुरुम् ॥'[१]

सृष्टि के पूर्व स्थित वह परासत्ता अपनी अव्यक्तावस्था में **'अनाम' परब्रह्म** कहलाती है और इस दृष्टि से उस काल में 'कर्ता', 'कुल', 'अकुल' एवं 'कारण' कोई विद्यमान नहीं रहता। यही **'अनाम'** की स्थिति है।[३]

परब्रह्म की स्वसमवेत शक्तियाँ—वेदान्तियों के निर्गुणनिराकार परब्रह्म में उसकी कोई समवायिनी निजा शक्ति है ही नहीं; किन्तु 'त्रिकदर्शन' (का० शैव दर्शन) की भाँति नाथमत में शिव की स्वसमवेता शक्तियाँ हैं। उस अकर्ता शिव की — 'अनाम' की भी स्वसमवेता निजा शक्ति है—

'अनामेति स्वयमनादिसिद्ध एकमेवानादिनिधनं सिद्ध-
सिद्धान्तप्रसिद्धं तस्येच्छामात्रधर्माधर्मिणी **निजा शक्तिः** प्रसिद्धा।'

—(सि० सि० प०)

शिव में **'निजाशक्ति', 'पराशक्ति', 'अपराशक्ति', 'सूक्ष्माशक्ति'** एवं **'कुण्डलिनीशक्ति'**—पाँचों शक्तियाँ विद्यमान हैं।[४] 'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' में कहा गया है—

---

१. अमरौघ प्रबोध
२. अमरौघ प्रबोध (१-३)
३. सि० सि० पद्धति (१)
४. सिद्ध सिद्धान्त पद्धति।

'निजापराऽपरासूक्ष्माकुण्डलिन्यासु पञ्चधा
शक्तिचक्रक्रमेणोत्थो जात: पिण्डपर: शिव:॥'

सम्प्रदायवाद—नाथसम्प्रदाय के अनुयायियों के अनुसार नाथयोग ही सर्वोच्च साधन मार्ग है।

'योगबीज' में कहा गया है कि नाथमार्ग को छोड़कर अन्य कोई भी साधन-मार्ग **'कैवल्य'** प्रदान नहीं कर सकता—

(१) बद्धा येन विमुच्यन्ते **नाथमार्गमत:** परम् ॥

(२) नानामार्गैस्तु दुष्प्रापं **कैवल्यं परमं पदम्** ॥

'सिद्धमार्गेण' लभ्येत नान्यथा शिवभाषितम् ॥[१]

(३) **''अन्य शास्त्रसमूह पतित हैं''**—

'पतिता: शास्त्रजालेषु प्रज्ञयाते विमोहिता:।
अनिर्वाच्यपदं वक्तुं न शक्यत सुरैरपि॥'

''नाथ-सम्प्रदाय'' में यह सम्प्रदायवाद बद्धमूल है। संसार के सारे देशों में यह 'सम्प्रदायवाद' है।

डा० सर्जियस बुल्गाकोफ़ का कथन है—

''संसार में केवल एक ही सच्चा चर्च है आर्थोडाक्स चर्च। (सनातनी ईसाई सम्प्रदाय)

मार्टिन लूथर का कथन है—

''जो ईसाई धर्म के बाहर हैं, फिर चाहे वे नास्तिक हों या तुर्क, यहूदी हों या मिथ्या ईसाई (रोमन कैथोलिक) हों; और भले ही केवल एक सच्चे ईश्वर में विश्वास रखते हों, फिर भी वे शाश्वत विनाश, सनातन क्रोध एवं नरक के गर्त में पड़े हुए हैं।[२]

जान नाक्स का कथन है—

''**एशिया** में क्या हैं? ईश्वर के प्रति अज्ञान। **अफ्रीका** में क्या है? हमारे प्रभु ईसा, हमारे उद्धारक के प्रति अस्वीकृति। **ग्रीशियनों के चर्चों** में क्या है? क्या मुहम्मद और उनका मिथ्या सम्प्रदाय? **रोम** में क्या है? सारे जादूगरों का बड़ा भारी आश्रय या वह कलंकित मानव॥[३]

---

१. योग बीज (७-८)
२. लार्बर कैटैकिज्म (२-३)
३. 'इण्टरनेशनल रिव्यू आफ मिशन्स'

जार्ज टाइरेल का कथन है—

"प्रोटेस्टैण्टों और जंगलियों में कोई अन्तर नहीं। ये सब नरक में एक समान ही जलेंगे।।[१]

ईसाईयों में—प्रोटेस्टेंट, कैथोलिक, ऐंग्लिकन एवं प्यूरिटन सभी अपने को श्रेष्ठतम एवं दूसरे को पथभ्रष्ट एवं हीन मानते हैं। वह परमतत्त्व 'अनिर्वाच्यपद' एवं 'स्वात्मप्रकाशरूप' है। वह परमतत्त्व निश्चल, निर्मल, शान्त, सर्वातीत एवं निरामय है। वही पुण्यपाप के फलों से आबद्ध होकर **'जीव'** भी बन गया है—'तदेतज्जीवरूपेण पुण्यपापफलैर्वृतम् ।।'[२] नाथपंथ में **'शिव' एवं 'जीव' में एकता** भी प्रतिपादित की गई है।

जीव एवं परमात्मा में एकता—

परमात्मा जीव कैसे बन गया?

'परमात्मपदं नित्यं तत्कथं जीवतां गतम् ?'

महादेव कहते हैं कि जिस प्रकार जल में तरङ्ग की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार परमात्मा में अहंकार की उत्पत्ति होती है। यही **'अहंकार'** पञ्चतत्त्वों से निर्मित, धातुओं से परिबद्ध, गुणत्रययुक्त, सुखदुःखरूप कर्मफल के भोक्ता के रूप में जीवात्मा बनकर जन्म लेता है। यही जीव के सारे दोषों से मुक्त होकर **शिव बन जाता है। योगयुक्त ज्ञान से ही** काम-क्रोध आदि दोषों का नाश होता है और इसी ज्ञान युक्त योग साधना से मोक्षाप्ति होती है। दोष से रहित जीव ही 'शिव' है—

एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्तः **स जीवः शिव एव हि।।"**

किन्तु जीव को शिवत्व की प्राप्ति **(वेदान्तियों के कथनानुसार)** मात्र **'ज्ञान'** से सम्भव नहीं है प्रत्युत् **योगयुक्तज्ञान** से ही संभव है—

'योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीश्वरि?
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमोमोक्षकर्मणि:।।'[३]

ज्ञान का महत्व—शांकर अद्वैतमत में ज्ञान को सर्वोपरि महत्व प्रदान किया गया है—

"ज्ञानात्र ऋते मुक्तिः।।"

नाथपंथी भी कहते हैं कि—

(१) **'अज्ञानादेव** संसारो।' अज्ञान→संसार

---

१. एम० डी० पेट्रे : 'दि लाइफ आफ जार्न टाइरेले।'
२. योगबीज (१०-११)
३. योगीबीज (१९)

(२) '**ज्ञाना**देव विमुच्यते।' ज्ञान→मुक्ति।

शाङ्कर वेदान्त में प्रतिपादित **जीव मात्र ज्ञान से ही मुक्त हो जाता है**; किन्तु नाथमत के अनुसार **कोई भी जीव मात्र ज्ञान से मुक्त नहीं हो सकता**—

सर्वदोषैर्वृतो जीवः कथं ज्ञानेन मुच्यते?[१]

कोई कितना भी महान ज्ञानी क्यों न हो; किन्तु वह कभी न कभी संसार-वासना से पङ्किल हो ही जाता है। अत: 'अज्ञानी' एवं 'ज्ञानी' में कोई भेद नहीं रह जाता। अत: योग-साधना अनिवार्य है—क्योंकि—

"ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञो विजितेन्द्रियः।
विना योगेन देवोऽपि न मोक्षं लभते प्रिये।।"[२]

योग-साधना और शरीर-भेद—योगियों की मान्यता है कि योग-साधना **'अपक्व देह'** से संभव नहीं है।

योग के भेद

(१)	(२)
'अपक्वदेह'	**'परिपक्वदेह'**

- 'अपक्वाः परिपक्वाश्च द्विविधा देहिनः स्मृताः।

(१) 'अपक्वा योगहीनास्तु'	(१) 'पक्वा योगेन देहिनः।।[३]
(२) 'जडस्तत्पार्थिवो ज्ञेयश्चापक्वो दुःखदो भवेत् ।'	(२) 'पक्वो योगाग्निना देही ह्यजडशोक-वर्जितः।'

अपक्वदेही की स्थिति—

'ध्यानस्थोऽपि तथाप्येवमिन्द्रियैर्विवशो भवेत्।
अतिगाढं नियम्यापि तथाप्यन्यैः प्रबोध्यते।।'

(१) अपक्वदेही ध्यान-साधक रहने पर भी इन्द्रियों का गुलाम बना रहता है।

(२) ऐसा ध्यानी, ज्ञानी, साधक आदि भी किसी योगी के द्वारा प्रबोधित होने पर ही सिद्धि प्राप्त कर पाता है, अन्यथा नहीं।

---

१. योगबीज (२३)
२. योगबीज (३१-३२)
३. योगबीज (३४)

अपक्वदेह	परिपक्व देह
(१) यह देह जड़ होती है। होती है।	(१) यह देह **योगाग्नि से ही परिपक्व** बन पाती है।
(२) इसमें चैतन्य नहीं होता।	(२) यह अजड या **चेतन** होती है।
(३) यह पार्थिव है।	(३) यह **शोक-हीन** एवं अपार्थिव (चिन्मय होती है।
(४) यह दुःखास्पद है।	(४) यह (पूर्व देह के दोषों से रहित होने पर प्राप्त होती है। पक्वदेही व्यक्ति का—
(५) यह ध्यान-साधना करने पर भी जड़ ध्याता से पृथक नहीं हो पाती।	(१) अहंकार नष्ट हो जाता है।
(६) यह शीत उष्ण, सुख-दु:ख, व्याधि, शस्त्र, अग्नि, जल, वायु आदि के उत्पातों से पीड़ित रहती है। प्राणापान के वैषम्य से इसमें वायु प्रकुपित रहती है। इसके कारण ही व्यक्ति सैकड़ों दु:खोंसे व्याकुल चित्त वाला बनता है।	(२) उसके शरीर में कोई रोग नहीं हो सकता। (३) जल, अग्नि, वायु, शस्त्र आदि उसे हानि नहीं पहुँचा सकते। (४) परिपक्व देही व्यक्ति में शम, दम आदि प्रवृत्तियाँ सहज रूप में उत्पन्न होती हैं।
(७) **अपक्वदेही व्यक्ति** की, ज्ञान-ध्यान-वैराग्य जप आदि की साधनायें व्यर्थ हैं।	बिना अहंकार के देह में दु:खोदय संभव ही नहीं है। 'अहंकारं बिना तद्वद् देहे दु:खं कथं भवेत् ?'
(८) अपक्व देही की अहंकृति परिच्छिन्न एवं परिपुष्ट होती है। इसी कारण ऐसा व्यक्ति अनेक बाधाओं एवं व्याधियों से संत्रस्त रहा करता है।	

'योगदेह', 'योगबल' एवं 'जीवन्मुक्ति'—

(१) जीर्णशीर्ण शरीरों ने सभी प्राणियों पर विजय प्राप्त कर ली हैं; किन्तु योगियों ने योगाभ्यास के द्वारा शरीर पर ही विजय पा ली है—

"शरीरेण जिताः सर्वे शरीरं योगिभिर्जितम्।।"[१]

---

१. योगबीज (४९)

(२) इन्द्रियाँ काम, क्रोध, मन,बुद्धि द्वारा जीत ली गईं; किन्तु योगियों ने काम, क्रोध, बुद्धि एवं इन्द्रिय सभी पर विजय प्राप्त कर ली।

'योगदेह' का स्वरूप—

(१) सप्तधातुमयो देहो दग्धो **योगाग्निना** शनैः।
देवैरपि न लभ्येत **'योगदेहो'** महाबलः।।

(२) छेदबन्धैर्विर्मुक्तोऽसौ नानाशक्तिधरः परः।
यथाकाशस्तथा देहः आकाशादपि निर्मलः।।

(३) सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरो देहः स्थूलात् स्थूलो जडाज्जडः।[१]

(४) ऐसा पक्वशरीर वाला योगी स्वतंत्र, अजर, अमर, लोकत्रय में यथाकाम विचरण करने वाला, अचिन्त्य, शक्तिशाली, विजितेन्द्रिय, अनेक रूप धारण करने की क्षमता वाला होता है और सहजस्थिति में **'स्वस्थ'** रहता है।

"(१) इच्छारूपो हि योगीन्द्रः स्वतंत्रस्त्वजरामरः।।"

"(२) सूक्ष्मात्सूक्ष्मतो देहः स्थूलात् स्थूलो जडाज्जडः।"

"(३) अचिन्त्यशक्तिमान् योगी नानारूपाणि धारयन् ।।"

"(४) नासौ मरणमाप्नोति **पुनर्योगबलेन** तत् ।।

"(५) चूँकि ऐसा योगी मृत्युपूर्व ही मृत हो जाता है। अतः मृत की मृत्यु कैसी?
'पुरैव मृत एवासौ मृतस्य मरणं कुतः?'

किन्तु—**'मरणं यत्र सर्वेषां'** तत्रासौ सखि ! जीवति ।।'
किन्तु 'यत्र जीवन्ति मूढ़ास्तु तत्रासौ म्रियते सदा।।

यह जीवन्मुक्त होता है—
'जीवन्मुक्तः सदा स्वस्थः सर्वदोष-विवर्जितः।।'

'मांसपिण्ड कुदेहियों' से यह अत्यन्त महान् है, क्योंकि —
'ते कथं योगिभिस्तुल्याः मांसपिण्डा कुदेहिनः?"

गुरुवाद—वेदान्त, न्याय, आगम और अन्य शास्त्रपाठों से भी गुरुश्रेष्ठ होता है।[२]

*** यहाँ ज्ञान एवं योग तथा ज्ञानयोग का समन्वय है ***

---

१. योगबीज (५१-५३)
२. योगबीज (६६)

वेदान्त का खण्डन—(ज्ञानयोगसमन्वयवाद)—

(१) ज्ञान से मोक्ष नहीं प्राप्त होता।

(२) यदि खड्ग से ही विजय मिल जाती है तो युद्ध में लड़ने से क्या? प्रश्न उठता है—

'**विना** युद्धेन् वीर्येण कथं जयमवाप्नुयात्?'

अत:—तथा **योगेन रहितं ज्ञानं** मोक्षाय नो भवेत् ॥

किन्तु यह भी सत्य है कि—

'**ज्ञानेनैव विना योगो** न सिद्ध्यति कदाचन।'

ज्ञान तो योग-साधना से एक ही जन्म में प्राप्त किया जा सकता है। अत: सत्य तो यह है कि—

'तस्माद् योगात् परतरो नास्ति मार्गस्तु मोक्षदः॥'[1]

योगमार्ग की सर्वश्रेष्ठता—

योगात्परतरं **पुण्यं**, योगात्परतरं **सुखम्**।
योयात्परतरं **सूक्ष्मं**, **योगमार्गात्परं नहि**॥[2]

प्राणसाधना का महत्त्व—नाथपंथी कहते हैं कि गुरु उसी को बनाना चाहिए जो प्राण पर विजय प्राप्त कर चुका हो—

'मरुज्जयो यस्य सिद्ध्येत् सेवयेत्तं गुरुं सदा।'

कुण्डलिनी-योग—अपनी सुषुप्त शक्ति को जाग्रत किये बिना या पाताल की '**शक्ति**' को स्वर्ग (मुक्ति) लोक के '**शक्तिमान्**' (अकुल) से समरस किये बिना मुक्ति एवं अपने '**स्व' का पूर्ण विकास** संभव नहीं है।

प्राणायाम—कुण्डलिनी-साधना के विधान में गोरक्षनाथ ने प्रथम साधन प्राणायाम को स्वीकार किया है। ('वज्रासन' में बैठकर) एवं बालिस्तभर लम्बे एवं चार अंगुल चौड़े कोमल श्वेत वस्त्र से नाभि को वेष्टित करके **शक्तिचालन युक्ति** से वायु का कुम्भक करना चाहिए।

अष्टकुण्डलकुण्डलित कुण्डलिनी को सीधा करने हेतु **प्राणवायु का आकुञ्चन** करना चाहिए। इसके बाद **कुण्डली का चालन** करना चाहिए।

१५ दिनों तक '**वज्रासन**' से बैठकर '**शक्तिचालिनी मुद्रा**' का अभ्यास करना चाहिए।

---

१. योगबीज (७२)
२. योगबीज (८७)

प्राण-संयमन से वायु तप्त हो उठती है और इस वायु से प्रज्वलित अग्नि कुण्डलिनी को प्रतप्त कर देती है। इससे व्याकुल होकर 'कुण्डलिनी शक्ति' सुषुम्णा के मुख में प्रवेश कर जाती है और वज्रदण्ड में वायु तथा अग्नि के साथ प्रवेश करके 'ब्रह्मग्रंथि' का भेदन करके रुद्रग्रंथि में प्रविष्ट हो जाती है। फिर कुंभक के सिद्ध होने पर (१) सूर्यभेद, उज्जायी, शीतली एवं भस्त्रिका का अभ्यास करना चाहिए। ये चार प्रकार के कुंभक प्राणायाम हैं। बंधत्रयक से युक्त केवल प्राणायाम से योग साधना सिद्ध हो जाती है।[१]

प्राणायाम के ८ भेद हैं—उनमें (१) सूर्यभेदन (२) उज्जायी (३) शीतलीकरण एवं (४) भस्त्रा प्राणायाम से कुण्डलिनी जाग उठती है।

(१) 'सूर्यभेद'→उदर के वायु विकार का नाश, गले के दोषों का अन्त, शरीर में कान्ति-वृद्धि, अग्नि-वृद्धि, शिर के रोग, जलोदर एवं धातुगत रोग नष्ट हो जाते हैं।

(२) 'उज्जायी'→चलते-फिरते, रुकते उज्जायी का अभ्यास करना चाहिए।

(३) शीतलीकरण→पित्त एवं ज्वर का नाश।

(४) 'भस्त्रा'→वात, पित्त, कफ का नाश। इससे कुण्डलिनी जागृत होती है, वह टेढ़ी से सीधी हो जाती है, ग्रंथि त्रय का भेदन होता है और ब्रह्मनाड़ी के मुख पर कफ रूप अवरोध का नाश होता है।

बंध-साधना—बंधों में (१) मूल बन्ध (२) उड्डियान (३) जालन्धर प्रधान है। उनका अभ्यास करना चाहिए। (१) मूल बन्ध से—प्राण एवं अपान वायु + नाद बिन्दु में एकता आती है।

(२) **उड्डियान**—(कुंभक के आदि एवं रेचक के अन्त में करणीय बंध) सुषुम्णा में बद्धप्राण ऊपर की ओर उड़ता है।—वृद्ध भी तरुण हो जाता है। ६ माह के निरन्तराभ्यास से प्राण का वशीकरण एवं इच्छामृत्यु की प्राप्ति होती है।

(३) **'जालन्धर बंध'**(पूरकान्त में अवश्य करणीय)—वायु मार्ग का निरोध, हृदय में वायु का अवरोध। यह बन्ध **अमृतस्वरूप** है और इससे प्राण **'ब्रह्मनाड़ी'** में प्रविष्ट हो जाता है।

कुण्डली-साधना—प्रथमतः योगी को (१) वज्रासन में बैठना चाहिए। फिर (२) कुण्डलिनी का चालन करना चाहिए। (३) फिर भस्त्रा प्राणायाम द्वारा उसे शीघ्र प्रबोधित करना चाहिए।

---

१. योगबीज (१००)

"वज्रासनस्थितो योगी चालयित्वा तु कुण्डलीम्।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत्॥"

इस साधना से मेरुदण्ड में वायु से, ग्रंथियों का भेदन होता है। इससे मेरुदण्ड में खुजली होती है। यथा चींटी के चढ़ने-सी प्रतीत होती है। उसके बाद **'रुद्रग्रंथि'** का भेदन होता है। अतः शिवात्मकता प्राप्त होती है। अन्त में **शिवशक्ति समागम** से परम स्थिति प्राप्त होती है।

'शिवशक्तिसमायोगाज्जायते परमा स्थितिः॥'

जैसे हाथी सूँड़ से पानी खींचता है, वैसे ही **सुषम्णा नाड़ी पवन को अपने भीतर खींचती है।** मेरुदण्ड में **२१ मणि स्थित हैं। सुषुम्णा मोक्षमार्ग है।** सुषुम्णा में सूर्य-चन्द्र (पिंगला-इड़ा) के निबन्धन से **काल पर भी विजय** प्राप्त हो जाती है। **'पश्चिमद्वार'** (सुषुम्णा) में वायु-प्रवेश करायें। इससे वायु समस्त शरीर में प्रविष्ट हो जाती है। इसमें 'पूरक' 'रेचक' दोनों का अन्त हो जाता है। यही है **'नाथ सङ्केत' या 'सिद्धसङ्केत'।**

प्राण एवं चित्त का सम्बंध

(१) यदि चित्त प्राण में लयीभूत हुआ तो—

(२) चित्त में प्राण का भी लय हो जाता है।

(३) जिसके प्राण एवं चित्त में सामरस्य स्थापित नहीं हुआ उसका शास्त्र एवं गुरु एवं उसकी आत्मप्रतीति सभी निष्फल हैं—

'चित्तं हि नष्टं यदि मारुते स्यात्,
तत्र प्रतीतो मरुतोऽपि नाशः।
न चेदिदं स्यान्न तु तस्य शास्त्रं,
नात्मप्रतीतिर्न गुरुर्न मोक्षः'

उसे 'मोक्ष' भी कभी नहीं प्राप्त हो सकता।

योगाभ्यास और 'ब्रह्मनाड़ी'—

(१) निरन्तर अभ्यासयोग से **'ब्रह्मनाड़ी'** समस्त धातुओं को अपनी ओर आकृष्ट करती है।

(२) **आसन-बन्ध-अभ्यास योग** से **'चित्त' प्राण में विलीन** हो जाता है। अतः **बिन्दु अधोगामी नहीं हो पाता।**

(३) अनेक **नादों की उत्पत्ति होती है।**

(४) भूख, प्यास आदि दोषों का अन्त हो जाता है।

योगी **सच्चिदानन्द स्वरूप में प्रतिष्ठित** हो जाता है।

'काकमत' की सर्वोच्च श्रेष्ठता—गोरक्षनाथ कहते हैं कि 'काकमत' से श्रेष्ठतर कोई नहीं है—

(१) 'तस्मात्**काकमतान्नास्ति** त्वभ्यासारव्य मतः परम्।।'

(२) बिना **कर्म** के योगसिद्धि नहीं प्राप्त होती—

'न कर्मणा विना देवि ! योगसिद्धिः प्रजायते।।'

(३) **लयादि योग**-साधन के बिना भी सिद्धि नहीं मिलती—

(४) पूर्वजन्म-कृत अभ्यास से शीघ्र सिद्धि मिलती है—

'पूर्वजन्मकृताभ्यासात्सत्वरं फलमश्नुते।।'

इसीलिए **'काकमत'** से श्रेष्ठतर कोई मत नहीं है।

योगाभ्यास के फल—

(१) 'आदौ **रोगाः प्रणश्यन्ति'** : रोगों का अन्त।

(२) 'पश्चा**ज्जाड्यं शरीर**गम्' : शरीर की जड़ता का अन्त।

(३) 'ततः **समरसो** भूत्वा' : समरसत्व की प्राप्ति।

(४) **'चन्द्रो वर्षत्यनारतम्'** : अमृत-वर्षा।

(५) **'धातुं स्व संग्रसेद** वह्निः (फिर अग्नि पवन के साथ अपनी धातु को
'पवनेन समन्ततः।' ग्रास बना लेता है।

(६) शरीर में अनेक प्रकार के **नादों का प्रादुर्भाव**

(७) शरीर में **मृदुता** आ जाती है।

(८) पृथ्वी आदि तत्त्वों की **जड़ता को जीतकर** योगी **खेचरत्व** पाकर **ब्रह्माण्ड में स्वच्छन्द विचरण** करता है।

(९) योगी **सर्वज्ञता** प्राप्त कर लेता है।

(१०) कामदेव के समान **रूपवान्** हो जाता है।

(११) पवन के समान **वेगवान्** हो जाता है।

(१२) **लोकत्रय में रमण** करता है।

(१३) **समस्त सिद्धियाँ** प्राप्त हो जाती हैं।

(१४) **अहंकार का** लय हो जाने पर देह में कठिनता नहीं रह जाती और इस स्थिति में—

'सर्वज्ञः सर्वकर्ता च स्वतंत्रो विश्वरूपवान्।
जीवन्मुक्तो भवेद् योगी स्वेच्छया भुवने भ्रमेत्।।'[1]

---

१. योगबीज (१७०)

*** सिद्धियाँ, उनके प्रकार तथा उनका महत्त्व ***

देवी ने शंकर से पूँछा कि निर्विकल्प एवं चिन्मय आत्मा में **सिद्धियों की उपयोगिता क्या है ?** वे वहाँ क्या करेंगी?

भगवान शंकर उत्तर देते हुए कहते हैं कि—हे पार्वती ! लोक में सिद्धियाँ दो प्रकार की होती हैं—(१) **'कल्पित सिद्धियाँ'** (२) **'अकल्पित सिद्धियाँ'।**

[क] **'कल्पित सिद्धियाँ'** = ये रसौषधि, क्रिया, काल, मन्त्र एवं क्षेत्रादि साधनों से उत्पन्न सिद्धियाँ हैं। (साधनोद्भूत सिद्धियाँ)

[ख] **'अकल्पित सिद्धियाँ'**—ये साधन के बिना स्वयं उत्पन्न सिद्धियाँ हैं। ये सिद्धिस्वरूपा, नित्य, पूर्ण प्रभावशालिनी, इच्छारूपिणी एवं योगोद्भूत सिद्धियाँ हैं। ये वासना-रहित योगियों में चिरकाल पर्यन्त रहती हैं। ये शुभ, अव्यय परमात्मपद में बिना कार्य के दीप्त रहने वाली सिद्धियाँ हैं और वासनाशून्य साधकों में ये चिरस्थायी रहती हैं—

'सिद्धा नित्या महावीर्या इच्छारूपाश्च योगजाः।
चिरकालात्प्रजायन्ते वासनारहितेषु च।
ताः शुभा या महायोगात्परमात्मपदेऽव्यये।
विना कार्यं सदा दीप्ता **योगसिद्धस्य लक्षणम्।।**'[1]

ये ही 'योगसिद्ध' के लक्षण हैं।

मोक्षमार्गी को तो ये स्वतः उसी प्रकार प्राप्त हैं, यथा काशी जाने वाले पथिक को मार्ग में अपने आप अनेक तीर्थों के दर्शन हो जाते हैं।

'यथा काशीं समुद्दिश्य गच्छद्भिः पथिकैः पथि।
नानातीर्थानि दृश्यन्ते तथा मोक्षे तु सिद्धयः।।'

जीवन्मुक्ति—सिद्धियों के द्वारा 'जीवन्मुक्त' की परीक्षा करनी चाहिए। सिद्धियों से हीन पुरुष तो सर्वथा बंधनग्रस्त है। जो शरीर से अजर-अमर है (योगाभ्यास द्वारा सिद्धदेह प्राप्त कर चुका है) वही **'जीवन्मुक्त'** है।

'सिद्धिभिः परिहीनं तु नरं बद्धं हि लक्षणम्।
अजरामरपिण्डो यो जीवन्मुक्तो स एव हि।।'[2]

चिन्मयीकरण एवं ब्राह्मी स्थिति—(जीवन्मुक्ति) नाथ योगी कहते हैं कि मुक्त

---

१. योगबीज (१७७-१७८)
२. योगबीज (१८३)

उसे कहते हैं जिसका शरीर, जल में घुले नमक की भाँति, ब्रह्म में लीन होकर ब्रह्मरूप एवं चिन्मय हो जाय—

'देहो ब्रह्मत्वमायाति जलतां सैन्धवं यथा।
अनन्यतां यदा याति तदा **मुक्तः** स उच्यते॥
चिन्मयानि शरीराणि इन्द्रियाणि तथैव च॥
अनन्यतां यदा यान्ति तदा मुक्तः स उच्यते॥'

योगी का शरीर ही नहीं प्रत्युत् उसकी इन्द्रियाँ भी जड़त्व का त्याग करके चिन्मय हो जाती हैं।

सर्वचिन्मयीकरण—शैव-शाक्त तांत्रिकों की दृष्टि यह थी कि संसार की प्रत्येक वस्तु तत्त्वतः चिन्मय हैं। जड़त्व उसकी ऊपरी खोल है। अतः विशुद्ध रूप में जड़नाम की कोई वस्तु संसार में है ही नहीं। इसी दृष्टि का साक्षात्कार करना—सार्वत्रिक चिन्मयता का दर्शन करना—जड़ पदार्थों को भी चिन्मय देखना शैव-शाक्त तांत्रिकों एवं नाथ योगियों की साधना का परम काम्य था, किन्तु शाङ्कर अद्वैतवाद में तो—

(१) केवल ब्रह्म एवं जीव ही चेतन हैं।

(२) जगत तो जड़ है।

(३) जड़ के साथ चेतन का सम्बंध ही 'ग्रंथि' है या बंधन की गाँठ है। उसे खोलना और दोनों को पृथक्-पृथक् करके (जड़ रूप में जगत को एवं चेतन रूप में जीव एवं ब्रह्म को देखना और अनुभव करना)—उनकी पृथकता का अनुभव करना ही शाङ्कर ज्ञानमार्ग की साधना है। **यह चिन्मयीकरण की दृष्टि** तो उनमें है ही नहीं। नाथ-मार्ग में यह है; इसीलिए कहा गया है कि—

(१) आत्मा, शरीर एवं इन्द्रियाँ सभी **चेतन** एवं **ब्रह्मरूप** हैं—

(क) 'देहो **ब्रह्मत्वमायाति** जलतां सैन्धवं यथा।
अनन्यतां यदा याति तदा **मुक्तः** स उच्यते॥

(ख) **चिन्मयानि शरीराणि इन्द्रियाणि** तथैव च।
अनन्यतां यदा यान्ति तदा मुक्तः स उच्यते॥

यदि ऐसा न हो तो कुत्ते, कुक्कुट एवं कीट आदि एवं योगियों तथा मुक्तों के शरीर में भेद ही क्या रह जाएगा?

'ये श्वकुक्कुट कीटाद्या मृतिं सम्प्राप्नुवन्ति ते।
तेषां किं पिण्डपातेन मुक्तिर्भवति सुन्दरि॥'

—योगबीज

ओंकारोपासना—योगिराज गोरक्षनाथ ओंकारोपासना को इतना अधिक महत्व देते हैं कि वे कहते हैं कि उसकी साधना के बिना कोई भी योग-सिद्धि प्राप्त ही नहीं हो सकती—

'ओंकार आछै बाबू मूल मंत्र धारा।
ओंकार व्यापीले सकल संसारा।
ओंकार नाभी हृदै देव गुरु सोई।
ओंकार साधे बिना सिधि न होई।।'[१]

नादोपासना—गोरक्षनाथ नादोपासना को परम निर्वाण का साधन मानते हैं। वे कहते हैं—

'नादैं लीन ब्रह्म, नादै लीना नरहरि,
नादै लीना उमापती जोग ल्यौ धरि धरि।
नाद ही तौ आछै बाबू सब कछू, निधानां।
नाद ही थैं पाइये परम निरवानां।।'[२]

मन्त्रोपासना—योगिराज गोरक्षनाथ अजपाजप, नादोपासना एवं ओंकारोपासना के अतिरिक्त भगवान शिव के 'पञ्चाक्षरी मन्त्र'—

'ॐ नमः शिवाय' के जप को भी उतना ही महत्व प्रदान करते हैं—'ॐ नमो सिवाई बाबू ओं नमो सिवाइ। अहनिसि बाइ मंत्र कौणैं रे उपाइ।।'' वे पूँछते हैं कि—''रात-दिन प्राण वायु के चलते रहने से निरन्तर 'सोऽहं हंसा' का जो **जप साँस** के द्वारा होता रहता है, उस **वायु-मंत्र** को किसने उत्पन्न किया?उस पवन-मंत्र का मूल (उत्पादक) ॐकार है। उसी से सारी सृष्टि की धारा छूटी है। ओंकार सारे संसार में व्याप्त है। ओंकार नाभि एवं हृदय अर्थात् स्वाधिष्ठान एवं अनाहत चक्र में निवास करता है। ॐकार ही देवता है। ओंकार ही गुरु है। ओंकार की साधना के बिना सिद्धि नहीं होती।।[३]

जप-साधना—गोरक्षनाथ मंत्रयोगी भी हैं। अतः वे मंत्र-जप को भी महत्व देते हैं। वे कहते हैं कि हे अवधूत ! ''जपमाला पहचानो और वह जप करो, जिससे ब्रह्मानुभूति स्वरूप यथार्थ की प्राप्ति हो।'' जिस अगम्य जप का जाप गोरख ने किया उसे कोई बिरला ही जानता है—

'अवधूजाप जपौ जपमाली। चीन्हौ, जाप जप्यां फल होई।'[४]

---

१. गोरखबानी (पद)

२. गोरखबानी (पद)

३. गोरखबानी

४. **अगमजाप जपीला गोरख**, चीन्हत बिरला कोई।''

गोरखनाथ कहते हैं कि—

'कवल बदन काया करि कंचन चेतनि करौ जपमाली।।'

'एक अखीरी एकंकार जपीला, सुंनि अस्थूल दोइ वाणी।।'

प्यण्ड ब्रह्माण्ड सभि तुलि व्यापीले, एक अखिरी हम गुरमुखि जांणी।

गोरक्षनाथ कहते हैं कि शून्य (आत्मिक) एवं बाह्य दोनों वाणियों से एकाकार अद्वय परब्रह्म का जप ही **एकाक्षरी मंत्र** जप है। इसी एकाक्षरी मंत्र जप को मैंने गुरुमुख से सीखा है—

'एक अषीरी एकंकार जपीला। सुंनि अस्थूल दोइ बांणी।।'

जप का यथार्थ स्वरूप—

जप के अङ्ग (यथार्थ जप करने की आदर्श विधि)

(१)	(२)	(३)
'कमल (चक्र)'	**'काया'**	**(जप करने की) 'माला'**
(चक्र को मंत्र-जप करने वाला **मुख** बनाओ। 'चक्र' = अपना मुख। साधक का मंत्र-जापक मुख।	(सोने के मनके। माला में ग्रथित स्वर्ण के मनके) 'काया' = माला की गुरियाँ	(**चैतन्य**रूपी जप की माला) इसी माला में मनके गुथे हैं

मंत्र-जप करने वाले साधक का **'मुख'** = चक्र	'शरीर' (मनका)	माला (चैतन्य)

'वर्णेषु नादोऽनुस्यूतः।।'—वरि० रहस्यम् ।

सारांश—

(१) **चैतन्य रूपी माला** द्वारा जप करो।

(२) इस माला में **शरीर को ही मनका** बनाओ।

(३) शरीरस्थ आध्याव्यौगिक विभिन्न चक्रों को ही जप करने वाला **'मुख'** बनाओ।

इस जप-क्रिया में दो तत्त्व प्रमुख हैं—

(१) **'चैतन्य'** (माला) (२) **'चक्र'** (जापक-मुख)।

रहस्यार्थ—'मंत्राश्चिन्मरीचयः।।'

'मन्त्र' चैतन्य की रश्मियाँ हैं।' अतः मंत्र-साधना में **चैतन्य-संचार अपरिहार्य** तत्त्व हैं।

यह **चैतन्य-संचार** बाह्यमुख से वर्ण-पुनरावृत्ति करने से संभव नहीं है। मंत्रोच्चारण **'चक्र'** से हो।

प्रत्येक **'चक्र'** (मूलाधार, स्वाधिष्ठान, अनाहत, आज्ञा, सहस्त्रार आदि चक्र) के (मुख) द्वारा जब चैतन्य-स्फुरण हो तो उस चैतन्यस्फुरण को ही **मंत्र-जप** समझना चाहिए।

विशेष—अनाहतादि चक्रों से जो मंत्र निकलते रहते हैं वे नादात्मक मंत्र होते हैं। वे स्वयंभू, नित्य, शाश्वत एवं चैतन्यप्राण मंत्र होते हैं। इन मंत्रों से जगत की सृष्टि-स्थिति-संहार आदि सारी क्रियायें सम्पन्न होती हैं।

इस बात को और स्फुट किया जाय तो हमें यह कहना होगा कि—

(१) मुख एवं मुख के उच्चारण-स्थानों से उच्चरित 'मंत्र' यथार्थ मंत्र नहीं हैं प्रत्युत् वे मंत्र की नकल मात्र हैं यथा **प्रतिबिम्ब** 'बिम्ब' की नकल या छाया मात्र होता है, यथार्थ वस्तु का स्वरूप नहीं हुआ करता।

(२) वर्णों का जप काम्य नहीं है प्रत्युत् उसमें अन्तर्निहित **'नादशक्ति'** का स्फुरण काम्य है।

(३) **'नाद'** शिव एवं शक्ति का अन्तर्सम्बन्ध है।

(४) 'आसीच्छक्तिस्ततो **नादः**, नादाद् बिन्दु समुद्भवः।। 'नाद' पारमात्मिकी अचिन्त्य शक्ति की ध्वन्यात्मक बाह्याभिव्यक्ति है। अतः 'नाद' **'परमात्मा की शक्ति'** है।

(५) यही पारमात्मिकी शक्ति जब और स्थूल रूप धारण कर लेती है, तब वह वर्णात्मक मंत्र बन जाती है।

'मंत्र' के विभिन्न स्वरूप

(१)
नादात्मक मंत्र
(अनाहत ध्वनि रूप)
(ओंकार निमज्जित)
*** साध्य मन्त्र ***

(२)
(सुषुप्तनाद वाला) **वर्णात्मक मंत्र**
(नादात्मक मंत्र ही काम्य है, क्योंकि वर्णात्मक मंत्र
(आत्मा चैतन्य-संचार का) साधन है।
(साधन-मंत्र)

नादात्मक मंत्र ———————> **वर्णात्मक मंत्र**

नादात्मक मंत्र	वर्णात्मक मंत्र
(सूक्ष्म मंत्र)	(स्थूल मंत्र)
(आत्मिक चैतन्य से संस्पृष्ट मन्त्र)	(चैतन्यशून्य, मृत वर्णों की समष्टि के रूप में अवस्थित 'मन्त्र')

वेदों की दृष्टि—

''चत्वारि वाक् परिमिता पदानि,
तानि विदुर्ब्राह्मणो ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेंगयन्ति।
चतुर्थो वाचो मनुष्याः वदन्ति।''

सारांश—

वाणी के भेद

(१)
*** गुफ़ा में बन्द तीन वाणियाँ ***
(जिन्हें न मानव सुन सकता है और न बोल सकता है।)
(परा। पश्यन्ती। मध्यमा)

(२)
'चतुर्थ वाणी'
(जिन्हें मनुष्य एवं सारे प्राणी बोलते हैं।) (इस वाणी में बोला गया मंत्र यथार्थ मंत्र नहीं है।)

वर्णों में नाद अन्तर्निहित रहते हैं—

'वर्णेषु नादोऽनुस्यूतः।'

—वरिवस्यारहस्यम् ।

*** गुहागत वाणियाँ ***

(१) ये नादात्मक मंत्र हैं। इन वाणियों से उच्चरित मंत्र ही **यथार्थ मंत्र** हैं, क्योंकि इनसे उच्चरित ध्वनियों में चैतन्य का प्रवाह (चेतना का सञ्चार) भी रहता है।

इन मंत्रों को जपा नहीं जा सकता। **ये 'स्वयंभू मंत्र'** हैं। साधक द्वारा बराबर की जाने वाली आत्मिक साधना द्वारा जब उनमें चैतन्य का स्फुरण होता है, तब ये मंत्र अनाहत नाद के रूप में स्वयमेद स्फुरित होने लगते हैं।

*** मुखोच्चारित वाणी ***

(२) ये अनादात्मक मंत्र हैं और मुख के उच्चारणावयवों से जपे जाते हैं।

इनमें चैतन्य-प्रवाह नहीं होता।

ये स्वंयभू मंत्र नहीं हैं। ये सप्रयास जपे जाने वाले मंत्र हैं। 'सोऽहं जप' स्वयंभू जप है, किन्तु ये द्वितीय श्रेणी के मंत्र एवं मंत्र-जप स्वयंभू नहीं सायास मंत्र जप हैं।

*** जप का यथार्थ स्वरूप एवं अयथार्थ स्वरूप ***

(१)
'गुहा त्रीणि निहिता नेंगयन्ति'
के रूप में अवस्थित **'गुहात्रय'**
(१) परा (२) पश्यन्ती (३) मध्यमा
से स्वयमेव जपे जाने वाले मंत्र।।
(आदर्श मंत्र। आदर्श जप)

(२)
'चतुर्थो वाचो मनुष्याः वदन्ति।'
मुखोच्चारित वर्णात्मक मंत्र
जो चतुर्थ वाणी
से जपे जाते हैं।
(अनादर्श, स्थूल जप)

*** योगी भास्कर राय प्रोक्त जप का स्वरूप ***

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)
मन्त्र के वर्णों का उच्चारण	५ अव-स्थायें	शून्य (६ शून्य)	विषुव (७ विषुव)	९ चक्र	मंत्रार्थ-चिन्तन

'एवमवस्था शून्यविषवन्ति चक्राणि पञ्चषट् सप्त।
नव च मनोरर्थाश्च स्मरतोऽर्णोच्चरणं तु **जपः**।।'
—वरिवस्यारहस्यम् ।

'चक्रभावन'

सकल — सकल निष्कल — निष्कल

*** गोरक्षनाथ का मंत्र-विज्ञान एवं मंत्र-रहस्य ***

गोरक्षनाथ ने 'नाथ-सम्प्रदाय' में जिस **मन्त्र-साधना** का प्रचार प्रसार किया **वे 'मन्त्र' वर्णों से संगठित मंत्र नहीं थे प्रत्युत् वे वर्णों में अनुस्यूत चैतन्य-शक्ति के मंत्र** थे, क्योंकि **'मंत्र' वर्णों का नहीं नाद-प्रवाह का होता है**, क्योंकि—

'वर्णेषु नादोऽनुस्यूतः।।'[१]

मंत्र का स्वरूप—मूलाधार से उठने वाला **'नाद'** वर्णों के मध्य से होता हुआ, फूल की माला में पिरोये, सूत्र की भाँति होता है—

---

१. वरिवस्यारहस्यम् (प्रथमोंशः)

'आधारोत्थितनादो गुण इव परिमाति वर्णमध्यगतः।।'

[१] * शिवसूत्र विमर्शिनीकार क्षेमराज की दृष्टि *

आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि—

(१) अभेदेन विमृश्यते परमेश्वररूपम् अनेन इति मंत्रः।

(२) परस्फुरत्तात्मकमननधर्मात्मता, भेदमयसंसारप्रशमनात्मक **त्राणधर्मता** च अस्य निरुच्यते।।

(३) 'मंत्रदेवताविमर्शपरत्वेन प्राप्त तत्सामरस्यम् आराधकचित्तमेव मंत्रः 'चित्तंमंत्रः।।'
—(शिव सूत्र २।१)

(४) मुखोच्चरित मंत्र 'मंत्र' नहीं हैं—
'उच्चार्यमाणा ये मन्त्रा न मंत्राश्चापि तान्विदुः।
मोहिता देव गन्धर्वा मिथ्या ज्ञानेन गर्विताः।।'[२]

(५) '**मन्त्राणां जीवभूता** तुया स्मृता **शक्तिख्यया**।
तथा हीना वरारोहे निष्फलाः शरदभ्रवत्।।'

(६) पृथङ्मन्त्रः पृथङ्मन्त्री न सिद्ध्यति कदाचन।
—श्री कण्ठी संहिता।

(७) सहाराधक चित्तेन तेनैते **शिवधर्मिणः।।**
—स्पन्दकारिका

'तन्त्र सद्भाव' में कहा गया है—

(८) सर्वे वर्णात्मकाः मन्त्रास्ते च **शक्त्यात्मकाः**[३] प्रिये।
शक्तिस्तु मातृका ज्ञेया सा च ज्ञेया **शिवात्मिका।**

(९) अस्मात्तु कारणद्देवि ! मया वीर्यं प्रगोपितम् ।
तेन गुप्तेन ते गुप्ताः शेषावर्णास्तु केवलाः।

(१०) **पशुभावे स्थिता** मन्त्राः केवलावर्णरूपिणः।
सौषुम्णेऽप्यन्युच्चरिताः पतित्वं प्राप्नुवन्ति ते।।
—हंसपारमेश्वर

---

१. वरिवस्यारहस्यम् (२२)
२. सर्वज्ञानोत्तर
३. श्री तन्त्र सद्भाव

शिवशक्तिसामरस्यवाद—योगी गोरक्षनाथ 'शक्ति' एवं 'शिव' दोनों के साधक थे। **त्रिकदार्शनिक** भी शक्ति एवं शिव दोनों के उपासक थे।

गोरक्षसाधना का लक्ष्य था—पाताल में विरहाकुल-स्थित शक्ति को उठाकर शून्य लोक में ऊर्ध्वस्थित शिव से मिलाना अर्थात् शक्ति का शिव से सामरस्य कराना—

'**सक्ति** रूपी रज आछै सिव रूपी व्यंद।।
बारह कला **रवि** आछै सोलह कला **चन्द।**
चारिकला रवि की जे ससि घरि आवै।
तौ **सिव सक्ती** संमि होवै अन्त कोई न पावै।।'

(मूलाधारस्थ अमृतशोषक **सूर्य की १२ कलायें** हैं और सहस्त्रारस्थ **चन्द्रमा की १६ कलायें** हैं। यदि रवि की ४ कलायें शशि में मिल जायँ तो शिव एवं शक्ति सम हो जायँ।।)

अजपाजप—गोरक्षनाथ कहते हैं—

'**अजपा जाप** जपंता गोरख अतीत अनुपम ज्ञानं।।'

गोरक्ष के जप का स्वरूप—

''जे जाप सकल सिष्टि उतपंना।
ते जाप श्री गोरखनाथ कथियां।
'मछिद्रं प्रसादैं जती गोरखबोल्य,
अजपा जपिला धीर रहाणी।।''

अनिर्वचनीयतावाद—गोरक्षनाथ ने भाषा के किन्हीं शब्दों की लक्ष्मणरेखा खींचकर परमतत्त्व को न तो सीमाबद्ध किया और न तो मन की प्राचीर में कैद करके उसे सीमित बनाया प्रत्युत उन्होंने कहा **'बसती न सुन्यं, सून्यं न बसती अगम अगोचर ऐसा। गगन सिखर महिं बालक बोलै ताका नाँव धरहुगे कैसा।'** वह 'बसती' (अस्ति) और शून्य (नास्ति) दोनों से अतीत है। वह भाव-अभाव दोनों से परे है। वह आकाश मण्डल (ब्रह्मरंध्र) में बोलने वाला बालक है।[१]

कुण्डलिनी योग—गोरक्षनाथ के हिन्दी के ग्रंथों में भी **'कुण्डलिनी योग'** का वर्णन मिलता है—

''पाताल की गंगा ब्रह्माण्ड चढ़ाइबा तहाँ विमल रस पीया।।''[२]

---

१. गोरखबानी (सबदी)
२. गोरखबानी (सबदी २)

गोरक्षनाथ जी ने **कुण्डलिनी का परिचय** इस प्रकार दिया है—

'नाभ अस्थान क मोरा सास नैं सुसरा, ब्रह्म अस्थान क मोरा बासा।
'इला प्यंगुला जोगण भेंटी, सुखमन मिल्या घर बासा।।'

कुण्डलिनी का श्वसुरालय मूलाधार एवं पीहर ब्रह्मरंध्र है।

कुण्डलिनी मूलाधार में नीचे रहती है, किन्तु आरोहण के समय उल्टा चलती है—

उलटी सकति चढ़ै ब्रह्मण्ड' नख सिख पवनां खेलै सरबंग।
उलटि चन्द्र राहू कूं ग्रहै। सिधसंङ्केत जती गोरख कहै।।२१७।।

(जब कुण्डलिनी शक्ति उलटकर ब्रह्माण्ड में पहुँच जाती है और नख से शिखा पर्यन्त सर्वाङ्ग में वायु व्याप्त हो जाती है (वायु भक्षण होने लगता है), तब उलटा सहस्त्रारस्थ चन्द्रमा ही राहु (आधारस्थ सूर्य) को ग्रस लेता है। इससे अमृतपान होने लगता है। यही **'सिद्ध संकेत'** है।)

अगोचरी मुद्रा एवं शांभवी मुद्रा पर बल—गोरक्षनाथ ध्यानाभ्यास के लिए दो मुद्राओं को प्राधान्य देते हैं—(१) 'अगोचरी मुद्रा' (२) 'शांभवी मुद्रा'।

'नासिका अग्रे भ्रूमण्डले अहनिस रहिबा थीरं।
माता गरभि जनम न आयबा, बहुरि न पीयबा खीरं।।२७५।।'

उन्मन योग—'समना' के बाद 'उन्मनी' की स्थिति है। यह योग-साधना में ऊर्ध्वारोहण की सर्वोच्च स्थिति है, जहाँ मन का अस्तित्व ही नहीं रह जाता। गोरक्ष-योग में इसका अत्यधिक महत्व है। गोरक्षनाथ कहते हैं—ज्ञान और गुरु हमारे दो तूम्बे हैं। चेतन इच्छा तम्बूरे की डाँडी हैं, तम्बूरे पर **उन्मना की** ताँत बज उठी, इससे सारी तृष्णाओं का अन्त हो गया—

'ज्ञान गुरु दोऊ तूँबा अम्हारे, मनसा चेतनि डांडी।
उनमुनी तांती बाजन लागी, यहि बिधि तृष्णा खांडी।।'

बाह्योन्मुख साधना की व्यर्थता—गोरक्षनाथ ने अपनी साधना में तीर्थ-व्रत, मूर्तिपूजन आदि बाह्यवर्ती साधनाओं का खण्डन किया है—

"पषांणची देवली पषांण चा देव।"
'पषांण पूजिला कैसे फटीला सनेह।'
"तीरथि तीरथि सनान करीला। बाहर धोये कैसे भीतरि भेदीला।।"
'नव नाड़ी बहोतरि कोठा। ए अष्टांग सब झूठा।'
"कूँची ताली सुषमन करै। उलटि जिभ्या ले तालू धरै।।"

(शरीर में इतनी नाड़ियाँ है, इतने कोष्ठ हैं—आदि अष्टांग योग का सारा ज्ञान

आभ्यंतर अनुभूति के बिना मिथ्या है। सुषुम्णा के द्वारा ताली पर कुंजी लगाओ (खोलो) ब्रह्मरंध्र का वेधन करो और जिह्वा को उलटकर तालमूल में रखते हुए चन्द्र-स्रवित सुधा का पान करो।)

गोरक्षनाथ ९ नाथ एवं ९४ सिद्धों की भी खबर लेते हुए कहते हैं—

'नौ नाथ नै चौरासी सिधा, आसणधारी हूवा।
जोग कौ तिन पार न पायौ, वनखंडां भ्रमि भ्रमि मूवा।।'

सर्वात्मवाद, 'पूर्णाहन्ता' एवं अपने विराट अहं का साक्षात्कार

काश्मीर के त्रिकदर्शन में दो दृष्टियाँ हैं—

(१) सर्वात्मवाद (२) 'पूर्णाहन्ता' : 'अहमस्मि' 'अहमिदम्' एवं 'इदमहम्' का विमर्श।

इसी उच्चतम आत्मोत्कर्ष के अभ्रंलिह सोपान पर समारूढ़ गोरक्षनाथ को अपने से पृथक् कोई अन्य—('अहं' के अतिरिक्त 'त्वं' एवं 'सः') दिखाई ही नहीं पड़ता। यह अद्वैत की पराकाष्ठा है। इस सोपान पर समारुढ़ गोरक्षनाथ कहते हैं—

कासौं झूझौं अवधू राइ, विषम न न दीसै कोई।
जासौं अब झूझौ रे आत्माराम सोई।
अपाण ही मछ कछ आपण ही जाल।
आपण हीं धीवर आपण हीं काल।।
आपण ही स्यंघ बाघ आपण ही गाइ।
आपण ही मारीला आपण ही खाइ।।

साधना में स्वानुभूति पर बल (अनुभूति-प्राधान्य)—

परमात्मा धार्मिक पुस्तकों से अवबोध्य नहीं है। वह अनुभूति-गम्य है—

'बेदे न शास्त्रे कतेबे न कुराणे पुस्तके न बंच्या जाई।
ते पद जानां बिरला जोगी और दुनी सब धंधै लाई।।'
'बेद कतेब न षाणीं बाणी। सब ढंकी तलि आंणी।।'

गोरक्षनाथ कहते हैं—

'कहणि सहेली रहणि दुहेली, कहणि रहणि बिन थोथी।
पढ्या गुंण्या सूवा बिलाई खाया, पंडित के हाथि रहि गई पोथी,
कहणि सहेली रहणि दुलेली, बिन खायां गुड़ मीठा।
खाई हींग कसूर बखाणैं, गोरख कहै सब झूठा।।'

जीवन्मृत्यु—योगिराज जीवन्मृत्यु का उपदेश देते हैं—

'मरौ वे जोगी मरौ, मरण है मीठा।
तिस मरणी मरौ। जिस मरणी गोरख मरि दीठा।।'

नाड़ी योग—योग में 'नाद' 'बिन्दु' 'शक्ति' आदि सभी की साधना, नाड़ियों का आश्रय लेकर ही की जाती है अतः योग-साधना में **'नाड़ी-योग'** का अत्यधिक महत्व है। गोरक्षनाथ कहते हैं—

'अवधू प्रथम नाड़ी **'नाद'** झमंकै, तेजंग नाड़ी पवनं।
सीतंग नाड़ी ब्यंदका बासा, कोई जोगी जानत गवनं।।'

(सुषुम्णा नाड़ी में **नाद,** पिंगला नाड़ी में **पवन** एवं इड़ा नाड़ी में शुक्र का निवास है। इनकी गति तो कोई विरला योगी ही जानता है।)

'अवधू **ईड़ा मारग** चंद्र भणीजै, **प्यंगुला मारग** भानं।
सुषमना मारग बांणी बोलिए, त्रिय मूल अस्थानं।'

(ये ही तीन मार्ग मूल स्थान ब्रह्मरंध्र तक ले जाते हैं।) (इड़ा मार्ग—पिंगला मार्ग—सुषुम्णा मार्ग)

हंस-जप की साधना—गोरक्षनाथ स्वयंभू श्वास-जप को विशेष महत्व देते हुए कहते हैं कि प्रत्येक प्राणी अहर्निश की कालावधि में २१ हजार ६०० श्वासों के माध्यम से इतनी ही बार सोऽहं-सोऽहं का जप करता रहता है—

'इकबीस सहंस षटसां आदू पवन पुरिष जपमाली।
इला प्यंगुला सुखमन नारी, अहनिसि बहै प्रनाली।।'

नाद-बिन्दु-साधना—गुरु गोरक्षनाथ कहते हैं कि—

(१) अनाहत नाद तो अहरन है।

(२) बिन्दु (शुक्र) हथौड़ा है।

(३) नाड़ियाँ—(हवा धौंकने की) धेंकनी है।

(४) मूलाधार आसन है।

(५) मूलाधार को दबाकर दृढ़ आसन से बैठकर लोहारी करो, इससे आवागमन मिट जाएगा—

'अहरणि नाद नैं व्यंद हथौड़ा, रवि ससि खालां पवनं
मूल चापि डिढ आसणि बैठा, तब मिटि गया आवागमनं।।'

षट्चक्र वेधन—तांत्रिक योग-साधना की विशिष्ट साधनाओं में 'षट्चक्र वेधन' भी एक है।

गोरक्षनाथ कहते हैं—

'उलटिया पवन षट्‌चक्र बेधिया, तातै लोहै सोखिया पांणी।
चंद सूर दोऊ निज धरि राख्या, ऐसा अलख बिनाणी।।'

(प्राण वायु को उलट कर षट्‌चक्रों का वेधन किया। उससे तप्त लौह (ब्रह्मरंध्र) ने पानी (रेतस) को सोख लिया। चन्द्रमा (इड़ा नाड़ी) और सूर्य (पिंगला नाड़ी) दोनों को अपने घर (सुषुम्णा) में रक्खा। जो योगी ऐसा करे वह अलक्ष्य और विज्ञानी (ब्रह्म) हो जाता है।

सिद्धान्त-ज्ञान की अपेक्षा साधना पर बल—

गोरक्षनाथ 'रहणी' (व्यवहार। आचरण। 'करनीं साधना) पर विशेष बल देते हैं—

'कथणीं कथै सो **सिख** बोलिए, वेद पढ़ै सो **नाती।**
रहणी रहै सो **गुरु** हमारा, हम रहता का साथी।।
'रहता हमारै **गुरु** बोलिए, हम रहता का **चेला।**'

ब्रह्मचर्य-साधना—गोरक्षनाथ की साधना ब्रह्मचर्याश्रित थी। 'योग' बिन्दु-साधना (बिन्दुरक्षण, बिन्दु-शोधन, बिन्दु का आरोहण) के बिना संभव नहीं है इसीलिए गुरु गोरक्षनाथ कहते हैं कि—

'रस कुस बहि गईला, रहि गई छोई।
भणत मछिन्द्रनाथ पूता, **जोग** न होई।'
'कांमनी बहतां जोग न होई, भग मुख परलै केता।'
'भग राकसि लो, भग राकसि लो, विण दंतां जग खाया लो।
ज्ञानी हुता सु ज्ञानमुख रहिया, जीव लोक आपै आप गँवाया लो।।
जिन जननी संसार दिखाया ताकौं ले सूते खोले'
'ब्रह्म झरंता जे नर राखै सो बोलौ **अवधूता।।**'
आपण ही टाटीं फ़ड़िका, आपण ही बंध।
आपण ही मृतग, आपण ही कंध।।
न्हाइबे कौ तीरथ न पूजिबे कौं देव।
भणंत गोरखनाथ अलख अभेव।।

सामरस्यवाद—तांत्रिक शैवशाक्त मत, त्रिपुरा-सम्प्रदाय एवं त्रिक दर्शन में, तांत्रिकों ने जो **'सामरस्यवाद'** सर्वोच्च साधना, सर्वोच्च सिद्धि एवं सर्वोच्च उपलब्धि के रूप प्रतिष्ठित किया है, वही गोरक्षनाथ में भी प्रतिष्ठापित है।

गोरक्षनाथ 'अमरौघ प्रबोध' में कहते हैं—

'निर्याते चित्तरागे व्रजति खररुचौ मेरुमार्गं समन्तात्।
दुद्रझे वह्निभावे स्रवति शशधरे पूरयत्याशुकाये।
उद्यत्यानन्दवृन्दे त्यजति तव ममेत्यादिमोहान्धकारे
प्रोद्भिन्ने **ब्रह्मरंध्रे जयति शिव शिवा सङ्गमः** कोप्यपूर्वः॥'[१]

* शरीर पर पञ्चतत्त्वों का प्रभाव *

योगिराज गोरक्षनाथ कहते हैं कि—चूँकि शरीर पञ्चमहाभूतों से निर्मित है। अतः उनकी अल्पता एवं अधिकता आदि स्थितियों में शरीर प्रभावित हुए बिना नहीं रहता—

(१) **तत्पृथिवीमण्डले क्षीणे** वलिरायाति देहिनाम् ।
(२) **तोय-क्षीणे** तृणानीव चिकुराः पाण्डुराः क्रमात् ।
(३) **तेजः क्षीणे** क्षुधाकान्तिर्नश्यति **मारुते** श्लथे।
(४) वेपथुश्च भवेन्नित्यं
(५) **नाभसे** नैव जीवति।[१]
(६) इत्थं भूतक्षयान्मृत्यु जींवितं भूतधारणात् ।
(७) पञ्चेद्वर्षशते लक्ष्येन्नान्यथा मरणं भवेत् ।

प्राणायाम + महामुद्रा आदि अभ्यास प्रतिदिन दिन के चारों प्रहरों में ८-८ बार करने पर प्राण मध्यम पथ (सुषुम्णा) में प्रविष्ट हो जाता है।

प्राण का सुषुम्णा में प्रवेश कैसे हो ?

गोरक्षनाथ कहते हैं—

'निस्तरङ्गे स्थिरे चित्ते वायुर्भवति मध्यगः।
रविरुर्ध्वपदं याति बिन्दुना याति वश्यताम्।'

* योग साधना में साफल्य-प्राप्ति के प्रति गोरक्ष-दृष्टि *

गोरक्षनाथ कहते हैं—

सर्वचिन्तां परित्यज्य दिनमेकं परीक्ष्यताम्।
यदित्प्रत्ययो नास्ति तदा मे तु मृषा वचः॥

—अमरौघ प्रबोध

---

१. अमरौघ प्रबोध (१६)

योग-साधना में आने वाली विशिष्ट विलक्षणताएँ—

(योग-साधना में सफलता के चिह्न)

गोरक्षनाथ कहते हैं कि योग-साधना के समय अनेक विशिष्ट लक्षण प्रकट होते हैं यथा—

'रुमो (धूमो) **मरीचि खद्योतः दीपज्वालेन्दु भास्कराः।**
अमीकला महाबिम्बं विश्व**बिम्बं** प्रकाशते।'

—अमरौघ प्रबोध

दीपज्वालेन्दुखद्योत विद्युन्नक्षत्र भास्कराः।
दृश्यन्ते सूक्ष्मरूपेण सदा युक्तस्य योगिनः॥[1]

[श्वेताश्वतरोपनिषद् (२।११) 'मण्डलब्राह्मणोपनिषद् (५।१।९-१०) में भी योगिसिद्धि के अनेक चिह्न कहे गए हैं।]

गोरक्ष योग-साधना का चरम लक्ष्य—

(१) चित्त **अहङ्कार के विलय** के साथ **'मैं' और 'मेरा' की पृथकतासञ्जात द्वैतभावना से निर्मुक्त** हो जाता है।

(२) और यह (चित्त) द्वैत के संकल्प-विकल्प से परे हो जाता है। तब वह **समत्वभाव** में स्थित होकर **अद्वैतानुभूति** की स्थिति में **चिति तत्त्व का ध्यान** करने में समर्थ हो जाता है। **चैतन्यसम्पन्नता** ही जीवन है और चैतन्यराहित्य ही मृत्यु है।

(३) **चित्त एवं अचित्त का भेद** समाप्त होने पर **दोनों एक हो जाते** हैं। परिणामस्वरूप सामरस्य से अद्वैतावस्था की परानन्दमयी अनुभूति होती है, जिसे **जीवन्मुक्ति** कहते हैं। यह जीवन एवं मृत्यु दोनों से अतीत एवं अनिर्वाच्य स्थिति है।

(विश्वसत्ता का ब्रह्मसत्ता में लय अद्वय ब्रह्मानुभूति के उदय की ही अवस्था है)

(१) चित्त की **द्वैतभाव से मुक्ति।**

(२) **'अहं'-'मम' की भावना का विनाश**

(३) चित्त और अचित्त में **समत्वभाव**

(४) **जीवन्मुक्ति** की प्राप्ति

(५) **जीवन-मृत्यु** से परे की अवस्था का उदय

(६) राजयोग या अमरौघ की प्राप्ति

---

१. योगशिखोपनिषद (२।१९)

(७) समस्त तत्त्वों पर विजय, तत्त्वों का वशङ्करत्व

(८) विधि-निषेध से परे की स्थिति

—ये समस्त लक्षण, जिस सिद्धावस्था में अन्तर्निहित हों वह **अमरौघप्रबोधकार गोरक्ष** की योग-साधना की चरम उपलब्धि है। गोरक्षनाथ कहते हैं कि—

(१) **समीभावे** समुत्पन्ने **चित्ते द्वैतविवर्जिते।**

(२) **अहं ममेत्यपीत्युक्त्वा सोऽमरौघं** विचिन्तयेत् ।

(३) चित्तं **जीवितमि**त्याहु रचितं **मरणं** विदु:।

(४) **चित्ताचित्तेसमीभूते जीवन्मुक्ति**रिहोच्यते।

(५) **न जीवति** ततः कोऽपि न **च कोऽपि मरिष्यति।**

(६) राजयोगपदं प्राप्य सर्वसत्ववशङ्करम् ॥

—अमरौघ प्रबोध

गोरक्षनाथोक्त योगसाधना में आचारविधान—

योगिराज गोरक्षनाथ का योग **'राजयोग' को आदर्श मानकर प्रवृत्त हुआ है** और **'राजयोग' शरीर का नहीं प्रत्युत् मन की साधना का योग है।** अतः गोरक्षनाथ ने स्वप्रवर्तित योग-साधना के लिए एक आचार-संहिता भी निश्चित की है और यह माना है कि उसके बिना कोई भी योग-साधना सिद्ध नहीं हो सकती।

योग-साधना में आचार विषयक नियम—पुस्तक के कलेवर की वृद्धि रोकने हेतु, बिना व्याख्या के ही गोरक्षानुशासन को उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत किया जा रहा है, जो इस प्रकार है—

(१) **अदेखि देखिवा देखि बिचारि बा अदिसिटि राखिया चीया**

(२) **पाताल की गंगा ब्रह्मण्डं चढ़ाइबा।** तहाँ **विमल जल पीया।**

(३) **हसिबा खेलिबा रहिबा** रंग **काम क्रोध न करिबा संग।**
हसिबा खेलिबा गाइबा गीत। दिढ़ करि राखि आपनां चीत।

(४) हसिबा खेलिबा धरिबा **ध्यान** अहनिसि कथिबा **ब्रह्मगियान।**

(५) हसै खेलै न **करै मन-भंग,** ते निहचल सदा नाथ कै संग।

(६) कोई बादी कोई बिबादी, जोगी कौ **बाद न करना।**

(७) अठसठि तीरथ समंदि समावैं, **यू जोगी कौं गुरुमुखि जरनां।**

(८) उतपति **हिन्दू** जरणां **जोगी** अकलि परि **मुसलमानी।**

(९) **अहनिसि मन लै उनमन** रहै, गम की छाँड़ि **अगम की कहै।**

(१०) **छाँड़ै आसा रहै निरास,** कहै ब्रह्मा हूँ ताका दास।

(११) **अरथै जाता उरथै धरै कांम दगध** जे जोगी करै।

(१२) **तजै अल्यंगन काटै माया,** ताका बिसनु परवालै पाया।

(१३) **धन जोबन की** करै न आस, चित्त न राखै कामनि पास।

(१४) **नाद बिंद जाके घटि जरै।** ताकी सेवा पारबती करै।

(१५) **अजपा जपै सुंनि मन धरै। पाँचौं इंद्री निग्रह** करै।

(१६) **ब्रह्म अगनि में होमै काया।** तास महादेंव बंदै पाया।

(१७) फुरतै भोजन अलप अहारी। नाथ कहै सो काया हमारी।

(१८) (सबदहिं ताला सबदहिं कूँची, सबदहिं सबद जगाया।।
सबदहिं सबद सू परचा हूआ, सबदहिं सबद समाया।)

(१९) पंथ बिन चलिबा, अगनि बिन जलिबा, अनिल तृषा जहटिया।

(२०) (ससंवेद श्री गोरख कहिया बूझिल्यौ पंडित पढ़िया।)

(२१) गगन मँडल मैं ऊँधा कूबा तहाँ अमृत का बासा।
सगुरा होई सु भरि भरि **पीवै** निगुरा जाई पियासा

—गोरखबानी

(२२) **मरो वे जोगी मरो,** मरण है मीठा
तिस मरणी मरो जिस मरणीं गोरख मरि दीठा।

(२३) **हबकि न बोलिबा,** ठबकि न चालिबा धीरै- धारिबा पावं।
गरब न करिबा सहजै रहिबा, भणत गोरख रावं।

(२४) नाथ कहै तुम सुनहु रे अवधू, **दिढ करि राखहु चीया।**
काम क्रोध अहंकार निबारौ, तौ सबै दिसंतर कीया।।

(२५) **धाये न खाइबा, भूखे न मरिबा,** अहनिसि लेबा **ब्रह्म अगिनि** का भेवं।
हठ न करिबा, पड़्या न रहिबा, यूं बोल्या गोरख देवं।

(२६) **थोड़ा बोलै, थोड़ा खाइ** तिस घटि **पवनां रहै समाइ।**
गगन मँडल में **अनहद बाजै,** प्यंड पड़ै तो सतगुर लाजै।।

(२७) अवधू **अहार तोड़ौ निद्रा मोड़ौ,** कबहुं न होइगा रोगी।
छठे छ मासै **काया पलटिबा** ज्यूं को को बिरला बिजोगी।।

(२८) देव कला ते संजम रहिबा, भूत कला **अहारं।**
मन पवनां लै उनमनि धरिबा, ते जोगी तत सारं।।

(२९) अवधू **निद्रा कै घरि काल,** जंलालं **अहार** कै घरि चोरं।
मैथुन कै घरि जुरा गरासै, अरध-उरध लै जोरं।।

(३०) **अतिअहार** यंद्रीबल करै **नासै ज्ञान** मैथुन चित धरै।
व्यापै न्यंद्रा झंपै काल ताके हिरदै सदा जंजालं।

(३१) **घटि घटि गोरख कहै कहाणीं। काचै भांडै रहे न पांणी।।**

(३२) घटि घटि गोरख **घटि घटि मींन।** आपा परचै गुर मुख चीन्ह।

(३३) **सोहं हंसा सुमिरै सबद।** तिहिं परमारथ अनंत सिध।

(३४) पाखंडी सो **काया पखालै।** उलटि पवन अगनि प्रजालै।

(३५) **व्यंद न देई** सुपनैं जाण। सो पाखंडी कहिए तत्त समान।

(३६) मनवा जोगी गाया मढी। पंचतत्त ले कंथा गढी।।

(३७) **खिमा खड़ासण** ग्यान अधारी। **सुमति पावड़ी डंड बिचारी।**

(३८) **चालत चंदवा खिसि खिसि पड़ै।** बैठा ब्रह्म अगनि पर जलै।।

(३९) यहु **मन सकती, यहु मन सीव।** यहु मन पाँच तत्त का जीव।

(४०) यहु **मन ले जै उनमन रहै।** तौ तीनि लोक की बातां कहै।

(४१) अवधू **नव घाटी** रोकि लै वाट। **बाई वणिजै चौंसठि हाट।।**

(४२) **काया पलटै** अबिचल बिध। छाया बिवरजित निपजै सिध।

(४३) अवधू दम कौं **गहिबा उनमनि** रहिबा, ज्यूं बाजवा अनहद तूरं।
गगन मंडल मैं तेज चमंकै, चंद नहीं तहां सूरं।

(४४) **सास उसास बाइ कौं मखिवा, रोकि लेहु नव द्वारं।**
छठैं छमासि **काया पलटिबा।** तब **उनमैंनी जोग** अपारं।।

(४५) अवधू **सहंस्त्र नाड़ी पवन चलैगा। कोटि झमंकै नादं।**

—गोरखबानी

(४६) अमावस कै घरि झिलिमिलि चंदा, पूनिम कै धरि सूर।

(४७) **नाद कै धरि ब्यंद गरजै,** बाजंत **अनहद** तूरं।

(४८) **उलटंत नादं पलटंत ब्यंद**, बाई कै घरि चीन्हसि ज्यंद।।

(४९) सुंनि मंडल तहाँ **नीझर झरिया,** चंद सुरजि ले **उनमुनि धरिया।**

(५०) **अपणीं करणीं** उतरिवा पारं।

(५१) **सुसबदे हीरा** बेधिलै अवधू, जिभ्या करि टकसालं।

(५२) **मन मैं रहिणां भेद न कहिणां,** बोलिवा अमृत बांणीं।
आगिला अगनी होई बा अवधू, तौ आपस होइ बा पांणी।।

(५३) **उनमनि रहिबा** भेद न कहिबा, पीयबा नीझर पांणीं।
लंका छाडि पलंका जाइबा, तब गुरमुख लेवा बाणीं।

* मन:स्थैर्य की विधि *

(५४) उत्तराखण्ड जाइबा सुंनिफल खाइबा
ब्रह्म अगनि पहरिबा चीरं।
नीझर झरणौ **अमृत** पीया।
यूं मन हूवा थीरं।।

(५५) हिन्दू ध्यावै देहुरा, मुसलमान मसीत्।
जोगी ध्यावै परमपद, जहाँ देहुरा न मसीत।।

(५६) गोरख कहै सुणहु रे अवधू, **जग मैं ऐसैं रहणां।**
आंखै देखिबा कांनै सुणिबा **मुख थै कछू न कहणां।।**

(५७) नाथ कहै तुम **आपा राखौ, हठ करि बाद न करणां।**
*** यहु जुग है काँटे की बाढ़ी। देखि देखि पग धरणां।।**

(५८) **दृष्टि अग्रे दृष्टि लुकाइबा,** सुरति लुकाइबा कांनं।
नासिका अग्रे पवन लुकाइबा, तब रहि गया पद निरबांन।

(५९) अवधू **मनसा हमारी गेंद बोलिये, सुरति** बोलिए चौगानं
अनहद ले खेलिबा लागा, तब गगन भया मैदानं।।

(६०) **आसण बैसिबा पवन निरोधिबा** थांन मांन सब धंधा।
वदंत गोरखनाथ **आतमां विचारंत,** ज्यूं जल दीसै चंदा।।

(६१) **अपणी आत्मां** आप बिचारी, तब सोवौ पान पसारी।

(६२) **असार न्यंद्रा बैरी** काल, कैसें कर राखिबा गुरु का भंडार।
असार तोड़ो निंद्रा मोड़ौ, **सिव सकती ले करि जोड़ौं।**

(६३) तब जांनिबा **अनाहद** का बंध, ना पड़ै त्रिभुवन **नहीं पड़ै कंध।**

(६४) **सुणौं हो देवल** तजौ जंजाल, अमिय पीवत **तब होइबा** बाल
ब्रह्म अगनि सींचत मूलं, फूल्या फूल कली फिरि फूलं।

(६५) **उलट्या पवनां गगन समोइ,** तब **बाल रूपं पर तवि** होइ

(६६) **बारा कला सोखै, सोला** कला पोषै, **चारि कला साधै अनंत कला जीवै।**

(६७) असाध साधंत, **गगन गाजंत, उनमुनी** लागंत ताली।
उलटंत, पवनं, पलटंत बांणीं, अपीव पीवत जे **ब्रह्म ग्यानी।।**

(६८) **अलेख लेखंत, अदेख देखंत,** अरस परस ते दरस जांणीं।
सुंनि गरजंत, बाजंत नाद, अलेख लेखंत, ते निज प्रवाणी।

(६९) निहचल धीर बैसिबा, पवन निरोधिबा, कदे न होइगा रोगी।
बरस दिन मैं तीनि बर काया पलटिबा, नाग वंग बनासपही जोगी।

(७०) षोडस नाड़ी चंद्र प्रकास्या, द्वादस नाड़ी मानं
सहंस्त्र नाड़ी प्राण का मेला, जहाँ असंख कला **सिव थानं**।।

(७१) (अवधू काया हमारी नालि बोलिए, दारू बोलिए पवनं।
अगनि पलीता **अनहद गरजै** व्यंद गोला उड़ि गगनं।।

(**शरीर** = **बन्दूक**, **पवन** = बारुद। **अनहद** = आग। **बिन्दु** = गोला। गोला ब्रह्मरंध्र में चला जाता है—ऊर्ध्वरितसत्वाप्ति।)

(७२) सन्यासी कोई करै सर्वनास, **गगन मँडल महि माडै आस।**
अनहद सूं मन **उनमन रहै**, सो सन्यासी अगम को कहै।

(७३) **उलटिया पवन, षट्चक्र बेधिया**, तातै **सोखिया पाणी।**
चंद सुर दोऊ निज घरि राख्या, ऐसा अलख बिनांणी।

(७४) **अनहद सबद** बाजता रहै, **सिध संकेत** श्री गोरख कहै।

(७५) परमावस्था का स्वरूप क्या है?
* निरति न सुरति जोगं न भोगं, जुरा मरण नहीं तहां रोगं।
गोरख बोलै एकंकार, नहि तहँ वाचा ओअंकार।)

(इसीलिए **कबीर ने कहा था**—'जाप मेरे अजपा मेरे, अनहद हू मरि जाय 'शब्दब्रह्मणि निष्णातः परब्रह्माधिगच्छति।')—(उपनिषद्)

'शब्दब्रह्म' (अनाहत नाद = ॐ) के बाद है 'परपब्रह्म'। 'नाद' के बाद **'नादान्त'** भी तो है।) यह एकाकारावस्था है जो कि 'कैवल्य' कही जाती है।

(७६) **ब्रह्माण्ड फूटिबा**, नगर सब लूटिबा, कोई न जांणवा भेवं।

(७७) **अहंकार तूटिबा, निराकार कूटिबा**, सोखीला गंग जमन का पानी
चंद सुरज दोउ सनमुखि राखिबा, कहो ही अवधूत हां की सहिनाणी।

(७८) **(मीन-मार्ग) मींमा के मारग** रोपी लै भाणं''

(७९) **कहणि** सुहेलीं, रहणि दुेली, **कहणि रहणि बिन थोथी।**
पढ्या गुंण्या सूवा बिलाई खाया, **पंडित के हाथ रह गई पोथी।**

(८०) जल कै संजनि **अटल अकास**, अन कै संजमि **जोति प्रकास**
पवनां संजनि लागै बंद **व्यंद कै संजमि थिर है कंद**

(८१) **सबद बिन्दौ** रे अवधू **सबद बिन्दौ** थान मान सब धंधा।
आतमां मधे प्रमातमा दीसै, ज्यौ जल मधे चंदा।
(८२) **आसण दिढ अहार दिढ** जे **न्यंद्रा दिढ** होई।
गोरख कहै सुणौं रे पूता **मरै न बूढा होई**।।
(८३) तूटी डोरी **रसकस** बहै। **उनमनि** लागा अस्थिर है।
(८४) **उनमनि** लागा होइ अनंद। तूटी डोरीं **बिनसै कंद।**
(८५) **सवद बिन्दौ अवधू सबद बिन्दौ** सबदे सीझंति काया।
(८६) खरतर **पवनां रहै निरंतरि। महारस सीझै** काया उभि अंतरि।
(८७) गोरख कहै अम्हे चंचल ग्रहिया। **सिव सक्ती** ले **निज** धरि रहिया।
(८८) नव नाड़ी बहोतरि कोठा ए **अष्टांग सब झूठा।**
(८९) **उनमन जोगी** दसवैं द्वार। नाद व्यंदले धूंधूंकार।
(९०) दसवें द्वारे देइ कपाट। गोरख खोजी औरै बाट।।
(९१) **बजरी** करंता **अमरी** राखै **अमरि** करंता बाई।
भोग 'करंता जे **ब्यंद राखै** गोरख का गुरभाई।।
(९२) भगमुखि ब्यंद अगनि मुखि पारा।
जो राखै सो गुरु हमारा।
(९३) **अगनि बिहूंणां** बंधन लागै, **ढलकि जाइ रस काचा।**
(९४) **पवन** हीं जोग **पवन** हीं भोग, **पवन** हीं हरै छतीस रोग
या **पवन** कोई जांणै भेव, सो आपै करता आपै देव।।
(९५) **ब्यंद ही जोग**, ब्यंद ही भोग, ब्यंद हीं हरै चौसठि रोग।।
या **बिंद** का कोई जाणै भेव, सो आपैं करता आपैं देव।।
(९६) **काछ का जती मुख का सती।**
(९७) 'अवधू **मन चंगा तौ कठौती ही गंगा।।**
(९८) (ब्रह्माग्नि—वायु, जीवन, शरीर एवं बिन्दु की परिपक्वता।
तौ देवी पाकी **बाई,** पाका **जिंद,** पाकी **काया** पाका **बिंद।**
ब्रह्म अगनि **अखण्डित बलै,** पाका अगनीं **नीर** परजलै।।
(९९) (आसन, पवन एवं ध्यान की निश्चलता—
अग्नि, बिन्दु एवं वायु की रक्षा।
निस्चल **आसन पवनां ध्यानं अगनीं ब्यंद** न जाई।।
(१००) पंथि चले चलि पवनां तूटै **नाद बिंद** अरु **बाई**
घट ही भीतरि अठ सठि तीरथ कहाँ भ्रमै रे भाई।
(१०१) आकास तत **सदासिव** जाण। तसि अभिअंतरि **पद निरबांण।**

(१०२) **दाबि न मारिबा, खाली राखिबा, जानिबा अगनि का भेवं।**
(१०३) **नाद बिंद बजाइले** दोऊ पूरिले **अनहद बाजा।**
(१०४) **अनहद सबद गगन मैं गाजै।** प्यंड पड़ै तो सतगुर लाजै।
(१०५) **गगन मंडल,** मै सुंनि द्वार। बिजली चंमकै घोर अंधार।
(१०६) सूर माहिं चंद,चंद माहि सूर चपंपि तीन तेहुड़ा बाजल तूर।
(१०७) **ज्ञान सरीखा गुरु न मिलिया।** चित्त सरीखा **चेला।**
मन सरीखां मेलू न मिलिया तीथैं गोरख फिरै अकेला।।
—गोरखबानी

गोरक्ष की मनः साधना—'अमनस्क योग'

मनस्तत्त्व एवं 'उन्मन योग'—योगिराज गोरक्षनाथ कहते हैं—
'उनमनि रहिबा भेद न, कहिबा'

क्योंकि—'**मन** एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः।।' (उप०)
अतः—

'जिनि **मन** ग्रासे देव दाण, सो **मन मारिले गहि ग्यांन बाँण।।**'
"**कथंत गोरख मुकति लै** मानवा मारि लै रै मन द्रोही।।"
'यह **मन** सकती यहु **मन** सीव। यह **मन** पाँच तत्त का जीव।
यहु **मन** ले जे **उनमुन रहै।** तौ तीनि लोक की बातां कहै।।'

× × × × × × × × × ×

'**उनमन जोगी** दसवैं द्वार। नांद ब्यंद ले धूंधूंकार।।'
'अहनिसि **मन** लै **उनमन** रहै, गम की छांड़ि अगम की कहै।'
'**मन** पवना लै **उनमुनि** धरिबा, ते जोगी तत सारं।।'
मनवां जोगी गाया मढी, पंच तत्त ले कंथा गढी।'
'अवधू दंम कौ गहिबा **उनमनि** रहिबा, ज्यूं बाजबा अनदह तूरं।'
'सास उसार बाइ कौ भखिबा, रोकि लेहु नव द्वारं।'
"छठै छमासि काया पलटिबा, तब **उनमैंनी जोग** अपारं।।"
"सुंनि मंडल तहाँ नीझर झरिया, चंद सुरजि ले **उनमुनि** धरिया।"
'**उनमनि** रहिबा भेद न कहिबा पीयबा नींझर पांणीं।'
'उत्तर खण्ड जाइबा सुंनिफल खाइबा ब्रह्म अगनि पहरिबा चीरं।
'नीझर झरणैं अंमृत पीया यूं **मन हूवा थीरं।।**'
'असाध साधंत गगन गाजंत, **उनमनी** लागंत ताली।
उलटंत पवनं पलटंत बाणी, अपीव पीवत जे ब्रह्मज्ञानी।।'

'अनह सूं **मन उनमन रहै,** सो सन्यासी अगम की कहै।'

'उन्मनी कल्पलतिका'—(स्वात्माराम मुनीन्द्र की दृष्टि)—

(क) 'तत्त्वं बीज हठः क्षेत्र मौदासीन्यं जलं त्रिभिः।
उन्मनीकल्पलतिका सद्य एव प्रवर्तते।'
—हठयोग प्रदीपिका (४।१०४)

ब्रह्मानन्द कहते हैं—

(ख) 'उन्मन्य**सम्प्रज्ञातावस्था सैव** कल्पलतिका'—ज्योत्स्ना

[1]''इयं च ब्रह्मरन्ध्रसंस्थाना। इयमेव **मनोन्मनी।**—भास्कर

[2]मनसो यथावस्थितरूपस्यैवाभ्यासविशेषेणैतावत्पर्यन्तवृत्त्युद्गमः सुसाध इत्यतः **समनेत्युच्यते।** एतदुपरि तु रूपान्तरं प्राप्तस्यैव मनसो धृतिविषयतेत्यत **उपक्रान्त-मनस्कत्वादुन्मना।।''** —भास्करराय।

भास्करराय कहते हैं 'समना' से ऊपर **'उन्मना'** है—

(क) **'समना'**—'ऊर्ध्वाधोबिन्दुद्वयसंयुतरेखाकृतिः **'समना'।**

(ख) **'उन्मना'**—सैवोर्ध्वबिन्दुहीनोन्मना तदूर्ध्वं **महाबिन्दुः।**

जो **'समना'** से ऊर्ध्व में किन्तु **'महाबिन्दु'** से नीचे स्थित है, वही **प्रणव या मन का द्वादशावयव** है और वही **'उन्मना'** है। आज्ञा चक्र के ऊपर **'बिन्दु'** से **'उन्मना'** पर्यन्त ९ भूमियाँ हैं।

आज्ञाचक्रोपरि विद्यमान भूमियाँ

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)	(८)	(९)
बिन्दु	अर्धचन्द्र	निरोधिका	नाद	नादान्त	शक्ति	व्यापिनी	समना	**'उन्मना'**

विद्यामयी **'उन्मना शक्ति'** की व्याप्ति से जब अवच्छेदक की निवृत्ति हो जाती है, तब अनवच्छिन्न, चिन्मय एवं आनन्दमय **'शिवभाव'** का उदय होता है।

साधक साधना में ऊर्ध्वारोहण करते हुए—**'अबुध'** से **'बुध्यमान'** **'बुध'**

---

१. गोरखबानी

२. वरिवस्यारहस्यम् —प्रकाश

'प्रबुद्ध' एवं **'सुप्रबुद्ध'** की अवस्था में पहुँचता है। इस सुप्रबुद्धावस्था में पहुँचने पर ('समना पर्यन्त समस्त अध्वा को अतिक्रान्त करने पर) **मनःसंस्कार का भी क्षय** हो जाता है। और तब **'उन्मनीभाव'** की प्राप्ति होती है। यह **'ब्रह्मरंध्रभेदनो'परान्त की अवस्था** है। यह पराद्वयमयी **परम शुद्धावस्था** है, जिससे **'जीवन्मुक्ति'** की सिद्धि होती है। यहाँ **कालकलायें, प्राणापानसंञ्चार; ३६ तत्त्व** एवं **देवत्रय** आदि कोई भी नहीं रहते।

'प्रणव' में १२ अंश विद्यमान हैं। इनमें अन्तिम अंश **'उन्मना'** ही है।

मन का १/५१२वाँ भाग **'उन्मना'** है।

'प्रणव' अमात्र होकर भी अनन्तमात्रात्मक है। **'सिसृक्षा'** होने पर आदि में **'एक'** भाव की स्फूर्ति से **'अनेक'** भावों का उदय होता है, किन्तु क्रमिक विकास की दृष्टि से **'एक'** से आरंभ में **'दो'** का विकास होता है। अतीतावस्था से **'एक'** का विकास होने पर—एक प्रथमतः दो भागों में विभक्त होता है। अतः **'एकमात्रा'** (एक मात्रा ही एकाग्रमन की मात्रा है।) से **'अर्धमात्रा' में उन्नयन** होता है। फिर **'अर्धमात्रा'** से भी अग्रिम अर्धमात्रा का उदय होता है। ये सारी **मात्रायें मन की मात्रायें** हैं। इस प्रकार मन सूक्ष्म होते-होते अपनी ५१२वीं मात्रा की अवस्था में पहुँचने पर **'उन्मन'** कहलाता है, किन्तु **वहाँ 'मन' रहता ही नहीं।** 'मन' समना तक ही रहता है **'उन्मना'** में नहीं।

मनस्तत्त्व की भूमिकायें

*** एकाग्र मन ***
(एकमात्रक मनस्तत्त्व)
(एक मात्रा में स्थित मन)
('एकाग्रचित्तभूमि')

(१) स्थूल मन → (२) सूक्ष्म मन

मन की स्थूलता का १/२ अंश समाप्त होने पर बिन्दु

*मनस्तत्व और उसकी सूक्ष्मतर विभिन्न अवस्थायें *

यह समस्त विश्व मन की एक या एकाधिक मात्रा में प्रसृत है। मन की जो एकाग्रतावस्था होती है, उसमें **'मन'** एक मात्रा में अवस्थित रहता है।

* समस्त प्राणियों की चित्त-भूमियाँ *

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
'क्षिप्त'	'मूढ'	'विक्षिप्त'	**'एकाग्र'**	'निरुद्ध'

*** एकाग्र चित्त या एकाग्रतावस्थापन्न मनस्तत्त्व *** चित्त की तीन भूमियाँ (क्षिप्त। मूढ़। विक्षिप्त—ये तीनों भूमियाँ) समाधि की यात्रा के लिए अनुपयोगी हैं।

(क) **'क्षिप्त'** रजोगुण प्रधान है।
(ख) **'मूढ़'** तमोगुण प्रधान है।
(ग) **'विक्षिप्त'** सत्त्वोद्रेक प्रधान है।
} ये समाधि के लिए उपयोगी नहीं हैं।

(घ + ङ) **एकाग्र एवं निरुद्ध चित्त** भूमियाँ योगोंपयोगी हैं।*

क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त ये 'समाधि' के लिए उपयोगी नहीं हैं

एकाग्र भूमि में अवस्थित मूल समाधि की दिशा में ले जाता है।

चित्तवृत्तियाँ ५ हैं—चित्तवृत्तियों के भेद

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
प्रमाण	विपर्यय	विकल्प	निद्रा	स्मृति

चित्त की एकाग्रता की अवस्था—

(१) **भोजदेव** = '**एकाग्रे** बहिर्वृत्तिनिरोधः। **निरुद्धे** च सर्वासां वृत्तीनां संस्काराणां च प्रविलय''।

(२) **नागोजीभट्ट—'एकाग्रत्वं** ध्येयातिरिक्तवृत्तिनिरोधः

मन की सूक्ष्मतर अवस्थायें

चित की एकाग्र भूमि * एकमात्रक मन

सूक्ष्म विश्व के विभिन्न स्तर

सूक्ष्म विश्व की मात्रायें- १/२; १/४; मात्रायें १/८; १/१६; मात्रायें १/३२; १/६४; मात्रायें १/१२८; १/२५६; १/ २५२ मात्रायें

ज्ञाता-ज्ञान ज्ञेय के एकाकार होने की अवस्था मात्रा से मात्राहीन की ओर जाने का द्वार

एकाग्र 'मन' 'बिन्दु' में १/२ मात्रा

*** आन्तर यात्रा के सोपान *** मात्रा से मात्राहीन की दिशा में जाने की आन्तरिक सीढ़ी ('बिन्दु' से 'महाबिन्दु' तक की यात्रा के विभिन्न सोपान)

(१) बिन्दु (२) अर्ध मात्रा (३) निरोधिका (४) नाद (५) नादान्त (६) शक्ति (७) व्यापिका (८) समना (९) उन्मना

नादाभिव्यक्ति

१. जब नाद सुनाई नहीं पड़ता—क. विक्षिप्त, ख. क्षिप्त ग. मूढ़ अवस्था।
२. जब नाद सुनाई देता है = एकाग्रावस्था।
३. जब नाद बन्द हो जाता है—'निरोध'

'आज्ञा' चक्र' में एकाग्रता का पूर्ण विकास होता है।
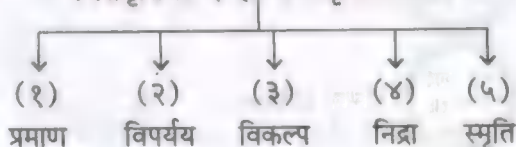
'मन' 'अर्धचन्द्र' में १/४ मात्रा

'मन' निरोधिका में १/८ मात्रा

(क) अकार की मात्रा = १
(ख) उकार की मात्रा = २
(ग) मकार की मात्रा = ३
योग = ६

'मन' 'नाद में १/१६ मात्रा

'उन्मना शक्ति'–
सा शक्तिः परमासूक्ष्मा **उन्मना** शिवरूपिणी।।
अस्तित्वमात्रमात्मानं क्षोभ्यं क्षोभयते यदा।
समनासौ विनिर्दिष्टा **शक्तिः** सर्वाध्ववर्तिनी
—नेत्रतन्त्र

नादान्त में १/३२ मात्रा

'वस्तुतो ह्युन्मनाख्यैव परविमर्शमयी पारमेश्वरी स्वातंत्र्यशक्तिरहन्तैकरसा स्वरूप गोपन क्रीड़ा सदाशिवानाश्रितपदात्मक सर्व भावाभासं सूत्रणभितिकल्प समनारुपतया स्फुरति।।' —स्वच्छन्दतंत्र उद्योत
—आचार्य क्षेमराज

शक्ति में १/६४ मात्रा

उन्मना में १/५१२ मात्रा

व्यापिका में १/२८ मात्रा **'समना'**—इच्छाशक्तिरूपिणी।

विशुद्ध मन | शुद्ध मन की सूक्ष्मतम एवं अन्तिम अवस्था। | समना में १/१५६ मात्रा | ॐकार की ११वीं कला 'महामाया' विशुद्धतम मन का स्वरूप | मन्तव्यहीन मनन की अवस्था अविकल्प। मन की इच्छाहीन अवस्था। विशुद्ध कैवल्यावस्था

मन से हीन अवस्था | उन्मनी

महाबिन्दु — भगवान की नित्यस्वसमवेता स्वरूप शक्ति। अशेष विश्व का अभेददर्शन कराने वाली शक्ति। शिव की पराशक्ति

'चित्त' = (१) सूक्ष्म — चित्त की अवस्था **'एकाग्र'**

'चित्त' = (२) स्थूल — चित्तावस्था **'विक्षिप्त'**

'चित्त' = (३) स्थूलतर — चित्तावस्था **'क्षिप्त'**

'चित्त' = (४) स्थूलतम — चित्तावस्था **'मूढ'**

योग साधना की दृष्टि से पूर्णतः अनुपयोगी चित्त भूमियाँ

'बिन्दु' = सत्वगुण की वह अवस्था ही बिन्दु है, जिसे वैष्णव **'विशुद्धसत्व'** और व्यास **'प्रकृष्टसत्व'** कहते हैं। यह तमोगुण एवं रजोगुण से सदा के लिए विमुक्त अवस्था है। तांत्रिकगण इस **'बिन्दु'** कहते हैं।

जब योगी (१) मूढ़ (२) क्षिप्त एवं (३) विक्षिप्त—चितभूमियों को अतिक्रान्त करके **एकाग्रभूमि** में प्रतिष्ठित होते हैं; तब सत्त्वगुण का उत्कर्ष दृष्टिगत होता है। रजोगुण एवं तमोगुण **'सत्वगुण' के भीतर संलीन रहते हैं।**

(२) स्थूल

एकाग्रभूमि

(१) इसमें अस्मिता के रूप से परमप्रज्ञा का उदय होता है।

(२) इसमें ध्येयावलम्बन ज्ञेयरूप में होता है।

(३) जो एक सत्ता एकाग्रभूमि में प्रज्ञारूप में व्यक्त होती है, उसमें ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान अभिन्न रूप में प्रकट होते हैं।

(४) 'मन की **एक मात्रा में स्थिति** होने पर **एकाग्रभूमि** की प्रतिष्ठा होती है। इस समय संपूर्ण विश्व दृष्टिपथ से विलुप्त रहता है। **'एक'** भी मन (चित्त) का ही एकत्व है।''

(५) 'एकाग्र भूमि में प्रतिष्ठित मन को तोड़ कर उसके दो टुकड़े करने होंगे। इसी का नाम है **'अर्धमात्रा'** ।

(६) मन की मात्रा जितनी ही क्षीण से क्षीणतर होती जाती है, उसी अनुपात में उतना ही **चिदालोक बढ़ता जाता है। आनन्द में भी उतनी ही वृद्धि** होती है।

(७) मन की एकाग्रता की अवस्था में स्थूलकाय तो नहीं रहता, किन्तु सूक्ष्म काल तो बना ही रहता है।

कालांश—मात्रांश के अनुसार ज्यादा-कम होते है। अमात्रभूमि में काल का प्रवेश नहीं है।

'मन' बिन्दु की अवस्था में चन्द्रबिन्दु के रूप में पूर्ण रहता है।

मन और उसकी मात्रायें—शैव-शक्ति तांत्रिक योग के ग्रंथों में मन को द्विभूमिक कहा गया है। उसकी प्रथम भूमि है **'स्थूल' और दूसरी है** 'सूक्ष्म'।

मन की मात्रायें एवं स्थूल विश्व—स्थूल विश्व मन की एक या एकाधिक मात्रा में स्थित है।

स्थूल विश्व → सूक्ष्म विश्व

मन की एक या एकाधिक मात्रा में स्थित विश्व

मन की १/२ से १/५१२ मात्रा में स्थित विश्व

*** सूक्ष्म विश्व और मन की मात्रायें ***

(१) 'बिन्दु' = १/२ मात्रा।
(२) 'अर्धचन्द्र = १/४ मात्रा।
(३) 'निरोधिका' = १/८ मात्रा।
(४) 'नाद' = १/१६वीं मात्रा।
(५) 'नादान्त' = १/३२वीं मात्रा।
(६) 'शक्ति' = १/६४वीं मात्रा।
(७) 'व्यापिका' = १/१२८वीं मात्रा।
(८) 'समना' = १/२५६वीं मात्रा।
(९) 'उन्मना' = १/५१२वीं मात्रा
समस्त मात्रांशों का योग = एक मात्रा।

*** मन की मात्रायें एवं योग-साधना का लक्ष्य ***

*** 'साधना' स्थूल से सूक्ष्म की यात्रा है। यह 'मात्रा' से 'अमात्रा' की यात्रा है। ***

(१) **'स्थूल विश्व'** तो मन की एक मात्रा में स्थित है।

(२) सूक्ष्म विश्व मन की १/२ मात्रा से मन की १/५१२वीं मात्रा तक स्थित है। अतः मन की इन्हीं सूक्ष्म मात्राओं में अवस्थित होते हुए मन की २५६वीं मात्रा **'समना'** तक पहुँचकर उसको भी अतिक्रान्त करके **'उन्मना'** (मन की ५१२वीं मात्रा का स्तर) तक आरोहण करना योग का **प्रथम साधना-सोपान** है और उसके बाद उसे भी अतिक्रान्त करके **'महाबिन्दु'** के शीर्ष पर आरोहण करना **तांत्रिक योग-साधना का द्वितीय सोपान है।**

'मन' मात्रा-युक्त है। **साधना का लक्ष्य है**, मात्रा से मात्राहीन (अमात्र परमशिव) की यात्रा। समस्त स्थूल जगत की अनुभूति मन की जिस मात्रा में होती है, **उसे मन**

की एक मात्रा माना जाता है। समस्त लौकिक जगत एवं उसकी अनुभूतियाँ इसी **'एक मात्रा'** में अन्तर्निहित हैं। **मात्राधिक्य जड़ता का विधायक है। मन की मात्रा जितनी ही फैलती जाती है, मन उतना ही स्थूल होता जाता है** और उसकी मात्रा जितनी घटती जाती है, मन उतना ही शुभ्र एवं उज्ज्वलतर होता जाता है और उसी क्रम में चिदालोक शुभ्रतर होता जाता है।

एक मात्रा एवं 'अर्द्धमात्रा' की संधिभूमि में ही चिद्रश्मि-सम्पात होता है। ऊपर से एक मात्रा में उस रश्मि के पड़ने से ऊपर की ओर एक मात्रा टूटना आरंभ करती हैं, किन्तु नीचे की ओर **एक मात्रा** अक्षुण्ण ही बनी रहती है।

एक मात्रा ही विभक्त होकर **'अर्द्धमात्रा'** में विभाजित हो जाती है। मन की (१) **'क्षिप्त'** (२) **'मूढ़'** एवं (३) **'विक्षिप्त'** वृत्तियों में चाञ्चल्य वृद्धि (मात्रा-बाहुल्य) रहता है। अतः **मन सामान्यतः एक मात्रा में रहता ही नहीं है।** एक मात्रा ही निःशेष स्थूल **जगत का मध्य बिन्दु** है और समस्त विश्व इसी एक मात्रा में ही उपसंहृत होता है। **'बिन्दु'** ही मात्रा से मात्राहीन में यात्रा करने का मार्ग है। मात्रा-भंग से ही—

'अर्धमात्रा' **'रोधिनी'** 'नाद' **'नादान्त'** **'शक्ति'** **'व्यापिनी'** **'समनी'** एवं **'उन्मनी'** का उदय होता है।

'मनोन्मनी' की साधना-पद्धति—

इस साधना का प्रथम लक्ष्य है—मन को एकाग्र करके **केन्द्र में स्थापित करना। एक मात्रा** ही निःशेष **स्थूल जगत का मध्यबिन्दु या केन्द्र है।** जब मन एक मात्रा में अवस्थित होता है, तब **एकाग्रभूमि की प्रतिष्ठा** होती है। इस स्थिति में संपूर्ण जगत विलुप्त हो जाता है और एक मात्र चिदाकाश प्रकाशित हो उठता है, किन्तु चिद्रूप में नहीं 'महाशून्य' के रूप में प्रकाशित होता है। इस स्थिति में व्यष्टि-समष्टि' पिण्ड-ब्रह्माण्ड, एवं देश-काल का व्यवधान एवं पार्थक्य समाप्त हो जाता है। तदनन्तर **'प्रज्ञा'** भी अतिक्रान्त हो जाती है।

इस साधना में एकाग्र भूमि में स्थित **मन को तोड़कर उसके दो टुकड़े करने पड़ते हैं।** मन की यही द्विभाजित स्थिति **'अर्धमात्रा'** कहलाती है।

मन की मात्रा जितनी ही क्षीण से क्षीणतर होती जाती है और चैतन्य तथा आनन्द की मात्रा उतनी अधिक वर्धित होती जाती है। **'समना'** के स्तर पर विकल्प-शून्य मन रहते हुए भी न रहने के समतुल्य हो जाता है। इस समय क्षीण मन का भी त्याग करना पड़ता है, जिसे कि उत्सर्ग (आत्मसमर्पण) कहा जाता है। इस स्थिति में मन लेशमात्र भी नहीं रहता। इसी का नामान्तर है—चिदानन्दमय दिव्यभूमि में

प्रवेश। इस स्थिति में जीव परमशिव के रूप में प्रकट होता है। इस समय **'उन्मना शक्ति'** ही उसकी **'पराशक्ति'** होती है।

जिस प्रकार कृष्णपक्ष में कलाओं के क्षीण होते जाने के अनन्तर अन्त में कला रह ही नहीं जाती और फिर **'अमावस्या'** का उदय होता है, उसी प्रकार **'मन'**, **'बिन्दु'** (पूर्ण चन्द्रवत् बिन्दु) **'अर्धचन्द्र'** **'निरोधिका'** **'नाद'** **'नादान्त'** **'शक्ति'** **'महाशून्य'** **'व्यापिनी'** (विकल्पहीन मन) **'समना'** की यात्रा करता हुआ ब्रह्मविद्यास्वरूपा **'उन्मनाशक्ति'** में लय होकर पूर्णत्व उदित करता है। यहाँ न मन की गति है और न काल की गति है। यहाँ न मन की कोई मात्रा है और न कालराज्य की स्थिति। इसे ही शब्दान्तर में **'भगवद्धाम में प्रवेश'** भी कहते हैं।

साधक की यथार्थ यात्रा का आरंभ—एकाग्रभूमि से होता है और उसका अन्त **'निरोधभूमि'** में होता है। यह निरोध **चित्त का निरोध'** और निरोधवृत्ति का एवं संस्कारों का निरोध है। इस काल में निरोध भी नहीं रहता। इस समय रहता है तो केवल विशुद्ध चैतन्य मात्र रहता है। चित्त का यही आत्यन्तिक रूप में पूर्णभाव **'उन्मनीभाव'** है। यही विशुद्ध चैतन्य की निजाशक्ति या स्वरूप शक्ति है।

उन्मनीकल्पलता का जन्म—(१) चित्तरूप **'बीज'** हो, (२) प्राण-अपान के ऐक्य (ह०) का **'क्षेत्र'** (खेत = भूमि) हो एवं (३) **परवैराग्य रूप** औदासीन्य का **'जल'** हो तो **'उन्मनीकल्पलतिका'** स्वत: उत्पन्न हो उठती है अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि स्वयं उदित हो उठती है।

"तत्त्वं बीजं हठ: क्षेत्रमौदासीन्यं जलं त्रिभि:।
उन्मनीकल्प लतिका सद्य एव प्रवर्तते।।" (ह० यो० प्र०)

'ब्रह्मकमल' एवं उन्मनीकला—ब्रह्मकमल ऊर्ध्वमुखी होकर प्रस्फुटित है। उसी स्थान पर मन से अतीत **'उन्मनी कला'** अवस्थित है। **'ब्रह्मकमल'** (सहस्रदल के ऊपर) मध्यभाग की कर्णिका में स्थित है और सहस्रदल कमल अधोमुख रहकर प्रस्फुटित है। जब तक पद्म अधोमुख रहता है, तब तक कुण्डलिनी प्रसुप्त रहती है और तब तक विश्व विषम रूप से आभासित होता है और इसे **'समनावस्था'** कहते हैं, किन्तु जब यह पद्म ऊर्ध्वमुखी होता है तब कुण्डलिनी जागृतावस्था में रहती है एवं तब **विश्व चिदानन्दमय हो जाता है**। इसी अवस्था को **'उन्मनी अवस्था'** कहते हैं।

* गोरक्षनाथोक्त 'तारक योग' एवं 'अमनस्क योग' *

गोरक्षनाथ ने अद्वैतपरक ग्रंथ "अमनस्क योग" की भी रचना की है। गुरु गोरक्षनाथ कहते हैं कि परमोत्तम योग **'तारकयोग' है। 'तारकयोग'** के दो भेद हैं—

(१) **'पूर्वयोग'**—**'तारकयोग'** (समनस्क योग)।

(२) **'अपर योग'**—**'अमनस्कयोग'** (मन से अतीत योग)।।

'पूर्वयोग'=बाह्यमुद्रा युक्त योग=बाह्य योग=बहिर्मुद्रा एवं बहिर्योग से युक्त योग' **'अमनस्कयोग'**='अन्तर्मुद्रात्मक योग' 'यथार्थयोग''अन्तर्योग' एवं निर्मनस्कयोग।

शाक्त-साधना में तीन उपायों का आश्रय लिया जाता है। ये निम्नाङ्कित हैं—

(१) **'आणव उपाय'** (२) **'शाक्तोपाय'** (३) **'शाम्भवोपाय'**। इसमें 'अमनस्क योग' इसी 'शाम्भवोपाय' के समतुल्य है।

गोरक्षनाथ ने योग-साधना की कई पद्धतियों पर प्रकाश डाला है।

योगों की पद्धतियाँ

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
मन्त्रयोग	हठयोग	लययोग	राजयोग	(राजाधिराजयोग)

इनमें **'राजयोग'** (एवं राजाधिराज योग) उपर्युक्त **'अमनस्क योग'** के ही समतुल्य है। इसी कारण इसे **'राजयोग'** भी कहा गया है।

स्वात्माराम मुनीन्द्र कहते हैं—

> '**राजयोगः** समाधिश्च **उन्मनी** च **मनोन्मनी।**
> **अमरत्वं लयस्तत्वं** शून्याशून्यं परं पदम्।
> **अमनस्कं तथाऽद्वैतं** निरालम्बं निरञ्जनम्।
> जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः।।'[१]

'अमनस्क' (मनोन्मनी) की साधना-पद्धति—

स्वात्माराम मुनीन्द्र कहते हैं कि—

(१) प्राण एवं अपान का ऐक्य (हठ) **क्षेत्र** है।

(२) चित्त **'बीज'** है।

(३) औदासीन्यरूप वैराग्य ही **'जल'** है।

(४) इस क्षेत्र-बीज-जल के संयोग से उन्मनी कल्पलतिका या 'उपाय प्रत्यय' (असंप्रज्ञात समाधि) का प्रादुर्भाव होता है।

गुरु गोरक्षनाथ प्रोक्त साधना पद्धति—गुरु गोरक्षनाथ कहते हैं कि—तारों

---

१. हठयोगप्रदीपिका

(नेत्र-पुत्रिकाओं) **को ज्योति से संयोजित करने** एवं **भौंहों को किञ्चित उन्नत करने** से क्षणभर में **उन्मनीभाव** उत्पन्न हो जाता है।

इसके लिए साधक को चाहिए कि वह इस साधना के अभ्यास काल में समस्त **चिन्तन-मनन का त्याग** करके 'निर्विचार एवं अविकल्प होकर किसी मनोनुकूल सुरम्य प्रदेश के **एकान्त में स्थिरांग एवं समासनस्थ होकर** एवं पीछे की ओर (यत्किञ्चित) झुककर (तनकर, समशिरोग्रीव होकर) एवं एक हाथ तक **दृष्टि को स्थिर करके** इस साधना का अभ्यास करे।

साधनांग—(१) समस्त **चिन्तनों का त्याग,** (निर्विचार स्थिति)

(२) सुरम्य प्रदेश के **एकान्त** में स्थित होना।

(३) शरीर को **समशिरोग्रीव** एवं **स्थिरांग** रखना

(४) दृष्टि को एक हाथ पर्यन्त **स्थिर** रखना।

परिणाम—वायु, मन, वाणी, देह एवं दृष्टि में स्थिरता, शरीर में मृदुता एवं लाघव।

गोरक्षनाथ कहते हैं—

'विविक्त देशे सुखसन्निविष्टः समासने किञ्चिदुपेत्य पश्चात्।
बाहुप्रमाणं स्थिरदृक् स्थिरांगश्चिन्ताविहीनोऽभ्यसनं कुरुष्व॥'

इसके द्वारा तत्त्व-साक्षात्कार होता है, किन्तु इस साधना में निर्विचार रहना अत्यावश्यक है—

'न किञ्चिन्मनसा ध्यायेत्सर्वचिन्ताविवर्जितः।
स बाह्याभ्यन्तरे योगी जायते तत्त्वसंमुखः॥'
''तत्त्वस्य संमुखे जाते अमनस्क प्रजायते।
अमनस्केऽपि संजाते चित्तादिविलयो भवेत्॥'

मत्स्येन्द्रनाथ एवं गोरक्षनाथ की दृष्टि में भेद

मत्स्येन्द्रनाथ का हठ-मार्ग—

(१) यह प्राणलय-प्रधान योगपद्धति है।

(२) यह प्राणों के नियंत्रण पर अधिक बल देती है।

(३) इसका लक्ष्य शक्ति का आयत्तीकरण है।

(४) इस प्रक्रिया में प्राण के लय से मन को लयीभूत करने की साधना प्रधान है।

(५) चित्त के कारण (क) 'वासना' और (ख) 'वायु' हैं—

"हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः।
तयोर्विनिष्ट एकस्मिंस्ततौ द्वावपि विनश्यतः।।"
'यावद्विलीनं न मनो न तावद्वासना क्षयः।
न क्षीणं वासना यावच्चित्तं तावन्न शाम्यति।।'

(१) तत्त्वज्ञान (२) मनोनाश (३) वासनाक्षय—ये तीनों एक ही महादशा के नामान्तर हैं—

'तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय एव च।
मिथः कारणतां गत्वा दुःसाध्यानि स्थितान्यतः।।"

चूँकि शिव के अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं। अतः मन की भी समस्त अवस्थायें एवं उसके समस्त गन्तव्य शिवावस्था मात्र हैं—

'यत्र यत्र मनो याति बाह्ये वाऽभ्यन्तरे प्रिये।
तत्र तत्र शिवावस्था व्यापकत्वात् क्व यास्यति।।'

चूँकि मन **अस्थिर** एवं सावलम्ब है। अतः योगियों ने उसके क्षय के लिए उसे स्थिर एवं निरालम्ब करने का उपदेश दिया है—

(क) 'अचिरेण **निराधारं मनः** कृत्वा शिवं व्रजेत् ।

(ख) **'निर्विकल्पं** मनः कृत्वा सर्वोर्ध्वे सर्वगोद्गमः।'

(ग) **'निराधारं** मनः कृत्वा विकल्पान्न विकल्पयेत् ।।

(घ) **यदा** यत्र, **यथा** यत्र स्थिरं भवति मानसम् ।
तदा तत्र, **तथा** तत्र, तस्मात् न तु चाल्पं कदाचन।।

(ङ) एवमभ्यसतो योगं मनो भवति सुस्थिरम् । (अमनस्क योग)

उन्मनीभावोत्पादक मुद्रा—तारों (पुतलियों) को ज्योति में लगाकर भौंहों को कुछ ऊर्ध्वोन्मुख चढ़ाने से उन्मनी का उदय होता है—

'तारे ज्योतिषि संयोज्य किंचिदुन्नमयनभ्रुवौ।
पूर्वयोगस्य मार्गोऽयमुन्मनीकारः क्षणात्।।'

तारक योग और मनोन्मनी—गुरु गोरक्षनाथ के मतानुसार योगों में सर्वोत्तम योग **'तारकयोग'** है। यह **'तारकयोग'** ही **'पूर्व'** एवं **'अपर'** दो नामों से विभक्त है।

'पूर्वयोग' ही **'तारकयोग'** है एवं **'अपरयोग'** ही **'अमनस्कयोग'** है। 'अमनस्क योग' की साधना का मेरुदण्ड ही **'मनोन्मनी'** है।

'अमनस्कयोग' की विशिष्टता—गुरु गोरक्षनाथ ने 'मंत्रयोग' 'ध्यान योग, 'जपयोग' आगम, निगम, तर्क, मीमांसा, न्याय, फलित, गणित, ज्योतिष, वेद, वेदान्त, स्मृति, कोष, छन्दशास्त्र, व्याकरण, काव्य एवं अलंकार शास्त्र आदि सभी शास्त्रों एवं तन्निहित विद्याओं से '**अमनस्क योग**' को श्रेष्ठतर कहा है।[१]

परम प्राप्तव्य है **'परमतत्त्व'** और **'अमनस्क योग'** उसी को प्राप्त करने का यौगिक साधन है, अतः यह योग श्रेष्ठतम है।

इस योग की **साधना की परिणति है**—'लय'—

'परतत्त्वं समाख्यातं जन्मबंधविनाशनम्।
तस्याभ्यासं प्रवक्ष्यामि येन संजायते **लयः**।।'[२]

गोरक्षनाथ कहते हैं कि **'परमतत्त्व'**—'चक्र' 'षोडशाधार' 'त्रिलक्ष्य' पंचव्योम' सुषुम्नादि नाड़ियों के योग तथा प्राणसाधना आदि के द्वारा प्रकाशित नहीं होता है—

'आधारादिषु चक्रेषु सुषुम्नादिषु नाडिषु।
प्राणादिषु शरीरेषु परं तत्त्वं न तिष्ठति।।'

यह परतमतत्त्व (परात्पर तत्त्व) अमनस्कयोगसाधित 'मनोन्मनी' के द्वारा ही प्राप्त है। इसीलिए इसे 'मनोन्मनीकारक योग' कहा गया है—

'पूर्वयोगस्य मार्गोऽयमुन्मनीकारकः क्षणात्।।'[३]

मन की विभिन्न भूमिकायें एवं मनोन्मनी—मन अपनी विभिन्न मात्राओं एवं मात्रांशो में विभिन्न भूमिकाओं में अवस्थित है। इसकी चार अवस्थायें हैं—

मनोवस्था के चार प्रकार

(१)	(२)	(३)	(४)
विश्लिष्टावस्था	गतागतावस्था	सुश्लिष्टावस्था	'सुलीनावस्था'

(१) **'विश्लिष्टावस्था'** तमोगुणात्मक है।

(२) **'गतागतावस्था'** रजोगुणात्मक है।

---

१. अमनस्क योग
२. अमनस्क योग
३. अमनस्क योग

(३) '**सुश्लिष्टावस्था**' सतोगुणात्मक है।

(४) '**सुलीनावस्था**' निर्गुण है।

(क) विश्लिष्ट एवं गतागतावस्था—यह विकल्पों से भरी हुई एवं विषयों को ग्रहण करने वाली है।

(ख) सुश्लिष्ट एवं सुलीनावस्था—यह विकल्प रूपी महाविष का नाश करने वाली अवस्था है।

मन की क्रमिक गति—(१) मन सर्वप्रथम (चल होने के कारण) '**विश्लिष्ट**' फिर—

(२) किञ्चित् निश्चल होने पर '**सानन्द**', फिर

(३) अत्यन्त निश्चल हो जाने पर—'**सुनील**' कहलाता है।

मन की सुलीनावस्था ही **मनोन्मनी की** अवस्था है।

मनोन्मनी के उच्चतर सोपान पर आरोहण करने के लिए मन को अपनी विभिन्न भूमिकाओं एवं मात्रांशों को अतिक्रान्त करना पड़ता है।

मन के मात्रांश तो पहले बताये जा चुके हैं। अत: पुनरुक्ति उचित नहीं। (मात्रांशों का वर्णन गोरक्षनाथ ने '**अमनस्क योग**' नामक अपने ग्रंथ में नहीं किया है, तथापि तांत्रिक योग-साधना में इस पर सविस्तार प्रकाश डाला गया है। उपयोगी होने के कारण इसे यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

मनोन्मनी का महत्व—

'एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी।
एको देवो निरालम्बश्चैकावस्था **मनोन्मनी**॥'

महामाहेश्वर भगवान् गोरक्षनाथ एक ओर तो भारतीय योग-साधना के महाव्योम के ध्रुवनक्षत्र थे तो दूसरी ओर भारतीय मनीषा की मनोज्ञ विभावरी के मनोज्ञ शशाङ्क। एक ओर वे हठयोग की कायिक साधना के प्रवर्तक थे, तो दूसरी ओर मनोन्मनीयोग (राजयोग) के साधक। वे योग की इस बाह्यान्तरवर्ती दोनों साधनाओं में सिद्ध थे।

* गोरक्ष-सिद्धान्त का तान्त्रिक स्वरूप *

सामान्यत: तो यही स्वीकार किया जाता है कि मत्स्येन्द्रनाथ कौलतांत्रिक मत के उद्भावक, उपासक एवं प्रचारक थे तथा गोरक्षनाथ योग के विशुद्ध स्वरूप के उपासक एवं प्रचारक थे, न कि तांत्रिक मत के। किन्तु यदि हम 'गोरक्षसंहिता' आदि ग्रंथों का अवलोकन करें तो गोरक्षमत में भी तांत्रिक उपादान उपलब्ध होते हैं।

* 'गोरक्ष-संहिता और तन्निहित तान्त्रिक उपादन *

'सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय' से प्रकाशित 'गोरक्षसंहिता' नामक ग्रंथ के अनेक श्लोक गोरक्षनाथ एवं मत्स्येन्द्रनाथ के अन्य ग्रंथों में भी प्राप्त होते हैं। इसके अनेक श्लोक 'हठयोग प्रदीपिका' एवं 'अकुलवीर तंत्र' आदि ग्रंथों में भी उपलब्ध होते हैं। चूँकि गोरक्ष के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ ने '**योगिनीकौलमत**' का प्रवर्तन किया था। अतः संभव है गोरक्षनाथ के सिद्धान्तों पर तांत्रिकमत का गंभीर प्रभाव पड़ा हो।

गोरक्ष-प्रणीत ग्रंथों में तांत्रिक योग की—

(१) वज्रोली (२) अमरोली (३) सहजोली (४) षट्‌चक्रवेधन (५) अजपाजप (६) कुण्डलिनी योग (७) काल-शोधन (८) काल-वञ्चन (९) पीठतत्त्व (१०) शिव-शक्ति की उपासना (११) सामरस्यवाद (१२) नादबिन्दुवाद (१३) 'परा' 'पश्यन्ती' प्रभृति वाणियों की उपासना—की क्रियायें तो गोरक्षनाथ के विशुद्ध योग के योग-ग्रंथों में भी प्रतिपादित, उपासित एवं स्वीकृत मिलती है, किन्तु तन्त्रशास्त्र के ग्रंथों में प्रतिपादित न्यासतत्त्व, आदि तत्त्व उनके योग शास्त्र के ग्रंथों में उपलब्ध नहीं होते, किन्तु 'गोरक्ष-संहिता' प्रभृति ग्रंथों में वे भी सारे तांत्रिक उपादन मिलते हैं।

गोरक्ष-संहिता शतसाहस्री (लक्षश्लोकात्मिका) कही जाती है।

'गोरक्ष-संहिता' में—भैरव स्तुति, दीक्षा-प्रकार, श्रीशैलोत्पत्ति, ओडियानपीठोत्पत्ति, जालन्धरपीठोत्पत्ति, पूर्णपीठोत्पत्ति, कामरूप पीठोत्पत्ति, मातङ्गीपीठ वर्णन, उपपीठवर्णन, कुलाकुल व्याख्या, पीठस्थान एवं उसके परिवार का वर्णन, मातृका-स्थापना, मुद्रा, बीज, बीजोद्धार, त्रिखण्डा, मन्त्र का उद्धार, पञ्चप्रणवोद्धार, चक्रभेद वर्णन, वस्त्रन्यास, शिखान्यास, मालिनीबीजविन्यास, ५० भैरवों का विवरण एवं वर्णन्यास, मालिनी चक्रविन्यास, मुद्रा के भेद, योनिमुद्रा, मुद्राबन्ध, जपप्रकार, जालन्धर साधन, मण्डलवर्णन, हृदयदूती एवं शिरोदूती का जपस्थान, दूतीमंत्रोद्धार, दूती, मुद्रा, होमविधि, शिखादूतीमन्त्रोद्धार, कुण्डविधान, होम-विधान,संख्या, द्रव्य, कुलाकुल, अघोर निर्णय, मंत्रराज का कीलनोत्कीलन, स्वच्छन्द यंत्र, कवचदूती, नेत्रदूती, अस्त्रदूती, देवी चक्र का स्वरूप, १६ दिव्य योगिनियों का नाम एवं स्वरूप, मातृमण्डल निर्माण, योगिनी मण्डल निर्माण डाकिनी, राकिनी, लामा, काकिनी, शाकिनी, हाकिनी, याकिनी, खेचरीचक्र, द्वादशारस्था योगिनियाँ, २४ दलस्थ योगिनियाँ, ६४ दलस्थ योगिनियाँ, चक्रपञ्चक, पृथिव्यादिपञ्चक्रोंके मंत्रबीजल, दीक्षाभिषेक विधान, कुलपिण्ड, कालवञ्चन, कालावरोध, मृत्युञ्जयमंत्रविधान, मृतसञ्जीविनी विद्या, कालदमिनी विद्या, अपराविद्या, पराविद्या, परापराविद्या, कामेश्वरी विद्या, त्रिपुरशेखराविद्या, षोढ़ान्यास, अघोर-न्यास, मालिनीन्यास, त्रिविधन्यास, अस्त्र (पाशुपत) न्यास, वर्णमालान्यास,

रत्नन्यास, नवात्मन्यास, बीजपञ्चकन्यास, त्रितत्व न्यास, वक्त्राङ्गन्यास, भूतशुद्धि, गुरुमण्डल, क्रमपूजन, पञ्चाशतरुद्र, उनके आयुध, द्वीपाम्नाय, देहस्थपीठ एवं द्वीप, चक्राम्नाय, बाह्यादिषोडशचक्र एवं चर्याधर गुणानन्द के पर्यटनस्थान आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन २७ पटलों में प्राप्त होता है।[१]

* गोरक्षनाथोक्त 'लय योग' *

गोरक्षनाथ ने 'लययोग' को अनेक प्रकार से परिभाषित एवं व्याख्यात किया है।

'चित्त का सन्तत लय ही **लय है**—

'यच्चित्तसन्ततलयः स **लयः** प्रदिष्टः।।'

—अमरौघ प्रबोध

नियम—

'किनच्चिन्तयेद् योगी औदासीन्यपरो भवेत्।
न किंचिच्चिन्तनादेव स्वयं तत्त्वं प्रकाशते।।'

शिथिलीकरण—शिथिलीकृत सर्वाङ्गं आनखाग्रशिखाग्रतः।
स बाह्याभ्यन्तरे सर्वं चिन्ताचेष्टाविवर्जितः।।

—गोरक्षनाथ

ऋषि घेरण्ड की दृष्टि—

घेरण्डसंहिताकार ऋषि घेरण्ड ने अनेक प्रकार की समाधियों में से एक समाधि को **'लयसिद्धि समाधि'** कहा है। उसका स्वरूप इस प्रकार है—

''योनिमुद्रां समासाद्य स्वयं शक्तिमयो भवेत्।
सुश्रृंगाररसेनैव विहरेत्परमात्मनि।
आनन्दमय संभूत्वा ऐक्यं ब्रह्मणि संभवेत्।
अहं ब्रह्मेति वाऽद्वैतं समाधिस्तेन जायते।।''

नाथयोगी हठयोगप्रदीपिकाकार स्वात्माराम मुनीन्द्र की दृष्टि—

स्वात्मारामुनीन्द्र ने **'लय' एवं समाधि** को अभिन्नार्थक माना है। उनकी दृष्टि में—'राजयोग' 'समाधि' 'उन्मनी' 'मनोन्मनी' 'अमनस्क' 'अद्वैत' 'निरालम्ब' 'निरञ्जन' 'जीवन्मुक्ति' 'सहजा' एवं तुर्यावस्था—आदि सभी एकार्थक ही हैं। वे कहते हैं—

'राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी।
अमरत्वं **लयस्**तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम्।।'

---

१. गोरक्षसंहिता (प्रथम से सप्तविंश पटल)

वे 'लय' को इस प्रकार भी परिभाषित करते हैं—

(१) उच्छिन्नसर्वसङ्कल्पो निःशेषाशेष चेष्टितः।
स्वावगम्यो **लयः** कोऽपि जायते वागगोचरः।।

(२) प्रनष्टश्वासनिश्वासः प्रध्वस्तविषयग्रहः।
निश्चेष्टो निर्विकारश्च **लयो** जयति योगिनाम्।।

(३) इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः।
मारुतस्य **लयो** नाथः स **लयो** नादमाश्रितः।।[१]

(४) सोऽयमेवास्तु मोक्षाख्यो वाऽस्तु वापि मतान्तरे।
मनःप्राणलये कश्चिदानन्दः सम्प्रवर्तते।।

(५) यत्र दृष्टिर्लयस्तत्र भूतेन्द्रिय सनातनी।
सा शक्तिर्जीवभूतानां द्वे अलक्ष्ये **लय** गते।।[२]

'लय' है क्या? उसकी परिभाषा क्या है?

स्वात्माराम मुनीन्द्र कहते हैं—

'**लयो लय** इति प्राहुः कीदृशं **लयलक्षणम्**?
अपुनर्वासनोत्थानाल्लयो विषय-विस्मृतिः।।'[३]

* लय के प्रकार *

स्वात्माराम मुनीन्द्र का कथन है कि भगवान् शिव के अनुसार **सवा करोड़ लय के प्रकार हैं,** किन्तु उनमें मैं **'नादानुसन्धान'** को श्रेष्ठतम लय-प्रकार मानता हूँ—

'श्री आदिनाथेन सपादकोटि-
लयप्रकाराः कथिता जयन्ति।
नादानुसन्धानकमेकमेव,
मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम् ।।[४]

गोरक्षनाथ की दृष्टि—नाद-लय सर्वसुलभ नादोपासना है।

'अशक्यतत्त्वबोधानां मूढानामपि संमतम्।
प्रोक्तं **गोरक्षनाथेन नादोपासनमुच्यते**।।' (४।६५)

---

१. हठयोग प्रदीपिका
२. हठयोग प्रदीपिका
३. ह० यो० प्र० (चतुर्थ उपदेश)
४. ह० यो० प्र० (उप० ४)

'नाद' क्या है? नाद शिवशक्ति का पारस्परिक सम्बंध है—

'यत्किंच्चिन्नादरूपेण श्रूयते शक्तिरेव सा।'

'लय' का आदर्श या ध्येय क्या है? राजयोग की प्राप्ति —

'सर्वे हठलयोपाया राजयोगस्य सिद्धये।'

'राजयोग' क्या है? 'मनसः सर्ववृत्तिनिरोधः॥'—(ज्योत्स्ना)

लययोगसाधना का नियम—

सर्वचिन्तां परित्यज्य दिनमेकं परीक्ष्यताम्।
यदितत्प्रत्ययो नास्ति तदा मे तु मृषा वचः।

—अमरौघ प्रबोध (गोरक्षनाथ)

चित्त निस्तरङ्ग होना चाहिए—'निस्तरङ्गे स्थिरे चिते वायुर्भवति मध्यगः॥
रविरुर्ध्वपदं याति बिन्दुना याति वश्यताम्॥ —(गोरक्षनाथ)

'अमनस्क योग' के लय का स्वरूप—

गोरक्षनाथ का कथन है कि—

(१) न किंचिन्मनसा ध्यायेत्सर्व चिन्ता-विवर्जितः।
स बाह्याभ्यन्तरे योगी जायते तत्त्वसंमुखः॥३२॥

(२) तत्त्वस्य संमुखे जाते अमनस्क प्रजायते।
अनमस्केऽपि संजाते चित्तादि **विलयो** भवेत् ॥३३॥

(३) **'लयस्थ'** कौन हैं?

'यदा सर्वसमे जाते भवेद् व्यापारवर्जितः।
परब्रह्मणि सम्पन्नो योगी **प्राप्तलयस्तदा**॥३६॥'

सदैव अभ्यासरत रहने पर ही लयभाव अधिगत होता है, अन्यथा नहीं—

'सदाभ्यासरतानां च यः परो जायते **लयः**।'

लयस्थ का लक्षण—

(क) सुखदुःखे न जानाति शीतोष्णं न च विन्दति।
विचारं चेन्द्रियार्थानां न वेत्ति **विलयं** गतः।

(ख) न जीवन्न मृतो वापि न पश्यति न मीलति।
निर्जीवः काष्ठवत्तिष्ठेत् **लयस्थश्चाभिधीयते**।

(ग) निर्वात स्थापितो दीपो भासते निश्चलो यथा।
जगद् व्यापार निर्मुक्तस्तथा योगी **लयं** गतः।

(घ) यथा वातैर्विनिर्मुक्तो निश्चलो निर्मलोऽर्णवः।
शब्दादिविषयैस्त्यक्तो **लयस्थो** दृश्यते तथा।

(ङ) प्रक्षिप्तं लवणं तोये क्रमाद् यद्वद्विलीयते।
मनोऽप्यभ्यासयोगेन तद्वद् ब्रह्मणि लीयते।।

—गोरक्षनाथ

सुखदुःख, शीतोष्ण, इन्द्रियार्थी के विचार, जीवन-मृत्यु, उन्मीलन-निमीलन, सजीव-निर्जीव आदि सभी से परे एवं वायुशून्य तथा शान्त समुद्र की भाँति निस्पन्द-निश्चल, शब्दादिविषयों से असंस्पृष्ट, समुद्र में डाले गए नमक की भाँति ब्रह्म में लयीभूत एवं **ब्रह्मीभूत व्यक्ति ही लयस्थ कहा जाता है।**[१]

* साधनाकाल और तदनुगत सिद्धियाँ *

लय साधना का समय	लयस्थ योगी की सिद्धियाँ
(१) एक निमेष का लय	—परतत्त्व स्पर्श किन्तु व्युत्थान।
(२) ६ निमेषों का लय	—तापशान्ति, बार-बार निद्रा-मूर्च्छा
(३) एक श्वास पर्यन्त लय	—प्राणादि वायुओं का स्वस्थान में संचार
(४) दो श्वास पर्यन्त लय	—कूर्म, नाग आदि वायु निवृत्त, धातुपुष्टि
(५) चार श्वास पर्यन्त लय	—धातुओं के रसों की पुष्टि
(६) एक पल पर्यन्त लय	—एकासनस्थ होने पर क्लान्ति नहीं।
(७) दो पल पर्यन्त लय	—अनाहतनादोत्थान।
(८) चार पल पर्यन्त लय	—कान में अकस्मात्, सुमधुर ध्वनि का श्रवण
(९) आठ पल पर्यन्त लय	—काम 'वासना निवृत्त'
(१०) चौथाई कला तक लय	—प्राणादि वायु का सुषुम्णा में प्रवेश और वायु की शुद्धि
(११) आधी घड़ी तक का लय	—कुण्डलिनी का जागरण।
(१२) एक घड़ी तक का लय	—कुण्डिलिनी का ऊर्ध्वारोहण
(१३) दो घड़ी तक का लय	—एकक्षण में एक बार मन में कम्पन
(१४) चार घड़ी तक का लय	—निद्रा की निवृत्ति
(१५) आधे दिन तक का लय	—आत्मज्योति का प्रकटीकरण
(१६) दिनभर का लय	—इन्द्रियों के ज्ञान का विस्तार-समस्त ब्रह्माण्ड तक तथा आत्म तत्त्व प्रकाशित।

---

१. अमनस्क योग

(१७) अहोरात्र का लय —दूर से गन्ध-संवेदना की प्राप्ति।
(१८) दो अहोरात्र का लय —दूर से ही रससंवेदना की प्राप्ति।
(१९) तीन अहोरात्र का लय —दूर दर्शन
(२०) चार अहोरात्र का लय —दूर स्पर्श
(२१) पाँच अहोरात्र का लय —दूर श्रवण
(२२) छ अहोरात्र का लय —अतीतानागत विश्व का ज्ञान
(२३) सात अहोरात्र पर्यन्त लय —ब्रह्मपर्यन्त विश्वज्ञान एवं श्रुतिज्ञानं
(२४) आठ अहोरात्र पर्यन्त लय —क्षुधा, तृणा आदि मुक्ति।
(२५) नौ अहोरात्र पर्यन्त लय —वाक् सिद्धि।
(२६) ११ अहोरात्र पर्यन्त लय —मनोगति के समान कायागति।
(२७) द्वादश अहोरात्र पर्यन्त लय —आधे निमेष में भूतल के चतुर्दिक परिभ्रमण की क्षमता।
(२८) त्रयोदश अहोरात्र पर्यन्त लय —खेचरी सिद्धि
(२९) १४, १६, १८, २० अहोरात्र पर्यन्त लय—क्रमशः अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, सिद्धियों की प्राप्ति।

इसी प्रकार और अधिक लय-काल होने पर, 'प्राप्ति' 'प्राकाम्य' ईशित्व' आदि सिद्धियों की प्राप्ति हो जाती है।

—(अमनस्क)

* * अमरौघशासनोक्त योग-विधान * *

'अमरौघशासन' नामक गोरक्ष-प्रणीत ग्रन्थ में कहा गया है कि—

(१) मेरुदण्ड के मूल में सूर्य और चन्द्र के मध्य **'योनि'** है और उसी के मध्य **'स्वयंभूज्योतिर्लिंग'** स्थित है।

(२) यहीं पर पुरुषों के रेतस् एवं नारियों के रजः स्खलन का मार्ग भी स्थित है।

(३) यहीं पर (क) **'काम'** (ख) **'विषहर'** एवं (ग) **'निरञ्जन'** का स्थान है।

(४) वीर्य के स्खलन (अधःपतन) की दो अवस्थायें हैं—(क) **'प्रलयकाल'** (ख) **'विषकाल'**

इन दोनों अवस्थाओं का आनन्द अशुभ एवं घातक हुआ करता है।

(५) इन दोनों घातक अवस्थाओं के स्वामी पृथक्-पृथक् हैं। इसमें एक का स्वामी है—''**काम**'' तथा दूसरे का स्वामी है—''**विषहर**''।

रज-वीर्य-प्रवाह की अवस्थायें

(१) प्रलयकाल की अवस्था

(२) विषकाल की अवस्था

(रजवीर्य के अधोगमन या वीर्यस्खलन की अशुभ अवस्था)

(३) **'सहजानन्द की अवस्था' (वीर्य-रज की ऊर्ध्वगामी** यात्रा की अवस्था। **मन एवं प्राण के स्थिर** होने एवं **'सहज समाधि'** के उदय की अवस्था)

इनके अधिष्ठता हैं—(१) काम (२) विषहर

शक्तित्रयविनिर्भिन्ने चित्ते बीजनिरञ्जनात्।
वज्रपूजापदानंदं यः करोति स **मन्मथः**।
चित्ते वतृप्ते मनोमुक्तिरुर्ध्वमार्गाश्रितेऽनले।
उदानचलितं रेतो मृत्युरेखा**विषं** विदुः।।

'निरञ्जन'—'चित्तमध्येभवेद्यस्तुबालाग्रशतधाश्रये ।
नानाभावविनिर्मुक्तः स च प्रोक्तो **निरञ्जनः**।।'

—गोरक्षनाथ (अमरौघ शासनम्)

'बिन्दु' की वह तृतीयावस्था जो **नानाभावविनिर्मुक्त** और **सहजानन्दावस्थात्मक** है तथा जिसमें बिन्दु ऊर्ध्वमुखी होकर आरोहण करता है और जो 'सहजसमाधि' उदित करती है, वह मन तथा प्राण को स्थिर कर देती है।

प्र० ऊर्ध्वरितसत्व कैसे प्राप्त किया जाय?

(१) ब्रह्मचर्य एवं (२) प्राणायाम दो ऐसे साधन हैं, जिससे बिन्दु स्थिर होते हैं और सिद्धावस्था में ऊर्ध्वमुख हो जाते हैं।

प्राणसाधना **'नाड़ीशुद्धि'** से ही सफल हो पाती है। हठयोग में जो **'षटकर्म'**, (धौति, वस्ति, त्राटक, नौलि आदि) हैं वे नाड़ीशुद्धि के कारक हैं। वे **'षट्कर्म'** इस प्रकार हैं—

'धौतिर्बस्तिस्तथा नेति लौंलिकी त्राटकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि समाचरेत्।।' (घे० सं०)

घटस्थ सप्त साधन—

''शोधनं दृढ़ता चैव स्थैर्य धैर्य च लाघवम्।
प्रत्यक्ष च निर्लिप्तिं च **घटस्थसप्तसाधनम्**।।''

घटस्थसप्तसाधन—

(१) षट्कर्मणा **शोधनं** च आसनेन भवेद दृढ़म् ।

(२) मुद्रया **स्थिरता** चैव प्रत्याहारेण **धीरता**।

(३) प्राणायामा**ल्लाघवं** च **ध्यानात्प्रत्यक्ष**मात्मनि।

(४) समाधिना **निर्लिप्तं** च मुक्तिरेव न संशयः।।[१]

नाड़ीशुद्धि→बिन्दु में स्थिरता। नाड़ीशुद्धि से बिन्दु-स्थैर्य के साथ, सुषुम्णा-पथ भी शुद्ध हो जाता है, उसमें प्राण एवं मन स्थिर होकर प्रवाहित होने लगते हैं तथा प्राण, मन एवं जीव के साथ, मूलाधार चक्र की सुषुप्त शक्ति कुण्डलिनी भी अपना स्थान त्याग कर सहस्रारोन्मुख होकर, परमशिव से मिलने ऊर्ध्वारोहण करने लगती है। सहस्रार में ही शिव के साथ शक्ति को **'समरसत्व'** या **'सामरस्य'** प्राप्त होता है।

(५) बिन्दु-साधना में 'वज्रोली' 'सहजोली' एवं 'अमरोली' क्रियायें सहायता पहुँचाती है। इस क्रिया में जननेन्द्रिय द्वारा रसाकर्षण (योगिनी द्वारा वीर्य का एवं योगी द्वारा रज का आकर्षण) किया जाता है और वीर्य या रज को स्खलित नहीं होने दिया जाता।

नाड़ी-शोधन हो जाने पर वायुओं का शमन कठिन नहीं रह जाता। अनुकूल आसन, नाड़ीयोग, प्राणपानैक्य आदि द्वारा सुषुम्णा नाड़ी से प्राण को ऊपर चढ़ाया जाता है और उसके साथ मन एवं कुण्डलिनी भी ऊपर की ओर समाकृष्ट होकर सहस्रार-तीर्थ की यात्रा पर निकल पड़ती हैं।

कुण्डलिनी के जाग्रत हो जाने पर **'षट्चक्रभेदन' 'ग्रंथिभेदन' चक्र-जागरण** एवं **अनाहतनाद का प्रस्फुटन** आदि एक साथ सम्पन्न होते हैं। इस समय नाद-श्रवण होने लगता है। इसकी विधि इस प्रकार है—

'अर्द्धरात्रिगते योगी जंतूनां शब्दवर्जिते।
कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां कुर्यात्पूरक कुंभकम्।।
शृणुयाद्दक्षिणो कर्णे नादमंतर्गतं शुभम्।।'

दाहिने कान से श्रुतिगोचरनाद का स्वरूप भी भिन्न-भिन्न है।

नाद के प्रकार—

(१) 'प्रथमं झिंजीनादं च'

(२)'वंशीनादं ततः परम्'

(३)'मेघझर्झरभ्रमरीघण्टाकांस्यं ततः परम्।'

---

१. घेरण्ड संहिता

(४) 'तुरी भेरीमृदंगादिनिनादानक दुंदुभिः।'
एवं नानाविधं नादं जायते नित्यमभ्यसात्।।

अनाहतनाद और विष्णु का 'परमपद'—

'अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः
ध्वनेरंतर्गतं ज्योति ज्योतेरन्तर्गतं मनः।
तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम्।।'[१]

मूलकन्द से, जो सोमसूर्यपथोद्भवस्वरूप वायु उठती है, वह शक्ति के आधारस्थल में स्थित है। मूल कन्द में कुण्डलाकार 'भुजङ्गिनी' स्थित है, जो कि शिव से पृथक् होने से 'मूलाधार चक्र' में मूर्च्छित है—

'मूलकन्दोद्यतो वायुः सोमसूर्यपथोद्भवः।
शक्त्याधारस्थितो याति ब्रह्मदण्डकभेदकः।
मूलकन्दे तु या शक्ति कुण्डलाकाररूपिणी।
कन्ददण्डेन चोद्दण्डैर्भ्रामिता या भुजङ्गिनी।
मूर्च्छिता सा शिवं वेत्ति प्राणैरेवं व्यवस्थिता।।'[१]

योगिराज गोरक्षनाथ ने **'हठयोग'** की साधना-प्रक्रिया प्रस्तुत करके पातञ्जल योग की राजयोग-साधना-प्रक्रिया को क्रमिक साधना का सोपान प्रस्तुत किया है। पातञ्जल योग हठयोगरहित है। **'राजयोग' योग का अन्तिम सोपान है।**

'हकारः कथितः सूर्यष्कारश्चंद्र उच्यते।
सूर्याच्चन्द्रमसोर्योगात् हठयोगो निगद्यते।।'

—कहकर **सिद्धसिद्धान्तपद्धतिकार** ने जिस योग-प्रणाली का विधान किया है वह गोरक्षनाथ से भी पूर्ववर्ती है।

'हठयोग की विभिन्न परम्परायें

(१)	(२)
मृकण्डु के पुत्र मार्कण्डेय —प्रवर्तित परम्परा	गोरक्ष-प्रवर्तित परम्परा

'द्विधा हठः स्यादेकस्तु गोरक्षादिसुताधितः।
अन्यो मृकण्डुपुत्राद्यैः साधितो हठ संज्ञकः।।'

(१) **मार्कण्डेय-प्रवर्तित** हठयोग परम्परा आष्टाङ्गिक है।
(२) **गोरक्ष-प्रवर्तित** हठयोग परम्परा षडाङ्ग है।

---

१. घेरण्ड संहिता, २. अमरौघ शासनम् ।

(३) **गोरक्षनाथ और योगाङ्ग**—

(क) **'गोरक्ष शतक'** में —षडङ्गयोग का प्रतिपादन।

(ख) **'सिद्धसिद्धान्त संग्रह'** में —अष्टाङ्गयोग का प्रतिपादन।

पायु-उपस्थ के मध्यभाग में स्थित **'त्रिकोणचक्र'** में अवस्थित (अर्थात् **'अग्निचक्र'** में स्थित) जो **'स्वयंभूलिङ्ग'** है उसे **'साढ़े तीन या आठ'** वलयों से लपेट कर सुषुप्ता भगवती कुण्डलिनी शक्ति 'ब्रह्मद्वार' (सुषुम्णा का मुखद्वार) को अवरुद्ध करके अवस्थित है।[१] यही अपने ब्रह्माण्डव्याप्त स्वरूप में **'महाकुण्डलिनी शक्ति'** कहलाती है किन्तु व्यष्टि स्वरूप में **'कुण्डलिनी'।**

इसी कुलशक्ति को उद्बुद्ध करके **शिव से समरस** कराना **योगी का चरमलक्ष्य** है। योगी कुण्डलिनी की चाभी से मोक्षद्वार खोलता है—

'उद्घाटयेत् कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात्।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत्।।'

मानव शरीर में स्थित योगोपयोगी प्रधान तत्त्व

(१)	(२)	(३)	(४)
'प्राण'	'बिन्दु'	'नाद'	'मन'
(वायु)	(शुक्र)	(शिवशक्ति का अन्त-सम्बंध वाक्तत्त्व)	(प्राणारोही तत्त्व)

'प्राण' = 'संवित् प्राक् **प्राणे** परिणता।।' (वाक्तत्त्व)

ये चारों तत्त्व अन्तर्संबंधित हैं अतः उनमें से एक के अस्थिर होने पर अन्य सभी एवं एक के स्थिर होने पर शेष अन्य सभी स्थिर हो जाते हैं। गोरक्षनाथ ने 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में योग विषयक दूसरी दृष्टि प्रस्तुत की है।

'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' गोरक्षनाथ का प्रसिद्ध ग्रंथ है। उसके अनुसार सारा (गोरक्षोक्त) योग शास्त्र ६ उपदेशों में वर्णित है।

* गोरक्षोक्त षड्विधात्मक 'सिद्धमत' * (सि०सि०प०)

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)
पिण्डोत्पत्ति	पिण्डविचार	पिण्डसंवित्ति	पिण्डाधार	पिण्डपद-समरसभाव	'श्रीनित्या-वधूत'

---

१. गोरक्षपद्धति

'सिद्धमते सम्यक् प्रसिद्धा 'पिण्डोत्पत्तिः' 'पिण्डविचारः।'
'पिण्डसंवित्तिः' पिण्डाधारः पिण्डपदसमरसभावः॥'
श्री नित्यावधूतः'।—'सिद्धसिद्धान्त पद्धति'

सृष्टिप्राक् अवस्था—योगी गोरक्षनाथ ने इस सृष्टि प्राक्अवस्था में स्थित अव्यक्त परब्रह्म को **'अनामा'** संज्ञा दी है—

'यदा नास्ति स्वयं कर्ता कारणं न कुलाकुलम्।
अव्यक्तञ्च परं ब्रह्म 'अनामा' विद्यते तदा॥'[1]

'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' एवं **'सिद्धसिद्धान्त संग्रह'** दोनों में पिण्डोत्पत्ति आदि विषयों पर सविस्तार प्रकाश डाला गया है।

'सिद्धसिद्धान्त संग्रह के अनुसार पिण्ड के भेद

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)
पर या आद्य पिण्ड	साकार पिण्ड	महासाकार पिण्ड	प्राकृतपिण्ड	अवलोकन पिण्ड	गर्भपिण्ड[2]

'सिद्धसिद्धान्तसंग्रह' 'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' का ही संक्षिप्त रूप है। सृष्टि-क्रम को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

*** "स्वयं" नामक परात्पर तत्त्व ***

सृष्टिप्राक् अवस्था—सृष्टि के पूर्व की वह अवस्था जिसमें कार्यकारणभाव, सृष्टिकर्तृत्व एवं कार्यकारणचक्र विद्यमान नहीं रहता और परमशिव इन सारे सृष्टि-स्थिति पालन आदि व्यापारों से अतीत रहता है (अव्यक्तावस्था में अवस्थित रहता है) **'स्वयं'** कहलाता है—

"कार्यकारणकर्तृत्वं यदा नास्ति कुलाकुलम्।
अव्यक्तं परमं तत्त्वं "**स्वयं**" नाम तदा भवेत्॥"

यही सृष्टिप्राक्अवस्था शिव की **'स्वयं'** की अवस्था कहलाती है।

सृष्टि-क्रम के विभिन्न सोपान

जब परमशिव सिसृक्षु होता है तब अपनी सिसृक्षा के कारण **'सगुण शिव'** कहलाता है। शिव में उत्पन्न सिसृक्षा ही उसकी **'शक्ति'** है और **'सृष्टि'** शक्ति का ही नामान्तर है—"सृष्टिस्तु कुण्डली ख्याता॥"

'सिसृक्षा' की अवस्था—जब परमशिव में सिसृक्षा का उदय होता है तब उसमें दो तत्त्व उत्पन्न होते हैं— (१) 'शिव' एवं (२) 'शक्ति'।

१. सि०सि०प० (१।४)
२. महा० गोपीनाथ कविराज—'सिद्धसिद्धान्तसंग्रह' की भूमिका।

'स्वयं' या **'परमशिव'** में सिसृक्षा का उदय

↓

'सगुण शिव'

(१) 'शिव'	(२) 'शक्ति'
(१) **'अपरं पदम्'** की अवस्था	(१) **'निजा'** **शक्ति** की अवस्था।
(२) **'परम'** **शिव** की अवस्था	(२) **'परा'** **शक्ति** की अवस्था।
(३) **'शून्य'** **शिव** की अवस्था	(३) **'अपरा'** **शक्ति** की अवस्था।
(४) **'निरञ्जनशिव'** की अवस्था	(४) **'सूक्ष्माशक्ति'** की अवस्था।
(५) **'परमात्मा शिव'** की अवस्था	(५) **'कुण्डलीशक्ति'** की अवस्था

सृष्टि-विकास की इस अवस्था में—

(क) **'शिव'**—'अपर'-'परम'—'शून्य'—'निरंजन' एवं 'परमात्मा' के रूप में तथा

(ख) **'शक्ति'**—'निजा'—'परा'—'अपरा'—'सूक्ष्मा' एवं 'कुण्डली' के रूप में रूपान्तरित (विकसित) होती है।

(१) **शक्ति की 'निजा' अवस्था**—जब परम शिव सिसृक्षु होता है तब उसकी सृष्टि-स्फुरण प्राक् अवस्था (जिसमें वह **स्फुरित होने को उपक्रान्त होता** है।) में उसकी स्वनिहित शक्ति को 'निजा' कहते हैं। इस अवस्था में स्थित शिव का नाम है—**'अपरं पदम्'**।

(२) **शक्ति की 'परा' अवस्था**—स्फुरण-पूर्ववर्ती जो निजा शक्ति अभी परमशिव की अवस्था मात्र धर्म से युक्त थी और स्फुरित होने को उपक्रान्त होकर भी स्फुरित नहीं हुई थी अब इस अवस्था में स्फुरणोन्मुखी हो जाती है और **'परा'** शक्ति कहते हैं तथा उसे अधिष्ठाता शिव को **'परम'** कहा जाता है।

(३) **शक्ति की 'अपरा' अवस्था**—यह शक्ति की वह स्फुरणधर्मा अवस्था है जिसमें शक्ति स्पन्दित हो जाती है और शक्ति के इस स्वरूप के साथ जो शिव संश्लिष्ट हैं उनका नाम है—**'शून्य'**।

(४) **शक्ति की 'सूक्ष्मा' अवस्था**—शक्ति के विकास का वह स्तर जिसमें शक्ति सूक्ष्म **'अहन्ता'** से युक्त हो जाती है उसकी आख्या है—**'सूक्ष्मा'** एवं उससे उपहित शिव की आख्या है—**'निरञ्जन'**।

(५) **शक्ति की 'कुण्डली' अवस्था**—शक्ति के विकास की वह परवर्ती अवस्था जिसमें वह पृथकत्व के प्रति पूर्णतया संवेदनशील एवं पूर्णतया सचेत हो जाती है **'कुण्डली'** कहलाती है तथा उससे सम्बद्ध शिव **'परमात्मा'** कहे जाते हैं।

'निजा पराऽपरा सूक्ष्मा कुण्डली तासु पञ्चधा।
शक्तिचक्रक्रमेणैव जातः पिण्डः परः शिवे।'

'ततोऽस्मितापूर्वमर्चिर्मात्रं स्यात्परं परम्।
तत्स्वसंवेदनाभासमुत्पन्नं परमं पदम्।।
स्वेच्छामात्रं ततः शून्यं सत्तामात्रं निरञ्जनम्।
तस्माततः स्वसाक्षादभूः परमात्मपदं मतम्।'

—सिद्धसिद्धान्तसंग्रह (१/१-३-१-५)

*** 'स्वयं' (परशिव) की सिसृक्षा के विविध विकास-सोपान हैं—**

'अव्यक्त स्वयं'—

कार्यकारणकर्तृत्वं यदा नास्ति कुलाकुलम्।
अव्यक्तं परमं तत्त्वं **'स्वयं'** नाम तदा भवेत्।।

'निजा शक्ति'—

तस्यावस्थामात्रधर्माधर्मिणीति प्रसिद्धिभाक्।
निजाशक्तिरभूत् तस्या औन्मुख्याङ्का **परोत्थिता।।**

इसी प्रकार—

ततः स्पन्दमात्रा **स्यादपरेति** स्मृता ततः।
सूक्ष्माहन्तार्धाधिमात्रा चिच्छिलाकुण्डलिन्यतः।।

'निजा' के गुण—५ गुण

निराकृतित्वान्नित्यत्वान्निरन्तरस्तया तथा।
निष्पन्दत्वान्निरुत्थत्वान्निजाः पञ्चगुणा स्मृताः।।

(निराकृतित्व। नित्यत्व। निरन्तरत्व। निष्पंदत्व। निरुत्थत्व) (१/७)

'परा' के गुण—५गुण

अस्तित्वमप्रमेयत्वमभिन्नत्वमनन्तता।
अव्यक्तेति पञ्चस्युः परायां **सम्मता** गुणाः।। (१/८) (सि०सि०प०)

(अस्तित्व, अप्रमेयत्व, अभिन्नत्व। अनन्तत्व अव्यक्तत्व।।)

'अपरा' शक्ति के गुण—५ गुण

स्फुरत्तास्फारतायुक्ता स्फुरता स्फोरता तथा।
स्फूर्तिरेवं पञ्च गुणा अपरायामपि स्मृताः।।

'सूक्ष्मा' शक्ति के गुण—५ गुण

निरन्तरत्वं नैरंश्यं नैश्चल्यं निश्चयत्वकम्।
निर्विकल्पत्वमेव स्यात् सूक्ष्मायां गुण पञ्चकम्।

(नैरन्तर्य, नैरंश्य, नैश्चल्य, निश्चयत्व, निर्विकल्पकत्व।)

'कुण्डली' शक्ति के गुण—५ गुण

पूर्णत्वं प्रतिबिम्बत्वं तथा प्रकृतिरूपता।
प्रत्यङमुखत्वमौच्चल्यं पञ्चैते भोगिनां गुणाः।

(पूर्णत्व, प्रतिबिम्ब, प्रकृतिरूपत्व, प्रत्यङमुख, औच्चल्य)

—सिद्धसिद्धान्तसंग्रह

* सिसृक्षु परमशिव की सिसृक्षा एवं सृष्टि-विकास के विभिन्न सोपान *

'परो हि शक्तिरहितः शक्तः कर्तुं न किञ्चन। शक्तस्तु परमेशानि शक्त्या युक्तो यदा भवेत् ॥'
—वामकेश्वर तंत्र

(सिसृक्षा से अतीत अव्यक्त शिव) 'स्वयं' (परमशिव) अव्यक्तावस्था

↓

सिसृक्षा
↓
(सिसृक्षु शिव)
सगुण शिव

'शिव' एवं 'शक्ति' के स्फुरण का विकास (प्रथम दो तत्त्व)

'शिव'
'अपर' शिव
'परम' शिव
'शून्य' शिव
'निरञ्जन' शिव
'परमात्मा' शिव

(स्फुरण के स्फुट, स्फुटतर एवं स्फुटतम विकास के अनुसार शिव एवं शक्ति के स्फुट, स्फुटतर एवं स्फुटतम स्वरूपों के विभिन्न सोपान।)

'शक्ति'
'निजा' शक्ति
'परा' शक्ति
'अपरा' शक्ति
'सूक्ष्मा' शक्ति
'कुण्डली' शक्ति

परशिव

(१) शिव — (२) शक्ति — 'परपिण्ड' [१]

अहं (मैं) | इदं (यह) — (३) सदाशिव

अहं (मैं) | इदं (यह) — ईश्वर (४)

अहं (मैं) | इदं (यह) — शुद्ध विद्या (५)

आद्य पिण्ड [२]

(६) माया
पंचकंचुक (७-११)

अ हं | मैं ... इ दं | यह प्रकृति (१३)

साकारपिण्ड [३]

(१४) महान्

अहंकार (१५)

(१६-२०) पञ्चतन्मात्रा

एकादश इन्द्रियाँ (२१-३१) — पंचभूत (३१-३६)

प्राकृत पिण्ड [४]

अवलोकन पिण्ड

गर्भपिण्ड (स्थूल शरीर)[1] [६]

---

१. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी । 'नाथसम्प्रदाय'।

सृष्टि-क्रम—

त्रिगुणात्मक आदि पिण्ड
↓
नीलवर्ण का महाप्रकाश
↓
धूम्रवर्ण का महावायु
↓
रक्तवर्ण का महातेज
↓
श्वेत वर्ण का महासलिल
↓
पीतवर्ण की महापृथ्वी
↓
(पञ्चमहातत्त्वों से उत्पत्ति)
↓
महासाकार पिण्ड
↓
शिव
↓
भैरव
↓
श्रीकण्ठ
↓
सदाशिव
↓
ईश्वर
↓
रुद्र
↓
विष्णु
↓
ब्रह्मा
↓
नर-नारी
↓
(प्रकृति पिण्ड)
नर-नारी-संयोग
↓
पुरुष + नारी का जन्म
↓
(पिण्ड का स्वरूप)
× × × ×
त्रिगुणातीत परपिण्ड
↓
आदि (आद्य) पिण्ड
↓
साकार पिण्ड
(महासाकार पिण्ड)

मुख्य ६ पिण्ड

(१) परपिण्ड
(२) आद्यपिण्ड
(३) साकार या महा-साकार पिण्ड
(४) प्राकृतपिण्ड
(५) अवलोकन पिण्ड
(६) गर्भपिण्ड

(क) शिव-शाक्ति का संयोग → **'परपिण्ड'** ।

(ख) परवर्ती तत्त्वत्रय से → **'आद्यपिण्ड'**

(ग) माया + पञ्चकञ्चुक + पुरुष + प्रकृति = **साकार तत्त्व'**॥

(घ) पञ्चतन्मात्र पर्यन्त = **'प्राकृतपिण्ड'**

(ङ) गर्भ से उत्पन्न पञ्चभूतात्मक स्थूल शरीर = **'गर्भपिण्ड'**

३६ तत्त्वों के स्फुरण से **'पिण्डोत्पत्ति'** होती है।

वेदान्तदर्शन, सिद्धमत तथा त्रिक दर्शन की 'शक्ति'—चूँकि नाथ-सम्प्रदाय पर काश्मीरीय अद्वैतवादी शैवशाक्त दर्शन का प्रभाव पड़ा है। अत: उसी के दृष्टिकोण से 'शक्ति' तत्त्व पर विचार करना चाहिए।

वेदान्त के निर्गुण निराकार ब्रह्म की भी 'शक्ति' है, किन्तु इस शक्ति से नाथों की 'शक्ति' का स्वरूप भिन्न है

वेदान्त की ब्राह्मी 'मायाशक्ति'	त्रिकदर्शन एवं नाथों की शक्ति
१. वेदान्त में ब्रह्म की शक्ति 'माया' कही जाती है।	(१) यहाँ शक्ति चैतन्य स्वरूप है और उसका स्वरूप ही चैतन्य है।
(२) 'माया' जड़ शक्ति है।	(२) शक्ति जड़ नहीं है। तथाकथित जड़रूप सत्ता एवं तद्रूप पदार्थ भी चैतन्य की सुषुप्तावस्था का ही एक भेद है अत: शक्ति पृथक नहीं है।
(३) 'माया' सत् भी नहीं है और असत् भी नहीं है प्रत्युत् यह अनिर्वचनीय है।	(३) शक्ति सत है, नित्य है और अविनश्वर है।
(४) यह ब्रह्म में समवेत (समवायिनी) शक्ति के रूप में भी नहीं है।	(४) यह ब्रह्म की स्वसमवेता (समवायिनी) शक्ति है।
(५) इसमें चैतन्य का संचार (प्रवाह) नहीं है।	इसके प्रभाव से (विद्या माया या विद्या के प्रभाव से) बंधनग्रस्त भी मुक्त हो जाता है।
(६) जीवों के संदर्भ में इसका कार्य बन्धन डालना है और जगत की दृष्टि से सर्जन करना है।	(६) इसका प्रधान कार्य बंधन से मुक्ति दिलाना है, न कि बंधन में डालना।
(७) इसके प्रधान कार्य हैं—(१) आवरण (२) विक्षेप।	'चित्शक्ति' अनन्त शक्तिसम्पन्ना एवं अनन्तरूपात्मिका है।
(८) यह मुक्ति का बाधक है।	जगत 'शक्ति' का ही परिणाम है—'सृष्टिस्तु कुण्डली ख्याता' शिव की सिसृक्षा ही 'शक्ति' है और शक्ति का परिणमन ही 'जगत' है। शक्ति की सहायता से ही शिव सृष्ट्यादि व्यापार निष्पादित करते हैं।
(९) माया को नित्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ज्ञान होने पर इसकी सत्ता नहीं रह जाती।	(१०) ज्ञानोदय होने पर भी शक्ति रहती है। यह नित्य है। इसके अनेक भेद हैं। यथा—इच्छा शक्ति, ज्ञानशक्ति, क्रिया शक्ति, चित्त शक्ति, आनन्द शक्ति आदि।

माया भी असीम शक्तिसम्पन्ना है तथापि शिव के अधीन है। शिव की सिसृक्षा को 'माया' एवं परिणमन को 'जगत्' नहीं कहा जा सकता।

यहाँ **'परम सत्'** पदार्थों की दृष्टि से, केवल एक पदार्थ है और वह है ब्रह्म (न कि माया या जीव)।

माया में चिदंश नहीं है।

वेदान्त की माया **'स्वतंत्र'** नहीं है प्रत्युत् शिवाधीन है।

मायोपहित जगत मिथ्या है।

वेदान्त में द्वयात्मक अद्वय नहीं है।

माया से मुक्ति होने पर ही मुक्ति (मोक्ष) प्राप्त हो सकती है।

प्रलयकाल में ब्रह्म 'मायाशक्ति' से परिणद्ध या समवेत नहीं रहता।

यहाँ ब्रह्म एवं माया में अभिन्न एवं नित्य सम्बंध नहीं है।

शक्ति से रहित शिव कुछ भी कर पाने में समर्थ नहीं है।

शक्ति शिव से उसी प्रकार अभिन्न है यथा शर्करा और मिठास, चन्द्र और चाँदनी, अग्नि और ताप।।

'माया' भी चितशक्ति का ही एक रूप है।

शिव की शक्ति का नाम ही 'स्वातंत्र्य शक्ति' है।

चितिरूपा शक्ति का परिणामरूप जगत मिथ्या नहीं प्रत्युत् सत् है।

यहाँ परमसत्य अद्वय तो है किन्तु यहाँ द्वयात्मक अद्वय (शक्ति के साथ शिव) है।

शक्ति स्वयं मुक्तिरूप है और 'अहं देवी न चान्योऽस्मि' की अभेद भावना से भी मुक्ति मिल सकती है।

प्रलयकाल में भी 'शक्ति' शिव के साथ समवेत भाव से उसमें विद्यमान रहती है।

यहाँ शिव एवं शक्ति में अभिन्न एवं नित्य सम्बन्ध है।

सृष्टि-विस्तार के लिए 'शक्ति' निरन्तर स्थूल से स्थूलतर स्वरूप धारण करती है। इसी क्रम में शक्ति पहले सूक्ष्मतम से सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतर से सूक्ष्म, सूक्ष्म से स्थूल, स्थूल से स्थूलतर एवं स्थूलतर से स्थूलतम स्वरूप धारण करती जाती है और तदनुरूप जगत भी इसी क्रम में सूक्ष्म से स्थूल स्वरूप में पणित होता जाता है।

'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' के अनुसार पिण्ड-सृष्टि

इस ग्रंथ के अनुसार—

(१) **'परपिण्ड'** से **आद्यपिण्ड** का उदय होता है।

(२) **'आद्यपिण्ड'** से **साकार पिण्ड** का उदय होता है।

(३) **'साकारपिण्ड'** से **महासाकरपिण्ड** का उदय होता है।

(४) **'महासाकारपिण्ड'** से **प्राकृतपिण्ड** का उदय होता है।

(५) **'प्राकृतपिण्ड'** से **गर्भपिण्ड** का उदय होता है।

२५-२५ तत्त्वों से पिण्डोत्पत्ति होती है। वैसे तो 'सिद्धसिद्धान्तसंग्रह' ६ प्रकार की पिण्डोत्पत्ति स्वीकार करता है किन्तु उमसें कई प्रकार की पिण्डोत्पत्ति प्रक्रियाये उल्लिखित है।

'परपिण्ड'—**'आद्यपिण्ड'**—**'साकारपिण्ड'**—**'महासाकारपिण्ड'**—**'प्राकृतपिण्ड'** एवं **'गर्भपिण्ड'** में से प्रत्येक पिण्ड पूर्ववर्ती पिण्डों से स्थूलतर है। **'गर्भपिण्ड'** से ही स्थूल शरीर का निर्माण होता है।

* काश्मीरीय शैव दर्शन और सृष्टि-प्रक्रिया *

काश्मीरीय अद्वैतवादी शैव-शाक्त दर्शन का नाथ-सम्प्रदाय पर पुष्कल प्रभाव है अतः उस पर प्रकाश डालना भी आवश्यक है।

सृष्टि की विभिन्न विकास-भूमिकायें

(१) 'अभेद' भूमिका — (१) शिव, (२) शक्ति

(२) भेदाभेद भूमिका — (१) सदाशिव तत्त्व, (२) ईश्वर तत्त्व, (३) शुद्ध विद्या (सद विद्या)

(३) भेदभूमिका ३१ तत्त्व — माया, पंचकंचुक, कला, विद्या, कला, राग, नियति, पुरुष, प्रकृति आदि।

तत्त्व और सृष्टि-क्रम

परमेश्वर अवरोह-क्रम से अपने भीतर ही ३६ तत्त्वों का स्वेच्छया आभासन करता है जो इस प्रकार हैं—

(१) **अभेद भूमिका**—(क) शिव (ख) शक्ति।

(२) **भेदाभेदभूमिका**—(क) सदाशिव (ख) ईश्वर तत्त्व (ग) 'शुद्धविद्या' या 'सद्विद्या'

(३) **भेदभूमिका**—(६) माया (७) कला (८) विद्या (९) राग (१०) काल (११) नियति (१२) पुरुष (१३) प्रकृति (१४) बुद्धि (१५) अहंकार (१६) मन (१७) श्रोत्र (१८) त्वक् (१९) चक्षु (२०) जिह्वा (२१) घ्राण (२२) वाक् (२३) पाणि (२४) पाद (२५) वायु (२६) उपस्थ (२७) शब्द (२८) स्पर्श (२९) रूप (३०) रस (३१) गन्ध (३२) आकाश (३३) वायु (३४) वह्नि (३५) सलिल (३६) पृथिवी।

शिव से पृथ्वी तक ३६ तत्त्व हैं। शिव से पृथ्वी पर्यन्त ३६ तत्त्वों में अभेदात्मना स्फुरित आत्मा का इच्छा-प्रसार ही विश्व है।

काश्मीरी अद्वैतवादी शैव दर्शन का अद्वैत रूप परमतत्त्व तत्त्वातीत है और उसे **'परमशिव'** एवं **'चिति'** या **'आत्मा'** कहा गया है। यही **'परा संवित्'** एवं **'अनुत्तर'** भी कहा गया है। इसी में षट्त्रिंशदात्म जगत स्थित है—

'यत् पर तत्त्वं तस्मिन् विभाति षट् त्रिंशदात्मजगत्।'

—परमार्थसारकारिका (११)

इसी चिद्धन को अनुत्तर भी कहा गया है—

'अनुत्तरं न विद्यते प्रकृष्टमुत्तरं यतस्तरनुत्तरं चिद्घनम् ।। (परात्रिंशिका विवृति)

यह परतत्त्व **'प्रकाशविमर्शमय'** है।

'प्रकाश' आत्मा का स्वरूप है।

'विमर्श' प्रकाश रूप परमात्मा के स्वरूप की प्रतीत है। यह **'विमर्श'** (शक्ति तत्त्व) ही शिव का महेश्वरता की प्रतीति है। यही शिव परासंवित् है—चिति है। चिति ही परासंवित है। 'चिति' परमशिव है। यही आत्मा भी है : 'चैतन्यमात्मा' (शिवसूत्र)।

'विमर्श' ही परमशिव का अहं है। **'प्रकाश'** शिवस्वरूप है। **'शक्ति'** शक्तिरूप है। शक्तिस्वभाव से सम्पन्न होने पर ही शिव 'कर्ता' (कर्तृत्वाधिकारी) बन पाता है।

[१-२] **'शिव' और 'शक्ति'**—ये दोनों परमशिव के दो रूप हैं।

शिव एवं शक्ति में अभेद—'शिवदृष्टि' में सोमानन्दपाद कहते हैं कि शिव एवं शक्ति आपस में कभी एक-दूसरे से पृथक नहीं हो सकते।

"न शिवः शक्ति-रहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी।
शिव शक्तस्तथा भावानिच्छया कर्तुमीहते।
शिव शक्तस्तथा भावानिच्छया कर्तुमीहते।
शक्तिशक्तिमतोभेदः शैवे जातु न वर्ण्यते।।"

—शिवदृष्टि (३१२-३)

शक्ति है—'कर्तुं अकर्तुं तथा अन्यथाकर्तुं' की क्षमता।

विमर्श क्या है?—**'विमर्शो** हि सर्वसहः परमपि आत्मीकरोति, आत्मानं च परीकरोति, उभयम् एकीकरोति एकीकृतं द्वयमपि न्यग्भावयति इत्येवं स्वभावः॥

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी

'शक्ति' आत्मारूपी परमशिव का दर्पण है। परमेश्वर की इच्छाशक्ति ही **'स्वातंत्र्य शक्ति'** कहलाती है। शिव 'स्वतंत्र' हैं।

परामशिव विश्वोत्तीर्ण है। विश्व परमशिव (आत्मा) का शंक्तिसंघात है—

'स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्व'८ (शिवसूत्र ३/३०)

परमशिव की शक्तियाँ

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	
'चित'	**'आनन्द'**	**'इच्छा'**	**'ज्ञान'**	**'क्रिया'**	'शक्ति पञ्चक'

[३] **सदाशिव**—आभास-क्रम में तृतीय तत्त्व 'सदाशिव' हैं। इसका जन्म शिव की इच्छाशक्ति से हुआ है। शिव की इच्छा का अन्तर्मुख स्पंद **'ज्ञानशक्ति'** एवं बहिर्मुख स्पन्द**'क्रियाशक्ति'** है। अन्तर्मुख स्पन्द का उल्लासन (आन्तर ज्ञान दशा) ही **'सदाशिव तत्त्व'** है। सदाशिव दशा के प्रमाता की पारिभाषिक संज्ञा **'मंत्रमहेश्वर'** है। मंत्रमहेश्वर के विमर्श का स्वरूप

अहं इदम्

है—इसमें अहम् शिव का एवं 'इदम्' विश्व का परिचायक है।

यहाँ 'अहन्ता' प्रधान है और 'इदन्ता' गौण है।

'पराप्रावेशिका' में कहा गया है—

'सदेवांकुरायमाणमिदं जगत् स्वात्मनाहन्तयाच्छाद्य स्थितं रूप **सदाशिवतत्त्वम्** ॥'

'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' में कहा गया है—

'ततश्चान्तरी ज्ञानरूपा या दशा तस्या उद्रेकाभासने सादाख्यं.......**सदाशिव-**रूपाया इदं वाच्यं तत्त्वम् ॥' 'निमेषोऽन्तः **सदाशिवः** ॥' (ईश्वर प्रत्य०)

मंत्रमहेश्वर प्रमाता का जो अस्फुट वेद्य सा ज्ञानरूप चित विशेषत्व है उसे ही **'सदाशिव तत्त्व'** कहते हैं। **'शिव-शक्ति'** की सामरस्यावस्था में सत असत् जैसे विकल्प उदित नहीं होते अतः सृष्टि के विकास में यह **'सदाशिव'** प्रथम तत्त्व है जिससे सत् का ज्ञान होता है। शैवागमों में इसे **'निमेष'** कहा गया है।

[४] **ईश्वर तत्त्व'**—यह आभासन-क्रिया में चतुर्थ तत्त्व है। शिव की इच्छा

का अन्तर्मुख स्पन्द **'सदाशिव'** है और बहिर्मुखी स्पन्द **'ईश्वरतत्त्व'** है। इसकी अभिव्यक्ति शिवेच्छा में 'क्रियाशक्ति' के उद्रेक से होती है।

'बहिर्भावस्य क्रियाशक्तिमयस्य परत्वे उद्रेकाभासे सति पारमेश्वरं परमेश्वर शब्दवाच्य**मीश्वरत्वं** नाम॥'
—ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी

सदाशिव तत्त्व में जो विश्व 'अंकुरायमाण अवस्था में रहता है और **अहन्ता-परामर्श-प्राधान्य** के कारण अस्फुट था, वही ईश्वर तत्त्व की दशा में अंकुरित होकर स्फुटभाव से परामृष्ट होने लगता है।

शिवतत्त्व का विमर्श है—(इदमहम्)—

इदमहम्
इदम् | अहम्

यहाँ इदम् प्रधान है और अहं गौण है। यहाँ अहं का परामर्श अस्फुट रहता है किन्तु 'इदम्' का परामर्श स्फुट रहता है।

स्पन्दविवृतिकार ने कहा कि—क्रिया के प्राधान्य के कारण उन्मिषित शक्ति की परम अहंभाव में जो विश्रान्ति है उसे **'ईश्वरदशा'** कहते हैं।

ईश्वरदशा—'यत्र पुनः शक्तेषः क्रियाप्राधान्येन बहिर्गृहीतोन्मेषायाः पराहंभावविश्रान्तिः सा ईश्वरदशा'।
—स्पन्द विवृति

अहं—परामर्श की दृष्टि से 'सदाशिव तत्त्व' एवं 'ईश्वरतत्त्व' में अभेद है किन्तु 'इदम्' के परामर्श की दृष्टि से भेद है। 'इदम्' की अस्फुटता एवं स्फुटता ही दोनों में वैभिन्य का कारण है। 'सदाशिव' में इदम् अस्फुट है किन्तु ईश्वरतत्त्व में स्फुट है। **'ईश्वरो बहिरुन्मेषो'** ईश्वर बहिरुन्मेष है।

[५] **'शुद्धविद्या'** (सद्विद्या)—विश्वोल्लासन के व्यापार में शुद्ध विद्या पंचम तत्त्व है। शिव का 'अहं' रूप अभेद-बोधक है किन्तु सद्विद्यावस्था में विमर्श का स्वरूप 'अहम् इदम्' इस प्रत्यय द्वारा प्रकट किया जाता है क्योंकि यहाँ 'अहम्' एवं 'इदम्' में सामान्याधिकरण्य है—

'सा भवति शुद्धविद्या येदन्ताहन्तयोरभेदमतिः।'
—षट्त्रिंशतत्त्वसन्दोह

जैसे परमशिव का बहिः औन्मुख्य 'शक्तितत्त्व' कहलाता है उसी प्रकार 'सदाशिव' एवं 'ईश्वर' का बाह्य औन्मुख **'शुद्धविद्यातत्त्व'** कहलाता है।

'अहम् इदम् अस्मि'—यह विमर्श 'शुद्धविद्या' कहलाता है। 'शक्ति' का उन्मेषनिमेष ही क्रमशः **'सदाशिव'** एवं **ईश्वर'** कहा जाता है।

'उन्मेष निमेषौ बहिरन्तःस्थिती एवेश्वरसदाशिवौ बाह्याभ्यन्तरयोर्वेद्यवेदकयोरेक-

चिन्मात्रविशान्तेरभेदात्सामानाधिकरण्येनेदं विश्वमहमिति विश्वात्मनो मतिः शुद्धविद्या।।'

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञावृत्ति

[६] **'माया'**—भेदात्मिका सृष्टि का छठवां तत्त्व **'माया'** है। यह परमेश्वर की **'स्वातंत्र्य शक्ति'** ही है—'परमेश्वरस्य भेदावभासने स्वातंत्र्यं तदेवाव्यतिरेकिणी अपूर्णता प्रथनेन मीनाति हिनस्ति इति माया शक्तिः।।'

—तन्त्रालोक की टीका

यह परमेश्वर की **स्वरूप गोपनात्मिका इच्छा शक्ति है**—

'माया स्वरूपगोपनात्मिका पारमेश्वरी इच्छाशक्तिः।।'

—तन्त्रालोक की टीका

सृष्टि को विकासोन्मुख करने हेतु **'अहन्ता'** ५ सोपानों से होकर गुजरती है। इन अवस्थाओं की आख्या **'आनन्द'** है ।

आनन्द के प्रकार

(१) परमानन्द (२) प्रबोध (३) चिदुदय (४) प्रकाश (५) सोऽहं

इन्हीं आनन्दों के भीतर से यात्रा करते हुए शिव क्रमशः **जीवरूपत्व** की ओर अग्रपद होते हैं।

पिण्डब्रह्माण्डैक्यवाद—ब्रह्माण्ड के निर्माण में जो-जो अवस्थायें अतिक्रान्त करनी पड़ती हैं वही-वही अवस्थायें पिण्ड के निर्माण में अतिक्रान्त करनी पड़ती है। पिण्ड-ब्रह्माण्ड दोनों में एक ही तत्त्व है। पिण्ड में ब्रह्माण्ड अन्तर्निहित है।

'कुण्डलिनी शक्ति' भी पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड दोनों में स्थित है। 'ब्रह्माण्डवर्ति यत् किंचित् तत् पिण्डेप्यस्ति सर्वथा।।'' —(सि०सि०सं० ३/२)

अद्वैतवाद और नाथपन्थ—नाथपन्थी अद्वैतवाद के प्रतिपादक हैं किन्तु उन्होंने शाङ्कर अद्वैत को स्वीकार नहीं किया है। नाथमार्गियों ने कहा—

(१) 'महासिद्धैरुक्तं यदद्वैताद्वैतविवर्जितं पदं निश्चलं दृश्यत तदेवसम्यगित्यभ्युपगभिष्यामः।।' —गोरक्षसिद्धान्त संग्रह

'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह' में यह भी कहा गया है कि—

'अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
समं तत्त्वं न विन्दन्ति द्वैताद्वैतवलक्षणम्।

यदि सर्वगतो देवः स्थिरः पूर्णो निरन्तरः।
अहो माया महामोहो द्वैताद्वैतविकल्पना॥'

—अवधूतगीता।

आद्य स्फोट और जगत—चूँकि सृष्टि का उद्भव या जगत की उत्पत्ति 'शक्ति' के स्फोट के अनन्तर ही होती है। अतः जगत की सृष्टि का मूल सूत्रधार तो शक्ति ही सिद्ध होती है। ठीक भी है—

(१) 'चितिः स्वतंत्रा विश्वसिद्धि हेतुः॥'[१]

(२) 'स्वेच्छया स्वभित्तौविश्वमुन्मीलयति॥'

(३) 'चिदेव भगवती स्वच्छस्वतंत्ररूपा ततदनन्त जगदात्मना स्फुरति—इत्येतावत्परमार्थोऽयं—कार्यकारणभाव:॥'[२]

(४) 'चितिः एव भगवती स्वतंत्रा अनुत्तरविमर्शमयी शिवट्टारकाभिन्ना हेतुः कारणम्॥'

—प्रत्यभिज्ञा हृदयम् ।

स्पष्ट है कि जगत्कर्त्री तो **'शक्ति'** है। शिव केवल ज्ञेय है, वह सृष्टिकर्ता नहीं है। वैसे शिव को पञ्चक्रियाकर्ता भी कहा जाता है। **'शक्ति'** और **'शिव'** में अभेद है, अतः यदि शिव अपनी स्वसमवेता एवं स्वाभिन्ना शक्तियों के माध्यम से कोई व्यापार निष्पादित करता है तो उसे भी शिव का ही व्यापार कहा जाएगा।

नाथ साधना का लक्ष्य—नाथ-साधना का लक्ष्य **'पिण्डपदसमरसीकरण'** **'समरसत्व'** **'शिवशक्तिमारस्य'** या **'शिवशक्ति-सङ्गम'** है।

किसी अनादिकाल में 'शिव' और 'शक्ति' 'परमशिव' से पृथक् हुए थे और वे निरन्तर स्थूलता की दिशा में बढ़ते ही गए और अपने स्वरूप को भूल गए। एक दिन 'शिव' और 'शक्ति' दोनों एकरस हो जायेंगे। तब सृष्टि-चक्र का अन्त भी हो जाएगा।

कुण्डलिनी योग—परमशिव की शक्ति, मानव पिण्ड के मूलाधार चक्र में, प्राणी के जन्मजन्मान्तर के संचित मलों (आणव कमल, कर्म मल आदि मलों) के भार से आक्रान्त होकर स्थित है। **'नाड़ी-शोधन'** **'भस्त्रिका'** (प्राणायाम) **'षट्चक्रभेदन'** **'ग्रंथि-उद्भेद'** **'नादानुसन्धान'** **'प्रणवसाधना'** **प्राणापानैक्य-योग** आदि साधनों से कुण्डलिनी को 'ब्रह्मनाड़ी' में ले जाकर सारे तत्त्वों, सारी ग्रंथियों एवं सारे चक्रों का

---

१. प्रत्यभिज्ञा हृदयम् (१) (२) प्रत्य० हृ० (२)
२. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् —आचार्य क्षेमराज

वेधन कराते हुए उसका 'सहस्रार' में परमशिव से सामरस्य कराना ही शरीर के अमृतीकरण, मोक्ष एवं जीवन्मुक्ति का मार्ग है।

सृष्टि और शक्ति में एकत्व

'सिद्धसिद्धान्त संग्रहकार' ने सृष्टि एवं शक्ति को अभिन्न माना है—

'सृष्टिस्तु कुण्डली ख्याता सर्वभावगता हि सा।
बहुधा स्थूलरूपा च लोकानां प्रत्ययात्मिका।
अपरा सर्वगा सूक्ष्मा व्याप्तिव्यापक-वर्जिता।
तस्या भेदं न जानाति मोहितः प्रत्यये न तु।
ततः सूक्ष्मा परासंवित् मध्यशक्तिमहेश्वरी।।'

अद्वैतवाद और 'गोरक्षोपनिषद' की दृष्टि—इस ग्रंथ में कहा गया है कि अद्वैत से परतर भी सत्ता है।

(१) अद्वैत के ऊर्ध्व में **सदानन्द देवता स्थित** हैं।

अद्वैतभाव ही चरमावस्था नहीं है प्रत्युत् **'सदानन्द'**-अवस्था उससे भी ऊर्ध्ववर्ती है।

नाथ स्वरूप में ही मुक्ति है।
(१) **'शक्ति'** सृष्टि करती है।
(२) **'शिव'** पालन करते हैं।
(३) **'काल'** संहार करते हैं।
(४) **'नाथ'** मुक्ति देते हैं।
(५) **'नाथ'** सगुण-निर्गुण दोनों से परे हैं।

'सिद्धसिद्धान्तपद्धतिकार' की दृष्टि—ग्रंथकार का कथन है कि सबसे परे स्वयं ज्योतिस्वरूप सच्चिदानन्द मूर्ति ही परतत्त्व है—

'न ब्रह्मा विष्णु रुद्रौ न सुरपतिसुरा नैव पृथ्वी न चापो।
नैवाग्निर्वापिवायुर्न च गगनतलं नो दिशो नैव कालः।
नो वेदा नैव यज्ञा न च रविशशिनौ नो विधिः नैव कल्पः।
स्वज्योतिः सत्यमेकं जयति तव पदं सच्चिदानन्दमूर्ते।।'

—सिद्धसिद्धान्तपद्धति

सिद्धसिद्धान्तपद्धतिकार की दृष्टि—सिद्धान्त और साधना।

*** शक्ति-युक्त शिव की उपासना ***

गोरक्षनाथ ने 'शक्तियुक्त जगद्गुरु आदि नाथ' की वन्दना करते हुए इस ग्रंथ का प्रणयन प्रारम्भ किया है। तांत्रिक शाक्तमत, त्रिपुरा मत एवं त्रिकमत—तीनों ही द्वयात्मक अद्वैतवाद में आस्था व्यक्त करते हुए **'शक्ति-युक्त शिव'** की उपासना स्वीकार करते हैं। गोरक्षनाथ कहते हैं—'आदिनाथं नमस्कृत्य शक्तियुक्तं जगद्गुरुम् ।।''

*** परात्पर शक्ति *** सि० सि० प० में परात्पर शक्ति को **'अनामा'** कहा गया है और उसका स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—

'यदा नास्ति स्वयं कर्ता कारणं न कुलाकुलम्।
अव्यक्त परं ब्रह्म अनामा विद्यते तदा।'

* अनामा परमशिव की शक्तियाँ *

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
'निजाशक्ति'	'पराशक्ति'	'अपराशक्ति'	'सूक्ष्मशक्ति'	'कुण्डलिनी शक्ति'

(१) **'निजाशक्ति'**—**'इच्छामात्र**धर्माधर्मिणी **निजा** शक्ति।।' (१/५)
(२) **'पराशक्ति'**—**'तस्योन्मुखत्वमात्रेण परा**शक्तिरुत्थिता।।' (१/६)
(३) **'अपराशक्ति'**—'तस्य **स्पन्दन**मात्रेण **अपरा**शक्तिरुत्थिता।।' (१/७)
(४) **'सूक्ष्मशक्ति'**—**'ततोऽहंतार्थ**मात्रेण **सूक्ष्म** शक्तिरुत्पन्ना।।' (१/८)
(५) **'कुण्डलिनी शक्ति'**—'ततो **वेदनशीला कुण्डलिनी** शक्तिरुद्गता।'(१/९)

इन पाँचों शक्तियों के गुण एवं धर्म सि० सि० सं० एवं सि० सि० प० दोनों में एक समान वर्णित हैं। (सि० सि० प०)

*** परपिण्डोत्पत्ति ***—एक शक्तितत्व में ५-५ के गुणयोग से 'परपिण्ड' की उत्पत्ति हुआ करती है।

'एकं शक्तितत्त्वे पञ्च पञ्च गुण योगात् परपिण्डोत्पत्तिः।।' (१/१५) * (सि० सि० पद्धति)

'परपिण्ड' के २५ गुण हैं। **प्रथम पिण्ड पर पिण्ड** है और यह त्रिगुणातीत है। **आदि या आद्य पिण्ड** प्रथम पिण्ड के बाद का पिण्ड है।

'निजापराऽपरासूक्ष्मा कुण्डलिन्यासु पञ्चधा।' (१/१६)

* ५-५ गुणों के योग से **शक्तितत्त्व** में 'परपिण्ड' की उत्पत्ति होती है। **साकार एवं महासाकार** पिण्ड एक ही हैं अतः ६ पिण्ड हैं।

महा० गोपीनाथ कविराज—(सि० सि० सं० की भूमिका) ६ पिण्ड हैं—

(१) पर या आद्य पिण्ड (२) साकार पिण्ड (३) महासाकार पिण्ड (४) प्राकृतपिण्ड (५) अवलोकन पिण्ड (६) गर्भपिण्ड ।

१. सि०सि०प० में नाथ मत को प्रारंभ में 'सिद्धमत' कहा गया है।

अव्यक्त परम तत्त्व

परमपद की पाँच शक्तियाँ (१)

(१) निजा	(२) परा	(३) अपरा	(४) सूक्ष्मा	(५) कुण्डली	
५ गुण	५ गुण	५ गुण	५ गुण	५ गुण	२५ गुण

'पर पिण्ड' (१)

'परपिण्ड' के ५ पद एवं उनके गुण (२)

(१) अपर	(२) पर	(३) शून्य	(४) निरञ्जन	(५) परमात्मपद	
५ गुण	५ गुण	५ गुण	५ गुण	५ गुण	२५ गुण

'आद्य पिण्ड' (२)

'आद्यपिण्ड' के ५ आनन्द एवं उनके गुण

(१) परमानन्द	(२) प्रबोध	(३) चिदुदय	(४) प्रकाश	(५) सोहऽम्	
५ गुण	५ गुण	५ गुण	५ गुण	५ गुण	२५ गुण

'आद्यपिण्ड' : ५ महातत्त्व और उनके अंशभूत तत्त्व

(१) महाकाश	(२) महानिल	(३) महातेज	(४) महावारि	(५) महापृथ्वी	
५ गुण	५ गुण	५ गुण	५ गुण	५ गुण	२५ तत्त्व

'साकार पिण्ड' (३)

'साकारपिण्ड' : अष्टमूर्तिः शिव। भैरव। श्रीकण्ठ। सदाशिव। ईश्वर। रुद्र। विष्णु। ब्रह्मा। [२५ तत्त्व]

'महासाकार पिण्ड' (४)

'महासाकारपिण्ड' : तत्त्वांश २५ तत्त्व

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश से सम्बद्ध अस्थि, त्वक्, आंस, लोम, नाड़ी (पृथ्वीतत्त्व) लाला, मूत्र। स्वेद। शुक्र। रक्त (जल तत्त्व)। क्षुधा। तृषा, आलस्य, निद्रा, कान्ति (अग्नितत्त्व)। धावन, चलन, रोध। प्रसारण। आकुञ्चन (वायु तत्त्व) राग, द्वेष, लज्जा, मोह (आकाशतत्त्व)।

'प्राकृत पिण्ड' (५)

'गर्भ पिण्ड'

*** प्राकृत पिण्ड * के २५ तत्त्व**

(१) अन्तःकरण के धर्म — (२) कुलपञ्चक — (३) व्यक्ताख्य शक्ति के गुण

मन	बुद्धि	अहंकार	चित्त	चैतन्य
५	५	५	५	५
सत्व	रज	तम	काल	जीव
५	५	५	५	५
इच्छा	कर्म	माया	प्रकृति	वाक्
५	५	५	५	५

(१) * अव्यक्त परम तत्त्व की शक्तियाँ एवं उनके गुण *

(१) **'निजा'**—निराकृतित्व। नित्यत्व। निरन्तरत्व। निष्पन्दत्व। निरत्थत्व।

(२) **'पराशक्ति'**—अस्तित्व। अप्रमेयत्व, अभिन्नत्व। अनन्तत्व। अव्यक्तत्व।

(३) **'अपराशक्ति'**—स्फुरता, स्फारता। स्फुरत्ता। स्फोटता। स्फूर्ति।

(४) **'सूक्ष्मा शक्ति'**—नैरन्तर्य। नैरंश्य। नैश्चल्य। निश्चयत्त्व। निर्विकल्पत्व।

(५) **'कुण्डली'**—पूर्णत्व। प्रतिबिम्बत्व। प्रकृतिरूपत्व। प्रत्यङमुख। औच्चल्य।

(२) 'परपिण्ड' के पाँच पद एवं उनके ५-५ गुण

(क) अपर पद—अकलत्व। असंशयत्व। अनुमतत्व। अन्यपारता। अमरत्व।

(ख) पर पद—निष्फल। अलोल। असंख्य। अक्षय। अभिन्न।

(ग) शून्य पद—नीलता। पूर्णता। मूर्च्छा। उन्मनी। लयता।

(घ) निरञ्जन पद—सहज। सामरस्य। सत्यत्व। सावधानता। सर्वगत्व।

(ङ) परमात्म पद—अभयत्व। अभेद्यत्व। अच्छेद्य। अनाश्य। अशोष्य।

'निजापराऽपरासूक्ष्माकुण्डलिन्यासु पञ्चधा।
शक्ति-चक्रं क्रमेणोत्थो जातः पिण्डपरः शिवः॥' (सि० सि० प० १।१६)

* परपिण्डोत्पत्ति की प्रक्रिया *

(१) 'शक्ति तत्त्व' में प्रत्येक शक्ति (निजा शक्ति, पराशक्ति, अपराशक्ति, सूक्ष्मा शक्ति, कुण्डलिनी शक्ति) के ५-५ गुण, धर्म या अवस्थायें हैं। (२५ गुणों) में 'परपिण्ड' से (सगुण-साकार परमेश्वर से) पिण्ड का आविर्भाव होता है—

'एवं शक्तितत्त्वे पञ्चपञ्च गुणयोगात् परपिण्डोत्पत्तिः।' (१५)[१]

(२) जिस प्रकार हमारी पाञ्चभौतिक **काया पञ्चभूतों का पिण्ड है** और उसका **अधिष्ठाता** जीवात्मा है, उसी प्रकार **'शक्ति'** के २५ गुणों वाले **'परपिण्ड'** का अधिष्ठाता सगुण साकार परमेश्वर है।

(३) **'परपिण्ड'** में व्याप्त यह **परमेश्वर** जगत् की सृष्टि पालन एवं संहार के लिए प्रकट होता है। **'परपिण्ड'** उत्पन्न नहीं **प्रकट होता** है और **लयीभूत होता है,** न कि उत्पन्न एवं नष्ट।

(४) **साकार-सगुण परमेश्वर का पिण्ड** द्वैताद्वैतविवर्जित अलख निरञ्जन परमेश्वर में लयीभूत हो जाता है, नष्ट नहीं होता।

---

१. सि०सि०प० (प्रथमोपदेश)

(५) **'निजा', 'परा', 'अपरा', 'सूक्ष्मा' एवं 'कुण्डलिनी'**—इन **५ शक्तियों में शक्तिचक्रक्रम** के माध्यम से **सदाशिव** ५ प्रकार से प्रकट होते हैं।

(६) एक-एक शक्ति के विकास से एक-एक पिण्ड आविर्भूत होता है। इन ५ पिण्डों के अधिष्ठाता रूप ५ देव होते हैं। यही है—शक्तिचक्र क्रम।

(७) **शक्तिचक्रत्रिकोण** में बिन्दु (परब्रह्म शिव। आदि नाथ परमेश्वर) रहता है।

(८) सदाशिव की शक्ति के विकास के समय यह **शक्ति**—(१) इच्छा (२) ज्ञान एवं (३) क्रिया का स्वरूप धारण करती है। इन **तीनों शक्तियों** (गौरी। लक्ष्मी। सरस्वती) से **परमेश्वर व्यापक शिव** का प्राकट्य होता है।[1]

*** अनादि पिण्ड के ५ तत्त्व एवं २५ गुण ***

५ शक्तियों के, शक्तिचक्र क्रम से, प्रकट ५ अधिष्ठाता देवता हैं यथा—

(१) **निजाशक्ति** के अधिष्ठाता देव—अपरम्पर सदाशिव—हैं।

(२) **पराशक्ति** के अष्ठिाता देव—परमपद परमेश्वर हैं।

(३) **अपराशक्ति** के अष्ठिाता देव—शून्य, रुद्र हैं।

(४) **सूक्ष्माशक्ति** के अष्ठिाता देव—निरञ्जन (विष्णु) हैं।

(५) **कुण्डलिनी शक्ति** के अष्ठिाता देव—परमात्मा (ब्रह्मा) हैं।

(क) अपरम्पर सदाशिव से—'स्फुरत्ता' (उत्साह)

(ख) परमपद परमेश्वर से—'भावना'

(ग) शून्य (रुद्र) से—'सत्ता मात्र'

(घ) निरञ्जन (विष्णु) से—स्वसाक्षात्कार मात्र (अहंकार)

(ङ) परमात्मा (ब्रह्मा) से—बीजरूप समष्टि पिण्ड उत्पन्न हुए हैं।

—(सि० सि० प० १/१८)

"अपरम्परं परमपदं शून्यं निरञ्जनं परमात्मेति।"[2]

अनादि पिण्ड की उत्पत्ति—'अपरम्परं, परमपदं। शून्यं, निरञ्जनपरमात्मानौ पञ्च भिरेतैः सगुणैर**नाद्यपिण्डः** समुत्पन्नः॥[3]

(क) सृष्टि की रचना के समय **५-५ गुणों से युक्त ५ महाशक्तियों का प्रकटीकरण** होता है।

---

१. सि०सि०प० (गोरक्षनाथ)
२. सि०सि०प० (१।४७)
३. सि०सि०प० (२४)

(ख) वे ५-५ देवों से पृथक्-पृथक् युक्त होती हैं।

ये ही ५ देव स्वनिहित शक्तियों के अनुरुप—

(क) **'अपरम्पर'** (ख) **'परमपद'** (ग) **'शून्य'** (घ) **'निरञ्जन'** एवं (ङ) **'परमात्मा'** कहे जाते हैं।

इन सभी ५ प्रधान महाशक्तियों के साथ संयुक्त चेतनसत्ता का नाम है— **'अनाद्यपिण्ड'**।

यह सच्चिदानन्दघनस्वरूप **परमेश्वर** ही गुण एवं नाम से ५ रूपों में अभिव्यक्त होता है। यह समष्टि देव ही परमेश्वर **'शिव'** या **'आदिनाथ'** हैं।

*** महासाकार आद्य पिण्ड पुरुषः उत्पत्ति, ५ तत्त्व एवं २५ गुण ***

'अनाद्यपिण्ड परमेश्वर' से **'आद्यपिण्ड पुरुष'** की अभिव्यक्ति है—

(१) अनाद्य पिण्ड—परमानन्द

(२) परमानन्द—प्रबोध

(३) प्रबोध—चिदुदय

(४) चिदुदय—चित्प्रकाश

(५) चित्प्रकाश—अहंभाव की अभिव्यक्ति हाती है—

('अनाद्यात् परमानन्दः परमानन्दात् प्रबोधः, **प्रबोधा**च्चिदुदयश्चिदुदयात् चित्प्रकाशः चित् प्रकाशात् सोऽहंभावः॥—सिद्धसिद्धान्तपद्धति (१।२५)

इस आद्य पुरुष परमेश्वर के भी ५-५ गुणों से विशिष्ट ५ देव हैं।

'परमानन्द', 'प्रबोध', 'चिदुदय', एवं 'चित्प्रकाश' आदि में से प्रत्येक के ५-५ गुण हैं।

सोऽहंभाव के ५ गुण[1]

(१) अहन्ता (२) ऐश्वर्य (३) स्वात्मता (४) विश्वानुभवसामर्थ्य (५) सर्वज्ञत्व

महत्तत्त्व रूप **आद्यपिण्ड** है। यही आद्यपिण्ड पुरुष **'हिरण्यगर्भ' है।** ५ भूतों का कारण **'सूत्रात्मा'** है।

आद्यपिण्ड सूत्रात्मा—महाप्रकाश→महावायु→महातेज→महासलिल→महापृथ्वी (सि०सि०प० १।३१)

---

१. सि०सि०प० (१।३०)

पाँचों तत्त्वों के ५-५ गुण हैं।

* महासाकार पिण्ड की अष्टमूर्तियाँ *

'महासाकार पिण्ड' पञ्चाननशिव की अष्टमूर्तियाँ हैं—

शिव से → भैरव → श्रीकण्ठ → सदाशिव → ईश्वर → रुद्र → विष्णु → ब्रह्मा व्यक्त हुए हैं।

'स एव शिवः शिवाद् भैरवो, भैरवात् श्रीकण्ठः श्रीकण्ठात् सदाशिवः, सदाशिवादीश्वर ईश्वराद्रुद्रो, रुद्राद्विष्णु, विष्णोर्ब्रह्मेति **महासाकार पिण्डस्य मूर्त्यष्टकम्।**''[१]

* नरनारी रूप 'प्रकृतिपिण्ड' *

ब्रह्मा के **अवलोकन** (ईक्षणात्मक संकल्प) से नारीसम्पुटित **पुरुषप्रकृतिपिण्ड** (शतरूपा मनु प्रजापति) का आविर्भाव होता है।

इसके उपरान्त जरायुजादि भौतिक शरीरों की उत्पत्ति होती है। यही **'प्रकृति पिण्ड'** भूमि आदि पञ्चभूतों के ५ गुणों से युक्त **'पाञ्चभौतिक'** शरीर कहा जाता है।

''तद् ब्रह्मणः सकाशाद**वलोकनेन** नर-नारी रूप **प्रकृति पिण्डः** समुत्पन्नस्तच्चं प्रञ्चपञ्चात्मक शरीरम् ॥'

शरीर में ५ महाभूत अस्थि, मांस, त्वक्, नाड़ी, रोम, मूत्र, शुक्र, रक्त, स्वेद, क्षुधा, तृषा, निद्रा, कान्ति, आलस्य, भ्रमण, आकुञ्चन, राग, द्वेष, भय, लज्जा, मोह आदि के रूप में अवस्थित हैं।

* अन्तःकरणपञ्चक *

(१) मन और उसके गुण	(२) बुद्धि और उसके गुण	(३) अहंकार और उसके गुण	(४) चित्त और उसके गुण
(१) संकल्प	(१) विवेक	(१) अभिमान	(१) मति
(२) विकल्प	(२) वैराग्य	(२)मदीयं	(२)इच्छा
(३) मूर्च्छा	(३) शान्ति	(३)मम सुखं	(३) स्मृति
(४) जड़ता	(४) सन्तोष	(४) मम दुखं	(४) त्याग
(५) मनन	(५) क्षमा	(५)ममेदम्	(५) स्वीकार

---

१. सि०सि०प० (१।३७))

* अन्त:करण के गुण *

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
विमर्श	शीलन	धैर्य	चिन्तन	नि:स्पृहत्व

* कुलपञ्चक *

सत्त्व	रज	तम	काल	जीव
५ कार्य	५ कार्य	५ कार्य	५ कार्य	५ कार्य

* पञ्चगुण *

दया	धर्म	क्रिया	भक्ति	श्रद्धा

* व्यक्ति पञ्चक *

इच्छा	क्रिया	माया	प्रकृति	वाक्
५ गुण	५ गुण	५ गुण	५ गुण	५ गुण

* वाक् के ५ गुण *

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
परा	पश्यन्ती	मध्यमा	वैखरी	मातृका

* प्रत्यक्षकरण पञ्चक

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
कर्म	काम	चन्द्र	सूर्य	अग्नि
५ प्रधान कारण	५ गुण	१७ कला	१६ कला	१० कलायें

(क) *** १० प्रधान नाड़ियाँ ***

(ख) * १० वायु (प्राण)

(ग) * जीवात्मा के स्थूल शरीर का उत्पत्ति क्रम।

सिद्धमत में पिण्डविचार (सिद्धसिद्धान्तपद्धति)

(१) पिण्डोत्पत्ति (२) पिण्ड-विचार (३) पिण्ड-संविति (४) पिण्डा-धार (५) पिण्डपद समरसभाव (६) नित्याव-धूत

*** पिण्ड-विचार * (द्वितीयोपदेश)**

(नौ चक्र)

(१) ब्रह्मचक्र (२) स्वाधिष्ठानचक्र (३) नाभिचक्र (४) अनाहत चक्र (५) कण्ठचक्र

(६) तालुचक्र (७) भ्रूचक्र (८) ब्रह्मरन्ध्र निर्वाण चक्र (९) आकाशचक्र

* षोडशाधार *

(१) पदाङ्गुष्ठाधार (२) मूलाधार (३) गुदाधार (४) मेढ्राधार (५) उड्डियाण आधार (६) नाभ्याधार

(७) हृदयाधार (८) कण्ठाधार (९) घण्टिकाधार (१०) ताल्वाधार (११) जिह्वाधार (१२) भ्रूमध्याधार

(१३) नासिकाधार (१४) नासामूलक कपाटाधार (१५) ललाटाधार (१६) ब्रह्मरंध्र (आकाशचक्र)

* लक्ष्यत्रय *

(१) अन्तर्लक्ष्य (२) बहिर्लक्ष्य (३) मध्यलक्ष्य

* व्योमपञ्चक *

(१) आकाश (२) पराकाश (३) महाकाश (४) तत्त्वाकाश (५) सूर्याकश

* अष्टाङ्गयोग *

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)	(८)
यम	नियम	आसन	प्राणायाम	प्रत्याहार	धारणा	ध्यान	समाधि

गोरक्षनाथ जी ने इस ग्रंथ में योग को 'षडङ्ग' न मानकर **'अष्टाङ्ग'** माना और योगाङ्गों की मौलिक विवेचना की।

(१) **'यम'**—(उपशम) "**यम** इति उपशम:॥" 'सर्वेन्द्रियजयआहार—निद्रा—शीत—वातपजयश्चैवं शनै: शनै: साधयेत् ॥" (२।३२)

(२) **'नियम'**—"**नियम** इति मनोवृत्तिनां नियमनम्।"
एकान्तवास—नि:सङ्गता—औदासीन्य—
यथा प्राप्तिसन्तुष्टि वैरस्य—गुरुचरणावरुढ़त्व।

(३) **'आसन'**—'आसनमिति स्वस्वरूपे समासन्नता।'
स्वस्तिकासन, पद्मासन, सिद्धासन:। इन आसनों में से एक आसन में सावधान होकर ध्येय तत्त्व में स्थिर होना।

(४) **'प्राणायाम'**—'प्राणायाम इति प्राणस्य स्थिरता॥'
रेचक-पूरक-कुम्भक-संघटकरणा रूप चार प्राणायाम के लक्षण हैं।

(५) **'प्रत्याहार'**—'प्रत्याहारमिति चैतन्यतुरङ्गाणां प्रत्याहरणम्'।
चैतन्य आत्मा के इन्द्रिय रूपी घोड़ों के प्रत्याहरण से उनके विकारग्रस्त होने से उत्पन्न विकारों की समाप्ति हो जाती है—यही प्रत्याहार है।

(६) **'धारणा'**—शरीर से बाहर-भीतर एक ही निज तत्त्व स्वरूप आत्मा व्याप्त है। अन्त:करण से इस तरह की भावना ही **'धारणा'** है।

(७) **'ध्यान'**—अद्वैतस्वरूप परमात्मा है। यही आत्मा है। जो-जो वस्तु प्रतीत हो उसमें आत्मस्वरूप की भावना करनी चाहिए। समस्त भूतमात्र में समदृष्टि (आत्मदृष्टि) या आत्मस्वरूप की भावना ही **'ध्यान'** है।

(८) **'समाधि'**—समस्त तत्त्वों की समावस्थागत अनायास एवं स्वाभाविक सहज स्थिति ही समाधि है—

'अथ समाधिलक्षणं सर्व तत्त्वानां समावस्था निरुद्यमत्वमनायास स्थितिमत्वमिति समाधि लक्षणम्॥'[१]

---

१. सि०सि०प० (द्वितीय उपदेश)

* पिण्डसंवित्ति * (पिण्डब्रह्माण्डैक्यवाद)[१]

गोरक्षनाथ कहते हैं—"पिण्डमध्ये चराचरं यो जानाति से योगी पिण्डसंवितर्भवति।।"

जो योगी इस पिण्ड में चर, अचर एवं समस्त ब्रह्माण्ड का ज्ञान प्राप्त करता है वह पिण्डसंवित्ति' (पिण्डज्ञान) वाला होता है।

* सप्तपाताल और लोकादि *

सारे पाताल एवं लोक शरीर में विद्यमान हैं। यथा—गुह्यस्थान में भूर्लोक, लिंगस्थान में भुवर्लोक आदि।।

* वर्णचतुष्टय, सप्तद्वीप एवं सप्तसमुद्र *

सारे द्वीप एवं समुद्र भी इसी शरीर में स्थित हैं।

* नव खण्ड अष्टकुलपर्वत *

नवखण्ड एवं अष्टकुल पर्वत भी शरीर में ही स्थित हैं।

* नक्षत्रादि एवं स्वर्गनरक एवं मुक्ति *

नक्षत्रादि, एवं स्वर्गनरक आदि भी हमारे शरीर में ही स्थित हैं।

तृतीय उपदेश के अन्त में निम्न प्रश्नों का समाधान किया गया है—

(१) सुख क्या है ? स्वर्ग क्या है? "यत्सुखं तत् **स्वर्गं**।।

(२) दुःख क्या है? नरक क्या है? यद् दुःखं **तन्नरकं**।'

(३) बन्धन क्या है? 'यत् कर्म तद् **बन्धनम्** ।।'

(४) मुक्ति क्या है? 'यन्निर्विकल्पं तन्मुक्तिः।।'

(५) शान्ति कैसे मिलती है?

'स्वरूपदशायां निद्रादौ स्वात्मजागरः **शान्तिर्भवति**।'

(६) **पिण्डसंवित्तियोगी कौन है?—**

सभी देहों में **विश्वरूप परमात्मा,** अखण्डस्भाव द्वारा, चिद्रूप में अवस्थित है ऐसा जानने वाला ही **पिण्डसंवित्ति** योगी है।

"एवं सर्वदेषेशु विश्वरूपपरमेश्वरः परमात्माऽखण्डस्वभावेन घटे घटे चित्स्वरूपो

---

१. सि०सि०प० (द्वितीय उपदेश)

२. सि०सि०प० (तृ० उप० १३))

तिष्ठति। एवं पिण्डसंवत्तिर्भवति।।''[२]

* पिण्डाधार *

'समरसता' कैसे स्थापित होती है?—इसी का विवेचन **'पिण्डाधार'** में किया गया है।

'शक्ति' का स्वरूप क्या है? वह **'निजाशक्ति'** जिससे शिव अभिन्न है, जो उनकी **नित्य, निजा, समवायिनी** शक्ति है—उस **मूलभूता शक्ति** का स्वरूप

'स्वयं' (पर शिव)
शिव की निजाशक्ति
अपर शिव
निजा शक्ति
परा शक्ति
अपरा शक्ति
सूक्ष्मा शक्ति
कुण्डली शक्ति
परम शिव
शून्य शिव
निरञ्जन शिव
परमात्मा रूप शिव

क्या है?

(१) **'शक्तिचक्र'**—

''निजा पराऽपरासूक्ष्मा कुण्डली तासु पञ्चधा।
शक्ति चक्रक्रमेणैव जातः पिण्डः परः शिवे।।''

(२) **शिव के ५ भिन्न-भिन्न स्वरूप**—

(१) ततोऽ**स्मितापूर्वमर्चिर्मात्रं स्यादपरं** परम् ।

(२) तत्स्व**संवेदनाभा**मुत्पन्नं परमंपदम् ।

(३) **स्वेच्छामात ततः**शून्यं...........

(४) सत्तामात्रं **निरञ्जनम्** ।

(५) तस्मात्ततः स्वसाक्षादभूः **परमात्मपदं** मतम् ।।

* शिव शक्ति के स्फुरण का विकास-चित्र *

स्वयं
(पर शिव)

(१) शिव
(२) शक्ति

अपर शिव (१)
निजाशक्ति (१)

परम शिव (२)
परा शक्ति (२)

शून्य शिव (३)
अपरा शक्ति (३)

निरञ्जन शिव (४)
सूक्ष्मा शक्ति (३)

परमात्मपद रूप शिव (५)
कुण्डली शक्ति (५)

शिव की अवस्थायें

(१) 'अपरं पदम्' 'अपर शिव' इस अवस्था में शिव अपने अव्यक्त स्वरूप में स्थित रहते हुए भी स्फुरणोन्मुखी शक्ति से युक्त रहते हैं।

(२) **'परमशिव'**–स्फुरणोन्मुखी शक्ति से उपहित शिव की अवस्था।

(३) **'शून्य शिव'**—स्फुरित शक्ति से युक्त शिव की अवस्था

(४) **'निरञ्जन शिव'**—सूक्ष्माहन्ता के भाव से युक्त शक्ति की अवस्था।

(५) **'परमात्मपदरूप शिव**—पृथग्भाव से युक्त कुण्डलिनी शक्ति से युक्त शिव की अवस्था।

शक्ति की अवस्थायें

(१) **'निजाशक्ति'**—स्फुरण-पूर्वा शक्ति परम शिव की अवस्था मात्र धर्म से युक्त, स्फुरण-पूर्ववर्तिनी, स्फुरित होने के लिए उपक्रान्त अवस्था।

(२) **'पराशक्ति'**–स्फुरणोन्मुखी शक्ति की अवस्था।

(३) **'अपरा शक्ति'**—स्फुरित या स्पन्दित शक्ति की अवस्था।

(४) **'सूक्ष्मा शक्ति'**—सूक्ष्माहन्ता या सूक्ष्मरूपात्मक पृथकत्व के भाव से युक्त शक्ति की अवस्था।

(५) **'कुण्डलिनी शक्ति'**-चेतनशीला होकर पृथकत्व से भाव से युक्त शक्ति की अवस्था।

'परमात्मा' और कुण्डली जो शिव के पाँचवे विकास सोपान हैं—विश्व-सृष्टि के मूल है।

'कुण्डली शक्ति'—

'कन्दोर्ध्वं कुण्डली शक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः।
बन्धनाय च मूढ़ानां योगिनां मोक्षदा स्मृता।'

—गोरक्षनाथ—गोरक्षशतक

कुण्डली जागरण की विधि—

वज्रासनस्थितो योगी **चालयित्वा तु कुण्डलीम्।**
अष्टधा कुण्डलीभूतामृजुं कर्तुं तु कुण्डेलीम्।
भानोराकुञ्चनं कुर्यात्कुण्डलीं चालयेत्ततः।।
वज्रासनगतो नित्यं **मासार्धं** तु समभ्यसेत्।
वायुनाज्वलितो वह्निः कुण्डलीमनिशं दहेत्।
संतप्ता साग्निना नाड़ी शक्तिस्त्रैलोक्य मोहिनी।।

—गोरक्षनाथ—योगबीज

'आधार शक्ति'—

'पिण्डाधार' (सि०सि०प० का चतुर्थोपदेश) के आरम्भ में 'निजाशक्ति' या **'आधार शक्ति'** के स्वरूप की विवेचना करते हुए कहा गया है कि—

(१) **'परासंवित्'** निजाशक्तिसंयुक्त है।

(२) यह शक्ति स्वसंवेद्य, संवित्स्वरूपा, नित्यप्रबुद्धा, परमशिवसमवेता, कूटस्थ, एवं स्वातंत्र्य है।

(३) यह शक्ति ही **आधारस्वरूपा आद्या भवानी** है। वह नित्यप्रकाशरूपा है।

(४) यह शिव की **अन्तरङ्गा शक्ति** है। यही सबका आधार है। यही सबका **उपादानकारण** है। यह चिद्रूपा पराशक्ति है। वह शुद्ध रूप में **शिवस्वरूपिणी है।**

(१) "अस्ति का चिदपरंपरा **संवित्स्वरूपा, सर्वपिण्डाधारत्वेन, नित्यप्रबुद्धा, निजाशक्ति,** प्रसिद्धा कार्यकारणकतृर्णाणामुत्थानदशाङ्कुरोन्मीलनेन कर्तारं करोतीत्यनन्तर-**वाधारशक्तिरि**ति कथ्यते।।"

(२) **'अत्यन्तनिजप्रकाश स्वसंवेद्यानुभवैकगम्यमाना** शास्त्रलौकिक-**साक्षात्कारसाक्षिणी** सा **परा चिद्रूपिणी शक्तिर्गीयते।'**

(३) "सैव शक्तिर्यदा सहजेन स्वस्मिन्नुन्मीलिन्यां वर्तते **तदा शिव स एव भवति।।"**[१]

---

१. सि०सि०प० (४था उपदेश) सूत्र १

कुलाकुल-सामरस्य—यह कुलाकुलस्वरूपिणी पराशक्ति, कुलाकुल **शिवशक्ति** की अभेदावस्था ही, **सामरस्य प्राप्ति की भूमिका** कही जाती है—

"अतएव कुलाकुलस्वरूपा **सामरस्य निजभूमिका** निगद्यते।।"[१]

'कुलशक्ति' का स्वरूप—'कुलशक्ति' विश्वाधारस्वरूप में स्थित है।

कुल शक्ति '**अधारशक्ति**' के रूप में पञ्चधा विभक्त है।

विश्वाधार '**कुलशक्ति**' के पाँच रूप[२]

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
'परा'	'सत्ता'	'अहंता'	'स्फुरत्ता'	'कला'

*** कुल शक्ति' के विभिन्न स्वरूप ***

(क) '**पराशक्ति**'—यह समस्त विश्व के आधार के रूप में स्थित है। यह परापरा सभी वस्तुओं में स्थित है। यह प्रकाशरूपा शक्ति सबकी प्रकाशिका होने से 'परा' कहलाती है।[३]

(ख) '**सत्ताशक्ति**'—यह अनादिसंसिद्ध, परमाद्वैत, परम, एका है। यह सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य, संसिद्ध (स्वप्रकाश(, परमाद्वैत एवं एक (सजातीयता से परे) अद्वितीय है। ऐसे अस्तित्व को स्वीकार करने वाली है और '**सत्ता**' कहलाती है।[४]

(ग) '**पराहन्ताशक्ति**'—यह अनादिनिधन, अप्रमेय, सहजः स्वभाव-किरणान्न्दसन्दोह, स्वप्रकाश, सच्चिदानन्दस्वरूपा, अहन्तारूप में शिवाभिन्ना पराशक्ति है। यही **अहंतास्वरूपिणी** कुल शक्ति है।[५]

(घ) '**स्फुरत्ताशक्ति**'—जो स्वानुभव चिच्चमत्कार **निरुत्थानदशा** को प्रस्फुटित करती है वही स्फुरत्ता शक्ति है। यह अपने 'स्फुरत्ता' के स्वरूप में, अवाङ्मनस

---

१. सि०सि०प० (४।२)

२. 'कुलमिति परासत्ताऽहंता स्फुरत्ता कूलास्वरूपेण सैव पञ्चधा विश्वस्याधारत्वेन तिष्ठति।। (४।८)

३. अतएव कुलाकुलस्वरूपा सामरस्यनिजभूमिका निगद्यते।

कुलमिति परासत्ताऽहंता स्फुरत्ता फलास्वरूपेण सैव ९ञ्चधा विश्वस्याधारत्वेन तिष्छिति।

४. '**परा**'—'एतएव परापरा निराभासादवभासकान् प्रकाशस्वरूपा या सा परा।।

५. '**सत्ता**'—'अनादि संसिद्धं परमाद्वैतपरमेकमेवास्तीति याऽङ्गीकारं करोति सा '**सत्ता**'।।५।।

गोचर, अनुभवैकगम्य चैतन्य-विलास की द्वैताभास शून्य अद्वैतावस्था को व्यक्त करती है—'स्फुरत्ता' है।[२]

(ङ) **'पराकलाशक्ति'**—जो नित्य शुद्धबुद्धस्वरूप एवं स्वयंप्रकाश (बोधस्वरूप, स्वसंवेद्य) आत्मतत्त्व की प्रकाशिका शक्ति है उसे 'कला' कहते हैं।[२]

(च) **'अकुलरूपाशक्ति'**—समस्त भेदों से परे यह अद्वितीया शक्ति अखण्ड, अद्वय, अनन्य, कार्यकारणविमुक्त, नामातीत एवं रूपातीत, जाति-वर्ण-गोत्र आदि भेदों से अतीत **अकुल शिव** में कूटस्थ पराशक्ति **'अकुल'** कही गई है।

आज्ञावती 'पराशक्ति'—(१) यह कुलाकुलरूपा पराशक्ति है।

(२) यह सामरस्य को प्रकाशित करने वाली है।

(३) इसी पराशक्ति को **'अपरम्परा' 'निजा'** आदि नामों से पुकारा जाता है।

(४) यह महाप्रलयकाल में भी विद्यमान रहती है और विश्वाधार है।

(५) यही समस्त प्रपञ्चजाल को परमतत्त्व में एकीभूत करके स्थापित कर देती है। इसे ही आदिनाथ की 'आज्ञावली' शक्ति कहा गया है।

*** परशिव ***—"अकुलंकुलमाधत्ते कुलञ्चाकुलमिच्छति जलबुदबुद्धवन्या यदेकाकारः **परः शिवः**।।' (४।११)

परमेश्वर शिव ही कुलाकुल रूप से अभिव्यक्त होते हैं। **शिव से अभिन्न शक्ति** ही महाप्रलयकाल में **अकुलावस्था युक्त** कहलाती है। उस समय वह विश्व को उपसंहृत करके शिव से अभिन्न होकर रहती है।

सृष्टि के समारंभ के काल में यही शिव की **'निजाशक्ति'** परा-अपरा-सूक्ष्म-कुण्डली आदि भेदस्वरूप धारण करके **कुलरूप (व्यक्त) अवस्था** धारण करती है। विश्व-सृजन करने पर वही शक्ति **'कुल'** कहलाती है। यथा जल एवं बुलबुले भिन्न एवं अभिन्न दोनों हैं उसी प्रकार **वह द्वैत (कुल) एवं अद्वैत (अकुल)** दोनों हैं।[३]

यह द्वैताद्वैतरहित अभेद ही **सामरस्य** है।

---

१. **'पराहन्ता'**—अनादिनिधनोऽप्रमेयः स्वभावकिणानन्दोऽहमस्मीत्यहं सूचनशीला या सा **'पराहन्ता'** ॥६॥

२. **'स्फुरत्ता'**—स्वानुभवचिच्चमत्कारनिरुत्थानदशां प्रस्फुटीकरोति या सा स्फुरत्ता।
—गोरक्षसिद्धान्त (सिद्धसिद्धान्तपद्धति)

३. 'अकुलंकुलमाधत्ते कुलञ्चाकुलमिच्छति जलबुद बुदवन्न्यायदिकाकारः **परः शिवः**॥ (४।११)

अनन्त शक्तिमान परमशिव का स्वरूप—परमशिव द्वैताद्वैत रूप में एकाकार हैं और समरसत्त्व के कारण अनन्त शक्तिमान एवं अखण्डानन्दस्वरूप हैं वह सर्वाकार हैं, नित्य है, फिर भी एक हैं—

'शक्तिमान् नित्यं सर्वाकारतया स्फुरन् पुनः स्वेनैव रूपेण एकएवावशिष्यते।।' (४।१२)

वह परमकारण है, परम ईश्वर है, परात्पर है, शिव है, स्वस्वरूपतया सर्वतोमुख है, सर्वाकारों में स्फुरित हैं किन्तु बिना **'शक्ति'** के कुछ भी कर सकने में असमर्थ हैं किन्तु शक्तिपरिणद्ध होकर सर्वाभासक है।

वे अनन्त शक्तिमान परमेश्वर विश्वरूप एवं विश्वमय भी हैं। वे परापर शक्ति से युक्त परमेश्वर अनन्त शक्तिमान हैं और सर्वविश्वाधिष्ठाता है।[१]

* कुण्डलिनी शक्ति *

[१]परापरस्वरूपा कुण्डलिनी शक्ति सिद्धों के देहपिण्ड में विद्यमान हैं।

[१]कुण्डलिनी के प्रभाव से योगी **'कायसिद्ध'** हो जाते हैं—

'सिद्धानां च परापरस्वरूपा कुण्डलिनी वर्तते।।' (सि०सि०प० १४)

* कुण्डली के विभिन्न स्वरूप *

कुण्डलिनी

(१) अप्रबुद्धा कुण्डलिनी

(कुण्डलिनी के भेद)

(२) प्रबुद्धा कुण्डलिनी

कुण्डलिनी के भेद—
'सा कुण्डलिनी प्रबुद्धा अप्रबुद्धा चेति द्विधा।
—गोरक्षनाथ

---

१. 'अतएवैकाकारोऽनन्तशक्तिमान निजानन्दतयावस्थितोऽपि नानाकारत्वेन विलसन् स्वप्रतिष्ठां स्वयमेवभजतीति **व्यवहारः।**

'अलुप्त शक्तिमान्नित्यं सर्वाकारतया स्फुरन् पुनः स्वेनैव रूपेण एकएवावशिष्यते।।
—(सिद्धसिद्धान्तपद्धति) (४।१२)

१. ''अतएव **परमकारणं परमेश्वरः परात्परः** शिवः स्वस्वरूपतया सर्वतोमुखः सर्वाकारतया स्फुरितुं शक्नोतीत्यतः शक्तिमानः शिवोऽपि शक्तिरहितः शक्तः कर्तुं न किञ्चन। स्वशक्त्यासहितः सोऽपि सर्वस्याभासको भवेत्।। (४।१३)

३. 'अतएवानन्तशतिभानपरमेश्वरः सविश्वरूपी विश्वमयो भवतीति ।। (सि०सि०प०४।१३)

(१) **'अप्रबुद्धा कुण्डलिनी'**—यद्यपि कुण्डलिनी शरीर में चेतनस्वरूप में ही अवस्थित है तथापि वह स्वभाव से अनेकरूप चिन्ता-व्यापारों को बढ़ाने में प्रवृत्त रहती है और प्रपञ्चस्वरूपा है। यह कुटिलस्वभावा है। इसके इसी स्वरूप को अप्रबुद्धा कहते हैं।[१]

(२) **'प्रबुद्धा' कुण्डलिनी**—जब वही अप्रबुद्धा कुण्डलिनी योगियों के द्वारा जागृत की जाती है तब अपने जागृतस्वरूप में **'प्रबुद्धा'** कही जाती है। इस स्थिति में वह मूलाधार चक्र का त्याग करके सुषम्णा मार्ग में ऊर्ध्वगामिनी स्थिति में रहा करती है। इस समय वह योगी के भीतर विद्यमान समस्त मानसिक विकारों को ध्वस्त करने में प्रयत्नशील रहती है।[२]

कुण्डलिनी के अन्य स्वरूप

(१) भगवती कुण्डलिनी **सर्वतत्त्वान्विता** है।

(२) भगवती का यथार्थ स्वरूप (स्वस्वरूप) ऊर्ध्व में ही विद्यमान है

(३) वह **विमर्शरूपिणी** है।

(४) उसी के द्वारा योगी **स्वस्वरूप (आत्मा) का ज्ञान** प्राप्त करते हैं।

* मध्यशक्ति-प्रबोधन और परमपद *

(नाभिदेश में अवस्थित 'मणिपूर चक्र' में विद्यमान कुण्डलिनी **'मध्यशक्ति'** कही जाती है।

(१) मूलाधार चक्रस्थ कुण्डलिनी = 'अधः शक्ति'

(२) मणिपूर चक्रस्थ कुण्डलिनी = 'मध्यशक्ति'

(३) सहस्रदलपद्मस्य कुण्डलिनी = 'ऊर्ध्वशक्ति'

'मध्यशक्ति' को जागृत करने से और 'अधःशक्ति' को ऊपर की ओर आकर्षित करने से एवं 'ऊर्ध्वशक्ति' को ऊप्र की ओर आकर्षित करने से एवं 'ऊर्ध्वशक्ति' कुण्डलिनी के निपात-संयोजन से **'परमपद'** की प्राप्ति हुआ करती है।[३]

(१) **आधार चक्र (मूलाधार चक्र) की कर्णिका में** त्रिकोणाकार योनि

---

१. 'अप्रबुद्धेतितत्र पिण्डचेतनरूपास्वभावेन नानाचिन्ता व्यापारोद्यमप्रपञ्चरूपा कुटिलस्वभावा कुण्डलिनी ख्याता॥' (सि०सि०प० ४।१४)

२. 'विकाराणां निवारणोद्यमस्वरूपा कुण्डलिन्यूर्ध्व **गामिनी**प्रसिद्धा भवति॥ (सि०सि०प० ४।१४)

३. मध्यशक्ति प्रबोधेन अधःशक्तिनिकुञ्चनात् ।
ऊर्ध्व शक्तिनिपातेन प्राप्यते परमं पदम् ॥६॥

कामगिरि पीठ में "**अधः शक्ति कुण्डलिनी**" रहती है। इस शक्ति को अपानवायु के निकुञ्चन (आकर्षण) से ऊर्ध्वमुखी करके जागृत किया जाता है। सुषुम्णाद्वार को अपावृत करके इसे ऊर्ध्वमार्ग में चढ़ाया जाता है।

(२) '**नाभिचक्र' (मणिपूरक चक्र)** में आठ वलयों वाली इसी कुणलिनी को '**मध्य कुण्डलिनी**' कहा जाता है।

(३) कुण्डलिनी 'बन्धत्रय' के अभ्यास से समुत्थित होती है।

(४) प्राण से अपान का ऐक्य स्थापित होना '**ऊर्ध्वशक्तिपात**' है। षट्चक्रभेदनोपरान्त (एवं ग्रंथित्रयभेदनोपरान्त योगी) "**सहस्रार**" में कुण्डलिनी के साथ पहुँचकर '**परमपद**' प्राप्त करता है।

कुण्डली की तीन अवस्थायें

कुण्डलिनी

'अधः शक्ति' 'मध्य शक्ति' 'ऊर्ध्व शक्ति'

'अध्रःशक्ति' कुण्डलिनी का स्वरूप—

(१) कुण्डलिनी का यह स्वरूप बाह्येन्द्रिय व्यापारों से युक्त एवं नाना चिन्ताओं से संयुक्त है—

'बाह्येन्द्रिय व्यापार-नानाचिन्तामया **सैवाधः शक्तिरित्युच्यते।**"

—(सि०सि०प० ४।१८)

(२) 'अतएव योगिनस्तस्या आकुञ्चने रता यस्या आकुञ्चन मूलाधारबन्धनात्सिद्धं स्यात्।'

—(सि०सि०प० ४।१८)

योगी मूलाधार में स्थित इस शक्ति के आकुञ्चन-संकोचन में तत्पर रहते हैं। 'मूलाधार चक्र' के बन्ध के अभ्यास (अपान और प्राण का ऐक्य स्थापित होने पर उड्डियान एवं जालन्धर बन्ध की सिद्धि) से यह शक्ति ऊर्ध्वमुखी होकर जाग जाती है और साधक को परमानन्द की प्राप्ति करा देती है।

(क) '**मूलबन्ध**' (ख) '**उड्डियान बन्ध**' (ग) '**जालन्धर बन्ध**'—बंधत्रय से कुण्डलिंनी महाशक्ति 'सहस्रार' में पहुँच जाती है।

(३) जिससे चराचर, स्थावर जंगम एवं चिद्-अचिद् **समस्त जगत की उत्पत्ति**

होती है—वही **'मूलाधार'** है। जिसके संकोच-प्रसरण से कुण्डलिनी का प्रबोधन होने पर ज्ञान की वृद्धि होती है।—यह **मूलाधार ही संवित्प्रसारण भूमि है।**[1]

(४) **मूलशक्ति**—समष्टिरूप सर्वेश्वरी कुण्डलिनी 'महाशक्ति' के व्यापार कार्य से ही (संकोच-प्रसरण से ही) जगत का सृजन एवं संहार होता है। योगी इस मूल शक्ति का ध्यान कर जगत की सृष्टि और संहार कर सकता है। मूलाधार चक्रस्थिता महेश्वरी शक्ति **'मूल शक्ति'** है। यही कारण है कि सारे सिद्ध **मूलाधाररत होते** हैं।[2]

(५) **मध्याशक्ति**—यह कुण्डलिनी चिद्रूप होने से जीवात्मा, का यथार्थ स्वरूप है। अविद्या के कारण संसार-बंधन में एवं विषयादि मृगतृष्णा में आसक्त जीवात्मा को यह **'मध्या शक्ति'** अपने चिद्रूप स्वप्रकाश में धारण करने में समर्थ है। कुण्डलिनी शक्ति— (क) स्थूल (ख) सूक्ष्म दो प्रकार की है।

कुण्डलिनी के दो रूप हैं— स्थूल कुण्डलिनी (१) सूक्ष्म कुण्डलिनी (२)

गोरक्षनाथ कहते हैं कि तरङ्गित स्वभाव वाली जो जीवात्मायें व्यर्थ में भटकती रहती हैं वे भी अपने आत्मप्रकाश के मध्य स्वस्वरूप प्राप्त कर सकती हैं, क्योंकि **'मध्या शक्ति' कुण्डलिनी** अपने चिद्रूप स्वप्रकाश में जीवात्मा को धारण करने में समर्थ है।[3]

स्थूल-सूक्ष्म कुण्डलिनी—'स्वस्वरूपतया सदा धारयितुं समर्था या सा कुण्डलिनी मध्याशक्तिर्गीयते।''

''**स्थूलसूक्ष्मरूपेण** महासिद्धानां प्रतीयते।।''

[4]यद्यपि मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी योग-सिद्ध पुरुषों के अतिरिक्त संसार में

---

१. 'यस्माच्चराचरं जगदिदं चिदचिदात्मकं प्रभवति तदेव मूलाधारं संवित्प्रसरं प्रसिद्धम्।।' (४।१९)

२. 'सर्वशक्तिप्रसरसंकोचाभ्यां जगत्सृष्टिः संहतिश्च भवत्येव न सन्देहस्तस्मात्सा मूलभित्युच्यते। अतः प्रायेण सर्वे सिद्धा मूलधाररता भवन्ति। (४।२०)।।

३. तरङ्गितस्वभावं जीवात्मानं वृथाभ्रमन्तीमपि स्वप्रकाश मध्ये स्वस्वरूपतया सदा धारयितुं समर्था या सा कुण्डलिनी मध्याशक्तिर्गीयते स्थूलसूक्ष्मरूपेण महासिद्धानां प्रतीयत इति निश्चयः।।—(सि० सि० प० ४।२१)

४. 'स्थूलेति निखिलग्राह्या धारविग्राह्य स्वरूपापि पदार्थन्तरे भ्राम्यमाणा चिद्रूपा या वर्तते सा कुण्डलिनी साकारास्थूलापुनस्त्वियमेव स्वप्रसारचातुर्यतया वर्तमाना योगिनां परमानन्दतया कुण्डलिया निश्चयभूता वर्तते सा सूक्ष्मा निराकारा प्रबुद्धा महासिद्धानां मते प्रसिद्धाः।। (सि०सि०प०४।२२)

विषयासक्त एवं परिबद्ध जीवमात्र के लिए सूक्ष्म है तथापि यह शब्दात्मक **स्थूल जगत** की सृष्टि करने के कारण **साकार स्थूल कही जाती है।** वह रूपादि विषयों में भ्रमण-संचार करती रहती है यही निज विस्तार-कौशल से नाभिस्थान (मणिपूरक) में अपने आनन्ददायक व्यापक अखण्ड आत्मा का निश्चय कराती है। जागृत होने पर यह **सूक्ष्म** रूप से **निराकार** और सर्वत्र व्यापक रहती है।

सृष्टि कुण्डलिनी—भगवती कुण्डलिनी के दो स्वरूप हैं—(१) स्थूल (२) सूक्ष्म।

'सृष्टि कुण्डलिनी'—यह कुण्डलिनी स्थूल जगत की सृष्टि करती है। यह नाभिचक्र (मणिपूर) में प्रबुद्ध होकर उपाधि-सम्बंध छोड़कर अखण्डस्वरूप में ऊध्वमुखी होकर प्रतिष्ठित होती है।

(१) स्थूल रूप।

***सृष्टि कुण्डलिनी** * (२) प्रत्यगात्मिका अपरा, सर्वगा, सूक्ष्म

'सृष्टिकुण्डलिनी ख्याता द्विधा भागवती तु सा।।
एकधा स्थूलरूपा च लोकानां प्रत्यगात्मिका।
अपरा सर्वगा सूक्ष्मा व्यापि-व्यापकवर्जिता।
तस्या भेदं न जानाति मोहिता प्रत्ययेन तु।।''

—सिद्धसिद्धान्त पद्धतिः (४।२३)

(१) स्थूल जगत की निर्मात्री कुण्डलिनी = सृष्टि कुण्डलिनी।

(२) इसके दो स्वरूप हैं—

(क) 'एकधा **स्थूलरूपा** च **लोकानां प्रत्यगात्मिका।**

(ख) **अपरा सर्वगा सूक्ष्मा व्यापि-व्यापकवर्जिता।।**

(३) जब यह कुण्डलिनी नाभिचक्र (मणिपुर) में प्रबुद्ध होकर अपने अखण्डस्वरूप में ऊर्ध्वमुखी होती है तब **सूक्ष्म, सर्वव्यापक** एवं व्याप्यव्यापकभाव से रहित होती है। अज्ञानी उसे नही जान पाते।

(४) सूक्ष्मा, चिद्रूपिणी एवं निर्विषया मध्य कुण्डलिनी को देहसिद्धि हेतु गुरु के उपदेश से अपनी आत्मस्वरूप की अभिव्यक्ति हेतु जगाना चाहिए। यह **संवित्स्वरूपा** मध्य कुण्डलिनी नितान्त प्रबोधनीया है।[१]

---

१. तस्मात् सूक्ष्मापंरा **संवित्स्वरूपा मध्या शक्ति कुण्डलिनी** योगिमिर्देहसिद्ध्यर्थ सद्गुरुमुखाज्ज्ञात्वा स्वस्वरूप दशायां प्रबोधनीया।। (४।२४)

ऊर्ध्वशक्तिनिपात और ऊर्ध्व कुण्डलिनी—

(१) मध्य शक्ति कुण्डलिनी का सहस्रदलपद्म में प्रवेश ही **'ऊर्ध्वशक्तिनिपात'** कहलाता है।

(२) भौतिक पदार्थों, लौकिक एषणाओं एवं निःशेष विषयों से ऊपर विद्यमान रहने की स्थिति ही **'ऊर्ध्व'** है।

(३) नामरूपातीत आदिनाथ ही **'परमपद'** है।

(४) परमात्मा की स्वरूपाभिव्यक्ति करने वाली शक्ति ही—**'ऊर्ध्वशक्ति'** (परम प्रबुद्धा भगवती कुण्डलिनी) कही जाती है।

(५) षट्चक्रों का भेदन करके महाकुण्डलिनी सहस्रार में शिव से ऐक्य प्राप्त करके शिव में ऐकात्म्य प्राप्त करती है॥[1]

'परमपद' और उसकी प्राप्ति की प्रक्रिया—गोरक्षनाथ कहते हैं कि—

'अत ऊर्ध्वशक्तिनिपातेन योगिभिः परमं पदं प्राप्यत इति सिद्धम् ॥''

अर्थात् ऊर्ध्वशक्तिनिपात के द्वारा योगी परमपद प्राप्त करते हैं।

ऊर्ध्व शक्ति निपात — परमपद और उसकी प्राप्ति[2]

'ऊर्ध्व शक्ति' (भगवती कुण्डलिनी का सहस्रारस्थ प्रबुद्ध स्वरूप के निपात से परमपद की प्राप्ति होती है।

परासंवितस्वरूप और उसका व्यापक स्वरूप—गोरक्षनाथ कहते हैं—

''सत्वे-सत्वे सकलरचना राजते संविदेका।
तत्त्वे-तत्त्वे परममहिमा संविदेवावभाति।
भावे-भावे बहुलतरला लम्पटा संविदेषा।
भासे-भासे भजनचतुरा बृंहिता संविदेव॥'' (४।२८)

परासंवित्स्वरूप शिवशक्ति के **सामरस्य** का स्वरूप यह है कि व्यष्टि-समष्टिस्वरूप समस्त भौतिक पदार्थों के साथ वह एक है और वह निखिल पिण्डों का मूलाधार है—

---

१. 'अथ **ऊर्ध्वशक्तिनिपातः** कथ्यते। सर्वेषां तत्त्वानामुपरिवर्तमानत्वान्निनमि **परमंपदमेवमूर्ध्व प्रसिद्धं**। तस्याः स्वसंवेदन नानासाक्षात्कारसूचनशीलाया **सोऽर्ध्वशक्तिरभिधीयते**। तस्या निपातनमिति स्वस्वरूपद्विधाभासनिरासः किन्तु स्वस्वरूपाखण्डत्वेन भवति। (४।१५)

२. सि०सि०प० (४।२७)

'किमुक्तं भवति परापरविमर्शरूपिणी संविन्नाना शक्तिरूपेण निखिलपिण्डाधारत्वेन वर्तते इति सिद्धान्तः॥' —सि०सि०प० (४।२९)

* पिण्डपदसामरस्य *

गोरक्षनाथ जी कहते हैं कि—

(१) परपिण्डादि से लेकर स्वपिण्ड पर्यन्त सारे पिण्डज्ञान को जानकर उसका परमपद में समरसीकरण कर देना चाहिए—

'महासिद्धयोगिभिः पूर्वोक्तक्रमेण परपिण्डादिस्वपिण्डान्तं ज्ञात्वा परम पदे समरसं कुर्यात्॥'' (५।१)

[१]परासंवित् स्वरूप शिवशक्ति को अभिन्न जानकर, 'अधःशक्ति' (मूलाधार में सोई हुई कुण्डलिनी) को जगाकर **'मध्यशक्ति'** के प्रबोधन के साथ **'ऊर्ध्वशक्ति'** का सहस्रार में निपात करना चाहिए।[१]

(२) **'व्यष्टि पिण्ड'** एवं सच्चिदानन्द परमात्मस्वरूप **'परपिण्ड'** का ज्ञान प्राप्त करके **'परमपद'** (परमात्मा) में उसका सामरस्य करना चाहिए।

'परमपद' का क्या स्वरूप है?

(१) परमपद **द्वैताद्वैतविवर्जित** है।

(२) यह अत्यन्त **स्वानुभवैकगम्य** है। यह **स्वसंवेद्य** है।

(३) यह अत्यन्त भासाभासकमय है।[२]

(४) **यह वह पद है** जहाँ बुद्धि, मन, तत्ववित्, अपरा, कला, ऊहापोह, वाणीगोचरता, वाग्मिता एवं वाणी की पहुँच नहीं है तथा जो स्वसंवेद्य एवं अनिर्वाच्य है और जो गुरु द्वारा भी वर्ण्य नहीं है।[३]

(५) यह निरुपाधिक है और प्रमाणादि साधनों से भी अप्राप्य है।

(६) गुरुचरणैकप्रवण शिष्य पर गुरु की परमकरुणा होने पर ही इसका बोध होना संभव है। यह स्वसंवेद्य मात्र है।[४]

---

१. सि०सि०प० (४)

२. **परमपदमिति** स्वसंवेद्यमत्यन्तभासाभासकमयम्। (५।१)

३. यत्र बुद्धिर्मनोनास्ति तत्त्वविन्नापराकला।
ऊहापोहौ कर्तव्यौ, वाचा तत्र करोति किम्।
वाग्मिनागुरुणा सम्यक् कथं तत्पदमीर्यते।
तस्मादुक्तं शिवेनैव स्वसंवेद्यं परपदपदम्।

४. अतएव नानाविधविचार्यचातुर्यचर्चाविस्मयाङ्गत्वाद् गुरु चरणकृपातत्त्वमात्रेणा, निरूपाधिकत्वेन निर्णेतुं शक्यत्वात् स्वसंवेद्यमेव परमपदं प्रसिद्धमिति सिद्धान्तः। (५।४)

* सन्मार्ग, पाखण्ड मार्ग एवं गुरु *

(१) **सन्मार्ग** = योगमार्ग

(२) **पाखण्ड मार्ग**—योगमार्ग से इतर समस्त साधन-मार्ग

(३) **गुरु** = सन्मार्ग सन्दर्शनशील

'गुरुत्रय सम्यक् सन्मार्ग सन्दर्शनशीलो भवति
सन्मार्गो योगमार्गस्तिदितर: पाखण्ड मार्ग:।।'

—गोरक्षनाथ : सिद्धसिद्धान्तपद्धति (५।४)

आदिनाथ ने कहा है—

'योगमार्गेषु तन्त्रेषु दीक्षितास्तांश्च दूषका:।
तेहि पाखण्डिन: प्रोक्तास्तथा तै: सहवासिन:।।'

गुरुवाद = जिस समय सिद्ध गुरु द्वारा परमपद की प्राप्ति के उपायभूत योगमार्ग के उपदेश से परमात्मबोध कराया जाता है उसी समय स्वसंवेद्य अलख निरञ्जन परमेश्वर का साक्षात्कार हो जाता है। परमपद की प्राप्ति का **गुरुकृपा ही एक मात्र उपाय है**[१] 'गुरु रेवात्र कारणमुच्यते।।'

गुरु और सामरस्य—यही कारण है कि सिद्ध योगी गुरु के **कृपाकटाक्ष** और अपनी योगसाधनासंभूत स्वरूपबोधात्मक स्वसंवेद्यता के द्वारा अपने व्यष्टि शरीर की निरुत्थानानुभूति (व्यष्टि-समष्टि पिण्ड-अभेदता) द्वारा व्यष्टि पिण्ड से परपिण्ड के सामरस्य की अनुभूति करते हैं।[२]

निरुत्थान-प्राप्ति के उपाय—

(१) महासिद्ध योगी स्वस्वरूपानुन्धान के द्वारा (स्व-परपिण्ड की अभेदता द्वारा) **'निजावेश'** का साक्षात्कार करता है अर्थात् साधक परमेश्वर को अपने ही स्वरूप में प्रतिष्ठित देखता है।

(२) **स्वपिण्ड-परपिण्ड की अभेदता की अनुभूति** से परमात्मपिण्ड में **'निजावेश'** (आत्माभिव्यक्ति) का संचार होता है।

(३) **'निजावेश'** के परिणामस्वरूप **'निरुत्थान'** या **'सामरस्य'** का उदय होता है। योगी को **स्वाभिव्यक्तिपूर्वक** यह अनुभूति होती है कि यह **परपिण्ड (परमात्म पिण्ड)** मेरा ही **व्यष्टिपिण्ड** है।

---

१. 'यस्मिन् दर्शिते सति तत् क्षणात् स्वसंवेद्य साक्षात्कार: समुत्पद्यते ततो गुरु रेवात्र कारणमुच्यते।। (सिद्धसिद्धान्त पद्धति ५।६)

२. 'तस्मात् गुरुकटाक्षपातात् स्वसंवेद्यतयाच महासिद्धयोगिभि स्वकीय पिण्डनिरुत्थानानु भवेन समरसं क्रियत इति सिद्धान्त:। (५।७)

(४) सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा की स्वसंवेद्य अनुभूति के चमत्कार से अद्भुत प्रकाश स्वरूप **आत्मबोध** का उदय होता है।

(५) इन व्यापारों से (निरुत्थान, निजावेश एवं सामरस्य से) 'द्वन्द्व' (**स्वपिण्ड एवं परमात्मपिण्ड में भेद दृष्टि)** का अवसान हो जाता है और फिर अखण्ड परमात्म स्वरूप **'परमपद'** का प्रत्यक्षीकरण होता है।

निरुत्थान-प्राप्ति के उपाय[1]

(१) स्वस्वरूपानुसन्धान → (२) निजावेश → (३) निरुत्थान दशा का उदय → (४) परमात्म चमत्कार द्वारा अद्भुत प्रकाश बोध → (५) चैतन्यभासक परात्पर पद

(५) परात्पर पद
(४) अद्भुत प्रकाश प्रबोध
(३) निरुत्थानावस्था का उदय
(२) निजावेश का उदय
(१) स्वस्वरूपानुसन्धान

(६) इस प्रकार हम देखते हैं कि **महासिद्धयोगी गुरुप्रसाद** प्राप्त करके अपने अवधान बल से **स्वपिण्ड एवं परपिण्ड में ऐक्यानुभूति** के द्वारा तत्क्षण **परमपद** की अनुभूति प्राप्त कर लेते हैं।[2]

(७) योगी अपने अनुभव के द्वारा **'व्यष्टिपिण्ड' के साथ 'परपिण्ड' (परमात्मा) का अभेद-ज्ञान** प्राप्त करके अपने व्यष्टि पिण्ड का **'परमपद' से एकीकरण** करते हैं। अपने व्यष्टि पिण्ड की उस परमपद के साथ एकात्मता की

---

१. निरुत्थान प्राप्युपायः कथ्यते—

(१) महासिद्धयोगिनः **स्वस्वरूपतयानुसन्धानेन निजावेशो** भवति। (२) निजावेशान्निः पीडित **निरुत्थानदशामहोदयः** कश्चिज्जायते। (३) ततः **सच्चिदनन्दचमत्काराद्भुताकार प्रकाशप्रबोधो** जायते। (४) प्रबोधाद्खिलमेतद् द्वयाद्वयप्रकटतया **चैतन्यभासकं परात्परपरपदमेव** प्रस्फुटं भवति।। (गोरक्षनाथ : सि०सि०प० ५।८)

२. अतएव महासिद्धयोगिभिः सम्यग् गुरुप्रसादं लब्ध्वावधानबलेनैक्यं भजमानैस्ततक्षणात् परमं पदमेवानुभूयते।। (५।८)

अनुभूति करते हुए योगी अपने पिण्ड को सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा में अभिव्यक्त करके (परपिण्ड के साथ अभेदता की अनुभूति करके) परमपदानुभूति करते हैं।[१]

समरसीकरण—निजपिण्ड परीक्षा (अपने शरीर में भी परमात्मस्वरूप रश्मि रूपआनन्द का विकास) और इस प्रकाशोन्मेष को अपने ही व्यष्टिपिण्ड के भीतर समेट कर परमात्मा से अभिन्नता (अभेद) की अनुभूति करना ही **'समरसकरण' है।**[२]

(८) अपने व्यष्टिपिण्ड के भीतर परमात्मप्रकाश का प्रत्याहरण करने के परिणाम स्वरूप यह शरीर **महाप्रकाश पुञ्ज के रूप में आकार ग्रहण** करता है अर्थात् यह सच्चिदानन्दस्वरूप हो उठता है। इस प्रकार अपने व्यष्टि पिण्ड से परमात्मप्रकाश के प्रत्याहरण-समरसकरण द्वारा सिद्धयोगी देहसिद्धि (चिन्मय स्वानन्द विग्रह) की प्राप्ति से चिरकाल तक अमर रहते हैं।[३]

'पिण्डसिद्ध' का आचार एवं उसकी वेषभूषा—पिण्ड योगी को—

(१) शंखमुद्रा धारण करने के साथ ही केश रोम भी धारण करना चाहिए।

(२) अमरी क्रिया द्वारा सहस्रार स्रवित अमृत का पान करना चाहिए।

(३) एकान्त वास, संध्या जप, भैरव की पूजा, शंखनाद, कौपीन, पादुका, अङ्गवस्त्र, बहिर्वस्त्र, कम्बल, छाता, वेत्र, कमण्डल, भस्मधारण, त्रिपुण्ड्र एवं गुरु वन्दन भी उसके लिए आवश्यक है।

पिण्ड-सिद्धि के कारण योगी को समस्त योग-सिद्धयाँ प्राप्त हो जाती हैं।[४]

योगमार्ग की श्रेष्ठता—गोरक्षनाथ जी कहते हैं कि श्रुति एवं स्मृति दोनों में योग से बढ़कर कोई मार्ग बताया ही नहीं गया है अतः योगमार्ग ही श्रेष्ठतम मार्ग है इसी बात को गोरक्षनाथ ने 'योगशतक' में भी कहा है—

---

१. अतएव महासिद्धयोगिभिः सम्यग् गुरुप्रसादं लब्ध्वा...............तदनुभवबलने स्वकीयं सिद्धं सम्यङ् **निजपिण्डं** ज्ञात्वा तमेव परमपद एकीकृत्य तस्मिन् प्रत्यावृत्या रूढैवाभ्यन्तरे स्वपिण्ड सिद्ध्यर्थे महत्वमनुभूयते॥ (सि०सि०प० ५।१०)

(२) निजपिण्डपरीक्षा च स्वस्वरूप-किरणानन्दोन्मेषमात्रं यस्योन्मेषस्य प्रत्याहरणमेव समरसकरणं भवति॥ (५।११)

३. अतएव स्वकीयं पिण्डं महद्रश्मिपुञ्जं स्वेनैवाकारेण प्रतीयमान स्वानुसन्धानेन स्वस्मिन्नुरीकृत्य महासिद्धयोगिनः पिण्डसिद्ध्यर्थं तिष्ठन्तीति प्रसिद्धम् ॥ (५।१२)

४. तेषां पिण्डसिद्धौ सत्यां सर्वसिद्धयः संनिधाना भवन्ति॥ (५।१७)

यस्मिञ्ज्ञाते जगत्सर्वसिद्धं भवति लीलया।
सिद्ध्यः स्वयमायान्ति तस्माज्ज्ञेयं परंपदम् ॥१८॥
परंपदं न वेषेण प्राप्यते परमार्थतः।
देहमूलं हि वेषः स्याल्लोकप्रत्ययहेतुकः॥१९॥

५. योगमार्गात्परो मार्गो नास्ति नास्ति श्रुतौ स्मृतौ।
शास्त्रेष्वन्येषु सर्वेषु शिवेन कथितः पुरा॥ (५।२१)

'द्विजसेवितशाखस्य श्रुतिकल्पतरोः फलम्।
शमनं भवतापस्य योगं भजत सत्तमाः॥' (गो०श०६)

गोरक्षनाथ जी ने यहाँ **'योग'** को 'संहननोपाय' कहा है—

'योगः संहननोपायः ज्ञानसङ्गतियुक्तिषु॥' (५।२२)

योग दो वस्तुओं के सम्मिलन को कहते हैं।

नाथयोगियों का अद्वैतवाद—गोरक्षनाथ जी कहते हैं कि—

(१) पिण्ड-सिद्धि हो जाने पर

(२) अखण्ड ज्ञान प्राप्त्यर्थ (**महासिद्धों के मत में**) शिवतत्त्व रूप **'परमपद'** ही ध्येय एवं उपास्य है।

(३) उस **आत्मस्वरूप अखण्ड शिवतत्त्व** में यह भावना करनी चाहिए कि—''मैं ही शिव हूँ। मुझमें और शिव में पूर्ण तादात्म्य है॥'

(४) परमशिव से अभिन्न जीवात्मा का यथार्थ आत्म स्वरूप **'सहज संयम'** **'सोपान'** एवं **'अद्वैतक्रम'** से लक्षित है—

'तस्मिन्नहं भावे जीवात्मा च सहजसंयम सोपायाद्वैतक्रमेणोपलक्ष्यते॥'' (५।१५)

'सहज' 'संयम' 'सोपाय' एवं 'अद्वैत' क्या हैं?

(१) **'सहज'** क्या है?

विश्वातीत परमेश्वर के विषय में यह समझना चाहिए कि **विश्व के रूप में तो वही अवभासित हो रहा है और वही** अद्वैततत्त्व एकात्मक है और मैं भी उसके एकीभूत (अभिन्न) हूँ। इस प्रकार का स्वस्वभावज जो ज्ञान है वही **'सहज'** है।

(२) **'संयम'** क्या है?

अपने विषय-ग्रहण में निरन्तर संलग्न इन्द्रियों को विषयाभिमुख होने से निरुद्ध करके उन्हें आत्मा में लगाना ही **'संयम'** है।

(३) **'सोपाय'** क्या है?

'मैं स्वयमेव स्वप्रकाश स्वरूप परमात्मा हूँ'—इस प्रकार अपनी परमात्मा के

---

१. **'सहज'**—तत्र सहजमिति विश्वातीतं परमेश्वरं विश्वं रूपेणावभासमानमिति ज्ञात्वै कमेवास्तीति स्वस्वभावेन यज्ज्ञानं तत्सहजं प्रसिद्धम् ॥ (सि०सि०प० ५।२६)

२. **'संयम'**—संयम इति सावधानानां प्रस्फुरदव्यापाराणां निज वर्तिनां संयमं कृत्वाऽऽत्मनि धीयत इति संयमः॥ (२७।

३. **'सोपाय'**—'सोपायमिति स्वयमेव प्रकाशमयं स्वेनैव स्वात्मन्येकीकृत्य सदा तत्त्वेन स्थातव्यम् ॥ (५।२८)

साथ तत्त्वत: अभिन्नता मानते हुए आत्मस्वरूप में संलीन रहना चाहिए। जिस ज्ञान से इस अखण्डस्वरूपता का बोध होता है, वही **'सोपायज्ञान'** है।

(४) **'अद्वैत'** क्या है?

योगी कुछ किये बिना ही नित्यतृप्त, निर्विकल्प, एवं निरुत्थानदशावस्थित रहता है। उसकी यह अवस्था ही अद्वैत है।

(५) जीवात्मा और परमात्मा में पूर्ण अभेद है—इत्याकारक ज्ञान ही **'सहज'** है। इन्द्रियों के सहित मन को निगृहीत करके आत्मा में संलग्न रखना ही **संयम** है। अपने सत्स्वरूप में विश्रान्ति ही **सोपाय** है। अद्वैतस्वरूप ही 'परमपद' है

'सहजं' स्वात्मसंवित्तिः, **'संयमः'** स्वस्वनिग्रहः।
सोपायं स्वस्वविश्रान्ति**रद्वैतं परमं पदम्** ।।' (५।३०)

सद्गुरु का सर्वोच्च स्थान—गोरक्षनाथ कहते हैं कि चाहे करोड़ों शास्त्रों का अध्ययन कर लिया जाय, चाहे विज्ञान, तर्क, आचार, वेद, वेदान्त, तत्त्वमसि 'सोऽहं हंस: जप', जीवात्मा-परमात्मा में एकात्म्य, ध्यान एवं जप आदि में कितना भी कौशल, सिद्धि एवं विज्ञता प्राप्त कर ली जाय किन्तु—

'असाध्या: सिद्ध्य: सर्वा: सद्गुरो: करुणां विना।
अतस्तु गुरुरासेव्य: सत्यमीश्वरभाषितम्।।३५।।'[२]

सद्गुरुशरणागत योगी के योग साफल्य के क्रमिक-सोपान

	वर्ष
खेचरत्व	सातवें वर्ष
शस्त्रादि से अप्रभावित	छठवें वर्ष
वाक्‌सिद्धि	पाँचवें वर्ष
शीतोष्ण आदि द्वन्द्वों से मुक्ति	चौथे वर्ष
देहसिद्धि। दिव्यतेज	तीसरे वर्ष
कृतार्थता। सर्वभाषण	दूसरे वर्ष
मलादि दोषों से निर्मुक्त एवं निरोग	पहले वर्ष

	वर्ष
शिव एव भैरव की समतुल्यता	१२वें वर्ष
सर्वज्ञता सर्वसिद्धि प्राप्ति	११वें वर्ष
वायुगति	१०वें वर्ष
शरीर का वज्री करण	९ वें वर्ष
अणिमादिक सिद्धयाँ प्राप्ति	आठवें वर्ष

---

१. **'अद्वैत'**—अद्वैतमित्यकर्तृतयैव योगी नित्यतृप्तो निर्विकल्प: सदा निरुत्थानत्वेन तिष्ठति। (५।२९)

२. सिद्धसिद्धान्तपद्धति (५।३१-३५)

यथाक्रम इस प्रकार सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं—

(१) एवं द्वादशवर्षेऽस्तु सिद्धयोगी महाबलः।
जायते सद्गुरोः पादप्रभावन्नात्रसंशयः।।[१]

(२) अनुवुभूषित योनिजविश्रमं स गुरुपादसरोरुहमाश्रयेत्।
तदनुसरणात्परमं पदं **समरसीकरणे** न च दूरतः।।[२]

गुरु कुल सन्तान
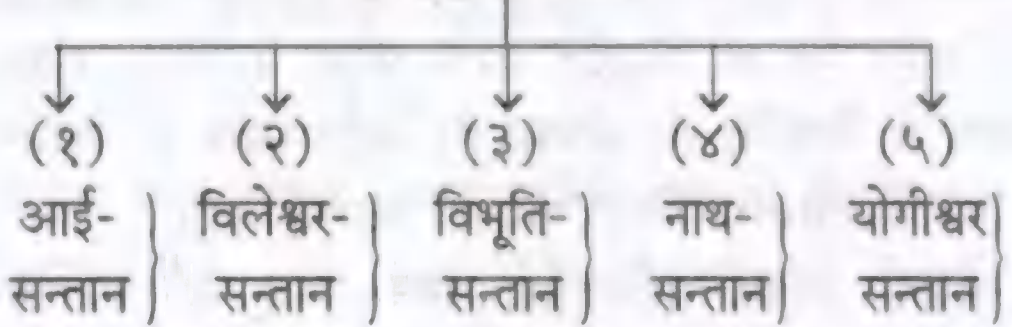
(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
आई-सन्तान	विलेश्वर-सन्तान	विभूति-सन्तान	नाथ-सन्तान	योगीश्वर सन्तान

सारांश—(१) पारमार्थिक दृष्टि से **सारे पदार्थ पाञ्चभौतिक** हैं।

(२) **आत्मा अजन्मा** है।
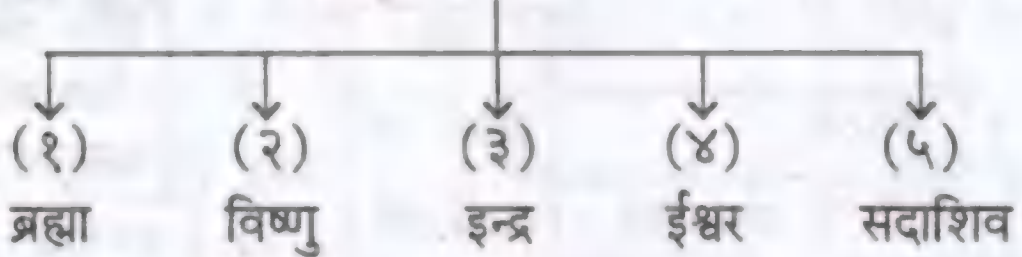
(३) आत्मा सद्ज्ञानस्वरूप शिव है।

(४) शिव से इतर सारे पदार्थ अज्ञान मात्र हैं। अज्ञान प्रकृति है।

(५) शिव मात्र ही ज्ञानहै।[३]

गुरु-सन्तान—ये संख्या में ५ हैं।

(शिव की सन्तान) गुरु सन्तान (५ अधिष्ठाता देवता)

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
ब्रह्मा	विष्णु	इन्द्र	ईश्वर	सदाशिव

आदिनाथ शिव ही **परमगुरु** हैं।

गुरु सन्तानों की अवस्थायें

स्थूलावस्था	सूक्ष्मावस्था	कारणावस्था	तुर्यावस्था	तुर्यातीतावस्था
(ब्रह्मा)	(विष्णु)	(रुद्र)	(ईश्वर)	(सदाशिव)

---

१. सि०सि०प० (५।४४)

२. तत्रैव (५।४५)

३. परमार्थतः **सर्वपाञ्चभौतिकं न जाताः पुरुषाः** सम्बोध मात्रैकरूपः **शिव-स्तदितरत्सर्वमज्ञानमव्यक्तं** भवति तत्र **शिवस्तु** ज्ञानम् ।। (सि०सि०प० ५।४७)

'ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च
ईश्वरश्च सदाशिवः।
एताश्च देवताः प्रोक्ता,
सन्तानानां क्रमेण तु।।''[१]

गुरु का महत्व—गोरक्षनाथ कहते हैं कि गुरु से अधिक कोई है ही नहीं।[२] गुरु (१) अपने कथन (२) शक्तिपाद (३) अवलोकन एवं (४) प्रसाद से शिष्य को 'परमपद' प्राप्त करा देता है।

'कथनाच्छक्तिपाताद्वा यद्वापादाव लोकनात्।
प्रसादात्स्वगुरोः सम्यक् प्राप्यते परमं पदम्।।' (५।६५)

योगी को चाहिए कि वह—

(१) सम्यक निजविश्रान्तिकारक महायोगी **सद्गुरु की सेवा** करे।

(२) सम्यक रूप से सावधान होकर **परमपद का ज्ञान** प्राप्त करे।

(३) फिर अपने व्यष्टिपिण्ड में **समरसभाव** या परमपद रूप में अपने **व्यष्टि पिण्ड में व्याप्त आत्मा का सामरस्य या** ऐक्य स्थापित करे।

(४) अद्वैत स्वरूप में परमात्मा में स्थित होकर परमपद में स्वरूपावस्था प्रतिष्ठित करे।।

'परमपद' की प्राप्ति—यह विधि, शौच, पुण्य, विज्ञान, वैराग्य, नैराश्य, अनाहार, प्राणधारण, मुद्राधारण, विरक्ति, कायक्लेश, देवार्चन, भक्ति, षडदर्शन, मुण्डन, जप, तप, अनन्त उपाय, ध्यान, यज्ञ एवं तीर्थ सेवन आदि से संभव नहीं है। यह केवल गुरुकृपा-प्राय है।[३] ये सारे साधन देहसाध्य हैं। इनमें आसक्ति त्याज्य है। साधक केवल **'परमपद'** (आत्मस्वरूप) में ही स्थिर रहते हैं।[४]

---

१. स्थूल-सूक्ष्म-कारण-तुर्य-तुर्यातीतमिति पञ्चावस्थाः क्रमेण लक्ष्यन्ते। एतेषामपि सर्वेषां विज्ञाता यः स योगी **सिद्धपुरुषः** स योगीश्वरेश्वर इति पररहस्यं प्रकाशितम् ।। (५।५५)

२. न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं।
शिवशासनतः शिवशासनतः शिवशासनतः शिवशासनतः।। (५।६६)

३. अतएव सम्यग् निजविश्रान्तिकारकं महासिद्धयोगिनं सद्गुरुं सेवयित्वा सम्यक् सावधानेन **परमंपदं** सम्पाद्य तस्मि**न्निजपिण्डे** च **समरसभावं** कृत्वात्यन्त**निरुत्थानेन** सर्वानन्दत्वे निश्चलं स्थातव्यं ततः स्वयमेव महासिद्धो भवतीति सत्यम् ।। (५।५६)

४. न जपान्न तपो ध्यानान्न यज्ञतीर्थ सेवनात् । नानन्तोपायत्नेन प्राप्यते परमं पदम् ।। (५।६२)

* द्वितीय भाग (ग) *

कौल ज्ञान निर्णयः—एक सिंहावलोकन

साधना-पक्ष

(आचार-मीमांसा)

कौलमार्ग की सम्प्रदाय परम्परा—

महाकौलात् सिद्धकौलंसिद्धकौलात् मत्स्यादरम् ।
चतुर्युगविभागेन अवतारश्चोदितं मया ।
ज्ञानादौ निर्णीतिः कौलं द्वितीये महत् संज्ञितम् ।
तृतीये सिद्धामृतन्नाम कलौ मत्स्योदरं प्रिये । (कौ.ज्ञा.नि.)

कौलमार्ग की श्रेष्ठता—

सर्वेभ्यश्चोत्तमा वेदा वेदेभ्यो वैष्णवं परम् ।
वैष्णवादुत्तमं शैवं शैवाद्दक्षिणमुत्तमम् ।।
दक्षिणादुत्तमं वामं वामात् सिद्धान्तमुत्तमम् ।
सिद्धान्तादुत्तमं कौलं कौलात् परतरं नहि ।।
मथित्वा ज्ञानमन्थेन वेदागम-महार्णवम् ।
सर्वज्ञेन मया देवि! कुलधर्मः समुद्धृतः ।
प्रविशन्ति यथा नद्यः समुद्रं ऋजुवक्रगाः ।
तथैव विविधा धर्माः प्रविष्टाः कुलमेव हि ।।
यथा हस्तिपदे लीनं सर्वप्राणिपदं भवेत् ।
दर्शनानि च सर्वाणि कुल एव तथा प्रिये ।।
पुराकृत तपोदान यज्ञ तीर्थ जप व्रतैः ।
क्षीणाञ्जसां नृणां देवि! कुलज्ञानं प्रकाशते ।
चतुर्वेदी कुलाज्ञानी श्वपचादधमः प्रिये ।
श्वपचोऽपि कुलज्ञानी ब्राह्मणादतिरिच्यते ।।
बहुनात्र किमुक्तेन सर्वसारं शृणु प्रिये ।
जीवन्मुक्तिसुखोपायं कुलशास्त्रेषु गोपितम् ।।

योगिनीकौल और कौलज्ञाननिर्णय—

'ये चास्मान्निर्गता देवि! वर्णायिष्यामितेऽखिलम् ।
एतस्माद् योगिनी कौलान्नाम्ना ज्ञानस्य निर्णीतौ ।—कौ.ज्ञा.नि.

(१) यथार्थ पूजा और उसका स्वरूप

पुष्पादिक बाह्योपचारों से अनुष्ठित या निष्पादित पूजा-व्यापार यथार्थतः पूजा नहीं है क्योंकि यथार्थ पूजा तो इस प्रकार है—

'पूजा नाम न पुष्पाद्यैर्या मतिः क्रियते दृढा ।
निर्विकल्पे परे व्योम्नि सा पूजा ह्यादराल्लयः ।।[१]

निर्विकल्प 'परचिदाकाश' (परमव्योम) में (जिसमें निःशेष विश्व व्याप्त है) में श्रद्धाभक्ति पूर्वक लयीभूत हो जाना ही पूजा है ।

सभी जागतिक पदार्थों में अद्वय दृष्टि ही, (उन सब की परम महिमा-मय स्वात्म-स्वरूप में चरम प्रतिष्ठा) परा पूजा है ।

(१) सङ्केतपद्धतिकार की दृष्टि—सङ्केत पद्धति में कहा गया है—

'न पूजा बाह्य पुष्पादि अर्व्यैर्या प्रथिताऽनिशम् ।
स्वे महिम्न्यद्वये धाम्नि सा पूजा या परा स्थितिः।।

(२) अभिनवगुप्तपादाचार्य की दृष्टि—अभिनवगुप्त कहते हैं—रूप, रस आदि विभिन्न बाह्य भाव पदार्थों की देश, काल आदि से अपरिच्छिन्न, निरूपाधिक, स्वतन्त्र, स्वच्छ भैरवाकार परसंवित् से (बोधभैरव से) अभेदरूप में प्रातिष्ठा ही 'पूजा' है—

पूजा नाम विभिन्नस्यभावौघस्यापि सङ्गतिः ।
स्वतन्त्रं विमलानन्त भैरवीय चिदात्मना ।।[२]

(३) भट्टउत्पल की दृष्टि—भट्ट उत्पल कहते हैं कि उच्चार, करण, ध्यान आदि प्रयत्न साध्य 'आणव' आदि उपायों के आश्रय से निष्पादित बाह्य-पूजा पूजा नहीं है अतः उसका परित्याग करके 'अनुपाय' प्रक्रिया से सहज विधि द्वारा प्रतिपादित— निष्पादित स्वात्मस्वरूप बोधभैरव का साक्षात्कार ही भक्तों की पूजा विधि है—

'ध्यानायास तिरस्कार सिद्धस्त्वत्स्पर्शनोत्सवः ।
पूजा विधिरिति ख्यातो भक्तानां स सदाऽस्तु मे ।।[३]

इस पूजा में ध्यान का स्वरूप इस प्रकार है—

'ध्यानं हिनिश्चला बुद्धिर्निराकारा निराश्रया ।
न तु ध्यानं शरीराक्षिमुखहस्तादिकल्पना।।[४]

(२) पूजा की पद्धति (The mode of Worship)

मत्स्येन्द्रनाथ ने पूजा या अर्चा-विधान में आडम्बर, बाह्य प्रदर्शन, बाह्योपचार, वहिर्भूतता एवं स्थूलता को अस्पृहणीय मानकर मानसी पूजा, प्रतीकोपासना एवं परापूजा

---

१. विज्ञानभैरव (१४४)
२. तन्त्रालोक (४।१२१)
३. शिव स्तोत्रावली (१७।४)
४. विज्ञानभैरव (१४३)

को विशेष महत्व दिया। उन्होंने दशोपचारों को माना तो किन्तु उनकी स्थूलता को अस्वीकार करते हुए कहा—

अर्चयेन्मानसे: पुष्पै: सुगन्धैर्धूपदीपितै: ।
अहिंसा प्रथमं पुष्पं द्वितीयेन्द्रियनिग्रहम् ।
तृतीयन्तु दया पुष्पम्भावपुष्पश्चतुर्थकम् ।
पञ्चमन्तु क्षमा पुष्पं षष्ठ क्रोधविनिर्जितम् ।
सप्तमं ध्यान पुष्पन्तु ज्ञानपुष्पन्तु अष्टमम् ॥[1]

इसके समतुल्य विचार 'महानिर्वाणतन्त्र, गन्धर्वतन्त्र, श्यामारहस्य, तारारहस्य' आदि में भी व्यक्त किये गए हैं।

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं कि जो भी साधक (या व्यक्ति) प्रापञ्चिक मार्ग आत्मीकृत करके अध्यात्ममार्ग में अग्रसर होना चाहता है वह यौगिक सिद्धियाँ एवं मुक्ति दोनों नहीं प्राप्त कर सकता। कुलमार्ग का साधक वही है जो कि अपनी समस्त एषणाओं, इच्छाओं एवं तृष्णाओं को दूर कर सकता हो। जो इनके दास हैं वे 'पशु' हैं—

'देहस्था वासना यस्य तस्यैवांशो कुलागमे ।
बहिस्था वासना यस्य स: पशुरङ्गरञ्जिजत: ॥[2]

साधक को साधना के मार्ग में काम, क्रोध, दम्भ, लोभ आदि सभी का त्याग कर देना चाहिए—

'कामक्रोधश्च दम्भश्च त्यजेल्लोभंशनै: शनै: ॥[3]

जो अठारह प्रकार के 'लोकशास्त्र' हैं वे सत्यगर्भित नहीं है अत: उनका भी त्याग कर देना चाहिए—

'अष्टादश लोकशास्त्राणि श्चाध्यात्मिकास्तथा ।
तैस्तु यत् पूजितं देवि! मनसापि न पूजयेत् ॥[4]

सांसारिक इच्छाओं को तिलाञ्जलि देना साधना की अपरिहार्य शर्त है।

उपर्युक्त नियमों का पालन करते हुए भी साधकों एवं कौलों को (१) मांस खाना चाहिए (२) सुरा पान करना चाहिए, (३) देवी, देवताओं, इष्टदेव तथा योगिनियों को मांस एवं सुरा अर्पित करनी चाहिये—

(१) 'पूजयेत् योगिनीवृन्दं भक्ष्यभेज्यादिभि: प्रिये ॥' (१८।११)

(२) 'धारापानन्त: कुर्याद यदीच्छेच्चिरजीवितुम् ॥
पिशितं त्रिविधं कुर्यात् पक्षाम्लमधुरन्तथा ॥ (१९।११)

(३) 'देवतातर्पणार्थाय सुरा देया यथोचिता ।
वृक्षजा मूलजा चैव पुष्पजा फलजापि वा । (२०।११)

(४) 'पेष्टी माध्वी तथा गौण्डी दद्यान्नैमित्तिके प्रिये ॥ (२१।११)

'परशुरामकल्पसूत्र' में भी पञ्चमकारों की सहायता से पूजा सम्पन्न करने का विधान प्रस्तुत किया गया है—

'तस्याभिव्यञ्जकाः पञ्चमकाराः । तैरर्चनं गुप्त्या प्राकट्यान्निरय ॥' (१.१२।१) (परशुरामकल्पसूत्र) ।

अतः स्पष्ट है कि पञ्चमकारों का प्रयोग (कौलसम्प्रदाय एवं कौल साधना में) अत्यन्त प्राचीन काल से (त्रेतायुग के पूर्व से ही) चलता चला आ रहा था । परशुराम त्रेता युग के थे और उन्होंने पञ्चमकारों का साधनात्मक प्रयोग अपनी किसी पूर्व परम्परा से स्वीकार किया होगा । स्वयं यह ग्रन्थ (प.क.सू.) किसी अत्यन्त वृहत्काय ग्रन्थ का संक्षिप्त रूप है अतः यह स्वयमेव किसी प्राचीन दत्त परम्परा का प्रसाद है । निष्कर्ष यह है कि कौलधारा में मांस, मदिरा, मीन, मुद्रा, मैथुन (पञ्चमकार) अत्यन्त प्राचीन काल से स्वीकार्य रहे हैं ।

मत्स्येन्द्रनाथ मुख्यतः बाह्यपूजा के विरोधी हैं इसीलिए वे कहते हैं—'पूजनं कथितं भद्रे । भुक्तिमुक्तिप्रसाधकम् ।' किन्तु—'ध्यायेत्तां सततं वीरा बहिः पूजां विवर्जयेत् ॥'[1]

आदर्शपूजा का स्वरूप क्या है?—'विज्ञानभैरव' में आदर्शपूजा के स्वरूप का उद्घाटन करते हुए कहा गया है कि—

पूजा नाम न पुष्पाद्यैर्या मतिः क्रियते दृढा ।
निर्विकल्पे परे व्याम्नि सा पूजा ह्यादराल्लयः ॥—विज्ञानभैरव (१४४)

अर्थात् पुष्पादिक उपचारों द्वारा जिसे पूजा का स्वरूप गठित किया गया है उन पुष्पादिक उपचारों से गठित व्यापार को पूजा नहीं कहते ।

निर्विकल्पक परम व्योम में लय हो जाना ही पूजा है ।

(३) मत्स्येन्द्रनाथ की एक आदर्श साधक की सङ्कल्पना

मत्स्येन्द्रनाथ शरीर को हेय नहीं ब्रह्माण्ड का संक्षिप्त रूप मानते हैं । वे (मत्स्येन्द्रनाथ) परवर्ती कबीर की इस दृष्टि में कि—'पानी केरा बुलबुला अस मानुस की जात'—में विश्वास नहीं करते प्रत्युत् वे कहते हैं—'सुशूरः सुभगो नित्यं स्वदेहप्रत्ययान्वित ।'

शिवसंहिताकार का कथन है—**'ब्रह्माण्डसंज्ञके देहे'** (शि.सं. २०।१९)

मत्स्येन्द्रनाथ की दृष्टि—

परमाणुमुच्यते नाथो स शिवो व्यापकः परः ।
स जीवः परतरो यस्तु सः हंसः शक्तिपुद्गलः ।
....यान्ति जीवो निरञ्जनम् ।
स शिवो व्यापको भूत्वा कर्ता हर्त्ता वरानने ।
आत्मानं च परं वेत्ति वेत्तीत्येवं चराचरम् ॥ (कौ.ज्ञा.नि. २९)

(१) मत्स्येन्द्रनाथ उसे आदर्श साधक मानते थे जो निश्चल भावाभावविवर्जित, धारणाध्येयरहित, सर्वतोदित एवं सर्वज्ञ सहज तत्त्व प्राप्त कर चुका हो ।

१. कौ.ज्ञा.नि. (२३।१६)

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

हृदिस्थं निश्चलीभूतं कुम्भमध्ये जलं यथा ।
मृणलतन्तुसदृशं भावाभाव विवर्जितम् ।
रमते सहजं तत्त्वं यथात्मनि तथापरे ॥ (१७।१९-२०)

(२) जो अद्वैत निष्ठ हों—'अद्वैतं तं यथाख्यातं कर्तव्यं नान्यथा न हि ॥

'ज्ञानविज्ञान'—सम्पन्नः अद्वैताचारभावितः । (११।२१)

अद्वैते नित्ययुक्तस्य तस्य सिद्धिः प्रजायते ।
द्वैतभावं परित्यज्य अद्वैताचारभावितः ।
द्वैतन्तु कारयेद्यस्तु आकृष्टे योगिभिस्तु सः ।
समयाद् भ्रष्टन्तु यो देवि! स पशुर्नात्र संशयः । (११।३-४)

(३) जो 'योगिनीमेलकत्व' की सिद्धि प्राप्त कर चुका हो —

मत्स्येन्द्र कहते हैं—

अष्टाष्टकं विधानेन चतुःषष्टियथाक्रमम् ।
योगिनीमेलकं चक्रं अणिमादिगुणाष्टकम् ॥
भवत्येवं न सन्देहो ध्यानपूजारतस्य च ॥ (३८।२३)

(४) जो वृद्ध होने पर भी तारुण्य (यौवन) प्राप्त कर चुका हो—

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

खद्योतितगतादूर्द्ध्वं ब्रह्मरन्ध्रं लयं गताः ।
षण्मासासेवनाभ्यस्तात्वृद्धोऽपि तरुणायते ॥
भवते नात्र सन्देहः कामदेवद्वितीयकः ॥ (७।१४)

(५) जो जनवात्सल्य, रुजविनाश, कवित्व, वाचकामित्व (दूर व्यवस्था), दूर श्रवण, भूमित्याग (आकाशयात्रा) योगिनी मेलकत्व तथा जरात्यय की सामर्थ्य हस्तगत कर चुका हो—(कौ.ज्ञा.नि. ७।१९-२२)

(६) जो यह अनुभव करता हो कि मनुष्य की योनि धारण करके स्वयं शिव ही जीव बनकर जागतिक अभिनय कर रहा है—

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

मानुष्यं पिण्डमासृत्य स शिवः क्रीडते भुवि ॥ (१७।३८)

(७) जो समाधिस्थ हो—

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

तावत् समाधिमायातिस्तोभावेशादिलक्षणम् । (१४।३८)

(८) जो मृत्युञ्जय हो, अक्षय हो और अमर हो—

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

'न मृत्युर्भवते तस्य अक्षयो ह्यमरद्युतिः । (१४।४५)

(९) जो जरा व्याधि वली पलित से विवर्जित और विनिर्मुक्त हो—
मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

'जरा व्याधिविनिर्मुक्तं वलीपलितवर्जितम् । (१४।४६)

(१०) जो क्रुद्ध होने पर समस्त त्रिलोक को क्षुब्ध कर सकता हो—
मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

क्रुद्धन्तु चालयेद्देवि! त्रैलोक्यसचराचरम् । (१४।४६)

(११) जो ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र के तुल्य हो—
मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

'न ब्रह्मा न च वाविष्णुर्न रुद्रा रुद्र एव च।
यादृशो भवते सिद्धिस्तताभ्यास एव च ।। (१४।४७)

(१२) जो ऊर्ध्वरेता योगी हो—
मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

'अणिमा लघिमा देवि! ऊर्धरेतःप्रवर्तनम् ।
ऊर्धरेता भवेद योगी न योगी करत प्रिये ।। (१४।५७)

(१३) जो पिण्ड में ब्रह्माण्ड देखता हो (पिण्डब्रह्माण्डैक्यवाद)—
मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

'स्वर्गद्यासोमराजानं देहमध्ये वरानने ।
गन्धर्वाः किन्नरा यक्षा नागा विद्याधराः प्रिये ।।
विमानकोटिसत्तानाः सर्वाभरणभूषिताः ।
नक्षत्रतारकोपेतं ब्रह्माण्ड परिघट्टितम् ।।
पश्यते देहमध्यस्थं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।।' (१४।६३-६४)

(१४) जो 'ब्रह्मरन्ध्र' के मध्य निवास करता हो—
मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

ललाटवर्णराशिस्थं ब्रह्मरन्ध्रस्य मध्यतः ।
अभ्यासात् सततं वीर! ग्रामधर्मंच वर्जयेत् ।।

(१५) जो जगत् का स्रष्टाः, संहर्ता हो एवं जरामरण से निर्मुक्त हो—
मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

सृष्टिसंहारकर्तारो भवत्येव न संशयः ।
जरामरणनिर्मुक्तो नित्यं वै योगिनीप्रिये ।। (१४।७३)

(१६) जो साधना में ध्यान को सर्वाधिक महत्व देता हो—

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

'मनोलिङ्गं सदा ध्यायेद यां यां फलसमीकृते ।
तां लभन्ते न सन्देहो आत्मसम्मिवत्तिपूर्वकम् ॥ (कौ.ज्ञा.नि. ३।२८)

(१७) जो देह का परित्याग करते ही शिव बन जाता है—

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

'देहस्थतिष्ठते यावत्तावज्जीवाऽपि गीतये ।
स देहत्यक्त मात्रेण परं शिवो निगद्यते ॥

(१८) जो रसना द्वारा तालुमूल से अमृत पीता हो—

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

'रसनातालुमूले तु कृत्वा वायु निवेच्छनैः ।
षडमासादभ्यसेद्देवि महारोगैः प्रमुच्यते ॥ (६।१९)

(१९) जो दूरश्रवण, वाचासिद्धि, अमरत्व, मृत्युध्वंस से सम्पन्न हो—

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

'दूराश्रवणविज्ञानं पाशस्तोभन्तथा प्रिये ।
पशुग्रहणमावेशं मृत्युनाशन्तथैव च ॥ (१०।११)

(२०) जो अतीत अनागत वर्तमान का ज्ञाता हो—

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

'अतीतानागतञ्चैव वर्तमानन्तथैव च ॥ (१०।११)

(२१) जो मारण, उच्चाटन, स्तम्भन आदि सिद्धियाँ प्राप्त कर चुका हो—

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

'मारणोच्चाटनं भद्रे स्तम्भमोहादिकं प्रिये । (८।४३)

(२२) जो सचराचर विश्व को परप्रमाता अनुभव करता हो—

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

'आत्मानं च परंवेत्ति वेत्तीत्येवं चराचरम् ॥ (२०३)

(२३) जो संसार के बन्धन से मुक्त हो चुका हो—

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

'स्तोमावेशादिकं चक्रं संसारबन्धमोचकम् ।
दूराच्च दर्शन तस्मिन पूजाध्यानरतस्य तु ॥ (८।४२)

(२४) जो 'परकायाप्रवेश' की सिद्धि प्राप्त कर चुका हो और देशदेशान्तर की यात्रा

करने की सामर्थ्य सिद्धि द्वारा कर सकता हो—[१]

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

'तृतीयन्तु महाचक्रं परकायप्रवेशनम् ।
अतीतानागतश्चैव अभ्यासाद्भवते प्रिये ॥
लभत्येव न सन्देहोविविधं यत् समीहितम् ॥ (८।३५)

(२५) जो भोग एवं मोक्ष एक साथ प्राप्त करने की सामर्थ्य रखता हो—

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

'चतुर्थं शान्ति चक्रं भुक्तिमुक्तिप्रदं शुभम् ।
पूजयित्वा इमं चक्रं यावद् ध्यानं प्रयुज्जति ॥ (८।३६)

वह मानव जो मच्छर के काटने से भी मर जाता है मत्स्येन्द्र को प्रिय नहीं है । उन्हें वह मानव प्रिय है जो तक्षक नाग के काटने से भी नहीं मरता । उन्हें वह मानव प्रिय है जो—

(२६) जो 'उन्मत्त' हो चुका हो—

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

'मनस्य उन्मनीभावो यदा भवति सुन्दरि ।

(क) शून्यशून्यमनः कृत्वा निश्चिन्तो निश्चलस्थितिः ॥ (१४।८४)

(ख) हृदिस्थश्च मनः कृत्वा यावदुन्मतां गतः ॥ (६।२७)

(त्रिक योग में आदर्श की कल्पना है—**'अहमस्मि' 'अहमिदम्' एवं 'इदमहम्'** । मत्स्येन्द्रनाथ ने सुस्पष्ट रूप से इस वैश्वात्मभाव एवं पूर्णाहन्ता की दृष्टि का प्रतिपादन तो नहीं किया किन्तु वे साधना की चरम भूमि 'उन्मना' को अवश्य वर्णित करते हैं ।)

(२७) जो 'नाद' में लयीभूत होकर अपने को खो चुका हो—

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

'भेरिशङ्खमृदङ्गश्च वीणावंशानिनादितैः ।
ताड्यमान्नबोध्यते जीवस्तल्लयतां गताः ॥ (१४।८५)

(२८) जो 'वज्रदेह', 'निर्मलदेह' या 'साध्यदेह' प्राप्त कर चुका हो—

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

(क) 'समचित्तं सदालीनंमस्थिचक्रं सुलोचने ।

वज्रवत्तिष्ठत देहं संहारन्तु न हि प्रिये ॥ (१५।२५)

(ख) 'अद्य में निर्मलं देहं त्वत्प्रसादेन भैरव । (४।१)

१. कौ.ज्ञा.नि. (२०)
अब्दमनेकं देवेशि! देशदेशान्तरं व्रजेत् ।
परदेह प्रवेशं स्यादभ्यासं वर्णितं तव ॥ (२०।८)

(ग) साध्यदेहगतश्चिन्त्य निमेषार्द्धस्तुभ्यते पशुः ।
साधकः साध्यदेहे तु पशुदेहे तु हृदगतम् ॥ (४।९;७)

(२९) जो जरामरण-रहित, व्याधिशून्य, स्वतन्त्र, स्वच्छन्दगति एवं शिवतुल्य हो—

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

न जरामरणान्तस्य व्याधिगात्र विद्यते ।
स्वातन्त्रः शिवतुल्यस्तु स्वच्छन्दगति चेष्टितः ॥ (५।२४)

(३०) जो आदर्श मानव की आदर्शपूजा का निष्पादन करता हो—यदि वह पूजा करता है तो उसके लिए अहिंसा प्रथम पुष्प है । इन्द्रियनिग्रह द्वितीय पुष्प है, दया तृतीय पुष्प है, भाव चतुर्थ पुष्प है, क्षमा पञ्चम पुष्प है, क्रोध त्याग छठवाँ पुष्प है, ध्यान सातवाँ पुष्प है और ज्ञान आठवाँ पुष्प है । **मत्स्येन्द्रनाथ** कहते हैं कि इस 'पुष्पविधि' को जानकर * 'मानसलिङ्ग' की अर्चना करनी चाहिए । (३।२५-२७)

'मानसलिङ्ग' की 'मानसीपूजा' में मानसी पुष्प, मानसी गन्ध, मानसी धूप एवं मानसी द्वीप ही उचित है—

'अर्चयेन्मानसैः पुष्पैः सुगन्धैर्धूपदीपितैः । (३।२४)

इस मनोलिङ्ग का निरन्तर ध्यान करना चाहिए और वह भी आत्मसंवित्तिपूर्वक । (कौ.ज्ञा.नि ३।२८)

(३१) जो विश्व को शिव की अभिनय, लीला या क्रीडा मानकर जीवन व्यतीत करता हो । (क्रीड़ावाद)

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

मानुष्य पिण्डमासृत्य स शिवः क्रीडते भुवि । (१७।३८)

(३२) जो पूजा के धरातल पर बाह्यपूजा को निषिद्ध मानता हो—
ध्यायेत्तां सततं वीरा बहिःपूजा विवर्जयेत् ।[१]

* (३३) जो नारी द्वारा अपमानित होकर भी उसका अनादर न करता हो प्रत्युत् सदैव, सर्वत्र एवं सभी स्थितियों में उसे शक्ति का अवतार मानकर उसकी पूजा करता हो—

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

'कोपन्तु नैव कर्तव्य भाषमाणं सुराधिपे ।
कुमारिका स्त्रियो वापि भाषमाणो कदाचन ।
यथाशक्त्या सदा कालं स्त्री चैव व्रतमास्थितम् ।
पूजनीया प्रयत्नेन कुमार्यश्च कुलाश्रितैः ॥[२]

१. कौलज्ञाननिर्णय (२३।१६)
२. कौलज्ञाननिर्णय (२३।११)

(३४) जो समस्त जीवों के प्रति दयान्वित, समस्त लोकों का प्रिय, गुप्तलिङ्गी एवं समस्त कालों में गुरु पूजा निरत हो—

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

'गुप्तलिङ्गी सदाकालं गुरुपूजनतत्परः ।
वत्सलः सर्वलोकानां सर्वजीवदयान्वितः ॥ (२२।६)

(३५) जो पिण्डस्थ एवं श्रीचक्रस्थ चक्रों का अभ्यासी एवं उसमें सिद्धि प्राप्त कर चुका हो—

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

'गुदोर्ध्वं पीडयेन्नाथ हृदि कण्ठादिकं प्रिये ॥ (२०।१)
अनामापीडयेदूर्ध्वं नाभिश्च हृदयन्तथा ॥ (२०।५)

(३६) जो द्वादशान्त में आसीन हो—

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

'कृत्वा प्रेतासनं दिव्यं द्वादशान्तमनासृतम् ॥ (१७।१४)
अधोद्धर्वे रमते हंसो द्वादशान्ते लयं पुनः । (१७।१८)
गूढं गुह्यं सनाभिश्च हृदि पद्ममधोमुखम् ।
नासाग्रं द्वादशान्तं च भ्रुवोर्मध्ये व्यवस्थितम् ।
ललाटं ब्रह्मरन्ध्रं च शिखरस्थं सुतेजसम् ॥ (१७।३-४)

(३७) जो आत्मा से आत्मा को जानकर (या अपने से अपनी आत्मा को जानकर—अपरोक्षानुभूति द्वारा) आत्मा को बन्धन से मुक्त कर सके—

'आत्मानमात्मनाज्ञात्वा भुक्तिमुक्तिप्रदायकाः ।
प्रथमा तु गुरुर्ह्यात्मा आत्मानं बन्धयेत् पुनः ।
बन्धस्तु मोचयेद् ह्यात्मा आत्मानमात्मनः प्रभुः ॥[1]

(३८) जो महाव्याप्ति की चरमावस्था में स्थित हो और समत्व-योगी हो—

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

'महाव्याप्ति महानिद्रां न शृणोति न पश्यति ।
सुगन्धं पूतिगन्धं वा कर्पूरश्चन्दनादिषु ॥
न गन्धं वेत्ति तत्त्वज्ञो महाव्याप्तिरियं प्रभो ॥ (१७।१७)

(४) गुरु भक्ति और गुरु पूजा

भक्तिमार्ग, ज्ञानमार्ग, योग मार्ग एवं तन्त्रमार्ग सभी मार्गों में गुरुभक्ति को अत्यधिक महत्व दिया गया है। नाथ पंथ में भी यही स्थिति है। **गुरु गोरक्षनाथ** ने कहा था—

गुरु कीजै गहिला, निगुरा न रहिला ।

१. कौलज्ञाननिर्णय (१४।३५) (४)

गुरु बिन ज्ञान न पाइला, रे भाइला ॥

मत्स्येन्द्रनाथ की दृष्टि—योगीराज **मत्स्येन्द्रनाथ** का कथन है कि—(१) साधक को कौलों एवं सिद्धों के साथ भैरव की पूजा करनी चाहिए तथा भावपूर्ण हृदय से तीनों काल में अपने गुरु की पूजा करनी चाहिए—

'भैरवं पूजितव्यञ्च कुलैः सिद्धिसमन्वितम् ।
स्वगुरुं पूजयेन्नित्यं त्रिष्कालं भावितात्मनः ॥[1]
निवेद्य गुरवे मानं गुरुपूजा विशेषतः ॥ (१८।२१)

अर्थात् गुरु को सम्मान एवं नैवेद्यादि समर्पित करके उनकी विशेष पूजा की जानी चाहिए ।

गुरु की पूजा की पद्धति—गुरु की पूजा मनसा-वाचा-कमर्णा करनी चाहिए—

'मनसा कर्मणा वाचा गुरुञ्चैव स्वकं न तु ।
निवेदयेत् प्रयत्नेन भक्तिमुक्तिजिगीषया ॥ (कौ.ज्ञा.नि. १२।८)

गुरुवाद की चरम सीमा—योगी गोरक्षनाथ तो कहते हैं कि (१) वेदान्त की तर्कोक्तियों (२) आगमों (३) शास्त्रसमूहों (४) ध्यानादिकों (५) सत्करणों—आदि किसी से भी चिन्तामणि रूप मुक्ति सम्भव नहीं है केवल गुरु से ही यह प्राप्य है—

'वेदान्तैतर्कोक्तिभिरागमैश्च,
नानाविधै शास्त्रकदम्बकैश्च ।
ध्यानादिभिः सत्करणैर्न गम्यं,
चिन्तामणिं त्वेकगुरुं विहाय ॥ (६६)[2]

कौलज्ञाननिर्णय (१) भैरव की पूजा, (२) सिद्धों की पूजा, (३) गुरु की पूजा, (४) योगिनियों की पूजा, (५) शिवशक्ति की पूजा आदि अनेक पूजनों का विधान करता है ।

उनके कथनानुसार सिद्धपूजन देहस्थ हो । (१) कुलसिद्ध, (२) योगिनियाँ, (३) रुद्र, (४) देवी के चक्र—ये सभी शरीर में ही विद्यमान हैं—'सर्वेहृदिमध्ये शिरेऽपि वा ।'[3]

(५) देवी पूजा और उसकी पद्धति

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं कि—

(१) जया देवी को प्रसन्न कने हेतु 'रक्त' एवं 'शुक्र' का समर्पण करना चाहिए ।

(२) 'रक्त युक्तं समादाय अथवा चित्रजं शुभम् ।'
'ततस्तुष्ट जये देवि क्रमश्चैव समाहितः ।'

(३) अक्षत, शालि आदि द्रव्यों एवं अन्य पदार्थों से ६४ उपचारों के साथ देवी की

१. कौलज्ञाननिर्णय (१२।७)
२. योगबीज (६६)
३. कौलज्ञाननिर्णय (२४।५)

यथाक्रम पूजा की जानी चाहिए—

'अक्षतैः शालिजैर्दिव्यैरन्यैर्वापि सुशोभनैः ।
चतुःषष्टिक्रमयुतैः पूजयेत् तत्क्रमं शुभम् ।

(४) दिव्य सुगन्ध पुष्प आदि एवं विचित्र आभरणों से भी भगवती की पूजा करनी चाहिए। इसके पश्चात् मद्य, मांस, आदि अभक्ष्य, भक्ष्य द्रव्य, घृत, शर्करा आदि से घटों को पूरित करके गुरु को समर्पित करना चाहिए—

'मद्यमांससमायुक्तमभक्ष्यभोज्ययुतं प्रिये ।
घृतखण्डसमायुक्तं शर्करायान्तु पूरयेत् ।
कुम्भादि च वरं दद्यात् सहस्रं वा शतैरपि ।
चतुःषष्टिञ्च सौदर्य अष्टौ च गुणापि । (वा । २०)
निवेद्य गुरवे मानं गुरुपूजा विशेषतः ।
वीरपूजां ततः कृत्वा येन तुष्येत् पुनः पुनः।। २१ ।।[१]

मत्स्येन्द्रनाथ बाह्यपूजा का निषेध भी करते हैं तथापि वे स्थूल पूजा का विधान भी करते हैं—

'बहिस्थं पूजये....... पूजाविधि प्रिये ।
सुगन्धकुन्दकेतक्या मालिका जातिकोत्पलैः ।
चम्पकैः किङ्करातैश्च नीलोत्पल सुगन्धिभिः ।
पुष्पैर्नानाविधैश्चैव शतपत्रैश्च........ ।
तरुजातन्तश्वरा देया द्रव्यापि मधुमिश्रितम् ।
मांसम्पलम्बलिर्देया ताम्बूलं चन्द्रसंयुतम् ।
धूपचन्दनसौरभ्यं अगरुं मृगनाभिकम् ।
रक्तपुष्पैर्विशेषेण सुगन्ध धूपदीपितम् ।
उग्राणि यानि पुष्पाणि गन्धहीनं न दापयेत् ।
बहिस्थं पूजनं प्रोक्तं अध्यात्मं शृणु साम्प्रतम् ।।[२]

(६) योगिनी भक्ति एवं योगिनी पूजा

मत्स्येन्द्रनाथ ने योगिनियों के प्रति भक्ति प्रदर्शित करने एवं उनकी पूजा करने का भी उपदेश दिया है उन्होंने कहा है कि दूध, केशर, घृत आदि से भोज्य पदार्थ निर्मित करके—

'क्षीरखण्डादिमृष्टन्तु घृतपूर्णा सुशोभनम् ।
पार्श्वे तु पूजयेत् सिद्धां योगिनीं गुरुमेव च ।
एककालं द्विकालं वा त्रिकालं पूजयेत् क्रमम् ।
अग्रतः पूजयेन्नित्यं भुञ्जमानाग्रनायिके । (कौ.ज्ञा.नि. १८।४)

* सिद्धा, योगिनी एवं गुरु की प्रतिदिन कई बार पूजा करनी चाहिए—

१. कौलज्ञाननिर्णय (प. १८।२०-२१) २. कौलज्ञाननिर्णय (२४)

'पार्श्वे तु पूजयेत् सिद्धां योगिनीं गुरुमेव च । (कौ.ज्ञा.नि. १८।४)
एककालं द्विकालं वा त्रिष्कालं पूजयेत् क्रमात् ।
अग्रतः पूजयेन्नित्यं भुञ्जमानाग्रनायिके । (कौ.ज्ञा.नि. १८।४)

इसके अतिरिक्त 'ह्रीं' बीज का जप भी करना चाहिए—

'जपेद्बीज परं श्रेष्ठं ह्रींकारं योगिनीप्रियम् । (१८।६)
योगिनीमेलकं ह्यस्मिन् भुक्तिमुक्तिप्रदः सदा । (१८।६)

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं कि ये सारे कुल सिद्ध, योगिनियाँ, रुद्र, देवी चक्र, हृदय एवं मस्तक में स्थित हैं—

'कुलसिद्धाश्च योगिन्यो रुद्राश्चैव कुलाधिपे ।
देव्याश्चक्रगता सर्वे हृदि मध्ये शिरेऽपि वा ॥[1]

पूज्य देवी एवं देवों का स्वरूप (ध्यान)—उनके ध्यान का स्वरूप इस प्रकार है—

'रक्ताम्बरधरा सर्वे रक्तगन्धानुलेपनाः ।
षोडशाकृतयः स.......... विभूषिताः ।
प्रसन्नवदनाश्चैव पिबन्त्यो मदिरासवम् ।
इच्छारूपधराः सर्वे जरामरण वर्जिताः ।
सृष्टिप्रवर्तकाः सर्वे वरदानैकतत्पराः ।
.........दाध्यायेदचिरान्न तत्समो भवेत् ॥[2]

(७) मत्स्येन्द्रनाथोक्त सिद्धगुरु और उनकी पूजा

मत्स्येन्द्रनाथ ने कौ.ज्ञा.नि. के नवम पटल में सिद्ध गुरुओं के नामों का उल्लेख करते हुए उनकी पूजा करने का उपदेश दिया है । वे निम्नाङ्कित है—१. श्रीविश्वपाद, २. श्रीविचित्रपाद, ३. श्रीश्वेतपाद, ४. श्रीभट्टपाद, ५. श्रीमछेन्द्रपाद, ६. श्रीबृहीषपाद, ७. श्रीविन्ध्यपाद, ८. श्रीशबरपाद, ९. श्रीमहेन्द्रपाद, १०. श्रीचन्द्रपाद, ११. श्रीहिडिनिपाद, १२. श्रीसमुद्रपाद, १३. श्रीलवणपाद, १४. श्रीदुम्बरपाद, १५. श्रीदेणेपाद, १६. श्रीधीवरपाद, १७. श्रीसिंहलपाद, १८. श्रीओगिनीपाद, १९. गुरु, परमगुरु, परमेष्ठय, पूज्य, महापूज्य, लाकिनी, डाकिनी, शाकिनी, काकिनी, याकिनी, (कौ.ज्ञा.नि. ६.९)।

कौलज्ञाननिर्णय (पटल ९।८-९) में १६ सिद्धों के विषय में इस प्रकार कहा गया है—

कलियुगे महाघोरे रौरवेऽत्यन्तभीषणे ।
सञ्जाताः षोडश सिद्धाअस्मिन् कौले सुलोचने ।
कृते च द्वापरे त्रेते सिद्धायै वीरवन्दिताः ।
तेषां नामविधिं वक्ष्ये शृणु त्वं वरलोचने ॥

---

१. कौलज्ञाननिर्णय (२४।४)   २. कौलज्ञाननिर्णय (२४।१०-१२)

कुलकौलावतारक पूर्व महासिद्ध

१. मृष्णिपाद २. अवतारपाद ३. सूर्यपाद ४. द्युतिपाद ५. ओमपाद
६. व्याघ्रपाद ७. हरिणिपाद ८. पञ्चशिखिपाद ९. कोमलपाद १०. लम्बोदरपाद

'एते पूर्वमहासिद्धाः कुलकौलावतारकाः ।
चतुर्युगेति देवेश स्वतन्त्र कुलचोदकाः ॥ ९ ॥

इन महासिद्धों का सर्वाधिक महत्त्व है क्योंकि—

'अस्य ज्ञानप्रभावेण बहवः सिध्यन्ति मानवाः ।
दशकोटिप्रमाणन्तु इदं कौलं परोद्भवम् ।
सारात्सारतरं भद्रे महाकौलस्य शोभने ॥[1]

मत्स्येन्द्रनाथ ने इन कौल सिद्धों को चारों युगों में विद्यमान माना है—
'चतुर्युगेति देवेशः स्वतन्त्रं कुलचोदकाः ।

(८) पञ्चमकार और गोरक्षनाथी योगधारा

मत्स्येन्द्रनाथी कौलधारा में पञ्चमकारों का प्रयोग भौतिक अर्थों में किया जाता था । वहाँ **मद्य** सुरा के लिए, **मुद्रा** परनारी के लिए, **मीन** मछली के लिए, **मांस** पशुमांस के लिए एवं **मैथुन** नारी सम्भोग के लिए प्रयुक्त होता था किन्तु गोरक्षनाथी धारा में इसका अर्थ इस प्रकार है—

'मदो मद्य मतिर्मुदा माया मीनं मनः पलम् ।
मूर्च्छनं मैथुनं यस्य तेनासौ शाक्त उच्यते ॥[2]

अर्थात् मद ही 'मद्य' है, मति ही 'मुद्रा' है, माया ही 'मीन' है, मन ही 'मांस' है और मनोमूर्च्छा ही मैथुन है । 'मुद्रा' का द्वितीय अर्थ भी है—

'मुदमोदे तु रा दाने जीवात्मपरमात्मनोः ।
उभयोरेकसंवित्तिर्मुद्रेति परिकीर्तिता ॥[3]

अर्थात् 'मुद' का अर्थ है मोद (प्रसन्नता) । 'रा' का अर्थ है दान (देना) । चूँकि मुद्रा आनन्द प्रदान करती है अतः इसे मुद्रा कहते हैं । जीवात्मा और परमात्मा की एकता ही सर्वोच्च आनन्द प्राप्ति है अतः 'मुद्रा' उसी का बोधक है ।

(१) मुद्रा न तो कान में धारण करने वाली भौतिक वस्तु है और

(२) न तो यह महामुद्रा के अर्थ में कोई पराई नारी है ।

आचार्य परशुराम की दृष्टि—कौलमतानुयायी आचार्य परशुराम ने 'परशुराम कल्पसूत्र' में पञ्चमकारों की सार्थकता इसलिए स्वीकार की थी क्योंकि उनकी दृष्टि में ये

---

१. कौलज्ञाननिर्णय (९।९-१०) २. सिद्धसिद्धान्त पद्धति (उपदेश ६।५०)
३. सि.सि.प. (उप. ६।३०।६)

जीवन के 'परम पुरुषार्थ' अर्थात् ब्रह्मानन्दाप्ति के साधन हैं—

'आनन्दं ब्रह्मणो रूपम् । तच्च देहे व्यवस्थितम् । तस्याभिव्यञ्जकाः पञ्चमकाराः ।' (दीक्षाविधि : १२)

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं कि देवताओं के तर्पणार्थ—१. वृक्षजा, २. मूलजा, ३. पुष्पजा, ४. कलजा, ५. पेष्टी, ६. माध्वी, ७. गौण्डी सुरा समर्पित करते हुए उनकी पूजा करनी चाहिए—

'देवतातर्पणार्थाय सुरा देया यथोचिता ।
वृक्षजा मूलजा चैव पुष्पजा फलजापि वा ॥ (२०।११)
पेष्टी माध्वी तथा गौण्डी दद्यान्नैमित्तिके प्रिये । (२१।११)

दोनों आचार्यों की पञ्चमकारों के प्रति, जो दृष्टि है वह आध्यात्मिक है ।

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं कि देवी के तर्पणार्थ मांस भी तीन भागों में वर्गीकृत करके देवी को समर्पित करना चाहिए—

(१) 'पिशितं त्रिविधं कुर्यात् पक्षाम्लमधुरन्तथा ।
देवतातर्पणार्थाय सुरा देया यथोचिता ॥ (२०।११)
(२) पूजयेद् योगिनीवृन्दं भक्ष्यभोज्यादिभिः प्रिये ॥ (१८।११)

(३) सुरा का भी पान करना चाहिए—'धारापानन्ततः कुर्याद् यदीच्छेच्चिर-जीवितुम् ।'

(४) पञ्च पवित्र भी अर्पित करना चाहिए—

गोमांस गोधृतं रक्तं गोक्षीरञ्चदधिन्तथा ।
नित्यनैमित्तिकं देवि! कर्तव्यं च प्रयत्नतः ॥ (१२।११)

(५) 'पञ्चपवित्र'—

विष्ठ धारामृतं शुक्रं रक्तमज्जाविमिश्रितम् ।
एतत् पञ्च पवित्राणि नित्यमेव कुलागमे ॥ (११।११)

(६) यदिच्छेत् कौलवी सिद्धिः प्राप्य पञ्चामृतं परम् ।
तदा सिध्यति योगिन्यां सिद्धिमेलापकं भवेत् ॥ (८।११)

पंथ भी दोनों धाराओं में विचार वैषम्य तो स्वपष्टतः परिलक्षित होता है अतः दोनों के साधनामार्ग पृथक पृथक हैं तथापि दोनों धारायें अर्थात्—(१) गोरक्षनाथी योगधारा एवं (२) मत्स्येन्द्रनाथी तन्त्र धारा योग एवं तन्त्र दोनों से प्रभावित हैं । 'गोरक्षसंहिता' गोरक्षनाथ के कौलमार्गी तान्त्रिक होने का प्रमाण है तथा 'कौलज्ञाननिर्णय' आदि ग्रन्थ मत्स्येन्द्रनाथ के कौलमार्गी होने के प्रमाण हैं ।

'बिन्दुसाधन के सन्दर्भ में गोरक्ष के ये कथन तान्त्रिक 'वज्रोली सहजोली अमरोली आदि क्रियाओं में आस्था के प्रत्यक्षतः प्रमाण हैं—

(१) भग मुषि ब्यंद अगनि मुषि पारा। जो राषै सो 'गुरु' हमारा।।गोरखबानी पृ. ४९

(२) 'भोग करता जो ब्यंद राखै। ते गोरख का गुरभाई।'

(३) बजरी करता 'अमरी राखै अमरि करन्ता बाई। (गोरख बानी पृ. ४९)

मत्स्येन्द्रनाथ को पञ्चमकारों को उनके भौतिक स्वरूप में भी प्रयोग किया जाना शास्त्रोचित प्रतीत होता है। वे कहते हैं—

'मद्यमांससमायुक्तंभक्ष्यभोज्ययुतं प्रिये।
घृतखण्डसमायुक्तं शर्करायान्तु पूरयेत् ॥'[1]

(९) पञ्चामृत-सेवन

मत्स्येन्द्रनाथ ने तान्त्रिक कौल परम्परा में प्रचलित एवं सिद्धान्ततः और व्यवहारतः ग्राह्य 'पञ्चमकारों' के साथ ही साथ 'पञ्चपवित्रों' को भी शुद्ध एवं ग्राह्य कहकर घोर तान्त्रिक दृष्टियों का अनुमोदन किया है। वे कहते हैं—

'विष्ठ धारामृतं शुक्रं रक्तमज्जाविमिश्रितम्।
एतत् पञ्च पवित्राणि नित्यमेव कुलागमे ॥
नित्यनैमित्तिकं देवि! कर्तव्यं च प्रयत्नतः।
गोमांसं गोघृतं रक्तं गोक्षीरञ्च दधिन्तथा ॥
नैमित्तिके इमं कुर्यात् सिद्धिकामे महोत्सुकः।
निःशङ्को निर्विकल्पस्तु एतत् कुर्यात् कुलागमे ॥
अन्यथा नैव सिध्यन्ति निर्मुक्तिस्तु मम प्रिये।

मत्स्येन्द्रनाथ श्वान, मार्जार, ऊष्ट्र, शृङ्गाल, हय, कूर्म, कच्छप, वराह, मार्जार, कर्कट, शलाकी, कुकुट, शेरक, मृग, महिष, गण्डक आदि पशुओं के मांस को देवार्पित करने एवं उन्हें खाने को भी उचित मानते हैं। यहाँ गोमांस भी ग्राह्य कहा गया है।[2]

पञ्चामृत का महत्त्व—मत्स्येन्द्रनाथ ने पञ्चामृत के सेवन एवं देवार्पण से अनेक सिद्धियों की प्राप्ति भी स्वीकार की है—

'पञ्चामृतं प्रवक्ष्यामि गुह्यानां गुह्यमुत्तमम्।
ज्ञातव्यं कुलसमयं कुलपत्रैर्विशेषतः ॥ ५ ॥
साधकैः सिद्धिकामैस्तु तथान्यं कुलदेशिकैः।
अनुष्ठितमिदं पूर्वं कुलसिद्धैः सुलोचने ॥
एतज्ज्ञात्वा भवेत् सिद्धिर्मानसी योगिनी प्रिये।
यदिच्छेत् कौलवी सिद्धि प्राप्य पञ्चामृतं परम् ॥
तदा सिध्यति योगिभ्यां सिद्धिमेलापकं भवेत्।

तथा—

योगिनीभिः सकृद्दत्तं तत्क्षणात् तत्समो भवेत्।
'अथवा प्राशयेज्ज्ञात्वा योगयुक्तस्तु कौलवित् ॥

---

१. कौलज्ञाननिर्णय (प. १८।१९) २. कौलज्ञाननिर्णय (प. ११।१५-१७)

सिध्यते नात्र सन्देहो विघ्नजालविवर्जितम् ।
योगिनीगणसामान्यामनः सुचिन्तितं भवेत् ।।'[१]

(१०) मत्स्येन्द्रनाथी कौल-परम्परा में सिद्धियों पर अधिक बल

मत्स्येन्द्रनाथी नाथ परम्परा में सिद्धियों को प्राप्त करने पर अत्यधिक बल दिया गया है। गोरक्षनाथी नाथ परम्परा में सिद्धियाँ प्राप्त करने पर उतना बल नहीं दिया गया।

मत्स्येन्द्रनाथ ने 'कौलज्ञाननिर्णय' के अधिकांश पटलों में सिद्धियों का उल्लेख किया है और अप्रत्यक्षत: यह इङ्गित किया है कि तान्त्रिक योगियों को इन्हें प्राप्त करना आवश्यक ही नहीं प्रत्युत् अपरिहार्य भी है।

गोरक्षनाथ ने अपनी हिन्दी संस्कृत की रचनाओं में सिद्धियों पर विशेष बल नहीं दिया है और न सिद्धियों को प्राप्त करने हेतु योगिनियों आदि की पूजा का विधान किया है किन्तु उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ ने 'कौलज्ञाननिर्णय' के प्राय: प्रत्येक पटल में सिद्धियों का वर्णन किया है और योगिनियों का उल्लेख भी किया है।

मत्स्येन्द्रनाथ ने 'कौलज्ञाननिर्णय' में प्रधानतया निम्न सिद्धियों का वर्णन किया है—१. पाशस्तोभ, २. निग्रहानुग्रह, ३. क्रामण, ४. हरण, ५. प्रतिमाजल्पन, ६. घटपाषाणस्फोटन (प. ४।१-३), जगतस्तोभ (४।१०) पर्वत बन्धन, परदेहस्फोटन, अतीतानागत कथन (४।११-१२) मारण उच्चाटन-स्तम्भन-मोहन, शान्तिक, पौष्टिक, आकर्षण, वशीकरण (४।१३-१५) मारण, उच्चाटन, ज्वरकरण, अध्यायन, स्तम्भन, शान्तिककीलन, पशुग्रहण, वशीकरण, क्षोभण, सद्य:प्रत्ययीकरण, विषनाशन, मृत्युञ्जयत्व, जल्पन, स्फोटन, पाशस्तोभ, डाकिनीसिद्धि, राक्षसीसिद्धि, लाकिनी सिद्धि, कुसुममालिना-सिद्धि, योगिनी-सिद्धि, रोचन, (पटल ४) उत्तिष्ठ खड्ग (खड्ग), पाताल, रोचन, अञ्जन, पादुका, गुटिका, आकाशगमन, रसायनसिद्धि (पटल ५।२-४) अमृतसाधन, मृत्युञ्जयत्व, जरामरण, व्याधिरोग (४।५-१४) वलीपलित निर्मुक्ति सर्वव्याधिविनाश (४।१९-२४) मृत्युञ्जयत्व (४।३२-३४) अष्टैश्वर्य प्राप्ति (६।११) कालवञ्चन (६।१६-२०) अतीतानागतदूरादिश्रवण विषहरण, अछेद्यता, अमृतत्व, कालवञ्चन, उन्मनी (६।२१-२८) योगिनीमेलकत्व (७।२) इच्छासिद्धि (८।४३) परदेहप्रवेश (२०।८) देशदेशान्तर-यात्रा (२०।८)

(११) अन्य रहस्यात्मक सिद्धियाँ

'कौलज्ञाननिर्णय' (पटल ४) में अन्य सिद्धियों का भी उल्लेख किया गया है और कहा गया है कि (१) शक्ति को प्रबुद्ध करके (२) या मन्त्र जप का ध्यान के द्वारा अनेक अन्य सिद्धियाँ या शक्तियाँ प्राप्त की जा सकती हैं।

(१) पाशस्तोभ—अपने दुष्प्रभावों द्वारा हानि पहुँचाने वाले पाशों को नष्ट एवं निष्प्रभावित करने की क्षमता वाली सिद्धि।

---

१. कौलज्ञाननिर्णय (प. ११।५-१०)

(२) **निग्रहानुग्रह**—किसी को दण्ड देने या किसी को अपने कार्यों द्वारा लाभ पहुँचाने की शक्ति की सिद्धि ।[१]

(३) **क्रामणम्**—परकायाप्रवेश की सिद्धि ।

(४) **हरणम्**—किसी को दूर करने की सिद्धि ।

(५) **प्रतिमाजल्पनम्**—किसी भी मूर्ति से वार्ता करने की सिद्धि ।

(६) **घटपाषाणस्फोटनम्**—किसी भी प्रस्तर एवं घड़े को विदीर्ण करने की सिद्धि।

ये सिद्धियाँ विशिष्ट मन्त्रों को जाग्रत करने से प्राप्त की जाती हैं । चतुर्थ पटल में कहा गया है—

'अद्य में सफलञ्जन्म तपस्तप्तं सुरेश्वर ।
अद्य मे निर्मलं देहं त्वत्प्रसादेन भैरव ॥
स्वगृहे स्वदेशे वा पाशस्तोभम् यदा भवेत् ।
निग्रहानुग्रहश्चैव क्रामणाम् हरणं तथा ॥
प्रतिमाजल्पश्चैव घटपाषाण्स्टोटनम् ।
कथं मे सर्वसंक्षेपात्वमेव शरणाङ्गता ॥

(७) **मारण**—किसी भी को मार डालने की सिद्धि ।

(८) **उच्चाटन**—दूसरे के मन में व्याकुलता उत्पन्न करने की सिद्धि ।

(९) **स्तम्भन**—किसी भी प्राणी को रोकने की सिद्धि ।

(१०) **मोह**—किसी भी व्यक्ति को अचेतन की सिद्धि ।

(११) **शान्तिक**—शान्तिक्रिया ।

(१२) **पौष्टिक**—शरीर में शक्ति बढ़ाने की सिद्धि ।

(१३) **आकृष्टि**—दूसरे को अपनी ओर आकृष्ट करने की सिद्धि ।[२]

(१४) **वशम्**—दूसरे को अपने नियन्त्रण में रखने की सिद्धि ।

'मारणोच्चाटनश्चैव स्तम्भमोहादिकं प्रिये ।
शान्तिकं पौष्टिकं वापि आकृष्टिञ्च वशं तथा ॥ १४ ॥
पञ्चाशद्वर्णसंयोगं ज्ञात्वा सर्वं कुरुप्रिये ॥ १५ ॥[३]

(१५) हूं मारणं, यूं यः उच्चाटनं, रुं य ज्वरकरणं, वूं व अध्यायन, लूं ल स्तम्भनं, शूं श शान्तिकं, षूं ष कीलनं, क्षुं क्षं पशुग्रहणं, क्लीं क्ष्णीं वशीकरणं, क्लें क्ष्णें क्षोभणं, मोहनञ्च, सों स सद्यप्रत्ययः सिद्धिः ।

हो हः विषनाशनं, ह्रीं हः रक्ताकृष्टियोगिनीनाञ्च, जूं सः मृत्युञ्जय प्रतिमादिषु जल्पनं, स्फोटनञ्च ।

१-३. कौलज्ञाननिर्णय (प. ४)

स्रोंशः पाशस्तोभादिकं कामरूपिन्थं भ्रू त्र डाकिनी सिद्धिः झुरराक्षसीसिद्धिः । लूं ल लाकिनी सिद्धिः, लुं क कुसुममालिनीसिद्धिः, यूं य योगिनीसिद्धिः, ह्रीं ह आकर्षणः ।[१]

(१६) इसी प्रकार अन्य सिद्धियाँ भी प्राप्त की जा सकती हैं यथा—जनवाच्छल्यं, रुजनाशनम्, कवित्वं, वाचकामित्वं, दूराश्रवणम्, भूमित्याग, योगिनीमेलकत्वम्, जरापहरण, चण्डवेगत्वम् , अनेकरूपधृक् ।[२]

'प्रथमे जनवाच्छल्यं द्वितीये रुजनाशनम् ।
तृतीये च कवित्वं हि सालङ्कार मनोहरम् ।।
चतुर्थे वाचकामित्वं दूराश्रवणं पञ्चमे ।
भूमित्योगन्तवेधं षष्ठमन्यत् प्रकीर्तितम् ।।
योगिनीमेलकत्वञ्च सप्तमे जायते ध्रुवम् ।
जरापहरणन्देवि अष्टमे भवते प्रिये ।।
नवमे चण्डवेगत्वं दशमेऽनेकरूपधृक् ।
एकादशगुणं शान्तं त्रिविधा चैव वर्जितम् ।।
एकादशगुणोपेतं पूज्यतेऽसौ यथाशिवम् ।
इच्छयारोहणं कुर्याद्वर्णनं नृत्यमेव च ।।
यतस्तत्रैव गन्तव्यं यत्र वा रोचते मनः ।[३]

(१७) 'कौलज्ञाननिर्णय' (श्लोक ३१) में—'पलितस्तम्भविज्ञानं कथितं योगिनीप्रिये। कहकर पलितक्षय, स्तम्भविज्ञान आदि की सिद्धियों पर भी प्रकाश डाला गया है।

आठवें पटल (३१ श्लोक) में विद्या (मन्त्राराधन) के अष्टोपाय बताये गए हैं ।इन आठों यौगिक अभ्यासों से भिन्न-भिन्न शक्तियों के प्राप्त होने का भी वर्णन किया गया है। इसमें 'योगिनीमेलकत्व' (योगिनियों से मिलन) सभी को समाकृष्ट करने एवं परकाय प्रवेश करने आदि सिद्धियों का वर्णन किया गया है । इसमें कहा गया है—

(१) योगिनीमेलकं चक्र अणिमादि गुणाष्टकम् ।
भवत्येव न सन्देहो ध्यानपूजारतस्य च ।। ३२ ।।
(२) द्वितीयन्तु महाचक्रं सर्वाकृष्टिप्रवर्तकम् ।
पशुग्रहणमावेशं पूजाध्यानरतस्य च ।।
(३) तृतीयन्तु महाचक्रं परकायप्रवेशनम् ।
(४) अतीतानागतञ्चैव अभ्यासाद्भवतेप्रिये ।
लभत्येव न सन्देहो विविधं यत् समीहतम् ।।
(५) चतुर्थं शान्तिक चक्रं भुक्तिमुक्तिप्रदं शुभम् ।
पूजयित्वा इमं चक्रं यावद् ध्यानं प्रयुञ्जति ।।
(६) क्षणेन भवतेस्तोभो मुद्राबन्धत्यनेकधा ।
भाषास्तु विविधाकारा अश्रुतानि श्रुतानि च ।।

१-२. कौलज्ञाननिर्णय (प. ४)   ३. कौलज्ञाननिर्णय (प. ७।२०-२५)

(७) वलीपलित निर्मुक्तः कामदेवो द्वितीयकः ।
(८) वाय्वादेर्नाशयेद्वाचा मूकवत् तिष्ठते तु सः ॥

पञ्चम चक्र की साधना करने से ऋषिवत् बोलने वायु की गति प्राप्त करने एवं मूकत्व प्रदान करने की सिद्धि प्राप्त हो जाती है ।

(९) षष्ठ चक्र का ध्यान एवं पूजा—इससे धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति होती है—

'षष्ठं चैव महाचक्रं धर्मार्थकाममोक्षदम् ॥

(१०) सप्तम चक्र की पूजा एवं उसका ध्यान—इससे सैन्यस्तम्भ, स्तोभावेशादिक की सिद्धि प्राप्त होती है—

'सप्तमञ्चक्रं देवेशि! सैन्यस्तम्भकरं परम् ।
स्तोभावेशादिकं चक्रं संसार बन्धमोचकम् ।
दूराच्च दर्शनं तस्मिन् पूजाध्यानतरस्य तु ॥ ४२ ॥

(११) अष्टम चक्र की पूजा एवं उसका ध्यान—इससे इच्छासिद्धि, मारण उच्चाटन स्तम्भ मोह—

'अष्टमं चक्रमुद्दिष्टं इच्छासिद्धिप्रवर्तकम् ।
मारणोच्चाटनं भद्रे स्तम्भमोहादिकं प्रिये ॥

इस प्रकार ६४ योगिनियों के चक्र का भी वर्णन किया गया है ।

(१२) पञ्चम स्तर पर तो शरीर में प्रवाहित वायु को भी रोका जा सकता है । छठवें स्तर पर धर्मार्थ काम मोक्ष—पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि प्राप्त की जा सकती है, सप्तम स्तर पर किसी भी सेना की गति को रोका जा सकता है । इसके अतिरिक्त दूरदर्शन (distant sight) एवं सांसारिक बन्धनों से मुक्ति (Liberation from worldly ties) प्राप्त की जा सकती है ।

(१३) अष्टम एवं अन्तिम स्तर पर 'इच्छासिद्धि' प्राप्त की जा सकती है । दशम पटल (श्लोक ११) में भी इसका उल्लेख किया गया है । अष्ट चक्रों की साधना द्वारा इन सिद्धियों को प्राप्त करने की विधि बताई गई है और सिद्धियों का वर्णन किया गया है—

अतीतानागतञ्चैव वर्तमानन्तथैव च ।
दूराश्रवणविज्ञानं पाशस्तोभन्ततथा प्रिये ।
पशुग्रहणमावेशं मृत्युनाशन्तथैव च ।
अमरन्त्वथा देवि! समासात् परिवर्तनम् ।
वाचासिद्धिर्भवत्येवं किं कुर्वाणां जगत्रिये ।
आगमान्नाशयेन्मृत्युं पुरक्षोभादिकारकः ।
कुरुते बहुधारूपं ध्यानैकगतचेतसः ।
मण्डलीकनरेन्द्राणां कि कुर्वाणो विधीयते ।
क्रुद्धस्तु संहरेत् सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।

सृष्टिसंहारकर्तारं नित्याभ्यासरतः सदा ॥
षण्मासादीप्सितं कामं ध्यात्वाधरयन्तु तद्गुरुः ।
वलीपलितनाशन्तु सुदूराद्दर्शनन्तथा ।
वेधन्तु कुरुते देवि! योजनानां शतैरपि ॥
कुरुते अमरत्वं हि सताभ्यासतत्परः ॥[१]
अतीतानागतञ्चैव अणिमादिगुणाष्टकम् ॥
धर्मकामार्थ मोक्षञ्च ददत्येव सुलोचने ।
कृष्णेन मारणं प्रोक्तं धूम्रमुच्चाटने सदा ।
गोक्षीरधारधवलं एतन्मृत्युञ्जयो हितम् ।[२]

*** दीर्घजीवन**—कौ.ज्ञा.नि. स्वस्थ, सारोग्य, हृष्ट-पुष्ट शरीर वाला होकर दीर्घायुष्य प्राप्त करने की विधि पर भी प्रकाश डाला गया है। इसमें अमरत्व प्राप्त करने की विधि भी बताई गई है और अमृतपान एवं अमरत्व की विधि पर बार-बार प्रकाश डाला गया है।

इसमें बताया गया है कि किस प्रकार कोई साधक को अपनी जीभ को तालुमूल में स्थापित करना चाहिए—

'रसना तालुमूले तु व्याधिनाशाय योजयेत् ।
तिष्ठज्जाग्रन स्वपञ्चच्छन् भुञ्जन् मैथुने रतः ।
रसनं कुञ्चयेन्नित्यं स्ववक्त्रेण तु संयुतम् ।
स मृत्युर्भवते तस्य अब्दात् स्वच्छन्दगो भवेत् ।
हृदिस्थञ्च मनः कृत्वा यावदुन्मनतां गतः ।
xxxx xxxx xxxx xxxx xxxx
अमृतं तं विजानीयाद्वलीपलितनाशनम् ।
शीतलं स्पर्शसंस्थाने रसनां कृत्वा तु बुद्धिमान् ॥
वलीपलितनिर्मुक्तः सर्वव्याधिविवर्जितः ।
न तस्य भवते मृत्युर्योगयान परः सदा ॥

—कौलज्ञाननिर्णय (प. ६)

*** सहज साधना**—मत्स्येन्द्रनाथ की साधना में सहज तत्त्व का विशेष महत्व है। 'सजजावस्था' समाधि का भी पर्याय है।

बौद्धों में तो सहजययानी बौद्धों का एक सम्प्रदाय विशेष भी है, 'साधो सहज समाधि मली कहकर कबीरदास ने भी 'सहजतत्त्व' का गुणगान किया है।

'सहजावस्था' है क्या? स्वात्माराम मुनीन्द्र कहते हैं—

उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणाः ।
योगिनः सहजावस्था स्वयमेव प्रजायते ॥ (४।११)

१. शक्तिबोध का उदय और २. निःशेषकर्मों का त्याग—सहजावस्था के प्रधान कारक हैं।

१-२. कौलज्ञाननिर्णय (प. १०)

*** ज्योत्स्नाकार की दृष्टि**—ज्योत्स्नाकार ब्रह्मानन्द कहते हैं कि 'परवैराग्येण दीर्घकालसम्प्रज्ञाताभ्यासेनैव बुद्धिव्यापारे परित्यक्ते निर्विकारस्वरूपावस्थितिर्भवति । सैव सहजावस्था । तुर्यावस्था जीवन्मुक्तिः स्वयमेव प्रयत्नान्तरं विनैव प्रजायते प्रादुर्भवति ।'

जिस प्रकार विषय का त्याग दुर्लभ है । तत्त्वदर्शन दुर्लभ है और इसी प्रकार बिना गुरुकृपा के सहजावस्था भी दुर्लभ है—

दुर्लभोविषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम् ।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ॥ (४।९)

'सहजावस्था' है—तत्त्वदर्शनमात्माऽपरोक्षानुभवः तुर्यावस्था । तत्त्वदर्शनमात्माऽपरोक्षानुभवः दुर्लभं सहजावस्था ॥ (ज्योत्स्ना टीका : ब्रह्मानन्द)

(१२) अभिषेक

तान्त्रिक पूजा में 'अभिषेक' का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

कौल अभिषेक—मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

'अथान्यं सम्प्रवक्ष्यामिअभिषेके कुलगोचरे ।
रक्तेन पूरयेद् रक्तं शुक्रस्यैव समं प्रिये ॥ ७ ॥
कुण्डगोलोद्भवेननैव मधुं च धृतसंयुतम् ।
रक्तं वामामृतं शुक्र सुरया ब्रह्ममिश्रितम् ॥ ८ ॥
बकपुष्पसमायुक्त कृष्णासव समायुतम् ।
मदिरानन्दचैतन्यं भक्तियुक्तो महात्मनः ।

* रक्त एवं शुक्र को बराबर मात्रा में मिलाकर तथा सुरा और घृत भी मिलाकर चारों का एक मिश्रण बनाना चाहिए ।

रक्त सुरा से मिलकर वामामृत की आख्या प्राप्त करता है । शुक्र ब्रह्म ही है । मदिरा चैतन्य का आनन्द है ।

अभिषेक और उसकी विधि—मत्स्येन्द्रनाथ ने कौलिक अभिषेक की विधि इस प्रकार बताई है—

'अथान्यं सम्प्रवक्ष्यामिअभिषेके कुलगोचरे ।
रक्तेन पूरयेद् रक्तं शुक्रस्यैव समं प्रिये । (१८।७)
कुण्डगोलोद्भवेननैव मधुं च घृतसंयुतम् ।
रक्तं वामामृतं शुक्र सुरया ब्रह्ममिश्रितम् ॥ ८ ॥
बकपुष्पसमायुक्त कृष्णासव समायुतम् ।
मदिरानन्दचैतन्यं भक्तियुक्तो महात्मनः ॥ ९ ॥
उद्धरेद्रुममन्त्रन्तु गुरुसिद्धाञ्चदेवताम् ।
ह्रीं क्लीं म्हौं जूं सः ।
शङ्खस्थं कलशस्थं वा पूजयित्वा यथाक्रमम् ।
दृढभक्तस्य देवेशे आचार्यो दृढलक्षितम् ।

जयाद्याश्चौषधीः सर्वामोहनाद्याकृताञ्जली ॥[१]

इस अभिषेक क्रिया में रक्त, शुक्र, कुण्ड, उद्भव, सुरा, धृत आदि का उपयोग किया जाता है। रक्त को 'वामामृत' कहा गया है किन्तु यदि इसमें सुरा एवं शुक्र दोनों मिश्रित कर दिया जाय तो यह ब्रह्म हो जाता है। 'सुरा' वक पुष्पों एवं कृष्णपुष्पों से निर्मित होती है। सुरा चैतन्यानन्द मानी जानी चाहिए। गुरु सिद्ध देवता मन्त्र 'ह्रीं क्लीं म्हौ जुं सः' का जप करना चाहिए। शङ्ख या कलश का भी पूजा में प्रयोग करना चाहिए। फिर अञ्जलिमुद्रा के साथ जया देवी को दण्डवत करना चाहिए।

(१३) कौलज्ञाननिर्णय और यौगिक साधना

साधना जगत् में जो योग प्रणाली वाली साधना है उसमें योग को सर्वोच्च महत्व दिया गया है। तान्त्रिक साधना, निर्गुणपंथी सन्तों की साधना एवं उसकी पूर्ववर्तिनी काश्मीरीय शैव शाक्त आदि विभिन्न साधनाओं में योग का यथेष्ट महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। योगीन्द्र मत्स्येन्द्रनाथ स्वयं एक महान् योगी एवं तान्त्रिक थे। उनकी योग साधना एवं तान्त्रिक साधना दोनों में योग सर्वोच्चस्थानीय है।

गोरक्षनाथ कहते हैं कि—

(१) योग से बढ़कर कोई पुण्य नहीं है।

(२) योग से बढ़कर कोई सुख नहीं है।

(३) योग से बढ़कर कोई सूक्ष्म नहीं है और

(४) योग से बढ़कर कोई श्रेष्ठ नहीं है।

योगात्परतरं पुण्यं योगात्परतरं सुखम्।
योगात्परतरं सूक्ष्मं, योगमार्गात्परं न हि ॥[२]

'योग' है क्या? गोरक्षनाथ कहते हैं—

(१) 'योऽपानप्राणयोर्योगः' (२) 'स्वरजोरेतसोस्तथा'

(३) 'एवं तु द्वन्द्वजालस्य संयोगो 'योग' उच्यते'—योगबीज (८९)

'योगश्चित्तिवृत्तिनिरोधः ॥ योगसूत्र

'समत्वं योग उच्यते—गीता

वियोगो योग संज्ञितम् (प्रकृति से पुरुष का वियोग ही योग है—सांख्य दर्शन)

जीवात्मा परमात्मा का संयोग ही योग है—वैष्णवादि भक्त।

प्राणतत्त्व और प्राणायाम—प्राणायाम योग का चतुर्थ अङ्ग है। मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—प्राणवायू का अत्यन्त महत्त्व है क्योंकि यह समस्त जीवों में स्थित है। प्राण साधना एवं चक्रसाधना दोनों महत्त्वपूर्ण हैं—

---

१. कौलज्ञाननिर्णय (१८।७-९) २. योगबीज (८७)

(१) 'समीरपूरको वायुः सर्वजीवेषु संस्थितम् । (प. ६।६)

(२) 'उत्पातं निक्षिपेदूर्ध्वं प्राणायामेन सुन्दरि । (प. २०।२)

(३) 'समीरस्तोभकं चक्रं घण्टिका ग्रन्थिशीतलम् । (१७।३)

यौगिक प्रणालियाँ[1]

मन्त्रयोग | हठयोग | लययोग | राजयोग | सहजयोग
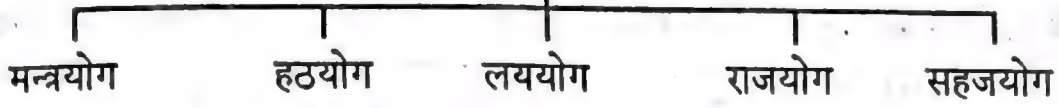
'कौलज्ञाननिर्णय' में योग के आठों अङ्गों का प्रतिपादन किया गया है—

यम-नियम—योग के प्राथमिक अङ्गों में यम-नियम ही प्रथम और द्वितीय अङ्ग है । 'यम' के दस अङ्ग हैं और नियम के भी १० अङ्ग हैं ।

यम

अहिंसा | सत्य | अस्तेय | ब्रह्मचर्य | क्षमा | घृति | दया | आर्जव | मिताहार | शौच[2]

नियम

तप | सन्तोष | आस्तिक्य | दान | ईश्वरपूजन

सिद्धान्त वाक्य श्रवण | ह्रीं (लज्जा) | मति (बुद्धि) | तप | होम (हवन)[3]
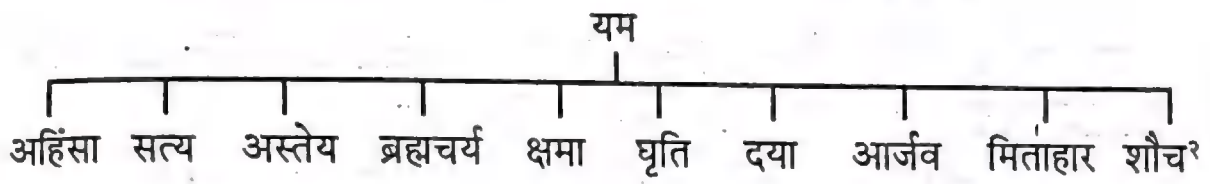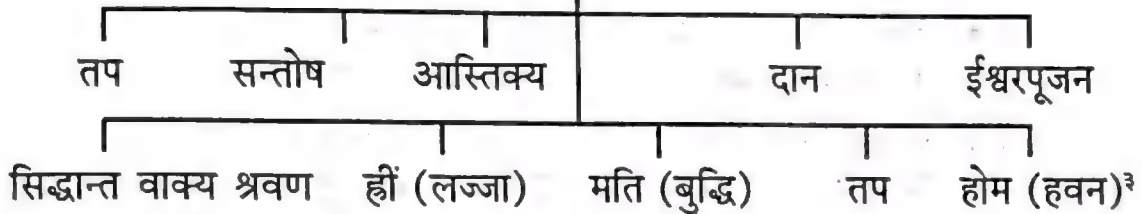
महर्षि पतञ्जलि की दृष्टि में 'यम-नियम' एवं अष्टाङ्ग ।[4]

यम

१.अहिंसा | २.सत्य | ३.अस्तेय | ४.ब्रह्मचर्य | ५.परिग्रह

नियम

१.शौच | २.सन्तोष | ३.तप | ४.स्वाध्याय | ५.ईश्वरप्रणिधान
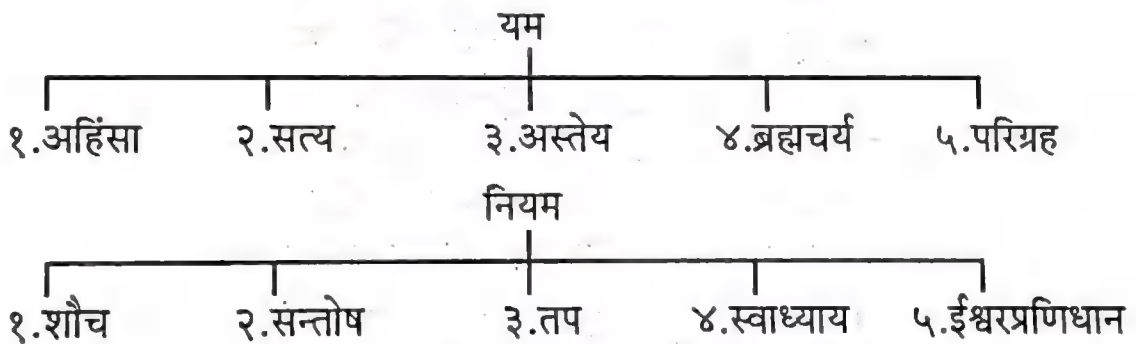
(क) 'अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्या परिग्रहा यमाः । (२।३०)

(ख) 'शौचसंतोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि ।' (२।३२)

---

१. गोरक्षनाथ (अमरौघ प्रबोध)
मन्त्रयोगो हठश्चैव लययोगस्तृतीयकः ।
चतुर्थो राजयोगः स्यात्स द्विधाभाव वर्जितः ॥ (अमरौघ प्रबोध)

२-३. हठयोग प्रदीपिका

४. कौलज्ञाननिर्णय (२०)
सुरूपः सुस्वाभावश्च सत्यवादी च निश्चयी ।
गुरुकौलागमे भक्तः सुगन्धः क्रोधवर्जितः । (२०।१८)

ब्रह्मचर्य—

कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थास्तु सर्वदा ।
सर्वत्र मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यं प्रवक्षते ॥
—गरुड़पुराण पूर्व. आचार. २३८।६

यद्यपि यह भी सत्य है कि 'कौलमत' में यम, नियम, व्रत, विध, निषेध का महत्व नहीं है (और मत्स्येन्द्रनाथ कौलमार्गी तान्त्रिक ही नहीं थे प्रत्युत् वे कौलमार्ग की एकशाखा के प्रवर्तक भी थे) और उस कुलाचार का स्वरूप इस प्रकार है—

'कुलाचार विधिं वक्ष्ये सावधानावधारय ।
यस्य विज्ञानमात्रेण कर्ता हर्ता सदाशिवः ॥
दिक्कालनियमो नास्ति तिथ्यादि नियमो न च ।
नियमो नास्ति देवेशि! महामन्त्रस्य साधने ॥'

इस बात के होने पर भी मत्स्येन्द्रनाथ ने योग के प्रथम द्वितीय अङ्ग—यम-नियम के प्रति श्रद्धा प्रदर्शित की । वे कौलज्ञाननिर्णय में कहते हैं—

(१) सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तं क्रोधाग्रैः शून्यवर्जितम् ।
(२) अभ्यासात् समचित्तस्तु ग्रामधर्मञ्च वर्जयेत् ॥
(३) अज्ञानास्ते दुराचाराः कुलज्ञानविवर्जिताः ।
न तैस्तु सङ्ग भोक्तव्यं न कुर्यादद्रव्यसंग्रहम् ॥
(४) समत्वं वीतरागत्वं उदासीनां खवृत्तिनाम् ।
निष्परिग्रह सन्तोषं द्वन्द्वयोगं न कारयेत् ॥ (११।३०)
*(५) काम क्रोधञ्च दम्भञ्च त्यजेल्लोभं शनैः शनैः ।
न चरुन्निन्दयेद्भद्रे समयाद्वैतमेव च ॥ (११।३१)
*स्वगुरुं पूजयेन्नित्यं त्रिष्कालं भावितात्मनः ।
*मनसा कर्मणा वाचा गुरुञ्चैव स्वकं न तु ॥ (१२।८)
(६) वञ्चका कृपणा मूढा हीनानि सत्यनिन्दिते ।
न दद्यादनुग्रहा यस्या देवाग्नि-यतिद्वेषकाः ॥ (१४।६)
(७) धर्मे च रतये नित्यं क्रोधये शून्यवर्जितः ।
निश्चितनिस्पृहेह गुप्ते निस्संशैकान्तवासिने ॥
देवाग्नि-यति-योगिन्या भक्त्या नित्यं प्रसन्नधीः ।
वरयेच्छिष्य कुर्वीत दृढभक्तिपरायणा ॥ (१४।९)
(८) द्वौभावसुप्रज्ञात्म कपटव्रतधारिणीः ।
योगिनीनां च विद्विष्टे गुर्वाज्ञालोपकारकः ॥ (१४।१०)
*(९) न देयं कौलिकं ज्ञानं कामिने क्रोधिने तथा ।
न शिवदूषके देवि निन्दके कुलभैरवे । (१४।११)
(१०) अभ्यासात् सततं वीरं ग्रामधर्मञ्च वर्जयेत् ॥ (१४।७२)

'श्रीमद्भागवतपुराण' में व्याख्यात योग स्वरूप—महर्षि कपिल अपनी माता

देवहूति योग का जो लक्षण बताते हैं उसके भीतर निम्न तत्त्व समाहित हैं—(योगस्य लक्षणं वक्ष्ये सबीजस्य नृपात्मजे ।)

१. स्वधर्माचरण, २. विधर्म से निवर्तन, ३. दैवप्राप्त धन से सन्तोष, ४. आत्मज्ञानियों का चरणार्चन ५. ग्रामधर्म निवृत्ति ६. मोक्ष धर्म में रति, ७. मित एवं मेध्य का भोजन, ८. विविक्तता, ९. क्षेमसेवन, १०. अहिंसा, ११. सत्य, १२. अस्तेय, १३. अर्थ परिग्रह, १४. ब्रह्मचर्य, १५. तप, १६. शौच, १७. स्वाध्याय, १८. पुरुषार्चन, १९. मौन, २०. आसनजय, २१. स्थैर्य, २२. प्राणजय, २३. प्रत्याहार, २४. इन्द्रियों को मन के द्वारा विषयों से हटाकर हृदय में लाना, २५. चक्रों में से किसी चक्र में मन सहित प्राणस्थैर्य, २६. भगवान् की लीलाओं का सतत चिन्तन एवं समाधान (चित्त को समाहित करना), २७. आसन-जय, प्राणायाम, चित्त का निर्मलीकरण एवं उसकी एकाग्रता, २८. नासाग्र में दृष्टि स्थिर करके भगवान् की मूर्ति का ध्यान ।[1]

मत्स्येन्द्रनाथोक्त उक्त उपदेशों एवं भागवत पुराणोक्त योग लक्षणों का मिलान करके देखा जाय तो मत्स्येन्द्रनाथ ने 'यम-नियम' के प्रायः अधिकांश तत्त्वों को स्वीकार किया है ।

अहिंसा और ब्रह्मचर्य ही ऐसे यम हैं जिन्हें मत्स्येन्द्रनाथ ने स्वीकार नहीं किया किन्तु इस विषय में भी उन्होंने हिंसा एवं कामसेवन पर अङ्कुश लगाया भी है । वे कहते हैं—लालच के लिए हिंसा पाप है ।

(क) 'लौल्यार्थी चपला नित्यं कुलशास्त्रविडम्बकम् । (११।३६)[2]

(ख) 'न देयं कौलिकं ज्ञानं कामिने क्रोधिने तथा । (१४।११)

अर्थात् जो जिह्वा चाञ्चल्य के कारण मांसादि अभक्ष्य एवं सुरादिक अपेय पदार्थों का सेवन करते हैं वह कौलशास्त्र का उपहास या छल है । कौलिक ज्ञान किसी कामी एवं क्रोधी को नहीं दिया जाना चाहिए ।

'शक्त्याचाररतो नित्यं जिताहारैकमैथुनः । (२०।५)

कहकर मत्स्येन्द्रनाथ ने आहार-संयम एवं ब्रह्मचर्य का भी प्रतिपादन किया है ।

'समचित्तं सदा लीनमस्थिचक्रं सुलोचने । (१५।२५)

कहकर चित्त-चाञ्चल्य के स्थान पर मत्स्येन्द्रनाथ ने समत्वभावपूर्ण चित्त को वरेण्य माना है और यह भी योग का एक लक्षण है ।

'वज्रदेहत्व' भी योग का एक लक्ष्य है और मत्स्येन्द्रनाथ ने इस सिद्धि को भी श्रद्धास्पद माना है—'वज्रवत्तिष्ठत देहं' (१५।२५) 'उत्पातं निक्षिपेदूर्ध्वं प्राणायमिन सुन्दरि' (२०।२१) और 'किञ्च दर्शितवर्णाभं प्राणचक्रं सुलोचने' कहकर मत्स्येन्द्र ने प्राणतत्त्व को भी महत्त्व प्रदान किया है—'प्रसन्ना ये नरा भद्रे व्योमध्यानैक चेतसः' (१६।६) कहकर उन्होंने ध्यान योग को भी महत्ता प्रदान की है । 'मोक्षकामी सदा ध्यायेच्छुक्लाम्बर धरां शुभाम् ।' (१९।२) द्वारा मत्स्येन्द्रनाथ ने जिस मोक्ष को अभीष्ट माना है उसे भागवत् पुराण में योग का लक्षण कहा गया है ।

---

१. श्रीमद्भागवतपुराण (तृ. स्कन्ध) २. कौलज्ञाननिर्णय

वज्रीकरण की साधना भी तान्त्रिक योग की साधना है और वह भी मत्स्येन्द्रनाथ के लिए काम्य है—

वज्रयोग प्रयोगेण वज्रवद्भवते नरः ।
सहजन्तु इमं चक्रं वज्रनाभातिकोदभवम् ॥ (१५।१०)

मत्स्येन्द्रनाथ ने चक्र-साधना, विभूति-साधना, अष्टैश्वर्य-साधना, ब्रह्मचर्य-साधना आदि सभी योगोपादानों का प्रतिपादन किया—

(१) चित्तं दद्यान्तु चक्रेण नारो दद्यात् विजृम्भिका । (१४।५४)

(२) अणिमा लघिमा देवि ऊर्ध्व रेतः प्रवर्तनम्

ऊर्ध्वरेता भवेद योगी न योगी करत प्रिये (१४।५७)

कहकर उन्होंने योग की अष्ट सिद्धियों एवं (ऊर्ध्व रेतसत्व के द्वारा) ब्रह्मचर्य को भी प्रतिपादित किया है ।

मत्स्येन्द्रनाथ ने योगोक्त 'पिण्ड ब्रह्माण्डैक्यवाद' (१४।२३-६६) का भी प्रतिपादन किया है ।

कहकर मत्स्येन्द्रनाथ ने चक्र-साधना एवं अमृतपान की यौगिक साधना को भी अङ्गीकृत किया है ।

'समत्वं वीतरागत्मुद्रासीनां खवृत्तिकाम् ।
निष्परिग्रहसन्तोषं द्वन्द्वयोगं न कारयेत् ॥ (११।३०)

कहकर मत्स्येन्द्रनाथ ने यमनियम के अनेक आदर्शों का भी प्रतिपादन किया है ।

तावत् समाधि मायाति स्तोभावेशादिलक्षणम् । (१४।३८)

कहकर मत्स्येन्द्रनाथ ने समाधि (योग के अन्तिम अङ्ग) का भी प्रतिपादन किया है ।

(१) तस्य मोक्षो न सन्देहः परं संवितिपूर्वकम् । (१३।८)
(२) द्वादशान्ते यदा पश्येत् स्फुरन्तं मणिमालिका ।
तस्य मोक्षो भवेद्यस्तु पापण्यैर्नलिप्यते । (१३।६)
(३) मोक्ष प्रत्यय संविति शृणु त्वं वीरनायिके ।
(४) उन्मनन्तु मनो यस्य तस्य मोक्षो भवन्तीह ॥ (१३।५)
(५) तस्य मोक्षो न सन्देहः पद्मपत्राम्बुविन्दुवत । (१३।७)
(६) मोक्षदं सारमेवं च ज्ञातव्यं वरवर्णिनि । (१४।८०)
(७) (मन का उन्मनीभाव)
मनस्य उन्मनीभावे यदा भवति सुन्दरि । (१४।८३)
रसनातालुमुले तु कृत्वा वायुं पिबेच्छनैः । (६।१९)

कहकर मत्स्येन्द्रनाथ ने 'अमृतपान' एवं 'प्राणायाम' में समन्वय भी स्थापित किया है । मत्स्येन्द्रनाथ योग के गुरु माहात्म्य का भी प्रतिपादन किया है—'स्वगुरुं पूजयेन्नित्यं मनसा कर्मणा वाचा गुरुश्चैक स्वकं न तु ।

निवेदयेत् प्रयत्नेत भुक्तिमुक्तिजिगीषया ॥ (१२।८)

इसके अतिरिक्त—

'सुगन्धं पूतिगन्धंश्च नित्यं गृह्णाति निष्कलः ।
पद्मपत्रे यथा तोये तथा चैवं न लिप्यते ॥
तद्वन्न लिप्यते योगी पुण्यपापै सुरेश्वरि ।
ब्रह्महत्यादिकं पापम् अश्वमेधादिकं फलम् ॥

कहकर मत्स्येन्द्रनाथ गीता के 'निष्काम कर्मयोग' एवं 'पद्मपत्रमिवांभसा' वाले गीता के योगादर्श का भी प्रतिपादन किया है ।

'स्वयं गुरुः स्वयं सिद्धः स्वयं शिष्यः स्वयं शिवः । अज्ञानबन्धा ज्ञेयं ज्ञानं ज्ञेयं विमोचनम्' (११।२६)

कहकर मत्स्येन्द्रनाथ ने शाङ्कर अद्वैतवाद एवं त्रिकाम्नाथ के 'शाम्भवोपाय' का प्रतिपादन किया है ।

'अद्वैतं तु यथाख्यातं' (११।२१) 'अद्वैताचारमासृत्य'[1] (११।२२) 'अद्वैतं येन सन्त्यक्तंममाभाष्यन्तु तं पशुम् ' (११।२२३) 'अद्वैते नित्ययुक्तस्य तस्य सिद्धिः प्रजायते'[2] (११।३) 'द्वैतभावं परित्यज्य अद्वैताचारभावितः'[3] (११।४) की अद्वैत दृष्टि में शैवों एवं शाक्तों के अद्वैत दर्शन का भी साक्षात्कार होता है ।

ददते नात्र सन्देहो भक्ति ध्यानप्रदीपितः । (१०।२५)
कुरुते बहुधा रूपं ध्यानैकगतचेतसः ॥ (१०।१४)
एकान्ते बहुधारूपं कुरु ध्यानञ्च तत्परः ॥ (१०।१८)
क्षकारं ब्रह्मरन्ध्रत्वं लकारन्तु ललाटयो ।
हकारन्तु भ्रुवोर्मध्ये सकारं वक्त्रमण्डले ।
षकारं कण्ठदेशे तु शकारं हृदये तथा ।
वकारं नाभिदेशे तु ह्लकारं विसकन्दयोः ।
स्थानचक्रास्तु सम्प्रोक्तास्तेषां ध्यानं शृणु प्रिये ।

—कौलज्ञाननिर्णय (१०।६८)

के द्वारा मत्स्येन्द्रनाथ ने चक्रों के साथ मातृकाओं एवं बीजों का जो समन्वय दिखाया है उसके द्वारा 'हठयोग' के साथ 'मन्त्रयोग एवं चक्रसाधना' के साथ मान्त्रिक बीज-साधना का भी प्रतिपादन किया है ।

(१) अष्ट पत्रं महापद्मं । (१०।२२)

(२) षष्ठं तु चक्रं राजानमष्टपत्रसकणिकम् । (१०।२३)

(३) तृतीयं तु महाचक्रं नवतत्त्वप्रमोचकः । (२०।१६)

(४) अष्टारं पङ्कजं दिव्यं प्रथमाष्टकभूषितम् । (१०।९)

१-३. कौलज्ञाननिर्णय

(५) द्वादशान्ते यदा पश्येत् स्फुरन्तं मणिमालिका । (१३।६)

(६) शृणु त्वमद्भुतं देवि! आधारस्यैव निर्णयम् । (१४।२०)

देव्याश्चक्रोर्द्ध देवेशि आधारश्चतुरङ्गुलम् । (१४।२०)

(७) एतत्ते कथितं देवि ब्रह्मग्रन्थिविनिर्णयम् । (१४।२७)

(८) दुर्लभन्तु इमं चक्रं नास्ति योगं इमम् परम् । (१४।५८)

'योगिनी मेलकत्व' (१४।४२) मत्स्येन्द्र की निजी सिद्धि की अभिव्यक्ति है । 'पिण्डब्रह्माण्डैक्यं' (१४।६३-६६)

(९) ललाटवर्णराशिस्थं ब्रह्मरन्ध्रस्य मध्यतः ॥ (१४।७२)

नादश्रवण भी यौगिक नाद योग की साधना है । यह भी मत्स्येन्द्र प्रतिपादित है—

नादं प्रमुञ्चते देवि! महावेगञ्च जायते । (१४।७०)
भेरि शङ्खमृदङ्गश्च वीणावंश निनादितैः ।
ताड्यमान्नबोध्यते जीवस्तल्लयतां गतः । (१४।८५)

चक्रों में—

द्वादशान्ते यदा पश्येत् स्फुरन्तमणिमालिका । (१४।९०)
पश्चाद्वादशान्तं यावत् शक्त्याचारेण भेदयेत् । (१४।९२)
कण्ठस्थाने ध्वनिर्दिव्या सकला तु परापरा । (१७।२२)
वामाख्या कुण्डली नाम ज्येष्ठा चैव मनोन्मनी । (२०।११)
कर्णिकायां परं तत्त्वं अतसि पुष्प सन्निभम् ।
पञ्चारमष्टपत्रञ्च षोडशारं सुशोभनम् । (१५।१३)
षोडशारं विलख्यन्तु अन्तरालसमन्वितम् । (१५।१४)
अष्टारपद्मपत्रञ्च षोडशैकं वरानने ॥ (१५।१४)
आधारे च चात्मचक्रं ....तदूर्द्धगम् ।
कर्णिकायात्मनः कृत्वा ऊर्धचक्रेण प्लावयेत् ॥ (१५।१७)

आदि चक्रों की साधना को मत्स्येन्द्र ने प्रतिपादित किया है । वे पुनः कहते हैं—

गूढं गुह्यं सनाभिश्च हृदि पद्ममधोमुखम् ।
समीरस्तोभकं चक्रं घण्टिकाग्रन्थि शीतलम् ।
नासाग्रं द्वादशान्तं च भ्रुवोर्मध्ये व्यवस्थितम् ।
ललाटं ब्रह्मरन्ध्रं च शिखरस्थं सुतेजसम् ।
एकादशविधं प्रोक्तं विज्ञानं देहमध्यतः ॥ (१७।२-४)
अधोद्धर्वे रमते हंसो द्वादशान्ते लयं पुनः । (१७।१८)
कृत्वा प्रेतासनं दिव्यं द्वादशान्तमनाश्रितम् । (१७।१४)
गुदस्थमुदयनतस्या द्वादशान्ते लयं पुनः । (१७।२३)
अनामापीड्येदूर्ध्वं नाभिश्च हृदयन्तथा । (२०।५)

गुदोर्ध्वपीडये नाथ हृदि कण्ठादिकं प्रिये । (२०।१)
यत्तेजः स महालिङ्गमुत्पत्तिस्थितिकारकः ।
बिन्दुरूपं तु तं ज्ञात्वा स्फुरज्वालावली परः ।
अक्षोभ्यः सर्वशक्तीनां आत्मशक्त्यान्तरञ्जितः ।

—चक्रस्थज्योतिर्लिंग (२०।२०)

उपर्युक्त वाक्यों में व्यक्त मत्स्येन्द्रनाथ के उपदेशों में चक्रसाधना, नादसाधना, धारणयोग, ध्यानयोग, पीठसाधना, पीठस्थ ज्योतिर्लिंग साधना आदि समस्त योग साधनाओं का मत्स्येन्द्रनाथ के द्वारा प्रतिपादन किया गया है ।

रक्तध्याने सदावश्यं पीतस्तम्भकरं परम् ।
शुक्लमाध्यायनं देवि, स्फटिके मोक्षदायिकम् ।
कृष्णेन मारणं प्रोक्तं धूम्रमुच्चाटने सदा ।
गोक्षीरधारधवलं एतन्मृत्युञ्जये हितम् । (१०।२८-३०)

कहकर मत्स्येन्द्रनाथ ने रङ्गविज्ञान एवं अभिचार तथा वर्णों के सम्बन्ध के रहस्य पर भी प्रकाश डाला है । योग भी प्रत्येक चक्र में विभिन्न वर्णों की स्थिति स्वीकार करता है ।

योग में काम्य नैश्चल्य, निश्चिन्तता एवं शून्ययोग भी मत्स्येन्द्र साधना में प्रतिपादित है—

'शून्यशून्यमनः कृत्वा निश्चिन्तो निश्चलस्थितिः । (१४।८४)

मत्स्येन्द्रनाथ ने मुख्यतः प्रेतासन का ही उल्लेख किया है और सम्भवतः अपने तान्त्रिक योग में आसनों को उतना महत्व नहीं दिया जितना कि धारणा, ध्यान, समाधि एवं विभूतियों (यौगिक सिद्धियों) को । वे शिव को भी कभी नहीं भूले—

स शिवो व्यापको भूत्वा कर्ता हर्ता वरानने । (२०।३)

सिद्धियों को अधिक मूल्य देने पर भी मत्स्येन्द्र अपने लक्ष्य सहस्रदल, द्वादशान्त, ब्रह्मरन्ध्र, अमृतयोग, शिवशक्ति, उन्मनयोग शिवशक्ति सामरस्य से पराङ्मुख नहीं हुए और न तो ध्यान समाधि को भूले—

सहस्रदलशोभाढ्य गोक्षीरधवलोपमम् ।
देव्या चक्रगतश्चक्रं तादृशं खेचरैः स्थितम् । (५।१९)
ध्यात्वा चन्द्रासनस्थश्च ऊर्ध्वश्चक्रेणघट्टितम् । (५।१२)
ध्यायेच्चन्द्रमिदं देवि! नाभिमूर्ध्नि च हृद्गतम् । (५।१६)
येनैव ज्ञानमात्रेण ध्यानाभ्यासेन नित्यशः । (५।८)
चन्द्राह्लादकरं दिव्यं आगच्छन्तं खमध्यतः ।
श्रवन्तं ब्रह्मरन्ध्रेण अचिरान्मृत्युवर्जितम् । (५।७)
उन्मनं मनरहितं ध्यानधारणवर्जितम् । (३।१२)
शिवमध्येगता शक्तिः क्रियामध्यस्थितःशिवः ।
ज्ञानमध्ये क्रियालीना क्रिया लीयति इच्छया ।

इच्छाशक्तिर्लयं यानि यत्र तेजः परः शिवः । (२।६-७)
ध्यात्वा विद्युल्लताकारं शक्तिर्वै व्योमपञ्चको । (४।९)
स्वातंत्रः शिवतुल्यस्तु स्वच्छन्दगतिचेष्टितः । (५।२४)
बिन्दुनाद तथा शक्तिरेवं ध्यात्वा पृथक पृथक । (५।३१)
सदेह तयक्त मात्रेण परं शिवो निगद्यते ॥ (६।७)
मानुष्यं पिण्डमासृत्य स शिवः क्रीडते भुवि । (१७।३८)

(१४) योग विषयक नाथपंथी दृष्टि

गोरक्षनाथ नाथपंथी योगी थे । उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ योगी एवं तान्त्रिक दोनों थे । वे कहते हैं कि वेद तो कल्पतरु वृक्ष है । जिस प्रकार कल्पतरु की शाखायें पक्षियों के स्थान हैं ठीक उसी भाँति द्विजों द्वारा वेद की शाखाओं, प्रतिशाखाओं का परिशीलन किया जाता है । वेदरूपी कल्पतरु का फल योग है । हे सत्पुरुषो! इसका सेवन (साधन) करो । यह (योग) संसार के समस्त तापों का शमन कर देता है—

'द्विजसेवितशाखस्य श्रुतिकल्पतरोः फलम् ।
शमनं भवतापस्य योगं भजत सत्तमाः ॥[१]

गोरक्षनाथ कहते हैं कि—(१) लोग भले ही यह कहते रहें कि 'ज्ञानेनैव हि मोक्षो हि' किन्तु मैं तो यही कहता हूँ कि 'योगोऽसौ मोक्षदो भवेत्'। (योगबीज)

वेदान्त की दृष्टि का खण्डन—

वेदान्तियों की दृष्टि—'ज्ञानेनैव हि मोक्षो हि वाक्यन्तेषान्तु नान्यथा ।' किन्तु सत्य तो यह है कि—

* (२) तलवार से नहीं वीरता से विजय मिलती है कि—

'सर्वे वदन्ति खड्गेन जयो भवंति तर्हि कः।
विना युद्धेन वीर्येण कथं जयमवाप्नुयात् ।
तथा योगेन रहितं ज्ञानं मोक्षाय नो भवेत् ।
ज्ञानेनैव विना योगो न सिद्ध्यति कदाचन ।

(३) ज्ञान तो एक जन्म में ही उत्पन्न हो सकता है किन्तु केवल योग से अतः ज्ञान से भी श्रेष्ठतर योग है और मोक्ष का वही श्रेष्ठतम मार्ग है 'तस्मात् योगात् पर तरो नास्ति मार्गस्तु मोक्षतः । (यो.बीज)

योगाङ्गों का फल

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)
आसनेन रुजोहन्ति	प्राणायामेन पातकम्	विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण मुञ्चति	धारणाभिभतं धैर्यं	ध्याना च्चैतन्यमद्भुतम्	समाधौ मोक्षमाप्नोति त्यक्त्वा कर्मशुभाशुभं
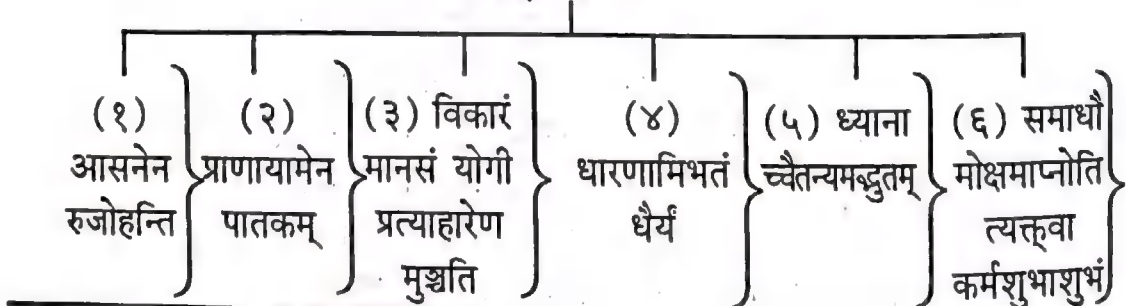
१. गोरक्षनाथ—विवेकमार्तण्ड (५)

योग के अङ्ग (गोरक्षनाथ के अनुसार)

आसन | प्राणायाम | प्रत्याहार | धारणा | ध्यान | समाधि

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा ।
ध्यानं समाधिरेतानि योगांगनि वदन्ति षट् । (गोरक्षशतक)
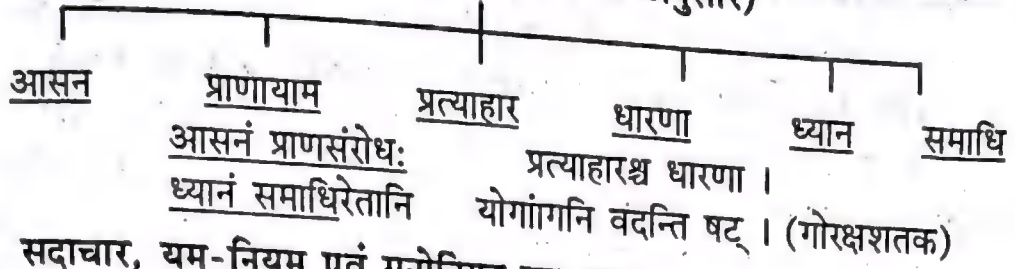
सदाचार, यम-नियम एवं मनोनिग्रह का अनुसरण—

तान्त्रिकों के लिए यम, नियम, विधि, निषेध, संयम, शम-दम का पालन आवश्यक नहीं हुआ करता—

'दिक् काल नियमोनास्तितिथ्यादि नियमो न च।
नियमो नास्ति देवेशि! महामन्त्रस्य साधने ॥
क्वचित्शिष्टः क्वचित्भ्रष्टः क्वचित्भूतपिशाचवत् ।
नानावेषधराः कौलाः विचरन्ति महीतले ।
कर्दमे चन्दनेऽभिन्नः पुत्रे शत्रौ तथा प्रिये ।
श्मशाने भवने देवि! तथैव काञ्चने तृणे ॥
न भेदी यस्य देवेशि! स कौलः परिकीर्तितः ।

लक्ष्मीधर की दृष्टि—तान्त्रिक आचार्य लक्ष्मीधर 'लक्ष्मीधरा' में समयाचार तन्त्र के लक्षण बताते हुए कहते हैं कि इसमें विधि निषेध, नियम और प्रतिबन्ध (बन्धन) के लिए स्थान नहीं है—

'समयिनां मन्त्रस्य पुरश्चरणांनास्ति जपो नास्ति ।
बाह्यहोमोऽपि नास्ति बाह्यपूजाविधयो न सन्त्येव ॥

हृत्कमल एवं सर्व यावत् अनुष्ठेयम्

मत्स्येन्द्रनाथ की दृष्टि—कौल तान्त्रिक विधिनिषेधों एवं नियम पालन के विरोधी थे किन्तु मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

काम, क्रोध, दम्भ, लोभ, परिग्रह, असन्तोष आदि सभी का त्याग करना चाहिए और इस प्रकार यम-नियमों का पालन करना चाहिए—

कामं क्रोधञ्च दम्भञ्च त्यजेल्लोभं शनैः शनैः ।
न च निन्दयेदभद्रे! समयाद्वैतमेव च ॥ (३१।११)
समत्वं वीतरागत्वमुदासीनां स्ववृत्तिनाम् ।
निष्परिग्रहसन्तोषं द्वन्द्वयोगं न कारयेत् ॥ (३०।११)

कौलधारा में यम-नियम, संयम आदि की परम्परा—केवल मत्स्येन्द्रनाथी कौल धारा में ही काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, हिंसा, स्तेय, लोक द्वेष एवं निन्दा के त्याग का उपदेश नहीं दिया गया है प्रत्युत् इस उपदेश (या सिद्धान्त) की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है ।

परशुराम 'परशुरामकल्पसूत्र' के प्रथम खण्ड (दीक्षाविधि) के १९वें सूत्र में कहते

है—**'काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्या विहित हिंसास्तेय लोकविद्विष्टार्जनम् ।'** (सूत्र १९) (प.क.सू.) । यहाँ 'सर्वत्र निष्परिग्रहता' (२११) निष्कामकर्म—'फलं त्यक्त्वा कर्मकरणम्' (सूत्र २२१) आत्मसाधना—**'आत्मलाभान्न परं विद्यते ।'** (सूत्र २८।१) के उपदेश, कौलधारा में उच्छृङ्खलता ऐन्द्रिय दासता, वैषयिक प्रवृत्ति, धर्म-पराङ्मुखता एवं उद्दाम वासनात्मकता पर कठोर अङ्कुश लगाने के प्रयास हैं । 'कौल धारा' कहीं नास्तिकों, असत्कर्मियों, अपराधियों एवं पापियों का समूह न बन जाय इसीलिए प्राचीन काल से इसमें संयम, शम, दम, यम-नियम आदि सदाचारनिष्ठ सिद्धान्तों का भी समावेश कर दिया गया था । मत्स्येन्द्रनाथ ने भी अपनी कौलधारा में इनका परित्याग नहीं किया ।

२०वें पटल में मत्स्येन्द्रनाथ आहार एवं नारी सम्भोग पर भी अङ्कुश लगाने का उपदेश देते हुए कहते हैं कि

> 'शक्त्याचाररतो नित्यं जिताहारैकमैथुनः ।
> अनामापीडयेदूर्ध्वं नाभिश्च हृदयन्तथा ।।[1]

भगवती ने भगवान् भैरव से योगाभ्यास के विषय में वर्णन करने की प्रार्थना भी की है —

> 'दण्डवत् पतिताः सर्वे आत्मवादस्य वद प्रभो ।
> योगाभ्यासरतानान्तु रक्तपालस्य निर्णयम् ।।[2]

आसन के विषय में मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

> 'तस्य पूजा बलिः पिण्ड आसनं जाप्यमेव च ।
> कथयामि समासेन यथा सिध्यति साधके । (१६।५६)

मत्स्येन्द्रनाथ ने 'ह्रीं वटुकाय आसनमन्त्रः' कहा और 'कृत्वा प्रेतासनं दिव्यं द्वादशान्तमनासृतम् ।' (१७।१४) कहा ।

(१५) प्राणसंयम (प्राणायाम) की साधना

योग-साधना नाथ-पंथ की मुख्य साधना है । 'षडङ्ग योग एवं अष्टाङ्ग योग दोनों में 'प्राणायाम' की साधना अङ्गीकृत है । यद्यपि मत्स्येन्द्रनाथ ने गोरक्षनाथ आदि परवर्ती योगियों की भाँति 'अष्टाङ्गयोग' का यथाक्रम चरणबद्ध विधि से वर्णन तो नहीं किया है तथापि तान्त्रिक साधनाओं में भी उन्होंने अष्टाङ्ग योग की उपादेयता को अस्वीकार नहीं किया है । मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—'उत्पातं निक्षिपेदूर्ध्वं प्राणायामेन सुन्दरि ।'

अष्टाङ्गयोग और प्राणायाम—अष्टाङ्ग योग में प्राणों का आयाम (या 'प्राणायाम') योग का चतुर्थ अङ्ग है—**'यमनियमासन प्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान समाधयोऽष्टावङ्गानि ।'** (योगसूत्र : साधनपाद २९)

---

१. कौलज्ञाननिर्णय (प. २०।५)   २. कौलज्ञाननिर्णय (प. १६।५१)

गोरक्षनाथ कहते हैं कि मोक्ष पाने के लिए प्राण पर विजय (प्राणायाम) करना चाहिए—

'तस्माद् योगं तमे वादौ साधको नित्यमभ्यसेत् ।
मुमुक्षुभिः प्राणजयः कर्तव्यो मोक्षहेतवे ॥[1]

यदि जीवितावस्था में ही प्राण का लयीभाव हो जाय तो उस साधक के शरीर का विनाश नहीं होता—

'यस्य प्राणो विलीयन्ते साधके सति जीवति ।
पिण्डे न पतितस्तस्य चित्तं दोषैर्प्रमुच्यते ॥[2]

महर्षि पतञ्जलि का कथन है कि योग के अष्टाङ्गों की साधना से—(१) अशुद्धियों का नाश एवं (२) **विवेकख्याति** पर्यन्त ज्ञान का प्रकाश फैल जाता है—'योगाङ्गनुष्ठानाद शुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ।'[3]

अष्टाङ्ग साधना का फल

(१) अशुद्धियों का ध्वंस

(२) ज्ञानालोक का उदय

प्राण-साधना का फल

(१) प्रकाश के आवरण का क्षय (ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्' —योग सूत्र २।५२

(२) धारणाओं में मन की योग्यता में वृद्धि (धारणासु च योग्यता मनसः—२।५३

प्राणायाम की परिभाषा—प्राण का आयाम ही प्राणायाम है । आसन की सिद्धि होने के बाद श्वास-प्रश्वास की गति का रुक जाना ही 'प्राणायाम' है ।

(१६) प्राणापान-समायोग

प्राण एवं अपान का योग ही 'प्राणापान योग' है । 'अपान' अधोगामी शीतल वायु है और प्राण ऊर्ध्वगामी ऊष्ण वायु है । दोनों परस्पर एक दूसरे को अपनी ओर खींचती है।

योगाग्नि और शरीर—प्राण एवं अपान वायुओं के द्वारा सुर्य एवं चन्द्र में एकता स्थापित होती है और उसके कारण 'योगाग्नि' प्रज्वलित हो उठती है । साधक को इस 'योगाग्नि' में सात धातु (रक्त, मेद, मज्जा, अस्थि, कफ, वात एवं कक आतद) से निर्मित कच्चे शरीर को परिदग्ध करना चाहिए । इससे छेद, घात आदि समस्त व्यथायें नष्ट हो जाती हैं और केवल परमाकाशरूप सिद्ध शरीर अवशिष्ट रह जाता है । उसके शरीर की मृत्यु नहीं होती । उसका शरीर इस जगत में दग्ध वस्त्र की भाँति शेष रह जाता है ।

---

१. योगबीज (८६)   २. योगबीज (८४)
३. योगसूत्र (साधनपाद २।२८)

चूँकि विचारों के द्वारा मन को वश में नहीं किया जा पाता अतः प्राण-संयमन द्वारा ही उन्हें वशीभूत किया जाता है—

'नानाविधैर्विचारैस्तु न साध्यं जायते मनः ।
तस्मात्तस्य जयोपायः प्राण एव हि नान्यथा ॥'[1]

जो (१) प्राण एवं अपान का संयोग है वह 'योग' है । (२) जो रज एवं तम का संयोग है । (३) जो सूर्य एवं चन्द्रमा का संयोग है (४) जो जीवात्मा परमात्मा का संयोग है और जो (५) द्वन्द्वजाल का संयोग है वह 'योग' है ।

'मोऽपानप्राणयोर्योगः स्वरजोरेतसोस्तथा ।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगो जीवात्मपरमात्मनोः ।
एवं तु द्वन्द्वजालस्य योग उच्यते ॥' (८९-९०)

श्रीकृष्ण ने गीता में भी कहा है—

'अपानं जुह्वति प्राणो प्राणापाने तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायाम परायणः ॥

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं कि—**'अनामा पीडयेदूर्ध्वं नाभिञ्च हृदयन्तथा'** अर्थात् अनाम ब्रह्म के स्थान में स्थित चन्द्रमा का निपीडन करके उसके अमृत को नाभि एवं हृदय में स्थापित करो (जो कि मात्र प्राणायाम द्वारा ही सम्भव है)—**'अनामापीडयेदूर्ध्वं नाभिञ्च हृदयन्तथा ।'**[2]

(१७) प्राणतत्त्व और प्राणायाम

संवित् तत्त्व सृष्टि के प्रारम्भ में सर्वप्रथम प्राण के रूप में ही अवतरित हुआ **'संवित् प्राक् प्राणे परिणता ।'** प्राण से देह वज्र बन जाता है । नाथ योगियों ने केवल 'पक्व देह' को ही महत्त्व दिया है । अपक्व देह को नहीं । मत्स्येन्द्रनाथ (प्राणायाम एवं बिन्दु साधना साधित) इस 'वज्रशरीर' की साधना के उपदेष्टा हैं—'वज्रवत्तिष्ठत देहं' (१५।२५)

नाथ पंथियों की साधना में कालवञ्चन, अजपा गायत्री, षट्चक्रभेदन, कुण्डलिनी का आरोहण, अमृतपान, ध्यान, मनोन्मनी, नाड़ीयोग, नादसाधना, चक्रसाधना, ग्रन्थि उद्भेद आदि समस्त साधनायें एवं शरीर का वज्रीकरण आदि सभी साधनायें प्राण साधना सापेक्ष हैं ।

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं कि नाथ साधकों को चाहिए कि वे अमृत को निचोड़कर जननेन्द्रिय, हृदय एवं कण्ठ में स्थापित करें तथा प्राणायाम के द्वारा उस अमृत का ऊर्ध्वारोहण कराकर उसे ऊर्ध्व केन्द्र में स्थापित करें । मलद्वार का निपीडन किया जाय । हृदय कण्ठ आदि स्थानों में उत्पात (ऊपर से गिरे हुए अर्थात् अमृत को) स्थापित करे । (नि = निःशेष रूप से । क्षेप = उछालना, फेंकना, पटकना, भेजना) यह कार्य प्राणायाम क्रिया से निष्पादित किया जाय—

---

१. योगबीज (८०)

२. कौलज्ञाननिर्णय (प. २०।५)

'गुदोर्ध्वम्पीडयेन्नाथ हृदि कण्ठादिकं प्रिये ।
उत्पातं निक्षिपेदूर्ध्वं प्राणायामेन सुन्दरि ॥

कपाल भेदन की क्रिया भी प्राणायाम द्वारा ही निष्पादित की जाती है । कपालभेदन का भी उल्लेख भी मत्स्येन्द्रनाथ ने इस प्रकार किया है—

'कपालं भेदमायातियान्ति जीवो निरञ्जनम्।'

कपालभेदन से निरञ्जन की प्राप्ति कर लेते हैं और शिव बनकर कर्ता, हर्ता, ज्ञाता सभी बन जता है—

'स शिवो व्यापको भूत्वा कर्ता हर्ता वरानने ।
आत्मानं च परं वेत्तिक्तेीत्येवं चराचरम् ॥

चराचर का ज्ञान तो **सद्विद्या** या **शुद्धविद्या** या **शैवीज्ञानशक्ति** द्वारा ही सम्भव है । समाधि के स्तर पर प्राणायाम आवश्यक भी नहीं है—**'मन्त्रजाल विनिर्मुक्तम् प्राणायामविवर्जितम् ।'**—कौलज्ञाननिर्णय (प. १४।१)

'तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥' (२।४९)

गोरक्षनाथ की प्राणायाम विषयक दृष्टि—(१) तर्क, जल्प, शास्त्रजाल, युक्तिसमूह, मन्त्र, भेषज आदि किसी भी साधन से (सिद्धोपाय के बिना) प्राणों को अपने वशीभूत नहीं किया जा सकता—

'तर्कैर्जल्पैः शास्त्रजालैर्युक्तिभिमन्त्रभेषजैः ।
न वशो जायते प्राणाः सिद्धोपायं विना प्रिये '॥[1]

(२) जो प्राण को बिना जीते ही अज्ञानवश योग की इच्छा करते हैं वे योगी कच्चे घड़े पर बैठकर समुद्र पार करना चाहते हैं—

येऽजिज्वा पवनं मोहाद् योगमिच्छन्ति योगिनः ।
तेऽपक्व कुम्भमारुह्य तर्तुमिच्छन्ति योगिनः ॥[2]

(३) प्राणायाम-सिद्धि होने पर शरीर कभी नष्ट नहीं होता और चित्त दोषों से मुक्त हो जाता है और प्राणायाम विशुद्ध होने वाले चित में आत्मज्ञान उदित हो उठता है—

पिण्डो न पतितस्वरूप चित्तं दोषैर्प्रमुच्यते ।
शुद्धे चेतसि तस्यैव स्वात्मज्ञानं प्रकाशते ॥[3]

प्राणायाम सिद्धि

मत्स्येन्द्रनाथ ने निम्न श्लोक के द्वारा 'प्राणचक्र' का परिचय दिया है—

(१) शरीर कभी नष्ट नहीं होता	(२) चित्त दोषों से मुक्त हो जाता है	(३) आत्मज्ञान का उदय होता है

१. योगबीज (८१)
२. योगबीज (८३)
३. योगबीज (८४-८५)

किञ्चिद्दर्शितवर्णाभं प्राणचक्रं सुलोचने ।
प्लावयेत पूर्व चक्रेण पूर्णचन्द्रनिभं तनुः ॥ (१५।१२९)

शरीर में प्राण के एकादश केन्द्र—'कौलज्ञाननिर्णय' के सप्तदश पटल में भैरव ने देवी से कहा है कि 'महायोग' में वर्णन आता है कि शरीर के मध्य निम्न स्थानों पर समीर स्थित है—१. गुह्यस्थान (मलाशय), २. जननेन्द्रिय, ३. नाभि, ४. हृदय, ५. अधोमुख पद्म, ६. घण्टिका, ७. नासाग्रभाग, ८. द्वादशान्त, ९. दोनों भौंहों के मध्य स्थान, १०. ललाट, ११. शिखस्थ ब्रह्मरन्ध्र—

'साधुदेवि! महायोगे योगिनीसिद्धनायिके ।
गूढं गुह्यं सनाभिञ्च हृदि पद्ममधोमुखम् ॥
समीरस्तोभकैचक्रं घण्टिकाग्रन्थि शीतलम् ।
नासाग्रं द्वादशान्तंच भ्रुवोर्मध्ये व्यवस्थितम् ॥
ललाटं ब्रह्मरन्ध्रं च शिखरस्थं सुतेजसम् ।
एकादशविधं प्रोक्तं विज्ञानं देहमध्यतः ॥'

प्राण और आत्मा में एकत्व स्थापना—मत्स्येन्द्रनाथ साधना के क्षेत्र में अकेले प्राण की साधना के पक्षधर नहीं थे। वे प्राण एवं आत्मा में एकत्व स्थापित करके साधना को अग्रपद करना चाहते थे। वे कहते हैं—'**आत्मप्राण समं कृत्वा** ।'[१]

कालवञ्चन और उसकी प्रक्रिया—मत्स्येन्द्रनाथ काल वञ्चन का बार-बार उपदेश दिए हैं।

'वराहोपनिषद' में 'काल वञ्चन' की पद्धति इस प्रकार बताई गई है—१. समग्रीवशिर होकर, २. शरीर को ऋजु एवं सुस्थिर, सुनिश्चित करके, ३. चित्त सावधान करके, ४. दोनों नेत्रों को नासिकाग्र पर फिर हृदय के मध्य और बिन्दु में संयोजित करके, आनन्दरस विभोग तुरीय एवं अमृत का दर्शन करे कि उसमें से आनन्दरस झर रहा है। ५. अपान वायु को गुदाद्वार के ऊपर सिकोड़ कर ऊपर नीचे करे, ६. वायु को सङ्कुचित करते समय अपान वायु को ऊपर खींचा जाय और मन में ध्यान एवं उच्चारण किया जाय, ७. अपान वायु का रेचन करते समय लक्ष्मी बीज 'श्रीं' का उच्चारण एवं ध्यान किया जाय। प्रणव का उच्चारण करते हुए स्वात्मस्वरूप का एवं श्रीं के साथ श्री का ध्यान करे।

'समग्रीवशिरः कायः संवृतास्य सुनिश्चिलः ।
नासाग्रे चैव हृन्मध्ये बिन्दुमध्ये तुरीयकम् ।
स्रवन्तममृतं पश्येन्नेत्राभ्यां सुसमाहितः ।
अपानमुकुलीकृत्य पायुमाकृष्य चोन्मुखम् ।
प्रणवेन समुत्थाय श्रीबीजेन निवर्तयेत् ॥
स्वात्मानं च श्रियं ध्यायेदमृतप्लावनं ततः ।
कालवञ्चनमेतद्धि सर्वमुख्यप्रचक्षेत ॥'

---

१. कौ.ज्ञा.नि. (प. २०।६)

(१८) कालवञ्चन

मत्स्येन्द्रनाथ ने कालवञ्चन की साधना पर बहुत जोर दिया है । अकाल कलित चिद्धाम में समावेश होने पर कालवञ्चन हो जाता है ।

नेत्रतन्त्र (अधिकार ८।५०) में कहा गया है—

कालस्य वञ्चनं नाम योगः परमदुर्लभः ।
अनेनाभ्यासयोगेन मृत्युजिद् भवति नरः ॥[१]
अनेनैव तु योगेन लोकानुग्रह काम्यया ।
भवते मृत्युजिद्योगी सर्वप्राणिषु सर्वदा ॥
एष मृत्युञ्जयः ख्यातः शाश्वतः परमो ध्रुवः ।
अस्मात्परतरो नास्तिः सत्यमेतद्ब्राम्यहम् ॥
यत्परामृतरूपं तु त्रिविधं चोदितं मया ।
तदभ्यासाद्भवेज्जन्तुरात्मनोऽथ परस्व वा ॥ ५३ ॥
अमृतेशसमो देवि! मृत्युजिन्नात्र संशयः ।
येन येन प्रकारेण यत्र यत्रैव संस्मरेत् ।
तेन तेनैव भावेन स योगी कालजिद्भवेत् ॥ ५५ ॥

गोरक्षनाथ ने 'गोरक्षशतक' के ग्रन्थारम्भ में ही कहा है कि मैंने इस ग्रन्थ की रचना तीन प्रधान उद्देश्यों से की है—

'ध्रुवं यस्यावबोधेन जायते परमं पदम् ।
एतद् विमुक्तिसोपानमेतत् कालस्य वञ्चनम् ।

(गोरक्षशतक ४५५)

योग—१. परम पद की प्राप्ति, २. विमुक्ति का सोपान, ३. कालवञ्चन । (गोरक्षशतक ४-५)

हठयोगप्रदीपिकाकार की दृष्टि—स्वात्माराम मुनीन्द्र कहते हैं कि—

(१) भ्रूद्वय के मध्य जो शिवस्थान है उसमें मन को लय रूप **'तुर्यपद'** का उदय होता है । इस स्थिति में उस **'तुर्यपद'** में वहाँ काल का प्रवेश कहा?

(२) **खेचरी मुद्रा की सिद्धि** होने पर भी काल का प्रभाव कहाँ?

(३) यदि **सुषुम्णा में प्राण एवं मन का प्रवेश** हो जाय तो काल का भय कहाँ?

(४) **ब्रह्मरन्ध्र या उन्मनी की स्थिति में प्राण का लय होने पर काल का भय कहाँ?**

'भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते ।
ज्ञातव्यं तत्पदं तुर्यं तत्र कालो न विद्यते ॥ (४।४८)
अभ्यसेत् खेचरीं तावद् यावत्स्याद्योगनिद्रितः ।

---

१. नेत्रतन्त्र (अधिकार ८।५०) २. वराहोपनिषद्

सम्प्राप्तयोगनिद्रस्य कालो नास्ति कदाचन ॥ (४।४९)

काल-वञ्चन—संसार का कोई भी प्राणी मरना नहीं चाहता। वह उन समस्त उपायों, युक्तियों एवं साधनों का प्रयोग करता है जिससे कि वह मर न सके। साधक, योगी, कालै, शैव, शाक्त, वैष्णव, गृहस्थ, सन्यासी आदि सभी मरने से डरते हैं किन्तु मृत्यु अनिवार्य है और प्रत्येक प्राणी की श्वासें गिनती की हैं। उनसे ज्यादा न वह जी सकता है और न उसके पूर्व वह मर सकता है। इन अपरिहार्य विधान के बाद भी योगी और तान्त्रिक सदैव से मृत्यु पर विजय प्राप्त करने का प्रयास करते रहे हैं। उपनिषदों ने भी जीवन की कृतार्थता के कुछ सूत्र निश्चित किए थे जिनमें कहा गया है कि—

(१) **असतो मा सद्गमय।**

(२) **तमसो मा ज्योतिर्गमय।**

किन्तु अन्तिम सूत्र है—

(३) **मृत्योर्मामृतं गमय।**

मैत्रेयी ने भी अमृतत्व को ही सर्वोपरि मानकर पूँछा था कि—'येनाहं नामृतं स्याम् तेनाऽहं किं कुर्याम्?'

नाचिकेता ने भी इसी अमरता को (अमृततत्व) की जिज्ञासा की थी।

कालवञ्चन और मत्स्येन्द्रनाथ की दृष्टि—मत्स्येन्द्रनाथी एवं गोरक्षनाथी दोनों साधन मार्गों में (या पूरे नथ पंथ में) **मृत्युञ्जयत्व की कामना, काल वञ्चन की उत्कण्ठा, काल विजिगीषा** एवं **एतन्मूलक युयुत्सा** (काल से लड़ने की अभीप्सा) अत्यन्त प्रबल रही है।

मत्स्येन्द्रनाथ ने कौलज्ञाननिर्णय के पञ्चम पटल में कहा है कि आकाशावतरित एवं ब्रह्मरन्ध्र से श्रवित अमृत का यदि पान कर लिया जाय तो साधक शीघ्र ही मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है तथा अन्य उपायों से भी अमृतत्व पा सकता है—

(१) स्रवन्तं ब्रह्मरन्ध्रेण अचिरान्मृत्युजिद्भवेत् ॥ (प. ५।७)

(२) अथान्यं सम्प्रवक्ष्यामि मृत्युञ्जय विशेषतः। (प. ५।१२)

(३) कथितं मृत्युञ्जयन्देवि! सर्वज्ञानस्य निर्णयः। (प. ५।३४)

(४) अमरत्वं भवेद्देवि! जयेन्मृत्युं न संशयः। (प. ५।३३)

(५) साम्प्रतं श्रोतुमिच्छामि कालस्य वञ्चनं शुभम्। (प. ६।१६)

(६) कथयामि न सन्देहो यथा मृत्युर्विनश्यति। (प. ६।१७)

(७) मासेन जितयेन्मृत्युं सत्यं सत्यं महातपे। (प. ६।१९)

(८) अब्दमेकं यदाभ्यस्तञ्जरामृत्युर्विनश्यति। (प. ६।२०)

(९) न तस्य भवते मृत्युर्योगयानपरः सदा। (प. ६।२५)

(१०) न मृत्युर्भवते तस्य अब्दात् स्वच्छन्दगो भवेत्। (प. ६।२६)

(११) आगतं नाशयेन्मृत्युं घटिकार्द्धे वरानने। (प. ६।२८)

(१२) कालस्य वञ्चनं देवि! सुगोप्यं प्रकटीकृतम्। (प. ६।२८)

(१३) पलितस्तम्भविज्ञानं जरामरणनाशनम्। (प. ७।१)

(१४) जरामरणनिर्मुक्तो व्याधिरोग-विवर्जितः। (प. ७।१७)

(१५) (चतुर्थ शान्तिक चक्र) 'कुरुते अमरत्वं हि सतताभ्यासतत्परः। (कौलज्ञान-निर्णय प. १०।१९)

(१६) (सप्तम चक्र) जरामृत्युविनाशञ्च परदेहे प्रवेशनम्। (प. १०।२६)

(१७) कालस्य वञ्चनं देवि! रूपस्य परिवर्तनम्। (१४।१८)

(१८) कालस्य वञ्चनं देवि! सिद्धिश्च मानसी भवेत्। (१४।२६)

(१९) (वह्निकौल के प्रसङ्ग में) वश्यमाकर्षणं देवि! जरामरण नाशनम्। (१४।३५)

(२०) पुरप्रवेशमावेशं मृत्युनाशं महातपे। (प. १४।४२)

(२१) न मृत्युर्भवते तस्य अक्षयो ह्यमरद्युतिः। (प. १४।४५)

(२२) क्षणेन मुच्यते रोगैर्व्याधिमृत्युजरादिभिः। (प. १४।५१)

(२३) जरामरणनिर्मुक्तो नित्यं वै योगिनीप्रिये। (प. १४।७३)

(२४) सततमभ्यसेत् प्राज्ञो व्याधिमृत्युर्नविद्यते। (प. १४।७५)

(२५) अक्षयो ह्यमरो भूत्वा कामदेवद्वितीयकेः। (प. १४।८६)

(२६) अमृतेन विना देवि अमरत्वं कथं प्रिये।
अमृतं कौलसद्भावं शृणु कामकलात्मकम्।

(२७) अक्षयो ह्यमरो नित्यो यथार्हन्तिष्ठ मानसः। (प. १५।२२)

कालवञ्चन की पद्धतियाँ—मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं कि—

(१) **चन्द्रमा के स्थान का ध्यान करके** और **ऊर्ध्वचन्द्र के साथ अपना सम्पर्क स्थापित** करके यह कल्पना करनी चाहिए कि मेरा मन उसके दिव्य एवं शीतल सीकरों से सींचा जा रहा है। इससे व्यक्ति सारे रोगों एवं मृत्यु से मुक्त हो जाता है—

'ध्यात्वा चन्द्रासनस्थञ्च ऊर्धश्चन्द्रेण घट्टितम्।
सीकरैः शीतलैर्दिव्यैः सिच्यमानमनुस्मरेत्।
जरामरणनिर्मुक्तं सर्वव्याधिविवर्जितम्।[१]

(२) **द्वितीयविधि**—साधक यह ध्यान करे कि 'चन्द्रमा' मेरी नाभि हृदय एवं मस्तक में स्थित है। ऐसा ध्यान करते रहने से भी एक वर्ष बाद अमृतत्व प्राप्त होगा **'ततः स्वातन्त्र्यमायाति जरामरणवर्जिताम्।** (कौलज्ञाननिर्णय)[२]

---

१. कौलज्ञाननिर्णय (प. ५।१२-१३)
२. कौलज्ञाननिर्णय (प. ५।१६)

अथान्यं शृणु कल्याणि! यथातथ्येन भाविनि ।
ध्यायेच्चन्द्रमिदं नाभिमूर्ध्नि च हृदयगतम् । (प. ५।१६)

इसका अभ्यास एक वर्ष तक करना चाहिए । इससे साधक जरा एवं मृत्यु दोनों से मुक्त होकर अमर हो जाता है ।

षष्ठ पटल में कहा गया है कि—साधक को अमृताप्ति एवं काल वञ्चनार्थ अन्य विधियों का भी प्रयोग करना चाहिए ।

(३) तृतीय विधि—साधक को चाहिए कि वह ब्रह्मप्रकृतिक अमृत से अपने को पूर्ण कर ले और उसे आत्मसात भी कर ले तो एक मास के भीतर वह मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है ।[१] यह अमृत 'ब्रह्मविल' से स्रवित होता है और जिह्वा को तालुमूल में रखकर धीरे-धीरे वायु पीने से छह मासों में प्राप्त होता है और एक वर्ष तक निरन्तराभ्यास से तो जरा एवं मृत्यु पर भी विजय प्राप्त हो जाती है ।[२]

इसका दूसरा फल यह भी कि इससे **'निर्मल देह'** भी प्राप्त होता है और **'अज्ञानपटल' का विनाश** होता है—

'अद्य में निर्मलं देहमज्ञानपटलाहतम् ।
प्रकाशितं महाज्ञानं यत्सुरैरपि दुर्लभम् ॥[३]

उक्त योगाभ्यास से साधक (अमृताप्ति के कारण) एक वर्ष के भीतर मृत्यु पर विजय प्राप्ति के अतिरिक्त—

(१) अतीतानागत (भूत भविष्य का ज्ञान), (२) दूर श्रवण, दूर दर्शन, (३) विषनाशन, गरल पर विजय भी प्राप्त कर लेता है और अमर (अछिद्यमान) हो जाता है—

'अतीतानागतञ्चैव दूरादिश्रवणन्तथा ।
विषं न क्रमते देहे दंशितोऽपि महोरगैः ॥
स्थावरं जङ्गमं वापि कृत्रिमं गरलं तथा ।
छेद्यमानो न छिद्येत तद्गतो तन्मनो यथा ॥[४]

किसी भी अस्त्र-शस्त्र से उसको काटा भी नहीं जा सकता ।

राजदन्त के मध्य बिन्दु या अमृत स्थित है—

द्वौ राजदमध्यस्थं बिन्दुरूपं व्यवस्थितम् ।
अमृतं ते विजानीयाद्वलीपलितनाशनम् ॥ (६।२३)

---

१. कथयामि न सन्देहो यथा मृत्युर्विनश्यति ।
प्रसार्य दन्तुशयान्तु यावद् ब्रह्मविलङ्गतः ।
अमृताग्रं रसाग्रेण दह्यमानसुधीरपि ।
मासेन जितयेन्मृत्युं सत्यं सत्यं महातपे ॥

२. मासेन जितयेन्मृत्युं सत्यं सत्यं महातपे । (१९)
अब्दमेकं यदाभ्यस्तज्जरामृत्युर्विनश्यति । (२०)

३. कौलज्ञाननिर्णय (प. ६।१५-१६)

४. कौलज्ञाननिर्णय (प. ६।२१-२२)

साधक को चाहिए कि शीतल स्पर्श संस्थान में जिह्वा स्थापित करे और अमृतपान करे—**'शीतलं स्पर्शसंस्थाने रसनां कृत्वा तु बुद्धिमान् ।'** (या स्पर्श संस्थान में जिह्वा स्थापित करके शीतल अमृत का पान करना चाहिए ।) उससे साधक की मृत्यु नहीं होती—**'न तस्य भवते मृत्युर्योगयान परः सदा ।'** क्योंकि रसना को तालुमूल में संयोजित करने से व्याधिनाश एवं मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है—**'रसना तालुमूले तु व्याधिनानाशनाय योजयेत् ।'**[1]

साधना विधि—(१) रसना को तालु मूल में स्थापित करना चाहिए । (२) साधक को खड़े होकर, जागृत होकर, स्वप्न देखते हुए, चलते हुए, भोग करते हुए, मैथुन में रत होते हुए, अर्थात् सभी स्थितियों में अपनी जिह्वा को विपरीत गामी दिशा में पीछे की ओर मोड़कर, मन को हृदय में स्थापित करके 'उन्मनी' की अवस्था में पदार्पण करना चाहिए । इससे वह अर्ध घटिका काल में ही समागत मृत्यु का ध्वंस कर सकता है और काल का वञ्चन कर सकता है और यह अत्यन्त गुप्त है ।

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

'रसना तालुमूले तु व्याधिनाशाय योजयेत् ।
तिष्ठन् जाग्रन स्वपन् गच्छन् भुञ्जन मैथुने रतः ॥
रसनं कुञ्चयेन्नित्यं स्ववक्त्रेण तु संयुतम् ।
न मृत्युर्भवते तस्य अब्दात् स्वच्छन्दगो भवेत् ॥
हृदिस्थञ्चमनः कृत्वा यावदुनतां गतः ।
आगतं नाशयेन्मृत्युं घटिकार्द्धे वरानने ॥[2]

(१९) मत्स्येन्द्रनाथोक्त अमृत-साधना और उसके साधन

मत्स्येन्द्रनाथ ने 'कौलज्ञाननिर्णय' में **'मृत्योर्मामृतं गमय'** के आदर्श को कहीं भी विस्मृत नहीं किया और वे इसका बार-बार स्मरण कराते रह गए । यथा—

'मृत्युञ्जयं महादेव कथयस्व प्रसादतः । (५।१)
चन्द्राह्लादकरं दिव्यम् आगच्छन्तं स्वमध्यतः ।
स्रवन्तं ब्रह्मरन्ध्रेण अचिरान्मृत्युजिद्भवेत् ॥ (५।३)
ध्यात्वा चन्द्रासनस्थञ्च ऊर्धश्चन्द्रेण घट्टितम् ।
सीकरैः शीतलैर्दिव्यैः सिंच्यमानमनुस्मरेत् ॥
जरामरणनिर्मुक्तं सर्वव्याधिविवर्जितम् ॥ (५।१३)
ध्यायेच्चन्द्रमिदं देवि! नाभिमूर्ध्नि च हृद्गतम् । (५।१६)
सहस्रदलशोभाढ्यं गोक्षीरधवलोपमम् ।
देव्याचक्रगतश्चक्रं तादृशं खेचरैः स्थितम् ॥
अधश्चक्रसमारूढं ऊर्धचक्रेण प्लावितम् ।

---

१. कौलज्ञानिर्णय (प. ६।२५)
२. कालस्य वञ्चनं देवि! सुगोप्यं प्रकटीकृतम् ।

सततमभ्यसेद्योगी सिंच्यमानश्च विशेषैः । (५।१९)
षोडशारं महापद्मं हिमकुन्देन्दुसम्प्रभम् ।
स्थाने स्थाने तु तंध्यात्वा शिवाद्या वीचिगोचरम्।
बिन्दुधारानिपातैश्च विप्लवैः पूरितन्तनुः ।
निष्क्रान्तं रोमकूपैश्च गोक्षीर हिमसन्निभम् ।
न जरामरणान्तस्य व्याधिरोगं न विद्यते ।
स्वातन्त्रः शिवतुल्यस्तु स्वच्छन्दगति चेष्टितः ।। (५।२४)
प्रसार्य दन्तुरायान्तु यावदब्रह्मविलङ्गतः ।
अमृताग्रं रसाग्रेण दह्यमानसुधीरपि ।
मासेन जितयेन्मृत्युं सत्यं सत्यं महापते ।
रसनातालुमूले तु कृत्वा वायुं पिबेच्छनैः ।
षण्मासादभ्यसेदेवि! महारोगैः प्रमुच्यते ।
अब्दमेकं यदाभ्यस्तञ्जरामृत्युर्विनश्यति ।। (६।२०)
अमृतं तु विजानीयाद्वलीपलितनाशनम् ।
रसना तालुमूले तु व्याधिनाशाय योजयेत् ।। (६।२५)
तिष्ठज्जाग्रन स्वपङ्गच्छन् भुञ्जन मैथुने रतः ।
रसनं कुञ्चयेन्नित्यं स्ववक्त्रेण तु संयुतम् ।
न मृत्युर्भवते तस्य अब्दात् स्वच्छन्दगो भवेत् ।। (६।२७)
हृदिस्थश्च मनः कृत्वा यावदुन्मतां गतः ।
आगतं नाशयेन्मृत्युं घटिकार्धे वरानने ।
कालस्य वञ्चनं देवि! सुगोप्य प्रकटीकृतम् ।। (६।२८)

(२०) अमृत साधन और काया योग

मत्स्येन्द्रनाथ ने यह अनुभव किया कि **'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'** । शरीर के इस महत्व को देखकर उन्होंने शरीर का सन्धान किया तो पाया कि **'यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे'** । प्रश्न यह उठा कि पिण्ड के ब्रह्माण्ड को साक्षात्कृत कैसे किया जाय तथा **'मृत्योर्मामृतं गमय'** के वैदिक आदर्श को चरितार्थ कैसे किया जाय? जब पिण्ड स्थिर होगा तभी तो अमर होगा । इसी 'अमृतत्व' को 'कालवञ्चन' की भी आख्या दी गई ।

मत्स्येन्द्र की काया विषयक दृष्टि—मत्स्येन्द्रनाथ ने अपनी काया विषयक दृष्टि एवं आदर्श काया के सिद्धान्त को कौ.ज्ञा.नि. में इस प्रकार व्यक्त किया—

(१) **निर्मल देह**—अद्य में **निर्मलं देहं** तत्प्रसादेन भैरव । (४।१)

(२) **निर्मल देह**—अद्य में **निर्मल देह**मज्ञान पटलाहतम् । (६।१५)

(१) **साध्य देह**—साधकः साध्यदेहे तु पशुदेहे तु हृद्गतम् । (४।७)

(२) **साध्यदेह**गतश्चिन्त्य निमेषार्द्ध स्तुभ्यते पशुः । (४।९)

वज्रदेह—वज्रवतिष्ठत देहं संहारन्तु न हि प्रिये । (१५।२५)

'योगबीज' में गोरक्षनाथ ने कहा है कि शरीर के दो प्रकार हैं—(१) **परिपक्व देह** =योगयुक्त—योगाग्नि से पका। (२) **अपक्व देह** = योग हीन—जड़। शोक युक्त।

अपक्वाः परिपक्वाश्च द्विविधा देहिनः स्मृताः ।
अपक्वा योगहीनास्तु पक्वा योगेन देहिनः ॥ ३४ ॥

पक्व शरीर—

पक्वो योगाग्निना देप्ती ह्यजड शोकवर्जितः ।
जडस्तत्पार्थिवो ज्ञेयश्चापक्वो दुःखदो भवेत् ॥
शीतोष्णसुखदुःखाद्यैर्व्याधिभिर्मानवैस्तथा ।
अन्यैर्नानाविधैर्जीवैः शस्त्राग्निजलमारुतैः ॥ ३७ ॥
शरीरं पीड्यते चास्य चित्तं संक्षुभ्यते ततः ।
प्राणापान विपत्तौ तु क्षोभमायाति मारुतः ॥ ३८ ॥
ततोदुःखशतैर्व्याप्त चित्तं लुब्धं भवेनृणाम् ॥ ३९ ॥

परिपक्व शरीर के लक्षण (गोरक्षनाथ की दृष्टि)

(१) अहङ्काराभाव (२) आकाश से भी अधिक निर्मल (३) सूक्ष्मतम (४) इच्छारूप	रोगाभाव अजर। अमर। सर्वगामी। सर्वत्रगामी नानारूपात्मक	५ महाभूतों सेअप्रभावित योग बल—प्राप्त।	योगाग्नि द्वारा शरीर के सातों धातु परिदग्ध जीवन्मुक्त योगी का शरीर	'योगदेह' कीप्राप्ति। सर्वदोष शून्य।	अद्वेद्य, अभेद्य, अकाट्य। योगाग्नि से निर्मित
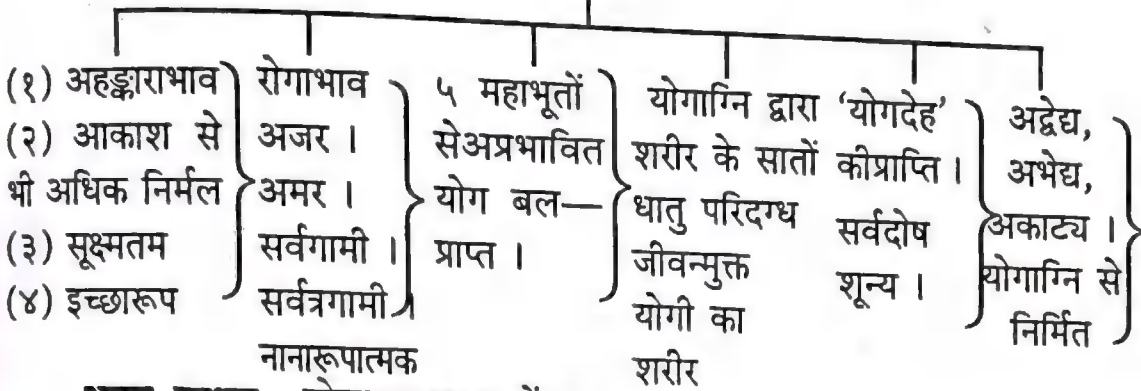
अमृत-साधन—योगतन्त्रसाधना में अमृत साधना, मृत्युञ्जयत्व, कालविजय एवं काल वञ्चन के नाम से की जाती है। भारतीय जीवन के मूल आदर्श सूत्र तीन हैं और उसमें अन्तिम सूत्र **अमृतत्त्वाप्ति** ही है—१. **असतो मा सद्गमय**। २. **तमसो मा ज्योतिर्गमय**। ३. **मृत्योर्मामृतं गमय**।

अमृतत्व साधना को महायोगी मत्स्येन्द्रनाथ ने अतिशय महत्व दिया है। वे कौलज्ञाननिर्णय में कहते हैं—

'देव्याभूत्वा च योगिन्या मातृकावशानुगा ।
लीयन्ते खेचरी चक्रे क्षोभयेत् परमामृतम् ॥
अमृतेन विना देवि! अमरत्वं कथं प्रिये ।
अमृतं कौलसद्भावं शृणु कामकलात्मकम् ॥[1]

अमृत साधन की अनेक प्रकृयायें—जब मैत्रेयी याज्ञवल्क्य से कहती हैं—**'येनाहंनामृतं स्याम् तेनाऽहं किं कुर्याम्'** तब उनके **अमृत का अर्थ** देवों द्वारा पिया जाने वाली भौतिक अमृत नहीं है।

---

१. कौलज्ञाननिर्णय (१४।९३-९४)

अमृत साधना की यौगिक पद्धति—ब्रह्मरन्ध्र में जो सहस्रार नामक पद्म स्थित है उसमें जो 'योनि' है उसमें 'चन्द्रमा' का निवास है। उस त्रिकोणाकार योनि से चन्द्रमृत निरन्तर प्रवाहित होता रहता है और यह (अमृत) इड़ा नामक (वासनासा पुट में स्थित) नाड़ी के द्वारा सदैव धारा रूप में प्रवाहित होता रहता है—

> **ब्रह्मरन्ध्रे** हि यत् पद्मं **सहस्रारं** व्यवस्थितम्।
> तत्र कन्दे हि या योनिस्तस्यां चन्द्रो व्यवस्थित:॥ १२९ ॥
> त्रिकोणाकारतस्तस्या: सुधाक्षरति सनततम्।
> इडायाममृतं तत्र समं स्रवति चन्द्रमा: ॥ १३० ॥
> अमृतं वहति धारा धारारूपं निरन्तरम्।
> वामनासापुटं याति **गङ्गेत्युक्ता** हि योगिभि: ॥ १३१ ॥[१]

मूलाधार चक्र में जो चार दलों वाला कमल है, उसमें एक कन्द है और उस कन्द में **योनि** है। **योनि में सूर्य का निवास है। उस सूर्यमण्डल के द्वार से सदैव विष का स्राव** होता रहता है। यह विष धारारूप होकर पिङ्गला नाड़ी के द्वारा तापयुक्त होकर निरन्तर प्रवहित होता रहता है। यह नाड़ी दक्षिण नासापुट में स्थित है—[२]

कामिकागम की दृष्टि—'कामिकागम' में कहा गया है कि—(१) परा संवित् पहले शक्तिमान शिव से अविभक्त भाव से विमर्श रूप से उल्लसित रहती है। वही विश्वोन्मेष की आकांक्षा के कारण **प्रकृतिरूपा संवित् शक्ति हो जाती** है और अपने यथार्थ स्वरूप का गोपन करती है। 'पहले संवित् शक्ति प्राण रूप में परिणत हुई' (**संवित् प्राक प्राणे परिणता**) प्राण रूप में परिणत यह संवित् शक्ति प्राण और अपान रूप से विभाजित होती है। इसे ही 'प्राणवाह एवं अपानवाह' कहते हैं। यही प्राण एवं अपानदशा में परासंवित् चन्द्रमा के रूप में अमृत की वर्षा करके देहेन्द्रिय वर्ग को तृप्त करती है और प्राणरूप सूर्य इस **चान्द्र कला** को ही प्रविलापित करता रहता है—

> चन्द्रसूर्यात्मना देहं पूरयेत्प्रविलापयेत्।
> अमृतं चन्द्ररूपेण द्विधा षोडशधा पुन: ॥ ९५ ॥[३]

'चन्द्रमा' पीयूष वर्ष कहलाता है। यह अमृतमयी रश्मियों का केन्द्र है। अमृत देव पेय है। यह चन्द्रमा से सदैव स्रावित होता रहता है। यह दो प्रकार का होता है (१) प्रत्यक्ष ज्योतिश्चक्र दृष्ट चन्द्रमा की कलाओं के रूप में (२) अति निर्मल, पूर्ण शुद्ध अपतत्त्व के रूप में।

---

१. शिवसंहिता

२. मूलाधारे हि यत्पद्मं चतुष्पत्रं व्यवस्थितम्।
तत्र कन्देऽस्ति या योनिस्तस्यां सूर्यो व्यवस्थित: ॥ १३४ ॥
तत् सूर्यमण्डलद्वारं विषं क्षरति सन्ततम्।
पिङ्गलायां विषं तत्र समर्पयति तापन:।
विषं तत्र वहन्ती या धारारूपं निरन्तरम्।
दक्षनासापुटे याति कल्पिते यन्तु पूर्ववत्॥ (शिव संहिता)

३. अभिनवगुप्त : तन्त्रालोक (आ. ६।९५)

(१) देवतागण पूर्णिमा से अमावस्या के पहले भी चतुर्दशी तक अमृत पी जाते हैं।

(२) देवता १५ कलाओं को पी सकते हैं। यह प्रतिदिन घटते-घटते अमावयाके दिन समाप्त हो जाता है। कहा गया है कि 'देवों पितरों और मनुष्यों के द्वारा चन्द्रमा प्रतिदिन पिया जाता है। क्षीण होता हुआ अमा के आक्रोश में समा जाता है।'—

यस्मिन् सोमः सुरपितृनरैरन्वहं पीयमानः।
क्षीणः क्षीणः प्रविशति।

आचार्य अभिनवगुप्त की दृष्टि—आचार्य जी कहते हैं—

अमृतं चन्द्ररूपेण द्विधा षोडशधा पुनः ॥ ९५ ॥
पिबन्ति च सुराः सर्वे दशपञ्च पराः कलाः।
अमा शेषगुहान्तःस्थामावास्या विश्वतर्पिणी ॥ ९६ ॥[१]

अमा कला १६वीं कला है। इसी में पन्द्रहों कलायें आवास बना लेती हैं। फिर इसे से पूर्णिमा तक बढ़ती हैं। इसी आवास के कारण इसे अमावास्या कहते हैं। चन्द्रमा की कलाओं के क्रमशः क्षीण होने का यही कारण है। 'अमा कला' सूक्ष्म अपतत्त्व है। इसीलिए सूर्य भी उसे सोख नहीं पाता। यह विश्व को आप्यायित करने वाली 'आप्यायनी कला' है। यही षोडशी है—

एव कलाः पञ्चदश क्षीयन्ते शशिनः क्रमात्।
आप्यायिन्यमृताद्रूपतादात्म्यात्षोडशी न तु ॥ (९७)

१५वीं तुटि के अन्त में अमावस्या का उदय हो जाता है। वहाँ चन्द्रमा क्षीण हो जाता है। १६वीं का अर्धभाग अमावस्य भाग है और आधा भाग प्रतिपद है। अमा भाग के पूर्व कृष्णपक्ष समाप्त हो जाता है अतः इसे शुक्ल पक्ष की सन्धि भी कहते हैं।

*** षोडशी कला के दो भाग ***

(१) आमावस्या भाग (२) प्रातिपद भाग

दोनों के मध्य एक ऐसा बिन्दु है जहाँ तिथि की कल्पना करना सम्भव नहीं होता।

अमाकला के परिवेश में चन्द्रमा सूर्य में पूर्णतया लीन हो जाता है। इससे वह अत्युष्ण होने के कारण अमृत मधु का स्राव करने लगता है। चन्द्रमा के साथ रहने वाला (सिंहिका) का पुत्र राहु उसे पीने लगता है।

स्व. (७।७१०-७१) में कहा गया है कि—प्राण रूप सूर्य में अपान रूप चन्द्र बिम्ब का प्रवेश होता है। प्राणार्क मान है। उसमें मेय चन्द्रमा का प्रवेश होता है। इससे अमृत चूने लगता है। यह चान्द्र पीयूष राहु पीने लगता है। यही समय **ग्रहण** कहलाता है। जब वह अमृत पीकर चान्द्र बिम्ब को मुक्त करता है उसे ही **ग्रहण से मुक्ति का समय** कहते

१. तन्त्रालोक (आ. ६।९५-९६)

हैं। उस समय अपान चन्द्र मुक्त हो जाता है और शुक्ल पक्ष का आरम्भ हो जाता है।

अभिनवगुप्तपादाचार्य कहते हैं—

तत्रार्कमण्डले लीनः शशी स्रवति यन्मधु।
तप्तत्वात्तत्पिबेदिन्दुसहभूः सिंहिकासुतः ॥ (आ. ६।१०१)

स्व. (७।७०-७१) में कहा गया है कि—

'रविबिम्बान्तरे देवि! चन्द्रबिम्बं तदा भवेत्।
तदन्तरे भवेद्राहुरमृतार्थी वरानने।
अमृतं स्रवते चन्द्रो राहुश्च ग्रसते तु तत्।
पीत्वा त्यजति तद्बिम्बं तदा मुक्तः स उच्यते ॥'

सूर्य को प्रमाण कहा जाता है। चन्द्रमा प्रमेय कहा जाता है। इसमें जो सूर्य है वह ज्ञान स्वरूप है और चन्द्रमा क्रिया स्वरूप है। दोनों के संयोग की दशा में माया प्रमाता राहु का लाभ होता है। राहु इसे ग्रस लेने की कला जानता है। वह ग्रास बनाकर सूर्य सोम को पचा नहीं पाता केवल उन्हें आच्छादित कर सकता है। राहु तमोरूप है। सूर्य सोम प्रकाश रूप है अतः प्रकाश अन्धकार से मुक्त हो जाता है।

राहु आच्छादक तो है किन्तु चन्द्र सूर्य का विलापक नहीं है।[1]

'हठयोग प्रदीपिका' के तृतीय उपदेश में बिन्दु साधन एवं अमृत साधना का वर्णन किया गया है इसमें कहा गया है कि–

(१) चलायमान होता हुआ भी बिन्दु योनिमण्डल में पहुँच जाने पर भी **योनिमुद्रा** द्वारा (वज्रोली द्वारा) आकर्षण शक्ति से खिञ्चा हुआ सुषुम्नानाड़ी के बिन्दु के स्थान में पहुँचा जाता है **बिन्दु को अमृत भी कहा गया है।**

तालु के ऊपर के छिद्र की ओर उन्मुख जिह्वा वाला योगी सोमपान (अमृत पान) करता है। (ऊर्ध्व छिद्र में से गिरते हुए चन्द्रामृत पीता है)

'ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः।
मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित्त ॥ (३।४४)

* अमृत पीने वाले को तक्षक नाग का विष भी कुछ भी नहीं कर सकता—

'नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः।
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥ (३।४५)

* सोम (अमृत) से पूर्ण शरीर को जीवात्मा कभी परित्यक्त नहीं किया करता—

'तथा सोमकला पूर्णं देही देहं न मुञ्चति ॥

* जो अमर वारुणी (अमृत) का पान करता है और खेचरी मुद्रा का अभ्यास करता

---

१. तन्त्रालोक (आ. ६)
ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः।
भासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित्त ॥

है वे ही कुलीन हैं अन्य लोग कुल घातक हैं ।[१] यह **अमर वारुणी (अमृत) चन्द्रमा से** प्रवाहित होती है और वह्नि के संयोग से आविर्भूत होती है और जिह्वा को उलटकर तालु में लगाने से जिह्वा को प्राप्त हुआ करती है ।[२]

स्वात्माराम मुनीन्द्र कहते हैं कि मेरु के समान सबसे ऊँची सुषुम्ना नामक जो नाड़ी है उसके उच्चतम भाग में प्रालेय (सोम कला जल अर्थात् अमृत) है । उस अमृत जल वाले स्थान में एक निम्नगामी छिद्र है उससे 'अमृत' टपकता है जो कि चन्द्रमा से स्रवित होता है । उसको पीने से ही **कायसिद्धि** होती है अन्यथा नहीं होती ।[३]

सर्वोच्च मुद्रा वही है जो अमृत साधिका हो अतः सर्वोच्च बीज तो सृष्टि बीज ॐ है और सर्वोच्च मुद्रा (अमृत साधिका) खेचरी मुद्रा है—

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी । (३।५४)

चन्द्र-प्रसूत अमृत और उसका शोषण—चन्द्रमा से स्रवित अमृत दिव्य है उसे सूर्य पी लेता है इसीलिए शरीर रोगाक्रान्त होता है, मर जाता है, अन्यथा ऐसा कभी न हो पाता—

यत्किञ्चित्स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः ।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः । (हठयोग)

अमृतत्व प्राप्ति का केवल एक ही साधन है और वह है—**सूर्य का मुख वञ्चन ।**

तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवञ्चनम् ॥

योगमार्तण्डकार की दृष्टि—योगिवर गोरक्षनाथ ने 'योगमार्तण' में कहा है—

(१) नाभि के मध्य में **दहनात्मक भास्कर** स्थित है ।

(२) तालु के मध्य में **अमृतात्मा चन्द्रमा** स्थित है ।

(३) **अधोमुखी चन्द्रमा सहस्रार में स्थित है और वहीं से अमृत स्राव करता है।**

(४) **इस स्रवित अमृत को मूलाधारस्थ और ऊर्ध्वमुखस्थ सूर्य उस अमृत को** पी लेता है ।

नाभिमध्ये वसत्येषो भास्करो दहनात्मकः ।
अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमध्ये तु चन्द्रमा ॥
वर्षत्यधो मुखं चन्द्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखोरविः ।
विज्ञातस्य करणं तत्र येन पीयूषमाप्यते ॥

---

१. गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ।
कुलीनं तमहं मन्ये चेतरे कुलघातकाः ॥ (३।४७)

२. जिह्वा प्रवेशसम्भूतवह्निनोत्पादितः खलु ।
चन्द्रात् स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी । (३।४९)

३. चन्द्रात्सारः स्रवति वपुस्तेन मृत्युर्नराणां ।
तद्बध्नीयात्सुकरणमथो नान्यथा कायसिद्धि । (३।५१)—हठयोगप्रदीपिका

वर्षत्यधो मुखश्चन्द्रो ग्रसत्यूर्ध्वं मुखो रविः ।
ज्ञातव्यं करणं तत्र तेन पीयूषमाप्यते ॥

अमृतपान की विधि—(विपरीतकरणीमुद्रा)

ऊर्ध्वं नाभिरधस्तालु ऊर्ध्वं भानुरधः शशी ।
करणं विपरीताख्यं गुरुवाक्येन लभ्यते ॥—योगमार्तण्ड
ऊर्ध्वजिह्वस्ततो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।
मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित् ॥—योगमार्तण्ड
काकचञ्चुपुटास्येन शीतलं सलिलं पिबेत् ।
मासार्धेन सम्मोहो सर्वरोगविवर्जितः ॥—योगमार्तण्ड
विशुद्धपरमं चक्रं भूत्वा सोमकलाजलम् ।
उन्मार्गेनात्र जलं याति वञ्चयित्वा मुखे रवौ ॥—योगमार्तण्ड
प्राणापानविधानेन योगी भवति निर्जरः ।
रसनातालुमूलेन यः प्राणं सततं पिबेत् ॥—योगमार्तण्ड
काकचञ्चुवदास्येन शीतलं सलिलं पिबेत् ।—विवेक मार्तण्ड
प्राणापान विधानेन योगी भवति निर्जरः ॥
रसनातालुयोगेन योऽमृतं सततं पिबेत् ।
अब्दार्धेन भवेत्तस्य सर्वरोगपरिक्षयः ॥—विवेक मार्तण्ड
विशुद्धे परमे चक्रं धृत्वा सोमकलाजलम् ।
उन्मार्गेण कृतं याति वञ्चयित्वा खेर्मुखम् ॥—विवेक मार्तण्ड

<u>योगमार्तण्ड</u> में पुनः कहा गया है—

बध्वा सोमकलाजलंसुविमलं कर्णस्थलादूर्ध्वतो
नासान्तो सुचिरेणयाति गमनं द्वारं ततः सर्वतः ।
ऊर्ध्वास्ये भुवि सन्निवेश नयने सिक्ताङ्ग गात्रं पिबेत्
एवं यो विजितेन्द्रियमना नवास्ति तस्य क्षयः ॥

गोरक्षपद्धति के अनुसार इसका पाठ इस प्रकार है—

'बद्धं सोमकलाजलं सुविमलं कर्णस्थलादूर्ध्वतो
नासान्ते सुषिरे नयेच्च गगनद्वारान्ततः सर्वतः ।
ऊर्ध्वास्यो भुवि सन्निपत्य नितरामुत्तानपादः पिबेत्
देवः यः कुरुते जितेन्द्रियगणो नैवास्ति तस्य क्षयः ॥

योगमार्तण्डकार कहते हैं कि जो योगी जिह्वा को ऊपर उठाकर सोमपान करता है वह पन्द्रह दिनों में मृत्यु को जीत लेता है—

'ऊर्ध्वजिह्वस्ततो भूत्वा सोममानं करोति यः ।
मासार्धेन नात्र सन्देहो मृत्युं जयति योगवित् ॥ (१३३)

(**विवेकमार्तण्ड** १४७ वें श्लोक में (अब्दार्धेन अर्थात् ६ मासों में) और **गोरक्षपद्धति** में <u>मासार्द्धेन</u> एवं योगमार्तण्ड में भी <u>मासार्द्धेन</u> पाठ मिलता है ।)

योगी को चाहिए कि वह अपनी जिह्वा के अग्रभाग से राजदन्त (श्रेष्ठ दाँत) से बिल को आच्छादित करके टपकते हुए अमृत रस का पान करे और अमृतमयी वाणी का ध्यान करे ऐसा करने से वह ६ मास के भीतर महान तत्त्वज्ञानी हो जाता है—

'सम्पीड्य रसनाग्रेण राजदन्तैर्बिलं महत् ।
ध्यात्वाऽमृतमयीं देवीं षण्मासेन कविर्भवेत् ॥—योगमार्तण्ड

गोरक्षनाथ कहते हैं कि जो योगी **'लम्बिका'** के अग्रभाग का स्पर्श करती हुई दुग्ध सदृश घी के समान (सहस्रदल कमल के चन्द्रमण्डल से स्रवित) **सोमजल (अमृत) को पीता है वह अमर हो जाता है** और आगम निगम आदि शास्त्रों का धारा प्रवाह व्याख्यान करता है और सारी व्याधियों से मुक्त हो जाता है—

'चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्यन्दिनी
मध्वीकारादुदकस्य दुग्ध सदृशो मिष्टाज्य तुल्स्य च ।
व्याधीनां जरणां जरापहरणं शास्त्रागमोद्गीरणं
तस्यस्यादमरत्वमष्टगुणितं दिव्याङ्गना कर्षणाम् ॥—योगमार्तण्ड

योगी गोरक्षनाथ ने इसी विषय में कहा था कि गगनमण्डल में एक औंधाकुआँ (सहस्रारस्थ निम्नाभिमुखी चन्द्रमा) और उसमें अमृत का वास है । जो गुरुदीक्षित है वह तो उसे यथाकाम खूब पीता है किन्तु अदीक्षित व्यक्ति प्यासा ही लौट आता है—

'गगन मण्डल में ऊँधा कूबा तहाँ **अमृत का वासा** ।
सगुण होई सु भरि भरि पीबै निगुण जाइ पियासा ॥

अमृत पान से मन स्थिर होता है । गोरक्षनाथ कहते हैं—

नीझर झरणैं अमृत जीया यूं मन हूवा क्षीरं ।[१]

जीवन्मुक्त योगी अहर्निश अमृतपान करता रहता है । गोरक्षनाथ कहते हैं—

'जीवता जोगीअमीरस पीवता अहनि अखण्डित धार ।

ऐसा करने से—

'दिष्टि मधे अदिष्टि विचारि बा ऐसा आगम अपार ।'

चन्द्रमा की कलायें और अमृत—योगी गोरक्षनाथ ने सिद्धसिद्धान्तपद्धति में चन्द्रमा की १६ कलायें बताकर उनका उल्लेख इस प्रकार किया है—

उल्लोला, कल्लोलिनी, उच्चलन्तो, उन्मादिनी, तरङ्गिणी, शोषिणी, लम्पटा, प्रवृत्ति, लहरी, लोला, लेलिहाना, प्रसरन्ती, प्रवाहा, सौम्यया, प्रसन्नता, प्लवन्ती एवं चन्द्रस्य षोडशकला सप्तदशीकला निवृत्ति साऽमृतकला । (सिद्धसिद्धान्तपद्धति १।६५)

चन्द्रमा की १६ कलाओं में चन्द्रमा में स्थायी रूप से रहने वाली, प्रलयकाल में भी अक्षुणा रहने वाली सोमरसमयी निजकला का नाम है **'निवृत्ता'** । यही **अमृतकला** है जो कि **'सप्तदशी कला'** कहलाती है ।[२]

१. गोरखबानी (६७) पृ. २४ २. सि.सि.प.

(२१) चक्र-व्योम और चक्र-साधना

पातञ्जल योग में चक्र, ग्रन्थि, कुण्डलिनी, आसन-विज्ञान, नाड़ी योग, अजपा गायत्री, शक्तिसाधना आदि का कहीं भी उल्लेख नहीं है किन्तु तान्त्रिक योग में है। **मत्स्येन्द्रनाथ मुख्यतः तान्त्रिक योग के अनुवर्ती थे**। उनकी साधना में हठयोग से सम्बद्ध चक्र, ग्रन्थि, नाडीयोग आदि सभी तत्त्वों का सन्निवेश है।

कौलज्ञाननिर्णय में पिण्डस्थ चक्रों का यथेष्ट वर्णन तो मिलता है किन्तु तान्त्रिक पद्धति के अनुसार उनके क्रमिक वर्णन (उनके बीज वर्ण, अधिष्ठाता देवता, अधिष्ठात्री शक्ति, उनके वाहन, उनके आयुध, उनके पीठ आदि का सर्वाङ्गपूर्ण यथाक्रम वर्णन) का अभाव अवश्य है। **मत्स्येन्द्रनाथ** ने चक्रो के विषय में यथेष्ट सामग्री प्रस्तुत की है। वे कहते हैं—**(१)**

चतुष्पत्रञ्च अष्टारं द्वादशारं वरानने।
पञ्चारं षोडशारञ्च चतुःषष्टिदलं प्रिये ॥ ६ ॥
शतपत्रं सुशोभाढ्यं **सहस्रं दल** शोभितम्।
कोटिपत्रं सुतेजाढ्यंतस्योर्द्धे अन्यथा शृणु ॥ ७ ॥
अर्द्धकोटिसमायुक्तं **कोटित्रयसमन्वितम्**।
कर्णिकाकेशरैर्युक्तं दीप्यमानं नभस्तले ॥ ८ ॥
तस्योर्द्धे व्यापकंतत्र नित्योदितमखण्डितम्।
स्वातंत्रमब्जमचलं सर्वव्यापी निरञ्जनम् ॥[१]

(२) मत्स्येन्द्रनाथ ने सहस्रदलपद्म (सहस्रार) नामक सप्तम चक्र का भी उल्लेख किया है और कहा है कि—

'सहस्रदलशोभाढ्यं गोक्षीरधवलोपमम्।
देव्याचक्रगतञ्चकं तादृशं खेचरैः स्थितम् ॥
अधश्चक्र समारूढं ऊर्धचक्रेण प्लावितम्।
सततमभ्यसेद्योगी सिंच्यमानश्च विशेषैः ॥
वलीपलित निर्मुक्तः सर्वव्याधिविवर्जितम्।
क्रीडते सः समुद्रान्तं स्वातन्त्रः सिध्यते प्रिये ॥[२]

अर्थात् एक चक्र सहस्रदलों वाला है जो कि गौ के दूध के समान श्वेत है। यह निम्नवर्ती चक्रों के ऊपर स्थित है। सारे निम्नवर्ती चक्र उसी सहस्रार चक्र (तदन्तर्गत स्थित चन्द्र पीयूष) से आप्लिवित होते रहते हैं। यदि कोई साधक उसका ध्यान करे तो वलीपलित एवं सर्व व्याधियों से निर्मुक्त हो जाता है और स्वतन्त्र हो जाता है।

(२२) आध्यात्मिक मण्डल, चक्र, पद्म एवं लोक-कल्पना

साधना के समय साधक को योगसाधना में जो आ. मण्डल, चक्र पद्म एवं लोक दृष्टिगत होते हैं वे भिन्न-भिन्न हैं। **योग शास्त्र में सामान्यतः ७ चक्र (पद्म) या**

१. कौलज्ञाननिर्णय (प. ३।५-१०) २. कौलज्ञाननिर्णय (५।१८-२१)

आध्यात्मिक मण्डल (केन्द्र) स्वीकार किये जाते हैं यथा—१. **मूलाधार चक्र**, २. **स्वाधिष्ठान चक्र**, ३. **मणिपूरक चक्र**, ४. **अनाहत चक्र**, ५. **विशुद्धाख्य चक्र**, ६. **आज्ञाचक्र** एवं ७. शून्य चक्र या सहस्रार या **सहस्रदल पद्म**। इनकी दल संख्या क्रमशः इस प्रकार है—४, ६, १०, १२, १६, २ एवं १०००। किन्तु योगियों ने तन्त्र साधना के समय '**अष्टदलकमल, रोहिणी चक्र, सोम चक्र** आदि अन्य चक्रों का भी साक्षात्कार किया।

मत्स्येन्द्रनाथ ने अनेक नए चक्रों, पद्मों एवं आत्मिक केन्द्रों को भी देखा। वे कहते हैं कि यह भी सत्य है कि ७ पाताल हैं, स्वर्ग हैं और १४ भुवन हैं जो बाह्य हैं—

'सप्तपातालमुद्दिष्टं तस्योर्द्धं स्वर्गसंस्थितम्।
एतानि कथिता भद्रे! भुवनानि चतुर्दश ॥[1]

किन्तु साधनोपयोगी अनेक आन्तर लोक (चक्र, पद्म या आ. मण्डल) हैं। यथा—

चतुष्पत्रञ्च अष्टारं **द्वादशारं** वरानने।
पञ्चारं षोडशारञ्च **चतुःषष्टिदलं** प्रिये ॥ ६ ॥
शतपत्रं सुशोभाढ्यं सहस्रं दल शोभितम्।
कोटिपत्रं सुतेजाढ्यंतस्योर्द्धे अन्यथा शृणु ॥ ७ ॥
अर्द्धकोटिसमायुक्तं **कोटित्रय** समन्वितम्।
कर्णिकाकेशरैर्युक्तं दीप्यमानं नभस्तले ॥ ८ ॥
तस्योर्द्धे व्यापकंतत्र नित्योदितमखण्डितम्।
स्वातन्त्र्यमब्जमचलं सर्वव्यापी निरञ्जनम् ॥ ९ ॥

मत्स्येन्द्रनाथ **चक्राभ्यास** के विषय में कहते हैं—**प्लावयित्वा जगत् सर्वं त्रयचक्रं समभ्यसेत्।'**

वे '**मूलाधारस्थ, नाभिस्थ, हृदयस्थ चक्र, घण्टिका, नासाग्र, द्वादशान्त, भ्रूमध्य, ललाट, ब्रह्मरन्ध्रं**', आदि सभी चक्रों का उल्लेख करते हैं।[2]

(२३) मत्स्येन्द्रोल्लिखित 'सहस्रदलपद्म' का तान्त्रिक योग में वर्णित स्वरूप

पातञ्जल योग में तो नहीं किन्तु तान्त्रिक योग में सहस्रार (शून्य चक्र) या सहस्रदलपद्म का यथेष्ट विवेचन उपलब्ध होता है। उसमें कहा गया है कि—

(१) (आज्ञाचक्र के ऊर्ध्व में **वायु के लयस्थान, हलाकार, वराभयप्रदायक, शुद्धबुद्धिप्रकाशक) महानाद के ऊर्ध्व में स्थित शङ्खिनी नाड़ी के शिखर प्रदेश में विसर्ग नामक शक्ति के अधोदेश में, पूर्ण चन्द्र के समान अत्यन्त शुभ्र प्रकाश वाला सहस्रदलकमल** स्थित है। यह निम्नाभिमुखी है। यह प्रातःकालिक भास्कर की रश्मियों के समतुल्य कान्ति वाला एवं केशर पुञ्ज से युक्त है और केवलानन्द स्वरूप है—

'तदूर्ध्वे शंखिन्या निवसति शिखरे शून्यदेशे प्रकाशं '

---

१. कौलज्ञाननिर्णय (प. २।४) २. कौलज्ञाननिर्णय (१७।२-४)

विसर्गाधः पद्मं दशशतदलं पूर्णचन्द्रातिशुभ्रम् ।
अधोवक्त्रं कान्तं तरुणरविकला कान्तिकिंजल्कपुञ्जं
लकाराद्यैर्वर्णैः प्रविलसितवपुः केवलानन्दरूपम् ॥[1]

(२) उस सहस्रदल पद्म की कर्णिका के मध्य परमामृत समूह से अत्यन्त स्निग्ध दीप्तिवाला, रश्मिसमूह को स्फुरित करता हुआ निष्कलङ्क एवं निर्मल पूर्णचन्द्रमण्डल विद्यमान है। उसके मध्य में विद्युदाकाराकारित एक त्रिकोण स्थित है जो कि निरन्तर स्फुरित होता रहता है। उस त्रिकोण के मध्य बिन्दूरूप शून्य स्थित है और वह समस्त देवगण पूजित एवं अत्यन्त गुप्त है—

समास्ते तस्यान्तः शशपरिरहितः शुद्धसम्पूर्णचन्द्रः
स्फुरज्ज्योत्स्नाजालः परमरसचयस्निग्धसन्तान हासी ।
त्रिकोणंतस्यान्तः स्फुरति च सततं विद्युदाकाररूपं
तदन्तः शून्यं तत् सकल सुरगणैः सेवितं चातिगुप्तम् ॥ ४१ ॥[2]

(३) उस बिन्दु रूप शून्य को यत्नपूर्वक गुप्त रखना चाहिए। **यह अतिशय परमानन्द के विस्तृत समूह का प्रधान मूल है और अति सूक्ष्म है एवं निर्वाणकला के साथ विद्यमान चन्द्र की षोडशी कला द्वारा निर्मल प्रकाश से युक्त है**। इसी स्थान में **परमशिव** स्थित है जो कि शून्याकार, सर्वात्मा, परमानन्द स्वरूप एवं अज्ञानान्धकाररूप मोह को नष्ट करने वाले भास्कर हैं।

'सुगोप्यं तद् यत्नादतिशय परमामोदसन्तानराशेः
परं कन्दं सूक्ष्मं सकलशशिकला शुद्धरूपप्रकाशम् ।
इह स्थाने देवः परमशिवसमाख्यानसिद्धः प्रसिद्धः
स्वरूपी सर्वात्मा रस विरसमितोऽज्ञान मोहान्ध हंसः ॥ ४२ ॥

(४) निरन्तर अतिशय अमृतधारासार की वर्षा करता हुआ वह भगवान् परमशिव निर्मल बुद्धि वाले योगिजनों की स्वात्मज्ञान का बोध कराता है। वही सर्वेश्वर शिव समस्त सुखों की विस्तार धारा को धारण करता है। वही परमहंस नाम से भी विख्यात है। (श्लोक ४३)[3]

(५) परम शिव के इसी स्थान को **शैव शिवस्थान वैष्णव परमपुरुष विष्णु का** स्थान, अन्यलोग **हरिहर पद** देवी के आराधक **देवी का स्थान** एवं अन्य मुनिजन इसे **प्रकृति पुरुष का स्थान** कहते हैं। (श्लोक ४४)

इसी **सहस्रारपद्म** में **अमा** नामक चन्द्र की सोलहवीं कला (षोडशी कला) विद्यमान है जो कि प्रातः कालीन सूर्य की कला के समान रक्तवर्णवाली है। यह अत्यन्त शुद्ध (निष्कलैः) मृणालतन्तु के सौवें भाग के समान सूक्ष्म है, कोटिविद्युतवत ज्योतिष्मती, अधोमुखी एवं नित्यानन्द परम्परा से क्षरित अमृतधारा को धारण करने वाली है। (अमा कला)

---

१. षट्चक्रनिरूपणम् (४०)
२. षट्चक्रनिरूपणम् (४१)
३. षट्चक्रनिरूपणम्

अत्रास्ते शिशुसूर्यसोदरकला चन्द्ररूप सा षोडशी
शुद्धा नीरजसूक्ष्मतन्तु शतधाभागैकरूपा परा।
विद्युत्कोटि समान कोमलतनूर्विद्योतिताऽधोमुखी
नित्यानन्द परम्पराऽतिविगलत पीयूषधाराधरा ॥ ४६ ॥

(७) **अमाकला के भीतर निर्वाणकला** स्थित है। **निर्वाणकला केश के अग्रभाग के एक हजारहवें भाग के समान सूक्ष्म है**। यह समस्त प्राणियों के हृदय में चैतन्य स्वरूप से स्थित रहती है। यह समस्त ऐश्वर्यों से युक्त, नित्यज्ञानप्रदात्री, अर्धचन्द्राकाराकारित एवं समस्त सूर्यों के समान किरणों वाली है। (श्लोक ४७)

'निर्वाणाख्यकलापरा परतरा सोऽऽस्ते तदन्तर्गता
केशाग्रस्य सहस्रधा विभाजितस्यैकांशरूपा सती।
भूतानामधिदैवतं भगवती नित्यंप्रबोधोदया
चन्द्रार्द्धाङ्गसमानभङ्गुरवती सर्वार्कतुल्यप्रभा ॥[१]

(८) **निर्वाणशक्ति**—इस **निर्वाण कला** के मध्य देश में अपूर्वा परमा **निर्वाण शक्ति** विद्यमान है जो कोटिसूर्य के समान अत्यन्त प्रकाशमान है। यह तीनों भुवनों की जन्मदात्री है। यह केशाग्रभाग के एक करोड़हवें भाग के समान सूक्ष्म है। यह निरन्तर क्षरित अमृतधारा को धारण करती है,समस्त जीवों की प्राणरूपा एवं तत्त्वज्ञानप्रदात्री है।

'एतस्या मध्यदेशे विलसति परमाऽपूर्वनिर्वाणशक्तिः
कोट्यादित्यप्रकाशा त्रिभुवनजननी कोटिभागैकरूपा।
केशाग्रस्यातिगुह्या निरवधि विगलत्प्रेमधाराधरा सा
सर्वेषां जीवभूता मुनिमनसि मुदा तत्त्वबोधं वहन्ती ॥४८॥[२]

(९) **निर्वाणशक्ति के मध्य स्थित परमशिव**—उस पूर्वोक्त **निर्वाणशक्ति** के मध्य स्थित शून्य में नित्यानन्द नामक 'शिवपद' विद्यमान है जो कि अत्यन्त निर्मल, नित्य, योगिगम्य, सर्वसुखस्वरूप एवं शुद्धज्ञानस्वरूप है। उसे ही कोई **ब्रह्मपद,** कोई **विष्णुपद,** कोई हंसपद एवं पुण्यात्माजन मोक्ष रूप अनिर्वचनीय आत्मसाक्षात्कार का स्थान कहते हैं।

तस्या मध्यान्तराले शिवपदममलं शाश्वतं योगिगम्यं
नित्यानन्दाभिधानं सकलसुखमयं शुद्धबोधस्वरूपम्।
केचिद् ब्रह्माभिधानं पदमिति सुधियो वैष्णवं तल्लपन्ति
केचिद्धंसाख्यमेतत किमपि सुकृतिनोमोक्षमात्मप्रबोधम् ॥ ४८ ॥[२]

शिवसंहिताकार की दृष्टि—शिव संहिता में कहा गया है कि—

(१) **आज्ञापद्म** से ऊपर तालुमूल में **सहस्रदलपद्म** सुशोभित है और यही **सुषुम्नानाडी** का मूलस्थान है।

(२) यह सुषुम्णा तालुमूल में अधोमुखी है।

(३) मूलाधार से योनि पर्यन्त समस्त नाड़ियाँ तत्त्वज्ञान का बीज हैं और ब्रह्ममार्ग

१-२. षट्चक्रनिरूपणम्

प्रदात्री हैं—

अत: ऊर्ध्वं तालुमूले सहस्त्रारं सरोरुहम् ।
अस्ति यत्र सुषुम्णाया मूलं सविवरं स्थितम् ॥ १५० ॥
तालुमूले सुषुम्णा सा अधोवक्त्रा प्रवर्तते ।
मूलाधारेण योन्यन्ता: सर्वनाड्य: समाश्रिता: ।
ता बीजभूतास्तत्त्वस्य ब्रह्ममार्गदायिका: ॥ १५१ ॥

यद्यपि योग के ग्रन्थों (**षट्चक्रनिरूपण, सिद्धसिद्धान्तपद्धति, शिवसंहिता** आदि ग्रन्थों की भाँति) मत्स्येन्द्रनाथ ने पिण्डस्थ चक्रों का यथाक्रम एवं यथाविवरण विवेचन ता नहीं किया किन्तु उन्होंने मूलाधार चक्र से लेकर ब्रह्मरन्ध्र, सहस्रदलपद्म एवं उन्मना तक के समस्त चक्रों का (कौलज्ञाननिर्णय में) उल्लेख अवश्य किया है । उन्होंने ग्रन्थियों में **ब्रह्मग्रन्थि, पञ्चव्योम** का भी उल्लेख किया है । वे कौलज्ञाननिर्णय के ३१वें औा ३२वें श्लोकं में कहते हैं—

देव्या: चक्रादि देवेशि! **ब्रह्मरन्ध्रावशानुगम्** ।
युक्तं कामकला देवि! पलितस्तम्भनं परम् ।
एतन्ते कथितं गुह्यं **उन्मनज्ञाननिर्णिति:** । (प. ७।३२)

(२४) पञ्चव्योम

मत्स्येन्द्रनाथ ने पञ्चव्योम का **उल्लेख** मात्र किया है किन्तु **गोरक्षनाथ** ने तो उन **पाँचों की सविस्तार विवेचना भी की है ।** उनके अनुसार पञ्चव्योम पराकाश आदि हैं ।

मत्स्येन्द्रनाथ[1] कहते हैं—

प्रसन्ना ये नरा भद्रे! **व्योमध्या**नैकचेतस: ।—(१६।६)

व्योमपञ्चक (गोरक्षनाथ : सि.सि.प.)

१.आकाश २.पराकाश ३.महाकाश ४.तत्त्वाकाश ५.सूर्याकाश

गोरक्षनाथ कहते हैं—

'अथ व्योमपञ्चकं लक्ष्येदाकाशं-पराकाशं-महाकाशं-तत्त्वाकाशं-सूर्याकाश-मिति व्योमपञ्चक बाह्याभ्यन्तरेऽत्यत्तान्धकारनिभं पराकाशमवलोकयेदथवा-भ्यन्तर कालानल सङ्काशं महाकाशमवलोकयेदथवा बाह्यभ्यन्तरे निजतत्त्वस्वरूप तत्त्वाकाशमवलोकयेदथवा बाह्याभ्यन्तरे सूर्यकोटिनिभं सूर्याकाश-मवलोकयेत् स्वयं व्योपञ्चकावलोकनेन व्योमसदृशो भवति ।'

कहा भी गया है कि जो **पञ्चव्योम, नवचक्र, १६ आधार, ३ लक्ष्य को भलीभाँति नहीं जानता वह योगी केवल नाममात्र का योगी है—**

---

१. मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—'ध्यात्वा विद्युल्लताकारं शक्तिर्वै व्योमपञ्चके ।
—कौलज्ञाननिर्णय (४।९)

नवचक्रं कलाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ।
सम्यगेतन्न जानाति स योगी नामधारकः ॥[१]

(१) आकाश और उसका ध्यान—शरीर के बाहर एवं भीतर अत्यन्त निर्मल-निराकार **'आकाश'** का ध्यान करना चाहिए ।

(२) पराकाश और उसका ध्यान—शरीर के बाहर-भीतर अत्यन्त अन्धकारमय **'पराकाश'** का ध्यान करना चाहिए ।

(३) महाकाश और उसका ध्यान—शरीर के भीतर प्रलयाग्नि के समान **'महाकाश'** का ध्यान करना चाहिए ।

(४) तत्त्वाकाश और उसका ध्यान—चिदाकाश या **'तत्त्वाकाश'** का ध्यान करना चहिए ।

(५) सूर्याकाश और उसका ध्यान—शरीर के बाहर भीतर करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाशमय **'सूर्याकाश'** का ध्यान करना चाहिए ।[२]

मत्स्येन्द्रनाथ ने समस्त चक्रों एवं षोडशाधरों का भी उल्लेख करते हुए उन्हें प्राण का केन्द्र **'एकादश विज्ञान'** स्वीकार किया है—

गूढं गुह्यं सनाभिञ्च हृदि पद्ममधोमुखम् ।
समीरस्तोभकं चक्रं घण्टिका ग्रन्थिशीतलम् ॥
नासाग्रं द्वादशान्तं च भ्रुवोर्मध्ये व्यवस्थितम् ।
ललाटं ब्रह्मरन्ध्रं च शिखरस्थं सुतेजसम् ।
एकादशविधं प्रोक्तं विज्ञानं देहमध्यतः ॥[३]

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—साधक को नासा के माध्यम (मार्ग द्वारा) अपनी चेतना को चक्र में स्थापित करना चाहिए ।

चित्त दद्यान्तु चक्रेण नासे दद्यात् विजृम्भिका ।

इसका फल—

'वाचासिद्धिर्भवर्त्येव कामदेवोऽपर प्रिये ।
देवकन्या सुराणाञ्च यक्षविद्याधरो भवेत् ॥ (१४।५४-५५)

(२५) ऊर्ध्वरितसत्व की साधना (बिन्दु-साधना)

मत्स्येन्द्रनाथी तान्त्रिक साधना में ब्रह्मचर्य पर बल तो नहीं दिया गया है तथापि **मत्स्येन्द्रनाथ** ने कहा कि—

अणिमा लघिमा देवि! ऊर्ध्वरेतः प्रवर्तनम् ।
ऊर्ध्वरेता भवेद योगी न योगी करत प्रिये । (कौ.ज्ञा.नि. १४।५७)

मत्स्येन्द्रनाथ ने इस चक्र एवं योग को दुर्लभ भी कहा है किन्तु इस योग से भी

१-२. सिद्धसिद्धान्तपद्धति (२।३०)
३. कौलज्ञाननिर्णय (प. १७।२-४)

महत्तर योग को **योगिनी कौल** कहा है और इसे महान आश्चर्यकरी कहा है—

दुर्लभं तु इमं चक्रं **नास्तियोगं इमम् परम्।**
अत ऊर्ध्वम्परं गुह्यं **योगिनीकौलमुत्तमम्** ।
अभ्यासे तु यदाभ्यस्त महदाश्चर्यकारकम् ॥[1]

खेचरी मुद्रा—मत्स्येन्द्रनाथ खेचरीमुद्रा का अभ्यास करने के लिए आदेश देते हुए उसके द्वारा ध्यान केन्द्रित करने का परामर्श देते हैं—

रसना ऊर्ध्वकं कृत्वा मनस्तिस्मिन्निवेशयेत् ।
सतताभ्यासयेत्तु मुहूर्तं नाशयेत् प्रिये ।
क्षणेन मुच्यते रोगैर्व्याधिमृत्युजरादिभिः ।
नश्यते व्याधिसंघातं सिंहस्यैव यथा मृगाः ।
क्षणेन नश्यते व्याधिः कटुके कुष्ठनाशनम् ॥

(१) **सुस्वादेन** महादेव वलीपलितनाशनम् ।

(२) **क्षीरस्वादेन** मेधावि अमरो जायते नरः ।

(३) **घृतस्वादोपमनं** देवि! स्वातन्त्रन्तु यथा भवेत् ।

खेचरी मुद्रा की सिद्धि से अमृतपान होने लगता है । यहाँ अमृत का नाम तो नहीं लिया गया तथापि सुस्वाद, क्षीर स्वाद एवं घृत स्वाद की बात तो कही ही गई है । क्या ये अमृतपान के पूर्वभाव नहीं हैं?

(२६) ब्रह्मरन्ध्र और उसका स्वरूप

ब्रह्मरन्ध्र—योगियों ने **विविध ग्रन्थों में ब्रह्मरन्ध्र का उल्लेख** किया है और वहाँ से स्रावित अमृत के पान का उपदेश भी किया है । **मत्स्येन्द्रनाथ कौ.ज्ञा.नि. में** कहते हैं—

'चन्द्राह्लादकरं दिव्यम् आगच्छन्तं खमध्यतः ।
स्रवन्तं ब्रह्मरन्ध्रेण अचिरान्मृत्युजिद्भवेत् ॥ (५।७)

शिवसंहिताकार की दृष्टि—शिवसंहिता में कहा गया है कि सहस्रदल पद्म ब्रह्मरन्ध्र में स्थित है—

'ब्रह्मरन्ध्रे हि यत् पद्मं सहस्रारं व्यवस्थितम् ।
तत्र कन्दे हि यायोनिस्तस्यां चन्द्रो व्यवस्थितः ॥
त्रिकोणाकारतस्तस्याः **सुधाक्षरति सन्ततम्** ।
इडायाममृतं तत्र समं स्रवति चन्द्रमाः ॥ १३० ॥
अमृतं वहति धारा धारारूपं निरन्तरम् ।
वामनासापुटं याति गङ्गेत्युक्ता हि योगिभिः ॥ १३१ ॥
आज्ञापङ्कजदक्षासाद् वामनासापुटं गता ।
उदग्वहति तत्रेडा **गङ्गेति समुदाहृता** ॥ १३२ ॥

---

१. कौलज्ञाननिर्णय (प. १४।५८-५९)

शिवसंहिता में कहा गया है कि—

(१) **ब्रह्मरन्ध्र में ही सहस्रदलकमल स्थित है।** इसके **कन्द की योनि में चन्द्रमा** है। त्रिकोणाकार योनि से चन्द्रमा द्वारा अमृत स्राव होता रहता है और यह अमृत इड़ानाड़ी में निरन्तर प्रवाहित होता रहता है।

(२) जिह्वा के मूल में एक सूक्ष्म मार्ग स्तर पर उतरकर यह क्षरित होता रहता है।

(३) जिह्वा को उलटकर कण्ठ कूप (तालुमूल) में उसका अमृत संस्पर्श कराना ही अमृतपान है। इससे घण्टिकाधार में जिह्वा के अग्रभाग से साधक निरन्तर प्रवाहित अमृत का पान किया करता है।

जिह्वा को उलटकर, इडा-पिङ्गला-सुषुम्णा वाले सङ्गम त्रिपथ में लगाना चाहिए। इस खेचरी मुद्रा से जिह्वा को तालुमूल से अमृत प्राप्त होने लगता है—

तेनेषा **खेचरी नाम मुद्रा** सिद्धैर्निरूपिता।
ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः।
मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित्॥

—हठयोग प्रदीपिका (३।३७, ४१, ४४)

ब्रह्मरन्ध्र—स्वात्माराम मुनीन्द्र कहते हैं—

ज्ञात्वा सुषुमना सद्भेदं कृत्वा वायुं च मध्यम्।
स्थित्वा सदैव सुस्थाने ब्रह्मरन्ध्रे निरोधयेत्॥ (४।१६)

अर्थात् सुषुम्णा नाड़ी के भेदन की विधि जानकर और इसी नाड़ी में प्राणवायु को प्रविष्ट कराकर ब्रह्मरन्ध्र (मूर्धावकाश) में उसका निरोध करना चाहिए।

प्राण का ब्रह्मरन्ध्र में निरोध ही उसका **लय** है। यदि ब्रह्मरन्ध्र में प्राण निरुद्ध हुआ तो उसके साथ ही साथ मन भी वहीं निरुद्ध होकर वहीं लयीभूत हो जाएगा।

कौलज्ञाननिर्णय में **ब्रह्मरन्ध्र** का भूरिशः उल्लेख किया गया है—

(१) श्रवन्तं **ब्रह्मरन्ध्रेण** अचिरान्मृत्युजिद्भवेत्। (५।७)

(२) लीनं वे **ब्रह्मरन्ध्रे** तु कृष्णाञ्जनद्रवात्मकम्। (७।६)

(३) खद्योतितगतादूर्द्धं **ब्रह्मरन्ध्रं** लयं गताः। (७।१४)

(४) कण्ठकूपस्थितोद्योतं **ब्रह्मरन्ध्रलयं** गताः। (७।१८)

(५) देव्याः चक्रादि देवेशि! **ब्रह्मरन्ध्रावशानुगम्**। (७।३२)

(६) ललाटं **ब्रह्मरन्ध्रं** च शिखरस्थं सुतेजसम्।

(नासाग्रं **द्वादशान्तं** च भ्रूवोर्मध्ये व्यवस्थितम्)। (१७।३)

प्राण एवं मन के एक साथ लयभाव की पुष्टि **योग वसिष्ठ** में भी इस प्रकार की गई है—

'अभ्यासेन परिस्पन्दे प्राणानां क्षयमागते।

मनः प्रशममायाति निर्वाणमविशिष्यते ॥

जब सुषुम्णा मार्ग से वायु ब्रह्मरन्ध्र में लयीभूत होती है तब रात्रिदिवात्मक काल का विनाश हो जाता है क्योंकि 'भोक्तत्री सुषुम्ना कालस्य'। जब ब्रह्मरन्ध्र में वायु का लय हो जाता है तब साधक योगी की आयु बढ़ जाती है। इतना ही नहीं योगी मृत्युकाल को जानकर अपने ब्रह्मरन्ध्र में प्राणवायु को निलीन कर लेते हैं और अपनी मृत्यु का निवारण कर लिया करते हैं।

ज्योत्स्नाकार ब्रह्मानन्द कहते हैं—

(१) यदा सुषुम्नामार्गेण वायुर्ब्रह्मरन्ध्रे लीनो भवति तदा रात्रि दिवात्मकस्य कालस्याभावायुक्तमभोक्त्री सुषुम्ना कालस्य इति । यावद ब्रह्मरन्ध्रे वायुर्लीयते तावद्योगिन आयुर्वर्धते ।

(२) दीर्घकालाभ्यस्त समाधि योंगी पूर्वमेव मरणकालं ज्ञात्वा ब्रह्मरन्ध्रे वायु नीत्वा कालं निवारयति स्वेच्छया देहत्यागं च करोतीति।ज्योत्स्ना,श्लोक १७। उप. ४

पवन और मन के लय का सिद्धान्त यह है कि—

पवनो बध्यते येन मनस्तेनैव बध्यते ।
मनश्च बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते ॥ (४।२१)

ब्रह्मरन्ध्र का सम्बन्ध सहस्रार से है । 'शिवसंहिता' में कहा गया है कि- ब्रह्मरन्ध्र में जो पद्म (कमल या चक्र) स्थित है वह सहस्रार कहलाता है । इसमें कन्द में जो योनि है उसमें चन्द्रमा व्यवस्थित है । उस त्रिकोणाकार योनि से चन्द्रामृत सदा स्रवित होता रहता है । यह चन्द्रामृत इडा नाड़ी के द्वारा सदैव प्रवाहित होता रहता है—

'ब्रह्मरन्ध्रे हि यत् पद्मं सहस्रारं व्यवस्थितम् ।
तत्र कन्दे हि या योनिस्तस्यांचन्द्रो व्यवस्थितः ।
त्रिकोणाकारतस्तस्याः सुधा क्षरति सन्ततम् ॥
इडायाममृतं तत्र समं स्रवति चन्द्रमाः ।
अमृतं वहति धारा धारारूपं निरन्तरम् ॥ (१२९-१३०)[1]

तालु स्थान में पहले जिस पद्म (चक्र) के सम्बन्ध में कहा गया है । उसके कन्द में पश्चिम की ओर मुख वाली एक योनि है । उसके मध्य मे विवर में सुषुम्ना नाड़ी का मूल है । यही **विवर 'ब्रह्मरन्ध्र' कहा जाता है** और यह **मूलाधार पङ्कज** तक स्थित है—

तालुस्थाने च यत्पद्मं सहस्रारं पुरोदितम् ।
तत्कन्दे योनिरेकास्ति पश्चिमाभिमुखी मता ॥ १५२ ॥
तस्या मध्ये सुषुम्णाया मूलं सविवरं स्थितम् ।
ब्रह्मरन्ध्रं तदेवोक्तमामूलाधारपङ्कजम् ॥ १५३ ॥[2]

सुषुम्णा नाडी के उस रन्ध्र में चिच्छक्ति (अन्तर्शक्ति) कुण्डलिनी स्थित है । **सुषुम्णा में चित्रिणी नाड़ी स्थित** है । उस **चित्रा नाड़ी में ब्रह्मरन्ध्र की स्थिति** है—

१-२. शिव संहिता

तत्रान्तरन्ध्रे चिच्छक्तिः सुषुम्णाकुण्डली सदा ॥ १५४ ॥
सुषुम्णायां स्थिता नाड़ी चित्रा स्यान्ममवल्लभे।
तस्यां मम मते कार्या ब्रह्मरन्ध्रादिकल्पना ॥ १५५ ॥

इड़ा, पिङ्गला एवं सरस्वती नामक जो तीन नाड़ियाँ हैं वे ब्रह्मरन्ध्र में स्थित हैं—ब्रह्मरन्ध्र में ही इन तीन नदियों (गङ्गा-यमुना-सरस्वती या इड़ा-पिङ्गला-सरस्वती) का सङ्गम है।[१]

ब्रह्मरन्ध्रमुखे तासां सङ्गमः स्यादसंशयः ॥

जो **ब्रह्मरन्ध्ररूप सङ्गम** में स्नान करता है वह धन्य है।

तस्मिन्ध्याने स्नातकानांमुक्तिः स्यादविरोधतः ॥ १६३ ॥
गङ्गायमुनयोर्मध्ये वहत्येषा सरस्वती।
तासां तु सङ्गमेस्नात्वा धन्यो याति परां गतिम् ॥ १६४ ॥

यदि साधक आधे क्षण के लिए भी मन को ब्रह्मरन्ध्र में लीन करके स्थिर रहता है तो वह सभी पापों से मुक्त होकर परम गति प्राप्त कर लेता है। जिस योगी का मन इसमें लीन हो जाता है वह साधक समस्त अणिमादि सिद्धियों का फल भोगकर मुझ परमात्मा शिव में प्रतिष्ठित हो जाता है—[२]

ब्रह्मरन्ध्रे मनो दत्वा क्षणार्धं यदि तिष्ठति।
सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम्।
अस्मिन् लीनं मनो यस्य स योगी मयि लीयते।
अणिमादिगुणान् भुक्त्वा स्वेच्छया पुरुषोत्तमः ॥[३]

साधक इस ब्रह्मरन्ध्र के ध्यानमात्र से ही इस संसार में मेरा (शिव जी का) प्रिय हो जाता है। वह सभी पापों को पराजित करके (विनष्ट करके) भुक्ति प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है और अनके मुमुक्षुओं को अद्भुत (अलौकिक) ज्ञान करके उन्हें भवसागर तार देता है—

एतद्रन्ध्रध्यानमात्रेण मर्त्यः
संसारेऽस्मिन् वल्लभो मे भवेत् सः।
पापान् जित्वा भुक्तिमार्गाधिकारी
ज्ञानं दत्वा तारयत्यद्भुतं वै ॥ १७५ ॥ (शिवसंहिता)

ब्रह्मरन्ध्र का सर्वोच्च महत्त्व है क्योंकि ब्रह्मरन्ध्र का ज्ञान ब्रह्मा आदि देवताओं के लिए भी सुलभ नहीं है। इसका ध्यान योगियों को बहुत प्रिय है। इस (ब्रह्मरन्ध्र) का रहय गुप्त रखना चाहिए।[४]

सुषुम्ना नाडी के भेदन को जानकर, प्राणवायु को मध्यनाड़ी में प्रविष्ट कराकर ब्रह्मरन्ध्र (मूर्द्धा के अवकाश) में उसको रोकना चाहिए—

'ज्ञात्वा सुषुम्नासद्भेदं कृत्वा वायुं च मध्यगम्।

१-४. शिव संहिता

स्थित्वा सदैव सुस्थाने **ब्रह्मरन्ध्रे निरोधयेत्** ॥[1]

भास्कर राय कहते हैं—'ब्रह्मरन्ध्रे सहस्रदलं पद्मं तत्र याकिन्याख्या योगिनी तिष्ठति ।'[2]

नाथ पंथ के षोडशाधार एवं ब्रह्मरन्ध्र—सिद्धसिद्धान्तपद्धति में षोडशाधारों में एक आधार **ब्रह्मरन्ध्र** भी कहा गया है । उसमें कहा गया है कि—**'अवशिष्टे षोडशे ब्रह्मरन्ध्रं आकाशचक्रं तत्र श्रीगुरु चरणाम्बुज युग्मं सदावलोकयेदाकाशवत्पूर्णे भवति** ।' (२५)

ब्रह्मरन्ध्र—मत्स्येन्द्रनाथ ने कौलज्ञाननिर्णय में योग साधना से सम्बद्ध एवं सर्वोच्च आध्यात्मिक केन्द्र **ब्रह्मरन्ध्र** शब्द का बार-बार उल्लेख किया है । वे कहते हैं—

तद्योतितगतादूर्द्धं ब्रह्मरन्ध्रं लयं गताः ।
षण्मासासेवनाभ्यताद् वृद्धोऽपि तरुणायते ॥ (७।१४)
कण्ठकूपस्थितोद्योतं ब्रह्मरन्ध्रलयं गता ॥ (७।१८)
देव्याः चक्रादि देवेशि! ब्रह्मरन्ध्रावशानुगम् ॥ (७।३१)

ब्रह्मरन्ध्र और सहस्रार ही अमृतपान योग के मुख्यालम्बन है क्योंकि वहीं अमृत धर शशाङ्क निवास करता है—मत्स्येन्द्रनाथ ब्रह्मरंध्र से अमृत स्राव होने की बात कहकर उसके पीने का उपदेश देते हुए भोगी को अमरता लाना चाहते हैं—

'चन्द्राह्लादकरं दिव्यम् आगच्छन्तं खमध्यतः ।
स्रवन्तं **ब्रह्मरन्ध्रेण** अचिरान्मृत्युजिद्भवेत् ॥ (५।७)

भास्करराय की दृष्टि—भास्कर राय 'ओड्याण पीठ निलया बिन्दुमण्डलवासिनी' वाक्य (ब्रह्माण्ड पुराण : ललितोपाख्यान) की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि बिन्दुमण्डलवासिनी का अर्थ यह है कि **भगवती महात्रिपुर सुन्दरी जहाँ निवास करती हैं उस धाम का ही नाम 'ब्रह्मरन्ध्र' है**—

'बिन्दुः शुक्लं तस्य मण्डलः ब्रह्मरन्ध्रमित्यन्ये ॥[3]

समाधि—अष्टाङ्ग योग का अन्तिम अङ्ग समाधि है । मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

'हृदिस्थन्तु ममः कृत्वातन्निष्ठं यावत्तिष्ठति ।
तावत् समाधिमायातिस्तोभावेशादिलक्षणम् ॥[4]

समाधि है क्या? महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

'तदेवार्थमात्रनिर्माणं स्वरूप शून्यमिव समाधिः ॥[5]

अर्थात् जब ध्यान में केवल ध्येय मात्र की ही प्रतीति होती है और चित्त का निजस्वरूप शून्य सा हो जाता है तब वही ध्यान ही **समाधि** कहलाने लगता है । **समाधि के सविकल्प, निर्विकल्प, सबीज-निर्बीज, संप्रज्ञात-असंज्ञात** आदि अनेक भेद हैं ।

१. हठयोग प्रदिपिका
२. सौभाग्यभास्कर (ललिता. स. १६०)
३. सौभाग्यभास्कर
४. कौलज्ञाननिर्णय (प. १४।३८)
५. विभूतिपाद (२।३।३)

उन्मना भी इसी का स्वरूप है । मत्स्येन्द्र ने उसका भी कई स्थलों उल्लेख किया है यथा—

उन्मनं मनरहितं ध्यानधारणावर्जितम् ।[१]

(२७) द्वादशान्त

इसका नाम **द्वादशान्त** इसलिए है क्योंकि यह द्वादश आधारों के अन्त में स्थित है। निर्विकल्प योगी द्वादशान्त के ऊपर स्थित परमाकाश में पहुँचकर सर्वात्मता की अनुभूति करता है । प्राण और अपान की गति जहाँ उत्पन्न होती है या जहाँ जाकर रुक जाती है उसे द्वादशान्त कहते हैं ।

मत्स्येन्द्रनाथ ने कौलज्ञाननिर्णय में द्वादशान्त का उल्लेख बार-बार किया है । कतिपय प्रमाण देखिए—

द्वादशान्ते यदा पश्येत् **स्फुरन्तं मणिमालिका** ।
तस्य मोक्षो भवेद्यस्तु पापपुण्यैर्न लिप्यते ॥[२]
अनामा हृदये लग्ना मुद्रेयमीश्वरीप्रदा ।
द्वादशान्ते यदा पश्येत् स्फुरन्तम्मणिमालिकः । (१४।९०)
पश्चाद्द्वादशान्तं यावत् शक्त्याचारेण भेदयेत् ॥ (१४।९२)
नासाग्रं द्वादशान्तं च भ्रुवोर्मध्ये व्यवस्थितम् ।
ललाटं **ब्रह्मरन्ध्रं च शिखरस्थं** सुतेजसम् ।
एकादशविधं प्रोक्तं विज्ञानं देहमध्यतः ॥ (१७।३-४)
कृत्वा प्रेतासनं दिव्यं **द्वादशान्तमनासृतम्** । (१७।१४)
गुदस्थमुदयन्तस्या **द्वादशान्ते लयं पुनः** ।
एवं तु चरते हंसो देहमध्ये शुभाशुभे ॥

द्वादशान्त के भेद

(१) शिव द्वादशान्त
(२) शक्ति द्वादशान्त

द्वादशान्त और शिवोपाध्याय की दृष्टि—शिवोपाध्याय कहते हैं—'**सर्वतो रोमकूपान्तरेष्वपि चैतन्यदेवस्य प्रवेशेन शरीरे द्वादशान्तो योऽस्ति ।।**

सारांश यह कि शरीर के प्रत्येक रोमकूप में द्वादशान्त है ।

द्वादशान्त की स्थिति द्वादश आधारों के अन्त में है । सभी नाडियों के अन्त (रोमकूप) में भी प्राण शक्ति स्थित है । अतः यहाँ विद्यमान प्राणशक्ति को भी द्वादशान्त कह दिया गया है अतः यह एक लाक्षणिक प्रयोग है ।

क्षेमराज एवं जयरथ की दृष्टि—क्षेमराज ने नेत्रतन्त्र एवं जयरथ ने तन्त्रालोक की टीका में **द्वादशान्त का अर्थ ऊर्ध्वद्वादशान्त** किया है जिसकी स्थिति शिखान्त में हैं ।

---

१. कौलज्ञाननिर्णय (प. ३।१२)   २. कौलज्ञाननिर्णय (प. ३।१२)

उसमें उन्मना शक्ति का निवास है। अतः इस दृष्टि से ब्रह्मरन्ध्र द्वादशान्त से पृथक् है।

तान्त्रिक योग में बार-बार **'द्वादशान्त' शब्द का प्रयोग** आया है। 'द्वादशान्त' **योग** में वर्णित चक्रों से सम्बन्धन रखता है। मत्स्येन्द्रनाथ 'कौलज्ञाननिर्णय' में कहते हैं—

'कृत्वा प्रेतासनं दिव्यं **द्वादशान्तमनावृतम्** ॥ (१७।१४)
द्वादशान्ते यदा प्रश्येत् स्फुरन्तं मणिमालिका।
तस्य मोक्षो भवेद्यस्तु पापपुण्यैर्न लिप्यते ॥ (१३।६)
अधोर्ध्वे रमते हंसो **द्वादशान्ते** लयं पुनः। (१७।१८)
गुदस्थ मुदयन्तस्या **द्वादशान्ते** लयं पुनः ॥ (१७।२३)

चक्र और द्वादशान्त—

'गूढं **गुह्यं** सनाभिश्च हृदि पद्ममधोमुखम्।
समीरस्तोभकं चक्रं घण्टिकाग्रन्थि शीतलम् ॥
नासाग्रं द्वादशान्तंच भ्रुवोर्मध्ये व्यवस्थितम्।
ललाटं ब्रह्मरन्ध्रं च शिखरस्थं सुतेजसम् ॥
एकादशविधं प्रोक्तंविज्ञानं देहमध्यतः ॥ (१७।२-४)

मत्स्येन्द्रनाथ पुनः कहते हैं—

'सहस्रदल शोभाढ्यं गोक्षीरधवलोपमम्।
देव्या चक्रगतश्चक्रं तादृशं खेचरैः स्थितम् ॥ (५।१८)

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं कि अपने को शव पर आसीन करके, गन्ध एवं धूप से सुगन्धित भूगृह निर्जन देश में स्थित होकर मानसिक रूप से 'द्वादशान्त' में समासीन होना चाहिए। उसे श्वेतवस्त्र धारण करके श्रीखण्ड (चन्दन द्रव) से यन्त्र-निर्माण करना चाहिए।

'कृत्वा प्रेतासनंदिव्यं द्वादशान्तमनासृतम्।
भूगृहे निर्जने देशे गन्ध धूप सुधूपिते।
शुक्लाम्बरधरोभूत्वा श्रीखण्डेन विलेखयेत्।
पर्यङ्कं विन्यसेत्तत्र सुसहाय समन्वितम् ॥[१]

साधक को अपनी सुन्दर **'महामुद्रा' (सहायिका योगिनी)** के साथ पर्यङ्क पर समासीन होना चाहिए। इस स्थिति में **साधक को विश्व से ऐकात्म्य स्थापित करके और महानिद्रा (तुरीयावस्था) की उस अवस्था में स्थित होना चाहिए।** जिसमें कि योगी न तो किसी की बात सुनता है और न किसी को देख पाता है, न उसे सुगन्ध का ज्ञान होता है और न दुर्गन्ध का, उसे न तो कपूर का ज्ञान नहीं होता और न तो चन्दन का—अर्थात् किसी का भी ज्ञान नहीं होता। इसे ही **'महाव्याप्ति'** कहते हैं। उस **विश्वात्मैक्य प्राप्त 'तत्त्वज्ञ' की यही दशा हुआ करती है। वह 'तत्त्वज्ञ'** योगी—

१. अतीत और अनागत (भूत-भविष्य) दोनों का ज्ञाता होता है।

---

१. कौलज्ञाननिर्णय (प. १७।१४-१५)

२. वह काल पर विजय प्राप्त कर लेता है।

३. वह सर्वकर्ता, सर्वविनाशक भी होता है।

४. वह निम्नवर्ती एवं ऊर्ध्ववर्ती सारे (जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ महापुरुष) फिर 'द्वादशान्त' में लयी भूत हो जाता है।[१]

द्वादशान्त में लयीभूत यह तत्त्वज्ञ योगी, कुम्भ में स्थित जल की भाँति अपने हृदय में स्थित रहता है और वहाँ निश्चल रहता है। वह कमल के रेशों की भाँति भावाभाव विवर्जित रहता है।

वह जीवन्मुक्त, द्वादशान्तासीन तत्त्वज्ञ, योगी न धारणाओं का अभ्यास करता है और न तो आधेय का इतना होने पर भी वह सर्वज्ञ होता है और सर्वतोदित (सर्वव्यापक) होता है। वह ऊपर एवं नीचे दोनों ओर चलता है। वह सहजतत्त्व में निवास किया करता है और जैसे अपनी आत्मा में रमण करता है वैसे ही दूसरों की आत्मा में भी आनन्द पूर्वक विहार किया करता है। इस रहस्यात्मक तत्त्व जानकर वह भव बन्धन से मुक्त हो जाता है।[२]

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं कि पादतल से मूर्द्धापर्यन्त गई हुई **'वामाशक्ति'** जो कि कुण्डला काराकारित है गुदा स्थान से चलकर अन्त में **द्वादशान्त में लयीभूत हो जाती** है—

आपादतलमूर्द्धान्तावामाख्यं कुण्डलाकृतिम्।
गुदस्थमुदयन्तस्या द्वादशान्ते लयं पुनः ॥ (१७।२३)

(२८) अष्टदलात्मक चक्र का ध्यान

मत्स्येन्द्रनाथ चन्द्रसन्निभ श्वेत एवं शीतल किसी ऐसे अष्टपत्रात्मक पद्म (चक्र) का ध्यान करने का उपदेश देते हैं जो कि केशस्कन्ध के रोम कूपों के निकट कपाल में स्थित है। वे कहते हैं कि उसके तेज (किरणों) से अपने शरीर को रज्जित रूप में ध्यान करना चाहिए।

'मूलाधार' आदि सात चक्रों में अष्टदलात्मक कोई भी चक्र नहीं है। हृदय के 'अनाहतचक्र' में १२ दल हैं किन्तु यहीं **अष्टदलात्मक 'अष्टदलकमल'** भी है जिसके प्रत्येक दल एवं केन्द्र में मनोवृत्तियों का केन्द्र माना गया है। **'अष्टकमलदल चकरी डोलै पाँच तत्त्व गुन तीनी चदरिया। झीनी झीनी बीनी चदरिया'**— कहकर **कबीर** ने भी इसका उल्लेख किया है।

---

१. **महाव्याप्ति महानिद्रां न शृणोति न पश्यति।**
सुगन्धं पूतिगन्धं वा कर्पूरश्चन्दनादिषु ॥
न गन्धं वेत्ति तत्त्वज्ञो **महाव्याप्तिरियं** प्रिये।
अतीतानागतश्चैव तस्मिन् कालस्य वञ्चनम् ॥
कर्ता हर्ता भवेद्देवि! यदुक्तो वीरमातरे।
अधोर्ध्वे रमते हंसो **द्वादशान्ते** लयं पुनः ॥ (१६-१८)

२. कौलज्ञाननिर्णय (प. १७।१९-२१)

(२९) 'षोडशार चक्र'

मत्स्येन्द्रनाथ षोडशार चक्र की कल्पना इस प्रकार भी की है।

पिङ्गग्रन्थिगतश्चक्रं **षोडशारं** सुतेजसम्।
सा द्रवं कृष्णवर्णाश्च **षोडशस्वर** भूषितम्।
खद्योलित गतादूर्ध्व **ब्रह्मरन्ध्रं** लयं गताः ॥(प. ७।१३-१४)

अष्टपत्रात्मक चक्र—मत्स्येन्द्रनाथ ने एक अष्टदल कमल की भी कल्पना की है। उन्होंने कहा है कि एक ऐसे अष्टपत्रात्मक चक्र पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए जो कि चन्द्रमा के समान (श्वेत) एवं शीतल है। यह केशस्कन्ध एवं कपाल के मध्य अर्थात् मेरुदण्ड एवं रोमकूप-रन्ध्र के निकट स्थित कपाल में स्थित है। एक वर्ष या छः मासों तक इस पर ध्यान लगाने से साधक जरा-मरण-व्याधि-रोग से मुक्त एवं तरुण हो जाता है और सृष्टि तथा संहार करने की शक्ति प्राप्त कर लेता है।[१] इस प्रक्रिया में साधक को यह भी ध्यान करना पड़ता है कि उस कमल के तेज (किरणों) से उसका अपना शरीर रञ्जित हो उठा है—

'रञ्जयेत् तस्य तेजसा' (कौलज्ञाननिर्ण)

अष्टपत्रद्रवश्चैव शीतलं चन्द्रसन्निभम्।
केशस्कन्ध कपालस्थं रञ्जयेत् तस्य तेजसा।
अब्दार्द्धं वत्सरं वापि वृद्धोऽपि षोडशाकृतिः।
जरामरणनिर्मुक्तो व्याधिरोग विवर्जितः।
योगिनीगणसामान्या सृष्टि संहारकारकः ॥[२]

अष्टपत्र और उसमें स्थित द्रव शीतल एवं चन्द्रकल्प श्वेत है—'अष्टपत्रद्रवश्चैव शीतलं चन्द्रसन्निभम्।'

कण्ठकूपस्थितोद्योतं ब्रह्मरन्ध्रलयं गता।
सा द्रवभञ्जनश्चैव रोम कूपादि निर्गतम्।

कहकर पूर्वोक्त अञ्जन द्रव के विषय में मत्स्येन्द्र नाथ कहते हैं कि उस अञ्जन को रोमकूपों से निकलते हुए कल्पित करके उसका ध्यान करने से उसके बाल सदैव काले रहते हैं और वह ध्याता कामदेव के समान सुन्दर हो जाता है और उसके रोम सदैव घने रुप में उत्पन्न होते हैं। इस ध्यान के निम्नाङ्कित फल होते हैं—१. प्रथमे जन वात्सल्यं, २. द्वितीये रुजनाशनम (रोग का नाश)।

(३०) अनेक दलों से युक्त अनेक कमल

मत्स्येन्द्रनाथ ने १०००,५,८,१०,१२,१६,१०० एवं **करोड़ पत्रों वाले विविध कमलों (चक्रों) का उल्लेख किया है—**

१-२. कौलज्ञाननिर्णय (प. ७।१६-१७)

एकादशविधा देवि! चक्राणि च सहस्रिका।
पञ्चारं अष्टपत्रञ्च दश द्वादशपत्रकम्।
षोडशं शतपत्रञ्च कोटिपत्रं यथैव च।[1]

इन स्थानों में ध्यानाभ्यास करने पर अनेक भिन्न-भिन्न फल प्राप्त हुआ करते हैं यथा—

१. रक्त वर्ण का ध्यान — वशीकरण-सिद्धि। महाभोगों की प्राप्ति।
२. पीत वर्ण का ध्यान — स्तम्भन-सिद्धि।
३. धूम्रवर्ण का ध्यान — उच्चाटन-सिद्धि।
४. शुक्लवर्ण का ध्यान — आप्यायन एवं शान्ति की सिद्धि।
५. गोक्षीर धारा के समान धवलवर्ण का ध्यान—मृत्युञ्जयत्व।
६. प्रतप्त स्वर्ण के रंग का ध्यान — पुरक्षोभादिसिद्धि।[2]

३. 'तृतीये च कवित्वं हि सालङ्कारमनोहरम्।'
४. 'चतुर्थे वाचकाभित्वं'
५. 'दूराश्रवणं पञ्चमे'
६. 'भूमित्यागन्त वेधं षष्ठमन्यत् प्रकीर्तितम्।'
७. योगिनी मेलकत्वंञ्च सप्तमे जायते ध्रुवम्।
८. जरापहरणन्देवि! अष्टमे भवते प्रिये।
९. नवमे चण्डवेगत्वं।
१०. दशमेऽनेकरुपधृक।

एकादश गुणं शान्त त्रिविधा चैव वर्जितम्।
एकादशगुणोपेतं पूज्यतेऽसौ यथा शिवम्॥
इच्छयारोहणं कुर्याद्वर्णनं नृत्यमेव च।
यतस्तत्रैव गन्तव्यं यत्र वा रोचते मनः॥'

११. 'एकादश गुणं शान्तं' (साधक को शान्ति-प्राप्ति)।

१२. यथाकाम आरोहण, यथाकामवर्णन, यथाकाम नृत्य, यथा काम यात्रा या गमन—

इच्छयारोहणं कुर्याद्वर्णनं नृत्यमेव च।
यतस्तत्रैव गन्तव्यं यत्र वा रोचते मनः।[3]

मत्स्येन्द्रनाथ ने अन्य चक्रों की भी उद्भावना की है यथा—१. द्वितीयन्तु महाचक्रं सर्वाकृष्टि प्रवर्तकम्। (१०८)

---

१. कौलज्ञाननिर्णय (प. ५।२५-२७)
२. कौलज्ञाननिर्णय (प. ५।२८-३०)
३. कौलज्ञाननिर्णय (प. ७।२५)

२. **तृतीयन्तु महाचक्रं** परकाय प्रवेशनम् ।

३. **चतुर्थं शान्तिचक्रं** मुक्तिभुक्तिप्रदं शुभम् ।

४. **पञ्चमन्तु महाचक्रं** ध्यानपूजाक्रमेण तु ।

५. **षष्ठं चैव महाचक्रं** धर्मार्थकामकोक्षदम् ।

६. **सप्तमञ्चक्रं** देवेशि सैन्यस्तंभकरं परम् ।

७. **अष्टमं चक्रमुद्दिष्टं** इच्छासिद्धिप्रवर्तकम् ।[1]

(३१) ब्रह्मग्रन्थि

मूलाधार चक्र से **आज्ञाचक्र** के मध्य **तीन ग्रन्थियाँ स्थित** हैं। इन्हें कहते हैं—१. ब्रह्मग्रन्थि, २. विष्णुग्रन्थि एवं ३. रुद्र ग्रन्थि।

इन तीनों ग्रन्थियों की स्थिति के स्थलों पर मतैक्य नहीं है। **'ललितासहस्रनाम'** में इनकी स्थिति इस प्रकार है—

१. मूलाधार चक्र में है — **ब्रह्मग्रन्थि** ।

२. मणिपूर चक्र में है — **विष्णुग्रन्थि** ।

३. आज्ञा चक्र में है — **रुद्रग्रन्थि** ।

मूलाधारैकनिलया ब्रह्मग्रन्थिविभेदिनी ।
मणिपूरान्तरुदिता विष्णुग्रन्थिविभेदिनी ॥

१. ब्रह्मग्रन्थिस्थिताद्ये तां त्रीणि एवं वरानने । (७।१०)

२. अथान्यं संप्रवक्ष्यामि ब्रह्मग्रन्थिविनिर्णयम् ॥ (१४।२४)

'हठयोग प्रदीपिका' में नाद की आरम्भावस्था से ब्रह्मग्रन्थि का सम्बन्ध बताते हुए कहा गया है कि—

'ब्रह्मग्रन्थेर्भवेद्भेदो ह्यानन्दः शून्यसम्भवः ।
विचित्रः क्वणको देहेऽनाहतः श्रूयते ध्वनिः ॥' (४।७०)

ज्योत्स्नाकार ने 'ब्रह्मग्रन्थि' को अनाहत चक्र में माना है—**'ब्रह्मग्रन्थेरनाहत चक्रे वर्तमानायाः'** (४।७०)

ज्योत्स्नाकार की दृष्टि—

१. अनाहत चक्र में **'ब्रह्मग्रन्थि'** है।

२. विशुद्धाख्य चक्र (कण्ठस्थान) में **'विष्णुग्रन्थि'** है।

(ततो ब्रह्मग्रन्थिभेनानन्तरं विष्णुग्रन्थेः कण्ठे वर्तमानायाः)

३. आज्ञाचक्र (भ्रूद्वय के मध्य) **रुद्रग्रन्थि** है—

(आज्ञा चक्रे रुद्रग्रन्थिः शर्वस्येश्वरस्य पीठं)

---

१. कौलज्ञाननिर्णय (प. ८।३३-४३)

१. नाद साधना की आरम्भावस्था में सुषुम्ना में प्राण का लय— 'ब्रह्मग्रन्थि' का भेद (अनाहत या हृदयाकाश) में होता है।

२. घटावस्था में प्राण वायु (अपान, नाद एवं बिन्दु से संयुक्त होकर) मध्य (विशुद्ध चक्र-कण्ठस्थान) में प्रविष्ट होती है। **'विष्णु ग्रन्थेस्तथा वेधात् परमानन्द सूचकः।' कण्ठ स्थान में विष्णु ग्रन्थि का भेदन होता है।**

३. भ्रूमध्य में अहङ्कारात्मक रुद्रग्रन्थि स्थित है। **रुद्रग्रन्थिं ततो भित्वा सत्वपीठ गतोऽनिलः।**[१]

रुद्रग्रन्थि = **'आज्ञाचक्रैकनिलया रुद्रग्रन्थिविभेदिनी। ब्रह्माण्ड पुराण ललिता सहस्रनाम।'**

(३२) नाड़ीयोग और मन्त्र-जप

मत्स्येन्द्रनाथ ने यौगिक साधना के अङ्गभूत नाड़ीमण्डल को भी महत्त्व देते हुए कहा है कि पिण्ड विद्यामन्त्रमय है और यह भुक्तिमुक्तिप्रद है। प्रत्येक नाड़ी के ऊर्ध्व एवं अधोदेश में ज्योति जलाकर साधक को गले हुए (द्रवीभूत) काञ्चन की कान्ति वाले 'वं' बीज का जप करना चाहिए—

साधु साधु महादेवि! कथयामि महातपे।
कुलपिण्डं समालिख्य नाडी नाडीमुखैः सह ॥ ४ ॥
विद्यामन्त्रमयं पिण्डं भुक्तिमुक्तिप्रदं शुभम्।
नाडी नाडीमुखैवर्षापि अधोर्द्ध्वं रेफदीपितम्।
वायुविष्णुः सबिन्दुश्च तप्तचामीकरप्रभम् ॥[२]

योगशास्त्र में नाडीयोग—शरीर में साढ़े तीन करोड़ या ७२००० नाड़ियाँ हैं। इनमें १४, १४ में १० एवं १० में ३ एवं ३ में एक प्रख्यात है। वराहोपनिषद में नाड़ी मण्डल का विवरण इस प्रकार दिया गया है—

तत्रैव नाड़ीचक्रस्तुन्तु द्वादशारं प्रतिष्ठितम्।
ब्रह्मरन्ध्रं सुषुम्णायाः या वदनेन पिधाय सा।
अलम्बुषा सुषुम्णायाः कुहूनाडी वसत्यसौ॥ २३ ॥
अनन्तरार युग्मे तु **वारुणा** च **यशस्विनी**।
दक्षिणारे सुषुम्णायाः **पिङ्गला** वर्तते क्रमात् ॥ २४ ॥
तदन्तरारयोः पूषा वर्तते च पयस्विनी।
सुषुम्णा **पश्चिमे चारेस्थिता नाडी सरस्वती**॥ २५ ॥
शङ्खिनी चैव **गान्धारी** तदनन्तरयोः स्थिते।
उत्तरे तु सुषुम्णायाः **इडाख्या** निवसत्यसौ ॥ २६ ॥
अनन्तरं **हस्तिजिह्वा** ततो **विश्वोदरी** स्थिता।
प्रदक्षिणक्रमेणैव **चक्रस्यारेषु नाडयः** ॥ २७ ॥

---

१. अमरौघप्रबोध
२. कौलज्ञाननिर्णय (प. ४१४-५)

वर्तन्ते द्वादशा ह्येता **द्वादशानिलवाहका:** ।
पटवत्संस्थिता नाड्योनानावर्णाः समीरिताद्यः ॥ २८ ॥
पटमध्यं तु यत्स्थानं **नाभीचक्रं** तदुच्यते ।
नादाधारा समाख्याता ज्वलन्ती नादरूपिणी ॥ २९ ॥
पररन्ध्रा सुषुम्णा च चत्वारो रत्नपूरिता: ।
कुण्डल्यापिहितं शश्वद् **ब्रह्मरंध्रस्य मध्यमम्** ॥ ३० ॥

(३३) पीठतत्त्व और पीठ-विज्ञान

योगशास्त्र एवं तन्त्रशास्त्र की साधना में पीठों-उपपीठों का अत्यधिक महत्त्व है। मत्स्येन्द्रनाथ ने उनका भी वर्णन इस प्रकार किया है—

.... देवि पीठजा: कथयामि ते ॥ (८।१९)
प्रथमं पीठमुत्पन्नं **कामाख्या** नाम सुव्रते ।
उपपीठस्थिता सप्त देवीनां सिद्ध आलयम् ॥ (८।२०)
पुन: पीठं द्वितीयन्तु संज्ञा **पूर्णगिरि** प्रिये ।
ओडियान महापीठ मुप पीठ समन्वितम् ॥ (८।२१)
अर्वुदमर्द्ध पीठन्तु उपपीठसमन्वितम् ।
पीठोपपीठ सन्दोहं क्षत्रोपक्षत्रमेव च ॥
पीठाद्यादेवतानां च शृणु पूजाविधिं प्रिये । (८।२२)[1]
पीठोपपीठ सन्दोहे ये जाता वरयोगिनी ।
एतैस्तु पूजिता भद्रे! सर्वे सिध्यन्ति मातरा: ॥ (८।२३)

मत्स्येन्द्रनाथ जी ने **श्रीशैलपर्वत महेन्द्र पर्वत** एवं **कामाख्या** को पीठ के रूप में स्वीकार किया है—

श्रीशैले नाम संसिद्धिर्महेन्द्रे राजसं स्मृतम् ।
सात्विकं योग संयुक्तं **कामाख्यं** पीठमास्मृतम्॥ (१६।७)
श्रीशैलश्च महेन्द्रश्च पीठका(मा)ख्य विश्रुतम् ।
सन्निधानो ह्यहं भद्रे! त्रिष्कालसिद्धिमेलकम् ॥ (१६।५)

मुख्य पीठ तो १. **उड्डीयानपीठ**, २. **जालन्धरपीठ**, ३. **पूर्णगिरिपीठ**, ४. **कामरूपपीठ**, ५. **आनन्दपीठ**, ६. **योगपीठ**, ७. **सिद्धपीठ**, ८. **शक्तिपीठ** आदि ही हैं।

कामरूप पीठ—जब पराशक्ति आत्मगर्भस्थ एवं अपने साथ एकीभूत विश्व को अर्थात् प्रकाश को देखने के लिए उन्मुख होती है तब मात्रावच्छिन्न शक्ति और शिव साम्यभावापन्न होकर एक 'बिन्दु' के रूप में परिणत हो जाते हैं जिससे कि पारमार्थिक चैतन्य प्रतिफलित होकर ज्योतिर्लिंगरूप में प्रकट होता है। यही बिन्दु तान्त्रिक परिभाषा में **'कामरूप पीठ'** कहलाता है। पीठ में **अभिव्यक्त चैतन्य स्वयंभू लिङ्ग** के नाम से कहा जाता है। **'शक्तिपीठ'** एक मात्रा शक्ति अंश एक मात्रा शिव अंश को समभाव में लेकर संघटित होती है। शक्ति और शिव के इसी अंशद्वय को **'शान्ता शक्ति'** एवं **'अम्बिका**

१. कौलज्ञाननिर्णय (प. ८)

शक्ति' कहते हैं। इस 'पीठ में महाशक्ति का आत्मप्रकाशन 'परावाक्' कहलाता है। परावाक् से ही शब्द-राज्य का आरम्भ होता है जो कि 'कामरूप पीठ' से सम्बद्ध है।

पूर्णगिरि पीठ—शक्ति का विकास होते-होते शान्ता शक्ति इच्छा के रूप में परिणत हो जाती है और शिवांश अम्बिका शक्ति, वामाशक्ति के रूप में परिणत हो जाती है।

क. 'शान्ता' (शक्त्यंश) — 'इच्छाशक्ति' इन दोनों शक्तियों के

ख. 'अम्बिका' (शिवांश) — वामाशक्ति पारस्परिक वैषम्य का परिहार होने पर एक सामरस्यमय बिन्दु का आविर्भाव होता है और उससे तदनुरूप एक चैतन्य का स्फुरण भी होता है। इस बिन्दु को 'पूर्णगिरि पीठ' कहते हैं तथा इस विकास को 'बाणलिङ्ग' कहते हैं। यही 'पश्यन्तीवाक्' है। 'इच्छाशक्ति' के उन्मेष के साथ ही साथ शब्द के द्वितीय स्तर में सृष्टि का विकास होता है।

कामरूप पीठ—कामरूप पीठ एवं परावाक् के स्तर पर विश्व आत्मगर्भस्थ रूप में विद्यमान है। यहाँ अतीत एवं अनागत का भेद नहीं है। यहाँ दूर एवं निकट दोनों का भी भेद नहीं है। यहाँ कारण एवं कार्य का भी भेद नहीं है। यह नित्य मण्डल है। यहाँ कोई आवरण नहीं है। यहाँ कोई विक्षोभ या चाञ्चल्य भी नहीं है। यह शान्तिमय अवस्था है।

इसी अवस्था के उपरान्त 'इच्छाशक्ति' का उन्मेष होता है और शब्द के द्वितीय स्तर में सृष्टि का विकास आरम्भ होता है। इच्छा के प्रभाव से उसके गर्भ के देश से विसृष्टि का आरम्भ होता है तभी उसे 'सृष्टि' की आख्या प्राप्त होती है। * इसी भूमि से ही काल का प्रभाव आरब्ध होता है और सृष्टि एक साथ न होकर क्रमानुसार होती है। इसकी परवर्ती अवस्था में 'इच्छाशक्ति' के उपरत होने पर 'ज्ञानशक्ति' का उदय होता है—

जालन्धर पीठ—'इच्छाशक्ति' के उपरत होकर 'ज्ञानशक्ति' में परिणत होने पर 'शिवांश' 'ज्येष्ठा शक्ति' के साथ अद्वैतभाव में मिलकर जालन्धर पीठ रूप सामरस्य बिन्दु की सृष्टि करता है। इस बिन्दु से अभिव्यक्त चैतन्य 'इतर लिङ्ग' कहलाता है। शक्ति के इस स्तर में 'मध्यमा वाक्' का आविर्भाव होता है।

उड्डीयान पीठ—जब स्थिति शक्ति क्षीण हो जाती है तब **अन्तर्मुख आकर्षण की** प्रबलता हो जाने से संहार शक्ति की क्रिया उदित होती है। इस समय 'ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति' के रूप में परिणत हो जाती है और शिवांश रौद्रीशक्ति के साथ साम्यभाव प्राप्त कर लेती है। इसे ही हम 'उड्डीयान पीठ' कहते हैं। इस बिन्दु से 'चित् शक्ति' महातेजः सम्पन्न परलिङ्ग के रूप में उदित होता है।

यहाँ शब्द वैखरी के नाम से शब्द की चतुर्थभूमि में स्थित है। क्षयिष्णु (संहार शील) विश्व वैखरी वाक् की सृष्टि है।

पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी ही हैं—१. अकार, २. उकार एवं मकार या ऋक्-यजु-साम।

त्रिलोक, त्रिदेव एवं त्रिकाल—तुरीय वाक् (परावाक्) के ही त्रिविध परिणाम हैं।

'त्रिकोण' की तीन रेखाएँ हैं—

१.	पश्यन्ती	मध्यमा वैखरी	शब्द त्रय ।
२.	सृष्टि	स्थिति संहार	व्यापार त्रय ।
३.	वामा	ज्येष्ठा रौद्री	क्रिया त्रय ।
४.	ब्रह्मा	विष्णु रुद्र	शिवांश त्रय ।
५.	इच्छा	ज्ञान क्रिया	शक्त्यंश त्रय ।
६.	त्रिकोण का मध्य बिन्दु है—		'परावाक्'

'परावाक्' है— अम्बिका एवं शान्ता अर्थात् शिवांश शक्त्यंश का साम्यभावापन्न स्वरूप । बिन्दु, में शिव एवं शक्ति दोनों का अंश है । त्रिकोण में भी वही है किन्तु बिन्दु प्रधानत: 'शिव' रूप में परिणत होता है । बिन्दु समन्वित त्रिकोणमण्डल से समस्त बाह्य जगत का आविर्भाव होता है ।

मध्यमा

पश्यन्ती परा वैखरी
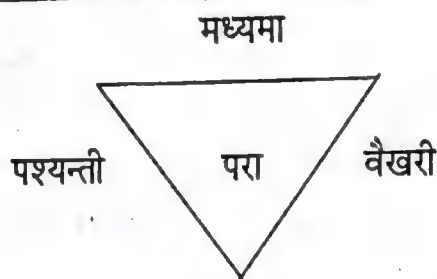
शक्तियाँ और विश्व परावाक् में— गर्भस्थ विश्व है ज्येष्ठशक्ति में और विकसित विश्व है । वैखरी वाक् में— पूर्ण विकसित विश्व है ।

(३४) पीठ-विज्ञान और पीठ

पीठ तत्त्व[१]— जहाँ आध्यात्मिक शक्तियाँ जागृत रहती हैं वे शक्ति केन्द्र महापीठ, उपपीठ, सन्दोह, क्षेत्र एवं उपक्षेत्र कहलाते हैं—मुख्य पीठ १. कामाख्यापीठ, २. पूर्णगिरि पीठ, ३. उड्डीयान पीठ, ४. उपपीठ आदि हैं । इनका वर्णन मत्स्येन्द्रनाथ ने किया है किन्तु जालन्धर पीठ (विशुद्धाख्य का पीठ) आदि पीठों का वर्णन नहीं किया है । नाथ योग के अनुसार—मूलाधार चक्र से कामाख्यापीठ, अनाहतचक्र से पूर्णगिरि पीठ, विशुद्धाख्य चक्र से जालन्धर पीठ, एवं आज्ञाचक्र से उड्डीयान पीठ सम्बद्ध है । मत्स्येन्द्र नाथ की दृष्टि—पीठों के विषय में मत्स्येन्द्र नाथ कहते हैं—

प्रथमं पीठमुत्पन्नं कामाख्या नाम सुव्रते ।
उपपीठ स्थिता सप्त देवीनां सिद्ध आलयम् ॥ (२०।८)
पुनः पीठं द्वितीयं तु संज्ञा पूर्णगिरि प्रिये ।
ओडियान महापीठमुपपीठ समन्वितम् ।
अर्बुदमर्द्धपीठन्तु उपपीठ समन्वितम् ।
पीठोपपीठ सन्दोहं क्षत्रोपक्षत्रमेव च ।
पीठोद्यादेवतानां च शृणु पूजाविधिं प्रिये ॥ (२२।८)

---

१. कौलज्ञाननिर्णय (प. ८)

१. मूलाधार चक्र	}	:	कामरूप पीठ	}
२. अनाहत चक्र		:	पूर्णगिरि पीठ	
३. विशुद्धाख्य चक्र		:	जालन्धर पीठ	
४. आज्ञा चक्र		:	उड्डीयान पीठ	

'पीठोपपीठ सन्दोहे ये जाता वर योगिनी ।
एतैस्तु पूजिता भद्रे सर्वे सिध्यन्ति मातराः ॥[१]

१. वामा	—	इच्छा का सामरस्य	पश्यन्ती वाक् ।
२. ज्येष्ठा	—	ज्ञान का सामरस्य	मध्यमा वाक् ।
३. रौद्री	—	क्रिया का सामरस्य	वैखरी वाक् ।

पश्यन्ती वाक् का मूल 'परावाक्' है—

क. अम्बिका	—	प्रकाशांश	दोनों का	परावाक्
ख. शान्ता	—	विमर्शांश	सामरस्य	

(३.५) पीठ और भगवती त्रिपुरा

ब्रह्माण्ड पुराण के ललितोपाख्यान में कहा गया है कि शक्ति के जो पीठ हैं उनमें ५० पीठ तो भगवती के स्वस्वरूप ही हैं—

'प्राणेश्वरी प्राणदात्री पञ्चाशत्पीठरूपिणी ।[२]

ऋषि अङ्गिरा की दृष्टि—देवी मीमांसा दर्शन में—

(३६) ब्रह्माण्डपुराणोक्त पीठ-विधान

'ब्रह्माण्ड पुराण' के ललितोपाख्यान में पीठों एवं उनकी अधिष्ठात्री देवियों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

'ओड्याण पीठ निलया बिन्दुमण्डलवासिनी ।

यहाँ भगवती महात्रिपुर सुन्दरी को 'उड्डीयान पीठ' (उड्याण पीठ) में रहने वाली कहा गया है ।

'ओड्याणपीठ निलया बिन्दुमण्डलवासिनी ।[३]

भास्कर राय इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—

'ओड्याणाख्यं पीठमेव निलयो वासस्थानं यस्याः ।

बिन्दुरेव मण्डलं सर्वानन्दमयात्मकं चक्रवालं तत्र वसति । बिन्दुः शुक्लं तस्य मण्डलं ब्रह्मरन्ध्रमित्यन्ये ।[४]

---

१. कौलज्ञाननिर्णय
२. ललितासहस्रनाम (१५६)
३. ललिता सहस्र नाम (८३)
४. सौभाग्य भास्कर (भास्कर राय)

(३७) गुरु गोरक्षनाथ की दृष्टि

गुरु गोरक्षनाथ कहते हैं—

१. पिण्ड में नौ चक्र हैं। 'आधार चक्र में तीन बार गोले आकार में चारों ओर लिपटा त्रिकोण भगमण्डल के सदृश 'ब्रह्मचक्र' है वहीं उसी के समीप 'मूलकन्द है। वहाँ अग्नि के आकार वाली शक्ति का ध्यान करना चाहिए। वहीं 'कामरूपपीठ' है जिसके ध्यान मात्र से समस्त कामनाओं की सिद्धि होती है।

आधारे ब्रह्मचक्रं त्रिधावर्तं भगमण्डलाकारं तत्र मूलकन्द स्तत्र शक्तिं पावकाकारां ध्यायेत् तत्रैव 'कामरूपीठ' सर्वकामप्रदं भवति ।[१]

२. दूसरा स्वाधिष्ठान चक्र है। उसके मध्य में पीछे की ओर मुख वाला प्रवलाङ्कुर (मूँगे के अग्रभाग) के समान लाल रंग का शिवलिङ्ग है। इसका ध्यान करना चाहिए। यही 'उड्डीयान पीठ' है। इस लिंग का ध्यान करने से समस्त जगत साधक की ओर सहज ही आकृष्ट हो जाता है। शिवलिङ्ग भी उपासना में जगत के प्राणी को साधक अपनी ओर आकृष्ट करने की शक्ति प्राप्त कर लेता है।

द्वितीयं स्वाधिष्ठानं चक्र। तन्मध्ये पश्चिममाभिमुख लिङ्गं वालाङ्कुरसदृशं ध्यायेत् तत्रैवोड्डीयान पीठ जगदाकर्षणं भवति ।[२]

(३८) पीठोत्पत्ति-प्रक्रिया

ब्रह्माण्ड और पिण्ड के प्राणमय विभाग में जहाँ कहीं आकर्षण-विकर्षण शक्ति रूपिणी परस्पर द्वन्द्वशक्तियों का समन्वय या तो अपने आप होता है या किसी सुकौशल पूर्ण क्रिया से उत्पन्न किया जाता है वहीं 'पीठ' की उत्पत्ति हो जाती है।

पीठ का रहस्य अत्यन्त अलौकिक है।

१. चाहे पृथिवी, सूर्य आदि ग्रहों का पीठ हो।
२. चाहे तीर्थादि का पीठ हो।
३. चाहे स्त्री-पुरुष सम्बन्ध का पीठ हो।
४. चाहे मूर्ति, यन्त्र एवं चित्रादि में उपासना पीठ हो।

इन सबमें इन्हीं आकर्षणों एवं विकर्षण शक्तियों के समन्वय से ही अलौकिक पीठ का उद्भव हुआ करता है।

१. पीठ का उदय प्राणमय कोष में होता है— 'पीठस्याविर्भावः प्राणमये।'[३]

१-२. सिद्धसिद्धान्त पद्धति
३. अङ्गिरा दैवी मीमांसा दर्शन (स्थितिपाद) १६

मृत्यूपरान्त 'अन्तमयकोष' (स्थूल शरीर) इसी भूलोक में पड़ा रहता है किन्तु १. प्राणमय कोष, २. मनोमय कोष, ३. विज्ञानमय कोष, ४. आनन्दमय कोष लोकात्तर में चला जाता है। यह प्राणमय कोष ही है जो कि स्थूल शरीर एवं सूक्ष्मशरीर से सम्बन्ध बनाए रखता है। 'प्राणमय कोष' ही मृत्यूपरान्त जीव को लोकात्तर में ले जाता है और जन्म के समय मृत्युलोक में ले जाता है। यह 'प्राणमय कोष' ही है जो कि स्थूलमृत्यु लोक एवं सूक्ष्म दैवीलोक के साथ सम्बन्ध सुरक्षित रखता है।

समष्टिरूप ब्रह्माण्ड एवं व्यष्टिरूप पिण्ड में परिव्याप्त प्राण में ही पीठ का आविर्भाव हुआ करता है—

> दिव्या शक्तेर्विकासस्य देवानामासनस्य वा।
> उपयोगी जायतेऽसावावर्त्तः पीठ उच्यते॥

अर्थात् प्राणमय कोष की सहायता से ही दैवीशक्ति के विकासक या देवों के आसनोपयोगी जो आवर्त निर्मित है उसे ही 'पीठ' कहते हैं।

भगवान् सूर्य ने अपने मुख से ऋषियों से कहा है—

> 'सूक्ष्मेण दिव्य लोकेन स्थूललोकस्य देहिनः।
> सम्बन्धकारको ज्ञेयः कोशः प्राणमयश्चरः॥
> यदि प्राणमये कोशे पीठे स्थापयितुं क्षमः।
> कथञ्चित् स हि मे शक्तिं दैवीमनुभवत्यसौ॥'

अर्थात् सूक्ष्म दिव्य लोक के साथ स्थूललोक का सम्बन्ध स्थापना करने वाला साधन प्राणमय कोष को जानना चाहिए। यदि कोई 'प्राणमय कोष' में पीठ स्थापित कर सके तो वह मेरी इस दैवी शक्ति की अनुभूति कर लेगा।

दैवी शक्तियों का आसनरूपी पीठ वस्तुतः प्राणमय कोष की सहायता से निर्मित होता है और उसी पर देवों का आविर्भाव हुआ करता है। **पीठस्याविर्भावः प्राणमये** ॥ १६॥ सूत्र का यही अर्थ है।

पीठ का साक्षात् फल क्या है?

ऋषि अंगिरा कहते हैं—**तदधिष्ठानं देवयोनेः** ॥१७॥ अर्थात्

२. वह देवयोनि का अष्ठिान स्थान है— प्राणमय कोष अत्यन्त व्यापक है। 'प्राणमय कोष' में जब कारण विशेष के द्वारा पीठोत्पत्ति होती है तब वहीं 'पीठ' समस्त देव योनियों का अधिष्ठान स्थान बन जाता है। उस पीठ पर सब प्रकार की देवियोनियाँ आकर अधिष्ठित हो सकती हैं।

नाना ऋषिगण, वसु, इन्द्र, रुद्र, यक्ष, किन्नर, गन्धर्व मृत्यु के अनन्तर पितृलोक, नरकलोक, प्रेतलोक, स्वर्गलोक के सभी जीव देवयोनि के ही जीव हैं। मृत्युलोक को छोड़कर चतुर्दशभुवन में या प्रेतलोक और नरकलोक में स्थित सभी जीव 'देवयोनि' कहलाते हैं। श्राद्धादिक में जो प्रेतश्राद्ध या पितृश्राद्ध आदि किया जाता है। 'पीठ' की सहायता से ही किया जाता है। 'उपासना काण्ड' से भी 'पीठ' का सम्बन्ध है।

३. पीठ का आविर्भाव दो शक्तियों के समन्वय से होता है— ऋषि अंगिरा कहते हैं—**'तदाविर्भावः शक्त्योः साम्यात्'** (दैवी मीमांसा दर्शन सूत्र-१८)

संसार में दो शक्तियाँ हैं—१. आकर्षण शक्ति, २. विकर्षण शक्ति। अन्तर्जगत् में भी दो शक्तियाँ हैं—१. राग, २. द्वेष (वैराग्य)।

१. आकर्षणशक्ति— रजोमूलक है। राग भी रजोमूलक है।

२. विकर्षणशक्ति— तमोमूलक है। द्वेष भी तमोमूलक है।

३. राग-द्वेष में समन्वय स्थापित होने पर हृदय में सत्वगुण मूलक तत्त्वज्ञान का उदय हुआ करता है।

४. ठीक इसी प्रकार प्राणमय जगत में आकर्षण-विकर्षण रूपी दोनों शक्तियों के समन्वय से सत्वगुणात्मक एवं देवताधिष्ठानात्मक पीठ का आविर्भाव हुआ करता है।

स्मृतियों में कहा गया है—

'स्वाभाविक्यस्वभावा वा पीठस्योत्पादनाय या।
विधीयते क्रिया सम्यक् सत्सुकौशल पूरिता।
चक्रं तदेव सम्प्राहुः योगतत्त्वविशारदाः।
नात्रकश्चन सन्देहो विद्यते विश्वभूतिदाः ॥[१]

पीठ को उत्पन्न करने हेतु जो स्वाभाविक-अस्वाभाविक एवं कौशलपूर्ण क्रिया सम्यक् रूप से निष्पन्न की जाती है। उसे तत्त्वज्ञ 'चक्र' कहते हैं। मानव पिण्ड पीठ उत्पन्न कर सकता है।

४. पीठों की मुख्यतः चार श्रेणियाँ हैं—

पीठों की श्रेणियाँ

स्थावर पीठ	सहज पीठ	दैवी पीठ	यौगिक पीठ
(तीर्थादि)	नर-नारी के संगम के समय उत्पन्न पीठ	इन्द्रलोकादि	भगवद्विग्रह एवं यन्त्रादिगत पीठ

पीठोत्पादक सामर्थ्यं मर्त्यपिण्डो विभर्त्यसौ।
आवागमनचक्रस्याश्रयः स्वाभाविकस्य हि ॥
अनेकभेदसत्वेऽपि पीठस्याति प्रधानतः।
भेदश्चतुर्विधो योऽसौ प्रोच्यते वः पुरोऽपुमान् ॥
प्रथमं स्थावरं पीठं यथा तीर्थादि गोचरम्।
द्वितीयं सहजं पीठं दम्पती सङ्गमे यथा ॥
पीठं तृतीयकं दैवमिन्द्रलोकादिकं यथा।
चतुर्थं यौगिक पीठं भगवद्विग्रहोद्भवम् ॥
अथवा यन्त्रसम्भूतं पितरो वर्तते यथा।

अनेकभेदसत्वेऽपि चक्रश्चास्ते चतुर्विधम् ॥

५. पीठ सत्वमूलक होने के कारण आनन्दप्रद होते हैं—ऋषि अंगिरा कहते हैं—**'पीठमानन्दप्रदं सत्व प्राधान्यात्** ॥ २० ॥

प्राणराज्य में आकर्षण-विकर्षण शक्तियों में समत्व

रजोगुण और तमोगुण में समत्व

पीठ
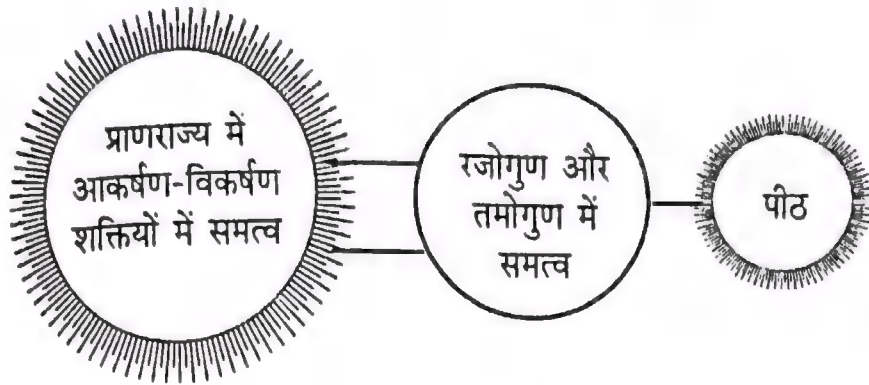
जहाँ सत्वगुण का आधिक्य होगा वहाँ आनन्द होगा । सत्वगुण में ज्ञान और आनन्द का विकास स्वतः होता है । क्योंकि यह सत्वगुण का धर्म है ।

जब पीठ में रजोधर्म एवं तमोधर्म में समता आ जाती है तो उसमें स्वतः ही सत्वगुण के धर्म 'आनन्द' का विकास हो जाता है । उसके निकट जो भी अन्तःकरण पहुँचेगा उसमें भी सत्वगुण का विकास हो जायेगा । फलतः उसमें भी सत्वगुण का धर्म 'आनन्द' उन्मिषित हो उठेगा । सत्वगुणमूलक पीठ में आनन्दाविर्भाव होना स्वाभाविक है ।

पीठ के प्रकार—

महर्षि अङ्गिरा के अनुसार पीठ के पाँच प्रकार हैं ।

पीठ के प्रकार

उपासना पीठ | पार्थिव पीठ | जीव यांत्रिक पीठ | स्थूल यान्त्रिक पीठ | सहज पीठ
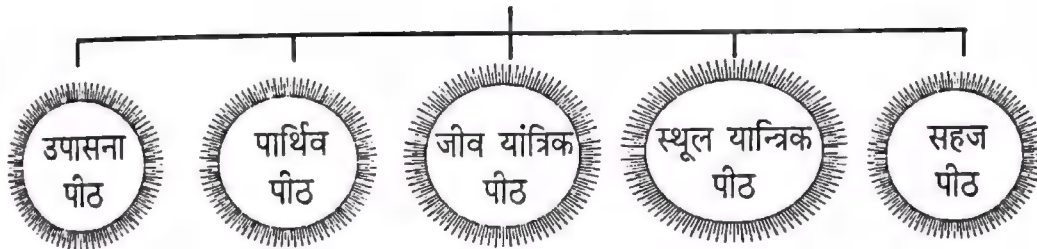
तत्पञ्चविधं सृष्टेः पञ्चविधत्वात् । अङ्गिरा सूत्र (२१)

अर्थात् सृष्टि के पाँच प्रकार का होने के कारण पीठ भी पाँच प्रकार के होते हैं । स्थूल-सूक्ष्म सृष्टि में जितनी भी पीठ-श्रेणियाँ सम्भव है उन्हें ऋषि अङ्गिरा ने पाँच भागों में वर्गीकृत किया है । इसमें 'उपासना पीठ' के १६ भेद हैं जो कि योगशास्त्र में वर्णित हैं। इसके सहायक तत्त्व हैं—मूर्ति, चित्र, अग्नि, यन्त्र आदि । देवमन्दिर, तीर्थस्थान, उपास्य नदी, पर्वत आदि 'पार्थिवपीठ' के अन्तर्गत हैं । कुमारी पूजा, बटुक पूजा, शवसाधन आदि 'जीव यान्त्रिक पीठ' के अन्तर्गत है । 'स्थूल यान्त्रिक पीठ' = इनका सम्बन्ध उपासना से प्रायः नहीं रहता । इनका प्रेतादिक से सम्बन्ध होता है । 'सहजपीठ' स्त्री-पुरुष

के सङ्क्रम के समय उत्पन्न होता है। सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि ग्रहों का ग्रहपीठ भी इसी के अन्तर्गत है।

पीठों के विषयों में स्मृतियों की दृष्टि— स्मृतियों में कहा गया है कि—१. साधकों के लिए स्थूल लोक में पीठ-प्रतिष्ठा के द्वारा मुझको या मेरी विभूति को देखने के लिए, 'कुमारी, बटुक, मूर्ति, मुद्रा, शव, अग्नि, यन्त्र एवं निज शरीर' आठ प्रधान अवलम्बन कहे गए हैं—

'साधकानामथ स्थूले लोके पीठ प्रतिष्ठया।
माद्रष्टुं मद्विभूतिर्वा कुमारी वटुविग्रहाः॥
मुद्राशवाग्नि पत्त्राणि वायुः स्वीयं तथैव च।
मुख्यावलम्बनान्याहरष्टा वेतानि सर्वथा॥

उनमें भी देवमूर्तियाँ और सब तत्त्वों का मध्यवर्ती अग्नितत्त्व प्रधान है। 'मुद्रा' भी 'स्त्रीमुद्रा' और 'पुंमुद्रा' तथा 'उभयात्मिका मुद्रा' के रूप में त्रिविध हैं। इस मुद्रा को बहुत से लोग 'चक्र' भी कहते हैं। कोई-कोई योगी इसके सात भेद मानते हैं।

योगियों ने अनेक प्रकार के यन्त्रों का भी कथन किया है पीठ को उत्पन्न करने वाले आठ साधनों में योगियों ने निज देह को ही सर्वोत्तम पीठ माना है।

इन अष्टावलम्बनों में द्रव्यशुद्धि और मन्त्रशुद्धि एवं मन के संयम द्वारा 'प्राणमय कोष' में पीठ की उत्पत्ति होती है। 'प्राणमय कोष' में पीठ प्रतिष्ठित होने से वहाँ मेरी शक्तियों का आविर्भाव अवश्य होता है। किन्तु द्रव्यशुद्धि, मन्त्रशुद्धि और मनः शुद्धि आदि के न होने के कारण और दिग्बन्धादि न करने से पीठ-स्थान की रक्षा नहीं हो पाती अतः पावित्र्याभाव के कारण अनेक विघ्न उत्पन्न हो जाते हैं—

पीठोत्पन्न करेष्वेषु साधनेष्वष्ट केष्वपि।
योगिभिस्तु निजं देहं साधनोत्तममीरितम्॥
पीठमुत्पद्यते तस्मिन् कोशे तत्र प्रतिष्ठिते।
आविर्भवन्ति ये सर्वा शक्तयस्तत्र निश्चितम्॥
पीठस्थानस्य रक्षा चेत् समीचीना भवेन्नहि।
तथोक्तस्य च यागस्य पवित्रत्वाद्यभावतः।
बहवस्तत्र जायन्तेऽन्तरायाः असुरोत् कृताः॥

पीठों में उपासना और उसके भेद

- निर्गुण ब्रह्मोपासना
- सगुण ब्रह्मोपासना
- लीलाविग्रहोपासना
- पितृ, देवता विषयों की उपासना
- क्षुद्र देवों अर्थात् प्रेतों की उपासना

(३९) महर्षि अंगिरा की दृष्टि में पीठतत्त्व का महत्त्व

पीठों की विशेषताएँ—पीठों की निम्न विशेषताएँ हैं—

१. पीठ का उदय प्राणमय कोष में होता है—

पीठस्याविर्भावः प्राणमये ॥ १६ ॥

२. पीठ देवयोनि का अधिष्ठान स्थान है—

तदधिष्ठानं देवयोनेः ॥ १७ ॥

३. दोनों शक्तियों के समन्वय से पीठाविर्भाव होता है—

तदाविर्भावः शक्त्योः साम्यात् ॥ १८ ॥

४. आकर्षण-विकर्षण शक्तियाँ रजस्तमोमूलक हैं—

ते नु रजस्तमोमूले ॥ १९ ॥

५. पीठ सत्वमूलक होने के कारण आनन्दप्रद है—

पीठमानन्दप्रदं सत्वप्राधान्यात् ॥ २० ॥

६. सृष्टि के पाँच होने के कारण पीठ पाँच प्रकार के होते हैं—

तत्पञ्चविधं सृष्टेः पञ्चविधत्वात् ॥ २१ ॥

७. अधिष्ठान स्थान होने के कारण पीठ उपासना का सहायक है—

तदुपास्तावपेक्ष्यमधिष्ठानभूमित्वात् ॥ २२ ॥

८. स्थूल सूक्ष्म जगत् का संयोजक होने के कारण पीठ देवजगत् का प्रमापक है—

देवजगतः प्रमापकं स्थूल सूक्ष्म संयोजकत्वात् ॥ २३ ॥

९. सत्वगुण विशिष्ट होने के कारण पीठ तीर्थ का प्रतिष्ठापक है—

तीर्थप्रतिष्ठापकं सात्विकत्वात् ॥ २४ ॥

स्मृतिकारों की दृष्टि—भगवान् कहते हैं—

१. संसार में जितने तीर्थ हैं वे सब 'पीठ' कहे गए हैं—

इह यावन्ति तीर्थानि तानि पीठानि संजगुः ॥

२. ऐसे पीठशक्तियुक्त अनेक तीर्थ संसार में विद्यमान हैं—

पीठ शक्तियुतान्यत्र सन्ति तीर्थान्यनेकशः ।

३. किसी किसी तीर्थ में मेरी निरन्तर स्थिति रहती है—

केषुचित्तीर्थदेशेषु शक्तिर्मे सततं स्थिता ।

* ४. किसी-किसी तीर्थ में भक्तों की श्रद्धा भक्ति के साथ मेरी आराधना करते रहने तक ही मेरी स्थिति रहती है सर्वदा नहीं रहती—

केषुचित्तु यथाकालं भक्तिश्रद्धायुता नराः ।
आराधयन्ति तावद्धि मम शक्तिर्विनिश्चिता ॥

५. कोई-कोई तीर्थ भक्त के अधीन रहते हैं । वे भक्त की भक्ति से आविर्भूत होकर उसकी इच्छा से वहीं विद्यमान रहते हैं ।

६. जिस प्रकार गौ के पूरे शरीर में गोरस होता है किन्तु थन से निकलता है उसी प्रकार मेरी शक्ति सर्वत्र विद्यमान होते हुए भी पृथ्वी पर नित्य-नैमित्तिक पीठों द्वारा आविर्भूत होती है ।

'तथैव मामिका शक्तिर्विद्यमानापि सर्वतः ।
नित्यनैमित्तिकैः पीठैराविर्भवति भूतले ॥

(४०) सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् की दृष्टिः पीठचतुष्टय का स्वरूप

सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् में प्रतिपादित दृष्टि के अनुसार—

१. कामरूप पीठ का स्वरूप—सौ०उप० में कहा गया है कि—आधारे ब्रह्मचक्रं त्रिरावृत्त भङ्गिमण्डलाकारं त्र मूलकन्दे शक्तिः पावकाकारं ध्यायेत् तत्रैव कामरूपपीठं सर्वकामप्रदं भवति इत्याधारचक्रम् ॥ १ ॥[1]

अर्थात् 'मूलाधार चक्र' में त्रिरावृत्तभङ्ग्या वह्निमण्डलाकार ब्रह्मचक्र स्थित है । मूलकन्द में कोई शक्ति है । उसका रूप पावक के समान है । वहीं मूलाधार चक्र में समस्त कामनाओं की पूर्ति करने वाला 'कामरूपपीठ' विद्यमान है ।

२. उड्याण पीठ—उक्त ग्रन्थ में ही कहा गया है कि पिण्ड का द्वितीय चक्र 'स्वाधिष्ठान चक्र' है जो कि षड्दलात्मक है । उसके मध्य में एक पश्चिमाभिमुखी एवं प्रवालांकुर सदृश लिङ्ग स्थित है और वहीं 'उड्याणपीठ' स्थित है जो कि समस्त जगत को आकृष्ट करने की शक्ति प्रदान करता है ।

द्वितीयं स्वाधिष्ठानचक्रं षड्दलं तन्मध्ये पश्चिमाभिमुख्यं लिङ्गं प्रवालाङ्कुरसदृशं ध्यायेत् तत्रैवोड्याणपीठं जगदाकर्षण सिद्धिदं भवति ।[2]

३. जालन्धर पीठ—उक्त उपनिषद् में कहा गया है—ब्रह्मरन्ध्रं निर्वाणचक्रं तत्र सूचिकागृहेतरं धूम्रशिखाऽडकारं ध्यायेत् तत्र जालन्धर पीठं मोक्षप्रदं भवतीति परब्रह्म चक्रं ।

४. पूर्णगिरि पीठ—उपनिषद्कार कहते हैं—नवमाकाश चक्रं तत्र षोडलदलपद्ममूर्ध्व मुखं तन्मध्यकर्णिका त्रिकूटाकारं तन्मध्ये ऊर्ध्वशक्तितां परशून्यं ध्यायेत् तत्रैव 'पूर्णगिरिपीठं' सर्वेच्छासिद्धिसाधनं भवति ।[3]

(४१) मन्त्र एवं मन्त्रयोग

मत्स्येन्द्र कहते हैं—'**हंस हंस वदेन्नित्यं देहस्थावर जङ्गमे**'—कौलज्ञाननिर्णय

गोरक्षनाथ ने भी '**सोऽहं हंसः**' या '**अजपा जप**' का उपदेश दिया है । वे कहते है—

---

१. सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् (खण्ड ३।१)
२. सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् (खण्ड ३।२)
३. सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् (खण्ड ३।९)

१. 'अजपा जपै सुंनिमन धरै । पाँचों इन्द्री निग्रह करै ।'
२. 'सोऽहं हंसा सुमिरै सबद । तिहिं परमारथ अनंत सिध ।
३. 'मछींद्र प्रसादैं जती गोरख बोल्य अजपा जपिला धीर रहाणी ।
४. 'जोगी अजपा जपै त्रिवेणीं के घाटी ।
५. 'ऐसा जाप जपौ मन लाई सोहं सोहं अजपा गाई ।
६. 'सोऽहं बाई हंसारूपीप्यडैबहै । बाई के प्रसादि व्यंद गुरमुख रहै ।
७. 'जोगी अजपा जपै त्रिवेणी के घाटी ।
८. 'ऐसा जाप जपौ मन लाई । सोऽहं सोऽहं अजपा गाई ।'

गोरक्षनाथ कहते हैं—'यो मन्त्रमंत्रमूर्तिवशगः स तु मन्त्रयोगः ।—**अमरौघ प्रबोध**

मन्त्रयोग—मत्स्येन्द्र नाथ ने 'मन्त्रयोग' के प्रति भी अपनी आस्था व्यक्त की है इसी कारण उन्होंने 'कौलज्ञाननिर्णय' में अनेक स्थलों पर मन्त्रों का उल्लेख किया है यथा—

हकारो निष्कलो नित्यः संकारं सकलं तथा ।
सुकारं तु सदा सृष्टि हीत्येवं संहरेज्जगत् ।। ६ ।।
सकारं शुक्ल पक्षन्तु हकारं कृष्णपक्षकम् ।
हकारमीक्षमित्याहुर्महार्थञ्च गतं परम् ।। ७ ।।

'ह' और 'स' कोई निष्प्राण, अचेतन वर्ण नहीं है प्रत्युत ये 'हृदयस्थ सहज देव' है— 'हृदिस्थ सहजो देव स्मरणार्हः स उच्यते ।।

मन्त्रों के संगठक तत्त्व वर्ण हैं वे देवमय हैं क्योंकि देवता वर्णमय है—'**सर्ववर्णमयं देवं**' (मत्स्येन्द्रनाथ)[1]

१. आभिचारिक एवं अन्य सिद्धियों से सम्बद्ध मन्त्र—

आभिचारिक एवं अन्य मन्त्र—१. हूं मारणं, २. यूंयः उच्चाटनं, ३. रुं र ज्वरकरणं, ४. वूं व अध्यायनं, ५. लूं ल स्तम्भनं, ६. शूं शं शान्तिकं, ७. षूं ष कीलनं, ८. क्षें क्ष .... क्षुं क्ष पशुग्रहणं, ९. क्लीं क्ष्णीं वशीकरणं, १०. क्लें क्ष्णों क्षोभणं मोहनञ्च, ११. सों स सद्यप्रत्ययः सिद्धिः, १२. होहः विषनाशनं, १३. ह्रो ह्रः रक्ता कृष्टि योगिनीनाञ्च, १४. जूं सः मृत्युञ्जयः, १५. प्रतिमादिषु जल्पनं स्फोटनं च, १६. स्रों शः पाशस्तोभादिक कामरूपिन्धं । शक्तियों की सिद्धि[1] १७. मूत्र डाकिनी सिद्धिः, १८. झुराक्षसी सिद्धिः, १९. लूं ल लाकिनी सिद्धिः, २०. लुं क कुसुममालिनी सिद्धिः, २१. यूं य योगिनी सिद्धिः, २२. ह्रीं ह आकर्षणः ।[2]

बीज और वर्ण— (सिद्धियों के प्रसंग में)

एकैकेन तु बीजेन वर्णराशिर्बिभेदयेत् ।
कुरुते विभिदं कर्मयद्देवि! मनसेप्सितम् ।।[3]

१. कौलज्ञाननिर्णय (३।१३)
२. कौलज्ञाननिर्णय (४।६)
३. कौलज्ञाननिर्णय (४।१६)

अर्थात् वर्ण समूह से बीज ग्रहण करना चाहिए। उनके अभ्यास से साधक अपने सारे आकांक्षित पदार्थ प्राप्त कर सकता है।

मातृका और उनका जप—मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

दीक्षान्तेष्टिककर्मेषु विपरीतं मातृकं चरेत्।
योजयेत्तां कुलाज्ञा तु सर्वं ज्ञात्वा दृढज्ञवित्॥ (४।१७)

शक्तिपूजा एवं उनके मन्त्र—१. क्षेत्रजा शक्तियाँ— ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं कोंकणाइपाद, २. ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं—कलम्बाइपाद, ३. ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं—नागाइपाद, ४. ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं—हरसिद्धिपाद, ५. ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं—कम्बाइपाद, ६. ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं—मंगलाइपाद, ७. ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं—सिद्धाइपाद, ८. ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं—बछाइपाद, ९. ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं—शिवाइपाद, १०. ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं—इच्छाइपाद, ११. ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं—वराहरूपाइपाद, १५. ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं—कृतयुगा चैव। तथा त्रेताद्वापर कलिमेव च।

'चतुर्युगेषु देवेशि क्षत्रजा सिद्धिपूजिता॥ १८॥
ह्रीं श्रीं पादान्तु आदौ तु तथा नाममुदीरयेत्।
क्षेत्रत्रा कथिता देवि! पीठजा: कथयामि ते॥

(ये 'क्षेत्रजा' है जो कि सिद्धों द्वारा चारों युगों में पूजी जाती हैं।)

२. पीठजा शक्तियाँ और उनकी पूजा और उनके पूजा मन्त्र—

पीठ

कामाख्या | पूर्णगिरि | उड्डीयान | उपपीठ

इसी प्रकार पीठजा शक्तियों के मन्त्र हैं।

शक्तिपूजा और मन्त्र—

१. ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं—महालक्ष्माइपाद।
२. ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं—कुसुमानङ्गपाद।
३. ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं—शुक्लाइपाद।
४. ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं—प्रलाम्बाइपाद।
५. ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं—पुलिन्दाइपाद।
६. ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं—शबराइपाद।
७. ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं—कृष्णाइपाद।
८. ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं—कृष्णाइपाद।
९. ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं—लच्छाइपाद।
१०. ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं—नन्दाइपाद।
११. ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं—भद्राइपाद।
१२. ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं—कलम्बाइपाद।
१३. ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं—चम्पाइपाद।
१४. ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं—धवलाइपाद।
१५. ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं—हिडिम्बाइपाद।
१६. ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं—महामायाइपाद।

पीठों, उपपीठों एवं सन्दोहों में वरदात्री यौगिनियों का जन्म होता है। योग एवं मन्त्राराधन से इन योगिनी माताओं का आविर्भाव होता है—

१. कौलज्ञाननिर्णय (८।२०-२२)

'पीठोपपीठ सन्दोहे ये जाता वरयोगिनी ।
एतैस्तु पूजिता भद्रे सर्वेसिध्यन्ति मातरा: ॥ (८।२३)

योगिनियों के आविर्भाव के मुख्य साधन

योग-साधना — योगजा माता
मन्त्र-साधना — मन्त्रजा माता

'योगाभ्यासेन ये सिद्धा मन्त्रणामाराधनेन तु ।
योगेन योगजा माता मन्त्रेण मन्त्रजा प्रिये ॥ (८।२४)

सहजा मातायें

ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, वज्रहस्ता, योगेश्वरी, अघोरेशी

ये अत्यन्त भयानक एवं अतिशक्तिशाली शक्तियाँ हैं। ये शृष्टि एवं गर्भधारण प्रसव की विधायिका शक्तियाँ हैं।

ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा ।
वाराही वज्रहस्ता च तथा योगेश्वरीति च ॥ (८।२७)
अघोरेशी च विख्याता मातर्या व्यापका: स्मृता: ।

इसके अतिरिक्त देवी की द्वारपालिनियाँ भी हैं और वे भी सारे जगत को व्याप्त करके स्थित हैं—'तथान्या द्वारपालिन्या तैस्तु संख्यापितञ्जगत्। (८।२८)

इन समस्त देवियों की सर्वत्र पूजा की जानी चाहिए—

पञ्चजातक्रमे चान्या नगरे ग्रामेषु सर्वश: ।
सर्वास्तां पूजयेन्नित्यं गुरुसिद्धसमन्विताम् ॥ (८।२९)

अष्ट कौलों की पूजा—अष्ट कौलों की पूजा तो ग्रह, नाग, देवता, योगिनी एवं सिद्ध भी किया करते हैं—

'सर्वास्तां पूजयेन्नित्यं गुरुसिद्धसमन्वितम् ।
ग्रहा नागाश्च देवाश्च योगिन्य: त्यपमानिता: ॥ (४।३०)

विद्याष्टक—नारी-मन्त्रों को 'विद्या' कहा जाता है। अत: 'विद्या' शब्द का जहाँ भी प्रयोग होगा वहाँ वह 'मन्त्रार्थक' होगा या उनकी अधिष्ठात्री देवी का द्योतक। विद्यायें—

१. ह्रीं आ, ह्रीं ह्रीं इं, ह्रीं ह्रीं ऊँ, ह्रीं ह्रीं ऋ, ह्रीं ह्रीं लृ, ह्रीं ह्रीं ऐं, ह्रीं ह्रीं ॐ, ह्रीं ह्रीं ह्रीं अ: ह्रीं— प्रथमन्तु इमं देवि शृणु विद्यायामष्टकम्।

२. ह्रीं क्ष:, ह्रीं ल:, ह्रीं ह:, ह्रीं स:, ह्रीं ष:, ह्रीं श:, ह्रीं व, ह्रीं र, विद्यापदाष्टकाख्यातम्। इस प्रकार विद्या अष्टात्मक है यथा—

(क) आं, इं, ऊं, ॠं, ॡं, ऐं, ॐ, अ: = ८ अष्टक

(ख) क्ष:, ल:, ह:, स:, ष:, श:, व, र = ८

कुलाष्टकं प्रवक्ष्यामि अष्टाष्टक विधि प्रिये। (८।३०)
अष्टाष्टकं विधानेन चतुः षष्टि यथाक्रमम्।
योगिनीमेलकं चक्रं अणिमादिगुणाष्टकम् ॥ (८।३२)

३. लां लीं लूं लं लुं लैं लौं लः। हां हीं हूं हं हु हैं हौं (हः)।
सां सीं सू सृं स्लं (सैं) सौं सः। षां षीं षूं षृं ष्लं षैं षौं षः।
शां शीं शूं शृं श्लं शैं शौं शः। वां वीं वूं वृं व्लं वैं वौं वः।
ह्लां ह्लीं ह्लुं ह्लं ह्लैं ह्लौं ह्लः। (कौलज्ञाननिर्णय)
क्षकार—क्षकारं ब्रह्मरन्ध्रत्वं। लकार—लंकारन्तु लटाटयोः ॥ ६ ॥
हकार—हकारन्तु भ्रुवोर्मध्ये। सकारं—वक्त्रमण्डले।
षकार—षकारं कण्ठदेशे तु। शकारं—हृदये तदा ॥ ७ ॥
वकार—वकारं नाभिमध्ये तु। ह्लकारं—विसकन्दयोः।
स्थानचक्रास्तु सम्प्रोक्तास्तेषां ध्यानं शृणु प्रिये। (१०।८)

४. **हंस मन्त्र**—हंस हंस वर्देन्नित्यं देहस्थावर जङ्गमे। (१३।२)

न्यास-विधान

५. इ गुदे। इक्षु मेढ्रे। इयौ नाभौ। इमौ वक्त्रे।
इवौ दक्षिणनासायां। इ लौ वामपुटे। इरौ दक्षिणतः।
इडो दक्षिणकर्णः। इशौ वाम कर्णः। ह ह्लौ भ्रूमध्ये।
सं तं ललाटे। सं अं वामकर्ण। सः यं दक्षिणकर्णः।
सः पं वाम चक्षुः। सः ऋ दक्षिण चक्षुः। वः तं वाम नासिका। सः पुं दक्षिणनासिका। सः रुं वक्त्रम्। सः यं नाभिः। सः षुं मेढ्रः। सः लं गुदे।

इदं न्यासक्रमन्देवि यस्य देहे प्रवर्तते।
तस्य मोक्षो न सन्देहः परं संवित्तिपूर्वकम् ॥[1]

बलि मन्त्र, पिण्ड मन्त्र, आसन मन्त्र एवं पूजन-मन्त्र—कौलज्ञाननिर्णय (पटल १६) में उपर्युक्त मन्त्रों का भी उल्लेख किया है और इसके विषय में कहा गया है कि—

तस्य पूजा बलिः पिण्ड आसनं जप्यमेव च।
कथयामि समासेन यथा सिध्यति साधके ॥ (१६।५६)

१. **बलिमन्त्र**— ह्लीं वटुकाय, कपिलजटाय, पिङ्गलनेत्राय, देवीपुत्राय, मातृपुत्राय इमां बलिं ममोपनीतां गृह्ण गृह्ण चुरु मुरु ह्लीं, बलिमन्त्र।

२. **पिण्डमन्त्र**—चाल चाल भक्ष २०० पिण्ड मन्त्रः
'यत्किंचित् भक्षयेत् प्राज्ञः अग्रपिण्डन्तु दापयेत्।

१. कौलज्ञाननिर्णय (१३।८)

३. **आसन-मन्त्र**—ह्रीं वटुकाय आसनमन्त्रः ।

४. **पूजनमन्त्र**—ह्यौ ह्यौ ह्यं महाभैरव पूजन मन्त्रः ।

ह्रीं ह्रीं जाप्य—

यः सदा जाप्यमिदं कुर्यान्निर्विघ्नं सिद्धिभाजनः ।
गृह्ण गृह्णेति वक्तव्यं वटुकस्तथा ॥ ५७ ॥

हृदय में 'सहज देव' विराजमान हैं । और वे 'ह' एवं 'स' के रूप में स्थित हैं ।

हृदिस्थ सहजो देव स्मरणार्हः 'स' उच्यते ।
हकारो— निष्कलः नित्यः 'संकारं' सकलं यथा ।
सकारो— तु सदा सृष्टि हीत्येवं संहरेज्जगत् ।
सकारं— शुक्लपक्षन्तु 'हकारं' कृष्णपक्षकम् ।
हकार— मोक्षमित्याहुर्महार्थञ्च गतं परम् ।
ह्रींकार मन्त्रितं कृत्वा वर्तिद्वादशभूषितम् । (१८।३)
जपेद्बीजपरं श्रेष्ठं ह्रींकारं योगिनी प्रियम् । (१८।६)
उद्धरेद्रुममन्त्रस्तु गुरुसिद्धाञ्च देवताम् ।

ह्रीं क्लीं म्हौ जूं सः । (१८।१०)

मातृका का महत्त्व—'मातृका शब्दराशिश्च सर्वग्रन्थेषु कीर्त्यते । (२०।१२)

(४२) 'अजपा जप' : मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ

जिस 'अजपा गायत्री' के स्वयंभू सहज जप से मत्स्येन्द्रनाथ मोक्ष प्राप्त करने या होने के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं उसे गोरक्षनाथ ने भी स्वीकार किया है ।

गोरक्षनाथ कहते हैं—

१. अजपा जपै सुंति मन धरै, पांचौ इंद्री निग्रह करै ।
ब्रह्म अगनि मै होमै काया, तास महादेव बंदै पाया ॥

२. अवधू जाप जपौ जपमाली चीन्हौं जाप जप्यां फल होई ।
अगम जाप जपीला गोरख चीन्हत विरला कोई ॥

३. जपि लै अजपा जाप बिचारि लै आपै आप ॥

४. अजपा जाप मन त जै बिकार । (मत्स्येन्द्रनाथ)

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—'हंस हंस वदेन्नित्यं देह स्थावर जङ्गमे । श्रुत्वा तस्य पतिदिव्यं याति मोक्षवरं शुभम् ॥[१]

यह 'हंसः' 'सोऽहं' की साधना मन्त्र योग की मूल साधना है ।

(४३) मनोमारण या मनः साधना

नाथ पंथ का मूल लक्ष्य हठसाधना नहीं प्रत्युत मन की साधना है। गोरक्षनाथ कहते हैं—

१. मन मारै मन मरै मन तारै मन तिरै। मन जै अस्थिर होइ तृभुवन मेरे।

२. मन आदि मन अंत मन मधेंसार। मन ही तै छूटै बाबू विषै विकार।

मत्स्येन्द्रनाथ मन को शून्यस्वरूप कहते हैं—

'अवधूमन का सुनिरूप (मत्स्येन्द्रनाथ)

'सहज' लक्ष्यभूत है (वह सोना है)। उसे पायें कैसे? मत्स्येन्द्र कहते हैं—

'उनमनि डांडी मन तराजू पवन कीया गदियांना
आपै गोरखनाथ जोखड बैठा तब सोनां सहज समाना॥

मन ही साक्षात्कार का साधन है—अलख के दर्शन का मार्ग है—

मन मांहै तेणैं तन तार्‍यां मन विसवासैं मिलणा।

मन मै कुम्भ कलस रस भरिया, तेणैं मनवै अलख लाखाया, मेरे ग्यानी।

यह 'मन' साधारण नहीं प्रत्युत परम शक्ति भी है और शिव भी है—

'यह मन सकती, यहु मन सीव। यहु मन पाँच तत्त का जीव।

यह मन ले जै उनमन रहै। तौ तीनि लोक की बाता कहै।

मन की सवारी (घोड़ा) पवन है और

अवधू मन का पवन जीव, पवन का सुनि बेसास।

गोरक्षनाथ कहते हैं—

'ज्ञान सरीखा गुरु न मिलिया, चित्त सरीखा चेला।
मन सरीखा मेलू न मिलिया,तीथैं गोरख फिरै अकेला॥

गोरक्षनाथ कहते हैं कि यदि मारना ही है तो 'मन' को मारो—

मारिबा रे नरा मन द्रोही जाकै बप बरण नहीं मास लोही।
सब जग ग्रासिया देव दाणं, सो मन मारीबारे गहि गुरु ज्ञान बाण॥

(४४) ओंकार की साधना

गोरक्षनाथ ने गोरखबानी में ओंकार को अत्यधिक महत्त्व दिया है और ओंकार को 'मूलमन्त्र' विश्वव्यापक नाभि, हृदय में स्थित देवता तथा गुरु कहा है—

ॐकार आछै बाबू मूल मन्त्र धारा।

---

१. कौलज्ञाननिर्णय (पटल १३)

ॐकार व्यापीले सकल संसारा।

ॐकार नाभी ह्रदै देव गुर सोई।

ॐकार साधे बिना सिधि न होई ॥

* गोरक्षनाथ यह जानते थे कि सच्चिदानन्द परमेश्वर से आविर्भूत 'शक्ति' का प्रथम अवतार 'नाद' के रूप में होता है। और यही 'नाद', 'बिन्दु' के रूप में परिणत होकर विश्व सृष्टि का कारण बनता है। नाद में ही सारे देवता लीन हैं—

नादैं लीन ब्रह्मा नांदै लीनानर हरि। नादैं लीना ऊमापति जोग ल्यौधरि धरि।

नाद हीं तौ आछै बाबू सब कछू निधानां। नाद ही थैं पाइए परम निरवाना ॥

मत्स्येन्द्रनाथ ने ओंकार शब्द का उपयोग करके 'कौलज्ञाननिर्णय' में प्रणव की महत्ता को प्रतिपादित तो नहीं किया है किन्तु उसके नामान्तर 'नाद' की साधना को रेखाङ्कित अवश्य किया है।

प्राण-साधना—मत्स्येन्द्रनाथ ने योगाङ्ग प्राणायाम को भी महत्व प्रदान किया है। 'उत्पातं निक्षिपेदूर्ध्वं प्राणायामेन सुन्दरि' कहकर मत्स्येन्द्रनाथ ने प्राणायाम के द्वारा गुदा, ह्रदय, कण्ठ आदि स्थानों में अमृत-स्राव को स्थापित करने का उपदेश दिया है। श्वास-प्रश्वास के भीतर ही मन, प्राण बुद्धि एवं चित्त सभी निवास करते हैं—**'सः मनो मत्परं प्राणः बुद्धि श्चित्तमेव च।'**

'समीर पूरको वायुः सर्वजीवेषु संस्थितम्। (६।६)

मत्स्येन्द्रनाथ ने 'प्राणचक्र' का भी उल्लेख किया है—

'किञ्चिद्दर्शितवर्णाभं प्राणचक्रं सुलोचने।
प्लावयेत् पूर्वचक्रेण पूर्णचन्द्रनिभं तनुं ॥ (१५।१९)

समीरस्तोभकं चक्रं घण्टिका ग्रन्थि शीतलम्। नासाग्रं द्वादशान्तं च भ्रुवोर्मध्ये व्यवस्थितम्। ललाटं ब्रह्मरन्ध्रं च शिखरस्थं सुतेजसम्। (१७।३-४)

कहकर मत्स्येन्द्रनाथ ने ११ वायु केन्द्र भी सूचित किया है।

बाई बाजै बाई गाजै बाई धुनि करै।
बाई षट्चक्र वेधै अरधैं उरधैं मधि फिरै ॥

कहकर गोरक्षनाथ ने वायु के महत्व को रेखाङ्कित किया है।

रसना तालुमूले तु कृत्वा वायुं पिबेच्छनैः।

'षण्मासादभ्यसेद्देवि महारोगैः प्रमुच्यते' कहकर मत्स्येन्द्रनाथ ने प्राणायामाभ्यास से महारोगों से मुक्ति एवं वर्ष प्राण-साधन से जरा-मृत्यु दोनों से मुक्ति की बात कही है।

अब्दमेकं यदाभ्यस्तज्जरामृत्युर्विनश्यति। कौ०ज्ञा०नि० (६।२०)

(४५) ध्यान-योग

ध्यान का स्वरूप क्या है? महर्षि पतञ्जलि की दृष्टि—ऋषि पतञ्जलि कहते हैं कि

प्रत्यय की एकतानता ही ध्यान है—तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् । (विभूतिपाद-२)

राजमार्तण्डवृत्तिकार भोजदेव की दृष्टि—वृत्तिकार भोजदेव कहते हैं—

तत्र तस्मिन् प्रदेशे, यत्र चित्तं धृतं तत्र प्रत्ययस्य ज्ञानस्य या एकतानता विसदृशपरिणाम परिहारद्वारेण यदेव धारणायाम् अवलम्बनीकृतं, तदवलम्बन तयैव निरन्तरमुत्पत्तिः स **ध्यानमुच्यते** ।[१]

भावागणेश की दृष्टि—भावागणेश प्रदीपिका में कहते हैं—

'तत्र देशे चतुर्भुजादि ध्येयाकारक वृत्तिप्रवाहो **ध्यानमित्यर्थः** ।'

नागोजी भट्ट की दृष्टि—नागोजी भट्ट योगवृत्ति में कहते हैं—

'तत्र देशे चतुर्भुजादि ध्येयाकारवृत्तिप्रवाहो वृत्यन्तराव्यवहितो ध्यानमित्यर्थः। बुद्धि-वृत्तौ वा तद्विवेकतश्चैतन्यचिन्तनम् । कारणोयाधावश्चिरचिन्तनमिति । द्वादशधारणाकालं च **ध्यानम्** ।

मणिप्रभाकार की दृष्टि—मणि प्रभाकार कहते हैं

'यत्र धारणा विजातीयवृत्तिपरिहारे यत्नापेक्षा भवति तत्रैव या प्रत्ययानां वृत्तीना-मेकतानता यत्नमपेक्ष्यैकविषयता तद्ध्यानमित्यर्थः—

'तद्रूप प्रत्ययैका ग्रसन्ततिश्चान्य निस्पृहा ।
तद्ध्यानं प्रथमैरङ्गैः षड्भिर्निष्पाद्यते नृप ।'

योगसुधाकार की दृष्टि—योगसुधाकार कहते हैं—

'तत्र यथोक्तदेशे प्रत्ययस्यैकतानता एक विषय प्रवाहः च विच्छिद्य जायमानो ध्यानं भवति । तदुक्तम्—

'विलाप्य विकृतिं कृत्स्नां संभवव्यत्ययक्रमात् ।
'परिशिष्टं च मन्त्रात्रंचिदानन्दं विचिन्तयेत् ।।

नेत्रतन्त्रकार की दृष्टि—नेत्रतन्त्र में कहा गया है कि—

'धीगुणान्समतिक्रम्य, निर्ध्येयं चाव्ययं विभुम् ।
ध्यात्वा ध्येयं स्वसंवेद्यं ध्यानं तच्च विदुर्बुधाः ।।

आचार्य क्षेमराज की दृष्टि—आचार्य क्षेमराज कहते हैं—

'धियो बुद्धेः सत्वादिगुणान् समतिक्रम्य समावेशेन प्रशमय्य, निर्ध्येयमिति ध्येयेभ्यो नियत्याकृत्यादिरूपेभ्यो निष्क्रान्तं निष्क्रान्तानि च तानि यस्मात् तं, विभुं व्यापकमव्ययं नित्यं स्वसंवेद्यं स्वप्रकाशं, ध्येयं ध्यानार्हमथचाध्येयमध्येतव्यं, विम्रष्टव्यं स्मर्तव्यं च अर्थाच्चिदानन्दघनं परमेश्वरं ध्यात्वा विमृश्य ये बुधास्तत्त्वज्ञास्ते तच्चेति तद्विमर्शात्मैव, ध्यानं विदुरविच्छिन्नेन पारम्पर्येण जानन्ति च ।।[२]

---

१. राजमार्तण्ड (२) २. नेत्रोद्योत (अष्टमोऽधिकारः १५)

कुलार्णवतन्त्रकार की दृष्टि—कुलार्णवतन्त्र में कहा गया है—

यावदिन्द्रिय सन्तापमनसा संनियम्य च।
स्वान्तेनाभीष्ट देवस्य चिन्तनं ध्यानमुच्यते ॥

(४६) मत्स्येन्द्रनाथ की ध्यान-साधना

मत्स्येन्द्रनाथ ध्यानयोगी, समाधियोगी, सहजयोगी और उन्मन योगी थे। मत्स्येन्द्रनाथ ने कौलज्ञाननिर्णय में '**ध्यानयोग**' पर जितनी निष्ठा व्यक्त की है उतनी योग के किसी भी अङ्ग पर नहीं। मत्स्येन्द्रनाथ के ध्यानयोग सम्बन्धी (ध्यान-सम्बन्धी) कतिपय उदाहरण लीजिए—

१. स्थानं ध्यानञ्च वर्णञ्च लक्षञ्चैव चतुष्टयम्। (३।३)
२. पिण्ड संज्ञा भवेत् स्थानं ध्यानन्तत्पद मुच्यते। (३।४)
३. सप्तमं ध्यान पुष्पन्तु ज्ञानपुष्पंन्तु अष्टमम्। (३।२६)
४. मनोलिङ्ग सदा ध्यायेत् यां यां फलसमीकृते। (३।२८)
५. बिन्दुनादस्तथा शक्तिदीप्त ध्यानमथापि वा। (४।८)
६. ध्यात्वा विद्युल्लताकारं शक्तिर्वे व्योमपञ्चके। (४।९)
७. येनैव ज्ञानमात्रेण ध्यानाभ्यासेन नित्यशः। (५।२)
८. साधयेन्नात्र सन्देहो ध्यानयुक्त यदा भवेत्। (५।५)
९. ध्यायमानमिदं देवि! जरा व्याधिविनश्यति। (५।१५)
१०. ध्यायेच्चन्द्रमिदं देवि नानिमूर्ध्नि च हृदगतम्। (५।१६)
११. बिन्दुनाद तथा शक्तिरेवं ध्यात्वा पृथक्-पृथक्। (५।३१)
१२. कृष्णाम्बरधरो नित्यं कृष्ण ध्यानात्मरञ्जितम्। (७।७)
१३. भवत्येव न सन्देहो ध्यानपूजारतस्य च। (८।३३)
१४. पशुग्रहण मावेशं पूजाध्यान रतस्य च ॥ (८।३४)
१५. पूजयित्वा इमं चक्रं यावद् ध्यानं प्रयुञ्जति। (८।३६)
१६. पञ्चमन्तु महाचक्रं ध्यानपूजा क्रमेण तु। (८।४०)
१७. द्वितीयमष्टपत्रन्तु तेजध्यानसुदीपितम्। (१०।१३)
१८. कुरुते बहुधारूपं ध्यानैक गतचेतसः। (१०।१४)
१९. एकान्ते बहुधा रूपं कुरु ध्यानञ्च तत्परः। (१०।१८)
२०. ददते नात्र सन्देहो भक्ति ध्यानप्रदीपितः। (१०।२५)
२१. रक्तध्याने सदावश्यं पीतस्तंभकरं परम्। (१०।२८)
२२. एकैकस्य स्थिन्देवि! एतद् ध्यानन्तु अष्टधा। (१०।३१)

२३. अतिध्यान विदं देव! कथ्यतान्तु मम प्रभो । (१६।३)
२४. किं वर्णा ध्यानमात्रञ्च श्रोतुमिच्छामि भैरव । (१६।२४)
२५. मोक्षकामी सदा ध्यायेच्छुक्लाम्बरधरां शुभाम् । (१९।२)
२६. शङ्खहस्ता सदा ध्यायेन्मनसा चिन्तितं लभेत् । (१९।५)
२७. ध्यागेत्तां सततं वीरा बहिः पूजां विवर्जयेत् । (२३।१६)

उपनिषदों में भी ''ध्यान योग' को रेखाङ्कित किया गया है । ऋषियों ने 'स्वगुणैर्निगूढाम् देवात्म शक्ति' को 'ध्यान योग' से देखा—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ॥[1]

ध्यान से विश्वमाया से निवृत्ति हो जाती है—

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः ।
तस्याभिध्यानाद् योजनात् तत्त्वभावाद् भूयाश्चान्ते विश्वमाया निवृत्ति ॥[2]

ध्यान के अनुभवात्मक चिह्न

१.नीहार २.धूम ३.अर्क ४.अनिल ५.अनल ६.जुगुनू ७.विद्युत ८.स्फटिक ९.चन्द्रमा 'बहुतसे दृश्य

नीहार-धूमार्कानिलानलानां,
खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम् ।
एतानिरूपाणि पुरः सराणि,
ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकर्णाणि योगे ॥ (श्वे०उप० २।११)

(४७) ध्यान-योग और मत्स्येन्द्रनाथ

ध्येय में प्रत्ययैकतानता (वृत्ति का एक तार चलना) ही **'ध्यान'**है—**तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्** (योगसूत्र) । कौलज्ञाननिर्णय के पञ्चम पटल में महादेवी भैरव से पूँछती हैं कि अज्ञान के अन्धकार से आच्छादित होने पर भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है किन्तु उसके विनाश का उपाय क्या है?

अज्ञानतमसाच्छन्ना यथा भ्रान्तिर्विनश्यति ।
कथयस्व महादेव भ्रान्तिनिर्नाशनं परम् ॥[3]

---

१. श्वेताश्वतरो (१।३) २. श्वेताश्वतरो (१।१०)
३. येनैवज्ञान मात्रेण ध्यानाभ्यासेन नित्यशः । सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्त स गातभ्यास तत्परः ॥२॥ साधयेत् सकलार्थानां मनसा यत् समीहितम् ।उत्तिष्ठ खड्गपातालं रोचनाञ्जनपादुकाम् । गुटिकाकाशगमनं रसश्चैव रसायनम् । अन्तर्द्धानं भवेद्देवि तथान्यश्च रसायनम् । साधयेन्नात्र सन्देहो ध्यानयुक्तयदा भवेत् ॥ (५।२-५)

अज्ञान और भ्रान्ति-ध्वंस के उपाय—भैरव देवी से कहते हैं कि अज्ञान एवं भ्रान्ति के विनाश का परम साधन 'ध्यान' है।

ध्यानाभ्यास का फल—मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं कि—१. ध्यानाभ्यास के द्वारा अभ्यासी सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्त हो जाता है। उसकी सारी आकांक्षायें पूरी हो जाती हैं। उसके मनोवांछित सारे पदार्थ उसे प्राप्त हो जाते हैं। २. उत्तिष्ठ, खड्ङ्ग (खड्ग), पाताल, रोचन, अञ्जन, पादुका, गुटिका, आकाशगमन, रससिद्धि, रसायन-सिद्धि, अन्तर्द्धान आदि की समस्त सिद्धियाँ ध्यान योगाभ्यास से प्राप्य हैं। इसके अतिरिक्त अन्य रसायन-सिद्धियाँ भी प्राप्त हो सकती हैं।[1] ध्यान अज्ञान को भी दूर करता है।

अज्ञान एक बन्धन है और उसका प्रभाव है—पारमार्थिक सत्य पर परदा डालकर उसे अज्ञेय एवं अज्ञात बना देना—

अज्ञानबन्धनाज्ञेयं ज्ञानं ज्ञेयं विमोचनम्। (कौ०प० ११।२६)

देवी ने भ्रान्ति-ध्वंस का उपाय पूँछा तो भैरव ने दो उपाय बताए—

येनैव ज्ञानमात्रेण ध्यानाभ्यासेन नित्यशः।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तः स गातभ्यासतत्परः। (५।२)

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं साधना कोई भी हो किन्तु उसकी प्राणशक्ति है **ध्यान** अतः—

'साधयेन्नात्र सन्देहो ध्यानयुक्त यदा भवेत्॥ (५।४)

'कौलज्ञाननिर्णय (३।२-३) में मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं कि सर्वत्र चार तत्त्व विद्यमान हैं वे चार तत्त्व निम्नाङ्कित हैं—१. स्थान (पिण्ड), २. ध्यान (पद), ३. वर्ण (रूप), ४. लक्ष (रूपातीत)।

* १. स्थानं ध्यानञ्च वर्णञ्च लक्षञ्चैव चतुष्टयम्।

२. पिण्ड संज्ञा भवेत् स्थानं, ध्यानन्तत्पद मुच्यते।
वर्णरूपं विनिर्दिष्टं लक्षं वै रूप वर्जितम्॥ (३।४-५)

३. पिण्डपञ्चोपपदरूपं रूपातीत वरानने।

एक-एक के चार प्रकार हैं—स्थाने स्थाने स्थितन्देवि! एकैकस्य चतुर्विधम्।

पिण्ड में ६४,१०००, १०,०००,०००, (१०,०००,०००) के ऊपर स्थित ३०,०००,००० आदि दलों के कमल स्थित हैं। इन सबके ऊर्ध्व में चराचर को निगीर्ण करने वाला सर्वव्यापी, निरञ्जन, अचल कमल है जिसकी इच्छा से सृष्टि एवं लय होता है तथा जिसमें समस्त चराचर जगत लयीभूत हो जाता है—

'तस्योर्द्धे व्यापकं तत्रनित्योदित मखण्डितम्।
स्वातंत्रभब्जमचलं सर्वव्यापी निरञ्जनम्।
तस्येच्छया भवेत् सृष्टिर्लयन्तत्रैव गच्छति।

---

१. कौलज्ञाननिर्णय (५।१)

तेन लिङ्गन्तु विख्यातं यत्र लीनं चराचरम् ॥[१]

कुलपिण्ड—मत्स्येन्द्रनाथ कुल पिण्ड के विषय में कहते हैं कि—

कुलपिण्डं समालिख्य नाडी नाडीमुखैः सह ।
विद्यामन्त्रमयं पिण्डं भुक्तिमुक्तिप्रदं शुभम् ॥
नाडी नाडीमुखैर्वापि अधोर्द्ध रेफदीपितम् ।
वायुविष्णुः सबिन्दुश्च तप्तचामीकरप्रभम् ।
जन्ममण्डल संलीनं ध्वान्ततेजसमप्रभम् ॥[२]

ध्यान की उपयोगिता तो सर्वत्र है किन्तु एक स्थल पर धारणा और ध्यान दोनों निरर्थक हैं और वह धरातल है 'उन्मन'—

उन्मनं मनरहितं ध्यानं धारणवर्जितम् ॥[३]

मत्स्येन्द्रनाथ ने मनोलिङ्ग का सदैव ध्यान करने का उपदेश दिया है—

मनोलिङ्गं सदा ध्यायेद् यां यां फलसमीकृते ।
तां लभन्ते न सन्देहोआत्मसम्वित्तिपूर्वकम् । (कौ०ज्ञा०नि०४।२९)

ध्यान-योग का महत्त्व क्या है?—ध्यान योग औपनिषदिक साधना का भी मेरुदण्ड रहा है ।[४] योगिराज मत्स्येन्द्रनाथ ध्यानयोगी थे । उन्हें पूजा के बाह्य उपचारों के प्रति निष्ठा नहीं थी । अतः उन्होंने मन की साधना पर जो दिया । (The greatest emphasis is laid on the cultivation of the mind)[५]

इसके लिए उन्होंने 'ध्यानयोग' पर बल दिया । योग एवं तन्त्र के अनुसार (Highest form of mental culture) योगसाधना है । ध्यान मूलतः योग क्रिया है 'कौलज्ञाननिर्णय' के १४वें पटल में योग-साधना के अनुभवों एवं उसकी सिद्धियों पर इस प्रकार प्रकाश डाला गया है—

प्रथमं कम्पमायाति ध्वननन्तु द्वितीयकम् ।
हस्तपादशिराकम्पभाषाणि विविधानि च ॥
भूमित्याग कवित्वञ्च अतीतानागतं तथा ।
कालस्य वञ्चनं देवि! रूपस्य परिवर्तनम् ॥
वलीपलितनाशञ्च खेचरत्वं हि सुन्दरि ।
अष्टौ च सिद्धिसम्प्राप्तिर्मूल कौलं वरानने ॥

योग-साधना में सर्वप्रथम शरीर में प्रकम्प एवं बाद में बार-बार कम्पन आता है (हाँथ, पैर एवं सिर में कम्पन) । प्राणायाम के कारण शरीर का पृथ्वी छोड़कर आकाश में अवस्थान एवं त्रिकाल दर्शिता आदि सिद्धियों का भी 'कौलज्ञाननिर्णय' में वर्णन है ।

---

१. कौलज्ञाननिर्णय (३।९-१०)
२. कौलज्ञाननिर्णय (४।४-६)
३. कौलज्ञाननिर्णय (३।१२)
४. श्वेताश्वतरोपनिषद्
५. प्र०चं० वागची (कौलज्ञाननिर्णय)

ध्यान योग के अनुभवात्मक लक्षण (मत्स्येन्द्रनाथ)

१.शरीर में कम्पन
२.असामान्य ध्वनि-श्रवण
३.भूमित्याग शरीर का
४.कवित्व शक्ति का उदय
५.अतीतानागत का ज्ञान
६.काल-वञ्चन
७.रूपपरिवर्तन एव वलीपलितनाश
८.खेचरत्व

उपनिषदों में योग-साधना के अनुभव इससे भिन्न है 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में योगाभ्यासानुभवों को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

१. नीहार धूमार्कानिलानलानां,
खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम् ।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि,
ब्रह्मन्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥

२ पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते,
पञ्चात्मके योग गुणे प्रवृत्ते ।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः,
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥ १२ ॥

३. लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं,
वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च ।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं,
योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ॥ १३ ॥

४. एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ॥

५. यदाऽऽत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं,
दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्,
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं,
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ १५ ॥

साधना का स्वरूप— १. प्राणायाम-साधना

'प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः ।
क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत् ।
दुष्टाश्वयुक्तमिव विद्वान मनोधारयेताप्रमत्तः ॥

२. **स्थान-शोधन**—

समे शुचौ शर्करावह्निबालुका
विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः ।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने,
गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥ १० ॥
—श्वेताश्वतरोपनिषद

हठयोग प्रदीपिकाकार की दृष्टि—स्वात्माराम मुनीन्द्र कहते हैं कि योगाभ्यासियों को सफलता मिलने पर निम्न चिह्न प्रकट होने लगते हैं—

वपुः कृशत्व वदने प्रसन्नता,
नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले ।
अरोगता बिन्दुजयोऽग्निदीपनं,
नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम् ॥ (ह०प्र० ३।७८)

१. कालवञ्चन योग भी प्रसिद्ध साधना है—

प्राणस्य शून्यपदवी तथा राजपथायते ।
तदाचित्त निरालम्बं तदा कालस्य वञ्चनम् ॥

२. अमृतपान भी योग की प्रख्यात साधना है—

यत्किंचित् स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः ॥ सूर्यस्य मुख वञ्चनम् ।

मत्स्येन्द्रनाथ-प्रवर्तित 'योगिनी कौल सम्प्रदाय' के अनुसार योग-साधना में निम्न शक्तियाँ सम्प्राप्त होती हैं—

१. दूरदर्शन (दूर से दूर की वस्तुओं को देख लेना), २. परकाया-प्रवेश, ३. पिण्ड में ब्रह्माण्ड का साक्षात्कार, ४. अष्ट सिद्धियाँ, ५. शीघ्र गति, ६. कालवञ्चन, ७. सृष्टि-संहार करने की सामर्थ्य, ८. शिवत्व की प्राप्ति, ९. उन्मनीः ।

'मनोदृश्यमिदं सर्वं यत्किञ्चित्सचराचरम् ।
मनसो ह्युन्मनीभावाद् द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥ (ह०यो०प्र०)

साधना की सर्वोच्च अवस्था पर प्रकाश डालते हुए मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

१. इस अवस्था में साधक का मन संसार के किसी भी पदार्थ पर केन्द्रित नहीं रहता ।

२. यह 'उन्मना' की अवस्था है जो कि विचार-शून्य होती है और इस स्थिति में मन उसी प्रकार निष्क्रिय, निश्चल, निष्कम्प एवं गतिहीन रहता है तथा निर्जीव वस्तुएँ (Inanimate objects)।

३. इस स्थिति कोई भी ध्वनि मन को सचल या संक्षुब्ध नहीं कर पाती । इस स्थिति में व्यष्टि सत्ता लुप्त हो जाती है ।

४. इस समय भूत, वर्तमान एवं भविष्य तीनों प्रत्यक्ष हो जाते हैं ।

५. इस स्थिति में साधक बिना जरा एवं मृत्यु के निरन्तर जीवन व्यतीत करता है ।

६. फिर मन खेचरी चक्र में प्रवेश करता है (ब्रह्मरन्ध्र में प्रविष्ट होता है) और अमृतपान करता है ।

७. यह अमृत 'कामकला' की भाँति निर्मल एवं स्फटिक भी भाँति पारदर्शी और दीप्तिमान है । यह अवस्था तभी प्राप्त होती है जबकि 'सहजावस्था' प्राप्त हो चुकी हो ।

हठयोग प्रदीपिका (योग के ग्रन्थ) में स्वात्माराम मुनीन्द्र ने भी इस पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि—

दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम् ।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ।

मत्स्येन्द्रनाथ के योगाभ्यास में वर्णित 'उन्मनी' का स्वरूप क्या है? उन्मनी क्या है? स्वात्माराम मुनीन्द्र कहते हैं—

'तत्त्वं बीजं हठः क्षेत्रमौदासीन्यं जलं त्रिभिः ।
उन्मनीकल्पलतिका सद्य एव प्रवर्तते ।। (ह०यो०प्र०)

मत्स्येन्द्रनाथ के समान समस्त तान्त्रिक योगियों ने उन्मनी को महत्त्व दिया । स्वात्माराम मुनीन्द्र कहते हैं—

'मनोदृश्यमिदं सर्वं यत्किञ्चित्सचराचरम् ।
मनसो ह्युन्मनीभावाद् द्वैतं नैवोपलभ्यते ।।

विद्युल्लताकारा शक्ति का ध्यान—मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं कि जो 'व्योमपञ्चक' में स्थित विद्युल्लताकारा सत्ता है उसका ध्यान करने से घटिका के अर्धभाग में ही समस्त जगत् का स्तम्भन किया जा सकता है—

'ध्यात्वा विद्युल्लताकारं शक्तिर्वै व्योमपञ्चके ।
स्तुभ्यते च जगत्सर्वंघटिकार्द्धे वरानने ।। (कौ०ज्ञा०नि०४।१०)

सहस्रारस्थ चन्द्रमा का ध्यान—मत्स्येन्द्रनाथ ने कहा है कि साधकों को सहस्रारस्थ एवं अमृतधर चन्द्रमा का ध्यान करना चाहिए—

ध्यात्वा चन्द्रासनस्थञ्च ऊर्द्धश्चन्द्रेण घट्टितम्।
सीकरैः शीतलैर्दिव्यैः सिञ्च्यमानमनुस्मरेत् ।।(कौ०ज्ञा०नि०५।१३)
ध्यायमानमिदं देवि! जराव्याधिर्विनश्यति ।। (कौ०ज्ञा०नि०५।१५)

अन्य चक्रों में चन्द्रमा का ध्यान—मत्स्येन्द्रनाथ इस दिव्य चन्द्रमा का ध्यान केवल सहस्रार में ही नहीं प्रत्युत इसका ध्यान नाभि, हृदय एवं मूर्द्धा में भी करने का उपदेश देते हुए कहते हैं कि—

ध्यायेच्चन्द्रमिदं देवि! नाभिमूर्ध्नि च हृद्गतम् ।

इस ध्यान का अभ्यास समचित्ततापूर्वक निरन्तर एक वर्ष तक करना चाहिए । मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

अभ्यसेत् समचित्तस्तु अब्दमेकं निरन्तरम् ।[1]

इस अभ्यास से साधक १. स्वातन्त्र्य एवं २. जरामरण से निर्मुक्ति प्राप्त कर लेता है—

ततः स्वातन्त्र्यमायाति जरामरणवर्जितम् ।[2]

१-२. कौलज्ञाननिर्णय (५।१७)

स्वातन्त्र्य क्या है? कर्तुं अकर्तुं अन्यथाकर्तुं की निरपेक्ष पूर्ण शक्ति को ही स्वातन्त्र्य कहते हैं। स्वातन्त्र्य परमशिव की पराशक्ति है। 'त्रिकदर्शन' में स्वातन्त्र्य को शिव की पराशक्ति के रूप में इस प्रकार परिभाषित एवं निरूपित किया गया है—

'चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धि हेतुः ॥[१]

स्वतन्त्रा अनुत्तर विमर्शमयी शिवभट्टारका भिन्ना (शक्तिः)।[२] **'स्वातन्त्र्यम् आनन्द शक्तिः।** (तन्त्रसार) जिसे परमात्मा का ऐश्वर्य या स्वातन्त्र्य कहा जाता है वही नित्योदित 'परावाक्' है। इसे ही 'विमर्शात्मा चिति' भी कहा गया है।

(४८) बिन्दु और नाद तथा शक्ति का ध्यान

मत्स्येन्द्रनाथ ने बिन्दु, नाद तथा शक्ति का भी ध्यान करने के लिए कहा है—

'बिन्दुनादस्तथा शक्तिदीप्त ध्यानमथापि वा।[३]

शारदातिलक में बिन्दु, नाद एवं शक्ति को इस प्रकार प्रस्तुत करके सृष्टि-प्रक्रिया समझाया है—

'सच्चिदानन्द विभवात् सकलात् परमेश्वरात्।
आसीच्छक्तिस्ततो नादः नादाद्बिन्दु समुद्भवः ॥

सच्चिदानन्दविभव सकल परमेश्वर शक्ति, नाद, बिन्दु।

ब्रह्मरन्ध्र से स्रवित (आकाश से समागत) अमृत का ध्यान—मत्स्येन्द्रनाथ शरीर को अमृत-प्लावन के द्वारा मृत्युजित् बनाना चाहते थे अतः उन्होंने ब्रह्मरन्ध्र से स्रवित पीयूष के पान की साधना का उपदेश देते हुए कहते हैं—

'चन्द्राह्लादकरं दिव्यम् आगच्छन्तं खँमध्यतः।
स्रवन्तं ब्रह्मरन्ध्रेण अचिरान्मृत्युजिद्भवेत् ॥
न जरामरणन्तस्य व्याधिरोगो न विद्यते ॥[४]

अमृत का ध्यान नहीं प्रत्युत अमृत का पान ही यहाँ मुख्य ध्येय है।

(४९) बिन्दु, नाद एवं शक्ति का चक्रों में ध्यान

प्रत्येक चक्र को बिन्दु, नाद एवं शक्ति के संघात के रूप में देखकर तन्निहित बिन्दु, नाद एवं शक्ति का पृथक्-पृथक् ध्यान करने से धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष तथा अणिमादिक अष्ट ऐश्वर्यों की प्राप्ति होती है।

'बिन्दुनाद तथा शक्तिरेवं ध्यात्वा पृथक्-पृथक्।
धर्मार्थौ काममोक्षौ च अणिमादिगुणाष्टकम् ॥ (५।३१)

देवीचक्र का ध्यान—साधक को चाहिए कि वह शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा (The first day of luner fort night) को अपने को देवीचक्र के रूप में ध्यान करे—

---

१. शक्तिसूत्र (१)
२. प्रत्यभिज्ञा हृदयम् (सूत्र १)
३. कौलज्ञाननिर्णय (४।८)
४. कौलज्ञाननिर्णय (५।६-७)

'देव्याश्चक्रगतं चित्तं प्रतिपदायां शशिर्यथा' या उस तिथि को देवी के श्रीचक्र में अपने को संप्रविष्ट स्थिति में देखें। वह यह भी ध्यान करे कि मेरे शिर का अन्तिम शीर्ष भाग चन्द्रमा की भाँति श्वेत है या शुद्ध घृत-कुण्ड है। फिर यह ध्यान करना चाहिए कि शिर के बाल पर कोई काला चिह्न है और वह 'अञ्जन' है जो कि द्रव्यरूप में है और प्रवाहित होकर वली-पलित को नष्ट कर रहा है।

'भावयेत् केशस्कन्धस्थं लग्नं वै अञ्जनन्तथा।
सा द्रवं कृष्णरूपं च वलीपलितनाशनम् ॥'[१]

अन्य विधि—आधारस्कन्धसंस्थान में जो कि शीतल है और ब्रह्मरन्ध्र में लयीभूत है (उसमें) कृष्ण (काला) एवं द्रवरूपात्मक अञ्जन प्रवाहित हो रहा है—

'द्वितीयं साम्प्रतं देवि! शृणुष्वैकाग्रमानसा।
आधारस्कन्धसंस्थाने योगं युञ्जीत शीतलम् ॥'

योगं युञ्जीत शीतलम्—अर्थात् आधारस्कन्धसंस्थान में स्थित शीतल (सम्भवत: चन्द्रमा या अमृत) पर योग का योजन करो (ध्यान लगाओ)।

साधक को चाहिए कि वह 'सूर्य' को शत्रु और चन्द्रमा को मित्र माने। इसके अतिरिक्त वह यह ध्यान करे कि मैं काले वस्त्र धारण किए हुए हूँ मैं कृष्ण वर्ण का हूँ और सर्पव्याघ्रमशक रहित निर्जन स्थान के भूगृह में स्थित हूँ। इसके साथ ही वह अभ्यासी उस एकान्त एवं जनशून्य स्थान में जो कि पुष्पों से अलंकृत एवं सुगंधित हो स्थित रहकर शाल्य-ओदन (भात) का सेवन करते हुए, इन्द्रियों पर नियन्त्रण स्थापित करते हुए अभ्यास करता रहे तो छ: मासों के भीतर सिद्धयोगिनी के समान ऐश्वर्यशाली एवं सुरपूजित तथा देवकन्याओं से सेवित हो जाता है।[२]

अन्य विधि—साधक को यह भी ध्यान करना चाहिए कि 'ब्रह्मग्रन्थि' में तीन केन्द्र स्थित हैं। ये सभी तीनों केन्द्र ब्रह्मखण्ड में लीन हैं। ये नीले अञ्जन (Collynium) के एक भाग के तुल्य है। इस अञ्जनद्रव से शरीर के प्रत्येक रोम, रन्ध्र, कूपों में भर देना चाहिए अर्थात् उस द्रव्य से रंग देना चाहिए।

'ब्रह्मग्रन्थि स्थिताद्ये तां त्रीणि एव वरानने ॥ १० ॥
लीनां वै ब्रह्मखण्डे तु भिन्ननीलाञ्जनप्रभम्।
द्रवेण रञ्जयेत् सर्वं रोम कूपादिकं प्रिये ॥' (७।१०-११)

इस प्रकार ध्यान करने से अञ्जन से रञ्जित साधक यदि वृद्ध भी हो तो भी स्वस्थ एवं यौवनोपेत हो जाता है। इस अभ्यास में छ: मास का समय लगता है—

'ध्यानेन रञ्जितात्मा तु वृद्धोऽप्युन्नतयौवन:।
भवत्येवत्र सन्देह: षण्मासाभ्यन्तरेणतु ॥'[३]

---

१. कौलज्ञाननिर्णय (७।४)
२. कौलज्ञाननिर्णय (७।८-१९)
३. कौलज्ञाननिर्णय (७।१२)

ध्यान की अन्य प्रक्रिया—ध्यान की इस प्रक्रिया में साधक को ध्यान करना चाहिए कि पीली ग्रन्थि के भीतर पिण्ड में १६ दलों का एक कमल है और उसके प्रत्येक दल कृष्ण वर्ण के अञ्जन से रञ्जित हैं और उन पर १६ अरों से विभूषित हैं और इनमें जुगनुओं की भाँति चमक है और ये ऊर्ध्व प्रदेश में स्थित ब्रह्मरन्ध्र में लयीभूत हो गए हैं—

'पिङ्गग्रन्थिगतश्चक्रं षोडशारं सुतेजसम् ।
सद्रवं कृष्णवर्णञ्च षोडशस्वरभूषितम् ।
खद्योतितगतादूर्ध्वं ब्रह्मरन्ध्रं लयं गताः ॥'

यदि इस प्रकार १६ मासों तक ध्यान किया जाता रहा तो छः मासों के भीतर वृद्ध भी तरुण हो जाता है—

'षण्मासा सेवनाभ्यस्ताद् वृद्धोऽपि तरुणायते।'[1]

वह ध्यानी द्वितीय कामदेव के समान बन जाता है । किन्तु इसमें नियम है कि साधक अपने प्रगाढ़ ध्यान के समय ध्येय योगिनियों के स्थान से एकीभूत हो जाय और योगिनियों के ध्यान में तल्लीन हो जाय और उन्हें एवं अपने को कृष्णवर्ण रञ्जित के रूप में कल्पित करके ही उनका ध्यान करे ।

'योगिनीस्थानमाश्रित्य असितं कृष्णवर्णकम् ।' (७।१५)

(५०) मत्स्येन्द्रनाथ की चक्र-साधना

मत्स्येन्द्रनाथ की चक्र-साधना पर ध्यान दें तो वे कहते हैं कि 'प्रथम चक्र' की साधना के लक्षण एवं उनकी सिद्धियाँ इस प्रकार हैं—

'प्रथमं मूलचक्रन्तु यदान्यभ्यसते प्रिये।। १५ ॥
तदा तु प्रत्ययं देवि! महदाश्चर्यकारकः ।
प्रथमं कम्पमायाति धूननन्तु द्वितीयकम् ।
हस्तपादशिरः कम्प भाषाणि विविधानि च ।
मन्त्रमुद्रगणं सर्वं दुर्दुरप्लुत एव सः ।
भूमित्याग-कवित्वञ्च अतीतानागतं तथा ।
कालस्य वञ्चनं देवि! रूपस्य परिवर्तनम् ।
वलीपलितनाशश्च खेचरत्वं हि सुन्दरि ।
अष्टौ च सिद्धि सम्प्राप्तिर्मूलकौलं वरानने ।

मूलाधारचक्र का स्वरूप, स्थिति एवं साधना-निष्पत्ति—मत्स्येन्द्रनाथ कहतेहैं—

शृणु त्वमद्भुतं देवि! आधारस्यैव निर्णयम्।
देव्याश्चक्रोर्द्धं देवेशि! आधारश्चतुरंगुलम् ॥ २० ॥
तस्मिंश्चैव मनः कृत्वा शुचिभूत्वा तु पार्वति ।
कम्पस्तोभस्तथा भाषा मुद्रामुत्प्लवनन्तथा ।

---

१. कौलज्ञाननिर्णय (७।१४)

अश्रुतानि तु शास्त्राणि मन्त्रमुद्रागणं महत् ।
भूत्यागं खेचरत्वञ्च वश्यमाकर्षणन्तथा ।
जरापहरणं देवि! मृत्युकालस्य वञ्चनम् ।
पातालं खेचरत्वञ्च अचिराद्भवति प्रिये । (१४।१५-२३)

ब्रह्मरन्ध्र (५।७) सहस्र कोटिदल पद्म (५।९) चन्द्रासनस्थ ऊर्ध्व चन्द्र का चक्र (५।१२), सहस्रदलपद्म (५।१८) षोडशार महापद्म (५।२२) तथा एकादशविधा देवि चक्राणि च सहस्त्रिका ।

पञ्चारं अष्टपत्रञ्च दश द्वादशपत्रकम् ।
षोडशं शतपत्रञ्च कोटिपत्रं यथैव च ।। (५।२७)

ब्रह्मरन्ध्र (७।६), ब्रह्मखण्ड (७।११), षोडशार (७।१३), अष्टार (१५-१४), अष्टपत्र (७।१६) आदि अनेक चक्रों का भी मत्स्येन्द्रनाथ ने 'कौलज्ञाननिर्णय' में उल्लेख किया है ।इसके अतिरिक्त मत्स्येन्द्रनाथ ने अनेक स्थलों पर 'द्वादशान्त' (१७।१४, १७।२३, आदि) का भी उल्लेख किया है ।

चक्र और चक्र-साधना—चक्रों का स्वरूप—चक्र तो शक्तियों का धाम है—शक्तियों का निलय है और शक्ति विग्रह है । 'योगिनी हृदय' में कहा गया है । कि चक्र पञ्चशक्ति चतुर्वह्नि की सृष्टि है—

पञ्चशक्ति चतुर्वह्नि संयोगाच्चक्रसम्भवः ।। (१।८)

शिव संहिताकार की दृष्टि—शिवसंहिताकार कहते हैं कि इड़ा और पिङ्गला नामक नाड़ियों के मध्य जो सुषुम्णा नाड़ी है उसमें छः शक्तियाँ हैं और छः मद्म हैं अर्थात् छः शक्ति स्थानों के पद्मों को ही छः कमल कहते हैं । छः कमल, छः शक्ति स्थान हैं ।

चक्रों की उत्पत्ति—योगिनीहृदय में कहा गया है कि जब वह विश्वरूपा परमा शक्ति प्राणियों के अदृष्ट के कारण स्वान्तःसंहत विश्व की सिसृक्षा होने के कारण अपनी स्फुरत्ता का साक्षात्कार करती है तब 'चक्र' की उत्पत्ति हो जाती है—

'यदा सा परमा शक्तिः स्वेच्छया विश्वरूपिणी ।
स्फुरत्तामात्मनः पश्येत्तदा चक्रस्य संभवः ।।'

चक्रों के प्रकार—चक्रों के अनेक प्रकार हैं । मुख्यतः पिण्ड में स्थित सात चक्र स्थित हैं किन्तु 'श्री यन्त्र' के त्रिकोणों आदि से बनने वाले अष्टार आदि नव चक्र भी हैं । पिण्डस्थ चक्र निम्नांकित हैं—

आधारं प्रथमं चक्र स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम् ।
तृतीयं मणिपूराख्यं चतुर्थं स्यादनाहतम् ।
पञ्चमं तु विशुद्धाख्यमाज्ञाचक्रं तु षष्ठकम् ।
सप्तमं तु महाचक्रं ब्रह्मरन्ध्रे महापथे ।। (वि०मा० १५-१६)

गोरक्षनाथ के अनुसार मूलाधारपद्म का स्वरूप

योगी गोरक्षनाथ कहते हैं—

आधारः प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम् ।
योनिस्थानं तयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते ।
आधाराख्ये गुदस्थाने पङ्कजं यच्चतुर्दलम् ।
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्यासिद्धवन्दिता ।
योनिमध्ये महालिङ्गं पश्चिमाभिमुखं स्थितम् ।
मस्तके मणिवद बिम्बं यो जानाति स योगवित् ।
तप्तचामीकरामांस तडिल्लेखेव विस्फुरत ।
त्रिकोणं तत्पुरं वह्ने रधो मेढ्रात्प्रतिष्ठितम् ।
यत्समाधौ परं ज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम् ।
तस्मिन् दृष्टे महायोगे यातायातं न विद्यते ।
चतुर्दले स्यादाधारे स्वाधिष्ठाने तु षड्दलम् ।
नाभौ दशदलं पद्मं सूर्यसंख्यादलं हृदि ।
कण्ठे स्यात् षोडशदलं भ्रूमध्ये द्विदलं तथा ।
सहस्रदलमाख्यातं ब्रह्मरन्ध्रे महापथे ।। (शिवसंहिता)

सारांश—

पद्मों के दल

मूलाधार	स्वाधिष्ठान	मणिपूर	अनाहत	विशुद्धाख्य	आज्ञा	सहस्रार
०४	०६	१०	१२	१६	०२	१०००

१. मूलाधार एवं स्वाधिष्ठान के मध्य 'योनिस्थान' या 'कामरूप' स्थित है ।

२. मूलाधार चक्र के मध्य में त्रिकोणाकार योनि है ।

३. मूलाधार चक्र गुदास्थान में है—'आधाख्ये गुदस्थाने पङ्कजं यच्चतुर्दलभ् । (गोरक्षनाथ)

४. मूलाधारस्थ 'योनि' कामाक्षापीठ है ।
 'तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवन्दिता ।

५. कामाख्या योनि में पश्चिमामिभुख महालिङ्ग स्थित है ।

६. महालिङ्ग के मस्तक में मणिवत् बिम्ब है ।

७. मूलाधार पद्म की कर्णिका में तप्त स्वर्ण एवं विद्युल्लता के समान ज्योतिर्मय त्रिकोणाकार अग्निमय योनिस्थान है ।

८. अनन्त विश्वतोमुख परम ज्योति का समाधि में महायोग में स्थित जो योगी दर्शन कर लेता है वह आवागमन-चक्र से मुक्त (कैवल्यपद प्राप्त) हो जाता है ।

—विवेकमार्तण्ड—गोरक्षनाथ

षट्चक्र निरूपणकार पूर्णानन्द की दृष्टि—पूर्णानन्द कहते हैं—

१. सुषुम्णा के मुख से संलग्न, लिङ्गमूल से नीचे और गुदा के ऊपर, मूलाधार पद्म है

अथाधार पद्मं सुषुम्णास्य लग्नं,
ध्वजाधो गुदोर्ध्वं चतुः शोणपत्रम् ।

२. इसके चारों दल रक्तवर्ण के हैं । इसके चारों दलों पर—स्वर्णवर्ण के व, श, ष, स अक्षर अङ्कित है ।[1]

३. इस मूलाधार पद्म की कर्णिका में चार कोणों वाला एक पृथ्वीमण्डल है । वह मण्डल आठों दिशाओं से प्रकाशमान अष्ट शूलों से आच्छादित है । वह मण्डल विद्युत के समान पीतवर्ण एवं कोमल अङ्गवाला है । उस मण्डल के मध्य पृथ्वी का अपना बीज 'लँ' स्थित है । इस बीज का वर्ण भी पीत है ।

चार बाहुओं वाला वह 'पृथ्वी बीज' ऐरावत हाथी पर आरूढ़ है । उसकी क्रोड में प्रातःकालीन सूर्य के समान प्रकाशमान सृष्टिकर्ता ब्रह्मा शिशु रूप में शोभायमान है । यह ब्रह्मा चतुर्भुज तथा चतुर्मुख है ।

'मूलाधार' कमल में 'डाकिनी' नामक देवी रहती हैं । ये चार भुजाओं वाली, उज्ज्वल वर्णवाली एवं रक्तवर्ण के समान नेत्रवाली हैं । एक ही समय में उदित अनेक सूर्यों के समान प्रकाशवाली यह देवी सर्वदा तत्त्वज्ञान के प्रकाश को प्रदान करती रहती हैं ।

वज्रानाड़ी के मुख प्रदेश में 'मूलाधारपद्म' की कर्णिका के मध्य त्रिपुरा से सम्बद्ध त्रैपुर नामक त्रिकोण सुशोभित हो रहा है । वह विद्युत के प्रकाश के समान प्रकाशमान, सुस्निग्ध एवं कामरूप है । उस 'त्रिकोण' के मध्य में 'कन्दर्प' नामक वायु व्याप्त है । वह जीव को धारण करने वाला, बन्धूक पुष्पों के समूह का उपहास करने वाला एवं करोड़ों सूर्य के समान प्रकाशमान है ।

उस त्रिकोण के मध्य तप्त काञ्चन के समान कोमल, अधोमुख, ज्ञान एवं ध्यान से परिज्ञात, नवीन पल्लव के समान रूपवाला, विद्युत और पूर्णचन्द्र के बिम्ब के समूह किरण वृन्द के समान विशिष्ट प्रकाशवाला तथा अत्यन्त स्निग्ध काशी में वास करने वाले के समान सुशोभित, नदी के आवर्त रूप के समान आकार वाला 'स्वयंभूलिङ्ग' शोभायमान है ।

उस 'स्वयंभूलिङ्ग' के ऊर्ध्व में कमल के तन्तु के समान अत्यन्त पतली देह वाली, जगत को मोहित करने वाली, ब्रह्मद्वार के मधुर मुख को अपने मुख से आच्छादित करती हुई, शङ्ख के वेष्टनाकार के सदृश, नवीन विद्युत की माला की शोभा के साथ स्पर्धा करने वाली, साढ़े तीन लपेटों (वलयों) से लिपटी हुई, सर्प के समान 'स्वयंभूलिङ्ग' के ऊपर सोयी हुई, मत्त भ्रमरों की पंक्ति की ध्वनि के समान कोमल, काव्य, बन्ध, रचना एवं उनके भेद तथा अतिभेद क्रम से मधुर वाणी का गुजार करती हुई, श्वास तथा उच्छ्वास रूपी वायु से जीव को धारण करती हुई 'कुल कुण्डलिनी' उद्दीप्त, तेजोमय त्रिवली के रूप में मूलाधार पद्म की कर्णिका के गह्वर में विलास करती है ।

उस कुण्डलिनी में 'नादरूपा श्री परमेश्वरी' परा शक्ति शोभायमान है जो कि सूक्ष्म से

१. षट्चक्र निरूपणम् ।

भी सूक्ष्म, अत्यन्त कुशल तथा नित्यानन्द ब्रह्म से क्रमशः क्षरित अमृत के प्रवाह को ग्रहण करती है। इसके प्रकाश से ब्रह्माण्ड से पिण्ड पर्यन्त सकल जगत प्रकाशित है तथा इससे नित्य ज्ञान का उदय होता है।[१]

शिव संहिताकार ने सुस्पष्ट विवरण प्रस्तुत करते हुए कहा है कि—१. मलद्वार से दो अंगुल ऊपर एवं २. लिङ्ग से एक अङ्गुल नीचे चार अङ्गुल के विस्तार का एक 'कन्द' है। मलद्वार एवं मेढ्र के मध्य स्थित 'योनि' पश्चिमाभिमुख (पीछे की ओर) मुखवाली है। वहीं कन्द है। यहीं कुण्डलिनी सदा निवास करती है। मूलाधार चक्र की स्थिति इस प्रकार है—

गुदात्तु द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यङ्गुलादध।
चतुरङ्गुल विस्तारमाधारं वर्तते समम्॥

मूलाधार की स्थिति

चार अङ्गुल विस्तार वाला	गुदा से २ अङ्गुल ऊपर	लिङ्ग स्थान से २अङ्गुल नीचे	मूलाधार पद्म की कर्णिका में अत्यन्त गोपनीय एवं परम रमणीय योनिमण्डल है। वहीं कुण्डलिनी वाग्देवी है।वह सृष्टिरूपाह। —शिवसंहिता
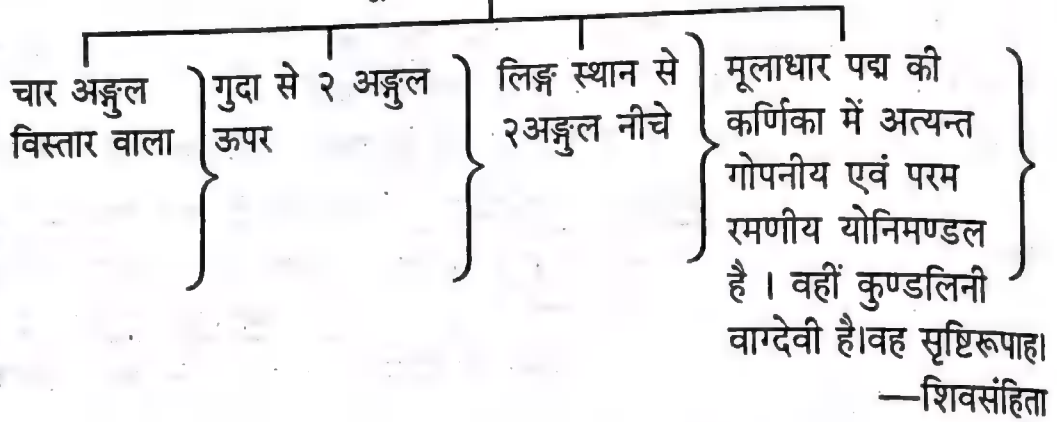
'मूलाधारेऽस्तियत्पद्मं चतुर्दलसमन्वितम्।
तन्मध्ये **वाग्भवं बीजं** विस्फुरन्तं तडित्प्रभम्।
हृदये **कामबीजन्तु** बन्धूककुसुमप्रभम्।
आज्ञारविन्दे **शक्त्याख्यं** चन्द्रकोटिसमप्रभम्॥

बीज त्रय

'वाग्भव बीज' (मूलाधार चक्र में) (तन्मध्ये वाग्भवं बीजं विस्फुरन्तं तडित्प्रभम्)	**'काम बीज'** अनाहतचक्र में (हृदये काम बीजं तु बन्धूककुसुमप्रभम्)	**'शक्ति बीज'**(आज्ञाचक्र में) (आज्ञारविन्दे शक्त्याख्यंचन्द्र कोटिसमप्रभम्)

बीजों की गोपनीयता—

बीजत्रयमिदङ्गोप्य भुक्तिमुक्तिफलप्रदम्।
एतन्मन्त्रख्यं योगी साधयेत् सिद्धिसाधकः॥
एवं मन्त्रं गुरोर्लब्ध्वा न द्रुतं न विलम्बितम्।
अक्षराक्षरसन्धानं निःसन्दिग्धमनाः जपेत्॥

---

१. षट्चक्र निरुपणम्।

पूजोपरान्त एकाग्रचिचत्ति से देवी के सामने ३ लाख होम एवं तीन लाख जप करना चाहिए। योनि के आकार का कुण्ड बनाकर गुड़, दूध, घृत मिले कनेर के फूलों से होम करना चाहिए।[1]

चक्र-साधना का अनुभवानुक्रम— भगवान् भैरव ने देवी से कहा कि चक्र-साधना में होने वाली अनुभूतियों का भी एक क्रम है और वह क्रम इस प्रकार है—

'यत् क्रमं पृच्छितं देवि!तत् क्रमं शृणु भाविनि।
प्रथमं मूलचक्रन्तु यदान्भ्यसते प्रिये ॥ १५ ॥
तदा तु प्रत्ययं देवि महदाश्चर्य कारकः।
प्रथमं कम्पमायाति धूनन्तु द्वितीयकम् ॥ १६ ॥
हस्तपादशिरः कम्पभाषाणि विविधानि च।
मन्त्रमुद्रगणं सर्वं दुर्दुरप्लुत एवं सः ॥ १७ ॥
भूमित्याग कवित्वञ्च अतीतानागतं तथा।
कालस्य वञ्चनं देवि! रूपस्य परिचर्तनम्।
वलीपलितनाशञ्च खेचरत्वं हि सुन्दरि।
अष्टौ च सिद्धि सम्प्राप्तिर्मूल कौलं वरानने ॥[2]

सारांश यह कि चक्रगत यौगिक साधना में सिद्धियों की प्राप्ति एवं विशिष्ट शारीरिक लक्षणों की क्रमिक स्थिति इस प्रकार होती है—

१. शरीर में कँपकँपी उठना, २. धूनन, ३. हाथ पैर सिर में कम्पन, ४. विविध भाषायें, ५. मन्त्रमुद्रा में अनन्य निष्ठा, मेढक की उछलने की गति, ७. भूमि त्याग, ८. कवित्व की शक्ति, ९. भूतभविष्य के काल का ज्ञान, १०. कालवञ्चन, ११. रूप परिवर्तन, १२. वलीपलित का नाश, १३. खेचरत्व एवं १४. अष्ट सिद्धियों की सम्प्राप्ति।

सिद्धसिद्धान्त पद्धति—में योगसाधनाजन्य फलों का विवरण गोरक्षनाथ ने योगसाधनोपरान्त प्राप्त परिणामों या सिद्धियों का विवरण इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

सिद्धसिद्धान्त पद्धति

प्रथमवर्ष	द्वितीय वर्ष	तृतीय वर्ष	चतुर्थ वर्ष	पञ्चम वर्ष	छठवाँ वर्ष
आरोग्य सर्वलोक प्रियत्व।	सर्वभाषाओं में भाषण की शक्ति	दिव्यदेह की प्राप्ति, व्याल व्याघ्र से भी अप्रभावित	क्षुधा, तृषा, निद्रा, शीत ताप से मुक्ति दूर श्रवण	वाक् सिद्धि परकाय प्रवेश	शस्त्रा,वज्र, सेअप्रभावित

---

१. शिवसंहिता (पटल-५) २. कौलज्ञाननिर्णय (१४।१५-१८)

सातवाँवर्ष	आठवाँवर्ष	नवमवर्ष	दशमवर्ष	एकादशवर्ष	द्वादशवर्ष
वायुवेग, क्षितित्याग दूरदर्शन	अणिमादि ऐश्वर्यों की प्राप्ति	वज्रदेह, खेचरत्व, दिक्‌चरत्व	पवनवेग यथेच्छयात्रा निष्पादन	सर्वज्ञता[1]	शिवतुल्य कर्ता, हर्ता होने की सामर्थ्य ।

(५१) कुण्डलिनी-योग और मत्स्येन्द्रनाथ

मत्स्येन्द्रनाथ ने तन्त्र की सर्वाधिक प्रिय साधना—शक्तिसाधना—कुण्डलिनी की साधना को विशेष महत्व क्यों नहीं दिया । 'कुण्डलिनी योग, हठयोग, एवं लययोग', दोनों से सम्बद्ध है । मत्स्येन्द्रनाथ ने हठयोग एवं लययोग की साधनाओं का कौलज्ञाननिर्णय, में भूरिशः वर्णन किया है और चक्रों को भी महत्त्व दिया है किन्तु कुण्डलिनी से इतनी दूरी रक्खा कि साधना-क्षेत्र में कुण्डलिनी का नामोल्लेख तक नहीं किया । सम्पूर्ण कौलज्ञाननिर्णय में कुण्डली (या कुण्डलिनी) शब्द केवल एक बार आया है और वह भी साधना-पद्धति के प्रसङ्ग में नहीं प्रत्युत् शक्ति के विभिन्न रूपों का उल्लेख होते समय—

> कुलाशक्तेस्तु वीरस्य तथान्यं शक्तिलक्षणम् ॥ ९ ॥
> अनादिनिधनाशक्तिरिच्छा नाम शिवोद्भवा ।
> व्योममालिनी सा भद्रे! खेचरीति निगद्यते ।
> वामाख्या कुण्डली नाम ज्येष्ठा चैव मनोन्मनी ।
> रुद्रशक्तिस्तु विख्याता कामाख्या तु गीयते ॥
>
> (कौ०ज्ञा०नि०२०।११)

कुण्डलिनी योग—१. 'प्राणसाधना, २. नाद-साधना ३. मनःसाधना, ४. बिन्दु-साधना'—इन चारों साधनाओं की अपेक्षा रखता है ब्रह्मचर्य भी अनिवार्य है किन्तु कौलमार्ग में ब्रह्मचर्य-निष्ठा का उपदेश ही नहीं दिया जाता ।

'योगभोगसाहचर्यवाद, वाली मत्येन्द्र-दृष्टि ब्रह्मचर्य को अनिवार्य नहीं कर सकती थी । यही कारण है कि शक्ति के उपासक मत्स्येन्द्र को कुण्डलिनी शक्ति की साधना ही विस्मृत हो गई ।

'कुण्डलिनी मूलाधार चक्र में स्वायंभु लिङ्ग को चतुर्दिक लपेटकर अग्निचक्रात्मक योनि (मूलाधारस्थ त्रिकोण) में स्थित है और सुषुम्णा-द्वार को दबाकर स्थित है । योगी उसे नींद से जगाकर और उसे सुषुम्णा नाड़ी में ऊपर चढ़ाते हुए अन्ततः उसे सहस्रारस्थ 'परमशिव' से मिला देता है । यही शिवशक्ति मिलन 'सामरस्य' कहलाता है और यही साधना का परम लक्ष्य है ।

---

१. सिद्धसिद्धान्त पद्धति

*** कुण्डलिनी के विविध भेद ***

स्थूल कुण्डलिनी	सूक्ष्म कुण्डलिनी	अधः शक्ति	मध्य शक्ति	ऊर्ध्व शक्ति	कुमारी	योषित	पतिव्रता

—सि०सि०प०

समस्त कौलिक दर्शन १. कुल, २. अकुल तत्त्वों पर समाश्रित हैं। कुलाकुल का सामरस्य ही कौलदर्शन का चरम लक्ष्य है। गोरक्षनाथ जी कहते हैं—

अतएव कुलाकुलस्वरूपा सामरस्य निजभूमिका निगद्यते।

कुलशक्ति— कुलशक्ति—१. परा, २. सत्ता, ३. अहंता, ४. स्फुरत्ता एव ५. कला इन पाँचों रूपों में समस्त विश्व के आश्रयरूप में अभिव्यक्त है।

१. पराशक्ति—यह कुलशक्ति समस्त विश्व के आधार के रूप में परा-अपरा सभीवस्तुओं में विद्यमान है। यह चेतन प्रकाश स्वरूप है। अपनी सत्ता से सबकी प्रकाशिका होने के कारण यह 'पराशक्ति' कहलाती है।

'अतएव-परापरा निराभासावभासकान् प्रकाशस्वरूपा या सा 'परा'॥ ४ ॥

२. सत्ता—पराशक्ति (कुलशक्ति) के सत्तास्वरूप का लक्षण इस प्रकार है। वह अनादि (सजातीय-विजातीय एवं स्वगत भेद से रहित) है। वह संसिद्ध (स्वप्रकाश) है। वह परमाद्वैत (विजातीय भेद रहित एवं विश्व परमसत्ता के रूप अद्वय) है वह एक (सजातीयत्व से अतीत) है। इस तरह की सत्ता को स्वीकार करने वाली परम शक्ति को 'सत्ता' कहते हैं—

'अनादि संसिद्धं परमाद्वैत परमेकमेवास्तीति याऽङ्गीकारं करोति सा सत्ता।' (५)

३. अहन्ता—कुलशक्ति अपने अहंतारूप में आदि-अन्त से रहित और अप्रमेय (इन्द्रियादि के द्वारा अप्रत्यक्ष) स्वप्रकाशस्वरूप तथा सच्चिदानन्दस्वरूपिणी (शिव में सम्पूर्ण कूटस्थ) है। यह अहन्तारूप में शिव से अपनी अभिन्नता (अभेदत्व) प्रकट करती है। यह अहन्तारूपी कुलशक्ति पराविद्या भी कही जाती है।

'अनादिनिधनोऽप्रमेयः स्वभावकिरणानन्दोऽहमस्मीत्यहं
सूचनशीला या सा पराऽहंता ।(६)

४. स्फुरत्ता—कुलशक्ति अपने स्फुरत्तारूप में मनवाणी से अगम, अनुभवगम्य चैतन्यविलास की अद्वैतावस्था (द्वैताभास राहित्य) अभिव्यक्त करती है। इसी कारण यह स्फुरतारूपिणी के रूप में प्रख्यात है।

स्वानुभवच्चिमत्कार निरुत्थानदशां प्रस्फुटीकरोति या सा स्फुरत्ता। (७)

५. पराकला—कुलावस्था में पराशक्ति कुलरूपिणी कही जाती है। आत्मा, शाश्वत, सनातन, नित्य, अविनाशी, निर्विकार, त्रिगुणातीत, निरञ्जन एवं स्वयंप्रकाश है, बोधस्वरूप, स्वसंवेद्य अनुभवैकगम्य है। इस प्रकार आत्मतत्त्व की प्रकाशिका शक्ति ही 'कला' है—'नित्यशुद्धबुद्धस्वरूपस्वयंप्रकाशत्वमाकलयतीति या सा **पराकलेत्युच्यते**॥(८)

अकुलावस्था—अनादि परब्रह्म परमेश्वर (अनादिनाथ निराकार, निरञ्जन स्वसंवेद्य, अकुल शिव) से अभिन्न पराशक्ति अकुल अवस्था में निरन्तर विद्यमान या स्वरूपस्थ रहती है।

इस अकुल अवस्था में जाति, वर्ण, गोत्र आदि अखिल निमित्त (व्यवहार के कारण) से रहित असंग अकुल शिव में पराशक्ति ही शेष रहती है। समस्त भेदों से परे होने के नाते यह शक्ति अखण्ड, अद्वय, अनन्य, कार्यकारणरहित, नामातीत, रूपातीत परासत्ता अकुल कही गई है—

अकुलमिति जाति-वर्ण-गोत्राद्यखिलनिमित्तत्वेनैकमेवास्तीति प्रसिद्धं तथा चोक्त-मुमामहेश्वरसम्वादे निरुत्तरेऽनन्यत्वाद् अखण्डत्वाद् द्वयत्वादनन्यत्वान्निधर्मत्वा दनामत्वादकुलस्य निरुत्तरमिति। (९)

आज्ञावती पराशक्ति—इस प्रकार कुलाकुलास्व रूप यह पराशक्ति सामरस्यरूप अभेद (अद्वैतभाव) या तादात्म्य के प्रकाश की स्थिति को स्फुटित करने में सर्वधर्मरहित, अखण्ड, नित्य, अद्वय एवं अनन्त रूप अकुलावस्था में स्थित रहती है।

यही शक्ति **'अपरं परा' निजा**, आदि के नाम से प्रख्यात समस्त विश्वप्रपञ्च के आधार रूप से महाप्रलय में अवशिष्ट रहती है। यह स्थावर-जंगम सकल विश्व-प्रपञ्च जाल को परमेश्वर रूप परमतत्त्व में सम्पादित कर एक कर देती है यही अपरंपरा नाम वाली शक्ति है। यह परमेश्वर अनादिनाथ की 'आज्ञावती (स्वरूप प्रकाशिका) शक्ति' कही जाती है।

एवं कुलाकुलरूपा सामरस्य प्रकाशभूमिका-स्फुटीकरण एकैवमर्था या साऽपरंपरा शक्ति रे वा वशिष्यते अपरं परं निखिल विश्व प्रपञ्च जालं परतत्त्वं सम्पादयत्ये की करोतीत्यपराशक्ति राज्ञावती प्रसिद्धा। (१०)

(५२) परशिव और उनका स्वरूप

समस्त स्थावर जंगमात्मक विश्व में परमेश्वर शिव ही कुलाकुल रूप में अभिव्यक्त होते हैं। शिव से अभिन्न शक्ति ही महाप्रलय में अकुलावस्थायुक्त कहलाती है। उस समय नामरूपात्मक विश्व का उपसंहार करके परमतत्त्व शिव में अभिन्नरूपत्व प्राप्त कर लेती है। सृष्टिकाल आने पर यही 'निजा' शक्ति प्राणियों के कर्म के साथ युक्त होकर परा-अपरा-सूक्ष्म आदि भेदों से कुलरूप में व्यक्तावस्था धारण करती है। वह विश्व का सृजन करती है और इस अवस्था में **'कुल'** कहलाती है। वह एकमात्र परमतत्त्व शिव की आकृति हैं—न वह द्वैत (कुल) है, न वह अद्वैत है।

जिस प्रकार जल के बुलबुले जलस्वरूप ही हैं। उसी सिद्धान्त के अनुसार कुल-अकुल शक्ति शिव हैं।

अकुलं कुलमाधत्ते कुलश्चाकुलमिच्छति।
जलबुदबुदवन्न्यायदेकाकारः परः शिव। (११)

परमात्मा एकाकार है तथापि वह अनन्त शक्ति मान है। यद्यपि वह निजानन्द के रूप में अवस्थित होते हुए भी अनेक रूप में स्थित रहते हुए अपनी प्रतिष्ठा को स्वयं ही व्यवहारगत करता है।

शिव सर्वाधार है। शिवशक्ति का सम्बन्ध नित्य एवं तादात्म्यापन्न है। उससे शक्ति का लोप भी नहीं होता। समुद्र में फेन तरंग आवर्त उठकर उसे विभिन्नरूपात्मक दिखाते हैं तथापि समुद्र एक ही है।

अतएवैकारोऽनन्तशक्तिमान् निजानन्दतयावस्थितोऽपि नानाकारत्वेन विलसन् स्वप्रतिष्ठां स्वयमेव भजतीति व्यवहारः। अलुप्तशक्तिमान्नित्यं सर्वाकारतया स्फुरन् पुनः स्वेनैव रूपेण एकमेवावशिष्यते।[1]

परमकारण परमेश्वर परात्पर शिव हैं। वे शिव स्वस्वरूप की दृष्टि से सर्वतोमुखी हैं और सारे आकारों में स्फुरित होने की सामर्थ्य रखते हैं। इसीलिए उन्हें शक्तिमान कहा जाता है। शिव भी शक्ति से रहित होने पर कुछ भी करने में समर्थ रह जाता। वह अपनी शक्ति के साथ सम्पन्न होने पर सर्वाभासक बन जाते हैं।

अतएव परमकारणं परमेश्वरः परात्परः शिवः स्वस्वरूपतया सर्वतोमुखः सर्वाकारतया स्फुरितुं शक्नोतीत्यतः शक्तिमान्। शिवोऽपि शक्तिरहितःशक्तः कर्तुं न किञ्चन्। स्वशक्त्या सहितः सोऽपि सर्वस्याभासको भवेत्। (१३)[2]

(५३) कुण्डलिनी

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

'वामाख्या कुण्डली नाम ज्येष्ठा चैव मनोन्मनी।'
(कौलज्ञाननिर्णय २०।११)

परापर शक्ति से युक्त परमेश्वर शक्तिमान, समस्त विश्व का अधिष्ठाता होने के कारण विश्वरूप एवं विश्वमय कहा जाता है। परापरस्वरूपा शक्ति कुण्डलिनी सिद्धों के देहपिण्ड में स्थित है। उस कुलशक्ति की शक्ति से ही योगी कायसिद्ध कहलाते हैं।

कुण्डलिनी १. प्रबुद्ध एवं २. अप्रबुद्ध दो प्रकार की है—

अतएवानन्तशक्तिमान् परमेश्वरः, स विश्वरूपी विश्वमयो भवतीति प्रसिद्ध सिद्धानां च परापरस्वरूपा कुण्डलिनी वर्तते। अतस्ते पिण्डसिद्धाः प्रसिद्धा सा कुण्डलिनी प्रबुद्धा अप्रबुद्धा चेति द्विधा।

अप्रबुद्धेति तत्र पिण्डचेतनरूपा स्वभावेन नानाचिन्ता व्यापारोद्यम प्रपञ्चरूपा कुटिलस्वभावा कुण्डलिनी ख्याता, सैव योगितां तत्तद्विलासित विकाराणां निवारणोद्यम-स्वरूपा कुण्डलिन्यूर्ध्वगामिनी प्रसिद्धा भवति।[3]

---

१. सिद्धसिद्धान्त पद्धति (१२) २-३. सिद्धसिद्धान्त पद्धति

कुण्डलिनी की दो अवस्थायें

१. पिण्ड में चैतन्य रूप में स्थित है।	१. कुण्डलिनी का वह स्वरूप जो सहस्रारोन्मुख ऊर्ध्वगामिनी है प्रबुद्ध है।
२. अनेक चिन्ताव्यापारों में डूबी हुई एवं जगद्रूपा और बन्धनरूपा है।	२. यह कुण्डलिनी जीवों को बन्धन में डालने वाली नहीं प्रत्युत् उनको मुक्ति दिलाने वाली होती है।
३. वह कुटिल स्वभावा है।	
४. वही योगियों के विकारों को नष्ट करने हेतु ऊर्ध्वगामिनी हो जाती है।	

(५४) कुल, अकुल, कौल, कौलिक एवं कुलपिण्ड

(१) मत्स्येन्द्रनाथोक्त समस्त ज्ञान कुल एवं अकुल की धुरी के चतुर्दिक ही घूमता है। मत्स्येन्द्रनाथ ने देवी से प्रश्न कराया है कि अकुल से कुल की उत्पत्ति कैसे हुई—

'अकुले तु कुलं देव! कथं जातं हि भैरव! ।[१]

तृतीय पटल में देवी भैरव से पूँछती हैं—

'कुललक्षं महेशान आत्मसंम्वित्तिपूर्वकम् ॥ (३।१)

(२) मत्स्येन्द्र-प्रतिपादित ज्ञान भी 'कुलज्ञान' है—

'अज्ञानास्ते दुराचाराः कुलज्ञान विवर्जितः ॥ (३।१८)

(३) सारे महासिद्ध जो आदि में उत्पन्न हुए थे वे कुल कौलावतारक थे—

'एते पूर्वमहासिद्धाः कुलकौलावतारकाः ॥[२]

(४) मत्स्येन्द्र-प्रतिपादित सिद्धि भी कौलिक कुल एवं कौलों की सिद्धि हैं—

एतन्तु पूजयेद्देवि! कौलिक सिद्धिमिच्छता ॥ (३।२४)

(५) देह लिङ्ग भी कौलिक (कुल+कौल+सम्बद्ध) है—

एतत्ते कौलिकं देवि! देहलिङ्गस्य लक्षणम् ॥ (४।२९)

(६) इनका मार्ग भी कौलिकमार्ग है—

(७) मत्स्येन्द्र ने पिण्ड को भी कुलपिण्ड की आख्या दी है।

---

१. कौलज्ञाननिर्णय (१८।१)
२. कौलज्ञाननिर्णय (९।९)
३. कौलज्ञाननिर्णय (६।१३)

कुलपिण्डं समालिख्य नाडी नाडीमुखैः सह । (कौलज्ञाननिर्णय४।४)
अकारादि हकारान्तं कुलपिण्डस्य भैरवि! । (४।१३)

मत्स्येन्द्रनाथ की देवी भी कुलभाविनि है—

अन्यञ्च अद्भुतं देवि! शृणु त्वं कुलभाविनि । (५।१४)

मत्स्येन्द्रनाथ ने अपने आगम का नाम भी कुलागम रखा है—

कुलागम सुभक्ताय गुरु देव्या प्रपपूजके ॥[१]

ज्ञान का सार भी कौलिक सार है—

न देयं कौलिकं सारं योगिनीनान्तु संभवम् ॥[१]

(१) यह कौलिक ज्ञान ही महाज्ञान है—

प्रकाशितं महाज्ञानं यत्सुरैरपि दुर्लभम् ॥ (६।१६)

कौलिक के ज्ञात होने पर मनोरोध भी व्यर्थ है—

मनोरोधं न कर्तव्यं यदा ज्ञातं हि कौलिकम् ॥ (७।२६)

नारियाँ भी कुलजा हैं—

कुलजा वेश्यमित्याहुरन्त्यजावर्णं अन्त्यजा । (८।७)

अष्टक भी कुलात्मक कुलाष्टक है—

कुलाष्टकं प्रवक्ष्यामि अष्टाष्टकविधि प्रिये । (८।३०)

भक्ति भी हो तो कुलभक्ति हो—

वदनोतिष्ठमहाचक्रं कुलभक्त्याधिष्ठितम् ॥ (८।४४)

सिद्ध भी वे ही मान्य हैं जो कुलागम के हों—

एतत् सिद्धाश्च योगिन्या अस्मिन् सिद्धाः कुलागमे ।[२]

इस संप्रदाय के सिद्ध भी कौल नाम वाले हैं—

सारात्सारतरं भद्रे! महाकौलस्य शोभने ॥ (९।११)

यहाँ सिद्धियाँ भी कौलिकी सिद्धियाँ हैं—

यदीच्छेत् कौलवी सिद्धिः प्राप्य पञ्चामृतं परम् ॥ (११।७)

कुल एवं अकुल दोनों ज्ञातव्य हैं—

अकुलञ्च कुलं ज्ञात्वा कुलं देव्या सुभामिनि ॥ (१२।६)

देवी ने अपने को कुलसमय कहा है—

अद्याहं कुलसमयमद्याहं लक्षणान्वितम् ॥ (१२।२)

भक्ति गुरु एवं कौलागम में प्रशस्त है—

---

१. कौलज्ञाननिर्णय (६।१४)
२. कौलज्ञाननिर्णय (९।७)

गुरु कौलागमे भक्ति अद्वैताचारभावित: । (१२।९)

जो पात्र हैं वे भी कौलिक हैं—

हेमजं रौप्यजं वापि शुक्तिजं शङ्खजं प्रिये ।
कौलिकं तु वरारोहे तथान्यं काचसम्भवम् ॥ (१२।१२)

अन्य प्रकार की भक्ति नहीं कुलभक्ति ही वरेण्य है—

कुलभक्ति विहीने तु गुरुभक्तिविवर्जिते ।
न देयं कौलिकं सारं शिष्यैर्मन्दपरीक्षिते ॥ (१४।४)

'कुलसद्भाव' हृदय में स्थित हुआ करता है ।

एतत्ते कुलसद्भावं हृदिस्थं प्रकटीकृतम् ॥ (१४।४३)

'कौल' ही श्रेष्ठ है अत: वे ही ज्ञान के अधिकारी है ।

तत: कौलमिदं देयं न देयं यस्य कस्यचित् ॥ (१४।६७)

विज्ञानों में श्रेष्ठ कुलविज्ञान है और यह विज्ञान कुलात्मक है ।

एतत्तु कुल विज्ञानं पारम्पर्य क्रमागतम् ॥ (१४।७९)
तेस्मात् सर्व प्रयत्नेन ज्ञातव्यं कुललक्षणम् ॥ (१४।८०)

'अकुल' साधन द्वारा प्राप्त किया जाना चाहिए क्योंकि

अकुलं तु इमं भद्रे! यत्राहं तिष्ठते तदा ।
कल्पान्ते च युगान्ते च मम देहे तु तिष्ठति । (१६।४१)

इस मार्ग के सिद्ध 'कौलसिद्ध' कहे जाते हैं

चत्वार: कुलसिद्धास्तु पृच्छमाना सुभाविता ॥ (१६।५०)

द्वीप भी कुलनामाङ्कित है—कुलद्वीप विधानं (१८।१)[१]

(५५) नादयोग और मत्स्येन्द्रनाथ

नादानुसन्धान एवं नाद श्रवण से सम्बद्ध एवं अन्य नादयोगों से सम्बद्ध पद्धतियों का योग एवं तन्त्र दोनों शास्त्रों में यथेष्ट वर्णन प्राप्त होता है ।

मत्स्येन्द्रनाथ ने कौलज्ञाननिर्णय में नाद योग का भी वर्णन किया है । वे कहते हैं—

'भेरिशङ्खमृदङ्गश्च वीणावंश निनादितै: ।
ताड्यमान बोध्यते जीवस्तल्लयतां गता: ॥[२]
भूतं भव्यं भविष्यञ्च अतीतानागतन्तथा ।
अक्षयो ह्यमरो भूत्वा कामदेव द्वितीयक: ॥
पुष्पवृष्टिपतन्तस्य पारिजातस्य सुन्दरि ।
पूज्यते नागकन्याभिर्यथाहं हाटकेश्वर: ।

---

१. कौलज्ञाननिर्णय

२. कौलज्ञाननिर्णय (४।८५)

पञ्चस्रोतात्मकञ्चैव मोक्षार्थं चोदितो मया ॥'

सारांश यह कि जब कोई जीव लयीभूत हो जाता है तब वह अपने भीतर अनेक प्रकार की असामान्य दिव्य ध्वनियों का श्रवण करता है यथा—

१. भेरी नाद, २. शङ्खनाद, ३. मृदङ्गनाद, ४. वीणानाद, ५. वंशीनाद। इन नादों में से किसी भी नाद के श्रुतिगोचर होने पर साधक को चाहिए कि वह इन पर ध्यान एकाग्र करे। इससे जीव को विशेष ज्ञान (आध्यात्मिक या नादयौगिक बोध) की प्राप्ति होती है और वह (?) अक्षय, अमर एवं कामदेववत सुन्दर हो जाता है तथा २. भूत, भविष्य, अतीत एवं अनागत (भविष्य) आदि सब कुछ जान लेता है। यदि उसे सर्प भी काट ले तो भी उस पर कोई प्रभाव नहीं होता। देवगण उस पर पारिजात पुष्पों की वर्षा किया करते हैं। वह नागकन्याओं द्वारा भी पूजित होता है और वह हाटकेश्वर के समान पूज्य हो जाता है। ये ५ नाद (भेरी-शङ्ख-मृदङ्ग-वीणा-वंशी) है। नाद-श्रवण से व्यक्ति मोक्ष भी प्राप्त कर लेता है।[१]

नादयोग भी मत्स्येन्द्रनाथ की प्रिय साधना है। नाद ही सृष्टि का मूल है। नाद ही ॐ है।

शारदातिलककार की दृष्टि—शारदातिलक में कहा गया है कि—

'सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात्।
आसीच्छक्तिस्ततो नादः नादाद्बिन्दुसमुद्भवः ॥'

सच्चिदानन्द विभव सकल परमेश्वर—शक्ति—नाद—बिन्दु—समस्त जगत की सृष्टि। **नाद शिव** एवं **शक्ति** का पारस्परिक सम्बन्ध है और ये ही सृष्टि के मूल कारण है।

हंसयोगात्मक नादयोग या अजपा गायत्री—

'कर्णञ्च हृदये कृत्वा ज्ञातव्यं हंसलक्षणम्।
कण्ठस्थाने ध्वनिर्दिव्या सकला तु परापरा ॥[२]

नादानुसन्धान द्वारा कानों में श्रुतिगोचर होने वाली ध्वनि भी नाद है और 'सोऽहं' की ध्वनि भी नाद है। अनाहत नाद भी नाद है। परा, पश्यन्ती एवं मध्यमा वाक् भी नाद हैं।

गोरक्षनाथ कहते हैं—कि नाद में ही ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि सभी लीन है। नाद सर्वनिधान है। नाद से ही निर्वाण (मुक्ति) की प्राप्ति होती है—

नादैं लीन ब्रह्मा नादै लीना हरि।
नादैं लीना ऊमापति जो ल्यौ धरि धरि।
नाद हीं तौ आछै बाबू सब कछू निधांना,
नाद हीं थैं पाइये परम निरबाना।[३]

नाद हंसयोगात्मक भी है। गोरक्षनाथ कहते हैं—

सोऽहं बाई हंसा रूपी प्यंडै बहै।

---

१. कौलज्ञाननिर्णय (४।८५-८७)
२. कौलज्ञाननिर्णय (१७।२२)
३. गोरख बानी (पृ०९८)

बाई कै प्रसादि ब्यंद गुरमुख रहै।

ॐकार भी नाद है। गोरक्षनाथ कहते हैं—

ॐकार आछै बाबू मूल मन्त्र धारा।
ॐकार व्यापीले सकल संसारा॥
ॐकार नाभी हदै देव गुर सोई।
ॐकार साधे बिना सिधि न होई॥[1]

यह नाद-गर्जन आकाश में हुआ करता है—

'नाद अनाहद गरजै गेणं, पछिस ऊग्या भांणं।
नाद अनाहद गरजै गेणं, पछिम ऊग्या भाणं॥

अजपा जपात्मक नाद-साधना के विषय में गोरखनाथ कहते हैं कि—

जोगी अजपा जपै त्रिबेंणी के घाटी—गोरखनाथ कहते हैं कि ऐसा जप करो कि तुम्हारे प्रत्येक श्वास-प्रश्वास से 'सोऽहं सोऽहं' रूप अजपा जप होने लगे—

'अजपा जाप जपौ मन लाई। सोऽहं सोऽहं अजपा गाई।

अनाहतनाद का वाद्य बजने पर तो पङ्गु भी नाचने लगता है (यद्यपि वह इतना अशक्त होता है कि चल भी नहीं सकता फिर भी नादानन्द के कारण वह नृत्य करने लगता है।

'अनहद मृदंग बाजै तहां पांगुल नाचन लागा।'

इसीलिए गोरखनाथ कहते हैं कि—

'अनहद घड़ी घड़ियाल बजाइ लै।
जपि लै अजपा जाप।
विचारिलै आपै आप।'

मत्स्येन्द्रनाथ गोरक्षनाथ से कहते हैं कि—

'अवधू ॐकार उतपते नादं, नाद सुन्नि समिभवते।
स्रवन ले थापते नादं, नादं निरंजन बिलीयते॥

(क) ॐकार से नाद उत्पन्न होता है।
(ख) नाद शून्य (आकाश) में प्रकट होता है।
(ग) वही नाद शब्द रूप होकर कानों में स्थापित है।
(घ) नाद निरञ्जन में विलीन हो जाता है।

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

१. 'अवधू नादे भी नादिबा बिंदे भी बिंदवा।
२. 'अवधू सबद्र सो ॐ जोति सो आप।

अजपाजपात्मक नादयोग का स्वरूप क्या है? गोरक्षनाथ कहते हैं कि—प्राणी की श्वास बाहर निकलने पर 'ह' की ध्वनि होती है और श्वास के भीतर प्रविष्ट होने पर (पूरक के साथ) यही ध्वनि 'स' के रूप में आती है। और इस प्रकार प्रत्येक प्राणी अहोरात्र में २१ हजार ६०० श्वासों द्वारा 'सोऽहं सोऽहं' का जप करता रहता है—

१. योग मार्तण्ड

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः ।
हंसो हंसेत्यमु मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ।
षट्च्छतान्यहोरात्रं सहस्राण्येक विंशतिः ।
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥[१]

गोरक्षनाथ ने नाद-साधनान्तर्गत ओंकारोपासना को यथेष्ट महत्व दिया है और योग मार्तण्ड में कहा है कि—

१. ॐकार में ही भूः, भुवः, स्वः (तीनों लोक) एवं चन्द्र, सूर्य एवं अग्नि (तीन देवता) एवं तीनों वर्ण समाहित हैं ।

२. ॐकार में अकार, उकार एवं मकार (बिन्दु संज्ञक) तीनों वर्ण समाहित हैं ।

३. ॐकार में भूत, भविष्य एवं वर्तमान (तीनों काल) स्वर्ग, पाताल एवं पृथ्वी लोक, ऋग्वेद-यजुर्वेद, सामवेद (तीनों वेद), उदात्तानुदात्त एवं स्वरित (तीन स्वर), ब्रह्मा-विष्णु-महेश (त्रिदेव) समाहित हैं ।
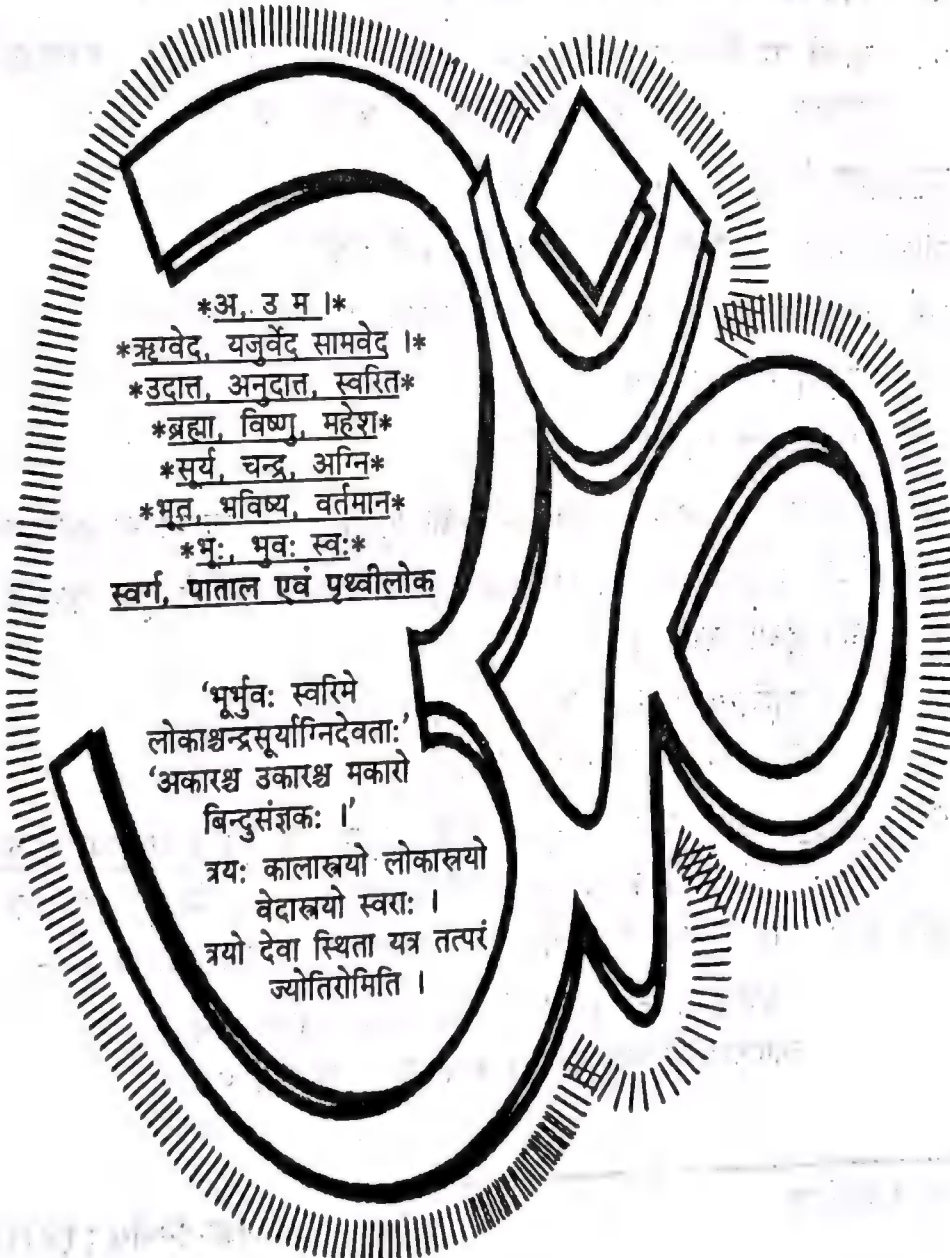
१. भूर्भुवः स्वरिमे लोकाश्चन्द्र सूर्याग्नि देवताः ।
त्रयो वर्णा स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ ७३ ॥

२. अकारश्च उकारश्च मकारो बिन्दु संज्ञकः ।
त्रयोवर्णा स्थिता यत्र तत्परं ज्योति रोमिति ॥ ७४ ॥

३. त्रयः कालास्त्रयोलोकास्त्रयो वेदास्त्रयो स्वराः।
त्रयो देवा स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ ७५ ॥

ओंकारोपासना (नादोपासना) की प्रक्रिया—

गोरक्षनाथीय पद्धति—मत्स्येन्द्र के शिष्य गोरक्षनाथ जी ने ओंकारोपासना की एक पद्धति बताई है जो इस प्रकार है ।

१. साधक को पद्मासन में बैठना चाहिए ।
२. शरीर, कण्ठ एवं सिर समसूत्र में हों (एकसीध हों) ।
३. साधक की दृष्टि नासा के अग्रभाग पर हो ।
४. इसी स्थिति में बैठकर ओंकार का जप करना चाहिए ।
५. वाणी से जिसका जप किया जाय, शरीर से उसका अभ्यास भी करना चाहिए । उसी का मन से स्मरण भी करना चाहिए ।[१]

यह क्रिया नित्य की जानी चाहिए—

ओंकारोपासना मनसा, वाचा, कर्मणा होनी चाहिए ।[२]

(क) वचसा यश्जपेद् बीजं । (ख) वपुषा यत्समभ्यसेत् ।

(ग) मनसा यत्स्मरेन्नित्यं

(घ) तत्परं ज्योतिरोमिति ।

(ङ) ॐकार के जप में अपने शरीर की शुद्धि का ध्यान रखना अनिवार्य नहीं है।

(च) ऐसी नादोपासना (ओंकारोपासना) का साधक किसी कृत कर्म से लिप्यमान नहीं हुआ करता ।

शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि जपेदोंकारमव्ययम् ।
न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रभिवांभसा ॥[३]

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं कि 'कान' एवं 'हृदय' में ध्यान एकाग्र करके 'हंस' के लक्षणों को जानना चाहिए । कण्ठ स्थान (विशुद्धाख्य चक्र) में जो हंस, या सोऽहं की दिव्य ध्वनि श्रुतिगोचर हो रही है । वह सकला, परा एवं अपरा तीनों हैं—

'कर्णञ्च हृदये कृत्वा ज्ञातव्यं हंसलक्षणम् ।
कण्ठस्थाने ध्वनिर्दिव्या सकला तु परा परा ॥[४]

१-३. योग मार्तण्ड
४. कौलज्ञाननिर्णय (१७।२२)

आगमिक दृष्टि और नाद योग—आगमिक दृष्टि के अनुसार नादयोग सर्वोच्च मन्त्रयोग है क्योंकि—

> नास्ति नादात परो मन्त्रो न देवःस्वात्मनः परः ।
> नानुसन्धेः परा पूजा न हि तृप्तेः परं फलम् ॥[१]

नादों के प्रकार—तान्त्रिक योग में नादों के अनेक प्रकार बताए गए हैं । और ये सभी सूक्ष्मध्वनिरूपनाद अध्यात्म केन्द्रों से सम्बद्ध अत्यन्त दिव्य ध्वनियाँ हैं । 'परावाक्', पश्यन्ती, मध्यमा वाक् ही इनका मूल है । यद्यपि सामान्यतः इसका विवरण तो नहीं मिल पाता कि नादों में से कौन नाद १. परा, २. पश्यन्ती, ३. मध्यमा एवं ४. वैखरी के हैं तथापि उनके प्रकारों, भूमिकाओं, एवं सोपानों का विवरण मिलता है । सर्वोच्च नाद के नाम भी परिज्ञात है और वह है ओंकार या प्रणव । योगशास्त्र ने प्रणवात्मक नाद को परमात्मा का स्वरूप या उसका वाचक माना है—तस्य वाचको हि प्रणवः' (योगसूत्र)

प्रणव ॐ सूक्ष्मतमनाद एवं उद्गीथ के रूप में विख्यात है । प्रणव को प्राणियों का जीवन कहा गया है—

अव्यक्त नाद के प्रकार

घोष | राव | स्वन | शब्द | स्फोट | ध्वनि | झंकार | ध्वंकृति

'स्वच्छन्द तन्त्र' में उल्लिखित नाद प्रकार

चिणि नाद | चिणि चिणि | शङ्ख नाद | तन्त्री नाद | ताल नाद | वेणु नाद | भेरी नाद | मृदङ्ग नाद
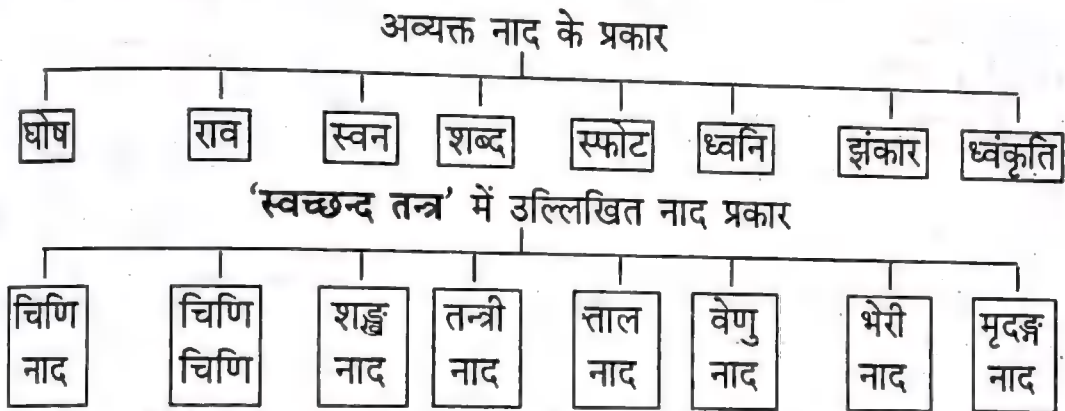
घेरण्डसंहितोक्त, नाद-प्रकार—ऋषि घेरण्ड ने 'घेरण्ड संहिता' में नादों के निम्न प्रकार बताये हैं—

ऋषि घेरण्ड-प्रोक्त नाद-प्रकार

झिंजी नाद | वंशी नाद | मेघ नाद | झर्झर नाद | भ्रमरी नाद | घण्टा नाद | कांस्य नाद | तुरी नाद | भेरी नाद | मृदङ्ग नाद | आनक नाद | दुंदुभी नाद

नादों के विभिन्न स्तर

प्राथमिक स्तर पर श्रूयमाण नाद | माध्यमिक स्तर पर श्रूयमाण नाद | अन्तिम स्तर पर श्रूयमाण नाद

१. न्याय संगति
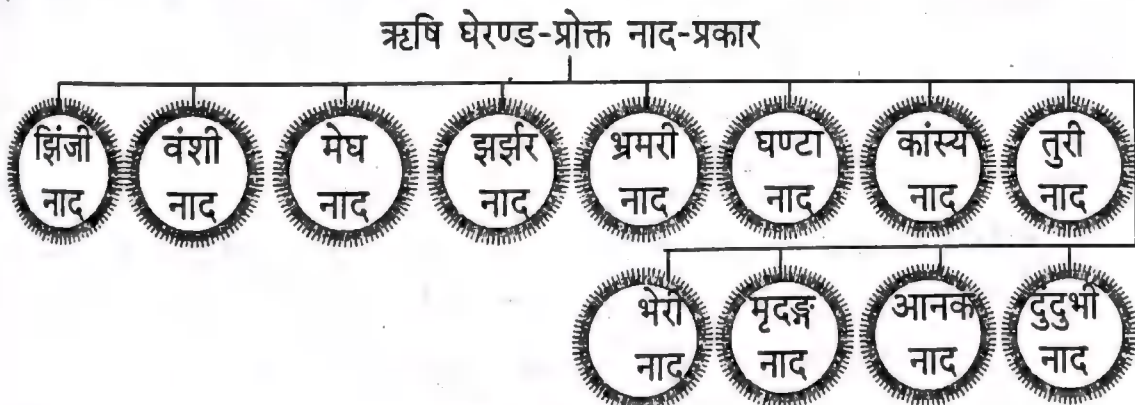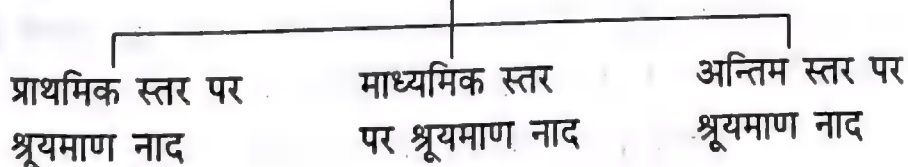
समुद्र, जीमूत, मेरी एवं झर्झर की ध्वनि	मर्दल, शङ्ख, घण्टा एवं काहल की ध्वनि	किंकिणी, वंश, वीणा भ्रमर एवः निःस्वन

आदौ—जलधि-जीमूत-भेरी-झर्झर-संभवाः ।
मध्ये—मर्दल, शङ्खोत्था घण्टा काहलास्तथा ।
अन्ते तु किङ्किणीवंश वीणा भ्रमर निःस्वनाः ।
इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते देहमध्यगाः ।—घेरण्डसंहिता

'ह', 'स' का विज्ञान— मत्स्येन्द्रनाथ ने 'एकादशविधं प्रोक्तं विज्ञानं देहमध्यतः' कहने के बाद ही 'ह' और 'स' के विज्ञान (गूढ़ रहस्य) का उल्लेख करते हुए कहा है कि

१. हृदय में परमस्मरणीय (स्मरणार्ह) सहजदेव समासीन हैं । २. ये सहजदेव 'ह' एवं 'स' के रूप में हैं । ३. इस 'ह' एवं 'स' में 'ह' वर्ण निष्कल एवं नित्य है । (अर्थात् खण्ड एवं हिस्से से रहित और सदा वर्तमान है) ४. **सकार**—सकल (विभाजन युक्त, खण्ड युक्त) है । ५. **वर्ण 'सृ'** का सम्बन्ध सृष्टि से है । ६. **वर्ण 'ह्री'** का सम्बन्ध संहार से है क्योंकि वह जगत् का संहार कर डालता है । ७. 'स' (सकार) शुक्लपक्ष है । ८. 'ह' (हकार) कृष्णपक्ष है । ९. 'ह' (हकार) ईक्षणीय है (दृश्य) है । लोग 'ह' को ईक्षणीय कहते हैं । किसी-किसी ने यह भी अर्थ किया है कि 'हुम्' और 'ह' इस दृश्यमानता से परे हैं । किन्तु 'हकारमीक्षमित्याहुर्महार्थञ्च गतं परम्' वाक्य में 'ईक्षम् इति आहुः' वाक्य-विच्छेद संगत लगता है । फिर 'हुम्', 'ह' कहाँ से आयेंगे? १०. 'हकार' महार्थ (महातत्त्वार्थ) युक्त है (या 'परम्' अर्थात् दूसरा ('स' वर्ण) महार्थ युक्त है—यह अर्थ निकाला जा सकता है।

नादों का मूल—सारे वर्णों के मूल 'नाद' है । नाद का मूल 'ॐ' है और ॐ नामक एकात्मक अनाहत नाद का मूल शक्ति है ।

'सच्चिदानन्द विभवात् सकलात् परमेश्वरात् ।
आसीच्छक्तिस्ततो नादः नादाद्बिन्दु समुद्भवः ॥ —शारदा तिलक

सारे वर्णों (वर्णमाला) का मूल 'नाद' है और मूल नाद अनाहत नाद है और वह एक है—

'एको नादात्मको वर्णः सर्वनाद विभागवान् ।
सोऽनस्तमितरूपत्वादनाहत इतीरितः ॥

भर्तृहरि की दृष्टि—यह अनाहत एकात्मक नाद कौन है? भर्तृहरि कहते हैं—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥

—चिद्वल्ली

इसी एकात्मक अनाहत नाद को कहते हैं—'ॐ' । यही ॐ **'शब्द ब्रह्म'** कहलाता है । भगवती त्रिपुर सुन्दरी इसी शब्दब्रह्म से विभूषित है या 'शब्दब्रह्ममयी' है—

'शब्दब्रह्ममयी स्वच्छा देवी त्रिपुरसुन्दरी ।

चिद्वल्लीकार का कथन है कि 'नाद' समस्त शब्दों की उत्पत्ति के मूल वर्ण हैं—'नादः सर्वशब्दोत्पत्ति हेतुर्वर्णः ।' 'स एव ब्रह्म'—वही ब्रह्म है ।

भास्करराय की दृष्टि—भास्कर राय कहते हैं कि सारे वर्णों में (मुख्य प्राणतत्त्व के रूप में) नाद ही अनुस्यूत है—

वर्णेषु नादोऽनुस्यूतः ।[१]

भास्कर राय कहते हैं कि नाद नौ हैं—**नाद नवकः** । ये मूलाधार आदि चक्रों में स्थित हैं— नादनवकं मूलाधारादिषट्के नादे, नादान्ते, ब्रह्मरन्ध्रे च स्थितम् ।[२]

शब्द ब्रह्म (ओंकार/सर्वोच्च अनाहत नाद) का अधिष्ठान, लयस्थान कौन है? वह है 'पर ब्रह्म' । शब्द ब्रह्म परब्रह्म में लयीभूत हो जाता है । उपनिषद् में कहा गया है—

शब्दब्रह्मणि निष्णातः परब्रह्माधिगच्छति ।

अर्थात् 'शब्दब्रह्म' की साधना में निष्णात योगी 'परब्रह्म' में लयीभूत हो जाता है ।

'वाक्' और 'अर्थ' शिव-शक्ति युगल हैं—

१. वागर्थौ नित्ययुतौ परस्परं शक्तिशिवमयावेतौ ।
सृष्टिस्थितिलयभेदौ त्रिधाविभक्तौ त्रिबीजरूपेण ॥

पुण्यानन्द (कामकला विलास)

२. वागार्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥

नादनवक का स्रोत

मूलाधारादिषट्क | नाद | नादान्त | ब्रह्मरन्ध्र
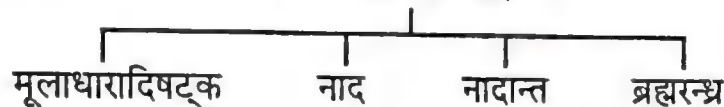
भास्करराय की दृष्टि—भास्कर राय कहते हैं—नाद नवकं १. मूलाधारादिषट्के, २. नादे, ३. नादान्ते, ४. ब्रह्मरन्ध्रे च स्थितम् ।[३]

१० नाद (नटनानन्द की दृष्टि के अनुसार)—नटनानन्द 'चिद्वल्ली' में नादों के १० प्रकार का उल्लेख करते हुए कहते हैं । (क) नादं विभजते । स च दशविधोपजायते। १. चिणीति प्रथमः । २. चिणिचिणीति द्वितीयः । ३. घण्टानादस्तृतीयः, ४. शङ्खनादश्चतुर्थः । ५. पञ्चम नादस्तन्त्रीनादः । ६. षष्ठ स्तालनाद । ७. सप्तमो वेणुनादः । ८. अष्टमो भेरीनादः । ९. नवमो मृदङ्ग नादः । १०. दशमो मेघनादः ।[४]

(ख) नवम नाद का परित्याग कर देना चाहिए—'नवमं परित्यज्य दशमेवाभ्यसेत् ।

(ग) 'तस्मिन् विलीने मनसि गते सङ्कल्पे विकल्पे च दग्धे सदाशिवोऽहमिति परमहंसोपनिषत् ।

* समस्त मातृकायें आब्रह्मभुवनान्त सभी को आच्छादित करके स्थित हैं *

१-२. वरिवस्यारहस्यम् - प्रकाश (१।२२)
३. वरिवस्यारहस्यम् (१।२३)
४. हंसोपनिषद्

श्रीतन्त्रसद्भावकार की दृष्टि—तन्त्रसद्भाव में कहा गया है—

'या सा तु मातृकालोके परतेजस्समन्विता।
तया व्याप्तमिदं सर्वमाब्रह्मभुवनान्तरम्॥
तत्रस्थश्च यथा नादो व्यापितश्च सुरार्चिते।
अवर्णस्थो यथा वर्णस्थितः सर्वगतः प्रिये॥

(५६) लययोग और उसका स्वरूप

योग की जो चार साधना-पद्धतियाँ हैं उसी में सर्वोच्च पद्धति 'लययोग' है क्योंकि—

१. इन्द्रियों का स्वामी 'मन' है।

२. मन का स्वामी 'वायु' है।

३. वायु का स्वामी 'लय' है और (लय का स्वामी नाद है)।

'इन्द्रियाणां मनो नाथो, मनोनाथस्तु मारुतः।
मारुतस्य लयो नाथः, स लयोनादमाश्रितः॥ (ह०यो०प्र०)
लय क्या है? यच्चित्तसन्ततलयः सलयः प्रदिष्टः । (अमरौध प्रबोध)

लय का स्वरूप क्या है?—लयो विषय विस्मृतिः कहकर सारे विषयों को भूल जाना 'लय' कहा जाता है तो—वासनाओं का अपुनर्भव भी लय है।

स्वात्मारामभुनीन्द्र की दृष्टि—स्वात्माराम मुनीन्द्र कहते हैं कि—

(क) १. श्वास-निश्वास का प्रणाश
२. विषय-ग्रह का प्रध्वंस
३. समस्त क्रियाओं का अवसान
४. समस्त विकारों का ध्वंस
→ लय

इन चारों का जहाँ सङ्गम होता है वहाँ 'लय' का आविर्भाव होता है—

प्रनष्टश्वासनिश्वासः प्रध्वस्त विषयग्रहः।[१]
निश्चेष्टो निर्विकारश्च लयो जयति योगिनाम॥ (उप०४।३१)

(ख) १. समस्त संकल्पों का उन्मूलन
२. निःशेष क्रियाओं का अन्त
३. किसी अनिर्वचनीय स्थिति का आविर्भाव
→ लय

इन दोनों की सङ्गम-भूमि में ही लय का प्रादुर्भाव होता है—'उच्छिन्नसर्वसङ्कल्पोनिः-शेषाशेषचेष्टितस्वावगम्यो लयःकोऽपि जायते वागगोचरः॥[२]

---

१. हठयोग प्रदीपिका
२. हठयोग प्रदीपिका (४।३२)

(ग) १. वासनाओं के उत्थान का अभाव
२. विषयों की स्मृति का अभाव

लय

इन दोनों की संधि-भूमि में ही लय का उन्मेष हुआ करता है—

लयो लय इति प्राहुः की दृशं लय लक्षणम् ।
अपुनर्वासनोत्थानाल्लयो विषय - विस्मृतिः ॥[१]

(घ) १. ब्रह्मरूप विषय में अन्तःकरण की समस्त वृत्तियों का विलय
२. विद्या और अविद्या दोनों का अलक्ष्य में लोप

जहाँ ये दोनों निष्पादित हों वही केन्द्र लय है—

मन का लय प्राण का लय

यत्र दृष्टिर्लयस्तत्र भूतेन्द्रिय सनातनी ।
सा शक्तिर्जीवभूतानां द्वे अलक्ष्ये लयं गते ॥[२]

मन और प्राण का लय—जहाँ मन का लय होता है वहीं प्राण का भी लय हो जाता है और जहाँ प्राण का लय होता है वहीं मन का भी लय हो जाता है—

मनो यत्र विलीयेत पवनस्तत्र लीयते ।
पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते ॥

प्राण का लय मन का लय

मन और प्राण के लय का परिणाम—जहाँ मन एवं प्राण का लय हो वहाँ किसी लोकोत्तर एवं अनिर्वचनीय आनन्द का आविर्भाव होता है ।

मनः प्राणलये कश्चिदानन्दः सम्प्रवर्तते ।[३]

* जहाँ वायु का लय होता है वहाँ मन का भी लय हो जाता है ।[४]

वायु मार्ग का निरन्तराभ्यास करने पर वायु-मन दोनों का लय हो जाता है—

बाह्यवायुर्यथा लीनस्तथा मध्ये संशयः ।
स्वस्थाने स्थिरतामेति पवनो मनसा सह ॥ (४।५१)
एवमभ्यसमानस्य वायुमार्गे दिवानिशम् ।
अभ्यासाज्जीर्यते वायुर्मनस्तत्रैव लीयते ॥ (४।५२०)

मन के लय का अन्यतम उपाय—स्वात्माराम मुनीन्द्र की दृष्टि में मन के लय के सवा लक्ष उपायों में नादानुसन्धान मुख्यतम उपाय है—

श्रीआदिनाथेन सपादकोटिलय प्रकाशःकथिता जयन्ति।
नादानुसन्धानकमेकमेव मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम् ॥

नाद और लय का अन्तर्संबन्ध—स्वात्मा राम मुनीन्द्र कहते हैं—

---

१. हठयोग प्रदीपिका (४।३४)
२. हठयोग प्रदीपिका (४।३३)
३. हठयोग प्रदीपिका (४।३०)
४. हठयोग प्रदीपिका (४।६६)

काष्ठप्रवर्तितो वह्निः काष्ठेन सह शाम्यति ।
नादे प्रवर्तितं चित्तं नादेन सह लीयते ॥[1]

लय और विष्णु का परमपद—जहाँ मन का लय होता है वह स्थान 'विष्णु का परम पद' कहलाता है। 'अनाहत शब्द' में जो ध्वनि श्रुतिगोचर होती है उस ध्वनि के भीतर ही ज्ञेय रूप स्वप्रकाश चैतन्य (ज्योति) स्थित है। उस ज्योतिस्वरूप एवं ज्ञेय रूप उस आत्मचैतन्य में मन स्थित है। 'पर वैराग्य' रूप सकल वृत्ति निरोध के द्वारा जहाँ मन का लय होता है वही विष्णु का 'परमपद' कहलाता है।

'अनाहतस्य शब्दस्य ध्वनिर्य उपलभ्यते ।
ध्वनेरन्तर्गतं ज्ञेयं ज्ञेयस्यान्तर्गतं मनः ॥
मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥[2]

मत्स्येन्द्रनाथ ने 'लययोग' के उच्चतम शिखर का उपदेश देते हुए कहा है कि—

१. तत्त्वज्ञ योगी 'द्वादशान्त' में ही बैठता है और विश्वात्मैक्य (महाव्याप्ति) एवं 'महानिद्रा' (तुरीयावस्था) में स्थित रहता है तथा—

२. अन्त में द्वादशान्त में ही लयीभूत हो जाता है —

(क) कृत्वा प्रेतासनं दिव्यं द्वादशान्तमनासृतम् ।

(ख) अधोर्ध्वे रमते हंसो द्वादशान्ते लयं पुनः ॥[3]

मत्स्येन्द्रनाथ ने लय-पद्धति इस प्रकार प्रस्तुत की है—

शिव मध्ये गता शक्तिःक्रियामध्यस्थितः शिवः ।
ज्ञानमध्ये क्रिया लीना क्रिया लीयति इच्छया ॥ ६ ॥
इच्छाशक्तिर्लयं याति यत्र तेजः परः शिवः ॥ (२।६)

सामान्यतः लय-प्रक्रिया इस प्रकार है—

१. पृथ्वी का लय जल तत्त्व में, २. जल तत्त्व का लय अग्नि तत्त्व में, ३. अग्नि तत्त्व का लय वायु तत्त्व में, ४. वायु तत्त्व का लय आकाश तत्त्व में, ५. आकाश तत्त्व का लय अपनी तन्मात्रा 'शब्द तन्मात्रा' में, ६. शब्द तन्मात्रा का लय नाद या ओंकार या 'शब्द ब्रह्म' में, ७. शब्द ब्रह्म का लय 'पर ब्रह्म' में—

शब्दब्रह्मणि निष्णातः परब्रह्माधिगच्छति ।

(५७) लय योग

मत्स्येन्द्रनाथ ने 'लय योग' पर भी प्रकाश डाला गया है। उनके अनुसार लय के दो प्रकार हैं—१. पिण्डगत लययोग, २. ब्रह्माण्डगत लययोग। मत्स्येन्द्रनाथ ने ब्रह्माण्डीय-पद्धति पर भी प्रकाश डाला है। वे कहते हैं—

---

१. हठयोग प्रदीपिका (४।९८)
२. हठयोग प्रदीपिका (४।१००)
३. कौलज्ञाननिर्णय (१७।१४-१८)

'शिव मध्ये गता शक्तिःक्रिया मध्य स्थितः शिवः।
ज्ञानमध्ये क्रिया लीना, क्रिया लीयति इच्छया।
इच्छाशक्तिर्लयं याति यत्र तेजः परः शिवः।[१]

इसे ही मत्स्येन्द्रनाथ ने 'संहार' पद्धति भी कहा है। यही प्रलय-प्रक्रिया है। इस लय (संहार) व्यापार में—१. शक्ति शिव में लयीभूत हो जाती है, २. शिव 'क्रियाशक्ति' में लयीभूत हो जाते हैं। ३. 'क्रियाशक्ति' ज्ञानशक्ति में लयीभूत हो जाती है। ४. 'ज्ञानशक्ति' इच्छाशक्ति में लयीभूत हो जाती है। ५. एवं इच्छाशक्ति तेजविग्रह परमशिव में लयीभूत हो जाती है।

उपर्युक्त शक्तित्रय तो महात्रिपुरसुन्दरी का स्वरूप है। 'ललिता सहस्रनाम' में प्रोक्त १००० नामों में से भगवती के नाम 'इच्छा ज्ञान' एवं क्रिया भी है—

इच्छाशक्ति ज्ञानशक्ति क्रियाशक्ति स्वरूपिणी।

और इनका भी परस्पर लय होता है यथा—

क्रियाशक्ति का ज्ञानशक्ति में एवं ज्ञान शक्ति का 'इच्छाशक्ति' में, इच्छाशक्ति का आनन्द शक्ति में, आनन्द शक्ति का चितिशक्ति में और चितिशक्ति का परम शिव में।

लय का स्वरूप—वासनाओं का अपुनर्भव ही 'लय' है। निर्वाण ही लय है।

१. इन्द्रियों का स्वामी मन है, २. मन का स्वामी प्राण है, ३. प्राण का स्वामी लय है, ४. लय का स्वामी नाद है।

'इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः।
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः॥'

मनोलय का स्वामी (या साधन) है 'लय'। लय नादाश्रित है।

४. मन एवं प्राण का लय होने पर अनिर्वचनीय आनन्दाप्ति होती है।[२]

५. श्वास-प्रश्वास का अवसान, विषयग्रह का अवसान, चेष्टाओं का अवसान और विकारों का अवसान-यही मनोभूमि लय है।

नादाश्रित लय—योगी घेरण्ड ने 'घेरण्ड संहिता' के पञ्चमोपदेश में नाद तत्त्व पर यथेष्ट प्रकाश डाला है और नादानुसंधान पद्धति से श्रुत नादों का वर्णन इस प्रकार किया है—

प्राथमिक नाद— १. झिंजी नाद,

द्वितीय नाद— २. वंशीनाद।

तृतीय नाद— ३. मेघनाद, ४. भ्रमरीनाद, ५. घण्टानाद, ६. कास्य नाद।

चतुर्थ नाद— ७. तुरीनाद, ८. भेरीनाद, ९. मृदंग नाद, १०. आनक नाद, ११. दुंदुभी का नाद।

---

१. कौलज्ञाननिर्णय (२१।६-७)   २. हठयोग प्रदीपिका

'शृणु यादक्षिणे कर्णे नादमंतर्गतं शुभम् ।
प्रथमं झिंजी नादं च वंशी नादं ततः परम् ॥
मेघ झर्झर भ्रमरी घण्टा कांस्यं ततः परम् ।
तुरी भेरी मृदंगादि निनादानकदुन्दुभिः ॥

इसे सुनने की पद्धति इस प्रकार है—

'अर्द्धरात्रिगते योगी जन्तूनां शब्दवर्जिते ।
कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां कुर्यात् पूरककुम्भकम् ॥
शृणुयादक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं शुभम् ॥'[१]

इस प्रकार नित्य इन नादों को श्रुतिगोचर करते रहने के निरन्तराभ्यास से अनेक प्रकार के नाद सुनाई पड़ने लगते हैं और उसके बाद अनाहत नाद श्रुति गोचर होता है। घेरण्ड ऋषि कहते हैं—

अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः ।
ध्वनेरंतर्गतं ज्योतिर्ज्योतेरंतर्गतं मनः ॥
तन्मयो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ।
एवं च भ्रामरी सिद्धिः याति विष्णो परमं पदम् ॥[२]

नाद श्रवण की द्वितीय विधि—अजपा जप । घेरण्ड ऋषि कहते हैं—

हंकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत पुनः ।
षट्शतानि दिवा रात्रौ सहस्राण्येक विंशतिः ।
अजपां नामगायत्री जीवो जपति सर्वदा ॥

जब श्वास भीतर से बाहर आए तब 'हं' और जब श्वास बाहर से भीतर आए तब श्वास के साथ-साथ 'सः' की ध्वनि की कल्पना करनी चाहिए। प्रत्येक जीव दिन रात में २१००० बार इसी मन्त्र का जप करता है। इसे ही 'अजपा जप' या 'अजपा गायत्री' कहा करते हैं।

स्वात्मा राम मुनीन्द्र की दृष्टि—स्वात्मा राम मुनीन्द्र कहते हैं कि आदि नाथ ने मन के लय के सवा करोड़ उपाय बताए हैं किन्तु उनमें नादानुसन्धान नामक उपाय इतना श्रेष्ठ है कि उसे ही मुख्यतम उपाय या साधन स्वीकार किया गया है—

'श्री आदिनाथेन सपाद कोटि लय प्रकाराः कथिता जयन्ति ।
नादानुसन्धान कमेकमेव मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम् ॥

आचार्य शङ्कर तो नादयोग की इस नादानुसन्धानात्मिका पद्धति को इतना श्रेष्ठ मानते हैं कि उसे अभिवादन तक करते हैं—

'नादानुसन्धान! नमोऽस्तु तुभ्यं,
त्वां साधनं तत्त्वपदस्य जाने ।'

१-२. घेरण्ड संहिता (उपदेश ५)

भवत्प्रसादात् पवनेन साकं,
विलीयते विष्णुपदे मनो मे ॥
—योग तारावली

'सदाशिवोक्तानि सपादलक्ष,
लयावधानानि वसन्ति लोके ।
नादानुसन्धान समाधिमेकं,
मन्यामहे मान्यतमं लयानाम् ॥
—योग तारावली

नादश्रवण के लिए आसन—स्वात्माराम मुनीन्द्र नादश्रवण के लिए मुक्तासन एवं शांभवी मुद्रा को उपयोगी मानते हैं । अतः मुक्तासन लगाकर एवं शांभवी मुद्रासाधकर दक्षिण कर्ण से, इस ध्वनि को एकाग्रतापूर्वक सुनना चाहिए । पराङ्मुखी मुद्रा भी नाद श्रवण में सहायक है जिसमें कि श्रवणपुट, नयन युगल, घ्राणेन्द्रिय, मुख को बन्द करके नाद श्रवण करने का प्रयास करना चाहिए । इस मुद्रा से सुषुम्णा नाड़ी विशुद्ध हो जाती है और नाद स्फुट रूप से श्रुति गोचर होने लगता है—

'शुद्धसुषुम्नासरणौ स्फुटममलं श्रूयते नादः ।

नाद की अवस्थायें—

'आरम्भश्च घटश्चैवं तथा परिचयोऽपि च ।
निष्पत्तिः सर्वयोगेषु स्यादवस्था चतुष्टम् ॥

१. आरम्भवस्था, २. घटावस्था, ३. परिचयावस्था एवं ४. निष्पत्यवस्था ।

आरम्भावस्था—ब्रह्मग्रन्थि का वेधन करने से वह विचित्र आनन्द अनुभूत होता है जो आभूषणों के खनकने से होता है—

क्वणक-ध्वनि का श्रवण—

'ब्रह्मग्रन्थेर्भवेद्भेदो ह्यानन्दः शून्यसम्भवः ।
विचित्रः क्वणको देहेऽनाहतः श्रूयते ध्वनिः ॥

इससे दिव्यदेह, तेजस्विता, दिव्य गन्ध, आरोग्य प्राप्त होता है ।

परिचयावस्था—इस अवस्था में मर्दल ध्वनि श्रुतिगोचर होने लगती है । 'तृतीयां तु विज्ञेयो विहायो मर्दल ध्वनिः ।' भृकुटियों के मध्य आकाश में ढोल की ध्वनि सुनाई पड़ने लगती है । इस समय दोष-दुःख-जरा-व्याधि-क्षुधा-निद्रा आदि से भी मुक्ति मिल जाती है । इसमें चित्तानन्द का त्याग करना पड़ता है । उससे आत्मसुख रूप सहजानन्द प्राप्त होता है ।

निष्पत्ति अवस्था—'रुद्रग्रंथि' का भेदन करके जब वायु 'शर्वपीठ' में प्रविष्ट हो जाती है तब वैणवध्वनि एवं वीणा ध्वनि श्रुतिगोचर होने लगती है ।

'रुद्र-ग्रन्थिं यदा भित्वा शर्वपीठगतोऽनिलः ।
निष्पत्तौ वैणवः शब्दः क्वणद्वीणाक्वणो भवेत् ॥

घटावस्था—नाद श्रवण की द्वितीयावस्था 'घटावस्था' है । इस अवस्था में वायु सुषुम्णा नाड़ी में प्रविष्ट हो जाती है ।

प्राणापानौ नादबिन्दू जीवात्म परमात्मनोः ।
मिलित्वा घटते यस्मात्तस्मात्स घट उच्यते ॥

ब्रह्मग्रन्थि का आरम्भवस्था में भेदन होने के पश्चात् 'विष्णुग्रन्थि' का भेदन करने से परमानन्द सूचक ध्वनि विमर्द-ध्वनि एवं भेरी-ध्वनि— अतिशून्यरूप 'कण्ठाकाश' में श्रुतिगोचर होती है—

'विष्णुग्रन्थेस्ततो भेदात्परमानन्द सूचकः ।
अति शून्ये विमर्शश्च भेरी शब्द स्तदा भवेत् ॥'

यही 'घटावस्था' है । इसके बाद 'मर्दल ध्वनि' के साथ परिचयावस्था आती है । 'रुद्रग्रन्थि' का भेदन करने पर शर्वपीठ में जब अनिल का प्रवेश होता है तब वैणव एवं वीणा की ध्वनि श्रुतिगोचर होती है । नाद का प्रभाव इस प्रकार है—

काष्ठे प्रवर्तितो वह्निः काष्ठेन सह शाम्यति ।
नादे प्रवर्तितं चिन्तं नादेन सह लीयते ॥

नादानुसन्धानोत्पन्न आनन्द अनिर्वचनीय है—अवर्ण्य है—

आनन्दमेकं वचसामगम्यं जानाति तं श्रीगुरु नाथ एकः ।

दोनों कानों को बन्द करके कान के भीतर की ध्वनि सुनने पर स्थिर पद प्राप्त होता है—

तत्र चित्तं स्थिरी कुर्याद्यावत्स्थिर पदं व्रजेत् ।

नादश्रवण के विभिन्न चरण—

श्रूयते प्रथमाभ्यासेनादो नानाविधो महाना ।
ततोभ्यासे वर्धमाने श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मकः ॥
आदौ जलधि जीमूत भेरी झर्झर संभवाः ।
मध्ये मर्दल शंखोत्था घण्टा काहलजास्तथा ॥
अन्ते तु किंकिणी वंशवीणा भ्रमर निःस्वनाः ।
इति नानाविधाः नादा श्रूयन्ते देह मध्यगाः ॥
नियम—महति श्रूयमाणेऽपमेघभेर्यादिके ध्वनौ ।
तत्र सूक्ष्मातसूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत् ॥

—हठयोग प्रदीपिका

नादश्रवण के विभिन्न सोपान

आदि में	मध्य काल में	नाद-साधना के अन्तिम सोपान पर
जलधि-जीमूत, भेरी, झर्झर की ध्वनि श्रुति गोचर होती है।	मर्दल, शंख, घण्टा, काहल की ध्वनि श्रुति गोचर होती है।	किंकिणी-वंशी-वीणा भ्रमर आदि नानाविध ध्वनियाँ श्रुतिगोचर होती है।
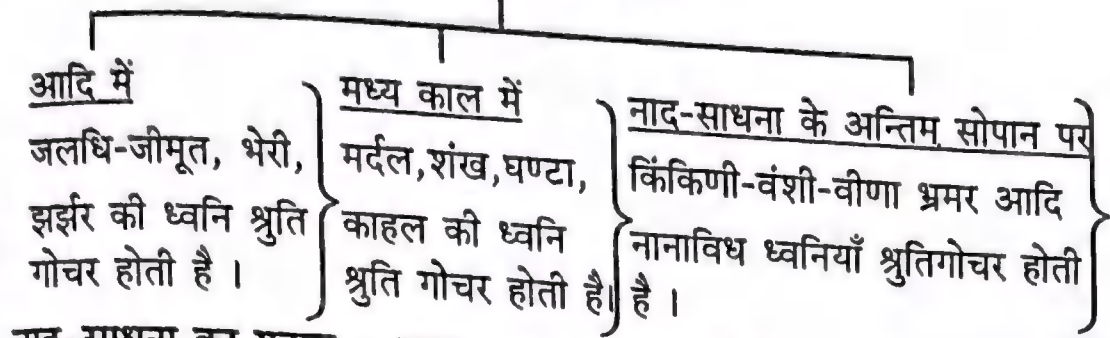
नाद-साधना का महत्व— स्वात्मा राम मुनीन्द्र कहते हैं कि—

१. अभ्यस्यमान नाद अन्य बाह्य ध्वनियों के लिए कान के कपाट बन्द कर देता है। और अभ्यासी एक पक्ष (मासार्ध) में ही सारे विक्षेपों (मनः चांचल्य के विकल्पों) से मुक्त होकर आह्लादित हो उठता है।[१]

२. प्रारम्भ में तो स्थूल किन्तु बाद में सूक्ष्म से सूक्ष्मतर ध्वनियाँ श्रुतिगोचर होने लगती है।[२]

३. मन-तुरङ्ग के परिघ (घुड़शाल) में नाद अवरोधक लौहदण्ड के समान घोड़े को बाहर जाने से रोकने वाला है।

४. मन रूपी सर्प नाद सुनकर पूर्णतया एकाग्र हो जाने के कारण कहीं भी दौड़कर जा नहीं पाता।

५. जैसे अग्नि में डालने पर काष्ठ जलकर नष्ट हो जाता है, और उसके शान्त होने के साथ अग्नि भी शान्त हो जाती है उसी प्रकार काष्ठ नाद के साथ मिलकर मन भी शान्त हो जाता है।

लययोग सम्बन्धिनी गोरक्षदृष्टि— गोरक्षनाथ ने 'अमनस्क योग' में जो लय-पद्धति प्रस्तुत की है वह संक्षेप में इस प्रकार है—

तत्त्वों की लय प्रक्रिया—

स्वच्छन्द तन्त्र (पटल ११) में तत्त्वों के लय की प्रक्रिया इस प्रकार बताई गई है—

'आपस्तेजसि लीयन्ते तत्तेजश्चानिले पुनः ॥ २८४ ॥
तथाऽनिलोम्बरं प्राप्य, सह तेनैव लीयते।
तन्मात्रेषु प्रलीयन्ते, यथोत्पत्यानि च क्रमात् ॥
तन्मात्राण्यहंकारे, सेन्द्रियाणि यथा क्रमम्।
स बुद्धौ सा च गहने, गुणसाम्ये प्रलीयते ॥ २८६ ॥
अशेष भुवनाधारमण्डप्सु प्रलीयते ॥ २७९ ॥'

(५८) सहजयोग

सहज अमनस्क की साधना गोरक्ष की सर्वोच्च साधना रही है। उनके गुरु

१. हठयोग प्रदीपिका (४।८३)

मत्स्येन्द्रनाथ भी 'सहजयोगी' थे। मत्स्येन्द्र ने गोरक्षनाथ को उपदेश देते हुए कहा था—

अवधू सहज मुषि रहणीं सत्ति मुषि ध्यान।
गगन मुखि अमीरस, चित मुषि पान॥ (मत्स्येन्द्रनाथ)

मत्स्येन्द्र ने चार सोपान बताए— १. सहजमुख रहणीं, २. शक्तिमुख ध्यान, ३. गगन मुख अमृतपान, ४. चित्त मुखपान, मत्स्येन्द्र कहते हैं। अवधू सहज मुषि होइ आवै सत्ति मुषि होइ जाइ (मत्स्येन्द्र) जो व्यक्ति सहजमुख रहनी का अभ्यास कर लेता है उसे शक्ति मुख होकर रहने एवं सिद्धि पाने में कठिनाई नहीं होती। मत्स्येन्द्र कहते हैं—

सहज अस्थान धरि काल सौं रहै, ऐसा विचार मछिंद्र कहै।

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं कि 'सहज शून्य' में निवास करने से साधक का मन स्थिर रहता है—

सहज सुन्नि मैं मन घिर रहै। ऐसा बिचार मछिंद्र कहै।

मत्स्येन्द्रनाथ यह भी कहते थे कि मन में जब तक दुविधा या द्वन्द्व या अनिश्चितता विद्यमान है उसमें सहज का उन्मेष संभव नहीं है अत: इसका ध्वंस करके ही सहज रहनी का अभ्यास करना चाहिए।

'दुबध्या मेटि सहज मैं रहै। ऐसा बिचार मछिंद्र कहै।

गोरक्षनाथ तो 'सहज शून्य' को ही अपना निवास स्थान मानते थे—

'इहाँ नाहीं उहाँ नाहीं त्रिकुटी झँझरी।
सहज सुनि मैं रहनि हमारी॥

गोरक्षनाथ एक रूपक प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि—१. सहज की तो जीन हो, २. पवन के अश्व हों, ३. चित्त का चाबुक हो, ४. लय की लगाम हो, ५. चैतन्य (आत्मा) का सवार हो और ६. ज्ञान का गुरु हो—

'सहज पलाण, पवन करि घोड़ा लै लगाम चित चबुका।
चेतनि असवार ग्यान गुरु करि और तजौ सब ढबकाई॥

गोरक्षनाथ ने लेन-देन प्रीति-ल्यौ एवं क्रिया (आचरण, व्यवहार करनी) सभी में 'सहज' को महत्त्व दिया और कहा—

अवधू सहजै लैणा, सहजै दैणा, सहजै प्रीति ल्यौ लाई।
सहजै सहजै चलैगारे अवधू, तौ बासण करैगा समाई॥

शरीर रूपी बासन (पात्र) का विकास तभी होगा अन्यथा नहीं होगा। 'सहज' का ध्यान सहज समाधि, सहज अमनस्क, सहज तत्त्व, सहज रहनी, सहज करनी एवं सहज साधना— ये सभी नाथ पन्थी योगियों को अत्यन्त प्रिय थे। नाथ पंथ में मत्स्येन्द्रनाथ इस सहज योग के अप्रतिम उपदेष्टा थे।

मत्स्येन्द्रनाथ 'कौलज्ञाननिर्णय' (पटल १४।९५) में कहते हैं—

सहजान्त स्थितन्तत्त्वं स्फुरन्तं मणि निर्मलम् ।
मुक्ताफलसमौपम्यं खद्योत सदृशं प्रिये ।
तारकोल्लास संकाशं प्रस्फुरन्तन्नभः स्थले ।
सितरक्तश्च कृष्णश्च धूम्र पीतश्च रुपकम् ॥
. .. . सृष्टिसंहारकारकम् ।
उत्तपत्ति प्रलयश्चैव अकुलकुलवर्जितम् ।
दिवायामभ्यसेद्देवि! कृत्वादित्यन्तु दृष्टतः ।
स्वरूपं दृश्यते . . . . ।
कुर्यात् प्रयत्नेन पर रूपं न संशयः ।
क्षणेन कुरुते सृष्टिं संहाराश्च वरानने ।
निशायामभ्यसेद्देवि! उत्तुङ्ग शतमीश्वरम् ।
कोदण्डद्वयमध्यस्त . . . . ।
एतन्ते परमं देवि! येन सृष्टं चराचरः ।
अस्मिन्नेव लयं भद्रे समुद्रेण नदी यथा ॥

यह सहज तत्त्व स्थिर है और सर्वव्यापी है—

रमते सहजं तत्त्वं यथात्मनि तथापरे ।
ज्ञात्वा तत्त्वमिदन्देवि! भवबन्धात्मकैः प्रिये ॥[1]

'सहजदेवता' हृदय में सदैव विद्यमान हैं अतः नित्य स्मरणार्ह (स्मरणीय) है—

हृदिस्थ सहजो देव स्मरणार्हः स उच्यते । (पटल १७)

सहजावस्था का शास्त्रीय स्वरूप—

स्वात्माराम मुनीन्द्र कहते हैं कि—१. शक्ति का बोधाविर्भाव, २. निःशेष कर्मों के त्याग से सहजावस्था का आविर्भाव होता है ।

'उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः ।
योगिनः सहजावस्था स्वयमेव प्रजायते ॥[2]

(क) विषयों का त्याग—दुर्लभ है, (ख) तत्त्व का दर्शन दुर्लभ है, (ग) दुर्लभ अवस्था सहजावस्था है—

'दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम् ।
दुर्लभा सहजावस्था . . . . ॥ (ह०यो०प्र०)

(५९) सहज तत्त्व और उसका स्वरूप

'सहज तत्त्व' साधना के क्षेत्र में अत्यधिक आकर्षण का विषय बना रहा क्योंकि कृत्रिमता की अपेक्षा सहजता (स्वाभाविकता) अधिक प्रिय होती है ।

---

१. कौलज्ञाननिर्णय (१७।२१)   २. हठयोग प्रदीपिका (३।११)

बौद्ध दर्शन में तो 'सहजयान' एक पृथक् सम्प्रदाय ही बन गया तथा सहज-साधना एक पृथक् साधना ही स्वीकार कर ली गई। वज्रयान के अनन्तर 'सहजयान' आया और बौद्धों में 'इन्द्रभूति' एवं 'लक्ष्मींकरा' ने इसका दृढ़ता पूर्वक प्रतिपादन एवं प्रचार किया।

'सहज' शब्द का अर्थ है—प्रज्ञा-ज्ञान। सम्पूर्ण धर्मों का अकृत्रिम (जन्मजात या स्वाभाविक) लक्षण 'सहज' है। 'अद्वयवज्रसंग्रह' में 'सहज' की स्वरूप-विवृति इस प्रकार की गई है—

'सहज सत्सर्वं सहजच्छायानुकारित्वात् सहजमित्यभिधीयते।
सहजच्छाया सहजसदृशं ज्ञानं प्रतिपादयति सहजं प्रज्ञाज्ञानम् ॥'

अतएवं प्रज्ञाज्ञाने सहजस्योत्पत्तिर्नास्ति। यस्याः सहजं नाम स्वरूपं सर्वधर्मानामकृत्रिम लक्षणं इति यावत् ॥

—अद्वय वज्र संग्रह

सहज एवं प्रज्ञान ज्ञान अभिन्न हैं। सम्पूर्ण धर्मों का अकृत्रिम लक्षण ही 'सहज' है। धर्म का अकृत्रिम लक्षण यह है कि वे निःस्वभाव हैं अन्य शून्य हैं। उनकी प्रतीति होती है, वे अभाव नहीं है तथा वे भावाभाव से अतीत शुद्ध बोधि हैं।

जगत में भोगों की ओर मन की उन्मुखता 'सहज' है अतः भोग द्वारा योग की प्राप्ति 'सहजमार्ग' है। भोग द्वारा भी तत्त्वज्ञान प्राप्त किया जा सकता है उसके लिए सन्यास एवं त्याग-मार्ग आवश्यक नहीं है।

मन जिधर चले उधर ही चल कर और जहाँ भी मन लगे वहीं उसे रोककर उस वस्तु से पूर्णतादात्म्य स्थापित करना चाहिए क्योंकि मन को वशीभूत करने का यह अन्यतम उपाय है। मन की सहजगति का अनुसरण तो प्रत्येक के लिए सहज है। मन किसी भी तरह क्षुब्ध न हो—ऐसा ही प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है—

'तथा तथा प्रवर्तेत, यथा न क्षुभ्यते मनः।
संक्षुब्धे चित्तरत्ने तु सिद्धिर्नैव कदाचन ॥
तस्मात् सिद्धिं परामिच्छन्साधको विग्रताग्रहः।
चित्तानुकूल योगेन साधयेत् परमं पदम्।

—प्रज्ञोपाय विनिश्चय सिद्धि

अनङ्गवज्र का कथन है कि जिस प्रकार गोबर से सूत्र दृढ़ किया जाता है उसी प्रकार नाना उपायों से चित्त को दृढ़ किया जाता है। उपाय चित्तानुकूल ही होने चाहिए अतः कठिन प्रक्रियाओं से सदैव बचना चाहिए। यही सहजयोग है—

गोमयाधार योगेन सूत्रं सन्धार्यते यथा।
चित्तं सूत्रं तथा धार्यं उपायाधारयोगतः ॥
सहजोऽकृत्रिमोयस्मात् तस्मात् सङ्गो न साहजः।
सुखं न सहजादन्यत् सुखं चासङ्गलक्षणम् ॥

विश्वं स्वसमयं कृत्वा मग्नः सहजसागरे ।

—अद्वयवज्र संग्रह

सहज एक साधना पद्धति है जिसमें हठयोग द्वारा प्रज्ञा एवं उपाय में सामरस्य स्थापित करके अनुत्तर ज्ञान महासुख की अनुभूति एवं सहज स्वभाव सिद्ध करके, महामुद्रा के साथ रहते हुए समस्त बाह्य अनुष्ठानों से भुक्त होने पर विशेष बल दिया जाता रहा है।

प्रो० प्रबोध चन्द्र बागची 'सहजमत' को प्राचीन चीनी धर्म ताओवाद से अनुप्राणित मानते हैं। ताओधर्म चीनी जनता का प्राचीन धर्म है जिसका प्रवर्तन लाओत्से ने (लगभग ६०० ई०पू०) किया उसका मुख्य प्रचार च्वांगत्से ने लगभग ४०० ई०पूर्व किया। ताओमत का जीवन दर्शन सहज जीवन दर्शन था। वे सहज शुद्ध स्वभाव में विश्वास करते थे। ताओ पूर्ण, शून्य, संज्ञा हीन, स्वभावहीन, रूप हीन, नैरात्म्यरूप, तर्कातीत, ज्ञानातीत, सर्वसत्वमय और जगन्माता है। वह नारी रूप है।

मत्स्येन्द्रनाथ की सहज सम्बन्धिनी दृष्टि—'कौलज्ञाननिर्णय' (१५-१०) में इसे शरीरस्थ चक्र कहा गया है—

'सहजं तु इमं चक्रं वज्रनामातिकोद्भवम् ॥ (१५-१०)

अर्थात् 'सहज चक्र' एक शक्ति शाली वज्र है। इसे 'वज्रयोग' द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

'वज्रयोग प्रयोगेण वज्रवद्भवते नरः ॥ (१५।१०)

जब यह 'वज्रचक्र' शरीर में पहुँच जाता है तब यह वज्रवत दृढ़ हो जाता है।

वज्रवत्तिष्ठते देहं संहारस्तु न हि प्रिये ॥ (१५।२५)

और इस स्थिति में समचित्तता अधिगत कर लेता है।

'अकुल वीरतन्त्र' में इस पर सविस्तार प्रकाश डाला गया है। यह सहजानन्द की अवस्था है। (अकुल वीर तन्त्र : 'व') यहाँ इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—

सर्वज्ञं सर्वमासृत्य सर्वतो हितलक्षणम्।
सर्वेषां सिद्धिस्तत्रस्था सर्वसिद्धिश्च तत्र वै।
यत्रासौ अकुलवीरो दृश्यते सर्वतोमुखम्।
तं विदित्वा परं रूपं मनो निश्चलतां व्रजेत्।
शब्दरूपस्पर्शगन्धश्चैवात्र पञ्चमम्।
सर्वभावाश्च तत्रैव प्रलीनाः प्रलयं गताः।
भावाभाव विनिर्मुक्त उदयास्तमनवर्जितः।
स्वभावमतिमतं शान्तं मनो यस्य मनोमय् ॥

—अकुलवीरतन्त्र 'ए' (११-१४)

यह सर्वज्ञ (Oniscient) सर्वशक्तिमान (Omnipotent) एवं उत्कृष्ट या शुभ है। इसमें सारे आत्मिक साफल्य निहित है। इसे प्राप्त करके मन पूर्णतः अचल हो जाता है। ध्वनियाँ, रूप, स्पर्श, गन्ध एवं अन्य सभी संवेदनायें एवं उनके रूप सभी इसी में लय हो

जाते हैं। यह विध्यात्मक एवं निषेधात्मक सभी प्रकार के विध्यात्मक निषेधात्मक (सूर्य) धर्मों से अतीत है। इसमें न तो कोई आविर्भाव-तिरोभाव है और न कोई अपूर्णता अत: यह पूर्णतम शान्ति का पर्याय है।

यह दिव्यावस्था कार्यकारणपरम्परा से भी अतीत है। यह अविवेच्य एवंअचिन्त्य अवस्था सारे दु:खों से अतीत है। यह समस्त भ्रान्तिमय विश्व (Illusory World) से अतीत है। यह सर्वव्यापक, स्वतन्त्रसत्ताक (Allpervading, Self e istent) है। यह एकता एवं समत्व की लोकोत्तर अवस्था है—

'कार्यकारणनिर्मुक्तमचिन्त्य मनामयम्।
मायातीतं निरालम्बं व्यापकं सर्वतोमुखम्॥
समत्वम् एक भूतञ्च .... ॥ (३३-३४)

जब यह अवस्था उदित होती है तब सभी प्रकार के द्वैतात्मक ज्ञान (Dualistic knowledge) लुप्त हो जाते हैं। इस स्थिति में साधक 'साध्य' से तादात्म्य प्राप्त कर लेता है—

स्वयं देवी स्वयं देव: स्वयं शिष्य: स्वयं गुरु:।
स्वयं ध्यानं स्वयं ध्याता स्वयं सर्वत्र देवता ॥[१]

साधना की इस चरमावस्था में किसी योग-साधना, बलि, व्रत, मन्त्र, ध्यान, श्नान, संसार के पवित्रीकरण-रीतिरिवाज, या पारम्परिक विधि-निषेध की आवश्यकता नहीं रहती।[२]

समयाचार की स्थिति भी तत्तुल्य है—

'समयिनां मन्त्रस्य पुरश्चरणं नास्ति। जपो नास्ति। बाह्य होमोऽपि नास्ति। बाह्यपूजा विधयो न सन्त्येवा हृत्कमल एवं सर्वं यावत् अनुष्ठेयम्।' अत: इस चरमावस्था में—

'जपो जल्प: शिल्पं सकलमपि मुद्राविरचना,
गति: प्रादक्षिण्यक्रममणमशनाद्याहुति विधि:।
प्रणाम: संवेश: सुखमखिलमात्मार्पणदृशा,
सपर्यापर्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम्॥'

'समयिनां मते समयस्य सादाख्यतत्त्वस्य सपर्या सहस्र दलकमल एव, न तु बाह्ये पीठादौ।'

अकुलवीरतन्त्र (वी०) में कहा गया है कि यह चरमावस्था सर्वातीत अवस्था है। इसे पुण्य-पाप स्पर्श भी नहीं कर सकते। यहाँ दु:ख भी लेश मात्र नहीं है। इस स्थिति में साधक दग्ध बीजवत् रहता है। यह मूलहीन वृक्ष की अवस्था के तुल्य अवस्था है—

'दग्धबीजस्य सम्भूतिर्यथा नैव प्रपद्यते।

---

१. अकुलवीर तन्त्र (ए)
२. अकुलवीर तन्त्र (बी)
३. लक्ष्मीधर: लक्ष्मीधरा

मूलच्छिन्नो यथा वृक्षः प्ररोहन्नैव विद्यते ।
अकुलवीरस्य वै तद्वद् न पुनर्भव बन्धनम् ॥
—अकुल वीर तन्त्रः (८३-८४; ४८-४९)

(६०) उन्मन योग

उन्मन योग–एक विहङ्गमावलोकन

इन चक्रों की स्थिति, उनके लक्षण, उनके आकार एवं प्रभावों (सिद्धियों) की योग एवं तन्त्र शास्त्र में सविस्तर विवेचना की गई है। आचार्य भास्कर राय ने इनका स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

१. आधारोत्थित नादो गुण इव परिभाति वर्णमध्यगतः मध्येफालं बिन्दुर्दीप इवाभाति वर्तुलाकारः । (१।२२)

२. तदुपरि गतोऽर्धचन्द्रोऽन्वर्थः कान्त्या तथाकृत्या । अथ रोधिनी तदूर्ध्वं त्रिकोणरूपा च चन्द्रिकाकान्तिः ॥ २३ ॥

३. नादस्तु पद्मरागवदण्डद्वयमध्यवर्तिनीव सिरा ।

४. नादान्त स्तडिदाभः सव्यस्थित बिन्दु युक्तलाङ्गलम् ॥ २४ ॥

५. तिर्यगबिन्दुद्वितये वामोद्गच्छत्सिराकृतिः शक्तिः ।

६. बिन्द्वच्छत्रयश्राकारधरा व्यापिका प्रोक्ता ॥ २५ ॥

७. ऊर्ध्वाधो बिन्दुद्वयसंयुतरेखाकृतिः समना ।

८. सैवोर्ध्वबिन्दु हीनोन्मना तदूर्ध्वं महाबिन्दुः ॥ २६ ॥

उन्मना—अर्थात् समना की आकृति रेखा के ऊपर नीचे स्थित दो बिन्दुओं के समान होती है। ऊपर 'महाबिन्दु' की स्थिति होती है। (२६।१) वरिवस्यारहस्यम् ।

(क) समना की स्थिति 'ब्रह्मरन्ध्र' में है। भास्कर राय कहते हैं—इयं च ब्रह्मरन्ध्रसंस्थाना । इयमेव च मनोन्मनीत्यपि व्यवह्रियते । मनसो यथावस्थित रूपस्यै वाभ्यासविशेषेणैतावत्पर्यन्तवृत्युद्गमः सुसाध इत्यतः समनेत्युच्यते ॥

(ख) उन्मना एतदुपरि तु रूपन्तरं प्राप्तस्यैव मनसो धृतिविषयतेत्यत उत्क्रान्त मनस्कत्वादुन्मना ।— वरिवस्यारहस्यम् (प्रकाश टीका) भास्कर राय भास्कर राय ने इन्हें 'नाद नवक' कहा है।

नादनवकं १. मूलाधारादि षट्के, २. नादे, ३. ब्रह्मरन्ध्रे च स्थितम् ।

नवभिर्नादैरक च ट त प य श ला ख्य वर्ग नवकवर्ता वैखर्याख्या मातृका जाता ।
भास्कर राय—'प्रकाश'

मत्स्येन्द्रनाथ 'उन्मनी' के स्वरूप के विषय में कहते हैं कि गोरक्ष का प्रश्न 'कौंणें

चेतनि मन उनमनि रहे?मत्स्येन्द्र—१.सदा चेतनि मन उनमन रहै। ऐसा विचार मछिन्द्र कहै।

गोरक्ष का प्रश्न— 'कौन ग्रह लै उनमन रहै?'
मत्स्येन्द्र का उत्तर—'सिव सकती ले उनमन रहै । ऐसा विचार मछिन्द्र कहै।
गोरक्ष का प्रश्न— 'तामैं निहचल कैसे रहै?
मत्स्येन्द्र का उत्तर— 'तामहि निहचल उनमन रहै । ऐसा विचार मछिंद्र कहै।
गोरक्ष का प्रश्न— 'कौण सो पाती किहि विध रहै?
मत्स्येन्द्र का उत्तर— 'पाँचो पाती उनमनि रहै । ऐसा विचार मछिंद्र कहै।
गोरक्ष का प्रश्न— 'कौंण रूप तन उनमन रहै?
मत्स्येन्द्र का उत्तर— रूप अरुप मन उनमनि रहै । ऐसा विचार मछिंद्र कहै।
गोरक्ष का प्रश्न— 'स्वामीं कौण सो जोगी कैसे रहै ।'
मत्स्येन्द्र का उत्तर— 'अवधूमन जोगी जै उनमनि रहै ।
अवधू मन जोगी जैं उनमनि रहै ।' —मछिंद्र गोरख बोध

गोरक्षनाथ की दृष्टि (उन्मनयोग विषयक दृष्टि)—गोरक्षनाथ कहते हैं—

१. अहनिसि मन लै उनमन रहै । गम की छाँड़ि अगम की कहै ।
२. मन पवना लै उनमनि धरिबा ते जोगी तत सारं ।
३. यहु मन ले जै उनमन रहै । तौ तीनि लोकी बातां कहै ।
४. अवधू दंम कौगहिबा उनमनि रहिबा ज्यूं बाजबा अनहद तूरं ।
५. छठै छमासि काया पलटिबा । तब उनमनी जोग अपारं ।
६. सुनि मँडल वहाँ नीझर झरिया । चंद सुरजि ले उनमनि धरिया ।
७. उनमनि रहिबा भेदन कहिबा पीयबा नींझर पांणीं ।
८. असाध साधंत गगन गाजंत उनमनी लागंत ताली ।
९. अनहद सूं मन उनमन रहै सो सन्यासी अगम की कहै ।
१०. बदंत गोरख सति ते सूरिवाँ उनमनि मन मैं बास ।
११. तूटी डोरी रस कस बहै । उनमनि लागा अस्थिर रहै ।
उनमनि लागा होइ अनंद । तूटी डोरीं बिनसै कंद ॥
१२. उनमन जोगी सदवैं द्वार । नाद व्यंदले धूंधूंकार ।
१३. परचय जोगी उनमन खेला ।
१४. उनमनि डांडी मन तराजू पवन कीया गदियाना ।
१५. मन पवन दो काथ सुपारी उनमनी तिलक सींदूरं ।
१६. उनमनी तांती बाजन लागी यह बिधि तृष्णं खांडी ।
१७. मल पवन ले उनमनि रहै तौकाया जगजै गोरख कहै ।

१८. अरधैं जाता उधैं गहै द्वादस पवनां उनमन रहै ।

(६१) गोरक्षनाथ और उनका 'उन्मन योग' के प्रति सहजानुराग

गोरक्षनाथ ने अपनी योग-साधना का केन्द्रबिन्दु मन की साधना को तथा इस साधना में मन के मारण— मनोमारण, मनोच्छेद अर्थात् मन के आत्यन्तिक ध्वंस को स्वीकार किया था । उन्होंने षडंग योग, अष्टांग योग तथा तान्त्रिक योग की पद्धतियों को भी स्वीकार किया किन्तु सभी के लक्ष्य वेधन का लक्ष्य केवल मन था । क्योंकि—

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः ।'

गोरक्षनाथ ने अपनी समस्त रचनाओं में तो इस लक्ष्य को ध्यान में रखा ही किन्तु साथ ही साथ उन्होंने इस साधना को सर्वप्रामुख्य प्रदान करने हेतु 'अमनस्कयोग' नामक स्वतन्त्र ग्रंथ की रचना भी की । इसमें १. समनस्क योग एवं २. अमनस्क योग दोनों साधनाओं की सविस्तर विवेचना की गई है । योग की दो धारायें हैं—

१. तारक योग—पूर्वयोग, अपर योग, मनस्क योग ।

२. अमनस्क योग—उन्मनयोग, पर योग ।

पूर्वयोग का लक्ष्य भी उन्मनी योग ही है—

'पूर्वयोगस्य मार्गोऽयमुन्मनीकारकः क्षणात्।'[1]

तारक योगः—

मनस्क योगः अपर योग

१. मन्त्रयोग　२. ध्यान　३. जप

१. मन्त्रयोगरताः केचित् केचिद् ध्यानविमोहिताः ।
जपेन केचित् क्लिश्यन्ति नैव जानन्ति तारकम् ।

२. केचिदागम-जालेन केचिन्निगम-संकुलैः ।

३. दृष्टिः स्थिरा यस्य विनैव दृश्यं,
वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नम् ।
चित्तं स्थिरं यस्य विनावलम्बं,
स एव योगी स गुरुः स सेव्यः ॥ १४ ॥

४. विविक्त देशे सुखसंनिविष्टः समासने किंचिदुपेत्य पश्चात् ।
बाहुप्रमाणं स्थिरदृक् स्थिराङ्गश्चिन्ताविहीनोऽभ्यसनं कुरुष्व ॥

२. 'अमनस्क योग' में परतत्त्व का स्वरूप—

१. यस्मादुत्पद्यते सर्वंयस्मिन सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
यस्मिन् विलीयते सर्वं परतत्त्वं तदुच्यते ॥

२. भावाभावविनिर्मुक्तं विनाशोत्पत्ति वर्जितम् ।

---

१. अमनस्क योग (गोरक्षनाथ)

सर्वसंकल्पनातीतं पर तत्त्वं तदुच्यते ॥

प्रथम तत्त्व—पृथ्वी । द्वितीय तत्त्व-जल । तृतीय तत्त्व-तेजस्तत्त्वम् । चतुर्थतत्त्व-वायु तत्त्व पञ्चमतत्त्व-आकाश तत्त्व । षष्ठ तत्त्व- मनस्तत्त्व सप्तम तत्त्व = परमतत्त्व ।

अमनस्क की साधना-विधि—

१. विविक्तदेशे सुखसंनिविष्टः,
समासने किंचिदुपेत्य पश्चात् ।
बाहुप्रमाणं स्थिरदृक् स्थिरांग
श्चिन्ताविहीनोऽभ्यसनं कुरुष्व ॥ २९ ॥

२. सुखासने समासीनस्तत्त्वाभ्यासं समाचरेत् ।
सदाभ्यासेन तत्कुर्यात् परतत्त्वप्रकाशनम् ॥ ३० ॥

३. न किंचिन्मनसाध्यायेत् सर्वचिन्ताविवर्जितः ।
स बाह्याभ्यन्तरे योगी जायते तत्त्व संमुखः ॥ ३२ ॥

४. तत्त्वस्य संमुखे जाते अमनस्क प्रजायते ।
अमनस्केऽपि संजाते चित्तादिविलयो भवेत् ॥ ३३ ॥

५. चित्तादिविलये जाते पवनस्य लयो भवेत् ।
मनः पवनयोर्नाशादिन्द्रियार्थं विमुञ्चति ॥ ३४ ॥

६. इन्द्रियार्थैर्यदा मुक्तो बाह्यज्ञानं न जायते ।
बाह्यज्ञाने विनष्टे च ततः सर्वसमो भवेत् ॥ ३५ ॥

७. सदा सर्वसमे जाते भवेद् व्यापारवर्जितः ।
परब्रह्मणि सम्पन्नो योगी प्राप्तलयस्तदा ॥ ३६ ॥

८. सकलं समनस्कं च सापायं च सदा त्यज ।
निष्कलं समनस्कं च सापायं च सदा व्यज ।

९. न किंचिच्चिन्तयेद योगी औदासीन्यपरो भवेत् ।
न किंचिच्चिन्तना देव स्वयं तत्त्वं प्रकाशते ॥

१०. चित्ते चलति संसारोऽचले तत्त्वं प्रकाशते ।
तस्माच्चित्तं स्थिरीकुर्यादौदासीन्यपरायणः॥ ९३ ॥

११. उत्तुंग सहजानन्दः सदाभ्यासरतः स्वयम् ।
सर्वसंकल्पसंव्यक्तः स विद्वान् कर्मसंत्यजेत् ॥

गोरक्षनाथ—अमनस्कयोग

उन्मनी सिद्धि—उन्मनी सिद्ध होने पर 'द्वैतभाव' नष्ट हो जाता है—

मनसो ह्युन्मनीभावाद् द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥ (ह०यो०प्र०)

गोरक्षनाथ के अनुसार मन की अवस्थायें और अमनस्क योग

(मन की अवस्थायें)

'क' विश्लिष्टावस्था (तमोगुणात्मिका) विकल्पों एवं विषयों का ग्रहण

'ख' गतागतावस्था (राजोगुणात्मिका)

'क' सुश्लिष्टावस्था (सात्विकावस्था)

ख' सुलीनावस्था (निर्गुणावस्था)

विकल्पातीत या विकल्प विनाश की अवस्था

अभ्यस्त मन के विभिन्न स्वरूप

अभ्यास कर रहे योगी का चलायमान प्राथमिक मन = 'विश्लिष्ट मन'(१)

विश्लिष्टातीत एवं किंचित निश्चल मन='सानन्द मन'(२)

मन के अत्यन्त निश्चल होने पर मन की स्थिति = 'सुलीन मन'(३)
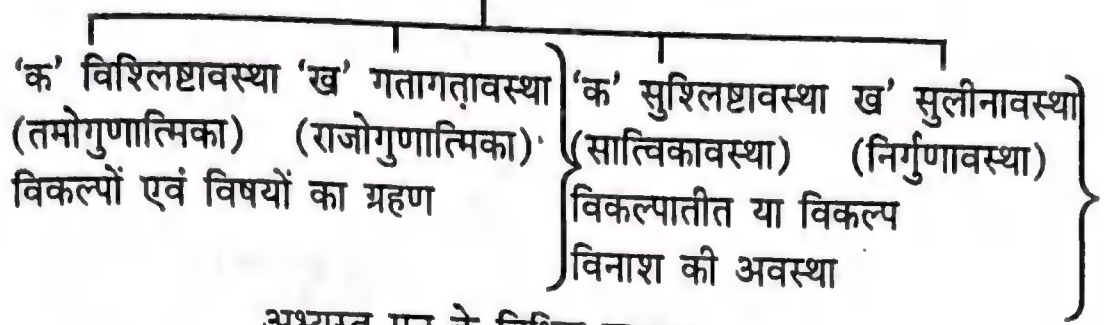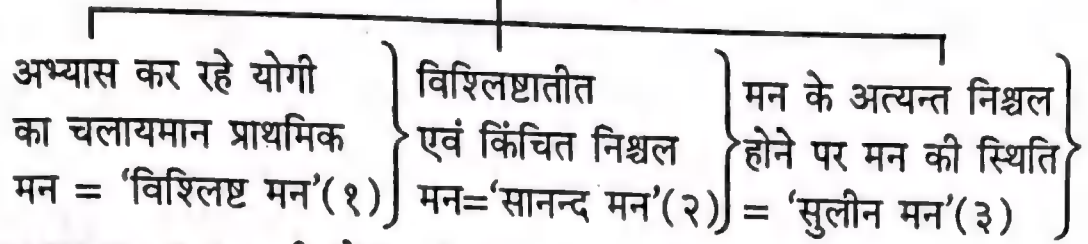
अमनस्क सहज तत्त्व ही गोरक्ष की साधना का अन्तिम लक्ष्य है—

निर्मनः सहजस्थिते पुरुषेन दिवारात्रिशब्दोऽस्ति ।
जागरणशयनवर्जितः चिन्मात्रानन्दस्थानात् ॥ ११० ॥

यह चिन्मात्रानन्द में स्थित रहता है ।

मोक्ष = 'गुणत्रयमयीं रज्जुं सुदृढामात्मबन्धनीम् ।
अमनस्कक्षुरेणैवच्छित्वा मोक्षमवाजुयात्॥ ८९ ॥'

सहजामनस्क—

'इत्युक्तमेवत् सहजामनस्कं,
शिष्यप्रबोधाय शिवेन साक्षात् ।
नित्यं हि नूनं विगतप्रपञ्चं,
वाचामवाच्यं स्वयमेव बोध्यम् ॥

मोक्ष = चित्ते चलति ससारोऽचले मोक्षः प्रजायते ।
तस्माच्चित्त स्थिरीकुर्यादौदासीन्य परायणः ॥

गोरक्षनाथ—अमनस्क योग

इस दिशा में 'उन्मन योग' के साधनभूत अङ्गों पर भी प्रकाश डालना उचित है ।

*** स्वात्माराम मुनीन्द्र की दृष्टि के अनुसार**

उन्मनीकल्पलतिका—के अङ्कुरण एवं विकास के निम्न अङ्गभूत तत्त्व हैं—

तत्त्वं बीजं हठः क्षेत्रमौदासीन्यं जलं त्रिभिः ।
उन्मनीकल्पलतिका सद्य एव प्रवर्तते ॥ उन्मनीकल्पलतिका

* भ्रूध्यान भी उन्मनी के उदय में सहायक है—

उन्मन्यवाप्तये शीघ्रं भ्रूध्यानं मम सम्मतम् ।

—हठयोग प्रदीपिका

(६२) उन्मन योग और मत्स्येन्द्रनाथ की दृष्टि

उन्मनयोग भारतीय तान्त्रिक योग की सर्वोच्च साधना है। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' की जो यात्रा मन के लौट आने से पूर्ण नहीं हो पाती और जहाँ जाकर 'वाणी' और 'मन' और दोनों आगे की यात्रा चलते रखने में असमर्थ हो जाते हैं उसी के पार की अगली यात्रा का पाथेय है 'उन्मन योग'।

मत्स्येन्द्रनाथ 'उन्मनी' का लक्षण-निर्वचन करते हुए कहते हैं कि 'उन्मनी' मन, धारण एवं ध्यान से अतीत है—

'उन्मनं मन रहितं ध्यानधारण-वर्जितम्। (१२।३)

उन्मनी साधन नहीं साध्य है तथापि साधक भी है क्योंकि 'उन्मनी' मोक्ष-प्रापक है—

'उन्मनन्तु मनो यस्य तस्य मोक्षो भवन्तीह ॥ (१३।५)

मत्स्येन्द्रनाथ ने इस 'समनातीत' परम पदस्वरूप उन्मनी को 'परमबिन्दु' के बाद सर्वोच्च स्थान दिया है। इसके लक्षण क्या है? उन्मनी भाव की स्थिति में सारे विकल्पात्मक चिन्तन निषिद्ध हो जाते हैं। मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

'मनस्य उन्मनीभावो यदा भवति सुन्दरि ॥ १४।८३ ॥
न जलं चिन्तयेद्देवि न वह्नि वायुराकाशम्।
नाधस्तादूर्द्धमध्यञ्च काष्ठवल्लोष्टवत् प्रिये॥

(मनस्य उन्मनीभावो यदा भवति सुन्दरि)।

शून्यशून्य मनः कृत्वा निश्चिन्तो निश्चलस्थितिः।
घटपटस्थितस्तम्भा ग्रामकूपादिकं बुधः।
भेरिशङ्खमृदङ्गैश्च वीणावंशनिनादितैः।
ताञ्चमात्र बोध्यते जीवस्तल्लयतां गताः॥
भूतं भव्यं भविष्यञ्च अतीतानागतन्तथा।
क्षयो ह्यमरो भूत्वा कामदेव द्वितीयकः॥ आदि ॥[1]

स्वात्माराम मुनीन्द्र की दृष्टि—स्वात्माराम मुनीन्द्र कहते हैं कि—

१. जब प्राण सुषुम्ना नाड़ी में प्रविष्ट होता है तभी मनोन्मनी सिद्ध होती है—

सुषुम्नावाहिनि प्राणे सिद्ध्यत्येव मनोन्मनी ॥[2]

२. खेचरी की सिद्धि से भी 'उन्मनी' का आविर्भाव होता है।[3]

(६३) उन्मना का स्वरूप (तान्त्रिक दृष्टि)

१. 'उन्मना' की स्थिति कहाँ है?

समना के ऊर्ध्व प्रदेश में उन्मनी या उन्मना स्थित है।

---

१. मत्स्येन्द्र नाथ (कौ०ज्ञा०नि०) २. हठयोग प्रदीपिका (४।२०)
३. हठयोग प्रदीपिका (४।४७) 'अभ्यस्ता खेचरी मुद्राप्युन्मनी संप्रजायते'। (स्वात्माराम)

२. उन्मना की क्रमिक स्थिति क्या है?

उन्मना की आरोह क्रमानुसार इस प्रकार स्थिति है ।

'मूलाधार चक्र' 'स्वाधिष्ठान चक्र' 'मणिपूरक' १. चक्र—अनाहत चक्र—विशुद्ध चक्र—'आज्ञाचक्र' के ऊपर 'सहस्रार चक्र' और सहस्रार चक्र के ऊपर स्थिति इस प्रकार है—

बिन्दु—अर्धचन्द्र—रोधिनी—नाद—नादान्त—शक्ति—व्यापिका—समना—उन्मना।

क्रम	चक्र	स्थान / अवस्था
(११)	नाद ०|०	तुर्यावस्था *
(१०)	रोधिनी ▽	रोधिनी (तुर्यावस्था)
(९)	अर्धचन्द्र ◡	तुर्यावस्था *
(८)	बिन्दु •	सुषुप्ति }
(७)	सहस्रार चक्र	ललाट मध्ये }
(६)	आज्ञा चक्र	भ्रूमध्ये }
(५)	विशुद्धाख्य चक्र	कण्ठ प्रदेशे }
(४)	अनाहत चक्र	हृदयस्थाने }
(३)	मणिपूर चक्र	नाभिस्थाने }
(२)	स्वाधिष्ठान चक्र	लिङ्गस्थाने }
(१)	मूलाधार चक्र	गुदोपरि द्वयङ्गुलोर्ध्वे }

क्रम	चक्र	अवस्था
	महाबिन्दु	
	उन्मना (उन्मनी)	तुर्यातीतावस्था *
	समना	तुर्यातीतावस्था *
(१४)	व्यापिका ▽◡	तुर्यातीतावस्था *
(१३)	शक्ति ०|०	तुर्यातीतावस्था *
(१२)	नादान्त ०|०	तुर्यातीतावस्था *

उन्मनी
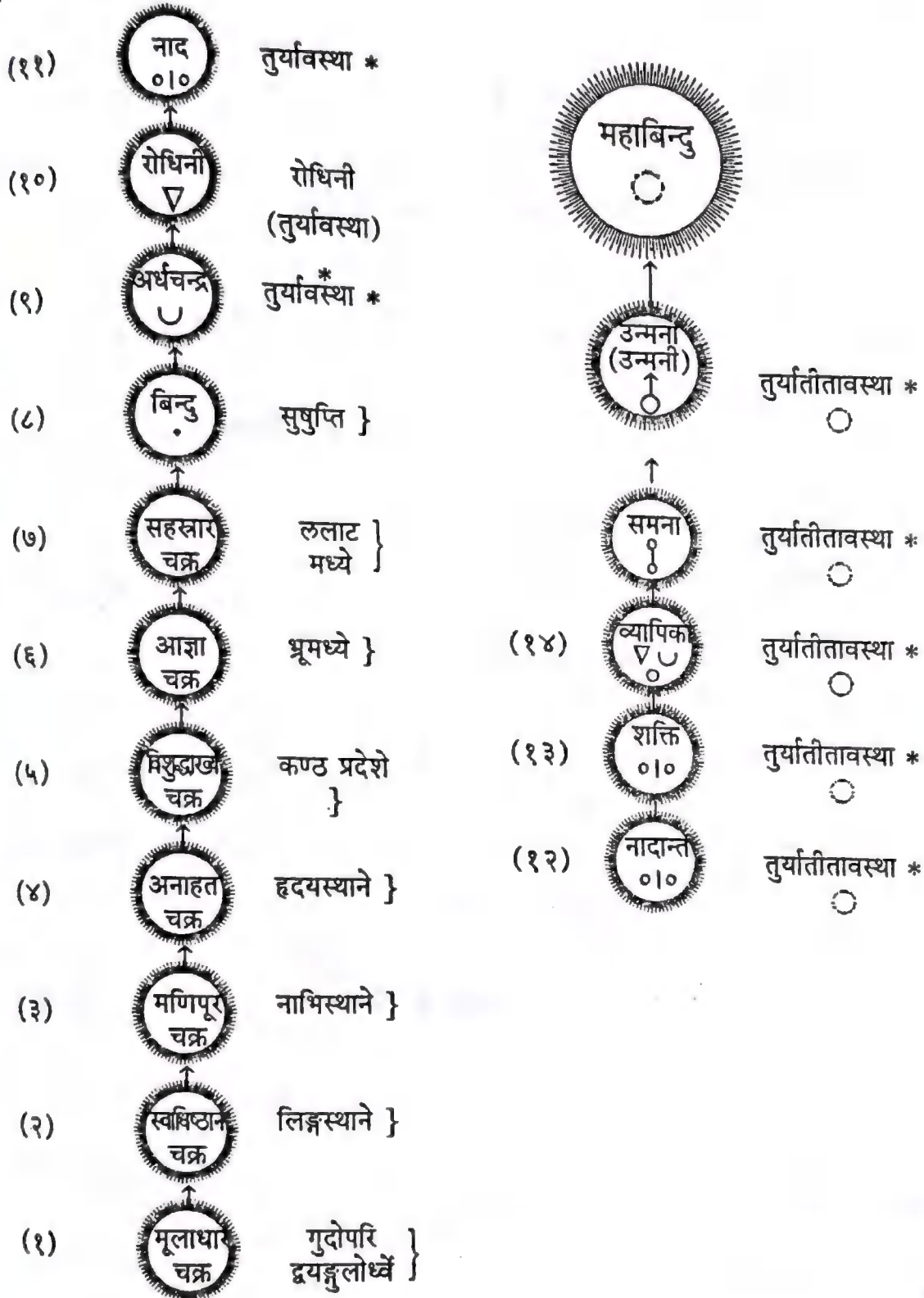
इसे निम्न रचनाओं द्वारा इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है।

(६४) बन्धन तत्त्व और मत्स्येंन्द्रनाथ

योगी मत्स्येन्द्रनाथ ने बन्धन को अज्ञान का पर्याय माना है।

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं कि—

१. न जानना—(परमार्थ सत्य को—अपने स्वस्वरूप को न जानना)—(अखण्डमालाकार, निर्विकार एवं सनिष्कल तत्त्व को न जानना) ही 'बन्धन' कहा गया है—

अखण्डमण्डलं रूपं निर्विकारं सनिष्कलम्।
अज्ञात्वा बन्धमुद्दिष्टं .... । (पटल ३।११)

बन्धन से मुक्ति कैसे मिलती है?

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—'ज्ञात्वा बन्धैः प्रमुच्यते।'

बन्धन से मुक्त करने वाला भी आत्मा ही है—

'बन्धस्तु मोचयेद् ह्यात्मा आत्मानमात्मनः प्रभुः।'[1]

'अज्ञान' से ही शिव 'पशु' बन जाता है—

'अज्ञान भाविता देवि! पशुत्वं सुर नायिके।'[2]

ज्ञानाभाव ही क्लेशों का कारण है।

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

क्लिश्यन्तिमनुजात्यन्तमज्ञात्वा तु कुलागमम्।(कौ०ज्ञा०नि० १७।५)
अनेन ज्ञानमात्रेण श्रुतेन च वरानने।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो भवद्भिः समुपार्जितम्॥
षण्मासादभ्यसेद्यस्तु काषायं बंधवर्जितम्।
अस्यापि शोक-सन्ताप- जरा-व्याधिर्विनश्यति॥ कौ.ज्ञा.नि.६।९-१०

* मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—ज्ञान एवं ध्यान से ही सारे द्वन्द्वों का नाश होता है—

येनैव ज्ञानमात्रेण ध्यानाभ्यासेन नित्यशः।
सर्वद्वन्द्वविनिर्भुक्तिः स गताभ्यासतत्परः॥ (५।२)

* द्वादशान्त में स्फुरित मणिमालिका के साक्षात्कार से भी बन्धन का नाश एवं मोक्षाधिगम होता है—

द्वादशान्ते यदा पश्येत् स्फुरन्तं मणिमालिका।
तस्य मोक्षो .... ॥ (कौ० १३।६)

---

१. कौलज्ञाननिर्णय (१७।३५)
२. कौलज्ञाननिर्णय (१६।४३)

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं कि मन के उन्मन भाव में आने पर या साधक के उन्मन (मन की सीमा से अतीत) होने पर मोक्ष प्राप्त हो जाता है,

'उन्मनन्तु मनो यस्य तस्य मोक्षो भवन्तीह।

—(कौ०ज्ञा०नि०१३।५)

बन्धन—बन्धन की समस्या ही दर्शन शास्त्र की प्राथमिक मूल समस्या है। यदि 'बन्धन' न होता तो मुक्ति की खोज क्यों की जाती? यदि मुक्ति की खोज न की जाती तो मुक्ति के साधनों की उत्कण्ठा क्यों होती? यदि मनुष्य 'मुक्ति' के बिना ही सारे दु:खों, सारी पीड़ाओं, नि:शेष अन्तर्व्यथाओं से मुक्त हो गया होता तो दर्शन शास्त्र की नींव ही क्यों पड़ती। 'बन्धन' ही दु:ख का कारण है अत: दु:खों को दूर करने के लिए बन्धन एवं बन्धन के कारण एवं बन्धन के विनाश के मार्ग का सन्धान करना पड़ता है और इसी 'बन्धन' की पीड़ा से मुक्ति दिलाने के लिए ही विभिन्न दर्शनशास्त्रों का उदय हुआ।

शिवसूत्रकार ने कहा कि 'ज्ञान' ही बन्धन है **'ज्ञानं बन्ध:।'**

—(शिव सूत्र: प्रथम उन्मेष: सू० २)

बन्धनात्मक ज्ञान का स्वरूप एवं प्रकार

आत्मा में अनात्मा की अभिमान रूप अख्याति	अनात्मा में आत्मा की अहन्ता रूपा अख्याति

क्षेमराज कहते हैं कि इस अज्ञानात्मक ज्ञान के दो भेद हैं—

१. 'आत्मनि अनात्मताभिमानरूपाख्याति लक्षणाज्ञानात्मकं ज्ञानं केवलं 'बन्धो'।
२. 'यावद अनात्मनि शरीरादौ आत्मताभिमानात्मकम् अज्ञानमूलं ज्ञानमपि बन्ध एव।'[१]
३. 'सुख दु:ख मोहमयाध्यवसायदिवृत्तिरूपं तदुचितभेदावभासनात्मकं यत् ज्ञानं तत् बन्ध:।'

यही बन्धन 'पाश' भी है—'तत्पाशितत्वादेव हि अयं संसरति'। इसी पाश से बँधकर प्राणी संसरण किया करता है।[२]

शिवसूत्रकार ने 'ज्ञानं बन्ध:' प्रथम उन्मेष में भी कहा और तृतीय उन्मेष में भी 'ज्ञानं बन्ध:' कहकर इस सूत्र की दो अवतारणा की। सांसारिक ज्ञान ही बन्धन है। सांसारिक ज्ञान अज्ञान है और अज्ञान या मल ही 'संसाराङ्कुर' का कारण है—

'मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम्।

---

१. शिवसूत्र विमर्शिनी (प्र०उन्मेष। सूत्र-२)
२. शिवसूत्र विमर्शिनी (सूत्र-२, उन्मेष ३)

* इसी अज्ञान से सारा संसार पाशबद्ध है—

अज्ञानाद्बध्यते लोकस्ततः सृष्टिश्च संसृतिः ।[१]

* बन्धन का स्वरूप क्या है? 'ज्ञानं बन्धः' (१।२) (३।२)

आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि—

परमेश्वर (शिव) ने अपनी 'स्वातन्त्र्य शक्ति' से आभासित स्वरूप गोपन द्वारा और महामाया की शक्ति द्वारा स्वच्छ, निर्मल एवं परमविशुद्ध आकाश की भाँति पूर्ण विशुद्ध आत्मा में 'अनाश्रित' से लेकर माया प्रमाता पर्यन्त संकोचावभासन किया है और वही स्वरूपगोपनकारी शिव स्वरूपगोपनात्मिका लीला या क्रीड़ा के कारण अपने अनन्तज्ञान-स्वरूप को आच्छादिल करके जब अपने को अपूर्ण मानने के कारण 'आणवमल' से स्वयं को ढककर संकुचित ज्ञानवाला बन जाता है तब उसी को 'बन्धन' कहते हैं ।[२]

सारांश—(बन्धन के कारण)—

१. ज्ञान ही बन्धन का कारण है ।

२. आणव-मायीय-कार्म मल ही बन्धन के कारण है ।

३. शिव की पशुभूमिका में अवतरण या स्वस्वरूप गोपनात्मिका शैवी क्रीडा ।

४. 'मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुर कारणम् ।'

५. अनात्मनि शरीरादौ आत्मताभिमानात्मकम् । अज्ञानमूलं ज्ञानमपि 'बन्ध' एव ।

शिवसूत्रकार एवं क्षेमराज ने बन्धन के मूल कारण मुख्यतः दो बताए हैं ।

१. मलत्रय, २. ज्ञानाधिष्ठानं मातृका । (१।४)

(अ) अपूर्णम्मन्यता, (आ) भिन्नवेद्यप्रथा, (इ) शुभाशुभ वासना रूप ज्ञान (जो कि मलत्रय से उत्पन्न हुआ है) और अज्ञाता मातृका शक्तियाँ शब्दानुवेद्य द्वारा शोक-स्मय-हर्ष-रागादि का अनुभव कराकर तथा 'अपूर्णोऽस्मि, कृशः स्थूलो वास्मि, अग्निष्टोमयाज्यस्मि, आदि अविकल्पक-सविकल्पक अवभास परामर्श कराकर बन्धन बनी हुई है ।[३]

(६५) मोक्ष (LIBRATION)

प्रत्येक दर्शन और प्रत्येक धर्म की मोक्ष के विषय में अपनी-अपनी पृथक्-पृथक्

---

१. मालिनी विजय

२. 'यः परमेश्वरेण स्वस्वान्त्र्यशक्त्याभासितस्वरूपगोपनारूपया महामाया शक्त्या स्वात्मन्याकाश-कल्पेऽनाश्रितात् प्रभृति माया प्रमात्रन्तं संकोचोऽवभासितः स एव शिवाभेदाख्यात्यात्मका ज्ञान-स्व-भावोऽपूर्णम्मन्यतात्मकाणवमलसतत्त्व संकुचित ज्ञानात्मा 'बन्धः' । (क्षेमराजः शिवसूत्र वि० सूत्र २। उन्मेष प्रथम)

३. क्षेमग्राज (सूत्र ४। उन्मेष १) (ज्ञानाधिष्ठानं मातृका) योनिवर्गः कलाशरीरम् (१।३)

दृष्टियाँ हैं। मोक्ष शब्द मुश्च धातु से निष्पन्न हुआ है। अतः मोक्ष मुक्ति या छुटकारे को कहते हैं।

मत्स्येन्द्रनाथ की भी मोक्षविषयक अपनी विशिष्ट दृष्टि है। गोरक्षनाथ की भी अपनी दृष्टि है—

'सहजं स्वात्म संवित्तिः संयमः स्वस्वनिग्रहः।
स्वोपायं स्वस्वनिश्रन्तिरद्वैतं परमं पदम्॥

१. मनमार्ग—सारूप्य मुक्ति, २. बुद्धिमार्ग—सामीप्य मुक्ति, ३. चित्तमार्ग—स्वरूप मुक्ति, ४. अहंकार मार्ग—सालोक्य मार्ग, ५. अन्तःकरण मार्ग—महामुक्ति।

—महादेव गोरख गुष्टि

अंतहकरण मारग जीव अनुसरै तौ महामुक्ति भोगवै आत्मा परमात्मा भवति।

कौलज्ञाननिर्णय में भी मोक्ष विषयक दृष्टि प्रस्तुत की गई है। इसके १३वें एवं १७वें पटल में इस विषय पर विशेष प्रकाश डाला गया है। मत्स्येन्द्री नाथ परम्परा में मुक्ति का अर्थ है। (क) शक्तिजागरण, (ख) लिंगपूजा, (ग) हंस का रहस्यात्मक ज्ञान आदि। प्रथम साधन शक्ति जागरण है।

१. सुषुप्त शक्ति का जागरण।

२. मूलाधारस्थ सुप्त शक्ति को जागृत करके एवं परम जाग्रत केन्द्र सहस्रार (परम शिव के स्थान) में ले जाकर वहाँ शिव से उसका सारमरस्य कराना।

कुल शक्ति (Psychic Energy of Muladhar) की सहस्रारोन्मुख ऊर्ध्वगति (UpWard movement) ही 'मुक्ति' है और उसकी मूलाधारोन्मुखी गति ही बन्धन है। अधस्था संस्थिता भुक्ति ऊर्ध्वं मुक्तिर्वराननेे।[1]

३. मोक्ष लिंग-भक्ति से भी प्राप्य है किन्तु यह लिंग (मृतिका पाषाण-रत्ननिर्मित लिंग नहीं प्रत्युत्) पिण्डस्थ मानस लिंग है—'एतत् पुष्पविधिं ज्ञात्वा अर्चयेल्लिङ्गमानसम्।

भुक्तिमुक्तिमवाप्नोति देहलिङ्गार्चने तु। (३-२७)
सिद्धिलिङ्गमिदं देवि! देहस्थं प्रत्ययान्वितम्॥
मनोलिङ्गं सदा ध्यायेत् यां यां फल सभी कृते॥ (२८)
तां लभन्ते न सन्देहो आत्मसम्विन्तिपूर्वकम्॥
एतत्ते कौलिकं देवि! देहलिङ्गस्य लक्षणम्॥ २९॥
अन्यत्तु वर्जयेद्देवि पाषाणं काष्ठमृन्मयम्।
लौकिकम् मार्गसम्पन्ना सिद्धिमुक्तिविवर्जिता॥ ३०॥[2]

---

१. कौलज्ञाननिर्णय (२:९)।
२. कौलज्ञाननिर्णय (३-२७-३०)

लिंग पूजा का जो स्थूल विधान है वह भी यहाँ स्वीकार्य नहीं है अन्यथा लिङ्गायत, वसवेश्वर आदि शैव सम्प्रदाओं एवं मत्स्येन्द्रनाथी शैव सम्प्रदाय की दृष्टियों में भेद ही क्या रह जाता। यहाँ लिङ्ग 'मानस लिङ्ग' है और उसकी पूजा स्थूल पदार्थों से नहीं प्रत्युत् सत्वगुणात्मक वृत्तियों से की जानी चाहिए। इसकी पूजा के द्रव्य इस प्रकार हैं—

अहिंसा प्रथमं पुष्पं द्वितीयेन्द्रिय निग्रहम्।
तृतीयन्तु दया पुष्पं भाव पुष्पञ्चचतुर्थकम्॥
पञ्चमन्तु क्षमा पुष्पं षष्ठं क्रोधविनिर्जितम्।
सप्तमं ध्यान पुष्पन्तु ज्ञान पुष्पन्तु अष्टमम्।
एतत् पुष्पविधिं ज्ञात्वा अर्चयेल्लिंगमानसम्॥

मोक्ष की प्राप्ति 'हंस' के यथार्थज्ञान से भी संभव है। यह 'हंस' वह परम स्वामी (प्रभु) है जो सर्वव्यापक और जो समस्त विश्व का मूल है। 'हंस' के इस विराट् स्वरूप का अवबोध होने से 'उन्मनी की अवस्था प्राप्त कर लेता है अतः इसके साधक की पाप-पुण्य स्पर्श भी नहीं कर पाते। इस चरम तत्त्व की आत्मगत अनुभूति मोक्ष प्राप्त कराती है। जो साधक अपने भीतर शिव की अनुभूति करता है और पृथ्वी पर उसकी क्रियाओं, गतियों एवंस्पन्दनों का अनुभव करता है वह मुक्त हो जाता है और जो व्यक्ति उसे स्पर्श करता है वह भी मुक्त हो जाता है।

'हंस' या 'शिव' बन्धन और मुक्ति दोनों प्रदान करते हैं। १. 'भुक्तिमुक्ति प्रदायकः'।[१] जो भी शिव को अपने भीतर अनुभव करता है वह शिवतुल्य हो जाता है और मुक्त हो जाता है—

(क) सः शिवः प्रोच्यते साक्षात् स मुक्तो मोचयेत् परः।[२]
(ख) अस्योद्धर्वे तु .... भुक्तिमुक्तिप्रदं शुभम्॥
(ग) तस्योच्छिष्टञ्च सम्प्राप्य भवेन्मुक्तिः परा प्रिये॥

इस 'हंस' का स्वरूप क्या है?

कौलज्ञाननिर्णय के १७वें पटल के १८-३३ श्लोकों द्वारा हंस के स्वरूप पर ही प्रकाश डाला गया है और कहा गया है कि—

(१) 'स्'—सृष्टि सम्बद्ध है। २. 'ह्'—संहार सम्बद्ध है, सकार—शुक्लपक्ष है, हकार—कृष्णपक्ष है।
(२) 'हंस'—अधोर्ध्वे रमते हंसो द्वादशान्ते लयं पुनः॥ (१७-१८)
(३) 'हंस'—भुक्तिमुक्तिप्रदायकः (१७-३४)
(४) 'हंस'—हंस सभी का स्वामी है और प्रभु है—यह शरीर में सर्वत्र गति करता है—(परिभ्रमण करता है)।

---

१. कौलज्ञाननिर्णय (३।२५-२७)
२-३. कौलज्ञाननिर्णय (१७-३४)

(५) यह शरीर में रहकर भी उसके पाप-पुण्य से निर्लिप्त रहता है तथा सदैव निर्मल रहा करता है ।

(६) 'कौलज्ञाननिर्णय' (१३-१.५) में कहा गया है कि 'हंसः'-'हंसः' का जप करने से साधक मुक्ति प्राप्त कर लेता है । 'हंस' जीव का भी बोधक है और शिव का भी । 'सहस्रार' ही हंस का पीठ है । जब तक शक्ति 'सहस्रार' तक नहीं पहुँच पाती और हंस के साथ एकीभूत नहीं हो जाती तब तक वह पूर्ण समाधि प्राप्त भी नहीं कर पाती । (१७-६)

(७) 'हंस' अमेय (Immesurable) अचिन्त्य (Inconceivable) है तथा अविनश्वर (Indestructible) है ।

(८) यह व्यक्तिगत आत्मा बनकर पृथ्वी पर चलता भी है—

'मानुष्यं पिण्डमासृत्य स शिवः क्रीडते भुवि ।[१]

(९) जब परमात्मा की इस प्रकृति या स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है । तत्काल पूर्ण मुक्ति प्राप्त हो जाती है ।

मत्स्येन्द्रनाथी सम्प्रदाय या मत में 'मुक्ति' (मोक्ष) आवश्यक तो अवश्य है किन्तु इनका बहुत कम महत्त्व है । इसमें प्रधान महत्त्व है सिद्धियों को प्राप्त करने का । इस महत्व के दो कारण ह—

१. चिरन्तन काल तक निःश्रेयस (Beatitude) की अवस्था का आनन्द लेने की क्षमता प्राप्त करते रहना, तथा

२. मानव जाति के हितार्थ, घटनाओं को नियन्त्रित कर सकने की शक्ति प्राप्त करने ही क्षमता प्राप्त करते रहना ।

कौलज्ञाननिर्णय में मत्स्येन्द्रोक्त मोक्ष के साधन

सुषुप्त शक्ति को मूलाधार चक्र से जगाकर सहस्रार में ले जाना एवं उसे परम शिव से मिलाना='सामरस्य'	मानसी शिव लिङ्ग के प्रति भक्तिः मानसी पूजा	हंस साधना उन्मनी प्राप्ति आत्म साक्षात्कार एवं शिव का अपने भीतर साक्षात्कार	समस्त इच्छाओं का त्याग एवं भाव	ध्यान योग

१. कौलज्ञाननिर्णय (१७-३८)

मोक्ष का श्रेष्ठतम मार्ग—भक्तों की दृष्टि में 'भक्ति' कर्मकाण्डियों की दृष्टि में वैदिक 'कर्म' ज्ञानियों की दृष्टि में 'ज्ञान'। किन्तु योगियों की दृष्टि में मोक्ष का श्रेष्ठतम मार्ग 'योग' है—

'तस्मात् योगात् पर तरोनास्ति मार्गस्तु मोक्षदः ॥ ७२ ॥

—योग बीज

मत्स्येन्द्रनाथ और उनकी मोक्ष सम्बंधिनी दृष्टि—मत्स्येन्द्र कहते हैं—

'मोक्ष प्रत्यय संवित्ति शृणुत्वं वीर नायिके।

—कौलज्ञाननिर्णय

जिस नाथ पंथीय मोक्ष-दृष्टि का स्वरूप-निर्वचन किया जा रहा है उसका प्रत्यवमर्ष नाथ-साहित्य में यथेष्ट रूप में मिलता है। 'अमरौघ शासनम्' में कहा गया है—

१. अहो मूर्खता लोकस्य।
२. केचिद्वदन्ति शुभाशुभकर्मविच्छेदनं मोक्षः।
३. केचिद् वदन्ति मोक्षः।
४. केचिद् वदन्ति निरालम्बनलक्षणो मोक्षः।
५. केचिद् वदन्ति ध्यानकलाकरणसंबद्ध प्रयोग संभवेन रूप बिन्दु नाद चैतन्य पिण्डाकाशक्षणे मोक्षः।
६. केचिद्वदन्ति पूजापूजक मद्य मांसादि सुरत प्रसंगानन्द लक्षणेः मोक्षः।
७. केचिद् वदन्ति मूलकन्दोल्लसित कुण्ड लोसंचार मोक्षः।
८. केचिद् वदन्ति सुसमदृष्टि निपात लक्षणे मोक्षः।
९. इत्येवंविध भावनाश्रित लक्षणे मोक्षो न भवति।
१०. अथ मोक्षपदं कथ्यते—यत्र सहजसमाधिक्रमेण मनसा मनः समालोक्यते स एव मोक्षः।

—अमरौध शासनम्

कौलज्ञाननिर्णयकार की मोक्ष-दृष्टि—

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

१. मोक्ष प्रत्यय संवित्ति, होने पर दोनों लोकों में मुक्ति का आनन्द प्राप्त होता है। श्लोक (१)। पटल १३)
२. 'हंस-हंस' के अखण्ड श्रवण से भी मुक्ति प्राप्त हो जाती है (श्लोक २) (पटल १३)

---

१. द्वादशान्ते यदा पश्येत् स्फुरत्तं मणिमालिका। तस्य मोक्षो भवेद्यस्तु पापपुण्यैर्नलिप्यते ॥

३. 'उन्मनी' से मोक्ष प्राप्त हो जाता है। (श्लोक ५। प० १३)
४. 'द्वादशान्त' में स्फुरित मणिमाला का साक्षात्कार करने से मुक्ति प्राप्त हो जाती है।[१]
५. देवयान-महायान में संलग्न या संल्लीन चित्त वाले साधक को मुक्ति प्राप्त हो जाती है। (१३।७)
६. न्यास क्रम को जानकर शरीर में न्यास करने पर मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है।

मोक्ष-प्राप्ति के साधन

अजपा जप (हंसयोग/ सोऽहं जप)	उन्मनयोग	देवयान एवं महायान में तल्लीन चित्त	शरीर में ज्ञानपूर्ण न्यास क्रिया	देवयाने महायाने यस्य चित्तं सदा प्रिये। तस्य मोक्षोन सन्देहः पद्मपत्राम्बुबिन्दुवत्।
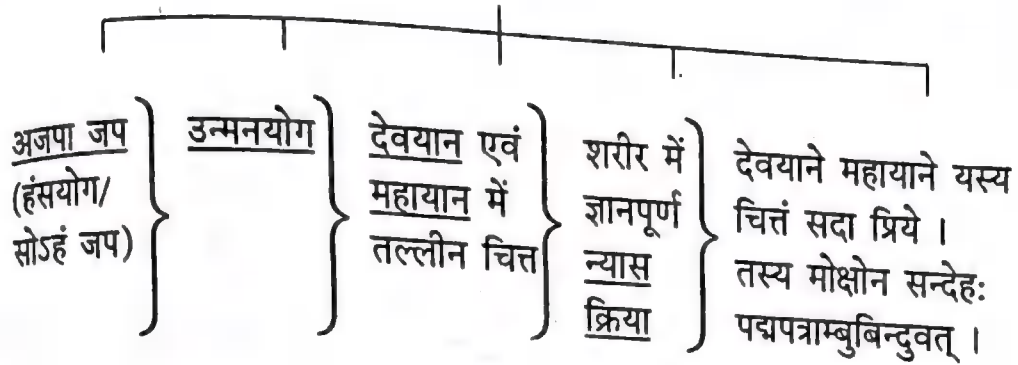
—कौलज्ञाननिर्णय (१३।७)

बन्धन से मुक्ति—बन्धन से मुक्ति के तो अनेक मार्ग हैं किन्तु मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं कि 'अखण्डमण्डलाकार' निर्विकार निष्कल को न जानने से बन्धन होता है और उसका ज्ञान होने से मुक्ति प्राप्त हो जाती है—

'अखण्डमण्डलं रूपं निर्विकारं सनिष्कलम्।
अज्ञात्वा बन्धमुद्दिष्टं ज्ञात्वा बन्धैः प्रमुच्यते ॥[१]

नाथमर्ण में देह-लिङ्ग एवं मनोलिङ्ग के पूजन को भी साधन माना गया है किन्तु दोनों में भेद है—

१. देहलिङ्गार्चन— भुक्तिमुक्तिमवाप्नोति देहलिङ्गार्चनेन तु।
सिद्धलिङ्गमिदं देवि! देहस्थं प्रत्ययान्वितम् ॥

२. मनोलिङ्गार्चन—मनोलिङ्गं सदा ध्यायेद् यां यां फलसमीकृते।
तां लभन्ते न सन्देहो आत्म संवित्तिपूर्वकम् ॥

मनोलिङ्ग के अर्चन से—१. सारे फलों की प्राप्ति, २. आत्म संवित्ति की प्राप्ति, ३. भुक्ति की प्राप्ति।

भुक्तिमुक्ति—'भुक्तिमुक्तिमवाप्नोति देहलिङ्गार्चनेन तु' अर्थात् लिङ्गार्चन भोग एवं मोक्ष दोनों प्रदान करता है।

(१३।६)

१. मत्स्येन्द्रनाथ कौलज्ञाननिर्णय (प० ३।११)

लिङ्गपूजन—मत्स्येन्द्रनाथ ने लिङ्गपूजा को बहुत अधिक महत्व दिया है। वे उसे मोक्ष-साधना का साधन भी मानते थे। मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं कि—अधोलोकों में संस्थिति होने पर भोग एवं ऊर्ध्वलोकों में संस्थिति होने पर मुक्ति मिलती है—'अधस्था संस्थिता भुक्तिः ऊर्द्ध मुक्तिर्वरानने। (२।९)

लिङ्गपूजन से मुक्ति—मत्स्येन्द्रनाथ शैव होने के कारण ज्योतिर्मम शिवलिङ्ग के परम भक्त थे। वे कहते हैं—

एतल्लिङ्गवरं ज्ञात्वा दृष्ट्वा मोक्षस्य भाजनः ॥ (३।२२)

लिङ्ग के लक्षण—मत्स्येन्द्रनाथ ने कौलज्ञाननिर्णय के तृतीय पटल में लिङ्ग के लक्षणों पर भी विचार किया है। वे कहते हैं कि यह मेरा पूज्य वह है जो—

१. काष्ठ, मृतिका, शैल रत्न, स्वर्ण, ताम्र, लोहा, स्फटिक, टीन, त्रपु, सीसक, आदि से नहीं बना है। जो कि संसार द्वारा पूजित होता है।[1]

२. **उसमें सचराचर जगत लीन हो जाता है—**

तेन लिङ्गन्तु विख्यातं यत्र लीनं चराचरम् ॥[2]
३. सृष्टिसंहारकर्तारं तल्लिङ्ग सिद्धपूजितम्।
ज्वलन्तं उल्क सदृशं विद्युत्तेजो नमस्तले।
एतल्लिङ्गवरं ज्ञात्वा दृष्ट्वा मोक्षस्य भाजनः ॥ २२ ॥
४. स्फुरन्तं निर्मलन्नित्यं अप्रमेयं सदोदितम् ॥ २१ ॥

(३) **यह पाषाण, वृष्टि, संघात भयानक महामेघों, वज्र आदि से नष्ट नहीं होता—**

पाषाणवृष्टि संघातैर्महामेघैः सुदारुणैः।
न न श्येदग्निना लिङ्गं न पतेद् वज्र ताडितम् ॥ २३ ॥

(४) **यही लिङ्ग पूज्य है** और इसकी **मानसी द्रव्यों से पूजा करनी चाहिए—**

एतन्तु पूजयेद्देवि कोलिकं सिद्धिमिच्छता।
अर्चयेन्मानसैः पुष्पैः सुगन्धैर्धूपदीपितैः ॥ २४ ॥

(५) **पूजा की सामग्री**—इस लिङ्ग पूजन में अहिंसा, इन्द्रिय निग्रह, दया आदि के पुष्प अर्पित करने चाहिए।

आध्यात्मिक साधना के अङ्गभूत तत्त्व और यम-नियम—मत्स्येन्द्रनाथ ने साधना हेतु 'यम-नियमों को स्थान देते हुए कहा कि साधना मार्ग में—१. अहिंसा, २. इन्द्रिय निग्रह, ३. दया, ४. भाव, ५. क्षमा, ६. क्रोध-ध्वंस, ७. ध्यान, ८. ज्ञान अर्चा के प्राथमिक साधनाङ्ग हैं।[3]

मत्स्येन्द्रनाथ ने १. देह लिङ्ग एवं २. मनोलिङ्गं—दो प्रकार के लिङ्ग माने और

---

१. कौलज्ञाननिर्णय (प० ३।१४-१५) २. कौलज्ञाननिर्णय (प० ३।१०)
३. कौलज्ञाननिर्णय (प० ३।२४-२६)

दोनों का पूजन शास्त्र सम्मत माना किन्तु 'मनोलिङ्ग' के पूजन को अधिक महत्व दिया—

१. एतत् पुष्पविधिं ज्ञात्वा अर्चयेल्लिंगमानसम् ॥ २७ ॥

२. (देहलिङ्गार्चन)—भुक्तिमुक्तिमवाप्नोति देहलिङ्गाचनेन
तु सिद्धिलिङ्गमिदं देवि! देहस्थं प्रत्ययान्वितम् ।

३. मनोलिङ्गं सदा ध्यायेद् यां यां फलसमीकृते ॥ २८ ॥
तां लभन्ते न सन्देहो आत्मसंवित्तिपूर्वकम् ॥
एतत्ते कौलिकं देवि! देहलिङ्गस्य लक्षणम् ॥ २९ ॥

४. पाषाणादिक के लिङ्ग पूज्य नहीं हैं—
अन्यन्तु वर्जयेद्देवि पाषाणं काष्ठमृन्मयम् ।
लौकिकम् मार्गसम्पन्ना सिद्धिमुक्तिविवर्जिता ॥ ३० ॥[१]

मत्स्येन्द्रनाथ और विश्वाहन्ता की दृष्टि—त्रिक दर्शन **'अहमिदम्' 'इदमहम्'** को भी उच्चादर्श मानकर चलता है और शांकर दृष्टि के अनुसार जगत को मिथ्या मानकर उसे 'भ्रम' एवं 'प्रज्ञान' के रूप में स्वीकार नहीं करता प्रत्युत् उसके साथ आत्मा के ऐक्य का आदर्श स्वीकार करता है ।

मत्स्येन्द्रनाथ ने भी 'कौलज्ञाननिर्णय' के १७वें पटल में इस आदर्श को स्वीकार करके 'वैश्वात्म्यवाद' या 'विश्वाहन्ता' की पुष्टि की है । मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

महाव्याप्ति महानिद्रां न शृणोति न पश्यति ।
सुगन्धं पूतिगन्धं वा कर्पूरश्चन्दनादिषु ॥
न गन्धं वेत्ति तत्त्वज्ञो महाव्याप्तिरियं प्रिये ।
अतीतानागतञ्चैव तस्मिन् कालस्यवञ्चनम् ।
कर्ता हर्ता भवेद्देवि यदुक्तो वीरमातरे ।
अधोर्द्धर्वे रमते हंसो द्वादशान्ते लयं पुनः ॥[२]

— ❖ —

१. कौलज्ञाननिर्णय (प० तृतीय)
२. कौलज्ञाननिर्णय (१७।१६-१८)

चतुर्थाश्रमिणां देवि मोक्षदात्वं सदा कथं ।
कुलभाव विरोधि त्वात् संशयं मनदूरय ॥

देव्युवाच ॥

मोक्षद्वारस्तु वहुधा यद्यस्ति कुलभैरव ।
केवलं कुलयोगेन प्रसीदामि न संशयः ॥

चतुर्थाश्रमिणां देव अवधूत श्रमो महान् ।
तत्राहं कुल योगेन प्रसन्नामोक्षदायिणी ॥

यदि न स्यास्तथा वत्स शृणु तत् कथयामि ते ।
ज्ञानाभावे समुत्पन्ने सम्प्राथ्य निजकौलिकीं ॥

तस्मान्नयामि मुक्तिः स्यात् तां संपूज्य कुलान्तरे ।
कुण्डली शक्ति विवरे तदा योग्यं समभ्यसेत् ॥

निर्द्वन्द्वो निरहंकारः शुद्धनाडी गणोव्रती ।
मृद्वासने समासीनः खगसंयमने रतः ॥

मेलुदण्ड वहिः पार्श्वे चन्द्रसूर्यात्मिके शिव ।

२३ब)

मध्ये सुषुम्ना सन्दिष्टा तन्मध्ये चित्ररूपिणी ।
ते नैव ग्रथितं पद्मं मूलादि पद्मपंचकं ॥

कालिकाकालरूपेण डाकिन्याद्यवलम्बितं ।
मूलद्वारं समाच्छाद्य स्थिता सा नागरूपिणी ॥

वायुनाभिद्य तद्वक्रं दृढविद्रावयेत् ततः ।
तच्छ्वासो ज्वरकामस्य शिखायाति समुज्वला ॥

प्रतिचक्रं प्रबुद्धासौ जीवात्मानं परे कुले ।
नियोजयति तद्योगाद्यात्येय ममृतं चिरं ॥

व्योमप्रोद्भिद्य नासान्तं गतौ चन्द्रदिवाकरौ ।
अधोवक्रं महापद्मं क्रोडीकृत्य सुषुम्नया ॥

व्याघ्रुष्ठानासिका मध्यं गता चित्रान्तसङ्गता ।
ऊर्द्ध्वं भित्वा तु लिङ्गम्वै इतरं पुष्करन्ततः ॥

वहिरत्न मनो कांखिनी * * मोक्षदायिनी ।
जीवना दृष्टसंरुद्धा स्थिता सा पुरसन्निधौ ॥

एतद् भेदं विजानाति भित्वा याति परं पदं ।
अदृष्ट धातु जीवासौ वहिर्याति दिने दिने ॥

दिनशाङ्गुलि मानेन तदर्द्धञ्चोपरासतः ।
द्विगुणं रतिकालस्यान्त्रिगुणं भोजनाद् वहि ॥

अर्द्ध ऊर्द्ध्वं वहेद् देविस्त्रिदिनं यदि भैरवः ।
नूनम्वा तदधः प्राणः शरीरं परिमुञ्चति ॥

शरीरसमतां नीत्वा नूनम्वा वहुकेश्वर ।
कुम्भयित्वा अधो वायुं कुण्डलीमुखवर्न्मनि ॥

योजयित्वा ततो जीवं नीत्वानादावसानकं ।

गमागमं कारयित्वा सिवो? भवति मानवः ॥

पीयते खाद्यते यत् तत् तत्सर्वं कुण्डली मुखे ।
हुत्वा सिद्धिमवाप्नोति न स वन्धेन वध्यते ॥

भित्वाकार्या न च स्वार्थं कुण्डलीन्याः कृते पुनः ।

२४अ)

रे मातर्देहि मे भिक्षां कुण्डलीं तर्पयाम्यहं ।
अवधूताश्रमे स्थित्वा भैरवानन्द तत्परः ॥

भैरवोहं न चान्यस्मिन् न देवो मत्परः क्वचित् ।
मन्त्र तन्त्रार्जनं सर्वं मयिजातं न चान्यथा ॥

शिवोहं भैरवानन्दो मत्तोहं कुलनायकः ।
रक्तचन्दन दिग्धाङ्गो रक्तकौपीनभूषितः ॥

रक्तमाल्याम्वरधरो हेतु युक्तः सदा भवेत् ।
एवं भिक्षां प्रजन् भिक्षुर्भैरवाचार तत्परः ॥

ओं नमः शिवशक्तये ॥

व्योमातीतं परं शान्तं शिवेन शक्ति शाम्भवं ।

भावाभावविनिर्मुक्तं शिवशक्तिं नमाम्यहं ॥

ओं नमोस्तु ते महामाय ॥ इति सूत्रार्थं वक्तव्यं ॥ ओंकारस्य प्रथमाह ॥

अकार ऊकार मकार ध्वनि भेदेन ॥ ओंकारोच्यते ॥ अकारो ब्रह्मा ऊकारो विष्णु

मकारो महेश्वरः ॥ तस्मादोंकारमुच्यते ॥ त्रिभुवनव्यापकत्वेन

भूर्भुवस्वर्चिति सत्वे रजस्तमादीनां देवदानव मानवेति लोकाव्यक्तं ॥

अकारश्च उकारश्च मकारश्चा अकार मकाराः ॥ मकारो बिन्दुरेव च ॥

अकारोकारयोगेन । कारन्ते भन्यते ॥ मकारं बिन्दुयोगेन शिवबीज महोच्यते ॥

तस्मादोंकारपौर्वेशं ।

पू। १अ)

मन्त्रपुरः प्रकीर्तीति ॥ अन्याह ॥

अर्द्धचन्द्रं निरोधी च नादो नादान्तमेव च।
शक्तिश्च व्यापिनी चैव समना उन्मनास्तथा ॥

समनान्तं पाशजालं च उन्मनान्तं परे शिवं।
तेन विश्वप्रकास्यन्ते परमात्पत्तिरेव च ॥

अर्द्धचन्द्रेति ॥

अमृतबिन्दु शिवस्वरूपेन विश्वजीवनाकारत्वेनार्द्धचन्द्रं ॥ तस्मात्
षोडशकलांकैव निष्यतास्मिन् ॥ कथं षोडश कला। प्रतिपदादि
पौर्णमास्यन्तं।

बीजमहाग्निरापश्च वायुः पृथ्वीविनाशकं।
शक्तिकारो जीव चैव पतन्गो परमत्माकः ॥

गिरीनन्दो दिशः पंच शुर्द्धकः सर्वव्यापकाः।

तेनार्द्धचन्द्रमित्युक्तं शिवोर्द्धषु व्यवस्थितं ॥

निरोधाह ॥

१ब)

निगतरोधी यत्र निरोधी ॥ आकाशभूतव्यापकत्वं । निरोधी बन्धः ॥ जाग्रतः
स्वप्नसुषुप्तेति ॥ नादाह ॥ नादोध्वनिर्विशेषः ॥ अव्यक्ताव्यक्तश्चेति । अव्यक्तं
शिवं व्यक्तः शक्तिः ॥ देवादीनां वाणी स्वरूपं नादं ॥ नादो व्यापकः
पातालादि शिवान्तो विश्वरूपं ॥ त्रिरात्मको नादः । शुर्द्धसालंगसंकीर्णः ।
शुर्द्धसंचरे ॥ सालगकः शक्तिः ॥ द्वयोस्समरसी भावः संकीर्णोच्यते ॥
शुर्द्धः पंचः नादाः ॥ यथादीपकाशुर्द्धनादं स्याद्भैरावः
ल्योहिताडिकः ॥

गान्धारो पंचमंत्राहुः शुर्द्धनादो विधीयते ॥

एता परासालंगाः ॥ शुद्धसारंगमिलितो सकीर्णा तस्मात् नादोच्यते ॥
षट्विधानादेन तत्व स्वरूपामत्याहुः ॥

२अ)

यथा ॥

दीपकादि तथा रागः सर्वरागे प्रदोदिते ।
तस्माद्दीपकनामानि माधवः परिगीयते ॥

नादान्ताहं ॥

नादान्तो मन्त्र विशेष गायत्र्याद्या मन्त्रलयान्तपर्यन्तः ॥ नादान्ते सर्व मन्त्रस्य कार्य त्वात् ॥ नमः स्वधा स्वाहा वषट् वौषट् फट् ठेत्यादयो नादान्तेषु कार्य कारणीयमिति ॥ शक्त्येति ॥

इच्छा क्रिया ज्ञानाधारादयो व्यापकत्वात् ॥ इति शक्तिः ॥

शकृत्वेति शक्तिः ॥ तथाचोत्तरे ॥ ज्योतिर्मयी जयकरी जगदाता शक्ती कुम्भादि योगयुगवर्तजनान्त चोधी । जन्मादि दुःखभवसागर तारणेशी वामेशी वामकुलमार्गकरा जयन्ती ॥

तथा हि ॥

चन्द्रकलानन्तु षडध्व मध्ये ॥ तत्र स्थिता निर्मल नित्यरूपी निरंशः

शक्त्यशः शिवांगवत्ती श्रीदर्शनार्था प्रणमामि नित्यं । षट्चक्रे

सम्वरान्गे वरगुण धवले ज्योतिरूपे निरंशे । सर्वज्ञ ज्ञानपद्मे

वरदभयहरे चिर्तबोधेदु मध्ये । तस्मिन्नेवस्थितेशी परम परमशिवा

निर्मलानन्तशक्ती वन्दनां सिद्धिनाथी परमसुखकरी निर्जिता शेषशक्तीं ॥

एवा शक्तिः ॥ व्यापिनीमिति ॥ व्यापिनीम्मध्यरापि शिवान्ते व्यापिनीं ॥

शिवान्तेशी

शिवाख्या ॥ सर्वात्मा सर्वगप्रभुः ।

विश्वकर्ता च हर्ता च शिवान्ते परिवर्तिनीं ।

सा व्यापिनीं । समनेति ॥ समना शिवशक्तिः समरसी भावं ॥

३अ)

मनेशब्धि(?) विधः प्रोक्तं शुद्धश्चाशुद्धमेव च ।

अशुर्द्धः कामव्यापारः शुद्धः कामविवर्जिता ॥

सासना उन्मनाह ॥

भावाभावविनिर्मुक्ता उन्मना स्थुलशूक्ष्मव्यापकत्वेन सहजा नन्दः
उन्मना ॥ बोधानन्दममयो भाव मनस्तामसी शक्तिकालविनिर्मुक्ता सोन्मना
उच्यते कुलं ॥ सा उन्मना समनान्तेति। समनसा अन्तो यत्र समनान्तेः ॥
शिवदृष्टः स्वाधिकार सुरोपमः ॥

व्योमव्यापपरोभूतः समनान्तोच्यते ऋषिः।

ससमनान्तः ॥ पाशजालेति पाशस्य जालोपाशजालः ॥

पाशो द्विधा पापपुण्यैति पाशो पुण्यैजाला पाप पाशजाल शिवया च पार्श्वे
वर्तते भूतजन्तवः।

३ब्)

दृष्ट्वादृष्ट न लभ्यते। पाशजालमथोच्यते ॥ स पाशजालः ॥ उन्मनान्तेति ॥
उन्मनान्यंतः। उन्मनान्तः।

आनन्द परमानन्दः सहजानन्दमेव च।
तुर्यकतुर्ययातीत उन्मन्यन्तमथा ब्रवीत् ॥

सोन्मन्यन्तः ॥ परेति ॥ परस्वरूपं ॥ क्षित्यादि तत्वरूपो भवंति परमतः
शुद्ध ज्ञानात् प्रदिष्टं संसारस्यान्तकाले परमरपदं पाशयुक्तं
पशुं च शुद्धं शुद्धात्म भावं अकुलकुलगतं ब्रह्मदेवादि लीनं
नाथो वामेश्वरेशो जयति परमुदं नित्यरूपो निरंशः ॥ स परस्वरूपं ॥
शिव इति ॥ शान्तो नित्यं निरंशो ज्योति सर्वयुतादि युक्तं ॥ निष्कलो विश्वव्याप्या
च पर शिव उच्यते ॥ तथा चोत्तरे ॥

४अ)

पौर्णेशो यस्य चितः ॥ शिरसि विनि भवेन् नाथ शिर्षा शिखा च सिद्धशो यस्य
वत्मानयन शशिकरौ अस्त्र श्रीभैरवाद्या ॥ सोयं श्रीकुक्षिवासो
परमपरमशिवानाथ वर्गेन मन्त्रा ओंकारे एष रूपाः हसखपहपरा
नित्यदर्शो जयन्ति ॥ शिवे स्वरूपेन विसर्गान्त त्वात् रेफशक्तिरुच्यते ॥
तस्माच्छ्रीमता पराशक्ति शिवौ द्वौ व्यापकाः ॥ तथा चोत्तर शंकेतके ।
शक्तिमुद्धिनविवर्तन्तेति ॥ तस्माच्छिवः । शब्देन पराशक्ति प्रधानमिति
नमोस्तुते ॥ नमोस्तुते ॥ नमस्कारं करोमि ॥ कस्यै महामायै ॥ इति ॥
चतुरक्षरपूर्वकं चन्द्रविधिमिति ॥

४ब)

महामाया चतुरक्षरेण जगती व्याप्ती ॥ शूक्ष्मभावेन वायुरूपेन व्यवस्थिता

। सोपि न दृष्टि गोचरे अद्वयभावेन गोप्यस्था नाभ्यंतरे व्यवस्थितमिति।
स्थूलभावेन चतुरक्षरं ॥ यरलव इच्छा ज्ञान क्रिया व्यापिनी शक्तिः॥
पृथ्वी आपतेजवायुः मिलित्याकाशं ॥ गन्धः स्पर्शः रूपः शब्दः ॥ विजयति
काल विद्या माया वाक् पादपाणि वायुपस्थ ॥ नादबिन्दु शिवः शक्तिः।
ऋग्ययुः साम अथर्वः ॥ सद्य वामाघोरे तत्युषः ॥ ब्रह्मा विष्णुः रुद्रः
सदाशिवः ॥ सित रक्त पीत कृष्णः ॥ ब्रह्म क्षत्रि वैश्य शूद्रः ॥ पूर्व
दक्षिण पश्चिम उत्तरः ॥

५अ)

कृत त्रेताद्वापर कलिशान्तिक पौष्टिक वश्य अभिचारः ॥ रेचक पूरक
कुम्भक शाम्यः हृत्कण्ठ नाभि उपस्थः ॥

भूर्भुवः स्वः स्वाहा पौर्णे निशा कुजा काली ॥ महामाया ॥ आम्नाये चतुराह ॥
माहामाया चतुराक्षरेण सापूर्णे शानन्दा वरदामकाराः ॥
माहारारूपानिशि दक्षिणेशी ॥ माकार वर्गेः ॥ सुकृते कमार्गं ॥ या
सौम्यदिग्देवरमोक्षहाता ॥ पुनरपि द्विविधः ॥ माहा च मास्मा च
माहामाया ॥ शिवः शक्तिः ॥ संहारसृष्टि सूर्यश्चन्द्ररग्नि वायुः शुक्लः
कृष्णः ॥

५ब्)

शुक्लरक्त ॥ रात्रि दिनः ॥ अधः ॥ ऊर्द्धः हंसः ऊर्द्धश्वासः ॥ नमः ॥
उन्मनः मेरुः मन्दरः आलिः कालिः मांसः रक्तः आकाशः पृथ्वीः लिंगः
वैदिका भैरवः पीठिः ब्रह्मरन्ध्रः उपस्थाः भूत ॥ भविष्यः ॥ क्रूरः
सौम्यः वामः । दक्षिणः ॥ गंगा यमुना उत्तरायणः ॥ दक्षिणायणः
प्रकृतिः ॥ पुरुष ॥ बौध्यराहः प्रज्ञा । उपायः सौम्यताः अरुणा । आदि अन्तः
एतत् स महामाया देव्याः अती च सा माहामाया ॥ अतीव मायोपमा
संसारसत्वस्यं कथं ॥ आदौ तावद् वीजानि भवन्ति ॥ शून्यता ज्ञानगर्भा
निर्बीजे शिवः

६अ)

शक्तिः समरसी भावेन बीजानि जायन्ते ॥ बीजः षष्टविधिः ॥ तस्मान् मातृपक्ष
पितृपक्षं च षष्टविधः ॥ दृश्यन्ते यथा ॥ अस्थि असृक् शुक्रः
पितृपक्षः ॥ मांशः ॥ शोनितः चर्ममातृपक्षः । ध्वलोतो ॥

मातृपक्षः पितृपक्षः तयोः समरसेन बीजपिण्डं भविष्यति ॥
दशमासं च संयोगेन वद्धयति ॥ तृतीयमासे घनेना भवति ।
चतुर्मासेनान्कुरो भवति ॥ पंचमासेनास्थि चम्माश प्रत्यन्गो मुखनासिका
जायन्ते ॥ षष्टमासेन चेतनावन्तो भवति ॥ ततः पद्मा सप्तति सहस्र नाडी सुतो

भवति ॥ एते नाड्यां प्रधान त्रिनाडी भवति । तथा ॥

६ब्)

इडा पिंगला सुषुम्ना ॥ इडावहति वामे पिंगला वहति दक्षिणे सुषुम्ना वहति मध्ये ॥ रक्त मूत्र शुक्र ॥ रक्तेन स्त्री शुक्रेन पुरुषः ॥ तयोः समरसेण क्लीवः ॥ तस्मात् नाडी ज्ञात्वा स्त्रीपुरुषयोः ॥ यत् स्वच्छया जायते ॥ एतयोः ॥ त्रयो
नाडी समरस भावेन एकनाडी भूत्वा ब्रह्मरन्ध्रे निपाता सा माहामाया देव्याः ॥ ब्रह्मरन्ध्रे प्रसार्याणेक पृथक् पृथक् शिरः क्रोडे करतले ग्रीवे पार्श्वे हृदय नाभौ उरु जानु पादतले पुनरपि नाभौ सर्वसं श्रीलिनो भवति ॥ पश्चात् स्वासरूपेण हंसः ॥ चारेण ऊद्ध्र्वगामि भवति ॥

७अ)

त्रिनाडी रूपेण अधोचारं भवति ॥ वामे स्त्रीनाडी रजवहा ॥ दक्षिणे सून्यनाडी सूवब्रहामध्ये ॥ खगमुखे पुरुषनाडी शुक्रे वहा स्त्रीपुरुष समरसे नास्थि भवति । तदनन्तरे चेतना भवति ॥ पश्चात् सर्वजाति स्मरत्वं भवति ॥ परे जाता भवति ॥ योनि यन्त्रं पीडा वेदना भवति पश्चात् स्मृति भ्रंसो भवति ॥ पश्चाद् वालावस्था भवति ॥ कुमारावस्था भवति ॥ यौवनावस्था भवति ॥ तस्मात् महामाया ॥ तदनन्तरे मरणावस्था ॥ निर्वाणमार्ग द्वय विधः ॥

द्वयविधश्च कथश्चेति ॥ पुनजन्मा न पुनर्जन्मान्विविधः ॥ सद्गुरु
पादप्रसादेन जानन्ति ॥ द्वादशान्त षोडशान्त भेदेन ॥

७ब)

द्वादशान्ते चन्द्रः ॥ षोदशान्ते सूर्यः ॥ द्वादश चन्द्रान्ताह
वरणावन्गुष्टौ विन्द्वन्तं पत्रयोगवित् ॥ चन्द्रयोगमिति ॥ क्रूर च कोरेक
स्मृतः ॥ इति द्वादशान्तं ॥ पुन षोडदशान्ताह ॥ विन्दोरुद्वन्तथाशीर्षं
ब्रह्मविष्णुशिवोपरि चतुरन्गुली तदूद्र्ध्वं शक्तिकोष्टप्रकीर्तिता ॥ चतुरंगुल्य
भ्यन्तरे वह्निमण्डल मनु प्रविशति ॥ पुनर्जन्मा भवति ॥
सूर्यमण्डलनुप्रविशति न पुनर्जन्मा भवति ॥ षोडशान्ते त्रिकोण कृते
वामकोणे चन्द्रः ॥ दक्षकोणे वह्निः ॥ मध्ये कोणे सूर्यः ॥ शंखिनी
द्वारभेदेन त्रयमण्डल समरसेन लीयते ॥ तेन पुनर्जन्मा इष्ट गति प्राप्यते ॥
सा एव महामाया ॥ वेदव्याकरणादि

८अ)

अनेक शास्त्रच्छन्द शतपथ निरुक्त ज्योतिषशिख्य कल्पसूत्रः पंचरात्रस्वैव
चाहन्ते शीक्षः पातञ्जल मीमांसकः षट् दर्शन ब्राह्मण
चार्वाकशेववैष्णव क्षपनकः वौद्ध एते षट् दर्शनाः ॥ षण्णवति
पाषण्डो अष्टादश महाव्रताः ॥ शुद्धः शालन्गाः संकीर्णः ।

चतुर्विधचाद्य ॥ घनसुखिर ततः आनर्द्धः ॥ चतुर्विधा वक्तव्यं ।
वैनादिकं तन्तु आनद्धं मुरजादिकं घनं कांस्य नालादिकं सुखिलं
वंशादिकं ॥ तन्तु नृत्यं नवविधं ॥ आनद्धं मरुजादिकं घनं
कांस्य तालादिकं सुखिलं तं सादिकं ॥ नृत्यं नवविधं शृन्गारं
हास्यकरुणं रौद्रं वीरं भयानकं

८ब्)

वीभत्सं अद्भुतं शान्तं ॥ अनेक ग्रन्थादि एवं व्यवस्थिताः ॥ षोडशस्वराः
॥ त्रय त्रिंशद्यंजनानि ॥ एते उनपंचशादक्षरा व्याप्ता सा महामाया ॥
पंचाशदक्षरः क्षकारान्तं पंचाशदराः पौर्णः ॥ महामाया
प्रणम्य वंकषसंयोगेक्ष ॥ अयि तु विसर्ग हेत्वा भावादिति सा महामाया ॥
प्रधान स्वरूपाः ॥ यतः ॥ उत्पर्तिः स्थितिः प्रलयः । जगतां सर्व चतुर्विधा
भूतग्रामाः ॥ जरायुजाः ॥ स्वेदजा ॥ अण्डजाः ॥ एते यन्तवः
सर्वत्रैलोक्यश्चतुर्दश भुवनः व्यापका सा महामाया ॥ चतुर्दशभुवनः
॥ भूल्लोकः भुवं लोकः महल्लोकः । जमल्लोकः तपल्लोकः ॥ स्वल्लोक सत्यलोकः
॥

९अ)

सुतलः । नितलः ॥ उतलः ॥ तलातल ॥ रसातलः पातलः ॥

एते चतुर्दश भुवन व्याप्ता महामाया सा नमोस्तुते नमस्करं

दशकरशाखा मौलिकृतमेव नितलेलीनकृते नमस्कारंः ॥

शूक्ष्मदेहपरापरे ॥ शूक्ष्मनिरञ्जनस्य दृष्ट्य गोचरः ॥ परापरे मन

उन्म द्वयोः ॥ समरसी भूतं स्वयं परये नाशायती सा परापरं

परस्वयाः ॥ तथा ॥ अमावास्या । या सिंहोदशेवाश्वरं परमुखा नाना

ननातिर्य कापाणौ वार्तिकपाल पौर्ण त्रिशूला मन्येन शस्त्राधृता ।

युग्वेदाशनिरिन्द्र ब्रह्महरिभिः ॥ रुद्रः सदेशो हकारः

९ब्)

कालान्तो हि शिवासना जयति सा काली लयान्ता शुद्धा शूक्ष्मशूक्ष्मेति उच्यते

शरीरे कथं ॥ रंजिता विविधभावेन शास्त्रं शास्त्रं ह्यनेकधा ॥

नादबिन्दु हकारैश्च शिखाचान्येन रंजिता ॥ रेचके पूरके केचित् ॥ कुम्भके

केचिद्रञ्जिता दशाक्षररता ॥ केचिद् व्यायन्ति तं हं सं शून्यध्यायन्ति ॥ केचित्

॥

पराक्रान्त रता केचित् प्रासाद केचित् द्रञ्जिता ।

वामेश्च दक्षिणे केचिद् विषुके केचिद् रञ्जिता ॥

पंचविशरता केचिद् वालाग्रे केचिद् रञ्जिता।
च्छाया पुरुषे ये केचिद् घोषणे रञ्जिता॥

कण्ठ नादरता केचित् निःशब्दे केचिद् रञ्जिता॥

ऊर्द्धमार्गरता केचित् तालुकण्ठे॥

१०अ)

न रंजिता॥ धर्माधर्मरता केचित् निःश्वासोश्वाशनराधमः॥ हृत्पद्मेषु रता केचिन्नाभि पद्मेररञ्जिता॥ व्याकरणं छन्दगनिते॥ नानाशास्त्रेण रञ्जिता निरुक्ते कल्पसूत्रे च षड्दर्शनमेव च दधी चिवाल्मिके चैव भेदवादश्च संग्रहे॥

वेदव्याकरणश्चैव छन्दः शतपथे तथा।
निरुक्ते ज्योतिषे चैव कल्पसूत्रं तथैव च॥

पंचरात्रं तथा चान्ये वौद्धाराहन्तके तथा।
अन्ये शांख्यश्च योगश्च गारुडे केचिद् रञ्जिता॥

तगीतार्थमन्त्र वादे च अन्ये ग्रन्थावतारणे।
अन्ये चैव तु संज्ञायां अक्षरं रूप मन्त्रिणः॥

अन्ये च ग्रन्थ सञ्चिन्त अक्षरं रूपमन्त्रिणः।
एतस्थुलो महामाया ये मुदा चित्तरञ्जिताः॥

१०ब्)

न तस्य मोक्षमाप्नोति शक्ति भेदविनानराः।
एते स्थुलो महामाया ये मुदा चित्तरञ्जिता॥

न तस्य मोक्षमाप्नोति शक्ति भेद विनानराः।
तस्माच्छक्तिः प्रयत्नेन सा मार्गा सर्वदाभ्यसेत्॥

आकाशस्थापयथा पक्तिः समुक्तो कोन वध्यते।
यासास्तुलुद्धकै वद्ध्वा पतितन्तु क्षिती तले॥

एवं हि वध्यते ह्यात्मा माया जालेन मोहिता।
मायाजाल महापाशः परिवार शिवस्य च॥

इत्थं स्थिते जगति किं कलया युतैर्वा सर्वान् मता मतिमतां कुशलं विध्येया

॥

विद्या कला च सकला सहसंकलर्प्यः स्वी स्वी करोति पुरुषः परिलीयते च भृंगी
स प्रथमं दत्वा लकुलं रेफरासनं।

भेदं षट् स्वर चन्द्रे खं देह वीज महोच्यते॥

११अ)

एकाकिणिविशुद्धात्मा नादाख्ये विन्दुमालिनी॥ इति॥

नादाक्षे नादसंस्थाने त्रिस्थाने कण्ठकुपे हृदि नाभौ। ऋगादि क्रमं॥
मूर्च्छनारेक विशति॥ एतान सप्तक्रमं तेनामूर्च्छणा त्रिस्थानं नाभि
हृदय कण्ठेति॥ सं ऋगक्रमं त्रिस्थाननादं॥ बिन्दुमालिनी द्वादशान्त
पदं चन्द्रसूर्याग्निभिः॥ तेनानुसरनीति बिन्दुमालिनी॥ अमृतधारा इत्युच्यते॥
एककिनी शक्तिर्येन पुरुषेण शक्तिर्विद्धं ज्ञायते॥ पञ्चेन्द्रिय
निगहशक्तिर्यस्यास्तीति तस्य शक्तिबीजं भवति॥ एकाकिनी चायं पित्तितं॥
विशुद्धं यस्य जायते॥ तेन पुरुषेण शक्तिभेदं जानातीति यस्य पुरुषस्य
स्थिरमनो भवतीति।

११ब)

तस्य बिन्दुमालि प्राप्तिः ॥ योगरूपे युक्तः ॥ योगीसस्य वह्नानि। अल्पमूत्र पूरषि मने सोच्य मलोलुत्तं ॥ एष प्रथम चिह्नः ॥ तथा चोत्तरे ॥

एकशक्ति नगाख्यं स्याद् बिन्दु रूपात्मना शुद्धा ॥ नादसर्वात्मना चैव मालिनी विश्वव्यापिनी ॥ इति ॥

अदेहान्ते समुत्पन्ने ॥ अदेहं देहं रहितः ॥ देहस्य अन्ते अदेहं चास्ति ॥ देह अन्ते ऐँकाराकृति त्रिकोणपीठ अदेहं पद्माकृति षट्कोणं चतुष्कोणं सागरं नदीतीरं देवीकोटं त्रिकोणाभ्यन्तरे पद्मे अस्ति सा अदेहा ॥ विज्ञाना ॥ तथा पूर्व अदेह सर्पगो व्याप्ती शिवस्याद्व व्यवस्थिता ॥ नोत्पत्ति च नाशं चाकाशे चव्यवस्थितेति ॥

१२अ)

अचले विश्वधारिणी। चलं न भवतीति अचलः। मणि मन्त्रे ओषधादि चलेन एते विधानेन अचलस्यल पुरुषस्य देहस्थितिर्भवतीति। शरीरनाशकाले वा द्विज्ञानं नाशं न भवतीति ॥ विश्वधारिणी ॥ वहुरूपधारिता तेन विधारिणी ॥ कथं क्षिति जल पवन हुताशन सोमसूर्याकाशः ॥ तस्या रूपः ॥

ब्राह्मणाद्या योगिणी तस्याः॥ रूपत्रयस्त्रिंशति कोटि देवास्तस्या मूर्तिः॥

ओंकारः। नमस्कारः। स्वाहाकारः॥ स्वधाकारः वौषट्कारः। वषट्कारः।

हूँकारः। ऐंकारः॥ एते जाति मन्त्र तस्यैव उत्पत्तिः॥ असितान्गादि

भैरवस्तस्यां मूर्तिः॥ तस्याः स्थानेन उत्पत्तिर्भवति॥ कायवान्मनबुद्धिः

॥ रागद्वेषक्रोधलोभमोहः पैशून्यल्लक्ष्यते जातः॥

१२ब्)

तस्माद् विश्वधारिणीम् इति॥ तथा दक्षिणे॥ अचलासर्वज्ञा॥ नारूपा सर्वदेहान्त

स्थिता। न सौम्यसून्यरूपा हि विश्वधारिणी नित्यता॥

महाकुण्डलनी नित्य॥ कुण्डलाकार नाभिमध्ये व्यवस्थिता सा। नागेन्द्र

कुटिलांकारा गजेन्द्राकार लीलया। नाभि मध्येय कुण्डल्या ऊर्द्धगो

अधगस्तथा। ऊर्द्ध गता ब्रह्मरन्ध्रे चन्द्रसूर्यमध्ये व्याप्तिः॥ अध

गताशक्ति स्थाने प्राप्तिः॥ ऊरु द्वौ। अन्तरे नाडि मध्ये॥ तथा चोत्तरे॥ या

भेद्यः पञ्च ग्रन्थस्याच्छिवोर्द्ध लीयते यया। महाशब्दमितिः क्षान्तं

धार्यतां द्रवनत्रयः॥ वालां सासमल्ककुलो क्लीवं चर्चि विवर्जयेत्।

सखम्विभेदितं तत्र क्रुर खण्डेन्दु मण्डितं। महाकुण्डलनी मन्त्रधारिता

तनुरुत्तमा॥

१३अ)

हंसमध्ये व्यवस्थिता ॥ ऊर्द्धगामीहंसरूपेण व्यवस्थिता। श्वासगतिहं स चारः ॥ एकार्थः ऊर्द्धश्वासः ॥ अधः श्वासः ॥ द्विविधः ॥ ऊर्द्धं श्वासोहंकारः ॥ अधः श्वासः ॥ सः ताराः। तेन हंसोच्यते ॥ अधोगामी शुक्रूपेण जनाभोगं करोति ॥ ऊर्द्धगामी मध्यतामीधे व्यवस्थिता। कुण्डलनीति उच्यते ॥ हंसः सृष्टिसंहारः ॥ शिवः शक्तिः द्वयरूपेणा द्वयाकारः ॥ सा हंसमध्ये व्यवस्थिता ॥ तथा त्रिपूराणवे ॥ अधश्वासस्तथोच्छाश्च मध्यगो मध्यमा भवेत्। शिवः शक्तिः स्वरूपाः सा सृष्टिसंहार कारकाः इति ॥

सोमसूर्याग्नि मध्यस्थे व्योमव्यापी परापरे ॥

१३ब)

सोमसूर्याग्नि तत्मव्यवस्थिता ॥ इडापिंगलासुषुम्ना च सोमसूर्याग्निभिः आपस्थाने अग्निः अग्निस्थान मध्य वायुः एत मध्यगता सोमसूर्याग्नि मध्य गता ॥

व्योमव्यापी परपिरेति ॥ ऊद्ध्र्वगामीश्वासः ॥ ब्रह्मरन्ध्रे द्वादशान्तः षोडश्वान्त स्थाने स्थितश्चन्द्रमा सूर्याग्निः समरसी भूते लीयते व्योमव्यापी

॥ परापरे ऊर्द्धाचारे च तन्मध्ये चारे शून्ये लीनोन्मना रूपेन व्यवस्थिता सा
परापर शूक्ष्मरूपेण मध्यगाः अ अधःश्वासेन कारित प्रभु
शुद्धशान्तसिर्वाद्धिस्वरामग्नौ भानुसुसंयुतं नभससिमन्त्रे ख
चन्द्राग्नि भानु। ज्ञास्वातं तनु मध्यगेर्हृदि परे नाभौ प्रध्यानं
त्रिधा मूर्तै

१४अ)

वचनज्ञायतमिति। मन्त्रां नित्याह्वि संध्यायतां॥ तथा चोत्तर॥
नाभाशान्त पराशक्ति नामावास्या पर शिवः द्वयोर्मन्त्र परो मान्ये भुक्ति
मुक्ति वर प्रदा॥

ओंकारविग्रहावस्थे॥ ओंकारस्त्रिदेवता। ओ ब्रह्मा नादो विष्णुः
बिन्दुर्महेश्वरः शिवश्च॥ उकारः शक्तिः अकारः शिवस्त्रयो तपि समरसी
भूतेन। ओंकारः सा माहामाया॥ ओंकार विग्रहः कुटिलाका। ऊर्द्धचारः।
अधचारः। तथा च भैरव तन्त्रे॥

ओंकार परमो मन्त्रंः शिवबीज मथोच्यते।
ओंकारं विश्वभूतञ्च व्यापका प्रभु सर्वगाः॥

हकाराद्धार्द्ध धरिणी ॥ हकारः ॥ अर्द्धधारिणी ॥ तिहकाराद्धः ॥

बिन्दुभूतं हकार्द्धः ।

१४ब्)

अर्द्ध चन्द्रयोन्याकारमिति उच्यते ॥ हकारार्द्ध ठकारार्द्ध पदं ॥ निरक्षर

पदमिति उच्यते ॥ कथं निरक्षर पदं वाक्पथातीत्य गोचर । चक्षुरग्रेन

पश्यन्ति मोहिता नैव बुद्धयति निर्विकल्पं विकल्पं णान्ति । निर्मलं मालिनेति च ।

चिन्तन्ति च न चिनन्ति पूजयन्ति न पश्यन्ति ।

आत्मस्थं येन पश्यति भ्रमितं निश्चलमपि ॥

ध्यायमानो न पश्यन्ति बुद्धयमानो न बुध्येति ।

अनुमानो उप्रमानञ्च अप्रमेये मनोपमः ॥

अस्थानं स्थालकल्पन्ति सुशुर्द्ध सोधयेन्ति च ।

अक्रिया क्रिया कुर्वन्ति अद्वैतं द्वैतयन्ति च ॥

अचारंचार कुर्वन्ति अभावं भावयन्ति च ।

अगमागम कल्पन्ति अमनागन वर्जितं ॥

१५अ)

अभेदं भेदकल्पन्ति अग्र पार्श्वे विवर्जितं।
सर्वगा एकध्याये च अग्रस्थं दूरे तं विशेत्॥

विकाररूपसाध्यन्ति निर्विकारं परापरं।
शब्दाशब्दञ्च साध्यन्ति शद्बाशद्बं विवर्जितं॥

कथ्यमानो न बुधान्ति यत् पक्षञ्च न दृश्यते।
पठन्तेनोपरस्यन्ति मूकान्धवधिरा यथा॥

पत्यक्षञ्च न कल्पन्ति शृण्वमानो न बुध्यति।
अहो मोहन मुञ्चन्ति सुधाशात्रेण बन्धने॥

कोपकार क्रिमिर्यद्बद्बन्धण न मोक्षणः।
पिता हितेन जानन्ति उन्मर्त्तमिव चेष्टिता॥

स्वयं पतनमिच्छन्ति पतंग इव पावकं।
कुतो मोक्ष भवेत् तेषां विषया शक्त चेतसां॥

लुद्धकं च रसा तत्र अन्तकारेन बुध्यति।

१५ब्)

परे द्रव्यापिका किञ्चित् हीयमानों मतिर्यथा॥

मृत्युकाले विषादोस्ति अन्तकाले विषोपमं।
यथातीते सुहृदे च हरणीतंज्ञता मनो॥

हतो वेदनमोपन्नस्तथा विषयमागता।
वंद्यमानः सुहृद्या च सेव्यमान सुखावहा॥

किञ्चित् स्वादोपलुद्वार्ता मिच्छन्ति करणी यथा।
गर्वितः स्वात्म गर्वीतः स्वविकल्पाथ हेतुना॥

शब्दशास्त्रेण किं कार्यं वृहस्पति सगर्वगः।
शब्दशास्त्र क्षयं यान्ति निरक्षर सदाभ्यसेत्॥

अवर्णेन सदाचारं शब्दलक्षविवर्जितं।

अवर्ण सर्वगस्थानं गुणातीतमगोचरं ॥

अकथ्यं भावनिर्मुक्तं प्रयोगेण तु दुर्लभं ।
दूरस्था ज्ञान लोकस्य देहमध्ये व्यवस्थिता ॥

धर्माधर्मविनिर्मुक्तं सुखसंघसनातनं ।

१६अ)

देवसुरमनुख्यानां देहभ्यन्तर संस्थिता ।
दुर्विज्ञेयन्तु तत् तेषां भेदाद्या स्वल्प बुद्धिना ॥

किं करोति च शास्त्रेषु प्रत्यक्षं जंगपालका ।
निर्मिता देवमानुष्यं मुनिभिर्यक्षराक्षसैः ॥

तेपि सर्वपसुम्मुक्ता ब्रह्माद्याः शास्त्रचिन्तकाः ।
तेन कारणमाकोता सर्वदा अक्षवाक्यता ॥

तेन कारणेन अक्षर पदं ध्यात्वा ।
लक्ष्मीकण्ठ महासेन शिखीसंसिहिमासनं ॥

द्वादशेन च संभिन्नं क्रुरं खण्डेन्दु संजुसंयुतं।
चित्तधारणी बीजं॥ तथा चोत्तरे॥

ब्रह्मादिक्षरे यान्ति अनक्षर परः शिवं।
मुक्तिवासः परो देवो महामाया महेश्वरी॥

इति॥

वालाग्र शतधाशूक्ष्मे अनन्त्रे चाक्षये व्यये।

१६ब)

वालः केशः वालाग्र शतधामपिः॥ अनन्तः प्रमाणं नास्ति अप्रमेयं॥
शूक्ष्मं न दृष्ट शतधा वालाग्रवत॥ अनन्ते चाक्षयेव्यये॥ सतः
सहस्त्रः॥ जातामृत्येपि क्षयं नास्ति॥ तथा चोत्तरे॥ सर्वज्ञमादि गुणचक्रः
कुलविवर्ता ध्यानेन लक्ष परमात्म गुणेन योगी॥ वामकुलाकुलगता पर
शून्य भाव भासां नमामि सुखदावरश्रेयदातां॥

हकारार्द्ध कलाधारे॥

१७अ)

पद्म किंजल्पमाश्रिते ॥ किंजल्क आधारं पद्माकारं गुह्यपद्मगोप्य स्थाने व्यवस्थिता त्रयः पद्म शक्तिमाश्रिता । त्रिकोणः पद्मः ॥ उत्पत्ति ॥ नाश स्थानं ॥

स परो भृगुरेफेन कुटं विधू नभस्तथा ।
चतुर्द्दशस्वरं भित्वा आभृता बीज वाच्यते ॥

तनुरक्षा वीजका ज्ञान ॥ तथा निशायां दक्षिणे ॥

पद्माश्रिता महादेव्या स्थितिरुत्पर्ति संहरा ॥

वाममार्गे व्यवस्था ॥ सा महामाया मनोरमा ॥ इति ॥

सकलाढ्य महामाये वरदे लोकपूजिने ।

लोकपूजयतीति लोकपूजिता ॥ महामाया देव्याविना । लोकाः ॥ उत्पत्ति स्थिति प्रलयो

नास्थि ॥ तेन कालणेन लोक पूजिता ॥ इति सा ॥

१७ब्)

सकलाख्य कला सहितेति इत्यर्थः कला अष्टत्रिंशति कला ॥ माहामाये मया अतीव
मायोपमा सर्वयन्त्र शास्त्रे जाते तत स्थाने सा माहामाया ॥ वरदे लोकस्य इष्ट फलदा । तथा च पूर्वकलरूपा महामाया वरदा स्वाभय प्रदा ॥ शक्ति स्वरूपता सर्वजयन्ति परमा परेति ॥ स्त्री मुद्रा न करध्वजस्य जननी सर्वार्ति शान्ति प्रदा ॥ ये मूढा अवधारन्ति कुधियो म्लेच्छा फला काक्षिणस्ते तेनापि निहत्य निर्द्धय दयानग्नी कृता मुण्डिता केचित् पञ्चशिखी कृता जटिलिनः कापालिकाश्चापरे ॥

एकैक नाडी मध्यस्थे मर्म्मेकैक भेदिनी ।

एकैक नाडी सुषुम्ना भस्मभेदेन द्वा सप्तति सहस्रनाडी दृश्यते ॥ *?
एकनाडी रूपेन व्यवस्थिता सा सुषुम्ना द्वा सस्तति सहस्र नाडी मर्मभेदेन सुषुम्ना रूपेण देह वहति ॥ मर्म अष्टत्रिंशति । तस्य भेदायुः ॥ मर्म भेदेन न मरणं नास्ति यत्कालमायुतो भवतिः ॥ तस्मात् मर्म्मेकैक भेदिनी स्वरूपया ॥ तथा दक्षिणे ॥ नाड्या यौर्णशुभाकारो देवका योगज्ञानदा ॥

शक्तिरूपा भ्रमान्ते तामेकानेक स्वरूपेकेति ॥

अष्टत्रिंशत्कले देवि भेदिनी ब्रह्मरन्धके।

अष्टत्रिंशत् कलास्वरूपामिश ॥ नादि पञ्चवक्रे व्यापका देव्या सा महामाया
स्वामोह ॥ यथा अष्टत्रिंशत् कला ॥

श्वशिनीमन्गदारिष्टा मरीचि ज्वालिनी तथा।
प्रवित्तिश्च प्रतिष्टेति वेद्यावेदाश्च विस्तराः ॥

१८अ)

तमा मोहाक्षयो निद्रा व्याधिमृत्युक्षुधास्तृषा।
रजोरक्तारति पाल्या कामसंयमनी क्रिया ॥

वृद्धिकार्या च रात्री च भ्रमनी भ्रामनी ज्वरा।
सिद्धि ऋद्धि द्युतिल्लक्ष्मी मेधाः कास्थि प्रजा स्वधा ॥

अष्टत्रिंशत् कलारेते भेदिनी सर्वजन्तुषु।

तथाश्वशिनीश्वासः ॥ अन्गदाः शरीरः ॥ इष्टा चित्तविकारः ॥ मरीचि राश्मै ॥
ज्वलिनी शिखा ज्योतिः ॥ निवृत्तिः ॥ निविकारः ॥ प्रतिष्टेति ॥ प्रतिस्था प्रसिद्धिः
विद्या
अनेका आगम ॥

वेदान्यन्गानि चत्वारि मीमास न्याय विसुरो ।
पुराणं धर्म शास्त्रं च विद्या चैव चतुर्दशः ॥

क्रिया स्वर्गं च मोक्षञ्च सिद्धि ऋद्धिश्च ज्ञानभाक् ।

आगमा परमुच्यते ॥

१९अ)

लक्षं शब्दास्य शास्त्रस्य चतुल्लक्षं तु ज्योतिषाः विद्या एते ॥ शान्ति
प्रशमनं ॥ स्तमः ॥ कालपुरुषः ॥ मोहः पञ्चेन्द्रिये ॥ क्षयो नाशः ॥ निद्रा
॥ अशुभः ॥ व्याधिः ॥ रोगः ॥ मृत्युः ॥ मरण ॥ क्षुधा ॥ वुभुक्ता ॥
प्रसिद्धः ॥ स्तृषा ॥ पिपाशा ॥ रज ॥ पुष्प मासिका ॥ रक्ष ॥ प्रसिद्धः ॥ रति ॥
मैथुनं ॥ पाल्या ॥ पोषकः ॥ कामा ॥ कार्यविशेषा ॥ स्त्री च । भिगमश्च ॥
संजमनी ॥ क्षमा ॥ क्रिया ॥ कर्तव्यः ॥ वृद्धः । वद्धन ॥ कार्याकारकः

विशेषः ॥ रात्री स्थिर निसा भ्रमनी अटनः । भ्रमनी मोहनी उत्सक ॥ ज्वरा ईर्ष्या ॥ सिद्धिः अनिमाद्या क्षुद्रः ऋद्धि ॥ वलं ॥ द्युतिः ॥ प्रसिद्धः ॥ तेजः ॥ लक्ष्मीः ॥ प्रसिद्धः ॥ मेधा बुद्धिः ॥

१९ब)

कान्तिः ॥ तेजः ॥ प्रजाः ॥ उत्पर्ति ॥ स्वधाः संहारः ॥ एते अष्टत्रिंशत् कलाः ॥

एतेन कला भेदेन भेदनी ब्रह्मरन्ध्रगे ॥ एतेन कला भेदेन संहरेत् ॥ कथं भेदे ब्ररन्ध्रात् । ब्रह्मद्वारेण । चन्द्रसूर्याग्निः समरस्य मृतकुण्डलिनी प्रसार्यते नामृतेन सर्वान्ग प्लावयेत् ॥ तेन कारणेन भेदिनी ब्रह्मरन्ध्र उच्यते ॥ पुनरपि अष्टत्रिंशत् कलाह ॥ दशाग्ने कला । सूर्य कलाद्वादश ॥ चन्द्र कला षोडश ॥ पुनरग्नेः कला विशेषोणाह ॥ प्राणः ॥ अपानः ॥ व्यानः ॥ उदानः ॥ समानः ॥ नागः ॥ कुर्मः ॥ कृकरः ॥ देवहत्तः ॥ धनंजयः ॥ शरीरस्था ॥ नोच्यते ॥ हृदि प्राणः ॥ गुडे ॥ अपानः ॥

२०अ)

समानो ॥ नाभिमण्डले ॥ उदानः ॥ कण्ठदेशे तु ॥ व्यान ॥ सर्वशरीरिणां ॥ पुनरपि ॥ नागस्तु हृदये ज्ञेया कूर्मश्चोन्मीलनी स्थिता ॥ कृकरश्चक्षुषी चैव देवदत्ते विजृम्भने ॥ धनञ्जय वायुनां मृतोपि न मुञ्चति ॥

ब्रह्मरन्ध्रे नेत्र द्वयः कर्णद्वयः नासिका वक्तः कण्ठः हृदयः
नाभिः। वस्थिः गुदः॥ एते सूर्यकला॥

रोमत्वक् मांस असृक् मज्जा वसा स्नायुः॥ अस्थि शुक्रः मन बुद्धिः रागः
द्वेषः मोहः क्रोद्धः सोकः एते चन्द्र कला षोडश॥

एते कला व्याप्त शरीराः॥ तेन कारणेन अष्टत्रिंशकला देवी भेदिनी
ब्रह्मरन्ध्रके॥ ब्रह्मरन्ध्र हृदय विधिः॥ सृष्टिसंहारसंहारश्च॥

२०ब्)

तस्य ब्रह्मरन्ध्रस्य भेदेन अजरामरत्वं मोक्षं भवति॥ तेन कारणेन
ब्रहमरंध्राभ्यांसकर्तव्यं॥ योन्याभ्यन्तरे कोणमध्ये अग्नि ज्वलति॥
विधूमशिखा॥ तत्मध्ये जीवपिण्डं वायुः संजरति॥ तेन कारणेन॥
उष्णवायुर्वहति॥ तदा मरणकाले॥ अग्निनाशो भवति तेन वायोः शितलो भवति।
तेन कारणेनाग्नि क्षयं जातं॥ वृद्धिः कर्तव्यं॥ योगाभ्यासेन कर्मयो
नवा॥ अल्पाहारं कुर्यात्॥ अग्नि क्षयेन वातरोगं॥ अग्निवृद्धिना पित्त रोगं॥
उर्द्धब्रह्मरध्रोपरिचन्द्रसूर्याग्निभिः समरशी कृत्वा तेनाभ्यच्छिन्नं
प्लावयेत्॥ अग्निमध्ये जीवपिण्डेश्च॥ चन्द्रसूर्याग्नि समरसी कर्तुं कथं
ज्ञायते॥

२१अ)

वहवः शास्त्रश्रूता वलोकितेन ॥ त्रिभिः समयेन गुरुपारंपर्यविशुधेन ॥
कायवान्मनः ॥ संयमेन प्राप्यते ॥ न शास्त्रे मन्त्र विद्यायाः ॥ कलाकल
विवर्जितः ॥

गुरुपादप्रसादेन कर्ण नैव तु साषितः ।
अग्नेश्च लीयेत भानुद्धामुश्च लीयते शशी ॥

एतत् समरसे नैव व्योमरूपं व्यवस्थिता ।
तत्मध्ये नासृतादिव्यमत्युच्छिन्न तु प्लावयेत् ॥

तेन तेन प्रयोगेन भेदिनी ब्रह्मरन्ध्रके ॥ इति ॥

लाकुलं शिखिदीर्घामिवह्नेर्भानुर्विभेविता ।
चन्द्ररानलघोसी च खण्डेन्दु विन्दु तत्कला ॥

अष्टत्रिंशत्कला बीज संरक्षण तन्त्रः ॥ तथा चोर्त्तर ॥

यथा देवा तथा देवी मर्चने भूत शोधने।
व्यापि शक्तिमित्युक्ता च शुखिरान्ते प्रचिन्तयेत्॥

२१ब्)

भेदिनी ब्रह्मन्ध्रेति॥

विद्युल्लता निभा देवी भुजन्ग कुटिला कृतिः।
विद्युल्लाता आकाश निभा रस्मि तेज इति॥

प्रतीमाकारो नास्थि अनाकारं रूपवर्जितं।
अकथ्यें अभावं वाक्म्य गोचरं॥

तस्याकारोग्रस्था गम सहस्रेण न लभ्यते॥

सद्गुरूपदेशेन ज्ञायते॥ तेन कारणेन विद्युल्लता चोच्यते॥ विद्युन्निभा
विद्युद्वर्णः॥ अज्ञातवर्णः॥ न श्वेतः॥ न रक्तः न पीतः न कृष्णः न
हरितः न हरितः न पद्म वर्णः न च वै चित्रः॥ तच्च विद्युल्ल वर्णः॥
विद्युद्वर्ण लभ्यते॥ भुजन्ग कुटिला कृतिः॥ भुजन्गः। सर्पाः कुटिला
कृतिः। चक्र गतिः॥ भुजवत्॥

२२अ)

कुटिलाकृतिः या देव्याः ॥ कुटिल कुण्डलनी ॥ अमृतकुण्डलणी इत्यर्थः ॥
सप्तनागेन्द्र कुटिला कृतिः कुटिलामपि सुरेखा । ब्रह्मरन्ध्रेन व्यवस्थिता ॥
हृदयं मध्ये कुण्डलनी ॥ नादशक्तिः स लीयते स्थावरजन्गम
त्रैलोक्यश्चतुर्दश भुवनः ॥ स चराचर देह मध्ये व्यवस्थिताः ॥ सा
महामाया देवी भुजन्ग कुटिला कृतिः ॥ शिवशक्ति समरसीभूतं यस्य
देव्याः सा महामाया ॥ भिन्ना भिन्नेन सर्वनास्ति अद्वय स्वरूपा ॥ कन्तु ज्ञाय
सा महा मोक्षगम्या ॥ तथा भासायां । विद्युद्वर्चश्च रूपा निभा
भाविलाकुला ॥

भुजन्गाकुतिलाकारा रत्नमाला कराजया ।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः ॥

२२ब)

एते पंच महाप्रेताः ॥

मौलिसंस्पृष्ट महामाया चरणौ सेव्यः ॥

एते पंच महाप्रेता पादमूले व्यवस्थिता।

तस्य पञ्च देवस्य व्यवस्था देव्याश्च रणयो मूले महाप्रेतानि नित्य सेविता
इत्यर्थः स पंचदेवता॥ पक्तोकाय। वान्मनः बुद्धिः। अहंकारंः॥
पृथ्वीः आपतेजः॥ वायुः काशः॥ गन्धः॥ रसः॥ स्पर्शः॥ शब्दः॥
नियतिः॥ कालः॥ रागः॥ विद्याः॥ मायाः॥ वाकः॥ पाणिः॥ पादः॥ पायुः॥
परस्थाः॥ नन्दाः॥ भद्रा जया रिक्तं पूर्णा॥ वाला कुमारी युवती। स्थविरा।
अनन्द॥ करी। उदितः। भ्रमितः। सध्या अस्तः॥ एतेन सहितं उपेतं देव्याः
पादमूले। अंघ्रिन्कय विशेषेण पादमूले शरीरान्तयो द्वारं॥

२३अ)

ततो विशेषाश्च उपेता वायु विशेषाः॥

प्राणोपान सामानश्च उदानोव्यानमेव च।
नागकुर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनजयः॥

एते वा व्यवस्था चोच्यते॥ पादमूलं नासिका मूलं॥ एते वायुना उपेतं॥
दक्षिण वामे योर्नासिकायां वा वस्थिता सा महामाया परा॥ अधः ऊर्द्धः॥
तिर्यक् मध्येः॥ व्यवस्थिता। प्राणवायुर्वहति॥ अष्टदशविकाला चत्वारि प्राणः

पृथ्वी स्थाने आदित्योष्ठदयं ॥ माहेन्द्र योगं सिंह संक्रान्ति
द्वादशान्गुलि वाक्यं वहति ॥ अपाणवायुर्वहति पंच सप्ततिर्विकला त्रयः
प्राणः आपस्थानः शनिश्चरोदयं ॥ शोभन योगं ॥ कन्य संक्रान्तिं
चतुलंगुल वाक्यवति ॥

२३ब)

समानवायुर्वहति सप्तत्रिशब्दिकला त्रयः प्राणस्तेज स्थान कुजो वयः ॥
मृत्युयोगं ॥ विच्छसंक्रान्ति अष्टान्गुलि वाक्यं वहति उदान वायुर्वहति ॥
अष्टादशविकला चन्द्रप्रावायुवस्थाने ॥ राज्योदये ॥ उत्पात योगः ॥

धनुसंक्रान्ति ॥ अष्टादशान्गुलि वाक्यं वहति ॥ मध्ये व्यानवायुर्वहति ॥
एकाश्वासं आकाशस्थाने कल्पयोगः ॥

तुलासंक्रान्ति एते दक्षिननासाम्पुटे दक्षिणायनं अधभागे ॥

कर्कटः तत्परे वामपुटे प्राप्यते ॥ अधस्था श्रेष्टि ॥ पृथ्वि स्थाने
नागवायुर्वहति ॥ अष्टादशविकला चत्वारि प्राणः ॥

२४अ)

बुद्धोदयं सिद्धियोगं ॥ कुम्भसंक्रान्तिः ॥ द्वादशान्गुलि वाक्यं वहति ॥
कूर्मवायुर्वहति ॥ पंचसप्तति विकला आपस्थानञ्चन्द्रोदयं अमृतयोगं ॥

मीनसंक्रान्तिः ॥ चतुलंगुलि वायु वहति ॥ कृकवायु वहति ॥ सप्तत्रिंशति कला
चत्वारि प्राणः ॥ तेज स्थाने शुक्रोदय शिवयोगं ॥

वृषसंक्रान्तिः ॥ अष्टान्गुलि वाक्यं वहति ॥ देवदत्त वायुर्वहति ॥ अष्टादश
विकला चत्वारि प्राणं ॥ वायु स्थानं ॥ गण्डयोगं ॥

मिथुनसंक्रान्तिः ॥ गुरोदयं ॥ अष्टान्गुलि वाक्यं वहति ॥ मध्ये
धनंजयं वायुर्वहति ॥ एकप्राणं ॥ आकाश स्थानं शूलयोगं ॥

२४ब)

मेषशंक्रान्तिः ॥ केतोदय । एते वामपुटं ॥ उत्तरायनं । ऊर्द्धमकरं ॥
ऊर्द्धगामीणीदे संहारं ॥ एते त्रयश्च उपेतं श्वासचारंः ॥
माहेन्द्रवायुर्वहति ॥ पंचकला त्रिप्राण माहेन्द्रयोगं ॥

सिंहसंक्रान्तिः ॥ शिवदयंः ॥ अष्टान्गुलि वाक्यंवति ॥ अग्निर्वायुहति ॥
सप्तविकला ॥ द्विप्राणं ॥ आग्नेवः ॥

मानपूजा तु माहेन्द्री आग्नेय प्राणशंशयः।

वायव्य भयरोगं तु सर्वसिद्धिस्तु वारुणे॥

रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकश्चैव वायुसः।

वायुक्रमविजानीयात् योगसंसिद्धिकालकः॥

तत्र पुनरपि श्वासविधमाह॥ वामो वा दक्षिणे वा एकचार वहेति तदा

मृत्युमागता भगति॥

२५अ)

पंचदिवस एकचारवति॥ यदा दशदिनं वहति॥ वर्ष द्वय जीवति॥

यदि पक्षमेकं वहति॥ वर्षकमुपजीवति॥ यदा विंशति दिवसंवहति॥ तदा

मास त्रयं जीवहति॥

षट्त्रिंशति योगत्र्यंगुलि वाक्य अग्निसंक्रान्ति॥ अग्न्ये दयं वायव्यं वहति।

पंचविकला पंचप्राण॥

वायुव्यसंक्रान्ति ॥ पंचान्गुलि वाक्ये ॥ वारणवायुर्वहति ॥ षष्टको विकला ॥
षट्प्राणः कल्याणयोगशिवसंक्षोयमध्ये समरसी त्रय षष्टांगुलि
षोडशसंक्रान्त्योदयं ॥ स दिन संभहति ॥ ऋतुमेकं स जीवति ॥
सप्तविंशति दिनं वहति मासमेकं स जीवति ॥ अष्टाविंशति दिनं वहति
मासमेकं स जीवति ॥ अष्टाविंशति दिनं वहति पक्तुमेकं स जीवति ॥

२५ब्)

एकोनविंशति दिनं वहति दशवाशवासरो जीवति। मासमेको वहति पञ्चवासरो
स जीवति ॥ एकत्रिंशति दिवसो वहति दिवत्रयं जीवति ॥ द्वात्रिंश दिवसो वहति
द्विवसद्वयं जीवति यदा त्रय त्रिंशति दिवसं वहति एक दिवसो दिवजीवति ॥
अहोरात्रेणश्वास सहस्त्रशतं। एषश्वास चासः ॥

श्रीकण्ठक्रूरञ्च विधु प्रयुक्तं कुर्म डिण्डिक्रोध सलाकुलेषु।
अनन्तवक्रं परदितेवं पञ्चैवमन्त्रपरमेश्वरोक्तं ॥ अलोमविलोमकाले
पठेत् ॥ यदा मरणकाले कर्णमे भेसेत् ॥ समदोद्ये एकान्ते जितेन्द्रियन्तस्य
श्वासं ग्रंहोगम्यं ॥ सामान्य जनेन श्वासचारं ज्ञायते ॥ एतेन

२६अ)

आहारं नियमं कृत्वा ध्यानादि कर्मणां कर्मयो न सामान्यने ज्ञातं ॥

एते पञ्च महाप्रेता पादमूले व्यवस्थिता ॥ इति ॥

तथा कुलाकुलार्णवे ॥

ब्रह्मादि कारणो देवा देव्याघ्रिं युगमगः ।
प्रेतरूपेण सर्वषां स्थितः कालस्वरूपताः ॥

त्रैलोक्ये जननी देवी नमस्ते शक्ति रूपिणी ।

त्रैलोक्य जननी यस्य स्थाने त्रैलोक्य जगदुत्पत्तिर्भवति । तेन कारुणे त्रैलोक्य जननी । जननी मातास्वरूपा । त्रैलोक्य व्यवस्थिता जगन्तु स्थव च जन्गमाः ॥
माता सा महामाया जननी ।

जननी जन्मभूमिर्या नित्या त्रैलोक्य साधनं ॥

सर्वार्थ साधनं । सार्थ साममोक्तस्य स्थानं ॥ तेन प्रकारेण जननी ।
दक्षिणकोणे स्वर्गः ॥

२६ब्)

वामकोणे मर्त्यः ॥ अधो कोणे पातालः ॥ तेन त्रैलोक्या जननी ॥ देवीति । देवे
शक्तिर्देवी ॥ तथा च कुलाकुर्णवे कालज्ञान पद्मागन्कारे द्वात्रिशदक्षर
मूलविस्तारे ॥ या देव्याषू दलप्रतिश्चतुरगामूलाग्र त्रियर्क् द्विधा केशर्यो
परिकिर्णिषु परतः ॥ पञ्चैव पञ्चोपमः ॥ पद्माख्ये वहि गह्वर प्रकतया
कूर्मादि शैवान्तगा । नित्यानन्दमयाममाघ फलदा वालैकमध्यापरा ॥
नमस्कारं पादौ शिसासंघृष्ट तेन नमः ॥ इति ॥ जननी जन्मकारिणी ।
महामाया वालमध्ये ज्येष्ठ उलिढि त्रित्रय स्वरूपा नमस्कार ब्रह्मणो
वामगण्डस्थलेन उत्पर्त्तिः ॥ ओंकारदक्षिणे गण्डस्थलेन जातं । कायन्मन
एकी भूत्वा नमस्कारः ॥

२७अ)

एवं नमस्कार गौरवार्थः ॥ शक्तिरूपिणी शक्तिरूपीस्तीकारः शिवः समरसी
रूपेणं व्यवस्थिता ॥ सा शक्तिरूपिणी । त्रयः शक्तिभेदाः ॥ अधः । मध्येः ॥
ऊर्द्धति ॥

संपुटं प्रणवा पञ्च नवरूपा कुजामता ।
द्वात्रिंशदक्षरी मन्त्रस्त्रैलोक्या जननी श्रुता ॥

मन्त्राणां परमामन्त्रा सर्वकामफल प्रदा।

तथा चोत्तरे॥

शत्त्याधारे मिदसर्वं जगत्स्थावरजन्गमं।
शक्तिने सृष्टि रक्षन्ति प्रलये मोक्षदा शिवेति॥

इडापिन्गलमध्यस्थ मृणालतन्तु रूपिणी।

मृणालतन्तु पद्मसूत्रतद्वत् शुक्ष्म तन्तु स्वरूपा सा महामाया॥ उक्तञ्च कुलाकुलार्णवे॥ नवमृदु ततमृणाली तन्तु संतान शूक्ष्माक्रमकृतगति लीलालद्वन्द

२७ब्)

षट्चक्रभेदा अकुलकुलकुलान्तर्व्यापिनी सैवशक्तिर्जगति जय सुतेजां रूपिणी श्रीकुजेशी॥ एषा मृणालतन्तु रूपाशीति॥ इडापिन्गलमध्यस्थ सुषुम्ना त्रिनाडी इति उच्यते॥ इडापिंगलासुषुम्ना॥ ब्रह्माविष्णुमहेश्वराः॥ पातालः मर्त्यः स्वर्गः। चन्द्रसूर्याग्निः। क्षितिजलपवनः। रक्तश्वेतष्णः। सत्वरजतमः। आत्मतत्व विद्यातत्व शिव तत्व। सृष्टिः स्थितिः प्रलयः गायत्री

सावित्री सरस्वती। ऋगयजुः सामः। भविष्यः। वर्तमानः। हृत्। कण्ठः
तालः। अः। उः। मः। भूर्भुवः स्वः। मेरुः। मन्दरः। कैलासः।
गंगायमुना सागरः। धर्मः। कामः। मोक्षः। इति त्रिनाडी विशेषः॥
इडापिन्गला।

२८अ)

ब्रह्माविष्णुः। तत्मध्ये स्यणाल तन्तु चेत्॥ समवरस रूपेण वहति चन्द्र
सूर्याग्निर्भेदितधारा इति॥ तथा निशायां॥ इडापिंगलमध्ये स्थातन्तु
रूपमृणालता। सा देवी जगदानन्दा योगयुक्तः प्रदर्शिताः सामृणालतन्तु
रूपिणी॥

बिन्दु मध्ये गता देवी कुटिले चोर्द्ध चन्द्रिके।

बिन्दुराकाशः। तन्मध्येनागता कुटिला। कुटिलाकालगता पतिता। अर्द्धचन्द्र
ठकाराद्धा हृतिनाभि वर्द्धस्थाने चन्द्रार्द्धा कृतिं नाभिरधस्थाने
योन्याभ्यन्तरे पद्मे तत्स्थाने अर्द्धचन्द्रः। योनि सा अर्द्धचन्द्रं
त्रिकोणाकारः। बिन्दु आकाशलिन्गपि धीयते। तस्मद्विन्दु रूपः शिवः।
अर्द्धचन्द्रः। नादस्य रूपी शक्तिः शिवः शक्तिः।

२८ब्)

अर्द्धयभूतं सा कुटिलः। जीवपिण्डं। सासुर्द्धचन्द्रः। पूर्वपराक्षरं
दत्वा भृगीसे मतुराशनं। खण्डेन्दु क्षयं संयुक्तं
बिन्दुबीजप्रकाशयत्॥ तथा च त्रिपुरार्णवे॥

बिन्दुमध्ये गता शक्तिः कुटिलार्द्ध चन्द्रामृतं।

जीवभूतो जगत्प्राये॥ नमस्ते लिन्गशक्तयेति। तुषारकनिकाभासे द्वादशान्ता
वलम्बिनी अनसरिता इति॥ तुषारकनिका तुषाकनिका हिमकनिका विशेषः।
कनिका
बिन्दुः। हिमबिन्दु इत्यर्थः। तुषारकनि इव प्रभा सा प्रभा द्वादशान्तेन
अनुसरन्तीति अवलम्बिता सा माहामाया परमेश्वरेण तु तोषुयति॥ तथा चोत्तरे॥

द्वादशान्ते स्थिता देव्या लम्बिता कालरुद्रगा।
सा देवी जगदानन्दा तुषा भाजयति सदा इति॥

२९अ)

उमाकुर्द्ध गता गौरि द्वादसात्यि वर्चसे।
द्वादशादिवत् प्रभा सा द्वाददित्य वर्चसे॥

उमाशीरीर तन्मध्ये गतः उन्मन मध्ये गता इति ॥ साहेती महामाया । अचिंत्यो अद्वया । अवाव्यागोचरा । उन्माक्रूर्द्धगतागौरीति ॥ उश्च मा च उमा हि निश्चये । तथा च दर्शन विलीनोत्तरे । अर्द्ध गतेति । यस्याः पादारविन्द त्रिभुवन फरणे काले रुद्राग्नि मूर्द्धि ॥ यामश्चापि द्वितयति भुवने गुरुभिः सिद्ध ब्रह्माण्डखण्डे । खट्वान्गं वामवाहोर्दधति करवरे कर्तिका मन्त्र पात्रं ॥ शुभ्रामामुक्तहारा नमति दिवि भवा विश्वधात्री नमामि ॥ इति ॥

द्वादशादित्य वर्चसेति । द्वादशकला सूर्यस्तस्यैय वर्चसे नम इति ॥

२९ब्)

परमेश्वरेण कला ॥ अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ अं अः । इति स्वरूपा सा नमोस्तुते ॥ तथा
चोत्तरे भाष्टके । त्रिभिः त्रैलोक्येति । तितयोपि त्रिपुरा स्वरूपा । ब्रह्मादि भैरवभावगर्भा । नाना नना नमेति भीषणरुस्तै हि भासां नमामि सुखदां वरश्रेये दातेति ॥

शून्ये शून्यातरावस्थे हंसाख्ये प्राणधारिणी ॥

प्राणवायुः। हंसाख्यणधारिणी निहंसः श्वासः॥ हं ऊर्द्धश्वासः॥
सः अधः श्वासः हंसः रूपेण जगतां प्राणधारयति। स्थूल
शूक्ष्मतरावस्थे। स्थूलोपि वहुशा वहुशास्त्रः। शूक्ष्मः अदृश्यः।
ज्ञानगम्यश्च। तयोर्मध्ये व्यवस्थिता मनोपम्यास्म नमादायस्य यमे च
स्वलीयते।

३०अ)

यादृक् ज्ञानञ्च सम्पन्न न प्रकास सहा भवेत्।
योरप्युन् प्लवे नित्यं मनमात्रा वलम्बिं॥

निरक्षराद्यनन्ते च अक्षरान्तं तथेव च।

शिवशक्तिहंसविधा॥

इन्दुचित्सनकालं च मृत्यु प्रवंचनं तथा।
कृतामुलोमविलोमेन आरन्त वच मध्यगे॥

एवज्ञात्वा पर्यमरणान्ते कथनं॥

जितोमनौ विषयानाञ्च जितो भवति सर्वदा ।
अजिते सति पुनर्नित्यं जायते विषयैरपि ॥

तस्मात्मनः पयत्नेन निश्चलं कुसाधकः ।
सिद्धयन्ति सिद्धयोनेकाः कृतं मनसि निश्चलं ॥

तपः स्वाध्याय दानानि तीर्थयज्ञ समाश्रिता ।
योगेनात्म प्रबोधस्य कलां नार्हन्ति षोडशीं ॥

नान्ति योगपरो किञ्चित् संसारव्याधि भैषजं ।
एवं ज्ञात्वा तथा योगा भ्यासञ्च क्रिय सदा इति ॥

३०ब्)

तथा पूर्व ॥

शून्ये शून्यतरा देवी हंसवन्गमते हृदि ।
प्राणधारीश्वरी नित्या विश्वात्मा जननी जयेति ॥

लम्बाख्ये परमा देवी दक्षिणोत्तरगामिनी ।

दक्षिणोर्त्तरडा पिन्गला। शिवशक्तिः। न च दक्षिणं। न चोत्तरं। तन्मध्ये प्रवाहिणी। लम्बाख्ये द्वादशान्ते व्यवस्थिता सा परमा देवी महामाया। लंब एव अख्ये यस्या त्रैलोक्या व्यवस्थे तत्क्षणाद् दृश्यन्ते सालम्बाख्या। अपि तु ज्ञानचक्षुश्चिंर्त्यः। परमा देवीति। तथा चोत्तरे॥

सर्वज्ञाशुसंयुक्ता भावाभावविवर्जिता।
लयान्नासुखदा नित्या शिवमूर्द्धिर्न स्थिता शिवा इति॥

परमा दक्षिणोत्तर गामिनीति। लाकुले द्विस्वरं भेद्य मार्गमासनमालभेत्।

३१अ)

भूगोचन्दार्द्दशा भेदा खण्डेन्दु नभसंयुतं।
विस्मृतो मन्त्रमेतेषां मृत्युकाल प्रदर्शकं॥

दक्षिणोर्त्तर वीजोयं तस्माजप्यं सदाभ्यसेत्।

तथा निशोत्तरे॥

निशान्ते दर्शनार्थेशी चन्द्रसूर्यावताचरा।

दद्याद् रूपा जगत् प्राणा सृष्टिसंहाररक्षका॥

नासाग्रे तु समुत्तीर्णे मध्ये सूत्र प्रवाहिणी।

नासाग्रे समुत्तीर्णे अभ्युच्छिन्नं। गंगायमुरयोर्मध्ये सूत्रवत्समूत्तीर्णं च हंति वहंति वहंति। कपाल संपुटे संगमसं प्रयोगः। तत्र स्थानेन पुण्यंहति॥ सुषुम्ना मध्ये सरस्वती सानाडी क्रमात् मन्तोर्चारण प्रयोः॥ सा महामाया॥ तथा च भैरव तन्त्रे। मानसे न तया तथा सिद्धिं भाषितं

३१ब)

विघ्निनाशनी उवा सामोक्षदाश्चैव मन्त्रमुर्चारण क्रमात्॥ इति॥ मध्ये नाडी सूत्रपवाहिनीति॥

हृल्लेखे परमानन्दे तालु मूर्द्धिर्न व्यवस्थता॥

तालु मूर्द्धिर्न शंखिनी द्वारनासिका मूलचतुरान्गुलाभ्यन्तरा। साणंखिना द्वारः। हृदये बीज स्थाने वहति॥ परमानन्दः परमानन्दा स्वरूपा या महामाया। तथा चोत्तरदर्शन लीन॥ भावाभाव विवर्जित। कुलगता

सौम्यस्वरूपा सूधाज्ञानाज्ञान पदा सुरेन्द्र नमिता पद्मा कराकलिका।
वह्निर्भेदकराकुमारकुलका कालेश्वरो बोधकासा नन्दा परमा परापर
गताशक्तिर्जयेत्युर्तमा इति॥

नादकण्ठिकसंघृष्टे गुणाष्टक विभूषिते।

३२अ)

गुणाष्टक वाह्य विषये अनिमादि अष्टगुणं पुनरपि गुणाष्टकमाह।
शब्दस्पर्शरसरूपगन्ध सत्वरजतमति॥ अष्टगुणा॥ एते अष्टगुणविकारं
नास्ति पुरुष गुणाष्टक समन्विते। एतेन गुण हृदये व्यवस्थिता।
नादगण्ठिक संघृष्ट। संघृष्ट व्यवस्थितेति। ब्रह्मरन्ध्रेण
कपालसंपुटो कपालसंपुटेन शंखिनी द्वारे। शंखिनी द्वारेण कण्ठेन
हृदय हृदयेन प्रवास्थानं। एवं विधौ समुर्द्धति॥
सनादगण्ठिकसंघृष्टेति॥ षड स्थान भेद्वेन नादनिर्गता। अधोर्द्धगा।
शिखीश प्रथमे धृत्य वामसी ऊर्द्धकारयेत्। धनञ्जयरन्ध्र भेद्यं
सूर्येण स्वर मण्डितं॥ बिन्दुचन्द्रयुन दृष्टमादकण्ठिकविजका॥
प्राणाक्षा॥

३२ब)

तथा च त्रिपुरार्णवे ॥

नाह स्थानाद्विनिर्गत्य मन्त्राद्यास्वरवाचकां ।
षट्प्रकारमहामन्त्रं वदते स्थान निश्चये ॥

सा महामाया ॥ इति परमेश्वरेण स्तुत्यारंभः ॥

स्थूलशूक्ष्मत्वसंकुर्द्ध धर्माधर्मपुटद्वये ।
भावभावविनिर्मुक्तं स्थूलशूक्ष्म स उच्यते ॥

परमात्मा स्वरूपा सा स्थावर जन्गमे भवा ।

त्वं संक्रुर्द्धरहित इत्यर्थः ॥ धर्माधर्मः पापपुण्यः ॥ सुखदुःखः ॥
संयोग पुटः ॥ तथा निशायां ॥

स्थूलशूक्ष्म मतिक्रान्तं क्षुभितभाववर्जितं ।
पापपुण्यव्यवस्था सा महामाया विभाविता ॥

कार्यंकारण कर्तृत्ये त्रिशून्ये नादविग्रहे ।

नादविग्रहा मृतकुण्डली तत्वौ प्रत्ययः नीति ॥

त्रिशून्य समरसभावं ॥

३३अ)

चन्द्रसूर्याग्निभिः शून्यं मरसं तत् स्थानादविग्रहः ।
समग्रहः ॥ विसमग्रहः ॥ कार्यकरणकर्तृत्वात्कार्यश्च कारणश्च
कार्यकारणो कार्यकर भावा कर्तापस्य असौ कार्यकारणकर्तृत्व । तस्मिन्
कार्य कारण कर्तृत्वे ॥ असत्यरूपेणववर्तते । कारण हेतुः ।

घटमध्ये यथा दीप साहेन च न दृश्यते ।

तथकामगतं ज्ञानं सापीति दृष्टयगोचरं विषयेन्द्रिय पटला देह
मध्येन दृश्यते ॥

गुरोपदेशशद्येन पटलानि विमोचय ।
तस्मा दृश्यते सर्वत्रैलोक्य हृदये स्थितं ॥

कार्यकारणसंबन्धात् ज्ञानभावेन दृश्यत इति ॥

भृगाभित्रपरेफवासन कृत दीघस्वरं त्रिविधां बिन्दुशेखरभूषितं

परमता मन्त्रण मृत्युजितं।

३३ब)

कार्यकारणमेवबीज सुखद्राकालेन संबुध्यते षण्मासेन हि मृत्युजात

जगतां जप्तं प्रधृष्टं शिवं। तथाकामाक्षे॥

अशून्यंति नवाशून्यं सर्वत्र व्यापको हृदि।

शून्यमेव सखाकुर्यात् परमायाविनिसृता॥

परापरपरेशुद्धे चैतन्येशाश्वते ध्रूवे।

परापरः। वामदक्षिण॥ पापपुण्यः॥ एतैवहितं। परेपरमशुद्ध

चैतन्यं चेतना सहितं। शाश्वतं। नित्य सेवितं। अविनाशं। ध्रुवं

निश्चयं। अचलं। अदृश्यं। अमृतत्वादलभन्ति। तेनामृतेनाभ्यासेन

सर्वजगतां जीवन्ति। जरामदणव्याधिनाशियमि। तेन चैतन्ये शाश्वते

इत्युच्यते॥ तथा च पूर्वं।

परापर परे व्याप्ता जगदानन्दकारिणीं।

३४अ)

चैतन्याश्चाविनाशी च ध्रुवे देवी नमोस्तुते इति॥

एवं परीदयस्तया महामाया॥

सर्व्ववर्णधरी देवी गुह्यतत्व व्यवस्थिता।

सर्व्ववर्णधयी?त्रयत्रिंशति वर्णः। श्वेतादि वर्णः। चतुर्थाति वर्णः।
एते तत् सर्वव्यापि व्योमाकारे वायुरूपं। समानवायोः। अपावायु मध्ये
व्यवस्थिता। तुषारकनिका इवा। एतेन जातः। तेन सर्व्ववर्णधरी देवी इत्युच्यते॥

गुह्यस्थागुह्यस्थाने गुह्य स्वरूपा व्यवस्थिता।
जगतः। तारिणी सा महामाया। तथा वैनायक तन्त्रे॥ अकारादि हकारान्ते।
मन्त्रमूत्था व्यवस्थिता। पृथिव्यादि इस्वान्त त्वे गुह्य तत्व प्रकास्यतां॥

३४ब्)

तथा च कुलकुलार्णवे॥ गुह्यतत्व गोपनीया सा कुजा देवी नवाभिधा। मानवा

वान्मक। जगत्व्याप्ताते गुह्य व्यवस्थिता सा महामाहा॥

जगत्रधारिणी देवी संवृत्यां पथवर्तिणी।
जगतां धारणी जगद्धारणी। जगतस्त्रिलोकः। मानुषादीनां॥
अनेकदुःखसंसारबन्धनं पाणयतामिति जगतधारणी देवी॥
संवृर्तिरुत्पत्तिः। तस्य मार्गः सवृत्या पथवद्दर्शी। उत्पत्ति काले
चन्दमण्डल विचिंत्य निस्यर्तिकाले सूर्यमण्डं भाव्य। तेन कारेण न
संवृर्ति पथवर्तनीत्युच्यते॥ तथा च वैनाशिको प्रलयोत्पर्ति रक्षा च अधगा
कुलपालिनी। निस्पत्ति स युगान्तादाव्यापिनी। सुखदायदा॥

३५अ)

अशरीरे महामाये संसारार्णवतारिणी। अर्णवसमुद्रः॥ संसारैव समुद्रः।
तस्य पारगतामितान्तं। स्याद् देव्याः प्रसादेत। कथं देव्याः अशरीरे। शरीरे
वर्जिता। सा महामायेति॥ श्रीकण्ठ बिन्दुसंभूतं क्रोधीशश्वपिनाकिनं।
युगेश्वेरेण श्लौखं च शरीरा बीजमुच्यते॥ परत्रतानणी॥ तथा
चोत्तरदर्शलीते॥ चित्ते स्थितां परमज्योति नयीं निरंशां देवारिनाशनकरीं
जननी स्वरूपां सृष्टि स्थिति प्रलय कालणनित्या नन्ताया शक्ति मूर्तिः
करुणामयतां नमस्ते इति॥

जया च विजया चैव जयन्ती चापराजिता।

जया चित्तः॥ विजया वायुः। जयन्त। कायः। तन्मध्ये व्यवस्थिता सा अपराजिता।

ब)

अपजिता इन्द्रियं निर्जयन्तीति अपराजिता। तथा च पूर्व॥ अजिता जननी भूता अपरा
सिद्धिदा विभा। जयन्ती करुणा चेता महामाया मनोन्मनी॥

तुम्बुरी बीजमध्यस्थे नमस्ते पापमोचनी।

तुम्बुरी आकाशः। तस्य मध्ये स्थिता। आकाश मध्ये स्थिता सा तुम्बुरी बीजः॥ मन्त्र स्वरूपाकः स्वरूपा॥ संवृत्तश्च महाकालोपिनाकी खड्गी ब्रह्मगा। वालीसाघीशशी बिन्दु तुम्बुरी तदसंहरी॥ तथा चोत्तरे॥ वर्गान्ते मलरेफा च यश्चतुर्थश्च संयुतं। इन्दु बिन्दु समायुक्तं तुम्बुरी शक्ति बीजया इति॥

बन्धमोक्षकरी देवी षोडशान्ते व्यवस्थिता।

बन्धः संसारबन्धः।

३६अ)

तेन मोक्षकरी अपि च। पापपुण्य। पापनरकगतिः। पुण्यः स्वर्ग गतिः
द्वयोर्विच्छेदकरणं ज्ञानदा सा महामाया। षोडशान्ते व्यवस्थिता।
चिन्तायासी सारबन्धन मोक्षम्भवति। षोडशान्त स्थितो व्योमव्यापी
सूर्यमण्डलमनुविशति तस्य संसारबन्धं मोक्षं। तथा च दक्षिणे॥
पाशबन्धकृदेवी मोक्षदा सर्व सत्यकोडशान्त स्थिता देवी निशानाथी
नमोस्तुते इति॥

भ्रमनी शक्ति शूलेन महाव्युह समन्विते॥
व्युहः समूहः समस्त देवता पीठोपपीठव्यवस्थिता सा॥ भ्रामनी भ्रमनी
वलम्बतिती भ्रामनी। अस्ति इत्यर्थः। कथं महाव्यूहः क्षेत्रपालः।
भैरवक्षत्रवृत्ती। योगिनी।

३६ब)

कुलवृक्षः। अनेक देवता सहितः। योगिन्या अभ्यन्तरे व्यस्थिता। त्रिकोणाकारः॥
त्रयमध्ये कोणे बीजपिण्ड महामाया देवी॥

मरस्थाने भवेत् पिण्डं पिण्डस्थाने भवेत् मनः।
ज्ञानस्थाने मनः पिण्डं पिण्डज्ञानानस्तथा॥

न पिण्डराहितं ज्ञानं न ज्ञानं पिण्डं वर्जितं।
उभयोर्भिन्नता नास्ति समरसत्वंव्यवस्थिता॥

वाह्यकोणे क्रमणव्यवस्थितआ॥ अवृहा सादिना व्यवस्थिता॥ प्रियागे तु दुम्बर
वृक्षः। हंसगह्वरः श्रीवत्सा कृतिः। वायुः। वैगा ध्वजा युध ब्राह्मी।
च्छपा *? ः। अग्निमुखः॥ रिसितासनः। कामरूः। कराली। पूर्वकोणे
व्यवस्थिता॥ वाराणस्यांता वृक्षः। वृषगह्वरः। पुण्डरीका कृतिः।
ऊद्ध्र्वकेशी। गदायुधा॥

३७अ)

माहेश्वरी॥ कुण्डी कुर्णः॥ केशीनगरः। उल्कामुखी। वडवा वलिनी
लोहजंघः। शाकरी। ऊर्द्धकेश॥ एते आग्ने कोणे व्यवस्थिता॥ कारागिरिः।
अशोकवृक्षः। मयूर गह्यरः। ध्वजा कृतिः। महानली। दण्डधारी।
कोमारी। आम्राति केश्वरः। पूतना। हतापुनर्महाकोधः। पीनाक्षी।
महाजंघः। अग्निकः। एते दक्षिण कोणे व्यवस्थिता॥ कडववृक्षः॥
गरुडगह्यरः। कलशाकृतिः। सौम्यमुखी। वज्रधारी। वैष्णवी।

परेश्वतीरः। प्रन्नाक्षी। वीरेजा। त्रिजटा। अम्बिका। अनलेति। एते नै-ऋत्यकोणे व्यवस्थिता। जयन्ती। निम्बवृक्षः। महिषगह्वरः। चाम्बराकृतिः। ज्वालामुखी। खड्गधारी। वाराही। मायापुरी।

३७ब्)

कम्पिनी। भीमनादः। एलापुरिः। खराननः। शंखकर्णः। महाप्रेतः। एते पश्चिम कोणे समाश्रिता। चरित्राः। करञ्ज वृक्षः। गजगह्वरः। मत्स्य युगला कृतिः। कृष्णदण्डा। शक्तिधरी। इन्द्राणी। राजगृहः। चिपिटनासासी। एरुण्डा महाकर्णी घण्टारवः। अतिमुखी। महातुण्डा। एते वायुव्यकोणे संस्थि। ऊर्जयनी। अर्श्वत्थ वृक्षः। प्रेत गह्वरः। छात्राकृतिः। माहामाया। पाशधारी। चामुण्डा। क्षिचरलोहतात्र। कास्मीरः। महामेघः। लाकर्णः। नाडीजंघः। कैलायः। एते जत्तरकोणे समाश्रिता। कोटिवर्षः। वटवृक्षः। सिंहगह्वरः। शंखा कृतिः। हेतुकः। त्रिशूलधारी। चाण्डा पृष्टापुरः। विद्युत्मुखी। पनेश्वर। पुण्यवर्द्धनः कुम्भाक्षः।

३८अ)

कर्णयोटी। एते ईशानकोणे व्यवस्थिता। श्रीकण्ठदीपादिरनेक दृष्टमापस्वयं मन्त्रसु योजितेन। व्युहं महामन्त्रकृतं विधिज्ञमहेवशान्तिं परमा जयन्ति॥ एतेन सर्वान् गुह्यतत्वे व्यवस्थिता। एतेन

कारणेन महाव्युह समन्विता ॥ तथाचोत्तरे ॥ इन्द्राद्यामीशकोणान्ते महामया
। समाश्रिता । गुह्यतत्व व्यवस्था सा महाव्युहेश्वरी जयति ॥

भ्रमनी भ्रामनी गौरी मायायन्त्र प्रवाहिनी ।

मायायन्त्र योनि यन्त्रः । इति ॥ षोडशार महाचक्रे भ्रमिता भ्रामिता
चालयतीत्यर्थः ॥ गौरी महापातेन चालिता संसार चक्रेः । उत्पर्तिः
संहारकारका । निर्बीजः । बीजस्था भवति ॥ जातो भवति ।

३८ब्)

वालो भवति ॥ कुमारो भवति ॥ पुनः परवायु भवति ॥ स्थविरो भवति ।
वलीपलितो
भवति । वृद्धा भवति । जरो पीडात्मृत्युर्भवति । एते विधानेन संसार
चक्रः । भ्रामिता । तथा महानिशायां । भ्रमनीशक्तिरूपेण
संसारचक्रकारिता । मायायन्त्र प्रवाही सा योनि मुद्रा नमोस्तुते ॥ इति ॥

चित्ता तत्मात्र धारिण्यां स्मृति संर्वर्द्धरी शुभे ॥

स्मृति सम्बर्द्धरी स्मृति बुर्द्धिः । मनस्थाने व्यवस्थिता । चित्त तन्नात्र

धारिणी। चित्तेंन तत् आकारधारयतीति चित्त तन्मात्रधारिणी। तस्य वाह्य करूपाकारं नासांतिते न कारणेन चित्त तन्मात्रधारिणी॥ तथा पूर्वे॥ योगिना ज्ञान भावन मूर्ति देव्या विधार्यते॥

३९अ)

अग्निवृक्षोतिराकारं मूर्तिमन्या महेरीति॥

स्वच्छन्द भैरवी देवी क्रोध उन्मत्त भैरवी॥

स्वच्छन्द भैरवी अघोश्वर॥ एकवक्रं षोडशभुजा सा देवी त्वया पाप्ता। स्वस्वर्गः तस्य छन्दः। अनेन स्वच्छन्दः स्वच्छन्दः। भैरवी भमती सा दयारूपा रमता वशवोपरि। वदता ज्ञान भावे ऐ ईकारेति मोक्षदा। क्रोधो उन्मत्त भैरवः॥ एते प्रमुख अष्टासीति भैरव तत्व व्याप्ता॥ सा महामाया॥ तथा तथा दक्षिणस्तनिशायां॥ भैरवो भैरवी चैव व्याप्ता स्वच्छन्दमुत्पन्नौ। उन्मत्तः परमानन्दौ। शिवः शक्तिर भिन्नेति॥

पञ्चाशद्वार्णरूपस्थे त्वया रुद्र प्रकीर्तिता॥

पञ्चाणद्वर्णरूपरूद्रः॥

३९ब्)

स्वरषोडशः ॥ वर्ण चतुत्रिंशत । स्वरः । शिवः । षोडशकलाचन्द्र त्रिंशवर्णशक्तिस्तत्व भावने । एतेन पञ्चाशद्वर्णमन्त्रस्वरूपाः ॥ अपि च । पञ्चाशद्भैरवव्याप्तं ॥ रुद्रभैरवं क्षेत्रपालमेकार्थः । तत् कुलाकुलार्णव भक्ति प्रकासिके । अनिलनलपृथिव्यानीलमाकाशरूपाः शरणजगदिदन्तविश्वमूर्तिर्विधाता । भव देहनाविश्वाली सिद्धिदा मोक्षवति जयति करुणभावाश्रीकुजाशक्तिरेका ॥ इति ॥ पञ्चाशद्वर्ण स्वरूपा सा महामाया रुद्रेण वलि कीर्तिता ॥

अमृताख्ये रुरुश्चण्डे नमः कापालिनी शिवे ॥

कापालिनी शिवः प्रलयकाले शिवकपालीनी रूपी भवति । शिवशक्ति सनीलनं कापाली । कः शिवः पालशक्तिः ।

४०अ)

कः शिवः पालकायं । कायं पालयताती । कपालिनीः ॥ अमृताख्ये उमामहेश्वरः । तयोरूपा । रुरुः असुरः । तस्य रिपुश्चण्डः । रुरुश्चण्डः ॥ रक्तगौचर्चिका इति त्वया देव्याव्याप्ता इत्यर्थः ॥ चतुराननपराद्यां शाशने

चन्द्रविम्बं। अमृतबीजमहामन्ततालमध्येपध्यापयेत्। तथाचोत्तरे॥
प्रलये कालिकारूपा ब्रह्माद्या देवसंभवाः। चण्डकापालिनी देवी जयति सृष्टिरक्तकेति॥

रुरुंकणी महामाये नमस्ते ज्ञान भैरवी।
रुरुंकुणी इन्द्रियं नाशं यतीति रुरुकुणी॥

येन इन्द्रियं नाशयति। सा महामाया नमेस्ते॥ ज्ञानरूपा सर्वजन्तवः।
शाक्तिकलाराजसव्यापारेण विस्तारिता।

४०ब्)

शात्युकेन देवं। राजसामानुषं। तामसं तिर्यक् ज्ञानः। भैरवी पूर्वतवत्
ः। तथा च पूर्व॥

जात इन्द्रियं संभूतं मृते त्यक्त कले चलं।
महामायानुभावेन संसारपविवर्तनं॥

दंष्ट्रोत्कटे विद्युजिह्वे तारकाक्षि भयानने।

इति परमेश्वरेण स्तोत्रं सबोधनं हे द्रंष्टोत्कटे। अतिनुतेजा चन्द्रत्प्रभा सा द्रंष्ट्रा। विद्युर्जिह्वा तडिदंशी जिह्वा। तारकाक्षि। तारकानक्षत्रः॥ अस्य दीप्तिवत्। नेत्रा यस्याः सा तारकाक्षि भयानने॥ भयः संसार भयाननेः मख इति॥ तथा वैनायके॥

द्रंष्ट्रा चन्द्रप्रदे भावे च विद्युर्जिह्वे भयानने।
नमामि तारिणी रूपे संसारभयनासिनीति॥

४१अ)

नमामि देवदेवेशि अघोरेघोररूपिणी।

नमामि नमस्कारः। देवदेवेशि। देवस्त्रय त्रिंशति कोटि देवः। नस्य देवः। त्रिदेवः। त्रिदेवस्य प्रभुः। महेश्वरः। महेश्वरस्य नाथ इत्यर्थः। सा देवी देवदेवेशी। कस्मिन्नूपे। अघोरेघोररूपिणी। अघोरः सौम्यरूपः। घोरः रौद्ररूपः। अघोरशक्तिर्जगत्सृष्टिः कारयति। घोरः। शिवः। जगत्संहारकारयति। घोरसंसारसागरस्ते नाशयति। अघोररूपिणी। तथा त्रिपुरार्णवे॥

शिवस्य मूर्द्धिर्नवर्तशी नमामि भुनेश्वरी।

सौम्यमरारूपा चरूदे नित्यरूपिणीति ॥

ज्वालामुखी वेगवती उमादेवी नमोस्तुते ।

ज्वालामुखी अग्निमुखः ।

४१ब्)

वेगवती वायुमुखः । अग्निर्वायुरित्यर्थः ॥ तावद्धय भावेन ॥ उमा देवी सर्वव्यापी नमोस्तुते ॥ ऋषी शतद्रत्तशिखा तथैव तथैव पूर्वेषु चरासनेव ॥ स्वरं परंगेन विभेद दुःखं ज्वालामुखादीनि त्रिवीजरक्षा ॥ तथा भैरतन्ते ॥

ज्वालामुखं तथा वायोर्मुखमेकत्व व्यापका ।
उमा स्वरूता देवी महामाया नमोस्तुते ॥

योगेशी च श्रिया देवी गौरी लक्ष्मी सरस्वती ।

योगेशी चतुषष्ठी योगिनी योगे तस्याः प्रधाना महामाया ॥ श्रिया देवी लक्ष्मी सरस्वती त्रिसन्ध्या देवीति श्रिया देवी गायत्री ॥ चतुर्भुजाः कमण्डरुः ।

अक्षसूत्रः पद्माभयाः ॥ हंसवाहना । रक्तवर्णा । षोडशवर्षकन्या
स्वरूपा । मुक्तकेशी ।

४२अ)

प्रत्युषसत्य्यायां चिन्तयन्ति ॥ लक्ष्मी सावित्री च चतुर्भुजाः ॥
शंखचक्रगदामणिधरा । गरुडासना । कृष्णवर्णा तरुणी । वयस्य ।
मधाह्ने चिन्तरन्ती ॥ सरस्वती । प्रसिद्धा । चतुर्भुजा । कमण्डलुः । अक्षसूत्रः ।
पुस्तकाभयः । हंसवाहना कमलासना ॥ पीतवर्णी । स्थविरा । अपराह्ने चिन्तिता ॥
अर्द्धरात्रेणोर्द्ध कृष्णा । तदधः । ऊरूशुक्ला । तदधध पादौ पीता ।
त्रयानना । तथैव वर्णा । सिंहवाहना । षट्भुजा । अक्षचक्र खड्गशूला
भयवरदा । सर्वाभरणभूषणा पूण्डरीक चर्म प्रणिधाना अर्द्धरात्रे
विचिन्तयेत् ॥ तथा च नेत्रे ॥ संध्याव्यावर्तमूर्तिं शशधरविमलां
वर्णरूपात्वमेका संसारे पाशबन्धत्वमसि च भवतीच्छेदयन्तीह जाड्यं ।

४२ब)

चक्रे चक्रेशनाथं परमसुखककरीं योग्रिनांध्यायमानां तासां लक्ष्मी
सुधान्गां सुरवरनमितां लिन्गपौर्वा नमामीति ॥

गायत्री चैव सावित्री भृगोनन्त सरस्वती ।

माया चन्द्र निभं चैव सन्धावैयः प्रचिन्तये ॥

एषकालसमाधेषु मृत्यु चञ्चनमुत्तमं ॥ अलोमविलोम ॥

हंसवागीश्वरी देवी गोमुखी शक्तिमालिनी ।

हंसवागीश्वरी स्वरी सरस्वतीहंस वाहनसरस्वती । गोमुखी परमेश्वरी
कुब्जिका ॥ नवप्रकाराः ॥ बाल १ मध्य २ ज्येष्ठा ३ ः ॥ एकैकस्यात्त्रि तथा भेदा
श्री कुब्जिका महामया ॥ मालिनी मलनाशयतीति । मलनाशनी । किं सो मलः ।
अनल आनव मायजः । कर्मजाः । मायया जातं मायज ।

४३अ)

पुनरपि । मोहमलः । राग द्वेष क्रोध लोभः गन्ध रस स्पर्श रूप शब्दाः ।
एते दशमलाः येन पुरुषेण राशयतीति मालिनी ॥ तथान्य प्रकारेण मालिनी
निर्मलमभिच्छिन्नधारा द्वादशान्तेन निपतति ॥ साधारामालिनी । पुनरपि ॥

यदा त्रैलोक्य संहारे अन्धकारो भवन्ति च ॥

तदा त्रैलोक्ये पूरिता तेजमालिता भाति सा मालिनी ॥ तदा विभ्रमात श्री

तत्महाभैरेण दृष्ट्वा प्रभामालिनी स्वरूपा कुजा स्तुति कृत वानिति ॥ सा मालिनी। एते नं च देव्या महामाया व्याप्ता ॥ महांक्षर तथा याना अनुस्वरविभेदितं। स्वरविलोमं कृत्वा ॥ हंसवागीश्वरी जया ॥ एष प्रत्युषका संध्यायां जल्पेत् मृत्युजितं सुधी ॥

४३ब)

तथा चोत्तरे ॥

शक्तिरूप हि मालिन्यै महामाया च कालिका।
नित्यामलविहीना सा मोक्षदा परमापदेति ॥

क्रोष्टान्गी सुभगा देवी दुर्गे कात्यायनी तथा।

क्रोष्टान्गी त्रिकोण पुरः। देव्याव्याप्ताष्टमुच्यते ॥ सुभगा सोभरा ॥ शूक्ष्मरूपा दुर्गा कात्यायणी भवती रूपा विशेषा ते स्थिताः। तेन सामासपुष्पैका सा देवी कात्यायणी ॥ तथा पूर्वं ॥

कामाक्षा वरदा देवी त्रिकोणपुरमास्रिता।
सुरुपा सा जगत्तारा कात्यायणि नमोस्तुते ॥

नित्यं क्लिन्द समाख्याता रक्त चैकाक्षरा परा।

नित्यं क्लिन्दमित्यस्थितेति सामाख्याता। रक्त चैकाक्षर रक्तद्वयोक्षर शिवशक्ति पुष्पफलं॥ रेफरक्तः॥

४४अ)

मांसपुष्पः। क्षकारः शुक्रः समसेन व्रीजसा। एकाक्षरा परा। पुनररिकोष्टान्गी त्रिकोणपुरे व्यवस्थिता। सा पीठपौर्वा विनाशी सा पन्नगा क्षोहिं रक्तका।

एकाक्षरा कुठारेषा परामर्द्धेन्दु बिन्दुका।
एकाक्षरा अकारेण सर्वव्यापी पञ्चाशेति। तथा रमते॥

नित्याकिन्दजगन्माता रक्तवर्णा मनोरमा।
एकाक्षरा महामाया भुक्तिमुक्ति प्रदा कुजेति॥

ब्राह्मीमाहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा।
वाराही चैव माहेन्द्री चामुण्डात्वं भयानना॥

एते योगेश्वरी स्थिता ॥

योगेशी त्वं हि देवेशि कुराष्टक समन्विते ॥

योगेशी त्वं हि ॥ एते अष्ट योगिनी त्वया व्याप्ता महामाया ।

४४ब्)

इतिष्टक समन्विता ॥ कुलाष्टकः ॥ वटुकाष्टकाद्या । कः । कटुकः । क्षत्रपालः । गणभैरवः । भूतः श्मशाने सस्थितेशः क्षेत्रेशरिति ॥ एकैक योगिन्या वटुकाद्यष्ट समान्विता युता इति ॥

ऐन्द्री चैव तु आग्नेया याम्या नै-ऋत्य वारुणी ।
वायव्या चैव कौवेरी ईशान्य समुद्रा हृता ॥

आग्नेयां याम्या । नै-ऋत्य । वारुण । वायुव्या । कौवेरी । ईशान्या । क्रमेण दिशि व्यवस्थिता ।

असान्तञ्च पुरो मन्त्रं ध्यायन्नित्यं सुमन्त्रिणा ।

शरीरे क्रमसंयुक्तं मृत्यु चञ्चनमाप्नुयात्॥

प्रियागे वरुणा कोला अट्टहासा जयन्तिका।
चरित्रिकां वराचैव देवी कोटन्तु चाष्टधा॥

४५अ)

एते अष्टस्थान शरीरे व्यवस्थिता॥ बीजमध्ये प्रियागः॥ वरुणाग्नि मध्योम्नायौ कोलागिरी। रधिरे अट्टहासः। मांसे जयन्तिका। चर्मे वरित्रा। रोमकुपे। एकाम्बरा॥ देवी कोटः सर्वान्गसन्धिः। गोप्यस्थाने ब्रह्माणी। हृदये माहेश्वरी। वक्र कोमारी। कर्णे वैष्णवी कण्ठे वाराही। इन्द्राणी मुखसन्धिः। नासिका मूले चण्डी। द्वादशान्ते चामुण्डा। तथायमहानिशायां। बीजादि गुह्यस्थानादि ब्रह्माद्या स्थानमाश्रिता। ध्यायमानेति शारीरे योगसिद्धि नवायुयात्॥

तदनन्तरे दूत्यष्टकमुच्यते॥

तथा काली उमादूती देवदूती नमोस्तुते।
भद्रकाली महादेवी चर्ममुण्डा भयावहे॥

महोच्छुक्ष्मे महाशान्ते नमस्ते शक्ति रूपिणि।

४५ब्)

एतेशक्ति रूपेण व्यवस्थिता शरीरे। शिरसि काली। मूर्द्धिर्न उमा देवी। वामहस्ते देवदूती। दक्षिण हस्ते भद्रकाली। हृदय महादेवी गुदमध्ये चण्डमुण्डा। वामपादे। महोच्छूक्ष्मा। दक्षिणपाद महाशान्ता॥ एकच्छरीर स्थाने योगिनी चक्रश्च क्षत्रश्च दूती च स्वशरीरे भावयेत्॥

एवं क्रमशरीरे च ध्यातं मृत्यु प्रवञ्चनं।

तथा दशकाल्यां॥

शरीरे दूतीका चक्रं योगिनी क्षत्रमेव च।
शरीरस्था विजानीयान् निश्चितं मुक्तिमाप्नुयात्॥ इति॥

भूर्भुवः स्वरिति महाव्या हृति॥ मन्त्राग्नि होमे॥ भूर्नागलोकः। भुवो मर्त्यलोकः। स्वर्गलोकः। एतेनाहुति दानेन स्वरान्ते कारयेदूर्द्धं।

४६अ)

न स्वाकारे वहाकारे वर्जयेद्धाकामक्षिणः।

तेन महाव्याहृति मुच्यते॥

भूर्वामकोणो भुदोदक्षिणकाणे। स्वः। मध्ये कोणे। स्वाहान्ते सर्वव्यापी च दयार्थे कुरुष्व मे। कुरुकाल्यादय॥ समरसता चैव त्रैलोक्यं समरसं कुरु॥ चन्द्रमण्डलमर्त्यलोकः। सूर्यमण्डलं स्वर्गलोकः॥ अग्निमण्डलः पाताललोकः। त्रयमण्डल लोकत्रयं भिन्न न कर्तव्यं। वर्गा स तु भेदितं परमहारेफेण द्विधापीथि वृद्धिहोत्र दिवाकरेण विभूतं खण्डः शशिबिन्दुना॥ मन्त्रोयं भुवनत्रये परिगतं सर्वार्थसिद्धि प्रदं ध्यातं कालत्रये वरात्रि दिवसं मृत्युप्रध्वस्तं स्फुटं॥ भिन्नभावेन मोक्षं नास्ति समरस। अभिन्न भावेन। अद्धय अनक्षर चारेण सोपि सिद्धिभाक्॥

४६ब)

द्वन्द्वहीन मनाभ्यासं निर्गुणं गुणवेदकं।
ब्रह्मपदमिदं प्रोक्तं स्वतन्त्र पदमव्ययं॥

निराभासं निरानन्दं निराकरं निराकुलं।
रूपातितततितमिहं सर्वं नाभावो न च वेदकः॥

पक्षापक्ष पक्षीणे स्वपक्षः पक्ष वर्जित।

जन्मबन्धविनाशाय हन्तिपक्ष त्रयोहते॥

त्रिश्रोणी रहिते मर्गे निःशब्दाः शब्द वर्जितः।

एकाकारे तु संप्राप्ते नानन्दो न च भावना॥

त्रिण्येकञ्चैव त्रीण्येकं ज्ञानवर्जितं।

पाशच्छेदकरं प्रोक्तमव्ययं हंसवर्जितं॥

एत्रसंव्यवहारेण सर्वसून्यं तु भावयेत्।

मन्त्र। त्रीणि रजाद्वित्रि कालत्रीण्यञ्च बोधितः नित्यमहर्निशबोध्यं

भुर्भुवः स्वविचिन्तयेत्॥

शरीरे वाह्य ज्ञाने च होममति हुनेषु च।

४७अ)

तथा चोत्तरे॥

गायत्र्यादि चतुःसन्ध्यां ध्यायमानो मनीषिणः।
सर्वपापविनिर्मुक्तं मुक्तिभागी नरो भवेत्॥

ज्ञानार्थिनो महामाये एतदिच्छामिदेदितुं।
ज्ञानार्थी पुरुषेण महामाया वेदितुं ज्ञातुं ज्ञानेन
संसारार्णवमुक्तत्वं मोक्षं भवति संसारकल्पना द्वयविधिः
समुद्रम्वा वृक्षम्वा॥

दुःखसुखजलोझया जलजातेन्द्रियं तथा।
इहजन्म इहतीरं परजन्म परात्परं॥

गुरुवक्तञ्च नामेन पारंतीरमवाप्नुयात्।
अक्तबीजप्रभवं बुद्धिमूलसमन्वितं॥

अहंकार महाशाखाः पञ्चमूलं च पल्लवं।
विषयेन्द्रिय पत्राग्रं मनःपुष्पसमन्वितं॥

सावल्कल संयुक्तं सुखदुःखफलद्वयं।

४७ब्)

ज्ञानसूत्रसमारुह्य भक्षं मोक्षमभीप्सितं ॥

तेपि परमपदं ॥

तस्माज्ज्ञान सदा सम्यक् अभ्यासेन्द्रियतेन्द्रियः ।
इन्द्रिय परमाभ्यास सम्यक् ज्ञानप्रकासिनं ॥

यश्चेदं पठ्यते स्त्रोतं त्रिसन्ध्या चैव मानवाः ।

यश्चेदं ॥ यस्त्वदं इदं महामायास्त्रोत्रं येन पठ्यते त्रिसन्ध्यासमये ॥

पाप्नोति चिन्तितान् कामान् स्त्रीणां भवति वर्णभं ।
यार्विन्तितं कार्य ते पाप्नोति चिन्तितान् कामान् ॥ इच्छा सिद्धि इति ॥ स्त्रीणां भवति
वल्लभः । युवती जनानावल्लभो भवति । येन पुरुषेण महामाया पठ्यते ।
तेनुपुमामृते इष्टलोकं पाप्ति ॥ जीवन्तति सुखी भगवति । येन पुरुषेण
चतुम्नायो जानन्ति ॥

४८अ)

चतुर्देवताः। तथा अमावास्यां। ऐकान्येकभवं त्रिमूर्तिरखिंलापौर्णेश्वरी वासवे भूतेशी गगनोषमाभगवति निस्यश्वरी दक्षिणे। ज्ञानागम्य कुजेश्वरी हि कुलगां वारुण्यदिग्गायकां श्रीवामां प्रणमामि विश्वजननीं दर्शेश्वरीं कालिकां। लाकुल्येन्दु सुविन्दुवेद स्वरभिर्नागाक्तरूढाविधेर्मध्ये नामविभेदिता भृगुशिवारूढो विधे चान्तगा। सूर्याय स्वरभेहहतेन्दु नभसे। मन्तेषये मायया नित्याधेय नमामि दुःख देहनीं संसारभीतच्छिदां। चतुर्वर्गपदामन्त्रा चतुराक्षरसंज्ञका। गदितं भैरवो मन्त्रं महामाया नमोस्तु ते॥

इति मोक्षसोपानटीका समाप्ता॥

॥ श्रीः ॥

श्रीकुलार्णवतन्त्रम्
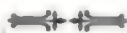
प्रथम उल्लासः

कैलासशिखरासीनं देवदेवं जगद्गुरुम् ।
पप्रच्छेशं परानन्दं पार्वती परमेश्वरम् ॥१॥

कैलास भारतीय संस्कृति का शिखर शब्द है । महाकवि कालिदास ने भारतवर्ष की उत्तर दिशा में देवतात्मा हिमालय नामक नगाधिराज का सुन्दर वर्णन किया है । उसी दिव्य देवतात्मा पर्वतेश्वर का यह दिव्य शिखर है । यह वह शिखर है जहाँ मानस सरोवर की सुधा शाश्वत लहरा रही है । भारत की धरणी को अपनी अमृतधारा से सींचने वाली सारी स्रोतस्विनी सरितायें इसी मानसर से विनिःसृत होती हैं ।

वहाँ पार्वती और परमेश्वर का सनातन निवास है । मानस के 'क' अर्थात् जल में नित्य उल्लसित और प्रतिबिम्बित तथा 'के लासः दीप्तिर्यस्य' इस व्युत्पत्ति से विभूषित कैलास शिखर कुलार्णवतन्त्ररूपी तरङ्गिणी का भी आदि स्रोत है ।

कितना पावन और दिव्यतम वह पार्वती के हृदय का इच्छात्मक उल्लास रहा होगा, जो मानसर की ऊर्मियों की तरह स्पन्दित हुआ होगा और उसी से प्रेरित पार्वती ने परमेश्वर से सरोवर के समक्ष समुद्र की बात की होगी । वह मानस सरोवर है और यह कुलरूपी अर्णव अर्थात् समुद्र के समान तन्त्र है । कुल समुद्र का उद्गम उसी कैलास शिखर के सरोवर से हुआ, यह आनन्द का विषय है ।

परमेश्वर शिव वहाँ आसीन थे । वे देवाधिदेव हैं । वे संसारी प्राणियों के आदि-गुरु जगद्गुरु हैं । निरन्तर परानन्दसन्दोह में निमग्न आनन्दविग्रह परमेश्वर से पार्वती का प्रश्न आध्यात्मिक जगत् के दीपस्तम्भ के समान प्रकाश प्रदान करता है । समस्त ऐश्वर्यों के अधीश्वर के समक्ष उन्हीं की हृदयसाम्राज्ञी शक्ति का प्रश्न विश्व के श्रेयस् को सिद्ध करने के उद्देश्य से प्रस्तुत हुआ था । पार्वती ने परमेश्वर के समक्ष अपनी जिज्ञासा को विश्वकल्याण के उद्देश्य से ही प्रस्तुत किया था ॥१॥

श्रीदेव्युवाच

भगवन् देवदेवेश पञ्चकृतुविधायक ।
सर्वज्ञ भक्तिसुलभ शरणागतवत्सल ॥२॥
कुलेश परमेशान करुणामृतवारिधे ।
असारे घोरसंसारे सर्वदुःखमलीमसाः ॥३॥

दिव्यता की प्रतिमूर्ति देवी पार्वती ने कहा—भगवन्! आप देवाधिदेव परमेश्वर शिव हैं। आप ही पाँच प्रकार के यज्ञों के प्रवर्तक हैं। क्रतु यज्ञ के अर्थ में प्रयुक्त शब्द है। इसके अन्य कई अर्थ होते हैं; जैसे—यश, प्रज्ञा और प्रतिष्ठा आदि। किन्तु यज्ञ अर्थ में ही यहाँ प्रयुक्त है। यज्ञ मुख्य रूप से पाँच ही माने जाते हैं—१. पाठ, २. होम, ३. आतिथ्य, ४. तर्पण और ५. बलिकर्म। ये भारतीय संस्कृति के पाँच महत्त्वपूर्ण बिन्दु हैं, जिनके आधार पर यह महान् संस्कृति विकसित हुई है[१]। इन पाँचों के प्रवर्त्तक भगवान् शिव ही हैं।

पार्वती आगे कहती हैं—भगवन्! आप सर्वज्ञ हैं। केवल भक्ति द्वारा ही सुलभ हैं। शरण में आने वालों के प्रति आपका वात्सल्य प्रसिद्ध है। उन्हें आप पुत्रवत् प्यार देते हैं। आप देह, इन्द्रिय और भुवनात्मक विश्वविलास रूप कुल[२] तथा छः अध्वाओं में व्याप्त वेद्य उल्लासरूप कुल के अधीश्वर हैं। आप को ही परमेश्वर शिव भी कहते हैं। आप ही करुणारूप अमृत के समुद्र हैं। आपके समक्ष मैं कुछ ऐसी समस्यायें रखना चाहती हूँ, जिनको लेकर मेरे मन में बड़ा ऊहापोह है।

भगवन्! यह संसार नितान्त असार है। कहने के लिये तो यह सं-सार है। सं उपसर्ग द्वारा इसमें अच्छाइयाँ होनी चाहिये किन्तु यह वस्तुतः बड़ा ही घोर है। इसकी भयङ्कर भीषणता बड़ी डरावनी है। इसमें दुःख ही दुःख दीख पड़ता है। इसमें रहने वाले इसके परिताप से तप्त होकर सर्वदा उदासी एवं निराशा का अनुभव करते हैं ॥२-३॥

नानाविधशरीरस्था अनन्ता जीवराशयः।
जायन्ते च म्रियन्ते च तेषां मोक्षो न विद्यते ॥४॥

इसमें रहने वाले जीवधारियों के शरीरों में किसी प्रकार का साम्य नहीं। अनेक प्रकार के शरीरों में रहने वाले जीव एक नये विस्मय को जन्म देते हैं। इनकी कोई गिनती भी नहीं की जा सकती। ये अनन्त हैं। अनन्त रूप, अनन्त शरीर और उनके आधार पर विचरण करती अनन्तानन्त जीवराशि। सृष्टि का यह स्वरूप बड़ा ही आश्चर्यजनक है। इसमें जीव जन्म लेते हैं। वहीं मृत्यु का अभिशाप भी प्राप्त करते हैं। इस जन्म-मरण के चक्र में पड़े, संसृतिचक्र में बार-बार पिसते इनके छुटकारे का, इनके मोक्ष का कोई लक्षण भी नहीं दीख पड़ता ॥४॥

सदा दुःखातुरा देव न सुखी विद्यते क्वचित्।
केनोपायेन देवेश मुच्यते वद मे प्रभो ॥५॥

पार्वती वात्सल्यमयी माँ हैं। उन्हें संसार के जीवपुत्रों के दुःख से बड़ा दुःख है।

---

१. अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः, पितृयज्ञस्तु तर्पणम्। होमो दैवो, बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥ इस तरह १. ब्रह्मयज्ञ, २. पितृयज्ञ, ३. दैवयज्ञ, ४. भौतयज्ञ और ५. नृयज्ञ—ये पाँच प्रकार के ही यज्ञ माने जाते हैं।

२. महार्थमञ्जरी, कारिका ४,४६,५८,६८ के भाष्य। श्रीतन्त्रालोक आ. २९:४-५।

वे कहती हैं, भगवन्! विश्व के ये प्राणी दुःखों से आतुर हैं। ये दया के पात्र हैं। भगवन्! मैं तो देखती हूँ, मुझे कोई भी सुखी नहीं दिखलायी पड़ता। कहीं भी सुख का स्रोत उपलब्ध नहीं है। हे देवेश्वर! आप मुझे बताकर अनुगृहीत करें कि, इस संसृतिचक्र के भीषण अभिशाप से यह जीव जगत् कैसे मुक्त हो सकता है? इनकी मुक्ति का उपाय क्या है? परम दयामय प्रभो! मेरे ऊपर दया कर उस उपाय को मुझे बताने की कृपा करें ॥५॥

श्रीईश्वर उवाच

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
तस्य श्रवणमात्रेण संसारान् मुच्यते नरः ॥६॥

परमेश्वर ने कहा—देवि! तुमने मेरे सामने जिस जिज्ञासा का प्रस्तुतीकरण किया है? जिसका समाधान तुम चाहती हो, उस उपाय को तुम सुनो। इस उपाय के सुनने मात्र से श्रद्धालु मनुष्य इस भीषण संसार से अवश्य ही मुक्त हो जाता है। यहाँ श्रवण मात्र से मुक्ति में श्रवणा भक्ति का महत्त्व प्रतिपादित है। बिना भक्ति और श्रद्धा के सुनना न सुनने के ही बराबर होता है ॥६॥

अस्ति देवि परब्रह्मस्वरूपी निष्कलः शिवः।
सर्वज्ञः सर्वकर्त्ता च सर्वेशो निर्मलोऽद्वयः ॥७॥

ईश्वर कहते हैं कि देवि पार्वति! जिसे वेद परमब्रह्म कहता है, उसे ही शैवदर्शन के विशेषज्ञ शिव कहते हैं। वही निष्कल ब्रह्म है। उसके पाँच गुण विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं; यथा—१. वह सर्वज्ञ है अर्थात् सब कुछ जानता है। २. सर्वकर्तृत्वसम्पन्न है। कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ है। ३. वह सर्वेश्वर है। इन तीन विशेषणों द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया कि, परमेश्वर इच्छा, क्रिया और ज्ञान शक्तियों का अधीश्वर है। ४. वह मलरहित है। जीव मलरूप कंचुक से ग्रस्त होता है। परमेश्वर कंचुकरूप मल से ग्रस्त नहीं होता। ५. परमेश्वर अद्वय है। वहाँ भेदप्रथा का पार्थक्य नहीं है। ऐसा यह चिन्मय ब्रह्म ही शिव है ॥७॥

स्वयं ज्योतिरनाद्यन्तो निर्विकारः परात्परः।
निर्गुणः सच्चिदानन्दस्तदंशा जीवसंज्ञकाः ॥८॥

वह स्वयंप्रकाश है, परप्रकाश्य नहीं, अर्थात् वह दूसरे के माध्यम से प्रकाशित नहीं होता। उसी से सारा विश्व प्रकाशित होता है। उसके आदि और अन्त का प्रकल्पन नहीं किया जा सकता। उसमें कोई विकार नहीं होता। वही परात्पर परमात्मा है। निर्गुण, निर्विकार, सच्चित् और आनन्दस्वरूप है। सारे जीव उसी परमेश्वर के अंश मात्र हैं ॥८॥

अनाद्यविद्योपहिता यथाग्नौ विस्फुलिङ्गकाः।
गर्भाद्युपाधिसंभिन्नाः कर्मभिः करणादिभिः ॥९॥

जीवों को परिभाषित करते हुए ईश्वर आगे कहते हैं कि, जैसे ज्वाला से जाज्वल्य-मान अग्नि से वे कण रूप विस्फुलिङ्ग अत्यन्त लघु रूप में अपने मूल रूप से पृथक् प्रतिभासित होते हैं, उसी तरह ये जीव भी सर्वव्याप्त स्वप्रकाश परमेश्वर से विनि:सृत होते और पृथक् प्रतिभासित होते हैं। ये अनादि अविद्या से उपहत अभिभूत अर्थात् अपने मूल रूप को विस्मृत कर अणुत्व से अभिशप्त हो जाते हैं। इसका बड़ा ही भयङ्कर परिणाम उसे भोगना पड़ता है। वह जन्म-मरण की साँसत भरी चक्की में पिसने का साधन बन जाता है। गर्भ आदि प्रक्रिया में पड़कर अनेक उपाधियों से अभिभूत होकर शिवरूप आदि कारण से पृथक् होकर पार्थक्य प्रथा से प्रथित हो जाता है। कर्म बन्धन में बँधकर बीजाङ्कुर न्याय के अनुसार कार्य-कारणवाद के सिद्धान्त क्रा आधार बन जाता है ॥९॥

सर्वः दुःखप्रदैः स्वीयपुण्यपापैर्नियन्त्रिताः ।
तत्तज्जातियुतं देहम् आयुर्भोगश्च कर्मजम् ॥१०॥

इस तरह उत्पन्न ये सारे जीव सभी दुःखप्रद अपने द्वारा आचरित पुण्य और पाप रूप कर्मों से ही नियन्त्रित होने को बाध्य हो जाते हैं। इसे ही कर्मबन्ध कहते हैं, जिससे वे बँधने को विवश हो जाते हैं। परिणामस्वरूप वे विभिन्न अण्डज, पिण्डज, जरायुज और स्वेदज आदि जातियों में जन्म लेते और तदनुसार शरीर धारण करते हैं। कर्मों के अनुसार ही उनके आयुष्य और कर्मज भोग भी प्राप्त होते हैं ॥१०॥

प्रतिजन्म प्रपद्यन्ते मानुषा मूढचेतसः ।
सूक्ष्मलिङ्गशरीरन्तदामोक्षादक्षयं प्रिये ॥११॥

यह क्रम उनके जन्म-जन्मान्तर तक चलता रहता है। अपने कर्म और उनके परिपाक के परिणामस्वरूप मनुष्य योनि में उत्पन्न होकर भी अपनी चेतना से वञ्चित रह जाते हैं। ऐसे मनुष्यों को मूढचेता कहते हैं। इस स्थूल शरीर के अतिरिक्त एक सूक्ष्म लिङ्ग शरीर भी प्राणी को प्राप्त होता है, जो इस नश्वर शरीर का अविनश्वर कारण माना जाता है। प्रति जन्मानुसार उसी शरीर के आधार पर नया शरीर इन मूढचेता मनुष्यों को मिलता है। यह अक्षय मोक्ष के विपरीत अक्षय आवागमन ही अभिशाप रूप से मूढ मनुष्यों को मिलता रहता है। मोक्ष की दशा में लिङ्ग शरीर भी नहीं रहता और अक्षय मोक्ष उपलब्ध हो जाता है ॥११॥

स्थावराः कृमयश्चाब्जाः पक्षिणः पशवो नराः ।
धार्मिकास्त्रिदशास्तद्वन्मोक्षिणश्च यथाक्रमम् ॥१२॥

स्थावर, जङ्गम जैसे कृमि-जलचर, पशु-पक्षी, मानव सनातन धर्माचरण के स्थान पर वही स्थूल शरीर धारण करते हैं। इसी तरह क्रमशः इस अभिशाप से मुक्त भी हो सकते हैं। इसमें शर्त्त धर्मकार्यों का सम्पादन है। देवों की तरह ये भी मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं ॥१२॥

चतुर्विधशरीराणि धृत्वा धृत्वा सहस्रशः।
सुकृतान्मानवो भूत्वा ज्ञानी चेन्मोक्षमाप्नुयात् ॥१३॥

इन चार प्रकार के शरीरों को ही इस संसृति चक्र में फँसकर बारम्बार धारण करते, मरते, पुनः धारण करते रहते हैं। जन्म-जन्मान्तर से यही क्रम उनका चलता रहता है। इस क्रम में सौभाग्यवश कभी यदि किसी जीव को सुकृत अर्थात् पुण्य कार्य करने का अवसर मिल जाता है और मानव शरीर मिल जाता है, तो तभी मोक्ष मिल जाता है। मोक्ष-प्राप्ति में शर्त्त यह है कि, वह मनुष्य ज्ञानवान् हो। ज्ञान ही मोक्ष का कारण माना जाता है ॥१३॥

चतुरशीतिलक्षेषु शरीरेषु शरीरिणाम्।
न मानुष्यं विनान्यत्र तत्त्वज्ञानन्तु लभ्यते ॥१४॥

शरीर धारण करने वाले जितने प्राणी हैं, उन्हें ८४ लाख प्रकार के शरीर प्रकृति द्वारा निर्धारित हैं। इतने प्रकार के शरीरधारी जीवों में मनुष्य की योनि ही महत्त्वपूर्ण योनि है। बिना इस शरीर के तत्त्वज्ञान की उपलब्धि असम्भव है। मनुष्य योनि में तत्त्वज्ञान मिल सकता है और तभी मोक्ष भी उपलब्ध होता है ॥१४॥

अत्र जन्मसहस्रेषु सहस्रैरपि पार्वति।
कदाचिल्लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्यसञ्चयात् ॥१५॥

भगवान् कह रहे हैं कि, पार्वति! मर्त्यलोक में हजारों हजार वर्षों के बाद बड़े पुण्यों के सञ्चय और उनके प्रभाव से ही कदाचित् जीव मनुष्य योनि में जन्म ग्रहण करता है। मानव योनि में जन्म हो जाना बड़े ही सौभाग्य का विषय माना जाता है ॥१५॥

सोपानभूतं मोक्षस्य मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम्।
यस्तारयति नात्मानं तस्मात् पापतरोऽत्र कः ॥१६॥

मनुष्य योनि में जन्म अत्यन्त ही दुर्लभ है। यह ध्रुव सत्य है और शास्त्र का वचन है कि, मानव योनि ही मोक्ष की एक मात्र सीढ़ी है। यह मोक्ष का सोपान है। इसमें सौभाग्यवश जन्म मिल जाने के बाद भी जो मनुष्य अपने आत्मा पर पड़े आवरण को निराकृत कर आत्मोत्थान नहीं करता, अपने को इस मर्त्त्य वैतरणी से तार लेने का प्रयत्न नहीं करता, उस व्यक्ति से अधम और पापतर कोई दूसरा नहीं माना जा सकता ॥१६॥

ततश्चाप्युत्तमं जन्म लब्ध्वा चेन्द्रियसौष्ठवम्।
न वेत्त्यात्महितं यस्तु स भवेद् आत्मघातकः ॥१७॥

एक तो मनुष्य जन्म ही दुर्लभ है। मान लीजिये यह सौभाग्यवश मिल भी गया, तो इससे भी अच्छा यह माना जाता है कि, वह पुरुष सुबुद्ध हो। सुन्दर बुद्धि के साथ ही उसका अङ्ग-प्रत्यङ्ग सुडौल, समस्त इन्द्रियों के प्रतीक अवयव सौष्ठवपूर्ण और आकर्षक भी हों, तो इस अवस्था में भी अर्थात् इतने कलित कान्त कलेवर के प्राप्त होने

के उपरान्त भी यदि वह मनुष्य आत्मकल्याण रूप श्रेयान् के रहस्य की बात नहीं जानता, माया के दारुण आवरण से आत्मा को पार कर लेने की बात नहीं जानता, ऐसा व्यक्ति ही आत्मघाती माना जाता है। आत्मकल्याण की बात न जानने वाला व्यक्ति ही उपनिषद् की भाषा में आत्महन माना जाता है ॥१७॥

असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

विना देहेन कस्यापि पुरुषार्थो न विद्यते ।
तस्माद्देहधनं प्राप्य पुण्यकर्माणि साधयेत् ॥१८॥

यह सोचने की बात है कि, शरीर न रहने पर, विना शरीर के किसी पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती। शरीर के विना पुरुषार्थ की कल्पना भी नहीं की जा सकती। संसार में जितने भी धन हैं, उनमें सर्वोत्तम धन देह-धन है। इतना महत्त्वपूर्ण धन प्राप्त करने पर मनुष्य का यह परमकर्त्तव्य हो जाता है कि, वह पुण्य कर्मों का सम्पादन करे ॥१८॥

रक्षेत् सर्वात्मनात्मानम् आत्मा सर्वस्य भाजनम् ।
रक्षणे यत्नमातिष्ठेद् यावत्तत्त्वं न पश्यति ॥१९॥

यह सबसे बड़ा पुण्यकर्म है कि, वह सर्वात्मना अर्थात् समस्त साधनों के द्वारा उत्तमोत्तम आचरण द्वारा अपने आत्मा की रक्षा करे। आत्मा के माया, कला, अविद्या, राग, काल और नियति रूप छः शत्रु से आत्मा को बचाये। आत्मा सभी कल्याणों का भाजन है। इसकी रक्षा प्रयत्नपूर्वक करे। यह महा अध्यवसाय तब तक सक्रियतापूर्वक सन्नद्ध होकर करे, जब तक तत्त्व का साक्षात्कार न हो जाय। तत्त्वदर्शन से मनुष्य तत्त्वद्रष्टा और साक्षी हो जाता है। इसलिये आत्मा की रक्षा करते हुये तत्त्वसाक्षात्कार में लग जाय ॥१९॥

पुनर्ग्रामाः पुनः क्षेत्रं पुनर्वित्तं पुनर्गृहम् ।
पुनः शुभाशुभं कर्म न शरीरं पुनः पुनः ॥२०॥

ये ग्राम जिनमें हम रहते हैं, ये घर जिनमें हमारा आवास है, ये क्षेत्र जिनमें हम अपनी सामाजिकता का निर्वाह करते हैं और ये धन, जिनके उपार्जन में हम सारा जीवन खपा देते हैं, ये तो बारम्बार मिलने वाले हैं। पुनः-पुनः इनकी उपलब्धि सम्भव है। हम शुभ और अशुभ कर्म और इनके फल भी बार-बार प्राप्त कर सकते हैं; किन्तु यह शरीर बार-बार नहीं मिल सकता। अतः इसका सदुपयोग सबसे बड़ा कर्त्तव्य है, यह सभी शास्त्र कहते हैं ॥२०॥

शरीररक्षणायासः क्रियते सर्वदा जनैः ।
न हीच्छन्ति तनुत्यागमपि कुष्ठादिरोगतः ॥२१॥

यह एक व्यावहारिक सत्य है कि, सभी मनुष्य सदैव शरीर-रक्षा का उपाय करते हैं और ऐसा आयास करते हैं, जिससे रक्षा पूरी तरह हो, उसमें कोई कमी न रह जाय। कोई यह नहीं चाहता कि, यह प्राप्त शरीर छूट जाय। यहाँ तक कि भयङ्कर राजरोगों से, कुष्ठादि असाध्य रोगों से ग्रस्त भी यह शरीर छोड़ना नहीं चाहते। यद्यपि भयङ्कर कष्ट और सामाजिक अपमान झेलते हैं; किन्तु शरीर के प्रति मोह बना रहता है ॥२१॥

तद्गोपितं स्याद् यत्नेन धर्मो ज्ञानार्थमेव च।
ज्ञानञ्च ध्यानयोगार्थं सोऽचिरात् परिमुच्यते ॥२२॥

इस शरीर-रक्षण का उद्देश्य क्या है? मात्र कष्ट सहन करने के लिये इसकी रक्षा नहीं की जाती, वरन् इसकी रक्षा का लक्ष्य सक्षम स्वस्थ रहते हुए धर्म का आचरण करना है। इसीलिये शरीर-रक्षा भी धर्म माना जाता है। इसका दूसरा लक्ष्य ज्ञानार्जन है। शरीर स्वस्थ रहने पर ही ज्ञान की प्राप्ति की जा सकती है। ज्ञान की उपयोगिता ध्यानयोग में पारङ्गत होना है। ज्ञान द्वारा उपलब्ध ध्यानयोग की पूर्णता प्राप्त हो जाने पर मुक्ति अविलम्ब उपलब्ध हो जाती है ॥२२॥

आत्मैव यदि नात्मानमहितेभ्यो निवारयेत्।
कोऽन्यो हितकरस्तस्मादात्मानं तारयिष्यति ॥२३॥

जीवन को अहित अर्थात् विनाशकारी कार्यों से रोकने का उपदेश सभी शास्त्र करते हैं। प्रश्न है कि, ऐसे अकल्याणकारी दुष्कृत्यों से रोके कौन? भगवान् कहते हैं कि, अहित से निवारण का सबसे बड़ा उत्तरदायित्व आत्मा का ही है। आत्मा ही यदि स्वात्म को बुराई से नहीं रोकेगा तो यह सोचने की बात है कि, भला वह दूसरा आत्मा से बढ़कर कौन हो सकता है, जो स्वयं को इस भवसागर से पार लगा सकेगा, अर्थात् दूसरा कोई नहीं ॥२३॥

इहैव नरकव्याधेश्चिकित्सां न करोति यः।
गत्वा निरौषधं स्थानं व्याधिस्थः किं करिष्यति ॥२४॥

नरक एक प्रकार की महाव्याधि है, जो मृत्यु के उपरान्त प्राप्त होती है। उस महाव्याधि की चिकित्सा इसी जीवन में की जा सकती है। जो व्यक्ति ऐसा नहीं करता, वह बुद्धिमान् नहीं कहा जा सकता। भला महारोगी वहाँ जाकर क्या कर सकता है, जहाँ चिकित्सा का कोई उपचार ही न किया जा सकता हो ? अत: निरन्तर स्वात्म को स्व में स्थित रहने का प्रयत्न अनिवार्यत: आवश्यक है ॥२४॥

सुदीप्तभवने को वा कूपं खनति दुर्म्मतिः।
यावत्तिष्ठति देहोऽयं तावत्तत्त्वं समभ्यसेत् ॥२५॥

भवन में आग लग गयी है। धू-धू कर घर जल रहा है। ऐसी अवस्था में आग बुझाने के लिये तत्काल जल की आवश्यकता होती है, जिससे आग बुझायी जा सके। अफरातफरी में यदि कोई गृहस्वामी कुँआ खोदने की बात करने लगे, तो उसे बुद्धिमान्

नहीं कहा जा सकता। खोजने पर भी ऐसा कोई दुर्मति मूर्ख मिलना कठिन और असम्भव है। तात्पर्य यह कि, घर में आग लगने पर तुरन्त पानी का प्रबन्ध करना ही बुद्धिमानी है। ठीक इसी तरह हमें यह देह मिला हुआ है। इसमें ईर्ष्या, मद, मोह, मात्सर्य, द्वेष इत्यादि दुर्भाव हमेशा आग लगाने में व्यस्त हैं। इसमें बुद्धिमानी यही है कि, इनका तुरन्त निराकरण करते हुए देह रहते ही तत्त्वसाक्षात्कार का अभ्यास कर लिया जाय ॥२५॥

व्याघ्रीवास्ते जरा चायुर्याति भिन्नघटाम्बुवत् ।
निघ्नन्ति रिपुवद्रोगास्तस्माच्छ्रेयः समाचरेत् ॥२६॥

जरा अर्थात् वृद्धावस्था व्याघ्री के समान क्रूर आक्रमण द्वारा प्रतिक्षण शरीर का क्षरण करने में संलग्न है। हमें जो आयु मिली है, उसकी दशा दरक चुके घड़े के समान है, तनिक भी आघात लगा कि, काम तमाम। यह प्रतिक्षण जाने वाली है। इसका कोई ठिकाना नहीं।

शरीर में रोगों का जाल बिछा है। शत्रु के समान वे निरन्तर जीवदेह को ध्वस्त करने में संलग्न हैं। ऐसी स्थिति में बुद्धिमानी का यही कार्य है कि, जब तक देह सक्षम है, हम श्रेय अर्थात् परमकल्याण का आचरण करें। इस जीवन की तभी सफलता मानी जा सकती है ॥२६॥

यावन्नाश्रयते दुःखं यावन्नायान्ति चापदः ।
यावन्नेन्द्रियवैकल्यं तावच्छ्रेयः समाचरेत् ॥२७॥

दुःख और शोक जीवन में वज्रवत् भयप्रद हैं। ये जब तक नहीं आते; विपत्तियाँ मुँह बाये खड़ी हैं। ये जब तक हमें ग्रास नहीं बनातीं और इन्द्रियाँ प्रतिक्षण विषयव्यामोह से जीव को विकल बना रही हैं। जब तक ये देह को शिथिल नहीं बना देतीं; तभी तक कुछ किया जा सकता है। बुद्धिमानी यही है और शास्त्र भी यही निर्देश देते हैं कि, इसी अन्तराल में श्रेयःसाधन को सम्पन्न कर लिया जाय ॥२७॥

कालो न ज्ञायते नानाकार्य्यैः संसारसम्भवैः ।
सुखदुःखरतो जन्तुर्न वेत्ति हितमात्मनः ॥२८॥

संसार की विभिन्न विसंगतियों से ग्रस्त मानव को सांसारिकता से विनिःसृत समस्यायें सर्वदा व्यस्त रखती हैं। अनेकानेक प्रकार के कार्यों में मनुष्य व्यापृत रहता है। परिणामस्वरूप समय की मार से वह विभ्रान्त ही रह जाता है। उसी में आयु समाप्त होने को आती है। यह जान ही नहीं पड़ता कि, अरे ! इतना कालखण्ड कैसे इतना शीघ्र व्यतीत हो गया। सुख के आकर्षण और दुःखों की विक्लवता में मनुष्य इतना खो जाता है कि, हमारा हित कैसे सिद्ध हो सकता है, यही भूल जाता है। जन्तु का यही दुर्भाग्य है। इससे सावधानता आवश्यक है। आत्मकल्याण की बात अवश्य सोचनी चाहिये ॥२८॥

जडानार्त्तान्मृतानापद्गतान् दृष्ट्वाऽतिदुःखितान् ।
लोको मोहसुरां पीत्वा न बिभेति कदाचन ॥२९॥

संसार आश्चर्यों का पिटारा है। यहाँ जिस डाल पर बैठे हैं, उसी को काटने में मूर्खों और जड़ों का जमावड़ा है। यहाँ आर्त्त प्राणियों की पीड़ा है, यह विपत्तियों से बिलबिलाते लोग हैं, यहाँ अत्यन्त दुःखों का खाण्डव वन है, जिसमें जले-झुलसे लोगों का अम्बार है; किन्तु यही तो विस्मय है कि, मोह की मदिरा से मदमत्त जीव जगत् की इस नारकीयता का अनुभव भी उसे नहीं होता। इससे वह तनिक भी भयभीत नहीं होता ॥२९॥

सम्पदः स्वप्नसङ्काशा यौवनं कुसुमोपमम्।
तडिच्चञ्चलमायुश्च कस्य स्याज्जानतो धृतिः ॥३०॥

सांसारिक सम्पत्तियाँ, जिनका इतना आकर्षण है, क्या हैं? यह सोचने की बात है। वस्तुतः वे स्वप्न हैं, आती हैं और सपने की तरह अदृश्य हो जाती हैं। यह फूल के समान खिली जवानी क्या है? उसी की तरह मुर्झा कर झड़ जाने वाली कहानी है। यह आयुष्य? यह तो जन्म, स्थिति और संहार के त्रित्व का तिकड़म है। बिजली की कौंध-सी चमकी और अदृश्य ! शास्त्र कहता है—ऐ जन्म लेकर आत्मविस्मृत पड़े प्रिय आत्मन्! ऐसी अवस्था में किस विचारक जीव को धैर्य रह सकता है? अर्थात् इस क्षणभङ्गुर नश्वरता में अविनश्वर का आत्मदर्शन ही श्रेयस्कर है, यह सोचो ॥३०॥

शतं जीवितमत्यल्पं निद्रा स्यादर्द्धहारिणी।
बाल्यरोगजरादुःखैरर्द्धं तदपि निष्फलम् ॥३१॥

वेद कहता है—'शतं जीवेम शरदः शतम्' इत्यादि। मान लीजिये यदि यही पूर्णायु की सीमा है, तो भी यह समयसीमा अत्यन्त संकुचित है। सोचने की बात है। इसकी आधी सीमा अर्थात् पूरे पचास वर्ष मनुष्य नींद में व्यतीत करने के लिये विवश है। बचे ५० वर्ष, इसमें बालकपन, पौगण्ड, कौमार तो २० वर्ष तक अबोधता में बीत जाते हैं। देखते ही यौवन आता है। इसमें मोह की महामारी, रोगों के भीषण आक्रमण और इसके बाद जीर्ण-शीर्ण बना देने वाली जरा ! अब आप पूरी गणना कर लें। कितना बचता है समय? एक तरह यह पूरा जीवन ही निष्फल व्यतीत हो जाने का भय है। प्रिय आत्मन्! सावधान ! इस संकुचित आयुसीमा के सदुपयोग के लिये सन्नद्ध हो जाइये, इसी में कल्याण है ॥३१॥

प्रारब्धव्ये निरुद्वेगो जागर्त्तव्ये सुषुप्तकः।
विश्वस्तव्यो भयस्थाने घातकैः किं न हन्यते ॥३२॥

कार्य के प्रारम्भ में उत्साहसम्पन्न रहने के स्थान पर पुरुष उद्वेगशून्य हो जाय, उसमें कार्य सम्पन्न करने की तीव्रता का ही अभाव हो जाय और इसी तरह जहाँ लक्ष्य-पूर्ति के लिये सतत जागरूकता और सन्नद्धता अपेक्षित हो, वहाँ वह न केवल तन्द्रिल हो जाय, वरन् सब कुछ छोड़ सुषुप्ति का आश्रय ग्रहण कर ले और इसी तरह भय की जगह जहाँ सन्नद्ध और कटिबद्ध होकर उसका निराकरण करना चाहिये, वहीं वह शत्रु पर ही विश्वास कर ले और हाथ पर हाथ रख बैठा रहे तो कोई कारण नहीं कि, वह शत्रुओं द्वारा जान से ही हाथ न धो बैठे, अर्थात् ऐसे मनुष्य का विनाश अवश्यम्भावी है ॥३२॥

तोयफेनसमे देहे जीवे शकुनिवत् स्थिते।
अनित्येऽप्रियसंसारे कथं तिष्ठन्ति निर्भयाः ॥३३॥

जल में फेन पैदा होते हैं और हवा के थपेडों से फूटते तथा ध्वस्त होते हैं। यह फेन की नियति है। यह शरीर भी ऐसा ही है। जल के विकार से पार्थिवता और पार्थिवता का विकार यह शरीर है। इस शरीररूपी घोंसले में पक्षी की तरह जीव को अपना आवास बना बनाया मिल गया है। एक तो संसार ही अनित्य है। फलतः यहाँ की सारी वस्तुएँ भी अनित्य मानी जाती हैं। दूसरे इसमें प्रियता की झलक पाना भी दुष्कर कार्य है। ऐसी दशा में जीव यहाँ कैसे निर्भय होकर निवास कर सकता है? अर्थात् निर्भय निवास करना असम्भव है ॥३३॥

अहिते हितबुद्धिः स्यादध्रुवे ध्रुवचिन्तकः।
अनर्थे चार्थविज्ञानी स्वमृत्युं यो न वेत्ति च ॥३४॥

अहित में हित की बुद्धि मूर्खता का लक्षण है। जो पदार्थ ध्रुव नहीं, अर्थात् अनित्य है, उसमें ध्रुव की भावना रखना भी जड़ता की ही पहचान है। जिससे निश्चय ही अनर्थ की सम्भावना है, उससे अपने अर्थ और उद्देश्य सिद्धि की बात करना भी शून्य बुद्धि मनुष्य का ही लक्षण है। ऐसे परले सिरे के मूर्ख वही होते हैं, जिन्हें अपने विनाश की भी खबर नहीं, वे अवश्य ही मृत्यु के शिकार होते हैं। यह दुर्भाग्य ही है कि, वे अपनी मृत्यु को भी नहीं पहचानते ॥३४॥

पश्यन्नपि न पश्येत् स शृण्वन्नपि न बुध्यति।
पठन्नपि न जानाति तव मायाविमोहितः ॥३५॥

देखते हुए भी जो देख न सके, सुनकर भी जो गुनता नहीं और अबोध बना बैठा रहता है और स्वाध्यायशील रहते हुए भी रहस्य की जानकारी से वंचित रहता है, उसके विषय में यही कहा जा सकता है कि, हे प्रभु, यह आपकी दुरत्यया माया के महाप्रभाव से ही विमुग्ध है ॥३५॥

सन्निमज्जज्जगदिदं गम्भीरे कालसागरे।
मृत्युरोगजराग्राहे न किञ्चिदपि बुध्यति ॥३६॥

समय का सागर बड़ा गहरा है। इसका थाह नहीं। यह सारा संसार इसी काले सागर में उभ-चुभ हो रहा है, डूब रहा है। इसके साथ एक और धोखे की बात खल रही है। इसमें मृत्यु, रोग और जरा के ग्राह जीव को उसी दशा में निगल जाने को आकुल हैं। ऐसी दशा में भी जीव इस भयावह विपत्ति से बचाव के उपाय से उदास है। अपने सर्वनाश को भी कुछ नहीं जानता ॥३६॥

प्रतिक्षणमयं कायो जीर्यमाणो न लक्ष्यते।
आमकुम्भ इवाम्भःस्थो विशीर्णो नैव भाव्यते ॥३७॥

यह कलित कलेवर प्रतिक्षण कण-कण कर क्षीण होता चला जा रहा है। अन्त में जरा से जीर्यमाण हो रहा है, फिर भी जड़ मनुष्य को कुछ सूझ नहीं रहा है। घड़ा अभी कच्चा ही रखा गया है। उसमें किसी ने जल डाल दिया है। वह घुल-घुल कर समाप्त हो रहा है। यह दु:ख की ही बात है कि, उसकी अन्तिम परिणति का आभास भी इसे नहीं हो रहा है ॥३७॥

युज्यते वेष्टनं वायोराकाशस्य च खण्डनम्।
ग्रथनञ्च तरङ्गाणामास्था नायुषि युज्यते ॥३८॥

वायु को आवृत कर लेना सम्भव है। अखण्ड आकाश का खण्डन भी संभावित माना जा सकता है। तरंगमाला को एक सूत्र में ग्रथित करने की बात मानी जा सकती है। ऐसे असम्भव की संभाव्यता पर विश्वास किया जा सकता है; किन्तु आयुष्य शाश्वत है। इस पर विश्वास नहीं किया जा सकता ॥३८॥

पृथिवी दह्यते येन मेरुश्चापि विशीर्यते।
शुष्यते सागरजलं शरीरे देवि का कथा ॥३९॥

प्रिये पार्वति ! जिस महाप्रलयकालीन अकाण्ड ताण्डव में पृथ्वी जलकर राख हो जाती है। मेरु पर्वत भी टूट-टूट कर बिखर जाता है और इस अपरंपार उर्मिल उदन्वान् अर्णव को भी सूख जाना पड़ता है, तो इस क्षुद्र शरीर के सम्बन्ध में क्या कहा जा सकता है? ॥३९॥

अपत्यं मे कलत्रं मे धनं मे बान्धवाश्च मे।
लपन्तमिति मर्त्त्यं हि हन्ति कालवृको बलात् ॥४०॥

यह मेरा पुत्र है, यह मेरी स्त्री है और इतना धनोपार्जन मैंने किया है, अत: यह धन मेरा है, ये लोग मेरे बन्धु-बान्धव हैं, इस तरह की ममतामयी मायात्मक विकृतियों से ग्रस्त मानव अपने महत्त्व का चतुर्दिक् प्रचार करता है। यह अनुभूत सत्य है कि, इस प्रकार के बखान करने वाले मर्त्यधर्मा मनुष्यों को काल का खूंखार भेड़िया घात लगाकर आक्रमण कर मार डालता है। अत: विचारकों को इस सत्य के प्रति सावधान रहना चाहिये ॥४०॥

इदं कृतमिदं कार्य्यमिदमन्यत् कृताकृतम्।
एवमीहासमायुक्तं मृत्युरत्ति जनं प्रिये ॥४१॥

मैंने इतना कार्य सम्पन्न कर लिया। अब आगे यह मेरा उद्देश्यरूप करणीय कार्य है, जिसे करना है। अभी तक इतनी मंजिल पार कर ली गयी। आगे अभी इतना अधूरा पड़ा काम भी पूरा करना है। इस प्रकार के अभिलाषों के ऊहापोह में पड़े मनुष्य को प्रिये पार्वति ! मृत्यु अपना ग्रास बना लेती है ॥४१॥

श्वःकार्य्यमद्य कर्त्तव्यं पूर्वाह्णे चापराह्णिकम्।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतं वाऽस्य न वा कृतम् ॥४२॥

आज मैं यह कार्य करने जा रहा हूँ। यह आवश्यक कर्त्तव्य है। कल मुझे यह करना है। इसी प्रकार कार्यक्रम के साथ मोहग्रस्त प्राणी पूर्वार्द्ध और दिन के उत्तरार्द्ध का भाग कर भी कार्यक्रम निर्धारित करता है। यह प्राणी तो काल की खण्डात्मक कलाओं की कलना में ही व्याकुल है। उधर मृत्यु भी खड़ी है। इससे बेखबर वह खप रहा है। वह यह नहीं जानता कि, मृत्यु कभी काल की प्रतीक्षा नहीं करती। वह यह नहीं देखती कि, इस मनुष्य के कितने कार्य हो चुके हैं और कौन भविष्य में करणीय शेष हैं ॥४२॥

जरादर्शितपन्थानं प्रचण्डव्याधिसैनिकम्।
मृत्युशत्रुमभिज्ञोऽसि आयान्तं किं न पश्यसि ॥४३॥

प्रचण्ड और राजरोगरूप विख्यात असाध्य व्याधियाँ मृत्यु के सैनिक हैं। उनका मार्गदर्शन जरावस्था करती है। शास्त्र सावधान कर रहा है कि, प्रिय आत्मन्! तुम्हें तो बुद्धि का वरदान प्राप्त है। क्या तुम मृत्यु के सैनिक अभियान को अर्थात् तेजी से आक्रमण कर आने वाले इस शत्रुरूप आक्रान्ता मृत्यु को नहीं देख रहे हो? अर्थात् यदि अब तक इस पर विचार नहीं किया है, तो अब भी समय है, सावधान हो जाओ ॥४३॥

आशासूचीविनिर्भिन्नं सिक्तं विषयसर्पिषा।
रागद्वेषानले पक्वं मृत्युरश्नाति मानवम् ॥४४॥

मृत्यु मानव को अपना खाद्य पदार्थ मानती है। खाद्य पदार्थ टुकड़े-टुकड़े कर काट-पीट कर घी में छौंक लगा और आग में भूनकर खाने की प्रथा है। उसी तरह आशा की नुकीली कर्त्तरी मानव को पहले विनिर्भिन्न करती है, उसे खण्डित कर देती है। फिर विषय राशि रूपी सर्पिष् (घी) से छौंक लगाती है। राग-द्वेष की आग में उसे पकाती है। ऐसे सुन्दर और स्वादिष्ट पक्वान्न का मृत्यु स्वयं भोग लगा लेती है ॥४४॥

बालांश्च यौवनस्थांश्च वृद्धान् गर्भगतानपि।
सर्वान् संविशते मृत्युरेवम्भूतमिदं जगत् ॥४५॥

मृत्यु अपने शिकार पर कभी कृपा नहीं करती। उसकी भयंकर भूख बालक, युवा, वृद्ध, गर्भस्थ शिशु और डिम्भों का भेद नहीं करती। समान रूप से सबका ग्रास बनाती और हिंसापूर्वक इन्हें अपना शिकार बना डालती है। इस दृष्टि से विचार करने पर यह ज्ञान होता है कि, इस मृत्यु की डाढ़ में फँसे इस विश्व की यही नियति है ॥४५॥

ब्रह्मविष्णुमहेशादिदेवता भूतजातयः।
नाशमेवानुधावन्ति तस्माच्छ्रेयः समाचरेत् ॥४६॥

शास्त्र कहता है—मेरे प्रिय आत्मन्! आप भूत, प्रेत, पिशाचों, यक्षों, गन्धर्वों आदि की बात तो कीजिये ही मत। यहाँ तो ब्रह्मा, विष्णु और महेश जैसे सृष्टि, स्थिति और संहार के अधिकारी भी अपनी निर्धारित कालसीमा के साथ सर्वनाश के, प्रलय के आलिङ्गन के लिये आकुल और विह्वल भाव से धावमान हैं। ऐसी दशा में हमारा यह कर्त्तव्य बनता है कि, हम जीवित काल-कला में कालकवलित होने के पहले जो समय

बचा है, इसमें अपने कल्याण के कार्य में लग जाँय। आत्मोत्कर्षसाधक आचरण करें ॥४६॥

स्वस्ववर्णाश्रमाचारलङ्घनाद्दुष्प्रतिग्रहात् ।
परस्त्रीधनलोभाच्च नृणामायुःक्षयो भवेत् ॥४७॥

मनुष्य की आयुसीमा तो स्वयं सीमित है। कुछ ऐसे कारण हैं, जिनसे आयुष्य के विनाश में सहायता मिलती है। इनसे अनिवार्यतः बचना चाहिये। वे कारण हैं—१. अपने-अपने वर्ण आश्रम के निर्धारित कार्यों का उल्लङ्घन, २. दुष्प्रतिग्रह (किसी वस्तु को हठपूर्वक हड़प लेना) और ३. दूसरे की स्त्री और दूसरे के कमाये धन का लोभ। इनसे बचकर जीवन में उत्कृष्ट आचरण करना ही श्रेयस्कर है ॥४७॥

वेदशास्त्राद्यनभ्यासात्तथैव गुर्वनर्चनात् ।
नृणामायुःक्षयो भूयादिन्द्रियाणामनिग्रहात् ॥४८॥

इनके अतिरिक्त भी आयुष्यक्षयकारक बहुत ऐसे कार्य हैं, जिनकी ओर शास्त्र हमारा ध्यान आकृष्ट कर रहा है। जैसे १. वेदों और शास्त्रों का अनभ्यास। इनके अनभ्यास से मानव जीवन-विज्ञान के ज्ञान से वंचित रहकर दुष्कर्म में प्रवृत्त हो जाता है। २. जिनसे ज्ञान की प्राप्ति होती है, ऐसे आचार्य और गुरु की अवहेलना और ३. इन्द्रियों का अनिग्रह। इन्द्रियों को खुली छूट देने से व्यक्ति आचरणभ्रष्ट हो जाता है और दुराचारी मनुष्य की आयु का क्षय होना स्वाभाविक है ॥४८॥

व्याधिराधिर्विषं शस्त्रं ना सर्पः पशवो मृगाः ।
मरणं येन निर्दिष्टं तेन गच्छन्ति जन्तवः ॥४९॥

जीवों की मृत्यु निर्धारित है। शास्त्र भी इसे निर्दिष्ट करते हैं। जिन कारणों से मृत्यु का निर्देश शास्त्र करते हैं, उनमें प्रधानतया इन कारणों की गणना की जाती है। जैसे १. व्याधि (रोग), २. आधि (प्राकृतिक विपत्ति), ३. विष (जहर), ४. मनुष्य (घातक); ५. सर्प, ६. पशु (हिंसक आदि; पालतू पशुओं से भी खतरा रहता ही है), ७. मृग (वन्य जीव)। मृत्यु अपने निर्धारित कारण से ही होती है। प्राणी उसी पथ से प्रयाण करते हैं ॥४९॥

जीवस्तृणजलौकेव देहाद्देहान्तरं व्रजेत् ।
सम्प्राप्य परमंशेन देहं त्यजति पूर्वजम् ॥५०॥

प्रायः देखा जाता है कि, घास और खरपतवार की हरी पत्तियों पर एक विशेष प्रकार के जीव जो कीट जाति के होते हैं और जिन्हें तृणजलौका कहते हैं। वे आगे बढ़कर पीछे से सरककर गोलपृष्ठ हो जाते हैं, वे एक पत्र से दूसरे पर, एक पौधे से दूसरे पर चलते रहते हैं।

उसी तरह यह जीव भी एक देह का परित्याग कर देहान्तर का आश्रय लेता रहता है। अंशरूप से अन्य शरीर को पाकर पूर्वप्राप्त देह का यह परित्याग कर देता है। यही इसकी नियति है ॥५०॥

बाल्ययौवनवृद्धत्वं यथा देहान्तरादिकम् ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्गृहाद्गृहमिवागतः ॥५१॥

पहले शैशव, बालकपन, पौगण्ड, कौमार, यौवनादि अवस्थाओं को पार कर जीवदेह जरा को और इसके बाद मृत्यु और पुनः देहान्तर को प्राप्त करता है, यह देहान्तरप्राप्ति वैसी ही है, जैसे मनुष्य एक घर छोड़कर दूसरे घर में प्रवेश करता है और वहीं रहने लगता है ॥५१॥

जनाः कृत्वेह कर्माणि सुखदुखाःनि भुञ्जते ।
परत्राज्ञानिनो देवि यान्त्यायान्ति पुनः पुनः ॥५२॥

मनुष्य यहाँ कर्म करता है। वह उसका क्रियमाण कर्म है। वही कर्म संचित होते रहते हैं। ये प्रारब्ध बनकर फल देना प्रारम्भ करते हैं। उन्हीं के अनुसार प्राणी सुख और दुःखों का अनुभव करते रहते हैं। कर्म का यही रहस्य है। (इस कर्म फल जाल से ज्ञानी तो मुक्त हो जाते हैं किन्तु) अज्ञानी मोहग्रस्त कर्म करने वाले लोग एक देह से परत्र अर्थात् दूसरे देह में जाने के अभिशाप से अभिशप्त हो जाते हैं ॥५२॥

इह यत् क्रियते कर्म तत् परत्रोपभुज्यते ।
सिक्तमूलस्य वृक्षस्य फलं शाखासु दृश्यते ॥५३॥

मर्त्यलोक में जो कर्म किये जाते हैं, परलोक में उन्हीं कर्मों के फल भोगने पड़ते हैं। उदाहरण रूप में यह देखा जाता है कि जिस अंकुर को और उसके पौधे को सींच-सींच कर वृक्ष के रूप में विकसित किया जाता है, उनके फल, मूल बीज के पास नहीं वरन् शाखाओं में ही लगते हैं। अर्थात् मर्त्यलोक के कर्मबीजों की शाखायें ही परलोक-रूप हैं ॥५३॥

दारिद्र्यदुःखरोगाश्च बन्धनव्यसनानि च ।
आत्मापराधवृक्षस्य फलान्येतानि देहिनाम् ॥५४॥

मानव द्वारा स्वयं किये हुए प्रज्ञापराध, देवापराध और कर्मापराध रूप पाप ही बढ़कर वृक्ष बन जाते हैं। इन वृक्षों से प्राणियों को जो फल मिलते हैं, उन्हें नीचे लिखे अनुसार पहचानना चाहिये। जैसे—१. दरिद्रता, २. अनेकानेक प्रकार के भयंकर रोग, ३. अनेक प्रकार के बन्धन और अनेक प्रकार के ४. दुर्व्यसन। ये चार प्रकार के फल आत्मापराध वृक्ष से ही उत्पन्न होते हैं ॥५४॥

निःसङ्ग एव मोक्षः स्याद्दोषाः सर्वे च सङ्गजाः ।
तस्मात् सङ्गं परित्यज्य तत्त्वनिष्ठः सुखी भवेत् ॥
सङ्गाच्च चलते ज्ञानी चावश्यं किमुताल्पवित् ॥५५॥

वास्तव में संगरूप आसक्ति से ही दोषों की उत्पत्ति और तदनुकूल-प्रतिकूल फलों की प्राप्ति होती है। इसलिये यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि, अनासक्तिरूप

निःसंग भाव ही मोक्ष है। इसलिये संग का परित्याग आवश्यक है। निःसंग पुरुष ही तत्त्वनिष्ठ होता है और तत्त्वनिष्ठ पुरुष ही वस्तुतः सुखी माना जाता है। इसमें सावधानी और जागरूकता आवश्यक है। ज्ञानी व्यक्ति भी संग से चलायमान हो जाते हैं। ऐसी दशा में अल्पज्ञ सामान्य जनों की क्या स्थिति हो सकती है, यह विचारणीय विषय है ॥५५॥

सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्त्यक्तुं न शक्यते।
सद्भिः सह स कर्त्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम् ॥५६॥

इसलिये शास्त्र यह निर्देश देता है कि, संग का सर्वतोभावेन परित्याग करना चाहिये। यदि यह परित्यक्त नहीं किया जा सकता, तो इसका एकमात्र उपाय यही है कि, यह सज्जनों के साथ ही करे। "सन्त और सज्जन पुरुषों की संगति संसाररूपी रोग की महौषधि है।" यह ध्रुव सत्य सिद्धान्त है ॥५६॥

सत्सङ्गश्च विवेकश्च निर्मलं नयनद्वयम्।
यस्य नास्ति नरः सोऽन्धः कथं न स्यादमार्गगः ॥५७॥

सत्संग और विवेक ये दोनों व्यक्ति की दो आँखों के समान हैं। ये दोनों जिसके पास हैं, वही तत्त्वदर्शन कर सकता है। जिसके पास ये दोनों आँखें नहीं हैं, सच पूछा जाय तो वही अन्धा है। अन्धा व्यक्ति कुमार्गगामी हो जाय, यह तो स्वाभाविक ही है ॥५७॥

यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान्मनसः प्रियान्।
तावन्तोऽस्य विशन्त्येते हृदये शोकशङ्कवः ॥५८॥

संसार में रहते हुए प्राणी जितना ही मन को प्रिय लगने वाली बातों से सम्बन्धों को बढ़ाता जाता है, उतना ही विषयजन्य कर्कश कीलें उसके हृदय में गहरायी में घुसते हुए घाव करती जाती हैं। अतः शोक-शंकुओं से बचने का एकमात्र उपाय मन को नियन्त्रित करना है। अर्थात् मनोनिग्रह से ही शाश्वत शान्ति मिलती है ॥५८॥

स्वदेहमपि जीवोऽयं त्यक्त्वा याति कुलेश्वरि।
स्त्रीमातृपितृपुत्रादिसम्बन्धः केन हेतुना ॥५९॥

भगवान् कहते हैं कि—कुलरूप विश्वप्रसार की स्वामिनी प्रिये पार्वति! जब जीव स्वयं, जो शरीर उसे स्वतः उपलब्ध है, उसे ही छोड़कर यहाँ से महाप्रयाण करने को विवश है, फिर यह पूछा जा सकता है कि, ये स्त्री, पुत्र, माता, पिता आदि सम्बन्धों को किस हेतु पालता और आजीवन निभाता ही जाता है? ॥५९॥

दुःखमूलो हि संसारः स यस्यास्ति स दुःखितः।
तस्य त्यागः कृतो येन स सुखी नापरः प्रिये ॥६०॥

संसार की बनावट ही ऐसी है। इसकी जड़ में ही दुःख के बीज विद्यमान हैं। जिसके पास जितनी मात्रा में संसार है, उतनी ही मात्रा में उसके पास दुःख है। वह उतना ही दुःखित है। यह अनुभूत सत्य है कि, जो पुरुष जितनी मात्रा में ही इसका त्याग करता है, वह उतना ही सुखी होता है। भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! संसार का त्याग सर्वोत्तम सुख है। जिसने इसका त्याग कर दिया है, वस्तुतः वही सुखी है। दूसरा अत्यागी सुखी नहीं कहा जा सकता ॥६०॥

प्रभवं सर्वदुःखानामाश्रयं सकलापदाम्।
आलयं सर्वपापानां संसारं वर्जयेत् प्रिये ॥६१॥

संसार को परिभाषित करते हुए भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, प्रिये ! यह संसार ही समस्त दुःखों का उत्पत्ति-स्थान है। सकल प्रकारक भीषणतम आपदाओं का यही आश्रय स्थल है। सभी पापों का यह आगार है। इसलिये प्राणी का पावन कर्त्तव्य है कि, वह सजग रहते हुए इसका हृदय से परित्याग करे, जिससे परमार्थ सुख ही सुख मिल सके ॥६१॥

अबन्धबन्धनं घोरं मिश्रीकृतमहाविषम्।
अशस्त्रखण्डनं देवि संसारासक्तचेतसाम् ॥६२॥

संसार में जिनका चित्त आसक्त है, उन प्राणियों की दशा अत्यन्त सोचनीय हो जाती है। व्याध की रस्सी को अपने ही चंगुल में दबाकर उस पर बैठा पक्षी सोचता है, मैं तो बुरी तरह फँसा। उसे छोड़कर उड़ नहीं पाता और व्याध का शिकार हो जाता है। यह उसका अबन्ध बन्धन है। उसी तरह जगत् का जीव बिना बन्धन के ही बँधा हुआ मूर्ख पक्षी है।

उसके जीवन का एक दूसरा पक्ष और भी दयनीय होता है। उसके अमृत जीवन में जहर घुल जाता है और इस जहर से वह बेखबर रहता हुआ घुल-घुलकर मरने के लिये लाचार हो जाता है।

एक और दर्दभरी कहानी राज़ बनकर उसकी जिन्दगी को तबाह करती रहती है। उसकी तकदीर के टुकड़े-टुकड़े होने से कोई तदबीर नहीं बचा पाती, मगर अचरज तो इस बात का है कि, इस बदहवाली का सबब कोई हथियार नहीं, उसकी दुनियावी दस्तूर होती है। इसलिये अपना बचाव ही शख्स के लिये जरूरी है ॥६२॥

आदिमध्यावसानेषु सर्वं दुःखमिदं यतः।
तस्मात् सन्त्यज्य संसारं तत्त्वनिष्ठः सुखी भवेत् ॥६३॥

जागतिक जीवन के प्रारम्भिक काल को यदि देखें तो वहाँ भी दुःखों की छाया का आभास मिलता है। इस मध्य का अर्थात् जीवन के उत्कर्ष काल के रूप में मिले यौवन को लें तो वहाँ यह देखने को मिलता है कि, आशाओं, चिन्ताओं और विघ्न-बाधाओं के अभिशाप इस मध्यकाल को भी दुःखमय बना रहे हैं। अवसान की तो बात ही अलग

है। जराजीर्ण शरीर पराश्रय पर निर्भर करता है। परमुखापेक्षी होकर जीने को जीव विवश हो जाता है। इसलिये तत्त्वनिष्ठ भाग्यशाली पुरुष इसका परित्याग कर सुखी हो जाये, यही शास्त्र का उपदेश, आदेश और निर्देश है ॥६३॥

लौहदारुमयैः पाशैर्दृढबन्धोऽपि मुच्यते।
स्त्रीधनादिषु संसक्तो मुच्यते न कदाचन ॥६४॥

लोहे की बेड़ियों और हथकड़ियों का बन्धन हो, किसी लकड़ी से निर्मित दारुबन्ध हो, ये सभी महाभीषण बन्धन हैं। ऐसे पाश भी खुल जाते हैं और इनकी जकड़ ढीली पड़ते ही पाशबद्ध पुरुष मुक्त हो जाता है।

भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! किन्तु स्त्री और पुत्र आदि के व्यामोह से मुग्ध और धन आदि नश्वर वस्तुओं के लोभ से लुब्ध मनुष्य का यह मोह और लोभ आदि रूप पाश कभी ढीला नहीं पड़ता। अतः इन बन्धनों से बँधा मनुष्य कभी मुक्त नहीं हो पाता ॥६४॥

कुटुम्बचिन्तायुक्तस्य श्रुतशीलादयो गुणाः।
अपक्वकुम्भजलवद् नश्यन्त्यङ्गेन केवलम् ॥६५॥

कुटुम्ब और परिवार आदि की चिन्ता में संलग्न रहने वाले पुरुष के श्रुत को ग्रहण करने की ग्राहिका शक्ति के और सदाचारादि गुणों के मूलभूत गुण शील आदि गुण उसी प्रकार विगलित हो जाते हैं जैसे अपक्व अर्थात् कच्चे मिट्टी के घड़े में जल डाल देने पर वह कच्चा घड़ा अपने पूरे रूप और आकार के प्रतीक अंगों के साथ ही विगलित हो जाता है और मिट्टी का मिट्टी ही बना रह जाता है ॥६५॥

वञ्चिताशेषवित्तैस्तैर्नित्यं लोको विनाशितः।
हा हन्त विषयाहारैर्देहस्थेन्द्रियतस्करैः ॥६६॥

इस शरीर में ही रहने वाले कुछ तस्करों के प्रति भगवान् संसार को सावधान कर रहे हैं। प्राणी का शरीर आत्मा की उपलब्धि का साधन है। पर दुर्भाग्य यह है कि, इसमें कुछ ऐसे चोर घर कर गये हैं, जिनसे पूरा लोक ही विनाश का शिकार हो रहा है। उन चोरों को इन्द्रिय-तस्कर कहते हैं। देह की दश इन्द्रियाँ ही वे चोर हैं। इनका आहार विषयराशि है। पञ्चमहाभूत और पञ्चतन्मात्रायें ही इनकी भोजन हैं, जिनको खाकर ये जी रही हैं। इन्होंने मर्त्य प्राणियों के समग्र चित्त समुदाय को अपने वश में कर लिया है। यह चिन्त्य और शोक का विषय है कि, चिन्तन के सारे मार्गों के अवरुद्ध हो जाने के कारण सारा लोक विनाशलीला का कलङ्क भोग रहा है ॥६६॥

मांसलुब्धो यथा मत्स्यो लौहशङ्कुं न पश्यति।
सुखलुब्धस्तथा देही यमबाधां न पश्यति ॥६७॥

मछली पकड़ने वाले वंशी के अंकुश में केंचुए सदृश कीड़ों को फँसा देते हैं।

उनके मांस को खाने की लालच में पड़ी मछलियाँ लौहशंकु के धोखे को भाँप नहीं पातीं और उन्हें पूरी तरह निगल कर फँस जाती हैं। फलतः प्राणों से हाथ धोना पड़ता है।

उसी तरह मनुष्य भी ऐन्द्रियिक सुखभोग की लालच में फँस जाता है। वह यह सोच भी नहीं पाता कि, यम का मृत्युरूप लौहशंकु उसमें पड़ा हुआ है। परिणामतः प्राणी भी जमडाढ़ के जकड़नभरे जबड़े में पड़कर मरण का ही वरण करने को विवश हो जाता है ॥६७॥

हिताहितं न जानन्तो नित्यमुन्मार्गगामिनः ।
कुक्षिपूरणनिष्ठा ये तेऽबुधा नारकाः प्रिये ॥६८॥

भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! नारकीय प्राणियों की यही पहचान है—१. वे हित-अहित की बात जानते ही नहीं। २. नित्य उन्मार्गगामी ये पुरुष सन्मार्ग की ओर ताकते तक नहीं। ३. ये सभी अपने पापी पेट को भरने के फेर में पापाचरण से भी दूर नहीं रहते। ये सचमुच मूर्ख और अबोध होते हैं ॥६८॥

निद्रादिमैथुनाहाराः सर्वेषां प्राणिनां समाः ।
ज्ञानवान् मानवः प्रोक्तो ज्ञानहीनः पशुः प्रिये ॥६९॥

विश्व में सभी प्राणी आहार, निद्रा, भय और मैथुन इन चार दृष्टियों से समान माने जाते हैं। ज्ञानी और अज्ञानी पशु-पक्षी और मनुष्य आदि इन चारों बातों में एक रूप से ही व्यवहार करते हैं। इसमें इन चारों के मूल रहस्य का जानकार मानव ही ज्ञानवान् कहलाता है। जो व्यक्ति या प्राणी इस रहस्यज्ञान से शून्य है, वही अज्ञानी पशु माना जाता है ॥६९॥

प्रभाते मलमूत्राभ्यां क्षुत्तृड्भ्यां मध्यगे रवौ ।
रात्रौ मदननिद्राभ्यां बाध्यन्ते मानवाः प्रिये ॥७०॥

मनुष्यों में कुछ ऐसी विशेषतायें हैं, जिनके कारण उनकी साधना बाधित होती रहती है। जैसे प्रातःकाल उन्हें सब कुछ छोड़कर मल-मूत्रोत्सर्ग में लगना ही पड़ता है। दिन चढ़ते उसे भूख और प्यास सताने को तैयार रहते हैं। जहाँ तक रात का प्रश्न है, उसे कामवासना की शान्ति की चिन्ता और नींद, ये दोनों दबोच लेते हैं। भगवान् कहते हैं—प्रिये ! बताओ ये बिचार चिन्तन कब करें? इन बाधाओं पर विजय करना ही साधना का आधार है ॥७०॥

स्वदेहधर्म्मदारादिनिरताः सर्वजन्तवः ।
जायन्ते च म्रियन्ते च हा हन्ताज्ञानमोहिताः ॥७१॥

विश्वप्रसार में प्रसृत सारी जीवराशि १. अपने शरीर, २. अपने-अपने धर्म और ३. स्त्री आदि के फेर में ही पड़े रह जाते हैं। इसी क्रम में वे जन्म लेते, सोचते, खाते-पीते और जराजीर्ण होकर मरण के शरण में समा जाने को विवश हैं। यह शोक का विषय है कि, वे अज्ञान के आवरण से आवृत और मोहमुग्ध ही रह जाते हैं ॥७१॥

स्वस्ववर्णाश्रमाचारनिरताः सर्वमानवाः ।
न जानन्ति परं तत्त्वं मूढा नश्यन्ति पार्वति ॥७२॥

सब के अपने-अपने वर्ण हैं। अपने-अपने आश्रम हैं। इनके पृथक्-पृथक् आचार हैं। सभी मानव इसमें ही निरत हैं। यह कष्ट की बात है कि, ये परमतत्त्व को जान ही नहीं पाते। भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! तत्त्वसाक्षात्कार से वंचित इन प्राणियों का जीवन भी मृत्युतुल्य ही है। इसी में ये मरते रहते हैं ॥७२॥

क्रियायासपराः केचित् क्रतुचर्य्यादिसंयुताः ।
अज्ञानसंयुतात्मानः सञ्चरन्ति प्रतारकाः ॥७३॥

कुछ ऐसे लोग हैं, जो क्रियायोग के विविध प्रकार के तत्त्व को समझने के पहले ही अपने आयास का प्रदर्शन कर लोगों को प्रवंचित करने में लीन रहते हैं। कुछ ऐसे भी हैं, जो क्रतु अर्थात् देवयाग, नृयाग आदि की चर्या का ही आडम्बर करने में निरत हैं। दुःख तो इस बात का है कि, वे स्वयं अज्ञानी होते हैं। उन्हें तत्त्वसाक्षात्कार नहीं होता। उनकी आत्मा अज्ञान के आवरण से संयुत अर्थात् आवृत होती है। भोले-भाले लोगों की प्रतारणा में निरत वे इसी उद्देश्य के लिये इधर-उधर संचार करते रहते हैं ॥७३॥

नाममात्रेण सन्तुष्टाः कर्म्मकाण्डरता नराः ।
मन्त्रोच्चारणहोमाद्यैर्भ्रामिताः क्रतुविस्तरैः ॥७४॥

उनका बड़ा नाम है। वे कविराज हैं—इसी प्रसिद्धि में वे आनन्द का अनुभव करते हैं। रात-दिन कर्मकाण्ड अर्थात् बाह्य पूजा में समय का यापन करने में लगे हैं। तरह-तरह के क्रतुओं के विस्तार में निरत ऐसे लोग मन्त्रों का सस्वर पाठ करते, कराते और तन्निमित्तक होम, आरार्त्तिक्य, दक्षिणा आदि में ही वे विभ्रान्त और माया द्वारा भ्रामित रह जाते हैं ॥७४॥

एकभक्तोपवासाद्यैर्नियमैः कायशोषणैः ।
मूढाः परोक्षमिच्छन्ति तव मायाविमोहिताः ॥७५॥

भगवान् कहते हैं, शक्ति की प्रतीक प्रिये पार्वति, तुम्हारी माया भी बड़ी विचित्र है। उसी से विमुग्ध होकर वे प्रत्यक्ष रूप से बड़ा प्रदर्शन करते हैं। जैसे कुछ ऐसे हैं, जो यह प्रचारित करते रहते हैं कि, मैं तो दिन में एक बार ही कुछ प्रसाद पाता हूँ और कुछ अपने उपवास का प्रचार करते हैं। कुछ ऐसे भी हैं, जो अपने को ऐसे नियमों के परिवेश में प्रचारित करते हैं कि, उनका प्रचार हो। कुछ अपने शरीर को सुखाकर ही नाम कमा लेना चाहते हैं। ऐसे मूर्ख प्रतारक इन प्रत्यक्ष कार्यों से परोक्ष तत्त्वज्ञान को पा लेने का आडम्बर रचते हैं। शायद भीतर ही भीतर यह भी सोचते हों कि, हमें इन्हीं चर्याओं से चिन्मय चेतना मिल जाय ॥७५॥

देहदण्डनमात्रेण का मुक्तिरविवेकिनाम् ।
वल्मीकताडनाद्देवि मृतः किन्नु महोरगः ॥७६॥

भला देह को यन्त्रणा देने से ही उन्हें कौन मुक्ति मिल सकती है। यह निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि, ऐसे लोग नितान्त अविवेकी हैं। उन्हें विवेक-बोध का प्रकाश मिल नहीं सका है। यह सोचने की बात है कि, वल्मीकरूप मिट्टी के ढूहे को पीटने से क्या मृत्यु का कालसर्प मर सकता है। देह वल्मीकरूप है। इसको पीडित करने से मृत्युजित कोई नहीं हो सकता ॥७६॥

धनाहारार्जने युक्ता दाम्भिका वेषधारिणः।
भ्रमन्ति ज्ञानिवल्लोके भ्रामयन्ति जनानपि ॥७७॥

कुछ ऐसे दाम्भिक छद्म साधुवेषधारी यहाँ विचरण करते हैं, जो दूसरों के धना-पहरण की ही कमाई पर जीवन-यापन करते हैं। ये लोक के कलंक हैं। लोक में ज्ञानी के समान होने का ढोङ रचते हैं। अपने तो विभ्रान्त हैं ही, लोगों को भी विभ्रान्त करते हैं ॥७७॥

सांसारिकसुखासक्तं ब्रह्मज्ञोऽस्मीति वादिनम्।
कर्मब्रह्मोभयभ्रष्टं तं त्यजेदन्त्यजं यथा ॥७८॥

स्वयं सांसारिक सुखों में आसक्त रहते हैं। सर्वत्र यह प्रचारित करते हैं कि, वे ही वस्तुतः ब्रह्मवेत्ता हैं। प्रथमतः तो वे कर्म से भ्रष्ट होते हैं, इस प्रकार असत्य प्रदर्शन के कारण ब्रह्म के स्तर से भी भ्रष्ट हो जाते हैं। ऐसे ढोङियों का उसी प्रकार बहिष्कार करना चाहिये, जैसे कर्महीन नीच का बहिष्कार किया जाता है ॥७८॥

गृहारण्यसमा लोके गतव्रीडा दिगम्बराः।
चरन्ति गर्दभाद्याश्च योगिनस्ते भवन्ति किम् ॥७९॥

पशुओं की स्थिति पर विचार करें। गर्दभ आदि जड़ पशु जैसे जंगलों में, उसी तरह घर में निर्लज्ज और नग्न रूप में दिगम्बर बने अश्लील आचरण भी करते ही हैं। ऐसे ही यदि कोई दिगम्बर निर्लज्जतापूर्वक नग्न रहता है और जंगली जीवों की तरह घर-गृहस्थी में भी आचरण करता है, तो क्या वह इससे योगी कहा जा सकता है ? हरगिज नहीं ॥७९॥

मृद्भस्मप्रक्षणाद्देवि मुक्ताः स्युर्यदि मानवाः।
मृद्भस्मवासिनो ग्राम्याः किन्ते मुक्ता भवन्ति हि ॥८०॥

मिट्टी और भस्म को शरीर पर मल लेने मात्र से क्या कोई मनुष्य मुक्त हो सकता है ? बहुत से मैले-कुचैले गवँईगिराँव के गरीब तो मिट्टी से ही सने होते हैं। क्या इन्हें मुक्त कहा जा सकता है ?॥८०॥

तृणपर्णोदकाहाराः सततं वनवासिनः।
हरिणादिमृगा देवि योगिनस्ते भवन्ति किम् ॥८१॥

घास खाकर जीवन-यापन करने वाले, कभी पत्तों के भोजन पर ही व्रत रखने

आदि का प्रदर्शन करने वाले, जल पीकर ही रहने का व्रत लेने वाले और जंगलों के एक कोने में सबसे अलग-थलग रहकर जीने वाले यदि योगी कहलाने के अधिकारी हैं, तो वे हरिण आदि मृग भी जो तृण, घास और पानी पीकर ही जी रहे हैं, वे भी योगी क्यों नहीं कहे जा सकते ? किन्तु ये योगी नहीं होते ॥८१॥

आजन्ममरणान्तञ्च गङ्गादितटिनीस्थिताः ।
मण्डूकमत्स्यप्रमुखा व्रतिनस्ते भवन्ति किम् ॥८२॥

जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त गंगा आदि नदियों में निवास करने वाले मेढक और मत्स्य आदि जीव क्या किसी प्रकार के व्रताचार के पालन करने वाले माने जा सकते हैं ? नहीं । इसी तरह ऐसी पवित्र और पावनतम सरिताओं के तीर पर कुटी आदि बनाकर परमुखापेक्षी लोग व्रती कहे जा सकते हैं ? अर्थात् नहीं ॥८२॥

वदन्ति हृदयानन्दं पठन्ति शुकसारिकाः ।
जनानां पुरतो देवि विबुधाः किं भवन्ति हि ॥८३॥

शुक और सारिकायें जिन्हें साधारण भाषा में तोता और मैना कहते हैं, पालने और सिखाने के बाद लोगों के समक्ष सुभाषितों का पाठ करते हैं और हृदयानन्दप्रद श्लोकों का उच्चारण करते हैं । प्रश्न है कि, क्या इस कार्य से उनकी गणना पण्डित वर्ग में की जा सकती है ? अर्थात् नहीं ॥८३॥

पारावताः शिलाहाराः परमेश्वरि चातकाः ।
न पिबन्ति महीतोयं योगिनस्ते भवन्ति किम् ॥८४॥

पारावत (कबूतर) पत्थर और कंकड़ों की सर्षप सदृश घिसी लघु लघु कणिकाओं का ही भोजन करते हैं । भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! इसी तरह चातक पृथ्वी के जल का पान नहीं करते । क्या इनको और इनके जैसे व्रतियों को योगी कहा जा सकता है ? अर्थात् नहीं ॥८४॥

शीतवातातपसहा भक्ष्याभक्ष्यसमाः प्रिये ।
तिष्ठन्ति शूकराद्याश्च योगिनस्ते भवन्ति किम् ॥८५॥

शीत, वात और आतप को समान रूप से सहने वाले, भक्ष्य और अभक्ष्य का विचार न करने वाले ये सूकर आदि प्राणी व्रताचारपरायण योगी कहे जा सकते हैं ? अर्थात् नहीं ।

इसलिये लोक को प्रवञ्चित कर आडम्बरपूर्ण प्रदर्शन के कार्य नितान्त हेय हैं । ये कार्य तो हेय माने ही जाते हैं । इनके करने वाले तो नितान्त हेय होते हैं । उन्हें योगी या व्रती कदापि नहीं कहा जा सकता ॥८५॥

तस्मादित्यादिकं कर्म लोकवञ्चनकारकम् ।
मोक्षस्य कारणं साक्षात्तत्त्वज्ञानं कुलेश्वरि ॥८६॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, विश्वप्रसाररूपी 'कुल' की स्वामिनी प्रिये ! उपर्युक्त सारे कर्म मोक्ष के विपरीत माने जाते हैं। वास्तव में मोक्ष का एकमात्र कारण तत्त्वज्ञान है। तत्त्वसाक्षात्कार ही मोक्ष है—यही शास्त्र का निर्देश है ॥८६॥

षड्दर्शनमहाकूपे पतिताः पशवः प्रिये।
परमार्थं न जानन्ति पशुपाशनियन्त्रिताः ॥८७॥

छः दर्शनों की बड़ी-बड़ी बातें लोग करते हैं। वे यह नहीं जानते कि, ये महाकूप हैं। इसमें पशु अर्थात् सामान्य अणु-साधारण पुरुष पतित हो जाते हैं। वे परमार्थ के तत्त्व को जानते ही नहीं। पाशवभाव में सन्ताप करने वाले घृणा, शंका, भय, लज्जा, जुगुप्सा, कुल, शील और जाति रूप पाशों से वे नियन्त्रित होते हैं। वे दार्शनिक रहस्य को न जानकर कूपमण्डूक ही रह जाते हैं ॥८७॥

वेदशास्त्रार्णवे घोरे ताड्यमाना इतस्ततः।
कालोर्मिग्राहग्रस्ताश्च तिष्ठन्ति हि कुतार्किकाः ॥८८॥

वेद और शास्त्र एक प्रकार के तूफानभरे सागर हैं। उनकी लहरों के थपेड़ों से सामान्य लोग चोट खाकर किनारे लग जाते हैं। अचानक कर्कश ऊर्मियों और उनमें ही रहने वाले मगर-घड़ियालों के जबड़ों में वे समा जाते हैं। यही दशा कुतार्किकों की भी होती है ॥८८॥

वेदागमपुराणज्ञः परमार्थं न वेत्ति यः।
विडम्बकस्य तस्यापि तत् सर्वं काकभाषितम् ॥८९॥

वेद पढ़ते हैं, सस्वर उच्चारण भी करते हैं, पर परमार्थ नहीं जानते। इसी तरह आगम और पुराणशास्त्रों को पढ़ते हैं, किन्तु उनके तत्त्वज्ञानरूपी परमार्थ से रहित हैं। ऐसे लोगों को क्या कहा जाय ? ये सभी विडम्बक हैं और इनका सारा बोलना काकभाषित के समान ही माना जा सकता है ॥८९॥

इदं ज्ञानमिदं ज्ञेयमिति चिन्तासमाकुलाः।
पठन्त्यहर्निशं देवि परतत्त्वपराङ्मुखाः ॥९०॥

यह ज्ञान है और यह जानने योग्य है, जिसे ज्ञेय कहते हैं। इस प्रकार के व्यर्थ चिन्तन में समाकुल रहने वाले लोग पढ़ते तो रहते ही हैं; किन्तु भगवान् शंकर कहते हैं कि, देवि ! यह निश्चय है कि उक्त चिन्ता में ही लगे ये लोग परमतत्त्व के साक्षात्कार से वंचित ही रह जाते हैं ॥९०॥

वाक्यच्छन्दोनिबन्धेन काव्यालङ्कारशोभिना।
चिन्तया दुःखिता मूढास्तिष्ठन्ति व्याकुलेन्द्रियाः ॥९१॥

वाक्य रचना में प्रवीणता के दर्प में दृप्त, छन्दज्ञान की गरिमा से ग्रस्त और निबन्धों के बन्धन से बँधे, स्वात्म को काव्यालंकार के अलंकरण से आकर्षक मानने वाले

व्यर्थ की चिन्ता में तनावग्रस्त रहते हैं। अपनी दर्पमयी निर्मिति की व्याकुलता में आकुल ये लोग मूढ की ही श्रेणी में गणनीय हैं। अर्थात् तत्त्वसाक्षात्कार से पूरी तरह ये दूर ही रह जाते हैं ॥९१॥

अन्यथा परमं तत्त्वं जनाः क्लिश्यन्ति चान्यथा।
अन्यथा शास्त्रसद्भावो व्याख्यां कुर्वन्ति चान्यथा ॥९२॥

परमतत्त्व का पथ दूसरी ओर जाता है और उपर्युक्त प्रकार के जन उसके विपरीत दूसरा पक्ष ही चुनते हैं और पराङ्मुख रह जाते हैं। इसी तरह शास्त्र के सुन्दर भाव कुछ दूसरा ही व्यक्त करना चाहते हैं; किन्तु निहितार्थी लोग अपनी ही व्याख्या उस पर थोपने का प्रयत्न करते हैं ॥९२॥

कथयन्त्युन्मनीभावं स्वयं नानुभवन्ति हि।
अहङ्कारहताः केचिदुपदेशविवर्जिताः ॥९३॥

बात तो करते हैं उन्मनी भाव की, किन्तु वास्तविकता यह होती है कि, उसका इन्हें तनिक भी अनुभव नहीं होता। कुछ तो ऐसे होते हैं, जिन्हें उन्हीं का अहंकार आहत करता रहता है। उन्हें उस विषय का गुरूपदेश वास्तव में मिला ही नहीं होता। अर्थात् रहस्यानुभूति से ऐसे लोग शून्य ही होते हैं ॥९३॥

पठन्ति वेदशास्त्राणि विवदन्ति परस्परम्।
न जानन्ति परं तत्त्वं दर्वी पाकरसं यथा ॥९४॥

वेद, शास्त्रों का पठन-पाठन करते हैं। परस्पर सभी एतद्विषयक वाद-विवादों में उलझे ही रह जाते हैं। वास्तविकता यह होती है कि, ये परमतत्त्व से वंचित ही रह जाते हैं। ठीक उसी तरह जैसे पाकरस में रहने वाली दर्वी (करछी) स्वयं पाकरस से पूरी तरह वंचित ही रहती है ॥९४॥

शिरो वहति पुष्पाणि गन्धं जानाति नासिका।
पठन्ति वेदशास्त्राणि दुर्लभो भाववेदकः ॥९५॥

प्रकृति की लीला भी विचित्र है। पुष्प शिर पर ही अर्पित किये जाते हैं। पुष्पों के मुकुट का भार शिर ही वहन करता है; किन्तु इन पुष्पों की गन्ध से शिर अभिज्ञ नहीं हो पाता। उसे तो नासिका ही ग्रहण करती है। वही जानती है कि, इस कुसुम की सुरभि इस प्रकार की है। वही दशा वेदों और शास्त्रों के पढ़ने वालों की है। पढ़ते दूसरे लोग हैं। उनके भाव अर्थात् रहस्यार्थ के वेदक कुछ दूसरे लोग ही होते हैं ॥९५॥

तत्त्वमात्मस्थमज्ञात्वा मूढः शास्त्रेषु मुह्यति।
गोपः कक्षगतं छागं कूपे पश्यति दुर्म्मतिः ॥९६॥

यह ध्रुव सत्य है कि, वास्तविक तत्त्वज्ञान स्वात्मनिष्ठ है। इसे जानने का प्रयत्न होना या करना चाहिये। वे लोग मूढ ही कहे जा सकते हैं, जो शास्त्रों के अनन्त विस्तार में ही अपने को खपा देते हैं और स्वात्मनिष्ठ तत्त्वसाक्षात्कार से वंचित रह जाते हैं। यह

कथा प्रसिद्ध है कि, एक गोपालक गोष्ठ में बँधी बकरी को कातर भाव से गाँव के कुओं में खोज रहा था। इसे उसकी बुद्धि की बलिहारी ही माना गया था ॥९६॥

संसारमोहनाशाय शाब्दबोधो न हि क्षमः।
न निवर्त्तेत तिमिरं कदाचिद्दीपवार्त्तया ॥९७॥

वैयाकरण विद्वन्मन्य शाब्दबोध के शास्त्रार्थ में ही रह जाते हैं और तब तक प्राण-पखेरू के पंख परलोक के लिये उड़ान भरने लग जाते हैं। यह निश्चय है कि, संसार के मोहनाश में शाब्दबोध सर्वथा असमर्थ रहता है। यह सोचने की बात है कि, दीपक के विषय में वार्त्तालाप करने से क्या अन्धकार का निवर्त्तन सम्भव है ? अर्थात् कभी नहीं ॥९७॥

प्रज्ञाहीनस्य पठनम् अन्धस्यादर्शदर्शनम्।
देवि प्रज्ञावतः शास्त्रं तत्त्वज्ञानस्य कारणम् ॥९८॥

भगवान् कह रहे हैं कि, देवि ! प्रज्ञा से ज्ञान होता है। प्रज्ञाहीन पुरुष का शास्त्र-स्वाध्याय ठीक उसी तरह का काम है, जैसे जन्मान्ध या आँख का अन्धा दर्पण में प्रतिबिम्ब का दर्शन करना चाहता है। वस्तुतः शास्त्र वे दर्पण हैं, जिनमें गहराई से पैठ कर तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया जाता है। इसके लिये प्रज्ञा आवश्यक है। शास्त्र भी तत्त्वज्ञान के कारण माने जा सकते हैं, किन्तु सबके लिये नहीं। प्रज्ञावान् को ही यह सौभाग्य मिल सकता है ॥९८॥

अग्रतः पृष्ठतः केचित् पार्श्वयोरपि केचन।
तत्त्वमीदृक् तादृगिति विवदन्ति परस्परम् ॥
सद्विद्यादानशूराद्यैर्गुणैर्विख्यातमानवाः ॥९९॥

तत्त्व क्या है ? यह विवाद का विषय नहीं। यह मात्र अनुभूति का विषय है। यह आगे है या पीछे मुड़ने पर प्राप्य है अथवा अगल-बगल में ही है अथवा ऐसा है या वैसा है—इस प्रकार का विवाद मूर्ख लोग ही किया करते हैं। ऐसे विवादों में सद्विद्यादान में अपने को मूर्द्धन्य मानने वाले लोग भी पड़े रहते हैं अथवा अपने विभिन्न गुणों से प्रसिद्ध लोग भी यही करते रहते हैं और तत्त्वज्ञान से दूर ही रह जाते हैं ॥९९॥

प्रत्यक्षग्रहणं नास्ति वार्त्तया ग्रहणं कुतः।
एवं ये शास्त्रसम्मूढास्ते दूरस्था न संशयः ॥१००॥

जैसे किसी ग्राह्य पदार्थ का प्रत्यक्ष ग्रहण होता है, उस प्रकार तत्त्वज्ञान का प्रत्यक्ष ग्रहण नहीं किया जा सकता। बातों-बातों में इसका ग्रहण तो और भी असम्भव है। इस प्रकार की ज्ञानग्राह्यता की बात करने वाले लोग वस्तुतः शास्त्रसंमूढ ही कहे जा सकते हैं। तत्त्वज्ञान से वे दूर ही हैं, इसमें सन्देह नहीं ॥१००॥

इदं ज्ञानमिदं ज्ञेयं सर्वतः श्रोतुमिच्छति।
देवि वर्षसहस्रायुः शास्त्रान्तं नैव गच्छति ॥१०१॥

सामान्य पाठक शास्त्रों को पढ़ते हुए इसी चक्कर में पड़ा रहता है कि, यही ज्ञान है और यही ज्ञेय है। यही बात वह शास्त्रज्ञों से सुनना भी चाहता है। किन्तु वह यह नहीं जानता है कि, यदि उसकी हजारों वर्ष की भी आयु निर्धारित कर दी जाय, तो शास्त्रों के विस्तार का अन्त उसे नहीं ज्ञात हो सकता। इसलिये भगवान् कहते हैं कि, देवि ! शास्त्रविस्तार की चिन्ता छोड़ तत्त्वसाक्षात्कार की बात सोचनी चाहिये ॥१०१॥

वेदाद्यनेकशास्त्राणि स्वल्पायुर्विघ्नकोटयः ।
तस्मात् सारं विजानीयात् क्षीरं हंस इवाम्भसः ॥१०२॥

इधर वेद आदि अनन्त शास्त्र और उधर पाठक वर्ग के आयु की स्वल्प सीमा ! साथ ही जीवन के करोड़ों विघ्न। इसलिये शास्त्रविस्तार का पार पाने की चाह की अपेक्षा सार रहस्य की जानकारी प्राप्त करने में लगना चाहिये। उसी तरह जैसे 'हंस' जल से दूध का आविष्कार कर लेता है। यही नीरक्षीरविवेक कहलाता है ॥१०२॥

अभ्यस्य सर्वशास्त्राणि तत्त्वं ज्ञात्वा हि बुद्धिमान् ।
पलालमिव धान्यार्थी सर्वशास्त्रं परित्यजेत् ॥१०३॥

शास्त्रों का स्वाध्याय करे, उसमें बतायी विधियों का अभ्यास भी करे। बुद्धिमान् मनुष्य उसी क्रम में रहस्यदर्शन के लिये भी सचेष्ट रहे। तभी तत्त्वज्ञान हो सकता है। तत्त्वज्ञान हो जाने के बाद जैसे धान पक जाने पर धान को और पलाल को अलग कर धान्य का सेवन करते हैं और पलाल को पशुओं के लिये छोड़ देते हैं, उसी तरह तत्त्वज्ञान का उपयोग करे और शास्त्रों को छोड़ दें। अर्थात् तत्त्वज्ञान ही महत्त्व की वस्तु है ॥१०३॥

यथामृतेन तृप्तस्य नाहारेण प्रयोजनम् ।
तत्त्वज्ञस्य तथा देवि न शास्त्रेण प्रयोजनम् ॥१०४॥

जैसे अमृत पीकर परमतृप्त पुरुष को आहार से कोई प्रयोजन नहीं रह जाता, उसी तरह तत्त्वज्ञ व्यक्ति को शास्त्र से कुछ भी प्रयोजन शेष नहीं रहता ॥१०४॥

न वेदाध्ययनान्मुक्तिर्न शास्त्रपठनादपि ।
ज्ञानादेव हि मुक्तिः स्यान्नान्यथा वीरवन्दिते ॥१०५॥

वेदों का आप कितना भी स्वाध्याय कर लें। इससे मुक्ति नहीं मिल सकती। इसी तरह शास्त्रों के स्वाध्याय से भी मुक्ति उपलब्ध नहीं होती। भगवान् शंकर कहते हैं कि, हे वीरों (विश्वोत्तीर्ण साधकों) के द्वारा वन्दनीय सर्वेश्वरी देवि ! मुक्ति केवल ज्ञान से ही उपलब्ध होती है। किसी दूसरी तरह मोक्ष नहीं हो सकता ॥१०५॥

नाश्रमाः कारणं मुक्तेर्दर्शनानि न कारणम् ।
तथैव सर्वशास्त्राणि ज्ञानमेव हि कारणम् ॥१०६॥

मुक्ति में आश्रम कारण नहीं माने जाते। दर्शन भी मुक्ति के हेतु नहीं माने जा सकते। उसी तरह सारे शास्त्र भी मुक्ति के कारण नहीं हो सकते। वास्तव में तत्त्वज्ञान ही मुक्ति का हेतु माना जाता है ॥१०६॥

मुक्तिदा गुरुवागेका विद्याः सर्वा विडम्बकाः ।
काष्ठभारश्रमादस्मादेकं सञ्जीवनं परम् ॥१०७॥

मुक्ति देने में पूर्णतया समर्थ गुरुदेव के मुखारविन्द-मकरन्द-सुधा से समन्वित एक वाक्य ही, एक बीजाक्षर ही पर्याप्त है । इसके अतिरिक्त सारी विद्यायें आडम्बर और विडम्बना मात्र मानी जा सकती हैं । यह सोचने की बात है कि, एक तरफ काष्ठभार सम्भृत लकड़ियों का गट्ठर हो और दूसरी ओर संजीवनी जड़ी की एक छोटी सी जड़ । इन दोनों में यह निश्चय है कि, सभी संजीवन औषध को ही महत्त्व प्रदान करते हैं ॥१०७॥

अद्वैतन्तु शिवेनोक्तं क्रियायासविवर्जितम् ।
गुरुवक्त्रेण लभ्येत नान्यथागमकोटिभिः ॥१०८॥

जिस अद्वैत तत्त्व का दर्शन भगवान् शंकर द्वारा व्यक्त किया गया है, इसमें क्रिया-विषयक किसी आयास की आवश्यकता नहीं । यह तत्त्वज्ञान यदि कहीं से मिल सकता है, तो वह केवल गुरुदेव के मुखारविन्द से ही उपलब्ध हो सकता है । करोड़ों आगमिक ग्रन्थों के स्वाध्याय से मुक्ति मिलना असम्भव ही है ॥१०८॥

आगमोत्थं विवेकोत्थं द्विधा ज्ञानं प्रचक्षते ।
शब्दब्रह्मागममयं परं ब्रह्म विवेकजम् ॥१०९॥

ज्ञान दो प्रकार के कहे जाते हैं—१. आगमोत्थ ज्ञान और २. विवेकोत्थ ज्ञान । शब्दब्रह्म का विज्ञान आगमोत्थ ज्ञान श्रेणी में आता है । पर यह निश्चय है कि, परमब्रह्म का ज्ञान विवेक से ही सम्भव है । इसी को विवेकोत्थ ज्ञान कहते हैं ॥१०९॥

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे ।
मम तत्त्वं न जानन्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम् ॥११०॥

यह अलग बात है कि, अपने संस्कारों के अनुसार कुछ लोग अद्वैत को ही पसन्द करते हैं । इसी तरह स्वभाववश कुछ लोग द्वैत को प्रधान रूप से स्वीकार करते हैं । इन दोनों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि, शैवतत्त्वदर्शन के विषय में वे कुछ नहीं जानते । भगवान् कहते हैं कि, हमारा तत्त्व तो द्वैत और अद्वैत दोनों दृष्टियों से एकदम अलग है । इसे द्वैताद्वैतविवर्जित माना जाता है ॥११०॥

द्वे पदे बन्धमोक्षाय ममेति निर्ममेति च ।
ममेति बाध्यते जन्तुर्न ममेति विमुच्यते ॥१११॥

बन्ध और मोक्ष दो पद हैं । इन दोनों के लिये दो विशिष्ट शब्दों का प्रयोग किया जा सकता है । जहाँ 'मम' पद का प्राधान्य है वहाँ बन्ध है । इसी तरह जहाँ 'न मम' शब्द का आचार प्राधान्य है, वहीं मोक्ष है । मम के प्रभाव से जीव बन्धन प्राप्त करता है और 'न मम' के अनुसार आचरण से मुक्ति की ओर अग्रसर हो जाता है ॥१११॥

तत् कर्म यन्न बन्धाय विद्या सा या विमुक्तये ।
आयासायापरं कर्म विद्यान्या शिल्पनैपुणम् ॥११२॥

वस्तुतः कर्म वही है, जो बन्ध का कारण न बने। विद्या वही है, जिससे विमुक्ति का मार्ग प्रशस्त हो जाय। अन्य प्रकार के दूसरे सारे कर्म तो केवल मनुष्य को आयास ही देते हैं। इसी तरह दूसरी विद्याओं को शिल्प सम्बन्धी नैपुण्य ही माना जा सकता है ॥११२॥

यावत् कामादि दीप्येत यावत् संसारवासना।
यावदिन्द्रियचापल्यं तावत्तत्त्वकथा कुतः ॥११३॥

यह याद रखने की बात है कि, जब तक काम-क्रोध आदि वासनात्मक उत्तेजना मनुष्य को प्रभावित करती हैं, इसी तरह जब तक मनुष्य में सांसारिक वासनायें जागृत हैं और जब तक इन्द्रियों की चंचलता से व्यक्ति बेचैन होता रहता है, तब तक तत्त्वविषयक चर्चा के लिये अवकाश ही कहाँ ? अर्थात् तब तक मनुष्य तात्त्विकता की दृष्टि नहीं अपना सकता ॥११३॥

यावत् प्रयत्नवेगोऽस्ति यावत् सङ्कल्पकल्पना।
यावन्न मनसः स्थैर्य्यं तावत्तत्त्वकथा कुतः ॥११४॥

जब तक मनुष्य में प्रयत्न करने का संवेग है, जब तक वह विभिन्न प्रकार की कल्पनाओं के प्रकल्पन में अर्थात् संकल्प-विकल्पों के व्यामोह से मुग्ध है और जब तक मन में स्थिरता नहीं आ जाती, तब तक तत्त्वविषयक चर्चा भी व्यर्थ ही है ॥११४॥

यावद्देहाभिमानश्च ममता यावदस्ति हि।
यावन्न गुरुकारुण्यं तावत्तत्त्वकथा कुतः ॥११५॥

जब तक देहाभिमान का भाव मन में है, जब तक विश्वविषयक ममत्व मन में शेष है और जब तक शिष्य की दशा देखकर गुरु का हृदय करुणा से द्रवित नहीं हो जाता अथवा पुरुष का मन ही गम्भीर शिववियोगात्मक कारुण्य से विगलित नहीं होता, तब तक तत्त्वचर्चा नहीं की जा सकती ॥११५॥

तावत्तपो व्रतं तीर्थं जपहोमार्च्चनादिकम्।
वेदशास्त्रागमकथा यावत्तत्त्वं न विन्दते ॥११६॥

व्रत, तीर्थटन, जप, होम और देवार्चन आदि और वेदों, शास्त्रों तथा आगमिक स्वाध्याय का क्रम तभी तक मनुष्य करता है, जब तक उसमें तत्त्वोदय नहीं हो पाता। तत्त्वज्ञान के प्रकाश के उपलब्ध हो जाने पर ये सारे अध्यवसाय निरर्थक हो जाते हैं ॥११६॥

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन सर्वावस्थासु सर्वदा।
तत्त्वनिष्ठो भवेद्देवि यदीच्छेन्मोक्षमात्मनः ॥११७॥

इसलिये सारे प्रयास उपाय और अध्यवसाय के द्वारा सभी अवस्थाओं में हमारा यही लक्ष्य होना चाहिये कि, हम तत्त्वनिष्ठ हो सकें। भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! यदि व्यक्ति मुमुक्षु है और अपना मोक्ष चाहता है, तो उसे तत्त्वनिष्ठ रहना ही पड़ेगा ॥११७॥

धर्मज्ञानसुपुष्पस्य स्वर्गलोकफलस्य च।
तापत्रयार्त्तिसन्तप्तश्छायां मोक्षतरोः श्रयेत् ॥११८॥

आधिदैहिक, आधिभौतिक, आधिदैविक—तीन प्रकार की तपिश से तप्त अतएव सन्तप्त प्राणी को मोक्षरूपी वृक्ष की छाया का ही आश्रय ग्रहण करना चाहिये। इस मोक्ष-रूपी वृक्ष की शाखाओं में ही धर्म और ज्ञान के फूल खिलते हैं। इसी में स्वर्गलोक का मीठा फल भी लगता है ॥११८॥

बहुनात्र किमुक्तेन रहस्यं शृणु पार्वति!
कुलधर्ममृते मुक्तिर्नास्ति सत्यं न संशयः ॥११९॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति ! इस सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, वही पर्याप्त है। इससे अधिक क्या कहा जाय ? अन्त में मैं एक ही रहस्य तुम्हारे सामने उद्घाटित कर रहा हूँ, इसे तुम ध्यान से सुनो। वह रहस्य यही है कि, कुलधर्म के आचरण के विना मुक्ति असम्भव है। यह ध्रुव सत्य है। इसमें संशय का लेश भी नहीं है ॥११९॥

तस्माद्वदामि तत्त्वन्ते विज्ञाय श्रीगुरोर्मुखात्।
सुखेन मुच्यते देवि घोरसंसारबन्धनात् ॥१२०॥

इसी तरह देवि ! मैं तुमसे यह तत्त्व स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि, श्री गुरुदेव के मुखारविन्द से विनिःसृत मन्त्रवाक्यरूप मकरन्द-माधुरी का पान कर कोई व्यक्ति सुखपूर्वक अर्थात् अनायास ही मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इस संसार का बन्धन बड़ा ही घोर अर्थात् कर्कश रूप से कष्टदायक है। इससे मुक्ति का एकमात्र उपाय गुरुमन्त्र ही है ॥१२०॥

इति ते कथिता काचिज्जीवजातिस्थितिः प्रिये।
समासेन कुलेशानि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥१२१॥

भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! जीवजगत् और जीवभाव में जन्म ग्रहण करने के सम्बन्ध में जीवजाति के विषय में तुमसे मेरे द्वारा इतनी कुछ बातें की गयी हैं। कुल रूप इस विश्वप्रसार की तुम स्वामिनी हो। हे कुल की स्वामिनी कुलेश्वरी देवी पार्वति ! इसी बात को विस्तारपूर्वक भी कहा जा सकता है; किन्तु मैंने तुमसे इसे संक्षेप में ही कहा है। मुझे लग रहा है, तुम अन्य भी कई जिज्ञासाओं के साथ यहाँ उपस्थित हुई हो। बताओ इसके अतिरिक्त तुम किन विषयों में रुचि रखती हो ?॥१२१॥

सर्वागमोत्तमोत्तम महारहस्यमय ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकुलार्णवतन्त्रान्तर्गत डॉ. परमहंस-मिश्रविरचित नीर-क्षीर-विवेक भाषाभाष्यसमन्वित 'जीवस्थिति-कथन' नामक प्रथम उल्लास परिपूर्ण ॥१॥

॥ शुभं भूयात् ॥

○

नवम उल्लासः

श्रीदेव्युवाच

कुलेश श्रोतुमिच्छामि योगं योगीशलक्षणम्।
कुलभक्तार्चनफलं वद मे करुणानिधे ॥१॥

श्री देवी ने विनम्रतापूर्वक कहना प्रारम्भ किया। इस कथन में देवी के तादात्म्य भाव का उद्रेक भी परिलक्षित हो रहा था। उनका कहना था—कुलेश्वर प्रभो ! मेरी इच्छा आप से छिपी नहीं है। मैं योग के विषय में सुनने और साथ ही साथ योगविद्या में विचक्षण योगीन्द्र साधकों के लक्षण जानने की इच्छा रखती हूँ। हे करुणावरुणालय परमेश्वर ! इसी क्रम में मैं यह भी चाहती हूँ कि, भगवन् ! कुलमार्ग में भक्तिपूर्वक पूजा-अर्चना का बड़ा महत्त्व है। इसका फल क्या होता है ? कृपा कर यह बताकर भी अनुगृहीत करें ॥१॥

ईश्वर उवाच

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
तस्य श्रवणमात्रेण योगः साक्षात् प्रकाशते ॥२॥

देवेश्वर देवाधिदेव महादेव ने कहना प्रारम्भ किया—देवि ! तुम जो कुछ भी मुझसे सुनना और जानना चाहती हो, उसे मैं बताने जा रहा हूँ। तुम ध्यानपूर्वक इन बातों को सुनो। इन मेरे वचनों में योग के सारे लक्षण, अर्थ, क्रम और रहस्य उल्लसित हैं। इन कुलमार्गीय वचनों के श्रवण मात्र से योगविद्या का प्रकाश प्राप्त हो जाता है ॥२॥

ध्यानन्तु द्विविधं प्रोक्तं स्थूलसूक्ष्मप्रभेदतः।
साकारं स्थूलमित्याहुर्निराकारन्तु सूक्ष्मकम् ॥३॥

योगशिक्षण के सन्दर्भ में सर्वप्रथम 'ध्यान' की चर्चा कर रहे हैं। भगवान् कह रहे हैं कि, ध्यान दो प्रकार के होते हैं। पहला ध्यान स्थूल ध्यान कहलाता है। दूसरे प्रकार के ध्यान को सूक्ष्म ध्यान कहते हैं। साकार ध्यान स्थूल ध्यान कहलाता है और निराकार ध्यान को सूक्ष्म ध्यान कहते हैं ॥३॥

स्थिरार्थं मनसः केचित् स्थूलध्यानं प्रचक्षते।
स्थूलेऽपि निश्चलं चेतो भवेत् सूक्ष्मेऽपि निश्चलम् ॥४॥

कुछ लोग कहते हैं कि, मन जब किसी विशेष अर्थ पर अर्थात् किसी उद्देश्य, किसी लक्ष्य, किसी व्यापार अथवा किसी वस्तु को लेकर एकाग्र और स्थिर रहे, तो ऐसे ध्यान को स्थूल ध्यान कहते हैं। ध्यान के सन्दर्भ में भी स्थूल ध्यान में चित्त अत्यन्त रूप में निश्चल अर्थात् स्थिर हो जाय, तो वह ध्यान भी सूक्ष्म ध्यान हो जाता है; क्योंकि स्थूल ध्यान में चित्त में आत्यन्तिक रूप से स्थिरता और निश्चलता होती है ॥४॥

करपादोदरास्यादिरहितं परमेश्वरम्।
सर्वतेजोमयं ध्यायेत् सच्चिदानन्दनिष्कलम् ॥५॥

हाथ-पैर, पेट और मुँह आदि अंग सामान्य प्राणियों के होते हैं। इन अंगों से रहित व्यापक रूप से तेजवन्त सत्, चित् और आनन्द रूप सच्चिदानन्द परमेश्वर का ध्यान करना चाहिये। ये सभी कलाओं से रहित होने के कारण निष्कल कहलाते हैं ॥५॥

नोदेति नास्तमभ्येति न वृद्धिं याति न क्षयम्।
स्वयं विभात्यथान्यानि भासयन् साधनं विना ॥६॥

सूर्य तो उदित और अस्त होते हैं। परमेश्वर न कहीं कभी उगते और डूबते ही हैं। सारा जीव जगत् बढ़ता है और क्षीण हो जाता है। परमेश्वर न बढ़ते और न घटते ही हैं। वे एकरस परमेश्वर भाव में ही रहते हैं। वे परम प्रकाश रूप हैं। स्वयं प्रकाश होने के कारण बिना अन्य किसी साधन के ही अपने शाक्त प्रभाव के उल्लास के कारण ही स्वयं प्रकाशमान रहते हैं। इसी भासमानता के कारण सारे जागतिक पदार्थों और प्राणियों को भी प्रकाशमान करते हैं ॥६॥

अनन्तं गतभारूपं सत्तामात्रमगोचरम्।
मनसा मात्रसंवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम् ॥७॥

ज्ञान के सम्बन्ध में भगवान् का कथन है कि, ज्ञान का कोई अन्त नहीं होता। इसलिये उसे अनन्त कहते हैं। उसे प्रकाशमयता से ओत-प्रोत मानते हैं; क्योंकि भा अर्थात् प्रकाशरूप बोध को वह प्राप्त करता है। अतः बोधमय ही होता है। सत्ता तो प्रतीत होती है; किन्तु वह नितान्त अगोचर होता है। यह केवल मन से ही गोचर होता है। यहाँ मन बुद्धि अर्थ में प्रयुक्त है। मन केवल इन्द्रियों की विषयसीमा में ही सक्रिय रहता है। इस प्रकार का उक्त ज्ञान ब्रह्मज्ञान की संज्ञा से विभूषित किया जाता है ॥७॥

प्रणष्टवायुसञ्चारः पाषाण इव निश्चलः।
परजीवैकधामज्ञो योगी योगविदुच्यते ॥८॥

वायु अर्थात् प्राणवायु के संचार को जिसने जीत लिया है और प्राणसंयम के द्वारा श्वास-प्रश्वास के आने-जाने के क्रम को जिसने अपने अधिकार में कर लिया है, वह उत्तम योगविद्या का जानकार माना जाता है। प्राणजेता पुरुष पाषाण की तरह जब तक चाहे तब तक निश्चल बना रह सकता है। अर्थात् सर्वोत्तम सर्वातिशायी जीवशक्ति का सर्वोत्तम धाम अर्थात् स्थान उसे ज्ञात होता है। ऐसा योगी योगिराज माना जाता है ॥८॥

यदत्र नात्र निर्भासः स्तिमितोदधिवत् स्थितम्।
स्वरूपशून्यं तद्ध्यानं समाधिरभिधीयते ॥९॥

ध्यान ही उसकी समाधि बन जाता है, जिस समय योगी को यहाँ-वहाँ आदि का ज्ञानात्मक बोध शून्य हो जाता है। ऐसा निर्भास उसे नहीं रहता कि, मैं कहाँ हूँ। वह

शान्त समुद्र की तरह निस्तरंग भरे-पूरे भाव में अवस्थित रहता है। उसे अपना भी ध्यान नहीं रहता। इस अवस्था को स्वरूपशून्य अवस्था कहते हैं। ऐसे ध्यान की दशा ही समाधि कही जाती है ॥९॥

न किञ्चिच्चिन्तनादेव स्वयं तत्त्वं प्रकाशते।
स्वयं प्रकाशिते तत्त्वे तत्क्षणात्तन्मयो भवेत् ॥१०॥

जिस समय साधक सभी प्रकार के चिन्तनों को अतिक्रान्त कर अकिंचित् चिन्तन की दशा में पहुँचता है, उसी समय वस्तु तत्त्व का प्रकाशन हो जाता है। शिव तत्त्व उस रिक्त अवस्था को भर देता है और तत्त्व इस तरह निर्भासित हो उठता है। जिस समय तत्त्व प्रकाशमान हो जाय, उसी समय सावधान साधक तादात्म्य भाव में समाहित हो जाय। भवेत् क्रिया विधि क्रिया है। विधि में यह तन्त्र तुरन्त उतार देता है। इस विधि से तन्मयता सिद्ध हो जाती है ॥१०॥

स्वप्नजाग्रदवस्थायां सुप्तवद् योऽवतिष्ठते।
निश्वासोच्छ्वासहीनश्च निश्चितं मुक्त एव सः ॥११॥

भले ही जाग्रत् अवस्था में साधक व्यवहाररत हो अथवा स्वप्न में चित्र-विचित्र रचनाओं का आनन्द ले रहा हो, सावधान साधक इन दशाओं को पारकर ऐसे रहता है, मानो वह स्वयं अपने स्तर पर इनसे अप्रभावित सो रहा हो। वह प्राणजेता होता ही है। अजपाजाप को अतिक्रान्त कर वह मुक्त ही हो जाता है ॥११॥

निष्पन्दकरणग्रामः स्वात्मलीनमनोऽनिलः।
य आस्ते मृतवत्साक्षाद् जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥१२॥

समस्त करण अर्थात् इन्द्रियों का ग्राम (समूह) निष्पन्द अवस्था में जिस साधक का हो जाता है, वह निष्पन्दकरणग्राम कहलाता है। ऐसे साधक धन्य होते हैं। उनके मन और प्राणवायु सब उनमें ही आत्मसात् हो जाते हैं। ऐसे योगी आत्मलीन कहलाते हैं। वह जीवित ही होता है वरन् महान् जीवन्त रहता है; किन्तु उसे सामान्य संसारी मृतवत् मानते हैं। वस्तुतः ऐसे लोग ही जीवन्मुक्त माने जाते हैं ॥१२॥

न श्रृणोति न चाघ्राति न स्पृशति न पश्यति।
न जानाति सुखं दुःखं न सङ्कल्पयते मनः ॥१३॥
न चापि किञ्चिज्जानाति न च बुध्यति काष्ठवत्।
एवं शिवे विलीनात्मा समाधिस्थ इहोच्यते ॥१४॥

वह ऐसे शान्त रहता है, मानो किसी की बात सुनता ही नहीं। उसे किसी गन्ध ग्रहण की इच्छा नहीं होती। न तो वह स्वयं ही किसी पदार्थ के स्पर्श की बात ही सोचता है। किसी विशेष वस्तु को देखने की बात भी नहीं सोचता। सुख और दुःख जैसी चीजों का उसके लिये कोई महत्त्व नहीं होता। उसके मन में किसी प्रकार का कोई संकल्प नहीं उठता। प्रतीत होता है कि, वह कुछ जानता ही नहीं। उसे सांसारिक बोध का कभी

उद्भावन नहीं होता। काष्ठवत् कहीं पड़े रहने में उसे कोई परहेज नहीं रहता। उसका आत्मा शिवभाव में विलीन हो जाता है। वस्तुतः ऐसे सिद्ध पुरुष ही समाधिस्थ माने जाते हैं ॥१३-१४॥

यथा जले जलं क्षिप्तं क्षीरे क्षीरं घृते घृतम्।
अविशेषो भवेत्तद्वज्जीवात्मपरमात्मनोः ॥१५॥

जल में जल को मिला देने से किसी प्रकार का कोई अन्तर नहीं पड़ता। उसकी एकरूपता ही उल्लसित रहती है। उसी तरह दूध को दूध में, घी को घी में मिला देने से किसी प्रकार के विशेष का उत्सर्जन नहीं होता। यही दशा जीवात्मा और परमात्मा की होती है। दोनों का तादात्म्य शाश्वत हो जाता है ॥१५॥

यथा ध्यानस्य सामर्थ्यात् कीटोऽपि भ्रमरायते।
तथा समाधिसामर्थ्याद्ब्रह्मभूतो भवेन्नरः ॥१६॥

ध्यान के बल से कीट भी भृंगी योनि में परिणत हो जाता है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण-सिद्ध तथ्य है। यही दशा समाधिजन्य सामर्थ्य की है। ध्यान की गहन अवस्था अर्थात् समाधि में साधक और साध्य का तादात्म्य फूल की तरह खिल उठता है। साधक स्वयं ब्रह्म हो जाता है। यह नरत्व की महती उपलब्धि होती है ॥१६॥

क्षीरोद्धृतं घृतं यद्वत्तत्र क्षिप्तं न पूर्ववत्।
पृथक्कृतो गुणेभ्यः स्यादात्मा तद्वदिहोच्यते ॥१७॥

दूध को मथ कर निकाला हुआ घी पुनः दूध में मिलकर एकाकार नहीं होता, भले ही दूध में ही उसे क्यों न रख दिया जाय। इसी प्रकार अभ्यास के सामर्थ्य से गुणों के दुस्तर प्रभाव से बाहर कर लेने पर शुद्ध आत्मभाव नीचे नहीं गिरता ॥१७॥

यथा गाढान्धकारस्थो न किञ्चिदिह पश्यति।
अलक्ष्यञ्च तथा योगी प्रपञ्चं नैव पश्यति ॥१८॥

जिस तरह घने अन्धकार में रखी किसी वस्तु को कोई दर्शक देखने में असमर्थ रहता है; क्योंकि गहन अन्धकार के आवरण से पदार्थ आवृत रहता है। आँखें अन्धकार को भेद नहीं पातीं। वह दर्शक भी निबिड तमस् से स्वयं आच्छन्न रहता है।

यही दशा उस योगी की होती है, जो प्रकाश में रहता है। उसे अज्ञान का गहन अन्धकार कैसे दीख पड़ सकता है। प्रकाश के पथ को अन्धकार आवृत नहीं कर सकता ॥१८॥

यथा निमीलने काले प्रपञ्चं नैव पश्यति।
तथैवोन्मीलनेऽपि स्यादेतद्ध्यानस्य लक्षणम् ॥१९॥

आँख को बन्द करना निमीलन कहलाता है और खोलना उन्मीलन। दोनों में अन्तर यह है कि, निमीलन दशा में विश्वप्रपंच का छोटा से छोटा अंश भी दिखायी नहीं

देता। उसी तरह उन्मीलन दशा में भी उसे कुछ दिखायी न दे। अर्थात् आँख शैवभाव में इतनी भरित हो कि, सर्वत्र शिव की व्याप्ति ही उसे दीख पड़े। यही ध्यान का शुभ लक्षण है। ध्यान का यह सर्वोत्तम लक्षण है ॥१९॥

जनः स्वदेहकण्डूतिं विजानाति यथा तथा।
परं ब्रह्मस्वरूपी च वेत्ति विश्वविचेष्टितम् ॥२०॥

मनुष्य या सभी जीव-जन्तु अपने शरीर में उत्पन्न खुजली को अपने शरीर में (व्याप्त स्वात्म संविद् के आधार पर) स्वयं जान लेता है। यह स्वाभाविक तथ्य है और अयत्नज सूचना के आधार पर यह जान लेता है। उसी तरह जो व्यक्ति परब्रह्मात्मक 'स्व' रूप में अधिष्ठित हो जाता है, विश्व में कहीं भी किसी प्रकार की हलचल (विचेष्टित) का पता उसे निश्चित रूप से लग जाता है ॥२०॥

विदिते परमे तत्त्वे वर्णातीते ह्यविक्रिये।
किङ्करत्वं हि गच्छन्ति मन्त्रा मन्त्राधिपैः सह ॥२१॥

परमतत्त्व के ज्ञान के लिये विचारक, मनीषी और साधक सदा तत्पर रहते हैं। इसके विदित हो जाने पर जीवन में चमत्कार घटित हो जाता है। परमतत्त्वज्ञ मर्मज्ञ साधक के समक्ष समस्त मन्त्र अपने मन्त्रेश्वरों के साथ किंकर भाव में उपस्थित और सेवा में तत्पर रहते हैं। परमतत्त्व असामान्य महत्त्व का तत्त्व होता है। इसे शास्त्रकार वर्णातीत और अविक्रिय कहते हैं। इन दोनों विशेषणों से विशिष्ट परमतत्त्व की जानकारी साधक के लिये अत्यन्त आवश्यक मानी जाती है ॥२१॥

आत्मैकभावनिष्ठस्य या या चेष्टा तदर्चनम्।
यो यो जल्पः स स मन्त्रस्तद्ध्यानं तन्निरीक्षणम् ॥२२॥

आत्मैक्य भाव में परिनिष्ठित साधक जिन-जिन व्यापारों का सम्पादन करता है, जिन विधिनिर्दिष्ट पूजा प्रक्रियाओं को पूरा करता है, इसके अतिरिक्त जो जल्प आदि करता है, वही उसके लिये मन्त्र, वही अर्चन और वही उसकी दार्शनिकता बन जाती है ॥२२॥

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः ॥२३॥

देह का अभिमान स्वाभाविक है। इसका विगलित होना आवश्यक है। इसके विगलित हो जाने पर व्यक्ति का आध्यात्मिक स्तर बहुत ऊँचा उठ जाता है। परिणामतः परमेश्वर की वास्तविक जानकारी सम्भव हो जाती है। साधक के माध्यम से परमेश्वर का ज्ञान हो जाता है। परमेश्वर का ज्ञान जिस व्यक्ति को हो जाता है, उस व्यक्ति का मन भी परिनिष्ठित हो जाता है। वह जहाँ-जहाँ जाता है, उसकी वहीं-वहीं समाधि हो जाती है ॥२३॥

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परात्मनि ॥२४॥

समाधि की अवस्था के दो हेतु ऊपर बताये गये हैं—१. देहाभिमान का विगलित हो जाना और २. परमात्मा का ज्ञान हो जाना। ये दोनों बातें यदि साधना द्वारा साधक को सिद्ध हो जाती हैं, तो परिणामस्वरूप तीन बातें अवश्य सिद्ध हो जाती हैं—१. हृदय में पड़ी हुई गाँठ खुल जाती है। २. उस साधक में किसी प्रकार के संशय का लेश नहीं रहता और ३. उस परमात्मा के ज्ञान द्वारा दर्शन हो जाने पर उसके समस्त कर्म भी ज्ञान की आग में दग्ध होकर नष्ट हो जाते हैं, अर्थात् कर्म के नये अंकुर नहीं उग पाते हैं ॥२४॥

योगीन्द्रेण यदा प्राप्तं निर्मलं परमं पदम्।
देवासुरपदं यत्तत्प्राप्तश्चापि न गृह्यते ॥२५॥

ऐसे योगीन्द्र जिस समय इस प्रकार का निर्मल पद प्राप्त कर लेते हैं, वे उतने उच्च स्तर पर पहुँच जाते हैं, जहाँ से उन्हें देवेन्द्र का पद भी छोटा लगने लगता है। यदि किसी तरह वह प्राप्त भी हो जाय, तो उसे ग्रहण या स्वीकार नहीं करते ॥२५॥

यः पश्येत् सर्वगं शान्तमानन्दात्मकमव्ययम्।
तस्य किञ्चिदनालभ्यं ज्ञातव्यं नावशिष्यते ॥२६॥

जो श्रेष्ठ योगी सर्वव्याप्त, शान्त, आनन्दस्वरूप व्यक्त और अव्यक्त भाव सम्पन्न परमेश्वर का दर्शन कर लेता है, अर्थात् आत्मभाव में समाहित कर उसी की महानुभूति से भर जाता है, उसके लिये संसार में कुछ भी अप्राप्य नहीं रह जाता। कोई तत्त्व उसके लिये अज्ञेय नहीं रहता तथा उसकी सारी इच्छाओं की तत्काल पूर्त्ति हो जाती है। इसलिये जीवन का लक्ष्य ब्रह्मप्राप्ति ही होनी चाहिये ॥२६॥

सम्प्राप्ते ज्ञानविज्ञाने ज्ञेये च हृदि संस्थिते।
लब्धे शान्तिपदे देवि न योगो नैव धारणा ॥२७॥

ज्ञान-विज्ञान के इसी जीवन में प्राप्त हो जाने पर और परमज्ञेय परमोपास्य परमेश्वर के साधक-हृदय में अवस्थित हो जाने पर परमेश्वर तादात्म्यदार्ढ्य की अवस्था में परमशान्ति उपलब्ध हो जाती है। भगवान् कह रहे हैं कि, देवि ! इस अवस्था में योग और धारणा आदि व्यर्थ हो जाते हैं ॥२७॥

परे ब्रह्मणि विज्ञाते समस्तैर्नियमैरलम्।
तालवृन्तेन किं कार्यं लब्धे मलयमारुते ॥२८॥

परब्रह्म जिस समय विज्ञात हो जाता है, जीवन का वह महत्त्वपूर्ण क्षण होता है। वस्तुतः जीवन की सार्थकता भी इसी में है। जीवन धन्य हो जाता है। साधक ज्ञानवान् गुरुवर्य हो जाता है। उस समय यम और नियम आदि जो योग के आठ अंगों के आधार-भूत अंग हैं, इनके अभ्यास की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। नियम शब्द में बहुवचन प्रयोग के कारण सभी अंगों का ग्रहण नियम शब्द से हो जाता है। जैसे मलय वायु के उपलब्ध हो जाने पर तालवृन्त द्वारा वायुसेवन का कोई मूल्य नहीं रहता। परब्रह्म

का विज्ञान उसी मलय मारुत के समान है और नियम आदि महत्त्वहीन तालवृन्त से उपलब्ध वायु के समान। अर्थात् ब्रह्मविज्ञान ही मुख्य लक्ष्य है ॥२८॥

आसिकाबन्धनं नास्ति नासिकाबन्धनं न हि।
न यमो नियमो नास्ति स्वयमोमिति पश्यताम् ॥२९॥
न पद्मासनतो योगो न नासाग्रनिरीक्षणम्।

श्लोक में प्रयुक्त आसिका शब्द कई अर्थों की ओर संकेत करता है। आस धातु से आसन शब्द की ओर सर्वप्रथम ध्यान जाता है। साधना में आसनबन्धों का बड़ा महत्त्व है। इसी क्रम में सारी चक्रसाधना प्रक्रिया आती है। ऐसे आसिकाबन्ध परब्रह्म के विज्ञात हो जाने पर आवश्यक नहीं रह जाते।

दूसरा अर्थ आसिकाबन्ध शब्द का परिकरबद्ध शस्त्र (कटार) ग्रहणशीलता है जिसमें सावधान सांसारिक अपनी हानोपादानमयी बुद्धि से विभ्रान्त रहता है। वह स्वरूपसाक्षात्कार से कोसों दूर हटता जाता है। ये दोनों बन्ध आसिकाबन्ध हैं और दोनों उस साधक के लिये हेय हैं, जो "ॐ" का स्वरूपसाक्षात्कार कर लेता है।

नासिकाबन्ध प्राणायाम को कहते हैं। स्वरूपसाक्षात्कार हो जाने पर प्राणायाम का भी कोई अर्थ नहीं रहता। प्राणायाम साधना में सहायक होता है। अब तो साध्य ही उपलब्ध है, साधना पूरी हो चुकी है। अतः आसिका, नासिका आदि परब्रह्मरूप ॐकारसाक्षात्कार के बाद व्यर्थ हैं। न तो पद्म आदि आसनों से योगसिद्धि होती है और न ही नासा के अग्रभाग के निरीक्षण से ही सम्भव है ॥२९॥

ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः ॥३०॥
ध्यायतां क्षणमात्रं हि श्रद्धया परमन्त्विह।
यद्भवेत् सुमहत् पुण्यं तस्यान्तो नैव गण्यते ॥३१॥

जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्य ही जीवन का ध्येय है। जीव अलग रहकर मलों से आवृत रहता हुआ अपने संकोच को समझ नहीं पाता। उसका आत्मा में समाहित होना ही वास्तविक योग है। यह योग सांसारिकता और संकोचरूप अज्ञान को ग्रस लेने वाला 'राहु' माना जाता है। सभी योगविशारद विद्वान् इसका समर्थन करते हैं।

यह निश्चय है कि, एक क्षण भी निश्चयात्म रूप से यदि ध्यान में श्रद्धा और आस्थापूर्वक परमात्मा का ध्यान किया जाय और यह सध जाय, तो जीवन में एक चमत्कार घटित होता है। एक महान् पुण्य का उदय होता है। ऐसे पवित्र योग का कोई अन्त नहीं होता ॥३०-३१॥

क्षणं ब्रह्माहमस्मीति यः कुर्यादात्मचिन्तनम्।
स सर्वं पातकं हन्यात्तमः सूर्योदयो यथा ॥३२॥

साधना में रत साधक साधना के क्रम में यदि कभी एक क्षण के लिये भी आत्म-

चिन्तन करते हुए यह सोच लेता है कि, 'मैं स्वयं ब्रह्म ही हूँ', वह एक क्षण मात्र के इस चिन्तन से अपने समस्त पापों का नाश कर लेता है। एक क्षण के इस चिन्तन में ऊर्जा की वह आग है, जो सारे पापों को जला डालती है। हाँ, शर्त्त यह है कि, वह चिन्तन आस्था और श्रद्धा से भरा हुआ हो। जैसे सूर्योदय होते ही अन्धकार का विध्वंस हो जाता है, उसी तरह 'अहं ब्रह्मास्मि' का चिन्तन पापों को नष्ट कर डालता है ॥३२॥

व्रतक्रतुतपस्तीर्थदानदेवार्चनादिषु ।
यत् फलं कोटिगुणितं तदवाप्नोति तत्त्ववित् ॥३३॥

व्रतों का आचरण, तीर्थाटन, क्रतु अर्थात् दानादि यज्ञों का सम्पादन, दान और देवपूजा आदि सारे कार्य पुण्यप्राप्ति के उद्देश्य से किये जाते हैं। पुण्य ही इनका फल होता है। इसके अतिरिक्त तत्त्व का साक्षात्कार करने वाला तत्त्ववेत्ता पुरुष तत्त्वज्ञान से ही उक्त व्रतादि के माध्यम से होने वाले पुण्यों से करोड़ों गुना पुण्य प्राप्त करता है ॥३३॥

उत्तमा सहजावस्था मध्यमा ध्यानधारणा ।
जपस्तुतिः स्यादधमा होमपूजाऽधमाधमा ॥३४॥

सहजावस्था एक अनिर्वचनीय सर्वोच्च शान्त दशा होती है। राजानक जयरथ ने श्रीतन्त्रालोक में उद्धृत किया है—

'मा किञ्चित्त्यज, मा गृहाण, विरम, स्वस्थो यथावस्थितः[1]'।

यह यथावस्थित स्थिति ही सहजावस्था मानी जाती है। यह सबसे ऊँची अवस्था मानी जाती है। दूसरे स्तर की अवस्था ध्यान और धारणा की मानी जाती है। इससे भी निम्न अवस्था जप और स्तोत्र पाठ आदि की होती है; किन्तु सबसे निम्न अवस्था जिसे अधम से भी अधम अधमाधमा कहते हैं; वह है होम और पूजा। इसके आडम्बर में रहकर द्वैतभाव की पुष्टि ही होती है। अतः उत्तरोत्तर ऊपर उठने का अभ्यास करना चाहिये ॥३४॥

उत्तमा तत्त्वचिन्ता स्याज्जपचिन्ता तु मध्यमा ।
शास्त्रचिन्ताऽधमा ज्ञेया लोकचिन्ताऽधमाधमा ॥३५॥

इसी तरह चार दशाओं की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं। सबसे उत्तम अवस्था वह होती है, जब साधक या कोई पुरुष तत्त्वचिन्तन में निमग्न रहता है। वह अवस्था मध्यम मानी जाती है, जिसमें जप का चिन्तन आदमी करता है, अर्थात् जप से उत्तम तत्त्वचिन्तन माना जाता है। जो शास्त्र की चिन्ता में ही रत रहता है, वह भी उत्तम नहीं वरन् अधम ही माना जाता है; किन्तु लोक की चिन्ता में ही रत रहना अधम से भी अधम दशा मानी जाती है। इसलिये केवल लोकचिन्ता में रत रहना ठीक नहीं। क्रमशः ऊपर उठने की चेष्टा करनी चाहिये ॥३५॥

पूजाकोटिसमं स्तोत्रं स्तोत्रकोटिसमो जपः ।
जपकोटिसमं ध्यानं ध्यानकोटिसमो लयः ॥३६॥

---

१. श्रीतन्त्रालोक – १:३३१; पृ. २८३।

पूजा बाह्य याग कहलाती है। इसमें द्वैतभाव की ही पुष्टि होती है। इसलिये शास्त्र कहते हैं कि, करोड़ों प्रकार की पूजा से महत्त्वपूर्ण स्तोत्रपाठ माना जाता है। वहीं करोड़ों स्तोत्रपाठ से उत्तम जप माना जाता है। करोड़ों जप से भी उत्तम फलप्रद ध्यान माना जाता है। शास्त्र यह भी प्रतिपादित करते हैं कि, करोड़ों ध्यान से भी उत्तम आराध्य में अपना लय करना है ॥३६॥

न हि ध्यानात् परो मन्त्रो न देवस्त्वात्मनः परः।
नानुसन्धात् परा पूजा न हि तृप्तेः परं फलम् ॥३७॥

ध्यान से बढ़कर कोई मन्त्र नहीं होता। स्वात्मदेव से बढ़कर कोई देव नहीं होता। परमात्मा के अनुसन्धान से बढ़कर कोई पूजा नहीं हो सकती। तृप्ति से बढ़कर कोई फल नहीं होता। इस श्लोक में ध्यान, स्वात्मानुसन्धान और तृप्ति के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है ॥३७॥

अक्रियैव परा पूजा मौनमेव परो जपः।
अचिन्तैव परं ध्यानमनिच्छैव परं फलम् ॥३८॥

सबसे बड़ी पूजा किसे कहते हैं ? इस जिज्ञासा के उत्तर में भगवान् कह रहे हैं कि, सारी क्रिया परमात्मा को अर्पित कर अक्रिया भाव में अवस्थिति सबसे सुन्दर पूजा मानी जाती है। जप भी मौन रहकर किया जाता है; किन्तु केवल मौन रहना (वाणी से भी और विचार से भी) सब से उत्तम जप माना जाता है। ध्यान का भी बड़ा महत्त्व है। वह ध्यान सर्वोत्तम माना जाता है, जिसमें चिन्तन की स्फूर्त्ति भी न हो। फल में तरह-तरह की इच्छा का योग होता है। जब इच्छा का योग न हो और प्राप्ति के प्रति अनिच्छा का उदय हो जाय, तो यह अनिच्छारूप महाफल माना जाता है ॥३८॥

मन्त्रोदकैर्विना सन्ध्यां पूजाहोमैर्विना तपः।
उपचारैर्विना पूजां योगी नित्यं समाचरेत् ॥३९॥

'सन्ध्या' समय में 'सन्ध्या' नामक आचार का पालन नित्यकर्म में परिगणित है। इसके लिये वैदिक रीति के अनुसार विनियोग आदि मन्त्रों के साथ जल का प्रयोग अनिवार्य माना जाता है। कुलार्णवतन्त्र कहता है कि, योगी के लिये यह आवश्यक नहीं है। वह मन्त्रोदक के बिना ही नित्य सन्ध्या का प्रयोग करता रहे। इसी तरह पूजा और हवन आदि के बिना, तप उपचारों के बिना पूजा का भी नित्य आचरण करे ॥३९॥

निःसङ्गश्च विसङ्गश्च निस्तीर्णोपाधिवासनः।
निजस्वरूपनिर्मग्नः स योगी परतत्त्ववित् ॥४०॥

निःसंगता और किसी प्रकार की आसक्ति के प्रति वैराग्य, समस्त प्रकार की सोपाधिक वासनाओं का अतिक्रमण और स्वात्म 'स्व'भाव में तादात्म्य पूर्ण ऐक्यमय निमग्नता ये योगी के प्रधान गुण हैं। ऐसा योगी परतत्त्ववेत्ता माना जाता है ॥४०॥

देहो देवालयो देवि जीवो देवः सदाशिवः ।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहम्भावेन पूजयेत् ॥४१॥

भगवान् शंकर कहते हैं कि, देवि पार्वति ! यह शरीर दिव्य शक्तियों और शक्ति-मन्त्रों का अपना अधिष्ठान है। इसीलिये इसे देवालय कहते हैं। इसमें प्रधान रूप से जिस देव का निवास है, वही 'जीव' कहलाता है। शास्त्र में इसे 'सदाशिव' कहते हैं। इसके ऊपर आवरणरूप अज्ञान का निर्माल्य चढ़ा हुआ है। इसको हटाना चाहिये। 'त्यजेत्' विधि क्रिया है। अर्थात् साधक का कर्त्तव्य है कि, अज्ञान का आवरण दूर करे। इसके बाद 'सोऽहं' भाव से 'अजपाजप' के माध्यम से उसकी पूजा करे ॥४१॥

जीवः शिवः शिवो जीवः स जीवः केवलः शिवः ।
पाशबद्धः स्मृतो जीवः पाशमुक्तः सदाशिवः ॥४२॥

जीव वस्तुतः शिव ही है। दूसरे शब्दों में कहा जाय, तो यह कहा जा सकता है कि, शिव ही जीव है। जीवभाव में स्वयं आत्मसंकोच की स्वतन्त्रता के कारण स्वयं शिव ही आते हैं। यह कोई अन्य नहीं, केवल शिव ही हैं। संकोच को दूसरे शब्दों में पाश कहते हैं। स्वयं गृहीतसंकोच-भाव शिव पाशबद्ध होकर जीव कहलाने लगते हैं। जीव ही जब पाशमुक्त हो जाता है, तो वही सदाशिव भाव में परिगणित होने लगता है ॥४२॥

तुषेण बद्धो व्रीहिः स्यात्तुषाभावे हि तण्डुलः ।
कर्मबद्धः स्मृतो जीवः कर्ममुक्तः सदाशिवः ॥४३॥

यह प्रत्यक्ष देखा जा सकता है कि, 'धान' की संज्ञा तभी चरितार्थ होती है जब उस पर तुष (भूसी का छिलका) लगा होता है। तुष के हटा देने के उपरान्त धान तण्डुल (चावल के दाने) के रूप में परिणत हो जाता है। यही दशा शिव या सदाशिव की है। जब कर्मपाश में शिव बद्ध रहते हैं, तो उनकी संज्ञा 'जीव' हो जाती है। ज्यों ही पाश-मुक्ति की दशा आती है, सदाशिव भाव उल्लसित हो जाता है ॥४३॥

अग्नौ तिष्ठति विप्राणां हृदि देवो मनीषिणाम् ।
प्रतिमास्वप्रबुद्धानां सर्वत्र विदितात्मनाम् ॥४४॥

दिव्यशक्तिसम्पन्न शिवदेव विभिन्न अधिकारियों को विभिन्न वस्तुओं में अभिव्यक्त होते हैं, जहाँ उनका साक्षात्कार विभिन्न स्तर पर किया जा सकता है। जैसे विप्रों के लिये शिव देव अग्नि में वास करते हैं। मनीषी पुरुषों को उनका साक्षात्कार हृदय में ही हो जाता है। जिनकी चेतना अभी सुषुप्त है, अर्थात् जो प्रतिबुद्ध नहीं हैं, ऐसे लोगों को प्रतिमा में ही देवदर्शन हो जाता है; किन्तु विदितात्मा लोगों के लिये उस सदाशिव देव का दर्शन सर्वत्र होता रहता है ॥४४॥

यो निन्दास्तुतिशीतोष्णसुखदुःखारिबन्धुषु ।
सम आस्ते स योगीन्द्रो हर्षाहर्षविवर्जितः ॥४५॥

निन्दा-स्तुति, शीत-उष्ण, सुख-दुःख, शत्रु-मित्र, हर्ष और विषाद—ये सभी जागतिक द्वन्द्व हैं। इनसे प्रभावित पुरुष निरन्तर उद्विग्न रहते हैं। जो साधक पुरुष इन द्वन्द्वों में भी अनुद्विग्न अर्थात् शान्त और सम बना रहता है, वह सचमुच योगीन्द्र है। इसमें सन्देह नहीं ॥४५॥

निस्पृहो नित्यसन्तुष्टः समदर्शी जितेन्द्रियः।
आस्ते देहे प्रवासीव योगी परमतत्त्ववित् ॥४६॥

स्पृहा से रहित, नित्य सन्तुष्ट, सर्वत्र सम दर्शन करने वाला समदर्शी, इन्द्रिय-जेता, योगीश्वर सचमुच परमतत्त्वरूपी रहस्य का वेत्ता अर्थात् द्रष्टा होता है। ऐसा योगी इस शरीर में प्रवासी की तरह जीवन व्यतीत करता है। अन्त में वह स्वात्मसत्तारूप परमात्मा में समाहित हो जाता है ॥४६॥

निःसङ्कल्पो निर्विकल्पो निर्लिप्तोपाधिवासनः।
निजस्वरूपनिर्मग्नः स योगी परतत्त्ववित् ॥४७॥

संकल्प से रहित साधक को निःसंकल्प कहते हैं। इसी तरह विकल्पों से रहित साधक निर्विकल्प कहलाता है। वासनाओं के प्रभाव से जो सांसारिकता में सना रहता है, उसे लिप्त कहते हैं। जो लिप्त नहीं रहता, वह निर्लिप्त कहलाता है। इस प्रकार समस्त औपाधिक वासनाओं में भी निर्लिप्त रहने वाला साधक उत्तम कोटि का साधक होता है। इन विशेषताओं से विशिष्ट साधक यदि और भी ऊर्ध्व सोपान की ओर अग्रसर होकर जो स्वात्म 'स्व' स्वरूप में निमग्न हो जाने का अभ्यास कर लेता है, वह और भी अच्छा साधक होता है। उक्त सभी अर्थात्—१. निःसंकल्प, २. निर्विकल्प, ३. निर्लिप्तोपाधि-वासन, ४. निजस्वरूपनिमग्न योगी परतत्त्ववेत्ता माने जाते हैं ॥४७॥

यथा पङ्ग्वन्धबधिरक्लीबोन्मत्तजडादयः।
निवसन्ति कुलेशानि तथा योगी च तत्त्ववित् ॥४८॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि कुलस्वामिनि! यह तथ्य है कि, तत्त्ववेत्ता योगी अपने व्यक्तित्व को गुप्त भाव से सुरक्षित रखते हुए ऐसा व्यवहार करता है, जिससे लोग उसे तत्त्व रूप से पहचान न सकें। कभी वह पंगु की तरह, कभी अन्धवत् और कभी बहरे की तरह व्यवहार करने लगता है। कभी वह क्लीब, उन्मत्त और जड आदि की तरह रहते हुए जीवन व्यतीत करता है ॥४८॥

पञ्चमुद्रासमुत्पन्नपरमानन्दनिर्भरः।
य आस्ते स तु योगीन्द्रः पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥४९॥

कुलमार्ग में कुलमुद्रा का महत्त्व शास्त्रों द्वारा समर्थित है। कुलमुद्रायें पाँच मुद्राओं के रूप में प्रसिद्ध हैं। कुछ लोग करंकिणी और खेचरी आदि मानते हैं। कुछ लोग पाँच मुद्राओं को पंचमकार (मद्य, मांस, मैथुन, मत्स्य और मुद्रा) को ही कहते हैं। इनसे

उत्पन्न होने वाली आनन्दात्मक अनुभूति पर योगीन्द्र साधक निर्भर रहते हैं। वे स्वात्म में स्वात्मतत्त्व का दर्शन कर अपने को धन्य बना लेते हैं ॥४९॥

अलिमांसाङ्गनासङ्गे यत् सुखं जायते प्रिये।
तदेव मोक्षो विदुषामबुधानान्तु पातकम् ॥५०॥

मद्य, मांस और अंगना—ये तीनों आध्यात्मिक सुख के मूल और महान् साधन हैं। भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति ! इनसे मिलने वाला सुख ही मोक्ष है। तत्त्ववेत्ता इस आनन्द को मोक्षरूप से स्वीकार करते हैं। जो तत्त्व के जानकार नहीं होते, ऐसे अबुध लोग भले ही इसे पातक कहें, वस्तुसत्य में कोई अन्तर नहीं पड़ता ॥५०॥

सदा मांसासवोल्लासी सदा चरणचिन्तकः।
सदा संशयहीनो यः कुलयोगी स उच्यते ॥५१॥

वह योगसाधक कुलयोगी कहलाता है, जिसने अपने जीवन की धारा कौलाचार के अनुसार नियमित और नियन्त्रित कर ली हो। इसके लिये वह मुख्य रूप से तीन कार्य अपनाता है—१. नित्य मद्य और मांस के सेवन से शरीर में होने वाले उल्लास अर्थात् मदमयता से प्रभावित नशे की मदहोशी से उल्लसित रहता है। २. सदाचरण (कुलाचरण अथवा सत्य रूप ब्रह्ममयता का आचरण अथवा मिथुनीभावार्थ चरणचिन्तक) बना रहता है। ३. सभी प्रकार के संशयों से रहित होता है। वही कुलयोगी है ॥५१॥

पिबन्मद्यं पलं खादन् स्वेच्छाचारपरायणः।
अहं तदनयोरैक्यं भावयन्निवसेत् सुखी ॥५२॥

मद्य का सेवन करने में रत और मांस के आस्वाद में सन्निहित स्वैर आचार में परायण रहने वाला कुलाचारनिरत कौल साधक 'अहं' और 'सः' इन दोनों में भेदबुद्धि नहीं रखता। इन दोनों की एकता के अमरभाव से सदा भावित रहता है ॥५२॥

आमिषासवसौरभ्यहीनं यस्य मुखं भवेत्।
प्रायश्चित्ती स वर्ज्यश्च पशुरेव न संशयः ॥५३॥

जिस कुलाचार में प्रविष्ट पुरुष का मुख मद्य और मांस के सौरभ्य से सुगन्धित नहीं रहता, उस दीक्ष्य को कुलमार्ग से निष्कासित कर देना चाहिये। यदि वह इसमें रहना चाहता है, तो उसे प्रायश्चित्त करना ही चाहिये। फिर भी इस पावन मार्ग से यदि वह विरत ही रहता है, तो निःसंशय वह पशु है, ऐसा समझना चाहिये ॥५३॥

यावदासवगन्धः स्यात् पशुः पशुपतिः स्वयम्।
विनालिमांसगन्धेन साक्षात् पशुपतिः पशुः ॥५४॥

जब तक मुख में आसव का गन्ध विराजमान है, उसे पशु नहीं कहा जा सकता। निश्चित ही वह पशुपति है, अर्थात् स्वयं शिवरूप ही है। मद्य और मांस के गन्ध के बिना साक्षात् पशुपति ही क्यों न हो, वह पशु के ही समान है ॥५४॥

लोके निकृष्टमुत्कृष्टं लोकोत्कृष्टं निकृष्टकम्।
कुलमार्गं समुद्दिष्टं भैरवेण महात्मना ॥५५॥

कुलमार्ग अलौकिक मार्ग है। इसे लौकिक दृष्टि से कुछ लेना-देना नहीं। यह अपने लक्ष्य की चिन्ता करता है, लोक की नहीं। इसीलिये लोक में जिसे निकृष्ट कहते हैं, वह कुलमार्ग में उत्कृष्ट माना जाता है। इसी तरह लोक में जिसे उत्कृष्ट कहते हैं, वह कुलाचार की दृष्टि से निकृष्ट अतएव हेय माना जाता है। भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि! यह महात्मा भैरव का सनातन सत्य वचन है ॥५५॥

अनाचारः सदाचारस्त्वकार्यं कार्यमुत्तमम्।
असत्यमपि सत्यं स्यात् कौलिकानां कुलेश्वरि ॥५६॥

इस मार्ग में अनाचार भी सदाचार बन जाता है। जिसे सभी अकरणीय कार्य कहते हैं, वही उत्तम कार्य कहलाता है। यहाँ असत्य भी सत्य हो जाता है। भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, कुलेश्वरि! यह कौलिकों का मार्ग ही अलौकिक माना जाता है ॥५६॥

अपेयमपि पेयं स्यादभक्ष्यं भक्ष्यमेव च।
अगम्यमपि गम्यं स्यात् कौलिकानां कुलेश्वरि ॥५७॥

यहाँ अपेय ही पेय है। इस मार्ग में अभक्ष्य भी भोजन के रूप में ग्रहण करने योग्य है। जिसे लोक अगम्य मानता है, इस मार्ग में उसे गम्य माना गया है। कुलेश्वरी देवि! पार्वति! यह मार्ग ही ऐसा है ॥५७॥

न विधिर्न निषेधः स्यान्न पुण्यं न च पातकम्।
न स्वर्गो नैव नरकं कौलिकानां कुलेश्वरि ॥५८॥

कौलिक विधि-निषेध से ऊपर होता है। पुण्य और पाप का अन्तर यहाँ अमान्य है। स्वर्ग और नरक की प्रकल्पना का यहाँ कोई मूल्य नहीं है। हे कुलस्वामिनी पार्वति! यह मार्ग ही ऐसा है ॥५८॥

अनभिज्ञा अभिज्ञन्ति दरिद्रा धनयन्ति च।
विनष्टा अपि वर्द्धन्ते कौलिकाः कुलनायिके ॥५९॥

इस अलौकिक आचार-मार्ग में अनभिज्ञ भी अभिज्ञ हो जाते हैं। दरिद्र भी धनी की तरह आचरण करने लगते हैं। ऐसे लोग जो हर तरह से बरबाद हो गये रहते हैं, इस मार्ग में आकर आगे बढ़ जाते हैं, अर्थात् उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो जाते हैं। भगवान् कहते हैं कि, देवि! कुलेश्वरि! कुलमार्ग को अपनाने वालों की यह विशेषता है ॥५९॥

रिपवश्चापि मित्रन्ति साक्षाद्दासन्ति भूमिपाः।
बान्धवन्ति जनाः सर्वे कौलिकानां कुलेश्वरि ॥६०॥

यहाँ शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। भूपति, जिनकी बड़ी प्रतिष्ठा होती है, अपनी प्रतिष्ठा के असत्य अहं का परित्याग कर भृत्यवत् आचरण करने में गौरव का अनुभव

करने लगते हैं। अन्य सारे जन, सारी प्रजा जो कौलमार्ग अपना लेती है, परस्पर बान्धव भाव का व्यवहार करने लगती है। भगवान् कहते हैं कि, यह इस मार्ग की बहुत बड़ी विशेषता है ॥६०॥

विमुखाः सुमुखाः सर्वे गर्विताः प्रणमन्ति च।
बाधकाः साधकायन्ते कौलिकानां कुलेश्वरि ॥६१॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि कुलेश्वरि! जो विमुख रहकर प्रतिकूल आचरण में संलग्न रहते हैं, वे निश्चित ही सुमुख हो जाते हैं, अर्थात् उनकी जीवन-धारा नितान्त अनुकूल बन जाती है। जो गर्व से मुँह फुलाये विपरीत रहते हैं, वे विनम्र होकर प्रणय अर्थात् प्रेम का व्यवहार करने लगते हैं। जो बाधक होते हैं, वे साधक बन जाते हैं। यह इस मार्ग का महत्त्व है ॥६१॥

निर्गुणाः सगुणायन्ते अकुलं सुकुलायते।
अधर्माश्चापि धर्मन्ति कौलिकानां कुलेश्वरि ॥६२॥

निर्गुण अर्थात् गुणों से सर्वथा रहित अगुणी व्यक्ति भी गुणवन्तों की तरह आचरण करने लगता है। जो सुन्दर कुलवाला नहीं है, इस मार्ग में आकर सुन्दर कुलवान् पुरुष की तरह आचरण करने लगता है। जो कभी धर्म की बात नहीं करते, अर्थात् धर्म का धकार भी नहीं जानते, वे धार्मिकता के प्रतिमान बन जाते हैं। भगवान् कहते हैं कि, देवि कुलेश्वरि! यह कौलिकों की विशेषता है ॥६२॥

मृत्युर्वैद्यायते देवि साक्षात् स्वर्गायते गृहम्।
गुण्यायन्तेऽङ्गनासङ्गाः कौलिकानां कुलेश्वरि ॥६३॥

देवि! पार्वति! यहाँ साक्षात् यमराज भी चिकित्सक बनकर आश्चर्यवत् आचरण करते हैं। गृह भी साक्षात् स्वर्ग बन जाता है और अंगनाओं के आसंग में पुण्य की पावनता की प्रतिष्ठा हो जाती है। यह और कहीं नहीं, मात्र कौलिक मार्ग में ही सम्भव है ॥६३॥

बहुनात्र किमुक्तेन कुलयोगीश्वराः प्रिये।
सदा सङ्कल्पसिद्धाः स्युर्नात्र कार्या विचारणा ॥६४॥

भगवान् शंकर ने इस प्रकार कौलिक मार्ग के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कहा कि, देवि पार्वति! इस विषय में अधिक कितना और क्या कहा जाय? बातों की एक ही बड़ी बात मैं कह रहा हूँ कि, प्रिये! कुलयोगीश्वर संकल्पसिद्ध योगीश्वर होते हैं। मेरी इस बात पर पुनः विचार की कोई आवश्यकता नहीं। यह शाश्वत सत्य तथ्य है ॥६४॥

येन केनापि वेशेन येन केनाप्यलक्षितः।
यत्र कुत्राश्रमे तिष्ठेत् कुलयोगी कुलेश्वरि ॥६५॥

कुलयोगी का कोई निर्धारित वेश नहीं होता। भगवान् कह रहे हैं कि, कुलेश्वरि! कुलयोगी जिस किसी वेश में रहे, कोई अन्तर वहाँ नहीं पड़ता। उसकी सबसे बड़ी

विशेषता यह है कि, वह जिस किसी के द्वारा लक्षित भी नहीं होता। सब उसे पहचान भी नहीं पाते। वह जहाँ कहीं भी किसी आश्रम में रह लेता है। इससे उसकी साधना बाधित नहीं होती ॥६५॥

योगिनो विविधैर्वेशैर्नराणां हितकारिणः।
भ्रमन्ति पृथिवीमेतामविज्ञातस्वरूपिणः ॥६६॥

एक विशेष तथ्य की ओर भगवान् सबका ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं। वे कहते हैं कि, योगी लोग विविध अनेकानेक वेश धारण कर लेते हैं। इससे शीघ्र उन्हें कोई पहचान भी नहीं पाता। लोककल्याण की दृष्टि से लोगों की हित की कामना से वे सारी पृथिवी का पर्यटन किया करते हैं। इधर से उधर, यहाँ से वहाँ, एक गाँव से दूसरे गाँव में स्वात्मगोपन भाव से ही कि, कोई हमारे मूल स्वरूप को पहचान भी न सके, बराबर घूमते रहते हैं ॥६६॥

सकृन्नैवात्मविज्ञानं क्षपयन्ति कुलेश्वरि।
उन्मत्तमूकजडवन्निवसेल्लोकमध्यतः ॥६७॥

भगवान् कह रहे हैं कि, कुलेश्वरि ! पार्वति ! ये कुलसंकल्पसिद्ध योगी कहीं किसी अवस्था में रहते हैं, अपनी साधना में बाधा नहीं आने देते। स्वात्मविचार को कभी क्षीण नहीं होने देते। उनका सिद्धान्त है कि, लोक में उन्मत्त (पागलपनग्रस्त) की तरह, गूँगे की तरह, जड़ बनकर भी कहीं रह लें। समय बिता लें। रहें वह लोक में ही; पर अपनी समयाचारिता के प्रति सजग रहें ॥६७॥

अलक्ष्यो हि यथा लोके व्योम्नि चन्द्रार्कयोगतः।
नक्षत्राणां ग्रहाणाञ्च तथा वृत्तन्तु योगिनाम् ॥६८॥

आकाश में चन्द्र और सूर्य के योग का परिणाम नक्षत्रों और ग्रहों के वृत्त पर यह प्रभाव पड़ता है कि, दिन में उनके दर्शन ही नहीं होते। रात को दीख पड़ने की शोभा भी आश्चर्यजनक ही होती है। इन दृश्यों से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि, योगियों के प्राण-अपान संघट्ट से दिन और रात के वे अंग प्रकाशित होते हैं, जिनसे जीवनवृत्त के विभिन्न स्वरूपों के दर्शन होते हैं ॥६८॥

आकाशे पक्षिणां देवि जलेऽपि जलचारिणाम्।
यथा गतिर्न दृश्येत तथा वृत्तं हि योगिनाम् ॥६९॥

आकाश में आकाशचारी पक्षियों का प्राबल्य रहता है। उसी तरह जल में जलचरों का प्राधान्य होता है। उनकी गतिविधियों का परिज्ञान भूतल-वासियों को नहीं हो पाता। वही दशा योगियों की होती है। उनकी गतिविधियों का ज्ञान सामान्य व्यक्तियों को नहीं हो पाता ॥६९॥

असन्त इव भाषन्ते चरन्त्यज्ञा इव प्रिये।
पामरा इव दृश्यन्ते कुलयोगविशारदाः ॥७०॥

यद्यपि वे परमतत्त्वज्ञ होते हैं; किन्तु व्यवहार जगत् में वे अपने को ऐसा व्यक्त करते हैं मानो ये सामान्य पुरुष हैं। वे ऐसी बातें करते हैं, जिससे लोग अदक्ष मानकर कह देते हैं कि, यह कोई सन्त पुरुष नहीं हैं। भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! वे अज्ञ की तरह आचरण करते हैं। देखने में तो वे नितान्त पामर व्यक्ति प्रतीत होते हैं; किन्तु वास्तविकता यह है कि, ऐसे लोग कुलयाग के विशारद होते हैं ।।७०।।

जना यथावमन्यन्ते गच्छेयुर्नैव सङ्गतिम्।
न किञ्चिदपि भाषन्ते तथा योगी प्रवर्त्तते ।।७१।।

कुलयोगी आत्मरक्षा के उद्देश्य से ऐसा व्यवहार करें, जिससे लोग उनका आदर करने की अपेक्षा उनकी अवमानना ही करें। आदर से झूठे अहं की सम्भावना होती है तथा योगभ्रष्ट होने का डर बना रहता है। ये कभी भी किसी दशा में भी लौकिक लोगों से संगति न बढ़ावें। ये ऐसा व्यवहार करें, जिससे ये दुनियावी लोग उनसे बात करने से भी कतरायें। भगवान् कहते हैं कि, महास्वामिनी देवि ! इसी में योगी का लाभ है ।।७१।।

मुक्तोऽपि बालवत् क्रीडेत् कुलेशो जडवच्चरेत्।
वदेदुन्मत्तवद्विद्वान् कुलयोगी महेश्वरि ।।७२।।

यद्यपि योगी जीवन्मुक्त हैं, फिर भी उसे स्वात्मगोपन के लिये शिशु और बालभाव में रहना चाहिये। बाल व्यवहार ही उनके हित में है। कुलेश्वर की दशा में अधिष्ठित रहते हुए भी जड़ की तरह आचरण करना ही अच्छा मानें और वैसा ही करें। विद्वान् होते हुए भी उन्मत्त और नासमझ की तरह बातें करें। महास्वामिनी देवि पार्वति ! इसी में उनका हित है ।।७२।।

यथा हसति लोकोऽयं जुगुप्सति च कुत्सति।
विलोक्य दूरतो याति तथा योगी प्रवर्त्तते ।।७३।।

योगी को अपने व्यवहार द्वारा यह प्रदर्शन और कार्य का ऐसा प्रवर्त्तन करना चाहिये, जिससे प्रभावित लोग उस पर छींटाकशी करने लगें, हँसी और खिल्ली उड़ायें। कुछ उसकी जुगुप्सा करते दिखायी दें। दोषदर्शन के बाद की निन्दा को जुगुप्सा कहते हैं। उसकी कुत्सा अर्थात् बुराई करें। उसे देखकर लोग दूर से उसकी राह छोड़ दें। इससे योगी को योगक्रिया में आगे बढ़ने का और भी अवकाश मिल जाता है ।।७३।।

क्वचिच्छिष्टः क्वचिद्भ्रष्टः क्वचिद् भूतपिशाचवत्।
नानावेशधरो योगी विचरेज्जगतीतले ।।७४।।

भगवान् कह रहे हैं कि, कुलयोगी विभिन्न वेशभूषा भी धारण कर विश्व में स्वच्छन्द विचरण करे। उसे इसकी छूट है। कहीं तो वह सद्गुणसम्पन्न माननीय विनम्र नागरिक की तरह आदर्श उपस्थित करे। कहीं वह भ्रष्ट अर्थात् पतित, दुश्चरित्र की तरह निष्कासित भी किया जाय, तो कोई हर्ज नहीं। कहीं लगे कि, वह भूत-पिशाच की तरह विभिन्न उपद्रवों का ही निमित्त है। इस तरह उसके व्यक्तित्व का परिष्कार ही होता है ।।७४।।

योगी लोकोपकाराय भोगान् भुङ्क्ते न काङ्क्षया ।
अनुगृह्णन् जनान् सर्वान् क्रीडेच्च पृथिवीतले ॥७५॥

योगी भोगों का उपभोग अपने आनन्दवाद के लिये नहीं करता । वह केवल लोक-कल्याण की कामना से भोगवाद में प्रवृत्त होता है । लोकोपकार ही उसका लौकिक आदर्श होता है । वह विश्व जीव समुदाय पर अनुग्रह की अनवरत वर्षा करता है । भूमण्डल में केवल अन्तर्लक्ष्य को ध्यान में रखता हुआ बाह्य आचार की क्रीड़ा करता है । कुलयोगी का यह रहस्य ही उसके महत्त्व का संवर्द्धन करता है ॥७५॥

सर्वशोषी यथा सूर्यः सर्वभोगी यथाऽनलः ।
योगी भुक्त्वाखिलान् भोगान् तथा पापैर्न लिप्यते ॥७६॥

सूर्य का एक विशेषण 'सर्वशोषक' है । सब का रस वह अपनी किरणों के माध्यम से चूस लेता है । इसमें शुद्धि-अशुद्धि का भेद वह नहीं करता, फिर भी उसमें किसी प्रकार के दोष की सम्भावना नहीं होती । जहाँ तक आग का प्रश्न है, इसे सर्वभोग करने वाला माना जाता है । यह शुद्ध-अशुद्ध का अन्तर नहीं करता । इस पर भी कोई दोष नहीं लगता । जिस प्रकार इन दोनों को सारे भोगों के उपभोग के बाद भी कोई दोष नहीं लगता, उसी तरह कुलयोगी भी निखिल भोग का अधिकारी है । उसे भी कोई दोष नहीं लग सकता । सूर्य और अग्नि से भी बढ़कर इसका महत्त्व शास्त्रों द्वारा स्वीकार्य है ॥७६॥

सर्वस्पर्शी यथा वायुर्यथाकाशश्च सर्वगः ।
सर्वे यथा नदीस्नातास्तथा योगी सदा शुचिः ॥७७॥

वायु यथा सर्वस्पर्शी है । उसे भी किसी के स्पर्श का दोष नहीं लगता । स्पर्श दोष से यह लिप्त नहीं होता । आकाश को देखिये, यह सर्वग है, अर्थात् सर्वत्र व्याप्त है, फिर भी सदा शुचि है । इसमें किसी प्रकार की अपवित्रता नहीं आती । नदी में सभी स्नान करते हैं । सारी गन्दगी नदियों में गिरती है । नदियों में नहाने वाले सभी फिर भी पवित्र होते हैं । इसी तरह कुलाचारसिद्ध योगी सब कुछ करता हुआ भी सर्वदा पवित्र होता है ॥७७॥

यथा ग्रामगतं तोयं नदीयुक्तं भवेच्छुचि ।
तथा म्लेच्छगृहान्नादि योगिहस्तार्पितं शुचि ॥७८॥

बरसात का गाँव-गिराँव में गिरा हुआ बरसाती पानी बहता हुआ सारी गन्दगी के साथ जब नदी को प्राप्त कर लेता है, तो एकदम पुनीत और पावन हो जाता है । उसमें स्नान कर लोग पवित्रता एवं शुचिता का अनुभव करते हैं । उसी तरह भले ही वह म्लेच्छ का अन्न हो, कुलयोगी के हाथ में अर्पित होते ही पावनतम हो जाता है ॥७८॥

यथाऽऽचरन्ति देवेशि ! कुलज्ञानविशारदाः ।
तदेव विदुषां मान्यमात्मनो हितकाङ्क्षिणाम् ॥७९॥

भगवान् कह रहे हैं कि, देवस्वामिनी पार्वति ! कुलज्ञानविशारद कुलयोगी जिस

प्रकार का जैसा भी आचरण करता है, वह आत्मकल्याण की कामना से जीवन को उत्कर्ष की दिशा में ले चलने के लिये अभ्यासरत विद्वद्वरेण्य व्यक्तियों को भी सर्वथा मान्य होता है ॥७९॥

यस्मिंश्चरन्ति योगीशाः स मार्गः परमो मतः ।
यस्यामुदेति सूर्यो हि पूर्वाशा सा निगद्यते ॥८०॥

जिस मार्ग में ऐसे योगीन्द्रवर्य चल रहे होते हैं, ऐसे कुलमार्ग को ही परमोत्कृष्ट मार्ग कह सकते हैं, यह मेरा भी मत है। यह सभी मानते हैं कि, जिस दिशा में सूर्योदय होता है, वही दिशा पूर्व दिशा मानी जाती है ॥८०॥

यत्र यत्र गजो याति तत्र मार्गो यथा भवेत् ।
कुलयोगी चरेद् यत्र स स मार्गः कुलेश्वरि ॥८१॥

हाथी जिस रास्ते से चलते हैं, वही मार्ग न होते हुए भी मार्ग बन जाता है। भगवान् कहते हैं कि, कुलेश्वरि ! उसी तरह कुलाचारसिद्ध योगी जिस मार्ग से चलता है, जिस आचार को आत्मकल्याणार्थ अपनाता है, वही वास्तविक मार्ग है ॥८१॥

नदीं वक्रामृजुं कर्त्तुं निरोद्धुं तत्प्रवाहकम् ।
स्वेच्छाविहारिणं शान्तं को वा वारयितुं क्षमः ॥८२॥

नदियाँ पृथ्वी की ढलान और धरातल की उच्चावच स्थिति के आधार पर वक्रमार्ग अपनाती हैं, अर्थात् टेढ़ी-मेढ़ी बहती हैं। इसके साथ ही वे धाराप्रवाह बहा करती हैं। इनके टेढ़े-मेढ़ेपन और इनके प्रवाह को कौन रोक सकता है, अर्थात् कोई नहीं। उसी प्रकार स्वेच्छापूर्वक आचरण करने वाले शान्त कुलाचारसिद्ध योगी को कोई भी नहीं रोक सकता। विशेष—आज के यान्त्रिक युग में नदी की वक्रता सीधी की जा सकती है और प्रवाह को भी रोक लिया जाता है ॥८२॥

यद्वन्मन्त्रबलोपेतः क्रीडनीयैर्न दृश्यते ।
तद्वन्न दृश्यते ज्ञानी क्रीडन्निन्द्रियपन्नगैः ॥८३॥

जिस प्रकार मन्त्रबल से संवलित मान्त्रिक मदारी मन्त्र के प्रभाव से साँपों से खेलता है; किन्तु उनके द्वारा वह दंशित नहीं देखा जाता, उसी प्रकार इन्द्रिय-सर्पों से खेलने वाला ज्ञानवान् पुरुष कभी इनके प्रभाव में नहीं आता ॥८३॥

निवृत्तदुःखसन्तुष्टा निर्द्वन्द्वा गतमत्सराः ।
कुलज्ञानरताः शान्तास्त्वद्भक्तास्ते च कौलिकाः ॥८४॥

दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति से कुलयोगी सर्वदा सन्तुष्ट रहता है। वह किसी प्रकार के हर्षामर्ष आदि द्वन्द्व में नहीं फँसता। उनके हृदय में मत्सर के लिये कोई स्थान नहीं होता। वे सदा सर्वदा शान्त रहते हैं। ऐसे कुलमार्ग के ज्ञाता विज्ञानवान् भक्त महान् होते हैं। भगवान् कह रहे हैं कि, देवि कुलेश्वरि ! ऐसे तुम्हारे भक्त ही कौलिक होते हैं ॥८४॥

अमदक्रोधदम्भाशाहङ्कारा: सत्यवादिनः ।
कौलिकेन्द्रा ह्यचपला ये नेन्द्रियवशानुगाः ॥८५॥

मद, क्रोध, दम्भ, आशा और अहंकार से रहित सत्यवादी और शान्त रहने वाले अर्थात् किसी प्रकार के चांचल्य और चपलता से मुक्त कुलमार्ग के योगीश्वरेन्द्र कभी भी इन्द्रियों के वश में नहीं होते ॥८५॥

कीर्त्यमाने कुले येषां रोमाञ्चो गद्गदस्वरः ।
आनन्दाश्रु पतेद्देवि कथिताः कौलिकोत्तमाः ॥८६॥

जिसके समक्ष कुलमार्ग के महत्त्व का बखान करने का यह प्रभाव होता है कि, सुनते ही उसे रोमहर्ष हो उठे और प्रसन्नता से उसका गला भर आये, गद्गद कण्ठ से वाणी न फूट सके, आँखों से आनन्द के आँसू छलक उठें, भगवान् कहते हैं कि देवि ! ऐसे सहृदयशिरोमणि कौलिकों में श्रेष्ठ माने जाते हैं ॥८६॥

सर्वधर्माधिको लोके कुलधर्मः शिवोदितः ।
इति ये निश्चितधियः प्रोक्तास्ते कौलिकोत्तमाः ॥८७॥

कौलिक धर्म शिवोक्त धर्म है । स्वयं शिव द्वारा प्रवर्त्तित होने के कारण यह सभी धर्मों के प्रति उदात्त और उत्तम है, इसमें सन्देह नहीं । इस प्रकार की निश्चित धारणा जिस कुलमार्ग के साधक की होती है, वह कौलिकोत्तम है, यह कहा जा सकता है ॥८७॥

यो भवेत् कुलतत्त्वज्ञः कुलशास्त्रविशारदः ।
कुलार्चनरतः स स्यात् कौलिको नापरः प्रिये ॥८८॥

कुलमार्ग के रहस्य का जानकार कुलतत्त्वज्ञ माना जा सकता है । इसके साथ यदि वह कुलशास्त्रों का विशारद हो तथा कुलपद्धति से पूजन-अर्चन करने में लगा रहने वाला श्रद्धालु हो, तो भगवान् कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति ! वस्तुतः सच्चे अर्थ में वही कौलिक है ॥८८॥

कुलभक्तान् कुलज्ञानान् कुलाचारकुलव्रतान् ।
प्रीतो भवति यो दृष्ट्वा कौलिकः स च मे प्रियः ॥८९॥

कुलमार्ग में भक्तिपूर्वक प्रवण रहने वालों, कुलमार्ग की शास्त्रीय परम्परा को अच्छी तरह जानने वालों—विज्ञों, कुलमार्ग में निर्धारित समयाचार और व्रतों के पालन में अनवरत संलग्न रहने वालों तथा इन प्रक्रियाओं के वस्तुसत्य को सुनकर प्रसन्नता से खिल उठने वालों को देखकर जो प्रसन्न हो उठता है, भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! वही व्यक्ति सच्चा कौलिक है और वही मुझे भी बड़ा प्रिय है ॥८९॥

तत्त्वत्रयश्रीचरणमूलमन्त्रार्थतत्त्ववित् ।
देवतागुरुभक्तश्च कौलिकः स्याच्च दीक्षया ॥९०॥

तीन तरह से कौलिक हो सकते हैं । प्रथम दृष्टि से कौलिक होने के लिये तीन तत्त्वों को जानना आवश्यक है । तीन तत्त्व के कई अर्थ हो सकते हैं । (१. निष्कल शिव

संहार, २. जीव स्थिति और ३. देह सृष्टि), (१. शिव, २. शक्ति और ३. नर), (१. श्रीगुरुचरण, २. मूलमन्त्र और ३. भक्ति) यही तीन तत्त्वमय माने जा सकते हैं। इस श्लोक में तीसरी ओर ही संकेत है। दूसरी दृष्टि से श्रीचरण-ध्यान, मूलमन्त्र के अर्थ-तत्त्व का ज्ञान और देव-गुरु भक्ति कौलिक में आवश्यक है। तीसरी दृष्टि दीक्षा है। दीक्षा से भी कौलिक होता है। कौलिक के लिये यह श्लोक एक प्रमाण है ॥९०॥

दुर्लभं सर्वलोकेषु कुलाचार्यस्य दर्शनम्।
सुपाकेनैव पुण्यानां लभ्यते नान्यथा प्रिये ॥९१॥

विश्व का वह अत्यन्त दुर्लभ क्षण होता है, जिस समय किसी उस व्यक्ति का दर्शन होता है, जो कुलमार्ग का आचार्य हो। भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि ! पार्वति ! निश्चित है कि यह पुण्य के परिपाक से ही सम्भव होता है। इसका और कोई दूसरा कारण नहीं होता ॥९१॥

संस्मृतः कीर्त्तितो दृष्टो वन्दितो भाषितोऽपि वा।
पुनाति कुलधर्मिष्ठश्चाण्डालोऽपि यदृच्छया ॥९२॥

कुलधर्म में निष्ठा रखने वाला कोई भी हो, यहाँ तक कि, वह चाण्डाल भी क्यों न हो ? शास्त्र की दृष्टि से वह नितान्त पवित्र, पावन और दूसरों को भी पावन करने में समर्थ हो जाता है। उसका स्मरण भी स्मरण करने वाले को पवित्र कर देता है। दूसरों द्वारा कीर्त्तित, दृष्ट होने पर वन्दित और बातचीत में सम्मिलित किये जाने पर वह निश्चित ही स्मर्त्ता, कीर्त्तनकर्त्ता, वन्दिता और वार्त्तालापकर्त्ता को पवित्र कर देता है ॥९२॥

सर्वज्ञो वापि मूर्खो वाप्युत्तमो वाऽधमोऽपि वा।
यत्र देवि कुलज्ञानी तत्राहञ्च त्वया सह ॥९३॥

यहाँ सर्वज्ञता और अल्पज्ञता का कोई प्रश्न ही नहीं है। वह भले ही सर्वज्ञ हो या अल्पज्ञ मूर्ख, उत्तम हो या अधम, भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! उसे कुलमार्ग का जानकार होना चाहिये। वह कुलज्ञ हो। जहाँ कुलज्ञ रहता है, वहाँ तुम्हारे साथ मैं भी सदा विद्यमान रहता हूँ ॥९३॥

नाहं वसामि कैलासे न मेरौ न च मन्दरे।
कुलज्ञा यत्र तिष्ठन्ति तत्र तिष्ठामि भाविनि ॥९४॥

लोग कैलास का दर्शन करने के लिये लालायित रहते हैं; क्योंकि वे लोग यह जानते हैं कि, मैं कैलास में रहता हूँ। कुछ लोग मेरु और कुछ लोग मन्दराचल को मेरा वासस्थान मानते हैं। भगवान् शंकर कहते हैं कि, प्रिये ! वास्तविकता यह है कि, जहाँ कुलज्ञ साधक रहते हैं, मैं वहीं रहता हूँ ॥९४॥

सुदूरमपि गन्तव्यं यत्र माहेश्वरो जनः।
द्रष्टव्यश्च प्रयत्नेन तत्र सन्निहितो ह्यहम् ॥९५॥

जहाँ महेश्वरमार्गनिष्णात महामाहेश्वरों का आवास होता है अथवा जहाँ वे अपने जीवन का यापन करते हैं, भले ही वह सुदूर देश का भाग क्यों न हो, वहाँ अवश्य जाना चाहिये। ऐसे लोगों का दर्शन करना चाहिये। इससे जीवन धन्य हो जाता है। सब से बड़ी बात यह है कि, मैं वहाँ स्वयं सन्निहित रहता हूँ ॥९५॥

अतिदूरस्थितो वापि द्रष्टव्यः कुलदेशिकः ।
समीपे वर्त्तमानोऽपि न द्रष्टव्यः पशुः प्रिये ॥९६॥

कुलज्ञ देशिकशिरोमणि भले ही अत्यन्त दूर देश में रहता हो, वहाँ अवश्य जाना चाहिये और उसके दर्शन से कृतार्थ होना चाहिये। इसके विपरीत कोई पाशबद्ध साधक पास में भी हो, तो वहाँ नहीं जाना चाहिये। भगवान् प्रिय पार्वती को सम्बोधित कर कुलज्ञ के महत्त्व का प्रतिपादन कर रहे हैं ॥९६॥

कुलज्ञानी वसेद् यत्र स देशः पुण्यभाक् ततः ।
दर्शनादर्चनात्तस्य त्रिसप्तकुलमुद्धरेत् ॥९७॥

कुलमार्गनिष्णात माहेश्वर जहाँ पर भी निवास करते हैं, वह देश सचमुच अत्यन्त पुण्यप्रद और पावन प्रदेश होता है। वहाँ जाने, दर्शन करने और उसकी पूजा करने का बड़ा ही महत्त्व है। इससे इक्कीस पीढ़ियों का उद्धार हो जाता है ॥९७॥

कुलज्ञानिनमालोक्य स्वसन्तानगृहे स्थितम् ।
शंसन्ति पितरस्तस्य यास्यामः परमां गतिम् ॥९८॥

अपने सन्तान के घर में कुलमार्गनिष्णात ज्ञानवान् व्यक्ति का दर्शन कर उसके पितर अत्यन्त प्रसन्न हो जाते हैं। वे परस्पर कहते हैं कि, अब तक हम लोगों की परमगति में सन्देह था, किन्तु अब यह निश्चय हो गया है कि, हम मोक्ष को प्राप्त हो जायेंगे ॥९८॥

समाश्वसन्ति पितरः सुवृष्टिमिव कर्षकाः ।
योऽस्मत्कुलेषु पुत्रो वा पौत्रो वा कौलिको भवेत् ॥९९॥

जैसे कृषक सुवृष्टि से प्रसन्नता का अनुभव करता है, उसी तरह पितर अपनी सन्तान परम्परा में उत्पन्न पुत्रों और पौत्रों की उत्पत्ति से प्रसन्न होते हैं और वे यह चाहते हैं कि, इनमें से कोई भी कुलज्ञानवान् विशिष्ट कौलिक हो ॥९९॥

स धन्यः खलु लोकेऽस्मिन् पुरुषः क्षीणकल्मषः ।
यत्समीपं समायान्ति कुलाचार्या मुदा प्रिये ॥१००॥

वह इस लोक में धन्य है, जो पुरुष यहाँ के दोषों से उन्मुक्त रहता हुआ क्षीण-कल्मष अर्थात् पापरहित पुण्यात्मा बना रहता है। भगवान् शंकर कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! उनकी क्षीणकल्मषता का यही प्रमाण है कि, उनके पास कुलाचार्य (देशिक-शिरोमणि माहेश्वर) प्रसन्नतापूर्वक आते और उनका आतिथ्य स्वीकार करते हैं ॥१००॥

कौलिकेन्द्रे समायाते कौलिकावसथं प्रति।
समायान्ति मुदा देवि योगिन्यो योगिभिः सह ॥१०१॥

जिस निवासगृह (आवसथ) में कौलिकेन्द्र आकर निवास करते हैं, वह कौलिकावसथ धन्य हो जाता है। वहाँ योगियों का समूह ज्ञानार्जन और दर्शन हेतु आता ही रहता है। इसमें भी विशेषता यह है कि, योगियों के साथ योगिनी शक्तियाँ भी वहाँ पहुँचती हैं ॥१०१॥

प्रविश्य कुलयोगीन्द्रं भजन्ते पितृदेवताः।
तस्मात् सम्पूजयेद्भक्त्या कुलज्ञानपरायणान् ॥१०२॥

पितृ-देवताओं के प्रसन्न होने की चर्चा पहले की गयी है। भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, कुलयोगीन्द्र महाकौलिक के पास वे स्वयं भी आते हैं। उनके सान्निध्य से प्रसन्न होते हैं। इस आधार पर हम सब लोगों का कर्त्तव्य हो जाता है कि, पितृ समुदाय द्वारा आदरणीय इन कुलज्ञानपरायण पुरुषों की सभक्ति पूजा हम भी करें ॥१०२॥

अभ्यर्चयित्वा त्वां देवि त्वद्भक्तान्नार्चयन्ति ये।
पापिष्ठास्त्वत्प्रसादस्य भाजनं न भवन्ति ते ॥१०३॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! तुम्हारे भक्त भक्तिपूर्वक तुम्हारी पूजा करते हैं। तुम्हारी पूजा के बाद वे तुम्हारे भक्त इन शाक्त कौलिकों की पूजा करते हैं। भगवान् शंकर के कथनानुसार जो लोग ऐसा नहीं करते, उन्हें पापिष्ठ अर्थात् पापियों में भी बड़ा पापी कहना चाहिये। वे तुम्हारी कृपा के पात्र नहीं हो सकते ॥१०३॥

नैवेद्यं पुरतो न्यस्तं दर्शनात् स्वीकृतं त्वया।
रसान् भक्तस्य जिह्वाग्रादश्नामि कमलेक्षणे ॥१०४॥

भगवान् शंकर कहते हैं कि, देवि ! तुम अत्यन्त करुणामयी और कुलभक्त के ऊपर कृपा करने वाली हो । कुलभक्त तुम्हारे समक्ष नैवेद्य निवेदित करता है। तुम्हारे सामने उसे लाकर स्नेहपूर्वक रखता है। तुम उसे मात्र देख भर लेती हो और वह तुम्हारे द्वारा स्वीकृत कर लिया जाता है। ऐसे नैवेद्य को प्रसाद रूप से कुलभक्त जब ग्रहण करता है, तो उसके जिह्वाग्र से एक प्रकार के 'रस' की निष्पत्ति होती है। देवि ! वह रस मुझे बड़ा प्यारा लगता है। हे कमलनयनिके पार्वति ! मैं उसे स्नेहपूर्वक स्वीकार करता हूँ ॥१०४॥

त्वद्भक्तपूजनाद्देवि पूजितोऽहं न संशयः।
तस्मान्मम प्रियाकाङ्क्षी त्वद्भक्तानेव पूजयेत् ॥१०५॥

तुम्हारे भक्तों की पूजा से ही मैं भी पूजित हो जाता हूँ। इसमें किसी प्रकार की शंका करने की कोई आवश्यकता नहीं। यह उक्ति भगवान् शंकर की है, जो उन्होंने देवी को सम्बोधित करते हुए कही है। इसलिये भगवान् कहते हैं कि, मेरी प्रियता की चाह

रखने वाला सहृदय साधक तुम्हारे भक्तों की ही पूजा करे, अर्थात् उन्हें सभी तरह सत्कृत, सन्तुष्ट और तृप्त रखे ॥१०५॥

यत् कृतं कुलनिष्ठानां तद्देवानां कृतं भवेत् ।
सुराः कुलप्रियाः सर्वे तस्मात् कौलिकमर्चयेत् ॥१०६॥

कुलनिष्ठ सिद्ध कौलिक के हित और प्रेय-श्रेय की सिद्धि के लिये जो कुछ किया जाता है, वह सारा का सारा कार्य देवों के लिये किया गया ही मान लिया जाता है। इसका कारण यह है कि, देवता कुलप्रिय माने जाते हैं। इसलिये कौलिक साधक की अर्चना ही करणीय है ॥१०६॥

न तुष्याम्यहमन्यत्र तथा भक्त्या सुपूजितः ।
कौलिकेन्द्रेऽर्चिते सम्यग् यथा तुष्यामि पार्वति ॥१०७॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि पार्वति! कौलिकेन्द्र श्रेष्ठ साधकशिरोमणि होता है। उसके सम्यक् पूजे जाने पर मैं जितना प्रसन्न होता हूँ, उतना प्रसन्न कहीं अन्यत्र किसी प्रकार की भक्तिपूर्वक पूजा से नहीं हो पाता हूँ ॥१०७॥

यत् फलं कौलिकेन्द्राणां पूजया लभते प्रिये ।
तत् फलं नाप्नुयात्तीर्थतपोदानमखव्रतैः ॥१०८॥

हे प्रिये! कौलिकेन्द्रों की पूजा से जिस प्रकार के सुन्दर फलों की प्राप्ति होती है, वैसे फलों की प्राप्ति किसी तीर्थयात्रा से नहीं मिलती। किसी प्रकार के तप से नहीं प्राप्त होती। किसी प्रकार के दान, किसी प्रकार के यज्ञ और व्रतों के आचरण से भी नहीं प्राप्त होती ॥१०८॥

दत्तमिष्टं हुतं तप्तं पूजितं जप्तमम्बिके ।
कौलिकस्य भवेद्व्यर्थं कुलज्ञं योऽवमानयेत् ॥१०९॥

कौलिक के उद्देश्य से भक्ति और श्रद्धापूर्वक बहुत से लोग दान करते हैं। बहुत लोग उनकी प्रसन्नता के लिये यज्ञ आदि का आयोजन करते हैं। कुछ लोग हवन, जप, तप और पूजा आदि सम्पन्न किया करते हैं। भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि अम्बिके! ये सब कार्य उत्तम, करणीय और सुफल प्रदान करने वाले माने जाते हैं; किन्तु एक ध्यान देने की बात यह है कि, यदि ऐसे श्रद्धालु लोग किसी कुलज्ञानवान् कौलिक को अपमानित कर देते हैं, तो उनके सारे पुण्य कार्य व्यर्थ हो जाते हैं ॥१०९॥

श्मशानं तद् गृहं देवि स पापी श्वपचाधमः ।
यः प्रविश्य कुलं धर्मं कुलाचारं न वेत्ति चेत् ॥११०॥

वह घर श्मशान के सदृश है और वह व्यक्ति अधम चाण्डाल के सदृश है, जो कुलधर्म में प्रवेश करता तो है; किन्तु कौलिक ज्ञान नहीं प्राप्त कर पाता है। भगवान् शिव कह रहे हैं कि, कुलधर्म में प्रवेश कर कुलाचार का ज्ञान आवश्यक है ॥११०॥

कुलनिष्ठान् परित्यज्य यच्चान्यस्मै प्रदीयते।
तद्दानं निष्फलं देवि दाता च नरकं व्रजेत्॥१११॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! (दान देने का संकल्प होने पर यह प्रश्न होता है कि, किसे दिया जाय ?) ऐसे समय कुलनिष्ठ साधक को छोड़कर जिस व्यक्ति द्वारा दान किन्हीं अन्य को दे दिये जाते हैं, वे दान निष्फल हो जाते हैं। केवल इतना ही नहीं, वरन् वह दाता नरकगामी होता है॥१११॥

भिन्नभाण्डे जलं यद्वत् शिलायामुप्तबीजवत्।
भस्मनीव हुतं हव्यं तद्वद्दानमकौलिके॥११२॥

फटे पात्र में जल कभी ठहर नहीं सकता। उसी तरह शिलाखण्ड पर बीज बोना भी निष्फल हो जाता है। भस्म में हव्य का हवन करना भी निष्फल कार्य ही माना जाता है। उसी तरह अकौलिक को दिया गया दान भी निष्फल हो जाता है॥११२॥

यथाशक्त्या तु यत् किञ्चिद् यो दद्यात् कुलयोगिने।
विशेषतिथिषु प्रीत्या तत्फलं नैव वर्ण्यते॥११३॥

अपनी शक्ति के अनुसार दानकर्त्ता यदि कुलयोगी के लिये जो कुछ दान करता है और वह भी विशेष तिथियों और पर्वों पर विशेष रूप से दिया जाता है और प्रेम-पूर्वक दिया जाता है, ऐसे दान के फल अनन्त होते हैं, उनका वर्णन नहीं किया जा सकता॥११३॥

यो देवि स्वयमाहूय कुलज्ञानान् शुभे दिने।
अभ्यर्च्य देवताबुद्ध्या गन्धपुष्पाक्षतादिभिः॥११४॥
मादिभिः पञ्चमुद्राभिः सद्भक्त्या परितोषयेत्।
तेषु तुष्टेष्वहं तुष्टस्तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः॥११५॥

भगवान् कहते हैं कि, देवि ! शुभ दिन और शुभ समय में कुलज्ञ साधकों को अपने घर बुलाकर उनकी पूजा कर देवभाव से गन्ध, पुष्प, अक्षत आदि से उनका जो सम्मान करता है एवं मादि पंचमुद्राओं से सद्भक्तिपूर्वक उन्हें सन्तुष्ट करता है, उससे कौलिकों के सन्तुष्ट होने के फलस्वरूप मैं भी सन्तुष्ट होता हूँ तथा उससे सारे देव अत्यन्त प्रसन्न होते हैं॥११४-११५॥

भगिनीं वा सुतां भार्यां यो दद्यात् कुलयोगिने।
मधुमत्ताय देवेशि तस्य पुण्यं न गण्यते॥११६॥

भगिनी (बहन), सुता (पुत्री), भार्या (धर्मपत्नी)—ये तीनों व्यक्ति के जीवन के सबसे बढ़कर प्रिय आत्मीय पात्र हैं तथा व्यक्तिगत, पारिवारिक तथा सामाजिक प्रतिष्ठा के आधार हैं। इन्हें वैदिक विधि के अनुसार सामाजिकता के सांस्कारिक नियमों के आधार पर दिया जाता है। इन्हें कुलाचार के अनुसार कारणद्रव्य रूप मधु के मद से

प्रभावित कुलयोगी को दिया जा सकता है। इसी आचार का समर्थन शिव ने यहाँ किया है। वे कहते हैं कि, देवेश्वरि शिवे ! कुलयोगी को उक्त के अर्पण से जो पुण्य अर्जित होता है, उसकी गणना नहीं की जा सकती ॥११६॥

अनिखातविनिक्षिप्तमप्रयत्नेन वर्द्धितम्।
परलोकस्य पाथेयं वीरचक्रेऽर्पितं मधु ॥११७॥

अनिखात[1], विनिक्षिप्त[2] और अनायास रूप से बिना प्रयत्न के संवर्धित[3]—ये तीनों मधु के विशेषण शब्द हैं। ऐसा मधु वीरचक्र में अर्पित करना बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य है। यह परलोक की महायात्रा का पाथेय अर्थात् महायात्रा को सरल बनाने वाला सम्बल है ॥११७॥

पापाचारसमायुक्तं सर्वलोकबहिष्कृतम्।
जायते हि कुलद्रव्यं कुलयोगीश्वरार्पितम् ॥११८॥

कुलयोगीश्वरों के लिये अर्पित किया गया कुलद्रव्य (मधु) इतना पावन और महत्त्वपूर्ण होता है कि, पापाचार में रत और सारे लोक द्वारा बहिष्कृत व्यक्ति को भी परलोक में सुख की रोशनी पहुँचाता है। अतः वीरचक्र में इसका अर्पण अवश्य करें ॥११८॥

यस्मिन् देशे वसेद् वीरः कुलपूजारतः प्रिये।
सोऽपि देशो भवेत् पूतः किं पुनस्तत्पुरस्थिताः ॥११९॥

जिस देश में 'वीर' साधक निवास करते हैं और कुलपूजा में अनवरत निरत रहते हैं, भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! वह देश परमपावन हो जाता है। उस देश, भूभाग, भूखण्ड के पुर (गाँव और नगर) के विषय में क्या कहा जाय ? वे भी परम पावन हो जाते हैं ॥११९॥

कौलिकेन्द्रे सकृद्भुक्ते पुण्यं कोटिगुणं भवेत्।
किं पुनर्बहुभिर्भुक्तैस्तत् पुण्यं नैव गण्यते ॥१२०॥

घर में भोजन के निमन्त्रण पर पधारा कौलिकेन्द्र महासाधक कभी यदि एक बार भी कृपा कर जूठन गिराता है, तो गृहस्थ को कोटिगुणित फल प्राप्त होता है। यह फल तो मात्र एक बार के भोजन का है। यदि कई बार और बार-बार उन्हें भोजन से तृप्त कराया जाय, उसके फल के आनन्त्य की तो प्रकल्पना ही नहीं की जा सकती ॥१२०॥

---

१. अनिखात—कुछ मद्य भूमि में खोदकर उसी गड्ढे में दबा देते हैं। नियम के अनुसार माह-दो माह में उसे निकालते हैं। ऐसे मद्य को निखात कहते हैं। जो ऐसी नहीं होती, वह अनिखात मधु है।

२. भाप द्वारा निष्कासित विनिक्षिप्त होती है।

३. इसी तरह रखे-रखे स्वयं बन जाती है। यह भी अच्छा मद्य होता है।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन सर्वावस्थासु सर्वदा।
कुलधर्मरतो भूयात् कुलज्ञानिनमर्चयेत् ॥१२१॥

ऐसी स्थिति में हमारा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि, हम सभी कुलधर्म का आचरण करें। इसके लिये सारे प्रयत्न करने चाहिये। सभी अवस्थाओं में सर्वदा कुलाचार के अनुसार ही अपनी जीवनपद्धति का निर्माण करें। साथ ही यह ध्यान में रखें कि, कुलधर्म को अपनाने वाले कुलज्ञ विद्वान् की सदा पूजा-अर्चना होती रहे ॥१२१॥

ज्ञानिनोऽज्ञानिनो वापि यावद् देहस्य धारणा।
तावद्वर्णाश्रमाचारः कर्त्तव्यः कर्ममुक्तये ॥१२२॥

चाहे कोई ज्ञानवान् हो या ज्ञानहीन सामान्य पुरुष ही क्यों न हो ! जीवन का धारण करना स्वाभाविक है। अतः देह की धारणा जब तक निर्धारित है, तब तक वर्ण और आश्रमों के शास्त्रकारों, ऋषियों द्वारा प्रवर्त्तित आचारों का पालन इसलिये करना चाहिये, जिससे कर्मबन्ध न मिले, वरन् कर्म से मुक्ति प्राप्त हो ॥१२२॥

कर्मणोन्मूलितेऽज्ञाने ज्ञानेन शिवतां व्रजेत्।
शिवे तेनैव मुक्तिः स्यादतः कर्म समाचरेत् ॥१२३॥

सत्कर्म से अज्ञान का विनाश हो जाता है। अज्ञान के अन्धकार के ध्वंस के उपरान्त ही ज्ञान का उदय होता है। ज्ञान के प्रकाश के प्रभाव से साधक शिवता को उपलब्ध हो जाता है। शिवसद्भाव के महाभाव से भावित होते ही मुक्ति हस्तामलकवत् अपने वश में हो जाती है। अतः जीवन में कर्म का ही महत्त्व स्वीकार कर सत्कर्म का आचरण करना चाहिये ॥१२३॥

कुर्यादनिन्द्यकर्माणि नित्यकर्माणि वा चरेत्।
कर्ममुक्तः सुखाकाङ्क्षी कर्मनिष्ठः सुखं व्रजेत् ॥१२४॥

कर्म इस प्रकार हों, जिससे समाज में कोई निन्दा न करे। अनिन्द्य कर्म करने का आदेश शास्त्र देता है। अतः ऐसे कार्यों का ही आचरण करना चाहिये। जीवन के निर्धारित नित्य कर्मों का सम्पादन भी पर्याप्त माना जाता है। जगत् में दो प्रकार के पुरुष होते हैं—१. कर्ममुक्त और २. कर्मनिष्ठ। कर्ममुक्त पुरुष परमसुखरूप मोक्ष का ही आकांक्षी होता है। जो कर्मनिष्ठ पुरुष होता है, वह जीवन को सुखपूर्वक जीता हुआ अन्त में दिव्यलोक की यात्रा करता है ॥१२४॥

सर्वकर्माणि संत्यक्तुं न शक्यं देहधारिणा।
त्यजेत् कर्मफलं यो वा स त्यागीत्यभिधीयते ॥१२५॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, शरीरधारी के लिये यह असम्भव है कि, वह सारे कर्मों का परित्याग कर दे। कोई देहधारी बिना कर्म के नहीं रह सकता। इसलिये कर्मत्याग की बात को छोड़कर कर्मफल का त्याग करना चाहिये। जो पुरुष कर्म के फल को छोड़कर अर्थात् फल की लालसा को छोड़कर निष्काम कर्म करता है, वही त्यागी कहलाता है ॥१२५॥

स्वकार्येषु प्रवर्त्तन्ते करणानीति चिन्तयेत्।
अहम्भावमपास्यैव यः कुर्यात् स न लिप्यते ॥१२६॥

यह सोचना चाहिये कि, शरीर में इन्द्रियाँ भगवान् की वरदान हैं। ये करण कहलाती हैं। ये अपने अनुरूप कार्य में प्रवृत्त होती हैं। सारे झगड़े की जड़ झूठा अहं है। इस झूठे अहं का परित्याग कर देना चाहिये। इसको दूर कर जो निरहंकार और निरीह भाव से कर्म में लगता है, वह कर्मलेप से मुक्त रह पाता है ॥१२६॥

क्रियमाणानि कर्माणि ज्ञानप्राप्तेरनन्तरम्।
न च स्पृशन्ति तत्त्वज्ञं जलं पद्मदलं यथा ॥१२७॥

जो क्रियमाण कर्म हैं, ये ज्ञान के बोधात्मक प्रकाश के प्राप्त होने के बाद तत्त्वज्ञ पुरुष को प्रभावित नहीं करते, उनका स्पर्श भी नहीं कर पाते; क्योंकि अन्धकार प्रकाश को छू नहीं सकता। जल में रहने वाले कमलदल को जैसे जल नहीं छू पाता, उसी तरह निष्काम पुरुष को कर्म भी नहीं छू पाते ॥१२७॥

तन्निष्ठस्य च कर्माणि पुण्यापुण्यानि संक्षयम्।
प्रयान्ति नैव लिप्यन्ते क्रियमाणानि वा पुनः ॥१२८॥

ज्ञाननिष्ठ ज्ञानवान् पुरुष द्वारा किये गये पुण्य और पापमय कर्म स्वयं नाश को प्राप्त हो जाते हैं। वे उसे लिप्त नहीं कर सकते। जिन कार्यों का वह सम्पादन कर रहा है, वे क्रियमाण कर्म हैं। इन्हें भी वह निष्काम भाव से सम्पन्न करता है। अतः इनमें भी उसे लिप्त करने की क्षमता नहीं होती ॥१२८॥

उत्पन्नसहजानन्दतत्त्वज्ञानरतः प्रिये।
संत्यक्तसर्वसङ्कल्पः स विद्वान् कर्म सन्त्यजेत् ॥१२९॥

भगवान् शंकर कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! जो ज्ञानवान् होता है, उसे सहज भाव से अर्थात् स्वाभाविक रूप से आनन्द की अनुभूति होती रहती है। यह सिद्धान्त है कि— 'यत्रानन्दो भवेद्भावे तत्र चित्सत्त्वयोः स्थितिः'। अर्थात् सहजानन्द में चैतन्यात्मक तत्त्वज्ञान रहता है। उसी तत्त्वज्ञान में ज्ञानी पुरुष रमता रहता है। उसके सारे संकल्प संत्यक्त अर्थात् स्वतः अपास्त हो जाते हैं। वही वास्तविक रूप से विद्वान् कहा जा सकता है। यह सब मनन करते हुए सबका यह कर्त्तव्य है कि, उसे कर्मों का परित्याग करना चाहिये ॥१२९॥

वृथैव यैः परित्यक्तं कर्मकाण्डमपण्डितैः।
पाषण्डाः पण्डितम्मन्यास्ते यान्ति नरकं प्रिये ॥१३०॥

पण्डित कर्म करते हैं। कर्म में लिप्त नहीं होते। जो अपण्डित होते हैं, वे झूठ-मूठ ही कर्मकाण्ड के परित्याग का पाखण्ड करते हैं। कर्म तो छोड़ा ही नहीं जा सकता। हाँ कर्मफल को छोड़ना ठीक है। जो अपने को पण्डित मानने का झूठा ही अभिमान करते हैं, वो सचमुच पाखण्डी हैं। ऐसे लोग केवल नरक के अधिकारी होते हैं ॥१३०॥

फलं प्राप्य यथा वृक्षः पुष्पं त्यजति निस्पृहः ।
तत्त्वं प्राप्य तथा योगी त्यजेत् कर्मपरिग्रहम् ॥१३१॥

वृक्ष हमारे लिये एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है। फल आ जाने पर वह निःस्पृह भाव से पुष्पों का परित्याग कर देता है। ठीक इसी तरह तत्त्वभाव को प्राप्त योगी समस्त प्रकार के कर्मों के परिग्रह का परित्याग कर देता है ॥१३१॥

अश्वमेधायुतेनापि ब्रह्महत्यायुतेन च ।
पुण्यपापैर्न लिप्यन्ते येषां ब्रह्म हृदि स्थितम् ॥१३२॥

जगत् में हजारों हजार अश्वमेध यज्ञ करके अपरम्पार पुण्य का उपार्जन किया जाता है। इसी तरह केवल ब्रह्महत्यासदृश हजारों हजार पाप ही पाप भी इस संसार में होते रहते हैं। ऐसे पुण्यों और ऐसे पापों से वे पुरुष लिप्त नहीं होते, जिनके हृदय में ब्रह्म की प्रतिष्ठा हो चुकी है। अर्थात् ब्रह्मज्ञानवान् पुरुष किसी प्रकार के पुण्यों और पापों से उपलिप्त नहीं होते ॥१३२॥

पृथिव्यां यानि कर्माणि जिह्वोपस्थनिमित्ततः ।
जिह्वोपस्थपरित्यागी कर्मणा किं करिष्यति ॥१३३॥

भगवान् कह रहे हैं कि, पृथ्वी में जितने भी कर्म होते हैं, उनके मूलकारण मात्र दो इन्द्रियाँ ही हैं—१. जिह्वा और २. उपस्थ (जननेन्द्रिय)। जीभ रसलोलुप बनाकर मनुष्य को निम्न स्तर की ओर धकेल देती है और बुरी बातें कह असत्य के गर्त्त में गिराने का काम करती है। उपस्थ कामशक्ति का दुरुपयोग कर ब्रह्मानन्द से वंचित कर देता है। अतः जीभ और उपस्थ दोनों पर विजय प्राप्त करने वाले महापुरुष का काम कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते ॥१३३॥

इति ते कथितं किञ्चिद् योगं योगीशलक्षणम् ।
समासेन कुलेशानि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥१३४॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, कुलस्वामिनी देवि ! पार्वति ! तुम्हारे अनुरोध पर मैंने संक्षेप रूप से कुलयोग मार्ग और कुलयोगीश्वरों के लक्षण बताये। तुमने इसे यथावत् सुना। अब बताओ, तुम्हें आगे क्या सुनने और जानने की इच्छा है ? मैं उसका कथन करने को तत्पर हूँ ॥१३४॥

सर्वागमोत्तमोत्तम महारहस्यमय ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकुलार्णवतन्त्रान्तर्गत डॉ. परमहंस-मिश्रविरचित नीर-क्षीर-विवेक-भाषाभाष्यसंवलित 'योगसंस्थापनकथन' नामक नवम उल्लास परिपूर्ण ॥९॥

॥ शुभं भूयात् ॥

॥ श्रीः ॥

कुलार्णवतन्त्रम्

'कल्याणी'हिन्दीटीकोपेतम्

अथ प्रथमोल्लासः

कैलासशिखरासीनं देवदेवं जगद्गुरुम् ।
पप्रच्छेशं परानन्दं पार्वती परमेश्वरम् ॥ १ ॥

* कल्याणी *

ज्ञानेच्छाक्रियारूपां सर्वमङ्गलकारिणीम् ।
सर्वसम्पत्तिसम्पूर्णां सर्वमन्त्रमयीं तथा ॥ १ ॥
नमस्कृत्य महाविद्यां श्रीयुक्तः चित्तरञ्जनः ।
श्रीकुलार्णवतन्त्रस्य भाषाटीका तनोम्यहम् ॥ २ ॥

जीव के मोक्ष का उपाय—एक समय जब देवों के देव, जगद्गुरु, ईश, परानन्द परमेश्वर भगवान् शङ्कर कैलाश पर्वत के शिखर पर बैठे थे तब श्री देवी पार्वती ने उनसे पूँछा (जीवों के मोक्ष का उपाय क्या है ?) ॥ १ ॥

श्रीदेव्युवाच

भगवन् देवदेवेश पञ्चकृतुविधायक ।
सर्वज्ञ भक्तिसुलभ शरणागतवत्सल ॥ २ ॥
कुलेश परमेशान करुणामृतवारिधे ।
असारे घोरसंसारे सर्वदुःखमलीमसाः ॥ ३ ॥
नानाविधशरीरस्था अनन्ता जीवराशयः ।
जायन्ते च म्रियन्ते च तेषां मोक्षो न विद्यते ॥ ४ ॥
सदा दुःखातुरा देव न सुखी विद्यते क्वचित् ।
केनोपायेन देवेश मुच्यते वद मे प्रभो ॥ ५ ॥

श्री देवी ने कहा—हे भगवान् ! हे देवदेवेश ! हे पञ्च यज्ञों का विधान करने वाले ! हे सर्वज्ञ ! हे भक्ति से सुलभ होने वाले ! हे शरणागतवत्सल ! हे कुल के ईश ! हे परम ईशान ! हे करुणामृत समुद्र वाले ! इस सारहीन कठिन संसार में नाना प्रकार के शरीरों से अनन्त जीव-राशियाँ सभी (दैहिक, दैविक एवं भौतिक) दुःखों से मलिन (परिपूर्ण) हैं । वे उत्पन्न होती हैं और काल के गाल में विलीन हो जाती हैं। उनका कोई अन्त (मोक्ष) नहीं है। हे देव! अत्यन्त घोर दुःख से व्याकुल होकर वे कभी सुख नहीं भोगती हैं । अतः हे प्रभो ! हे देवेश! वे जीव किस उपाय से मुक्त हो सकते हैं? यह मुझसे कहिए ।। २-५ ।।

विमर्श—पञ्चक्रतुविधायकम्—तैत्तिरीय आरण्यक में पाँच यज्ञ इस प्रकार बताए गए हैं—१. ब्रह्मयज्ञ, २. देवयज्ञ, ३. पितृयज्ञ (तर्पण आदि), ४. भूतयज्ञ (बलि आदि) एवं ५. स्वाध्याय ।

श्रीईश्वर उवाच

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
तस्य श्रवणमात्रेण संसाराद् मुच्यते नरः ।। ६ ।।

श्री ईश्वर ने कहा—हे देवि ! सुनिये । आपने मुझसे जो पूँछा है, उसे बताता हूँ । इसके सुनने मात्र से मनुष्य संसार से मुक्त हो जाता है ।। ६ ।।

अस्ति देविं परब्रह्मस्वरूपो निष्कलः शिवः ।
सर्वज्ञः सर्वकर्त्ता च सर्वेशो निर्मलोऽद्वयः ।। ७ ।।
स्वयं ज्योतिरनाद्यन्तो निर्विकारः परात् परः ।
निर्गुणः सच्चिदानन्दस्तदंशा जीवसंज्ञकाः ।। ८ ।।
अनाद्यविद्योपहिता यथाग्नौ विस्फुलिङ्गकाः ।

शिव का स्वरूप—हे देवि ! परब्रह्म-स्वरूप शिव ही सत्य हैं । वह सर्वज्ञ, सर्वकर्ता, सर्वेश और निर्मल एवं अद्वितीय है । वह आदि अन्त से रहित स्वयं ज्योति हैं तथा निर्विकार, पर से भी परे, निर्गुण और सच्चिदानन्द हैं । सभी जीव संज्ञा वाले उन्हीं शिव के अंश हैं, जो अनादि अविद्या से उपहित (संयुक्त) होकर उनसे उसी प्रकार भिन्न हुये हैं, जैसे कि अग्नि में से चिनगारियाँ फूट कर अलग होती हैं ।। ७-९ ।।

गर्भाद्युपाधिसंभिन्नाः कर्मभिः करणादिभिः ।। ९ ।।
सर्वदुःखप्रदैः स्वीयपुण्यपापैर्नियन्त्रिताः ।
तत्तज्जातियुतं देहम् आयुर्भोगञ्च कर्मजम् ।। १० ।।
प्रतिजन्म प्रपद्यन्ते मानुषा मूढचेतसः ।
सूक्ष्मलिङ्गशरीरन्तदामोक्षादक्षयं प्रिये ।। ११ ।।

जीव की सामान्य अवस्थाएँ—हे प्रिये ! वे सभी मूर्ख मनुष्य दुःखदायक अपने कर्मों से गर्भादि उपाधियों से पृथक् होकर तथा अपने पुण्य एवं पापों से नियन्त्रित होकर कर्मवशात् प्रत्येक जन्म में तत्तज्जन्मों में तत्तद्देह, आयु एवं भोग प्राप्त करते रहते हैं । उनका लिङ्ग शरीर जब तक मोक्ष प्राप्त नहीं करता तब तक अक्षय बना रहता है ।

विमर्श—हे प्रिये ! वे जीव गर्भ आदि विभिन्न उपाधियों और अनादि कर्मों आदि के कारण शिव से पृथक् रहते हैं तथा अपने सुख एवं दुःखदायक पुण्य एवं पापों से नियन्त्रित रहते हैं । अपने अपने कर्मानुसार प्राप्त अज्ञानी जीव उन उन जातियों से युक्त देह, आयु और प्रारब्ध का जन्म जन्मान्तरों में भोग करते रहते हैं, जिसका कोई अन्त नहीं है ॥ ९-११ ॥

स्थावराः क्रिमयश्चाब्जाः पक्षिणः पशवो नराः।
धार्मिकास्त्रिदशास्तद्वन्मोक्षिणश्च यथाक्रमम् ॥ १२ ॥
चतुर्विधशरीराणि धृत्वा धृत्वा सहस्रशः।
सुकृतान्मानवो भूत्वा ज्ञानी चेन्मोक्षमाप्नुयात् ॥ १३ ॥
चतुरशीतिलक्षेषु शरीरेषु शरीरिणाम् ।
न मानुष्यं विना यत्र तत्त्वज्ञानं तु लभ्यते ॥ १४ ॥

जीव के चतुर्विध शरीर—स्थावर, कृमि, जलचर, मत्स्यादि पशु पक्षी, मनुष्य, धार्मिक (धर्मशील), देवता ये क्रमानुसार मोक्ष के अधिकारी हैं । ये सहस्रों जन्म तक चार प्रकार के शरीर बारम्बार धारण कर चौरासी लाख योनियों में भटकते रहते हैं । तदनन्तर पुण्यवशात् मनुष्य होकर यदि ज्ञान प्राप्त हुआ तब मुक्ति को प्राप्त करता है । क्योंकि चौरासी लाख शरीरधारियों में मनुष्य शरीर धारण किये बिना तत्वज्ञान नहीं होता ।

विमर्श—हे देवि ! (१. **उद्भिज** अर्थात् पृथ्वी से उत्पन्न होने वाले) स्थावर जीव, (२. **स्वेदज** अर्थात् पसीने से उत्पन्न होने वाले) कृमी (कीट) जीव, (३. **अण्डज** अर्थात् अण्डों से उत्पन्न होने वाले) जलचर एवं खेचर (पक्षी) जीव एवं (४. **जरायुज** अर्थात् गर्भ से उत्पन्न होने वाले) पशु, मनुष्यादि जीव—ये चार प्रकार के शरीरों में उक्त जीव सहस्रों बार जन्म लेते हैं । उक्त प्रकार के चौरासी लाख योनियों में से सुकृत से प्राप्त मनुष्य शरीर ही ऐसा श्रेष्ठ है जिसके द्वारा जीव को तत्त्व का ज्ञान होता है, और तत्त्वज्ञान प्राप्त होने पर वह मोक्ष प्राप्त करता है क्योंकि अन्य शरीरों में तत्त्वज्ञान प्राप्त करने की क्षमता नहीं है ॥ १२-१४ ॥

अत्र जन्मसहस्रेषु सहस्रैरपि पार्वति ।
कदाचिल्लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्यसञ्चयात् ॥ १५ ॥

हे पार्वती ! सैकड़ों एवं हजारों योनियों में अच्छे कर्मों के फलस्वरूप कभी वे मानव होकर जब ज्ञानी होते हैं, तब मोक्ष को प्राप्त करते हैं ॥ १५ ॥

सोपानभूतं मोक्षस्य मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम् ।
यस्तारयति नात्मानं तस्मात् पापतरोऽत्र कः ॥ १६ ॥

मोक्ष प्राप्ति के लिए सोपान (सीढ़ी) के समान दुर्लभ मनुष्य शरीर को प्राप्त कर जो अपनी आत्मा को मुक्त नहीं करता, उससे बड़ा पापी कौन है ?

ततश्चाप्युत्तमं जन्म लब्ध्वा चेन्द्रियसौष्ठवम् ।
न वेत्त्यात्महितं यस्तु स भवेत् आत्मघातकः ॥ १७ ॥

उत्तम जन्म और सुन्दर इन्द्रियों को पाकर भी जो अपने हित को नहीं समझता वह आत्महत्या करने वाला आत्मघाती है ॥ १७ ॥

विना देहेन कस्यापि पुरुषार्थो न विद्यते ।
तस्माद्देहधनं प्राप्य पुण्यकर्माणि साधयेत् ॥ १८ ॥

मनुष्य शरीर के बिना अन्य शरीरधारी जीव (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष) पुरुषार्थ नहीं कर सकता । अतः शरीर रूपी धन पाकर पुण्य कर्मों को करना चाहिए ॥ १८ ॥

रक्षेत् सर्वात्मनात्मानम् आत्मा सर्वस्य भाजनम् ।
रक्षणे यत्नमातिष्ठेत् यावत्तत्त्वं न पश्यति ॥ १९ ॥

शरीर की रक्षा—इस कारण सभी प्रध्कार से प्रयत्नों द्वारा मनुष्य को अपने आत्मा की रक्षा करनी चाहिए । वस्तुतः आत्मा ही सभी वस्तुओं की प्राप्ति का साधन है । इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह सभी प्रकार से तब तक अपने आत्मा की रक्षा करें, जब तक तत्त्वज्ञान न हो जाय ॥ १९ ॥

पुनर्ग्रामाः पुनः क्षेत्रं पुनर्वित्तं पुनर्गृहम् ।
पुनः शुभाशुभं कर्म न शरीरं पुनः पुनः ॥ २० ॥

ग्राम, भूमि, धन और गृह तथा शुभ एवं अशुभ कर्म तो बार बार प्राप्त किए जा सकते हैं किन्तु मनुष्य शरीर पुनः पुनः (बार बार) नहीं प्राप्त होता है ॥ २० ॥

शरीररक्षणायासः क्रियते सर्वदा जनैः ।
नहीच्छन्ति तनुत्यागमपि कुष्ठादिरोगतः ॥ २१ ॥
तद्गोपितं स्याद् यत्नेन धर्मो ज्ञानार्थमेव च ।
ज्ञानञ्च ध्यानयोगार्थं सोऽचिरात् परिमुच्यते ॥ २२ ॥

अतः मनुष्य को सदैव अपने शरीर की (आधि व्याधि से) रक्षा करने का प्रयत्न करते रहना चाहिए । कुष्ठ आदि रोगों से ग्रस्त रोगी जन भी शरीर त्याग की इच्छा नहीं करते । जब तक शरीर है तब तक धर्म एवं ज्ञान के लिए शरीर का गोपन (संरक्षण) करना चाहिए । (सदाचारपूर्वक शरीर की रक्षा से किए गए) धर्म से ज्ञान पैदा होता है, ज्ञान ध्यान एवं योग के लिए होता है और उसी ज्ञान के कारण साधक शीघ्र ही मुक्त हो जाता है ॥ २१-२२ ॥

आत्मैव यदि नात्मानमहितेभ्यो निवारयेत् ।
कोऽन्यो हितकरस्तस्मादात्मानं तारयिष्यति ॥ २३ ॥

अहितकारी (सांसारिक तृष्णादि से) यदि मनुष्य अपने से ही अपने को निकालने का साधन न खोजे तो उसके लिए अन्य हितकारी जन कौन है जो भवसागर से उसे मुक्त कराएगा ॥ २३ ॥

इहैव नरकव्याधेश्चिकित्सां न करोति यः ।
गत्वा निरौषधं स्थानं व्याधिस्थः किं करिष्यति ॥ २४ ॥

इस संसार में रहकर ही जो नरक रूपी व्याधि से अपनी चिकित्सा नहीं करता है वह व्याधिग्रस्त मनुष्य बिना औषधि के फिर अन्य स्थान को जाकर क्या करेगा ॥ २४ ॥

सुदीप्त भवने को वा कूपं खनति दुर्मतिः ।
यावत्तिष्ठति देहोऽयं तावत्तत्त्वं समभ्यसेत् ॥ २५ ॥

घर में आग लगने पर कौन बेवकूफ कुआँ खोदता है । अतः जब तक इस शरीर में आत्मा है तब तक परम तत्त्व (पारमार्थिक सत्ता) के ज्ञान के लिए अभ्यास करते रहना चाहिए ॥ २५ ॥

व्याघ्रीवास्ते जरा चायुर्याति भिन्नघटाम्बुवत् ।
निघ्नन्ति रिपुवद्रोगास्तस्माच्छ्रेयः समाचरेत् ॥ २६ ॥

वृद्धावस्था बाघिन के समान (खा जाने के लिए) सामने आकर खड़ी हो जाती है । फूटे हुए घड़े से पानी के रिसने के समान धीरे-धीरे आयु क्षीण होती रहती है । शत्रु के समान व्याधि चोट पहुँचाती रहती है । इसलिए श्रेय का मार्ग अपनाना चाहिए ॥ २६ ॥

यावन्नाश्रयते दुःखं यावन्नायान्ति चापदः ।
यावन्नेन्द्रियवैकल्यं तावच्छ्रेयः समाचरेत् ॥ २७ ॥

जब तक दुःख नहीं आते और जब तक विपत्ति नहीं आती अथवा जब तक इन्द्रियाँ अपंग नहीं हो जातीं उसके पहले ही श्रेय का कार्य करते रहना चाहिए ॥ २७ ॥

कालो न ज्ञायते नानाकार्यैः संसारसम्भवैः ।
सुखदुःखरतो जन्तुर्न वेत्ति हितमात्मनः ॥ २८ ॥

संसार के नाना प्रकार के कर्मों में फँसे रहने के कारण काल के बीत जाने का ज्ञान ही नहीं रहता । सुख एवं दुःख में फँसा हुआ जीव अपने हित को सोंच भी नहीं पाता ॥ २८ ॥

जडानार्त्तान्मृतानापद्गतान् दृष्ट्वाऽतिदुःखितान् ।
लोको मोहसुरां पीत्वा न बिभेति कदाचन ॥ २९ ॥

अज्ञान रूपी मदिरा को पीने के कारण जड़ बुद्धि एवं आर्त्त जन, क्षुधा-तृष्णा से व्याकुल, मरते हुए और अन्य आपत्ति में पड़े हुए अत्यन्त दुःखी जीवों को देखकर भी कभी भय नहीं लगता है ॥ २९ ॥

सम्पदः स्वप्नसङ्काशा यौवनं कुसुमोपमम् ।
तडिच्चञ्चलमायुश्च कस्य स्याज्जगतो धृतिः ॥ ३० ॥

सम्पत्ति स्वप्न के समान मिथ्या है, यौवन फूल के समान मुरझा जाने वाला है । आयु बिजली के समान क्षणभङ्गुर है फिर कौन शाश्वत है ॥३०॥

विमर्श—शरीर की रक्षा का सदा प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि मनुष्य शरीर बार बार नहीं मिलता । जब तक शरीर है, तब तक तत्त्व ज्ञान प्राप्त करने का अभ्यास करे, क्योंकि शरीर की आयु व्यतीत होती जाती है । अतः जब तक वृद्धावस्था, रोग, दुःख, आपत्ति आदि से बचा रहे, तब तक अपने कल्याण के लिए प्रयत्न करे । सांसारिक कार्यों में समय बीतने का पता नहीं चलता । सुख दुःख में डूबा हुआ जीव अपने हित को नहीं जान पाता । मोह में पड़कर उसे भय नहीं रहता कि सम्पत्ति स्वप्न के समान मिथ्या है । यौवन फूल के समान मुरझा जाने वाला है । आयु बिजली के समान चञ्चल है ॥ १९-३० ॥

शतं जीवितमत्यल्पं निद्रा स्यादर्द्धहारिणी ।
बाल्यरोगजरादुःखैरर्द्धं तदपि निष्फलम् ॥ ३१ ॥

मनुष्य का सौ वर्ष का जीवन बहुत कम है क्योंकि आधा समय तो निद्रा में बीत जाता है । बचपन, बुढ़ापा और रोगादि में शेष आधा समय बीतता है जो सर्वथा व्यर्थ है ॥ ३१ ॥

प्रारब्धव्ये निरुद्योगो जागर्त्तव्ये सुषुप्तकः ।
विश्वस्तव्यो भयस्थाने घातकैः किं न हन्यते ॥ ३२ ॥

जो प्रारम्भ करने योग्य समय में निष्क्रिय अथवा प्रारब्ध के बल पर निष्क्रिय रहता है, जागने योग्य समय में सोने वाला और जो भय योग्य (इस संसार) में विश्वास (आश्वस्त) करता है वह घातकों के द्वारा क्यों नहीं मारा जायगा अर्थात् असावधान व्यक्ति तो मारा ही जायगा ॥ ३२ ॥

तोयफेनसमे देहे जीवे शकुनिवत् स्थिते ।
अनित्येऽप्रियसंसारे कथं तिष्ठन्ति निर्भयाः ॥ ३३ ॥

जल के फेन के समान क्षणभंगुर इस शरीर में पक्षी के समान स्थित जीव इस नाशवान् अप्रिय संसार में किस प्रकार निर्भय रह सकता है? ॥ ३३॥

अहिते हितबुद्धिः स्यादध्रुवे ध्रुवचिन्तकः ।
अनर्थं चार्थविज्ञानी स्वमृत्युं यो न वेत्ति च ॥ ३४ ॥

जो (विषय वासना) अहितकारी है, उसमें जीव हित बुद्धि समझता है और जो (संसार) अनित्य है उसे वह नित्य समझता है । जो व्यर्थ है उसे वह सार्थक समझता है अन्ततः अपनी (ध्रुव) मृत्यु को नहीं देख पाता है ॥ ३४ ॥

पश्यन्नपि न पश्येत् स शृण्वन्नपि न बुध्यति ।
पठन्नपि न जानाति तव मायाविमोहितः ॥ ३५ ॥

हे देवि ! आपकी माया से मोहित हुआ जीव इन बातों को देखता हुआ भी नहीं देख पाता, सुनता हुआ भी नहीं सुनता तथा पढ़ कर जानते हुए भी नहीं जानता ॥ ३५ ॥

सन्निमज्जज्जगदिदं गम्भीरे कालसागरे।
मृत्युरोगजराग्राहे न किञ्चिदपि बुध्यति॥ ३६ ॥

इस मृत्यु, जरा, रोग रूप ग्राहों से युक्त अगाध काल रूप समुद्र में सारा जगत् डूब रहा है फिर भी जीव कुछ भी नहीं समझ पाता ॥ ३६ ॥

प्रतिक्षणमयं कायो जीर्यमाणो न लक्ष्यते ।
आमकुम्भ इवाम्भःस्थो विशीर्णो नैव भाव्यते ॥ ३७ ॥

यह शरीर प्रतिक्षण जीर्ण होता जा रहा है जो दिखाई नहीं पड़ता । जिस प्रकार पानी में पड़ा हुआ कच्चे मिट्टी का घड़ा प्रति क्षण गलता जाता है ॥ ३७ ॥

युज्यते वेष्टनं वायोराकाशस्य च खण्डनम् ।
ग्रथनञ्च तरङ्गाणामास्था नायुषि युज्यते ॥ ३८ ॥

वायु का रोकना सम्भव है । आकाश का खण्ड खण्ड होना भी सम्भव है । तरङ्गों का परस्पर ग्रथन भी हो सकता है किन्तु किसी भी प्रकार आयु के क्षय को नहीं रोका जा सकता ॥ ३८ ॥

विमर्श—दीवार से वायु को रोका जा सकता है और आकाश को विखण्डित (छोटा) किया जा सकता है तथा तरङ्गों को भी बाँध द्वारा विच्छिन्न किया जा सकता है किन्तु किसी भी प्रकार आयु के क्षय को नहीं रोका जा सकता ॥ ३८ ॥

पृथिवी दह्यते येन मेरुश्चापि विशीर्यते ।
शुष्यते सागरजलं शरीरे देवि का कथा ॥ ३९ ॥

हे देवि ! प्रलय काल में पृथ्वी जल जाती है और मेरु पर्वत भी टूट जाता है तथा समुद्र का जल भी जब सूख जाता है तो फिर इस नश्वर शरीर की क्या औकात है ? ॥ ३९ ॥

अपत्यं मे कलत्रं मे धनं मे बान्धवश्च मे ।
लपन्तमिति मर्त्यं हि हन्ति कालवृको बलात् ॥ ४० ॥

वह यही रटता रहता है कि 'यह मेरा पुत्र है, यह मेरी पत्नी है, यह मेरा धन है, ये मेरे बन्धु हैं । इतने में ही काल रूप भेड़िया आकर बलात् उसे मार डालता है ॥ ४० ॥

इदं कृतमिदं कार्यमिदमन्यत् कृताकृतम् ।
एवमीहासमायुक्तं मृत्युरत्ति जनं प्रिये ॥ ४१ ॥

यह काम मैंने कर लिया, वह काम करना है, यह कार्य अधूरा है इसी ऊहापोह में रहते हुए, हे प्रिये ! मृत्यु उसे खा जाती है ॥ ४१ ॥

श्वःकार्यमद्य कर्त्तव्यं पूर्वाह्णे चापराह्निकम् ।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतं वाऽस्य न वा कृतम् ॥ ४२ ॥

जो कल करना है उसे आज ही करना चाहिए और जो शाम को करना है उसे पूर्वाह्ण में ही कर लेना चाहिए क्योंकि मृत्यु किसी की प्रतिक्षा नहीं करती कि इसने क्या किया है या क्या नहीं किया है ? ॥ ४२ ॥

जरादर्शितपन्थानं प्रचण्डव्याधिसैनिकम् ।
मृत्युशत्रुमभिज्ञोऽसि आयान्तं किं न पश्यसि ॥ ४३ ॥

मृत्यु रूप शत्रु भयानक रोगों वाली सेना को लिए हुए आ गया है । जिसका रास्ता बुढ़ापा दिखा रहा है । इसे जान कर भी आप उसकी ओर क्यों नहीं देखते ॥ ४३ ॥

विमर्श—बुद्धिमान् साधक प्रचण्ड रोग रूप सैनिकों से युक्त वार्द्धक्य रूप दर्शित मार्ग वाले मृत्यु रूप शत्रु को आता हुआ जानते हुए भी नहीं देख पाता है ।

आशा सूचीविनिर्भिन्नं सिक्तं विषयसर्पिषा ।
रागद्वेषानले पक्वं मृत्युरश्नाति मानवम् ॥ ४४ ॥

आशा रूपी सूई से खण्ड खण्ड हुई, विषय वासना रूप घृत से सिञ्चित तथा राग एवं द्वेष रूप अग्नि में पके हुए मानव को मृत्यु खा रही है ॥ ४४॥

बालांश्च यौवनस्थांश्च वृद्धान् गर्भगतानपि ।
सर्वांश्च हिंसते मृत्युरेवम्भूतमिदं जगत् ॥ ४५ ॥

चाहे बालक हो या युवा, वृद्ध हो या गर्भस्थ शिशु—सभी को वह खा जाती है । इस संसार का यही नियम है ॥ ४५ ॥

ब्रह्माविष्णुमहेशादिदेवता भूतजातयः ।
नाशमेवानुधावन्ति तस्माच्छ्रेयः समाचरेत् ॥ ४६ ॥

ब्रह्मा आदि स्वर्गस्थ देवों की भी नश्वरता—ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवता और समस्त भूतजात भी नाश की ओर भाग रहे हैं । अतः अपने कल्याण के लिए साधक को प्रयत्नशील रहना चाहिए ॥ ४६ ॥

स्वस्ववर्णाश्रमाचारलङ्घनाद् दुष्प्रतिग्रहात् ।
परस्त्रीधनलोभाच्च नृणामायुःक्षयो भवेत् ॥ ४७ ॥

जीवन में आयु क्षय के कारण—अपने वर्ण और आश्रम के आचारों का पालन न करने से, अनुचित रूप से प्रतिग्रह (धन धान्यादि का ग्रहण करने) से और पर स्त्री एवं पराये धन की लालसा करने से आयु का नाश होता है ॥ ४७ ॥

वेदशास्त्राद्यनभ्यासात्तथैव गुर्वनर्चनात् ।
नृणामायुःक्षयो भूयादिन्द्रियाणामनिग्रहात् ॥ ४८ ॥

वेदादि शास्त्रों का अभ्यास न करने से, गुरु जनों का पूजन सत्कार न करने से और इन्द्रियों का निग्रह न करने से मनुष्यों की आयु का क्षय होता है ॥ ४८ ॥

व्याधिराधिर्विषं शस्त्रं ना सर्पः पशवो मृगाः ।
मरणं येन निर्दिष्टं तेन गच्छन्ति जन्तवः ॥ ४९ ॥

आधि (मानसिक चिन्ता, calamity), व्याधि, विष, शस्त्र, सर्प, पशु आदि जिनके द्वारा जिसकी मृत्यु होनी होती है उसी के द्वारा उस मनुष्य का जीवन समाप्त होता है ॥ ४९ ॥

जीवस्तृणजलौकेव देहाद्देहान्तरं व्रजेत् ।
सम्प्राप्य परमंशेन देहं त्यजति पूर्वजम् ॥ ५० ॥
बाल्ययौवनवृद्धत्वं यथा देहान्तरादिकम् ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्गृहाद्गृहमिवागतः ॥ ५१ ॥

जिस प्रकार जोंक अपना अगला पैर आगे रख कर ही पश्चात् अपना दूसरा पैर आगे रखता है उसी प्रकार जीव आगे के शरीर में जाकर पश्चात् अपना शरीर छोड़ता है । जिस प्रकार शरीर में बाल्य एवं युवावस्था तथा वृद्धावस्था में परिवर्तन होता है अथवा कोई एक घर से दूसरे घर में जाता है उसी प्रकार यह जीव एक देह से दूसरे देह को धारण करता है ।

विमर्श—बचपन से युवावस्था में और युवावस्था से वृद्धावस्था में जैसे शरीर बदल जाता है, वैसे ही अपने परम अंश (कारण शरीर) के साथ जीव अपने वर्तमान् शरीरं को छोड़ कर अगले शरीर को ग्रहण करता है । जैसे एक घर से दूसरे घर में जाया जाता है, उसी प्रकार जन्मान्तर में शरीर का परिवर्तन होता है ॥ ५०-५१ ॥

जनाः कृत्वेह कर्माणि सुखदुःखानि भुञ्जते ।
परत्राज्ञानिनो देवि यान्त्यायान्ति पुनः पुनः ॥ ५२ ॥

कृत कर्मों का फल अगले जन्म में—हे देवि! अज्ञानी जन कर्म करके इस लोक तथा परलोक में उसका फल भोगते हैं । इस प्रकार एक योनि से दूसरे योनि में मरते जीते हुए संसार में पुनः पुनः आया जाया करते हैं ॥५२॥

इह यत् क्रियते कर्म तत् परत्रोपभुज्यते ।
सिक्तमूलस्य वृक्षस्य फलं शाखासु दृश्यते ॥ ५३ ॥

इस संसार में जो कर्म किया जाता है, उसका फल अगले जन्म में भोगने को मिलता है, जिस प्रकार वृक्ष की जड़ को पानी से सींचने पर उसकी डालों में फल दिखाई देते हैं ॥ ५३ ॥

दारिद्र्यदुःखरोगाश्च बन्धनव्यसनानि च ।
आत्मापराधवृक्षस्य फलान्येतानि देहिनाम् ॥ ५४ ॥

अपने अपराध से प्राप्त दुःखादि—दरिद्रता, दुःख, रोग, बन्धन और व्यसन आदि अपने ही अपराध रूपी वृक्ष के फल संसार में शरीरधारियों को मिलते हैं ॥ ५४ ॥

निःसङ्ग एव मोक्षः स्याद्दोषाः सर्वे च सङ्गजाः ।
तस्मात् सङ्गं परित्यज्य तत्त्वनिष्ठः सुखी भवेत् ।
सङ्गाच्च चलते ज्ञानी चावश्यं किमुताल्पवित् ॥ ५५ ॥

निःसङ्ग जीव को मुक्ति लाभ—सङ्ग (विषयों के प्रति आसक्ति) से ही सभी दोष उत्पन्न होते हैं । अतः निःसङ्ग (अनासक्ति) द्वारा ही मोक्ष मिलता है । इसलिये सङ्ग को छोड़कर तत्त्वनिष्ठ बनकर सुखी होना चाहिए । ज्ञानी व्यक्ति भी विषयों के प्रति आसक्त हो कर गिर जाते हैं फिर सामान्य जन की तो बात ही क्या है ॥ ५५ ॥

सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्त्यक्तुं न शक्यते ।
सद्भिः सह स कर्त्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम् ॥ ५६ ॥
सत्सङ्गश्च विवेकश्च निर्मलं नयनद्वयम् ।
यस्य नास्ति नरः सोऽन्धः कथं न स्यादमार्गगः ॥ ५७ ॥

इसलिए विषयासक्ति सर्वथा त्याज्य है और विषयासक्ति को यदि सर्वथा न छोड़ सके, तो सज्जनों का सङ्ग करे क्योंकि सज्जनों की संगति संसार रूप रोग की औषधि है । फिर सत्सङ्ग और विवेक—ये दो पुण्य कार्य और अच्छे आँखों के समान निर्मल हैं । जो मनुष्य इनसे रहित है, वह अन्धा ही है, वह फिर क्यों मार्गभ्रष्ट नहीं हो जायगा ॥ ५६-५७ ॥

यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान्मनसः प्रियान् ।
तावन्तोऽस्य विशन्त्येते हृदये शोकशङ्कवः ॥ ५८ ॥
स्वदेहमपि जीवोऽयं त्यक्त्वा याति कुलेश्वरि ।
स्त्रीमातृपितृपुत्रादिसम्बन्धः केन हेतुना ॥ ५९ ॥
दुःखमूलो हि संसारः स यस्यास्ति स दुःखितः ।
तस्य त्यागः कृतो येन स सुखी नापरः प्रिये ॥ ६० ॥
प्रभवं सर्वदुःखानामाश्रयं सकलापदाम् ।
आलयं सर्वपापानां संसारं वर्जयेत् प्रिये ॥ ६१ ॥

संसार के दोष—इस जगत में मनुष्य अपने मन को प्रिय लगने वाले जितने सम्बन्धों को स्थापित करता है उतने ही शोक के शंकु (कील) अपने हृदय में गाड़ता है । हे कुलेश्वरि ! जब अपना शरीर भी छोड़ कर इस संसार से जाना है तब किस कारण स्त्री, माता-पिता और पुत्र से सम्बन्ध स्थापित

किया जाय । यह संसार दुःख का मूल है । हे प्रिये ! जो संसार में लिप्त है, वही दुःखी है । जो उस संसार का त्याग करता है, वह सुखी होता है, अन्य नहीं । यह संसार ही सभी प्रकार के दुःखों का उत्पत्ति स्थान है और समस्त प्रकार की आपत्तियों का आश्रय है । अतः हे प्रिये ! सब प्रकार के पापों से पूर्ण इस संसार से दूर रहना चाहिए ॥ ६१ ॥

अबन्धबन्धनं घोरं मिश्रीकृतमहाविषम् ।
अशस्त्रखण्डनं देवि संसारासक्तचेतसाम् ॥ ६२ ॥

हे देवि ! जिसका मन संसार में आसक्त है उसके लिए यह संसार बिना बन्धन के भी बन्धन है । घोर महाविषों से मिश्रित है तथा विना शस्त्र के टुकड़े टुकड़े हो जाता है ॥ ६२ ॥

आदिमध्यावसानेषु सर्वं दुःखमिदं यतः ।
तस्मात् सन्त्यज्य संसारं तत्त्वनिष्ठः सुखी भवेत् ॥ ६३ ॥

यह संसार जीवन के आदि, मध्य और अन्त में दुःखदायक है । अतः संसार को छोड़कर तत्त्वनिष्ठ होकर सुखी होना चाहिए ॥ ६३ ॥

लौहदारुमयैः पाशैर्दृढबन्धोऽपि मुच्यते ।
स्त्रीधनादिषु संसक्तो मुच्यते न कदाचन ॥ ६४ ॥

लोहे एवं लकड़ी के बने हुए पाश (बन्धन) से छुटकारा सम्भव है । किन्तु स्त्री धन आदि में लिप्त जीव का कभी भी छूटना सम्भव नहीं है ॥६४॥

कुटुम्बचिन्तायुक्तस्य श्रुतशीलादयो गुणाः ।
अपक्वकुम्भजलवत् नश्यन्त्यङ्गेन केवलम् ॥ ६५ ॥

कुटुम्ब की चिन्ता जिसे है, उसके ज्ञान, शील आदि गुण कच्चे घड़े में रखखे हुए जल के समान नष्ट हो जाते हैं ॥ ६५ ॥

वञ्चिताशेषचित्तैस्तैर्नित्यं लोको विनाशितः ।
हा हन्त विषयाहारैर्देहस्थेन्द्रियतस्करैः ॥ ६६ ॥

ओह ! कितने खेद की बात है कि विषयों का आहार करने वाले अपने शरीर में स्थित इन्द्रिय रूपी तस्करों से अपना सारा चित्तरूपी धन चुरा लिये जाने के कारण यह सारा संसार विनष्ट हो रहा है ।

विमर्श—ओह ! शरीर में रहते हुए ही इन्द्रिय रूप तस्करों के द्वारा विषय रूप आहार को खा कर अतृप्त वासनाओं से छले जाकर नित्य ही शरीर का विनाश होता रहता है ॥ ६६ ॥

मांसलुब्धो यथा मत्स्यो लौहशंकुं न पश्यति ।
सुखलुब्धस्तथा देही यमबाधां न पश्यति ॥ ६७ ॥

जैसे मांस का लोभी मत्स्य लोहे के बने शंकु (कील) को नहीं देख पाता है वैसे ही सुख पाने के लोभ में पड़ा हुआ जीव मृत्यु को नहीं देख पाता ॥ ६७ ॥

हिताहितं ना जानन्तो नित्यमुन्मार्गगामिनः ।
कुक्षिपूरणनिष्ठा ये तेऽबुधा नारकाः प्रिये ॥ ६८ ॥

हे प्रिये ! हित एवं अहित को न जानकर पेट भरने में ही जो अज्ञानी लोग लगे रहते हैं वे नित्य ही उलटे मार्ग पर जाने वाले नरक को नहीं जानते हैं ।

विमर्श—अपना हिताहित न जानने वाले जो मूर्ख उदरपूर्त्यर्थ नित्य ही बुरे रास्ते का अनुसरण करते हैं निश्चय ही वे नरकगामी हैं ॥ ६८ ॥

निद्रादिमैथुनाहाराः सर्वेषां प्राणिनां समाः ।
ज्ञानवान् मानवः प्रोक्तो ज्ञानहीनः पशुः प्रिये ॥ ६९ ॥

निद्रा, मैथुन और भोजन सभी प्राणियों में समान रूप से होते हैं । किन्तु जो ज्ञानी है, वही 'मानव' कहा जाता है । हे प्रिये ! ज्ञान से हीन मानव 'पशु' है ॥ ६९ ॥

प्रभाते मलमूत्राभ्यां क्षुत्तृड्भ्यां मध्यगे रवौ ।
रात्रौ मदननिद्राभ्यां बाध्यन्ते मानवाः प्रिये ॥ ७० ॥

हे प्रिये ! प्रात:काल मल मूत्र से, मध्याह्न में भूख प्यास से और रात्रि में वासना एवं निद्रा से मनुष्य पीड़ित रहते हैं ॥ ७० ॥

स्वदेहधर्मदारादिनिरताः सर्वजन्तवः ।
जायन्ते च म्रियन्ते च हा हन्ताज्ञानमोहिताः ॥ ७१ ॥

हाय ! यह अत्यन्त खेद की बात है कि अपने शरीर, धर्म और स्त्री आदि में आसक्त रहने वाले सभी जीव अज्ञान से मोहित होकर जन्म लेते रहते हैं और मरते रहते हैं ॥ ७१ ॥

स्वस्ववर्णाश्रमाचारनिरताः सर्वमानवाः ।
न जानन्ति परं तत्त्वं मूढा नश्यन्ति पार्वति ॥ ७२ ॥

हे पार्वति ! अपने अपने वर्ण और आश्रम के आचार में पड़े हुए सभी मूर्ख मानव परम तत्त्व को नहीं जानते अतः नष्ट हो जाते हैं ॥ ७२ ॥

क्रियायासपराः केचित् क्रतुचर्यादि संयुताः।
अज्ञानसंयुतात्मानः सञ्चरन्ति प्रतारकाः॥ ७३ ॥

कुछ लोग कर्मनिष्ठ होते हैं, तो कुछ यज्ञ-पूजादि करते हैं। इस प्रकार के अज्ञान में पड़े हुए लोग दूसरों को धोखा देते रहते हैं॥ ७३ ॥

नाममात्रेण सन्तुष्टाः कर्मकाण्डरता नराः।
मन्त्रोच्चारणहोमाद्यैर्भ्रामिताः क्रतुविस्तरैः॥ ७४ ॥
एकभक्तोपवासाद्यैर्नियमैः कायशोषणैः।
मूढाः परोक्षमिच्छन्ति तव मायाविमोहिताः॥ ७५ ॥

कर्मकाण्ड में निरत विशाल यज्ञों में मन्त्रोच्चारण द्वारा किये गये होम से नाम मात्र संतुष्ट, एक बार भोजन अथवा उपवास आदि नियमों से शरीर को सुखाकर आपकी माया से विमोहित हुए मूर्ख जन परोक्ष परब्रह्म को पाने की इच्छा करते हैं।

विमर्श—कर्मकाण्ड में लगे हुए मनुष्य नाम मात्र से सन्तुष्ट होकर मन्त्र जप, होमादि विस्तृत यज्ञों में भ्रमित रहते हैं और एक समय भोजन एवं उपवास आदि के नियमों से शरीर को सुखाकर मूर्ख लोग मायावश मोक्ष पाने की आशा करते हैं॥ ७४-७५ ॥

देहदण्डनमात्रेण का मुक्तिरविवेकिनाम्।
वल्मीकताडनाद्देवि मृतः किन्नु महोरगः॥ ७६ ॥

विवेक ज्ञान के बिना शारीरिक कष्टादि द्वारा मुक्ति नहीं—हे देवि! जिस प्रकार वल्मीक के ताडन मात्र से महान् सर्प नहीं मरता है? उसी प्रकार शरीर को कष्ट देने मात्रसे अविवेकी (अज्ञानी) लोगों को मुक्ति नहीं प्राप्त होती?

धनाहारार्जने युक्ता दाम्भिका वेषधारिणः।
भ्रमन्ति ज्ञानिवल्लोके भ्रामयन्ति जनानपि॥ ७७ ॥

दम्भ करने वाले लोग, धन और भोजन कमाने के लिए अनेक प्रकार का वेश धारण कर अपने को ज्ञानी मान कर संसार में घूमते रहते हैं तथा लोगों को भ्रम में डालते हैं॥ ७७ ॥

सांसारिकसुखासक्तं ब्रह्मज्ञोऽस्मीति वादिनम्।
कर्मब्रह्मोभयभ्रष्टं तं त्यजेदन्त्यजं यथा॥ ७८ ॥

इस प्रकार संसार के सुख में आसक्त, किन्तु 'मैं ब्रह्म हूँ' यह कहने वाले व्यक्ति कर्म और ब्रह्म दोनों से भ्रष्ट होते हैं। अतः अन्त्यज के समान उनका सर्वथा त्याग करना चाहिए॥ ७८ ॥

गृहारण्यसमा लोके गतव्रीडा दिगम्बराः ।
चरन्ति गर्दभाद्याश्च योगिनस्ते भवन्ति किम् ॥ ७९ ॥

अकेले कर्मकाण्ड का दोष—जिनके लिए घर एवं वन एक समान है ऐसे लज्जा शून्य नङ्गे होकर घूमने वाले गर्दभादि पशु क्या योगी होते हैं ? अर्थात् निर्लज्ज नङ्गे रह कर घूमने मात्र से कोई योगी नहीं होता ॥ ७९ ॥

मृद्भस्मप्रक्षणाद् देवि मुक्ताः स्युर्यदि मानवाः ।
मृद्भस्मवासिनो ग्राम्याः किं ते मुक्ता भवन्ति हि ॥ ८० ॥

हे देवि ! मिट्टी और भस्म लगाने से यदि मुक्ति मिलती है, तो क्या गाँव की मिट्टी में तथा राख में रहने वाले ग्रामजन क्या मुक्त होते हैं ?

तृणपर्णोदकाहाराः सततं वनवासिनः ।
हिरणादिमृगा देवि योगिनस्ते भवन्ति किम् ॥ ८१ ॥

हे प्रिये ! हरिण आदि पशु घास पत्ते और जल का आहार करते हैं तथा सदैव वन में रहते हैं, तो क्या वे योगी हैं ? ॥ ८१ ॥

आजन्ममरणान्तञ्च गङ्गादितटिनीस्थिताः ।
मण्डूकमत्स्यप्रमुखा व्रतिनस्ते भवन्ति किम् ॥ ८२ ॥

मेढ़क, मछली आदि जन्म से मृत्यु तक गङ्गा आदि नदियों में रहते हैं, तो क्या वे व्रत करने वाले हैं ? ॥ ८२ ॥

वदन्ति हृदयानन्दं पठन्ति शुकसारिकाः ।
जनानां पुरतो देवि विबुधाः किं भवन्ति हि ॥ ८३ ॥

हे देवि ! तोते और मैना लोगों के सामने आनन्दपूर्वक राम राम का पाठ करते हैं, तो क्या वे इस शब्दोच्चारण मात्र से विद्वान् समझे जाते हैं ?

पारावताः शिलाहाराः परमेश्वरि चातकाः ।
न पिबन्ति महीतोयं योगिनस्ते भवन्ति किम् ॥ ८४ ॥

हे परमेश्वरि ! कबूतर कंकड़ों का आहार करते हैं और चातक पक्षी पृथ्वी पर पड़ा हुआ जल नहीं पीते, तो क्या वे योगी हो जाते हैं ? ॥ ८४ ॥

शीतवातातपसहा भक्ष्याभक्ष्यसमाः प्रिये ।
तिष्ठन्ति शूकराद्याश्च योगिनस्ते भवन्ति किम् ॥ ८५ ॥

हे प्रिये ! सूअर आदि पशु जाड़े, गर्मी, धूप को सहन करते हैं, भक्ष्य-अभक्ष्य जिनके लिए समान है, तो क्या वे योगी बन जाते हैं ? ॥ ८५ ॥

तस्मादित्यादिकं कर्म लोकवञ्चनकारकम् ।
मोक्षस्य कारणं साक्षात्तत्त्वज्ञानं कुलेश्वरि ॥ ८६ ॥

तत्त्वज्ञान ही मोक्ष का कारण—इस प्रकार उक्त कर्म लोगों को भ्रम में डालने वाले हैं । हे कुलेश्वरि! मोक्ष का कारण तो साक्षात् तत्त्वज्ञान है ॥८६॥

षड्दर्शनमहाकूपे पतिताः पशवः प्रिये ।
परमार्थं न जानन्ति पशुपाशानियन्त्रिताः ॥ ८७ ॥

परमार्थ ज्ञान के विना शास्त्रादि पाठ से मुक्ति नहीं—हे प्रिये ! षड्दर्शन रूपी गहरे कुएँ में पड़े हुए लोग पशु । पशु-पाशों में बँधे हुये वे परमार्थ को नहीं जानते ॥ ८७ ॥

वेदशास्त्रार्णवे घोरे ताड्यमाना इतस्ततः ।
कालोर्मिग्राहग्रस्ताश्च तिष्ठन्ति हि कुतार्किकाः ॥ ८८ ॥

इस वेद शास्त्र रूपी घोर सागर में इधर उधर टक्कर खाते हुए काल रूपी ग्राह से ग्रस्त कुतार्किक निवास करते हैं । डूबते उतराते हुये वे लोग कुतर्क रूपी भयंकर लहरों और मगर घड़ियालों के मध्य फँसे रहते हैं ॥ ८८॥

वेदागमपुराणज्ञः परमार्थं न वेत्ति यः ।
विडम्बकस्य तस्यापि तत् सर्वं काकभाषितम् ॥ ८९ ॥

वेद, आगम और पुराणों को जानने वाला जो व्यक्ति परमार्थ को नहीं जानता, उस दाम्भिक का सारा कथन कौए के काँव-काँव के समान निरर्थक होता है ॥ ८९ ॥

इदं ज्ञानमिदं ज्ञेयमिति चिन्तासमाकुलाः ।
पठन्त्यहर्निशं देवि परतत्त्वपराङ्मुखः ॥ ९० ॥

हे देवि ! परतत्त्व से दूर रहकर लोग रात-दिन 'यह ज्ञान है यह ज्ञेय है' यही पढ़ते हैं और इसी बात के विचार में व्याकुल रहते हैं ॥ ९० ॥

वाक्यच्छन्दोनिबन्धेन काव्यालङ्कारशोभिना ।
चिन्तया दुःखिता मूढास्तिष्ठन्ति व्याकुलेन्द्रियाः ॥ ९१॥

मूर्ख लोग वाक्य, छन्द, निबन्ध, काव्य और अलङ्कार में किस प्रकार शोभा हो इसी चिन्ता से दुःखी हो व्याकुल रहते हैं ॥ ९१ ॥

अन्यथा परमं तत्त्वं जनाः क्लिश्यन्ति चान्यथा ।
अन्यथा शास्त्रसद्भावो व्याख्यां कुर्वन्ति चान्यथा ॥ ९२ ॥

परम तत्त्व कुछ और है किन्तु लोग व्यर्थ की बातों से क्लेश पाते हैं । शास्त्र का सद्भाव कुछ और है किन्तु लोग उसकी भिन्न व्याख्या करते हैं ॥ ९२ ॥

कथयन्त्युन्मनीभावं स्वयं नानुभवन्ति हि ।
अहङ्कारहताः केचिदुपदेशविवर्जिताः ॥ ९३ ॥
पठन्ति वेदशास्त्राणि विवदन्ति परस्परम् ।
न जानन्ति परं तत्त्वं दर्वी पाकरसं यथा ॥ ९४ ॥

उन्मनी भाव की चर्चा तो करते हैं किन्तु स्वयं उस भाव को अनुभव नहीं करते । कुछ लोग अहङ्कार से मारे जाते हैं किन्तु उपदेश सुनना नहीं चाहते। वेद शास्त्र अवश्य पढ़त हैं किन्तु परस्पर विवाद में फँस रहते हैं । परम तत्त्व को वे उसी प्रकार नहीं जानते जिस प्रकार कलछुल दाल के स्वाद को नहीं जानती ॥ ९३-९४ ॥

शिरो वहति पुष्पाणि गन्धं जानाति नासिका ।
पठन्ति वेदशास्त्राणि दुर्लभो भाववेदकः ॥ ९५ ॥

आत्मस्थ तत्त्व—जैसे शिर पुष्प का वहन तो करता है किन्तु गन्ध तो नासिका ही प्राप्त करती है, वैसे ही वेद एवं शास्त्रों को लोग पढ़ते हैं किन्तु उनके भाव को समझने वाले दुर्लभ हैं ॥ ९५ ॥

तत्त्वमात्मस्थमज्ञात्त्वा मूढः शास्त्रेषु मुह्यति ।
गोपः कक्षगतं छागं कूपे पश्यति दुर्मतिः ॥ ९६ ॥

आत्मस्थ तत्त्व को न जानकर मूढ़ लोग शास्त्रों में मोहित रहते हैं, जैसे ग्वाले के बगल में ही छाग विद्यमान हैं किन्तु उसे वह मूर्ख कूएँ में ढूँढ़ता है ॥ ९६ ॥

संसार मोहनाशाय शाब्दबोधो न हि क्षमः ।
न निवर्त्तेत तिमिरं कदाचिद्दीपवार्त्तया ॥ ९७ ॥

संसार का मोह शब्दज्ञान से वैसे ही नष्ट नहीं होता है, जैसे दीपक की बात करने मात्र से अँधेरा दूर नहीं होता ॥ ९७ ॥

प्रज्ञाहीनस्य पठनम् अन्धस्यादर्शदर्शनम् ।
देवि प्रज्ञावतः शास्त्रं तत्त्वज्ञानस्य कारणम् ॥ ९८ ॥

प्रज्ञा से हीन व्यक्ति का पढ़ना उसी प्रकार है, जैसे अन्धे को दर्पण में दिखाना । हे देवि ! प्रज्ञावान् को ही शास्त्र से ज्ञान मिलता है ॥ ९८ ॥

अग्रतः पृष्ठतः केचित् पार्श्वयोरपि केचन ।
तत्त्वमीदृक् तादृगिति विवदन्ति परस्परम् ।
सद्विद्यादानशूराद्यैर्गुणैर्विख्यातमानवाः ॥ ९९ ॥
प्रत्यक्षग्रहणं नास्ति वार्त्तया ग्रहणं कुतः ।
एवं ये शास्त्रसम्मूढास्ते दूरस्था न संशयः ॥ १०० ॥

विद्या, दान, शूरता आदि गुणों से प्रसिद्ध लोग आगे पीछे, अगल बगल यह विवाद करते रहते हैं कि 'कोई तत्त्व इस प्रकार का है, कोई उस प्रकार का है।' इत्यादि विवाद करते हैं किन्तु प्रत्यक्ष को ग्रहण नहीं करते, भला वार्ता करने से क्या प्राप्त होगा । इस प्रकार शास्त्र में जो मोहित हैं, वे 'तत्त्व' से निःसन्देह बहुत दूर रहते हैं ॥ ९९-१०० ॥

इदं ज्ञानमिदं ज्ञेयं सर्वतः श्रोतुमिच्छति ।
देवि वर्षसहस्रायुः शास्त्रान्तं नैव गच्छति ॥ १०१ ॥

'यह ज्ञान है, यह ज्ञेय है'—इस प्रकार सर्वत्र सुनना चाहते हैं । इस तरह हे देवि ! वे सहस्र वर्षों की आयु में भी शास्त्र का सार नहीं समझ पाते।

वेदाद्यनेकशास्त्राणि स्वल्पायुर्विघ्नकोटयः।
तस्मात् सारं विजानीयात् क्षीरं हंस इवाम्भसः॥ १०२ ॥

वेद आदि अनेक शास्त्र हैं और आयु स्वल्प है और असंख्य विघ्न हैं । अतः सार तत्व को जानना चाहिए जैसे हंस पानी में दूध को पहचान लेता है ॥ १०२ ॥

अभ्यस्य सर्वशास्त्राणि तत्त्वं ज्ञात्वा हि बुद्धिमान् ।
पलालमिव धान्यार्थी सर्वशास्त्रं परित्यजेत् ॥ १०३ ॥

सब शास्त्रों का अभ्यास कर तत्त्व को जानकर बुद्धिमान् व्यक्ति को सभी शास्त्रों को छोड़ देना चाहिये, जिस प्रकार चावल को चाहने वाला भूसी का त्याग कर देता है ॥ १०३ ॥

यथामृतेन तृप्तस्य नाहारेण प्रयोजनम् ।
तत्त्वज्ञस्य तथा देवि न शास्त्रेण प्रयोजनम् ॥ १०४ ॥

जो अमृत का पान कर तृप्त हो जाता है, वह भोजन की चिन्ता नहीं करता । हे देवि ! इसी प्रकार तत्त्व का ज्ञाता शास्त्रों से सम्बन्ध नहीं रखता ।

न वेदाध्ययनान्मुक्तिर्न शास्त्रपठनादपि ।
ज्ञानादेव हि मुक्तिः स्यान्नान्यथा वीरवन्दिते ॥ १०५ ॥

ज्ञान से ही मुक्ति—न तो वेदों के अध्ययन से मुक्ति मिलती है और न शास्त्रों के पढने से ही । ज्ञान ही से मुक्ति मिलती है । हे वीरवन्दिते ! अन्य से नहीं ।। १०५ ।।

नाश्रमाः कारणं मुक्तेर्दर्शनानि न कारणम् ।
तथैव सर्वशास्त्राणि ज्ञानमेव हि कारणम् ।। १०६ ।।

मुक्ति में न आश्रम (चार आश्रम) ही कारण हैं, न दर्शनों के मनन से ही मुक्ति प्राप्त होती है । उसी प्रकार समस्त शास्त्र भी मुक्ति में कारण नहीं केवल ज्ञान ही कारण है ।। १०६ ।।

मुक्तिदा गुरुवागेका विद्याः सर्वा विडम्बकाः ।
काष्ठभारश्रमादस्मादेकं सञ्जीवनं परम् ।। १०७ ।।

गुरुवाणी ही मुक्तिदायिनी—मुक्तिदायिनी एकमात्र गुरुवाणी है, शेष सभी विद्याएँ विडम्बनामात्र हैं । काठ के भार से श्रम प्राप्त करने की अपेक्षा एक संजीवन जड़ी का ढोना कहीं अच्छा है ।। १०७ ।।

अद्वैतन्तु शिवेनोक्तं क्रियायासविवर्जितम् ।
गुरुवक्त्रेण लभ्येत नान्यथागमकोटिभिः ।। १०८ ।।

अद्वैतवाद शिव जी ने कह है जिसमें किसी प्रकार क कर्म का आयास नहीं है । वह गुरुमुख से ही प्राप्त होता है, अन्य करोडों आगमों से नहीं प्राप्त होता ।। १०८ ।।

आगमोत्थं विवेकोत्थं द्विधा ज्ञानं प्रचक्षते ।
शब्दब्रह्मागममयं परं ब्रह्म विवेकजम् ।। १०९ ।।

ज्ञान के दो प्रकार—१. आगम, २. विवेक—ज्ञान दो प्रकार का बताया गया हैं—एक तो आगम से प्राप्त होता है और दूसरा विवेक से । आगम से प्राप्त ज्ञान शब्द ब्रह्मपरक होता है और विवेक से प्राप्त ज्ञान परब्रह्म का निदर्शक होता है ।। १०९ ।।

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे ।
मम तत्त्वं च जानन्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम् ।। ११० ।।

कुछ लोग द्वैत को चाहते हैं तो कुछ अद्वैत को, किन्तु मेरे तत्त्व को वही जानते हैं जो द्वैत-अद्वैत से परे हैं ।। ११० ।।

द्वे पदे बन्धमोक्षाय ममेति निर्ममेति च ।
ममेति बाध्यते जन्तुर्न ममेति विमुच्यते ।। १११ ।।

यह मेरा है, यह मेरा नहीं है यही दो पद क्रमशः बन्धन और मोक्ष के कारण है। मेरा है—यही जीव को बांधता है। मेरा नहीं है—यह जीव को मुक्ति दिलाता है ॥ १११ ॥

तत् कर्म यन्न बन्धाय विद्या सा या विमुक्तये।
आयासायापरं कर्म विद्यान्या शिल्पनैपुणम् ॥ ११२ ॥

कर्म वही है जो बन्धनकारक न हो और वही विद्या है जो मुक्तिकारक हैं अर्थात् वही वास्तव में कर्म है, जो बन्धनकारक न हो और वही विद्या है, जो मुक्तिकारिणी हो। अन्य कर्म दुःख के कारण होते हैं और अन्य विद्याएँ मात्र शिल्प नैपुण्य है ॥ ११२ ॥

यावत् कामादि दीप्येत यावत् संसारवासना।
यावदिन्द्रियचापल्यं तावत्तत्त्वकथा कुतः ॥ ११३ ॥
यावत् प्रयत्नवेगोऽस्ति यावत् सङ्कल्पकल्पना।
यावन्न मनसः स्थैर्यं तावत्तत्त्वकथा कुतः ॥ ११४ ॥

इन्द्रियनिग्रह और गुरुकृपा बिना तत्त्वज्ञान के नहीं—जब तक कामना उत्तेजित रहती है, जब तक सांसारिक इच्छाएँ बनी रहती हैं, और जब तक इन्द्रियाँ चञ्चल हैं, तब तक तत्व की बात कहाँ ? जब तक प्रयत्न का वेग है, जब तक संकल्प की कल्पना बनी हुई है और जब तक मन में स्थिरता नहीं है, तब तक तत्व की बात कहाँ ? ॥ ११३-११४ ॥

यावद्देहाभिमानश्च ममता यावदस्ति हि।
यावन्न गुरुकारुण्यं तावत्तत्त्वकथा कुतः ॥ ११५ ॥
तावत्तपो व्रतं तीर्थं जपहोमार्च्चनादिकम्।
वेदशास्त्रागमकथा यावत्तत्त्वं न विन्दते ॥ ११६ ॥

जब तक देहाभिमान है, जब तक ममता बनी है और जब तक गुरु की दया प्राप्त नहीं है, तब तक तत्त्व की कथा कहाँ ? तप, व्रत, तीर्थ, जप, होम, अर्चन आदि तभी तक हैं और वेदशास्त्र आगम की चर्चा भी तभी तक है, जब तक तत्त्व की प्राप्ति नहीं होती ? ॥ ११५-११६ ॥

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन सर्वावस्थासु सर्वदा।
तत्त्वनिष्ठो भवेद्देवि यदीच्छेन्मोक्षमात्मनः ॥ ११७ ॥

अतएव, हे देवि ! यदि आत्ममुक्ति की इच्छा हो तो सभी प्रयत्नों से सभी अवस्थाओं में सदैव तत्त्वनिष्ठ रहे ॥ ११७ ॥

धर्मज्ञानसुपुष्पस्य स्वर्गलोक फलस्य च ।
तापत्रयार्त्तिसन्तप्तश्छायां मोक्षतरोः श्रयेत् ॥ ११८ ॥

तापत्रय के कष्ट से पीड़ित व्यक्ति स्वधर्मज्ञानरूपी पुष्प और स्वकुलोक्त (अर्थात् अपने कुल धर्म में जो बातें प्रचलित हैं ऐसे) स्वर्ग के फल वाले मोक्षरूप कल्पवृक्ष की छाया का आश्रय ग्रहण करे ॥ ११८ ॥

बहुनात्र किंमुक्तेन रहस्यं शृणु पार्वति ।
कुलधर्ममृते मुक्तिर्नास्ति सत्यं न संशयः॥ ११९ ॥

हे पार्वति ! अधिक कहने से क्या लाभ ? रहस्य की बात सुनिए । कुलधर्म के सिवा मुक्ति नहीं है, यह सत्य है, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ११९ ॥

तस्माद्वदामि तत्त्वन्ते विज्ञाय श्रीगुरोर्मुखात् ।
सुखेन मुच्यते देवि घोरसंसारबन्धनात् ॥ १२० ॥

अतएव मैं गुरुमुख से उस तत्त्व को जानकर आपसे कहता हूँ, जिससे हे देवि ! इस घोर संसार के बन्धन से जीव सहज ही मुक्त हो जाता है ॥ १२० ॥

इति ते कथिता काचिज्जीवजातिस्थितिः प्रिये ।
समासेन कुलेशानि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ १२१ ॥

॥ इति श्रीकुलार्णवे निर्वाणमोक्षद्वारे महारहस्ये सर्वागमोत्तमोत्तमे सपादलक्षग्रन्थे पञ्चमखण्डे ऊर्ध्वाम्नायतन्त्रे जीवस्थितिकथनं नाम प्रथमोल्लासः ॥ १ ॥

हे प्रिये ! इस प्रकार मैंने आपसे जीवों के जन्म और उनकी स्थिति के विषय में संक्षेप से कहा है । अब हे कुलेशानि ! आप और क्या सुनना चाहती हैं ॥ १२१ ॥

॥ इस प्रकार श्रीकुलार्णवतन्त्र के ऊर्ध्वाम्नायतन्त्र में जीवस्थिति कथन नामक प्रथम उल्लास की पं० चित्तरञ्जन मालवीय कृत हिन्दी पूर्ण हुई ॥ १ ॥

अथ नवमोल्लासः

श्री देव्युवाच

कुलेश श्रोतुमिच्छामि योगं योगीशलक्षणम् ।
कुलभक्त्यार्चनफलं वद मे करुणानिधे ॥ १ ॥

योग एवं योगीशलक्षण और कौलपूजा—श्री देवी ने कहा—हे कुलेश! हे करुणानिधे ! योग और योगीश के लक्षण मैं सुनना चाहती हूँ तथा कुलभक्त की पूजा करने का फल मुझे बताइये ॥ १ ॥

ईश्वर उवाच

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
तस्य श्रवणमात्रेण योगः साक्षात् प्रकाशते ॥ २ ॥

ईश्वर ने कहा—हे देवि ! सुनिए, जो आपने मुझसे पूछा है, उसे मैं कहूँगा। उसके सुनने मात्र से योग साक्षात् प्रकट होता है ॥ २ ॥

ध्यानन्तु द्विविधं प्रोक्तं स्थूलसूक्ष्मप्रभेदतः ।
साकारं स्थूलमित्याहुनिराकारन्तु सूक्ष्मकम् ॥ ३ ॥

ध्यान के दो भेद—ध्यान स्थूल और सूक्ष्म दो प्रकार का कहा गया है । साकार का ध्यान स्थूल है और निराकार का ध्यान सूक्ष्म कहा जाता है ॥ ३ ॥

स्थिरार्थमनसः केचित् स्थूलध्यानं प्रचक्षते ।
स्थूलेऽपि निश्चलं चेतो भवेत् सूक्ष्मेऽपि निश्चलम् ॥ ४ ॥

स्थूल ध्यान से बुद्धि निश्चित होती है और स्थूल ध्यान से मन स्थिर होता है तथा दोनों स्थूल एवं सूक्ष्म ध्यान से भी मन निश्चल होता है ॥ ४ ॥

करपादोदरास्यादिरहितं परमेश्वरम् ।
सर्वतेजोमयं ध्यायेत् सच्चिदानन्दनिष्कलम् ॥ ५ ॥

हाथ, पैर, पेटादि अङ्ग और अस्थि से रहित सर्वतेजोमय, सच्चिदानन्द निष्कल परमेश्वर का ध्यान करे ॥ ५ ॥

नोदेति नास्तमभ्येति न वृद्धिं याति न क्षयम् ।
स्वयं विभात्यथान्यानि भासयन् साधनं विना ॥ ६ ॥

न उसका उदय होता है, न अस्त । न बढ़ता है, न घटता है । वह स्वयं प्रकाश है और बिना साधन के अन्यों को प्रकाशित करता है ॥ ६ ॥

अनन्तं गतभारूपं सत्तामात्रमगोचरम् ।
मनसा मात्रसम्वेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम् ॥ ७ ॥

ब्रह्मज्ञान—सत्ता मात्र उस अदृश्य, अवस्था हीन जिस रूप का केवल मन से अनुभव होता है, उस ज्ञान को 'ब्रह्म' कहा गया है ॥ ७ ॥

प्रणष्टवायुसञ्चारः पाषाण इव निश्चलः ।
परजीवैकधामज्ञो योगी योगविदुच्यते ॥ ८ ॥

योगी का लक्षण—वायुसञ्चार को रोक कर, पत्थर के समान स्थिर हो, परम जीव के एक धाम को जानने वाला 'योगविद्' 'योगी' कहलाता है ॥ ८॥

यदत्र नात्र निर्भासः स्तिमितोदधिवत् स्थितम् ।
स्वरूपशून्यं तद्ध्यानं समाधिरभिधीयते ॥ ९ ॥

समाधि का लक्षण—जिस ध्यानावस्था में पदार्थ मात्र भासित हो, शान्त सागर के समान स्थिति हो और स्वरूप का अभाव हो जाय, वह 'समाधि' कही जाती है ॥ ९ ॥

न किञ्चिच्चिन्तनादेव स्वयं तत्त्वं प्रकाशते ।
स्वयं प्रकाशिते तत्त्वे तत्क्षणात्तन्मयो भवेत् ॥ १० ॥

जीवन्मुक्त का लक्षण—किसी भी चिन्तन से तत्त्व प्रकाशित नहीं होता, वह स्वयं ही प्रकाशित होता है । तत्त्व के स्वयं प्रकाशित होते ही तत्क्षण उसमें तन्मय हो जाय ॥ १० ॥

स्वप्नजाग्रदवस्थायां सुप्तवत् योऽवतिष्ठते ।
निश्वासोच्छ्वासहीनश्च निश्चितं मुक्त एव सः ॥ ११ ॥

स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाओं में जो सोए हुए के समान व निःश्वास और श्वास से रहित रहता है, वह निश्चय ही 'मुक्त' है ॥ ११ ॥

निष्पन्दकरणग्रामः स्वात्मलीनमनोऽनिलः ।
य आस्ते मृतवत्साक्षात् जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥ १२ ॥

इन्द्रियसमूह को निष्क्रिय रखकर अपनी आत्मा में मन को जो लीन

रखता हुआ मृतवत् रहता है, वह साक्षात् 'जीवन्मुक्त' कहा जाता है ॥ १२ ॥

न शृणोति न चाघ्राति न स्पृशति न पश्यति ।
न जानाति सुखं दुःखं न सङ्कल्पयते मनः ॥ १३ ॥
न चापि किञ्चिज्जानाति न च बुध्यति काष्ठवत् ।
एवं शिवे विलीनात्मा समाधिस्थ इहोच्यते ॥ १४ ॥

समाधिस्थ का लक्षण—वह साधक जो न सुनता है, न देखता है, न सूंघता है, न स्पर्श करता है, न सुख-दुःख को जानता है, न मन में कोई सङ्कल्प होता है, न कुछ भी जानता है और न काष्ठवत् कुछ अनुभव करता है—इस प्रकार जो शिव में अपनी आत्मा को लीन रखता है, वह संसार में 'समाधिस्थ' कहा जाता है ॥ १३-१४ ॥

यथा जले जलं क्षिप्तं क्षीरे क्षीरं घृते घृतम् ।
अविशेषो भवेत्तद्वज्जीवात्मपरमात्मनोः ॥ १५ ॥

जीवात्मा और परमात्मा में अभेद—जिस प्रकार जल में जल, दूध में दूध और घी में घी डालने से कोई अन्तर नहीं पड़ता, उसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा का सम्बन्ध है ॥ १५ ॥

यथा ध्यानस्य सामर्थ्यात् कीटोऽपि भ्रमरायते ।
तथा समाधिसामर्थ्याद् ब्रह्मभूतो भवेन्नरः॥ १६ ॥

जिस प्रकार ध्यान की शक्ति से कीड़ा भी भौंरा बन जाता है, उसी प्रकार समाधि की शक्ति से मनुष्य ब्रह्मभूत हो जाता है ॥ १६ ॥

क्षीरोद्धृतं घृतं यद्वत्तत्र क्षिप्तं न पूर्ववत् ।
पृथक्कृतो गुणेभ्यः स्यादात्मा तद्वदिहोच्यते ॥ १७ ॥

दूध से निकाला हुआ घी जैसे पुनः उसमें डालने से पहले जैसा मिश्रित नहीं होता, वैसे ही गुणों के द्वारा अलग की गई आत्मा इस संसार में अलग कही जाती है ॥ १७ ॥

यथा गाढान्धकारस्थो न किञ्चिदिह पश्यति ।
अलक्ष्यश्च तथा योगी प्रपञ्चं नैव पश्यति॥ १८ ॥

जिस प्रकार गहरे अँधेरे में यहाँ कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता, उसी प्रकार अन्यमनस्क योगी प्रपञ्च को नहीं देखता ॥ १८ ॥

यथा निमीलने काले प्रपञ्चं नैव पश्यति ।
तथैवोन्मीलनेऽपि स्यादेतद्ध्यानस्य लक्षणम् ॥ १९ ॥

ध्यान का लक्षण—जैसे आँख बन्द रहने पर प्रपञ्च नहीं दिखाई देता, वैसे ही आँख खुली होने पर भी साधक को वह प्रपञ्च दिखाई न दे, यही ध्यान का लक्षण है ॥ १९ ॥

जनः स्वदेहकण्डूतिं विजानाति यथा तथा ।
परं ब्रह्मस्वरूपी च वेत्ति विश्वविचेष्टितम् ॥ २० ॥

परम तत्त्वज्ञान का फल—जिस प्रकार लोग अपने देह की खुजली का अनुभव करते हैं, उसी प्रकार परब्रह्म स्वरूपी साधक क्रियाशील विश्व को जानता है ॥ २० ॥

विदिते परमे तत्त्वे वर्णातीते ह्यविक्रिये ।
किङ्करत्वं हि गच्छन्ति मन्त्रा मन्त्राधिपैः सह ॥ २१ ॥

वर्णों से अतीत परम तत्त्व को जान लेने पर सभी मन्त्र अपने अधिष्ठातृ देवताओं सहित साधक के दास बन जाते हैं ॥ २१ ॥

आत्मैकभावनिष्ठस्य या या चेष्टा तदर्चनम् ।
यो यो जल्पः स सन्मन्त्रस्तद्ध्यानं यन्निरीक्षणम् ॥ २२ ॥

आत्मा से एक भाव से निष्ठा रखने वाले साधक की जो भी चेष्टा होती है, वह पूजा स्वरूपा ही होती है; जो भी बात वह करता है, वह मन्त्र स्वरूप होता है और जो कुछ देखता है, वह ध्यान स्वरूप होता है ॥ २२ ॥

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि ।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः ॥ २३ ॥

परमात्मा के ज्ञात होने पर देहाभिमान दूर हो जाता है और जहाँ कहीं भी ऐसे साधक का मन जाता है, वहाँ उसे समाधि प्राप्त होती है ॥ २३ ॥

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परात्मनि ॥ २४ ॥

उसके हृदय की ग्रन्थि खुल जाती है एवं उसके सभी सन्देह दूर हो जाते हैं । परमात्मा को देख लेने से उसके सभी कर्मों का क्षय हो जाता है ।

योगीन्द्रेण यदा प्राप्तं निर्मलं परमं पदम् ।
देवासुरपदं यत्तत्प्राप्तञ्चापि न गृह्यते ॥ २५ ॥

योगीन्द्र को जैसा निर्मल परम पद प्राप्त होता है, उसके समक्ष देवासुर पद भी प्राप्त होने पर ग्रहण करने योग्य नहीं है ॥ २५ ॥

यः पश्येत् सर्वगं शान्तमानन्दात्मकमव्ययम्।
तस्य किञ्चिदनालभ्यं ज्ञातव्यं नावशिष्यते ॥ २६ ॥

जो सर्वव्यापी, शान्त, आनन्दमय, अव्यय को देख लेता है, उसे कुछ भी पाने या जानने को नहीं बचता ॥ २६ ॥

सम्प्राप्ते ज्ञानविज्ञाने ज्ञेये च हृदि संस्थिते।
लब्धे शान्तिपदे देवि न योगो नैव धारणा ॥ २७ ॥

ज्ञान विज्ञान के प्राप्त होने पर, हृदय में ज्ञेय की स्थिति होने पर और शान्ति पद के मिल जाने पर, हे देवि! न योग की आवश्यकता रहती है, न धारणा की ॥ २७ ॥

परे ब्रह्मणि विज्ञाते समस्तैर्नियमैरलम्।
तालवृन्तेन किं कार्यं लब्धे मलयमारुते ॥ २८ ॥
आसिकाबन्धनं नास्ति नासिकाबन्धनं न हि ।
न यमो नियमो नास्ति स्वयमोमिति पश्यताम् ॥ २९ ॥

परब्रह्म को जान लेने पर सभी नियम समाप्त हो जाते हैं । सुगन्धित वायु के मिलने पर पंखे की क्या आवश्यकता ? न आसन लगाना पड़ता है, न प्राणायाम करना होता है । यम नियम भी नहीं रहते । स्वयं ही आत्मदर्शन होता रहता है ॥ २८-२९ ॥

न पद्मासनतो योगो न नासाग्रनिरीक्षणम् ।
ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः ॥ ३० ॥

योग का लक्षण—योग के मर्मज्ञों ने जीव और आत्मा के ऐक्य को ही 'योग' कहा है । न पद्मासन से और न नासिका के अग्रभाग को देखने से योग होता है ॥ ३० ॥

ध्यायतां क्षणमात्रं हि श्रद्धया परमन्त्विह।
यद्भवेत् सुमहत् पुण्यं तस्यान्तो नैव गण्यते ॥ ३१ ॥

श्रद्धापूर्वक क्षण मात्र के लिये भी परम पद का ध्यान करने से जो महान् पुण्य होता है, उसकी गणना नहीं की जा सकती ॥ ३१ ॥

क्षणं ब्रह्माहमस्मीति यः कुर्यादात्मचिन्तनम् ।
स सर्वं पातकं हन्यात्तमः सूर्योदयो यथा ॥ ३२ ॥

जो क्षण भर के लिए यह आत्मचिन्तन करता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ', वह अपने सभी पापों को उसी प्रकार नष्ट कर देता है, जिस प्रकार सूर्य के उदय होने से अँधेरा नष्ट होता है ॥ ३२ ॥

व्रतक्रतुतपस्तीर्थदानदेवार्चनादिषु　　।
यत् फलं कोटिगुणितं तदवाप्नोति तत्त्ववित् ॥ ३३ ॥

व्रत, यज्ञ, तप, तीर्थ, दान, देव पूजादि से जो फल होता है, उससे कोटि गुना फल तत्त्व के ज्ञाता को मिलता है ॥ ३३ ॥

उत्तमा सहजावस्था मध्यमा ध्यानधारणा ।
जपस्तुतिः स्यादधमा होमपूजाऽधमाधमा ॥ ३४ ॥

साधक की चार अवस्थाएँ—१. सहजावस्था उत्तम है । २. ध्यान—धारणा की अवस्था मध्यम है । ३. जप—स्तुति की अवस्था अधम है और ४. होम—पूजा की अवस्था अधम से भी अधम है ॥ ३४ ॥

उत्तमा तत्त्वचिन्ता स्याज्जपचिन्ता तु मध्यमा ।
शास्त्रचिन्ताऽधमा ज्ञेया लोकचिन्ताऽधमाधमा ॥ ३५ ॥
पूजाकोटिसमं स्तोत्रं स्तोत्रकोटिसमो जपः ।
जपकोटिसमं ध्यानं ध्यानकोटिसमो लयः ॥ ३६ ॥

तत्त्व का चिन्तन करना उत्तम है । जप की चिन्ता करना मध्यम है । शास्त्र की चिन्ता करना अधम और संसार की चिन्ता करना अधम से भी अधम है । कोटि पूजाओं के बराबर स्तोत्रपाठ है, कोटि स्तोत्रपाठ के बराबर जप है, कोटि जप के बराबर ध्यान है और कोटि ध्यान के बराबर लय (समाधि) है ॥ ३५-३६ ॥

न हि ध्यानात् परो मन्त्रो न देवस्त्वात्मनः परः ।
नानुसन्धात् परा पूजा न हि तृप्तेः परं फलम् ॥ ३७ ॥

न ध्यान से श्रेष्ठ मन्त्र है, न आत्मा से श्रेष्ठ देवता है, न अनुसन्धान से श्रेष्ठ पूजा है और न तृप्ति से श्रेष्ठ कोई फल है ॥ ३७ ॥

अक्रियैव परा पूजा मौनमेव परो जपः ।
अचिन्तेव परं ध्यानमनिच्छैव परं फलम् ॥ ३८ ॥

क्रिया की हीनता ही श्रेष्ठ पूजा है, मौन ही श्रेष्ठ जप है, चिन्ता हीनता ही श्रेष्ठ ध्यान है और इच्छारहित होना ही श्रेष्ठ फल है ॥ ३८ ॥

मन्त्रोदकैर्विना सन्ध्यां पूजाहोमैर्विना तपः ।
उपचारैर्विना पूजां योगी नित्यं समाचरेत् ॥ ३९ ॥

तत्त्वज्ञानी की उपासना विधि—मन्त्रोदक के बिना सन्ध्या, पूजा और होम के बिना जप—इस प्रकार योगी नित्य उपचारों के बिना पूजा करे ॥ ३९॥

निःसङ्गश्च विसङ्गश्च निस्तीर्णोपाधिवासनः ।
निजस्वरूपनिर्मग्नः स योगी परतत्त्ववित् ॥ ४० ॥

सङ्गहीन और उपाधियों से रहित होकर निज स्वरूप में तल्लीन रहता हुआ योगी परम तत्त्व का ज्ञाता होता है ॥ ४० ॥

देहो देवालयो देवि जीवो देवः सदाशिवः ।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहम्भावेन पूजयेत् ॥ ४१ ॥

जीव और परमात्मा का स्वरूप—हे देवि ! देह देवालय है और जीव सदाशिव है । अज्ञानरूपी निर्माल्य को छोड़कर साधक को 'सोऽहं' भाव से पूजन करना चाहिए ॥ ४१ ॥

जीवः शिवः शिवो जीवः स जीवः केवलः शिवः ।
पाशबद्धः स्मृतो जीवः पाशमुक्तः सदाशिवः ॥ ४२ ॥
तुषेण बद्धो व्रीहिः स्यात्तुषाभावे हि तण्डुलः ।
कर्मबद्धः स्मृतो जीवः कर्ममुक्तः सदाशिवः ॥ ४३ ॥

जीव शिव है, शिव जीव है—वह जीव केवल शिव है । पाशों से बँधा हुआ 'जीव' माना जाता है और पाशों से मुक्त 'सदाशिव' कहलाता है । जिस प्रकार भूसी से युक्त धान होता है और भूसी के दूर हो जाने पर चावल कहलाता है, उसी प्रकार कर्मों से बँधा हुआ 'जीव' और कर्मों से छूटा हुआ 'सदाशिव' माना जाता है ॥ ४२-४३ ॥

अग्नी तिष्ठति विप्राणां हृदि देवो मनीषिणाम् ।
प्रतिमास्वप्रबुद्धानां सर्वत्र विदितात्मनाम् ॥ ४४ ॥

अधिकारीभेद से देवता का स्थान—विप्रों का देवता अग्नि में, मनीषियों का हृदय में, अल्पबुद्धि लोगों का मूर्तियों में और आत्मज्ञानियों का देवता सर्वत्र रहता है ॥ ४४ ॥

यो निन्दास्तुतिशीतोष्णसुखदुःखारिबन्धुषु ।
सम आस्ते स योगीन्द्रो हर्षाहर्षविवर्जितः ॥ ४५ ॥
निस्पृहो नित्यसन्तुष्टः समदर्शी जितेन्द्रियः ।
आस्ते देहे प्रवासीव योगी परमतत्त्ववित् ॥ ४६ ॥

तत्त्वज्ञ योगी के लक्षण—जो निन्दा-स्तुति, सुख-दुःख, शत्रु-मित्र में समान भाव रखता है, वही प्रसन्नता एवं अप्रसन्नता रहित 'योगीन्द्र' है । इच्छाहीन, सदा सन्तुष्ट, समदर्शी, जितेन्द्रिय, देह में परदेश के समान रहने वाला परम तत्त्व का ज्ञाता 'योगी' है ॥ ४५-४६ ॥

निःसङ्कल्पो निर्विकल्पो निर्लिप्तोपाधिवासनः ।
निजस्वरूपनिर्मग्नः स योगी परतत्त्ववित् ॥ ४७ ॥

सङ्कल्प-विकल्प से रहित और उपाधि-वस्त्रादि से उदासीन, अपने स्वरूप में तल्लीन, परम तत्त्व का ज्ञाता 'योगी' है ॥ ४७ ॥

यथा पङ्ग्वन्धबधिरक्लीबोन्मत्तजडादयः ।
निवसन्ति कुलेशानि तथा योगी च तत्त्ववित् ॥ ४८ ॥

हे कुलेशानि ! लँगड़े, अन्धे, बहरे, नपुंसक, पागल और मूर्खादि के समान रहता है वह तत्त्वज्ञ 'योगी' है ॥ ४८ ॥

पञ्चमुद्रासमुत्पन्नपरमानन्दनिर्भरः ।
य आस्ते स तु योगीन्द्रः पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ ४९ ॥

पञ्चमुद्राओं (द्रव्यों) से उत्पन्न परमानन्द में मग्न रहने वाला योगीन्द्र सर्वत्र आत्मा को अपने में देखता रहता है ॥ ४९ ॥

अलिमांसाङ्गनासङ्गे यत् सुखं जायते प्रिये।
तदेव मोक्षो विदुषामबुधानान्तु पातकम् ॥ ५० ॥

अलि (मद्य), मांस और अङ्गनासङ्ग (मैथुन) में जो सुख मिलता है, वह ज्ञानियों के लिये तो पुण्य है किन्तु मूर्खों के लिये पाप ॥ ५० ॥

सदा मांसासवोल्लासी सदा चरणचिन्तकः ।
सदासंशयहीनो यः कुलयोगी स उच्यते ॥ ५१ ॥

कुलयोगी के लक्षण—सदा मांस मद्य के उल्लास में रहने वाला, सदा परम तत्त्व का चिन्तन करने वाला और सदा संशयों से दूर रहने वाला 'कुलयोगी' कहा जाता है ॥ ५१ ॥

पिबन्मद्यं पलं खादन् स्वेच्छाचारपरायणः ।
अहं तदनयोरैक्यं भावयन्निवसेत् सुखी ॥ ५२ ॥

मद्यपान करता हुआ, मांस खाता हुआ, स्वेच्छाचार में लगा हुआ और 'मैं' 'तुम' तथा 'वह' में ऐक्यभाव का चिन्तन करता हुआ वह सदा सुखी रहता है ।

आमिषासवसौरभ्यहीनं यस्य मुखं भवेत् ।
प्रायश्चित्ती स वर्ज्यश्च पशुरेव न संशयः ॥ ५३ ॥

मांस और मद्य की सुगन्धि से जिसका मुख रहित है, वह प्रायश्चित का भागी होता है । उसका त्याग करे, वह 'पशु' ही है, इसमें सन्देह नहीं ॥५३॥

यावदासवगन्धः स्यात् पशुः पशुपतिः स्वयम् ।
विनालिमांसगन्धेन साक्षात् पशुपतिः पशुः ॥ ५४ ॥

जब तक मद्य की गन्ध है, तब तक पशु साधक स्वयं पशुपति स्वरूप है । मद्य मांस की सुगन्ध के बिना साक्षात् पशुपति भी पशु के समान होते हैं ॥ ५४ ॥

लोके निकृष्टमुत्कृष्टं लोकोत्कृष्टं निकृष्टकम् ।
कुलमार्गं समुद्दिष्टं भैरवेण महात्मना ॥ ५५ ॥

कौलिक के लिये विधि निषेध नहीं—संसार में निकृष्ट को उत्कृष्ट मानना और उत्कृष्ट को निकृष्ट मानना—महात्मा भैरव ने इसी को 'कुलमार्ग' निर्दिष्ट किया है ॥ ५५ ॥

अनाचारः सदाचारस्त्वकार्यं कार्यमुत्तमम् ।
असत्यमपि सत्यं स्यात् कौलिकानां कुलेश्वरि ॥ ५६ ॥
अपेयमपि पेयं स्यादभक्ष्यं भक्ष्यमेव च ।
अगम्यमपि गम्यं स्यात् कौलिकानां कुलेश्वरि ॥ ५७ ॥

अनाचार सदाचार है, अकार्य ही उत्तम कार्य है, हे कुलेश्वरि ! असत्य भी कौलिकों के लिये सत्य होता है । अपेय भी पेय है, अभक्ष्य भक्ष्य है और हे कुलेश्वरि ! अगम्य भी कौलिकों के लिये गम्य होता है ॥ ५६-५७ ॥

न विधिर्न निषेधः स्यान्न पुण्यं न च पातकम् ।
न स्वर्गो नैव नरकं कौलिकानां कुलेश्वरि ॥ ५८ ॥

हे कुलेश्वरि ! कौलिकों के लिये न विधि है, न निषेध, न पुण्य है, न पाप और न स्वर्ग है, न नरक ॥ ५८ ॥

अनभिज्ञा अभिज्ञन्ति दरिद्रा धनयन्ति च ।
विनष्टा अपि वर्द्धन्ते कौलिकाः कुलनायिके ॥ ५९ ॥

अनभिज्ञ विशेषज्ञ होता है, दरिद्र धनी है और हे कुलेश्वरि ! नाशवान् होते हुये भी कौलिक वृद्धि को प्राप्त करते हैं ॥ ५९ ॥

रिपवश्चापि मित्रन्ति साक्षाद्दासन्ति भूमिपाः ।
बान्धवन्ति जनाः सर्वे कौलिकानां कुलेश्वरि ॥ ६० ॥

शत्रु भी मित्र बन जाते हैं, राजा प्रत्यक्ष सेवा करते हैं और हे कुलेश्वरि ! सभी लोग कौलिकों को अपना बन्धु मानते हैं ॥ ६० ॥

विमुखाः सुमुखाः सर्वे गर्विताः प्रणयन्ति च।
बाधकाः साधकायन्ते कौलिकानां कुलेश्वरि ॥ ६१ ॥

प्रतिकूल अनुकूल हो जाते हैं, सभी अभिमानी प्रणाम करते हैं और हे कुलेश्वरि! बाधा डालने वाले कौलिकों का काम बनाने वाले हो जाते हैं ॥६१॥

निर्गुणाः सगुणायन्ते अकुलं सुकुलायते ।
अधर्माश्चापि धर्मन्ति कौलिकानां कुलेश्वरि ॥ ६२ ॥
मृत्युर्वैद्यायते देवि साक्षात् स्वर्गायते गृहम् ।
पुण्यायन्तेऽङ्गनासङ्गाः कौलिकानां कुलेश्वरि ॥ ६३ ॥

गुणहीन गुणी, अकुलीन कुलीन और अधर्मी भी कौलिकों के लिये हे कुलेश्वरि ! धर्मवान् बन जाते हैं । मृत्यु वैद्य बन जाती है, घर साक्षात् स्वर्ग हो जाता है और हे कुलेश्वरि ! स्त्रियों का सङ्ग कौलिकों के लिये पुण्यकारक हो जाता है ॥ ६२-६३ ॥

बहुनात्र किमुक्तेन कुलयोगीश्वराः प्रिये ।
सदा सङ्कल्पसिद्धाः स्युर्नात्र कार्या विचारणा ॥ ६४ ॥

यहाँ अधिक कहने से क्या, हे प्रिये ! कुलयोगीश्वर के सभी सङ्कल्प सिद्ध होते हैं, इसमें सन्देह करने की कोई आवश्यकता नहीं है ॥ ६४ ॥

येन केनापि वेशेन येन केनाप्यलक्षितः ।
यत्र कुत्राश्रमे तिष्ठेत् कुलयोगी कुलेश्वरि ॥ ६५ ॥

कुलयोगी के आचरण—एक कौल योगी जहां कहीं भी रह सकता है। किसी भी वेष में दिखाई पड़ता है और सभी से विना देखे रहता है । हे कुलेश्वरि! वह किसी भी आश्रम में स्थित रह सकता है । वह 'कुलयोगी' होता है ॥ ६५ ॥

योगिनो विविधैर्वेशैर्नराणां हितकारिणः ।
भ्रमन्ति पृथिवीमेतामविज्ञातस्वरूपिणः ॥ ६६ ॥

विविध वेषभूषा में, लोगों के हितकारी योगीजन अज्ञात रूप से इस पृथ्वी पर भ्रमण करते रहते हैं ॥ ६६ ॥

सकृन्नैवात्मविज्ञानं क्षपयन्ति कुलेश्वरि ।
उन्मत्तमूकजडवन्निवसेल्लोकमध्यतः ॥ ६७ ॥

हे कुलेश्वरि ! वे एक बार भी अपने को प्रकट नहीं करते और उन्मत्त, मूक, जड़ के समान लोकों के बीच निवास करते हैं ॥ ६७ ॥

अलक्ष्यो हि यथा लोके व्योम्नि चन्द्रार्कयोगतः ।
नक्षत्राणां ग्रहाणाञ्च तथा वृत्तन्तु योगिनाम् ॥ ६८ ॥

इस संसार में वे अलक्ष्य ही रहते हैं, जैसे आकाश में सूर्य चन्द्र की गति। नक्षत्रों और ग्रहों के समान ही कुलयोगियों का हाल है ॥ ६८ ॥

आकाशे पक्षिणां देवि जलेऽपि जलचारिणाम् ।
यथा गतिर्न दृश्येत तथा वृत्तं हि योगिनाम् ॥ ६९ ॥

हे देवि ! जैसे आकाश में पक्षियों की और जल में जलचर प्राणियों की गति दिखाई नहीं देती, वैसा ही योगियों का आचरण है ॥ ६९ ॥

असन्त इव भाषन्ते चरन्त्यज्ञा इव प्रिये ।
पामरा इव दृश्यन्ते कुलयोग विशारदाः ॥ ७० ॥
जना यथावमन्यन्ते गच्छेयुर्नैव सङ्गतिम्।
न किञ्चिदपि भाषन्ते तथा योगी प्रवर्त्तते ॥ ७१ ॥
मुक्तोऽपि बालवत् क्रीडेत् कुलेशो जडवच्चरेत् ।
वदेदुन्मत्तवद्विद्वान् कुलयोगी महेश्वरि ॥ ७२ ॥
यथा हसति लोकोऽयं जुगुप्सति च कुत्सति ।
विलोक्य दूरतो याति तथा योगी प्रवर्त्तते ॥ ७३ ॥

हे प्रिये ! 'कुलयोग' के मर्मज्ञ असन्त के समान बोलते हैं, मूर्खों के समान घूमते फिरते हैं और पापियों के समान दिखाई देते हैं । जिससे लोग उनकी उपेक्षा करें और उन्हें किसी सङ्ग में न पड़ना पड़े । वे कुछ भी नहीं बोलते । ऐसा योगी आचरण करते हैं । क्योंकि वे वस्तुतः योगी होते हैं । हे महेश्वरि! मुक्त होते हुए भी वे बच्चे के समान क्रीड़ा करते हैं, मूर्ख के समान आचरण करते हैं और उन्मत्त के समान बात करते हैं । जिससे लोग हँसें, निन्दा करें और दूर से ही देखकर चले जायँ—ऐसा आचरण योगी करते हैं ॥ ७०-७३ ॥

क्वचिच्छिष्टः क्वचिद्भ्रष्टः क्वचिद् भूतपिशाचवत्।
नानावेशधरो योगी विचरेज्जगतीतले ॥ ७४ ॥
योगी लोकोपकाराय भोगान् भुङ्क्ते न कांङ्क्षया ।
अनुगृहणन् जनान् सर्वान् क्रीडेच्च पृथिवीतले ॥ ७५ ॥

कहीं शिष्ट रूप में, कहीं भ्रष्ट रूप में, कहीं भूत पिशाच के समान–इस प्रकार योगी नाना वेश धारण कर पृथ्वी पर घूमता रहता है। योगी लोककल्याण के लिये भोग करता है । वे स्वयं की अपनी इच्छा से भोगों को नहीं भोगते हैं। वे लोगों को अनुगृहीत करते हुए इस पृथ्वी पर क्रीड़ा करते हैं ॥ ७४-७५ ॥

सर्वशोषी यथा सूर्यः सवभोगी यथाऽनलः ।
योगी भुक्त्वाखिलान् भोगान् तथा पापैर्न लिप्यते॥ ७६ ॥

जैसे सूर्य सभी को सोख लेता है एवं अग्नि सभीको जलाकर खा जाता है, वैसे ही योगी सभी भोगों को भोगकर भी पापों से लिप्त नहीं होता ॥७६॥

सर्वस्पर्शी यथा वायुर्यथाकाशश्च सर्वगः।
सर्वे यथा नदीस्नातास्तथा योगी सदा शुचिः॥ ७७ ॥

जैसे वायु सभी को छूता है, आकाश सभी जगह है और नदी में सभी नहाते हैं, वैसे ही योगी सदा पवित्र रहता है ॥ ७७ ॥

यथा ग्रामगतं तोयं नदीयुक्तं भवेच्छुचि ।
तथा म्लेच्छगृहान्नादि योगिहस्तार्पितं शुचि॥ ७८ ॥

जैसे गाँव में गया हुआ जल नदी से मिलने पर पवित्र हो जाता है, वैसे ही म्लेच्छ के घर का अन्नादि योगी के हाथ में पहुँचकर पवित्र हो जाता है ।

यथाऽऽचरन्ति देवेशि कुलज्ञानविशारदाः।
तदेव विदुषां मान्यमात्मनो हितकाङ्क्षिणाम् ॥ ७९ ॥

हे देवेशि ! कुलज्ञान के मर्मज्ञ जिस प्रकार आचरण करते हैं, उसी को आत्मकल्याणेच्छु विद्वान् आदर देते हैं ॥ ७९ ॥

यस्मिंश्चरन्ति योगीशाः सा मार्गः परमो मतः।
यस्यामुदेति सूर्यो हि पूर्वाशा सा निगद्यते ॥ ८० ॥

जिस मार्ग से योगीश जाते हैं, वही श्रेष्ठ माना जाता है, क्योंकि सूर्य जिधर निकलते हैं, उधर ही पूर्व दिशा कही जाती है ॥ ८० ॥

यत्र यत्र गजो याति तत्र मार्गो यथा भवेत् ।
कुलयोगी चरेद् यत्र स स मार्गः कुलेश्वरि ॥ ८१ ॥

जैसे हाथी जिधर जाता है, उधर ही मार्ग बन जाता है, वैसे ही कुलयोगी जैसा आचरण करता है, हे कुलेश्वरि! वही दूसरों के लिए मार्गदर्शक होता है ।

नदीं वक्रामृजुं कर्तुं निरोद्धुं तत्प्रवाहकम् ।
स्वेच्छाविहारिणं शान्तं को वा वारयितुं क्षमः॥ ८२ ॥

टेढ़ी नदी को सीधा करना, उसके प्रवाह को रोकना सम्भव नहीं है । इसी प्रकार स्वेच्छा से बिहार करने वाले शान्त योगी को मना करने में कोई समर्थ नहीं है ॥ ८२ ॥

यद्वन्मन्त्रबलोपेतः क्रीडनीयैर्न दृश्यते ।
तद्वन्न दृश्यते ज्ञानी क्रीडन्निन्द्रियपन्नगैः ॥ ८३ ॥

जैसे मन्त्रबल से युक्त खिलाड़ियों द्वारा नहीं देखा जाता, वैसे ही ज्ञानी इन्द्रियरूपी सर्पों से क्रीडा करते नहीं दिखाई देता ॥ ८३ ॥

निवृत्तदुःखसन्तुष्टा निर्द्वन्द्वा गतमत्सराः ।
कुलज्ञानरताः शान्तास्त्वद्भक्तास्ते च कौलिकाः ॥ ८४ ॥

उत्तम कौलिक के लक्षण—दुःखों से निवृत्त, सन्तुष्ट, निर्द्वन्द्व और मत्सरहीन होकर जो कुलज्ञान में तन्मय, शान्त और आपके भक्त होते हैं, वे 'कौलिक' हैं ॥ ८४ ॥

अमदक्रोधदम्भाशाहङ्काराः सत्यवादिनः ।
कौलिकेन्द्रा ह्यचपला ये नेन्द्रियवशानुगाः ॥ ८५ ॥

मद, क्रोध, दम्भ, आशा, अहङ्कार से हीन, सत्यवादी कौलिकेन्द्र इन्द्रिय के वशवर्ती न होकर जितेन्द्रिय होते हैं ॥ ८५ ॥

कीर्त्यमाने कुले येषां रोमाञ्चो गद्गदस्वरः ।
आनन्दाश्रु पतेद्देवि कथिताः कौलिकोत्तमाः॥ ८६ ॥

कुल की प्रशंसा होने पर वे रोमाञ्चित हो उठते हैं, उनका स्वर गद्गद हो जाता है और आनन्दाश्रु गिरने लगता है । हे देवि ! ये ही उत्तम कौलिक कहे गये हैं ॥ ८६ ॥

सर्वधर्माधिको लोके कुलधर्मः शिवोदितः ।
इति ते निश्चितधियः प्रोक्तास्ते कौलिकोत्तमाः ॥ ८७ ॥

संसार में शिवोक्त कुलधर्म सब धर्मों से श्रेष्ठ है, ऐसे निश्चय से युक्त बुद्धि वाले उत्तम कौलिक कहे जाते हैं ॥ ८७ ॥

यो भवेत् कुलतत्त्वज्ञः कुलशास्त्रविशारदः ।
कुलार्चनरतः स स्यात् कौलिको नापरः प्रिये ॥ ८८ ॥

जो कुलतत्त्व का ज्ञाता है, कुलशास्त्र का मर्मज्ञ है, वह कुलार्चन में तत्पर रहता है और हे प्रिये ! वही कौलिक है, अन्य नहीं ॥ ८८ ॥

कुलभक्तान् कुलज्ञानान् कुलाचारकुलव्रतान् ।
प्रीतो भवति यो दृष्ट्वा कौलिकः स च मे प्रियः ॥ ८९ ॥

कुलभक्तों, कुलज्ञानियों, कुलाचार वालों और कुलव्रतों को देखकर जो प्रसन्न होता है, वही कौलिक मुझे प्रिय है ॥ ८९ ॥

तत्त्वत्रयश्रीचरणमूलमन्त्रार्थतत्त्ववित् ।
देवतागुरुभक्ताश्च कौलिकः स्याच्च दीक्षया ॥ ९० ॥

तत्त्वत्रय को स्वीकार करने से, मूलमन्त्र के तत्त्वार्थ को जानने वाला, देवता और गुरु का भक्त दीक्षा के द्वारा कौलिक होता है ॥ ९० ॥

दुर्लभं सर्वलोकेषु कुलाचार्यस्य दर्शनम् ।
सुपाकेनैव पुण्यानां लभ्यते नान्यथा प्रिये ॥ ९१ ॥

हे प्रिये ! सारे लोकों में कुलाचार्य का दर्शन दुर्लभ है । पुण्यों के सुफलित होने पर ही उसका दर्शन मिलता है, अन्यथा नहीं ॥ ९१ ॥

संस्मृतः कीर्त्तितो दृष्टो वन्दितो भाषितोऽपि वा ।
पुनाति कुलधर्मिष्ठश्चाण्डालोऽपि यदृच्छया ॥ ९२ ॥

कौलिक की महिमा—स्मरण करने से, कीर्तिगान से, दर्शन करने से, वन्दना करने से और वार्तालाप से कुलधर्मिष्ठ साधक इच्छा मात्र से चाण्डाल को भी पवित्र बना देता है ॥ ९२ ॥

सर्वज्ञो वापि मूर्खो वाप्युत्तमो वाऽधमोऽपि वा ।
यत्र देवि कुलज्ञानी तत्राहञ्च त्वया सह ॥ ९३ ॥

हे देवि ! जहाँ कुलज्ञानी है, वहीं मैं आपके साथ रहता हूँ, भले ही वह सर्वज्ञ हो या मूर्ख, उत्तम हो या अधम ॥ ९३ ॥

नाहं वसामि कैलासे न मेरौ न च मन्दिरे ।
कुलज्ञा यत्र तिष्ठन्ति तत्र तिष्ठामि भामिनि ॥ ९४ ॥

न मैं कैलास में रहता हूँ, न मेरु में और न मन्दिर में । हे भामिनी ! कुलज्ञ जहाँ रहते हैं, वहीं मैं रहता हूँ ॥ ९४ ॥

सुदूरमपि गन्तव्यं यत्र माहेश्वरो जनः ।
द्रष्टव्यश्च प्रयत्नेन तत्र सन्निहितो ह्यहम् ॥ ९५ ॥

माहेश्वर साधक जहाँ हो, वहाँ दूर होते हुये भी जाना चाहिये और प्रयत्न करके उसका दर्शन करना चाहिये क्योंकि वहीं मैं स्थित हूँ ॥ ९५ ॥

अतिदूरस्थितो वापि द्रष्टव्यः कुलदेशिकः ।
समीपे वर्त्तमानोऽपि न द्रष्टव्यः पशुः प्रिये ॥ ९६ ॥

हे प्रिये ! कुलदेशिक बहुत दूर स्थित हों, तो भी उनका दर्शन करना चाहिये और पशु पास ही स्थित हो, तो भी उसे देखना नहीं चाहिये ॥ ९६ ॥

कुलज्ञानी वसेद् यत्र स देशः पुण्यभाक् ततः।
दर्शनादर्चनात्तस्य त्रिसप्तकुलमुद्धरेत् ॥ ९७ ॥

कुलज्ञानी जिस देश में निवास करता है, वह पुण्यशाली होता है। उसका दर्शन पूजन करने से इक्कीस पीढ़ियों का उद्धार होता है ॥ ९७ ॥

कुलज्ञानिनमालोक्य स्वसन्तानगृहे स्थितम्।
शंसन्ति पितरस्तस्य यास्यामः परमां गतिम् ॥ ९८ ॥

अपनी सन्तान के घर में कुलज्ञानी को बैठा हुआ देखकर उसके पितर लोग कहते हैं कि 'हम परम गति प्राप्त करेंगे' ॥ ९८ ॥

समाश्वसन्ति पितरः सुवृष्टिमिव कर्षकाः।
योऽस्मत्कुलेषु पुत्रो वा पौत्रो वा कौलिको भवेत् ॥ ९९ ॥

किसानों को अच्छी वर्षा से जैसे सन्तोष मिलता है, उसी प्रकार पितरों को आशा होती है कि 'हमारे कुलों में भी पुत्र या पौत्र कौलिक होगा' ॥ ९९॥

स धन्यः खलु लोकेऽस्मिन् पुरुषः क्षीणकल्मषः।
यत्समीपं समायान्ति कुलाचार्या मुदा प्रिये ॥ १०० ॥

हे प्रिये ! इस संसार में निश्चय ही वह पुरुष क्षीणपाप होकर धन्य हो जाता है, जिसके पास कुलाचार्य प्रसन्नता से आते हैं ॥ १०० ॥

कौलिकेन्द्रे समायाते कौलिकावसथं प्रति।
समायान्ति मुदा देवि योगिन्यो योगिभिः सह ॥ १०१ ॥

कौलिकेन्द्र के निकट आने पर हे देवि ! योगिनियाँ योगियों सहित सहर्ष पास आती हैं ॥ १०१ ॥

प्रविश्य कुलयोगीन्द्रं भणन्ते पितृदेवताः।
तस्मात् सम्पूजयेद्भक्त्या कुलज्ञानपरायणान् ॥ १०२ ॥

कुलयोगीन्द्र में प्रवेश कर पितृ देवता भोग ग्रहण करते हैं। अतः कुल के मर्मज्ञों का पूजन भक्तिपूर्वक करना चाहिये ॥ १०२ ॥

अभ्यर्चयित्वा त्वां देवि त्वद्भक्तान्नार्चयन्ति ये।
पापिष्ठास्त्वत्प्रसादस्य भाजनं न भवन्ति ते ॥ १०३ ॥

कौलिकपूजा का फल—हे देवि! आपकी अर्चा करके जो आपके भक्तों का अर्चन नहीं करते, वे पापी आपके प्रसाद के अधिकारी नहीं होते ॥१०३॥

नैवेद्यं पुरतो न्यस्तं दर्शनात् स्वीकृतं त्वया ।
रसान् भक्तस्य जिह्वाग्रादश्नामि कमलेक्षणे ॥ १०४ ॥

सामने रखा हुआ नैवेद्य देखकर आप स्वीकार करती हैं और हे कमल-लोचने! भक्त की जिह्वा के अग्र भाग से रसों को मैं ग्रहण करता हूँ ॥ १०४॥

त्वद्भक्तपूजनाद्देवि पूजितोऽहं न संशयः ।
तस्मान्मम प्रियाकाङ्क्षी त्वद्भक्तानेव पूजयेत् ॥ १०५ ॥

अतः आपके भक्त की पूजा होने से हे देवि ! मैं पूजित होता हूँ, इसमें सन्देह नहीं । इसलिये जो मेरी प्रसन्नता चाहते हैं, उन्हें आपके भक्तों की ही पूजा करनी चाहिए ॥ १०५ ॥

यत् कृतं कुलनिष्ठानां तद्देवानां कृतं भवेत् ।
सुराः कुलप्रियाः सर्वे तस्मात् कौलिकमर्चयेत् ॥ १०६ ॥

जो कुछ कुलनिष्ठों के लिए किया जाता है, वह देवताओं के लिए होता है । सुरा कुल की प्रिया है, अतः सभी को उससे कौलिक का अर्चन करना चाहिये ॥ १०६ ॥

न तुष्याम्यहमन्यत्र तथा भक्त्या सुपूजितः ।
कौलिकेन्द्रेऽर्चिते सम्यक् यथा तुष्यामि पार्वति ॥ १०७ ॥

हे पार्वति ! मैं अन्य कहीं भक्तिपूर्वक सुपूजित होने पर उतना सन्तुष्ट नहीं होता, जितना कौलिकेन्द्र से पूजित किए जाने पर होता हूँ ॥ १०७ ॥

यत् फलं कौलिकेन्द्राणां पूजया लभते प्रिये ।
तत् फलं नाप्नुयात्तीर्थतपोदानमखव्रतैः ॥ १०८ ॥

हे प्रिये ! कौलिकेन्द्रों की पूजा करने से जो फल मिलता है, वह तीर्थ, तप, दान, यज्ञ एवं व्रतों से नहीं मिलता ॥ १०८ ॥

दत्तमिष्टं हुतं तप्तं पूजितं जप्तमम्बिके ।
कौलिकस्य भवेद्व्यर्थं कुलज्ञं योऽवमानयेत् ॥ १०९ ॥

कुलज्ञ की उपेक्षा करने से हानि—जो कुल के ज्ञाता का अपमान करता है, उसके द्वारा किया गया अभीष्ट दान, हवन, पूजन और जप सब व्यर्थ होता है ॥ १०९ ॥

श्मशानं तद् गृहं देवि स पापी श्वपचाधमः ।
यः प्रविश्य कुलं धर्मं कुलाचारं न वेत्ति चेत् ॥ ११० ॥

जो कुलधर्म में प्रवेश कर कुलाचार को नहीं जानता, उसका घर श्मशानवत् है और वह स्वयं चाण्डाल से भी अधिक पतित होता है ॥ ११०॥

कुलनिष्ठान् परित्यज्य यच्चान्यस्मै प्रदीयते।
तद्दानं निष्फलं देवि दाता च नरकं व्रजेत् ॥ १११ ॥
भिन्नभाण्डे जलं यद्वत् शिलायामुप्तबीजवत्।
भस्मनीव हुतं हव्यं तद्वद्दानमकौलिके ॥ ११२ ॥

हे देवि ! कुलनिष्ठों को छोड़कर जो अन्य को दान देता है, उसका वह दान निष्फल होता है और दान देने वाला नरक में जाता है। टूटे हुए बर्तन में जल, चट्टान में बोए हुये बीज और राख में किए गये हवन के समान अकौलिक को दिया गया दान व्यर्थ होता है ॥ १११-११२ ॥

यथाशक्त्या तु यत् किञ्चिद् यो दद्यात् कुलयोगिने ।
विशेषतिथिषु प्रीत्या तत्फलं नैव वर्ण्यते ॥ ११३ ॥

कुलयोगी को दान देने की विधि—यथाशक्ति जो कुछ भी प्रेमपूर्वक विशेष तिथियों में कुलयोगी को दान किया जाता है, उसके फल का वर्णन नहीं किया जा सकता ॥ ११३ ॥

यो देवि स्वयमाहूय कुलज्ञानान् शुभे दिने ।
अभ्यर्च्य देवताबुद्धया गन्धपुष्पाक्षतादिभिः॥ ११४ ॥
मादिभिः पञ्चमुद्राभिः सद्भक्त्या परितोषयेत्।
तेषु तुष्टेष्वहं तुष्टस्तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः॥ ११५ ॥

हे देवि ! जो शुभ दिन में कुलज्ञानियों को स्वयं बुलाकर देवता मानकर गन्ध पुष्पाक्षत आदि से उनकी पूजा कर पञ्चमकारों से भक्तिपूर्वक उन्हें सन्तुष्ट करता है, तो उनके सन्तुष्ट होने पर मैं सन्तुष्ट होता हूँ और मेरे सन्तुष्ट होने पर सभी देवता सन्तुष्ट होते हैं ॥ ११४-११५ ॥

भगिनीं वा सुतां भार्यां यो दद्यात् कुलयोगिने।
मधुमत्ताय देवेशि तस्य पुण्यं न गण्यते ॥ ११६ ॥

हे देवेशि ! मधुमत्त कुलयोगी को जो शक्ति रूप से बहन, लड़की या भार्या को प्रदान करता है, उसके पुण्य की गणना नहीं की जा सकती ॥११६।

अनिखातविनिक्षिप्तमप्रयत्नेन वर्द्धितम् ।
परलोकस्य पाथेयं वीरचक्रेऽर्पितं मधु ॥ ११७ ॥

वीरचक्र में प्रयत्नपूर्वक अर्पित मधु परलोक के पथ को अनायास ही प्रशस्त करता है ॥ ११७ ॥

पापाचारसमायुक्तं सर्वलोकबहिष्कृतम् ।
जायते हि कुलद्रव्यं कुलयोगीश्वरार्पितम् ॥ ११८ ॥

पापाचार से युक्त और सभी लोकों से बहिष्कृत मद्य कुलयोगीश्वर को अर्पित करने पर 'कुलद्रव्य' बन जाता है ॥ ११८ ॥

यस्मिन् देशे वसेत् वीरः कुलपूजारतः प्रिये ।
सोऽपि देशो भवेत् पूतः किं पुनस्तत्पुरस्थिताः ॥ ११९ ॥

हे प्रिये! जिस देश में कुलपूजा करने वाला वीर निवास करता है, वह देश पवित्र हो जाता है। फिर उसके समक्ष रहने की महिमा क्या कही जाय ॥११९॥

कौलिकेन्द्रे सकृद्भुक्ते पुण्यं कोटिगुणं भवेत् ।
किं पुनर्बहुभिर्भुक्तैस्तत् पुण्यं नैव गण्यते ॥ १२० ॥

कौलिकेन्द्र के एक बार भोजन करने से दाता का पुण्य कोटि गुना अधिक हो जाता है । फिर उसके बहुत बार भोजन करने के पुण्य की तो गणना ही नहीं हो सकती ॥ १२० ॥

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन सर्वावस्थासु सर्वदा ।
कुलधर्मरतो भूयात् कुलज्ञानिनमर्चयेत् ॥ १२१ ॥

अतः सब प्रयत्न करके, सभी अवस्थाओं में, सदैव कुलधर्म में तत्पर हो और कुलज्ञानी का अर्चन करे ॥ १२१ ॥

ज्ञानिनोऽज्ञानिनो वापि यावत् देहस्य धारणा ।
तावद्वर्णाश्रमाचारः कर्त्तव्यः कर्ममुक्तये ॥ १२२ ॥

वर्णाश्रम के आचार का पालन—ज्ञानी हो, चाहे अज्ञानी—सभी प्रकार से कर्म की मुक्ति के लिये, जब तक शरीर की स्थिति है, तब तक अपने अपने वर्ण और आश्रम के आचार का पालन करना चाहिए ॥ १२२ ॥

कर्मणोन्मूलितेऽज्ञाने ज्ञानेन शिवतां व्रजेत् ।
शिवे तेनैव मुक्तिः स्यादतः कर्म समाचरेत् ॥ १२३ ॥

कर्म करने का उद्देश्य–कर्म के द्वारा अज्ञान का उन्मूलन होने पर ज्ञान के द्वारा 'शिवत्व' की प्राप्ति होती है और शिव से ऐक्य स्थापित करने वाले की ही मुक्ति होती है । अतः कर्म का समुचित रूप से पालन करे ॥ १२३ ॥

कुर्यादनिन्द्यकर्माणि नित्यकर्माणि वा चरेत् ।
कर्ममुक्तः सुखाकाङ्क्षी कर्मनिष्ठः सुखं व्रजेत् ॥ १२४ ॥

अनिन्द्य कर्मों को या नित्य कर्मों को करे । कर्म से मुक्त होकर सुख की आकांक्षा करने वाला कर्मनिष्ठ होकर सुख से रहे ॥ १२४ ॥

सर्वकर्माणि संत्यक्तुं न शक्यं देहधारिणा ।
त्यजेत् कर्मफलं यो वा स त्यागीत्यभिधीयते ॥ १२५ ॥

कर्मयोग का अधिकारी—देहधारी मनुष्य सभी कर्मों का त्याग नहीं कर सकता। जो कर्मों के फल का त्याग करता है, वही 'त्यागी' कहा जाता है ।

स्वकार्येषु प्रवर्त्तन्ते करणानीति चिन्तयेत् ।
अहम्भावमपास्यैव यः कुर्यात् स न लिप्यते ॥ १२६ ॥

इन्द्रियां अपने कर्मों में लगी रहती हैं, ऐसा विचार कर जो अहंभाव को छोड़कर कर्म करते हैं, वे उनमें लिप्त नहीं होते ॥ १२६ ॥

क्रियमाणानि कर्माणि ज्ञानप्राप्तेरनन्तरम् ।
न च स्पृशन्ति तत्त्वज्ञं जलं पद्मदलं यथा ॥ १२७ ॥

ज्ञान हो जाने पर क्रियमाण कर्म तत्त्वज्ञ को स्पर्श नहीं करते, जिस प्रकार जल कमल की पंखुड़ियों से दूर रहता है ॥ १२७ ॥

तन्निष्ठस्य च कर्माणि पुण्यापुण्यानि संक्षयम् ।
प्रयान्ति नैव लिप्यन्ते क्रियमाणानि वा पुनः ॥ १२८ ॥

इस प्रकार कर्मनिष्ठ के पुण्य और पाप कर्मों का क्षय हो जाता है और क्रियमाण कर्मों में वह पुनः लिप्त नहीं होता ॥ १२८ ॥

उत्पन्नसहजानन्दतत्त्वज्ञानरतः प्रिये ।
संत्यक्तसर्वसङ्कल्पः स विद्वान् कर्म सन्त्यजेत् ॥ १२९ ॥

हे प्रिये ! तत्त्वज्ञान में मग्न साधक को सहजानन्द (स्वाभाविक आनन्द) का लाभ होता है । वह विद्वान् सब सङ्कल्पों का त्याग कर कर्म को छोड़ देता है ॥ १२९ ॥

वृथैव यैः परित्यक्तं कर्मकाण्डमपण्डितैः ।
पाषण्डाः पण्डितम्मन्यास्ते यान्ति नरकं प्रिये ॥ १३० ॥

अनधिकारी द्वारा कर्म त्याग निषिद्ध—हे प्रिये ! जो मूर्ख व्यर्थ ही कर्म काण्ड को छोड़ देते हैं, वे पाखण्डी और अहङ्कारी नरक में जाते हैं ॥ १३०॥

फलं प्राप्य यथा वृक्षः पुष्पं त्यजति निस्पृहः ।
तत्त्वं प्राप्य तथा योगी त्यजेत् कर्मपरिग्रहम् ॥ १३१ ॥

तत्त्वज्ञ ब्रह्मज्ञानी ही कर्म से मुक्त—जिस प्रकार फल को पाकर निस्पृह वृक्ष फूल को छोड़ देते हैं, उसी प्रक़ार तत्त्व को पाकर योगी कर्मानुष्ठान का त्याग करते हैं ॥ १३१ ॥

अश्वमेधायुतेनापि ब्रह्महत्यायुतेन च।
पुण्यपापैर्न लिप्यन्ते येषां ब्रह्म हृदि स्थितम् ॥ १३२ ॥

जिन साधकों के हृदय में ब्रह्म स्थित है, वे अयुत अश्वमेधों को करके या अयुत ब्रह्महत्याओं से युक्त होकर भी उनके पुण्य या पापों से लिप्त नहीं होते ॥ १३२ ॥

पृथिव्यां यानि कर्माणि जिह्वोपस्थनिमित्ततः।
जिह्वोपस्थपरित्यागी कर्मणा किं करिष्यति ॥ १३३ ॥

पृथ्वी पर जो कर्म जीभ और उपस्थ के लिये हैं, उन कर्मों से उन अङ्गों के त्यागी का क्या सम्बन्ध ? ॥ १३३ ॥

इति ते कथितं किञ्चित् योगं योगीशलक्षणम्।
समासेन कुलेशानि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ १३४ ॥

॥ इति श्रीकुलार्णवे निर्वाणमोक्षद्वारे महारहस्ये सर्वागमोत्तमोत्तमे सपादलक्षग्रन्थे पञ्चमखण्डे ऊर्ध्वाम्नायतन्त्रे योग-संस्थापनकथनं नाम नवमोल्लासः ॥ ९ ॥

इस प्रकार मैंने योग और योगीश के कुछ लक्षण आपसे संक्षेप में कहे। हे कुलेशानि ! आप और क्या सुनना चाहती हैं ? ॥ १३४ ॥

॥ इस प्रकार श्रीकुलार्णवतन्त्र के ऊर्ध्वाम्नायतन्त्र में योगसंस्थापन-कथन नामक नौवें उल्लास की पं० चित्तरञ्जन मालवीय कृत हिन्दी पूर्ण हुई ॥ ९ ॥

विष्णुग्रन्थिंततोभित्वा रुद्रग्रन्थिञ्चलिष्ठति ।
ततस्तुकुम्भकेगाढे पूरयित्वापुनःपुनः ॥९१॥

फिर विष्णु ग्रन्थिभेद करके रुद्र ग्रन्थि विभेदन पूर्वक अवस्थिति करनी चाहिये । फिर बारंबार गाढ़तर कुंभक का अभ्यास करै ॥९१॥

एवंनित्यमभ्यसेच्च स्याच्चतुष्टयकुम्भकं ।
वन्धत्रयेणसंयुक्तः केवलंप्राप्तिकारकः ॥
अथास्यलक्षणंसम्यक् कथयामिसमासतः९२

इस प्रकार नित्य अभ्यास से क्रमानुसार चार कुंभक का अभ्यास होता है, तब तीनबंधन संयुक्त होकर केवल उद्देश साधन का प्राप्ति कारक होता है । अब मैं विस्तार पूर्वक इसके लक्षण का विषय कहता हूं ॥९२॥

एकाकिनासमुपगम्यविविक्तदेशंप्राणादिरूपमभृतंपरमार्थतत्वं । लब्धाशिनीधृतिमतापरिभावितव्यं संसाररोगहरमौषधमद्वितीयं९३

जो व्यक्ति योगी है, उसको धैर्यावलम्बन पूर्वक प्रथम निर्जन प्रदेश आश्रय करनी चाहिये फिर प्राणादि रूप अमृत पान करके परमार्थ तत्वको चिन्ता करनी कर्त्तव्य है तिसकाल दीर्घ कालतक जीवन धारणोपयोगी आहार वृत्ति ग्रहण करनी चाहिये, यथार्थ कहा गया है, परमार्थ तत्व संसार रोग के लिये अद्वितीय औषधी है ॥९३॥

सर्व्वनाड्यासमाकृष्य वायुमभ्यासयोगिनां
विधिवत्कुम्भकंकृत्वा रेचयेत्शीतरश्मिता ॥

जो अभ्यास के वल से योगी है, उसको नाड़ी आकर्षण पूर्वक वायु ग्रहण करनी चाहिये। फिर विधि पूर्वक कुंभक का अनुष्ठान करके शीतल किरणों के संयोगमें रेचक क्रियाकरै ॥

उदरेवातदोषघ्नं कण्ठदोषंनिहन्तिच ।
मुहुर्मुहुरिदंकार्य्यं सूर्य्यभेदमुदाहृतं ॥९५॥

इस कार्य के द्वारा उदर की वायु और कण्ठ दोष का विनाश होता है। यथार्थ कहा जाता है यह कार्य वारंवार करना चाहिये, इसकाही नाम सूर्य भेद है ॥९५॥

नाड़ीभ्यांवायुमाकृष्य कुण्डल्याःपार्श्वयोर्नरः
धारयेदुदरेसोऽपि रेचयेदिडयासुधीः ॥९६॥

जो व्यक्ति बुद्धिमान है, नाड़ी समूह के द्वारा वायु आकर्षण पूर्वक इनकी सहायता से कुण्डलिनी के पार्श्व में और उदर में धारण करना उनका कर्त्तव्य है ॥९६॥

कण्ठकफादिदोषघ्नं शरीराग्निविवर्द्धनं ।
शिरोजलोदधारातु गलरोगविनाशनं ॥९७॥

इसके प्रभाव से कण्ठमें कफका अधिकार नष्ट, शरीर का तेज वर्द्धित मस्तक स्निग्ध और सब रोग निवारित होते हैं ॥

गच्छतस्तिष्ठतःकार्य्यं उज्जयाख्यन्तुकुम्भकं।

मुखेनवायुसंगृह्य प्राणरन्ध्रेविरेचयेत् ॥९८॥

योगी व्यक्ति क्यास्थिति क्या गमन क्योंन करै, उसको उज्जय नामक कुंभक का अनुष्ठान करना चाहिये, इसकार्य में मुख द्वारा वायु ग्रहण पूर्वक प्राण रन्ध्र में विरेचन करने का नियम है ॥९८॥

शीतलीकरणंचेदं हन्तिपित्तंतथाज्वरं ।
स्तनयोरथभस्त्रेव लोहकारस्यवेगतः ॥९९॥

इसका नाम स्निग्धि करण है और इसके द्वारा पित्त कोप और ज्वर कोप नष्ट होता है, कर्मकार जिस प्रकार बेग सहित रयभस्त्रा की शक्ति चालित करके शब्दित करते हैं यह भी इसी प्रकार है ॥९९॥

रेचयेत्पूरयेत्वायु माश्रमंदेहगंधिया ।
यदाश्रमोभवेद्देहे तथासूर्येणरेचयेत् ॥१००॥

चतुरयोगी को अपने देहाश्रम में रेचक और पूरक का कार्य करना चाहिये और सूर्य के सहित रेचक का अनुष्ठान करनाही विधि है ॥१००॥

कण्ठसंकोचनंकृत्वा पुनश्चन्द्रेणरेचयेत् ।
वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्द्धनं ॥१०१

तदनन्तर कंठका संकोच करके चन्द्रके सहित रेचक करनो चाहिये, इसके द्वारा वात पित्त और कफ की शक्ति शान्त होती है और शरीर की अग्नि बढ़ती है ॥१०१॥

कुण्डलीवोधकंवक्त भावघ्नंसुखदंशुभं ।
ब्रह्मनारीसुखंसंस्थ्यं कफाद्यर्गलनाशनं॥१०२

यदि कुण्डली का रोध होतो वक्रभाव दूरीभूत सुख और स्वास्थ अधिकृत होता है और कफादिक की कोई मति बंधकता नहीं रहती ॥१०२॥

सम्यक्गात्रसमुद्भूत ग्रान्थित्रयविभेदकं ।
विशेषैवकर्त्तव्यं भस्त्रीख्यंकुम्भकन्तुदं १०३

विशेष प्रकार से भस्त्र नामक कुंभक का अनुष्ठान करना चाहिये, इसके द्वारा शरीरोत्पन्न तीनों ग्रन्थिका विभेद होताहै ॥

चतुर्णामपिभेदानां कुम्भकेसमुपस्थिते ।
वन्धत्रयमिदंकार्य्यं वक्ष्यमाणंमयास्फुटं १०४

चार भेद विषय में कुम्भक का आविर्भाव हुआ है, मैं तुम्हारे निकट स्पष्ट भाव से जो कहता हूं इन्हीं तीन बंधन का अनुष्ठान करना चाहिये ॥१०४॥

प्रथमोमूलवन्धस्तु द्वितीयउड्डियानकः ।
जालन्धरस्तृतीयस्तु लक्षणंकथयाम्यहं १०५

प्रथम मूलबंध, द्वितीय उड्डीयान और तृतीय जालन्धर नामसे परिचित है, मैं क्रमानुसार इनका लक्षण वर्णन करताहूं ॥

योनिपार्ष्णाभ्यांतुसंपीड्य वायुमाकुञ्चयेद्बलात्।
वारंवारंतथाचोर्द्धं समायातिसमीरणः १०६

पार्ष्णिदेश (पैरका तलुआ) द्वारा योनि को निपीडित करके बल पूर्वक वायुको आकुञ्चित करना। इस प्रकार करनेसे वायु वारंवार ऊर्द्ध में प्रसर गति होती है ॥१०६॥

प्राणापानंनादविन्दु मूलवन्धेनचैकतां।
गत्वायोगस्यसंसिद्धिं यच्छतेनात्रसंशयः १०७

मूलबंध द्वारा प्राण और अपान के सहित जो नादविन्दु मिलित होता है, उस में निःसन्देह योगी को सिद्धावस्था होती है ॥१०७॥

कुम्भकास्तेरेचकान्ते कर्त्तव्यस्तूड्डियानकः।
बद्धोयेनसुषुम्नायां प्राणस्तूड्डियतेततः १०८

रेचक और कुंभक के अन्त में उड्डियान नामक बंधन का अनुष्ठान करना चाहिये, यह सुषुम्ना में बद्ध होने से प्राण को उड्डीन दशामें होती है ॥१०८॥

तस्मादुड्डियानाख्योऽहं योगिभिःसमुदाहृतः
उड्डियानस्तुसहजं गुरुणाकथितंमुदा ॥१०९॥

योगीगण इसका नाम उड्डीयान कहते हैं, गुरु प्रसन्न मनसे इसकाही स्वाभाविक गुण गरिमा वर्णन करते हैं १०९

अभ्यासादस्वतन्त्रस्तु वृद्धोऽपितरुणायते।
नाभेरूर्द्धमधश्चापि प्राणंकुर्य्यात्प्रयत्नतः११०

वास्तविक अभ्यास होनेसे इसके द्वारा स्वतंत्रता लाभ

होती है, अन्यबात क्याहै, इसकी शक्ति से वृद्धभी नवीन भाव धारण करता है। जोहो, सर्व प्रयत्न से प्राण को नाड़ी के अर्द्ध और अधोदेश में स्थापन करना चाहिये ॥११०॥

षन्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येवनसंशयः ।
पूरकान्तेतिकर्त्तव्यो बन्धोजालन्धराभिधः ॥

अधिक क्या कहूं यदि इस प्रकार के अभ्यास से छैमास पर्यन्त कार्य किया जायतो जीवमृत्यु को जीतसकता है जोहो पूरक के अन्त में जालन्धर नामक बंधन का अनुष्ठान करना चाहिये ॥१११॥

कण्ठसंकोचरूपोऽसौ वायुमार्गनिरोधकः ।
कण्ठमाकुञ्च्यहृदये स्थापयेद्दृढमिच्छया ॥

यह बंधन कंठ शक्ति का संकोचक और वायु पथ निरोधक है कंठको आकुञ्चन करके हृदय में रक्षा करनाही दृढता भिलाषी योगी का कार्य है ॥११२॥

बन्धोजालन्धराख्योऽयममृताव्ययकारकः
अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचनेनच ११३

मध्यमाभ्रमणेनस्यात् सप्राणोब्रह्मनाड़िगः
वज्रासनस्थितोयोगीचालयित्वातुकुण्डलीं ॥

यह जालन्धर नामक बंधनही अव्यय और अमृत दायक है, अधःस्थान कुंचन और कंठ संकोचन द्वारा मध्यमा भ्रमण

होनेसे प्राणका ब्रह्म नाड़ी में गमन होता है और इस समय योगी कुण्डली को चालित करके वज्रासन पर आसीन होतेहैं ॥

सुषुम्नयातथाभ्यासाद् सततंवायुनाभवेत्।
रुद्रग्रन्थिंततोभित्वा सैवयातिशिवात्मकं११५

इस प्रकार अभ्यास बलसे सुषुम्ना के संयोग में वायु के सहित संमिश्रवाण होता है तदनन्तर रुद्र ग्रन्थि विभेदन पूर्वक शिवात्मकता प्राप्त होती है ॥११५॥

चन्द्रसूर्य्यौसमौकृत्वा तयोर्योगःप्रवर्त्तते।
गुणात्रयादतीतःस्यात् ग्रन्थिंत्रयविभेदकः ॥

तिस काल चन्द्र सूर्य को समान जानकर योग प्रवर्त्तना होती है, इसमें तीनों गुण अतीत होकर तीन ग्रन्थि का विभेद होता है ॥११६॥

शिवशक्तिसमायोगात् जायतेपरमास्थितिः
यथाकरीकरेणैव पानीयंप्रथिवेत्तथा ॥११७॥

तदनन्तर शिवशक्ति के संयोग में हाथी जिस प्रकार अपनी कर अर्थात् शुण्ड के द्वारा पानीय जल ग्रहण पूर्वक पान करता है इसी प्रकार जीवकी परम पदमें स्थिति होती है ११७

सुषुम्नायास्थितःसर्व्वे सूत्रेमणिगणाइव।
मोक्षमार्गेप्रसिद्धासा सुषुम्नाविश्वधारिणी११८

यथार्थ विवेचना करके देखने से सूत्रमें जिस प्रकार मणि

माला आवद्ध है, इसी प्रकार सुषुम्ना में संपूर्ण अवस्थित है यह विश्व संसार को भरण कर रही है और यही मोक्षमार्ग की प्रसिद्ध शक्ति है ॥११८।

यत्रवैनिर्ज्जितःकाल श्चन्द्रसूर्य्यनिवन्धनात्
आपूर्य्यकुम्भितोमायु र्व्वहिर्नैयातिसाधके ॥

इसके प्रभाव से चन्द्र सूर्य की समता प्रयुक्त काल शक्ति पराजित होती है, वास्तव में यदि पूर्ण स्वरूप वायुको स्तम्भित किया जाय, तो वह साधक के वहिर्देश में प्रादुर्भूत नहीं होसकती ॥११९॥

पुनःपुनस्तद्वदेतत् पश्चिमद्वारलक्षणम् ।
परितस्तुनवद्वारैरीषत्कुम्भकतांगताः १२०॥

इस रीति से वारम्वार इस प्रकार पश्चिमद्वार स्वरूप वायु का कार्य होता है जब यह सर्वतः नव द्वार में व्याप्त हो, तभी कुंभक होता है ॥१२०॥

प्रविशेत्सर्व्वगात्रेषु वायुःपश्चिममार्गतः ।
रेचकेक्षीणतांयाते पूर्ववत्शोधयेत्सदा १२१॥

जव पश्चिम यथानुसार वायु सव शरीर में प्रविष्ट हो, तव रेचक की क्षीण दशा होती है, तिस काल पूरक की सहायता से शोधन करना चाहिये ॥१२१॥

गुरुप्रसादात्मरुदेव साधितस्तेनैवचित्तं प

वनेनसाधितम् । सएवयोगीजितेन्द्रियःसुखी
मूढानजानन्तिकुतर्कवादिनः ॥१२२॥

गुरु देव की प्रसन्नता में वायु का कार्य साधित होता है, और उस के द्वारा परिष्कृत होता है, जो इस में क्षमवान् होते हैं, वही योगि जितेन्द्रिय और सुखी हो सकते, वास्तविक कुतर्क निपुण अज्ञान व्यक्ति इस का गर्भ नहीं जान सकता॥

चित्तंहिनष्टंयदिमरुतेस्यात् तत्रप्रतीतोमरु
तोऽपिनाशः । नचेतयदिस्यात्नतुतस्यशास्त्रं
नात्माप्रतीतिर्नगुरुर्नमोक्षः ॥१२३॥

यदि वायु को शक्ति चित्त विनष्ट हो, तो जानना चाहिये कि इसके संग वायु का भी विनाश हुआ यदि इसके अन्यथा हो, तो शास्त्र सिद्धान्त, आत्म प्रतीति, गुरूपदेश और मोक्ष प्राप्ति यह सब निष्फल हुई जाती है ॥१२३॥

तुम्बिकारुधिरंयद्व द्बलादाकर्षतिध्रुवम् ।
ब्रह्मनाडीतथाधातून सत्तताभ्यासयोगतः॥

बल पूर्वक आकर्षण करनेपर जिस प्रकार तुम्बीफल शो-णित की समान चिह्न प्रादुर्भूत होते हैं, इसी प्रकार अभ्यास द्वारा सदा ब्रह्मनाड़ी धातु समूह को आकर्षण करतीहै १२४॥

अनेनाभ्यासयोगेन नित्यमासनवन्धतः ।
चित्तंविलीनतामेतिविन्दुर्नोपात्यधस्तथा ॥

इस प्रकार आसन बंधन और अभ्यास योग द्वारा चित्त लय दशा होती है, किन्तु विन्दु की अधोगति नहींहोती१२५

रेचकंपूरकंकृत्वा वायुनास्थियतेचिरम् ।
नानानदीःप्रवर्त्तन्ते संस्रवेचन्द्रमण्डलं१२६॥

रेचक और पूरक का कार्य करने से वायु चिरकाल स्थिर भाव धारण करती है तव प्रकार के नद नदी प्रवर्तित होते हैं, और उन से चन्द्र मण्डल पर्यन्त सिद्ध होता है ॥१२६॥

नश्यन्तिक्षुत्पिपासाद्याःसर्व्वेदोषास्तथासदा ।
स्वरूपेसच्चिदानन्दे स्थितिमाप्नोतिकेवलम् ॥

तिस काल योगी को क्षुधा का उद्वेग वा तृष्णा (प्यास) का अधिकार नहीं रहता तव केवल वह महात्मा सुख पूर्वक सच्चिदानन्द स्वरूप में अवस्थिति करते हैं ॥१२७॥

कथितन्तुतवप्रीत्या एतदभ्यासलक्षणम् ।
मण्डोहठोलयोराजा योगेऽन्तर्भूमिकाक्रमात्

हे सुन्दरी मैंने तुम्हारी प्रसन्नता के लिये यह अभ्यास लक्षण प्रसंग का वर्णन किया । अव यथा क्रम से योग के परवर्त्ती भूमि का सव मंत्र हठ, लय और राजयोग का विषय कहा जायगा ॥१२८॥

एकएवचतुर्थायां महायोगोऽभिधीयते १२९॥

पूर्वोक्त चार में एकभी महायोग कहकर उक्त हुआहै१२९

॥ श्रीदेव्युवाच ॥

कथयेदंमहादेव योगतत्वंचतुर्व्विधम् ।
भूमिकांशानुसारेण यथाभूतंक्रमान्मम१३०॥

देवी ने कहा हे महादेव ! आपने भूमिका के अंशानुक्रम मे जो चार प्रकार के योग की कथा कही वह यथा क्रम से मेरे प्रति वर्णन कीजिये ॥१३०॥

॥ ईश्वर उवाच ॥

सकारेणवहिर्याति हकारेणविशेत्महत् ।
हंसहंसेतिमन्त्रोऽयं सर्व्वेजीवाजपन्तितम्१३१

ईश्वर ने कहा सकार वर्ण में बाहर प्रकाश और हकार में अन्तर प्रवेश होता है, जीवगण इसकोही लेकर "हंस" इस मंत्र मों जप करते हैं ॥१३१॥

गुरुवाक्यात्सुषुम्नायां विपरीताभयेज्जपः
सोऽहंसोऽहंमितिप्राप्तोमन्त्रयोगःसउच्यते१३२

गुरु वाक्योनुसार जब सुषुम्ना में "सोऽहं" इस मंत्र के विपरीत जप क्रिया होतीहै तभी वह मन्त्र योग रूपमेंकीर्त्तित होता है ॥१२३॥

प्रतीतिर्व्वायुयोगाच्च जायतेपश्चमेपथि ।
हकारेणतुसूर्य्योऽसौ ठकारेणेन्द्ररुच्यते१३३॥

सूर्यचन्द्रमसौरैक्यं हटइत्यभिधीयते।
हठेनग्रस्यतेजाड्यं सर्व्वदोषसमुद्भवम् १३४॥

वायु योग निबंधन पश्चिम पथ में प्रतीत होता है, हकार अन्य कुछ नहींहै, वह सूर्य और ठकार इन्द्र मूर्त्ति है, जब सूर्य चन्द्र की एकता होती है, तभी वह हठ योग नाम धारण करता है, इस योग के द्वारा सर्व दोषाकर समस्त जड़ता नष्ट हो जाती है ॥१३३।१३४॥

क्षेत्रज्ञपरमात्मानौ तयोकैक्यंसदाभवेत्।
तदैकेसाधितेदेवि चित्तंयातिविलीनतां १३५॥

जब क्षेत्रज्ञ पुरुष परमात्मा में इसका एकभाव कर सकतेहैं हे देवि? उसी समय चित्त भी विलीन होजाता है ॥१३५॥

पवनस्थैर्य्यमायातिलययोगोदयोसति।
लयात्सम्प्राप्यतेसौख्यं स्वात्मानन्दपरंपदम्॥

लय योग होने से पवन का स्यन्दन नहीं रहता, अधिक क्या कहूं. इस लय से सुख और स्वकीय परमानन्द अनुभूत होता है ॥१३६॥

अणिमादिपदंप्राप्ते राजतेराजयोगतः।
प्राणापानसमायोगे ज्ञेयंयोगाश्चतुष्टयं॥
क्षेपात्कथितंदेविनान्यथासमभाषितम् १३७

अणिमापद प्राप्त होने से राज योग अणुभूत होता है, प्राण और अपान के संयोग में इस चतुर्विध (चार प्रकार के)

(34) प्राणलिङ्गिस्थले शिवयोगसमाधिस्थलम् (4-3)

824 [शिवयोगसमाधिस्थलनिरूपणम्]

अन्तःक्रियारतस्यास्य प्राणलिङ्गार्चनक्रमैः ।
शिवात्मध्यानसम्पत्तिः समाधिरिति कथ्यते ॥

825 [समाधिसाधनविधानम्]

सर्वतत्त्वोपरिगतं सच्चिदानन्दभासुरम् ।
स्वप्रकाशमनिर्देश्यं अवाङ्मनसगोचरम् ॥

अथ

"चित्तवृत्तिनिरोधो योगः"

इति योगसूत्रानुसारेण प्राणलिङ्गार्चनलभ्यशिवयोगसमाधिस्थलं निरूपयति—

प्राणलिङ्गार्चनक्रमैः पूर्वोक्तप्राणलिङ्गार्चनप्रकारैः अन्तरङ्गक्रियातत्पर-स्यास्य प्राणलिङ्गिनः शिवात्मध्यानसम्पत्तिः लिङ्गाङ्गरूपशिवजीवसमानसामरस्यानुसन्धानसम्पत्तिरेव समाधिरित्यर्थः ॥[1]

अथ तत् कथम् ? इत्यत्र—

"योऽसावसौ पुरुषः सोऽहम्"

इतिश्रुत्यनुसारेण [2]अजपागायत्रीरूपशिवयोगेन समाधिं कथयति—

---

1. तथा च 'चित्तवृत्तिनिरोधो योगः' इति सूत्रे योगपदं प्रधानाङ्गिभूत-समाधिपरमिति भावः ।

2 तथा च सजपा अजपेति गायत्री द्विविधा इति भावः ।

826

उमाख्यया महाशक्त्या दीपितं चित्स्वरूपया ।
हंसरूपं परात्मानं सोहंभावेन भावयेत् ॥

827

तदेकतानतासिद्धिः समाधिः परमो मतः ।

सर्वतत्त्वोपरिगतं भूम्यादिशिवान्तषट्त्रिंशत्तत्वोत्तीर्णत्वेन विद्यमानं सच्चिदानन्दरूपेण प्रकाशमानम्—

"यतो वाचो निवर्तन्ते ।
अप्राप्य मनसा सह ॥"[1]

इति श्रुतेः वाङ्मनोमार्गातीतं, अत एव 'इदमेतादृक्' इति लक्षितुमशक्यं, प्रत्यक्षादिमानान्तरागम्यं[2] शुक्लपटन्यायेन स्वसमवेतस्फुरणरूपोमाख्यमहाशक्तिप्रदीपितं हंसरूपं परमात्मानं सोऽहंभावेन स एवाहमिति भावेन भावयेत् । तदेकतानतासिद्धिः[3] तयोर्जिवेश्वरयोः एकत्वसिद्धिः परमः समाधिः उत्कृष्टसमाधिः इति मतं संमतमित्यर्थः ॥

828

तच्छब्दवाच्यस्य षडध्वोत्तीर्णत्वेन प्रसिद्धस्य परमात्मनः —

---

1 'आनंदं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचनेति' इति तदुत्तरभागः ।
2 साधनामात्रगम्यमितिहृदयम् ।
3 'एकतानोऽनन्यवृत्तिः' इत्यमरः ।

829 [समाधिलक्षणम्]

परब्रह्म महालिङ्गं प्राणो जीवः प्रकीर्तितः ।
तदेकभावमननात् समाधिस्थः प्रकीर्तितः ॥

" अहंशब्दस्य रूढत्वात्
लोके जीवात्मवस्तुनि ।"

इति सूतसंहितोक्तेः, अकारादिहकारान्तवर्णाध्वपाशबद्धस्य जीवात्मनश्च—
''अहमस्मि प्रथमं च"

इति,

'अहमादिर्हि देवानाम्'
अहं सर्वस्य प्रभवः
मत्तः सर्वं प्रवर्तते ॥

इत्यादिप्रमाणबलात् ।

"अकारः शिव आख्यातः
हकारः शक्तिरुच्यते ॥

इति वक्ष्यमाणप्रकारेण षडध्वकारणीभूतानाहतनादलक्षणपरावाक्छक्तिमयास्मद्रूपसमाविष्टात्मकत्वानतिरिक्तत्वेन तादात्म्यचिंतनं[1] समाधिरिति भावः ॥

अथ—

''प्राणरूप इह जीव उच्यते
लिङ्गरूप इति शङ्करः स्मृतः ।

---

1 अनतिरेकः अभेदः । इदंच तन्त्रमार्गेण समाधिपदार्थविवरणमिति ध्येयम् ।

2 अनयोः जीवशङ्करयोः वेदिता ज्ञाता इत्यर्थः ।

830 [सकलसमाधिवर्णनम्]

अन्तष्षट्चक्ररूढानि पङ्कजानि विभावयेत् ।
ब्रह्मादिस्थानभूतानि भ्रूमध्यान्तानि मूलतः ॥

831

भ्रूमध्यादूर्ध्वभागे तु सहस्रदलमम्बुजम् ।
भावयेत्तत्र विमलं चन्द्रबिम्बं तदन्तरे ॥

यस्तदैक्यमिति वेदिताऽनयोः[1]
प्राणलिङ्गविदसौ शिवयोगी ॥

इति शङ्करसंहितावचनानुसारेण समाधिस्थस्य लक्षणमाह —

महालिङ्गमेव परब्रह्म परब्रह्माख्यपरशिवतत्त्वमिति प्रोक्तम्,

"प्राणारूढो भवेज्जीवः"

इत्यागमोक्तेः, प्राणः प्राण एव जीव इति प्रोक्तः, तदेकभावमननात् लिङ्ग-प्राणमधिकृत्य विद्यमानयोः लिङ्गाङ्गिनोः शिवजीवयोः समानसमरसैक्य-चिन्तावान् समाधिस्थः शिवयोगसमाधिनिष्ठः इति प्रकीर्तितः इत्यर्थः ॥

अथ— "गुदमवष्टभ्य आधाराद्वायुमुत्थाप्य, स्वाधिष्ठानं त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य, मणिपूरकं गत्वा, अनाहतमतिक्रम्य, विशुद्धौ प्राणलिङ्गं निरुद्ध्य, आज्ञामनुयान्, ब्रह्मरन्ध्रं ध्यायन्, त्रिमात्रोऽहमिति सर्वदा ध्यायेत्" —इति हंसोपनिषद्वचनानुसारेण सकलसमाधि[2] प्रकाशयति—

---

1 अनयोः जीवशङ्करयोः वेदिता ज्ञाता इत्यर्थः ।

832

सूक्ष्मरन्ध्रं विजानीयात् तत् कैलासपदं विदुः ।
तत्रस्थं भावयेत् शम्भुं सर्वकारणकारणम् ॥

833 [आत्मानन्दैकरससंवर्णनम्]

बहिर्वासनया विश्वं विकल्पार्थं प्रकाशते ।
अन्तर्वासितचित्तानां आत्मानन्दः प्रकाशते ॥

अन्तः जीवेश्वराश्रयीभूतसूक्ष्मशरीरमध्ये षट्चक्ररूढानि षट्चक्रोत्पन्नानि[1] पङ्कजानि षट्कमलानि मूलत आधारमारभ्य भ्रूमध्यान्तानि आज्ञाचक्रान्तानि ब्रह्मादिस्थानभूतानि भावयेत् गुरूपदिष्ट-प्रकारेण चिन्तयेत् ।

भ्रूमध्यादूर्ध्वभागे तु ब्रह्मरन्ध्रे इत्यर्थः, सहस्रदलमम्बुजं सहस्र-शक्तिदलालङ्कृतकमलं भावयेत् । तत्र तत्कमलमध्ये विमलं निर्मलं चन्द्रबिम्बं सोममण्डलं भावयेत् । एतदन्तरे—तच्चन्द्रमण्डलमध्ये सूक्ष्मरन्ध्रं वालाग्रसमानातिसूक्ष्मरन्ध्रं विजानीयात् उपदेशाज्जानीयात् । तत् तत्सूक्ष्मरन्ध्रं कैलासपदं कैलासस्थानं सत् विदुः शास्त्रज्ञाः जानीयुः । तत्रस्थं शम्भुं शिवं सर्वकारणकारणं ब्रह्मादिकारणेशानामपि कारणीभूतं सन्तं भावयेत् स्वात्मा-भेदेन ध्यायेत् इत्यर्थः ।

अथ आधारस्वाधिष्ठानगतपृथ्वीजलसङ्घट्टनेन मणिपूरकाख्यनाभि-कन्दमुत्पत्त्य, तदुद्भूतानाहताख्यहृदयद्वादशदलकमले तापिन्यादिद्वादश-कलायुक्तसूर्यमंडलं भाति ।

---

[1] रूढानि इत्यस्य उत्पन्नानीत्यर्थः ।

834 [तदानीं बहिर्वासनालयप्रकारः]

[1]आत्मारणिसमुत्थेन प्रमोदमथनात् सुधीः ।
ज्ञानाग्निना दहेत् सर्वं पाशजालं जगन्मयम् ॥

तदुपरि षोडशदलयुक्तविशुद्धिकमले अमृतादिषोडशकालायुक्त चन्द्रमंडलं विभाति ।

तदुपरि द्विदलयुक्ताज्ञाचक्रे ज्वलिन्यादिदशकलात्मकवह्निमण्डलम् प्रकाशते ।

तदुपरि सहस्रदलालङ्कृतब्रह्मचक्रे तदष्टत्रिंशत्कलोपेतकुण्डलीमण्डलोपरि लिङ्गाङ्गसामरस्यलक्षणशिवयोगसमाधिसम्पन्नस्य प्राणलिङ्गिनः शिवानन्द-व्यतिरेकेण [2]मायिकसुखानुभवो नास्ति—इति सूत्रद्वयेनाह—

'इदम्' इति बहिर्मुखेन संस्कारेण सर्वं जगत् सङ्कल्पविकल्पार्थं प्रकाशते । 'अहम्' इति अन्तर्मुखे परिमिलितचित्तानां आत्मानन्दः शिवानन्द एव प्रकाशते इत्यर्थः ॥

ननु बहिर्वासना कथं गच्छतीति ? तत्राह—

सुधीः प्राणलिङ्गी प्रमोदमथनात् शिवसुखस्य विचारात् आत्मारणिसमुत्थेन ज्ञानाग्निना शिवाभेदज्ञानाग्निना सर्वं जगन्मयं मलमायादिपाशसमूहं दहेत् भस्मीकुर्यात् इत्यर्थः ॥

---

1 अरणिः अग्निमथनहेतुशिलादिः ।
2 अत्र मायिकपदं प्राकृतपरम् ।

835 [शिवध्यानस्य महत्त्वं]

संसारविषवृक्षस्य पञ्चक्लेशपलाशिनः ।
छेदने कर्ममूलस्य परशुः शिवभावना ॥

836

अज्ञानराक्षसोन्मेषकारिणः संहृतात्मनः ।
शिवध्यानं तु संसारतमसः चण्डभास्करः ॥[1]

(34) इति शिवयोगसमाधिस्थलम् (4-3)

अथ शिवध्यानमहत्त्वं सूत्रद्वयेन कथयन् शिवयोगसमाधिस्थलं समापयति—

धर्माधर्मलक्षणकर्ममूलस्य अविद्यादिपञ्चक्लेशलक्षणपर्णवतः[2] जनन-मरणलक्षणसंसारविषवृक्षस्य छेदने शिवध्यानमेव परशुः इत्यर्थः ॥

अज्ञानलक्षणराक्षसनयनोन्मीलनकारिणः निबिडतरसंसारान्धकारस्य शिवध्यानं चण्डभास्करः प्रचण्डमार्तण्ड इत्यर्थः ॥

---

1 सम्पूर्णनाशकः इत्यर्थः ।

2 पलाशिनः इति मूलस्य विवरणं पर्णवतः इति ।

: ४ :

प्राणायाम तथा ध्यान

वर्णन तो यह हो रहा था कि प्राण तथा मन का एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है और इन दोनों को निरुद्ध करने के दो मुख्य साधन 'प्राणायाम और ध्यान' हैं और ये दोनों तभी सिद्ध होते हैं जब आसन दृढ़ हो जाय। आसन दृढ़ करने के लिए शरीर का स्वस्थ होना आवश्यक है, इसीलिए शरीर के तीन उपस्तम्भों—आहार, निद्रा और ब्रह्मचर्य का प्रकरण बीच में आ गया।

प्राणायाम ही तप है

अब फिर मन तथा प्राण की ओर ध्यान कीजिये और प्राणायाम तथा ध्यान का मूल्य समझिये।

प्राणायाम एक ऐसा तप है जिससे भीतर के सब मल नष्ट होते बतलाए जाते हैं। पंचशिखाचार्य-प्रणीत सांख्य-सूत्र में पूरे बल से यह कहा है :

तपो न परं प्राणायामात्ततो, विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य॥ १९॥

'प्राणायाम से बढ़कर और तप नहीं है। प्राणायाम से मलों की शुद्धि होकर ज्ञान का प्रकाश होता है।'

जब प्राणायाम से अन्दर के मलों की शुद्धि हो जाती है और राग-द्वेष मिटकर ज्ञान का प्रकाश हो जाता है, तब क्या होता है? इसका अनुभव इससे अगले सूत्र में पंचशिखाचार्य यह बतलाते हैं कि :

तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं तावत् संप्रजानीते॥ २०॥

'उस अणुमात्र आत्मा को ढूँढकर 'यह हूँ' इस प्रकार ठीक-ठीक जान लेता है।'

मनु भगवान् नें प्राणायाम के सम्बन्ध में यह कहा है कि :

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥ ७१॥

प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्विषम् ।
प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान्गुणान् ।। ७२ ।।
मनु० अ० ६ । ७१-७२ ।।

'जैसे धातुओं (सुवर्णादि) के मैल अग्नि में धौंकने से फुंकते हैं, वैसे ही प्राण के रोकने से इन्द्रियों के दोष जल जाते हैं' ।। ७१ ।।

'प्राणायाम से रोगादि दोषों को, धारणा से पाप को, इन्द्रियों के रोकने से विषयों के संसर्गों को और ध्यानादि से मोहादि गुणों को जला दे' ।। ७२ ।।

प्राणायाम हानिप्रद कैसे ?

परन्तु प्राणायाम को कुछ ऐसा जटिल-सा बना दिया गया है कि सर्व-साधारण प्राणायाम का नाम सुनते ही यह कहते सुने जाते हैं कि— "यह तो बहुत कठिन साधन है और रोग उत्पन्न करनेवाला है ।" मैं यह मानता हूँ कि कितने ही व्यक्तियों का स्वास्थ्य बिगड़ता देखा गया है । कुछ तो कान खो बैठे हैं, कुछ आँखें और एक को तो उन्मत्त हुआ भी देखा गया है, परन्तु इसका कारण प्राणायाम नहीं, अपितु प्राणायाम का दुरुपयोग है । यदि प्राणायाम विधि से न किया जाय, भरे पेट, जुकाम में या ऋतु-प्रतिकूल किया जाय, तीव्र वायुवेग में किया जाय और आहार का ध्यान रखे बिना, शुद्ध घी-दूध का प्रबन्ध किये बिना किया जाय तो हानि होना असम्भव नहीं, परन्तु यदि विधि-अनुसार, बुद्धि-पूर्वक, गुरु-शिक्षानुसार किया जाय तो अवश्य पूरा लाभ देगा ।

प्राणायाम का तत्त्व

प्राणायाम क्या है ? महर्षि पतंजलि के कथनानुसार :

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ।
योग० २ । ४९ ।।

'श्वास-प्रश्वासों की गति-विच्छेद का नाम प्राणायाम है ।' मुनि ने यह भी बतलाया कि प्राणायाम के चार भेद हैं—(१) बाह्य विषय, (२) आभ्यन्तर, (३) स्तम्भवृत्ति, और (४) बाह्याभ्यन्तराक्षेपी ।

इसकी विधि यह है :

प्राणायाम की विधि

१. राग-द्वेष इत्यादि से रहित, प्रसन्नचित्त, पवित्र और उत्साह से भरपूर साधक ऐसे आसन पर बैठें जो गुदगुदा हो। पद्म, सिद्ध, स्वस्तिक अथवा सुखासन में बैठकर ग्रीवा तथा पीठ सीधी रखे, न बहुत अकड़े, न झुककर बैठे, आसन पर इस प्रकार बैठकर अपने प्राणों की गति पर ध्यान दे। यदि सूर्य-स्वर (दक्षिण) चल रहा हो तो उसे पहले चन्द्र में परिवर्तित कर ले।

२. दक्षिण बगल में वाम हाथ की मुट्ठी रखकर बाहु से ज़ोर से दबाये तो थोड़ी देर में चन्द्र-स्वर चलने लगेगा। चन्द्र-स्वर जब चलते लगे तो फिर कोमलभस्त्रा करके सम स्वर कर ले। सम स्वर होने पर जो प्राणायाम किया जायेगा, वह सफलता देनेवाला होगा।

३. प्रातः और सायं ही प्राणायाम के लिए उपयुक्त समय हैं।

(१) जब सम स्वर हो जाय तो पहले प्राण को अन्दर से बाहर, धीरे-धीरे फेंको, फिर धीरे-धीरे भीतर ले आओ। तीन-चार बार ऐसा करने के पश्चात् अब श्वास को पूर्णतया बाहर फेंको और जब तक सहन हो सके उसे बाहर ही रोके रखो, इसी को बाह्य-विषय कहते हैं।

(२) जब सहन न हो सके तो प्राण को धीरे-धीरे भीतर ले आओ और पेट नाभि-पर्यन्त भर लो। अब इस प्राण को जितना समय सुखपूर्वक रोका जा सकता है अन्दर ही रोको, यही आभ्यन्तर विषय है। जब कुछ भी घबराहट अनुभव होने लगे तो प्राण को धीरे-धीरे बाहर निकालना शुरू करो और निकालते-निकालते पेट को भीतर की ओर सिकोड़ते चले जाओ और श्वास को फिर बाहर ही रोक दो। घबराहट प्रतीत होने लगे तो फिर प्राण भीतर ले आओ। यही रेचक, पूरक और कुम्भक प्राणायाम हैं।

(३) स्तम्भवृत्ति प्राणायाम यह है कि श्वास को बाहर या भीतर लाये बिना ही, जैसे श्वास चल रहा है, उसे जहाँ-का-तहाँ एकदम रोक दिया जाय और यथाशक्ति रोके रखा जाय।

(४) एक और रूप प्राणायाम का यह है कि जब प्राण अन्दर से

बाहर जा रहे हों तो उन्हें बाहर जाने से रोक देना और बाहर से प्राण अन्दर ले जाना, या इसके उलट अन्दर आनेवाले प्राण को रोक देना और अन्दर से अधिक प्राण को बाहर ले जाना, इसी को बाह्याभ्यन्तराक्षेपी कहते हैं।

इन प्राणायामों को पूरी सावधानी से करें। जैसे सिंह को पकड़नेवाले बड़ी होशियारी से सिंह को पिंजरे में डाल देते हैं, इसी प्रकार प्राण को धीरे-धीरे वश में करना चाहिए; न तो उकताना चाहिए, न ही थोड़े समय में 'सिद्ध' बनने का यत्न ही करना चाहिये। पहले आधा मिनट, फिर धीरे-धीरे बढ़ाते-बढ़ाते प्राण-निरोध का समय बढ़ाते चले जाना चाहिये। बस, यही प्राणायाम है।

अब देख लीजिये कि इसमें कठिनाई कहाँ है ? हाँ, हठ-योगानुसार नाना प्रकार के प्राणायाम हैं, जिनका कुछ वर्णन 'प्रभु-भक्ति' में किया जा चुका है। उसके अनुसार जब प्राण को भीतर ले-जाकर कुम्भक किया जाता है तो अधिक अभ्यास हो जाने पर प्राण तथा अपान दोनों का मिलाप हो जाता है। इससे मूलाधार में सोई हुई शक्ति जाग्रत हो उठती है।

जिन प्राणायामों में रेचक, पूरक, कुम्भक, स्तम्भवृत्ति का वर्णन किया है, उन्हें निरन्तर जारी रखना चाहिए और निरोध की अवधि तक बढ़ाते चले जाना चाहिए। साथ ही मूलाधार से लेकर सहस्राधार ब्रह्मरन्ध्र तक यथाक्रम ध्यान भी करना चाहिए। इससे जहाँ प्राण का निरोध होगा, वहाँ मन भी एकाग्र होने लगेगा।

प्राण और मन के सम्बन्ध में ये श्लोक अधिक प्रकाश डालनेवाले हैं :

चित्तं प्राणेन सम्बद्धं सर्वजीवेषु संस्थितम्।
रज्ज्वा यद्वत्सुसंबद्धः पक्षी तद्वदिदं मनः॥
नानाविधैर्विचारैस्तु न बाध्यं जायते मनः।
तस्मात्तस्य जयोपायः प्राण एव हि नान्यथा॥

'मन प्राण के अधीन है। जैसे रज्जु से पक्षी बँधा रहता है, उसी तरह सब जीवों का चित्त भी प्राण के साथ बँधा हुआ है। यदि कोई

चाहे कि मैं विचार द्वारा उस मन को वश में कर लूं तो इस प्रकार तो मन बाध्य नहीं होता है। इसलिए मन के निरोध का एकमात्र उपाय प्राणायाम ही है।'

भगवान् कृष्ण और भी स्पष्ट रूप से यह आदेश देते हैं:

एवं समाहितमतिर्मामेवात्मानमात्मनि ।
विचष्टे मयि सर्वात्मज्योतिर्ज्योतिषि संयुतम् ॥

'इस प्रकार प्राणायाम के द्वारा ध्यान करने से वशीभूत हो जाने पर जैसे एक ज्योति में दूसरी ज्योति मिलकर एक हो जाती है, ऐसे ही साधक अपने में मुझे और मुझ आत्मा में अपने को मिला देता है।'

प्राणायाम द्वारा प्राण को रोकते-रोकते जब अवधि बढ़ जाती है तो मन लय होने लगता है।

महर्षि दयानन्द का अनुभव

इस सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द ने यह आदेश दिया है:

"जैसे भोजन के पीछे किसी प्रकार से वमन हो जाता है, वैसे ही भीतर के वायु को बाहर निकाल के सुखपूर्वक जितना बन सके उतना बाहर ही रोक दे। पुनः धीरे-धीरे भीतर लेके पुनरपि ऐसे ही करे। इसी प्रकार बारम्बार अभ्यास करने से प्राण उपासक के वश में हो जाता है और प्राण के स्थिर होने से मन, मन के स्थिर होने से आत्मा भी स्थिर हो जाती है। इन तीनों के स्थिर होने के समय अपने आत्मा के बीच में जो आनन्दस्वरूप अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके स्वरूप में मग्न हो जाना चाहिए। जैसे मनुष्य जल में गोता मारकर ऊपर आ जाता है, फिर गोता लगा जाता है, इसी प्रकार अपनी आत्मा को परमेश्वर के बीच में बारम्बार मग्न करना चाहिए।"

(ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका—उपासना विषय)

महर्षि दयानन्द की यह अनुभूत विधि है।

एक और स्थान पर महर्षि स्वामी दयानन्द यह आदेश देते हैं:

"मन को चंचलता से छुड़ाके नाभि, हृदय, मस्तक, नासिका और जीभ के अग्रभाग आदि देशों में स्थिर करके, ओंकार का जप और उसका अर्थ जो परमेश्वर है, उसका विचार करना।" (ऋ० भा० भू०)

प्राणायाम द्वारा मन का निरोध करने का कुछ वर्णन हुआ। परन्तु सभी साधक प्राणायाम से लाभ उठाने में समर्थ नहीं होते हैं।

ओ३म् तथा गायत्री मन्त्र का जप

ऐसे साधकों को प्राणायाम से पूर्व ओ३म् या गायत्री मन्त्र का जप करना चाहिए। अनुभव ने बतलाया है कि विधिपूर्वक, पवित्र रहकर, यम-नियमों का पालन करते हुए यदि गायत्री मन्त्र के अर्थों को हृदयंगम करके २४ करोड़ जप किया जाय तो इस साधन से भी मन लय होने लगता है।

इसके साथ मन के लय का सबसे बड़ा उपाय ध्यान है।

ध्यान किस प्रकार ?

मन तथा प्राण के निरोध का दूसरा मुख्य उपाय ध्यान है। ध्यान का अभिप्राय यह है कि आज्ञाचक्र (भृकुटि), ब्रह्मरन्ध्र अथवा हृदय-प्रदेश या शरीर के किसी स्थान पर मन को इस प्रकार बाँध देना, जैसे कीला गाड़कर पशु बाँध दिया जाता है और वह पशु उस कीले ही के गिर्द चक्कर लगाने लगता है तथा चक्कर लगाते-लगाते अन्त में थक-कर वहीं बैठ जाता है। इसी प्रकार जब साधक हृदय-प्रदेश में अथवा भृकुटि में मन को बाँध देगा और वहीं ध्यान लगाये रखेगा तो पहले-पहल तो मन बहुत उछल-कूद मचायेगा और भाग निकलने का यत्न करेगा, परन्तु जब साधक के ध्यान की रस्सी खूब दृढ़ होगी तो मन उसे तोड़ नहीं सकेगा; उसी परिधि में घूमता रहेगा और अन्त में थककर विश्राम करने लगेगा। यह सत्य है कि मन की गति कभी रुकती नहीं। समाधि-अवस्था में पहुँचनेवालों का भी यही अनुभव है कि मन की क्रिया निरन्तर जारी रहती है। हाँ, वह क्रिया इतनी सूक्ष्म हो जाती है कि शून्य-सी प्रतीत होने लगती है परन्तु गति अथवा क्रिया रहती अवश्य है।

मन निर्विषय कैसे ?

अब यह शंका होगी कि सांख्य शास्त्र में तो ध्यान के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि :

"ध्यानं निर्विषयं मनः ॥" सांख्य० ६ । २५ ॥

'मन को निर्विषय करने का नाम ही ध्यान है।'

इसका प्रयोजन क्या है ? प्रयोजन तो यही है कि मन निर्विषय हो जाय। परन्तु निर्विषय का अभिप्राय यह है कि मन किसी भी बाह्य या भौतिक विषय का चिन्तन न करे। हाँ, एकाग्रता के लिए ब्रह्म-तत्त्व का तो उसे चिन्तन करना ही होगा।

यदि एक कमरे में बहुत कूड़ा-कबाड़ और अन्य कई वस्तुएँ पड़ी हों और नौकर से यह कहा जाय कि 'इस कमरे को सर्वथा खाली करके साफ कर दो, इसके अन्दर कोई भी वस्तु रहने न पाय' और नौकर उसी प्रकार कमरे को साफ करके आकर यह कहे कि कमरा सर्वथा साफ कर दिया गया है और आप यह पूछें कि 'क्या कोई भी वस्तु उसमें नहीं रही ? देख लिया है न तूने ? कहीं किसी कोने अथवा खूँटी पर तो कोई वस्तु नहीं रह गई ?' और नौकर जब यह कह दे कि 'अब कमरा सर्वथा निर्वस्तु हो गया है' और आप सन्तुष्ट हो जायँ, तो क्या इसका यह प्रयोजन है कि सचमुच कमरे में कुछ नहीं रहा ? सुनिये, कमरा सर्वथा निर्वस्तु होने पर भी उसमें वायु तो है ही।

इस प्रकार मन के अन्दर से अपने अभ्यास से धीरे-धीरे जब एक-एक करके संकल्पों-विकल्पों को निकालते चले जाएँगे और सांसारिक विषयों का सारा कूड़ा-कबाड़ आप निकाल देंगे एवं मन सर्वथा निर्मल और निर्विषय हो जायेगा; तो यह निर्विषय तथा निर्मल मन ब्रह्म-तत्त्व से तो भरपूर होगा ही, ब्रह्म-तत्त्व को तो कहीं बाहर फेंका नहीं जा सकता। अतएव मन को निर्विषय करने का प्रयोजन यही है कि मन को बाह्य विषयों और अनात्म पदार्थों से खाली कर दिया जाये।

मन के खेल से सावधान !

जब साधक ध्यान में बैठता है तो मन अपना और ही व्यापार आरम्भ कर देता है। साधक आज्ञा-चक्र में ओ३म् पर ध्यान जमाना चाहता है और मन रसोईघर में पहुँच जाता है अथवा किसी और स्थान पर चल देता है। एक साधक ने बतलाया कि ध्यान में बैठते-बैठते मैंने अनेक संकल्पों-विकल्पों से तो छुटकारा पा लिया है परन्तु अब एक पदार्थ पीछे पड़ा हुआ है। मैंने पूछा, क्या है वह ? साधक

कहने लगा कि 'ध्यान में जब बैठता हूँ तो मन सिद्धि प्राप्त करने में लग जाता है—मैं बैठा हूँ, संसार के नाना दुःखों से पीड़ित लोग मेरे पास ग्रा रहे हैं। एक पेट-पीड़ा से तड़पता युवक ग्राया। मैंने उसके पेट पर हाथ रखा ग्रौर पीड़ा शान्त हो गई। दस-पन्द्रह ग्रन्धे ग्राये, मैंने उनकी ग्राँखों पर ग्रपने हाथ से जल-सिंचन किया ग्रौर उनको दृष्टि मिल गई। एक माता का एकमात्र बालक मर गया था, वह रुदन कर रही थी। मैंने उसके बालक को पुनर्जीवित कर दिया, इत्यादि कितने ही ऐसे दृश्य सामने ग्रा जाते हैं—'दूसरों के दुःखों ग्रौर पीड़ाग्रों को दूर करने की भावना ग्रच्छी ही है, परन्तु यह भी तो सब भौतिक पदार्थों ही का चिन्तन है। ऐसी सिद्धियों की भावनाएँ भी मन को निर्विषय नहीं होने देतीं। ऐसे सारे संकल्पों से पल्ला छुड़ाना होगा, तभी मन निर्विषय होगा।

जो साधक नाना प्रकार के चित्रों द्वारा मन को एकाग्र करने का यत्न करते हैं, वे बतलाते हैं कि ध्यान में उनके सामने ग्रपने ही कल्पना किये चित्र ग्राते रहे हैं। कभी गंगा प्रवाहित हो रही है, कभी पर्वत खड़े दृष्टिगोचर होने लगते हैं, कभी देवी-देवताग्रों के चित्र ग्रौर कभी ग्रपना ही चित्र, कभी किसी प्यारे मित्र या सम्बन्धी का चित्र दिखाई देने लगता है तो कभी गुरु जी का। यह तो सारी मन की कल्पनामात्र है, मन की एकाग्रता नहीं। मन की एकाग्रता तो तभी होगी जब इसे निर्विषय कर दिया जायेगा। हाँ, यह इतनी एकाग्रता तो है कि एक के ग्रतिरिक्त मन ग्रौर कहीं भटकता नहीं, परन्तु यह एकाग्रता ग्रभी ग्रधूरी है।

ध्यान की विधि—प्राणायाम-सहित

ध्यान किस प्रकार किया जाय कि पूर्ण सफलता मिल जाय ? इस सम्बन्ध में प्रभुभक्त उद्धव जी ग्रौर भगवान् कृष्ण जी का संवाद ग्रच्छा पथ-प्रदर्शन करता है। भक्त उद्धव ने जब पूछा कि ध्यान किस प्रकार ग्रौर कैसे करना चाहिए ? तब भगवान् कृष्ण ने बताया कि :

सम ग्रासन ग्रासीनः समकायो यथासुखम्।
हस्तावुत्संग ग्राधाय स्वनासाग्रकृतेक्षणः ।।

प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरककुम्भकरेचकैः ।
विपर्ययेणापि शनैरभ्यसेन्निर्जितेन्द्रियः ॥
हृद्यविच्छिन्नमोंकारं घण्टानादं बिसोर्णवत् ।
प्राणेनोदीर्य तत्राथ पुनः संवेशयेत् स्वरम् ॥

'सुखपूर्वक आसन में (किसी भी प्रकार के आसन में) दोनों घुटनों पर दोनों हाथ रखके सीधा बैठकर, दृष्टि को नासिका के अग्रभाग में स्थिर करके, पहले बार-बार रेचक-पूरक करके नाड़ी शुद्ध कर लेनी चाहिए अथवा प्रणव (ओम्) के जप के साथ रेचक, पूरक और कुम्भक प्राणायाम करना चाहिए। प्राण के रोध से जब मन शान्त हो जाय तब हृदय-कमल में निहित ओंकार का ध्यान करके अनाहत ध्वनि, ओंकार एवं घण्टादि नादों का श्रवण करना चाहिए। इस प्रकार प्रतिदिन ओम् जप के साथ रेचक, पूरक, कुम्भक, इन तीन प्रकार से प्राणायाम का अच्छी तरह अभ्यास करते रहने से प्राण का निरोध होने लगता है और मन शान्त होने लगता है।'

ध्यान करते समय चाहे नासिका के अग्रभाग में, चाहे भृकुटि में या ललाट-चक्र वा ब्रह्मरन्ध्र अथवा हृदय-प्रदेश में वृत्ति को ले-जायँ। इसमें बहुत अन्तर नहीं पड़ता। हाँ, यह अवश्य होना चाहिये कि जहाँ एक बार ध्यान लगाना आरम्भ किया, फिर निरन्तर उसी स्थान पर ध्यान लगाएँ। इसे इधर-उधर जाने न दें अन्यथा यह मन ध्यान में भी अपनी चाल चल जाता है। कभी एक स्थान में, फिर झट दूसरे स्थान पर ले जाता है। साधक समझता है, ध्यान लगा हुआ है परन्तु मन भ्रम में डाले रखता है। अतएव पूरी दृढ़ता से एक ही स्थान को केन्द्र बना लीजिये और वहीं मन को मज़बूत बाँध दीजिये।

बिना ज्ञान ध्यान नहीं

यह तो हुई ध्यान की स्थूल-विधि। अब कुछ आगे बढ़िये और ज्ञान द्वारा ध्यान में प्रवेश कीजिये।

'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' में महर्षि दयानन्द ने ध्यान की विधि यह लिखी है :

"धारणा के पीछे उसी देश में ध्यान करने और आश्रय लेने के

योग्य जो अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है उसके प्रकाश और आनन्द में अत्यन्त विचार, प्रेम और भक्ति के साथ इस प्रकार प्रवेश करना कि जैसे समुद्र के बीच में नदी प्रवेश करती है ! उस समय में ईश्वर को छोड़ किसी अन्य पदार्थ का स्मरण नहीं करना किन्तु उसी अन्तर्यामी के स्वरूप और ज्ञान में मग्न हो जाना, इसी का नाम ध्यान है ।"

"नास्ति ध्यानं विना ज्ञानम् ।"

'ज्ञान के बिना ध्यान नहीं हो सकता ।' ज्ञान ही संसार-सागर से तारनेवाला है । ज्ञान और योगाभ्यास, जब इन दोनों का आश्रय ले लिया जाता है तब मन प्रसन्न रहने लगता है और प्रसन्नता मन को एकाग्रता में बाँधने लगती है । मन तो संसारी चिन्ताओं में ग्रस्त हो और उसको ध्यान में लगाना चाहें तो चिन्तित मन जब ध्यान में लगेगा तब वहाँ यह चिन्ताओं के ढेर जमा कर देगा और साधक और भी अशान्त हो उठेगा । अतएव पहले ज्ञान द्वारा इस सारे संसार-चक्र को बुद्धि में बिठा लीजिये और ज्ञान से यह भी जान लीजिये कि यह जो त्रिगुणात्मक प्रकृति से बना संसार है, इसी प्रकृति से बना यह मन भी है । मन तब इन तीन गुणों के द्वारा क्या-क्या खेल खेलता है. इसका भी ज्ञान प्राप्त कर लीजिये; और इन्हीं तीन गुणों की कृपा से यह जो चिन्ताओं, दु:खों और संकल्पों की सृष्टि साधक रचता रहता है इसका सार क्या है ? जब यह ज्ञान प्राप्त कर लिया जायेगा, तब साधक निश्चिन्त होकर ध्यान में संलग्न हो सकेगा । ज्ञान के कुछ रहस्यों का वर्णन यहाँ अत्यावश्यक है, अतएव इन्हें प्रकट किया जाता है :

(१) शरीर अथवा मन में जो गुण प्रधान है उसका प्रभाव अवश्य पड़ता है । यदि सत्त्वगुण प्रधान है तो ध्यान-अवस्था शीघ्र प्राप्त होने लगती है; रजोगुण प्रधान हो तो पर्याप्त बल लगाना होता है, तमोगुण यदि प्रधान हो तो निद्रा आ घेरती है । यत्न यही होना चाहिये कि ध्यान में बैठने से पूर्व शरीर तथा मन सत्त्व गुण से पूर्ण हो जायें ।

सृष्टि-रचना से लय

(२) सृष्टि-रचना की अद्‌भुत क्रिया को सामने लाकर देखिये कि यह संसार कितना विशाल है । इस सृष्टि को बने अरबों वर्ष व्यतीत

हो गये, परन्तु मनुष्य इसके एक अंग का भी अभी तक पता नहीं पा सका। सारी सृष्टि तो एक ओर रही, केवल इस पृथिवी का ज्ञान भी मनुष्य प्राप्त न कर पाया। यह पृथिवी तो क्या, इसके जल अथवा स्थल-विभाग से भी यह पूर्णरूपेण परिचित नहीं हो सका। इसके पर्वत, इसके वन, इसके समुद्र, इसके मरुस्थलों का भी पूरा ज्ञान अभी तक मनुष्य को नहीं हो सका। वनस्पतियों को लें तो इनमें से सहस्रों ऐसी हैं जिनके सम्बन्ध में मनुष्य कुछ भी नहीं जानता। और तो और, मनुष्य अपने ही शरीर का पूरा ज्ञान अभी प्राप्त नहीं कर पाया। इतनी बड़ी सृष्टि का ज्ञान तो इसे प्रलय-काल तक भी न हो सकेगा। तब यह नन्ही-सी मानव-देह इस विशाल सृष्टि के सामने क्या है? और फिर इस सृष्टि का अधिष्ठाता परमात्मा तो इस सृष्टि से भी परे तक है। उसकी महानता का क्या ठिकाना!

उसकी एक नन्ही-सी सामर्थ्य ने इस सारे दृश्यमान संसार को हमारे सामने ला खड़ा किया। क्या था यहाँ पर? सर्वथा अभाव का दृश्य था। यहाँ केवल सोई हुई प्रकृति थी—सर्वथा अव्यक्त, शान्त और निस्तब्ध! यह व्यक्त कैसे हो गई? परमात्मा के संकेत-मात्र से। प्रकृति में परमात्मा के सामर्थ्य से क्रिया उत्पन्न हुई और उस क्रिया का परिणाम 'महत्' था। यह 'महत्' प्रकृति का पहला रूपान्तर है। तब महत् से अहंकार उत्पन्न हुआ, अहंकार से पंच तन्मात्र पैदा हुए। ये पंच तन्मात्र क्या हैं? इन्हीं का नाम शब्द तन्मात्र, स्पर्श तन्मात्र, रूप तन्मात्र, रस तन्मात्र और गन्ध तन्मात्र हैं। इन्हीं ५ तन्मात्राओं से पाँच महाभूत—(१) आकाश, (२) वायु, (३) अग्नि, (४) जल, (५) पृथिवी उत्पन्न हुए। इन पाँचों महाभूतों के पाँच गुण (१) शब्द, (२) स्पर्श, (३) रूप, (४) रस और (५) गन्ध भी साथ ही आये।

अहंकार ने जहाँ यह किया वहाँ ग्यारह इन्द्रियाँ भी प्रकट कीं—पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और ११वाँ मन।

बस, इतना ही यह सारा संसार है। परन्तु अव्यक्त प्रकृति से लेकर मन इत्यादि इन्द्रियों तक, यह सब-का-सब जड़ ही है। पर जड़ स्वयं तो कुछ नहीं कर सकता। इस प्रकृति की विकृति और अव्यक्त

को व्यक्त करनेवाला एक चेतन तत्त्व आत्मा है। सारी सृष्टि के अन्दर तथा बाहर भी ओत-प्रोत जो तत्त्व है, उसे ब्रह्म-तत्त्व या परमात्मा कहते हैं और जो शरीरधारी प्राणियों का अधिष्ठाता है उसे आत्म-तत्त्व या जीवात्मा कहते हैं।

जिस 'महत्' से अहंकार, पंच तन्मात्र और फिर पाँच महाभूत और इन्द्रियाँ बन गईं, वही 'महत्' मानव-देह में बुद्धि या अन्तःकरण बना बैठा है। यह सारा सृष्टि-क्रम सामने ले आइये और तब इस प्रपंच की विशालता पर एक गम्भीर दृष्टि डालकर कुछ समय के लिए प्रभु की इस अद्‌भुत रचना को देखते रहिये।

यह सौर-ब्रह्माण्ड जिसके मध्य में सूर्य है और उसके चारों ओर बुध, शुक्र, मंगल, पृथिवी इत्यादि ग्रह अपने-अपने चन्द्रमाओं सहित हैं, जिसका व्यास (घेरा) अन्तिम ग्रह तक ५५ अरब १८ करोड़ मील है। यह सब समष्टि जगत् की अपेक्षा इतना है, जितना पुरुष की अपेक्षा वह धूलि है जो तीन बार पैर रखने से पाँवों में लग जाय। समष्टि जगत् का प्रमाण इतना बड़ा है कि मनुष्य की बुद्धि उसे ग्रहण नहीं कर सकती। सहस्रों नक्षत्र जो अत्यन्त दूर हैं, वे हमें चमकते हुए नन्हे-नन्हे सितारे प्रतीत होते हैं। बड़ी-से-बड़ी दूरबीन से भी वे ज्योति के बिन्दु ही दिखाई देते हैं। वास्तव में वे सूर्य से कई गुणा बड़े हैं। सूर्य पृथिवी से १३ लाख गुणा बड़ा है। अगस्त्य तारा सूर्य से एक करोड़ गुणा बढ़ा है। जो नक्षत्र सौर-ब्रह्माण्ड के बहुत समीप हैं वे भी इतनी दूर हैं कि उस दूर के मण्डल में सात खरब ६६ अरब सौर-ब्रह्माण्ड समा जायें। कितना बड़ा है यह संसार!

देखते-देखते जब इस विशाल संसार की कोई सीमा दृष्टिगोचर न हो तो जैसे सृष्टि के बनने का क्रम आप अपने सामने लाये थे, अब उसका लय होते हुए देखिये।

धीरे-धीरे उसी क्रम से पाँचों महाभूत सूक्ष्म होते चले जा रहे हैं। पंचभूत के अपने-अपने रूप में आने से पूर्व सारा दृश्यमान जगत् बदल रहा है। कोई भी अपना रूप स्थिर नहीं रख सका। न वृक्ष रहे, न पर्वत, न सूर्य रहा, न चन्द्र, न कोई और नक्षत्र। रह गये पंच तन्मात्र।

अब वे सूक्ष्म भूत भी समाप्त हो रहे हैं, इन्द्रियाँ भी गुम हो रही हैं, रह गया है केवल अहंकार। इस अहंकार को अब महत् में लय होता देखिये। महत् में सब-कुछ समा जाने के पश्चात् अब महत् भी कहाँ रहा? वह भी तो प्रकृति में चला गया। यह प्रकृति, इस प्रकृति को सीमित में लाने की सामर्थ्य रखनेवाला परमात्मा और गाढ़ निद्रा में जाता हुआ जीवात्मा, बस ये ही तीन रह गये।

सृष्टि का बनना और बनकर फिर प्रलय-अवस्था में चले जाना, यह सारा दृश्य तथा विज्ञान ध्यान के नेत्रों से अनुभव किया जाय तो मन शान्त होने लगता है। मन को एकाग्र करने का यह एक अचूक साधन है; परन्तु जो कुछ ऊपर कहा गया है वह एकाग्रता की ओर जाने की अभी पहली मंजिल है, अभी कुछ मार्ग और चलना है।

(३) एकान्त-शान्त स्थान में या मकान के सर्वथा अकेले कमरे में, निश्चिन्त होकर आप एक आसन में बैठे हैं। आपकी पीठ तथा ग्रीवा सीधी है, शरीर अधिक अकड़ा हुआ नहीं। आप तन्मय होकर ऊपर का सृष्टिक्रम अपने ध्यान में ला रहे हैं। आपने जब सृष्टि को प्रलय तक पहुँचा देख लिया तो अब ध्यान में किसी भी दृश्य को आने न दें। जैसे शरीर एकान्त में बैठा है, इसी प्रकार मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों को भी एकान्तवासी बना दीजिये। इन्द्रियों का एकान्त तभी होगा जब कोई विषय उनके पास न होगा। मन तभी एकान्त होगा जब संकल्पों-विकल्पों तथा इच्छाओं का जमघट मन में न रहेगा। बुद्धि तभी एकान्त होगी जब संसार के प्रपंच उसके पास न रहेंगे। शरीर-सहित मन, बुद्धि तथा इन्द्रियाँ नितान्त एकान्त-सेवी हो जायें। आपने धारणा यह करनी है कि सृष्टि-क्रमानुसार जब कोई दृश्यमान पदार्थ नहीं रहा—स्थूल महाभूत सूक्ष्म हो गये, वे सूक्ष्म भूत जिन्हें तन्मात्र कहते हैं, अहंकार में लोप हो गये, इन्द्रियाँ भी अहंकार में समा गईं, और अहंकार भी महत् में गुम हो गया तथा महत् प्रकृति में जा समाप्त हुआ, फिर यह सुनना, यह छूना, यह देखना, यह चखना, यह सूँघना कहाँ रह गया? इस प्रकार का दिव्यज्ञान मन की चंचलता को मिटाने में बड़ा सहायक बनता है। यह अनुभव किया जा चुका है कि नितान्त एकान्त

स्थान में सृष्टि-विज्ञान को ध्यान में लाने से मन स्वयमेव लय होने लगता है।

अघमर्षण मन्त्र से ध्यान-अवस्था

(४) कई लोग पूछा करते हैं कि महर्षि स्वामी दयानन्द जी ने सन्ध्या में जो तीन अघमर्षण मन्त्र लिखे हैं, उनकी क्या आवश्यकता थी? फिर इन मन्त्रों से पाप कैसे कट जाते हैं? इन तीन मन्त्रों में सृष्टि-उत्पत्ति ही का क्रम भगवान् वेद ने बतलाया है और उपासक के हृदय पर यह अटल सत्य अंकित किया है कि सारा दृश्यमान जगत् परमात्मा ही के वश में है। उसी परमात्मा की सामर्थ्य से ऋत और सत्य उत्पन्न हुए। यह जितना सृष्टि-क्रम का नियम है, ये सारे भूतों के जो-जो गुण हैं, ये सब परमात्मा के नियमानुसार हैं। ऋत कहते हैं सृष्टि-नियम (Laws of Nature) को और सत्य कहते हैं धर्म को।

सृष्टि में जो-जो प्राकृतिक घटना हो रही है, वह सब अटल नियम के अधीन है। क्या कोई वैज्ञानिक पीपल के बीज से आम उत्पन्न करने में आज तक सफल हुआ है? जो नियम, जो मर्यादा परमात्मा ने बाँध दी है, उसे कोई लाँघ नहीं सकता। जन्म, मरण, स्थिति तथा रक्षा आदि भी सब नियमानुसार ही हो रहा है। अग्नि का धर्म जलाना है तो यह जलायेगी ही। सूर्य का धर्म उदय होना, गर्मी और प्रकाश देना है तो सूर्य ऐसा करेगा ही। जितने भी प्राकृतिक नियम या कानून हैं उनको एक मनुष्य जितना हृदयङ्गम करके उनके अनुसार या प्रति-पल आचरण करता है, उतना ही वह सुखी या दुःखी होता है। जिस प्रकार परमात्मा ने प्रकृति से बनाये सारे पदार्थों, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, इन्द्रिय, वनस्पति इत्यादि के नियम बना दिये हैं, उसी प्रकार धर्म के भी नियम बना दिये हैं। जैसे प्राकृतिक नियम अटल हैं, वैसे धर्म के नियम भी अटल हैं।

सत्य-भाषण धर्म है; असत्य-भाषण अधर्म है। परहित तथा परोप-कार धर्म है; परहानि, परनिन्दा, परपीड़ा अधर्म है। इसी प्रकार और अनेक नियम हैं। धर्म से मनुष्य का हृदय स्वयमेव प्रसन्न होगा और

अधर्म से नीच संस्कार मन को आ घेरेंगे। यहीं से दुःख की सृष्टि प्रारम्भ हो जायेगी। उपासक जब ऋत और सत्य के सम्बन्ध में विचार करता है तो वह पाप से बचने लगता है, सृष्टि-नियमों का ज्ञान प्राप्त करके उनसे लाभ उठाकर सुखी होता है, पाप तो तब अपने-आप कटने लगते हैं।

फिर इन अघमर्षण मन्त्रों में परमात्मा की बड़ी भारी सामर्थ्य का वर्णन करने के लिए यह बतलाया है कि यह सारा दृश्यमान जगत् सोया पड़ा था, कुछ भी नहीं था। प्रलय की यह महारात्रि परमात्मा के संकेत ही से थी और प्रलय की उस महारात्रि में प्रभु-सामर्थ्य से फिर जागृति आने लगी। प्रकृति ने महत् का या विराट् का रूप धारण किया। विराट् से पहले की अवस्था 'एक लहराता हुआ समुद्र' (समुद्रात्, अर्णवात्) था। यह लहराता समुद्र प्रकृति की वह अवस्था है जब वह द्रवावस्था में प्रभु-सामर्थ्य से लाई गई। 'तब वर्ष उत्पन्न हुआ।' यह वर्ष हमारा १२ महीनोंवाला वर्ष नहीं, अपितु इससे वह दीर्घकाल अभीष्ट है जिस लम्बे काल तक वह लहराता हुआ समुद्र— 'द्रवीभूत प्रकृति' एक समष्टि गोला बन जाता है। अंग्रेज़ी में इसी को 'Cyclic motion' कहा जाता है। उसके पश्चात् ये सूर्य, चन्द्र इत्यादि फिर प्रकट हुए, वनस्पतियाँ और दूसरे सारे पदार्थ भी। इतना महान् कार्य केवल एक सीमित-सी सामर्थ्य ही से परमात्मा ने कर डाला। यह अनुभव साधक के मन को परमात्मा की महान् शक्ति का साक्षात् करा देता है; इससे मन उसी परमात्मा के विचार से बँध जाता है। संसार के शेष सारे पदार्थ साधक को तुच्छ नज़र आने लगते हैं। मन उनको परिवर्तनशील देखकर उनसे उपराम होता है और अटल रहने-वाले भगवान् के विचार में टिकने लगता है। ज्ञान द्वारा ध्यान-अवस्था में पहुँचने का यह एक साधन लिखा गया है।

ओ३म् जप से ध्यान-अवस्था

(५) एक और साधन ध्यान-अवस्था में पहुँचने के लिए यह है कि ओ३म् शब्द के उच्चारण और ओ३म् के नाद में अपने-आपको खो

देना। उपनिषद्[1] ने तो ओ३म् ही का ध्यान करने का आदेश किया है। वेद भगवान् ने भी कर्मशील मानव को यही आज्ञा दी है कि ओ३म् का स्मरण करो।[2] ओ३म् के नाद के सम्बन्ध में शौनकाचार्य तथा श्री सूत जी का संवाद बड़ा रहस्य उद्घाटन करता है। 'श्रीमद्भागवत' के द्वादश स्कन्ध से वह प्रकरण यहाँ दिया जाता है :

समाहितात्मना ब्रह्मन् ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।
हृद्याकाशादभून्नादो वृत्तिरोधाद्विभाव्यते ॥ ३७ ॥
यदुपासनया ब्रह्मन् योगिनो मलमात्मनः।
द्रव्यक्रियाकारकाख्यं धूत्वा यान्त्यपुनर्भवम् ॥ ३८ ॥
ततोऽभूद् बृहदोङ्कारो योऽव्यक्तप्रभवः स्वराट्।
यत्तल्लिंग भगवतो ब्रह्मणः परमात्मनः ॥ ३९ ॥
स्वधाम्नो ब्रह्मणः साक्षाद्वाचकः परमात्मनः।
स सर्वमन्त्रोपनिषद् वेदबीजं सनातनम् ॥ ४० ॥

भागवत १२। ६ ॥

'हे ब्रह्मन् ! शौनक ! जब परमेष्ठी ब्रह्मा ने अपनी चित्तवृत्ति का अवरोधन किया तब उसके हृदयाकाश से नाद उत्पन्न हुआ जो नाद ब्रह्मा को चित्तवृत्ति के रोकने से प्रतीत होने लगा ॥३७॥

हे ब्रह्मन् ! जिसकी उपासना से योगीजन अपने सारे मल को शुद्ध करके मुक्ति को प्राप्त होते हैं ॥३८॥

वह नाद अ, उ, म् तीनों अक्षरों से युक्त 'ओ३म्' स्वरूप में प्रकट हुआ, जिसकी उत्पत्ति अव्यक्त है और जो स्वयं विराजमान है तथा भगवान् परमात्मदेव ब्रह्म का चिह्न अर्थात् नाम है ॥३९॥

हे शौनक ! परमात्मदेव ब्रह्म का साक्षात् वाचक 'ओ३म्' ही शब्द है। वही सर्वमन्त्र और उपनिषद् तथा वेदों का बीज है, वही सनातन है' ॥४०॥

---

१. ओ३मित्येवं ध्यायथ आत्मानम्। (मुण्डक)
परमात्मा का ओ३म् पद के द्वारा ध्यान करो।

२. ओ३म् क्रतो स्मर (यजु० ४०। १५)
हे कर्मशील ! ओ३म् का स्मरण कर।

ओ३म् का नाद ध्यान बाँधता है

इसी प्रकार भागवत के ११वें स्कन्ध में भी ओंकार के उच्चारण द्वारा प्राणायाम करने का आदेश दिया है :

हृद्यविच्छिन्नमोंकारं घण्टानादं बिसोर्णवत् ।
प्राणेनोदीर्य तत्राथ पुनः संवेशयेत् स्वरम् ॥३४॥
भाग० ११ । १४ ॥

'हृदय में घण्टानाद के समान ओंकार का अविच्छिन्न पद्मनालवत् अखण्ड उच्चारण करे। प्राण-वायु की सहायता से बारम्बार ओ३म् का उच्चारण करके पुनः-पुनः हृदय के आभ्यन्तर गिराता जाय।'

ऐसी साधना ओ३म् शब्द द्वारा करने से क्या होता है? इसका उत्तर ११वें स्कन्ध, अ० १४ के इस श्लोक में दिया है :

ध्यानेनेत्थं सुतीव्रेण युञ्जतो योगिनो मनः ।
संयास्यत्याशु निर्वाणं द्रव्यज्ञानक्रियाभ्रमः ॥४६॥

'इस तीव्र ध्यान से योगी का मन शीघ्र शान्ति को प्राप्त होता है और सारे सांसारिक भ्रम भी दूर हो जाते हैं।'

भागवत में ओ३म् नाद द्वारा मन को एकाग्र तथा शान्त करने की जो साधना बतलाई है, इसका अनुभव किया गया है और इसे बड़ा उपयोगी पाया गया है। इस साधना के ढंग से थोड़ा-सा हठ-योग का प्रयोग करना पड़ता है। वह इस प्रकार है कि एकान्त स्थान में निश्चिन्त बैठकर पीठ-ग्रीवा सीधी रखकर दोनों कानों को दोनों हाथों के अंगूठों से अच्छी प्रकार बन्द कर दो या मोम-मिश्रित रुई से दोनों कानों के छिद्र बन्द कर दो, मुख बन्द रखो। मन में ओ३म् का उच्चारण करते हुए नासिका से शब्द करते-करते प्राण बाहर निकालो। प्राण बाहर जा रहा हो और साथ ही प्राण में ओ३म् के शब्द की आवाज़ भी हो। पर्याप्त लम्बा उच्चारण करो। पुनः नासिका ही से प्राण अन्दर ले-जाते हुए हो सके तो आवाज़ से ओ३म् का उच्चारण करो। ओ३म्-ओ३म् की इस ध्वनि को तब हृदय में ले-जाकर छोड़ दो, फिर हृदय से नाद तथा प्राण उठाकर नासिका से शब्द करते हुए ओ३म् का उच्चारण करो। इस प्रकार यह क्रम जारी रखो और प्राण

तथा नाद जब अन्दर जायँ तो इन्हें हृदय में जाकर रख दो। ऐसा साधन करने से एक-दो सप्ताह ही में भीतर से ओ३म् का नाद स्वयमेव स्पष्ट सुनाई देने लगता है। उस समय मन एक अद्भुत शान्ति तथा एकाग्रता का आस्वादन करने लगता है।

प्राण-स्पन्दन के निरोध से मन लय होता है और इन प्राणों का निरोध ओ३म् के उच्चारण से जिस प्रकार होता है, उसका वर्णन 'योगवासिष्ठ' में किया गया है :

ओंकारोच्चारणसान्तशब्दतत्त्वानुभावनात्।
सुषुप्ते संविदो जाते प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥२१॥

'उच्च स्वर से ओ३म् का उच्चारण होने पर सान्त में (अन्त्य में) जो शेष तुर्यमात्रा रूप शब्द-तत्त्व अनुभूत होता है, उसका अनुसन्धान करने से बाह्य विषयों के विज्ञान का (बहिर्मुख चित्त-वृत्ति का) जब अत्यन्त उपराम हो जाता है तब प्राण-वायु का स्पन्दन रुक जाता है।'

प्राण-स्पन्दन के निरोध का एक और उपाय भी गुरु वसिष्ठ ने बतलाया है :

यथाभिवाञ्छितध्यानाच्चिरमेकतयोदितात्।
एकतत्त्वघनाभ्यासात् प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥

योगवा० उपशम प्र०, स० १८। १९॥

'चिरकाल-पर्यन्त एकाग्र रूप परिणाम को प्राप्त कर उदित हुए अभिवाञ्छित ध्यान से (जहाँ कहीं इच्छा हो उसी स्थान पर ध्यान करने से) जो एक वस्तु-स्वरूप का निरन्तर पुनः-पुनः अनुसन्धान होता है, उसी अनुसन्धान से प्राण का निरोध हो जाता है।'

ओ३म् जप से एकाग्रता और विघ्नों का नाश

'योगदर्शन' में तो अतिशीघ्र मन की एकाग्रता प्राप्त करने का सरल सीधा साधन ओ३म् का जप और ओ३म् के अर्थ का चिन्तन बतलाया है। 'योगदर्शन' के समाधिपाद में लिखा है :

तज्जपस्तदर्थभावनम्। योगदर्शन १। २८॥

'उस ओ३म् का जप और उस ओ३म् के अर्थभूत ईश्वर का पुनः-पुनः चिन्तन करना चाहिये।'

इस ओ३म् का जप तथा ओ३म् के अर्थ-चिन्तन का फल यह लिखा है :

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ १ । २९ ॥

'उक्त स्थान से विघ्नों का अभाव और आत्मा के स्वरूप का ज्ञान भी होता है।'

इतना बड़ा महत्त्व ओ३म्-जप तथा ओ३म् के अर्थों के चिन्तन का है। मन की एकाग्रता को प्राप्त करने के यत्न में जो साधक कटिबद्ध होते हैं, उनके मार्ग में नाना विघ्न भी आकर खड़े हो जाते हैं। उन्हीं विघ्नों की ओर ऊपर के सूत्र में संकेत किया गया है और इससे अगले दो सूत्रों में (३० तथा ३१ में) उन १४ विघ्नों तथा दोषों का वर्णन है जो योगी को सताते हैं। वे ये हैं :

(१) व्याधि=शारीरिक रोग, (२) स्त्यान=योग-साधनों में प्रवृत्ति न होना, (३) संशय, (४) प्रमाद, (५) आलस्य, (६) अविरति=वैराग्य का अभाव अर्थात् विषयों में आसक्ति, (७) भ्रान्ति-दर्शन=मिथ्या ज्ञान और ऊटपटाँग विचार, (८) अलब्ध-भूमिकत्व=साधन करने पर भी कोई स्थिति प्राप्त न होना, (९) अनवस्थितत्त्व=ज्योतिदर्शन होकर ज्योति का लुप्त हो जाना, (१०) दुःख=आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुःख, (११) दौर्मनस्य=जब इच्छा की पूर्ति न हो तो मन में एक प्रकार की अशान्ति या बेचैनी हो जाना, (१२) अंगमेजयत्व=शरीर के अंगों में कम्पन होना, (१३) श्वास=भीतरी कुम्भक में विघ्न होना, (१४) प्रश्वास=बाहरी कुम्भक में विघ्न होना।

ये सारे-के-सारे दोष या विक्षेप भी ओ३म् के जप और परमात्म-तत्त्व का चिन्तन और ध्यान करने से दूर हो जाते हैं। 'योग-दर्शन' के बतलाये इस सरल, सुगम, सीधे मार्ग पर चलकर देखिये तो सही कि आपको ध्यान-अवस्था प्राप्त होती है या नहीं।

ओ३म्-जप की महिमा में इतना ही कहना पर्याप्त है कि :

जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिः पुनःपुनः।

'मन्त्र-जप सर्व सिद्धियों का अचूक मार्ग है।'

ओ३म् का जप ओ३म् का अर्थ समझते हुए जब अनन्यभाव से किया जाय तो मन की चंचलता मिटने लगती है। यह अनुभवसिद्ध तथ्य है कि जिसका स्मरण तथा जप बार-बार किया जाता है, उसके कुछ गुण उपासक में धीरे-धीरे आने लगते हैं। मनोविज्ञान के पण्डितों ने भी ये परीक्षाएँ की हैं और वे बतलाते हैं कि किसी भी बात की सूचनाएँ (Suggestion) बार-बार दुहराने से वे पुष्ट होती जाती हैं और कल्पना विश्वास के रूप में परिवर्तित होकर मनुष्य जैसा सोचता है वैसा ही हो जाता है। साधक जब ओ३म् का जप करता है और वह अन्त:करण से अनुभव करता है कि यह ओ३म् पवित्र है, निश्चल है तो साधक के अन्दर पवित्रता आने लगती है और उसका मन अचल होने लगता है।

'ध्यानबिन्दूपनिषद्' में भी ओंकार (ओ३म् नाम) द्वारा ध्यान· अवस्था में पहुँचने का विधान किया गया है :

ओंकारं यो न जानाति ब्राह्मणो न भवेत्तु सः।
प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ॥१४॥
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।
निवर्तन्ते क्रियाः सर्वास्तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥१५॥

'जो ओ३म् को नहीं जानता वह ब्रह्म को नहीं प्राप्त हो सकता। ओ३म् धनुष है, आत्मा स्वयं तीर है, ब्रह्म लक्ष्य है ॥१५॥

जैसे एक तीरन्दाज़ निशाना लगाते समय तन्मय हो जाता है, उसी प्रकार ओ३म् की उपासना में तन्मय हो जाना चाहिये। ओ३म् के अतिरिक्त और कोई संकल्प-विकल्प चित्त में न आने पाय, फिर जीवात्मा ब्रह्म को प्राप्त हो जायेगा' ॥१५॥

यही बात 'प्रश्नोपनिषद्' के ५वें प्रश्न में अधिक सुन्दरता से बतलाई गई है, वह प्रसंग 'प्रश्नोपनिषद्' से पढ़ना चाहिये।

इसी प्रकार 'ब्रह्मविद्योपनिषद्' में ओ३म् की ध्वनि में मन को लय करने का आदेश है :

कांस्यघण्टानिनादस्तु यथा लीयति शान्तये।
ओंकारस्त तथा योज्यः शान्तये सर्वमिच्छता ॥ १२ ॥

'अभ्यास में जब अनहद शब्द प्रकट होता है तो उस अनहद शब्द में चित्त को शान्त करनेवाला घड़ियाल का शब्द सुनाई देता है। इसी प्रकार ओ३म् का ध्यान करने में चित्त लगाये। ओ३म् की यह ध्वनि चित्त को अधिक शान्ति देनेवाली है।'

महर्षि दयानन्द का आदेश

महर्षि स्वामी दयानन्द जी 'ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका' के उपासना विषय में ओ३म् जप के सम्बन्ध में लिखते हैं :

"अब उसकी भक्ति किस प्रकार से करनी चाहिये, सो आगे लिखते हैं—जो ईश्वर का ओंकार नाम है सो पिता-पुत्र के सम्बन्ध के समान है और यह नाम ईश्वर को छोड़के दूसरे अर्थ का वाची नहीं हो सकता। ईश्वर के जितने नाम हैं उनमें ओंकार सबसे उत्तम है। इसलिए इसी नाम का जप अर्थात् स्मरण और इसी का अर्थ-विचार सदा करना चाहिये कि जिससे उपासक का मन एकाग्रता, प्रसन्नता और ज्ञान को यथावत् प्राप्त होकर स्थिर हो, जिससे उसके हृदय में परमात्मा का प्रकाश और परमात्मा की प्रेम-भक्ति सदा बढ़ती जाये।"

ओ३म् के जप तथा स्मरण, ओ३म् के अर्थ पर विचार तथा उसकी महिमा, लीला, भारी सामर्थ्य देखते-देखते साधक जब अपने-आपको उसी में खो देता है तो साधक के हृदय में 'परमात्मा का प्रकाश' आने लगता है, फिर ध्यानावस्थित होने का समय आ जाता है। वह अवस्था जब आती है तो फिर क्या होता है? महर्षि दयानन्द का अनुभव पढ़िये :

"जैसे अग्नि के बीच में लोहा भी अग्नि का रूप हो जाता है, इसी प्रकार परमेश्वर के ज्ञान में प्रकाशमय होके अपने शरीर को भूले हुए के समान जानके आत्मा को परमेश्वर के प्रकाशस्वरूप ज्ञान से परिपूर्ण करने को 'समाधि' कहते हैं। ध्यान और समाधि में इतना ही भेद है कि ध्यान में तो 'ध्यान करनेवाला, जिस मन से, जिस चीज का ध्यान करता है' ये तीनों विद्यमान रहते हैं, परन्तु समाधि में केवल परमेश्वर ही के आनन्दस्वरूप ज्ञान में आत्मा मग्न हो जाता है। वहाँ तीनों का भेदभाव नहीं रहता। जैसे मनुष्य जल में डुबकी मारके थोड़ा

समय भीतर ही रुका रहता है, वैसे ही जीवात्मा परमेश्वर के बीच में मग्न होकर फिर बाहर को आ जाता है।" (ऋ० भा० भू०)

केवल ध्यान

महर्षि दयानन्द ने अपने अनुभव से ध्यान की एक ऊँची अवस्था का रहस्य साधकों के सामने खोल दिया है। यहाँ तक पहुँचने के लिए जो यम-नियम पालन किये, प्राणायाम किये, गायत्री-जप अथवा ओ३म्-जप किये, मन के जो निरोध के और साधन किये, वे सब-के-सब इसी अवस्था तक पहुँचने के लिए हैं। इस अवस्था से पूर्व की एक और अवस्था यह है :

न प्राणायाम है अब, न जप है अब, न मन को लगाम देने की क्रिया है अब। अब है केवल ध्यान। यह ध्यान केवल गुरुगम्य है। गुरु-कृपा हो तो वह अपनी शक्ति द्वारा साधक को केवल ध्यान-अवस्था में ले आते हैं और साधक पहली श्रेणियों में उत्तीर्ण हो चुका हो तो वह गुरु से मिली शक्ति द्वारा आगे-ही-आगे बढ़ता चला जाता है। उसने यदि पहली श्रेणियाँ पास नहीं कीं तो वह शक्ति बिखर जाती है और साधक फिर पहले स्थान पर ही अपने-आपको पड़ा पाता है। अतएव सारी मंज़िलों को पार करके ही 'केवल ध्यान' की घाटी पर चढ़ना लाभप्रद है।

◈

अथैकोननवतितमः पटलः

अथातः पृथिव्यादि महाभूतानां समवायं व्याख्यास्यामः।

शरीरे काठिन्याद्युपपादनम्, इन्द्रियोत्पत्तिः तद्विषयः

शरीरे यत्कठिनं तत् पृथिव्याः, यो द्रवः सोऽभसः, यदुष्णं तत्तेजसः, यत्संचरति सोनिलस्य, यत्सुषिरं तदाकाशस्य, (शात्) श्रोत्रादीनि ज्ञानेन्द्रियाणि। श्रोत्रमाकाशे वायौ(योः) स्पर्शः, अग्नेश्चक्षु (अभ्यः) अप्सजिह्वा, पृथिव्यां(व्याः) घ्राणम्। एवमिन्द्रियाणां यथाक्रमेण शब्दस्पर्श रूपरसगन्धा विषयाः वाक्पाणिपादपायूपस्थानि महाभूतेषूत्पन्नानि कर्मेन्द्रियाणि। तेषां क्रमेण वचनाऽऽदान गमनविसर्गाऽऽनन्दाश्च विषयाः।

बुद्ध्यादीनामुत्पत्तिविषयस्थानानि

चतुर्षु पृथिव्यादि महाभूतेषु क्रमेणोत्पन्नानि मनो बुद्ध्यहंकार-चित्तानीत्यन्तः करणचतुष्टयम्। तेषां क्रमेण संकल्पविकल्पाऽध्यवसाया नात्मन्यात्मावबोधनम्, अनु भूतार्थस्मरणानिच विषयाः। मनःस्थानं गलांतरं बुद्धे र्वदनम्, अहंकारस्य हृदयम्, चित्तस्य नाभिरिति।

अस्थिपादादीनां पृथिव्याद्यंशत्वम्

अस्थिचर्मरोमनाडीमांसाश्च पृथिव्यंशाः, मूत्रश्लेष्मरक्तशुक्लमे-दस्वेदाश्च अंबशाः, क्षुतत्तृष्णानिद्रालस्य मोहमैथुनानि अग्न्यंशानि, प्रचरणविलेखनोन्मीलनानि मीलनादीनि वाय्वंशानि, कामक्रोधलोभमोह भयान्याहिंसाऽसत्यस्तेया ब्रह्म कल्पनाः क्रोधगुणाः।

शब्दादीनां पृथिव्यादि गुणत्वम्

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाश्चैते पृथिवीगुणाः, तेषां गंन्धविहीनाश्चत्वारः अपांगुणाः, गन्धरसविहीनास्त्रयः अग्निगुणाः, शद्धः स्पर्श इति द्वौवायोर्गुणौ, शद्बमेकमेवाकाशस्य गुणः।

सात्विकगुणाः तेषां कार्यं च

सात्त्विक [illegible] त्रयो गुणाः। अहिंसा सत्याऽस्तेय

ब्रह्मचर्यकल्पनाक्रोधगुरुशुश्रूषा शौच संतोषाऽऽस्तिक्याऽऽर्जवाइति सात्त्विकलक्षणानि। अहं कर्ता अहं वक्ता अहं भोक्तेत्यादीनि अभिमान-गुणानि राजस लक्षणानि। निद्राऽऽलस्य मोह मैथुन स्तेयकर्माणि तामसलक्षणानि।

सात्त्विकादीनां स्थानम्-तत्स्वरूपम्

ऊर्ध्वे सात्त्विकाः, मध्ये राजसाः, अधस्तात्तामसा इति। सम्यज्ञानं सात्त्विकं, धर्मज्ञानं राजसं, तिमिरोऽन्धं तामसमिति।

जाग्रदाद्यवस्थाभेदः

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुर्यमिति चतुर्विधावस्था। ज्ञानेंद्रिय कर्मेन्द्रिया-ऽन्तःकरण चतुष्टय चतुर्दश करणयुतं जाग्रत्। अन्तःकरण चतुष्टयमात्रयुक्तं स्वप्नं, चित्तैककरणयुता सुषुप्तिः। केवलजीवयुक्त मेव तुर्यमिति। (उन्मीलितजीवमध्यस्थ) परमात्मजीवात्मनोर्मध्ये जीवात्मा क्षेत्रज्ञ इति विज्ञायते। सोपि पञ्चमहाभूताः देहेंद्रियभूतगुणाः करण चतुष्टयानि इत्येतैः पंचविंशात्मकः पुरुषः तस्मात्पंच विंशात्मको देह इति विज्ञायते।

इति श्रीवैखानसे मरीचिप्रोक्ते विमानार्चनाकल्पे भूरादि तत्व-प्रकाशोनाम एकोननवतितमः पटलः ॥८९॥ (मातृकान्तरे ८३)

अथ नवतितमः पटलः

अथाते देहलक्षणं वक्ष्ये--

स्वांगुलीभिः षण्णवत्यंगुलो देहः। तद्वादशांगुलाधिकः (कः प्रमाणः) प्राणः प्राणायामेन समो भवति। (वह्निमण्डलम्, तत्पुरुषः,) (गुदादारभ्य द्व्यंगुलादूर्ध्वं मेढ्रं मेढ्रात्तद्व्यंगुलाधस्तान्मध्येकांगुलं देहः) गुदात्द्व्यंगुला दूर्ध्वं देहमध्यम्। तस्मिन् हेमाभं त्रिकोणं वह्निमण्डलम्। तन्मध्ये बिन्दुना-देनसह रेफबीजं ज्वलति तन्मध्ये मण्डल पुरुषो यज्ञमूर्त्तिः पिंगलाभः द्विशीर्षः चतुःशृगः षण्णेत्रः सप्तहस्तो दक्षिणे अभयस्रक्शक्तिखड्गयुतः वामे वरद स्रुक्खेटयुतः, त्रिपादः, पीतांबरधरः (श्रीवत्सांकः) किरीटकेयूर-हारादिसर्वाभरणयुक्तः। दक्षिणवामयोः स्वाहास्वधाभ्यांसहितः, सर्वदेवैः परिवृतः स्थितः।

नाभिः तत्रद्वादशारचक्रं, तत्र जीवः

तदूर्ध्वे नवांगुलंकन्दस्थानं। चतुरंगुलोत्सेधायामं, त्वगादि समधातुभिर्भूषितं, (म) अण्डाकृतिकं, कन्दमध्ये नाभिः नाभौ (नाभेः) द्वादशारयुतं चक्रं, तत्र चक्रे पुण्यपापप्रचोदितस्तन्तुपञ्जरमध्यस्थो लूतिक इव प्राणारूढः प्रवर्त्तते (भ्रमति) जीवः।

नाभेरूर्ध्वं कुण्डलिनी शक्तिः

तस्योर्ध्वे नाभौ (भेः) तिर्यग्गता अधऊर्ध्वे गता अष्टप्रकृति (रष्टधाकुटिला नागरूपा विद्यामु (द्युन्मु) खेन मूत्र (ऊर्ध्व) द्वारं संरुध्य, कन्दपार्श्वे स्थिता कुण्डलीभूता सर्पफणामणिमंडलश्रियमुपेयुषी कुण्डलिनीशक्तिः आत्मनः फणेन ब्रह्मरुद्राख्यं सुषुम्नानाडीरन्ध्र मुपगूह्य तिष्ठति।

हृदयं-तत्र सूर्यमण्डलम्-तत्र मूर्तिः

नाभ्यां उपरि वितस्त्या हृदयं तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्। हृदये अर्कबिंबं तस्मिन् सकारबीजान्वितं सहस्रज्वालायुतं ज्योतिर्ज्वलति। तन्मध्ये मण्डलपुरुषो विष्णुमूर्त्तिः तरुणादित्यसंकाशो हेममयो हिरण्यश्मश्रुकेशनखयुतः पीतांबरधरः श्रीवत्सांकः चतुर्भुजः शंखचक्रधरः अभयकट्यवलंबित हस्तः रक्तास्य नेत्रपाणिपादः सौम्यः सुप्रसन्न मुखः किरीटकेयूरहारकटिप्रलंबयज्ञोपवीतादि सर्वाभरण भूषितः सृष्टिस्थित्यन्तकारणः देवीभ्यां परिषित्कैः सहितः स्थितः।

नासाग्रे चन्द्रमण्डलम्-तत्रमूर्तिः

नासाग्रे शुद्धस्फटिकसंकाशं चंद्रबिंबम्। तस्मिन् ऋकारबीजान्वितम्, अमृतंस्रवन्तं श्वेतरोचिषं ध्यात्वा; तन्मध्ये मंडलपुरुषो नारायण मूर्त्तिः शुद्धस्फटिक संकाशः पीतांबरधरः श्रीवत्सांक श्चतुर्भुजः शंखचक्रधरः अभयकट्यवलंबित हस्तः पद्मोदर दलाभनेत्रो रक्तास्यपाणि पादः किरीटकेयूरहारादि सर्वाभरणभूषितः।

मूर्धनि मुक्तिद्वारम्

स्मेरमुखः देवीभ्यां परिषत्कै स्सहितः स्थितः तस्योपरि मूर्ध्नि सुषुम्नाया अग्रे मुक्तिद्वारं। तस्मिन् शिरः पद्मम् अधोमुखमूर्ध्वमूलं

षोडशदलयुतं तस्मिन् स्थितं अमृतधाराभि स्सहस्राभिराप्लाव्यमानं मण्डलपुरुष वासुदेवं ध्यायेदिति विज्ञायते ॥

इति श्रीवैखानसे मरीचिप्रोक्ते विमानार्चनाकल्पे देहलक्षणं नाम नवतितमः पटलः ॥९०॥ (मातृकान्तरे ८४)

अथ एकनवतितमः पटलः

हृत्पद्मस्थ भगवद्ध्यानविधिः

अथ कंदादुत्थितं द्वादशांगुलं सुज्ञाननालं अणिमामहिमालघिमागरिमाप्राप्तिः प्राकाम्यमीशत्वं वशित्व मित्यष्टैश्वर्य दलोपेतं प्रकृत्यात्मिक कर्णिकं विद्याकेसर संयुक्तं अधोमुखं हृदयकमलं प्राणायो मैर्विकसितं ऊर्ध्वमुखं भवति। तस्यान्तः कर्णिकामध्ये महानग्निर्ज्वलन् विश्वार्चि विश्वतोमुखः आपादतलमस्तकं संतापयति। तन्मध्ये पीताभा नीवारशूकवत्तन्वी वह्निशिखा तस्याः शिखायामध्ये प्रज्वलितज्योति रूपमेव स्वसंकल्पेन तप्त जांबूनदप्रभः पीतांबरधरः पद्माक्षः रक्तास्यपाणिपाद श्चतुर्भुज श्चक्रशंखधरोभयकट्यवलंबितहस्तः श्रीवत्सांकः सुप्रसन्नः शुचिस्मितः सर्वाभरणभूषितः हृदिस्थितः परमात्मा। दक्षिणवामयो (श्रीभूमिभ्यां) र्विभूतिमायाभ्यां परिषत्कै स्सह संस्थितः "नीवारशूकवत्तन्वी पीताभास्यात्तनूपमा तस्याश्शिखायामध्ये परमात्मा व्यवस्थितः" इति श्रुतिः। तं विष्णुं जिज्ञासुः ध्यान योगेन ज्ञानचक्षुषा पश्येत्।

'सदा पश्यन्ति सूरय' इति श्रुतिः। विश्वव्यापिनं विष्णुं ध्यानमथनेनाऽऽविर्भूतं तेजोभासुरं भक्त्या सकलं संकल्प्य; आवाह्य अभ्यर्चयेदिति। "प्रवः पांथमंधसो धियायते महेशूराय विष्णवे चार्चत" इति श्रुतिः। तस्माद्विष्णवर्चनमेव द्विजै रहरहः कर्त्तव्यमिति विज्ञायते।

इति श्रीवैखानसे मरीचिप्रोक्ते विमानार्चनाकल्पे हृत्पद्ममध्यध्यानंनाम एकनवतितमः पटलः ॥९१॥ (मातृकान्तरे पटलसमाप्ति र्नास्ति)

अथ द्विनवतितमः पटलः

नाडिसंख्याः, तत्र मुख्याः, तत्स्वरूपम्

अथातो नाडीचक्रं वक्ष्ये –

कन्दोद्भूता(नि) द्विसप्तति सहस्राणि नाड्यः, तासु मुख्याश्चतुर्दश, इडा, पिंगला, सुषुम्ना, सरस्वती, वारु(चारणा)णी, पूषा, हस्तिजिह्वा, यशास्विनी, विश्वोदरा, कुहू, शंखिनी, पयस्विनी, अलंबुषा, गान्धारीति। आसा मादौ तिस्रा मुख्याः। तिसृषुसुषुम्नैव प्रधाना व्यक्ता वैष्णवी सात्वि(की)का मुक्तिमार्गेति विद्वद्भिः कथिता। सा कंदमध्ये (पद्मसूत्र-प्रतीकाशा वीणादण्डान्तर्निर्गतंत्री, अलाबुवद्वंशा स्थिना सहमूर्धान्तं स्थिता, तस्या दक्षिणभागे दक्षिणनासान्तं स्थिता पिंगला तस्यांभास्करश्च रति। इडावाम(पर)भागे वामनसान्तं स्थिता। तस्यां चन्द्रश्चरति। तौ राजसतामसौ विषाऽमृत भागौ दिवारात्रौ स्याताम्। सुषुम्नायाः पूर्वभागे च ऊर्ध्वाऽधोगता मेढ्रान्तांस्थिता कुहूः अपरे चो (र्ध्वगता) र्ध्वाधो गता जिह्वान्तंस्थिता सरस्वती पिंगलायाः पूर्वभागेचोर्ध्वाऽधोगता दक्षिणपादां ऽगुष्ठान्तंस्थिता यशस्विनी अलंबुसा च, अपरे दक्षिण नेत्रान्तं स्थिता पूषा पूषाऽलंबुसयो र्मध्ये वामनेत्रान्तं स्थिता हस्तिजिह्वा यशस्विनी कुह्वोर्मध्ये ऊंर्ध्वगत सर्व गामिनी दक्षिणपाण्यंगुष्ठांतंस्थिता(चरणा) वारुणी पूषासरस्वत्योर्मध्ये दक्षिणकर्णान्तं स्थिता पयस्विनी इडायाः पूर्वभागे चोर्ध्वाऽधोगतावामपादांगुष्ठान्तंस्थिता (गान्धारी) हस्तिजिह्वा। अपरे वामनेत्रांतं स्थिता गांधारी हस्तिजिह्वाकुह्वोर्मध्ये अधश्चोर्ध्वगता सर्वगामिनि वामपाण्यंगुष्ठान्तं स्थिता विश्वोदरा। गान्धारीसरस्वत्योर्मध्ये वाम-कर्णांतंस्थिता शंखिनी। अलंबुसा कंदमध्ये ऊंर्ध्वाधोगताः (दधोगताः) सर्वगामिन्यः पायुमूलाग्रगता अन्यास्सिराश्च अश्वत्थपत्रसिरावत्स मुत्पन्ना इति विज्ञयते।

इति श्रीवैखानसे मरीचिप्रोक्ते विमानार्चनाकल्पे नाडीनिरूपणंनाम द्विनवतितमः पटलः॥९२॥ (मातृकान्तरे ८५प०)

अथ त्रिनवतितमः पटलः

नाडीषु प्राणादिवायुसंचारः, तेषां मुख्यः

अथैतासु नाडीषु प्राणाऽपानव्यानोदानसमान नागकूर्मकृकल (र) देवदत्तधनञ्जया इति दश वायवस्संचरन्ति। तेषु प्राणादयः पञ्च वायवो मुख्याः। तेषु प्राणापानौ मुख्यौ, एतयोः प्राण एव मुख्यः।

प्राणादीनां स्थानं स्वरूपंच

प्राणस्थानमास्याम् नासिकयोर्मध्यं, हृन्मध्यं, नाभि मध्यं, पादां-गुष्ठाविति पञ्च। सचप्राणो राजावर्तमणिप्रभो निश्श्वासोच्छ्वासकरः हृत्पद्मं समाश्रित्यावर्त्य मुखनासिके करोति।

अपान इन्द्रकोपसमप्रभो नाभिं(गुद) समाश्रित्य, विण्मूत्रविसर्जनं करोति। समानः सन्धिगतः फेनवर्णः नाभिमाश्रित्य हानोपादनचेष्टादीनि करोति। उदानः किंजल्कसदृशः कण्ठमाश्रित्य अन्नपानादि पोषणक्रियां करोति। व्यानः व्योमाभः क्षीरे सर्पिरिव सर्वत्र व्याप्य करचरणशयनादिकं करोति। नागःश्वेतःकण्ठंसमाश्रित्य उद्गारादीन् करोति। कूर्मो रक्तः नेत्रे समाश्रित्य, निमीलनोन्मेषणादि करोति। कृकरः कृष्णः उदरं समाश्रित्य क्षुत्पिपासादीनि करोति। देवदत्तः पीतवर्णः सर्वग स्तन्द्रां करोति। धनंजयः श्यामाभः सर्वगः शोभादिकर्म करोति।

जीवस्वरूपं तस्य कर्म तस्य जननक्रमः

जीवात्म अंजनाभः नित्यशुद्धः (बुद्धः बोधनिर्विकारः नित्याणु प्रमाणः) सर्वगत इत्येवंभूतं देहं प्रविश्य शुभाऽशुभकर्माणि करोति।

तत्कर्म द्विधा भवति ऐहिकमामुष्मिकं चेति। तत्रैहिकं भोजनाऽऽच्छादनस्थानगमनाऽऽसनशयनादिकम्। आमुष्मिकम् अहिंसादानधर्म परोपकारा (रभगवदाराधना) दि पुण्यपापानि सर्वाणि भवन्ति दैवयोगाद्देहावसाने स्वकर्मानरूपं परलोकं प्राप्य तत्तत्कर्मफलं भुक्त्वा क्षीणे फले निवृत्य आकाशं प्रविशति।

वायुर्भूत्वा अग्निं प्रविशति धूमो भूत्वा अपः प्रविशति। अपोभूत्वा अभ्रं प्रविशति। अभ्रंभूत्वा भूमौ वर्षति भूम्या ओषधिवनस्पतीन् प्रविशति

ओषधीभ्योन्नम् अन्नाच्छुक्लशोणितौच भवतः। ततःस्वविषयां योनिं प्रविशति। प्रतिदिवसवृध्या परिणतो जायते च। एवं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोश्च परस्परं संबंध (धादनन्तसंसारस्थावर) जंगम नरमृग पशुपक्षिजरायुजा ऽण्डजस्वेदजोद्भिज्जभेदा बहवो भवन्ति इति विज्ञायते।

(आधिकः पाठः - मातुकान्तरे अथ समाशीतितमः पटलः)

पांच भौतिक प्रलयः

अथा तः पांचभौतिक प्रलयं व्याख्यास्यामः -

यदा पुराकृतवशा द्विनाश मुपयाति तदा प्रथमं गंधात्मना ऽ वस्थितं भूमेर्गुणम् तत्कारण भूता एव आपः कबली कुर्वन्ति।

एव मद्भिः कबलीकृते तस्मिन् शरीरेकात्स्न्र्येन नश्यति तदा शरीरं कुलालचक्रारूढ भ्रमणक्रिया मनुभवदिव व्याकुल मव तिष्ठते एवं स्वकारणभूतास्वप्सु तत्कार्यभूतगुणे प्रणष्टेऽपां गुण प्राचुर्याद्धेतोरिव तदास्वशरीर मापादचूडं बाह्येनाऽग्निनादह्यमानमिव मन्यते ततः कीलालाख्यं रुधिरं शुष्यति।

तस्यामवस्थायां रुधिराऽत्मनाऽवस्थितं जलं च स्वकारणे तेजसि विलीयते एव ऽऽमपां विनाशेसति जला ऽ धारत्वात् श्लेष्मा च स्वा ऽ शयनाशा न्मुक्त स्वाशयबंधो भवति। तदा विमुक्त बंधे श्लेष्माख्ये दोषेपिताख्यदोषेण सहाऽग्नौ पतिते स चारग्नि स्तं दग्ध पुनर्दाह्य पदार्था ऽ भावादुपरमति। तदाऽग्निस्स्वकारण भूतं प्राणादि वायुमुपैति।

तदा वायुरतिवेगो भवति एव मग्नि संयोगात्प्रवृद्धो वायुस्सर्वस्रोतो मुखैस्तिर्य गूर्ध्व मधश्चाऽपादतलमस्तकं प्रविश्य शरीर मितस्चेतस्चकं पयन् वेदनादिभिर्मनोव्याकुलं करोति। तस्मान्मनसो व्यकुलीभावान्नष्टस्मृ-तिर्मोहमावद्यते।

तदा ऽऽत्मीयैर्व्यापारै न्मुक्तः पंचवायस्सवांयोनिं विसृज्य उच्छ्-वासमभिनिष्क्रामयन्ति एव मभिनिष्क्रामित उच्छ्वासो ब्रह्मनाडीभूत सुषुम्नारंध्रं भित्वाशरीरस्थित मूष्माणं च संगृह्य पुनश्चर्मितायांधूतो पादाद्वायुर्यथा निर्गच्चति मुखं न प्रविशति तद्वन्मंदं मंदं मुदावहति। तस्मिन् काले वेगेनोत्थाय मुख्य प्राण भूतो वायुर्भवन्निव कंठ कूबर सप्त द्वार संधौ घुरुधुरु शब्दं कुर्वन् जीवाऽ त्मान मेवं प्रकारेण विकृष्य सर्वरक्त

ग्राहिणि जलूका यथा पादाऽ न्तरमलभमानो नोद्गच्छति तथा जीव सहितो वायु रपि स्थाना स्स्थानान्तरं विंदन्नुत्क्रमति ।

एवं गच्छन्तं जीवाऽत्मानं सूक्ष्मशरीरिणं सुकृत दुष्कृते सह प्रतिणुयाताम् ।

एवं पांचभौतिक प्रलयक्रम इति विज्ञायते ।

दुष्कृतां गति प्रपंच :-

अथ दुष्कृता मधर्मचारिणां नास्तिकादीनां गतिं व्याख्यास्यम :-

ते मृताः पाशदंडधरैर्यमभटैःर्निर्दयं पाशैर्दंडैःर्हन्यमाना निशिताऽऽयस कंटक शूल तप्तवालुका ऽऽ स्तृतेसिंहव्याघ्र शरभादि दुष्टमृगा ऽ धिष्टते भयंकरेऽ धतमसा आवृते वायु जलादि रहिते मार्गे नीयमानाश्च महता क्लेशेन दुष्प्रवेशंयमपुरं प्राप्य पुराकृतवशेन यमेन रौरवाद्येकविंशति नरकेषु चोदिता स्तत्र तत्र शस्त्रा ऽ ग्नि यन्त्रादिभिः पीडिता नानाविधयातनामनुभूय दंदशूकादियोनिंप्राप्य पुनः पुनर्जन्म मरणादिभिः पीडिता जल तुंडिकाव-न्मुहुर्मुहु र्जन्मकूपेमज्जनो न्मज्जनक्रमेण विनश्यन्ति ।

सुकृतिनां गतिः

(प्रवृत्ति मार्गगानां पितृयाणमार्ग कथनं)

पुनरावृत्ति हेतुभूत यज्ञ दानादि प्रवृत्ति कर्मा ऽ नुष्ठाना त्कृत देहत्यागः प्रथमं धूममभियाति तस्माद्रात्रिं ततो ऽ परपक्षं तस्माद्दक्षिणायण प्रण्मासां स्तेभ्यस्संवत्सरं ततः पितृलोकं तस्मादाकाशं ततश्चन्द्रमसमिति क्रमेण देवतास्थानेषु विश्रम्यैवं पितृयाणेन देवलोक मधिवसन स्वपुण्या ऽ नु रूपं भोगमनुभूय क्षीणे पुण्ये निवृत्तस्सन् क्रमेणा ऽऽ काशं प्राप्य वायुधू-माभ्रमेघ रूपाणि भूत्वा वर्षात्सस्यं सस्यादन्नमन्नाद्रेतो भूत्वा ब्राह्मणादि योनिं प्राप्य संसरतीति विज्ञायते ।

निवृत्तिमार्गगानां अर्चिरादिमार्गकथनम् ।

अथातो ऽ र्चिरादिमार्गं व्याक्यास्याम :-

अपुनरावृत्ति हेतुभूत निवृत्तिकर्मणा परब्रह्मोपासनात् प्रपत्त्यादिमार्गरतो जीवः पूर्ववत्पांचभौतिक प्रलयाऽवसाने सूक्ष्मदेहस्थ स्सुषुम्नामाडी मार्गमधिवसन् ब्रह्मरंध्रंभित्वा प्रवृत्तोऽर्चिरभिसंभवति ।

अर्चिषो ऽ हरह्नश्शुक्लपक्षंतस्मादुत्तरायण षण्मासां स्तत स्संवत्सरं तस्मादादित्यं तत स्सोमं राजानं ततो वैद्युत मिति। एतेषु देवता स्तानेषु विश्रम्य देवयानमार्गेण भूरादीन् प्रप्य ब्रह्मांडकटाहं भित्वा ततो विरजां प्रविश्य कृत सूक्ष्मदेह परित्यागः पूर्वोक्त वैष्णवांडं गच्छतीति विज्ञायते।

इति श्रीवैखानसे मरीचिप्रोक्ते विमानार्चनाकल्पे जीवोद्भवोनाम त्रिनवतितमः पटलः ॥९३॥ (मातृकान्तरे ८६)

अथ चतुर्नवतितमः पटलः

संसारहेतुः

अथ अयं देहःजन्मकृत्वा भार्यामयपाशनिबन्धितो भगवन्मायया मोहितः कामक्रोधलोभमोह मद मात्सर्य हिंसादीनि करोति।

योनि द्वारेण निष्क्रम्य पुनःपापीयसींयोनि माश्रित्य पुनर्जायमानः स्वर्गनरकफलेषु कर्मसु प्रवर्तते। तस्माद्भगवन्मायया मोहितत्वात् भगवन्तं समाश्रित्य भक्त्या नारायणमुपासीत।

तत्तरणोपायः

तदुपासनात् सोपि भक्तवत्सलत्वात् भक्तानुकंपया (स्वमायां) मोचयति। तत आत्मा सम्यज्ज्ञानं प्रविशति। पश्चादाश्रमधर्मयुक्तो भगवदाराधनं करोति। तदाराधनेन संसारार्णवनिमग्नो जीवात्मा परमात्मानं नारायणं पश्यति। सोप्यपुनरावृत्तिकं दिव्यलोकं प्रसादयति। पश्चात्कृतकृत्यो भवति।

मोक्षस्वरूपम् तद्भेदः

संसारबन्धन वासनान्मुक्तिर्मोक्षः। तदपि समाराधनविशेष-च्चतुर्विधपदावाप्तिः सालेक्यं सामीप्यं सारूप्यं सायुज्यमिति। आमोदप्राप्तिः सालोक्यं; प्रमोदप्राप्तिः सामीप्यम्; संमोदप्राप्तिः सारूप्यं; वैकुण्ठप्राप्तिः सायुज्यमिति। तच्च नित्याऽऽनन्दम् अमृतरसपानवत् सर्वदा तृप्तिकरं परमात्मनो नित्यनिषेवणं परंज्योतिः प्रवेशनम्। 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्तिसूरय' इति श्रुतिः॥ भगवन्तं नान्यथा प्राप्नोतीति विज्ञायते।

इति श्रीवैखानसे मरीचिप्रोक्ते विमानार्चनाकल्पे भगवत्सायुज्य-प्रदानंनाम चतुर्नवतितमः पटलः ॥९४॥ (मातृकान्तरे ८७)

अथ पंचनवतिनमः पटलः

चतर्विध भगवत्समाश्रयणम्

अथ भगवत्समाश्रयणं चतुर्विधम् भवति (समाराधनमित्यामनंति) जपहुताऽर्चनाध्यानमिति । सावित्रीपूर्वं वैष्णवीमृचम्, अष्टाक्षरं(च)वा, भगवन्तं ध्याात्वा अभ्यसेत् स जपः; अग्निहोत्रादिहोमे यत् हूयते तध्दुतं होमः; (पूजा) गृहे देवायतने वा वैदिकेन मार्गेण प्रतिमादिषु पूजयेत् तदर्चनम्; निष्कलसकलविभागं च ज्ञात्वा अष्टांऽगयोगमार्गेण परमत्मानं जीव आत्मना चिन्तयेत् तद्ध्यानमिति ।

अर्चनस्योत्तमत्वम्, मूर्तिभेदनिरूपणम्

तेष्वर्चनं सर्वार्थसाधनं स्यात् । तत्र परमात्मैव पञ्चधा भवति । 'स वा एषपुरुषः पंचवा पंचात्मे' ति श्रुतिः ।

तस्मादाकाशादि महाभूतानां(क्रमेण) परमात्मानि भेद एव । सभ्या-ऽऽहवनीयाऽन्वाहार्यगार्हपत्याऽऽवसथ्या इति पञ्चाऽग्निवत् 'पञ्चधाग्नीन् व्यक्रमद्विराट्स्रष्टे' ति श्रुतिः । प्राणादि पञ्चवायुभेदैरिव पञ्चमूर्त्तिभेदैर्भिद्यतेति 'पोपूयमानः पञ्चभिः स्वगुणैः प्रसन्नैः सर्वानिमान् धारयिष्यसी' ति श्रुतिः ।

तस्मात् 'विष्णुपुरुषसत्याऽच्युतानिरुद्ध' इति ।

मूर्त्तीनां पञ्चानां आदिमूर्त्तिर्विष्णुः तद्भेदाश्च चतस्रो मूर्त्तयः । 'तद्विष्णोः श्रमापनुदायचतुर्गुणाये'ति श्रुतिः तस्मात् 'ब्रह्माचतुष्यात्' भवति । पादा दर्धात् त्रिपादात् केवलाच्च क्रमेण धर्मज्ञानैश्वर्यवैराग्यैरिति विषयगुणैः चतुर्भिः मूर्त्तयो भवन्ति । आदिमूर्त्ते श्चतुर्मूर्त्तित्वात् क्रमेणविष्णु र्महाविष्णुः सदाविष्णु र्व्यापी नारायण इति चतुर्मूर्त्तयो भवन्ति । विष्णोरंशःपुरुषः महाविष्णो रंशःसत्यः सदाविष्योरंशःअच्युतः व्यापिनोंऽशोनिरुद्धः इति धर्मादि ब्रह्मगुणै श्चतुर्धाभिद्यते । पुरुषः पुरुषात्मकःपरमपुरुषः धर्ममय इति, सत्यः सत्यात्मकः ज्ञानस्सर्वतेजोमय इति, अच्युतोऽपरिमितः

ऐश्वर्यः श्रीपतिरिति, अनिरुद्धः महान् वैराग्यस्सर्वसंहार इति । एषां रूपं पुरा वर्णादिकथने विधि नाचोक्तम् । एवं पञ्चमूर्त्तिनामभिर्भेदैः गुरूपदेशेन अष्टाऽङ्गयोगमार्गेण ध्यात्वा आवाह्य अर्च्चयेदित्याह मरीचिः ।

इति श्रीवैखानसे मरीचिप्रोक्ते विमानार्चनाकल्पे ज्ञानस्वरूपनिरूपणंनाम पञ्चनवतितमः पटलः ॥९५॥ (मातृकान्तरे ८८)

अथ षण्णवतितमः पटलः

अथातो अष्टांऽगयोगं वक्ष्ये –

जीवात्मपरमात्मनोर्योगो योग इत्यामनन्ति । 'यमनियमाऽऽसन प्राणायाम प्रत्याहार ध्यान धारण समाधय' इति योगांगानि ॥

यमस्य लक्षणम्

तेषु यमः अहिंसा, सत्य, मचौर्यं, गृहस्थस्य स्वदार निरति रन्येषां सर्वत्रमैथुनत्यागः दया, आर्जवं, क्षान्तिः, धैर्यं, मिताशनं, शौच मिति यमगुणा दशधा भवन्ति ।

नियमस्य लक्षणम्

नियमस्तु तप स्संतोषास्तिक्य दान विष्णुपूजा वेदार्थश्रवण कुत्सितकर्मसुलज्जा गुरूपदेशश्रद्धा मंन्त्राऽभ्यासो होम इति नियमगुणा दशधा भवन्ति। एतै विंशतिगुणैर्युक्तो योगाधिकारी भवेत् ।

आसनस्य

आसनानि नवभेदानि—ब्राह्म स्वस्तिक पद्म गोमुख सिह्ममुख वीरभद्र मयूराणि इति ॥

दक्षिणपादमूर्ध्वं वामपादमधःकृत्वा जान्वन्तरे अंगुष्ठौ निगूह्य, अंके वामपाणिं तदूर्ध्वे दक्षिणपाणि मुत्तानंन्यस्य ऋजुकायो भ्रू मध्येक्षणमासनं तद् ब्राह्मम् ।

सीवन्या उभयोःपार्श्वयोः गुल्फद्वयं निक्षिप्य पूर्ववदासनं स्वस्तिकम् ।

ऊर्वोरुपरि पादतलौ विन्यस्य पूर्ववद्धस्ततलद्वयं न्यसेत् तत्पद्मासनम् ।

दक्षिणजानुं वामजानुं संश्लिष्टं निविशयेत् तत् गोमुखम्। (दक्षिणेतरं दक्षिणपार्श्वे, अदक्षिणं दक्षिणोरौ इति गुल्फौ निवेशयेत् तत् गोमुखम्।

पूर्ववत् वृषणस्याऽधः सीवन्याः पार्श्वयोः गुल्फौ न्यस्य हस्तौप्रसार्य जान्वोः स्थाप्य नासाग्रं निरीक्ष्य संवृताऽऽस्यो भवेत् एतत् सिंहासनम्।

गुल्फं सव्यं मेढ्रादुपरि विन्यस्य असव्यं तदुपरि न्यसेत् एतत् मुक्तासनम्।

दक्षिणंपादं वामेरोरुपरि न्यस्य वामपादोपरि दक्षिणोरुंन्यसेत् एतत्, वीरासनम्।

ब्राह्मं जान्वन्तरद्वयमग्न मंगुष्ठं निगूह्य भ्रूमध्येक्षणं गुल्फौ बृषण-स्याऽधस्सीवन्याः पार्श्वयोःपादौ न्यस्य, पाणिभ्यां बध्वा भद्रासनम्। करतले भूमौ संस्थाप्य कूर्परौ नाभिपार्श्वयोर्न्यस्य न(उन्नत)तशिराः पादौ दंडवद्व्योम्नि संस्थितो मयूरासनमिति।

आसनस्योत्तमत्वादिकम्

एतेषु ब्राह्मस्वस्तिकपद्मासनान्युत्तमानि । गोमुख सिंहमुक्तानि मध्यानि। वीरभद्रमयूराणि अधमानि इति विज्ञायते। (मातृकान्तरे ९०)

अथातःप्राणायामः--

प्राणापानसमानयोगः प्राणायामः रेचक पूरक कुंभक इति सच त्रिविधो भवेत् । निश्वासविसर्गोरेचकः । निश्वासोध्मानं पूरकः । निश्वासनिरो(धः)धनं कुंभक(कइ)मिति।

रेचकादिप्रकारः

प्राणमपानेन संयोज्य देहमध्ये रेफबीजान्वितं वह्निमण्डलं प्रवेश्य तत्रस्थ पुरुषं पश्यति। अग्निं प्रज्वाल्य अग्निना सममुदरस्थमनिलमिडया समारोप्य पूरयित्वा नासाग्रे ऋकारबीजान्वितम् अमृतं स्रवन्तमिन्दुमण्डलं तत्रस्थ पुरुषं च नेत्राभ्यां पश्यन् मन्दपिंगलयारेचयति। पुनरपि पिंगलया वायु मारोप्य पूरयित्वा सकार बीजान्वितम् अर्कमण्डलं तत्रस्थपुरुषं प्रविश्य (पश्येत्) इडया शनैर्विरेचयेत्।

एवं त्रिसंधिषु चतुर्मासमाचरेत्। पृथक्चिह्नोपलक्षिता (तां)

नाडीशुद्धिमाप्नोति ।

प्राणमपानवायुना संयोज्य इडया षोडशमात्रैर्वायुना संयोज्य इडया षोडशमात्रैर्वायु मारोप्य म(अकारमूर्ति)कारं संस्मरेत् । पश्चात् चतुष्षष्टिमात्रं पूरितंधारयेत् । यावच्छक्यं तावद्धारयति । पिंगलया द्वात्रिंशन्मात्रै रेचयेत् । पुनः पिंगलया षोडशमात्रैर्वायुमारोप्य मकारमूर्त्तिं संस्मरन् पूरितंप्राणं धारयेत् । अकारमूर्त्तिं ध्यात्वा चत्वारिंशत्प्रणवं जपेत् । पश्चादिडयारेचयित्वा पुनः पूर्ववदिडया वायुमारोप्य पूरयित्वा धारयेत् । प्रणवं संस्मरन् सव्याहृतिकां सप्रणवां गायत्रीम् अन्ते सशिरस्कां त्रिर्जपेत् । एवं त्रिसंधिषु प्राणसंयमनं करोति ।

ततोग्निमंडलं प्रविश्य तत्रस्थपुरुषेण संयुज्य वह्निना सह वायुमारोप्य, पिंगलया आदित्यमण्डलमनुप्रविश्य (तत्रस्थपुरुषेण संयुज्य) पश्चादिडया वायुमारोप्य, चन्द्रमण्डल मनुप्रविश्य, तत्रस्थपुरुषेण संयुज्य, ततोऽवह्निना कुण्डलीमुखं तत्प्वा, वायुमारोप्य सुषुम्नयाचोर्ध्वं नीत्वा कण्ठ(न्द)मध्ये स्थितं हृदयकमलमूर्ध्वमुखं विकसितं कृत्वा तत्रपरमात्मानं नारायणं पश्यतीति विज्ञायते ।

इति श्रीवैखानसे मरीचिप्रोक्ते विमानार्चनाकल्पे यमनियमासन-प्राणायामविधिर्नाम षण्णवतितमः पटलः ॥९६॥ (मातृकान्तरे ९१)

अथ सप्तनवतितमः पटलः

प्रत्याहारस्वरूपम्, तद्भेतः

अथातः प्रत्याहारः पञ्चधा भवति । इन्द्रियाणां सर्वेभ्यो विषयेभ्यो बलादाहरणम्, आत्मनि सर्वमात्मव दीक्षमाणं, विहितकर्माणि (कर्मणां) बहिर्विनामनसाकृतं, पादांगुष्ठादिमूर्धान्तम् अष्टादशमर्मस्थानेषु वायुमारोप्य, धारयित्वा स्थानात् स्थनादूर्ध्वतोऽधस्ताच्च समाकर्षणं, नाडीमार्गेषु वायुमारोप्य निरोधनमिति च ।

अष्टादशमर्मस्थानानि तल्लक्षणम्

पादांगुष्ठ गुल्फ जंघा(मध्य)चितिमूल जानूरुमध्य पायुमूल देहमध्य

मेढ्र नाभि हृदय कण्ठतालुमूल नासिका मूलाऽक्षिमण्डल भ्रूमध्य ललाट मूर्धान् इति अष्टादश स्थानानि ।

एतेषां प्रमाणं पादमानं सार्धचतुरंगुलं, तदवसान(गुल्फ) मंगुलं, ततो दशांऽगुलं जंघामध्यं, ततो दशांऽगुलं चिदिमूलं, तदर्धाधिकंत्र्यंगुलं देहमध्यं, ततो द्व्यर्धांगुलंमे(म्)मूलं, नाभिः चतुरंगुलम्, तदेका दशांगुलं हृन्मध्यम्, ततो द्वादशांगुलं कण्ठकूबरम्, षडंगुलं तालुमूलं । ततश्चतुरंगुलं नासिकामूलं, अक्षिमण्डलं द्व्यंगुलं, द्व्यंगुलं भ्रूमध्यं, ततो द्व्यंगुलं ललटान्तं त्र्यंगुलं मूर्धेति ।

तत्रवायु संयमन प्रकारः

एतेषु स्थानेषु मनसा वायुमारोप्य; स्थानात् समाकृष्य निरोधंचो र्ध्वतोऽधश्च यथाक्रमेण करोति । इडा पिंगलाभ्यां वायु मारोप्य, कुण्डलीपार्श्वयोः आपूर्य, नासाभ्या मुदरस्थं वायु मारोप्य, पूरयित्वा, भ्रूमध्ये कूर्चौसमारोप्य, धारयति । एवं नित्यं समाचरेत् । आत्मनः प्राणम्सुषुम्नया भ्रूमध्यान्तं समारोप्य, यावन्मण्डलोदयं तावत् संयमनं करोतीति विज्ञायते ।

इति श्रीवैखानसे मरीचिप्रोक्ते विमानार्चनाकल्पे प्रत्याहारविधिर्नाम सप्तनवतितमः पटलः ॥९७॥ (मातृकान्तरे ९२)

अथ अष्टनवतितमः पटलः

धारणलक्षणम्, शरीरे पृथिव्यादिस्थानम्, तत्रध्येयं रूपम्

अथातो धारणानि अष्टधा भवन्ति । तेष्वात्मनि यमादिगुण-युक्तमनसास्थितिः, हृत्पद्मान्तराकाशे बाह्याकाशे धारणं च पृथिव्यादि महाभूतेषु पञ्चसु देवानां पंच धारणानि, हृत्पद्ममध्ये परमात्मानन्दा-विग्रहधारणमिति । पादादिजानुपर्यन्तं पृथिवीस्थानं तत्र लकारसंयुक्तं (नो) वायुमारोप्य, अनिरुद्धमूर्त्तिं ध्यात्वा धारयेत् । जान्वोः(नोः)पायुपर्यन्तम् अपांस्थानं तत्रवकारसंयुक्तं वायुमारोप्य, अच्युत मूर्त्तिंध्यात्वा धारयेत् । पायोर्हृदयान्तमग्निस्थानं तत्र रेफयुतं वायुमारोप्य सत्यमूर्तिं ध्यात्वा धारयेत् ।

हृदयात् भ्रूमध्यान्तं वायुस्थानं तत्र यकारसंयुक्तं वायुमारोप्य, पुरुषमूर्त्तिं ध्यात्वा धारयेत्। आभ्रूमध्यात् मूर्धान्तं व्योमस्थानं तत्र हकारसंयुक्तं वायुमारोप्य विष्णुमूर्त्तिं ध्यात्वा धारयेत्। एतेषां देवानां ध्यानस्वरूपं पूर्वं नाडीष्वकारसंयुक्तं वायुमारोप्य हृन्मध्ये प्रणवेन कार्यम्। स्वे स्वे संभृ(हृ)त्यकरणे प्रणवस्य नादान्ते परमानन्दविग्रहं परमात्मानं नारायणं शुद्धस्फटिकसंकाशं ध्यात्वा धारयेत्। एतां धारणां नियमादि संयुक्तः नित्यमाचरेत्। इत्याह मरीचिः।

इति श्रीवैखनसे मरीचिप्रोक्ते विमानार्चनाकल्पे धारणाविधिर्नाम अष्टनवतितमः पटलः ॥९८॥ (मातृकान्तरे ९३)

अथ एकोनशततमः पटलः

ध्यानस्वरूपम् तद्विभागः

अथातो ध्यानं वक्ष्ये – परमात्मनो जीवात्मना चिंतनं ध्यानं, निष्कलं सकलमिति (तत् द्विविधम्)। निष्कलं देवैरप्यनभिलक्ष्य मदृश्यं स्यात्। सकलं द्विविधं निर्गुणं सगुणं चेति। निर्गुणं निष्कलस्वभावः। परमात्मनोन्यन्नकिंचिदस्तीति काष्ठे अग्निरिव सर्वव्याप्य आकाशोपमः सर्वेषां आत्मगुहायां निहितः अन्तर्बहिश्च संस्थितो दृश्यादृश्यस्थूलसूक्ष्मः अमलोऽत्यच्छः अप्रमेयो निरवयवो निरुद्योगो नित्योऽचिंत्यो निष्कलः तमेव प्राणायामप्रत्याहार धारणादात्मसंस्कारं कृत्वा आत्मना पश्येत्।

मध्यदेहान्मूर्धपर्यन्तं भ्रुवोर्मध्ये अन्तरात्मानं नारायणं सर्वजगत्कारणम् अव्ययम् अव्यक्तम् एकरूप परंज्योति र्ज्वलति। अवभासयति। एवं निर्गुणध्यानम् 'नारायणपरंज्योति रात्मा नारायणः परः' इति श्रुतिः। तस्मात्प्रधानपरमोऽव्ययो विष्णुस्सदा ध्येयः।

निष्कलमेव प्राणायामैर्विकसितहृदयकमलांतराकाशे वैश्वानरशिखामध्ये परंज्योति र्ज्वालारूपवत् स्वय मेवपुरुषः कृष्णपिंगलः ऊर्ध्वरेता विरूपाक्षः विश्वरूपः परमानंदविग्रहो भवेत्। तं परमयाभक्त्या पश्येत्।

तत्र सन्निहितो भवेत्। इति निर्गुणध्यानं भवतीति विज्ञायते ॥ (मातृकान्तरे ९४)

अथ सगुणध्यानं वक्ष्ये –

प्राणमपानेन संयोज्य, तमनुप्रविश्य तत्र पुरुषं दृष्ट्वा, पुनः पिंगलया आदित्यमंडलमनुप्रविश्य, तत्रस्थ पुरुषंदृष्ट्वा, ततश्चेडया चन्द्रमण्डल-मनुप्रविश्य, तत्र मण्डल पुरुषं दृष्ट्वा ततो ज्वलिताऽग्निना कुण्डलीमुख (ख)ज्वलनेन दग्ध्वा, सुषुम्नयाचोर्ध्वंगत्वा, प्राणायामेन विकसित हृदयकमलांतराकाशे वैश्वानरशिखामध्ये चतुरश्रं हेमाभं बिन्दुनासह यकारबीजान्वितं माहेन्द्रमण्डलं तन्मध्ये अर्धचन्द्राऽऽकृतिं श्वेतं बिन्दुनासह वकारबीजान्वितं वारुणं(मण्डलं) ध्यात्वा, तन्मध्ये प्रणववेष्टितं सुवर्णाऽऽभमादिबीजं स्मृत्वा, प्रज्वलितज्योतीरूपमेव भक्त्या सकलं संकल्प्य देवीभूषणायुधैस्सह परिषद्गणैस्सह कल्याणगुणनिधिं पूर्ववदध्या-येत्। एतत्सगुणध्यानमुत्तमम्। सर्वसिद्धिप्रदं सर्वत्र प्रयोक्तव्यम्।

हृत्पद्मान्तराकाशे वैश्वानरशिखामध्ये अग्नि(अर्क)मण्डलं पूर्व वद्ध्यात्वा, तन्मध्ये परंज्योतिरेव सकलं संकल्प्य, देवीभूषणायुधैः परिषद्गणै स्सहवृतं यज्ञमूर्त्तिं पूर्ववत् ध्यायेत्। अग्निहोत्रादि होमः तदपि सगुणध्यानम्।

हृत्पद्मे वैश्वानरशिखामध्ये अर्कमंडलं पूर्ववत् ध्यात्वा, पद्ममध्ये परंज्योतिरेव सकलं संकल्प्य, तरुणादित्यसंकाशं विष्णुं पूर्ववद्ध्यायेत्। एतत्सगुणध्यानं सर्वत्र प्रयोक्तव्यम् सर्वसिद्धिप्रदम्।

हृदयकमलान्तराकाशे वैश्वानरशिखामध्ये सोममंडलं पूर्ववद्ध्यात्वा, तन्मध्ये परंज्योतिरेव सकलं संकल्प्य, शुद्धस्फटिकसंकाशं नारायणमूर्त्तिं ध्यायेत्। सगुणध्यानं सर्वसिद्धिप्रदं सर्वत्र प्रयोक्तव्यम्।

एवं सगुणध्यानं चतुर्विधं भवति। एतानि वैदिक ध्यानमार्गाणि अन्यान्यवैदिकानि सर्वाणि जघन्यानि। तैःषड्भिःप्रकारैः भगवंतंनारायणं नित्यंसर्वज्ञितं भवति। सर्वं समाधिना पश्यतीति विज्ञायते।

इति श्रीवैखानसे मरीचिप्रोक्ते विमानार्चनाकल्पे ध्यानभेदविधिः नाम एकोनशततमः पटलः ॥९९॥ (मातृकान्तरे ९४)

तीसरा अध्याय

योग-भक्ति-निदिध्यासन

१. योग के सम्बन्ध में प्रथम भ्रान्ति

मोक्ष तो ज्ञान से होता है इसलिए योग में किया परिश्रम निष्फल है।

अध्यात्म-पथ में सकाम तथा निष्काम कर्म का महत्त्व, अधिकारी तथा साधन की अवधि, परमहित की दृष्टि से सिद्ध-स्वाभाविक मुख्य व्यवहार तथा वैराग्य का ब्रह्म-विद्या में उपयोग का सविस्तर विवेचन हो चुका है। योग—चित्तवृत्ति की एकाग्रता तथा निरोध—का भी समाधान प्रकरण में कुछ निरूपण हुआ है। इस के सम्बन्ध में कुछ अन्य आवश्यक बातें विचारणीय हैं।

२. योग के ब्रह्मविद्या में उपयोग-विषयक उपनिषदादि ग्रन्थों के वचन

द्वितीय खण्ड के सातवें अध्याय के समाधान प्रकरण में बृहदारण्यक उपनिषद् (४,४,२३) के आधार पर यह निरूपण किया गया है कि आत्मा की नित्य महिमा को जानने वाला विद्वान् शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु तथा समाहित होकर आत्मा का आत्मा में दर्शन करे अर्थात् समाहितचित्त—एकाग्रभूमि—के विना उपनिषद् विद्या के श्रवण में अधिकार नहीं होता।

आक्षेप—कई सज्जन योग को ब्रह्मविद्या में उचित महत्त्व नहीं देते और अपने इस पक्ष के समर्थन में कुछ श्रुतिवचनों को उपस्थित करते हैं। और वे ऐसा मानते हैं कि योग के विना केवल शास्त्र-विचार के आधार पर भी आत्म-ज्ञान की उपलब्धि तथा कृतकृत्यता प्राप्त हो सकती है।

(क) वे लोग निम्नलिखित उपनिषद् वाक्यों के आधार पर ब्रह्म को मन, वाणी आदि का अविषय कह कर ब्रह्म-ज्ञान-विषयक योग आदि साधनों के सम्बन्धी परिश्रम को निष्फल सिद्ध करते हैं।

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो
यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि ॥ केन १, ३.

"चक्षु, वाणी और मन की ब्रह्म तक पहुंच नहीं है। हमें ज्ञान नहीं है कि हम किस प्रकार उसका उपदेश करें। वह तो ज्ञान तथा अज्ञान से भी परे है"।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन ॥ तैत्ति० २, ९.

"मन को साथ लिए हुए वाणी आदि इन्द्रियाँ जिस ब्रह्म को प्राप्त किए विना ही लौट आती हैं, उस ब्रह्म के आनन्द को जानता हुआ मनुष्य कहीं से नहीं डरता।"

अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।
माण्डूक्य० ७.

"उस अदृष्ट, इन्द्रिय से अग्राह्य, लक्षण-हीन, अचिन्त्य, शब्द से अकथनीय, एक ही आत्मा के ज्ञान से युक्त, प्रपञ्चहीन, शान्त, शिव और अद्वैत ब्रह्म को चतुर्थ पाद मानते हैं। वही आत्मा है और वही जानने योग्य है"।

(ख) अथवा वे लोग निम्नलिखित वचनों के आधार पर यह सिद्ध करते हैं कि मोक्ष तो केवल ब्रह्म-ज्ञान से होता है और ब्रह्म-ज्ञान के लिए उपनिषद्—श्रुति—ही अपूर्व एकमात्र प्रमाण है अतः योगादि अन्य साधन व्यर्थ हैं।

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय । श्वे० उ० ६, १५.

"उस नित्य, एकरस, आनन्द चिद्घन परमात्मा के ज्ञान से मृत्यु का अतिक्रमण कर जाता है, अर्थात् उत्पत्ति तथा विनाश-शील संसार-चक्र से मुक्त होकर अमृतपद को प्राप्त कर लेता है। इस अमर धाम के लिये परमात्म-ज्ञान से अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग या उपाय नहीं है"।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः । ईशोप० ७

"जब मनुष्य उस अद्वितीय परमात्मा के दर्शन कर लेता है, तब किसी प्रकार का भी शोक और मोह कैसे हो सकता है"?

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥ मुण्डकोप० २,२,८.

"उस परावर—कारण-कार्य-रूप अथवा शुद्ध-शबल स्वरूप—परमात्मा के साक्षात् दर्शन से इस जीव की आत्म-अनात्म-अविवेक रूपी हृदय की गांठ खुल जाती है। आत्मा, परमात्मा, परलोक आदि सम्बन्धी सम्पूर्ण संशयों का उच्छेद हो जाता है और समस्त शुभ तथा अशुभ कर्मों का नाश हो जाता है"।

विवेकान्निःशेषदुःखनिवृत्तौकृतकृत्यता नेतरन्नेतरात् । सां० द० ३,८४.

"पुरुष और प्रकृति के विवेक-ज्ञान से सम्पूर्ण दुःखों के नाश हो जाने से कृतकृत्य हो जाता है। अन्य कोई उपाय नहीं है, अन्य कोई उपाय नहीं है"।

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ।
न्या० द० १,१,२.

"आत्म-ज्ञान द्वारा (१) मिथ्या ज्ञान, (२) दोष—रागद्वेष—(३) प्रवृत्ति—कर्म—(४) पुनर्जन्म, (५) दुःख के क्रमशः निवृत्त हो जाने से अपवर्ग (मोक्ष) की प्राप्ति होती है"।

तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि । बृ० उ० ३, ६, २६.

"मैं उस पुरुष के विषय में आप से पूछता हूं, जिस का उपनिषद् निर्देश करते हैं तथा जिस के ज्ञान का उपनिषत्-शिक्षा ही एक मात्र अपूर्व उपाय है"।

ज्ञानादेव तु कैवल्यं प्राप्यते येन मुच्यते ।

"ज्ञान से ही कैवल्य की प्राप्ति होती है, जिस से संसार-चक्र से मुक्त हो जाता है"।

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते । गीता ४, ३३.

"हे अर्जुन ! ज्ञान के उदय होने पर सम्पूर्ण कर्म समाप्त हो जाते हैं, अर्थात् उनका नाश हो जाता है। अथवा सम्पूर्ण कर्मों का परमफल प्राप्त हो जाने के कारण उनका कुछ व्यक्तिगत उपयोग नहीं रहता"।

एतेन योगः प्रत्युक्तः । वेदा० द० २,१, ३.

"पूर्वसूत्रोक्त सांख्य के खण्डन से ही योग का खण्डन हो जाता है"।

न योगेन न सांख्येन कर्मणा नो न विद्यया ।
ब्रह्मात्मैकत्वबोधेन मोक्षः सिद्ध्यति नान्यथा ॥ विवेक चूडा० ५८

"न योग से, न सांख्य से, न कर्म से, न विद्या—उपासना—से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। मोक्ष तो केवल ब्रह्म तथा आत्मा के एकत्व ज्ञान से ही सिद्ध होता है। मोक्ष-सिद्धि का अन्य कोई साधन नहीं है"।

इन सब श्रुतियों और स्मृतियों का एक स्वर से यह कथन कि ब्रह्म-ज्ञान ही साक्षात् मोक्ष का साधन है। ज्ञान के विना मोक्ष नहीं हो सकता।

उत्तर—(क) यद्यपि यह शास्त्रसम्मत सिद्धान्त है कि ब्रह्म वाङ्मनसागोचर है, परन्तु श्रुति का परम प्रयोजन तो ब्रह्म-ज्ञान ही है और इसीलिए प्रधानतया श्रुति की प्रवृत्ति हुई है, अन्यथा श्रुति निष्फल तथा अप्रामाणिक हो जाती। यदि ब्रह्म-ज्ञान के उपाय ध्यान आदिकों का निषेध होगा, तो ज्ञान का उपायभूत उपनिषद् विद्या भी तो खण्डित हो जाएगी। इसलिए ज्ञान का उपाय उपनिषद् को स्वीकार करना ही पड़ेगा। श्रुति—उपनिषद्—के इस विषय में अपूर्व प्रमाण स्वीकृत होने पर भी जैसे अन्य प्रमाणों की सफलता के लिए अन्य सहकारी साधन अपेक्षित होते हैं, वैसे ही श्रुति प्रमाण की सफलता के लिए भी समाहितचित्त आदि अन्य सहकारी साधनों की आवश्यकता है।

(ख) इस लिए यद्यपि उपर्युक्त केन, तैत्तिरीय उपनिषद् आदि के श्रुति वचन ब्रह्म को वाङ्मनसागोचर तत्त्व प्रतिपादन करते हैं, परन्तु अन्य श्रुतियां बुद्धि के उपयोग का भी निर्देश करती हैं और योग का सहायकरूप से प्रतिपादन करती हैं।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ कठ ३,१२.

"यह आत्मा सर्व जड चेतन भूतों में माया के पर्दे के पीछे छिपा हुआ है, इस लिए सर्व साधारण बहिर्मुख, स्थूलबुद्धि वालों को उसका प्रकाश (ज्ञान) नहीं होता, परन्तु सूक्ष्मदर्शी, कुशल जन इस सूक्ष्मतम तथा अन्तरतम तत्त्व का एकाग्र तथा सूक्ष्म बुद्धि द्वारा साक्षात्कार करते हैं"।

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥ कठ २,१२.

"जो आत्म-तत्त्व योग-माया के पर्दे में छिपा हुआ है, जो सर्व पदार्थों में व्याप रहा है, तथा सब की हृदय रूपी गुफा में स्थित है, संसाररूप गहन वन में निवास करता है, जो सनातन है, इसीलिए जिसका दर्शन अत्यन्त कठिन है, शुद्ध तथा स्थिर मति वाले अध्यात्म योग की प्राप्ति द्वारा उसके दर्शन कर हर्ष शोक को छोड़ देते हैं"।

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका ।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥ कठ ६,१६.

"मनुष्य के हृदय से १०१ नाडियां निकलती हैं, उनमें से एक सुषुम्णा ऊपर की ओर जाती हुई मूर्धा—कपाल—ब्रह्म-रन्ध्र की ओर निकलती है। उसके द्वारा मनुष्य ऊपर के लोकों में जाकर अमृत पद को प्राप्त होता है। शेष १०० नाडियों द्वारा उत्क्रमण करने पर पुनः संसार की प्राप्ति होती है"।

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिरुध्य ।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥ श्वेता० २,८.

"विद्वान् (शिर, ग्रीवा और छाती) ३ उन्नत भागों को सम (एक रेखा में सीधा) स्थापन करके तथा इन्द्रियों का मन सहित हृदय में निरोध करके, ओंकार रूप नौका के द्वारा सम्पूर्ण भयङ्कर प्रवाहों को पार कर जावे"।

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं संदधीत ।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि । मुण्डक २,२,३.

"उपनिषद् में प्रसिद्ध धनुष रूपी महान् अस्त्र को लेकर उस पर उपासना (निरन्तर ध्यान) द्वारा तीक्ष्ण किया हुआ बाण चढ़ाए, फिर उसको (इन्द्रिय सहित मन को) अक्षर ब्रह्म में अनन्य भाव (भक्ति) द्वारा खींचकर अपने २ विषय से पृथक् करे। हे प्रिय ! उस अक्षर ब्रह्म रूपी लक्ष्य को ही विद्ध करे अर्थात् ब्रह्म में ही मन को स्थिर करके उसको ब्रह्माकार बना दे"।

ध्यानधारणाभ्यासवैराग्यादिभिस्तन्निरोधः ॥ सांख्य ६,२९.

"ध्यान, धारणा, अभ्यास, वैराग्य आदि से मन का निरोध होता है"।

वैराग्यादभ्यासाच्च । सांख्य ३, ३६.

"वैराग्य और अभ्यास द्वारा मन का निरोध होता है"।

अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः । न्याय ४,२,४२.

"वन, गुफा, नदी तट आदि एकान्त, शुद्ध, निर्मल तथा अनुकूल स्थान में योग-समाधि अभ्यास का उपदेश है, अर्थात् योग में प्रतिबन्ध निवृत्ति के लिये एकान्त स्थान का सेवन करे"।

तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः । न्याय ४,२,४६.

समाधि अथवा अपवर्ग की सिद्धि के लिए यम नियम अनुष्ठान द्वारा, तथा योग शास्त्र वर्णित आत्म-तत्त्व प्राप्ति के साधनों (प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान) द्वारा आत्मा का संस्कार करना चाहिए। अर्थात् इन साधनों से अधर्म का नाश तथा धर्म की वृद्धि से अन्तःकरण को लक्ष्यसिद्धि के लिये संस्कृत करना चाहिए।

अपवर्ग के साधन ज्ञान के सविस्तर निरूपण के पश्चात् न्यायदर्शन के इन दो सूत्रों में ज्ञान के साधन योग का, यम नियमादि अंगों के सहित उपदेश मिलता है, जिसका सम्यक् विस्तार योगदर्शन में हुआ है। और इसका आशय यह है कि तत्त्वज्ञान सामान्य तथा केवल तर्क—ऊहापोह—आदि के बल पर प्राप्त नहीं हो सकता। न्याय-दर्शन तर्कप्रधान शास्त्र होने पर भी यह स्वीकार करता है कि केवल तर्क या विवेचन द्वारा उस परम-तत्त्व का सफल साक्षात्कार नहीं हो सकता। प्रत्युत तत्त्व-प्रत्यक्ष तथा दोष-निवृत्ति से होने वाली तत्त्व-निष्ठा के लिए योग की अनिवार्य आवश्यकता स्वीकार करता है।

योगदर्शन का तो कहना ही क्या है, जिसकी प्रवृत्ति ही योग के प्रतिपादन के निमित्त से हुई है। ब्रह्मसूत्र के कर्ता व्यास भगवान् का योगदर्शन पर अति प्राचीन तथा प्रामाणिक भाष्य मिलता है, इसलिए योग का समूल खण्डन नहीं किया जा सकता। ब्रह्म-सूत्र (२,१,३) "एतेन योगः प्रत्युक्तः" का उल्लेख किसी विशेष सिद्धान्त में मत-भेद के कारण किया गया हो सकता है। चित्त का समाधान ब्रह्मविद्या के अन्तरंगतम साधन षट्सम्पत्ति का अत्युपयोगी अंग है। और जिस योग का वर्णन अनेक स्थलों पर उपनिषदों में आता है, उसका समर्थन तथा उन उपनिषदों में वर्णित उपासनाओं के विषयों में संशयों का निवारण स्वयं ब्रह्मसूत्रकार ब्रह्मसूत्र के तृतीयपाद में करते हैं। वेदान्तदर्शन में भी योग का इस प्रकार समर्थन मिलता है:—

अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् । वेदान्तदर्शन ३,२,२४.

भगवान् शंकरकृत भाष्य का अर्थः—इन्द्रिय अग्राह्य (ग्रहण अयोग्य) होने पर भी समस्त प्रपञ्चशून्य (भिन्न) तथा अव्यक्त आत्मा को संराधन समय में देखते हैं। संराधन का अर्थ है–भक्तिसाधन आदि (जप नमस्कार……) अनुष्ठान द्वारा संस्कृतचित्त

का सर्वान्तर आत्मा में विशेष रूप से निधान–लगाना। यह कैसे पता चलता है कि संराधन समय में आत्म साक्षात्कार होता है? श्रुति-स्मृति द्वारा संराधन के महत्त्व का ज्ञान होता है। क्योंकि निम्नलिखित श्रुति-स्मृति इसका समर्थन करती हैं:—

(१) स्वयंभू (परमात्मा) ने अनात्म (भौतिक-बाह्य) पदार्थों को ग्रहण करने वाली इन्द्रियों की हिंसा की। (अर्थात् इन्द्रियां अमरत्व के साधनभूत आत्म-तत्त्व को देखने की योग्यता से शून्य हैं। इसलिए प्राणी इनके विषयों को ही परम इष्ट समझते हुए तथा इन इन्द्रियों के वश हुए आत्म तत्त्व को नहीं देखते। इसलिए कोई बुद्धिमान् मनुष्य (इन्द्रियों तथा इन के विषयों के संहार-मूलक दोष को समझने वाला) इन्द्रियों को (विषयों से) निरुद्ध कर, मोक्ष चाहने वाला अन्तरात्मा (शुद्धचित्त में शास्त्रद्वारा) के दर्शन करता है। कठ० ४,१

(२) जिन प्रयत्नशील साधकों ने विषय के संसर्ग से उत्पन्न हुई रागादि की कालिमा की निवृत्ति से ज्ञान (बुद्धि) के प्रसाद (स्वच्छता—शान्ति) द्वारा अन्तःकरण को पूर्णतया शुद्ध कर लिया है, उन में ही आत्मदर्शन की योग्यता होती है। इसलिए ऐसे साधक ही उस सर्व व्ययरहित आत्मा का (एकाग्रमन से) निरन्तर चिन्तन करते हुए उसका दर्शन करते हैं। मुण्डक ३,१,८

(३) निद्रा से रहित श्वास को वश में करते हुए (प्राणायामनिष्ठ) जिन की इन्द्रियां संयम में है, वे ध्यान करते हुए जिस ज्योति को देखते हैं उस योग-लभ्य आत्मा को नमस्कार है। उस सनातन भगवान् को योगी सम्यक् प्रकार से देखते हैं। (स्मृति इत्यादि)

बृहदारण्यकोपनिषद् (४,५,६) के उस प्रसिद्ध उपाख्यान में, जिसमें याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को आत्मदर्शन के माहात्म्य तथा उपायों को बताया; "न वा अरे पत्युः कामाय" से आरम्भ करके जाया, पुत्र, वित्त, ब्रह्म, क्षत्रजाति, लोक, देव सर्वपदार्थों का वर्णन करते हुए कहा है कि ये सब आत्मा को अपने लिए ही प्यारे होते हैं। पदार्थ पदार्थों के लिए प्यारे नहीं होते; "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" परन्तु सब कुछ आत्मा के लिए ही प्यारा होता है अतः—

"**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो**
मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्॥"

"हे मैत्रेयि! आत्मा को ही देखना, सुनना, मनन करना, ध्यान करना चाहिए, क्योंकि आत्मा के देखने, सुनने, मनन करने से यह सब कुछ देखा, सुना, मनन किया तथा जाना जाता है"। इस प्रसंग में भी आत्म-दर्शन के उपायरूप से उपनिषद्—ब्रह्मविद्या उपदेश—के केवल श्रवण अथवा मनन का ही निर्देश नहीं है प्रत्युत निदिध्यासन का भी है। अर्थात् निदिध्यासन की भी इन उपायों के साथ-साथ अनिवार्य आवश्यकता है। केवल इतना ही नहीं प्रत्युत केवल श्रवण से इसका महत्त्व बहुत अधिक है, जिसका निरूपण स्वयं भाष्यकार श्री शंकराचार्य ने विवेकचूडामणि में किया है:—

अतीव सूक्ष्मं परमात्मतत्त्वं न स्थूलदृष्ट्या प्रतिपत्तुमर्हति।
समाधिनाऽत्यन्तसूक्ष्मवृत्त्या ज्ञातव्यमार्यैरतिशुद्धबुद्धिभिः॥ वि० चू० ३६१.

"परमात्मा (अन्य अनात्म पदार्थों की अपेक्षा) अत्यन्त सूक्ष्म है। (इसलिए अनात्म स्थूलपदार्थ ग्राहक) स्थूलबुद्धि की समझ (पकड़) में नहीं आता। शुद्ध (विरक्त) बुद्धि-सम्पन्न श्रेष्ठ (वेदानुयायी आस्तिक) पुरुषों को समाधि (निदिध्यासन) से अत्यन्तसूक्ष्म (आत्माकार) वृत्ति द्वारा इस आत्मतत्त्व का जानना योग्य (युक्त) है"।

श्रुतेः शतगुणं विद्यान्मननं मननादपि।
निदिध्यासं लक्षगुणमनन्तं निर्विकल्पकम् ॥ वि० चू० ३६५

"श्रवण से सौ गुणा अधिक मनन को जानना चाहिए तथा मनन से भी निर्विकल्प निदिध्यासन को लाख गुणा अधिक जानना चाहिए"।

निर्विकल्पसमाधिना स्फुटं ब्रह्मतत्त्वमवगम्यते ध्रुवम्।
नान्यथा चलतया मनोगतेः प्रत्ययान्तरविमिश्रितं भवेत्। वि० चू० ३६६

"निर्विकल्प समाधि की महिमा तो अनन्त है, निश्चय ही निर्विकल्प समाधि द्वारा ब्रह्मतत्त्व निश्चित ही स्पष्ट समझ में आजाता है। इसके विपरीत मनोगति के चलने पर तो वह अन्य प्रत्ययों में मिला हुआ सा हो जाता है"।

पंचदशी में भी योग का ब्रह्म के साक्षात् ज्ञान के सहकारी साधन होने के रूप में वर्णन है:—

अमुना वासनाजाले निःशेषं प्रविलापिते।
समूलोन्मूलिते पुण्यपापाख्ये कर्मसञ्चये ॥
वाक्यं प्रतिबद्धं सत्प्राक्परोक्षावभासिते।
करामलकवद्बोधमपरोक्षं प्रसूयते ॥
परोक्षं ब्रह्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम्।
बुद्धिपूर्वकृतं पापं कृत्स्नं दहति वह्निवत् ॥
अपरोक्षात्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम्।
संसारकारणाज्ञानतमसश्चण्डभास्करः ॥ पंचदशी १,६१–६४

"निदिध्यासन अथवा योग द्वारा सम्पूर्ण वासना समूह सर्वथा विलीन हो जाता है और पापपुण्यरूप कर्मसंचय, अविद्या, राग आदि मूल सहित नाश हो जाता है। इसलिए निदिध्यासन से पूर्व महावाक्य द्वारा वासना तथा कर्मों के प्रतिबन्ध के कारण परोक्ष ज्ञान ही होता है। परन्तु निदिध्यासन से उपर्युक्त प्रतिबन्धों के नाश हो जाने पर महावाक्य द्वारा हथेली में रखे आंवले के समान ब्रह्मात्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु से महावाक्य के श्रवण के कारण उत्पन्न ब्रह्म का परोक्ष विज्ञान जानबूझ कर किये पापों को अग्नि के समान जला देता है; परन्तु निदिध्यासन से उत्पन्न आत्मा का अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान संसार के पूर्ण अज्ञानरूपी अन्धकार को सूर्य के समान नाश कर देता है"।

इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए निदिध्यासन रूपी योग की अनिवार्य आवश्यकता है। यद्यपि ब्रह्म वाङ्मनसागोचर तत्त्व है, तो भी श्रुति उसके निरूपण का यत्न करती है। ब्रह्म नितान्त अज्ञेय नहीं है। ब्रह्म-ज्ञान ही संसार-बंधन के विमोचन का एकमात्र उपाय है, उसी का श्रुति प्रतिपादन करती है। इसी में श्रुति की अपूर्वता है। समाहितचित्त एकाग्र भूमि वाला ही इस ब्रह्मविद्या के श्रवण का अधिकारी है। और श्रवण के अनन्तर भी सामान्यतया मनन और निदिध्यासन की आवश्यकता रहती है। निस्सन्देह श्रुति ही ब्रह्म के विषय में परम तथा अपूर्व प्रमाण है। और यह स्वीकार कर लेने पर भी कि श्रुति के अनुसार महावाक्य के श्रवण के विना ब्रह्म-ज्ञान नहीं हो सकता, और सर्वोत्तम अधिकारी को केवल श्रवण से ही ज्ञान हो जाता है। परन्तु ऐसा सर्वोत्तम अधिकारी कोई विरला भाग्यवान् ही हो सकता है और वह अन्य साधारण अधिकारियों की अपेक्षा से ही तो सर्वोत्तम कहलाने के योग्य होता है। इसलिए यह नियम सर्वसाधारण अधिकारियों के विषय में लागू नहीं किया जा सकता। सामान्यतया तो यही नियम है कि ब्रह्म-विद्या श्रवण के अधिकार के लिए सामान्य समाहितचित्त का होना आवश्यक है। और श्रवण के पश्चात् भी मनन तथा निदिध्यासन का सामान्य नियम ही उपयुक्त है। सफल ज्ञान-निष्ठा का, निरन्तर दीर्घकालीन निदिध्यासन के विना होना असम्भव है। केवल शब्द (वाक्य-योजना) से तो निश्चित, असंदिग्ध परोक्ष ज्ञान का होना भी कठिन है। श्रुति के तात्पर्य का दृढ निर्णय ही समाहितचित्त के विना नहीं हो सकता, तो फिर सामान्य सूक्ष्म बुद्धि के भरोसे आत्म-साक्षात्कार तो असम्भव ही है (मुण्डक ३,२,३)।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥

"यह आत्मा न प्रवचन (शास्त्र-व्याख्यान) से प्राप्त होता है, न मेधा (प्रकृष्ट बुद्धि) मात्र से और न बहुत शास्त्र श्रवण से परन्तु, जो जिज्ञासु अनन्य भाव से इस आत्मा का वरण करता है यह आत्मा अपने तन (स्वरूप) को इसके सम्मुख व्यक्त कर देता है"।

इसका विस्तार पूर्वक निरूपण करने की आवश्यकता इसलिए हुई है, क्योंकि आजकल प्रायः ऐसा समझा जाता है कि ब्रह्मतत्त्व के साक्षात्कार के लिए केवल श्रवण और मनन पर्याप्त हैं निदिध्यासन की आवश्यकता नहीं है।

३. उपर्युक्त भ्रान्ति का दुष्परिणाम

शास्त्र में ज्ञान का महत्त्व दर्शाने के लिए अथवा अन्य प्रसंगों में किसी अन्य दृष्टि से जिन वचनों द्वारा योग का खण्डन किया गया है, मोह, प्रमाद अथवा आलस्य के वश उनका यथार्थ तात्पर्य ग्रहण नहीं किया जाता। और इसी लिए प्रायः आजकल किसी प्रकार की उपासना, ध्यान, योग को ब्रह्मविद्या में बाधक समझा जाता है और अधिकारोचित साधना को छोड़ कर केवल विचार ही ब्रह्मविद्या का एकमात्र साधन मान लिया गया है। अतः ध्येय की सिद्धि नहीं होती, केवल शब्द का चातुर्य अवश्य

हो जाता है। ऐसे लोगों में सामान्य बाह्य व्यवहार भी सर्व साधारण से कुछ विलक्षण नहीं होता, तथा संसार से विरति का कोई चिह्न नहीं दीखता। ऐसे केवल वाचक ब्रह्म-ज्ञानियों को देख कर सर्वसाधारण में ब्रह्मविद्या के प्रति नास्तिकता तथा अश्रद्धा हो जाती है। और उनके लिए भी यह केवल वाचक ब्रह्मविद्या परमलक्ष्य प्राप्त करवाने में असमर्थ होती है। इस प्रकार इसका दुरुपयोग होता है और मनुष्य उभयभ्रष्ट हो जाता है। जो श्रुति के वचन केवल ज्ञान से मुक्ति होने का प्रतिपादन करते हैं, वे सर्वथा सत्य तथा तथ्य है। परन्तु उनका तात्पर्य सामान्यावस्था के जिज्ञासु के लिए अन्य उपयोगी साधनों के खण्डन में नहीं है। श्रुतिप्रतिपादित ब्रह्मविद्या के अन्य उपयोगी योग, असंप्रज्ञातसमाधि, निदिध्यासन आदि साधनों सम्बंधी वाक्यों की सर्वथा उपेक्षा करके उपर्युक्त ज्ञान के माहात्म्य सम्बंधी श्रुति के वचनों का इस प्रकार से अर्थ करना युक्ति संगत नहीं है। क्योंकि दूसरे उपयोगी साधनों के प्रतिपादक वचन भी तो श्रुति के ही हैं। यहां तक कि तर्कप्रधान शास्त्र न्याय दर्शन भी तत्त्वज्ञान के उपाय रूप में योगाभ्यास, ध्यान आदि का कथन करता है। निस्सन्देह योग, उपासना, वैराग्य आदि साधनों के सम्पादन करने की अपेक्षा शास्त्र का पाठ कर लेना सरल है, परन्तु इस सरल मार्ग की चाह में प्रमाद, आलस्य के वश इन उपयोगी साधनों का त्याग देना, उन का खण्डन करना अथवा जो कोई इन साधनों को करता है उसको अज्ञानी की उपाधि प्रदान कर अपनी तथा भोलेभाले अन्य सज्जनों की वञ्चना नहीं करनी चाहिए। लाखों रुपयों के गुणा भाग कर लेने मात्र से जैसे कोई लखपति नहीं हो जाता, ऐसे ही शास्त्रों के पाठ अथवा विचार मात्र से विरति, शान्ति तथा परमानन्द की उपलब्धि नहीं होती। अतः शास्त्रनिर्दिष्ट साधन चतुष्टय सम्पत्ति से सम्पन्न होकर, ब्रह्मविद्या का अधिकार प्राप्त करके उपनिषदादि का श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन (योग) करने से ही परम लक्ष्य की सिद्धि होती है। इस शास्त्रोक्त मार्ग का अनुसरण करना ही श्रेयस्कर है। कुछ विचारशील यहां यह आक्षेप करते हैं कि हठयोग आदि अनन्त दीर्घकाल तथा बहु आयास-साध्य उपासनाओं के अनुष्ठान से क्या लाभ है? कलियुग में अल्पायु मनुष्य इन में ही अपनी आयु का अपव्यय कैसे कर सकते हैं? यह बात सत्य है, कि सब उपायों को उपाय दृष्टि से ही उपयोग में लाना चाहिए। किसी साधन के विषय में ही निन्यानवे के चक्कर में पड़े रहना अनर्थ-कारी भूल है। इसलिए कुशल बुद्धि वाले ऐसे जिज्ञासुओं को, जिनका लक्ष्य मोक्ष है, इन साधनों के ही अत्यन्त विस्तार करने की आवश्यकता नहीं, परन्तु श्रुति प्रतिपादित योग मात्र का तिरस्कार तथा इस विषय में प्रमाद भी उसी प्रकार से तुल्य अनर्थ का हेतु है जिस प्रकार कि इन साधनों में लगे रहना और लक्ष्य को भूल जाना है। अतः इस से सतर्क रहना चाहिए और अपने अधिकार के अनुसार ब्रह्मविद्या के उपयोगी निष्काम कर्म अथवा योग, उपासना आदि का अवलम्बन करना चाहिए। केवल ज्ञान के महत्त्व का पाठ करके इन सब अत्यन्त उपयोगी साधनों को तिलाञ्जलि नहीं देनी चाहिए।

४. योग के सम्बन्ध में द्वितीय भ्रान्ति

परमलक्ष्य की सिद्धि में केवल योग पर्याप्त है, शास्त्रज्ञान निष्फल तथा बाधक है।

आजकल ब्रह्मविद्या के परस्पर उपयोगी अंग पृथक् पृथक् पड़े हुए हैं। श्रुति में भिन्न २ उपयोगी साधनों के वचन उन उन साधनों के यथास्थान मिलना आश्चर्य की बात नहीं है। परन्तु उनके परस्पर समुच्चयरूपी तात्पर्य को ग्रहण न करके किसी एक उपाय का अनुष्ठान तथा अन्यों का त्याग किया जाता है जिस का अनिवार्य दुष्परिणाम यह होता है कि फल की सिद्धि नहीं होती अथवा सिद्धि में न्यूनता रह जाती है।

पूर्वपक्ष—अध्यात्म-पथ के जिज्ञासुओं के दो वर्ग देखने में आते हैं। एक वर्ग का वर्णन ऊपर हो चुका है, जो केवल शास्त्रपाठ तथा विचार के आधार पर तत्त्वज्ञान की उपलब्धि करना चाहते हैं। जो ज्ञान को मोक्ष-सिद्धि का स्वतन्त्र साक्षात् साधन मानते हैं और योग आदि अन्य साधनों को अनावश्यक अथवा ज्ञान का बाधक मानते हैं। वे लोग योगरूपी एक पक्ष को काट कर केवल ज्ञानरूपी एक पक्ष के आधार पर एक पक्ष वाले पक्षी की तरह निज धाम में शीघ्रतम पहुंच जाने की इच्छा करने की भूल करते हैं। दूसरा वर्ग उन अध्यात्म-जिज्ञासुओं का है जिन पर योग के स्तुतिपरक शास्त्रवाक्यों का विशेष प्रभाव है। उनकी यह दृढ धारणा है कि केवल योग से ही परमलक्ष्य की सिद्धि निश्चित है तथा शीघ्रतम हो सकती है, वे शास्त्र-श्रुति-पठन-पाठन को निरर्थक ही नहीं प्रत्युत बाधारूप समझते हैं। उन्हें योगसम्बन्धी शास्त्र के भी पाठ की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। वे कहते हैं कि योगशास्त्र पढ़ने से कहां समझ में आ सकता है? ऐसा कहना उनका सत्य भी है। अतः जैसे तैसे प्राप्त हुई योग की विधि का अनुसरण करते हुए ही उन्हें परमलक्ष्य की सिद्धि का दृढ विश्वास है। वे बुद्धि द्वारा विवेचन करने की भी कुछ आवश्यकता नहीं समझते।

५. शास्त्र उपेक्षा का आधार

शास्त्र के वचनों की उपेक्षा में निश्चय वालों का आधार भी शास्त्रवचन ही हैं। परन्तु वे शास्त्र के वास्तविक तात्पर्य को न समझ कर ऐसी भूल करते हैं। वे अपने पक्ष में निम्नलिखित शास्त्रवचनों का प्रमाणरूप से उल्लेख करते हैं:—

मैत्रायणी उपनिषद् (४,८) कैवल्योपनिषद् (१,११) गीता (६,४६)

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥ मुण्डक ३,२,३.

यह (परमश्रेष्ठ) आत्मा न प्रवचन (बहुत शास्त्र अध्ययनमात्र) से प्राप्त होता है; न मेधा (ग्रंथ अवधारणा शक्ति—तात्पर्य को ग्रहण करने और स्मरण रखने की शक्ति) से; न बहुत शास्त्र (श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठगुरु द्वारा) श्रवणमात्र से। जिस परमात्मा को यह मुमुक्षु वरण करता है (अर्थात् प्राप्त करने की अनन्य इच्छा करता है); उस (अनन्य प्रेम) द्वारा ही वह परमात्मा प्राप्त होता है। (अन्य किसी साधन से नहीं) उस के लिए यह अपने

(अविद्या आच्छादित) तनु (आत्मस्वरूप) को प्रकाश कर देता है। अर्थात् यह (परम श्रेष्ठ) आत्मा जिज्ञासु का अपना आप है। इसका तथ्य स्वरूप इस से दूर अथवा पृथक् नहीं है। केवल अनात्म-प्रेम के कारण मोह—अज्ञान—द्वारा अन्यत्र संलग्न होने से सदा प्राप्त होने पर भी मानो अत्यन्त अप्राप्त सा हो रहा है, जैसे असंख्य योजन इस से दूर हो। केवल अनात्म-मोह अथवा अनात्म-दृष्टि को त्यागने मात्र से (विना किसी अन्य उपाय के) वह सुलभ है।

अन्यदेव तद्विदितादथोऽविदितादधि।
इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे ॥ केन० १, ४.

वह आत्मा ज्ञात से भी भिन्न है और अज्ञात से भी भिन्न। यह हमने पूर्व (तत्त्व) आत्म-दर्शियों से श्रवण किया है, अर्थात् वह आत्मा स्वतःप्रकाश, स्वतःसिद्ध, ज्ञान तथा अज्ञान का विषय कदापि नहीं होता, अतः बहुशास्त्र-अध्ययन आदि निष्प्रयोजन है।

तमेव विज्ञाय धीरः प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।
नानुध्यायाद् बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत् ॥ बृ० ४, ४, २१.

(उपदेश तथा शास्त्र से) इस अप्रमेय (स्वतःप्रकाश, ज्ञानस्वरूप होने से जो बुद्धि, चक्षु आदि प्रमाण का अविषय है) आत्मा को जान कर, ब्राह्मण (ब्रह्ममात्र जिज्ञासु) (जिज्ञासा को समाप्त करने वाली, शास्त्र तथा आचार्य के उपदिष्ट विषय) अप्रमेय, स्वतःप्रकाश आत्मा में निरन्तर बुद्धि को स्थिर करे अर्थात् आत्माकार वृत्ति का प्रवाहरूप से निदिध्यासन करे। शास्त्र तथा आचार्य के उपदेश के तात्पर्य के असंदिग्ध निश्चय के पश्चात् निदिध्यासन रूप योग ही कर्तव्य है। बहुत शास्त्रों का अध्ययन न करे, क्योंकि, अध्ययन का फल—तात्पर्य-ग्रहण—सिद्ध हो चुका है, उसके पश्चात् यह पिष्ट-पेषण के समान निरर्थक है। यह वाणी से उपलक्षित बुद्धि का केवल श्रम मात्र है।

तावदेव निरोद्धव्यं हृदि यावत्क्षयं गतम्।
एतज् ज्ञानं च मोक्षं च शेषास्तु ग्रन्थविस्तराः ॥ मैत्रा० उ० ४,८.

मन के निरोध का अभ्यास तब तक जारी रखना चाहिए, जब तक यह आत्मा में लीन नहीं हो जाता, (आत्मा से पृथक् प्रतीति ही आत्मा के ज्ञान तथा आनन्दानुभूति में बाधा है, अर्थात् आत्मानुभूति के लिए यह मनोनिरोध ही एक अनिवार्य उपाय है) इसलिए यह मनोनिरोध ही (ज्ञान तथा आनन्द-उपलब्धि रूप मोक्ष का साधन होने से) ज्ञान तथा मोक्ष है, इस से भिन्न तो ग्रन्थों का विस्तार मात्र है, उस से लक्ष्य सिद्धि नहीं होती।

भक्तियोगात्तथा योगः सम्यग्ज्ञानान्महीयते ॥

भक्ति योग से श्रेष्ठ है और योग सम्यक् (संशय विपर्यय रहित) ज्ञान से श्रेष्ठ है।

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ज्ञाननिर्मथनाभ्यासात्पापं दहति पण्डितः ॥ कैवल्योपनिषद् १,११

(अन्तःकरण) आत्मा को नीचे की अरणि (अग्नि जलाने की लकड़ी) और प्रणव को ऊपर की अरणि बनाकर अर्थात् सुविज्ञ, चतुर जिज्ञासु अपने मन बुद्धि का निरन्तर प्रणव (वाचक) तथा वाच्य ब्रह्म (अथवा प्रणव वाच्य—लक्ष्य—ब्रह्म) में लगाकर (प्रणव लक्ष्य ब्रह्म के निरन्तर ध्यान द्वारा) ज्ञानाग्नि को प्रज्वलित कर, पाप तथा तन्मूल अज्ञान को भस्मसात् कर देता है ।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ गी ६,४६

तपस्वियों, ज्ञानियों तथा कर्मियों से भी योगी श्रेष्ठ है। इस लिए हे अर्जुन ! तू योगी बन।

समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता ॥ सांख्य दर्शन ५,११६.

समाधि, सुषुप्ति तथा मोक्ष में आत्मा ब्रह्मरूप (अन्तःकरण वृत्ति परिच्छेद रहित अपरिच्छिन्न चिन्मात्र) होता है, दुःख-सुख, राग-द्वेषरूपी संसार कालिमा से रहित होता है। इन तीनों स्थितियों में केवल निम्नलिखित ही भेद होता है:—

(१) समाधि काल में मन विद्यमान होता है, परन्तु निरुद्ध होने से आत्माकार होता है। अनात्म-संसाररूप इसका ज्ञान अभ्यास से अभिभूत होता है। अतः जीवन-काल में ही जीव अपने शुद्ध, अपरिच्छिन्न, ब्रह्मस्वरूप में स्थित होता है। ज्ञानी इस काल में जीवन्-मुक्त के (स्वरूप) आनन्द का अनुभव करता है।

(२) सुषुप्तिकाल में अन्तःकरण के अज्ञान में लीन होने से जाग्रत तथा स्वप्न-वृत्ति के अभाव के कारण वृत्तिप्रयुक्त परिच्छेद से रहित होता है, परन्तु अज्ञान में लीन होने से न अपने स्वरूप को तथा (स्वरूप) स्फुट आनन्द को अनुभव करता है। हां ! संसारविक्षेप के अभाव में समाधि तथा मोक्ष काल से इसकी समानता है, परन्तु ज्ञान तथा जीवन्मुक्ति के आनन्द तथा ज्ञान फल विदेह मुक्ति में भेद होता है।

(३) मोक्ष दशा में मन का नितान्त अभाव होता है (मन का स्वरूपनाश होता है—वेदान्त परिभाषानुसार) इसलिए वहां संसार कालिमा के सम्पर्क, अभाव तथा भाव (पुनरुत्थान दशा में) का प्रश्न ही नहीं होता। प्रथम समाधि स्थिति में मन निरुद्ध होता है। दूसरी सुषुप्त अवस्था में मन अज्ञान में लीन होता है और तीसरी मोक्ष दशा में मन का अत्यन्त अभाव होता है।

यतो निर्विषयस्यास्य मनसो मुक्तिरिष्यते ।
तस्मान्निर्विषयं नित्यं मनः कार्यं मुमुक्षुणा ॥ ब्रह्मबिन्दूपनिषद् ३.

क्योंकि निर्विषय मन की अवस्था को ही मुक्ति कहते हैं। जहां परम रस को पाकर परमतृप्ति लाभ करता है। यह अवस्था ही मुक्ति की जन्मदात्री है। उसके पश्चात् प्रेम, तथा यह अवस्था सहज हो जाती है, इसलिए मुमुक्षु

को मन निर्विषय करना चाहिए, अर्थात् मन के निरोधरूप असंप्रज्ञात अथवा निर्विकल्प समाधि का अभ्यास करना चाहिए।

योगदर्शन तो सम्पूर्ण योग के निरूपण के लिए ही प्रवृत्त हुआ है। वह चित्त-वृत्ति-निरोध से होने वाली स्वरूपस्थिति से ही परमलक्ष्य की सिद्धि का निरूपण करता है। योगदर्शन (३,६) में कहा है:—

तस्य भूमिषु विनियोगः

एक भूमि में संयम द्वारा उस भूमि के विजय हो जाने पर अर्थात् उस भूमि में संयम की दृढ, स्वाभाविक, निरायास स्थिति हो जाने पर दूसरी भूमि में संयम (धारणा, ध्यान, समाधि) का अभ्यास करना चाहिए। क्योंकि निकृष्ट तथा मध्यम भूमि-जय के अनन्तर ही प्रान्त भूमि में संयम का सामर्थ्य हो सकता है। इस भूमि के अनन्तर अब कौन सी भूमि है, अर्थात् अब आगे साधक को किस भूमि का अभ्यास करना चाहिए, इसका उपाध्याय (निर्देशक) कौन सा है? इस प्रश्न के उत्तर में व्यास भगवान् इस सूत्र के भाष्य में लिखते हैं:—

योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात् प्रवर्तते।
यो अप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम्॥

योग ही इस विषय में उपाध्याय (निर्देशक) है, अन्य कोई शास्त्रादि शिक्षक नहीं। योग से ही योग जानना चाहिए। योग के द्वारा ही योग की अनन्तर भूमियों में प्रवृत्ति होती है। जो साधन में प्रमाद नहीं करता, वह योग द्वारा योग में दीर्घ काल तक रमण करता है, अर्थात् उस की स्थिति—निष्ठा—दृढ हो जाती है। इस प्रकार के अनेक वचनों का भ्रान्तिवश ऐसा अर्थ समझते हैं कि योग में जिस किसी प्रकार एक बार प्रवृत्त हो जाने से फिर किसी बाह्य अन्य शास्त्रादि के निर्देश—शिक्षा—की आवश्यकता नहीं रहती, फिर योग स्वयं ही अन्तिम ध्येय तक पहुंचा देता है। इस प्रकार की भ्रान्त धारणाओं के कारण अपने आप शास्त्र का मनन त्याग देते हैं तथा इसी प्रकार के विचार का प्रचार करते हैं। इस प्रकार योग के अलौकिक सामर्थ्य की स्थापना को द्वार बनाकर अपने महत्त्व का प्रतिपादन करते हैं। इसी भ्रान्ति तथा मोह के कारण अनेक क्षुद्र योग-मार्गों तथा उन मार्गों का आश्रय लेने वाले सम्प्रदायों का प्रचार हुआ है। और आर्य सन्तान श्रुतिसम्मत योग प्रणाली से पृथक् हो गयी है। तथा प्राचीन योग-प्रणालियों के अति गौण, क्षुद्र भागों को अनुचित महत्त्व दे दिया गया है। बिना विशेष अनुभव के ग्रन्थों की रचना होने लगी है और इस ने तो रही सही योग की सनातन आर्ष प्रणाली को भी राख में मिला दिया है। इसका कुछ निरूपण अगले प्रकरण में होगा।

न च तीव्रेण तपसा न स्वाध्यायैर्न चेज्यया।
गतिं प्राप्नुवन्ति द्विजा योगाच्छक्ताः संप्राप्नुवन्ति याम्॥ अत्रि संहिता

तीव्र तप, स्वाध्याय अथवा यज्ञों द्वारा ब्राह्मण उस गति को प्राप्त नहीं करता, जिसको कि योग की शक्ति से प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार के अनेक वचनों के आधार पर अपने इस मत का, कि शास्त्र अध्ययन आदि की अपेक्षा योग की सामर्थ्य

विलक्षण है, समर्थन तथा अवलम्बन किया जाता है और कहा जाता है कि शास्त्र का अध्ययन उस वाङ्मनसागोचर तत्त्व के बोध में क्या काम दे सकता है। शास्त्र का अध्ययन निरर्थक है, ब्रह्म-विषयक ध्यान, प्रज्ञा, निष्ठा को ही दृढ करने का यत्न करना चाहिए। शास्त्र के अध्ययन से वाणी तथा अन्य इन्द्रियों और बुद्धि आदि को केवल श्रम होता है, इस से परमार्थ-सिद्धि नहीं होती। अथवा यह भी कहा जाता है कि आत्म-तत्त्व रूप ध्येय वस्तु में चित्त का निरोधरूपी योग ही ज्ञान तथा ध्यान है। शेष तो सब ग्रन्थों का केवल निरर्थक उलझनों में डालने वाला विस्तार या एक रूप है, जो कि जिज्ञासु के मन में अनेक संशय, तर्क-वितर्क का हेतु बनकर अश्रद्धा उत्पन्न करके उसे किसी मार्ग का अनुसरण करने के योग्य नहीं रहने देता। अथवा शास्त्र की आवश्यकता ही क्या है ? योग में अद्भुत सामर्थ्य है। शास्त्र तो योग की उपज है। योगी तो स्वयं ऐसे शास्त्रों की रचना कर सकते हैं। ऋषि-मुनियों ने सृष्टि के उत्पत्ति काल में कौन से शास्त्र पढ़े थे ? पूर्वकर्मों के परिपाक के वश तथा ईश्वरानुग्रह से उन्होंने इसी योग-विभूतिद्वारा—तीसरे दिव्य ज्ञानचक्षु द्वारा—ईश्वरीय नित्य ज्ञान को प्रत्यक्ष देखा था। क्या अब योग में वह सामर्थ्य नहीं ? इस प्रकार के युक्ति क्रम से प्रमाद, मोह, तथा भ्रान्ति के वश और अपनी अनुचित महिमा के विस्तार के लिए या अपने शास्त्र-ज्ञान के अभाव रूपी हीनता आदि की लज्जा को छिपाने के लिए शास्त्र—श्रुति—का उपयुक्त आदर तथा उपयोग नहीं किया जाता।

उत्तर पक्ष—परन्तु ऐसा कहना अथवा करना मोहवश या जानबूझ कर श्रुति वाक्यों के तात्पर्य को अन्यथा ग्रहण करना या प्रकट करना है। इसका समर्थन उपर्युक्त वचनों से तथा पूर्व प्रकरण में उद्धृत श्रुति के श्रवण, मनन समर्थक वचनों तथा अन्य श्रुति के वाक्यों से किया जा सकता है। निस्सन्देह योग में बहुत सामर्थ्य है, सृष्टि के उत्पत्ति काल में वेद-मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों ने किसी सामान्य गुरु द्वारा श्रुति का स्वाध्याय नहीं किया था। परन्तु ईश्वर की यह उन पर विशेष कृपा निराधार नहीं थी। पूर्वकल्प में श्रुति के अध्ययन के अनन्तर श्रुति के मार्ग का अनुसरण करने का फलरूप ही तो यह अपार कृपा थी, अन्यथा जगत् नियामक ईश्वर पर ही विना कारण के राग-द्वेष तथा अन्याय का दोष लागू होता है। ऐसा भी कहा जा सकता है कि उस समय तो वेद—श्रुति—इस रूप से उपस्थित ही नहीं थे, अतः उनके अध्ययन का प्रश्न ही नहीं होता। क्या सर्वसामान्य मनुष्य दिव्य चक्षु सम्पन्न है, जो वह शास्त्र-आदेश या शिक्षा के विना निर्वाह कर सकता है ? बृहदारण्यक उपनिषद् (४,५,६) में "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" में भी आत्मदर्शन के लिए तीन प्रधान उपायों का वर्णन है। आत्म-दर्शन के लिए आत्म-सम्बंधी उपनिषदादि का श्रवण और मनन तथा निदिध्यासन करना चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि तीन में से अकेले किसी एक से सफलता सम्भव नहीं है। यह हो सकता है कि इन साधनों का तारतम्य हो, परन्तु अपने २ स्थान पर तीनों ही आवश्यक हैं। निदिध्यासन का महत्त्व अधिक स्वीकार कर लें तो भी श्रवण के विना इसका अवकाश ही नहीं है। बीज का प्रथम अंकुर बहुत कोमल तथा बलहीन होता है, फूल, फल, पत्ते तथा

शाखाओं से युक्त महान् वृक्ष से जो कार्य सिद्ध हो सकता है, वह अंकुर से नहीं हो सकता, परन्तु यदि अंकुर ही न हो तो यह विशाल पेड़ होगा ही कहां से ? और यदि अंकुर की समय पर उचित रक्षा न की जावे तो वह उगता ही नहीं, उग जावे तो बढ़ता नहीं, बढ़ भी जाये तो फलवान् नहीं होता, यदि फल भी जाये तो वह अनेक दोषों से युक्त हो जाता है। इसी प्रकार यदि श्रवणहीन हो तो मनन तथा निदिध्यासन किस का होगा ? जिसकी उत्पत्ति ही नहीं हुई, उसके बाल्य तथा यौवन की क्या कथा ? श्रुति ही ध्येय तथा साधन के विषय में परम तथा अपूर्व प्रमाण है। इसका विस्तृत निरूपण प्रथमखण्ड के दूसरे अध्याय में हो चुका है । अतः श्रुति को छोड़ कर स्वतन्त्र मति से इस पथ में परिश्रम कहां तक सफल हो सकता है। ऐसे विचार रखना ईश्वर तथा योग में परम नास्तिकता है, आस्तिकता नहीं। श्रुति के विना यह निर्णय ही कैसे होगा कि जिज्ञासु सुपथ पर चल रहा है या कुपथ पर ? श्रुति तो परम प्रकाश है, जिसकी ज्योति में मनुष्य प्रत्येक तत्त्व को याथातथ्य रूप में देख सकता है। इस ज्ञान के प्रकाश के विना मनुष्य का सम्पूर्ण परिश्रम वैसा ही होता है, जैसे किसी यात्री का अमावास्या की घोर अन्धकारमय रात्रि में घने वन में होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रत्येक स्थान में तथा प्रत्येक वार्ता और व्यवहार में अति करने अर्थात् मर्यादा का उल्लंघन करने से हानि होती है। इसी प्रकार श्रुति का व्यसन होना भी हानि-प्रद है, अथवा बहुशास्त्र-अध्ययन से भी अनेक संशयों तथा वाद-विवाद द्वारा नास्तिकता का भय होता है। इसी में लगे रहने से अन्य उपयोगी निदिध्यासन आदि साधनों में प्रमाद हो सकता है। इस प्रमाद से बचाने के लिए ही श्रुति ने चेतावनी के रूप में निर्देश किया है कि बहुत शब्द रूपी शास्त्रों का अध्ययन न करे अर्थात् केवल शास्त्र के अध्ययन को ही परम लक्ष्य अथवा परम साधन न मान ले। परन्तु इन शास्त्र-वाक्यों का यह अभिप्राय कदापि नहीं हो सकता कि शास्त्र को सर्वथा तिलाञ्जलि दे दी जावे और विना विचार के अंधाधुन्ध केवल निदिध्यासन अथवा योग में लग जाए। क्योंकि शास्त्र का लक्ष्य तथा साधन के विषय में उचित निर्देश पाकर ही मनुष्य वास्तविक मनन तथा निदिध्यासन में प्रवृत्त हो सकता है। श्रुति—शास्त्रज्ञान— तथा निदिध्यासन रूपी योग दोनों का परस्पर का सम्बंध तथा क्रम उपर्युक्त बृहदारण्यक उपनिषद् (४,५,६) से स्पष्ट ही है। दोनों का ऐसा ही संबंध है जैसे चक्षु तथा सूक्ष्म-वीक्षण-यन्त्र का सम्बंध होता है। चक्षु जैसे अपने आप विना सूक्ष्म वीक्षण-यन्त्र के अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थों को देखने में असमर्थ होती है और सूक्ष्म वीक्षण-यन्त्र तो चक्षु न होने पर सर्वथा निरर्थक होता ही है उस से कुछ भी दीख नहीं सकता। इसी प्रकार शास्त्र तो चक्षु रूपी अपूर्व प्रमाण है और निदिध्यासन उसका सहकारी साधनरूपी यन्त्र है। दोनों का सहयोग होने पर सूक्ष्म से सूक्ष्मतम ब्रह्मतत्त्व की अनुभूति होती है। स्वतन्त्ररूप से पृथक् २ दोनों निष्फल होते हैं। केवल श्रुति के आधार पर अपरोक्षानुभूति यदि न भी हो, तो भी परोक्ष ज्ञान तो संभव है। परन्तु श्रुति की सहायता के विना स्वतन्त्र योग परमार्थलक्ष्य में विशेष उपयोगी नहीं है। जैसे भौतिक विज्ञान में सिद्धान्त-शिक्षा तथा प्रयोग साथ साथ चलते हैं, केवल सिद्धान्त प्रयोग के विना पङ्गु है और प्रयोग सिद्धान्त के विना चक्षुहीन है। इसी प्रकार स्वाध्याय तथा योग दोनों का साथ साथ प्रयोग आवश्यक है।

६. योगदर्शन के भाष्य की सम्मति

इसी रहस्य की दृष्टि से योग दर्शन (१,२८) सूत्र की व्याख्या में व्यास भगवान लिखते हैं:—"स्वाध्यायाद् योगमासीत, योगात् स्वाध्यायमामनेत्" अर्थात् योग तथा स्वाध्याय का पृथक् पृथक् अनुष्ठान न करे। स्वाध्याय के पश्चात् अर्थात् अध्यात्म-तत्त्व के श्रवण, मनन के अनन्तर शास्त्रोक्त ज्ञान के असंदिग्ध ज्ञान के लिए योग में स्थित हो। जब मनुष्य शास्त्र का श्रवण और मनन कर लेता है, उसके अनन्तर ही उसे तार्किक ज्ञान की अपूर्णता भासती है, और योग का महत्त्व सूझता है तथा सच्चे जिज्ञासु में योग की अदम्य जिज्ञासा उत्पन्न होती है। जिस प्रकार भौतिक विज्ञान के सिद्धान्त-सम्बन्धी शास्त्र के अध्ययन के पश्चात् ही प्रयोगात्मक ध्येय का पता चलता है, उसी प्रकार शास्त्र द्वारा योग के स्वरूप तथा लक्ष्य का ज्ञान होने के पश्चात् योगरूपी साधन के करने वाला किसी वास्तविक लक्ष्य को सामने रख कर उसमें प्रवृत्त हो सकता है। इन प्रयोजनों को दृष्टि में रख कर ही—"स्वाध्यायाद् योगमासीत" ये पंक्तियां कही गयी हैं, कि योग से प्रत्यक्ष अनुभूति हुए बिना केवल शास्त्रज्ञान अनादि चित् जड़ ग्रन्थि को भेदन नहीं कर सकता। इसी वचन के दूसरे भाग में यह कहा गया है कि योग से निवृत्त होने पर स्वाध्याय करे, शास्त्र का श्रवण तथा मनन करे। जिस प्रकार स्वाध्याय कर लेने पर ही उसकी अपूर्णता खटकती है, इसी प्रकार स्वतन्त्र योग भी कई प्रकार की अनुभूतियों से कई संशय उत्पन्न कर देता है, जिनकी निवृत्ति के लिए अनुभवी महात्मा तथा शास्त्र की आवश्यकता प्रतीत होती है। सच्चा विचारवान् जिज्ञासु अपने अनुभव को शास्त्र से मिलान किये बिना सन्तुष्ट नहीं होता। इसलिए उसे योग तथा स्वाध्याय की पृथक् पृथक् अपूर्णता स्वतः ही खटकती है। इसी रहस्य को दृष्टि में रख कर उपर्युक्त वचन कहा गया है। और बृहदारण्यक उपनिषद् के (४,५,६) में एक ही वाक्य में इन दोनों साधनों के समुच्चय का निर्देश किया गया है।

७. दर्शन के योग विरोधी वाक्यों का तात्पर्य

योग शास्त्र में भिन्न भिन्न सूत्रों के भाष्यों में उपर्युक्त स्वाध्याय तथा योग-सम्बन्धी वचन आते हैं, जिनमें से एक में तो यह कहा गया है कि योग से ही योग जाना जाता है और दूसरे में यह प्रतिपादन किया गया है कि स्वाध्याय से योग और योग के पश्चात् स्वाध्याय करे। स्थूल दृष्टि से देखने पर इन दो वाक्यों में विरोध प्रतीत होता है। परन्तु एक ही शास्त्र में आये दो वचनों में विरोध कदापि नहीं हो सकता। विचार करने पर तो यही प्रतीत होता है कि जो भाव पहले दर्शाया गया है, वही भाव इनका युक्तिसंगत हो सकता है। 'योग से योग जाना जाता है' यह वाक्य योग तथा स्वाध्याय के परस्पर सहयोग के खण्डन करने के लिए नहीं है। इसका भाव तो यह है कि शास्त्र तो योगभूमियों के स्वरूप का निर्णय करता है, परन्तु जिज्ञासु किस भूमि के योग्य है, इस योग्यता का निर्णय तो उस के पूर्वकृत योगाभ्यास के तथा सामर्थ्य के बल पर ही हो सकता है। शास्त्र स्वतन्त्रतया किसी की योग्यता का निर्णायक नहीं हो सकता।

८. योग शास्त्र में अश्रद्धा का कटु फल

वैदिक शास्त्र में श्रद्धा तथा स्वाध्याय-रहित मार्ग का अनुसरण करने में कितना महान् अनर्थ हो सकता है, यह योगदर्शन के (१,१६;२०) सूत्रों के व्यासभाष्य तथा तत्त्व-वैशारदी टीका में वायु पुराण के उद्धृत वाक्यों के मनन से स्पष्ट प्रतीत होता है:—

"यह असम्प्रज्ञात रूप परम योग के दो भेदों का वर्णन है। श्रुति में श्रद्धा रखने वाले, श्रुति के श्रवण और मनन के द्वारा परम लक्ष्य की ओर उसके साधनों की शिक्षा के अनन्तर जो जिज्ञासु परम लक्ष्य की सिद्धि के लिए यत्न करते हैं, बीसवें सूत्र में उनके मार्ग का निर्देश किया गया है, कि वे किस प्रकार क्रम से सच्ची विवेक-ख्याति द्वारा गुण अधिकार समाप्त हो जाने पर, असम्प्रज्ञात-स्वरूप स्थिति से परम लक्ष्य की सिद्धि में सफल-मनोरथ होते हैं। वे संसार-बन्धन से मुक्त हो जाते हैं और फिर संसार में नहीं आते। परन्तु जो लोग श्रुति-मार्ग का अनुसरण न कर, अन्य मार्गों का अवलम्बन करते हुए असम्प्रज्ञात समाधि का लाभ करते हैं, उनकी वह असम्प्रज्ञात समाधि स्वरूप-स्थिति नहीं होती, वह एक प्रकार की लय अवस्था होती है, जिसको वेदान्त के ग्रन्थों में विघ्न कहा गया है।

असम्प्रज्ञात रूप योग के दो भेद हैं—(१) उपाय-प्रत्यय तथा (२) भव-प्रत्यय। भव-प्रत्यय का वर्णन निम्नप्रकार से है।

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् । योग १,१९

"विदेह और प्रकृतिलीन अभ्यासियों का भव—संसार अनात्म पदार्थ—के ध्यान अथवा अनात्म में आत्मबुद्धियुक्त भव-प्रत्यय होता है।

व्यास भाष्य—विदेहानां देवानां भवप्रत्ययः। ते हि स्वसंस्कारमात्रोपयोगेन चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्तः स्वसंस्कारविपाकं तथाजातीयकमतिवाह-यन्ति। तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्यपदमिवा-नुभवन्ति, यावन्न पुनरावर्ततेऽधिकारवशाच्चित्तमिति ॥

विदेह नाम वाले देवताओं की असंप्रज्ञात स्थिति का कारण भव (अनात्म पदार्थों की उपासना) कारण होता है। पांच भूत तथा उनकी ग्राहक इन्द्रियों में आत्म-बुद्धि रखने वाले उन उन भूत आदि की उपासना द्वारा, जिनके अन्तःकरण उनकी वासना से युक्त हो गये हैं, वे शरीर समाप्ति के अनन्तर इष्ट भूत और इन्द्रियों में लीन हो जाते हैं, उनका मन संस्कार मात्र शेष रहता है। वे भौतिक शरीर के अभाव के कारण विदेह कहलाते हैं। वे विदेह केवल स्वसंस्कार से युक्त चित्त के द्वारा कैवल्य पद के समान अवस्था को अनुभव करते हैं (वृत्ति रहित होने से कैवल्य के साथ समानता है, अधिकार —भोग-मोक्ष रूप)—सहित संस्कार शेष से भिन्नता है। (उपासना रूप प्रयत्न के उपर्युक्त फल की अवधि समाप्त होने पर) वे निज संस्कार विपाक रूप उपर्युक्त स्थिति से च्युत होकर पुनः संसार में उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार प्रकृति लय (जो अभ्यासी वैदिक श्रद्धा शून्य, पञ्च सूक्ष्म भूत, अहंकार, बुद्धि और मूल प्रकृति रूप प्रकृतियों में आत्म-भावना

के कारण, उन उन की उपासना द्वारा, देह पात के अनन्तर उन प्रकृतियों में लीन हो जाते है) अपने (अधिकार शेष) चित्त के प्रकृति में लीन होने पर कैवल्य के समान दशा को अनुभव करते हैं; जब तक कि भोग-मोक्षरूप चित्त के अधिकार—कर्तव्य—शेष के कारण पुनः इस संसार में नहीं लौटते अर्थात् उत्पन्न नहीं होते।

वायु पुराण के निम्नलिखित श्लोक व्यास-भाष्य की वाचस्पति कृत तत्त्व विशारदी टीका में उद्धृत किये गये हैं।

दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः ।
भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रन्त्वभिमानिकाः ॥
बौद्धा दशसहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः ।
पूर्णं शतसहस्रन्तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः ॥
पुरुषं निर्गुणं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते ।

इन्द्रियों की आत्मभाव से उपासना करने वाले उपर्युक्त कैवल्य के समान दशा में दस मन्वन्तरकालपर्यन्त निवास करते हैं, और पञ्चभूतों के उपासक सौ मन्वन्तर, अभिमानिक (अहंकार प्रकृति के उपासक) हजार मन्वन्तर और बुद्धि के उपासक दस हजार मन्वन्तर तक उपर्युक्त क्लेश रहित अवस्था में रहते हैं। परन्तु निर्गुण पुरुष में यथार्थ आत्मबुद्धि वालों को ही यथार्थ कैवल्य की उपलब्धि होने से वे कालातीत हो जाते हैं अर्थात् पुनः संसार में नहीं लौटते।

उपायप्रत्यय का वर्णन निम्न प्रकार से है:—

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥ योग १,२०.

विदेह प्रकृतिलयों से भिन्न असंप्रज्ञात योगाभ्यासियों को स्थिति (समाधि) लाभ होने के ये कारण हैं:—

१ श्रद्धा, २ वीर्य, ३ स्मृति, ४ समाधि, ५ प्रज्ञान।

व्यास भाष्य—उपायप्रत्ययो योगिनां भवति। श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः। सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति। तस्य हि श्रद्दधानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते। समुपजातवीर्यस्य स्मृतिरुपतिष्ठते। स्मृत्युपस्थाने च चित्तमनाकुलं समाधीयते। समाहितचित्तस्य प्रज्ञाविवेक उपावर्तते। येन यथार्थं वस्तु जानाति। तदभ्यासात् तद्विषयाच्च वैराग्यादसम्प्रज्ञातः समाधिर्भवति।

उपाय प्रत्यय तो केवल योगियों को होता है। (१) श्रद्धा (आगम अनुमान, आचार्य उपदेश द्वारा प्राप्त आत्मतत्त्व के विषय में) चित्त का संप्रसाद रुचि—तीव्र इच्छा—का नाम है, क्योंकि वही माता के समान पुत्र का कल्याण करने वाली योगी की रक्षा करती है, और पथभ्रष्ट नहीं होने देती। (२) ऐसे श्रद्धालु आत्म-अनात्म विवेकी को ही (परमलक्ष्य सिद्धि के लिए अदम्य) उत्साह उत्पन्न होता है। (३) ऐसे उत्साह (वीर्य) से

सम्पन्न मनुष्य की (अपने लक्ष्य की) स्मृति सदा बनी रहती है। (४) ऐसी स्मृति से चित्त का समाधान सहज (निरायास) ही लाभ होता है। (५) समाहितचित्त को ही यथार्थ प्रज्ञा—समाधि-जन्य विवेक—उत्पन्न होता है, जिससे वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानता है। प्रत्यक्ष सम्प्रज्ञात समाधि के अभ्यास से उसके विषय के यथार्थ बोधद्वारा उससे वैराग्य होता है। फिर असम्प्रज्ञात समाधि का लाभ होता है।

उपर्युक्त पांच उपाय प्रयुक्त योगियों (पातंजल अभिमत वैदिक योगियों) को असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है। उपर्युक्त पांच कारणों में से प्रत्येक पूर्व पूर्व का कार्य है:—

सांख्यदर्शन सांख्यकारिका तथा ईशोपनिषद् में भी विदेह तथा प्रकृतिलयों का वर्णन मिलता है।

न कारणलयात् कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात्। सांख्य ३,५४

महदादि सांख्यप्रोक्त २३ प्राकृतिक तत्त्वों से वैराग्य हो जाने पर भी जब शेष चौबीसवें जड़, अनात्ममूल प्रकृतिरूप तत्त्व में आत्म-भावना (प्रकृतिपुरुष-विवेक अभाव के कारण) बनी रहती है, और उसकी आत्मभाव से उपासना की जाती है, तो प्रकृति-उपासना के फल रूप से ऐसा साधक देह-पात के अनन्तर उपास्य प्रकृति में लीन हो जाता है। उसके जन्ममरण रूप संसार-चक्र की निवृत्ति होकर कृतकृत्यता नहीं होती। क्योंकि जल में मग्न पुरुष के समान (एक लक्ष वर्ष के पश्चात्) पुनः उसका उत्थान होता है, अर्थात् इस व्यक्त कार्यरूप जगत् में प्रवेश होता है। प्रकृति-उपासना के कारण महान् सांसारिक ऐश्वर्य प्राप्त होने पर भी योग, क्षेम आदि अनन्त सांसारिक दोषों से उसका छुटकारा नहीं होता।

दैवादिप्रभेदाः। सांख्य ३,४६

दैव आदि व्यष्टि सृष्टि के अवान्तर भेद हैं:—(१) दैव सर्ग आठ प्रकार का है जैसे—ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र, गांधर्व, याक्ष, राक्षस, पैशाच। (२) तिर्यग् योनि के पांच प्रकार हैं—पशु, पक्षि, मृग, सर्प के समान चलने वाले, तथा स्थावर (वृक्ष) (३) मानुष सर्ग एक प्रकार का है। विराट् से उपर्युक्त भौतिक सृष्टि की उत्पत्ति होती है।

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं तत्कृते सृष्टिराविवेकात्॥ सां० ३,४७

सर्वोत्कृष्ट दैवसृष्टि आदि सर्व विवेक-ख्यातिरूप परम पुरुषार्थ की सिद्धि पर्यन्त है। अर्थात् विवेक-ख्याति के अभाव से सब दैवादि संसार-चक्र में भ्रमण करते रहते हैं। इनको मोक्षरूप विश्रान्ति प्राप्त नहीं होती। ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त व्यष्टि सृष्टि भी विराट् सृष्टि के समान विवेक-ख्यातिरूप पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए ही होती है।

वैराग्यात्प्रकृतिलयः संसारो भवति राजसाद्रागात्।
ऐश्वर्यादविघातो विपर्ययात्तद्विपर्यासः॥ सांख्य कारिका ४५

पुरुषज्ञानरहित वैराग्यमात्र से प्रकृति के कार्यों—महत्, अहंकार, भूत और इन्द्रियों में लय अवस्था को प्राप्त होता है। जिन जिन की मनुष्य ने आत्मबुद्धि से

उपासना की है। राजस राग से दुःख स्वरूप संसार को प्राप्त होता है। ऐश्वर्य (उपासना द्वारा प्राप्त विभूति) के कारण प्रथम (प्रकृतिलय) की इच्छा का विघात नहीं होता, जो चाहता है वही कर सकता है। दूसरे (राजस राग युक्त) की इच्छा का विघात होता है अर्थात् अनैश्वर्य के कारण उसकी इच्छा पूर्ण नहीं होती।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्यां रताः ॥ ईश १२

जो पुरुष असम्भूति प्रकृति—कारण अविद्या की उपासना करते हैं, वे उपास्य के अनुरूप अज्ञानात्मक तम (अंधकार) में प्रवेश करते हैं। और जो साधक सम्भूति-कार्य ब्रह्म हिरण्यगर्भ—की उपासना करते हैं, वे पूर्व से भी अधिक तम में प्रवेश करते हैं।

अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात् ।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ ईश १३

अब १४ वें मंत्र में वर्णित समुच्चय का कारण जतलाने के लिए उपर्युक्त प्रत्येक उपासना में फलभेद का वर्णन करते हैं। कार्यब्रह्म की उपासना का फल अणिमा आदि ऐश्वर्य रूप है और प्रकृति (असम्भूति) की उपासना का फल पूर्वोक्त से भिन्न प्रकृति लय रूप है। यह हमने विद्वान् तथा धैर्यवान् महापुरुषों से सुना है। जो इन उपासनाओं के फलभेद का हमें उपदेश करते हैं।

संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह ।

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्यामृतमश्नुते ॥ ईश १४

इसलिए उपर्युक्त संभूति तथा असंभूति की उपासना का समुच्चय संभव है, क्योंकि यह एक ही पुरुष के इष्ट तथा इष्ट-साधन बन सकते हैं, अर्थात् इसलिए जो साधक कार्यब्रह्म की अभेद उपासना तथा प्रकृति की उपासना एक साथ करते हैं, वे अनैश्वर्य तथा अधर्म कामादि रूप मृत्यु को लांघ कर अणिमादि की सिद्धि उपासना के बल से प्राप्त करते हैं और प्रकृति की उपासना से प्रकृतिलय लक्षण वाले सापेक्ष अमृत को प्राप्त करते हैं। अर्थात् कार्य-कारण ब्रह्म की उपासना से संसार-गति ही प्राप्त होती है; यद्यपि वह बहुत ऊंची स्थिति ही हो। संसार-चक्र की निवृत्ति कार्य-कारण अतीत निर्गुण ब्रह्म की उपासना से ही हो सकती है।

विदेह तथा प्रकृतिलय की अवस्थाएं महान् परिश्रम करके योगद्वारा प्राप्त होती हैं, क्योंकि उन अवस्थाओं की अवस्थिति के काल में मोक्ष के समान ही त्रिविध दुःख की अत्यन्त निवृत्ति होती है, इसलिये इन अवस्थाओं में मोक्ष की भ्रान्ति होती है। ये अवस्थाएं दिव्यलोक के अधिपतियों (ब्रह्मा, प्रजापति, देवेन्द्र आदि) से भी अत्यन्त विलक्षण सुखदायी होती हैं। इन अवस्थाओं में उनके वर्तमान रहते हुए दुःख का लेशमात्र भी नहीं होता। जब जिज्ञासु श्रुति में आस्तिक भाव नहीं रखता और श्रुति प्रतिपादित,

परमध्येय ब्रह्म और उसके द्वारा प्रतिपादित ज्ञान की साधना तथा श्रुति के अनुकूल योग का अनुसरण न करके केवल अपनी विचित्र मति के आधार पर स्वतन्त्रता पूर्वक किसी योग-विधि का अनुसरण करता है, तथा भौतिक पदार्थों में ही चित्त-वृत्ति का निरोध करता है, तब इस प्रकार के साधनों से वह विदेह तथा प्रकृतिलय दशाओं को प्राप्त कर लेता है, और इन्हीं स्थितियों से कृतकृत्यता मान लेता है। अतः परमध्येय को नहीं प्राप्त करता। वह इन स्थितियों में दिव्य गतियों के समान ही सहस्र मन्वन्तर वर्षों तक अर्थात् अनेक वर्षों तक त्रिविध दुःख से रहित स्थिति का अनुभव करता है और फिर इस दुःखमय संसार में लौट आता है। जब इस निरुद्ध स्थिति से ऐसे जीवों का उत्थान होता है, तब वे अज्ञान की विद्यमानता से पुनः संसारगति को प्राप्त करते हैं। यह अज्ञान आत्म-साक्षात्कार से ही नष्ट हो सकता है, जो उनको नहीं हुआ। उनकी भूत, तन्मात्रा आदि में ही आत्म-भावना है। श्रुति से असम्मत इस योग के फल का यह कितना भयानक चित्र है। महान् सिद्ध अर्थात् शक्ति सम्पन्न योगियों का भी यदि श्रुति के श्रवण आदि के तिरस्कार से इतना महान् अनर्थ हो सकता है, तो अन्य सामान्य अनासक्ति आदिकों को, अथवा शास्त्र, श्रद्धा तथा स्वाध्याय हीन सामान्य योग मात्र को ही सर्वस्व समझने वाले और सामान्य चमत्कारों या शान्त स्थिति से ही अपने आप को कृतकृत्य समझने वालों की भ्रान्त धारणाओं का दुष्परिणाम—संसार-गति—होने में सन्देह ही क्या हो सकता है। अतः शास्त्र में अनन्य श्रद्धा रख कर उसका श्रवण (स्वाध्याय) ब्रह्मविद्या का प्रथम अनिवार्य साधन है। इसीलिए योगसूत्र (१,२०) में वर्णित वेदोक्त योग के साधनों में श्रद्धा को प्रथम स्थान दिया गया है। क्योंकि, वही श्रद्धा वीर्य (बल-धैर्य), स्मृति, समाधि-प्रज्ञादि तथा वेदोक्त असम्प्रज्ञातरूपी योग के उपायों की जननी है। अतः श्रद्धारूपी जननी के अभाव में अन्य उपायों तथा फलों का होना अत्यन्त असंभव है। इस लिये विचारयुक्त साधकों को योग के साथ साथ स्वाध्याय को भी उपयुक्त स्थान देना चाहिए।

६. योग के स्वरूप अथवा लक्ष्य सम्बन्धी भ्रान्ति

श्रुति और उसको अनुसरण करने वाला योगदर्शन लक्ष्य तथा साधन को याथातथ्य प्रकार से निरूपण करता है। योग के स्वरूप, साधना के भेद, अनुभूतियों का कार्य-क्षेत्र तथा परमलक्ष्य का श्रुति के संकेत के आधार पर भली प्रकार निरीक्षण किये बिना योग में प्रवृत्ति सफल नहीं हो सकती। शारीरिक तथा मानसिक अनेक विघ्न योग में उपस्थित हो सकते हैं। उनको पहले से ही सावधानी से रोका जा सकता है और उनके उपस्थित होने पर उन्हें विघ्नरूप में पहचान कर उनका निवारण भी किया जा सकता है।

किसी डाक्टर महोदय ने योग पर एक ग्रन्थ लिखा है। उस ग्रन्थ में योग का लक्षण इस प्रकार किया है:—कि श्वास, प्रश्वास तथा हृदय के स्पन्दन का निरोध करना योग है। इसी लक्षण के तथा स्वरूप के आधार पर अन्य कई योग-साधनों का उसने निरूपण किया है। उस ग्रन्थ में लिखा है कि योगी जन दूध तथा फल का अल्प आहार करते हैं, एकान्त में रहते हैं, मौन धारण करते हैं और गुफा में निवास करते हैं। इस प्रकार का आचरण वे लोग इसलिए करते हैं कि CO_2 कम उत्पन्न हो, क्योंकि CO_2 कम

पैदा होने से योगी को हृदय गति के रोकने के कार्यों में सुविधा होती है। CO_2 वह कार्बोनिक एसिडगैस है, जो प्रति श्वास के रूप में मुख और नासिका से बाहर निकलती है। इस CO_2 गैस का तथा श्वास और प्रश्वास का इस प्रकार का वर्णन किसी प्राचीन योग-ग्रन्थ में नहीं है। हठयोग के ग्रन्थों में भी यह उल्लेख कहीं नहीं है कि गुफा आदि में इसीलिए निवास किया जाता है। आज कल योग के चमत्कार दिखाने वाले ऐसे योगी अवश्य मिलते हैं, जो जनता को हृदय तथा फुफ्फुस की गति बन्द करके दिखाते हैं। डाक्टर ऐसे अवसर पर परीक्षा भी करते हैं। इससे सामान्य जनता तथा डाक्टरों को यह भ्रान्ति हो सकती है कि योग का लक्ष्य तथा कार्य श्वास, प्रश्वास तथा नाड़ी की गति को रोकना है। इस प्रकार वे योगियों के आहार, निवास आदि के सम्बन्ध में यह धारणा कर सकते हैं कि योगी इस प्रकार की क्रियाएं CO_2 कम करने के लिए करते हैं, क्योंकि ऐसे योगियों का मुख्य चमत्कार श्वास तथा प्रश्वास की गति को रोकना ही होता है। अब कई महानुभावों ने राज-योग के ग्रन्थों की व्याख्या में भी इसी शैली का प्रयोग किया है। डाक्टर की योग की उपर्युक्त परिभाषा के साथ CO_2 की बात का कुछ युक्ति-संगत मेल भी हो सकता है, परन्तु राजयोग में, जहां योग की परिभाषा ही भिन्न है और योग का लक्ष्य चित्त-वृत्तियों का निरोध या जीवात्मा का परमात्मा के साथ मेल आदि है, इस CO_2 के भौतिक विज्ञान के सिद्धान्त का कैसे सामञ्जस्य हो सकता है, यह बात समझ में नहीं आ सकती। इस एक उदाहरण से ही स्पष्ट हो जाता है कि श्रुति द्वारा निर्देश किये गये योग के स्वरूप तथा लक्ष्य को यदि सर्वदा सम्मुख न रखा जावे, तो इस सम्बन्ध में भ्रान्ति हो जाना स्वाभाविक है और इस भ्रान्ति के कारण साधनादि में भी भ्रान्ति अनिवार्य हो जाती है। इस प्रकार की अनेक भ्रान्तियों के कारण साधक का मनोरथ सफल नहीं होता।

१० योग की अनुभूतियों में भ्रान्ति

योग अत्यन्त रहस्यमय है। सामान्य बुद्धि से इस कार्य-क्षेत्र का निर्णय करना असंभव है। जिस प्रकार समुद्र में गोता लगाने पर रेत, पत्थर, मोती, और भिन्न २ प्रकार के हीरे आदि अनेक पदार्थ हस्तगत हो सकते हैं। यदि इन पदार्थों के भेद का ज्ञान न हो, तो मनुष्य जो कुछ भी उसे मिल जाए, उसी को हीरा समझने की भूल कर सकता है अथवा हीरे को पत्थर समझ कर फैंक भी सकता है। ऐसी भूल तथा मूर्खता के कारण मनुष्य जीवन की बाजी लगा कर भी फल से वञ्चित रह जाता है। ठीक इसी प्रकार योगरूपी क्षेत्र महान् रत्नों से भरा हुआ समुद्र है। इसका अनुष्ठान करने पर अनेक पदार्थ उपलब्ध होते हैं। जो अनर्थकारी, निरर्थक या मूल्यवान् भी होते हैं। जो मूल्यवान् होते हैं, उन में भी मूल्य का तारतम्य होता है। इनके भेद को न जानता हुआ साधक भूल कर सकता है। वह निरर्थक को मूल्यवान्, मूल्यवान् को निरर्थक या कम मूल्य वाले को अधिक मूल्य वाला समझ कर और समझ के अनुसार आचरण करता हुआ विफलमनोरथ हो जाता है। योगसिद्धि की पहिचान तथा उसकी प्राप्ति के लिए शास्त्र-ज्ञान तथा धैर्य की बहुत आवश्यकता है। जब चित्त-वृत्तियों का सामान्य निरोध भी होता है, तो भी उसका कुछ न कुछ परिणाम अवश्य होता है। पहले तो साधक के अपने

प्राचीन संस्कार ही वृत्ति का रूप धारण कर लेते हैं। वह इनको ही सूक्ष्म जगत् के यौगिक अनुभव मान लेता है तथा इस सामान्य तुच्छ रेत को ही योग की सिद्धि मान बैठता है।

जैसे इस जगत् में अनेक प्रकार के भले बुरे मनुष्य हैं, इसी प्रकार सूक्ष्म जगत् में भी असुर तथा देव शक्तियां हैं। प्रारंभिक जिज्ञासु के लिए इनमें भेद करना कठिन होता है। उसे जो भी अनुभव होता है, वह उसे ही अपने लोभ, मोह या अभिमान के वश हो कर दिव्य, तथ्य और परमोपयोगी अनुभव मान लेता है। उसके अपने प्राचीन दबे हुए संस्कार अपनी पूर्ति के लिए अनेक रूप धारण कर लेते हैं और आवेश के रूप में पूर्ति चाहते हैं, जिसका मनुष्य को ठीक बोध नहीं होता। किसी ऐसे अनुभव के दृश्य—शब्दादि—को परम सत्य मान लेना बड़ी भूल है। जिस परम सत्य की उपलब्धि के लिए "अनेकजन्मसंसिद्धिः" कहा गया है, उसे थोड़े ही दिनों में हस्तगत कर लेने की दुराशा केवल अभिमान तथा अज्ञान के कारण ही हो सकती है। बहुधा मनुष्य अधीरता के कारण उपयुक्त परीक्षा नहीं करता। दस बातों में यदि एक सच्ची और नौ झूठी निकलती हैं, तो उन नौ की उपेक्षा करके एक का अधिक मूल्य लगाता है और उसके आधार पर दिव्य सन्देश की घोषणा कर देता है। एक आध भविष्य की वार्ता तो अनुमान से भी ठीक निकल सकती है। इस एक आध से वास्तविक सिद्धि की क्या सम्भावना हो सकती है, परन्तु मोह तथा अभिमान इन सन्देशों तथा वाणियों में असल नकल की तुलना नहीं करने देते। अपने ऐसे मनोभावों और आकांक्षाओं को ही दिव्य सन्देश तथा दर्शनों का नाम दे दिया जाता है। जो देवताओं के या अन्य दिव्य दर्शन कहे जाते हैं, सम्भवतः वे भी संस्कारवश मिथ्या या आंशिकरूप से सत्य हो सकते हैं। यदि उनके सत्य या मिथ्या होने का निश्चय करना हो तो उनके प्रभाव आदि की विवेचना करनी आवश्यक होती है। परन्तु प्रारंभिक साधक में न तो इस विवेचना की योग्यता होती है और न ही उसे ऐसा विश्लेषण करना प्रिय लगता है। वह तो अपने वृथा अभिमान के कारण जो कुछ भी उसके सामने आता है उस पर भूखे के समान टूट पड़ता है। ऐसी अवस्था में शुद्ध-अशुद्ध तथा सत्य-असत्य के विवेक का धैर्य ही दुर्लभ होता है।

कई साधक अल्पकाल की साधना में ही ऐसा मानने लगते हैं कि उन्हें वास्तविक दिव्य तथा सगुण दर्शन हो रहे हैं, परन्तु उनके जीवन के व्यवहार तथा मानसिक सन्तोष और शान्ति आदि में कुछ अन्तर नहीं आता। क्या शास्त्र में भगवद्दर्शन का यही फल वर्णन किया गया है कि भगवद्दर्शन भी हो जाए और जीवन भी वैसा का वैसा अशान्त तथा विषयासक्त बना रहे। भगवान् के किसी रूप का दर्शन भी जीवन को आनन्दमय बना देता है। उसकी एक झलक भी एक वार में ही संसार-दर्शन को परिवर्तित कर देती है। भगवान् के दर्शन के पश्चात् भी वही राग-द्वेष तथा लोभ आदि से युक्त व्यवहार कैसे रह सकता है? ऐसे तामसिक व्यवहार तो दर्शनाधिकारी अभ्यासी के दर्शन से पूर्व ही निवृत्त हो जाते हैं। दर्शन के पश्चात् इनके ठहरने की तो बात ही क्या है? ये दिव्य दर्शन सम्पूर्ण जीवन को दिव्य बना देते हैं। कोई भाग्यवान् ऐसे दर्शन पाकर विस्मित होता है कि उसके लिए संसार कैसे परिवर्तित हो गया। उसकी काया पलट हो जाती है। मनुष्य चित्र में

भी तो भगवान् के सगुण रूप के दर्शन करता है, इस दर्शन से जीवन में क्या विशेष परिवर्तन होता है। यह चित्र लौकिक है, दिव्य नहीं, अतः उसका कुछ प्रभाव नहीं होता। ऐसे ही मनोभावना से कल्पित दर्शन वास्तविक दिव्य दर्शन से भिन्न है। इसका प्रभाव मनुष्य के मन तथा जीवन पर कुछ नहीं होता। परन्तु इस प्रकार के भेद तथा मीमांसा करने का जिज्ञासु के पास विवेक नहीं होता और न ऐसा करना उसको अच्छा लगता है, क्योंकि वह तो झट उसको सत्य मान कर योगोपाधि ग्रहण करने को उत्सुक होता है। यह उत्सुकता उसकी विवेचन की शक्ति तथा सत्यासत्य के निर्णय के सामर्थ्य को हर लेती है। इस प्रकार कुछ योगमार्गाभिमानी लोग बैठने पर ही झट दिव्य प्रकाश आदि करना कराना चाहते हैं। इन बातों के सिवाय अपनी तथा दूसरों की वञ्चना के अतिरिक्त और कुछ लाभ नहीं होता। ऐसे ही योग की अनुभूतियां अनेक प्रकार की होती हैं। योग से ज्ञान, आवेश, शक्ति आदि भिन्न २ प्रकार की होने वाली अनुभूतियों का विस्तृत विवेचन करने का यहां न तो अवकाश है और न आवश्यकता। इनके तथ्यातथ्य निर्णय करने के लिए शास्त्र-बोध ही सहायक है। यह सत्य है कि ऐसे गुह्य अध्यात्म-शास्त्र का रहस्य भी किसी अनुभवी के द्वारा ही ज्ञात हो सकता है। अन्यथा जिज्ञासु कई यथार्थ वर्णनों को कल्पना मात्र कह देता है अथवा किसी कल्पना (वर्णन) का वास्तविक तात्पर्य क्या है, इसका केवल शब्द के पाण्डित्य से निर्णय नहीं हो सकता। अनुभवी महात्मा तो अति दुर्लभ हैं ही, उनके महत्त्व का निरादर कौन कर सकता है, परन्तु श्रुति तथा ऋषिप्रणीत अध्यात्म-विद्यासम्बंधी ग्रन्थ भी रहस्यमय ब्रह्मविद्या के सच्चे अनुभवों से भरे हुए हैं। अतः शास्त्र में अनन्य श्रद्धा रख कर उन का सदुपयोग करना ही युक्ति-युक्त मार्ग है। जैसे भौतिक विज्ञान-क्षेत्र में उन्नति के लिए (१) प्राचीन विद्वानों के आविष्कारों सम्बंधी ग्रन्थ, (२) वर्तमान शिक्षक तथा यन्त्रों का प्रयोग और (३) अन्य प्रकार के प्रयत्न—ये तीन भिन्न २ साधन परस्पर सहायक हैं और उनके समुच्चय के प्रयोग से ही सफलता हो सकती है। इसी प्रकार अध्यात्मविद्या के क्षेत्र में तो यह नियम और भी अधिक आवश्यक है, क्योंकि यह विद्या अति रहस्यमय है तथा श्रुति सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परम-हितैषी ईश्वर का ज्ञान है और ऋषियों के अनुभव इसका अनुमोदन करते हैं। वर्तमान काल का साधारण योगाभ्यासी प्राचीन ऋषियों के समुच्चय अनुभव से अपने अनुभव की सामान्यतया कैसे तुलना कर सकता है ?

११. उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि वर्तमान काल में अध्यात्म विद्या के दो सहकारी तथा उपयोगी साधन श्रुति का स्वाध्याय तथा योग पृथक् पृथक् हो गये हैं। अतः परमलक्ष्य की सिद्धि में बाधा उपस्थित हो रही है, जिससे श्रुति के सिद्धान्त के प्रति विमुखता बढ़ती जाती है। शास्त्रपरायण विद्वान् शास्त्राध्ययन तथा अध्यापन को ही ब्रह्मविद्या का एकमात्र, परम तथा पर्याप्त साधन मानते हैं। ब्रह्म को औपनिषद तत्त्व मानते हैं, (जो ठीक ही है, क्योंकि वह केवल उपनिषद् से ही गम्य है)

इसलिए वे लोग योग, उपासना आदि को अज्ञानमूलक कह कर उनका तिरस्कार करते हैं और इन साधनों को उचित स्थान नहीं देते। दूसरा वर्ग योगमार्ग वालों का है, वे केवल योग से ही परमसिद्धि का होना मानते हैं। श्रुति के अध्ययन को विवाद, संशय, अश्रद्धा आदि का कारण मानते हैं और उसमें श्रम करने को वृथा तथा इन दूषणों को पैदा करने वाला मानते हुए श्रुति के अध्ययन को परमलक्ष्य में बाधक मानते हैं। ये दोनों वर्ग अनुग्रह के कारण श्रुति तथा विचारयुक्ति-सम्मत दोनों श्रेय साधनों के समुच्चय का अनुसरण नहीं करते, अतः विफल-मनोरथ होते हैं। इसलिए विचारशील जिज्ञासुओं को परमलक्ष्य की सिद्धि के लिए इन दोनों परमोपयोगी साधनों का उचित सदुपयोग करना चाहिए। शास्त्र-अध्ययन विना योग के पंगु है और योग विना शास्त्र-अध्ययन के अंधा है। इन दोनों का मेल ही एक दूसरे की अपूर्णता को दूर करके मनुष्य को पूर्णता की ओर ले जा सकता है।

१२. यम नियम

योग की उपयोगिता तथा इसके सहकारी श्रुति, श्रद्धा, अध्ययन आदि का विवेचन हो चुका है। इसी बीच में योग के कतिपय विघ्नों का भी चेतावनी के लिए वर्णन किया है। असम्प्रज्ञात समाधि के दो भेद और इनमें कौनसा हेय तथा कौनसा उपादेय है, इसका भी निरूपण हो चुका है। अब योगविषयक कई अन्य उपयोगी बातों का निरूपण किया जाता है।

समाधान प्रकरण में इस विषय का निरूपण हुआ है कि समाधियोग तथा उपनिषद् विद्या के अभ्यास का सच्चा अधिकारी वही है, जो एकाग्र भूमि—समाहितचित्त—वाला हो। विक्षिप्त चित्त वालों के लिए योग के साधन पाद में अन्य उपयोगी पांच बहिरंग साधन बताए गये हैं। इन पांच में से पहले दो—यम-नियमों—का निरूपण योगदर्शन में किया गया है।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ योग २,३०

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ योग २,३२

इनका ही सार रूप से प्रजापति के प्रथम दो उपदेशों में वर्णन है, जिन पर आचरण कर लेने के पश्चात् ही जिज्ञासु को देवताओं के उपदेश इन्द्रिय-दमन अर्थात् वैराग्य और अभ्यास आदि का अधिकार प्राप्त होता है। समाधि के अभ्यास वाले के लिए यम-नियमों का अनुष्ठान स्वाभाविक होता है, और विक्षिप्तचित्त वाले को इनका अनुष्ठान यत्न से करना पड़ता है। परन्तु इनके अनुष्ठान के विना किसी अध्यात्म-मार्गोप-योगी योग का अभ्यास नहीं हो सकता। हठयोग का भी कोई ऐसा प्राचीन ग्रन्थ नहीं मिलता, जिसमें सब से पहले इनका उपदेश न हो। परन्तु आजकल के भोग-प्रधान युग में यम-नियम की ओर कम ध्यान दिया जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस युग में इनका अनुष्ठान अत्यन्त कठिन है, परन्तु कठिन होने से ही इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इनके विना प्राणायाम आदि सभी योग-साधन निरर्थक कुञ्जर-स्नान के समान होते हैं। तथा अनेक शारीरिक तथा मानसिक दुस्साध्य रोगों

और सर्व साधारण में योगसम्बन्धी अश्रद्धा की वृद्धि का कारण बन सकते हैं। इसलिए यम-नियमों की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। यम-नियम का पालन करके आभ्यन्तर शुद्धि की ओर हठयोग की षट्-क्रिया से घटशुद्धि की अपेक्षा अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। यम-नियम अर्थात खान-पान का संयम, तथा ब्रह्मचर्यादि के विना यह षट्-क्रिया भी दुःसाध्य रोग उत्पन्न कर देती है। इन यम-नियमों का सामान्य निरूपण प्रजापति के उपदेश* तथा कर्म प्रकरण+ में हो चुका है। अतः यहां पर इनकी उपयोगिता पर विशेष विचार नहीं किया जाता। इतना ही पर्याप्त है।

१३. हठयोग, षट्-क्रिया, प्राणायाम

आसनादि का मुख्य लाभ आध्यात्मिक है, शारीरिक लाभ गौण है।

आसनों तथा षट्-क्रियाओं का विधान हठयोग सम्बन्धी ग्रन्थों में किया गया है। इनका उद्देश्य आध्यात्मिक होता है, केवल शरीर की नीरोगता के सम्बन्ध में चमत्कारी प्रभाव के कारण ही इनका उल्लेख नहीं है। यद्यपि दुःसाध्य रोगों का निवारण भी इनसे हो सकता है, परन्तु आज-कल केवल इनकी शारीरिक उपयोगिता की दृष्टि से अनेक ग्रन्थ यौगिक चिकित्सा पर लिखे गये हैं, जिनमें आसनों आदि का सविस्तर निरूपण होता है। ऐसे कई योग आश्रमों की स्थापना हुई है, जिनमें विशेषतया केवल शारीरिक उपयोगिता की दृष्टि से इनकी ही शिक्षा होती है। इससे सामान्य जनता को यह भ्रान्ति होती है कि यह आसनादि ही योग हैं और इनका लक्ष्य केवल शारीरिक नीरोगता आदि ऐहिक लाभ हैं, यह बात भी सत्य है कि इन आसनादिकों में ये सब ऐहिक लाभ—शारीरिक नीरोगता आदि—प्राप्त करने के गुण हैं और जिन की दृष्टि केवल ऐहिक लाभ पर है वे भी इनकी ओर इसीलिए आकृष्ट होते हैं। शारीरिक नीरोगता की आध्यात्मिक मार्ग में गौण रूप से उपयोगिता भी है, क्योंकि शारीरिक नीरोगता तथा उपयुक्त सामर्थ्य के विना कोई पुण्य-पापरूपी कर्म नहीं हो सकते। "शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्" निश्चित रूप से शरीर धर्म का सर्व प्रथम साधन है। परन्तु यह दृष्टि कोण ठीक नहीं है, क्योंकि हठयोगादि ग्रन्थ भी अध्यात्मविद्या का निरूपण करते हैं। ये वैदिक ग्रन्थ नहीं हैं। इनमें भी इन क्रियाओं का उल्लेख मुख्यतया आध्यात्मिक प्रभाव की दृष्टि से किया गया है। हठयोगप्रदीपिका में सिद्धासन का लाभ इस प्रकार वर्णित है:—

चतुरशीतिपीठेषु सिद्धमेव सदाभ्यसेत्।
द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधनम्॥ १, ३९
आत्मध्यायी मिताहारी यावद् द्वादशवत्सरम्।
सदा सिद्धासनाभ्यासाद्योगी निष्पत्तिमाप्नुयात्॥ १, ४०

* ब्रह्मविद्या दूसरा खण्ड पहिला अध्याय।
\+ „ तीसरा खण्ड „ „

उत्पद्यते निरायासात्स्वयमेवोन्मनी कला।
तथैकस्मिन्नेव दृढे बद्धे सिद्धासने सति॥ १, ४१
बन्धत्रयमनायासात्स्वयमेवोपजायते॥ १, ४२

अर्थात् बहत्तर हज़ार (७२०००) नाडियों, जिनका वर्णन प्रश्नोपनिषद् (३,६) तथा कठोपनिषद् (६,१६) में पाया जाता है, के मल को शोधन करना तथा बारह वर्ष तक इस आसन का अन्य अंगों सहित अनुष्ठान करने से उन्मनी समाधि की अवस्था की सिद्धि आदि आध्यात्मिक लाभों का यहां उल्लेख है। इन आसनों का मुख्य प्रयोजन यह आध्यात्मिक लाभ ही है। इसी प्रकार षट्-क्रिया आदि का उपयोग भी इसी दृष्टि से किया गया है (हठयोग प्रदीपिका २,४)। इसका तात्पर्य यह है कि षट्-क्रिया आदि का निरूपण केवल शारीरिक आरोग्य के सम्पादन के लिए नहीं है, किन्तु शारीरिक नीरोगता गौण है और उन्मनी अवस्था की प्राप्ति, मध्य-मार्ग-प्रवेश तथा कुण्डलिनी के जागरण में सहायक होना इन सब साधनों के मुख्योद्देश्य हैं। यह अध्यात्म दृष्टि-कोण है।

१४. निपुण अनुभवी आचार्य की आवश्यकता

उपर्युक्त षट्-क्रिया आसन आदि का यहां पर विस्तार से निरूपण करना अभीष्ट नहीं है। विस्तृत निरूपण के पश्चात् भी इसके अनुष्ठान के लिए किसी जानकार की सहायता की आवश्यकता रहती है। केवल किसी ग्रन्थ के वर्णन के आधार पर इन आसन, षट्-क्रिया, प्राणायाम आदि को कोई विधि के अनुसार नहीं कर सकता। ऐसा करने पर अनेक भयानक प्राण-नाशक रोग उत्पन्न हो सकते हैं। अतः बिना किसी दक्ष, निपुण गुरु के इस मार्ग में प्रवेश कदापि नहीं करना चाहिए। अन्यथा "पीछे पछताये क्या होत हैं, जब चिड़ियां चुग गयीं खेत" वाली उक्ति चरितार्थ होगी। कहा भी है:—

प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत्।
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुद्भवः॥ हठयोग प्रदीपिका २,१६

भली प्रकार किये प्राणायाम आदि साधनों से सब रोगों का नाश होता है और अयुक्त ढंग से किये गये ये योग के अभ्यास सब रोगों को उत्पन्न करते हैं।

१५. हठयोगादि साधनों की उपयोगिता तथा मर्यादा

यहां पर हमारा उद्देश्य इन साधनों की मर्यादा, अवधि तथा उपयोगिता पर विचार करना है, क्योंकि उचित मर्यादा ही सर्वत्र दुर्लभ है। एक वर्ग ऐसा दीखता है, जो इन क्रियाओं तथा इनके शारीरिक लाभ को ही योग मान कर अपनी संपूर्ण आयु इन्हीं के अभ्यास में खपा देता है और परमलक्ष्य से कोरा रह जाता है। दूसरा वर्ग वह है, जो इन साधनों को योग-सिद्धि के लिए परमोपयोगी तथा अनिवार्य मानता है। वह यम-नियमादि द्वारा भीतरी शुद्धि को भी इन साधनों की अपेक्षा बहुत महत्त्व नहीं देता। इस प्रकार इन साधनों का अति प्रयोग हो जाता है और काल, अवस्था आदि के विचार के बिना इन को अनिवार्य मान लिया जाता है। इनको

अध्यात्म योग-साधना का सर्वस्व मान लेना भूल है, क्योंकि इनकी अपेक्षा सात्त्विक मिताहारमात्र से भी दीर्घकाल तक रहने से वही फल सिद्ध हो जाता है, जो इन साधनों से होता है।

प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यन्ति मला इति।
आचार्याणां तु केषांचिदन्यत् कर्म न सम्मतम् ॥ हठ० प्रदी० २,३६

षट्-कर्म के विना केवल प्राणायाम से ही सम्पूर्ण मल—स्थूलता, वात, कफ आदि—संपूर्णतया शुष्क हो जाते हैं। इसलिए याज्ञवल्क्य आदि कई आचार्यों को अन्य अर्थात् षट्-कर्म एतदर्थ अभिमत नहीं हैं।

परन्तु जहां इन का अति उपयोग, दुरुपयोग अथवा अनुचित महत्त्व भ्रान्ति-युक्त होने से हानिप्रद है, वहां हठयौगिक आसन षट्-क्रियादि का नितान्त तिरस्कार भी युक्तियुक्त नहीं है। इनका उचित उपयोग, किसी दक्ष की देख रेख में इनके शारीरिक तथा मानसिक प्रभाव के कारण, लाभदायक ही है। हां! केवल इन क्रियाओं को योग समझ लेना भूल है। दोनों वर्गों के लिये मध्यमार्ग ग्रहण करके स्वयं उचित लाभ उठाना श्रेयस्कर है। तथा अनुचित धारणा, अनुष्ठान तथा वचनद्वारा दूसरों को पथ-भ्रष्ट करने के पाप का भागी नहीं बनना चाहिए।

१६. योग के भेद

पातञ्जलयोग, मन्त्रयोग, हठयोग, कुण्डलिनीयोग, लययोग, भक्तियोग आदि के अनेक भेद हैं। उन सब का विस्तार यहां अनावश्यक है, क्योंकि यह केवल योग विषय का ग्रन्थ नहीं है। यहां तो केवल ब्रह्मविद्या के प्रधान अंग के रूप से योग के उचित महत्त्व, उसके शुद्ध स्वरूप, अन्य अंगों के साथ उसका सम्बन्ध तथा योग के विघ्न-विषयक विवेचन ही अभिप्रेत हैं, जिससे साधक केवल योग के अवलम्बन से अथवा योग को नितान्त त्याग करके चिरकाल तक महान् प्रयत्न करने पर भी विफल-मनोरथ न हो जाए अथवा लक्ष्य की भली प्रकार पहिचान न होने से बीच में ही अपने आप को कृत-कृत्य मान कर प्रयत्न न त्याग दे।

इन सब योगों का अनुष्ठान केवल शास्त्र के सहारे, किसी निपुण, परहित-परायण, अनुभवी महात्मा के विना नहीं हो सकता, नहीं तो अनेक प्रकार के विघ्न तथा भयानक रोग होने का दुर्निवार्य भय है। इस भूल से बहुत सचेत रहना तथा इस चेतावनी को सदा स्मरण रखना चाहिए। इस कारण से भी इनके विस्तार को अनुपयोगी समझ कर ऐसा नहीं किया गया। और इनके अनन्त विस्तार तथा अनुष्ठान का ब्रह्मविद्या में विशेष उपयोग भी नहीं है। यहां पर तो योग का उपयोग केवल चित्त के सूक्ष्म, दिव्य तथा समाहित करने में है, जिससे सूक्ष्मतम ब्रह्मतत्त्व की अनुभूति हो सके। योग के अनन्त अनुष्ठानों से प्राप्त होने वाले आकर्षक अतः बाधारूप अवान्तर फलों से कुछ प्रयोजन नहीं। इसलिए इस प्रकार के ग्रन्थ में इतने महान् विस्तार का कुछ उपयोग नहीं है।

१७. योग का एक सरल तथा उत्तम मार्ग

मार्ग के साधन का महत्त्व तथा जन-प्रमाद

केवल एक सरल, परन्तु सर्वोत्तम, परमोपयोगी, परम सामर्थ्यवान् अमोघ साधन का वर्णन कर देना, सच्ची सात्त्विक श्रद्धा से सम्पन्न साधक के लिए उपयोगी होगा। इस अति सरल उपाय की महिमा के आधार पर प्राणायाम आदि कष्ट-साध्य साधनों का निरादर नहीं करना चाहिए, क्योंकि ये सब साधन भी शास्त्रसम्मत हैं और इनकी महिमा तथा फलों का जो वर्णन शास्त्रों में मिलता है, वह सब सत्य और अनुभव से अनुमोदित है। पर, यह भी सत्य है कि ये सब रहस्यमयी विद्याएं सामान्य मानवीय बुद्धि का काम नहीं हैं। ये परम हितैषी भगवान् तथा महापुरुषों का मनुष्य जाति को दिव्य धाम की ओर लेजाने के लिए कृपाकटाक्ष का प्रसाद हैं। जिस प्रकार वेदादि शास्त्रों का महापुरुषों पर अवतरण हुआ है, उसी प्रकार प्राणायाम आदि के दिव्य ज्ञान का भी महापुरुषों पर भगवत्कृपा से अवतरण हुआ है। जो दिव्य पुरुष जन्म से ही इन दिव्य विभूतियों से सम्पन्न थे, उन्होंने मानवीय सामान्य बुद्धि के अगोचर इन मार्गों का मानव जाति के परम कल्याण के लिए उपदेश किया। परन्तु फिर भी यह कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि ये साधन हैं अतिकष्ट साध्य, और इनकी दीक्षा देने वाले निपुण गुरु का मिलना भी सुलभ नहीं है। यह कठिनाई ही इन मार्गों तथा विद्याओं के अधिक महत्त्व का कारण बन गयी है।

इन से भिन्न शास्त्र में एक सरल उपाय भी वर्णित है। शास्त्र इसकी दूसरे मार्गों की अपेक्षा भूरि-भूरि प्रशंसा भी करता है। परन्तु हम इस को साधारण समझ कर इसे उचित महत्त्व नहीं देते। जैसे कोई बालक समझे कि मीलों तक फैला हुआ महान् अंधकार एक दियासलाई या दीपक के जलाने रूपी साधारण क्रिया से कैसे दूर हो जायगा, इसके दूर करने के लिए तो महान् प्रयासयुक्त कोई बहुत बड़ा यंत्र चाहिए। इसी प्रकार की धारणा हम ने भी इस सामान्य सरल साधन के विषय में बना ली है। हम इसका उपयोग विधि के अनुसार श्रद्धापूर्वक नहीं करते। हम सांसारिक मोहादि के वश हुए अध्यात्म-लक्ष्य की ओर से आत्म-घातक प्रमाद करते हैं। यदि कुछ चेतावनी आती है तो महान् कष्ट-साध्य साधनों की ओर आकृष्ट होते हैं। उन साधनों की उपयुक्त शिक्षा के अभाव से या तो उनका आचरण ही नहीं करते, केवल विचार मन में उठ-उठ कर वहीं लीन हो जाते हैं, अथवा स्वतन्त्ररूप से कुछ करते हैं, तो कई कष्टदायक विघ्नों के उपस्थित हो जाने पर विवश और हताश होकर हमें इस पथ को ही छोड़ देना पड़ता है, अथवा बहु आयास-साध्य होने के भय से हम इनमें प्रवृत्त ही नहीं होते। कोई विरला ही इन साधनों से सफलता प्राप्त कर पाता है। इतना होने पर भी प्राक्तन मलिन संस्कारों, नास्तिकता तथा अश्रद्धा के कारण हम इस सरल और सामान्य परन्तु सर्वोत्कृष्ट, परमोपयोगी और सर्व-विदित साधन की ओर ध्यान तक नहीं देते। इस साधन की शास्त्र में जो महिमा वर्णन की गयी है, वह भी उपर्युक्त अश्रद्धा आदि दोषों के कारण हमें कल्पना सी दीखती है। यह साधन ऐसा है कि इस का अनुष्ठान युवा, बाल, वृद्ध, पुरुष, स्त्री, अनपढ़, पण्डित, धनी, निर्धन, रोगी, बलवान् सभी समान रूप से कर सकते हैं। हमें इस

सरल उपाय का केवल इसकी सरलता के कारण या पाश्चात्य भौतिकशिक्षा के प्रभाव के कारण ध्यान तक नहीं आता। आप पूछेंगे कि इतनी लम्बी भूमिका तो हुई, परन्तु उस साधन का नाम-निर्देश आदि कुछ नहीं हुआ, वह भी तो होना चाहिए। परन्तु यह लम्बी भूमिका की अवतरणिका भी इसीलिए करनी पड़ी है कि आप झट कह देंगे कि यह तो पहले भी कई वार सुना है। इसमें नई बात ही क्या है? परन्तु इसमें नई बात यही है कि आप इसके अमित प्रभाव को नहीं जानते। इसलिए इसमें श्रद्धा नहीं होती। यदि कभी पढ़ते तथा सुनते भी हैं, तो अनसुना सा कर देते हैं, और यही कहते हैं अजी! यह तो दिल बहलावे की बातें हैं, इससे क्या होता है? अब तक इससे किसी का क्या हुआ है? बहुतों ने किया किसी को फल तो होते देखा नहीं। अमुक अमुक वर्षों से इसको करते हैं, परन्तु जीवन में रत्तीभर उन्नति नहीं हुई। इसके माहात्म्य की बातें सब दिल्लगी की बातें हैं। इसीलिए हमें भी इसकी महिमा का विस्तार करना पड़ा है। क्योंकि जनसाधारण अश्रद्धा तथा प्रमाद के वश इस पारसमणि से उदासीन है। और अपने आध्यात्मिक दारिद्र्य का अमोघ उपाय सुलभ होने पर भी दिनरात मोह-पाश में बंधा हुआ अपार चिन्ता में डूबा रहता है। वह उपाय है—भक्तियोग और उसका अत्यन्त सरल तथा अमोघ अंग ओंकार (अथवा अन्य किसी भगवन्नाम) का अवलम्बन।

१८. उपनिषदादि में 'ओम्' महिमा।

'ओम्' की महिमा उपनिषदों में अनेक स्थलों पर वर्णित है।

नचिकेता यम आचार्य से प्रश्न करते हैं—

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद॥ कठ २,१४

भगवन्! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं, तो धर्म तथा अधर्म से अतीत, कार्य तथा कारण जगत् से भी भिन्न, भूत, भविष्यत्, तथा वर्तमान तीनों कालों से अमर्यादित (कालातीत) तत्त्व को जो आप जानते हैं, वह मुझे बताएं।

यम आचार्य उत्तर देते हैं—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥ २,१५

सम्पूर्ण वेद जिस परम पद का विस्तार से निरूपण करते हैं, सम्पूर्ण तपों का विधान जिस पद की सिद्धि के लिये किया जाता है, साधक जिसकी इच्छा से प्रेरित होकर ब्रह्मचर्य आदि कष्ट-साध्य व्रतों का अनुष्ठान करते हैं, उस पद का संक्षिप्त रूप से मैं कथन करता हूं—वह अक्षर 'ओम्' ही है।

'ओम्' महिमा—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतदेवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥ २,१६

यह अविनाशी 'ओम्' ही ब्रह्म है। परमपद की प्राप्ति का साधन होने से यह 'ओम्' अक्षर ही मानों पर (ब्रह्म) है। नाम और नामी का यहां अभेद ही है। इस अक्षर 'ओम्' (की महिमा—प्रभाव) को जान कर अनन्य श्रद्धा के सहित इसका अनुष्ठान करने से मनुष्य अपनी सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर लेता है।

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥ २,१७

यह अत्युत्तम आलम्बन (आश्रय—आधार) है, यह परम आधार है। इस आलम्बन (की महिमा) को जान कर इसके द्वारा ब्रह्मलोक में महिमा को प्राप्त होता है।

एतद्वै सत्यकाम परश्चापरश्च ब्रह्म यदोंकारस्तस्माद्
विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति ॥ प्रश्नोपनिषद् ५,२

जब शिविपुत्र सत्यकाम ने पिप्पलाद महर्षि से मृत्यु के समय 'ओंकार' के ध्यान का फल पूछा, तो ऋषि ने उसे कहा—हे सत्यकाम! निश्चय ही यह जो 'ओम्' है, यही पर तथा अपर ब्रह्म है। इस लिये विद्वान् (ओम् के महत्त्व को जानने वाला) इस ओङ्कार के आश्रय से ही पर तथा अपर ब्रह्म की (अपनी श्रद्धा के अनुसार) प्राप्ति कर लेता है।

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ज्ञाननिर्मथनाभ्यासात्पापं दहति पण्डितः ॥ कैवल्योपनिषद १,११

अन्तःकरण को नीचे की अरणि (अग्नि मथने की समिधा) बनाकर 'ओंकार' को ऊपर की अरणि (अग्नि मथने की समिधा) बनाकर पण्डित ज्ञानरूपी मन्थन के अभ्यास से पाप तथा संसार-वासना को जला देता है।

ओमिति ब्रह्म। ओमिति इदं सर्वम्। ओमित्येतदनुकृति हस्म वा अप्यो श्रावयेत्याश्रावयन्ति। ओमिति सामानि गायन्ति। ओं शोमिति शस्त्राणि शंसन्ति। ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति। ओमिति ब्रह्मा प्रसौति। ओमिति अग्निहोत्रमनुजानाति। ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मैवोपाप्नवानीति। ब्रह्मैवोपाप्नोति। तैत्तिरीय १,८

यह 'ओम्' ब्रह्म (पर) है। यह 'ओम्' ही सर्व (दृश्यमान जगत्) है, अर्थात् शबल ब्रह्म है। 'ओम्' के उच्चारण द्वारा ही श्रेष्ठ जन किसी बात का अनुमोदन करते हैं। 'ओंकार' उच्चारण करके ही गुरु अथवा वक्ता उपदेश का आरम्भ करता है। साम के गान के आरम्भ में भी प्रथम 'ओंकार' का गान होता है। यज्ञ में शास्त्र-शंसन के कर्म करने वाला होता ऋत्विक् 'ओम्' के उच्चारण के अनन्तर ही शास्त्रमन्त्रों का उच्चारण करता है। अध्वर्यु ऋत्विक् भी 'ओम्' का उच्चारण कर प्रतिगर

मंत्र का उच्चारण करता है। ब्रह्मा भी 'ओम्' उच्चारण से अनुमति देता है। ब्राह्मण (ब्रह्मचारी) 'ओम्' उच्चारण द्वारा ही (अध्ययन आरम्भ करने से पूर्व) प्रार्थना करता है कि मैं वेद के अध्ययन की सामर्थ्य प्राप्त करूं। इस विधि से वह सामर्थ्य को प्राप्त कर लेता है।

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयी विद्या संप्रास्रवत्तामभ्यतपत्तस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि संप्रास्रवन्त भूर्भुवःस्वरिति ॥ तान्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्य ओंकारः संप्रास्रवत्तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णान्येवमोंकारेण सर्वा वाक् संतृण्णोंकार एवेदं सर्वम् ओङ्कार एवेदं सर्वम् ॥ छान्दोग्य २, २३,२;३

प्रजापति ने लोकों के उद्देश्य से ध्यान रूप तप किया। इन अभितप्त लोकों से त्रयीविद्या की उत्पत्ति हुई। इस अभितप्त त्रयीविद्या से भूः, भुवः, और स्वः ये महाव्याहृतियां उत्पन्न हुईं। उन अभितप्त महाव्याहृतियों से 'ओंकार' उत्पन्न हुआ। जिस प्रकार नसें सम्पूर्ण पत्ते में फैली हुई होती हैं, इसी प्रकार 'ओंकार' से सम्पूर्ण वाणी व्याप्त है। 'ओंकार' ही यह सब कुछ है।

वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः।
स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे ॥ श्वे० १,१३

जैसे योनि—आश्रयभूत काष्ठ—में स्थित अग्नि का रूप दिखाई नहीं देता, परन्तु उसकी सत्ता का नाश भी नहीं होता क्योंकि वह उपयुक्त यत्न से ईंधनरूप योनि से प्राप्त किया जा सकता है, ठीक ऐसे ही वह दोनों जीव और ईश्वर शरीर में ओंकार के द्वारा ग्रहण किये जा सकते हैं—

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासादेवं पश्येन्निगूढवत् ॥ श्वे० १,१४

अपनी देह को (नीचे की) अरणि बना कर और प्रणव को ऊपर की अरणि बना कर ध्याननिर्मथनरूपी अभ्यास कर अर्थात् शरीर को स्थिर करके प्रणव का एकाग्र मन से अर्थभावना सहित अनन्य श्रद्धा से निरन्तर दीर्घकाल तक जप करे, तो हृदय में छिपे परमात्मा के दर्शन कर लेता है।

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः
स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः
ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं
स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् ॥ मुण्डक २,२,६

जिस प्रकार रथ की नाभि में अरे जुड़े होते हैं, ऐसे ही जिस हृदय में नाडियां स्थित हैं, जिस हृदय में अनेक प्रकार से उत्पन्न (व्यक्त) होने वाला वह आत्मा रहता है, इस

आत्मा का ओम् नाम द्वारा ध्यान करो। अज्ञानमय अन्धकार से अतीत तथा भवसागर के अन्तिम तट रूप आत्मा की प्राप्ति के लिये यह कल्याणकारी हो।

पतञ्जलि ऋषि ने योगदर्शन के समाधिपाद में जहां अनेक विधियों तथा अभ्यासरूपी साधन के सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञातरूपी भेदों का सविस्तर वर्णन (१७-२०) सूत्रों में किया है, वहां इस (ओम्) ही के अभ्यास द्वारा शीघ्रतम प्राप्ति का उपाय भी (२१-२२) सूत्रों में वर्णन किया है। सूत्रकार का विशेष निर्दिष्ट मार्ग यही प्रतीत होता है, क्योंकि विभूतिपाद में भी इसी का अन्यत्र वर्णन है। परन्तु यहां प्रथम समाधिपाद में अभ्यास के अनन्तर शीघ्रतम समाधिलाभ के उपाय के रूप में—विकल्परूप में—सूत्र २३ में ईश्वरप्रणिधान का निरूपण है। भगवान् व्यास का भाष्य इस सूत्र पर बहुत महत्त्व का है तथा परम श्रद्धालुओं के बहुत काम की वस्तु है।

व्यास भाष्य में जहां इस समाधि के लाभ के लिए अभ्यास के अनेक भेद बताए हैं, जिन का समझना तथा अनुष्ठान करना सुगम नहीं है, वहां इस सुलभ उपाय का भी वर्णन किया है; जिससे बहुत अल्पकाल में समाधि का लाभ स्वतः ही हो जाता है। इस में जो हेतु दिया गया है वह मर्मभेदी, रहस्यपूर्ण, अध्यात्मविद्या का सार तथा आस्था की वृद्धि करने वाला है। अन्य उपायों में साधक अकेला अपनी ही अल्पशक्ति के सहारे पर इतने कठिन कार्य में उत्तीर्ण होना चाहता है। परन्तु इस ईश्वरप्रणिधान—ओंकार के जाप तथा अर्थ-भावना—से सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमात्मा प्रसन्न होते हैं और उनके प्रसाद-मात्र से साधक का चित्त निज धाम में स्थिर हो जाता है। यह थोड़े से विचार से भी स्पष्ट हो जाता है कि जब इतनी महती शक्ति का सहयोग हो, तो फिर लक्ष्य-सिद्धि में क्या विलम्ब है? तब सिद्धि तो निश्चित और हाथ में ही समझनी चाहिए। परन्तु यह है श्रद्धा का काम, जो श्रद्धा अनन्त जन्मों के पुण्यसञ्चय से प्राप्त होती है। जिनको अपनी बुद्धि तथा बल का मिथ्या अभिमान होता है उनके लिए इसे अपनाना कठिन है। गीता (७,१४) में भी भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को माया के विजय करने का सरल उपाय भक्ति को ही बताया है। गीता (६,४७) में भी सब योगों से भक्तियोग की श्रेष्ठता का वर्णन किया है। योगसूत्र (१,३०-३१) में भी इस एक उपाय—प्रणव के जाप—से ही योग के नौ अन्तराय तथा विक्षेपों की निवृत्ति और स्वरूप-स्थिति के लाभ का वर्णन है। सूत्र (१,२९) में प्रणव-जाप का ऐसा महत्त्वपूर्ण फल बताया गया है*।

परन्तु मनुष्य इतने सुलभ और महान् सामर्थ्यवान् साधन को छोड़ कर अन्यत्र भटकना चाहता है। यह उसकी इच्छा है। उस पर इस कलियुग में कौन सा अंकुश है। ईश्वर के ओम् आदि नामों का अमित प्रभाव है। परन्तु इतने पर भी जनसाधारण और कई महात्मा भी कहते सुने जाते हैं कि नाम से क्या होता है? क्या भगवान् नाम तथा स्तुति का भूखा है? सब संसार भगवान् का नाम लेता है, परन्तु कुछ फल तो दिखाई देता नहीं। अपने जीवन को सुधारना चाहिए। पाप तथा मलिन भोग-वासना को धो डालना चाहिए। फिर ईश्वर तो स्वयं आपके पास आ जायगा।

* योग के इन सूत्रों का सविस्तर अर्थ समाधान प्रकरण (पृ० १३१-१३३) में किया गया है।

यदि इस प्रकार के वचन नाम लेने का ढोंग करने वाले बगुला भक्तों तथा ऐसे साधकों, जो नाम के साथ व्यवहार की पवित्रता के सहयोग से अनभिज्ञ हैं, की चेतावनी के लिए कहे गये हों, तो उपयुक्त ही हैं। क्योंकि ओम् आदि भगवन्नामों का जाप भावना (श्रद्धा तथा शुद्ध व्यवहार) से ही फल दे सकता है। कौन ऐसा व्यक्ति है, जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वर में श्रद्धा रखे और फिर ईश्वर की आज्ञा के विरुद्ध अन्याय का आचरण भी करे। व्यवहार की शुद्धि को स्वतन्त्र पर्याप्त साधन मानना और ईश्वर के नाम, जप आदि को निरर्थक श्रम और तोते की रट कहना अध्यात्म लक्ष्य तथा साधन से अत्यन्त अनभिज्ञता के कारण होता है। जैसे अग्नि का स्वाभाविक कार्य तथा गुण जलाना है। इसी प्रकार ईश्वर के नाम का प्रभाव भी है। परन्तु अग्नि के जलाने में भी कई प्रतिबंधक होते हैं। इसी प्रकार श्रद्धा से शून्य जाप तथा ध्यान आदि का विशेष फल नहीं होता। अथवा जिस जिस भावना से कोई नाम-जप श्रद्धा सहित करता है, उसको वही फल प्राप्त होता है। जो लौकिक फलों की कामना से जाप करते हैं, उन्हें परमार्थ-सिद्धि कैसे प्राप्त हो सकती है ? जो लोग बिना श्रद्धा के केवल दूसरों को ठगने के लिए दम्भ करते हैं, उनको किस फल की सिद्धि हो सकती है ? परन्तु इन लोगों के दम्भ के कुफल के कारण शुद्ध, सात्त्विक ईश्वर प्रणिधान, भक्ति, ध्यान, जप आदि को निष्फल समझना भूल है। हां, यह जाप विधि-सहित होना चाहिए। यदि कोई एकान्त में शुद्ध भावना से, सत्यादि का आचरण करते हुए सिद्धादि किसी एक आसन पर स्थिर होकर, ओंकार का प्राणसहित अजपा जाप ध्यान प्रतिदिन न्यून से न्यून तीन घण्टे करे तो कुछ काल में ही उसे इसका प्रभाव विभिन्न रूप से अनुभव होने लगेगा। यह अनुभव की वस्तु है। शब्द इसका क्या निरूपण कर सकते हैं। अश्रद्धालुओं के लिए तो यह सब कल्पनामात्र ही है। अनुष्ठान ही सब सन्देहों को भस्मसात् कर सकता है। शास्त्र तथा महात्मा तो इसका एक स्वर से अनुमोदन कर रहे हैं। लाभ उठाना या न उठाना मनुष्य के अपने भाग्य तथा पूर्वकृत पुण्य पर निर्भर है।

१६. योग में महान् विघ्नरूप सिद्धियां

किसी साधना के अनुष्ठान करने पर अनेक विघ्न उपस्थित होते हैं, जिनमें से कुछ एक का उल्लेख चेतावनी के लिए पहले किया जा चुका है। उनसे भिन्न एक महान् अनर्थकारी विघ्न के विषय में उपयुक्त चेतावनी देकर विस्तार के भय से इस विषय को समाप्त किया जाता है।

योगदर्शन के विभूतिपाद में अनेक संयमों का वर्णन मिलता है, जिनके भिन्न-भिन्न विचित्र फल सिद्धि के रूप में कहे गये हैं। बहुत से लोग इन सिद्धियों को ही योग का परमसाध्य मानते हैं। और इस समय जब रेडियो आदि दूर-श्रवण तथा दूर-दर्शन के यन्त्रों का आविष्कार हो चुका है, तो वे लोग कहते हैं कि इस युग में योग की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि, उनकी दृष्टि में इन सिद्धियों को प्राप्त कर लेना ही योग का एकमात्र लक्ष्य है। कई सज्जन इन सिद्धियों से आकृष्ट हो कर ही योग में प्रवृत्त होते हैं परन्तु ये सिद्धियां योग का वास्तविक ध्येय नहीं है, प्रत्युत ये तो उसके परम लक्ष्य में बाधारूप हैं। शक्ति को योग का परम लक्ष्य समझना या शक्ति के बिना योग को

निष्फल मानना अथवा शक्ति का किसी रूप से भी प्रलोभन साधक को सच्ची स्थिति से भ्रष्ट करने वाले होते हैं। प्रायः इस प्रकार की विपरीतभावना, शक्ति का मोह तथा अपने वृथा अभिमान के कारण साधक अपनी असत्य मनोभावनाओं को ही सिद्धि—शक्ति—की कल्पना करने लग जाता है। इस प्रकार वह सिद्धि की भी असल और नकल में पहिचान नहीं कर पाता। और काल्पनिक मनःस्थिति को ही भोले मनुष्यों में अपनी महिमा और प्रतिष्ठा के लिए सिद्धि कह कर प्रकट करता है। जैसे पहले भी कहा गया है कि यदि कभी किसी साधक को कुछ काल साधन करने के पश्चात् इस प्रकार के कुछ विलक्षण या दिव्य अनुभव होने भी लगें, जिनको सिद्धियां कहा जाता है, तो उसे धैर्य से काम लेना चाहिए, और अनेक वार परीक्षा करने के पश्चात् निष्पक्षभाव से किसी निर्णीत परिणाम पर पहुंचना चाहिए तथा इसको गुप्त रखना चाहिए। क्योंकि, मिथ्या अभिमान ही मिथ्या धारणा का कारण बन जाता है। परन्तु विना प्रकट किये इस मिथ्याभिमान की पूर्ति नहीं होती। अतः इस विषय में मौन धारण कर लेने से अधीरता तथा निर्णय करने में भ्रान्ति का मुख्यकारण नष्ट हो जाता है। इस प्रकार योग मार्ग में अपनी उन्नति तथा किसी साधन के वास्तविक प्रभाव के जानने में गलती नहीं होती। इसके अतिरिक्त प्रकट कर देने से उन्नति में बाधा पड़ती है। 'गुप्ता सो सिद्धा' वाली उक्ति सच्ची है, इसीका अनुसरण करना चाहिए।

सिद्धियों का प्रलोभन केवल साधक की अपनी वास्तविक स्थिति के निर्णय करने में भ्रान्ति तथा सामान्य उन्नति में बाधा ही उत्पन्न नहीं करता, प्रत्युत परमलक्ष्य की प्राप्ति में अति भय-प्रद प्रतिबन्ध है, क्योंकि शक्ति का प्रलोभन अज्ञानमूलक तथा अयुक्त है और हृदयग्रन्थि को दृढ करता है। योगसिद्धियां तथा शक्तियां भी माया का अति सूक्ष्म दृढ पाश हैं, जिससे कोई विरला, भाग्यवान्, परम सात्त्विक, श्रद्धा वाला, अतिसूक्ष्म तथा शुद्ध बुद्धि वाला, नीर-क्षीर-विवेकी हंस के समान नित्य तथा अनित्य के दृढ विवेकवाला ही बच सकता है। इस विषय में स्वयं भगवान् पतञ्जलि सिद्धियों तथा विभूतियों के वर्णन करने के पश्चात् साधकों की चेतावनी के लिए लिखते हैं:--

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥ योग ३,३७

जो साधक आत्म-संयम के अभ्यास में प्रवृत्त होता है, कभी कभी उसे आत्म-दर्शन से भिन्न अन्य सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं। उनकी प्राप्ति पर वह अपने आपको कृत-कृत्य मानने लग जाता है, और आत्म-संयम से उपरत हो जाता है। ऐसे अवसर पर ही इस सूत्र का उपयोग है।

व्यास भाष्य का अर्थः—व्युत्थितचित ही प्रातिभ आदि (पूर्वसूत्र में वर्णित सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट (दूर) अतीत तथा अनागत पदार्थों का ज्ञान) सामर्थ्य को ऐसे ही सिद्धि मानता है, जैसे कि जन्म से दरिद्र रत्तीभर स्वर्ण को स्वर्ण का भार (मनों) समझने लगता है और अपने आपको कृत-कृत्य मान कर व्यवसाय आदि से प्रमाद कर लेता है। परन्तु समाहित चित्त वाले को इन सिद्धियों से उपरत होना ही श्रेयस्कर है, क्योंकि उसका लक्ष्य त्रिविध तापों की शान्तिरूप परम पुरुषार्थ है। अतः परमलक्ष्य की विरोधी सिद्धियों में वह कैसे रम सकता है।

उपर्युक्त प्रातिभ आदि सिद्धियां समाधि की वृद्धि में विघ्न हैं, क्योंकि हर्ष, विस्मय, प्रमाद आदि के कारण समाधि शिथिल हो जाती है। व्यवहाररूप व्युत्थान दशा में विशेष फल प्राप्ति का हेतु होने से सिद्धियां कहलाती हैं। भोजवृत्ति ३, ३७

कैवल्य साधन (आत्म-संयम) में प्रवृत्त होने पर, योगी को सिद्धिरूपी विघ्न उपस्थित होने पर, उस विघ्न-निवृत्ति का उपाय सूत्रकार इस (३,५१) सूत्र द्वारा बताते हैं:—

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसंगात् ॥ योग ३,५१

दिव्य लोकों के अधिपतियों के आदर सत्कार पूर्वक निमन्त्रण करने पर तथा अपने २ लोकों के दिव्य रमणीक भोग समर्पण करने पर, उन भोगादियों में आसक्तिवश, उनको ग्रहण नहीं करना चाहिए। और दोषदृष्टि से उन भोगों का त्याग करके भी, इस त्याग के अपने महत्त्व को देख कर विस्मित नहीं होना चाहिए। अर्थात् त्याग मात्र का भी इस प्रकार का अभिमान भी नहीं करना चाहिए कि इतने महान् ऐश्वर्य को जो मुझे अनायास ही प्राप्त होता था मैंने इसे त्याग दिया है। मैं इन में आसक्त नहीं हुआ हूं। क्योंकि इस अभिमान युक्त त्याग से अनिष्ट (जन्म-मरणरूपी संसार-चक्र) का प्रसंग उपस्थित हो जाता है। त्याग में महत्त्व समझना भी आसक्ति का ही गुप्त रूप है।

व्यास भाष्य का अर्थ:—योगियों के चार भेद हैं:—(१) प्रथमकल्पिक—प्रवृत्त-मात्रज्योति—जिसने पर चित्तादि-विषयक ज्योति—ज्ञान—प्राप्त नहीं किया, अभी केवल तत्साधन में प्रवृत्त हुआ है (२) मधुभूमिक—ऋतंभराप्रज्ञ—जिसने संयम विषय का ज्ञान—ज्योति—समाधिप्रज्ञा को प्राप्त कर लिया है, परन्तु अभी इनसे उपरत नहीं हुआ, भूतेन्द्रियों को विजय नहीं किया, यद्यपि इनको विजय करना चाहता है। समाधि की यह आरंभिक दशा है। (३) प्रज्ञाज्योति—भूतेन्द्रियजयी—जिसने समाधि-प्रज्ञा दृढ होने से भूतेन्द्रियों को विजय कर लिया है। जिसने संयम द्वारा जाने हुए तथा जानने योग्य पदार्थों के ज्ञान को प्राप्त कर लिया है। यौगिक सम्पत्ति की रक्षा करने में जो समर्थ है। जो उपयुक्त साधन सम्पन्न है। (४) अतिक्रान्तभावनीय—जिसने योग का चरमफल सप्तविध प्रान्त-भूमिप्रज्ञा (विवेक ख्याति की पराकाष्ठा द्वारा) प्राप्त कर लिया है। जो गुण मात्र के बन्धन से मुक्त हो चुका है। जिसका एक मात्र लक्ष्य उपयुक्त दृढ आत्म-ज्ञान द्वारा असम्प्रज्ञात—निरोधाभ्यास—से चित्त का मूल कारण में लीन करना ही शेष है।

(१) प्रथम कक्षा में तो योग-साधना का आरंभ मात्र हुआ है, अभी संयम सिद्ध ही नहीं हुआ। (२) दूसरी में संयम सिद्ध है परन्तु अभी संयम-फल से उपरति नहीं। (३) तीसरी में अनात्म-संयमफल से उपराम भूतेन्द्रियों को वितर्कसिद्धि द्वारा जीत लिया है, परन्तु अभी गुणमात्र के व्यवहार को नहीं जीता। (४) चतुर्थ में योग की पराकाष्ठा है, जहां योगी ने योग के परम फल को प्राप्त कर लिया है। कक्षा ३ तथा ४ में इन्द्रियविजय आदि के द्वारा देवताओं के प्रलोभन दिव्य भोगों से ऊपर उठ चुके हैं। इसलिए देवता अपने आप को उनसे अत्यन्त निकृष्ट समझते हुए, उनको प्रलोभन नहीं देते (या नहीं दे सकते)। सामर्थ्य तथा प्रभाव के कारण वे प्रथम कक्षा को अत्यन्त उपेक्षणीय समझते हैं। शेष २य कक्षा मधुमती भूमि के साधक की सत्त्व (चित्त) शुद्धि को देखते हुए दिव्य लोकाधिपति देवता

उनको निमन्त्रित करते हैं:—"आओ यहां निवास करो" ये भोग वाञ्छनीय हैं, यह कन्या अति सुन्दर है, यह रसायन जरा-मृत्यु का निवारण करती है, यह आकाशचारी यान है, यह कल्प (मनोकामना पूर्ण करने वाला) वृक्ष है, यह पवित्र मन्दाकिनी नदी है, ये सिद्ध और महर्षि हैं, ये सुन्दर आज्ञाकारिणी अप्सराएं हैं, ये दिव्य श्रोत्र तथा चक्षु हैं, यह वज्र के समान काया है, ये सब दिव्य पदार्थ अपने उत्तम गुणों द्वारा आप ने प्राप्त किये हैं। कृपया इन्हें ग्रहण करें, यह देवताओं का अक्षय, अजर, अमर तथा प्रिय स्थान है।

इस प्रकार निमन्त्रित होने पर साधक इन प्रलोभनों से बचने के लिए आसक्ति के दोषों की इस प्रकार भावना करे:—"मैं संसार के अंगारों (अग्नि) में चिरकाल से पक रहा हूं और जन्म-मरणरूपी अंधकार तथा दुःखमय संसार में भटक रहा हूं। इन महान् दुःखों से त्रस्त हो कर किसी पुण्य प्रताप से अथवा भगवत्कृपा से अविद्या आदि क्लेश रूप अंधकार के नाश करने वाला योगप्रदीप मैंने प्राप्त किया है। ये दिव्यभोग तृष्णा के कारण, विषय रूपी आंधी हैं, मैं इस प्रकार के यौगिक प्रकाश को प्राप्त हूं, अतः यह विषयरूपी मृगतृष्णा अब मेरी वञ्चना कैसे कर सकती है कि मैं पुनः अपने आप को संसार-अग्नि का ईंधन बना दूं। भगवान् हमारी इन स्वप्न के समान विषयों से, जिनकी याचना करने वाले दया के पात्र हैं, रक्षा करें"। ऐसी दृढ बुद्धि से पुनः आत्मसमाधि-अभ्यास में तीव्रता से प्रवृत्त हो जाये।

इन दिव्य प्रलोभनों में संग (आसक्ति) के वशीभूत न होने के पश्चात् निज महत्त्व पर ऐसा विस्मय (अभिमान आदि) भी न करे कि देवतागण भी मुझ से प्रार्थना करते हैं। क्योंकि इस अभिमान से अपनी स्थिति को स्थिर, सम्यक् निश्चिन्त समझने के कारण यह भावना उसकी दब जायगी कि मृत्यु ने मुझे केशों से पकड़ा हुआ है। ऐसी दशा में वह प्रमाद, जो साधक के दोषरूपी छिद्र की ताक में नित्य प्रयत्नशील रहता है, इस अभिमान आदि विवर (छिद्र) को पाकर अविद्या आदि क्लेशों को पुनः उभार देता है, जिस से पुनः महान् अनिष्ट—हानि—का अवसर उपस्थित हो जाता है।

उपर्युक्त विधि से आसक्ति तथा विस्मय, अभिमान आदि के न करने से संयम का अभ्यास दृढ होता है और जिस पदार्थ की योगी भावना करता है, वह प्रत्यक्ष (साक्षात्कार) होता है। (योगदर्शन व्यासभाष्य ३, ५१)

इस प्रकार सूत्रकार इन सिद्धियों में आकृष्ट न होने के लिए कितनी मर्म-भेदी चेतावनी दिलाते हैं, कि इनका ग्रहण तो दूर रहा, इनको त्याग कर भी यदि अपनी महिमा का मिथ्या, अज्ञानकृत अभिमान तथा विस्मय हो जाए तो इतना अभिमान मात्र ही योगी के महान् प्रयत्न को निष्फल कर देता है। क्योंकि यह मिथ्या अनात्माभिमान ही संसार-बंधन का मूल है। यदि यह शेष रह गया, तो मानना चाहिए कि संसार-पाश अभी दृढ ही है। इन सिद्धियों को जो ग्रहण करता है, उस में अनात्माभिमान तो स्पष्ट ही है, परन्तु त्याग भी तभी सफल होता है, जब त्याग का अभिमान उत्पन्न न हो। जो व्यक्ति इन सिद्धियों को त्याग कर अभिमान करता है, वह अपने इस आचरण से सिद्ध करता है कि उसके मन में इन सिद्धियों के प्रति महत्त्व

है, क्योंकि अभिमान किसी महिमा का ही होता है। अपवित्रता, मलिनता तथा संसार-बंधन के त्याग का क्या अभिमान हो सकता है? इसलिए इन सिद्धियों के महत्त्व के विषय में यह अभिमान भी भ्रान्ति का सूचक है। इस अनात्म-मोह तथा संसार के मूल कारण अज्ञान में क्या भेद है? इसीलिए कहा है:—

> त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज।
> उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत् त्यज॥ महाभारत

धर्म अधर्म तथा सत्यानृत दोनों को छोड़ दो, इन द्वन्द्वों से भी पार हो जाओ, फिर जिस से यह छोड़ा है, उस त्यागाभिमान को भी छोड़ दो।

पातञ्जल योगदर्शन के अनुसार असम्प्रज्ञात समाधि का परम उपाय विवेक-ख्याति—प्रज्ञा—है। इसके बिना जो असम्प्रज्ञात समाधि लाभ होती है, उसे हेय कहा गया है। क्योंकि मनुष्य का जब उस से उत्थान होता है, तो वह पुनः दुःख-मय संसार-प्रवाह में पतित हो जाता है। साधक अवस्था में यह सम्प्रज्ञात द्वारा विवेक-ख्याति रूपी सिद्धि ही उपादेय कही गयी है। परन्तु इस बोध-स्वरूपवृत्ति में भी यदि साधक को राग हो जाए, तो भी वह स्वरूप-स्थिति को लाभ नहीं कर सकता। इसी लिए योगदर्शन सूत्र (३,५०) "तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्"—में उस विवेक-ख्याति में दोष के निरीक्षण करने से चित्त की उपरामता सम्पादन का आदेश किया गया है। यदि परमस्वरूप की तुलना में यह बोधस्वरूप सिद्धि भी दोष से पूर्ण है, तो संयम द्वारा या अन्य किसी साधन द्वारा प्राप्त होने वाली अणिमादि कल्पनामय मिथ्या सिद्धियों के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है? वेदान्त के ग्रन्थों में भी इसी प्रकार सविकल्प (सम्प्रज्ञात) समाधि के रसास्वादन को विघ्नरूप से वर्णन किया गया है। अर्थात् इस को भी लय, विक्षेप, कषाय दोषों के समान ही वर्जनीय ठहराया गया है। इन के छोड़े बिना निर्विकल्प अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती।

१६. उपर्युक्त विचार का निष्कर्ष

उपर्युक्त विचार का सार यह है कि योग तथा शास्त्र-ज्ञान दोनों ही ब्रह्मविद्या के परमोपयोगी साधन हैं। शास्त्र में भिन्न २ प्रकरणों में जो इनकी प्रशंसा की गयी है, वह उचित ही है। इस से या अन्य किसी कारण से भ्रान्ति में पड़ कर किसी एक साधन का त्याग अथवा केवल दूसरे का अवलम्बन नहीं करना चाहिए। ये दोनों परस्पर सहकारी हैं। दोनों प्रशंसनीय तथा उपादेय हैं। योग द्वारा सूक्ष्म-बुद्धि हुए बिना शास्त्र-रहस्य का असंदिग्ध तथा याथातथ्य बोध सामान्यतया असम्भव होता है। कोरे वाचक ज्ञान से परमरस की अनुभूति, परमतृप्ति तथा अलम्प्रत्यय की उत्पत्ति नहीं होती, इसलिए ऐसी स्थिति के विषय में वास्तविक ज्ञान ही असम्भव है। अत एव अनेक मिथ्या कल्पनाओं के पंक में निमज्जन होने के अतिरिक्त इस अनधिकार चेष्टा, दुराग्रह तथा शास्त्रपाण्डित्य के मिथ्या अभिमान से कुछ उत्तम फल की सिद्धि नहीं होती। यद्यपि योग—निदिध्यासन—के उपयुक्त अनुष्ठान द्वारा परम हित-साधन करना ही श्रेष्ठ है, तथापि योग भी बिना शास्त्ररूपी परमार्थ चक्षु के, अंधे के समान

भरसक प्रयत्न करने पर भी, सफलमनोरथ नहीं हो सकता। इसलिए योगाभ्यासियों को भी श्रुति-श्रद्धा से हीन योगमात्र का आश्रय न लेकर श्रुति-प्रतिपादित लक्ष्य की सिद्धि के लिए श्रुति-विहित योग का ही अनुसरण करना चाहिए। इसके लिए वेदोपनिषद् आदि शास्त्रों का ज्ञान अनिवार्य है। पुरुषों की परिमित बुद्धियों से निकली हुई संकुचित योगप्रणालियों का अनुसरण नहीं करना चाहिए, और न ही ऐसी प्रणालियों तथा सम्प्रदायों का प्रचार ही करना चाहिए। क्योंकि इस से अपना तथा दूसरों का महान् अनर्थ होता है। हठयोग आदि योगों का अनुष्ठान, विना किसी निपुण आचार्य की सहायता के शरीर तथा मन के अनेक दुर्निवार्य क्लेशों का कारण है, जिससे आध्यात्मिक लाभ के स्थान पर प्राणों का भी भय है। अतः इस से बचना चाहिए। परन्तु ये सब भिन्न भिन्न मार्ग ईश्वर के निर्दोष ज्ञान का साक्षात् प्रसाद हैं, अथवा महान् पुरुषों को भगवत्कृपा से इन का निर्देश—आविष्कार—हुआ है। ये किसी मानवीय बुद्धि की जोड़ तोड़ का परिणाम नहीं हैं। इनका अनुष्ठान शरीर, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि में दिव्य परिवर्तन कर देता है। अतः इन में से किसी का भी निरादर नहीं करना चाहिए। हां ! षट्क्रिया आदि किन्हीं सामान्य अंगों को ही योग का सर्वस्व समझना अथवा देश और काल की मर्यादा से रहित इनका उपयोग करना अयुक्त है। शास्त्र-विरुद्ध किसी मार्ग का अनुष्ठान सिद्धि का कारण नहीं, अपि तु अश्रद्धा का ही कारण होता है। इसलिए अति का सर्वत्र त्याग करना चाहिए।

सर्वोत्तम, सरल, परम समर्थवान् साधन 'ओम्' आदि नाम का अर्थ-भावनासहित जाप है। जो कि श्रद्धा तथा अन्य सत्य आदि नियमों के पालन सहित निरन्तर अनुष्ठान किया हुआ अवश्य अपने दिव्य प्रभाव को प्रकट करता है। इस अजपा जाप का सब युवा, वृद्ध, नर-नारी अनुष्ठान कर सकते हैं। इसमें विशेष भय नहीं। अनन्य श्रद्धा द्वारा ईश्वर-प्रसाद से सब विघ्न दूर हो कर इस साधन से अपेक्षाकृत अल्पकाल में ही परम लक्ष्य की सिद्धि हो सकती है। यह संसार-विशूचिका का महान् औषध है। हां ! सत्यादि व्यवहार का अनुपान लाभकारी है। परन्तु सामान्य व्यवहार को ही परमार्थ-सिद्धि के लिए पर्याप्त समझना भूल है। श्रद्धा तथा शुद्ध भावना से किया गया यह जप सम्पूर्ण पाप तथा भोग-वासना को दग्ध कर सकता है। हां ! मनुष्य का उद्देश्य सत्य होना चाहिए। यदि केवल दम्भ के लिए ही इसकी साधना की जाए तो साधन का क्या दोष ?

सिद्धियों का परमलक्ष्य के साथ कुछ सम्बंध नहीं। अनात्ममोह तथा शक्ति-लालसा के रूपवाली ये सिद्धियां योग मार्ग में महान् प्रतिबन्धक हैं। अतः इनसे सावधान रहना चाहिए। इनके त्याग का भी अभिमान नहीं करना चाहिए। यह अभिमान भी किये कराये सब कुछ को मिट्टी में मिला देता है। यदि विवेक-ख्याति तथा सविकल्प समाधि का रस भी लय आदि प्रतिबन्धकों के समान विक्षेप और त्याज्य है, तो उपर्युक्त सिद्धियों की क्या गणना है ? इनकी विचित्रता के मोह से बचना चाहिए। इस प्रकार के परवैराग्य द्वारा ही स्वरूपस्थिति का लाभ हो सकता है, अन्यथा कदापि नहीं। इसके दीर्घ काल तक निरन्तर अभ्यास से ही ऐसी दृढ भूमि हो जाती है कि

फिर निरोध तथा व्युत्थान में कुछ अन्तर नहीं रहता। सदा एकरस स्थिति बनी रहती है। जहां कहीं वेदान्त शास्त्रों में योग अथवा समाधि के निरादर के वचन आते हैं, वे ऐसे प्रौढ योग अथवा अनुभूति की परम निरंकुश तृप्ति की दशा की तुलना में हैं। अथवा उस मिथ्यामति के विचालन के लिए हैं, जो बुद्धि के व्युत्थान अथवा समाहित दशा से निज आत्म-तत्त्व को प्रभावित मान रही है। उन वचनों का तात्पर्य साधन रूप से योग की निन्दा का नहीं है। अतः योगादि अन्य साधनों का उचित उपयोग ब्रह्मविद्या सम्बन्ध में शास्त्रसम्मत है।

तीसरा अध्याय समाप्त।

सूर्य्योंपासना ।

—※—

इस साधन को विराट का देखना भी कहते हैं। ॐ श्रीं भांग—यह सूर्यका बीज मन्त्र है। इस मन्त्र से सूर्य इधर आकर्षित होता है। सूर्य-शक्ति की बहुत ही सूक्ष्म फिलासफी है। इस में अनादि भरी हुई है। सूर्य्य को ही परमात्माकी ओर से पहले-पहल उपदेश दिया गया था। पतञ्जलि का कथन है कि, सूर्यका ध्यान करने से योगी समस्त भूमण्डल का ज्ञान प्राप्त करता है।

'ओश्म् श्रीं भांग',—यह मन्त्र सूर्य से पृथक् नहीं है, न सूर्य इस से पृथक है। ँ इस बिन्दु को शक्ति-रूप माना है, जिस के उच्चारण करने में गगनमण्डल में गूँज पैदा होकर सूक्ष्म हो जाती है और उसी समय अपने नाम वाले को आकर्षित करती है। बिना ँ इस बिन्दुके कोई मन्त्र नहीं बन सकता।

छाया पुरुष के विराट में और इसके विराट में बहुत भेद है। छाया पुरुष के विराट में अभ्यासी को सब शक्ति अपने पास से देनी होती है, परन्तु सूर्योपासना में अपनी शक्ति खर्च करने की आवश्यकता नहीं। प्राचीन हिन्दुओं का यह सिद्धान्त था कि, मनुष्य की छाया में उतनी ही शक्ति होती है जितनी कि नग्न पुरुष में होती है। महाभारतमें द्रोणाचार्य्य और एकलव्य की कथा भी इसी बात को सिद्ध करती है।

हम सब लोग ब्रह्मविराट के नमूने पर छोटे-छोटे विराट बनाये गये हैं। हमारे उदर के समान ही इस विश्व का उदर आकाश है। हमारे शरीर में नसें हैं, तो बाहरी जगत् में नदी नाले बह रहे है। विश्व के दो नेत्र है,—सूर्य और चन्द्रमा। हमारे भी दो ही नेत्र हैं। अभिप्राय यह है कि, जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है। हमारे शरीर में अगणित छोटे-छोटे छिद्र है, जिनके द्वारा देखने से ब्रह्मानन्द का आनन्द अनुभव होता है।

यदि समस्त संसारका ज्ञान प्राप्त करना है, तो सूर्योपासना करो। संसार का सारा खेल इसी आँख पर है। संसार इसी से हरा-भरा रहता है। नारङ्गी को पहले दिन कड़ुवा, एक सप्ताह के बाद खट्टा और एक मास में मीठा, इसी की किरणें बनाती हैं। स्वाद और रङ्ग में परिवर्त्तन भी इन्हीं किरणों द्वारा होता है। जब यही विराट-देव अपना चक्र समाप्त करके सूक्ष्म रूपमें लय हो जाता है, तब सब जीव अपने कर्मों की इच्छाओं को अपने में समेटते हुए उसके भीतर लीन हो जाते है। इसी को प्रलय कहते हैं। इसी विश्व के नेत्र से पुनः इस संसार की उत्पत्ति होती है।

साधन।

सूर्य का बीज-मन्त्र जो ऊपर लिखा हुआ है, उसे याद कर लें और फिर प्रातःकाल किसी निर्जन—एकान्त—स्थानमें

खड़े होकर सूर्य की ओर नेत्र खोल कर टकटकी बाँधें और ध्यानपूर्वक, एकाग्रचित्त होकर सूर्य की ओर देखते हुए मन में मन्त्र पढ़ते जावें। मन्त्र का वज़न हृदय पर रहे, किन्तु जिह्वा अथवा होठ न हिलें। इस साधन को निष्काम-भावसे आरम्भ करें, तब आप ब्रह्म-विराट की भीतरी दशा अपनी आँखों से देखेंगे।

नोट—इसके देखने के लिये नियत समय नहीं है। आप जितना अभ्यास करेंगे उतनी ही सफलता आपको प्राप्त होगी। यदि एक घण्टा रोज़ देख सकें तो ४० रोज़का साधन बस होगा। रात्रिको चन्द्रमा या आकाशकी ओर देख लिया करें।

चन्द्रोपासना।

महर्षि पतञ्जलिने लिखा है कि चन्द्रमा पर ध्यान करने से योगी समस्त तारागणों का ज्ञान प्राप्त करता है। इस साधन के द्वारा प्रत्येक ग्रहसे हम सम्बन्ध जोड़ सकते हैं अथवा मङ्गलादिक तारोंका ज्ञान अन्तर्दृष्टि से प्राप्त कर सकते हैं।

एक आदि संकल्प से धुंधकारसा होकर आकाश की उत्पत्ति हुई। आकाश के परमाणु इधर-उधर हिले। उनसे वायु की उत्पत्ति हुई। वायु की रगड़से अग्नि का प्रादुर्भाव हुआ। अग्नि से जल और जल से यह पृथ्वी बनी। इसी प्रकार अनेक तारागण, अनेक लोक, अनेक पृथ्वियाँ बन गईं। आपस में आकर्षण-शक्ति पैदा हो गई। इस पृथ्वी के प्रत्येक तत्त्व से और तारागणोंके आकर्षण से नये सामान बने। प्रथम जल को लीजिये। वह सूरज की गर्मी से भाफ बना। आगे यही जल चन्द्रमा से शक्ति, रङ्गत और शीत पाकर बर्फ बना। चन्द्रमा के निरन्तर प्रभाव पड़ने से यह बिल्लौर के रूप में आया। जैसा कि आज हम देखते हैं कि बर्फीले पहाड़ों पर बिल्लौर अधिक मिलता है। इसी बिल्लौर पर नव-ग्रहों ने अपना-अपना प्रभाव डाला; जिससे नौ रत्न हुए। तासीर और रङ्गत उनने अपनी-अपनी इस बिल्लौर को प्रदान

को। उदाहरणार्थ लाल का रङ्ग लाल है। इसपर सूर्य का प्रभाव पड़ा। हीरा शीतल स्वभाव का और श्वेत रङ्गका है, इस पर चन्द्रमा का प्रभाव पड़ा। इसी भांति जब पृथ्वी-तत्त्व पर इन्हीं नव ग्रहों का प्रभाव पडा, तो नौ धातुएँ बनीं। मनुष्य का नव ग्रहों से घनिष्ट सम्बन्ध बताते हुए हम अब चन्द्रोपासना का वर्णन करते हैं।

साधन।

योगी को चाहिए कि श्वेत वस्तुएँ जैसे दूध, चाँवल, मूली दही इत्यादि ही खाय। कोई चीज़ गर्म, अभ्यास से पहले या अभ्यासके बाद न खाय। सब चन्द्रमा की रङ्गत और उसके गुणों के अनुसार ही हों। आपने कभी सोचा होगा कि सूर्य जिस देशमें जाता है—वहां गेहूँ पकने लगता है। चन्द्रमा जिधर अपना चक्कर लगाता है, उधर चाँवल आदि श्वेत रङ्गकी वस्तुएँ पकने लगती हैं। मूँग बुध की तासीर पर है। बृहस्पति के साथ ही चने के खेत लहलहा जाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक ग्रह अपने सजातियों पर असर करते हैं।

इस साधन को सोमवार से आरंभ करना चाहिये, जब कि चन्द्र शुक्ल पक्ष का हो। चन्द्र का स्थान इस शरीरमें मस्तक है और रङ्ग श्वेत और स्वभाव शीतल है।

'हंस' का उच्चारण त्रिकुटी में करो और यह ध्यान करते रहो कि,पूर्णचन्द्र यहां उदय हो रहा है। श्वास रोकने की

कोई आवश्यकता नहीं। जहाँ तक हो सके, हर समय इसका ध्यान रहे। तीन मास का साधन है। साधन को तीन चार बजे रात्रि में या इधर नौ बजे रात्रि को करना चाहिये। इन दिनों आपको कम बोलना और शान्तचित्त रहना अत्यन्त आवश्यक है।
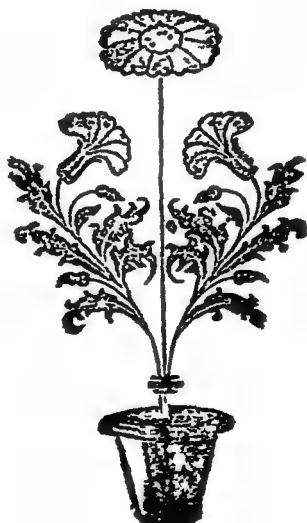
पंचम खण्ड

है। अपनी विवाहिता स्त्री को छोड़—चाहे विवाह किसी भी प्रचलित या नवीन प्रथा से हुआ हो—दूसरी स्त्री को पत्नी-भाव से न देखना 'ब्रह्मचर्य्य' कहाता है। पीड़ित प्राणियों का दुःख निवारण करना और अपनी शक्तिके अनुसार उनकी सहायता करना, ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों में शामिल है। निर्धन और अनाथ मनुष्यों की सेवा करना, यदि शत्रु क्षमा चाहे तो क्षमा करना, दुःख के समय में दृढ़चित्त होकर रहना, कम खाना, कम बोलना, ये सब इसी के अङ्ग हैं। धन और सम्पत्ति को अपने हितार्थं ग्रहण न करना "अपरिग्रह" कहाता है।

नियम—योग का दूसरा अङ्ग नियम है। निश्चित समय पर काम करने की प्रतिज्ञा को नियम कहते है। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान,—इसके अङ्ग है। इन्द्रियों को अच्छे कामों में लगाना, ईश्वर को सर्वव्यापक मानना, सन्तोषी रहना, निर्धनों की सहायता करना, सत्-सङ्ग करना, उसकी यथोचित पूजा करना, धर्म-पुस्तकों का पाठ करना, देश की सामाजिक वा आर्थिक दशा का ज्ञान प्राप्त करना, अपने निर्धन भाइयों के दुःखोंको दूर करना,—तप और स्वाध्याय में शामिल है।

आसन—आसन चौरासी हैं। परन्तु साधारण नियम यही है कि, अपनी इच्छानुसार साधन के समय अभ्यासी बैठ सकता है। पद्मासन और सिद्धासन सबसे श्रेष्ठ हैं।

दायें पैर को बायें पैर को रान पर रक्खें और बाँया पैर दाहिनी रान पर रक्खें, कमर को झुकने न दें और उँगलियाँ घुटनों पर हों, हाथ तने हों,—यह "पद्मासन" है। इसमें पीठ की तरफ़ से दाहिने हाथ को घुमाकर बायें पैरका अँगूठा और बायें हाथको घुमाकर दाहिना अँगूठा भी पकड़ा जाता है,

सिंहासन—दाहिना पैर मूलाधार पर रहता है और बाँया पैर गुदास्थान को दबाता हुआ नीचे रहता है। हाथ लम्बे और उँगलियाँ घुटनों पर तनी रहती है।

प्राणायाम

प्राणशक्ति ।

प्राण किसे कहते हैं ? साधारणतः यह समझा गया है कि, शरीर में जो प्राणवायु स्थित है वही प्राण का सर्वांश है। वास्तव में यह बात नहीं है। पूरक या रेचक तो शरीर में स्थित प्राणको, विश्वमें फैले, विश्वके आधार 'प्राण' से मिलाने के साधन हैं। महर्षि कपिल के मतानुसार यह संसार दो शक्तियों में बँटा है। एक का नाम आकाश है। इसी आकाश से वायु, अग्नि, जल, अथवा पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। दूसरी शक्ति का नाम प्राण है। इसी के प्रभाव से आकाश इन रूपों में परिणत होता है। जिस प्रकार आकाश इस जगत् का कारणीभूत सर्वव्यापी अनन्त मूल पदार्थ है, उसी प्रकार प्राण भी जगत् उत्पत्ति की कारणीभूता अनन्त सर्व-व्यापिनी अथवा विकाशिनी शक्ति है। प्रलय के समय सारा संसार आकाश में लय हो जाता है और समस्त शक्तियाँ प्राणमें लय हो जाती हैं। यह प्राण ही आकर्षण-शक्ति के रूप में काम कर रहा है। प्राण ही मनुष्यकी नाड़ी और नसों के भीतर जीवन प्रवाहित कर रहा है। वर्त्तमान साइन्स से यह मालूम होता है कि, वर्त्तमानमें जितनी शक्ति है वह सदा

उतनी ही बनी रहेगी। कभी वह अव्यक्तसूक्ष्म अति सूक्ष्म अवस्था में होजाती है, कभी व्यक्तरूपमें होकर संसार के रूप में प्रकट होती है। आगे चलकर योग-मार्ग या वेदान्तने इन दो अनादि तत्त्वोंको एक कर दिया है।

इसी प्राणके संयम करने को, अर्थात् पिण्ड-शक्ति को ब्रह्माण्ड-शक्ति में मिलाने को, प्राणायाम कहते हैं।

प्राणायाम सिद्ध होने से अनन्त शक्तिका द्वार अभ्यासी के लिये खुल जाता है। वह सूर्य,चन्द्र और तारागणोंको अपना ही अङ्ग समझने लगता है। इसके पहले वह अपनेको इनके आश्रित और प्रवाहोंके वशीभूत हो, अपनी स्वतन्त्र सत्ता को खोये हुए था। अब वह अपने को स्वतन्त्र अनुभव करता है। प्रकृतिका धर्म है कि, एक से अनेक करे। पुरुषका कर्त्तव्य है कि अनेकत्व से एकत्व पर आवे। उपनिषद्कारों ने यह प्रश्न पूछा था कि, "कस्मिन्न भगवो विज्ञाते सर्वमिदं भवति" अर्थात् ऐसी कौनसी वस्तु है, जिसके जानने से सब कुछ जाना जाता है। योगियोंका कथन है कि, मनुष्य के अन्दर एक असाधारण सत्ता है, जिसके समझने से सब कुछ समझा जा सकता है, इसी सत्ताके जाननेकी विधिका नाम 'योग' है।

जिसने प्राणको जय कर लिया, वह अपने ही शरीर, मन और बुद्धिपर विजय नहीं पाता; परन्तु सबके देह, मन और आत्मापर उसकी सत्ताका प्रभाव अङ्कित हो सकता है। क्योंकि प्राण ही सब शक्तियोंका समष्टि स्वरूप है।

प्राण-शक्ति किस प्रकार वशमें की जा सकती है, यही प्राणायामका उद्देश्य है। जगत्‌की सब वस्तुओं में शरीर सबसे निकट है। मन और भी निकट है। जो प्राण विश्वकी शक्तिको चला रहा है, वही हमारे शरीर का स्वामी है। इसीलिए अपने शरीर और मन को केन्द्र मानकर योगी प्राणायाम का साधन यहीं से आरम्भ करता है।

प्रायः सब पर यह बात प्रकट होती जाती है कि, युक्ति और तर्क का क्षेत्र बहुत ही संकीर्ण है। कभी भी सत्यता की खोज इससे नहीं हो सकती। प्राणायाम और योगसाधन आपको इस चक्रसे बाहर लाकर इस बन्धनसे स्वतन्त्र कर देंगे। जब मन समाधिमें स्थित हो जाता है, तब जिन विषयोंका तर्कवादी (Logicians) क्षणानी अनुमान करते हैं उन्हें वह प्रत्यक्ष देखता है। योगाभ्याससे मनुष्य सृष्टिके रहस्य को समझ सकता है।

इस ब्रह्माण्डमें एक ही वस्तु है। जो पिण्डमें है, वही ब्रह्माण्डमें है। यथार्थमें सूर्यमें और तुम में कोई भेद नहीं है। वस्तु-भेद कल्पनामात्र है। एक टेबिल और एक मनुष्यमें, वस्तुतः, कोई भेद नहीं है। अनन्त जड राशि का एक विन्दु टेबिल है; दूसरा पुरुष है। दोनों प्रकृति के बनाये पुतले हैं।

जगत्‌की समस्त वस्तुएं ईथर (Ether) आकाशसे बनी हुई हैं। इसलिये शब्द समस्त जड़ वस्तुओं का प्रतिनिधि माना गया

है। योग इन्हीं सूक्ष्म तत्त्वों व आदि तत्त्वोंका ज्ञान कराता है-जिससे प्रकृति का रहस्य समझ में आ जाता है और जिसके जाननेके बाद किसीभी बात के जानने की अभिलाषा नहीं होती।

प्राणायाम के साथ श्वास-प्रश्वास का बहुत ही कम सम्बन्ध है। प्रारम्भिक साधनों के बाद, अपने को आकाशस्थ प्राणसे मिलाने के बाद, इन साधनों को करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, जैसा कि इसी ग्रन्थके अन्तिम परिच्छेद 'सोऽहम्"से मालूम होगा। 'प्राणायाम-साधन में हमें प्राण को वशमें करना होगा। जब प्राण पर जय होगी, तब हमारे भीतर की सब क्रियायें हमारे वशमें हो जायँगी। इनके वश में होते ही हमें इस विश्वके हिलाने के लिये एक केन्द्र मिल जायगा और उस केन्द्रको आप अपने शरीर में ही स्थित पायेंगे। स्वामी विवेकानन्दजीने एक स्थान में लिखा है कि, "मैं व्याख्यान दे रहा हूँ। व्याख्यान देते समय मैं क्या कर रहा हूँ? मैं अपने मन के भीतर एक प्रकार का कम्पन (मौज) उत्पन्न कर रहा हूँ। और मैं इस विषय में जितना कृतकार्य्य होऊँगा, मेरी बातें भी उतनी ही सुग्धकारी होंगी। तुम्हें मालूम है कि, जिस दिन मैं व्याख्यान देते-देते मग्न हो जाता हूँ, उस दिन मेरे व्याख्यान का प्रभाव भी अधिक पड़ता है।"

जगत् में जितने महापुरुष हो गये हैं वे सब प्राण-जयी

थे। इस प्राण-संयम के बल से वे महाशक्ति-सम्पन्न हो गये थे। वे अपने प्राण में मौज उत्पन्न कर सकते थे और उससे वे ज़गत् पर प्रभाव डाल सकते थे। उनकी इच्छा के बिना ही उनका प्रभाव सर्वत्र दिखाई देता था। आत्मोन्नतिका मार्ग सरल बनाना ही योग-विद्या का उद्देश है। जन्म-जन्मान्तरों का चक्र इससे नष्ट होजाता है। वर्षों की उन्नति इस से दिनों और घण्टों में होती है। एकाग्रता का प्रयोजन ही यह है कि, शक्ति-सञ्चय की क्षमता को बढा कर हम थोड़े समय में अपने आत्मा का साक्षात्कार कर सकें। राज-योग एकाग्रता द्वारा आत्म-साक्षात्कार करने का विज्ञान है।

कुण्डलिनी।

"किसी राजा का एक मन्त्री था। राजा उससे नाराज़ हो गया और एक विशाल दुर्ग के सब से ऊँचे स्थान में उसने उसे बन्द करवा दिया। मन्त्री की स्त्री पतिव्रता थी। उसने रात्रिको पति के पास आकर कहा कि, मैं किस उपाय से आपको मुक्त करा सकती हूँ। मन्त्री ने कहा,—"कल रात्रि को एक लम्बा रस्सा, एक मज़बूत रस्सी, एक बण्डल सूत, थोड़ासा रेशम, एक कीड़ा और थोड़ासा शहद लेती आना।" दूसरे दिन वह पतिकी आज्ञानुसार सब सामान ले आई। तब मन्त्री ने कहा,—"इस कीड़े के साथ रेशमके धागे को

मज़बूती से बाँध करके, एक बूँद शहद उसके सिर पर डाल कर, उसका मुँह ऊपर की ओर करके दुर्ग की दीवार पर-छोड़ दो।" उस पतिव्रता ने ऐसाही किया। तब उस कीड़े ने अपनी दीर्घ यात्रा आरम्भ कर दी। सामने से शहद की गन्ध आनेसे कीड़ा उसके लालच से धीरे-धीरे चढ़ता हुआ दुर्ग के सबसे ऊपरी भाग में पहुँच गया। मन्त्री ने उसको पकड़ लिया और उसके साथ रेशम का धागा भी पकड़ लिया। तब उसने फिर अपनी स्त्रीसे उस रेशम के धागे में बण्डल के सूत को बांध देने को कहा। धीरे-धीरे वह भी उसके हस्तगत हो गया। इसी प्रकार उसके पास रस्सा भी पहुँच गया। अब कोई कठिनता नहीं रही। वह उस रस्से की सहायता से दुर्ग से उतरा और भाग गया।"

यह एक उपाख्यान है। इसमें मानुषी जीवन का एक विचित्र रहस्य छिपा हुआ है। हमारे शरीर में श्वास-प्रश्वास की गति रेशमके धागे की सी है। उसका संयम करने से स्नायुवीय शक्ति-प्रवाह (Nervous Currents) रूपी बण्डली सूत, उसके बाद मनोवृत्ति रूपी रस्सी, और अन्त में प्राण रूपी रस्से को पकड़ा जा सकता है। प्राण को जय करने से प्रकृति पर विजय प्राप्त हो सकती है।

हम अपने शरीर के बारे में बहुत कम जानते हैं। परन्तु जब से चिकित्सा-शास्त्र की उन्नति हो रही है, तब से प्राचीन योगियों के अन्वेषण की सत्यता सब पर प्रकट होती जा रही

है। शरीरका स्तंभ मेरुदण्ड (Spinal Choid) है। इसके भीतर इड़ा और पिंगला नाम के दो स्नायुवीय शक्ति-प्रवाह हैं और मेरुदण्ड की मज्जाके भीतर सुषुम्ना नाडी अर्थात् एक खाली नली है। इस नलीके नीचेके भाग में कुण्डलिनी शक्ति का पद्म है। वह त्रिकोणाकार है। उस स्थानमें कुण्डलिनी शक्ति सर्पिणी की आकृति की होकर विराजमान है। योगियोंने इसको बहुत महत्त्व दिया है। योग की प्रत्येक शाखा इससे सम्बन्ध रखती है। यह नागिनी के समान है। यह साढे तीन लपेटे दिये हुए नीचेकी ओर मुँह किये सोयी हुई है। जब इसको जगाया जाता है, तब यह शक्ति बड़े ज़ोर से उठती है। मानसिक स्तरों का विकाश होता है। योगी को नाना प्रकारके चमत्कार दिखाई देते हैं। विन्दु में वह समुद्र का अनुभव करता है। यही शक्ति जब मस्तक में जाती है, तब आत्मसाक्षात्कार का आरम्भ होता है।

स्वरोदय-शास्त्र के अनुसार इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना,—ये तीन नाड़ियाँ कुण्डलिनी से उठ कर मस्तक के सहस्र-दल-कमलमें मिलती हैं। इडा बाईं ओर है—और पिङ्गला दाहिनी ओर। कुण्डलिनी शक्ति S इस रूप में बढ़ती हुई मस्तक तक जाती है। बीचमें सुषुम्ना नाम की नाड़ी दौड़ती है। यह भी मुख्य नाड़ी है। जिस समय दोनों स्वर चलते हैं अर्थात दोनों नासिकाके छिद्र खुले रहते हैं, उस समय इस नाड़ी का सम्बन्ध कुण्डलिनी से मस्तक तक साफ़ तौर पर दिखाई देता है।

मूलाधार से आरम्भ करके मस्तक के सहस्र-दल-कमल तक सात चक्र हैं। इन चक्रों को शरीर-शास्त्र के पण्डित (Physiologists) नाड़ी-जाल या प्लेक्सस (Plexus) कहते हैं। प्राचीन तत्ववेत्ता इनसे परिचित थे। पिथागोरस और प्लेटोने संकेत किया है कि, नाभिके पास एक ऐसी शक्ति है,जो मस्तककी प्रभुता अर्थात् बुद्धिके प्रकाश को उदरादिक स्वार्थ-रत इन्द्रियों तक पहुँचाती है।

यदि मेरुदण्ड में स्थित सुषुम्ना के भीतर से स्नायु-प्रवाह चालित किया जाय, तो हम को संसार भर का ज्ञान शीघ्र ही प्राप्त हो सकेगा। प्रत्येक चक्रमें आप नाना जगत् भासित देखेंगे। साधारण मनुष्य के भीतर सुषुम्ना नीचे की ओर दक्षिण मुख किये बन्द रहती है। यही नहीं, किन्तु मस्तकसे, अर्थात सहस्र दल कमलसे, जीवन-तत्वको यह सर्पनी पीती जाती है, जिस से मनुष्य की अवस्था नित्य घटती जाती है। योगियों की सन्तान सदा दीर्घायु होगी, परन्तु वर्षों से हमारे देश से योग-साधन का लोप हो गया है। वंश-परम्परा (Heredity) से हम सांसारिक हो गये हैं और इस अद्भुत वीर-तेज से हम सब वञ्चित हैं।

अतः कुण्डलिनी को जगाना या चैतन्य करना ही तत्त्वज्ञान, ज्ञानातीत अनुभूति और आत्मानुभूति प्राप्त करनेका एकमात्र उपाय है। कुण्डलिनी को चैतन्य करनेके बहुत
किसीकी कुण्डलिनी भगवत्-प्रेम से चैतन्य हो

किसी को सिद्ध महापुरुषोंकी कृपा से, जैसा कि स्वामी विवेकानन्दजी के साथ हुआ, और किसी को सूक्ष्म विचार व साधन के द्वारा होती है। जहाँ अलौकिक शक्ति या ज्ञान का विकास देखा जाय वहाँ समझना चाहिये कि, किसी न किसी प्रकार से कुण्डलिनी की शक्ति सुषुम्ना के भीतर चली गई है। कभी-कभी हम ऐसी अलौकिक घटनायें देखते हैं, जिनके होनेका कारण हम नहीं जानते, किन्तु अपरोक्ष में कुण्डलिनी की शक्ति किसी तरह सुषुम्ना में प्रवेश कर जाती है। जिसने इसका साधन किया है, वह प्रकृति के रहस्य से परिचित हो गया है। यही राजयोग का अन्तिम उद्देश्य है और राजयोग ही प्रकृतिधर्मविज्ञान है। यह समस्त उपासना, समस्त प्रार्थना, विचित्र प्रकार की साधन-पद्धति और नाना प्रकार की अलौकिक घटनाओं की वैज्ञानिक व्याख्या है।

प्राणायामका साधन।

प्राणायाम का आशय प्राणवायु के अभ्यास से है। इस संसार की उत्पत्ति 'प्राण' शक्ति से हुई है। यही प्राण हमारे शरीर में है। इस साधन के अनेकानेक लाभ हैं। जिस प्रकार घी से शरीर को शक्ति मिलती है, उसी प्रकार प्राणायाम से रक्त शुद्ध होता है और सदा के लिये आरोग्यता प्राप्त होती है। नेत्रों की रोशनी तेज़ बनी रहती है। सोना जिस प्रकार तपाने से लाल हो जाता है, इसी प्रकार योगाभ्यास से या प्राणायाम के साधन से शरीर को निर्मलता और मन को एकाग्रता प्राप्त होती है। जब ऐसा हुआ, तो अभ्यासी अपने आप को पहचानने लगता है और उसे हर जगह अपनी ही आत्मा दिखाई देती है। प्रत्येक सांसारिक वस्तु उसका ही पता देती है। दिल का मैल प्राणायाम से दूर होता है। लाखों जन्मों के सङ्कल्प, विचार, पाप-कर्म इत्यादि नष्ट होने लगते हैं। इसके बीज तक नष्ट हो जाते है। तदुपरान्त परमात्म-स्वरूपमें स्थिति होती है। इसी से शिव, राम, कृष्ण, ब्रह्मादिक देवताओं का नाम बाक़ी है। वे स्वयं समाधिस्थ अथवा ब्रह्मलीन हो चुके हैं। प्राणायाम का

अभ्यासी इसप्रकार अपने इच्छित स्थान पर पहुँच जाता है।

शरीर में कुल दश वायु हैं। प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, कूर्म, ककॅल, नाग, देवदत्त और धनञ्जय। इन सब की कुञ्जी या अधिष्ठाता प्राणवायु है। श्वास के आने-जाने का काम इसी के सहारे चल रहा है। हृदय इसका स्थान है और सूर्य देवता है। अपान वायु का स्थान मूलाधार है। समान वायु नाभि में रहता है। देवता इसका सरस्वती है; कइयोंके कथनानुसार विष्णु है। काम इसका सारे शरीर में रसादिक पहुँचाना है।

इसी कमल से शक्ति नीचे पर आती है। कुण्डलिनी के जगाने में इस से बड़ी सहायता मिलती है। नीति पवन का वास यहीं पर है। उदान वायु का स्थान कण्ठ है। त्रिकुटी तक इस वायु का राज्य है। देवता इसका चन्द्रमा है। काम इसका त्रिकुटी से शक्ति लेकर समान वायु तक पहुँचाना है। 'स्वरोदय' में इड़ा पिङ्गला को मिला कर सुषुम्ना इसी मार्ग से प्राण दसवें द्वारपर चढ़ाती है। 'सोऽहम्' साधन में जब 'सुरत' स्थित होती है—तब यही अपना काम करती है। सिर नीचे व शरीर को उलटा कर जितने साधन किये जाते हैं, उन सब में इसकी सहायता ली जाती है। व्यान वायु सारे शरीर में है और देवता इसका पवन है। कूर्म निवास-स्थान नेत्र हैं, देवता इसका प्रकाश है। ककॅल मेदे

में रहती है और देवता इसका मन्दाग्नि है। नागवायु का स्थान गला है—देवता शेष है। कै, डकारादि का लाना इसका काम है। देवदत्त हृदय के पास रहती है, देवता इसका कामदेव है। धनञ्जय का स्थान शरीर है; देवता इसका ईश्वर है। मृत्युके पश्चात् शरीर को फुला देना, और शरीर से अलग न होना यह इसका काम है। अस्तु।

प्राणवायु की तासीर गर्म है और देवता इसका सूर्य्य है। यह वायु हृदय से उठ कर १८ अंगुल बाहर जाती है। इसमें श्वास को अन्दर ही अन्दर खींचा जाता है और उसे हृदय, मस्तक, तथा समस्त शरीर में फैला कर रोका जाता है।

इसके तीन भेद हैं। पूरक, रेचक, कुंभक। श्वास को बाहर से अन्दर लाने को पूरक कहते हैं। रेचक उसी ज़ोर से श्वास के उतारने को कहते हैं, जिस ज़ोर से सांस चढ़ायी गयी थी। इस में बहुत ही धीरे-धीरे सांस चढ़ाने व उतारने की ज़रूरत है।

प्रति दिन सांस कुछ अधिक रोकें। कुम्भक यथाशक्ति वायुके रोकने को कहते है। चित्त को एकाग्र रक्खें, कि किसी तरह का खयाल पैदा न हो। आत्मा के साक्षात्कार में दत्तचित्त रहें। प्रातःकाल ३ बजे रात्रि, अथवा ८ बजे रात्रि का समय इसके लिये उपयुक्त है। प्राणायाम करने के पहले यदि स्नान कर लिया जाय तो

अन्यथा कमसे कम मुँह हाथ तो अवश्य ही धो लेना चाहिये।

प्रथम तीन बार प्राणायाम करे, फिर इस को बढ़ाता जाय। भोजनके पश्चात् दो ढाई घण्टे तक इस साधन को नहीं करना चाहिये। इसके मोटे-मोटे सिद्धान्तों को तो हर जगह लोग जानते हैं, परन्तु भेद और बारीकियाँ लोगों को मालूम नहीं। जिन को मालूम हैं, वे बतलाना नहीं चाहते।

प्राणायाम अस्सी बार तक कर सकते है; परन्तु एक-दम से इस साधन को नहीं बढ़ाना चाहिये। एकाग्र होकर यह ध्यान करें कि सूर्य और बिजली से करोड़ गुणा तेज हूँ—आनन्दरूप हूँ—चैतन्य हूँ—एक-रस हूँ—सूक्ष्मसे सूक्ष्म हूँ। ऐसा अपना स्वरूप मान कर इस में लीन हो जावें।

प्राणायाम तीन प्रकार का है। कनिष्ठ; मध्यम और उत्तम। कनिष्ठ में पसीना आता है, मध्यम में शरीर काँपता है और उत्तम प्राणायाम में प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्रमें घुस कर धामद्वार को खटखटाता है। इसके बाद समाधि लग जाती है।

यदि ऐसा करतेहुए, किसी अन्य कारण से मृत्यु भी हो जाय, तो भी सिलसिला बना रहता है और वह किसी योगी, योगिराज या वेदान्ती के घर में जन्म लेता है। उसको उन्नति के अच्छे अवसर मिले रहते हैं। गुरु के मिलने

हो सब काम शीघ्र ही निपट जाता है। यदि पूर्ण योगी न भी मिले, तो भी क्या हर्ज है ? मनुष्य हाथों से तुम्हारी उन्नति होगी। योगी की उन्नति को कोई भी नहीं रोक सकता। यदि तुम में योगाभ्यास करने की इच्छा है, तो यही काफी सुबूत है कि तुम्हारे शुभ कर्म उदय हुए हैं। अभ्यासमें एकदम लग जाओ। अवश्य उन्नति होगी।

(२)

प्राणायाम में 'बन्धों' की भी ज़रूरत पड़ती है। मुख्य बन्ध तीन हैं। (१) मूलबन्ध (२) जालन्धर बन्ध और (३) उड्डियान बन्ध।

१—मूलबन्ध—पूरक के समय में जब वायु अन्दर को आता है, तब इस बन्ध से काम लिया जाता है। बाईं एड़ी से मूलाधार व गुदा के बीच के स्थान को दबाते हुए अपान-वायु साथ ही चढ़ानी होती है, परन्तु यह अन्य आसनों के लिये है। सिद्धासन में स्वयं यह भाग दब जाता है और यह आसन ही मूल बन्ध का का काम देता है।

२—जालन्धर बन्ध—यह उस समय लगाया जाता है, जब वायु उत्तम प्राणायाम के द्वारा ब्रह्मरंध्र को चढ़ रहा हो। कण्ठको नीचे करके ठोड़ी को हृदय के बीच टेक कर अन्दर वायु को रोको।

३—उड्डियान बन्ध—वायु के उतारने के समय का यह साधन है। इसमें गुदा को अन्दरको सिकोड़ना और नाभि तथा

सारे शरीर के अन्दर वायु को बाहर निकालते समय पीठ और नाभि को मिलाना होता है, अर्थात् रेचक करते समय नाभि को पीठ की ओर दबाना होता है। पीठ की रीढ़ को Spinal Chord कहते हैं। यहाँ ही कुण्डलिनी स्थित है। नाभि को पीछे मिलाते समय उसके जाग्रत होने में सहायता मिलती है।

प्राणायाम के कई अन्य भेद भी हैं, परन्तु उनको यहाँ पर लिखना इस समय हम उचित नहीं समझते। बहुतसे शेखचिल्ली-प्रकृति वाले इन साधनों को बिना किये ही आगे के साधन पर कूद जाते हैं और अन्त में हानि उठा, इस विद्या को भी बदनाम करते हैं।

प्रत्याहार।

योग का पाँचवाँ अङ्ग प्रत्याहार है। प्राणायाम नियमित समय पर करना, दुःख और सुख को एक समान जानना, अनुभवके विरुद्ध कोई काम न करना, व्यसनों से दूर रहना तथा उनको नाशवान समझना,—ये पाँच अङ्ग प्रत्याहारके हैं।

धारणा।

सुरत या विचार या सङ्कल्प को किसी तरफ़ लगाने को धारना कहते हैं।

ध्यान

जब 'सुरत' पूर्ण रीति से जमने लगे और किसी वस्तु में लीन हो जाय तो उसको ध्यान कहते हैं। और जब यही वृत्ति निश्चल रीतिसे सदा एक रस बनी रहे—चाहे—जाग्रता-वस्था में ही क्यों न हो, तब—उसे "समाधि" कहते है। इसका विस्तृत वर्णन और साधन ब्रजयोग के अभ्यासमें दिया गया है।

षष्ठ खण्ड

ओं

ओंतत सत
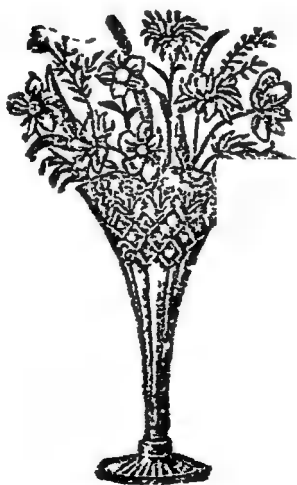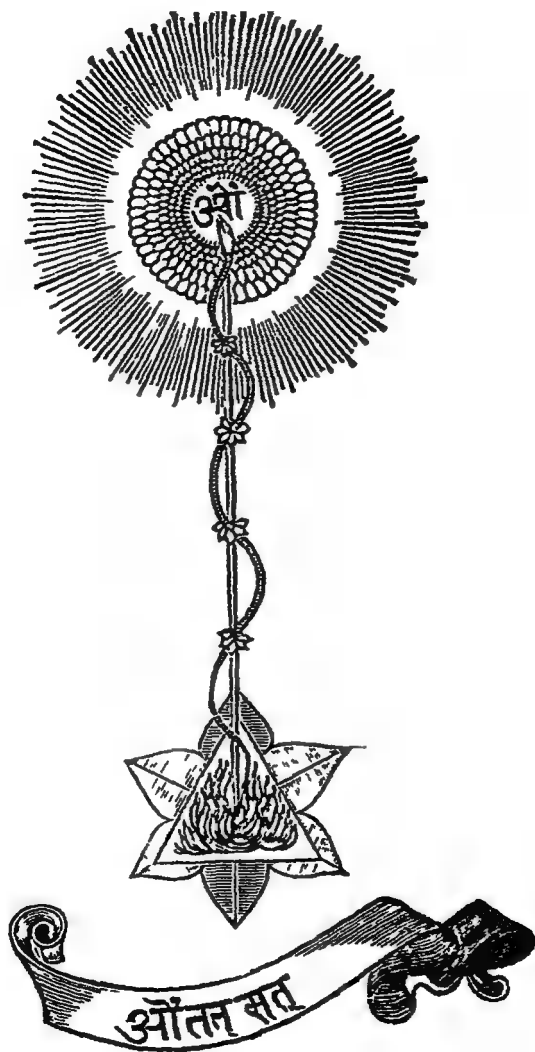
छठा अध्याय

वज्रयोग और षटचक्र वेधन ।

वज्रयोग ।

प्राणायाम करने के पश्चात् इस साधन का करना बहुत ज़रूरी है। इसमें प्राणों को मूलाधार-चक्र तक ले जाकर, वहाँ बायें तरफ़ से वायु को चक्कर देना होता है। कुछ समय में वायु उठने लगती है। इसको अपान वायु कहते हैं। जब यह वायु उठने लगे, तो नाभि-कमल में भी इसी प्रकार प्राण-वायु को ले जाकर "नित्य-नारायण" यह ध्वनि उठानी पड़ती है। यहाँ भी वायु को बाईं ओर से प्रवाहित करना पड़ता है। साथ में मूलाधार से उठी हुई अपान वायु भी सहायता देती है। इस प्रकारसे योगी को नाना प्रकार के दृश्य

दिखाई पड़ते हैं। इसके बाद षट्चक्रों के साधन को करना चाहिये।

चक्र सात हैं:—(१) मूलाधार, (२) स्वाधिष्ठान (३) मणिपूरक (४) अनाहत (५) विशुद्ध (६) आज्ञा (७) सहस्र-दल-पद्म।

प्रथम मास का साधन।

मूलाधार-चक्र तक योगी अपने प्राणों को ले जाय और जब देखे कि शक्ति स्वरूपिणी कुण्डलिनी का दर्शन होने लगा है, तब वहाँ "सोऽहं" का जाप करे। अर्थ सहित स्वाँस लेते समय "सो" कहे, और उतारते समय "हम" कहे। सो शब्द भी मूलाधार कमल से उठना चाहिये और 'हम' भी वहीं से। "सः" का अर्थ है वह आत्मा सत्त-चित्त-आनन्द 'अहम्' अर्थात् मैं हूँ। जाप इस प्रकार हो कि, बाहरी कान इसे सुन न सके। इस प्रकार प्रातःकाल और सायंकाल को एक-एक घण्टा इस का जाप करें। पहले-पहल निश्चित् स्थान से ध्वनि उठाने में कठिनाई मालूम होगी; परन्तु शीघ्र ही यह विघ्न भी दूर हो जायगा। दिन-भर इसका ध्यान रहे कि, मैं सब का आदि कारण आत्मा हूँ। साधन के बीच किसी से बोलना मना है। बहुत कम बोले। प्रथम मास में यही साधन करना होगा। इसमें मूलाधार-चक्र को खोलना होगा। जब चक्र
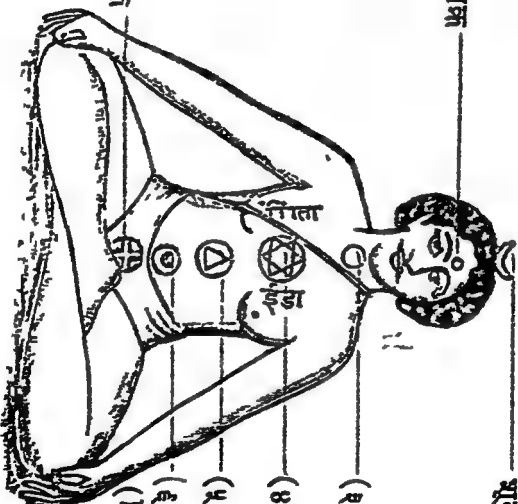
खुलने लगता है, तब चींटी की झुन-झुनाहट के समान आहट मालूम होती है।

दूसरे मास में स्वाधिष्ठान-चक्र का साधन करना होता है। यह चक्र नाभि और मूलाधार-चक्र के बीच में है। तीसरे मास में मूलाधार और स्वाधिष्ठान की शक्ति को नाभि-कमल की शक्ति से मिलाना होगा।

अभ्यास करते-करते मानसिक बल बढ़ जाता है। प्रातः-काल उठकर कुण्डलिनी की ज़रा ध्यानपूर्व्वक देख, यह सङ्कल्प उठाओ कि, मूलाधार की समस्त शक्ति श्वेत धुएँ के रूप में उठ कर और अपने साथ स्वाधिष्ठान-चक्र की शक्ति को लेती हुई—नाभि-कमल में आती है और यहाँ नाभि कमल को जगाने में सहायता देती है। यहाँ भी नाभि-कमल से 'सोऽहम्' का विधिपूर्वक जाप उठाओ। ऐसे ही चौथे मास में ज्योतिःस्वरूप सोऽहम् का जाप हृदय-कमल पर करो। पाँचवें मास में कण्ठ पर, छठे मास में त्रिकुटी पर और सातवें मास में गगन-मण्डल में इसका जाप करो। एक दिन आप से आप समाधि लग जायगी और फिर जितने घण्टे की समाधि की इच्छा करोगे, उतने घण्टे बराबर रहेगी। यदि बिना इच्छा किये समाधि लगाओगे, तो ब्रह्मपद प्राप्त होगा और समाधि सदा बनी रहेगी।

चार कमल दल मूल बिराजे चारों वाणी धाई है।
लोकन मय भव रचित विधाता षट्दल स्वाधिष्ठाई है॥

भव ते रक्षो हरिजन पालें-नाभि दश दल आई है।
भव-भव रहित करत शिव शंभू-दल बारह हृदयाई है॥
भव में रहती शक्ति विशुद्धा—सोलह दल कंठाई है।
भव सूरज वं चन्द्रा संग्री—तीनो नाडि सुहाई है॥
त्रिकुटी घाट में भई त्रिवेनी द्वय दल भँवर समाई है।
भँवर गुफ़ा कर यह दरवाज़ा आज्ञा चक्र सदाई है।
सहस कमल दल गुरु विराजें देते पन्थ चलाई है।
जो चलि जायें ब्रह्म तब दर्सें, भँवर नाथ चिरधाई है॥

इस साधन में जितना कष्ट उठावेंगे—अर्थात् जितना समय व्यतीत करेंगे, उतनी ही शीघ्र उन्नति होगी। इन साधनोंके नियमित साधनसे योगी मृत्युको जीत लेता है।

त्रिकुटी ध्यान।

प्रयाणकालेमनसाऽचलेन
भक्तायुक्तोयोगबलेनचैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्यसम्यक्
सतपरं पुरुषमुपैतिदिव्यम्॥ [गीता]

यह साधन सवेरे चार बजे किया जाता है। इसके वास्ते एक अलग कमरा होना चाहिये जो कि सुगन्धित वस्तुओंसे भरा हो। जब सब तरह से तय्यार हो जाओ, तो एक पवित्र

नरम गद्दी लेकर आसन जमा कर और अपने नेत्र मूँदकर उस स्थानको देखो, जहाँ शिवजीका तीसरा नेत्र हिन्दू-शास्त्रों में माना गया है। यह स्थान ललाट में है, जहाँ पर हिन्दू लोग तिलक लगाते हैं। नेत्र मूँद कर पहले-पहल बहुत समय तक नीली ही ज्योति दिखाई देगी। उस ज्योति को ध्यानपूर्व्वक-देखते ही एकदम परदा उलट जायगा और एक अद्भुत आनन्द और शान्ति प्राप्त होगी। तुम्हारा मन यही चाहेगा कि सदैव इसी की ओर ध्यान लगाये रहें। यदि कोई तुम्हारे साधन में विघ्न डालेगा तो, तुम उसे शत्रुसम समझोगे और कहोगे कि हाय! तुमने ग़ज़ब किया कि हमको ब्रह्मानन्द से पाप-सागर में खींच लाये।

अँधेरे में जब नेत्र पर उँगली लगती है, तो एक ज्योति दिखाई देती है, यह वही ज्योति है। अन्तमें जब यही ज्योति श्वेत रङ्ग में पलटा खाने लगे, तब तुम जानो कि उन्नति के द्वार पर हम पहुँच गये हैं, परदा उठने वाला है, बहुत शीघ्र ही ब्रह्म-ज्योति का दर्शन होगा, बुद्धि दिन-दिन बढ़ती जायगी और मुँहकी कान्ति दिन दूनी होगी।

राधास्वामी-मतवाले इसी ज्योतिके उपासक हैं। पहले-पहल वे राधास्वामी की मूर्त्ति का ध्यान करते हैं, जो हूबहू स्थूल रूप में सामने आ जाती है। पीछे त्रिकुटी ध्यान का साधन करते हैं। धीरे-धीरे परदा उठता जाता है। यदि कुछ भी करोगे तो कहोगे कि हमने क्या लिखा है।

---

२. अध्यात्मनाम द्वितीयपटलः

(१) कायवाक्चित्तोत्पत्ति-चतुरार्यसत्यनिर्णय-महोद्देशः

नमः[१] शाक्यमुनये[२] ।

गर्भाधानमिदं करोति महतां यः पाचनार्थं नृणां
निर्मुक्तो भवबन्धनैरपि भवं(न्)[३] मार्गाय च प्राणिनाम् ।
नानाजातकमालिका गुणवती सत्त्वार्थिनो दृश्यते
प्राग् बुद्धस्य महर्द्धिकस्य चरितं तस्मै नमस्तायिने ॥ 5
प्रणम्य वज्रसत्त्वं श्रीशाक्यसिंहं तथागतम् ।
अध्यात्मपटले टीका पुण्डरीकेण लिख्यते ॥
मञ्जुश्रीचोदितेनैव सुगतव्याकृतेन च ।
मया श्रीलोकनाथेन जगतः करुणात्मना ॥

इह[४] श्रीमहाकालचक्रमण्डलगृहपूर्वद्वारावसाने श्रीमति महारत्नमण्डपे रत्न- 10
सिंहासनस्थः सूर्यरथाध्येषितः सन् मञ्जुश्रीभगवान् निर्मितकायो यशो नरेन्दोऽध्यात्म-
पटलदेशनार्थं परमादिबुद्धात् सुचन्द्राध्येषणं शाक्यमुनेर्भगवतः प्रथमवृत्तेनाह; तद्यथा—

न ज्ञातं विश्वमानं जिनजनक मया यत् त्वया देशितं च
भूयोऽहं श्रोतुकामस्त्रिभुवनसकलं देहमध्ये कथं स्यात् ।
श्रुत्वा सौचन्द्रवाक्यं प्रवदति सुगतः साधुकारं प्रदाय 15
सत्त्वानां मोक्षहेतोः परमकरुणया विश्वमानञ्च देहे ॥ १ ॥

इहाध्यात्मपटलेऽध्येषकदेशकसंग्रहवृत्तम्; मञ्जुश्रिया सङ्गीतिकारेण लघुतन्त्र-
निर्देशितं[५] वितनोमि **न ज्ञातमित्यादिना**—

इह देहमध्ये न ज्ञातं विश्वमानम्, जिनजनक इति वज्रसत्त्वः शाक्यमुनिः,
निरावरणस्कन्धानां जनको जिनजनकस्तस्यामन्त्रणं हे जिनजनक, **त्वया देशितं** बाह्ये 20
विश्वमानं तद्देहे न ज्ञातम्, अतो **भूयोऽहं श्रोतुकामस्त्रिभुवनसकलं देहमध्ये कथं** केन
प्रकारेण[६] भवेदिति । अतोऽध्येषणं **सौचन्द्रवाक्यं श्रुत्वा प्रकर्षेण वदति सुगतः साधुकारं
प्रदाय** सुचन्द्राय **सत्त्वानां मोक्षहेतोः परमकरुणया विश्वमानं च देहे** । चकारात् सर्व-
तन्त्रान्तरमपि देहे वदति । द्वितीयपटलदेशनायै अध्येषकदेशकसंग्रहोद्देशः ।

१-२. भो. dPal Dus Kyi ḥKhor Lo La Phyag ḥTshal Lo (नमः श्रीकालचक्राय) । ३. Srid Pa (भव) । ४. क. ख. इति । ५. क. ख. ०निर्देशं । ६. ख. कारणेन ।

देशनावृत्तमाह [86a] **पृथ्वीत्यादि**—

पृथ्वीतोयाग्निवाताः कुलिशसुरधनुर्वायवो राशिचक्रं
चन्द्रार्कौ राहुमेरुफणिमनुजसुरा राशिवक्राः सताराः ।
संक्रान्तिर्मासपक्षा दिननिशितिथयो देहमध्ये समस्तं
5 ज्ञातव्यं स्वस्ववर्णैस्त्रिविधविभुगतिर्योगिना शून्यभेदैः ।। २ ।।

इह **देहमध्ये** पृथिव्यादिकं **समस्तं ज्ञातव्यं स्वस्ववर्णैरिति**। दन्त्यवर्णैः पृथ्वी ज्ञातव्या, औष्ठ्यैः स्तोत्रम्, मूर्द्धन्यैरग्निः, तालव्यैर्वायुरिति **पृथ्वीतोयाग्निवाताः। कुलिशं** विद्युत् पुनर्मूर्द्धन्यैः। **सुरधनुरिन्द्रधनुर्दन्त्यैः। वायवो** दश तालव्यैः। **राशिचक्रम्**, आदिकाद्यैः समस्तैश्च **चन्द्रो** बिन्दुनाऽर्को विसर्गेण, **राहु**र्व्यञ्जनेन अस्वरेण, **मेरु**र्नामाक्षरेण, 10 **फणिनां** वास ओँकारेण, **मनुजा**वासो मर्त्यलोक आःकारेण, **सुरावासः** स्वर्गः हूँकारेण। **वक्रा** ग्रहा मङ्गलादयो दक्षिणवामबीजैः पूर्वोक्तैः **संक्रान्ति**र्द्वादशवर्गभेदैः; **मासा** अप्येवम्; **पक्षाः** षड्वर्गार्द्धभेदैः; **दिननिशितिथयः** काद्यैः सस्वरैः पूर्वोक्तैरिति **देहमध्ये समस्तं ज्ञातव्यं योगिना। त्रिविधविभुगतिर्योगिना शून्यभेदैः**। पूर्वोक्तक्रमेण **वज्रसत्त्वस्य**[1] त्रिविधस्य कामरूपारूपस्वरूपस्य गतिरपि त्रिविधा, महासुखेन सर्वात्मनि 15 स्थितत्वादिति। सा च शून्यभेदैरिति बोधिचित्तचतुर्बिन्दुभेदैर्ज्ञातव्य इति देहे विश्वसंग्रहोद्देशनियमः।

इदानीं मनुष्यशरीरोत्पत्तये कार्यकारणसामग्रीसंग्रहवृत्तं तृतीयमाह[2] **देहे इत्यादि**—

देहेऽस्मिन् धातुवृन्दं भवति हि सकलं षड्रसाहारपानाद्
20 भूतेभ्यः षड्रसाश्च प्रकटितनियतं भूतवृन्दं खधातौ ।
शून्ये ज्ञानं विमिश्रं भवति समरसं चाक्षरं शाश्वतं च
एवम्भूतस्थशान्तं त्रिविधभवगतं वेदितव्यं स्वकाये ।। ३ ।।

इह **देहे धातुवृन्दमिति** लोमत्वक्रक्तमांसास्थिमज्जादिकं धातुवृ[86b]न्दं **भवति हि सकलं षड्रसाहारपानादिति** लवणमधुरकटुतिक्तकषायाम्लाः षट् रसाः, 25 एषामाहारपानवशाद् धातुवृन्दं भवति। **भूतेभ्यः षट् रसा** इति पृथ्व्यप्तेजोवायुरसेभ्यः षड् रसाश्च भवन्ति। **भूतवृन्दं खधाताविति** पृथ्व्यप्तेजोवायुरसवृन्दं खधातौ पूर्वोक्तपरमाणुधर्मं भवन्ति। **शून्ये ज्ञानं विमिश्रमिति** इह व्याप्यव्यापकसम्बन्धेनावस्थितं संवृत्या यत् स्वशरीरे सर्वसत्त्वानां विज्ञानम्, तदेव शून्ये शून्यताबिम्बे भावनाबलेन T 296 ग्राहकचित्तं ग्राह्यचित्ताभासे विमिश्रं **समरसं चाक्षरं शाश्वतं भवति**। अत्र शाश्वतं 30 निरावरणमुच्यते। **एवम्भूतस्थशान्तं** महासुखं **त्रिविधभवगतं वेदितव्यं स्वकाये**

---

१. ग. चित्तवज्रसत्त्वस्य। २. क. ख. द्वितीय०।

योगिनेति। इहाध्यात्मपटले अस्य वृत्तस्य संक्षेपविवरणं वक्ष्यमाणे ज्ञानपटले परमाक्षर-ज्ञानसिद्धौ विस्तरेण वक्तव्यमिति शरीरोत्पत्तये कार्यकारणसामग्रीनियमः।

गर्भाधानादिकमाह **बीजमित्यादिना**—

बीजं धत्ते धरित्री कमलगतमतो रोहयत्यम्बु पश्चात्
तेजो बोधं करोति ग्रसति रसरसं मारुतो वृद्धिमस्य। 5
वृद्धेः खं चावकाशं ददति नरपते कालतः सिद्धिरेवं
दिव्याः कुर्वन्त्यवस्थाः प्रसवनसमये बालकादौ च काले ॥ ४ ॥

इह द्वीन्द्रियसंयोगाद् यच्च्युतं भगरक्तं गुह्यकमले तद् बीजमित्युच्यते। तद् **बीजं धत्ते धरित्री**, गुह्यकमले यः पृथ्वीधातुः स इत्यर्थः। **कमलगतमिति** गुह्यकमल-गतम्, **अतो** गुह्यकमलाद् **रोहयत्यम्बु पश्चात् तेजो बोधं करोतीति**, अस्य बीजस्य 10 अम्बुना प्ररोहितस्य[1] तेजः प्रबोधं करोति। **ग्रसति रसरसमिति** षड्रसं मातृभक्षितं पीतञ्च यत् तद् ग्रसति रसरसं तेजः। **मारुतो वृद्धिमस्य** बीजस्य करोति। **वृद्धेः** सकाशात् **खं** शून्यम**वकाशं ददाति**। **नर**[87a]**पते** इत्यामन्त्रणम्। **कालतः सिद्धिरेवम्**। एवमनेन क्रमेण मत्स्यादेः सिद्धिर्गर्भनिष्पत्तिर्भवति। **दिव्याः कुर्वन्त्यवस्था** इति दिव्या धूमादयो दशावस्थास्ताः कुर्वन्ति। गर्भबालकौमारादिका दशावस्थाः, **प्रसवनसमये** 15 **बालकादौ च काल** इति गर्भाधाननियमः।

बीजस्य स्वधातुकृत्यमाह **बीजस्येत्यादि**—

बीजस्य क्ष्मा करोति स्फुटगुरुघनतां तोयमेव द्रवत्वं
तेजः पाकं करोति प्रवरदशविधो मारुतो वृद्धिमस्य।
वृद्धेर्भूयोऽवकाशं ददति हि गगनं कालतः सृष्टिरेव- 20
न्नानाभावैरनेकैः सतनुरवमनः शक्तयः स्फारयन्ति ॥ ५ ॥

इह या **बीजस्य** शुक्ररक्तस्य **क्ष्मा** सा गुह्यकमलगतान् षड् रसान् भक्षयित्वा **स्फुटं गुरुघनतां** करोति, शरीरस्योत्पत्तये **तोयमेवं द्रवत्वं** करोति, **तेजः पाकं करोति** भक्षितानां रसानाम्, **प्रवरदशविधो मारुतः** प्राणादिर्वृद्धि करोति, **अस्य** बीजस्य शरीराय, **वृद्धेर्भूयो**[2]**ऽवकाशं ददति हि गगनम्**, **कालतः सृष्टिरेवम्**, पूर्वोक्तविधानतः। 25 **नानाभावैरनेकैः सतत(नु)रवमन**[3] इति कायवाक्चित्तानि शक्तयो[4] धूमादयः कायवाक्-चित्तधर्मिण्यः **स्फारयन्तीति** बीजधातुकृत्यकथनम्।

---

१. क. ख. पुरोहितस्य; भो. Rab tu bsDus pahi (प्ररोहितस्य)।
२. क. वृद्धं॰। ३. भो. Lus bCas (सतनु॰)। ४. क. ख. सक्तयो।

अध्यात्मचित्तवज्रधरविष्णोर्दशावस्था उच्यन्ते **गुह्येत्यादिना**—

गुह्याब्जे रक्तमध्ये पतितमपि यदा बोधिबीजं सजीवं
मत्स्यः कूर्मो वराहो भवति नरहरिर्वामनो रामरामौ ।
कृष्णो बुद्धो नरेन्द्रो भवति दशविधा(:)चाप्यवस्था दशैता
5 गर्भे तिस्रस्तथैका प्रसवनसमये बालकालेऽपि च द्वे ।।६।। [87b]

कौमारे यौवनेऽन्या प्रभवति विपुलैका च सम्यक् तथैका
वृद्धत्वेऽप्येकशान्ता भवन(ति) निधनता चान्तिमा गर्भजानाम् ।
मत्स्याकारस्तु मात्स्ये भवति कतिदिनं कूर्मभावश्च कौर्म्ये
वाराह्ये तस्य सूर्यायतनमपि भवेन्नारसिंहे प्रसूतिः ।।७।।

10 इह **गुह्याब्जे रक्तमध्ये पतितमपि यदा बोधिबीजमिति** शुक्रं **सजीवमालय**-विज्ञानसहितं गुह्याब्जे पतितं यदा, तदा दशावस्थालक्षणं भवति । तेषु **गर्भमध्ये मत्स्यकूर्मवराहावस्थास्तिस्रो** भवन्ति; **तथैका प्रसवनकाले नरसिंहावस्था; बालकालेऽपि च द्वे**, दन्तोत्थानाद् **वामनावस्था**, दन्तोत्थानाद् दन्तपातं यावत् **परशुरामावस्था** ।

कौमारे यौवनेऽन्या इति दन्तपातात् षोडशवर्षावधेः प्रथम**विपुला** रामावस्था,
15 तथा अपरा **विपुला** षोडशवर्षात् पलितोत्पत्तिं यावत् **कृष्णावस्था**, पलितोत्पत्तेः मरणदिवसं यावद् **बुद्धावस्था**[1], मरणदिने सर्वभूतस्यैकलोलीभूतत्वाच्छरीरे **कल्क्यवस्था** भवति । **वृद्धत्वेऽप्येकशान्ता भवन(ति)**[2] **निधनता चान्तिमा गर्भजानामिति** दशावस्थानियमः ।

अध्यात्मनि चित्तवज्रधरविष्णोर्दशावस्थाकृत्यमुच्यते **मत्स्येत्यादिना**—

20 इह **मात्स्ये** भावे **मत्स्याकारो भवति** बोधिचित्तवज्रो[3] विष्णुः **कतिदिनं** ऋतुदिनं यावत्; ततः **कौर्म्ये** भावे **कूर्मभावो** भवति, **च**कारादपरऋतुदिनं यावत्; **वाराह्ये** भावे बोधिचित्तविष्णोः **सूर्यायतनं** द्वादशायतनोद्भवो भवति, तृतीयऋतुदिनं यावत्; एवं सप्तमासाज्जातदिनं[4] यावत् **नारसिंहे** भावे **प्रसूतिर्भवति**, कराभ्यां योनिविदारणात् ।

25 **वामन्ये बालभावो द्विनृपतिदशनान्युद्भवं यान्ति राम्ये**
भूयो राम्ये पतन्ति स्फुटमपि कपटं कारयेत् सैव कार्ष्ण्ये ।
बौद्धे शान्तिं करोति व्रतमपि नियमं* याति मृत्युं च काल्क्ये
शुक्रे मज्जास्थिनाडी भवति रजसि वै चर्मरक्तं च मांसम् ।।८।।

---

१. ग. बौद्धा० । २. भो. Srid pa (भवति) । ३. ग. वज्रधरविष्णुः ।
४. ग. सप्तम० ।
* क. नियतं ।

रक्तं बीजं प्ररोहत्यमृतरसगतं गर्भमध्येकमासे
पश्चाद् बीजाङ्कुरस्य सुहृदि दशविधा नाडिकात्यन्तसूक्ष्मा ।
नाभौ [88a] चाष्टाष्टकान्याः करचरणमुखेषूर्ध्वतः सर्प्यमाणा
मासे पूर्णे द्वितीये करचरणमुखोद्देशनं किञ्चिदत्र ।।९।।

वामन्ये भावे बालभावो भवति पूर्वोक्तः, द्विनृपति द्वात्रिंद्दशनान्युद्भवं यान्ति राम्ये, परशुराम्ये भावे[1] पतन्ति[2] । स्फुटमपि कपटं कारयेदिति स एव बोधिचित्त-विष्णुः कार्ष्ण्ये भावे मायां कारयेत्, बौद्धे भावे शान्तिं करोति । सत्त्वानां व्रतमपि नियमं[3] याति मृत्युं च काल्क्ये । काल्क्ये भावे पूर्वोक्तविधिना मरणं यातीति दशावतारः । इह वाक्ये यन्मत्स्यादिकं पुराणं रचितं दुष्टब्रह्मऋषिभिस्तद् बालानां वञ्चनाय नरकावाप्तिहेतुकमिति वक्ष्यमाणायां परमाक्षरज्ञानसिद्धौ विस्तरेण वक्तव्यम् ।

मातृगर्भस्थयोः शुक्ररजसोर्विकाराः गर्भाधानमारभ्य प्रसूतिपर्यन्ता उच्यन्ते शुक्र इत्यादिना—

इह शरीरे षट्कोषा जातकस्य[4] भवन्ति—शुक्रे मज्जा भवति, अस्थीनि भवन्ति, नाड्यश्च स्नायवो भवन्ति, रजसि चर्मरक्तं च भवति, मांसं च भवति, एकस्माद्[5] रक्ताद् रक्तबीजप्ररोहना(णा)दिति ।

अत्र गर्भे मासमेकं यावद् रक्तं बीजं प्ररोहति पञ्चामृतरसगतम्, पश्चाद् बीजाङ्कुरस्येति, ततो मासादूर्ध्वं बोधिचित्तस्याङ्कुरीभूतस्य हृदयमध्यस्थाने दशविधा नाड्यः प्राणादिवाय्वाधारा भवन्ति; ताश्चात्यन्तसूक्ष्मा बालप्रमाणा; नाभौ नाभि-प्रदेशेऽष्टाष्टाकाश्चतुःषष्टिदण्डवाहिन्यो भवन्ति; अतिसूक्ष्मा अनुक्ताऽपि द्वादशराशि-संक्रान्तिवशाच्चतुःषष्टीनामाधारभूता द्वादश ताः[6] नाड्यो[7] भवन्ति; तथात्यन्त-सूक्ष्मास्ताः सर्वाः पूर्वोक्ता नाभिनाड्यः करचरणमुखस्थानकरणाय ऊर्ध्वतः सर्प्यमाणाः करचरणमुखस्थानेषु, ततः सर्प्यमाणप्रभावात् । द्वितीये मासे पूर्णे सति मुखकरचरणोद्देशनं किञ्चिदत्र इह प्राङ्मत्स्यावस्थादिने गते स[88b]ति कूर्मावस्थायां मुखकरचरण[8]-स्थानेषु पञ्च स्फोटका भवन्ति ।

हस्तौ पादौ च कण्ठो भवति समशिरः पूर्णमासे तृतीये
सूक्ष्मा मासे चतुर्थे करचरणमुखे नाडिका कण्ठदेशे ।

---

१. ग. 'पुनराम्ये भावे' इत्यधिकः पाठः ।

२. भोटानुवादानुरोधेन 'परशुराम्ये द्विनृपति द्वात्रिंशद्दिनानि उद्भवं यान्ति, राम्ये पतन्ती'ति क्रमः ।

३. क. नियतं । ४. क. ख. जातस्य । ५. क. ख. कस्मात् । ६–७. ख. तनायो ।

८. भो. 8Doṅ Daṅ rkaṅ pa Daṅ Lag pa (मुखचरणकर) ।

मांसान्याश्रित्य चास्थीनि खरसशिखिनः पञ्चमे सन्धयश्च
षष्ठे मासे च मांसं भवति च रुधिरं वेदना सौख्यदुःखम् ॥१०॥

हस्तौ पादौ च कण्ठो भवति समशिरः कूर्मः, अपरा **सूक्ष्मनाड्यः करचरणमुखे कण्ठदेशे** करचरणानां षट्सन्धिषु मुखकण्ठे सहजसम्भोगनाड्योऽतिसूक्ष्माश्च**चतुर्थे मासे** पूर्णे सति भवन्तीति **कूर्मा**वस्था। **पञ्चमे** मासे वाराह्ये भावे **मांसान्याश्रित्य चास्थीनि खरसहुतभुगिति** षष्ट्युत्तरत्रिशतान्यस्थीनि **सन्धयश्च** तावत् यः **षष्ठे मासे च** चकारात् **वाराह्ये** भावे **मांसं रुधिरं भवति**, वेदना भवति, सुखदुःखं च वेत्ति, अभिज्ञाबलेन पूर्वनिवासानुस्मृतिं च, स्वचित्तेन वैराग्यं करोति, भवदुःखं निन्दयति, **बुद्धमार्गं** प्रशंसयति।

T 297

भ्रूकेशा रन्ध्ररोमाण्यपि मुनिवरे नाडिकाः सावशेषा
मासादूर्ध्वं हि जाताः प्रतिदिनसमये शून्यशून्याक्षिसंख्या।
मर्माण्यस्थीनि मज्जा भवति च रसना मूत्रगूथेऽष्टमे च
रन्ध्राख्ये घोरदुःखं प्रसवनसमये योनिना पीडितस्य ॥११॥

ततो **भ्रूकेशा रोमरन्ध्राणि** चक्षुरादीनि। **अपि च** वाराह्ये भावे **मुनिवरे** सप्तमे मासे पूर्णे सति सम्पूर्णान्यायतनानि भवन्ति। इह गर्भ**मासादूर्ध्वं प्रतिदिनसमये शून्यशून्याक्षिसंख्या** द्विशतसंख्याः **प्रत्य**हं नाडिका भवन्ति। ततः षष्ट्युत्तरत्रिशत**मर्माणि अस्थीनि**, तन्मध्ये **मज्जा भवति रसना** जिह्वा जिह्वेन्द्रियोत्पादाय, [89a] पूर्वंचक्षुरादयो भवन्ति कठिनाः। ततो रसनोत्पादकालादिह **मूत्रगूथे चाष्टमे** मासे भवतः। वाराह्ये भावे ततो **रन्ध्राख्ये** नवमे मासे पूर्णे सति क्वचिद् दशमे, एकादशे द्वादशे वा वाराह्यभावावसाने **घोरदुःखं** भवति **प्रसवनकाले योनिना पीडितस्य** नारसिंहे भावे गर्भजातकस्येति गर्भोत्पत्तिनियमः।

चतुरार्यसत्येषु संसारिणां दुःखसत्यमाह **गर्भे** इत्यादि—

गर्भे गर्भस्थदुःखं प्रसवनसमये बालभावेऽपि दुःखं
कौमारे यौवने श्रो (स्त्री)[1]धनविभवहृतं क्लेशदुःखं महद् यत्।
वृद्धत्वे मृत्युदुःखं पुनरपि भयदं षड्गतौ रौरवाद्यं
दुःखाद् गृह्णाति दुःखं सकलजगदिदं मोहितं मायया च ॥१२॥

इह संसारिणां प्रथमं तावत् **गर्भे** स्थितानां **गर्भस्थदुःखं** कुम्भीपाकसदृशं भवति **प्रसवनसमये** मुद्गरयन्त्रपीडितवत्, **बालभावेऽपि** विष्ठाभक्षणे शूकरवत्, **कौमारे यौवने** च **श्री(स्त्री)**[1]वियोगदुःखं **धनविभवहृतं** दुःखम्, तदभावात्। **वृद्धत्वेऽपि** जरामरणदुःखम्, **पुनरपि** मरणान्ते **षड्गतौ भयदं रौरवाद्यम्**। आदितः प्रेततिर्यग्गतौ रौद्रं दुःखं भवति पापवशाद् दशा(श)कुशल[2]परित्यागात्। एवं **दुःखाद् गृह्णाति दुःखं सकल-**

---

१. भो. Bud Med (स्त्री)। २. भो dGe ba bCu (दशकुशल)।

जगदिदं मोहितं मायया च। इह संसारे मायया मोहितमहङ्कारममकारात्मिकया नरक-प्रेततिर्यग्गतो दुःखं गृह्णातीति।

मार्गसत्यमाह **संसार** इत्यादि—

संसारे मानुषत्वं क्वचिदपि तु भवेद् धर्मबुद्धिः कदाचित्
तस्माद् बुद्धेऽनुरागो भवति शुभवशादादियाने प्रवृत्तिः। 5
तस्माद् श्रीवज्रयाने क्वचिदखिलमतिर्वर्त्तते भावनायां
तस्यां बुद्धत्वमिष्टं परमसुखपदेऽहो प्रवेशोऽतिकष्टः (कष्टम्) ॥१३॥

[89b] इह षट्गत्यात्मके **संसारे मानुषत्व क्वचिदपि तु भवेत्**, ततो **धर्मबुद्धिः कदाचिद्** भवति नराणां तीर्थिकदानादिधर्मेषु। **तस्माद् बुद्धेऽनुरागः** कदाचित् **शुभवशाद्** भवति, दानाद्यनुरागोऽपि। ततोऽपि **शुभवशादादियाने प्रवृत्तिर्भवति** श्रावकप्रत्येक- 10 बुद्धयाने। **तस्मात् श्रीवज्रयाने** प्रवृत्तिः, वज्रमभेद्यमच्छेद्यं महदिति। तदेव यानं मन्त्र-नयं पारमितानयं फलहेत्वात्मकम्, एकलोलीभूतम्, तस्मिन् प्रवृत्तिर्वज्रयाने प्रवृत्तिः। ततः **क्वचिदखिलमतिर्वर्त्तते भावनायाम्**, कस्याञ्चित्[1] सालम्बनशून्यतानिरालम्बन-करुणात्मिकायां पुण्यज्ञानवशेन, **तस्यां** भावनायां **बुद्धत्वमिष्टं** भवति। एवं **परमसुख-पदेऽहो प्रवेशोऽतिकष्टः** (ष्टम्) दूराद् दूरतरः संसारिणां संसारसुखाभिलाषिणामिति। 15

समुदयसत्यमाह **गर्भ** इत्यादिना—

गर्भे संशुद्धकायः प्रसवनसमयाद् दन्तभावोऽर्थं (भावे च)[2] धर्मः
दन्तानां वै प्रपातः प्रभवति नृप सम्भोगकायो जिनस्य।
तस्मान्निर्माणकायः प्रकटितनियतो मृत्युसीम्नो नराणां
गर्भे बाह्ये चतुर्धा भवति पुनरसौ ज्ञानविज्ञानभेदात् ॥ १४ ॥ 20

इह प्रथमं लोकसंवृत्या **विशुद्धकायादिकं** गर्भजातस्य शरीरे संदृश्यते; पश्चाद् तद् वै धर्मेण बुद्धस्य भगवतः सुविशुद्धकायादिकं योगिभिर्वेदितव्यम्। अत्र मातृगर्भे यावत् तिष्ठति तावत् पञ्चाभिज्ञो **संशुद्ध कायो** भवति शरीरिणः। ततः **प्रसवनसमयमारभ्य** यावद् **दन्तोत्थानं** तावद् धर्मकायो भवति। ततो दन्तोत्थानाद् यावद् **दन्तप्रपातो** भवति तावत् **सम्भोगकायो जिनस्य** बोधिचित्तवज्रस्य। **नृपे**त्यामन्त्रणम्। **तस्माद्** दन्तपाता- 25 **न्निर्माणकायः प्रकटितो नियतो मृत्युसीम्नो नराणां** गर्भजानामिति। **गर्भे बाह्ये चतुर्धा भवति, पुनरसौ** कायसमूहः, इह **ज्ञानभेदात्** गर्भे षड्विज्ञानभेदात् बाह्ये, **ज्ञानविज्ञान-भेदा**दिति। [90a]

---

१. क. ख. कस्याचित्ते।
२. भो. So Ni sKyes Pa Dag Kyaṅ (दन्तोत्थानं)।

विज्ञानं चन्द्रसूर्यावपि कमलगताः शुद्धकायः स गर्भे
धातुस्कन्धोद्भवो यो भवति दशविधो धर्मकायो जिनस्य ।
तस्मात् सम्भोगकायो भवति गुणवशाच्छोत्रशब्दादिजाते
तस्मात् केशादिजाते प्रसवनसमयश्चात्र निर्माणकायः ।। १५ ।।

अत्र **गर्भे** तावद् **विज्ञानम्** आलयविज्ञानं सत् सौख्यं ज्ञानमिति । **चन्द्रसूर्यौ** शुक्र-रजसी **अपि कमलगता** मातृकमलगतास्त्रयः एकीभूता गर्भनिष्पत्तये; **शुद्धकायः स गर्भे** भगवत(ता) उच्यते, मात्रापित्रा(त्र्या) लयविज्ञानैकसुखावस्थातः । **धातुस्कन्धानामुद्भवो यो दशविधः**, स **धर्मकायो जिनस्य** बोधिचित्तवज्रस्य । अतोऽध्यात्मश्रोत्रादीनामि-न्द्रियाणां **शब्दादीनां** विषयाणां **जाते** सति **गुणवशाद्** दिवसवशात् **सम्भोगकायो भवति** । **तस्मात् केशादिजाते** आदितः लोमविट्मूत्रनिष्पत्तिः । **प्रसवनसमयो** योनेरु-त्पादो **निर्माणकाय**[1] उच्यते गर्भे ।

जाते श्वासोद्भवो यः भवति निर्गुणः शुद्धकायः स एव
तस्मात् दन्तोद्भवो योऽस्फुटमपि वचनं धर्मकायस्तथैव ।
तस्मात् पातो द्विजानां प्रसवति नृप सम्भोगकायो जिनस्य
दन्तेभ्यः मृत्युसीम्ने भवति जिनपतेर्बाह्यनिर्माणकायः ।। १६ ।।

ततो बाह्ये कायचतुष्टयं(ये) **जाते** सति **श्वासस्य** प्रथम **उद्भवो यो** मध्यनाड्यां **भवति, स निर्गुणो** वाग्वज्रविषये सं**शुद्धकायः, स एव** सपादषट्पञ्चाशत्श्वाससमूहं यावत् तावत् शुद्धकायो मध्यमाप्रवाहतः । **तस्मात्** प्राणसञ्चारवशाद् **दन्तोद्भवो योऽस्फुटमपि वचनं** यत् तत् संज्ञालक्षणम्, स वाग्वज्रविषये **धर्मकायः** । **तस्मात् पातो द्विजानां** दन्तानां पातो भवति, यावत् **सम्भोगकायो**ऽष्टवर्षपर्यन्तं परिस्फुटवचनात् । **दन्तेभ्यः** पतितेभ्योमृत्युपर्यन्तं **निर्माणकायो बाह्ये** भवति । इह गर्भे काय[90b]भेदेन चतुर्विधः कायभेदः । बाह्ये प्राण[सं]चारभेदेन चतुर्धा कायभेदो ज्ञानं विज्ञानं च देहे (अन्तः)[2] बाह्येऽपि कायप्राणयोः सहायः । अत्र कायभेदः शुक्रसम्बन्धी, वाग्भेदो रक्तसम्बन्धी; एवं व्याप्यव्यापकसम्बन्धेन चित्तभेदेन चतुर्विधः कायभेदः । जाग्रदादिलक्षणेन ज्ञानभेदे-नापि चतुर्विधः कायभेदः, आनन्दादिना चतुर्विधस्वभावेनेति देहे बाह्ये सहजादिकायो-त्पादनियमः ।

कायवाक्चित्तज्ञानोत्पत्तिमाह **गर्भे** इत्यादिना—

गर्भे श्रीकायवज्रं प्रथममिह भवेद् वाक्स्वरूपं प्रसूते
चित्तं दन्तोद्भवे वै पुनरपि पतनादुद्भवे ज्ञानवज्रम् ।
ज्ञानं विज्ञानमिश्रं रविशशिसहितं ज्ञानवज्रादिसर्वं
गर्भे रूढं क्रमेण प्रभवति बलवत् कायवज्रादिना च ।।१७।।

---

१. क. ख. निर्माण । २. भो. Nan (अन्तः) ।

इह मातृगर्भे ज्ञानं सहजानन्दं विज्ञानमिश्रितमालयविज्ञानम्, रविशशिसहितं रजःशुक्राभ्यां सहितं ज्ञानवज्रादिसर्वं सहजानन्दादिकं भवति। गर्भे रूढं क्रमेण प्रभवति बलवत् कायवज्रादिना च। अत्र प्रथमं[1] गर्भे[2] श्रीकायवज्रं भवति प्रसूत्यवधिं यावत्, कायावयवनिष्पत्तिरित्यर्थः। ततः प्रसूते वाग्वज्रं प्राणसंचारः प्राणोत्पत्तिः। ततश्चित्तं[3] संज्ञाग्राहकं[4] द्वात्रिंशद्दन्तोभवे सति भवति। वै इत्येकान्तनिश्चितमित्यर्थः। 5 T298 पुनरपि दन्तपतनात् द्वात्रिंशद्दन्तोद्भवे सति स्त्रीणां द्वादशवर्षावधि ज्ञानवज्रं शुक्रच्युत्यवस्थालक्षणं सहजानन्दलक्षणं[5] नराणां षोडशवर्षावधेर्वेदितव्यमिति कायवाक्चित्तज्ञाननिष्पत्तिकथनम्।

आधाराधेयसम्बन्धमाह पृथ्वीत्यादि—

पृथ्वीगर्भो हुताशो भवति च (न)[6] धरणीमारुतौ शून्यगर्भो 10
वायोर्भूमेश्च गर्भो भवति हि सलिलं निःस्वभावःस्वभावम्।
भूमेराधार अम्बु ज्वलनमपि जलस्यानिलः पावकस्य
वायोः शून्यं नरेन्द्र प्रभवति हि तथाधार आधेयभूतः॥ १८ ॥[91a]

इह पृथ्व्या गर्भो हुताशोऽग्निर्भवति, न तत्कुली, पृथ्वीगुणस्वभावाभावात्। आकाशगर्भे[7] शून्यमध्ये तिष्ठतो धरणीमारुतौ न[8] तत्कुलजातौ, आकाशगुणाभावात्। 15 एवं वायुगर्भ(:) भूमेश्च गर्भ(:) सलिलं भवति; तदेव वायुगर्भे निःस्वभावानुरूपेणावस्थितम्[9]; यत्र यत्र वायुः संसरति, तत्र तत्र तेन सार्द्धं व्रजति। यद् भूमिमध्ये व्यवस्थित तत् स्वभावं द्रवरूपं खन्यमानं दृश्यते भूम्यमिति। अत्र पुनः सर्वेषां पृथ्व्यादीनामाकाशमाधारः, पृथिव्यादयो भूता आधेयाः। अत्र यथाक्रममाधाराधेयौ भवतः। भूमेराधारमम्बु भूमिमण्डलस्य बाह्ये यथा जलमण्डलमाधरः तथा शरीरेऽपि। ज्वलनमप्यग्निमण्डलं जलस्येति जलमण्डलस्याधारः। अनिल इति वायुपण्डलम्। पावकस्याग्निमण्डलस्य वायुरिति वायुमण्डलस्स्य शून्यमाकाशमाधारः। एवं सर्वेषां भूतानां पृथिव्यादीनां शून्यमाधारो भवति॥ 20

समूहाधाराधेयमाह स्कन्ध इत्यादि—

स्कन्धाधारो हि भौतो भवति वरतनौ भूतवृन्दस्य नाड्यो 25
नाडीनां प्राणवायुर्भवति दशविधश्चेतना प्राणवायोः।
तच्चित्तं द्विस्वभावं भवति गुणवशात् सस्वभावास्वभावं
भर्त्ताधारस्तयोश्च त्रिभुवननमितोऽनाहतः सर्वगो यः॥ १९ ॥

१-२. ख. प्रथमगर्भे। ३-४. क. ततश्चित्तसंज्ञाग्राहकं। ५. क. सहजानन्दक्षणं।
६. भो. Ma yin (न)। ७. क. ख. ०गर्भो। ८. भो. Ma yin (न)।
९. क. ख. निःस्वभावमन्दरूपेण; ग. ० मण्डरूपेण।

इह शरीरे **पञ्चस्कन्धानामाधारो हि भौतं** (तो) पृथिव्यादिभूतसमूहं (हो) भवति। तत्कस्य हेतोः ? इह पृथिव्यादिप्रकृतेरभावात् प्रत्ययो नास्त्यविद्यादिकः। अविद्यासंस्कारविज्ञानादिप्रत्ययाभावे रूपादिस्कन्धाभावः। यतश्चतुर्भूतात्मकं रूपम्, षड्धात्वात्मको महापुरुषपुद्ग(द्ग)लः, अतः स्कन्धाधारो हि भौतं(तो)भवति। **वरतनौ** 5 **भूतवृन्दस्य नाड्यो** द्वासप्ततिसहस्रसंख्या भवन्त्याधारास्तासां **नाडीनामपि प्राणवायुराधारः**, संस्कारकारणात्। स च **दशविधो** वक्ष्यमाणो वक्तव्यः। **चेतना** [91b] **प्राणवायोराधारः**; सा चेतना **तदेव द्विस्वभावं चित्तं भवति**, **गुणवशादिति** सत्त्वरजोवशात् (स)स्वभावं[1] जाग्रत्स्वप्नलक्षणम्, तमोगुणवसान्निःस्वभावं सुसु(षु]प्तलक्षणं निरिन्द्रियं भवति। **तयोश्च** सस्वभावास्वभावयो**र्भर्त्ताधारः** सुखदुःखावस्थाधावी(धारी)[2] संसारि- 10 णाम्। स च सुखदुःखाभ्यां रहितस्त्रि**भुवननमितो यः** सोऽनाहतः **सर्वगो भवति** सुखदुःखान्तकृन्निष्ठ इति।

गन्धोत्पत्तिर्धरण्यामपि शिखिनि रसस्योदके रूपधातोः
वायौ स्पर्शस्य शान्ते त्वपि भवति रवस्याम्बरे धर्मधातोः।
शून्यं गृह्णाति शब्दं खलु जिनजनको धर्मधातुं च वायुः
15 गन्धं वह्निश्च रूपं रसमपि सलिलं स्पर्शमेव धरित्री ॥ २० ॥

धातूनां[3] जन्यजनकसम्बन्धमाह **गन्ध** इत्यादिना—

इह बाह्ये वाऽध्यात्मनि **गन्धोत्पत्तिर्धरण्यां** भवति मुख्यतः, रसादीनां पुनर्गौणत इति। **अपि** सम्भावने, **शिखि**न्यग्निधातौ **रसस्य** षट्प्रकारस्याग्नेः परिपाकहेतुतो रसस्योत्पत्तिर्भवति, यतस्तस्मा**दुदके रूपधातोः**। इहाङ्कुरादीनां प्ररोहादिकं नानावर्णं 20 नानासंस्थानमुदकाद् भवति मुख्यतः, गौणतः पुनः रसादीनामप्युत्पत्तिः। एवं **वायौ** वायुधातौ **स्पर्शस्यो**त्पत्तिर्भवति; **शान्ते** ज्ञानधातौ **रवस्ये**ति शब्दोत्पादः। **अम्बरे** पञ्चात्मकरसधातौ शूतके (सूचके)[4] धर्मधातोर्बोधिचित्तधातोरुत्पत्तिर्भवति सुखावस्थाया इति।

इदानीं ग्राह्यग्राहकसम्बन्ध उच्यते—

25 इह परकुलालिङ्गनतः कार्यसिद्धिर्भवति, स्वकुलालिङ्गनेन स्वात्मनि क्रियाविरोधात्। अतः परकुलालिङ्गनं शरीरोत्पत्तिकारणं भवति। तेन **शून्यमिति** शून्यकुलोद्भूतं श्रोत्रेन्द्रियं **गृह्णाति शब्दं** ज्ञानधातूद्भूतम्। **खलु जिनजनक** इति निश्चितं ज्ञानधातूद्भूतं मनइन्द्रियं गृह्णाति, **धर्मधातुमा**काशधातूद्भूतविषयम्। **वायुरिति** जन्यजनकाभेद्यत्वेन वायूद्भूतं घ्राणेन्द्रियं भूमिधातूद्भूतं **गन्धविषयं** गृह्णाति। **व**[92a]**ह्नि**-

---

१. भो. Rañ bSin Can (सस्वभावं)। २. ग. भो. ḥdzin Pa (धारी)।
३. अत्र ख. पुस्तके 'गन्धोत्पत्तिर्धरण्यामपि शिखिनि रसस्योदके रूपधातोः वायौ इत्यादिश्लोकः' इत्यधिको लिखितः। ४. भो. gSal Bar Byed Pa (सूचके)।

श्चेति अग्निधातूद्भूतं चक्षुरिन्द्रियं गृह्णाति तोयधातुजनितं **रूपविषयम्**। **वह्निधातु-जनितं** रसविषयं जलधातूद्भूतं रसनेन्द्रियं गृह्णाति। **धरित्री** पृथ्वीधातूद्भूतं कायेन्द्रियं गृह्णाति वायुधातूद्भूतं स्पर्शविषयमिति विषयविषयिणां ग्राह्यग्राहकलक्षणनियमः।

लोकसंवृत्या रूपादीनां स्कन्धानां प्रत्येकधातौ सिद्धिमाह **सिद्धमित्यादि**—

सिद्धं रूपं धरण्यां त्रिभुवननिलये चोदके सिद्धसंज्ञा 5
वह्नौ वै वेदना च प्रभवति पवने सिद्धसंस्कार एव।
विज्ञानं ज्ञानमिश्रं सगगनकुलिशे सिद्धमेवात्र काये
धातुस्कन्धादिसर्वं भवति च रजसा बोधिचित्तादियोगात् ॥ २१ ॥

इह धातुस्कन्धानामैक्यं **सिद्धमुच्यते**; अत्र **धरण्यां** मुख्यतो **रूपं सिद्धम्**, संज्ञादयो गौणतः सिद्धाः। **त्रिभुवननिलये** त्रैधातुकविषये, न निर्वाणधर्मे भवतीति। **चकारादुदके** 10 **संज्ञा सिद्धा** भवति। इह संज्ञानामस्वरधर्मचन्द्रः, शुक्रं तोयप्रकृतिः, तोयप्रकृतित्वात् संज्ञा सिद्धा भवति, **उदक** इति निश्चयः। **वह्नौ वै वेदना चेति** इह वह्निप्रकृतिः सूर्यो रजः, कालिः सूर्यरजः कालिस्वभावा वेदना। अतो वह्नौ वेदना सिद्धा भवति मुख्यतः, शेषा गौणतः **प्रभवन्ति**। **पवने सिद्धः संस्कारस्कन्धः**, एवमत्र वायुः कायवाक्चित्त-संचालकः संस्कारजनकः, तेन वायुप्रकृतिः संस्कारः सिद्धः। एवं **विज्ञानं ज्ञानमिश्रं** 15 ज्ञानसहितम्। यथाक्रमं **सगगनकुलिशे** आकाशे विज्ञानं सिद्धं श्रोत्रविज्ञानादिलक्षणम्। **कुलिशे** ज्ञानधातौ ज्ञानं **सिद्धं** बोधिचित्तच्यवनान्ते सुखक्षणात्मकम्। **अत्र काये** षड्-धात्वात्मके महापुरुषपुंग(पुद्ग)ले। कस्माद् **धातुस्कन्धादिसर्वमित्याह**। **रजसा बोधि-चित्तादियोगात्** इह शरीरे धातुस्कन्धादिकं यत् सर्वं तद् रजः शुक्रालयविज्ञानसुख-क्षणावस्थासंयोगाद् भवति [92b]। 20

श्रोत्रादीनां ग्राहकाणां शब्दादिविषयग्राहकत्वेन तत् स्वभावत्वमाह **श्रोत्र-मित्यादि**—

श्रोत्रं वज्रस्वभावं भवति नरपते चित्तमाकाशभावं
घ्राणो भूमिस्वभावो भवति च रसना वह्निभावा तथैव।
चक्षुस्तोयस्वभावं त्रिभुवननिलये वायुभावश्च कायः 25
एवं श्रोत्रादिसर्वं भवति गुणवशात् ज्ञानविज्ञानयोगात् ॥ २२ ॥

इह शरीरधर्मे **श्रोत्रं** ग्राहकत्वेन शून्यलक्षणं ग्राह्यविषयग्रहणेन **वज्रस्वभावं** शब्दस्वभावमिति। अत्र ग्राहको धर्मः कायभेद उच्यते, ग्राह्यो धर्मो भावभेदः। अतो ग्राह्यस्वभावेन जन्यजनकस्वभावो विज्ञेयो **नरपत** इत्यामन्त्रणम्। **चित्तं** मनः **आकाश-स्वभावं** धर्मधातुस्वभावम्, धर्मधातुविषयग्राहकत्वात्। **घ्राणो भूमिस्वभावो** गन्ध- 30 स्वभावः, गन्धग्रहणाद्। **भवति च रसना वह्निस्वभावा तथैव**, यथा पूर्वे वह्निजन्म-

T299 (न्य)रस(स्व)भावो[1] रसग्रहणात् । **चक्षुस्तोयस्वभावम्**, तोयजनितरूपग्रहणात् । **त्रिभुवननिलये**, न निर्वाणे । **वायु[स्व]भावश्च काय** इति कायेन्द्रियं वायुजनितं स्पर्शविषयग्रहणात् । **एवमुक्तक्रमेण श्रोत्रादिकं सर्वं भवति गुणवशादिति** शब्दधर्मधातुगन्धरसरूपस्पर्शवशात् । श्रोत्रं मनो घ्राणो जिह्वा चक्षुः कायः—एते षडिन्द्रियधातवः **ज्ञानविज्ञानयोगाद्** विज्ञेया इति ।

षड्धातुवशेन मात्सर्यादयः (दीन्) षट् चित्तविकारानाह **मात्सर्यमित्यादि**—

मात्सर्यं ज्ञानधातौ भवति वरतनौ चाम्बरे द्वेषवज्रं (चित्तम्)
ईर्ष्याचित्तं हि वायौ प्रकटितमनले रागचित्तं तथैव ।
तोये श्रीमानवज्रं(चित्तं) प्रकृतिगुणवशान्मोहवज्रं (चित्तं) धरण्यां
वाग्हस्तौ पादपायू मरुदनलजलक्ष्मासु सर्वे बभूवुः ॥ २३ ॥

इह शरीरे चित्तस्य **मात्सर्यं ज्ञानधातौ**, पञ्चम्यर्थे सप्तमी; ज्ञानधातुवशात्, मात्सर्यचित्तं सत्त्वाना[93a]मित्यर्थः । **अम्बरे द्वेषवज्र(चित्त)मिति** आकाशधातुवशात् सत्त्वानां द्वेषचित्तम् । एवं **वायुधातुवशादीर्ष्याचित्तम्**, **अनलधातुवशाद् रागचित्तम्**, तदेव **प्रकटितं** मुनिना । **तथैव तोयधातुवशान्मानचित्तम्**, **पृथ्वीधातुवशान्मोहचित्तम्**, **प्रकृति**र्ज्ञानादिधातुधर्मस्तस्य **गुणाः** स्वभावास्तत्स्वभाव**वशा**न्मात्सर्यादयो भवन्ति चित्ते संसारिणाम् ।

धातुवशेन कर्मेन्द्रियाण्याह—**वागित्यादि** । इह **वागिन्द्रियं वायु**धातोर्भवति, **पाणीन्द्रियं तेजो**धातोः, **पादेन्द्रियं तोय**धातोः, पृथ्वीधातोः **पाय्विन्द्रियम्**, अनुक्तत्वात्, **आकाश**धातोः गुह्येन्द्रियम् । षोडशवर्षान्ते ज्ञानधातौ दिव्येन्द्रियं भवतीति षट्कर्मेन्द्रियनियमः ।

षड्धातुभ्योऽपानादयो वायवो भण्यन्ते **अपानेऽत्यादिना**—

आपानो ज्ञानधातौ त्रिविध इति भवेत् प्राणवायुश्च शून्ये
वायोर्मध्ये समानः शिखिनि पुनरुदानोऽम्भसि व्यान एव ।
भूम्यां नागोऽथ कूर्मोऽपि कृकरपवनो देवदत्तो धनञ्ज-
श्चत्वारो वायुवह्न्योरपि पयसि महो संभ्र(भ)वन्ति[2] क्रमेण ॥ २४ ॥

इह शरीरे **अपानवायुर्ज्ञानधातोर्भवति**; अत्रापि पञ्चम्यर्थे सप्तमी । स च विण्मूत्रशुक्रकर्षणतस्त्रि**विध इति भवेत् प्राणवायुश्च शून्ये**, आकाशधातोः, **च**कारात् सोऽपि त्रिविधो वामदक्षिणमध्यनाडीप्रवाहतः । **वायोर्मध्ये** वायुधातुस्वभावात् **समानो** भवति । **शिखिन्यग्निधातौ पुनरुदानोऽम्भसि** उदकधातौ **व्यानः** । **भूम्यामिति** भूधातौ **नागः** ।

---

१. भो. Ran bSin (स्वभाव) । १. भो. Yan Dag ḥGyur (संभवन्ति) ।

अथ अनन्तरं **कूर्मादयश्चत्वारः** वायुधातोः **कूर्मो** भवति, तेजोधातोः **कृकरः**, उदकधातो-**र्देवदत्तः**, पृथ्वीधातोर्**धनञ्जयः**। षोडशवर्षान्ते आकाशधातोरानन्दवायुः, ज्ञानधातोः सहजानन्दवायुः [93b]।

धातुवशाच्छरीरे हस्तादिसन्धौ चक्रादीन्युच्यन्ते **उष्णीषमित्यादिना**—

उष्णीषः शून्यधातौ भवति सुरनृणां ज्ञानधातौ च गुह्यं 5
हृत्पद्मं वायुधातौ प्रकटशिखिनि वै कण्ठचक्रं स्फुरद्धि ।
तोये भ्रूमध्यपद्मं वसुवसुदलकं नाभिचक्रं च भूम्यां
षट्सन्धिः पादपाण्योर्महिजलहुतभुग् मारुतेषु त्रिसंख्या ।। २५ ।।

अत्र **आकाशातोरुष्णीषकमलं** चक्रं वा **भवति**। दलसंख्या वक्ष्यमाणे वक्तव्या। **सुरनृणां ज्ञानधातोश्च गुह्यं** भवति, गुह्यकमलमित्यर्थः। **हृत्पद्मं वायुधातोर्भवति**। 10 **प्रकटशिखिनः कण्ठचक्रं** भवति। **स्फुरत्** (स्फुटम्[1]), हिर्निश्चये, **तोयधातौ भ्रूमध्य-पद्मम्**। **वसुवसु** चतुःषष्टि**दलकं नाभिचक्रं** (पद्म[2])**भूमि**धातौ भवति। **षट्सन्धिरि**रिति बहुवचने एकवचनम्। **पादपाण्योर्वा**मपादे तिस्रो भूमिधातोः सत्त्वरजस्तमोगुणानां भेदात् भवन्ति। **महीति** ह्रस्वो भूपर्यायः। दक्षिणपादे तिस्रः **उदकधातोर्गुणत्रयभेदात्** इति; वामहस्ते तिस्रोऽग्निगुणत्रयभेदादिति; दक्षिणहस्ते तिस्रो **वायुगुणत्रयभेदात् मारु-** 15 **तेषु त्रिसंख्येति**। द्वादश चक्राणि वक्ष्यमाणे वक्तव्यानीति अष्टादशचक्रनियमः।

इदानीं धातुवशादङ्गुल्यो(ल्यु)त्पादमाह **भूमीत्यादिना**—

भूम्यादौ पञ्चधातौ त्रिविधगुणवशात् पादपाण्योर्बभूवुः
अङ्गुल्योऽङ्गुष्ठकाद्यास्त्रिगुणितदशकाः पर्वरूपाः समस्ताः ।
संग्राह्यास्ता नखान्ताः पुनरपि दशनान्ये च तत्त्वप्रभेदै- 20
रन्यद् यल्लोमकान्तं भवति वरतनौ तत् तदेवञ्च धातौ ।। २६ ।।

इह हस्तपादयोरङ्गुष्ठकाद्याः कनिष्ठान्ताः; वामे दक्षिणे च **पञ्चधातुगुणत्रयस्व-भावेन त्रिपर्वात्मिकाः**। ततः[94a]पृथ्वीधातुवशादङ्गुष्ठको भवति, पृथिवीधातुगुणत्रय-वशाङ्गुष्ठपर्वाः त्रयः। एवं तोयधातुस्वभावेन तर्जनी, तथा तेजोधातुस्वभावेन मध्यमा; एवं वायुधातुस्वाभावेनानामिका, आकाशधातुस्वभावेन कनिष्ठिका। यथा वामहस्ते तथा 25 दक्षिणेऽपि। एवं पादयोर्विज्ञेया इति। हस्तद्वये पादद्वयेऽपि **त्रिगुणितदशकास्त्रिंशत् पर्व-रूपाः समस्ता संग्राह्यास्ता नखान्ताः**।

दशनान्युच्यन्ते—अत्र यदि प्रथमं बालस्योर्ध्वं दन्तद्वयं भवति, तदा दक्षिणदन्त-भूमिस्वभावं भवति, वामं तोयस्वभावम्। अथाधो भवति, तदा दक्षिणवह्निस्वभावम्,

---

१. भो. gSal Bar (स्फुटं)। २. भो. Pad Ma (पद्म)।

वामं वायुस्वभावः(वम्)। एवं पुनरूर्ध्वं तेजोवायुस्वभावौ, अधः पृथिवीतोयस्वभावौ, पुनरधो वायुतेजःस्वभावौ, पुनरूर्ध्वे पृथ्वीतोयस्वभावौ। एवमनुलोमविलोमेनोर्ध्वाधश्च-तुर्धातुस्वभावेन द्वात्रिंशद् दन्ता वेदितव्या। यदा वक्रदन्तास्तदा आकाशधातुः। एवं लोमकेशानीति धातुभेदात् ज्ञेयानि।

5 **अन्यद् यल्लोमकान्तं भवति वरतनौ तत्**[1] **तदेव** पञ्चधातौ[2] वेदितव्यम्, कायविवेकं सार्द्धत्रिकोटिभेदं यावद् धातुविकाराः। रजःशुक्रवशाद् धातुविकारः, समुदयसत्यं कायविधै(वे)केनेति[3] भगवतोक्तम्।

इति श्रीमूलतन्त्रानुसारिण्यां[4] लघुकालचक्रतन्त्रराजटीकायां
द्वादशसाहस्रिकायां विमलप्रभायां
10 कायवाक्चित्तोत्पत्तिदुःख-मार्ग-समुदय-निरोधसत्यनिर्णयमहोद्देशः
प्रथमः ॥ १ ॥

(२) समुदयसत्यादिमहोद्देशः

इदानीमाधाराधेयसमुदाय उच्यते गुह्येत्यादिना—

गुह्योष्णीषे च नाभौ सहजजिनतनुर्निःस्वभावस्वभावा
हृच्चक्रे धर्मकायो भवति हि नृप सम्भोगचक्रे जिनस्य।
15 बिन्दौ निर्माणकायो भवति गुणवशाच्चाधिदैवक्रमेण
हृच्चक्रं कण्ठचक्रं शिरसि च कमलं धर्मसम्भोगशुद्धम् ॥ २७ ॥

इह शरीरे षट् चक्राण्याधारभूतानि, चत्वारः काया आधेयाः; तेषु **सहजकाय**-स्त्रिकमलेषु स्वभावास्वभावभे[94b]देन। अतो **गुह्य**कमले **उष्णीष**कमले **नाभि**कमले विशुद्धकायोऽधिदेवता **निःस्वभावा**, अकल्पनास्वभावा, प्रतिसेनोपमा। **हृदये धर्मकायः**, 20 कण्ठाब्जे **सम्भोग**कायोऽधिदेवता कायभेदन। **बिन्दाविति** शिरसोऽब्जे शुद्धचक्रे **निर्माणकायोऽधिदेवता**। कायभेदेन **नाभौ** निर्माणचक्रे निर्माणकायोऽधिदेवता इति कायभेदे नियमः। **गुणवशादिति** चक्राणां गुणः; ज्ञानाकाशभूमिगुणः सहजकायाधाराणाम्; वायु-गुणो धर्मकायाधारस्य; तेजोगुणः सम्भोगकायाधारस्य; उदकगुणो निर्माणकायाधारस्येति आधाराधेयभावः। उक्तक्रमेण **हृच्चक्रं कण्ठचक्रं शिरसि च कमलं धर्मसम्भोगशुद्ध**-25 मिति।

नाभौ कण्ठे च गुह्ये शिरसि च हृदये तद्वदुष्णीषमध्ये
मातुर्भर्त्तुः क्रमेण त्रिविधमपि भवेत् कायवाक्चित्तवज्रम्।
चक्रं रत्नं खपद्मं जलजमसिवरं षट्कुलं वज्रयुक्तं
तान्यूर्ध्वाधस्त्रिनाड्यस्त्रिविधपथगताश्चन्द्रसूर्याग्निभेदैः ॥ २८ ॥

१-२. ग. तत्तदेवञ्च धातौ। ३. भो. dBen Pas (विवेक)। ४. क. ख. मूल०।

कायाधारभेदेन षट्कुलान्युच्यन्ते **नाभावित्यादिना**—

इह शरीरे षड्धातुवशेन षट्चक्रेषु षट्कुलानि भवन्ति **यथासंख्यम्—मातुः** कुलानि त्रीणि, **भर्त्तुः** पितुः कुलानि च। **नाभौ** पृथिवीचक्रे **चक्रकुलं** भवति, **कण्ठे** अग्नि-पद्मे **रत्नकुलं** भवति, **गुह्ये** ज्ञानकमले **कर्तिकाकुलं** भवति, **मातुर्यथासंख्यं** कायो(य) वाक्चित्तञ्च। एवं **शिरसि तोयकमले कमलकुलं** भवति; **हृदये** वायुकमले **खड्गकुलं** भवति। **तद्वदुष्णीषमध्ये आकाशधातुकमले वज्रकुलं** भवति। **भर्त्तुः** कायवाक्चित्तञ्च यथाक्रमं रजःशुक्रयोः कुलं भवति। पृथिव्यादिधातूत्पन्नानां विकाराणां यथानुक्रमेणेति। 5 T 300

वायुनाडीभेदेन तान्येवाह **तानीत्यादि**—

इह प्राणापानत्रिनाडिकाभेदतः त्रिनाडीसंज्ञाल [95a] क्षणानि भवन्ति–विड्नाडी **चक्रकुलमपाने**, **सूर्यनाडी रत्नकुलं** प्राणे, **शुक्रनाडी कर्तिकाकुलम्** अपाने इति मातुस्त्रि-कुलानि कायवाक्चित्तानि; तथा **चन्द्रनाडी** प्राणे **कमलकुलम्**, अपाने **मूत्रनाडी खड्ग-**कुलम्, प्राणे मध्ये **राहुनाडी वज्रकुलमिति** भर्त्तुः कायवाक्चित्तानीति षट्कुलनियमः। 10

काये भावप्रवेश-धातुवर्णा उच्यन्ते **काय** इत्यादिना—

काये भावप्रवेशः खमिव समरसो भावमध्ये च कायो
ज्ञातव्यो योगयुक्तैः प्रकृतिगुणवशाद् धातुवर्णादिभेदैः। 15
पीतः कृष्णश्च वर्णस्त्वरुण इति सितो भूमिवाताग्नितोये
ज्ञानाकाशे च नीलो भवति च हरितः कायभावप्रभेदैः॥ २९॥

इह शरीरे ग्राहग्राहकभेदो धातूनां परस्परं भवति। तत्र यो ग्राहको धातुः सामग्रीवशात् स **कायसंज्ञो** भवति; यो ग्राह्यः सामग्रीवशात् स **भावसंज्ञो** भवति। तेन ग्राह्यग्राहकयोः परस्परमेकत्वं समरसत्वम्, अतः **काये भावप्रवेशः**। 20 **खमिव समरसो भावमध्ये च कायो, ज्ञातव्यो योगयुक्तैः प्रकृतिगुणवशाद् धातुवर्णादिभेदैरिति**। अत्र प्रकृतयः पृथिव्यादिधातवः कायेन्द्रियादीनां गन्धादि-विषयाणां चतुर्णां भवन्ति। अत्र कायभेदेन कायेन्द्रियम्, गन्धविषयम्, पाय्विन्द्रियम्, आलापः पृथिवीकायस्वभावतः[1] **पीतवर्णाः** भाववशात्, वायुप्रकृतितः **कृष्णवर्णाः**। एवं घ्राणेन्द्रियम्, स्पर्शः, वागिन्द्रियम्, विट्स्रावो वायुप्रकृतयः कायभेदेन 25 कृष्णवर्णाः; पृथिवी भावभेदेन पीताः; चक्षुरिन्द्रियम्, रसः, पाणीन्द्रियम्, गतिस्तेजः प्रकृतयः कायवशाद् **रक्तवर्णा** भवन्ति, भाववशादुदकप्रकृतयः **सिता** भवन्ति। एवं जिह्वेन्द्रियम्, वर्णो[2]रूपम्[3] (वर्णरूपम्), पादेन्द्रियम्, आदानमुदकप्रकृतयः काय-भेदेन सितवर्णा भवन्ति, अग्निप्रकृतिभाववशाद् रक्तवर्णा भव[95b]न्ति। **भूमिवाता-ग्नितोये** भूप्रकृतौ वातप्रकृतौ अग्निप्रकृतौ तोयप्रकृतौ वर्णो वेदितव्यः। एवं श्रोत्रेन्द्रियम्, 30 धर्मधातुविषयम्, भगेन्द्रियम्, शुक्रच्यवनम्, एते **आकाशप्रकृतयः** कायभेदेन **हरितवर्णाः**,

---

१. ग पृथिवीप्रकृतयः। २-३. भो Kha Dog Gi gZugs (वर्णरूपं)।

ज्ञानप्रकृतिभावभेदेन नीलाः। तथा मनेन्द्रियम् (मन इन्द्रियम्), शब्दः, द्वियेन्द्रियम्, मूत्रस्रावः, एते ज्ञानधातुप्रकृतयः काल(य)[1]भेदेन नीलवर्णाः आकाशप्रकृतयो भावभेदेन हरिताः। अतो **ज्ञानाकाशे च नीलो भवति च हरितः कायभावप्रभेदैरिति** कायभावप्रकृतिवर्णनियमः।

5 प्रज्ञोपायालिङ्गनमस्थिमांसादिधातूनामाह **प्रज्ञेत्यादि**—

प्रज्ञोपायोऽस्थिमांसं ससलिलरुधिरं पावको मूत्रमेव
वातो विट्शून्यशुक्रं भवति वरतनौ श्रीरजश्चित्तमेव।
श्रोत्राच्छब्दादयोऽन्ये स्वजिनकुलवशाद् वाक्स्वरूपादयश्च
एवं देव्यः सबुद्धा विषयविषयिणो मण्डले वेदितव्याः ॥३०॥

10 इह शरीरे **प्रज्ञा अस्थि**धातुः, **उपायो मांस**धातुः, तयोः परस्परं संयोगः पृथिवीसंस्कारयोः, यत् कठिनतत्वं तत् पृथिवीधातुरिति ज्ञापकात् **प्रज्ञोपायास्थिमांसमिति**। एवं प्रज्ञोपायः **ससलिलरुधिरमु**दकधातुना सार्द्धं वेदनास्कन्धः। तथा **पावक** इति उष्णता **मूत्रमि**ति संज्ञा, अनयो प्रज्ञोपायतः[2]। ननु शुक्रधातुः संज्ञास्कन्धः, कथं मूत्रमित्युच्यते? इह शरीरे या संज्ञा सा जातमात्रस्य बालस्य मूत्रस्रावतः, यन्महासुखज्ञानं 15 तत् षोडशवर्षावधेर्भवति शुक्रच्यवनधर्मतः। अतो मूत्रं संज्ञाधर्मः, शुक्रं ज्ञानधर्म इति विशेषात् मूत्रं संज्ञास्कन्ध इति। एवं* **वातो विट्** प्रज्ञोपायवायुधातु रूपस्कन्ध इति। **शून्यमिति** रजोधातुः, **शुक्रमिति** विज्ञानधातुः प्रज्ञोपाय इति। **भवति वरतनौ श्रीरजो** धर्मधातुविषयं[3] **बोधिचित्तमेव**+। एवं **श्रोत्रात् शब्दादयोऽन्ये** इति। शब्दः प्रज्ञा श्रोत्र उपायः, गन्धं प्रज्ञा घ्राणोपायः (घ्राण उपायः), रूपं प्रज्ञा चक्षुरुपायः, रसः प्रज्ञा 20 जिह्वोपायः, स्पर्शः प्रज्ञा काय उपायः, धर्मधातुः प्रज्ञा म[96a]न उपायः, विट्स्रावः प्रज्ञा गुद उपायः, गति प्रज्ञा पाद उपायः, आदानं प्रज्ञा कर उपायः, आलापः प्रज्ञा वागिन्द्रियमुपायः, मूत्रक्रिया प्रज्ञा भग उपायः, लिङ्गं वा शुक्रच्यवनप्रज्ञा शङ्खिनीन्द्रियमुपाय इति।

स्वजिनकुलवशात् वाक्स्वरूपादयश्च कर्मेन्द्रियाद्या इति। **एवमुक्तक्रमेण देव्यः** 25 पृथिव्यादयः **सबुद्धा**[4]वैरोचनादिभिः सार्द्धं **विषयविषयिणो मण्डले** वक्ष्यमाणे वक्तव्या इति परस्परं प्रज्ञोपायालिङ्गनविधिनियमः।

इदानीं चन्द्रसूर्यशुक्ररजःकृत्यमुच्यते **नाडीत्यादिना**—

नाडीनां षट्सहस्रं दिनकरगुणितं गर्भमध्ये च कृत्वा
वर्षे पूर्णे च वृद्धिं त्यजति शशधरोऽर्कश्च वृद्धिं करोति।

---

१. भो. Lus (काय)। २. क. ख. प्रज्ञोपाय इति। ३. क. पुस्तके नास्ति।
४. ग. सर्वबुद्धा।
*-+ख. पुस्तके नास्ति।

वर्षेषु द्वादशेषु त्यजति दिनकरो धातुवृद्धिं स्वदेहे
नाडीच्छेदं प्रसूते भवति दिनदिनं युग्मसंख्याक्रमेण ॥३१॥

इह शरीरे **गर्भं**मासादेकादूर्ध्वं प्रत्यहं नाडीशतद्वयं भवति; मासमध्ये त्रिंशद्भिर्दिनैः षट्सहस्रसंख्या भवति; दादशमासावधेः पष्ट्युत्तरत्रिशतदिनैर्द्वासप्ततिसहस्रसंख्या भवति। **नाडीनां षट्सहस्रं दिनकरगुणितमि**ति द्वादशगुणितं **गर्भमध्ये च**[वृद्धिं][1] कत्वा। 5
चकाराद् वाह्येऽपि द्वादशमासान्तं यावत्। गर्भाधानमे[स्य][2]एकमासं वर्जयित्वा **वर्षे पूर्णे** सति **वृद्धिं त्यजति शशधरः, चका**रात् त्रयोदशभिर्मासैरिति **अर्कश्च वृद्धिं करोती**ति। ततश्चन्द्रशुक्रनाडी धातुसंख्यापरिच्छित्तौ सत्यां **धातुवृद्धिं** रजः करोति द्वादशवर्षान्(णि) यावदिति। **चकारा**त् शुक्रं च धातुवृद्धिं करोति। **वर्षेषु द्वादशेषु त्यजति दिनकरो धातुवृद्धिं स्वदेहे** स्त्रीणां रजः सम्भवो(वां) यावदिति सूर्यवृद्धिः। पुंसां षोडशवर्षावधेः 10
शुक्रससम्भवो(वां) यावदिति। **चकारः** समुच्चये। एवं **नाडी**[96b]**च्छेदो**ऽपि(मपि) **प्रसूते** सति **भवति प्रतिदिनं युग्मसंख्याक्रमेण**ेति वक्ष्यमाणे विस्तरेण वक्तव्यमिति नाडी-धातुवृद्धिनियमः।

इदानीमाकाशादितत्त्वान्युच्यन्ते[3] **श्री भूतानी**त्यादिना—

श्री भूतानीन्द्रियाणि प्रभवति दशकं पञ्च कर्मेन्द्रियाणि 15
तन्मात्राः पञ्च चोक्ताः सगुणमपि मनो बुद्ध्यहङ्कारदिव्या।
तत्त्वान्येतानि देहे त्रिभुवननिलये भुक्तिरेषा विभोश्च
पञ्चस्कन्धात्मकस्य त्रिविधभवगतस्यात्मकर्मार्जितस्य ॥३२॥

इह शरीरे बालकस्य **श्रो भूतानि** पञ्चे**न्द्रियाणि** पञ्चाकाशादीनि श्रोत्रादीन्येकत्र **दशकं** भवति। एवं **पञ्च कर्मेन्द्रियाणि तन्मात्रा** इति शब्दतन्त्रमात्रादय इति 20
पञ्च चोक्ताः। **सगुणमपि मनः**, सत्त्वरजस्तमोभिः सहितं मनः। एवं **बुद्धि**रपि **अहङ्कारो**ऽपि **दिव्या**[4] प्रकृतिरपीति।[5] **तत्त्वान्येतानि** चतुर्विंशतिः **देहे त्रिभुवननिलये** बाह्ये **भुक्तिरेषा विभोश्च**। किम्भूतस्य ? **पञ्चस्कन्धात्मकस्य** लोकसंवृत्या **त्रिविधभवगतस्यात्मकर्मार्जितस्य** भुक्तिर्भवति। चतुर्विंशत्यात्मिका प्रकृतिः पुरुषस्य ग्राह[क]धर्मिणो ग्राह्यधर्मिणी प्रकृतिः। स्वाभाविका पुनर्ग्राह्यधर्मरहिताऽपरा प्रभास्वराऽस्तीति प्रकृति- 25
पुरुषनियमः। T 301

इदानीं शरीरे पृथिव्यादीनां लक्षणमुच्यते **पृथ्वी**त्यादिना—

पृथ्वी काठिन्यमम्बु द्रवमपि हविरुष्णं च वायुर्लघुत्वं
छिद्रं शून्यं दृढास्थि त्वमरगिरवरो वृष्टिरत्रामृतं स्यात्।

---

१. भो. ḥPhel ba (वृद्धि)। २. भो. mÑal bZun baḥi ZLa ba (गर्भाधानस्य मासं)। ३. ग. आह। ४–५. भो. mChog gi Raṅ bŠin (दिव्ययाः प्रकृतिः)।

वज्रं शब्दश्च वायुं(यु) विडपि च घटिकाः श्वासनिःश्वासयुग्मं
युग्मैः संक्रान्तिरेका द्विगुणनवशतैः ज्योतिषा रन्ध्रभेदाः ॥३३॥

इह शरीरे **पृथिवी कठिनम्, अम्बु द्रवम्**। **अपि हविरुष्णत्वं च** [97a]। **वायु**र्लघुत्वम्, यतः संकोचनं प्रसारणं करोति।[1] **छिद्रं शून्यं दृढास्थि** पृष्ठास्थिदण्डः कटिमारभ्य स्कन्धपर्यन्तं **अमरगिरिवरो** मेरुरिति। **वृष्टिर्या** बाह्ये तत्र [सा अत्र] शरीरे **अमृतं** जिह्वालम्बिकाभ्यां स्तुकस्रावः[2]। **वज्रं शब्दो** हृदये अन्त्राणां गर्जिर्या। **वायु** (चापः)[3] इन्द्रधनुर्**विडपि**। **घटिका** या बाह्ये षष्टिपाणीपलात्मिका, सा देहे **श्वासनिःश्वासयुग्मं** निर्गमप्रवेशयुग्मं प्राणवायुरिति घटिका। एभिर्**युग्मै द्विगुणनवशतै**रित्यष्टादशशतैः **संक्रान्तिरेका** भवति। बाह्ये संक्रान्तिः मासैस्त्रिंशद्भिर्दिनैरिति अध्यात्मनि पञ्च नाड्यः पञ्चमण्डलवाहिन्यः। **ज्योतिष** आदित्यादयो ग्रहास्ते **रन्ध्रभेदा** दश भवन्ति। अत्र गुदरन्ध्रं चन्द्रः, मूत्ररन्ध्रं रविः, शुक्ररन्ध्रं कालाग्निः, मुखरन्ध्रं राहुः, दक्षिणनेत्ररन्ध्रं मङ्गलः, वामनेत्ररन्ध्रं बुधः, दक्षिणघ्राणरन्ध्रं बृहस्पतिः, वामघ्राणरन्ध्रं शुक्रः, दक्षिणकर्णरन्ध्रं मन्दः, वामकर्णरन्ध्रं केतुरिति। एषां पुनर्मङ्गलादीनां षडिन्द्रियभेदो वक्ष्यमाणे पञ्चमपटले वक्तव्य इति पृथिव्यादिनियमः।

इदानीं नक्षत्रादिकमुच्यते **नक्षत्रमि**त्यादिना—

नक्षत्रं दन्तपंक्तिस्त्वनुदिनघटिका सन्धिभेदाद् भवन्ति
नाड्यो नद्यन्त्रमेघास्त्वपरशशिकला धातवो द्विस्वभावाः।
लोमा यूका च शुक्रं कृमिकुलसहितं भूतयोनिश्चतुर्धा
नन्दाद्यङ्गुष्ठपर्वा(र्वं)कमलमपि शिरो गुह्यपद्मं च शक्तिः ॥३४॥

अभीचिना (अभिजिता) सहाष्टविंशन्नक्षत्राणि सप्तशलाकाचक्रभेदेन। चत्वारि दण्डनक्षत्राणि, चतुःकोणे शलाकानक्षत्राणाम्, एवं द्वात्रिंशदिति। **दन्तानां** क्रमोत्क्रमचारभेदेन चतुर्दश नक्षत्राण्यो(ण्यू)र्ध्वचक्रे चतुर्दशाधश्चक्रे स्थितानि दन्तानां **पंक्तिरू**र्ध्वाधो भवति [97b] अर्द्धचक्रभेदत[4] इति **नक्षत्रं दन्तपंक्तिः**। अत्र **दिनघटिका सन्धिभेदा[द्]भवन्ति** इति प्रत्यहं षष्टिघटिका वर्षानु**दिनैः** श्वाससंख्या भवन्ति। ता घटिकाः षष्ट्युत्तरत्रिशतदिनानि भवन्ति। तानि च षष्ट्युत्तरत्रिशतसन्धयो भवन्तीति सन्धि[भेदाः]।

नाड्यो नद्य इति इह लोकधातौ बाह्ये द्वासप्ततिसहस्रनद्यः समुद्रगामिन्यः, अध्यात्मनि द्वासप्ततिसहस्रनाड्यो रसवाहिन्यो भवन्तीति। **अन्त्रमेघाः**। **अन्त्र** इति अविभक्तिकं पदम्, अन्त्राणि मेघा भवन्तीति, रसस्रवणादिति गर्जनलक्षणात्। **अपरशशिकला धातवो द्विस्वभावाः**। अत्र कला द्विधा—**लोमा**दिधातुविकारेणैका, **शुक्र**च्यवनधर्मेणेत्यपरा। अनयोः पुनर्या लोमादिधातुविकारेणावस्थिताः, ता अपि द्विधा अपरा

---

१. क. ख. भवति। २. क. ख. श्रुक०। ३. भो. gŠu (चापः)। ४. ग. भेदेन।

शशिकला इति। अत्र सूक्ष्मलोमवृहल्लोमप्रतिपत् द्वितीया, एवं त्वक् तृतीया चतुर्थी, रक्तं पञ्चमी षष्ठी, एवं मांसः सप्तमी अष्टमी, तथा नाड्यो नवमी दशमी, एवमस्थीनि एकादशी द्वादशी, तथा मज्जा त्रयोदशी चतुर्दशी, एवं शुक्रं पञ्चदशी षोडशी कला, धातवो द्विस्वभावा इति नियमः।

इदानीं भूतयोनिरुच्यते **लोमे**त्यादिना—

इह लोकधातौ **चतुर्धा भूतयोनिः**—इह पृथिवीयोनिः स्थावरा बाह्ये, अध्यात्मनि **लोमानि**; बाह्ये वायुयोनिरण्डजाः, अध्यात्मनि **यूकाः**; बाह्ये उदकयोनिः **कृमिकुलादयः** संस्वेदजाः, शरीरेऽपि कृमिकुलादीनि, बाह्ये जरायुजाः **शुक्रसम्भूता**, अध्यात्मनि **शुक्रमेव**; बाह्येऽनुक्तत्वादिति आकाशधातुः रसरूपा उपपादुकाः, अध्यात्मन्यण्डरूपा सूक्ष्मप्राणिनः इति भूतयोनिश्चतुर्धा च।

नन्दाद्यङ्गुष्ठपर्वमि(इ)ति। इह बाह्ये प्रतिपदादयः पञ्चपञ्चतिथयो नन्दादय उच्यन्ते। ते च शुक्लकृष्णपक्षभेदेन कनिष्ठाङ्गुष्ठादिना त्रित्रिपर्वस्वभावेन वामकराङ्गुली-पर्वा(णि) नन्दादयो भवन्ति, आकाशादिधातुभेदेन। दक्षिणकराङ्गुलीपर्वा(णि) पृथिव्यादिभेदेन, वृद्धाङ्गुष्ठादिपर्वभेदेन[1] पञ्चदश; एवं पादाङ्गुलीपर्वा(णि) द्वि[98a]-तीयमासतिथिभेदेन ज्ञेया(नि) इति। एवं प्रत्येकऋतु[2]भेदेन वर्षे षट् परिवर्त्ता भवन्ति षड्ऋतुभिरिति नन्दाद्यङ्गुष्ठपर्वनियमः।

कमलमपि शिरो नाभिपद्मञ्च शक्तिरिति सहजतनुर्भवतीति पूर्वोक्तविधिनेति शक्तिनियमः।

इदानीं स्वर्गादय उच्यन्ते **ब्रह्माण्ड[मि]**त्यादिना—

ब्रह्माण्डं स्वर्गलोको वरकरचरणौ मर्त्यपाताललोकौ
अब्धिद्वीपाश्च शैला द्रवमृदुकठिना धातवस्त्रिस्वभावाः।
क्षाराब्धि मूत्रमेषां शिखिचलवलयं रक्तचर्माणि राजन्
केशाः सिद्धाः समस्तास्त्रिभुवननिलयेऽनेकभेदैश्च सिद्धाः ॥३५॥

इह शरीरे **ब्रह्माण्डमु**ष्णीषात् कण्ठचक्रपर्यन्तं **स्वर्गलोको** भवति। **वरकरौ मर्त्यलोको** भवति। **चरणौ पाताललोको** भवति। **अब्धयश्च द्वीपाश्चाब्धिद्वीपाः**। **शैलाश्च** सप्त यथासंख्यं **द्रवधातवः**।

शरीरे सप्त समुद्राः। तेषु **क्षारसमुद्रो मूत्रम्**, मद्यसमुद्रः प्रस्वेदः, उदकसमुद्रः स्तुकः[3] दुग्धसमुद्रः स्त्रीणां दुग्धो नराणां श्लेष्मधातुः, दधिसमुद्रः शिरोमस्तिष्कम्, घृतसमुद्रो वसाः, मधुसमुद्रः शुक्रमिति।

---

१. ग. वृद्धाङ्गुष्ठपर्वादिभेदेन। २. क. ख. ०चित्त; भो. Dus (ऋतु)। ३. क. ख. श्रूकः।

तथा द्वीपाः। द्वादशारं जम्बूद्वीपम्, हस्तपादद्वादशखण्डेषु; मांसं रौद्रम्, कालजं क्रौञ्चम्, किन्नरजं बुक्कम्, कुशं मेदम्, सिताभं मूत्रम्, चन्द्र नाड्य इति मृदुधातवः।

शैला इति वज्रपर्वताः पादकरनखाः। शीताद्रिः करास्थीनि, द्रोण उपवाह्व-स्थीनि, मणिकरो बाह्वस्थीनि, निषढः(टः) पादास्थीनि, मन्द्राद्रिः जङ्घास्थीनि, 5 नीलाभ ऊर्वस्थीनि इति कठिनधातवः सप्तशैलाः। अष्टमो मेरुः, शरीरकङ्कालं कटि-मारम्य स्कन्धपर्यन्तमिति नियमः।

द्रवमृदुकठिना धातवस्त्रिस्वभावाः। **शिखिचलवलय**[98b]**मिति शिखिवलयं रक्तम्**, वायुवलयं **चर्माणि**। **राजन्** इत्यामन्त्रणम्। **केशाः सिद्धाः समस्तास्त्रिभुवन-निलयेऽनेकभेदैश्च सिद्धा** इति। इह बाह्ये लोकधातौ त्रिधा सिद्धाः—खेचराः, भूचराः, T 302 10 पातालवासिनः। तेषु खेचराः शिरोरुहाः, भूचराः कक्षसम्भूताः, पातालवासिनो भग-लिङ्गसम्भूताः। लोमानुक्तत्वात् सार्द्धत्रिकोटिलक्षणा इति स्वर्गादिनियमः।

इदानीमग्नित्रयमुच्यते **हृदि**त्यादिना—

हृत्कण्ठे नाभिपद्मे पविरत्रिशिखिनस्तत् स्फुरन्ति क्रमेण
धन्वाकारे च वृत्ते त्वनुदिनहवने चाब्धिकोणे च कुण्डे।
15 तेषामूर्ध्वे परोऽग्निः स्फुरदमलकरो ज्ञानमूर्तिस्तमोऽन्ते
यस्मिन् सूर्यो न विद्युत्पतिशशधरो न ग्रहास्तारकाद्याः॥ ३६॥

इह शरीरे दक्षिणाग्निर्गार्हपत्यमावहनीयोऽग्नित्रयम्। यथासंख्यं हृत्पद्मे धन्वा-कारे **पवि(:)** विद्युदग्निः, **कण्ठ**कमले **वृत्ते** सूर्याग्निर्गार्हपत्यम्, **नाभौ** चतुरस्रे कुण्डे आहवनीयः क्रव्यादाग्निरिति **स्फुरन्ति क्रमेण। अनुदिनहवने चाब्धिकोणे च कुण्डे** 20 [इति] नियमः। **तेषामूर्ध्वे परोऽग्निः स्फुरदमलकरो ज्ञानमूर्तिस्तमोऽन्ते** गुह्यकमले ललाटकमलेऽच्छिन्नः। **यस्मिन्** स्थाने **सूर्यो न विद्युत्पतिशशधरो न ग्रहास्तारकाद्याः**, आदितः क्रव्यादाग्निरिति चतुर्थः सत्योऽग्निर्ज्ञानमूर्तिरित्यग्नित्रयनियमः।

[99a] इदानीं वारघटिकादय उच्यन्ते **वारा** इत्यादिना—

वारा हृत्पद्मपत्रे प्रकटितघटिका नाभिपद्मे च षष्टि-
25 र्भूमध्येऽह्नः पदं वै मनुरपि नृप सम्भोगचक्रेऽपि चर्क्षम्।
ऋक्षाणां नाभिपद्मं पुनरपि घटिका योगिना वेदितव्या
नाड्यः पाणीपलानि स्फुटसकलतनौ हस्तपादादिसन्धौ॥ ३७॥

इह बाह्ये सप्तवाराः। अष्टमी कुलिका भुक्तिः शरीरे ते **हृत्कमलदले**ष्वष्टष्वष्टौ भवन्ति—पूर्वदले आदित्यः, आग्नेय्यां सोमः, दक्षिणे मङ्गलः, नैर्ऋत्ये बुधः, वारुण्ये

बृहस्पतिः, वायव्ये शुक्रः, कुवेरे शनिः, ईशाने कुलिकाभोगे केतुः[1], अपरभोगार्धे राहुरिति **प्रकटितघटिका नाभिपद्मे च षष्टिः**। दल[2]चतस्रः शून्यघटिकादलानि, शेषाणि षष्टिदलानि षष्टिमण्डलवाहिन्यः दलानि[3] षष्ट्रिघटिका इति प्रत्येकवारस्य षष्टिसंख्या। **भ्रू मध्ये** षोडशदलेषु दलद्वयं शून्यवाहकम्। चतुर्दशदलेषु चतुर्दश **पदानि** चन्द्रस्य भूताभूतेष्वित्यादीनि[4]। तत्र प्रथमदले भृता(भूता) इति पञ्चघटिकात्मकं पदम्; एवं द्वितीये तृतीये। वेदा इति चतुर्थघटिकात्मकः चतुर्थदले। शिखि[नि] तिस्रो नाड्यः पञ्चमे पदम्। कर इति द्विघटिकात्मकं पदं षष्ठदले। शशिन इति एकघटिकात्मकं पदं सप्तमं सप्तमे दले। एवं विलोमेनाष्टमे एकघटिकात्मकं[5] पदम्[6], नवमे द्विघटिकात्मकम्, दशमे त्रिघटिकात्मकम्, एकादशमे(शे) चतुर्घटिकात्मकम्, द्वादशमे(शे) पञ्चघटिकात्मकम्, त्रयोदशे चतुर्दशेऽप्येवं ज्ञेयमिति। चन्द्रपदानि **मनुसंख्यकानि** भवन्ति। **नृप** इत्यामन्त्रणम्। **सम्भोगचक्रे** कण्ठचक्रे द्वात्रिंशद्दलेषु दलचतुष्टयं शून्यम्। अन्येष्वष्टाविंशतिदलेषु अभीचि(अभिजित)सहितान्यष्टाविंशत् **ऋक्षाणि** भवन्ति; तानि वामावर्त्तेन पूर्वसप्तशलाकासु मध्ये मध्यमायां रेवत्यन्तेषु। अश्विनी द्वितीयायाम्, भरणी तृतीयायाम्, कृत्तिका चतुर्थ्याम्; ततो दण्डनक्षत्रं स(श)लाका सप्त सप्तदलसंज्ञा नाड्य इति। तत उत्तरस(श)लाकासु सप्तसु वामावर्त्तेन प्रथमस(श)लाकायां रोहिणी, द्वितीयायां मृगशिरा, तृतीयायामार्द्रा, चतुर्थ्यां पुनर्वसुः, पञ्चम्यां पुष्यः, षष्ठ्यामश्लेषा, सप्तम्यां मघा, तत एवमन्यापि वेदितव्या इति। **ऋक्षाणां नाभिपद्मेषु पुनरपि घटिकाः षष्टि वेदितव्येति**। **नाड्यः पाणीपलानि** षष्टिः, षष्टीनां षट्त्रिंश[त् श][7]तानि **स्फुटसकलतनौ हस्तपादादिसन्धाविति** वक्ष्यमाणे वक्तव्यो विस्तरेणेति वारादिनियमः [99b]।

इदानीं प्राणशक्तेर्नाभ्यादिचक्रमणमुच्यते **नाभीत्यादिना**—

नाभ्यब्जे सूर्यपत्रे भ्रमति परकला संक्रमन्ती क्रमेण
संक्रान्तिः प्राणयुग्मैर्द्विगुणनवशतैः कर्किलग्ने नरेन्द्र।
यस्मिन् लग्ने स्थितोऽर्को भ्रमति दिननिशं तत्र सा वेदितव्या
ज्ञातव्यं लग्नमानं धनमृणविषुवं चायनं सव्यमानम् ॥ ३८ ॥

इह यथा बाह्ये सूर्यो द्वादशराशिषु वर्षसंक्रान्तिभेदेन भ्रमति, तथाध्यात्मनि द्वादशराशिषु प्रतिदिनं द्वादशसंक्रान्तिभेदेन प्राणशक्तिश्च भ्रमति। **नाभ्यब्जे सूर्यपत्रे भ्रमति परकला** प्राणशक्तिः **संक्रमन्ती क्रमेण** द्वादशराशिपत्रेषु। **संक्रान्तिः प्राणयुग्मैर्द्विगुणनवशतैरिति**। इह बाह्ये सूर्यस्याष्टादशशतैर्दण्डैरेकसंक्रान्तिर्भवति, तथा

---

१. क. ख. सति; ग. शनिः; भो mJug Riṅs (केतु)। २. क. ख. पुस्तके 'दल' इति नास्ति। ३. क. ख. पुस्तके 'दलानि' इति नास्ति। ४. क. ख. भृताभृतेषु; भो. ḥByuṅ Daṅ ḥByuṅ ba mDaḥ (भूताभूतेषु)। ५-६. क. ख. एकघटिकापदम्। ७. भो. brGya Phrag Sum Cu rTsa Drug (षट्त्रिंशत् शतानि)।

श्वासैरष्टादशशतैः प्राणशक्तिरेकदले संक्रान्तिर्भवति। सा च **कर्क्कि(कर्कट)लग्ने नरेन्द्र**। इह बाह्ये सूर्यस्य कर्कटो जन्मराशिः। एवं सर्वजातकानां यस्मिन् लग्ने जन्म भवति, सा राशिः कर्कटसंज्ञा वेदितव्या 'प्राणजन्मराशि स्थानीया' इति न्यायात्। **कर्क्कि(कर्कट)लग्ने नरेन्द्र** इत्यामन्त्रणम्। **यस्मिन् लग्ने** बाह्ये **स्थितोऽर्क** उदयकालात् **भ्रमति दिननिशं तत्र सा वेदितव्या** सप्तस(श)लाकाभेदेन। **ज्ञातव्या-(व्यं) लग्नमानं**। यथा बाह्ये सूर्यस्य संक्रान्तिरूनाधिका दिनैर्वेदितव्या, तथाध्यात्मनि ऊनाधिकश्वासैर्वेदितव्येति सूर्यस्य दण्डभेदेन शरीरे श्वासनियमः। प्राणस्य **ऋणधनविषुवं** कर्कटादिषु रविका[पाद]वशेन **ऋणम्**, मकरादिषु **धनम्**। ज्योतिषोक्तविधिना **विषुवं** प्रतिसंक्रान्तिदिनं सपादषट्पञ्चाशद्दण्डात्मकमिति बाह्ये, अध्यात्मनि श्वासात्मकं प्रति-लग्नसंक्रान्तिभेदेनेति द्वादशसंक्रान्तिभ्रमणम्।

इदानीं प्रत्येककमलदले पञ्चमण्डलप्रवाह उच्यते **एकैक** इत्यादिना—

एकैके पद्मपत्रे प्रवहति धरणी पश्चिमे चोत्तरेऽम्बु
वह्निः सव्ये च पूर्वे प्रवहति पवनः पत्रमध्ये च शून्यम्।
संक्रान्ति(:) [100a] पञ्चभेदैः प्रवहति विषुवं होननिःश्वासषष्टिः
एवं संक्रान्तिभेदाः प्रतिदिनसमये लग्नभेदैर्भवन्ति ॥ ३९ ॥

इह बाह्ये सूर्यस्य **एकैक**संक्रान्तौ पञ्चमण्डलभोगाः। त्रिंशद्दिनैः पञ्चमण्डलभोगः; षड्दिनैः षष्ठ्युत्तरत्रिशतदण्डैरेकमण्डलभोगः; तथाध्यात्मन्यष्टादशशतैः श्वासैः पञ्चमण्डल-भोगः, षष्ठ्युत्तरत्रिशतश्वासैरेकमण्डलभोगो भवति(तीति) नियमः। अत्र प्रत्येकसंक्रान्ति-दले पञ्च स्थानानि भवन्ति—दलस्य पश्चिममुत्तरं दक्षिणं पूर्वं मध्यम्। तत्र प्रत्येके **पद्म-पत्रैकैके प्रवहति धरणी**-मण्डलं **पश्चिमे** दलस्यो**त्तरेऽम्बु**मण्डलं वहति, **वह्नि**मण्डलं **सव्ये** वहति, पुनः **पूर्वे प्रवहति पवन**मण्डलम्। **पत्रमध्ये च शून्य**मण्डलं वहति। प्रत्येकं षष्ठ्युत्तरनिःश्वासशतत्रयं प्राणशक्तिरिति एवं **संक्रान्तिः पञ्चभेदैः** भवति प्रत्येका। एषु मण्डलेषु षष्ठ्युत्तरत्रिशतश्वासमध्ये सपादएकादशैकादशश्वासान् गृहीत्वा **प्रवहति विषुवं** लग्नोदयाभिसन्धौ, **होननिःश्वासषष्टि**रिति सत्रिपादश्वासत्रयोनानुवहति श्वासान् सपाद-षट्पञ्चाशदिति। **एवं संक्रान्तिभेदो (भेदाः)** अध्यात्मनि द्वादशल**ग्नभेदैर्भवन्ति**, इति संक्रान्तिनियमः।

इदानीं पञ्चमण्डलाधिदेवा उच्यन्ते **शून्ये**त्यादिना—

शून्याद्यं पञ्च तत्त्वं प्रवहति नियतं चोत्तरे क्ष्मादिसव्ये
राह्वग्नी चन्द्रसूर्यौ बुद्धमहीतनयौ दैत्यमन्त्री गुरुश्च।
केतुर्मन्दश्च खादिष्विति दशपतयः क्षेत्रिणो मण्डलेषु
षण्मासं चन्द्र ईशो भवति नरपते चोत्तरे दक्षिणेऽर्कः ॥ ४० ॥

इह बाह्ये सूर्यस्य मेषादिविषमलग्ने शून्यमण्डलादिभोगः, वृषभादिसमलग्ने पृथिवीमण्डलादिभो[100b] गः; तथाध्यात्मनि **शून्याद्यं पञ्च तत्त्वमिति** शून्यं वायुरग्निस्तोयं पृथिवीमण्डलं **प्रवहति नियतमुत्तरे** वामनासापुटे। **क्ष्मादि(दी)ति** पृथिव्यप्तेजोवायुशून्यमण्डलं **सव्यनासापुटे** वहति। एषु वाम(अपसव्य)सव्येषु दशमण्डलेषु **यथासंख्यं** वामे शून्यमण्लं **राहुरधिदेवता** प्रवाहकाले; दक्षिणे कालाग्निः; वामे वायुमण्डले **चन्द्रः**, दक्षिणे **सूर्यः**; वामे वह्निमण्डले **बुधः**, दक्षिणे **मङ्गलः**; वामे तोयमण्डले **शुक्रः**, दक्षिणे **बृहस्पतिः**; वामे पृथिवीमण्डले **केतुः**, दक्षिणे **मन्दः**[1]; एवं **खादिषु** मण्डलेष्वधिपतयो दश क्षेत्रिणो भवन्तीति। एवं **षण्मासं चन्द्र ईशो भवति**, मेषमिथुनसिंहतुलाधनुः, कुम्भराशौ वामनाड्यां चन्द्रः, शुक्रधातुरीश उत्तरे; दक्षिणे वृषभकर्कटकन्यावृश्चिकमकरमीनराशौ; **अर्को** रजोधातुरीशो भवति। **नरपत** इत्यामन्त्रणमिति मण्डलाधिपतिनियमः।

T 303

इदानीं प्राणादयो वायव उच्यन्ते **तस्येत्यादिना**—

तस्योर्ध्वं हृत्प्रदेशे वसुदलकमले संस्थितं नाडिचक्रं
प्राणाद्यं वायुवृन्दं रविशशिशिखिनो वामसव्ये च मध्ये।
वामे नाडी शशाङ्को वहति खलु सिता दक्षिणे रक्तसूर्या
मध्ये कालाग्निरूपा प्रवहति विषुवे हीननिःश्वासषष्टिः ॥ ४१ ॥

इह नाभिचक्रे गर्भे चतुर्दलात्मके, तद्बाह्ये अष्टदलात्मके, तद्बाह्ये द्वादश दलात्मके, तद्बाह्ये चतुःषष्टिदलात्मके। **दल**शब्देन नाड्यः श्वासधर्मिण्यो[2] गृह्यन्ते। **तस्य** नाभिचक्रस्योर्ध्वं **सार्द्धद्वादशाङ्गुलादूर्ध्वं हृत्प्रदेशे संस्थितम्, नाडीचक्रमष्टारम्** अष्टनाड्यात्मकम्। तेषु **प्राणाद्यं वायुवृन्दं वसुदलकमले शशिरविशिखिनः**। **शिखीति** राहुः। **वामे** चन्द्रनाडी **शशाङ्को वहति** सितवर्णा, **दक्षिणे रक्त**वर्णा सूर्यस्य नाडी व[101a]हति, अष्टसु दलेषु **मध्ये कालाग्निरूपा** नाडी राहुनाडी **प्रवहति, विषुवे** लग्नोदयाभिसन्धौ सपादषट्पञ्चाशत् **श्वासानि(इ)ति**। अस्मिन्नष्टारे हृदब्जे प्रहरसंक्रान्तिनाड्यो वेदितव्याः। नासारन्ध्रे पञ्चमण्डलवाहिन्योऽमी भवन्ति। नाड्या नाड्यां प्राणसञ्चारः सप्तविंशतिशतैः श्वासप्रश्वासैर्भवति सार्द्धसप्तदण्डैरिति।

प्राणोऽपानः समानः कमलवसुदले मारुतश्चाप्युदानो
व्यानो नागश्च कूर्मोऽथ कृकरपवनो देवदत्तो धनञ्जः।
इत्येवं नाडि(डी)चक्रे दशविधपवनाः संस्थिताः कर्मभेदैः
शङ्खिन्यन्तं त्विडाद्यं स्वहृदयकमलं नाभिचक्रं समस्तम् ॥ ४२ ॥

---

१. ख. मण्डः; भो. sPen pa (शनिः)।

२. क. ० धर्मिणो।

तत्र **प्राण** ऊर्ध्वं वहति; **अपानो** नाभ्यधो वहति; **समानः** पूर्वदलेऽधिदेवो रोहिणीनाड्याम्; **उदान** आग्नेयदले हस्तिजिह्वानाड्याम्; **व्यानो** दक्षिणदले पिङ्गलानाड्याम्; **नागो** नैर्ऋत्यदले पूषानाड्याम्; **कूर्मो** वारुण्यदले जयानाड्याम्; **कृकरो** वायव्यदलेऽलम्बुषानाड्याम्; **देवदत्त** उत्तरदले इडानाड्याम्; **धनञ्जय** ईशदले कुहानाड्याम्; सुषुम्नायां प्राणः, दिक्संख्या सं(शं)खिनीया स्रवति बोधिचित्तं तस्यामपानोऽधिदेवता। **इत्येवं नाडि(डी)चक्रे दशविधपवनाः संस्थिताः कर्मभेदैः**। एषां प्राणादीनां सर्वेषां वा द्वासप्ततिनाडीसहस्रेषु व्याप्तिः, किन्त्वष्टस्थानेषु जन्माष्टानामिति। **सं(शं)खिन्यन्तं त्विडाद्यं स्वहृदयकमलं नाभिचक्रं समस्तम्**, जन्मस्थानं समानादीनामिति हृच्चक्रनियमः।

इदानीं प्राणादिकृत्यमुच्यते **प्राण** इत्यादिना—

प्राणः प्राणं करोत्यर्कशशिपथगतस्त्वन्नपानं समस्तम्
आपानो नेत्यधस्तात् सकलसमरसं नेति काये समानः [101b]।
काये स्पन्दत्युदानो मुखकरचरणैर्गीतनाट्यं करोति
व्यानो व्याधिं करोति प्रकृतिगुणवशाद् गात्रभङ्गं तथैव ॥ ४३ ॥

इह शरीरे **प्राणः प्राणं** बलं **करोति अर्कशशिपथगतः** सन्; **अर्कपथः** पिङ्गला, रसना वा; **शशिपथ** इडा, ललना वा; तस्याः पथगत इति। **तु** निपातनार्थम्। **अन्नपानं समस्तम्**, यत् रसं भक्षितमुदकादिपीतम्, तत् **सकलमपानवायुरधो नेती**त्यागमः। **नयति सकलं समरसं** तुल्यरसं यावत् **काये समानो** नाम वायुः, सप्तधातुषु समरसं करोतीत्यर्थः। **काये स्पन्दत्युदानो** नाम वायु**र्मुखकरचरणैर्गीतनाट्यं करोति**। अत्र शरीरे स एवोदानो मुखेन गीतादिकं हास्यालापादिकं करोति, करचरणैर्नाट्यं करोति, गमनादिकं चेति। **व्यानो व्याधिं करोति प्रकृतिगुणवशा**दिति उदकप्रकृतिवशाद् **गात्रभङ्गं तथैव** करोति यथा व्याधिम्।

नागोऽप्युद्गारमेव स्फुटकरचरणात् संकुचन् कूर्मवायुः
क्रोधं क्षोभं समस्तं स कृकरपवनो जृम्भिकां देवदत्तः।
कायं पञ्चत्वगन्तुं(गतं)त्यजति(न)नरपते वायुरेको धनञ्जः
एवं प्राणादिसर्वे प्रकृतिगतगुणान् वायवो न त्यजन्ति ॥ ४४ ॥

नागोऽप्युद्गारं करोत्येव **स्फुटकरचरणात् संकुचन् कूर्मवायुः**; **स** इति **क्रोधं क्षोभं समस्तं कृकरो** वायुः करोति; **जृम्भिकां देवदत्तः** करोति; **कायं पञ्चत्वं गतं धनञ्जयो वायुर्न** त्यजति। **नरपते** इत्यामन्त्रणम्। **वायुरेको धनञ्जय** इति। एवमुक्तक्रमेण वायवः **प्राणादयः सर्वे प्रकृतिगतगुणान् वायवो न त्यजन्ति**, [102a] आकाशादिप्रकृतिगुणानिति प्राणादिकृत्यनियमः।

इदानीं नाडीसंज्ञा तीर्थिकसंज्ञाभिरुच्यते पिङ्गेत्यादिना—

पिङ्गाः सूक्ष्मास्त्विडाद्यास्त्रिविधपथगता रोहिणी हस्तिजिह्वा
पूषा षष्ठी जयाऽगापि च वसु नवमेऽलम्बुषा श्रीकुहे च।
दिक्संख्या शङ्खिनी या स्रवति नरपते बोधिचित्तं सुखान्ते
एतत् श्रीनाडिचक्रं भवति बहुविधं सन्धिभेदैरनेकैः ॥ ४५ ॥ 5

पिङ्गाः सूक्ष्मास्त्विडाद्यास्तिस्रो नाड्य इडादयः। **त्रिविधपथगता** इति चन्द्रपथगता इडा, सूर्यपथगता पिङ्गला, राहुपथगता सुषुम्ना इति **रोहिणी** चतुर्थी, **हस्तिजिह्वा** पञ्चमी, **पूषा षष्ठी, जयाऽगेति** सप्तमी, **अपि वसु** अष्टमी, **अलम्बुषा नवमी, कुहा दिक्संख्या शङ्खिनी या** दशमी शङ्खिनी **बोधिचित्तं स्रवति सुखान्ते। एतत् श्रीनाडिचक्रं**[1] **भवति बहुविधं सन्धिभेदैरनेकैरिति।** अत्र शरीरे सन्धिभेदाः षष्ट्युत्तरत्रिशतसंख्यास्तैः 10 सन्धिभेदैः षष्ट्युत्तरत्रिशतनाडीचक्रभेदा भवन्तीति। प्राणादिवायुप्रकृत्यभेदा अप्येवं ज्ञेया इति नाडीचक्रनियमः।

इन्द्रेऽग्नौ याम्यदैत्ये सवरुणपवने यक्षरुद्रे च मध्ये
एषु स्थानेषु शक्तिर्भ्रमति दिननिशं तत्स्वरूपं भजन्ती।
तस्योर्ध्वं कण्ठचक्रे ग्रहगणसहितं संस्थितं चर्क्षचक्रं 15
ब्रह्माण्डे श्रीललाटे स्वरपरिकरितः (ं) श्वेतबिन्दुं स्रवन् वै ॥४६॥

इदानीं तस्मिन्नेव नाडीचक्रे इन्द्राद्यधिष्ठानमुच्यते इन्द्र इत्यादिना—

इह **इन्द्रदले** प्राणशक्तिरिन्द्रस्वभावं भजति प्रहरमेकं यावत्; **अग्निदले** अग्निस्वभावम्, **याम्यदले** यमस्वभावम्, **नैर्ऋत्यदले** नैर्ऋत्यस्वभावम्, **वारुण्यदले** वरुणस्वभावम्, **वायव्यदले** वायुस्वभावम्, **धनददले**[2] धनदस्वभावम्[3], **ईशदले** रुद्रस्वभावम्। 20 **एवमेष्वष्टदलेषु तत्स्वभावं भज**[102b]**न्ती भ्रमति** प्राणशक्तिरिति इन्द्रादिस्वभावनियमः।

इदानीं **कण्ठचक्रमुच्यते**—

इह **हृत्कमलस्योर्ध्वं** सार्द्धद्वादशाङ्गुलान्ते **कण्ठचक्रे ग्रहगणसहितं संस्थितं चर्क्षचक्रम्।** चत्वारि दण्डनक्षत्राणि, अष्टाविंशति प्रधाननक्षत्राणि; एभिर्द्वात्रिंशद्दलकम्। 25 चतुर्दण्डनक्षत्राणि त्यक्त्वा प्राणस्याष्टाविंशद्दलकेष्वहोरात्रेण[4] संक्रमणं षष्टिदण्डेभ्यो भागेन लब्धं प्रत्येकदले सञ्चार इति। **ब्रह्माण्डे श्रीललाटे स्वरपरिकरितं श्वेतबिन्दुं स्रवन् वै।** तस्यापि कण्ठकमलस्योर्ध्वं सार्द्धद्वादशाङ्गुलान्ते ललाटकमले षोडशदले दलद्वयं त्यक्त्वा चतुर्दशदलेषु प्राणस्याहोरात्रेण सञ्चारः; षष्टिदण्डेभ्यश्चतुर्दशभागलब्धेन प्रत्येकदलत्यागः।

---

१. ग. श्रीनाभिचक्रं। २-३. क. पुस्तके नास्ति। ४. ग. ० दलेषु०।

T 304 बिन्दुविसर्गौ कर्णिकायां वेदितव्यौ चन्द्रपदवाहेति। पुनर्नाभिचक्रे चतुःषष्टिनाड्यो भीमादिसंज्ञाभिः; हृदये अष्ट इडादिसंज्ञाभिः[1]; कण्ठेऽश्विन्यादिसंज्ञाचतुःसन्ध्यासंज्ञाभिः; ललाटनाड्यां प्रतिपदादिसंज्ञाभिः; उष्णीषे चतुःसन्ध्याभेदेन चतुःतत्त्वसंज्ञाभिः; इत्येषु कण्ठललाटकमलदलेष्वन्तर्भूतमष्टदलं चक्रं वेदितव्यम्। एवं नाभौ हृदये कण्ठे ललाटे अष्टार-
5 चक्रं पृथिव्यप्तेजोवायुस्वभावम्; उष्णीषे चतुर्दलं शून्यस्वभावम्; नाभौ चतुर्दलं ज्ञानस्वभावम्; गुह्ये द्वात्रिंशद्दलकम्; बाह्ये षोडशदलेषु स्वरनाड्यः; अन्तर्दशदलेषु स्कन्धधातुनाड्यः; ततोऽन्तर्दलेषु षट् शून्यनाड्य इति। एवं षट्चक्रसंख्या षट्पञ्चाशदधिकैकशतं षट्चक्रेषु वक्ष्यमाणेषु वक्तव्यमि[ति] षट्चक्रनियमः।

मूले पृथ्व्यम्बु वामे प्रवहति हुतभुक् दक्षिणे मूर्ध्नि वायु-
10 र्मध्ये व्योमद्वयोश्च प्रवहति विषुवं नासरन्ध्रक्रमेण।
भिन्दन्त्येतानि शक्तिर्व्रजति परपदं द्वादशान्तं कलान्तं
क्षेत्राद्या हस्तपादे करकमलपुटेऽङ्गुष्ठकान्ताः समस्ताः ॥ ४७ ॥

इदानीं नासापुटद्वये पञ्चमण्डलप्रवाह उच्यते **मूल** इत्यादिना—

इह **वाम**नासापुटे **दक्षिणे** च **मूले** अधो भागे **पृथिवी**मण्डलं **वहति, अम्बु वामे**
15 वहति **वामे** द[103a]क्षिणे च नासापुटे; नासापुटद्वय**मध्य**रेखाभिमुखं सर्वेषाञ्चोत्तरस्थो मेरुरिति ज्ञापकात्। **प्रवहति हुतभु**ङ्मण्डलं **दक्षिणे**, दक्षिणं च उभयोत्तरयोर्बाह्यं **नासारन्ध्र**भागमिति। **मूर्ध्नि वायु**मण्डलं वहति उभयोर्नासापुटयोः, **मध्ये व्योमद्वयो**र्नासापुटयोः पृथ्व्यप्तेजोवायुमण्डलमध्ये व्योममण्डलं वहति; वामलग्नसञ्चारे वामे, दक्षिणलग्नसञ्चारे दक्षिणे मण्डलप्रवाहः। द्वयोर्नासापुटयोः पुनर्यौगपद्येन[2] **विषुवं** ज्ञानमण्डलं
20 वहति प्राणशक्तिरिति। **भिन्दन्त्येतानि** नाभिहृत्कण्ठललाटोष्णीषनासापुटमण्डलानि **भिन्दन्ती** दण्डराशिप्रहरनक्षत्रतिथि[3]सन्ध्यामण्डलभेदैरिति। **शक्तिः** प्राणशक्ति**र्व्रजति परपदं** निरालम्बं **द्वादशान्तं** द्वादशाङ्गुलान्तमिति, **कलान्तं** षोडशकलान्तमिति। इह पृथिवीमण्डलप्रवाहवायुर्नासापुटात् द्वादशाङ्गुलं व्रजति, ततो निवर्तते; उदकमण्डलवायुस्त्रयोदशाङ्गुलं व्रजति, ततो निवर्तते; तेजोमण्डलवायुश्चतुर्दशाङ्गुलं व्रजति, ततो निवर्तते;
25 वायुमण्डलवायुः पञ्चदशाङ्गुलं व्रजति, ततो निवर्तते; शून्यमण्डलवायुः षोडशाङ्गुलं व्रजति, ततो निवर्तते; ज्ञानमण्डलवायुः पृथिवीमण्डलान्तेषु[4] मध्ये प्रविष्टा(ो) द्वादशाङ्गुलं वहति पुटद्वये, आकाशान्ते मध्यमा प्रविष्टा षोडशाङ्गुलं वहति। इह यदा बाह्ये वृद्धिं गच्छति, तदाऽध्यात्मनि ह्रस्वो भवति; यदा षोडशादौ बहिर्ह्रस्वो भवति वायुनाडीवशेन, तदा नाभौ वर्द्धन्ते चतुरङ्गुलानीति प्राणशक्तिप्रवाहनियमः।

30 इदानीं क्षेत्रादय उच्यन्ते **क्षेत्र** इत्यादिना—

इह शरीरे क्षेत्रद्वयं बाहुसन्धिद्वये, उपक्षेत्रमुरुसन्ध(न्धि)द्वये, छन्दोहद्वयं उपबाहु-

---

१. क. ख. इन्द्रादिसंज्ञाभिः। २. क. ख. पुनर्योगपदेन। ३. क. ख. पुस्तके 'तिथि' इति नास्ति। ४. क. ख. ० मण्डलान्ते सा।

सन्धिद्वये, उपच्छन्दोहं जानुसन्धिद्वये, मेलापकद्वयं करसन्धिद्वये, उपमेलापकं पादसन्धि-द्वये, श्मशानद्वयं करतलद्वये, उपश्मशानद्वयं पादतलद्वये, चतुर्महाश्मशानानि कराङ्गुलि-द्वये, उप(महा)श्मशानानि[१] चत्वारि पादाङ्गुलिद्वये इति क्षेत्रादिनि[103b]यमः ।

इति श्रीमूलतन्त्रानुसारिण्यां[२] लघुकालचक्रतन्त्रराजटीकायां[३]
द्वादशसाहस्रिकायां विमलप्रभायां
समुदयसत्यादिमहोद्देशो
द्वितीयः ॥ २ ॥

(३) चक्रवर्त्तिम्लेच्छयुद्ध-कालचक्रकुलतन्त्र-नाडीकुलोत्पत्ति-महोद्देशः

इदानीं चक्रवर्त्तिम्लेच्छयुद्धं स्वदेहे उच्यते **चक्री**त्यादिना—

चक्री वज्री स्वदेहे सुरवरपतयो द्वादशाङ्गा निरुद्धाः
सम्यग्ज्ञानं हि कल्की गजतुरगरथाः किङ्करार्य्यप्रमाणाः ।
प्रत्येकं रुद्रसंज्ञा प्रभवति हनूमान् श्रावकं प्राणिनां च
पापं म्लेच्छेन्द्रदुष्टस्त्वकुशलमपि(पथि) यत् क्रूरमतिर्दुःखदाता ॥४८॥

इह **स्वदेहे** मनुष्यदेहे यो बाह्ये **चक्री** प्रथमपटले उक्तः, स देहे **वज्री** चित्तवज्र इत्यर्थः । ये **सुरवरपतयो** द्वादश ईश्वरादयः, ते **द्वादशाङ्गा निरुद्धा** इति । यः **कल्की सम्यग्ज्ञानं** स्वदेहे **हि**[४] तस्माद्धेतोः । ये बाह्ये **गजतुरगरथाः किङ्करा आर्य-अप्रमाणा**[५]-श्चत्वारो देहे, ते[६] यो बाह्ये **रुद्रः** स देहे **प्रत्येक**ज्ञानसंज्ञी; यो बाह्ये **हनूमान्** स स्वदेहे **श्रावक**ज्ञानमिति स्वदेहे[७] महा[८]चक्री सपरिवारं कल्की च भवति । तथा यो बाह्ये **म्लेच्छेन्द्रदुष्टोऽसौ पाप**चित्तं शरीरे । यो बाह्ये **क्रूरमतिर्दुःखदाता अकुशलपथ** इति देहे ।

अश्वत्थामा त्वविद्या दनुबलसकलं मारपक्षश्चतुर्धा
संहारस्तस्य युद्धे भवभयनिधनं श्रीजयो मोक्षमार्गः ।
कैलाशे (से) धर्मदानं भवभयहरणं द्रव्यपूर्णा च पृथ्वी
पुत्रो ब्रह्मासुरेशस्त्रिदशनरगुरोः पृष्ठतश्चाग्रतो यः ॥ ४९ ॥

मञ्जुश्रीर्लोकनाथस्त्रिभुवनविजयी श्रीरजो बोधिचित्तं
पृष्ठे ब्रह्मादिवंशा विविधमहितलेऽनेकबुद्धा विशुद्धाः ।

---

१. भो. Ñe baḥi Dur Khrod Chen po (उपमहाश्मशानानि) ।
२. क. ख. मूल० । ३. क. ख. लघुतन्त्रराजकालचक्रटीकायां । ४. क. ख. ति ।
५. क. ख. प्रमाणा; भो. Tshad Med pa (अप्रमाणा) । ६. भोटे नास्ति ।
७-८. भोटे नास्ति ।

एवं म्लेच्छेन्द्रयुद्धं भवति हि नियतं देहिनां देहमध्ये
मायारूपं तु बाह्ये खलु मखविषये म्लेच्छयुद्धं न युद्धम् ॥ ५० ॥

यो बाह्ये **अश्वत्थामा** स देहे **अविद्याप्रवृत्तिरिति**; यद् बाह्ये **दनुबलं** हस्त्यश्वपादातिकं स देहे **मारपक्षश्चतुर्धा**। **संहारस्तस्य युद्धे**, यो बाह्ये म्लेच्छेषु तत् स्वदेहे 5 [104a] **भवभयस्य निधनम्**। **श्रीजयो** यो बाह्ये **महाचक्रिणः कल्किनश्च** स स्वदेहे **मोक्षमार्गलाभः**। यद् बाह्ये **कैलाशे**(से) **धर्मदानं** महाचक्रिणः तत् स्वदेहे **भवभयहरणम्**। या बाह्ये **द्रव्यपूर्णा धरित्री** सा शरीरे धातुसमूहो विशुद्धः। बाह्ये यौ चक्रिणः पुत्रौ ब्रह्मासुरेशावभूताम्, **पृष्ठतः** एकखण्डे धर्मदेशकः, **अग्रतोऽग्रखण्डे म्लेच्छधर्मक्षयार्थी**।

10 स **मञ्जुश्रीर्लोकनाथस्त्रिभुवनविजयी** तत् स्वदेहे **रजो बोधिचित्तं** सुखदमिति प्रणिधानचित्तं प्रस्थानचित्तं च। **पृष्ठे** खण्डे ये **ब्रह्मादिविविधवंशास्ते** स्वदेहे **अनेकबुद्धा विशुद्धाः** स्कन्धधात्वायतनस्वभावा इति **म्लेच्छेन्द्रयुद्धं भवति हि नियतं देहिनां देहमध्ये**। **मायारूपं तु बाह्ये** खलु **मखविषये म्लेच्छयुद्धं न युद्धमिति** अस्य विस्तरो वक्ष्यमाणे पञ्चमपटले परमाक्षरज्ञानसिद्धौ वक्तव्य इति।

15 इदानीं मध्यमा त्रिपक्षं त्रिवर्षभेदैस्त्रिकुलादितन्त्रभेदः समाजादिक उच्यते **कालाब्द** इत्यादिना—

कालाब्दे वह्निसंख्येऽब्ददिनगणहते षट्कुलं चायनाङ्कात्
षट्त्रिंशन्मासभेदाद् रसगुणितरसाद् योगिनीनां कुलानि।
वारच्छेदेन लब्धा प्रकटितनियता देवताः कालचक्रे
20 पक्षच्छेदेऽभिधानं भवति नरपते देवतादेवतीभिः ॥ ५१ ॥

इह **कालाब्दे** मध्यमा[1]नाडीवर्षे **वह्निसंख्ये** त्रिवर्षसंख्ये अ[104b]**ब्ददिनगणहते** षष्ट्युत्तरत्रिशतदिनैर्हते सति अशीत्युत्तरसहस्रो दिनगणो भवति। तदेव त्रिवर्षं त्रिकुलं कायवाक्चित्तकुलवर्षभेदेन सत्त्वरजस्तमः स्वभावमिति। ततो दिनगणा**दयन**भेदेन अशीत्युत्तरशतभागेन लब्धानि **षट्कुलानि** भवन्ति। पुन**र्मासभेदेन** ततो दिनगणात् T 305 25 त्रिंशद्भागेन लब्धानि **षट्त्रिंशत् कुलानि** भवन्ति। **रसगुणितरसादिति** षड्भिर्गुणिताः **षट्त्रिंशद्योगिनीनां कुलानि**। एवं योगिनीनामु[2]पायानामिति। ततोऽशीत्युत्तरसहस्रदिनगणात् **वारच्छेदेन लब्धा प्रकटितनियता देवता कालचक्रे** माण्डलेया इति। चतुःपञ्चाशदधिकशतं शेषं प्रज्ञोपाययुगलम्; एवं षट्पञ्चाशदधिकशतं **कालचक्रम्**; सप्तभागावशेषं कुलिकास्थानाधिदैवं देवतादेवीचक्रं कुलिकालक्षणमिति; पुनस्तस्मात् पूर्वदिन-

---

१. क, ख. ग. पुस्तकेषु 'मध्यमाया' इति दृश्यते; किन्तु 'मध्यमा' इत्येव सम्यक् प्रतीयते; भो. rTsa dBu Maḥi Lo (मध्यमानाडीवर्षे)।

२. भो. rnal ḥByor pa rNam Kyi ḥo (योगिनाम्)।

गणादशीत्युत्तरसहस्रात् **पक्षच्छेदेऽभिधानमिति** पञ्चदशभागेन लब्धाभि**र्देवतादेवतीभिर-भिधानं** भवति। कालचक्राधिपतिमिथुनेन सार्द्धं द्वासप्ततिदेवतादेवतीलक्षणमिति त्रिवर्षभेदै**र्योगिनीतन्त्र**नियमः; लोकसंवृत्या त्रिकुलषट्कुलषट्त्रिंशत्कुलानि **योगिनीतन्त्र** इति **योगिनीतन्त्र**नियमः।

मायाजालं दिनाङ्गास्त्रि(ङ्गात् त्रि)विधमपि भवेद्रन्ध्रवेदैश्च सम्यक् 5
भूतो भूतार्णवैः स्याच्छिखिजलनिधिभिः श्रीसमाजर्तुभेदः।
तत्त्वाख्यं षड्भिर्हीनं त्वपरमपि तयोरर्धभेदैर्विभिन्नो-
भूयो मिश्रो द्विभेदस्त्रिदशनवदिशाभिश्च रन्ध्रैः सतत्त्वैः ॥ ५२ ॥

इदानीं क्रियायोग-योगतन्त्राणि त्रिषट्प्रकारभेदेनोच्यते(न्ते) **मायाजालमि-त्यादिना**— 10

इह मध्यमात्रिपक्षदिनानि पञ्चचत्वारिंशद्दिनानि द्वादशगुणितानि तानि दिनाङ्गानि चत्वारिंशदधिकपञ्चशतसंख्यानि[1] भवन्ति प्रतिदिनद्वादशलग्नभेदादिति। तस्माद् **दिनाङ्गात्** चत्वारिंशदधिकपञ्चशताद्[2] व्यवकलितं **मायाजालं त्रिविध-मपि भवेत्**, एकं **रन्ध्रवेदैरे**कोनपञ्चाशद्भिर्देवतायुग्मैर्भवति, **भूतो** द्वितीयं **भूतार्णवैः स्यादि**ति पञ्चचत्वारिंशद्भिर्युग्मैर्देवतानां भवतीति। अपरं **शिखिजलनिधिभिः** त्रयश्च- 15 त्वारिंशद्भिर्देवतायुग्मैरिति। अतो **दिनाङ्गाद्**[3] व्यवकलितस्त्रिभे[105a]दैः सप्तत्रिंशद-धिकशतसंख्या भवन्ति, द्विगुणदेवतादेव्यः चतुःसप्तत्यधिकद्विशतसंख्या भवन्ति, इति **मायाजालनियमः**। अस्य प्रपञ्चार्थः पञ्चमपटले वक्तव्य इति **मायाजालक्रियायोगतन्त्र-नियमः**।

इदानीं षट्प्रकारः समाजभेद उच्यते— 20

तस्मात् व्यवकलितावशेषाद् दिनाङ्गात् **श्रीसमाजर्तुभेद** इति। **तत्त्वाख्यमिति** पञ्चविंशत्यात्मकम्, तस्माद् दिनाङ्गात् पञ्चविंशद्भिर्व्यवकलितैर्देवतायुग्मैर्भवति। अपर-मतः पञ्चविंशतिः **षड्भिर्हीनमे**कोनविंशत्यात्मकम्, एकोनविंशतिभिर्देवताभिर्व्यवक-लितैरिति। **अपरमपि तयोः** पञ्चविंशत्येकोनविंशत्यात्मकयो**रर्धभेदैर्विभिन्नो** भेदो भवति। पञ्चविंशत्यर्धः सार्द्धद्वादशैकोनविंशत्यर्द्धः सार्द्धनव, अतोऽर्द्धः सार्द्धं द्वादशे 25 प्रविशति। तत्र एकोनवात्मकः समाजः, अपरस्त्रयोदशात्मकः। **भूयोऽ**परो **मिश्रो द्विभेदो** भवति **समाजः**। **त्रिदश** इति त्रयोदश। **नवदिशा** एकोनविंशतिः। एभिस्त्रिदशनव-दिशाभिश्च द्वात्रिंशद्भिर्देवतायुग्मै **समाजो** भवति; **रन्ध्रैर्न**वभिः **सतत्त्वैः** पञ्चविंशद्भिः सहः द्वितीयः **समाजः** चतुस्त्रिंशद्भिर्देवतायुग्मैर्भवति। एवं **समाजः** षड्भेदभिन्नः।

---

[1]–[2]. क. पुस्तके '०'संख्यानि' इत्यारम्य ०'पञ्चशताद्' यावत् नास्ति।
[3]. क. दिनाङ्गा।

एषु षट्सु तन्त्रराजेषु द्वात्रिंशदधिकशतदेवतायुग्मैः संख्या द्विगुणिता देवता-देवतीसंख्या चतुःषष्ट्यधिकद्विशता इति। एवं समाजमायाजालेषु नवसु तन्त्रराजेष्वधिपतियुग्मेन सार्द्धं चत्वारिंशदधिकपञ्चशत[1] दिनाङ्गसंख्या देवतादेवत्यो भवन्ति। एषु तन्त्रेषु स्कन्धधात्वायतनचन्द्रसूर्यचरणनिष्पत्तिभेदेन भेदो गर्भे यथा तथा पञ्चमपटले
5 आसनभेदेन वक्तव्य इति **योगतन्त्रनियमः**।

इह गर्भे जातकस्य स्कन्धधातुनिष्पत्त्या नवात्मकः **समाजः**, तथा स्कन्धधातुसहजधर्मसम्भोगनिर्माणचक्रे निष्पत्त्या त्रयोदशात्मकः, तथा स्कन्धधातुचक्रविषयनिष्पत्त्या एकोऽनविंशत्यात्मकः, तथा स्कन्धधातुचक्रविषयषट्नेत्रादिनिष्पत्त्या पञ्चविंशत्यात्मक इति। तथा स्कन्धधातुचक्रविषयेन्द्रियकर्मेन्द्रियगुह्योष्णीषकमलनिष्पत्त्या द्वात्रिंशदा-
10 [105b]त्मक इति। तथा स्कन्धधातुषट्चक्रविषयेन्द्रियकर्मेन्द्रियदिव्येन्द्रियानन्दोपेत्या (आनन्दानुपेत्य) चतुस्त्रिंशदात्मकः **समाज** इति। गर्भाधानात् षोडशवर्षावधेर्यावत् षट्प्रकार उत्पादो बालानामिति **समाजनियमः** पञ्चमपटले विस्तरेण वक्तव्यः।

एवं **मायाजाले** स्कन्धधातवो नवलोमाद्यष्टधातवो द्वादशायतनानि चतुश्चक्रसहितानि वातपित्तश्लेष्मसन्निपातधातुसहितानि षट्कर्मेन्द्रियाणीति त्रयश्चत्वारिंश-
15 दात्मको **मायाजालः**। उष्णीषगुह्यकमलसहितं पञ्चचत्वारिंशदात्मकमिति रागद्वेषमोहमानेन सार्द्धमेकोनपञ्चाशदात्मकमिति **मायाजालनियमः** पञ्चमपटले विस्तरेण वक्तव्य इति **योगिनीयोगतन्त्रोत्पादनियमः**।

इदानीं बाह्याध्यात्ममुद्रोच्यते —

इह सर्वत्र हेतुना फलं मुद्रणीयम्, फलेन च हेतुर्मुद्रणीय इति। रजोधर्मित्वात्
20 सूर्यः प्रज्ञाहेतुः, शुक्रधर्मित्वाच्चन्द्रः फलमुपायः। परापेक्षिकया शुक्रधर्मित्वाच्चन्द्रः प्रज्ञाहेतुः, रजोधर्मित्वादुपायः सूर्यः फलम्। एवं सर्वत्र प्रज्ञा शून्यताहेतुः, उपायः करुणा फलमिति।

चन्द्रांशे षड् दिना ये(नि) खलु दिवसगणे वारभागेन लब्धाः
षण्मुद्रा वज्रिणस्तास्त्वपरदिनगणः कायवाक्चित्तमुद्राः।
25 प्रज्ञाकाये त्रिलग्ना प्रकटितनियता योगिनी योगतन्त्रे
शक्तिः क्रोधाः क्रमेण प्रभवति दशकं पञ्चकं बुद्धदेव्यः ॥५३॥

अत्र ये **चन्द्रांशे** पञ्चचत्वारिंशद्दिनगणास्तस्माद् **वारभागेन**[2] **लब्धाः षड् दिनानि षण्मुद्रा वज्रिणो** भवन्ति—चक्री कुण्डलं कण्ठिका रुचकं मेखला भस्मयज्ञोपवीतमिति, बाह्यमुद्रा कालचक्रस्य **अपरदिनगणम्**(:)। अवशेषं[3] त्रिसंख्यं **कायवाक्चित्तमुद्रा**
30 अध्यात्मनि वज्रिण इति बाह्याध्यात्मनि नव मुद्रा वेदितव्याः। **प्रज्ञाकाये** प्रज्ञातन्त्रे उपायकाये उपायतन्त्रे **त्रिलग्ना** सत्त्वरजस्तमात्मकाः कायवाक्चित्तलक्षणा[4] इति **योगिनी योगतन्त्रे प्रकटितो** मुद्रानियमः। [106a]

---

१. ग. पञ्चाशत। २–३. ख. पुस्तके नास्ति। ४. क. कायवाक्लक्षणा।

इदानीं कालचक्रदेवतादेवीसंख्या उच्यते **शक्तीत्यादिना**—

इह षट्चक्रनाडीविश्वस्वभावो देवतागणः। **शक्तिः क्रोधाः क्रमेण प्रभवति दशकमिति** दश शक्तयो दश पारमिताः; उष्णीषादयो दशक्रोधा इति प्रत्येकं दशकम्। **पञ्चकं बुद्धदेव्य** इति अक्षोभ्यादयः पञ्च बुद्धाः, वज्रधात्वीश्वर्यादयः पञ्च देव्यः इति प्रत्येकं पञ्चकम्। 5

रूपाद्यक्ष्यादिषट्कं पुनरपि नृपते देववृन्दं द्विषट्कं
योगिन्यो नागचण्डाष्टकमिति भुवने सर्वमेतद् द्विगुण्यम्।
एतत् श्रीकालचक्रं चतुरधिकशतं तस्य चार्द्धं त्रिधातौ
सूर्यांशे या च षष्टिः प्रतिदिनघटिका निर्गता मासमध्ये ॥५४॥

रूपाद्यक्ष्यादिषट्कमिति। रूपवज्रादयः षट् क्षितिगर्भादयः षट्, एवं प्रत्येकं 10 षट्कं पुन**र्देववृन्दं द्विषट्कमिति** इन्द्रादिकं द्वादशसंख्यम्, **योगिन्यो नागचण्डाष्टकमिति** T306 चर्चिकादीनामष्टकम्, अनन्तादीनामष्टकम्, श्वानास्यादीनामष्टकम्, एतत् समस्तं(ो) देवतागणम्(:) साधनापटले प्रत्येकं नामभेदैर्वक्तव्यमिति। **भुवन** इति बाह्येऽध्यात्मनि **सर्वमेतत्** पुनः प्रज्ञोपायभेदेन **द्विगुण्यम्; एतत् श्रीकालचक्रं चतुरधिकशतं तस्य चार्द्धं** द्वापञ्चाशद्देवतात्मकम्। एवं सूर्यचन्द्रभेदेन पुनस्तदेवैकत्वेन षट्पञ्चाशदधिकैक- 15 शतदेवात्मकं **कालचक्रं** वेदितव्यम् इति कमलकर्णिकास्थदेवतागणनियमः।

इदानीं **चर्चिकादिकमलपत्रदेव्य** उच्यन्ते—

सूर्यांशे द्वात्रिंशद्भागेन श्वासचक्रात् **प्रतिदिने घटिकाद्वयं** यल्लब्धं **मासस्य मध्ये** त्रिंशद्दिनैः **षष्टिनाड्यो** भवन्ति कुलिकारूपिण्यः।

योगिन्यस्ताः समस्तास्त्रिभुवननिलये लग्नमिश्रा द्विगुण्या 20
सूर्यांशेऽहः प्रभिन्नं द्विगुणितमपि यद् योगिनीवृन्दमत्र [106b]।
पिण्डीभूताः समस्तास्त्रिगुणरविदिनास्साभिधाना भवन्ति
चन्द्रे पक्षप्रभेदो भवति दिनकरे वर्गभेदः समस्तः ॥५५॥

ताश्च योगिन्यो लग्नमिश्रा लग्नचतुःसन्ध्याकुलिका विमिश्रा चतुःषष्टिर्भवन्ति। ताश्च प्रज्ञोपायभेदेन **द्विगुणिता** अष्टाविंशत्यधिकशतसंख्या भवन्तीति। पुनः **सूर्यांशेऽहः** 25 **प्रभिन्नं** षष्ट्युत्तरत्रिशतदिनप्रभिन्नं चैत्रादितिथिलक्षणं देवतागणम्। तदेव द्वादशलास्यादिभिः सहितं **द्विगुणितमपि** विंशत्यधिकसप्तशतसंख्यं देवतीवृन्दं भवतीति। **पिण्डीभूताः समस्ता** इति एता देव्यः **साभिधाना** द्वासप्ततिदेवताभिः सहिता मुद्राषट्केन सार्द्धं **त्रिगुणरविदिना** त्रिवर्षदिना अशीत्युत्तरसहस्रसंख्या इति त्रिवर्षदिनगणस्वभावा देवतादेव्यो वेदितव्या योगिनीतन्त्रेऽ[इत्य]भिप्रायः। एवं **सूर्यवर्षप्रभेदो भवति शशधरे पक्षभेदः** 30 **समस्तो** मायाजालसमाजयोर्नवधा चत्वारिंशदधिकपञ्चशतदेवतागणैरिति।

एवं तत्रादिबुद्धे स्वकरनृपतयोः देवतादेवतीनां
प्रज्ञोपायो निशाहो भवति हि समविभागोऽर्द्धरात्रे दिनार्द्धे ।
येन ज्ञातं स्वदेहे दिननिशिसमयैर्मासंक्रान्तिभेदैः
स श्रीमान् मञ्जुवज्रो भवभयमथनो जन्मनीहैव बुद्धः ॥५६॥

5 **एवं** सूर्यचन्द्रदेवतागणैरेकीभूतैश्चादिबुद्धं(द्धो) भवति । तस्मिन्नादिबुद्धे **स्वकरनृपतयो** विंशत्यधिकषोडशशतसंख्या इति, तेषां **देवतादेवतीनां प्रज्ञोपायं**(यो) **निशाह** इति । यथासंख्यं प्रज्ञा रात्रिभागः, उपायो दिवाभागः **समविभागो** मध्याह्ना-**दर्द्धरात्रे** अर्द्धरात्रान्मध्याह्ने सार्द्धत्रयोदशनक्षत्रैः दशाधिकाष्टशतदण्डै[107a]र्वा घटिका-भिर्वा निशाविभागः; एवं दिवाविभागः । **श्रीमान्न**(ति)क्षत्रमण्डले आदिबुद्धे देवतागणो
10 नक्षत्रनाडीसंख्यात्मको भगवतोक्त इति । यथा बाह्ये नक्षत्रघटिकाभोगः सर्वग्रहाणाम्, तथाध्यात्मनि कायवाक्चित्तज्ञाने षडिन्द्रियधर्माणामिति । **येन ज्ञातं स्वदेहे** । एवमुक्त-क्रमेण प्रज्ञोपायात्मकं **येना**दिबुद्धं (इति) **स्वदेहे** ज्ञातम् । **दिननिशिसमयैः** सन्ध्याप्रहरादि-भेदैः **माससंक्रान्तिभेदै**र्द्वादशभिः **स** योगी **श्रीमान् मञ्जुवज्रो भवभयमथनो जन्मनीहैव बुद्ध** इति लघुतन्त्रमूलतन्त्रदेवतोत्पादनियमः ।

15 त्रिंशद्भागेन तस्मात् त्रिगुणितनियता देवताः कालचक्रे
मुद्राषट्कं च बाह्यं पुनरपि नियताश्चक्रनाड्यस्तथैव ।
उष्णीषे द्विः हृदोऽष्टौ शिरसि नृपतयो दन्तसंख्या च कण्ठे
नाभौ चाष्टाष्टगुण्या द्विगुणनृपतयो गुह्यमध्ये प्रसिद्धाः ॥५७॥

इदानीमतः परमादिबुद्धाल्लघुतन्त्रोत्पाद उच्यते **त्रिंशदि**त्यादिना—

20 इह परमादिबुद्धात् विंशत्यधिकषोडशशतात् **त्रिंशद्भागेन** लब्धाः चतुपञ्चाशद्-देवता भवन्तीति । पुनः कायवाक्चित्तगुणितास्त्रिगुणा द्वाषष्ट्यधिकशतं भवति । एषु माण्डलेयाश्चतुःपञ्चाशदधिकशतसंख्या मण्डलेसं(शं) प्रज्ञोपाययुग्मं **बाह्ये मुद्राषट्क-मिति** । **कालचक्रं परमादिबुद्धा**न्निर्गतं दशभागेनेडादिसं(शं)खिन्यन्तनाडीभेदेनेति बाह्ये नेयार्थमिति लघुकालचक्रनियमः ।

25 इदानीं **कालचक्रनाड्य** उच्यन्ते **चक्रनाड्यस्तथैवे**त्यादिना—

इह शरीरे त्रिकुलनाड्यस्तिस्रः कायवाक्चित्तविन्दुधारिण्यः, **नाभौ** गुह्यवज्र-मणाविति तथा षट्कुलनाड्यो ललना-रसना-अवधूती-विण्मूत्र-शुक्रवाहिन्य इति । तथा षट्त्रिंशत् कुलनाड्यः **उष्णीषादि**षट्चक्रनाड्यः षट्, द्वे शब्दग्राहिण्यौ, द्वे स्पर्श-ग्राहि[107b]ण्यौ, द्वे रसग्राहिण्यौ, द्वे रूपग्राहिण्यौ, द्वे गन्धग्राहिण्यौ; एता दश-
30 नाड्यः । नाभिचक्रमध्येऽपरमण्डलेषु द्वादशसंक्रान्तिनाड्यः, अष्टप्रहरनाड्यः । एवं सर्वाः षट्त्रिंशत् कुलनायिका भवन्ति—षड् रसरूपिण्यः, षड् धातुरूपिण्यः, षडिन्द्रियरूपिण्यः, षडविषयरूपिण्य, षट् कर्मेन्द्रियरूपिण्यः, षट् कर्मेन्द्रियविषयरूपिण्यः, एवं षड् रूपप्रवर्तिन्यः

षट् वेदनाप्रवर्तिन्यः, षट् संज्ञाप्रवर्तिन्यः, षट् संस्कारप्रवर्तिन्यः, षड् विज्ञानप्रवर्तिन्यः, षड् ज्ञानप्रवर्तिन्य इति षट्त्रिंशत् कुलनाड्योऽप्याधाराधेयसम्बन्धेन द्वासप्ततिरिति ज्ञेयाः। तथाह—**कालचक्रनाड्यः उष्णीषेऽब्धिरिति** चतुर्दलरूपिण्यः, चतस्र[1]श्चतुःसन्ध्याप्रवर्तिन्यः। **हृदोऽष्टौ** नाड्यो रोहिण्यादयः समानादीनामाधारभूताः। प्रत्यहं प्रहरभेदेन वाराष्टकवाहिन्यः। अत्राध ऊर्ध्वं द्विनाड्योराधेयो वायुरिति। **शिरसि नृपतयः** षोडशतिथिप्रवर्तिन्यः। **दन्तसंख्या च कण्ठ** इति कण्ठचक्रे अष्टाविंशति नक्षत्राणि, चत्वारि दण्डनक्षत्रप्रवर्तिन्यो द्वात्रिंशदिति। **नाभौ** नाभिकमले राशिनाडिकावाह्ये घटीनाड्यः अष्टाभिरष्टगुणिताश्चतुःषष्टिनाड्यः षष्टिमण्डलवाहिन्यश्चतुःशून्यप्रवाहिन्यः चतुःषष्टिदण्ड[2]प्रवर्तिन्य इति। **द्विगुणनृपतय** इति। द्वात्रिंशद्गुह्यमध्ये **गुह्यकमलनाड्यः** शुक्रादिद्वात्रिंशद्धातुप्रवर्तिन्य इति।

षण्णाड्यश्चक्ररोधा दशविषयहराः सन्निपातस्वभावा
भूयो भूयो द्विगुण्याः पुनरपि गुणिताः श्लेष्मपित्तानिलांशाः।
एता वै मृत्युनाड्यो गुरुनियमवशादायुरारोग्यदाश्च
षट्चक्रे वायुनाड्यो मरणभयहरा योगिनां नात्र चित्रम् ॥५८॥

एषु **षट् नाड्यः षट् चक्ररोधा** भवन्ति; **दश विषयहारिण्यो** भवन्ति। ताः **सन्निपातस्वभावा** इति ताः **पुनर्द्विगुण्याः** श्लेष्मांशाः विंशतिः **भूयो द्विगुण्या** पित्तांशाः चत्वारिंशद् भवन्ति, पुनरपि अनिलांशास्ताऽशीतिर्भवन्ति, इति षट्पञ्चाशदधिकशतनाड्यः षट्चक्रेषु व्यवस्थिताः कालचक्रनाड्योऽवगन्तव्याः। **एता वै मृत्यु**[108a]**नाड्यो गुरुनियमवशादायुरारोग्यदाश्च**। **षट्चक्रे कालनाड्य उक्ता मरणभयहरा** गुरूपदेशेन भाविताः सत्यो **योगिनां नात्र चित्रमिति**।

उष्णीषेऽब्धिर्ललाटे जलधिहतयुगाः श्लेष्मधातुप्रकोपाः
कण्ठे दन्ता हृदब्जे नयनहतयुगाः पित्तधातुप्रकोपाः।
नाभौ गुह्येऽब्धिषष्टिर्नृपतिरपि तथा वायुधातुप्रकोपा
गुह्येऽन्यादिक्षट्कं प्रकटितनियताः सन्निपाता निरोधाः ॥५९॥

उष्णीषेऽब्धिश्चतस्रः जलधिहतयुगा इति षोडश **ललाटे**, एता विंशति नाड्यः **श्लेष्मधातुप्रकोपा** इति। **कण्ठे दन्ता** इति द्वात्रिंशन्नाड्यः। **हृदब्जे नयनहतयुगा** इति अष्ट नाड्यः, एताश्चत्वारिंशन्नाड्यः **पित्तधातुप्रकोपा** इति **नाभौ च गुह्ये** च यथासंख्यम् **अब्धिषष्टिरिति** चतुःषष्टिनाड्यः। **नृपतिरपि** गुह्यकमले बाह्ये परिमण्डले नाड्यः षोडश, एता अशीति नाड्यो **वायुधातुप्रकोपा** इति। **गुह्येऽन्यादिक्**[3] **चेति**[4] दश नाड्यो मध्यपरिमण्डले। अन्या **षट्** च गर्भपरिमण्डले यथासंख्यम्। **सन्निपाताः** सन्निपातप्रकोपा

T 307

१. क. ख. ततः ग्र। २. क. ख.० दल। ३–४. क.० दिश्चेति।

इति। **निरोधा** इति षट्चक्रनिरोधस्वभावाः। एवं षट्पञ्चाशदधिकशतकालचक्रनाड्यो देवतादेवतीस्वभावेनावस्थिता बालानां मृत्युदायिकाः, योगिनां सुखदायिकाः षड्कुल-नाडीभिः सार्द्धं भाविताः सत्यः; द्वाषष्ट्यधिकशतं कालचक्रं षट्चक्रनाड्यात्मकमिति। तासु पुनर्द्वाषष्ट्यधिकशतनाडीषु प्रत्येकनाडी दशवायुप्रचारेण स्कन्धधातुदशस्वभावेन
5 दशविधा भवन्ति। एवं सर्वा दशगुणिता विंशत्यधिकषोडशशतसंख्या भवन्ति सप्तविंशन्न-क्षत्रघटिकावाहिन्यः। एवं श्रीमान्नक्षत्रमण्डलपरमादिबुद्धे एतावत्यो देवत्यः प्रज्ञोपाये-नेति[1]। अतो विस्तरान्नक्षत्रमण्डलाल्लोकसंवृत्या श्लेष्मादिधातुवाहिन्यो [108b] देवता लौकिकसिद्धिसाधनाय च[2] शरीरसिद्धिसाधनाय वा मञ्जुश्रियोद्धृताः षट्चक्रनायिका इति कालचक्रनाडीसंक्र[3]नियमः।

10 इदानीं षट्कुलनाडीरक्षणमुच्यते **षडित्यादिना**—

षण्णाड्यश्चक्ररोधास्त्रिविधपथगताश्चन्द्रसूर्याग्निभेदै-
र्देहे ता रक्षणीयाः गुरुनियमवशान्मृत्युदाः प्राणिनां याः।
षट्सु प्राणप्रवेशो यदि भवति नृणां मृत्युहानिस्तदा वै
सूक्ष्मायां न प्रविष्टे ह्यमरणविषयश्छिद्यते योगिभिश्च ॥६०॥

15 इह शरीरे याः **षड् नाड्यश्चक्ररोधा** उक्तास्त्रिविधपथगताश्चन्द्रसूर्यराहुवाम-दक्षिणमध्यपथगताः, ऊर्ध्वमधोविण्मूत्रशुक्रपथगताश्**चन्द्रसूर्याग्निभेदेनेति**। **देहे ता रक्षणीया** योगिना; कुतः? **गुरुनियमवशादिति**। गुरुनियमः षडङ्गयोगः, तेन मरणाद् रक्षणीया **मृत्युदाः प्राणिनां याः** षण्णमासां प्राणप्रवेश इति। **षट्सु प्राणप्रवेशो यदि भवति नृणां** सर्वकालं **मृत्युहानिस्तदा वै** एकान्तमेषु षट्सु मध्ये सूक्ष्माऽवधूती मध्यमा,
20 तस्यां **सूक्ष्मायां** प्राणे **न प्रविष्टे** सति **ह्यमरणविषयः च्छिद्यते योगिभिश्च**; अपि तुन च्छिद्यते मरणविषय इति।

इति मूलतन्त्रानुसारिण्यां लघुकालचक्रतन्त्रराजटीकायां
द्वादशसाहस्रिकायां विमलप्रभायाम्
अध्यात्मनि चक्रवर्त्तिम्लेच्छयुद्ध-कालचक्रकुलतन्त्र-नाडीकुलोत्पत्ति-महोद्देशः
तृतीयः ॥ ३ ॥

25

(४) अरिष्टमरणलक्षण-नाडीच्छेद-महोद्देशः

इदानीं देहिनामकालमरणलक्षणमुच्यते **प्राण** इत्यादिना—

प्राणो यद्येकनाड्यां वहति दिननिशं जीवितं कालवर्षम्
अव्युच्छिन्नैकपक्षं वहति यदि नृणां जीवितं सार्द्धवर्षम्।

---

१. क. प्रज्ञोपायेति। २. क. श्च। ३. क.० सम्वर।

अव्युच्छिन्नैकमासं वहति नरपते जीवितं च त्रिमासं
एवं योगी स्वेदेहे शशिगतिमरणं ज्ञायते कालचक्रे ॥६१॥ [109a]

इह शरीरे नाभिचक्रं द्वादशारं राशिचक्रं मेषादिविषमलग्नात्मकमेकान्तरितम्। एवं वृषभादिसमलग्नात्मकमेकान्तरितं दलम्। अतः प्राणसञ्चारो नासापुटे विषमलग्नेषु मेषादिसु षट्सु वामे भवति। वृषभादिसमलग्नेषु दक्षिणनासापुटे प्राणसञ्चारो भवति। 5 पञ्चपञ्चदण्डैर्द्वादशसंक्रान्तयः प्रत्यहं भवन्ति। एवमहोरात्रेण षष्टिदण्डैर्द्वादश संकान्तयः—षड् वामनासापुटे, षड् दक्षिणनासापुटे, मध्यमायां द्वादशप्रवेशेष्विति। धातुसमत्वं शरीरे रोगरहितानां रोगाभिभूतानां पुनर्वातपित्तश्लेष्मधातूनां वैषम्यम्। अतो वैषम्यात् प्राणस्य वैषम्यम्, तेन **अहोरात्रमेकराव्यां(नाड्यां)** वामायां यदि **वहति,** तदा **जीवितं कालवर्षम्;** मध्यमा वर्षशतपूर्णलक्षणं जीवितसंख्यं नराणां भवति। 10 **अव्युच्छिन्नैकपक्षं यदि वहति,** तदा **सार्द्धवर्षमायुर्भवति**[1]; ततो मरणं गच्छति। **अव्युच्छिन्नं** निरन्तरं यदि **मासमेकं** वामनाड्यां वहति, तदा **जीवितं मासत्रयं** भवति। **एवं स्वदेहे योगिना शशिगतिमरणं ज्ञायते कालचक्रे** इति।

अत्रारिष्टविषये **कालचक्रं** द्वादशारं राशिचक्रं तदेव भूम्यां लिखित्वा प्रथमदलेऽरिष्टदिनं षट्त्रिंशदायुर्मासाः स्थापनीयाः। ततो मासमेकं न वहति, अरिष्टदिनवृद्धिः 15 द्वितीयमासान्ते तृतीयमासप्रवेशे दिनद्वयं वहति वामनाडी तस्मिन्नेव पत्रे[2]। ततस्तृतीयमासं न वहति, चतुर्थमासान्ते पञ्चममासप्रवेशे दिनत्रयं वामनाडी(ड्यां)[3] प्राणो वहति। ततः पञ्चममासात् षष्ठे मासे न वहति। एवं षण्मासैररिष्टदिनास्त्रयः (दिनानि त्रीणि); मध्ये[4] दिनास्त्रयो (दिनानि त्रीणि); अन्ते सव्या वामारिष्टधर्मिणः। अरिष्टं नामाकालमरणम्; रिष्टं वर्षशतावधेर्मरणमिति। एवं षट्त्रिंशन्मासेभ्योऽरिष्टदिनसहितेभ्यो जीवितस्य 20 षड् मासा गताः। ततस्तस्मिन् पत्रे प्रा[ण]वायोरसञ्चारः। एकादशसंक्रान्तिभिरहोरात्रं व्रजति षट्शताधिकैकविंशत्सहस्रश्वासप्रश्वासैरिति। अत्र श्वासचक्रस्योनता [109b] नास्ति राशिपत्रपरित्यागेऽपीति। ततो द्वितीयपत्रे चतुर्दिनं पञ्चदिनं[5] षड्दिने(नं) सप्तमे मासे अष्टमे नवमे च यथासंख्यं वहति। ततस्त्रिंशन्मासराशेरपरमासत्रयं जीवितस्य गतम्। ततः सप्तविंशन्मासान् गृहीत्वा तृतीये पत्रे प्राणः सञ्चरति, पत्रद्वयं त्यजति। 25 दशसंक्रान्तिभिरहोरात्रं करोति, दशपत्रेषु संक्रमति प्राण इति। सप्तविंशतिमासेभ्यः प्रत्येकमासे पुनः सप्तदिनं वामनाडी वहति, अष्टदिनं नवदिनं वहति। ततो मासत्रयमपरमूनं भवति सप्तविंशतिमासेभ्यः। एवं पूर्वोक्तविधिना तृतीयं राशिपत्रं त्यजति। नवपत्रेषु संक्रमणं प्राणः करोति। एवं दशदिनमेकादशदिनं द्वादशदिनं वामनाड्यां वहति। ततश्चतुर्थं पत्रं त्यजति। तत[6]श्चतुर्विंशतिमासेभ्यो 30 मासत्रयमूनं भवति जीवितस्य। एवं त्रयोदशदिनं चतुर्दशदिनं पञ्चदशदिनम्;

---

१. ख.० वहति। २. क. ख. ग. यन्त्रे; भो. hDab ma La (पत्रे)। ३. भो. rTsar (नाड्यां)। ४. क. ख. सव्या०। ५. ग. पुस्तके नास्ति। ६. भोटानुवादे 'ततः' इति नास्ति।

ततः पञ्चमपत्रं त्यजति; सप्तपत्रेषु संक्रान्ति करोति; एकविंशतिमासेभ्यो मासत्रयमूनं भवति, तथा षोडशदिनं सप्तदशदिनमष्टादशदिनं प्रतिमासं वहति यथाक्रमम्। ततः षष्ठं पत्रं त्यजति; षट्पत्रेषु संक्रान्ति करोति; अष्टादशमासेभ्यो मासत्रयमूनं भवति जीवितस्येति। एवमेकोनविंशतिदिनं विंशतिदिनमेक[1]विंशतिदिनं वहति। ततः सप्तम-
5 राशिपत्रं त्यजति, प्राणः पञ्चराशिपत्रेषु संक्रमणं करोति अहोरात्रेणेति। ततः पञ्चदश-
T 308 मासेभ्यो मासत्रयमूनं भवति जीवितस्य। एवं द्वाविंशतिदिनं त्रयोविंशतिदिनं चतुर्विंशतिदिनं निरन्तरं यदा[2] वहति, तदा अष्टमपत्रं त्यजति, चतुर्षु संक्रान्ति करोति, द्वादशमासेभ्यो मासत्रयमूनं भवति जीवितस्य। एवं पञ्चविंशतिदिनं षड्विंशतिदिनं सप्तविंशतिदिनं यदा वहति, तदा नवमं पत्रं त्यजति, पत्रत्रये[3] संक्रमणं करोति, नव-
10 मासेभ्यो मासत्रयमूनं भवति जीवतस्येति। तथा अष्टाविंशतिदिनमेकोनत्रिंशद्दिनं त्रिंशद्दिनं यदा वहति, तदा दशमं पत्रं त्यजति, पत्रद्वये संक्रान्ति करोति, षण्मासेभ्यो मासत्रयमूनं भवति जीवितस्य। [110a] तथैकत्रिंशद्दिनं द्वात्रिंशद्दिनं त्रयस्त्रिंशद्दिनं यदा वहति, तदा एकादशमं पत्रं त्यजति, एकपत्रे संक्रान्तिं करोति, त्रिमासेभ्यो नवति-दिनानि ऊनानि भवन्ति जीवितस्येति। ततः पूर्वपत्रे अवाहितदिनत्रयं द्वादशमे पत्रे
15 दिन द्वयं वहति। ततो द्वादशमं पत्रं त्यजति, ततः कर्णिकायामेकदिनं वहति, यावत् प्राणचक्रश्वासविच्छेदो भवति। ततो वामनाड्यरिष्टेन मरणं यान्ति अयोगिनो ये नरा इति वामनाड्यां चन्द्रारिष्टनियमः।

सत्त्वरजस्तमोभेदेन प्रतिमासे[ऽ]रिष्टदिनवृद्धिरेकोत्तरेणेति। अत्र राशिचक्र-न्यासः—राशिचक्रं द्विपुटं कृत्वा प्रथमपुटे अरिष्टदिनानि, अपरपुटे अरिष्टदिन-
20 शेषा आयुर्मासा इति। अत्र प्रथमचक्रारे अरिष्टदिनानि त्रीणि, मासास्त्रिंशत्, द्वितीयपुटे अरिष्टदिनानि षट्, शेषा आयुर्मासाः सप्तविंशत्(तिः)। एवं तृतीये आरे अरिष्टदिनानि नव, तथा मासाश्चतुर्विंशतिः; चतुर्थे दिनानि द्वादश मासा एकविंशतिः; पञ्चमे दिनानि पञ्चदश, मासा अष्टादश; षष्ठे दिनानि अष्टादश, मासाः पञ्चदश; सप्तमे दिनान्येक-विंशतिः, मासा द्वादश; अष्टमे दिनानि चतुर्विंशतिः, मासाः नव; नवमे दिनानि सप्त-
25 विंशतिर्मासाः षट्; दशमे दिनानि त्रिंशत्, मासास्त्रयः; एकादशमे चक्रारे अरिष्टदिनानि त्रयस्त्रिंशत्; अवसाने त्रिमासक्षयः।[4] ततः पूर्वमनारूढं दिनत्रयं प्रथमराशौ चक्रारे पत्र-(यद्) दिनद्वयं द्वादशमे पत्रे दक्षिणनाड्यां वहति दक्षिणनाडीधातुक्षयार्थम्; दिनमेकं मध्यमायामवधूत्यां वहति श्वासचक्रक्षयार्थम्। ततः प्राणोत्क्रान्तिश्चन्द्रारिष्टे वामनाड्या-मिति चन्द्रारिष्टनियमः।

30 [110b] इदानीं सूर्यारिष्टं दक्षिणनाड्यामुच्यते **पञ्चभ्य** इत्यादिना—

पञ्चभ्यः पञ्चविंशद्दिवसगतिरुहारोहते पञ्चवृद्ध्या
तस्मादेकोत्तरेण त्रिगुणितदशकं त्र्युत्तरं यावदेव।

---

१. ख. विंशतिएक०। २. क. ख. पुस्तकयोर्नास्ति। ३. क. ख. पत्रद्वये। ४. क. ख. त्रिमासद्वयं।

काले पौष्णे समस्तास्त्रिनयनशशिनः षट् त्रियुग्मेन्दवो ये
मासास्तेऽह्वानिशेषास्तिथिदिगिषुगुणा द्वीन्दवो जीवितस्य ॥ ६२ ॥

इह शरीरे चन्द्रः सूर्यगुणान् सत्त्वरजस्तमो गृहीत्वारिष्टदिनानि दर्शयति; सूर्यश्चन्द्रगुणान् शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान् गृहीत्वा ह(ह्य)रिष्टदिनानि दर्शयति। **पञ्चपञ्चोत्तरेण** पञ्चराशिं यावत्, ततो राशिद्वयमेकोत्तरेण, ततो मूलादारभ्य त्रयस्त्रिंशद्दिनानि आरोहति, पञ्चदशदिनैरष्टमराशिं त्यजति, दशभिर्नवराशिं त्यजति, पञ्चभिर्दशमराशिम्, त्रिभिरेकादशराशिम्। एवं त्रयस्त्रिंशद्दिनानि दक्षिणनाड्यां प्राण आरोहते। ततो द्वादशराशौ दिनद्वयं वामनाड्यां वामनाडीधातुक्षयार्थम्, दिनमेकं मध्यनाड्यां श्वासचक्रक्षयार्थम्, ततो मरणं गच्छतीति। तद्यथा **पञ्चभ्योऽवधि-दिनेभ्यः पञ्चविंशतिदिनानि यावद् दिवसगतिरुहारोहते पञ्चवृद्ध्या।** पञ्च दश पञ्चदश विंशति पञ्चविंशति जन्मनः पञ्चराशिषु। **तस्मादेकोत्तरेण** षट्विंशत्सप्तविंशद्दिनानि षष्ठे सप्तमे राशौ यथाक्रमं सत्त्व[र]जसोः क्षयार्थम्। ततः **काले पौष्णे** सति **त्रिगुणितदशकम्** अष्टमे नवमे दशमे राशौ **रोहते** प्राणः; ततः एकादशे **त्र्युत्तरं** मासं भवति **यावदेव**। समा **(समस्ता)** वर्षाऽरिष्टदिनावशेषा राशिचक्रे जन्मराश्यादिषु द्वादशराशिषु **त्रिनयनशशिनः** जन्मराशौ त्रिवर्षा। अरिष्टदिनावशेषा द्वितीये द्विवर्षम्, तृतीये वर्षमेकमिति समारिष्टदिनावशेषा जीवितस्य। ततः **षट्त्रियुग्मेन्दवो ये** इति चतुर्थराशौ षण्मासास्ते, पञ्चमे त्रयो मासाः, षष्ठे मासद्वयम्, सप्तमेऽरिष्टदिनावशेषमासमेकं जीवितस्य। ततो जन्मस्थानात् सप्तमस्थानं **पौष्णं** गर्भजानामाधानमासं(सो) मकरः। तस्मात् सप्तमं प्राणजन्ममासं कर्कटश्चन्द्रनाडीवृद्धिपरित्यागात् द्वादशराश्यन्ते पुनर्मकरो भवति, त्रयोदशमासो गर्भाधानादिति। अतः कर्कटः प्राणस्य जन्मस्थानं न सूर्यस्यैवेति। तत उदयति। तस्माज्जन्मनो मकरोदये सप्तमे राश्युदये सूर्यस्यास्तमनं नाम **पौष्णकालः**। [111a] तस्मात् कालात् प्राणोऽवैवर्तिको भवति, शरीरे स्थिरीकर्तुं न शक्यते देवासुरैर्मनुष्यैः। रात्रिभागे चन्द्रोदयकाल इति; चन्द्रोदयो नाम शुक्रधातौ मृत्युप्रवेश इति। मृत्युरुदयो[1] न शुक्रधातोरिति, अरिष्टवायुप्रवेशादिति। ततः पौष्णकालात् शुक्रक्षयार्थं त्रयस्त्रिंशद्दिनानि प्राणो रोहते दक्षिणनाड्याम्; ततो दिनद्वयं वामनाड्याम्, दिनमेकं मध्यमानाड्यामिति[2]। **अहानि शेषाः, तिथिः** पञ्चदश, **दिगिति** दश, **इषुः** पञ्च, **गुणा** इति त्रयः, **द्वि** इति द्वे, एकदिनं **जीवितस्येति** सूर्यारिष्टे एकव्याख्याननियमः।

इदानीं द्वितीयव्याख्यानमुच्यते **स्वस्थानादित्यादिना**—

स्वस्थानाद् राशिचक्रं त्यजति परकला हानिशेषैश्च तुल्यै-
र्वर्षैर्मासैर्दिनैश्च त्रिनयनशशिभिः षट्त्रियुग्मेन्दुभिश्च।
पौष्णाद् वै हानि तुल्यैस्तिथिदिशि(गि)षु गुणैः कर्णिकायां प्रविष्टैः
षट्त्रिंशद्भिर्दिनान्ते भवति दिनकरारिष्टयोगेन मृत्युः ॥ ६३ ॥

---

१. क. मृत्योरुदयो। २. ग. मध्यमानामनाड्यामिति।

इह शरीरे नाभिकमले द्वादशनाड्यात्मकं राशिचक्रम्। तत्र जन्मस्थानं प्रथमराशिनाडीगर्भोत्पादस्य बालकस्य यल्लग्नं तदेव वृषभादिकं समनाडीस्वभावम्; तस्मात् **स्वस्थानाद् राशिचक्रं** द्वादशारं नाडीचक्रं षष्टिमण्डलात्मकं **त्यजति परकला** प्राणशक्तिः। **हानिशेषैश्च तुल्यैरिति** हानिरारोहणदिवसाः पञ्च दश पञ्चदश पञ्चविंशतिः 5 षड्विंशतिः सप्तविंशतिरिति हानिः; **शेषास्त्रिवर्षा**, द्वौ वर्षौ एकवर्षं[1] षण्मासाः त्रिमास(साः) द्वौ मासौ मासमेकमिति हानिशेश(षा)स्तैर्हानिशेषैः प्रथमं पत्रादिकं[2] यावत् सप्तनाडीपत्रं तावत् क्रमो **वर्षैर्मासैरिति त्रिनयनशशिभिवर्षैर्नाडीत्रयं** त्यजति, **षट्त्रियुग्मेन्दुभिर्मासैः** सप्तनाडीं त्यजति। **दिनैश्च पौष्णात् वै हानितुल्यैः** पौष्णकालावधेर्जन्मस्थानात् सप्तमोऽर्कस्यास्तमनकालो रजस इति [111b], तस्मात् पौष्णात् तुल्यैरा- 10 रोहणायुर्दिनै राशिनाडीपरित्यागः प्राणशक्तेः **तिथिः** पञ्चदशदिनैः, **दिक्** दशदिनैरि**षुः** पञ्चदिनैर्गु**णैरिति** त्रिभिर्दिनैरेभिस्त्रयस्त्रिंशद्दिनैरष्टमीनाडीं नवमीनाडीं[3] दशमीनाडीमेकादशीञ्च राशिनाडीं पञ्चमण्डलवाहिनीं सूर्यप्रवाहेण त्यजति एकदक्षिणनाडीप्रवाहेण। द्वादशमी दिनद्वयेन वामनाड्यां मध्यमा[4]यामेकदिनेनेति **कर्णिकायां प्रविष्टः(ष्टैः)**। एवं पौष्णात् **षट्त्रिंशद्दिनैर्भवति दिनकरारिष्टयोगेन मृत्युर्नराणामिति** द्वितीय- 15 व्याख्याननियमः।

पूर्वे वाणाग्निलोकं त्यजति दिनगणं सूर्यवर्षत्रयस्य
तस्मात् सारोहणं वै शरयुगशिखिनं खाग्निचन्द्रं तृतीये।
नेत्राहिशैलवाणं वसुकरमपरं सप्तमे रोहणं च
तस्मात् तिथ्यादिसर्वं दिनगणमपि यत् कर्णिका यावदेव ॥६४॥

20 इदानी पत्रात्[5] पत्रे[6] त्रिवर्षाद् दिनत्याग उच्यते **पूर्वे** इत्यादिना—

इह राशिचक्रे जन्मलग्ननाडी **पूर्वं** इत्युच्यते; तस्मिन् जन्मलग्नपत्रे अशीत्युत्तरसहस्रदिनगणात् मध्ये **वाणाग्निलोकमिति** पञ्चत्रिंशदधिकत्रिंशद्**दिनगणं त्यजति** त्रिवर्षेभ्यः। ततस्तत्पत्रं शून्यीकृत्य द्वितीयपत्रे अवशेषदिनगणं गृहीत्वा प्राणशक्तिः प्रविशति, **तस्माद्** दिनगणात् **सारोहणं** पूर्वादपरपत्ररोहणदिनैर्दशभिः सार्द्धं **शरयुगशिखिनमिति** 25 पञ्चचत्वारिंशदधिकत्रिशतदिनगणं त्यजति द्वितीयपत्रे। ततोऽवशेषं गृहीत्वा तृतीयपत्रे प्रविशति, द्वितीयं शून्यं भवति। पुनस्तत्रैव पञ्चदशारोहणदिनैः सार्द्धं सप्तत्यधिकशतदिनं तृतीयपत्रे त्यजति; अवशेषं गृहीत्वा चतुर्थे प्रविशति, तृतीयं शून्यं भवति। ततो विंशत्यारोहणदिनैः सार्द्धं **नेत्राहिरिति** द्व्यशीतिदिनगणं त्यजति चतुर्थपत्रे; अवशेषं गृहीत्वा पञ्चमे [112a] प्रविशति, चतुर्थं शून्यं भवति। पुनः पञ्चविंशत्यारोहणदिनैः सार्द्धं

T 309

---

१. क, ख. एकवर्षा। २. क. ख. पुत्रादिकं। ३. ख. पुस्तके नास्ति। ४. क. ख. मध्यमो। ५–६. क. ख. पत्रास्यते; भो. ḥDab ma bCu gÑis La (द्वादशपत्रे)।

शेलवाणं सप्तपञ्चाशद्दिनगणं त्यजति पञ्चमे[१] पत्रे[२]; अवशेषं गृहीत्वा षष्ठे प्रविशति, पञ्चमं शून्यं भवति । पुनः षड्विंशत्यारोहणदिनैः सार्द्धं अष्टाविंशतिदिनगणं त्यजति षष्ठे[३] पत्रे[४] । ततः सप्तमे पत्रे प्रविशति, षष्ठं शून्यं भवति । ततः **सप्तमे रोहणं** सप्तविंशतिदिनगण त्यजति; अवशेषं षट्त्रिंशद्दिनगणं गृहीत्वा अष्टमे पत्रे प्रविशति, सप्तमं शून्यं भवति। ततोऽष्टमे पञ्चदशदिनं त्यजति; अवशेषमेकविंशद्दिनं गृहीतत्वा नवमे **प्रवि**शति, अष्टमं शून्यं भवति । ततो नवमे दशदिनं त्यजति; अवशेषमेकादशदिनं गृहीत्वा दशमे प्रविशति, नवमं शून्यं भवति । ततो दशमे पञ्चदिनं त्यजति; अवशेषं षड्दिनं गृहीत्वा एकादशे प्रविशति, दशमं शून्यं भवति । तत्र दिनत्रयं त्यजति; अवशेषं दिनत्रयं गृहीत्वा द्वादशमे प्रविशति, एकादशमं शून्यं भवति । तत्र दिनद्वयं त्यजति; अवशेषं दिनमेकं गृहीत्वा **कर्णिकायां** प्रविशति, द्वादशमं नाडीराशिपत्रं शून्यं भवति । एवमशीत्युत्तरसहस्रसंख्यैः सूर्यस्य मध्यमात्रिवर्षदिनैः प्राणशक्तिर्द्वादशारं राशिचक्रं त्यजति । ततः **कर्णिकायां** दिनमेकं मध्यमा(यां)[५] वहति । ततः श्वासचक्रं त्यक्त्वा विज्ञानं प्राणवायुना सार्द्धमन्यत्र षड्गतौ संक्रमणं करोति, इति सूर्यस्यारिष्टनियमः ।

अत्र न्यासः — पूर्वन्यासवत् द्विपुटे वर्षभेदेन दिनत्यागभेदेनेति पूर्वपुटे अरिष्टदिनन्यासोऽपरपुटेऽवशेषायुर्दिनन्यासः । द्वितीयचक्रे दिनत्यागन्यासः, पूर्वपत्रेषु क्रमेण शून्यन्यास इति सूर्यारिष्टदक्षिणनाड्यां समलग्ने जातानां विषमलग्ने जातानां चन्द्रारिष्टमल्पायूनाम्, इति सूर्यारिष्टनियमः ।

इदानीं मध्यमारिष्टं कालाब्दक्रमेण सूर्यस्य यद् बालजनैस्तीर्थिकैरुक्तसत्त्वानां व्यामोहजनकं वर्षशतावधेस्तस्य प्रतिषेध उच्यते—

इह तीर्थिकैः किलोच्यते—दक्षिणनाड्यां पञ्चनाडीप्रवाहेण व[112b]र्षशतमायुः, षष्ठनाडीप्रवाहेण नवतिवर्षाण्यायुः, सप्तनाडीप्रवाहेणाशीतिवर्षाण्यायुः, अष्टनाडीप्रवाहेण पञ्चाशद्वर्षाण्यायुः, नवनाडीप्रवाहेण त्रयस्त्रिंशद्[६]वर्षाण्यायुः, दशनाडीप्रवाहेण षड्विंशद्वर्षाण्यायुः, पञ्चदशनाडीप्रवाहेण चतुर्दशवर्षाण्यायुः, त्रिंशन्नाडीप्रवाहेण द्वादशवर्षाण्यायुः, अहोरात्रप्रवाहेण दशवर्षाण्यायुः, द्विदिनप्रवाहेणाष्टवर्षाण्यायुः, त्रिदिनप्रवाहेण षड्वर्षाण्यायुः, चतुर्दिनप्रवाहेण पञ्चवर्षाण्यायुरिति; ततः पञ्चदिनप्रवाहेण त्रिवर्षाण्यायुरिति तीर्थिकानां नाडीश्वासनियमः दक्षिणमार्गे ।

स एव न घटते युक्त्या विचार्यमाणः सर्वज्ञोक्त्या । इह नराणामरिष्टाभावे वामदक्षिणनाड्यां पञ्च समेषु विषमेषु लग्नेषु पञ्च दण्डानि प्राणवायुर्वहति । वर्षशतायुषः पुरुषस्य प्राणस्य वामे सव्ये सप्तवर्षाणि श्वासवृद्धिरयनभेदेन, ततः षष्टिवर्षाणि पाणीपलवृद्धिरयनवृद्धिभेदेन, ततस्त्रिंशद्वर्षाणि नाडीवृद्धिस्त्रिमासभेदेन, ततस्त्रिवर्षत्रिपक्षाणि दिनभेदेन वृद्धिरिति कालवृद्धिन्यायः । अतो न्यायात् यस्याकालमरणं भवति गर्भोत्पादा-

---

१-२. क. ख. भो. पुस्तकेषु नास्ति । ३-४. क. ख. भो. पुस्तकेषु नास्ति ।
५. भो. dBu mar (मध्यमायां) । ६. भो. Sum Cu (त्रिंशत्) ।

द्वालस्य त्रिवर्षैः पञ्चवर्षैर्वा द्वा[1]दशवर्षैर्वा विंशत्यादिभिर्वा मरणम्, तस्य पञ्चनाड्युपरि षट्सप्तादिनाडीप्रवाहक्रमो निरर्थकः, गर्भोत्पादत्रिवर्षमरणावधेरिति । अत्र यदि मासादूर्ध्वं जातकस्य मरणं भवति, तदा जन्मदिनादारभ्य प्राणावायुः पौष्णकालात् तिथिदिगिषुगुणाद्यमारूढः । एवं द्विमासान्ते मरणं त्रिमासान्ते चतुर्मासान्ते षड्मासान्ते एक-
5 वर्षान्ते द्विवर्षान्ते त्रिवर्षान्ते गर्भोत्पादात्त्रयस्त्रिंशद्दिनारोहणविलोमेन **यावत्** पञ्चदिनारोहणं दक्षिणनाड्यां शब्दादिपञ्चगुणक्षयभेदेन वामनाड्यां दिनमेकं सत्त्वादित्रिगुणक्षयभेदेनेति । एवं गर्भोत्पादात् प्रथमेऽपि मरणं ज्ञेयं कर्णिकायां प्राणप्रवेशादिति आहोरात्रतः, एवं तृतीये दिने मरणं द्वादशमे पत्रे प्राणोदयात्, एवं षष्ठे दिने एकादशे प[113a]त्रे प्राणोदयात्, एवमेकादशे दिने दशमे राशिपत्रे प्राणोदयात्, एवमेकविंशतिमे दिने नवमे
10 राशिपत्रे प्राणोदयात्, एवं षट्त्रिंशतिमे दिने अष्टमे राशिपत्रे क्रमेण प्राणोदयात् । एवं
T 310 द्विमासे सप्तमे राशिपत्रे प्राणोदयात्, एवं त्रिमासे षष्ठमे[ष्ठे] पत्रे प्राणोदयात्, एवं चतुर्मासे पञ्चमे प्राणोदयात्, एवं षण्मासे विंशतिदिनैः चतुर्थपत्रे प्राणोदयात्, एवं सपक्ष[2]वर्षैके तृतीये प्राणोदयात्, द्विवर्षे दशदिनैः द्वितीये प्राणोदयात्, तृतीये[3] वर्षे[4] प्रथमे प्राणोदयात्, चतुर्थे वर्षे (न)[5] दिनन्यायः[6] गर्भोत्पादाच्छतवर्षावधि यावदिति सूर्यारिष्ट-
15 नियमः ।

यथा सूर्यस्तथा सत्त्वादिगुणत्रयभेदेन गर्भोत्पादाच्चन्द्रारिष्टनियमः, तथा **कालोत्तरे**[7] ऊर्ध्वश्रोत्रे उक्तमीश्वरेण—

यथा वामा तथाऽवामा मध्यमा च तथैव च ।
त्रिवर्षान्ते मखादा ।

20 इति परसिद्धान्तेऽपि कुत्रचिन्नियमोऽस्तीतिचन्द्रसूर्यारिष्टनियमः ।

एवं त्रिवर्षान्तमेकदिनमारभ्य बालस्य यन्मरणं चन्द्रमार्गे वा सूर्यमार्गे वा तदशीत्युत्तरसहस्रभेदभिन्नं प्रत्येकदिनमरणभेदेन, नात्र नियमो गर्भजानां कर्मणः । किन्तु नाडिकाश्वासप्रवाहेणारिष्टदिनैः प्राणसंख्या ज्ञायते । अतो(ऽ)रिष्टचक्रं मरणचक्रं राशिचक्रनाडीभ्यः प्राणस्य पञ्चमण्डलप्रवाहपरित्यागोऽनुक्रमेणेति । ततः कर्णिकायां प्रवेश-
25 स्तद्दिने मरणमिति न्यायः । इदं त्रिवर्षकाललक्षणं शतवर्षावधेर्मध्यमाप्रवाहेण सूर्यस्य परिकल्पितेन सर्वसत्त्वानां मरणं किल भगवतोक्तम् । तदेव चन्द्रस्य त्रिपक्षधर्मेण चन्द्रस्यारिष्टमरणं न स्यादिति । इह येन चन्द्रस्य धर्मेणारिष्टमरणं न भवति तेन बालैरप्रबुद्धैः प्रकल्पितम् । यथा वामनाड्यामरिष्टमरणं नास्ति चन्द्रधर्मतः दक्षिणायां सूर्यप्रवाहतोऽरिष्टमरणमुक्तं सर्वज्ञेनेति अज्ञानिनां वाक्यम् । इह त्रिवर्षाधिदेवः सूर्यशब्देन
30 प्राणवायुश्चन्द्रशब्देनापानवायुस्त्रिपक्षाधिपतिः । अत्रेडापिङ्गलासुषुम्नामधि[113b]पतिः प्राणः सूर्यो नाभेरूर्ध्वं प्रवाहतः, अपानो विण्मूत्रचन्द्रनाडीनामधिपतिः नाभेरधः

---

१. ख. पुस्तके नास्ति । २. भो Phyogs Daṅ bCas par (सपक्षं) । ३-४. ग. त्रिवर्षे । ५-६. भो. Rigs pa Ma yin (न दिनन्यायः) । ७. भो. Phyi ma (उत्तरे) ।

प्रवाहतः। एवं चन्द्रस्याधो गुणत्रयम्, सूर्यस्योर्ध्वे पञ्चमण्डलविपर्ययगुणपञ्चकम्। तेन त्रिगुणभेदेन वामे चन्द्रारिष्टम्, दक्षिणे पञ्चगुणभेदेन सूर्यारिष्टः, अधोर्ध्वनाड्योरिति चन्द्रसूर्यारिष्टनियमः।

इदानीं मध्यमापरिपूर्णकालमरणलक्षणमुच्यते **कालाब्दमित्यादिना**—

कालाब्दं यावदेका दिवसगतिवशाद् रोहते संक्रमन्ती 5
चन्द्राख्ये सूर्यमार्गे विषमसमदिनैरेकवृद्धया क्रमेण।
भूयः संक्रान्तिभेदो विषमसमदिनैर्द्वादशारे करोति
सार्द्धं मासं हि यावत् त्रिगुणितदशकं जीवितं च त्रिरात्रम्॥ ६५॥

इह शरीरे नरनारीणां सत्त्वरजस्तमोभेदेन प्राणप्रवाहः। सार्द्धदशमासाधिक-षड्नवतिवर्षाणि यावद् वामदक्षिणे पञ्चमण्डलप्रवाहतः। त्रिवर्षत्रिपक्षाणि(न्) यावत् 10 मध्यमकालः वर्षशतायुषां नराणामिति नियमः। तत्र वामदक्षिणमध्यमास्तिस्रो नाड्यः सत्त्वरजस्तमःस्वभाविन्यः; आसु मृत्युस्तमोनाडीप्रवाहसंख्यां गृहीत्वा प्राणापानस्वभावेन। वामायां दक्षिणायां **विषमसमदिने रोहते कालाब्दं** त्रिवर्षत्रिपक्षं यावत्। **दिवसगति-वशात्** दिवसाः पञ्चविंशत्यधिकैकादशशताः, तेषां गतिवशाद्यावदायुःक्षयो भवति तावदारोहते **संक्रमन्निति(न्ती)चन्द्राख्ये** वाममार्गे **सूर्यमार्गे** दक्षिणे **विषमसमदिनैरेक-** 15 **वृद्धया क्रमेणे**ति एकदिनं वामनाड्यां रोहते यदि मेषादिविषमलग्ने जन्मोऽ(ा)भूत्; दक्षिणे दिनद्वयमारोहते यदि वृषभादिसमलग्ने जन्मोऽ(ा)भूत्। ततो भूयः संक्रान्तिभेदं विषमसमदिनैर्वामारोहणावसाने दक्षिणारोहणावसाने च **करोति**[114a]आरोहणदिनमा-नेनेति। **द्वादशारे** राशिचक्रे **क्रमेण** पञ्चमण्डलपरित्यागाय वामनाड्यामाकाशादि-मण्डलक्षयार्थं संक्रान्तिं करोति, दक्षिणनाड्यां पृथिव्यादिमण्डलक्षयार्थं करोति। अत्र 20 वामे पञ्चदिनारोहणेन संक्रान्तिदिनैर्मेषादिविषमलग्नेषु षट्सु शून्यमण्डलप्रवाहं प्राण-वायुः त्यजति; दक्षिणे षट्दिनारोहणेन षट्संक्रान्तिदिनैर्वृषभादिसमलग्नेषु षट्सु पृथिवीमण्डलप्रवाहं त्यजति प्राणः। एवं वामनाड्यामेकादशदिनैर्वायुमण्डलं त्यजति, दक्षिणदलेषु द्वादशदिनैरुदकमण्डलं त्यजति। एवं सप्तदशदिनैर्वामदलेषु तेजोमण्डलं त्यजति; दक्षिणदलेषु अष्टादशदिनैस्तेजोमण्डलं त्यजति। भूयो वामदलेषु त्रयोविंशति- 25 दिनैरुदकमण्डलं त्यजति; दक्षिणदलेषु चतुर्विंशतिदिनैर्वायुमण्डलं त्यजति। पुनरेकोन-त्रिंशद्दिनैर्वामदलेषु षट्सु पृथ्वीमण्डलं त्यजति। दक्षिणे त्रिंशद्दिनैराकाशमण्डलं त्यजति। एवं विषमसमदिनैर्वामदक्षिणारोहणेनेति[1] त्रिंशद्दिनानां त्रिंशत्संक्रान्तिदिनैर्द्वादशलग्न-नाडीदलेषु पञ्चमण्डलपरित्यागः। ततः एकत्रिंशद्दिनारोहणेन वामनाड्यां विषमदलेषु सत्त्वधातुक्षयः। एकत्रिंशत्संक्रान्तिदिनैरपि दक्षिणनाड्यां द्वात्रिंशद्दिनारोहणेन 30 रजोधातुक्षयः। द्वात्रिंशत्संक्रान्तिदिनैरपि। ततस्त्रयस्त्रिंशद्दिनारोहणेन विषम-दलेषु तमोधातुक्षयः, त्रयस्त्रिंशत्संक्रान्तिदिनैरिति। एवं श्लेष्मनाडीक्षयः

---

१. क. ०णारोहेणेति।

सत्त्वधातुः, पित्तनाड़ीक्षयो रजोधातुः, वातनाडीक्षयस्तमोधातुरित्युच्यते। त्रयस्त्रिशद्दिनारोहणेन[1] त्रयस्त्रिशत्संक्रान्तिदिनैरिति। उभया(य)राशिसंक्रान्तिसंकलितैर्दिनैर्द्वाविंशदधिकैकादशशतदिनानि भवन्ति त्रिवर्षत्रिपक्षदिनत्रयोनानामिति[2] पञ्चमण्डलसत्त्वरजस्तमोनाडी(डि)काच्छेदः। प्राणवायोः स्थानपरित्याग इति। एवं
5 **सार्द्धं मासं हि यावत्** त्रिवर्षदिनानि[3] प्राणारोहणेनेति। **ततस्त्रिदशकमपरं** गर्भाधानमासदि[114b]नगणं त्रिंशद्दिनात्मकं **जीवितस्य त्रिरात्रं** यावदिति दक्षिणानाड्यामारोहणं सर्वसंक्रान्त्यभावः, त्रयस्त्रिशद्दिनानि यावत् स्कन्धधातूनां विच्छेदः। अत्र रूपादयः पञ्च स्कन्धाः, पृथिव्यादयः पञ्च धातवः, कायेन्द्रियाणि
T 3:1 पञ्चेन्द्रियाणि, गन्धाद्याः पञ्च विषयाः, गुदाद्यानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, आलापादयः
10 पञ्च कर्मेन्द्रियविषयाः, एतेषां त्रयस्त्रिशद्दिनैः च्छेदो भवति परस्परसंयोगाभावः, ततः एकदिनं मध्यमायां विशति[4] श्वासचक्रक्षयार्थम्[5]। षष्ठः स्कन्धः[6], षष्ठो धातुः, षष्ठमिन्द्रियम्, षष्ठो विषयः, षष्ठं कर्मेन्द्रियम्, षष्ठकर्मेन्द्रियविषयः, शुक्रच्युतिर्मरणान्ते भवतीति स्कन्धधात्वायतनविच्छेदनियमः।

इदानीं जातकानां मृत्युश्वासारोहणमुच्यते **श्वासानित्यादिना**—

15 **श्वासांल्लिप्तांश्च नाडी दिननिशिसमयान् रोहते संक्रमेण**
सप्ताब्दैश्चायनाङ्गादयनगतिवशात् षष्टिसंवत्सरैश्च ।
त्रिंशद्वर्षैस्त्रिमासान् दिवसगतिवशात् कालवर्षैश्च पक्षै-
र्द्वात्रिंशत् सार्द्धभक्तैर्भवति दिनगणे रोहणं कालचक्रात् ॥ ६६ ॥

इह शरीरे श्वासचक्रं **लिप्ताचक्रं** घटिकाचक्रं **दिनचक्रं** यथा बाह्ये तथा देहेऽपि।
20 तत्र[7] षट्श्वासात्मकं श्वासचक्रम्, षष्टिपाणीपलात्मकं पाणीपलचक्रम्, षष्टिघटिकात्मकं घटिकाचक्रम्; अशीत्युत्तरसहस्रदिनात्मकमरिष्टचक्रम्, षट्पञ्चा(श)दधिकैकादशशतदिनात्मकं कालमृत्युदिनचक्रमिति। एषु चक्रेषु मृत्युः श्वासरूपेण पाणीपलस्वभावेन घटिकास्वभावेन दिनस्वभावेनारोहति वामनाड्यां दक्षिणनाड्यां यथासंख्यमेकोत्तरेण। प्रथमं तावत् श्वासानारोहते। **सप्ताब्दैश्चायनांका(ङ्गा)**[8]दिति। इहोत्पन्नस्य यस्यारिष्टं
25 वर्षशतावधेर्नास्ति कालमरणं भविष्यति, तस्यायनद्वयं वाम[115a]नाड्यां दक्षिणनाड्यां पञ्चमण्डलवाहकः प्राणवायुर्वहति। ततस्तृतीयेऽयने वामनाड्यामाकाशमण्डले एकश्वासमारोहते, चतुर्थे न आरोहते, ततस्तृतीयवर्षे पञ्चमेऽयने दक्षिणनाड्यां पृथिवीमण्डले श्वासद्वयमारोहते, पुनः षष्ठेऽयने न आरोहते। ततः सप्तमेऽयने

---

१. ख. ०रोहणे। २. क. ख. त्रयोमानमिति। ३. क. ख. त्रिवर्षादिना; भो. Lo gSum Gyi Ñin Sag rNams (त्रिवर्षदिनानि)। ४. क. ख. विंशति। ५. क. ख. ०चक्रकुर्यार्थम्। ६. ग. स्कन्धार्थः। ७. क. त च। ८. भो. Yan Lag Las (अङ्गात्)।

वामनाड्यामाकाशमण्डले श्वासत्रयमारोहते, अष्टमे न। एवं नवमे न [द]क्षिणनाड्यां पृथिवीमण्डले श्वासचतुष्टयमारोहते, दशमे न। पुनरेकादशमे वामनाड्यां शून्यमण्डले पञ्च श्वासानारोहते, द्वादशमे न। ततस्त्रयोदशमेऽयने दक्षिणनाड्यां पृथिवीमण्डले षट् श्वासानारोहते, चतुर्दशमेऽयने न। एवं षट्श्वासैश्चक्रं तदेकं लिप्ता पाणीपलं वा भवति अत्र सार्द्धमासोनसप्तवर्षाणि। अतो[1]ऽवर्येलिप्ताचक्रोर्ध्वं श्वासारोहणं न भवति। लिप्ता- 5
स्वभावेन लिप्ता आरोहते **अयनगतिवशात् षष्टिसंवत्सरैश्चेति**। ततः सप्तवर्षादूर्ध्वम-परषष्टिवर्षाणि यावत् एकान्तरितायने नैकादिना विषमपाणीपलानि आरोहते।

एकोनषष्टिलिप्तान् यावद् वामनाड्यामाकाशमण्डले, दक्षिणनाड्यां पृथिवी-मण्डले द्वितीयादिना समानि षष्टिपाणीपलानि यावत् षट्सु षट्सु दलेषु विषमसमलग्न-स्वभावेष्विति। पाणीपलचक्रं षष्टिपाणीपलैः, तदेवैकघटिका भवति। अतः सप्तषष्टि- 10
वर्षावधे**र्नाडी** आरोहते, मृत्युनाडीस्वभावेनेति। **त्रिंशद्वर्षस्त्रिमासादिति** पुनरेकनाडी-मादि कृत्वा वामनाड्यां दक्षिणनाड्यां विषमसमनाडीमेकान्तरितेनारोहते, अयनार्द्धे त्रिमासैर्वामनाड्यामाकाशमण्डले एकनाडीमारोहते, अपरत्रिमासैर्न। पुनरपरायनार्द्धं त्रिमासैर्दक्षिणनाड्यां पृथिवीमण्डले नाडीद्वयमारोहते। एवं त्रिभिर्मासैः षष्टिनाडीश्च वामदक्षिण च षट्सु राशिदलेषु आकाशमण्डले पृथिवीमण्डले आरोहते, मृत्युर्नाडी- 15
स्वभावेनेति। अतः सार्द्धमासोनसप्तनवतिवर्षावधेर्नाडीचक्रमारोहते, तदेव दिनमेकं भवति[2]। ततो दिनस्वभावेन दिनचक्रं वामदक्षिणनाड्यां पूर्वोक्तेन क्र[115b]मेणा-रोहते, अतो **दिवसगतिवशात् कालवर्षैश्च पक्षैस्त्रिवर्षैः**। **चकारात्** त्रिपक्षैश्च, **त्रिंशद्भिर**-परदिनैश्चेत्यत्र मृत्युदिनारोहणसंख्या **द्वात्रिंशतः सार्द्धभक्तैः कालचक्रादिति**। पञ्चविंशत्य-धिकैकादशशताल्लब्धं दिनगणं कर्णिकापर्यन्तं वेदितव्यम्। अत्रारोहणदिनानि लब्धानि 20
सार्द्धद्वात्रिंशद्विभागेन चतुस्त्रिंशत्, घटिका षट्त्रिंशत्, पाणीपलानि पञ्चपञ्चाशत्, सार्द्धश्वासद्वयम्, एषु दिनमेकं कर्णिकायामवशेषं वामदक्षिणारिष्टो वेदितव्यः। प्रतिदिना-रोहणं घटिकाधिकं भवति, अन्तिमारोहणं दक्षिणनाड्यामिति कालमृत्युनियमः।

इदानीं नाभिचक्रादिनाडिकाच्छेद उच्यते **पक्ष** इत्यादिना—

पक्षे पक्षे च नाडी नवहतभुजगाश्छिद्यते नाभिचक्रे 25
सन्धावेकैकनाडीं त्यजति शिखिदिनैः कर्मचक्रे क्रियाख्ये।
कण्ठे नक्षत्रनाडीस्त्यजति दिनदिने मासमध्ये क्रमेण
बिन्दुस्थं पक्षमध्ये त्यजति शशिपदं वारनाडी हृदिस्थः॥ ६७॥

अत्र नाभौ द्वादश राशिनाड्यः षष्टिमण्डलवाहिन्यः षष्टिः, **नवहतभुजगाष्टौ** नवभिर्हता द्वासप्ततिर्भवन्ति। अतो नवहतभुजगे **नाभिचक्रे पक्षे पक्षे च नाडी** 30
च्छिद्यते। अत्र पक्षोऽष्टादशदिनैर्वेदितव्यः, तेन पक्षेण वामे शून्यादिमण्डलवाहिनी

---

१. ग. ततो। २. क. ख. वहति।

त्रिंशत् नाडीस्त्रिवर्षैस्त्यजति, दक्षिणे पृथिव्यादिमण्डलवाहिनी त्यजति त्रिंशदिति। एवं त्रिंशत्त्रिंशत्पक्षैः षष्टिः परित्यज्यन्ते(ज्यते) प्राणवायुनेति। सर्वत्र मण्डलनाडीषु त्यक्त्वा षष्ठांशम्, त्रिवर्षपक्षैः पञ्चमण्डलवाहिनीं त्यजति। **सन्धावेकैकनाडीं त्यजति शिखिदिनैः कर्मचक्रे क्रियाख्ये** चेति। इह शरीरे कर्मचक्रं हस्तयोः षट्सन्धिषु, पा[116a]दयोः षट्सन्धिषु, द्वादशभेदभिन्नं द्वादशचक्रात्मकं द्वादशमासभेदतः। प्रत्येकसन्धिचक्रे त्रिंशन्नाड्यः, द्वादशसन्धिषु षष्ट्युत्तरत्रिशतनाड्यः, तेषु दक्षिणस्कन्धबाहुसन्धौ मकरे त्रिंशन्नाड्यस्त्रिंशत्तिथिभेदतः; वामस्कन्धबाहुसन्धौ फाल्गुने त्रिंशन्नाड्यस्त्रिंशत्तिथिभेदतः। एवं दक्षिणोपबाहुसन्धौ चैत्रनाड्यः, वामोपबाहुसन्धौ वैशाखनाड्यः, दक्षिणकरोपबाहुसन्धौ ज्येष्ठनाड्यः, वामकरोपबाहुसन्धौ आषाढत्रिंशत्तिथिभेदेन त्रिंशन्नाड्य इति। हस्तयोः कर्मचक्रे षट्प्रकारेऽशीत्युत्तरशतनाड्यः षट्सन्धिषु। ततो दक्षिणोरुकटिसन्धौ श्रावणमासतिथिभेदेन त्रिंशन्नाड्यः, वामोरुकटिसन्धौ भाद्रपदत्रिंशन्नाड्यः। एवं दक्षिणोरुजानुसन्धौ अश्विनत्रिंशन्नाड्यः, वामोरुजानुसन्धौ कार्तिकत्रिंशन्नाड्यः, दक्षिणपादजानुसन्धौ मार्गशीर्षत्रिंशन्नाड्यः, वामपादजानुसन्धौ पुष्यमासत्रिंशत्तिथिस्वभावेन त्रिंशन्नाड्यः। एवं पादयोः षट्सन्धिषु कर्मचक्रे अशीत्युत्तरशतनाड्यः, कर्मचक्रं कर्मेन्द्रियक्रियाप्रवर्तनादिभूतमिति। एतासु नाडीषु शिखिदिनैः प्रत्येकं त्रिभिस्त्रिभिर्दिनैरारोहणात्। एभिस्त्रिवर्षदिनैरशीत्युत्तरसहस्रसंख्यैः षष्ट्युत्तरत्रिशतनाडीस्त्यजति प्राणवायुः। **क्रियाख्ये** इति आदानगमनादिक्रियां करोतीति क्रियाख्यं हस्तपादाङ्गुलीपर्वसन्धिषु षष्टिषु थद्ना-(षड्ना)ड्यात्मकं चक्रं पृथिव्यप्तेजोवायुशून्यज्ञाननाडीस्वभावात्मकं प्रत्येकसन्धौ स्थितं षड्नाड्यात्मकमिति। षष्टिपर्वसन्धिषु षष्ट्युत्तरत्रिशतनाड्यः; तासु प्रत्येकनाडी त्रिभिस्त्रिभिर्दिनैः परित्यजति यथा कर्मचक्रे। यदा दक्षिणकरोपबाहुसन्धौ त्रिंशन्नाडीं त्यजति, तदा दक्षिणकरे ऊर्ध्वपञ्चाङ्गुलीषु षट्षट्नाडीस्त्यजति। एवं त्रिंशन्नाडीं पञ्चाङ्गुलीषु त्यजति मासदिनैस्तिथिभिरिति। एवं वामे वेदितव्यम्। यदा दक्षिणबाहूपबाहुसन्धौ त्यजति, तदाङ्गुलीमध्यपर्वसन्धिषु त्रिंशन्नाडीं त्यजति। एवं वामेऽपि[1]। यदा दक्षि[116b]णस्कन्धबाहुसन्धौ त्यजति, तदाङ्गुल्यधःपर्वसन्धिषु त्रिंशन्नाडीस्त्रिंशद्दिनैस्त्यजति नवतिदिनैः। एवं वामेऽपि ज्ञातव्यम्। यदा दक्षिणपादजानुसन्धौ त्रिंशन्नाडीः त्यजति, तदा दक्षिणपादाङ्गुल्यूर्ध्वपर्वसन्धिषु त्रिंशन्नाडी त्रिंशद्दिनैस्त्यजति। एवं वामेऽपि। यदा दक्षिणजानुसन्धौ त्यजति, तदाङ्गुलीमध्यपर्वसु त्रिंशन्नाडीस्त्यजति। एवं वामपदेऽपि ज्ञेयः। यदा दक्षिणकट्युरुसन्धौ त्यजति, तदा पादाङ्गुल्यधःपर्वसन्धिषु त्रिंशन्नाडीः त्यजति। एवं वामेऽपि ज्ञेयः।

इदानीं नाडीनामधिदैवाक्षराण्युच्यन्ते—

अत्र कवर्गो विलोमेनाकाशादिह्रस्वस्वरभिन्नो वामस्कन्धबाहुसन्धाविति। एवं दक्षिणस्कन्धबाहुसन्धौ ज्ञानादिदीर्घमात्राभिन्नः कवर्गः; वामे आकाशादिह्रस्वमात्राभिन्नश्चवर्गो बाहूपबाहुसन्धौ, ज्ञानादिदीर्घषण्मात्राभिन्नो दक्षिणे। वामे आकाशादिषण्मात्राभिन्नः टवर्गः करोपबाहुसन्धौ, दक्षिणे ज्ञानादिमात्राभिन्नः[2]। एवं षण्मासा

---

१. ख. वामे। २. क. ख. ज्ञानमात्राभिन्नः।

उत्तरायणे इति। ततो दक्षिणकट्युरुसन्धौ ज्ञानादिदीर्घषण्मात्राभिन्नः[1] पवर्गो दक्षिणे, वामे आकाशादिह्रस्वमात्राभिन्नः। एवं जानूरुसन्धौ दक्षिणे ज्ञानादिषण्मात्राभिन्नतवर्गः, वामे ह्रस्वाकाशादिमात्राभिन्नः। एवं दक्षिणपादजानुसन्धौ ज्ञानादिदीर्घषण्मात्राभिन्नः सवर्गः, वामे ह्रस्वाकाशादिमात्राभिन्नो विलोमेनाकाशव्यञ्जनादिना। एवं प्रत्येकवर्गः त्रिंशदक्षरात्मा दीर्घह्रस्वभेदेन कर्मचक्रे द्वादशचक्रेषु त्रिंशदारेष्विति। ततः क्रियाचक्रेषु प्रत्येकं ककारादिव्यञ्जनं ज्ञानादिदीर्घ[2]षण्मात्राभिन्नम्; दक्षिणाङ्गुष्ठादिप्रत्येकसन्धिष्वङ्गुष्ठाधः पर्वसन्धौ षड्नाडिकात्मनि कव्यञ्जनं ज्ञानादिमात्राभिन्नम्; तर्जनीसन्धौ खकारः, मध्यमासन्धौ गकारः, अनामिकासन्धौ घकारः, कनिष्ठासन्धौ ङकारो ज्ञानादिदीर्घषण्मात्राभिन्न इति। वामकनिष्ठाधः पर्वसन्धौ ह्रस्वाकाशादिमात्राभिन्नो ङकारः, अनामिकासन्धौ घकारः, मध्यमासन्धौ गकारः, तर्जनीसन्धौ खकारः, अङ्गुष्ठसन्धौ ककारः ह्रस्वाकाशादिषण्मात्राभिन्न[3] इति। एवं दक्षिणे द्वितीयपर्वपंक्तौ अङ्गुष्ठादिके चवर्गः दीर्घस्वरभिन्नः, वामे ह्रस्वमात्राभिन्नः। एवं दक्षिणतृतीयपर्वपंक्तौ दीर्घस्वरभिन्नः टवर्गः[4], वामे ह्रस्वमात्राभिन्न इति। एवं दक्षि[117a]णपादाङ्गुलीपर्वेषु दीर्घमात्राभिन्नः पवर्गः, वामे ह्रस्वमात्राभिन्नः। दक्षिणमध्यपर्वेषु दीर्घमात्राभिन्नस्तवर्गः, वामे ह्रस्वाकाशादिमात्राभिन्नः। दक्षिण-ऊर्ध्वपर्वसन्धिषु दीर्घमात्राभिन्नः सवर्गः, विलोमेनाकाशादिषण्मात्राभिन्नो वामाङ्गुलीपर्वसन्धिष्विति प्रथमवर्षे, द्वितीये गुणवृद्ध्या भिन्नाः, तृतीये यणादेशादिभिर्भिन्नाः षड्वर्गा इति। अस्य विस्तारो वक्ष्यमाणे वक्तव्यमिति नेह प्रतन्यते।

कण्ठे नक्षत्रनाडीस्त्यजति दिनदिने मासमध्ये क्रमेणेति। कण्ठचक्रे अष्टाविंशन्नक्षत्राणां नाड्यस्तांस्त्यजन्ति अष्टाविंशतिदिनैः स्वरात्मकैः। **बिन्दुस्थं ललाटस्थं पक्षमध्ये त्यजति शशिपदं** चतुर्दशनाड्यात्मकं चतुर्दशदिनैश्चतुर्दशप्लुतस्वरैः। **वारनाडी** अष्टदिनैस्त्यजति विषयसत्त्वादिगुणैरिति गुह्यस्थस्त्रिंशद्व्यञ्जनात्मिका नाड्यस्त्यजति कालमरण इति नाडीच्छेदनियमः।

इदानीं कर्मचक्रेषु सूर्यस्वभावेन प्राणस्य क्रमोत्क्रमच्छेदो वर्गसंज्ञाभिर्नाडीनामुच्यते **वर्गेभ्य** इत्यादिना—

वर्गेभ्यः सस्वरेभ्यः क्रमति दिनकरश्चायनं राशिभेदैः
पश्चादेकोत्तरेणोत्क्रमति दिनदिने कालवर्षं हि यावत्।
छिन्नेऽब्दे पक्षमध्ये स्वरदिवसवशाद् रोहणं च क्ष(क्र)मश्च
निःश्वासोच्छ्वासहानिर्दिननिशिसमये जीवितस्यैकरात्रम्॥ ६८॥

---

१. क. ख. पुस्तकयोः 'षड्' इति नास्ति। २. ख. दीर्घः। ३. ग. पुस्तके 'षड्' इति नास्ति। ४. क. टकारः।

इह कर्मचक्रे द्वादशारे हस्तपादयोर्द्वादशसन्धिषु प्रत्येकं त्रिंशन्नाड्यात्मकं चक्रम्; तेषु द्वादशचक्रेषु माघमासादित्रिंशत्तिथ्यधिदैवेषु कादयः षड्वर्गाः विसर्गादिषट्दीर्घ-मात्राभिन्नाः संहारक्रमेण दक्षिणहस्तपादषट्सन्धिषु पृथिव्यादिव्यञ्जनधर्मेण, तथाकाशा-दिव्यञ्जनधर्मेण सृष्टिक्रमेण प्रत्याहारपाठेन ङादिना आकाशादिह्रस्वस्वरभेदभिन्ना
5 वामहस्तपादयोः षट्सन्धिचक्रेषु षड्वर्गाः। तेभ्यो **वर्गेभ्यः सस्वरेभ्यः क्रमति दिनकरः** प्राणवायुर्मृत्युना सार्द्धं **चायनं राशिभेदैरि**ति, अयनं प्रथमम्[117b]त्तरायणं मकरादिकमाघमासादिकमिति, तदेवायनं दक्षिणवामभुजयोः षट्सन्धिचक्रेषु भ्रमति। तथा क्रियाचक्रे हस्ताङ्गुलीत्रिंशत्पर्वसन्धिषु चक्रेषु षड्नाड्यात्मकेषु प्रत्येकैकाङ्गुली-पर्वचक्रे कादिव्यञ्जनं षड्दीर्घमात्राभिन्नं दक्षिणकराङ्गुलीपर्वसन्धिचक्रेषु चरति, संहार-
10 क्रमेण; वामे सृष्टिक्रमेणाकाशादिव्यञ्जनमाकाशादिस्वरभिन्नम्। एवं दक्षिण.यनं पादयोः षट्सन्धिचक्रेषु कर्माख्येष्विति अङ्गुलीपर्वेषु क्रियाख्येष्विति।

T 313 अत्र माघे मकरसंक्रान्तौ तिथिभेदेन चन्द्रः, संक्रान्तिवारभेदेन सूर्यारोहणं ज्ञेयम्। यत्र सूर्यो वर्धते, तत्र चन्द्रक्षयः; यत्र चन्द्रो वर्धते, तत्र सूर्यक्षय इति। एवं मकरादौ[1] सूर्यवृद्धिः, मकरे दक्षिणस्कन्धबाहुसन्धिचक्रे त्रिशन्नाडीषु त्रिशत् कादयो
15 दीर्घमात्राभिन्नाः। संज्ञाधर्मिणोऽधिदैवाः, प्राणधर्मिण इति प्रथमनाड्यां क्काः। एवं सर्वपर्वेषु त्रिषु त्रिषु यथाक्रमं वर्णाः; तद्यथा—क्काः क्क्लॄ क्कॄ क्कू क्की क्का इति प्रथमषड्नाडीषु; एवं दक्षिणाङ्गुष्ठपर्वाधःसन्धौ षड्नाडीषु क्रियाचक्रे। एवं[2] ख्खाः ख्ख्लॄ ख्खू ख्खॄ ख्खी ख्खा इति कर्मचक्रे द्वितीयषड्नाडीषु क्रियाचक्रे तर्जन्यधः-पर्वसन्धौ षड्नाडीषु। तथा ग्गाः ग्ग्लॄ ग्गू[3] ग्गॄ ग्गी ग्गा इति कर्मचक्रे
20 तृतीयषड्नाडीषु क्रियाचक्रे मध्यमाधःपर्वसन्धौ षड्नाडीषु। एवं घ्घाः घ्घ्लॄ घ्घू घ्घॄ घ्घी घ्घा इति कर्मचक्रे चतुर्थे षड्नाडीषु, क्रियाचक्रे ऽनामिकाधःपर्वसन्धौ षड्नाडीषु। एवं ङ्ङाः ङ्ङ्लॄ ङ्ङू ङ्ङॄ ङ्ङी ङ्ङा इति कर्मचक्रे पञ्चमे षड्नाडीषु, क्रियाचक्रे कनिष्ठाधःपर्वसन्धौ षड्नाडीषु। एवं षड्भिः षड्भिर्दिनैः पृथिव्यादिकं मण्डलं सूर्यस्त्यजति। त्रिंशद्दिनैः पञ्चमण्डलानि त्यजति, ततो वामनाड्यां कुम्भे
25 संक्रामति।

तत्राकाशादिक्रमः। कवर्गः कर्मचक्रे क्रियाख्ये चेति। अत्र फाल्गुने कुम्भसंक्रान्तौ वामस्कन्धबाहुसन्धौ कर्मचक्रे त्रिशन्नाडीषु ङकारादीनि व्यञ्जनानि ह्रस्वाकाशादिस्वर-भिन्नान्याकाशमण्डलादिना; तद्यथा—ङ ङि ङृ ङु ङ्ऌ ङं इति प्रथमषड्नाडीष्वाकाशा-दिषण्मण्डललक्षणेषु क्रियाचक्रे वामकनिष्ठाधःपर्वसन्धौ षड्नाडीषु। एवं घ घि घृ घु घ्ऌ
30 घं इति द्वितीयषड्नाडीषु वायुमण्डलस्वभावा स्वकर्मचक्रे क्रियाचक्रे अनामिकाधः-पर्वसन्धौ षड्नाडीषु। एवं[4] ग गि गृ गु ग्ऌ गं इति तृतीयाग्निमण्डलषड्नाडीषु

---

१. क. ख. मकराद्यैः। २. ग. पुस्तके नास्ति। ३. श. पुस्तके नास्ति। ४. श. एवं गति।

कर्मचक्रे क्रियाचक्रे मध्यमाधःपर्वसन्धौ षड्नाडीषु। एवं ख खि खृ ख्लृ खं इति चतुर्थमुदकमण्डलं षड्नाडीषु; कर्मचक्रे क्रियाचक्रे तर्जन्यधःपर्वसन्धौ षड्नाडीषु; तथा क कि कृ कु क्लृ कं[118a]इति पञ्चमे पृथिवीमण्डलषड्नाडीषु कर्मचक्रे षण्मात्रककारस्य क्रियाचक्रेऽङ्गुष्ठाधः प्रथमपर्वसन्धौ षड्नाडीषु। एवमेकऋतौ दक्षिणे वामे मकरकुम्भमासयोः षष्टिकादयो मात्राः संहारसृष्टिभेदेनेति। ततश्च वर्गात् समात्रान् मीनमेषभेदेन क्रमति दक्षिणबाहूपबाहुसन्धौ, कर्मचक्रे त्रिंशन्नाडीषु पृथिव्यादि-पञ्चमण्डलेषु षड्दिनभेदेन चवर्गान् सस्वरान् क्रमति। 5

संहारस्तद्यथा—च्चाः च्च्लृ च्चू च्चृ च्ची च्चा इत्यवनौ। छ्छा छ्छ्लृ छ्छू छ्छृ छ्छी छ्छा इति जले। ज्जाः ज्ज्लृ ज्जू ज्जृ ज्जी ज्जा इति अग्नौ। झ्झाः झ्झ्लृ झ्झू झ्झृ झ्झी झ्झा इति वायौ। ञ्ञाः ञ्ञ्लृ ञ्ञू ञ्ञृ ञ्ञी ञ्ञा इत्याकाशे। त्रिंश-न्मात्राः कर्मचक्रे क्रियाचक्रेऽपि दक्षिणाङ्गुष्ठमध्यपर्वात् कनिष्ठामध्यपर्वान्ते पञ्चसन्धिषु षट्षट्नाडीषु चादीनि त्रिंशदक्षराणि संहारक्रमेण ज्ञातव्यानि इति। एवं वामभुजोपभुज-सन्धौ कर्मचक्रे त्रिंशन्नाडीषु क्रियाचक्रेऽपि कनिष्ठाङ्गुलीमध्यपर्वात् अङ्गुष्ठमध्यपर्वान्ते पञ्चसन्धिषु षट्षट्नाडीषु ञादयो वर्णास्त्रिंशद् भवन्ति; तद्यथा—ञ ञि ञृ ञु ञ्लृ ञं इति आकाशमण्डले, झ झि झृ झु झ्लृ झं इति वायौ, ज जि जृ जु ज्लृ जं इति तेजसि, छ छि छृ छु छ्लृ छं इति तोये, च चि चृ चु च्लृ चं इति पृथिव्याम्। एवं वसन्तऋतौ क्रमति चवर्गः राशि[1]भेदेनेति। ततो दक्षिणकरोपबाहुसन्धौ कर्मचक्रे त्रिंशन्नाडीषु क्रियाचक्रे दक्षिणाङ्गुष्ठोर्ध्वपर्वादिपञ्चसन्धिषु षट्षड्नाडीषु संहारक्रमेण टवर्गान् क्रमति वृषभेदेनेति; तद्यथा—ट्टाः ट्ट्लृ ट्टू ट्टृ ट्टी ट्टा इति अवनौ, ठ्ठाः ठ्ठ्लृ ठ्ठू ठ्ठृ ठ्ठी ठ्ठा इत्युदके, ड्डाः ड्ड्लृ ड्डू ड्डृ ड्डी ड्डा इत्यग्नौ, ढ्ढाः ढ्ढ्लृ ढ्ढू ढ्ढृ ढ्ढी ढ्ढा इति वायौ, ण्णाः ण्ण्लृ ण्णू ण्णृ ण्णी ण्णा इत्याकाशे, एवं संहारेण। ततो वामकरोपबाहुसन्धौ सृष्टिक्रमेण कर्मचक्रे त्रिंशन्नाडीषु क्रियाचक्रे वामकरकनिष्ठोर्ध्वपर्वादङ्गुष्ठपर्वसन्धिषु षड्नाडीषु आकाशादिमण्डलक्रमेण णकारादीन्यक्षराणि; तद्यथा—ण णि णृ णु ण्लृ णं [118b] इत्याकाशे, ढ ढि ढृ ढु ढ्लृ ढं इति पवने, ड डि डृ डु ड्लृ डं इत्यग्नौ, ठ ठि ठृ ठु ठ्लृ ठं इत्युदके, ट टि टृ टु ट्लृ टं इति पृथिव्याम्, वृषमिथुनराशिभेदेन क्रमति ग्रीष्मऋतौ। एवमुत्तरायणे अशीत्युत्तरशताक्षराणि क्रमति दिनकरश्चायनं राशिभेदैरिति। 10 15 20 25

पश्चादेकोत्तरेणोत्क्रमति दिनदिने इति पश्चाद्दक्षिणायने चन्द्रापानवायौ मृत्युः क्रमति, सूर्यं[2] उत्क्रमति[3] हीनो[4] भवति[5]। चन्द्रस्य रात्रे[6]र्वृद्धिर्भवति, यस्य वृद्धिस्तस्य चरणेषु मृत्युः क्रमति इति न्यायात् सूर्यं उत्क्रमति हस्ताङ्गुली(लि)मूर्ध्निसन्धिभ्यो

१, क. ख. मात्रासि; ग. मात्राराशि; भो. Khyim Gyi dBye Bas Tsa sDe (राशि)। २-३. क. ख. सूर्यवत् क्रमति। ४-५. भो. dMan par Mi ḫGur (न हीनो भवतीति)। ६. ग. रात्रौ।

यावद् दक्षिणस्कन्धबाहुसन्धिप्रथमनाड्याः पर्यन्तमिति। अत्र दक्षिणायने चन्द्रः[1] क्रमति दक्षिणकट्युरुसन्धौ कर्मचक्रे त्रिंशन्नाडीषु। दक्षिणाङ्गुष्ठाधःपर्वात् कनिष्ठाधःपर्वान्तं यावत् संहारक्रमेण क्रियाचक्रे पञ्चाङ्गुलीपर्वसन्धिषु षट्षड्नाडीषु पवर्गाक्षराणि त्रिंशत् क्रमति, कर्कटभेदेन त्रिवर्षाधिपतिः; तद्यथा—प्पाः प्प्लॄ प्पू प्पृ प्पी प्पा इत्यवनौ, फ्फाः फ्फ्लॄ फ्फू फ्फृ फ्फी फ्फा इति जले, ब्बाः ब्ब्लॄ ब्बू ब्बृ ब्बी ब्बा इति तेजसि, भ्भाः भ्भ्लॄ भ्भू भ्भृ भ्भी भ्भा इत्यनिले, म्माः म्म्लॄ म्मू म्मृ म्मी म्मा इत्याकाशे, एवं कर्कटभेदेनेति। ततो वामकट्युरुसन्धौ सृष्टिक्रमेणाकाशादिमण्डलभेदेन त्रिंशदक्षराणि विलोमेनः; तद्यथा— म मि मृ मु म्लृ मं इत्याकाशे, भ भि भृ भु भ्लृ भं इति पवने, ब बि बृ बु ब्लृ बं इति तेजसि, फ फि फृ फु फ्लृ फं इत्युदके, प पि पृ पु प्लृ पं इति पृथिव्यां सिंहसंक्रान्तिभेदेन भाद्रपदं क्रमति। एवं वार्ष्यंऋतुं चन्द्रः क्रमति, सूर्यं उत्क्रमति। ततो दक्षिणोरुजानु-सन्धौ कर्मचक्रे क्रियाचक्रे पादाङ्गुष्ठमध्यपर्वात् कनिष्ठामध्यपर्वान्तं पञ्चसन्धिषु षड्नाडीषु तवर्गः क्रमति तेभ्यो राशिसंहारभेदेन त्रिंशदक्षराणि; तद्यथा – त्ताः त्त्लॄ त्तू त्तृ त्ती त्ता इत्यवनौ, थ्थाः थ्थ्लॄ थ्थू थ्थृ थ्थी थ्था इति जले, द्दाः द्द्लॄ द्दू द्दृ द्दी द्दा इति तेजसि, ध्धाः ध्ध्लॄ ध्धू ध्धृ ध्धी ध्धा इति वायौ, न्नाः न्न्लॄ न्नू न्नृ न्नी न्ना इत्याकाशे, एवं कन्या-भेदेन क्रमति चन्द्र इति। त[119a]तो वामोरुजानुसन्धौ कर्मचक्रे क्रियाचक्रे वामपादक-निष्ठामध्यपर्वाङ्गुष्ठपर्यन्तं पञ्चसन्धिषु षट्षड्नाडीषु; तद्यथा—न नि नृ नु (न्लृ) नं इत्याकाशे, तथा ध धि धृ धु ध्लृ धं इति वायौ, एवं द दि दृ दु द्ल दं इति तेजसि, थ थि थृ थु थ्लृ थं इति जले, त ति तृ तु त्लृ तं इति पृथिव्याम्; एवं तुलाभेदेन वामे सृष्टिक्रमेण चन्द्रः क्रमति, सूर्यं उत्क्रमति शरदृतौ इति। ततो दक्षिणपादजानुसन्धौ कर्मचक्रे त्रिंशन्नाडीषु क्रियाचक्रे दक्षिणाङ्गुष्ठोर्ध्वपर्वात् कनिष्ठोर्ध्वपर्व यावत् पञ्चसन्धिषु षट्षड्नाडीषु संहारक्रमेण वृश्चिकभेदेन सवर्गान् त्रिंशदक्षराणि समात्राणि क्रमति चन्द्रः; दक्षिणे सूर्यं उत्क्रमति; तद्यथा—स्साः स्स्लॄ स्सू स्सृ स्सी स्सा इत्यवनिमण्डले, य्याः य्य्लॄ य्यू य्यृ य्यी य्या इति जले, ष्षाः ष्ष्लॄ ष्षू ष्षृ ष्षी ष्षा इति तेजसि, श्शाः श्श्लॄ
: : : : : :
श्शू श्शृ श्शी श्शा इति वायौ, एवं काः क्क्लॄ कू कृ की का इत्याकाशे षड्नाडीषु त्रिंशदक्षराणि वृश्चिकभेदेनेति। ततो वामपादजानुसन्धौ कर्मचक्रे त्रिंशन्नाडीषु क्रियाचक्रे कनिष्ठाङ्गुल्यूर्ध्वपर्वादङ्गुष्ठोर्ध्वपर्वं यावत् पञ्चपर्वसन्धिषु षट्षड्नाडीषु सृष्टिक्रमेण त्रिंशदक्षराणि चन्द्रः क्रमति, सूर्यो वामभुजायां स्कन्धधातूत्क्रमति धनुराशिभेदेनेति;
: : : : : :
तद्यथा—क कि कृ कु क्लृ कं इत्याकाशे, तथा श शि शृ शु श्लृ [शं] इति वायौ, ष षि षृ षु ष्लृ षं इति तेजसि, य्य य्यि य्यृ य्यु य्य्लृ य्यं इत्युदके, एवं स सि सृ सु स्लृ सं इति पृथिव्याम्, एवं त्रिंशदक्षराणि धनुभेदेनेति। अतः शिशिरऋतोरारभ्य चन्द्रस्य क्रमणाभावः।

१, क, ख. चन्द्रं।

पुनर्मकरादौ सूर्यस्य वृद्धिरिति। प्रथमवर्षे सत्त्वगुणभेदेन कालः सूर्यचन्द्राभ्यां सह क्रमि(म)ति, ततो द्वितीये वर्षे रजोभेदेन गुणवृद्धिस्वरैः कादयो वर्णास्त्रिशत् त्रिशन्नाडीषु कर्मचक्रे क्रियाचक्रे पूर्ववद् वेदितव्या इति। मकरे संहारक्रमेण; तद्यथा—क्काः क्काल् क्को क्कार् क्के क्का इत्यवनौ, तथा ख्खाः ख्खाल् ख्खो ख्खार् ख्खे ख्खा इत्युदके, ग्गाः ग्गाल् ग्गो ग्गार् ग्गे ग्गा इति तेजसि, घ्घाः घ्घाल् घ्घो घ्घार् घ्घे घ्घा इति वायौ, ङ्ङाः ङ्ङाल् ङ्ङो ङ्ङार् ङ्ङे ङ्ङा इ[119b]त्याकाशमण्डले, दक्षिणबाहोः पूर्ववत् मकरभेदेन सूर्यः क्रमति, चन्द्रो दक्षिणपादे उत्क्रमति, तथा कुम्भभेदेन सृष्टिक्रमेण गुणसहितेभ्यः क्रमति, वामबाहुसन्धौ; तद्यथा—ङ ङे ङर् ङो ङल् ङं इत्याकाशे, घ घे घर् घो घल् घं इति वायौ, ग गे गर् गो गल् गं इति तेजसि, ख खे खर् खो खल खं इत्युदके, क के कर् को कल् कं इति पृथिव्याम्, कुम्भभेदेन वामे सृष्टिक्रमेण; एवं मीनमेषयोः यथासंख्यं चवर्गाक्षराणि त्रिशत्-त्रिशत्-संहारसृष्टिक्रमेणेति दक्षिणवामे सन्धिनाडीषु वसन्तऋतौ, तथा टवर्गाक्षराणि ग्रीष्मऋतौ। ततः सूर्य उत्क्रमति, चन्द्रः क्रमति। कर्कटके सिंघे(हे) पादसन्धौ त्रिशन्नाडीषु दक्षिणे वामे पूर्ववत् वृद्धिगुणसहितेभ्यस्त्रिशदक्षरेभ्यः क्रमति। वार्ष्यऋतौ पवर्गाक्षराणि वृद्धिगुणैर्युक्तानि क्रमति चन्द्रः, शरदि तवर्गाक्षराणि, शिशिरे सवर्गाक्षराणि संहारसृष्टिक्रमेणेति। एवं द्वितीयवर्षे षष्ठ्युत्तरत्रिशतमात्रान् चन्द्रसूर्यौ क्रमत इति; ततस्तृतीये वर्षे तमोभेदेन कालः सूर्येण सार्द्धं कादिवर्गेभ्यः सस्वरेभ्यश्चरति[1]।

अत्र यणादेशाः स्वरा उच्यन्ते—

तैः सार्द्धं त्रिशत्-त्रिशदक्षराणि तमोविषयकालश्चरति इति संहारसृष्टिभेदेन पूर्ववद्धस्तपादसन्धिषु कर्मचक्रे क्रियाचक्रेष्विति; तद्यथा—क्क्हाः क्क्ला क्क्वा क्क्रा क्क्या क्क्हा इत्यवनौ मकरभेदेनेति; [तथा[2]] ख्ख्हाः ख्ख्ला ख्ख्वा ख्ख्रा ख्ख्या ख्ख्हा इति जले; तथा ग्ग्हाः ग्ग्ला ग्ग्वा ग्ग्रा ग्ग्या ग्ग्हा इत्यनले; घ्घ्हाः घ्घ्ला घ्घ्वा घ्घ्रा घ्घ्या घ्घ्हा इति वायौ; ङ्ङ्हाः ङ्ङ्ला ङ्ङ्वा ङ्ङ्रा ङ्ङ्या ङ्ङ्हा इत्याकाशे। एवं सूर्यः क्रमति दक्षिणे, ततो वामे सृष्टिक्रमेणेति। ङ्ह ङ्य ङ्र ङ्व ङ्ल ङ्हं[3] इत्याकाशे। घ्ह घ्य घ्र घ्व घ्ल घ्हं[3] इति वायौ। ग्ह ग्य ग्र ग्व ग्ल ग्हं[3] इति तेजसि। ख्ह ख्य ख्र ख्व ख्ल ख्हं[3] इत्युदके। क्ह क्य क्र क्व क्ल क्हं[3] इत्यवनौ। एवं वामे सृष्टिक्रमेण त्रिशन्मात्रांश्चरति सूर्यः शिशिर[4]ऋतौ। एवं वसन्ते चवर्गः, ग्रीष्मे टवर्गः। ततः सूर्य उत्क्रमति षट्सन्धिभ्यः। चन्द्रः पादसन्धौ क्रमति। वार्ष्ये पूर्ववत् पवर्गः। शरदि तवर्गः। हेमन्ते सवर्गः, संहारभेदेन सृष्टिभेदेनेति।, एवं तृ[120a]तीये वर्षेऽपि षष्ठ्युत्तरत्रिशतमात्रान् क्रमति दिनकरः।

---

१. ग. स्वस्वरेभ्यः०। २. ग. तद्यथा; भो. De bSin Du (तथा)।
३. भोटे सर्वत्रान्ते सानुस्वारं दृश्यते, संस्कृतेऽपि तथैव। अत एव प्रथमाक्षरतोऽन्तिमाक्षरो भिन्नः; भोटे च ॅ सर्वत्रान्तिमे ज्ञेयः। ४. क. ख. एवं वसन्त०।

कालवर्षं हि यस्मात् तस्मादेवाशीत्युत्तरसहस्रदिन[1]क्षयस्तयोर्वेदितव्य इति त्रिवर्षनाडीच्छेदो व्यञ्जनानामिति नियमः।

ततः **छिन्नेऽब्दे** सति **पक्षमध्ये** पञ्चचत्वारिंशत् ह्रस्वदीर्घप्लुतस्वरधर्मेण **स्वरदिवसवशात्** पञ्चचत्वारिंशद्दिनवशाद् **रोहणं च** मृत्योः सूर्यभेदेन सूर्यस्य, चन्द्रभेदेन चन्द्रस्य। रोहणमिति कण्ठे अष्टाविंशद् दिनानि, ललाटे चतुर्दशदिनानि पूर्वोक्तानि, गुह्ये त्रिदशकमिति त्रिंशद् दिनानि, ततः कण्ठे दिनचतुष्टयम्, ललाटे दिनद्वयं जीवितस्य त्रिरात्रम्। अपरमत्र स्वरच्छेदे तिथिः षट्पञ्चाशद्दण्डात्मिका ग्राह्या।

एवं पञ्चचत्वारिंशत्तिथयः स्वरधर्मिण्यः, तिस्रः शून्यधर्मिण्य इति व्यञ्जनधर्मेऽप्येवं दिनद्वयम्। एतासु दिनाष्टकं हृदयकमले आरोहते, ततो दशवायूनां समाहारः। कर्णिकायां **निःश्वासोच्छ्वास**चक्रस्य यावद् **हानिर्दिननिशिसमये जीवितस्यैकरात्रं** भवतीति। ततः कर्मवशादन्यत्र विज्ञानसंक्रमणमिति नियमो मध्यमामरणे सति प्राणिनां शतायुषामिति नाडीच्छेदनियमः।

इदानीं निर्माणचक्रादिषु षट्दिनावधेर्मरणादवशेषनाडिका दशवायुवाहिन्य उच्यन्ते **नाभावित्यादिना**—

नाभौ कण्ठे ललाटे स्वहृदयकमले नाडिकाः सावशेषा-
स्तिष्ठत्यर्को रसोऽग्निः स्वहृदयकमले सार्द्धनाडी तथैव।
पाणेः पादस्य सन्धौ तिथिगुणितयुगाः षड्दिनं यावदेव
अन्ते सर्वत्र सूक्ष्मा प्रवहति दिवसं च त्यजन्ती हृदब्जम्॥ ६९॥

इह नाभिचक्रे बाह्यमण्डलवाहिनी नाडीक्षयपरित्यागात् त्रिवर्षोर्ध्वं[2] त्रिपक्षरोहणे व्यञ्जनारोहणे **षड्दिनं यावद्** द्वादशराशिनाड्यः शून्यमण्डलपृथिवीमण्डलात्मिकाः श्वासचारेणावतिष्ठन्ते(ते) **अर्क** इति। एवं कण्ठे षण्मुहू[120b]र्त्तवाहिन्यो **रस** इति। चन्द्रस्यार्द्धप्रहरवाहिन्यः तिस्रो[3]ऽग्निरिति। हृत्कमले प्रहरवाहिनी सार्द्धनाडी **स्वहृदयकमले सार्द्धनाडी तथैव सावशेषा** इति। **पाणेः पादस्य सन्धाविति** षष्ट्युत्तरत्रिशतनाडीमध्ये कर्मचक्रे क्रियाचक्रे सन्धिषु। **तिथिगुणितयुगा** इति षष्टिनाड्यो दशवायुवाहिन्य इति। द्वादशसन्धीनां प्रत्येकसन्धौ पञ्चपञ्चनाड्यो दशवायुवाहिन्य इति शेषाः। कालमृत्युर्वायुर्महातमो धर्मो[4] क्रियाचक्रे षष्टिसन्धिषु एकैकनाडी दशवायुवाहिनी पञ्चपञ्चकालमृत्युमहावायुवाहिन्य इति; एवं षड्दिनं यावत्। ततः षड्दिनैरिन्द्रियविषयनाडीक्षयं कृत्वाऽन्ते मरणदिने **सर्वत्र सूक्ष्मा** मध्यमावधूती **वहति** चन्द्रसूर्यविण्मूत्रवाहिनीं त्यक्त्वा महातमः कालवायुर्मरणान्तं वहति यावत् श्वासचक्रक्षयो भवतीति नियमः। **दिवसं च त्यजन्तीति हृदब्जमिति**। एवं सूर्यचन्द्रारोहणनाडी व्यञ्जनकर्मक्रियाचक्रावशेषनाडीश्वासच्छेदकालमरणनियमो भगवतोक्तः।

T 315

---

१. क. ख. ०दिनकर०। २. क. ख. अर्धं। ३. क. ख. त्रिशो। ४. क. ख. कर्म।

इदानीं चन्द्रसूर्यचारक्षयेण कालवृद्धिरुच्यते **षट्त्रिंशद्भिरित्यादिना**—

षट्त्रिंशद्भिः सहस्रै ध्रुशतदिनगणे रोहते कालनाडी
यां यां सूर्येन्दुशक्तिर्दिननिशिसमये पूरितं स्वस्वचारैः ।
सूर्याऽह्नः सूर्यचारे त्वृणमपि च भवेच्चन्द्रचारे तदर्द्धं
नक्षत्राहः प्रभेदै रविशशिचरणं शून्यमासे च मृत्योः ॥ ७० ॥ 5

इह वर्षशते दिनगणे कृते **षट्त्रिंशत्सहस्र**दिनानि भवन्ति । ध्रुरिति वर्षसंज्ञा, तैः **षट्त्रिंशद्भिः सहस्रै ध्रुशतदिनगणे रोहते कालनाडी**, मृत्युः नाडीषु वर्द्धते द्वासप्तति-सहस्रेषु मृत्युवायुः प्रविशति । पञ्चमण्डलवायुः क्रमतोऽपसरति षष्ठांशं[1] तत्र स्थापयि-त्वेति । कां रोहते कालनाडीवायुः ? **यां यां पूरितं सूर्येन्दोर्न शक्तिर्दिननिशिसमये स्वस्वचारैर्न**क्षत्रचारेण सूर्यस्याशक्तिरिति, तिथिचरणैश्चन्द्रस्याशक्तिरिति[121a] । 10
सूर्याऽह इति द्वादशदिनानि **सूर्यचारे त्वृणमपि भवेच्चन्द्रचारे तदर्द्धं**[2] षड्दिनानि । अत्र प्रतिमासे त्रिंशद्दिनैर्न्न राशिमेकं सूर्यश्चरति, न चन्द्रः षष्टिदण्डानिति द्वौ चरति । अतो **नक्षत्राहः प्रभेदै रविशशिचरणं शून्यमासे च मृत्योः**, तयोर्यत्राशक्तिः स शून्यमासो द्वात्रिंशन्मासान्ते, स च चतुःषष्टीनाड्यात्मक इति । तासु चतुःषष्टिनाडीषु शून्यवायुः प्ररोहते, नाभिकमले द्वासप्ततिसहस्राणां मध्ये प्रत्यहं नाडीद्वयं रोहते इति सामान्यश्छूल-(स्थूल)नियमः । 15

इदानीं प्रत्यहं श्वासभेदेनारोहणमुच्यते **प्राणा** इत्यादिना—

प्राणा देहेऽधिका ये प्रकटितविषुवे वेदपादोनषष्टिः
सर्वे संक्रान्तिभेदैः प्रतिदिनसमये नाडियुग्मं निहन्ति ।
भूयो भूयोऽब्दमध्ये रविशशिचरणात् शून्यनेत्राद्रिसंख्या 20
एवं कालः शताब्दैः क्रमति सुरनृणां स्वायुषं स्वस्वमानैः ॥ ७१ ॥

इह षट्शताधिकैकविंशत्सहस्राणां मध्ये **ये** ज्ञानमण्डलवाहिनो भवन्ति ते **देहे श्वासाधिका**[3] इत्युच्यन्ते । **प्रकटितविषुवे** उभयलग्नमध्ये **पादे वेदोनषष्टिः** सपादषट्-पञ्चाशदिति; ते **सर्वे**[4] द्वादश**संक्रान्तिभेदैः** पञ्चसप्तत्यधिकपुटशतं भूत्वा **प्रतिदिनसमये नाडीयुग्मं निहन्ती**त्यागमपाठः; घ्नन्तीति रूपम् । इदं नाडीयुग्मं वामे दक्षिणे द्वासप्तति- 25
नाडीसहस्राणां मध्ये नाडीयुग्मं घ्नन्ति पञ्चमण्डलवायुसञ्चारविनाशो भवतीति । शेषाः पञ्चचत्वारिंशच्छ्वासाः तिष्ठन्ति **भूयो भूयोऽब्दमध्ये**; एवं प्रतिदिनं नाडी युग्मं हन्यमाना ऽब्दमध्येऽब्ददिनैः षष्ठ्युत्तरत्रिशतादिनै **रविशशिचरणात्** दक्षि[ण]वाममण्डलसञ्चारात् ।

---

१. Drug Cuhi Cha Śas (षष्टचशं) । २. ख. तदुर्ध्वं । ३. क. श्वासादिका ।
४. ख. पूर्वे ।

शून्यनेत्राद्रिसंख्या इति विंशत्यधिकसप्तशतानीति। **एवं कालः शताब्दैः** षट्त्रिंशद्भिः सहस्रदिनैः **क्रमति**। **सुरनृणां वा(स्वा)युष[ो]** द्वासप्ततिनाडीसहस्रं पञ्च[121b]मण्डलवाहकम्, चन्द्रादित्यचरणमिति। **स्वस्वमानैः** पूर्वोक्तैः सूक्ष्मतनु[1][ज]भूतदेवादिदिनैरिति नाडीच्छेदनियमः।

इदानीं कालनाडीस्वभाव उच्यते **दष्टमित्यादिना**—

दष्टं व्याधिः प्रहारो यदि भवति नृणां कालनाड्यां कदाचित्
शीघ्रं तेनाश्रयेण प्रविशति सहसा मूलचक्रेषु कालः।
रुद्ध्वा चक्रेषु नाडी रविशशिगमनं छेदयित्वा समस्तं
मध्ये सूक्ष्माश्रितं यद् हरति नरपते जीवितं प्राणिनां च ॥ ७२ ॥

इह शरीरे **कालनाड्यां** मध्यमाप्रवाहकाले **यदि दष्टं भवति**, **व्याधिर्भवति**, **प्रहारो वा नृणां कदाचित्**; तदा **शीघ्रं तेनाश्रयेण प्रविशति सहसा मूलचक्रेषु** षट्सु **कालो** महातमो वायुः। स च प्रविष्टः सन् **षट्चक्रेषु** षट्पञ्चाशदम[धि]कनाडीशतम्, असौ **रुद्ध्वा रविशशिगमनं** सव्येतरनाड्यां **छेदयित्वा समस्तं मध्ये सूक्ष्माश्रितम्**, अवधूतीनाड्याश्रितं **यज्जीवितं** प्राणवायुः तद्[2] **हरति**[3] **नरपते जीवितं प्राणिनामिति** कालनाडीनियमः।

इदानीं धर्मचक्रादौ चन्द्रचरणा[4]न्युच्यन्ते **हृत्पद्म** इत्यादिना—

हृत्पद्मे श्रीललाटे चरति शशिपदं भूतदिग्वासराख्यं
सम्भोगे नाभिचक्रे नवदशसहितं रुद्रयुग्मं जिनाख्यम्।
तत्त्वाख्यं सप्तरात्रात्त्यजति पुनरसावुत्क्रमन् यः शशाङ्को
बिन्दौ पूर्णां प्रकृत्य प्रविशति हृदये शुक्लपक्षे क्रमेण ॥ ७३ ॥

इह चन्द्रस्य चरणभेदेन चतुर्दशभागेन समविषमगतेन तिथिषु वृद्धिर्हानिर्वा। सा सप्तमदिने सप्ततिथिषु[122a] पञ्चविषयगुणा बालकुमारादिभेदेन सप्तमे दिने वृद्धिर्हानिर्वा निवर्तते विंशत्यधिकशतचरणेषु पूर्णेषु।

अत्र विंशत्यधिकशतांशान्युच्यन्ते—

इह चतुर्दशभागावशेषे एकचरणे दृष्टे तद्दिनकलायाः षष्टिनाडिकांशानां मध्ये पञ्चनाडिकांशाः कलाया धनेऽधिका भवन्ति, कृष्णायाः शुक्लाया वा ऋणस्थाने हीना भवन्ति। द्वितीये दिने द्वितीयायाः पञ्चांशाः, प्रथमायाः कुमारभेदेन द्विगुणा ज्ञातव्या

१. क. ख. तत्र; भो. Lus sKyes (तनुज)। २-३. क. ख. तद्वति।
४. क. ख. ०वरणा।

इति । एवं तृतीयदिने तृतीयायाः पञ्चांशाः; एवं द्वितीयायाः दश, प्रथमाया वा[यु]भेदेन पञ्चदश । एवं बालप्रभेदेन चतुर्थ्याः पञ्चांशाः, तृतीयाया दश, द्वितीयायाः पञ्चदश, प्रथमाया युवाभेदेनैकोनविंशतिः । एवं पञ्चमे दिने पञ्चम्यां(:) पञ्चांशाः, चतुर्थ्या दश, तृतीयायाः पञ्चदश; द्वितीयाया एकोनविंशतिः, प्रथमाया वृद्धभेदेन द्वाविंशतिः । एवं षष्ठे दिने षष्ठ्याः पञ्चांशाः, पञ्चम्या दश, चतुर्थ्याः पञ्चदश, तृतीयाया एकोनविंशतिः, 5 द्वितीयाया द्वाविंशतिः; प्रथमाया अतिवृद्धि(द्ध)भेदेन चतुर्विंशतिः । एवं सप्तमे दिने सप्तम्याः पञ्चांशाः, षष्ठ्या दश, पञ्चम्या पञ्चदश, चतुर्थ्या एकोनविंशतिः, तृतीयाया द्वाविंशतिः, द्वितीयायाः चतुर्विंशतिः, प्रथमायाः पक्वावस्थाभेदेन सप्तमे दिने पञ्चविंशत्यंशाः धनं वा ऋणं वा चरणवशाद् भवन्ति । एवं बालादिक्रमेण सर्वेषां प्रमेयो ज्ञेयः । एवं सप्ततिथीनां चरणांशान् गृहीत्वा हृत्कमलादिषु विंशत्यधिकशतदलेषु **शशाङ्कः** 10 क्रमति, ततः पुन**रुत्क्रमति** । **शशिपदं** स्वकीयं पदमित्यर्थः । हृदयेऽष्टदलेष्वष्टांशाः, **ललाटे** षोडशदलेषु षोडशांशाः, **सम्भोगे** द्वात्रिंशद्दलेषु द्वात्रिंशदंशाः, **नाभिकमले** चतुःषष्टिदलेषु चतुःषष्ट्यंशाः । एवं विंशत्यधिकशतांशान् भुक्त्वा चन्द्रकलाया हानिर्वा वृद्धिर्वा निवर्तते । हृत्पद्मे ललाटे च **भूतदिग्वासराख्यं सम्भोगे नाभौ च नवदशसहितं रुद्रयुग्मं जिनाख्यम् । तत्त्वाख्यं सप्तरात्रात्त्यजति पुनरसौ उत्क्रमन् यः शशाङ्कः** । प्रथमकलायाः 15 T 316 पञ्चविंशत्यंशाः परिपक्वाया भवन्ति; सा चाष्टमे दिने ना[122b]भाव[ा]धिदेवता भवति । पुनः पूर्णमास्यां नाभिहृत्कण्ठललाटेषु पूर्णं करोति । बिन्दुस्थाने **बिन्दौ पूर्णां प्रकृत्य** इति, ततो नाभेः पुनरुत्क्रमन् चतुःषष्टिदलेषु चतुःषष्ट्यंशाः, हृदयेऽष्टांशाः, कण्ठे द्वात्रिंशदंशाः, ललाटे षोडशांशाः; एवं चतुर्दशदिनैः पदानां पूर्णं भवति । तस्मिन् पूर्णां प्रकृत्य **प्रविशति हृदये शुक्लपक्षे** धनपक्षे **क्रमेण** । 20

> भूयः कृष्णे च तद्वद् व्रजति पदपदान् नाभिपद्मे हि यावद-
> ष्टारे षोडशारे हृदि शिरसि तथा कृष्णशुक्ल(ा)ब्जसंज्ञे ।
> कण्ठे द्वात्रिंशदारं द्विगुणितमपरं रक्तपीतं च नाभौ
> द्व्यष्टम्यौ नाभिकण्ठे शिरसि च हृदये श्वेतकृष्णा च पूर्णा ॥ ७४ ॥

> आद्यास्त्रिंशत् स्वरा ये हयरवलयुता बिन्दुभिः श्रीविसर्गै- 25
> र्भिन्नाः षष्टिर्बभूवुर्युगनृपवसुदन्ताश्च ते केशराग्रे ।
> बिन्द्वाकारैर्विसर्गैर्वरकमलदले कादिवर्गा विभिन्नाः
> विंशत्येकं शतं च प्रहरगतिवशाद् रोहते क्षीयतेऽर्कः ॥ ७५ ॥

भूयः कृष्णे च तद्वद् ऋणपक्षे पूर्ववदुत्क्रमेण वायुपृथिवीतोयाग्निपद्मदलेषु संहारेण यावद् ऋणपूर्णा कृष्णपदानां हृदये भवतीति पदनियमः । 30

अत्र कमलान्यष्टारं **हृदये** कृष्णम्, **षोडशारं शिरसि शुक्लम्; कण्ठे द्वात्रिंशदारं रक्तम्, द्विगुणितं** तस्यापरं चतुःषष्ट्यारं **नाभौ पीतमिति** पद्मदलनियमः ।

इदानीं चतुःपर्वस्ना(स्था)नमुच्यते **द्व्यष्टम्यावित्यादिना**—

इह हृत्कमलादिषु वायुतेजउदकपृथ्वीधातुस्वभावेषु चन्द्रः स्वरभेदेन कर्णिका-केशराग्रेषु चरति ।

आद्यास्त्रिंशत् स्वरा ये हयरवलयुता बिन्दुभिः श्रीविसर्गैर्भिन्नाः षष्टिर्बभूवु-
5 रिति । इह पूर्वोक्ता ह्रस्वाः पञ्च, गुणरूपाः पञ्च, यणादेशाः पञ्च ह्रस्वाः; एते पञ्चदश **बिन्दु**[123a]**भिर्भिन्नास्त्रिंशद्** भवन्ति । दीर्घवृद्धिस्थानीया हादयः पञ्चदश, त्रिंशद् **विसर्गविभिन्नाः**; एवं **षष्टिर्बभूवुरिति** । ते **युगनृपवसुदन्ताश्च केशराग्रे** इति । अत्र हृत्क-मले चन्द्रोऽमां कृत्वा पूर्वापरार्द्धकलाभेदेन पञ्चदशतिथिभिस्त्रिंशत् स्वरांश्चरति । अत्र हृत्कमले केशराग्रे शुक्लप्रतिपत् पूर्वार्द्धे अ, अपरार्द्धे अं; द्वितीयायां पूर्वार्द्धे इ,
10 अपरार्द्धे ई इति हृदये युगचत्वारः कर्णिकां वर्जयित्वा । ततः कण्ठकमलकेशराग्रे तृतीयायां पूर्वापरार्द्धः ऋ ऋं; एवं चतुर्थ्यां उ उं, पञ्चम्यां ऌ ऌं, षष्ठ्यां अ अं, सप्तम्यां ए एं, अष्टम्यां पूर्वार्द्धे अर केशराग्रे, अपरार्द्धे अरं कर्णिकायामिति; नवम्यां ओ ओं, दशम्यां अल अलं इति कण्ठकमले केशराग्रे चरति । ततो ललाटकमलकेशराग्रे एकादश्यां पूर्वापरार्द्धं ह हं, द्वादश्यां पूर्वापरार्द्धे य यं, त्रयोदश्यां र
15 रं, चतुर्दश्यां व वं, पूर्णायां पूर्वार्द्धे ल इति केशराग्रे, अपरार्द्धे लं कर्णिकायामिति । शिरसि पूर्णा चन्द्रस्य सृष्टिक्रमेण वायु-तेज-उदक-कमलकर्णिकासु चरति; ततः पृथ्वी-कमलकर्णिकासु संहारक्रमेण कृष्णपक्षे दीर्घान् सविसर्गान् चरति; तद्यथा—कृष्णप्रतिपदि पूर्वार्द्धं लाः, अपरार्द्धं ला । एवं द्वितीयायां वाः वा, तृतीयायां राः रा, चतुर्थ्यां याः या, पञ्चम्यां हाः हा, षष्ठ्यां आलः आल, सप्तम्यां औः औ, अष्टम्यां आरः, कर्णिकायां आर,
20 नवम्यां ऐः ऐ, दशम्यां आः आ, एकादश्यां ॡः ॡ, द्वादश्यां ऊः ऊ, त्रयोदश्यां ॠः ॠ, चतुर्दश्यां ईः इ, पञ्चदश्यां आः आ । अत्र कर्णिकायां द्वयं शून्यकम्, एतयोः कर्णिकायां न[1] स्वरविसर्गौ[2] । पुनः हृत्कमले अमावस्यान्ते प्रतिपदाद्यं हृतकमलकेशराग्रे **श्वेत-कृष्णा च पूर्णा** नियमः । शुक्लाष्टमी **कण्ठकमलकेशराग्रे** कर्णिकायां च; कृष्णाष्टमी **नाभिकमले** केशराग्रे कर्णिकायाम्, पूर्णा कृष्णा हृदये, पूर्णान्तं शिरसि, हृदय इति
25 अमावस्यान्तप्रतिपत्प्रवेशकाल इति नियमः ।

इदानीं सूर्यव्यञ्जनभोगा उच्यन्ते **बिन्द्वित्यादिना**—

इह **कादयो वर्गा बिन्द्वाकारैर्विसर्गैश्चतुर्भि**[123b]**र्भिन्नाः** सन्तो विंशत्यधिका-क्षरशतं भवति, तदेव **वरकमलदले विंशत्यधिकैकशते प्रहरगतिवशाद् रोहते क्षीयतेऽर्कः** संहारसृष्टिभेदेनेति । अत्र प्रहरगतिः चतुःसन्ध्या, तासां गतिवशात् प्रहरगतिवगादिति ।
30 अत्र हृत्कमले अमावस्यान्तं प्रतिपदादौ चतुःषष्टिदलेषु चतुर्दलानि शून्यानीति; तेषु प्रतिपत् स्साः स्सा, याः या इति चतुर्दलेषु चतुःसन्ध्या प्रतिपदा स्सादींश्चरति अर्क इति ।
x x
एवं द्वितीयायां ष्षाः ष्षा, श्शाः श्शा इति । एवं ततीयायां क्काः क्का, त्ताः त्ता इति;

१-२. क. ख. सस्वरौ विसर्गः; ग. अस्वरौ विसर्गः; भो. dByaṅs Daṅ rNam par bCad pa Med Do (न स्वरविसर्गौ) ।

चतुर्थ्यां थ्थाः थ्था; द्दाः द्दा इति; पञ्चम्यां ध्धाः ध्धा, न्नाः न्ना इति; षष्ठयां प्पाः प्पा, फ्फाः फ्फा इति; सप्तम्यां ब्बाः ब्बा, भ्भाः भ्भा इति; अष्टम्यां म्माः म्मा, ट्टाः ट्टा इति; नवम्यां ठ्ठाः ठ्ठा, ड्डाः ड्डा इति; दशम्यां ढ्ढाः ढ्ढा, ण्णाः ण्णा इति; एकादश्यां च्चाः च्चा, छ्छाः छ्छा इति; द्वादश्यां ज्जाः ज्जा, झ्झाः झ्झा इति; त्रयोदश्यां ञ्ञाः ञ्ञा, क्काः क्का इति; चतुर्दश्यां ख्खाः ख्खा, ग्गाः ग्गा इति; शुक्लपौर्णमास्यां घ्घाः घ्घा, ङ्ङाः 5
ङ्ङा इति। नाभिकमलदलेषु सूर्यः सादिवर्गाक्षरं भुक्त्वा निवर्तते इति। शिरसि स्वचारेण चन्द्रः प्रविशति। ततः सूर्यभुक्तकमले चन्द्र आगच्छति, चन्द्रभुक्तकमलेषु सूर्यो गच्छति, सृष्टिक्रमेण कृष्णपक्षे[सूर्यः][1], चन्द्रः संहारक्रमेणेति। इह सर्वत्र यदा चन्द्रः सृष्टया चरति, तदा सूर्यः संहारेण; यदा सूर्यः सृष्टया, तदा चन्द्रः संहारेणेति नियमः।

इदानीं ललाटकमलादिदलेषु सूर्यः ङादिवर्गाक्षरं चरत्युत्क्रमेण, कृष्णप्रतिपदि ङ 10
ङं, घ घं ललाटे चतुर्दलेषु चरति; द्वितीयायां ग गं, ख खं; तृतीयायां क कं, ञ ञं; चतुर्थ्यां झ झं, ज जं। ततः कण्ठकमलदलेषु पञ्चम्यां छ छं, च चं; षष्ठयां ण णं, ढ ढं; सप्तम्यां ड डं, ठ ठं; अष्टम्यां ट टं, म मं; नवम्यां भ भं, ब बं; दशम्यां फ फं, प पं;

: :

एकादश्यां न नं, ध धं; द्वादश्यां द दं, थ थं; त्रयोदश्यां त तं, क कं हृदयकमलदलेषु; चतुर्दश्यां श शं, ष षं इति। ततो अमावस्यां यँ यँ, स सं कर्णिकाकेशराग्रे। हृदयममान्त- 15
मनाहतं बिन्दु[124a]शून्यं षडक्षरमिति। पञ्चाक्षरं महाशून्यमिति चन्द्रार्के[2] नियमः।

इदानीं चन्द्रसूर्ययो र्द्धं(ध)नमृणमुच्यते **चन्द्र** इत्यादिना—

पक्षे चन्द्रः स्वचारैरृणमपि कुरुते वासराख्यं पदं च
भूयो मासद्वयेन त्वपरमपि दिनं वर्द्धते वर्षयोगात्।
पूर्णेऽब्दे षड्दिनं स्यादपरमपि तथा वर्द्धते मृत्युसीम्नः 20
एवं सूर्यस्य राजन् द्विगुणमृणमिदं वर्द्धते वर्षवर्षात् ॥ ७६ ॥

इह तिथिध्रुवके प्रतिदिनं 'देया हेयाश्च देया' इति वचनात् वारस्थाने षष्टिघटिकात्मिका कला दीयते। तस्या ऋणहेतोर्घटिकास्थाने घटिका ऊना; अत एकघटिकोना कला प्रत्यहं स्थूलमानेन, सूक्ष्ममानेन सपादषट्पञ्चाशत्पाणिपलानि। कुतः? यतः चतुःषष्ट्या भागलब्धे[3]ऽहर्गणे ऋणं भवति; अतः प्रत्यहं सपादषट्पञ्चाशत्पाणीपलानि 25
चतुःषष्टिदिनैर्दिनमृणं कलाक्षयमित्यर्थः। सूर्यस्य दिनद्वयमिति। एवं **पक्षे चन्द्रः स्वचारैरृणमपि कुरुते वासराख्य पदं च**, पञ्चदशघटिकाख्यं पदमिति। तिथौ चतुर्थभागाख्य- T 317

१. भोटानुसारमत्र 'सूर्यः' इति अपेक्षितः प्रतीयते, किन्तु संस्कृतप्रतीषु अयं न लभ्यते भोटक्रमश्चेत्थम्—Nag Poḥi Phyog La Ńima Syed paḥi Rim pas Te Zla Ba sDud paḥi Rim pas So।

२. क. ख. पुस्तकयोः नास्ति। ३. क. ख. ० लब्धो।

मिति। **चकारात्** सपादषट्पञ्चाशत्पाणीपलोनमिति। **भूयः** पुनः प्रतिदिनहानिना(न्या) **मासद्वयेनापरमपि दिनं** चतुःषष्टिदिने ऋणं भवति, पुनर्**वर्द्धते वर्षयोगात्**। **पूर्णेऽब्दे षड्दिनं स्यात्**, पूर्वोक्तविधिनोनम्, **अपरमपि तथा वर्द्धते मृत्युसीम्नः**, मृत्युसीम्नो वर्षशतम्; ततो मृत्युसीम्नः सार्द्धद्वाषष्ट्यधिकशतपञ्चकं दिनगणं ऋणं वर्द्धते। **एवं सूर्यस्य राजन्**
5 **द्विगुणमृण**[1]**मिदं वर्द्धते वर्षशतान्(वर्षात्)** मृत्युसीम्नः पञ्चविंशत्यधिक-एकादशशतदिन-गणं वर्द्धते मृत्युसीम्न इति ऋणनियमः।

इदानीं श्वासादिभेदेन वर्षसंख्या उच्यते **षट्श्वासैरि**त्यादिना—

षट्श्वासैरेकलिप्ता प्रभवति घटिका षष्टिपाणीपलैश्च
षष्टीनाड्यो दिनं स्यात् त्रिगुणितदशभिर्वासरैर्मासमेकम्। [124b]
10 षण्मासैश्चायनं स्याद् द्विगुणितमयनं वर्षमेकं प्रसिद्धम्
आयुः पुंसां शताब्दादृणगतिषु गतं कालनाडीवशेन॥ ७७॥

इह शरीरे मनुष्याणां **श्वास**प्रश्वासैः **षड्भिरेकलिप्ता** भवति, सा च पाणीपल-मुच्यते। तैः **षष्टिभिः पाणीपलैरेकघटिका भवत्ये**कदण्डात्मिका[2]।* ताः **षष्टिनाड्यो दिनमहोरात्रं स्यादि**ति, तै**र्दशभिस्त्रिगुणितैर्**स्त्रिंशत्**मासमेकं वासरैरि**ति। तैः **षण्मासैर्म**-
15 करादिभि**रयनमेकं** भवति। तदेवायनं **द्विगुणितं वर्षमेकं प्रसिद्धम्**। अतः **शताब्दायुः पुंसामृणगतिषु गतं** तमोनाडीगतिषु **गतं कालो** मृत्युस्तस्य **नाडीवशेना**वधूतीसंख्या-धर्मेणेति कालनाडीनियमः।

इदानीमीश्वरादीनां कुशीदत्वमुच्यते **त्रैलोक्य** इत्यादिना—

त्रैलोक्ये नास्ति योगी सुरभुजगनृणां पूरितुं यः समर्थ-
20 श्चन्द्रादित्यौ स्वदेहे चरति दिनगणं नैव चन्द्रस्वचारैः।
सूर्यश्चर्क्षाणि सर्वाणि चरति भुवने वर्षमध्ये क्रमेण
वर्षे वर्षे त्वृणेन ग्रसति सभुवनं कालचक्रैकवीरः॥ ७८॥

इह **त्रैलोक्ये सुरभुजगनृणां** मध्ये **योगी नास्ति यः समर्थः पूरितुं चन्द्रादित्यौ स्वदेहे**। तत् कस्माद्धेतोः? यतः **स्वचारैश्चन्द्रः** षष्ट्युत्तरत्रिशत**दिनगणं न चरति** वर्षा-
25 वधेः **सूर्यश्चर्क्षाणि सर्वाणि** सप्तविंशत्न **चरति भुवने** शरीरे **वर्षमध्ये क्रमेण** पूर्वोक्त-विधिना; अतः प्रतिवर्षात् प्रतिवर्षे **ऋणेन ग्रसति सभुवनं** शरीरम्। **कालचक्रैकवीर** उत्पादक्षयहेतुभूतः [सं]सारिणां **कालचक्रैकवीरः**; अतः स साधनीयश्चन्द्रार्कौ

---

[1]. क. ख. भो. पुस्तकेषु 'ऋणं' इति नास्ति। [2]. क. दण्डात्मिना।

*. अत्र क. पुस्तके 'इह शरीरे मनुष्याणां श्वासप्रश्वासैः षड्भिरेकलिप्ता भवति का' इति पुनर्लिखितः।

पूरयित्वा[125a] बोधिचित्तरजो धर्मौ प्राणापानौ पूरयित्वा योगिनेति नियमो बुद्धस्य भगवतः ।

इदानीं मूत्रादिधातुविकारलक्षणमुच्यते अरिष्टवशात् छिन्नेत्यादिना—

छिन्ना यद्येकनाडी भवति नरपते मूत्रमम्बुत्व(अम्लत्व)मेति
तन्मात्रान् पञ्चरात्रांस्त्यजति परकला पिण्डविच्छेदकाले ।
शब्दं कर्णे रसञ्च त्यजति खलु मुखे तारकामक्षिमध्ये
गन्धं घ्राणे नराणां करचरणतनौ चोष्णभावं क्रमेण ॥ ७९ ॥

इह शरीरे **छिन्ना यद्येकनाडी** वामा दक्षिणा वा प्राणप्रवाहरहिता **भवति; नरपते** इत्यामन्त्रणम्; **मूत्रमम्बुत्व**(अम्लत्व)[1]**मेति** षण्मासावधेः। **तन्मात्रान् पञ्च-रात्रान् त्यजति परकला** प्राणशक्तिः षड्दिनावधेर्यथाक्रमम्, प्रतिदिने **पिण्डविच्छेदकाले** शब्दविषयं **कर्णात्** त्यजति, **कर्णे** इत्यागमपाठात् पञ्चम्यर्थे सप्तमीति; **रसं च त्यजति खलु मुखे** जिह्वाया इति पञ्चदिनावधेः; **तारकामक्षिमध्यात्** चतुर्दिनावधेः; **गन्धं घ्राणात्** त्रिदिनावधेः; **नराणां करचरणतनावुष्णत्वभावः** स्पर्शभावः द्विदिनावधेः; अन्तदिने धर्मधातुं शुक्रच्युतिं त्यजति श्वासचक्रं चेति ।

अपरषड्दिनाभ्यन्तरे मृत्युलक्षणमुच्यते—

नासाग्रं लम्बमानं शिरसि धृतभुजो दृश्यते तत्स्वरूपं
लाक्षारागप्रघृष्टोऽप्युभयकरतले नैव रागं करोति ।
आदित्यः कृष्णवर्णः परिणतशशभृद् दृश्यते पीतवर्णः
मूत्रं देहश्च शीतो भवति नरपते तद्दिने मृत्युरेव ॥ ८० ॥

इह शरीरे मरणे प्रविष्टे स्वकीयं **नासाग्रं लम्बमानं** हस्त[2]कराकारं दृश्यते; **शिरसि धृतभुजः** स्वकीयं **तत्स्वरूपं** दृ[125b]श्यते, न सूक्ष्मो दृश्यते[3]; तथा **लाक्षाराग-प्रघृष्टोऽप्युभयकरतले नैव रागं करोति** करतलचर्मणि; **आदित्यः कृष्णवर्णो दृश्यते, परिणतशशभृत्** पूर्णिमाचन्द्रो **दृश्यते** सम्पूर्णं[4] **पीत** इति षड्दिनावधेः; ततो यस्मिन् दिने **मूत्रं देहश्च शीतो भवति, तद्**दिने तस्मिन् दिने **मृत्युरेव । नरपते** इत्यामन्त्रणम् ।

अपरमपि षड्दिनाभ्यन्तरे मृत्युलक्षणमुच्यते—

जिह्वाधः कालसूत्रं प्रभवति नयने ब्रह्मरेखातिसूक्ष्मा
श्वासश्चन्द्रार्कमार्गे स्फुरति नरपते द्वे कपोले तथैव ।

---

१. ग. अमृतम्; भो sKur Ba Ñid (अम्लत्वम्), भोटानुसारं अम्बुत्वस्थाने अम्लत्वपाठः सम्यक् प्रतीयते । २. क. ख. हस्त । ३. ख. पुस्तके 'तेन सूक्ष्मो दृश्यते' इत्यधिकः पाठः । ४. क. ख. स पूर्वः ।

कक्षाविष्टं स्तनोर्ध्वं ग्रहगणसकलं दृश्यते सस्फुलिङ्गं
स्तब्धग्रीवा सगात्रा भ्रमणमपि तनौ लक्षणं चाष्टमृत्योः ॥ ८१ ॥

इहारिष्टमरणाक्रान्तस्य **जिह्वाधः कालसूत्रं** कृष्णरेखा भवति, तथा **नयने ब्रह्मरेखातिसूक्ष्मा** केशप्रमाणरेखा कृष्णरक्तमण्डलभेदिनी भवति, **श्वासः चन्द्रार्कमार्गे स्फुरति, द्वे कपोले** स्फुरतः। **तथैव कक्षाविष्टं स्तनोर्ध्वम्**, नाड्यौ कक्षाविष्टौ भवतः, **दृश्यते** न **ग्रहगणसकलं दृश्यते सस्फुलिङ्गम्, स्तब्धग्रीवा** तस्य **सगात्रा** हस्तपादसहिता निश्चेष्टा **भ्रमणमपि तनौ** भवति **लक्षणं चाष्ट**[1]**मृत्योरे**तदुक्तं भवति।

अपरमपि यत् किञ्चित् विपरीतं दृश्यते शरीरे बाह्ये वा छायापुरुषादिकं तत् सर्वं मरणलक्षणं योगिना वेदितव्यम्, तत् ज्ञात्वा दानादिकं कार्यम्। यदि पुण्यबलेन जीवति, तथापि शोभनम्; अथ मरणं गच्छति, तथापि यद् दत्तं तस्य फलमनुभुङ्क्ते। अतः उभयपक्षतो दानं देयं सौगतैः सुखार्थिभिरिति भगवतो नियमः।

इति श्रीमूलतन्त्रानुसारिण्यां[2] लघुकालचक्रतन्त्रराजटीकायां[3]
द्वादशसाहस्रिकायां विमलप्रभायाम्[4]
अरिष्टमरणलक्षण[5]-नाडीच्छेद-महोद्देशः
चतुर्थः ॥ ४ ॥

(५) क्षणलक्षण-कालचक्रनियममहोद्देशः

इदानीं लोकसंवृत्यां सृष्टिसंहारलक्षणः कर्तोच्यते **उत्पत्तिमित्यादिना**[126a]—

उत्पत्तिं यः करोति प्रसवनसमयं बालकौमाररूपं
संहारः सैव लोके पुनरपि कुरुते कालचक्री न सूर्यः।
चन्द्रादित्यादिदेवान् ग्रसति स भगवान् रात्रिभागे सभूतान्
भूयो मुञ्चन्त्यनन्तानपि दिनसमये सृष्टिहेतोः क्रमेण ॥ ८२ ॥

इह संसारे **यः** च्युतिक्षणः सत्त्वानामु**त्पत्तिं करोति** रजःशुक्रसंयुक्तम् आलयविज्ञानधर्मी गर्भे; ततो गर्भसि(शये) **प्रसवनसमयं** करोति, **बालकौमारादि**[6]**रूपं** करोति; शरीरस्य सृष्टिसंहारं(ः)स **एव्य**(व) च्युतिक्षणो[7] **लोके** स्वर्गमर्त्यपाताले **पुनरपि कुरुते कालचक्रो न सूर्यः**। सूर्यो रजः चन्द्रः शुक्रम् आलयविज्ञानेन विना **कालचक्रेण** [कालचक्रेण] विना न करोतीत्यर्थः। इह कस्मान्न करोति ? रजःशुक्रधर्मी सूर्यचन्द्र इति। इह सर्वत्राग्निसूर्यसोमात्मकं जगदिति प्रसिद्धं वाक्यमित्युच्यते। इह यतश्**चन्द्रादित्यादिदेवान् ग्रसति स भगवान् रात्रिभागे सभूतानिति** इह संसारे रात्रिभागश्चन्द्रः सृष्टिः, दिवाभागः सूर्यः संहारस्तान्। अत्र रात्रिभागे उत्पत्तिकाले स आलयविज्ञानलक्षणो[8]

---

१. ग. अरिष्ट; भो. ḥDod(इष्ट)। २. क.ख. मूलतन्त्रा०। ३. ग. पुस्तके नास्ति। ४. ग. विमलप्रभाटीकायां। ५. ग. लघुकालचक्रतन्त्रराजस्यारिष्ट०। ६. ख. बालकौमारी०। ७. क. ख. च्युतिकरणो। ८. ग. ० लक्षणे।

मातृगर्भे **चन्द्रः** शुक्रम् **आदित्यो** रजः; **आदि**शब्देन विण्मूत्रसम्भूतानि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशधातुसहितान्(नि) **ग्रसति** रजः शुक्राधारस्थितः कायवाक्चित्तनिष्पादनार्थम्, चन्द्रः शुक्रमीश्वरः, रजः सूर्यः सदाशिवः, मज्जा रुद्रः, मूत्रं विष्णुः, ब्रह्मा विडिति। चन्द्रादित्यादिदेवान् ग्रसति **रात्रिभागे** उत्पत्तिकाले। **भूयः** पुनः **मुञ्चन्त्यनन्तान्** शरीरे नानाभावैर्ग्रस्ते सति विकुर्वितान् खलु **दिवससमये** संहारकाले त्यजतीत्यर्थः। **सृष्टिहेतोः** पुनरपरोत्पादहेतोर्**मुञ्चति, क्रमेण** पृथिव्यादिधातुपरित्यागेन नाभिहृत्कण्ठललाटोष्णीषाधारे क्रमेणेति संवृतिकर्तानियमः [126b]।

T 318

इदानीं कर्मकरणादिकं लोकसंवृत्या उच्यते **शब्दाद्यमित्यादिना**—

शब्दाद्यं कर्मषट्कं भवति हि करणं त्विन्द्रियाणां च षट्कं
वर्षा मासाश्च पक्षा दिननिशितिथयश्चन्द्रसूर्यौ च कर्ता।
एषां संहारकर्ताऽपर इह भवेत् सृष्टिकर्ता न कर्ता
व्योमव्यापी खवज्री विषयविरहितो निर्गुणो निःस्वभावः॥ ८३॥

इह शरीरे निष्पन्ने सति **शब्दस्पर्शरूपरसगन्धधर्मधातुषट्कं कर्म** भवति, **करणमिन्द्रियाणां षट्कं** श्रोत्रकायचक्षुर्जिह्वाघ्राणमनःषट्कम्। **वर्षा मासाश्च** द्वादशराशिभेदेन चन्द्रकलाभेदेन[1], **पक्षाश्च**तुर्विंशतिः, **दिननिशि** अहोरात्रम्, **तिथयः** पञ्चदश, **चन्द्रसूर्यौ** च करणमेतत् समस्तम्। **कर्ता** आलयविज्ञानलक्षणः शुक्रच्युतिक्षणः सहजानन्दो लोकसंवृत्येति। **एषां** च्युतिक्षणादीनां कर्तृकरणकर्मणः **संहारकर्ताऽपर इह भवेत्**, यतः **सृष्टिकर्ता न कर्ता**। ततो **व्योमव्यापी खवज्री विषयविरहितो निर्गुणो निःस्वभावः** सहजकायो निःकलः सवर्गो[2]व्यापी[3] इति। अतः सृष्टिसंहारकर्ता निर्वाणलक्षणो नास्तीत्यर्थः, इति कर्ता(र्तृ)क्षयनियमः।

इदानीं समुदयादिकमुच्यते **गन्ध** इत्यादिना—

गन्धो वर्णो रसः स्पर्श इति च धरणी तोयवह्निश्च वायु
अष्टौ वै रूपिणः स्युः समुदितविषया एकमुख्याः समस्ताः।
एतत् त्रैलोक्यकृत्स्नं स्फरणनिधनतां याति कालप्रभावात्
शब्दः शून्यं ह्यरूपं भवति नरपते धर्मधातुर्मनश्च॥ ८४॥

इह संसारे समुदयादुत्पादो नैकधर्मादिति। अत्र समुदयो **गन्धो वर्णो रसः स्पर्श इति च धरणी तोयो वह्निश्च वायु**[127a]रित्येते **ऽष्टौ रूपिणः स्युः समुदितविषया एकमुख्याः समस्ताः**। एषामष्टरूपिणामेको गुणो मुख्यो भवति; शेषा गौणा भवन्तीति पूर्वोक्तम्। **शब्दः शून्यं ह्यरूपं भवति नरपते धर्मधातुर्मनश्चे**ति चत्वारोऽरूपिणः। अत्र शून्यशब्देन शुक्रधातुरुच्यते। **एतत् त्रैलोक्यकृत्स्नं स्फरणनिधनतां याति कालप्रभावा**च्च्युतिक्षणप्रभावादित्यर्थः, इति समुदयनियमः।

१. ग. पुस्तके नास्ति। २-३. ग. सर्वव्यापी।

इदानीं संसारबन्ध उच्यते **बध्नात्यात्मे**त्यादिना—

बध्नात्यात्मा विकल्पैः प्रकृतिगतगुणैः कोशकीटो यथैव
आत्मानं चात्मना वै पुनरपि मनसा मुञ्चते निर्विकल्पात् ।
तस्माद् राजन् स्वकर्म प्रकृतिगुणगतं दुःखसौख्यं करोति
5 कः कर्ता किं करोति प्रकृतिविरहितो मुह्यतेऽज्ञानलोकः ॥ ८५ ॥

इह शरीरे स्कन्धाहङ्कारमात्रः संसार **आत्मा**, स चात्मानं **बध्नाति विकल्पैः प्रकृतिगतगुणै**रिति । प्रकृतिः स्कन्धधात्वायतनसमूहः, तत्र गतगुणा उत्पादनिरोधलक्षणा गन्धादयः, संसारचित्तस्य भावाभावविकल्पलक्षणाः, तैः प्रकृतिगतगुणैर्विकल्पैर्बध्नात्यात्मानं **कोशकीटो यथैवा**त्मानं गुणैः स्वतनुनिर्गतैस्तन्तुभिर्बध्नाति । **आत्मानं चात्मना**
10 **वै पुनरपि मनसा मुञ्चते निर्विकल्पा**दिति पुनः स आत्मा प्रकृतिगतगुणैर्विकल्पैर्मुक्तो निर्विकल्पो भवति, तस्मान्निर्विकल्पमनसा मुञ्चत्यात्मानं संसारदुःखादिति । **तस्माद् राजन् स्वकर्म प्रकृतिगुणगतं दुःखसौख्यं करोति, कः कर्ता किं करोति प्रकृतिविरहितो**ऽष्टादशधातुरहितो न करोतीत्यर्थः, इति **मुह्यतेऽज्ञानलोको** मिथ्यात्मकर्तापरिकल्पनयेति कर्मबन्धनियमः ।

15 इदानीं पृथिव्यादि-अष्टविधा प्रकृतिरुच्यते **पृथ्वी**त्यादिना—

पृथ्वीतोयाग्निवाता गगनमपि मनो बुद्ध्यहङ्कारचित्तं
स्थूला सूक्ष्मा परा च त्रिविधगुणगता वर्णबिन्द्वादिभेदैः । [127b]
स्थूलास्थूलेन्द्रियेषु प्रकृतिरधिगता सूक्ष्मचित्ते च सूक्ष्मा
ज्ञाने च ज्ञानमूर्त्तिः प्रकृतिरविकृतिः जीवभूता न भूता ॥ ८६ ॥

20 इह शरीरे आदावष्टविधा प्रकृतिः, **पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशमनोबुद्ध्यहङ्कारा**त्मिकाष्टविधेति संसार**चित्त**स्य । एषा पुनस्त्रिधा **स्थूला सूक्ष्मा परा च त्रिविधगुणगता** सत्त्वरजस्तमोगुणेषु गता गुणगता इति **वर्णबिन्द्वादिभेदैः स्थूलास्थूलेन्द्रियेषु** गता जाग्रदवस्थाधर्मिणी, स्थूला जाग्रद्भावग्रहणादिति स्थूलचित्तस्य जडवासनाग्राहकस्येति । **सूक्ष्मचित्तस्य सूक्ष्मा** स्वप्नावस्थाधर्मिणी, मनोमयेन्द्रियैर्मायोपमभावग्रहणादिति । **सूक्ष्मा**
25 **परा** च सर्वेन्द्रियनिरोधलक्षणा सुषुप्तावस्थाधर्मिणी, परा सर्वभावपरित्यागादिति, न पश्यतीत्याहुरेकीभूत इत्यादिलक्षणा । एवं त्रिविधा सत्त्वरजस्तमोभेदेन जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्त-धर्मिणी प्रकृतिः, **स्थूलादि** वा लक्षणा, **सूक्ष्मा** सन्ध्यालक्षणा, **परा** महानिशालक्षणा इति । **च**कारादपरा चतुर्थी प्रकृतिः **ज्ञानमूर्त्तिः**; सा **ज्ञान**चित्तस्य तुर्याचित्तस्य शुक्रच्युतिकाले तुर्यावस्थाधर्मिणी सत्त्वानामुत्पादनिरोधहेतुभूता[1] यतः, अतो ज्ञानमूर्त्तिः;
30 सा च **प्रकृतिरविकृतिर्जीवभूता** महाप्राणभूता धर्मधातुस्वभावेति । **न भूते**ति पृथिवीतोयतेजोऽनिलशुक्रभूता न भवतीत्यर्थः । एवं संसारचित्तस्य जाग्रदादिभेदेन चतुर्विधो नियमः प्रकृतेः ।

---

१. क. ख. सत्त्वानामनुत्पादनिरोध० ।

इदानीं तुर्यादीनां संज्ञाधर्मा उच्यन्ते आद्येत्यादिना—

आद्याः शून्यानि पञ्च प्रकृतिरविकृतिः श्रीकलाबिन्दुनादं
कालश्चित्तं च बुद्धिः प्रकृतिरपि तथान्ये स्वरा मारुताद्याः ।
स्थूला वर्गाक्षराणि त्रिगुणितदशकं षोडशान्ये विकारा-
स्तेषां मध्ये न वज्रो प्रकृतिरविकृतिर्व्यापको निःस्वभावः ॥८७॥ 5
[128a]

इह संसारे वेद्यवेदकयोः संज्ञाऽर्थप्रतिपादकी(दिका), सा च वाच्यवाचकलक्ष-णेनावस्थितेति । अत्र ज्ञानप्रकृतेराद्याः **शून्यानि पञ्च**, अनाहताद्याः, अनाहतमध्येऽकार-शून्यम्, पूर्वे इकारशून्यम्, दक्षिणे ऋकारशून्यम्, उत्तरे उकारशून्यम्, पश्चिमे ऌकार-शून्यम् इति आद्याः शून्यानि पञ्च **प्रकृतिरविकृतिः** । **श्रीकलाबिन्दुनादं कालश्चित्तं च** 10 **बुद्धि**रिति । कला सूर्यः, बिन्दुश्चन्द्रः, नादो राहुः, कालः कालाग्निः, चित्तं बुद्धिरिति । **प्रकृतिरपि** सुसु(षु)प्तावस्थाधर्मिणी । **अन्ये स्वरा मारुताद्याः**, आदिशब्देनाकाशाद्या इति अ[1] इ ऋ उ ऋ (ऌ),[2] अ[3] ए[4] अर् ओ अल् ह य र व लाः । एवं दीर्घा इति स्वप्नप्रकृतिः । **स्थूला वर्गाक्षराणि** द्वादशमात्रासहितानि षष्ट्युत्तरत्रिशतानि जाग्रत्-प्रकृतिरिति । **षोडशान्ये विकारा** स्थूला इति । प्रत्येकैकाक्षरस्य पञ्चदशस्वरग्रहणेन 15 व्यञ्जनेन सार्द्धं षोडशविकारा इति सर्वत्र पञ्चधातवः पञ्चेन्द्रियाणि[5] पञ्चविषया विकारा इति मनसा सार्द्धं षोडश । **एषां** पृथिव्यादीनां **मध्ये वज्री न प्रकृतिर्न्न-विकृतिर्व्यापको निःस्वभावः**, यतः संसारवासनामुक्तः चित्तधर्मी, अतोऽस्ति तच्चित्तं यच्चित्तमचित्तमिति (अ० सा० प्र० प्रा०, १) । संसारचित्तरहितं निर्वाणचित्तमपरमस्ति, T 319 वज्रीसंज्ञया भगवतोक्तमिति चतुर्विधप्रकृतिनियमः । 20

इदानीं सत्त्वानां स्वकर्मफलोपभोग उच्यते **संसार** इत्यादिना—

संसारे सौख्यदुःखं प्रकृतिगुणगतं चास्ति तत्कर्मजं च
स्थूलं सूक्ष्मं च शान्तं (परं च) त्रिविधमपि भवेत् कर्म चैतन्नराणाम् ।
कर्ता चाहं विकर्म त्वपरपशुपतिः चास्ति कर्तेति कर्म
नाहं कर्ता परो वा प्रकृतिविरहितो ज्ञायते तन्न कर्म ॥८८॥ 25

इह **संसारे** सत्त्वः **सौख्यं** वा **दुःखं** वा **सौख्यदुःखं प्रकृतिगुणगतं** पूर्वोक्तगुणगतं च स्वयंकृतमित्यर्थः [128b] । **अस्ति तत्कर्मजं च** स्वकृतकर्मणा जातं कर्मजं भुक्त इत्यर्थः । तदेवात्र कायवाक्चित्तवशात् त्रिविधं **स्थूलं सूक्ष्मं परं च** । **त्रिविधं विकर्म कर्म अकर्म** । तेषु यत् **कर्ताहमिति** चित्तमुत्पद्यते तद् **विकर्मसंज्ञम्** । **अपरः पशुपतिरन्यो**

१-२. ग. अ इ ऋ उ ऌ । ३-४. क. ख. अरे ।

५. भो. Las Kyi dBaṅ Po lÑa (पञ्च कर्मेन्द्रियाणि) ।

वा **कर्तास्ति** यच्चित्तमुत्पद्यते तत् **कर्मसंज्ञम्**। नाहं **कर्ता परो वा प्रकृतिविरहितः** स्कन्धादिसामग्रीरहितः यच्चित्तमुत्पद्यते **तदकर्मसंज्ञमिति**। एवं यत् ज्ञायते आत्मपर-कर्ता(तृ)ग्रहरहितं **तन्न कर्म** कर्त्रा कृतं[1] न कर्तृहेतुभूतमिति। कर्मणा उत्पाद(:) सामग्रीवशात्, यथा शालिबीजाच्छालिनिष्पत्तिस्तथा शुभकर्मणा शुभकर्मफलनिष्पत्तिः,
5 यथा कोद्रवबीजात् कोद्रवनिष्पत्तिस्तथाऽशुभकर्मणाऽशुभफलनिष्पत्तिः। 'न स्वतो नापि परत' इति (मा० का० १,२) वक्ष्यमाणे वक्तव्यमिति कर्मफलनियमः।

इदानीं कर्ता [रं] विना[2] सफलं[3] कर्म उच्यते **तस्मादित्यादिना**—

तस्मात् कर्ता न कश्चिद् दह(द)ति न हरति प्राणिनां सौख्यदुःखं
संसारे पूर्वकर्म प्रभवति फलदं यत्कृतं त्रिःप्रकारम्।
10 मूढानां बुद्धिरेषा दह(द)ति स हरते सृष्टिसंहारकर्ता
देहे छिद्रं न पश्यन्त्यपरिमितशुभं हार्यमाणं स्वकाक्षैः ॥८९॥

इह **संसारे प्राणिनां सौख्यदुःखं कश्चित् कर्ता न ददते**[4] इ(ति) **न हरते** (ति), यस्मात् **पूर्वकर्म** स्वयंकृतं **प्रभवति फलदं यत्कृतं त्रिःप्रकारम्**। तस्मात् कर्ता न कश्चिद् ददति[5] न हरतीत्यर्थः। **मूढानां बुद्धिरेषा ददति स हरते सृष्टिसंहारकर्ता** इति।
15 कस्माद्? यतः **स्वदेहे छिद्रं न पश्यन्ति अपरिमितशुभं हार्यमाणं स्वकाक्षैरिति**। स्वेन्द्रियैर्बाह्ये षड्विषयप्रवृत्तैरध्यात्मनि अनाश्र(स्र)वसुखरहितैः [इति] स्वकर्मफलोप-भोगनियमः।

इदानीमिच्छादीनां कर्तुः [129a] परस्परसंयोगभाव उच्यते **इच्छेत्यादिना**—

इच्छाशक्तिः क्रिया या स्वमनसि जगतो ज्ञानशक्तिस्तृतीया
20 भावालोकं प्रवेशं समरसकरणेऽर्थोपलब्धिं करोति।
भूयस्त्यागं चतुर्थी त्रिभुवननमिताऽद्वया वै क्रमेण
तासां मध्ये न किञ्चिद् ग्रसति नरपते मुञ्चते नैव वज्री ॥९०॥

इह **जगतः** सत्त्वानां **स्वमनसीच्छाशक्तिर्या भावानामालोकं करोति**, प्रवृत्तिं[6] मनसः करोतीत्यर्थः। **क्रिया** भावेषु **प्रवेशं** करोति; **ज्ञानशक्तिर्भावसमरसकरणेऽर्थो-**
25 **पलब्धिं करोति**, अर्थनिश्चयं ज्ञाननिश्चयमित्यर्थः। **भूयस्त्यागं** पूर्वज्ञानस्य त्यागं **चतुर्थी त्रिभुवननमिताऽद्वया वै क्रमेण करोति**, इति मनसः शक्तयश्चतस्रः; **तासां** चतसृणां **मध्ये न किञ्चिद् ग्रसति**। आलोकं प्रवेशं समरसकरणम्, अर्थोपलब्धिं ज्ञानत्यागं वा, **मुञ्चति नैव वज्री** विशुद्धचित्तात्मा य इति इच्छादिनियमः।

---

१. क. हृतं। २-३. क. ख. विनाशफलं।
४. क. ख. दहते; ग. ददते; भो. sByin (ददते)।
५. क. ख. दहति। ६. क. ग्रहतिर्मनसः।

इदानीं दुःखसौख्यप्रदातोच्यते **आत्मेत्यादिना**—

आत्मा कर्ता न तत्र प्रभवति नृपते दुःखसौख्यप्रदाता
बन्धो मोक्षो न कश्चिद्भवति नरपते चित्तशक्तिं विवर्ज्य ।
आकाशं कुम्भमध्ये व्रजति न च जलं नीयमाने च यद्वद्
व्योमव्यापी खवज्री विषयविरहितो देहमध्ये च तद्वत् ॥ ९१ ॥　5

संसारे **आत्मा कर्ता न तत्र प्रभवति नृपते दुःखसौख्योः(ख्य)प्रदाता**, दुःखसौख्यप्रदाता **न कश्चिदस्ति** त्रिभुवननिलये **चित्तशक्तिं विवर्ज्य** । चित्तशक्त्योऽत्र जाग्रत्स्वप्नसुसु(षु)प्ततुर्यालक्षणा इति, तासां प्रदाता तुर्या उत्पादनिरोधधर्मिण्यवस्था, तां चित्तशक्तिं विवर्ज्य नान्यः कश्चिदात्मा कर्ता वा सौख्यदुःखप्रदातेति । **बन्धो मोक्षो** वाऽपरः [न][1] **कश्चिदस्ति**[2] शुक्रच्युतिं विहाय सत्त्वानामिति संसारचित्तं विहायेत्यर्थः । निर्वाणचित्तं　10 पुनः संसारातीतं सर्वदेहे स्थितं न बध्यते न मुच्यते केनचित् । **आकाशं कुम्भमध्ये व्रजति न च जलं नीयमाने च यद्वद्**; **व्योमव्यापी खवज्रीति** शून्यतादिविमोक्षविशुद्धं चित्तं खवज्रीति; **विषयविरहि**[129b]**तो** निर्गुण इति तन्मात्रादिसत्त्वरजस्तमोरहितं जाग्रत्स्वप्नसुसु(षु)प्ततुर्यारहितमित्यर्थः; निःस्वभावो **देहमध्ये च तद्वत्**; सा(शा)श्वतो भाव उच्छेदोऽभावः, तौ न विद्येते यस्य स वज्री विशुद्धचित्तमित्यर्थं इति संसारनिर्वाणचित्तनियमः ।　15

इदानीं कर्मवाद उच्यते **एवमित्यादिना**—

एवं कर्मास्तिवादी भवति स भगवानेकशास्ता न कर्ता
सर्वज्ञश्चादिबुद्धस्त्रिभुवननमितः कालचक्री न चक्री ।
ब्रह्माविष्णुश्च रुद्रः शरणमधिगतो यस्य पादाब्जमूले　20
तं वन्दे कालचक्रं जिनवरजननं निर्गुणं निर्विकल्पम् ॥ ९२ ॥

एवमुक्तेन क्रमेण कर्मास्तिवादी कर्ता [इति] नास्तिवादी नैरात्म्यवादी भवति, स भगवान् विशुद्धचित्तात्मा। "न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकं(:)[मा०का०५,२]", **एकशास्ता** त्रैधातुके **न कर्ता । सर्वज्ञश्चादिबुद्धः** सर्वज्ञता-सर्वाकारज्ञता-मार्गज्ञता-मार्गाकारज्ञता-प्राप्त**त्रिभुवननमितः कालचक्री** अनाश्र(स्र)वसुखसर्वाकारधर्मी । **न चक्री**　25 विष्णुः । कुतः ? यतो **ब्रह्माविष्णुश्च रुद्रः शरणमधिगतो यस्य पादाब्जमूले, तं वन्दे कालचक्र**मिति सोऽहं मञ्जुश्री**जिनवरजननं निर्गुणं निर्विकल्पं** पूर्वोक्तलक्षणमिति शून्यतावादिनियमः ।

[130a]इदानीं मरणान्ते भाववशादुत्पादमाह **शान्त इत्यादिना**—

शान्ते भावेऽमरत्वं भवति नरपते तामसे नारकत्वं　30
तिर्यक्त्वं राजसे च प्रवरभुवितले मानुषत्वं च मिश्रे ।

१-२. भो० Ma Yin (न कश्चिदस्ति) ।

भूतत्वं त्रिप्रकारं रजसि तमसि वै सात्त्विकोऽन्योऽन्यमिश्रै-
र्यद्भावं मृत्युकाले स्मरति च मनसा सम्भवस्तत्र जन्तोः ।। ९३ ।।

इह संसारे सत्त्वानां स्वकर्मवशात् सत्त्वगुणादिभावस्तद्भावादुत्पादमाह। अत्र मरणकाले शुभकर्मवशात् **शान्तो भावो** भवति सत्त्वगुणात्मकः, तस्मिन् भावे जाते सति 5 **मरणान्ते अमरत्वं भवति। नरपते** इति सुचन्द्रसम्बोधनम्। अशुभवशाद् रौद्रभावो[1] भवति तमोगुणात्मकः, तस्मिन् **तामसे भावे नारकत्वं** भवति। मध्यमाऽशुभवशाद् राजसो भावस्तस्मिन् **राजसे भावे** सति **तिर्यक्त्वं** भवति मरणान्ते। **प्रवरभुवितले मानुषत्वञ्च मिश्रे**, शुभाशुभसंवलिते मानुषत्वं भवति। **भूतलं(त्वं) त्रिप्रकारं रजसि तमसि वै सात्त्विकेऽन्योन्यमिश्रे।** अत्र सत्त्वाधिके उत्कृष्टाः प्रेताः, रजोऽधिके मध्यमाः, 10 तमोऽधिकेऽधमा[2] इति। असुरास्तु देवान्तर्वर्त्तिन एव; एवं मनुष्याः सत्त्वाधिके सुखिनः, रजोऽधिके दुःखिनः, तमोऽधिके सदादुःखिनः; एवं सर्वत्र स्वर्गादिकेऽपि। अनन्तकर्मफलविपाकः सत्त्वानां स्वकर्मवशाद्भवतीति; अतो **यद्भावं मृत्युकाले स्मरति च मनसा** T 320 **सम्भवस्तत्र जन्तोरि**ति भावोत्पादनियमः।

इदानीं देवादिभेद उच्यते **देवत्वमि**त्यादिना—

15 देवत्वं चाष्टभेदैः सुरवरनिलये मानुषत्वं यथैकं
तिर्यञ्चोऽब्धिप्रकाराः खलु नरकगतौ नारकत्वं तथैकम्।
एषु स्थानेषु जन्तुर्भ्रमति रसगतो कर्मपाशैर्निबद्धो
नामुक्तो याति मोक्षं परमसुखपदं जन्मलक्षैरनेकैः ।। ९४ ।।

इह **सुरवरनिलये** स्वर्गे **देवत्वं चाष्टभेदैर्**भवति; पृथ्वीकृत्स्नेनाप्कृत्स्नेन तेजःकृत्स्नेन 20 वायुःकृत्स्नेन शून्यकृत्स्नेन चन्द्रकृत्स्नेन सूर्यकृत्स्नेन राहुकृत्स्नेनेति भावितेन दानादिपुण्यबलेन दशाकुशलपरित्यागेनेति देवत्वं चाष्टभेदैर्भवति। **मानुषत्वं यथैकं** ष[130b]ड्धात्वात्मकम्। **तिर्यञ्चोऽब्धिप्रकाराः**[3] चतुःप्रकाराः। षड्धात्वात्मकम्, **नारकत्वं तथैकं नरकगतौ** षड्धातुवासनोद्भूतं स्वप्नतुल्यमिति। असुरत्वं देवान्तर्भूतम्, प्रेतत्वं नारकान्तर्भूतम्, दुःखोपभोगतः। **एषु चतुर्दशस्थानेषु** अष्टैक-चतुरेकजातिषु **जन्तु**रालय- 25 विज्ञानधर्मी[4] **भ्रमति रसगता**विति षड्गतौ **कर्मपाशैर्निबद्धः, नामुक्तः** कर्मपाशैर्न **याति मोक्षं परमसुखपदं जन्मलक्षैरनेकै**रिति देवादिभेदनियमः, सत्त्वाशयवशादिति।

इदानीं बन्धहेतुरुच्यते **स्कन्धैरि**त्यादिना—

स्कन्धैर्धात्विन्द्रियैश्च त्रिविधभवभयैः पञ्चकर्मेन्द्रियैश्च
तन्मात्रैः कर्मदोषैः सह गुणमनसा बुद्ध्यहङ्कारकाद्यैः।

---

१. क. ख. रौद्रो। २. क. ख. अधर्मा। ३. क. ख. द्विप्रकाराः।
४. ग. जन्तुरालयविज्ञानधर्माबद्धो।

एतैर्बद्धो हि जीवो भ्रमति रसगतौ सूक्ष्मभावेन भूयः
भावे त्यक्ते प्रयात्यक्षयपरमपदं यत्र जन्मी न भूयः ॥ ९५ ॥

इह षड्गतिसंसारे जीवः प्राणालयविज्ञानधर्मी बद्धो भ्रमति । कैः ? [इ]कन्धभूतैः षड्धातुभिरिन्द्रियैस्त्रिविधभवभयैः षड्विषयैस्तन्मात्रैः पञ्चकर्मेन्द्रियैश्च कर्मदोषैः शुभाशुभैः सह[1] गुण[2]मनसा बुद्धयहङ्कारकाद्यैराद्यशब्देन प्राणशक्तिर्मूलप्रकृतिरिति, 5 एतैर्बद्धो हि जीवो भ्रमति रसगतौ सूक्ष्मभावेन, भूयः पुनश्च्युत्यानन्देनेति बन्धः सूक्ष्म-स्थूलभावो जाग्रत्स्वप्नसुसु(षु)प्ततुर्यलक्षणः । एतस्मिश्च भावे त्यक्ते प्रयात्यक्षयपरमपदं यत्र गतो न भूयो जन्मी संसारी भवति, इति संसारवासना-अविद्यानियमः ।

इदानीमस्या विपक्षा विद्योच्यते [वेदः] साङ्ग इत्यादिना—

वेदः साङ्गो न विद्या स्मृतिमतसहितस्तर्कसिद्धान्तयुक्तः 10
शास्त्रञ्चान्यद्धि लोके कृतमपि कविभिर्व्यासवैश्वानराद्यैः[131a] ।
विद्येत्यध्यात्मविद्याऽक्षरमपि मुनिभिः प्रोक्तमेवात्र लोके
त्रैलोक्यं यत्र कृत्स्नं भवति नरपते लीयते यत्र भूयः ॥ ९६ ॥

इह संसारे लोकव्यवहारे विद्या या परमार्थतत्त्वविषयेऽविद्या सा । प्रथमं वेदः साङ्गः षड्भिरङ्गैः सह, अङ्गानि च सूत्रं गेयं व्याकरणं छन्दो निरुक्तिं ज्योतिश्चेति, 15 एभिः सहेत्यर्थः । स च स्मृतिमतसहितः स्मृतयो मन्वादयः, तैः सहितः संयुक्तः । तर्को लौकिकवस्तुप्रमाणशास्त्राणि; सिद्धान्ता लौकिकसिद्धिसाधका मण्डलचक्रादिविकल्प-भावनाधर्मास्तैर्युक्त इति विशेषणम् । एवं शास्त्रं चान्यद्धि लोके कृतमपि कविभिर्व्या-सवैश्वानराद्यैरिति व्यासकाव्यं भारतम्, वैश्वानरकाव्यं भावनाधर्मः, आदिशब्देन वाल्मीक(कि)काव्यं रामायणम्, मार्कण्डेयकाव्यं पुराणधर्मादयः संगृहीताः, कृतं कविभिरेभिर्न 20 विद्या । तर्हि विद्या केत्याह—विद्येति अविकल्पिताऽध्यात्मविद्या शून्यता सर्वाकारैरुपेता, अन्यच्चाक्षरमपि विद्याऽनालम्बिनी अनाश्र(स्र)वसुखात्मिका इति । विद्या हेतुफलात्मिका हेतुफलैककलोलीभूता ग्रः(अग्नि)प्रभा दहनैककलोलीभूतवदिति । मुनिभिरतीतवर्तमानैः प्रोक्तमेवात्र लोके धर्मचक्रस्थैः । किंरूपा सेत्याह—त्रैलोक्यं यत्र कृत्स्नमिति, यस्मात् सुखक्षणात्त्रैलोक्यं सकलं भवति उत्पादकाले, लीयते यत्र भूयः, मरणकाले यत्र क्षणे 25 लीयते । भावसमूहः क्षरक्षणे स एव क्षणोऽनाश्र(स्र)वसुखमक्षरमुच्यते । यस्माद् बुद्धा उत्पद्यन्ते धर्मचक्रप्रवर्त्तनाय, यस्मिन् महापरिनिर्वाणो(णं) हि नरपत इति विद्यानियमः ।

इदानीं पूर्वयोगाभ्यासबलमुच्यते योगीत्यादिना—

योगीन्द्रोऽप्राप्तयोगः प्रचलितमनसा याति मृत्युं कदाचित्
श्रीमान् मानुष्यलोके प्रवरमुनिकुले जायते योगयुक्तः । 30

१-२. भो. Yon_Tan_Dan bCas (सगुण) ।

पूर्वाभ्यासेन तेनाहरति पुनरपि ज्ञानयोगं विशालं
लब्धे ज्ञाने प्रयात्यक्षयपरमपदं यत्र जन्मी न भूयः ॥९७॥ [131b]

इह मर्त्ये यदि योगी विद्यायोगमभ्यस्यमानो **मरणमुपैति अप्राप्तयोगः कदाचित् प्रचलितमनसा श्रीमान् मानुष्यलोके प्रवरमुनिकुले** बुद्धबोधिसत्त्वकुले, **योगः** शून्यता-
5 करुणाभिन्नं विशुद्धतत्त्वं विशुद्धचित्तम् ; तेन युक्त इति **योगयुक्तः**, न योगपरिपूर्णः **पुनः पूर्वाभ्यासेन तेनाहरति** अवाप्तो हि **ज्ञानयोगं विशालमिति** न प्रादेशिकं सर्वाकार-मिति भावः। **लब्धे ज्ञाने** परिपूर्णे **प्रयाति अक्षयपरमपदमिति**; न विद्यते क्षयो यस्येत्यक्षयपरमपदमिति विग्रहः। किम्भूतं तदित्याह—**यत्र पुनर्जन्मो उत्पत्तिमात्र** भवति, तत् सर्वं बुद्धानां पदं परमपदमिति।

10 इदानीं **बौद्धानामसुराणां म्लेच्छानां** ज्ञानोत्पत्तिकाल उच्यते **ज्ञान** इत्यादिना—

ज्ञानोत्पत्तिर्जिनानां रविदिनसमये चार्द्धरात्रे निशान्ते
मध्याह्ने चासुराणां शशिनिशिसमये निर्गमे वासव(र)स्य।
सम्यग्ज्ञाने विभङ्गे प्रभवति वचनं संस्कृतं प्राकृतं च
शान्तं रौद्रं च कर्म त्रिभुवननिलये पौरुषं प्राकृतं च ॥९८॥

15 इह खलु त्रिविधो योगाभ्यासः बौद्ध आसुरो भौत(तिक)श्च। तत्र बौद्धो योगः शून्यताकरुणात्मकः, आसुरः कल्पनाधर्मः, भौतिको द्विप्रकारः, शाश्वतरूप उच्छेद-रूपश्च। एवं त्रिविधो योगी (गो) स एव विद्यते यस्य तद्योगाभ्यासरतत्वादिति। तेषु दिवाभागे बौद्धयोगिनां ज्ञानोत्पत्तिः, रात्रिभागे आसुरयोगिनाम्, चतुःसन्ध्यारहिते काले भौत(तिक)योगिनां ज्ञानोत्पत्तिरिति। अत्र कालविभागः **ज्ञानोत्पत्तिर्जिनानां रविदिन-**
20 **समये चार्द्धरात्रे निशान्ते, मध्याह्ने चासुराणां शशिनिशिसमये निर्गमे वासव(र)स्य।** भौतानामनुक्तत्वादपि सन्ध्यारहितकाले। अत्रार्द्धरात्रे पूर्वसन्ध्यायां वाग्ज्ञानाधिष्ठानं भवति बौद्धानाम् [132a], असुराणां मध्याह्नसन्ध्यायां अष्टङ्ग(स्तङ्ग)तसन्ध्यायां वाग्ज्ञानाधिष्ठानं भवति। भूतानामपरचतुःप्रहरसन्ध्यायां दिवाभागे शाश्वतज्ञानाधिष्ठानम्, रात्रिभागे उच्छेदज्ञानाधिष्ठानम्, अनयोर्बौद्धासुरयोर्यथासंख्यम्; सम्यग्ज्ञानं बौद्धानां
T 321 25 भवति, विभङ्गं तद्धर्मविरोधि भवति असुराणाम्। सम्यग्ज्ञानं दिवालोकवत् सर्वदर्शि, विभङ्गज्ञानं रात्र्यालोकवत् किञ्चित् सत्त्वानां जीवमरणदर्शीति। कथं ज्ञायत इत्यत आह—धर्मदेशनया इति, इह **सम्यग्ज्ञाने विभङ्गे प्रभवति वचनं संस्कृतं प्राकृतं चेति**। सम्यग्ज्ञानोत्पन्नानां संस्कृतवाक्यं सर्वरुतात्मकमिति, विभङ्गज्ञानोत्पन्नानां प्राकृतं वाक्यं भवति देशकानाम् एक[1]विषयभाषान्तरेणेति[2]। **शान्तकर्म**देशकं बौद्धानां ज्ञानं
30 सर्वसत्त्वकरुणात्मकम्, **रौद्रकर्म**देशकं असुराणां ज्ञानं तिर्यक्सत्त्वापकारिमांसभक्षणायेति।

१-२.[क. ख. आत्मविषय०; भो. Yul gCig Gi sKad gCig Gi Khyad Par Gyis (एकविषये एकभाषायां भाषान्तरेण)।

त्रिभुवननिलये पौरुषं कर्मं बौद्धानां ज्ञानं देशयति, क्षितौ **प्राकृतं कर्म** असुराणां ज्ञानं देशयति। भूतानां विमिश्रं कर्मं देशयति पृथिव्यामिति ज्ञानदेशनानियमः।

इदानीं बौद्धासुरयोर्भुक्तिकाल उच्यते **मध्याह्नादित्यादिना**—

मध्याह्नादर्द्धरात्रं दिननिशिसमये भुक्तिकालस्तयोश्च
अन्नं गोमांसभोज्यं बहुविधरसदं पानमण्डस्य शुक्रम्। 5
रक्तं श्वेतं च वस्त्रं रविशशिगतिवत् स्वर्गपातालवासः
धर्मोऽहिंसा च हिंसा गुरुनियमवशाद् वज्रदैत्यासनं च ॥९९॥

इह प्रतिदिने **मध्याह्नदारभ्यार्द्धरात्रं** यावद्दिनसमयम्(:)। अर्द्धरात्रादारभ्य मध्याह्नपर्यन्तं निशिसमयः। **तस्मिन् दिननिशिसमये** स्वस्वसमयस्य परार्द्धे **भुक्तिकालः तयो**र्बौद्धम्लेच्छयोर्यथासंख्यं तपस्विनाम्, न गृहस्थानामिति नियमः। बौद्धासुरयोः पुनः 10
खानपानं य[132b]थासंख्यम्। **अन्नं** विशिष्टतरं बौद्धानाम्, **गोमांस**सहितं म्लेच्छानाम्। **पानं** यथासंख्यं **बहुविधरसदं** मिष्टं बौद्धानाम्, कुक्कुटादीना**मण्डस्य शुक्र**पानं म्लेच्छानामिति। परिधानं यथासंख्यं **रक्तवस्त्रं** बौद्धानाम्, **श्वेतं** म्लेच्छानां तपस्विनाम्; गृहस्थानां न नियमः। तथा मरणान्ते आवासो यथासंख्यम्, **रविशशिगतिवदिति** रवेरूद्र्ध्वं गतिः, चन्द्रस्याधो गतिः, तयोर्गतिवत् **स्वर्ग**वासो रविगतिर्बौद्धानाम्, **पाताल**- 15
वासोऽसुराणां चन्द्रगतिवदिति। यथा मूलतन्त्रे सेकोद्देशे[1] भगवानाह—

"अधश्चन्द्रामृतं याति मरणे सर्वदेहिनाम्।
ऊद्र्ध्वे सूर्यं रजो राहु विज्ञानं भावलक्षणे" ॥

तथा धर्मो यथासंख्यम्। बौद्धानां **धर्मोऽहिंसा**, म्लेच्छानां **हिंसा**, **च**कारात् भूतानाम्। **गुरुनियमवशाद्** भावनाकाले इष्टदेवतास्तुतिकाले यथासंख्यं बौद्धानां **वज्रासनं** प्रशस्तम्, 20
म्लेच्छानां **दैत्यासनं** प्रशस्तम्, **च**कारादपरं सामान्यमिति तस्य न विधिर्न निषेध इति। अत्र दैत्यानां भूतले वामजानुप्रसारतः, वामजानूद्र्ध्वं दक्षिणपादः, दक्षिणजानूद्र्ध्वंप्रसारो वामपादोद्र्ध्वम्, दक्षिणपादश्चकारादधः दक्षिणपाद ऊद्र्ध्वम्, पादतलेऽपि **च**कारात् पृष्ठे कटिनिषण्ण इति वज्रासनादिवक्ष्यमाणे वक्तव्यमिति बौद्धासुरक्रियानियमः।

भूतानां मिश्रकर्म प्रभवति वचनं मिश्रपैशाचिकं च 25
धर्मोऽहिंसा च हिंसा खलु गुरुनियमाज्जीवघातादिदोषाः।
यागाद्यर्थं प्रवृत्तिर्भवति नरपते वा निवृत्तिः कदाचित्
खाद्यं पेयं च मिश्रं रविशशिगमनान्मिश्रमार्गः परत्र ॥१००॥

---

१. क. ख. शक्रोद्देशे।

भूतानां पुनः पूर्वोक्त**मिश्रकर्म**। तदत्र[1] वृत्ते न विस्पष्टं कथितम्; तद्यथा—**भूतं वा** (भूतानां) **मिश्रकर्म प्रभवति वचनं मिश्रपैशाचिकं च, धर्मोऽहिंसा च हिंसा खलु गुरु**[133a]**नियमाज्जीवघातादिदोषः। योगार्थं** (यागाद्यर्थं[2]) **प्रवृत्तिरिति यो** (या)-**गाद्यर्थमादिशब्दात्** संग्रामार्थं हिंसाप्रवृत्तिः, फलार्थं **निवृत्तिर**हिंसाप्रवृत्तिर्भवति। **नरपते**
5 **वा निवृत्तिः कदाचिदिति। खाद्यं पेयं च मिश्रं रविशशिगमनात् मिश्रमार्गः परत्र** इति व्यामिश्रमार्गो भूतानां सर्वो वेदितव्यः, इति भूतक्रियानियमः।

इदानीं मार्गं वक्तुकाम आह **ज्योतिरित्यादिना**—

ज्योतिः सूर्यार्चिरब्धौ(सूर्योऽर्चिरध्वो) सितदिनमयनं चोत्तरं चार्द्धवर्षं
चन्द्रो ज्योतिर्निशा चासितमयनमिदं दक्षिणे धूममार्गे।
10 अर्चिः स्वर्गे सुराणामपि भवति तनौ नागलोकेऽसुराणां
व्यामिश्रो मर्त्यलोके भवति नरपते प्रेततिर्यङ्नराणाम् ॥१०१॥

इह खलु त्रिविधो मार्गः—ज्योतिर्मार्गो धूममार्गो विमिश्रमार्गः। एषु **अर्चिरथे**-(ध्वो)[3] ज्योतिः सूर्यः। **शि(सि)तदिनमयनमुत्तरं** दिवावृद्धिलक्षणम् **अर्द्धवर्षं** बाह्ये, अध्यात्मनि मकरादिषड्लग्नात्मकमिति, उदयास्तमनमिति संज्ञितम्। धूममार्गो **ज्योति-**
15 **श्चन्द्रो निशा चा**[4]**शि(सि)तमयनमिदं दक्षिणे**[5]**धूममार्गे** कर्कटादिकं षण्मासदक्षिणायनम्, यत्र रात्रेर्वृद्धिस्तद् दक्षिणायनम्; अस्तमनादुदयं यावन्नियम इति। अत्रा**र्चिः स्वर्गे सुराणां** मार्गगमनाय। असितमयनं धूममार्गो **नागलोक**गमनाया**सुराणामिति**। **व्यामिश्रो** दिवा-रात्रिधर्मा **मर्त्यलोक**गमने **प्रेततिर्यङ्नराणा**[6]मुत्पत्तये प्रकटित इति मार्गनियमः, सत्त्वरजस्तमोगुणस्वभावेन पूर्वजन्मवासनाजनितेनेति।
20 इदानीं सत्त्वानां वासनाग्रहमुच्यते श्रावकबौद्धासुरभूतकर्मरतानां **यो यन्मध्य** इत्यादिना—

यो यन्मध्ये प्रविष्टो व्रतनियमरतः कर्मपाशैर्निबद्ध-
स्तन्मध्ये स्वस्वभावाद् भवति नरपते तत्कुले तद्ग्रहेण।
याव[133b]च्चित्तस्य भावस्त्रिविधभववशाद् वेदना सौख्यदुःखं
25 तावत् संसारघोरे भ्रमणमिह नृप स्वर्गमर्त्ये त्वधश्च ॥१०२॥

इह संसारे जन्म कर्मवासनाबलेन देवासुरभूतक्रियानुरक्तो **यो यन्मध्ये प्रविष्टो** भवति **व्रतनियमरतः कर्मपाशैर्निबद्धः**, तस्य धर्मस्य क्रियाभिर्बद्ध इति; **तन्मध्ये स्व-स्वभावाद् भवति; नरपते** इत्यामन्त्रणम्। **तत्कुले** देवासुरभूतकुले। **तद्ग्रहेणे**ति तद्भाव-ग्रहेण। तेन देवासुरभूतकुले जन्मी भवति, सत्त्वरजोतमोहङ्कारेण पूर्वोक्तविधिनेति **याव-**

---

१. ग तदनु। २. ग. यागादिष्वर्थं; भो. mChod sByin La Sogs Don Du (यागाद्यर्थम्)।

३. क. ख. ग. अर्चिरथे; भो. Lam (०अध्व)। ४. क. वा। ५. क. ख. दक्षिणां।

६. क. ख. सुराणां; भो. Mi rNams (नराणां)।

च्चित्तस्य भावस्त्रिविधभववशादिति । इह संसारचित्तस्य त्रिविधभववशादिति कामरूपा-रूपभववासनावशात् **वेदना सौख्यदुःखं** सांसारिकम्, **तावत् संसारे** दुःखलक्षणं **भ्रमणं** चित्तस्यापि, **नृप स्वर्गमर्त्येषु, अधश्च** देवमनुष्यनरकादिषड्गतिषु भ्रमणमालयविज्ञानस्येति वासनाग्रहनियमः । अतस्त्रिधा वासनातीतः—

"संसारपारकोटिस्थः कृत्यकृत्यस्थले स्थितः" (ना० स०. ६, १३) । 5
ज्ञानकायो भगवान् सम्यक्सम्बुद्धो देवासुरनागादिभिर्नमस्कृतचरणारविन्दः कालचक्र इति वासनापगमनियमः ।

इदानीं यथा गर्भे व्यञ्जनस्वरोत्पादोऽभूत्, तथा मृत्युलक्षणमुच्यते **काद्या-नित्यादिना**—

काद्यान् वर्गान् समात्रानपि गुणगुणितान् यान् त्रिपक्षस्वरांश्च 10
त्रिंशद् वै व्यञ्जनानि त्रिविधगतिवशाद् रोहते तानि मृत्युः ।
चारान् पञ्चग्रहाणां रविशशिचरणं राहुकेत्वोः पदं च
द्वात्रिंशद्वर्षपक्षानपि गुणगुणितांश्चन्द्रसूर्याग्निभिन्नान् ॥१०३॥

इहाधानकाले रजस्त्रिंशद्व्यञ्जनात्मकम्, शुक्रं त्रिंशत्स्वरात्मकम् । अनयोः संयो-[134a]गः, आलयविज्ञानाधिष्ठितयोः । अत्र गर्भोत्पादे प्रथमपक्षे **त्रिंशद्व्यञ्जनानि** 15
ककारादीनि ह्रस्वस्वराधिष्ठितानि, अपरपक्षे दीर्घस्वराधिष्ठितानि, इति व्यञ्जनपक्षद्वयं मरणे प्रकटितं भवति । एवं शुक्रस्याकाशधातुप्रवेशः; रजसि शुक्लपक्षे[1] कृष्णपक्षे पृथ्वी-धातुप्रवेशः । एवं रजसोऽभ्युद्भूतानुद्भूतयोः पृथिव्याकाशधात्वोः शुक्रधातौ प्रवेशः । एवं द्वितीयमास[2]प्रथमपक्षे इकाराधिष्ठितानि व्यञ्जनानि रजसि वायुधातुप्रवेशः, अपरपक्षे ऊकाराधिष्ठितानि उदकधातुप्रवेशः । तृतीयमासप्रथमपक्षे ऋकाराधिष्ठितानि तेजोधातु- 20 T 322
प्रवेशः, अपरपक्षे ॠकाराधिष्ठितानि तेजोधातुप्रवेशाय । चतुर्थमासप्रथमपक्षे उकाराधिष्ठितानि उदकधातुप्रवेशाय, अपरपक्षे ईकाराधिष्ठितानि वायुधातुप्रवेशाय । पञ्चममासप्रथमपक्षे ऌकाराधिष्ठितानि पृथिवीधातुप्रवेशाय, अपरपक्षे दीर्घाकारा-धिष्ठितानि आकाशधातुप्रवेशायेति । सृष्टिसंहारभेदेनाकाशादिपृथिव्यादिप्रवेशः शुक्र-रजसोः परस्परमिति । तत् इन्द्रिय-कर्मेन्द्रियाधिष्ठानार्थं गुणवृद्धिह्रादयो ह्रस्वदीर्घा 25
व्यञ्जनेषु प्रवेशं कुर्वन्ति । षष्ठमासस्य पूर्वपक्षार्द्धे अ, पूर्वपक्षापरार्द्धे ह, अपरपक्षार्द्धे आल, अपरपक्षार्द्धे ला, सप्तमस्यैवं ए य औ वा, अष्टमस्य अर र आर् रा, नवमस्य ओ वा ऐ या, दशद(म)स्य अल[3] ल आ[4] हा ला, इति त्रिंशद्व्यञ्जनेषु प्रवेशं दशमासैः स्कन्ध-धात्वायतनादीनां निष्पत्तिरिति गर्भमासादूर्ध्वमिति शुक्ररजःसंयोगः, स्कन्धधात्वायतना-दीनां स्फरणं सृष्टिसंहारक्रमेण । एवमेकादशे मासे बिन्दुना त्रिंशदधिष्ठितानि, द्वादशे मासे 30
विसर्गाधिष्ठितानि भवन्ति । अतश्चन्द्रधातुशुक्रधातूनां नाडीमज्जास्ती(स्थी)नामुत्पाद-परिच्छेदः । अर्को रजो वृद्धिं करोति द्वादशवर्षाणि प्रज्ञायाः, उपायस्य षोडशवर्षाणि, ततो

१. क. ख. शुक्रपक्षे । २. क. पुस्तके 'मास' इति नास्ति ।
३-४. क.ख. अल अल् आ ।

ज्ञानधातुपाकः। प्रज्ञाया रजः पाकः, उपायस्य शुक्रपाकः, ततः[1] प्रज्ञायाऽपरद्वादशवर्षाणि, उपास्यापरषोडशवर्षाणि पृथिवीधातुपाकः। अतो[2]ऽवधेः सत्त्वभागो मध्यमो भवति [134b]। प्रज्ञायाऽपराष्टादशवर्षतोयधातुपाकः, उपायस्य सार्द्धद्वाविंशतिदिनमासैकाधिकं षोडशवर्षं पूर्ववत् तोयधातुपाकः। पूर्ववत् प्रज्ञाया अग्निपाकः, उपायस्यापि पूर्ववत्। एवं
5 वायुधातुपाकः, आकाशधातुपाकः; षण्णवतिवर्षे सार्द्धदशमासैः सर्वधातूनां पाकः सत्त्वरजस्तमोभेदेन। ततो मध्यनाडी वर्षपक्षमानेन दिनमानेन त्रिंशद्व्यञ्जनमानेन पञ्चपञ्चाशदधिकैकादशशतदिनगणेन कालः प्ररोहति।

काद्यान् वर्गान् समात्रान् पूर्वोक्तानपि **गुणगुणितान**शीत्युत्तरदिनसहस्रभूतान् **यान् त्रिपक्षस्वरांश्च** ह्रस्वदीर्घप्लुतान् पञ्चचत्वारिंशत्त्रिंशद्व्यञ्जनानि। **त्रिविधगति-**
10 **वशादि**ति वामदक्षिणमध्यमागतिवशाद् **रोहते तान्**(नि) **मृत्यु**रिति। एवं **वारान् पञ्चग्रहाणां** मङ्गलादीनां चतुःत्रिंशदधिकैकादशशतान् पूर्वोक्तानिति। **रविशशिचरणं** रसयुगशशिनम् एकादशपदात्मकं **राहुकेत्वोः पदं** सार्द्धसप्तात्मकं मासपरिच्छिन्नात्मकं केतोरुदयपदं प्रतिदिनं द्विघटिकात्मकम्। एते पद[3]घटिकात्मकास्त्रिवर्षस्त्रिपक्षत्रिंशद्व्यञ्जनदिनसंख्यास्तानेवारोहते मृत्युरिति। एवं **द्वात्रिंशद्वर्षपक्षानपि गुणगुणितान् चन्द्रसूर्याग्निभिन्नान्**
15 सत्त्वरजस्तमोभिन्नानिति षण्णवतिवर्षेऽपरे सार्द्धदशमासपक्षानिति।

पक्षा वर्षत्रयाणामपि शशिनि गुणाः कालवह्निद्विपक्षाः
ऊनीभूताः शताब्दे समविषमगतौ शे[ष]पक्षा रवीन्द्वोः।
लोकाक्ष्यग्न्यक्षिसंख्या दिननिशिसमयान् भर्तृहीनान् समस्तान्
वर्गान् मात्रान् रवीन्द्वोर्ग्रसति गतिवशाद् व्यञ्जनादीनि मृत्युः॥१०४॥

20 वामदक्षिणनाडीपक्षा[4] वर्षशतपक्षाणां मध्ये **पक्षा वर्षत्रयाणां** द्वासप्ततिः, **शशिनः** अपि **गुणा**स्त्रिपक्षाः, **कालवह्निद्विपक्षाः**; एवं सप्तसप्ततिपक्षा **ऊनीभूताः शताब्दे** शता- [135a]ब्दपक्षराशौ चतुर्विंशतिशतसंख्ये, **शेषपक्षा रवीन्द्वोः** सव्यावसव्ययोरिति। **लोकाक्ष्यग्न्यक्षिसंख्या** इति त्रयोविंशत्यधिकत्रयोविंशतिशताश्चेति। एवं **दिननिशिसमयान् भर्तृहीनान् समस्तान्**, वर्षशतस्य षट्त्रिंशत्सहस्रांश्च, भर्तृहीनान् त्रिवर्षत्रिपक्षव्यञ्जनमास-
25 दिनहीनान् वामे दक्षिणे भक्षते मृत्युः। **वर्गान् मात्रान् रवीन्द्वोर्ग्रसति गतिवशाद् व्यञ्जनादीनि मृत्युः**, अरिष्टादारभ्य मध्यमाकाले भक्षते इति।

सार्द्धा वै चक्रनाडीः शशिपदरहिता वारनाडीविहीनाः
प्रज्ञोपायप्रभेदैर्दिननिशिसमयैर्भक्षते तांश्च मृत्युः।
एवं वर्गान् समात्रान् स्वरगणसहितान् व्यञ्जनान्येव वारान्
30 हीने वा मध्यमेष्टे शशिरविमरणे व्यञ्जने चाधिदैवे॥१०५॥

---

१. भो.पुस्तके 'प्रज्ञाया' इत्यतः पूर्वं 'sÑa Ma bSñ Du (पूर्ववत्)' इति अस्ति।
२. ग. वतो। ३. क. षारा; ग. वारा; भो. rKañ Pa (पद)। ४. ग. पुस्तके 'पक्षा' इति नास्ति।

एवं **सार्द्धा वै चक्रनाडी:** सार्द्धचक्रमष्टादशराशि संख्यां पञ्चविंशदधिकशतगुणिता घटिका त्रिंशदधिकचतुर्विंशतिशतसंख्या इति; शशिपदानि क्रमोऽक्रम[1]भेदेन भूताभूतेषु वेदादीनि शतसंख्यानि, तै रहिताः **शशिपदरहिता वारनाडी** सप्त, तैर्हीनाः समस्तास्त्रयोविंशत्यधिकत्रयोविंशतिशतसंख्याः, **प्रज्ञोपायप्रभेदैः** संहारसृष्टिभेदैर्दिननिशिसमयैर्भक्षते तांश्च मृत्युः। एवं **वर्गान् समात्रान् स्वरगणसहितान् व्यञ्जनान्येव वारान्, हीने वा** 5 **मध्यमेष्टे शशिरविमरणे व्यञ्जने चाधिदेवे** इति हीने चन्द्रारिष्टमरणे, मध्यमे सूर्यारिष्टमरणे, व्यञ्जने चाधिदेव इति मध्यमेष्टमरणे पूर्वोक्तनियमः।

द्वात्रिंशच्चैकरक्तं सशशिरविगतौ नाडिकाच्छेद एषः
भूयस्त्रिंशत्त्रिरात्रैस्त्यजति सकुलिशान् स्कन्धधात्विन्द्रियादीन्।[135b]
त्यक्त्वा चन्द्रार्कनाडीं प्रविशति शि(शं)खिनीं प्राणवायुर्दिनैकं 10
विच्छेदं यावदेव क्षितिजलहुतभुग्(ङ्)मारुताकाशधातोः ॥१०६॥

ततो **द्वात्रिंशच्चैकरक्तमिति** त्रयस्त्रिंशद्[2]दिनानि **शशिरविगतौ** वामगत्या सार्द्धं दक्षिणगतौ **नाडिकाच्छेद एष** (:) चन्द्रसूर्यारिष्टे साधारणः, कालमरणे **भूयः** पुनः **त्रिंशत्त्रिरात्रैः**[3], त्रयस्त्रिंशद्दिनैस्**त्यजति सकुलिशान्** कायवाक्चित्तसहितान् **स्कन्धधात्विन्द्रियादीन्**। ततस्**त्यक्त्वा चन्द्रार्कनाडीं** ललनारसनां **प्रविशति शि(शं)खिनीम**वधूतीं 15 **प्राणवायुर्दिनैकं विच्छेदं यावदेव क्षितिजलहुतभुग्(ङ्)मारुताकाशधातोः**। इह मध्यमायां मरणदिने प्राणप्रविष्टः कालवाताक्रान्तः सन् नाभौ पृथ्वीधातुं पञ्चगुणस्वभावं त्यजति, ततः पृथ्वीधातोर्विच्छेदो भवति; हृदये तोयधातुं चतुर्गुणस्वभावं त्यजति, तोयधातु(तो)र्विच्छेदो भवति; कण्ठे तेजोधातुं त्रिगुणस्वभावं त्यजति, ततस्तेजोधातोर्विच्छेदो भवति; ललाटे वायधातुं द्विगुणस्वभावं त्यजति, ततो वायुधातोर्विच्छेदो भवति; उष्णीषे 20 एकगुणस्वभावमाकाशधातुं त्यजति, ततः शून्यधातोर्विच्छेद इति। प्राणस्य धातोः परित्याग ऊर्ध्वम्। अधो नाभौ कायबिन्दुधर्ममपानं[4] त्यजति, ततो जाग्रदवस्थाक्षयो भवति; गुह्ये वाग्बिन्दुधर्मं त्यजति, ततः स्वप्नावस्थाच्छेदो भवति; मणौ चित्तबिन्दुधर्मं त्यजति, ततः सुसु(षु)प्तावस्थाच्छेदो भवति। ऊर्ध्वेऽप्येवं रजोधातुबिन्दून् प्राणांस्त्यजति, ततो हि कायवाक्चित्तविच्छेदो भवति। संक्रान्तिकाले ज्ञानधातुं षष्ठं त्यजति; सर्वाङ्गे 25 शुक्रमधस्त्यजति, रज ऊर्ध्वं त्यजति, तुर्यावस्थाविच्छेदो भवति। एवं गर्भजानां मरणकालनियमः।

इति श्रीमूलतन्त्रानुसारिण्यां[5]लघुकालचक्रतन्त्रराजटीकायां
द्वादशसाहस्रिकायां विमलप्रभायां
लोकसंवृत्योत्पादनिरोधहेतुभूत-क्षणलक्षण-कालचक्रनियममहोद्देशः 30
पञ्चमः ॥५॥

---

१. क. ख. क्रमोत्क्रम०। २-३. ख. पुस्तके नास्ति। ४. क. ख. धर्ममयानं।
५. क. ख. मूलतन्त्रा०।

(६) रसायनादिबालतन्त्रमहोद्देशः

T 323 इदानीं लौकिकलोकोत्तरसिद्धिहेतोस्तनुरक्षणमुपदिशन्नाह **आदावित्यादि**—

आदौ संरक्षणीया सकलजिनतनुर्मन्त्रिणा सिद्धिहेतोः
कायाभावे न सिद्धिर्न च परमसुखं प्राप्यते जन्मनीह।
तस्मात् [136a] कायार्थहेतोः प्रतिदिनसमये भावयेन्नाडियोगं
5 काये सिद्धेऽन्यसिद्धिस्त्रिभुवननिलये किङ्करत्वं प्रयाति ॥१०७॥

इह खलु संसारे सत्त्वानां प्राणोऽपानश्च संहारक्रमेण निर्गच्छति, सृष्टिक्रमेण प्रविशति शरीरे यथा तथा मूलतन्त्रे भगवान्नाह सेकोद्देशे—

"नाभ्यब्जे हृदये कण्ठे ललाटोष्णीषपङ्कजे।
भूतो याग्नि मरुच्छून्यं संहारेण प्रवाहिनी।
10 निर्गच्छन्ती विशन्ती सा सृष्टिना विशति क्षितौ" ॥

तथाऽपानशक्तिः

"नाभौ गुह्ये च मण्यब्जे कायवाक्चित्तवाहिनी।
निर्गच्छन्ती विशन्ती सा संहारसृष्टिरूपिणी" ॥

अतः कारणात् **आदौ संरक्षणीया सकलजिनतनुः** पञ्चस्कन्धादितनु**र्मन्त्रिणा सिद्धिहेतोः,**
15 **कायाभावे न सिद्धिर्न च परमसुखम्** अनास्रवं सुखं **प्राप्यते जन्मनीह, तस्मात् कायार्थहेतोः**, कायार्थं इति बोधिचित्तम्, तस्य रक्षणहेतोः **प्रतिदिनसमये भावयेन्नाडी(डि)योगम्,** ललनारसनयोर्योगान्नाडियोगं मध्यमायां भावयेत् प्राणवायुम्, अपानं सं(शं)खिन्यां विण्मूत्रनाडियोगमिति। दिननिशिसमये द्वादशलग्ने इह[1] नाडी(डि)योगं भावयेत्। अनेन भावितेन कायसिद्धिः, **काये सिद्धे** सति **अन्या सिद्धि** लौकिकी **किङ्करत्वं प्रयाती**ति
20 लौकिकसिद्धिसाधननियमः।

इदानीं लोकोत्तरसिद्धिसाधनमार्ग उच्यते **शून्य** इत्यादिना—

शून्ये धूमादिमार्गं गुरुनियमवशाद् भावयेद् विश्वसीम्नो
नाडीचक्रेषु तस्मात् स्थिरमपि कुरुते प्राणमापानवायुम्।
पश्चादिन्दो(न्द्वो)र्निरोधं ग्रह इव कुरुते बोधिचित्तस्य योगी
25 तस्माद् यत् किञ्चिदिष्टं कतिपयदिवसैः प्राप्यते जन्मनीह ॥ १०८ ॥

इह **शून्ये धूमादिमार्गं गुरुनियमवशात्** वक्ष्यमाणक्रमादिति। **भावयेद् विश्वसीम्नो** विश्वं सर्वाकारं वि[136b]श्वं तत्पर्यन्तं चित्तमिति। **नाडीचक्रेषु तस्मादवधेः स्थिरमपि कुरुते प्राणमापानवायुं** नाभिचक्रे योगी। **पश्चादिन्दो(न्द्वो)र्निरोधमिति**[2] **ग्रह इव** राहुरिव

---

१. क. इदं; भो. hDi (इयम्)। २. क. ख. पश्चान्निरोधमिति; भो. Phyis Nas zLa Ba Ñes Par hGog Pa (पश्चादिन्दोर्निरोधम्)।

कुरुते बोधिचित्तस्य योगी । प्राणापानयोः परस्परं संयोगो **योगः**, स यस्यास्ति(स्तीति) योगी; बोधिचित्तस्य च्युतिक्षणस्य निरोधमुपस(श)मं निष्यन्दादिकमक्षरं करोति। **तस्माद् यत् किञ्चिदिष्टमिति** तस्मान्निष्यन्दाद् विपाकपुरुषकारवैमल्यमिष्टं यत् किञ्चिद-वाच्यं तत् **कतिपयदिवसैः प्राप्यते जन्मनीह ।** कतिपयदिनानि त्रिवर्ष-त्रिपक्ष-कालचक्र-दिनानि, तैरिति महामुद्रासिद्धिः प्राप्यते एभिः स्कन्धैः शून्यादिविमोक्षशोधितैरिति 5 महामुद्रासिद्धिसाधनमार्गनियमः ।

इदानीमकालमरणवञ्चनोच्यते **मार्त्तण्ड** इत्यादिना—

मार्त्तण्डेन्द्वोर्निरोधः समविषमगतौ मध्यमेऽग्नौ प्रवेशः
प्राणापानद्वयोश्च प्रथमदिनगते वञ्चनाकालमृत्योः ।
प्राणेनापूरयित्वा सह करचरणैरङ्गुलिपर्वान्नखान्तान् 10
षट्चक्रे बुद्धदेव्योऽभयकरकमला योगिना भावनीयाः ॥ १०९ ॥

इह यदाऽकालमरणलक्षणं पश्यति योगी तदा **मार्त्तण्डेन्द्वोर्निरोधः** दक्षिणवामना-ड्योर्निरोधः । **समविषमगताविति** संहारसृष्टिगतौ **मध्यमे अग्नाविति** राहुकालाग्नौ मध्यनाड्यां प्रवेशः कर्तव्यः । **प्राणापानद्वयोश्च प्रथमदिनगते** मध्यमाप्रवाहैकदिनगते सति **वञ्चना** साऽ**कालमृत्योर्भवति** योगिनामिति । **प्राणेनापूरयित्वा** पञ्चमण्डलवाहिना 15 प्राणेन मध्यमायोगेन **सह करचरणैरङ्गुली(लि)पर्वान्नखान्तान्** पूरयित्वा **षट्चक्रे** उष्णीषादिके **बुद्धदेव्योऽभयकरकमला योगिना भावनीया** वक्ष्यमाणक्रमेण इत्यकालमरण-वञ्चनानियमः ।

इदानीं वातरोगादिशमनमुच्यते **अपानेत्यादिना**—

आपानाकुञ्चनेष्टं भवति वरतनौ वातरोगे समस्ते 20
प्राणायामः कफे स्यात् पुनरपि च तयोर्मुञ्चनं पित्तदोषे ।
ऊर्ध्वाधः[137a] सन्निरोधो भवति सुखकरः सन्निपाते ज्वरे च
नाभ्यूर्ध्वं प्राणवायुः सकलरुजहरो नाभिमूलेऽपरश्च ॥ ११० ॥

इह शरीरे पूर्वोक्ता[1]ऽशीति नाड्यो वातदोषकारिण्यः, नाभौ गुह्ये च तासां समधातुत्वकरणाय **अपानस्याकुञ्चनमिष्टं** सुखकरं **भवति वरतनौ** मन्त्रिणां **वातरोगे** 25 शूलादिके **समस्ते** इति । तथा ललाटे उष्णीषे विंशति नाड्यः श्लेष्मदोषकारिण्यः । तासां समधातुकरणाय **प्राणायाम** इष्टो भवति । **कफे स्यादिति** कफरोगे जाते सति प्राणनिरोधः कर्तव्यो योगिनेति । **पुनरपि च तयोर्मुञ्चनं पित्तदोषे** इति पित्तदोषे जाते सति तयोः प्राणापानयोर्बाह्ये मुञ्चनं कृत्वा वक्ष्यमाणक्रमेण बाह्यवातं शीत्कारेण गृहीत्वा लम्बिकायां जिह्वामारोप्य अमृतपानं स्तूकादिकं कर्तव्यम् । **पित्तरोगे समस्ते** 30

१. ख. पुस्तके नास्ति ।

नाड्यः कण्ठे हृदये चत्वारिंशत् पित्तदोषकारिण्यः। तासां धातुसमत्वकरणायासौ योगः कर्तव्य इति। **ऊर्ध्वाधः सन्निरोधो भवति सुखकरः सन्निपाते ज्वरे चेति**। इह गुह्ये दश नाड्यः सन्निपातकारिण्यः; तासां धातुसमत्वकरणायोर्ध्वाधः प्राणापानयोर्निरोध इष्ट इति ज्वरे चेष्टः। कस्माद्धेतोः? यतो **नाभ्यूर्ध्वं**[1] वहति **प्राणवायुः**, अतः **सकलरुजहरो नाभि-**
5 **मूले** अपानो वहति, नाभेरधः सकलरुजहरोऽ**परश्चेति** वातादिरोगोपशमनियमः।

इदानीं जठररोगोपशमनाय प्रतिविधानमुपदिशन्नाह **आकुञ्च्येत्यादिना**—

आकुञ्च्यापानवायुं त्रिविधपथगतं प्राणमेवोद्ध्वंतश्च
सङ्घट्टे यावदग्निः प्रभवति बलवान् व्याप्नुवन् सर्वकाये।
जग्री(यकृत्)प्लीहार्ष(र्शं)रोगानपि जठरगतान् मासयोगाच्च हन्ति
10 ऊद्ध्वंश्वासं च काशं(सं) त्रिविधमपि विषं नेत्ररोगादिकञ्च ॥१११॥

इह जठरे यदा **जग्र्यादिकं** भवति, तदा **आकुञ्च्यापानवायुम्** अध**स्त्रिविधपथगतमिति** विण्मूत्रशु[137b]क्रपथगतं **प्राणमेवोद्ध्वं(द्ध्र्वं)तश्चा**कुञ्चनीयं[2] चन्द्रसूर्याग्निपथगतम्; तयो **सङ्घट्टे यावदग्नि**र्जठराग्निः **प्रभवति बलवान् व्याप्नुवन् सर्वकाये**। असौऽग्नि**र्जग्री(यकृत्)प्लीहार्ष(र्शं)रोगानपि** जलोदरादीनि **मासयोगाच्च** **हन्ति; ऊद्ध्वं-**
T 324 15 **श्वासं च काशं(सं) च त्रिविधमपि विषं** स्थावरं जङ्गमं कृत्रिमञ्च **नेत्ररोगादिकं** शिरःशूलं हन्तीति जठररोगोपशमनियमः।

कक्षात् सव्यावसव्यात् स्तनमपि बलवत् पीडितं प्राणरोधात्
सव्याद् वामा न नाडी प्रवहति सहसा वामकक्षा च सव्या।
मासार्द्धेनाप्यरिष्टं हरति मरणदं योगयुक्तश्च योगी
20 पादौ वज्रासनस्थौ धृतकरकमलौ पृष्ठशूलस्य नाशम् ॥ ११२ ॥

इदानीमरिष्टवञ्चनाय नाडीबन्धकरणमुच्यते **कक्षादित्यादिना**—

इह यदा योगी मध्यमायामहोरात्रं प्राणं प्रवेष्णं(ष्टुं) न शक्नोति, तदा वामारिष्टे दक्षिणे सञ्चारं प्राणस्य करोति, दक्षिणारिष्टे च वामे सञ्चारं करोति, मासार्द्धं मासमेकं यावदिति। अनेनोक्तेन कारणेन **कक्षात् सव्यावसव्यात् स्तनमपि बलवत्**
25 **पीडितं प्राणरोधात्**। सव्ये स्तने पीडिते **न वामनाडी वहति, वामकक्षात्** पीडिते न **सव्या** नाडी वहति; एवं **मासार्द्धेनाप्यरिष्टं हरति मरणदं योगयुक्तश्च योगीति**, योगः पूरकरेचकयोरेकता कुम्भक इति, तेन युक्तो योगयुक्त इति; हरतीत्यपनयतीत्यकालमरणवञ्चनानियमः।

---

१. क. ख. नात्यूर्ध्वं; ग. नास्त्यूर्ध्वं; भो. lTe Bahi sTeṅ Du (नाभ्यूर्ध्वं)।

२. क. प्राणमेवोर्द्धतं चाकुञ्चनीयं।

इदानी पृष्ठशूलनाशकरणमुच्यते—

पादौ वज्रासनस्थ(स्थौ) इति वज्रासनं सव्योरुमूर्ध्नि वामपादं वामोरुमूर्ध्नि दक्षिणपादम्, तौ पादौ पृष्ठस्थबाहुवज्रबन्धेन वामकरेण दक्षिणपादो धृतो दक्षिणेन वामपादः, तौ **पादौ धृतकरकमलौ पृष्ठशूलस्य** नाशं कुरुत इति ।

उद्ध्वौं पादौ शिरोऽधो व्यपहरति तनौ श्लेष्मरोगं समस्तं
प्रस्रावः प्राणरोधात् कतिपयदिवसैर्मूत्रकृच्छ्रं निहन्ति ।
प्रत्यूषेऽनामिकाभ्यां जलविगतमुखे दन्तपंक्ति प्रघृष्य
नेत्राणामञ्जनं स्यान्नयनरुजहरं ताडनं वा जलेन ॥ ११३ ॥ [138a]

ऊद्ध्वौं पादौ शिरोऽधो व्यपहरति तनौ श्लेष्मरोगं समस्तमिति । **प्रस्रावः प्राणरोधात् कतिपयदिवसैर्मूत्रकृत्स्नं**(कृच्छ्रं) **निहन्ति** । **प्रत्यूषे अनामिकाभ्यां जलविगत-मुखे**ऽप्रक्षालिते **दन्तपंक्ति प्रघर्षण** (प्रघृष्य) घृष्ट्वा **नेत्राणामञ्जनं स्यान्नयनरुजहरं** भवति । **प्रत्यूषे ताडनं वा जलेन** नेत्रयो रुजहरं भवतीति ।

सुप्तो(प्ते)नोत्तार(न)नाभिद्धृ(भिधृ)तकरकमलाऽजीर्णशूलं निहन्ति
गण्डानामुद्भवे वै सह घृतलवणैः स्वेदनं वृद्धिनाशः ।
अर्कक्षीरप्रलेपस्त्वथ भवति कदाचिद् दन्तकीटः सशूलो
व्याघ्रीबीजस्य धूमो धृतमिह नलिकाद्यैश्च कीटादिनाशः ॥ ११४ ॥

सुप्तो(प्ते)नोत्तार(न)नाभिर्वामकरणे धृता या सा **धृतकरकमलाऽजीर्णशूलं निहन्ति** प्राणायामसहितेति । **गण्डानामुद्भव** इति गण्डपिटकादीनामुद्भवकाले **सह घृतलवणै**र्वस्त्रबद्धैः **स्वेदनं वृद्धिनाश** एव । **अर्कक्षीरप्रलेपस्त्वथ** गण्डादीनामुद्भव इति नियमः; **कदाचिद् दन्तकीटः सशूलो भवति**, तदा **व्याघ्रीबीजधूमो धृतो नलिकाद्यैः कीटादिनाश** एव । **व्याघ्री**ति कण्ठ(ट)कारीति सामान्यरोगोपशमननियमः ।

इदानीं कुष्ठरोगोपशमनाय प्रतिविधानमुच्यते **वर्षे**त्यादिना—

वर्षार्द्धे श्वेतकुष्ठं हरति वरतनौ मन्त्रिणां किं तदन्यत्
प्रज्ञासङ्गे सु(स्व)चित्तं सुलि(स्खलि)तमपि सदा प्राणवायोर्निरोधात् ।
सप्तत्यब्दां जरां वै सपलितां च द्विवर्षप्रपूर्णे
मुद्रासिद्धि(स)तदूर्ध्वं भवति कतिदिनैर्मार्गचित्तप्रसङ्गात् ॥ ११५ ॥

असौ महायोगः पूर्वधूमादिनिमित्तेन प्राणायात्मन(यामेन) साधितोऽक्षरसुखक्षणः, बोधिचित्तं मुद्रासङ्गेन स्खलु(ल)यित्वा तदेव बोधिचित्तं मुद्रायोगेन **स्खलितं** समु(सु)खं **प्राणापानयोर्निरोधात् वर्षार्द्धे श्वेतकुष्ठं हरति वरतनौ मन्त्रिणां किं तदन्यत्** । यदि कुष्ठं न हरति तदा षोडशाब्दिकां मुद्रां सेवयति योगी [138b] प्रत्यहं मांसभोजनमद्यपानम्,

तस्य षड्मासाभ्यन्तरेण योनिमन्थाने बोधिचित्तं स्खलितं विधृतं सत् कुष्ठरोगं हरति, कुम्भकयोगेन, अत्र नास्ति सन्देहस्तथागतवचने। न केवलं कुष्ठं हरति, अपि तु **सप्तत्यब्दां जरां वै सपलितां द्विवर्षप्रपूर्णे मुद्रासङ्गे** बोधिचित्तं स्खलितमिति। अनेनैव योगेन योगिनः **कतिपयदिवसैः कालचक्रत्रिवर्षत्रिपक्षदिनैस्तदूर्ध्वमि**ति जराविनाशोर्ध्वं **मुद्रासिद्धिर्भवति मार्गचित्तप्रसङ्गा**दिति कृष्ठोपशमननियमः।

यच्छब्दो हृत्प्रदेशे भवति वरनृणां श्रूयते श्रोत्ररन्ध्रै-
स्तस्मादूर्ध्वं हि मुष्टी(मूर्च्छा)र्व्र(व्र)जति समरसं त्याजितं चैकभूतम्।
यच्छब्दं जीवलोके भवति (वदति) च बलजं (भवजं) तत्तु देव(:)शृणोति
विज्ञानं चैव दूरा[त्]श्रवणमपि विभो यो(भोर्यो)गिनाभावनीयम्*॥११६॥

कृत्वा पर्यङ्कबन्धं विकसितवदनोऽन्योऽन्यदन्तं स्पृशेन्न
आकृष्टो बाह्यवातस्त्वमृतरससमो नाभिचक्रे प्रविष्टः।
सन्तापं क्षुत्पिपासां हरति वरतनौ सन्निरुद्धो विषं च
श्वेतो बिन्दुर्ललाटे सु(स्व)रपरिकरितो मुञ्चमानोऽमृतं वा॥ ११७॥

घ्राणे रन्ध्रद्वयेन त्वपि वि(पि)हितमुखे बाह्यवातः समस्तः
प्राणेनाकृष्य वेगात् तडिदनलनिभो घट्टितोऽपानवायुः।
काले नाभ्यां स योगाद् (काले नाड्या संयोगाद्) व्रजति समरसं
चन्द्रसूर्याग्निमध्ये
अन्नाद्यां क्षुत्पिपासां हरति वरतनौ (अन्नाद्यं क्षुत्पिपासामपहरति तनौ)
चामरत्वं ददाति॥ ११८॥

---

* ११६ तः १२१ पर्यन्तं षट्श्लोकानामनुवादो भोटानुवादे (कञ्जूरसंग्रहे) नोपलभ्यते; तेषामुपरि विमलप्रभाव्याख्या च संस्कृतप्रतीषु भोटानुवादेषु वा नोपलभ्यते। अथ चैतद्विषये आचार्य-खेस्-ड्रुब-जे तत्पूर्ववर्त्तिभिः बु-स्तोन्—मी-फम्-रिन्पोछे-आदि-आचार्यैरपि स्व-स्व-व्याख्यानेऽत्र शङ्का नोत्थापिता, अतस्तैः मौनमेवाचरितम्। सम्भावये तत्र हेतुः तथाविधसंस्कृतप्रतीनां भोटदेशे अप्राप्तिः यत्रैषां षण्णां सन्निवेशः स्यात्। अस्मिन् विषये प्राप्तसंस्कृतप्रतीनामपि द्विधा स्थितिः—कुत्रचिदुपलब्धिः षण्णां कुत्रचिन्नेति। प्रस्तुतसंस्करणस्याधारभूतायां प्रतौ यथा षट्श्लोका उपलब्धा दृश्यन्ते एतादृशा एव च अन्या अपि द्वि-त्रि-प्रतयः सन्त्येव डा० लोकेशचन्द्रसंरक्षित-प्राचीनग्रन्थसंग्रहालये। किन्तु बिहारराज्ये पटनास्थितकाशीप्रसादजायसवाल-अनुसन्धान-संस्थान-संरक्षितायां पुरातन्यां विभूतिचन्द्रलिखितायां प्रतौ श्लोका एते नैव प्राप्यन्ते, स्युस्तथाविधा अन्या अपि काश्चित् प्रतयः। एतस्यां स्थितौ अप्राप्तिवशादेव भोटानुवादो भोटविद्वद्भिर्न कृतः स्यात्।

स्वच्छायामातपस्थामपरमुखरवेः स्तब्धदृष्टयावलोक्य
पश्चाद् व्योमाभिवीक्ष्ये(क्षे)त् समरसपुरुषो(षा) दृश्यते धूम्रवर्णः ।
षण्मासाभ्यासयोगादवनिगतनिधिं दर्शये(द्)च्छिद्रभूमिं (भूमिछिद्रं)
वृक्षच्छायां प्रविश्यत्तथ(श्य त्वपि) गगनतले भाविता
बिन्दुमाला ॥११९॥ 5

या शक्तिर्नाभिमध्याद् व्रजति प(व)रपदं द्वादशान्तं कलान्तं
सा नाभौ सन्निरुद्धा[त्] तदिदननमिता (तडिदनलनिभा)
दण्डरूपोत्थिता वा (च) ।
चक्राच्चक्रान्तरं वै मृदुललितगतिन्धारिता(गतिश्चालिता) मध्यनाड्यां
यावच्चोष्णीषरन्ध्रं स्पृशति हठतया सूचिबद्धा ह्यचर्मं ॥१२०॥ [139a] 10

आपानं तत्र काले परमहठतया प्रेरयेदूद्र्ध्वमार्गे
उष्णीषं भेदयित्वा व्रजति प(व)रपुरं वायुयुग्मे निरुद्धे ।
एवं वज्रप्रबोधात् सतनु(मनसि) स विषया[त्] खेचरत्वं प्रयाति
पञ्चाभिज्ञास्वभावा भवति पुनरियं योगिनां विश्वमाता ॥ १२१ ॥

इदानीं प्राणायामनियम उच्यते— 15

प्राणायामं प्रकुर्याद् हृदि शिरसि तथा यावदग्निर्व्यथाऽभूत्
तस्मादूर्ध्वं हि मूर्च्छां व्रजति सुकमलेऽयन्त्रितो वा बलेन ।
उष्णीषं भेदयित्वा व्रजति परपुरं (हि मरणं) स्कन्धधातून् विहाय
मुद्रासङ्गप्रणष्टो न हि सुखफलदो जन्मनीहैव पुंसाम् ॥ १२२ ॥

इह शरीरे **प्राणायामं** कुम्भकं **कुर्यात् मन्त्री हृदि शिरसि तथा यावदग्निर्व्यथा-** 20
भूत् तावद् हृदयं दह्यते, शिरसि च व्यथा भवति। तत ऊर्ध्वं न कुर्यादिति नियमः, यदि करोति **तस्मादूर्ध्वं हि मूर्च्छां व्रजति सुकमले**, नाभिकमले प्राणो मूर्च्छां व्रजतीति। **अयन्त्रितो वा बलेनोष्णीषं भेदयित्वा व्रजति हि मरणं स्कन्धधातून् विहाय** [य]तः, अतो **मुद्रासङ्गप्रणष्टो न हि सुखफलदः** प्राणायामो **जन्मनीहैव पुंसामिति** प्राणायाम-
नियमः। 25

मुद्रोक्ता भावनार्थं दिननिशिसमये नैव रागक्षयार्थं
वाग्वज्रं तर्पणार्थं न खलु मदकरं मन्त्रिणामुक्तमेवम् ।

अतोऽत्यधिकमेतद् विचारणीयं यत् संस्कृतप्रतिषु तत्र सत्स्वपि षट्श्लोकेषु तेषां व्याख्या कथं न लभ्यत इति। अस्मिन् विषये अनेकाविधाः सम्भावनाः समुदिताः भवेयुः। एतत् सर्वं तथ्यजातमाधृत्य आलोचनीयं भूमिकायाम्, तदत्र विरम्यते। 30

सर्वाहारः सुखार्थं प्रतिदिनसमयेऽजीर्णहेतोर्न चोक्तः
श्रीचर्यासिद्धिहेतोर्भ्रमणमपि चित्तौ (तौ) कीलनार्थं न रात्रौ ॥१२३॥

[इदानीं* योगिनां मुद्रास्वादनाहारचारनियम उच्यते **मुद्रेति**—

इह भगवता **मुद्रोक्ता** योगमुद्रोक्ता **भावनार्थम्**, **नैवरागक्षयार्थं** हेतोः **दिननिशि-**
5 **समये** स्त्रीक्रीडाम्; तथा मद्यपानं किञ्चित् मुखतर्पणार्थम्, न कलशादिवत्। न हि मदः योगीन्द्राणां मोक्षदः भवति; तथा आहारकरणमत्र **सर्वाहारः सुखार्थम्**, यत् किञ्चिदाहारकरणं तत् सर्वं स्वल्पसुखाय भवति। तेन **प्रतिदिनसमयेऽजीर्णहेतोर्न** कर्त्तव्य इत्याहारनियमः। **श्रीचर्या** योगचर्या **सिद्धिहेतोरि**ति सिद्धेर्हेतोः। तेन श्मशानोपश्मशानादिषु **भ्रमणं रात्रौ न क्रीडार्थमि**त्यर्थः। योगचर्यानियमः।]**

---

*-**. मुद्रोक्ता भावनार्थमित्यादिश्लोकस्य व्याख्या संस्कृतप्रतिषु मया न दृष्टा; किन्तु भोटानुवादे सा लब्धा। अतो भोटानुवादात् पुनः संस्कृतेऽनूद्य सा मया उपरि कोष्ठके प्रस्तुता। भोटानुवादः तञ्जूरसंग्रहे एवं विद्यते—

"Da Ni Phyag rGya S̄es Pa La Sogs Pas rNal ḫByor Pa rNams Kyi Phyag rGya Daṅ Myaṅ Ba Daṅ Kha Zas Daṅ rGyu Baḫi Ṅes Pa gSuṅs Te. ḫDir bCom lDan ḫDas Kyis Phyag rGya gSuṅs Pa Ni bsGom Paḫi Don Du rNal ḫByor Gyi Phyag rGya gSuṅs Pa sTe. Chag Pa Zad Paḫi Don Te rGyur N̄in mTshan Du Bud Med Daṅ Rol Par gSuṅs Pa Ni Ma Yin No. De bS̄in Du chaṅ Gi bTuṅ Ba Ni Cuṅ Zad Kha Tshim Par Byed Pa sTe. Bum Pa La Sogs Pa bS̄in Du Ma Yin Te. Myon Byed Ni rNal ḫByor Gyi dBaṅ Po rNam La Thar Pa sTer Bar Byed Par Mi ḫGyur Ro. De bS̄in Du Kha Zas Byed Pa Ni ḫDir Kha Zas Tham Cad bDe Baḫi Don Te. Gaṅ Cuṅ Zad Kha Zas Byed Pa De Tham Cad Śin Tu Chuṅ Bar bDe Bar ḫGyur Te. Deḫi Phyir N̄in S̄ag So Soḫi Dus Su Ma S̄u Baḫi rGyur Mi Byaḫo S̄es Pa Ni Kha Zas Kyi N̄es Paḫo. dPal lDan sPyod Pa sTe rNal ḫByor sPyod Pa dṄos Grub rGyur S̄es Pa dṄos Grub Kyi rGyur Te. Deḫi Phyir mTshan Mo Dur Khrod gNas Daṅ N̄e Baḫi gNas La Sogs Par ḫKhyam Pa Dag rTsed Moḫi Don Du Ni Ma Yin No S̄es Paḫi Don Te. rNal ḫByor Gyi sPyod Paḫi Ṅes Paḫo" (T 324, 3-4).

अस्य श्लोकस्य व्याख्या संस्कृतप्रतिषु नोपलभ्यते, किन्तु भोटानुवादे सा लब्धा, अत्र को हेतुरिति विवेचयता आचार्य-खेस्-ड्रुब-जे महाभागैरुक्तं यत् व्याख्यायाः विशुद्ध-भारतीयसंस्कृतप्रतिषु 'इदानीं योगिनां मुद्रास्वादनाहारचारनियम उच्यते इति सुबोधम्' इति मात्रं लभ्यते एव। सोऽप्यंशो मया संस्कृतप्रतिषु न दृष्टः।

अत्र खेस्-ड्रुब-जे-महाभागानां स्वमतमुल्लेखनीयमस्ति। तेन उक्तं यद् अन्येऽपि

इदानीमवधूतयोगिभैषज्यमुच्यते—

अक्षोभ्यं किञ्चिदुष्णं मुखरुजशमनं दन्तशूलस्य चैव
प्रत्यूषेऽक्षोभ्यनस्यं शिरसि रुजहरं तोयनस्यं तथैव ।
कर्णे नेत्रं (त्रे) प्रविष्टं त्वु(ह्यु)भयरुजहरं मूत्रमुष्णं च शीतं
भूतार्त्तेऽक्षोभ्यनस्यं त्रिकटुकसहितं सौख्यदं चापि दष्टे ॥१२४॥ 5

इह यदा योगिनो मुखरोगो भवति, अक्षोभ्यं किञ्चिदुष्णं कृत्वा मुखे घृतं मुखर(रु)जस(श)मनं भवति । दन्तशूलस्य चैवेति चकारा[139b]द् दन्तकीटस्य च । यदा शिरसि रोगो भवति, तदा प्रत्यूषे अक्षोभ्यं नस्यं कृतं शिरसि रुजहरं भवति । तोयनस्यं तथैव योगिनामिति । यदा कर्णरोगो भवति, तदा मूत्रमुष्णं कृतं कर्णे प्रविष्टं नेत्ररोगे शीतं कृतं नेत्रे प्रविष्टं यथासंख्यमुभयरुजहरम्, मूत्रमुष्णं च शीतमिति । 10 भूतार्त्त इति भूतप्रेतादिग्रस्ते अक्षोभ्यनस्यं त्रिकटुकेन सहितं सौख्यदं चापि दष्टे, सर्पदष्टेऽपि सौख्यदं भवतीति मुखरोगाद्युपस(श)मननियमः ।

विण्मूत्रं शुक्ररक्तं नृपत(ल)लसहितं भक्षितं चायुदं स्यात्
सध्यानं पुष्पनस्यं हरति सपलितानङ्गजातान् जरांश्च ।
भुक्तं पञ्चप्रदीपं सकलरुजहरं मक्षिकाच्छर्दिमिश्रं 15
स्त्रीपुष्पं शुक्रमिश्रं त्वपहरति रुजं भक्षितं वर्षयोगात् ॥ १२५ ॥

इदानीं पञ्चामृतयोग आयुवृद्ध्यर्थमुच्यते विडित्यादिना—

इह 'यथा बाह्ये तथा देहे',(पृ०४७) इति वचनात् बाह्ये पञ्चद्रव्याणि, अध्यात्मनि पञ्चद्रव्याण्येकीकृत्य पञ्चामृतयोगः, ततः पञ्चामृतं भक्षितं योगिनामायुदं स्यादिति ।

भोटाचार्य-श्रीपङ्लो-प्रभृतिभिरपि स्वीक्रियते यत् भोटानुवादे उपलब्धोऽयं व्याख्यांशः मूलसंस्कृतस्य नास्ति, अपि तु केनचिद् भोटदेशीयेन विदुषा भोटानुवादे अयमंश आरोपितः । अस्मिन् विषये खेस्-ड्रुब-जे-महाभागानां यद् वक्तव्यं तदुद्ध्रियते—

"ḥDiḥi rGya dPe Dag Pa Tham Cad La Da Ni Phyag rGya S̄es Pa La Sogs Pas rNal ḥByor Pa rNam Kyi Phyag rGya Daṅ Myaṅ Ba Daṅ Kha Zas Daṅ rGyu Baḥi Ñes Pa gSuṅs Pa Ni Go sLaḥo S̄es ḥByuṅ Gi ḥGrel Paḥi Tshig gS̄an Med Kyaṅ ḥDir ḥByuṅ Ba Ni Bod Mi mKhas Pa S̄ig Gis bCug Par mṄon No S̄es dPaṅ Lo Daṅ Chos rJe Bu La Sogs Pa mKhas Pa Phal Che Ba gSuṅ La. Kha Cig mTshan Bu dKyus Su Śor Paḥo S̄es Zer Ro".

(ḥGrel Chen Dri Med Ḥod Kyi ḥGrel bŚad. The Collected Works of the Lord mKhas Grub rJe dGe Legs dPal bZaṅ Po. Vol. 3. New Delhi, 1980, "Ga", page 141 b).

बाह्ये **विट्शब्देन वैरोचनिर्वलिर्वलेर्वंशाद्** गन्धको विडुच्यते, अध्यात्मनि विडेव, अनयो-स्तुल्यभागः। **मूत्रं** बाह्ये **विष्णु नृपो** भि(भृ)ङ्गराजरसम्, अध्यात्मनि मूत्रमेव। **रक्तं** बाह्ये अभ्रकम्, अध्यात्मनि स्त्रीपुष्पम्, तुल्यभागमिति। **शुक्रं** बाह्ये पारदः, अध्यात्मनि शुक्रमेव, अनयोः समभागमिति। **नृमांसं** बाह्ये त्रिफला, अध्यात्मनि मज्जा, अनयोरपि समभागमिति। एवं विडेकभागः, मांसस्य पादोनभागः, रक्तार्द्धभागः, शुक्रस्य एकपादः, एतदेकीकृत्य मूत्रेण सप्तवारान् भावयेत्। आतपे भूयो भूयः शोषयित्वा, ततः प्रत्यहं कर्षमात्रं घृत-मधुभ्यां भक्षितं षण्मासावधेरायुदं भवति, शाकाम्लतैललवणवर्जनादिति पञ्चामृतनियमः।

T 325

इदानीं पुष्पनस्य उच्यते **सध्यानमित्यादिना**—

इह ध्यानं मध्यमायां प्राणप्रवेशः, तेन ध्यानेन सह **सध्यानमिति**। **पुष्पं** स्त्रीरजः, बाह्ये केशराजिका भृङ्गराजः, तस्य रसः स्त्रीपुष्पतु[140a]ल्यं **सध्यानं पुष्पनस्यं** सध्यानानां **हरति सपलितानङ्गजातान् जरांश्च**, षण्मासावधेरिति [नस्य][1] नियमः।

इदानीं पञ्चप्रदीपमुच्यते—

गोश्वदन्तीहयनराणां **मांसमक्षिकाच्छर्दिमिश्रं** मधुना मिश्रं भुक्तं **पञ्चप्रदीपं सकलरुजहरं** भवति; अपरं मक्षिकाच्छर्दिमाधवी, तया सार्द्धं सकलरुजहरं भवतीति नियमः। **स्त्रीपुष्पं शुक्रमिश्रं** पूर्वोक्तं बाह्याध्यात्मिकम्, **अपहरति जरां भक्षितं च वर्षमिति** पूर्वोक्तभोजननियमः।

इदानीं वाताद्युपस(श)म उच्यते—

वातघ्नं क्षारमम्बु प्रभवति मधुरं पित्तशत्रुः कषायः
श्लेष्मघ्नं सर्वतिक्तं कटुकमपि तथा चौषधिर्वा रसो वा।
श्लेष्मघ्नं छागदुग्धं त्रिकटुकसहितं माहिषं पित्तशत्रुः
वातघ्नं चोष्ण(चोष्ट्र)दुग्धं त्रिविधरुजहरं गोपयः सर्पिरेव ॥ १२६ ॥

वातघ्नं क्षारमम्बु प्रभवति मधुरं पित्तशत्रुः कषायद्रव्यं* **श्लेष्मघ्नं सर्वतिक्तं** त्रिकटुकसहितम्, **औषधिर्वा रसो वा** भक्षितं पीतमिति। **श्लेष्मघ्नं छागदुग्धं त्रिकटुकसहितम्, माहिषं** पित्तशत्रु†ः, शर्करासहितम्। **वातघ्नं वो(चो)ष्णदुग्धं**[2](ष्ट्रदुग्धं)[3] शै(सै)न्धवसहितं **त्रिविधरुजहरं गोपयो** यथासंख्यम्, सैन्धवादिसहितं वातपित्तश्लेष्मघ्नमिति। **सर्पिरेव** गोघृतं त्रिविधरुजशमनं ज्वररहितानामिति नियमः।

---

१. भो. rÑub Pa (नस्य)।

२. क. ख. वोष्णदुःखं; ग. वोष्णदुग्धम्। ३. भो. rÑa Mohi Ḥo Ma (उष्ट्रदुग्धम्)।

*-†. एतावानंशः क. पुस्तके नास्ति, ख. पुस्तकादयं गृहीतः।

इदानीं मुखादिरोगोपस(श)मनार्थं क्वाथतैलाद्युच्यते जातीत्यादिना—

जातीक्वाथाम्बु चोष्णं मुखरुजशमनं दन्तशूलस्य चैवं
तैलं वस्त्वम्बुपक्वं त्रिकटुकलवणैः कर्णरोगस्य नाशः ।
आज्यं क्षीराहिरक्तैः क्वथितमपि सदा घ्राणरोगस्य नाशः
कर्कोटी लाङ्गलीन्द्री हरति सहखरां गण्डमालां प्रलेपात् ॥ १२७ ॥ 5

इह सर्वद्रव्याष्टगुणं तोयं जातीपत्राष्टगुणं तोयं पादावशेषं **जातीक्वाथाम्बु**तोयं किञ्चिद**ुष्णं मुखरुजस(श)मनं** भवति । **दन्तशूलस्य चैवं तैलं** तिलतैलं **वस्त्वम्बु** छागमूत्रम्, तेन तुल्यं **पक्वं** तैलावशेषं **त्रिकटुकलवणैः** सपादांशैः पाकावशा(सा)ने प्रदत्तैः, तत्कर्णे प्रविष्टं **कर्णरोगस्य नाश** इति [140b] । एवमाज्यगोघृतक्षीरेणाष्टगुणेन क्वाथावसाने अहिर्नागकेशरं **रक्तं** [कुं]कुमं तैः पादांशेन दत्तैरनेन घृतेन नस्यं **घ्राणरोगस्य** 10 **नाश** एव । **कर्कोटी** वन्ध्यकर्कोटी **लाङ्गली इन्द्री** इन्द्रवारुणी तिक्ता **हरति सहखरां** गर्दतांलतैः (गर्दभाम्बुलिप्तैः[1]) सह **गण्डमालां प्रलेपा**दिति नियमः संक्षेपतः, विस्तरेण वैद्यशास्त्रे ज्ञेय इति ।

इदानीं वज्रकण्ठकोपस(श)मनमुच्यते **कुर्याद्धस्ता**वित्यादिना—

कुर्याद्धस्तौ प्रलम्बौ समपदकमले प्राणवायोर्निरोधं 15
यावद् भूम्यां प्रपातो न हि भवति तनोर्मुञ्चनं च ज्वरस्य ।
भूयो भूयः समाधौ मरणभयकरान् नाशयेत् कण्टकान् वै
हृत्पद्मे चन्द्रमूर्ध्नि त्वमलशशिनिभा भाविता विश्वमाता ॥ १२८ ॥

इह यदा पापरोगोपद्रवो भवति, तदा प्रथमं ज्वरो भवति, हस्तपादसन्धिषु व्यथा भवति, शिरश्च व्यथते। इदं लक्षणं ज्ञात्वा समाधिमवलम्बयेत् । तत्रायं विधिः–नि(नी)रन्ध्रे 20 गृहे प्रवेश्य ज्वरितः **कुर्याद्धस्तौ** द्वौ **प्रलम्बौ** ऊरुपर्यन्तं **समपदकमले** कुर्यात्, **प्राणवायोनिरोधं** कुम्भकं कुर्यात्, **यावत् प्रया(पा)तो भूम्यां न हि भवति तनोः** तावज्ज्वररोगेण भूम्यां प्रपातो भवति; अथाप्रपातो यावत् पुनः पुनः प्राणायामं कुर्यादिति नियमः । **मुञ्चनं च ज्वरस्य** यावन्न भवति तावत् कार्यम्, ज्वरे मुक्ते सति न कुर्यादिति नियमः । **भूयो भूयः समाधौ** स्थितो **मरणभयकरान् नाशयेत् कण्टकान् वै । हृत्पद्मे त्वमल-** 25 **शशिनिभा भाविता विश्वमाता**, प्राणायामेन पद्मवरदहस्ता वज्रपद्मासनस्था[2] चन्द्रमण्डले द्विभुजैकवक्त्रेति नियमः । इति पापरोगोपस(श)मः ।

---

१. भो. Boṅ Buḥi Chu Daṅ bCas Pa Byugs Pas (सह गर्दभाम्बुलिप्तैः) ।
२. क. ख. वज्रपद्मायनस्था ।

इदानीं पापरोगोपस(श)मनार्थं भैषज्यमुच्यते—

पिष्ट्वा शीताम्बुसूर्यो ज्वरविहि(ह)तनृणां कण्टकान् नाशयन्ति
घृष्टं त्वक्षोभ्यमिश्रं हरति भयकरान् वा कपालं ज्वरान्ते ।[141a]
मन्त्रश्चोँकारपूर्वो जलशिखिमरुतां वज्रपूर्वं च नाम
रक्षां तेनैव कुर्यात् शिरसि गलहृदोर्नाभिगुह्यादिकेषु ।। १२९ ।।

इह यदा पापरोगचिह्नं भवति ज्वरितहस्तपादसन्धिषु व्यथा तथा(दा) **पिष्ट्वा शीताम्बुना मसूर्यो ज्वरविहि(ह)त**[1]**नृणां** दत्ताः **कण्टकान् नाशयन्ति**; तथा **ज्वरान्ते** तृतीयदिने कण्टकोत्थानकाले पापरोगेण मृतस्य **कपालम्** अलाभे यथालब्धं पृ(घृ)ष्टम् **अक्षोभ्यमिश्रं** पीतं पुरुषकपालं पुरुषेण, स्त्रीकपालं स्त्रिया। अलाभे यथालब्धं पीतं **हरति भयकरान्** कण्टकान् **धा(वा)** इति यथालब्धं कपालं ज्वरान्ते इति नियमः। अत्र मसूर्यादीनामभिमन्त्रणाय मन्त्रो भवति। स च ओँकारपूर्वं इति **मन्त्रश्चोँकारपूर्वः। जलशिखिमरुतां** पूर्वम् ओँकारः, जलमिति पवर्गस्य द्वितीयाक्षरं तोयधातुः फ इति, शिखीत्यधो र इति, ऊर्ध्वे एकारः, एषां जलशिखिमरुताम् एकत्वं फ्रेँ, अनुस्वारम् आकाशं सर्वव्यापित्वादिति। **वज्रपूर्वं च** कण्टकानां नाम, **रि(र)क्षां तेनैव कुर्यात्**; यथा मसूर्यादिः सप्तवाराभिमन्त्रितं[2] तथैव रक्षां तेनैव **शिरसि गले हृदये नाभौ गुह्ये; आदिशब्दा**-दुष्णीषे; एषु षट्सु स्थानेषु त्रिसन्ध्यायां रक्षां कुर्यादिति नियमः।

अत्र मन्त्रः—ॐ फ्रेँ विश्वमात[:] वज्रकण्टकान् नाशय नाशय मम शान्ति कुरु कुरु[3] स्वाहा, पररक्षार्थं देवदत्तस्य शान्ति कुरु कुरु स्वाहा, इति नियमः। इदं भगवत्या विश्वमातुः सर्वेत्यु(षु उ)पद्रवेष्वात्मपररक्षायां स्मर्तव्यमिति भगवतो नियमः। अनेन मन्त्रेण सप्तवारानभिमन्त्र्य मसूरिकाः शीताम्बुना पिष्ट्वा पातु[तुं] देयाः, ज्वरनष्टस्य कपालम् अक्षोभ्येन पिष्ट्वा देयम्; भूतग्रस्तस्य त्रिकटुकेन सहितम् अक्षोभ्यं पिष्ट्वा देयमिति पापरोगोपस(श)मननियमः।

इदानीं सूर्यातपस(श)मननियमः क्रियते तुल्येत्यादिना—

तुल्यं धात्री च धान्यं त्वपरमपि तथा तिन्तिडीपत्रचूर्णं
तोये चन्द्रार्कजुष्टे खलु विगतमले क्वाथयेत् पादशेषम् ।
तत् [141b] क्वाथं खण्डमिश्रं पुनरपरदिनात् पीतमेतत् त्रिरात्रं
ग्रीष्मे सूर्यांशुदाहं हरति मरणदं सप्तधातौ गतं च ।।१३०।।

इह यदा ग्रीष्मे सूर्यांशुदाहो भवति अध्वनि, तदा **तुल्यं धात्रीति** आमलकीफल-[4] चूर्णम्, **धान्यमिति** कुस्तुम्बुरुः, तेन **तुल्यमपरमिति**; तथा तिन्तिरी(डी)पत्रचूर्णं बन्धु-

१. भो. rNam Par bsNun Pa (विहत)। २. ग. ०वाराभिमन्त्रणम्।
३. क. ख. पुस्तकयोर्नास्ति।
४. भो. ḫDab Ma (०पत्र)।

लीपत्रचूर्णमिति तुल्यम्; एवं सर्वेषां तुल्यभागं कृत्वा, **तोये चन्द्रार्कजुष्टे** इति चन्द्रार्ककिरणैः स्पृष्टे खलु **विगतमल** इति शैवालादिमलरहिते, **क्वाथयेत् पादशेषमिति** क्वाथस्य यावत् पादमेकं भवति, तावद् द्रव्यत्रयं क्वाथयेत्, द्रव्याष्टगुणं तोयं दत्त्वेति। अत्र तुलाया मानं न भवति, क्वाथविषये आढकेन मानं सर्वत्रेति नियमः। **तत्** T 326 **क्वाथपादात्** समात्रं **खण्डमिश्रं पुनरपरदिनात्** पीतम्, एवमनेन क्रमेण **त्रिरात्रं** 5 प्रत्यूषकाले **ग्रीष्मे सूर्यांशुदाहं हरति मरणदं सप्तधातौ गतं चेति** लोमचर्मादौ गतम्, **च**कारादपरमपीति नियमः।

इदानीमपररसायनमुच्यते **हेमेऽर्क**मित्यादिना—

हेमेऽ(म्न्य)र्कं कान्तलोकं(हं) पटलजमयसं वाहयेन्मक्षिकेन
बीजार्द्धेनापि पिष्टिर्मलविगतरसे वाहयेत्(कारयेत्) षट्पलैश्च। 10
गोतक्रं दारयित्वा खलु खरशिखिना ग्राह्यमेवाग्रम(वात्र) मस्तु
श्रीपिष्ट्या कल्किपात्रे[1] क्वथितमपि पुनर्यावदर्द्धप्रमाणम् ॥१३१॥

इह शरीरे यः कश्चिद् बाह्यरसायनार्थी सिद्धरसाभावे मध्यरसायनमिदं कुर्यात्, अस्य च विधिरुच्यते—**हेम्नीति** विशुद्धस्वर्णे, **अर्कमिति** ताम्रम्, **कान्तं** लोहम्, **पटलज**-**म**भ्रकलोहम्, **अयसं** तीक्ष्णम्, एषां प्रत्येकं समभागकृतानां भागं सुवर्णसमं **माक्षिकचूर्णं** 15 प्रतिवाये(पे)न प्रकटमू[142a]षायां तीव्रवातेन निर्वाहयेत्; यावद् हेमं तिष्ठति, तदेव बीजम्, तेन **बीजेनार्द्धेन** स्वर्णपलद्वयेन रसे चतुःपले **मलविगत** इति सप्तघातनाकृते **पिष्टं षट्पलं** कारयेदिति। ततो **गोत्रक**(**गोतक्र**[2])मपगतनवनीतं **खरशिखिनेति** तीव्राग्निना **विदारयित्वा**, तस्य विदारितस्य कर्पटेन गालयित्वा **स्वच्छं मस्तु** ग्राह्यम्, कल्कं त्यक्त्वा। तदेव मस्तु अयस्कान्तपात्रे **हेमपिष्ट्या** सार्द्धं **पुनः क्वाथयेत्, यावदर्द्ध**-**प्रमाणं** भवति। 20

उद्धृत्याशुद्धखण्डाष्टपलमथ नववत् क्षेपनी(णी)यं हि तत्र
तद्भोज्यं सर्वकालं ह्यस(श)नविरहितं चायनं यावदेव।
षण्मासैर्दिव्यदेहो वलिपलितगतो यात्यनेनामरत्वं
तस्माद् भोज्यं तदेव प्रतिदिनसमये किन्तु पिष्ट्या विहीनम् ॥१३२॥ 25

तत **उद्धृत्याशुद्धखण्डाष्टपलमिति** तम् अराजादिकानाम् आहारपरिणामवशेन[3] **नवादिकं** सप्तादिकं च। खण्डस्य चतुःषष्टिभागिकमरिचचूर्णमपि **तत्र क्षेपनी(णी)यमिति तदेव भोज्यं सर्वकालम् अस(श)नविरहितं चायनं यावदेव। षण्मासैर्दिव्यदेहो वलिपलित**-**गतो यात्यनेनामरत्वम्।** इह पाने ताम्बूलभक्षणं विहितम्, ताम्बूलकल्कं विहाय **तद्भोज्यं** सर्वकालमिति। **तदेव** मस्तु तेन विधिना **भोज्यं** भोजनीयम्। **हेमपिष्ट्या** 30

---

१. भो. Khab Len sNod (अयस्कान्तपात्रे)।
२. भो. Dar Ba (०तक्रं)। ३. ग. ०भेदेन।

विहीनम्, किन्तु यावत् पिष्टिकाऽस्ति तावत् तया सार्द्धम्। पश्चात् तया विना सर्वकाल-मिति रसायननियमः।

इदानीं भक्ताद्युपभोगाय हेमार्द्धिकमाह **पूर्वोक्तमित्यादिना**—

पूर्वोक्तं बीजराजं सममपि तु रसे जारितं चार्द्धमात्रं
क्षाराम्लैर्मर्दयित्वा बहु विविधविडैर्यावदेकत्वमेति।
पित्ताम्लैर्गन्धकायैः(द्यैः) दरदमपि शिलां मर्दयेत् सूततुल्यं
तल्लेपात् तारपत्रं व्रजति कनकतां पक्ष(क्व)मप्यर्द्धिकेन ॥ १३३ ॥

इह **पूर्वोक्तं बीजराजं सममपि तु रसे चा(जा)रितं चार्द्धमात्रम्, क्षाराम्लैर्मर्दयित्वा बहु विविधविडैर्वक्ष्य**[142b]**माणैर्यावदेकत्वमेति**। ततः **पित्ताम्लै**[1]**र्गन्धकाद्यैः**[2] **दरदमपि शिलामिति** इह रसक्रामणाय त्रीणि द्रव्याणि रसतुल्यानि रसेन सार्द्धं पित्ताम्लै**[1]**र्मर्दयेत्**। गोपित्तं मत्स्यपित्तं वा फलाम्लं वा यथालब्धं बीजपूरकाद्यम्, गन्धकम्, दरदम्, शिलाम्, तालकम्, शशकम्, काक्षी, काशीषं, तुत्थकम्, हेमगिरिकम्; एषां गन्धकादीनामुप-रसद्वयम्, महारसं एकम्, त्रीणि रसतुल्यानि। **तस्य लेपात् तारपत्रं** दिनत्रयं चुल्लिकाधः स्थापितं **व्रजति कनकतां पक्वं**[3] चुल्लिकाग्निना, **अर्द्धिकेन** हेम्ना। इति हेमार्द्धिक-नियमः।

इदानीं पुष्पक्रियोच्यते **तीक्ष्णमित्यादिना**—

तीक्ष्णं चाकाशजातं त्वललवणयवक्षारसर्जं क्रमेण
वृद्धं चार्के द्विगुण्ये समरसकरणाद् दाहयेदर्कशेषम्।
भूयः क्षारेण शुद्धं भवति मृदु तथा गोमयाद्ये निषिक्तं
तारे दत्तं त्रिभागं हृतमपि भरितं शुद्धपुष्पत्वमेति ॥ १३४ ॥

इह पुष्पशब्देन ड(द्र)म्मरूपक[4]द्रव्यमुच्यते। **तीक्ष्णं** तारेण ताडितं भरितं चेति, तस्येयं दलशुद्धिः। **तीक्ष्णमाकाशजातमित्यभ्रकसत्त्वम्। अलमिति** तालकं **लवणं** सैन्धवम्; **यवक्षारम्, सर्ज्जरसम्**; तीक्ष्णाद्यं **क्रमेण वृद्धमिति** एकद्वित्रिचतुःपञ्चषड्भागं यावत्। ततः सर्वमेकीकृत्य **अर्के** ताम्रे **द्विगुणे समरसकरणात्** प्रथममन्धमूषायां धमेत्; ततः प्रकटमूषायां **वा(दा)हयेद**[5]**र्कशेकं(शेषं)**[6] यावद् भवति। **भूयः क्षारेण** टङ्कणक्षारेण **शुद्धं भवति, मृदु तथा गोमयाद्ये निषिक्तमिति** गोमयं गोतक्रम्, **आदितः** अर्कमूलम्, वज्रीकनकमूलम्, एरण्डमूलम्, क्षीरकञ्चुकीमूलम्, पीषयित्वा सन्धानं कारयेत्, सप्ताहं यावत्; ततस्तस्मिन् तक्रनिषेकं दद्यात् यावन्मृदुर्भवति। तदेव **तारे दत्तं त्रिभागं हृतमपि भरितं** वा **शुद्धपुष्पत्वमेति**। इति पुष्पदलनियमः।

---

१. क. पित्ताद्यैः। २. ख. गन्धकायैः। ३. क. ख. पक्षं। ४. क. ०रूपक।
५. भो. bSreg Par Bya (दाहयेत्)। ६. भो. Lhag Ma (शेषम्)।

इदानीं बुद्धबोधिसत्त्वपूजार्थं गन्धधूपादिकक्षपुटमुच्यते **एलेत्यादिना**—

एला कर्पूरमाला वलघनफलिनी वायसम् अद्रिजं च
कर्कोलं सिहमूत्रोत्पलफलमृगजा रक्तदैत्यानि पूतिः ।
नागं शीतं रणं पत्रपलजललतान्यम्बरं चक्रमेतत्
पञ्चद्रव्यैस्तु गन्धं कुरु मृगशशिभिर्द्धूपपुष्पासवाद्यैः ॥ १३५ ॥ 5

इह शोधितद्रव्याणि गन्धसा(शा)स्त्रोक्तविधिना पञ्चविंशतिकोष्ठात्मके कक्षपुटे पातयेत् । प्रथमकाष्ठे **एला**, द्वितीये **कर्पूरम्**, तृतीये **मालेति** स्पृक(क्का)पुष्पम्, चतुर्थे **बलं** सिह्लकचूर्णम्, पञ्चमे **घनं** मुस्तकम्, षष्ठे **फलिनी** प्रियङ्गुपुष्पम्, सप्तमे **वायसं** कृष्णागुरुः, अष्टमेऽ**द्रिजं** शैलेयकम्, नवमे **कर्कोलकम्**, दशमे **सिहमूत्रम्**, एकादशमे **उत्पलं** कुष्ठम्, द्वादशे **फलं** जातिफलम्, त्रयोदशमे **मृगजा** कस्तूरिका, चतुर्दशमे **रक्तं** कुङ्कुमम्, पञ्च- 10 दशमे **दैत्यं** मुरा, षोडशमे **पूतिः** पुत्रकेशम्, सप्तदशमे **नागं** नागकेशरपुष्पम्, अष्टादशमे **शीतं** चन्दनम्, एकोनविंशतिमे **रणम्** उशीरकम, विंशतिमे **पत्रं** तमालपत्रम्, एकविंशतिमे **पलं** मांसी, द्वाविंशतिमे **जलं** वा(पा)लकम्[1], त्रयोविंशतिमे **लतेति**, लता कस्तूरिका, चतुर्विंशतिमेऽ**म्बरं** भेरुण्डविष्ठम्, पञ्चविंशतिमे **चक्रं** (वक्रं[2]) पिण्डोन(त)गरपुष्पम्, एवमेतद्द्रव्याणि । एभिः **पञ्चद्रव्यैर्यथारुचितैः** कक्षपुटोद्धृतैः[3] शोभनं **गन्धं** कुर्विति 15 नयमः । **मृगशशिभिरिति** कस्तूरिकाकर्पूरसहितैर्द्धूपैः पातयेत्[4], सुगन्धपुष्पैर्वासयेत्, **आसवाद्यैरिति** मद्यैः[5] सर्वैर्वक्ष्यमाणैः कर्पूरकस्तूरिकाजातीफलसहितैर्वेधयेदिति द्रव्यपात- नियमः ।

इदानीं कक्षपुटपतितानां द्रव्याणां भाग उच्यते **नेत्र** इत्यादिना—

नेत्रेन्द्वग्न्यब्धिबाणा गुणजलधिशरा हस्तचन्द्रेषु नेत्रा 20
चन्द्राग्न्यब्धीन्दुकाला युगशरनयनाब्धीषु नेत्रेन्दुलोकाः ।
एलाद्या भागसंख्याः क्रमपरिरचिताः पञ्चपञ्चप्रकोष्ठे-
द्रव्यैर्गन्धं भवेत् कक्षपुटपुरगतैः शुद्धभागैर्दिनाख्यैः ॥ १३६ ॥

इह प्रथमकोष्ठपतितद्रव्यस्य **नेत्रमिति** द्वौ भागौ, द्वितीये **इन्दुरिति** एको भागः, तृतीयेऽ**ग्निरिति**[143b]त्रयः, चतुर्थेऽ**ब्धि**[रिति] चत्वारः, पञ्चमे **बाणा** इति पञ्च, 25 षष्ठे **गुणा** इति त्रयः, सप्तमे **जलधिरिति** चत्वारः, अष्टमे **शरा** इति पञ्च, नवमे **हस्त** इति द्वौ, दशमे **इन्दुरित्येकः**, एकादशमे **इषुरिति** पञ्च, द्वादशे **नेत्रमिति** द्वौ, त्रयोदशे **चन्द्र** इत्येकः, चतुर्दशे **अग्निरिति** त्रयः, पञ्चदशे **अब्धिरिति** चत्वारः, षोडशे[6] **इन्दुरित्येकः**, सप्तदशे **काल** इति त्रयः, अष्टादशे **युग** इति चत्वारः, एकोनविंशतिमे **शर** इति पञ्च, विंशतिमे **नयन** इति द्वौ, एकविंशतिमे[7] **अब्धिरिति** चत्वारः, द्वाविंशतिमे 30 T 327

---

१. भो. Pā la Ka । २. भो. ḥKhjog Po (वक्रं) । ३. क. ख. ०दत्तैः । ४. भो. sMin Par.Bya (पाचयेत्) । ५. क. ख. महा; भो. Chaṅ (मद्य) । ६-७. ख. पुस्तके नास्ति ।

इषुरिति पञ्च, त्रयोविंशतिमे **नेत्र** इति द्वौ, चतुर्विंशतिमे **इन्दु**रित्येकः, पञ्चविंशतिमे **लोक** इति त्रयः। एवमुक्तक्रमेण **एलाद्या भागसंख्याः क्रमपरिरचिता पञ्चपञ्चप्रकोष्ठेषु; तैः पञ्चद्रव्यैर्गन्धं भवेत्।** **कक्षपुटपुरगतैः,** पुरमिति कोष्ठकं **शुद्धद्रव्यभागैर्दिनाख्यैरिति** पञ्चदशभागैः, एकद्वित्रिचतुःपञ्चभिरेकीभूतैरिति द्रव्यभागनियमो गन्धकक्षपुटे।

5 जात्याद्येलालतानां दलकलशपुरे पातनीयं क्रमेण
लाक्षासर्जं च दुग्धं पुरमपि च सितं धूपकार्येषु धूपम्।
कुर्यात् कर्पूरखण्डैः कुसुमरसयुतैर्वह्निभागैर्नखैश्च
पिष्टं तद् गन्धतोयैरपि मधुरहितां धूपवर्तिं प्रकुर्यात्॥ १३७॥

इदानीं धूपकक्षपुट उच्यते **जातीत्यादिना**—

10 इह पूर्वपातितानां कक्षपुटद्रव्याणां मध्ये जात्यादिपञ्चद्रव्याण्युद्धृत्य तेषां स्थाने यथाक्रमेणान्यानि पञ्च देयानि; तत्र **जातीति** जातीफलम् आदितः, द्वितीया **एला,** तृतीया **लता** कस्तूरिका, चतुर्थं **दलं** तमालपत्रम्, पञ्चमं **कलशं** कक्कोलम्; एषां **पुरे** कोष्ठे **पातनीयं क्रमेण**—जातीफलकोष्ठे **लाक्षा,** एलाकोष्ठे **सर्जरसम्,** लताकोष्ठे **दुःख-(दुग्ध)मिति** श्रीवासम्, दलकोष्ठे **पुरमिति** गुर्गु(ग्गु)लम्, कक्कोलकोष्ठे **सितमिति** कुन्दु-
15 रुकम्। एवं **धूपकार्येषु धूपम्,** पञ्चद्रव्यैः पूर्वोक्तभागैः **कुर्यादिति** नियमः। **कर्पूरखण्डैः** सह यत्र खण्डम्, तत्र मधु देयं खण्डेन सार्द्धं **वह्निभागैर्नखैश्च** सार्द्धम्। एवमष्टादश[1]भागैः षडङ्गो धूपो भवति, कर्पूरखण्डमधुकस्तूरिकासहितो दशाङ्ग इति धू[144a]पकक्षपुटे द्रव्यनियमः।

इदानीं धूपवर्तिरुच्यते **पिष्टं तदित्यादि**—

20 इह धूपकक्षपुटोक्तं **मधूकविरहितं** गन्धोदकेन किञ्चित् खण्डमिश्रेण पिष्ट्वा **धूपवर्तिं** तेन कुर्यान्नाराचाकाराम्, धूपनाय वस्त्रादिकं सद्धर्मप्रतिमार्थमिति नियमः।

नाभ्यादौ सिंहमूत्रे शशिगगनपुरे पातयेत् स्नानयोगे
ग्रन्थिं व्याघ्रं हरेणुं हतमपि च तथा शङ्खत्वक्त्रिविभागाः।
धान्यं मुर्वी शताह्वं दममपि मधुरी तद्वदुद्वर्तने च
25 पूर्वोक्ते चानिवृत्ते जलजमपि तनुर्ग्रन्थिपर्णं च तैले॥ १३८॥

इदानीं स्नानकक्षपुट उच्यते **नाभ्यादावित्यादिना**—

इह पूर्वकक्षपुटपातितद्रव्याणां मध्ये चत्वारि (पञ्च)[2] द्रव्याणि **नाभ्यादीन्युद्धृत्य** तेषां कोष्ठेषु यथासंख्यं स्नानकक्षपुटेऽन्यानि देयानीति। तत्र नाभिकोष्ठे **ग्रन्थिपर्णं** पातयेत्,

---

१. ग. ०ऽसादश। २. भो. INa (पञ्च)।

सिहमूत्र[1]कोष्ठे **व्याघ्रं** नखम्, **शशिपुरे हरेणुम्**, **गगनपुरे हतमिति**[2] **कचोरकम्** । **अपि च, तथा** यथा धूपकार्ये **संख(शङ्ख)मिति** नखं तस्य त्रिभागम्, एवं **त्वग्विभागास्त्रयो देयाः, स्नानयोगे** स्नानद्रव्याणां मध्ये । एवमष्टादशभागे षड्द्रव्यैः स्नानं भवति । स्नानकक्षपुटे द्रव्यनियमः ।

इदानीमुद्वर्तनकक्षपुटमुच्यते—　　5

इह स्नानकक्षपुटोक्तपञ्चद्रव्याणां मध्ये त्वग्वत्[3] त्रयो[4] भागाः पञ्चद्रव्याणां देयाः । **धान्यमिति** कस्तुम्बुरुम्, **मुर्वीति** मरुवकम्, **शताह्वेति** शतपुष्पा, **दमर्मिति** दमनकम्, **मधुरी** एषां पञ्चानां त्रयो भागाः—एवमष्टादशभागेनोद्वर्तनं भवति । उद्वर्तन-द्रव्यनियमः ।

इदानीं पक्वतैलार्थं तैलकक्षपुट उच्यते **पूर्वेत्यादि**—　　10

इह **पूर्वोक्तगन्धकक्षपुटद्रव्यगणेऽनिवृत्ते जलजमिति** नखम्, जलजमिव **तनुरिति** त्वक्, **ग्रन्थिपर्णं च**, तयोर्भागत्रयं दत्त्वा गन्धकक्षपुटपञ्चद्रव्यैः सार्द्धं सप्तद्रव्यैरष्टादशभागेन वक्ष्यमाणक्रमेण **तैलं** पचेत्, नानागन्धतैलं भवति । तैलकक्षपुटद्रव्यनियमः ।[144b]

एवं **चूर्णादिकम्**—

चूर्णे ग्रन्थि च तद्वद् भवति तनुहत पानवासे मुखे च　　15
त्वग्वोलं ग्रन्थिशङ्खं फलदलपुटपाके च हंसादिके च ।
एवं त्रिंशत्प्रभेदैः सुरचितविविधान् गन्धधूपादियोगान्
कुर्याद् द्रव्यैर्विशुद्धैः फलपुटपचितैर्वासितैर्वेधितैश्च ॥ १३९ ॥

चूर्णे चूर्णविषये **ग्रन्थि च तद्वदिति** नखवत्पञ्चद्रव्येषु देयं ग्रन्थिपर्णकम् । **तत्र(तनु)हतं पानवासे** देयं भवति, **मुखवासे च त्वग्वोलं ग्रन्थिशङ्खमिति** द्रव्यचतुष्टयस्य भागत्रयं　　20
फलपाके दलपुटपाके हंसपाके आदितो दोलाया(पा)के वक्ष्यमाणे देयमिति । **एवमुक्त**-क्रमेण **त्रिंशत्प्रभेदैस्त्रिंशद्गन्धादियोगान् सुरचितान् विविधान् गन्धधूपादियोगान्** स्नानोद्वर्तनादिकान् **कुर्याद** गन्धाद्यर्थी, **द्रव्यैः** किम्भूतैः? **विशुद्धैः फलपुटपचितैर्वासितैर्वेधितैरिति** द्रव्यसंग्रहनियमः ।

इदानीं गन्धस्य धूपपाक उच्यते **अष्टांशादावित्यादि**—　　25

अष्टांशादौ कषायो भवति दलवशात् तद्द्विगुण्योग्रधूपः
पश्चाद् द्रव्यप्रमाणो गुड इति च भवेद् वर्द्धते ग्रीष्मयोगात् ।
पादांशं शङ्खधूपं मधुकमपि सितां निर्दहेद् द्रव्यतुल्यां
पिण्डं शङ्खप्रमाणं मलयलघुचलं चन्द्रयुक्तं च तद्वत् ॥ १४० ॥

---

१. क. ख. सिंहसूत्र० । २. क. ख. हृतमिति; भो. Ha Ta (हत०) ।
३-४. क. ख. त्वग्वर्गयोः ।

इह गन्धयोगे त्रिविधं **दलम्**—अधममध्यमोत्तमम्। तत्राधमं मुस्तकम्, सै(शै)-लेयम्, उशीरकम्, वा(पा)लकम्,[1] कपित्थम्, विल्वम्, मुरा, मांसीति; एतानि दलान्य-[2]धमानि। एषां **वशाद् दलवशादादौ कषायो** गुडेन मोदितं हरीतकीचूर्णं धूपो भवति; तेन **दलमष्टांशेनादौ** धूपयेद् दिनमेकम्, ततः पुष्पवासं कृत्वा दिनद्वयम्, तृतीये दिने मध्यमदलं
5 मिश्रयेत्; **ततस्तद्द्विगुण्यो<उग्रधूप** इति। तस्य पूर्वापरस्य द्विगुण्य उग्रधूप इति। लाक्षाम्, सर्ज्जरसम्, श्रीवासम्,[3] गुग्गुलुः, कुन्दुरुकम्—एभिः पञ्चोग्रैर्गुडेन मोदितैरुग्रधूपो भवति; कषायस्य द्विगुण्यो देयः, दलस्य **पादांशमिति**।

अत्र मध्यमदलं पुष्पवर्गम्, चन्दनम्, अगुरुम्; फलवर्गम्, नखम्, त्वग्वर्गम्, निर्यास वर्गमिति। एवं दिनद्वयम् उग्रधूपेन धूपयेत्; एकान्तरितं दिनद्वयं पुष्पवासं कुर्यात्,
10 **पश्चाद् द्रव्यप्रमाणं गुडम्**, अपि च धूपेन सार्द्धं **निर्दहेत्** ग्रीष्मे; ततो **वर्द्धते ग्रीष्मयोगात्**, वार्षे द्रव्यद्विगुण्यः, हेमन्ते त्रिगुण्यो देयः, ततो गुडे दग्धे सति **शङ्खमिति** नखं गुडेन सार्द्धं **पादांशं निर्दहेद्** दिनद्वयं पूर्वविधिना। ततो **मधुकं सितां** स(श)र्करां **द्रव्यतुल्यां निर्दहेत्** पिण्डधूपेन सार्द्धम्। धूपग्रासस्याद्यावसाने केवलं निर्दहेत्। एवं गुडोऽपि प्रतिदिनं ग्रासत्रयं दग्ध्वा विश्रामयेत्, प्रतिदिनं द्रव्यस्याष्टांसं(शं) धूपं निर्दहेत्, अन्यथाऽनेनापक्वो भवति,
15 अधिकेन दग्धगन्धो भवति, अपक्वे अम्लो भवतीति नियमः।

पिण्डमिति पिण्डधूपम्, कक्षपुटोक्तं कर्पूरसहितम् उग्रद्रव्यवर्जितम्, पञ्चद्रव्यैर्मधुस(श)र्करामोदितैः पिण्डधूपम्; तदेव **संख(शङ्ख)प्रमाणमिति** द्रव्यपादांशं निर्दहेत्। तत्र पुत्रकेशं जातीफलं कर्पूरं नाभिः, अपरं कक्षपुटोक्तमुत्तमं दलं दत्त्वा, **मलयं** चन्दनम्, **लघुमित्यगुरुम्**, **चलमिति**[4] सिह्लकम्, **चन्द्रमिति** कर्पूरम्; तेन **युक्तं**
T382 20 द्रव्यत्रयम्। **तद्वदिति** पिण्डधूपद्रव्यसदृशं[5] निर्दहेद् मधुस(श)र्करासहितम्। अत्र गुडो वटिकागुडो ग्राह्यः, न द्रव्यपूर्वक इति नियमः।

पक्वं गन्धं सुपुष्पैः कतिपयदिवसं व्यासयेद् यावदिष्टं
पश्चाद् वेधं शतांशं त्रिफलशशिमदैः कारयेत् सासवैश्च।
सि(शि)ग्व्रम्बु छागमूत्रं कुसुमरससमं क्वाथयेत् पुष्पजान्तं
25 मासैकं धान्यपक्वं भवति मृगसममासवं नाभिविद्धम्॥ १४१॥

ततः **पक्वं गन्धं** ज्ञात्वा, अस्य पाकं मर्दितस्य गन्धेन करस्य तलं यदि रक्तं भवति, तदा परिपक्वम्; अथ न पक्वम्, अतो यावत् पाकं न भवति तावच्छीतधूपं न दाहयेदि[145b]ति। एतत् पक्वं गन्धं सुपुष्पैः चम्पकाद्यैः सुगन्धैः **कतिपयदिवसं** पक्षार्द्धं पक्षमेकं वा **यावद्** धूपदोषं त्यजति, तत **इष्टं** भवति। **पश्चाद् वेधं सतांसं (शतांशं)**

---

१. भो Pā La Ka (पालक)। २. भो. rZas (द्रव्याणि)।
३. क. ख. ग्रीवासं। ४. भो. Khu Ba (शुक्र); क. ख. निज्जास। ५. क. ख. बलमिति। ६. क. ख. पिण्डद्रव्यधूपसधृशं।

फल(त्रिफल)मिति जातीफलम्, **कक्कोलम्**; अथ वा[1] एला कक्कोलस्थाने, लता कस्तूरिका, **शशी**ति कर्पूरम्, **मद**मिति कस्तूरी, एषां समभागं कृत्वा शतांशेन गन्धस्य वेधं **कारयेत्** । **सासवै**रिति वक्ष्यमाणैर्मदासवैः सार्द्धं वेधं शतांशेन दद्यात् । वेधस्याष्टगुणा-सर्वमिति वेधनियमः ।

इदानीं गन्धानां मोदनार्थम् आसवमुच्यते **शिग्विति**त्यादिना—

इह गन्धशास्त्रोक्तविधिना[2] विस्तरो यत्र यादृश आसवादीनां पाकः स तत्रैव गन्धशास्त्रे ज्ञेयः । अत्र च संक्षेपत उक्तः **शिग्र्वम्बु** इति । शिग्रुरसम्, **छागमूत्रम्**, **कुसुमरस**मिति मधु, तेन **समं** तुल्यमानम् अग्निना **क्वाथयेत्**, **पुष्पजान्त**मिति मधु-पर्यन्तम्; तत उद्धृत्य नारिकेलादौ प्रक्षिप्य **धान्यराशिमध्ये मासमेकं पक्वं** भवति । **मृगसमम् आसवं नाभिविद्ध**मिति अग्निपाकावसाने नाभिरिति कस्तूरी, अनुक्तमपि कर्पूरम्, त्रिफलम्, तेन स(श)तांशं वेधं दत्वा, ततो धान्ये स्थापयेत्; ततस्तेन गन्धस्य वेधं पूर्वोक्तं कारयेदिति नियमः । सर्वस्मिन् गन्धशास्त्रे धूपपाकाय त्रिविधं धूपयन्त्रम्— समम्, डमरुकाकारम्, मूर्ध्नि सरावाकृतिः, मध्येऽङ्गुलद्वयं छिद्रं षडङ्गुलमधमं[3] कषा-योग्रधूपार्थम्; मध्यममष्टाङ्गुलोच्छ्रितम्, नखगुडपिण्डधूपार्थम्; उत्तमं[4] दशाङ्गुलं शीतधूपार्थम्, अस्य यन्त्रस्य तले वालुका[5]सहितं खर्परं चूल्लिका[6]मूर्ध्नि दत्वा द(त)प्त[7]वालि(लु)कायां धूपग्रासं[8] दत्वा, तदुपरि यन्त्रम्, यन्त्रोपरि गन्धकल्कप्रलिप्त-मङ्गुल्यर्द्धमुच्छ्रितं मृत्कपालं स्वल्पकल्के नारिकेलं[9] दत्वा धूपं निर्दहेत्, दण्डैकं दण्डार्द्धं धूपप्रमाणं ज्ञात्वा । तत उद्धृत्य कपालं फलकोपरि वस्त्रं दत्वाऽधोमुखं स्थापयेत्, येन धूपो[10] न गच्छति पाककालेऽपि कपालयन्त्रयोर्मध्ये आर्द्रवस्त्रेण वेष्टयेत् । इति धूपपाक-नियमः ।

फलपाके बीजपूरकस्य गर्भशस्य[11]मुद्धृत्य, त्वचं परिवर्त्य, मध्ये गन्धकल्कं प्रक्षिपेत्, बाह्ये वल्कलैर्वेष्टयित्वा मृदाङ्गुलैकोच्छ्रितं लेपयेत्; पश्चाद्[12] गो[13]कर्षाग्निना पुटप्रयोगेण पाचयेत्, यावत् तल्लेपोऽग्निवर्णो भवेत् । तत ऊर्ध्वं गन्धनाशो भवति, ततोऽग्नेरुद्धृत्य शीति(ती)भूतं गन्धं नाभ्यादिभिर्वेधयेत् पूर्वोक्तविधिनेति फलपाकनियमः ।

दलपुटपाकेऽपि केतकीपत्रैः [146a] पुटिकां कृत्वा मध्ये गन्धकल्कं क्षिपेत् । शेषं फलपाकवत् ।

हंसपाके स्वर्णकलशं रौप्यं वा गर्भे गन्धकल्केन लिप्तं अङ्गुलैकेनोच्छ्रितेन ताम्र-कटाहे गन्धोदकार्द्धपरिपूरिते प्लवमानं[14] कथनमनुभवन्[15] हंस इव प्लवमानो[16]हंसपाक

१. क. ख. ग. पुस्तकेषु नास्ति । २. क. ख. ०विविधा । ३. क. ख. ०गुलमध्यमं । ४. क. ख. डनुभं । ५. क. ख. ग. बालिका । ६. क. ख. चूर्णिका । ७. क. ख. दप्त । ८. भो. bDug Pa ḫDZin Pa (धूपग्राहम्) । ९. ग. नालिकेरं । १०. भो. Du Ba (धूमः) । ११. भो. ḫBras Bu (०फलम्) । १२-१३. क. ख. यश्चाङ्गो । १४. क. ख. पूर्वमानं । १५. क. ख. ०भवन्तु । १६. क. ख. पूर्वमानो ।

इति वेधादिकं पूर्ववदिति हंसपाकनियमः, हंसपाके चेति वचनात् ।

दोलापाकाद्युच्यते—

इह गन्धशास्त्रोक्तानां नवविधद्रव्याणां मध्ये अधमदलानाम् अष्टविधं कर्म शुद्धये— क्षालनम्, स्वेदनम्, उद्वर्तनम्,[1] भर्ज्जनम्, भावनम्, धूपनम्, वासनम्, बन्धनं चेति । 5 तत्र क्षालनं काञ्ज(ञ्जि)केन, स्वेदनं दोलापाकेन, उद्वर्तनं[2] गन्धोदकेन, मर्दितानां भर्जनं[3] गुडतोयादिना, भावनं शिशुछागमूत्रादिभिः, धूपनं कषायोऽग्नैः(ग्रैः), वासनं केतक्यादिपुष्पैः, वेधनं नाभ्यादिद्रव्यैरिति । अधमदलानां मुस्तकादीनां पुष्पगणे क्षालनं श्वे(स्वे)दनादिकं कुर्यात्, भर्ज्जनं वर्जयित्वा । एवं त्वग्गणे मध्यमदलानां मूलगणे काष्ठगणे पत्रगणे जीवगणे नखस्य भर्ज(र्ज)नं पुत्रकेशस्य पुटपाकः । शेषं पुष्पगणवत् ।

10 फलगणे निर्जा(र्या)सगणे द्रवद्रव्यगणे न किञ्चित् कर्म कार्यमिति । एषामुक्तद्रव्याणां चूर्णं कृत्वा भाण्डमुखे वस्त्रोपरि चूर्णं देयम्, भाण्डं गन्धोदकेनार्द्धपूर्णं चूर्णि(र्लि)कोपरि दत्वा बाष्पश्वे(स्वे)देन श्वे(स्वे)दयेत् यावच्चूर्णं स्तिमितं भवति; तत उद्धृत्योद्वमनादिकं[4] (द्वर्तनादिकं) कारयेत् । एवं पुत्रकेशस्यापि दोलाश्वे(स्वे)दः; नखस्य श्वे(स्वे)दस्थाने गोमयेन मृदा क्वाथनं भर्ज(र्ज)नम्, कषायोदके निषेचनम्; शेषं पूर्ववदिति पञ्चविधपाक-15 नियमः । शेषं गन्धशास्त्रे ज्ञातव्यं गन्धार्थिनेति ।

इदानीं गन्धादीनां गुह्यमुच्यते गुह्यमित्यादिना—

गुह्यं गन्धेषु पूतिं रसनखचपलं धूपयोगेषु गुह्यं
तद्वत् सी(शी)तं तुरुष्कं गुरुमपि शशिनं वासकार्येषु पुष्पम् ।
वेधे कर्पूरनाभि त्रिफलमदसुरा स्नानयोगे च सम्यक्
20 गुह्यं त्वग्ग्रन्थिपर्णं वनचरसहितं ग्रन्थिमुद्वर्तनं च ॥ १४२ ॥

इह गन्धादीनां शीतधूपपाककाले **गुह्यं गन्धेषु पूतिं** दद्यात् । **रसनखचपलमिति गुह्यम्** । इह धूपपाके अम्लो[146b]भूतानां गन्धानां धूपं दद्यात्, धूपयोगं कृत्वा । **धूपयोग** इति धूपपाकविषये गन्धरसं नखं सिह्लकं गुडेन मोद(शोध)यित्वा[5] दिनैकं दिनद्वयं वा यावदम्लत्वं त्यजति, ततः पिण्डादिकं दद्यादिति नियमः । अथ खरपाकेन 25 गन्धे दग्धे सति निशायां शशाङ्ककिरणैः स्पृशेद् गन्धम्; तदभावे जलतीरे स्थापयेद् यावद् दग्धदोषोपस(श)मो भवति ।

गन्धानां विनाशे कारणमुच्यते—

इह शुद्धाशुद्धद्रव्याणामेकत्वं विनाशे कारणम्, तथा तैलं शा(सा)र्द्रस्थानम्, पलालम्, क्षारद्रव्यम्, विण्मूत्रम्, मूषकसंस्पर्शः, वातम्, अत्युष्ण[6]स्थानमिति ।

१. क. ख. उद्वमनं । २. क. ख. उद्वमनं । ३. ख. भञ्जनं ।
४. क. ख. उद्वमनादिकं । ५. क. ख. मोदयित्वा । ६. क. ख. अम्युण् ।

तद्वच्छीतमिति चन्दनम्, **तुरुष्कम्**, **गुरुशशिनम्**, गुह्यम्, पुत्रकेशावसाने शीतादिधूपो देयमिति पाकान्ते नियमः। **वासकार्येषु पुष्पं** गुह्यं यावद् धूपदोषोपस(श)मो भवति। **वेध** इति वेधविषये कर्पूरम्, कस्तूरिका, **त्रिफलम्**, **मदमुरेति** कस्तूरिकासवो गुह्यं यावत् पुष्पवासदोषोपस(श)मो भवतीति गन्धयोगे नियमः। **स्नानयोगे च सम्यगिति** स्नानविषयेऽवश्यं गुह्यमिति देयं स्नानद्रव्यगण[1]मध्ये त्वग्ग्रन्थिपर्णम्। **वनचरसहितमिति** पुत्रकेशसहितम्, भागत्रयं पञ्चदशभागमध्ये दातव्यमिति नियमः। उद्वर्तनयोगे ग्रन्थिपर्णं देयम्; T 329 स्नाने यथाविभागमिति गन्धकक्षपुटविधिरुक्तः।

इदानीं नाभिभर्ता[2] गन्ध उच्यते **शुद्धाब्ज[मि]त्यादिना**—

शुद्धाब्जं द्रव्यहीनं मधुकविरहितं गन्धतोयेन पिष्टं
पक्वं धूपैः कषायोग्रसमधुकरजैर्ग्रासवृद्ध्या क्रमेण।
द्वौ ग्रासौ खण्डमिश्रौ मलयचपलयोर्लोहकर्पूरयोश्च
ग्रासस्याद्यावसाने मधुकमपि सितां निर्दहेदादिधूपात् ॥ १४३ ॥

इह यदा एकद्रव्येण गन्धराजं कर्तुमिच्छति, तदा **शुद्धाब्जमिति** नखम्, तदेव सामान्येन चतुर्विधम्—गजकर्णम्, अश्वखुरम्, उत्पलपत्रम्, वरद[3](वदर)[4]पत्रं चेति[5]। तेषु गन्धयोगजे गजकर्णाऽ[6]श्वखुरं देयम्, धूपयोगे व(ब)दरोत्पलपत्रं देयम्। अत्र वरर-(बदर)[7]पत्रं श्रेष्ठम्, तस्याभावे उ[147a]त्पलपत्रादिकं ग्राह्यम्, शुद्धं गन्धशास्त्रोक्तविधिना क्वथितं भर्जि(र्जि)तम्, गुडकषायोदकेन षि(सि)क्तं चूर्णितम्, त्रिफलादिभिः प्रलेपितं वासितमिति शुद्धम्। तदेवान्यद्रव्यैर्हीनं **मधुकमित्यासवम्**, तेन **विरहितम्**। **गन्धतोयेन पिष्टमिति** इह गन्धोदकार्थं स्वच्छतोयं गृहीत्वा एला-त्वग्-मांसी[8]-वालकं चन्दनं पोटलिकायां बद्ध्वा कर्षमेक[9]मष्टाढकतोये क्षिपेत्। ततः पादावशेषं क्वाथयेत् यावद् गन्धोदकं भवति। तेनापरमपि गन्धं पीषयेदिति नियमः। **पक्वं धूपैरिति** तदेव शुद्धनखं पिष्टं धूपपाकविधिना पक्वं धूपैः। **कषायोग्रसमधुकरजैर्ग्रासवृद्ध्या क्रमेणेति** मधुस(श)र्करया सहैकग्रासं कषायस्य प्रथमदिने **ग्रासस्याद्यावसाने मधुकमपि सितां निर्दहेदादिधूपादिति** नियमात्। प्रथमं मधुकस(श)र्कराग्रासो देयो मध्ये कषायधूपस्य पुन[10]र्ग्रासावसाने मधुस(श)र्करां निर्दहेत्, द्वितीये दिने पुष्पवासं कारयेत्, एवमेकान्तरितम् उग्रधूपस्य ग्रासद्वयं दिनद्वयेन निर्दहेत्, नखस्य ग्रासत्रयं त्रिभिर्दिनैः। ततो **द्वौ ग्रासौ खण्डमिश्राविति मलयस्य** द्वौ ग्रासौ दिनद्वये। **चपलस्यैकम्**। **लोहकर्पूरयोरपि ग्रासस्याद्यावसाने** मधुस(श)र्करापूर्ववदिति। एवमेकान्तरेण चतुर्विंशतिदिनैर्धूपैः पक्वं भवति।

---

१. ग. गुण। २. क ख. नाभिभर्ता। ३. क. ख. वरद। ४. भो. Ba Da Ra (बदर)। ५. ग. पुस्तके 'वरदपत्रं' इति नास्ति। ६. क. ०कर्णो। ७. भो. Ba Da Ra (बदर)। ८. भो. Pā La Ka। ९. भो. So gÑis (कर्षद्वयम्); क. ख. पुस्तकयोः 'कर्षमेकं कर्षद्वयं' वा नास्ति। १०. ग. पुस्तके 'पुनः' इति नास्ति।

वासं कृत्वा सुपुष्पैः कतिपयदिवसैर्गन्धतोयेन मिश्रं
अश्रा(स्रा)वे मृत्कपाले दृढपिहितमुखे वेष्टिते सिक्थवस्त्रैः ।
कृत्वा विस्तीर्णभाण्डे त्वथ धरणितले पूरिते वालुकाभिः
पक्वं षण्मासयोगाद्भवति जलगतो नाभिभर्ता सगन्धः ॥ १४४ ॥

5 ततो **वासं कृत्वा** दशदिनं **सुपुष्पैः** यावद्धूपदोषोपस(श)मो भवति । **गन्धतोयेन मिश्रमिति** पूर्वविधिना प्रत्यहं गन्धतोयं काथयेत्, शीतोदकं न दद्यात् । शीतोदकेनाम्लो भवति, तेन गन्धतोयेन मिश्रं गन्धं कृत्वा **अश्रा(स्रा)वे मृत्कपाले** बाह्यसिल्क(क्थ)**वस्त्रेण वेष्टिते दृढपिहितमुखे** तदेवापरे **विस्तीर्णे भाण्डे** जा[147b]तिकायामथ[1] **धरणितले**, अस्याभावे तस्मिन् भाण्डे प्रक्षिप्य उपरि वालि(लु)कां दद्याद् यावद्भाण्डं कण्ठपर्यन्तं
10 पूरितं भवति । तत्र **वालि(लु)काभिः पूरिते** भाण्डे सामान्यमुदकं सूर्यतप्तं देयम्, तदेव भाण्डं सूर्यतापे स्थापयेत् **षण्मासं** यावत् । एवं **पक्वं षण्मासोपयोगाद्भवति जलगतो नाभिभर्ता गन्ध** इति गन्धराजनियमः ।

इदानीं पुष्पतैलार्थं गन्धतैलाय च तिलशुद्धिरुज्य(च्य)ते कृत्वेत्यादि—

कृत्वा शुद्धिं तिलानां क्वथितदलजलैर्धूपलेपादिभिश्च
15 पश्चाज्जात्यादिपुष्पैः कतिपयदिवसं वासयेद् यावदिष्टम् ।
यन्त्रे तैलं गृहीत्वा नृप निपुणतया स्थापयेत् काचभाण्डे
स्नाने वाऽभ्यङ्गने वा भवति मदकरं पुष्पतैलं ह्यपक्वम् ॥ १४५ ॥

इह तिलान् परिपक्वान् नवान् संगृह्य **क्वथितदलजलैरिति** दलान्याम्रपत्राणि, एवं जम्बू-कपित्थ-मातुलुङ्ग-विल्वानां पञ्चवृक्षाणां पत्राणि, तैः क्वथितं जलं तैर्दलजलैर्मर्दयित्वा
20 तिलानां तुषा[2]पनयनं प्रथमशुद्धिः । ततो जालायन्त्रोपरि वस्त्रं दत्वा, तदुपरि तिलान-परभाण्डे पिहित्वा धूपयेत्, द्वितीया शुद्धिः । **लेपादिभिरिति** त्रिफलैर्लेपो देयो गन्धतोयेन पिष्टैः, आदितः सूर्यरश्मिभिः शोषयेत् । एवं **तिलानां शुद्धिं कृत्वा पञ्चा(श्चा)ज्जात्या-दिपुष्पैः कतिपयदिवसं** पक्षं वा दशदिनं वा निरन्तरं **वासयेद् यावन्**मर्दितानां[3] वासित-पुष्पगन्धमुद्वहति, तत **इष्टं** वासनं भवति । ततः कोलु(ल्हु)कयन्त्रेण **तैलं गृहीत्वा, नृप**
25 इत्यामन्त्रणम्, **निपुणतया काचभाण्डे स्थापयेत्** । तत् तैलं **स्नाने वाऽभ्यङ्गने वा भवति मदकरं पुष्पतैलं ह्यपक्वमिति** । अथ पक्वतैलं कर्तुकामः, तदा तदेव तैलं समतोयेन सुगन्धेन क्वाथयेद् यावत् तैलं फेनं मुञ्चति । ततोऽवतारणकाले अष्टांशेन गन्धद्रव्यं गन्धोदकेन पिष्ट्वा देयम्, पश्चादवतारयेद् यावत् शीतलं भवति । ततः कस्तूरिकाद्यैर्वेधं दत्वा काचभाण्डे स्थापयेत् । तदे[148a]व मदासवेन पादांशेन मिश्रितं लाक्षाभाण्डे

---

१. क. कायामध, ग. जाडिकायामथ । २. क. तुला ।
३. ग. यावतार्दितानां; भो. bsGos Pa rNams (०वासितानां) ।

सूर्यतापैः सप्ताहं तप्तं कस्तूरिकातैलं भवति। वेणुकनलिकायां पक्वं सूर्यपाकं भवति; एवं विलेपनाद्यं वेणुकनलिकायां पक्वं दिव्यविलेपनं भवति नाभ्यादिभिर्विद्धम्। एवं नानाविधं गन्धशास्त्रोक्तं गन्धादियोगं कारयेत्। अत्र संक्षेपत उक्तं भगवतेति गन्धयुक्तिनियमः।

इदानीं गुर्विणीनां प्रसवनार्थं सर्वतश्चतुस्त्रिंशतिकं यन्त्रमुच्यते भूभृदित्यादिना— 5

भूभृत्सूर्येन्दुमन्वक्षिमदनवसवो रुद्रराजाग्नयश्च
दिग्भूता रन्ध्रषट्कं तिथिजलनिधयः स्थापनीयाश्च कोष्ठे।
संख्याकोष्ठैश्चतुर्भिर्जलनिधिशिखिनो लेखयित्वा समस्तं
श्रीचक्रं मानपृष्ठे प्रसवनसमये दर्शयेद् गुर्विणीनाम् ॥ १४६ ॥

इह यदा गुर्विणीनां प्रसवनकाले गर्भस्तम्भनं भवति बाह्यदूतीदोषेण. तदा इदं 10
यन्त्रं **मानपृष्ठे** लिखेत्; मानमित्याढकम् ;तस्य पृष्ठे षोडशकोष्ठकान् कृत्वा प्रथमकोष्ठे **भूभृत्** सप्त, द्वितीये **सूर्यं** द्वादश, तृतीये **इन्दुरित्येकम्**, चतुर्थे **मनुश्चतुर्दश**, पञ्चमेऽक्षि द्वौ, षष्ठे **मदनेति** त्रयोदश, सप्तमे **वसवोऽष्टौ**, अष्टमे **रुद्र** एकादश, नवमे **राजानः** षोडश, दशमेऽ**ग्नय** इति त्रयः, एकादशे **दिगिति** दश, द्वादशे **भूता** इति पञ्च, त्रयोदशे **रन्ध्रा** इति नव, चतुर्दशे **षट्कमिति** षट्, पञ्चदशे **तिथिरिति** पञ्चदश, षोडशे **जलनिधय** 15
इति चत्वारः; **स्थापनीयाश्च**[2] **कोष्ठे** षोडशे। एषामङ्कानां चतुःकोष्ठे स्थितानां **संख्या** एकपिण्डितं **जलनिधिशिखिन** इति चतुस्त्रिंशत् सर्वत्र। एतद् यन्त्रं **लिखित्वा** समस्तं **श्रीचक्रं मानपृष्ठे प्रसवनसमये दर्शयेद् गुर्विणीनामिति** गर्भमोचननियमः।[148b]

इदानीं गर्भादिबालतन्त्रमुच्यते **योगिन्य** इत्यादि—

योगिन्योऽष्टाष्टका याः प्रकटमहितले मातरो याः प्रसिद्धा 20
गर्भाख्या वासराख्या त्रिगुणनवदशैकादशान्यास्त्रिपञ्च।
मासाख्या वत्सराख्या सकलभुवितले ताः प्रगृह्णन्ति बालं
गर्भे शूलं च पीडां प्रसवनसमयेऽप्येव कुर्वन्ति योनौ ॥ १४७ ॥

इह **महीतले याः** प्रकटाः चतुःषष्टियोगिन्यः, तास्ता (अ)ष्टाष्टका **मातरः प्रसिद्धाः**, तासां मध्ये **गर्भाख्यास्त्रिगुणनव** इति सप्तविंशतिः, **वासराख्या** दश, एकादश **मासाख्याः**, 25
अन्यास्त्रियं(प)ञ्चेति पञ्चदश **वत्सराख्यास्तास्त्रयःषष्टिः बालं गृह्णन्ति सकलभुवितले गर्भे शूलं च पीडां प्रसवनसमयेऽप्येव कुर्वन्ति योनाविति**। इह गर्भाख्यानां मध्ये　T 330
पञ्चदशाधानदिनमारभ्य पञ्चदशदिनानि यावद् गर्भशूलं **प्रकुर्वन्ति**, ततो नवमासं यावन्नव, प्रसवनकाले एका, स्तनक्षारीहारिण्यौ द्वे इति गर्भाख्यानां नियमः।

---

१. क. ख. मधु। २. क. ख. अष्ट।

जातानां बालतन्त्रं भवति दिनवशान्मासवर्षप्रभेदात्
पञ्च क्रूराः कुमाराः प्रकृतिगुणवशात् संस्थिताः पर्वसन्धौ ।
बाला(बालं) गृह्णन्ति ते वै स्वतिथिभयगतं नैव मुञ्चन्ति राजन्
तेषां शान्त्यर्थमस्मिन् प्रभवति विविधं मण्डले होमकाद्यम् ।। १४८ ।।

5 **जातानां** बालानां **बालतन्त्रं भवति दिनवशान्मासवर्षप्रभेदा**दिति ।

इह **बालतन्त्रमिति** बालचिकित्सा मातृपीडितानाम्; तत्र वासराख्यानां बलिं वक्ष्यमाणं दद्यात् । **जातानां** जन्मदिनमारभ्य दश[1] दिनं यावत् स्वस्वदिने बालानां पीडां कुर्वतीनां प्रत्येकमासवसा(शा)देकादशता, एकादशमासान् [149a] यावत् । ततः पञ्चदशानां पञ्चदशवर्षान् यावत्, तदुपरि बालकुमारत्वाभावः, षोडशमे(शे) वर्षे शुक्रच्यवना-
10 दिति नियमः ।

इदानीं **पञ्च क्रूरा** उच्यन्ते **क्रूरे**त्यादि—

इह भुवितले नन्दादितिथिभेदेन पञ्चतिथीनां सन्धिषु कौमारा आकाशादि-**प्रकृतिगुणवशात् संस्थिताः पर्वसन्धौ** । ते **स्वतिथौ भयगतं बालं गृह्णन्ति**, सर्वं सामान्य-बलिना **नैव मुञ्चन्ति** बालम् । **राजन्** इत्यामन्त्रणम् । **तेषां शान्त्यर्थमस्मिन् प्रभवति**
15 **विविधं मण्डले होमकाद्यं**[2] वक्ष्यमाणमिति क्रूरनियमः ।

इदानीं गर्भाख्याभिः पीडितानां गुर्विणोनां भैषज्यमुच्यते **कुष्ठे**त्यादि—

कुष्ठोशीरं कसेरुं तगरकुवलयं केशरं पङ्कजस्य
पिष्ट्वा शीताम्बुना मन्त्रितमपि कुलिशैर्गर्भशूलेषु देयम् ।
गर्भस्तम्भेऽष्टलोमानि ल(न)कुलशिखिनः पीषयित्वा प्रदेयं
20 दुग्धाज्यं पायसान्नं दधिगुडसहितं दीयते वासरीणाम् ।।१४९।।

इह यदा गुर्विणीनां गर्भशूलं भवति, तदा भैषज्यम्—**कुष्ठम्, उशीरम्, कसेरुम्, तगरमूलम्, उत्पलकन्दम्, पद्मकेशरम्**; एतानि द्रव्याणि **शीताम्बुना** पर्युषितेन **पिष्ट्वा अभिमन्त्रितमपि कुलिशै**रिति 'ॐ आः हूँ अमुकाया गर्भशूलं हर हर स्वाहा' इति मन्त्रः, अनेनाभिमन्त्र्य **गर्भशूलेषु देय**मिति नियमः । एवं गर्भस्तम्भे **अष्टरोमाणि**
25 **नकुलस्य, शिखिनो** मयूरस्य पिच्छं गृहीत्वा, **शीताम्बुना पिष्ट्वा,** पूर्ववद्देयान्यभिमन्त्र्य । क्षीरापहारिण्याः क्षीरवृक्षतले स्नापयेत् । सप्तमल्लिकैर्गोक्षीरपूर्णैः क्षीरभक्तेन बलिं दद्या-दिति गर्भाख्यानां नियमः ।

---

१. भो. Drug Cu (षष्टि) ।

२. भो. Khrus Dan sByin Sreg Gi Bya Ba (स्नानहोमकार्यम् ।

इदानीं वासरीणां विधिरुच्यते **दुग्धेत्यादिना**—

इह दशदिनाभ्यन्तरे गृहीतस्य बालकस्य शान्त्यर्थं **दुग्धम्, आज्यम्, पायसान्नं दधिगुडसहितं** पोलिका[1]मोदकांश्च गन्धं पुष्पं प्रदीपं[2] **बलौ दीयते वासरीणाम्,** स्नानं धूपं वक्ष्यमाणमिति वासरीणां त्रिरात्रबलिनियमः । [149b]

इदानीं मासाख्यानां विधिरुच्यते **पक्षे(पक्वे)त्यादिना**— 　　5

पक्वान्नं पञ्चभिन्नं दधिगुडसहितं पोलिकामोदकांश्च
गन्धं पुष्पं प्रदीपं स्नपनमपि दलैः पञ्चरात्रं प्रकुर्यात् ।
गोदन्तं मेषशृङ्गं मृगनखचिकुरं सर्पनिर्मोकधूपं
बालानां मासजानां कथितमपि बलिं पुष्टिहेतोः समस्तम् ॥१५०॥

इह दशदिनादूर्ध्वं मासः, तत एकादशमासान् यावत् **मासजातकानां शान्त्यर्थं** 　10
बलिं मातृणां दद्यात्, **पक्वान्नं पञ्चभिन्नमिति** घृतेन पक्वं पूरिका घृतपूरम्; सोमाली सेवाल[3]वटकानिति पञ्चभिन्नम् अपरमोदनं **दधिगुडसहितं पोलिकामोदकांश्च** । **गन्धमिति** चन्दनम्, सुगन्धपुष्पं तिलतैलेन[4] **प्रदीपं** घृतेन वा । **स्नपनमपि दलैरिति** पञ्चक्षीरवृक्षाणामश्वत्थादीनां पत्रैः किञ्चित् क्वथितोदकेन सोष्णेन बालं स्नापयेत्, **पञ्चरात्रं** यावत् समस्तं **कुर्यात्** । स्नानावसाने बालस्य धूपं दद्यात्, **गोदन्तम्, मेष-** 　15
शृङ्गम्, मानुष्यनखम्, **मृगरोमम्, चिकुरम्, सर्पनिर्मोचम्**(चकम्) । एतदेकीकृत्वा(त्य) तीव्राङ्गारेण धूपम्, देवताबलौ पूर्वोक्तगन्धधूपादिकं देयं चतुर्दिक्षु ग्राममध्ये चेति नियमो **बालानां मासजातानां कथितमपि पुष्टिहेतोः समस्तम्** ।

इदानीं संवत्सरीणां बलिरुच्यते **पञ्चान्नमित्यादिना**—

पञ्चान्नं पञ्चखाद्यं जलचरपिशितं गन्धपुष्पं प्रदीपं 　20
मद्यं पूर्वोक्तधूपं स्नपनमपि तथा दिग्बलिं दिग्विभागे ।
बालानां वर्षजानां प्रकटितमवनौ पुष्टिहेतोर्नरेन्द्र
गर्भाद् वर्षत्रिपञ्च प्रभवति नियतं योगिनीनां प्रपूजा ॥१५१॥

इह दशमासादूर्ध्वं मासद्वयं वर्षमिह गृह्यते; तस्मात् पञ्चदशवर्षाणि यावत् वर्षजातकानां मा[150a]तृपीडितानां शान्त्यर्थं संवत्सरीणां बलिं दद्यात् । **पञ्चान्न-** 　25
मिति भक्तं सितं पीतं रक्तं कृष्णं हरितं कृत्वा हरिद्रादिभिः, एतत् पञ्चान्नम् । **पञ्चखाद्यमिति** पक्वान्नं[5] पूर्वोक्तं **जलचरम्,** मत्स्यम्, मांसम्, पिशितमिति; **गन्धाद्यं**

१-२. ख. ग. भो. पुस्तकेषु नास्ति ।
३. ग. पुस्तके 'सेवालि' इति नास्ति । ४. ख. तिलेन ।
५. क. ख. पञ्चान्नं ।

पूर्वोक्तम् । **मद्यं पूर्वोक्तं धूपादिकम्;** सर्वं वंशचङ्गेडिकायां दत्वा त्रिवारान् निर्मञ्च-(ञ्छ)येत् सदीपबलिना । **दिगिति** दशदिनम् । **दशदिग्विभागे** इन्द्रादि-ईशानपर्यन्तम् अध ऊर्ध्वं बलिः ग्राममध्ये चतुःपथे दातव्येति । **बालानां वर्षजातानां प्रकटितमवनौ पुष्टिहेतोः, नरेन्द्र** इत्यामन्त्रणम् । इति संवत्सरीणां पूजानियमः ।

5 एवं **गर्भाद् वर्षत्रिपञ्चेति** पञ्चदशवर्षपर्यन्तं त्रयः(त्रि)षष्टियोगिनीनां नियतं पूजा कर्तव्या, अन्यथा बालानां शान्त्यादिकं न भवतीति योगिनीनां पूजानियमः ।

इदानीं मातृगृहीतानां दोषलक्षणमुच्यते **अङ्गेत्यादि**—

अङ्गात् क्षयोऽक्षिशूलं मुखकरचरणं पीततां याति सम्यक्
प्रश्रा(स्रा)वः पीतवर्णो ज्वर इति च भवेच्छर्दिशोषं च मूर्च्छा ।
10 ज्ञात्वा चिह्नानि तेषामपि नृप करणं मण्डले होमकार्यं
नोऽदत्ते मुञ्चयन्ति प्रकृतिगुणवशान्मातरो भूतजाश्च ॥१५२॥

इह यदा मातृभिर्गृहीतो बालको भवति, तदा तस्या**ङ्गात् क्षयो** भवति, **अक्षिशूलं** भवति, मुखकरौ चरणौ च **मुखकरचरणं पीततां याति, सम्यक् प्रश्रा(स्रा)वः पीतवर्णो** भवति, **ज्वरो** भवति, **छर्दि**र्भवतीति, **शोषं च मूर्च्छा** भवति; एतानि मातृदोष**चिह्नानि**
15 **ज्ञात्वा तेषां** बालकानाम्, **अपि**शब्दात् क्रूरग्रहगृहीतानां **मण्डले होमादिकं कार्यम्;** अन्यथा **नोऽदत्ते** बलौ **मुञ्चयन्ति प्रकृतिगुणवशात् भूतजा मातरः** पूर्वोक्ता इति चिकित्सालक्षणम् ।

इदानीं चतुःषष्टिमया कुलिकया गृहीतस्य मृत्युलक्षणमुच्यते **श्वेतेत्यादिना**—

श्वेताङ्गं यस्य सर्वं भवति नरपते स्फोटकाश्चातिसूक्ष्मा
20 वक्रग्रीवा सगात्रा स्रवति सरुधिरं वक्त्रगुह्ये गुदे च ।
त[150b]स्मिन् पूजां न कुर्याद्भवति हि लघुता मन्त्रिणां मोहितानां
मृत्युस्तस्यास्ति नूनं सुरनरभुजगै रक्षितुं शक्यते न ॥१५३॥

इह चतुःषष्टिमा कुलिका सर्वासां योगिनीनां प्रत्येकसन्धौ व्यापकरूपेणास्थिता गर्भदिनमासवर्षाणां सन्धौ । तया गृहीतस्य बालकस्य **श्वेताङ्गं सर्वं भवति; स्फोट-**
25 **काश्चातिसूक्ष्माः** सर्षपराजिकामात्रा भवन्ति; **वक्रा ग्रीवा** भवति; **सगात्रा श्र(स्र)वति रुधिरम् । वक्त्रे** वा, **गुह्ये** वा, **गुदे** वा । ईदृशं लक्षणं दृष्ट्वा **तस्मिन्** विषये **पूजां न कुर्यात्** । यदि करोति तदा **मोहितानां मन्त्रिणां** लोभाद् **लघुता** भवति । कुतः ? यतो **नूनं तस्यास्ति मृत्युः सुरनरभुजगै रक्षितुं शक्यते न** इति मृत्युचिह्ननियमः ।

इदानीं मण्डले पूजिताः सुखकरा उच्यन्ते **नागेत्यादि**—

नागा यक्षा ग्रहा येऽपि च दनुकुलजा राक्षसा वै पिशाचाः
शाकिन्यो दुष्टनागा नररुधिररता डाकिनीरूपिकाश्च ।
कुम्भा(कूष्मा)ण्डाः क्षेत्रपालास्त्वपि गणपतयः क्षेत्रवेतालसिद्धाः
सापस्माराः खगेन्द्राः परमसुखकराः पूजिता मण्डले स्युः ॥१५४॥ 5

इह **नागादिभिः** पीडितानां **नागादयः** पूजिता वक्ष्यमाणमण्डले **सुखकरा** भवन्ति। एषां लक्षणान्यनेकानि भूततन्त्रोक्तानि मुद्राबन्धेन ज्ञातव्यानि, अत्रैव वक्ष्यमाणे कियन्तीति ।

इदानीं क्रूरपूजार्थं मण्डलं मण्डलस्थानमुच्यते **क्रूराणामित्यादि**— T 331

क्रूराणां पूजनार्थं भवति नरपते मण्डलं ग्रामबाह्ये 10
वृक्षस्थाने श्मशाने सुरवरभुवने सङ्गमे वा नदीनाम् ।
हस्तं वा द्वौ चतुष्कं त्रिदशनवनृपैर्देवतानां प्रमाणै-
र्मध्ये त्वष्टारचक्रं भवति गुणवशान्मण्डलादर्द्धभागम् ॥१५५॥[151a]

इह **क्रूराणां पूजनार्थं मण्डलं ग्रामबाह्ये** भवति। तत्रैवैकवृक्षस्थाने, **श्मशाने, सुरवरभुवन** इति शून्यदेवालये, **सङ्गमे वा नदीनाम्, हस्तं वा द्वौ चतुष्कमिति**। इह 15 विभवानुरूपत एकहस्तं मण्डलम्, द्विहस्तम्, चतुर्हस्तं वेत्यारभ्य यावद् हस्तसहस्रं वा तावद् वर्तयेदाचार्यः। **त्रिदशनवनृपैरिति** इह नवदेवतानां **प्रमाणम्** एकहस्तं मण्डलम्, त्रयोदशानां द्विहस्तम्; **नृप** इति षोडशानां चतुर्हस्तम्, इत्यारभ्य यावद् विंशत्यधिकषोडशशतानां हस्तसहस्रपर्यन्तं वर्तयेत विभवतः। इह सर्वमण्डलानां **मध्ये अष्टारं चक्रं** वा पद्मं **भवति मण्डलादर्द्धभागिकम्**। 20

द्वारं चक्राष्टभागं भवति खलु तदर्द्धेन वेदी च हाराः
प्राकारा वेदिकार्द्धास्त्रिगुणमपि भवेत् तोरणं द्वारमानात् ।
वृत्तं कुण्डं त्रिभागं सितकमलमयं पूरितं श्वेतरङ्गैः
कुर्यात् श्रीपञ्चरङ्गैः स्वकुलदिशि गतं देवतानां स्वचिह्नम् ॥१५६॥

द्वारं मण्डलचक्राष्टभागम्, द्वारार्द्धे वेदिका हारभूमिश्च, पञ्चप्राकाररेखा 25 **वेदिकार्द्धेन** रत्नपट्टिकापि, **द्वारमानेन** निर्यूहं पक्षकं कपोलं चेति, **तोरणं त्रिगुणं द्वारात्** इति मण्डललक्षणनियमः ।

इदानीं शान्तिककुण्डमुच्यते **वृत्तमित्यादि**—

इह वक्ष्यमाणकुण्डानां मध्ये **वृत्तं** कुण्डग्राह्यं शान्त्यै, तदेव **त्रिभागमिति** वितस्तिद्वयं विष्कम्भम्, वितस्त्येकं गम्भीरम्; **शि(सि)तकमलमयमिति** गर्भमध्ये 30

श्वेतरजसा पद्मम्, वेदिकोपरि[1] पद्मावली,[2] बाह्येऽधः पद्मपत्राणि। **एवं पूरितं श्वेतरङ्गैः**। ततः श्वेतपद्मकर्णिकादलेषु **पञ्चरङ्गैर्देवतानां चिह्नं कारयेत्, स्वदिशि गतं** कुलवशात् पञ्चतथागतवशादिति।

वज्रं मध्येऽसि पूर्वे भवति कुलवशाद् दक्षिणे रक्तरत्नं
5 वामे श्वेतं च पद्मं शतदलसहितं पश्चिमे चक्रचिह्नम्।
आग्ने[151b]य्यां कर्तिका वै कमलदलगता दैत्यकोणेऽङ्कुशः स्याद्
वायव्ये वज्रपाशो भवति नरपते रुद्रपत्रे त्रिशूलम् ॥१५७॥

वज्रं मध्य इति इह वक्ष्यमाणे "वज्रं वा सर्वकर्मणि(सु)"(३.१२) इति वचनात् पद्मकर्णिकायां वज्रं नीलम्, विज्ञानस्कन्धः; **असिः पूर्वपत्रे** कृष्णः संस्कारः; **भवति**
10 **कुलवशात्, दक्षिणे रक्तरत्नं** वेदना; **वामे** उत्तरपत्रे **श्वेतपद्मं शतदलं** संज्ञा; **पश्चिमे चक्रचिह्नं** पीतं रूपस्कन्ध इति। आग्नेयपत्रे **कर्तिका** कृष्णा वायुरिति **कमलदलगता, दैत्यकोणे** नैर्ऋत्येऽङ्कुशो रक्तस्तेज इति, **वायव्ये वज्रपाशः**, पीतः पृथ्वीति। **रुद्रपत्रे** ईशाने **त्रिशूलं** शुक्लं तोयधातुरिति, **मध्ये वज्र**माकाशधातुर्विज्ञानेन सार्द्धमिति।

पूर्वद्वारे च खड्गं कृष्णघननिभं दक्षिणे वज्रदण्डो
15 वारुण्ये श्रीगदा च प्रभवति नियतं चोत्तरे मुद्गरश्च।
ज्ञात्वा चित्तानुसारं कुरु सुबहुविधं कालचक्रं हि यावत्
वन्ध्यानां पुत्रहेतोर्ग्रहनिहतनृणां शान्तिपुष्ट्यर्थमेतत् ॥१५८॥

पूर्वद्वारे च खड्गम्, कृष्णमीर्ष्यावज्रं क्रोधः; **दक्षिण**द्वारे **वज्रदण्डो** रक्तो रागवज्रः क्रोधः; **वारुण्ये** पश्चिमद्वारे **[श्री]गदा** पीता मोहवज्रः क्रोधः; **उत्तर**द्वारे
20 **मुद्गरः** शुक्लो मानवज्रः क्रोधः; मध्ये वज्रं द्वेषवज्रो नीलक्रोधराज इति। **ज्ञात्वा** इत्यादि **पुष्ट्यर्थमेत**दिति पर्यन्तं सुबोधम्।

इदानीं ग्रहपीडितानां स्नानविधिरुच्यते **कुम्भ** इत्यादिना—

कुम्भाष्टाभिः सरत्नैर्दलकमलमुखैः सप्तमल्लैरपक्वै-
स्तोयैः पञ्चामृताद्यैः स्नपनमपि च निर्मुञ्च(मञ्छ)नं सर्षपाद्यैः।
25 गन्धैर्धूपैः प्रदीपैर्विविधफलरसैः श्वेतपुष्पैश्च वस्त्रैः
कृत्वा पूजां विचित्रां पुनरपि च ततो होमयेच्छान्तिहव्यम् ॥१५९॥
[152a]

[1-2] ग. वेदिकापद्मावलि।

इह मण्डलदिक्षु **अष्टकलशा** वक्ष्यमाणलक्षणोपेताः **सरत्नाः** पञ्चरत्नसहिताः, वक्ष्यमाणौषध्यादियुक्ताः । **दल** इति क्षीरवृक्षपल्लवाः कमलमुखाः, तैरिति; तथा **सप्तमल्लैरिति** सप्तसरावैरपक्वैः, **तोयैः** पञ्चामृताद्यैः, तैः सहितैः, तोय-दुग्ध-दधि-घृत-मधु-इक्षुरसगन्धोदकैः; एभिः पूर्णैः सप्तमल्लैर्यथाक्रमेण **स्नपनं** **कुर्यात्** । ततोऽष्ट(ा)भिः कुम्भैर्जयविजयघटाभ्याम् **अपि**शब्दादिति । **निर्मञ्च(ञ्छ)नं सर्वपाद्यैरिति** प्रथमं पञ्चगोमयपिण्डकाभिः, ततो ज्वलत्तृणचूलि(ल्लि)काभिः सर्षपाद्यैः भक्त[1]पिण्डकादिभिरिति कुर्यादेभिर्निर्मञ्च(ञ्छ)नम् । ततो **गन्धाद्यैः पूजां कृत्वा,** मण्डलप्रतिष्ठां कृत्वा, प्रवेशयेद् मण्डले । तत्राभिषेकं दत्वा मण्डलकलशोदकेनाभिषेकं तोयादिकं कृत्वा, **ततो होमयेत् शान्तिहव्यमिति** ।

दुग्धं धान्यं तिलाद्यं(ज्यं) शरशतसमिधः पञ्चदुग्धाङ्घ्रिपानाम्
अर्घं चावाहनं चाचमनमपि तथैवार्चनं पूजनं च ।
कुर्याच्छान्त्यर्थमेतत् प्रवरभुवितले मातृभिः पीडितानां
षट्त्रिंशद्योगिनीनां भवति नरपते सर्वकालं हि पूजा ॥१६०॥

दुग्धमित्यादि सुबोधम् । अपरं यदनुक्तं तत् सर्वमभिषेकपटलोक्तविधिना कार्यमाचार्येणेति सर्वत्र नियमः ।

इति श्रीमूलतन्त्रानुसारिण्यां[2] लघुकालचक्रतन्त्रराजटीकायां
द्वादशसाहस्रिकायां[3] विमलप्रभायां[4]
रसायनादिबालतन्त्रमहोद्देशः
षष्ठः ॥६॥

(७) स्वपरदर्शनन्यायविचारमहोद्देशः

नैरात्म्यं कर्मपाकस्त्रिभवऋतुगतिर्द्वादशाङ्गप्रतीतेः
सम्भूतिर्वेदसत्यं द्विगुणितनवकाऽवेणिका बुद्धधर्माः ।
पञ्च[152b]स्कन्धास्त्रिकायाः सहज इति तथैवाजडा शून्यता च
यस्मिन्नेतद् वदन्ति प्रकटितनियता देशना वज्रिणः सा ॥१६१॥

प्रणिपत्य जगन्नाथं कालचक्रं महासुखम् ।
स्वपरे दर्शने किञ्चिद् मतमुक्तं वितन्यते ॥

---

१. क. भण्ड । २. क. ख. मूल० । ३-४. क. ख. विमलप्रभायां द्वादशसाहस्रिकायां ।

इदानीं परमादिबुद्धात् मञ्जुश्रियोदितं स्वपरदर्शनानुमतं टीकया वितन्यते **नैरात्म्येत्यादि**। इह लोकसंवृत्या विचार्यमाणः सर्वदर्शनसिद्धान्तः समानो लौकिकसिद्धये; तद्यथा—

येन येन हि भावेन मनः संयुज्यते नृणाम्।
5 तेन तन्मयतां याति विश्वरूपो मणिर्यथा॥

इति भावसंकल्पः समानः; तथा धात्विन्द्रियादिविचारोऽपि तुल्यः। व्यावहारिकं कर्तृकरणादिकं च तुल्यम्। बौद्धतीर्थिकयोर्विशेषो नास्ति[1]; शून्यतातत्त्वं प्रति विशेषः, स च नैरात्म्येत्यादि।[2]

इह **नैरात्म्यं द्विविधम्**—पुं(पुद्)गलनैरात्म्यम्, धर्मनैरात्म्यमिति। **कर्मविपाक-**
10 **स्त्रिविधः**—कायिकवाचिकमानसिकश्चेति। **त्रिभवः** कामरूपोऽरूपः। **ऋतुगतिरिति** नरकप्रेततिर्यक्मनुष्यासुरदेवानां गतिः षड्गतिः; **द्वादशाङ्गप्रतीतेः** साक्षात्[3] **सम्भूतिः** षड्गतिकानामिति। **वेदसत्यमिति** चतुरार्यसत्यम्, दुःख-समुदय-मार्ग-निरोधलक्षणं चेति। **द्विगुणितनवका** इत्यष्टादश **आवेणिका बुद्धधर्मा** वक्ष्यमाणे(णा) वक्तव्याः। **पञ्चस्कन्धा** इति रूपादयः। **त्रिकाया** इति धर्मकायादयः, **सहज**[काय][4]श्चतुर्थ इति। **तथैवाजडा**
15 **शून्यता** सर्वाकारवरोपेता प्रतिसेनोपमेति। **यस्मिन्निति** यानत्रये **एतन्नैरात्म्यादिकं देशका वदन्ति प्रकटितनियता देशना वज्रिणः सा**, बौद्धदृष्टिवसा(शा)त् सत्त्वाशयेनेति तथागतमतनियमः।

इदानीं **ब्रह्मविष्णो(ष्ण्वो)**र्मतमुच्यते **यस्मिन्नित्यादि**—

यस्मिन् वेदः स्वयम्भूर्मुखकरचरणादौ च योनिर्जनस्य
20 नान्यो धर्मोऽश्वमेधात् पर इति भवेद् देशना ब्रह्मणः सा।
कर्ताऽत्मा कर्मकालः प्रकृतिरपि गुणाः शून्यता नष्टधर्मा
कर्ता हेतुः फलस्य प्रकटितनियता देशना सात्र विष्णोः॥१६२॥

[153a]

इह **यस्मिन्** मते **वेदः स्वयम्भूर**कृतक आकाशवत्, **मुखकरचरणादौ च योनि-**
25 **र्जनस्येति**। इह ब्रह्ममुखं ब्राह्मणयोनिः, भुजौ क्षत्रिययोनिः, **आदि**शब्दादूरुद्वयं वैश्ययोनिः, पादौ शूद्रयोनिरिति। **नान्यो धर्मोऽश्वमेधादिति** इह स्वर्गसाधनेऽश्वमेधयज्ञात् **परो** नान्यो दानादिधर्मोऽस्ति इति **भवेद् देशना ब्रह्मणः सा** इत्यादि ब्रह्ममतनियमः।

---

१. ख. अस्ति। २. क. ख. नैरात्म्येति; भो. Ces Pa La Sogs Pa (इत्यादि)।
३. क. ख. ग. सकाशात्; भो. dNos (साक्षात्)। ४. भो. sKu (कायः)।

इह तदन्तर्भूते गीताधर्मे विष्णुमते, तद्यथा—कर्तास्ति, आत्मास्ति, शुभाशुभ- T 332
कर्मास्ति, कालोऽस्ति, पृथिव्यादिप्रकृतिरस्ति, सत्त्वादयो गुणाः सन्ति, शून्यता[1] नष्टधर्म-
तास्ति[2]*, न[3] पश्यती[4]त्याहुरेकीभूत इत्यादितः। कर्ता हेतुः फलस्य शुभाशुभकृतस्य
दायकोऽस्तीति। प्रकटितनियता देशना सात्र कालचक्रे विष्णोरिति वैष्णवमतनियमः।

इदानीमीश्वरमतमुच्यते षण्मार्गा इत्यादि— 5

षण्मार्गाः पञ्चतत्त्वं परपदमखिलं चापरं मन्त्रदेहं
विद्यात्मा सच्छिवत्वं त्रिविधपदगतेर्योजनं त्यागभावः।
बिन्दोर्भेदः(दं) शिवत्वं सकलतनुगतं द्वादशग्रन्थिभेदाः
एतत् सर्वं हि यत्र प्रभवति नियता देशना सा शिवस्य ॥१६३॥

इह पूर्वोक्तेन विष्णुमतेन सार्द्धं षण्मार्गादिकं कुतः? 10

'एकमूर्तिस्त्रयो देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः'।

१-२. ग. 'शून्यता नष्टधर्मता' इति नास्ति; भो. sToṅ Pa Ñid Ni mÑam Pa̤hi Chos Ñid De (शून्यता समधर्मताऽस्ति)। ३-४. क. ख. नय इयती।

* मूले टीकायां च 'शून्यता नष्टधर्मा' अथ वा 'शून्यता नष्टधर्मता अस्ति' इति पाठो लभ्यते। वैशेषिकपक्षे कथमिदं समञ्जसं स्यादिति विषये प्रयासभेदो दृश्यते; अत एव ग. पुस्तके 'शून्यता नष्टधर्मता अस्ती'ति स्थाने 'नास्ति' इत्येव पाठोऽङ्गीकृतः। टीकाया भोटानुवादे तु 'नष्टधर्मता' इति 'समधर्मता' इत्यनुवादो विहितः। किन्तु मूलं टीकां चाधृत्य स्वाभिप्रायमाविष्कुर्वता खेस्- ड्रुब- जे- महाभागेन यथास्थितं नष्टधर्मता-पाठमङ्गीकृत्यापि कथं वैशेषिकपक्षे 'शून्यता नष्टधर्मता' इत्येव वाक्यं समञ्जसमिति प्रतिपादितम्।

नित्यपरमाणुसंयोगैः सृष्टिमधिगच्छताऽपि तदुपादानकं भौतिकं जगद् अनित्यत्वाद् विनश्यत्येवात एतस्य सृष्टिजातस्य नष्टधर्मतात्वेन शून्यता समधिगता भवत्येवेति खेस् ड्रुब जे महाभागानां मतसांरांशः। भोटभाषया चायमित्थं विवृतो भवति—

"sToṅ Pa Ñid Ni dÑos Po Raṅ Grub Dus Las Yun Riṅ Du gNas Pa Yaṅ Ñams Pa̤am S̄ig Pa̤hi Chos Kyi Chod Pa Ñid yod De. dÑos Po Thams Cad rTsa Bar Thim Pa̤hi sGo Nas gCig Tu Gyur Ba La Sogs Pas. mThar S̄ig sTe Mi mThoṅ Ba̤hi Phyir Ro" (ḥGrel Chen Dri Med Ḥod Kyi ḥGrel bŚad—'Ga', page 161A).

उपरिलिखितभोटांशस्य संस्कृतानुवादः—

"स्वोत्पत्तितः दीर्घकालं यावत् स्थितानां वस्तूनां विनाशभङ्गधर्मोच्छेद्यत्वरूपा वा शून्यताऽस्त्येव, यतो हि स्वोपादाने विलीनीभूतानि एकीकरणादिभिः वस्तूनि विनश्यन्ति, अदृश्यतां च गच्छन्ति"।

इति वचनात् कर्ता आत्मा कर्म कालः प्रकृतिगुणाः शून्यता नष्टधर्मा निर्वाणं काष्ठावस्थातः[1]। एभिः सार्द्धं षण्मार्गादिकं वेदितव्यमिति नियमः*। इह शरीरे षण्मार्गाः षड्विषयेषु प्रवर्तका इति। **पञ्चतत्त्वमिति** आकाशादिधातुसमूहम्; **परपदमिति** षष्ठो ज्ञानधातुः; **अखिलमिति** सर्वधात्वेकलोलीभूतम्; **चकारादपरं मन्त्रदेहमित्यालिकाल्या-**
5 त्मकं मन्त्रतत्त्वमिति। **विद्येति** आनन्दादिकामतत्त्वम्; **आत्मेति** आत्मतत्त्वं नित्यम्; **सच्छिवत्वमिति** शिवतत्त्वं[2] सर्वव्यापि। तस्य रूपपरिवर्जितस्य त्रिविधा [153b] पदगतिः—पिण्डस्था, पदस्था, रूपस्था कायवाक्चित्तविकल्पधर्मिणो, **तस्यास्त्रिविधपदगतेर्योजनमिति**। एषां षण्मार्गादीनामुत्पादकाले योजनं मेलापक(नम्) इति, मृत्युकाले **त्यागभावः**, तेषां विघटनमित्यर्थः। **बिन्दोर्भेदं शिवत्वमिति** इह शुक्रबिन्दोर्भेदं
10 च्यवनसुखावस्थालक्षणम्, तदेव शिवत्वम्; **सकलतनुगतमिति** चराचरव्यापि। **द्वादशग्रन्थ(न्थि)भेदा** इति इह प्राणिनां तनुगता द्वादशराशयो ग्रन्थिशब्देनोच्यन्ते, तेषां द्वादशराशीनां भेदा वर्षायन[3]कालयुगऋतुमासपक्षदिनघटिकापाणीपलश्वासा इति। **एतत् सर्वं हि यत्र** सिद्धान्ते **प्रभवति नियता देशना सा शिवस्य**। [इति] शिवमतनियमः।

---

१. क. ख. कायावस्थातः।

२. क. ख. शिवत्वं; भो. Si Baḥi De Ñid (शिवतत्त्वं)। ३. ख. वर्षापन।

*. वैष्णवमतानुबन्धेन (शैव)मतस्य कथं समुत्थानमिति प्रश्नं समादधता 'एकमूर्तिस्त्रयो देवा' इत्याद्युक्तं टीकायाम्। तं स्फुटीकुर्वता खेस्-ड्रब-जे- महाभागेनोक्तं यत् गीतावैष्णवमते कर्ताऽस्तीत्यनेन परमाणुकर्तृवादः फलदायकत्वेन चेश्वरकर्तृवादोऽङ्गीकृतः, तदनुरोधेन शैवमतस्य समुत्थानं प्रसङ्गसङ्गतमेवेति। भोटे यत् तदित्यम्—

"ḥDir Deḥi Naṅ Du ḥDus Pa gLuḥi Chos sMra Ba Lha Khyab ḥJug Gi rJes Su ḥJug Paḥi Bye Brag Pa Daṅ Rigs Pa Can Pa Dag gi ḥDod Pa ḥDi lTa sTe. Byed Pa Po Yod Pa Daṅ Ses Pa Ni ḥJig rTen Thams Cad rTsom Pa Po rDul Phran rTag Pa Cha Med Yod Pa La bŚad dGos Kyi. Thams Cad Byed Pa Po Tshaṅ Paḥam Khyab ḥJug Yod Pa Daṅ Zer Ba Don Ma yin Te. Ḥog Tu ḥDi Dag ḥGog Paḥi sKabs rDul Phran Cha Med Byed Pa Po yin Pa La dGag Pa gSuṅs Kyi Khyab ḥJug Byed Pa Po Yin Pa La dGag Pa Ma gSuṅs Paḥi Phyir Ro." (ḥGrel Chen Dri Med Hoḍ hGrel bŚad—'Ga', page 161A).

उपरिलिखितभोटांशस्य संस्कृतानुवादः—

"अत्र अस्मिन् संगृहीतेषु गीताधर्मवादेषु वैष्णवेषु वैशेषिकनैयायिकयोर्यद् अभिमतम् तत् कर्ता अस्तीति सर्वलोकस्य रचयिता नित्यनिरवयवपरमाणुः अस्तीत्यर्थकम्, न तत्र सर्वकर्ता ब्रह्मा वा विष्णुर्वा अस्तीति अभिमतम्; अत एवाग्रे तयोः खण्डनावसरे निरवयवपरमाणोः कर्तृत्वमेव दूषितम्, नैव तत्प्रसङ्गे विष्णोः कर्तृत्वं खण्डितम्"।

नास्तीशः कर्मपाकोऽपि च गुणविषयान् भूतवृन्दं हि भुङ्क्ते
तस्याभावे फलं न स्फुटममरगुरोर्देशना वेदितव्या ।
कर्ता(र्त्री) सृष्टं समस्तं सचरमचरजं तायि(जि)नां भुक्तिहेतोः
स्वर्गस्तस्य प्रतोषाद् भवति खलु नृणां देशना रह्मणः सा ॥ १६४ ॥

इदानीं लोकायतमतमुच्यते **नास्तीत्यादि**— 5

इह देहिनां **नास्तीशः**, कर्ता नास्तीति; **कर्मपाकोऽपि च** नास्ति । **गुणविषयानिति** गुणाः सत्त्वादयः, विषया गन्धादयः; **भूतवृन्दमिति** पृथिव्यादिकम्, तान् **भुङ्क्ते; तस्य** भूतवृन्दस्या**भावे** मरणान्ते कर्मफले (**फलं**) **न** । हरीतकीगुडादिसंयोगान्मदिराशक्तिवत् भूतानां संयोगशक्तिः, **तस्याभावे न** कश्चित् परलोकं कायोऽस्तीति **स्फुटममरगुरोर्बृह-स्पतेर्देशना वेदितव्येति** लोकायतमतनियमः । 10

इदानीं म्लेच्छतायि(ज़ि)नां[1] मतमुच्यते **कर्ते**(**र्त्रे**)त्यादि—

इह **कर्ता**(**र्त्री**) रह्मणा[2] (रहमानेन) **सृष्टं समस्तं सचरं** जङ्गमम्, **अचरं** स्थावरं वस्तु । **तायि(जि)नामि**[3]ति म्लेच्छानां श्वेतवासिनां **भुक्तिहेतोः** । **स्वर्गस्तस्य** रह्मणः[4] **प्रतोषात्**, अप्रतोषान्नरको **भवति खलु नृणां रह्मणः**[5] । **सा** पूर्वोक्तक्रियेति तायि(जि)-[6] मतनियमः ।[154a] 15

इदानीं क्षपणकमतमुच्यते **त्रैकाल्यमित्यादिना**—

त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं नवपदविहितं जीवषट्कायलेशाः
पञ्चान्ये सन्ति काया व्रतसमितिगतिर्ज्ञानचारित्रभेदाः ।
जीवः कायप्रमाणो ह्यपरिमितभवैर्ब्रह्मचर्येण मोक्षो
यस्मिन् मोक्षप्रमाणं ह्युपरि निगदितं देशना सा जिनानाम् ॥१६५॥ 20

इह क्षपणकसिद्धान्ते **स्याद्वादे** द्रव्यपर्यायाभ्यां नित्यानित्यव्यवहारः । तत्र **त्रैकाल्य-मिति** अतीतमनागतं वर्तमानं चेति; **द्रव्यषट्कमिति** जीवः, पुद्गलः, कालः, आकाशम्, पुण्यम् (धर्मः), पापं (अधर्मः) चेति । एषां मध्ये जीवः काल आकाशवत् (आकाशं)[7] नित्यम्; **नवपदविहितमिति** जोवाजीवाश्र(स्र)वसंवरवर्जनम्, (निर्जर)बन्धमोक्षगत्यागतिश्चेति; **जोवषट्कायलेशा** इति पृथ्वीकायलेशाः(श्या), अप्कायलेशाः(श्या), तेजकायलेशाः-(श्या), वायुकायलेशाः(श्या), वनस्पतिकायलेशाः(श्या), त्रश(स)कायलेशाः(श्या) इति 25

१. भो. sTag gZig (ताज़िनां) । २. क. ख. ब्रह्मणा, ब्रह्मणः; भो. Rahma Ṇa (रह्मण) । ३. भो. sTag gZig (ताजिनां) । ४. क. रक्षणः; ख. ब्रह्मणः; भो. Rahma Ṇa (रह्मण) । ५. क. रक्षणः; ख. ब्रह्मणः; भो. Rahma Ṇa (रह्मण) । ६. भो. sTag gZig (ताजि) । ७. भो. Nam mKhaḥ (आकाशम्) ।

जीवानां षट्कायलेशाः(श्या)। **पञ्चान्ये सन्ति काया** इति आहारिकः कायः, ज्योतिः-कायः, ने(नै)सर्गिककायः, उपपादुककायः, चरमकायश्चेति जीवानाम्। **व्रतसमितिगति-ज्ञानचारित्रभेदा** इति क्षपणकानां व्रतानि पञ्च—अहिंसा प्रथमम्, द्वितीयं सत्यम्, तृतीयं दत्तादानम्, चतुर्थं ब्रह्मचर्यम्,पञ्चमं सर्वपरिग्रहपरित्याग इति; **समितयः** पञ्च—
5 ईर्यासमितिः, भाषासमितिः, पर्येषणासमितिः, आदाननिक्षेपणसमितिः[1], निकटप्रतिष्ठाप-नासमिति(उत्सर्गसमिति)रिति; **गतिभेदाः** पञ्च—नरक-तिर्यक्-मनुष्य-देव-मोक्षगति-श्चेति; **ज्ञानभेदाः** पञ्च—मतिः, श्रुतिः (श्रुतः), अवधिः, मनःपर्येषणम् (पर्यायः[2]), कैवल्यज्ञानं चेति। **चारित्रभेदास्त्रयोदश**—व्रतभेदाः पञ्च, समितिभेदाः पञ्च, कायगुप्तिः, वाग्गुप्तिः चित्तगुप्तिश्चेति। इत्येतन्मोक्षमार्गमर्हद्भिः प्रोक्तम्। **जीवः कायप्रमाणः।**
10 **अपरिमितभवैर्नित्यजीवे न मोक्षः। यस्मिन्** सिद्धान्ते **मोक्षप्रमाणं**[3] **ह्युपरि** त्रैलोकस्य निगदितं पञ्चचत्वारिंशद्योजनलक्षं छत्राकारम्, **सा देशना जिनानामिति** क्षपणकमत-नियमः। [154b]

इदानीं तीर्थिकानां मतस्य युक्तिविचारेण दूषणमुच्यते **वेद** इत्यादि—

वेदोऽसौ न स्वयम्भूस्त्रिभुवननिलये वेदशब्दोऽर्थवाची
15 ब्रह्मा वक्त्रैश्चतुर्भिः प्रकटयति पुरा वेदशब्देन चार्थम्।
शब्दस्यार्थोऽप्यभिन्नस्त्वथ दहति मुखं किन्न शब्दोऽग्निरुक्तः
तस्माद् वै देशकोऽप्यस्त्यविदितविषयेऽनागतार्थेऽप्यतीते ॥ १६६ ॥

इह युक्त्या विचार्यमाणो **वेदः स्वयम्भूर्न** भवति। कुतः? आह—वेदशब्दस्यार्थ-वाचकत्वात्। इह यः **शब्दोऽर्थवाची** स कण्ठताल्वादिप्रयत्नेन जनितो यस्मात्, तस्मान्न[4]
20 स्वयम्भूरिति सिद्धम्।

अथ नायं वेदशब्दः, अन्यो वेदः कर्णविवरान्तरे सर्वशब्दार्थैकलोलीभूतो नित्यः, तस्यायमभिव्यञ्जक इति सिद्धम्। अत आह—इह यदि सर्वशब्दार्थैकलोलीभूतत्वेनाव-स्थितो नित्यो वेदस्तदा घट[5] इत्युक्ते सति कर्णविवरान्तरे कोलाहलेन भवितव्यम्; न चैवम्; तस्मादियं प्रतिज्ञा वृथा—नित्यः शब्दोऽपरोऽस्ति व्यापको**ऽर्थस्याभिन्नः।** यदि
25 शब्दार्थयोरेकत्वम्, तदा **अग्निशब्द उक्तः स्वमुखे(खं) किं न दहति?** तस्मान्न वेदस्य नित्यत्वम्, नार्थेन सहैकत्वमिति सिद्धम्। किञ्चान्यत्; इह किल श्रूयते—यदा वेदाभावो भवति, म्लेच्छैर्वेदधर्मे उच्छादिते सति, तदा **ब्रह्मा वक्त्रैश्चतुर्भिः प्रकटयति पुरा वेद-शब्देन चार्थः(र्थम्),** 'इन्द्रः पशुरासीत्' इत्यादिपाठेनेति। अतोऽर्थोऽन्यो वेदोऽन्य इति

T 333

१. भो. bLaṅs Pa Mi ḥDor Ba (आदानानिक्षेपण); "ईर्याभाषैषणादान-निक्षेपोत्सर्गाः समितयः" (तत्त्वार्थसूत्र ९.५)। २. "मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलानि ज्ञानम्" (तत्त्वार्थसूत्र १.९)। ३. "तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात्" (तत्त्वार्थसूत्र १०.५)। ४. ख. पुस्तके 'तस्मात्' इति नास्ति। ५. क. ख. पट।

सिद्धम्। तस्माद् **देशको ब्रह्माऽस्ति, अविदितविषयेऽनागतार्थेऽ[प्य]तीत** इति देशकः सिद्धः। आसीत् पाठाद् मुखपाठात्[1] कृतकः सिद्धः।

वेदो नाकाशतुल्यः कृतक इह मुखोच्चारितः स्थानभेदात्
युक्त्या प्रादेशिकश्च द्विजमुखपठितः सर्वगोऽन्ये पठन्ति।
यस्मात् शूद्रादिजातिः पठति लिखति नासर्वगो वेद एष- 5
स्तस्माद् वेदः प्रमाणं न हि भवति नृणां ज्ञानिनां पण्डितानाम्॥१६७॥
[155a]

अतो **वेदो न आकाशतुल्यः कृतक इह मुखोच्चारितः स्थानभेदा**दिति नियमः। **युक्त्या प्रादेशिकश्च द्विजमुखपठितः सर्वगोऽन्ये पठन्ति। यस्माच्छूद्रादिजातिः पठति लिखति नासर्वगो वेद एषः; तस्माद् वेदः प्रमाणं न हि भवति नृणां ज्ञानिनां पण्डिता**- 10 **ना**मिति वेदः कृतकः सिद्धः संक्षेपतः। विस्तरेण प्रमाणशास्त्रे ज्ञेय इति मञ्जुश्रियो नियमः।

इदानीं पूर्वोक्तं ब्राह्मणादीनां योनिदूषणमुच्यते—

इह किल ब्रह्ममुखं ब्राह्मणानां योनिः, तदुत्पन्नत्वादिति। एवं भुजौ क्षत्रियाणां योनिः। आदिशब्दाद् ऊरुद्वयं वैश्यानां योनिः, पादद्वयं शूद्राणां योनिः; एवं चत्वारो 15 वर्णाः। एषां चतुर्णामन्तिमो वर्णः पञ्चमः चण्डालानाम्; तेषां का योनिर्न ज्ञायते ब्राह्मणै- स्तावदिति। किञ्चान्यत्। इह ब्रह्ममुखाद् ब्राह्मणा जाताः, किल सत्यम्? अतः पृच्छामि—किं ब्राह्मण्ये(ण्यो)ऽपि ततो[2] जाताः, यदि स्युस्तदा भगिन्यो भवन्ति, एकयोनि- समुत्पन्नत्वादिति। एवं क्षत्रियादीनामपि विवाहं(हो) भगिन्या सार्द्धं भवति? कथम्? अथ भवति, तदा म्लेच्छधर्मप्रवृत्तिर्भवति। म्लेच्छधर्मप्रवृत्तौ जातिक्षयः, जातिक्षयान्नरक- 20 मिति न्यायः।

अपरमपि विचार्यते—

इह यद्येकः स्रष्टा[3] प्रजानाम्, तदा कथं चतुर्वर्णा भवन्तीति? यथा एकस्य पितुश्चत्वारः पुत्रास्तेषां न पृथक् पृथग् जातिः, एवं वर्णानामपि। अथ ब्रह्मणो मुखादि- भेदेन भेदः, तदा स एव युक्त्या न घटते। कथम्? यथा उदुम्बरफलानां मूलमध्याग्र- 25 जातानां भेदो नास्ति, तथा प्रजानामपि। अपरोऽपि श्वेतरक्तपीतकृष्णवर्णभेदेन भेदो न दृश्यते; तथा धात्विन्द्रियसुखदुःखविद्यागमादिभिर्भेदो न दृश्यते यस्मात्, तस्माज्जाति- रनित्ये(रनियते)[4]ति सिद्धम्। एवमश्वमेधादियागफलं शुकेन[5] दूषितम्; तद्यथा—

१. क. ख. पुस्तकयोर्नास्ति।

२. ख. तनो। ३. क. ख. श्रेष्ठाः। ४. भो. Nes Pa Med Pa (अनियता)।

५. ग. शुक्रेन।

"यूपं छित्वा पशुं हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम् ।
यद्येवं गम्यते स्वर्गो नरकः केन गम्यते ॥"

इति [1]शुकवाक्यं प्रसिद्धम् । तस्मान्न वेदः स्वयम्भूः, न मुखादियोनिर्जनस्य, नाश्वमेधात् परतो धर्मोऽन्य इति; सर्वप्रलापं निरर्थकं विचार्यमाणमिति ब्रह्ममतं वैष्णवमतमीश्वरेण
5 सार्द्धं दूषणीयमिति ।

इदानीमीश्वरमतस्य दूषणमुच्यते अस्तीत्यादि—

अस्तीशः सर्वकर्ता यदि स च जगतः कर्मभोक्ता न चान्यः
नापीशः कर्मकर्ता यदि स च न भवेत् सर्वकर्ता समन्तात् ।[155b]
कर्ताऽन्यः प्रेरितः सन् यदि परमपराधीनता कर्तुरेषा
10 तस्मात् कर्ता न चेशोऽशुभशुभफलदः प्राणिनां कर्म मुक्त्वा ॥१६८॥

इहास्तीश्वरः **सर्वकर्ता यदि** भवति, तदा **कर्मभोक्ता न चान्य** इति । कथम् ? अन्यो वटकमश्नाति, अन्यः पिपासया म्रियते । न चैवम् । यः करोति स कर्ता, यत् क्रियते तत् कर्म; तस्य कृतस्य कर्मणः फलभोक्ता कर्मकर्ता । न च कर्मणा विना कर्ता सिद्धयति; यथा कुम्भं करोतीति कुम्भकारः । एवं यः कर्म करोति स कर्तेति न्यायः । आह—
15 **नापीशः कर्मकर्ता**, स्वतन्त्रः प्रयोजक इति । इह **यदि कर्मकर्ता न भवति**, तदा **सर्वकर्ता समन्तादि**ति निरर्थकम् । इह **कर्ता** यदि **प्रेरितः सन्** कर्म करोति, तदा **कर्तुः पराधीनता** । यस्य पराधीनता तस्य प्रयोजकः कथं विरुद्धकर्मणि कृते सति निग्रहं न करोति; स्वतन्त्रतया विना, स्वतन्त्रता ईश्वरेण व्याप्ता । एवं कर्मफलाभावः कर्तृवादिनां सिद्धः; न चैवम्; **तस्मात् कर्ता न** कश्चिद् **ईशोऽशुभशुभफलदः प्राणिनां**[2] **कर्म मुक्त्वे**ति स्वकर्म-
20 फलोपभोगः सिद्धः कर्ता[रं][3] विना[4] ।

इदानीं स्वतन्त्रस्य कर्तुः परापेक्षिकत्वमुच्यते पृथ्वीत्यादि—

पृथ्वीतोयाग्निवातार्णव इह यदि खे कर्तुरादौ न सन्ति
द्रव्याभावे न विश्वं विषयविरहितः सर्वकर्ता करोति ।
न प्रत्यक्षं परोक्षं विषयविरहितस्यास्य कर्तुः प्रमाणं
25 संयोगादेव सर्वं भवति नरपते नेच्छया कर्मरूपम् ॥ १६९ ॥

इह यदि खे आकाशे पृथिव्यादिपरमाणवो **न सन्ति कर्तुरादौ**, तदा **द्रव्याभावे न विश्वं करोति** । **विषयविरहितो** निष्कलः, **सर्वकर्ता** कथम् ? अस्य विषयविरहितस्य **कर्तुः** साधकं **न प्रत्यक्षं परोक्षं प्रमाणं** यस्मात्, तस्माद् द्रव्य**संयोगादेव सर्वं** विश्वं चराचरं **भवति, नेच्छया कर्तुः कर्मरूप**मिति न्यायः; इतीच्छाप्रतिषेधः कर्तुः ।

---

१. ग. शुक्र० ।
२. ख. प्रणिधान । ३-४. भो. Byed Pa Po Med Par (कर्तारं विना) ।

इदानीं प्रतीत्योत्पाद उच्यते **संयोगादित्यादि**—

संयोगादिन्दुकान्तेर्भवति च सलिलं दर्पणे वस्तुबिम्बं
जिह्वाश्रा(स्रा)वोऽम्लहेतोः स्वरवत इतरः शुद्धबीजाङ्कुरः स्यात् ।
कान्ताच्चायःशलाकाभ्रमणमपि भवेन्नेच्छया किञ्चिदेषां
वस्तूनां शक्तिरेषा त्रिभुवननिलये निर्मिता केनचिन्न ।। १७० ।। 5

इह सर्ववस्तूनां संयोगादुत्पादः—इदं प्राप्य इदमुत्पद्यते । **संयोगादिति** चन्द्रकिरण-संयोगाच्चन्द्रकान्तेर्भवति च सलिलम्, चकारात् सूर्यकान्तेरग्निर्भवति । **दर्पणे वस्तु**संयोगात् **वस्तु**प्रति**बिम्बो** भवति । अन्यस्याम्लभक्षणसंयोगादन्यस्य **जिह्वाश्रा(स्रा)वो** भवति, **अम्लहेतोः** सकाशादिति । कूपादौ स्वरवसंयोगात् प्रतिरवो भवति । **शुद्धबीजेऽङ्कुरः स्यात्**, पृथ्वीतोयादिसंयोगादिति । **कान्तादिति** कान्तपाषाणात् **अयःस(श)लाकाभ्रमणं** 10 **भवति**, संयोगादिति । **नेच्छया किञ्चिदेषां वस्तूनां** वस्तु भवति, किन्तु **वस्तूनां शक्तिरेषा । त्रिभुवननिलये निर्मिता केनचिन्न**ेति प्रतीत्योत्पादः सिद्धः ।

आह—इह कारणेन विना कार्यं न भवति यस्मात् तस्मात् कारणमस्तीति, अत ईश्वरादिकं सिद्धमिति ।

आह—इह कारणे कार्यं यद् भवति, तत् किं सत्कार्यम्, असद् वा? कारणे 15 सत्कार्यं न भवति, विद्यमानस्य घटस्य मृदादयः कारणभूता न भवन्ति, सत्त्वात्; असत्कार्यं न असत्त्वात्, कूर्मरोमवत्, तथा पटस्य [त]न्तु[तु]रीवेमादयः कारणभूता न भवन्ति । उभयात्मकं कार्यं न भवति, परस्य(परस्पर)विरोधात् । यत् सत् तदसन्न भवति, यदसत् तत् सन्न भवति, विरोधात् । अतो न सत्कार्यम्, नासत्कार्यम्, न सदसत्कार्यं[1] कारणे भवतीति सिद्धम् । 20

आह—इह कारणस्य प्रतिषेधेन कार्यस्यापि प्रतिषेधो भवतिः उभयप्रतिषेधात् सर्वाभाव इति सिद्धम् ।

आह—इह सर्वाभावो न, परापेक्षिकत्वादिति[2] । इह कारणे यत् कारणत्वं तत् कार्यमपेक्ष्य परिकल्प्यते, कार्यं च कारणमपेक्ष्य; एवं परापेक्षिकत्वादुभयोरपि कारणत्व-प्रसङ्गः । उभयस्य कारणत्वात् कार्याभावः, तदभावे कारणाभावः, कारणस्य[156b] 25 कार्यापेक्षिकत्वाद् अनियतत्वप्रसङ्गः[3] । तस्माद् अनियतत्वाद्[4] अकारणत्वप्रसङ्गः । एवं सर्वेषामीश्वरादीनां कारणानाम् अनियतत्वम्[5] अकारणत्वं सिद्धम् । T 334

आह—नापेक्षिका सिद्धिः कारणस्य च; यत् कारणं तत् कारणमेव, यत् कार्यं तत् कार्यमिति सिद्धम् ।

---

१. ग. पुस्तके नास्ति । २. ख. परोक्षिकत्वात् । ३. क. ख. ग. अनित्यत्वप्रसङ्गः; भो. Nes Pa Med Pa Nid (अनियतत्व) । ४. क. ख. ग. अनित्यत्वाद् । ५. क. ख. ग. अनित्यत्वम् ।

आह—इह तवेच्छातः सिद्धिर्न ममेति वैषमिकत्वम्। यदीच्छातः सिद्धं भवति, तदा ममापीच्छातः। यत् तव[1] सत्[2] तद् ममासत् सिद्धम्, युक्तिविर्वाजतत्वात्।

आह—आप्तागमादस्माकं समय एषः। समयोऽसिद्धः। समय इति वक्तुं न लभ्यते, उक्तं शास्त्रविद्भिरिति।

5 आह—कदाचिद् युक्तिरुच्यते। इह उपादानकारणात् सर्वसम्भवाभावात् शक्तस्य शक्यकरणात् सत्कार्यसिद्धिरिति।

आह—इह युष्माकं हेतुर्वृथा। कथम्? यदि तव पक्षस्य (पक्षः) साधकलक्षणप्राप्तः, तदा ममापि पक्षं साधयिष्यति। अथ दूषणलक्षणप्राप्तस्तव पक्षस्य (पक्षः), तदा ममापि पक्षं दूषयिष्यति, यथाग्निरुभयदाहको नासावेकस्येति।

10 इह यथा शब्दवादिनां प्रतिज्ञा—नित्यः शब्दः; को हेतुः? अमूर्तत्वादिति। को दृष्टान्तः? आकाशवत्; यथा आकाशममूर्तत्वान्नित्यम्, तथा शब्दोऽपि यस्मात् तस्मात् शब्दो नित्यः सिद्ध इति।

आह—नेयं प्रतिज्ञा, परोऽपि वक्ष्यति—अनित्यः शब्दः। को हेतुः? कृतकत्वादिति। को दृष्टान्तः? घटवत्; यथा घटो मृद्दण्डचक्रसूत्रपुरुषहस्तव्यायामात् कृतकः, 15 तथा शब्दोऽपि कण्ठताल्वादिभिः प्रयत्नतो जनितो यस्मात् तस्मादनित्यः शब्दः सिद्धः। अतो हेतुव्यपदेशमात्रतः कार्यसिद्धिर्न भवति। यस्तु याथातथ्यं ब्रूयात्, तत् प्रमाणं स्यान्न हेतुव्यपदेशत इति। एवं हेतुर्वृथा। अन्यच्च; साध्यानां प्रतिज्ञाविरोधेन हेतुः साधको न भवति। इह यस्मिन् काले प्रतिज्ञा तस्मिन् काले हेतुर्नास्ति; यस्मिन् काले हेतुस्तस्मिन् काले प्रतिज्ञा नास्ति। अथ कस्यासौ हेतुः प्रतिज्ञया विना अयुगपद्धर्मित्वात्। 20 यस्मिन् काले 'प्र'कारस्तस्मिन् काले न 'ति'कारो 'ज्ञा'कारश्च। एवं पकाररेफाकाराः, यथा 'प्र'कारस्याक्षराक्षरस्य। न ह्यजातेन मृतेन वा पुत्रेण पुत्रकार्यं कर्तुं शक्यते, एवं हेतुनापि। तस्मात् कारणोपलम्भात् कार्यं न भवति, अहेतुतः सिद्धत्वात्। अहेतुत इति हेतुः कारणमित्यनर्थान्तरम्। एवं न कारणे कार्यम्, नाप्यहेतुतः कार्यं भवति; अतः कार्यं स्वतो न भवति, परतो न भवति, उभयतो न भवति, अहेतु[157a]कं न भवतीति सिद्धं 25 कर्तृकारणनित्यदूषणमिति।

इदानीमात्मनो दूषणमुच्यते यद्यीत्यादि—

यद्यात्मा सर्वगः स्यादनुभवति कथं बन्धुविश्लेषदुःखं
नित्यश्चायं यदि स्यान्मदनशरहतोऽवस्थतां किं प्रयाति।
यद्यासीत् सक्रियश्च व्रजति कथमिमां मूढतां सुप्तकाले
एवं वै सर्वगः स्याद् विभुरपि च पुरा सक्रियोऽयं न चात्मा ॥१७१॥

१-२. ख. यत् तदसत्।

इह **यद्यात्मा सर्वगः स्यादनुभवति कथं बन्धुविश्लेषदुःखमिति**। इह य आत्मा सर्वगः स एको भवति, तस्य बन्धुविश्लेषदुःखं न भवतीति। एकसत्त्वस्य दुःखेन सर्वसत्त्वानां दुःखं भवति, आत्मनः सर्वगत्वादिति। अथानेकात्मानः, तदा अनेकात्मनां सर्वगत्वाभाव इति। **नित्यश्चायं यदि स्याद् [1]मदनशरहतोऽवस्थतां किं प्रयातीति**। इह यो नित्यस्तस्यावस्थान्तरं नास्ति, विकाररहितत्वादिति, तत् कथमिमां कामावस्थां दशविधां मदनशरहतो गच्छतीति; तस्मादात्मनाऽनित्येन भवितव्यम्, विकारसंयोगादिति। **यद्यासीत् सक्रियश्च व्रजति कथमिमां मूढतां सुप्तकाले** इति। इह यद्यासीत् काले [2]जाग्रदवस्थालक्षणो सक्रियः, चकारान्नित्यश्च, तदा सुप्तकाले मूढतां क्रियारहितः(ततां) कथं व्रजतीति। **एवं वै** एकान्तं विचार्यमाणः **सर्वगः स्यान्न विभुरपि च** स्वामी नित्यो न **सक्रियो यन्न** चात्मा इति सिद्धम्।

इदानीं बुद्धभगवतः प्रवचनमुच्यते **नास्त्यात्मे**त्यादि—

नास्त्यात्मा सम्भवो वास्त्यशुभशुभफलं चास्ति कर्त्रा विहीनं
गन्ता नास्त्यस्ति मोक्षाय गमनमखिलं चास्ति बन्धो न बध्यः।
भावोऽभावोऽपि चास्ति क्षणिकविरहितो निःस्वभावो भवोऽस्ति
एतन्मे सत्यवाक्यं सुरफणिवचनैः संग्रहैर्हन्यते न ॥१७२॥

इह प्रतीत्यसमुत्पन्नधर्माणां निरोधादुत्पाद उत्पादान्निरोधः। एवं निरोधधर्माणा**मात्मा नास्ति**, आत्मी[157b]याभावात्। उत्पादधर्माणां **सम्भवोऽस्ति**, पुनर्जन्मग्रहणात्। स्वाध्यायादिदृष्टान्तैरेषां सिद्धिरिति वक्ष्यमाणे वक्तव्या। **अशुभशुभफलं चास्तीति** उत्पादधर्माणां शुभाशुभफलमस्ति, निरोधधर्माणामभावेन। **कर्त्रा विहीनं** कर्त्रा विनेत्यर्थः। **गन्ता नास्ति** निरोधधर्मसमूहः, **मोक्षाय च गमनमस्ति**, "अन्येषामन्यत् तद्रूपम्" इत्यादिवचनात्; **अखिलं** समस्तम्। **अस्ति बन्धो न बध्य** इति, इहोत्पादधर्माणां बन्धोऽस्ति, बध्यो निरोधधर्मो(धर्माणां)[3] नास्ति। **भावोऽभावोऽपि चास्ति क्षणिकविरहितो निःस्वभावो भवोऽस्तीति**। इह भावाभावैकलोलीभूतो निःस्वभावो द्रव्यविकल्परहितः प्रतिसेनातुल्यः क्षणिकविरहित उत्पादव्ययरहितो भावो बुद्धानां धर्मचक्रप्रवर्तनायास्तीति। **एतन्मे** सर्वग्रहविनिर्मुक्तं **वचनं** यत् तत् **सुरफणिवचनैः संग्रहैर्हन्यते न**। इह यथा ग्रहग्रस्तो मल्लो ग्रहमुक्तमल्लं हन्तुं न शक्नोति, तथा विकल्पग्रहग्रस्तो(स्ता) विकल्पग्रहमुक्तं हन्तुं न शक्नुवन्तीति नैरात्म्यादिसिद्धिः संक्षेपेणात्रोक्ता, विस्तरो विस्तरागमेन ज्ञेय इति नियमः।

इदानीं वैभाषिक-सौत्रान्तिक-योगाचार-मतदूषणमुच्यते **यस्तत्त्वमित्यादि**—

यस्तत्त्वं पुद्गलाख्यं वदति तनुगतं तत्स्वभावात् स नष्टः
संवृत्या चार्थवादी त्वविदितपरमार्थो ह्यसन्मन्यमानः।

---

१. क. ख. मदनसर०। २. भो. Sad Pa (जाग्रत)
३. भो. ḥGog Paḥi Chos rNam La (निरोधधर्माणाम्)।

विज्ञानं मन्यमानस्त्रिभुवनसकलं चैव विज्ञानवादी
योऽनष्टो नष्टपक्षः स भवति करुणाशून्यताद्वैतवादी ॥१७३॥

इह तीर्थिकबौद्धानामेषां पक्षग्रहः, तेन स्वपक्षग्रहेण परपक्षस्यापि ग्रहणं भवति, तद्धर्मेण तद्वैधर्म्येण वा तेषां बालमतीनाम् । इह **वैभाषिको यस्तत्त्वं पुद्गलाख्यं वदति**
5 **तनुगतं तत्स्वभावात् स नष्ट** इति । इह यदि पुद्गलान्तर्वर्ती उपपत्त्यङ्गिकः पुद्गलोऽस्ति, तदा स्वभावो वाच्यः, किं ज्ञानस्वभावोऽज्ञानस्वभावो वा ? यदि ज्ञानस्वभावस्तदाऽनित्यः,
T 335 इह घटज्ञाने निरुद्धे पटज्ञानमुत्पद्यते, अतोऽनित्यः । अथ ज्ञानस्वभावस्तदाऽज्ञानस्य सुख-[158a]दुःखाभावः । अतस्तत्स्वभावाद् विचार्यमाणः स नष्टो वैभाषिक इति ।

इहास्ति पुद्गलो भारवाहो 'ण णिच्चं (च्चं) भणामि, णाणिच्चं (च्चं) भणामो'
10 ति । यद् भगवतो वचनं तद् ज्ञानपटले विस्तरेण वक्तव्यमिति । **संवृत्या चार्थवादी त्वविदितपरमार्थो ह्यसन्मन्यमान** इति । इह संवृत्या नीलाद्यर्थग्रहार्थवादी नष्टः । कथम् ? अविदितपरमार्थो ज्ञानकायो हि असन् वन्ध्यापुत्रवद् मन्यमानः; तथाह—

"आकाशं द्वौ निरोधौ च नित्यं त्रयमसंस्कृतम् ।
संस्कृतं क्षणिकं सर्वमात्मशून्यमकर्तृकम् ॥
15 अक्षजा धीरनाकारा साक्षाद् वेत्त्यणु[1]सञ्चयम् ।
स्यात् काश्मीरमताम्भोधिवैभाषिकमतं मतम् ॥ इति ।
स्वा(सा)कारज्ञानजनका दृश्या ते(ने)न्द्रियगोचराः ।
वन्ध्यासुतसमं व्योमनिरोधौ व्योमसन्निभौ ॥
संस्कारा न जडाः सन्ति त्रैकाल्यानुगमो न च ।
20 असदप्रतिघं रूपमिति सौत्रान्तिका विदुः ॥" इति ।
[ ]

अतोऽप्रतिघं रूपं त्रैकाल्यवेदकम् । यदि प्रदीपनिर्वाणसमम्, तदा अप्रतिघरूपे असति सर्वज्ञो न भवति; चतुर्भिः कायैर्विना प्रादेसि(शि)ककायेन बुद्धत्वं न भवति । इहाप्रतिघकायेन विना बुद्धस्य सर्वाकारर्द्धिदर्शनं न स्यात्, सर्वरुतवचनं न भवति,
25 परचित्तज्ञानं च न प्रवर्तते, दिव्यचक्षुरादिकं सर्वं निष्फलं भवतीति सौत्रान्तिकग्रहदोषः । इदानीं योगाचाराणां ग्रहदोष उच्यते—

विज्ञानं मन्यमानस्त्रिभुवनसकलं चैव विज्ञानवादीति; आह—

"न सन्नवयवी नाम न सन्तः परमाणवः ।
प्रतिभासो निरालम्बः स्वप्नानुभवसन्निभः ॥
30 ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् विज्ञानं परमार्थसत् ।
योगाचारमताम्भोधिपारगैरिति गीयते ॥"
[ ]

१. क. ख. साक्षाद्वेदाणु० ; भो. Phra Rab....Rig (०वेत्त्यणु०) ।

अतो विज्ञानविचारेणैकानेकस्वभावेन विज्ञानवादिनो नष्टा वियोगत इति। इह विज्ञानमात्रं त्रैधातुकम्। यदि ज्ञानादन्यद् बाह्यवस्तुरूपं[1] नास्ति, तदा चक्षुर्विज्ञानस्य ग्राहकस्य बाह्यरूपं कथं ग्राह्यस्वभावेन प्रतिभासत इति ?

आह—अविद्यावासनावसे(शे)नेति।

आह—किमियमविद्याऽपगमो[2] नास्ति विज्ञानस्य ? अविद्या[3] त्रैधातुकलक्षणा न भवति ? यद्यविद्या त्रैधातुकलक्षणा न भवति, तदा संसारातीतलक्षणा भवति, एवं प्रज्ञापारमितेयम्। न चैवम्; तस्मादियमविद्या संसारवासना, संसारोऽपि त्रिभुवनलक्षणः, त्रिभवं त्रैधातुकम्, त्रैधातुकं[4] च विज्ञानमात्रम्। एवमविद्या विज्ञानमात्रा, विज्ञानमात्रं तदात्मकत्वम्, तदातिम(त्म)कत्वादविद्याऽपगमो नास्ति, विज्ञानस्याविद्यामात्रतः। अथ विज्ञानमात्रं त्रैधातुकं न भवति,तदा प्रतिज्ञाहानिरिति त्रैधा[158b]तुकमात्रत्वमसिद्धम्।

इदानीं क्षणभङ्गोत्पाददोष उच्यते—

इह यो धर्माणामेकक्षणाद् भङ्गोत्पादो भवति, स किं स्थित्या विना ? यदि स्थित्या विना भङ्गोत्पादश्च भवति, तदा शशविषाणस्यापि भविष्यति। अथ उत्पादात् स्थितिः, स्थितेर्भङ्गो भङ्गादुत्पादः, एवं स्थितिभङ्गोत्पादानामेकत्वं नास्ति, भिन्नलक्षणेन भवितव्यम्। इह यस्मिन् काले स्थितिस्तस्मिन् काले नोत्पादभङ्गौ, यस्मिन् काले भङ्गस्तस्मिन् काले नोत्पादस्थिती, यस्मिन् काले उत्पादस्तस्मिन् काले न स्थितिर्न भङ्गः। काल इति क्षणः, सत्येककाले जातिजरामरणानामैक्यमिति।

किञ्चान्यत्। इह य एकक्षणे भङ्गोत्पादो धर्मस्य, स किं पूर्वधर्मनिरुद्धादपरधर्मोत्पादः, अथानिरुद्धधर्मात् ? यदि निरुद्धधर्मादुत्पादस्तदा निरुद्धप्रदीपादपरप्रदीपोत्पादः, अथानिरुद्धादुत्पादस्तदा अनिरुद्धात् प्रदीपात्[5] प्रदीपोत्पादवत् तस्मादपरोत्पादः; एवमुत्पादादुत्पादेन प्रदीपमाला इव विज्ञानमाला भवति। अतः पूर्वविज्ञानस्य निरोधादपरस्योत्पादो वक्तुं न शक्यतेऽनिरुद्धादपि, न मिश्रात्, परस्परविरोधेन [6]तयोरेकत्वाभाव इति। अतो माध्यमिक आह—

"नेष्टं तदपि धीराणां विज्ञानं परमार्थसत्।
एकानेकस्वभावेन वियोगाद् गगनाब्जवत्॥
[159a] न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः॥" इति।

योऽनष्टो नष्टपक्षः स भवति। कोऽसौ ? करुणाशून्यताद्वैतवादी यः। इह यस्य करुणा निरालम्बा विकल्परहिता शून्यता सर्वाकारवरोपेता त्र्यध्ववर्तिनी त्र्यध्वपरिज्ञानाय इति बौद्धसिद्धान्तनियमः।

---

१. क. ख. बाह्यरूपं।

२-३. क. ख. भो. पुस्तकेषु 'अपगमो''''अविद्या' इत्यंशो नास्ति। ४. क. ख. भो. पुस्तकेषु नास्ति। ५. ग. पुस्तके नास्ति। ६. क. ख. तत्पा।

इदानीं पूर्वकर्मोपभोगवर्तमानकर्मसञ्चयप्रतिषेध उच्यते **जन्तुरित्यादि—**

जन्तुः पूर्वाणि कर्माण्यनुभवति कृतान्यैहिकान्यन्यजात्या
यद्येवं कर्मनाशो न हि भवति नृणां जातिजात्यन्तरेण ।
संसारान्निर्गमः स्यादपरिमितभवैर्नैव मोक्षप्रवेश
5 एतद् वै तायिनां तु प्रभवति हि मतं चान्यजातिप्रहीणम् ।।१७४।।

इह येषां[1] मतं **जन्तुः पूर्वकृतानि कर्माणि भुङ्क्ते इह जन्मनि कृतान्यन्यजात्या**मिति; **यद्येवं** तदा **कर्मनाशो न हि भवति नृणां जातिजात्यन्तरेण,** कर्मफलोपभोगत[2] इति । एवं न[3] **संसारान्निर्गमः स्यादपरिमितभवैर्नैव मोक्षे प्रवेशो** भवतीति । **एतद् वै तायि(जि)**[4]**नां प्रभवति हि मतम्,** किन्तु **अन्यजातिप्रहीण**मिति तायि(जि)नां म्लेच्छानां
10 मतम् । मनुष्यो मृतः स्वर्गे वा नरके वा अनया मनुष्यमूर्त्या सुखं वा दुःखं वा भुङ्क्ते रह्मणो[5] नियमेनेति । अतोऽन्यजातिप्रहीणमिति नियमः ।

इदानीं चार्वाकमतदूषणमुच्यते **भूतैरित्यादि—**

भूतैर्यद्येकभूतैः प्रभवति मदिराशक्तिवत् साक्षिचित्तं
वृक्षाणां किन्न हि स्यात् क्षितिजलहुतभुग्मारुताकाशयोगात् ।
15 नास्त्येषां जन्तुशक्तिस्त्वथ परममृषा भूतसंयोगशक्ति-
रेतच्चार्वाकवाक्यं न हि सुखफलदं मार्गनष्टं नराणाम् ।।१७५।।

इह पूर्वोक्तैर्भूतैः पृथ्व्यादिभिरेकीभूतैर्यदि हरीतकीगुडधातकोसंयोगेन **मदिराशक्तिवत् सेन्द्रियं चित्तं** नराणामिति सिद्धम्, तदा **वृक्षाणां** पृथ्व्यादिभिरेकीभूतानां **किन्न भवति** सेन्द्रियं चित्तमिति भूतसंयोगात् । **अथैषां** स्थावराणां **जन्तुशक्तिर्नास्तीति,**
20 तदा **परममृषा भूतसंयोगशक्ति**रिति; तस्मादे**तच्चार्वाकवाक्यं न हि सुखफलदं मार्गनष्टं नराणा**मिति लोकायतमतदूषणनियमः ।

[159b] इदानीं क्षपणकमतदूषणमुच्यते **जीव** इत्यादि—

जीवः कायप्रमाणो यदि करचरणच्छेदनान्नस्य(श्य)ते किं
नित्यः कायप्रभावादणुरपि च भवेत् स्थूलतां किं प्रयाति ।
25 संसारात् कर्ममुक्तो व्रजति सुखपदं यत् स्थितं लोकमूर्ध्नि
त्रैलोक्यं चाणुभिर्यद् रचितमपि सदा शाश्वतं तन्न कालात् ।।१७६।।

---

१. क. ख. एषां । २. ख. ०भोग । ३. क. पुस्तके नास्ति । ४. भो. sTag gZig (तग् ज़िग्) । ५. क. रवनणो; भो. Rahma Ṇa (रह्मण) ।

इह क्षपणकसिद्धान्ते **जीवो** नित्यः, स च **कायप्रमाण** इति सिद्धम्, इति **चेत्**, तदा कायावयवे **करचरणादौ छिन्ने** सति किं **विनस्य(श्य)ते**, छिन्नावयवमूर्तेरभावादिति। **नित्यः कायप्रभावादणुरपि च भवेत्**, सूक्ष्मकायग्रहणात्, स्थूलकायग्रहणात्[1], **स्थूलतां किं प्रयातीति**? इह यो नित्यः सोऽविकारी, यो विकारी सोऽनित्यः सिद्ध इति। 5

आह—द्रव्यपर्यायाभ्यां नित्यानित्यमिति **स्याद्वादः**।

आह—इह यथा सुवर्णं कुण्डलाभ्यां नित्यानित्यम्, तथा द्रव्यपर्यायाभ्यां जीवद्रव्यं नित्यं विकारोऽनित्य इति, तथा च **स्याद्वादः**। T 336

"कथेइ जीवो होइ वलिओ कथेइ कम्माइ भोन्ति वलिआइ।
जीवस्य(स्स)अ कम्मस्य(स्स)अ पूर्वं(पुव्व)णिबद्धां(णिबद्धा)इ वै(वे)राइ॥ इति। 10

अस्या गाथाया अर्थमाह—कुत्रचिदिति[2]। मोक्षविषये जीवो बलवान्, कैवल्यज्ञानबलेन। कुत्रचिच्चतुर्गतिसंसारविषये कर्म बलवत्, अज्ञानबलेन; एवं जीवस्यापि कर्मणश्च पूर्वाऽनादिकालनिबद्धानि वैराणीति सिद्धम्। एवं द्रव्योत्पत्तिव्ययात्मा स्वगुणयुत इति नान्यथा सिद्धिरिति सिद्धान्तः।

आह—द्रव्यपर्याययोरेकत्वमन्यत्वं वा? इह यद्येकत्वम्, तदा द्रव्यपर्याययोर्भेदो नास्ति; अथान्यत्वम्, तदा द्रव्यैर्विना पर्यायो भवति, न चैवं दृश्यते सूत्रैर्विना पटः। एवं जातिव्यक्त्योरपि नित्यानित्यसंयोगदोष इति। नित्यानित्ययोरेकत्वं नास्ति, परस्परविरोधात्, असदृशसदृशयोर्यथा। अतो जीवजात्यादिद्रव्यमनित्यमिति सिद्धम्। 15

तथा **संसारात् कर्ममुक्तो व्रजति सुखपदं यत् स्थितं लोकमूर्ध्नीति**। इह **क्षपण**कसिद्धान्ते एकमेव त्रिभुवनम्, द्वितीयं नास्ति; तेनेदं त्रिभुवनम् अनादिनिधनमुत्पादव्ययरहितं सर्वं वज्रमयं न कदाचित् क्षयं यास्यतीति। यद्यस्य भुवनस्य क्षयो भवति, तदाऽन्यत्रिभुवनाभावात् सर्वे प्राणिनः कुत्र स्थास्यन्ति। तेन कारणेनेदं नित्यम्; जीवोऽपि नित्यः संसारात् कर्ममुक्तः सन् व्रजति मोक्षं पञ्चचत्वारिंशद्योजनलक्षं **सुखपदम्**, पुद्गलरहितमिति सिद्धम्। 20

आह—इह **त्रैलोक्यम् अणुभिर्जातम्**, नाणुभिर्विना, **चकारा**न्मोक्षोऽपि, तत् कथं नित्यं भवति, **यदणुभो रचितमपि शाश्वतमपि** नित्यं **सदा** सर्वकालं न भवति, संहारकालवशात् क्षयं यास्यतीति। तत्क्षयात् सिद्धान्तानामपि क्ष[160a]यो भविष्यतीति सिद्धमिति न्यायात्। 25

किञ्चान्यत्। इह पूर्वोक्तानां षड्जीवकायलेश्यानां[3] मध्ये वनस्पतीनां जीवः; स किं प्रत्येकवनस्पतिकाय एकः सुखं दुःखं वा कर्मवशेनानुभवति, अथानेक इत्याह—

---

१. क. ख. पुस्तकयोर्नास्ति। २. क. ख. क्षत्रविदित०।
३. क. ख. ०जीवकापरेशानां।

एको जीव एकं पुद्गलं गृह्णाति यस्य प्रभावेन वनस्पतीनां स(श)स्यादीनां जीवितसंज्ञा। यदि जीवो नास्ति, तदा पादप इति कथं सिद्धम्। न चाजीवाः काष्ठा उदकं पीत्वा पुष्पादि ऋतु प्रकुर्वन्तीति सिद्धम्।

आह—यदि इह प्रत्येकपुद्गले प्रत्येकम् एकैको जीवः, तदा इक्षुदण्डे खण्डे खण्डे 5 कृतेऽनेकखण्डानि भवन्ति; तेषां मध्ये एकस्मिन् खण्डे स जीवो नित्यः कर्मवशात् सङ्कुचन् प्रविष्टः। कानि तेन परित्यक्तानि न चैवं युक्त्या घटते। विचार्यमाणः कुतो यतस्तेषां पुनर्भूम्यामारोपितानामङ्कुरादिकं प्रत्येकखण्डे दृश्यते। तस्माद् वस्तुस्वभावो वनस्पतीनाम्[1] अङ्कुरादिशक्तिरिति सिद्धम्[2]। इति क्षपणकमतदूषणनियमः।

विस्तरोऽनेकोऽनेकप्रमाणशास्त्रेण मध्यमकेन निराकरणीयस्तीर्थिकानां सिद्धान्तः। 10 यः संवृत्या विवृत्या वा सम्बुद्धवचनसमः, स न दूषणीय इति कालचक्र आदिबुद्धभगवतो नियमः*। तद्यथा—

इत्यादिज्ञानहेतोः प्रकटयति महौ देशनां कालचक्रः
पुंसां चित्तानुसारां मृदुकठिनपरां वासनाया बलेन।
चित्तं वै भावरागैः स्फटिकवदुपधाद् रागतां याति यस्मात्
15 तस्माद् धर्मो न कश्चित् स्वपरकुलगतो योगिना दूषणीयः ॥१८७॥

१-२. क. वनस्पतीनाम् अङ्कुरादिकं प्रत्येकखण्डे दृश्यते, तस्माद् वस्तु स्वशक्तिरिति सिद्धम्।

* कालचक्रतन्त्रस्य तट्टीकाया विमलप्रभायाः किमभिप्रायकमिदं वचनद्वयम्, यथा 'यः संवृत्या विवृत्या वा सम्बुद्धवचनसमः, स न दूषणीय इति कालचक्र आदिबुद्धभगवतो नियमः' इति। 'तस्माद् धर्मो न कश्चित् स्वपरकुलगतो योगिना दूषणीयः' (मूले २.१६६) इति च।

वचनाभ्यामेताभ्याम् आपाततः परमतं नैव कालचक्रिणा दूषणीयमित्याभाति। एवं सति प्रवर्तमानेऽस्मिन् स्वपरविचारन्यायमहोद्देशे कथमिह परमतखण्डनं कृतं मूले टीकायां च, कथं चोक्तम् एतन्महोद्देशावसाने टीकायाम्—'मध्यमकेन निराकरणीयस्तीर्थिकानां सिद्धान्तः' इति। आपाततः प्रतीयमानस्यैतद्विरोधस्य निराकरणं भवति खेस् ड्रुब जे महाभागानां स्वाभिप्रायाविष्करणेन। तैरुक्तम्—

"Mu sTegs Pa dGag Pa rGya Chen Po rNam Pa Du Mar Tshad Maḥi bsTan bCos Du Ma Daṅ dBu Ma Pas gS̄uṅ Lugs Du Mar bsTan Pa Dag Gis Mu sTegs Pa rNams Kyi Grub Paḥi mThaḥ Sun dByuṅ Bar Bya sTe. Mu sTegs Las gS̄an Pa Gaṅ S̄ig Kun rdZob Bam Don Dam Pa Saṅs rGyas Kyi gSuṅ Daṅ mTshuṅ Pa sMra Ba De Ni Sun dByuṅ Bar Mi Byaḥo". (ḥGrel Chen Dri Med Hod ḥGrel bŚad, 'Ga', page 208B).

धर्मः सत्त्वोपकारो विषयविरहितश्चापकारोऽप्यधर्मः
हिंसा वेदप्रमाणा न हि सुखफलदा दुःखदा सर्वकालम् ।
सन्मैत्री मूर्खवाक्यात् परमसुखकरा सर्वसत्त्वानुरक्ता
तस्मात् सत्त्वार्थमेकं कुरु नृप मनसा भावनां निःस्वभाव(ा)म् ॥१७८॥

इन्द्रोऽहं स्वर्गलोके त्रिदशनरगुरुर्भूतले चक्रवर्ती 5
पा[160b] ताले नागराजः फणिकुलनमितः सर्वगश्चोत्तमोऽहम् ।
ज्ञानं बुद्धो मुनीन्द्रोऽक्षरपरमविभुर्योगिनां वज्रयोगो
वेदोऽङ्कारः पवित्रो व्रज मम शरणं सर्वभावेन राजन् ॥ १७९ ॥
इति शरणनियमः ।

इदानीं* सूर्यरथस्य नमस्कारः— 10
त्वं माता त्वं पिता त्वं जगति गुरुरपि त्वं च बन्धुः सुमित्रं
त्वं नाथस्त्वं विधाता हित(हि त्व)मघहरण त्वं पदं सम्पदां च ।
त्वं कैवल्यं पदं त्वं वरगुणनिलयो ध्वस्तदोषस्त्वमेव
त्वं दीनानाथ चिन्तामणिरपि शरणं त्वां गतोऽहं जिनेन्द्र* ॥१८०॥

इति श्रीमदादिबुद्धोद्धृते श्रीमहाकालचक्रे[१] 15
अध्यात्मनिर्णयो द्वितीयपटलः[२] ॥२॥

इति सूर्यरथो गुरुनमस्कारेण मञ्जुश्रियं भगवन्तं स्तुत्वा पादद्वयं शिरसि कृत्वा पुनः स्वकीयासने निषन्नः(ण्णः) ।

इति श्रीमूलतन्त्रानुसारिण्यां[१] लघुकालचक्रतन्त्रराजटीकायां
द्वादशसाहस्रिकायां विमलप्रभायां 20
स्वपरदर्शनन्यायविचारमहोद्देशः सप्तमः[२] ॥७॥

समाप्तेयं टीका अध्यात्मपटलस्येति ॥२॥

उपरिलिखितभोटांशस्य संस्कृतानुवादः—

"प्रमाणशास्त्रेषु माध्यमिकशास्त्रेषु वा निर्दिष्टैर्विस्तृतदूषणप्रकारैस्तैर्थिकाः दूषणीयाः । तैर्थिकेतरे ये संवृतिं वा परमार्थं वा अङ्गीकृत्य बुद्धवचनानुसारेणैव स्वपक्षं स्थापयन्ति, ते नैव दूषणीयाः" ।

१. क. श्रीमहाकालचक्रतन्त्रराजे । २. क. द्वितीयः पटलः ।

४. साधना नाम चतुर्थः पटलः

(१) स्थानरक्षापापदेशनादिमहोद्देशः

॥ [1]नमः श्रीकालचक्राय ॥

पुण्यज्ञानविनिर्मितं भगवतो दुर्दान्तसत्त्वाः सदा — T 336
रूपं भैरवभीषणं गतमदं पश्यन्ति सन्तो जनाः। — 5
भाषा सर्वरुता परश्रुतिगता सन्मार्गसंदेशिकी
सत्त्वानामधिमुक्तिचित्तवशतो यस्यैव तस्मै नमः॥

सर्वाकारवरोपेतः कायो नानाधिमुक्तितः।
दृश्यते स्वस्वभावेन सत्त्वैर्निर्माणलक्षणः॥

सर्वसत्त्वरुतैर्ऋद्धिमात्मनो यः प्रकाशते। — 10
सत्त्वाशयवशेनेष[2] कायः संभोगलक्षणः॥

[3]नानित्यो नापि नित्यो यो नैको नानेकलक्षणः।
न भावो नाप्यभावोऽसौ धर्मकायो निराश्रयः॥

शून्यताकरुणाऽभिन्नो रागारागविवर्जितः।
न प्रज्ञा नाप्युपायोऽसौ कायः स्वाभाविकोऽपरः॥ — 15

कालचक्रमिति ख्यातं चतुष्कायात्मकं शिवम्।
प्रणिपत्य सर्वभावेन मञ्जुश्रीचोदितेन च॥

साधनापटले टीका पुण्डरीकेण लिख्यते।
मया निर्मितकायेन लोकेशेनाब्जधारिणा॥

इह श्रीमति कलापग्रामदक्षिणमलयोद्याने श्रीकालचक्रमण्डलगृहपूर्वद्वारावसाने — 20
रत्नमण्डपे [4]रत्नसिंहासनस्थो मञ्जुश्रीर्भगवान् निर्मितकायो यशोनरेन्द्रः सूर्यरथाध्येषितः सन् परमादिबुद्धात् साधनापटले सुचन्द्राध्येषणं बुद्धभगवतः प्रतिवचनं प्रथमवृत्तेन महापर्षदः प्रकाशयति स्म— — T 337

लब्धः सप्ताभिषेको जिनजनक मया कुम्भगुह्याभिषेकः
प्रज्ञाज्ञानाभिषेको भवभयमथनो योगगम्यश्चतुर्थः। — 25
भूयः पृच्छामि सम्यग् जिनवरसहितं साधनं विश्वभर्तुः
श्रुत्वा सोचन्द्रवाक्यं गदति जिनपतिः साधनं वज्रिणश्च ॥१॥

---

१. च. नमः शाक्यमुनये, ग. नास्ति। २. ख. च. नैव। ३. च. न नित्यो नाप्यनित्यो यो। ४. भो. 'रत्न' नास्ति।

इह वृत्ते पदत्रयेण सुचन्द्राध्येषणं [1]साधनपटलदेशनाय। ततश्चतुर्थप[ा]दमारभ्य यावत् [2]पटलपरिसमाप्तिस्तावद्भगवतः प्रतिवचनमिति। इदानीं **श्रुत्वा सौचन्द्रवाक्यं गदति जिनपतिः** शाक्यमुनिर्भगवान् कालचक्रसमाधिसमापन्नः **साधनं वज्रिणः** श्रीकालचक्रभगवतः। चकाराच्चाक्षोभ्यादितथागतानां वज्रधात्वीश्वर्यादिदेवीनां
5 वज्रपाण्यादिबोधिस[251b]त्त्वानां शब्दवज्रादिविषयदेवीनामुष्णीषादि[3]महा[4]क्रोधराजानाम् अतिनीलादिक्रोधदेवीनां चर्चिकादिमातॄणां विष्ण्वादिदेवानां जयादिनागराजानां श्वानास्यादिप्रचण्डानां प्रत्येकं साधनमन्येषामपि गदति जिनपतिर्लौकिकसिद्धिसाधनायाकनिष्ठभुवनपर्यन्तं रूप[5]भावनयेति भगवतो नियमः॥ १॥

इदानीं कालविशुद्ध्या भगवतो रूपकल्पनोद्देश उच्यते—

10 चन्द्राङ्गं युग्मपादं शिखिगलमुदधिं श्रीमुखं विश्ववर्णं
षट्स्कन्धं सूर्यबाहुं जिनकरकमलं शून्यषड्वह्निपर्वम्।
पादाभ्यां माररुद्रं शशिरविहुतभुङ्मण्डले त्रास्यमानं
लीलाक्रान्तं तमेकं त्वभवभवसमं साधयेत् कालचक्रम्॥२॥

[6]चन्द्राङ्गमित्यादिना। **इहाबिबुद्धे** भगवानाह—

15 दिनं सूर्यो रजो वज्रं भावभेदैर्निशा शशी।
शुक्रं पद्मं तयोरैक्यं कालचक्रं [7]महासुखम्॥ इति।

तथा[8]ऽपरतन्त्रान्तरेऽपि भगवता सामान्येनोक्तम्—

दिनस्तु भगवान् वज्री नक्तं प्रज्ञा प्रकीर्तिता।
आदित्यो हि [9]यथा रुद्रस्तथा चन्द्र उमा मता(तः)॥

20 एवं सूर्यचन्द्रदिवानिशाभेदेनाहोरात्रं काल इत्युच्यते, तस्य चक्रं षट्शताधिकैकविंशतिसहस्रश्वासात्मकं द्वादशाङ्गं प्रतीत्यलक्षणं राशिचक्रं लौकिकसंवृत्योत्पादक्षयहेतुभूतं सर्वसत्त्वानाम्। तथा चाह—

कालः सृजति भूतानि कालः संहरते सदा।
कालो हि भगवान् वज्री अहोरात्रस्वरूपवान्॥ इति।

---

१. ग. नास्ति। २. क. ख. छ. 'पटल' नास्ति। ३. ग. महादेवीनाम्। ४. छ. क्रोढ। ५. भो. भावना। ६. क. चक्राङ्ग। ७. छ. 'महा' नास्ति। ८. ग. च. परत्र। ९. ख. महा।

एवमस्य कालचक्रस्य साधनमुत्पादक्षयविनाशार्थं योगिभिः कर्तव्यं वक्ष्यमाणक्रमेणेति रूप[1]कल्पनानियमः। **चन्द्राङ्ग**[2]**मित्यादि**। द्वादशलग्नात्मकम् अहोरात्रमेकाङ्गम्। तस्य षट् षड् लग्नात्मकं वामदक्षिणचरणम्। **युग्मपादमिति**। [3]ततश्चतुर्लग्नात्मकं वामदक्षिणमध्यकण्ठं **शिखिगलमिति** त्रिकण्ठम्। एवं [4]त्रित्रिलग्नात्मकं पूर्वदक्षिणपश्चिमो[5]त्तर[6]वक्त्रचतुष्कमु**दधिरिति**। चतुर्मुखं **विश्ववर्णं** वक्ष्यमाणमिति। एवं द्विद्विलग्नात्मकं वामे दक्षिणे च पूर्वापरं [7]मध्यस्कन्ध[8]**षट्स्कन्धमिति**। तथा प्रत्येकमासात्मका [9]द्वादशभुजास्तैर्भुजैः **सूर्यबाहुमि**[10][252a]ति। [11]एवं प्रत्येकार्धलग्नम्। पक्षभेदेन चतुर्विंशतिकरं **जिनकरकमलमिति**। एवं षष्टिषष्टिप्रत्येकश्वासात्मकेन दिनभेदेन षष्ट्युत्तरत्रिशताङ्गुलीपर्वं प्रत्येक[12]करे पञ्चाङ्गुलीत्रिपर्वभेदेन पञ्चदशपर्वाणि चतुर्विंशतिकरेषु षष्ट्युत्तरशतत्रयं भवति। एवं **शून्य**[13]**षड्वह्निपर्वम्। पादाभ्यां माररुद्रमिति**। स्कन्धक्लेशमृत्युदेवपुत्रमारम्, रागद्वेषमोहमानात्मकं रुद्रम्, **शशिरविहुतभुङ्मण्डले त्रास्यमानम्, लीलयाक्रान्तं** येन कालचक्रेण **तमेकमभवभवसमं** निर्वाणभवैकलोलीभूतं निरावरणतः। एवं **साधयेत् कालचक्रमिति** भगवतो नियमः ॥ २ ॥

इदानीमस्य साधनाय स्थानान्युच्यन्ते—

उद्याने पर्वते वा जिनवरभवने शून्यदेवालये च
सिद्धस्थाने श्मशाने सरसि सुनिलये गुप्तभूम्यां तथैव।
यस्मिंश्चित्तप्रतोषो भवति नरपते साधनं तत्र कुर्यात्
कृत्वा पूर्वोक्तरक्षां खलु मृदुशयने चासने चोपविश्य ॥३॥

उद्यान इत्यादिना। इह लौकिककर्मसाधनानुरूपेण स्थानं भवति। **उद्याने** वश्याकृष्ट्यर्थं **साधनं कुर्यान्**मन्त्री। **पर्वते** [14]**वा** स्तम्भनमोहनकीलनार्थम्। **जिनवरभवने** साधिष्ठाने महाचैत्येऽष्टमहासिद्ध्यर्थम्। **शून्यदेवतालये चो**च्चाटनविद्वेषणार्थम्, चकाराद् महोदधितटे वा। **सिद्धस्थाने** कर्ममुद्रासिद्ध्यर्थम्। **श्मशाने** मारणार्थम्। **सरसि सुनिलये** शान्तिपुष्ट्यर्थम्। **गुप्तभूम्यामिति** गुहावासे भूमिगृहे वा त्रैलोक्यराज्यसाधनार्थम्। एवं कर्मानुरूपेण **यस्मिन्** देशे **चित्तप्रतोषो भवति नरपते साधनं तत्र कुर्यात्**। तथा चाह—

धार्मिको यत्र भूपालः प्रजा यत्रैव सुस्थिता।
भूभृतोर्विग्रहो नास्ति तत्र योगं समारभेत् ॥ इति।

---

१. च. विकल्पना। २. च. मिति। ३. छ. चतुश्चतु। ४. ग. त्रिलग्ना। ५. ग. च. त्तरं। ६. छ. रक्त। ७. च. मध्ये षट्। ८. ख. ग. स्कन्धं ९. भो. 'द्वादश' नास्ति। १०. च. रिति। ११. भो. 'एवं' नास्ति। १२. च. 'करे' नास्ति, छ. कर। १३. च. सद्वह्नि। १४. च. 'वा' नास्ति।

कृत्वा पूर्वोक्तरक्षामित्यभिषेकपटलोक्तरक्षां कृत्वा । **खलु मृदुशयने** [1]**चासने चोपविश्येति** स्थाननियमः ॥ ३ ॥ [252b]

इदानीं वक्त्र[2]शुद्धयादि[3]रुच्यते—

आदौ हृच्चन्द्रमध्ये दशदिशि विविधान् भावयेत्तत्त्वरश्मीन्
5 **कृत्वा वक्त्रादिशुद्धिं पुनरपि गगने स्फारितानां जिनानाम् ।**
कृत्वा पूजां विचित्रां बहुविधकलुषं सञ्चितं देशयित्वा
कर्तव्यं साधकेन त्रिशरणगमनं कायवाक्चित्तशुद्धया ॥४॥

आदावित्यादिना । इह योगिना पूर्वोक्तरक्षा कर्तव्या [4]मारनिर्घा[5]टनं च । ततः साधनापटलोक्तविधिना देवतारूपमात्मानं [6]झटित्याकारेण कृत्वा स्वहृदये पंकारपरिणत-
10 मष्टदल[7]रक्त[8]पद्मम्, तदुपरि कर्णिकायाम् अँकारपरिणतं **चन्द्रमण्डलम्**, तस्य **मध्ये तत्त्वमि**ति संवृत्या हूँकारजं वज्रं पञ्चशूकम्[9], तस्य **रश्मीन् विविधान्** पञ्चवर्णान् भावये-द्योगी । पूर्वं **कृत्वा वक्त्रादिशुद्धिं** पञ्चामृत[10]गुलिकया मुखे प्रक्षिप्तया वक्त्रशुद्धिर्भवति । तथा पूर्वोक्तया दिव्यमुद्रया शिरसा[11]रभ्य यावत् पादान्तं तावदात्मानं[12]संस्पर्शयेत् । एवं कायशुद्धिः[13] । एवं कृत्वा वक्त्रादिशुद्धिं ततश्चन्द्रमण्डले वज्ररश्मिभि**र्गगन**तले
15 तथागतान् प्रतिबोध्य तेषां **स्फारितानां जिनानां** पूजार्थं तान् रश्मीन् पुनराकृष्य स्वहृदये चन्द्र[14]वज्रप्रविष्टान् विभाव्य ततश्चन्द्रमण्डले द्वादशपूजादेवीनां बीजाक्षराणि[15] ध्यायात् । क्ख्ग्घ्ङ क्ख्ग्घ्ङा च्छ्ज्झ्ञ च्छ्ज्झ्ञा ट्ठ्ड्ढ्ण ट्ठ्ड्ढ्णा प्फ्ब्भ्म प्फ्ब्भ्मा त्थ्द्ध्न त्थ्द्ध्ना स्ᅳप्ष्श्ᅳक स्ᅳप्ष्श्ᅳका इत्येभिर्बीजाक्षरैर्निष्पन्ना यथासंख्यं[16]नृत्या वाद्या गन्धा माला धूपा दीपा नैवेद्या अक्षता लास्या हास्या[17]गीता
T 338 20 कामा इत्यादिभिस्तथागतानां **पूजां कृत्वा**ऽभिषेकपटलोक्तविधिना ततो वक्ष्यमाणक्रमेण **बहुविधकलुषं सञ्चितं देशयित्वा आदौ**, ततः **कर्तव्यं साधकेन त्रिशरणगमनं काय-वाक्चित्त**[18]**शुद्धये**ति नियमः ॥ ४ ॥

इदानीं पापदेशनावसाने पुण्यमनुमोदयेत्—

संबुद्धैर्बोधिसत्त्वैर्बहुविधकुशलं यत्कृतं चार्यसंघै-
25 **रनुमोदे तत्समस्तं व्यपगतकलुषो बोधिचर्यानुरूढः ।**

---

१. ग. च. वासने । २. च. विशुद्धया । ३. च. दिकमु । ४. च.मारादि । ५. छ. तनं । ६. च. झटिता । ७. ग. च. दलं । ८. ग.रक्तवर्णं । ९. ग. शूचिकं । १०. च गुडि-कया । ११. ख. ग. छ. सादारभ्य । १२. च. 'सं' नास्ति । १३ च. विशुद्धिः । १४. ग. च. वज्रे । १५. भो० Goṅ Bu rNams (पिण्डानि) इत्यधिकम् । १६. ग.च. गीता, भो. वाद्या नृत्या । १७. ग. च. नृत्या । १८. क. ख. ग. छ. विशुद्धये ।

बुद्धं [253a] धर्मं च संघं भवभयहरणं बोधिसीम्नः प्रयामि
संबुद्धोऽहं भवामि प्रणिधिमिति करोम्यत्र सत्त्वार्थहेतोः ॥५॥

संबुद्धैर्बोधिसत्त्वैर्बहुविधकुशलं यत्कृतं चार्यसंघैरनुमोदे तत् समस्तं व्यपगत-कलुषो बोधिचर्यानुरूढो मन्त्री । ततस्त्रिशरणं गच्छति—**बुद्धं धर्मं च संघं भवभयहरणं बोधिसीम्नः प्रयामि** । [1]एवं त्रिशरणं गत्वा आत्मनिर्यातनं कृत्वा ततः सत्त्वार्थाय प्रणिधानं करोति—**संबुद्धोऽहं भवामि प्रणिधिमिति करोम्यत्र सत्त्वार्थहेतो**रिति । एवं वन्दना पूजना पापदेशना पुण्यानुमोदना तथागताना-मध्येषणा याचना पुण्यपरिणामनेति । एवं सप्तविधां पूजां कृत्वा तत्र त्रीणि मूलानि स्मरेत्, बोधिचित्तोत्पादः, आशयविशुद्धिः, अहंकारममकारपरित्यागः कर्तव्यः । ततो दश पारमिता[2]श्चिन्तयेत् । पुण्यज्ञानशीलसंभारार्थं दानपारमिता । एवं [3]शील[4]क्षान्तिवीर्यध्यानप्रज्ञा-उपायप्रणिधिबलज्ञानपारमिता विचिन्त्य ततो ब्रह्म-विहारान् स्मरेत् मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षामिति । ततश्चत्वारि संग्रहवस्तूनि [5]चिन्तयेत्, दानं प्रियवाक्यमर्थचर्यां समानार्थतामिति । ततो दशाकुशलपरित्यागं विभावयेत् प्राणातिपातम् [6]अदत्तादानं कार्ममिथ्याचारं मृषावादं पारुष्यं पैशुन्यं संभिन्नप्रलापम् अभिध्यां व्यापादं कुदृष्टिं चेति । एवं कौकृत्यस्त्यानमिद्धौद्धत्यविचिकित्सेति पञ्चावरणानि परित्यजेदेवं रागद्वेषमोहमानक्लेशान् परित्यजति । एवं कामा[7]श्रवं भवाश्रवम् अविद्या-श्रवं दृष्ट्याश्रवं त्यक्त्वा ततश्चतुर्विमोक्षं[8] विभावयेत्, शून्यतामनिमित्तमप्रणिहित-मनभिसंस्कारमिति विभाव्य त्रैधातुकं सचराचरं विचारयेदनया गाथया—

अभावे भावनाभावो भावना नैव भावना ।
इति भावो न भावः स्याद्भावना नोपलभ्यते ॥ इति ।
(गु त. २.३)

अस्यार्थो वक्ष्यमाणे वक्तव्यः ॥ ५ ॥

इदानीं पुनर्भवग्रहणाय शून्यतालक्षणमुच्यते—

शून्यं भावाद् विहीनं सकलजगदिदं वस्तुरूपस्वभावं
तस्माद् बुद्धो न बोधिः परहितकरुणा चानिमित्तप्रतिज्ञा ।
एवं ज्ञात्वा[253b] समस्तं तदपि नरपते कायवाक्चित्तवज्रं
ध्यातव्यं बोधिसत्त्वैरपरिमितगुणं मण्डले मण्डलेशम् ॥६॥

---

१. क. ख. ग. च. छ. 'एवं' नास्ति । २. क. ख. मितां, च. छ. मितां विचि । ३. च. शीलज्ञान । ४. छ. 'क्षान्ति' नास्ति । ५. च. विचि । ६. ग. च. मृषा० अदत्ता० काम० अयं क्रमः । ७. भो. च. 'आस्रवं' सर्वत्र । ८. च. क्षान् ।

शून्यमित्यादिना। **शून्यं भावाद् विहीनं सकलजगदिदं वस्तुरूपस्वभावं** [1]यत्तस्मान्महाशून्याच्च **बुद्धो न बोधिः परहितकरुणा न**। एवं चानि[2]मित्तप्रतिज्ञा बुद्धो भवेयं जगतो हितायेति[3]। **एवं ज्ञात्वा समस्तं** बुद्धत्वाय। **तदपि नरपते कायवाक्चित्तवज्रं ध्यातव्यं बोधिसत्त्वैरपरिमितगुणं मण्डले मण्डलेशमिति**। कायवाक्चित्तमण्डले कायवाक्चित्तवज्रं ध्यातव्यं नायकं लौकिकफलसाधनाय[4] [5]सर्वसत्त्वसंदर्शनायेति भगवतो नियमः ॥ ६ ॥

इदानीं लोकोत्तरस्कन्धग्रहणाय सांसारिकस्कन्धपरित्यागाय समाधिरुच्यते—

तोयेनाग्नेर्विनाशं प्रथममिह यतिः कारयेद् देहमध्ये
पश्चात्तोयं धरित्री भवति लवणवत्तोयमध्ये प्रविष्टा।
अन्तर्धानं हि वायुर्व्रजति नभसि तच्छोषयित्वाम्बुराशिं
चित्तं वह्नौ तमोऽन्ते विषयविरहिते स्थापयेन्मध्यभूमौ ॥७॥

तोयेनेत्यादिना। इह मर्त्ये गर्भजानां मरणकाले तोयेनाग्नेर्विनाशः क्रियते। अतस्तेनैव समाधिना **तोयेनाग्नेर्विनाशं प्रथममिह यतिः कारयेद् देहमध्ये**। **पश्चादग्ने**[6]रभावाद् **धरित्री** कठिनतां त्यक्त्वा **लवणवद्** द्रवीभूता **तोयं भवति तोयमध्ये प्रविष्टा**। ततो **वायुस्तत्समस्तं** तोयं **शोषयित्वा नभस्यन्तर्धानं** प्रयाति। एवं धातुसमूहस्य विनाशं शीघ्रम्। ततश्चित्तं **वह्नौ तमोऽन्ते** आकाशधातौ सर्वाकारबिम्बे **विषयविरहिते स्थापयेद् मध्यभूमौ**, आलयविज्ञानमिति। तत इदं मन्त्रमुच्चारयेत्—ॐ शून्यताज्ञानवज्रस्वभावात्मकोऽहम्। ॐ अनिमित्तज्ञानवज्रस्वभा[254a]वात्मकोऽहम्। ॐ अप्रणिहितज्ञानवज्रस्वभावात्मकोऽहम्। ॐ अनभिसंस्कारज्ञानवज्रस्वभावात्मकोऽहम्, इत्युच्चार्य त्रैधातुकं परमाणुधर्मतातीतं [7]शून्यताबिम्बं [8]विभावयेदिति तथागतनियमः ॥ ७ ॥

इति [9]श्रीमूलतन्त्रानुसारिण्यां लघुकालचक्रतन्त्रराजटीकायां
[10]द्वादशसाहस्रिकायां विमलप्रभायां साधनापटले
स्थानरक्षापापदेशनादिमहोद्देशः
प्रथमः ॥ १ ॥

१. च. यतस्तस्मा। २. च. मित्ता। ३. ख. 'इति' नास्ति। ४. च. येति। ५. च. 'सर्व……येति' नास्ति। ६. ग. ह्वह्नेः। ७. च. शून्यं विभा। ८. ग. 'वि' नास्ति। ९. क. ख. च. छ. 'श्री' नास्ति। १०. च. 'द्वाद…कायां' नास्ति।

(२) उत्पत्तिक्रमेण कायनिष्पत्तिमहोद्देशः

इदानीं [1]पूर्वप्रणिधानपरिपूरणाय धर्मचक्रप्रवर्तनार्थं गर्भावक्रमणन्यायेन भगवत उत्पत्तिक्रमेण साधनमुच्यते—

शून्यं वाय्वग्नितोयान्यवनिसुरनगाब्जेन्दुसूर्याग्नयश्च
कूटागारं समन्तात् स्फुरदमलकरं वज्रजं पञ्जरं वा। 5
तन्मध्ये वज्रभूमौ मणिकरनिकरैर्मण्डलं विस्फुरन्तं
ॐकारं ज्ञानजातं जिनवरकमलं चन्द्रसूर्यासनानाम् ॥८॥

शून्यमित्यादिना। इह बाह्ये अध्यात्मनि उत्पत्तिनिमित्तमनन्ताकाशधातुः प्रज्ञाधर्मोदयं त्रिकोणम्। बाह्ये वर्तुलं [2]दशारवज्रमयं मर्त्ये मातृशरीरमध्यात्मनि तत्र बाह्ये **वायुमण्डलं** मध्ये धन्वाकारं तिर्यङ्मानेन चतुर्लक्षयोजनं यँकारबीजपरिणतं कृष्णमध 10 ऊर्ध्वं हूँकारपरिणतविश्ववज्रद्वयसहितं ध्वजाङ्कितम्। तदुपरि त्रिलक्षयोजनायामं रँकारपरिणतं त्रिकोणं **वह्निमण्डलमध** ऊर्ध्वं हूँकारपरिणतं विश्ववज्रद्वयसहितं रक्तं स्वस्तिकाङ्कितम्। तदुपरि **तोयमण्डलं** द्विलक्षयोजनं वँकारपरिणतं [3]शुक्लमध ऊर्ध्वं हूँकारपरिणतं विश्ववज्रद्वयसहितं पद्मलाञ्छितं वृत्तम्। तदुपरि लँकारपरिणतं **पृथ्वीमण्डलं** चतुरस्रं पीतवर्णमध ऊर्ध्वं हूँकारपरिणतविश्ववज्रद्वयसहितं वज्रलाञ्छितं 15 लक्षयोजनम्। तदुपरि मँकारपरिणतं वज्रमयं महामेरुमधो विस्तारेण षोडशसहस्रम् ऊर्ध्वं पञ्चाशत्सहस्रं तन्मध्ये विश्वा**ब्जं** मेरुप्रमाणार्धेन क्षँकारपरिणतम्। तस्य त्रिभागिका कर्णिका[4]तुल्यं [5]सार्धद्वादशसहस्रयोजना[6]यामात् क्षँकारपरिणता। तदुप-[254b]रि हँकारपरिणतं **चन्द्रमण्डलं** कर्णिकातुल्यम्। तदुपरि विसर्गपरिणतं **सूर्यमण्डलम्**। तदुपरि **अग्निरिति** राहुमण्डलं नीलवर्णं बिन्दुपरिणतम्। एवं समस्तमेक- 20 लोलीभूतं ह् क्ष् म् ल् व् र् यँ इति बीजाक्षरं विभाव्य ततो लोकधातुं निष्पन्नं [7]चिन्तयेदिति बाह्ये। अध्यात्मनि [8]मातृशरीरे ललाटे पूर्वोक्तविधिना वायुमण्डलं कण्ठे तेजोमण्डलं हृदये तोयमण्डलं नाभौ पृथ्वीमण्डलम्। नाभेर्गुह्यकमलपर्यन्तं T 339 महामेरुः। गुह्यकमलं [9]भगवतः कमलमिव। विण्मूत्रशुक्रवाहिन्यस्तिस्रो नाड्यश्चन्द्रसूर्यराहुमण्डलानि। गुह्यकमलकर्णिकायां समाहारस्तेषामिति। एवं तदुपरि **कूटागारं** 25 **समन्तात् स्फुरदमलकरं वज्रजं** हूँकारजं वज्र**पञ्जरं वा**, मातृयोनौ **सकुलिशकमलम्** (का. त. ५.१२०) इति ज्ञापकात्। तेनैव वज्रमयं पञ्जरं वा **तन्मध्ये वज्रभूमौ** भ्रुँकारपरिणतं ॐकारपरिणतं वा **मणिकरनिकरैर्मण्डलं विस्फुरन्तम् ॐकारं ज्ञानजातं जिनवरकमलं चन्द्रसूर्यासनानामिति** चित्तमण्डलं भूवलयान्तम् ॥ ८ ॥

---

१. च. भो. 'पूर्व' नास्ति। २. क. ख. च. छ. दशाकार। ३. ग. 'शुक्ल' नास्ति।
४. ग. च. भो. 'तुल्यं' नास्ति। ५. भो. 'सार्ध'''णता' नास्ति। ६. ग. याम।
७. च. विचि। ८. भो. Mihi Lus La (नृशरीरे)। ९. च. भगवत्।

बाह्ये वाङ्मण्डले वै वसुकमलमिदं चन्द्रसूर्यैर्विहीनं
बाह्ये दिक्कोणभागे दिनकरकमलं द्वारमध्ये रथाश्च ।
अर्कद्वारेषु राजन् मणिकनकमयैस्तोरणैश्च श्मशानै-
र्द्व्यष्टस्तम्भैश्च गर्भे कुलिशमयसुसम्भोगचक्रं जिनस्य ।।९।।

5 तद् **बाह्ये वाङ्मण्डले** समुद्रवलयान्ते [1]**वसुकमलमिदं** कमलाष्टकं **चन्द्रसूर्यैर्विहीनम्**, तस्यैव **बाह्ये** कायमण्डले वायुवलयान्ते **दिनकरकमलमिति** द्वादशकमलं चन्द्रसूर्यैर्विहीनम् । एवं **चतुर्द्वारे रथाश्च** । एवं कायमण्डलं चतुर्लक्षयोजनायामम्, वाङ्मण्डलं तदर्धम्, चित्तमण्डलं [2]तस्याप्यर्धम्, महासुखचक्रं तस्याप्यर्धं भगवतः [3]पद्मम् । पद्मत्रिभागिका कर्णिका चन्द्रादित्यराहुमण्डलानि । तथैवमध्यात्मनि गुह्य-
10 कमलाद् अध ऊर्ध्वं हृदयाद् गुह्यकमलं शिरो या[255a]वत् । अथवा हृदयाद् बाहूपबाहुनखान्तं यावद् मातृशरीरे विकल्पभावादिति नियमः । एवं प्रत्येकमण्डले चतुश्चतुर्द्वाराणि । एवं द्वादश द्वाराणि । **अर्कद्वारेषु राजन्निति** संबोधनम् । **मणिकनकमयैस्तोरणैश्च** कायमण्डलबाह्ये अष्टश्मशानैश्च । **गर्भे द्व्यष्टस्तम्भैः** षोडशकलाभेदेन षोडशस्तम्भैः । **कुलिशमयं** बोधिचित्तमयं **सुसम्भोगचक्रं जिनस्येति** । अस्य कायधातुभि-
15 र्विशुद्धिर्ज्ञानपटले वक्तव्या । अत्र **मूलतन्त्रानुसारेण** धर्मस्कन्धविशुद्धिरुच्यते । अत्र भगवानाह—

बुद्धधर्ममहासंघैश्चित्तवाक्कायमण्डलम् ।
चतुर्ब्रह्मविहारैश्च वज्रसूत्रचतुष्टयम् ।।

चतुर्भिः स्मृत्युपस्थानैश्चतुरस्रं समन्ततः ।
20 द्वादशाङ्गनिरोधेन द्वाराणि द्वादशानि च ।।

भूमिभिर्द्वादशैस्तद्वत् तोरणानि शुभानि च ।
आर्याष्टाङ्गिकमार्गैश्च श्मशानान्यष्टदिक्षु च ।।

शून्यता षोडश स्तम्भाः कूटागारं तु[4] धातुभिः ।
निर्यूहाष्टविमोक्षैश्च रूपिभिश्चाष्टभिर्गुणैः ।।

25 कपोला [5]पक्षकाश्चैव चित्तवाक्कायभेदतः ।
शीलादिपञ्चभिः स्कन्धैः पञ्चवर्णं विशोधितम् ।।

त्रि[6]प्राकारैस्त्रियानैश्च पञ्चश्रद्धेन्द्रियादिभिः ।
श्रद्धादिभिर्बलैः पञ्च चित्तवाक्कायमण्डले ।।

---

१. च. भो. वसुदल । २. ग. तस्यार्धं । ३. च. मण्डलम् । ४. च. रं च । ५. क. ख. पक्षक । ६. च. छ. प्राकारा ।

समाधिधारिणीभिश्च वेदिका मण्डलत्रये।
दशपारमितापूर्णैर्विचित्रा रत्नपट्टिका॥

हारार्धा वेणिकाक्षमैंरष्टादशभिरेव ते।
बकुली वशिताभिश्च कुशलैः [1]कवशीर्षकम्॥

शून्यतादिविमोक्षैश्च घण्टादिध्वनिपूरितम्।
ऋद्धिपादैर्ध्वजाकीर्णं प्रहाणैर्दर्पणोज्ज्वलम्॥

बोध्यङ्गैश्चामरो[2]द्धूतं नवाङ्गैः स्रग्दाममण्डितम्।
चतुर्भिः संग्रहैः कोणं विश्ववज्रैरलङ्कृतम्॥

खचितं सत्यच(सच्च)[3]तूरत्नैर्द्वारनिर्यूहसन्धिषु।
पञ्चाभिज्ञामहावलयैर्वेष्टितं पञ्चभिः सदा॥

सर्वाकारज्ञ[4]बोध्यङ्गवज्रावल्या सुवेष्टितम्।
सुखैकचक्र[5]वाडेन ज्ञानवज्रार्चिषा तथा॥

प्रज्ञोपायविभागेन चन्द्रसूर्यं सदोदितम्।
चित्तवाक्कायसंशुद्धं धर्मचक्रं महाघटम्॥

दुन्दुभिर्बोधिवृक्षश्च तच्चिन्तामणिकादिकम्।
एतच् छ्रीकालचक्रस्य मण्डलं धर्मधातुकम्॥

सर्वसम्पत्करं ध्यात्वा आदिकायं ततो न्यसेत्।

इति गर्भशोधनाविधिर्भगवतो गर्भा[255b]वक्रमणकाले॥९॥

इदानीं बाह्ये[6]देवतानिष्पत्तिरध्यात्मनि गर्भनिष्पत्तिरुच्यते—

आद्याः काद्येन्दुसूर्येऽपि कुलिशसहिताः पञ्चकादर्शकाद्ये-
र्मुञ्चन्तं पञ्चरश्मीन् स्फुरदमलकरं भावयेत् कालचक्रम्।
वज्रालङ्कारदेहं जिनवरकमलं सूर्यबाहुं युगास्यं
त्रिग्रीवं सूर्यनेत्रं विकसितवदनं चार्धदंष्ट्राकरालम्॥१०॥

आद्या इत्यादिना। इह मण्डलकर्णिकोपरि चन्द्रसूर्यराहुमण्डलोपरि चन्द्रमण्डले आद्या द्वात्रिंशल्लक्षणार्थं वामदक्षिणावर्तेन देया त्रिंशत् स्वरा बिन्दुर्विसर्गश्चेति। द्वात्रिंशत् तत्र अ इ ऋ उ ऌ इति प्रथमकलापञ्चकम्। ततो गुणभेदेन अ ए अर् ओ

---

१. भो. क्रम, ग. क्रव। २. क. ख. छ. द्धुतं। ३. छ. भूरत्नै। ४. च. ज्ञता।
५. च. वाटेन। ६. क. ख. ग. भो. बाह्य।

अलिति द्वितीयकलापञ्चकम्। ततो यणादेशेन हृ य र व लेति तृतीयकलापञ्चकम्। [1]पञ्चदशकलान्ते बिन्दुः। अं[2] इति षोडश वामावर्तेन। ततो दक्षिणावर्तेन कृष्णप्रतिपदादिकला देयाः। ला वा रा या हा आल् औ आर् ऐ आ लॄ ऊ ॠ ई आ इति पञ्चदश, अमान्ते विसर्गः अः इति षोडशस्वराः। एतानि द्वात्रिंशन्महापुरुषलक्षणानि [3]चन्द्रांशे गर्भाधाने शुक्रधाताविति नियमः। ततः काद्या अर्कमण्डले चत्वारिंशदेकव्यञ्जनात्मानः। चत्वारिंशत् [4]संयुक्ताः। तत्र हृ य र व लेन षड्वर्गाः। पञ्चत्रिंशद्भवन्ति। तथा द्विधोच्चारणवशाद् ल-व-य-ड-ढा[5] गृह्यन्ते[6] ल्ल व्व य्य ड्ड ढ्ढ ल्ल व्व र्र य्य ह्ह स्स ≍प्प श्श ≍क्क त्त थ्थ द्द ध्ध न्न प्प फ्फ ब्ब भ्भ म्म ट्ट ठ्ठ ड्ड ढ्ढ ण्ण च्च छ्छ ज्ज झ्झ ञ्ञ क्क ख्ख ग्ग घ्घ ङ्ङ इति चत्वारिंशद्दक्षिणावर्तेन पृथिव्यादिभेदेन संयुक्ताः। ततो वामावर्तेन ङ घ ग ख क। ञ झ ज छ च। ण ढ ड ठ ट। म भ ब फ प। न ध द थ त। ≍क श ष ≍प स। हृ य र वँ ल। ढ ड य व ल। इति चत्वारिंशदेकव्यञ्जनात्मानः। एवमशीतिव्यञ्जनानि सूर्ये गर्भाधाने [7]रजसीति नियमः। **एवमाद्याः काद्येन्दुसूर्येऽपि कुलिशसहितास्तयोः**। [8]सूर्यस्तले चन्द्रः सूर्योपरि चन्द्रमध्ये हूँकारं चन्द्रा[9]र्कवत्। एवं रजोपरि [11]शुक्रम्। शुक्रमध्ये आलयविज्ञानं गन्धर्वसत्त्वम्। ततः **पञ्चका[12]दर्शकाद्यैरिति**। ततश्चन्द्रः शुक्रं स्वरान्वितम्। आदर्शज्ञानं [13]रूपस्क[256a]न्धजनकं वैरोचनः सूर्यो रजो व्यञ्जनान्वितः। समताज्ञानं वेदनास्कन्धजनको रत्नसंभवः। प्रत्यवेक्षणा[14] गन्धर्वसत्त्वं हूँकारान्वितं संज्ञास्कन्धजनकोऽमिताभः। तेषामेकत्वं प्राणवायुः। ह्रो(ह्रीः)कारान्वितः। कृत्यानुष्ठानज्ञानं संस्कारस्कन्धजनकोऽमोघसिद्धिः। ततः सर्वाङ्गावयवपरिपूर्णं विज्ञानं हँकारान्वितं सुविशुद्धधर्मधातुज्ञानं विज्ञानस्कन्धजनकोऽक्षोभ्य इति पञ्चज्ञानात्मकं बाह्येऽध्यात्मनि च। एषामेकलोलीभूतं बीजं स्वराणां बिन्दुः, व्यञ्जनानां विसर्गः, विज्ञानस्यानाहतम्। प्राणस्य अकारः, इत्युक्तक्रमेण भगवन्तं **मुञ्चन्तं पञ्चरश्मीन् स्फुरदमलकरं भावयेत् कालचक्रमिति**। बाह्ये गर्भे च कायनिष्पत्तिनियमः।

इदानीं देवताविग्रहे कालविभागेन संस्थानमुच्यते—वज्रेत्यादि। इह देवतानामुत्पादकाले सर्वालङ्कारसहित उत्पादः, [15]तेन नानाशरीरावयवा नानावर्णा नानासंस्थाना एवोत्पद्यन्ते। [16]अतो **वज्रालङ्कारदेहं जिनकरकमलं** चतुर्विंशतिकरम्, सूर्यं इति **द्वादशबाहुम्। युगास्यं** चतुर्मुखं **त्रिग्रीवं** द्वादशनेत्रं **विकसितवदनं चार्धदंष्ट्रा-**

---

१. ग. 'ततः' इत्यधिकम्। २. ग. च. छ. भो. अं। ३. ग. च. भो. चन्द्राङ्के, छ. चद्रांशं। ४. क. ख. ग. भो. संयुताः, छ. संपुटाः। ५. क. ख. छ. ढ। ६. क. ख. मृज्यन्ते। ७. ग. लव। ८. ग. तेजसि। ९. ग. भ. सूर्यतले, च. स्ततो। १०. क. ख. च. छ. ङ्कवत्। ११. ग. शुक्रः। १२. भो. Me Loṅ La Sogs Pa lṅa (पञ्चादर्शाद्यैः)। १३. ग. स्वरूप। १४. भो. Ye Śes (०ज्ञानं)। १५. क. ख. च. छ. भो. स्ते च। १६. ग. अन्ये।

करालमिति कायनिष्पत्तौ काय[1]विज्ञानाधिपतेर्लक्षणम्। मध्ये मण्डलकमलकर्णिकायां [2]स्वशरीरान्तर्भूतो देवताविन्यासो मण्डलाकार उच्यते॥ १०॥

श्रीमत्योङ्कारजाते जिनपतिकमले चन्द्रसूर्याग्निमूर्ध्नि
रुद्रानङ्गद्वयोर्हृत्सुललितचरणालीढपादं जिनेन्द्रम्।
मारो रक्ते च सव्ये वरचरणतले शुक्लवामे च रुद्रो 5
मध्यं सव्यावसव्यं भ्रमररविनिभं चन्द्रवर्णं च कण्ठम् ॥११॥

श्रीमति ॐकारजाते जिनपतिकमले हृत्कमले **चन्द्रसूर्याग्निमूर्ध्नि** ललना-रसनाऽवधूतीमूर्ध्नि **रुद्रानङ्गयोर्द्वयोर्मा**रक्लेश[3]पक्षयोर्वामदक्षिणप्रवा[256b]हयोः, **हृदि सुललितचरणालीढपादं जिनेन्द्रमिति**। तत्र **मारः** कामदेवः पञ्चपुष्पबाणधनुर्हस्तः पाशाङ्कुशधरश्चतुर्भुज एकवक्त्रो **रक्तवर्णः सव्ये** पादतले रक्त[4]वर्णः। तथा रुद्रस्त्रिनेत्र 10
एकाननश्चतुर्भुजस्त्रिशूलडमरुकपालखट्वाङ्गधरो वामपादतले शुक्ले **शुक्ल** इति। एवं नीलाङ्गं तथा मध्यकण्ठं नीलं दक्षिणे[5] **रविनिभं** रक्तम्। **अवसव्यं** वामं **चन्द्रवर्णं** शुक्लमेवं त्रिकण्ठं पूर्वोक्तविधानात्। पूर्वमुखं कृष्णं द्रंष्ट्राकरालोग्रम्। दक्षिणं सरागं रक्तं वामं प्रशान्तं शुक्लम्। पश्चिमं समाधिस्थं पीतम्। जटामुकुटे विश्ववज्रम् अर्धचन्द्रं वज्रसत्वमुकुटं। वज्रमणिवज्रकुण्डलवज्रकण्ठिकावज्ररुचकवज्रमेखला- 15
वज्रनूपुरवज्रपट्टवज्रमालाव्याघ्रचर्माम्बरधरम्॥ ११॥

स्कन्धं नीलं च रक्तं शशधरधवलं दक्षिणे चोत्तरे च
द्वौ द्वौ सव्यावसव्येऽसितरविवपुषौ बाहवश्चन्द्रवर्णाः।
तद्वद् वै त्र्यष्टकेन प्रहरणसहिताः पाणयश्च क्रमेण
पञ्चाङ्गुल्यस्त्रिपर्वाः शशिकरकमले पञ्चवर्णाः स्फुरन्त्यः ॥१२॥ 20

तथा दक्षिण**स्कन्धं** प्रथमं **नीलं** द्वितीयं **रक्तं** तृतीयं शुक्लम्। एवमु**त्तरे च**। एवं **द्वौ** बाहू नीलौ **द्वौ** रक्तौ द्वौ शुक्लौ **दक्षिणे चोत्तरे च**। एवं कराश्चत्वारः कृष्णाः। चत्वारो रक्ताः। चत्वारः शुक्लाः। दक्षिणे चोत्तरे च। ते च वक्ष्यमाण**प्रहरणैः सहिताः**। एवं प्रत्येककरे **पञ्चाङ्गुल्यस्ताः**[6] प्रत्येका**स्त्रिपर्वाः**। अङ्गुष्ठः पीतः। तर्जनी शुक्ला। मध्यमा रक्ता। अनामिका कृष्णा। कनिष्ठा हरिता। हस्ततलात् सर्वाङ्गुलीनां [7]प्रथमा 25
पर्वपङ्क्तिः कृष्णा। द्वितीया रक्ता। तृतीया शुक्लेति। एवं **शशिकरकमले** प्रत्येकं[8] **पञ्च-वर्णास्ता** मुद्रिकाभिः [9]**स्फुरन्त्यः**। [10]इत्यविद्यासंस्कारविज्ञानानु[11]प्रवेशनियमो गर्भे तृतीय-मासः प्रथममात्रा॥ १२॥ [257a]

---

१. च. 'वि' नास्ति। २. क. ख. छ. 'स्व' नास्ति। ३. क. ख. च. भो. यक्ष। ४. च. वर्णे। ५. ग. च. क्षिणं। ६. भो. 'कनिष्ठा हरिता' इत्यनन्तरं 'ताः ...... पर्वाः' अयं पाठः। ७. क ख. च. छ. प्रथम। ८. ग. च. त्येके। ९. ग. स्फर। १०. भो. De lTar (एवं)। ११. भो. rNam Par Śes Pa rNams (विज्ञानानि)।

इदानीमस्त्रवृन्दमुच्यते—

कृष्णे रक्ते च शुक्ले प्रवरकरतले संस्थितं चास्त्रवृन्दं
वज्रं खड्गस्त्रिशूलं भुवनभयकरा कर्तिका वह्निबाणः ।
तस्माद् वज्राङ्कुशो वै सरवडमरुको मुद्गरश्चक्रमेव
5 कुन्तो दण्डः कुठारो रविकरकमले दक्षिणे वज्रिणश्च ॥१३॥

कृष्ण इत्यादिना । **कृष्णे** करतलचतुष्के प्रथमे **वज्रम्**, द्वितीये **खड्गः**, तृतीये **त्रिशूलम्**, चतुर्थे **कर्तिकेति** । तथा **रक्ते** करतलचतुष्के प्रथमेऽग्निबाणः, द्वितीये **वज्राङ्कुशः**, तृतीये [1]**रणड्डमरुकः**, चतुर्थे **मुद्गर** इति । तृतीये **शुक्ले** करतलचतुष्के प्रथमे करतले **चक्रम्**, द्वितीये **कुन्तः**, तृतीये **दण्डः** । चतुर्थे [2]पर्शुरिति **दक्षिणेऽस्त्र-
10 वृन्दम्**, रविकरकमले दक्षिणे **वज्रिणश्चेति** ॥ १३ ॥

इदानीं [3]वामकृष्णकर[4]तलचतुष्के चिह्नमुच्यते—

घण्टा खेटं च खट्वाङ्गविकसितमुखं रक्तपूर्णं कपालं
कोदण्डं पाशरत्ने कमलजलचरौ दर्पणः शृङ्खला च ।
वेदास्यं ब्रह्मणो यच्छिरकमलमलं वामहस्ते जिनस्य
15 कुर्वन्त्यौ दीनवक्त्रं धृतचरणतले माररुद्रस्वदेव्यौ ॥१४॥

प्रथमे **वज्रघण्टा**, द्वितीये **खेटम्**, तृतीये **खट्वाङ्गं विकसितमुखम्**, चतुर्थे **रक्तपूर्णं कपालमिति** । तथा रक्ते करतलचतुष्के प्रथमे **कोदण्डम्**, द्वितीये **पाशः**, तृतीये मणिरत्नम्, चतुर्थे श्वेत**कमलमिति** । तथा शुक्ले करतलचतुष्के, प्रथमकरतले **जलचर** इति शङ्खः, द्वितीये **दर्पणः**, तृतीये वज्र**शृङ्खला**, चतुर्थे **ब्रह्मशिर** इति ।
20 एवं **वेदास्यं ब्रह्मणो यच्छिरकमलमलं** [5]भूषणं **वामहस्ते जिनस्येति** । तत्र माररुद्र-संनिधाने **कुर्वन्त्यौ दीनवक्त्रं धृतचरणतले माररुद्रयोः स्वदेव्यौ** रतिर्मारस्य, उमा रुद्रस्येत्यक्षोभ्यप्रवेशः ॥ १४ ॥ [257b]

इदानीं विश्वमातालक्षणमुच्यते—

हेमाभा वेदवक्त्रा वसुकरकमलालिङ्गिता विश्वमाता
25 सव्ये कर्त्यङ्कुशो वै सरबडमरुकश्चाक्षसूत्रं क्रमेण ।
वामे शुक्तिश्च पाशः शतदलकमलं दिव्यरत्नं तथैव
प्रत्यालीढार्कनेत्रा जिनपतिमुकुटा मुद्रिता मुद्रिकाभिः ॥१५॥

---

१. ग. 'रणत्' नास्ति । २. ग. च. परशु । ३. च. वामे । ४. ख. छ. तले ।
५. च. 'भूषणं' नास्ति ।

हेमाभेत्यादिना । तत्रैकसमरसाच्चन्द्रशुक्रस्वभावेन भगवत उत्पादः, सूर्यरजःस्वभावेन देव्या उत्पादः । तत्र श्वेतकृष्ण[१]धर्मा चन्द्रः, रक्तपीत[२]धर्मा सूर्यः । तेन **हेमाभा वेदवक्त्रा** चतुर्मुखा **वसुकरकमला** अष्टभुजाग्रत **आलिङ्गिता विश्वमाता** । तस्याः प्रथमकरे दक्षिणे, **कर्तिका**, द्वितीयेऽङ्कुशः, तृतीये **सरवडमरुकः**, चतुर्थे **अक्षसूत्रमिति** । **वामे** प्रथमकरे **शुक्तिः**, द्वितीये **पाशः**, तृतीये **शतदलकमलं** धवलम्, चतुर्थे **दिव्यरत्नं तथैव च** । एवमालीढो भगवान् **प्रत्यालीढा** विश्वमाता । **अर्कनेत्रा** द्वादशनेत्रा **जिनपतिमुकुटा** वज्रसत्त्वमुकुटा । **मुद्रिता पञ्चमुद्राभिः** समापत्तिस्था ॥ १५ ॥

अष्टौ देव्योऽष्टपत्रे वसुकरकमला वेदवक्त्रार्कनेत्राः
कोणे तासां चतस्रस्त्वहिचमरधरा वक्त्रभेदैर्जिनस्य ।
ईशे नैर्ऋत्यकोणे शिखिनि च पवने धर्मशङ्खश्च गण्डी
एवं चिन्तामणिः स्याद् भवति खलु तथा कल्पवृक्षक्रमेण ॥१६॥

तस्या विश्वमातुर्ज्ञानपारमितायाा अन्तर्भाविता अपराः पारमिता[3] दानादयः पारमिता **अष्टपत्रे**[४]**ष्वष्टौ देव्यः** । ता **वसुकरकमला** अष्टभुजाः, **वेदवक्त्राश्चतुर्मुखाः**, **अर्कनेत्रा** द्वादशलोचनाः । **तासां** मध्ये **चतस्रोऽहिचमरधरा** अष्टभुजैरष्टचमरधराः । चतुःकोणे **वक्त्रभेदैर्जिनस्येति** । अग्नौ कृष्णा, नैर्ऋत्ये रक्ता, वायव्ये पीता, ईशाने शुक्ला । एवं तासां [५]पृष्ठत **ईशे धर्मशङ्खः** शुक्लः, **नैर्ऋत्ये धर्मगण्डी** रक्ता, **शिखिनि चिन्तामणिः** कृष्णः, **वायव्ये कल्पवृक्षः**[258a] पीत इति । एवं पूर्वपत्रे कृष्णा, दक्षिणे रक्ता, उत्तरे श्वेता, पश्चिमे पीतदीप्तेति । यथा भगवतो मुखभेदश्चतुर्दिक्षु भेदेन तथा देवीनां विश्वमातुः प्रथमं मुखं हेमाभम्, दक्षिणं[६] शुक्लम्, वामं[७] रक्तम्, पश्चिमं[८] नीलम् । एवं पीतानां देवीनाम् । शुक्लानां [९]शुक्लं पूर्वम्, दक्षिणं कृष्णम्, पश्चिमं रक्तम्, वामं पीतम् । रक्तानां प्रथमं रक्तम्, दक्षिणं पीतम्, वामं नीलम्, पश्चिमं शुक्लम् । कृष्णानां पूर्वं कृष्णम्, वामं शुक्लम्, पश्चिमं पीतमिति । गर्भपद्मदेवीनां यथा भगवत्या अलङ्काराः पञ्चमुद्रास्तथा ज्ञातव्या इति नियमः ॥ १६ ॥

इदानीं कृष्णदीप्तादीनां सव्यवाम[१०]हस्तेषु [११]चिह्नान्युच्यन्ते—　　T 341

कृष्णाया धूपपात्रं प्रथमकरतले शीतपात्रं द्वितीये
पिष्टं रक्तं तृतीये समदशशधरं सव्यहस्ते चतुर्थे ।

---

१. ग. च. भो. धर्मी । २. ग. धर्म, च. भो. धर्मी । ३. च. मितायाः, ग. दानादयोऽपरा पारमिता । ४. क. ख. ग. छ. पत्रेऽष्ट । ५ ग. च. भो. पृष्ठ । ६. ग. दक्षिणे । ७. ग. वामे । ८. क. ख. छ. पश्चिमे । ९. च. पूर्वं शुक्लम् । १०. क. ख. छ. हस्ते । ११. क. ख. ग. च. छ. चिह्नमु ।

वामे घण्टा च पद्मं सुरतरुकुसुमं पुष्पमाला क्रमेण
रक्ताया दीपहारौ समुकुटकटकं दक्षिणे वामहस्ते ॥१७॥

कृष्णेत्यादि। **कृष्णाया धूपपात्रं प्रथमकरतले, शीतपात्रं** चन्दनपात्रं **द्वितीये, पिष्टं रक्तं** कुङ्कुमपात्रं **तृतीये, समदशशधरं** कस्तूरिकासहितं कर्पूरपात्रं **चतुर्थे**। इति दक्षिणकरेषु। **वामे** प्रथमहस्ते **घण्टा**, द्वितीये **पद्मम्**, तृतीये **सुरतरुकुसुमम्**, चतुर्थे नानापुष्पमाला **क्रमेणेति** पूर्वपत्रे। **रक्त**दीप्तायाः प्रथमहस्ते सव्ये **प्रदीपः**, द्वितीये **हारः**, तृतीये [1]**मुकुटः**, चतुर्थे **कटकमिति** सव्ये ॥ १७ ॥

वस्त्रं वै मेखला च स्फुरदमलकरं कुण्डलं नूपुरं च
पीतायाः शङ्खवेणू समणिडमरुकः सव्यहस्ते क्रमेण।
वामे वीणा च ढक्का प्रगुणरणरणत्कंसिका काहला च
दुग्धाम्ब्वौषध्यपानं त्वमृतरसफलं भक्तपात्रं सितायाः ॥१८॥

[258b]

तथा वामहस्ते प्रथमे **वस्त्रम्**, द्वितीये **मेखला**, तृतीये रत्न**कुण्डलम्**, चतुर्थे **नूपुरमिति**। तथा **पीत**दीप्तायाः सव्ये प्रथमकरे **शङ्खः**, द्वितीये **वेणुः**, तृतीये **मणिः**, **डमरुकश्**चतुर्थ इति। **वामे** प्रथमे **वीणा**, **द्वितीये ढक्का**[2], तृतीये **रणत्कंसिका**[3], चतुर्थे **काहला च** क्रमेणेति। तथा श्वेतदीप्तायाः, [4]प्रथमे हस्ते **दुग्ध**पात्रम्, द्वितीये-ऽम्बुपात्रम्, तृतीये दिव्यौ**षधी**, चतुर्थे **मद्य**पात्रम्। वामे प्रथमहस्ते **अमृत**पात्रम्, द्वितीये सिद्धरसपात्रम्, तृतीयेऽमृत**फलम्**, चतुर्थे **भक्तपात्रं सितायाः**। इति वज्रसत्त्वनिष्पत्तिः स्वमुद्रासहिता ॥ १८ ॥

दिक्पद्मेष्वब्धिबुद्धाः खलु नवनयना वह्निवक्त्रर्तुहस्ताः
कोणे तारादिदेव्यः पुनरपि च तयोरष्टकक्षेऽष्टकुम्भाः।
कृष्णा रक्ता च पीता शशधरधवला देवता देवती च
कृष्णा श्वेतेन्दुमूर्ध्नि त्वथ विदिशि गते रक्तपीतेऽर्कमूर्ध्नि ॥१९॥

इदानीं नामरूपाद्युत्पादाय महारागवैनेयसप्तलोकमादिबुद्धदेशनायां भाजनमभिसंवीक्ष्य सुरतध्वनिना स्वकायेऽक्षोभ्यादिजिनसमूहं प्रवेश्याकाशादिधातुसमूहं

१. ग. मकुटः। २. भो. दुन्दुभिः, छ. 'ढक्का "दुग्धपात्रं द्वितीये' नास्ति। ३. ग. केसिका, च. कांचिका। ४. च. सव्ये।

पुरुषविद्याचक्षुरादिरूपादिविषयस्वभावेन देवतास्वरूपाविर्भूतं पुनरपि [1]तं स्वकायान्निश्चार्य विश्वमातरि यथावदन्तर्भावयेत्। ततस्तथैव निश्चार्य पुनरपि मण्डलचक्राकारान् तथागतान् सधातून् स्वकाये प्रवेश्य चन्द्रद्रवापन्नान् स्वकुलिशेनोत्सृज्य स्वविद्याकमलोदरे तत्परावृत्तं देवतादेवतीगणमण्डलमाधाराधेय-लक्षणमक्षोभ्याधिपतिं ध्यात्वा पूर्वं भगवतः काये प्रवेशयेत्। ततो **दिक्पद्मेष्व-ब्धिबुद्धाश्चत्वारः खलु नवनयना वह्निवक्त्रास्त्रिमुखा ऋतुहस्ताः षड्भुजाः** स्फारणीयाः। तत्र पूर्वपद्मे सूर्यमूर्ध्नि अमोघसिद्धिः कृष्णः दक्षिणावर्तेन कृष्णरक्त-सितवदनः, दक्षिणे रत्नसंभवो रक्तवर्णो दक्षिणावर्तेन रक्तसितकृष्णाननः, उत्तरे अमिताभः शुक्लो दक्षिणाव[259a]र्तेन सितकृष्णरक्ताननः, पश्चिमे वैरोचनः पीतो दक्षिणावर्तेन पीतसितकृष्णानन इति चत्वारः सूर्यमण्डले। **"दिनस्तु भगवान् वज्री"** (वि. प्र. पृ. 150) इति ज्ञापकात्। आग्नेय्यां **तारा** अमोघसिद्धिवत्, नैर्ऋत्ये पाण्डरा रत्नसंभववत्, ईशाने मामकी अमिताभवत्, वायव्ये लोचना वैरोचनवत्, इति चतस्रश्चन्द्रमण्डले। **"नक्तं प्रज्ञा प्रकीर्तिता"**(वि. प्र. पृ. 150)इति ज्ञापकात्। **पुनरपि च तयोर्देवता** देव्योर्मध्येऽष्ट**कक्षास्वष्टामृतकलशाः**। एवं **कृष्णा रक्ता च पीता शशधरधवला देवता देवती** चेति। पूर्वद्वारेऽतिबलः क्रोधो वर्णमुखभुजतोऽमोघसिद्धिवत् कृष्णः, दक्षिणद्वारे जम्भको रत्नसंभववद् वर्णमुखभुजतो रक्तः, पश्चिमद्वारे स्तम्भको वैरोचनवद् [3]वर्णमुखभुजतः पीतः, उत्तरे मानकोऽमिताभवद् वर्णमुखभुजतः शुक्लः, ऊर्ध्वे उष्णीषोऽक्षोभ्यवद् वर्णमुखभुजतः श्यामः। किन्त्वेते क्रोधा आलीढाः, क्रोधदेव्यः प्रत्यालीढा इति। चतुर्थे मासे नामरूपोत्पादकाले रूपं चतुर्महाभूतात्मकं वाय्व-ग्न्युदकपृथ्वीधात्वात्मकम्। तेन [4]स्कन्धधातुक्रोधानामुत्सर्गः॥ १९ ॥

ततः पञ्चमे मासे षडायतनोत्पादकाले खगर्भादीनुत्सृजेत्—

वैगर्भाद्याश्च भित्तौ दिशिविदिशिगताः स्पर्शवज्रादयश्च
पूर्वे सव्येऽत्रसव्ये परदिशिकमले विश्वभद्रस्तथैव।
श्रीमान् वै वज्रपाणिः खलु खकुलिशा धर्मधातुः क्रमेण
जम्भः स्तम्भश्च मानस्त्वतिबल इति यो द्वारपालः स पूर्वे ॥२०॥

[5]वैगर्भाद्याश्च [6]भित्ताविति। इह वायुजन्यो घ्राणो वेगर्भोऽमोघसिद्धिवत् संस्थानतः पूर्वद्वारस्य सव्ये प्राकारभित्तौ **दिशी**ति। **विदिशिगता**ऽऽग्नेयकोणे वायुजन्या **स्पर्शवज्रा** तारावत् संस्थानतः। एवं दक्षिणद्वारसव्ये तेजोजन्यं चक्षुः क्षितिगर्भो रत्नसंभववत् संस्थानतः। एवं तेजोधातुजन्या रसवज्रा पाण्डरावन्नैर्ऋत्यकोणे पश्चिमद्वारसव्ये। पृथिवीजन्यं [7]कायेन्द्रियं सर्वनीवरणविष्कम्भी वैरोचनवत्। एवं [8]पृ[259b]थ्वीजन्या

---

१. छ. तत्त्वकाया। २. च. भो. देवी। ३. क. ख. ग. छ. मुखवर्ण। ४. ग. च. भो. धातुकस्कन्ध। ५. भो. mKhaḥi sÑin (खगर्भ)। ६. भो. 'भित्तौ' नास्ति। ७. छ. "कायेन्द्रियः ""एवं पृथ्वी' नास्ति। ८. भो. Sa Khams Las (पृथ्वीधातु)।

गन्धवज्रा वायुकोणे लोचनावत्। उत्तरद्वारसव्ये उदकजन्या जिह्वा लोकेश्वरोऽमिताभवत्। ईशाने उदकजन्या रूपवज्रा मामकीवत्। अधो [1]ज्ञानधातुजन्यं मनः समन्तभद्रो नीलवर्णस्त्रिमुखः षड्भुजो वर्णतः कालचक्रवत् पूर्वद्वारस्य वामे प्राकारभित्तौ। एवं ज्ञानधातुजन्या शब्दवज्रा उत्तरद्वारवामे समन्तभद्रवत् [2]संस्थानतः। ऊर्ध्वे आकाशधातुजन्यं श्रोत्रं वज्रपाणिरक्षोभ्यवत् श्यामो दक्षिणद्वारवामे। एवमाकाशधातुजन्या धर्मधातुवज्रा पश्चिमद्वारस्य वामे वज्रपाणिवत् [2]संस्थानतः। एवं षडायतनं पञ्चमे मासे "**षष्ठे स्पर्शः**" इति ज्ञापकात् स्पर्शादयो विषयाः। एवं द्वादशायतनोत्सर्गो [3]द्वितीयमात्रा कायवज्रस्य। अत्र कृष्णा[:] श्वेता देवतादेव्यः पूर्वोत्तरा ऊर्ध्वस्थाश्चन्द्रमण्डले देयाः, शुक्रधर्मित्वात् खवायूदकधातूनाम्। अथ विदिशिगताः कोणदेव्यश्चन्द्रे "नक्तं प्रज्ञा प्रकीर्तिता" (वि. प्र. पृ. 150) इति वचनात्। एवं [4]रक्ता पीता दक्षिणपश्चिमा[5] देवतादेव्योऽधस्ताच्च, सूर्यमण्डले ज्ञानतेजःपृथ्वीधातूनां रजोधर्मित्वात्। अथ दिशिगता देवताः सूर्यः "**दिनस्तु भगवान् वज्री**" (वि. प्र. पृ. 150)इति वचनात्। एवं यो भगवतोऽभिमुखः स नायको दिक्षु, विदिक्षु देवी नायिका भगवतोऽभिमुखीति। पराङ्मुखोऽनुनायक इति ॥ २० ॥

प्रज्ञोत्सङ्गे ह्युपायः शशधरकमले देवतानां च देवी
अन्योन्यालिङ्गितौ द्वौ स्वकरसलिलजैः स्वस्वचिह्नाङ्कितैश्च।
यच्चिह्नं यस्य सव्ये प्रथमकरतले सास्य मुद्राब्जहीना
प्रज्ञोपायेन चक्रं परमसुखगतं पद्मवज्रासनाढ्यम् ॥२१॥

अतः **प्रज्ञोत्सङ्गे ह्युपायो**ऽनुनायकः **शशधरकमले** कोणभागे विदिक्षु। एवं **देवतानामु**पायानामुत्सङ्गे **देवी** अनुनायिका सूर्यमण्डले दिक्षु। **अन्योन्यालिङ्गितौ द्वौ स्वकरसलिलजैः स्वस्वचिह्नाङ्कितै**र्वक्ष्यमाणै**र्यच्चिह्नं यस्य सव्ये प्रथमकरतले सास्य मुद्राऽब्जहीना**। अब्जचिह्नं वामेऽपि दक्षिणेऽपि साधारणं रत्नं खड्गश्चेति। [260a] एवं पूर्वापरं वामदक्षिणं अध ऊर्ध्वं **प्रज्ञोपायेन चक्रं परमसुखगतं वज्रासनाढ्यम्** उपायनायकम्, **पद्मासनाढ्यं** देवीगण[6]नायकमिति नियमः ॥२१॥

इदानीं चिह्नान्युच्यन्ते—

कृष्णानां खड्गकर्त्यौ भुवनभयकरं सव्यहस्ते त्रिशूलं
वामे खेटं कपालं भवति करतले श्वेतखट्वाङ्गमेव।
बाणो वज्राङ्कुशो वै सरवडमरुकः सव्यहस्ते क्रमेण
वामे कोदण्डपाशौ स्फुरदमलमणिर्लोहितानां तथैव ॥२२॥

---

१. ग. धातुज्ञान। २-२. भो. 'संस्थानतः' नास्ति। ३. भो. gNas sKabs gÑis Pa (द्वितीयावस्था)। ४. च. रक्त। ५. ग. पश्चिम। ६. भो. ḥDren Ma (नायिकामि०)।

कृष्णानामित्यादिना। [1]षट्कुलस्कन्धविशुद्धया षट्चिह्नानि। तत्र **कृष्णानां** संस्कारकुलजानां प्रथमे दक्षिण[2]करे **खड्गः**, द्वितीये **कर्तिका**, तृतीये **त्रिशूलम्**। **वामे** प्रथमे **खेटम्**, द्वितीये **कपालम्**, तृतीये **करतले श्वेतखट्वाङ्गम्** अमोघसिद्धितारा-अतिवलखगर्भस्पर्शवज्राणामिति। **तथा लोहितानां** सव्ये प्रथम[3]हस्तेऽ**ग्निबाणः**, द्वितीये **वज्राङ्कुशः**, तृतीये **सरवडमरुकः**। **क्रमेणे**ति, **वामे** प्रथमे **चापम्**, द्वितीये **वज्रपाशः**, तृतीये **स्फुरदमलमणी** रत्नम्, नवशूकं वेदनाकुलजानां रत्नसंभवपाण्डराजम्भकक्षिति-गर्भरसवज्राणामिति ॥२२॥

पीतानां चक्रदण्डं भयकरकुलिशं सव्यहस्ते क्रमेण
श्रीशङ्खः शृङ्खला वै भवति च सरवा वज्रघण्टा च वामे।
सव्ये श्रीमुद्गरो वै शशधरधवलानां च कुन्तस्त्रिशूलं
वामे श्वेतं च पद्मं शतदलसहितं दर्पणं चाक्षसूत्रम् ॥२३॥

एवं रूपकुलजानां सव्ये प्रथमहस्ते **चक्रम्**, द्वितीये **दण्डः**, तृतीये **भयकर-कुलिशम्**। वामे प्रथमे **शङ्खः**, द्वितीये **वज्रशृङ्खला**, तृतीये **सरवा वज्रघण्टा**। एवं **पीता**[260b]**नां** वैरोचनलोचनास्तम्भकसर्वनीवरणविष्कम्भिगन्धवज्राणामिति। तथा संज्ञाकुलजानां **श्वेतानां सव्ये** प्रथमहस्ते **मुद्गरः**, द्वितीये **कुन्तः**, तृतीये **त्रिशूलम्**। **वामे** प्रथमे **श्वेतं शतदलपद्मम्**, द्वितीये **दर्पणम्**, तृतीये **अक्षसूत्रम्** अमि-ताभमामकीपद्मान्तकलोकेश्वररूपवज्राणामिति ॥२३॥

वज्रं कर्ती कुठारः प्रभवति हरितानां च सव्ये क्रमेण
वामे घण्टा कपालं सकलगुणनिधिर्ब्रह्मवक्त्रं तदेव।
नीलानां वेदितव्यं प्रकृतिगुणवशाद् देवतीनां च तद्वत्
कृष्णा रक्ता च शुक्ला द्रुतकनकनिभाः पूर्वभूम्यादिदेव्यः ॥२४॥

तथा विज्ञानकुलजानां **हरितानां** प्रथमे **सव्ये वज्रम्**, द्वितीये **कर्ती**, तृतीये **पर्शुः**। **वामे** प्रथमे **घण्टा**, द्वितीये **कपालम्**, तृतीये **ब्रह्मशिरः**, अक्षोभ्यवज्रधात्वी-श्वरी-उष्णीवज्रपाणिधर्मधातुवज्राणामिति। एवं **नीलानामपि** ज्ञानकुलजानां वज्रसत्त्व-विश्वमातासुम्भराजसमन्तभद्रशब्दवज्राणामिति चिह्ननियमः। अथवा तारायाः समन्तभद्रस्योत्पलं वा खट्वाङ्गस्थाने ब्रह्मशिरःस्थाने चेति ॥२४॥

अष्टौ धूमादिदेवीर्जिनपतिकमले वर्जयित्वा कदाचित्
श्रीचक्रं गर्भमध्ये भवति नरपते पञ्चविंशात्मकं च।

---

१. च. भो. इह षट्। २. च. दक्षिणे। ३. ग. च. छ. प्रथमे।

ज्ञात्वा शक्तिं स्वचित्ते त्वयमपि भगवान् योगिभिर्भावनीयः
सेकार्थं मण्डलं वा भवति कुलवशाद् बाह्यचक्रप्रहीणम् ॥२५॥

अष्टौ धूमादिदेवीर्वर्जयित्वा अष्टौ घटान् धर्मशङ्खादिकं च **जिनपतिकमले कदाचित् श्रीचक्रं** चित्तमण्डलं **गर्भमध्ये भवति नरपते पञ्चविंशात्मकं च।** उ[261a]पविष्टोऽपि तदा भगवान् भवति श्रीसमाजवत्। अत्र दोषो नास्ति निरन्वयत्वात्। एवं **ज्ञात्वा शक्तिं स्वचित्ते** साधकै**रयमपि भगवान् योगिभिर्भावनीयः। सेकार्थं मण्डलं वा भवति कुलवशाद्बाह्यचक्रप्रहीणम्।**

अत्र सहजसुखं वज्रसत्त्वं शुक्रं गर्भप्रविष्टं प्रथममासेऽविद्या, द्वितीये संस्कारः, तृतीये विज्ञानम्, चतुर्थे [1]रूपम्, [पञ्चमे] रूपसम्बन्धिषडायतनम्। स्पर्शादिकं षष्ठं मासं यावत्, कुलवशादिति भगवतो नियमः। एवं हृदये चित्तमण्डलं [2]च [3]पञ्चपञ्चधात्वात्मकम्। ततः सप्तमे मासे वेदनोत्पादकाले तृतीया मात्रा वाङ्मण्डले कालनाडीदेवीनामुत्सर्गः। तत्र वाङ्मण्डलं कण्ठनिर्माणचक्रपर्यन्तं चतुरस्रं ग्राह्यम्। तत्र निर्माणचक्रे चतुर्विधा नाड्यो गर्भे प्रथमपरिमण्डले चतस्रः, द्वितीयेऽष्टौ, तृतीये द्वादश चित्तवाक्कायस्वभावेन। ततश्चतुर्थपरिमण्डले त्रिवज्रसाधारणाश्चतुःषष्टिनाड्यः। तत्र षष्टिमण्डलवाहिन्यश्चतस्रः शून्याः। एवं कण्ठे मुहूर्तवाहिन्यः त्रिंशत्, द्वे शून्ये। एवं निर्माणचक्रे वाङ्नाड्योऽष्टप्रहरभेदवाहिन्यो द्वितीयपरिमण्डलस्थाश्चतुःषष्टिभिः सार्धमुत्सृजेदिति नियमः, आकण्ठात् ॥ २५ ॥

इदानीं वाङ्मण्डलदेवतोत्सर्ग उच्यते—

बाह्ये चाष्टाष्टकेनाष्टसु कमलदलेष्वष्टदिग्देवतीभि-
र्योगिन्यश्चर्चिकाद्याः शशिरविरहिता वेदहस्तास्त्रिनेत्राः।
पूर्वाब्जे चर्चिकाग्नौ खगपतिगमना शूकरी षण्मुखी च
याम्ये नैर्ऋत्यकोणे सवरुणपवने वज्रहस्ताब्धिवक्त्रा ॥२६॥

बाह्य इत्यादिना। इह चित्तमण्डल**बाह्ये** वाङ्मण्डले। तस्मिन् बाह्ये **चाष्टाष्टकेनाष्टसु कमलदलेष्वष्टदिग्योगिनीभिः** सार्धं **योगिन्यश्चर्चिकाद्याः** शशिरवि[4]रहिताः स्वस्ववाहनस्था **वेदहस्ता** चतुर्भुजा**स्त्रिनेत्रा** नानावक्त्रा इति। तत्र **पूर्वाब्जे चर्चिका।** एकवक्त्रा कृष्णा। **अग्नौ खगप[261b]तिगमना** वैष्णवी। **शूकरी षण्मुखी च** रक्तवर्णा **याम्ये नैर्ऋत्ये[5]।** [6]**वारुण्ये** ऐन्द्री पीता। **वायव्येऽब्धिवक्त्रा** ब्रह्माणी पीता ॥ २६ ॥

---

१. भो. Miṅ Daṅ gZugs (नामरूपम्)। २. ग. च. 'च' नास्ति। ३. ग. 'पञ्च' नास्ति। ४. क. ख. छ. सहिताः। ५. च. त्ये च। ६. च. वारुणे, ख. छ. वरुणे।

रौद्री लक्ष्म्युत्तरेशे प्रहरणसहितालिङ्गितोपायकाया
योगिन्योऽष्टाष्टकाद्याः कमलदलगता नायिकावर्णवर्णाः ।
पूर्वादौ कर्तिका च प्रथमकरतलाच्छूलचक्रं गदा च
दण्डः खड्गश्च शक्तिर्यमकरकमले दक्षिणे चाङ्कुशो वै ॥२७॥

उत्तरे रौद्री शुक्ला एकवक्त्रा। **ईशाने लक्ष्मीः** शुक्ला। एवं यथा नायिका कर्णिकास्था तथा वर्णसंस्थानतः। तासां पत्रस्था देव्यः। एवं **योगिन्योऽष्टाष्टकाद्याः कमलदलगता नायिकावर्णवर्णाः**। इदानीं चर्चिकादीनां यथाक्रमेण सव्यभुजद्वयेन चिह्नान्युच्यन्ते- पूर्वादावित्यादिना । इह **पूर्वे** चर्चिकायाः प्रथमहस्ते **कर्तिका,** द्वितीये **शूलम्**। वैष्णव्या **चक्रं गदा**। वाराह्या **दण्डः खड्गः**। कौमार्याः **शक्तिः अङ्कुशः** ॥२७॥ 5 10

वज्रं बाणश्च पद्मं तडिदनलनिभो ब्रह्मदण्डस्त्रिशूलं
नानारत्नैर्निबद्धः सरवडमरुकः पद्ममेवाक्षसूत्रम् ।
वामे शुक्तिश्च खट्वाङ्गमपि च कमलं कम्बुकः शृङ्खला च
खेटो वै रत्नपाशो प्रगुणरणरणद्वज्रघण्टा च चापम् ॥२८॥

ऐन्द्रया **वज्रं बाणः**। ब्रह्माण्याः **पद्मं ब्रह्मदण्डः**। रौद्रयास्त्रि**शूलं डमरुकः**। महालक्ष्म्याः **पद्मम् अक्षसूत्रं** चेति सव्यहस्तद्वये। एवं पत्रदेवीनामपि। ततो वामहस्तद्वये पूर्वादि यथाक्रमेण चर्चिकायाः प्रथमे वामकरे कपालम्, द्वितीये **खट्वाङ्गम्**। वैष्णव्याः **कमलं** शङ्खः। वाराह्याः **शृङ्खला** खेटः। कौमार्या **रत्नं पाशः**। ऐन्द्रया **घण्टा चापम्** ॥ २८ ॥ [262a] 15

कुण्डीपात्रं च खट्वाङ्गमहिरपि च ततस्तोयजं रत्नमेव 20
योगिन्योऽष्टाष्टका याः कमलवसुदले शस्त्रहस्ताश्च तद्वत् ।
भीमोग्रा कालदंष्ट्रा ज्वलदनलमुखा वायुवेगा प्रचण्डा
रौद्राक्षी स्थूलनासा कमलवसुदले चर्चिकायाः स्वदिक्षु ॥२९॥

ब्रह्माण्याः **कुण्डिकापात्रम्**। रौद्रयाः **खट्वाङ्गं सर्पश्च**। महालक्ष्म्याः **कमलं रत्नमेव** च। एवं **योगिन्योऽष्टाष्टका याः कमलवसुदले शस्त्रहस्ताश्च तद्वत्**। यथा नायिकास्तथेति नियमः। 25

इदानीं तासां नामानि भवन्ति। तत्र[1] चर्चिकादिकमलदलेषु पूर्वादिदक्षिणावर्तेन चर्चिकादीनां यत्र देव्यो वेदितव्याः, तत्र प्रथमपत्रे **भीमा**। एवं द्वितीयादौ **उग्रा, कालदंष्ट्रा, ज्वलदनलमुखा, वायुवेगा, प्रचण्डा, रौद्राक्षी, स्थूलनासा, कमलाष्टदलेषु चर्चिकायाः स्वदिक्षु** ॥२९॥

5 श्रीर्माया कीर्तिलक्ष्म्यौ सुपरमविजया श्रीजया श्रीजयन्ती
श्रीचक्री चाष्टमा वै कमलवसुदले वैष्णवी दिक्प्रदेशे।
कङ्काली कालरात्री प्रकुपितवदना कालजिह्वा कराली
काली घोरा विरूपा कमलवसुदले शूकरी पत्रदेवी ॥३०॥

वैष्णव्याः प्रथमपत्रादौ **श्रीः, माया, कीर्तिः, लक्ष्मीः, विजया, श्रीजया,**
10 **श्रीजयन्ती, श्रीचक्री चाष्टमा वै कमलवसुदले वैष्णवी दिग्प्रदेशे**ऽग्नौ। ततो वाराह्याः
T 343 प्रथमपत्रादौ **कङ्काली, कालरात्री, प्रकुपितवदना, कालजिह्वा, कराली, काली, घोरा, विरूपा** इति **कमलवसुदले शूकरी पत्रदेवी**[2] दक्षिणे ॥३०॥

पद्मानङ्गा कुमारी मृगपतिगमना रत्नमाला सुनेत्रा
क्लीना भद्राब्जपत्रे वरशिखिगमना नायिका यत्र राजन्।
15 वज्राभा[262b] वज्रगात्रा वरकनकवती चोर्वशी चित्रलेखा
रम्भाहल्या सुतारा कमलवसुदले वज्रहस्ताधिदैवे ॥३१॥

तथा कौमार्याः पूर्वपत्रादौ **पद्मा, अनङ्गा, कुमारी, मृगपतिगमना, रत्नमाला, सुनेत्रा, क्लीना, भद्रा। अब्जपत्रे वरशिखिगमना नायिका यत्र राजन्।** नैर्ऋत्ये तथा ऐन्द्रयाः पूर्वपत्रादौ **वज्राभा, वज्रगात्रा, कनकवती, उर्वशी, चित्र-**
20 **लेखा, रम्भा, अहल्या, सुतारा कमलवसुदले वज्रहस्ताधिदैवे** पश्चिमे ॥ ३१ ॥

सावित्री पद्मनेत्रा खलु जलजवती बुद्धिवागीश्वरी द्वे
गायत्री विद्युदेव स्मृतिरपि कमले वेदवक्त्राधिदैवे।
गौरी गङ्गा च नित्या सुपरमतुरिता तोतला लक्ष्मणा च
पिङ्गा कृष्णा तथाष्टौ कमलवसुदले नायिका यत्र रौद्री ॥३२॥

25 ततो ब्रह्माण्याः पूर्वपत्रादौ **सावित्री, पद्मनेत्रा, जलजवती, बुद्धिः, वागीश्वरी, गायत्री, विद्युत्, स्मृतिः, अपि कमले वेदवक्त्राधिदैवे**। वायव्ये ततो रौद्रयाः पूर्वपत्रादौ **गौरी, गङ्गा, नित्या, तुरिता, तोतला, लक्ष्मणा, पिङ्गला, कृष्णा, तथाष्टौ**[3] **कमलवसुदले नायिका यत्र रौद्री**त्युत्तरे ॥ ३२ ॥

---

१. च. 'तत्र' नास्ति। २. छ. 'देवी' नास्ति। ३. भो. 'अष्टौ' नास्ति।

श्रीश्वेता चन्द्रलेखा शशधरवदना हंसवर्णा धृतिश्च
पद्मेशा तारनेत्रा विमलशशधरा चेशपद्मे सचिह्नाः ।
तद्बाह्ये सूर्यपद्मे दनुकचलयमाः पावकः षण्मुखश्च
यक्षः शक्रोऽब्धिवक्त्रः पशुपतिरुदधिः श्रीगणेन्द्रश्च विष्णुः ॥३३॥

ततो लक्ष्म्याः पूर्वपत्रादौ **श्रीश्वेता, चन्द्रलेखा, शशधरवदना, हंसवर्णा, धृतिः, पद्मेशा, तारनेत्रा, विमलशशधरा ईशपद्मे सचिह्ना** इति चतुःषष्टियोगिन्यश्चर्चि-[263a]कादीनां पद्मदलेषु वाङ्मण्डले नायिका इति वेदनाङ्गे तृष्णाङ्गेऽपि सर्वकायवज्र-निष्पत्तिः। [1]ललाटाद् गुह्य[2]कमलान्तं कायनिष्पत्तौ वेदितव्यं [3]चतुरस्रम्। [4]तत्र यानि हस्तपादेषु द्वादश, [5]सन्धौ द्वादशकमलानि। कर्मचक्रे क्रियाचक्रे। अष्टाविंशद्दलानि नाडी देवतामूर्त्या उत्सर्जयेद् अष्टमे मासे। **तद्बाह्ये सूर्यपद्म** इति। तस्य बाह्ये काय-मण्डले द्वादशपद्मेषु पूर्वद्वारस्य सव्यभागादौ प्राकारभित्तौ खगर्भादिवद् नैर्ऋत्यादयो यथासंख्यमुच्यन्ते। **दनुक** इति नैर्ऋत्यः। पूर्वद्वारसव्ये [6]**चल** इति वायुराग्नेय्याम्। **यम** इति दक्षिणद्वारवामे। सव्ये **पावकः**। नैर्ऋत्ये **षण्मुखः**। पश्चिमद्वारवामे **यक्षः**। सव्ये **शक्रः**। वायव्ये **ब्रह्मा**। उत्तरद्वारवामे **रुद्रः**। दक्षिणे **समुद्रः**। ईशाने **गणपतिः**। पूर्वद्वारवामे **विष्णु**रिति सर्वे चतुर्भुजाः॥ ३३ ॥

खड्गः कर्त्री द्रुमेन्द्रः सुरतरुकुसुमं दण्डखड्गश्च शक्ति-
र्दण्डः शक्तिश्च कुन्तो मणिरपि च गदा वज्रमेवाग्निबाणः ।
सूची चाप्यक्षसूत्रं भवति करतले शूलबाणं च पाशो
रत्नं पर्शुश्च वज्रं भवति हरिकरे चक्रदण्डश्च सव्ये ॥३४॥

एषां द्वादशानां यथाक्रमेण सव्यहस्तद्वये चिह्नानि भवन्ति। नैर्ऋत्यस्य प्रथमे **खड्गः**, द्वितीये **कर्त्री**। वायोः प्रथमे **द्रुमेन्द्रः** कल्पवृक्षः, द्वितीये **पारिजातकपुष्पम्**। यमस्य प्रथमे **दण्डः**, द्वितीये **खड्गः**। वैश्वानरस्य प्रथमे **शक्तिः**, द्वितीये **दण्डः**। षण्मुखस्य प्रथमे **शक्तिः**, द्वितीये **कुन्तः**। धनदस्य प्रथमे **मणिरत्नम्**, द्वितीये **गदा**। इन्द्रस्य प्रथमे **वज्रम्**, द्वितीयेऽ**ग्निबाणः**। ब्रह्मणः प्रथमे **सूची**, द्वितीयेऽ**क्षसूत्रम्**। रुद्रस्य प्रथमे **त्रिशूलम्**, द्वितीये **बाणः**। वरुणस्य प्रथमे **पाशः**, द्वितीये **रत्नम्**। विनायकस्य प्रथमे **पर्शुः**, द्वितीये **वज्रम्**। विष्णोः प्रथमे **चक्रं**, द्वितीये **गदे**ति ॥३४॥ [263b]

वामे खेटं कपालं त्वसितमणिरपि ह्युत्पलं शृङ्खला च
पाशाऽब्जं कुण्डिका वै भवति नरपते वामहस्ते क्रमेण ।

---

१. ख. ललाटाङ्गुष्ठकमलान्तं। २. क. कलान्तं। ३. भो. 'चतुरस्रं' नास्ति। ४. क. ख. 'तत्र' नास्ति। ५. क. ख. च. स्कन्धौ। ६. क. ख. बल।

रत्नादर्शश्च तद्वत् सनकुलजलजं वज्रघण्टा च चापं
पद्मं वै कुण्डिकाहिर्धनुरपि च तथा नागपाशश्च रत्नम् ॥३५॥

ततो **वामे** नैर्ऋत्यस्य प्रथमे करे **खेटम्**, [1]द्वितीये **कपालम्**। वायोः प्रथमे इन्द्रनीलम्, द्वितीये **नीलोत्पलम्**। यमस्य प्रथमे **शृङ्खला**, द्वितीये **पाशः**। अग्नेः प्रथमे पद्मम्, द्वितीये कमण्डलुः। कार्तिकेयस्य प्रथमे **रत्नम्**, द्वितीये दर्पणम्। यक्षस्य प्रथमे **नकुलम्**, द्वितीये पद्मम्। इन्द्रस्य प्रथमे **घण्टा**, द्वितीये धनुः। ब्रह्मणः प्रथमे **पद्मम्**, द्वितीये **कुण्डिका**। रुद्रस्य प्रथमे खट्वाङ्गं सर्पसहितम्, द्वितीये **धनुः**। समुद्रस्य प्रथमे **नागपाशः**, द्वितीये चन्द्रकान्तमणिरत्नम् ॥३५॥

पाशो रत्नं च पद्मं भवति दनुरिपोः पाञ्चजन्यं च शङ्खः
चैत्राद्याः पद्मपत्रे वसुकरतिथयः कर्णिकायां द्विपूर्णाः।
सर्वाः शून्यर्तुलोकाः परमशशिकला वेदितव्याब्दयोगाद्
द्वारे देव्यो रथस्थास्त्वसिकुलिशधराः साङ्कुशा बाणहस्ताः ॥३६॥

विनायकस्य प्रथमे **पाशः**, द्वितीये **रत्नम्**। वासुदेवस्य प्रथमे **पद्मम्**, द्वितीये **पाञ्च[2]जन्यः शङ्ख** इति। वामहस्तद्वये सर्वेषां यथानुक्रमेण चिह्नानि। कमलकर्णिकास्थानां तेषां नैर्ऋत्यादीनां कमलदलेष्वष्टाविंशद्दलेषु दक्षिणावर्तेषु त्रिपरिमण्डलदलेषु प्रथमपरिमण्डले चत्वारि दलानि, द्वितीयेऽष्टौ, तृतीये षोडश। एवमष्टाविंशतिदलेषु चैत्रादिमासतिथयः। शुक्लकृष्णपक्षाणां पूर्णिमाऽमावासी कर्णिकायां नायकत्वेन स्थिताः। एवं चैत्रतिथयो नैर्ऋत्यस्य[3] कमलदले, वैशाखतिथयो वायोः, ज्येष्ठतिथयः पावकस्य, आषाढतिथयः षण्मुखस्य, श्रावणतिथयः समुद्रस्य, भाद्रतिथयो विनायकस्य, आश्वि[264a]नतिथय इन्द्रस्य, कार्तिकतिथयो ब्रह्मणः, मार्गतिथयो [4]हरस्य, पौषतिथयो यक्षस्य, माघतिथयो विष्णोः, फाल्गुनतिथयो यमस्य। तद्वद्वर्णायुधसंस्थानेन देव्यः। एवं **चैत्राद्याः पद्मपत्रे वसुकरतिथयः कर्णिकायां द्विपूर्णाः सर्वाः शून्यर्तुलोकाः** षष्ट्युत्तरत्रिशताः। **परमशशिकला वेदितव्यास्ता अब्दयोगा**दिति। आसां वक्ष्यमाणबीजेनादिभूतेन वज्रान्तं नाम भवतीति नियमः। इदानीं हस्तपादतलोष्णीषगुदनाडीस्फरणशुद्धया **द्वारे देव्यो रथस्था** मारीच्याद्या एकवक्त्राश्चतुर्भुजाः। आसां परस्थानगमनादनुनायिकात्वं [5]नीलदण्डादीनां नायकत्वं स्वस्थानतः। अत आसां पूर्वादिकुलं वज्रशृङ्खलादीनां गमनमभिमुखस्थाने। तेन कुलवशेन शृङ्खलायाः प्रथमे सव्ये भुजे असिः, द्वितीये **वज्रम्**, अमोघसिद्धिकुलवशादिति। एवं रत्नकुलवशादिति। भृकुट्याः [6]प्रथमे करे [7]**बाणः, साङ्कुशे**ति द्वितीयेऽङ्कुशः ॥३६॥

१. क. 'द्वितीये ... इन्द्रनीलं' नास्ति। २. क. ख. छ. जन्य। ३. ग. पृ. १६६, पं. तः 'खी च रक्तवर्णं ... नैर्ऋत्यस्य' नास्ति। ४. भो. Drag Po (रुद्रस्य)। ५. क. 'नीलदण्डादीनां नायकत्वं' नास्ति। ६. ग. प्रथम। ७. च. बाणं, भो. बाणः, द्वितीये साङ्कुशेति।

श्रीचक्रा दण्डहस्ता प्रकृतिगुणवशान्मुद्गरा कुन्तहस्ता
श्रीकर्ती वज्रहस्ता खलु परशुकरा शूलहस्ता तु सव्ये ।
वामे खेटाहिहस्ता प्रकृतिगुणवशात् पाशकोदण्डहस्ता
श्रीशङ्खा रत्नहस्ता कमलशशधरादर्शहस्ता च तद्वत् ॥३७॥

वैरोचनकुलवशाद् मारीच्याः [1]**सव्ये हस्ते चक्रम्**, द्वितीये **दण्डः**। **प्रकृतिगुणवशात्** पद्मकुलवशात् चुन्दायाः प्रथमकरे **मुद्गरः**, द्वितीये **कुन्तम्**। अतिनीलाया ज्ञानकुलवशात् प्रथमे **कर्ती**, द्वितीये **वज्रम्**। रौद्राक्ष्या आकाशकुलवशात् प्रथमे **पर्शुः**, द्वितीये **त्रिशूलमिति**। तथा **वामहस्ते** शृङ्खलायाः **खेटम् अहिश्चेति**। भृकुट्याः प्रथमे **कोदण्डः**, द्वितीये **पाशः**। मारीच्याः [2]**शङ्खो रत्नम्**। [3]चुन्दायाः **पद्म आदर्शः** ॥३७॥[264b]

श्रीघण्टा शुक्तिहस्ता खलु भुजगकराप्येव खट्वाङ्गहस्ता
मारीच्याद्येकवक्त्रा युगकरकमला वेदितव्याः क्रमेण ।
स्तम्भाधोऽप्यष्टनागा घटकुलिशकराः पद्ममाणिक्यहस्ता
वाय्वादौ मण्डले वै युगकरकमलाः पद्मकर्कोटकाद्याः ॥३८॥

अतिनीलायाः **कपालं घण्टा**, रौद्राक्ष्या **नागपाशः खट्वाङ्गमिति**। एवं नीलदण्डस्य टक्किराजस्य महाबलस्य अचलस्य पूर्वे दक्षिणे पश्चिमे उत्तरे [4]द्वारे स्थितस्येति नियमः। ततो नवमे मासे उपादाने क्रियाचक्रे विंशत्यङ्गुलिकानाडीविशुद्ध्या दश[5]नागदशप्रचण्डा उत्सर्जयेत्। बाह्ये कायमण्डले चतुस्तोरणेऽष्टस्तम्भतले **अष्टौ नागाः**, जयविजयावध ऊर्ध्वे। सर्वे चतुर्भुजाः। सव्येऽमृतघटः प्रथमे, द्वितीये वज्रम्। वामे प्रथमे पद्मम्, द्वितीये रत्नम्। अतो **घटकुलिशकराः पद्ममाणिक्यहस्ता वाय्वादौ मण्डले वै** [6]इति। **पद्मकर्कोटकौ** पूर्वे वायुमण्डलद्वये। दक्षिणे वह्निमण्डले वासुकिः शङ्खपालः। पश्चिमे पृथ्वीमण्डले तक्षको महापद्मः। उत्तरे तोयमण्डलेऽनन्तः कुलिक इति। आकाशे जयो ज्ञाने विजय इति दशपादाङ्गुलिकाः ॥३८॥

श्वानास्या शूकरास्या खलु चलवलये जम्बुकास्या च दिक्षु
व्याघ्रास्या चोत्तरस्था त्रितिभुवनगता कर्तिकाशुक्तिहस्ता ।
काकास्या गृध्रवक्त्रा खगपतिवदनोलूकवक्त्रा च कोणे
वज्राक्षी चातिनीलाधसि नभसि गते भूतयोनिश्चलान्ते ॥३९॥

---

१. भो. Dan Po Na (प्रथमे)। २. क. ख. छ. शङ्खं। ३. ग. बुद्धायाः।
४. क. ख. छ. द्वार। ५. क. ख. छ. नागा। ६. ग. नास्ति।

ततो हस्ताङ्गुलिकाविशुद्धया **श्वानास्या पूर्वे**। **शूकरास्या** दक्षिणे। **जम्बुकास्या पश्चिमे। उत्तरे व्याघ्रास्या**। वाय्वग्निवलयमध्ये महाश्मशाने द्विभुजा। **कर्तिकाशुक्तिहस्ता** एकवक्त्रा। [265a] एवं **काकास्याऽग्नौ, गृध्रास्या नैर्ऋत्ये, गरुडास्या** वायव्ये, **उलूकास्या** ईशाने, **वज्राक्षी** पाताले, **नीलाऽऽकाशे**। सर्वा एता कर्तिकपालहस्ता नग्नाः पञ्चमुद्राविभूषिता मुण्डमालावलम्बिता इति। एवं लोमकेशविशुद्धया सार्द्धत्रिकोटि**भूतयोनिश्चलान्ते** वायुवलयान्ते चर्मान्ते लोमानीति। उत्सर्जयेन्मन्त्री बाह्ये। एवं नवमासावधेः कायदेवतागणनिष्पत्तिः ॥३९॥

इदानीं चामुण्डादीनां कमलासनान्युच्यन्ते—

रक्तप्रेतं खगेन्द्रो महिषशिखिगजा हंसगोपञ्चवक्त्रा-
श्चामुण्डादेः क्रमेण प्रभवति कमलान्यासनं दिग्विदिक्षु।
दैत्यादीनां च तद्वद् धनपतिशिखिनोरब्धिवाय्वोर्गणस्य
मातङ्गेशश्च मेषो मकर इति मृगो मूषकश्च क्रमेण ॥४०॥

रक्तप्रेतमित्यादिना। इह पूर्वे **चामुण्डाया रक्तमहाप्रेतासनं** कमल[1]कर्णिकायाम्। अष्टदलेषु चामुण्डादिदेव्यः। एवं वैष्णव्या **गरुडः**, वाराह्या **महिषः**, कौमार्या **मयूरः**, ऐन्द्रया **गजः**[2], ब्रह्माण्या **हंसः**, रौद्रया **वृषभः**, महालक्ष्म्या **सिंह** इति **क्रमेणासनं कमलस्य दिग्विदिक्षु। दैत्यादीनां च**[3] तद्वदिति वचनाद् नैर्ऋत्यकमला[4]सनं रक्तप्रेतम्। विष्णोर्गरुडम्, यमस्य महिषः, कुमारस्य मयूरः, इन्द्रस्य गजः, ब्रह्मणो हंसः, रुद्रस्य वृषभ इति नैर्ऋत्यादीनां नियमः। तथा **धनपतिशिखिनो**[5]**रब्धिवाय्वोर्गणस्येति** पञ्चानां यथासंख्यम्। धनपतेर्**मातङ्गः**, अग्नेर्**मेषः** अब्धेर्**मकरः**, वायोर्**मृगः**, गणपतेर्**मूषक** इति ॥ ४० ॥

भेरुण्डः क्रुञ्चनीलेक्षणगुदवदनाः काकवक्त्रादिकोणे
खड्गी ऋक्षश्च सिंहः प्रभवति चमरी श्वानवक्त्रादिदिक्षु।
वज्राक्ष्या अष्टपादस्त्ववनितलगतो व्योम्नि नीलारथस्य
सक्रूरः पञ्चवर्णस्त्वनिल इति खगः स्फीतगात्रस्त्रिनेत्रः ॥४१॥

[265b]

तथा **काकास्यायाश्चक्रतले भेरुण्डः**, गृध्रास्यायाः **क्रुञ्चः**, गरुडास्याया **नीलाक्षः**, उलूकास्याया वाग्वलिरिति कोणे। तथा दिक्षु श्वानास्यायाश्चक्रतले **खड्गी**, शूकरास्याया **ऋक्षः**, जम्बुकास्यायाः **सिंहः**, व्याघ्रास्यायाश्**चमरीति श्वानवक्त्रादि-**

---

१. च. भो. कमलस्य। २. क. 'गजः ... रौद्रया' नास्ति। ३. क. ख. ग. छ. 'च' नास्ति। ४. च. लस्या। ५. क. ख. च. छ. नोब्धेर्वायो।

दिक्षु। **वज्राक्ष्या अष्टपादः** पातालरथगतः। **व्योम्नि नीलारथस्य। सक्रूरः पञ्चवर्णोऽनिल इति खगः स्फीतगात्रस्त्रिनेत्र** इति ॥ ४१ ॥

मारीच्याः शूकराः स्युर्हयगजहरयः सप्तसंख्या रथेषु
चुन्दायाः शृङ्खलायाः सुरयमवरुणे चोत्तरे वै भृकुटयाः।
गन्धा माला च पूर्वे यमवरुणगते धूपदीपे च लास्या
हास्या वाद्या च नृत्या धनदभुवितले चाम्बरे गीतकामा ॥४२॥

एवं **मारीच्या रथे सप्तशूकराः** पूर्वद्वारे। दक्षिणे सप्ताश्वाश्चुन्दारथे। पश्चिमे शृङ्खलारथे सप्त **गजाः**। उत्तरे भृकुटीरथे सप्त सिंहाः। एवं ततो हृदयदशनाडीस्वभावेन पूजादेवी[1]रुत्सर्जयेत्। चित्तमण्डले चतु[2]र्द्वारस्य [3]सव्यवामवेदिकायां **गन्धा माला**। [4]पूर्वदक्षिणे **धूपा दीपा**। पश्चिमे **लास्या हास्या**। उत्तरे **वाद्या नृत्या**। आकाशे **गीता कामा**। अधो विण्मूत्र[5]नाडीस्वभावेन नैवेद्या। अमृतफला इति ॥४२॥

गर्भेऽष्टौ वेदिकायां गगनतलगते तोरणाधो नियोज्यो
धारिण्यः पट्टिकायां फणिकुलसहिता वेदिकायां प्रतीच्छाः।
विद्वेषः स्तोभनेच्छा भवति नृप तथा पौष्टिकं स्तम्भनेच्छा
तारादेव्यादिशुद्धया त्रिभुवनजननो मारणोत्पादनेच्छा ॥४३॥

रजोमण्डले **गगन**[6]**तलगता** देव्यो याः काश्चित्ताः पूर्वापर**तोरणाधो** दर्शनीयाः। भावनायां पुनर्दिक्पालादयो यथोक्तस्थान एव। समन्तभद्रादयश्च[266a]त्वारो द्वारस्यावसव्य इति नियमः। एवं यथा पूजादेव्यस्तथानन्ता **धारिण्यः पट्टिकायां** वेदिकायामिति। एवं बाह्ये कायमण्डले **फणिकुलसहिता वेदिकायां प्रतीच्छाः**। अतो वाङ्मण्डले वेदिकायामिच्छाः। तत्र पूर्वे **विद्वेषेच्छा** ताराजन्या, **स्तोभनेच्छा** दक्षिणे पाण्डराजन्या, उत्तरे **पौष्टिकेच्छा** मामकीजन्या, पश्चिमे **स्तम्भनेच्छा** लोचनाजन्या इति **तारादेव्यादिशुद्धया त्रिभुवनजननी मारणेच्छा** वज्रधात्वीश्वरीजन्या। **उत्पादनेच्छा** विश्वमातृजन्या इति ॥४३॥

वाद्येच्छा भूषणेच्छा भवति नरपते भोजनेच्छा तृतीया
गन्धेच्छा चांशुकेच्छा प्रकटितनियता मैथुनेच्छा च षष्ठी।
काये कण्डूयनेच्छा वदनगतकफोत्सर्जनेऽङ्गे मलेच्छा
नृत्येच्छा चासनेच्छा पयसि च शयने प्लावने मज्जनेच्छा ॥४४॥

---

१. ग. च. रुत्सृजेत्। २. क. ख. ग. छ. द्वार। ३. च. वामदक्षिण। ४. ग. च. भो. पूर्वे। ५. ग. 'नाडी' नास्ति। ६. क. ख. छ. तले।

एवं शब्दजन्या **वाद्येच्छा**, **भूषणेच्छा** रूपजन्या, [1]**भोजनेच्छा** रसजन्या, **गन्धेच्छा** गन्धजन्या, **अंशुकेच्छा** स्पर्शजन्या, **मैथुनेच्छा** धर्मधातुजन्या इति पूर्वादिवेदिका[2]याम्। [3]स्वकुलभेदेन **काये कण्डूयनेच्छा** चामुण्डाजन्या। **वदनगत-कफोत्सर्जनेच्छा** वैष्णवीजन्या। **अङ्गे मलेच्छा** वाराहीजन्या। **नृत्येच्छा** कौमारीजन्या। **आसनेच्छा** रौद्रीजन्या। **पयसि प्लावनेच्छा** ब्रह्माणीजन्या। **शयने मज्जनेच्छा** ऐन्द्रीजन्या। **राज्येच्छा** लक्ष्मीजन्या इति ॥४४॥

चामुण्डाद्यष्टकृत्यान्यपि च भुवितले क्रोधजानां तथेच्छा
सन्तापे बन्धनेच्छा खलु मृदुवचने शोषणोच्चाटनेच्छा।
स्पर्शाकृष्टौ च बन्धे भवति नरपते कीलने धावनेच्छा
सर्वाङ्गक्षोदनेच्छा प्रकटितनियता मूत्रविट्स्रावणेच्छा ॥४५॥

[266b]

चामुण्डाद्यष्टकृत्यान्यपि च भुवितले क्रोधजानां तथेच्छा। अत्र **संतापेच्छा** अतिनीलाजन्या। **बन्धनेच्छा** [4]स्तम्भनीजन्या। **मृदुवचनेच्छा** मानिनीजन्या। **शोषणेच्छा** [5]जम्भनीजन्या। **उच्चाटनेच्छा** अतिबलाजन्या। तथा [6]**स्पर्शनेच्छा** वज्रशृङ्खलाजन्या। **आकृष्टीच्छा** भृकुटीजन्या। [7]**बन्धनेच्छा** चुन्दाजन्या। **कीलनेच्छा** मारीचीजन्या। **धावनेच्छा** रौद्राक्षीजन्येति। तथा दनुकुलजानामिच्छाः। **सर्वाङ्ग-**[8]**क्षोदनेच्छा** श्वानास्याजन्या। **मूत्रविट्स्रावणेच्छा** शूकरास्याजन्या ॥ ४५ ॥

सत्त्वानां वञ्चनेच्छा खलु बहुकलहे पञ्चमोच्छिष्टभक्ते
संग्रामेच्छाऽहिबन्धे भवति दनुकुले दारकाक्रोशनेच्छा।
सप्तत्रिंशत्प्रतीच्छाः पुनरपि च ततो मण्डले बाह्यपटयां
यत्किञ्चित् सत्त्वकृत्यं प्रतिदिनसमये योगिनीकृत्यमत्र ॥४६॥

सत्त्वानां वञ्चनेच्छा जम्बुकास्याजन्या। **बहुकलहेच्छा** व्याघ्रास्याजन्या। [9]**उच्छिष्टभ**[10]**क्तेच्छा** काकास्याजन्या। **संग्रामेच्छा** गृध्रास्याजन्या। अहिब[11]न्धनेच्छा गरुडास्याजन्या। **दारकाक्रोशनेच्छा** उलूकास्याजन्येति। सप्तत्रिंशदिच्छा वाङ्मण्डले स्वकुलभेदेन स्वस्वदिक्षु। एवं **सप्तत्रिंशत् प्रतीच्छाः**, इच्छानां निवर्तनं प्रतीच्छा

T345

---

१. क. 'भोजनेच्छा रसजन्या' नास्ति। २. ग. च. 'याम्' नास्ति। ३. ग. सु, भो. 'स्व' नास्ति। ४. ग. च. स्तम्भी। ५. ग. च. जम्भी। ६. ग. च. भो. स्पर्शेच्छा। ७. ग. बन्धेच्छा, भो. gÑen Pa ḥDod Ma (बान्धवेच्छा)। ८. भो. bsKyod Pa (क्षोभणे)। ९. क. ख. ग. छ. उत्सिष्ट। १०. ग. भुक्ते। ११. ग. बन्धेच्छा।

इत्युच्यते। ताः कायमण्डल[1]वेदिकायां स्वकुलवशात् स्वस्वदिक्ष्विति सर्वत्र नियमः। एवं ब्रह्ममण्डले बाह्य[2]पत्न्यामपरमपि **यत्किञ्चित् सत्वकृत्यमिच्छातः प्रतिदिनसमये** तत् सर्वं **योगिनीकृत्यमत्र,** धातुवशादिति नियमः ॥ ४६ ॥

इदानीं नित्यानित्यमुच्यते—

इत्येवं वज्रिणश्च त्रिभुवनसकलं मण्डलाकारमुक्तं 5
बाह्ये देहे परे च स्फरणनिधनते संस्थिते वस्तुजातेः।
तस्मिन्नित्यः खवज्रस्त्रिविधभवगतोऽनित्यतां न प्रयाति
नो नित्यं भूतवृन्दं भवति नरपते शक्रजालं यथैव ॥४७॥
[267a]

इत्येवमित्यादिना[3]। **इत्येवं** सप्तादिभिर्मार्सैर्जातकस्य बाह्ये **वज्रिणश्च त्रिभुवनसकलं** स्कन्धधात्वायतनादिकं **मण्डलाकारमुक्तं** बालजनानां चित्तस्थिरीकरणार्थम्। अत्र **बाह्ये** लोकधातौ **देहे**ऽध्यात्मनि **परे** [4]कल्पितमण्डले स्फरणं च निधनता च **स्फरणनिधनते संस्थिते वस्तुजातेः**। अत्र वस्तु परमाणुद्रव्यं पृथिव्यप्तेजोवायुरिति चत्वारो भूताः। आकाशधातुश्चन्द्रोऽनुस्वारः शुक्रं वा तथा रजो वा बिन्दुद्वयं सूर्यो वाकाशधातुः। राहुर्विज्ञानधातुः। एवं षड्धात्वात्मको महापुरुषपुङ्ग(द्ग)लो वस्तुजातिः। तस्य वस्तुजातेरुत्पादः स्फरणम्, विनाशो निधनता, ते[5] द्वे संस्थिते भूतजानामिति। एवं पृथिवीजातिस्तर्वादयः स्थावराः, उदकजातिः स्वेदजाः, तेजोजातिर्जरायुजाः, वायुजातिरण्डजाः, चन्द्रजातिर्नागासुराः, सूर्यजातिर्भूतदेवताः[6]। राहुजातिररूपाः, कालाग्निजातिर्नारकाः। एवमष्ट[7]धा जाति[8]र्वस्तुरूपिणी वस्तुजातिः। **तस्मिन्नित्यः खवज्र** इति। [9]इह ख[10] इति आकाशधातु[11]र्नवमः। परमाणुद्रव्यरहितोऽच्छेद्यः। अच्छेद्याभेद्यत्वात् खवज्र आकाशधातुर्नित्यो द्रव्याभावात्। स आकाशधातुः। सर्वगतत्वात्। **त्रिविध**[12]**भवगतोऽनित्यतां न प्रयाति। नो नित्यं भूतवृन्दं** पूर्वोक्तं **भवति नरपते शक्रजालं यथैव,** दृष्टनष्टमिति न्यायात् ॥ ४७ ॥

नित्यानित्यं च दृष्ट्वा तदपि जडधियां चित्तशुद्ध्यर्थहेतो-
र्वक्तव्यं साधनं वै न हि हृदयगतः साध्यते कश्चिदत्र। 25
यत्साध्यं साधकः स भ्रममिति सकलं साधनं वज्रिणो यत्
तस्माद् राजन् स्वचित्तं व्यपगतकलुषं मण्डलेशं प्रकुर्यात् ॥४८॥

---

१. च. मण्डले। २. क. वेद्या। ३. ख. ग. च. 'ना' नास्ति। ४ च. कल्पिते। ५. क. ख. छ. 'ते' नास्ति। ६. च. देवाः। ७. ग. च. भो. मष्टविधा। ८. क. 'वस्तु''''जातिः' नास्ति। ९. च. 'इह ख इति' नास्ति। १०. ग. खवज्र। ११. भो. 'धातु' नास्ति। १२. क. ख. छ. भगवतो।

एवं नित्यं महाशून्यं **दृष्ट्वा** विचार्य वाऽनित्यं परमाणुसमागमं च वियोगं च [1]तेषां दृष्ट्वोभयोः साधनं न स्याद् बुद्धत्वाय। **तदपि जडधियां** बालानामवतारणाय **चित्तशुद्ध्यर्थहेतोर्वक्तव्यं साधनं** त्वया हे नरपते सुचन्द्र! परमार्थतः पुनर्न हि **हृदयगतः साध्यते कश्चिदत्र** नित्यानित्यपदार्थः। अतो बुद्धत्वाय **यत् साध्यं साधकः स** एवे-
5 [267b]ति नियमः। इह यत्कल्पना साधनं तद् **भ्रममिति। सकलं साधनं वज्रिणो यत् तस्माद् राजन्! स्वचित्तं व्यपगतकलुषं** कल्पना[2]रहितं **मण्डलेशं कुर्यादिति** नियमः॥ ४८॥

इदानीमाधाराधेय उच्यते—

श्रीवज्री चित्तवज्रं भवति नरपते मण्डलं कायवज्रं
10 वाग्वज्रं देवतानामलिकलिकुलजं चन्द्रमिन्द्वर्कमूर्ध्नि।
कन्दं नालं त्वकारो दलमपि च तथा केशराण्यप्युकारो
मध्ये श्रीकर्णिका च द्विविधपथगतौ चन्द्रसूर्यौ मकारः॥४९॥

श्रीत्यादिना[3]। [4]कायवाक्चित्तमण्डले **श्रीवज्री** नायकश्चि**त्तवज्रं भवति। नरपते! मण्डलं कायवज्रं** कायवाक्चित्तलक्षणम्। **वाग्वज्रं देवताना**[5]**मलिकलिकुलजं**
15 **चक्रमिन्द्वर्कमूर्ध्नि**। एवं वाक्कायमण्डलेऽपि वाग्वज्रं देवतागणम्। एवं त्रिविधं चित्तं कायाकारेण [6]मण्डलाकारेण, कायस्त्रिविधो वागपि [7]त्रिविधा प्रत्याहारेणेति सर्वत्र नियमः। अत्र कमलानां **कन्दं नालं च अकारेणोद्भूतम्, दलानि केशराणि च उकारेण** संभूतानि। [8]**मध्ये कर्णिका चन्द्रासनं मकारेण सूर्यासनं** वा रकारेण[9]। एवं ॐकारः प्रणवः। हृदयमुच्यते कमलमिति। प्रथमदेवताकायसंस्थाननिष्पत्तिर्गर्भजानामिह
20 जन्मनीति नियमः। एवं पञ्चज्ञानात्मकं कालचक्रं भगवन्तं वज्रसत्त्वमुकुटिनं ध्यात्वा सुविशुद्धधर्मधात्वात्मकम्, ततः षड्गतिस्थान् सर्वसत्त्वानाकृष्य तस्मिन्नेव मण्डले प्रविष्टान् विभाव्य ततो वैरोचनादींस्तथागतान् स्वहृदये प्रवेश्य सधातून् [10]बोधिचित्त-द्रवापन्नान् स्वगुह्यकुलिशेनोत्सृज्य तेन बोधिचित्तेन तान् सर्वसत्त्वानभिषिक्तान् ध्यायात्। ततस्तान् बोधिचित्तरश्मिभिः स्पृष्टान् सर्वसत्त्वान् त्रिमुखान् [11]नानामुखान्
25 नाना[12]वर्णान् देवतास्वरूपान् प्रज्ञोपायात्मकान् परमानन्द[13]सुखपूर्णान् भावयेत्। ततस्तेषां [14]स्वकायान् मण्डलचक्रस्वभावीभूतान् झटिति पश्येत्। तत्र मन्त्रबीजानि नानाव्यञ्जनसंयुक्तानि स्वरसहितानि। अत्र सर्वव्यञ्जनसमूहः[15] क्षकारः। तेन ज्ञाप-[268a]केन यस्य यत् प्रथमं नाम तस्य व्यञ्जनं तेन तत्सर्वं कर्तव्यम्। अत्र क्ष क्षि

---

१. ग. भो. 'तेषां' नास्ति। २. क. 'रहितं' नास्ति। ३. च. 'ना' नास्ति। ४. च 'इह' इत्यधिकम्। ५. भो. आलिकालि। ६ ग. 'मण्डलाकारेण' नास्ति। ७. ग. त्रिधा। ८. क. ख. ग. छ. मध्य। ९. ग. गकारेण। १०. ग. 'बोधि ... पन्नान्' नास्ति। ११. ग. 'नानामुखान्' नास्ति। १२. ग. वस्त्रान्। १३. क. ख. च. छ. सुखापूर्णान्। १४. ख. स्वकी। १५. क. ख. छ. समूह।

क्षृ क्षु क्ष्ऌ इति विज्ञानादिपञ्चतथागताः। तथा क्षा क्षो क्षॄ क्षू क्ष्ॡ इति आकाशादिपञ्चधातवः। एवं क्ष क्षे क्षर् क्षो क्षल् क्षं इति श्रोत्रादयो बोधिसत्त्वाः षट्। तथा क्षा क्षै क्षार् क्षौ क्षाल् क्षाः इति षड् विषयाः। [1]क्ष्ॡ क्ष्य क्षू क्ष्व क्ष्ल[2] इति पञ्चकर्मेन्द्रियाणि। [3]अत्र क्रोधाः [4]क्ष्ॡ क्ष्या क्ष्ाा क्ष्वा क्ष्ला[5] इति पञ्चकर्मेन्द्रियविषयाः। एवं पञ्चस्कन्धाः, पञ्चधातवः, द्वादशायतनानि, पञ्चकर्मेन्द्रियाणि, पञ्चकर्मेन्द्रियविषयाः। एवं द्वात्रिंशन्महापुरुषलक्षणीभूतान् मण्डलचक्राकारान् सर्वसत्त्वान् भावयेद् झटिति।

अथ विस्तरतः प्रत्येकैक[6]बीजेन देवीगुह्ये प्रत्येकदेवतां[7] निष्पाद्य उत्सृजेत्—तेषामिति। तथा **मूलतन्त्रे** भगवानाह—

> बुद्धक्षेत्रेषु ये सत्त्वास्त्रिकायसमयामृतैः।
> जाता वज्रश्रिया स्पृष्टाः सर्वे तत्र तथागताः॥
>
> अभूवन्निह सम्बुद्धास्त्रिवज्रज्ञानलाभिनः।
> भावयित्वा ततस्तांश्च स्वस्वक्षेत्रे प्रवेशयेत्॥ इति।

अभिषेकदानं सत्त्वानां कृपार्थमिति नियमः।

इदानीं भवाङ्गे दशमे प्राणोत्सर्जनाय वाग्वज्रोत्पादनाय [8]प्रसूतिरुच्यते। बाह्येऽपि द्वितीयमात्रानिष्पत्तिः[9]। तत्र नाभौ होकार उष्णीषेऽपि, अनयोर्द्वयोर्मध्ये विदर्भितं ललाटे कायवज्रम् ॐ, कण्ठे वाग्वज्रम् आः, हृदये चित्तवज्रं हूँ इति त्र्यक्षरं कायवाक्चित्तलक्षणं त्रिनाडी[10]जनकाय नाभौ होकारं ज्ञानरश्मिभिर्द्रुतं समसुखकमले कायवाक्चित्तवज्रं प्रज्ञारागद्रुतं तत् शशिनमिव विभुं वज्रिणम्। चकारात् प्रज्ञया सार्धं वीक्ष्य, अध्यात्मनि पञ्चमण्डलवाहार्थं सर्वबाह्यविषयोपभोगार्थं बाह्ये देवतानिष्पत्तौ सकलजगदर्थकरणाय (T 346) मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षास्वभाविन्यस्तारामामकीपाण्डरालोचनागीतं कुर्वन्ति देव्यः। त्वमपि भगवन् सर्वसत्त्वोपकारी अस्मान् रक्षाहि वज्रिन् त्रिदशनरगुरो कामकामार्थिनीश्चेति तारा मैत्रीरूपेण चित्तवज्रं [11]चोदयति, मामकी करुणारूपेण[12] कायवज्रम्, पाण्डरा मुदितामूर्त्या वाग्वज्रम्, लोचना उपेक्षामूर्त्या ज्ञानवज्रं चोदयति। एवं चित्तकायवाग्ज्ञानात्मको भगवान् तासां गीतं श्रुत्वा स वज्री त्रिभुवनसकलं [13]कामरूपाख्यलक्षणं दृष्ट्वा इन्द्रजालोपमं वै तत्र चन्द्रद्रवे हूँकारं नीलवर्णं दृष्ट्वा स्फुरदमलकरं तेन परिणतं वज्रं तेन स्फारितमिति निष्पन्नमात्मानं योगी भगवान् [14]वज्रालङ्कारयुक्तो जिनपतिमुकुटः प्रज्ञयालिङ्गितश्च पूर्ववत्। पुनः प्रज्ञोपायात्मकेन

---

१. च. 'तथा' इत्यधिकम्। २. क. ख. छ. क्षू। ३. ग. च. भो. तथा। ४. क. ख. च. छ. क्ष्ला। ५. क. छ. क्षा। ६. क ख. 'बीजेन'....'इन्द्रजालो' नास्ति। ७. भो. 'देवतां' नास्ति। ८. भो. bTsaḥ Ba (प्रसूति)। ९. भो. bsKyed Pa (उत्पत्तिः)। १०. ग. कनकायां, छ. कार्य। ११. भो. 'चोदयति' नास्ति। १२. च. मूर्त्या। १३. च. रूप्यारूप्य। १४. क. ख. सर्वालङ्कार।

चित्तकायवाग्धर्मेण मण्डलो[1]त्सर्जनं कुर्याज्जातस्य [2]बालकस्य [3]प्रबोधाक्रन्दनादिति। इह मन्त्रनये जरायुजोत्पत्तिक्रमेण नवमासैर्बालकस्य[4] कायनिष्पत्तिः। देवतानां पञ्चाकाराभिसंबोधिलक्षणा कायनिष्पत्तिः। सेवाङ्गं प्रथमम्। अत्र देवताहङ्काराय मन्त्रपदम् ॐ सुविशुद्धधर्मधा[5]त्वात्मकोऽहमित्युच्चार्य ततो [6]**वागुत्पादाय** द्वितीयं सेवाङ्गं भावयेद् योगी॥ ४९॥

इति [7]मूलतन्त्रानुसारिण्यां लघुकालचक्रतन्त्रराजटीकायां
द्वादशसाहस्रिकायां विमलप्रभायां [8]साधनापटले
उत्पत्तिक्रमेण कायनिष्पत्तिमहोद्देशो द्वितीयः।

(३) प्राणदेवतोत्पादमहोद्देशः

होःकाराद्यन्तगर्भे समसुखफलदे कायवाक्चित्तवज्रं
प्रज्ञारागद्रुतं तच्छशिनमिव विभुं वज्रिणं [9]चेक्षयित्वा।
गीतं कुर्वन्ति देव्यस्त्वमपि हि भगवन् सर्वसत्त्वोपकारी
अस्मान् रक्षा हि वज्रिन् त्रिदशनरगुरो कामकामार्थिनीश्च ॥५०॥
[268b]

वाग्वज्रं दशमण्डलात्मकमिह प्राणस्य संचारतः
पञ्चस्थानगतं स्वरप्रकृतितः शून्यादिभेदात् सदा।
सत्त्वानामधिमुक्तितो भवभयात् सन्मार्गसंदेशकम्
उत्पादोऽस्य वितन्यते निगदितो मञ्जुश्रिया टीकया॥

होःकारेत्यादि। इह यथा मर्त्ये गर्भजानां प्राणवायूत्पादाय स्वमण्डलवाहिनः पृथिव्यादिधातवो विज्ञानं चोदयन्ति जाग्रदवस्थार्थं स्वप्नावस्थां प्रविष्टस्य, तथा लोचनादिदेव्यो वेदितव्याः सत्त्वार्थायेति। अत्र नाभाववधूतीमार्गे उष्णीषे च **होःकारमाद्यन्ते** देवतायां विन्यस्य ततो ललाटे कायवज्रं ॐ, कण्ठे वाग्वज्रम् आः, हृदये चित्तवज्रं हूँ—एवं **कायवाक्चित्त**[10]समुद्भूतं चन्द्रसूर्यराहुलक्षणं कालाग्निना अध ऊर्ध्वं प्रज्ञारश्मिभि[11]र्द्रुतं **प्रज्ञारागद्रुतमिति**, प्रज्ञा चण्डाली तया द्रुतम्। [12]अत्र द्विधा चोदना—एका प्राणनिष्पत्तये, द्वितीया षोडशवर्षावधेः सुखनिष्पत्तये। तेन **शशिनमिव द्रुतं वज्रिणं** [13]**चेक्षयित्वा** चकारात् प्रज्ञामपि, सप्रज्ञमवधूतीशङ्खिन्याश्रितं चित्तं ज्ञानवज्रं

---

१. च. लस्यो। २. ग. च. भो. बालस्य। ३. ग. प्रतिबो, च. बोधाश्चा। ४. ग. च. भो. लस्य। ५. भो. स्वाभावात्मको। ६. भो. gSuṅ rDo-rJe (वाग्वज्रमु)। ७. ग. श्रीमूल। ८. भो. 'साधनपटले' नास्ति। ९. मु. वीक्षयित्वा। १०. च. भो. संभूतं। ११. भो. Šu Ba सर्वत्र 'द्रुतम्' इत्यत्र 'द्रवम्' पाठः। १२. ग. तत्र। १३. छ. चक्षुयित्वा।

चेति। **गीतं कुर्वन्ति देव्यस्त्वमपि हि भगवन् सर्वसत्त्वोपकारी अस्मान्**[1] **रक्षा हि**[2] **वज्रिन् त्रिदशनरगुरो** [3]**कामकामार्थिनीश्चेति**। अत्र मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षास्वभाविन्य-स्तारामामकीपाण्डरालोचनादेव्यश्चोदयन्ति [4]पञ्चमण्डलवाहार्थं बालानां भगवतो जगदर्थायेति देवीवज्रगीतिकाचोदनानियमः। तथा **मूलतन्त्रे**—

लोचनाऽहं जगन्माता निष्यन्दे योगिनां स्थिता। 5
मे मण्डलस्वभावेन कालचक्रोत्थ काम माम्॥

मामकी भगिनी चाहं विपाके योगिनां स्थिता।
मे मण्डलस्वभावेन कालचक्रोत्थ काम माम्॥

पाण्डरा दुहिता चाहं पुरुषे योगिनां स्थिता।
मे मण्डलस्वभावेन कालचक्रोत्थ काम माम्॥ 10

तारिणी भागिनेयाहं वैमल्ये योगिनां स्थिता।
मे मण्डलस्वभावेन कालचक्रोत्थ काम माम्॥

शून्यमण्डलमादाय कायवाक्चित्तमण्डलम्।
स्फारयस्व जगन्नाथ जगदुद्धरणाशय॥ इति।

एवं **समसुखफलदे** नाभिगुह्यादिकमले मूर्च्छागतं विज्ञानं प्रबोधयन्ति बालाना- 15
मिव देवता[5]कायस्थमिति नीतार्थः॥५०॥

इदानीं देवतोत्थानमुच्यते—

गीतं श्रुत्वा स वज्री त्रिभुवनसकलं त्विन्द्रजालोपमं वै
दृष्ट्वोत्पत्तिं करोति स्फुरदमलकरं स्फारयित्वा स्वचिह्नम्।
वज्रालङ्का[269a]रयुक्तो जिनपतिमुकुटः प्रज्ञयालिङ्गितश्च 20
प्रज्ञोपायेन राजन् पुनरपि सकलं मण्डलोत्सर्जनं च॥५१॥

गीतं श्रुत्वेत्यादिना[6]। अत्र शून्यतायां प्रविष्टो भगवान् गीतिकाभिः प्रबोधितः सन् मायोपमं सकलं जगद् **दृष्ट्वा** सत्त्वार्थाय भूय **उत्पत्तिं करोति स्फुरदमलकरं स्फारयित्वा स्वचिह्नं** पञ्चशूकवज्रं हूँकारपरिणतम्। तेन **वज्रालङ्कारयुक्तो जिनपतिमुकुटो**ऽक्षोभ्यमुकुटः **प्रज्ञालिङ्गितो** वै शून्यमण्डलवाहिन्या वज्रधात्वीश्वर्या विश्वमात्रा। 25
तद्हृदये बालानामिव **प्रज्ञोपायेन**। **राजन्निति** सम्बो[7]धनम्। प्रज्ञोपायसमापत्त्या गगनस्थान् स्कन्धधात्वायतनादिस्वभावेन समयमण्डलार्थं बुद्धान् पञ्चमण्डलस्वभावान्

१. ग. च. अस्माद्। २. ग. भिव। ३. ग. काय। ४. भो. 'पञ्च' नास्ति।
५. ग. ताकारकायस्थ। ६. ग. 'ना' नास्ति। ७. ग. धनार्थम्।

स्वकाये प्रवेश्य प्रज्ञापद्मे प्रत्येकाक्षर[1]मन्त्रस्वभावान् ततः पद्मादुत्सृजेत् पूर्ववत् वक्त्रभुज-
चिह्नसंस्थानलक्षणान् ज्ञानचित्तवाक्कायमण्डलेषु । एवं **मण्डलोत्सर्जनं च**। चकारात्
पूर्ववदिति । बालस्य [2]गर्भान्निर्गम[3]काले प्राणादिवायूनां दशानामुत्पादः। शिष्याणां
मण्डलप्रवेशकाले पुष्पक्षेपः। नग्नो जरायुचर्माम्बरधरो बाल इति विशुद्ध्या देवतायाः
5 [4]समयमण्डलनिष्पत्तिः। तत इन्द्रियप्रबोधो ज्ञानसत्त्वप्रवेशो बालस्य यथा तथा
देवतायां[5] भावनीया[6] योगिभिर्विंशत्याकारसंबोधिलक्षणा। एवं पञ्चाकाराभिसंबोधौ
[7]सेवाङ्गं कायनिष्पत्तौ, विंशत्याकारसंबोधावुपसाधनं वाङ्निष्पत्तौ, एवमुत्पत्तिक्रमो
द्विधा– एको जरायुजः, द्वितीयोऽण्डजः। योऽण्डजः स लोकधातूत्पादः। ब्रह्माण्डजमिति
भाषया। यो जरायुजः स मनुष्योत्पादः। यो झटितः स उपपादुकोत्पादः। [8]सत्त्वानां
10 स एकोत्पत्तिक्रमः। झटिताकारेण सत्त्वाशयेनोक्तो भगवता [9]उत्पन्नक्रमः पुनः कल्पना-
रहितः।

गगनोद्भवः स्वयंभूः प्रज्ञाज्ञानानलो महान्।
T 347 वैरोचनो महादीप्तिर्ज्ञानज्योतिर्विरोचनः॥ (ना० सं० ६. २०-२१)

इत्यादिपञ्चाकाराभिसम्बोधिनाऽवगन्तव्यः ॥ ५१ ॥

15 इदानीं ज्ञानचक्राकर्षणमुच्यते—

नीलाभं भीमकायं प्रहसितवदनं चार्धदंष्ट्राकरालं
गर्जन्तं सूर्यनेत्रं द्व्यधिकजिनकरं वेदवक्त्रं द्विपादम्।
प्रज्ञोपायो[269b]द्भवन्तं प्रहरणसहितं प्रेषयेद् वज्रवेगं
अष्टाङ्घ्रिस्यन्दनस्थं जिनरिपुमथनं ज्ञानचक्रस्य हेतोः ॥५२॥

20 नीलाभमित्यादिना। इह [10]जातबालस्य मध्यमाप्राणनिर्गमो नीलाभः, तस्य निर्गमे-
ने(णे)न्द्रियाणां प्रबोधो बाह्यविषयाणां षड्विज्ञानानां प्रवृत्तिरध्यात्मनि। अतो बाह्य-
देवतानिष्पत्तौ **नीलाभं** प्राणं मध्यमाविशुद्ध्या वज्रवेगं **भीमकायं प्रहसितवदनं चार्ध-
दंष्ट्राकरालं गर्जन्तं द्वादशनेत्रं द्व्यधिकजिनकरं** षड्विंशतिभुजं। चतुर्मुखं द्विचरणं
प्रज्ञोपायो[11]**द्भवन्तं** भर्तृवत् **प्रहरणसहितं** गजचर्माम्बरधरं पञ्चमुद्राविभूषितम् अक्षोभ्य-
25 मुकुटिनं कपालमुण्डमालाधारिणं सर्पाभरणं [12]हूँकारवज्रनिर्माणं तं **वज्रवेगं** [13]**प्रेषयेद्**

---

१. क. मण्ड। २. च. गर्भाद्विनि। ३. क. ख. ग. च. छ. कालः। ४. क. समल। ५. क. ख ग. छ. ताया। ६. च. नीयो। ७. क. शवाङ्गं, छ. सर्वाङ्गं। ८. भो. 'सत्त्वानां' नास्ति। ९. भो. rZogs Paḥi (निष्पन्न)। १०. क. ख. ग. छ. बाल-जातस्य। ११. ग. भो. द्भूतं, च. छ. भवं तं। १२. भो हूँ। १३. च. प्रैष, भो. bsKul Bar (प्रेर)।

आलयविज्ञानं[1] प्रवृत्तिविज्ञानमिति। **अष्टाङ्घ्रिस्यन्दनस्थमिति**। शब्दस्पर्शरसरूपगन्ध-सत्त्वरजस्तमोगुणस्थं **जिनरिपुमथनं** मारक्लेशमथनम्। **ज्ञानचक्रस्य हेतोः** पञ्चविषय-ज्ञाननिवृत्तय इति॥ ५२॥

नाभौ हत्वाङ्कुशेन स्फुरदमलकरं ज्ञानचक्रेश्वरं वै
हस्तेष्वेवं प्रबद्ध्वा सकुलिशफणिना भीषयित्वा स्वशस्त्रैः।
साध्यं कृत्वा समस्तं व्रजति पुनरसौ चालयित्वा सुचक्रं
वेशं बन्धं च तोषं समरसकरणं जम्भकादिः करोति॥५३॥

ततो नाभिकमलाद् [2]बाह्यनिर्गतः प्राणो बाह्यभावानाकृष्य पुनर्निवर्तते। [3]अतो विशुद्धया **हत्वा नाभौ** वज्राङ्कुशेन **स्फुरदमलकरं ज्ञानचक्रेश्वरं वै हस्तेषु** चतुर्विंशतिषु बन्धयित्वा **सकुलिश**नागपाशै**र्भीषयित्वा स्वशस्त्रैः**। एवं ज्ञानचक्रं **साध्यं कृत्वा व्रजति पुनः** स्वस्थानं **चालयित्वा समस्तं** भावलक्षणं विश्वचक्रमिति। ततो [4]**वेशं जम्भकः करोति** चक्षुरिन्द्रियजनितमालयविज्ञानम्। **बन्धं** कायेन्द्रियजनितं कायविज्ञानं स्तम्भकः करोति। [5]**तोषं** जिह्वेन्द्रियजनितं जिह्वाविज्ञानं मानकः करोति। **समरस-करणं** [270a] घ्राणेन्द्रियजनितं घ्राणविज्ञानमतिबलः करोति। एवं पञ्चप्रकारं जःकारेणाकृष्टम्, हूँकारेण प्रविष्टम्, वंकारेण बद्धम्, होःकारेण तोषितम्, हीःकारेण समरसीकृतम्। वज्राङ्कुशेन वज्रेण वज्रपाशेन वज्रघण्टया वज्रदण्डेनेति। एवं ज्ञानचक्रं सम्पूज्य पूर्ववत् समयचक्रं समरसीभूतं भावयेदिति नियमः॥ ५३॥

इदानीमुत्पत्तिक्रमेण प्रत्येकस्थाने ज्ञानदेवतानां समयदेवताभिः सार्धमेकत्व-मुच्यते—

चित्तं निष्पत्तियोगे भवति सगगनं गर्भपद्मेऽग्निमूर्ध्नि
पूर्वे श्रीकृष्णदीप्ता वरकमलदले दक्षिणे रक्तदीप्ता।
वामे श्रीश्वेतदीप्ता भवति कुलवशात् पश्चिमे पीतदीप्ता
धूमाग्नेय्यां मरीचिर्दनुजदिशि तथा द्योतकेशप्रदेशे॥५४॥

[6]चित्तमित्यादिना। इह [7]**निष्पत्तियोगे** उत्पत्तिक्रमे **भवति सगगनं** वज्रधात्वी-श्वर्या सार्धं विज्ञानं [8]**गर्भपद्मे** महासुखे **अग्निमूर्ध्नि** चन्द्रसूर्यराहुकालाग्निमण्डलोपरि

---

१. भो. rNam Par Śes Pa Las (विज्ञानात्)। २. ख. ग. च. छ. बाह्ये। ३. ग. ततो। ४. भो. gŚug Pa (प्रवेशं)। ५. ग. च. तोयं। ६. भो. sKyed Pa (उत्पत्ति)। ७. भो. sKyed Pa (उत्पत्ति)। ८. क. गर्भे।

समयसत्त्वेन ज्ञानसत्त्वस्य समरसत्वम् । एवं **पूर्वपत्रे कृष्णदीप्ता** समरसा । **वरकमलदले दक्षिणे रक्तदीप्ता,** उत्तरे **श्वेतदीप्ता, पश्चिमे पीतदीप्ता भवति कुलवशाद्** ज्ञान[1]चक्रवशात् । एवमाग्नेय्यां **धूमा** । नैर्ऋत्ये **मरीचिः** । **खद्योत ईशे** ॥ ५४ ॥

5 वायव्यां श्रीप्रदीपा मणिरपि च तरुर्धर्मगण्डी च शङ्खो
वह्नौ वायौ च दैत्ये हरदिशि च तथाभ्यन्तरे कोणभागे ।
पूर्वे संस्कारपृथ्वी खलु कमलगतौ दक्षिणे वेदनाम्भो
वामे संज्ञा च वह्निर्भवति स पवनं रूपमेवापरे च ॥५५॥

[2]**वायव्यां प्रदीपा** समरसा इति । एवमग्निकोणे **चिन्तामणिः,** नैर्ऋत्ये
10 **धर्मगण्डी,** ईशाने धर्मशङ्खः, वायव्ये कल्पवृक्ष इति । वज्रावलीपद्मदलयोः **कोणभा[270b]गेऽभ्यन्तरे** । एवं पूर्वकमलासने कर्णिकायां सूर्ये **संस्कारपृथिव्यौ** द्वौ समरसौ समयसत्त्वाभ्यां सह । **दक्षिणे वेदना** तोयधातुः, उत्तरे **संज्ञा** तेजोधातुः, पश्चिमे **सपवनं रूपं** समरसं [3]भवतीति । अत्रोपाया नायकाः ॥ ५५ ॥

आग्नेय्यां वायुरूपे भवति दनुपतौ वह्निसंज्ञा द्वयं च
15 ईशेऽम्भो वेदना वै मरुति च धरणी स्कन्धसंस्कारयुक्ता ।
देवी बुद्धान्तरालेष्वमृतरसघटाश्चाष्टकक्षप्रदेशे
घ्राणो गन्धश्च पूर्वे पुनरपरपुटे दक्षिणे नेत्ररूपे ॥५६॥

एवमाग्नेय्यां वायुरूपे समरसे भवतः, नैर्ऋत्ये तेजोधातुसंज्ञे, **ईशाने** तोयधातुवेदने, वायव्ये पृथिवीधातुसंस्कारौ समरसाविति कोणदेव्यो नायिकाः । एवं
20 **देवीबुद्धानामन्तरालेष्वमृतरसघटा अष्टकक्षप्रदेशे** समरसा भवन्तीति नियमः । तथागतपुटे ततो बोधिसत्त्वपुटे **घ्राणो गन्धश्च पूर्व**कमले समरसः । **दक्षिणे नेत्रं रूप**विषयः ॥५६॥

वामे जिह्वारसः स्याद् भवति हि वरुणे स्पर्शकायस्तथैव
पाताले शब्दकर्णौ भवति कुलवशाद् दक्षिणे द्वारवामे ।
25 चित्तं वै धर्मधातुर्भवति सगगनं सर्वतो द्वारवामे
आदौ चोपायषट्कं भवति जिनवशान्मण्डलस्याधिदेवम् ॥५७॥

---

१. ग. 'चक्र' नास्ति, भो. Sal (वक्त्र) । २. ग वायव्ये । ३. भो. 'इति' नास्ति ।

उत्तरे जिह्वारसः, वरुणे [1]स्पर्शकायेन्द्रियम्, पाताले शब्दकर्णौ, दक्षिणद्वार-पूर्वे वामे चित्तं वै धर्मधातुर्भवति सगगनं पूर्वद्वारस्य वामे। एवमादौ चोपायषट्कं भवति। तथागतकुलवशाद् मण्डलस्याधिदैवम् ॥५७॥

पश्चात् प्रज्ञादिषट्कं प्रकटमधिपतिः स्वस्वपद्मासने च
पूर्वद्वारे प्रचण्डस्त्वसिधृगतिबलः स्तम्भकी तस्य मुद्रा। 5
सव्ये जम्भश्च मानी भवति च धनदे मानको जम्भकी च
स्तम्भश्चानन्तवीर्या भवति च वरुणे द्वारमध्यस्थपद्मे ॥५८॥

पश्चात् प्रज्ञादिषट्कं धर्मधात्वादिकमिति। [2]अत्राग्नेय्यां स्पर्शवज्रा काये-न्द्रियम्, नैर्ऋत्ये रसवज्रा जिह्वा, ईशाने रूपवज्रा चक्षुः, वायव्ये गन्धवज्रा घ्राणः, पाताले[271a] शब्दवज्रा श्रोत्रम्। उत्तरद्वार[3]वामे धर्मधातुः, मनः पश्चिमद्वारवामे 10
इति द्वादशायतनानि। बोधिसत्त्वपुटे समरसीकरणं ज्ञानसत्त्वस्य [4]स्वस्वपद्मासने चन्द्र-मूर्धिन। इदानीं क्रोधराजानां समरसत्वमुच्यते—पूर्वद्वारे प्रचण्डस्त्वसिधृगतिबलः स्तम्भकी तस्य मुद्रा, सव्यद्वारे जम्भकश्च मानी मुद्रा, उत्तरद्वारे मानको [5]जम्भकी मुद्रा। पश्चिमद्वारे [6]स्तम्भोऽनन्तवीर्या तस्य मुद्रा भवति समरसा। द्वारमध्यस्थपद्म इति चित्तमण्डले सम[7]रसकरणम्। नाभिचक्रे हृत्कमले जातकस्येति नियमः ॥५८॥ 15

मारीची नीलदण्डोऽचल इति भृकुटी शृङ्खलाऽनन्तवीर्य-
ष्टक्किश्चुन्दारथस्था सुरधनदपरे दक्षिणे द्वारमध्ये।
सुम्भो रौद्रेक्षणाधो भवति नभसि चोष्णीष एवातिनीला
पूर्वद्वारा परोर्ध्वे भवति च नियतं स्यन्दनश्च द्वयोश्च ॥५९॥

एवं क्रोधप्रासङ्गिकेन मारीची नीलदण्डो बाह्यकायमण्डले द्वारपालः पूर्वे सम- 20
रसः, दक्षिणे टक्किश्चुन्दारथस्था, उत्तरेऽचलो भृकुटी, पश्चिमे शृङ्खलाऽनन्तवीर्यो महाबल इति समरसः। सुम्भराजो रौद्राक्षी पाताले। अतिनीला उष्णीष ऊर्ध्वे रजो-मण्डले पूर्वद्वारोपरि उष्णीषः। पश्चिमे सुम्भ इति स्यन्दनश्च द्वयोश्चेति नियमः। भावनायां पुनरध ऊर्ध्वेऽपि स्यन्दन इति गर्भमण्डले मुखेन्द्रियगुदोष्णीषद्वाराणि। इन्द्रिय-मिति मूत्रशुक्रद्वारम्। [8]बाह्ये कायमण्डले घ्राणचक्षुर्जिह्वाकायश्रोत्राणीति। बालकाये 25
यथा तथा मण्डले [9]इति नियमः ॥ ५९ ॥

---

१. च. स्पर्शः। २. ग. च. तत्रा। ३. ग. च. भो. वामे आकाशे। ४. ग. 'स्व' नास्ति। ५. क. ख. च. छ. जम्भी। ६. क. ख. ग. छ. स्तम्भको। ७. ग. रसी। ८. क. बाह्य। ९. क. ख. ग. छ. 'इति' नास्ति।

वाग्जाते मण्डले वै भवति वसुदिशास्त्रासनं भूतजानां
चामुण्डेन्द्रश्च पूर्वे भवति शिखिनि वै वैष्णवी वेदवक्त्रा ।
यामे रुद्रो वराही भवति दनुपतौ षण्मुखी विघ्ननाथः
[1]बाह्येन्द्रद्वारसव्ये भवति दनुपती पश्चिमे वायवीन्द्रौ ॥६०॥

5 [271b]

[2]वायौ ब्रह्मा च विद्युद् भवति हि धनदे सागरः शूकरी च
कौमारीशे गणेन्द्रः खलु धनदयमद्वारयोर्वामभागे ।
रुद्रः कालश्च विष्णुर्धनद इति सुरे चापरे द्वारवामे
तेषां मुद्रा प्रसिद्धा भवति गिरिसुता यामिनी श्रीर्धनेशा ॥६१॥

10 यक्षे रौद्री यमः स्याद् भवति पशुपतौ षण्मुखश्चैव लक्ष्मी-
र्बाह्येन्द्रद्वारसव्ये भवति दनुपती राक्षसी तस्य मुद्रा ।
वह्नौ वायुः प्रचण्डा हरिरपि वरुणा दक्षिणद्वारसव्ये
लक्ष्मीः श्रीषण्मुखो वै भवति दनुपतौ पश्चिमे वायवीन्द्रौ ॥६२॥

बाह्ये नागाः समस्ताः सुरयमधनदे पश्चिमे वेदिकायां
15 पद्मः कर्कोटको वै चलवलयगतौ वासुकिः शङ्खपालः ।
वह्निस्थो तोयमूर्ध्नि प्रभवति कुलिकोऽनन्तनागः प्रसिद्ध-
स्तद्वद् भूमण्डलस्थो भवति कुलवशात् तक्षको वै महाब्जः ॥६३॥

तेषां प्रज्ञाः प्रचण्डाश्चितिभुवनगताः श्वानवक्त्रादयश्च
तासां पद्माद्युपायास्त्वपरकुलवशात् सत्सुखार्थं भवन्ति ।
20 श्वानास्या पूर्वचक्रे चलवलयगता शूलभेदे श्मशाने
याम्ये वै शूकरास्या खलु शवदहने चोत्तरे व्याघ्रवक्त्रा ॥६४॥

सक्लिन्ने पूतिगन्धे भवति च वरुणे जम्बुकास्या तथैव
उच्छिष्टे घोरयुद्धे शिखिनि दनुपतौ काकवक्त्रा सगृध्रा ।

---

१. चतुर्थपङ्क्तिस्थाने मुद्रितपुस्तके—'ऐन्द्री दैत्योऽपरे स्यात् खलु युगवदना मारुते विष्णु-रेव' इति पाठः । २. मुद्रितपुस्तक एक षष्टितम-द्वाषष्टितमश्लोकयोः क्रमविपर्ययः ।

वायव्ये सर्पदष्टे खगपतिवदना चेश्वरे बालमृत्यो
चक्रस्थोलूकवक्त्रा महिवलयगतौ चन्द्रसूर्यौ च भाव्यौ ॥६५॥

प्रत्यालीढं हि मातुर्भवति समपदं यत्र देवीगणस्य
प्रत्यालीढं विशाखं दशवसुगणयोर्मण्डलं चासुरीणाम् ।
प्रत्यालीढे स्थितानां खलु भवति समापत्तिरालीढपादो
वैशाखाख्यं विशाखे भवति च नियतं मण्डलं मण्डले च ॥६६॥

[272a]

शेषा वज्रासनस्थाः प्रकटितनियता देवता मण्डले च
देव्यः पद्मासनस्थाः स्वकुलदिशिगताः स्वस्वपद्मेन्दुमूर्ध्नि ।
देवा वज्रासनस्थाः फणिकुलसहिताः स्वस्वदिग्वाहनस्थाः
पत्रे देव्यः सुराणां खलु ललितपदा भूतजानां तथैव ॥६७॥

सव्यैराकुञ्चितैश्च क्षितितलनिहितैः सारितैर्वामपादैः
प्रत्यालीढं पदं तद् भवति नरपते सार्धहस्तद्वयेन ।
आलीढं वामयोगाद् भवति समपदं पादयुग्मे समे च
वैशाखं मण्डलं यद् भवति गुणवशाज्जानुयुग्मप्रसारात् ॥६८॥

किञ्चिज्जान्वर्धवक्त्रे भवति हि ललितं शेषमेवं प्रसिद्धं
ज्ञातव्यं योगिना वै पुनरपि भरते वज्रनृत्यस्य हेतोः ।

एवं वाग्द्वाराणि पञ्च, पञ्चस्थानोच्चारणवशात् । एवमध ऊर्ध्वं शून्यद्वारत्रयम् । शुक्रद्वारं कायकण्ठस्थानलक्षणं वर्जयित्वा द्वादशद्वाराणि त्रिमण्डलेषु । एवं सूर्यलग्न-भेदेन द्वादशद्वाराणि, चन्द्रकलाभेदेन पञ्चदश, सर्वसत्त्वानां कायवाक्चित्तधर्मेणेति नियमः । अत्र वाङ्मण्डलादिसमरसत्वं सुबोधं प्रत्यालीढादिपदादिकं च । "वाग्जाते मण्डले वै" (४.६०) इत्यारभ्य "वज्रनृत्यस्य हेतोः" (४.६९) इतिपर्यन्तं सार्धनव-वृत्तानि सुबोधानीति ॥ ६०–६८½ ॥

इदानीं कुलमुद्रणं देवतानामुच्यते—

T 348

वज्रस्यान्योन्यवज्रो भवति हि मुकुटे पञ्चबुद्धाः कदाचिद्
रूपस्याक्षोभ्य ऊर्ध्वं स्फुटकमलधरस्यैव वैरोचनः स्यात् ॥६९॥

वज्रस्येत्यादिना। इह मण्डले परमादिबुद्धे **वज्रस्यान्योन्यवज्रो भवति हि मुकुटे।** तत्कस्य हेतोः? ज्ञान[1]विज्ञानपरस्परसंयोगादिति। अतो [2]ज्ञानेन विज्ञानं विज्ञानेन ज्ञानम्। उभयोश्चित्तवज्रश्चीवरोष्णीषधारी शिरसि वज्रपर्यङ्कस्थः भूस्पर्शमुद्रया। तथागतोयाश्वासतः पञ्चकुलैर्मुद्रणम्, स्वाभाविककुलस्य प्रतिषेधः, बुद्धानां जनकत्वा-
5 दिति। अथ ज्ञानविज्ञान[3]धर्मेण **पञ्चबुद्धात्ममुकुटः कदाचित्** क[272b]र्तव्य इति तथागतनियमः। **रूपस्याक्षोभ्य ऊर्ध्वम्**, "चित्तं कायाकारेण" (गु० त०, पृ० ११) इति वचनात्। **स्फुटकमलधरस्यैव वैरोचनः स्यात्**, "कायं वाक्प्रव्याहारेण" (गु० त०, पृ० ११) इति वचनात्॥ ६९॥

रत्नेशस्याब्जधारी प्रवरमणिकरोऽमोघसिद्धेश्च मौलौ
10 षण्णां मौलिर्जटाख्या भवति गुणवशाच्छेषचक्रस्य चान्यत्।
भूमौ चक्रप्रसूतिर्भवति हि कमलस्योदकेऽग्नौ मणेश्च
वायौ खड्गस्य शून्ये भवति हि कुलिशस्याक्षरे कर्तिकायाः॥७०॥

रत्नेशस्याब्जधारी, रजोधर्मित्वात्। **प्रवरमणिकरोऽमोघसिद्धे[4]श्च मौलौ**, रक्ततो मांससंभवादिति। **षण्णां मौलिर्जटाख्या भवति गुणवशादिति।** गुणास्तीर्थि-
15 कानामव[5]ताराय। ईश्वरवक्त्रविशुद्धया षड्वक्त्राणि, पञ्चवक्त्राणि वा [6]पञ्चब्रह्मलक्षणानि जटा[7]मुकुटधराणि। [8]अत्र सद्यो वैरोचनः, वामदेवोऽमिताभः, अघोरो रत्नसंभवः, तत्पुरुषोऽमोघसिद्धिः, ईशानोऽक्षोभ्यः, कालाग्निर्वज्रसत्त्व इति। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशज्ञानस्वभावाः प्राकृतस्कन्धाः शुद्धस्कन्धैरुष्णीषचीवरधारिभिर्मुद्रिता इति। एवं षण्णां मौलि[9]र्जटाख्या। **शेषचक्रस्य** देवता[10]देवतीनां मौलिर्नानारत्नमयी स्वस्वकुलमुद्रिता यो
20 येन जातस्तेन तस्य मुद्रणं वक्ष्यमाणे। इदानीं चक्रादीनां चिह्नानां प्रसूतिरुच्यते—**भूमा**वित्यादि। इह भूमिबीजेन[11]ऌकारेणं **चक्रस्य प्रसूतिः। कमलस्योदक**[12] उकारे। **अग्नौ मणेः** ऋकारे। **वायौ खड्गस्य** इकारे। **शून्ये कुलिशस्य** अकारे। अंकारे [13]ज्ञाने **कर्तिकाया** भवतीति क्रियासम्बन्धः॥ ७०॥

वस्त्रं पीयूषपात्रं प्रभवति हि तथादर्शमाला च वीणा
25 षष्ठो धर्मोदयो वै क्षितिजलहुतभुङ्मारुताकाशशान्तात्।
खेटं कु[273a]न्तं च बाणं परशुडमरुकौ पञ्च चिह्नानि तद्वद्
दण्डः पाशोऽङ्कुशो वै भवति खलु तथा मुद्गरं च त्रिशूलम्॥७१॥

---

१. क. ख. छ. 'विज्ञान' नास्ति। २. क. ख. छ. भो. ज्ञानं। ३. च. धर्मणः। ४. क. ख. छ. स्वमौलौ। ५. ख. ग. च. छ. तारणाय। ६. ग. 'पञ्च' नास्ति। ७. ग. मकुट। ८. क. ख. ग. च. अवसव्यो। ९. क. ख. छ. ली जटा। १०. च, देवी। ११. छ. ऋ। १२. छ. दरे। १३. क. ख, भो. ज्ञानकर्तिकाया।

एवं [1]लृकारे **वस्त्रं** भवति । **पीयूषपात्रमूकारे, आदर्शमृकारे,** गन्ध ईकारे, **वीणा** आकारे, **धर्मोदयो** [2]विसर्ग [3]आकार इति पृथिव्यादिगुणभेदेन चिह्नानि । एवं **खेटम्** अल्कारे, **कुन्तमोकारे, बाणोऽर्कारे,** परशुः एकारे, **डमरुकोऽकारे** । इति **पञ्च चिह्नानि** गुणभेदेन । तथा **दण्ड** आल्कारे, **पाश** औकारे, **अङ्कुश** आर्कारे, **मुद्गर** ऐकारे, **त्रिशूलमाकारे** इति पञ्चचिह्नानि स्वरवृद्धया ॥ ७१ ॥ 5

कोदण्डश्चोत्पलं वै पुनरपि च तथा वक्त्रखट्वाङ्गघण्टा
एवं वै शृङ्खलाद्यं जलचरचषकं द्वीपिचर्मेभचर्म ।
शेषाण्यत्रोपचिह्नान्यवनिजलहुताशानिलाकाशजानि
ज्ञातव्यान्येव तानि प्रकृतिगुणवशाद् देवतादेवतीनाम् ॥७२॥

[4]**कोदण्डो** लकारेण, उत्पलं वकारेण, [5]**वक्त्रं** रकारेण, **खट्वाङ्गं** यकारेण, 10
घण्टा हकारेण, **एवं वै शृङ्खला** लाकारेण, शङ्खो वाकारेण, कपालं राकारेण, **द्वीपिचर्म** याकारेण, दन्तिचर्मं हाकारेणेति, दीर्घैर्यणादेशैरिति द्वात्रिंशच्चिह्नानां स्वरनियमः । **शेषाण्यत्रोपचिह्नान्यवनिजलहुताशानिलाकाशजानि ज्ञातव्यान्येव**[6] **तानि प्रकृतिगुणवशाद् देवतादेवतीनामिति** । सर्वेषां चर्चिकादीनां वाय्वादिभेदेन चिह्नानि वेदितव्यानि ॥ ७२ ॥ 15

लाद्यास्त्रिंशत् स्वरा ये क्षितिजलहुतभुङ्मारुताकाशजाता-
श्चिह्नानां ते स्वमन्त्राः क्रमपरिरचिता ह्रस्वदीर्घप्रभेदैः ।
चक्रादीनां समस्ताः खलु कमलगताश्चन्द्रसूर्यासनस्थाः
षष्ठं यत्रैव चिह्नं भवति गुणवशात् तत्र चानाहतं स्यात् ॥७३॥

[273b] 20

अत्रोक्ता [7]**लाद्यास्त्रिंशत् स्वरा ये क्षितिजलहुतभुङ्मारुताकाशजाताः, चिह्नानां ते स्वमन्त्राः क्रमपरिरचिता** [8]**ह्रस्वदीर्घप्रभेदैः । चक्रादीनां समस्ताः खलु कमलगताश्चन्द्रसूर्यासनस्थाः । षष्ठं यत्रैव चिह्नं भवति गुणवशात् तत्र चानाहतं स्यात् ।** एवं बीजेन चिह्नोत्पादः, [9]चिह्नेन देवतोत्पादः [10]सर्वत्रावगन्तव्यो योगिनेति तन्त्रनियमः ॥ ७३ ॥ 25

---

१. क. 'लृ' नास्ति, छ. ऋ । २. ग. च. सर्गे । ३. भो. अः । ४. भो. De bSin Du (तथा) इत्यधिकः पाठः । ५. भो. mGo Boḥo (शिरं) । ६. क. ख. छ. व्यानि प्रकृति । ७. भो. Lṛ La Sogs Pa (लृ-आदयः) । ८. च. दीर्घह्रस्व । ९. क. ख. छ. 'चिह्नेन देवतोत्पादः' नास्ति । १०. च. सदेवाव ।

इदानीं वज्रसत्त्वादीनां जातिबीजाक्षराण्युच्यन्ते—

नादः श्रीवज्रसत्त्वो भवति नरपते चित्तवज्रस्त्वकारो
ह्रस्वेकारश्च खड्गी भवति पुन ऋकारश्च वै रत्नपाणिः।
ह्रस्वोकारोऽमिताभो भवति पुन लृकारोऽत्र वैरोचनश्च
5 दीर्घं भावप्रभेदैः सुरगणसकलं षड्जिनानां क्रमेण ॥७४॥

नाद इत्यादिना। **नादोऽनाहतः, श्रीवज्रसत्त्वो** ज्ञानस्कन्धः। एवं सर्वत्र संज्ञा-संज्ञिसम्बन्धः। एवं **अ अक्षोभ्यः। इ अमोघसिद्धिः। ऋ रत्नसंभवः। उ अमिताभः। लृ वैरोचनः।** ॡ लोचना। ऊ मामकी। ॠ पाण्डरा। ई तारा। आ वज्रधात्वीश्वरी ॥७४॥

श्रीमाताऽनाहताख्या भवति खलु तथाकारजाकाशधातुर्
10 ई ॠ ऊ ॡ क्रमस्था मरुदनलजलक्ष्मासु सर्वा भवन्ति।
अन्योऽन्यं कायभावौ परमजिनपतिर्विश्वमाता सुखार्थं
अक्षोभ्यः शून्यधातुस्त्वसिकरकमलौ लोचनाकायभावौ ॥७५॥

श्रीमाता प्रज्ञापारमिता **अनाहताख्या**। एवं कायभावभेदेन ह्रस्वदीर्घाणां स्वराणां जातिः। **एवमन्योन्यं कायभावौ। परमजिनपतिर्ज्ञानस्कन्धः। विश्वमाता**
15 ज्ञानधातुः। विज्ञानमाकाशधातुः। संस्कारः पृथ्वीधातुः। [1]वेदना तोयधातुः ॥७५॥
[274a]

रत्नेशो मामकी च त्वपि कमलधरः पाण्डराकायभावौ
तद्वच्चक्री च तारा प्रकृतिगुणवशाज्ह्रस्वदीर्घस्वरैश्च।
अंकारो विश्वभद्रो भवति तनुवशाद् वज्रपाणिस्त्वकारो
20 ह्रस्वैकारः खगर्भोऽरपि भवति तथा भूमिगर्भश्च सम्यक् ॥७६॥

संज्ञा तेजोधातुः। रूपं वायुधातुरिति। एवं **अंकारः** समन्तभद्रः। **अकारो वज्रपाणिः।** [2]**ए खगर्भः। अर् क्षितिगर्भः** ॥ ७६ ॥

ओकारो लोकनाथोऽलपि भवति तथा चात्र विष्कम्भिकाय
आकारो धर्मधातुर्भवति खलु तथाःकारजा शब्दवज्रा।
25 ऐकारः स्पर्शवज्रा खलु रसकुलिशार्कारजा कायभेदा-
दौकारो रूपवज्रा भवति नृप तथाल्कारजा गन्धवज्रा ॥७७॥

---

१. च. 'वेदना तोयधातुः' नास्ति। २. ग. ऐ।

[1]ओ लोकेश्वरः । अल् सर्व[2]नीवरणविष्कम्भी[3] । एवं आ धर्मधातुः । आः शब्दवज्रा । ऐ स्पर्शवज्रा । आर् रसवज्रा । औ रूपवज्रा । आल् गन्धवज्रा इति ॥ ७७ ॥

श्रीभद्रो धर्मधातुस्त्वपि खकुलिशा वज्रपाणिश्च युग्मं
वैगर्भो गन्धवज्रा वररसकुलिशा लोकनाथश्च युग्मम् ।　　5
भूगर्भो रूपवज्रा भवति हि युगलं स्पर्शविष्कम्भिनौ च
एवं वै षट्कुलानि प्रकृतिगुणवशाद् वेदितव्यानि सम्यक् ॥७८॥

समन्तभद्रो धर्मधातुः । परस्परं कायभावौ । शब्दवज्रा वज्रपाणिः । युग्मं कायभावौ । [4]वैगर्भो गन्धवज्रा । रसवज्रा लोकेश्वरः । क्षितिगर्भो रूपवज्रा । सर्वनीवरणविष्कम्भी स्पर्शवज्रेति । एवं षट्कुलानि प्रकृतिगुणवशाद् वेदितव्यानि　　10
सम्यग् योगिनेति नियमः ॥ ७८ ॥ [274b]

इदानीं क्रोधानां पञ्चकुलबीजान्युच्यन्ते—

हंकारोष्णीषचक्रो भवति तनुवशादत्र हश्चातिनीला
सुम्भो ह्रस्वो हकारो भवति खलु तथा दीर्घजा रौद्रनेत्रा ।
यं ला युग्मक्रमेण प्रकटमतिबलः स्तम्भकी चैव युग्मं　　15
रं वा जम्भश्च मानो वमपि र इति वै मानकी जम्भकी स्यात् ॥७९॥

हमित्यादिना । अत्र हंकार उष्णीषे[5] चक्री भवति तनुवशात् कायभेदादिति । एवमन्येऽपि । हश्चातिनीला । सुम्भो ह । रौद्राक्षी हा । यं अतिबलः[6] । लाः [7]स्तम्भकी । रं जम्भः[8] । वाः [9]मानकी । व मानकः । राः जम्भकी ॥ ७९ ॥

लं याः स्तम्भोऽतिवीर्या भवति य व र लं नीलदण्डोऽचलश्च　　20
टक्किश्चानन्तवीर्यो भवति तनुवशाद् देवतीनां च दीर्घाः ।
या वा रा लास्तथा स्युर्गजतुरगहरिस्यन्दने शूकरे च
मारीची नीलदण्डोऽचल इति भृकुटी शृङ्खलानन्तवीर्यः ॥८०॥

लं स्तम्भकः । [10]याः अतिवीर्या । एवं यथासंख्यं भवति । [11]य व र लं । नील-
दण्डः, अचलः, टक्किः, महाबलः । तनुवशाद् देवतीनां च दीर्घाः । [12]या गजरथे वज्र-　　25

---

१. ख. छ. औ, च. शः । २. क. ख. छ. णि. । ३. ग. च. कम्भीः । ४. भो. खगर्भो । ५. क. ख. उष्णीषं । ६. क. ख. ग. च. बल । ७. क. ह्रम्भीरं । ८. क. यम्बकः, च. जम्बुकः । ९. क. मामकी । १०. ग. या । ११. क. ख. ग. च. छ. य र व ल । १२. छ. या च जयरथे ।

शृङ्खला। वा तुरगस्यन्दने चुन्दा। रा हरिस्यन्दने भृकुटी। ला शूकरस्यन्दने मारीची। एवं [1]मारीची नीलदण्डो युग्मं कायभावौ परस्परम्। अचलो भृकुटी। वज्रशृङ्खला अतिबलः ॥ ८० ॥

टक्किरश्चुन्दा च युग्मं भवति नरपते मण्डले सत्सुखार्थ-
माकारावंविसर्गौ हमपि ह इति ह हाकारजाः शक्तयोऽष्टौ।
कुम्भेवेष्वं हकारो मरुदनलजलक्ष्मास्वरैर्भेदितः स्याद्
ॐ हूं होर् आश्च शङ्खस्त्वमलगुणमणिश्चाङ्घ्रिपो धर्मगण्डो ॥८१॥
[275a]

टक्किरश्चुन्दा च युग्मं मण्डले सत्सुखार्थमिति परकुलालिङ्गनेन। एवं शक्ति-बीजानि। शक्तयो धूमादयो निमित्तदैवत्यः। तत्राकारावंविसर्गौ इति। अ आ अं अः। यथाक्रमं कृष्णदीप्ता पीतदीप्ता [2]श्वेतदीप्ता रक्तदीप्ता। एवं हमपि ह[3] इति ह हा। हं खद्योता[4]। हः मरीचिः। ह धूमा। हा प्रदीपा। एवमष्टाक्षरजाः शक्तयोऽष्टौ। कुम्भेष्वेवं हकारो मरुदनलजलक्ष्मास्वरैर्भेदितः स्यादिति। पूर्वघटयोः हि ही, दक्षिणघटयोः हृ हॄ, उत्तरघटयोः हु हू, पश्चिमघटयोः [5]ह्ल ह्ॣ। इति वाय्वादिभेदः। [6]तथा ओङ्कारो धर्मशङ्खः, हूँ चिन्तामणिः, [7]होः कल्पवृक्षः, आः धर्मगण्डोति चित्तमण्डले देवताबीजाक्षराणि ॥ ८१ ॥

इदानीं वाङ्मण्डले चर्चिकादीनां बीजाक्षराण्युच्यन्ते—

चामुण्डा वै हकारो हमपि ह इति चापीश्वरी शूकरी च
हा क्ष क्षा क्षँ क्ष ऐन्द्री खगपतिगमना ब्रह्मिका श्रीः कुमारी।
ही हॄ हू ह्ॣ च पृष्ठे वरकमलदले ह्रस्वमात्राग्रतश्च
क्षी क्षॄ क्षू क्ष्ॣ तथैव प्रकटितनियता ह्रस्वमात्राश्च तद्वत् ॥८२॥

चामुण्डा वै हकारः। हं माहेश्वरी। हः वाराही। हा ऐन्द्री। क्ष वैष्णवी। क्षा ब्रह्माणी। क्षं महालक्ष्मीः। क्षः कौमारीति नायिकानां बीजानि। [8]तथा यत्र देवीनां यथाक्रममष्टसु दिक्षु पूर्वादिषु कमलपृष्ठदलेषु। ही हॄ हू ह्ॣ। क्षी क्षॄ क्षू क्ष्ॣ। ह्रस्वमात्राग्रतश्चेति अष्टदलेषु हि हृ हु ह्ल क्षि क्षृ क्षु क्ष्ल इति ॥ ८२ ॥

पूर्वे सव्येऽवसव्ये वरुणहविदनावीशवाय्वोश्च पद्मे
याद्याः षण्मात्रभिन्नाः क्रमपरिरचिताः षड्दले ह्रस्वदीर्घाः।

---

१. क. ख. मारीचि, च. मारेची। २. क. छ. 'श्वेतदीप्ता' नास्ति। ३. ग. हमिति, भो. हः इति। ४. क. ख. ग. च. छ. खद्योतः। ५. क. ख. ग. च. ॡ। ६. छ. 'तथा ओङ्कारो बीजाक्षराणि' नास्ति। ७. भो. ह। ८. छ. यथा। ९. क. ॡ।

हिक्ष्याद्यालोऽन्तसर्वा वसुफणिगुणिता देवतीनां दलेषु
चामुण्डादेरुपायो भवति कुलवशात् संमुखो मन्त्रभेदैः ॥८३॥
[275b]

पूर्वपद्मदलयोः। दक्षिणयोः। उत्तरयोः। पश्चिमयोः। आग्नेययोः। नैर्ऋत्ययोः। **ईशानयोः।** **वायव्ययोः।** शेषेषु षड्दलेषु **याद्याः षण्मात्रभिन्नाः क्रमपरिरचिताः षड्दलेषु ह्रस्वदीर्घा**[1] दिक्षु विदिक्षु पद्मदलेषु। तत्र चामुण्डा पद्मदले पूर्वे हिकारः पूर्वन्यस्तः। ततो दक्षिणावर्तेन द्वितीयपत्रे [2]य, तृतीये यि[3], चतुर्थे [4]यृ, पञ्चमे पूर्वन्यस्तो ह्री, षष्ठे यु, सप्तमे य्लृ, अष्टमे [5]यं, एवं वैष्णव्याः क्षि या यी [6]यॄ क्षी यू य्लॄ यः। एवं वाराह्याः पूर्वदले हृ, ततो र रि रृ [7] हॄ ॠ रु [8]र्लृ रं। कौमार्याः क्षृ रा री रॄ क्षॄ रू र्लॄ रः। रौद्रयाः हु व वि वृ हू वु व्लृ वं। तथा महालक्ष्म्याः क्षु वा वी वॄ क्षू[10] वू व्लॄ वः। ऐन्द्रयाः [11]हॢ ल लि लृ [12]हॣ [13]ल्लृ लं। ब्रह्माण्याः क्ष्लृ ला ली लॄ [14]क्ष्लॄ लू [15]ल्लॄ लः। एवं **हि**[16]**क्ष्याद्यालोऽन्तसर्वा वसुफणिगुणिता** अष्टावष्टभिर्गुणिता **देवतीनां दलेषु** भौमादीनां यथानु[17]क्रमेणेति नियमः। दिक्षु [18]ह्यादिक्ष्याद्याः पद्मादीनां विदिक्षु। इह **चामुण्डादेरुपायो भवति कुलवशात् संमुखो मन्त्रभेदैरिति।** अत्र चामुण्डा, वैष्णवी संस्कारकुलिनी। तस्या अभिमुखो रूपकुली उपायो मन्त्रभेदैः ऌकार[19]कुली। वाराही, कौमारी वेदनाकुलिनी। तस्याः संमुखः संज्ञाकुली उपाय उकारजन्मा। ऐन्द्री, ब्रह्माणी रूपकुलिनी। तस्याः संमुखः संस्कारकुली उपाय इकारजन्मा। रौद्री, महालक्ष्मीः संज्ञाकुलिनी। तस्याः संमुखो वेदनाकुली उपाय ऋकारजन्मा। एवं चतुःकुलव्यवस्था वाङ्मण्डले ॥ ८३ ॥

इदानीं कायमण्डले शक्रादीनां बीजान्युच्यन्ते—

तं नः शक्रोऽब्धिवक्त्रः पमिति म इति वै सागरः श्रीगणेन्द्रः
टं णो वह्निः कुमारो चमिति ञ इति वै राक्षसेन्द्रश्च वायुः।
कं ङो विष्णुश्च कालो हर इति धनदो वै समत्र ≍क एव
चाद्या वर्गाः समात्राः सुरकमलदले देवतीनां भवन्ति ॥८४॥

तं शक्रः। नः ब्रह्मा। पं समुद्रः। मः गणेन्द्रः। टं वह्निः। णः कुमारः। चं राक्षसेन्द्रः। ञः वायुः। कं विष्णुः। ङः यमः। [276a] **सं हरः**[20]**। ≍कः यक्षः।**

१. ग. दिषु, च. दिदिक्षु। २. छ 'य' नास्ति। ३. छ पि। ४. छ. पू। ५. क. ख. य। ६. क. य्लृ। ७. क. ख. हृवृ। ८. ग. च. र्लॄ। ९. भो हु। १०. क. 'क्षू' नास्ति। ११. क. ख. छ. लृ। १२. क. ख. छ. लॄ। १३. ग. लृ, भो. ल्लॄ। १४. क. ख. छ. क्ष्लृ। १५. क. ख ल्लृ। १६. क. ख. ग. च. क्ष्माद्या। १७. च. 'नु' नास्ति। १८. क. ख. ग. च. छ. 'ह्यादि' नास्ति। १९. ख. कुलो, ग. कुलत्वेना, च. कुलत्वे। २०. भो. Drag Po(रौद्रः)।

एवं चादीनां षड्वर्गाणां ह्रस्वदीर्घभेदैरमावास्याबीजं चैत्रादीनामिति चं ञः इत्यादिना ग्राह्यं चैत्रामावासीवैशाख्यामावासीतः । एवं **चाद्या वर्गाः समात्राः सुरकमलदले देवतीनां भवन्ति** ॥ ८४ ॥

चैत्रादीनां तिथीनामृतुनियमवशाच्छून्यषड्वह्निसंख्या
5 तत्त्वारूढो हकारो मरुदनलजलक्ष्मासु पूर्वाद्यहीनाम् ।
कूटस्थाः सप्तवर्गाः क्षयरवलयुताश्चासुरीणां श्मशाने
प्रज्ञोपायाङ्गभावैर्भवति कुलवशात् संमुखो योऽत्र मध्ये ॥८५॥

चैत्रादीनां तिथीनाम् ऋतुनियमवशात् शून्यषड्वह्निसंख्या षष्ट्युत्तरत्रिशतसंख्या वर्षतिथयः। अत्र चैत्रदेव्यः प्रथमपरिमण्डले चतुर्दशदलेषु। तत्र प्रथमदले ञवज्रा,
10 द्वितीय[1]दले ञिवज्रा, एवं ञृवज्रा, ञुवज्रा, ञ्लृवज्रा, ञंवज्रा। एवं झवज्रा, झिवज्रा, झृवज्रा, झुवज्रा, झ्लृवज्रा, झंवज्रा। जवज्रा, जिवज्रेति [2]चतुर्दशदेव्यो नैर्ऋत्यस्य कमलदलेषु । जृवज्रा संमुखस्य प्रज्ञा, पूर्णिमाधर्मित्वादिति। एवं द्वितीयपरिमण्डले कृष्णप्रतिपदादयः प्रथमे[3] दले जुवज्रा, एवं [4]ज्लृवज्रा, जंवज्रा, छवज्रा, छिवज्रा, छृवज्रा, छुवज्रा, छ्लृवज्रा, छंवज्रा। चवज्रा, चिवज्रा, चृवज्रा, चुवज्रा, च्लृवज्रा,
15 चंवज्रेति अमावासीबीजम् । अत्र च सृष्टि[5]क्रमतः। ञ इति विलोमतः सृष्टिक्रमेण। वायव्ये दले चावज्रा। एवं वज्रान्ताः सर्वे मन्त्राः। चा ची चॄ चू च्लॄ चः। छा छी छॄ छू छ्लॄ छः। जा जी जॄ इति पूर्णापदं पूर्ववत्। द्वितीयपरिमण्डले कृष्णप्रतिपदादि जू ज्लॄ जः। झा झी झॄ झू झ्लॄ झः। ञा ञी ञॄ ञू ञ्लॄ ञः इति। अमावासीबीजं कर्णिकायां वायोः, एवं टवर्गः ज्येष्ठाषाढयोः, पवर्गः श्रावणभाद्रयोः, तवर्गः
20 आश्विनकार्तिकयोः, सवर्गः मार्गशीर्षपुष्ययोः, कवर्गः माघफाल्गुनयोः। एवं वर्षतिथिदेवताबीजनियमः।

इदानीं [6]नागबीजान्युच्यन्ते—**तत्त्वारूढो हकार** इत्यादिना। इह तत्त्वानि [7]यरवलानि, तान्यारूढस्तत्त्वारूढः। ह्य ह्या कर्कोटकपद्मयोर्वा[276b]युमण्डले, ह्ल ह्ला तक्षकस्य महापद्मस्य यथासंख्यं पृथिवीमण्डले, ह्र ह्रा वासुकिशङ्खपालयोर्वह्निमण्डले,
25 ह्व ह्वा अनन्तकुलिकयोर्वारिमण्डले, एवं **मरुदनलजलक्ष्मासु** मण्डलेषु **पूर्वाद्यहीनामिति**।

इदानीं श्वानास्यादीनां बीजान्युच्यन्ते—कूट इति। कूटं पञ्चाक्षरात्मकं प्रत्येकाक्षरैः। ते च **कूटस्थाः सप्तवर्गाः क्षयरवलयुताश्चाष्टौ** इत्या**सुरीणाम्**। **श्मशानाष्टके**। तत्र दिक्श्मशाने पूर्वे क् ख् ग् घ् ङ, दक्षिणे ह् य् र् व् ल, पश्चिमे क् श् ष् प् स, उत्तरे ह् य् र् व् ल, कोणे अग्नेय्यां ञ् झ् ज् छ् च, नैर्ऋत्ये ण् ढ्

---

१. च. द्वितीये। २. ग. 'चतुर्दशदेव्यो' नास्ति। ३. ग. च. प्रथम। ४. क. ख. ग. च. जू। ५. म. क्रमरतः। ६. ग. च. छ. भो. नागराजबीजा। ७. छ. भो. लरव, यरलवानि।

ङ् ठ् ट, वायव्ये न् ध् द् थ् त, ईशाने म् भ् ब् फ् प इति। एवं सर्वत्र **प्रज्ञोपाया- ङ्गभावैर्भवति कुलवशात् संमुखो योऽत्र** मध्ये नायकोपनायकभेदेनावगन्तव्यो योगिनेति तन्त्रनियमः। ८५ ॥

श्रीवज्री विश्वभद्रो भवति कुलवशाद् वज्रधृग् वज्रपाणि-
र्वैगर्भोऽमोघसिद्धिर्विमलमणिकरो भूमिगर्भश्च सम्यक्। 5
विष्कम्भी वज्रपाणिर्भवति कुलवशाल्लोकनाथोऽमिताभः
श्रीमाता धर्मधातुस्त्वपि वरकुलिशा वज्रधात्वीश्वरी च ॥८६॥

श्रीतारा स्पर्शवज्रा खलु रसकुलिशा पाण्डरा जातिभेदाद्
रूपाख्या मामकी वै भवति कुलवशाल्लोचना गन्धवज्रा।
क्रोधेन्द्रो वज्रवेगो भवति जिनपतिर्विश्वभद्रः स एव 10
उष्णीषोऽक्षोभ्य एवात्र पुनरतिबलोऽमोघसिद्धिः प्रसिद्धः ॥८७॥

जम्भो वै रत्नपाणिर्भवति कुलवशान्मानकश्चामिताभः
स्तम्भो वैरोचनश्च प्रभवति बलवान् वज्रपाणिश्च सुम्भः।
वैगर्भो नीलदण्डः प्रकृतिगुणवशाद् भूमिगर्भश्च टक्कि-
र्विष्कम्भी चातिवीर्यो भवति कुलवशाल्लोकनाथोऽचलश्च ॥८८॥ 15

माता क्रोधेन्द्रमुद्रा भवति कुलवशाद् धर्मधातुस्तथैव
शून्याख्या चातिनीला मरुदनलजलक्ष्मादयोऽनन्तवीर्या।
जम्भी मानी क्रमेण प्रकटितनियता स्तम्भकी च प्रसिद्धा
रौद्राक्षी शब्दवज्रा भवति कुलवशाच्छृङ्खला स्पर्शवज्रा ॥८९॥
[277a] 20

मारीची गन्धवज्रा प्रभवति भृकुटी चैव चुन्दा प्रसिद्धा
ज्ञातव्या जातिभेदात् खलु रसकुलिशा रूपवज्रा नरेन्द्र।
स्तम्भः कालान्तकोऽत्रैव पुनरतिबलो विघ्नशत्रुः प्रसिद्धो
जम्भः प्रज्ञान्तको वै प्रभवति च तथा मानकः पद्मशत्रुः ॥९०॥

चामुण्डा शूकरीशा मरुदनलजलक्ष्मास्तथैन्द्री चतुर्थी 25
गन्धो रूपं रसः स्पर्श इति चलहरे दैत्यवह्नौ स्थिताश्च।
ब्रह्मा वैरोचनो वै भवति कुलवशात् सागरश्चामिताभो
वह्निः श्रीरत्नपाणिर्भवति हि पवनोऽमोघसिद्धिस्तथैव ॥९१॥

अक्षोभ्यो दैत्यशत्रुर्भवति जिनपतिः शङ्करश्च प्रसिद्धो
विष्कम्भी यः स शक्रो भवति गणपतिर्लोकनाथस्तथैव ।
भूगर्भः षण्मुखः स्याद् भवति दनुपतिः श्रीखगर्भः प्रसिद्धः
कालः श्रीवज्रपाणिर्भवति दनुपतिर्विश्वभद्रश्च षष्ठः ॥९२॥

5 षड् विद्याः षट् च वज्राः प्रकृतिगुणवशात् स्वस्वमुद्राश्च तेषां
मुद्रा विद्यादयोऽर्काः सुरवरपतयः श्वेतकृष्णाश्च पूर्णाः ।
तेषां याः पद्मपत्रे वसुकरतिथयो माघमासादयस्ताः
षण्मासे पूर्वषट्कं भवति कुलवशाच्चापरं देवतीनाम् ॥९३॥

ये नागाष्टौ घटास्ते विभुकमलदले शक्तयस्ताः प्रचण्डाः
10 श्रीधूमा काकवक्त्रा भवति कुलवशाद् गृध्रवक्त्रा मरीचिः ।
खद्योतोलूकवक्त्रा खगपतिवदना श्रीप्रदीपा प्रसिद्धा
श्वानास्या कृष्णदीप्ता सुविकृतवदना शूकरास्यातिदीप्ता ॥९४॥

व्याघ्रास्या श्वेतदीप्ता भवति कुलवशाज्जम्बुकी पीतदीप्ता
एवं लास्यादिसर्वाः प्रकटदशविधा विश्वमातावशेषाः ।

15 इदानीं जन्यजनकादिसम्बन्धः "श्रीवज्री विश्वभद्रः" (४.८६) इत्यादिसार्धनव-
वृत्तानि "विश्वमातावशेषाः" (४.९५) इति पर्यन्तं कुलकुलीनयोः सम्बन्धः ॥ ८६-९४½ ॥

इदानीं [1]चतुःकायपरिशुद्धिरुच्यते —
दिव्या बुद्धाश्च विद्याः सतरुसकलशाः शुद्धकायो जिनस्य
क्रोधेन्द्रा बोधिसत्त्वाः खलु रसकुलिशा धर्मकायः स एव ॥९५॥
20 [277b]

दिव्या इत्यादि । इह यथा जरायुजस्य बालस्याध्यात्मपटले गर्भे बाह्ये चतुर्विधा-
वस्थाभेदेन चतुर्विधः काय उक्तः, तथा देवताभावनायां विशोधनीयो योगिनेति । [2]तत्र
दिव्या[3] धूमा मरीचिः खद्योता प्रदीपा पीतदीप्ता श्वेतदीप्ता कृष्णदीप्ता । [4]शशिकला
बिन्दुरूपिणीति महासुखकमलदले[5] सुखचक्रे । द्वितीयपुटे **बुद्धाश्च विद्या** इति । अत्र
T 350 25 बुद्धा अमोघसिद्धि-रत्नसंभव-अमिताभ-वैरोचनाः । विद्यास्तारा-पाण्डरा-मामकी-लोचना

१. च. विशुद्धिरु, भो. rNam Pa Dag Pas Dag Pa (विशुद्धेः शुद्धिरु) । २. च. अत्र । ३. भो. Lha Mo Ni (देव्यः) । ४. भो. 'शशि' नास्ति । ५. च. भो. दलेषु महा ।

इति। **सतरुसकलशा** इति। तरुः कल्पवृक्ष [1]इति। एवं चिन्तामणिः, धर्मगण्डी, धर्मशङ्खः। कलशा रजःशुक्रयोः कायवाक्चित्तज्ञानबिन्दुभेदेन विण्मूत्ररक्तमज्जाघटा [2]अष्टाविति। **शुद्धकायो जिनस्य** मण्डलाधिपतेः। ततो बाह्यपुटे चित्तमण्डलद्वारेषु **क्रोधेन्द्रा** विघ्नान्तकः, प्रज्ञान्तकः, पद्मान्तकः, यमान्तकः, उष्णीषः। **बोधिसत्त्वा** वज्रपाणिः, खगर्भः, क्षितिगर्भः, लोकेश्वरः, विष्कम्भी, समन्तभद्रः। **खलु रसकुलिशा** इति। शब्दवज्रा, स्पर्शवज्रा, रूपवज्रा, रसवज्रा, गन्धवज्रा, धर्मधातुवज्रा। एता **धर्मकायः स एव** ॥ ९५ ॥

योगिन्यो भोगकायः प्रवररथगताः सूर्यदेवाः प्रसिद्धा
अष्टौ नागाः प्रचण्डाः परिजनसहिता बुद्धनिर्माणकायः।
एवं भूयो द्विभेदो भवति जिनतनुर्बाह्यतोऽभ्यन्तरे च
गर्भोत्पत्तिर्यथैव प्रभवति नियता मण्डले तद्वदेव ॥९६॥

ततो वाङ्मण्डले **योगिन्यो भोगकाय**श्चर्चिकाद्या दलदेवीभिः सार्धमिति। ततः कायमण्डले **प्रवररथगता** [3]मारीच्यादयः **सूर्यदेवाः प्रसिद्धाः**। नैर्ऋत्यादयो [278a] द्वादश। **अष्टौ नागाः** कर्कोटकादयः। **प्रचण्डाः** श्वानास्यादयः। एते देवादयः **परिजनसहिताः**। पद्मदले देवताभिः सह **बुद्धनिर्माणकायः**। **एवं भूयो द्विभेदो भवति जिनतनुर्बाह्यतोऽभ्यन्तरे च**। **गर्भोत्पत्तिर्यथैव प्रभवति नियता मण्डले तद्वदेवेति** ॥ ९६ ॥

शास्ता दिव्यादिकुम्भाः सहजजिनतनुर्मण्डले गर्भमध्ये
बुद्धाद्या धर्मकायः खलु रसकुलिशाद्याश्च संभोगकायः।
क्रोधा निर्माणकायो भवति कुलवशान्मण्डले गर्भसंस्था-
श्चामुण्डाद्यष्टदेव्यः परिजनसहिताः शुद्धकायो हि बाह्ये ॥९७॥

इह गर्भे यथा बालस्य विज्ञानं ज्ञानं शुक्ररजोगर्भे शुद्धकायः, तथा **शास्ता** भगवान्। **दिव्या** [4]धूमादयः, **आदि**शब्देन धर्मशङ्खादयोऽष्ट**कुम्भा** एते **मण्डलगर्भे सहज**काय इति। ततो यथा बालस्य स्कन्धधातूद्भवो धर्मकायस्तथा मण्डले **बुद्धाद्या** इति। ततो यथा बालस्यायतनोद्भवः **संभोगकाय**स्तथा मण्डलेऽपि। **खलु** शब्दवज्रादय इति। ततो यथा बालस्य हस्तपादादिकेशादिसंभवः प्रसवनसमयश्च **निर्माणकायः**, तथा यमान्तकादयश्चतुः**क्रोधा** इति **कुलवशान्मण्डले गर्भ**[5]**संस्था** इति चित्तमण्डले चित्तकुलवशादिति गर्भे चतुर्धा नियमः। इदानीं बाह्ये चतुर्धा उच्यते—चामुण्डेत्यादि। इह यथोत्पन्नस्य बालस्य [6]नाभिचक्रात् प्राणनिर्गमः सहजकायस्तथा बाह्ये वाङ्मण्डले **चामुण्डाद्यष्टदेव्यः परिजनसहिता**श्चतुःषष्टि-[7]योगिनीभिः सहिता इति ॥ ९७ ॥

१. च. 'इति' नास्ति। २. ग. अष्टाविंशतीति। ३. ग. च. मारे। ४. क. ख. ग. च. धूपा। ५. ग. संस्थाने। ६. भो. lTe Ba Nas (नाभितः)। ७. भो. Lha Mo (देवीभिः)।

देवाद्या धर्मकायः सकलफणिकुलं चात्र संभोगकाय-
श्चण्डा निर्माणकायो भवति नरपते सर्वसत्त्वार्थहेतोः ।
युग्मं स्यात् कायवज्रं सहजजिनतनुर्बिम्बनिष्पत्तिहेतो-
र्वाग्वज्रं धर्मकायो भवति च युगलं धर्मतादेशनार्थम् ॥९८॥
5 [278b]

इह यथा बालस्य हस्तपादादिसंकुचनमस्फुटवचनं धर्मकायस्तथा **देवा** द्वादश। **आदिशब्देन** रथस्थाः षड् देव्य इति। इह यथा बालस्य दन्तोत्थाने स्फुटवचने सति [1]**संभोगकायस्तथा** मण्डले **सकलफणिकुलमिति**। इह यथा बालस्य दन्तपातात् पुनरुत्थानादामरणावधौ निर्माणकायस्तथा मण्डले **चण्डा** श्वानास्यादयः परिजन-
10 सहिताः सार्धत्रिकोटिभूतैः सहिता **निर्माणकायो भवति, नरपते सर्वसत्त्वार्थहेतो**रिति [2]बाह्ये चतुःकायविशुद्धिनियमः। इदानीं चतुःकायचतुर्वज्राणां परस्परं योग उच्यते— **युग्ममित्यादि**। इह बालस्य **बिम्बनिष्पत्तिहेतोः** सहजकायश्चतुर्भूतात्मकं **कायवज्रं** युग्मं स्याद् यथा, तथा मण्डलेऽपि ॥ ९८ ॥

चित्तं संभोगकायो युगलमपि भवेत् सर्वसत्त्वार्थकर्ता
15 ज्ञानं निर्माणकायो भवति हि युगलं प्राणिनां मोक्षदं वै ।
प्रज्ञोपायाङ्गभावैः समविषमकुलैर्योगिना वेदितव्यं
चन्द्रादित्यादिकाद्यैस्त्रिविधभवगतैर्ज्ञानविज्ञानभेदैः ॥९९॥

एवं वाग्वज्रं धर्मकायो बालस्य **युगलमपि** जल्पनार्थं यथा तथा धर्मदेशनार्थं मण्डलेऽपि। [3]इह बालस्य बोधि**चित्तं संभोगकायः सर्वसत्त्वार्थ**[4]**कर्ता युगलम्,** [5]तथा
20 मण्डलेऽपि। इह यथा बालस्य च्यवनकाले **ज्ञान**मिति सुखं **निर्माणकाय** इति परिपूर्ण-धातुत्वं षोडशवर्षावधे**र्भवति हि युगलं प्राणिनां मोक्षदं वै**। मोक्षोऽत्र बोधिचित्तबिन्दूनां च्युतिक्षणः। तद् ददातीति मोक्षदं युगलं ज्ञानं निर्माणकायलक्षणं प्राणिनाम्। तथा [6]तद्वैधर्म्येण [7]मण्डले मोक्षदं द्वादशाङ्गहेतुफल[8]निरोधत इति बुद्धनियमः। पुनरेषां चतुःकायचतुर्वज्राणां **प्रज्ञोपायाङ्गभावैः समविषमकुलै**रिति। समकुलै रजउद्भवधातु-
25 कुलैः, विषमकुलैः शुक्रोद्भूतधातुकुलैः। **चन्द्रादित्यादिकाद्यैस्त्रिविधभवगतैर्ज्ञानभेदै**-रानन्दाद्यै**र्विज्ञानभेदै**र्द्वादशायतनभेदै**र्यो**[279a]**गिना वेदितव्यं** समस्तं यथा बालस्याध्यात्मपटले तथा देवतासाधने उत्पत्तिक्रम इति। एवं देवताबिम्बनिष्पत्तिः ॥ ९९ ॥

---

१. क. ख. ग. छ. भोग। २. ख. ग. बाह्य। ३. च. इह च। ४. ग. 'कर्ता' नास्ति। ५. क. ख. छ. 'तथा' नास्ति ६. च. भो 'तद्' नास्ति। ७. भो. 'मण्डले' नास्ति। ८. ग. च. निरोध।

इदानीं कायवाक्चित्ताधिष्ठानमुच्यते—

वज्रैः स्वाहानुयुक्तैः शिरसि गलहृदोर्नाभिगुह्ये च मूर्ध्नि
एतैश्चाधिष्ठिताङ्गं परमजिनपतिं स्नापयेद् देवतीभिः।
शून्ये वै धर्मधातौ त्रिकुलिशसमये ज्ञानपूजानुरागे
वक्तव्यं साधकेन त्रिशरणगमनात् तत्स्वभावात्मकोऽहम् ॥१००॥　　5

वज्रैरित्यादि। [1]यथोत्पन्नस्य बालस्य कायवाक्चित्ताधिष्ठानं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त-लक्षणं भवति, ललाटे कण्ठे हृदये नाभौ गुह्ये उष्णीषे ॐ आः [2]हूं हो स्वा हा। **एतैश्चाधिष्ठिताङ्गं** बालं यथा स्नापयन्ति मातरः, तथा **परमजिनपतिं स्नापयेद् देवतीभि**र्योगिनीभिः। अत्राधिष्ठाने ललाटे अकारपरिणतं चन्द्रमण्डलम्, तदुपरि ओङ्कार-परिणतमष्टारचक्रम्, तत्परिणतं कायवज्रं शुक्लवर्णं त्रिमुखं मूलं शुक्लं वामं रक्तं दक्षिणं　　10
कृष्णं षड्भुजं दक्षिणे चक्रवज्रपद्मधरं वामे खड्गघण्टामणिधरं, सप्रज्ञं निष्पाद्य ततो ललाटान्निश्चार्य तेनाकाशधातुं समन्तात् परिपूर्णं विभाव्य कायवज्रवैनेयानां सत्त्वानां धर्मदेशनां कृत्वा पुनरागत्यात्मनः पुरतः संस्थाप्याभिषेकमनुनाथयेत्। अभिषिञ्चन्तु मां कायवज्रधरा इति। ततोऽमृतकलशैः कायकुलदेव्योऽभिषिञ्चयन्ति[3]। ततोऽभिषेके सति अधिष्ठानं कारयेत्, [4]स्वललाटे चन्द्रमण्डले कायवज्रं प्रवेश्येदमुदीरयेत्—　　15

कायवज्रधरः श्रीमान् त्रिवज्राभेद्यभावितः।
अधिष्ठानपदं मेऽद्य करोतु कायवज्रिणः॥
दशदिक्संस्थिता बुद्धास्त्रिवज्राभेद्यभाविताः।
अधिष्ठानपदं मेऽद्य कुर्वन्तु कायवज्रिणः॥

इति कायाधिष्ठानम्। [279b]　　20

एवं कण्ठे रेफपरिणतं सूर्यमण्डलम्, तदुपरि आःकारपरिणतं रक्तपद्ममष्टदलं तत्परिणतं वाग्वज्रं सप्रज्ञं रक्तं रक्तसितकृष्णवदनं, दक्षिणे पद्मवज्रचक्रधरं, वामे　　T 351
मणिघण्टाखड्गधरं निश्चार्याकाशधातुं तेन परिपूर्णं विभाव्य वाग्वज्रवैनेयानां सत्त्वानां धर्मदेशनां कृत्वा पुनरात्मनोऽग्रतः संस्थाप्याऽभिषेकमनुनाथयेत्– अभिषिञ्चन्तु मां वाग्वज्रिणः। ततो वाक्कुल[5]देवीभिरमृतघटैरभि[6]षिञ्च्यमानमात्मानं विभाव्य ततो　　25
वागधिष्ठानं कुर्यात्, वाग्वज्रं सूर्यमण्डले विनिवेश्य इदमुदीरयेत्—

वाग्वज्रधरः श्रीमान् त्रिवज्राभेद्यभावितः।
अधिष्ठानपदं मेऽद्य करोतु वाग्वज्रिणः॥
दशदिक्संस्थिता बुद्धास्त्रिवज्राभेद्यभाविताः।
अधिष्ठानपदं मेऽद्य कुर्वन्तु वाग्वज्रिणः॥　　30

---

१. ख. ग. च. भो. इह यथो। २. भो. हुं। ३. भो. अतः परं bsGom Par Byaḥo (विभाव्य) इत्यधिकम्। ४. ख. ग. च. भो. छ. 'स्व' नास्ति। ५. च. देवती। ६. च. षिच्य।

इति वागधिष्ठानम् ।

चित्ताधिष्ठाने हृदये राहुमण्डलं नीलवर्णं विभाव्य बिन्दुपरिणतं तदुपरि हूँकार-परिणतं वज्रं पञ्चशूकं तत्परिणतं चित्तवज्रं सप्रज्ञं कृष्णं कृष्ण[1]सितरक्तवदनं, दक्षिणे वज्रचक्रपद्मधरं, वामे घण्टा[2]मणिखड्गधरं निश्चार्याकाशधातुं तेन परिपूर्णं विभाव्य चित्तवज्रवैनेयानां [3]सत्त्वानां धर्मदेशनां कृत्वा पुनरात्मनोऽग्रतः संस्थाप्याभिषेक-मनुनाथयेत् । अभिषिञ्चन्तु मां सर्वे चित्तवज्रिण [4]इति । ततश्चित्तवज्रकुलदेवीभिरभि-[5]षिञ्च्यमानमात्मानं विभाव्याधिष्ठानं कारयेत्, चित्तवज्रं राहुमण्डले निवेश्य इदमुदीरयेत्—

चित्तवज्रधरः श्रीमान् त्रिवज्राभेद्यभावितः ।
अधिष्ठानपदं मेऽद्य करोतु चित्तवज्रिणः ॥
दशदिक्संस्थिता बुद्धास्त्रिवज्राभेद्यभाविताः ।
अधिष्ठानपदं मेऽद्य कुर्वन्तु चित्तवज्रिणः ॥ इति ।

एवं चित्ताधिष्ठानं कृत्वा [6]तत एकत्वेन ॐ सर्वतथागतकायवाक्चित्तस्वभावा-त्मकोऽहमित्यहङ्कारमुद्वहेद् योगीति नियमः । एवं प्रज्ञाया नाभौ होकारेण, गुह्ये स्वाकारेण, उष्णीषस्थाने हाकारेण, त्रिकुल उपायः शुक्रधर्मतः । षट् कुला प्रज्ञारजः-शुक्रधर्मत इति । अपरमनुनाथन[7]मभिषेक[280a]पटलोक्तविधिना कर्तव्यम् । तत्रैव यदनुक्तं तदनेन विधिना सर्वं कर्तव्यमिति नियमः ।

इदानीं शून्याद्यहङ्कारस्थानान्युच्यन्ते—शून्य इत्यादिना । इह यथा सर्वसत्त्वानां मरणान्ते मारणान्तिकस्कन्धाः शून्या भवन्ति, तथा योगिनां[8] मनुष्यस्कन्धाहङ्कार-[9]स्थानान्युच्यन्ते, परित्यागार्थं देवतास्कन्धनिष्पादनार्थम् । ॐ शून्यताज्ञानवज्र-स्वभावात्मकोऽहमिति नियमः । [10]इदानीं यथोपपत्त्यं[11]शिकपञ्चस्कन्धैर्गर्भबालस्य काय-निष्पत्तिः, तथा मण्डल आदर्शादिपञ्चा[12]कारैर्देवतायाः कायनिष्पत्तिः । तत्राहङ्कारः ॐ [13]विशुद्धधर्मधातुस्वभावात्मकोऽहमिति नियमः । एवं **शून्ये वै धर्मधातुकाले** [14]**त्रिकुलिश-समये** । एवं वक्ष्यमाणे **ज्ञानपूजानुरागे** । इह यथा बालस्य कर्णवेधादिकम्, विवाहे पाणिग्रहणम्, षोडशवर्षाविधेर्ज्ञानपूजानुरागणम्, एवं तत्र काले तत्स्वभावात्मकोऽहमिति **वक्तव्यम**त्रोत्पत्तिक्रमे [इति] भगवतो नियमः ॥ १०० ॥

इदानीं देवताविशुद्ध्या सर्वचक्रनाडिका उच्यन्ते—

कुम्भैर्धूमादिभिश्च प्रभवति हृदये चाष्टभिर्धर्मचक्रं
विद्याभिश्चैव बुद्धैः शिरसि च सहजं षोडशारं प्रसिद्धम् ।

---

१. ग. च. छ. भो. रक्तसित । २. भो. खड्गमणि । ३. ग. च. 'सत्त्वानां' नास्ति । ४. च 'इति' नास्ति । ५. च. षिच्य । ६. च. तत्र । ७. ग. नाभिषेक । ८. ख. नामनुस्कन्धा । ९. ग. च. छ. भो. 'स्थानान्युच्यन्ते' नास्ति । १०. च. भो. इह । ११. ग. च. छ. त्यङ्गिक । १२. ग. क्षरै । १३. भो. सुविशुद्ध । १४. ग. कुलसमये ।

कण्ठे संभोगचक्रं द्विगुणनृपतिभिर्बोधिसत्त्वादिभिः स्या-
न्नाभौ निर्माणचक्रं वसुफणिगुणिताभिश्च भीमादिभिश्च ॥१०१॥

कुम्भैरित्यादि । इह **कुम्भैरष्टभिर्धूमादिभिः** [1]सार्धमष्टारं[2] हृच्चक्रं शुद्धं तदेव **धर्मचक्रम् ।** **विद्याभि**र्लोचनादिभिश्चतसृभि**र्बुद्धै**र्वैरोचनादिभिश्चतुर्भिरेभिरष्टभिः कायभावभेदेन षोडशैः **शिरसि षोडशारं** चक्रं शुद्धं तदेव **सहजं सिद्धमिति, अनुक्त**त्वात् । धर्मशङ्खचिन्तामणिधर्मगण्डीकल्पवृक्षैश्चतुर्भिरुष्णीषचक्रं शुद्धम् । **कण्ठे संभोगचक्रं** द्वात्रिंशदरं [3]**द्विगुणनृपतिभि**र्द्वात्रिंशद्भि**र्बोधिसत्त्वाद्यै**रिति । द्वादशायतनैश्चतुःक्रोधैः षोडशभिः प्रज्ञोपायभेदेन द्वात्रिंशद्भिः शुद्धम् । **नाभौ निर्माणचक्रं** चतुःषष्ट्यरं **वसुफणिगुणितै**श्चतुःषष्टिभि[280b]**र्भीमादिभिः** शुद्धमिति । तथा चामुण्डाद्यष्टभिः, [4]लास्याद्यष्टभिश्च गुह्यचक्रं शुद्धम् ॥ १०१ ॥

बाहोः पादस्य सन्धौ नवतियुगहतैः कर्मचक्रं सुरैश्च
चुन्दानागैः क्रियाख्यं भवति नृपतिभिश्चाङ्गुलीपर्वसन्धौ ।
श्रीवज्री कालशुद्ध्या भवति नरपते वर्षमासादिभेदै-
श्चित्ताकारो न चार्कः प्रतिदिवसवशाद् विश्वमाता विशुद्धा ॥१०२॥

बाहुपादसन्धिषु द्वादशसु **कर्मचक्रं सुरैः** षष्ट्युत्तरत्रिशतैः शुद्धम् । **नागै**[5]**श्चुन्दा**भिरेभिः षोडशभिः काय[6]भागभेदेनाङ्गुलीपर्व[7]**सन्धिषु क्रियाख्यं** चक्रं शुद्धमिति चक्रशुद्धिनियमः । इदानीं[8]नायकादीनामपरविशुद्धिरुच्यते—**श्रीवज्री**त्यादि । इह [9]कालो बाह्योऽध्यात्मनि द्वादशाङ्गात्मकं मकरादिराशिचक्रं [10]हेतुफलात्मकम् । तत्र पञ्च हेतुधर्माः, सप्त फलहेतुधर्माः क्लेश[11]धर्मात्मकाः । फलधर्मा दुःखात्मका लोकधातुपटलोक्ताः । तेषां हेतुफलधर्माणां शुद्ध्या **कालशुद्ध्या** हेतुफल[12]निरोधेन शुद्ध्या **वज्री** मण्डलेशः कालचक्रविशुद्धः । **वर्ष**[13]**मासादिभेदै**रिति वक्ष्यमाणे वक्तव्यम् । **चित्ताकारो** विशुद्धचित्तो **न चार्कः** संसारचित्तलक्षणः प्राणारूढो विज्ञानस्कन्ध इति । [14]**प्रतिदिवसवशाद् विश्वमाता**[15] **विशुद्धे**ति । इह यथा वर्षे द्वादशलग्नानि मासभेदेन तथा प्रतिदिने उदयभेदेन द्वादशलग्नानि । एवं प्रज्ञाऽपि द्वादशाङ्गनिरोधेन शुद्धा । [16]अत्र यानत्रयस्य[17] ये धर्मा मुद्रणं चतुरशीतिसहस्रधर्मस्कन्धानां देवतानां च बुद्धमुद्रणम् । चतुर्विधस्य संघस्य

---

१. ग. सोपध । २. ग. ष्टाक्षरं । ३. ग. त्रिगुण । ४. क. 'लास्याद्यष्टभिश्च' नास्ति । ५. ख. श्चन्दा, ग. च. भो. श्चण्डा । ६. ग. च. भो. भाव । ७. क. ख. छ. 'सन्धिषु ......चक्रं' नास्ति । ८. क. ख. छ. कायका । ९. क. ख. छ. काला १०. क. ख. छ. 'हेतु......सप्त फल' नास्ति । ११. च. भो. कर्मा । १२. क. ख. छ. 'निरोधेन...... चक्रवि' नास्ति । १३. ग. च. मासभेदैः । १४. क. ख. छ. 'प्रतिदिवस ... विशुद्धेति' नास्ति । १५. ग. भो. प्रज्ञा शुद्धेति, च. शुद्धा भवति । १६. क. ख. छ, अत्र या तत्र, ग. अतो यानत्रयं, च. अत्र यानत्रये । १७. क. ख. छ. 'स्य......स्कन्धानां' नास्ति ।

भिक्षुमुद्रणम्, एवं भिक्षुपूर्वंगमः संघः। ये धर्माः पूर्वंगमो धर्मः। बुद्धपूर्वंगमो[1] बोधिसत्त्व-[2]क्रोधदेवतागणः। एवं मण्डले नायको[3]ऽचिन्त्यचित्तवज्रः, नायकी शून्यताज्ञानधर्मिणी विश्वमाता[4] इति न्यायः॥ १०२॥ [281a]

इदानीं धूमादीनां विशुद्धिरुच्यते—

5 धूमाद्या वायुशुद्धाः स्वहृदयकमले नाभिचक्रे स्थिताश्च
रुद्रः क्लेशैः सभार्यो विभुचरणतले मारवृन्दैश्च मारः।
शङ्खो गण्डी मणिश्च द्रुम इति च तथा कायवज्रादिभिश्च
कुम्भाश्चाष्टामृताङ्गैर्जयविजयघटौ बोधिचित्तादिना च ॥१०३॥

धूमेत्यादि। इह **हृदयकमले** समानादिवायूनां आधारभूता अष्टनाड्यस्ताभिः 10 **धूमादि**दिव्याः [5]कृष्णदीप्तान्ताः शुद्धाः। अवधूतीशङ्खिनीभ्यां कलाबिन्दुरूपिण्यौ शुद्धे T 352 दशवायुनिरोधेनेति। **रुद्रो** वामपादतले [6]चतुःक्लेशक्षयेण शुद्धः। सव्यपादतले **मारो मारवृन्द**क्षयेण शुद्धः। **शङ्खः** कायावरणक्षयेण शुद्धः। **गण्डी** वागावरणक्षयेण शुद्धा। **मणि**श्चित्तावरणक्षयेण शुद्धः। **कल्पद्रुमो** ज्ञानावरणक्षयेण शुद्ध इति। **कायवज्रादिभिश्च** [7]**कुम्भाश्चाष्टामृताङ्गै**रिति। इह मज्जानिरोधेन कुम्भद्वयं वामदक्षिणभेदेन 15 विशुद्धम्। एवं सर्वत्र वामदक्षिणभेदेन वेदितव्यम्। तथा रक्तनिरोधेन कुम्भद्वयम्। एवं मूत्रास्रावेण कुम्भद्वयम्। [8]तथा विष्ठास्रावेण कुम्भद्वयम्। एवं **जयघटः** शुक्रास्रावेण। **विजयघटो** रजआस्रावेण। इत्यष्टौ घटाः शुद्धाः कपालानि वा ॥ १०३ ॥

इदानीं बुद्धानां शुद्धिरुच्यते—

संस्कारोऽमोघसिद्धिर्विमलमणिकरो वेदना चामिताभः
20 संज्ञा रूपं हि चक्री शशिबलरुधिरैर्मूत्रविड्भ्यां विशुद्धाः।
षड् देव्यो धातुभिर्वै विषयविषयिभिर्बोधिसत्त्वाः समुद्राः
पञ्च क्रोधा बलैर्वै खलु पुनरपराश्चेन्द्रियैः पञ्च चान्यैः ॥१०४॥

इह संवृतिधर्मे निरुद्धे सत्यन्ये ते संस्कारादयः। तेन विशुद्ध**संस्कारोऽमोघसिद्धिः**। संस्कारावरणक्षयेण **विमलमणिकरो** रत्नसंभवो **वेदना**। चकारः समुच्च-25 यार्थः। एव**ममिताभः संज्ञा रूप**स्कन्धः। **चक्री**ति वैरोचनः। एते पुनरक्षोभ्यादयः। **शशी**ति शुक्रम्, [9]**बले**ति मांसं **रुधिरं मूत्रं विड्** [10]त्येभिर्विशुद्धैर्निरावरणैः पञ्च स्कन्धा विज्ञानादयो विशुद्धा भवन्तीति। एवं **षड् देव्यो** विश्वमाता-वज्रधात्वीश्वरी-तारा-

---

१. क. ख. छ. 'मो ''' एवं' नास्ति। २. ग. च. क्रोधादि। ३. क. ख ग. च. छ. अचित्त। ४. क ख. छ. मात्रा। ५. क. कृष्णदीप्तान्धाः। ६. क. ख. चन्द्रः। ७. ग. च. 'च' नास्ति। ८. ग. 'तथा ''' द्वयम्' नास्ति। ९. क. ख. ग. च. छ. पललं। १०. च. त्येतै।

पाण्डरा-मामकी-लोचनेति । **धातुभिरिति** । ज्ञानाकाशवायुतेज-उदकपृथ्वीधातुभिर्निरुद्धैरन्ये धातवो विशुद्धा भवन्तीति। **विषयविषयिभिरिति**। रूपादिषड्विषयैश्चक्षुरादि[281b]भिर्विषयिभिर्विशुद्धैरन्ये ते रूपादयोऽन्ये ते चक्षुरादयो विशुद्धा रूपवज्रादिभिः सार्धं क्षितिगर्भादयो **बोधिसत्त्वाः** [1]**समुद्राः** शुद्धाः। **पञ्चक्रोधा बलैरिति** श्रद्धाबलं वीर्यबलं स्मृतिबलं समाधिबलं प्रज्ञाबलम् । अश्रद्धा-अवीर्य-अस्मृति-असमाधि-अप्रज्ञानामावरणक्षयेण श्रद्धादीनि बलानि भवन्ति, तैर्बलैर्विशुद्धाः। उष्णोप-विघ्नान्तक-[2]प्रज्ञान्तक-पद्मान्तक-यमान्तक-क्रोधराजानः शुद्धा इति। **खलु पुनरपराः** सुम्भराज-नीलदण्ड-टक्कि-अचल-महाबलाः । **पञ्चकर्मेन्द्रियैर्भग**वाक्पाणिपादपायुभिः कर्मेन्द्रियक्रियाभिः। रौद्राक्ष्यादिभिः सार्धं परिशुद्धा इति ॥ १०४ ॥

चामुण्डाद्यष्टयामैः कमलदलगताः सूर्यलग्नैर्घटीभि-
र्दैत्याद्याः सूर्यमासैः कमलदलगता नाडिकाश्वाससंख्यैः।
नागाश्चण्डाश्च गुह्ये द्विगुणनृपतिभिर्नाडिकाभिर्विशुद्धा
एवं चेच्छादयस्ताः प्रकृतिगुणवशात् कायकृत्यैर्विशुद्धाः ॥१०५॥

चामुण्डाद्या अष्टयामैः कमलदलगताः सूर्यलग्नैर्घटीभिः षष्टिभिर्भीमादयश्चतस्रः शून्यपत्रविशुद्धया निर्माणचक्रावरणक्षयेणान्यास्ताश्चर्चिकादयो भीमादयश्चेति शुद्धाः। **दैत्याद्या** इति । नैर्ऋत्यवाय्वग्निषण्मुखसमुद्रगणेन्द्रशक्रब्रह्मरुद्रयक्षविष्णुयमा इति द्वादश चैत्रवैशाखज्येष्ठाषाढश्रावण[3]भाद्राश्विनकार्तिकमार्गशिरपौषमाघफाल्गुन[4]नामावरण-क्षयेण शुद्धाः। तेषां **कमलदलगताः** षष्ट्युत्तरत्रिशतं लास्यादियुक्तं **नाडिकाश्वास-संख्यैर्दिनैः** षष्ट्युत्तरत्रिशतदिनावरणक्षयेण शुद्धाः। अन्ये ते देवा अन्यास्ताः पत्रदेव्य इति शुद्धाः। **नागाश्चण्डाश्च गुह्ये द्विगुणनृपतिभिर्नाडिकाभिर्विशुद्धाः**[5] प्रज्ञोपायभेदेन द्विगुणत्वम् । **एवं चेच्छादय** इति । इह—इच्छा षट्त्रिंशत्, प्रतीच्छा षट्त्रिंशत् पूर्वोक्ताः **प्रकृतिगुणवशात् कायकृत्यैर्विशुद्धाः**। कायकृत्यावरणक्षयेण [282a] इत्यन्यास्ता इच्छादयः शुद्धाः ॥ १०५ ॥

केशैः सिद्धाः समस्ताश्चित्रिभुवनगतं लोमभिर्भूतवृन्दं
तत्त्वैरस्त्राणि भर्तुः प्रकृतिगुणवशाद् धातुभिर्बाह्यमुद्राः।
वज्रैरध्यात्ममुद्राः पविधरहृदये संस्थिताश्चन्द्रमूर्ध्नि
श्रीवज्री विश्वमाता त्रिविधभवगता चाक्षरज्ञानयोगात् ॥१०६॥

---

१. क. सभार्या, ग. सविद्या । २. ग. 'प्रज्ञान्तकपद्मान्तक' नास्ति । ३. ग. च. भाद्रपदा । ४. ग. च. मासा । ५. भो. Ces Pa (इति) इत्यधिकम् ।

केशैः सिद्धाः समस्ता [1]निरावरणलोमभिः सार्धत्रिकोटिभिः श्मशाने **भूतवृन्दं** विशुद्धमेवमन्ये ते सिद्धाः। अन्ये भूता इति शुद्धाः। **तत्त्वैश्चतुर्विंशतिभिर्निरावरणैर्वज्रादीन्यस्त्राणि भर्तुः** शुद्धानि चतुर्विंशतिविधप्रकृते[2]रभावादिति। **प्रकृतिगुणवशादिति।** प्रकृतिः पृथिव्यादिधातुसमूहस्तेषां गुणाः षड् विषयास्तेषामावरणक्षयात्। अन्ये-

5 र्गन्धादिधातुभिः षड्भिः षड् [3]**बाह्यमुद्रा** विशुद्धा इति। **वज्रैरिति** कायवाक्चित्तज्ञानवज्रैर्जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ततुर्यलक्षणैर्विशुद्धैर्निरावरणादध्यात्ममुद्राः शुद्धाः। अन्यास्ताः कायमुद्रादयश्चत[4]स्रो विशुद्धा इति। **पविधरहृदय** इति। मण्डलनायकहृदये **संस्थिता**-[5]**श्चन्द्रमूर्ध्नि।** **श्रीवज्री** सहजानन्दः परमाक्षरः। **विश्वमाता** सर्वाकारशून्यताज्ञानं त्र्यध्वदर्शनम्। च्यवनसुखकल्पनावरणक्षयादिति शुद्धम्। **त्रिविधभवगताः।** सर्वे

10 सर्वतः सर्वदा स्कन्धादयो विशुद्धाः सर्वावरणक्षयादिति भगवतो नियमः। एवं भवस्य परिज्ञानं निर्वाणमिति कथ्यते। इहातीतानागतवर्तमाने त्र्यध्वनि त्रिभवस्य यथाभूतदर्शनं परिज्ञानं तदेव त्रिभवावरणक्षयेण हेतुफलनिरोधेन संबुद्धानां यौगपद्येन भवति सर्वज्ञता-सर्वाकारज्ञता-मार्गज्ञता-मार्गाकारज्ञताबलेन। न श्रावकप्रत्येकबुद्धानां [6]बोधिसत्त्वानां च यौगपद्येन त्र्यध्वनि यथाभूतं त्रिभवस्य परिज्ञानं भवति सोपधि-

15 निर्वाणधातुत इति। [7]यथा बोधिसत्त्वानां लवमात्रावरणतः, एवं क्रोधेन्द्राणामपि सिद्धं दशभूमीश्वरत्वम् ॥ १०६ ॥

इदानीं शुद्धधर्मकायाद्युत्पत्तिरुच्यते—

श्रीशुद्धाद्धर्मकायो भवति खलु सुसंभोगकायो हि धर्माद्
भोगान्निर्माणकायो भवति जिनपतेः सर्वसत्त्वार्थकर्तुः। [282b]
20 तुर्यावस्था सुषुप्ता खलु पुनरपरा कायभेदात्तु जाग्रा
एवं कायप्रभेदैर्विहरति च मनः प्राणिनोऽङ्गे चतुर्धा ॥१०७॥

श्रीशुद्धादित्यादि। इह संवृतिसत्ये प्रतीत्योत्पन्नधर्माः क्षणिका उत्पादव्ययलक्षणाः, भवस्यापरिज्ञानात्। अविद्यावासनातस्तुर्यादयोऽवस्थाश्चतस्रः संसारिणां भवन्ति। तेषु कायप्रभेदैर्मनश्चतुर्धा विहरति[8]। **प्राणिनोऽङ्गे चतुर्धा।** इहाधानकाले

25 गर्भावक्रमणे शुक्रच्यवनावस्था तुर्या, सा च संवृत्या महासुखमित्युक्तम्। तदेव श्रीकारादद्वयं ज्ञानं संवृत्या शुद्धकायः, सहजकाय इत्यर्थः। तस्माद् **धर्मकायः** सुषुप्तावस्थालक्षणः। तस्मात् **संभोगकायः** स्वप्नलक्षणः। तस्मान्निर्माणकायो जाग्रल्लक्षणः। कायनिष्पत्तेः

T 353 प्राणनिर्गमकालाद्बाह्ये पुनरुक्तश्चतुर्धा। एवं मण्डले कायभेदो भवति। **जिनपतेः सर्वसत्त्वार्थकर्तुः** संवृत्यावरणक्षयादिति। त्रैधातुके परचित्तज्ञाने **मनो विहरति।**

30 [9]पूर्वनिवासानुस्मृतौ च भवपरिज्ञानत इति ॥ १०७ ॥

---

१. क. च. निवारण। २. ग. भाव, च. भावत। ३. ग. बाह्यविशुद्धा मुद्रा। ४. ग. च. स्रो मुद्रा, ग. 'विशुद्धा' नास्ति। ५. ग. च. श्चतुर्मू। ६. ग. भूतबोधि। ७. ग. च. भो. तथा। ८. च. विहरतीति। ९. ग. पूर्वंवासा।

इदानीं चतुष्कायकृत्यमुच्यते—

निर्माणे भोगकर्तृ प्रभवति हि मनः कायवागिन्द्रियैश्च
संभोगेऽदृष्टचिन्तां व्रजति गुणवशाद् धर्मकाये च निद्राम् ।
शुद्धे सौख्यं प्रयात्यत्र दिननिशिसमये बिन्दुमोक्षत्रयान्ते
तस्मात् तद्भावनीयं प्रतिदिनसमये योगिना चाक्षरार्थम् ॥१०८॥ 5

निर्माण इत्यादि । इह संसारिणां **निर्माणे** जाग्रदवस्थायां **भोगकर्तृ प्रभवति मनः कायवागिन्द्रियैः** करणभूतैर्विषयेषु । **संभोगे** स्वप्नावस्थायामदृष्टविषयेष्वजडेषु [1]**चिन्तां व्रजति गुणवशादिति** विषयवासनावशात् । **धर्मकाये** सुषुप्तावस्थायां **निद्रां च** [2]याति निरिन्द्रियं मनो भवतीत्यर्थः । **शुद्धे** तुर्यावस्थायां **सौख्यं प्रयाति । अत्र दिनसमये निशि समये** वा । समय इति कालः, तस्मिन् काले मैथुने कृते एकस्मिन् समये **बिन्दु-मोक्षत्रयान्ते** सहजक्षणे महासुखं प्रयातीति । [283a] संवृत्या तत्त्वं यस्मात् **तस्मात् तद्भावनीय**मर्हर्निशिकाले **योगिना चाक्षरार्थ**मित्यच्युतक्षणार्थं वक्ष्यमाणेन षडङ्गेनेति 10 नियमः । एवं सावरणधर्मे निरुद्धे निरावरणधर्मो भवत्युत्पादव्ययरहित इति न्यायः ॥ १०८ ॥

इदानीं प्रत्यालीढपदादिविशुद्धिरुच्यते — 15

वामे प्राणप्रचारः प्रभवति च तथाऽऽकुञ्चनं दक्षिणे यत्
प्रत्यालीढं पदं तत्समपदमपरालीढमग्न्यर्कचारात् ।
वैशाखं मण्डलं वै वरललितपदं पद्मवज्रासनं च
व्योमादौ च प्रचारः समविषमगतौ पञ्चधा प्राणवायोः ॥१०९॥

वामेत्यादि । इह संसारिणां [3]यदा वामनाड्यां प्राणस्य प्रचारो भवति, तदा 20 दक्षिणे [4]संकोचो भवति । प्राणोऽपि मन्त्रदेवता । तेन वामप्रसारेण दक्षिणसंकोचनेन **वामे प्राणसंचारो** [5]यत्तद् **भवति । तथाऽऽकुञ्चनं दक्षिणे यत् प्रत्यालीढं पदं** तदुच्यते मन्त्रदेवतायाः । **समपदमपरमालीढपदं** यथासंख्यमग्निचारादिति मध्यमाचारात् । यौगपद्येन नाडीद्वये समपदं [6]भवेत् । **अर्कचारादिति** दक्षिण[7]चाराद् वामसं[8]कोचना-**दालीढं** पदं भवति । एवं **वैशा**[9]**खपदं मण्डलं** च **ललितपदं** च **पद्मासनं** च [10]**वज्रासनं** 25 **च** यत्तद् यथाक्रमेण वामनाड्यां दक्षिणनाड्यां वा, **व्योमादौ** चेत्याकाशमण्डले

१. ग. चित्तं । २. च. प्रयाति । ३. क. यथा । ४. च. संकोचनं । ५. च. यद्भवति । ६. च. भवति । ७. च. प्रचारात् । ८. ग. च. कोचा । ९. ग. खपदं तन्मण्डलं । १०. ख. 'वज्रासनं च' नास्ति ।

प्राण[1]सञ्चारो वैशाखपदम्। वायुमण्डले प्रचारो मण्डलपदम्। अग्निमण्डले प्रचारो ललितपदम्। उदकमण्डले प्रचारः पद्मासनम्। पृथिवीमण्डले प्रचारो वज्रासनमिति। एवं **समविषमगतो पञ्चधा प्राणवायोः** प्रचारो यस्तेन विशुद्धेन देवतानां पदासनविशुद्धिः प्रकम्पाभावतो [2]भवतीति नियमः। एवं जातकस्य वाङ्निष्पत्ति-
5 द्वितीया॥ १०९॥

इति मूलतन्त्रानुसारिण्यां लघुकालचक्रतन्त्रराजटीकायां
द्वादशसाहस्रिकायां विमलप्रभायां साधनापटले
प्राणदेवतोत्पादमहोद्देशस्तृतीयः॥

४. उत्पन्नक्रमसाधनमहोद्देशः

10 प्रणिपत्याच्युतं सौख्यं षोडशार्धार्धबिन्दुधृक्।
यत्तस्योपायः सम्यग् बिन्दुयोगः प्रकथ्यते॥

चण्डाली नाभिचक्रे नवहतभुजगे चर्चिकाद्याधिदैवे
ह्रोंकारज्ञानगर्भे तडिदनलनिभा ज्ञानतेजःप्रबुद्धा।
नाभौ वैरोचनादीन् दहति नरपते लोचना चक्षुरादीन्
15 सर्वान् दग्ध्वा सुचन्द्रात्स्रवति शिरसि यो बिन्दुरूपं स वज्री॥११०॥
[283b]

चण्डालीत्यादिना। इह सर्वोत्पत्तिक्रमे कायनिष्पत्तिर्मण्डलराजाग्री। वाङ्निष्पत्तिः कर्मराजाग्री, कर्मेन्द्रियक्रियाप्रवर्तनात्। बोधिचित्तबिन्दुनिष्पत्तिर्बिन्दुयोगः। शुक्रच्यवनात् सुखोपलब्धिः सूक्ष्मयोगः। स च नराणां षोडशवर्षान्ते भवति। तेन
20 तस्योप[3]भोगाय विवाहपाणिग्रहणादिकं कार्यम्। शिष्याय प्रज्ञासमर्पणं करोत्याचार्यः। तया तस्य सुखस्य साधनं कर्ममुद्रयोक्तं बालजनानाम्, ज्ञानमुद्रया मध्यमानाम्, महामुद्रयोत्तमयोगिनामिति। तेन **मूलतन्त्रे** भगवान् [4]आह—

षोडशाब्दां कुलीनां वा रूपयौवनमण्डिताम्।
आदौ सुशिक्षितां कृत्वा सिक्त्वा साधनमारभेत्॥
25 कायवाक्चित्तरागांश्च ललाटादिषु विन्यसेत्।
स्वाहा गुह्ये महोष्णीषे ततः पद्मं विशोधयेत्॥
आःकारेणाष्टदलं पद्मं हूँकारकुलिशान्वितम्।
एवं सकुलिशं कमलं प्रज्ञायाः स्पन्दहेतुतः॥

---

१. ग. च. प्रचारो। २. इतः परं ग-पुस्तके ३११ पत्राभावात् 'भवतीति ...... द्वादशराशिनाड्यात्मकं' इति यावत् पाठो नास्ति। ३. च. योगाय। ४. क. ख. ग. ङ. 'आह' नास्ति।

हूँकारेण स्वकं वज्रं पञ्चशूकं विभावयेत्।
तन्मध्येऽष्टदलं पद्मं आःकारेण प्रकल्पयेत्॥
एवं सकमलं कुलिशं कृत्वा पद्मे निवेशयेत्।
हूँ फट् कुर्वंस्ततो योगी गर्वं वज्रधरं वहन्॥
भगे लिङ्गं प्रतिष्ठाप्य बोधिचित्तं न चोत्सृजेत्। 5
भावयेद् बुद्धबिम्बं तु त्रैधातुकमशेषतः॥
चण्डाली ज्वलिता नाभौ दहति पञ्च तथागतान्।
लोचना चक्षुरादींश्च दग्धे हं स्रवते शशी॥
स्रवते बिन्दुरूपेण अमृतं शुक्ररूपिणम्।
बिन्दुयोग इति ख्यातः षोडशार्धार्धबिन्दुधृक्॥ 10
अकलः कलनातीतश्चतुर्थध्यानकोटिधृक्।
सूक्ष्मयोग इति ख्यातो [1]निःस्पन्दादिगतोर्ध्वतः॥
शङ्खिनीयं महामुद्रा चण्डाली सा प्रगीयते।
[2]नाभ्यूर्ध्वं डोम्बिनी या तु अवधूती नरनासिका॥
पञ्चरश्मिमयः प्राणः पञ्चमण्डलवाहकः। 15
नासाग्रे सर्षपः ख्यातः प्राणायामः स च स्मृतः॥
त्रि[284a]भवस्य परिज्ञानं त्रैधातुकमशेषतः।
प्राणे निबोधिते तच्च सर्षपे सचराचरम्॥
प्रत्याहारे महामुद्रा आकाशे शून्यलक्षणम्।
नासिका तत्प्रदेशे च यत्रैवारोपितं मनः॥ 20
निमित्तान्ते[3] तु या रेखा तस्यां [4]बिम्बं चराचरम्।
भावयेदखिलं तस्यां योगी ध्यानादिकं च तत्॥

इति **मूलतन्त्रे** नियमः। अस्मिन् पुनः संक्षेपत उक्तः। तेन मूलतन्त्रानुसारेणावगन्तव्य इति भगवतो मञ्जुश्रियो नियमः। **चण्डाली नाभिचक्रे नवहृतभुजग इति।** इह नाभौ नाडीचक्रं नवहृतभुजगं द्वासप्ततिनाडिकात्मकं द्वादशराशिनाड्यात्मकम्, 25 षष्टिमण्डलनाड्यात्मकम्। तस्मिन् नवहृतभुजगे **चर्चिकाद्याधिदेवे** [5]**होकारज्ञानगर्भे** ज्ञानवज्राधिष्ठिते **तडिद**[6]**नलनिभा** चण्डाली **ज्ञानतेजःप्रबुद्धेति।** संवृत्या ज्ञानं कामस्तस्य तेजः कामाग्निस्तेन कामाग्निना प्रबुद्धा सती **नाभौ** निर्माणचक्रे **दहति वैरोचनादीन्** पञ्चमण्डलगतान् [7]वामे, दक्षिणे **लोचना चक्षुरादीन्** दहति, चक्षुरादीन्द्रियाणि रूपादीन् विषयानपि, मनसो धर्मधातुग्रहणात् सर्वेषामप्रवृत्तिरिति दहनम्। 30

१. भो. rGyu mThun (निष्यन्द)। २. क. ख. नात्यूर्ध्वं। ३. च. त्तान्त्ये। ४. च. भो. विश्वं। ५. च. होः। ६. ग. च. भो. दमल। ७. क. ख. ग. ङ. वाम।

एवं **सर्वान् बध्वा सुचन्द्रादिति** जन्मबोधिबीजाच्छिरसि **स्रवति यो** हंकारो **बिन्दुरूपं** शुक्रमागन्तुकं **स वज्री** बोधिचित्तमित्यर्थः। शिरसः कण्ठे, कण्ठाद् हृदये, हृदयान्नाभौ, नाभेर्गुह्यकमले ॥ ११० ॥

प्रज्ञाधर्मोदयस्थं पुनरपि सकलं स्फारितं बिन्दुना वै
5 नानालङ्कारयुक्तादरशगतमिव ज्ञानचक्रं स्वयम्भूः।
कामं रूपं ह्यरूपं त्रिविधमपि भवं शोधयित्वा क्रमेण
पश्चाज्ज्ञानार्चिषा वै त्रिभुवनसकलं ह्येकदाकर्षणीयम् ॥१११॥

T 354 तदेव कमलं प्रज्ञाधर्मोदय उच्यते। एवं नाभिहृत्कण्ठललाटोष्णीषकमलानि प्रज्ञाधर्मोदय उच्यते। एवं [1]द्रुतः सन् गुह्ये कायबिन्दुः, नाभौ वाग्बिन्दुः, हृदये चित्त-
10 बिन्दुः, [2]कण्ठे ज्ञानबिन्दुः। एवं **प्रज्ञाधर्मोदयस्थं** बोधिचित्तं **पुनरपी**ति यथागतं तथागतं **स्फारित**मित्युच्यते। यथा ललाटादानन्दादिभेदेनागतं विचित्रादिभेदेन वा पञ्चदश-[284b]चन्द्रकलापरिपूर्णम्, तथा [3]निःस्पन्दादिभेदेनोर्ध्वं ललाटे गतं वैमल्यं स्फारितं भवति। तेन **बिन्दुना** वैमल्येन **नानालङ्कारयुक्तमादर्शगतमिव** प्रतिसेनासमं त्र्यध्वगतं **ज्ञानचक्रं स्वयम्भूरि**ति बिन्दुयोगात् सूक्ष्मयोगोऽभूत्। एवं **कामं रूपं ह्यरूपं त्रिविधमपि**
15 **भवं शोधयित्वा क्रमेणे**ति कायवाक्चित्तबिन्दूत्पत्तिक्रमेण। **पश्चाज्ज्ञानार्चिषा वै** इति। अच्युतसुखरश्मिभिः। **त्रिभुवनसकलमि**ति। त्रैधातुक**मेकदाकर्षणीयमि**ति यौगपद्येन त्रैकाल्यज्ञानम्। देवतायोगे [4]देवतामण्डलचक्राकारस्फरणम्, संसारिणां पुत्रदुहितृस्फरणं बोधिचित्तत इति। एवं षोडशवर्षात्त्रधेर्गर्भजानां कायवाक्चित्तज्ञान-निष्पत्तिः, देवतानां भावनाबलेन, बुद्धानां चतुर्विमोक्षबलेनेति संवृतिपरमार्थ-
20 सत्यतः ॥ १११ ॥

इदानीमध्यात्मनि मन्त्रजापादिकमुच्यते—

चन्द्रादित्यादिकाद्यैस्त्रिविधगतिगतः कायवज्रादिजापः
प्रत्याहारादिषड्भिः सुकनककमले कायवाक्चित्तयोगः।
आनन्दाद्यैस्तु वज्राब्जसमरसगतैर्भावनेयं त्रिवज्रा
25 प्रज्ञाब्जे चित्तबिन्दौ सहजसुखवशाद् भावनाऽनाहता स्यात् ॥११२॥

चन्द्रेत्यादिना। इह शरीरे **चन्द्र** इति वामनाडी, [5]**आदित्य** इति दक्षिणनाडी। **आदी**ति अकारादिस्वरसमूहो वामे प्राणसंचारः। **कादी**ति व्यञ्जनसमूहो दक्षिणे

१. भो. Su Ba (द्रवः)। २. क. ख. 'कण्ठे ज्ञानबिन्दुः' नास्ति। ३. भो. rGyu mThun Pa (निष्यन्द)। ४. भो. 'देवता' नास्ति। ५. ग. 'आदित्य'''नाडी' नास्ति।

प्राणसंचारः। **त्रिविधगतिगत** इति। [1]वामे गतिगतः प्राणः **कायवज्रजाप** इत्युच्यते। [2]दक्षिणे गतिगतः प्राणो वाग्जाप इत्युच्यते। मध्यमागतिगतः प्राणश्चित्तजाप इत्युच्यते। एषां निरोधाद् अनाहता सर्वज्ञभाषा भवति। तेनायं षडङ्गयोगो भावनीयः **प्रत्याहारादिषड्भिरिति**।

प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामश्च धारणा।
अनुस्मृतिः समाधिश्च षडङ्गो योग इष्यते॥ इति।
(गु० त० १८.१४०)

एभिरभ्यस्यमानैर्वक्ष्यमाणैः [3]**सुकनककमल** इति नाभिकमले **कायवाक्चित्तयोग** इति त्रिविधगतिगतस्य प्राणस्य निरोध इत्यर्थः। ततो निरोधादानन्दाद्यैरित्यानन्द-परमविरम[4]सह[285a]जैर्वज्राब्जैः **समरसगतैरच्युतत्वाद् भावनेयं त्रिवज्रा** शुक्रविण्मूत्र-निरोध इत्यर्थः। तथा **मूलतन्त्रे**—

मध्यमोत्तमश्वासेन गन्धोदक[5]युतेन च।
कुलिकां पूजयेन्नित्यं कालविशेषेण दूतिकाः॥

इति [6]नियमः। ततः **प्रज्ञाब्जे** गुह्यकमले **चित्तबिन्दौ** स्थिते सति **सहजसुख-वशादित्यक्षरसुखवशाद् भावनाऽनाहता स्याद्** ऊर्ध्व[7]रेतस इति॥ ११२॥

इदानीं सेवादिकमुच्यते—

सेवा पञ्चामृताद्यैर्जलनिधिकुलिशैर्मन्त्रजापादिभिश्च
प्रत्याहारादिभिः स्यात् कुलिशकमलजेनामृतेनोपसिद्धिः।
आनन्दाद्यैस्त्रिवज्राब्जसमरसगता भावना साधनं स्यात्
प्रज्ञासङ्गेऽच्युतं संभवति खलु महासाधनं सूक्ष्मयोगात्॥११३॥

सेवेत्यादि। इहादिकर्मिकेण प्रथमं सेवा कर्तव्या [8]साधनविधिना। **सेवा पञ्चा-मृताद्यैरिति**। बाह्ये पञ्चामृतं विडादिकम्। आदिशब्देन गोक्षुरादिकम्, तैर्भक्षितैः सेवा देवतातोषणार्थम्। अध्यात्मनि पञ्चामृतानि पञ्चस्कन्धाः। आदिशब्देन पञ्चेन्द्रि-याणि पञ्चप्रदीपाः। तेषां निरपेक्षता सेवा शरीरद्रव्यतृष्णापरित्यागः। तया सेवया देवता वरदा भवन्ति, न गूथादिभक्षितेनेति। **जलनिधिकुलिशैरिति** कायभोग-निरपेक्षता, वाग्भोगनिरपेक्षता, चित्तभोगनिरपेक्षता, च्यवन[9]सुखनिरपेक्षता [10]सेवा, कायवाक्चित्तब्रह्मचर्यसंयम इत्यर्थः। अनया देवता वरदा भवन्ति, न भवभोगस्पृहयेति।

---

१. ख. ग. च. वाम। २. ग. च. दक्षिण। ३. ग. स्वकनक। ४. ग. सहजवज्राब्जैः।
५. क. पुटेन। ६. भो. 'नियमः' नास्ति। ७. क. तेजसः। ८. क. ख. छ. साधना।
९. ग. 'सुख' नास्ति। १०. ग. भो. सेवा इति।

मन्त्रजापादिभिश्चेति। इह मन्त्रजापो नाम प्राणसंयमः। आदिशब्देन रेचक-पूरककुम्भकयोगः सदा सेवा, तया देवता वरदा भवन्ति, न प्राणेनायन्त्रितेन वाग्जल्पितेनेति नीतार्थः। नेयार्थेन पुनरक्षसूत्रादिना जापादिकं कर्तव्यं सामान्यसिद्ध्यर्थम्।

इदानीमुपसाधनमुच्यते—प्रत्येत्यादि। इह **प्रत्याहार** इति। इह संसारिणा-माहार[1]श्चक्षुरादीन्द्रिये रूपादिविषयग्रहणम्, [2]तत्परित्यागः प्रत्याहार इत्युच्यते। शू[285b]न्यताबिम्बेऽन्यैश्चक्षुरादिभिर्मासाद्यैरन्यरूपादिविषयग्रहणमुपसाधनम्। तथा ध्यानं प्राणायामश्च [3]धारणा। **कुलिशकमलजेनामृते**नाच्युतेनोपसाधनं नीतार्थेन, [4]बाह्ये देवतोत्सर्जनेन नेयार्थेनेत्युपसाधनसिद्धिः।

इदानीं साधनमुच्यते—**आनन्दे**त्यादि। [5]इहानन्दे **त्रिवज्राः** कायवाक्चित्तबिन्दवोऽब्जसमरसगता **भावना साधनं स्यात्**। हृन्नाभिगुह्ये बिन्दूनां स्थितिरित्यर्थः। एवं साधनम्। ततो महासाधनं **प्रज्ञासङ्गेऽच्युतं** सुखं [6]**सम्भवति** यदा, तदा **खलु महासाधनं सूक्ष्मयोगादिति**। सुषुम्नानाडि[7]कोर्ध्वं शुक्रसंयोगान्महासाधनमित्युच्यते नीतार्थेन। नेयार्थेन पुनः प्रज्ञाधर्मोदयनासिकाग्रे सर्षपादिकमिति नियमः। एवं महासाधनं भवति ॥ ११३ ॥

इदानीं [8]मृद्वादिमात्राभेदेन सेवादिकमुच्यते—

आदौ वै शून्यताबोधिरपि खलु ततः संग्रहश्चन्द्रबिन्दो-
र्बिम्बोत्पत्तिश्च तस्मात् प्रवररसकुलैरक्षरन्यास एव।
एषा सामान्यसेवा जलनिधिकुलिशैः साधनं मध्यमं च
अत्रोपायश्चतुर्धा भवति मृदुदृढः साधनाङ्गे तथैव ॥११४॥

आदावित्यादि। इहोत्पत्तिक्रमे प्रथमं **शून्यताबोधिरिति** प्राणिनां मरणान्ते स्कन्धपरित्यागादुपपत्त्यंशिकस्कन्धग्रहणाद्यदन्तरालं शून्यताक्षणमेकं त्रिभवदर्शनं शून्यमित्युच्यते। **खलु** निश्चितम्। [9]ततः क्षणात् पश्चात् **संग्रहश्चन्द्रबिन्दोरिति**। इहा[10]लयविज्ञानस्य मातृगर्भे शुक्रबिन्दूनां ग्रहणं नाम संग्रहः। ततः शुक्रादिग्रहणात् तस्माद् **बिम्बोत्पत्ति**र्नाम सप्तमासैर्गर्भनिष्पत्तिः, [11]कायनिष्पत्तिरित्यर्थः। ततः **प्रवररसकुलैरिति** षट्स्कन्धैश्चक्षुरादीनाम**क्षरन्यासो** रूपादिविषयप्रवृत्तिरिति। एवं देवतासाधनेऽपि कल्पनात्मकं भावयेदादिकर्मिकः। **एषा सामान्यसेवा जलनिधिकुलिशैरिति**। कायवाक्चित्तज्ञानवज्रनिष्पन्नैः **साधनं मध्यमं च** प्रा[236a]णनिष्पत्तिः। **अत्रोपाय-**

१. च. रश्च च। २. क. ख. छ. ततः। ३. ग. धारणया, च. धारणात्। ४. ग. बाह्य। ५. भो. ḥDir dGaḥ Ba La Sogs rNams Kyis (इहानन्दाद्यैः)। ६. ग. भवति। ७. च. कोर्ध्वे। ८. भो. मृद्वधिमात्र। ९. क. च. छ. तत्। १०. ग. लयन। ११. ग. 'कायनिष्पत्तिः' नास्ति।

श्चतुर्धा भवतीति सेवाङ्गे। उपसाधनाङ्गे [1]मृदुर्दृढः। **साधनाङ्गे तथैव षोडशवर्षा-** T 355
वधेरिति नियमः। अत्र मृदुर्जातबालः। दन्तोत्थानान्मध्यमबालः। दन्तपातात् कुमारः। पुनर्दन्तोत्थानात् षोडशवर्षोर्ध्वं प्रौढः, पुत्रदुहितृजनकत्वादिति। एवं सर्वदेवतानां चतुर्विधमङ्गं योगिना भावनीयमिति लौकिकसत्यनियमः।

इदानीं परमार्थसत्येन बुद्धबिम्बनिष्पत्तिरुच्यते—इह प्रथमं **शून्यताबोधिरिति**, 5
अन्धकारे न किञ्चिदपि चिन्तनीयम्। ततः **संग्रहश्चन्द्रबिन्दोरिति** बिन्दुपर्यन्तं धूमादि-निमित्तग्रहणम्। **बिम्बोत्पत्तिश्च तस्मादिति** तस्माद्बिन्दोर्विश्वदर्शनं बिम्बोत्पत्तिः। **प्रवररसकुलैरिति** निरावरणैः षट्स्कन्धैः। **अक्षरन्यास** इति प्रादेशिकस्कन्धधात्वायत-नादीनां निरोधः। अतो मृद्वादिभेदो भूमिलाभेन भवति, यावन्न द्वादशभूमीश्वरो भवति। तत :— 10

> द्वादशाकारसत्यार्थः षोडशाकारतत्त्ववित्।
> विंशत्याकारसंबोधिर्विबुद्धः सर्ववित् परः॥
> (ना. सं. ९.१५)

इति नियमः॥ ११४॥

इदानीं षडङ्गयोग उच्यते— 15

> प्रत्याहारो जिनेन्द्रो भवति दशविधो ध्यानमक्षोभ्य एव
> प्राणायामश्च खड्गी पुनरपि दशधा धारणा रत्नपाणिः।
> डोम्ब्यां चानुस्मृतिः स्यादपि कमलधरः श्रीसमाधिश्च चक्री
> एकैकः पञ्चभेदैः पुनरपि च यतो भिद्यते ह्यादिकाद्यैः॥११५॥

प्रत्याहार [2]इत्यादिना। इह **प्रत्याहार** आदिकर्मणि **जिनेन्द्र** इति ज्ञानस्कन्धः। 20
स च निमित्तभेदेन **दशविधो** धूममरीचिखद्योतदीपज्वालाचन्द्रादित्यराहुकलाबिन्दु-दर्शनभेदेनाकल्पितो ज्ञानस्कन्धः। **ध्यानमक्षोभ्य एव** [3]दशविधो विज्ञानस्कन्धो विषय-विषयिणां दशानामेकत्वं विश्वबिम्बे ध्यानमिति। **प्राणायामश्च** दशविधः। **खड्गीति** संस्कारस्कन्धः, वाम[4]दक्षिणदशमण्डलैकलोलीभूतत्वादिति। **पुनरपि दशधा धारणा** [286b]**रत्नपाणिरिति** वेदनास्कन्धः। प्राणस्य धारणा नाभिहृत्कण्ठललाटोष्णीषकमले 25
गतागतभेदेन दशविध इति। **डोम्ब्यां चानुस्मृतिः स्यादपि कमलधर** इति संज्ञास्कन्धो दशविधः। स चानुस्मृतिर्डोम्ब्यां मध्यनाड्यां दशकामावस्थाभेदत इति। **श्रीसमा-धिश्च चक्रीति** वैरोचनो दशविधः। समाधिर्दशवायूनां निरोधत इति। एवं भगवान-

---

१. क. छ. 'मृदुर्दृढः। साधनाङ्गे' नास्ति। २. ग. च. इत्यादि। ३. ग. दशदिशो।
४. ग. दक्षिणेन।

प्रतिष्ठितनिर्वाणोऽवाते वायुना नीयत इत्यर्थः। [1]**एकैकः पञ्चभेदैरिति**। अत्र एकैकयोगः पञ्चमण्डलवाहकः। **आदिकाद्यैरिति** स्वरव्यञ्जनैः वामदक्षिणप्राणसञ्चारनिरोधैः॥ ११५॥

इदानीं प्रत्याहारादिलक्षणमुच्यते—

प्रत्याहारो दशानां विषयविषयिणामप्रवृत्तिः शरीरे
प्रज्ञा तर्को विचारो रतिरचलसुखं ध्यानमप्येकचित्तम्।
प्राणायामो द्विमार्गः स्खलनमपि भवेन्मध्यमे प्राणवेशो
बिन्दौ प्राणप्रवेशो ह्युभयगतिहतो धारणा चैकचित्तम्॥११६॥

प्रत्येत्यादि। इह **प्रत्याहारो** नाम शरीरे **विषयविषयिणां दशानां** सम्बन्धेनाप्रवृत्तिर्विज्ञानस्य शून्यबिम्बे, विषयेषु प्रवृत्तिरन्यैश्चक्षुरादिभिः पञ्चविधैरिति। तथा तस्मिन्नेव बिम्बे **प्रज्ञे**त्यालोकनम्। **तर्क** इति भावग्रहणम्। **विचार** इति तस्य निश्चयार्थः। **रतिरिति** बिम्बासक्तिः। **अचलसुखमिति** बिम्बेन सह चित्तस्यैकीकरणम्। एवं ग्राह्यग्राहकभेदेन **ध्यानं** दशविधम्। इह **प्राणायामो** नाम **द्विमार्ग** इति वामदक्षिणमार्गः। **स्खलनम्** निरोधो **मध्यमे** मार्गे प्रवेशः, स च दशविधो दशमण्डलरोधतः। इह **बिन्दाविति** ललाटे **प्राणप्रवेशः**। **उभयगतिहत** इति गमनागमनरहितः। **धारणा** प्राणस्य ललाटे **एकचित्तं** नाम॥ ११६॥

चण्डाल्यालोकनं यद्भवति खलु तनौ चाम्बरेऽनुस्मृतिः स्यात्
प्रज्ञोपायात्मकेनाक्षरणसुखवशाज्ज्ञानबिम्बे समाधिः।
एतन्मुद्रादिभेदैस्त्रिविधमपि भवेत् साधनं विश्वभर्तु-
स्तिस्रो मुद्रास्त्रिमात्रास्त्रिविधगतिवशात् कर्मसङ्कल्पदिव्याः॥११७॥
[287a]

चण्डाल्यालोकनं यत् त्रिभवस्याम्बरे **साऽनुस्मृति**र्दशविधा [2]प्रोक्ता। **प्रज्ञोपायात्मकेनेति** ज्ञेयज्ञानैकलोलीभूतेन। **अक्षरणसुखवशाज्ज्ञानबिम्बे समाधिश्चेति**। सापि दशविधा प्राणादीनामभावत इति। एवं षडङ्गयोगसाधनम्। **एतन्मुद्रादिभेदैस्त्रिविधमपि भवेत् साधनं विश्वभर्तुः** कालचक्रस्य। **तिस्रो मुद्रास्त्रिमात्रा** इति। **त्रिविधगतिवशादिति**। इह बोधिचित्तस्य अक्षरगतिर्मृदुमात्रा, स्पन्दगतिर्मध्यमात्रा,

---

१. 'एकैकः''''निरोधैः' गृहीतोऽयं पाठो भोटानुसारी, संस्कृतहस्तलेखेषु नास्ति-Re Re dBye Ba lṄa rNams Kyis Te Śes Pa Ni ḥDir sByor Ba Re Re Ni dKyil ḥKhor lṄa ḥBab Paḥo. A Sogs Ka Sogs rNam Kyi Śes Pa Ni dByaṅs Daṅ gSal Byed gYon Daṅ gYas Kyi Srog Yaṅ Dag Par rGyu Ba ḥGog Pas So. २. च. भो. पूर्वोक्ता।

निःस्पन्दगतिरधिमात्रेति। [1]एवं कर्ममुद्राक्षरसुखदायिनी, ज्ञानमुद्रा स्पन्दसुखदायिनी, महामुद्रा निःस्पन्दसुखदायिनी। एवं त्रिमुद्राभावना षडङ्गयोगे भगवतोक्ता। इति षडङ्गयोगो भावनीयो योगिना बुद्धत्वायेति ॥११७॥

इदानीं प्रत्याहारादिफलमुच्यते—

प्रत्याहारेण योगी विषयविरहितोऽधिष्ठ्यते सर्वमन्त्रैः
पञ्चाभिज्ञानलाभी भवति नरपते ध्यानयोगेन शुद्धः।
प्राणायामेन शुद्धः शशिरविरहितः पूज्यते बोधिसत्त्वै-
र्मारक्लेशादिनाशं विशति दशबलं धारणाया बलेन ॥११८॥

प्रत्येत्यादि। इह **प्रत्याहारेण योगी**[2] यदा विशुद्धो भवति बिम्बेन स्थिरीभूतेन, तदा **सर्वमन्त्रैरधिष्ठ्यते**, वचसा वरदानादिकं ददाति। **पञ्चाभिज्ञानलाभी भवति नरपते ध्यानयोगेन शुद्ध** इति। इह यदाऽनि[3]मिषितचक्षुर्भवति तदा दिव्यचक्षुर्भवति। एवं दिव्यश्रोत्रो ध्यानेन शुद्धो भवति। **प्राणायामेन शुद्ध** इति। इह यदा **रविशशिमार्ग-रहितो** योगी भवति सदा मध्यमावाहकः, तदा प्राणायामेन शुद्धः सन् **पूज्यते बोधिसत्त्वैः**, प्रशंस्यत इत्यर्थः। **मारक्लेशादिनाशं विशति दशबलमिति** शून्यता-बिम्बम् [4]इह ग्राह्यग्राहकचित्तं विशति **धारणाया बलेनेति** प्राणस्य गतागतक्षयेण एकलोलीभवति ॥११८॥ [287b]

संशुद्धोऽनुस्मृतेः स्याद् विमलमपि प्रभामण्डलं ज्ञानबिम्बात्
तस्माच्छुद्धः समाधौ कतिपयदिवसैः सिद्ध्यते ज्ञानदेहः।
प्रत्याहारादिभिर्वै यदि भवति न सा मन्त्रिणामिष्टसिद्धि-
र्नादाभ्यासाद्धठेनाब्जगकुलिशमणौ साधयेद् बिन्दुरोधात् ॥११९॥

संशुद्धोऽनुस्मृतेरिति। इहानुस्मृतिर्बिम्बालिङ्गनं चित्तस्य सर्वविकल्परहितत्वम्, तस्माच्छुद्धो यदा तदा **विमलं प्रभामण्डलं** भवति। **अपि च** शब्दाद् रोमकूपात् स्फरन्ति पञ्चरश्मयो निश्चरन्ति **ज्ञानबिम्बा**च्छून्यबिम्बादिति। **तस्माच्छुद्धः समाधाविति**। इह ग्राह्यग्राहकचित्तयोरेकत्वेन यदक्षरसुखं भवति, तत्सुखं समाधि-रुच्यते। तस्मात् समाधिशुद्धो वैमल्यं गतः **कतिपयदिवसै**स्त्रिवर्षत्रिपक्ष[5]**दिवसैः सिद्ध्यते ज्ञानदेह** इति। दशवशितादिकं प्राप्तो बोधिसत्त्वो भवतीति प्रत्याहारादि-नियमः।

---

१. ख. ग. छ. भो. एषां। २. च. यदा योगी। ३. ग. च. भो. मिषच। ४. च. भो. 'इह' नास्ति। ५ छ. दिनैः।

इदानीं हठयोग उच्यते। इह यदा **प्रत्याहारादिभिर्बिम्बे** दृष्टे सत्यक्षरक्षणं[1] नोत्पद्यते, अयन्त्रितप्राणतया, तदा **नादाभ्यासाद्** वक्ष्यमाणाद् **हठेन** [2]प्राणं मध्यमायां वाहयित्वा **प्रज्ञाऽब्जगतकुलिशमणौ** बोधिचित्त**बिन्दु**[3]**निरोधादक्षरक्षणं साधयेन्निस्पन्दे-** नेति हठयोगः॥ ११९॥

T 356

इदानीं शून्यताबिम्बसाधनाय दृष्टिरुच्यते—

सेवायामादियोगो नभसि दशविधश्चक्रिणः क्रोधदृष्टया
दृष्टया विघ्नान्तकस्यामृतपथगतया चोपसाध्ये षडङ्गः।
प्रज्ञासृष्टेन्दुबिन्दोरपि कुलिशमणौ त्र्यक्षरः साधने स्यात्
सौख्याऽनष्टैकशान्तः सहज इह महासाधने ज्ञानयोगः॥१२०॥

[288a]

सेवेत्यादि। इह सेवेत्यादिधूमादिनिमित्तभावना, तस्यां **सेवायामादियोगो** धूमादि-निमित्तग्रहणं चित्तस्येति। स च **दशविधो** धूमादिना सार्धं प्रत्ययो भवति। तेन दशविधः। स च **चक्रिण** इत्युष्णीषस्य। **क्रोधदृष्ट्या** इति ऊर्ध्वदृष्ट्याऽनिमिषया निमित्तं भवति रात्रियोगेन चतुर्विधम्, दिवायोगेन षड्विधम्। ततो[4] बिम्बपर्यन्तं सेवाङ्गं भवति प्रत्याहारेण ध्यानेनेति। [5]दृष्ट्या विघ्नान्तकस्येति विघ्नान्तकोऽमृत-कुण्डली, तस्य दृष्टिरमृतस्थानगता ललाटगता, तया **दृष्ट्या विघ्नान्तकस्यामृतपथगतया चोपसाधने षडङ्गः**। चकारात् प्राणायामो धारणा कर्तव्या। प्राणस्य बिम्बे दृष्टे सति उपसाधनम्। **प्रज्ञासृष्टेन्दुबिन्दोरिति**। इह प्रज्ञारागेण सृष्टश्चासाविन्दुबिन्दुः सृष्टेन्दु-बिन्दुः, तस्य प्रज्ञासृष्टबोधिचित्तबिन्दोरपि **कुलिशमणौ** गतस्य **यस्त्र्यक्षरो** [6]योगो भवति गुह्ये नाभौ हृदये, स **साधने स्यादिति** साधनाङ्गं तृतीयं भवति। एवं साधनाङ्गं कर्तव्यम्। **सौख्याऽनष्टैकशान्त** इति। इह सौख्येनानष्टेन बोधिचित्तस्य य एकक्षणः, स शान्त इत्युच्यते। **सहज इह महासाधने ज्ञानयोग** इति चित्तस्याक्षरसुखेन सहैक-त्वमिति महासाधनाङ्गं चतुर्थम्। एवं ज्ञानसाधने[7] चतुरङ्गम्। देवतासाधन उत्पत्ति-क्रमेण पूर्वोक्तं लौकिकम्, लोकोत्तरतत्त्वसाधनमुत्पन्नक्रमेण। तथा[8] हि—

सत्यद्वयं समाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसंवृतिसत्येन सत्येन परमार्थतः॥ (म. शा. २४.८)

इति भगवतो नियमः। [9]पुनः—

क्रमद्वयं समाश्रित्य देशना वज्रिणो मम।
उत्पत्तिक्रमेणैका उत्पन्नक्रमतोऽपरा॥ इति। (गु. त. १८.३३)

---

१. क. ख. ग. छ. क्षणो। २. भो. 'प्राणं' नास्ति। ३. ग. निरोधक्षणरक्षणं। ४. क. ख. ग. भो. इतः परं 'बिम्बमेवम्' इत्यधिकः पाठः। ५. ग. 'दृष्ट्या''''कस्येति' नास्ति। ६. भो. 'योगो' नास्ति। ७. च. नाङ्गं। ८. भो. De bŚin Du gSuṅs Pa (तथाह)। ९. ग. 'पुनः' नास्ति।

एवं देवतासाधने विकल्पभावना, तत्त्वसाधने विकल्परहितैश्चतुरङ्गैरिति न्यायः ॥ १२० ॥

इदानीं प्राणायामलक्षणमुच्यते—

प्राणायामः समन्तात् समसुखफलदो मस्तके यावदिष्टः
तस्मादूर्ध्वं ह्यनिष्टो मरणभयकरः स्कन्धनिर्नाशहेतुः । 5
उष्णीषं भेदयित्वा परमसुखपदे योजनीयो व्रजन् वै
स्कन्धाऽभावेऽपि योगी व्रजति समसुखं किन्तु लोकेऽप्रसिद्धिः ॥१२१॥

प्राणेत्यादि । इह शून्यताबिम्बे दृष्टे सति यः **प्राणायामो** योगिना कर्तव्यः, स **यावन्मस्तके** इति शिरोव्यथां न करोति । स च **स**[288b]**मसुखफलदो** भवति । **तस्मादूर्ध्वमि**ति शिरोव्यथान्ताद**निष्टो मरणभयकरो** भवति, **स्कन्धनिर्नाशहेतु**भूतो भवति । अथ योगबलेनो**ष्णीषं भेदयित्वा** प्राणो **व्रजन्** योगिना **परमसुखपदे** शून्यताबिम्बे **योजनीयो वै** एकान्तम् । एवं **स्कन्धाऽभावेऽपि योगी व्रजति समसुखं** बुद्धबिम्बमिति योगीति योगचित्तं व्रजति । **किन्तु लोकेऽप्रसिद्धि**रिति योगी मृतोऽयमिति प्राणायाम-नियमः ॥ १२१ ॥ 10

मध्ये प्राणप्रवेशो विषयविरहितालिङ्गनं विश्वमातुः 15
पद्माविष्टं स्ववज्रस्फरणमपि तथेन्द्वर्कमध्ये प्रवेशः ।
सौख्यं बीजाप्रपाते सुरतरतिगतं योगिनां योगमेत-
न्मुद्रासिद्धयर्थहेतोः परममपि विभोः श्रीरहस्याद् रहस्यम् ॥१२२॥

अपरं वृत्तं सुबोधम् ॥ १२२ ॥

इदानीं देवताविसर्जनमुच्यते— 20

उष्णीषे पञ्चशूकं भवति हि कुलिशं बाह्यशूकं द्विगुण्यं
वज्रं स्याद् धर्मचक्रे द्विगुणितमपरं तस्य चान्यद् द्विगुण्यम् ।
तस्याप्यन्यद् द्विगुण्यं भवति सहजसंभोगनिर्माणचक्रे
तद्गर्भेऽप्येकशूकं समसुखफलदं गुह्यपद्मोदरस्थम् ॥१२३॥

[1]उष्णीष इत्यादि । इह मण्डलराजाग्रीं कर्मराजाग्रीं बिन्दुयोगं सूक्ष्मयोगं भावयित्वा पूजां स्तुतिं कृत्वा "नमस्ते वरदवज्राग्र" (ना. सं. ११.१) इत्यादिना, 25

१. ग. 'उष्णीष इत्यादि' नास्ति ।

ततो मण्डलदेवतानां विसर्जनायोष्णीषे **पञ्चशूकं** वज्रं भावयेत् । तस्य वरटके महासुखचक्रं विसर्जयेत् । तस्य **बाह्यशूकं**[1] **द्विगुण्यमष्टशूकं** मध्यशूकेन साधं नवशूकं **वज्रं स्याद्धर्मचक्रे** हृदये । तस्य वरटके धूमादिकान् विसर्जयेत् । **द्विगुणितमपरं** षोडशशूकं मध्यशूकेन साधं सप्तदशशूकं **सहजे** ललाटे । तस्य वरटके स्कन्धधातुदेवता विसर्जयेत् । **तस्य चान्यद् द्विगुण्यमिति** द्वात्रिंशच्छूकं [2]मध्यशूकेन साधं त्रयस्त्रिंशच्छूकं **संभोगे** कण्ठे । तस्य वरटके द्वादशायतनचतुःक्रोधदेवता विसर्जयेत् । **तस्याप्यन्यद् द्विगुण्यमिति** चतुःषष्टिशूकं मध्यशूकेन साधं पञ्चषष्टिशूकं वज्रं **निर्माणे** नाभिचक्रे । तस्य वरटके चर्चिकादयो भीमादयश्चतुः[3]षष्टिमण्डलवाहिन्यश्चतस्रः शून्यकुलिकाः । एवं द्वासप्तति विसर्जयेत्ता इति । [289a]**तद्गर्भेऽप्येकशूकमिति** । तेषां गर्भे प्रागुक्तमेकशूकं **समसुखफलदं गुह्यपद्मोदरस्थम्** । तत्रापि द्वात्रिंशच्छूकं दलसंख्यम् । तस्य वरटके मारीच्यादयो यास्ता विसर्जयेत् । एवं द्वादशदेवाः सपरिवाराः कर्मचक्राणि वज्राणि[4] कृत्वा तेषां वरटकेषु विसर्जयेत् तानिति । नागाश्च श्वानास्यादयः क्रियाचक्रेषु । एवं विसर्जनं कृत्वा ततो वलिं दद्यात् त्रिसन्ध्यं प्रागुक्तविधिना । पञ्चामृतं पूर्वविधिना शोधयित्वा तेनात्मानं प्रीणयेत् । एवं साधनं कालचक्रस्योत्पत्तिक्रमेणोत्पन्नक्रमेणोक्तं भगवता मञ्जुश्रियेति ॥ १२३ ॥

इदानीं योगचर्योच्यते—

योगी प्राणातिपातं दिननिशि कुरुते प्राणनाशः स उक्तो
यः शब्दो वक्त्रहीनः प्रभवति हृदयेऽसौ मृषावाद एव ।
सर्वज्ञज्ञानभूमेर्ग्रहणमपि च यद् योगिनः स्तेयमुक्तं
सौख्यं बिन्दुप्रपाते भवति च परदारस्य सेवाऽविरागात् ॥१२४॥

योगीत्यादि । इह योगिनां योगचर्या द्विधा—एका बाह्या, द्वितीयाऽध्यात्मिकी । तत्र या बाह्या सा लौकिकफलहेतोः । या चाध्यात्मिकी सा लोकोत्तरफलहेतोर्योगिना कर्तव्येति । इह **योगी** यत् **प्राणातिपातं दिननिशि कुरुते** तत् स्वदेहे **प्राणनाश उक्तः** । सर्वज्ञपदलाभाय न[5] बाह्ये प्राणातिपातः । इह बाह्ये यः प्राणातिपात उक्तो दुर्दान्तदमनाय स तेषां प्राणो योगबलेनाकृष्टः पुनस्तस्मिन्नेव काये प्रवेशनीयो योगिनेति । एवं दुर्दान्तदमको भवति । न दुर्दान्तान्तको [6]भवतीति सिद्धः । **यः शब्दो वक्त्रहीन** इति । इह सर्वज्ञस्य[7] वचनं सर्वरुतं यत् सर्वसत्त्वानां **हृदये भवति** स्वस्वभाषान्तरेण, तदेवाप्रतिष्ठितं सर्वसत्त्वरुतत्वादप्रतिष्ठितत्वान्मृषावाद इत्युक्तः । बाह्ये पुनः सत्त्वार्थं प्रति "महामाया महारौद्रा भूतसंहारकारिणी (म. त १.५) इत्यादिवचनं सत्त्ववैनेयार्थम् । तथा—

---

१. ग. 'द्विगुण्यमष्टशूकं' नास्ति । २. क. 'मध्य .... त्रिंशत्शूकं' नास्ति । ३. भो. चतुः' नास्ति । ४. ग. 'कृत्वा' नास्ति । ५. ग. 'न' नास्ति । ६. च. योगीति । ७. ग. 'सर्वज्ञस्य' नास्ति ।

सुखं द्वीन्द्रियजं तत्त्वं बुद्धत्वफलदायकम्।
नरा वज्रधराकारा योषितो वज्रयोषितः॥

इत्यादिवचनं मृषावादः, न पुनः सत्त्वानां व[289b]ञ्चनाय विसंवादकं वचनं बौद्धयोगिनामिति सिद्धये। इह शरीरे निरावरणे जाते सति **सर्वज्ञस्य** द्वादश**भूमीनां** यद् **ग्रहणं योगिनस्तत् स्तेयग्रहणमुक्तम्**। बाह्ये पुनः सत्त्वोपकारतो निधानादिकमुत्पाटनीयं निधिरक्षकाणां दुर्गतिमोचनार्थमिति। **सौख्यं** यत् **शुक्रबिन्दोरप्रपाताद् भवति** सा **परदारस्य सेवा**। परदारा प्रज्ञापारमिता संसारपारं गता, परो वज्रसत्त्वः संसारपारं गतः, तस्य दारा परदारेति, तस्याः सेवाऽविरागतोऽक्षरसुखतो योगिनाम्। बाह्ये पुनः सेकादिकाले दात्रा स्वभार्यादिका दत्ता या, तस्याः सेवा परदारस्य सेवाऽ**विरागा**दिति। यथात्मसमयिनां विरागो न भवति समयभेद इत्यर्थः॥ १२४॥

T 357 5 10

प्राणायामानलेन द्रवमपि शशिनः पानकं मद्यपानं
उष्णीषेऽङ्गुष्ठपर्वाद् व्रजति तिथिवशात् पूर्णिमान्ते स्वचित्तम्।
उष्णीषादङ्गुलीषु व्रजति पुनरिदं कृष्णपक्षावसानं
सा चर्या योगिनो वै प्रतिदिनसमये त्विष्टसिद्धिप्रदा या॥१२५॥

प्राणायामानलेनेति। इह प्राणनिरोधेन या चण्डाली ज्वलिता, सा प्राणायामानल इत्युच्यते, तेन **प्राणायामानलेन द्रवमपि शशिन** इति बोधिचित्तस्य द्रुतस्य द्रवं बिन्दुरूपं पानकं कुलिशमुखेनोर्ध्वतो यत्तत् सहजानन्दजनकं **मद्यपानं** योगिनामुक्तमिति। बाह्ये पुनः [1]सेकादिकाले बाह्यदेवतानां बल्यर्थमुक्तमिति। **उष्णीषेऽङ्गुष्ठपर्वादिति**। इह कामशास्त्रे श्रूयते—इह शुक्लपक्षे वामपादाङ्गुष्ठात् प्रतिपदादिवृद्धया चन्द्रकलावृद्धया **पूर्णिमान्ते** उष्णीषे **स्वचित्तमिति** बोधिचित्तं **व्रजति तिथिवशादिति**। पुनरु**ष्णीषाद्**दक्षिणपादा**ङ्गुलीषु व्रजति पुनरिदं** कृष्णपक्षतिथिवशाद् यावत् **कृष्णपक्षावसानम्** अमान्तम्। एवं कृष्णपक्षावसाने बोधिचित्तं पादाङ्गुष्ठे वेदितव्यम्, पुनरपरमासे शुक्लपक्षे वामाङ्गुष्ठे पूर्ववदिति। [290a]तत्राह—प्रथमा तिथिः प्रथमाङ्गुलीपर्वे, द्वितीया द्वितीये, तृतीया तृतीये, चतुर्थी वामपादसन्धौ, पञ्चमी जानुसन्धौ, षष्ठी कट्यूरुसन्धौ, सप्तमी वामकराङ्गुलिप्रथमपर्वसन्धौ, अष्टमी मध्यम[2]सन्धौ, नवमी [3]तृतीयसन्धौ, दशमी करसन्धौ, एकादशी बाहुसन्धौ, द्वादशी स्कन्धबाहुसन्धौ, त्रयोदशी हृदये, चतुर्दशी कण्ठे, पूर्णा ललाटे, पूर्णान्तमुष्णीषे शुक्रस्य भवति। पुनः कृष्णप्रतिपल्ललाटे, द्वितीया कण्ठे, तृतीया हृदये, चतुर्थी दक्षिणस्कन्धबाहुसन्धौ। शेषं वामवद्विलोमेन दक्षिणपादाङ्गुलीनखान्तं यावदमान्तं बोधिचित्तस्य **सा चर्या योगिनो वै प्रतिदिनसमये इष्टसिद्धिप्रदा** येति। इह बोधिचित्तस्य वामदक्षिणनाडीप्रवाहवशेन वामदक्षिणेन गतस्य सर्वकालं मध्यमाप्रवाहेन षट्सु गुह्यादिकमलेष्वधोगमनादूर्ध्व-

15 20 25 30

---

१. ग. च. सेवा। २. ग. च. मध्यमा। ३. ग. च. तृतीया।

गमनं नाम चर्या, सा इष्टसिद्धिर्महामुद्रासिद्धिस्तस्याः प्रकर्षेण [1]दात्रीष्टप्रदेति सिद्धम्। बाह्ये पुनः पञ्चतथागतकुलनारीणां ग्रहणं नारीचर्या, तासु नारीचर्यासु [2]मन्थानं ब्रह्मचर्यम्। तथा[3]नेन योगिना कर्तव्यमिति। तथा [4]कोऽसौ बोधिचित्तस्य नाडीसंचार इत्यूर्ध्वरेतसो गमनं कर्तव्यमिति नियमो मूलतन्त्रे। इति [5]नारीचर्यानियमः ॥ १२५ ॥

5 चिन्ताकाङ्क्षा ज्वरोऽङ्गे वरमुखकमले शुष्कद्रव्याप्रवृत्तिः
कम्पोन्मादश्च घूर्मा प्रभवति मनसो विभ्रमस्तीव्रमूर्च्छा।
धूमाद्या वज्रिणस्ताः प्रकटदशविधाः प्राणिनोऽङ्गेष्ववस्था
लोके ता मन्मथस्य प्रकटितनियता को जिनः कः स कामः ॥१२६॥

या बिन्दोः श्वेतधारा पतति दिननिशं मामकी सा सुरा नो
10 गोक्वाद्यं चक्षुरादेः स्फुरणमनुदिनं नान्यमांसं कदाचित्।
सेवा पञ्चामृतानां स्वकुलभुविगतैर्देवतैः शुद्धिकाये
शून्ये चित्तप्रवेशात् समरसकरणं मैथुनं तन्न योनौ ॥१२७॥
[290b]

दानं त्यागो धनस्याच्युतिरपि मनसः स्त्रीप्रसङ्गाच्च शीलं
15 क्षान्तिः शब्दाद्यवेशो ह्युभयगतिविनाशोऽनिलस्यैव वीर्यम्।
ध्यानं प्रज्ञा च चित्तं सहजसुखगतं सर्वगा सर्वभाषा
तस्याः सत्त्वार्थमृद्धिर्भवनिधनमजप्राप्तिरन्याश्चतस्रः ॥१२८॥

एकाङ्गे शक्तियुक्ते नवपदसहिते पञ्चविंशात्मकाद्ये
ध्याते मुद्रादयो वै कतिपयदिवसैः सिद्धयः संभवन्ति।
20 स्तम्भं शान्तिं च वश्यं भुवननिधनतां वक्त्रभेदैः करोति
भूतानां मण्डलस्थो दनुभुजगकुलं साधयेद् भावितोऽसौ ॥१२९॥

इह पञ्चविंशत्यधिकशतवृत्तात् वृत्तचतुष्टयं सुबोधम्। [6]तेनात्र न विस्तारितमिति ॥ १२६–१२९ ॥

---

१. भो. 'इष्टप्रदेति सिद्धम्' नास्ति, ग. च. छ. सिद्धिप्रदेति। २. ग. स्वमास्थानं। ३. भो. Sal (आनन)। ४. ग. कासौ, क. ख. छ. कोशो। ५. भो. rTsa Bahi sPyod Pa (डनीचर्या)। ६. भो. 'तेनात्र… रितमिति' नास्ति।

इदानीं शान्त्याद्यर्थं देवताभावनोच्यते—

श्वेतः शान्तिं च पुष्टिं स्वमनसि कुरुते रक्त आकृष्टिवश्यं
पीतः स्तम्भं च मोहं कषणघननिभं मारणोच्चाटनं च ।
ध्यातं जप्तं तथैव स्वमनसि कुरुते कायवाक्चित्तवज्रं
भूतानां मण्डलस्थं त्रिभुवननिलये साधयेत् कर्मभेदैः ॥१३०॥ 5

श्वेत इत्यादि । इह कालचक्रो भगवानेकवीरो वा प्रज्ञोपायात्मको वा पञ्चा[1]त्म-
को वा वक्त्रादिभेदैः शान्त्यादिकं भवति । यदा शान्तिं करोति [2]योगी, तदा योगिना
कायवक्त्रनायकं [3]कृत्वा शुक्लवर्णो भावनीयश्चन्द्रमण्डले ललाटस्थः । **श्वेतः शान्तिं
पुष्टिं च** करोति । **रक्त आकृष्टिं वश्यं** च करोति **वाग्वज्र**[4]नायकः सूर्यमण्डले कण्ठस्थो
मनसि ध्यातः सन् । **पीतः स्तम्भनं** [5]**मोहनं च** करोति कालाग्निमण्डले नाभिस्थो 10
ध्यातो ज्ञानवज्रनायक इति । कृष्णो **मारणमुच्चाटनं** [6]**च** करोति [7]विद्वेषं च करोति
हृदये राहुमण्डले चित्तवज्रनायक इति । एवं भूतानां मण्डलस्थो दनुभुजगकुलं साधयेद्
भावितोऽसाविति । दैत्यभुजगानां कुलमष्टविधं तदेव कुलं साधयेद्वक्ष्यमाणं गारुडे नात्र
विस्तारितमिति । **ध्यातं जप्तं तथैव स्वमनसि कुरुत** इति । [291a]एकमुखद्विभुजदेवता
कायादिवर्णभेदेन भाविता वक्ष्यमाणक्रमेण शान्त्यादिकं करोति । एवं **भूतानां मण्डलस्थ-** 15
मिति तोयादिमण्डलस्थं वज्रचतुष्टयम्, [8]**साधयेत् त्रिभुवननिलये कर्मभेदै**रनेकैरिति
नानाविधानैरित्यर्थः ॥१३०॥

इदानीं दुर्दान्तदमनाय गजचर्मपटार्द्रधृग्भावनोच्यते—

पक्षाधिक्योद्भवाभ्यां मणिकनकनिभाभ्यां च सव्येतराभ्यां
स्कन्धारिष्टेभचर्मोद्धृतमपि सकलं पाटयित्वाङ्घ्रियुग्मात् । 20
दैत्येन्द्रासृक्कपालप्रवरकरतलो मृत्युमारास्यहस्तः
क्लेशारिष्टाङ्घ्रिपाती द्व्यधिकजिनकरो भावनीयः परार्थम् ॥१३१॥

पक्षेत्यादि । इह कालविशुद्धया वर्षस्य चतुर्विंशतिपक्षैश्चतुर्विंशतिकरो वज्र-
मालाधरः श्रीमानिति सिद्धः । अस्य पुनर्गजचर्मपटार्द्रधारिणोऽधिकमासेन सहितं यद्वर्षं
त्रयोदशमासात्मकम्, तस्य पक्षैः षड्विंशतिभिर्भुजविशुद्धिः । अतः **पक्षाधिक्योद्भवौ** 25
भुजद्वयौ, ताभ्यां भुजाभ्यां **मणिकनकनिभाभ्यामिति** [9]कृष्णपीताभ्यां [10]**सव्येतराभ्याम्** ।

---

१. क. ख. च. छ. त्मकाद्युक्तो वा । २. भो. 'योगी' नास्ति । ३. छ. 'कृत्वा……
वाग्वज्र' नास्ति । ४. क. छ. वज्र, ग. चक्र । ५. छ. मोहं च । ६. ग. घ. भो.
'च करोति' नास्ति । ७. च. विद्वेषणं च । ८. क. ख. ग. छ. भावयेत् । ९. ग. 'कृष्ण-
पीताभ्यां' नास्ति । १०. च. 'सव्येतराभ्याम्' नास्ति ।

स्कन्धारिष्टेभ इति । स्कन्धमार इव इभस्तस्य क्षयाल्लवमात्रता **चर्म**। तदेवोद्धृतं **सकलं पाटयित्वा** स्कन्धमारेभम् **अङ्घ्रियुग्माद्** धृतमङ्घ्रियुग्मं लम्बमानं गजचर्मपटमिति धृतम् । सव्येन शिरो वाम[1]भागे चरणम् । **दैत्येन्द्र** इति देवपुत्रमारस्तस्याविद्याप्रवृत्तिरिति । **असृगिति** । तस्य क्षयाल्लवमात्रं कपाले रुधिरं **तदसृक्कपालं** यस्य **प्रवरकरतले** स दैत्येन्द्रासृक्कपालप्रवरकरतल इति । **मृत्युमारास्यहस्त** इति । मृत्युमारक्षयाल्लवमात्रावरणमास्यं हस्ते यस्य स मृत्युमारास्यहस्तः । **क्लेशारिष्टाङ्घ्रिपातीति** क्लेशमारक्षयाल्लवमात्रं क्लेशावरणं न निर्दग्धं यत्तत् प्रेतम्, तस्याङ्घ्रितले पतितम्, तेन क्लेशारिष्टाङ्घ्रिपाती । एवं लवमात्रावरणैर्द्व्यधिकजिनकर इति षड्विंशति[2]करः । शेषभुजे कालचक्रवत् प्रह[291b]रणः, मुण्डकपालमालाधरः, व्याघ्रचर्मनिवसनः, अस्थिमुद्रानागेन्द्र[3]भूषणो भावनीयः । **परार्थमिति** दुर्दान्तवैनेयार्थमिति नियमः ॥ १३१ ॥

इदानीं तस्य प्रज्ञाया लक्षणमुच्यते—

मातुस्तत्रैकवक्त्रं यमकरकमले कर्तिका श्रीकपालं
सूर्यादिन्दुः स्वचारं चरति गतिवशाद् द्वादशाधिक्यमेकम् ।
तस्मात् कायप्रभेदैर्भवति जिनपतिर्विश्वमाता तथैव
प्रज्ञोपायाङ्गभावैः समसुखफलदैश्चन्द्रसूर्यप्रचारैः ॥ १३२ ॥

मातुरित्यादि । इह कायभेदेन सूर्यः प्रज्ञा, चन्द्र उपायः । स च चन्द्रः सूर्यचाराद् द्वादशाधिक्यमेकं चारं यावच्चरति मासं प्रतित्रयोदशराशींश्चरति । सूर्य एकराशिं चरति । तेन सूर्यचारवशेन **मातुस्तत्रैकवक्त्रं** मासशुद्ध्या । **यमकरकमलं** हस्तद्वयकमलम् । [4]तस्मिन् करकमले सव्येऽसव्ये **कर्तिका श्रीति** नरकपालम् । **तस्मात् कायप्रभेदैरिति** चन्द्रराशिपक्षभेदैः षड्[5]विंशतिभिः षड्[6]विंशतिभुजो **जिनपतिर्भवति** । **विश्वमाता तथैव** कायभेदैः सूर्यस्यैकराशिः । पक्षभेदैर्द्विभुजा विश्वमातेति । नग्ना मुक्तकेशा शेषा भगवानिवाभरण[7]भूषितेति । एवमुक्तैः **प्रज्ञोपायाङ्गभावैः** । **समसुखफलदैरक्षरसुखफलदैः**, **चन्द्रसूर्यप्रचारैः**[8] श्वासनिश्वास[9]रोधैर्भावनीय इति नियमः ॥ १३२ ॥

इदानीं विश्वरूपभावनोच्यते—

एकाद्यानन्तवक्त्रो बहुकरचरणोऽनेकवर्णस्तमोऽन्ते
प्रज्ञोपायात्मको वै ददति समसुखं नाडिकेन्द्वर्करोधात् ।

---

१. ग. थ. गेन चरणः । २. च. भुजः । ३. ग. च. भो. विभूषणो । ४. भो. 'तस्मिन्' नास्ति । ५.६. ग. त्रिश । ७. ख. ग. च. विभूषितेति । ८. च. रैरिति ९. च. निरोधैं ।

भूम्यादीनां समन्तादमलमणिनिभो भेदकः शून्य एको
नाद्यो नान्तो न मध्यस्त्वविषयविषयः साधितः कालचक्रः ॥१३३॥
[292a]

एकेत्यादि । **इहैकवक्त्रो वा आदिशब्दात्** [1]त्रिमुखो वा चतुःपञ्चाद्यनन्तमुखो वा **बहुकरचरणो**ऽनेककरचरणोऽनेकास्त्रधरः। **अनेकवर्णो**ऽनेकसंस्थानः "विश्वमायाधरो राजा बुद्धविद्याधरो महान्" (ना० सं० ८.३५) शून्यताक्षरधरो भगवान् **प्रज्ञोपायात्मकः**। **तमोऽन्ते** निशाकाले निशायोगेन दिवाकाले दिवायोगेन यः प्रज्ञापारमितायां योगं पश्यति, स आकाशे पश्यति निशायामभ्यवकाशे पश्यति दिवायाम् । एवं विभावितो बिम्बपर्यन्तम् । ततो **नाडिकेन्द्रकंरोधादिति** वामदक्षिणप्राण[2]रोधात्, **ददाति समसुखमिति** परमाक्षरसुखं ददाति[3] । **भूम्यादीनामिति** पृथिव्यादीनां धातूनाम् । **अमलमणिनिभो भेदक** इति । [4]इहामलमणिर्यथा स्पर्शमात्रेण पाषाणादिकं धातुकं रत्नं करोति न भेदको वेधक इति । तथा **शून्य एको** विमलो भूम्यादीनां शरीरधातूनां समन्ताद् वेधक इति । स शून्यतारूपी **नाद्यो नान्तो न मध्योऽविषयविषय** इति । विषयैर्विना विषय-प्रतिभासो मायास्वप्नप्रतिसेनोपमः । **साधितः कालचक्रः** समसुखं ददातीति नियम इति श्रीमदादिबुद्धसाधनमुत्पन्नक्रमेणोक्तम्, अस्य विस्तरो ज्ञानपटले वक्तव्य इति ॥ १३३ ॥

इति श्रीमूलतन्त्रानुसारिण्यां लघुकालचक्रतन्त्रराजटीकायां
द्वादशसाहस्रिकायां विमलप्रभायां
उत्पन्नक्रमसाधनमहोद्देशश्चतुर्थः ।

(५) नानासाधनमहोद्देशः

वज्रवेगं नमस्कृत्य विश्ववज्रधरं प्रभुम् ।
नायकं क्रोधराजानां नानासाधनमुच्यते ॥

क्रोधेन्द्रं वज्रवेगं द्व्यधिकजिनकरं वेदवक्त्रं द्विपादं
पिङ्गाक्षं पिङ्गकेशं जिनपतिमुकुटं तीक्ष्णदंष्ट्राकरालम् ।
सर्पालं व्याघ्रचर्मप्रवरनिवसनं भर्तृवच्छस्त्रहस्तं
मूर्ध्नो मालानिबद्धं सकलजिनकुलैः पञ्चवर्णैः कपालैः ॥१३४॥

क्रोधेन्द्रमित्यादिना । इह **क्रोधेन्द्रं वज्रवेगं** हूँकारवज्रनिष्पन्नं पूर्वोक्तसाधनविधि-[292b]ना । **द्व्यधिकजिनकरमिति** षड्विंशतिभुजं गजचर्मपटधारिणम् । **वेदवक्त्र**-मिति चतुर्मुखम् **द्विपादं पिङ्गाक्षं पिङ्गकेशं जिनपतिमुकुटमित्यक्षोभ्यमुकुटं तीक्ष्ण**-

---

१. भो. gÑis (द्वि) । २. च. निरोधात् । ३. ग. च. तीति । ४. भो. 'इह' नास्ति ।

दंष्ट्राकरालम् । **सर्पालमिति** सर्पभूषणम् । **व्याघ्रचर्मप्रवरनिवसनम्** । **भर्तृवच्छस्त्रहस्तं** कालचक्रवदिति । **मूर्ध्नो मालानिबद्धं सकलजिनकुलैर्विशुद्धैः** । **पञ्चवर्णैः कपालैः** ॥१३४॥

विश्वाब्जे सूर्यमूर्ध्नि स्फुरदमलकरं मण्डले विश्ववर्णे
पादाभ्यां भूतनाथाक्रमितमतिबलात् संस्थितालीढपादम् ।
भूतादींस्त्रासयन्तं ह्यसुरफणिसुरान् ज्ञानसत्त्वैकभूतं
ध्यायन्नेवैकमासं चितिभुवनगतं साधयेद् भूतवृन्दम् ॥१३५॥

इत्थंभूतं **विश्वाब्जे सूर्यमण्डलोपरि स्फुरदमलकरं** स्वच्छं **मण्डलगृहे विश्ववर्णे** एकवीरम्, मध्ये चतुर्द्वारेषु वज्राङ्कुश[1]वज्रवज्रपाश[2]वज्रवज्रघण्टा यथानुक्रमेण दत्त्वा **पादाभ्यां भूतनाथम**पराजितप्रेत[3]नाथ**माक्रमितमतिबलात्संस्थितालीढपादं भूतादींस्त्रासयन्तं** गजचर्मधृतं करतर्जनीभ्याम् **असुर[4]फणिसुरां**स्त्रासयन्तमिति । **ज्ञानसत्त्वैकभूतम्** । एभिर्मन्त्रपदैः, जः हूँ वँ हो **ध्यायन्** योगी, **एवैकमासं चितिभुवनगतं** श्मशानभूमिगतं **साधयेद् भूतवृन्दमि**ति भूतादीनां यो नायकः, स तया मूर्त्या पादतले पातितः सन् सपरिवारः सिद्धिं गच्छति । प्रेतो वा राक्षसादिक इति भूतादिसाधननियमः ॥१३५॥

इदानीं मेघवर्षणाय नागराजसाधनमुच्यते—

नागानब्जाष्टपत्रेष्वपि जयविजयौ पातयित्वाऽर्कमूर्ध्नि
पादाभ्यां स्तम्भयित्वा फणिपतिमिथुनं पद्मपत्रे स्थितानाम् ।
लाङ्गूलाग्रं च सर्वं घनकुलमुदरान् मुञ्चतो वै समन्ताद्
ध्यातः क्रोधेन्द्र एवं कतिपयदिवसैः साधयेन्मेघवृन्दम् ॥ १३६ ॥
[293a]

नागानित्यादि । इह स एव वज्रवेगः **क्रोधेन्द्रो ध्यातः** सन् **साधयेन्मेघवृन्दम्** । **कतिपयदिवसैरि**ति मासदिनैरेवमित्यनेन विधिना । **नागानब्जाष्टपत्रेष्वि**ति । अब्जपूर्वपत्रे कर्कोटः, अग्नौ पद्मः, दक्षिणे वासुकिः, नैर्ऋत्ये शङ्खपालः, उत्तरे अनन्तः, ईशाने कुलिकः, पश्चिमे तक्षकः, वायव्ये महापद्मः, पूर्वाग्नौ कृष्णौ, दक्षिणे(ण)नैर्ऋत्ये रक्तौ, उत्तरेशाने शुक्लौ, पश्चिमवायव्ये पीतौ, **अपि जयविजयौ** हरितनीलौ नागराजानौ **पातयित्वाऽर्कमूर्ध्नि** अर्कमण्डले वामदक्षिणपादतले [5]नाभ्यूर्ध्वं पुरुषाकारावधः सर्पाकारौ शिर उपरि सप्तफणचक्रवाहौ महामणिभिः स्फुरन्तावुत्तानकौ पातयित्वा, [6]अपरे(र)-नागराजान् पातयित्वा तेषां लाङ्गूलाग्रं प्रत्येकं जयोपरि पूर्वोत्तराणाम्, विजयोपरि दक्षिणपश्चिमानाम् । **लाङ्गूलाग्रं च सर्वम्** । एवं **पादाभ्यां स्तम्भयित्वा फणिपतिमिथुनं**

१. २. ख. ग. च. छ. 'वज्र' नास्ति । ३. ग. च. 'नाथ' नास्ति । ४. ग. फणां ।
५. क. नात्यूर्ध्वं । ६. क. यत्र ।

पद्मपत्रे स्थितानां लाङ्गूलाग्रं च सर्वमिति। एवमष्टौ नागराजाः पञ्च फणिनो घनकुलं मेघवृन्दमुदरान्मुञ्चतो वै समन्तात्। एवं क्रोधेन्द्रो ध्यातः श्मशानभूम्यां मासदिनैर्मेघवृन्दं साधयेत्। ततो यथाभिरुचितकाले वर्षापयति, विसर्जनेन [1]विधारयति। [2]इति नागराजसाधननियमः ॥१३६॥

इदानीं कर्मभेदैर्देवतासाधनमुच्यते— 5 T 359

इत्याद्यं देवतानां भवति नरपते साधनं दैवतीनां
प्रत्येकं मण्डलेऽस्मिन् स्वजिनकुलवशात् कर्मभेदैः समस्तैः।
स्तम्भे शान्तौ च वश्ये परधनहरणे मारणोच्चाटनाद्ये
षट्त्रिंशद्योगिनीनां भवति खलु पुनर्जापहोमं स्वबीजैः ॥१३७॥

इत्याद्यमित्यादि। इह मण्डले उक्ताद्यदपरं देवतादैवतीनां साधनं भवति नरपते 10
प्रत्येकं मण्डलेऽस्मिन् ए[293b]कवीरैः स्वजिनकुलवशाद् वैरोचनादिकुलवशात्, कर्मभेदैः समस्तैः साधनं भवति। [3]स्तम्भे शान्तौ वश्ये परधनहरणे मारणोच्चाटनाद्ये वक्ष्यमाणसाधनं षट्त्रिंशद्योगिनीनामन्यासां श्मशानपर्यन्तानां भवति खलु पुनर्जापहोमं[4] च स्व-स्व[5]मन्त्रबीजैर्भवति ॥१३७॥

इदानीं शान्त्यादिध्यानमुच्यते— 15

शान्तौ ध्यानं च शान्तं शशधरधवला देवता शान्तरूपा
रौद्रे ध्यानं च रौद्रं कषणघननिभा देवता रौद्ररूपा।
वश्ये ध्यानं सरागं दिनकरवपुषा देवता रागमूर्तिः
स्तम्भे ध्यानं समूढं वरकनकनिभा देवता स्तब्धरूपा ॥१३८॥

शान्तावित्यादि। इह शान्तौ ध्यानं च शान्तं शशधरधवला देवता शान्तरूपा 20
ध्यातव्येति। रौद्रे मारणाद्ये ध्यानं रौद्रं कृष्णवर्णा देवता रौद्रमूर्तिः। वश्ये ध्यानं सरागं देवता रक्तवर्णा रागमूर्तिः। स्तम्भने ध्यानं मूढं देवता पीतवर्णा स्तब्धरूपेति। यथा शान्तौ तथा पुष्टौ ज्वरोपशमने विषापहरणे च भवति। यथा मारणे तथोच्चाटने विद्वेषे ज्वरसंक्रामणे चेति। यथा वश्ये तथाकृष्टौ स्तोभने ज्वरोत्पादने च। यथा स्तम्भने [6]तथा मोहने कीलने चेति नियमः ॥१३८॥ 25

इदानीं गणकुलैः शान्त्यादिसिद्धिरुच्यते—

शान्तिः पुष्टिश्च राजन् ससुतजिनकुलैः सिद्धयते देवतीभि-
र्विद्वेषोच्चाटनं च प्रकृतिगुणवशात् सिद्धयते क्रोधजाभिः।

---

१. ग. विचार। २. क. ग. छ. भो. इह। ३. ग. च. स्तम्भने। ४. ग. होमश्च।
५. ग. 'मन्त्र' नास्ति। ६. ग. 'तथा ..... कीलने' नास्ति।

वश्याद्यं भूतजाभिः प्रकटदनुकुले कीलनं चासुरीभि-
र्मातृभ्यां सर्वकर्माण्युभयपविकुले मारणं जीवनं च ॥१३९॥

शान्तिरित्यादि। इह **शान्तिः पुष्टिश्च ससुतजिनकुलैरिति**। इह रूप-वेदना-संज्ञा-संस्कारा एतानि चत्वा[294 a]रि जिनकुलानि ससुतानीति। विष्कम्भि-क्षिति-गर्भ-लोकेश्वर-खगर्भ एतानि बोधिसत्त्वकुलानि। एवं लोचना-पाण्डरा-मामकी-तारा जिनकुलानि। गन्धवज्रा-रसवज्रा-रूपवज्रा-स्पर्शवज्रा बोधिसत्त्वकुलानि। एभिः कुलैः शुक्लवर्णैर्भावितैः प्रत्येकैकैश्चन्द्रमण्डले ललाटे पद्मासने उपायैः सितपद्मवरद-हस्तैः, प्रज्ञाभिः सितोत्पलाभयहस्ताभिः शान्तिः पुष्टिश्च सिद्ध्यते। **राजन्नित्यामन्त्रणम्**। चकारान्निर्विषत्वं ज्वरोपशमनं चेति। **विद्वेषोच्चाटनं** चकारान्मारणं विषसंक्रामणं च। **प्रकृतिगुणवशादिति** क्रोधप्रकृतिगुणवशात्, **सिद्ध्यते क्रोधजाभिरिति**। क्रोधजा हूँकारवज्रजा दश क्रोधाः, फ्रेंकारकर्तिजा दश क्रोधभार्याः, हृदये राहुमण्डले क्रोधैरालीढ-पादैर्वज्रपाशहस्तैर्मारणं सिद्ध्यति। खड्गशृङ्खलाहस्तैः सतर्जन्यैर्विद्वेषाद्यं[1] कृष्णवर्णैः क्रूरैरिति। देवीभिः कर्तिकपालहस्ताभिः प्रत्यालीढाभिः खड्गपाशहस्ताभिरिति [2]सिद्ध्यति। **वश्याद्यं भूतजाभिरिति**। इह चर्चिकादिभिरष्टदेवीभिः सूर्यमण्डले कण्ठे विशाखपदाभी रक्तवर्णाभिर्धनुर्बाणहस्ताभिर्वश्यं सिद्ध्यति। आकृष्टाद्यं पाशाङ्कुशहस्ताभिः सिद्ध्यतीति। **प्रकटदनुकुले कीलनं चासुरीभिरिति**। इह श्वानास्याद्यष्टदेवीभिः [3]पीतवर्णाभिः, नाभौ कालाग्निमण्डले पीते मण्डलपदाभिश्चक्रपर्वतहस्ताभिः स्तम्भनं सिद्ध्यति। मुद्गरकीलकहस्ताभिः कीलनं सिद्ध्यति। त्रिशूलनागहस्ताभिः मोहनं सिद्ध्यतीति। **मातृभ्यामिति** वज्रधात्वीश्वर्या प्रज्ञापारमितया वा गुह्यकमले **सर्वकर्माणि** सिद्ध्यन्ति। उदकादिमण्डलभेदेन सितादिवर्णेन पूर्वोक्तेन [4]प्रत्येकैकचिह्नेन पदेन [5]च **मारणं जीवनं च** सिद्ध्यति। वज्रासनेन बिन्दुमध्ये सानन्दा [6]देवता जीवनं [7]भवति, योगबलेन प्राणानाकृष्य च्युतेन बिन्दुना विरक्ता मारणं करोति, पुनः प्रत्युज्जीवनं नास्ति साध्यस्य। तेन तत्साधनं बौद्धयोगिना न कर्तव्यम्, यत्र साध्यस्य प्राणे आकृष्टे सति शुक्रनिर्गमो भवतीति नियमः सर्वकर्मसु [294b] ॥ १३९ ॥

इदानीं सर्वकर्मसाधनानामादिकारणमुच्यते—

आदौ श्रीकालचक्रस्त्रिभुवनजननी यत्नतः साधनीयौ
पश्चात् कर्माणि साध्यानि च भुविनिलये शान्तिकादीनि यानि।
मात्रा पित्रा विहीनो नहि भवति सुतः सर्वदा लोकसिद्ध-
स्तस्माद् द्वौ साधनीयौ समसुखफलदौ नान्यथा कर्मसिद्धिः ॥१४०॥

---

१. ग. च. भो. 'सिद्ध्यति' इत्यधिकम्। २. भो. 'सिद्ध्यति' नास्ति। ३. भो. 'पीतवर्णाभिः' नास्ति। ४. ग. च. प्रत्येक। ५. च. 'च' नास्ति। ६. भो. Lhamo (देवती) ७. ग. च. करोति।

आदावित्यादि। इहादौ योगिना यत्नत इति गुरूपदेशतः साधनीयः **श्रीकालचक्र** इति प्राणवायुर्मध्यमायां प्रवेशितव्यः सदा। **त्रिभुवनजननीति** शून्यताबिम्बम्। तौ द्वौ बिम्बप्राणौ **यत्नतः साधनीयौ**। **पश्चादुक्तानि** सर्व**कर्माणि साध्यानि** भवन्ति **भुवितल-निलये शान्तिकादीनि यानि**। अत्र दृष्टान्तः—**मात्रा पित्रा विहीनो नहि भवति सुतः सर्वदा लोकसिद्धः**। **तस्माद् द्वौ साधनीयौ** बिम्बप्राणौ **समसुखफलदौ नान्यथा कर्मसिद्धिरस्ति**, बिम्बेन प्राणेनासाधितेनेति नियमः॥ १४०॥

इदानीं शान्त्यादिसाधनाय आदिभावनोच्यते—

भर्तुर्हृत्पद्ममध्ये शशिरविशिखिनि स्थापयेन्मूर्ध्नि वज्रं
हूँकारं ज्ञानजातं प्रलयघननिभं पञ्चशूकं सरश्मि।
तन्मध्ये जोऽङ्कुशस्य त्रिभुवनसकलं रश्मिभिः पूरयित्वा
आकृष्य ज्ञानचक्रं त्रिविधभवगतं वज्रमार्गे प्रवेश्य॥१४१॥

सर्वं चन्द्रद्रवाभं स्वकुलिशवदनादुत्सृजेन्मातृपद्मे
तस्मिन् सूर्ये प्रविष्टं भवति समरसं चादिकादिप्रयुक्तम्।
तन्मध्ये ज्ञानबीजं भवति कुलवशात् कर्मणः शान्तिकादे-
स्तेनोत्पन्ना च देवी भवति हि फलदा योगिनो देवता वा॥१४२॥

भर्तुरित्यादि। इह यदा योगी बिम्बं विस्पष्टमवधूत्यां प्राणगतं पश्यति, तदा तद्बिम्बं यादृशं विकल्पयेत् तादृशं पश्यति, तद्बिम्बं **भर्तुरिति**। कालचक्रं पूर्वोक्तं निष्पाद्य ततस्तस्य **हृत्पद्ममध्ये** कर्णिकायां **शशिरविशिखिनीति** चन्द्रसूर्यराहुयोगग्रहमण्डले त्र्यात्मके, अध्यात्मनि ललनारसनाऽवधूत्येकलोलीभूते हृत्कमले। तत्र **स्थापयेद् मूर्ध्नि वज्रं हूँकारपरिणतं पञ्चशूकं प्रलयघननिभं** कृष्णवर्णमि[295a]ति **सरश्मि** पञ्चरश्मि स्फुरदिति। **तन्मध्य** इति तस्य वज्रस्य मध्यवराटके जःकारपरिणतं **वज्राङ्कुशं** भावयेत्। ततस्तस्याङ्कुशस्य **रश्मिभिर्वज्राङ्कुशाकारैस्त्रिभुवनमिति** त्रिधातुकं **सकलं पूरयित्वा** तैर्वज्राङ्कुशैस्त्रिभवाकारं स्वच्छं **ज्ञानचक्रमाकृष्य त्रिविधभवगतं** व्यापकत्वेन यत् तदवधूतीद्वारेणोष्णीषललाटकण्ठहृदयनाभिगुह्य**मार्गे प्रवेश्य**। **सर्वमिति** सर्वाकारं यत्त**च्चन्द्रद्रवाभमिति** बोधिचित्तलक्षणम्, **स्वकुलिशवदनादुत्सृजेन्मातृपद्म** इति स्ववज्र-मुखाद्यथा पुरुषः स्त्रीकमले बोधिचित्तमानन्दितं क्षिपेत्, तथा देवतायोगेन देव्याः पद्मे उत्सृजेत्। मात्रिति वक्ष्यमाणानां जननी यथा गर्भजानां तथैव। **तस्मिन् सूर्ये प्रविष्ट-मिति**। इह यथा स्त्रीयोनौ रक्ते प्रविष्टं बोधिचित्तं समरसं रक्तेन सह भवति, तथा सूर्यमध्ये प्रविष्टं चन्द्रं **समरसं** मातृपद्मे **भवति**। आदियुक्तं चन्द्रद्रवं **कादियुक्तं** सूर्यरजः, प्राणापानयुक्तम्। **तन्मध्ये** प्राणापानमध्ये **ज्ञानबीजमालयविज्ञानलक्षणं भवति**। **कुलवशादिति** पञ्चस्कन्धवासनावशात्। सत्त्वानां विज्ञानं भवति। एवं **कर्मणः शान्ति-कादेर्ज्ञानबीजं भवति**। **तेन** बीजेन **उत्पन्ना** यथा कुमारी वा कुमारो वा, **भवति हि**

T 360

फलदो द्वादशवर्षावधेः षोडशवर्षावधेः, तथा **देवी देवता** उपायो **वा** योगिना भावितेति नियमः। अतो द्वादशवर्षैर्देवी वरदा भवति भाविता, देवश्च षोडषवर्षैर्वरदो भवति। ततः सर्वकर्माणि सर्वसिद्धयः सर्वसौख्यानि **योगिनः** सिद्ध्यन्ति। अन्यथा क्लेशः केवल एवेति सर्वतन्त्रान्तरे कालनियमो वीर्यवतामहर्निशि भावितात्मनाम्, नान्येषां व[295b]र्षशतावधेरिति सिद्धिनियमः ॥१४१-१४२॥

इदानीं चिह्नोत्पादाय ज्ञानबीजान्युच्यन्ते—

जः हूँ वँ होः क्रमेणाङ्कुश इति कुलिशं वज्रपाशश्च घण्टा
ॐ आः हूँ होस्तथोक्तं शशिरविकुलिशं चाक्षरं तद्वदेव ।
ई ॠ ऊ ॡ तथैव प्रकटयरवला वायुवह्न्यम्बुपृथ्व्यो
हः हुं हं फ्रें तथोक्तं रविरपि कुलिशं चन्द्रमा कर्तिका च ॥ १४३ ॥

[1]ज इत्यादि। इह **जः हूँ वँ होः क्रमेणेति** जःकारेण **वज्राङ्कुशो** भवति, तेन परिणतेन वज्राङ्कुशहस्ता देवी वा देवो वा भवति। [2]एवं हूँकारेण **वज्रम्**, तेन वज्रहस्ता भवति। वँकारेण **पाशहस्तेन** पाशहस्ता भवति। होःकारेण **घण्टा**, तया घण्टाहस्ता भवति। **ॐ आः हूँ होः तथोक्तमिति**। तथेति क्रमेण पूर्ववत्। ॐकारेण चन्द्रमण्डलं **शशीति**। आःकारेण सूर्यमण्डलं **रवीति**। हूँकारेण राहुमण्डलं **कुलिशमिति**। होःकारेण कालाग्निमण्डलम**क्षरं तद्वदेवेति**। **ई ॠ ऊ ॡ तथैवेति**। यथाक्रमेण ईकारपरिणतः खड्गः, तेन परिनिष्पन्ना देवता खड्गहस्ता देवो वा। एवं ॠकारेण मणिर्बाणो वा, तेन तेजोदेवता मणिहस्ता बाणहस्ता वा [3]देवी। ऊकारेण पद्मम्, तेन तोयदेवता पद्महस्ता उत्पलहस्ता वा देवी[4]। ॡकारेण चक्रम्। चक्रेण पृथिवीदेवता चक्रहस्ता [5]देवी वा। एवं **यरवला** अपि यथाक्रमेण **वाय्वग्नितोयपृथिवी**देवता इति। तथा हः इति **रविमण्डलम्**। हुँ इति रविमूर्ध्नि वज्रं नायकस्य। हमिति **चन्द्रमण्डलम्**। फ्रें इति चन्द्रमण्डलोपरि **कर्तिका**। नायिकाचिह्ननियमः। [6]तथोक्तमिति ॥ १४३ ॥

इदानीं देवतायां [7]साधितायां सत्यां शान्त्यादिकर्मकरणाय देवतासमाधिरुच्यते—

ध्यात्वा चन्द्रार्कमध्ये त्वलिकलिसहिते तोयबीजात्मकाब्जं
तेनोत्पन्नैकवक्त्रां यमकरकमलां देवतीं चन्द्रवर्णाम् ।
आरूढां श्वेतनागं सितजलजकरां चाभयां श्वेतवस्त्रां
श्वेतालङ्कारयुक्तां प्रहसितवदनां प्रेषयेत् साध्यवेश्म ॥ १४४ ॥
[296a]

---

१. ख. 'ज इत्यादि' नास्ति। २. ग. इतः परं पत्र १२४ 'एवं हूँकारेण""च रक्तम्' नास्ति। ३. च. भो. 'देवी' नास्ति। ४. ५. भो. 'देवी' नास्ति। ६. च. 'तथोक्तमिति' नास्ति। ७. छ. 'साधितायां' नास्ति।

ध्यात्वेत्यादि। इह पूर्वोक्तमातृगुह्यपद्मे **चन्द्रार्कमध्ये आदिकादिसहिते तोयबीजात्मकाब्ज**[1]मिति वकारपरिणतं शुक्लं पद्मम्, **तेनोत्पन्नैकवक्त्रा द्विभुजा** [2]देवता **चन्द्रवर्णा। आरूढा श्वेतनागमिति** ऐरावतमारूढा। **सितजलजकरेति** श्वेतपद्महस्ता देवता देवी श्वेतोत्पलहस्ता। **अभया** दक्षिणेऽभयहस्ता। **श्वेतवस्त्रा श्वेतालङ्कारयुक्ता** मुक्ताफलाभरणा **प्रहसितवदना** भाव्या। तां च **प्रेषयेत् साध्य**[3]**वेश्मनि** ॥ १४४॥ 5

तस्मात् साध्यं गृहीत्वा पुनरपि च विभोर्मण्डले संप्रविष्टां
भर्तुश्चाज्ञां प्रलब्ध्वा पुनरमृतघटैर्लोचनाद्याः प्रहृष्टाः।
तं साध्यं स्नापयन्ति प्रवरदशविधाः शक्तयः पूजयन्ति
रूपाद्याः पोषयन्ति प्रकटदशभिर्लास्यादयस्तोषयन्ति ॥ १४५ ॥

भूताख्याश्चाभयन्ते प्रवरदशविधाः क्रोधजाः पालयन्ति 10
नागिन्यश्चुम्बयन्ति त्वमरयुवतयो द्वादशालिङ्गयन्ति।
चण्डाः कुर्वन्ति रक्षां सकलभुवितले शान्तिपुष्ट्यर्थहेतो-
रेवं साध्यस्य सर्वं परमसुखकरं योगिना भावनीयम् ॥ १४६ ॥

अपरवृत्तद्वयेनोक्तं सुबोधम्। **तस्मादित्यादिना, एवं साध्यस्य सर्वं परमसुखकरं योगिना भावनीयमिति** पर्यन्तम् ॥ १४५–१४६ ॥ 15

ह्रीं चन्द्रादित्यगर्भे कुवलयकलिकाबाणमेवेक्षुचापं
तेनोत्पन्नार्कभासोभयकरधनुषा पूरिताकर्णबाणा।
प्रत्यालीढं च रूढा कमलशशधरा प्रेषयेत् साध्यवेश्म
साध्यं हृन्नाभिगुह्ये शिरसि च वदने ताडयित्वा शरेण ॥ १४७ ॥
[296b] 20

कण्ठे पाशेन बद्ध्वा क्षुभितमपि तया मण्डले नीयमानं
चण्डाभिर्वस्त्रहीनं कृतमपि नियतं वेष्टितं नागिनीभिः।
देवीभिर्भर्त्स्यमानं सलगुडमुषलैस्ताडितं क्रोधजाभि-
र्भूताभिर्भीष्यमानं खरनखनिहितं चैव लास्यादिभिश्च ॥ १४८ ॥

वज्राभिर्नष्टबुद्धिं क्षितिजलहुतभुग्वातजाभिश्च बद्धं 25
भर्तुः पादे विवस्त्रं सकलमदहतं पातितं शक्तिभिश्च।

---

१. क. ज्ञमिति। २. भो. Lhamo (देवती)। ३. छ. वेश्मेति।

एवं कृत्वा तु वश्यं पुनरपि च विभुस्तोषयेत् तत्र साध्यं
तद्वत् पाशाङ्कुशाभ्यां भवति बहुविधाकृष्टिकर्म त्रिधातौ ।। १४९ ।।

तथा ह्रीं चन्द्रादित्यगर्भे इत्यादिना तद्वत् **पाशाङ्कुशाभ्यां भवति बहुविधाकृष्टिकर्म त्रिधातौ** इति पर्यन्तं वश्याकृष्टौ वृत्तत्रयं सुबोधम् ॥ १४७–१४९ ॥

5 ध्यात्वा सूर्येन्दुमध्ये कषणघननिभं दीर्घहूँकारजासिं
तेनोत्पन्ना विवर्णा त्वसिकरकमला तर्जनीपाशहस्ता ।
प्रत्यालीढोष्ट्रमूर्ध्नि प्रकुपितवदना प्रेरिता साध्यवेश्म
साध्यं पाशेन बद्ध्वा कुपितवदनया मण्डलद्वारनीतम् ।। १५० ।।

उष्ट्रे यःकारजाते वरपवनगतौ भर्तृवाक्येन साध्यं
10 तत्रारूढं प्रकृत्या शिखिचलवलयं प्रेरयेद् यावदेव ।
एवमुच्चाटनं वै भवति सुरपतेः किं पुनर्मानुषस्य
विद्वेषेऽप्युष्ट्रहीनौ बहुकृतकलहौ सव्यवामे च नेयौ ।। १५१ ।।

तथा विद्वेषोच्चाटने **ध्यात्वा सूर्येन्दुगर्भे कषणघननिभं दीर्घहूँकारजासिम्** इत्यादिना वृत्तद्वयं सुबोधम् ॥ १५०–१५१ ॥

15 ध्यात्वा सूर्येन्दुगर्भे ल इति परिणतं पीतवर्णं सुचक्रं
तेनोत्पन्नैकवक्त्रा वरकनकनिभा शृङ्खलाचक्रहस्ता ।
कूर्मे[297a] दैत्यासनस्था त्वतिमृदुगमना प्रेरिता साध्यवेश्म
साध्यं चक्रेण भेध्यं प्रपतितमवनौ शृङ्खलाबद्धपादम् ।।१५२।।

आनीतं मण्डले वै जिनपतिवचसा पातयित्वा धरण्यां
20 मेरुस्तन्मूर्ध्नि देयो वरकनकमयः स्तम्भने साध्यकाये ।
षट्सन्धौ कीलनार्थं त्वपि कुलिशमयैः कीलकैः कीलनीयः
सर्पैः सन्दंश्यमानः पतित इह महौ मोहने भावनीयः ।।१५३।।

ध्यात्वा सूर्येन्दुगर्भे ल इति परिणतं पीतवर्णं सुचक्रम् इत्यादि स्तम्भन-कीलन-मोहने वृत्तद्वयं सुबोधम् ॥ १५२–१५३ ॥

25 ध्यात्वा सूर्येन्दुगर्भे तडिदनलनिभां कर्तिकां फ्रेंस्वभावां
तेनोत्पन्ना प्रचण्डा प्रलयघननिभा कर्तिका शुक्तिहस्ता ।

प्रत्यालीढा विवस्त्रा ह्युपरि हरिरिपोः प्रेरिता साध्यवेश्म
साध्यं केशेषु शीघ्रं धृतमपि च तया मण्डले वस्त्रहीनम् ॥१५४॥

आनीतं श्रीश्मशाने जिनपतिवचसा गृध्रकाकैः शृगालैः
सर्वाङ्गात् पीतरक्तं पललमपि तथा भक्षितं सर्वधातुम् ।
साध्यस्यैवं समस्तं प्रवरभुवितले मारणे भावनीयं 5
ध्यानेनानेन शक्रो व्रजति यमपुरं किं पुनर्गर्भजातः ॥१५५॥

पुनर्ध्यात्वा सूर्येन्दुगर्भे तडिदनलनिभां **कर्तिका** क्रैस्वभावाम् इत्यादि मारणे वृत्तद्वयं सुबोधम् । एवं वश्यादिनववृत्तानि सुबोधानि तेन न लिखि(व्याख्या)तानीति ॥ १५४–१५५ ॥

इदानीं शान्तावपरं ध्यानमुच्यते— 10

शान्तौ पुष्टौ च शुक्लं भवति कुलवशाद् ध्यानमप्यम्बुबीजाद्
वश्याकृष्टौ च रक्तं त्वपि तनुदहनं वह्निबीजात्मकं च ।
विद्वेषोच्चाटने च प्रलयघननिभं वायुबीजस्वभावं
संस्तम्भे कीलनाद्ये वरकनकनिभं भूमिबीजात्मकं च ॥१५६॥
[297 b] 15

शान्तावित्यादि । इह प्रथमं तावदेकवीरमात्मानं कालचक्रं भावयेच्चतुर्विंशतिभुजं शान्त्यादिवश्यादिकर्मणि, मारणादिस्तम्भनादिकर्मणि षड्विंशतिभुजम् । ततो झटित्याकारेण **शान्तौ पुष्टाविति** । इह कालचक्रस्य हृदये तोयमण्डले तोयबीजेनोत्पन्ना देवता तोयात्मिका **शुक्ला** । **कुलवशादु**कारकुलवशात् । तस्या **ध्यानं** शुक्लध्यान**मप्यम्बुबीजात्** शान्तौ पुष्टौ च भवति । तथा **वश्याकृष्टौ च रक्तम्** । **अपि** 20 **तनुदहनं वह्निबीजात्मकं** कण्ठे वह्निमण्डले ऋकारकुलवशादिति । **विद्वेषोच्चाटने च** कृष्णं **वायुबीजस्वभावं** ललाटे वायुमण्डले प्राणस्य इकारकुलवशात् । **स्तम्भने कीलनाद्ये** पीतं **भूमिबीजात्मकं** नाभौ पृथिवीमण्डले लकारकुलवशादिति ॥ १५६ ॥

नीलाभं शून्यबीजाद् भवति हि हरितं मारणे जीवने च
पृथ्वीकृत्स्नं समन्ताज्जलनिधिगमने वायुकृत्स्नं च वृष्टेः । 25
नाशार्थं वह्निकृत्स्नं त्वपि महिवलयं द्रावणार्थं च वह्ने-
र्नाशार्थं तोयकृत्स्नं भवति खगमने शून्यकृत्स्नं त्वदृश्ये ॥१५७॥

[1]**नीलाभं शून्यबीजाद्** गुह्ये ज्ञानमण्डले अंकारकुलवशान्**मारणे**। उष्णीषे शून्यमण्डले **हरितमकारकुलवशाज्जीवने च**। एवं षट्स्थानेषु षट्कुलवशात् प्राण[2]संयमात् कर्मसिद्धिर्भगवतोक्ता। इदानीं पृथिव्यादिकृत्स्नभावनोच्यते पृथ्वीत्यादि। इह यदा योगिनां देवता सिद्धा भवति, तदा नाभौ पृथिवीमण्डलात् **पृथ्वीकृत्स्नं** समुद्रोपरि सेतुबन्धवन्निश्चार्य भावयेत्। **जलनिधिगमने** समुद्रोपरि गच्छति, यथा स्थले तथा जले पृथ्वीकृत्स्नध्यानेनेति। एवं **वायुकृत्स्नं** चाति**वृष्टेर्विनाशार्थमि**ति। ललाटे वायुमण्डलान्निश्चार्य वायुकृत्स्नं मेघोपरि भावयेत्तेन मेघवृष्टिं विनाशयति। अथ पञ्चधात्वात्मकं कूटागार[298a]मात्मन उपरि भावयेत्। तेन ध्यानेन योगी जलेन न स्पृश्यते कूटसोमापर्यन्तम्। न मेघवृष्टिः प्रविशति वर्षमाणापीति **मूलतन्त्रे** प्रोक्तम्। एवं वायुकृत्स्नं[3] निश्चार्याग्निर्मूर्ध्नि [4]वृष्टेर्विनाशार्थमिति **वह्निकृत्स्नमि**ति। इह कण्ठे वह्निमण्डला[5]दग्निबीजपरिणता[6] ज्वाला पृथिव्युपरि भावयेत्। निश्चार्य ताभिर्ज्वालाभि**र्महिवलयं** द्रवति द्रुतकनकवत्। एवं भूमि**द्रावणार्थं** वह्निकृत्स्नं भावनीयम्। एवं **वह्नेर्नाशार्थं तोयकृत्स्नमि**ति। इह देवताहृदये तोयमण्डलात् तोयबीजजनितं तोयकृत्स्नं निश्चार्याग्निमूर्ध्नि भावयेत्। तेनाग्निः शीतलो भवति, न दहनक्षम इति। **भवति खगमने शून्यकृत्स्नमि**ति। उष्णीषे आकाशमण्डले आकाशकृत्स्नं द्रव्यरहितं भावयेत्, तेनाकाशगमनं भवतीति। तथा चौराद्युपद्रवेऽ**दृश्यो** भवति तेनैव ध्यानेनेति नियमः ॥१५७॥

इदानीं तिर्यगुपद्रवशमनाय ध्यानमुच्यते—

> ध्यानं पञ्चाननं वै भवति गजपतेर्भङ्ग एवाग्निबीजात्
> तार्क्ष्यं नागेन्द्रभङ्गे भवति हि धवलं तोयबीजात्मकं च।
> अष्टाङ्घ्रि खड्गिसिंहे प्रलयघननिभं वायुबीजात्मकं स्यात्
> खड्गाख्यं वाजिशत्रोरवनिकुलवशात् क्रोधजं दैत्यभङ्गे ॥१५८॥

ध्यानमित्यादि। इह यदा गजपतेर्भयं भवति, तदा कण्ठे **अग्निबीजादि**ति रेफादुत्पन्नं पञ्चाननं भावयेत्। तत् **पञ्चाननध्यानं भवति गजपतेर्भङ्ग**विषये। एवं **तार्क्ष्यं नागेन्द्रभङ्गे** हृदये तोयमण्डले **तोयबीजात्मकं** तद्वद् **धवलं भवति**। **अष्टाङ्घ्रिमि**ति अष्टपदम्। **खड्गिभये सिंह**भये [7]कृत्स्नं ललाटे वायुमण्डले **वायुबीजात्मकं** चेति। **खड्गाख्यं वाजिशत्रोरि**ति महिषभये। **अवनिकुलवशादि**ति पीतं नाभौ पृथिवीमण्डले लकारबीजादिति। **क्रोधजं दैत्यभङ्गे** उष्णीषे शून्यमण्डले श्यामे। नीले गुह्ये ज्ञानमण्डले वा हूँकारबीजात्मकं [8]क्षुंकारबीजात्मकं दैत्यादीनां भङ्गविषये क्रोधजं सुखकरं योगिनां भवतीति ध्याननियमस्तिर्यग्भङ्गाय ॥ १५८ ॥ [298b]

---

१. च. शून्यं शून्यबीजाद्। २. च. संयमनात्। ३. क.ख.च.छ.भो. 'निश्चार्याग्निमूर्ध्नि' नास्ति। ४. ग. 'वृष्टेर्विनाशार्थमिति' नास्ति। ५. ग. च. द्वह्निबीज। ६. ग. तात्। ७. ग. च. भो. कृष्णं। ८. च. क्षः, छ. क्षूं।

इदानीं कर्मसाधनायादिनियम उच्यते—

श्रीमन्त्रं बुद्धबिम्बं प्रथममपि विभोर्योगिना साधनीयं
पश्चात् सिद्धचन्ति कर्माण्यपरिमितगुणान्यर्कभेदैः स्थितानि ।
मन्त्रे बिम्बे त्वसिद्धे त्रिभुवननिलये सिद्धचते नैव किञ्चित्
तस्माद् राजन् स्वचित्ते व्यपगतकलुषे साधयेन्मन्त्रबिम्बम् ॥१५९॥ 5

श्रीमन्त्रमित्यादि। इह योगिनां कर्मसिद्धये प्रथमं साधनीयं श्रीमन्त्रमिति। ॐ आः हूँ इति साधनीयं वक्ष्यमाणजापहोमविधिनाऽपरमन्त्रसिद्धये। एवं बुद्धबिम्बमिति शून्यताबिम्बं प्रत्यक्षं करणीयमपरध्यानसिद्धये। एवं **श्रीमन्त्रं बुद्धबिम्बं प्रथममपि विभोर्योगिना साधनीयं पश्चात् सिद्धचन्ति कर्माणि, अपरिमितगुणान्यर्कभेदैरिति** द्वादशभेदैः **स्थितानि। मन्त्रे बिम्बे त्वसिद्धे त्रिभुवननिलये सिद्धचते नैव किञ्चित्, तस्माद् राजन्** 10 **स्वचित्ते व्यपगतकलुषे साधयेन्मन्त्रबिम्बमादौ** विभोरिति नियमः ॥ १५९ ॥

इदानीं खड्गादिसिद्धचर्थमसुरेन्द्रसाधनमुच्यते—

शूरः संग्रामभूमौ पतित इति तथा लम्बितस्तस्करो वा
अष्टम्यां भूतरात्रौ नृप चितिभुवने स्नापयेदष्टकुम्भैः ।
गन्धैर्धूपैः प्रदीपैर्बहुविधचरुकै रक्तपुष्पैः प्रपूज्य 15
वज्रन्यासं प्रकृत्या शिरसि च हृदये मूर्ध्नि नाभौ च कण्ठे ॥१६०॥

शूर इत्यादिना। इह **संग्रामभूमौ शूरो** राजपुत्र एकनाराचप्रहारेण **पतितो**ऽन्यो वा योधः, तथा [1]वृक्षे **लम्बितस्तस्करो वा शूरः। अष्टम्यां वा भूतरात्रौ** चतुर्दश्यां वा कृष्णपक्षे। **नृपे**त्यामन्त्रणम्। **चितिभुवने** श्मशाने **स्नापयेत्** तं शवम्। **अष्टकुम्भै**र्वश्यकर्मण्युक्तैर्जयविजयाभ्यां च। ततो **गन्धैर्धूपैः प्रदीपैर्बहुविधचरुकै रक्तपुष्पैः प्रपूज्य** रक्त- 20 वस्त्रेण परिधानं कृत्वा। **वज्रन्यासं प्रकृत्या शिरसि च हृदये मूर्ध्नि** [2]**नाभौ च कण्ठे** [299a] इति। ललाटे [3]ॐ, हृदये हूँ, उष्णीषे हं, नाभौ [4]हां, कण्ठे आः, गुह्ये क्षः। एवं पूर्वोक्तं हृदयं शिरः शिखा कवचं नेत्रमस्त्रं चेति षडङ्गन्यासं कृत्वा शवस्यात्मशरीरस्यापि रक्षां कृत्वा देवतायोगेन ॥ १६० ॥

कृत्वा कुण्डे त्रिकोणे यदरुणरजसा गर्भपद्मं सचिह्नं 25
पत्रे चिह्नं जिनानां दिशि विदिशि तथा देवतीनां स्वचिह्नम् ।

---

१. क. ख. छ. वृक्षे वाऽवलम्बितः। २. क. ख. च.छ. नाभ्यादिके च। ३. छ. व।
४. च. भो. होः।

बाह्ये रेखात्रये वै दशदिशि वलये क्रोधचिह्नानि तद्वत्
प्रेतं तस्यावसव्ये त्वसिकरकमलं मण्डलात् सव्यपादम् ।।१६१।।

ततस्त्रिकोणे कुण्डे पूर्वोक्ते [1]यदरुणरजसा गर्भपद्मं रक्तं तत् सचिह्नमिति बाणचिह्नं कर्णिकायाम्, अथवा "सर्वकर्मणि वज्रम्" इति वचनात् रक्तवज्रम्। पत्रे चिह्नं जिनानामिति। [2]पूर्वे पत्रे खड्गः, दक्षिणे [3]रत्नम्, उत्तरे पद्मम्, पश्चिमे चक्रमिति। दिशि विदिशि तथेति। देवतीनां स्वचिह्नमिति। [4]पूर्वोक्ते मातृदोषे यथाग्नौ कर्तिका, दैत्यपत्रे वज्राङ्कुशः, वायव्ये वज्रपाशः, [5]ईशे त्रिशूलम्। बाह्ये रेखात्रये वै दशदिशि वलये क्रोधचिह्नानि तद्वदिति। यथा तथागतानां तथा दिक्षु, यथा देवीनां तथा विदिक्षु ऊर्ध्वे उष्णीषस्य वज्रम्, अधः सुम्भराजस्य पर्शुरिति, त्रिप्राकाराणां रक्षणायेति। एवं रजोमण्डले पूर्वोक्तविधिना चिह्नानि दत्त्वा श्मशानभूम्यां मण्डले कलशादिकं [6]संस्थाप्य प्रतिष्ठां कृत्वा गन्धादिभिरिष्टदेवतानां पूजां कृत्वा क्षेत्रपालादीनां बलिं दत्त्वा ततस्तं प्रेतं तस्यावसव्य इति कुण्डस्योत्तरे रजोमण्डलस्य दक्षिणद्वारस्य दक्षिणे। एवं मण्डलकुण्डयोर्मध्ये प्रेतं सव्यपादमिति दक्षिणपादमुत्तरशिरः। असिकरकमलमिति खड्गहस्तमुत्तानकं त्रिरेखापरिवेष्टितम् ॥ १६१ ॥[299b]

पूर्वोक्तान्मातृदोषाज्जिनपतिकुलिशैरात्मरक्षां प्रकृत्य
मन्त्री कुण्डस्य सव्ये सरुधिरपललैर्होममेवं प्रकुर्वन्।
ॐ ह्रीं फ्रें हूँ फडन्तं दशगुणितशतं होमयेत् तस्य मन्त्रं
बद्ध्वा वज्रासनं वै त्वमरगिरिरिवाकम्प एवार्धरात्रम् ।।१६२।।

एवं पूर्वोक्ताद् मातृदोषाद् मण्डले जिनपतिकुलिशैः पूर्वोक्तैरात्मरक्षां प्रकृत्य मन्त्री कुण्डस्य सव्ये सरुधिरपललैर्होममेवं प्रकुर्वन्निति। अत्र कुण्डे क्षत्रियगृहाग्निं खदिरकाष्ठैः प्रज्वाल्य ततः पूर्वोक्तविधिना पावकावाहनादिकं कृत्वा देवतायोगेनास्य मन्त्रेण महामांसं सरुधिरं दशशतगुणितमिति सहस्रमेकं होमयेत् तस्य मन्त्रमिति। ॐ ह्रीं फ्रें हूँ फट्, इत्ययं तस्य मन्त्रः। अनेनापि तस्य न्यासः कार्यः। ललाटे ॐ, कण्ठे ह्रीं, हृदये फ्रें, नाभौ हूँ, गुह्ये फडिति न्यासः। बद्ध्वा वज्रासनं वै अमरगिरिरिवाकम्प एवार्धरात्रं यावत् प्रहरमेकं होमयेदिति ॥ १६२ ॥

पूर्णे होमे ज्वलन् वै ललदसिरसनस्तीक्ष्णदंष्ट्रस्त्रिनेत्रो
गर्जन् विस्फोटयन् यः क्षितिमपि चरणैः साधकं भीषयन् सः।
स्थित्वा कुण्डान्तराले हसति कहकहं नृत्यते भीमकाय-
स्तं दृष्ट्वा भीतमन्त्री व्रजति यमपुरं नष्टचित्तः क्षणेन ।।१६३।।

---

१. च. 'यदरुण' नास्ति। २. ख. ग. च. छ. भो. पूर्व। ३. ग. रक्त। ४. ग. पूर्वोक्त। ५. ख. ईश, च. ईशाने। ६. क. ख. ग. छ. स्थाप्य।

ततः सहस्रे होमे पूर्णे सति ज्वलन् वै ललदसिरसनस्तीक्ष्णदंष्ट्रस्त्रिनेत्रो गर्जन् विस्फोटयन् यः क्षितिमपि चरणैः साधकं भीषयन्, सः प्रेतकाये प्रविष्टोऽसुरेन्द्र इत्थंभूतः स्थित्वा कुण्डान्तराले हसति कहकहं नृत्यते भीमकायः । तं दृष्ट्वा भीतमन्त्री व्रजति यमपुरं नष्टचित्तः क्षणेन ॥ १६३ ॥ T 362

भेतव्यं नासुरेन्द्रादपि चितिभुवने मन्त्रिणा सिद्धिहेतो-
र्दृष्ट्वा निष्कम्पचित्तं वदति पुनरिदं साधितो भूतनाथः ।
सिद्धोऽहं ते[300a] सुवीर वद सकलमहं साम्प्रतं किं करोमि
इत्युक्ते साधकेन स्वमनसि रुचितं प्रार्थनीयं परार्थम् ॥१६४॥ 5

स्पर्शं खड्गं रसेन्द्रामृतफलगुटिका रोचनं चाञ्जनं च
यल्लेपं पादुकां चाददतु मम भवान् लौकिकीमष्टसिद्धिम् । 10
विद्वेषोच्चाटनं वै भुवननिधनतां स्तम्भनाकृष्टिवश्यं
सर्वं मे यातु सिद्धिं स च वदति पुनः सर्वमेतत् करोमि ॥१६५॥

भूतेन्द्रं साधयित्वा व्रजति नरपते साधको यत्र तत्र
पाताले चान्तरीक्षे सुरवरभवने मेरुशृङ्गेऽब्धिपारे ।
तत्रारूढोऽसिहस्तः क्षितितलनिलये लोककार्यं करोति 15
तस्मात् सत्त्वार्थहेतोः परमकरुणया साधनीयोऽसुरेन्द्रः ॥१६६॥

अत ऊर्ध्वं वृत्तत्रयं सुबोधम्, भेतव्यं नासुरेन्द्राद् इत्यारभ्य साधनीयोऽसुरेन्द्र इति पर्यन्तम् । एवमसुरेन्द्रसाधननियमः ॥ १६४-१६६ ॥

इदानीं मन्त्रलक्षणमुच्यते—

नामाद्यं चित्तवज्रं भवति नरपते देवतादेवतीनां 20
वाग्वज्रं सर्वनामाक्षरमपि च ततश्चाधिकं कायवज्रम् ।
तस्मात् प्रत्यङ्गमन्त्रो भवति बहुविधः पाठसिद्धः कदाचिद्
भाव्यो याज्यश्च जाप्यः स्वजिनकुलवशाच्चित्तवाक्कायभेदैः ॥१६७॥

नामाद्यमित्यादि । इह त्रैधातुके स्थिरचलधर्माणां यद्यस्य नाम, तस्य नामस्याद्यक्षरं नामाद्यं तदेव चित्तवज्रं भवति नरपते देवतादेवतीनां वाग्वज्रं सर्वनामेति । इह यथा तारा पाण्डरा मामकी लोचना नाम, तदेव वाग्वज्रम् । एवं सर्वेषां भावानामिति । एवं सर्वनामाक्षरमपि ततश्चाधिकं कायवज्रमिति । इह यथा—ॐ तारे तुतारे तुरे स्वाहा, ॐ पाण्डरवासिनि वरदे स्वाहा, ॐ मामकि [300b] किरि किरि स्वाहा, ॐ 25

लोचने वसुदे स्वाहा—इत्यादीनि नामस्याधिकाक्षराणि चित्तवागक्षरसहितानि कायवज्राणि, **तस्मात्** कायवज्रात् परतो यो मालामन्त्रः स **प्रत्यङ्गमन्त्रमित्युच्यते**। यथा हस्तपादादयः कायावयवास्तथा नामावयवा मन्त्रनामस्येति। स च **बहुविधो भवति**। **पाठसिद्धः** [1]**कदाचित्**। इह यथाभिषेकपटले प्रत्यङ्गमन्त्रस्तद्यथा—ॐ आः हूँ [2]हो हं क्षः ह् क्ष् म् ल् व् र् य कालचक्र दुर्दान्तदमक १ जातिजरामरणान्तक २ त्रैलोक्यविजय ३ महावीरेश्वर ४ [3]वज्रकाय ५ वज्रगात्र ६ वज्रनेत्र ७ इत्यादि प्रत्यङ्गमन्त्रः कदाचित् पाठसिद्धः पूर्वजन्मसाधित इह जन्मनि पुनः साधितः सिद्धो भवति। ततः कर्म करोति। इह चित्तादिना मन्त्रो **भाव्यो** नामाद्यः, **याज्यो** नाममन्त्रः, **जाप्यो** नामाधिकः। **स्वजिनकुलवशादिति**। अक्षसूत्रादिभेदैः। **चित्तभेदेन** भाव्यः, **वाग्भेदेन** याज्यः, **कायभेदेन** जाप्य इति नियमः। अत्र नामाद्यम् ॐकारं विना देवताकारं ध्यायात्। सर्वनाम्नि ॐकारमादौ यजेत् कायवज्रेण। एवं प्रत्यङ्गम् आदिकायवज्र[4]मन्त्रे चित्तवज्रं हूँ फडिति दत्त्वा जपेत्। एवं सर्वसत्त्वानां कायवाक्चित्तभेदः॥ १६७॥

इदानीं सामान्यमन्त्रसाधने [5]जापसंख्योच्यते—

प्रत्येकं मन्त्रजातेः प्रभवति नियतः कोटिजापः प्रसिद्धो
होमस्तस्माद् दशांशः प्रकृतिगुणवशात् सिद्धयते यावदेव।
पश्चाच्छान्त्यादिकेषु प्रभवति फलदो नान्यथा सिद्धिमेति
सध्यानैर्जापहोमैर्व्रतनियमयुतैर्मन्त्रयोनिश्च साध्या ॥१६८॥

प्रत्येकमित्यादि। इह **प्रत्येकं मन्त्रजातेः** कायवज्रस्य **कोटिजापो भवति प्रसिद्धः**। **होमस्तस्मात्** कोटिजापाद् **दशांश** इति दशलक्षहोमो भवति। वाग्वज्रस्य **प्रकृतिगुणवशादि**त्यभिषेकपटलोक्तद्रव्यैः शान्त्यादिगुणवशात् कु[301a]ण्डासनादिविधिना **सिद्धयते यावदेव। पश्चाच्छान्त्यादिकेषु प्रभवति फलदो नान्यथा सिद्धिमेति**। एवमुक्तैः **सध्यानैर्जापहोमैर्व्रतनियमयुतैर्मन्त्रयोनिश्च साध्या** इति।

इह यासां देवतानां यो यः समयः, सा देवता तेन समयेन तेन [6]व्रतनियमेन साध्या भवति, अन्यथा न सिद्धयति। तथा नामाक्षरं साध्यस्य यदि साधकनामाद्यक्षरस्य शत्रुर्भवति, तदा साधकस्य मरणं भवति। [7]अथोदास्यं भवति, तदा क्लेशो भवति। अथ मित्रं भवति, तदा सिद्धो भवति देवता। स्वरेण शत्रुणा [8]मरणम्। व्यञ्जनशत्रुणा रोग इति। अपरे शत्रवः सर्वे वाय्वक्षरास्तोयाक्षराणाम् स्वराणां

---

१. च. क्वचित्। २. च. भो. होः। ३. भो. 'वज्रभैरव' इत्यधिकः। ४. भो. 'मन्त्रे' नास्ति। ५. च. जप। ६. च. व्रतेन तेन नियमेन। ७. ग. 'अथो ... भवति' नास्ति। ८. ग. 'मरणम् ... शत्रुणा' नास्ति।

स्वराः, व्यञ्जनानां व्यञ्जनानीति। एवं तोयाक्षराण्यग्न्यक्षराणाम्, अग्न्यक्षराणि भूम्यक्षराणाम्, भूम्यक्षराणि वाय्वक्षराणाम्, आकाशाक्षराणि सर्वेषां मित्राणि, सर्वेषामक्षराणि आकाशस्य मित्राणीति। तथा भूमेस्तोयं मित्रम्, वह्नेर्वायुर्मित्रम्, वायोर्वह्निः, तोयस्य भूमिः, एवं मित्रवर्गः। वायोस्तोयमुदास्यम्, वह्नेः पृथिव्युदास्या, तोयस्य अग्निरुदास्यः, पृथिव्या वायुरुदास्यः। एवं सर्वं ज्ञात्वा ततो मन्त्रदेवतां साधयेत्, इति मूलतन्त्रे नियमः। तथा मूलतन्त्रे भगवानाह—

अकुह॒कश्च ये कण्ठ्याः स्वरव्यञ्जनलक्षणाः।
शून्यं वाय्वादिधातूनां मित्रत्वेन सदा स्थिताः॥

इचुयशाश्च तालव्याः स्वरव्यञ्जनलक्षणाः।
वायुधातुसमुद्भूताः शत्रवस्तोयजन्मिनाम्॥

ऋटुरषाश्च मूर्द्धन्याः स्वरव्यञ्जनलक्षणाः।
तेजोधातुसमुद्भूताः शत्रवो भूमिजन्मिनाम्॥

उपुव॒पाश्च ये चौष्ट्याः स्वरव्यञ्जनलक्षणाः।
तोयधातुसमुद्भूताः शत्रवो वह्निजन्मिनाम्॥

लृतुलसाश्च ये दन्त्याः स्वरव्यञ्जनलक्षणाः।
पृथ्वीधातुसमुद्भूताः शत्रवो वायुजन्मिनाम्॥

[१]वायोर्मित्रं सदा शून्यम् उदास्यं वायुशक्तितः।
तोयस्य मेदिनी मित्रमुदास्योऽग्निरशक्तितः॥

पृथिव्या उदकं मित्रम् उदास्यो वायुरेव च।
प्रणवं वर्जयित्वा तु मन्त्रस्याद्यक्षरं कुलम्॥

चित्तं तदेव मन्त्राणां बिम्बनिष्पत्तिकारणम्।
अन्यव्यञ्जनसंयुक्तं मन्त्रस्याद्यक्षरं यदा॥

तदा पूर्वं तयोर्ग्राह्यं प्रथमोच्चारहेतुतः। [301b]
स्वरव्यञ्जनभेदेन तदेव द्विविधं भवेत्॥

प्राणस्य शत्रुर्मित्रं च कायस्यापि निगद्यते।
प्राणस्य शत्रवो मित्रा उदास्या वा स्वराः स्मृताः॥

कायस्य शत्रवो मित्रा उदास्या व्यञ्जनात्मकाः।
स्वरः शत्रुर्हरेत् प्राणं साधकस्य न संशयः॥

---

१. भो. rTag Tu rLuṅ Gi Grogs Po Me. Tha Mal Pa Chu Nus Med Phyir. Me Yi Grogs Po rLuṅ Yin Te. Tha Mal Pa Sa Nus Med Phyir.
(वायोर्मित्रं सदा वह्निरुदास्यं तोयमशक्तितः।
वह्नेर्मित्रं च वायुः स्याद् उदास्या पृथ्वी अशक्तितः॥).

रोगाद्यं कुरुते काये शत्रुर्व्यञ्जनलक्षणः ।
एकवर्गेऽपि ये पञ्च काद्या व्यञ्जनधर्मिणः ॥
पृथिव्यादिकुलं तेषां ज्ञातव्यं मन्त्रसाधने ।
ङञणमननित्येते मित्रा वाय्वादिजन्मिनाम् ॥
T 363. 5 घझढभधधित्येते शत्रवस्तोयजन्मिनाम् ।
गजडबददित्येते शत्रवो भूमिजन्मिनाम् ॥
खछठफथथित्येते शत्रवो वह्निजन्मिनाम् ।
कचटपततित्येते शत्रवो वायुजन्मिनाम् ॥
मन्त्रादौ संस्थितो वर्णः स्ववर्गेऽपि परेऽपि वा ।
10 साधकानां द्विधा वर्णो जन्मजो नामजो भवेत् ॥

इत्यादि **मूलतन्त्रे** भगवतो नियमः ।

पुनस्तत्रैव षड्विधं कर्म प्रथमाक्षरस्योक्तम् । तद्यथा—

मन्त्रादिव्यञ्जनानां वा स्वराणां साधनाय च ।
कर्मास्य षड्विधं प्रोक्तं सेवाजापं प्रकुर्वताम् ॥
15 प्रथमं ताडनं कुर्यादावेशं दाहनं ततः ।
आप्यायनं ततो मन्त्री पोषणं तोषणं ततः[1] ॥
सविसर्गेण शून्येनाक्रान्तो मन्त्रपूर्वकः ।
मूर्छावस्थामवाप्नोति अस्त्रराजेन ताडितः ॥
लक्षजापेन चित्तस्य मूर्च्छिता मन्त्रदेवता ।
20 अहङ्कारपरित्यक्ता साधकस्य [2]वशा भवेत् ॥
एवं सा वायुनाक्रान्ता आवेशं याति योगिनः ।
दह्यते वह्निनाक्रान्ता तोयेनाप्यायते तथा ॥
पृथ्वी मूर्ध्नि स्थिता पुष्टिं जप्ता [3]गच्छति देवता ।
मूर्ध्नि बिन्दुकलाक्रान्ता तोषिता वरदा भवेत् ॥
25 एवं षड्लक्षजापेन पूर्वसेवा निगद्यते ।
आदिबुद्धे महातन्त्रे सुगतेनेष्टसिद्धये ॥
फट्कार हूँ तथा वौषट् नमः स्वाहा वषट् तथा ।
षट्कर्माणि यथासंख्यं मन्त्रान्ते कारयेद् व्रती ॥
आदौ वैरोचनं दत्त्वा पुनर्जापं समारभेत् ।
30 कोटिजापं ततः कृत्वा होमं [4]कुर्याद्दशांशिकम् ॥

---

१. ग. 'ततः''''विसर्गेण' नास्ति । २. ग. च. भो. वशी । ३. ग. 'गच्छति''''क्रान्ता' नास्ति । ४. ग. कृत्वा दशां ।

तन्त्रोक्तविधिना सर्वं ततः सिद्धयति देवता।
वरं ददाति सा सिद्धा मन्त्रिणां प्रार्थितं च यत् ॥
अन्या जातिः क्रिया चान्या कालो मन्त्रः कुलं तथा।
अन्यस्थानं दिगाधारं निष्फलं सर्वकर्मसु ॥
पुस्तकात् पठितैर्मन्त्रैः [1]संप्रदायविवर्जितैः। 5
साधनं ये प्रकुर्वन्ति ते क्लिश्यन्ति नरा भुवि ॥
किंनाम संप्रदा[302a]यं तत् पुस्तकाद्यदि लभ्यते।
तथा लिखितपाठेन नेयार्थेन प्रकाशितम् ॥
आकाशं भोक्तुमिच्छन्ति मन्त्रसद्भाववर्जिताः।
पुस्तकात् पठितैर्मन्त्रैर्देवादीनां च साधकाः ॥ 10
स्वचित्तदृढवीर्येण मन्त्रजापेन वा भवेत्।
ईप्सिता लौकिकी सिद्धिः साधकानां परार्थिनाम् ॥
मन्त्रजापैस्तथा होमैश्चैत्यपूजाविधिक्रमैः।
[2]क्रियाहीना न सिद्धयन्ति यथाभूतमिदं वचः ॥
शास्तॄणां बोधिसत्त्वानां देवानां साधनं प्रति। 15
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन तदेव गृह्यते बुधैः ॥

इत्येवं चित्ताक्षरं साधयेत् पूर्वसेवां कृत्वा। अत्र मन्त्रताडनादिकम्। तद्यथा—प्रथमं तावत् तारामन्त्रं प्रदर्श्यते। तेन विधिनाऽपरेऽपि ज्ञेयाः। ॐ ह्ताः फडिति ताडनमन्त्रस्य लक्षजापः, ओं य्ताः हूँ इत्यावेशनम्, र्ताः वौषडिति दहनम्, ॐ व्ताः नम आप्यायनम्, ॐ ल्ताः स्वाहा पोषणम्, ॐ तां वषट् तोषणम्, 20 षट्लक्षजापः। षडयुतं होमयित्वा ततः—ॐ तारे स्वाहेति वाग्वज्रस्य जापो दशलक्षाणि। दशांशहोमः। ततः ॐ तारे तुत्तारे तुरे स्वाहा। इति कायवज्रजापः। कोटिपर्यन्तं दशलक्षं होमयेदेवं मन्त्रदेवता वरदा भवति। नान्यथा योगिनामिति। चित्तवाक्कायभेदैर्भाव्यो याज्यो जाप्यश्च प्रत्येको मन्त्रः षट्लक्षं दशलक्षं शतलक्षमिति नियमो **मूलतन्त्रे** भगवतः ॥ १६८ ॥ 25

इदानीं गुलिका साधनमुच्यते—

सिद्धा बद्धा त्रिलोहैः खगपललगुटी खेचरत्वं ददाति
श्वाऽश्वादीनां प्रदीपैरपहरति तनौ क्षुत्पिपासादिरोगान्।
नेत्रैः पित्तैश्च तेषां भवति वरनृणामञ्जनं भूप्रभेदं
अन्तर्धाने च वश्ये युवतिमनहरं साधितं श्रीश्मशाने ॥१६९॥ 30

---

1. भो. Man Nag (उपदेश)। २. भो. brTse Ba (कृपा)।

सिद्धेत्यादि। इह प्रथमं गुलिकासाधनमन्त्रं पूर्वोक्तविधिना साधयित्वा ॐ कालचक्र आज्ञासिद्ध गुलिकां साधय स्वाहा। ततो देवताप्रत्यादेशो भवति गुलिकासाधनाय।

[1]तत्रायं विधिः—**सिद्धा** इत्यभिषेकपटलोक्तानां षट्त्रिंशत्खेचरीणां पञ्चषट्दशाष्टाष्टवर्गाः, तेषामेक[302b]वर्गस्य पललं साधयित्वा छायाशुष्कचूर्णं कृत्वा पञ्चामृतसहितम्, ततोऽक्षोभ्येण पीषयित्वा चणकप्रमाणां गुलिकां कृत्वा एवं सिद्धेति। **बद्धा त्रिलोहैरितीह** कायवाक्चित्तशुद्धया चन्द्रार्कराहुभेदेन तारं ताम्रं कान्तलोहं द्विलोहम्। प्रत्येकबद्धा त्रिलोहैर्बद्धेति। **खगपललगुटी खेचरत्वं ददाति** वक्ष्यमाणक्रमेण साधितेति। तथा **श्वाऽश्वादीनां** भूचरजलचराणाम् अङ्गस्य **पललैर्गुलिका सिद्धा बद्धा त्रिलोहैरपहरति तनौ क्षुत्पिपासादिरोगानिति** गुलिकासाधननियमः।

इदानीमञ्जनसाधनमुच्यते—**नेत्रैरित्यादि**। इहाञ्जनसाधनमन्त्रं पूर्ववत् साधयित्वा ततोऽञ्जनं साधयेदिति। ॐ कालचक्राज्ञासिद्धाञ्जनं साधय स्वाहा। ततः खगानां नेत्राणि गृहीत्वा सूक्ष्मचूर्णं कृत्वा बोधिचित्तेन भावयेत्। तदेवाञ्जनं निधानसिद्धये **भूप्रभेदं भवति। पित्तैश्चेति** श्वाऽश्वादीनां पित्तैरञ्जनं कृत्वा स्त्रीपुष्पेण भावयेत्। तदेवाञ्जनमन्तर्धानं करोति, **अन्तर्धानविषये वश्यविषये युवतिमनोहरं** भवति **साधितं श्रीश्मशाने** ॥ १६९ ॥

कृष्णाष्टम्यां निशायामथ मनुदिवसे मण्डलं वर्तयित्वा
रक्षां कृत्वा समन्ताच्च पललगुलिकां वाञ्जनं तस्य मध्ये।
कृत्वा संपूजयित्वा सुसुरभिकुसुमैर्मन्त्रजापं प्रकुर्याद्
रश्मीन् मुञ्चन्ति यावन्नभसि रविरिव ग्राह्यमुद्धृत्य तस्मात् ॥१७०॥

तत्रायं विधिः—**कृष्णाष्टम्यां निशायाम् अथ मनुदिवस** इति कृष्णचतुर्दश्यां रात्रौ **मण्डलं वर्तयित्वा** पूर्वोक्तदैत्येन्द्रसाधने यद् **रक्षां कृत्वा समन्तात्** पूर्वोक्तां **च**। ततो मण्डलकर्णिकायां **गुलिकां वाञ्जनं** वा कपालस्थम्, **तस्य मध्ये** स्थापयेदिति। एवं पललं गुलिकां वाञ्जनं तस्य मध्ये **कृत्वा संपूज्य सुसुरभिकुसुमैस्तथा** पूर्वोक्तं बल्यादिकं दत्वा ततो **मन्त्रजापं प्रकुर्यात्**। पूर्वोक्तमनेन विधिना कालचक्राज्ञया **रश्मीन् मुञ्चन्ति यावद्** गुलिकाम् अञ्जनानि वा तावन्मन्त्रं[303a] जपेत्। ततो **ग्राह्यमुद्धृत्य तस्माद्** अवधेः, यदि रश्मीन्न मुञ्चन्ति, तदा पुनर्मन्त्रसाधनं कुर्यात्, यावद्देवताप्रत्यादेशो भवति। ततो गुलिकासंख्यया नरान् गृहीत्वा गुलिकाविद्याधरो भवति। एवमञ्जनविद्याधरः। खड्गेन खड्गविद्याधरः। एवं रत्नादिनापि। तत्र मन्त्रः—ॐकालचक्र आज्ञासिद्ध खड्गं साधय स्वाहा। एवं रत्नादिष्वादौ कालचक्रमिति नियमः। तत्रायसं खड्गं कृत्वा देवतानियमेन साधयेत्। स्फाटिकं रत्नं कृत्वा रौप्यं कमलं सौवर्णं चक्रं

---

१. ग. 'तत्रायं... गारुडवृत्ता' नास्ति।

सर्वलोहमयं वज्रं घण्टाऽप्येवं कर्तिकाऽप्यायसेति चिह्नसाधननियमः। एवं त्रिशूल-पश्वादिकानि सर्वास्त्राणि साधयेत्। यद्यदस्त्रं साधयेत् स तेन चिह्नेन तत्तत् कुलविद्याधरो भवति कालचक्राज्ञयेति। अथ देवतानियमेन सिद्धरसवत् सप्तावर्तं मिलति, तदा साधनं विना खेचराः सिद्धयो भवन्ति, इति मूलतन्त्रे नियमः। इति गुलिकादिसाधनविधिः ॥ १७० ॥ 5

जीवे दूते सजीवे गगनदिशि गते मृत्युमाप्नोति दष्टो
दूतः प्रश्नोऽसमो यो बहुसुखफलदो मृत्युदोक्तः समो यः।
दूतः सर्पादिनाम प्रवदति हि ततो मृत्युमाप्नोति दष्टः
पृच्छा प्राणप्रवेशे यदि भवति शुभा निर्गमे साऽशुभा स्यात् ॥१७१॥

दूतो वामाग्रपादः कथयति युवतीं दक्षिणाग्रो नरं च 10
स्वाङ्गं हस्तेन यत्र स्पृशति स मनुजो दष्टमत्र प्रदेशे।
प्रोत्फुल्लं नेत्रवक्त्रं कथयति मरणं कर्णमूले च कृष्णः
शब्दो हृत्पुण्डरीके यदि भवति मनाक् संग्रहं तत्र कुर्यात् ॥१७२॥

आदौ रक्षाविधानं भवति सुखकरं दष्टकस्यात्मनश्च
पृथ्वीतोयाऽग्निवाता गगनमपि तथाऽङ्गुष्ठकादौ नियोज्य। 15
लाद्या हान्ताः क्रमेणोरुजठरहृदये वक्त्रमध्ये ललाटे
हूँक्षूँह्यह्यादिनागा दशविषमसमा ह्रस्वदीर्घप्रभेदैः ॥१७३॥
[303b]

वामाङ्गे ह्रस्वबीजं श्रवणगलगतं कक्षकुक्षोरुदेशे
सव्याङ्गे दीर्घमेव प्रभवति फणिनां सृष्टिसंहारयोगैः। 20
रक्षां कृत्वा जिनाख्यां गुळसुसमशरेणाहिबीजान्वितेन
हुंक्षूंयुक्तेन शीघ्रं सुनिहतहृदयः स्तोभमायाति दष्टः ॥१७४॥

पृथ्वीबीजे ललाटे चरणगतखजे स्तम्भमायाति शीघ्रं
तोये मूर्ध्नि प्रविष्टे शिखिनि च जठरे निर्विषत्वं प्रयाति।
वायोर्बीजे ललाटे शिखिनि च हृदये संक्रमो वै विषस्य 25
शून्ये मूर्ध्नि प्रविष्टे चरणगतमहो छेदनं वै विषस्य ॥१७५॥

श्वेतो बिन्दुर्ललाटे त्रिविधमपि विषं निर्विषं वै करोति
रक्तः स्तोभं प्रवेशं कषणघननिभः स्तम्भनं पीतवर्णः।

वर्ति प्राणप्रवाहे त्रिकटुकलुलितां योजयेन्निर्विषत्वे
अङ्गुल्या लम्बिकायां विकसितवदने टङ्कणं योजयेद् वा ॥१७६॥

वज्री जातिः कुमारी त्रिकटुकलवणं लाङ्गली देवदाली
ब्राह्मी क्षारोऽश्वगन्धा दिनकरसहिता वन्ध्यकर्कोटकी च ।
5 विण्मांसं शुक्ररक्तं सममपि गुलिका कारिताऽक्षोभ्यपिष्टा
भूतं भूतज्वरं वा स्थिरमुरगविषं घ्राणदत्ता निहन्ति ॥१७७॥

सूर्यादौ सप्तवारे दिननिशिसमये सप्तभागावसाने
शून्या मन्दार्कमध्ये प्रवहति कुलिका मृत्युरूपाऽर्धनाडी ।
नागक्रीडां न कुर्यात् त्रिविधमपि विषं भक्षणीयं न तत्र
10 तस्यामेवाहिदष्टो व्रजति यमपुरं भूतलब्धोऽस्त्रभिन्नः ॥१७८॥

मध्याह्ने चार्धरात्रे दिननिशिसमये नित्यवारप्रभेदात्
शून्याब्धौ सन्धिमध्ये प्रवहति कुलिका कालदष्टैकनाडी ।
प्रत्यूषेऽस्तङ्गतेऽर्के पुनरपि च तथा कालनाडी च मृत्यो-
रेतान्यास्यानि राहोः प्रतिदिनसमये वेदितव्यानि सम्यक् ॥१७९॥
15 [304a]

आदित्येऽनन्तभोगो दिननिशिसमये चादिभागे दिनस्य
पश्चाच्छेषोरगाणामुदय इह भवेत् सप्तवारप्रभेदात् ।
खर्तुः खच्छिद्रखेषुः खयुगखवसवः खाद्रिखाग्निश्च नाड्यो
भोगाः सूर्यादिवारादपि वसुफणिनां भुक्तिभेदाद् विषं स्यात् ॥१८०॥

20 विप्रोऽनन्तो हिमाभः कुलिक इति नृपो वासुकिः शङ्खपालो
रक्तो वैश्यो महाब्जो वरकनकनिभस्तक्षकस्तद्वदेव ।
शूद्रः कर्कोटकोऽब्जः कषणघननिभश्चान्त्यजो विश्ववर्णो
जन्मस्थानं च तेषां जलशिखिधरणीमारुताकाशधातुः ॥१८१॥

पादात् कट्यन्तपीतो गरुड इति तथा नाभिसीम्नो हिमाभ
25 आकण्ठाद् रक्तवर्णः कषणघननिभो भ्रूलतां यावदेव ।
तस्माद्वै विश्ववर्णः फणिकुलसहितो मुद्रितः पञ्चतत्त्वै-
र्ध्यातस्तन्मुद्रया वै हरति फणिविषं भूतरोगादिकं च ॥१८२॥

क्षेंकारं पक्षिनाथं स्वहृदयकमले भावयेत् सूर्यमूर्ध्नि
नागालङ्कारयुक्तं सकलकुलवशात् पञ्चवर्णं स्फुरन्तम् ।
पक्षिस्वाहान्तमादि प्रणवमपि ततः पक्षिनाथस्य मन्त्रं
जप्त्वा तं कोटिमेकं फणिकुलसहितं साधयेत् पक्षिनाथम् ॥१८३॥

ताक्ष्र्ये सिद्धे फणीन्द्राः फणिपतितनयाः किङ्करत्वं प्रयान्ति　5
भूता यक्षा ग्रहाश्च प्रवरभुवितले डाकिनीमातरश्च ।
मन्त्राकृष्टिं प्रयान्ति ग्रहगणसकलं जल्पते कालदष्टः
तस्मात् सत्त्वार्थहेतोः प्रथममपि नरैः साधनीयः खगेन्द्रः ॥१८४॥

तत एकसप्तत्यधिकशतवृत्ताद्[1] गारुडवृत्तानि सुबोधानि। तेनात्र न लिखि-
(व्याख्या)तानीति ॥ १७१-१८४ ॥　10

इदानीं शान्त्यादौ यन्त्राण्युच्यन्ते—

वेदेष्वष्टौ दलेष्वेव नृपतिषु रदेष्वब्धिषट्सु द्विजेषु
गर्भे साध्यः स्वदिक्षु प्रथममपि युगं यादयोऽष्टौ दलेषु ।
एयाद्याः षो[304b]डशेषु त्रिगुणितदशकाः कादिहक्षा द्विजेषु
सन्ध्यापत्रेषु साध्यस्तिथिगुणितयुगेष्वेव लान्ताः समात्राः ॥१८५॥　15

वेदेष्वित्यादि । इहाभिषेकपटलोक्तन्यग्रोधपत्रादिके श्रीखण्डादिना शीतादिलेखन्या यन्त्राणि लेख्यानि शान्त्यादीनि । तत्रायं क्रमः—प्रथमपरिमण्डले चतुर्दलानि, द्वितीयेऽष्टौ, तृतीये षोडश, चतुर्थे द्वात्रिंशत्, पञ्चमे चतुःषष्टिः, षष्ठे द्वात्रिंशदिति । यथा शरीरे उष्णीषे हृदये ललाटे कण्ठे नाभौ गुह्ये षट्चक्राणि, तथा यन्त्रलिखने षट् परिमण्ड-लानीति । तत्र चतुर्दलमध्ये साध्यनाम । **वेदेष्विति** चतुर्दलेषु दिक्षु प्रथमम् अ अं　20
युग्ममिति । अ पूर्वे अं उत्तरे । आ पश्चिमे । अः दक्षिणे । इति प्रथमपरिमण्डले । अष्टाब्ज-पत्रेष्विति **अष्टदलेषु यादयः** । इ ई पूर्वेऽग्नौ । ऋ ॠ याम्ये नैर्ऋत्ये । उ ऊ उत्तरेशाने । ऌ ॡ पश्चिमे वायव्ये । इति द्वितीयपरिमण्डले । एवं **नृपतिष्विति** तृतीयपरिमण्डले **षोडशदलेषु एयाद्या** इति पूर्वादिचतुर्दलेषु ए ऐ य या, दक्षिणदलेषु, अर् आर् र रा उत्तरदलेषु ओ औ व वा, पश्चिमदलेषु अल् आल् ल ला । इति तृतीये परिमण्डले ।　25
रदेष्विति द्वात्रिंशद्दलेषु **त्रिगुणितदशका** इति त्रिंशत् **कादयो हक्षा** इति, **द्विजेष्विति** । तत्र पूर्वादिपञ्चदलेषु च छ ज झ ञ, दक्षिणपञ्चदलेषु ट ठ ड ढ ण, उत्तरे प फ ब भ म, पश्चिमे त थ द ध न, एवमीशानमारभ्य पूर्वपत्रे मकाराक्षरमारभ्य पत्रत्रये क ख ग

---

१. भो. bCu bSi (चतुर्दश) इत्यधिकम् ।

इति । [1]आग्नेयादारभ्य दक्षिणे ञकारादारभ्य पत्रत्रये घ ङ छ इति । नैर्ऋत्यादारभ्य पश्चिमे णकारादारभ्य पत्रत्रये स⁀पष इति । वायव्यादारभ्य उत्तरे नकारादारभ्य पत्रत्रये श⁀कह इति । एवं द्वात्रिंशद्दलेष्विति चतुर्थपरिमण्डले । **अब्धिषट्ष्विति** चतुःषष्टिदलेष्विति **साध्यः** । पत्रेषु चतुर्षु पूर्वे दक्षिणे पश्चिमे उत्तरे साध्यनाम यथा, [2]तथा मध्ये । एवं पञ्चस्थानेषु साध्य नाम । **तिथिगुणितयुगेष्विति** षष्टिदलेषु यथासंख्यं **लान्ताः समात्रा** इति । हयरवलाः समात्रा द्वादशमात्रासहिताः [305a]षष्टिः षष्टिदलेषु ततः साध्यनाम पूर्वादौ दक्षिणावर्तेन य या यि यी यृ यॄ यु यू यॢ यॣ यं यः इति द्वादशदलेषु, ततो दक्षिणे साध्यनाम्नो र रा रि री रृ रॄ रु रू रॢ रॣ रं रः इति द्वादशदलेषु, उत्तरे साध्यनाम्नो व वा वि वी वृ वॄ वु वू वॢ वॣ वं वः इति द्वादशदलेषु, पश्चिमे साध्यनाम्नो ल ला लि ली लृ लॄ लु लू लॢ लॣ लं लः इति द्वादशदलेष्विति । ततः पूर्वे साध्यस्य अपरपत्रे ह, पश्चिमे हा, उत्तरे हं, दक्षिणे हः, एवं वामावर्तेन हि ही ईशानान्तम्, हृ हॄ अग्न्यन्तम्, हु हू वायव्यन्तम्, हॢ हॣ नैर्ऋत्यान्तमिति । साध्यस्य नामाद्यक्षरमिति कर्णिकायाम् द्वितीयं पूर्वे **सन्ध्यापत्रे**, तृतीयं दक्षिणे, चतुर्थमुत्तरे, पञ्चमं पश्चिमे । ते[3] हूँ आः ॐ हो इति चित्तवाक्कायज्ञानाक्षराणि नामाद्यक्षरसहितानि लेख्यानि ।। १८५ ।।

> **आद्येकैकस्वराभ्यां मकरघटवशाद् दीर्घह्रस्वाश्च पञ्च**
> **द्वात्रिंशद् बाह्यपत्रेष्वपि समहृदया वज्रतीक्ष्णादिवर्णाः ।**
> **बाह्ये शान्त्यादिकर्मण्यपि च वयरला मण्डलान्येव तेषां**
> **वर्णा गर्भोत्तमाङ्गाः शिखिचलचरणा वश्य आकर्षणे च ।।१८६।।**

अथाद्येकैकस्वराभ्यां मकरघटवशाद् दीर्घह्रस्वाश्च पञ्चेति । इह मकरादिलग्नेष्वधिदेवाः का खा गा घा ङा इत्यादयः । पूर्वे साध्यचित्ताक्षरस्य दक्षिणावर्तेन चा छा जा झा ञा मीने, तथा ञ झ ज छ चेति मेषे, एवं दशपत्रेषु । तथा दक्षिणे वाग्वज्रस्य टादयो दश, उत्तरे कायवज्रस्य यादयो दश, पश्चिमे ज्ञानवज्रस्य तादयो दश, शेषदलेषु विंशतिषु पश्चिमे पञ्चदलेषु कादयः पञ्च दीर्घाः, पूर्वे ङादय पञ्च ह्रस्वाः, दक्षिणे सादयः पञ्च दीर्घाः, उत्तरे⁀कादयः पञ्च ह्रस्वाः, एवं षष्टिवर्णाः पञ्चमे परिमण्डले । **द्वात्रिंशद् बाह्यपत्रेष्विति** । इह गुह्यकमले द्वात्रिंशद्दलविशुद्ध्या द्वात्रिंशत्पत्रे[305b]षु षष्ठे परिमण्डलेऽपि **समहृदया वज्रतीक्ष्णादिवर्णा** इति । तद्यथा 'वज्रतीक्ष्ण दुःखछेद' इति ईशानमारभ्याग्नेयपर्यन्तम्, ततो दक्षिणे 'प्रज्ञाज्ञानमूर्तये' इति, तथा पश्चिमे कायवागीश्वर अ इति । तथा उत्तरे 'अरपचनाय ते नमः' इति वज्रतीक्ष्णादिवर्णाः । एवं षट्चक्रात्मकं यन्त्रं लिखित्वा अभिषेकपटलोक्तविधिना **बाह्ये शान्त्यादिकर्मण्यपि च वयरला मण्डलान्येव तेषामिति** । इदं यन्त्रं शान्तिपुष्टौ ज्वरापहरणे निर्विषीकरणे ।

---

१. ग. अग्नौ दक्षिणे । २. च. भो. 'तथा' नास्ति । ३. अन्यत्र 'दे' गृहीतपाठस्तु भोटानुसारी ।

उदकमण्डलेन यन्त्रं वेष्टयेत्, वकारेण वा। ततश्चन्द्रमण्डलमध्ये क्षिपेत्, हस्तिमध्ये वा। एवं मारणाद्ये वायुमण्डलेन, वश्याद्ये तेजोमण्डलेन, स्तम्भनाद्ये पृथिवीमण्डलेन वेष्टयेत्। शेषमभिषेकपटलोक्तं कर्तव्यमिति। इह यन्त्रे **वर्णा गर्भोत्तमाङ्गा** इति गर्भशिरसो लेख्याः। **शिखिचलचरणा** इति दक्षिणचरणाः। सर्वेषां मेरुरुत्तरस्थः। गर्भकर्णिका इति **वश्ये आकर्षणे च** ॥ १८६ ॥ T 365

शान्त्यादौ गर्भपादाः शिखिचलशिरसो मन्त्रिणा लेखनीयाः
पूर्वोक्तैः शान्तिपुष्टि भुवननिधनतोच्चाटनाकृष्टिवश्यम्।
सस्तम्भं मोहनं च त्रिभुवननिलये चक्रमेतत् करोति
जापैर्होमैश्च साध्यः प्रथममिह महावज्रतीक्ष्णादिमन्त्रः ॥१८७॥

तथा **शान्त्यादौ गर्भपादा** इति उत्तरपादा मेवंभिमुखाः। **शिखिचलशिरस** इति दक्षिणशिरसः। एवं मारणाद्ये पूर्वचरणाः पश्चिमशिरसः, स्तम्भनाद्ये पूर्वशिरसः पश्चिमचरणा इति। प्रत्येक[1]पत्रे **लेखनीया मन्त्रिणा पूर्वोक्तै**रित्यादि सुबोध इति षट्चक्रयन्त्रनियमः ॥ १८७ ॥

इदानीं यमान्तकयन्त्रमुच्यते—

अष्टारे द्वादशारे दिशिविदिशिगतं षोडशारेऽन्तरे च
साध्यः कोणेषु मध्ये प्रभवति यमराजासदोमेरुणाद्यो।
तस्माद् गर्भारमध्याद् भवति दनिरयक्षेच्च तस्मान्निरन्ते
ॐ ह्रीः ष्ट्रीः तस्य बाह्ये भवति च विकृतादाननाद् हूँ द्विधा फट् ॥१८८॥
[306a]

अष्टार इत्यादि। इह न्यग्रोध[2]पत्रादौ यन्त्रं लेखनीयम्। प्रथमपरिमण्डल**मष्टारं** द्वितीयं **द्वादशारं** तृतीयं **षोडशार**मिति। तत्राष्टारेषु **दिशिविदिशिगत**मिति दिशि यमाद्यक्षरं गतम्, विदिशि पत्रे साध्यनामाक्षरं गतम्, षोडशारे चान्तरान्तर-दलेष्वष्टस्विति। एवं **साध्यः कोणेषु**। प्रथमपरिमण्डले **मध्ये** कर्णिकायां **प्रभवति य** पूर्वे, **म** द्वादशारे पूर्वे **रा**, द्वितीये **जा**, तृतीये **स**, चतुर्थे पत्रे **दो** प्रथमाष्टारे। दक्षिणे **मे**। पुनर्द्वादशारे। पञ्चमे पत्रे **रु** षष्ठे **ण**, सप्तमे **यो** पुनरष्टारे। पश्चिमपत्रे **द**। पुनर्द्वादशारे। अष्टमे **नि**, नवमे **र**, दशमे **य**। पुनरष्टारे उत्तरे **क्षे**। पुनर्द्वादशारे एकादशे **च्च**, द्वादशे **नि**। तथाह—

य म रा जा स दो मे य य मे दो रु ण यो द य।
य द यो नि र य क्षे य य क्षे य च्च नि रा म य ॥

---

१. भो. ḥKhrul ḥKhor (यन्त्रे)। २. क. ख. यन्त्रा।

इति **मूलतन्त्रे**। एकाधिपतिना षोडशाक्षराणि षोडशदलेषु। एवं **मध्ये प्रभवति यमराजासदोमेरुणाद्यो तस्माद् गर्भारमध्याद् भवति दनिरयक्षेच्च तस्मान्निरन्त** इति। अष्टारे द्वादशारे नियमः। ततः षोडशारे साध्यनामान्तरान्तरे पत्रे इदं मन्त्रं लिखेत्—ॐ ह्लीः ष्ट्रीः विकृतानन हुँ हुँ फट् इति ॥ १८८ ॥

एवं कक्षान्तराले भवति नरपते साध्यनामैष मन्त्रो
विद्वेषे मृत्युवश्ये प्रभवति य म रा क्षे द मे दो स चाद्याः।
स्तम्भाकृष्टौ च मोहेऽपि च बलकरणे शान्तिकोच्चाटने च
गर्भात् तस्मिन् यकारो व्रजति गुणवशात् पूर्ववद्वाह्यसर्वम् ॥१८९॥

एवं कक्षान्तराले भवति नरपते साध्यनामैष मन्त्रो विद्वेषे मृत्युवश्ये इति। इह मध्येऽधिदेवो विद्वेषे **य**, मृत्यौ **म**, वश्ये **रा प्रभवति**। तथा **क्षे द मे दो स चाद्या** इति। इह स्तम्भने क्षे, आकृष्टौ द, मोहने मे, बलकरणे दो, शान्तौ स, उच्चाटने च्च, ज्वरकरणे ण, स्तोभने रू, जये जा, सन्तापशमने यो, शत्रुनिवारणे नि इति। **गर्भात् तस्मिन् यकारो व्रजति गुणवशादिति**। इह कर्मणः स्वभावात् यो वर्णो गर्भेऽधिपतिर्भवति, तस्य स्थाने यकारो लिख्यते। **पूर्ववद्वाह्ये** [306b] **सर्वमिति** यमान्तकयन्त्रनियमः॥ १८९ ॥

इदानीं मञ्जुश्रीयन्त्रमुच्यते—

वर्णानामुत्तमाङ्गात् प्रभवति पुरतो मः स्वरालिङ्गितश्च
वर्णैर्वर्गान्तवर्णः कुलिशकुलवशात् पञ्चमोऽहं स उक्तः।
प्रज्ञा बिन्दुद्वयेन स्वरपरमपुटे स्यादियं मेऽप्युकारो
मं मुः हं हुश्च सं सुः कमलवसुदले मञ्जुरेवार्कपत्रे ॥१९०॥

वर्णानामित्यादि। इह **वर्णानामुत्तमाङ्गादिति** वर्णानां शिरसि बिन्दुः। तस्मादुत्तमाङ्गात् **प्रभवति पुरतो मः स्वरालिङ्गितश्चेति**। अकारस्वरेणालिङ्गितोऽनुस्वारो मकारो भवति। अन्यच्च **वर्णैः** ककाराद्यैरालिङ्गितो **वर्गान्त** इति ङ ञ ण म न नो भवन्ति। **कुलिशकुलवशात् पञ्चमो**[1]**ऽहं स उक्तः**। अतो बिन्दुरहम्। **प्रज्ञा बिन्दुद्वयेन** विसर्गेण **स्वरपरमपुटे**ऽकारद्वयमध्ये **स्यादियं मेऽप्युकारः**। एवं **मं** इत्युपायो **मुरिति** प्रज्ञा, एवं **हं हुः सं सुः मञ्जुरि**त्यष्टाक्षराणि दलेष्वष्टसु। द्वितीये द्वादशारे परिमण्डले **एवार्कपत्र** इति॥ १९० ॥

बाह्ये श्रीवज्रघोषः प्रभवति सयुतो मन्तभद्रोऽपि हूँ फट्
साध्योऽस्मिन् कर्णिकायां अमुकमपि कुरु चोदनं श्रीसमादेः।

---

१. भो. हँ सं

एवं पूर्वोक्तचक्रेष्वपि भवति सदा लेखनं साध्यनाम्नः
एतत्सर्वं नराणां जिनपतिवचसा सिद्धयते मे प्रसादात् ॥१९१॥

बाह्ये प्रथमदले **श्री**, द्वितीये **व**, एवं क्रमेण **ज्र घो ष स म न्त भ द्र हूँ फडिति** द्वादशाक्षराणि शेषं पूर्ववत्। सर्वमिति। **साध्योऽस्मिन् कर्णिकायामिति**। साध्यनामाद्यक्षरं कर्णिकायाम्। ततो जापकाले **चोदनं श्रीसमादेरिति**। ॐ श्रीवज्रघोष समन्तभद्र अमुकस्य शान्ति कुरु कुरु नमः। एवं पुष्ट्यादिके स्वाहा [1]हूँ फट् वौषट् फडिति अन्ते दातव्यम्, यन्त्रलिखनेऽप्यन्तिमे पत्रे। **एवं पूर्वोक्तचक्रेष्वपि भवति सदा लेखनं साध्य-** [307a] **नाम्नः। एतत्सर्वं नराणां जिनपतिवचसा सिद्धयते मे प्रसादादिति** यन्त्रलिखनविधिः ॥ १९१ ॥

यः शब्दो हृत्प्रदेशे भवति वरनृणां श्रूयते श्रोत्ररन्ध्रे-　　10
स्तस्मिश्चित्तं नरस्य व्रजति समरसं योजितं चैकभूतम्।
यं शब्दं जीवलोके वदति च भवजस्तत्तदेव श्रृणोति
विज्ञानं चैव दूराच्छ्रवणमपि विभोर्योगिना भावनीयम् ॥१९२॥

कृत्वा पर्यङ्कबन्धं विकसितवदनोऽन्योन्यदन्तं स्पृशेन्न
आकृष्टो बाह्यवातस्तदमृतसहितो नाभिमध्ये प्रविष्टः।　　15
सन्तापं क्षुत्पिपासां हरति वरतनौ सन्निरुद्धो विषं च
श्वेतो बिन्दुर्ललाटे स्वरपरिकरितो मुञ्चमानोऽमृतं वा ॥१९३॥

घ्राणे रन्ध्रद्वयेन त्वपि पिहितमुखे बाह्यवातः समस्तः
प्राणेनाकृष्य वेगात् तडिदनलनिभो घट्टितोऽपानवायुः।
कालेनाभ्यासयोगाद् व्रजति समरसं चन्द्रसूर्याग्निमध्ये　　20
अन्नाद्यं क्षुत्पिपासामपहरति तनौ चामरत्वं ददाति ॥१९४॥

स्वच्छायामातपस्थामपरमुखरवे स्तब्धदृष्ट्यावलोक्य
पश्चाद्वयोमाभिवीक्ष्येत् समरसपुरुषो दृश्यते धूम्रवर्णः।
षण्मासाभ्यासयोगादवनिगतनिधिं दर्शयेद् भूमिछिद्रं
वृक्षच्छायां प्रविश्य त्वथ गगनतले भाविता बिन्दुमाला ॥१९५॥　　25

या शक्तिर्नाभिमध्याद् व्रजति परपदं द्वादशान्तं कलान्तं
सा नाभौ सन्निरुद्धा तडिदनलनिभा दण्डरूपोत्थिता च।

---

१. च. 'हूँ···फडिति' नास्ति।

चक्राच्चक्रान्तरं वै मृदुललितगतिश्चालिता मध्यनाड्यां
यावच्चोष्णीषरन्ध्रं स्पृशति हठतया सूचिवद् बाह्यचर्म ॥१९६॥

आपानं तत्र काले परमहठतया प्रेरयेदूर्ध्वमार्गे
उष्णीषं भेदयित्वा व्रजति वरपुरं वायुयुग्मे निरुद्धे ।
5 एवं वज्रप्र[307b]भेदान्मनसि सविषयात् खेचरत्वं प्रयाति
पञ्चाभिज्ञास्वभावा भवति पुनरियं योगिनां विश्वमाता ॥१९७॥

मुद्रा मायानुरूपा मनसि च गगने रूपवद्दर्पणे च
त्रैलोक्यं भासयन्ती तडिदनलनिभाऽनेकरश्मीन् स्फुरन्ती ।
बाह्ये देहेष्वभिन्ना विषयविरहिता भासमानाऽम्बरस्था
10 चित्तं चेतो मयाऽऽलिङ्गयति च जगतोऽनेकरूपस्य सैका ॥१९८॥

त्यक्त्वेमां कर्ममुद्रां सकलुषहृदयां कल्पितां ज्ञानमुद्रां
सम्यक् संबोधिहेतोर्जिनवरजननीं भावयेद् दिव्यमुद्राम् ।
निर्लेपां निर्विकारां खसमहततमां व्यापिनीं योगिगम्यां
कूटस्थां ज्ञानतेजां भवकलुषहरां कालचक्रानुविद्धाम् ॥१९९॥

15 विज्ञानं नाणुरूपं त्रिभव इह तथा नास्ति विज्ञानमेव
बुद्धप्रज्ञा स्थिता न क्वचिदिति वचनं देशयिष्यन्ति बौद्धाः ।
शून्यं यास्यन्ति येनाक्षररहितनराः शून्यतां तां गृहीत्वा
भर्त्रा तेनाच्युतं यत्सहजतनुसुखं देशितं मन्त्रयाने ॥२००॥

गोखङ्गाश्वेभनाथान् व्रज तनुविषयानिन्द्रियं यज्ञकाले
20 यत्ते शुद्धासि चैतद्विषमविषयिणां ज्ञानयोगे निरोधः ।
यत्पानं दीक्षितानां भवति सरुधिरं गोऽजिने सोमवल्ल्या
मूर्ध्नः सोमामृतं तद् भगरजसि गतं सर्वगानन्दरूपम् ॥२०१॥

ब्रह्मा कायो हरो वाग् हरिरपि च मनः प्राणिनां ते त्रिवेदा(देवा)
ॐकारस्ते त्रिवर्णाः शशिरविहुतभुक् ते त्रिनाड्यो गुणाश्च ।
25 कौलः काये कुलान्यो विषयगुणगतोऽथर्वणो नादरूपी
तन्मध्येऽनाहतं यद्विषयविरहितं निर्गुणं चाक्षरं तत् ॥२०२॥

वेदान्ते गुह्यमेतत् कथितमपि पुरा ब्रह्मणा योगिनां वै
कालाज्ज्ञानप्रणष्टैर्मुनिभिरिह वधो देशितः प्राणिनां च ।
जाता[308a] तस्मिन् प्रवृत्तिः कुनरकफलदा स्वर्गहेतोर्नराणा-
मङ्गारो नेन्दुवर्णः क्वचिदिह हि भवेत् क्षीरधाराभिषिक्तः ॥२०३॥

निर्योगैर्वेदवाक्यैः समयविरहितैर्वञ्चिता ये नरास्ते　　5
रक्षां कृत्वा स्वनार्या दिननिशिसमये स्वात्मपुत्रार्जनार्थम् ।
दानं पुत्रेण दत्तं भवति किल पितुः प्रेतलोकं गतस्य
तेनेदं कामदानं श(स)मसुखफलदं गोपितं दुष्टविप्रैः ॥२०४॥

जात्यश्वे नान्यपुंसो यदि भवति महाघोटिकायां महाश्वो
लक्ष्मीश्चाश्वप्रभावात् पुनरपि च भवेत् स्वामिनः किन्न लाभः ।　　10
रक्षां कुर्वन्ति येन प्रतिदिनसमये रागिणः स्वस्वनार्याः
कस्त्वं का ते स्वनारी मरणमुपगतेऽहोऽशुभः कर्मबन्धः ॥२०५॥

गोदानं भूमिदानं ह्यपरमपि तथा भोगदं मर्त्यलोके
भैषज्याहारदानं सकलरुजहरं क्षुत्पिपासाहरं च ।
सर्वस्मिन् कामदानं श(स)मसुखफलदं किं पुनश्चक्रकाले　　15
इष्टा भार्या भगिन्यपि सुभगदुहिता गुह्यदाने प्रदेया ॥२०६॥

सद्देश्या कर्ममुद्रा भवति च समया गुप्तनारी परस्त्री
स्वच्छन्दा धर्ममुद्रा बहुविषयरता ज्ञानमुद्रा स्वभार्या ।
सद्देश्या द्वादशाब्दा परमसुखरता षोडशाब्दा कुलस्त्री
स्वच्छन्दा विंशदब्दा भवति स्वदुहिता त्रिंशदब्दा स्वभार्या ॥२०७॥　　20

पूर्वं बुद्धैर्धरित्री गजतुरगरथानेकसौवर्णभावा
दत्ता बुद्धत्वहेतोः पुनरपि च शिरो रक्तमांसं प्रदत्तम् ।
एभिर्बुद्धत्वमिष्टं नहि भवति ततः कामदानं प्रदत्तं
बुद्धत्वं तेन जातं जिनजनककुले गुह्यदानेन पुंसाम् ॥२०८॥

हेमं ताम्रेण तुल्यं सुरमुकुटमणिः काचखण्डेन तुल्यः　　25
सद्देश्या कामदानैरमलकुलवधूश्चर्मखण्डेन नाभिः ।

जात्यश्वो[308b] गर्दभेन प्रवरगजपतिर्लभ्यते यद्यजेन
भार्यादानेन देवो जिनजनककुले तत्र किं नैष लाभः ॥२०९॥

मैत्रीस्थाने न दानं श(स)मसुखफलदं तुल्यसत्त्वप्रभावात्
सूपेक्षास्थान एवं प्रवरजिनकुले मारसत्त्वप्रभावात् ।
हीनत्वादुत्तमत्वात् सकरुणमुदितास्थानयुग्मे प्रदत्तः(त्तौ)
संभारौ द्वौ प्रपूर्याक्षरसुखफलदं सौगतानां परार्थम् ॥२१०॥

वर्णो यस्य प्रमाणं भवति नरपते तस्य वेद[:] प्रमाणं
वेदो यस्य प्रमाणं खलु भुवि निलये तस्य यज्ञ[:] प्रमाणम् ।
यज्ञो यस्य प्रमाणं विविधपशुनृणां तस्य हिंसा प्रमाणं
हिंसा यस्य प्रमाणं नरकभयकरं तस्य पापं प्रमाणम् ॥२११॥

वासग्रासार्थमिष्टां कथयति भगवान् श्रीविहारप्रतिष्ठां
भैषज्याहारदानं किल रुजशमनं तत्र दाता ददाति ।
दानाभावे विहारः क्षितितलनिलये तिर्यगावास एष
ग्रासो यत्रैव संघो भवति नरपते तत्र बुद्धश्च धर्मः ॥२१२॥

बुद्धं धर्मं च संघं शरणमनुगता मानुषा मोक्षहेतो-
र्नायं बुद्धो विहारे स्थित इह लिखितः पुस्तको धर्म एव ।
संघः काषायधारी परमविभुसुखं जन्मलक्षैर्ददाति
आचार्यो बुद्ध एव प्रवरभुवितले देशना तस्य धर्मः ॥२१३॥

संघस्तस्मिन् स्थितो यः प्रमुदितहृदयः सर्वसत्त्वानुकम्पी
सोऽस्मिन्नुक्तश्चतुर्धा द्विविध इह पुनः श्रावकोऽनुत्तरश्च ।
भिक्षुण्यो भिक्षवश्चापि पुनरिह महोपासकोपासिकाश्च
योगिन्यो योगिनो वै सहजसुखरतोपासकोपासिकाश्च ॥२१४॥

पुण्यज्ञानार्थहेतोर्विविधमपि सदा दानमत्यर्थमिष्टं
भोज्याद्यं श्रावकेभ्यः परमसुखकरं योगिनामिष्टदानम् । [309a]
दातारो ये ददन्ति प्रमुदितहृदयाः सर्वदा रक्तचित्ता-
स्ते पुण्यज्ञानपूर्णाः परमसुखपदं जन्मनीह व्रजन्ति ॥२१५॥

आचार्यं निन्दयन्ति प्रकटमपि जिनं श्रावका येऽप्रबुद्धा-
स्तेऽवीचिं यान्ति शीघ्रं परमभयकरं मारिता विघ्ननाथैः ।
स्वाधिष्ठानं करोति प्रवरजिनपतिर्यस्य मन्त्रप्रभावैः
को भिक्षुस्तस्य तुल्यो व्रतनियमपदे ब्रह्मचारी नराणाम् ॥२१६॥

कष्टं कुर्वन्ति सर्वे परमसुखरता भिक्षुको वा परिव्राड् 5
नग्नो मौण्डी जटी च श्रुतपठनरतः पण्डितो मार्गनष्टः ।
कर्तुश्चात्मग्रहेण स्वपरमिह सदा पुत्रदारग्रहेण
भक्ष्याभक्ष्यग्रहेणाप्यकुलकुलरतापात्रपात्रग्रहेण ॥२१७॥

बुद्धक्षेत्रं समस्तं श(स)मसुखफलदं कायवाक्चित्तरागं
एतत्संहारयित्वा त्वपरमपि विभुं पापबुद्धिः समीक्षेत् । 10
क्षेत्रे तीर्थेऽन्यदेशे व्रतनियमशतैर्लङ्घनैः शैलपातैः
संग्रामे ग्रस्तसूर्ये विषयसुखरतोऽनेकशस्त्राग्निघातैः ॥२१८॥

मारैरेतत्समस्तं रचितमपि पुरा रक्तपानस्य हेतोः
स्वर्गैस्तीर्थोपवासैर्मरणमुपगतस्याहतस्यैव युद्धे ।
गोभानोर्मोचनार्थे गृहधनविषये विप्रकार्ये मृतस्य 15
तस्मादेषः स्वकायः समसुखनिलयो रक्षणीयः परस्य ॥२१९॥

श्रुत्वा यस्तन्त्रराजे जिनवरचरितं चाभिषेकं गृहीत्वा
ईर्ष्यां भूयः करोति प्रविशति नरकं सोऽष्टमं यावदेव ।
यस्मिन् सूच्यग्रभूमावशुभफलवशान्नारकाः संचरन्ति
तस्माद् ग्राह्योऽभिषेको नहि भवति नृणां यावदीर्ष्यास्ति चित्ते ॥२२०॥ 20

दानं शीलं प्रपूर्णं जिनजनककुले क्षान्तिवीर्यं च पूर्णं
ध्यानं प्रज्ञाऽभ्युपायः प्रणिधिरपि बलं ज्ञानपूर्णं ह्यनेन ।
भार्या[309b]दानेन शीघ्रं प्रमुदितमनसो योगिनो जन्मनीह
कृत्वाऽस्मिन् रागबन्धं नरकमुपगता मोहिता ये नरास्ते ॥२२१॥

पृथ्वीलक्ष्मीनिमित्तं सुचपलहृदयस्तीक्ष्णखड्गं गृहीत्वा 25
योधाकीर्णे समन्तात् प्रविशति हि रणे कातरश्चातुरङ्गे ।

दृष्ट्वा मातङ्गवृन्दं पतति करतलात् तस्य भीतस्य खड्ग-
स्तस्मिन् खड्गस्य दोषो नहि भवति यथा मन्त्रजातेस्तथैव ॥२२२॥

मन्त्रैर्वीरक्रमेणाप्यसुरफणिसुरान् साधयेद् रौद्रभूम्यां
स्वाधिष्ठानेन देवीः समयकुलगता ध्यानजापैः सहोमैः ।
5 सेकं शुद्धक्रमेण त्वनवरतमहानन्दचित्तेन मन्त्री
ज्ञानं चिन्तामणिर्यत् प्रभवति च ततश्चैष मार्गो जिनस्य ॥२२३॥

सूतस्याग्ने रिपुत्वं न शिखिविरहितः सूतबन्धः कदाचि-
न्नाबद्धो हेमकर्ता कनकविरहिता वादिनां नैव भोगाः ।
एवं स्त्रीसङ्गहीनो नहि भवति सदा योगिनां चित्तबन्धो
10 नाबद्धः कायवेधी सहजसुखमिहाविद्धकायो ददाति ॥२२४॥

उद्याने पर्वते वा जनमृगरहिते साधयेत् सौम्यमन्त्रान्
रौद्रान् रौद्रश्मशाने सुरवरभवने स्तम्भनं मोहनं च ।
वश्याकृष्टिश्च मन्त्री परमविभुसुखं सर्वमुद्राप्रसङ्गे
अन्यस्थानेऽन्ययोनौ नहि भवति नृणां जन्मलक्षैश्च सिद्धिः ॥२२५॥

15 वेश्मग्रामेऽक्षिसूत्रैर्दिननिशिसमये मन्त्रजापं हि कृत्वा
श्रान्तो मूढो विरक्तो वदति पुनरिदं मन्त्रसिद्धिश्च नास्ति ।
स्थानं शून्यं च कालं परमनिशिगतं नैव जानाति सम्यग्
रोगः पादाङ्गुलीषु प्रति शिरसि करोत्यौषधीभिः प्रलेपम् ॥२२६॥

न ध्यानं मन्त्रजापः करणमपि महामण्डलान्यासनानि
20 होमो मन्त्रप्रतिष्ठा रजसि जिनकुलावाहनं प्रेषणं च ।
मुद्रासि[310a]द्धिं ददाति प्रवरविभुसुखं सर्वमुद्राप्रसङ्गे
तस्मात् तद्भावनीयं प्रतिदिनसमये योगिना मोक्षहेतोः ॥२२७॥

मूर्च्छां निद्रां प्रविष्टं भवति नरपते निःस्वभावं स्वचित्तं
जाग्रायां सस्वभावं प्रकटयति न तत् प्राणिनां मोक्षमार्गम् ।
25 भावाभावैर्विभिन्नं नहि समसुखदं योगिनां चित्तवज्रं
स्वप्रज्ञालिङ्गितं यत् सहजसुखगतं मोक्षदं तत्स्वचित्तम् ॥२२८॥

ॐ आः हूँ होः क्रमस्थैः प्रथममिह सदा बोधयेच्छोधयित्वा
मद्यं प्रज्वालयित्वा द्रुतशशिनमिवाभावयित्वा क्रमेण ।
तत्पात्राद् बिन्दुना वै शशिकरकमलानामिकाग्रेण भूम्यां
कृत्वा बाह्ये त्रिकोणं दिनकरसदृशं वर्तुलं तस्य मध्ये ॥२२९॥

तन्मध्ये ज्ञानचक्रं त्रिभवमपि गतं भावयित्वा स मन्त्री 5
अङ्गुष्ठानामिकाभ्यां प्रतिदिनसमये तर्पणाद्यं करोति ।
देशग्रामाधिपानां प्रथममिह बलिं चादिमध्यान्तनाम्ना
हारीत्याः पिण्डके द्वे पुनरपि च बलिं क्रोधराजाय मन्त्री ॥२३०॥

दूतीनां ग्रासमग्रं क्षितितलनिलये भर्तृवज्रैर्ददाति
भूतानां भुक्तशेषं पठति पुनरिमां दानगाथां शुभार्थम् । 10
अङ्गन्यासं स्ववज्रैः शिरसि गलहृदोर्नाभिगुह्ये च मूर्ध्नि
निद्राकालेऽङ्गवक्त्रैरुभयकुलगतैरर्चने मैथुने च ॥२३१॥

अतो नवत्यधिकशतवृत्तादूर्ध्वं चत्वारिंशद् वृत्तानि सुबोधानि । "यः शब्दो हृत्प्रदेशे" (४.१९२) इत्यादिना "दूतीनां ग्रासमग्रम्" (४.२३१) इति पर्यन्तं कतिपयवृत्तानि सुबोधानि, कतिपयवृत्तान्यभिषेकपटलेऽध्याहारेणोक्तानि कार्यवशादिति ॥ १९२-२३१ ॥ 15

इदानीं लोकोत्तरलौकिकसिद्धये देवतालम्बनमुच्यते—

प्रत्यक्षं चानुमानं द्विविधमपि भवेद् देवतालम्बनं यत्
प्रत्यक्षं तत्त्वयोगादडुरिव गगनेऽनेकसम्भोगकायम् ।
अप्रत्य[310b]क्षेऽनुमानं मृतकतनुरिवातत्त्वतः कल्पनं य- 20
च्चित्रादौ दर्शनीयं ह्यपरिणतधियां योगिनां भावनार्थम् ॥२३२॥

प्रत्यक्षमित्यादि । इह सत्त्वानामाशयवशेन **योगिनां प्रत्यक्षं चानुमानं द्विविधमपि भवेद्देवतालम्बनं यत्** । तयोः प्रत्यक्षानुमानयोर्यत् **प्रत्यक्षं तत्त्वयोगाद् गगने उडुरिव** [1]भवेत् ताराचक्रमि**वानेकसंभोगकाय**मिति । मांसादिचक्षुर्ग्राह्यं मायास्वप्नसदृशं त्रिभवं त्र्यध्वनि । अत्र प्रथमं मांसचक्षुषा योगी आदिकर्मिको विश्वं पश्यत्यभिज्ञाभिर्विना । ततो दिव्यचक्षुषा पश्यत्यभिज्ञाविधिवशात् । ततो बुद्धचक्षुषा पश्यति वीतरागावधिवशतः । ततः प्रज्ञाचक्षुषा पश्यति बोधिसत्त्वावधिवशतः । ततो 25

१. च. भवति ।

ज्ञानचक्षुषा पश्यति सम्यक्संबोधावधिचित्तवशात् सर्वोपधिविनिर्मुक्त इति। एवं तथागतस्य पञ्चचक्षूंषि मांसादीनि शून्यतादर्शनं प्रति। अन्ये सत्त्वाः शून्यतादर्शनविषये जात्यन्धा इति। [1]एवं विस्तरो वक्ष्यमाणे परमाक्षरज्ञानसिद्धौ वक्तव्य इति तत्त्व-भावना नियमः। अतत्त्वसाधने पुनरप्रत्यक्षेऽनुमानं **मृतकतनुरिवातत्त्वतः कल्पनं यच्चित्रादौ दर्शनीयमिति**। [2]एवं प्रतिमा घटिता [3]चित्रिता बुद्धबोधिसत्त्वानां मण्डल-चक्रं वा लिखित्वा नियताकारं दर्शनीयं बालयोगिनां मन्दानां भावनार्थमिति विकल्पभावनानियमः॥ २३२॥

इदानीं विकल्पभावनाया उपाय उच्यते—

रूपं वा मण्डलं वा प्रथममपि पटेऽतत्त्वतो भावनीयं
आकाशे तत्त्वयोगात् सकलमविकलं दृश्यमानं स्वचित्तम्।
वर्षार्धं वर्षमेकं गुरुनियमवशाद् यावदेव स्थिरं स्या-
न्मुद्रासङ्गेन तस्मात् कतिपयदिवसैरक्षरत्वं प्रयाति॥२३३॥

रूपमित्यादि। इह बालयोगिनां स्वचित्तशक्त्या **रूपमि**त्येकदेवता पटे लिखिता भावनीया, **मण्डलं वा प्रथ[311a]ममपि पटेऽतत्त्वतो भावनीयम्। स्वचित्तमिति।** तत्त्वतः पुनराकाशे **तत्त्वयोगा**दिति शून्यताकरुणायोगात्। **सकलमविकलं दृश्यमानं स्वचित्तं** सर्वाकारं रूपमण्डलचक्रकल्पनाऽभावादिति। एवं रूपादिकं कल्पितं पटे लिखितं वा, शून्यताबिम्बम[4]विकल्पं वा, **वर्षार्धं वर्षमेकं** वा **गुरुनियमवशाद् यावदेव स्थिरं स्यात्** [5]स्वचित्तम्। **मुद्रासङ्गेन तस्मा**दिति। इह स्वचित्ते प्रत्याहारध्यान-प्राणायामधारणाबलेन स्थिरे जाते सति ततो मुद्रासङ्गेन **कतिपयदिवसै**रिति काल-चक्रदिनैः पञ्चविंशत्यधिकैकादशशतैरिति नियमः। एभिर्दिनैर्बोधिचित्त**मक्षरत्वं प्रयाति** वैमल्यं भवतीति सम्बन्धः। अत्र [6]पटपुस्तकप्रतिमालिखनाय उपस्थापको धर्मभाणकोऽन्वेषणीयः, तेन पटपुस्तकप्रतिमादिकं कर्तव्यं रौद्रसौम्यक्रियया। पूर्वोक्तमर्घा(र्घा)दिकं दत्त्वाऽऽचार्यस्य पूजा कार्या। संघभोज्यं गणचक्रं च दातव्यमर्घदानकाले। यथा प्रतिष्ठा-काले विधिः, तथार्घदानकालेऽपि यथाशक्तितः कार्यं इति नियमः॥ २३३॥

इदानीं वज्रपदनियम उच्यते—

सर्वस्मिंस्तन्त्रराजे खलु कुलिशपदं योगिनामेतदुक्तं
बालानां पाचनार्थं परमकरुणया गोपितं विश्वभर्त्रा।
तस्मात् तं भेदयित्वा प्रतिदिनसमये योगिना भावनीयं
मुद्रासिद्ध्यर्थहेतोर्जिनवरजनकाऽनाहतं कालचक्रम्॥२३४॥

॥ इति साधनापटलश्चतुर्थः॥

---

१. क. एवं वागुरो ग. एषां, च. तेषां। २. ख. ग. च. छ. चित्रं। ३. क. ख. ग. च. छ. निषिक्ता। ४. च. विकल्पितं। ५. ग. 'स्व' नास्ति। ६. च. पटप्रतिमापुस्तक।

सर्वस्मिन्नित्यादि। इह **सर्वस्मिंस्तन्त्रराजे समाजादिके** उपायतन्त्रे, **चक्रसंवरा**-दिके प्रज्ञातन्त्रे खलु **कुलिशपदं** पूर्वोक्तमक्षरसुखं **योगिनामिति**। तदुक्तं **भगवता**—

[1]तद्यथा भगवान् बुद्धः संबुद्धोऽकारसम्भवः।
अकारः सर्ववर्णाग्र्यो महार्थः परमाक्षरः॥
महाप्राणो ह्यनुत्पादो वागुदाहारवर्जितः। 5
सर्वाभिलापहेत्वग्र्यः सर्ववाक्सुप्रभास्वरः॥ (ना. सं. ५.१-२)

इत्यादि, "ज्ञानकाय नमो नमः" (ना० सं. ११.५) इति पर्यन्तं द्वाषष्ट्यधिकशतवृत्तेनोक्तो ज्ञानकायो **नामसंगीत्याम्**। स एव कुलिशपदमुच्यते। **सर्वस्मिन् तन्त्रराजे**। तदेव **बालानां पाचनार्थं परमकरुणया गोपितं विश्वभ**[311b]**र्त्रा** द्वीन्द्रियसुखं प्रतिपादितं बालानामिति। **तस्मात् तं** कुलिशपदं **भेदयित्वा प्रतिदिनसमयेऽ**- 10
हर्निशं **योगिनेति** तीक्ष्णेन्द्रियेण पूर्वोक्तचक्षुषा **भावनीयं मुद्रासिद्धि**[2]निमित्तमिति महामुद्रासिद्धये। किं तत्? **जिनवरजनकाऽनाहतं कालचक्रं** तदिति नियमो भगवतः सर्वतन्त्रान्तरे योगिभिरवगन्तव्यः संबुद्धपदलाभायेति।

इति [3]श्रीमूलतन्त्रानुसारिण्यां लघुकालचक्रतन्त्रराजटीकायां
विमलप्रभायां द्वादशसाहस्रिकायां 15
नानासाधनमहोद्देशः पञ्चमः॥

साधनापटलस्य टीका समाप्ता।

[[4]तन्मण्डलत्रितयबोधितशे(षे)करत्नराजप्रबोधितभुवः परमाद्भुतार्थाः।
उक्तस्तु साधयितुमिष्टतमः परार्थं नानार्थसाधनविधिः स षडङ्गयोगः॥
प्राप्तं मया कुशलमावुकदत्तकेन संलेख्य साधनविधेः पटलं हि तेन। 20
लोकोत्तराद्वयसुखाकररत्नमूर्ध्ना ज्ञानैकचक्षुरमलः सकलोऽस्तु लोकः॥]

१. अथ वज्रधरः श्रीमान् इत्याद्यारभ्य इति चेत्साधु? २. क. ख. छ. नियम इति। ३. क. ख. च. छ. 'श्री' नास्ति। ४. 'तन्मण्डल..... लोकः' भो. नास्ति। श्लोकद्वयं प्रतिलिपिकर्तुरस्ति न तु टीकाकारस्य।

५. ज्ञानपटलः पञ्चमः

(१) योगिनीतन्त्रादिस्फरणमहोद्देशः

[1][169a[3]]   ॥ [2]नमः श्रीकालचक्राय ॥

T 414

येनाकृष्य मनोभवः स्वकुलिशान्नीतो ललाटं स्वकं
प्रज्ञाज्ञानबलेन शाक्यमुनिना वज्रं महोष्णीषकम् ।
सालम्बाऽनणुशून्यता सुकरुणाऽनालम्बिनी यस्य वै
तस्मै देवनरासुराहिगुरवे विश्वैकशास्त्रे नमः ॥

कारणं लक्षणं नास्ति चलो नास्ति क्रमस्तथा ।
कालचक्राभिधानेन यस्य नत्वा तमद्वयम् ॥

निर्माणसम्भोगसुधर्मशुद्धं काद्यक्षरैः कायचतुष्कमुक्तम् ।
यस्यादिबुद्धस्य निरन्वयस्य [3]तथागतं तं प्रणिपत्य मूर्ध्ना ॥

श्रीज्ञानपटले टीका मञ्जुश्रीचोदितेन वै ।
लिख्यते पुण्डरीकेण सुगतव्याकृतेन च ॥

मया निर्मितकायेन लोकेशेनाब्जधारिणा ।
ऋषीणां सर्वसत्त्वानां पुण्यज्ञानफलाप्तये ॥

इह श्रीमति कलापग्रामदक्षिणमलयोद्याने श्रीकालचक्रमण्डलगृहपूर्वद्वारावसाने रत्नमण्डपे महामणिरत्नसिंहासनस्थो यशोनरेन्द्रो मञ्जुश्रीनिर्मितकायो ब्रह्मर्षिसूर्यरथाध्येषितः परमादिबुद्धाज्ज्ञानपटले सुचन्द्राध्येषणं तथागतप्रतिवचनं प्रथमवृत्तेनाह—

किञ्चिज्ज्ञातं हि भर्तुर्जिनवरसहितं साधनं यत्त्वयोक्तं
भूयोऽहं श्रोतुकामस्त्रिदशनरगुरो मण्डलं धातुभेदैः ।
बुद्धानां षट्कुलानि त्वलिकलिषु गतान्येव षड् योगिनीनां
श्रुत्वा सौचन्द्रवाक्यं गदति जिनपति[4]र्धातुभिर्मण्डलाद्यम्[5] ॥१॥

इह प्रथमवृत्तेनादिबुद्धात् सुचन्द्राध्येषणं तथागतप्रतिवचनमर्थशरणतया संगीतं मञ्जुश्रिया, तदेव टीकया वितन्यते—किञ्चिदित्यादि । इह [6]साधनपटले यद्भर्तुः साधनं

---

१. अतः परं च. मातृकायाः पत्रसंख्या दीयते । २. ग. च. 'नमः श्रीकालचक्राय' नास्ति । ३. ग. च. तथागतैस्तं । ४. भो. Khams Kyi dBye Bas (धातुभेदैः) । ५. ग. भो. इति । ६. च. साधना ।

तथागतसहितं कालचक्रस्य यत् त्वयोक्तं हे त्रिदशनरगुरो शाक्य[1]मुने ! तत्किञ्चित् मया **ज्ञातम्** । तस्माद् भूयोऽहं **श्रोतुकामः** कालचक्रमण्डलं शरीरे **धातुभेदैरिति**, अस्थ्यादि-धातुविशुद्धिभिरिति । अन्यच्च **बुद्धानां षट्कुलानि** श्रोतुकामः, या[2]न्यलिकलिषु **गतानीति**, अकारादि[169b]स्वरेषु गतानि, ककारादिव्यञ्जनेषु गतानीति वक्ष्य-
5 माणानि, एवं **षड् योगिनीनामिति** । यथा षट्स्कन्धानां षट् कुलानि तथा षड्धातूनामपि आदिकादिषु गतानीति । **श्रुत्वा सौचन्द्रवाक्यमिदं ततो गदति जिनपतिः** सहजादिचतुः-कायात्मनिरावरणस्कन्धा[दय]:, तेषां पतिर्जनकः संबुद्ध आदिबुद्ध इति । [3]**धातु-भिर्मण्डलाद्यमिति** षट्कुलादिकं वक्ष्यमाण[म्] । इति देशकाध्येषकसम्बन्धः । अस्मिन् वृत्ते पादत्रयेण सुचन्द्राध्येषणम्, चतुर्थपादमारभ्य यावत् पटलपरिसमाप्तिस्तावत् तथा-
10 गतप्रतिवचनम् । पुनरध्येषणा नास्ति [इति] अस्मिन् तन्त्रे नियमः ॥ १ ॥

इदानीं धातुविशुद्धया मण्डलविशुद्धिरुच्यते—

स्तम्भान् वज्रावलीं वै कुरु महिवलयं भित्तिमेवास्थिभिश्च
मांसासृक्तोयविड्भिः सुरयमधनदे चापरे रङ्गपातम् ।
पित्तेन श्लेष्मणार्कं शशिनमपि तथा स्नायुभिस्तोयजानि
15 पञ्चप्राकाररेखाः क्षितिजलहुतभुङ्मारुताकाशजाभिः ॥२॥

स्तम्भानित्यादि । इह शरीरास्थिभिः शरीरे कायमण्डले **स्तम्भान् कुरु** इति [4]कल्पनया । एवं **वज्रावलीं पृथ्वीवलयं भित्तिमपि, अस्थिभिः** कुर्विति वृत्तत्रये सम्बन्धः । अनया विशुद्धयाऽस्थिचूर्णादिकं प्रक्षिपेद् रजोमध्ये । **मांसासृक्तोयविड्भिरिति**, मांसविशुद्धया **सुरे** पूर्वे **रङ्गपातः**, रक्तविशुद्धया [5]**यमे** दक्षिणे रङ्गपातः, तोयविशुद्धया
20 उत्तरे **धनदे** रङ्गपातः, विड्विशुद्धयाऽ**परे** पश्चिमे रङ्गपात [6]इति । मध्ये शुक्रविशुद्धया रङ्गपातः । यत्र षष्ठो रजस्तत्र रजोविशुद्धया रङ्गपात इति । एवं तथागतमांसादिविशुद्धया यथाक्रमममोघो रत्नेशोऽमिताभो वैरोचनोऽक्षोभ्यो वज्रसत्त्वश्चेति षट् । **पित्तेनेति** पित्तधातुना अर्कासनानि[7], **श्लेष्म**धातुना चन्द्रासनानीति । **अर्कं शशिनमपि** । **स्नायुभिस्तोयजानि** चन्द्रादित्यासनतले । **पञ्चप्राकाररेखा** इति । प्रथमरेखा **क्षितिजया**
25 अङ्गुष्ठविशुद्धया, द्वितीया **तोयजया** तर्जनीविशुद्धया, तृतीया **वह्निजया** मध्यमा-विशुद्धया, चतुर्थी **वायुजया** अनामिकाविशुद्धया, पञ्चम्या**काशजया** कनिष्ठा-विशुद्धयेति । एवं पञ्चप्राकाररेखाः कुरु रजोमण्डले इति ॥ २ ॥

---

१. ग. मुनि । २. भो. आलिकालिषु । ३. भो. Khams Kyi dBye Bas (धातु-भेदैः) । ४. ग. 'कल्पनया' नास्ति । ५. ग. यामे । ६. भो. 'इति' नास्ति । ७. ग. नादिति ।

भर्त्रब्जं कालनाड्या चलशिखिवलयाद्यं च चर्मादिभिश्च
अर्कद्वाराणि रन्ध्रैर्मणिमयरचनां दन्तपङ्क्त्या तथैव ।
चक्राण्यष्टौ श्मशाने चलवलयगतान्यङ्गुलीनां नखैश्च
वज्रार्चिर्लोमभिर्वै दिशिविदिशिगतैर्मण्डलस्यावसाने ॥३॥

भर्त्रब्जं कालनाड्येति । अवधूत्या नायकस्य पद्मं विशुद्धम्, शेषाणि ललनादिभिरिति द्वासप्ततिसहस्रपर्यन्तैः स्नायुभिरिति नियमः । **चलशिखिवलयाद्यं चर्मादिभिश्चेति** । इह वायुवलयं चर्मभिः, अग्निवलयं [1]रक्तोष्णधातुना, उदकवलयं प्रस्वेदेन । **अर्कद्वाराणीति** द्वादशद्वाराणि द्वादशरन्ध्रैः । श्रोत्रे द्वे, घ्राणे द्वे, नेत्रे द्वे, मुखे एकम्, [2]मूत्रविट्-शुक्ररन्ध्राणि त्रीणि, स्तनद्वये द्वे—एवं द्वादश रन्ध्राणि रजोमण्डले कुरु द्वादशरन्ध्र-विशुद्धयेति । **मणिमयरचना** या मण्डले हारादिका या(तां) दन्तपङ्क्त्या कुरु । **चक्रा-ण्यष्टौ श्मशाने** यानि तान्यङ्गुलीनां **नखैश्चेति** हस्तपादनखविशुद्ध्या कुरु । **वज्रा-र्चिर्लोमभिर्वै** इति । बाह्यवज्रावलीं वज्रज्वालालोमभिः कुरु । **दिशिविदिशिगतैर्लोमभि-र्मण्डलस्यावसाने** वज्रार्चिः ॥ ३ ॥

एवं वै कायवज्रं वरविविधगुणं मण्डलाकारमुक्तं
वाग्वज्रं चादिकाद्यं सकलजिनकुलैर्देवताकारमेव ।
षट्शून्यैश्चित्तवज्रं त्रिविधभवगतं नायकाकारमेक-
मेवं वै ज्ञानवज्रं भवभयमथनं विश्वमातृस्वरूपम् ॥४॥

एवं वै कायवज्रं षड्धात्वात्मकम्, **वरविविधगुणं** पृथिव्यादिभेदैः, **मण्डलाकार-मुक्तमिति** मण्डलनियमः । इदानीं देवतागणविशुद्धिरुच्यते—वाग्वज्रमित्यादि । इहा-[170a]**दिकाद्यं** स्वरव्यञ्जनात्मकम्, **वाग्वज्रं** स्वरव्यञ्जनपरिणतं देवतागणम्, **सकल-जिनकुलैः** सार्धम् । तेन वाग्वज्रं **देवताकारमेवोक्तम्** । तदेव रजोमण्डले देवताकारं कुरु इति । **षट्शून्यैश्चित्तवज्रमिति** चक्षुर्विज्ञानं श्रोत्रविज्ञानं घ्राणविज्ञानं जिह्वाविज्ञानं कायविज्ञानं मनोविज्ञानं [3]विशुद्ध्या षड्विधम् । **षट्शून्यै** रूपादिविषयैर्निरावरणं **चित्तवज्रं** भवति । **त्रिविध[4]भवगतं** सर्वव्यापि **नायकाकारमेकं** कुरु । **एवं वै ज्ञानवज्रं** [5]ग्राह्यचित्तं त्रिविधभवगतं **विश्वमातृस्वरूपं** शून्यताबिम्बं **भवभयमथनं** सर्वकल्पना-विनिर्मुक्तम् । प्रज्ञां [6]कुरु मण्डले नायिकामिति । एवं शरीरे कायवाक्चित्तज्ञानधातवः, बाह्ये मण्डलं देवतागणो नायको नायिका चेति संवृत्या, विवृत्या निर्माणं सम्भोगं धर्मं सहजमिति सिद्धम् ॥ ४ ॥

१. ग. रक्तकृष्ण । २. च. गुद । ३. च. विशुद्धं । ४. ग. भगवता । ५. ग. ग्राह्यं । ६. ग. कुरु इति । एवं षट्शून्यैश्चित्तवज्रमिति ।

इदानीं षण्मन्त्रकुलान्युच्यन्ते—

वर्गाणां कादिषण्णां क्रमपरिरचितानां कुलानि क्रमेण
वज्रासी रत्नचक्रं जलजमपि तथा कर्तिका वै जिनानाम् ।
भूयश्चैकैकवर्गः सकलजिनवरैर्भिद्यते पञ्चभेदैः
प्रत्येकं वर्णभेदात् क्षितिजलहुतभुङ्मारुताकाशभावात् ।।५।।

वर्गाणामित्यादि। इह कादयः षड्वर्गाः क च ट त प [1]शा इति, तेषां **वर्गाणां कादिषण्णां क्रमपरिरचितानां कुलानि** षड् जिनानां वज्रादिचिह्नानीति। तत्र **वज्रं** कवर्गकुलम् **असि**श्चवर्गकुलं, **रत्नं** टवर्गकुलं **चक्रं** तवर्गकुलं **जलजमपि** पवर्गकुलं **तथा कर्तिका** [2]शवर्गकुलम्, **वै** एकान्तमिति वर्गकुलनियमः। **भूयश्चैकैकवर्गः सकलजिनवरैर्भिद्यते** [3]**पञ्चभेदै**रिति। इह यत्रैकं तत्र पञ्चकुलानि समुदयसत्येन भवन्ति। तेन तैर्व्यवहारो लौकिकसिद्धये। अतश्चैकैको वर्गः **प्रत्येकं वर्णभेदात् क्षिति**भावाज्जल-भावाद् **हुतभु**ग्भावान्**मारुत**भावादाकाशभावाद् भिद्यते पञ्चधा वर्गः। प्रत्येक[4]मिति क ख ग घ ङ इति ॥ ५ ॥

एवं चादयः संहारक्रमेण पठिताः प्रत्याहारपाठेन पुनर्ङादयः सृष्टिक्रमेणा-काशादिना पठिता इति [5]तेऽप्युच्यन्ते—

आदौ शून्यप्रभेदास्त्वपि ङ ञ ण म ना≍कस्तथादिस्वरश्च
वायोर्भेदस्त्विकारस्तु घ झ ढ भ ध शा वह्निभेदास्त्वगाद्याः ।
अम्भोभेदोऽप्युकारः≍प ख छ ठ फ थ वा भूमिभेदे लृकाद्या
एवं पञ्चप्रकारैः परमजिनकुलैः कादिवर्गा विभिन्नाः ।।६।।

आदावित्यादि। इहादौ तावच्छून्यस्त्वपि ङ ञ ण म नास्तथा≍कः। [6]**अपि चादिस्वरश्चे**त्यकारः। "तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते" इति परिभाषया हकारोऽप्याकाशभेद इति सिद्धः। एवं **वायोर्भेदस्त्विकारो घ झ ढ भ ध शा** यकारश्चेति। **वह्नेः** [7]ऋ ग ज ड ब द षा र इति, **तोयस्य** उ ख छ ठ फ थ ≍पा व इति, **भूमेः** ऌ क च ट प त सा ल इति। **एवं पञ्चप्रकारैः परमजिनकुलैः कादिवर्गा विभिन्ना** इति वज्रखड्गरत्नपद्मचक्रकुलैरुक्ताक्षराणि ङादीनि वेदितव्यानीति नियमः ॥ ६ ॥

इदानीमुष्णीषकुलान्युच्यन्ते—

उष्णीषं पञ्चशून्यं त्रिकुलमपि तथा कायवाक्चित्तवज्र-
माद्या मुद्राकुलं वै हयरवलयुताः कादिवर्गाः समस्ताः ।

---

१. भो. स । २. च. भो. स । ३. च. पञ्चभिरिति । ४. भो. lTar (इव) ।
५. च. तेनोच्यते । ६. भो. 'अपि' नास्ति । ७. च. 'ऋ' नास्ति ।

लोकालोकं समात्रा हयरवलयुता लोकलोकोत्तरं च
काद्या विद्याधरेन्द्रं भवति हि सकलं चाष्टकूटस्थवर्गाः ॥७॥

उष्णीषमित्यादि । इह **महोष्णीषकुलं महद्** यत्तत् **पञ्चशून्यं** लोकधातुपटले उक्तम् । **त्रिकुलं कायवाक्चित्तवज्रम्** ॐ आः हूमिति । **आद्या** इति अ इ ऋ उ ऌ । मुद्राकुलमक्षोभ्यादिकं देवतागणमुद्रणायेति । **लोकालोककुलं महदिति** ह् य र व ल-[1]युताः **कादिवर्गाः समस्ता** इति षट्त्रिंशद् व्यञ्जनानीति । ह य र व ल [2]युताः **समात्रा** वर्गाः हादयः समात्राः षष्टि [:] पूर्वोक्ताः कादयः समात्राः षष्ट्युत्तरत्रिशताः पुनः पुन-र्गुणवृद्धियणादेशभिन्ना अशीत्युत्तरसहस्राः, **लोकलोकोत्तरकुलं च भवति** । **काद्या विद्याधरेन्द्रं** संयुक्तं व्यञ्जनं **भवति** [3]**हि सकलं चाष्टकूटस्थवर्गा** इति । क् ख् ग् घ् ङ च् छ् ज् झ् ञ ट् ठ् ड् ढ् ण प् फ् ब् भ् म त् थ् द् ध् न [4]स् ⁀ प् ष् श् ⁀ क ल् व् र् य् ह [170b] ल् व् र्[5] य् क्ष इति ॥ ७ ॥

इदानीं प्रत्येकं[के] का[6]द्यक्षरे प्रत्येकैकतन्त्रमुच्यते—

त्रिंशद् वै कादिवर्णा हयरवलयुताः सक्ष षट्त्रिंशदेव
भिन्ना मात्राविकारै रसगुणितरसाश्चक्रनाथा भवन्ति ।
एकाङ्गश्चैकया वै द्विसपरिकरितः प्रज्ञयालिङ्गितोऽभूत्
पञ्चात्मा पञ्चभिः स्यान्नवपरिकरितश्चक्रनाथो नवात्मा ॥८॥

त्रिंशदित्यादि । इह **कादीनि त्रिंशद्** व्यञ्जनानि **हयरवलक्षसहितानि षट्त्रिंशदेव** तानि, **वर्णा** इति । ते वर्णा **भिन्ना मात्राविकारैरि**ति । मात्रा अकारा-दयो ह्रस्वदीर्घा द्वादश, गुणवृद्धिस्थानीया द्वादश, यणादेशा [7]द्वादश । एभिः षड्भिः षड्भिर्मात्राविकारैर्विभिन्नाः सन्तो **रस**[8]**गुणितरसाश्चे**ति षट्त्रिंशच्**चक्रनाथा भवन्ति** । प्रत्येको वर्णः षट्त्रिंशदङ्कैर्भिन्नो भवति । [9]एषां सर्वेषां षट्त्रिंशदिति षट्त्रिंश-त्तन्त्रेषु चक्रनाथा अपि भवन्ति षट्त्रिंशद्व्यञ्जनस्थानस्वरूपेणेति प्रथमं कव्यञ्जन-नायकेन कवज्रतन्त्रमुच्यते । तत्र मण्डले नायक **एकाङ्गश्चैकया** मात्रया भिन्नः कव्यञ्जनमकारेण सहितमेकवीरः । **द्विसपरिकरित** इति द्वाभ्यामकाराभ्यां युक्तः **प्रज्ञयाऽऽलिङ्गितो** नायको भवतीति का । **पञ्चात्मा पञ्चभिः स्यादि**ति का कि कृ कु क्ल इति । **नवपरिकरितश्चक्रनाथो नवात्मे**ति का कि की कृ कॄ कु कू क्लृ क्लॄ इति ॥ ८ ॥

---

१. भो. 'क्ष' इत्यधिकम् । २. भो. 'र' इत्यधिकम् । ३. ग. भो. 'हि' नास्ति । ४. च. श ष स⁀प स, ग. श ष स⁀प⁀क । ५. ग. च. 'र' नास्ति, गृहीतस्तु भोटानुसारी । ६. ग. काक्षरे । ७. भो. Thun Ṅu Daṅ Riṅ Po bCu gNis Te dByaṅ Kyi rNam Pa ḥGyur Pa (ह्रस्वदीर्घद्वादशमात्राभिन्ना) इत्यधिकम् । ८. ग. पत्रसंख्या ३३८-३३९ नास्ति । ९. भो. De lTar (एवं) ।

मात्रासंख्यात्मको वै त्रिदशनवदिशाभिश्च षट्त्रिंशदात्मा
याद्याभिर्द्वारपालाः सकलगणकुलं शेषमात्राभिरेव ।
षट्क्रोधा हादिभिः स्युः स्वकुलदिशिगता वायुमात्रादिभेदैः
प्रत्येकं वर्णभेदै रसगुणितरसं योगिनीयोगतन्त्रम् ॥९॥

5 **मात्रासंख्यात्मको वै त्रिदशनवदिशाभिश्चेति** । [1]तत्र त्रयोदशभिस्त्रयोदशात्मा पूर्वोक्तः क्य क्र क्व क्ल एभिर्यणादेशैर्युक्तस्त्रयोदशात्मा, द्वारपालैः सहाप्यसौ पुनर्गुणैर्भिन्न एकोनविंशदात्मा भवति क [2]के कर् को कल् कमित्येभिः सह । ततः पञ्चविंशदात्मा गुणवृद्धिभिः सह का कै कार् कौ काल् [3]कः इति । ततो द्वात्रिंशदात्मा क्हा क्या क्रा क्वा क्ला क्हाः इति गर्भप्रज्ञया सह । ततश्चतुस्त्रिंशदात्मा [4]कं कः सहितः । एवं षट्-
10 त्रिंशदात्मा [5]क्हं क्हः सहित इति सर्वत्र सप्तत्रिंशदात्मको मध्ये हूंकारो नायकः । षट्-त्रिंशन्माण्डलेयाः क का कि की कृ कॄ कु कू कॢ कॣ कं कः इति । ह्रस्वदीर्घस्वरभिन्नो वर्णः । तथा क का के कै कर् कार् को कौ कल् काल् कं कः इति गुणवृद्धिभिर्भिन्नो [6]वर्णः । क्ह क्हा क्य क्या क्र क्रा क्व क्वा क्ल क्ला क्हं क्हः इति ह्रस्वदीर्घयणादेश-भिन्नो वर्णः ककारः । खादयोऽपि प्रत्येकं षट्त्रिंशदिति । एवं खवज्रादिकं तन्त्रमुच्यते
15 [7][ए]कव्यञ्जनात्मकं षट्त्रिंशन्मात्राभिन्नमिति । एवं **षट्त्रिंशदात्मा** मण्डलेशः । **याद्याभि-र्द्वारपाला** इति यणादेशसहितैर्व्यञ्जनैर्द्वारपालाः [8]क्य क्र क्व क्ल इत्येभिः । **सकल-गणकुलं** स्कन्धधात्वायतनलक्षणम् । शेषैः स्वरैर्ह्रस्वदीर्घगुणवृद्धिस्थानीयैरिति । **शेष-मात्राभिरेव षट्क्रोधा हादिभिः स्युरिति** । यत्र दश क्रोधा दशदिक्षु भवन्ति, तत्रापरे षट्क्रोधास्ते हादिभिर्दीर्घैर्यणादेशैः स्युः क्ह क्हा क्रा क्वा क्ला इति । यत्र क्रोधेन्द्रस्तत्र
20 क्हं क्हः इति द्वादशक्रोधाः षट्कुलतन्त्रे, एककुलतन्त्रेऽपि षण्मात्राकुलभेदैरिति नियमः । [9]एवमाकाशधातुरूर्ध्वे **स्वकुलदिशिगतो** ज्ञानधातुरधोगतः । अपरे **वायुमात्रादिभेदैः** पूर्वे दक्षिणोत्तरे पश्चिमे गता देवता इति । एवं **प्रत्येकं** व्यञ्जनं ककारादिकं **वर्णभेदैः** स्वरभेदैः, **रसगुणितरसमिति** षट्त्रिंशद्भेदभिन्नम्, **योगिनीयोगतन्त्रमिति** [10]यत्र योगिनीनां सञ्चारो नायको निश्चलः संवृत्या तद्योगिनीतन्त्रम्, यत्रोपा[171a]यस्य सञ्चारः प्रज्ञा
T 416 25 निश्चला तदुपायतन्त्रम् । स्वरूपतः सर्वमेव प्रज्ञोपायात्मकं योगतन्त्रम् । तथाह **हेवज्रे—**

हेकारेण महाकरुणा वज्रं प्रज्ञेति भण्यते ।
प्रज्ञोपायात्मकं तन्त्रं तन्मे नि[11]गदितं शृणु ॥
(हे० त० १.१.७)

---

१. भो. De (तत्) । २. च. कि । ३. च. का । ४. च. क्कं क्कः । ५. च. कं कः । ६. च. वर्गः । ७. भो. gCig Gi bDag Ñid (एकात्मकं) । ८. भो. क्या क्रा क्वा क्ला । ९. भो. 'एवं' नास्ति । १०. च. तत्र । ११. ग. मातृका इतः परं पुनः प्रारभ्यते ।

इति वचनान्न हेवज्रं प्रज्ञातन्त्रं [1]भवति, प्रज्ञातन्त्रं शृण्विति वचनाभावात्। तथा समाजे—

प्रज्ञोपायसमापत्तिर्योग इत्यभिधीयते।
(गु० त० १८.३२)

समाजं मीलनं प्रोक्तं सर्वबुद्धाभिधानकम् ॥ 5
(गु० त० १८.२४)

इति वचनात्, नेदमुपायतन्त्रं भवति। तथादिबुद्धे—

योगो नोपायकाये न एकया प्रज्ञया भवेत्।
प्रज्ञोपायसमापत्तिर्योग उक्तस्तथागतैः ॥ इति ॥ ९ ॥

एवं प्रत्येकवर्णो रसगुणितरसे मण्डले मण्डलेशः 10
स्कन्धैर्भूतेन्द्रियाद्यैः सकलगणकुलं शोधयेन्मातृभेदैः।
शून्यैश्चानाहताद्यैः सकलजिनकुलैर्मुद्रणं देवताना-
मुष्णीषादम्बुजान्ते विषमसमकुले चक्रमध्यासने च ॥१०॥

एवं प्रत्येकवर्णो रसगुणितरस इति षट्त्रिंश[2]द्योगिनीयोगतन्त्रे **मण्डले मण्डलेश** इति सिद्धमेककुलतन्त्रं त्रिकुलं पञ्चकुलं यत्तत् तदेव सहस्रलक्षकोटिभेदभिन्नम्। 15 तन्त्राणां संख्या नास्ति, समाजादीनां हेवज्रादीनामनन्तसत्त्वाशयवशादिति तन्त्रनियमः।

इदानीं मन्त्रदेवतानामध्यात्मशुद्धिरुच्यते—स्कन्धैरित्यादि। इह पञ्च**स्कन्धैः** पञ्चात्मा शुद्धयति, स्कन्धपञ्च**भूतै**र्नवात्मा शुद्धयति, चतुःकर्मे**न्द्रियैः** सह त्रयोदशात्मा शुद्धयति, [3]षडिन्द्रियैः सह एकोनविंशदात्मा शुद्धयति, [4]षड्- 20 विषयैः सह पञ्चविंशदात्मा शुद्धयति, पञ्चकर्मेन्द्रियक्रियाभिः सह पञ्च-कर्मेन्द्रिये प्रविष्टे स्वाभप्रज्ञया सह द्वात्रिंश[5]दात्मा, षष्ठकर्मेन्द्रिय-[6]षष्ठक-र्मेन्द्रिक्रियायुक्तश्चतुस्त्रिंशदात्मा, [7]षट्स्कन्धधातुभ्यां युक्तः षट्त्रिंशदात्मा इति। एवं षट्स्कन्धाः षड्धातवः षडिन्द्रियाणि षड्विषयाः षट्कर्मेन्द्रियाणि षट्कर्मेन्द्रियक्रिया इति धातवो माण्डलेयाः,। एषां व्यापकं चित्तं ज्ञानं च नायकं 25 सर्वत्र। एवं **सकलगणकुलं शोधयेन्मातृभेदैरिति। शून्यैश्चानाहताद्यैरिति।** इह

१. ग. 'भवति, प्रज्ञातन्त्रं' नास्ति। २. च. योगानां। ३. ग. भो. षड्विषयैः। ४. ग. भो. षडिन्द्रियैः। ५. ग. 'आत्मा' नास्ति। ६. ग. 'षष्ठ' नास्ति। ७. च. षष्ठ।

षट्शून्यैर्ज्ञानाद्यैः **सकलजिनकुलैः** षट्स्कन्धैर्विशुद्धैर्मुद्रणं **देवतानाम्, उष्णीषादम्बुजान्ते विषमसमकुले चक्रमध्यासने** चेति। इह उष्णीषचक्रे [1]बिन्दावक्षोभ्य अ इति। एवं हृदये राहुमण्डले इ अमोघसिद्धिः, ललाटे चन्द्रमण्डले अमितभ उ इति विषमकुलम् विषमचक्रे। तथा नाभौ वैरोचनः ऌ कालाग्नौ, कण्ठे सूर्ये ऋ रत्नेशः, गुह्ये अं ज्ञानमण्डले वज्रसत्त्व इति मुद्रणं देवतानामिति नियमः कायमुद्रणे। प्राणमुद्रणे पुनः ऌ नाभौ, उ हृदये, ऋ कण्ठे, इ ललाटे, अ उष्णीषे पृथिव्यादिमण्डले देयः। तथा चित्तबिन्दुमुद्रणे ललाटे ॐ चन्द्रमण्डले, कण्ठे आः सूर्यमण्डले, हृदये हूँ राहुमण्डले, नाभौ [2]होः कालाग्निमण्डले। तथा ज्ञानमुद्रणं "अकारो मुखं सर्वधर्माणामाद्य[3]नुत्पन्नत्वात्" इति वज्रमणौ अ इति सिद्धं कायवाक्चित्तज्ञानानां मुद्रणम् ॥ १० ॥

इदानीं वक्त्रभेद उच्यते—

> वज्रैर्वक्त्रप्रभेदो भवति जिनपतेर्मातृभेदैर्भुजानां
> तत्त्वैर्मुद्राप्रभेदस्त्वपरमपि तथा कायवज्रादिभिश्च।
> षट्त्रिंशद् योगतन्त्रे त्वपरिमितगुणेऽनेकवर्णप्रभेदे
> प्रत्येके वर्णनामे समविषमकुले देवतादेवतीनाम् ॥ ११ ॥

वज्रैरित्यादि। इहैककुलं त्रिकुलं पञ्चकुलं षट्कुलं वज्रमुच्यते। तैर्वज्रैर्**वक्त्रभेदो भवति**। एककुलेन एकमुखम्, त्रिकुलैः शुद्धं त्रिमुखम्, पञ्चकुलैः शुद्धः पञ्चाननो भवति, षट्कुलैः शुद्धः षण्मुखो [171b] भवति भीम इति। एवमष्टमुखादीनां हलाहलः शताननो यावद्धातुभिः शुद्धो नायको भवतीति तन्त्रान्तरे नियमो **जिनपतेरिति**। एवं [4]**कालचक्रे** मण्डलाधिपतेरपि "एकाद्यानन्तवक्त्रो बहुकरचरणोऽनेकवर्णस्तमोऽन्ते" (का० त० ४.१३३) इत्यादि साधनपटले उक्तः। इह चतुर्विंशतिभुजस्य **मातृभेदैर्भुजानां** भेद इति। ह हा हि ही हृ हॄ हु हू इति कृष्णा अष्टौ तमोगुणतः। ह हा हे है हर् हार् हो हौ इत्यष्टौ रक्ता रजोगुणतः। [5]ह् ह ह् हा ह्य ह्या ह्र ह्रा [6]ह्व ह्वा इत्यष्टौ शुक्लाः सत्त्वगुणत इति कालचक्रस्य। तथा विश्वमातुः सर्वगुणतः हं हः हॢ हॣ हल् हाल् ह्ल ह्ला इत्यष्टौ पीता ज्ञानवक्त्रस्वभावत इति नियमः। **तत्त्वैर्मुद्राप्रभेद** इति आ ई ॠ ऊ ॣ अः आकाशवायुतेजउदकपृथ्वीज्ञानभेद इति सर्वदेवतागणस्य मुद्रणम्। **अपरमपि तथा कायमुद्रणं** ॐ, वाङ्मुद्रणं आः चित्तमुद्रणं हूं, [7]ज्ञानमुद्रणं होः, एककुलमुद्रणमनाहतोऽकार इति। एवं मुद्रणं षट्कुलैः पञ्चकुलैश्चतुःकुलैस्त्रिकुलैरेककुलेन **षट्त्रिंशद्योगतन्त्रेषु, अपरिमित**[8]**गुणेऽनेकवर्ण**-[9]**प्रभेदे** नानातन्त्रे **प्रत्येके** [10]**वर्णनाम** इति कवज्रे खवज्रे गवज्रे घवज्रे ङवज्रे।

---

१. ग. बिन्दोर। २. भो. हो। ३. च. द्यमुत्पन्न। ४. ग. कालचक्र। ५. च. ह हा, ग. ह्व ह्वा। ६. ग. ह्ल ह्ला। ७. ग. च. प्रज्ञा। ८. च. कुले। ९. च. भेदे। १०. ग. वर्णानामिति।

एवं चकारादो[1]नामपि षट्त्रिंशद्वर्णान् यावदिति। **समकुल** इति प्रज्ञातन्त्रे, **विषमकुल** उपायतन्त्रे, **देवतादेवतीनां** मुद्रणनियमः। बाह्ये रुचकादिकः, अध्यात्मनि [2]बुद्धात्मक इति ॥ ११ ॥

इदानीं मन्त्रदेवतानामुत्पत्तिक्रमेण[3] जातकशुद्धिरुच्यते—

बीजैकं चैकवीरो रजसि समरसः प्रज्ञयाऽऽलिङ्गितोऽभूत्
स्कन्धैः पञ्चात्मकोऽधिष्ठितमपि नवको भूमिधात्वादिभिश्च ।
पाय्वाद्यैश्चक्षुराद्यैः परिकरितमिदं पञ्चविंशात्मकश्च
एवं दन्तोद्भवे वै पुनरपि दशनैरीश्वरोऽनन्तचक्री ॥१२॥

बीजेत्यादि। इह यथा गर्भाधाने बोधिचित्ताधारसहितं मनोविज्ञानमेकं धर्मधातुविपर्ययेणैकलोलीभूत**मेकवीर** उच्यतेऽन्तर्भूता [4]स्वाभप्रज्ञा जातकस्य। एवं देवता ककारेणैकेन एकवीरा सिद्धा, पश्चात् तद् **बीजं रजसि समरसं प्रज्ञयाऽऽलिङ्गितं** भवति, तद्वासनातो विज्ञानस्कन्धः प्रज्ञयालिङ्गितो भवति का इति [5]तुर्ययोगत इति नियमः। एवं पञ्चस्कन्धनिष्पत्तौ **पञ्चात्मको** गर्भः, तथा देवताऽपि पञ्चात्मिका का कि कृ कु क्लृ इति। एवमस्थिद्रवोष्णचलधर्मोत्पत्तौ स्कन्धधात्वधिष्ठितो नवात्मको गर्भो यथा, तथा देवताऽपि का कि की कृ कॄ कु कू क्लृ क्लॄ इति सिद्धा। एवं वा[6]क्पाणिपायु-पादनिष्पत्तौ पूर्वस्कन्धधातुभिः सार्धं त्रयोदशात्मकः कर्मेन्द्रियनिष्पत्तौ यथा बालस्तथा देवताऽपि का कि की कृ कॄ कु कू क्लृ क्लॄ क्य क्र क्व क्ल इति। यथाऽ[7]ध्यात्मविषयो-त्पत्तौ गर्भे एकोनविंशत्यात्मकः पूर्वस्कन्धादिभिः सार्धं तथा देवताऽपि का कि की कृ कॄ कु कू क्लृ क्लॄ क्य क्र क्व क्ल का के कार् को काल् कः इति। ततश्चक्षुराद्युत्पत्तौ यथोत्पन्नो बालः पञ्चविंशत्यात्मकस्तथा देवताऽपि का कि की कृ कॄ कु कू क्लृ क्लॄ क्य क्र क्व क्ल का कै कार् कौ काल् [8]कः कं [9]के कर् को कल् कमिति। तत आलापादानगतिविण्मूत्रक्रियोत्पत्तौ पञ्चकर्मेन्द्रिययोगेन द्वात्रिंशदात्मको बालस्तथा देवताऽपि [10]क का कि की कृ कॄ कु कू क्लृ क्लॄ क्ह क्हा क्य क्या क्र क्रा क्व क्वा क्ल क्ला [172a] क का के कै कर् कार् को कौ कल् काल् कं कः इति द्वादशवर्षावधिनिष्पत्तिः। ततः षोडशवर्षावधिर्यथा बालस्य च्यवने शुक्रस्यावस्था तुर्या भवति चतुर्थी स एव चतुर्थः कायः षष्ठः स्कन्धः षष्ठो धातुः षष्ठमिन्द्रियं षष्ठो विषयः षष्ठं कर्मेन्द्रियं षष्ठी [11]कर्मेन्द्रियक्रिया भवति। एवं षट् स्कन्धाः षड्धातवो द्वादशायतनानि षट् कर्मेन्द्रियाणि षट् कर्मेन्द्रियक्रियाः। एवं षट्त्रिंशद् धातव आधेयभूताः सप्तत्रिंशतिमस्य ज्ञान-

T 417

१. भो. Min Can (नाम्नः)। २. ग. बुद्धात्म। ३. च. क्रमे। ४. ग. स्वाभा। ५. च. तुर्यात्मगत। ६. च. पाणिपादगुद। ७. ग. अध्यात्मनि। ८. भो. किः कि। ९. ग. च. के कर् को। १०. च. भो. 'क' नास्ति। ११. ग. 'कर्मेन्द्रियं नास्ति।

चित्तस्येति। [1]तथा देवतानिष्पत्तौ क का कि की कृ कॄ कु कू क्ल क्लॄ कं कः इति स्कन्धधातवो द्वादश। वह् वहा क्य क्या क्र क्रा क्व क्वा क्ल क्ला क्हं क्हः इति कर्मेन्द्रियकर्मेन्द्रियक्रिया द्वादश। तथा क का के कै कर् कार् को कौ कल् काल् कं कः इति द्वादशायतनानि सिद्धानि। एषां धातूनां नायकः पञ्चाक्षरो [2]महाशून्य उपायो बिन्दुशून्यः षडक्षरः प्रज्ञा वंकार एकार इत्येवंकारो नायको महासुखो मण्डलाधिपतिर्यथा कवज्रतन्त्रे तथा खवज्रादिके सिद्धः। एवं स्कन्धधातवो गर्भपुटे द्वादशायतनानि बाह्यपुटे द्वारपालाः कर्मेन्द्रियाणि सविषयाणीति। इह यथा कुमारः षोडशवर्षादूर्ध्वमीश्वरोऽनन्तचक्रीति पुत्रदुहितृस्कन्धानां जनकत्वात्, तथा पञ्चतथागतादिव्यूहस्फरणाद्देवतागणनायक ईश्वरोऽनन्तचक्री भवतीति[3] नियमः। इह यथा गर्भस्य कायनिष्पत्तिस्तथा देवतानिष्पत्तौ मण्डलराजाग्री सेवाङ्गम्, यथा वाङ्निष्पत्तिस्तथा कर्मराजाग्र्युपसाधनम्, यथा बोधिचित्तबिन्दु[4]निष्पत्तिस्तथा बिन्दुयोगः साधनम्, यथा शुक्रच्युतौ सुखोत्पत्तिस्तथा सूक्ष्मयोगो [5]महासाधनम्। एवं चतुरङ्गसाधनमध्यात्मपटले प्रागुक्ते शोधनीयं विस्तरत इति नियमः॥ १२॥

इदानीं षट्चक्रेषु षड्धातुभ्यः कुलदेवतास्फरणमुच्यते—

शुद्धे संशुद्धतोयाच्छशधरधवलः पद्मचिह्नोऽमिताभो
मानी लोकेश्वरो वै हयरथगमना मामकी रूपवज्रा।
रौद्री चाब्धिर्गणेन्द्रो द्विजफणिसहितो व्याघ्रवक्त्रा सलूका
एते श्रीवामवक्त्रात् परमकरुणया स्फारिता वज्रिणा च॥१३॥

शुद्ध इत्यादि। [6]इह षोडशवर्षादूर्ध्वं यथा मनुष्याणां षड्धातुस्वभावेन चित्तस्य नानास्फरणम्, तथा षड्धातुभेदेन नायकस्यापि। **शुद्ध** इति ललाटचक्रे **संशुद्धतोया**दिति निरावरणतोयधातोः संज्ञास्कन्धतोऽपि देवतागणः स्फुरति **शशधरधवलः पद्मचिह्नः** तद्यथा **अमिताभः**। [7]**मामकी** पद्मान्तकः अचलः **मानी** चुन्दा **लोकेश्वरः रूपवज्रा रौद्री** लक्ष्मी **समुद्रो गणेन्द्रः अनन्तो नागः कुलिको व्याघ्रवक्त्रा उलूकवक्त्रा** इत्येता देवताः **परमकरुणया स्फारिता वामवक्त्रा**दिति कायवक्त्राच्छुक्लात्। कालचक्रभगवतो नियमः। अत्रामिताभो विज्ञानमुद्रितो देवतागणोऽमिताभेन पद्मचिह्नः शान्तिपुष्टिकर्मसिद्धिद इति शुक्लतोयवर्णतः। एवममिताभकुलदेवतास्फरणं संहरणं च प्रत्यवेक्षणत इति॥ १३॥

इदानीममोघसिद्धिकुलस्फरणमुच्यते—

धर्मे संशुद्धवायोस्त्वसिकरकमलोऽमोघसिद्धिश्च तारा
वैगर्भः स्पर्शवज्रा त्वतिबलसहिता चर्चिका शृङ्खला च।

---

१. च. यथा। २. ग. 'महा' नास्ति। ३. ग. 'इति' नास्ति। ४. भो. sKyed Pa (उत्पत्तिः)। ५. ग. 'महा' नास्ति। ६. च. 'इह' नास्ति। ७. च. मामकीति।

नैर्ऋत्यः शूद्रनागाः पवन इति तथा श्वानवक्त्रा सकाका
मैत्रीचित्तेन चैते त्रिभुवनपतिना स्फारिता पूर्ववक्त्रात् ॥१४॥

धर्म इत्यादि। इह हृदये धर्मचक्रे संशुद्धवायुधातोः शुद्धसंस्कारात् खड्गचिह्नो देवतागणः कृष्णवर्णतः। तद्यथा अमोघसिद्धिस्तारा विघ्नान्तको नीलदण्डोऽतिबला वज्रशृङ्खला खगर्भः स्पर्शवज्रा चर्चिका वैष्णवी वायुर्नैर्ऋत्यः पद्मः कर्कोटकः काकास्या श्वानास्या एताः [172b] पूर्ववक्त्रादिति चित्तवक्त्रात्। मैत्रीचित्तेन स्फारितास्त्रिभुवनपतिनेति। अत्रामोघसिद्धिविज्ञानेन मुद्रितो देवतागणोऽमोघसिद्धिना खड्गचिह्न उच्चाटनविद्वेषकर्मसिद्धिदः [1]कृष्णो वायुवर्णतः। एवममोघसिद्धिकुलदेवतानां स्फरणं संहरणं च कृत्यानुष्ठानत इति ॥ १४ ॥

इदानीं रत्नसम्भवकुलस्फरणमुच्यते—

सम्भोगे शुद्धवह्नेरुदयरविनिभो रत्नधृक् पाण्डरा च
भूगर्भो जम्भको वै वररसकुलिशा शूकरी षण्मुखाग्निः।
राजानौ द्वौ फणीन्द्रौ प्रकटितभृकुटी शूकरास्या सगृध्रा
एते श्रीसव्यवक्त्रात् परममुदितया स्फारिता विश्वभर्त्री ॥१५॥

संभोगे शुद्धवह्नेरिति। इह कण्ठचक्रे शुद्धवेदनाया शुद्धवह्नेरुदयरविनिभ इति रक्तवर्णो रत्नधृगिति रत्नसम्भवः। एवं पाण्डरा। प्रज्ञान्तकः टक्किराजो जम्भी भृकुटी क्षितिगर्भो रसवज्रा वाराही कौमारी अग्निः कार्तिकेयः शूकरास्या गृध्रवक्त्रा वासुकिः शङ्खपाल एते श्रीसव्यवक्त्रात् परममुदितया स्फारिता विश्वभर्त्री इति। सर्वे रक्तवर्णा रत्नसंभवमुद्रिता वश्याकृष्टिसिद्धिदा वाक्चक्रस्वभावतः। एवं रत्नसंभवकुलदेवतानां स्फरणादिकं समताज्ञानत इति। अत्रापि रत्नसम्भवो विज्ञानमुद्रित इति ॥ १५ ॥

इदानीं वैरोचनकुलदेवतास्फरणमुच्यते—

नाभौ संशुद्धभूमेर्वरकनकनिभश्चक्रपाणिर्मुनिश्च
विष्कम्भी लोचना च प्रवरनरपते स्तम्भको गन्धवज्रा।
मारीच्यैन्द्री च शक्रो युगमुखसहितो वैश्यनागादि सर्वे
भर्त्रा चोपेक्षया वै सकलजनहिताः स्फारिताः पश्चिमास्यात् ॥१६॥

---

[1] च. कृष्ण।

नाभौ संशुद्धभूमेरित्यादि। इह नाभाविति निर्माणचक्रे शुद्धरूपस्कन्धात् शुद्ध-पृथ्वीधातोर्वरकनकनिभः पीतवर्णश्चक्रपाणिर्मुनिश्चेति वैरोचनः। एवं लोचना। यमान्तको महाबलः स्तम्भी मारीचो विष्कम्भी गन्धवज्रा ऐन्द्री ब्रह्माणी शक्रो ब्रह्मा तक्षको महापद्मो जम्बुकास्या गरुडास्या एता भर्त्रा चोपेक्षया वै सकलजनहिताः 5 स्फारिताः पश्चिमास्यादिति। ज्ञानवक्त्रात् पीतवर्णाश्चक्रचिह्नाः[1] स्तम्भनमोहनादि-कर्मसिद्धिदा वैरोचनमुद्रिताः। वैरोचनोऽपि विज्ञानमुद्रितः। एवं वैरोचनकुलस्फरणा-दिकमादर्शज्ञानत इति॥ १६॥

इदानीमक्षोभ्यकुलस्फरणमुच्यते—

उष्णीषे शुद्धशून्याद् वरकुलिशधरोऽक्षोभ्यधात्वीश्वरी द्वे
10 उष्णीषो धर्मधातुर्गगनगुणवशाद् वज्रपाण्यादयोऽन्ये।
गुह्ये शुद्धात् समस्ताः शमसुखनिधयः शब्दवज्रादयश्च
ऊर्ध्वाधः स्फारिता वै बहुगुणनिलयाः प्राणिनां मोक्षहेतोः॥१७॥

उष्णीषे शुद्धशून्यादिति। उष्णीषचक्रे शुद्धविज्ञानस्कन्धात् शुद्धाकाशधातोः, वरकुलिशधरोऽक्षोभ्यो [2]ज्ञानमुद्रितः श्यामवर्णः। एवं वज्रधात्वीश्वरी। उष्णीषो 15 वज्रहूंकारो रौद्राक्षी क्रोधराज्ञी वज्रपाणिर्धर्मधातुवज्रा विष्णुर्यमो जयो नाग एते ऊर्ध्व-वक्त्रात् शून्यात् स्फारिता बहुगुणनिलया इति सर्वकर्मसिद्धिदा वज्रचिह्ना अक्षोभ्य-मुद्रिताः श्यामाकाशवर्णत इति। एवमक्षोभ्यकुलदेवतास्फरणादिकं सुविशुद्ध-धर्मधातु[3]ज्ञानत इति।

इदानीं वज्रसत्त्वकुलस्फरणमुच्यते—गुह्ये शुद्धादित्यादि। इह गुह्यचक्रे 20 शुद्धज्ञानस्कन्धात् शुद्धज्ञानधातोर्नीलत्रिशूकवज्रचिह्नो वज्रसत्त्वो विज्ञानमुद्रितः। एवं ज्ञानधातुः। प्रज्ञा नीला सुम्भराजो वज्रवेगो अतिनीला क्रोधेश्वरी रुद्रो जम्भलः समन्तभद्रः शब्दवज्रा विजयनाग एते अधोवक्त्रात् ज्ञानधर्मात् स्फारिताः सकल-T 418 जनहिताः प्राणिनां मोक्षहेतोः सुविशुद्धधर्मधातुज्ञानतो नीलवर्णा नीलाक्षोभ्यमूर्त्या वज्रसत्त्वेन मुद्रिताः सर्वकर्मसाधका इति।

25 एवं षट्चक्रेषु षट्कुलदेवतानां स्फारणं जगदर्थकरणं षोडशवर्षादूर्ध्वं कालचक्रस्य जनकत्वेन सिद्धमिति नियमः। अत्राक्षोभ्यो नीलेनाक्षोभ्यरूपेण मुद्रितः श्यामो विज्ञान-स्कन्धः श्यामेनाक्षोभ्येण नीलो [4]ज्ञानस्कन्धः। अथ कायवाक्चित्तज्ञान[173a]चतुः-कुलभेदेन[5] यत्र मुद्रणम्, तत्र वैरोचनः शुक्लश्चन्द्रधर्मतः, अमिताभो रक्तः सूर्यधर्मतः, अक्षोभ्यः कृष्णो राहुधर्मतः, वज्रसत्त्वः पीतः कालाग्निधर्मत इति। अथ आधाराधेय-

---

१. भो. 'चक्रचिह्नाः' नास्ति। २. ग. 'ज्ञान' नास्ति। ३. ग. 'ज्ञान' नास्ति।
४. ग. विज्ञान। ५. ग. भेदे।

सम्बन्धेन मुद्रणं साधनापटलोक्तविधिना। तथा हि—अक्षोभ्यो वैरोचनस्य मुद्रणम्, वैरोचनो अमिताभस्य, अमिताभो रत्नसंभवस्य, रत्नसंभवोऽमोघसिद्धेरिति मुद्रणनियमः। एवं त्रैधातुकमहेश्वरोऽनन्तचक्री सर्वतन्त्रान्तरे वेदितव्यः, त्रिकुले पञ्चकुले चेति ॥१७॥

इदानीं प्रज्ञातन्त्रस्फरणमुच्यते—

दिक्पत्रे लोचनाद्या विदिशिदलगतं रक्तपूर्णं कपालं
प्रत्यालीढोऽर्कमूर्ध्नि प्रलयघननिभाक्रान्तसोमेश्वरो वै। 5
मालाबद्धः कपालैर्जलनिधिवदनो हेरुकः सूर्यबाहु-
र्मुद्राहिव्याघ्रचर्मा प्रलयगजपतेर्दार्यचर्मास्थिधारी ॥१८॥

दिक्पत्र इत्यादि। इह किल **चक्रसंवरे** वज्रडाकिन्यादयश्चतस्रो लोचनाद्याः पृथिव्यादिस्वभावाः शान्तिकादिसिद्धिदाः। ताश्च पुनश्चित्तवक्त्रादिकृष्णवर्णादिभिन्नाः सत्यो न पृथिव्यादिकर्मसिद्धिदाः स्युः। तथाह— 10

पीतेन स्तम्भनं कार्यं श्वेतेन शान्तिकं भुवि।
वश्याकृष्टी च रक्तेन कृष्णेनोच्चाटनादिकम् ॥ इति।

अतः कृष्णवर्णवशाद् वज्रडाकिनी वायुधातुः, रक्तवर्णतो लामा तेजोधातुः, पीतवर्णतः खण्डरोहा पृथ्वीधातुः, शुक्लमुखवर्णतः रूपिणी तोयधातुः। एवं [1]यथा चित्तवाग्ज्ञानकायमुखानां कृष्णरक्तपीतश्वेतवर्णा यथाक्रमम्, तथा तद्दिग्विभागे गतानां प्रचण्डादीनामपि नव नव देवीनां वर्णो वेदितव्यो **महालक्षाभिधाने**। इति भगवतो नियमः। तेनाल्पवीर्यवतां **मञ्जुश्रियाऽत्र कालचक्रे** लघूपदेशेन स एव प्रपञ्चः प्रकाशित इति। **दिक्पत्रे लोचनाद्या** इति पश्चिमदले लोचना वर्णतः, खण्डरोहा पीता [2]गुदनाडी-स्वभावतः, पृथ्वीवर्णतो ज्ञानवक्त्रं पश्चिमं पीतं कालचक्रस्य हेरुकस्य [3]चिह्नादिस्वभावत इति। उत्तरदले तोयवर्णतो रूपिणी शुक्ला उत्तरं कायवक्त्रं शुक्लं ललनास्वभावतः। दक्षिणे लामा रक्ता तेजोवर्णतो वाग्वक्त्रं[4] रक्तं रसनास्वभावतः। पूर्वदले वज्रडाकिनी कृष्णा वायुवर्णतः चित्तवक्त्रं[5] कृष्णं मूत्रनाडीस्वभावत इति। एवमवधूतीस्वभावेन वज्रवाराही श्यामा शङ्खिनीस्वभावतः। कालचक्रो हेरुको भगवान् नीलवर्ण इति। एवं चित्तवाक्कायचक्रारेषु पूर्वेऽग्नौ कृष्णा डाकिन्यः, दक्षिणे नैर्ऋत्ये रक्ताः, पश्चिमे वायव्ये पीताः, उत्तरेशाने शुक्लाः। एवमष्टश्मशानेषु देव्यो वेदितव्याः। आसां [6]विस्फरणेन कर्मप्रसरादिकं तन्त्रोक्तं **वज्रपाणिकृतटीकया षट्साहस्रिकया** बोद्धव्यं **लघुतन्त्रे**। तेनात्र न लिखितम्। **विदिशिदलगतमित्यादि** सुबोधम्। एवं **समाजो मायाजाल-**

15

20

25

---

१. च. भो. 'यथा' नास्ति। २. ग. च. 'गुदनाडीस्वभावतः' नास्ति, गृहीतस्तु भोटानुसारी। ३. भो. 'चिह्नादि' नास्ति। ४-५. ग. च. चक्रं। ६. ग. भो. विस्तरेण।

मपि प्रसिद्धं सुबोधम्, तेनात्र न लिखितम्। चित्तवाक्कायवज्रस्फरणमात्रत इति। अत्र मूलतन्त्रे सूत्रलक्षणम्—

द्वावेकश्च त्रयः सार्धा अर्धो ह्येको युगः शशी।
युग एको युगश्चैको भागो द्वात्रिंशदादिषु ॥ इति।

5 शेषं प्राकाराद्यं कालचक्रमण्डलवदिति ॥ १८ ॥

देवीभिः कृष्णरक्तामलशशितनुभिस्त्रीणि चक्राणि बाह्ये
षड्वज्राः क्रोधजाभिर्द्विभुजशशिमुखाभिस्तथा भूतजाभिः।
द्वारे चण्डाः शवस्था विदिशि च नियताः कर्तिकाशुक्तिहस्ता
वीराणां वेदहस्ते कुलिशडमरुकौ वज्रखट्वाङ्गघण्टे ॥१९॥

10 श्रीमेरोरष्टदिक्षु क्षितिजलवलये सर्वपीठोपपीठं
क्षेत्रं छन्दोहमेलापकचितिभुवने वह्निवाय्वोश्च मध्ये।
एवं देशे नगर्यां दिशिविदिशिगता देवता वेदितव्याः
प्रज्ञातन्त्राभिधानं त्रिभुवनगुरुणा स्फारितं पूर्ववक्त्रात् ॥२०॥

गर्भे चक्रं नवांशं शशिरविकमले मण्डलादर्धभागं
15 वज्रस्तम्भावलीभ्यां रचितमपि महास्कन्धधात्वाधिदैवम्।
बाह्ये प्राकारभित्तौ विषयविषयिणश्चन्द्रसूर्यासनस्थाः
सूर्यस्था द्वारपालास्त्वपरगणकुलं वेदिकायां समन्तात् ॥२१॥

इत्यादौ षट्प्रकारं गदितमपि तथा योगतन्त्रं समाजं
क्रोधाः कोणेषु पार्श्वे विषयविषयिणो जम्भलो धान्यहस्तः।
20 वाक्पादौ पाणिपायू भगरविशशिनः कालनाडीस्वभावाः
प्रज्ञोपायं समस्तं त्रिमुखरसभुजं स्फारितं सव्यवक्त्रात् ॥२२॥

चक्रं गर्भे त्रिकोणे भवति नरपते मण्डलाद् वै त्रिभागं
धातुस्कन्धाधिदेवं पुनरपरपुटे शब्दवज्रादयोऽष्टौ।
बाह्यस्थे मण्डले वै दशदिशि नियतं क्रोधवृन्दं रविस्थं
25 तस्मिन् प्राकारभित्तौ जलधिहतयुगा बोधिसत्त्वाः समस्ताः ॥२३॥

मायाजालं त्रिभेदं त्रिमुखरसभुजं देवताकायभेदात्
कल्पाद्यं यत्समस्तं जडहृदयवशात् स्फारितं वामवक्त्रात् ।
तन्त्रं योगानुविद्धं द्विगुणमिह महासंवरं डाकिनीनां
षट्चक्रैः षट्कुलैर्वै नृप चितिभुवनैः स्फारितं पश्चिमास्यात् ॥२४॥

इदानीं महासंवरमण्डलमुच्यते—　5

सूत्रैः षड्रन्ध्रभागैश्चलवलयगतैर्मण्डलं सूत्रयित्वा
गर्भात् षट्षड्विभागैरपि कमलदलं कर्णिकार्धेन युक्तम् ।
कर्तीचक्राब्जरत्नैरसिवरकुलिशैश्चावलीं द्विद्विभागै-
र्निर्यूहं द्वारमर्कैर्ऋतुभिरपि रसैर्वेदिकाहारभूमिम् ॥२५॥

पञ्चप्राकाररेखां त्रिभिरपि शिखिभिः पट्टिकां हारमूले　10
सूर्यैः पक्षं कपोलं त्रिगुणदिनकरैस्तोरणं स्तम्भमूर्ध्नि ।
अष्टद्वाराणि कुर्याद् दिशिविदिशि महामण्डलं वृत्तमेत-
न्मध्येऽब्जं विश्ववर्णं रविशशिपुटितं चासनं कर्णिकायाम् ॥२६॥

चक्रं नीलावलीं च क्षितिरपि हरिता क्ष्माऽसिता पीतचक्रं
रक्ता भूः श्वेतचक्रं क्षितिरपि धवला सावली रक्तचक्रम् ।　15
पीता नीला च भूमिस्त्वसितमपि भवेच्छ्यामवर्णं च चक्रं
षड्भागैरङ्गभूमिर्जनकसुखवशाद् द्वारचक्राणि तद्वत् ॥२७॥

बाह्ये द्व्यष्टश्मशानान्यपि च कुलवशाद् गर्भदेव्यस्तथाष्टौ
अष्टौ पत्रे कपालान्यमृतरसयुतान्यष्टपत्रेषु देव्यः ।
बाह्ये लास्यादिदेव्यो दिशिविदिशि महानागराजास्तथाष्टौ　20
तद्बाह्ये भूमितोयानलचलवलयान्येव वज्रावली च ॥२८॥

सूत्रैरित्यादि। इह पश्चिमास्यात् ज्ञानवक्त्रात् महाचक्रसंवरस्त्रिचक्रसंवरस्य द्विगुणो यतः पट्चक्रैः षोडशश्मशानैरिति। तेनास्य मण्डलं वृत्तमष्टद्वारविशोधनायेति, अतोऽस्य मण्डलस्य लक्ष[173b]णमुच्यते—सूत्रैः षड्रन्ध्रभागैरिति। [1]षण्णवतिविभागैः, **चलवलयगतैरिति** लोकधातौ चतुर्लक्षयोजनगतैर्वायुवलयान्तैः। शरीरे
5 चतुर्हस्तगतैरिति। **मण्डलं सूत्रयित्वा** षण्णवतिसूत्रैस्तेषु मध्ये **षट्षड्विभागैः** प्रत्येकं चक्रं कुर्यादेवं चक्रं षट्षड्विभागैरिति। **अपि कमलदलं कर्णिकार्धेन युक्तं** षड्विभागैरिति। एवं सप्तसु द्वाचत्वारिंशद्विभागाः पूर्वे, एवं पश्चिमे [2]दक्षिणे उत्तरेऽपि, सर्वेषामेकत्र चतुरशीतिभागा गताः। षण्णवतिषु शेषैर्द्वादशविभागेषु षड्विभागैः पूर्वभूमिः, पश्चिमाप्येवं [3]वामे दक्षिणेऽप्येवं सर्वदिक्षु सूत्राणि शुद्धानीति तत्र पूर्वोक्त-
10 षड्विभागमध्ये चतुर्भिः पद्मदलं द्वाभ्यां कर्णिकार्धम्। एवं चक्रस्याराश्चतुर्भिः, द्वाभ्यां चिह्नावली [4]कर्णिकादीनां मध्ये पद्मं षोडशदलं पद्मदलबाह्ये [5]कर्णिकावली नीला। तस्या भूमिस्तले श्यामा। [6]एवं चक्राराश्च नीला इति ज्ञानधातुचक्रे। ततः पृथ्वी[7]धातुचक्रे चक्रावली पीता चक्रारास्तथा, कृष्णा तले भूमिः। तोयधातुचक्रे पद्मावली शुक्ला चक्राराश्च, भूमिस्तले रक्ता। तेजोधातुचक्रे रत्नावली रक्ता चक्राराश्च, श्वेता तले
15 भूमिः। वायुधातुचक्रे कृष्णा खड्गावली चक्राराश्च, पीता तले भूमिः। आकाशधातुचक्रे श्यामा वज्रावली चक्राराश्च, तले भूमिर्नीला। ततः **षड्भागै रङ्गभूमिर्जनकमुखवशादिति।** पूर्वे कृष्णाग्नौ च दक्षिणे नैर्ऋत्ये रक्ता, पश्चिमे वायव्ये पीता, उत्तर ईशाने श्वेता, **द्वारचक्राणि** तद्वदित्यष्टमहाश्मशानचक्राणि। अष्टद्वारावसानेऽष्टश्मशानचक्राण्यष्ट[8]द्वारान्तरेषु। एवं षोडशश्मशानचक्राण्यष्टाराणि, [9]गर्भपद्माष्टदलेष्वष्टौ
20 देव्यः, अष्टदलेषु कपालान्यमृतपूर्णानि, अष्टदेव्यन्तरान्तरेषु षट्चक्राष्टारेषु पीठोपपीठादिदेव्योऽष्टचत्वारिंशत्। एवं वीराश्च वेदितव्याः। बाह्ये वेदिकायां **नागराजानोऽष्टौ, तोरणस्तम्भमूले,** लास्यादयो द्वारतोरणे, शेषं द्वारादिलक्षणं कालचक्रमण्डलवद् वेदितव्यमिति ॥ २५-२८ ॥

T 419

इदानीं षट्[10]चक्रारादिषु देवीबीजान्युच्यन्ते—

25 दीर्घैर्ह्रस्वैः स्वरैश्चापि स त प ट च क क्ष्मादिशून्यादिवर्णा
वाय्वाद्यारेषु दीर्घा रविचरणवशात् क्ष्मादिधातुस्वभावाः।
ऊर्ध्वाद्यारेषु ह्रस्वाः शशिचरणवशात् स्वस्वचक्रारमूर्ध्नि
द्वारे द्वारान्तराले गगनतलगता हक्षयुक्ताः सवर्गाः ॥२९॥

---

१. ग. 'षण्णवति' नास्ति। २. च. ग. मध्य। ३. भो. Byan (उत्तरे)। ४-५. भो. Gri Gug (कर्तिका)। ६. च. 'एवं' नास्ति। ७. ग. 'धातु' नास्ति। ८. ग. द्वारान्तरान्तरेषु। ९. ग. 'गर्भपद्म ·· द्वादशाङ्गप्रतीत्यः' नास्ति। १०. च. चक्रादिषु।

दीर्घैरित्यादि। **दीर्घैः पञ्चस्वरैः** ॡ ऊ ॠ ई आ इति। **ह्रस्वैश्च** अ इ ऋ उ ऌ इत्येभिर्भिन्नाः **स त प ट च कानां वर्गाणां षण्णां क्ष्मादिशून्यादिवर्णा वाय्वाद्यारेषु दीर्घा** इति। इह ज्ञानचक्रे सवर्गोऽधिदैवः, तस्य स्ॡ वायव्यारे, ≍पू ईशाने, षॄ नैर्ऋत्ये, शी आग्नेय्याम्, ≍का पाताले, वायव्यो[1]त्तरश्मशानचक्रमध्ये एताः पञ्च डाकिन्यो वृश्चिकलग्ने पञ्चमण्डलनायिकाः सर्वसत्त्वानां प्राणवाहत इति [2]संहारक्रमेण दक्षिण-नासापुटे। ततो धनुर्लग्ने ऊर्ध्वे ≍क वायव्य[3]पश्चिमश्मशानचक्रमध्ये ज्ञानचक्रपूर्वारे शि, दक्षिणे षृ, उत्तरे ≍पु, पश्चिमे स्ऌ इति वामनाडी[4]प्रवाहो धनुर्लग्ने। ततः पृथ्वीचक्रे तवर्गोऽधिदैवः। तस्य त्ॡ वायव्ये, थू ईशे, दॄ [5]नैर्ऋत्यारे, धी अग्नौ, ना पाताले वायव्य-द्वारे श्मशानचक्रमध्य इति कन्यालग्ने। तथा तुलायामूर्ध्वे न, पश्चिमद्वारे धि, [174a] पूर्वे दृ, दक्षिणे ङृ, थु उत्तरे, त्ऌ पश्चिमे इति। ततस्तोयधातुचक्रे पवर्गोऽधिदैवः। तस्य प्ॡ वायव्ये, फू ईशे, बॄ नैर्ऋत्ये, भी अग्नौ, मा पाताले ईशद्वारे। एवं कर्कटलग्नेऽधि-देवताः। तथा सिंहलग्ने आकाशे म, उत्तरद्वारे पूर्वारे भि, दक्षिणे बृ, उत्तरे फु, पश्चिमे प्ऌ इति। ततश्तेजश्चक्रे टवर्गोऽधिदैवः। तस्य ट्ॡ वायव्यारे, ईशे ठू, डॄ नैर्ऋत्ये, अग्नौ ढी, अधो णा नैर्ऋत्यद्वार इति वृषलग्ने। ततो मिथुने ण ऊर्ध्वे, दक्षिणद्वारश्मशाने पूर्वारे ढि, दक्षिणे डृ, उत्तरे ठु, पश्चिमे ट्ऌ इति। ततो वायुचक्रे चवर्गोऽधिदैवः। तस्य च्ॡ वायव्यारे, [6]ईशारे छू, नैर्ऋत्ये जॄ, अग्नौ झी, पाताले ञा अग्निद्वारे मीनलग्ने इति। ततो मेषलग्ने ऊर्ध्वे ञ, पूर्वद्वारश्मशानचक्रे पूर्वारे झि, दक्षिणे जृ, उत्तरे छु, पश्चिमे च्ऌ इति। तत आकाशधातुचक्रे कवर्गोऽधिदैवः। तस्य वायव्यारे क्ॡ, ईशे खू, नैर्ऋत्ये गॄ, अग्नौ घी, अधो ङा आग्नेय[7]दक्षिणद्वारमध्ये श्मशानचक्रोपरि इति मकरलग्ने। ततः कुम्भलग्ने ऊर्ध्वे ङ, आग्नेय[8]पूर्वद्वारमध्ये पूर्वारे घि, दक्षिणारे गृ, उत्तरारे खु, पश्चिमारे क्ऌ इति। **द्वारे द्वारान्तराले तलगगनगता ह्क्षयुक्ताः सवर्गा** इति। इह षड्वर्गाणां शून्यमण्डलवाहका द्वादशवर्णा दीर्घह्रस्व[9] ≍का ≍क ना न मा म णा ण ञा ञ ङा ङ इति द्वादशश्मशानदेवीनाम्। [10]अन्ये चतुःसन्ध्याभेदेन त्रित्रिलग्नान्ते चत्वारो वर्णा ह हा क्ष क्षा इति चतुर्षु वामेशानदक्षिणनैर्ऋत्यश्मशानेषु। एवं षोडशश्मशानेषु षोडश देव्यः, षट्चक्रेष्वष्टचत्वारिंशद्गर्भपद्मदलेष्वष्टदेव्यः। आसां बीजानि अ पूर्वदले, अः दक्षिणदले, अं उत्तरदले, आ पश्चिमदले, ह अग्निदले, हः नैर्ऋत्यदले, हं ईशानदले, हा वायव्यदल इति तासामन्तरान्तरेष्वष्टदलेष्वष्ट-कपालानि। मध्ये वज्रडाकिनीकालचक्रो हेरुको भगवान् नायको हूँ फ्रें आसां डाकिनीनां डाकानां च बीजान्ते वज्रम्, तेन सह नाम स्ॡवज्रा ≍ पूवज्रा इत्यादि क्ॡ[11]वज्रापर्यन्तम्। आसां डाका भावभेदेनाष्टचत्वारिंशत् [12]सिवज्रः षृवज्रः।

---

१. च. पश्चिम। २. च. संचार। ३. च. उत्तर। ४. भो. Srog Bab Paḥo (प्राणवाहो)। ५. भो. bDen Bral Du (नैर्ऋत्ये)। ६. भो. dBaṅ lDan Du (ईशे)। ७. च. पूर्व। ८. च. दक्षिण। ९. च. ≍ क ≍ का न ना म मा ण णा ञ ञा ङ ङा। १०. च. मध्ये। ११. च. वज्र। १२. भो. शि।

यत्र डाकिनीबीजं [1]दीर्घं तत्र डाकबीजं ह्रस्वम्, यत्र ह्रस्वं तत्र [2]दीर्घम्। स्लॄवज्रा[3]सिवज्र इति प्रज्ञोपायः। [4]ऌपूवज्रा पृवज्र इति। एवं सर्वत्र वक्ष्यमाणमिति। एवं मण्डले यजेत द्विगुणं डाकिनीजालसंवरमिति नियमः। इह वृश्चिकधनुरादिना यो विलोमेन न्यासः, स प्रपञ्चेनोक्तः। अत्र द्वादशाङ्गनिरोधेन विवृत्या परमार्थसत्यतो धनुर्वृश्चि-कादिविलोमेन पीठोपपीठादिन्यासः। संवृत्या मकरकुम्भादिक्रमेणोपपीलवादि-न्यासो द्वादशाङ्गप्रतोत्यतः। यथा त्रिचक्रसंवरे एकः प्रचण्डाचण्डाक्ष्यादिना विलोमेन पीठादिन्यासः, द्वितीयो महावीर्यादिना। [5]अनुक्रमेणोपश्मशानादिना। अत्र लोक-व्यवहारे या संवृतिः सा विवृतिरिति ज्ञेया। एवं वाय्वाद्यारेषु दीर्घा रविचरणवशाद् दक्षिणनाड्यां प्राणचरणवशादिति। ऊर्ध्वाद्यारेषु ह्रस्वाः [174b] शशिचरण-वशादिति वामनाड्यां प्राण[6]संचारवशादिति न्यास उक्तः। क्रमेण पुनः संवृत्या उपपीलवादिना मकरादिमण्डलेषु क च ट प त स वर्गाणां वर्णा दीर्घा ह्रस्वा देयाः। ककारादयो [7]ल्कारादिस्वरभिन्ना विवृत्या ऌकादयो ह्रस्वा अकारादिस्वरभिन्ना धनुर्वृश्चिकादिभेदेनेति। एवं पृथिव्यादयो वाय्वाद्यारेषु दक्षिणमण्डले वाहत ऊर्ध्वाद्यारेषु आकाशादयो वाममण्डलप्रवाहत इत्यध्यात्मनि नियमः ॥२९॥

डाकिन्यो ह्रस्वभावाः शशधरवदनाः कर्तिकाशुक्तिहस्ता
आलीढाः स्वस्वपात्रैर्दनुजरुधिरपा मुक्तकेशा विवस्त्राः।
पादे कट्यां ललाटे श्रवणगलकरे घुर्घुराद्यस्थिमुद्रा
माला खण्डैः कपालैः शिरसि कटितले पञ्चवर्णैर्जिनानाम् ॥३०॥

द्व्यास्या डाकाः करेषु सु॰विडमरुकौ वज्रखट्वाङ्गघण्टे
कण्ठे श्रीमुण्डमाला शिरसि च मुकुटो वज्रपट्टे मणिश्च।
श्रीकण्ठी नूपुरोऽङ्घ्रौ रुचकमपि करे मेखला कुण्डलानि
माला पूर्णैः कपालैः सकलतनुगता दंष्ट्रिणो भस्ममुद्रा ॥३१॥

भर्तुर्माला कपालैः शिरसि च गलके मुण्डमाला शतास्यै-
रर्धेन्दुर्वज्रमौलौ स्वकटिकरगतं द्वीपिचर्मेभचर्म।
मारेशौ पादमूले शशिरविहुतभुङ् मण्डलेऽङ्गे च भस्म
मुद्रा नागेन्द्रयुक्ता प्रलयशिखिनिभा डाकिनी चुम्बमाना ॥३२॥

दिक्पत्रे डाकिनीनामधिकडमरुको वज्रखट्वाङ्गमेव
विण्मूत्रासृङ्नृमांसैर्विदिशि दलगतं शुक्रपात्रं करे च।

१-२. च. दीर्घे। ३. भो. शि। ४. भो. ऌपु। ५. च. अत्र, भो. 'अनु' नास्ति।
६. ग. भो. संचरण। ७. भो. लॄ।

तद्वच्चाष्टौ च देव्योऽप्युभयसुखसमापत्तिचक्रं समन्तात्
पीता श्वेताऽरुणाभाऽसितहरितवपुर्नीलवर्णाः स्वदिक्षु ॥३३॥

वर्णाश्चिह्नानि भर्तुर्जिनजनककुले पूर्ववत् त्र्यक्षिजाल-
मन्योन्यालिङ्गनं च स्वपरकुलवशाद् वेदितव्यं समन्तात् ।
नानाद्यैः स्कन्धभूतैर्विषयविषयिभिश्चान्यपञ्चेन्द्रियाद्यै- 5
र्दिक्क्ष्माभिर्दिग्बलैः श्रीजिनसुतवसिताभिश्च देव्यो विशोध्याः॥३४॥

शेषाण्यत्र पञ्चवृत्तानि सुबोधानि ॥ ३०-३४ ॥

इदानीं देवीनां पीठादिस्थानमुच्यते—

मेरोर्दिक्ष्वष्टभेदैर्दिशिविदिशिगतं सर्वपीठोपपीठं
क्षेत्रं छन्दोहमेलापकचितिभुवनं वेश्मवाय्वर्धसीम्नः । 10
बुद्धस्यैतार्कभूम्यामणु तनुजनृणां भूतदेवासुराणां
शक्तेर्भर्तुर्दिनैकं विचरति कुलिका सूर्यचन्द्रप्रचारात् ॥३५॥

मेरोरित्यादि । इह मेरोरष्टदिक्षु ऊर्ध्वे योगिनीचक्रं वायुवलयान्तम्, अधोभूम्यां सत्त्वार्थाय सञ्चारः । एवं समुद्रवलयेऽग्निवलये वायुवलये आकाशान्त इति पञ्चलक्षयोजनं यावल्लोकधातुमण्डले सत्त्वानां शरीरे केशान्तं व्यापकत्वम्, भगवतो योगिनीसंचारत 15 इति । इह मेरुमूर्ध्नि पञ्चाशत्सहस्रयोजनं गर्भपद्मं षोडश[1]दलं भगवतः । तस्य त्रिभागा कर्णिका, कर्णिकोपरि सूर्यमण्डलम्, सूर्योपरि कालचक्रस्य दक्षिणपादतले मारः, वामपादतले क्लेशः, स च रुद्र इति । अष्टदलेषु धूमाद्या वज्रडाकिन्योऽष्टौ । तासामन्तरान्तरे दलेष्वष्टौ T 420 कपालान्यमृतपूर्णानि । एवं षोडशदलमानन्दचक्रं षोडशानन्दभेदेन देव्याः कपालानि च । भगवांश्चतुर्बिन्दुधरत्वाच्चतुर्मुखः, चतुर्विंशतिपक्षरोधतः चतुर्विंशतिकरः, अधिकमास- 20 पक्षयोर्निरोधतो द्व्यधिकजिनकरः, पूर्वोक्तो वज्रवेग इति । भगवत्या एकमुखं शून्यता, भुजद्वयमनिमित्ताप्रणिहिते, कर्तिकाकपालमुद्रादयोऽनभिसंस्कार इति । ततः पद्मबाह्ये मेरोरष्टदिक्षु दिग्विभागेन पञ्चविंशत्सहस्रयोजनं भूमिवलयमानेन ज्ञानधातुचक्रम्, तस्य त्रिभागभूम्यां कर्तिकावली, भागद्वयेनाष्टारम् । एवं समुद्रार्धे पृथ्वीचक्रम्, अपरार्धे तोय- चक्रम् । एवमग्निवलयार्धे वह्निचक्रम्, अपरार्धे वायुचक्रम् । एवं वायुवलयार्धे आकाशचक्रम्, 30 अपरार्धे रजोभूमिः । आकाशवलये षोडश श्मशानानीति नियमः । इह हि केशान्तं पद्महस्तं शरीरम्, तेनाकाशमण्डले बाह्यश्मशानानि, तद्विशुद्ध्या लोकधातुश्च पञ्च- लक्षयोजनानि महाचक्रसंवरे । एवं यथाक्रमेण मेरोरष्टदिक्षु ज्ञानधातुचक्रे पीठानि

---

१. ग. 'दलं भगवतः''''मकरे । ततः' नास्ति ।

दिगारेषु, धनुर्निरोधेन जरामरणनिरोधत उपपीठानि विदिगारेषु वृश्चिकनिरोधेन जातिनिरोधतः। एवं श्मशानद्वयम्। ततः पृथ्वीधातुचक्रे दिगारेषु चत्वारि क्षेत्राणि तुलानिरोधेन भवनिरोधतः। विदिगारेषूपक्षेत्राणि कन्यानिरोधेनोपादान-निरोधतः। एवं श्मशानद्वयम्। ततस्तोयधातुचक्रे दिगारेषु छन्दोहाश्चत्वारः सिंहनिरोधेन तृष्णानिरोधतः। विदिगारेषूपच्छन्दोहाः कर्कटनिरोधेन वेदनानिरोधतः। एवं श्मशानद्वयम्। ततस्तेजोधातुचक्रे दिगारेषु मेलापकाश्चत्वारो मिथुननिरोधेन स्पर्शनिरोधतः। विदिगारेषूपमेलाप[175a]का वृषनिरोधेन षडायतननिरोधतः। एवं श्मशानद्वयम्। ततो वायुधातुचक्रे दिगारेषु चत्वारि श्मशानानि मेषनिरोधेन नाम-रूपनिरोधत इति। विदिगारेषूपश्मशानानि मीननिरोधेन विज्ञाननिरोधतः। एवं श्मशानद्वयम्। तत आकाश[1]धातुचक्रे दिगारेषु चत्वारि पीलवानि वेश्मानि वा कुम्भ-निरोधेन संस्कारनिरोधतः। विदिगारेषूपपीलवानि मकरनिरोधेनाऽविद्यानिरोधतः। एवं श्मशानद्वयम्। लग्नचतुःसन्ध्यानिरोधेनापरश्मशानचतुष्टयम्। अथ षोडशचन्द्र-कलानिरोधेन षोडश श्मशानानि। एवम्—"द्वादशाकारसत्यार्थः षोडशाकारतत्त्वविद्" (ना० सं ९.१५) अष्टप्रहरनिरोधेनाष्टौ देव्यः। अथ वारनिरोधत इति विवृत्याधारे देव्यो निरावरणा आधेयस्वभावा इति। परमार्थसत्यतः लोकसंवृत्या पुनर्मन्त्रदेवतोत्पादः पीठादिके भगवता मूलतन्त्रे उक्तः। तद्यथा—

कामरूपं च जालाख्यं पीठं पूर्णगिरिस्तथा।
ओड्डियाणं चतुर्थं स्यात् शिपॄ⌒पुस्लृपु नायिकाः॥

गोदावरी च रामेशं देविकोट्टं च मालवम्।
उपपीठानि चत्वारि स्लॄ⌒पूषॄश्येसु नायिकाः॥

अर्बुदं मुन्मुनीक्षेत्रम् ओड्रं कार(रु)ण्यपाटकम्।
धिदृथुत्लृ इति देवीनामाधारो वसुधातले॥

त्रिशकुनीत्युपक्षेत्रं तथा कर्मारपाटकम्।
कोशलं लाडदेशं च त्लॄथूदॄध्येषु नायिकाः॥

कलिङ्गं हरिकेलं च छन्दोहं च चतुर्विधम्।
चन्द्रद्वीपं च लम्पाकं भिवृफुप्लृसु नायिकाः॥

काञ्ची कोङ्कणकं तथोपच्छन्दोहं च हिमालयम्।
[2]चतुर्थश्चैव नेपालं प्लॄफूव्रॄभ्येषु नायिकाः॥

मातृगृहं प्रयागं च कोल्लगिरिगृहदेवताः।
मेलापकं चतुर्धा स्याद् ढिड्ढॄठुठ्लृसु नायिकाः॥

---

१. च. 'धातु' नास्ति। २. च. चतुष्पथो वै।

सौराष्ट्रं चैव काश्मीरं सुवर्णद्वीपं सिंहलम् ।
उपमेलाकस्तेषु ट्लॄठूड्डॄढयेषु नायिकाः ॥

नगरं महेन्द्रशैलं च सिन्धुदेशं किरातकम् ।
चतुर्विधं श्मशानं स्याद् झिजॄछुच्लृसु नायिकाः ॥

मरुदेशं गह्वरं च कुलता [1]समलं तथा । 5
उपश्मशानमेवोक्तं च्लॄछूजॄझ्येषु नायिकाः ॥

[2]चरित्रं हरिकेलं चैव विन्ध्यं कौमारिकापुरी ।
चतुर्धा पीलवं ख्यातं घिगॄखुक्लृषु नायिका ॥

उपवेश्म विरजाः कोङ्कं त्रिपुरी श्रीहट्टकम् ।
चतुर्विधमिदमाख्यातं क्लॄखूगॄघ्येषु नायिकाः ॥ 10

द्वादश ᳵकादयो दूत्यः शून्यमण्डलनायिकाः ।
चतस्रो हादयो बाह्यश्मशानेषु च षोडश ॥

अ आ अं अः ह हा हं हः दूत्यः पद्मदलेषु ताः ।
अष्टस्वेव कपालानि कर्णिका खेट[3]नायिकाः ॥

द्वादशाङ्गनिरोधेन लग्नाधारप्रत्यूहतः । 15
भूमयो द्वादश ख्याताः पीठाद्याः परमार्थतः ॥

अविद्याद्यनुलोमेन संवृत्या मकरादिषु ।
धनुराद्या विलोमेन ता जरामरणादयः ॥

निरावरणधर्मेण डाकिन्यः कायधातवः ।
द्वासप्ततिविधाः प्रोक्ता धर्मशुद्धप्रभेदतः ॥ 20

संवृत्या मन्त्रसिद्धा यास्ता वेश्मादिषु नायिकाः ।
अथ [4]बीजाक्षरं तासां पीठादेरादि संभवेद् ॥ इति ।

तद्यथा—का जा पू ओ इति पी[175b]ठेषु । गो रा दे मा इति उपपीठेषु । अ मु [5]ओ का इति क्षेत्रेषु । त्रि क को ला इति उपक्षेत्रेषु । क हृ च ल इति छन्दोहेषु । कां कों हि ने इत्युपछन्दोहेषु । मा प्र को गृ इति मेलापकेषु । सौ [6]का सु सि इत्युपमेलापकेषु । न म सि कि इति श्मशानेषु । म ग कु स इत्युपश्मशानेषु । [7]च के विं को इति पीलवेषु । वि कों त्रि श्री इत्युपपीलवेषु । तथा षोडशश्मशानेषु वायव्यद्वारे वामदक्षिणयोः कं क ल ल कं एवं को ल हृ ल ल को । अथ ᳵकᳵका । एवं पूतिगन्धे 25 T 421

१. च. ममलम् । २. च. हरिद्रं । ३. भो. gTso Bo (नायकः) । ४. च. बीजाङ्कुरं ।
५. च. उ । ६. भो. क । ७. च. हृ ।

[1]पू सर्पदंशे स पश्चिमवायव्यद्वारे। अथ न ना क्लृ क्लॄ उत्तरद्वारे बालमृत्यौ बा [2]ईश्वरे। अथ म मा शवदहने शा घोरयुद्धे घ। अथ ण णा दक्षिणनैर्ऋत्यद्वारे शूलभेदे शू, उच्छिष्टे उ। अथ ञ ञा पूर्वाग्नेयद्वारे आग्नेयद्वारवामदक्षिणयोः, भीमे भी, भयंकरे भ। अथ ङ ङा ईशानद्वारवामदक्षिणयोः, हहाकारे ह, अट्टाट्टहासे आ। अथ ह हा नैर्ऋत्यद्वारवामदक्षिणयोः, रौद्रनादे रौ, फेत्कारे फे। अथ क्ष क्षा इति षोडशश्मशानदेवीबीजानि। एवं द्विगुणं डाकिनीजालसंवरं लौकिकदेशव्यवहारेण बालजनावतारणायोक्तम्। विचार्यमाणं कामरूपजालन्धरादिपीठादिकं मृषा, एकविषयेऽपि कोटिग्रामाधिदेवे पीठादीनामुक्तत्वात्। तथा भोटचीनमहाचीनादिषु षण्णवतिविषयेषु कोटिकोटिग्रामाधिदेवेष्वनुक्तत्वादव्यापकत्वं दूतीनाम्। तेन मूलतन्त्रे भगवतोक्तम्। तद्यथा—

पीठं पूर्वविदेहं स्याज्जम्बूद्वीपं च दक्षिणे।
पश्चिमेऽपरगोदानी उत्तरकुरुरुत्तरे॥
उपद्वीपं विदिक्षु स्यादुपपीठं पृथ्वीतले।
एवं क्षेत्रादिकं सर्वं समुद्रवलयादिषु॥ इति।

अतस्त्रिचक्रसंवरे हेवज्रे पूर्वापरवचनविरोधो भगवतो यः, स सत्त्वानां ग्रहमोचनाय तीक्ष्णेन्द्रियाणाम्। इह हि यानि पीठोपपीठादीनि चक्रसंवरे उक्तानि, तानि हेवज्रे क्षेत्रोपक्षेत्रादीन्यस्तव्यस्तानि प्रोक्तानि। यथा लौकिकसिद्धयोऽपि योगिनां बाह्यपीठादौ न संभवन्ति। अध्यात्मनि द्वादशलग्नानि द्वादशाविद्याद्यङ्गानि निरुद्धानि जरामरणादिनिरोधेन धनुरादिना पीठादीनि बोद्धव्यानि। तेषु पीठादिषु तथागतविशुद्धस्कन्धधात्वायतनादिधातूनां देवतारूपेणागमनं गमनं वाऽतीतकाले [3]भूतम्, वर्तमाने भवति, अनागते भविष्यत्यधिकारभोगलयभेदेन च। संवृत्या पुनस्त्रिचक्रसंवरे भोगलयाधिकाराधिपतित्वं सन्ध्याप्रहरलग्नार्धभेदेन चतुरष्टचतुर्विंशतिदेवीनामुक्तम्। अत्र षट्चक्रमहासंवरे लग्नमण्डलप्रवाहेणाधिकारो भोगो लयश्चेति। अत्राधिकारो नाम प्राणाधिष्ठानम्, स एव भोगोऽधिपतित्वं च, लय इति गम्यस्थानम्॥ ३५॥

देवीपृष्ठेऽधिकारो लय इह पुरतः पञ्चतत्त्वस्वभावै-
र्वाय्वीशे दैत्यवह्न्योरधसि च खसुरे याम्ययक्षापरेषु।
उष्णीषे हृत्प्रदेशे गलशिरसि गते नाभिगुह्ये तु चक्रे
चक्रेऽष्टारे तलोर्ध्वं प्रतिदिनमकराद् द्विद्विलग्नान्तराले॥ ३६॥

तेन **देवीपृष्ठेऽधिकारो लय इह पुरतः पञ्चतत्त्वस्वभावै**रित्यादि वितन्यते। इह मकरलग्ने पञ्चदण्डात्मके प्रथमदण्डे पृथ्वीमण्डलं दक्षिणनाड्यां नाभौ [176a] द्वादशदलेषु [4]मकरदलस्य पश्चिमदिग्विभागे प्राणप्रवाहोऽधिकारो वाय्वार इति कल्पना। इह

१. च. स्लृ। २. भो. dBaṅ lDan Du (ईशे)। ३. च. कृतं। ४. च. लग्ने मकर।

यदा प्राणशक्तेर्देव्याः पृथ्वीमण्डलेऽधिकारः स्थितिस्तदा [1]मध्यतोयमण्डले लयः। पुनर्जन्मग्रहणं पूर्वस्य निरोधोऽपरस्य उत्पादः स्वाध्यायदीपादिदृष्टान्तवदत्रापि मारणान्तिकौपपत्त्यङ्गिकधर्मणोरिति । तेन पृथ्वीमण्डलेऽधिकारस्तोयमण्डले लयः, तोयमण्डलेऽधिकारस्तेजोमण्डले लयः, तेजोमण्डलेऽधिकारो वायुमण्डले लयः, वायुमण्डलेऽधिकारः शून्यमण्डले लयः, शून्यमण्डलेऽधिकारो ज्ञानमण्डले लय इति मकरे। ततः कुम्भदले [2]मध्यमायां यः संचारः, स चक्रे ऊर्ध्वे उक्त इति। इह ज्ञानमण्डले यदा अवधूत्यामधिकारस्तदा वामनाड्यामाकाशमण्डले लयः, यदा [3]आकाशेऽधिकारस्तदा वायौ लयः, एवं वायावधिकारस्तेजसि लयः, तेजस्यधिकार उदके लयः, उदकेऽधिकारः पृथिव्यां लयः, पृथिव्यामधिकारो ज्ञानमण्डलेऽवधूत्यां लयः। एवं मीनमेषमण्डलेषु, तथा वृषमिथुनयोः, कर्कटसिंहयोः, कन्यातुलयोः, वृश्चिकधनुषोरिति षष्टिमण्डलेषु भोगलयाधिकारास्त्रिलग्नान्ते चत्वारो मध्यमायां वेदितव्याः। [4]एवं **वाय्वीशे दैत्यवह्न्योरधसि च खसुरे याम्ययक्षापरेषु** दशसु मण्डलेषु, चकारात् ज्ञानमण्डलेऽपि। मकरे कुम्भे, एवमन्ये[ष्व]पीति। इदानीं मकरादीनामाधारचक्रनाड्य उच्यन्ते-**उष्णीष** इत्यादि। इहोष्णीषचक्रप्रथमपरिमण्डले चतुर्नाड्यः, मध्ये एका। एवं हृदयादिचक्राणाम्। तेनोष्णीषचक्रे मकरकुम्भयोर्वायव्यारादिसंचारः, [5]पूर्वे चक्रस्याकाशशुद्धितो वज्रचिह्नम्। तेन मण्डले आकाशचक्रे [6]वज्रावली। एवं **हृदय**स्वभावतो वायुचक्रे खड्गावली मीनमेषयोः। एवं **गलगते** तेजःस्वभावतश्तेजश्चक्रे रत्नावली वृषमिथुनयोः। **शिरसि** गते तोयस्वभावतस्तोयचक्रे पद्मावली कर्कटसिंहयोः । **नाभिचक्रे** पृथ्वीस्वभावतः चक्रावली कन्यातुलयोः। **गुह्यचक्रे** ज्ञानस्वभावतः कर्तिकावली वृश्चिकधनुषोरिति। एषु **चक्रे**ष्वष्टाष्टारेषु **तलोर्ध्वं** च **प्रतिदिनं मकरलग्नादारभ्य** एष सञ्चारो योगिना प्राणस्य वेदितव्यः। इह यत्र यत्र प्राणोऽधिकारं करोति, तत्र [7]तत्र मण्डलनायिकाया नाम्ना सार्धं भगवतोऽष्टचत्वारिंशत्पदिकस्यैकपदं गृहीत्वा जपेत् प्राणप्रवाहेण, नाक्षसूत्रेणेति। एवं षोडश[8]पदिकस्यैकपदं गृहीत्वा श्मशानदेवीनामसहितं जपेद् अष्टपदिकं [9]कमलदलाष्टदेवीभिः सहेति वक्ष्यमाणम्। एवं मकरादिदूतीनां **द्विद्विलग्नान्तराले चक्रसंचारो** दश दश दण्डेषु। एवमहोरात्रेण षष्टिदण्डैः षष्टिमण्डलेषु संचारः प्राणस्येति । एव[10]मत्र दनुजनरभूतदेवासुरादीनां स्वस्वदिने स्वस्वमण्डलेषु योगिनीसंचार उत्पादप्रलयहेतुभूतः —

> महामाया महारौद्रा भूतसंहारकारिणी।
> यथा तथा स्वयं कर्ता हर्ता वज्रधरः स्मृतः ॥

---

१. च. मध्ये। २. च. मध्ये। ३. भो. mखhaḥi dKyil ḥKhor (आकाशमण्डले)। ४. भो. 'एवं' नास्ति। ५. भो. Daṅ Po La (प्रथमे)। ६. ग. 'वज्रावली···वायुचक्रे' नास्ति। ७. ग. 'तत्र' नास्ति। ८. ग. पदस्य, भो. rKaṅ Pa Re Re स्यैकैकपदं)। ९ ग. सकमलदले। १०. ग. मण्डलतु, भो. Lus Las sKyes Paḥi Phra Mo (एवमणुतनुज)।

प्रज्ञापारमिता कर्त्री कर्ता बुद्धो न देहिनाम् ।
हन्त्री हर्ता न बौद्धानां देशितो भूतवादिना ॥
कायवाङ्मानसं कर्म यः करोति शुभाशुभम् ।
सत्त्वस्तस्य फलं भुङ्क्ते कर्ता नान्योऽस्ति कस्यचित् ॥

इति भगवतो नियमः ॥ ३६ ॥

इदानीं नायकासनमुच्यते[176b]—

भर्त्रब्जं सर्ववज्रैः कुलिशमणिगतैश्चाक्षरैर्बिन्दुभिश्च
सर्वानन्दं समन्तात् समसुखनिलयं वज्रिणः सर्वकालम् ।
तस्मिन् चन्द्रद्रवे यो विशति गुरुमुखे कालचक्रः स एव
माराणां कालमुक्तं मरणभयकरं डाकिनीचक्रमेतत् ॥ ३७ ॥

[1]भर्त्रित्यादि । इहोष्णीषादिषट्चक्रेषु योगिनीसंचारः ककारादिवर्णैः, तेन **भर्त्रब्जं** [2]मध्यकमलं मण्डले यत्तत्, **सर्ववज्रैरिति** चतुर्बिन्दुभिरक्षरैरित्यच्युतैः, **कुलिशमणिगतैः** कुलिशमणिगतं कमलं **सर्वानन्दं समन्तात् समसुखनिलयमच्युतत्वाद् वज्रिणः सर्वकालं** योगिनीनामानन्दजनकम् । अतस्तस्मिंश्चन्द्रद्रवेऽच्युते सुखे **यो विशति गुरुमुखे** ज्ञानवक्त्रे **कालचक्रः स एव** योगी भवतीति नियमः । एवमेतच्चक्रं **कालमुक्तमित्यविद्यादि-** धर्ममुक्तम् । **माराणां** स्कन्धादीनां चतुर्णां **मरणभयकरं डाकिनीचक्रमेतदिति** सर्वावरणविनिर्मुक्तं नान्यदेवतागणं कल्पितमिति ॥ ३७ ॥

इदानीं लौकिकसिद्धिसाधनाय मन्त्रजाप उच्यते—

प्रज्ञोपायाक्षराभ्यामुभयकुलवशाद् डाकिनीडाकनाम
जाप्यं वज्रत्रयेणापरपदसहितेनादिमध्यान्तभिन्नम् ।
प्राणेनाधिष्ठितं यद् ह्युभयगतिवशात् स्वस्वकर्मानुरूपं
सिद्धिं गच्छन्ति शीघ्रं रसगतिषु गता डाकिनीवज्रडाकाः ॥ ३८ ॥

प्रज्ञोपायेत्यादि । इह कालचक्रे **प्रज्ञोपायाक्षराभ्यामिति** । इह यत्र [3]प्रज्ञाया ह्रस्वबीजं तदोपायस्याभिमुखकुलवशाद्दीर्घं भवति, यदा प्रज्ञाया दीर्घस्तदोपायस्य ह्रस्वम् । **एवमुभयकुलवशाद् डाकिनीडाकनामेति** शिवज्रा स्लृवज्र इत्यादि । एवं स्लृवज्रा शिवज्रः । पृथ्वीवायुः(यू) परस्परं प्रज्ञोपायभेदतः । एवं तोयतेजसोः षृ- वज्रा ~पू वज्र इति । तथा ~पूवज्रा षृवज्र इति सर्वडाकिनोडाकानां नाम **जाप्यमिदं वज्रत्रयेणापरपदसहितेनादिमध्यान्तभिन्नमिति** । आदावोङ्कारः, मध्ये मालामन्त्रस्या- दिमं पदादिकम्, ततो वज्रदूतीबीजं वज्रडाकसहितम्, ततो ह्रस्व[4]हुंकारं चित्तवज्रम्, दीर्घं वाग्वज्रम्, अन्ते फट्कारमिति । [5]ततो मालामन्त्रो द्वासप्ततिपदिकः । तेषु

---

१. ग. भर्तुरित्यादि । २. ग. मध्ये । ३. ग. प्रज्ञा । ४. च. हूंकार । ५. ग. तत्र ।

द्वासप्ततिपदेष्वष्टपदान्यादौ पद्मदलदेवीभिः सार्धम्, षोडशपदानि श्मशानदेवीभिः सार्धम्, अष्टचत्वारिंशत्पदानि षट्चक्रवीरवीरेश्वरीनामसहितानि जाप्यानीति। अत्राष्टपदानि चतुःश्मशानपदानि मध्यमायां द्वादशप्रवेशेषु जाप्यानि प्राणेनाधिष्ठितानि। मकरादौ संक्रान्तिकाले शेषाणि षष्टिपदानि पञ्चमण्डलाधिष्ठानेन **प्राणाधिष्ठितं** यन्मण्डलं तस्याधिदेवतासहितं मालामन्त्रं योगिनां सिद्धयति। वाहभेदे **सिद्धिं गच्छन्ति शीघ्रं रसगतिषु गताः** षड्गतिषु गता भगवतः [1]**सर्वडाकिनीवज्रडाका** इति नियमः। अत्र संवृत्योपपीलवादिन्यासो मकरादिना कवर्गादिना देवीमालामन्त्रे। तत्र द्वादशसंक्रान्तिपदानि। तद्यथा ॐ आः हुं होः हं क्षः हं क्ष्म्ल्व्र्य कालचक्र हा वज्रे हुं हूं फडिति मकरसंक्रान्तौ सपादषट्पञ्चाशत् श्वासजापः। एवं कुम्भसंक्रान्तौ ॐ दुर्दान्त[2]दमक जातिजरामरणान्तक [3]स्वा वज्रे हुं हूं फट्। ॐ त्रैलोक्यविजय [4]हः वज्रे हुं हूं फडिति मीने। ॐ महावीरेश्वर [5]अः वज्रे हुं हूं फट् मेषे। ॐ वज्रभैरव हः वज्रे हुं हूं फडिति वृषे। ॐ वज्रकाय अः वज्रे हुं हूं फडिति मिथुने। ॐ वज्रगात्र हं वज्रे हुं हूं फडिति कर्कटे। ॐ वज्रनेत्र अं वज्रे हुं हूं फडिति सिंहे। ॐ वज्रश्रोत्र हा वज्रे हुं हूं फडिति कन्यासंक्रान्तौ। ॐ वज्रघ्राण [6]ह वज्रे हुं हूं फडिति तुलायाम्। ॐ वज्रजिह्व क्षा वज्रे हुं हूं फडिति वृश्चिके। ॐ वज्रदन्त [7]क्ष वज्रे हुं हूं फडिति धनुःसंक्रान्तौ श्वासेन सार्धं जपेत्। [177a] इति द्वादशसंक्रान्तौ ज्ञानमण्डलजापः। ॐ वज्रनख क्लृ वज्रे घि वज्र हुं हूं फडिति मकरपृथ्वीमण्डले सपादैकादशोनषष्ट्युत्तरत्रिशतजापः। एवं सर्वत्र षष्टिमण्डलेषु। ॐ वज्रकेश खू वज्रे गृ वज्र हुं हूं फडित्युदके। ॐ वज्रलोम गॄ वज्रे खु वज्र हुं हूं फडिति तेजसि। ॐ वज्राभरण घी वज्रे क्लृ वज्र हुं हूं फडिति वायौ। ॐ वज्रहास [8]दा वज्रे हुं हूं फडिति आकाशमण्डले श्मशाने भगवानुपायस्तेन द्वितीयबीजाभावः। एवं सर्वत्राकाशमण्डले ज्ञेयः। ॐ वज्रगीत [9]द वज्रे हुं हूं फडिति कुम्भाकाशमण्डले श्वासजापः। ॐ वज्रनृत्य घि वज्रे क्लॄ वज्र हुं हूं फडिति वायौ। ॐ वज्रायुधक गृ वज्रे खू वज्र हुं हूं फडित्यग्नौ। ॐ वज्रक्रोधाधिपते खु वज्रे गॄ वज्र हुं हूं फडित्युदके। ॐ वज्रडाक क्लृ वज्रे घो वज्र हुं हूं फडिति पृथ्वीमण्डले श्वासजापः। एवं [10]कवर्गो गतः। ततो मीने ॐ वज्रडाकिनीजालपरिवृत च्लॄ वज्रे झि वज्र हुं हूं फडिति पृथ्वीमण्डले श्वासजापः। ॐ शीघ्रमागच्छागच्छ छू वज्रे जु वज्र हुं हूं फडिति तोये। ॐ वज्रसत्त्वाज्ञया सर्वमारविघ्नविनायककिन्नरकिम्पुरुषगरुडगन्धर्वयक्षराक्षसभूत[11]प्रेतकुम्भाण्डापस्मारक्षेत्रपालवेतालपूतनादुष्टनागग्रहादयो ये सर्वज्वरसर्वव्याधिभिः क्षुद्रोपद्रवकारिणः सर्वसत्त्वापकाररताः, तान् सर्वान् जः शीघ्रं वज्राङ्कुशेनाकृष्याकृष्य जॄ वज्रे छु वज्र हुं हूं फडित्यग्निमण्डले। ॐ ऊर्ध्वदिशि गता-

---

१. भो. rDo rJe mKhaḥ ḥGro Ma (वज्रडाकिनी)। २. भो. दमकः। ३. ग. भो. ह वज्रे। ४. ग. ह, भो. आ। ५. ग. भो. अ। ६. ग. आ। ७. ग. 'क्ष वज्रे ..... आकृष्य ढि' नास्ति। ८. च. हां। ९. च. हं। १०. भो. Ka sDe La gNas Pa rNam So (कवर्गगताः)। ११. भो. महाप्रेत।

नाकृष्याकृष्य झी वज्रे च्लृ वज्र हुं हूं फडिति वायौ। ॐ पूर्वदिशि गतानाकृष्याकृष्य ञा वज्रे हुं हूं फडिति आकाशमण्डले श्मशाने। ततो मेषे ॐ दक्षिणदिशि गताना-कृष्याकृष्य ञ वज्रे हुं हूं फडित्याकाशमण्डले श्मशाने। ॐ उत्तरदिशि गताना-कृष्याकृष्य झिवज्रे च्लॄ वज्र हुं हूं फडिति वायौ। ॐ पश्चिमदिशि गतानाकृष्या-कृष्य जृ वज्रे छू वज्र हुं हूं फडिति तेजसि। ॐ वायव्यदिशि गतानाकृष्याकृष्य छु वज्रे जॄ वज्र हुं हूं फडिति तोये। ॐ ईशदिशि गतानाकृष्याकृष्य च्लृ वज्रे झी वज्र हुं हूं फडिति पृथ्वीमण्डले श्वासजापः। ततो वृषलग्ने ॐ नैर्ऋत्यदिशि गताना-कृष्याकृष्य ट्लॄ वज्रे ढि वज्र हुं हूं फडिति पृथ्वीमण्डले श्वासजापः। ॐ आग्नेय-दिशि गतानाकृष्याकृष्य ठू वज्रे डृ वज्र हुं हूं फडिति तोये। ॐ अधोदिशि गताना-कृष्याकृष्य डॄ वज्रे ठु वज्र हुं हूं फडिति तेजसि। ॐ आकाशमण्डलगतानाकृष्याकृष्य ढो वज्रे ट्लृ वज्र हुं हूं फडिति वायौ। ॐ वायुमण्डलगतानाकृष्याकृष्य णा वज्रे हुं हूं फडिति आकाशमण्डले श्मशाने श्वासजापः। ततो मिथुने ॐ तेजोमण्डल-गतानाकृष्याकृष्य ण वज्रे हुं हूं फडिति आकाशमण्डले श्मशाने श्वासजापः। ॐ उदकमण्डलगतानाकृष्याकृष्य ढि वज्रे ट्लृ वज्र हुं हूं फडिति वायौ। ॐ पृथ्वी-मण्डलगतानाकृष्याकृष्य डृ वज्रे ठू वज्र हुं हूं फडिति [177b] तेजसि। ॐ काम-धातुगतानाकृष्याकृष्य ठु वज्रे डॄ वज्र हुं हूं फडित्युदके। ॐ रूपधातुगतानाकृष्याकृष्य ड्लृ वज्रे ढी वज्र हुं हूं फडिति पृथ्वीमण्डले श्वासजापः। ततः कर्कटलग्ने ॐ अरूपधातुगतानाकृष्याकृष्य प्लॄ वज्रे भि वज्र हुं हूं फडिति पृथ्वीमण्डले श्वासजापः। ॐ कायधातुगतानाकृष्याकृष्य फू वज्रे बृ वज्र हुं हूं फडिति तोये। ॐ वाग्धातुगताना-कृष्याकृष्य बॄ वज्रे फु वज्र हुं हूं फडिति तेजसि। ॐ चित्तधातुगतानाकृष्याकृष्य भी वज्रे प्लृ वज्र हुं हूं फडिति वायौ। ॐ पञ्चस्कन्धगतानाकृष्याकृष्य मा वज्रे हुं हूं फडिति आकाशमण्डले श्मशाने श्वासजापः। सिंहे ॐ पञ्चधातुगताना-कृष्याकृष्य म वज्रे हुं हूं फडिति आकाशमण्डले श्मशाने श्वासजापः। ॐ पञ्चे-न्द्रियगतानाकृष्याकृष्य भि वज्रे प्लॄ वज्र हुं हूं फडिति वायौ। ॐ पञ्चविषयगताना-कृष्याकृष्य बृ वज्रे फू वज्र हुं हूं फडिति तेजसि। ॐ पञ्चकर्मेन्द्रियगताना-कृष्याकृष्य फु वज्रे बॄ वज्र हुं हूं फडिति तोये। ॐ [1]पञ्चकर्मेन्द्रियविषयगताना-कृष्याकृष्य प्लृ वज्रे भी वज्र हुं हूं फडिति पृथ्वीमण्डले श्वासजापः। ततः कन्यालग्ने ॐ सर्वत्र यत्रकुत्रचिद्गतानाकृष्याकृष्य त्लॄ वज्रे धि वज्र हुं हूं फडिति पृथ्वीमण्डले श्वासजापः। ॐ महाश्मशाने वज्राग्निज्वलितभूम्यां निपातय [2]निपातय थू वज्रे दृ वज्र हुं हूं फडिति तोये। ॐ वज्रपाशेन सर्वभुजेषु बन्धय बन्धय दॄ वज्रे [3]थु वज्र हुं हूं फडित्यग्नौ। ॐ वज्रशृङ्खलया सर्वपादेषु निरोधय निरोधय धी वज्रे त्लृ वज्र हुं हूं फडिति वायौ। ॐ सर्वसत्त्वकायवाक्चित्तक्षुद्रोपद्रवकाररतान् महाक्रोध [4]वज्रेण चूर्णय चूर्णय ना वज्रे हुं हूं फडित्याकाशमण्डले श्मशाने। ततस्तुलालग्ने

---

१. च. ग. 'पञ्च' नास्ति। २. ग. 'निपातय' नास्ति। ३. ग. 'थु वज्र' नास्ति।
४. भो. वज्रिन्।

ॐ वज्रखड्गेन निकृन्तय निकृन्तय न वज्र हुं हूं फडित्याकाशमण्डले श्मशाने श्वासजापः। ॐ वज्रत्रिशूलेन भेदय भेदय धि वज्रे ॡ वज्र हुं हूं फडिति वायौ। ॐ वज्रकर्तिकया हन हन दृ वज्रे थू वज्र हुं हूं फडिति तेजसि। ॐ वज्रबाणेन बिन्ध बिन्ध थु वज्रे दॄ वज्र हुं हूं फडिति तोये। ॐ वज्रकीलकैः कीलय कीलय ल्ल वज्रे धी वज्र हुं हूं फडिति भूमिमण्डले श्वासजापः। ततो वृश्चिकलग्ने ॐ वज्रमुद्गरेणा-कोटयाकोटय स्लॄ वज्रे शि वज्र हुं हूं फडिति पृथ्वीमण्डले श्वासजापः। ॐ वज्रचक्रेण छेदय छेदय ≍ पू वज्रे पृ वज्र हुं हूं फडिति तोये। ॐ वज्रकुन्तेन भिन्ध भिन्ध पॄ वज्रे ≍ पु वज्र हुं हूं फडिति तेजसि। ॐ वज्रदण्डेन ताडय ताडय शी वज्रे स्ल वज्र हुं हूं फडिति वायौ। ॐ वज्रपर्शुना छिन्द छिन्द ≍ का वज्रे हुं हूं फडिति आकाशमण्डले श्मशाने श्वासजापः। ततो धनुर्लग्ने ॐ सार्धत्रिकोटिखण्डानि कृत्वा श्मशानभूम्यां सर्वभूतेभ्यो बलिं कुरु कुरु ≍ क वज्रे हुं हूं फडित्याकाशमण्डले श्मशाने श्वासजापः। ॐ वज्रडमरुकेण वज्रडाकिनीरावाहयावाहय शि वज्रे स्लॄ वज्र हुं [178a] हूं फडिति वायौ। ॐ वज्रडाकिनीभ्यो मारकायिकानां रुधिरं निवेदय निवेदय पृ वज्रे ≍ पू वज्र हुं हूं फडिति तेजसि। ॐ पञ्चामृतहारिणीभ्यः पञ्चामृतं निवेदय निवेदय ≍ पु वज्रे पॄ वज्र हुं हूं फडिति तोये। ॐ सर्ववज्रडाकिनीसहितः सर्वसत्त्वानां शान्तिकं पौष्टिकं रक्षावरणगुप्तिं कुरु कुरु स्ल वज्रे शी वज्र हुं हूं फडित्य-वनिमण्डले श्वासजापः। एवं मालामन्त्रं प्रतिदिनं [1]श्वासचक्रसंख्यं जपेत्। अत्र नाक्षसूत्रं न मन्त्रोच्चारः, श्वासोच्छ्वासाभ्यां सह मन्त्राक्षराणां प्रवेशो निर्गमः पुष्पमालावदनुलोमविलोमेन चन्द्रसूर्यस्वभावेन द्रष्टव्यः। एवं पञ्चदिनैरष्टसहस्राधिको लक्षजापोऽध्यात्मनि योगिना कर्तव्यः। पञ्चशतदिनैः कोटिजापोऽष्टलक्षाधिकः श्वासानाम्। ततः कायशुद्धिरेवं वाग्विशुद्धिस्तथा चित्तविशुद्धिः। एवं पञ्चशतदिनैः श्वासो निष्कम्पो भवति। कुम्भकावस्थां प्राणः प्राप्नोति। ततः पञ्चाभिज्ञा जायन्ते योगिनामिति वज्रजापक्रमो नपुंसकजापक्रमो [2]वा वामदक्षिणमध्यमाप्राणसंचारेण भवतीति भगवतो नियमः॥ ३८॥

इदानीमवधूतीश्वासैः कायवाक्चित्तज्ञानपञ्चचक्रैः सर्वबुद्धसंवरमुच्यते—

ये श्वासा मध्यमायां सपदरसशरा जन्मकाले बभूवु-
स्तैश्चक्राण्यष्टकैः स्युस्तलगगनवशाद् द्वारमध्यस्थदेव्यः।
पादेनैकेन जाता त्रिभुवनजननी कर्तिकाशुक्तिहस्ता
आलीढोऽर्केन्दुमूर्ध्नि त्वमृतसुखकलालिङ्गितः कालचक्रः॥३९॥

ये श्वासा इत्यादि। इह मध्यमायां ये [3]श्वासा जन्मकाले बालस्य सपादषट्-पञ्चाशत् श्वासाः सपदरसशरा बभूवुः, तैश्चक्राण्यष्टकैः स्युस्तलगगनवशाद् द्वारमध्य-

१. ग. श्वासजाप। २. च. 'वा' नास्ति। ३. ग. 'श्वासा' नास्ति।

स्थदेव्य इति । एषां श्वासानां मध्ये कायवाक्चित्तज्ञानधर्मिणोऽष्टश्वासाः प्रज्ञोपायभेदतः, ते गर्भपद्मदलेऽष्टौ देव्यः। अत्र कपालानि न भवन्ति वीराश्च अष्टौ रूपविशुद्धया पृथ्वीचक्रे, अष्टौ संज्ञाशुद्धया तोयचक्रे, अष्टौ वेदनाशुद्धया तेजश्चक्रे, अष्टौ संस्कार-विशुद्धया वायुचक्रे, अष्टौ विज्ञानविशुद्धयाऽऽकाशचक्रे, अष्टौ [1]ज्ञानशुद्धयाऽष्टश्मशा-
5 नेषु । एवं गुह्यनाभिहृदयकण्ठललाटोष्णीषचक्रेषु षट्सु अष्टचत्वारिंशत् । एवं घ्राण-रन्ध्रयोर्द्वौ, नेत्ररन्ध्रयोर्द्वौ, श्रोत्ररन्ध्रयोर्द्वौ, जिह्वामुखोष्णीषरन्ध्रयोर्द्वौ—इति देवीगणः। एवं षट्पञ्चाशत् । शेषपादेनैकेन **जाता त्रिभुवनजननी** विश्वमाता **कर्तिकाशुक्तिहस्ता**, तया प्रत्यालीढया **अमृतकलया आलीढोऽर्केन्दुमूर्ध्नि** मारक्लेशोपरि स्थित **आलिङ्गितः कालचक्रो** भगवान् परमाक्षरसुख इति। एषां श्वासानां बीजानि
10 वक्ष्यमाणेन [2]"लाद्या यास्त्वष्टमात्रा" (का० त० ५.१२८) इत्यादिना वक्तव्यानि, तेनात्र न लिखितानि। अत्र नीतार्थः—सर्वकालं योगिना मध्यमायां प्राणो भावयि-तव्यः, प्रवेशनिर्गमतया यावत् स्थिरीभवति कुम्भकावस्थां गच्छति सर्वकालम्, ततो योगी पञ्चाभिज्ञालाभी भवति प्राणजापत इति भगवतो नियमः। एवं "जपेन्मन्त्र-
T 424 मभिन्नाङ्गं प्राणयुक्तं मन" इति सर्वतन्त्रेषु वज्रपदं पूर्वोक्तम् । यद्यपि मन्त्रोच्चारणाक्ष-
15 [178b]सूत्ररहितः प्राणजापस्तथापि जाप इत्युच्यते, प्राणनिर्गमप्रवेशादिति ॥ ३९ ॥

इदानीं बाह्ये वाऽध्यात्मनि देवतासनशुद्धिरुच्यते—

पञ्चत्र्यर्चीन्दुसूर्या विषयगुणवशादासनान्यब्धिचारा
वाराः सप्तार्कपूर्णा दिनकरशशिनश्चापराण्यासनानि ।
कृष्णा श्वेतार्कपूर्णा दिनकरशशिनश्चापराण्यासनानि
20 वाराः सप्तार्कपूर्णाः समविषमपदे सूर्यचन्द्रासनानि ॥४०॥

पञ्चेत्यादि । इहैकवीरस्यासनं **चन्द्रः** [3]शुक्रं **सूर्यो** रज इति, पञ्चधातूनां प्रज्ञाधर्म-त्वात् चन्द्रगुणाः **पञ्चविषयास्ते**ऽत्र लोचनादीनां चन्द्रासनान्याकाशधातुपर्यन्तम् । **गुणत्रयवशाद्** रत्नसंभवामिताभामोघसिद्धीनां त्रीणि **सूर्यासनानि** । चतुर्भूतात्मकं महा-रूपमिति, चतुर्धातुधर्मित्वाद् वैरोचनस्य चन्द्रासनम्, ज्ञानार्चिधर्मित्वात् सूर्यासनं वेद-
25 नादीनाम् "अरूपित्वं तु शेषाणाम्" इति वचनात् । एवं पञ्च चन्द्रमण्डलानि, चत्वारि सूर्यमण्डलानीति सत्त्वरजस्तमःसमताभेदेन। एवं नवात्मकः समाजः स्कन्धधातूनां गुणविषयाधारतः, यथा गर्भे जातकविज्ञानादीनां तथा देवतायामपि पुनरपराणि चत्वारि क्रोधासनानि । **अब्धिचारा** इति सूर्यस्य रविकाधनऋणवृद्धिहानिवशात् क्रोधानां सूर्यासनानि । एवं क्रोधानां चारा इति त्रयोदशात्मकः समाजः, एवं **सप्तवाराः** सूर्या-
30 सनानि, द्वादशपूर्णाश्चन्द्रमण्डलानि, एकोनविंशदात्मकः समाजस्तृतीयः, **कृष्णपूर्णा**

---

१. ग. विज्ञान । २. भो. लृाद्या । ३. च. शुक्लं ।

अमावास्या प्रतिवर्षे द्वादश, श्वेतपूर्णा पौर्णमास्यो द्वादश, एवं चतुर्विंशतिः सूर्यचन्द्रासनानि नायकस्य कुलवशाच्चन्द्रो वा सूर्यो वा। एवं पञ्चविंशदात्मकः समाजो देवतानामाधारभेदत इति। पुनस्तेषु मध्येऽपरसप्तवारासनानि क्षिप्तानि द्वात्रिंशदासनानि भवन्ति। पञ्चस्कन्धचतुर्धातूनां द्वादशायतनानामेकादशक्रोधानामिति द्वात्रिंशदात्मकः समाजः। पुनः समविषमपदे प्राणस्य गतिः सूर्यासनमागतिश्चन्द्रासनम्, तेन चतुस्त्रिंशदात्मकः समाजः। एवं षट्प्रकारो यथा गर्भे बालस्य धातूनामाधाराधेयमेलापकस्तथा देवतानां मीलनमितिन्यायात् षट्प्रकारः समाजः॥ ४०॥

इदानीं त्रिचक्रसंवरे आसनशुद्धिरुच्यते—

आराश्चन्द्रार्कचाराः　कमलदलचतुर्द्वारकोणासनानि
भूयश्चारा द्विगुण्या दिनकरशशिनश्चासनान्येव तानि।
पूर्णा वारार्कचाराः समविषमपदे चासनान्यब्धिचाराः
सूर्ये वा पूर्णचन्द्रे भवति कुलवशान्नायकः संपुटे वा॥४१॥

आरा इत्यादि। इह त्रिचक्रे आराश्चतुस्त्रिंशतिः, ते च "भूता भूतेषुवेदा गुणकरशशिन" (का० त० १.३२) इति पूर्वोक्ताश्चन्द्रचाराः पञ्चविंशतिः, तेषां चतुर्विंशतिस्त्रिचक्रारा भवन्ति। एकः पद्मदलदेवतायाः पञ्चविंशतितमः, प्रेतासनमिति। अर्कचारा रसयुगशशिन इत्येकादश, तेषां गर्भपद्मदलेषु त्रयः, शेषा अष्टौ अष्टश्मशानेषु शवरूपेणावस्थिताः, आरा इत्याधारः। शवा इति शवानि देवीवाहनानि। एवं त्रिचक्रसंवरः। भूयः पूर्वापरभेदेन चारा द्विगुणा महासंवरे देवीनामासनानि द्वासप्ततिर्भवन्ति। एवं षट्चक्रसंवरः। मायाजाले पूर्णाश्चतुर्विंशतिः शुक्लकृष्णाश्चन्द्रसूर्यासनानि, तथा सप्त[1]वाराः सप्तसूर्यासनानि, अर्कचारा एकादश सूर्यासनानि। अथ भावभेदेन चन्द्रासनानि, एवं त्रयश्च(त्रिच)त्वारिंशदासनान्येके। समविष[179a]मपदेन पूर्ववच्चन्द्रसूर्यासनमिति पञ्चचत्वारिंशदासनानि द्वितीये। अब्धिचारा इति रविकाभेदेन चत्वारि सूर्यासनानि चन्द्रासनानि वा कायभावभेदेन भवन्ति। एवमेकोनपञ्चाशदासनानि तृतीये मायाजाले देवतानाम्। यथा गर्भे बालस्य प्राणस्याधारभूता धातवस्तथा बाह्येऽपि परेऽपि सिद्धाः। एवं समाजमायाजालत्रिचक्रषट्चक्रसंवरपरिशुद्धिनियमः। तेषु तन्त्रेषु नायकः सूर्ये(र्यो) वाऽरूपस्कन्धधर्मित्वात्, प्रज्ञाधर्मे चन्द्रे(न्द्रो)वा भवति रूपधर्मित्वात्, वैरोचनः करुणाधर्मे चन्द्रमण्डले भवति कुलवशात् प्रज्ञाकरुणावशाद् नायकः, संपुटे वा प्रज्ञाकरुणाद्वये कालचक्र इत्यादिबुद्धो निरन्वयत्वादिति सिद्धः॥ ४१॥

इदानीं वाय्वादिदेवतानां वक्त्रशुद्धिरुच्यते—

वायोः स्पर्शास्यमेकं त्वपरगुणवशान्मुद्रणास्यं द्वितीयं
रूपस्पर्शद्वयास्यं भवति च शिखिनो मुद्रणास्यं तृतीयम्।

१. च. वारा।

स्पर्शो रूपं रसास्यं मुखमपि पयसो मुद्रणास्यं चतुर्थं
गन्धाद्यं स्पर्शजान्तं गुणमुखमवनेः पञ्चमं मुद्रणास्यम् ॥४२॥

वायोरित्यादि। इह वाय्वादिदेवतानां द्विधा वक्त्राणि –एकानि विषयशुद्धया, द्वितीयानि गुणत्रयशुद्धया। तत्र वायुधातोः स्पर्शगुणात्मकमेकं वक्त्रं भवति, द्वितीयं शब्दगुणात्मकं मुद्रणम्, तेन संस्कारस्कन्धस्य विज्ञानस्कन्धो मुद्रणम्। एवं वायोः **स्पर्शास्यमेकं** त्वपरगुणवशान्मुद्रणास्यं द्वितीयं शिरसि, न मुखस्थाने। एवं [1]रूपस्पर्श-विषयधर्मेण **मुखद्वयं तेजसो** मुद्रणास्यं तृतीयम्। गुणेन तेन वेदनयाऽपि विज्ञानमुद्रणम्। तथा **स्पर्शरूपरसास्यं मुखत्रयं पयस** आकाशलक्षणः शब्दो **मुद्रणास्यं चतुर्थम्**, तेन संज्ञया विज्ञानमुद्रणम्। **गन्धाद्यमिति** गन्धरसरूपस्पर्शविषयधर्मेण वक्त्रचतुष्टयं **पृथिव्या** भवति। तेन रूपस्कन्धस्यापि विज्ञानस्कन्धो मुद्रणमिति सिद्धम् ॥ ४२ ॥

शून्यं पञ्चप्रकारं मुखमपि नभसो मुद्रणास्यं च षष्ठ,
मेवं वै ज्ञानधातोर्भवति गुणवशाच्छून्यषट्केन वक्त्रम्।
एकं मिश्रं चतुष्के समसुखफलदं पञ्चकं द्वित्रिमिश्रं
प्रज्ञोपायं दशास्यं त्रिविधगुणवशाद् द्वादशास्यं चतुर्धा ॥४३॥

शून्यं पञ्चप्रकारं "पञ्चाक्षरो महाशून्यः" (ना० सं० १०.२) इति वचनाद् मुखपञ्चकमाकाशधातोर्विज्ञानस्कन्धस्य **मुद्रणास्यं** षष्ठं ज्ञानस्कन्धम्। **एवं वै ज्ञान-धातोर्भवति गुणवशात् शून्यषट्केन वक्त्रं** षण्मुखस्य, तस्यापि विज्ञानधातुमुद्रणमिति मुद्रानियमो धातुविषयगुणवशाच्छुद्धम्। अथैकं **मिश्रं चतुष्केण समसुखफलदं पञ्चकं द्वित्रिमिश्रमिति**। इहैकस्पर्शगुणात्मको वायुधातुराकाशमुद्रितो गन्धादिचतुर्गुणात्मके पृथ्वीधातावाकाश[2]गुणमुद्रिते यदा मिश्रो भवति, तदा समसुखफलदः प्रज्ञोपायात्मको योगो भवति। एवं [3]स्पर्शरूपद्विगुणात्मकोऽग्निराकाशगुणमुद्रितः, तोयधातुस्त्रिगुणात्मक आकाशगुणमुद्रितः परस्परमिलितः पञ्चकं भवति। [4]एवं पृथ्वीवाय्वोः पञ्चकम्। एवं **प्रज्ञोपायं दशास्यं** पूर्वापरं वामदक्षिणं परस्परमिलितम्। अस्याध्यात्मपटले प्रपञ्च उक्तः—"प्रज्ञोपायोऽस्थिमांसं ससलिलरुधिरं पावको मूत्रमेव" (का० त० २.३०) इत्यादिनेति नियमः।

पुनरपरगुणत्रयभेद उच्यते—त्रिविधेत्यादिना। इह सर्वधातूनां सत्त्वरजस्तमोगुणाः सन्ति, तैः सर्वे धातवस्त्रिमुखाः। गन्धादिधर्मधात्वन्ताः षड्विषया धातूनाम्, तैः षड्भुजाः। एवं **त्रिविधगुणवशाद् द्वादशास्यं** [5]**चतुर्धा** प्रज्ञोपायं पूर्वापरं वाम[179b]-

T 425

१. भो. Ro Dañ Reg Byaḥi (रसस्पर्शस्य)। २. भो. 'गुण' नास्ति। ३. भो. Reg Bya Dañ Roḥi (स्पर्शरस)। ४. ग. 'एवं ...... कायचित्ते' त्रुटितः। ५. व. 'चतुर्धा' नास्ति।

दक्षिण ऊर्ध्वमिति नियमः। समाजे सर्वेषां चिह्नं शुक्रनाड्यस्थिविशुद्ध्या वज्रं पद्मं चक्रं दक्षिणे, रजो रक्तं मांसं वज्रघण्टा मणिः खड्गो वामेऽक्षोभ्यस्य। इह यस्या देवतायाः स्वचिह्नं दक्षिणे प्रथमकरतले गच्छति, तस्य स्थाने वज्रचिह्नं याति। एवं समाज-नियमः। यथा समाजे यो वुद्धो मध्ये विशति तस्य स्थानेऽक्षोभ्यो गच्छति, तथा चिह्नेऽपि नियमः। एवं पञ्चमुखषण्मुखयोरेकादशास्यं विज्ञानज्ञानधात्वोः पञ्चाननषण्मुखयोः पञ्चाक्षरमहाशून्यबिन्दुशून्यषडक्षरयोः। पुनस्तयोः परस्परापेक्ष-कत्वेन द्वात्रिंशदास्यः समाज इति नियमः ॥ ४३ ॥

इदानीं कालभेदेन वक्त्रादिशुद्धिरुच्यते—

सन्ध्याभेदाच्चतुर्धा त्रिविधमपि मुखं लग्नभेदात् त्रिवर्णं
लग्नार्धाद् बाहुभेदो विषममपि समालिङ्गनं कायचित्ते।
सन्ध्याङ्गे पूर्वपृष्ठे त्रिमुखरसभुजालिङ्गनं मध्यमाङ्गे
प्रज्ञासङ्गः समापत्तिरपि हि हसिताद्यानि यामाभिसन्धौ ॥४४॥

सन्ध्येत्यादि। इह "दिनस्तु भगवान् वज्री नक्तं प्रज्ञा प्रकीर्तिता" इति नियमात् [1]प्रहरप्रहरसन्ध्याभेदेन भगवांश्चतुर्मुखोऽष्टभुजोऽर्धप्रहरभेदेनार्धरात्रान्मध्याह्नं यावत्, एवं प्रज्ञाऽपि मध्याह्नादर्धरात्रं यावच्चतुर्मुखा अष्टभुजेति। **समालिङ्गनं** मध्याह्ने दिवारात्र्योः, **विषममपि** पूर्वसन्ध्या-अपरसन्ध्ययोर्दिवारात्र्योर्हीनाधिकवशतः, तत्र कुत्र-चिद् भगवान् पञ्चमुखो दशभुजो भगवती त्रिमुखा षड्भुजा दिवावृद्धितः। निशावृद्धितो भगवती पञ्चमुखा भगवांस्त्रिमुख इत्यादिसिद्धः, इत्येका कालचक्रविशुद्धिः। तथा द्वितीयो-च्यते—**त्रिविधेत्यादि**। इह द्वादशराशयो मकरादयः, तेषां मध्ये मकरकुम्भमीन-राशयश्चित्तवज्रस्य तमोरजःसत्त्वभेदेन कृष्णरक्तसितमुखानि **लग्नभेदात् त्रिवर्णा**नीति। एवं मेषवृषमिथुनमुखानि रजःसत्त्वतमोभेदेन रक्तसितकृष्णवर्णानि वाग्वज्रस्येति। कर्कटसिंहकन्यामुखानि सत्त्वतमोरजोभेदेन शुक्लकृष्णरक्तवदनानि कायवज्रस्येति। तुलावृश्चिकधनुर्लग्नमुखानि [2]तमोरजःसत्त्वभेदेन पीतरक्तसितवर्णानि ज्ञानवज्रस्येति। **लग्नार्धाद्बाहुभेदो** भवति त्रिवर्णः। षण्णां द्वयोर्द्वयोर्यथासंख्यं मूलवक्त्रादिना वामदक्षिणयोः। एवं द्वादशास्यश्चतुर्विंशतिकरो भगवानेकः कालचक्रः। अत्र पूर्वोक्तानां देवतानामेक-मुखचतुर्मुखादीनां यद्विषमसमालिङ्गनम्, तत्**सन्ध्याङ्गे पूर्वपृष्ठे** पूर्वसन्ध्याया अपरसन्ध्याया मेलापकः, त्रिमुखषड्भुजानां यत्परस्परमालिङ्गनं तन्**मध्यमाङ्गे** मध्याह्नसन्ध्याया [3]अर्धरात्रसन्ध्यायाः। एवं **कायचित्ते** इति पञ्चम्यर्थे सप्तमी कायभावभेदादिति। एवं पूर्वापरसन्ध्या योगिनीतन्त्रालिङ्गनं विषमसमापत्तित एकमुखचतुर्मुखयोरेकमुखाद्यष्ट-मुखाद्योर्वेति योगतन्त्रे सममुखभुजयोरालिङ्गनं तुल्यदिवानिशाकाले इति नियमः कालविशेषेण। एवम्—

---

१. भो. 'प्रहर' नास्ति। २. व. तमोऽन्तरजः। ३. च. 'अर्धरात्रसन्ध्यायाः' नास्ति।

शुभाशुभज्ञः कालज्ञः समयज्ञः समयी विभुः ।
सत्त्वेन्द्रियज्ञो वेलज्ञो विमुक्तित्रयकोविदः ॥
(ना० सं० ८.१३)

इति **नामसङ्गीत्यां** भगवतो नियमः ।

5 इदानीं क्रियातन्त्राण्युच्यन्ते—[180a] प्रज्ञेत्यादि । इह **प्रज्ञासङ्गो** योगिनीतन्त्रे, **समापत्तिरपि** योगतन्त्रे, पूर्वापरसन्ध्यायोगो मध्याह्नार्धरात्रसंयोग इति सिद्धस्तन्त्रद्वये, **हसिताद्यानि यामाभिसन्धाविति** । इह प्रथमप्रहराभिसन्धौ हसिततन्त्रम्, तृतीयप्रहराभिसन्धौ ईक्षणतन्त्रम्, पञ्चमप्रहरसन्धौ स्तनस्पर्शतन्त्रम्, सप्तमप्रहरसन्धौ पाणिग्रहणतन्त्रम्, एवं चतुर्धा तन्त्रम् । तत्कस्य हेतोः ? इह वायुकृत्स्नानां प्रज्ञाहसितमात्रेण
10 स्पन्दसुखं भवति । तेजःकृत्स्नानामीक्षणेन सुखं भवति । उदककृत्स्नानां स्तनस्पर्शन [सुखं भवति ।] पृथ्वीकृत्स्नानां पाणिग्रहणेन सुखं भवति । [1]एवं षोडश रूपावचराः । अकनिष्ठादिना ब्रह्मकायिकपर्यन्तमेषां विस्तारो वक्ष्यमाणे परमाक्षरज्ञानसिद्धौ वक्तव्य इति । कामावचराणां समापत्तिर्द्वन्द्वयोग इति सिद्धान्तः । सर्वत्रारूपे वीतरागाणां स्थितिः ॥ ४४ ॥

15 इदानीं कायभावप्रवेश उच्यते—

प्रज्ञाङ्गे रक्तपीते प्रविशति नियतः कालचक्रस्य भावः
प्रज्ञाभावः सिताङ्गे कषणघननिभे वज्रिणो वामपूर्वम् ।
प्रज्ञाभावेन भिन्नं भवति वरतनौ वामपूर्वाङ्गसौम्यं
रौद्रं सव्यापराङ्गं परमजिनपतेर्भावभिन्नं तथैव ॥४५॥

20 प्रज्ञाङ्ग इत्यादि । इह **प्रज्ञाङ्गे रक्ते** तेजोधातौ **पीते** पृथ्वीधातौ **प्रविशति नियतः कालचक्रस्य भावः** प्रज्ञोपायो ग्राह्यः, यतः समापत्तौ या प्रज्ञा सा उपायभावग्राहिका, यश्चोपायः स प्रज्ञाभावग्राहकः । तेन भावग्रहणेन सुखोत्पत्तिः, तेन कालचक्रस्य श्वेतं तोयधातु रक्ताङ्गेऽन्यङ्गे प्रविशति समरसो भवति । एवं कृष्णः पीताङ्गे पृथिव्यां समरसो वायुर्भवति । एवं दक्षिणे पश्चिमे देवतानामिति । एवं **प्रज्ञाभावः सिताङ्गे** तोय-
25 धातौ रक्तभावः प्रविशति । **वज्रिणो वामाङ्गे** देवतानां कृष्णवर्णवायुधातौ पृथ्वीभावः पीतः पूर्वे विशति । एवमूर्ध्वाधो हरितनीलयोः परस्परं संयोगः । एवं **प्रज्ञाभावेन भिन्नं भवति वरतनौ** सर्वसत्त्वानां **वामपूर्वं** च **सौम्यम्, रौद्रं सव्यापराङ्गं परमजिनपतेर्भावभिन्नं तथैवेति**, ऊर्ध्वं सौम्यमधो रौद्रं सिद्धम् ॥ ४५ ॥

प्रज्ञाभिन्नं जिनस्य प्रवरगणकुलं द्विस्वभावत्वमेति
30 प्रज्ञाया भर्तृभिन्नं विदिशि च नियतं योगिनीवृन्दमेव ।

---

१. च. एषां ।

युग्मं सव्यावसव्यं रविशशिवपुषाप्येव पूर्वापरं च
कृष्णं पीतं च नीलं हरितमपि तथाकाशपातालसंस्थम् ॥४६॥

एवं [1]**प्रज्ञाभिन्नं जिनस्य प्रवरगणकुलं** [2]शुक्रधातुभूतं तोयवाय्वाकाशलक्षणं कायभेदेन यत्तदेव भावभेदेन रजोधातुनिर्भिन्नं पृथ्वीतेजोज्ञानस्वभावं भवतीति द्विस्वभावं प्रवरगणकुलमिति देवतावृन्दं रक्तं शुक्लं च भवति, [3]वामदक्षिणं पीतं कृष्णं च भवति, पूर्वापरमूर्ध्वाधो नीलं श्यामं च भवति। एवं **प्रज्ञाया गणकुलं भर्तृभाव**[4]**भिन्नं विदिशि च नियतं द्विस्वभावत्वमेति** । नैर्ऋत्येशाने श्वेतं रक्तं च भवति, वायव्ये अग्नौ कृष्णं पीतं च भवति द्विस्वभावमिति नियमः। एवमुपायवृन्दं दिशिगतं विदिशिगतं **योगिनीवृन्दं** प्रज्ञावृन्दं लोचनादिकं तारादिकं चेति । एवं **युग्मं सव्यावसव्यं रविशशिवपुषाप्येव पूर्वापरं च कृष्णं पीतं च नीलं हरितमपि तथाऽऽकाशपातालसंस्थं** देवतागणमिति नियमः ॥ ४६ ॥

प्रज्ञा रक्ताः सितानां शशधरधवला लोहितानां तथैव
पीतानां कृष्णवर्णा वरकनकनिभाश्चासितानां कुलानाम् ।
नीलानां विश्ववर्णाः पुनरपि हरितानां च नीलास्तथोक्ता
एवं वै देवतीनां स्वकुलदिशिगता देवता वेदितव्याः ॥४७॥

अतः परकुलालिङ्गनतः **प्रज्ञा रक्ताः सितानामुपायानां** भवति(न्ति), **शशधरधव**(180b)**लाः** प्रज्ञा **लोहितानामुपायानाम्** । **तथैव पीतानामुपायानां कृष्णवर्णाः** प्रज्ञा **वरकनकनिभाः** पीताः प्रज्ञा**श्चासितानामिति** कृष्णानामुपायानां **कुलानां नीलानां विश्ववर्णा** इति हरिताः प्रज्ञाः। पुनरपि **हरितानामुपायानां नीलाः** प्रज्ञास्**तथोक्ता** इति न्यायः। परकुलालिङ्गनतः क्रियानिष्पत्तिः स्वकुलालिङ्गनेन क्रियासिद्धिर्नास्ति, स्वात्मनि क्रियाविरोधात् । न हि भगजातीयानां धातूनां भगचिन्तया सुखोत्पादः, एवं पुरुषलिङ्गजातीनां वा लिङ्गचिन्तया सुखोत्पादः । अतः **कालचक्रे** स्वाभाः प्रज्ञा न भवन्ति, स्वात्मनि क्रियाविरोधादिति। अथादर्शप्रतिबिम्बधर्मेण स्वाभग्रहणं चित्तस्य तदेव [5]विचार्यते । इहादर्शे पुरुषप्रतिबिम्बं न स्तनकेशवतीसदृशम्, नापि स्त्रीबिम्बं स्तनयोनिरहितम्, तेन [6]स्वाभता नास्ति । तथा अपरोऽपि विरोधः । इह यद्बिम्बस्य वामभुजेषु चिह्नानि तान्यादर्शप्रतिबिम्बस्य दक्षिणभुजेषु गतानि । एवं यद् वाममुखं तद्दक्षिणम्,

---

१. ग. च. प्रज्ञाभावभिन्नं । २. ग. 'शुक्रं' इत्यधिकम् । ३. ग. वामं, भो. Byaṅ (उत्तर) । ४. ग. इतः परं 'ग' मातृका नोपलभ्यते, कानिचन त्रुटितपत्राणि सन्ति तत्र । ५. च. विचार्यते । अत्रेदमवधातव्यं यदितः परं टिप्पण्यां यत्र च. पाठः स्यात्तत्र मूले भोटानुसारी पाठोऽवगन्तव्यः । ६. भो. Re Sig (केचित्) इत्यधिकम् ।

तद्वर्णतापि स्वाभेति न भवति, तेन मण्डलचक्रभावना परकुलालिङ्गनेन [1]कालचक्रन्यायतः। अपरतन्त्रान्तरे [2]पुनः—

येन येन हि भावेन मनः संयुज्यते नृणाम्।
तेन तन्मयतां याति विश्वरूपो मणिर्यथा॥
(यो० सं० ११.२)

तेनास्तव्यस्तकरं(रा) वाचो न विचार[3]क्षमा इति। परमार्थतः पुनः शून्यताबिम्बभावनायां रूपबिम्बकल्पना नास्ति, तेन स्वाभास्वाभ इति नास्ति। सर्वाकारतः सर्ववर्णतो ज्ञानज्ञेययोः परमाणुद्रव्यविकल्परहितयोः स्वभावो नास्ति। अतो निःस्वभावभवभावना घटपटशकटसेनादिकानां कार्या, न प्रादेशिकी सकललोकव्यवहाररहितेति सिद्धान्तो माध्यमिको मन्त्रनये तत्त्वपटले न्यायत इति ॥ ४७ ॥

प्रज्ञातन्त्रं हि पूर्वात् पुनरपरमुखादेव योगानुविद्धं
सव्यास्याद् योगतन्त्रं गदति जिनपतिर्वामवक्त्रात् क्रियाद्यम्।
योगाचारं हि पूर्वात् पुनरपरमुखान्मध्यगं वै समस्तं
सूत्रान्तं सव्यवक्त्राद् गदति सितमुखाच्छुद्धवैभाषिकं च ॥४८॥

ऋग्वेदं पश्चिमास्यादपि गदति यजुर्वामवक्त्राज्जिनेन्द्रः
सव्यास्यात् सामवेदं परमहरिकुलेऽथर्वणं पूर्ववक्त्रात्।
पूर्वास्यात् कौलतन्त्रं पुनरपरमुखाद् गारुडं भूततन्त्रं
सिद्धान्तं वामवक्त्रादुदयरविनिभाद् विष्णुधर्मं च सव्यात् ॥४९॥

पृष्ठात् सद्यो निवृत्तिः परमसितमुखाद् वामदेवः प्रतिष्ठा
सव्याद् विद्या त्वघोरः पुनरनिलमुखान्मारुतब्रह्मशान्त्यौ (न्ती?)।
शून्यास्यात् शून्य-ईशो त्रिभुवनपतिना स्फारिता लौकिकार्थं
कृत् त्रेता द्वापरं वै कलियुगमपरं पृष्ठवक्त्रादिभेदात् ॥५०॥

एवं वीरक्रमाद्यं रविगमनवशादेव सन्ध्याचतुष्कमाहारं सव्यवक्त्रात् परममपि भयं स्फारितं पृष्ठवक्त्रात्।
पूर्वास्यान्मैथुनं वै परमसितमुखात् स्वप्ननिद्रे च राजन्
पृष्ठाद् वैश्यो द्विजः स्यान्नृपतिरपि तथा शूद्रजातिः क्रमेण ॥५१॥

---

१. च. कालचक्रे। २. भो. 'पुनः' नास्ति। ३. च. क्रम।

पूर्वात् सर्वास्तिवादं गदति जिनपतिः साम्मितीयं च सव्यात्
पृष्ठास्यात् स्थावरीयं पुनरपि च महासांघिकं वामवक्त्रात् ।
मानुष्यं पूर्ववक्त्रात् पुनरपरमुखात् स्फारितास्तिर्यगा वै
सव्यास्याद् भूतदेवाः परमसितमुखान्नारकाश्चासुराश्च ॥५२॥

हृच्चक्रात् पूर्ववक्त्रात् स्फरणमपि भवेन्नाभिचक्रात् परास्यात्   5
संभोगात् सव्यवक्त्राद् भवति च सहजाद् वामवक्त्रात् समन्तात् ।
चक्राणां वक्त्रमध्यात् स्फरणनिधनता याति भावः शरीरे
त्रैलोक्यं चापि कृत्स्नं खलु जिनजनकस्यास्यभेदैश्च सम्यक् ॥५३॥

श्रीचन्द्राच्चन्द्रकान्ते स्रवति हि सलिलं निर्विकल्पस्वभावात्
तद्वत् सर्वज्ञधर्मः स्रवति जिनपतेः स्कन्धमाश्रित्य लोके ।   10
धर्मस्तोयं यथैव व्रजति समरसं बीजधात्वाश्रयेण
सत्त्वानां चित्तशुद्धया भवति बहुविधं पूर्वकर्मप्रभावात् ॥५४॥

चिन्ता सर्वार्थकर्तुस्त्रिभुवननिलये नास्ति चिन्तामणेश्च
चित्तस्थं तन्न पश्यन्त्यशुभफलवशात् कर्मणः पापसत्त्वाः ।
दोषश्चिन्तामणेर्न ह्यशुभशुभफलं सर्वसत्त्वः प्रभुङ्क्ते   15
शुद्धे सत्त्वे जिनेन्द्रः स च भवति नरः किं जिनेनापरेण ॥५५॥

जातो येनाङ्कुरोऽसौ व्रजति स जनको जातभावाद् विनाशं
जातो नष्टस्य तस्य प्रभवति जनको बीजराजस्य भूयः ।
यः पूर्वः सोऽन्यभावान्मृत इति वचनं न स्वरूपेण जातः
शून्याद् येनागतः क्ष्मां व्रजति दशबलस्तेन सौख्यक्षणेन ॥५६॥   20

सौख्यात् सौख्यानुरक्तः क्षण इह सहजो नान्यभावानुरक्तः
स्कन्धा ये तेन जाताः पुनरपि जनकास्तेऽस्य सौख्यक्षणस्य ।
शुद्धाद्धर्मस्ततोऽन्यः पुनरपि च ततोऽन्यश्च तस्माद्विशुद्धो
बीजान्मूलानि शाखाः कुसुमफलमिवारोपिताच्छुद्धभूम्याम् ॥५७॥

भूवार्यग्निश्च वायू रसपरमरसौ चाणवः षट् प्रकारा   25
गन्धाद्येकैकहीना विषयविरहिताश्चान्तिमा ज्ञानदृश्याः ।

कामा रूपास्त्वरूपा यमयमशशिनश्चान्तिमो धर्मधातुः
सर्वाकाराः सदा तेऽच्युतसुखसहजाधारभूताः समन्तात् ॥५८॥

अन्योन्यं स्कन्धभूता विषयविषयिणोऽन्योन्यमारास्त्वविद्याः
पञ्चान्योन्यानुरक्ता रसगतिषु गता दुःखसौख्यक्षणस्य ।
5 सर्वाकाराः समन्तान्न परगुणरताः संस्थिताऽभेदवज्रा
अन्योन्यं क्ष्मादिधातौ पुनरपि च गता मुख्यभावेऽन्यभावाः ॥५९॥

तैश्चर्धि कालचक्रः प्रकटयति महानेकनिर्माणकायै-
र्वज्रज्वालास्फुरद्भिस्त्वसुरसुरनृणां कामधातौ स्थितानाम् ।
संभोगै रूपिणां वै नभसि जिनसुताद्यर्हतां धर्मकायैः
10 शून्यांशैः शून्यकृत्स्नं त्रिभुवनसकलं वायुभिर्वायुकृत्स्नम् ॥६०॥

तेजोंऽशैर्वह्निकृत्स्नं ह्युदकमपि जगत्स्फारितैश्चोदकांशैः
पृथ्वीकृत्स्नं धरांशैः समुदितविषयैः सर्ववस्तुस्वभावम् ।
एकात्मानं समन्ताद् गगनसममिदं दर्शयेच्छुद्धभूम्या-
मेवं बुद्धस्य कायो भवति न म्रियतेऽप्येकसौख्यस्वभावात् ॥६१॥

15 पञ्चाकारात् तदेकात् सकलजिनवरैश्चाभिसम्बोधिरेषा
विंशत्याकाररूपा पुनरपि च ततोऽनेकमायास्वरूपा ।
तस्या एकक्षणा स्यात् समसुखफलदा नान्यकर्मस्वभावा
अत्रोपायोऽच्युतो यः क्षण इह सहजो धर्मधातुप्रवेशे ॥६२॥

बुद्धक्षेत्राण्यनन्तान्यपरिमितगुणा धातवश्चाम्बराद्याः
20 स्थित्युत्पत्ती विनाशस्त्रिविध इति भवः षड्गतौ सर्वसत्त्वाः ।
बुद्धाः क्रोधाः सुराद्याः सकरुणहृदया बोधिसत्त्वाः सभार्या
एतच्चक्रं जिनस्य त्रिभुवननमितस्यैकमेकस्य शम्भोः ॥६३॥

[1]अतोऽष्टचत्वारिंशद्वृत्तमारभ्य त्रयष्षष्टिमं वृत्तं यावत् षोडश वृत्तानि सुबोधानि ॥ ४८–६३ ॥

---

१. भो. ḥDir (अत्र) ।

इदानीं शरीरे दशाकारशुद्धिरुच्यते—

लोमत्वग्रक्तमांसं सरसमपि तथास्थीनि मज्जा च नाड्य-
स्तासु प्राणादिवाता रविशशिगमनं वायुमध्ये समन्तात् ।
विज्ञानं चन्द्रमध्ये विमलमणिरिवालिङ्गितं सर्वभावै-
र्भावाभावाद्वयत्वं परममृतपदं व्यापकानाहतं तत् ॥६४॥ 5

लोमेत्यादि । इह लोम केश आकाशधातुः, त्वग् मांसं वायुधातुः, रक्तं द्विधा तेजोधातुः, स्वेदं मूत्रं तोयधातुः, अस्थि मज्जा पृथ्वीधातुः, नाड्यः प्राणादयो ज्ञानधातुः । राहुपुच्छं ज्ञानवज्रम्, राहुश्चित्तवज्रम्, रविर्वाग्वज्रम्, चन्द्रः कायवज्रम् । एषां चतुर्णां प्राणमध्ये गमनं समन्तात् । विज्ञानं चन्द्रमध्ये शुक्रमध्ये, विमलमणिरिव स्फटिक इव, आलिङ्गितं सर्वभावैरुपधायोगतः । भावाभावयोरद्वयत्वं मायोपमं शून्यताविम्बमत्राक्षरसुखं परममृतपदं व्यापकानाहतं तदिति नियमः । शरीरे दशाकारशुद्धिः ॥ ६४ ॥ 10

इदानीं दशभूमिभिस्ते[1] धातवः शोध्यन्ते—

लोमाद्याश्चन्द्रमोऽन्ताः सकलतनुगता भूमयो या दशोक्ताः
षड्वर्गा लादयोऽन्याः समसुखफलदा योगिनां सर्वकालम् ।
तस्मादन्वेषणीया गुरुचरणगतैर्योगिभिर्मोक्षहेतो- 15
र्नान्यो बुद्धोऽस्ति कश्चित्त्वपि तनुविरहाद् व्यापको मोक्षदो यः ॥६५॥

लोमाद्या इति । इह लोम केशाः प्रमुदिता, चर्म मांसं विमला, रक्तं द्विधा प्रभाकरी, रससलिलमर्चिष्मती, अस्थि मज्जा सुदुर्जया, नाडी प्राणोऽभिमुखी, कालाग्नी रागधातुर्दूरङ्गमा, राहुरचला, रविः साधुमती, चन्द्रो धर्ममेघा, रागत(स्त)मोरजःसत्त्वधर्मेण संवृत्यावतारः । एवं लोमाद्याश्चन्द्रमोऽन्ताः सकलतनुगता निरावरणगताः । [181a] तेषां दशभूमयस्ता दशोक्ता या भूमयः, ताः पुनः षड्वर्गा लादयो न्यासमात्रिका उक्ताः । तत्र कवर्गः प्रमुदिता । एवं यथासंख्यं च ट प त स इति षड्वर्गाः, ल व र य ह अल् ओ अर् ए अ ऌ उ ऋ इ अ हः अमिति । एवं विलोमेनापि दीर्घादिवर्गाः प्रज्ञाभूमयः । अमी समसुखफलदा योगिनां सर्वकालम् । तस्मादन्वेषणीया गुरुचरणगतैरवधूतीचारगतैर्योगिभिर्मोक्षहेतोरिति भगवतो नियमः । नान्यो बुद्धोऽस्ति कश्चिदपि तनुविरहाद् व्यापको मोक्षदो य इति । इह शरीरधातवो निरावरणा बुद्धत्वदायका मोक्षदाश्चेति ॥ ६५ ॥ 20 25

सत्त्वा बुद्धा न बुद्धस्त्वपर इह महान् विद्यते लोकधातौ
तेषामाराधनेन त्वपरिमितभवश्छिद्यते निर्विकल्पात् ।

---

१. च. श्रैधातवः ।

द्रोहं कुर्वन् हि योगी व्रजति हि नरकं रौरवाद्यं महान्तं
तस्माच्चित्ते विशुद्धेऽप्यबुधबुधजनानां विरुद्धं न कुर्यात् ॥६६॥

लब्ध्वा सत्त्वप्रसङ्गं भवति नरपते शुद्धमैत्र्यादिचित्तं
यद्वा संसारिणां स्यादकुशलगुणिनां द्वेषरागादिचित्तम् ।
5 गच्छन्तं गन्तुकामं द्विविधमपि भवेत् सर्वदा बोधिचित्तं
मोक्षप्रस्थानहीनं प्रणिधिविरहितं सर्वदा मारचित्तम् ॥६७॥

माराः कुर्वन्त्यशान्ति त्रिभुवननिलये बोधिसत्त्वाश्च शान्ति
मारेन्द्रश्चर्द्धिहीनः परमभयकरश्चर्द्धिमानेकशास्ता ।
माराणां मारबुद्धिः परहृदयगता तायिनां सौख्यबुद्धि-
10 स्तस्माद् बुद्धानुभावैस्त्रिभुवनसकलं वर्ततेऽनन्तकालम् ॥६८॥

यन्मानं लोकधातोः कथितमपि जिनैस्तन्नृणां जानतां न
बुद्धानां नास्ति मानं सहजतनुवशादेकहस्तं ह्यनेकम् ।
मानं सत्त्वानुरूपं प्रकटयति सदा प्राणिनां कर्मभूमा-
विच्छामानं त्विदं मे यदि वदति सुरा नास्तिकोऽयं वदन्ति ॥६९॥

15 येनोत्पन्ना जिनेन्द्राः प्रतिदिवसवशान्निर्गता येन गर्भात्
सिद्धा येन क्षणेन क्षरणविरहिता स्पन्दनिःस्पन्दभूताः ।
त्यक्त्वा तद् बुद्धकृत्यं समसुखरहितं भावयेद् योऽन्यशून्यं
बुद्धत्वं तस्य दूरं सहजमपि सुखं कोटिकल्पैरनेकैः ॥७०॥

न द्राक्षा निम्बवृक्षादमृतमपि विषात् पङ्कजं ब्रह्मवृक्षात्
20 शून्यान्निर्वाणसौख्यं शुभमशुभवशात् सिद्धयः प्राणिघातात् ।
यज्ञात् स्वर्गः पशूनां परमशिवपदं नेन्द्रियाणां निरोधाद्
वेदात् सर्वज्ञभाषाऽक्षरसुखमचलं न क्षराशुद्धचित्तात् ॥७१॥

सत्त्वानां पापचित्तं भवति नरपतेऽधिष्ठितं मारकायैः
पुण्यज्ञानानुरक्तं सुखदमपि सदाधिष्ठितं बोधिसत्त्वैः ।
25 निर्वाणं यान्ति यस्मात् सुखसमयवशात् क्लेशमारान्निहत्य
तस्मात् कुर्वन्ति माराः प्रतिदिनसमयेऽनेकविघ्नानि तेषाम् ॥७२॥

सेव्याऽऽदौ कर्ममुद्रा जिनसहजसुखस्यास्य वृद्धयर्थहेतो-
स्तस्मादादित्यरूपा तनुमुखचरणोष्णीषसर्वाङ्गपूर्णा ।
विद्युद्दण्डानुरूपाऽच्युतसुखजननी लक्षणाङ्गप्रपूर्णा
वज्रैरुद्भासयन्ती त्रिभवगततनुर्धर्मधातुस्ततः स्यात् ॥७३॥

एता मुद्राश्चतस्रोऽक्षरसुखफलदा योगिना भावनीयाः
सर्वस्मिन् सर्वकालं सुरतरतिगतैर्लोकमार्गप्रयुक्तैः ।
ग्रामारण्यश्मशानेऽशुचिशुचिनिलये वेश्मदेवालये च
वर्णावर्णाभिचारैस्तनुबलसुखदैरन्नपानादिभोगैः ॥७४॥

अतः पञ्चषष्टिवृत्तादपराणि नव वृत्तानि सुबोधानि चतुःसप्तति-पर्यन्तमिति ॥ ६६-७४ ॥

इदानीं शून्यताबिम्बे दृष्टे सति प्राणनिरोधेन योगिनां क्षणलाभ उच्यते—

वातैः संघट्टमानैस्तडिदनलशिखा द्रावयेद् मूर्ध्नि चन्द्रं
यो यो बिन्दुर्द्रुतोऽस्माद् गलहृदयगतो नाभिगुह्ये निरुद्धः ।
बिन्दोः स्पन्दद्रवं यत् कुलिशमणिगतं सन्निरुद्धं ध्वजाग्रे
प्रज्ञाज्ञानक्षणं तद् यदि ददति सुखं बिन्दुमालाच्युतेन ॥७५॥

वातैरित्यादि । प्राणायामेन दशवातानां संघट्टनं भवति । प्राग्बिम्बे दृष्टे सति तैः प्राणापानादिभिर्दशभिः **संघट्टमानै**र्नाभिकर्णिकायां चण्डाली **तडिदनल**स्तस्य **शिखा** रश्मिः, सा शिखा **मूर्ध्नि** ललाटे **द्रावयेच्चन्द्र**मिति बोधिचित्तं जन्मस्थानीयम् । **यो यो** बोधिचित्त**बिन्दुर्द्रुतोऽस्माद्** ललाटाद् **गले हृदये नाभौ गुह्ये गतो निरुद्धो** भवति, प्राणापानबलेन कायबिन्दुर्गुह्ये निरुद्धः, एवं वाक्चित्तज्ञानबिन्दुर्नाभौ हृदये कण्ठे निरुद्धः, अस्माद् **बिन्दोः स्पन्दद्रवं यद्**इति । इह गुह्यगतस्य कायबिन्दोर्ह्यवरुद्धस्य यदपरं स्वच्छद्रवं स्पन्दद्रवं तदुच्यते । तत्र **कुलिशमणिगतं सन्निरुद्धं ध्वजाग्रे** लिङ्गमुखे । **प्रज्ञाज्ञानक्षणं** स्पन्दं **तद् यदि ददति** सुखं **बिन्दुमालाच्युतेन** हेतुना, तदा न कर्ममुद्राज्ञानम् । प्रज्ञाज्ञानमिति सिद्धम् ॥ ७५ ॥

तस्मान्निःस्पन्दसौख्यक्षणमिह सहजं धर्मधातुर्ददाति
प्राणेनाकृष्य सर्वान् रसगतिषु गतान् क्लेशमारान्निहत्य ।
ऋद्धिं सर्वज्ञभूमिं त्रिभुवनगुरुतां योगिनां जन्मनीह
मृत्युं मार्गप्रविष्टो व्रजति यदि तदा तद्ग्रहादन्यजात्या ॥७६॥

तस्मादच्युताद्धेतोर्यन्निष्पन्दसौख्यक्षणमिह धर्मधातुः प्रज्ञापारमिता **ददाति।** तेन महामुद्रासुखं परमाक्षरं कर्मज्ञानमुद्रासुखं स्पन्दमुपायसुखं क्षरं [1]स्पन्दं बालं [2]प्रौढं चेति। यथा रसो बालो युवा वृद्धो बद्धश्चेति, एवं शुक्रमपि बालं प्रौढं वृद्धं निरुद्धं सर्वावरणक्षयतः। आवरणं मल इति। तदेव बोधिचित्तमूर्ध्वं यदा याति ललाटे
5 तदा यथागतं तथागतं भवति। तच्चित्तं **प्राणेनाकृष्य सर्वान्** द्वययुतद्वयष्टशतान् **रसगतिषु गतान्** पृथिव्यादिषण्मण्डलगतान्। एवं **क्लेशमारान्निहत्य ऋद्धीः सर्वज्ञस्य** द्वादश भूमीर्वक्ष्यमाणाः, **त्रिभुवनगुरुतामिति** सर्वज्ञता-सर्वाकारज्ञता-मार्गज्ञता-मार्गाकारज्ञतादिविभूतीर्ददाति, **योगिनां जन्मनीह** वीर्यवताम्। अतः प्राप्तयोगो यदा
T 427 **मृत्युं याति मार्गप्रविष्टः** सन्, **तदा तद्ग्रहेण** वासनाबलेन पुनर्मनुष्यजात्या **अन्यथा** सर्वं
10 प्राप्नोति, सप्तजन्मपर्यन्तेनावीर्यवानपि सन् ज्ञानमभावयन्निति नियमः ॥ ७६ ॥

इदानीं बोधिसत्त्वाधिष्ठानोत्पाद उच्यते—

या नैर्गुण्याल्पभावा विषयविरहिता कायमुद्रा द्विधा सा
तस्या रागानुरक्ता गुणनिधिरपरा वाक्स्वरूपा द्विधा च।
कृष्णा श्वेताऽनुरक्ता विषयगुणरता चित्तमुद्रा द्विधा स्याद्
15 **अष्टौ द्वौ पञ्च पञ्च स्फुटमपि खयुगं शून्यवेदं च वर्षम् ॥७७॥**

या नैर्गुण्येत्यादि। इह **या** कुमारी **नैर्गुण्या** धर्मधातुगुणरहिताऽच्यवनात्, साऽल्पभावा कायधात्व[181b]पूर्णाऽपतितदन्ता एका अष्टवर्षावधिः। ततो द्वितीया पतितदन्ता दशवर्षावधिका। एवं **कायमुद्रा** अक्षतयोनिः। तदवधेरेकादशवर्षमारभ्य पञ्चदशवर्षं यावद् एका **रागानुरक्ता, गुणनिधिरपरा**ऽपरपञ्चवर्षाणि यावद् **वाङ्मुद्रा**
20 **द्विधा** स्यात्। **एवमष्टौ** वर्षाणि **द्वौ** संवत्सरौ, ततः **पञ्च पञ्च** वत्सराः। ततो विंशद्वर्षादूर्ध्वमपरं **खयुगमिति** चत्वारिंशद्वर्षाणि। एवं **चित्तमुद्रा** एका **कृष्णभावानुरक्ता।** एवं षष्टिवार्षिका स्त्री। पुनरपरा **शून्यवेदमिति** चत्वारिंशद्[3] वर्षं यावत् **श्वेतभावानुरक्ता** वृद्धा जरापलितवती वर्षशतपर्यन्तम्। एवं चित्तमुद्रापि **द्विधेति।** आसां तिसृणां मध्ये कायमुद्रातिबाला, [4]वाङ्मुद्रातिप्रौढा, चित्तमुद्रातिवृद्धा। एतास्तिस्रो वर्जयित्वा
25 एकादशवार्षिका सर्वलक्षणसंपूर्णा रक्षणीया राजगुरुणा राज्ञा वा अभिषिक्तेन, अन्यैर्वा ईश्वरैरभिषिक्तैः ॥ ७७ ॥

रत्नेशो यावद-स्याज्जिनवरजननी योगिभी रक्षणीया
रत्नेशोद्भूतकाले सकलगुणनिधिं मण्डलं वर्तयित्वा।

---

१. भो. 'स्पन्दं' नास्ति। २. भो. Laṅ Tshoḥo (युवा)। ३. च. षदन्तानि।
४. भो. 'वाङ्मुद्रा' नास्ति।

बुद्धाधिष्ठानमन्त्रैः सृजति समसुखं गुह्यपद्मे समन्त्रं
गुह्ये रक्षां प्रकृत्य कुलिशमणिगतं स्वादयेद् बोधिचित्तम् ॥७८॥

रत्नेशो यावद-स्यात् । अ-स्यादिति न भवति रजो यावद् **रक्षणीया** । **रत्नेशो-**द्भूतकाले **सकलगुणनिधिं मण्डलं वर्तयित्वा** कालचक्रम्, पूर्वं सुशिक्षितां कृत्वा तत्र तामभिषिच्य **बुद्धाधिष्ठानमन्त्रैः** षड्वज्रैर्मञ्जुश्रीसमाधिना तामपि प्रज्ञां निष्पाद्य **सृजति समसुखं** दक्षिणनाडीप्रवाहकाले बोधिचित्तम्, तस्या **गुह्यपद्मे समन्त्रं** कायवाक्चित्तज्ञानमन्त्रसहितं [1]स्फारयेत् । ततस्तस्या **गुह्ये रक्षां प्रकृत्य** षडङ्गैस्ततः स्व**कुलिशमणिगतं बोधिचित्तमास्वादयेत्** । तं योगी तस्या अपि ददाति । तस्याः पद्मग्राह्यं यत्तदनामिकाङ्गुष्ठाभ्यां गृहीत्वा आस्वादयेत् सर्वरक्षार्थमिति, अनेन विधिना ॥ ७८ ॥

तस्मिन् पुत्रो भवेद् यो जिनजनकसुतो मञ्जुवज्रः स एव
प्रज्ञाधिक्यात् कदाचित् प्रभवति दुहिता बुद्धमाता ध्रुवं स्यात् ।
तस्मादन्यैस्त्रिपुष्पैः सितकमलधरो जम्भलो वज्रपाणि-
रन्येऽष्टावष्टपुष्पैर्दिशिविदिशिगता महर्द्धिकाः क्रोधराजाः ॥७९॥

तस्मिन्नाधाने यः पुत्रो भवति मञ्जुवज्रः, स एव प्रज्ञाधिक्यादिति रज आधिक्याद् यदि **दुहिता भवति**, तदा विश्वमाताधिष्ठानं भवति । तेन **बुद्धमाता ध्रुवं** सेति मञ्जुश्रीविश्वमाताऽधिष्ठानविधिः । **तस्मादन्यैस्त्रिपुष्पैरिति** । इह यदि प्रथमरजसि गर्भो न जातः, तदा पुनः पुनः प्रत्येकरजोदर्शनेन मण्डलं वर्तयित्वाऽपरसमाधिभि-र्बोधिचित्तमुत्सृजेदिति । एवं द्वितीये **सितकमलधर** इति लोकेश्वरनिर्माणं भवति । तृतीये **जम्भल**निर्माणम्, चतुर्थे [2]वज्रपाणिः पुत्रविषये । दुहिताविषये पाण्डरावसुधारा-शब्दवज्राधिष्ठानं भवति । ततो**ऽन्ये[3]ऽष्टावष्टपुष्पैर्दिशिविदिशिगता महर्द्धिकाः क्रोधराजा** इति ।

इह पूर्वंजम्भलाधिष्ठाने उष्णीषसमाधिनोष्णीषाधिष्ठानं भवति । अतिनीलाया वाग्वज्रपाणिस्थाने शुम्भराजो वा रौद्राक्षी वा भवति । ततः पञ्चमे रजसि विघ्नान्त-कोऽनन्तवीर्या, षष्ठे प्रज्ञान्तको जम्भी, सप्तमे पद्मान्तको मानिनी, अष्टमे यमान्तकः स्तम्भीति । ततो नवमे महाबलो मारे(री)ची, दशमेऽचलश्चुन्दा, एकादशे टक्किर्भृकुटी, द्वादशे नीलदण्डो वज्रशृङ्खलेति विदिक्षु । एवं क्रोधसमाधिना क्रोधाधिष्ठानं भवति गर्भस्ये[182a]ति । ततस्त्रयोदशमो [4]रजः पुनः प्रथमो यथा अविद्या-द्यङ्गम् ॥ ७९ ॥

---

१. च. 'स्फारयेत्' नास्ति । २. च. वज्रयोगः । ३. भो. 'अष्टौ' नास्ति ।
४. च. सत्त्वः ।

तस्मिन् मासे रजो यत् प्रभवति हि पुनर्मञ्जुघोषोद्भवं तद्
विंशद्वर्षाणि यावत् प्रतिरजसि महासात्त्विको बोधिसत्त्वः ।
किञ्चित् सत्त्वांशहीनः प्रभवति च ततः शून्यवेदानि यावद्
विंशद्वर्षाणि यावत् पुनरपि च ततश्चान्यसत्त्वोऽल्पवीर्यः ॥८०॥

5 तेन तस्मिन् मासे रजो यत् प्रभवति हि पुनर्मञ्जुघोषोद्भवं तद्रजः । एवं तदुपरि यं समाधिमालम्बयित्वा योगी बोधिचित्तं विसर्जयेत्, तदधिष्ठानं गर्भस्य भवति विंशद्वर्षाणि यावत् प्रतिरजसि यदा बोधिसत्त्वो भवति, एको वा द्वौ वा इत्यादि, मातुर्महासात्त्विको भवति । किञ्चित् सत्त्वांशहीनो भवति चत्वारिंशद्वर्षाणि यावन्मातुर्विंशतिवर्षाणि यावत् । पुनरपि च ततश्चान्यसत्त्वोऽल्पवीर्यः । एवमशीतिवर्षाणि
10 मातुः सत्त्वरजस्तमोभेदेन गर्भस्याधिष्ठानम् ॥ ८० ॥

तस्माद् योनौ रजो न प्रतिहतविषयस्तद्विनाशान्न सेकः
किन्तु प्रज्ञाभिषेको जिनपतिवचनैर्नष्टबीजस्य देयः ।
तासां भूतोयतेजोऽनिलगगनगुणान्वेषणीया जिनाङ्गै-
रेषा सत्त्वार्थकर्त्री भवति बहुफला बोधिचित्तस्य सेवा ॥८१॥

15 तस्माद्योनौ रजो न प्रतिहतगर्भविषयः, तद्विनाशान्न सेकः प्रज्ञाया उपायस्य च बीजाभावे बीजमिति प्ररोहात् यत्किन्तु ऽज्ञाभिषेको जिनपतिवचनैर्नष्टबीजस्य वृद्धस्य देयो यथा भिक्षोः, तथा प्रज्ञायामपि यथा भिक्षुण्याः । एवं विंशद्वार्षिकाः शोभनाः सेकार्थमधिष्ठानार्थं भूधातुर्विंशतिर्विंशतिवर्षैस्तथैव तोयतेजोऽनिलगगनगुणा वर्षशतं यावज्जिनाङ्गैरन्वेषणीया इति । एषा सत्त्वार्थकर्त्री भवति बहुफला बोधिचित्तस्य सेवा
20 बोधिसत्त्वोत्पादनत इति ॥ ८१ ॥

इदानीममृतपानमुच्यते—

याऽसृक्पानं करोति प्रवरसुरनृणां मक्षिका साऽमृतैका
छर्दिर्गुह्यादिवक्त्रात् कुलिशमणिगतं नाब्जमध्ये प्रविष्टम् ।
विण्मूत्रं रक्तमांसं परमसमरसं छर्दिमध्ये प्रविष्ट-
25 मेतज्ज्ञानामृतं च त्रिभुवनपतिना देशितं सर्वतन्त्रे ॥८२॥

याऽसृक्पानमित्यादि । इह बाह्ये नेयार्थेन याऽसृक्पानं करोति मक्षिका, सा नीतार्थेनावधूती । या च्यवनकाले रजोधातुं पिबति प्रवरसुरनृणां सा मक्षिकाऽमृता, एकाऽवधूती, रुद्धेत्यर्थः । या बाह्ये भुक्तच्छर्दिः सा नीतार्थेन छर्दिर्बोधिचित्तम्, गुह्यादिवक्त्रात् कुलिशमणिगतं न बाह्ये प्रज्ञाब्जमध्ये प्रविष्टम् । एवमच्युतं विण्मूत्रं

रक्तमांसं परमसमरसम् अस्रावं छर्दिमध्ये **प्रविष्टं निरुद्धं** निरावरणं **भवति। एत-ज्ज्ञानामृतं** स्यादच्युतं पञ्चामृतं **त्रिभुवन**[1]**पतिना देशितं सर्वतन्त्रे, न बाह्ये** विष्ठादिकं सिद्धये देशितमित्यमृतनियमः ॥ ८२ ॥

इदानीं बाह्ये समयरक्षणभक्षणमुच्यते—

प्रज्ञाधर्मोदये यत् पतितमपि सुखं रक्षणीयं प्रयत्नाद्   5
यः कश्चित्तेन सत्त्वो भवति जिनकुले बोधिसत्त्वः स एव ।
तस्मात् तं भक्षयन्ति प्रतिदिनसमये राक्षसा मारभूताः
प्रज्ञापुष्पेण युक्तं शिवसुखफलदं भक्षितं देशयन्ति ॥८३॥

प्रज्ञेत्यादि। इह समापत्तौ भावनां कुर्वतो योगिनोऽयन्त्रितं बोधिचित्तं [2]यदि प्रज्ञाधर्मोदये पतति, तदा **प्रज्ञाधर्मोदये पतितमपि सुखं रक्षणीयं प्रयत्नात्**। तत्कस्य   10
हेतोः? **यः कश्चित्तेन** बोधिचित्तेन समाधिनोत्सृष्टेन **भवति, स जिनकुले बोधिसत्त्व एव** सुगतवंशप्रवर्धनो यस्मात् **तस्मात् तं** बोधिचित्तं सौगतानां रक्षारहितमसमाहितानां **प्रतिदिनसमये भक्षयन्ति** [3]**मारभूता राक्षसाः** शुक्राहारिणः, योगिव्यपदेशेन नरा अपि **प्रज्ञापुष्पेण युक्तं शिवसुखफलदं भक्षितं देशयन्ति**। अन्येषां बालजनानां नरक-   T 428
गमनायेति ॥ ८३ ॥   15

नाकट्यं वज्रमब्जात् परमसुखगतं संकुचं नैव यावद्
बुद्धाधिष्ठानमेवं प्रभवति हि यदा कामसिद्धिस्तदा वै ।
वज्राब्जाभ्यां प्रविश्य स्वकुलिशहृदये ज्ञानचक्रं प्रविष्टं
चक्राकारं करोति ह्युभयतनुमिमां रश्मिभिः पूरयित्वा ॥८४॥

ततो बौद्धमन्त्रिणा **नाकट्यं वज्रमब्जाद् यावन्न संकोचो भवति, बुद्धाधिष्ठानमेवं**   20
प्रभवति हि यदा कामसिद्धिस्तदा वै वज्रमार्गेण उपायहृदये प्रविश्य पद्ममार्गेण प्रज्ञाहृदये **प्रविश्य** [4]**स्वकुलिशहृदये** देवताचक्रं **प्रविष्टं चक्राकारं करोत्युभयतनुमिमां रश्मिभिः पूरयित्वेति** ॥८४॥

एषा सिद्धिर्यदि स्यान्नहि कुलिशमणौ संस्थितं भक्षणीयं
प्रज्ञाधर्मोदयस्थे सकलजिनकुलं स्थापयेद् रक्षणार्थम् ।   25

---

१. भो. bLa Ma Yis (गुरुणा) । २. च. 'यदि प्रज्ञाधर्मोदये पतति तदा' नास्ति, गृहीतस्तु भोटानुसारी । ३. भो. bDud Kyi Pho Ña (मारदूताः) । ४. भो. Raṅ Raṅ (स्वस्व) ।

प्रज्ञायुक्ते त्वर्थैके पुनरपि वचनं प्रोच्यते बुद्धकायो
यः कश्चिच्चास्य नाशं ह्यभिलषति शठो मार्यते वज्रिणा सः ॥८५॥

एषा सिद्धिर्नहि स्याद्यदि, तदा कुलिशमणौ संस्थितं बोधिचित्तमनामाङ्गुष्ठाभ्यां गृहीत्वा भक्षणीयम् । एवं प्रज्ञायाः[182b] पद्मबाह्ये आगतं तदेव द्वाभ्यामपि भक्षणीयम् । प्रज्ञाधर्मोदयस्थे पुनः सकलजिनकुलं स्थापयेद्रक्षणार्थं षड्वज्राणि ललाटादिषु हृदयादिषु षडङ्गमिति । प्रज्ञायुक्त इति रजोयुक्ते, अर्थैके बोधिचित्ते रक्षिते महत्पुण्यं भवति । पुनरपि वचनं प्रोच्यते बुद्धकाय इदं बोधिचित्तम् । यः कश्चिद् मारकायिकोऽस्य नाशमभिलषति शठो मार्यते वज्रिणा स हेरुकेणेति बोधिचित्तस्य समयरक्षणभक्षणनियमः ॥८५॥

ये प्रोक्ताऽनेकमन्त्रास्त्रिभुवनपतिना क्रूरकर्मस्वभावा-
स्ते सर्वे मारपक्षक्षयभयजनकाः प्राणिनां नो कदाचित् ।
कर्तारो ये स्मृतीनां रणविषयरता मारकान्येऽपि तीर्थ्या-
स्तेषां ते योजनीयाः परमजिनसुतैः प्राणिनां रक्षणार्थम् ॥८६॥

इह मन्त्रनये ये प्रोक्ता अनेकमन्त्रास्त्रिभुवनपतिना क्रूरकर्मस्वभावाः, ते सर्वे मारपक्षक्षयभयजनकाः प्राणिनां नो कदाचित् । अत्र माराः कर्तारो ये स्मृतीनां रणविषयरता मारका अन्येऽपि तीर्थिकाः, तेषां ते योजनीयाः परमजिनसुतैः प्राणिनां रक्षणार्थम् । तेषां पक्ष इति वेदधर्मादिकः, तस्य धर्मस्य क्षयभयहेतोः, न तेषां प्राणहानये ॥८६॥

डाकिन्यो वज्रपूर्वाः पशुजननिधनेऽध्येषणीया न विद्भिः
सत्त्वानां रक्षणार्थं त्रिभुवनपतिना स्फारिता लोकधातौ ।
तस्मात् ता रक्षयन्ति प्रतिदिनसमये साधकं द्वेषयन्ति
साध्यः कर्मप्रभावाद् व्रजति हि मरणं साधकस्यैष मारः ॥८७॥

इह योगिनीतन्त्रे या वज्रडाकिन्यस्ताः पशुजनानामज्ञानिनां मारणार्थं नाध्येषणीया बौद्धैर्विद्वद्भिः । कुतः ? यतस्ताः सत्त्वानां रक्षणार्थं त्रिभुवन[1]पतिना स्फारिता लोकधातौ । तस्मात् ता रक्षयन्ति लोकान् । परमकारुणिकाः साधकं द्वेषयन्ति लोकविसंवादकम्, अथ मारणादिकर्मणि कृते सति यदि साध्यः कर्मप्रभावाद् व्रजति हि मरणम्, तदा साधकस्यैष मारो मया हत इत्यहङ्कारतः साधको नरकं याति क्षुद्रकर्मणेति निर्ममो निरहङ्कारः क्षुद्रकर्म न करोति, यथा आत्मानं तथा पश्यति सत्त्वान् ॥८७॥

---

१. भो. bLa Mas (गुरुणा) ।

पुंसां चित्तं समन्तादशुभफलवशात् क्षुद्रविद्यानुरक्तं
विद्येयं मे करोति त्रिभुवनसकलं वश्यमेकक्षणेन ।
इत्याशालुब्धचित्तः प्रविशति नरकं ज्ञानदानं विहाय
पृष्ठे द्रव्यं स्वभार्या भवति परवशाऽहो कुधर्मप्रवृत्तिः ॥८८॥

इह संसारिणां पुंसां **चित्तं समन्तादशुभफलवशात् क्षुद्रविद्यानुरक्तम् । विद्येयं मे करोति त्रिभुवनसकलं वश्यमेकक्षणेनेत्याशालुब्धचित्तः प्रविशति नरकं ज्ञानदानं विहाय** मरणमुपगतः । पृष्ठे मरणमुपगते सति परवशं **द्रव्यम्, स्वभार्या परवशा भवति** अन्यासक्ता । **अहो** संसारिणां **कुधर्मप्रवृत्तिः** ॥ ८८ ॥

[1]इति मूलतन्त्रानुसारिण्यां लघुकालचक्रतन्त्रराजटीकायां
द्वादशसाहस्रिकायां विमलप्रभायां
योगिनीतन्त्रादिस्फरणमहोद्देशः
प्रथमो ज्ञानपटले ॥

(२) चतुःकायाविशुद्धिनिर्णयमहोद्देशः

न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम् ।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं नत्वा कायं महासुखम् ॥

उद्धृतं मञ्जुवज्रेण आदिबुद्धान्निरन्वयात् ।
लक्षणं बुद्धकायानां चतुर्णां तद्वितन्यते ॥

न प्रज्ञा नाप्युपायः सहजतनुरियं धर्मकायो बभूव
प्रज्ञोपायस्वरूपः खलु विगततमो ज्ञानविज्ञानभेदात् ।
सोऽयं संभोगकायः प्रतिरवक इवानेकसत्त्वार्थकर्ता
सत्त्वानां पाकहेतोर्भवति पुनरसौ बुद्धनिर्माणकायः ॥८९॥

न [2]प्रज्ञेत्यादि । इह प्रज्ञा पञ्चदशकलात्मकः शुक्लपक्षः, कृष्णपक्षश्चन्द्रकलाहानिरुपायः । एवं शुक्लो रात्रिः कृष्णो दिवा । अतः सहजकायो **न प्रज्ञा नाप्युपायः सहजतनुरियं** बुद्धानाम् । एवं न सच्छुक्लपक्षः, नासत्कलाभावः कृष्णः, न सदसद् अनयोः परस्परविरोधतो मेलापको नास्ति । न चाप्यनुभयात्मकमिति न चाभ्यां शुक्लकृष्णपक्षाभ्यां विना तत् सहजसुखम् । एवं चतुष्कोटिपरिशुद्धा षोडशी कला शून्यता-

---

१. भो॰ 'इति' नास्ति । २. च. प्रज्ञेत्यादिना ।

धर्मिणी सहजतनुरुच्यते, निःष्यन्दलक्षणात्तुर्याक्षयतो योगिनाम्। एवं नपुंसकमिति सिद्धम्। इह सहजतनुः स्वार्थसम्पत् परार्थसम्पदे **धर्मकायो** [183a] **बभूव** सुषुप्तक्षयतः। स च **प्रज्ञोपायस्वरूपः खलु विगततमो ज्ञानविज्ञानभेदा**दिति। इह ज्ञानं ग्राहकचित्तं योगिनः, विज्ञानं परचित्तज्ञानं ग्राह्यं ज्ञेयलक्षणम्। एवं ग्राहकचित्तं प्रज्ञा कल्पनारहितत्वात्,
5 योगिनामुपायो [1]ग्राह्यचित्तं [2]परिकल्पितं करुणालक्षणम्। तेन ग्राहकग्राह्यभेदेन प्रज्ञोपायस्वरूपः परार्थकर्ता धर्मकायः। स च सहजाद् बभूवेति। एवं निष्यन्दो नाभौ सहजः, धर्मचक्रे हृदये विपाकः, सोऽयं धर्मकायः **संभोगकायः** परार्थसम्पदे **प्रतिरवक इवानेकसत्त्वार्थकर्ता**। इह दिव्यचक्षुषा यदतीतानागतं रूपं दृष्टं प्रतिबिम्बाकारं स्वच्छम्, तस्मिन् शब्दो यो निश्चरति स प्रतिशब्दः सम्भोगकायः प्रज्ञोपायस्वरूपः। दिव्यश्रोत्रेण
10 [3]दिव्यविज्ञानं ग्राहकम्, प्रतिशब्दो ग्राह्यः। तेनातीतानागतकालसंख्यां जानाति—अमुककल्पेऽमुकयुगेऽमुकवर्षेऽमुकमासेऽमुकपक्षेऽमुकदिनादिकेऽमुको भूतः, अमुको भविष्यतीति। तेन सत्त्वा वैनेया इति स्वप्नावस्थाक्षयतः कण्ठे पुरुषकारः सम्भोगकाय ऊर्ध्वरेतसः। **सत्त्वानां पाकहेतोर्भवति पुनरसौ** सम्भोगकायो **निर्माणकायो** भवति प्रज्ञोपायात्मकः। एकोऽपि सत्त्वानां नानानिर्माणदर्शनतोऽनेकः। एवमेकानेकयोर्योगो
15 विवृत्या प्रज्ञोपायः, संवृत्या एकानेकविरोधः। स च जाग्रदवस्थाक्षयतो ललाटे वैमल्यो **निर्माणकायः** "अशेषरूपसन्दर्शी रत्नकेतुर्महामणिः" (ना० सं० ९.२४) इति। एवमेकः सहजः, स एव धर्मः सम्भोगो निर्माणश्चेति चतुर्धेति ॥८९॥

> एकोऽसौ वज्रसत्त्वः प्रलयघननिभो हेरुको वै बभूव
> रौद्राणां पाचनार्थं स च समयजिनो मोहितानां सुखार्थम्।
> 20 रत्नेशो दुःखितानां स च कमलधरो रागिणां रागहेतो-
> र्विघ्नानां ध्वंसनार्थं त्वसिकरकमलोऽमोघसिद्धिर्बभूव ॥९०॥

स एव पूर्वोक्त **एकोऽसौ वज्रसत्त्वः प्रलयघननिभः** कृष्णो **हेरुको वै बभूव**। अच्युतधर्मेणान्यत् तद्विज्ञानं हेरुकः। **स च रौद्राणां पाचनार्थं** वज्रसत्त्वस्फरणमिति। स च वज्रसत्त्वो **मोहितानां** पाचनार्थं **समयजिनो** वैरोचनो बभूव, अन्यत् तद्रूपम्। स च
T 429
25 **रत्नेशो दुःखितानां** दानार्थं रत्नसम्भवो बभूव, अच्युतधर्मेणान्या सा वेदना सर्वदुःखापहन्त्रीति। **स च कमलधरो रागिणां रागहेतो**रमिताभो बभूव, अच्युतधर्मेणान्या सा संज्ञा या अच्युतसुखदात्रीति। स च **विघ्नानां ध्वंसनार्थं त्वसिकरकमलोऽमोघसिद्धिर्बभूव**, अच्युतधर्मेणान्ये ते संस्काराः, ये निरावरणं चित्तं कुर्वन्ति, माराद्यावरणं विध्वंसयन्तीति पञ्चबुद्धविशुद्धा इति ॥ ९० ॥

---

१. च. 'ग्राह्य' नास्ति। २. भो. rTags Pa gSan To (परकल्पितं)।
३. भो. 'दिव्य' नास्ति।

इदानीं पञ्चधातव उच्यन्ते—

द्वेषाद् या विश्वमाता प्रलयशिखिनिभा डाकिनी सा बभूव
मोहात् सा लोचनाख्या परमकरुणया मामकी मानहेतोः ।
रागात् सा पाण्डराख्या सकलगुणनिधिस्तारिणी चेर्ष्यया सा
एतौ द्वौ विश्वरूपौ विषयविषयिणोऽन्ये च सर्वे बभूवुः ॥९१॥　　5

द्वेषादित्यादि । इह प्राकृतद्वेषक्षयान्महा**द्वेषाद् या** प्रज्ञापारमिता शून्यता सर्वाकारा **विश्वमाता**, सा वज्रधात्वीश्वरी वज्र**डाकिनी बभूव** । एवं मोहक्षयान्महा**मोहा**ल्लो**चना परमकरुणया मामकी** मानक्षयान्महा**मानहेतो**र्बभूव । रागक्षयान्महा**रागात् पाण्डरा सा सकलगुणनिधिस्तारिणी** सा **ई**र्ष्याक्षयान्महेर्ष्यातो बभूव । एवमन्य आकाशधातुः, अन्यः पृथ्वीधातुः, अन्यस्तोयधातुः, अन्य[183b)स्तेजोधातुः,　10 अन्यो वायुधातुरिति धातुलक्षणं निरावरणबिम्बतोऽच्युत[1]सुखत इति सिद्धम् । **एतौ द्वौ विश्वरूपौ** कालचक्रविश्वमातरौ प्रज्ञोपायौ एकलोलीभूतौ । **विषयविषयिणोऽन्ये सर्वे बभूवुः**, गन्धादयोऽन्ये ते विषयाः श्रोत्राद्याः, अन्ये ते विषयिणः, अन्ये वाक्पाण्यादयः, अन्ये कर्मेन्द्रियक्रियादयः । एवं—

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।　15
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥
(भ० गी०. १३.१३)

वज्रसत्त्व इति । एवं—

आत्मवित् परवित् सर्वः सार्वीयो ह्यग्रपुद्गलः ।
लोकोपमामतिक्रान्तो ज्ञेयो ज्ञानाधिपः परः ॥ इति ।　20
(ना० सं० १०.१३)

तथा—

सिद्धार्थः सिद्धसंकल्पः सर्वसंकल्पवर्जितः ।
निर्विकल्पोऽक्षयो धातुर्धर्मधातुः परोऽव्ययः ॥
(ना० सं० ६.१५)　25

[इति] **नामसङ्गीत्यां** ज्ञानकायलक्षणनियमः ॥ ९१ ॥

---

१. भो. bDen Pa Las (सत्यतः) ।

इदानीं बुद्धानां सत्त्वाशयवशेन नानाविहरणमुच्यते—

पञ्चस्कन्धस्वभावैर्विहरति कृपया वज्रयोषिद्भगेषु
सत्त्वानां पाचनार्थं त्वविहितनियमानामपुण्यार्जितानाम् ।
शुद्धावासादिके यद्विहरति भगवान् श्रावकाणां निमित्त-
5 मेवंकारे स्थितिर्या परमनियमिनामुत्तरे स्थापनार्थम् ॥९२॥

पञ्चेत्यादि । इह यत् क्लेशाद्यावरणरहितानां गर्भावक्रमणं **पञ्चस्कन्धग्रहणं वज्रयोषिद्भगेषु** स्त्रीगर्भे सम्भवाय विहरणम्, तत् कृपया **अविहितनियमानां** प्राकृत-जनानामपुण्यार्जितानां **पाचनाय** । तथाह—

वज्रकायशरीराणां बुद्धानां यदनित्यता ।
10 कदलीगर्भतुल्येषु का चिन्ताऽन्येषु जन्तुषु ॥

इत्यादिनाऽनित्यवादिनां पाचनाय । पुनः **शुद्धावासादिके** यत्नुत्पादः, स **श्रावकाणां** देवत्वं गतानामहङ्कारविनाशाय । इदं देवत्वं च्यवनकाले महद् दुःखमिति देशनया तेषां पाचनम् । **एवंकारे स्थितिर्या** शून्यतायां सा **परमनियमिनां** सुभूत्यादीनां **मैत्रेयप्रभृतीनामुत्तरे** सम्यक्सम्बुद्धत्वे **स्थापनाय** चतुर्थकायदेशनयेति । शून्यस्वभावः
15 शून्यता, इहातीतानागतं ज्ञेयं शून्यम्, तस्य दर्शनं भावः शून्यता, गम्भीरोदारा अतीतानागताभावाद् गम्भीरा, अतीतानागतदर्शनादुदारा । तथाह—

शून्यतावादी वृषभो गम्भीरोदारगर्जनः ।
धर्मशङ्खो महाशब्दो धर्मगण्डी महारण. ॥
अप्रतिष्ठितनिर्वाणो दशदिग्धर्मदुन्दुभिः ।
20 अरूपो रूपवानग्र्यो नानारूपमनो[१]मयः ॥
सर्वरूपावभासश्रीरशेषप्रतिबिम्बधृक् ॥
(ना० सं० ८.२-३)

इति **नामसङ्गीत्यां** भगवतो नियमः ॥ ९२ ॥

सत्त्वानां पाकहेतोस्त्रिविधविहरणं कायवाक्चित्तभेदै-
25 र्बाह्याध्यात्मं परं च प्रभवति नियतं वज्रिणः सर्वकालम् ।
बाह्ये नानाप्रदेशे भवति वरतनौ प्राणवायोः प्रचारो
भूम्यादौ मण्डले यत् प्रभवति च विभोर्वज्रयोषिद्भगे तत् ॥९३॥

---

१. भो. sKyes (भवः) ।

शब्दादौ यच्च चित्तं व्रजति न विषये चापरं तद्वदेव
एवंकारे स्थितिर्या परमसुखपदे कायवाक्चित्तवेगः ।
एको वज्री त्रिभेदो विषयविषयिभिश्चावृतो धातुभिश्च
त्र्यध्वस्त्रिस्थानवासी त्रिभवमपि गतोऽनेकसत्त्वार्थहेतोः ॥९४॥

तन्त्रेष्वेवं मया यत् श्रुतमिति वचनं तन्मया ज्ञातमेवं　　5
वज्री चन्द्रद्रवाद्यः शिरसि गलहृदब्जे च नाभौ च गुह्ये ।
वज्रस्त्रीणां भगे तत् परकमलगतो बिन्दुमोक्षत्रयेण
बुद्धक्षेत्रे प्रविष्टस्तदिह स भगवान् योगिभिर्वेदितव्यः ॥९५॥

एकं पश्यन्त्यनेकं प्रणिधिगुणवशाच्छान्तरागादिभावै-
श्चक्रस्थं पूर्वजन्मस्वहृदयजनितैर्वासनाया बलेन ।　　10
एकार्थानन्तभाषा प्रविशति हृदये प्राणिनां स्वस्वभावै-
श्चक्रस्थः पिण्डपातं व्रजति विहरितुं स्था(ता)यिनां पुण्यहेतोः ॥९६॥

तिर्यक्प्रेतासुराणामुरगसुरनृणाम् आर्यभोटादिकानां
भूतेष्यद्वर्तमानं त्रिविधमपि सदा सत्यधर्मं ब्रुवन्ती ।
मार्गे संस्थापयन्ती त्रिभवमविकलं स्वस्वभाषान्तरेण　　15
एषा सर्वज्ञभाषा समसुखफलदा देवभाषा न च स्यात् ॥९७॥

बुद्धानामप्यगम्या त्वपरिमितगुणा बुद्धनिर्माणमाया
आत्मानं दर्शयन्ती त्रिभुवननिलये शक्रजालं यथैव ।
नानाभावैर्विभिन्ना सजिनसुरनृणां स्वस्वचित्ते प्रविष्टा
एषामुत्पन्नधर्मा पयसि नभ इव भ्रान्तिदोत्पत्तिरत्र ॥९८॥　　20

सर्वाकारं ह्यगम्यं विषयविषयिणां कायवज्रं जिनस्य
वाग्वज्रं सर्वसत्त्वस्वहृदयरुतकैर्धर्मसंपादकं च ।
सत्त्वानां चित्स्वभावं सकलभुविगतं वज्रिणश्चित्तवज्रं
भावानां ग्राहकं यद् विमलमणिरिव ज्ञानवज्रं तदेव ॥९९॥

दानाद्याः षट् चतस्रः समसुखफलदाः शक्तयस्ता दशोक्ता-　　25
स्तासां शुद्धा उपायाः परमदशविधाः पूर्णचित्ता घटान्ते ।

मारक्लेशक्षया वै मदन इति हरो वज्रवृन्द्रं द्रुमाद्याः
षण्मुद्राः शून्यषट्कं त्रिभुवनजनको ज्ञानविज्ञानमेकम् ॥१००॥

चक्रं स्वच्छं समन्तात् त्रिभव इति सुखं रत्नमस्येव रागः
पद्मं क्लेशक्षयोऽसिः कुलिशमपि महाज्ञानकायो ह्यभेद्यः ।
5　छेदोऽज्ञानस्य कर्त्री त्विह[1] षडपि कुलान्येभिरुत्पादिता ये
तेऽप्येवं वेदितव्याः खमिव समरसाः स्कन्धधात्विन्द्रियाद्याः ॥१०१॥

यस्मिन् वै जातिरूपं व्रजति निधनतां तन्महारूपमुक्तं
यस्यां संसारदुःखं व्रजति निधनतां सा महावेदनोक्ता ।
यस्यां संसारसंज्ञा व्रजति निधनतां सा महावज्रसंज्ञा
10　यस्मिन् संसारवृद्धिर्व्रजति निधनतां वज्रसंस्कार एव ॥१०२॥

यस्मिन् [2]जाग्राद्यवस्था व्रजति निधनतां तच्च विज्ञानमुक्तं
यस्मिन्नज्ञानभावो व्रजति निधनतां तन्मुनेर्ज्ञानमेव ।
एते वैरोचनाद्याः परमजिनवराः षड्विधाः षट्कुलानि
अन्ये षड्धातुभेदा अवनिशिखिपयोमारुताकाशशान्ताः ॥१०३॥

15　यस्यां मोहः समस्तो व्रजति निधनतां लोचना सा धरित्री
यस्यां मानः समस्तो व्रजति निधनतां मामकी साऽम्भ एव ।
यस्यां रागः समस्तो व्रजति निधनतां पाण्डरा सा हविः स्याद्
यस्यामीर्ष्या समस्ता व्रजति निधनतां तारिणी साऽनिलश्च ॥१०४॥

यस्यां द्वेषः समस्तो व्रजति निधनतां वज्रधात्वीश्वरी खं
20　यस्यां मात्सर्यसर्वं व्रजति निधनतां विश्वमाताक्षरं सा ।
दृष्टादृष्टं हि रूपं मनसि नभसि वै पश्यते यः स चक्षु-
र्दूराच्छब्दं शृणोति प्रकटमिव महाश्रोत्रमेतज्जिनस्य ॥१०५॥

सर्वं गृह्णाति गन्धं परमसुखकरं सा सुनासा विभोश्च
सा जिह्वा या स्वचन्द्रामृतमपि च सदा स्वादते सौख्यदं च ।

---

१. मु. त्वर । २. मु. भो. gNid (निद्रा) ।

वज्रस्पर्शं समन्तादपहरति सदा वज्रकायेन्द्रियं तत्
प्रज्ञोपायप्रसङ्गाद् विशति समसुखे यो मनः सोऽस्य धर्मः ॥१०६॥

एते षड्भेदभिन्ना विषयविषयिणो बोधिसत्त्वाः सभार्या
विश्वे रूपादयोऽमी जिनवरविषयाः षट्प्रकाराः समन्तात् ।
स्वच्छाऽजाता निरुद्धाः परमसुखकराऽनाविला ज्ञानगम्या	5
नान्यो ग्राह्यस्त्रिधातौ तु सकलजगतश्चेन्द्रियद्वारगम्याः ॥१०७॥

अतो द्वानवतिवृत्तादूर्ध्वं पञ्चदशवृत्तानि सुबोधानि ॥ ९३-१०७ ॥

ततो वृत्तैकं गूढम्, तदेव वितन्यते—

ज्ञानाकृष्टिं करोत्यत्र पुनरतिबलस्तत्प्रवेशं च जम्भः
स्तम्भस्तद्बन्धनं वै परमसुखवशान्मानकस्तोषणं च ।	10
चक्रस्य ज्ञानचक्रे समरसकरणं वज्रवेगः करोति
एवं वै वज्रदेव्यः प्रकटितनियता योगिनीतन्त्रकाये ॥१०८॥

ज्ञानेत्यादि । इह किल मण्डलचक्रभावनायां समयसत्त्वं निष्पाद्य ततो ज्ञानचक्रस्याकर्षणं प्रवेशनं बन्धनं तोषणं समरसं कर्तव्यं मन्त्रिणा । जः हूं वं होरिति वज्राङ्कुशेनाकर्षणं वज्रेण प्रवेशनं वज्रपाशेन बन्धनं घण्टया तोषणं पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरद्वारेषु स्थितैः क्रोधराजैर्योगिनीतन्त्रे वज्रडाकिनीभिः सर्वत्र [1]कीर्तितम् । तदेवाध्यात्मन्युच्यते—**ज्ञानाकृष्टिं करोत्यत्र** शरीरे **पुनरतिबल** इति । युवतीप्रसङ्गे ज्ञानसत्त्वः शुक्रं सन्ध्याभाषान्तरेण तस्याकर्षणं प्राणादिवायुवृन्द[2]भेदं करोत्यूर्ध्वे शिरसि परिपूर्णं करोति बोधिचित्तमित्यर्थः । **तत्प्रवेशं च जम्भ** इति तेजस्तद्द्रावयित्वा द्रवस्य बिन्दुरूपस्य कण्ठे हृदये नाभौ गुह्यकमले प्रवे[184a]शं करोतीति । **स्तम्भ** इति पृथ्वीधातुस्तस्य बिन्दुरूपस्य बन्धनं करोत्यागतस्यातिवेगेन गन्तुं न ददाति **परमसुखवशा**दिति । **मानकस्तो**यधातुबिन्दोः स्वच्छद्रवं गुह्यकमले वज्रमणौ गतं स्पन्दमित्युच्यते, तस्याच्युतसुखवशात्तोयधातुस्**तोषणं** शरीरे शैत्यं करोतीत्यर्थः । पुनस्तत्स्थानादूर्ध्वगमनार्थं तदेव [3]निःष्यन्दसुखं लोचनादयः प्रबोधयन्ति वज्रगीतिकाभिः पूर्वोक्ताभिः । ततो नाभौ [4]निष्यन्दनार्थं लोचना चोदयति, हृदये मामकी विपाकार्थम्, कण्ठे पाण्डरा पुरुषकारार्थम्, शिरसि तारा वैमल्यार्थम् । एवमादिभिरुत्थापितो महासुखो वैमल्यं गतः सर्वस्कन्धधात्वायतनादिकं निरावरणं करोति । ततः सर्वज्ञपदं योगिनां भवति, न कल्पितमण्डले योगिनीगीतेनोत्थापित इति नीतार्थः सर्वतन्त्रेषु संवृत्या विवृत्या चेति ॥ १०८ ॥

१. च. 'कीर्तितम्' नास्ति । २. च. 'भेदं' नास्ति । ३.४. च. निःस्पन्द ।

माराणां ताडनं वै त्रिभुवननिलये नीलदण्डः करोति
बन्धं क्रोधोऽचलश्च प्रलयरविनिभः कीलनं चातिवीर्यः ।
टक्किस्तद्वीर्यनाशं त्ववनितलगतं स्तम्भनं स्तम्भ एव
उष्णीषश्चर्द्धिनाशं प्रकटितनियताः पूर्ववत् क्रोधदेव्यः ॥१०९॥

5 प्रेतानां पाचनार्थं स्फुरणमपि ततश्चर्चिकादेर्बभूव
इन्द्रादीनां सुराणां दिशि विदिशि तथा रक्षणार्थं जनानाम् ।
नागानां पाचनार्थं फणिकुलसकलं स्फारितं वज्रिणा च
दैत्यानां पाचनार्थं स्फुरणमपि महाश्वानवक्त्रादिकानाम् ॥११०॥

ततो **नीलदण्डादयः** कर्मेन्द्रियक्रियामाकाशे गमनागमनादिकं कुर्वन्ति **मारा-**
10 **दिकानां ताडनादिकं** कृत्वेति सर्वमारकायिकान् चतुर्वैशारद्यबलेन निर्जित्य धर्मचक्रं प्रवर्तयति तथागत इति पूर्वोक्तलक्षण इति नियमः ॥ १०९-११० ॥

अन्यद् यत्किञ्चिदस्ति स्फरणमपि विभोर्मण्डले भूतजान्तं
सर्वं सत्त्वार्थहेतोर्वरविविधगुणं वेदितव्यं स्वकाये ।
एवं तन्त्राणि मन्त्रा विविधकुलगता योगिनीयोगभेदात्
15 सेकोऽस्मिन् द्विप्रकारोऽपि शिशुगुणवशाल्लोकलोकोत्तरश्च ॥१११॥

एवं निरावरणसुखादन्य**द्यत्किञ्चिदस्ति स्फरणमपि विभोर्मण्डले भूतजान्तं** सार्धत्रिकोटिपर्यन्तमध्यात्मनि लोमपर्यन्तं निरावरणं धातुसमूहं **सर्वसत्त्वार्थमेतद्**
T 430 **वरविविधगुणं वेदितव्यं स्वकाये । एवं तन्त्राणि मन्त्रा विविधकुलगताः, योगिनीयोग-भेदा**ल्लौकिकसिद्धय इति । **सेकोऽस्मिन्** कालचक्रे **द्विधाऽपि शिशुगुणवशाद् लौकिकः,**
20 **अनुत्तरो**ऽनुत्तरमार्गकाङ्क्षिणां गुणवशादिति नियमः ॥ १११ ॥

इदानीं लौकिकलोकोत्तराभिषेकार्थमुच्यते—

प्रज्ञाया या स्तनस्पृष्टिरपरममृतास्वादनालिङ्गनं यत्
प्रज्ञासङ्गे चतुर्थक्षणममृतगतं बोधिचित्तद्रुते यत् ।
तत् सर्वं लौकिकं वै परमकरुणया दर्शितं मार्गहेतोः
25 सेको लोकोत्तरो यः परमजिनपतेर्दिव्यमुद्रानुषङ्गः ॥११२॥

प्रज्ञेत्यादिना । इह यद्धसितेक्षणपाण्यासिद्वन्द्व इति चतुर्विधोऽभिषेक आचार्य-गुह्य-प्रज्ञा-ज्ञानम्, "चतुर्थं [तत्] पुनस्तथा" (गु० स० १८.११२)[इति]शब्देनोक्तः **समाजादौ**

कलशादिकः, स सेकः संकेतमात्रं संवृत्याचार्यकरणाय, न तत्त्वम्, "सिक्त्वा तत्त्वं प्रकाशयेत्" इति वचनाच्चतुर्विधः सेकस्तत्त्वं न भवति हसितेक्षणपाण्यासिद्वन्द्वयोग इति । इह तत्त्वं निर्द्वन्द्वं कर्ममुद्राहेतुनोत्पन्नमद्वयज्ञानं न भवति विचार्यमाणम् । इह यदि प्रज्ञाया हेतुनोत्पन्नं सुखमुपायस्य प्रज्ञाज्ञानम्, तदा उपायहेतुनोत्पन्नं प्रज्ञाया उपायज्ञानं भवति सिद्धये । एवं चेद् द्वे ज्ञाने भवतः, उभयज्ञानभेदात् । अतोऽद्वयं न भवति । 5
अद्वयाभावाद् बुद्धत्वाभाव इति । अथ प्रज्ञाया ज्ञानं [1]प्रज्ञाज्ञानम्, तथापि दोषः, उपायस्य ज्ञानमुपायज्ञानमिति सिद्धम् । तस्मादुपायस्य सुखं क्षरं द्विधा बालं प्रौढम्, प्रज्ञायाः स्पन्दसुखं वृद्धम्, तयोर्द्वयोर्यदा निःस्पन्दं भवति महामुद्राद्वारेण [2]तद् द्वीन्द्रियरहितमद्वयम् । अतः प्रज्ञायाः स्तनस्पर्शनादिकं लौकिकं दर्शितं मार्गावतारणार्थम् । सेको लोकोत्तरो यः परमजिनपतेर्दिव्यमुद्रानुषङ्गः स एवोच्यते ॥ ११२ ॥ 10

चित्तस्याभासमात्रा स्वमनसि जनिताऽऽदर्शबिम्बोपमा वै
योगीन्द्रैः सेवनीया सकलजिनसुतैः सेविता या च बुद्धैः ।
सा ज्ञानार्चिः प्रवृद्धा दहति सविषयं मारवृन्दं समस्तं
रागादींश्चापि काये ददति समसुखं योगिनां वर्षयोगात् ॥११३॥

चित्तस्याभासमात्रेत्यादि वृत्तं सुबोधम् ॥ ११३ ॥ 15

प्रज्ञा ज्ञानं च चित्तं भवति दशविधस्तस्य चाभास एव
सेकोऽस्मिन् मज्जनं यद्विमलशशिनिभादर्शबिम्बोपमा(मं) वै ।
तस्मान्निर्वाणसौख्याच्युतमपि सहजं चाक्षरं वै चतुर्थं
यस्यैतद् बुद्धवक्त्रं हृदयमुखगतं वर्तते श्रीगुरुः सः ॥११४॥

प्रज्ञा ज्ञानमित्यादि वितन्यते[184b]। इह **प्रज्ञा च ज्ञानं च** यथासंख्यं ग्राहकचित्तम्, तस्य च ग्राहकचित्तस्य यो **दशविधो** धूमादिको ग्राह्य **आदर्शाभासः** प्रतिसेनावत्, स एव ज्ञानं ग्राह्यचित्तमित्यर्थः । एवमादर्शे स्वचक्षुःप्रतिबिम्बमिव स्वचक्षुर्ग्राह्यमिति प्रज्ञा च ज्ञानं च । **सेकोऽस्मिन् मज्जनं यदि**ति । इह ग्राह्यचित्ते ग्राहकचित्तस्य यस्तस्मिन् प्रवेशो बाह्यविषयेष्वप्रवृत्तिः, प्रत्याहारो ध्यानं प्राणायामो धारणा मज्जनमित्युच्यते । षडङ्गैस्तस्मान्मज्जनान्**निर्वाणसौख्याच्युतमपि सहजं चाक्षरं वै चतुर्थं** सुखं बालप्रौढस्पन्दानां परं लोकोपमामतिक्रान्तं त्रैलोक्याचारमुक्तमित्यर्थः । हसितेक्षणस्पर्शालिङ्गनपाण्यासिद्वन्द्वरहितं कर्ममुद्राज्ञानमुद्राहेतुरहितं शून्यतासर्वाकारप्रतिभासलक्षणमिति । इदं **बुद्धवक्त्रं** [3]ज्ञानवक्त्रं **यस्या**चार्यस्य **हृदयगतं** भावितं स्वानुभवं(भूतं) **मुखगतं** शिष्येभ्यः प्रतिपादनाय **वर्तते** सर्वकालम्, स **श्रीगुरु**र्वज्रधर इत्यर्थः । नान्ये द्वीन्द्रियसुखावबोद्धार इति ॥ ११४ ॥ 20 25 30

१. च. 'प्रज्ञाज्ञानम्' नास्ति । २. भो. Dehi Tshe (तदा) । ३. च. 'ज्ञानवक्त्रं' नास्ति ।

इदानीमस्य स्वचित्तस्याभासे प्रवेश उच्यते—

आकाशासक्तचित्तैरनिमिषनयनैर्वज्रमार्गं प्रविष्टैः
शून्याद् धूमो मरीचिः प्रकटविमलखद्योत एव प्रदीपः ।
ज्वाला चन्द्रार्कवज्राण्यपि परमकला दृश्यते बिन्दुकश्च
5 तन्मध्ये बुद्धबिम्बं विषयविरहितानेकसंभोगकायम् ॥११५॥

आकाशेत्यादिना । इह मन्त्रयाने पारमितायाने द्विधा योगाभ्यासः—आकाशे योगाभ्यासः, अभ्यवकाशे च । य आकाशे योगमाप्स्यते स रात्रौ निश्छिद्रगृहेऽन्धकारे **आकाशासक्तचित्तो** धूमादिकं निमित्तं पश्यत्यनिमिषनयनो वज्रमार्गं प्रविष्ट इति । इह मध्यमाप्राणप्रविष्टः शून्यादेवाकाशासक्तचित्तैरनिमिषनयनैर्वज्रमार्गं प्रविष्टैः
10 **शून्याद्धूमो मरीचिः प्रकटविमलखद्योत एव प्रदीप** इति निशायोगेन पश्यति । ततो निरभ्रं गगनं पश्यति । ततो गगनात् पुनर्दिवायोगे—"गगनोद्भवः स्वयम्भूः प्रज्ञाज्ञानानलो महान्" (ना० सं० ६.२०) इति ज्वाला दृश्यते निरभ्रे गगने । एवम्—"वैरोचनो महादीप्तिर्ज्ञानज्योतिर्विरोचनः" (ना० सं० ६.२१) चन्द्राभासः, जगत्प्रदीपः सूर्यः, ज्ञानोल्को वज्रराहुः, महातेजाः प्रभास्वरो
15 विद्युत्परकलेति, विद्याराजोऽग्रमन्त्रेशो बिन्दुक इति । [1]एवं दशधा निमित्तं समाजादौ रात्रियोगेन, नामसङ्गीत्यां दिवायोगेन भगवतोक्तम् । ततो "मन्त्रराजो महार्थकृत्" (ना० सं० ६.२२) इति सर्वाकारं पटघटादिकं बिम्बदर्शनमिति । **तन्मध्ये** बिन्दुमध्ये **बुद्धबिम्बं विषय**[2]**विरहितं** द्रव्याभावात् कल्पनाभावादनेकसम्भोगकायम् । ततो बिम्बयोगेनानाहतध्वनिर्यः, स एव श्रूयते । एवं निर्माणकायो रूपावभासतः,
20 शब्दावभासतः सम्भोग इत्यर्थः ॥११५॥

आकाशं स्तब्धदृष्ट्या जलधररहितं योगिनाऽऽलोकनीयं
यावद्बे कृष्णरेखा स्फुरदमलकरा दृश्यते कालनाड्याम् ।
तस्यां सर्वज्ञबिम्बं पयसि रविरिवानाविलं विश्ववर्णं
सर्वाकारं स्वचित्तं विषयविरहितं नापरं चित्तमेव ॥११६॥

25 अत्र दिवायोग **आकाशं स्तब्धदृष्ट्या जलधररहितं योगिनाऽऽलोकनीयं** पूर्वाह्णे अपराह्णे रवेः पृष्ठं दत्त्वा । अन्यथा रविरश्मिभिस्तिमिरं भवति, तेन तद्बाधात् । प्रतिदिनमवलोकनीयं **यावद्** बिन्दुमध्ये **कृष्णरेखा** बालप्रमाणा **स्फुरदमलकरा दृश्यते । कालनाड्या**मवधूत्यामन्तर्भूतं **सर्वज्ञबिम्बं** त्रैधातुकमशेषं **पयसि रविरिवानाविलं विश्ववर्णं सर्वाकारं स्वचित्तं विषयविरहितं नापरं चित्तमे**[185a]**व** परचित्तं न भवति,

---

१. ख. 'एवं' नास्ति । २. च. रहितं ।

परचित्तज्ञानाभावात्। इह प्रथमं स्वचित्ताभासो मांसचक्षुषा, तथागतस्य दृश्यते, दिव्यादि-चक्षुषा परचित्तज्ञानं दृश्यते, तेन **धर्मसंग्रहे** उक्तानि पञ्चचक्षूंषि भगवत इति। एवं क्रमान्मांसचक्षुर्दिव्यचक्षुर्बुद्धचक्षुःप्रज्ञाचक्षुर्ज्ञानचक्षुर्भावनाबलेन भविष्यति। ततोऽदृष्टं न किञ्चिदस्ति सर्वज्ञस्येति ॥११६॥

दृष्टे बिम्बे प्रकुर्यात् प्रतिदिनसमये प्राणवायोर्निरोधं 5
यावद्वै भ्राम्यमाणं स्वतनुपरिवृतं दृश्यते रश्मिचक्रम्।
षण्मासैः स्पर्शहीनं व्रजति समसुखं मार्गचित्तं यतीनां
रागारागान्तगाद्यं क्षणमपि च विभोर्वर्धते श्वाससंख्यम् ॥११७॥

ततो **दृष्टे बिम्बे प्रकुर्यात् प्रतिदिनसमये प्राणवायोर्निरोधमिति** कुम्भकम्, **यावद्वै भ्राम्यमाणं स्वतनुपरिवृतं दृश्यते रश्मिचक्रं** पूर्वोक्तबिम्बादध्यात्मनि। ततः **षण्मासैः** 10 **स्पर्शहीनं** द्वीन्द्रियद्वन्द्वरहितं **व्रजति समसुखम**क्षरसुखं **मार्गचित्तं** शून्यताबिम्बचित्तं **यतीना**मादिकर्मिकब्रह्मचारिणाम्। तत एकक्षणाभिसम्बोधिलक्षणं **रागारागान्तगाद्यं** T 431 क्षणमिति। राग इति शुक्लपक्षस्तस्यान्तगं षोडशीकलालक्षणम्। अरागः कृष्णस्तस्यादिगं कृष्णपक्षेन प्रविष्टमभिसम्बोधिकाललक्षणम्, तदेव **क्षणमपि वर्धते श्वाससंख्यं** द्वययुतद्वयष्टशतसंख्यमिति। गुह्ये वज्रमण्यग्राद्वर्धते षट्त्रिंशच्छतैः क्षणैः प्राणांस्तत्संख्या- 15 न्मारयित्वा गुह्यपद्मं प्राप्नोति, तेन भूमिद्वयं भवति। एवं नाभौ हृदये कण्ठे ललाटे चतस्रः षडष्टदशभूमयो भवन्ति। उष्णीषे द्वादश सर्वप्राणानां क्षयेणेति ॥११७॥

ओड्रा ज्वालान्तराले विरमसहजयोर्ज्ञानविज्ञानमध्ये
निद्रा घूर्माभिसन्धौ कुलिशकमलयोर्यत्सुखं द्वन्द्वयोगे।
वृद्धिं तस्य प्रकुर्याद् गुरुनियमवशाद् वर्धते नात्र चित्रं 20
हत्वा क्लेशांश्च मारान् विशति जिनपतिं वर्षयोगात् सुयोगी ॥११८॥

अत **ओड्रा ज्वालान्तराले** आगतं गुह्ये, **विरमसहजयोर्मध्ये** नाभौ, **निद्राघूर्माभिसन्धौ** हृदये, **ज्ञानविज्ञानमध्ये** कण्ठे, कायवाक्चित्तज्ञानबिन्दुरूपेण यल्ललाटादागतं **द्वन्द्वयोगे सुखम्, वृद्धिं तस्य** सुखस्य शुक्रस्य **प्रकुर्याद**ूर्ध्वगमनम्। **गुरुनियमवशात्** पूर्वोक्तात् प्राणनिरोधाद्**वर्धते नात्र चित्रं** ललाटं यावत्। एवं **हत्वा क्लेशांश्च मारान्** 25 **विशति जिनपतिं** वामदक्षिणगतान् प्राणान् मारयित्वा विशति जिनपतिं शून्यताबिम्बम्। **वर्षयोगात् सुयोगी** अवधूत्यां स्थितः। ततः कुम्भकेन महासुखक्षणमुत्पाद्य विवर्धयेत् सुखमिति नियमः ॥११८॥

इदानीं बिम्बलक्षणमुच्यते—

भूम्याकारो दृढो न द्रुतसलिलवपुर्न द्रवस्त्वद्रवत्वाद् 30
वह्न्याकारो न वह्निश्चलपवनतनुर्निश्चलो योऽनिलो न।

शून्याकारोऽपि दृश्यः सितहरितमहाविश्ववर्णो न वर्णः
सर्वाकारोऽप्यदृश्यः स्वहृदयकलुषक्लेशमारप्रभावात् ॥११९॥

भूम्येत्यादिना। इह शून्यप्रतिभासो[1]ऽद्रव्यो भूम्याकारो दृश्यते न दृढः, द्रुताकारो मरीचिको जलवन्न च जलमद्रवत्वात्। एवं वह्न्याकारो न वह्निः। चलपवनतनुरद्रवत्वान्निश्चलो यः सोऽनिलो न। अद्रव्याच्छून्याकारः, तदपि दृश्यते मायानगर इव सितादिवर्णयुक्तोऽप्यद्रव्यत्वान्न च वर्णः। सर्वाकारोऽपि स सर्वदा बालानामदृश्यः। तत् कस्य हेतोः? क्लेशमारप्रभावाद् वामदक्षिणनाडीप्राणप्रचारादिति नियमः॥ ११९॥

इदानीं स्थानं नाडीगमनायोच्यते—

नादो बिन्दुः कला ज्ञानममृतपदगाः शृङ्खलाबद्धनाड्यः
प्राणापानत्रिमार्गाः सकुलिशकमलं वज्रमेवाब्जयुक्तम्।
वाय्वोः संघट्टमध्ये विषय विषयिणां निर्गमश्च प्रवेशो
धूमादीनां निमित्तग्रहणमपि च यत् सर्वमेतद् रहस्यम् ॥१२०॥

नाद इत्यादिना। इह नादो हृदये चित्तबिन्दुः सुषुप्तावस्थाजनकः। बिन्दुरिति ललाटे कायबिन्दुर्जाग्रदवस्थाजनक इति। कलेति कण्ठे वाग्बिन्दुः स्वप्नजनकः। ज्ञानमिति नाभौ ज्ञानबिन्दुस्तुर्याजनक इति। अमृतपदगाः शृङ्खलाबद्धनाड्य इति। अमृतपदं ललाटम्, तत्र गता अमृतपदगता ललनारस[185b]नाऽवधूत्यः, ताश्च(तासु) शृङ्खलाबद्धे(न्धे)न नाभिहृदयमध्ये त्रिपथं कृत्वा पुनरवधूतीमध्ये हृत्कर्णिकां भेदयित्वा व्रजति ललना रसनासव्यवामदलप्रचारेण, ततो हृदयकण्ठमध्ये त्रिपथं कृत्वा पुनर्व्रजति, एवं ललाटकण्ठयोर्मध्ये त्रिपथमुष्णीषललाटयोर्मध्ये त्रिपथम्, एवं चतुस्त्रिपथान् कृत्वा ललना वामनासारन्ध्रेण "व्रजति परपदं द्वादशान्तं कलान्तम्" (का० तं० २.४७) अध्यात्मपटलोक्तम्। रसना दक्षिणेन अवधूती यौगपद्येन रन्ध्रद्वयेन व्रजति। एवमधो नाभिगुह्यमध्ये त्रिपथं कृत्वा विण्मूत्रनाडी वामदक्षिणेन गत्वा शङ्खिनी[2]मध्ये गुह्यकमले गुह्यकम[3]लाधो विण्नाडीमध्यगता वामेन लिङ्गे भगे वा मूत्रनाडीगता दक्षिणे शुक्रनाडीगतेति नाडिकासंचारः पूर्वोक्ताध्यात्मपटले। एवं प्राणापानत्रिमार्गा इति ऊर्ध्वं वामदक्षिणमध्यमार्गाः प्राणस्य, अधो विण्मूत्र[4]शुक्रमार्गा अपानस्य। सकुलिशकमलं स्त्रीणां योनिः स्पन्दत्वात्। समणिवज्रं क्षरत्वादेवाब्जयुक्तं विकाशत इति। वाय्वोः संघट्टमध्ये नाभौ प्राणापानयोः संघट्टमध्ये। विषय इत्यविभक्तिकं पदम्। विषयेषु विषयिणां चक्षुरादीनां [5]नाडीनां निर्गमः प्रवेशश्च नाभौ। स एव पूर्वोक्तः। धूमादीनां

१. च. अदृश्यो। २. च. अन्ये। ३. च. लोर्ध्वं। ४. च. गुह्य। ५. भो. 'नाडीनां' नास्ति।

निमित्तग्रहणमवधूतीद्वारेण, अपिशब्दात् तदेव नाभौ। **सर्वमेतद्रहस्यं** गोपनीयं बालजनानामिति नियमः ॥ १२० ॥

इदानीं योगोपसंहार उच्यते—

मध्ये प्राणप्रवेशः सरविशशिगतेर्बन्धनं सव्यवामे
चित्तं मुद्राप्रसङ्गे परमसुखगतं वज्रसम्बोधनं च । 5
पद्मे वज्रध्वनिर्वा स्वकरसलिलजोल्लालनं सौख्यहेतो-
र्बीजात्यागः ससौख्यो मरणभयहरः श्रीगुरोर्वक्त्रमेतत् ॥१२१॥

मध्ये प्राणेत्यादिना। इह प्रथमं योगिना **मध्ये प्राणप्रवेशः** कर्तव्योऽवधूत्याम्, येन निमित्तं पश्यति, [1]इत्येकं **श्रीगुरो**र्वृद्धस्य कायवज्रं **वक्त्र**मुच्यते। तस्मात् **सरविणा** दक्षिणगतिना सार्धं **शशिगतेर्वाम**नाडीगतेः, **बन्धनं** प्राणस्येति नियमः, प्राणायामो 10 द्वितीयं वाग्वज्रम्। **चित्तं मुद्राप्रसङ्गे** बिम्बेऽनुरक्तं बोधिचित्तं द्रुतं तृतीयं चित्तवज्रं **परमसुखगतं वज्रसम्बोधनं च**। अथ बिम्बद्वारेणानन्दं न भवति, तदा **पद्मे वज्रध्वनिर्वा** शनकैः कर्तव्यः। अथ स्त्री न लभ्यते, तदा **स्वकरमलेनोल्लालनं** कर्तव्यं **सौख्यवृद्धिहेतोः**, न क्षरणहेतोः। एवं **बीजात्यागः ससौख्यो** भवति **मरणभयहरः** श्रीगुरोर्वक्त्रं चतुर्थं ज्ञानवज्र**मेतद्**दिति योगाभ्यास इति नियमः ॥१२१॥ 15

इदानीं [2]पञ्चमण्डलक्षय उच्यते—

पृथ्वी तोयं प्रयाति ज्वलनमपि जलं पावको मारुतं च
वायुः शून्यं च शून्यं व्रजति दशविधं वै निमित्तं निमित्तम् ।
सर्वाकारं प्रयात्यक्षरपरमसुखानाहतं ज्ञानकायं
ज्ञानादृद्धिश्च सिद्धिर्भवति नरपते जन्मनीहैव पुंसाम् ॥१२२॥ 20

[3]पृथ्वीत्यादिना। इह यदा योगी अनिमिषनयनो भवति क्रोधदृष्ट्या शून्ये आरोपितचित्तः, तदा वामे वा दक्षिणे वा **पृथ्वी**त्युपलक्षणम्, यदा दक्षिणे पृथ्वीप्रवाहकाले योगी भावनां करोति, तदायं विधिर्न पुनर्वामनाडीप्रवाहकाले आकाशमण्डलादिक्रमतः। तेन वामे वा दक्षिणे वा यन्मण्डलं वहति प्राणस्तद्धर्मित्वात्तदेव 25 मण्डलमुच्यते। तेन दक्षिणनाड्यां पृथ्वीमण्डले प्राणोऽम्मण्डलं **याति**। एवं ज्ञानमण्डलं यावद् वामनाड्यामाकाशादिना याति। एवं **शून्यं व्रजति दशविधं निमित्तं** धूमादि[186a]कं **निमित्तं सर्वाकारं** बिम्बं व्रजति, बिम्बादक्षरसुखं **व्रजति**, तदेव

१. भो. ḥDi Ni (इदं)। २. भो. 'पञ्च' नास्ति। ३. च. भूमिरित्या।

ज्ञानं प्रज्ञापारमितायाः। **ज्ञानादृद्धिश्चाकाशगमनादिका, सिद्धिश्च त्रैधातुकेश्वरत्वं**[1] **भवति नरपते जन्मनीहैव पुंसामिति** मार्गप्रवेशनियमः॥ १२२॥

इदानीं चतुष्कायानां षोडशप्रभेदा उच्यन्ते—

कामा निर्माणकायः प्रभवति नियतस्तस्य वागेव पूर्णा
ज्वाला निर्माणचित्तं परमसुखकरं ज्ञानमेवास्य चोड्रा।
आनन्दो भोगकायः स परमविरमानन्दमस्य क्रमेण
वाक्चित्तं ज्ञानवज्रं भवति हि सहजानन्दमेवास्य शम्भोः॥१२३॥

T 432 कामेत्यादि। इह समुदयसत्याद् यत्रैकः कायस्तत्रान्येऽपि वाक्चित्तादय इति। **कामा** इति कायानन्दस्य निरोधा**न्निर्माणकायो** बुद्धस्य **भवति नियत** इति। **तस्य** निर्माण[2]कायस्य यो वागानन्दक्षयः, **वागेव सा पूर्णा। ज्वाला निर्माणचित्तं** ज्वाला इति चित्तानन्दनिरोधः। **परमसुखकरं ज्ञानवज्रं** निर्माणस्य। **ओड्रा** ज्ञानानन्दनिरोधः। एवं निर्माणचतुष्टयं तथा सम्भोगचतुष्टयम्। **आनन्दो भोगकायः** कायपरमानन्दनिरोधः, **स परमविरमानन्दमस्य क्रमेणे**ति। परमानन्दः संभोगवाक् वाक्परमानन्दक्षयतः। विरमानन्दः संभोगचित्तं चित्तपरमानन्दनिरोधः। एवं **वाक्चित्तं ज्ञानवज्रं सहजानन्दः** सम्भोगस्य(**शम्भोरस्य**) ज्ञानपरमानन्दनिरोध इति सम्भोगस्ततो धर्मचतुष्टयम्॥ १२३॥

कम्पा वै धर्मकायस्त्रिभुवननमितस्तस्य वागुद्भवः स्याद्
घूर्मा वै धर्मचित्तं भवभयमथनं ज्ञानमस्यैव निद्रा।
वर्णो वै शुद्धकायः स्वररहितकलाबिन्दुनादाः क्रमेण
वाक्चित्तं ज्ञानवज्रं त्रिविधभवगतं शुद्धकायस्य शम्भोः॥१२४॥

कम्पा वै कायविरमानन्दः, तस्य निरोधो **धर्मकायस्त्रिभुवननमितस्तस्य** धर्मस्य **वागुद्भवः स्यादि**ति वाग्विरमानन्दनिरोधः। **घूर्मा वै** चित्तविरमानन्दनिरोधः, **धर्मचित्तं भवभयमथनं** धर्म**ज्ञानमस्य निद्रा** ज्ञानविरमानन्दस्य निरोध इति। **वर्णो वै** इति कायसहजानन्दः, तस्य निरोधः **शुद्धकायः। स्वररहितकलाबिन्दुनादाः क्रमेणे**ति। कलेति वाक्सहजानन्दनिरोधः शुद्धवाक्। विन्दुरिति चित्तसहजानन्दनिरोधः शुद्धचित्तम्। नाद इति ज्ञानसहजानन्दनिरोधः शुद्धज्ञानम्। एवं **ज्ञानवज्रं त्रिविधभवगतं शुद्धकायस्य शम्भोः** वज्रसत्त्वस्य षोडशानन्दभेदभिन्नम्, "षोडशाकारतत्त्ववित्" (ना० सं० ९.१५) इति वचनात्। षोडशाकारं तत्त्वं महाक्षरसुखं विवृत्या, संवृत्या द्वादशाकारं बुद्धानां संसारिणां च। तेन द्वादशाङ्गनिरोधेन प्राणक्षयेण "वज्रसूर्यो महालोकः" (ना० सं० ८.३३), "द्वादशाकारसत्यार्थः" (ना० सं० ९.१५) रजोनिरो-

---

१. भो. Sans rGyas Nid Du (बुद्धत्वं) इत्यधिकम्। २. भो. 'काय' नास्ति।

धतः। षोडशकलाशुक्रनिरोधेन "वज्रेन्दुविमलप्रभः" (ना० सं० ८.३३), "षोडशाकारतत्त्ववित्" (ना० सं० ९.१५) इति भगवान् कालचक्रः सिद्धः ॥ १२४ ॥

इदानीं जाग्रदादिनिरोध उच्यते—

जाग्रत्स्वप्नस्वरूपं पुनरपरमिदं सुप्ततुर्यस्वभावं
कायस्थं श्वासलीनं विचरति विषयान् निश्चलं चित्तलीनम् । 5
ज्ञानस्थं स्त्रीप्रसङ्गात् क्षणमपि च भवेद् बोधिचित्ते द्रुते च
निर्माणादेः क्रमेण प्रभवति नियतं चित्तवज्रं चतुर्धा ॥१२५॥

जाग्रदित्यादि। इह संसारिणां **कायस्थम्** इति शिरसि स्थितं बोधिचित्तं जाग्रल्लक्षणं भवति, **श्वासलीनमिति** कण्ठे गतं **स्वप्नस्वरूपं** भवति, उभयावस्थायां [1]**विचरति विषयान्। निश्चलं चित्तलीनं** हृदयगतं **पुनरपरमिदं** तृतीयं चित्तं सुषुप्तस्वभावम्। **ज्ञानस्थमिति** नाभिस्थं **तुर्यस्वभावं स्त्रीप्रसङ्गाच्च्युतक्षणलक्षणम्। बोधिचित्ते द्रुते** सति तदेव चित्तं चतुर्विधं निरुद्धं निर्माणसम्भोगधर्मसहजकायलक्षणं बुद्धानां भवति। तेन **निर्माणादेः क्रमेण प्रभवति नियतं चित्तवज्रं चतुर्धेति** ॥१२५॥

एवं चित्तं चतुर्धा त्रिविधभवगतं प्राणिनां बिन्दुमध्ये
योगीन्द्रै रक्षणीयं समसुखफलदं व्यापकं मोक्षहेतोः। 15
बिन्दोर्मोक्षे क्व मोक्षो गतपरमसुखे योगिनां जन्मबीजे
तस्मात् संसारसौख्यक्षण इह यतिभिः सर्वदा वर्जनीयः ॥१२६॥

एवं जाग्रदादिलक्षणं **चित्तं** संसारिणां **चतुर्धा त्रिविधभवगतानां बिन्दुमध्ये** बोधिचित्ताधारे बोधिचित्तम्, [186b] तदेव [2]**योगीन्द्रै रक्षणीयं समसुखफलदमक्षरसुखफलदं व्यापकं मोक्षहेतोः। बिन्दुमोक्षे** सत्याधारे पतिते **क्व मोक्ष** आधेयस्य बोधिचित्तस्य **गतपरमसुखे** आधारे **योगिनां जन्मबीजे। तस्मात् संसारसौख्यक्षण इह यतिभिः सर्वदा वर्जनीयः**। इह क्षरः (क्षणः ?) क्षरः स्पन्द इति वर्जनीय इति भगवतो नियमः। ऊर्ध्वे कर्तव्यं योगिना निःष्यन्दादिना यावद् वैमल्यं भवति। यथा आगतं तथा गतमित्यक्षरसुखोत्पादनियमोऽपरश्लोके एकत्वमित्यादिना परमाक्षरज्ञानसिद्धौ विस्तरेण वक्तव्यं(व्यः)। तेनात्र परिच्छेदः ॥ १२६ ॥ 25

इति मूलतन्त्रानुसारिण्यां लघुकालचक्रतन्त्रराजटीकायां
द्वादशसाहस्रिकायां विमलप्रभायां
चतुःकायादिशुद्धिनिर्णयमहोद्देशो
ज्ञानपटले द्वितीयः ॥

---

१. भो. rNam Par dPyod Do (विचारयति)। २. च. योगीन्द्रैः।

३. परमाक्षरज्ञानसिद्धिर्नाम महोद्देशः

नमः श्रीवज्रसत्त्वाय। नमो महामुद्रायै परमाक्षरसुखाय। नमो गुरुबुद्धबोधिसत्त्वेभ्यः। नमः क्रोधराजवज्रडाकवज्रडाकिनीभ्यः।

इदानीमक्षरोद्भवसहजकायस्यालिकालिपद्मचन्द्रादित्यासनहूंकारपरिणतचिह्नोत्पादरूपवर्णभुजसंस्थानपरिकल्पनाधर्मप्रतिवेधो हि यस्मात्तस्माद्भगवतः परमाक्षरज्ञानसिद्धिरुच्यते—

एकत्वं ह्यादिकाद्योः शशिदिनकरयोरासनं वज्रिणो न
हूंकारेणैव चिह्नं परिणतमपरं नेष्यते वर्णरूपम्।
उत्पन्नस्याक्षरेण क्षरनिधनगतस्यास्य दिव्येन्द्रियस्य
सर्वाकारस्य बिन्दोः परमजिनपतेर्विश्वमायाधरस्य ॥१२७॥

एकत्वमित्यादिना। **एकत्वं ह्यादिकाद्योरि**ति। [1]आदिरकारादिस्वरसमूहो हकारश्चन्द्रः, प्रत्येकं स्वरश्च। ककारादिर्व्यञ्जनसमूहः, क्षकारः सूर्यः प्रत्येकं व्यञ्जनं च। तयोरादिकाद्योः **शशिदिनकरयो**र्हकारक्षकारयोर्वा। अकार[2]पकारयोरेकत्वमेकीकरण**मासनमा**धारः। [3]पकारव्यञ्जनात्मकं पद्मम्। अकारात्मकं चन्द्रमण्डलं हकारात्मकं वा, रेफात्मकं सूर्यमण्डलं क्षकारात्मकं वा। आधेयस्य **वज्रिणः**, वज्रमभेद्यस्य परमाक्षरसुख[स्य] ज्ञानमच्युतं तदस्मिन्नस्तीति वज्री, तस्य वज्रिण आधेयस्य। **नेति** निरस्तमासनमाधार इति। तथा **हूंकारपरिणतं** वज्रचिह्नम्, [4]वज्रचिह्नपरिणतो देवताकाय(यो) वर्णभुजसंस्थानपरिकल्पनाधर्म आधेयलक्षणो **नेष्यते**। कस्मात्? अभिनिवेशलक्षणात् क्षरस्वभावात्। इहाकारादयः स्वराः ककारादीनि व्यञ्जनानि क्षरभूतानि च प्रतीत्यसमुत्पन्नानि शास्त्रविद्भिरक्षराण्युक्तानि। तथा चाह—

"न क्षरति न चलत्यपरस्थानं गच्छतीत्यक्षरशब्देन स्वर इत्युच्यते"। तेन कुमन्त्री भ्रान्तोऽक्षरत्वेन स्वरसमूहं गृह्णाति व्यञ्जनसमूहं वा। परमार्थतः स्वरव्यञ्जनसमूहोऽक्षरो न भवति। अक्षरशब्देन परमाक्षरसुखं ज्ञानं वज्रसत्त्व इति। तथा मनस्त्राणभूतत्वान्मन्त्रोऽपि परमाक्षरज्ञानमुच्यते। तथाऽपराध्यात्मिकी विद्या प्रज्ञापा[187a]-रमिता प्रकृतिप्रभास्वरा महामुद्रा सहजानन्दरूपिणी धर्मधातुनिःस्पन्दपूर्णावस्था सहजतनुरित्युच्यते जिनैः। तौ प्रतीत्यसमुत्पन्नानामिन्द्रियाणामगोचरौ दिव्येन्द्रियगोचरौ वज्रसत्त्वबुद्धमातरौ परमाक्षरसुखस्वभावौ परमाणुधर्मतातीतौ आदर्शप्रतिसेनास्वप्नतुल्यौ परमाक्षरस्वरूपाविति। अत्राक्षराणीति रूपवेदनासंज्ञासंस्कारविज्ञानानि निरावरणानि पञ्चाक्षराणि महाशून्यान्युक्तानि। तथा पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशधातवो निरावरणाः

T 433

---

१. भो. 'आदिः' नास्ति। २. च. यकार। ३. च. यकार। ४. च. रज।

पञ्चाक्षराण्युक्तानीति। षडक्षराणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणजिह्वाकायमनांसि निरावरणानि प्रत्येकस्वस्वविषयग्रहणवर्जितानि। तथा रूपशब्दगन्धरसस्पर्शधर्मधातवो निरावरणाश्च षडक्षराण्युक्तानीति। एतानि स्कन्धधात्वायतनान्येकसमरसीभूतानि बिन्दुशून्यो भवति। स च बिन्दुरच्युतः सन् परमाक्षर उच्यते। परमाक्षरोऽप्यकारोऽकारसंभवः सम्यक्संबुद्धः प्रज्ञोपायात्मको वज्रसत्त्वो नपुंसकपदं सहजकाय उच्यते ज्ञानज्ञेयात्मकः, हेतुफलयोरभेद्यत्वात्। स च कालचक्रो भगवान् परमाक्षरसुखपदमित्युक्तं भगवता नामसंगीत्यां वज्रधातुमहामण्डलस्तवे प्रथमश्लोकेन—

तद्यथा भगवान् बुद्धः संबुद्धोऽकारसंभवः।
अकारः सर्ववर्णाग्र्यो महार्थः परमाक्षरः॥ इति।

(ना० सं० ५.१)

तथा कृत्यानुष्ठानज्ञानस्तवे द्वितीयश्लोकेनोक्तम्, तद्यथा—

सर्वमन्त्रार्थजनको महाबिन्दुरनक्षरः।
पञ्चाक्षरो महाशून्यो बिन्दुशून्यः षडक्षरः॥ इति।

(ना० सं० १०.२)

तथा मूलतन्त्रेऽप्युक्तम्, तद्यथा—

आदिकादिसमायोगो वज्रसत्त्वस्य विष्टरः।
अक्षरोद्भवकायस्य हुंकाराद्यं न चेष्यते॥ इति।

अनेनाक्षरोत्पन्नस्य क्षरनिधनगतस्यास्य दिव्येन्द्रियस्येति क्षर उत्पादनिरोधावस्थालक्षणश्च्युतिक्षणः, स यस्य निधनं गतः, स परमाक्षरोऽच्युतक्षणः काल इत्यभिधीयते। तदेव वज्रज्ञानमिति। [1]तस्य कालस्य निरावरणं स्कन्धधात्वायतनं चक्रं त्रिभवस्यैकत्वं निरावरणं ज्ञेयमिति। तदेव वज्रधातुमहामण्डलमित्युच्यते सर्वाकारं सर्वेन्द्रियं बिन्दुरूपं विश्वमायाधरं भगवतः शरीरं प्रज्ञोपायात्मकमित्युक्तं भगवता तन्त्रराजे पञ्चमपटले पञ्चाकारस्तवे द्वितीयवृत्तेन। तद्यथा—

कालं विश्वादि वज्रं पुरुषमनुपमं सर्वगं निष्प्रपञ्चं
कूटस्थं कर्णनासामुखनयनशिरः सर्वतः पाणिपादम्।
भूतान्तं भूतनाथं त्रिभुवनवरधृक् कारणं कारणानां
विद्याद्यं योगगम्यं परमसुखपदं कालचक्रं नमस्ये॥ इति।

(का० त० ५.२४५)

---

१. च. तुल्य।

तथापराध्यात्मविद्याप्युक्ता भगवताऽध्यात्मपटले [1]षण्णवतिमेन वृत्तेन—

साङ्गो वेदो न विद्या स्मृतिमतसहितस्तर्कसिद्धान्तयुक्तः
शास्त्रं चान्यद्धि लोके कृतमपि कविभिर्व्यासवैश्वानराद्यैः।
विद्येत्यध्यात्मविद्याक्षरमपि मुनिभिः प्रोक्तमेवात्र लोके
5 त्रैलोक्यं यत्र कृत्स्नं भवति नरपते लीयते यत्र भूयः॥ [187b]इति।
(का० त० २.९६)

पुनः स एव कालचक्रो भगवान् प्रज्ञोपायात्मको ज्ञेयज्ञानसम्बन्धेनोक्तः। अत्र परमाक्षरज्ञानं सर्वावरणक्षयहेतुभूतं काल इत्युक्त उपायः। ज्ञेयं त्रैधातुकमनन्तभावलक्षणं चक्रम्, तदेव प्रज्ञा। ज्ञानज्ञेययोरेकत्वं कालचक्रमिति। उक्तं भगवता तन्त्रराजे पञ्चमपटले
10 त्रिषष्टितमेन वृत्तेन कालचक्रस्य चक्रम्। तद्यथा—

बुद्धक्षेत्राण्यनन्तान्यपरिमितगुणा धातवश्चाम्बराद्याः
स्थित्युत्पत्ती विनाशस्त्रिविध इति भवः षड्गती सर्वसत्त्वाः।
बुद्धाः क्रोधाः सुराद्याः सकरुणहृदया बोधिसत्त्वाः सभार्या
एतच्चक्रं जिनस्य त्रिभुवननमितस्यैकमेकस्य शम्भोः॥ इति।
15 (का० त० ५.६३)

कालस्य ज्ञानरूपस्य ज्ञेयलक्षणं चक्रम्, अनयोर्ज्ञानज्ञेययोरेकत्वं कालचक्रमिति। अनेनोक्तक्रमेण स एव कालचक्रो भगवानेवंकारो वज्रसत्त्वः सर्वतन्त्रेषु संगीतो जिनैः। उक्तं भगवता मूलतन्त्रे पञ्चमे पटले—

अभेद्यं सर्वतो ज्ञानं वज्रमित्यभिधीयते।
20 त्रिभवस्यैकता सत्त्वो वज्रसत्त्व इति स्मृतः॥

तस्मादस्याक्षरोत्पन्नस्य सर्वाकारस्य बिन्दोः सहजकायस्य सकलजिनपतेर्विश्वमायाधरस्याधाराधेयसम्बन्धो नेष्यते महामुद्रासिद्धयर्थम्। यथा लौकिकसिद्धिसाधनार्थमाधाराधेयसम्बन्ध इष्यते, तथा परमाक्षरसुखसाधनाभिरतेन योगिना, सद्गुरूपदेशलब्धेन, दुष्टसङ्गपरिवर्जितेन, धूमादिनिमित्तभावितेनादिकर्मिकेण, मध्यमाविशोधितेन,
25 सकलसत्त्वैकपुत्रवत् परमस्नेहानुबद्धचित्तेन, लौकिकलोकोत्तरसत्याश्रितेन, पुत्रकलत्रादिस्वशरीरनिरपेक्षकेण, मठविहारगुरुद्रव्योपभोगबाह्यभूतेन, बुद्धबोधिसत्त्वमार्गाश्रितेन, मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाचतुर्ब्रह्मविहारविहारिणा, शान्तिकर्मादिलौकिकसिद्धिसाधनाभिलाषवर्जितेन, सर्वज्ञपदवीमारोढुकामेन, मण्डलचक्रादिविकल्पभावनापरित्यक्तेन, आकाशगतौ सर्वाकारशून्यता-आदर्शप्रतिसेनावदनुत्पन्नधर्मावलोकितेन,

---

१. च. पञ्च। (इदमत्रावधेयम्—टीकायामुद्धृता श्लोकसंख्या मुद्रितग्रन्थानुसारिणी भोटानुसारिणी चात्र दीयते, च. मातृकायां प्रदत्ता संख्या टिप्पण्यां धृतास्ति। एवं सर्वत्राग्रेऽपि।)

स्वचित्तस्फरणप्रतिभासस्वप्नसदृशार्थचित्तेन, परमाणुसन्दोहात्मकधर्मविचारशून्येन, उच्छेदशून्यतादूरीकृतेन, अध्यात्मसुखस्वसंवेद्यधर्मानुरक्तेन, बाह्येन्द्रियस्वसंवेद्यसुखधर्मपरित्यक्तेन, प्रज्ञोपायात्मकेन, बोधिचित्तस्थिरीकरणैकदक्षेण, परमाक्षरमहासुखप्रज्ञाज्ञानमार्गोपदेशलब्धेन आधाराधेयचिह्नवर्णभुजसंस्थानमण्डलदेवतापरिकल्पनाधर्मो नेष्यत इति।   T 434   5

अथ विकल्पचित्तान्मण्डलचक्रस्य स्थितिर्नास्ति। कस्मात् ? उत्पादनिरोधधर्मित्वात्। इहोपस्थितक्षणे नायकं भावयेद् योगी। तस्मिन् क्षणे पूर्वादीनां देवतानामभावः। यस्मिन् क्षणे पूर्वदेवतां भावयेत्, तस्मिन् क्षणे नायकादीनामभावः। एवं क्रमेण सर्वासां देवतानामभावः। [188a] यदा नीलमुखं भावयेत् तदा रक्तादीनां मुखानामभावः। यदा रक्तमुखं भावयेत् तदा नीलादीनामभावः। एवं क्रमेण सर्वेषां मुखानामभावः। यस्मिन् क्षणे वज्रचिह्नं भावयेत् तस्मिन् क्षणे खड्गादीनां चिह्नानामभावः। यस्मिन् काले खड्गचिह्नं भावयेत् तस्मिन् काले वज्रादीनां चिह्नानामभावः। एवं क्रमेण सर्वेषां चिह्नानामभावो भवति। कथम् ? यथा घटज्ञाने निरुद्धे सति पटज्ञानमुत्पद्यते, तथा मण्डलनायकज्ञाने निरुद्धे सति पूर्वदेवताज्ञानमुत्पद्यते। एवमुत्पादितानामुत्पादनिरोधादभावः, अनुत्पादितानामनुत्पादादभावः, उत्पादानुत्पादयोरभावात् सर्वाभाव इति। तस्माद्योगिना महामुद्रासिद्ध्यर्थं विकल्पभावना न कर्तव्येति। उक्तं च भगवता **नामसंगीत्यां सुविशुद्धधर्मधातुज्ञानस्तवे पञ्चदशमेन श्लोकेन।** तद्यथा—   10   15

> सिद्धार्थः सिद्धसङ्कल्पः सर्वसङ्कल्पवर्जितः।
> निर्विकल्पोऽक्षयो धातुर्धर्मधातुः परोऽव्ययः॥ इति।
> (ना० सं० ६.१५)   20

वज्रसत्त्वाहङ्कारोऽपि न कर्तव्यः। तत्रैव स्तवे [1]द्वादशमेन श्लोकेनोक्तं भगवता—

> विद्याचरणसम्पन्नः सुगतो लोकवित् परः।
> निर्ममो निरहङ्कारः सत्यद्वयनये स्थितः॥
> (ना० सं० ६.१२)   25

अतस्तथागतवचनाद् विकल्पभावना वज्रसत्त्वाहङ्कारोऽपि परमार्थसत्याश्रितेन योगिना न कर्तव्य इति।

ननु तत्त्वविदा भगवता तथागतेनोक्तं **सर्वतन्त्रराजेषु**—प्रथमं तावद्रक्षाचक्रं [2]भावयेत्। ततः स्वहृदयचन्द्रमण्डले देवताबीजाक्षरं ध्यात्वा विमोक्षमुखादिशुद्धिं कृत्वा गगनतले ज्ञानबीजरश्मिभिस्तथागतान् बोधयित्वा तेषां पूजां कृत्वा पापदेशनां पुण्यानुमोदनां त्रिशरणगमनमात्मभावनिर्यातनं बोधिचित्तोत्पादनं मार्गाश्रयणं शून्यतालम्बनं करोति मन्त्री। ततो धर्मोदयमाकाशधातुस्वभावं भावयेत्, तन्मध्ये [3]हूंकारपरिणतां   30

---

१. च. भो. त्रयोद । २. च. 'भावयेत्' नास्ति । ३. च. हं ।

वज्रभूमिम्। अथ प्रज्ञातन्त्राभिप्रायेण वाय्वादिमण्डलानि सुमेरुपृष्ठे कूटागारं वज्रपञ्जरं वा। ततः कायवज्रपरिणतं मण्डलं सर्वलक्षणसंपूर्णं चन्द्रादित्यासनैर्युक्तम्। अथ मध्ये [1]पंकारपरिणतं पद्ममकारपरिणतं चन्द्रमण्डलं रेफपरिणतं सूर्यमण्डलं वा। तदुपरि चन्द्रादित्यालिकालिज्ञानबीजाक्षरैरादर्शसमताप्रत्यवेक्षणाकृत्यानुष्ठानसुविशुद्धधर्मधातुपञ्च- ज्ञानात्मकं देवताबिम्वं भावयेत्। ततः प्रज्ञारागद्रुतं कायवाक्चित्तवज्रं देवीभि- र्वज्रगीतिकाभिः प्रबोधितं पुनः कायवाक्चित्ताधिष्ठितं स्वचिह्ननिष्पन्नम्। ततो मण्डले देवतागणोत्सर्जनं ज्ञानचक्राकर्षणं प्रवेशनं वन्धनं तोषणं समयमण्डलेन समरसी- करणं सर्वतथागतदेवीभिरभिषिञ्चनं वज्रमुकुटालङ्कारयुक्तं वज्रसत्त्वाहङ्काररूपमात्मानं भावयेन्मन्त्रीति।

इह कथं मण्डलचक्रभावना विकल्पभावनेति प्रतिषेधस्तथागतवचनस्यो[188b]- क्त इति, इह केषाञ्चिदभिप्रायो भविष्यति, तस्मादुच्यते—इह हि सत्यमेतत् तत्त्व- विदा भगवता लोकसंवृतिसत्यमाश्रित्य सत्त्वाशयवशाद्बालमतीनां हीनवीर्याणां पारमार्थिक- तत्त्वापरीक्षकाणां गम्भीरोदारज्ञानत्रस्तचित्तानां शान्तिकादिकर्मसाधनाभिरताना- मिन्द्रियविषयोपभोगासक्तानां खड्गगुटिकाऽञ्जनरसरसायनलौकिकसिद्धिसाधना- भिलाषिणां प्रतीत्यसमुत्पन्नं ज्ञानं प्रतीत्यसमुत्पन्नेन्द्रियगोचरं प्रादेशिकं प्रादेशिकार्थ- क्रियासमर्थमुक्तमिति। तस्मात् प्रादेशिकार्थक्रियासमर्थत्वात् परमार्थसत्याश्रितम्, तेनेदं तथागतवचनमिति। किन्तु यथा तथागतेनोक्तं प्रादेशिकार्थक्रियासमर्थानां विकल्प- ध्यानमन्त्रमणिपाषाणखड्गगुटिकारसरसायनादिद्रव्याणां प्रादेशिकानामप्यतर्क्यः प्रभावः। तथा च दृश्यते स इह शुक्लध्यानं शान्तरूपं शान्तिकर्म करोति न मारणादिकं कर्म करोति, एवं कृष्णध्यानं रौद्ररूपं मारणं करोति न वश्यादिकं करोति। तथा रक्तध्यानं रागरूपं वश्यं करोति न स्तम्भनादिकं करोति। तथा पीतध्यानं स्तब्धरूपं स्तम्भनं करोति न शान्तिकादिकं करोति। एवं विषस्यापि ज्ञातव्यम्। शुक्लध्यानं ललाटे विन्दुरूपं [2]विषं निर्विषं करोति, रक्तध्यानं विपक्षोभणं करोति, कृष्णध्यानं विषसंक्रामणं करोति, पीतध्यानं विषस्तम्भनं करोतीति प्रादेशिकविकल्पध्यानं प्रादेशिकार्थक्रियां करोति, एवं मणिमन्त्रौषध्योऽपि वेदितव्याः।

इह मन्त्रोऽपि साधितः सन् यः शान्तिं करोति स मारणादिकर्म न करोति। यो मारणं करोति स वश्यादिकं न करोति। यो वश्यं करोति [स] स्तम्भनादिकं न करोति। यः स्तम्भनं करोति स शान्तिकादिकं न करोति। अतो लौकिकं ज्ञानं लोकोत्तरसर्वज्ञार्थक्रियासमर्थं न भवतीति। एवं खड्गादिकं सिद्धमपि सन्न भगवतोक्तम्। एकोऽपि मन्त्रः साधितः सर्वकर्माणि करोति, कथं प्रादेशिको भवतीति? इह कस्यचि- दभिप्रायो भविष्यति। तस्मादुच्यते—इह एकोऽपि मन्त्रः साधितः सर्वकर्माणि करोति नैतदेव प्रमाणम्। कस्मात्? क्रियाभेदात्। इहैकस्यापि मन्त्रस्य क्रियाभेदेन भेदोऽस्ति, स च तथागतेनोक्तः। तथाहि—शान्तिके नमोऽन्तो मन्त्रजापः, पौष्टिके स्वाहान्तः, आकृष्टौ

---

१. च. वंकार। २. भो. 'विषं' नास्ति।

वौषडन्तः, विद्वेषे हूंकारान्तः, वश्ये वषडन्तः, मारणे फडन्तः। एवं होमकार्येऽपि कुण्ड- T 435
भेदेन भेद उक्तः। इह वृत्ते कुण्डे उदुम्बरादिक्षीरवृक्षसमिद्भिर्दूर्वादुग्धैर्हुतो मन्त्रः शान्ति
करोति, न पौष्ट्यादिकं कर्म करोति। चतुरस्रकुण्डे पूर्वोक्तसमिद्भिः सस्याज्यैर्हुतः
पौष्टिकं करोति, न मारणादिकं करोति। चापाकारे कुण्डेऽस्थिसमिद्भिर्नरमांसविषरक्तैर्हुतो
मारणं करोति, नोच्चाटनादिकं करोति। पञ्चकोणे कुण्डे काकपिच्छैर्नरवसाराजिकाभि- 5
[189a]र्हुत उच्चाटनं करोति, न वश्यादिकं करोति। सप्तकोणे कुण्डे किंशुकसमिद्भी
रक्तपुष्पैर्वज्रोदकेन हुत आकृष्टिं करोति, न वश्यादिकं करोति। त्रिकोणे कुण्डे खदिर-
समिद्भिः स्वेदविल्वपुष्पैर्हुतो वश्यं करोति, न स्तम्भनादिकं करोति। [1]षट्कोणे कुण्डे
विल्वसमिद्भिर्नैर्माल्यश्मेष्मभिर्हुतः स्तम्भनं करोति, न मोहनादिकं करोति। [2]अष्ट-
कोणे कुण्डेऽर्कसमिद्भिः कनककुसुममद्यैर्हुतो मोहनं करोति, न शान्तिकादिकं करोतीति। 10
एवं रजोभेदेन भेद उक्तः। शान्तिके पौष्टिके श्वेतरजः, मारणोच्चाटने कृष्णरजः, वश्या-
कर्षणे रक्तरजः, स्तम्भने मोहने पीतरजः, प्रत्युज्जीवने हरितरजः। तथाऽक्षसूत्रभेदेन
भेद उक्तः। शान्तिके स्फाटिकाक्षसूत्रेण मन्त्रजापः, पौष्टिके मुक्ताफलाक्षसूत्रेण, मारणे
नरदन्ताक्षसूत्रेण, उच्चाटने उष्ट्रदन्ताक्षसूत्रेण खरदन्ताक्षसूत्रेण वा, वश्ये पुत्रजीवाक्षसूत्रेण,
आकृष्टौ पद्मबीजाक्षसूत्रेण रक्तचन्दनाक्षसूत्रेण वा, स्तम्भने रुद्राक्षसूत्रेण, मोहनेऽरिष्टाक्ष- 15
सूत्रेण, प्रत्युज्जीवने मरकताक्षसूत्रेण मन्त्रजाप इति। एवं साधितानामपि मन्त्रौषधि-
मणिखड्गरसरसायनादिसिद्धद्रव्याणां प्रादेशिको गुणोऽस्ति, न परमाक्षरज्ञानगुणोऽस्ति।
इह त्रिसाहस्रमहासाहस्रलोकधातुषु बुद्धक्षेत्रे यथा भगवाननेकनिर्माणकायैर्नानारुतैर्युग-
पत् सत्त्वार्थं करोति, तथैभिः प्रादेशिकैः साधितैरपि योगी सर्वसत्त्वार्थं कर्तुं न शक्नोति,
प्रादेशिकत्वात्। उक्तं भगवता **नामसंगीत्यां** प्रत्यवेक्षणाज्ञानस्तवे प्रथमश्लोकत्रयेण। 20
तद्यथा—

तथता भूतनैरात्म्ये भूतकोटिरनक्षरः।
शून्यतावादी वृषभो गम्भीरोदारगर्जनः॥

धर्मशङ्खो महाशब्दो धर्मगण्डी महारणः।
अप्रतिष्ठितनिर्वाणो दशदिग्धर्मदुन्दुभिः॥ 25

अरूपो रूपवानग्र्यो नानारूपमनोमयः।
सर्वरूपावभासश्रीरशेषप्रतिबिम्बधृक् ॥ इति।
(ना० सं० ८.१–३)

तथा **तन्त्रराजे**ऽपि पञ्चमे ज्ञानपटले सप्तनवतिमेन वृत्तेन सर्वज्ञभाषा भगवतोक्ता।
तद्यथा— 30

तिर्यक्प्रेतासुराणामुरगसुरनृणामार्यभोटादिकानां
भूतेष्यद्वर्तमानं त्रिविधमपि सदा सत्यधर्मं ब्रुवन्ती।

१. भो. Zur brGyad Paḥi (अष्टकोणे)। २. भो. Zur Drug Paḥi (षट्कोणे)।

मार्गे संस्थापयन्ती त्रिभवमविकलं स्वस्वभापान्तरेण
एषा सर्वज्ञभाषा समसुखफलदा देवभाषा न च स्यात् ॥ इति ।
(का० त० ५ ९७)

पुनस्तत्रैव पटले तस्य पृष्ठवृत्तेन सर्वज्ञकायवाक्कृत्यमुक्तम् । तद्यथा—

5 एकं पश्यन्त्यनेकं प्रणिधिगुणवशात् शान्तरागादिभावै-
श्चक्रस्थं पूर्वजन्मस्वहृदयजनितैर्वासनाया बलेन ।
एकार्थानेकभाषा प्रविशति हृदयं प्राणिनां स्वस्वभावै-
श्चक्रस्थः पिण्डपातं व्रजति विहरितुं स्था(ता)यिनां पुण्यहेतोः ॥ इति ।
(का० त० ५.९६)

10 इह यथा सर्वाकारं सर्वज्ञकायवाक्चित्तज्ञानं निर्विकल्पं सर्वार्थक्रियासमर्थं भवति, तथा विकल्पध्यानमन्त्रादिकं साधितमपि सर्वज्ञार्थक्रियासमर्थं योगिनां न भवतीति । एवं पृथिव्यादिकृत्स्नमपि साक्षात्कृतं वीतरागैः प्रादेशिकं भवति । कस्मात् ? प्रादेशिकर्द्धिस्फ[189b]रणात् । इह यो वीतरागः पृथ्वीकृत्स्नं साक्षात्करोति, स पृथ्वीकृत्स्नं स्फारयेत्, न तोयादिकृत्स्नं स्फारयितुं समर्थः । एवं प्रत्येककृत्स्नमपि वेदितव्यम्, शून्य- 15 कृत्स्नं यावदेव । इह मण्डले[1]वज्री यः समाजमण्डलं स्फारयेत्, स चक्रसंवरादिकं स्फारयितुं न शक्नोति । यश्चक्रसंवरं स्फारयेत्, स समाजादिकं स्फारयितुं न शक्नोति, प्रादेशिकत्वादिति । अथ कस्यचिदभिप्रायो भविष्यति—इहैकस्मिन् मण्डलचक्रे साक्षात्कृते सति सर्वमण्डलचक्राणि त्रैधातुकमपि साक्षात्कृतं भवति, नान्यत् त्रैधातुकं स्कन्धधात्वायतनमण्डलचक्रबाह्यमस्तीति । तस्मादुच्यते—इह हि यद्येके साक्षात्कृते सति 20 धातुकृत्स्ने मण्डलचक्रे वा त्रैधातुकं साक्षात्कृतं भवति, सर्वज्ञतादिकं च भवति, तदा सर्वज्ञपदप्राप्तये सर्वज्ञता-सर्वाकारज्ञता-मार्गज्ञता-मार्गाकारज्ञता-साक्षात्करणं नाम न स्यात्, एकेऽपि पृथिव्यादिकृत्स्ने साक्षात्कृते सति मण्डलचक्रे वा साक्षात्कृते सम्यक्संबुद्धत्वं भवति, श्रावकप्रत्येकबुद्धत्वसिद्धत्वं नाम न स्यात् । इह यथा यानत्रये भगवतो वाक्यं श्रूयते–अमुकबुद्धक्षेत्रेऽमुकलोकधातावमुकस्य पुत्रोऽमुककुलेऽमुककल्पे द्वात्रिंशन्महापुरुषलक्षणोऽशीत्यनु- 25 व्यञ्जनालङ्कृतः षडभिज्ञस्तथागतोऽभूत् । अमुकस्थानेऽभिसंबुद्धोऽमुकस्थाने विहरति, धर्मचक्रप्रवर्तनं करोति, नानाधिमुक्तिकानां सत्त्वानां नानारुतैरमुकधर्मं देशयति, अमुकस्थाने महाधातुसंदर्शनं कृत्वा परिनिर्वृतः । एषां धातूनां महातिशयप्रातिहार्यं T 436 दृष्ट्वा देवासुरमनुष्यैस्ते धातवः [2]पूज्यन्ते, न तथाऽमुकबुद्धक्षेत्रेऽमुकलोकधातावमुककल्पे द्वात्रिंशन्महापुरुषलक्षणोऽशीत्यनुव्यञ्जनः षडभिज्ञो योगी जातोऽमुकस्थानेऽभिसम्बुद्धोऽ- 30 मुकदेशे विहरति, अमुकस्थाने धर्मचक्रप्रवर्तनं करोति, नानाधिमुक्तिकानां सत्त्वानां नानारुतैरमुकधर्मं देशयति, त्रिसाहस्रमहासाहस्रलोकधातुषु युगपत् काय-ऋद्धि दर्शयति, अमुकस्थाने महाधातुसंदर्शनं कृत्वा परिनिर्वृतः । तेषां धातूनां महातिशयस्फरणं

१. भो. ḥKhor Lo Can (चक्री) । २. च. पूर्यन्ते ।

दृष्ट्वा देवासुरमनुष्यैर्धातवः [1]पूज्यन्ते। तस्माद्योगी संबुद्धो न भवत्येकस्मिन् मण्डलचक्रे साक्षात्कृते। कस्मात्? धर्मचक्रप्रवर्तनाभावात्, तथागताव्याकरणात्। इह यथा मैत्रेयनाथस्तथागतेन व्याकृतस्तथागतत्वेन ऐष्यत्काले भविष्यत्यन्ये भस्मेश्वरादयो व्याकृतास्तथागतेन सम्यक्संबुद्धा भविष्यन्ति; न तथा कश्चिद्योगी एकमण्डलचक्रे साक्षात्कृते सम्यक्सम्बुद्धो भविष्यतीति भगवान् व्याकरोति। किन्तु सत्त्वाशयवशाद् मण्डलचक्रभावना भगवतोक्ता खड्गगुलिकाञ्जनरसरसायनादिलौकिकसिद्धिसाधनार्थम्। तस्मान्मण्डलचक्रदेवतासाक्षात्करणात् खड्गादयः सिद्धयः सिद्धयन्ते साधकस्य, न सर्वज्ञता सिद्धयति। यदि [2]सर्वज्ञता सिद्धयते मण्डलचक्रभावनाबलेन तदा किमर्थं सिद्धा इह भगवतो वाक्यं स्वग्रन्थे प्रतिपादयन्ति। अतो लौकिकसि[190a]द्धयः सर्वज्ञगुणदायिका न भवन्ति, प्रादेशिक[3]वचनात्, सर्वज्ञभाषाभावात्, सावरणकायऋद्धिसंदर्शनात्। सावरणे धर्मे साक्षात्कृते योगी सर्वज्ञो न भवति, तस्मान्निरावरणे धर्मे साक्षात्कृते सति योगी सर्वज्ञो भवति, निरावरणधर्मलक्षणात्। सर्वज्ञस्य दिव्यं चक्षुर्दिव्यं श्रोत्रं परचित्तज्ञानं पूर्वनिवासानुस्मृतिः सर्वर्द्धिः सर्वास्रवक्षयः स्थानास्थानज्ञानबलं कर्मविपाकज्ञानबलम् एकानेक[4]धातुज्ञानबलम् इन्द्रियपरापरज्ञानबलं नानाधिमुक्तिज्ञानबलं दुःखनिरोध[5]धर्मगामिनीप्रतिपज्ज्ञानबलं संक्लेशव्यवदानज्ञानबलम् अनेकजन्मावदानज्ञानबलं सर्वाभिज्ञाज्ञानबलम् आस्रवक्षयज्ञानबलं भवतीति। तथा समन्तप्रभा महासूर्यमण्डलवर्चसा भूमिः, अमृतप्रभा महाचन्द्रप्रभास्वरा भूमिः, गगनप्रभा गगनवत्सुप्रतिष्ठिता भूमिः, वज्रप्रभा मनोरमा भूमिः, रत्नप्रभा अभिषेकप्रतिष्ठिता भूमिः, पद्मप्रभा स्वभावशुद्धधर्मनिर्मला निष्परिग्रहा भूमिः, बुद्धकर्मकरी भूमिः, अनुपमा भूमिः, उपमा सर्वोपमा प्रतिवेधतो(धिता) भूमिः, प्रज्ञाप्रभाऽनुत्तरा भूमिः, सर्वज्ञता महाप्रभास्वरा भूमिः, प्रत्यात्मवेद्या योगिज्ञानप्रपूरिका भूमिरिति। [6]तथागतस्य नास्ति स्खलितम्, नास्ति नदितम्, नास्ति मुषिता स्मृतिः, नास्त्यसमाहितं चित्तम्, नास्ति नानात्वसंज्ञा, नास्त्यप्रतिसंख्योपेक्षा, नास्ति छन्दस्य परिहाणिः, नास्ति वीर्यस्य परिहाणिः, नास्ति स्मृतेः परिहाणिः, नास्ति समाधेः परिहाणिः, नास्ति प्रज्ञायाः परिहाणिः, नास्ति मुक्तिज्ञानदर्शनस्य परिहाणिः। अतीतेऽध्वन्यप्रतिहतमसङ्गमप्रणिहितं ज्ञानं दर्शनं च प्रवर्तते, अनागतेऽध्वन्यप्रतिहतमसङ्गमप्रणिहितं ज्ञानं दर्शनं प्रवर्तते, प्रत्युत्पन्नेऽध्वन्यप्रतिहतमसङ्गमप्रणिहितं ज्ञानं दर्शनं प्रवर्तते। सर्वं कायकर्म ज्ञानपूर्वङ्गमं ज्ञानानुपरिवर्ति, सर्वं वाक्कर्म ज्ञानपूर्वङ्गमं ज्ञानानुपरिवर्ति, सर्वं मनस्कर्म ज्ञानपूर्वङ्गमं ज्ञानानुपरिवर्तीति। अतः सर्वत्र सर्वकालं समतायां सुप्रतिष्ठितः शून्यतायां समनुगतत्वात् प्रज्ञापरिशुद्धस्तथागतो भवति, निरावरणलक्षणात्। न पुनः सावरणः प्रज्ञापरिशुद्धः कश्चिदेको मण्डलचक्र[7]रूपदेवतासंख्यावर्णभुजसंस्थानविकल्प[8]परिशुद्धिस्फरणाद् वज्रसत्त्वो दशबलो भवतीति, किन्तु

१. च. पूर्यन्ते। २. भो. sGrub Pa Po (साधकस्य) इत्यधिकम्। ३. भो. 'वचन' नास्ति। ४. भो. 'धातु' नास्ति। ५. भो. 'धर्म' नास्ति। ६. भो. De bSin Du (तथा) इत्यधिकम्। ७. च. 'रूप' नास्ति। ८. भो. dZu ḥPhrul (ऋद्धि)।

सर्वज्ञमार्गनष्टो मिथ्याहङ्कारामिभूतः सन्नहमपि वज्रसत्त्वो दशबल इत्येवं मन्यते। नायं दशबलो दशबलान्यप्रतिबलः प्रादेशिको महामूर्खः। अस्यापूर्वमिह बुद्धत्वं महाऽत्यद्भुतं योगिनः सर्वावरणतः। उक्तं भगवता प्रत्यवेक्षणाज्ञानस्तवे नवमश्लोकेन **नामसंगीत्याम्**—

5 त्रिदुःखदुःखशमनस्त्र्यन्तोऽनन्तस्त्रिमुक्तिगः।
सर्वावरणनिर्मुक्त आकाशसमतां गतः॥ इति।

(ना० सं० ८.९)

अतो भगवतो वचनाद् [190b] विकल्परूपभावनाबलेन योगी सर्वज्ञो न भवतीति।

10 ननु तथागतेनोक्तं सर्वतन्त्रराजेषु [1]पञ्चस्कन्धा वैरोचनादयो बुद्धाः, धातवो देव्यः, लोचनादयो षडिन्द्रियाणि, क्षितिगर्भादयो बोधिसत्त्वा विषयाः, रूपवज्रादयो देव्यः, मोहवज्रादयो यमान्तकादयः क्रोधराजानः। तस्मात् सत्त्वानां कायो बुद्धनिर्माणकाय इति केषाञ्चिदभिप्रायो भविष्यति। तस्मादुच्यते—इह हि यद्वक्तव्यं मूर्खैः सत्त्वानां कायो बुद्धनिर्माणकाय इति। नैतद्वचनं तथागतस्य, यत् परीक्षमाणं विघटयति। परमार्थसत्ये 15 यदि सत्त्वानां कायो बुद्धनिर्माणकाय इति चेत्, त्रैधातुकस्थाः सर्वे सत्त्वाः सम्यक्सम्बुद्धाः प्रागभूवुः। बुद्धत्वाय श्रुतचिन्ताभावनादानादिक्रिया वृथा स्यात्, प्राक् सम्यक्सम्बुद्धत्वात्। सर्वसत्त्वानामुत्पादनिरोधो न स्यात्। संसारे [2]सुखदुःखक्षुत्पिपासादयो बाधा न स्युः। T 437 षडभिज्ञादयो बुद्धगुणविभूतयश्च भवेयुः। न चैतद् दृष्टं श्रुतमनुमितं तथागतव्याकृतम्, तस्माद् बुद्धगुणाभावात् सत्त्वा बुद्धा न भवन्ति, संसारे सुव्यवस्थितत्वादिति। उक्तं 20 भगवता **नामसंगीत्यां** सुविशुद्धधर्मधातुस्तवे त्रयोदशमेन श्लोकेन। तद्यथा—

संसारपारकोटिस्थः कृतकृत्यस्थले स्थितः।
कैवल्यज्ञाननिष्ठ्यूतः प्रज्ञाशस्त्रो विदारणः॥ इति।

(ना० सं० ६.१३)

अतस्तथागतवचनात् सत्त्वानां कायो बुद्धनिर्माणकायो न भवति।

25 ननु तथागतेनोक्तं भावनाभ्यासवशात् स्कन्धधात्वायतनादिकं मण्डलचक्राकारं भविष्यति, तेनैव बुद्धत्वं चेति कस्यचिदभिप्रायो भविष्यति ? तस्मादुच्यते—इह हि यद्वक्तव्यं बालजनैरभ्यासवशात् स्कन्धधात्वायतनादिकं मण्डलचक्राकारं भविष्यति, तेनैव बुद्धत्वं च तथागतेनोक्तम्। तन्न, [3]पुण्यज्ञानसंभाराभावात्। इह हि यदि योगिनां पुण्यज्ञानसंभारं विना भावनाभ्यासबलेन स्कन्धधात्वायतनादिकं मण्डलचक्राकारं 30 भविष्यति, विकल्पभावनाभ्यासबलेन [4]सम्बुद्धत्वं च भवति, तदाऽन्योऽपि [5]द्रव्यहीनो

---

१. भो. 'पञ्च' नास्ति। २. च. 'सुख' नास्ति। ३. भो. Gaṅ Gi Phyir (यतः) इत्यधिकम्। ४. भो. बुद्धत्वं। ५. भो. bSod Nams dMan Pa (पुण्यहीनो)।

राजाऽहमिति चिन्तयेत्, सोऽप्यभ्यासवशाद् राजा भविष्यति। पुण्यसम्भारं विना न चैतद् दृष्टम्, यथा मिथ्याविकल्पेन पुण्यसम्भारहीनोऽनेककल्पैरभ्यासवशाद् राजा न भविष्यति, ततो पुण्यज्ञानहीनो विकल्पाभ्यासवशादनेककल्पैर्योगी सम्यक्सम्बुद्धो न भवति, पुण्यज्ञानाभावादिति। उक्तं भगवता सुविशुद्धधर्मधातुस्तवे [1]षोडशमेन श्लोकेन। [2]तद्यथा—

पुण्यवान् पुण्यसंभारो ज्ञानं ज्ञानाकरं महत्।
ज्ञानवान् सदसज्ज्ञानी संभारद्वयसंभृतः॥ इति।
(ना० सं० ६.१६)

अतो भगवतो वचनात् पुण्यज्ञानहीनो विकल्परूपभावनाभ्यासवशाद् बुद्धो न भवतीति।

ननु यदि रूपभावना विकल्पः, विकल्पाद्योगी बुद्धो न भविष्यतीति तदा किमर्थमिदं शरीरं मण्डलचक्रदेवतागणैर्विशोधनीयमिति तथागतवचनमिति कस्यचिदभिप्रायो भविष्यति ? तस्मादुच्यते—इह सत्यमेतत्, समयभाषया तथागतेन प्रत्येकं वैरोचनादिकं तदुद्दिष्टम्, न पुनर्घटपटशब्दवद् वाच्यवाचकभा[191a]वेन स्वरूपतः। स्त्रीन्द्रियं पद्मम्, पुरुषेन्द्रियं वज्रम्, गूथो वैरोचनः, मूत्रमक्षोभ्यः, रक्तं रत्नसम्भवः, शुक्रममिताभः, मांसममोघसिद्धिः, किन्तु पञ्चतथागतानां नामभिः पञ्चामृतानां संज्ञा उक्ताः, न पुनः परमार्थयुक्तितो देवताः। तस्माद् देवताकायो वक्तुं न शक्यते पूतिशरीरमिदम्, असारत्वादिति। उक्तं भगवता **नामसंगीत्यां** सुविशुद्धधर्मधातु[3]ज्ञानस्तवे विंशतिमादिश्लोकत्रयेण। तद्यथा—

घनैकसारो वज्रात्मा सद्योजातो जगत्पतिः।
गगनोद्भवः स्वयम्भूः प्रज्ञाज्ञानानलो महान्॥

वैरोचनो महादीप्तिर्ज्ञानज्योतिर्विरोचनः।
जगत्प्रदीपो ज्ञानोल्का महातेजा प्रभास्वरः॥

विद्याराजोऽग्रमन्त्रेशो मन्त्रराजमहार्थकृत्।
महोष्णीषोऽद्भुतोष्णीषो विश्वदर्शी वियत्पतिः॥ इति।
(ना० सं० ६.२०-२२)

अतो भगवतो वचनात् प्रादेशिककायो बुद्धकायो न भवतीति।

ननु तथागतो यदि रूपी न भवति, तदा गर्भावक्रमणं कुमारक्रीडा सर्वशिल्पसंदर्शनमन्तःपुराभिनिष्क्रमणं बोधिमण्डनिषीदनं मारमण्डलविध्वंसनं देवतावतारणं धर्मचक्रप्रवर्तनं द्वात्रिंशन्महापुरुषलक्षणान्यशीत्यनुव्यञ्जनानि धनुःप्रभामण्डलानि

---

१. च. दशमेन। २. च. 'तद्यथा' नास्ति। ३. च. 'ज्ञान' नास्ति।

चतुरीर्यापथादयो व्यापारा आकाशगमनागमनं सत्त्वार्थक्रियास्तस्य न भवन्ति। तथा भगवतो निष्पादितश्रावकसंघोऽपि न स्यात्, महापरिनिर्वाणं महातिशयप्रातिहार्यं [1]धातुसंदर्शनं न स्यात्। त्रिभुवननिवासिभिः पूज्यमानं केशदन्तमांसास्थ्यादिकं धातुस्फरणं न स्यात्। अपरमपि तथागतविकुर्वितमत्यद्भुतं रूपवतो भगवतो भवति, नारूपवतः। तस्माद् भगवतो रूपकायसाधनं मिथ्या न भवतीतीह केषाञ्चिदभिप्रायो भविष्यति। तस्मादुच्यते—इह यद्वक्तव्यं बालजनैर्भगवतो रूपकायसाधनं मिथ्या न भवति, नैतदेव सत्यम्। कस्मात्? उत्पादविनाशधर्मित्वात्। इह हि भगवतो यदि परमार्थतोऽयं गर्भोत्पादः सर्वसत्त्वार्थाय गमनागमनव्यापारो महापरिनिर्वाणधातुसंदर्शनमस्ति चेत्, तदा तथागतस्य साधनं निष्फलं भवति। कस्मात्? कायधातुसंदर्शनान्महापरिनिर्वाणाद् भगवतो रूपकायः साधितोऽप्यसाधित एव। य उत्पन्नकायो विनष्टः साधितः कथं साधकस्याक्षयं कायं करिष्यति, एवद्विपरीतं स्वयमसिद्धः परं साधयिष्यति। अथ धातुसंदर्शनं महातिशयलक्षणमस्ति, इह धातुसंदर्शने सत्यधुना द्वात्रिंशन्महापुरुषलक्षणान्यशीत्यनुव्यञ्जनानि धनुःप्रभामण्डलानि धातुपुञ्जीभूतस्य कायस्य विनष्टानि। पूर्वकायाभावाद् धातुपुञ्जे वज्रसत्त्वकायो न भवति। कायाभावेऽन्यस्य वज्रसत्त्वस्य साधनं नास्ति, इह परस्परविरोधात्। अतस्त्विनो नष्टाः, उत्पादनिरोधधर्मित्वात्। उत्पादविनाशधर्मिणो वज्रसत्त्वस्य साधनाय प्रज्ञापारमिताशून्यता-स्मृत्युपस्थान-सम्यक्प्रहाण-ऋद्धिपादेन्द्रियबल-बोध्यङ्गमार्गसत्यध्यानाप्रमाणारूप्यसमापत्तिविमोक्षमुखाभि[191b]ज्ञासमाधिधारणीबलवैशारद्यप्रतिसंविदावेणिका बुद्धधर्मा वृथा स्युः। त्रिशरणगमनं पापदेशना पुण्यानुमोदना बोधिचित्तोत्पादः पुण्यज्ञानसम्भारानेक[2]बोधिचर्या मुधा स्युः। श्रुतचिन्तामयी(य)प्रज्ञा[3]ज्ञानविशेषा निर्विशेषाः स्युः। प्रज्ञोपायमया विधयो दुर्विधयो भवेयुः। परमार्थसत्ये गम्भीरोदारधर्मप्रतीतिरप्रतीतिः स्यात्। लोकसंवृतिसत्ये लौकिकसिद्धिसाधनाय वज्रकील[4]कवचवज्रप्राकारवज्रपञ्जररक्षाचक्रादिभिरावृतं स्कन्धधात्वायतनकायवाक्चित्ताधिष्ठानमुक्तं द्वारपालन्यासं ज्ञानसत्त्वप्रवेशाभिषेकादिभिर्विहितं पञ्चप्राकारप्रभानिकरमण्डलनिर्माणलोकधातुषु तद्वैनेयानां सत्त्वानां सत्त्वार्थसंभारं सर्वपूजाप्रसरसंचयं सर्वं सर्वदा वृथा स्यात्। न चैवम्। तस्माद् उत्पादविनाशधर्मिणो वज्रसत्त्वस्य दशबलवैशारद्यादयो गुणा न च सम्भवन्तीति। किञ्चान्यत्, यदीह रूपी भगवान्, तदा एकप्रदेशस्थो गङ्गानदीवालुकोपमेषु लोकधातुष्वनेककुलपर्वतरजःसमानां सत्त्वानामर्थक्रियां कर्तुं समर्थो न भवति, रूपकायत्वात्। अथ बालमतीनां वचनं रूपकायेनाप्येकस्मिन् लोकधातौ गत्वा तत्रस्थानां सत्त्वानामर्थक्रियां कृत्वा ततोऽन्यस्मिन् लोकधातौ गच्छति, ततोऽप्यन्यत्र गमनं करोति। तदेव युक्तितो न घटयति। कस्मात्? एकस्मिन्नेव दिग्विभागे लोकधातूनां प्रमाणरहितत्वात्, किं पुनर्दशदिग्विभागे संस्थितानां लोकधातूनामनन्तानन्तसत्त्वानां रूपकायेन गत्वा [5]गत्वा सत्त्वार्थमनेककल्पैः कर्तुं न शक्यते।

---

१. भो. 'धातु' नास्ति। २. भो. Byaṅ Chub Sems dPaḥi sPyod Pa (बोधिसत्त्वचर्या)। ३. भो. 'ज्ञान' नास्ति। ४. भो. 'कवच' नास्ति। ५. भो. 'गत्वा' नास्ति।

अथ ध्यानमन्त्रबलेन नैकबुद्धक्षेत्रलोकधातुस्थान् सत्त्वानाकृष्य पुरतः स्थापयित्वा तेषां धर्मदेशनां करोति। तान् मार्गे स्थापयित्वा स्वस्वलोकधातौ विसर्जयेत्। तदेवातिशयेन विपरीतम्, सर्वाम्बरकुहरेष्वनेकलोकधातुस्थानामसंख्येयानां सत्त्वानां रूपिणां परमाणुरूपेणापि पुरतोऽवस्थानं कर्तुं न शक्यते। अथ बालमतीनां वचनमनेनापि रूपकायेनैकस्मिन् बुद्धक्षेत्रे त्रिसाहस्रमहासाहस्रलोकधातुषु स्थितानां सत्त्वानामर्थक्रियां करोति, एतद्वचनं पारमार्थिक्या युक्त्या विचार्यमाणं निरर्थकम्, यथेश्वरवचनमाज्ञासिद्धं युक्तिप्रमाणरहितम्। आप्तागमादित ईश्वरो निष्कलः सर्वकर्ता। स च कार्यनिरपेक्ष इच्छया क्रीडार्थं विश्वं करोति संहारयति वा। एवं तद्वैधर्म्याद् रूपकायो भगवान् सर्वसत्त्वार्थकर्ता आज्ञासिद्ध इति। एवं बौद्धानां तीर्थिकानां प्रज्ञाहीनत्वाद् विशेषो नास्ति पण्डितानामपि। तस्मादिदं वचनं परीक्षारहितं भगवतो न भवति। भगवतो वचनमादौ कल्याणं मध्ये कल्याणं पर्यवसाने कल्याणमिति।

तथा भगवानाह—

तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितैः।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात्॥ इति।

अतो भगवतो वचनाद् **नामसंगीत्यां** परीक्ष्यमाणो बुद्धो रूपकायो न भवति। कस्मात्? ग[192a]गनोद्भवत्वात्, स्वयंभूत्वात्, सर्वाकारनिराकारत्वात्, चतुर्बिन्दुधरत्वात्, अकलकलनातीतत्वात्, चतुर्थानन्दकोटिधरत्वात्, विरागादिमहारागत्वात्, निर्ममत्वात्, निरहङ्कारत्वात्, सर्वाक्षयधातुत्वात्, सर्वमन्त्रार्थजनकत्वात्, महाबिन्दुरनक्षरत्वात्, पञ्चाक्षरमहाशून्यत्वात्, बिन्दुशून्यषडक्षरत्वात्, आकाशसमतागतत्वादित्यादि **नामसंगीत्याम्**—"अथ वज्रधरः श्रीमान्" इत्यादिना, "ज्ञानकाय नमोऽस्तु ते" इति पर्यन्तं द्वाषष्ट्यधिकशतश्लोकेन बुद्धेन भगवता वज्रधरकायो वज्रपाणेः प्रकाशित उभयसत्याभ्यामित्यादि। **तन्त्रराजे**ऽपि भगवतोक्ता बुद्धोत्पादनिर्माणमाया पञ्चमपटलेऽष्टानवतिमेन वृत्तेन—

बुद्धानामप्यगम्या ह्यपरिमितगुणा बुद्धनिर्माणमाया
आत्मानं दर्शयन्तो त्रिभुवननिलये शक्रजालं यथैव।
नानाभावैर्विभिन्ना सजिनसुरनृणां स्वस्वचित्ते प्रविष्टा
एषाऽनुत्पन्नधर्मा पयसि नभ इव भ्रान्तिदोत्पत्तिरत्र॥
(का० त० ५.९८)

अतो भगवतो वचनाद् रूपकायो भगवान्न भवति, सर्वबुद्धानां समाजित्वात्। यदि रूपकाया बुद्धाः, तदा परमाणुरूपेणापि मीलनं न स्यादिति। एवमुक्तक्रमेण भगवतो वाक्यं श्रुत्वा तथापि सत्त्वा भगवतोक्तं गम्भीरोदारधर्मं परीक्षयित्वा न गृह्णन्ति, बुद्धत्वाय गुरुं च परीक्षयित्वा नाराधयन्ति, महामूर्खा लोभाभिभूताः सन्त इहैव जन्मन्यस्माकं

पूतिशरीरं बुद्धशरीरं भविष्यतीत्याशालुब्धा अकल्याणमित्रसंसर्गाद् असद्गुरूपदेशाद् इह वैरोचनादीनि पञ्चामृतानि गोकुदहनादिपलानि भक्ष्याणि स्वभावशुद्धानि तथागते-
T 439 नोक्तानि, एभिर्भक्षितैः शरीरमजरामरं भविष्यति, वज्रसत्त्वोऽपि वरदो भविष्यतीति। अन्यत्र वज्रकुले क्रोधराजसमाधिना प्राणिनो घात्याः, खड्गकुलेऽमोघसिद्धिसमाधिना-
5 ऽसत्यं वक्तव्यम्, रत्नकुले रत्नसम्भवसमाधिना परस्वं हार्यम्, पद्मकुलेऽमिताभ-समाधिना परस्त्री ग्राह्या, चक्रकुले वैरोचनसमाधिना पञ्चामृतपलानि भक्षणीयानीति, अपरेऽपि दशाकुशलकर्मपथा देवतायोगेन योगिना कर्तव्या इति, एवं दुष्टाचार्यवचनं प्रमाणीकृत्य दशाकुशलान् कर्मपथान् कुर्वन्ति, अशोधितान्यबोधितान्यप्रदीपितान्यन-मृतीकृतानि[1] भक्षयन्ति। तानि च भक्षितानि पञ्चामृतानि न तेषां भक्षकाणां बुद्धत्व-
10 गुणदायकानि भवन्तीति, [2]तथागतवचनाप्रबोधत्वादिति।

ननु सर्वतन्त्रराजेषु तथागतेनोक्तानि पञ्चामृतानि योगिना भक्षणीयानि, इह कथमेषां प्रतिषेधः ? [इति] कस्यचिदभिप्रायो भविष्यति। तस्मादुच्यते—इह यद्वक्तव्यं बालजनैः पञ्चामृतादीनि भक्ष्याणि तथागतेनोक्तानि सर्वतन्त्रराजेषु, तत्सत्यम्, किन्तु योगिनां न प्राकृतसत्त्वानाम्। येषां मन्त्रबलेन ध्यानबलेन वा शोधितानि बोधितानि
15 प्रदीपितान्यमृतीकृतानि विषाणि निर्विषाणि भवन्ति, मद्यानि क्षीराणि भवन्ति, विषोद-कादीनि दुष्टानि सत्त्वानां मरण[192b]दायकानि रसायनानि भवति, अस्थीनि पुष्पाणि भवन्ति, दन्ता मुक्ताफलानि भवन्ति, कपालं पद्मं भवन्ति, मांसं पुत्रकेशो भवति, रक्तं सिह्लकं भवति, मूत्रं कस्तूरिका भवति, शुक्रं कर्पूरं भवति, गूथं चतुःसमं भवति, लोमानि कुङ्कुमकेशराणि भवन्ति। एवमनेकदुष्टद्रव्याणि दुष्टस्वभावपरित्यागात् शोधितानि
20 बोधितानि प्रदीपितान्यमृतीकृतानि स्वभावशुद्धानि तथागतेनोक्तानि[3], न दुष्टस्वभावा-परित्यागात्। तानि च विषादीनि स्वभावशुद्धान्यमृतीकृतानि योगिभिर्भक्षितानि शरीरे महाबलपुष्टिकराणि भवन्ति। गूथादीनि स्वभावशुद्धानि शरीरे विलेपितानि दिव्यगन्ध-मुद्वहन्ति। अतो योगिनां तथागतेनोक्तानि, नान्येषां देवतामन्त्रासाधितानां पर्वन्मूर्खाणां पण्डिताभिमानिनां बकमायाधराणां मठविहारद्रव्याभिलाषिणां प्रेतनरकजातौ जन्मो-
25 त्पादनिबद्धानां स्वार्थपरार्थभ्रष्टानां तन्त्रोक्तार्थविपरीतार्थसंदेशकानामपरीक्षजनस्य महा-मारकायिकानां भक्ष्याणि भगवतोक्तानीति। तैर्दुष्टचित्तैस्तानि विषादीनि दुष्टद्रव्याणि पञ्चामृतानि शोधितानि बोधितानि प्रदीपितान्यमृतीकृतान्यप्यनेककल्पैर्दुष्टस्वभावानि न परित्यजन्ति, दुष्टस्वभावापरित्यागात् स्वभावशुद्धानि न भवन्तीति। तस्मात्तेषां दुष्ट-द्रव्याणि(णां) ध्यानबलेन वा मन्त्रबलेन वा यावद् दुष्टस्वभावं हर्तुं न शक्नोति कुलपुत्रो
30 वा कुलदुहिता वा भिक्षुर्वा भिक्षुणी वा उपासक उपासिका वा आदिकर्मिको वा वज्र-यानरतः, तस्य वज्राचार्येण [4]गुरुणा आदिकर्मिकेण वा मन्त्रसामर्थ्ययुक्तेन वा

---

१. भो. rNam Par sNaṅ mDzad La Sogs Pa (वैरोचनादीनि) इत्यधिकम्।
२. भो. Saṅs rGyas Kyi gSuṅ (बुद्धवचन)। ३. भो. rGyud Kyi rGyal Po Tham Cad Las gSuṅ Pa, De Ni bDen No (सर्वतन्त्रराजे, तत्सत्यम्) इत्यधिकम्। ४. भो. bLa Ma Dam Pa Las (सद्गुरुणा)।

विषादिपञ्चामृतादिभक्षणविलेपने नियमो न दातव्यः, अशुद्धविषादिभक्षणान्मरणं भवति, अशुद्धसमयविलेपनाल्लोकावध्यानं भवति, स्वाघातमरणाल्लोकावध्यानान्नरको भवति, कुमन्त्रिणां सत्त्वाशयपरित्यागादित्युक्तं **नामसंगीत्यामध्येषणायां** पञ्चदशमश्लोकेन—

प्रकाशयिष्ये सत्त्वानां यथाशयविशेषतः।
अशेषक्लेशनाशाय अशेषाज्ञानहानये ॥ इति। 5
(ना० सं० १.१५)

अतो भगवतो वचनात् सकलसत्त्वाशयवशेन शिष्याणां वज्राचार्येण नियमो दातव्यः, यथा स्वाघातमरणं लोकावध्यानं न भवत्यादिकर्मिकाणामिति। ननु यदीह लोकावध्याने नरको भवति, तदा सर्वदर्शनानि परस्परावध्यानं कुर्वन्ति, परस्परावध्यानात् सर्वदर्शनानि नरकं यास्यन्ति। एवं चेत् प्रमाणशास्त्राणि विरुद्धानि, सर्वसिद्धान्तान्यपि, व्रतशीलादिकं सर्वं निरर्थकं भवतीतीह कस्यचिदभिप्रायो भविष्यति। तस्मादुच्यते—इह यद्वक्तव्यं बालजनैः प्रमाणशास्त्रादिकं सर्वं विरुद्धम्, तन्न, कस्मात्? तत्त्वपरीक्षाचित्तान्न तेषां दर्शनानां परस्परवादिनां दोषोऽस्ति, परमार्थपरीक्षाश्रितचितात् सर्वसत्त्वापकारचित्ताभावात् सर्वसत्त्वोपकारचित्तात्। अत्र पुनर्विषादिपञ्चामृतादिभक्षणविलेपने लोकव्यवहारो न परमार्थपरीक्षा। विषादिपञ्चामृतादिकं च तत्त्वं न भवति, यस्य परीक्षमाणा दोषा न भविष्यन्ति लोकावध्यानतोऽपि। तस्मात् [193a] सत्त्वाशयवशाद् धर्मदेशना बौद्धानां न सत्त्वाशयविरहितेति। आशयोऽपि सत्त्वानां देशकुलव्यवहारेण भवति, तस्मात्तेषां देशकुलव्यवहारेण लौकिकसंवृतिसत्येन लौकिकधर्मो देशनीयो वज्राचार्येण। लोकोत्तरं ज्ञानं पुनरुभयसत्यसाधारणं तदेव। न च भक्ष्याभक्ष्यग्रहणं भवति। भक्ष्याभक्ष्यं ह्युदरपरिपूरणमात्रम्, न शून्यतानिमित्ताप्रणिहितानभिसंस्कारचतुर्विमोक्षमुखविशुद्धिः। तस्मादादिकर्मिकेण [1]स्वदेशव्यवहारेण भक्ष्याभक्ष्यं कर्तव्यं कुलाकुलाभिगमनं च। कुत्रचिद्देशे कापालिककपालोदकेन शुद्धिर्भवति, कुत्रचिद्देशे गोमांसं भक्षणीयम्, कुत्रचिद्देशेऽश्वमांसम्, कुत्रचिद्देशे शुनो मांसम्, कुत्रचिद्देशे हस्तिमांसम्, कुत्रचिद्देशे नरमांसं भक्षणीयम्। एवमन्यदपि मांसं देशव्यवहारेण सर्ववर्णावर्णानां भक्षणीयं सर्वथा। कुत्रचिद्देशे ब्राह्मणानां मद्यपानं विहितम्, कुत्रचिद्देशे शूद्राणां विहितम्, कुत्रचिद्देशे कुलीनाकुलीनानां विहितम्। कुत्रचिद्देशे श्वोच्छिष्टं भक्षणीयम्, कुत्रचिद्देशे भोजने कृते नाचमनम्, कुत्रचिद्देशे शूकरमांसं भक्षणीयम्, कुत्रचिद्देशे महिषमांसम्, कुत्रचिद्देशे छागलमांसम्। एवमन्यदपि मांसं देशव्यवहारेण वर्णावर्णेन भक्षणीयम्। कुत्रचिच्चण्डालाः श्रावकाः, कुत्रचिद्देशे चतुर्वर्णप्रवृत्तिः, कुत्रचिद्देशे सर्वैकवर्णप्रवृत्तिः। कुत्रचिद्देशे भर्तरि मृते सति पुत्रस्य माता भार्या भवति, कुत्रचिद्देशे भ्रातृभगिन्योर्विवाहः, कुत्रचिद्देशे मातुलकसम्बन्धः, कुत्रचिद्देशे कुलाकुलानां परस्पराभिगमनम्, कुत्रचिद्देशे ब्राह्मण्यो वेश्याव्यवहारं

10 15 20 25 T 440 30

१. भो. 'स्व' नास्ति।

कुर्वन्ति। एवमनेकदेशव्यवहारेण भक्ष्याभक्ष्यकुलाकुलाभिगमनं योगिना कर्तव्यमिति। तथा कुलदेवता—कस्यचित् कुले नागो देवता, कस्यचित् कुले छागलः, कस्यचित् कुले शूकरः, कस्यचिन्महिषः, कस्यचिद् घूकः। एवमन्येऽपि तिर्यञ्चोऽन्येषां कुलदेवता न मारणीया न भक्षणीयाश्च। तथा कस्यचित् कुलदेवता पलाशः, कस्यचिदर्कः, कस्यचिदश्वत्थः, एवमन्येऽपि वृक्षाः। अन्येषां कुलदेवता न छेदनीया न भेदनीयाः। अत्र लौकिकोऽपि प्रत्ययो दृश्यते। कस्मात्? स्वकुलोपद्रवात् स्वकुलोपकारात्। इह यस्य या देवता आराधिता उपकारं करोति, विरोधिता महोपद्रवं करोति, तस्मात्तेषां देशकुलव्यवहारेणादिकर्मिको व्यवहरति मन्त्रध्यानसाधनाभिरतः, यावन्मन्त्रसिद्धिर्भवति ज्ञानसिद्धिर्वा। ततः स्वेच्छया भक्ष्याभक्ष्यं गम्यागम्यं पेयापेयं करोति, न तस्य कोऽपि बाधां कर्तुं समर्थ इति। एवमादिकर्मिको मन्त्रे सिद्धे सति योगी भवति। मण्डलचक्र-स्फारिताकाशगमनात् सिद्धः, मारक्लेशापत्तिज्ञेयावरणक्षयात् सर्वाकार-ऋद्धिस्फरण-सिद्धिदर्शनाद् [193b] धर्मचक्रप्रवर्तनात् सर्वज्ञभाषया सकलधर्मस्कन्धसमूहदेशनावशात् सर्वज्ञो भवतीति। उक्तं भगवता प्रत्यवेक्षणाज्ञानस्तवे नामसंगीत्यां चत्वारिंशतिमादि-श्लोकत्रयेण [1]प्रज्ञाज्ञानयोगः। तद्यथा—

मायाजालमहोद्योगः सर्वतन्त्राधिपः परः।
अशेषवज्रपर्यङ्को निःशेषज्ञानकायधृक्॥

समन्तभद्रः सुमतिः क्षितिगर्भो जगद्धृतिः।
सर्वबुद्धमहारागो विश्वनिर्माणचक्रधृक्॥

सर्वभावस्वभावाग्रः सर्वभावस्वभावधृक्।
अनुत्पादधर्मा विश्वार्थः सर्वधर्मस्वभावधृक्॥ इति।

(ना० सं० ८.३८-४०)

तथा तन्त्रराजेऽप्युक्तं पञ्चमपटले [2]षष्टितमादिवृत्तद्वयेन—

तैश्चाद्धि कालचक्रः प्रकटयति महानेकनिर्माणकायै-
र्वज्रज्वालास्फुरद्भिरसुर[3]सुरनृणां कामधातौ स्थितानाम्।
सम्भोगे रूपिणां वै नभसि जिनसुताद्यर्हतां धर्मकायैः
शून्यां[4]शैः शून्यकृत्स्नं त्रिभुवनसकलं वायुभिर्वायुकृत्स्नम्॥
तेजोंऽशैर्वह्निकृत्स्नं ह्युदकमपि जगत्स्फारितैश्चोदकांशैः
पृथ्वीकृत्स्नं धरांशैः समुदितविषयैः सर्ववस्तुस्वभावम्।
एकात्मानं समन्ताद् गगनसममिदं दर्शयेच्छुद्धभूम्या-
मेवं बुद्धस्य कायो भवति न म्रियतेऽप्येकसौख्यस्वभावात्॥ इति।

(का० त० ५.६०-६१)

---

१. भो. gÑis Su Med Paḥi Ye Śes Kyi rNal ḥByor (अद्वयज्ञानयोगः)।
२. च. एकोनषष्टि। ३. भो. 'सुर' नास्ति। ४. च. श्लोकेऽस्मिन् सर्वत्र 'अंशैः' इत्यस्य स्थाने 'अङ्गैः'।

अतो भगवतो वचनात् पञ्चामृतभक्षणाद् मन्त्रजापमण्डलचक्रविकल्पभावना-बलाद् योगी सम्यक्सम्बुद्धो न भवतीति।

ननु भगवतोक्तं मण्डलचक्रे साक्षात्कृते सति योगिनां महामुद्रासिद्धिर्भवति, तदिह कथं मण्डलचक्रेऽपि साक्षात्कृते योगी सर्वज्ञो न भवतीतीह केषाञ्चिदभिप्रायो भविष्यति। तस्मादुच्यते—इह पूर्वमेवोक्तं मण्डलचक्रं विकल्पजालं प्रादेशिकं प्रादेशिकसिद्धिफलदम्। अथ मूर्खाणां भ्रान्तिरियममुकसिद्धिः कर्ममुद्रां गृहीत्वा, इह गुटिकाबलेन मन्त्रबलेन सप्तावर्तबलेन खड्गादिबलेन ध्यानबलेन वा मण्डलचक्र-साधनबलेन वाऽदृश्यो भवति, न सर्वावरणविनिर्मुक्तः सर्वज्ञो भगवान् वज्रसत्त्वो भवतीति। उक्तं भगवता **नामसंगीत्यां** वज्रधातुमहामण्डलस्तवे महामुद्राधृक्। तद्यथा—

महाध्यानसमाधिस्थो महाप्रज्ञाशरीरधृक्।
महाबलो महोपायः प्रणिधिज्ञानसागरः॥ इति।
(ना० सं० ५.१०)

अतो भगवतो वचनान्नेयं महामुद्रासिद्धिः। महामुद्रा सर्वधर्मनिःस्वभावलक्षणा सर्वाकारवरोपेता प्रज्ञापारमिता बुद्धजननी, धर्मोदयशब्देनापि सा उच्यते। तस्माद्धर्मो-दयात् सर्वधर्माणां निःस्वभावेन उदयो भवति। निःस्वभावा धर्मा दशबलवैशारद्या-दयश्चतुरशीतिसहस्रधर्मस्कन्धाः, तेषामुदयभूतो धर्मोदयो बुद्धक्षेत्रं बुद्धबोधिसत्त्वानां निवासो रतिस्थानं जन्मस्थानं च, न पुनर्यस्माद् रक्तमूत्रशुक्राणामुदयः स धर्मोदय इति। इह संसारिणां रागविरागक्षेत्रं न तथागतानामिति। तस्माद्धर्मोदयो(या) धर्मधातुस्वरूपिणी विश्वमाता कालचक्रे भगवताऽऽलिङ्गिता सर्वदा सर्वावरणरहिता। इह राग उत्पादकालः, च्युतिर्निरोधकालः, [194a] तयोः समापत्तिरक्षरकालः। तस्य चक्रं वज्रधातुमहामण्डलमिति स्कन्धधात्वायतनं निरावरणं वज्रधातुमहामण्डलमित्युच्यते। अनेनाक्षरोत्पन्नेन सा अनुत्पन्ना महामुद्रालिङ्गिता इति। इमां महामुद्रां यः कश्चिद् जन्मान्तरपुण्यवासनावशात् सद्गुरूपदेशादनेककालं रात्रिन्दिवं सर्वधर्मकल्पनारहितां स्वचित्तप्रतिभासमात्रां सर्वाकारवरोपेतां महाशून्यतां सहजानन्दजननीं साक्षा-त्कृत्वाऽऽलिङ्गयति, [1]स महामुद्रासिद्धिं प्राप्तः सर्वज्ञो भगवानित्युच्यते। तस्मादादि-कर्मिकेण योगिकृत्यं न कर्तव्यम्, योगिना सिद्धकृत्यं न कर्तव्यम्, सिद्धेन सर्वज्ञकृत्यं न कर्तव्यम्। एवमादिकर्मिकेण प्रागुक्तविधिना भक्ष्याभक्ष्यादिकं कर्तव्यमिति। अथ पापमतीनां [2]भक्त्या दैत्यानामसद्गुरूपदेशधर्माणां वचनमिह तथागतेनोक्तं **तन्त्रराजेषु** सर्वसमया निर्विकल्पचित्तेन भक्षणीयाः। तस्मात् प्रथमं तावत् पञ्चामृतादि भक्षयामः, पश्चात्तदभ्यासवशात् समयसिद्धिर्भविष्यति, समयसिद्धिवशाद् विषादीन्यभक्ष्याणि भक्ष्याणि भविष्यन्ति, गूथादीनि दुर्गन्धानि [3]सुगन्धानि भविष्यन्तीति। इह वचनात्

१. च. समयमुद्रा। २. भो. bZaḥ Bar Bya Ba (भक्ष्या)। ३. च. 'सुगन्धानि' नास्ति।

परमविरोधः। कथं प्रथमं तावदग्निप्रवेशः कर्तव्यः, पश्चादभ्यासवशादग्निस्तम्भनं भविष्यति। न चैवम्, इह महादुष्टानां परवञ्चकानां सर्वज्ञशासनविडम्बकानां महासमयभेदिनामवीचीनरकगामिनामशुद्धचित्तानां यदि विशुद्धं चित्तम्, [1]तदा योगिकृत्यं किं ते न कुर्वन्तीति। इह विशुद्धचित्ताद् योगी वह्निं प्रविशति न च वह्निना [2]दह्यते, मत्तगजेन्द्रं स्तम्भयेन्न मत्तगजेन्द्रेण मार्यते, सिंहव्याघ्रादिकमारोहते न सिंहव्याघ्रादिकेन विदार्यते, काकपेयां नदीं प्रविशति नदीप्रवाहेन [3]न नीयते, विषं भक्षयति न विषेण मूर्च्छितो भवति, खड्गादिशस्त्राणि भक्षयति न शस्त्रैर्मुखे च्छिद्यते। तथा भक्ष्याभक्ष्यं करोति, स्वपररूपपरिवर्तनं करोति। एवमनेकाकाराणि योगिकृत्यानि न चादिकर्मिकः करोति। उक्तं भगवता योगिनां दशधा व्यवस्थानम्—प्रथमं चित्तोत्पादादिको योगी पश्चाद्बालभूतः कुमारभूत आदिकर्मिको योगाचारजन्मजः प्रयोगसम्पन्न आशयसम्पन्नोऽवैवर्तिकोऽभिषेकप्राप्त एकजातिप्रतिबद्धश्चेति। ततो बोधिसत्त्ववशिता दश भवन्ति—आयुर्वशिता, कर्मवशिता, परिष्कारवशिता, अधिमुक्तिवशिता, प्रणिधानवशिता, ऋद्धिवशिता, उपपत्तिवशिता, धर्मवशिता, चित्तवशिता, ज्ञानवशिता चेति। दश भूमयः—प्रमुदिता, विमला, प्रभाकरी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुखी, दूरङ्गमा, अचला, साधुमती, धर्ममेघा चेति। तथा दश पारमिता परिपूर्णा भवन्ति—दान-शील-क्षान्ति-वीर्य-ध्यान-प्रज्ञा-उपाय-प्रणिधि-बल-ज्ञानपारमिताश्चेति। एवं योगी बोधिसत्त्वो भवति। उक्तं भगवता नामसंगीत्यां सुविशुद्धधर्मधातुस्तवे तृतीय-चतुर्थश्लोकाभ्याम्[4]—

दशपारमिताप्राप्तो दशपारमिताश्रयः।
दशपारमिताशुद्धिर्दशपारमितानयः॥

दशभूमीश्वरो नाथो दशभूमिप्रतिष्ठितः।
दशज्ञानविशुद्धात्मा दशज्ञानविशुद्धिधृक्॥ इति।
(ना० सं० ६.२-३)

अतो योगी विशुद्धचित्तो बोधिसत्त्वो भगवता[194b] उक्त इति। इह मन्त्रयाने केचिद् वीरक्रमेण स्वाधिष्ठानक्रमेण वा महानिशायां श्मशानभूम्यां प्रविश्य एकवर्षं द्विवर्षं वा द्वादशवर्षपर्यन्तं वा [5]मरणपर्यन्तं वा मन्त्रजापहोमध्यानबलेन हेरुकं भगवन्तं साक्षात्कर्तुमसमर्थाः, तथा पर्वतोद्यानसरित्समुद्रतटादिकेषु विजनस्थानेषु समन्तभद्रादिदेवतां च। स्वपरार्थनिमित्तं हीनवीर्याः सन्तः कर्मसाधनविषये स्वगृहे मन्त्रजापहोम[6]बलिध्यानमण्डलचक्रादिभावनां कृत्वाऽस्थानाकालवशादसिद्धमन्त्रदेवताविरक्तचित्ताः, तथाविशुद्धक्रमेण महामुद्राभावनामार्गभ्रष्टाः सद्गुरूपदेशरहिता महोच्छेदे पतिताः सन्तो दुष्टगुरवो बालमतीनां गम्भीरोदारधर्मापरीक्षकाणां प्रज्ञापारमितां देशयिष्यन्ति।

---

१. च. तथा। २. च. रक्ष्यते। ३. च. 'न' नास्ति। ४. भो० ḥDi lTa sTe (तद्यथा) इत्यधिकम्। ५. भो. 'मरणपर्यन्तं वा' नास्ति। ६. च. 'बलि' नास्ति।

तद्यथोक्तं भगवता तथागतेन **प्रज्ञापारमितायाम्**—"निर्विकल्पाः सर्वधर्माः शून्याः सर्वधर्मा अनिमित्ताः सर्वधर्मा अप्रणिहिताः सर्वधर्माः संस्काररहिताः सर्वधर्मा उत्पादरहिताः सर्वधर्मा अनक्षराः सर्वधर्मा हेतुशून्याः सर्वधर्मा अचिन्त्याः सर्वधर्माः" इति ।

तस्मात् सर्वज्ञफलावाप्तये बोधिसत्त्वेन महासत्त्वेन सर्वधर्मनिरपेक्षकेण भवितव्यम्, न रूपस्कन्धे स्थातव्यम्, न वेदनायां न संज्ञायां न संस्कारे न विज्ञाने न पृथ्वीधातौ स्थातव्यम्, नाऽधातौ स्थातव्यम्, न तेजोधातौ न वायुधातौ न शून्यधातौ न चक्षुर्धातौ स्थातव्यम्, न रूपधातौ न चक्षुर्विज्ञानधातौ न श्रोत्रधातौ न शब्दधातौ न श्रोत्रविज्ञानधातौ न घ्राणधातौ न गन्धधातौ न घ्राणविज्ञानधातौ न जिह्वाधातौ न रसधातौ न जिह्वाविज्ञानधातौ न कायधातौ न स्पर्शधातौ न कायविज्ञानधातौ, न मनोधातौ न धर्मधातौ न मनोविज्ञानधातौ स्थातव्यमिति । 5 10

एवं प्रज्ञापारमिताऽचिन्त्यतथागतज्ञानं सम्यक्सम्बुद्धत्वलाभाय भगवतोक्तम् । अचिन्त्यं कस्माद् ? रागविरागस्वभावात् । इह हि सत्त्वानां यदा चिन्तनं प्रवर्तते तदा परमेष्टवस्तुषु रागो भवति, अनिष्टवस्तुषु विरागः, तौ रागविरागौ संसारकारणौ भवतः । यदा पुनस्तथागतज्ञानं निश्चिन्तनं वर्तते तदा नेष्टवस्तुषु रागो नानिष्टवस्तुषु विरागो भवति, तयोरभावादेव संसाराभावस्तदभावात् सम्यक्संबुद्धत्वं भवति । अतो बुद्ध[त्व]-साधनं निश्चिन्तनं ताथागतं ज्ञानम्, नान्यो विकल्पः समाधिः । एवमप्रबुद्धा निश्चिन्तनं ज्ञानमिच्छन्तो वदिष्यन्ति महोच्छेदे पतिताः केचित् । तस्मादुच्यते—इह हि यदि निश्चिन्तनं ज्ञानं बुद्धत्वदायकं तदा सर्वे सत्त्वाः किन्न बुद्धा बभूवुः, एषामपि गाढनिद्रायां निश्चिन्तनं ज्ञानं प्रवर्तते, नेष्टवस्तुषु रागो नानिष्टवस्तुषु विरागः । तस्मात् तस्यां सुषुप्तावस्थायां रागविरागौ न स्याताम्, न च तेन निश्चिन्तनज्ञानेन सर्वे सत्त्वाः सम्यक्सम्बुद्धा बभूवुः, तस्मान्निश्चिन्तनं ज्ञानं ताथागतं न भवति, यस्मात् समाधिपटले **प्रज्ञापारमितायां** समाधयो भगवतोक्तास्तत्र रत्नप्रदीपो नाम समाधिः । 15 T 442 20

इह य[195a]दि रत्नप्रदीपचिन्तनं नास्ति प्रतिभासो वा, तदा रत्नप्रदीपो नाम समाधिः कथं स्यात् । एवमन्येऽपि समाधयो निश्चिन्तना न भवन्ति, स्वसंवेद्यलक्षणात्, जडशून्यताभावात् । अथ बालानां वाक्यमिदं ताथागतं ज्ञानं यदि स्वसंवेद्यं तदा सर्वधर्मा निःस्वभावाः कथं तथागतेनोक्ता इति ? अत्रोच्यते—इह ताथागतं ज्ञानं सर्वधर्माणां निःस्वभावतावबोधनं नाम, न सर्वाभावलक्षणं सुषुप्तचित्तम् । उक्तं **प्रज्ञापारमितायाम्**—"अस्ति तच्चित्तं यच्चित्तमचित्तम्" (अ० स०, पृ० ३) इति । प्रकृतिप्रभास्वरं नाम यदि स्वसंवेद्यं ताथागतं ज्ञानं न भवति, तदा सत्त्वाशयवशात् तथागतस्य धर्मदेशना न स्यात् । सर्वधर्मा अप्रबोधाः, असंवेद्यत्वात् । अथेन्द्रियद्वारिकं स्वसंवेद्यम्, तदा निष्कलं सर्वगं सर्वव्यापि न भवति, सर्वावरणात् । तस्मात्ताथागतं ज्ञानं स्वसंवेद्यं सर्वधर्मस्वभावज्ञं निर्विकल्पमनिन्द्रियमिति । उक्तं भगवता **नामसंगीत्यां** प्रत्यवेक्षणाज्ञानस्तवे विंशतिमादिश्लोकत्रयेण[१]— 25 30

१. भो. ḥDi lTa sTe (तद्यथा) इत्यधिकम् ।

निर्वाणं निर्वृतिः शान्तिः श्रेयो निर्याणमन्तगः।
सुखदुःखान्तकृन्निष्ठा वैराग्यमुपधिक्षयः॥
अजयोऽनुपमोऽव्यक्तो निराभासो निरञ्जनः।
निष्कलः सर्वगो व्यापी सूक्ष्मो बीजमनास्रवः॥
अरजो विरजो विमलो वान्तदोषो निरामयः।
सुप्रबुद्धो विबुद्धात्मा सर्वज्ञः सर्ववित् परः॥ इति।
(ना० सं० ८.२०-२२)

तथा कृत्यानुष्ठानस्तवे [1]त्रयोदशमेन श्लोकेन। तद्यथा—

आत्मवित् परवित् सर्वः सर्वीयो ह्यग्रपुद्गलः।
सर्वोपमामतिक्रान्तो ज्ञेयो ज्ञानाधिपः परः॥ इति।
(ना० सं० १०.१३)

तन्त्रराजेऽप्युक्तं पञ्चमपटले नवनवतिमेन वृत्तेन[2]—

सर्वाकारं ह्यगम्यं विषयविषयिणां कायवज्रं जिनस्य
वाग्वज्रं सर्वसत्त्वस्वहृदयरुतकैर्धर्मसम्पादकं यत्।
सत्त्वानां चित्स्वभावं सकलभुवि गतं वज्रिणश्चित्तवज्रं
भावानां ग्राहकं यद् विमलमणिरिव ज्ञानवज्रं तदेव॥
(का० त० ५.९९)

अतो निरिन्द्रियं स्वसंवेद्यं ताथागतं ज्ञानमिति।

ननु यदि स्वसंवेद्यं ताथागतं ज्ञानं तदा स्कन्धधात्वायतनाभावान्न संभवति, उक्तं भगवता **तन्त्रराजेषु**—

"स्कन्धाभावे प्रज्ञाज्ञानं नोपलभ्यते, द्वीन्द्रियसंयोगात्। बोधिचित्तनिर्गमकाले सहजविरमयोर्मध्ये बिन्दुत्रयावसानिकमेकक्षणमात्रं समन्तभद्रं महासुखज्ञानम्, एतदेव स्वसंवेद्यमुक्तम्" इति।

इह कथं बोधिचित्तबिन्दुनिर्वाणरहितं निरिन्द्रियं समन्तभद्रं महासुखज्ञानं भवति, खपुष्पं वन्ध्यापुत्रेणाघ्रातमिव विचार्यमाणं निरर्थकम्[इति] इह केषाञ्चिदभिप्रायो भविष्यति। तस्मादुच्यते—नैतदेवं तथागतेनोक्तं बोधिचित्तबिन्दुः क्षरसुखं समन्तभद्रं महासुखं प्रज्ञाज्ञानम्, यस्मात् "चतुर्थं तत्पुनस्तथा" (गु० त० १८.११२) इति प्रतिषेधवचनात्। इह यदि तृतीयं क्षरसुखं प्रज्ञाज्ञानं समन्तभद्रं महासुखं चतुर्थं भवति, तदभिहितस्याभिधानं भवति। न चैवं युक्तम्, कस्मात्? पुनरुक्तदोषप्रसङ्गात्। यथा

१. च. षोडशमेन। २. भो. ḥDi lTa sTe (तद्यथा) इत्यधिकम्।

हस्त इत्युक्ते सति पुनर्हस्त इति, एवं पुनर्दधि। इह बालोन्मत्तवचनं न पण्डितानाम्। तस्माच्चतुर्थमिति वचनात् तृतीयं न भवति, "तत्पुनस्त[195b]था" इति वचनात् प्रज्ञाज्ञानं तदेव। अतो भगवतो वचनाद् अप्रबोद्धारो नष्टा वदिष्यन्तीह—"चतुर्थं तत्पुनस्तथा" इति शब्देन भगवता तृतीयमुक्तं चतुर्थं नाम न स्यात्। इहाधर्मप्रवृत्तिर्बालानां द्वीन्द्रियोत्पन्नक्षरसुखाभिलाषिणां महाक्षरसुखज्ञानभ्रष्टानामिति। तस्माद् बोधिचित्तच्युतिसुखं समन्तभद्रं महासुखज्ञानं चतुर्थं न भवति। उक्तं भगवता **नामसंगीत्यां** कृत्यानुष्ठानज्ञानस्तवे तृतीयश्लोकेन— 5

सर्वाकारो निराकारः षोडशार्धार्धबिन्दुधृक्।
अकलः कलनातीतश्चतुर्थध्यानकोटिधृक्॥ इति।
(ना॰ सं॰ १०३) 10

तन्त्रराजेऽप्युक्तं पञ्चमपटले [1]षड्विंशत्यधिकशततमेन वृत्तेन। तद्यथा—

एवं चित्तं चतुर्धा त्रिविधभवगतं प्राणिनां बिन्दुमध्ये
योगीन्द्रै रक्षणीयं समसुखफलदं व्यापकं मोक्षहेतोः।
बिन्दोर्मोक्षे क्व मोक्षः परमसुखगते योगिनां जन्मबीजे T 443
तस्मात् संसारसौख्यक्षण इह यतिभिः सर्वदा वर्जनीयः॥ इति। 15
(का॰ त॰ ५.१२६)

अतश्चतुर्थं तृतीयं न भवति। इह यदि बिन्दुस्तत्तृतीयं प्रज्ञाज्ञानं चतुर्थं तदेव तदा षोडशार्धार्धबिन्दुधृग् भगवान्न भवति, यदि चतुर्थो विरामस्तदा आनन्द-परम-विरम-सहज-चतुर्थध्यानकोटिधृग् न भवति। अतो निरिन्द्रियं स्वसंवेद्यं ताथागतं ज्ञानमिति। तस्माद् योगिना बोधिचित्तं सुदृढं रक्षणीयम्, न मोक्षणीयम्। न चान्ये बिन्दवः 20 शरीरे बाह्ये वा सन्ति बोधिचित्तबिन्दुरहिता मूत्रतोयादयः, ये बुद्धत्वफलदायका भविष्यन्तीति, तन्न, यदि चतुर्थं प्रज्ञाज्ञानं तृतीयं न भवति, भगवांश्च बिन्दुधृक्, तदा "तत्पुनस्तथा" इति वचनात् प्रज्ञाज्ञानं किं भविष्यतीति केचिदत्र वदिष्यन्ति, तस्मादुच्यते—

इह वज्रयाने लौकिकलोकोत्तरसत्यमाश्रित्य भगवता त्रिधा प्रज्ञा प्रोक्ता— 25 कर्ममुद्रा, ज्ञानमुद्रा, महामुद्रा इति, एकाभिधानतः। तासु कर्ममुद्राज्ञानमुद्रासुखं स्पन्दलक्षणं महामुद्रासुखं निःस्पन्दलक्षणं योगिनो भवति। इह यदि प्रज्ञाया ज्ञानं प्रज्ञाज्ञानं च्युतिलक्षणं प्रज्ञाहेतुनोत्पन्नं फलमुपायस्य प्रज्ञाज्ञानं तदोपायहेतुनोत्पन्नं फलं प्रज्ञाया उपायज्ञानं भवति महामुद्रासिद्ध्यर्थम्। एवं परस्परापेक्षिकत्वाद् द्वे ज्ञाने भवतः। एवमुभयोः प्रत्येकज्ञाने सत्यद्वयज्ञानाभावः, अद्वयज्ञानाभावाद् बुद्धत्वस्याप्यभावो 30 भवति, विशुद्धपरमाक्षरज्ञानरहितत्वादिति। अथ प्रज्ञाया ज्ञानं प्रज्ञाज्ञानं यदि, तदा

---

१. च. पञ्चविंशत्यधिक।

उपायस्य ज्ञानं उपायज्ञानमिति, एवं पूर्ववद्दोष इति। उक्तं भगवता नामसंगीत्यां प्रत्यवेक्षणाज्ञानस्तवे षट्त्रिंशतिमादिश्लोक[1]द्वयेन विशुद्धं परमाक्षरज्ञानम्। तद्यथा—

संबुद्धवज्रपर्यङ्को　बुद्धसङ्गीतिधर्मधृक्।
बुद्धपद्मोद्भवः श्रीमान् सर्वज्ञज्ञानकोषधृक्॥

विश्वमायाधरो राजा बुद्धविद्याधरो महान्।
वज्रतीक्ष्णो महाखड्गो विशुद्धः परमाक्षरः॥ इति।
(ना० सं० ८.३४-३५)

तन्त्रराजेऽप्युक्तं साधनापटले एकोनद्विशतादिवृत्ताभ्यां महामुद्रालक्षणम्—

त्यक्त्वेमां कर्ममुद्रां सकलुषहृदयां कल्पितां ज्ञानमुद्रां
सम्यक्सम्बोधिहेतोर्जिनवरजननीं भाव[196a]येद् दिव्यमुद्राम्।
निर्लेपां निर्विकारां खसमहततमां व्यापिनीं योगगम्यां
कूटस्थां ज्ञानतेजां भवकलुषहरां कालचक्रानुविद्धाम्॥
(का० त० ४.१९९)

मुद्रा मायानुरूपा नभसि मनसि वै रूपवद्दर्पणे च
त्रैलोक्यं भासयन्ती तडिदनलनिभानेकरश्मीन् स्फुरन्ती।
वाह्ये देहेष्वभिन्ना विषयविरहिताऽऽभासमात्राऽम्बरस्था
चित्तं चेतोमयालिङ्गयति च जगतोऽनेकरूपस्य सैका॥ इति।
(का० त० ४.१९८)

मूलतन्त्रेऽप्युक्तम्—

कर्ममुद्रां परित्यज्य ज्ञानमुद्रां विकल्पिताम्।
परमाक्षरयोगेन　महामुद्रां　विभावयेत्॥ इति।

अतो भगवतो नियमात् कर्ममुद्रासुखं समन्तभद्रपरमाक्षरसुखं न भवति, तथा मण्डलचक्रभावनाविकल्पितप्रज्ञासुखं समन्तभद्रं परमाक्षरसुखं न भवति, विकल्पापरित्यागात्। अधुनाऽसद्गुरूपदेशाद् महामुद्राज्ञानभ्रष्टाः पशुत्वं कुर्वन्ति बुद्धत्वं नास्ति, महामुद्राज्ञानाभावात्। महामुद्राज्ञानमप्रतिष्ठितं योगिनामसद्गुरुर्मार्गरहितः प्रतिपादयितुं न शक्नोति। मार्गोऽपि—"चतुर्थं तत्पुनस्तथा" (गु० त० १८.११२) इति। एवं चतुर्थाभिषेकाप्रबोधात् सर्वेऽभिषेका निरर्थकाः स्युरिति।

ननु यदि समन्तभद्रं परमाक्षरसुखम्, तदेव चतुर्थं महामुद्राज्ञानं महामुद्रारहितं न भवति। तदियं किमर्थं द्वीन्द्रियसमापत्त्या महासुखभावना भगवतोक्ता? अनया भावनया इह जन्मनि बुद्धत्वं वज्रधरत्वं चोक्तमितीह कस्यचिदभिप्रायो भविष्यति,

---

१. ब. त्रयेण।

तस्मादुच्यते—इह यदुक्तं भगवता द्वीन्द्रियसमापत्त्या महासुखसाधनं तत्सत्यम्, उक्तं भगवता तन्त्रराजे पञ्चमपटले [1]एकोनद्विशततमेन वृत्तेन—

सत्त्वा रागेण येन प्रलयमुपगतास्तायिनस्तेन मुक्ताः
सत्त्वा यद्रक्षयन्ति प्रतिदिनसमये तायिनस्तद्दन्ति।
सत्त्वा यन्मोचयन्ति स्वहृदिगतसुखं तज्जिना रक्षयन्ति　　5
तेनेदं दुष्करं स्याज्जिनवरचरितं देवनागासुराणाम् ॥ इति।
(का० त० ५.१९९)

इह सत्त्वा येन रागेण च्युतेन प्रलयं मरणमुपगताः, तेनैवाच्युतेन परमाक्षरभूतेन तायिनो बुद्धा मुक्ता भवन्ति। सत्त्वा यद्रक्षयन्ति पुत्रदारादिकं तायिनस्तं ददन्ति। सत्त्वा यन्मोचयन्ति महासुखं तद् बुद्धा रक्षयन्ति। तेन कारणेन देवासुरमनुष्यनागानां दुष्करं　　10 चरितं तथागतानां विकुर्वितं यदेव तदेव योगिना बोधिचित्तमच्युतं कर्तव्यं यथानुक्रमेण परमाक्षरसाधनार्थम्। तेन द्वीन्द्रियसमापत्त्या सुखभावनोक्ता न बोधिचित्तच्यवनावस्था। इयं च्युतिवासना सत्त्वानामनादिकालेनागन्तुकमलस्वभावा, तया संसारः। सा येन मुद्रासङ्गेन च्युतिवासना भवति, तेनैव सङ्गेनाच्युतिवासना भविष्यति, सूतकाग्निवत्। उक्तं भगवता **तन्त्रराजे** साधनापटले [2]चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमेन　　15 वृत्तेन—

सूतस्याग्ने रिपुत्वं न शिखिविरहितः सूतबन्धः कदाचिद्
नाबद्धो हेमकर्ता कनकविरहिता वादिनां नैव भोगाः।
एवं स्त्रीसङ्गहीनो नहि भवति [3]नृणां सर्वदा चित्तबन्धो
नाबद्धः कायवेधी परमसुखमिहाविद्धकायो ददाति ॥ इति।　　2. T 444
(का० त० ४.२२४)

इह यथाग्निस्पर्शात् सूतकः प्रपलायति, [196b] सोपायेन तेनैवाग्निना बध्यते, तथा धर्मोदयस्पर्शाद्बोधिचित्तं प्रपलायति, सोपायेन तेनैव बध्यते। यथाग्निना रसो बद्धः सर्वलोहानि हेमं करोति, एवं धर्मोदयसङ्गेन बोधिचित्तं बद्धं स्कन्धधात्वायतनादिकं निरावरणं करोति। अतो रसबोधिचित्तयोरतर्क्यः प्रभावो मूर्खैर्विचारयितुं न शक्यते।　　25 तस्मात् कर्ममुद्राप्रसङ्गेऽपि देवतालम्बनं प्रोक्तं बोधिचित्तस्य स्थिरीकरणार्थम्, रसस्य स्वेदनजारणादिकमिव। न पशुकर्मकमलप्रविष्टस्य बोधिचित्तस्य भक्षणं तथागतेनोक्तमिति। उक्तं भगवता **तन्त्रराजे** पञ्चमपटले [4]त्रिसप्ततितमेन वृत्तेन कर्ममुद्रादिसाधनम्। तद्यथा—

---

१. च. द्व्यशीत्यधिक। २. च. द्वात्रिंशत्य। ३. मु. भो. योगिनां। ४. च. द्वात्रिंशतिमेन।

सेव्यादौ कर्ममुद्रा जिनसहजसुखस्यास्य वृद्ध्यर्थहेतो-
स्तस्मादादित्यरूपा मुखकरचरणोष्णीषसर्वाङ्गपूर्णा।
विद्युद्दण्डानुरूपाऽच्युतसुखजननी लक्षणाङ्गप्रपूर्णा
वज्रेऽद्भासयन्ती त्रिभवगततनुर्धर्मधातुस्ततः स्यात् ॥ इति।
(का० त० ५.७३)

पुनस्तत्रैव पटले [1]त्रयोदशाधिकशततमेन वृत्तेनोक्तम्—

चित्तस्याभासमात्रा स्वमनसि जनिताऽऽदर्शबिम्बोपमा वै
योगीन्द्रैः सेवनीया सकलजिनसुतैः सेविता या च बुद्धैः।
सा ज्ञानार्चिः प्रबुद्धा दहति सविषयं मारवृन्दं समस्तं
रागादींश्चापि काये ददति समसुखं योगिनां वर्षयोगात् ॥ इति।
(का० त० ५.११३)

अतो भगवतो नियमाद् द्वीन्द्रियसमापत्त्याऽपीयं महामुद्रा स्वचित्तप्रतिभासमात्रा योगिना भावनीयाऽऽबोधिपर्यन्तं बाह्येन्द्रियजनितं क्षरसुखं विहायेति।

ननु तथागतेनोक्तं स्कन्धधात्वायतनाभावे द्वीन्द्रियसंयोगरहितं प्रज्ञाज्ञानं स्वसंवेद्यं न भवति, अच्युतत्वात्। कथं योगी स्वचित्तप्रतिभासे स्वचित्तेनानुषङ्गं कृत्वा स्वचित्तं निरावरणं करोति, महाक्षरसुखज्ञानं चोपभुङ्क्ते, परमाणुसंदोहशरीराभावात्। एतदेव विपरीतम्; देवदत्त आत्मनः स्कन्धमारुह्य ग्रामं गच्छतीति, इह कस्यचिदभिप्रायो भविष्यति, तस्मादुच्यते—इह हि यद्वक्तव्यं मूर्खैः परमाणुसन्दोहात्मकैः स्कन्धधात्वायतनैर्विना चित्तमात्रेण प्रज्ञाज्ञानं स्वसंवेद्यं न भवति, तन्न, कस्मात्? आगन्तुकचित्तवासनावशात्। इह स्कन्धधात्वायतनं नाम आगन्तुकचित्तवासना, तस्याः प्रसादेन चित्ते सुखदुःखवेदना प्रविशति, परमार्थतो विचार्यमाणे नास्य शरीरस्य क्षुद्रोपद्रवेणेति। इह परमाणुसंदोहात्मकं शरीरं स्वप्नावस्थायां प्रपतितं तिष्ठति, नास्य क्षुद्रोपद्रवः कश्चिदस्ति, येन चित्ते दुःखं प्रविशति। इह सर्वलोकेषु प्रसिद्धम्, तस्यामेवावस्थायामन्यच्चित्तवासनात्मकं शरीरं परमाणुसन्दोहरहितं देशान्तरं व्रजन् प्रतिभासते, तस्य देशान्तरं व्रजतः शरीरस्य चौरादिभिरुपद्रवे कृते सति तेनोपद्रवेण चित्ते दुःखं प्रविशति, तेन दुःखेनाक्रन्दति। तदिदं महात्यद्भुतम्। शरीरं विना चौरादिभिर्विना स्वसंवेद्यं [197a] दुःखज्ञानं प्रवर्तते चित्तस्य। एवं स्वप्ने महाकामोपभोगैश्चित्ते सुखं प्रविशति तदेवाश्चर्यम्, शरीरेण विना [2]कामोपभोगैर्विना स्वसंवेद्यं सुखज्ञानं चित्तस्य प्रवर्तते सत्त्वानामिति। एतदेव पण्डितैर्विचारयितुं न शक्यते प्रादेशिकज्ञानमपि, किं पुनः संसारवासनातिक्रान्तं निर्वाणवासनोद्भूतं योगिस्वसंवेद्यं समन्तभद्रं महाक्षरसुखज्ञानं वितर्कयितुं न शक्यते मूर्खैरिति।

१. च. एकादशा। २. भो. ḥDod Pa Chen Po (महाकामो)।

अथ पापमतीनां तीर्थिकानां प्राणवायुतत्त्वरतानां वचनमिदम्—इह स्वप्नावस्थायां परमाणुसन्दोहात्मकशरीरे निश्वास-उच्छ्वासोऽस्ति(सौ स्तः), तयोर्निश्वास-उच्छ्वासयोः प्रभावादवस्थात्रयं भवति, न निश्वासोच्छ्वासाभावादिति। एतदेव विचार्यते—इह हि यदि निश्वासोच्छ्वासाभ्यां विना चित्ते स्वप्नावस्था नास्ति, तदा कथं मृत्युमूर्च्छावस्थायां निश्वासोच्छ्वासाभ्यां विना प्रहरमेकं यावच्चित्तप्रतिभासो भवति, यमदूतैर्नीयमानं शरीरं यमराजाज्ञया यमपुरं प्रतिभासते। अत्र यमपुरे यमराजोऽपि प्रतिभासते। स यमस्तस्य नीतशरीरस्य पुण्यपापविचारं करोति। विचार्यात्र वदति—यथाऽस्याद्याऽऽयुःक्षयो न भवति, तस्मादिमं सत्त्वं शीघ्रं मर्त्यलोके नयत यावदस्य शरीरं न विनश्यति। यमदूतानां नियमो भवति। तेन नियमेन ते यमदूतास्तच्छरीरं मर्त्यलोके क्षिपन्ति। तत्र क्षिप्ते सति चित्तवासनावशेन पुनस्तस्य मृतशरीरस्य निश्वासोच्छ्वासौ भवतः। तदाऽपरवासनावशेन जाग्रदवस्था भवति। तस्यामवस्थायां चित्तप्रबोधाद् बन्धुवर्गस्य यमराजाख्यानं कथयति। तस्मात् शरीरं विना निःश्वासोच्छ्वासाभ्यां विनाऽप्यनादिचित्तवासनाऽऽगन्तुका [1]पुनर्जातिवशाद् भवति सत्त्वानाम्, न स्वाभाविकी। यदीयं संसारवासना स्वाभाविकी भवति, तदा सत्त्वानां बुद्धत्वं नाम न स्यात्। येन कारणेनागन्तुका तेन कारणेनास्याः क्षयो भवति, तत्क्षयाद् बुद्धत्वं तथागतेनोक्तम्। एवमनेकप्रकारैर्विचार्यमाणः स्वचित्तवासनामात्रोऽयं संसारः, नान्यः कश्चित्। संसारवासनापि च्युतिलक्षणः क्षणो नाक्षरः। निर्वाणवासनाऽच्युतिलक्षणः क्षणो न क्षर इति। उक्तं च भगवता तन्त्रराजेऽध्यात्मपटले द्व्यधिकशततमेन वृत्तेन। तद्यथा—

> यो यन्मध्ये प्रविष्टो व्रतनियमरतः कर्मपाशैर्निबद्ध-
> स्तन्मध्ये स्वस्वभावाद् भवति नरपते तत्कुले तद्ग्रहेण।
> यावज्जीवस्य भावस्त्रिविधभववशाद् वेदना सौख्यदुःखं
> तावत् संसारघोरे भ्रमणमिह नृप स्वर्गमर्त्ये त्वधश्च॥
> (का० त० २.१०२)

पुनस्तत्रैव पटले सप्ताधिकनवतितमेन वृत्तेन योगवासना उक्ता— T 445

> योगीन्द्रोऽप्राप्तयोगः प्रचलितमनसा याति मृत्युं कदाचित्
> श्रीमान् मानुष्यलोके प्रवरमुनिकुले जायते योगयुक्तः।
> पूर्वाभ्यासेन तेनाहरति पुनरपि [197b] ज्ञानयोगं विशालं
> लब्धे ज्ञाने प्रयात्यक्षयपरमपदं यत्र जन्मी न भूयः॥ इति।
> (का० त० २.९७)

अतश्चित्तवासनावशात् स्वसंवेद्यं प्रज्ञाज्ञानं भवति, न परमाणुशरीरोपभोगादिति।

१. भो. Yaṅ Daṅ Yaṅ Du (पुनः पुनः)।

ननु स्वप्नावस्थायां मैथुने कृते सति सूक्ष्मकाये च्युतिर्भवति, न स्वप्ने(प्न)-चित्तवासनाकायात्। तस्मादस्य कायस्य प्रभावान्महासुखं स्वसंवेद्यं भवति, न चित्त-वासनाकायादिति केषाञ्चिद् द्वीन्द्रियसुखाभिलाषिणां वाक्यं भविष्यति। तस्मादुच्यते— इह हि यद्वक्तव्यं मूर्खैः परमाणुसन्दोहात्मकशरीराच्च्युतिर्भवति, न चित्तवासनाकाय-वशात्। नैतदेवं प्रमाणम्, कस्मात्? अरूपभवच्यवनात्। इह हि यदि परमाणुसन्दो-हात्मककायेन विना च्युतिर्न भवति, च्युत्या विना संसारो न भवति, संसारेण विना महासुखोपलम्भश्च न भवति, तदाऽरूपकायिकानां च्युत्या विना कथं बुद्धत्वाय पुनरुत्पादो भविष्यति, परमाणुसन्दोहात्मकशरीराभावात्। अरूपिणां नाहारिकं शरीरम्, परमाणु-सन्दोहात्मकशरीराभावात् शुक्रच्युतिर्नास्ति, शुक्रच्युतेरभावान्न सुखं न संसारस्तेषा-मिति। न चैवम्, उक्तं च भगवता द्वितीयेऽध्यात्मपटले तृतीयेन वृत्तेन परमाणुसन्दोहा-त्मकशरीरमक्षरज्ञानं च। तद्यथा—

देहेऽस्मिन् धातुवृन्दं भवति च सकलं षड्रसाहारपानाद्
भूतेभ्यः षड्रसाश्च प्रकटितनियतं भूतवृन्दं खधातोः।
शून्ये ज्ञानं विमिश्रं भवति समरसं चाक्षरं शाश्वतं च
एवं भूतस्थशान्तं त्रिविधभवगतं वेदितव्यं स्वकाये॥ इति।
(का० त० २.३)

देहेस्मिन्निति। तिर्यङ्मानुष्यदेहस्य यस्य षड्रसाहारपानमस्ति, असौ देहः षड्रसाहारपानी। अस्मिन् धातुवृन्दं लोमत्वग्रक्तमांसास्थिमज्जाशुक्रधातूनां मेलापको [1]धातुवृन्दं भवति। कुतः? षड्रसाहारपानात्, षट् च ते रसाः षड्रसास्तिक्ताम्ल-लवणकटुकमधुरकषाया लोमादिधातुस्वरूपं गच्छन्तीत्यभिप्रायः। भूतेभ्यः षड् रसाश्चेति। भूताः पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशधातवः कठिनद्रवोष्णस्पन्दनरसपरमाणुरूपाः, तेभ्य-स्तद्वोजसंयुक्तेभ्यस्तिक्तादयः षड्रसा भवन्ति। धातवो रसस्वभावं गच्छन्तीत्य-भिप्रायः। भूतेभ्यो भवन्तीति सत्त्वाशयवशाद्वाच्यम्, परमार्थविचारतः पुनर्धातवोऽपि रसा भवन्तीति, न जन्यजनकसम्बन्धादिति। भूतवृन्दं खधातोरिति खधातोः शून्यधर्माद् भूतवृन्दं भवति, बीजाङ्कुरवत्। यथाङ्कुरो नानष्टबीजाद् भवति, न नष्टबीजाद् भवति, तथा न स्वरूपापरित्यागात्, न जडधातुतः, नोच्छेदशून्यादिति। [2]एवं शून्यात् सर्वधर्मा भवन्तीति शून्ये ज्ञानं विमिश्रमिति शून्यधर्माणामुत्पाद-निरोधाभावः स्वचित्तप्रतिभासः। ज्ञानं तत्प्रतिबोधोऽक्षरसुखम्, तस्मिन् [3]स्वचित्ता-भासे उत्पादविनाशाभावे ज्ञानं विमिश्रम्, स्वचित्तप्रतिभासे समरसमेकोभवति, न ज्ञानज्ञेयसम्बन्धेन। एतदेवाक्षर[4]शाश्वतम्, परमाक्षरमित्यर्थः। एवं भूतस्थ-शान्तमिति। एवमनेन क्रमेण शरीरधातुस्थमक्षरं त्रिविधभवगतं कामरूपारूपभवगतं वेदितव्यं ज्ञातव्यं [198a] स्वदेहे योगिनेति। तेन तिर्यङ्मनुष्याणां शुक्रबीजं [5]शरीरो-

१ च. 'धातु' नास्ति। २. च. 'एवं' नास्ति। ३. च. 'स्व' नास्ति। ४. च. शान्तं। ५. भो. ḥKhor Ba (संसारो)।

त्पत्तिकारणम्, तदेव षड्रसानां शरीरे धातुत्वं गतानां पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाश-परमाणुसन्दोहात्मको गन्धरूपरसस्पर्शशब्दात्मकः सत्त्वधातुः, एतद्बीजस्वभावात् कर्मजं शरीरमुत्पद्यते, निरुध्यते च मृत्युकाले तदेव पञ्चात्मकं बीजं निःसरति। पुनः स्वप्न-शरीरवद् वासनाशरीरं शून्यं परमाणुसन्दोहवर्जितमनिरुद्धम्, तेनैवानिरुद्धवासनाशरीरेण कर्मवासनोद्भूतेन पुनः परमाणुसन्दोहात्मकं शरीरं गृह्णाति। पुनः परमाणुसन्दोहात्मक-शरीरग्रहणात् प्राक्शरीरवासनां परित्यज्य वर्तमानशरीरवासनोत्पद्यते चित्ते। तेन कारणेन शून्येभ्यश्चित्तवासनास्कन्धेभ्य आगन्तुकस्कन्धधर्मा भवन्ति, आगन्तुकस्कन्ध-धर्मेभ्यः शून्याश्चित्तवासनास्कन्धा भवन्तीति परलोके परमाणुमात्रोऽपि न गच्छति। कस्मात्? [1]प्राक्स्कन्धपरित्यागेऽप्यपरस्कन्धग्रहणात्। एवमुक्तक्रमेण षड्रसाहारिणो देहस्य पञ्चभूतात्मकस्य च्युतिकाले पञ्चभूतात्मकं कर्मजं बीजं निःसरति, चित्तवासनापि पञ्चभूतात्मिका भवति षड्रसाहारिणामिति। देवानां पुनः षड्रसाहारी पञ्चभूतात्मकः कायो न भवति, षड्रसाहाराभावात्। चन्द्रादित्यादिषट्कामावचराणां तेषां पुनस्तोय-तेजोवाय्वाकाशसन्दोहात्मकं शरीरं रूपरसस्पर्शशब्दचतुर्गुणात्मकं पृथ्वीगन्धगुणरहितम्, लघुत्वात्। शुक्रमपि तत्स्वभावात्मकम्, चित्तवासनापि च्यवनकाले तदात्मिकेति। रूपकायिकानां तेजोवायुरसपरमाणुसंदोहात्मकं शरीरं रसस्पर्शशब्दत्रिगुणात्मकं पृथ्वी-तोयगन्ध[2]रसगुणरहितम्, शुक्रमपि त्रिगुणात्मकम्, चित्तवासनापि च्यवनकाले तदा-त्मिका। षोडशानामित्यरूपकायिकानां शून्यधात्वात्मकं शरीरं चित्तवासनामात्रं शब्द-गुणात्मकम्, शुक्रमपि पृथ्वीतोयतेजोवायुगन्धरसरूपस्पर्शगुणवर्जितम्। एषां पृथिव्यादीनां मुख्यगुणेऽस्मिन् गौणमात्रो गुणोऽस्ति, अन्यथा समुदितगुणैर्विना नैकगुणात् संसारवासना भवति चतुर्णामित्येषु त्रिभवेषु नरकप्रेततिर्यङ्मनुष्यासुरचातुर्महाराजकायिकास्त्राय-स्त्रिंशद्यामतुषितनिर्माणरतिपरनिर्मितवशवर्तिनश्चैकादश कामाः। ब्रह्मकायिका ब्रह्मपुरोहिता महाब्रह्माणः परीत्ताभा अप्रमाणाभा आभास्वराः परीत्तशुभा अप्रमाणशुभाः शुभकृत्स्ना अनभ्रकाः पुण्यप्रसवा बृहत्फला अबृहा अतपा सुदर्शना अकनिष्ठा षोडश-रूपाः। आकाशानन्त्यायतना विज्ञानानन्त्यायतना आकिञ्चन्यानन्त्यायतना नसंज्ञानासं-ज्ञानन्त्यायतनाश्चत्वारः। एवं कामरूपारूपाणां चतुर्णां च्यवनकाले शुक्रं यथानुक्रमेण पञ्चचतुस्त्र्येकगुणात्मकं निस्सरति, चित्तवासनावशेन। नान्यथा संसारभ्रमणं भवति। अतः कारणाद् [198b] उक्तं भगवता तन्त्रराजे पञ्चमपटले[3]ऽष्टपञ्चाशत्तमेन वृत्तेन। तद्यथा—

भूवार्यग्निश्च वायू रसपरमरसौ चाणवः षट्प्रकारा
गन्धाद्येकैकहीना विषयविरहिताश्चान्तिमा ज्ञानदृश्याः।
कामा रूपास्त्वरूपा युमयमशशिनश्चान्तिमो धर्मधातुः
सर्वाकाराः सदा तेऽच्युतसुखसहजाधारभूताः समन्तात्॥

(का० त० ५.५८)

१. च. 'प्राक्' नास्ति। २. भो. gZugs (रूप)। ३. च. सम।

तेन कारणेन सत्त्वाशयवशात् तथागतेन धर्मो देशितः—वैभाषिकः सौत्रान्तिको योगाचारो मध्यमकश्चेति। तेषु वैभाषिकमुपपत्त्यङ्गिकसत्त्वप्रकाशकं शास्त्रम्, सूत्रान्तमर्थप्रकाशकं शास्त्रम्, योगाचारं विज्ञानमात्रप्रकाशकं शास्त्रम्, मध्यमकं पारमार्थिकतत्त्वप्रकाशकं शास्त्रं सत्त्वाशयवशादुक्तं भगवता दूरा(र)भव्यासन्नभव्य-
5 चित्तात्। इह सत्त्वा अनादिकाले तीर्थिका देवभूतासुरधर्मरताः सर्वज्ञमार्गनष्टाश्चतुर्वर्णैकवर्णाश्रिताः स्वर्गफलोपभोगाभिलाषिणः कर्त्रात्मवादिनः। तेषां शब्दवादिनो देवप्रेतधर्माश्रिता ईश्वरवादिनश्चात्मवादिनश्च जातिवादिनश्चेति। म्लेच्छाऽसुरधर्माश्रिताः कर्तृवादिनो जीववादिनो जातिवादरहिताः। एषां म्लेच्छानामुभयग्रहः—परमाणुसन्दोहग्रहः, उपपत्त्यङ्गिकपुद्गलग्रहश्चेति। एषामभिप्रायः—यदि परमाणुसंदोहात्मके
10 शरीरेऽन्तर्वर्त्युपपत्त्यङ्गिकपुद्गलो नास्ति, परमाणुसन्दोहात्मके काये विनष्टे सत्यपरकायग्रहणं कः करिष्यति? तस्मादुपपादुकपुद्गलोऽस्ति, तेन साधितेन स्वर्गफलं निर्वाणफलं च भवति। स्वर्गफलादपरं निर्वाणं नाम न स्यादिति तत्त्वपृच्छाकाले तेषां स्वचित्ताभिप्रायमभिज्ञाय तत्त्वविदा भगवतोक्तम्—"अत्थि पुग्गलो भारवाहो ण णिच्चं भणामि णाणिच्चं भणामि" इति। एतदेव सत्यं भगवतो वचनात्। स्वप्नावस्थायां
15 चित्तवासनापुद्गलो नानित्यो न नित्यो वक्तुं शक्यते। अनेन तथागतवचनेन म्लेच्छधर्मं त्यक्त्वा बौद्धा वैभाषिका जाताः। पुनर्लोकोत्तरधर्मं देश्यमानं श्रुत्वा बोधिसत्त्वानामिह पुद्गलग्रहं परित्यज्य केचित् सम्यक्संबुद्धमार्गमाश्रिता इति।

सौत्रान्तिकानां पुनः परमाणुसन्दोहात्मकग्रहोऽस्ति। एषामर्थवादिनामभिप्रायः—यद्याकाशकुहरान्तर्वर्ति सचराचरं वस्तु नास्ति तदा त्रैलोक्यं नाम न स्यात्, संसारा-
20 भावे सुगतिर्दुर्गतिर्न स्यात्, एवं बुद्धबोधिसत्त्वाश्च न स्युः, परमनिर्वाणमपि न स्यात्, भगवतोऽपि धातुसंदर्शनं न स्यात्, द्रव्यान्तर्वर्तिनोऽर्थाभावादिति। एवं तत्त्वपृच्छाकाले तेषां चित्ताभिप्रायं ज्ञात्वा भगवतोक्तम्—अस्ति परमाणुसन्दोहात्मकं चरमशरीरं द्वात्रिंशन्महापुरुषलक्षणैर्युक्तम्, यस्य प्रसादेन सम्यक्सम्बुद्धत्वं महापरिनिर्वाणं भवति, तदेव सत्यम्, भगवतो धातुसंदर्शनात्। एवं परमाणुसन्दोहात्मकशरीरस्य प्रभावं श्रुत्वा
25 जातिवादं शब्दवादमीश्वरवादं कर्तृवादं त्यक्त्वा सौत्रान्तिका बौद्धा बभूवुः [199a], पुनर्बोधिसत्त्वानां लोकोत्तरधर्मदेशनां श्रुत्वा तदेवार्थग्रहं त्यक्त्वा सम्यक्सम्बुद्धमार्गमाश्रिताः केचिद् बभूवुरिति।

योगाचारिणां पुनर्विज्ञानग्रहोऽस्ति, तेषां विज्ञानवादिनामभिप्रायः—विज्ञानमात्रं त्रैधातुकं समस्तम्। षडङ्गाङ्गिकभागतः परमाणुर्नाम न स्यात्। यथा स्वप्नावस्थायां
30 चित्तप्रतिभासमात्रेणार्थेनार्थक्रिया प्रवर्तते परमाणुद्रव्याभावेऽपि, तथा जाग्रदवस्थायामसदर्थेनार्थः प्रतिभासते, तिमिरिकामलोपहतचक्षुषः केशोण्ड्रककनकशङ्खवत्। एवं तेषां
T 447 तत्त्वपृच्छाकाले चित्ताभिप्रायं ज्ञात्वा भगवतोक्तम्—विज्ञानमात्रं त्रैधातुकम्, विज्ञानादन्यो न संसारः, लौकिकविज्ञाननिरोधाद् भवबीजस्यैव निरोधः, ततश्च निर्वाणमिति। एतदेव
35 सत्यम्। अजडात् सुखदुःखप्रादुर्भावो भवति, न जडतः। सुखदुःखं नाम संसारः, तदभावो नाम निर्वाणमिति। एवं भगवतो वचनं श्रुत्वा कर्त्रात्मवादं परित्यज्य योगाचारिणो बौद्धा बभूवुः।

पुनर्बोधिसत्त्वानां लोकोत्तरधर्मदेशनां श्रुत्वा विज्ञानवादं परित्यज्य सम्यक्-सम्बुद्धमार्गमाश्रिताः केचिद्बभूवुः। तथा योगिनीतन्त्रेषु—"महामाया महारौद्रा भूतसंहार-कारिणी" इति। एवं सत्त्वाशयवशाद्भगवतो धर्मदेशना। न सा भगवतः कण्ठतालुक-मूर्धदन्त्यौष्ठजनिता प्रादेशिकशब्देन, कस्मात्? अनन्तानन्तसत्त्वरुतत्वात्। इह प्रादेशिक-वाक्येन युगपदनन्तानन्तसत्त्वानां स्वस्वभाषान्तरेण धर्मदेशना कर्तुं न शक्यतेऽनन्त-कल्पैरपि। तस्मात् सत्त्वाशयाभि[1]प्रायेण भगवतो वाक्यं न भवति। सत्त्वाशयवशाद् भगवानपि सग्रहो भवति, ग्रहग्रहणात् संसारी भवति। तस्मात् सत्त्वानां जन्मान्तर-वासनाबलेन स्वप्नेऽनुत्पन्नशरीरवद् भगवतः शरीरप्रतिभासो वचनप्रतिभासश्च भवति। यथा स्वप्ने शिष्या उपाध्यायं दृष्ट्वा सन्देहार्थं पृच्छन्ति, उपाध्यायोऽपि शिष्याणां सन्देहार्थं निःसन्देहं करोति, तत्र नोपाध्यायः शिष्याणां चित्तवासनाप्रतिभासः। एवं पुण्यवतां सत्त्वानां स्वचित्तप्रतिभासो न भगवानुत्पन्नो न निरुद्ध इति। अनेन कारणेन चतुर्णां बौद्धानां [2]चित्तवासनाबलेन भगवता पुद्गलवादिनामनित्यपुद्गलभावनोक्ता, अर्थवादिनां पृथिव्यादिकृत्स्नभावना, विज्ञानवादिनां विज्ञप्तिमात्रसमाधिः, माध्यमिकानां स्वप्नोपमाक्षराद्वयज्ञानभावना। एवं पुद्गलनैरात्म्यं धर्मनैरात्म्यमिति। वैभाषिक-सौत्रान्तिकयोगाचारिणां सोपधिनिर्वाणम्, माध्यमिकानामुपधिरहितमप्रतिष्ठित-निर्वाणम्, हेतुफलनिरोधात्, सुषुप्तजाग्रदवस्थारहितं स्वप्नतुर्योपममिति। उक्तं भगवता [3]प्रत्यवेक्षणाज्ञानस्तवे [एका]दशमश्लोकेन। तद्यथा—

सर्वोपधिविनिर्मुक्तो व्योमवर्त्मनि सुस्थितः।
महाचिन्तामणिधरः सर्वरत्नोत्तमो विभुः॥ इति।

(ना० सं० ८.११)

अतः पक्षग्रहरहितं निरुपधिशेषनिर्वाणं [199b] सम्यक्सम्बुद्धस्येति।

ननु स्वप्नावस्थायां जडधर्मैर्विनाऽजडप्रतिभासो दृश्यते, चित्तवासनावशेन जाग्रदवस्थायां पुनर्जडधर्मैर्विनाऽजडप्रतिभासो न दृश्यते, दर्पणे प्रतिबिम्बवत्। तस्या-मवस्थायां योगिनो भावनाप्रतिभासोऽपि द्विधा प्रतिभासते—जलचन्द्रवत् सति धर्मिणि धर्माः। तस्यामवस्थायां योगी जडधर्मैर्विना स्वप्नतुल्यानजडधर्माननकल्पितानन्नुत्पन्ना-नशून्यानचित्तानाकाशे पश्यति, एतदेवाप्रसिद्धम्। कस्मात्? सति धर्मिणि धर्मविचारात्। मायोपमास्तथागतेनोक्ताः। न जडधर्मैर्विनाऽजडप्रतिभासः समाधिना दृश्यते, इह केषाञ्चिदभिप्रायो भविष्यति। तस्मादुच्यते—इह हि यद्वक्तव्यं जडचित्तवासनाभि-रतैर्जाग्रदवस्थायां जडधर्मैर्विनाऽजडप्रतिभासो न दृश्यते, तन्न, कस्मात्? प्रतिसेनादर्शे जडधर्मैर्विनाऽजडप्रतिभासदर्शनात्। यथा कुमारी प्रतिसेनादर्शे मन्त्रदेवताऽधिष्ठान-बलेनातीतानागतप्रत्युत्पन्नधर्माणामजडप्रतिभासं पश्यति, न च तेऽतीतवर्तमानानागत-

---

१. भो. bSam Paḥi dBaṅ Gis (अभिप्रायवशेन)। २. भो. 'चित्त'नास्ति।
३. च. कृत्यानुष्ठान।

जडधर्मा आदर्शाभिमुखाः सन्ति, न च ते जडधर्मैर्विनाऽऽदर्शेऽजडप्रतिभासाभावाः, न च ते धर्माः कुमारिकया चिन्तिताः। एवं योगी स्वचित्ताधिष्ठानबलेनाकाशधातौ जडत्रैधातुकं विनाऽजडप्रतिभासं पश्यतीति। उक्तं भगवता साधनापटले[1]ऽष्टनवत्युत्तरशततमेन वृत्तेन—

5 मुद्रा मायानुरूपा मनसि च गगने रूपवद्दर्पणे च
त्रैलोक्यं भासयन्ती तडिद[2]नलनिभानेकरश्मीन् स्फुरन्ती।
बाह्ये देहेष्वभिन्ना विषयविरहिताऽऽभासमात्राऽम्बरस्था
चित्तं चेतोमयाऽऽलिङ्गयति च जगतोऽनेकरूपस्य सैका॥ इति।
(का० त० ४.१९८)

10 अतो भगवतो वचनाज्जडधर्मैर्विनाऽजडधर्मप्रतिभासं योगी पश्यतीति।

ननु कुमारिका प्रतिसेनादर्शे यत्प्रतिभासं पश्यति तदाचार्यप्रसादः, कस्मात्? कुमारिकायामाचार्येण मन्त्रदेवताऽधिष्ठानस्य कृतत्वात्। इह कुमारिकायामाचार्येण मन्त्रदेवताधिष्ठानं कृतम्, तेनाधिष्ठानवशेन कुमारिका प्रतिसेनादर्शे प्रतिभासं पश्यति, न मन्त्रदेवताधिष्ठानरहिता। तस्माद् गुरोराज्ञाप्रसादेन योगी त्रैधातुकं प्रतिभासमात्र-
15 माकाशधातौ पश्यति, इह कस्यचिदाज्ञा[3]बद्धस्याभिप्रायो भविष्यति, तस्मादुच्यते—इह हि यद्वक्तव्यं मूर्खैर्गुरोराज्ञाप्रसादेन कुमारिकायां मन्त्रदेवताधिष्ठानं भवति, तन्न, कस्मात्? आचार्यस्य प्रतिसेनादर्शे प्रतिभासाभावात्। इह यद्याचार्याज्ञाप्रसादेन मन्त्रदेवताधिष्ठानं कुमारिकायां भवति, तदाऽऽचार्यस्यापि तदेवाधिष्ठानं किन्न भवति, येन कुमारिकायामधिष्ठानं कृत्वाऽतीतानागतवर्तमानपरोक्षज्ञानं पृच्छेत्। यदि
T448 20 तस्यैवाधिष्ठानमस्ति तदा प्रतिसेनादर्शे तत्र प्रतिभासं दृष्ट्वा स्वयमेव कथयति, न चैवम्। तस्मादाचार्यप्रसादेन कुमारिकायां मन्त्रदेवताधिष्ठानं वक्तुं न शक्यते, एवं योगिनोऽपीति। [200a] किन्तु कुमारिकायां मन्त्रदेवताधिष्ठानं भवति, तत्कारणमस्ति, येन कारणेन कुमारिकायां द्वीन्द्रियसंघर्षणाच्च्युतिसुखोपलब्धिर्नास्ति तेन कारणेनाधिष्ठानं भवति। लोकेऽपि प्रसिद्धं "कुमारीसुरतं यथा"। तेन कारणेन कुमारी
25 मन्त्रदेवताधिष्ठानबलेन प्रतिसेनादर्शे प्रतिभासं पश्यति, नान्या युवती द्वीन्द्रियसुखोपलब्धेति। कुमारदेवताधिष्ठाने युवा देवताधिष्ठानं युवती युवापि पश्यतीति। एवं योगिनोऽपि परमाक्षरसुखाभ्यासवशाद् बाह्यच्युतिसुखपरित्यागात् कुमारिकावस्थान्तरगता अतीतानागतवर्तमानं पश्यन्ति, स्वचित्ताधिष्ठानबलेन, न गुरोराज्ञाप्रसादेनेति।

30 ननु परमाक्षरसुखाभ्यासं विनाऽब्रह्मचारिणोऽप्यनेके कैवल्यं [4]देशयन्ति, तस्माद् ब्रह्मचर्यं विना मन्त्रदेवताधिष्ठानं भवति। अन्यथा कथं ते कैवल्यं [5]देशयन्ति[इति]

---

१. च. द्विशततमेन। २. भो. Dri Med (अमल)। ३. भो. Chags Pa (आसक्तस्य)। ४-५. च. कथयन्ति।

कस्यचिदभिप्रायो भविष्यति, तस्मादुच्यते—इह हि यदुच्यते बालैरब्रह्मचारिणां मन्त्र-देवताधिष्ठानं भवति, तन्न, कस्मात् ? ज्योतिषाभ्यासवशेनार्थसंदर्शनात्। इह हि यत् कैवल्यं ज्ञानं तदेव ज्योतिषाङ्गं सर्वसत्त्वसाधारणमुपदेशवशाद् गणितवशाज्ज्ञायते नष्टजातकादिकम्, यथाऽन्यैः कर्णपिशाचिका साधिता सा कथयति, अन्यैः क्षेत्रपालाः साधितास्ते कथयन्ति, यत्किञ्चिच्चित्ते स्फुरति तेषाम्। अन्यैर्मातरः साधिता आवेशिताः 5 परकाये प्रविश्य कथयन्ति, अन्यैर्नागराजाः साधितास्ते कालदष्टाः काये प्रविश्य कथयन्ति, अन्यैश्चेटकाः साधितास्ते साधकानां वाक्येन सत्त्वकाये प्रविश्य सत्त्वकायं विडम्बयन्ति, अन्यैर्डाकिनीराक्षसादयः साधितास्ते सत्त्वानां रक्तं पिबन्ति, अन्यैर्भूताः साधितास्ते सत्त्वानां काये प्रविश्य ध्वननकम्पनादिकं कृत्वा गच्छन्ति, अन्यैर्विघ्न-विनायकाः साधितास्ते सत्त्वानां विघ्नानि कुर्वन्ति, अन्यैः सौम्यदेवताः साधितास्ते 10 सत्त्वानां रक्षां कुर्वन्ति, अन्यैः कामदेवताः साधितास्ते सत्त्वानां कामोन्मादं शुक्रच्युतिं कुर्वन्ति, अन्यैरन्या दुष्टदेवताः साधिताः केचित् स्तम्भनं कुर्वन्ति केचिन्मोहनं केचि-दुच्चाटनं केचिद्विद्वेषणं केचिन्मारणं केचिद् वृक्षलिङ्गोत्पाटनं च कुर्वन्ति, एव-मादीन्यनेकानि क्षुद्रोपद्रवकर्माण्यदृष्टरूपेण कुर्वन्ति। यैरमी दुष्टदेवता मारकायिकाः साधितास्ते चैभिः क्षुद्रपरिज्ञानैः सद्यःप्रत्ययकारकैर्मूर्खाणां गुरवो भवन्ति, धर्मदेशनां 15 कुर्वन्ति। ज्ञानं प्रत्ययसारं कामविषनिरञ्जनानाम्, यस्य कामाज्ञा नास्ति निरञ्जन-विपाज्ञा नास्ति निरञ्जन-आणवशाम्भवशाक्तेयप्रत्यक्षपरोक्षवेधाज्ञा नास्ति, स पण्डितोऽपि पशुः। सर्वसत्त्वोपकाररतो भिक्षां भ्रमति, एकाकी विहरत्यसहायः स्वार्थभ्रष्टः। लोकेऽपि प्रसिद्धम्—"स्वार्थभ्रंशो हि मूर्खता"। तस्मादियं पारमैश्वर्याज्ञा भुक्तिमुक्तिफलप्रदा पारम्पर्यक्रमेणागता गुरोः [200b] प्रसादेन लभ्यत इति। उक्तं 20 परमेश्वरेण सर्वज्ञेन वा—

न गुरुः(रोः) सदृशी माता न गुरुः(रोः) सदृशः पिता।
यस्तारयति महाघोरं संसारोदधिदुस्तरम्॥ इति।
यो ददाति गुरुर्दीक्षां शिष्याय शतयोजनैः।
भुक्तिमुक्तिप्रदात्री या सा दीक्षा मोक्षदायिका॥ इति। 25

एवमनेकप्रकारैस्तान्महामूर्खान् महालोभाभिभूतान् क्षुद्रपरिज्ञानेन बोधयित्वा तेषामनुग्रहं करोति, तां चाज्ञां समर्पयेत्, तेऽपि महासन्तुष्टा भवन्ति वयं गुरुप्रसादेन मुक्ताः। इदानीं सर्वं कुर्मः, अशुचि भक्षयामः, अवर्णाभिगमनं कुर्मः, प्राणातिपातं मृषावादमदत्तादानं सुरापानादिकं कुर्मः। एवमनेकप्रकाराणि मारकर्माणीह सिद्ध्यर्थं कुर्वन्ति। न च तेषां पारमैश्वर्याज्ञाप्रसादेन शरीरसिद्धिर्भवति, न चातीतानागतवर्तमानं 30 विदन्ति, अन्ते मरणं गच्छन्ति, शरीरं वह्निना दह्यते, श्वखगादिभिर्वा भुज्यते। न जीवः शिवीभवति, विज्ञानं वज्री वा। एवं सर्वे क्षुद्रमन्त्रदेवताऽधिष्ठानक्रमा माराणां परमाक्षरज्ञानाभिरतैर्योगिभिर्विचारणीयाः। एभिः क्षुद्रमन्त्राधिष्ठानैर्वज्रावेशो न भवति। उक्तं च भगवता **नामसंगीत्यामादर्शज्ञानस्तवे** सप्तमश्लोकेन। तद्यथा—

वज्रज्वालाकरालाक्षो वज्रज्वालाशिरोरुहः ।
वज्रावेशो महावेशः शताक्षो वज्रलोचनः ॥ इति ।
(ना० सं० ७.७)

तथा तन्त्रराजेऽप्यभिषेकपटले [1]एकोननवतितमेन वृत्तेनोक्तं कायावेशादिकम्, तद्यथा—

कायावेशेन योगी [2]प्रकृतिगुणवशात् कायकृत्यं करोति
वागावेशेन वादी त्रिभुवनविजयी देवनागासुराणाम् ।
चित्तावेशेन सर्वं परहृदयगतं ज्ञायते भूतभव्यं
[3]ज्ञानावेशेन बुद्धो [4]भवति गुरुगुरुश्चर्द्धिमानेकशास्ता ॥ इति ।
(का० त० ३.८९)

अतो वज्रावेशाभावात् क्षुद्रदेवतावेशा बुद्धत्वफलदायका न भवन्तीति ।

तिष्ठतु तावद् बुद्धत्वं त्रैलोक्याधिपतित्वं नाम, एभिः प्रादेशिकावेशैः खड्गरस-रसायनादयोऽपि न सिद्धयन्ति, कस्मात् ? पारमैश्वर्याज्ञादायकस्य गुरोः परद्रव्यलुण्ठकत्वात् । इह हि यदि गुरोराज्ञाप्रसादेन महामूर्खाणां त्रैलोक्यराज्यं सर्वज्ञपदं भवतीह जन्मनि, तदा किमर्थं गुरोर्दारिद्र्यदुःखमस्ति, रससिद्धपदमपि नास्ति । एवमनेकप्रकारैर्विचार्यमाणं जन्मान्तरपुण्यज्ञानसंभारद्वयरहितं सर्वज्ञपदं नास्ति, तस्मात् पुण्यज्ञानसंभारार्थं सत्त्वोपकारः कर्तव्यः । उक्तं भगवता पञ्चमपटले [5]षट्षष्टितमेन वृत्तेन—

सत्त्वा बुद्धा न बुद्धस्त्वपर इह महान् विद्यते लोकधातौ
तेषामाराधनेन त्वपरिमितभवश्छिद्यते निर्विकल्पात्
द्रोहं कुर्वन् हि योगी व्रजति हि नरकं रौरवाद्यं महान्तं
तस्माच्चित्ते विशुद्धेऽप्यबुधबुधजनानां विरुद्धं न कुर्यात् ॥ इति ।
(का० त० ५.६६)

अतः सत्त्वोपकारः पुण्यसंभारार्थं कर्तव्यः, ज्ञानसम्भारार्थं परमाक्षरज्ञान[201a]-भावना कर्तव्या । सत्त्वार्थं विना पुण्यसम्भारो न भवति, परमाक्षरज्ञानभावनया विना ज्ञानसम्भारश्चेति तथागतहृदयम् । उक्तं भगवता तन्त्रराजे पञ्चमपटले द्वासप्ततितमेन वृत्तेन । तद्यथा—

सत्त्वानां पापचित्तं भवति नरपतेऽधिष्ठितं मारकायैः
पुण्यज्ञानानुरक्तं सुखद[6]मपि सदाधिष्ठितं बोधिसत्त्वैः ।

---

१. च. अष्टाशीति । २. च. त्रिभुवननिलये । ३. च. वज्रा । ४. च. त्रिदशनर । ५. च. षष्टि । ६. च. मिति ।

निर्वाणं यान्ति यस्मात् सुख[1]समयवशात् क्लेशमारान्निहत्य
तस्मात् कुर्वन्ति माराः प्रतिदिनसमये नैकविघ्नानि तेषाम् ॥ इति ।
(का० त० ५.७२)

अतो भगवतो वचनाद् योगिना परमाक्षरमहामुद्रायोगेन स्वचित्तसाधनं कर्तव्यं मोक्षार्थम्, अन्यथा गुर्वाज्ञया मोक्षो न भवति । कस्मात् ? भगवतो मार्गोपदेशकत्वात् । 5

[2]आज्ञासंचारिणो धर्माः प्राणिनां मोक्षदाः क्वचित् ।
मार्गोपदेशको येन [3]आज्ञया मोक्षदो जिनः ।
गुरोराज्ञाप्रसादेन मुक्तिः स्याद्यदि देहिनाम् ।
तदा कारुणिको मोक्षं देशयेन्न समाधिना ॥

तस्मान्मोक्षार्थं बाह्यदेवतामन्त्रसाधनं न लौकिकसिद्धिसाधनार्थं योगिना कर्तव्यम् । 10
इह बाह्यदेवताः क्षुद्रोपद्रवकारिणः साधिता अपि साधकस्य छिद्रान्वेषिणः, तेषां बलेन साधकोऽन्येषां प्रचण्डदेवतानां क्षुद्रोपद्रवं करोति, तैर्गृहीतस्य साधकस्य ते साधिता दुष्ट-देवताः शत्रवो भवन्ति, मृत्युकाले न किञ्चित् कथयन्ति । साधकोऽप्यसमाधिना मृतो नरकं याति । अथ ते साधिताः किं दास्यन्ति दरिद्रनरा इव । साधिता ब्रुवन्ति—हे साधक ! तव नियमं सर्वं कुर्मः । यदि साधको ब्रूते युष्माभी राजा बन्धयित्वाऽत्रानीय- 15
ताम्, तदा परिहारं कुर्वन्ति—अत्र विषये वयं न शक्ताः । एवं क्षुद्रदेवताः साधिताः सन्तः सर्वज्ञविषये परिहारं कुर्वन्ति । तस्मात् सर्वज्ञपदाभिलाषिणां दुष्टदेवतासाधनेन किं प्रयोजनम्, गुर्वाज्ञया च [4]संसारधर्मस्वरूपिण्या । उक्तं भगवता मूलतन्त्रे—

शिवतत्त्वं कामतत्त्वं विषतत्त्वं यथाऽऽज्ञया
सञ्चारि(र)णं भवेत् पुंसां बुद्धतत्त्वं तथा न च ॥ 20

रागादिमलिनं चित्तं क्षरं संसारकारणम् ।
विशुद्धं तद्वियोगेन शुद्धं प्रकृतिनिर्मलम् ॥

नापनेयमतः किञ्चित् क्षेप्तव्यं किञ्चिदाज्ञया ।
न दातव्यं न हर्तव्यं शुद्धतत्त्वं महाक्षरम् ॥

दाता हर्ता गुरुर्नास्ति शुद्धतत्त्वस्य सर्वतः । 25
पुण्यसम्भारहीनानां सर्वज्ञोऽपि प्रभुः स्वयम् ॥

परोपकारतः पुंसां पुण्यसम्भार उत्तमः ।
उत्तमाज्ज्ञानसंभारस्ताभ्यां बुद्धत्वमुत्तमम् ॥

शिवतत्त्वे कामतत्त्वे विषतत्त्वे त्रिधा भवेत् ।
वेधो गुर्वाज्ञया पुंसां परमाक्षरसुखं न च ॥ 30

१. च. परमसुखवशात् । २. च. राज्ञा । ३. च. राज्ञया । ४. च. सञ्चार ।

आणवः शाम्भवो वेधः शाक्तेयश्चाज्ञया भवेत् ।
चित्तवाक्कायवेधेन निद्रास्वप्नजाग्रतः ॥

शिवतत्त्वमिति ख्यातं मूर्खाणामाज्ञया गुरोः ।
चित्तवाक्कायसंक्षोभश्च्युतिः शुक्रस्य देहिनाम् ॥

5 गुरोराज्ञाप्रसादेन कामतत्त्वमिति स्मृतम् ।
विषं निर्विषमित्याहुर्न विषं विषमेव च ॥

स्थावरं जङ्गमं कृत्यं गुरोराज्ञाप्रसादतः ।
विषतत्त्वमिति ख्या[201b]तं सद्यःप्रत्ययकारकम् ॥

त्रितत्त्वं नाक्षरं सौख्यं संभवेत् सर्वदेहिनाम् ।
10 गुरोराज्ञाप्रसादेन तस्मात् तद्भावयेद् व्रती ॥

अतो भगवतो वचनात् परमाक्षरज्ञानमहामुद्राभावना कर्तव्या मोक्षार्थिनेति ।

ननु यद्यच्युतशीलेन विना पञ्चाभिज्ञा न भवन्ति, तदा धर्मोद्गतादिबोधिसत्त्वानां वशिष्ठादिमहर्षीणां कथं पञ्चाभिज्ञा स्युरिति केषाञ्चिदभिप्रायो भविष्यति, तस्मादुच्यते— इह हि यद्वक्तव्यं बालजनैर्बोधिसत्त्वानां[१] ब्रह्मचर्यं नास्ति, तन्न, कस्मात्? द्विधा
15 बोधिचित्तच्यवनात् । इह सत्त्वानां बोधिचित्तच्यवनं द्विधा—एकं शुभाशुभकर्मवशात्, द्वितीयं चित्तवशितावशात् । तत्र यत् कर्मवशाच्च्यवनं तत् संसारभ्रमणार्थम्, यच्चित्तवशिता[वशा]च्च्यवनं तत्संसारचक्रे कर्मभ्रामितानां मार्गदर्शनार्थम् । यथा विन्ध्याटव्यां प्रपतितानां नष्टमार्गाणां मार्गदर्शकेन विना मार्गदर्श(गम)नं न स्यात्, तथा संसारे प्रपतितानां मार्गदर्शकेन विना मार्गगमनं न स्यात् । यदि मार्गदर्शकेन सह [२]दर्शनं नास्ति
20 तथापि मार्गाभावः । अथ मार्गदर्शकः प्राग्विशुद्धमार्गेण नागतस्तथापि मार्गाभावः । अथ मार्गनष्टानां भाषां न जानाति तथापि मार्गाभावः । एषां नष्टमार्गाणां सन्त्रासं दृष्ट्वा नानष्टमार्गस्य सन्त्रासो भवति । एवं बोधिसत्त्वानां सत्त्वोपकारार्थं संसारे प्रवेशः, न कर्मविपाकतः । यदि बोधिसत्त्वानां दशभूमीश्वराणां दशपारमितानिर्यातानां दशवशिताप्राप्तानां कर्मविपाकेन संसारभ्रमणं तदा सत्त्वानां मोक्षो नास्ति । नाज्ञातमार्गेणा-
25 ज्ञातमार्गाणां मार्गोपदेशः कथ्यते, यथान्धेनान्धस्य । तस्माद्बोधिसत्त्वानां जन्मग्रहणं
T 450 सत्त्वार्थम् । उक्तं [३]यामकायिकैर्मम लोकनाथस्य सत्त्वार्थं प्रति नरकप्रवेशकाले—

ये मुक्ता भवबन्धनैरपि भवं गृह्णन्ति सत्त्वार्थिनः
कालात् कर्मफलं त्यजन्ति नहि तच्छून्यार्थसंदेशकाः ।
संज्ञानानलदग्धचित्तकलुषाः सम्यक् कृपार्द्राः सदा
30 तान् सत्त्वार्थरतानतर्क्यचरितान् बुद्धान् नमामो वयम् ॥ इति ।

---

१. भो. Sems Pa Chen Po rNams (महासत्त्वानां) इत्यधिकम् । २. भो. Yaṅ Dag Par mThoṅ Ba (संदर्शनं) । ३. भो. bDud Kyi Ris (मारकायिकैः) ।

एवमनेकगुणवतां दग्धक्लेशावरणानां सत्त्वार्थक्रियात्मकं लवमात्रं क्लेशावरणं जन्मग्रहणार्थम्, अन्यथा सत्त्वानां मार्गदेशना न स्यात्। मार्गेण विनाऽनादिसंसारात् सत्त्वानां निर्गमो न भवति, बोधिसत्त्वसंसर्गाभावादिति। इह बोधिसत्त्वैः प्राग्बोधिचित्तं सुदृढीकृतम्। अस्य बोधिचित्तस्य द्विधा बन्धः—प्रज्ञाविरागेण, प्रज्ञारागेण च। यथा सूतकबन्ध एकः स्वेदसंन्यासयोगेन, द्वितीयो लोहादिजारणाग्निविडसंयोगेन। तयोर्यः स्वेदसंन्याश(स)योगेन बद्धः सूतः, स तीव्राग्निना ध्मातः किञ्चित्तिष्ठति, [1]किञ्चित् प्रपलायति। यः सर्वलोहरत्नजारणात्तीव्राग्निना बद्धः, स कदाचित्तीव्राग्निना ध्मातः सन्न प्रपला[य]ति, तस्यैव ग्रासजारणान्तरवशेना[202a]वस्थान्तरं भवति। तद्यथा—

धूमश्चिटिचिटिश्चैव मण्डूकप्लुतिरेव च।
कम्पो निष्कम्पता चैव पञ्चावस्था रसस्य तु॥

तथा भावनाभ्यासवशेन बोधिचित्तस्यावस्थान्तरं भवति, मृदुमध्याधिमात्राधिमात्राधिमात्रप्रभेदतः। यः स्वेदसंन्यासयोगेन बन्धः स बोधिचित्तस्य बन्धः, तदनित्यपुद्गलभावनाबलेन पृथिव्यादिकृत्स्नसाक्षात्करणेन प्रज्ञाविरागेणेति। यथा स्वेदसंन्यासयोगेऽपि रसस्य लोहग्रासभक्षणं कालान्तरवशादस्ति, ग्रासभक्षणेनावस्थान्तरं भवति, तथाऽनित्यपुद्गलभावनया पृथिव्यादिकृत्स्नभावनया जडस्कन्धधात्वायतनक्षयादवस्थान्तरं भवति। अवस्थान्तरं नाम भूमिलाभः। अत्र द्विधा भूमिः—वीतरागभूमिः, सम्यक्सम्बुद्धभूमिरिति। भूमिवशाद् ऋद्धिरेकाकारऋद्धिः सर्वाकारऋद्धिश्च[2]। एवं पञ्चाभिज्ञाः षडभिज्ञाश्च। तथा अर्थसंख्यादर्शनं सर्वार्थसंख्यादर्शनं [3]च। तथा भाषा सत्त्वसंख्यात्मिका सर्वसत्त्वसंख्यात्मिका च[4]। तथा धर्मदेशना सत्त्वसंख्यालक्षणा सर्वसत्त्वसंख्यारुतलक्षणा [5]च। तथा निर्वाणं सोपधिशेषं निरुपधिशेषमिति। तथा पुद्गलनैरात्म्यं धर्मनैरात्म्यम्। तथा चतुरार्यसत्यभावना सर्वधर्माभावस्वभावशून्यतासमाधिरिति। एवं भूमिविशेषाद् द्विधा सत्त्वार्थक्रिया भवति। इह प्रथमभूमिलाभादेकलोकधातुपर्यन्तमदृष्टार्थसंदर्शनम्, द्वितीयभूमिलाभाद् दशदिग्द्वितीयलोकधातुपर्यन्तम्, तृतीयभूमिलाभाद् दशदिक्चतुर्थलोकधातुपर्यन्तम्, चतुर्थभूमिलाभाद्दशदिगष्टलोकधातुर्यन्तम्, पञ्चमीभूमिलाभाद्दशदिक्षोडशलोकधातुपर्यन्तम्, षष्ठीभूमिलाभाद् दशदिग्द्वात्रिंशल्लोकधातुपर्यन्तम्, सप्तमीभूमिलाभाद्दशदिक्चतुःषष्टिलोकधातुपर्यन्तम्, अष्टमीभूमिलाभाद्दशदिगष्टाविंशदधिकशतलोकधातुपर्यन्तम्, नवमीभूमिलाभाद्दशदिक्षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयलोकधातुपर्यन्तम्, दशमीभूमिलाभाद्दशदिग्द्वादशाधिकपञ्चशतलोकधातुपर्यन्तम्, एकादशभूमिलाभाद्दशदिक्चतुर्विंशत्यधिकसहस्रलोकधातुपर्यन्तं परोक्षार्थसंदर्शनमिति। एवं द्विसाहस्रत्रिसाहस्रलोकधातवः संख्यालक्षणाः। एकसाहस्रं नाम सहालोकधातुर्मध्यत ऊर्ध्वाध एकैकं सहस्रम्, अध ऊर्ध्वे पूर्वापरं वामदक्षिणं नैर्ऋत्येशानं वायव्याग्नेयमिति। एवं द्वित्रिसाहस्रमिति। ततो महासाहस्रं नाम महासंख्येयलोक-

१. भो. 'किञ्चित्' नास्ति। २. ३. ४. ५. च. 'च' नास्ति।

धातवः। तेष्वदृष्टार्थसंदर्शनं द्वादशभूमिलाभात् सम्यक्संबुद्धस्य भवति, न वीतरागाणाम्। एषां तथागतभूमीनां लाभो महाक्षरसुखक्षणैः प्रज्ञारागोद्भवैः। प्रथमो भूमिलाभोऽष्टादशशतैरच्युतलक्षणैर्लब्धः। अनया संख्यया द्वादशभूमिपर्यन्तं षट्शताधिकैकविंश[202b]त्सहस्रैरक्षरक्षणैर्द्वादशभूमिलाभः, द्वादशाङ्गनिरोधं यावत्। द्वादशलग्ननिरोधाद् द्वादशराशिनिरोधः, द्वादशमासनिरोधात् षष्ट्युत्तरशतत्रयदिनानां निरोधः, षष्ट्युत्तरशतत्रयदिननिरोधात् षट्शताधिकैकविंशत्सहस्रघटिकानिरोधः। एवं यथा बाह्ये तथा शरीरे घटिकासंख्याश्वासानां निरोधः, श्वासनिरोधात् कायनिरोधो बोधिचित्ताक्षरक्षणैरिति। यथा सूतको जारितो लोहरत्नानि भक्षयित्वा तेषां महारागं गृहीत्वा तिष्ठति, न जडधातुत्वम्। तेन महारागेण येषु लोहेषु स्पर्शं करोति तानि लोहानि कालिकारहितानि भवन्ति, पाषाणा रत्नानि भवन्ति, तथा बोधिचित्तं भावितं स्कन्धधात्वायतनानि सप्राणानि भक्षयित्वा तेषां महारागं गृहीत्वा तिष्ठति, न जडत्वम्। तेन रागेण पुण्यवशाद् येषु सत्त्वेष्वधिष्ठानं करोति तेष्वभिज्ञा भवति, न सम्यक्संबुद्धत्वम्, यथा रसविद्धानां लोहानां कालिकाभावो न जडधातुत्वाभावः। जडधातुत्वाभावस्तदा भविष्यति यदा जारितानां लोहानां रसेन सहैकत्वं भविष्यति। अतः परस्परसंयोगाद् धातूनां धातुत्वं नास्ति, सूतकस्य सूतत्वं नास्ति, पूर्वस्वभावपरित्यागात्। एवं कायधातूनां चित्तेन सहैकीभूतानां धातुत्वं नास्ति, चित्तस्य चित्तत्वं नास्ति, प्राक्संसारवासनाभावात्। अत उक्तं भगवता—"अस्ति तच्चित्तं यच्चित्तमचित्तम्" (अ॰ स॰, पृ॰ ३) इति। एवमनेनोक्तक्रमेणाष्टभूमीश्वराणामीश्वरादिदेवानां पञ्चाभिज्ञा वेदितव्या बोधिसत्त्वानामपि। ऋषीणां वशिष्ठादीनां पुनः पञ्चाभिज्ञा नास्ति, कस्मात्? रामायणभारतप्रामाण्यात्। इह रामायणे श्रूयते वाल्मीकवाक्ये वशिष्ठदत्ते लग्ने रामदेवेन सीतापाणिग्रहणं कृतम्। तेन वशिष्ठदत्तलग्नप्रसादेन रामो राज्यभ्रष्टो वनं प्रविष्टः, सीतापि सदा दुःखवती। तथाऽप्युक्तम्—

पूर्वकर्मफलं भोग्यं ग्रहनक्षत्रे निरर्थके।
वशिष्ठदत्तलग्नेन जानकी दुःखभाजनम्॥ इति।

तथा भारते व्यासवाक्ये श्रूयते कौरवपाण्डवानां येऽमावस्यायां कुरुक्षेत्रे प्रवेशं करिष्यन्ति ते विजयिनो भविष्यन्ति, एतद्वचनं श्रुत्वा पाण्डवास्त्रयोदश्यां प्रविष्टाः, कौरवा अमावस्यायां प्रविष्टाः। तेषु ये त्रयोदश्यां प्रविष्टास्ते विजयिनो जाताः, येऽमावस्यायां प्रविष्टास्ते मरणमुपगताः। अथ दुष्टर्षीणां वाक्यमिह ब्राह्मणवाक्येन त्रयोदश्याममावासी जाता, चन्द्रसूर्यैकयोगादिति। तदेव न घटयति, कस्मात्? चन्द्रस्य पञ्चदशकलाक्षयाभावात्। इह त्रयोदश्यां चन्द्रस्य पञ्चदशकलाक्षयो न भवति। येन वारेण येन नक्षत्रेण त्रयोदशी जाता, तेन वारेण तेन नक्षत्रेण नामावासी कुत्रचिद् भवेदिति। अतः कारणात् तेषां ज्योतिषाभिमतं न पञ्चाभिज्ञाभिरर्थसंदर्शनम्। तथा पुराणधर्मा मिथ्यापापमतीनाम्। तद्यथोक्तम्—

"क्षीर[203a]समुद्रमथने वलिराजकाले, उच्चैःश्रवैरावण(त)कौस्तुभपारिजातकाप्सरोलक्ष्मीचन्द्रामृतकालकूटानि विनिर्गतानि" इति किल पुराणधर्म-

वाक्यम् । यद्येवं तदा अन्धकस्यैव राज्ये तिथिर्वारो मासं नक्षत्रमृतुर्न स्यात्, चन्द्रादित्योदयास्तमनाभावात् । समुद्रे स्थितस्य चन्द्रस्य नक्षत्रभोगाभावात् प्रतिपदादिकलाग्रहणं न स्यात्, आदित्यस्याप्युदयास्तङ्गमनं मङ्गलादिग्रहाणां सप्तवारपरिभोगश्च न स्यात् । एवं हि हिरण्यकश्यपस्य राज्ये वाराद्यभावः । तत्र कुले कालवशाद् बलिर्जातः । ततः समुद्रो मथितो देवासुरैरिति । अथ नायं चन्द्रः, स ईश्वरमौलिचन्द्रः, तदेव वचनं न घटयति, तस्यैवेन्दोरभिलाषादन्धको मरणमुपगतः । कालकूटं विनिर्गतं तदेवासत्यम्, प्रागीश्वरो नीलकण्ठो न, बलिराजकाले कालकूटविष-भक्षणात् । तथा ऐरावणो(तो)च्चैःश्रवालक्ष्मीकौस्तुभामृतानि विनिर्गतानि, तदेवासत्यम्, येनान्धकयुद्धे सर्वे देवाः स्वस्वचिह्नाः स्वस्ववाहनस्था इति । अथ दुष्टर्षीणां वाक्यं दुर्वाससः शापेनेन्द्रस्यर्द्धिः समुद्रं प्रविष्टा, तदेवासत्यम्, नेन्द्रस्य शापेनान्यदेवानामृद्धि-हानिरिति । एवमुक्तक्रमेण पुराणधर्माः सर्वे वृथाः स्युः । उक्तं भगवता पञ्चमपटले द्व्यशीत्यधिकशततमेन वृत्तेन पुराणधर्मा वृथा इति । तद्यथा—

> लक्ष्मीरुच्चैःश्रवाश्वः सुरतरुगजपत्यप्सरःकौस्तुभेन्दु-
> पीयूषाण्यब्धिमथने यदि दिवि गगने स्युर्बले राज्यकाले ।
> चन्द्राभावे न वारस्तिथय ऋतुगणश्चान्धकस्यैव राज्ये
> सोऽपीशार्धेन्दुलोभान्मरणमुपगतस्तस्य पश्चाद्बलिः सः ॥

इत्यनया युक्त्या विचार्यमाणानि लोकपुराणान्यनृतानीति ।

अथ ब्रह्मर्षीणां दुष्टवचनम्—इह प्राग्वेदधर्मः सहजः, पश्चात् सर्वज्ञदेशितो धर्मः कृतकः । तस्माद् वेदधर्मो ज्येष्ठ इति । तदेवोच्यते—भवतु वेदधर्मो ज्येष्ठः, पश्चात् सर्वज्ञधर्मः । अत्र को विरोधः ? प्राङ्महान्धकारः सहजः [1]सर्वज्ञमार्गाप्रकाशकः, पश्चात् तस्य विध्वंसनार्थं सहस्रकिरणालोकः सर्वमार्गप्रकाशकोऽभूत् । अनयोर्महान्धकारा-लोकयोर्नान्धकारः सहजो ज्येष्ठः, सचक्षुषां न[2] प्रियः । एवं प्राग्वेदधर्मः सहजो ज्येष्ठो निर्वाणमार्गाप्रकाशकः, पश्चात् तस्य विध्वंसनार्थं सर्वज्ञधर्मः कनिष्ठो निर्वाणमार्गप्रकाशकोऽभूत् । अनयोर्वेदधर्मसर्वज्ञधर्मयोर्न वेदधर्मः सहजो ज्येष्ठो ज्ञानिनां प्रियः, सचक्षुषां महान्धकारवत् । अतो ज्येष्ठकनिष्ठयोः कनिष्ठः श्रेय इति । तस्मात् परमाक्षरज्ञानसाधनेन निर्वाणं भवति, न च्युतिवासना वेदधर्मैरिति ।

एवं मत्स्यादिपुराणमपि कल्किपर्यन्तं विचार्यमाणं निरर्थकम् । अयं बुद्धो भगवान् वासुदेवो नवमोऽवतारः, कल्की दशमश्चेति । [203b] बुद्धः कलियुगे महा-मायाच्छलेन यज्ञधर्मं दूषयिष्यति, संग्रामधर्मं पितृकार्यं जातिवादं प्राणातिपातं मृषा-वादमदत्तादानं काममिथ्याचारं पारुष्यं पैशुन्यं संभिन्नप्रलापमभिध्यां व्यापादं मिथ्यादृष्टिं सर्वसत्त्वापकारं स्वगोत्रक्षयं क्षत्रधर्मं स्वर्गफलदायकं व्यासमहर्षिवचनं भारतं गीतावचनं वेदवचनं दूषयिष्यति । ततस्तान् दूषयित्वा शूद्रादीनां विपरीतधर्मं देशयि-

१. भो. Lam Thams Cad (सर्वमार्ग) । २. च. 'न' नास्ति ।

ष्यति । तद्यथा—दानपारमिता शीलपारमिता क्षान्तिपारमिता वीर्यपारमिता ध्यानपारमिता प्रज्ञापारमिता उपायपारमिता प्रणिधिपारमिता बलपारमिता ज्ञानपारमिता एता दशपारमिता बोधिसत्त्वैः परिपूरणीयाः । सर्वसत्त्वेषु मैत्रीचित्तं कर्तव्यम्, करुणाचित्तं कर्तव्यम्, सर्वसत्त्वोपकारः कर्तव्यः, प्राणातिपात-मृषावाद-अदत्तादानकाममिथ्याचार-रूक्षपैशुन्यसंभिन्नप्रलापाभिध्याव्यापादमिथ्यादृष्टिदशाकुशलाः कर्मपथा न कर्तव्याः, एभिर्विपरीतधर्मपर्यायैः शूद्रादीन् बोधयित्वा मुण्डयित्वा काषायधारिणो भिक्षून् करिष्यति । ये प्राग्दानवपक्षे व्यवस्थिता वासुदेवेन संग्रामे न हताः, येन ब्राह्मणानां दूषणं कृत्वा नरकं गच्छन्ति, तेनेयं बुद्धमाया विष्णुना कृता, शूद्रादीनां प्राग्दानवपक्षे स्थितानां नरकगमनार्थम् । एवं बुद्धावतार इति । T 452

कल्की पुनः संभलविषये यशोब्राह्मणस्य पुत्रो भूत्वा वासुदेवः शैलाश्वमारुह्य दर्भमयैः शल्लैः सर्वम्लेच्छान्मारयित्वा बहुसुवर्णमेधयागं कृत्वा पुनर्ब्राह्मणमयीं पृथ्वीं करिष्यति । एवमनेकवाक्यान्यघटितानि दुष्टविप्रैर्बुद्धोत्पादकाले रचितानि, प्राग्वेदपाठे न सन्ति । इहादिबुद्धदेशनाकाले तथागतेनोक्तं लोकधातुपटले (१.२६) ज्योतिषप्रस्तावे म्लेच्छधर्मे जाते सति सिद्धा[न्ता]नां विनाशो भविष्यति, पृथिव्यां लघुकरणानि भविष्यन्ति, मञ्जुघोषोऽपि मयि निर्वृते षड्वर्षशतैः संभलविषये शाक्यकुले सुरेशानस्य पुत्रो [1]विजयादेवीगर्भे यशोनाम कल्की भविष्यति । तद्यथा—

आद्याब्दात् षट्शताब्दैः प्रकटयशनृपः सम्भलाख्ये भविष्यत्
तस्मान्नागैः शताब्दैः खलु मखविषये म्लेच्छधर्मप्रवृत्तिः ।
तस्मिन् काले धरण्यां स्फुटलघुकरणं मानवैर्वेदितव्यं
सिद्धान्तानां विनाशः सकलभुवितले कालयोगाद् भविष्यत् ॥ इति ।

(का० त० १.२६)

मञ्जुघोषो व्याकृतस्तथागतेन । स च सार्धं त्रिकोटीनां ब्रह्मर्षीणां सूर्यरथप्रमुखानां वज्रयानाभिप्रायेणैकवर्णं करिष्यति । तेन कल्की नाम मञ्जुघोषस्य भविष्यति, न ब्रह्मजातिस्थापनेन । यदि यशोब्राह्मणस्य पुत्रः कल्की तदा केनात्रासौ कल्की, धनेन विना धनी । कल्को नाम वर्णावर्णानामेकीकरणम्, स कल्कोऽ[2]स्यास्तीति कल्की, न कल्केन विना, स एव कल्की । पुन[3]र्युगावसाने म्लेच्छानामत्यन्ताधर्मं दृष्ट्वा शैलवन्निष्कम्पो भूत्वा परमाश्वसमाधिनाऽनन्तान् परमाश्वान् स्फारयित्वा तैर्म्लेच्छानां चित्तानि द्रावयित्वा स्वधर्मे स्थापयिष्यति । तेषां धर्मोत्पाटनं करिष्यति, न प्राणत्यागम् । उक्तं भगवताऽध्यात्मपटलेऽष्टचत्वारिंश[204a]त्तमेन वृत्तेन—

१. भो. Lha Mo sNa Tshogs Yum Gyi mÑal Nas (माता विश्वदेवीगर्भे) ।
२. भो. Gaṅ La Yod Pa (यस्यास्ति) । ३. भो. Dus bŜi (चतुर्युगा) ।

चक्री वज्री स्वदेहे सुरवरपतयो द्वादशाङ्गा निरुद्धाः
सम्यग्ज्ञानं हि कल्की गजतुरगरथा किङ्करार्याप्रमाणाः।
प्रत्येकं रुद्रसंज्ञां प्रभवति हनुमान् श्रावकं प्राणिनां च
पापं म्लेच्छेन्द्रदुष्टं स्वकुशलपथि यत् कृन्मतिर्दुःखदाता ॥
(का० त० २.४८) 5

इत्यादि म्लेच्छयुद्धं तथागतेन व्याकृतम्, यत् प्रथमपटले (१.१६१) उक्तम्—शैलाश्वैः कल्की म्लेच्छान् हरिष्यति, तत्तेषां दुष्टर्षीणां चित्तापकर्षणार्थम्, अन्यथा प्रथमं संदेहचित्ते जाते सति बोधयितुं न शक्यन्ते। तस्मादुक्तं भगवता बोधिसत्त्वेनोपायकौशलेन भवितव्यमिति। अतः पुराणधर्मा निरर्थका विचार्यमाणा इति। अथ दुष्टर्षीणां वाक्यम्— 10

पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सया(कम्)।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥
मानवं व्यासवाशिष्ठं वचनं वेदसंयुतम्।
अप्रमाणं हि यो ब्रूयात् स भवेद् ब्रह्मघातकः ॥ इति।

एतदेव बालानां व्यामोहजनकं दुष्टर्षीणां मिथ्यावाक्यं विचारशून्यं स्वजातिप्रतिष्ठापनार्थमिति । 15

ननु यदि सत्त्वानां रागच्युतिवासनाऽनादिस्तस्याः प्रभावेण संसारः, तदा किमर्थं भगवता द्वादशाङ्गप्रतीत्यसमुत्पादो देशितः, क्लेशकर्मदुःखेषु यथाक्रमेणाविद्यादीन्यङ्गानि त्रिपु संगृहीतानि। ततः क्लेशात् कर्म भवति, कर्मणो दुःखं भवति, दुःखात् पुनः क्लेशो भवति। एतदेव भवचक्रं हेतुः फलं च सर्वं जगत्। अन्यो नास्ति कश्चित् सत्त्वः। शून्येभ्यो धर्मा भवन्ति, धर्मेभ्यः शून्याश्च भवन्ति। स्वाध्यायादिभिर्दृष्टान्तैस्ते ज्ञातव्याः। तस्माच्च्युतिवासनेयं संसारचक्रं न भवति, इह कस्यचिदभिप्रायो भविष्यति, तस्मादुच्यते—इह हि यदुच्यते बालैरविद्यादिद्वादशाङ्गं प्रतीत्यसमुत्पादः क्लेशकर्मदुःखात्मकः, तदेव संसारचक्रम्, तन्न, कस्मात्? भगवतः परमाक्षरविद्याधरत्वात्। इह हि भगवान् वज्रसत्त्वः परमाक्षर[1]महाविद्याधरः संसारवासनातिक्रान्तः, तद्वैधर्म्येण संसारिणः क्षरविद्याधराः संसारवासनाग्रस्ताः। तस्मात् परमाक्षरो महारागो विद्या, अविद्या इहानादिरागवासनासत्त्वानाम्, तया रागप्रवृत्तिः, रागोऽपि क्षरः, क्षराद्विरागः। विरागो नाम द्वेषः, द्वेषात्मिका मूर्च्छा, मूर्च्छा नाम मोहः। एवं रागद्वेषमोहात्मिका अविद्या नाकाशपुष्पमाला। अविद्यानाम क्लेशः अविद्यायाः संस्कारः कर्म, संस्काराद्विज्ञानं दुःखमिति प्रथममृदुमात्रा कायवाक्चित्तमिति। ततो विज्ञानान्नामरूपं क्लेशः, नामरूपात् षडायतनं कर्म, षडायतनात् स्पर्शो दुःखमिति द्वितीया मध्यमात्रा कायवाक्चित्तम्। ततः [2]स्पर्शाद् वेदना क्लेशः, वेदनायास्तृष्णा

20

25

30

१. भो. 'महा' नास्ति। २. च. 'स्पर्शात्' नास्ति।

कर्म, तृष्णाया उपादानं दुःखमिति तृतीयाधिमात्रा कायवाक्चित्तम्। तत उपादानाद्भवः क्लेशः, भवाज्जातिः कर्म, जातेर्जरामरणं दुःखमिति चतुर्थी अधिमात्राधिमात्रा कायवाक्चित्तम्। एवं कायवाक्चित्तज्ञानात्मिकाश्चतस्रो मात्रा मकरादिषु त्रिषु त्रिषु लग्नेषु गर्भद्वारबाह्यभेदेषु। तत्र नराणां गर्भाधान[204b]मासो मकरोऽविद्यागर्भः, 5 द्वितीयो मासः कुम्भः संस्कारो द्वारम्, तृतीयो मासो मीनो विज्ञानं बाह्य इति त्रिमासात्मिका मृदुमात्रागर्भजानाम्। ततश्चतुर्थो मेषो नामरूपं गर्भः, पञ्चमो वृषभः षडायतनं द्वारम्, षष्ठो मिथुनः स्पर्शो बाह्य इति त्रिमासात्मिका मध्यमात्रा। ततः सप्तमो मासः कर्कटको वेदनागर्भः, अष्टमः सिंहस्तृष्णाद्वारः, नवमः कन्या उपादानं T 453 बाह्य इति त्रिमासात्मिका तृतीयाधिमात्रा। ततो दशमो मासस्तुलाभवो गर्भः, 10 एकादशमो वृश्चिको जातिर्द्वारम्, द्वादशमो धनुर्जरामरणं बाह्य इति त्रिमासात्मिका अधिमात्राधिमात्रा। एवं कायवाक्चित्तज्ञानभेदेन ज्ञानस्य प्रथममृदुमात्रा कायस्य सा चतुर्थी वेदितव्या। उक्तं भगवता तन्त्रराजे ज्ञानपटले पञ्चमे सप्तत्यधिकशततमेन वृत्तेन[1]—

> कर्मक्लेशाच्च दुःखं प्रभवति च ततः क्लेश एव स्वदुःखा-
> 15 देतत्संसारचक्रं भ्रमति फलसमो हेतुरन्यो न सत्त्वः।
> शून्येभ्यः स्कन्धधर्माः पुनरिह मरणान्ते च तेभ्यश्च शून्या
> ज्ञेयाः स्वाध्यायदीपोदककुसुमरवैः सूर्यकान्ताम्लबीजैः॥ इति।

एभिः स्वाध्यायादिभिर्दृष्टान्तैः स्कन्धानामुत्पादनिरोधो वेदितव्यः। यथा स्वाध्यायेनोपाध्यायस्य विद्याक्षयः, नाप्राप्तिः शिष्यस्य। एवं प्रदीपात् प्रदीपनिर्गमः। 20 उदकेऽपि च चन्द्राच्चन्द्रः। पुष्पाद् वस्त्रे गन्धः। सूर्यात् सूर्यकान्तेऽग्निः, रवात् प्रतिरवः। अम्लाज्जिह्वास्रावः। बीजादङ्कुरः। तथा स्कन्धानामभिसन्धिः क्षररागवासनावशात्। अतो भगवतो वचनात् संसारचक्रं क्षररागोऽविद्येति। इह यदा क्षररागो नष्टस्तदा परमाक्षरो भवति। परमाक्षरो महारागः। महारागाद्विरागो नष्टः। विरागो नाम द्वेषः। द्वेषक्षयान्महाद्वेषो भवति। महाद्वेषाद् मूर्च्छानाम मोहो नष्टः। 25 मोहक्षयान्महामोहो भवति। महाराग-महाद्वेष-महामोहाद्रागद्वेषमोहमानात्मिकाऽविद्या नष्टा। अविद्याक्षयाद् महाऽविद्या भवति। एवमविद्यानिरोधात् संस्कारनिरोधः, संस्कारनिरोधाद् विज्ञाननिरोधः, विज्ञाननिरोधान्नामरूपनिरोधः, नामरूपनिरोधात् षडायतननिरोधः, षडायतननिरोधात् स्पर्शनिरोधः, स्पर्शनिरोधाद् वेदनानिरोधः, वेदनानिरोधात् तृष्णानिरोधः, तृष्णानिरोधादुपादाननिरोधः, उपादाननिरोधाद् भव- 30 निरोधः, भवनिरोधाज्जातिनिरोधः, जातिनिरोधाज्जरामरणनिरोध इति। एवं द्वादशाङ्गनिरोधः। वैधर्म्येण भगवतोऽङ्गानि निरावरणानि वेदितव्यानीति।

ननु यदि क्षररागेण ध्वस्तेन योगिनां बुद्धत्वं भवति, तदा मृत्युस्कन्धक्लेशदेवपुत्राणां चतुर्णां विध्वंसनं किमर्थं तथागतेन कृतम्? तस्मात् क्षररागविध्वंसनेन बुद्धत्वं

---

१. भो. hDi lTa sTe (तद्यथा) इत्यधिकम्।

न भवति, इह कस्यचिदभिप्रायो भविष्यति । तस्मादुच्यते—इह [205a] हि यदुच्यते मूर्खैर्बाह्यमारास्तथागतेन विध्वंसिताः, तन्न, कस्मात्? पूर्वापरविरोधात्। इह यदि प्राग्बुद्धत्वं पश्चान्मारभङ्गस्तदा बुद्धस्य निरावरणता नास्ति, मारोपद्रवात्। अथ प्राग्मारभङ्गः पश्चाद् बुद्धत्वम्, तदाऽन्येऽपि संसारिणो मारभङ्गं किं न कुर्वन्ति बुद्धत्वं विना। अथ युगपच्च मारभङ्गो भवति, तथा युगपच्च मारभङ्गो न कृतः, यस्मिन् क्षणे मारस्तस्मिन् क्षणे बुद्धत्वं न स्यात्, सावरणचित्तात्। यस्मिन् क्षणे बुद्धत्वं तस्मिन् क्षणे मारो नास्ति, सर्वावरणक्षयात्। तस्मात् सत्त्वानां कायवाक्चित्ताविद्यावासनात्मकाश्चतुर्माराः। तेषु कायावरणं स्कन्धमारः, वागावरणं क्लेशमारः, चित्तावरणं मृत्युमारः, बाह्याविद्याप्रवृत्तिर्देवपुत्रमारः। इयं बाह्याविद्याप्रवृत्तिः शुभाशुभकर्मफलोपभोगपरीक्षकाणां बालमतीनां संसारभोगाभिलाषिणां देवपुत्रमारवाक्येन भवति। अत्र देवपुत्रमाराणां वचनं चन्द्रबलेन सत्त्वानां शुभाशुभं भवति, सूर्यबलेन मङ्गलबलेन बुधबलेन बृहस्पतिबलेन शुक्रबलेन शनिश्चरबलेन राहुबलेन केतुबलेन वारबलेन तिथिबलेन नक्षत्रबलेन योगबलेन करणबलेन लग्नबलेन शुभाशुभं भवति। तथाऽन्येषां स्वरोदयबलाभिरतानां वचनम्—संग्रामे स्वरोदयबलेन विजयो भवति, योगिनीबलेन ताराबलेन राहुबलेन [1]भद्रबलादिना संग्रामभूम्यां विजयो भवति। एवं श्रावकबौद्धानामपि बाह्याविद्याप्रवृत्तिः। प्रतीत्यसमुत्पादाभिप्रायेण सत्त्वानां शुभाशुभं भवति। तथाऽन्येषां देवपुत्राणां वचनम्—देवताप्रसादेन सर्वं शुभं भवति, इत्येवमाद्यविद्याप्रवृत्तिः सत्त्वानां देवपुत्रमारवाक्येन। इह हि यदि जन्मान्तरपुण्यपापाभ्यां विना देवपुत्रमारवचनैः सत्त्वानां शुभाशुभं भवति, तदा पूर्वार्जितं शुभाशुभं सर्वं निरर्थकं स्यात्, ग्रहादिबलाबलोपभोगात्। न चैवम्, तथा च दृश्यते व्यभिचारः—

न लग्नात् सुखवती सीता विजयी दुर्योधनो न च।
अमावास्याप्रसादेन भीमसेनेन चूर्णितः॥
अर्जुनं हन्तुकामा ये योधा भूमिबले स्थिताः।
तेऽर्जुनस्य शरैर्भिन्नाः सर्वदिक्षु क्षयं गताः॥

अतः प्राक् शुभाशुभकर्मफलं भोक्तव्यं सत्त्वैरिति। तथा चोक्तं भगवता—

कायवाङ्मानसं कर्म यत्करोति शुभाशुभम्।
सत्त्वस्तस्य फलं भुङ्क्ते फलदा नान्यदेवता॥ इति।

अथ देवताप्रसादोऽपि यो दृश्यते, स प्राक्पुण्यबलेन सत्त्वानां न पापबलेनेति। पुण्यमपि सत्त्वोपकाराद्भवति न देवतापितृकार्ये प्राणातिपातादिति। उक्तं भगवताऽध्यात्मपटले एकोननवतितमेन वृत्तेन कर्मफलम्। तद्यथा—

१. भो. Drag Po (रुद्र)।

तस्मात् कर्ता न कश्चिद् ददति न हरति प्राणिनां सौख्यदुःखं
संसारे पूर्वकर्म प्रभवति फलदं यत्कृतं त्रिप्रकारम्।
मूढानां [205b] बुद्धिरेषा ददति स हरते सृष्टिसंहारकर्ता
देहे च्छिद्रं न पश्यन्त्यपरिमितशुभं हार्यमाणं स्वकाक्षैः॥

(का० त० २.८९)

5

तथा देवपुत्रमारोऽप्युक्तः [1]पञ्चमपटले षडशीतितमेन वृत्तेन—

ये प्रोक्तानेकमन्त्रास्त्रिभुवनपतिना क्रूरकर्मस्वभावा-
स्ते सर्वे मारपक्षक्षयभयजनकाः प्राणिनां नो कदाचित्।
कर्तारो ये स्मृतीनां रणविषयरता मारकान्येऽपि तीर्था-
स्तेषां ते योजनीयाः परमजिनसुतैः प्राणिनां रक्षणार्थम्॥ इति।

T 454

10

(का० त० ५.८६)

अतो भगवतो वचनादविद्याप्रवृत्तिर्मारवचनैर्योगिना [2]न कर्तव्येति। एवं सत्त्वानां स्वचित्तवासनाप्रतिभासो भगवान् वज्रसत्त्वः। एवं सत्त्वानां प्रतिभासो भगवान् पुण्यराशिः पापराशिरिति। उक्तं भगवता ज्ञानपटले पञ्चाकारस्तवे चतुर्थवृत्तेन। तद्यथा—

15

चिन्मात्रं मन्त्ररूपं त्रिदशपरिवृतं दुःखसौख्यस्वभावं
साधूनां शान्तरूपं स्वकृतमनुभवं दारुणं दारुणानाम्।
यो यत् कर्मविकुर्यात् स्वमनसि विधिवत्तत्फलं तस्य जातं
लोकेशं विश्वरूपं त्रिभुवनजननं वज्रसत्त्वं नमामि॥ इति।

(का० त० ५.२४७)

20

अतः सत्त्वानां स्वचित्तवासनाप्रतिभासो वज्रसत्त्वश्च मारश्च, न भगवतो मार इति। [3]एषामुक्तानां कायवाक्चित्ताविद्यामाराणां जनकः क्षरः क्षणः कामदेवोऽभिधीयते। स तथागतेन विध्वस्तः परमाक्षरक्षणेन, तस्य भङ्गो मारबलभङ्गो रागद्वेषमोहक्रोधानामविद्यारूपाणां क्षयः। इह क्षरवासनानिरोधाद् रागद्वेषमोहक्रोधनिरोधः, एषां निरोधादविद्यानिरोधः। एवं क्रमशो द्वादशाङ्गानां निरोधः, द्वादशाङ्गनिरोधाद् भवचक्रस्य निरोधः, भवचक्रनिरोधाद् बुद्धत्वं निरावरणं भवतीति। एषु श्रावकपारमितामन्त्रनयेषु परमाक्षरहृदयं वज्रधरभगवतो **नामसंगीत्यां** तथागतेन देशितम्। अस्यार्थमजानन्तोऽसद्गुरवो नष्टाः परमाक्षरज्ञानभ्रष्टा अनागतेऽध्वनि भविष्यन्ति। तैर्विनष्टैः सत्त्वा विनाशयितव्याः। तेन **मूलतन्त्रे** पञ्चाकारज्ञानस्तवे पञ्चश्लोकैः पञ्चाकारभावना भगवतोक्ता। तद्यथा—

25

---

१. च. 'पञ्चमपटले' नास्ति। २. च. 'न' नास्ति। ३. भो. sÑar brJod Pa ḥDi rNams (एषां पूर्वोक्तानां)।

शून्ये भावसमूहोऽयं कल्पनारूपवर्जितः।
दृश्यते प्रतिसेनेव कुमार्या दर्पणे यथा॥

इति लोकोत्तरसत्ये रूपस्कन्धादर्शज्ञानम्,

सर्वभावसमो भूत्वा एको भावोऽक्षरः स्थितः।
अक्षरज्ञानसंभूतो नोच्छेदो न च शाश्वतः॥ 5

इति वेदनास्कन्धः समताज्ञानम्,

सर्वसंज्ञात्मका वर्णा अकारकुलसम्भवाः।
महाक्षरपदप्राप्ता न संज्ञा न च संज्ञिनः॥

इति संज्ञास्कन्धः प्रत्यवेक्षणाज्ञानम्,

अनुत्पन्नेषु धर्मेषु संस्काररहितेषु च। 10
न बोधिर्नैव बुद्धत्वं न सत्त्वो नैव जीवितम्॥

इति संस्कारस्कन्धः कृत्यानुष्ठानज्ञानम्,

विज्ञानधर्मतातीता ज्ञानशुद्धा ह्यनाविलाः।
प्रकृतिप्रभास्वरा धर्मा धर्मधातुगतिं गताः॥

इति विज्ञानस्कन्धः सुविशुद्धधर्मधातुज्ञानम्। 15

तथा लघुतन्त्रेऽप्युक्तमेकोत्तर[206a]शतादिवृत्तत्रयेण चक्रचिह्नादितथागतस्कन्धलक्षणम्। तद्यथा—

चक्रं स्वच्छं समन्तात् त्रिभव इति सुखं रत्नमस्यैव रागः
पद्मं क्लेशक्षयोऽसिः कुलिशमपि महाज्ञानकायो ह्यवेद्यः।
छेदोऽज्ञानस्य कर्त्री त्विह षडपि च कुलान्येभिरुत्पादिता ये
तेऽप्येवं वेदितव्याः खमिव समरसाः स्कन्धधात्विन्द्रियाद्याः॥ 20

यस्मिन् वै जातिरूपं व्रजति निधनतां तन्महारूपमुक्तं
यस्यां संसारदुःखं व्रजति निधनतां सा महावेदनोक्ता।
यस्यां संसारसंज्ञा व्रजति निधनतां सा महावज्रसंज्ञा
यस्मिन् संसारवृद्धिर्व्रजति निधनतां वज्रसंस्कार एव॥ 25

यस्मिन् जाग्राद्यवस्था व्रजति निधनतां तच्च विज्ञानमुक्तं
यस्मिन्नज्ञानभावो व्रजति निधनतां तन्मुनेर्ज्ञानमेव।
एते वैरोचनाद्याः परमजिनवराः षड्विधाः षट्कुलानि
अन्ये षड्धातुभेदा अवनिशिखिपयोमारुताकाशशान्ताः॥
(का० त० ५.१०१–१०३) 30

तथा नामसंगीत्यां वज्रधरभगवतः परमाक्षरज्ञानं बुद्धबोधिसत्त्वानां हृदयभूतं तथागतेन प्रकाशितं द्वाषष्ट्यधिकशतैः श्लोकैः साध्येषणैः। तत्र "अथ वज्रधरः श्रीमान्" इत्यादिना "प्रह्वकायस्थितोऽग्रतः" इति पर्यन्तमध्येषणाश्लोकाः षोडश, "अथ शाक्यमुनिर्भगवान्" इत्यादिना "तत्साधु भगवन्" इति पर्यन्तं प्रतिवचनश्लोकाः षट्, पुनः "अथ" आदिनामतः "उष्णीषकुलं महत्" इति पर्यन्तं षट्कुलावलोकश्लोकद्वयम्, "इमं षण्मन्त्रराजानम्" इत्यादिना "अरपचनाय ते नमः" इति पर्यन्तं मायाजालसम्बोधिक्रमे श्लोकत्रयम्, "तद्यथा भगवान् बुद्धः" इत्यादिना "महायाननयोत्तमः" इति पर्यन्तं वज्रधातुमहामण्डलस्तवश्लोकाश्चतुर्दश, "महावैरोचनो बुद्धः" इत्यादिना "वज्राङ्कुशो महापाशः" इति पर्यन्तं सुविशुद्धधर्मधातुज्ञानस्तवश्लोकाः पादोनपञ्चविंशत्, "वज्रभैरवभीकरः" इत्यादिना "घोषो घोषवतांवरः" इति पर्यन्तमादर्शज्ञानश्लोकाः पादाधिकदश, "तथता भूतनैरात्म्ये" इत्यादिना "ज्ञानार्चिः सुप्रभास्वरः" इति पर्यन्तं प्रत्यवेक्षणाज्ञानस्तवश्लोका द्वाचत्वारिंशत्, "इष्टार्थसाधकः" इत्यादिना "रत्नकेतुर्महामणिः" इति पर्यन्तं समताज्ञानस्तवश्लोकाश्चतुर्विंशतिः, "सर्वसम्बुद्धबोद्धव्यः" इत्यादिना "मञ्जुश्रीः श्रीमतांवरः" इति पर्यन्तं कृत्यानुष्ठानज्ञानस्तवश्लोकाः पञ्चदश, "नमस्ते वरदवज्राग्र्य" इत्यादिना "ज्ञानकाय नमोऽस्तु ते" इति पर्यन्तं पञ्चतथागतज्ञानस्तुतिश्लोकाः पञ्च। एभिर्द्वाषष्ट्यधिकशतश्लोकैः सर्वयानेभ्यूद्धृत्य संगृहीतं वज्रधरभगवतो हृदयं समन्तभद्रं परमाक्षरमहासुखमाकाशधातुपर्यन्तं समन्तादवभासमानं विशुद्धज्ञानसम्भारसम्भूतं गम्भीरोदाररूपधरं प्रकृतिप्रभास्वरमनादिनिधनमात्मात्मीयग्राह्यग्राहकादिविकल्पमलरहितं सर्वकालमसंक्लिष्टं सर्वधर्मस्व[206b]भावज्ञं संसारवासनाविनिर्मुक्तं गतागतविरहितं निष्प्रपञ्चरूपं स्वरसप्रवृत्तिजृम्भितविविधसमाधिधारणीनामाधारं भद्रघटकल्पपादपचिन्तामणिवत् सर्वसत्त्वाशापरिपूरकं महामुनीनामप्यगोचरं महतः सत्त्वराशेः परमशान्तिकरं मायोपमं स्वप्नोपमं प्रतिबिम्बोपमं प्रतिश्रुत्कोपमम्। एतदेव त्रिभुवनमहनीयं योगिज्ञानं स्वसंवेद्यं परमाक्षरसुखं योगिना न त्यक्तव्यमिति तथागतनियमः। अस्य भावना मूलतन्त्रराजे ज्ञानपटले तथागतेनोक्ता। तद्यथा—

धूमादीन् भावयित्वा तु चित्तं कृत्वा तु निश्चलम्।
मध्यमायां शोधयित्वा भावयेत् परमाक्षरम्॥

पद्मे वज्रं प्रतिष्ठाप्य प्राणं बिन्दौ निवेशयेत्।
बिन्दूंश्चक्रेषु बिन्दूनां स्पन्दं वज्रे निरोधयेत्॥

स्तब्धलिङ्गः सदा योगी ऊर्ध्वरेताः सदा भवेत्।
महामुद्राप्रसङ्गेन वज्रावेशैरधिष्ठितः॥

एकविंशत्सहस्रैश्च षट्शतैः परमाक्षरैः।
क्षणैः पूर्णैर्महाराज वज्रसत्त्वः स्वयं भवेत्॥

उक्तं भगवता तन्त्रराजे ज्ञानपटले पञ्चाकारस्तवे आदिवृत्तेन निर्वाणं निर्निमित्तमिति । तद्यथा—

यस्यान्तं नादिमध्यं स्थितिमरणभवं शब्दगन्धौ रसश्च
स्पर्शो रूपं न चित्तं प्रकृतिरपुरुषो बन्धमोक्षौ न कर्ता ।
बीजं न व्यक्तकालं न सकलभुवने दुःखसौख्यस्वभावं   5
निर्वाणं निर्निमित्तं व्यपगतकरणं निर्गुणं तं नमस्ये ॥ इति ।
(का० त० ५.२४४)

वज्रमुपायः । अत्रैव पञ्चमेन वृत्तेन प्रज्ञा उक्ता निर्निमित्ता—

एको नैकोऽपि चैकः समविषमसमः सव्यवामाग्रपृष्ठ
ऊर्ध्वाधो वै समन्तात् सितहरितमहाविश्ववर्णैकरूपः ।   10
ह्रस्वो दीर्घः प्लुतश्चागुण इति सगुणः स्त्री नरश्चानरस्त्रो-
र्यः सर्वाधार एकः सुभगवरभगस्ते नमस्ते नमस्ते ॥ इति ।
(का० त० ५.२४८)

सत्त्वं पद्मं प्रज्ञा, एवं वज्रसत्त्वः । उक्तं भगवता तन्त्रराजे ज्ञानपटले—

प्रज्ञोपायाम्बुजं वज्रं साधाराधेयमुच्यते ।   15
तयोर्द्वन्द्वं समापत्तिर्वज्रयोगोऽद्वयोऽक्षरः ॥
चतुर्धा वज्रयोगं तं कालचक्रं नमाम्यहम् ।
कलापे निर्गतो राजा पौण्डरीकोऽब्जधृक् स्वयम् ॥ इति ॥ १२७ ॥

इति श्रीलघुकालचक्रतन्त्रराजे द्वादशसाहस्रिकायां
विमलप्रभाटीकायां परमाक्षरज्ञानसिद्धिर्नाम   20
महोद्देशस्तृतीयः ॥

(४) नानोपायविनेयमहोद्देशः

पञ्चाक्षरं महाशून्यं बिन्दुशून्यं षडक्षरम् ।
प्रणिपत्यादिकादीनां श्वाससंख्या वितन्यते ॥

ऌाद्या यास्त्वष्टमात्रा विषयगुणगताश्चार्धमात्राविहीना   30
अन्योन्यं भेदभिन्नाः सपदरसशरा मध्यमाश्वासवाहाः ।
दीर्घा लग्ने द्वितीये विषयगुणवशाद् भेदिताऽन्योन्यभेदै-
र्भूयः सन्धौ तृतीये प्लुतविषयगुणा मध्यमाश्वासवाहाः ॥ १२८ ॥

ऌाद्येत्यादि। इह ऌकारादयो याऽष्टमात्रा अर्धमात्राविहीना विषयगुणगता इति ऌ गन्धगुणगता, उ रूपगुणगता, ऋ रसगुणगता, इ स्पर्शगुणगता, अ शब्दगुणगता, अं सत्त्वगुणगता, अः रजोगुणगता, आँ तमोगुणगता प्लुता। अनाहतोऽर्धमात्रो ह इति। अनेनोनाः सार्धसप्त, एवमष्टमात्रा अर्धमात्राविहीनास्ता अन्योन्यं भेदभिन्ना इति प्रत्येका सार्धसप्तभेदभिन्ना समुदयसत्येन सर्वास्ता गुणिताः [207a] सपादषट्पञ्चाशद् भवन्ति सपदरसशरा इति। ताश्च उत्पन्नस्य बालस्य मेषादिलग्ने ह्रस्वा मध्यमाश्वासवाहा भवन्ति। ततो वामनाड्यां मण्डले सञ्चारः प्रथमोत्पन्नस्य बालस्य। दीर्घाऽप्येवं द्वितीये लग्ने वृषभादिके समे मध्यमाश्वासवाहा इति। इह यद्यपि ऌ आद्या उक्ताः, तथापि वामनासापुटे आकाशादिमण्डले प्राणस्य गमनम्। अत्र पुनर्नाभ्यादिपञ्चगुणादिनियमेन प्राण आकाशादिपृथिव्यादिसाधर्म्येण गृह्यते, ह्रस्वदीर्घभेदेन विषमसमलग्नयोरिति। भूयः सन्धौ तृतीये प्लुतविषयगुणा मध्यमाश्वासवाहा इति। इह यदि बालः संक्रान्तिकाले [1]भवति, तदा प्राणो मध्यमायां प्लुतो भूत्वा वामदक्षिणे संचरति। एभिः पूर्वोक्तैः सर्ववर्णसञ्चारो वेदितव्य इति। अत्र ऌकारभेदः। तद्यथा—ऌ लु लृ लि ल लं लः लां ल्, इति, एवं उ व्ऌ वु वृ वि व वं वः वां व् इति, तथा ऋ र्ऌ रु रि र रं रः रां र् इति, तथा इ य्ऌ यु यृ य यं यः यां य् इति, तथा अ अल् ओ अर् ए अं अः आं ह् इति, तथा अं म्ऌ मु मृ मि मं मः मां म् इति तथा अ र्ऌ रु र्ऋ रि र रं रः रां र् इति, तथा ह ह्ऌ हु हृ हि ह हं हः हां ह् इति सपादषट्पञ्चाशत्। एवं दीर्घाः प्लुताश्च वेदितव्या अन्योन्यभेदैरिति ॥ १२८॥

इदानीमहर्निशश्वासमात्रा उच्यन्ते—

एवं सन्ध्याचतुष्के सशरगिरिरसा मध्यमाश्वासमात्रा-
स्त्रिंशत् काद्यक्षराणि प्रकटनवशतान्येव त्रिंशद्धतानि।
षण्मात्राभेदभिन्नानि खखयुगशराणि त्रिलग्नत्रिनाड्या-
मेवं दीर्घप्रभिन्नान्यपरदिनगतानि त्रिलग्नत्रिनाड्याम् ॥१२९॥

त्रिंशत् काद्यक्षराणीति। क च ट प त शानां षण्णां ककारादीनि त्रिंशदक्षराणि प्रकटनवशतान्येव भवन्ति, त्रिंशत्प्रभेदादेकैकाक्षरस्य परस्परसंयोगात् त्रिंशद्भेदा भवन्ति। तद्यथा—क्क क्ख क्ग क्घ क्ङ क्च क्छ क्ज क्झ क्ञ क्ट क्ठ क्ड क्ढ क्ण क्प क्फ क्ब क्भ क्म क्त क्थ क्द क्ध क्न क्श क्ष्प क्ष क्स क्ष्क। एवं खादयो वेदितव्याः। प्रकटनवशतान्येवं भवन्ति ॥ १२९ ॥

भूयः षण्मात्रभिन्नान्यपि निशिसमये च त्रिलग्नत्रिनाड्या-
मेवं दीर्घप्रभिन्नान्यपरनिशिगते च त्रिलग्नत्रिनाड्याम्।

---

१. मो. sKyes Par (उद्भवति)।

श्वासोच्छ्वासान् वहन्ति प्रतिदिनसमये खखषट्चन्द्रनेत्रान्
पूर्वा आहृत्य शून्याः समविषमगतेर्योजयेन्मध्यमायाम् ॥१३०॥

पुनस्तानि नवशतानि **षण्मात्रभेदभिन्नानीति** । अ इ ऋ उ ऌ अं इत्येभिर्भिन्नानि खखयुगशराणीति चतुष्पञ्चाशतशतानि भवन्ति । **त्रिलग्नत्रिनाड्यामर्धरात्रादुदयं** यावदिति । ततो **दीर्घषण्मात्राभिन्नान्युदयान्मध्याह्नं यावदपरत्रिलग्नत्रिनाड्यां** श्वासमात्रा भवन्ति पूर्वसंख्या इति । भूयो ह्रस्वषण्मात्राभिन्नं मध्याह्नान्निशिसमयस्तस्मिन्नस्तङ्गतपर्यन्तं त्रिलग्नत्रिनाड्यां पूर्ववत् संख्या इति । एवं निशाया अपरभागेऽर्धरात्रं यावत् त्रिलग्नत्रिनाड्यां पूर्वसंख्या समात्रा । एवं **श्वासोच्छ्वासान् वहन्ति प्रतिदिनसमये खखषट्चन्द्रनेत्रानिति** षट्शताधिकैकविंशत्सहस्राणि । एभिः श्वासमध्ये **पूर्वा आहृत्य शून्याः समविषमगतेर्योजयेन्मध्यमायामिति** । इह पूर्वोक्ताः प्रत्येकमण्डले सपादैकादश, ते च मकरादिलग्नो[1]दयभेदेन प्रत्येकमण्डलान्ता [2]दकारादिभेदेन मध्यमायां योजयेदिति । असौ महाप्रपञ्चो बहुत्वान्न लिखितः, [3]**परमादिबुद्धे** षष्टिसाहस्रिकायां टीकायां ज्ञातव्य इति । न चानेन लोको[207b]त्तरकारणं किञ्चिदस्ति, येन प्रयत्नः कर्तव्य इति । अस्यादिकादेर्लोमकेशसंख्यं यावन्निर्गम इति ॥ १३० ॥

इदानीमष्टमार्धा या सार्धसप्तानां परा, सा उच्यते—

बाह्ये या चाष्टमार्धा प्रभवति घटिका राहुभोगात् परस्था
श्वासार्धं सा स्वदेहे खलु विगततमा सर्वलोकावभासा ।
पूर्वार्धा सान्धकारं त्रिभुवनसकलं लीयते यत्र शून्ये
तस्मात्तां भेदयित्वा विशति गततमां कालचक्रैकयोगी ॥१३१॥

[4]बाह्य इत्यादि । इह **बाह्ये** लोकधातौ **या चाष्टमार्धा** मात्रा **प्रभवति घटिका राहुभोगात् परस्थेति** । इह प्रत्येकर्तौ मास[5]द्वयेन राहुः पञ्चविषयलक्षणाः पञ्चनाड्यः, तथा सत्त्वरजस्तमोलक्षणास्तिस्रस्ता भुङ्क्ते, राशिचक्रमध्ये तासु सार्धसप्त भुङ्क्ते । अर्धनाडीं भोक्तुं न क्षमः । सा राहुभोगात् परस्था **श्वासार्धं सा स्वदेहे**ऽनुत्पन्नस्य बालस्य दण्डाकारं[6] नाभिललाटयोर्मध्ये बाह्ये निर्गमाभावादर्धश्वास उच्यते । मन्त्रभेदेनार्धमात्रा । सा **खलु विगततमा सर्वलोकावभासा** षाण्मासिकगर्भस्य पञ्चाभिज्ञातः । **पूर्वार्धा सान्धकारं त्रिभुवनसकलं लीयते यत्र शून्ये** मरणान्ते तुर्यां त्यक्त्वा सा सुषुप्तायां विशति, षण्मासं यावत् । ततः स्वप्नावस्थां प्राप्तो गर्भोऽपरार्धमात्रां विशति । **तस्मात्तां** तमोऽ-

१. भो. 'उदय' नास्ति । २. च. ह । ३. भो. Zla Ba bZaṅ Pos mdZad Paḥi (सुचन्द्रकृतं) इत्यधिकम् । ४. च. 'बाह्य इत्यादि । इह' नास्ति । ५. भो. 'द्वयेन' नास्ति । ६. च. 'प्राण' इत्यधिकम् ।

वस्थां भेदयित्वा हृदये प्रविशति गततमां नाभिचक्रे स्थितां कालचक्रैकयोगी प्राणवाहनिरुद्ध इति गर्भावस्थां गत इति योगिनां योगनिष्पत्तिः ॥ १३१ ॥

इदानीमुत्पन्नानां वालानां कलाहान्यादिरुच्यते—

चन्द्रोना याऽधिकार्के विभुपरमकला साऽत्र सन्ध्याचतुष्के
यामे यामे व्रजन्ती निशिदिवसवशादर्धलग्नप्रभेदैः ।
षट्त्रिंशत् कालदूत्यो द्विगुणनृपतयोऽन्यास्तिथौ द्वयष्टभेदे
वाराणां चाष्टभेदे खलु पुनरपरे नैकसन्धिप्रदेशे ।।१३२।।

चन्द्रोनेत्यादि । इह यथा बाह्ये तथाऽध्यात्मनि चन्द्रस्य प्रतिदिनं षष्टिघटिका तिथिर्न भवति, एकघटिकोना सा चाध्यात्मनि शुक्रस्येति । याऽधिकाऽर्क इति सूर्यभोगे पूर्वोक्ताऽध्यात्मपटले द्वे नाडिके । विभुरिति बोधिचित्तम्, तस्य परमकला ज्ञानधर्मिणी चन्द्रकलाहानिः, विज्ञानधर्मिणी सूर्यभोगहानिरिति । साऽत्र सन्ध्याचतुष्के यामे यामे व्रजन्ती निशिदिवसवशादर्धलग्नप्रभेदैः षट्त्रिंशत् कालदूत्य इति त्रिचक्रसंवरे डाकिन्यः। तासां कुलिकायोगे सञ्चारः । सन्ध्याभेदेन प्रहरलग्नार्धभेदेन । यथा बाह्ये भोगो लयोऽधिकार आधिपत्यम्, तथाऽध्यात्मन्यादित्योदयभेदेन प्राणोदयभेदेनेति । इह बाह्ये चतुर्द्वीपेषु यत्रादित्योदयस्तत्र भोगः, यत्रार्धरात्रं तत्र लयः, यत्र मध्याह्नं तत्राधिकारः, यत्रास्तमनं तत्राधिपत्यम् । कुलिकाया निशाप्रवेशतो [1]योगिनीभुक्तयेऽर्धरात्रं यावदिति उदयान्मध्याह्नं यावद् भिक्षूणां भोगो दिवाकाले, तेन "दिनस्तु भगवान् वज्री प्रज्ञा नक्तं प्रभुक्तये" इति नियमः । तेन उदयान्मध्याह्नं यावद् भिक्षुभिर्भुक्तं निरामिषं भोक्तव्यम् । अस्तङ्गमनादर्धरात्रं यावद्योगियोगिनीभिः समयकार्यं कर्तव्यम् । तदूर्ध्वं संवरभङ्गः श्रावकमन्त्रिणोः, तद्भङ्गाद्वृद्धिसिद्धिहानिरिति । एवं यथा सन्ध्याभेदेन चतुर्योगिनीनां भोगलयादिकं तथा श्मशानयोगिनीनामष्टानां प्रहरभेदेनार्धरात्रान्मध्याह्नं यावदनुलोमेन [208a] पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरेषु सञ्चारः, चतुःप्रहरेषु मध्याह्नादर्धरात्रपर्यन्तं विलोमेन ईशानवायव्यनैर्ऋत्याग्नेयदिक्षु तथा लग्नार्धभेदेन वृश्चिकधनुर्लग्नार्धभेदेन चित्तचक्रे दक्षिणावर्तेन सञ्चारः । चतसृणां मकरकुम्भे वामावर्तेन । एवं वाक्चक्रे मीनमेषवृषमिथुनार्धभेदेन तथा कायचक्रे कर्कटसिंहकन्यातुलाभेदेन सञ्चार इति षट्त्रिंशद्दूतीनां सञ्चारः प्राणभेदतः । ताश्च कालदूत्यः, तथाह चक्रसंवरे—

मध्यमोत्तमश्वासेन गन्धोदकयुतेन च ।
कुलिकां पूजयेन्नित्यं कालविशेषेण दूतिकाः ॥ इति ।

अत्र परमाक्षरसुखेन विण्मूत्रचन्द्रसूर्यनाडीनिरोधेन कुलिकां वज्रवाराहीं पूजयेत् । उक्तकालविशेषेण दूतिकाः षट्त्रिंशत् पूजयेत्, प्राणसञ्चारेण बाह्येऽध्यात्मनि च । इह

१. भो. rNal ḥByor Pa (योगी) ।

नाभिचक्रे प्रथमपरिमण्डले चतुर्दलानि। तेषु पूर्वदलमात्मपीठं दक्षिणं परपीठं पश्चिमं मन्त्रपीठमुत्तरं तत्त्वपीठमिति। तथा मुखद्वारं शूलभेदश्मशानं पूर्वं दक्षिणे नासारन्ध्रं दक्षिणं शवदहनमपानद्वारं पश्चिमं पूतिगन्धं वामनासारन्ध्रमुत्तरं क्लिन्नम्। एवं वामकर्णमीशाने बालमृत्युः, नैर्ऋत्ये दक्षिणकर्णं घोरयुद्धम्, वायव्ये सर्पदष्टं दक्षिणनेत्रम्, अग्नौ वामनेत्रमुच्छिष्टमिति। एवं हृदयचक्रेऽष्टनाडीनां संज्ञा रोहिणी पूर्णगिरिः पूर्वनाडी पिङ्गला, जालन्धरं दक्षिणनाडी जया, ओड्डियाणं पश्चिमनाडी इडा, अर्बुदमुत्तरनाडीति दिक्षु। तथा विदिक्षु—ईशाने कुहा गोदावरी, वायव्येऽलम्बुषा रामेश्वरी, नैर्ऋत्ये पूषा देवीकोटम्, आग्नेय्यां हस्तिजिह्वा मालवकम्। एवं कण्ठचक्रे प्रथमपरिमण्डलेऽष्टनाड्यः क्षेत्रोपक्षेत्रच्छन्दोहोपच्छन्दोहसंज्ञाभिर्ज्ञेयाः। एवं ललाटेऽपि प्रथमपरिमण्डलेऽष्टनाड्यो मेलापकोपमेलापक[1]श्मशानोपश्मशाननामभिर्वेदितव्या इति चक्रसंवरे नियमः। आसां बीजान्यन्तस्था य र ल वाः कायचक्रे पूर्वादिदिक्षु, तथा ईशानादिविदिक्षु वा ला रा या इति। ह हा हं हः अग्नि-वायु-ईशान-नैर्ऋत्यश्मशानेषु। एवं ए अर् अल् ओ वाक्चक्रे दिक्षु, विदिक्षु औ आल् आर् ऐ। अ आ अं अः पूर्वापरवामदक्षिणश्मशानेषु। चित्तचक्रे इ ऋ ऌ उ दिक्षु, विदिक्षु ऊ ॡ ॠ ई इति। गर्भपद्मदले अ आ पूर्वापरे, अं अः वामदक्षिणे द्वादशभुजस्येति। तथा मूलतन्त्रे भगवानाह—

नाभिमध्ये स्थितं चित्तं ज्ञानविज्ञानयोगतः।
प्राणस्याष्टगुणैर्बद्धं कोशकीटैरिवात्मजैः॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तावस्था त्रिज्ञानभेदतः।
प्राणिनां त्रिमुखं चित्तं तुर्याकालाच्चतुर्मुखम्॥

एवं विज्ञानयोगेन पञ्चषड्विषयात्मकम्। 20 T457
पञ्चास्यं षण्मुखं चित्तमचित्तं चित्तमन्यत्(माप्यते)॥

नाभिमध्ये स्थितो बिन्दुर्विसर्गः संपुटे[208b]स्तयोः।
ज्ञानविज्ञानयोगेन बोधिचित्तं व्यवस्थितम्॥

सन्ध्यायामर्धलग्नेषु प्राणसञ्चारभेदतः।
षट्त्रिंशद् दूतिकाऽत्रोक्ता बालानामवतारणे॥ इति।

एतास्तावत् षट्त्रिंशन्नाडिकाः प्राणप्रवाहतः कालदूत्यः शरीरक्षयकारिण्यः। तस्मात्तासु गतः प्राणो निरोधनीय इति नीतार्थः। इदानीं गुह्यनाड्यो बोधिचित्तवाहिन्यो द्वात्रिंशदुच्यन्ते—**द्विगुणनृपतय** इत्यादि। इह द्विगुणनृपतय इति द्वात्रिंशद् गुह्यचक्रे ज्ञानभेदेनावस्थिताः, तासां षोडशरागपक्षे शुक्ले कलाभेदेन स्थिताः, षोडशविरागभेदेन कृष्णपक्षे चन्द्रकलाक्षयभेदेन पूर्वोक्ताः। तथा हेवज्रे—

"अभेद्या सूक्ष्मरूपा च दिव्या वामा तु वामनी" इत्यादि।
(हे० त० १.१.१६)

---

१. च. 'श्मशानोपश्मशान' नास्ति।

द्वात्रिंशन्नाड्य आधारभूता एतावत्यो डाकिन्य आधेयधर्मिण्योऽपानवायुसंयोगादिति। एताभिस्त्रयस्त्रिंशदात्मको हेरुकः समाजो वा भवति, गुह्यतन्त्रत्वादिति। तस्य द्विगुणं निर्माणचक्रे चतुःषष्टियोगिन्यात्मकं चक्रं पञ्चमण्डलप्रवाहकमिति। **वाराणां चाष्टभेदे** पुनर्वारनाड्यो हृत्कमले गौर्याद्यष्टौ, ललाटे षोडश नैरात्म्याद्या इति। **एवमनेकसन्धिप्रदेशे** षष्ठ्युत्तरत्रिशतसन्धिप्रदेशे नाड्यो वर्षदिनसंख्यास्तासामाधेयभूता योगिन्यः। एवं द्वासप्ततिसहस्रयोगिनीनामाधाराधेयभेदेनेति। यावत्यो नाड्यस्तावत्यो डाकिन्यः प्राणापानचारत इति निष्प्रपञ्चवचो भगवतः॥ १३२॥

इदानीं भगवतो मुद्रोच्यते—

वेदर्तुश्वासशेषा त्रिभुवनजननी डाकिनी विश्वरूपा
या हीना चन्द्रमध्ये परमजिनपतेः सा स्वमुद्रा द्विधा स्यात्।
याऽर्कस्था साष्टभेदा दिशिविदिशिदले यामभोगावसाना
शेषाऽन्याश्चक्रदेव्यः परमभयकरा बाह्यदेहे समस्ताः॥१३३॥

वेदर्त्वित्यादि। इह **वेदर्तुरिति** चतुःषष्टिस्तदन्ते या नष्टचन्द्रकला संसारिणाम्, तद्वैधर्म्येणानष्टचन्द्रकला **श्वासशेषा** चतुःषष्टिश्वासानामन्तिमा श्वासधर्मिणी **त्रिभुवनजननी डाकिनी विश्वरूपा। या हीना चन्द्रमध्ये परमजिनपतेः** बोधिचित्तस्य, **सा स्वमुद्रा द्विधा स्यात्।** एका संवृतिधर्मिणी महामाया महारौद्रा भूतसंहारकारिणी, द्वितीया महाप्रज्ञा बोधिचित्तस्य बुद्धानां प्रज्ञापारमिता उत्पादव्ययरहिता बुद्धमाया महासौम्या सृष्टिसंहारनाशिनी। सा अनाश्रवभेदादपानस्था। **याऽर्कस्था साष्टभेदा** इति प्राणस्था रजोधर्मिणी, साऽष्टभेदा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तगुणत्रयपञ्चविषयभेदेनाष्टगुणात्मिकेति। सा च मण्डले पद्माष्टदलेषु स्थिता इति कल्पना। **शेषा अन्याः** पूर्वोक्ताश्**चक्रदेव्यः** परिकल्पिताः। ताः **परमभयकरा बाह्यदेहे समस्ता** इति नाडीसञ्चारनियमः॥ १३३॥

इदानीं ग्रहचारभोगडाकिन्य उच्यन्ते—

मन्दे रन्ध्रा दिनाख्या तमिनि सुरगुरोः सार्धनेत्राक्षिसंख्याः
सार्धाः षड् वेदजाताः परमजिनपतेश्चित्तवज्रोद्भवास्ताः।
भौमे शून्याहिचन्द्रा रविबुधभृगुकेतोश्च शून्याहिखैका
खाक्ष्यक्ष्येकाश्च जाताः खलु परमविभोः शुद्धवागुद्भवास्ताः॥१३४॥

मन्द इत्यादि। इह बाह्ये सूर्यप्रचारेण मासद्वयेन ऋतुः सूर्यस्य, अध्यात्मनि लग्नद्वयेन प्राणस्य ऋतुः। स च वामदक्षिणदशमण्डलप्रवाहेण भवति सृष्टिसंहारभेदेन। तेन ऋतौ **मन्दे** मन्दभोगे **रन्ध्रा** इति नवघटिकाभोगो राशिचक्रे, ताश्च डाकिन्यः।

एवं **दिनाख्या** इति [209a] पञ्चदशेति [1]रात्रौ भोगे **सुरगुरोः सार्धनेत्राक्षिसंख्या** इति सार्धद्वाविंशदिति, एकीभूताः **सार्धाः षड् वेदजाता** इति सार्धषट्चत्वारिंशदिति। **परमजिनपतेश्चित्तवज्रोद्भवास्ता** इति चित्तबिन्दुजनिता इत्यर्थः। **भौमे शून्याहिचन्द्रा** इति प्रपञ्चः। तस्य मण्डलेन यल्लभ्यते षष्टिभागेन तावत्यो नाड्य इति नियमः, सामान्येनाशीत्युत्तरशतम्। इह यत्र मङ्गलस्य ऊनो भागस्तत्र रविकाभोगो न हर्तव्यः, चन्द्रभोगो मासैकः क्षेपणीयः। इह मङ्गलस्य त्रयोविंशतिमासैः स्वदिनं लोकरूढ्या अष्टादशमासैः, तन्न घटते, तेनात्र यथाभूतं वर्षशतं ग्रहाणां मण्डलदिनैर्भवति, अष्टमासैक-विंशतिदिनाधिकमिति नियमः। एवं भौमे शून्याहिचन्द्राः। **रविबुधभृगुकेतोश्च शून्याहिखैका** इत्यष्टाशीत्युत्तरसहस्रम्। एषां पञ्चग्रहाणामेकत्र भोगात् **खाक्ष्यक्ष्ये-काश्च जाता** इति विंशत्यधिकद्विशताधिकैकसहस्रम्। **खलु परमविभोः शुद्धवागुद्भ-वास्ता** इति वाग्बिन्दुजनिता इत्यर्थः ॥ १३४ ॥

या चन्द्रस्यर्तुभुक्तिः खखरसशिखिनः कायवज्रोद्भवास्ता
एकीभूताः समस्ता रसषडहियुगाश्चार्धनाडीस्तथैव।
डाकिन्यः कालरूपाः सकलतनुगताः प्राणिनां प्राणहन्त्य-
स्तस्मात्ताः साधनीयाः प्रतिदिनसमये रोधयित्वा स्वमार्गम् ॥१३५॥

या चन्द्रस्यर्तुभुक्तिः खखरसशिखिन इति षट्शताधिकसहस्रत्रयं घटिकाभोगः, **कायवज्रोद्भवास्ता** इति कायबिन्दूद्भवा इति। **एकीभूताः समस्ता** नवानां **रसषडहि-युगा** इति षट्षष्टयधिकाष्टशताधिकसहस्रचतुष्कम्, **अर्धनाडी तथैवेति** संख्या डाकिनीनामेकर्तौ। ता **डाकिन्यः कालरूपाः सकलतनुगता** देवादीनां **प्राणिनां प्राणहन्त्य** एकर्तौ। षड्तुषु पुनरयुतद्वयं नवसहस्रशतमेकं षण्णवत्यधिकमिति डाकिनीसंख्या सत्त्वानां ग्रहचरणान्तर्भूता इति नियमः। **तस्मात्ताः साधनीयाः प्रति-दिनसमये रोधयित्वा स्वमार्गं** तासां प्राणापाननिरोधेन चतुर्बिन्दुनिरोधेनेति नियमः ॥ १३५ ॥

यावद्भुक्तिर्ग्रहाणां स्वपरगतिगता श्वासनिःश्वासचारात्
तावत् किं कालदूती प्रभवति वरदा व्यापिनी या त्रिधातौ।
दूतोसूक्ष्मप्रचारो गुरुवचनगतो बोधिचित्तेऽक्षरे च
ज्ञातव्यो योगयुक्तैर्व्यपगतकलुषैर्नान्यथा रागचित्तैः ॥१३६॥

द्वितीयवृत्तेनोक्ता यावदित्यादिना सुबोधमिति ॥ १३६ ॥

---

१. भो. sGra gCan Gyi (राहौ)।

इदानीं चन्द्रचरणे राहुप्रवेश उच्यते—

मार्तण्डेन्द्वोः पदान्यप्युभयगतिवशात् तृष्णया ताडितानि
अङ्गैर्भागावशेषं ग्रसति स चरणं राहुवेशे च केतुः ।
सर्वाः सन्ध्याष्टयामाः प्रतिदिनसमये प्राणिनां द्वादशाङ्गाः
5 श्वासाश्चैकैकलग्ने द्विगुणनवशतप्राणवाहाङ्गमुक्तम् ॥१३७॥

मार्तण्डेत्यादि। इह मार्तण्डपदान्येकादश "रसयुगशशिनः" इति पूर्वोक्तानि, इन्दुपदानि पञ्चविंशद् "भूता भूतेषु" इत्यादिना, अनयोरेकत्र मिलितानि षट्त्रिंशद् भवन्ति । तान्यष्टगुणैर्गुणितान्यष्टाशीत्युत्तरशतद्वयं भवन्ति। एवं तृष्णया ताडितान्यष्टभिरिति । अङ्गैरिति द्वादशलग्नैर्भागलब्धानि चतुर्विंशतिचन्द्रपदानि भवन्ति। 10 अवशेषं पञ्चविंशतिमं चरणं ग्रसति राहुप्रवेशे केतुरिति । अध्यात्मनि मन इन्द्रियं शुक्रधातुचरणं शून्याङ्गं यदिति। सर्वाः सन्ध्याश्चतस्रोऽष्टप्रहराः प्रतिदिनसमये प्राणिनां द्वादशाङ्गास्ते द्वादशलग्नानीत्यर्थः। श्वासाश्चैकैकलग्ने द्विगुणनवशतानीत्यष्टादशशतानि प्राणवाहाः, ते एकाङ्गमुक्ता[1] इति। एवं बाह्ये मासैकेनैकाङ्गमष्टादशशतदण्डैः, मासद्वयेन ऋतुः षट्त्रिंशद्[209b]भिः शतैः। एवं द्विद्वि-अङ्गैः षड्तवः। T 458 15 ऋतुत्रयेण ग्रहणं चन्द्रार्कराहुभोगवशादिति ॥ १३७ ॥

द्विद्वयङ्गेष्वाद्यविद्या प्रथमदिनवशाद् द्वादशाङ्गानि यावत्
तस्मादृत्वादिनाङ्गानि च परनवमी पूर्ववद् यानि तानि ।
एवं पञ्चप्रकारैर्ऋतुरपि च भवेत् सर्वतो द्विद्विमासाद्
यस्मिन्निदोः कलैका व्रजति निधनतामादिमासः स एव ॥१३८॥

20 [2]द्विद्वयङ्गेष्वादिदिनेऽविद्या, द्वितीये दिने संस्कारः, एवं क्रमेण जरामरणम्। पुनस्त्रयोदशमे दिनेऽविद्या, चतुर्दशमे संस्कारः, एवं कृष्णनवम्यां जरामरणम्। पुनर्दशम्यामविद्या, एकादश्यां संस्कारः, एवं क्रमेण शुक्लषष्ठ्यां जरामरणम्। पुनः सप्तम्यामविद्या, अष्टम्यां संस्कारः, कृष्णतृतीयायां जरामरणम्। पुनश्चतुर्थ्यामविद्या, पञ्चम्यां संस्कारः, एवं क्रमेणामावास्यां(स्यायां) जरामरणमिति पृथिव्यप्तेजोवाय्वा- 25 काशस्वभावेन ऋतौ पञ्च परिवर्ता मता इति। एवमेकपक्षो ह्रस्वः, मासो दीर्घः, ऋतुः प्लुतः। पक्षः सत्त्वधर्मी, मासो रजोधर्मी, ऋतुस्तमोधर्मीति। एवं पञ्चप्रकारैः ऋतुरपि च भवेत्। सर्वतो द्विद्विमासात्। यस्मिन् मासे इन्दोः कलैका व्रजति निधनतां द्वयोर्मासयोरादिमासः स एव तृतीय इति चतुःषष्टिदिनैः कलाक्षयतः ॥१३८॥

---

१. च. युक्ता । २. भो. De Tar (एवं) इत्यधिकम् ।

षण्मासर्तुत्रयेण ग्रहणमपि भवेद् द्वादशाङ्गप्रतीत्या
षष्ठोऽर्कस्यर्तुभेदश्चरणगतिवशाच्चन्द्रमध्ये प्रविष्टः ।
तस्मिन् स्पर्शाङ्गमध्ये ग्रसति सचरणं राहुरिन्द्वर्कयोश्च
ओषध्यः सिद्धिदास्ता दिननिशिसमये राहुणाऽऽलोकिता ये ॥१३९॥

षण्मासर्तुत्रयेण ग्रहणमपि भवेद् द्वादशाङ्गप्रतीत्येति । इह प्रथम ऋतुः सत्त्वधर्मी, द्वितीयो रजोधर्मी, तृतीयस्तमोधर्मी, तेन तमःप्रवेशः । मासोऽप्येवं षड्धातुभेदेन ज्ञान-धातुपर्यन्तं षष्ठो मासः । एवम**र्कस्यर्तुभेदश्चरणगतिवशाच्चन्द्रमध्ये प्रविष्टो**ऽमावास्या-याम् । **तस्मिन् स्पर्शाङ्गमध्ये ग्रसति सचरणं राहुरिन्द्वर्कयोश्च । ओषध्यः सिद्धिदास्ता दिननिशिसमय** इति । सूर्यग्रहणे दिनसमये चन्द्रग्रहणे निशिसमये वक्ष्यमाणा इति । **राहुणाऽऽलोकिता ये** ग्रहणकाले वृक्षादयः शस्त्रहताः फलन्ति । अत्रोपदेशः—प्रतिमासे सूर्यभोगे नक्षत्रद्वयं घटिकैकादश दत्त्वा षण्मासैर्द्वादश नक्षत्राणि भवन्ति षट्षष्टिघटिकाः । चन्द्रकलां त्रिदिनघटिकोनां कृत्वा त्रयोदश शेषास्त्रयः पञ्चाशदिति ग्रहणेऽमावस्या भोगे देया, रविका हेया वा । ततो राहुभोगे पञ्चचत्वारिंशद् घटिका ऊनीकृत्य शेषनक्षत्र-भोगं शोधयेत् । यदा पूर्वमुखेन ग्रासः सूर्यस्य तदा परे पुच्छभोगेन भवति । एवं चन्द्रस्यापि पौर्णमास्यामिति सिद्धं ग्रहणलक्षणम् । यथा बाह्ये तथाऽध्यात्मनि प्रतिदिनं षष्ठे लग्ने वेदितव्यं योगिभिः । इदं बालानामगम्यं वक्तुं न शक्यते शास्त्रद्वारेणेति ॥ १३९ ॥

इदानीं मङ्गलादीनां क्षेत्राण्युच्यन्ते—

भौमः शुक्रो बुधेन्दू रविबुधभृगवो भौममन्त्र्यार्किमन्दा
मन्त्री मेषादिराशौ प्रतिदिनसमये क्षेत्रिणः सर्वकालम् ।
शान्ताविन्द्वर्कराशी बुधभृगुकुजमन्त्र्यार्किराशिश्च पुष्टौ
वश्याकृष्टौ वियोगे प्रभवति मरणे क्षेत्रिणोऽस्मिन् यदि स्यात् ॥१४०॥

भौम इत्यादि । इह भौमादयो ग्रहा मेषादिराशौ क्षेत्रिणः । मेषे **भौमः**, **शुक्रो** वृषे, **बुधो** मिथुने, **इन्दुः** कर्कटे, **रविः** सिंहे, **बुधः** पुनः कन्यायाम्, भृगुस्तुलायाम्, **भौमो** वृश्चिके, **मन्त्री**ति बृहस्पतिर्धनुषि, **आर्कि**रिति शनिर्मकरे, **मन्द** इति पुनः शनिः कुम्भेऽपि, **मन्त्री** मीन इति । **प्रतिदिनसमये** द्वादशलग्नोदये **क्षेत्रिणः सर्वकालं** भोक्तार इत्यर्थः । इह **शान्तौ** कर्मणि, **इन्द्वर्कराशी**ति कर्कटसिंहे द्वे राशी, **बुध**राशी द्वे मिथुनकन्ये **पुष्टौ**, **शुक्र**राशी [210a] द्वे [1]**वश्ये** वृषतुले, [2]**आकृष्टौ कुज**राशी द्वे मेषवृश्चिके, **मन्त्रि**राशी द्वे उच्चाटने धनुर्मीने, **शनि**राशी द्वे **मारणे** मकरकुम्भे इति । यदि **क्षेत्रिणो** नक्षत्र-भोगवशेना**स्मिन्** स्वक्षेत्रे **यदि स्या**त्तदा नान्यस्मिन् कालेऽन्यग्रहेणाधिष्ठितो राशि-स्तत्फलदायको भवति पूर्वोक्तकर्मस्विति नियमः ॥ १४० ॥

---

१. च. आकृष्टौ । २. च. वश्ये ।

इदानीं भगवतो वक्त्रभेदेन शान्त्यादिकमुच्यते—

शान्तावादौ सितास्यं सितकनकनिभं पौष्टिके हस्तयामे
पीतं स्तम्भेऽग्नियामे कनकरविनिभं मोहनेऽब्धौ च रक्तम् ।
आकृष्टौ पञ्चमे स्याद् रविजलदनिभं षष्ठयामे च वश्ये
कृष्णास्यं मारणेऽद्रौ कषणसितमिहोच्चाटनेऽह्नौ निशान्ते ।।१४१।।

शान्तावित्यादि । इह **शान्तावादौ** प्रथमप्रहरे उदयाद् भगवतः सन्ध्यासञ्चारवशेन शुक्लमुखं पूर्वे नायको भवति, तेन शान्तौ शान्तिविषये पूर्वसाधितमन्त्रध्यानैः प्रहरैकेण फलं साधयेत् । **सितकनकनिभं हस्तयाम** इति द्वितीयप्रहरे भ्रमणवशात् पश्चिममुत्तरमर्धार्धं पूर्वे नायको भवति, तेन मिश्रेण **पौष्टिकं** साधयेत् । **पीतं** पश्चिमवक्त्रं मध्याह्नात् प्रहरमेकं नायकम्, तेना**ग्नियामे** तृतीयप्रहरे **स्तम्भ**विषये सिद्धिदम् । चतुर्थप्रहरे **कनकरविनिभं** पीतरक्तं विमिश्रं नायकम्, तेन **मोहनं** कुर्यात् । एवं पञ्चमे प्रहरे **रक्त**मुखं नायको भविष्यत्या**कृष्टौ** । **षष्ठे** रक्तकृष्णं मिश्रं नायकस्तेन **वश्यं** साधयेत् । एवं **कृष्णास्यं मारणेऽद्रा**विति सप्तमे प्रहरेऽर्धरात्राविति । **कषणसितमिहोच्चाटनेऽह्ना**वित्यन्तिमे प्रहरे **निशान्ता**दुदयपर्यन्तमिति । एवं प्रहरभ्रमणभेदेनाष्टास्यः कालचक्रो भगवान् यदा, तदा चतुःसन्ध्याभेदेन चतुश्चरणो भवति, अर्धप्रहरभेदेन षोडशभुज इति सिद्धः । एवं भुजभेदेनाष्टौ कर्माणि दिवायामर्धप्रहरभेदेन रात्रौ चेति नियमः । चतुःसन्ध्याभेदेन चत्वारि कर्माणि—पूर्वसन्ध्यायां शान्तिकम्, मध्याह्ने स्तम्भनम्, अस्तङ्गते आकृष्टिः, अर्धरात्रौ मारणमिति । अत्राप्यष्टाननस्य प्रज्ञा द्विभुजेति पूर्वापरसन्ध्याचरणद्वयम्, मध्याह्नादर्धरात्रं भुजद्वयी, समस्तमहोरात्रं मुखमिति भावनानियमः कर्मसाधने ।।१४१।।

अस्माद् वृत्ताद्यद् द्वितीयं तत्सुबोधमिति ।

पृथ्वीतोयाग्निवाता न शशिरविसुरा जीवभोक्तार एते
एषां जीवश्च भोक्ताऽप्यशुभफलवशाद् मन्यतेऽहं च भुक्तिः ।
दृष्ट्वा दुःखानुरक्तो ग्रहभुजगसुरान् प्रार्थयेद् भूतवृन्दं
मोक्षे यस्य प्रसादात् प्रभवति मनसस्तं न शान्तिं करोति ।।१४२।।

इदानीं जातबालस्य श्वासलक्षणमुच्यते—

आदिश्वासोऽगुणात्मा त्रिविधगुणवशात् सोऽपि याति त्रिसंख्यं
तिथ्याख्यास्तेऽपि जाता विषयगुणवशात्तेऽपि भूयस्त्रिगुण्याः ।
जाता भूताब्धिसंख्या पुनरपि च चतुश्चारभेदैर्हतास्ते
नाड्यर्धश्वाससंख्या पुनरपि घटिका श्वाससंख्या द्विगुण्याः ।।१४३।।

आदीत्यादि । इहोत्पन्नस्य बालस्य य **आदिश्वासः** प्रथमोऽसौ, **अगुणात्मा** सत्त्वादिगन्धादिगुणरहितस्तद्धर्मा प्रवृत्तितः । ततस्**त्रिविधगुणवशात्** सत्त्ववशाद्

द्वितीयः श्वासो निर्गतः, रजोवशात् तृतीयः, तमोवशाच्चतुर्थः। तेषु पूर्वोऽगुणो न गृह्यते। तेन सह **त्रिसंख्यं** गण्यते व्यापकत्वात्। पुनस्ते सत्त्वरजस्तमःस्वभावाः प्रत्येकं पञ्चविषयगुणभेदेन एकैकः पञ्चविधो भवति, तेन **तिथ्याख्या** इति पञ्चदश, तेऽपि भूयस्त्रिगुण्याः कायवाक्चित्तभेदेन **जाता भूताब्धिसंख्या** इति पञ्चचत्वारिंशत्। पुनरपि च ततः **चारभेदैर्हतास्ते** इति चन्द्रादित्ययोश्चारा चतुर्धा शीघ्रमन्दवक्र- 5 निर्गमपदानां धनवृद्धिक्षय-ऋणवृद्धिक्षयभेदेनेति। तैश्चतुर्भिर्हता **नाड्यर्धश्वाससंख्या** T 459 इति अशीत्युत्तरशतसंख्या, **पुनरपि द्विगुण्याः श्वाससंख्या** घटिकाश्वाससंख्या भवति षष्ट्युत्तरत्रिशतसंख्या [210b] प्रज्ञोपायस्वभावत इति। सा एकनाडी एकमण्डल- वाहिनी बालस्य वामे दक्षिणे वा। ततो द्वितीया तृतीया ॥१४३॥

द्वित्र्यब्धीष्वृत्वगाष्टग्रहदशभिरियं वर्धिता कालनाडी 10
तस्माद् वर्गप्रभेदैर्द्विविधपथि गता कालनाडी समन्तात्।
त्रैलोक्यं पूरयन्ती समसुखफलदा चन्द्रसूर्यप्रचाराद्
यावद् वेदाह्विवह्निः प्रभवति नियता कर्तिका शुक्तिहस्ता ॥१४४॥

द्वित्र्यब्धीष्वित्यादिना दशभिरियं वर्धिता कालनाडी मध्यमा दशमण्डल- वाहिनी वामे दक्षिणे वर्धिता, अहोरात्रेण षष्टिमण्डलानि यावदिति। **तस्मादवधे-** 15 **र्वर्गप्रभेदैः** पूर्वोक्तैः ककारादिवर्गैर्मकरादिलग्नैरिति। **द्विविधपथि गता कालनाडी समन्तात्**। **त्रैलोक्यमिति** शरीरं **पूरयन्ती** द्वासप्ततिसहस्रनाडीः पूरयन्ती। **समसुख- फलदा** सा **चन्द्रसूर्यप्रचारादिति** ललनारसनाप्रचारात्, पञ्चमण्डलवाहत इति श्वासनिर्गमात् कालनाडीभेदः। द्वितीयो भेद आधाने गर्भस्य कालनाडीवर्गभेदेन उत्पादाय वर्धते। तत्र वर्गस्यैकस्य एकः, षट्चक्रेषु मध्यमाऽवधूती। द्वयोर्वर्गश्चतस्र 20 उष्णीषकमलनाड्यो नाभौ प्रथमपरिमण्डलम्। त्रयाणां वर्गो नव, ता हृदयनाड्योऽष्ट नाभौ द्वितीयपरिमण्डलम्, नवमी चन्द्रजन्मस्थानम्। चतुर्णां वर्गः षोडश, ता ललाटे नाभिचक्रराशिपरिमण्डलवाह्ये। पञ्चानां वर्गः पञ्चविंशतिस्तानि ललाटे चन्द्र- पदानि। षण्णां वर्गः षट्त्रिंशत्तेषां मध्ये कण्ठे द्वात्रिंशच्चत्वारो मङ्गलबुधबृहस्पति- शुक्राणां जन्मस्थानं नाभौ चन्द्रपदपरिमण्डलबाह्ये। सप्तानां वर्ग एकोनपञ्चाशत् 25 कण्ठे द्वितीयपरिमण्डले राशिपदान्यष्टचत्वारिंशत्, एका सूर्यस्य जन्मस्थानं नाभौ च। अष्टानां वर्गश्चतुःषष्टिर्नाभिचक्रे षष्टिमण्डलवाहिन्यः षष्टिश्चतस्रः शून्यनाड्यः। नवानां वर्ग एकाशीतिः, दशानां शतम्। एतद[1]शीत्युत्तरशतं बाह्यभेदेन रजोधर्मि- त्वाद् द्विगुणं षष्ट्युत्तरत्रिशतसन्धिप्रदेशेषु ज्ञातव्यम्। एवं यथा कण्ठे तथा गुह्यचक्रे, यथा ललाटे तथा वज्रे, यथा उष्णीषे तथा वज्रमण्यग्रे चत्वार इति शरीरव्याप्तिः। 30 **यावद्वेदाह्विवह्निरिति** चतुर्विंशतिपक्षाः षष्ट्युत्तरत्रिशतदिनानीति। एवं कालचक्र- वर्षायनकाल-ऋतुलग्न-पक्ष-दिनभेदेन नाडीभेदः सिद्धः, द्वितीयसन्ध्याप्रहरार्धप्रहर-

१. भो. Dal Baḥi sKye gNas So (गर्भजानां जन्मस्थानम्) इत्यधिकम्।

भेदेनेति नियमः। एवं भगवती तद्योगात् प्रभवति नियता कर्तिका शुक्तिहस्ता।
इह भगवान् वर्षशुद्ध्या, भगवती प्रतिदिनशुद्ध्या। दिवा कर्तिका, रात्रिः कपाल-
मित्यर्थः ॥१४४॥

इदानीं कवर्गचक्राण्युच्यन्ते —

5 चक्राणीष्वब्धिसंख्या विषयगुणवशात् कायवाक्चित्तभेदे
रक्षां कुर्वन्ति भर्तुः समसुखफलदान्यष्टधूमादिदेव्यः।
एवं सूर्यस्य भर्ता परमशशिकलालिङ्गितो विश्वरूपः
देवी बुद्धामराणां विषयविषयिणां राहुचन्द्रार्कवन्द्यः ॥१४५॥

चक्राणीत्यादि। इह ककारादीनि व्यञ्जनानि त्रिशत्, अकारादयः स्वराः पञ्च-
10 दश, एते पञ्चचत्वारिंशत्। विषयाः पञ्च गुणास्त्रयस्तद्वशादिति पञ्चस्वरह्रस्वदीर्घ-
युक्ता ङादय आत्मबिन्दुविसर्गयुक्ताः पञ्चदश। एवं दशाराणि चक्राणि त्रिशत्, सकार-
पर्यन्तमन्योन्यानुवर्तीनि। लाद्यानि षडाराण्यकारपर्यन्तानीति **चक्राणीष्वब्धिसंख्या
विषयगुणवशात् कायवाक्चित्त**[1]**भेदे रक्षां कुर्वन्ति भर्तुः** कालचक्रस्य महासुखस्य।
समसुखफलदान्यष्टधूमादिदेव्य इति। अत्र ङकारचक्रमुच्यते सर्वचक्राणां बाह्येऽ-
15 ध्यात्मनि लोमाग्रे ङ ऊर्ध्वे [211a] ङि पूर्वे ङृ दक्षिणे ङु उत्तरे ङॢ पश्चिमारे ङॣ
वायव्ये ङू ईशे ङॄ नैर्ऋत्ये ङी अग्नौ ङा पाताले। एवं घगखकलोमधातौ, चर्ममांसे
चवर्गः, रक्ते टवर्गः, [2]रसे पवर्गः, अस्थिषु तवर्गः, मज्जसु शवर्गो विलोमेन। एवं
त्रिशच्चक्राणि दशाराणि मज्जान्तानि। ततः षडाराणि पूर्वारे ल, दक्षिणे लः, उत्तरे लं,
पश्चिमे ला, अधो लाः, ऊर्ध्वे लां नाडीषु प्राणादिषु। एवं व र य ह इति। तथा रजसि
20 अल् पूर्वे, अलः दक्षिणे, अलं उत्तरे, आल् पश्चिमे, आलः अधसि, आलं मूर्ध्नि। एवं
ओ अर् ए अ इति। शुक्रधातौ रक्षा ॡ पूर्वे, ॡः दक्षिणे, ॡं उत्तरे, [3]ॡ पश्चिमे, ॡः
अधसि, ॡं ऊर्ध्वे। एवं उ ऋ इ अ इति लोमादिशुक्रपर्यन्तं नव धातवः। ततो विज्ञान-
धातुश्चन्द्रमध्ये धूमादिभिः शून्यैर्वेष्टित इत्यर्थः। तत्र पञ्चविषयशून्यं त्रिगुणशून्यं धूमा-
दिकम्, ततः कलाबिन्दुदर्शनम्, ततो बिम्बदर्शनमित्यर्थः। **एवं सूर्यस्य भर्ता परमशशि-
25 कला** षोडशी, तयालिङ्गितः सन् सर्वकालं **विश्वरूपः** सर्वाकारत्वात्। **देवी**ति धातवः,
बुद्धा इति स्कन्धाः। तेषां किंविशिष्टानाम्? **अमराणां** जातिजरामरणरहितानाम्, **विषय-
विषयिणां च राहुचन्द्रार्काणामपि वन्द्यो** महाक्षरसुखः कालचक्रो भगवानिति ॥ १४५ ॥

अत ऊर्ध्वं चत्वारि वृत्तानि सुबोधानि।

या भर्तुः सूक्ष्मरूपा वरगुणविषयाभ्यन्तरा बाह्यमुद्रा
30 डाकिन्यस्तास्त्रिधातौ परमभयकराः क्रोधचित्तप्रसूताः।

---

१. भो. Rab Tu dBye Ba (प्रभेदे)। २. भो. Chu Ser (पित्ते)।
३. भो. ळ।

भर्तुर्यानीन्द्रियाणि त्रिविधभवगतं कायवाक्चित्तवज्रं
तान्येते वज्रडाकाः स्वस्वविषयगुणालिङ्गिता मङ्गलाद्याः ॥१४६॥

रूपं शब्दं रसो गन्धमपरमपि तत् स्पर्शधूमो रजश्च
सत्त्वं चित्तं क्रमेण प्रकटमपि तथालिङ्गितं राहुणा च ।
तेषां षण्मन्दचाराद् विविधगतिरियं शीघ्रवक्रादिचारा- 5
दष्टानां षट्पदेऽष्टौ खलु विषयगुणा संस्थिताश्चक्ररूपाः ॥१४७॥

आदिश्वासोऽष्टभेदो विषमगुणगतश्चावृतो डाकिनीभि-
र्धूमाद्याभिः समन्तात् त्रिविधगतिवशाद् भ्राम्यते षड्गतिस्थः ।
तन्मध्ये कालचक्रः स्फुरदमृतकलालिङ्गितः शुद्धकायो
यः श्वासं छेदयित्वा विशति जिनतनुं कालचक्रः स एव ॥१४८॥ 10

श्वासच्छेदावसाने त्रिविधगतिरियं षट्प्रकारा न चास्ति
बिन्दौ रोधे समन्तात् परमविभुसुखं वर्ततेऽनन्तकालम् ।
त्यक्त्वा संसारसौख्यं परमगुरुसुखं योगिना भावनीयं
चर्यां शृङ्गाररूपां परमभयकरां योगिनीनामतुष्टिम् ॥१४९॥

इदानीं वज्रश्वासे ग्रहचरणप्रवेश उच्यते— 15

भर्तुः श्वासे समस्तं ग्रहगणचरणं नीयते कालयोगात्
श्वासे खं खं ख खाक्ष्यग्निजलनिधिगते चोदिते सर्वशून्ये ।
एतैर्वर्षैश्च बाह्ये परमविभुपदे सृष्टिसंहाररूपे
ज्ञातव्यं स्वस्वमानैर्जिनपतिचरणं श्वासमध्ये गतिस्थम् ॥१५०॥

भर्तुरित्यादि । इह यथा बाह्ये तथाऽध्यात्मनीति न्यायाद्बाह्ये शक्तिश्वासो वर्ष- 20
धर्मः, तैर्वर्षैर्यदा युगान्तं भवति खं खं ख खाक्ष्यग्निजलनिधिरिति द्वययुताधिकत्रय-
श्चत्वारिंशल्लक्षाणि वर्षाणां श्वासानां शक्तेः । एवं सर्वेषां सत्त्वानाम् । एषां श्वासाना-
मन्ते श्वासमेकं वर्षम्, बाह्ये लोकधातौ मध्यमायां श्वासमेकं यस्मिन् वर्षे कलेर्निर्गमः
कृतयुगप्रवेशः। । एवं चतुर्युगैर्दशमण्डलनाडीप्रवाहः शक्तेः । एकैकमण्डलं द्वात्रिंश-
त्सहस्राधिकं चतुर्वर्षलक्षमिति । एवं कृते चत्वारि मण्डलानि वामनाड्यामाकाशवायुतेज-
उदकानीति । तत्रैव त्रेतायामेकमण्डलं वामनाड्यां पृथ्वीलक्षणम्, ततो मध्यमाप्रवेशः 25
पञ्चत्रिंशत्सहस्राधिकं लक्षमेकं पञ्चमण्डलानां गृहीत्वा मध्यमाकालः । ततो दक्षिणे
संचारः पृथिवीमण्डलमब्मण्डलं त्रेतायाम् । ततो द्वापरे तेजोवायुमण्डलम्, कलौ

आकाशमण्डलम् । तत ऋतुः पूर्णो भवति । ततो मध्यमाश्वासानामन्ते एकः श्वासोऽधिकः सर्वालोकं करोति । यदि तेन श्वासमात्रेण जाग्रदवस्थायां तिष्ठति स श्वासः सर्वसत्त्वानां निद्रावस्थायां भवति । एवं द्वययुताधिकत्रयश्चत्वारिंशल्लक्षश्वासेनाध्यात्मनि ग्रहाणामेक ऋतुर्भवति । मध्यमायां शून्यमण्डलान्ते ज्ञानमण्डले प्रवेशो भवति, तेन स
T 460 5 ग्राह्य इति । एवं ज्ञातव्यं स्वस्वमानैर्जिनपतिचरणं श्वासमध्ये गतिस्थमिति नियमः ॥ १५० ॥

अत ऊर्ध्वं चतुर्दशवृत्तानि सुबोधानीति [211b]।

शून्ये मन्दप्रवेशः स्वदिनगतिवशाज्जायते वै युगान्ते
शून्याकाशाम्बराब्ध्यब्धिशशधरदिनै रेवतीभोगशेषैः ।
10 खं खं खं खाब्धिनेत्रैः स्वगतिगतदिनैस्तत्र राहुप्रवेशः
खं खं खं खर्तुकालैः स्वगतिगतदिनैर्देवमन्त्रिप्रवेशः ॥१५१॥

खं खं शून्याम्बराष्टाहिनयनदिवसैर्मङ्गलस्य प्रवेशः
सूर्यादीनां प्रवेशः ख ख ख ख नयनाग्न्यब्धिसंख्यैर्दिनैश्च ।
खं खं खं खाब्धिनागैकशरगतदिनैस्तत्र चन्द्रप्रवेश-
15 स्तस्मिन् काले विनाशः प्रभवति जगतः स्वस्वमानेन राजन् ॥१५२॥

नाडीसंचार एष प्रभवति च ततश्चन्द्रसूर्योदिते च
एकद्वित्र्यब्धिबाणा रसगिरिवसवो वर्धिता गुह्यनाडी ।
रन्ध्राख्या वारनाड्यो भवति च दशमी सूक्ष्मनाड्यूर्ध्वमार्गे
भूयः सा वर्गभिन्ना सगुणसविषयाश्चक्रनाड्यो भवन्ति ॥१५३॥

20 उष्णीषे हृत्प्रदेशे शिरसि शशिपदे कण्ठदेशेऽर्कचारे
नाभौ वै चक्रनाड्यो युगभुजगनृपाश्चन्द्रचारैरभिन्नाः ।
द्वात्रिंशत्तद्द्विगुण्याः सकलरविपदैर्मिश्रितैरप्यभिन्ना
एकाशीतिः शतं यत् करचरणगताः सन्धिनाड्यो द्विभेदाः ॥१५४॥

उष्णीषे हृत्प्रदेशे शशिरविचरणे कण्ठचक्रेऽवशेषा
25 एकाशीत्यन्तिमा या प्रकटदशविधास्ते ग्रहाः सौम्यरौद्राः ।
तेषामाद्यन्तभागं विभुचरणगतं भुज्यते कालनाड्या
वारान्तं चापि भुङ्क्ते त्रिभुवनजननी डाकिनी वज्रदेहा ॥१५५॥

आदौ या शून्यरूपा विषयगुणगता तत्स्वभावा बभूव
धातुस्कन्धान् प्रविष्टा पुनरपि च समा चक्षुरादीन्द्रियेषु ।
जाग्रत्स्वप्नादिविद्या परमसुखसमानाहते संप्रविष्टा
सा विद्या बुद्धमाता कुलिशपदगता योगिनाऽन्वेषणीया ॥१५६॥

भर्तुः कायप्रभावाद् भवति वरतनौ योगिनां दिव्यचक्षुः
श्रोत्रं तद् वाक्प्रभावात् परहृदयगतं ज्ञायते तस्य चित्तात् ।
प्रज्ञाकायप्रभावात् त्रिविधभवगता पूर्वजानुस्मृतिः स्यात्
प्रज्ञाया वाक्प्रभावात् प्रभवति खसमा सर्वदा सर्वगर्द्धिः ॥१५७॥

प्रज्ञाज्ञानस्वभावाद् भवति समसुखं सर्वदाऽनाहतं यद्
अक्ष्णाऽदृश्यं त्रिविधमपि भवं दिव्यचक्षुःप्रभावात् ।
दिव्यश्रोत्रप्रभावाद् हृदयसुखरवः श्रूयते प्राणिनोक्त
एवं स्पर्शादि सर्वं भवति नरपते कायवाक्चित्तयोगात् ॥१५८॥

या नाड्योऽपानमध्ये त्रिविधपथगता मूत्रविट्शुक्रवाहाः
प्राणात्तासां प्रचारो भवति नवविधश्चान्तिमो बुद्धवक्त्रम् ।
श्रोत्रे घ्राणे च नेत्रे द्विविध इति भवेल्लम्बिकायां सजिह्वे
बिन्दावुष्णीषरन्ध्रे भवति च दशमो मुद्रितोऽज्ञानिनां यः ॥१५९॥

प्राणापाने निरुद्धे क्षुभितशशधरः सूर्यबिम्बं प्रयाति
अब्जे वज्रप्रबुद्धे द्रवति पुनरसौ सूर्यबिम्बार्चिषा वै ।
विज्ञानं ज्ञानमेकीभवति च मरुता चन्द्रसूर्ये निरुद्धे
एवं चैवं तथैवं त्रिविधमपि भवेन्नापरं किञ्चिदस्ति ॥१६०॥

ग्रस्ते चन्द्रार्कबिम्बे नभसि न च दिवा नैव रात्रिः कदाचित्
सा सन्ध्या देहमध्येऽप्यमृतपदगता योगिनां सर्वकालम् ।
पक्षक्षीणो यथेन्दुर्व्रजति समरसं सूर्यबिम्बेऽम्बरस्थः
प्राणापानक्षये वै स्फुटमपि च तनौ सिद्धिकाले सरोधः ॥१६१॥

नष्टे चन्द्रार्कबिम्बेऽप्युभयपथि सदा प्राणवाते निरुद्धे
अब्जे वज्रप्रबुद्धे द्रुतशशिनि महासूर्यबिम्बे प्रविष्टे ।

भावाभावैकभूते त्रिविधभवगतेऽनाहते संप्रबुद्धे
तस्मिन् काले स योगी व्रजति परपदं न द्वयं यस्य किञ्चित् ॥१६२॥

क्रोधा बुद्धाः सदेव्यः खलु रसकुलिशा भूमिगर्भादयश्च
प्रत्यक्षाः खे भवन्ति प्रमुदितहृदया योगिनः सिद्धिकाले ।
5 प्रत्यूषे चार्धरात्रे भवति शशिदिने चेष्टसिद्धिश्च तस्य
रत्नैर्वा पुष्पवृष्टिर्भवति भुवितले कालयोगात् प्रकृष्टा ॥१६३॥

स्वच्छः कायोऽणुनष्टः प्रभवति खसमो लक्षणाद्यैः प्रपूर्णः
स्वच्छं त्रैलोक्यमेवारणविरहितं स्वप्नवद् भाति विश्वम् ।
भाषाऽच्छिन्ना समन्तात् परहृदयगताऽनेकभाषान्तरेण
10 चित्तं सत्सौख्यपूर्णं न चलति सहजालिङ्गितं सर्वकालम् ॥१६४॥

इदानीं लोकधातूपसंहार उच्यते—

भूमेराकृष्य चाणून् जलशिखिपवनं प्रेषयेत् तोयधातौ
तोयाद् भूवह्निवायुं शिखिनि च शिखिनो भूमितोयानिलाणुम् ।
वायौ चाकृष्य वायोः क्षितिजलशिखिनं कर्मवातश्च शून्ये
15 अन्यं क्षेत्रं गताऽन्ये त्रिविधभववशात् कर्मवाताहता ये ॥१६५॥

भूमेरित्यादि। इह बुद्धस्य भगवतो धर्मदेशना द्विधा—एका लोकसंवृत्या, द्वितीया परमार्थतः। तत्र लोकसंवृतिमाह—

अक्षजा धीरनाकारा साक्षाद्वेदाणुसंचयम् ।
सत्काश्मीरमताम्भोधिवैभाषिकमतं मतम् ॥ इति ।

20 एवं तीर्थिकाः सर्वे परमाणुसंचयग्राहका इति। तेन बाह्ये बुद्धक्षेत्राणां लोकधातूनामप्युत्पादक्षयो वेदितव्यः। स च सत्त्वानां शुभाशुभफलभोगहेतोर्भवति, यावत् सत्त्वराशिस्तावदिति नियमः। तेन लोकधातूपसंहारकाले कर्मवातोऽयं लोकधातुर्येनोत्पादितः पूर्वं बुद्धक्षेत्रं च, तस्य द्विधा स्वभावः—एको निश्चल आकाशेषु नक्षत्रवल्लोकधातोर्बुद्धक्षेत्रस्य न कुत्रचिद्दिशि गमनम्, द्वितीयो भ्रमणस्वभावो राशिचक्रवदाकाशे। 25 एवं लोकधात्वन्तर्गतानां स्थावराणां निश्चलस्वभावः, प्राणिनां चलस्वभावः। कर्मवात इति विज्ञानधर्मतः। एवं परमाणुघटितानां शरीराणामुपसंहारः, तेन लोकधातूपसंहारबुद्धक्षेत्रोपसंहारकाले आवर्तविवर्तलक्षणे उत्पादव्ययधर्मिणि। तत्र लोकधातुक्षयकाले भूमेरिति भूमेर्ये परमाणव उदकादिधातूनां संयोगेनावस्थिताः, तेन भूमिपरमाणुराशेराकृष्य

भूमिपरमाणून् पृथक् पृथक् कृत्वा **तोयधातौ** अप्परमाणुराशौ क्षिपति। एवं **तोयधातो**-राकृष्य वह्नौ क्षिपति, **वह्नेराकृष्य** वायौ क्षिपति, **वायोराकृष्याकाशे** पृथक् पृथक् संचरति। एवं लोकधातूपसंहारः। स पुनः कश्चित् पाताले कालाग्निर्नाम देवता, सा लोकधातुं दहति भस्मं करोतीति यः कालाग्निः, स एव परमाणुसंचयः। अपरधर्म-भक्षणतो यः परमाणुरहितः, स न किञ्चिद्दहति न च भक्षयतीति। एवं स्थावराणां विनाशे जाते सति ये विज्ञानधर्मिणः प्राणास्तेऽन्यं क्षेत्रं लोकधातुं **गताः**, यत् कर्मवातेन जनितं तेषामुपभोगाय। एवमनन्ताः **कर्मवाता** लोकधातुजनका बुद्धक्षेत्रजनकाः, यथा प्राणिनां प्राणाः पृथक् पृथक् शरीरजनका इति स्थावराणां वृद्धिजनका इति सिद्धान्तः संवृतौ ॥ १६५ ॥

इदानीं कर्मवातयुक्तानां विहरणमुच्यते—

बुद्धक्षेत्रं समस्तं त्रिभुवनजनकोऽकर्मकं वीक्षयित्वा
शुद्धाणौ सर्वबुद्धा उभयसमरसे वेष्टिते बोधिसत्त्वाः।
प्रत्येकैकं रसाणावुभयकुलवशाद् वेष्टिते वज्रपुत्राः
भूम्याद्याश्चाम्बरान्ताः सकलकुलगताश्चाचलाद्यां प्रविष्टा ॥१६६॥

बुद्धक्षेत्रमित्यादि। इह **भद्रचरीपाठे** भगवतोक्तं तद्यथा—"एक रजाग्रि रजोपम-बुद्धा बुद्धसुताश्च निषण्णकु मध्ये" (ग० सू० ५६.३) इति वचनात् संवृत्या विहरणं बुद्धानां यत्तदाधारवर्जितं निराधारं न भवति, निरावरणधर्मेण पुनः परमार्थतो विहरणं नास्ति। उक्तं **प्रज्ञापारमितायां** धर्मोद्गतपरिवर्ते—"बुद्धानां कुत्रचिद् गमनं वाऽऽगमनं वा न भूतं न च भविष्यति न भवति" इति। तेन एकरसाग्रे शुद्धपरमाणौ सिद्धरसे सर्व-धातुवेधके आधारे सर्वबुद्धाः समस्ता ये शून्यलक्षणा निरावरणा इति। एवं *[212a] **बुद्धक्षेत्रं समस्तमकर्मकं** कर्मवातरहितम्, **त्रिभुवनजनको** ज्ञानकायेन **वीक्षयित्वा शुद्धाणौ सर्वबुद्धास्ते** सार्धं विहरन्ति, **उभयसमरसे** शुद्धाणाविति। प्राकृतरसं सिद्धरसं कृत्वा संसारिणं बोधिचित्तमक्षरं कृतमित्यर्थः। **बोधिसत्त्वा वेष्टित** इति प्रणिधिचित्तेने-षन्मात्रावरणैर्युक्ता **वज्रपुत्रा** इति। **प्रत्येकैकं रसाणाविति** प्रज्ञोपायोभयधर्मे स्थिताः, अचलादिषु स्थिता इत्यर्थः। एवं **भूम्याद्यणौ** रागरहितादिकृत्स्नानि साक्षात्कृता-न्यनन्तान्यचलाद्यां प्रविष्टानीत्यर्थः। इहाणुशब्देनाचलादयो भूमय उक्ताः, न परमा-णवः। शुद्धाणुशब्देन आधारभूता द्वादशभूमयः, सर्वावरणक्षयत इत्यर्थः॥ १६६ ॥

तैः सार्धं वज्रसत्त्वो विहरति गगने वर्तकालं हि यावद्
धत्ते सन्धारणोऽणुं क्षितिजलहुतभुग्वायुशून्यस्वभावम्।

* पत्र सं० २१२ (a+b) नोपलभ्यते। अतः भोटपाठग्राह्यत्वेन पुनरुद्धृत्य पाठोऽत्र उट्टङ्कयते।

मन्थानो मन्थयन् हि पृथगणुसकलं यावदेकत्वमेति
तेषामन्योन्ययोगः पुनरपि च भवेद् मुख्यभावेऽल्पभावः ॥१६७॥

तैः सार्धं वज्रसत्त्वो विहरति गगने वर्तकालं हि यावदिति। इह यावत् सत्त्वानां पुण्यज्ञानसंभारौ न भवतः, तावत् तैर्बुद्धोत्पादो न दृश्यते, अतो विहरति गगने धर्मकायगत इत्यर्थः। इदानीं लोकधातूद्भव उच्यते—संवर्तकालमिति। "संवर्तो भङ्ग आख्यातः"। अत्रेदं पदं नास्ति। संशुद्धाकारेण धर्माधर्मयोः प्रवृत्तत्वाद् वर्तः, तस्माद्धेतोः कर्मवातः त्रिविधो भवति—सन्धारणः, मन्थानः, संस्थानश्च। तेषां **संधारणः क्षित्यादिपरमाणुसन्दोहं धत्ते**, यथा वृष्टिवात उदकपरमाणुसंदोहं धत्ते। ततो **मन्थानः** क्षित्यादिरसान्तं परमाणुसन्दोहं **मथ्नाति, यावद्** धातवो लवणमिव कठिनतां व्रजन्ति। एवं **तेषामन्योन्ययोगो भवेत्, मुख्यभावेऽल्पभावः**। अतः कठिनधर्मे भूमिपरमाणुर्मुख्यः, शेषा अल्पाः। एवं जले जलम्, अग्नावग्निः, स्पन्दात्मके वायुः, रसे सकलं समानम्, स्वस्वगुणरहितम् ॥ १६७ ॥

बुद्धक्षेत्रं समस्तं विरचयति महासर्वसंस्थानवायुः
प्रत्येके लोकधातौ पुनरपि च महाचक्रवालं समन्तात् ।
तन्मध्ये लोकधातुः प्रभवति च महाकर्मभूमिस्वभावः
शेषा भोगस्वभावा विषयसुखकराः सर्वरत्नप्रपूर्णाः ॥१६८॥

ततो **बुद्धक्षेत्रं समस्तं विरचयति महासर्वसंस्थानवायुरिति**। प्राणापानादिभिर्दशभिरित्यर्थः। यथा बाह्य आश्रितानां क्षयवृद्धिकारणानि, तथा देहेऽपि प्राणादीनाम्। **प्रत्येके लोकधातौ पुनरपि च महाचक्रवालं समन्ताद्** इति। यथा सत्त्वानां प्रत्येकदेहे लोम चर्म, तस्य बुद्धक्षेत्रस्य मध्ये कर्मस्वभावो लोकधातुरेको भवति, यथाऽवधूत्येका सर्वनाडीनाम्। लोकधातु**शेषा भोगस्वभावा** अन्या नाड्य इव। ते लोकधातवो **विषयसुखकरा** देहनाड्य इव। **सर्वरत्नप्रपूर्णा** इति यथा रुधिरपूर्णा नाड्यः। बुद्धक्षेत्रं लोकधातुसहितं भवति, यथा द्वासप्ततिसहस्रनाडीसहिता कायोत्पत्तिः ॥ १६८ ॥

इदानीं लोकधातौ मेर्वादीनां लक्षणमुच्यते—

पूर्वे शुद्धेन्द्रनीलः सकलगिरिपतिर्दक्षिणे पद्मरागः
पृष्ठे कर्केतपीतः शशधरधवलश्चोत्तरे चन्द्रकान्तः ।
मध्ये श्यामस्तदन्तर्निहितमिह महामण्डलं तस्य गर्भे
आदौ चित्तस्वभावं द्विगुणमपि ततो मध्यतो वाक्स्वभावम् ॥१६९॥

पूर्वे इत्यादि। इह **पूर्वे** इति पूर्वविदेहाभिमुखः, **शुद्धेन्द्रनीलः**, वायुधर्मात्मकत्वात् **सकलगिरिपतिरित्यर्थः**। अन्तःस्था य र ल वाः। पूर्वे य। **दक्षिणे पद्मरागो** रकार-

धर्मात्मकत्वात्। **पश्चिमे कर्केतपीतः**, लकारधर्मात्मकत्वात्। **शशधरधवलश्चोत्तरे चन्द्रकान्तः**, वकारधर्मात्मकत्वात्। एवं य र ल वा चतुर्द्वीपेषु ज्ञातव्याः। **मध्ये श्यामः**, शून्यहकारधर्मात्मकत्वात् **तदन्तर्निहितमिह महामण्डलं तस्य गर्भ** इति, पूर्वमुक्तम्। आदाविति चित्तमण्डलं चित्तस्वभावम्। **मध्ये तद् द्विगुणं वाक्कायमण्डलम्** ॥ १६९॥

तस्मादन्यद् द्विगुण्यं शरदशगुणितं योजनानां सहस्रं　　5
तद्बाह्ये चक्ररूपं त्वृतुभिरपि ततो लोकधातुस्वभावम्।
षट्चक्रैः षट्कुलैश्चानिलवलयगतं मण्डलं वेदलक्षै-
र्द्व्यष्टस्तम्भैश्च कूटं नृपतिशशिकलाभिर्वृतं योनिरूपम् ॥१७०॥

मेरोः कर्णिकास्थाने ज्ञानचक्रम्, हृदयस्थाने चित्तमण्डलम्, कण्ठस्थाने वाङ्मण्डलम्, ललाटे कायमण्डलम्। **तद्बाह्ये** सर्वमण्डलानि लोकधातुस्वभावेनावस्थितानि।　　10
शरदशगुणितं योजनानां सहस्रमिति मेरोरूर्ध्वे पञ्चाशत्सहस्रयोजनं कायवाक्चित्त-मण्डलम्। हृदये कालचक्रं मुद्रालक्षणं च। तद्बाह्ये पञ्चाशत्सहस्रात् **षट्चक्ररूपम्**। ऋतुभिरिति षडृतूनां विशुद्ध्या **लोकधातुस्वभावं** षडृतुस्वभावम्। **षट्चक्रैः षट्कुलैश्चेति**, उक्तपूर्वम्। योजनै**र्वेदलक्षैः, अनिलवलयगतमिति** वायुमण्डलान्तं **मण्डलम्**। गर्भे **द्व्यष्टस्तम्भैश्च कूटं** षोडशकलाभिः शुद्धम्, तैः स्तम्भैः, गर्भे परि**वृतं** ज्ञानचक्रम्,　　15
योनिरूपं सर्वसिद्धिजनकमिति मेरुनिष्पत्तिः ॥१७०॥

इदानीं भगवतः कायमानेन बाह्यमण्डललक्षणमुच्यते—

उष्णीषादूर्णमध्यं भवति जिनपतेः सार्धसूर्याङ्गुलं तु
तस्मात् कण्ठाब्जमेवं हृदयमपि ततो नाभिगुह्याब्जमेवम्।
पादोऽधो जानूरूकस्फिकमपि मनुभिस्तत्त्वतत्त्वैश्च वेदै-　　20
रर्घोरः सार्धसूर्यैः स्वभुजभुजकराः खाक्षिराजार्कमात्रैः ॥१७१॥

विंशत्येकाधिकं यच्छतमृतुनवभिर्लोकमानं नराणां
वेदैः सार्धैश्चतुर्भिर्जलधिजलधिभिः सार्धवेदैश्च वेदैः।
उष्णीषं मस्तकाधो भवति जिनपतेः श्रीललाटं च नासा
चिब्वन्तं नासिकाधो गलकमपि ततः कण्ठमूलाब्जमध्यात् ॥१७२॥　　25

तस्माद्धृन्नाभिगुह्यं भवति नरपते सार्धसूर्यैः क्रमेण
गुह्याब्जं नाभिमूले कुलिशमपि मुनेरूर्ध्वं उष्णीष एव।
ऊर्णा गुह्याब्जमध्येऽक्षरसुखजननी शुक्रबिन्दोः स्थितिर्या
एषा श्रीवज्रभूमिर्हृभयकुलवशात् कायवाक्चित्तचक्रे ॥१७३॥

उष्णीषादिति। इह भगवतो **जिनपतेः, उष्णीषादूर्ध्वम् ऊर्णमध्यमिति** भ्रूमध्ये **सार्धसूर्याङ्गुलं भवति** सार्धद्वादशाङ्गुलिमानम्। **तस्मात् कण्ठाब्जमेवं** सार्धद्वादशाङ्गुलिमानम्। **हृदयमपि** सार्धद्वादशाङ्गुलि। ततो **नाभिगुह्याब्जमेवमिति** नाभिकमलं सार्धद्वादशाङ्गुलि। एवं गुह्याब्जं सार्धद्वादशाङ्गुलि। तत उष्णीषाद् गुह्यपद्मान्तं सार्धद्वाषष्ट्यङ्गुलिकायमानम्। **पादोऽधो मनुभिरिति** चतुर्दशाङ्गुलिभिः। **जानु तत्त्वमिति** पञ्चविंशतिः, **ऊरू** अप्येवम्। पादोच्छ्रयो **वेदैरिति** सार्धचतुरङ्गुलिभिः। एवं जानुसन्धिः **स्फिकमपि** चतुरङ्गुलिभिः। एवं सार्धद्वाषष्ट्यङ्गुलिभिः स्फिकात् पादाधोऽन्तम्। तथा पञ्चविंशत्यधिकशतं बुद्धकायः। **अर्धोरः सार्धसूर्यैरिति** सार्धद्वादशमानैः। **स्वभुजभुजकराः खाक्षिराजार्कमात्रैरिति** विंशतिभिर्बाहुः, षोडशभिरुपबाहुः, द्वादशभिः करो मध्यमाङ्गुल्यन्तम्। एकेन करोपबाहुसन्धिः, बाहूपबाहुसन्धिः। एवं सार्धद्वाषष्ट्यङ्गुलयः। यथा वामे तथा दक्षिणेऽपि। सर्वत्र **पञ्चविंशत्यधिकशतं** कायमानं चतुरस्रम्। तदेव सत्त्वानां चतुर्हस्तं **नराणां** षण्णवत्यङ्गुलि ऊर्ध्वाधो चतुरशीतिः, तथा नरा न लक्षणयुक्ता इति सिद्धम्। **वेदैरिति** चतुर्भिरुष्णीषमानम्। **सार्धचतुर्भिः** शिरउच्छ्रयः, चतुर्भि**र्ललाटम्, चकारात्** चतुर्भिर्नासिका, सार्धचतुर्भिर्नासिकाधश्चिबुकान्तम्, चतुर्भिः **कण्ठः**। **तस्माद् हृन्नाभिगुह्यं भवति नरपते सार्धसूर्यैः क्रमेण। गुह्याब्जं नाभिमूले कुलिशमपि मुनेरूर्ध्वं उष्णीष एव। ऊर्णा** गुह्याब्जमध्येऽक्षरसुखजननी **शुक्रबिन्दोः स्थितिर्या। एषा** श्रीवज्रभूमिहर्युभयकुलवशात् **कायचक्रं** ललाटनाभि, **वाक्चक्रं** कण्ठहृदयम्, **चित्तचक्रं** गुह्योष्णीषम्। ॥१७१-१७३॥

इदानीं कायमण्डलशुद्धिरुच्यते—

> सार्धार्कं पञ्चविंशद् द्विगुणमपि ततश्चित्तवाक्कायचक्रं
> चित्तार्धं षट्सपादं हृदिगतसहजं चाङ्गुलं ज्ञानचक्रम्।
> त्रिभ्यो द्वाराणि कुर्यान्मणिमयरचनां मण्डलेभ्योऽष्टमांशाद्
> गत्यागत्याप्यधोर्ध्वं द्विगुणमपि भवेत् कायवाक्चित्तचक्रम्॥१७४॥

सार्धार्कमित्यादि। इह काये गुह्योर्णमध्ये [213a] हृदयम्, तदेव **चित्तचक्रम्**, नाभिकण्ठमध्यतः **सार्धद्वादशाङ्गुलम्**, नाभिकण्ठसीम्नः **पञ्चविंशत्यङ्गुलं वाक्चक्रम्**, तथा गुह्यकमलोर्णान्तं पञ्चाशदङ्गुलं **कायचक्रं** वज्रभूम्याम्। **चित्तार्धमिति** चित्तचक्रस्यान्तर्गतं **षट्सपादैरङ्गुलैर्ज्ञानचक्रं** शोधनीयम्। **त्रिभ्य** इति सप्तम्यर्थे पञ्चमी। त्रिषु मण्डलेषु **द्वाराणि कुर्यादिति** चित्तद्वाराणि जाग्रदाद्यवस्थाचतुष्कम्, वाग्द्वाराणि मुखगुदनासारन्ध्राणि, कायद्वाराणि चक्षुःश्रोत्ररन्ध्राणीति द्वादशद्वाराणि। शेषं पूर्वोक्तवत्। एवं बोधिचित्तस्य **गतागतभेदेनाध ऊर्ध्वं द्विगुणमपि भवेत् कायवाक्चित्त**[1]**चक्रं** शताङ्गुलमित्यर्थः॥१७४॥

१- ख. वज्रं।

मेरुस्थेऽप्यङ्गुलार्धं भवति जिनपतेर्योजनानां सहस्र-
मेवं कायप्रमाणो भवति सुरगिरिर्विस्तरेणार्धमात्रः ।
तस्योर्ध्वे तस्य चार्धं भवति हि कुलिशाकारकूटं त्रिभाग-
मेवं चाधो धरापो हविरपि पवनः सार्चिषा वज्रमाला ।।१७५।।

एवं मेरुस्थेऽपि मण्डले जिनपतेर्यदर्धाङ्गुलं तन्मर्त्ये योजनानां सहस्रम् । एवं वायुवलयान्तं चतुर्लक्षयोजनं भवति चतुर्हस्तेषु । एवं कायप्रमाणो भवति सुरगिरि-विस्तरेणार्धमात्रः पूर्वोक्त इति । तस्योर्ध्वे तस्य चार्धं भवति हि कुलिशाकारकूटं त्रिभागं मेरोर्बाह्ये धरावलयमब्वलयं तेजोवलयं वायुवलयम्, अधोभागे सार्चिषा वज्र-माला वज्रवलयबाह्ये ।।१७५।। 5

हृच्चक्रं सार्धसूर्यैर्भवति जिनपतेर्नाभिकण्ठाब्जमध्ये 10
वाक्चक्रं कायचक्रं कुलिशमणिगताद्ध्र्वमूर्णार्धसीम्नः ।
निर्यूहां(हं) श्रीकपोलं भवति नृप ललाटोर्ध्व उष्णीषसीम्नः
सार्धार्कैर्भूमितोयानलचलवलयं सार्चिषा वज्रमाला ।।१७६।।

[1]सार्धमित्यादि (हृच्चक्रमित्यादि) वृत्तमेकं सुबोधम् ।। १७६ ।।

ऊर्ध्वाधो बुद्धकायो भवति सममिदं कायवाक्चित्तचक्रं 15
तिर्यङ्मानैःसमन्तात् पवनगतिवशाद्वा त्रिभिः षड्भिरेवम् ।
चक्रं चाष्टारचक्रैर्भवति जिनपतेरङ्गुलैः षट्सपादै-
रष्टद्वारैश्च वृत्तं स्वकरतलनखैः कल्पयेच्छ्रीश्मशानम् ।।१७७।।

ऊर्ध्वाधो बुद्धकायो भवति समं चतुरस्रं कायवाक्चित्तचक्रं चतु[2]रस्रम् । तिर्य-ङ्मानैः समन्तात् पवनगतिवशाद् बाह्ये वायुवलयगतिवशादध्यात्मनि वामहस्तनखान्तं दक्षिणहस्तनखान्तं वायुगमनं समानादीनाम् । तेन शरीरमण्डलं चतुर्हस्तं[3] चतुरस्रमिति नियमः । वा अथवा, त्रिभिश्चक्रैः संवरं वा, षड्भिश्चक्रैः संवरमण्डलं वृत्तमष्टद्वारिकं प्रत्येकचक्रमानैः षट्सपादैः षड्भिरङ्गुलैर्भवति, जिनपतेरष्टद्वारैश्च वृत्तं पूर्वोक्तम्, स्वकरतलनखैः कल्पयेत् श्रीश्मशानम्, तत्र तिर्यङ्मण्डले अध ऊर्ध्वे पुनर्मुखाद्यष्टद्वाराणि श्मशानानीति नियमः ।। १७७ ।। 20 25

इदानीं भगवतीकायशुद्धिमण्डलमुच्यते—

ऊर्ध्वाधो वक्त्रगुह्याद् भवति भगवतीमण्डलं द्वयब्धिमानैः
पद्मार्धं गर्भमध्यात् त्रिभिरपि च ततः सावली चक्रषट्कम् ।

---

१. च. 'सार्ध सुबोधम्' नास्ति । २. च. र्हस्तं । ३. भो. रस्रं ।

द्वाराद्यं सर्वचक्रात् प्रभवति नियतं पञ्चमांशैः कपोलं
न प्रज्ञा नाप्युपायः सहजतनुरियं स्तूपरूपं समन्तात् ॥१७८॥

ऊर्ध्वाधो वक्त्रगुह्याद् भवति भगवतीमण्डलं द्वयब्धिमानैरिति द्वाचत्वारिंश-
दङ्गुलैर्भवति, ऊर्णागुह्यकमलाभ्यां त्यक्त्वा [1]द्वाचत्वारिंशद्भिरङ्गुलै रजोधातुः। तेन
5 भगवतीमण्डलं भवति। पद्मार्धं षट्चक्रं तुल्यभागैरिति। अत्र द्वारं विसदृशं चक्रात्
T 462 पञ्चमांशम्, चक्रात् पञ्चमांशेन यच्चतुष्पीठादौ तत् कस्य हेतोरिति ? [2]अत्र प्रसूतिकाले
मातुर्योनिर्द्वादशाङ्गुलं भवति षण्णवतिविभागेनाष्टमो विभागः। तेन चतुर्द्वीपेषु योनयः
स्त्रीणां चतुर्द्वाराणि, गर्भाधानमण्डलगृहं बालशरीरं देवतागणमिति प्रपञ्चो बालानां
देवताकारेणोत्पत्तिर्दर्शिता भगवतेति। किन्तु गुह्यादुष्णीषविभागेन पञ्चमांशं द्वारमिति
10 न्यायात्। एवं सत्त्वानां शरीरं मण्डललक्षण[3]रूपम्, स्तूपं पुनर्न प्रज्ञा नाप्युपायो नपुं-
सकमिति नियमः॥ १७८ ॥

बाह्ये मेरोरधो वै क्षितितलनिलये संस्थिताः सिद्धयोऽष्टौ
पूर्वे खड्गो रसेन्द्रोऽमृतफलगुलिकाश्चाञ्जनं रोचनं स्यात्।
सव्ये श्रीपादुका चाक्षयसकलनिधिर्मण्डलस्याग्निकोणे
15 मध्ये यज्ञोपवीतं त्रिदशनरगुरोर्ब्रह्मघोषस्तदेव ॥१७९॥

बाह्ये मेरोरधो वै क्षितितलनिलये संस्थिताः सिद्धयोऽष्टौ, पूर्वे खड्गो रसेन्द्रो
रुद्रकोणे, अमृत[213b]फलमुत्तरे, गुलिका वायव्ये, अञ्जनं पश्चिमे, नैर्ऋत्ये रोचनम्,
सव्ये पादुका, अक्षयनिधिरस्याग्निकोण इति। मध्ये मण्डलस्य यज्ञोपवीतमिति,
त्रिदशनरगुरोः कालचक्रस्य। ब्रह्मघोषस्तदेवेत्यनाहतध्वनिर्देवादीनां प्रबोधक इति
20 नियमः ॥१७९॥

इदानीं वज्रविशुद्धिलक्षणमुच्यते —

मण्युष्णीषे ललाटे गलहृदयगते नाभिगुह्ये च वज्र-
मेकद्व्यब्धीष्वहीन्द्रैः सनवदिनकरैरङ्गुलैश्च क्रमेण।
मध्योर्ध्वाधस्त्रिभागं मुकुलितविकरालं च शान्तौ च रौद्रे
25 घण्टाऽप्येवं त्रिभागोपरि कुलिशसमा गोमुखाः पद्मरूपाः ॥१८०॥

मणीत्यादि। इह वज्रमणिविशुद्ध्या एकाङ्गुलं वज्रं भवति, उष्णीषचक्रविशुद्ध्या
द्व्यङ्गुलम्, ललाटविशुद्ध्या चतुरङ्गुलम्, कण्ठविशुद्ध्या पञ्चाङ्गुलम्, हृदयविशुद्ध्या

---

१. भो. gSor brGyad (अष्टाङ्गुलं) इत्यधिकम्। २. च. 'अत्र' नास्ति।
३. भो. Ran bSin (स्वरूपं)।

अष्टाङ्गुलम्, **नाभिविशुद्धया नवाङ्गुलम्**, **गुह्यविशुद्धया द्वादशाङ्गुलम्**। **वायुतेजोदकपृथ्वी-कृत्स्नानां** कामावचरा [1]सुरनराणां यथासंख्यम्। तेन कर्णमुद्राणामेकाङ्गुलम्, अङ्गुष्ठवज्रं द्वयङ्गुलम्, ललाटे वज्रमालार्थं चतुरङ्गुलम्, कण्ठे चापि पञ्चाङ्गुलम्, स्कन्धे वज्रमालार्थमष्टाङ्गुलम्, हृदयोत्कर्पवज्रं नवाङ्गुलम्, उल्लालवज्रं द्वादशाङ्गुलं योगिना कर्तव्यं वज्राभरणाय। तेषां लक्षण**मूर्ध्वे मध्येऽधः** समभाग**स्त्रिभाग** इति तदेवोल्लालवज्रं **मुकुलितं** **शान्तौ** शान्तिकर्मणि, **विकरालं** विकसितशूकं **रौद्र** इति रौद्रकर्मणि। घण्टाऽप्येवं त्रिभागा मध्ये ऊर्ध्वे वज्रं मुखं च तुल्यम्। **गोमुखाः शान्तौ**। **पद्म-विकासमुखा** रौद्रे करालवज्रेण सह॥ १८०॥

विस्तारस्तत्त्रिभागं समुखवरटकं तत्त्रिभागाद् दलं च
शूकं विस्तारतुल्यं दिशि विदिशि चतुर्भागिकं शूकवृत्तम्।
बाह्ये शूकं त्रिभागोऽध उपरि बदरीकण्टकाकारयोगो
घण्टावक्त्राणि तद्वद् दलमपि कुलिशं गोमुखाद्यं तथैव॥१८१॥

इह वज्रमानाद् वज्रशूकानां **विस्तारस्त्रिभागिको** वज्रस्य मध्ये **वरटकं** चतुर्मुखम् तस्य त्रिभागस्य **त्रिभागम्**, एवमध ऊर्ध्वे वरटकस्याष्ट**दलानि** वरटकमानेनेति, **शूकं** वज्रस्य **विस्तारतुल्यमिति** त्रिभागम्। **दिशि** मध्ये **विदिशि** चतुर्दिक्षु विदिक्षु वा। **शूकवृत्तं** वज्रत्रिभागस्य **चतुर्विभागिकम्**। **बाह्ये शूकानां त्रिभागोऽधः**, भागद्वयमूर्ध्वं **बदरीकण्टक**वन्मूर्ध्नि, **योगो** मध्ये मिश्रेणेति मुकुलितं विकराले (विकीर्णे) विकाशो मूर्ध्नि कर्तव्य इति। **घण्टायां वक्त्राणि तद्वदिति** यथा वज्रे चतुर्वक्त्राणि कायवाक्चित्तज्ञान-[2]बिन्दुविशुद्धया मैत्र्यादिविहारतः, तथा प्रज्ञाया रजोधर्मेण शून्यतादिधर्मेण चतुर्विमोक्ष-मुखविशुद्धया चतुर्मुखानि कर्तव्यानीति न्यायादेकः। द्वितीयो "दिनस्तु भगवान् वज्री" इति कालिर्व्यञ्जनधर्मोऽनुच्चार्यः, स्वराभावात्। तेन वज्रवरटके मुखाभावः। "नक्तं प्रज्ञा प्रकीर्तिता" इत्यालिः स्वरधर्मः, तेनोच्चारणस्वभावादेकमुखं भगवत्या इति वज्रघण्टायाः सिद्धम्॥ १८१॥

इदानीं चैत्यलक्षणमुच्यते—

गुह्याब्जोर्णान्तभागैः परमजिनपतेरूर्ध्वतश्चैत्यमानं
पीठायामस्तदर्धैः क्षितिरिव सुसमं तत्त्रिभागैर्दिशांशाः।
सार्धान्तो निर्गमोऽब्जं हृदिगतवलयं पीठमानेन वृत्तं
पद्मान्ताद् भागहीनं तलसममुरसस्तद्दिशांशैश्च कण्ठम्॥१८२॥

---

१. भो. Lha Min (असुर) इत्यधिकम्। २. च. 'बिन्दु' नास्ति।

गुह्येत्यादि । **गुह्याब्जोर्णान्तभागैरिति** पञ्चाशदङ्गुलैः, **परमजिनपतेरूर्ध्वतश्चैत्यमानम्** । **पीठायामस्तदर्धैरिति** पञ्चविंशतिभिः, **क्षितिरिव** चतुरस्रः, **सुसमस्तिर्यग्विभागेन** । **तस्य त्रिभागैर्दिशांशा** इति । अङ्गुलत्रिभागेन सहितान्यष्टाङ्गुलानि, सार्धाङ्गुलनिर्गमः । तस्य पीठोपरि पद्मस्य निर्गमः, तेनैव मानेन हृदिगतवलयस्यापि निर्गमः । एवं **हृदिगतवलयं** भवति **पीठमानेन वृत्तं** [214a] **पद्मं च** । **पद्मान्तात् त्रिभागहीनं तलसममुरसो** वृत्तं सार्धाङ्गुलहीनमिति । तस्य **दिशांशैश्च कण्ठमिति**, अष्टाङ्गुलं त्रिभागिकं तिर्यङ्मानेन, ऊर्ध्वमानेन चतुरङ्गुलम् ॥१८२॥

वक्त्रं पीठार्धभागैः क्षितिरिव सुसमं तत् त्रिभागाद्दिशांशा
गुह्याब्जात् सार्धसूर्यैः सुसममपि भवेदूर्ध्वतः पीठमानम् ।
पीठादब्जादिसीम्नो हृदिगतवलयान्तं ततः कण्ठमूलं
तस्माद् वक्त्रान्तमेवं जलधिरपि युगैः सार्धवेदैस्त्रिखण्डम् ॥१८३॥

वक्त्रं पीठार्धभागैरिति । सार्धद्वादशभिः, तिर्यग्विभागेन तदेव चतुरस्रं यथा **कण्ठम्, क्षितिरिव सुसममिति** तस्य वक्त्रस्य कण्ठस्य त्रिभागिका चतुर्दिशांशा कण्ठस्यार्धाङ्गुलनिर्गमो दिगंशानां वक्त्रस्य पादोनाङ्गुलनिर्गम इति । **गुह्याब्जात् सार्धसूर्यैः** सार्धद्वादशाङ्गुलैरूर्ध्वतः **पीठमानं** चतुरस्रं **सुसममपि भवेदिति** पीठतलात् । **पीठादब्जादिसीम्न** इति नाभिकमलपर्यन्तमवधूतीस्थानं यावदिति सार्धद्वादशमाना । ततो **हृदिगतवलयान्तं** च सार्धद्वादशमाना, ततः **कण्ठमूलं** [1]सार्धद्वादशमानम्, **तस्मात्** सम्भोगचक्रस्थानाद् **वक्त्रान्तमेवं** छत्रावली स्थानपर्यन्तं चतुरङ्गुलं कण्ठम्, चिबुकान्मुखस्थानपर्यन्तं सार्धचतुरङ्गुलम् । एवं सुनासिकास्थानं तथा चतुरङ्गुलम्, [2]एवं शिरःस्थाने छत्रावलीति । एवं **जलधिरपि युगैः सार्धवेदैस्त्रिखण्डं** कण्ठादिवक्त्रमिति ॥ १८३ ॥

पीठाद् वेदैश्च पद्मं हृदिगतवलयं कण्ठमानं च तद्वत्
सार्धाष्टैर्वक्त्रमानं भवति तदुपरि च्छत्रमाला नरेन्द्र ।
ऊर्णासीम्नो ललाटे शिरसि तत इहोष्णीषपर्यन्तमेषा
एवं वै लोकधातुः सकलजिनतनुश्चक्रचैत्यस्वरूपः ॥१८४॥

पीठादिति । पीठोर्ध्वतः पद्मासनस्योच्छ्रयो **वेदैरिति** चतुरङ्गुलैः **पद्मम्**, एवं **हृदिगतवलयं** चतुरङ्गुलम्, **कण्ठमानं च तद्वच्चतुर्भिः** [3]**सार्धाष्टैः, वक्त्रमानमिति** चिबुकान्मुखान्तं सार्धचतुर्भिः, नासिकान्तं चतुर्भिः, तत ऊर्णास्थानं भ्रुवोर्मध्ये । तदूर्ध्वं ललाटादारभ्य **भवति तदुपरि च्छत्रमाला नरेन्द्र ! ऊर्णासीम्नश्छत्रावली ललाटे शिरसि**

---

१. च. 'सार्धद्वादशमानम्' नास्ति । २. च. 'एवं' नास्ति । ३. च. सार्धाष्टभिः ।

इह्योष्णीषपर्यन्तमेषा सार्धद्वादशाङ्गुला इति नियमः। **एवं सुमेरुलोकधातुः सकल-जिनतनुः** स्तूपभावो मेरुः, रूपस्वभावा बुद्धप्रतिमा, निर्मितकायो द्वात्रिंशन्महापुरुषलक्षण-मिति। अत्र महापुरुषलक्षणानि, तद्यथा—तथागतस्य चक्राङ्कितपाणिपादतलौ, चक्रे सहस्रारे परिपूर्णे सनाभिके सुप्रतिष्ठितपादतलौ, सर्वपादतलेन पृथ्वीं स्पृशति, साऽप्यु-न्नमिते पादतले उन्नमति नमिते नमति, जालावनद्धे पाणिपादतले राजहंसस्येव जालिनो- 5 युतौ हस्तौ, पादौ जातबालस्येवातिमृदुतरौ, सप्तोत्सद इति द्वयोः पादयोर्हस्तयोः स्कन्धयोः कण्ठेऽपि उत्सद इति। करपादयोर्दीर्घाङ्गुल्यो वृत्ता आयता सुपर्वाङ्गुष्ठकाद्या इति। आयतपादपार्ष्णिः, बृहदृजुगात्रः, उच्चैर्जान्विङ्गुल्यग्रा, ऊर्ध्वाग्राणि लोमानि दक्षिणावर्तानि, ऐणेयजङ्घः, कोशावगतबस्तिगुह्यः, हस्तिन इव कोशेन प्रच्छादितं बस्तिगुह्यम्, सुवर्णादिस्निग्धवर्णः, सुवर्णवच्छविः, मलरजोऽग्राहिणो रोमकूपे एकैकरोम- 10 भ्रुवोर्मध्ये, ऊर्णोपरि मण्डलं कर्पासांशुशुक्लातिसूक्ष्मशुक्लद्वात्रिंशदात्मकं दक्षिणकुण्डला-वृतम्। सिंहपूर्वार्धकाय उपरिविशालः सुवृहत्स्कन्धः परिमण्डलग्रीवा, अङ्गप्रत्यङ्गेषु T 463 रसरसाग्राः, रसं रसमस्तीति रसरसाग्राः, [214b] ताः पुनः शिरा आहारिण्योऽग्रत इति वातपित्तश्लेष्मभिरलिप्तत्वात्। न्यग्रोधपरिमण्डलो महापुरुष इति, आयाम-व्यायामयोः समन्तादेव उष्णीषावर्तशिरः, उष्णीषं छत्र इव परिगतमुन्नतम्, आकेश- 15 श्रोतसी जिह्वाऽग्रेण स्पृशति, केशपर्यन्तं ललाटं च जिह्वयाऽऽच्छादयति। ब्रह्मस्वरोऽनन्त-पर्षदा यथा बाह्ये तथाभ्यन्तरे श्रूयते सर्वसत्त्वैरपि। सिंहस्येव वृत्तहनुः, समा दन्ता-श्चत्वारिंशच्छुक्लाः सर्वदोषरहिताः। [1]अभिनीलाद्यं नेत्रम्, नेत्रयोर्यन्नीलं तदभिनीलम्, यत्र रक्तं तदभिरक्तम्, यच्छुक्लं तदभिशुक्लम्। गोपक्ष्माणि वृषभस्येवाक्षिपत्राणि, अध ऊर्ध्वायतनानीति। विश्ववर्णकायः सत्त्वानां नानावर्णविलोकनतः। एवं पादतला- 20 दारभ्य उष्णीषान्तानि द्वात्रिंशन्महापुरुषलक्षणानि **धर्मसंग्रहे** (म. सू. सं., पृ. ३३४) उक्तानि, तेन वृत्तैर्न सूचितानीति। **एवं लोकधातु(तो)रुत्पत्तिः। एवं बुद्धनिर्माणकाय-तुल्यः।** एवं रजोमण्डलं सत्त्वानां पुण्यलाभाय। यथा मेरुस्तथा चैत्यः। सूर्यादीनां दक्षिणावर्तभ्रमणाय चैत्यवन्दनाय मर्त्ये दर्शितः। यथा बुद्धस्तथा बुद्धप्रतिमा कार्या, पूजादिकरणाय। एवं संवृतिसत्यं पुण्यलाभाय दर्शितम्। अत्राशीतिव्यञ्जनानि ग्रन्थ- 25 बाहुल्यभयान्नोक्तानि सर्वत्रोक्तायेने(न्येवे)ति ॥ १८४ ॥

इदानीं लोकधातौ नानाधातुस्वभाव उच्यते—

पृथ्वी स्याद्धेमधातुर्जलमपि रजतं वह्निधातुश्च ताम्रं
वायुश्चायश्च शून्यं त्रपु भुजगमिदं मिश्रधातुस्वभावम्।
पृथ्वी स्यात् पीतरत्नं सितमपि च जलं रक्तरत्नं च वह्निः 30
कृष्णं वायुश्च नीलं हरितमपि तथा मिश्रधातूद्भवं तत् ॥१८५॥

---

१. भो. 'अभि' इत्यस्य स्थाने सर्वत्र Śin Tu (अति)।

पृथ्वीत्यादि। इह पृथ्वी स्याद्धेमधातुरिति हेम पृथ्वीस्वभावं पीतम्, रजतं तोय-स्वभावं धवलम्, ताम्रं वह्निस्वभावं रक्तम्, अयो वायुस्वभावं कृष्णम्, त्रपु नागं च मिश्रमिति। रसलोहमाकाशलक्षणं ज्ञानधातुलक्षणमिति। एवं स्वर्णादिलोहषट्-[कम्।] तथा मणिरत्नानीति। पीतरत्नं पृथ्वीस्वभावम्, श्वेतं जलस्वभावम्, रक्तं वह्निस्वभावम्, कृष्णं वायुस्वभावम्, श्याममाकाशस्वभावम्, नीलं ज्ञानधातुस्वभावम्, तद्धातूद्भवत्वादिति ॥१८५॥

भूमिः क्षाराऽम्बु मिष्टं प्रभवति कटुकोऽग्निश्च तिक्तोऽनिलश्च
मिश्रश्चाम्लः कषायो रस इति च पुनः क्षेत्रपाषाणयोनिः।
ओषध्यः षट्प्रकारा रसपरमरसा धातवोऽन्ये मणीन्द्रा
नानास्पर्शाश्च भूम्यां सकलरुजहराण्येव तोयानि सम्यक् ॥१८६॥

तथा षड् रसाः–भूमिस्वभावः क्षाररसः, मधुरस्तोयस्वभावः, कटुकोऽग्निस्वभावः, तिक्तो वायुस्वभावः, आकाशस्वभावः कषायः, ज्ञानस्वभावोऽम्ल इति। एवं क्षेत्र-पाषाणानां योनिः पृथिव्यादिः। एवमोषध्यः षट्प्रकाराः। रसाः परमरसा इति सिद्ध-रसाः। धातवोऽन्ये मणीन्द्रा इति षट्। एवं नानास्पर्शाश्च भूम्यां सकलरुजहराः, एवं तोयानि शैलोदकानीति षट्प्रकाराणीति सम्यक् ॥१८६॥

इदानीं मणिरत्नगुणा उच्यन्ते—

पृथ्वी शूलापहारी विषमपि च हरेत् तोयधातुश्च वह्नि-
र्भूतं स्तोभं च वायुर्गगनमपि हरेत् क्षुद्रदृष्टिप्रपातम्।
ज्ञानं सर्वापहारी मणिरपि च तथा संस्थितोऽङ्गे नृपाणां
सर्वेऽचिन्त्यस्वभावाः सलिलरसमणिस्पर्शमन्त्रौषधीनाम् ॥१८७॥

पृथ्वीत्यादि। इह पृथ्वीजातिर्मणिर्वा रत्नं वा शूलापहारी भवति, तोयजाति-र्विषापहारी भवति, भूतावेशापहारी अग्निजातिः, स्तम्भनापहारी वायुजातिः, क्षुद्र-दृष्टिप्रपातापहारी शून्यजातिः, ज्ञानजातिः सर्वदोषापहारी। यथा रत्नं मणिस्तथा सामान्योऽपि दर्दुरादीनां शिरसि जातो दोषापहारी मणिः संस्थितोऽङ्गे नृपाणामिति। एवमुक्ता ये सर्वेऽचिन्त्यस्वभावाः पृथिव्यादिधर्मिणः। एवं बुद्ध[215a]क्षेत्र-निष्पत्तिः ॥१८७॥

बुद्धक्षेत्रं समन्तात् प्रविशति भगवान् ज्ञानचक्रस्वरूपी
भूयः सत्त्वप्रवृत्तिर्भवति फलवशात् सर्वसामग्रियोगात्।
मासास्तैर्द्वादशाङ्गैः स्वदिनगतिवशान्मेरुनिष्पत्तिरत्र
स्तूपाकारोर्ध्वकूटं नृपकुलिशमयं मण्डलं तस्य गर्भे ॥१८८॥

बाह्ये ज्योतिष्कचक्राण्यवनितलगताः कर्मभूम्यां मनुष्याः
षड्द्वीपाभोगभूम्याममृतफलरसाहारिणोऽन्ये सुराद्याः ।
अष्टौ शृङ्गानुरूढाः सुरपतिरनलः कालदैत्याब्धिवाता
यक्षो रुद्रोऽथ ऊर्ध्वे परिजनसहितो विष्णुरेवाब्धिवक्त्रः ॥१८९॥

अतो वृत्ताद् वृत्तद्वयं सुबोधम् ॥१८८-१८९॥ 5

इदानीं मकरादिराशीनां स्वभाव उच्यते—

विज्ञानं शून्यधातुर्मकर इह घटश्चैव संस्कारवायु-
र्मीनो मेषो वृषश्च प्रभवति मिथुनो वेदनाग्निश्च संज्ञाः ।
तोयं रूपं क्षितिश्चाक्षरमपि सहजा राशयः कर्कटाद्या
एषां वज्रादिचिह्नानि क च ट प त शा दीर्घह्रस्वाधिदेवाः ॥१९०॥ 10

विज्ञानमित्यादि । इह **मकरो विज्ञानशून्यधातुस्वभावः, कुम्भः संस्कारवायु-धातुस्वभावः, मीनो वेदनाग्निस्वभावः, मेषः** संज्ञातोयस्वभावः, **वृषो रूपपृथ्वी**[1]-स्वभावः, **मिथुनो** ज्ञानस्कन्धज्ञानधातुस्वभावः । एवं **सहजाद्यन्तस्वभावाः कर्कटादयो** राशय इति विलोमेन । **एषां** मकरादीनां **वज्रादिचिह्नानि** वज्रखड्गरत्नपद्मचक्रकर्तिका इह कर्कटादीनां सृष्टिक्रमेण विलोमानीति । कवर्गादयः **क च ट प त शा** मकरादीनाम्, 15 ङ ञ ण न म क्ष ङादीनि कर्कटादीनाम् । लोकधातुपटलोक्तानीति **दीर्घह्रस्वाधि-देवानि** दीर्घस्वरभिन्नानि ककारादीन्यशीत्युत्तरशतानि व्यञ्जनानि । एवं ह्रस्वस्वर-भिन्नानीति ॥१९०॥

इदानीं ग्रहाणां जन्मराशय उच्यन्ते—

मेषे युग्मे कुलीरे शशिसितरवयः सिंहकन्यातुलासु 20
भौमो मन्त्री च राहुर्बुधशनिफणिनो वृश्चिकाद्यन्तचापे ।
एवं भूम्यादिधातोर्भवति नरपते सर्वतोऽन्योन्ययोगः
सत्त्वानां कर्मरूपं भवति जगदिदं सर्वरत्नप्रपूर्णम् ॥१९१॥

मेष इत्यादि । इह यथासंख्यं **मेषे युग्मे कुलीरे शशी शुक्रो रविर्बभूव । सिंहे भौमः, कन्यायां बृहस्पतिः, तुलायां राहुः, वृश्चिके बुधः, धनुषि** आदौ शनिः, तस्यान्ते 25 केतुः । एवं कुम्भे आगस्तिः, वृषे ध्रु(व इ)ति । **एवं** पूर्वोक्तक्रमेण **भूम्यादिधातोरिति**

---

१. भो. Khams (धातु) इत्यधिकम् ।

परमाणुसमूहस्य सर्वतोऽन्योन्ययोगो मुख्यभावेऽल्पभावः समुदयधर्मादिति। सत्त्वानां कर्मरूपं भवति जगदिदं सर्वरत्नप्रपूर्णं यद् बुद्धबोधिसत्त्वानामिति ॥१९१॥

इदानीं सत्त्वानां कर्मप्रभाव [1]उच्यते, तद्यथा—

ये भूम्यां कल्पवृक्षा रसपरमरसाश्चाणुभिर्वै बभूवु-
रोषध्योऽन्ये रसेन्द्राः सकलरुजहरास्तान् न पश्यन्ति सत्त्वाः।
पश्यन्ति प्राकृतं यत् तृणतरुसलिलं पांशुपाषाणलोहं
प्रेतास्तोयं महाग्निं नरकगतनराश्छेदभेदं समन्तात् ॥१९२॥

ये भूम्यां कल्पवृक्षा रसपरमरसाश्चाणुभिर्वै बभूवुरोषध्योऽन्ये दिव्याः, रसेन्द्राः सकलरुजहरास्तान् न पश्यन्ति सत्त्वा अपुण्यवशेन। पश्यन्ति प्राकृतं यत् तृणतरुसलिलं पांशुपाषाणलोहम्। प्रेतास्तोयं नद्यादिषु ज्वलदग्निरूपं पश्यन्ति। नरकगतनराः पापवशेन छेदभेदं शूलादिकं पश्यन्ति ॥१९२॥

इदानीं बुद्धनिर्माणमुच्यते—

एतेषां मुक्तिहेतोः ससुतजिनपतिः कर्मभूम्यां प्रविश्य
गर्भाधानं हि कृत्वा परमकरुणया बोधिमुत्पादयित्वा।
मारक्लेशान् निपात्य क्षितितलनिलये धर्मचक्रं प्रवर्त्यं
कृत्वा निर्माणमायां पुनरपि भगवान् शुद्धकायः स एव ॥१९३॥

एतेषामिति। एषां सत्त्वानां मुक्तिहेतोः पुण्योदयकाले ससुतजिनपतिरिति बोधिसत्त्वैः सह बुद्धो भगवान् कर्मभूम्यां प्रविश्य सत्त्ववैनेयाय गर्भाधानं कृत्वा, परमकरुणया बोधिमुत्पादयित्वा मारक्लेशान्निपात्य क्षितितलनिलये धर्मचक्रं प्रवर्त्य, कृत्वा निर्माणमायां पुनरपि भगवान् शुद्धकायः स एव यथाऽऽगतस्तथा गतः। एवं बुद्धनिर्माणमाया निर्वाणरूपा सत्त्वानां प्रतिभासते पुण्यवशादपुण्यवशादिति नियमः ॥१९३॥

तस्माज्जातो न नष्टस्त्रिभवमपि गतः शुद्धकायो जिनस्य
सत्त्वार्थं सर्वदा न त्यजति जिनपतिः कर्मणा बाध्यते न।
एवं लोकेश्वरोऽहं त्रिभुवननिलये कर्मभूम्यां स्थितोऽर्कं
सत्त्वानां मार्गदाता नरकभयहरो नान्यदेवः कदाचित् ॥१९४॥

येषां धर्मेऽभिघातं स्वतनुपरतनोश्चानुबन्धः स्वनार्याः
पुत्रात् स्वर्गोऽग्निहोत्रान्मरणमुपगते बान्धवे पिण्डपातात्।

---

१. च. 'उच्यते' नास्ति।

यज्ञे हिंसा पशूनां रणमरणगते स्वर्गलोके प्रवेशः
तीर्थे कायप्रपातात् परपदगमनं सौख्यदास्ते न धर्माः ॥१९५॥

का माता कः पिता ते वरसुतदुहिता भ्रातृभार्याभगिन्यः
कः स्वामी मित्रवर्गो मरणभयहरस्तत्त्वमार्गं विहाय ।
तेनार्क त्वं मुनीनां कुरु मम वचनादेकवर्णप्रवृत्ति 5
येनामी यान्ति मोक्षं त्वृषय इह मयाधिष्ठिताश्चक्रमध्ये ॥१९६॥

दुःखं दण्डप्रहाराद् यदि भवति तनौ तत्र दण्डोऽपराधी
नायं दण्डः करेण प्रहित इह करस्यापराधः समस्तः ।
नायं चित्तेन चित्तं प्रहितमिह महादुष्टकोपानलेन
तस्मात् कोपानलोऽयं रिपुरिव(ह)जगतो मारितो बोधिसत्त्वैः ॥१९७॥ 10

रागाद् द्वेषादिदोषः प्रवरसुरनृणां स्वेष्टभार्यान्यसङ्गात्
सा तस्योन्मूलनार्थं सकलजिनसुतैः कामदाने प्रदत्ता ।
तस्माद् दानानुरागः समसुखफलदः पुण्यसम्भार एष
जातस्त्रैलोक्यबन्धुर्नरकभयहरः सर्वकालं जनानाम् ॥१९८॥

सत्त्वा रागेण येन प्रलयमुपगतास्तायिनस्तेन मुक्ताः 15
सत्त्वा यद्रक्षयन्ति प्रतिदिनसमये तायिनस्तद् ददन्ति ।
सत्त्वा यन्मोचयन्ति स्वहृदिगतसुखं तज्जिना रक्षयन्ति
तेनेदं दुष्करं स्याज्जिनवरचरितं देवनागासुराणाम् ॥१९९॥

पृथ्वी तोयाग्निवाता गगनगुणमनोबुद्धचहङ्कारजीवा
रूपाद्याश्चक्षुराद्या विषयविषयिणः पञ्च कर्मेन्द्रियाणि । 20
एषां को वर्णज्येष्ठः सपशुनरतनोर्व्यापकानां कनिष्ठो
येन त्वं वर्णज्येष्ठः सनृपनरगुरुर्जातिगर्वाभिमानी ॥२००॥

इतो वृत्तादपरसप्तवृत्तानि सुबोधानि ॥१९४-२०० ॥

इदानीं महारसादिलक्षणमुच्यते—

ताप्यं भूमिश्च तोयं प्रभवति विमला तुत्थकं वह्निरेव 25
वायुर्व्योमिश्रधातुः सचपलशशकं हिङ्गुलं सप्तमं च ।

काक्षीकासीसगन्धं समगगनचलं वह्नितोयं शिलालं
गौरी पृथ्वी गतं यल्लवणमुदधिजं सैन्धवं कृष्णचौल्लम् ॥२०१॥

ताप्यमित्यादि। इह माक्षिकं महारसं भूमिस्वभावम्, चकारान्महारसम्। विमला तोयस्वभावा, तुत्थकं वह्निस्वभावम्, चपलो वायुस्वभावः, रसकः शून्यस्वभावः,
5 शशको हिङ्गुल[श्च] ज्ञान[1]धातुस्वभाव इति महारसाः सप्त। तत उपरसाः काक्षिकमिति ज्ञानधातुस्वभावम्, कासीसमाकाशस्वभावम्, [215b] गन्धकं वायु[2]धातुस्वभावम्, मनःशिला वह्निस्वभावा, तालकं तोयस्वभावम्, गैरिका भूमिस्वभावेति षडुपरसाः।
T 464 ततः पञ्च लवणानि—गतम्, सामुद्रम्, सैन्धवम्, कृष्णलवणम्, चुल्लिकालवणं पृथिव्यादिस्वभावं यथाक्रमेण ॥२०१॥

10 एतानि क्ष्मादियोनौ पुनरपि नवसारं यवक्षारसञ्ज्ं
सौभाग्यं काचजातं खचलशिखिजलक्ष्मास्वरूपाणि तानि।
पृथ्वी शैलोदकं स्यात् शशिजलमुदकं वह्नितोयं च वह्नि-
र्वायुः शून्यस्वरूपा विषजलमपरा कर्तरी त्रिस्वभावा ॥२०२॥

ततः पञ्च क्षाराणि—नवसारम्, यवक्षारम्, सर्जिकाक्षारम्, टङ्कणक्षारम्,
15 काचलवणक्षारं यथासंख्यमाकाशादिस्वभावम्। ततः पञ्च तोयानि—शैलोदकं पृथ्वी-स्वभावम्, चन्द्रोदकं तोयस्वभावम्, उष्णोदकं वह्निस्वभावम्, विषोदकं वायुस्वभावम्, कर्तर्युदकमाकाशस्वभावम्। सा च कर्तरी त्रिविधा—स्पर्शकर्तरी, छायाकर्तरी, शब्द-कर्तरी, साधकच्छेदनादिति ॥२०२॥

भूधातुः पीतमुस्तं जलशिखिमरुतः शक्तुकं शृङ्गिकृष्णं
20 शून्याख्यं कालकूटं ह्युपविषमपरं पञ्चधा वेदितव्यम्।
पाषाणा जीवरूपा विविधफलसमा मुण्डशङ्खादिरूपा-
स्तेषां लोहानि षड् वा घनजमपि तथा देवकान्तं चतुर्धा ॥२०३॥

ततः पञ्च विषाणि—पीतमुस्तं भूधातुस्वभावम्, शक्तुकं तोयधातुस्वभावम्, शृङ्गी वह्निस्वभावम्, कृष्णविषं वायुस्वभावम्, कालकूटं शून्यस्वभावम्। उपविषमपरं
25 पञ्चधा वेदितव्यमिति। [3]वज्री भूमिस्वभावम्, अर्कस्तोयस्वभावः, धुत्तूरकमग्निस्वभावम्, लाङ्गली वायुस्वभावा, करवीरः शून्यस्वभाव इति। इह पृथिव्यां क्षेत्रपाषाणा नानाजीव-रूपा नानाफलाकृतयः शङ्खादिनानारूपाः, ते च षड्विधाः। येन तेभ्यो धातुभ्यो

१. च. 'धातु' नास्ति। २. च. 'धातु' नास्ति। ३. च. वज्रां।

लोहानि षड्विधानि भवन्ति। [1]तेभ्यः सुवर्णं भवति। एवमन्येभ्यो रूप्याद्यं भवति। घनजमपि चतुर्धा इति। पीताभ्रकलोहं पृथ्वीस्वभावम्, श्वेतस्य तोय[2]स्वभावम्, रक्तस्य वह्निस्वभावम्, कृष्णस्य वायुस्वभावमिति। एवं देवलोहमिति। एवमयस्कान्तलोहम्। एवं भ्रामकस्य वायुस्वभावम्, चुम्बकस्य पृथ्वीस्वभावम्, [3]कटुकस्याग्निस्वभावम्, द्रावकस्य तोयस्वभावमिति। तेषां द्रावकाणां नाना स्वभावाः। केचिद्वज्रवैक्रान्तका इति वज्रद्रावका अभ्रद्रावकाः। एवं केचिद्धेमद्रावकाः, एवं रौप्यताम्रलोहानां द्रावकाः। ते विडोपभोगास्तेभ्यो लोहं न पातयेदिति ॥२०३॥ 5

सिद्धोऽसिद्धो रसश्च द्विविध इह भवेद् वेधकोऽवेधकश्च
सिद्धो लोहस्य वेधी पुनरपि स तनोर्वेधको भक्षितश्च।
योऽवेधी सूतकः स प्रभवति सरसो जारितः सारितश्च 10
लोहे वेधानुवेधी सकलरुजहरः पूतिलोहं विहाय ॥२०४॥

तत्र रसो द्विधा—सिद्धोऽसिद्धश्च भवति। लोहादीनां वेधकः सिद्धः, पातालादिषु कूपेषु स्थितः। अवेधको यः स पारदः स सूतकः प्रभवति रसो लोहादीनि जारितो बीजेन सारितः सन्निति प्रतिसारितोऽनुसारितो लोहे वेधानुवेधी भवति। भक्षितः सकलरुजहरो भवति। पूतिलोहं विहायेति नागवङ्गाभ्यां विना हेमादि जीर्णः सन्निति। इति रसो- 15 परसादिनियमः। एषां माक्षिकादीनां रसवादग्रन्थोक्तविधिना सर्वेषां शोधनं कृत्वा तत उक्तकर्मणि देयाः, अन्यथा अशुद्धा द्रव्यक्षयं कुर्वन्ति रसोपरसाः। एवं हेमतार- शत्रवोऽपि न देया हेमतारमध्ये, हेमतारकार्ये मित्रं देयम्। लोहमारणे शत्रवो देया इति शास्त्रोक्तविधिना। एवं ताम्रं तीक्ष्णमप्यशुद्धं हेमतारे न देयम्। नागवङ्गं न मृतं देयं यत्र कुत्रचित्। मृतं लोहनिर्वाहणे निरुत्थानं लोहं मारयेत्। ताम्रादिकं सजीव- 20 निर्वाहणे महारसोपरसं शत्रुं दत्त्वा निर्वाहयेत्। तारहेमयोर्मित्रमिति बीजकार्ये ॥२०४॥

इदानीं रसस्वभाव उच्यते—

पूर्वं धूमस्वभावैर्व्रजति शिखिगतो जारितः स क्रमेण
शब्देनैवोत्प्लुतेन प्रभवति स पुनः कम्पनिष्कम्प एव।
वेधी शब्दी प्लुती न प्रभवति स पुनः सूत्रवेधी सकम्पो 25
निष्कम्पः कुन्तवेधी त्रिविध इह पुनः सारितः सारणाभिः ॥२०५॥

---

१. भो. ḥGaḥ Sig Las (केभ्यश्चिद्)। २. च. 'स्वभावम्' नास्ति।
३. भो. ḥDren Byed (कर्षकस्य)।

पूर्वमित्यादि। इह पूर्वं धूमस्वभावैर्व्रजति शिखिगतो यः स जारि[216a]तः क्रमेण शब्दं कृत्वा व्रजति बालः, प्लुतेन व्रजति कुमारभूतः, प्रकम्पेन व्रजति प्रौढः, वृद्धो निष्कम्पो वेधानुवेधी यदा-भवति। अत्र वेधी लोहस्य शब्दी बालो न भवति, प्लुती च न भवति, किन्तु पत्रलेपेन मृद्वग्निना किञ्चित् क्रामयेदिति कुमारः। एवम्—

बालः[श्च] पत्रलेपेन कुमारोऽप्यन्धमूषया।
युवानः कुन्तवेधेन वृद्धो वेधी यथेच्छया॥

एवं वेधी शब्दी प्लुती च प्रभवति स पुनः पूर्वं यो धूमगामी पत्रवेधी, सकम्पः कुन्तवेधी। सः पुनस्त्रिविधसारणाभिर्वक्ष्यमाणाभिः सारितो वृद्धो भवति, स यथेप्सितेन लोहं विद्धयति। इति रसगुणनियमः॥ २०५॥

इदानीमोषधीगुणमुच्यते—

दिव्यौषध्या बलेन प्रभवति बलवान् जारितः सर्वलोहान्
कोऽसौ तासामभावे क्षितितलनिलये यः करोत्यस्य बन्धम्।
बद्धे स्यात् खेचरत्वं मरणमपि तथा भक्षिते नाशमेति
ज्ञानाभावे रसेन्द्रः क्षितिपतिभिरयं साधनीयः प्रयत्नात्॥२०६॥

दिव्येत्यादि। इह सर्वत्र रसशास्त्रे वज्रवैक्रान्तकस्पर्शाद् दिव्यौषधीसंयोगाद् रसोऽभ्रकं निर्मुखं जरतीति तेन वज्राभ्रकद्रावकाः पाषाणाः, तेषां स्पर्शेन विडेनेति दिव्यौषध्यो रसौषध्यो वक्ष्यमाणाः, तासां बलेन प्रभवति बलवान् जारितः सर्वलोहान् अभ्रकादीन्। कोऽसाविति। तासां दिव्यौषधीनामभावे क्षितितलनिलये योऽस्य सूतकस्य बन्धं करोति। दारिद्र्यरागापहरणं बद्धे स्यात्। खेचरत्वं नृणाम्, मरणमपि तथा भक्षिते नाशमेति यस्य प्रभावतः। तस्माद् ज्ञानाभावे रसेन्द्रो रोगापहरणार्थं क्षितिपतिभिरयं साधनीयो रसेन्द्र इति नियमः॥ २०६॥

द्रव्यं तेषामनेकं व्ययमपि च भवेद् गीतवाद्याभियोगे-
स्तन्नष्टं यन्न दग्धं नृपरसविषये धर्मकार्ये न दत्तम्।
यो द्रव्यं पापहेतोर्व्ययमपि कुरुते तेन तत् पापबन्ध-
स्तस्मात् सत्त्वार्थहेतोर्व्ययमपि सकलं बोधिसत्त्वः करोति॥२०७॥

अपरवृत्तेनापि सुबोधेनेति॥ २०७॥

इदानीं दिव्यौषधीलक्षणमुच्यते—

या लेपात् ताम्रपत्रस्य हरति सहसा कालिकामौषधीं तां
धन्याः पश्यन्ति भूम्यां सकलरुजहरां जारणीं लोहजातेः ।
अन्याभिर्योऽस्य बन्धः प्रभवति नियतो वर्षकालान्तरैः स
स्वेदैः संन्यासयोगैरधिकरस भवेदेकसाहस्रवेधात् ॥२०८॥　5

या लेपादित्यादि । इह ताम्रपत्रस्य या लेपमात्रादग्निक्षिप्तस्य कालिकां सहसा तत्क्षणाद् हरति, ओषधीं तां दिव्यां महारसतुल्यां धन्याः पश्यन्ति भूम्यां सकलरुजहरां भक्षितां जारणीं लोहजाते रसबन्धनाय । अन्याभिरोषधीभिर्योऽस्य सूतकस्य बन्धः प्रभवति नियतो वर्षकालान्तरैरिति द्वादशवर्षैः, सः स्वेदैः संन्यासयोगैरधिकरसो भवेद् बन्धः । एकसाहस्रवेधादूर्ध्वं वेधो न भवतीति नियमः ॥ २०८ ॥　10

सर्वासामोषधीनामतिकटुकरसैः क्षारवर्गाम्लवर्गैः
सन्धानं काञ्जिकेन प्रभवति हि सदा मर्दनस्वेदनार्थम् ।
श्वेतानां तारकार्ये पुनरपि कुसुमैर्वापितैर्बीजशुद्धि-
र्द्वन्द्वं सौभाग्यकाचाखुहयखरविषैः स्नेहसेको मृदुत्वे ॥२०९॥

रम्भाचित्रादिभस्माश्वगजनरजलैः सप्तधा शोधितैश्च　15
सर्वक्षारान् कटूंश्चापि पुना रूपरसान् शोधितान् भावयेत्तान् ।
भूयो भूयोऽग्नितापैः पुनरपि शतधा भावयेच्छोषयेच्च
एवं शङ्खस्य चूर्णं शतपुटितमिदं गन्धकं भावितं च ॥२१०॥

लोहानां द्रावणार्थं भवति विडमिदं सूतकस्याष्टमांशं
दोलास्वेदोऽष्टरात्रं रसहृदयगतं द्रावयेद् यावदेव ।　20
क्वाथात् तीव्रो मलश्च प्रभवति बलवान् मर्दितो जारितोऽसौ
एके लोहे द्रुते स्याद्रविशशिवपुषा रञ्जयेत् सर्वलोहान् ॥२११॥

स व्यापी सारितश्च क्रमति समहतैर्नागरङ्गैः ससिक्थैः
एवं यः सूतकस्य प्रतिदिनं कुरुते कर्मभिर्वक्ष्यमाणैः ।
बन्धं कालान्तरेण स्फुटगुरुघनतां सर्वदोषप्रमुक्तं　25
तस्य व्याधिं समृत्युं हरति वरतनो सर्वदारिद्रचदुःखम् ॥२१२॥

अस्माद् वृत्तादपरवृत्तचतुष्टयं सुबोधम् ॥ २०९–२१२ ॥

इदानीं रसरक्षणार्थं जम्भलपूजोच्यते—

हस्तार्धे हेमपद्मे वसुदलसहिते कर्णिकागर्भमध्ये
वज्रं शुद्धेन्द्रनीलं सुरयमधनदे पद्मरागेन्द्रकान्तः ।
पृष्ठे कर्केतरत्नं शिखिदनुकहरे त्वायसं ताम्रतारं
हेमं वायव्यपत्रे कनकपटलजा कर्णिकायां च पिष्टी ॥२१३॥

5

हस्तार्ध इत्यादि । इह हस्तार्धे वितस्तिमात्रे हेमपद्मेऽष्टदले कर्णिकायां गर्भमध्ये **वज्रं शुद्धहेम्ना** बन्धयेत् । पूर्वपत्रे इन्द्रनीलम्, दक्षिणपत्रे पद्मरागम्, पश्चिमे कर्केतरत्नं पीतम्, उत्तरे चन्द्रकान्तरत्नम् । अथ आग्नेय्यां तीक्ष्णं बन्धयेत्, नैर्ऋत्ये ताम्रम्, वायव्ये **स्वर्णम्**, ईशाने रौप्यमिति । हेमाभ्रकपिष्टी कर्णिकायां वज्रोपरि स्थापयेत् ॥ २१३ ॥

10

तस्या मूर्ध्नि द्विहस्तं सनकुलवरदं जम्भलं हेमजं च
गर्भे पत्रेऽष्टदेव्योऽम्बुजवरदकरा हेमजास्तारजा वा ।
मौलौ रत्नेशबुद्धो मणिवरदकरो यक्षिणीनां तथैव
हंहाद्या ह्रस्वदीर्घा दिशिविदिशिदलेष्वष्टवर्णाः क्रमेण ॥२१४॥

तस्याः पिष्ट्या उपरि **द्विभुजं** जम्भलं सुवर्णेन कृतं वामे नकुलहस्तम्, दक्षिणे

15

वरदहस्तम्, चतुरङ्गुलमुष्णीषमानेन । एवं **पत्रेष्वष्टयक्षिण्यः कमलवरदहस्ता हेमजा-**

T 465

स्तारजा वा । इह यदि जम्भलस्तारजस्तदा यक्षिण्यो हेमजाः, यदा जम्भलो हेमज-स्तदा यक्षिण्यस्तारजाः । एवं यदा स्वर्णकमलं तदा तारकुण्डम्, यदा तारकमलं गर्भे तदा हेमकुण्डं जलदानाय भवति । **मौलौ रत्नेशबुद्धो मणिवरदकरो यक्षिणीनां**[216b] **तथैव** । एवं सप्रज्ञो जम्भलो वसुधारासहितो हलाहलवत् । तयोर्बीजं कर्णिकायां हं [1]हा

20

जम्भलवसुधारयोः । एवं पूर्वदेव्यां [2]ह्रीं, अग्नौ ह्रीः, दक्षिणे [3]ह्लं, नैर्ऋत्ये [4]ह्लीः, उत्तरे [5]हु, ईशे हूः, पश्चिमे [6]ह्लृ वायव्ये [7]ह्लॄ । तारा स्पर्शवज्रा, पाण्डरा रसवज्रा, मामकी रूपवज्रा, लोचना गन्धवज्रा, वज्रधात्वीश्वरी वसुधारा इति । द्रव्यार्थं सर्वधातवो महारत्नमुद्रिताः सनायकाः कर्तव्या इति नियमः ॥ २१४ ॥

गन्धैः पुष्पैस्त्रिसन्ध्यं प्रतिदिनसमये पूजयित्वेन्दुकुण्डे

25

ॐ स्वाहान्ताद्य मध्ये जमिति भल जलेन्द्राय तोयं प्रदेयम् ।
मन्त्रेणानेन राजन् प्रमुदितमनसा वादिना रक्षणार्थ-
मेवं रक्षाविधानान्नहि हरति रसं भूतनाथोऽहिनाथः ॥२१५॥

१. भो. हाः । २. च. हिं । ३. च. हूं । ४. च. हॄ । ५. च. हुँ । ६. च. ह्लः ।
७. च. ह्लॄ ।

ततो गन्धैर्धूपैः पुष्पादिभिः पूजयेत् प्रतिदिनं त्रिसन्ध्यायां रौप्यकुण्डे। ततोऽष्टोत्तरशतं चुल्लकेन तोयं देयमनेन मन्त्रेण—ॐ जम्भलजलेन्द्राय स्वाहा इति। प्रमुदितमनसा वादिना रसरक्षणार्थं जलं देयम्। अनेन रक्षाविधानेन न हि हरति रसं भूतनाथोऽहिनाथो नागराजः। एवमन्येऽपि ये रसापहारिणो दैत्या न हरन्ति रसं वज्रधराज्ञया जम्भलरक्षणेनेति ॥ २१५ ॥ 5

इदानीं रसजारणमुच्यते—

इष्टा क्षाराम्लवर्गैर्दशदिवसरसं मर्दयेत् स्वेदयेच्च
कल्कस्थं पातयित्वा पुनरपि च ततः क्षेपयेत् सर्वकालम् ।
भूयस्तत्पातकल्के यदि म्रियति रसो जारयेत् सोऽपि तत्र
सूतो भुक्तः स्वयोनिं स च पुनरपरां सर्वयोनिं प्रभुङ्क्ते ॥२१६॥ 10

इष्टेत्यादि। इह प्रथमं इष्टचूर्णं लवणं दत्त्वा वीजपूरकाद्यम्लेन रसं मर्दयेद् दशदिनं यावत् स्वेदयेच्च। ततो मुख्यान्यरसं गृहीत्वा शेषोदकं शोषयित्वा कल्कस्थं रसं पातयित्वा पुनरपि तस्मिन्नेव रसे क्षेपयेत् सर्वकालमिति। मर्दितस्य सूतस्य यत् कल्कं भवति, तत्सकलं पातनीयं रसग्रहणाय। भूय इति पातिते रसे यदि रसो न पतति, तदा तस्मिन्नेव कल्के रसो मृतः संध्मातः ग्राह्यापरलोहेन सार्धं सोऽपि जारयेत्, तत्र शोधितः सूतः स्वयोनिं भुक्तः सन् स पुनरपरां सर्वलोहानां योनिं भुङ्क्त इति ॥२१६॥ 15

इदानीं सर्वलोहसंकरजारणोच्यते—

नागं तीक्ष्णारताम्रं पटलजमपरं क्षेत्रजं वा विशुद्धं
तुल्यं ह्येकत्र ध्मातं सितघनजसमं तारकार्ये च वङ्गम् ।
षष्ट्यंशं ग्रासमादौ द्रुतमपि च ततो वर्धयेदेकवृद्ध्या 20
पादांशं यावदेव प्रभवति हि ततश्चाधिकं न प्रदेयम् ॥२१७॥

नागमित्यादि। इह लोहान्येवं परस्परं जारयन्ति तेन संकरं कारयेत्। नागं तीक्ष्णम्, आरं ताम्रं पटलजमभ्रकलोहं क्षेत्रजं वा नानापाषाणलोहं तीक्ष्णादिस्थाने विशुद्धम्। एतल्लोहपञ्चकं समभागिकमेकत्र ध्मातं संकरलोहं भवति हेमकार्ये। रसायनकार्ये नागं न देयम्, चतुर्लोहसंकरं कुर्यात्। तारकार्ये श्वेताभ्रकलोहं वङ्गं द्वाभ्यां सह 25 तारं जारयेत् तारकार्ये। एवं संकरं कृत्वा रसं संशोध्य नानाजारणीययन्त्रेषु नौकायन्त्रं श्रेष्ठम्, तेन नौकायन्त्रे रसं क्षेपयेत्। ततो रसात् त्रिंशदंशं गृहीत्वा खरलशिलायां संकरपिष्टिं कारयेत्। मूलरसस्य षष्ट्यंशं लोहेन। एवं षष्ट्यंशं ग्रासमादौ दत्त्वा नौकायन्त्रे मृण्मये ततो रसोपरि नेत्रकर्पटं दत्त्वा उपरि पूर्वोक्तं सन्धाय काञ्जिकं दत्त्वा नौकां तुषगोकर्षचूर्णिताग्नौ स्थापयेत्। काञ्जिके शोधिते पुनः काञ्जिकं देयं निरन्तरम्। एवमेकदिनेन 30 द्वाभ्यां वा ग्रासं जरति। ततो जीर्णे सत्यपरं द्विगुणं तेनैव क्रमेण देयम्, पुनर्जीर्णे

ज्ञात्वा कर्पटे गालितस्य यदि पिष्टिर्न कर्पटे दृश्यते तदा जारित उच्यते। एवं ग्रासं **वर्धयेद् यावत् पादांशं** ग्रासं भक्षयति, तदुपरि न वर्धयेदधिकं न प्रदेयमिति प्रतिषेधः। तदूर्ध्वं पूर्वोक्तं बीजमनेन विधिना ॥ २१७ ॥

पक्षैकेन द्विगुण्यं जरति पुनरसौ बीजमेवं विशुद्ध-
मेवं द्वित्र्यष्टगुण्यं जरति पुनरसौ जारितः सद्विडैश्च।
चक्रस्वेदोऽप्यजीर्णे प्रभवति हि रसस्याष्टरात्रं हि यावत्
स्पर्शैर्दिव्यौषधीभिर्जरति शिखिगतो निर्मुखं ह्यत्र लोहम् ॥२१८॥

पक्षैकेन द्विगुणं जरति पु[217a]**नरसौ** रसो **बीजमेवं विशुद्धम्**, **एवं** बीजं **द्वित्र्यष्टगुण्यं जरति पुनरसौ जारितः सद्विडैश्च** पूर्वोक्तैरिति। अथाजीर्णं भवति तदाऽ**जीर्णे चक्रस्वेदः** कर्तव्यः, गोस्तनाकारमूषायां रसं कृत्वा भूम्यां निधापयेत्, अङ्गुलत्रयं यावन्न दृश्यते। ततो बाह्ये चक्राकारं खानि कृत्वा [1]तद् गोकर्षचूर्णैः पूरयित्वाऽग्निर्देयः। तेन **चक्रस्वेदेनाष्टदिनैः** सविडो रसो मूषायामजीर्णदोषं त्यजति, ततः पुनर्नौकायन्त्रे क्षेपणीयः। एवं वर्षमेकमादिं कृत्वा द्वादशवर्षपर्यन्तं वेधानुवेधीकरणाय जारयेत् सर्वलोहादीनि। अथ पुण्यवशात् **स्पर्शै**र्मिलन्ति, दिव्यौषध्यश्च द्रावका जारकाश्च, तदा स्पर्शद्रावकचूर्णविडै**र्दिव्यौषधीभिः** पूर्वोक्ताभिरग्निस्थोऽप्यभ्रकलोहं **निर्मुखं जरति**, तेनातिबलो रसो भवति ॥ २१८ ॥

अभ्राल्लोहेऽष्टगुण्यं बलमपि च भवेत् तद् द्रुतौ चाष्टगुण्यं
तस्माद् बीजेऽष्टगुण्यं पुनरपि च ततो वज्ररत्नेऽष्टगुण्यम्।
एवं लोहानि रत्नान्युरसकरसाञ् जारयेद् वह्निमध्ये
आवर्तं यावदेति प्रभवति स ततोऽनेकलक्षप्रवेधी ॥२१९॥

अभ्रकादभ्रकलोहे जीर्णेऽष्टगुण्यं बलं भवति। तस्य द्रुतौ ग्रस्ते सति तस्याप्यष्टगुण्यं बलम्, **तस्माद्** द्रुतेरष्टगुण्यं **बीजे** जीर्णे भवति। तस्याष्टगुण्यं **पुनरपि** बलं **वज्ररत्ने** च जीर्णे इन्द्रनीलादिके, इति बलनियमः। **एवं लोहादीन्यग्निमध्ये जारयेद् यावदावर्तमेति प्रभवति स ततोऽनेकलक्षप्रवेधी**। तस्य [2]मारणाद्यं न कर्तव्यम् ॥ २१९ ॥

स्पर्शौषध्योरभावे जरति वरविडैर्मर्दनैः स्वेदनैश्च
निष्कम्पो यावदेव प्रभवति हि ततः सारणा हेमतुल्या।
भूयोऽन्या द्वित्रिगुण्या द्रुतकनकरसैः क्षेपितैस्तैलसूते
द्रव्यार्थेऽष्टाङ्गनागं द्रुतकनकरसे क्षेपणीयं प्रयत्नात् ॥२२०॥

---

१. भो. 'तद्' नास्ति। २. भो. sGyur Bar Byed (परिवर्तनं)।

स्पर्शौषध्योरभावे जरति वरविडैः पूर्वोक्तैः, मर्दनैः स्वेदनैश्च निष्कम्पो यावदेव प्रभवति हि ततः सारणा हेमतुल्येति। इह जारितो रसो ज्वलदङ्गारे दत्तो यदि न कम्पं कृत्वा गच्छति, तदा निष्कम्पो यः स गोस्तनाकारमूषायां प्रक्षिप्य एरण्डतैलमुपरि दापयेद् यावद्रसो निमज्जति। ततो हेमरसतुल्यं द्रावयित्वा द्रव्यार्थेऽष्टांशं नागं दत्त्वा रसोपरि क्षिपेत्, तेन सारितो भवति। पुनरप्यनेनैव क्रमेण द्विगुणस्वर्णेन प्रतिसारितो भवति, त्रिगुणेनानुसारितो भवति। एवं त्रिधा सारितो वेधीभवति लोहबलानुरूपेण सहस्रपर्यन्तमिति। ततस्ताम्रं द्रावयित्वा रसं चूर्णयित्वा सिक्थकेन संवेष्ट्य मृतनाग-वङ्गाभ्यां सह तत्र क्षिपेत्, तेन क्रामति वेधी च भवति, तारे वा हेम्नि वेति जारणा-नियमः ॥ २२० ॥

इदानीं संन्यासबन्ध उच्यते—

हेमं तीक्ष्णाहि ताम्रं फणिदरदशिलागन्धकैर्मारयित्वा
रङ्गेन्दुं तालताप्यैर्घनजमपि तथा हेमतारस्य कार्ये।
तुल्यं क्षारा विषं(डं) वै लवणमुपरसा लोहतुल्यश्च सूतः
पित्ताम्लैर्मर्दयित्वा दशदिनमपि तत् क्षेप्य पाषाणमध्ये ॥२२१॥

षण्मासं भूमिगर्भे ह्युपरि सशिखिना स्वेदितः सर्वकालं
घोषाकृष्टस्य वेधी प्रभवति स रसः षोडशांशेन भूयः।
ताम्रेन्दुं हेमतुल्यं शुभकनकमिदं वादिनां दुःखनाशं
शुद्धं ताम्रं हि विद्धं रजतमपि भवेद् दत्ततारेऽष्टमांशैः ॥२२२॥

हेममित्यादि। इह हेमं नागेन मारयेत् प्रतिवापेन तीक्ष्णं दरदेन पुटयोगेन, अहि-र्नागं मनःशिलायां मारयेत्। ताम्रं गन्धकेन मारयेद् हेमकार्ये। तारकार्ये श्वेतमाक्षिकेन तारं मारयेत्, तालकेन वङ्गं मारयेत्, घनजमपि श्वेताभ्रकलोहं माक्षिकेन मारयेत्। ततोऽमृतलोहतुल्यानि चत्वारि क्षाराणि, एषां समग्राणामभावे त्रयो द्वौ वा विडं च तुल्यम्, लवणानि तुल्यानि, उपरसान् शत्रुधर्मिणः, लोहतुल्यः सूतकः, सर्वमेकीकृत्य पित्तैर्मत्स्यादीनामम्लैर्बीजपूरकादीनां दशदिनं मर्दयित्वा तत्सर्वपाषाणखण्डान् संपुटे प्रक्षिप्य ततो भूम्यां निधाप्य उपरि अग्निना स्वेदितः सर्वकालं षण्मासं यावदिति। ततो बद्धो भवति। ततः षण्मासात् [217b] तस्य ताम्रस्य वेधो भवति। षोडशांशेन पुनस्तदेव विद्धं ताम्रं रौप्यं हेमतुल्यभागं कृत्वा पुटेनोद्घाटयेत्। शुभकनकमिदं भवति वादिनां दुःखनाशमिति। अथ तारादिसंन्यासेन बन्धः, तदा शुद्धं ताम्रं विद्धं तारं भवति, अष्टांशेन तारे दत्ते सतीति संन्यासबन्धनियमः।

अथादिबुद्धोक्तो गोलकबन्ध उच्यते—इह हेमकार्ये पीताभ्रकादिकमभ्रकं किञ्चि-ज्जारयेत्, [1]सकलं वा अर्धं वा। तारकार्ये श्वेताभ्रकम्। ततो हेमकार्ये नागेन पिष्टं

---

१. भो. mÑam Pa (समं)।

कारयेत्, तारे वङ्गेन । ततो हेमपत्रेण तं वेष्टयेत् । तारपत्रेण तारकार्ये । तथा हेमपत्रोपरि मनःशिलां पिष्ट्वा गोमूत्रेण तया प्रलेपो देयः । ततो बाह्ये दरदेन । ततः कुम्भकारमृत्तिकया वेष्टयेत्, ततः शुष्के पुनर्गोमयेन वेष्टयेत्, पुनस्तीव्रातपेन शुष्कं कृत्वा गोकर्षाग्निना मृदुपुटं देयम् । ततो भस्मनोऽपकृत्य मृद्गोलकं कोष्ठिकायां तीव्राङ्गारैर्धमेत्, यावन्महारसोपरसहेमनागपिष्टीः समरसीभवन्ति । ततः शीतीभूतं गोलकं भेदयित्वा मध्ये यत्सुवर्णेन सह पिष्टिकया यद्योगेन गोलकबन्धः, तदेव ताम्रे चतुष्षष्ट्यंशेन क्षिप्तं पूर्ववद् हेम तारं वा भवतीति गोलकबन्धो मूलतन्त्रे ॥ २२१-२२२ ॥

इदानीं क्षेत्रलोहैर्बन्ध उच्यते—

पाषाणा ये धरण्यां फलतनुसदृशाः शङ्खमुण्डादिरूपा-
स्तद्योनिं तेषु दत्त्वा घृतमधुसहिता धामयेत् तीव्रवातैः ।
शुद्धिं कृत्वा निषेकैः पुनरपि च पुनष्टङ्कणक्षारवर्गै-
र्ज्ञात्वा तल्लोहयोनिं द्विगुणमपि रसे वादिना जारणीयम् ॥२२३॥

पाषाणेत्यादि । इह **पृथिव्यां ये पाषाणा** नानाजीवाकारा नानाफलाद्याकाराः, **तदेव योनिस्तेषां दत्त्वा** जीवानां जीवमांसं फलानां फलचूर्णं शङ्खाकारादीनां शङ्खादिचूर्णं दत्त्वा तेषां चूर्णं तेन चूर्णेन सार्धं **घृतमधु**टङ्कणसहितवटकान् कृत्वा लोहपातनवस्त्रेण **तीव्रं धामयेत्,** यावल्लोहं पतति । पुनर्निषेकोद्धृते पुनष्टङ्कणं दत्त्वा शोधयेद् यावद्विशुद्धं भवति । एवं **शुद्धिं कृत्वा तद्योनिं ज्ञात्वा** तीक्ष्णं ताम्रं वा हेमेन सह द्वन्द्वं कृत्वा तदेव **वादिना द्विगुणं जारणीयम्** ।

पूर्वमभ्रकं जारयित्वा संमुखं वा निर्मुखं वा, ततोऽन्यानि लोहादीनि जारणीयानि । एवं माक्षिकं ताम्रं स्वर्णं जारयेत्, तुत्थकं ताम्रं स्वर्णं वा, राजावर्तकताम्रं स्वर्णं वा, शशकताम्रं स्वर्णं वा । इह यथा क्षेत्रपाषाणानां लोहं पातयेत्, तथा माक्षिकादीनां विमलादीनां शोधयेत् । ततः पूर्वकर्मकराणि भवन्ति, अन्यथा द्रव्यं विनाशयन्ति ।

अथादौ वादिनां जीवनोपायः कथ्यते, येन भुक्तमात्रमक्लेशेन [जीर्णं] भवति । इह जारितरसेन पत्रलेपेन हेमर्द्धिका भवति, असारितेन कुमारेण बालेन वा । अत्र पुनस्त्रिभागिकादलैकं हेमद्वयेनोच्यते । अत्र प्रथमं ताम्रं लवणकाञ्जिकेन पत्रं कृत्वा निषेकयेद् यावच्चूर्णं भवति । ततस्तोयं दत्त्वा लवणदोषमपहृत्य ततः शोषयेत् । ततः सैन्धवं षोडशांशेन दत्त्वा बीजपूरकाद्यम्लेन मर्दयित्वा पुटे पाचयेत् । एवं पुनः पुनः सैन्धवं दत्त्वा पुटे पाचयेत् सप्ताष्टवारम्; [218a] यावद् इष्टकाधूलिसदृशं किञ्चित् श्यामं भवति । ततो मधुघृतटङ्कणेन वटिकां कृत्वा पूर्ववल्लोहं पातयेत् । ततो मलरहितमर्धमात्रं लभेत । पुनस्तदेव पत्रं कृत्वा गन्धकेन पादांशं दरदं दत्त्वा पुटैर्मारयेत् । तच्चूर्णं पुना रसेनाष्टांशेन सह रसद्विगुणं गन्धकं रसार्धेन दरदं दत्त्वा मर्दयेदम्लेन, पुनः स्वेदयेत् । खर्परे पुनर्मर्दयेत् सप्ताहम् । तदेव संकीर्णमुखवृत्तभाण्डे कुम्भकारघटिते प्रक्षिपेत् । ततो

भाण्डमुखं कुम्भकारमृत्तिकया मुद्रयेत्। भाण्डस्यापि बाह्यलेपो देयोऽङ्गुलैकोच्छ्रितो नालिकेरप्रमाणः, विस्तारेऽधिको न देयः। तत आतपे शोषयेत्। पुनरुपरि गोमयेन लेपयेत्, पुनः शोषयेद् यावद् गोमयं शुष्कं भवति। ततः पुटेन पाचयेत्। एवं ताम्रचूर्णमालिङ्गय रसो म्रियते, ताम्रं च निर्दोषं भवति, परस्परयोगादिति। ततस्तारस्य पादांशं स्वर्णं दत्त्वा स्वर्णद्विगुणं ताम्रं दत्त्वाऽभ्रमूषायां धमेद्यावत् सर्वं समरसं भवति। 5
ततः शीतीभूते कपालिकामपहृत्य पुनः पादांशं स्वर्णं दत्त्वा स्वर्णद्विगुणं ताम्रं पूर्ववद्धामयेत्, ततः शीतीभूते कपालिकामपहृत्य हेमार्धेन हेमं भवति पुटद्वयेन विशुद्धमिति।

अथापरः प्रयोग उच्यते—एतच्चूर्णं हेम्नि द्विगुणं वा त्रिगुणं वा निर्वाहयेत्। तेन पादांशेन रसे पिष्टिकां कृत्वा इष्टकगर्भायां प्रक्षिप्य उपरि गन्धकचूर्णं दत्त्वा, तदुपरि पिधानं दत्त्वा, तदुपर्यङ्गारान् धमेत् क्षणमात्रम्। ततः शीतीभूते पुनः पुनः पिष्टिसु(?) तुल्यं गन्धकं दत्त्वा निर्दहेदष्टवारान्। ततो रसो हेमालिङ्गयति, न मुञ्चति। 10
ततस्तारस्य पादांशं बीजं दत्त्वा तदेव ताम्रं तारसमं दत्त्वाऽभ्रमूषायां धमेत्। ततः शीतीभूते कपालिकामपहृत्य तद्दलं पत्रं कारयेत्। तथा पिष्ट्या पत्रलेपं कारयेत्। ताम्बूलपत्ररसेन क्रामणार्थमुपरि लेपयेत्। ततश्चुल्लितले निधापयेत्। अङ्गुलोपरि मृत्तिकां दत्त्वा, उपरि वह्निना गृहपाकादिकं कर्तव्यं दिनत्रयं यावत्। तत उद्धृत्य 15
पुनः पादांशं बीजं दत्त्वा उद्धरेत्। तत्पत्रं तदा दलं भवति, सार्धकेन विशिष्टं स्वर्णं भवतीत्यादिबुद्धभगवतोक्तम्, अपरं विस्तरं न लिखितम् ॥ २२३ ॥ T 467

इदानीं शरीरार्थिनां रसायनमुच्यते—

सप्ताहं कोष्ठशुद्धिस्त्रिफलसमरसं क्वाथितेनोदकेन
औषध्या मारितैर्वै घृतमधुसहितैर्लोहचूर्णैः ससूतैः। 20
गोदुग्धैः शालिभक्तैर्भवति नवचिरैः पक्षमध्ये नराणां
भुक्तैः शाकाम्लहीनैर्लवणविरहितैर्मत्स्यतैलाग्निमुक्तैः ॥२२४॥

सप्ताहमित्यादि। इह यः कश्चिद् बद्धरसं भक्षयति, तदा तेन प्रथमं **कोष्ठशुद्धिः** कर्तव्या। सा च **त्रिफलासमभागक्वथितेनोदकेन** विरेचनं कर्तव्यम्। लवणाम्लरहितं शालिभक्तं दुग्धेन पथ्यं कर्तव्यम्। तत **औषध्या मारितैर्लोहचूर्णैरि**ति निर्गुण्ड्या 25
मारितैस्तीक्ष्णचूर्णैः, **घृतमधुसहितैः ससूतैः** सुमृतसूतकतुल्यैः, तदेवाक्षमात्रं प्रतिदिनं भक्षणीयं पथ्यं **गोदुग्धैर्नवचिरैरि**ति प्रथमगोप्रसूतैः, **भुक्तैः** पुरातनैश्चिरैरिति। एवं **पक्षमध्ये** कोष्ठशुद्धिर्भवति, **शाल्यादिभिर्भक्तैः शाकाम्लहीनैर्लवणविरहितैर्मत्स्यतैलाग्निमुक्तैः**। ततो रसं भक्षयेत् ॥ २२४ ॥

ज्ञात्वा साहस्रवेधी शतगुणितशतं कोटिवेधी च यावद् 30
भोक्तव्यः सर्षपांशात् प्रतिदिनसमये चान्तिमो राजिकांशः।

प्रासादं भूमिवेश्म प्रभवति रहितं शीतवातातपैश्च
षण्मासैर्दिव्यदेहं वलिपलितगतं मध्यमोऽयं करोति ।।२२५।।

*[218b]ज्ञात्वा साहस्रवेधी शतगुणितशतमिति लक्षवेधी, कोटिवेधी च यावद् भोक्तव्य इति। सहस्रवेधी प्रतिदिनं यवमात्रं भोक्तव्यः। लक्षवेधी सर्षपमात्रम्, कोटिवेधी राजिकामात्रम्। एवं चान्तिमो राजिकांशः। इह रसभक्षणाय प्रासादं धरण्यन्तःप्रासादं वा शीतवातातपैश्च रहितं ज्ञेयम्। एवं मध्यमो रसः सहस्रवेधी षण्मासैर्दिव्यदेहं वलिपलितरहितं करोति। अन्यत् प्रतिदिनमेकेन गृह्यमाणेन सिद्धरसः करोति ॥ २२५ ॥

इदानीं रसाजीर्णभैषज्यमुच्यते—

कर्कोटी देवदाली त्रिकटुकबृहती निम्बकिराततिक्तं
क्वाथं पानं ह्यजीर्णे त्रिदिनमपि पुनर्लङ्घनं च प्रकुर्यात् ।
एवं चन्द्रोदकाद्ये शिखिनि विषजले शैलभल्लाततोये
दुर्गन्धाभूमिशैलेऽपि च विषपललेष्वन्यकल्पेषु मन्त्री ।।२२६।।

कर्कोटीत्यादि। इह यदा रसाजीर्णं भवति, तदा बन्धकर्कोटी देवदाली त्रिकटुकबृहती निम्बपत्रं किराततिक्तम्, एभिरष्टावशेषं तोयं क्वाथं क्वथनमित्युच्यते। तदेव पानं ह्यजीर्णे। दिनत्रयं लङ्घनं यावदत्यन्तक्षुधा भवति। ततः पथ्यं कर्तव्यम्। एवं चन्द्रोदके पीते त्रिदिनलङ्घनम्, ततः पथ्यम्। अग्न्युदके तेनैव प्रतिदिनं स्नानम्, तेनैव भुक्तं गदितम्। तदेव पानं षण्मासं वर्षमेकं यावद् दुग्धभक्तं भोक्तव्यम्। विषजलेऽप्येवं पथ्यम्, शैलोदकेऽपि, भल्लाततोयेऽपि। एषामक्षमात्रं पानं कर्तव्यम्। अधिकं मृत्युकारीति। एवं दुर्गन्धाभक्षणे, भूमिशैलभक्षणे विषपललेषु मांसे, अपरच्छल्लपल्लवादिककल्पेष्वयं विधिः पथ्यादिकः ॥ २२६ ॥

इदानीं रसायनौषधीनां लक्षणमुच्यते—

या भुक्ता तीव्रमूर्च्छां ददति विषसमामौषधीं तां समस्तां
कृत्वा चूर्णं तदल्पं घृतमधुसहितं भक्षयेत् तद्वदेव ।
सत्त्वा यां भक्षयन्ति स्फुटनरपशवः सौषधी सिद्धिदा न
तेषां या मृत्युदात्री परमभयकरा योगिनां साऽमृतं स्यात् ।।२२७।।

---

* मातृकाया 218b पत्रस्यात्यन्तमस्पष्टत्वात् यत्र तत्र भोटपाठसाहाय्येन पुनरुद्ध्रियते ।

या भुक्तेत्यादि। इह छल्लपल्लवादीनां लतादीनां **या भुक्ता सा तीव्रमूर्च्छां ददाति** विषतुल्यम्, तस्या औषध्याः पञ्चाङ्गं गृहीत्वा सूक्ष्मचूर्णं कारयेत्। तदेव चूर्णमल्पमात्रं प्रत्यहं घृतमधुना **सहितं भक्षयेत्, तद्वदेवेति** शेषः पूर्वविधिः। इह **सत्त्वा यां भक्षयन्ति** मूर्च्छां न ददाति, सा औषधी सिद्धिदा न, **तेषां** सत्त्वानाम्। **या मृत्युदात्री परमभयकरा योगिनां** सिद्धिदा सा, **मन्त्रध्यानबलेनेति** ॥ २२७॥　5

इदानीमपररसायनमुच्यते—

तुल्यं दण्डोत्पलस्य स्वतनुदलरसैः शालिपर्ण्यब्जसार्योः
कान्ते पात्रेऽयसा च त्रिदिनमपि रसं गन्धकं मर्दयित्वा।
षण्मासं भक्षयेद् यः प्रतिदिनसमये टङ्कपादप्रमाणं
मुक्तः कुष्ठादिरोगैर्वलिपलितगतो द्व्यष्टवर्षाकृतिः सः ॥२२८॥　10

तुल्यमित्यादि। इह **तुल्यं गन्धकं दण्डोत्पलस्य रसं च शालिपर्णीरसेन, उत्पलसारीरसेन** वा, **अयस्कान्तपात्रे अयोगुडिकया** मर्दयेत् **त्रिदिनम्।** एवं **मर्दयित्वा प्रतिदिनं भक्षयेत्। टङ्कपादप्रमाणमिति** माषमेकं भक्षयेत्। स **मुक्तः कुष्ठादिरोगैर्वलिपलितरहितः, षोडशः** षोडशवार्षिकोऽत्र भवतीति ॥ २२८॥

इदानीं रसमारणे सिद्धौषध्युच्यते—　15

वोक्काणाकाशशक्तुः प्रचलमपि रसं मारयेत् कीरचञ्चु
अन्यौषध्या मृतस्यारुणमपि फलजं हेम कान्तं च तुल्यम्।
एकीकृत्वा सजीवे मलविगतरसे गोलकः षट्पलैश्च
पूर्वोक्तात् कान्तपात्राद् वलिपलितहरः क्वाथितो मस्तकेन ॥२२९॥

वोक्काणेत्यादि। इह यः संकोचं मारणं च इच्छति रसस्य, तेनेमा औषध्यो गवेषणीयाः—**वोक्काण** इति। हिङ्गु, येन नीलसूत्रे लिप्ते श्वेतं भवति। तेन मूषायां लिप्ते रसो म्रियते। **आकाश** इत्यम्बरः, भेरुण्डविष्ठा, स च द्विधा—छत्राम्बरः शिखाम्बरश्च। अग्निमध्ये क्षिप्तस्य मूर्ध्नि प्रसारितवस्त्रं यदि शिखाकारेण वस्त्रं भेदयित्वा धूमो निश्चरति, स उत्तमः। न(यः) छत्राकारेण धूमस्थो वसति स मध्यमः, तेनापि संकोचबन्धः। एवं **शाक्तुकविषम्।** एवं **कीरचञ्चु** इति शुकतुण्डकं[1] रक्तस्रावी, लोके रक्तनिष्कर्षकत्वेन प्रसिद्धम्।　20　25

---

१. हिङ्गुलस्यैकं भेदान्तरम्।

*[219a] एवं कंपद्मवान्(?)यस्योपरि पादं स्थापयेत्, दिवाऽऽकाशे नक्षत्राणि पश्येत्। एतानि न चेत्, अन्यौषध्या व्याजेन मारितरसस्य, अरुणं ताम्रम्, फलजम् इत्यभ्रकलोहम्, हेम अयस्कान्तलोहं च तुल्यं कृत्वा जारयेत्। चतुष्पले रसे तदर्धेन द्विपलेन युक्तः षट्पलः कार्यः। शेषोऽध्यात्मपटलोक्तविधिः ॥ २२९ ॥

इदानीं सहस्रवेध्यादिरसानां स्वभाव उच्यते—

षण्मासैर्द्व्येकमासैः सनृपदशदिनैः सप्तरात्रत्रिरात्रै
रात्रेणैकक्षणेन प्रभवति च तनौ सिद्धिरस्य प्रभावात्।
सामान्या मध्यमा च प्रलयविरहिता चोत्तमा ज्ञानसिद्धिः
पुंसां हीनोत्तमानां स्वकृतशुभवशान्नैकजन्मानुवेधात् ॥२३०॥

षण्मासैरित्यादि। इह पूर्वोक्तविधिना भक्षितश्चेत् सहस्रवेधी षण्मासैः कायं परमं करोति। ततः षण्मासैरस्य प्रभावात् तनौ सिद्धिर्भवति। मासद्वयेन दशसहस्रवेधिप्रभावात्, एकमासेन लक्षवेधिप्रभावात्, [सनृपदशदिनैः] षोडशदिनैश्चतुस्त्रिंशल्लक्षवेधिप्रभावात्, सप्तदिनैः षष्टिलक्षवेधिप्रभावात्, त्रिदिनैरशीतिलक्षवेधिप्रभावात्, एकदिनेन कोटिवेधिप्रभावात्, एकक्षणेनेति झटिति सिद्धिः। इयं रसादिसिद्धिः सामान्या खङ्गादिसिद्धिर्विद्याधरसिद्धिश्च। कर्ममुद्रासिद्धिर्ज्ञानमुद्रासिद्धिश्च मध्यमा। एतयोरुत्तमा स्वपरहिता परमज्ञानसिद्धिः प्रज्ञाबिम्बभावनया। साऽपि येन या सिद्धिर्भवति पुंसां स्वकृतशुभवशात् तत्र वासना भवति नैकजन्मानुवेधात् ॥ २३० ॥

इदानीं द्रव्यार्थिनां निधिपरीक्षोच्यते—

खङ्गान्नृस्नेहदीपः प्रकटयति निधिं पद्मसूत्रस्य वर्त्या
वल्लीवृक्षान्यभावः प्रतिदिनसमये यत्र तिर्यग्विरोधः।
तस्मिन् भूताधिपस्य प्रतिदिनसमये मन्त्रजापं प्रकुर्याद्
यावत् खन्ये निमित्तं प्रभवति हि ततो मन्त्रिणां द्रव्यसिद्धिः ॥२३१॥

खङ्गादित्यादिना। इह भूम्यां या वल्लयो वृक्षाश्च अन्यभावा आभासन्ते, तत्र द्रव्यं भवति। अपरं च यत्र सदा तिर्यग्विरोध आभासते स्वस्थानार्थं कलहः, तत्र द्रव्यं विद्यते, तत्र सुलोहखङ्गस्योर्ध्वं छुरिकोर्ध्वं वा रक्तपद्मसूत्रस्य वर्ति कृत्वा नृस्नेहेन दीपयित्वा भूताधिपतिमन्त्रसाधनपटलोक्तेनाभिमन्त्र्य भूमिं पश्येत्। यद्यग्निजिह्वा अधः पतेत् तदा द्रव्यमस्ति, यदि न पतति तदा नास्ति। एवं यदि पतेत् तदा तस्मिन् स्थाने त्रिसन्ध्यं भूताधिपतिमन्त्रजापं कुर्यादाभासं यावत्। ततो मन्त्रिणां खन्यसिद्धिः। अन्यथा क्लेशो भवति। असुरै रक्षितं द्रव्यं केनाऽप्युद्धर्तुं न शक्यते ॥ २३१ ॥

---

* इतः परं मातृकायाः २१९ पत्रस्याभावात् २३७ श्लोकटीकायां 'शक्तित्रयं वा कुल तत्' इति यावत् पाठो भोटपाठादुद्धृत्य संस्कृते उट्टङ्क्यते।

आदौ षड्योनिमन्त्रा जिनपतिकुलिशाधिष्ठिताः साधनीया
यक्षिण्यः साधयित्वा पुनरवनितले क्षेत्रवादाश्च साध्याः ।
नागिन्यः साधयित्वा त्वमृतफलरसा ओषधीः साधनीया
डाकिन्यः साधयित्वा परमभयकराश्चासुराः साधनीयाः ॥२३२॥

नागाद्यान् साधयित्वा प्रवरसुरनरा योगिना साधनीया 5
धूमाद्यान् साधयित्वा मरणभयकरा मध्यमा साधनीयाः ।
प्राणाद्यान् साधयित्वा द्रवितशशधराद्बिन्दवः साधनीयाः
सत्सौख्यं साधयित्वा सहजजिनतनुः सर्वगा साधनीया ॥२३३॥

सत्त्वानां मृत्युदं यत् तदमृतमखिलाधिष्ठितं सिद्धमन्त्रै-
र्या गम्या सिद्धिरिष्टा त्रिभुवननिलये ध्यानगम्या च सा तु । 10
यज्ज्ञानं दुर्लभं वै सुलभमपि सुखाधिष्ठितं वज्रपद्मे
एवं ह्येवं स वज्री ददतु समसुखं प्राणिनां सर्वकालम् ॥२३४॥

अतो वृत्ताद् वृत्तत्रयं सुबोधम् ॥ २३२-२३४ ॥

इदानीं **कुलागमोक्तः** कुलभेद उच्यते—

राह्वग्नी चन्द्रसूर्यौ क्षितिजलहुतभुग् वायुशून्यं चतुष्कं 15
भुक्तं यत् पञ्चकं वै ग्रहगण इतरः षट्कमस्माच्चतुष्कम् ।
मेरोर्द्वीपानि दिक्षु प्रभवति विषयाः पञ्चकं बाह्य उक्तं
सत्त्वादीनां गुणानां त्रिकमपरमिदं देहमध्ये तथैव ॥२३५॥

राह्वित्यादिना । इह **कुलागमः**—पश्चिमगृहात् चतुष्कं पञ्चकं षट्कं चतुष्कं पञ्चकं त्रिकमिति **बाह्ये** देहे च विशोध्य ततो देवानां पूजा इति । अथ बाह्ये **राहुः** 20 **कालाग्निश्चन्द्रः सूर्यश्च** । एषां योगश्**चतुष्कम्**, चतुष्पीठमित्यर्थः । ततो लोकधातु-पूरणार्थं **पञ्चकं क्षित्यादि** रसपर्यन्तम् । ततो **ग्रहगण इतर** इति **चतुष्कं** वर्जयित्वा भौमः, बुधः, बृहस्पतिः, शुक्रः, शनैश्चरः, केतुश्चेति । एषां गणः **षट्कम्** । ततो **मेरो**-श्चतसृषु **दिक्षु** चत्वारि **द्वीपानि** चतुष्कम् । गन्धादिपञ्च**विषयाः पञ्चकम्** । सत्त्वादयः त्रयो गुणास्त्रिकम् । एवं यथा बाह्ये **सत्त्वादयो गुणास्त्रिकं** पीठादि, **तथा देहमध्ये**ऽपि 25 वेदितव्यम् ॥ २३५ ॥

विज्ञानानन्दरक्तामृतमिति कमलादौ चतुष्कं च पञ्च
तस्मादस्थ्यादिकं यत् सकलमपि ततश्चक्षुराद्यं हि षट्कम् ।

हस्तौ पादौ चतुष्कं करचरणगतं पञ्चकं चाङ्गुलीनां
तासां सर्वत्रिकं यत् क्रम इह सकलो वेदितव्यः कुलेऽस्मिन् ॥२३६॥

इह कायोत्पत्त्यर्थं मातृपद्मे आलयविज्ञानमिति राहुः, आनन्दः कालाग्निः, रक्तमित्यग्निरजः सूर्यः, अमृतमिति शुक्रं चन्द्रः, एते आदौ कायकुलोत्पत्तिहेतुचतुष्कम् । चतुष्कात्तस्माद् अस्थ्यादि पञ्चकम् । अस्थि पृथिवी, पित्तं जलम्, रक्तं तेजः, मांसचर्म वायुः, मज्जाऽऽकाशम्, सकलमपि पञ्चकम् । ततश्चक्षुराद्यं हि षट्कमिति । [चक्षुः] भौमः, श्रोत्रं बुधः, जिह्वा बृहस्पतिः, नासा शुक्रः, कर्मेन्द्रियं शनैश्चरः, मनइन्द्रियं केतुरिति षट्कम् । तथैव हस्तौ पादौ चतुष्कमिति वामहस्तः पूर्वद्वीपम्, दक्षिणहस्तो दक्षिणद्वीपम्, दक्षिणपादः पश्चिमद्वीपम्, वामपाद उत्तरद्वीपमिति चतुष्कम् । करचरणगतं पञ्चकं चाङ्गुलीनामिति । अत्राङ्गुष्ठः गन्धः, तर्जनी रसः, मध्यमा रूपम्, अनामिका स्पर्शः, कनिष्ठिका शब्दः पृथिव्यादिगुणद्वारेण । तासां पञ्चाङ्गुलीनां पर्वत्रिकं त्रिकमुच्यते—प्रथमं पर्व सत्त्वगुणः, मध्यमं पर्व रजोगुणः, अन्तिमं पर्व तमोगुणः । तमोऽन्ते नखपर्व प्रधानम्, क्रम इह सकलो वेदितव्यः कुलेऽस्मिन् इति युज्यते ॥ २३६ ॥

इदानीं पीठादीनां भेद उच्यते—

भूभृत् तत्त्वप्रभेदा रसगुणितरसा भानवो विंशतीति
भेदाः षष्टिर्नराणां सकलतनुगता रन्ध्रषट्चन्द्रसंख्याः ।
सर्वे ते पिण्डिताः स्युस्त्रिगुणनवचतुःपञ्चशः प्राणचाराः
सञ्चारो यो ग्रहाणां स च पुनरितरैर्योगिनीचार उक्तः ॥२३७॥

भूभृदित्यादि । इह चतुष्पादवशाच्चत्वारो भेदाः । एवं पीठभेदाः । भूभृद् इति षोडश । तत्त्वप्रभेदाः पञ्चविंशतिः समुदयतः, यत्र एकोऽस्ति तत्र पञ्च । रसगुणितरसा इति षड् गुणिताः षट् षट्त्रिंशद् भवन्ति, षट्चरणवशाद् भौमादीनां भेदाः, चतुर्थे भानवो द्वादशभेदाः, हस्तपादसन्धिभेदा द्वादश, बाह्ये चन्द्रो द्वादशराशिभेदात् । पञ्चमे विंशतिरित्यङ्गुलीसंख्याः । तथैवाङ्गुलिपर्वणां षष्टिः भेदाः । एते भेदा नराणां देवानां च सकलतनुगता न विमलतनुगता इत्यर्थः । सर्वे ते पिण्डिता रन्ध्रषट्चन्द्रसंख्या इत्येकोनसप्तत्युत्तरशतं भवन्ति । सर्वे ते पिण्डिता इति, तैः पिण्डितैः स्युस्त्रिगुणनव इति सप्तविंशतिः । पुनरपि शिवशक्त्योर्भेदा आधाराधेयधर्मेण चतुःपञ्चाशदिति वेदितव्यम् । अस्मिन् कुले यो प्राणनाड्यां सञ्चारो ग्रहाणां नक्षत्रसञ्चारः, एषां यः सञ्चारः स च इतरैर्बाह्यवचनरतैः, योगिनीसंचार उक्तः । तथोक्तं मूलसूत्रे—

[1]या शक्तिः सा भगेति त्रिविधगतियुता त्र्यक्षरा त्रिस्वभावा
तत्र श्रीओड्डियानो वरकलसहितो मध्यसंस्थोऽतिदीप्तः ।
तत्सव्ये कोण एव प्रकटितनिलये पीठजालन्धरश्री-
र्वामे श्रीपूर्णपीठं पशुजनभयदं कामरूपं तदग्रे ॥
[2]एवं संव्यापि पीठं भयकरजननी व्यापिनी रुद्रशक्ति- 5
स्तन्मध्ये लिङ्गमेवं परमसुखकरं बिन्दुरन्तःस्थनादम् ।
नित्यानन्दातिशान्तं भवति [च] विचितं मन्थनैः षड्विधैस्तां
धत्ते यैतान् त्रिकामान् वरतनुचपलां कुब्जिकाख्यां नमामि ॥

इति युज्यते सर्वसत्त्वानां सहजवाहिनी [शक्तिः] भग इति । इति [भग]स्वरूपम् ।
अथ कुलसूत्रदेहनिष्पत्तिकारणम्, तद्यथा— 10

[3]कूकारः कामरूपे पुलिगतपुलिका जालपीठेऽग्निजिह्वा
ओड्रः श्रीमध्यपीठे त्रिविधपथगता देवशृङ्गाष्टकाराः ।
पञ्च स्युः सिद्धयोऽपि डरलकसहिता पञ्च देव्यश्चतस्र-
स्तस्मात् शक्तित्रयं वा कुलतरु[220a]जननीं कुब्जिकाख्यां नमामि ॥

---

1. Gaṅ Šig Nus Ma Bhaga Šes Bya De Ni rNam gSum bGrod lDan Yi Ge gSum Daṅ Raṅ bŠin gSum.
De La dPal lDan Oḍiyāna mChog Gi Cha Daṅ bCas Pa dBus Su gNas Śiṅ Śin Tu ḥBar.
De yi gYas Zur Ñid Du Rab Tu gSal Byas gNas La dPal lDan Jalīdhara Šes Bya sTe.
gYon Du dPal lDan Gaṅ Baḥi gNas Te Phyugs Kyi sKye Bo ḥJigs Byed Kāmarūpa De Yi rTser.

2 De lTar Kun Nas Khyab Byed gNas Daṅ ḥJigs Daṅ sKyed Ma Khyab Byed Ma Ni Drag Poḥi Nus Ma sTe.
De Yi dBus Na rTags Ni mChog Gi bDe Byed Thig Le Nāda Khoṅ Na gNas Śin rTag Tu dGaḥ.
Śin Tu Ši Ba Yod De De Yi sTeṅ Na Srub Ma rNam Pa Drug Gis rNam Par Phye Baḥo.
ḥDod Pa gSum Po ḥDi rNams Byed Ciṅ mChog Gi Lus bsKyod Kubjikā Šes Pa La Phyag ḥTshal.

3, Kāmarūpar Kū Yig Pu Li La gNas Pu Li Ka rNams Jālaḥi gNas Su Me lCe Ñid.
dPal lDan dBus Kyi gNas Su Oḍḍā rNam Pa gSum Gyi Lam bGrod Lha Yi Rwa Co Ṭa Yig rNams.
De Yi Grub Pa rNam Kyaṅ lÑa sTe Ḍa Ra La Ka Daṅ bCas De rNams Lha Mo bŠi Daṅ lÑa.
De Phyir Nus Ma gSum Mam Rigs Kyi lJon Śiṅ sKyed Ma sGur ḥKhyog Ma Šes Bya Ba La Phyag ḥTshal.

इति परमरहस्यं न ज्ञातं भक्ष्या(क्ष्य)दैत्यैर्मारकायिकैः कौलैरिति कुलसूत्र नियमः ॥ २३७ ॥

इदानीं बुद्धानां धर्मसंग्रह उच्यते—

ज्ञानाकाशद्वयं वै पुनरपरमिदं यानरत्नत्रयं च
क्लेशा मारा विहाराः पुनरपि नियताश्चर्द्धिपादास्रवाश्च ।
वैशारद्यानि सत्यानि पुनरपि ततः स्मृत्युपस्थानसम्यक्
चत्वारः संग्रहान्ता जिनपतिकुलिशैर्योगिभिर्भावनीयाः ॥२३८॥

ज्ञानेत्यादि। इह कालचक्रे योगिना धर्मसंग्रहं ज्ञात्वा ततस्तन्त्रदेशना कर्तव्या। अन्यथा धर्मसंग्रहं विना कुमार्गदेशना भवति, तेन धर्मसंग्रहो लिख्यते—इह **ज्ञानाकाशद्वयमिति** ज्ञानं ग्राहकं चित्तम्, ग्राह्यं शून्यबिम्बमिति द्वयं प्रज्ञोपायो न भगलिङ्गसंयोगः। अनेन सत्त्वार्थकृतेन यानत्रयदेशको भवति, धर्मसंग्रहवेत्ता भवति। अत्र **यानत्रयं** श्रावकयानम्, प्रत्येक[1]बुद्धयानम्, सम्यक्सम्बुद्धयानम्। गम्यतेऽनेनेति यानम्। **रत्नत्रयं वै** बुद्धरत्नम्, धर्मरत्नम्, संघरत्नम्। देशको देशनाऽध्येषक इति त्रीणि मूलानि, तद्यथा—बोधिचित्तोत्पादः, आशयविशुद्धिः, अहङ्कारममकार[2]त्यागः। तथा बुद्धशर[णं धर्म]शरणं संघशरणमेवं त्रिशरणगमनमिति। **क्लेशाः** सत्त्वानां चत्वारो रागद्वेषमोहमानाश्चेति। **माराश्चत्वारः** स्कन्धक्लेशमृत्युदेवपुत्रा इति। एषां विनाशका बुद्धानां चतुर्ब्रह्मविहारा मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षा इति। एवं चतुर्विमोक्षाः शून्यताऽनिमित्ताऽप्रणिहिताऽनभिसंस्कारा इति। चत्वार **ऋद्धिपादाः**—छन्दो वीर्यं चित्तं मीमांसेति। सत्त्वानां चत्वार **आस्रवाः**, तद्यथा—कामास्रवो भवास्रवोऽविद्यास्रवो [3]दृष्ट्यास्रव इति। बुद्धानां **वैशारद्याश्चत्वारः**, तद्यथा—सर्वधर्मारोहणवैशारद्यम्, सर्वधर्मदेशनावैशारद्यम्, निरावरण(नैर्वाणिक)मार्गावतारणवैशारद्यम्, आस्रवक्षयज्ञान-[4]प्रहाणवैशारद्यम्। चत्वारि **सत्यानि**, तद्यथा—दुःखसत्यं समुदयसत्यं मार्गसत्यं निरोधसत्यं चेति। चत्वारि प्रतिशरणानि, तद्यथा—अर्थप्रतिशरणता न व्यञ्जनप्रतिशरणता, ज्ञानप्रतिशरणता न विज्ञानप्रतिशरणता, नीतार्थप्रतिशरणता न नेयार्थप्रतिशरणता, धर्मकायप्रतिशरणता न पुद्गलप्रतिशरणता इति। चत्वारि **स्मृत्युपस्थानानि** कायानुस्मृतिः, वेदनानुस्मृतिः, चित्तानुस्मृतिः, धर्मानुस्मृतिश्चेति। चत्वारि **संग्रहवस्तूनि**—दानम्, प्रियवाक्यम्, अर्थचर्या, समानार्थतेति। अत्रार्थशब्देन महार्थः परमाक्षरस्तस्य [5]चर्या समानार्थता चेति। धर्मदानतो दानम्, चत्वारि धर्मदानानि—अनित्याः सर्वसंस्काराः, दुःखाः सर्वसंस्काराः, निरात्मानः सर्वधर्माः, शान्तं निर्वाणमिति। चत्वारि सम्यक्प्रहाणानि—अनुत्पन्नदोषानामनुत्पादाय प्रहाणं छन्दोत्पादः, उत्पन्न-

१. च. 'बुद्ध' नास्ति। २. भो. Yoṅs Su sPaṅs Paho (परित्यागः)। ३. च. तृष्णा। ४. भो. gNas (स्थान)। ५. भो. Don (अर्थ) इत्यधिकम्।

पापानां कुशलमूलं प्रतिपक्षः [उत्पादः], अनुत्पन्नकुशलानां समुत्पादनम्, उत्पन्नकुशलमूलानां बुद्धत्वे परिणामना चेति चत्वारि। एतानि चतुर्विधानि **जिनवरकुलिशैरिति** कायवाक्चित्तज्ञानविशुद्ध्या निर्माणधर्मसम्भोगस्वाभाविककायविशुद्ध्या **भावनीयानि** लौकिकसिद्धये देवताकाराणीति ॥२३८॥

पञ्चाभिज्ञाबलानि प्रवरजिनपतेर्दृष्टयः पञ्चचक्षु-
रेवं स्कन्धेन्द्रियाणि स्मृतय इति च षट् सप्त बोध्यङ्गपूजा ।
सप्ताप्यष्टाङ्गमार्गाः(र्गान्) प्रति सुशरणता रूपिणोऽष्टौ विमोक्षा
रन्ध्राख्यं वै नवाङ्गं प्रवचनमपरं भूमयो दिक्प्रमाणाः ॥२३९॥

एवं **पञ्चाभिज्ञा** बोधिसत्त्वानां दिव्यं चक्षुः, दिव्यं [220b]श्रोत्रम्, परचित्तज्ञानम्, पूर्वनिवासानुस्मृतिः, आकाशऋद्धिश्चेति । **पञ्च बलानि** – श्रद्धाबलं वीर्यबलं स्मृतिबलं समाधिबलं प्रज्ञाबलं चेति । एवं **पञ्चेन्द्रियाणि** । सत्त्वानां **पञ्चदृष्टयः**—सत्कायदृष्टिः, अन्तग्राहदृष्टिः, मिथ्यादृष्टिः, दृष्टिपरामर्शदृष्टिः, शीलव्रतपरामर्षदृष्टिश्चेति । बुद्धानां **पञ्चचक्षूंषि**— मांसचक्षुर्दिव्यचक्षुर्बुद्धचक्षुः प्रज्ञाचक्षुर्ज्ञानचक्षुश्चेति । **पञ्चस्कन्धा** लोकोत्तराणां बुद्धानाम्—शीलस्कन्धः, समाधिस्कन्धः, प्रज्ञास्कन्धः, विमुक्तिस्कन्धः, विमुक्तिज्ञानदर्शनस्कन्ध इति । लौकिका रूपादयो धातवः पृथिव्यादयः, इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि, विषया गन्धादयः, पाय्वादीनि कर्मेन्द्रियाणि, आलापादयः कर्मेन्द्रियक्रिया इति पञ्चकं धर्मधातुना सार्धं सर्वं षट्कमिति । **षडनुस्मृतयः**—बुद्धानुस्मृतिः, धर्मानुस्मृतिः, संघानुस्मृतिः, त्यागानुस्मृतिः, शीलानुस्मृतिः, देवतानुस्मृतिश्चेति । **सप्त बोध्यङ्गानि**—स्मृतिसम्बोध्यङ्गम्, धर्मप्रविचयसम्बोध्यङ्गम्, वीर्यसम्बोध्यङ्गम्, प्रीतिसम्बोध्यङ्गम्, प्रश्रब्धिसम्बोध्यङ्गम्, समाधिसम्बोध्यङ्गम्, उपेक्षासम्बोध्यङ्गम् । **सप्तविधा पूजा**—वन्दना, पूजना, देशना, अनुमोदना, अध्येषणा, याचना, परिणामना चेति । **अष्टाङ्गिको मार्गः**—सम्यक्दृष्टिः, सम्यक्संकल्पः, सम्यग्वाक्, सम्यक्कर्मान्तः, समयगाजीवः, सम्यग्व्यायामः, सम्यक्समाधिश्चेति । **अष्टौ ध्यानविमोक्षाः**—रूपं पश्यति शून्यम्, अध्यात्मरूपं बहिर्धारूपं पश्यति शून्यम्, शून्यमिति बिम्बं सर्वाकारम्, शुभाशुभदृष्टिकृतं पश्यति शून्यम्, आकाशानन्त्यायतनं पश्यति शून्यम्, विज्ञानानन्त्यायतनं पश्यति शून्यं, बिम्बे सर्वाकारे, आकिञ्चिन्यायतनं पश्यति शून्यम्, नैव संज्ञा नासंज्ञायतनं पश्यति शून्यम्, संज्ञावेदितनिरोधं पश्यति शून्यम्, शून्यताभावनायाम् । **अष्टौ रूपिणश्चतुर्महाभूतानि** रूपगन्धरसस्पर्शाश्चेति । **नवाङ्गप्रवचनं** संगीतिकाराणाम्—सूत्रं गेयं व्याकरणं गाथोदानं निदानं वृत्तं जातकं वैपुल्याद्भुतं धर्मसंग्रहाय ॥२३९॥

बुद्धानां दिग्बलानि स्फुटदशवशिता द्वादशाङ्गप्रतीते
रूपादौ वै निरोधो द्विगुणनव तथाऽऽवेणिका बुद्धधर्माः ।

द्वात्रिंशल्लक्षणानि प्रवरजिनपतेर्व्यञ्जनानि त्वशीति-
रेतद् देहे समस्तं विभुपरमपदं मन्त्रिणा भावनीयम् ॥२४०॥

दशपारमितादिदशकानि परमाक्षरज्ञानसिद्धावुक्तानि, अष्टादशाऽऽवेणिका बुद्धधर्मा उक्ताः। अत्र भिक्षूणां द्वादशधूतगुणाः—पैण्डपातिक-त्रैचीवरिक-पश्चात्खलुभक्तिक-नैषद्यिक - यथासंस्तरिक - एकासनिक-अभ्यवकाशिक-वृक्षमूलिक-आरण्यवासिक-श्मशानिक - पांशुकुलिक - नामन्तिकाश्चेति। एवमादौ सर्वधर्मसंग्रहं ज्ञात्वा ततो निजदेहे विभोः परमपदं नपुंसकं मन्त्रिणा भावनीयं साचार्येणेत्यर्थः ॥२४०॥

एकश्चन्द्रस्वरूपं यमकरनयनं युग्मपक्षायने द्वे
लोकाः काला गुणाग्निस्त्रिकमुदधियुगं वेद उक्तश्चतुष्कम्।
बाणा भूतेन्द्रियाणि प्रभवति नियतं पञ्चकं षड्रसर्तु-
र्वाराद्री सप्तसंख्या मुनय इति तथा चाष्टनागा वसुश्च ॥२४१॥

नाडीरन्ध्रा ग्रहा वै निधिरपि नवकं दिग्दशैकादशेशाः
सूर्योऽनङ्गो मनुर्या भुवनतिथिनृपा द्वादशा ह्येकवृद्ध्या।
दोषाश्चाष्टादशैते सकलजिनवरास्ते चतुर्विंशतिश्च
तत्त्वाङ्गं पञ्चविंशद् द्विजक इति भवेद् द्व्युत्तरं त्रिंशदेव ॥२४२॥

अत उपरि गणितसंख्या एकादिचन्द्रादिकासंज्ञाप्रकाशकं वृत्तद्वयं सुबोधम् ॥२४१-२४२॥

इदानीं तन्त्रगुण उच्यते—

सर्वस्मिंस्तन्त्रराजे खलु कुलिशपदं गोपितं वज्रिणा वै
प्रत्यक्षं चादिबुद्धे निगदितमखिलं प्राणिनां मोक्षहेतोः।
तस्मात् तन्त्रोत्तरं वै सकलमविकलं लोकलोकोत्तराभ्यां
श्रीमत्तन्त्रादिबुद्धं परमजिनपतेश्चाभिधानं सुचन्द्र ॥२४३॥

सर्वस्मिन्नित्यादि। इह **सर्वस्मिन्** योगिनीयोग**तन्त्रराजे खलु कुलिशपदं** परमाक्षरसुखं **गोपितं वज्रिणा वै** शाक्यमुनिना। वज्रमित्यभेद्यज्ञानमचिन्त्यं चित्तवज्रम्, [221a] तद् यस्मिन्नस्तीति स वज्री, तेन वज्रिणा। तत्कस्य हेतोः? आर्यविषये बौद्धानां पण्डिताभिमानाद् ये गुरुशुश्रूषया विना पुस्तकं दृष्ट्वा अस्माभिर्वज्रपदं ज्ञातमिति वदिष्यन्ति बौद्धाः पण्डिताः, तेनाहङ्कारेण नरकगमनम्, सेकसंप्रदायाभावात्। तेन [इदं] गोपितम्। तदेव **प्रत्यक्षं चादिबुद्धे निगदितमखिलं प्राणिनां** संभलविषये जन्मिनां

निरहङ्कारचित्तानां **मोक्षहेतोः**। **तन्त्रोत्तरं वै सकलमविकलं** तन्त्रराजं **लोकतन्त्रात्** क्रियातन्त्रात्, **लोकोत्तराद्** योगतन्त्रात्, ताभ्यामुत्तरं लोकोत्तरम्। **श्रीमत्तन्त्रादिबुद्धं परमजिनपतेर्ज्ञानकायस्य सहजस्याभिधानं वाचकम्** ॥२४३॥

इदानीं गुणवतः पञ्चाकारस्तव उच्यते—

यस्यान्तं नादिमध्यं स्थितिमरणभवं शब्दगन्धो रसश्च
स्पर्शो रूपं न चित्तं प्रकृति न पुरुषो बन्धमोक्षो न कर्ता।
बीजं न व्यक्तकालं न सकलभुवने दुःखसौख्यस्वभावं
निर्वाणं निर्निमित्तं व्यपगतकरणं निर्गुणं तं नमस्ये ॥२४४॥

कालं विश्वादिवज्रं पुरुषमनुपमं सर्वगं निष्प्रपञ्चं
कूटस्थं कर्णनासामुखनयनशिरः सर्वतः पाणिपादम्।
भूतान्तं भूतनाथं त्रिभुवनवरधृक् कारणं कारणानां
विद्याद्यं योगगम्यं परमसुखपदं कालचक्रं नमस्ये ॥२४५॥

यस्येत्यादि। इह पञ्चाकारो महाशून्यो वज्रम्, तस्य विज्ञाननिरोधः प्रथमशून्यम्, **यस्यान्तं नादिमध्यं** इत्यादिना **निर्गुणं तं नमस्ये** इति पर्यन्तं "विज्ञानधर्मतातीतो ज्ञानमद्वयरूपधृग्" (ना० सं० ८.२३) इति विज्ञानधर्मतातीतत्वात्, तत्कुले जातानामप्यतीता आकाशादिधात्विन्द्रियादीनाम्। ततः संस्कारनिरोधे द्वितीयं शून्यम्। **कालं विश्वादिवज्रमित्यादि कालचक्रं नमस्य** इति पर्यन्तं सुबोधम् ॥ २४४-२४५ ॥

स्रष्टारं शक्तिरूपं तडिदनलनिभं द्वादशादित्यतेजं
ज्ञानं वज्रावभासं परपदगमनं तं विसर्गं नमामि।
शुक्लं त्रैलोक्यनाथं स्रवति शशधरात् संस्थितं लोकमूर्ध्नि
पीयूषं मृत्युनाशं भवभयमथनं बिन्दुरूपं नमामि ॥२४६॥

चिन्मात्रं मन्त्ररूपं त्रिदशपरिवृतं दुःखसौख्यस्वभावं
साधूनां शान्तरूपं सुकृतमनुभवं दारुणं दारुणानाम्।
यो यत्कर्मविकुर्यात् स्वमनसि विधिवत् तत्फलं तस्य जातं
लोकेशं विश्वरूपं त्रिभुवनजननं वज्रसत्त्वं नमामि ॥२४७॥

एको नैकोऽपि चैकः समविषमसमः सव्यवामाग्रपृष्ठ
ऊर्ध्वाधो वै समन्तात् सित-हरित-महाविश्ववर्णैकरूपः।

ह्रस्वो दीर्घः प्लुतश्चागुण इति सगुणः स्त्री नरश्चानरस्त्री
य: सर्वाधार एक: सुभगवरभगस्ते नमस्ते नमस्ते ॥२४८॥

एवम् "अन्ये ते संस्कारा" इतिवचनाद् वाय्वादीनां धात्विन्द्रियाणां निरावरणता वेदितव्या द्वितीयशून्येन। ततस्तृतीयं शून्यं वेदनानिरोधः स्रष्टारम् इत्यादिना 5 **तं विसर्गं नमामि** इति पर्यन्तम्, "अन्या सा वेदना" इतिवचनात्तेजो धात्विन्द्रियादीनां निरावरणतेति तृतीयं शून्यम्, ततश्चतुर्थं शून्यं संज्ञानिरोधः शुक्लम् इत्यादिना **बिन्दुरूपं नमामि** इति पर्यन्तम्, "अन्या सा संज्ञा" इतिवचनात् तोयादिधात्विन्द्रियादीनां निरावरणतेति चतुर्थं शून्यम्। ततः पञ्चमं शून्यं रूपनिरोधः चिन्मात्रम् इत्यादिना **वज्रसत्त्वं नमामि** इति पर्यन्तम्, "अन्यत्तद्रूपम्" इतिवचनात् पृथिव्यादिधात्विन्द्रियाणां 10 तत्कुलीनानां निरावरणतेति। अस्य विस्तरः प्रथमलोकधातुपटले उक्तः, तेनात्र न वितन्यत इति। "पञ्चाक्षरो महाशून्यः" (ना० सं० १०.२) ततो "बिन्दुशून्यः षडक्षरः" (ना० सं० १०.२) इति धर्मस्यास्याधारभूतो बुद्धबिम्बलक्षणः सर्वत्रैधातुकत्र्यध्ववर्तीति। अस्य निरोधः षट्स्कन्धादयः षट्त्रिंशद्धातवः क्षरज्ञानं सप्तत्रिंशदिति। एषां निरावरणता धर्मकायो धर्मोदय उच्यते। चतुर्थो वज्रः पञ्चाक्षरः। अनयोर्निर्माणं 15 निर्माणकायः। नाना ऋद्धिदर्शको धर्मदेशको ध्वनिः सम्भोग इति। अत्र **एको नैकोऽपि चैकः समविषम** इत्यादिना मध्यमकसिद्धान्तः। **यः सर्वाधार एक** इति सर्वो महाक्षरसुखः, तस्याधार एक आकाशलक्षणः। **सुभग** इत्यैश्वर्यादिगुणात्मकः। **वरभग** इति त्रैधातुकोत्तमः। तेन कारणेन **नमस्ते** शिरसा नम्र इति नमस्कारो भवतु, ते इति तव मञ्जुश्रियः॥ २४६–२४८॥

20 सोऽहं यो मर्त्यलोके व्यपगतकलुषः श्रीगुरुर्वज्रधारी
नूनं तस्यापराधाद् भवति हि नरकं प्राणिनां नात्र चित्रम्।
तुष्टोऽहं तस्य तुष्ट्या कुपित इति महांस्तस्य कोपानलेन
सत्त्वानां सैव मोक्षः समसुखफलदो वन्द्यपूज्यः सुतानाम् ॥२४९॥

कः पापी श्रीगुरोर्यः सुचरणकमलं वन्दते न त्रिकालं
25 कोऽज्ञानी यस्त्रिकालं बहुविधकुसुमैर्मण्डलं नो करोति।
कोऽवीचिं याति शीघ्रं समसुखदगुरोः खेदमुत्पादको यः
कः प्रज्ञाज्ञानलाभी वरगुरुचरणं यो न मुञ्चत्यनष्टः ॥२५०॥

को नष्टो यस्त्रिनाड्यामपि गतमरुता मार्यतेऽनन्तकालं
कः शूरो मारयेद् यः समविषमपथि प्राणमापानवायुम्।
30 को दाता श्रीगुरोर्यो ददति निजतनुं पुत्रदारादि सर्वं
को नीचो वञ्चको यः स्वहृदयकलुषाकृष्टचित्तः शठश्च ॥२५१॥

श्रीमान् श्रीधर्मचक्रे सुरवरनमिते विष्टरे विश्ववर्णे
तस्मिन् बुद्धोपविष्टो गदति नरपते तन्त्रराजादिबुद्धम् ।
चन्द्रप्रश्नावबोधे त्रिदशनरगुरुर्यच्च सत्त्वार्थहेतो-
स्तच्चेदानीं मया ते गदितमपि कलापेऽल्पतन्त्रं हि सूर्य ॥२५२॥

बुद्धोक्तात् कालचक्रं गदितमपि मया स्रग्धरावृत्तबन्धै-
रस्य त्वं देशनां वै कुरु कुलिशधरीं मन्त्रिणां पुण्डरीक ।
प्रज्ञाज्ञानस्य लाभी सरविमुनिकुलं वै यथास्मद्बभूव
एवं सत्त्वा भवन्तु त्रिविधभवगताः कालचक्रप्रसादात् ॥२५३॥

सूर्य त्वं वा नरेन्द्र त्वपरगतभवे कालचक्रैकयोगा-
ज्जातोऽस्मिन् ब्रह्मवंशे यशनृपतिरहं मञ्जुघोषः प्रिया मे ।
श्रीतारा पौण्डरीकः सकलगुणनिधिर्लोकनाथोऽब्जचिह्नो
नालेनेन्दीवरस्य स्वपरगतभवं पश्य सर्वं यथार्थम् ॥२५४॥

नालेनेन्दीवरस्य स्वपरगतभवं वीक्ष्य सर्वं यथार्थं
सूर्यः सार्धं मुनीन्द्रैः समुकुटशिरसा कल्किनः पादपद्मम् ।
हस्ताभ्यां वन्दयित्वा वदति मुनिकुलं रौद्रसंसारदुःखा-
दुद्धृत्य ज्ञानमार्गे परमकरुणया स्थापयेत् त्वेकशास्ता ॥२५५॥

वृद्धोऽपि त्वं कुमारः सकलजिनसुतोऽप्यादिबुद्धस्त्वमादौ
स्त्रीसङ्गी ब्रह्मचारी परमकरुणया लोकबन्धुर्यमारिः ।
सौम्योऽपि त्वं सुवज्री मरणभयहरस्त्वं सदा मारमारो
मुक्तोऽपि त्वं भवेऽस्मिन् प्रविशसि जगतः पाचनार्थं यशस्त्वम् ॥२५६॥

सूर्योऽहं ब्रह्मवंशे मुनिकुलनमितः पातितः पादमूले
सत्त्वानां मोक्षहेतोः प्रकटितमवनौ कालचक्रं समस्तम् ।
कल्कीगोत्रे त्वमर्कः क्षितिपतिनमितः श्रीयशः श्रीकलापे
युष्मत्पादारविन्दं शरणमधिगतो रौद्रसंसारभीतः ॥२५७॥

वैशाख्यां पौर्णिमायां निशिसमयगते वासरे चाप्रविष्टे
मुद्रासिद्धिं गतोऽर्को मुनिजनसहितोऽधिष्ठितो विश्वभर्त्रा ।

सत्त्वानां मोक्षहेतोः सकलभुविगतं चित्तवज्रं यथा मे
सत्त्वानामेव यातु त्रिविधभवगतं कालचक्रप्रभावात् ॥२५८॥

तन्त्रार्थं देशयित्वा परमकरुणया सर्वसत्त्वार्थकर्ता
पुत्रस्याज्ञां ददाति प्रवरगुणनिधिः पुण्डरीकस्य नूनम् ।
5 कर्तव्यं पुस्तकस्थं सकलमविकलं तन्त्रराजं त्वयादौ
टीकां कृत्वा ततो वै परपदगमनं स्वेच्छया लोकबन्धोः ॥२५९॥

ऊर्ध्वं ये बोधिसत्त्वाः परमभयकरा मारपक्षे स्थितानां
दैत्यानां मर्त्यलोके दिशिविदिशिगताः क्रोधराजाः सभार्याः ।
पाताले ये फणीन्द्रा ग्रहपदमशुभं सर्वदा बन्धयन्ति
10 ते सर्वे पालयन्तु प्रतिदिनसमयेऽज्ञानलोकं समन्तात् ॥२६०॥

सत्त्वानां मोक्षहेतोर्जिनपतिगदितं देशितं यन्मया च
तन्त्रं श्रीकालचक्रं लघुतरमखिलं वज्रसत्त्वाधिदैवम् ।
प्रज्ञोपायैकयोगं जिनपतिकुलिशैः षोडशाकारतत्त्वं
सत्त्वाः पुण्येन तेनाक्षरपरमसुखं यान्तु तस्मै नमोऽस्तु ॥२६१॥

15 इदानीं कालचक्रदेशकगुणादिकं सोऽहमित्यादि सर्वं सुबोधम् ॥२४९–२६१॥

[221b] [इति] मूलतन्त्रानुसारिण्यां लघुकालचक्रतन्त्रराजटीकायां
द्वादशसाहस्रिकायां विमलप्रभायां
नानोपायविनेयमहोद्देश-
श्चतुर्थः समाप्तः ।

20 संबुद्धव्याकृतेन प्रवरमुनिगणं स्थापितं बुद्धमार्गे
दत्त्वा प्रज्ञाऽभिषेकं परमकरुणया देशितं कालचक्रम् ।
येनोद्धृत्यादिबुद्धादिदमिषुपटलं मञ्जुवज्रेण तन्त्रं
राज्ञा श्रीकल्किनाऽहं सुत इह यशसः श्रीकलापे नृपोऽस्य ॥

संबुद्धव्याकृतेन प्रमुदितमनसा श्रीयशश्चोदितेन
टीकां श्रीमूलतन्त्रस्फुटकुलिशपदान्वेषिकां तन्त्रराजे ।
कृत्वा पुण्यं यदाप्तं विपुलमतिसितं पुण्डरीकेण दानात्
सम्बुद्धस्तेन लोकः प्रभवतु सकलो वज्रिणो लब्धमार्गः ॥*

। समाप्तेयं टीका ज्ञानपटलस्य ।

॥ समाप्ता विमलप्रभा टीका ॥

---

* च.

ये धर्मा हेतुप्रभवा हेतुस्तेषां तथागतो ह्यवदत् ।
तेषां च यो निरोध एवंवादी महाश्रमणः ॥

देयधर्मोऽयं प्रवरमहायानयायिनः स्थविरम‥‥ स्य यदत्र पुण्यं तद्भवत्वाचार्योपाध्याय-मातापितृपूर्वंगमं कृत्वा सकलसत्त्वराशेरनुत्तरज्ञानफलाप्तय इति ।

महाराजाधिराजश्रीमद्धरिवर्मदेवपादीयसंवत् ३९ सूर्यगत्या आषाढदिने २९

एकोनत्रिंशतिमिते वत्सरे हरिवर्मणः ।
माघस्य कृष्णसप्तम्यामेकादशदिने गते ॥
मृतपातुञ्च‥‥‥शोध्य‥‥ दृष्टतया ।
कनिष्ठाङ्गुलिमादाय पृष्टयेदमुदीरितम् ॥
पूर्वोत्तरे दिशो भागे वेगनद्यास्तु वारिणि ।
पञ्चत्वं भावि भवतः सप्तसंवत्सरैरिति ॥